गीतारहस्यकार

श्रीमान् लोकमान्य बाल गंगाधर टिळक यांचा अभिप्राय

निरनिराळ्या सांप्रदायिक आचार्यांचीं गीतेवरील भाष्यें व त्या संप्रदायांतील इतर प्रमुख टीका मिळून पंधरा (सध्यां एकोणीस) टीका मुंबईस 'गुजराती' प्रिन्टिंग प्रेसचे मालक यांनीं नुकत्याच प्रसिद्ध केल्या आहेत. निरनिराळ्या टीकाकारांचे अभिप्राय एकदम कळण्यास हा ग्रंथ फार सोयीचा आहे. या एकाच ग्रंथानें आतां सर्व निर्वाह होतो.

*The Proprietors of the Gujarati Printing Press have very recently published the Geeta with Bhashyas of Acharyas and commentaries numbering fifteen ( now nineteen ) in all by various writers of different schools. For asertaining at once the opinion of the various commentators, these two volumes are very useful. These volumes alone serve all the purpose now.*

*B. G. Tilak*

## THE BHAGAVAD-GITA with ELEVEN COMMENTARIES

Critically Edited & Thoroughly Revised Second Edition

Published by The Proprietors of the Gujarati Printing Press, Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort at Bombay 1935,

We most heartily congratulate the proprietors of the Gujarati Printing Press on this *second edition* of their 'First Collection' of valuable and rare commentaries on the most popular Vedantic work, the Bhagavad-gītā, which is rightly regarded as the guiding star of a Hindu's spiritual and moral life. They have as a matter of fact, concentrated their energies on this enterprise and have so far given us about 19 neatly printed and carefully edited commentaries of high literary and philosophical value, in the two Gucchas together. The above-mentioned second edition of the first Guccha contains the Bhāshyas of the four great Āchāryas representing the principal schools of the Vedanta, together with a lucid commentary on each of them. It also contains the Paiśācha Bhāsya ascribed to Hanumat by tradition, and the Brahmānandagiri, a highly learned commentary of the Śāṅkara school composed by Veṅkatanātha, as also the Bhārata-bhava-deepa of Nilakaṇṭha. At the end of each chapter, the learned 'Vidyālamkāra' Dhupakar Shastri of Goa has added his brief notes (called Avigita), which contain on the one hand, a criticism of few points of discussion raised by the old and new commentators including the Gitārahasya of the late Lokamanya Tilaka, and on the other, a Sanskrit rendering of some interesting portions of the older Marāthi commentaries written by Jñāneśvara and Vāmana Pandit.

The editor of the work, Pandit Gajanana Shastri Sadhale has devoted utmost care and patience to his task, as will be evident from the numberless references occurring in the different commentaries, which are traced by him to their original sources. This was a very difficult task, but we are glad to note, that it has been executed with great success by the learned editor. The edition indeed offers great facilities for a comparative and critical study of the exegetical material connected with the Bhagvad-gita, and we strongly recommend it to all lovers of the Gitā. We earnestly hope that the remaining parts of it will soon be out, not excluding the one, in which the publishers propose to give 'the different kinds of proper indexes' without which the work is bound to remain incomplete. p. p. 127–128.

Part I (प्रथमषट्कम्) Rs. 8. Part II (द्वितीयषट्कम्) Rs. 6,
Part III (तृतीषट्कम्) Rs. 6.

All three parts in one Volume Rs. 18. Postage Re 1-8-0 extra.

The JOURNAL OF THE UNIVERSITY OF BOMBAY, Arts and Law No. 7
Vol. IV Nov. 1935 Part III

H. D. VELANKAR, M. A.
Professor of Sanskrit.
The Wilson College, BOMBAY

# श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकप्रतीकानामकारादिवर्णानुक्रमः ।


| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| **अ.** | | |
| अकीर्तिं चापि भूतानि | २ | ३४ |
| अक्षरं ब्रह्म परमम् | ८ | ३ |
| अक्षराणामकारोऽस्मि | १० | ३३ |
| अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः | ८ | २४ |
| अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम् | २ | २४ |
| अजोऽपि सन्नव्ययात्मा | ४ | ६ |
| अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च | ४ | ४० |
| अत्र शूरा महेष्वासा | १ | ४ |
| अथ केन प्रयुक्तोऽयम् | ३ | ३६ |
| अथ चित्तं समाधातुम् | १२ | ९ |
| अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यम् | २ | ३३ |
| अथ चैनं नित्यजातम् | २ | २६ |
| अथवा योगिनामेव | ६ | ४२ |
| अथवा बहुनैतेन | १० | ४२ |
| अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा | १ | २० |
| अथैतदप्यशक्तोऽसि | १२ | ११ |
| अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि | ११ | ४५ |
| अदेशकाले यद्दानम् | १७ | २२ |
| अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् | १२ | १३ |
| अधर्मं धर्ममिति या | १८ | ३२ |
| अधर्माभिभवात्कृष्ण ! | १ | ४१ |
| अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य | १५ | २ |
| अधिभूतं क्षरो भावः | ८ | ४ |
| अधियज्ञः कथं कोऽत्र | ८ | २ |
| अधिष्ठानं तथा कर्ता | १८ | १४ |
| अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् | १३ | १२ |
| अध्येष्यते च य इमम् | १८ | ७० |
| अनन्तविजयं राजा | १ | १६ |
| अनन्तश्चास्मि नागानाम् | १० | २९ |
| अनन्यचेताः सततम् | ८ | १४ |
| अनन्याश्चिन्तयन्तो माम् | ९ | २२ |
| अनपेक्षः शुचिर्दक्षः | १२ | १६ |
| अनादित्वान्निर्गुणत्वात् | १३ | ३२ |
| अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यम् | ११ | १९ |
| अनाश्रितः कर्मफलम् | ६ | १ |
| अनिष्टमिष्टं मिश्रं च | १८ | १२ |
| अनुद्वेगकरं वाक्यम् | १७ | १५ |
| अनुबन्धं क्षयं हिंसाम् | १८ | २५ |
| अनेकचित्तविभ्रान्ताः | १६ | १६ |
| अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम् | ११ | १६ |
| अनेकवक्त्रनयनम् | ११ | १० |
| अन्तकाले च मामेव | ८ | ५ |
| अन्तवत्तु फलं तेषाम् | ७ | २३ |
| अन्तवन्त इमे देहाः | २ | १८ |
| अन्नाद्भवन्ति भूतानि | ३ | १४ |
| अन्ये च बहवः शूराः | १ | ९ |
| अन्ये त्वेवमजानन्तः | १३ | २६ |
| अपरं भवतो जन्म | ४ | ४ |
| अपरे नियताहाराः | ४ | ३० |
| अपरेयमितस्त्वन्याम् | ७ | ५ |
| अपर्याप्तं तदस्माकम् | १ | १० |
| अपाने जुह्वति प्राणम् | ४ | २९ |
| अपि चेत्सुदुराचारः | ९ | ३० |
| अपि चेदसि पापेभ्यः | ४ | ३६ |
| अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च | १४ | १३ |
| अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञः | १७ | ११ |
| अभयं सत्त्वसंशुद्धिः | १६ | १ |
| अभिसन्धाय तु फलम् | १७ | १२ |
| अभ्यासयोगयुक्तेन | ८ | ८ |
| अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि | १२ | १० |
| अमानित्वमदम्भित्वम् | १३ | ८ |
| अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य | ११ | २६ |
| अमी हि त्वां सुरसङ्घाः | ११ | २१ |
| अयनेषु च सर्वेषु | १ | ११ |
| अयतिः श्रद्धयोपेतः | ६ | ३७ |
| अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः | १८ | २८ |
| अवजानन्ति मां मूढाः | ९ | ११ |
| अवाच्यवादांश्च बहून् | २ | ३६ |
| अविनाशि तु तद्विद्धि | २ | १७ |
| अविभक्तं च भूतेषु | १३ | १७ |
| अव्यक्तादीनि भूतानि | २ | २८ |
| अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः | ८ | १८ |
| अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः | ८ | २१ |
| अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम् | २ | २५ |
| अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् | ७ | २४ |
| अशास्त्रविहितं घोरम् | १७ | ५ |
| अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् | २ | ११ |
| अश्रद्दधानाः पुरुषाः | ९ | ३ |
| अश्रद्धया हुतं दत्तम् | १७ | २८ |
| अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् | १० | २६ |
| असक्तबुद्धिः सर्वत्र | १८ | ४९ |
| असक्तिरनभिष्वङ्गः | १३ | १० |
| असत्यमप्रतिष्ठं ते | १६ | ८ |
| असौ मया हतः शत्रुः | १६ | १४ |
| असंयतात्मना योगः | ६ | ३६ |
| असंशयं महाबाहो ! | ६ | ३५ |
| अस्माकं तु विशिष्टा ये | १ | ७ |
| अहं क्रतुरहं यज्ञः | ९ | १६ |
| अहङ्कारं बलं दर्पम् | १६ | १८ |
| ,, ,, ,, | १८ | ५३ |
| अहमात्मा गुडाकेश ! | १० | २० |
| अहं वैश्वानरो भूत्वा | १५ | १४ |
| अहं सर्वस्य प्रभवः | १० | ८ |
| अहं हि सर्वयज्ञानाम् | ९ | २४ |
| अहिंसा सत्यमक्रोधः | १६ | २ |
| अहिंसा समता तुष्टिः | १० | ५ |
| अहो बत महत्पापम् | १ | ४५ |
| **आ.** | | |
| आख्याहि मे को भवान् | ११ | ३१ |
| आचार्याः पितरः पुत्राः | १ | ३४ |
| आढ्योऽभिजनवानस्मि | १६ | १५ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| आत्मसम्भाविताः स्तब्धाः | १६ | १७ |
| आत्मौपम्येन सर्वत्र | ६ | ३२ |
| आदित्यानामहं विष्णुः | १० | २१ |
| आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम् | २ | ७० |
| आब्रह्मभुवनाल्लोकाः | ८ | १६ |
| आयुधानामहं वज्रम् | १० | २८ |
| आयुःसत्त्वबलारोग्य— | १७ | ८ |
| आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् | ६ | ३ |
| आवृतं ज्ञानमेतेन | ३ | ३९ |
| आशापाशशतैर्बद्धाः | १६ | १२ |
| आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् | २ | २९ |
| आसुरीं योनिमापन्नाः | १६ | २० |
| आहारस्त्वपि सर्वस्य | १७ | ७ |
| आहुस्त्वामृषयः सर्वे | १० | १३ |
| **इ.** | | |
| इच्छाद्वेषसमुत्थेन | ७ | २७ |
| इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम् | १३ | ७ |
| इति गुह्यतमं शास्त्रम् | १५ | २० |
| इति ते ज्ञानमाख्यातम् | १८ | ६३ |
| इति क्षेत्रं तथा ज्ञानम् | १३ | १९ |
| इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा | ११ | ५० |
| इत्यहं वासुदेवस्य | १८ | ७४ |
| इदमद्य मया लब्धम् | १६ | १३ |
| इदं तु ते गुह्यतमम् | ९ | १ |
| इदं ते नातपस्काय | १८ | ६७ |
| इदं शरीरं कौन्तेय ! | १३ | २ |
| इदं ज्ञानमुपाश्रित्य | १४ | २ |
| इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे | ३ | ३४ |
| इन्द्रियाणां हि चरताम् | २ | ६७ |
| इन्द्रियाणि पराण्याहुः | ३ | ४२ |
| इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः | ३ | ४० |
| इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् | १३ | ९ |
| इमं विवस्वते योगम् | ४ | १ |
| इष्टान् भोगान् हि वो देवाः | ३ | १३ |
| इहैकस्थं जगत्कृत्स्नम् | ११ | ७ |
| इहैव तैर्जितः सर्गः | ५ | १९ |
| **ई.** | | |
| ईश्वरः सर्वभूतानाम् | १८ | ६१ |
| **उ.** | | |
| उच्चैःश्रवसमश्वानाम् | १० | २७ |
| उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि | १५ | १० |
| उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | १५ | १७ |
| उत्सन्नकुलधर्माणाम् | १ | ४४ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| उत्सीदेयुरिमे लोकाः | ३ | २४ |
| उदाराः सर्व एवैते | ७ | १८ |
| उदासीनवदासीनः | १४ | २३ |
| उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम् | ६ | ५ |
| उपद्रष्टाऽनुमन्ता च | १३ | २३ |
| **ऊ.** | | |
| ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः | १४ | १८ |
| ऊर्ध्वमूलमधःशाखम् | १५ | १ |
| **ऋ.** | | |
| ऋषिभिर्बहुधा गीतम् | १३ | ५ |
| **ए.** | | |
| एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य | ११ | ३५ |
| एतद्योनीनि भूतानि | ७ | ६ |
| एतन्मे संशयं कृष्ण ! | ६ | ३९ |
| एतान्न हन्तुमिच्छामि | १ | ३५ |
| एतान्यपि तु कर्माणि | १८ | ६ |
| एतां दृष्टिमवष्टभ्य | १६ | ९ |
| एतां विभूतिं योगं च | १० | ७ |
| एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! | १६ | २२ |
| एवमुक्तो हृषीकेशः | १ | २४ |
| एवमुक्त्वाऽऽर्जुनः सङ्ख्ये | १ | ४७ |
| एवमुक्त्वा ततो राजन् ! | ११ | ९ |
| एवमुक्त्वा हृषीकेशम् | २ | ९ |
| एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वम् | ११ | ३ |
| एवं परम्पराप्राप्तम् | ४ | २ |
| एवं प्रवर्तितं चक्रम् | ३ | १६ |
| एवं बहुविधा यज्ञाः | ४ | ३२ |
| एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा | ३ | ४३ |
| एवं सततयुक्ता ये | १२ | १ |
| एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म | ४ | १५ |
| एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये | २ | ३९ |
| एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! | २ | ७२ |
| **ओ.** | | |
| ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म | ८ | १३ |
| **ॐ.** | | |
| ॐ तत्सदिति निर्देशः | ८ | १३ |
| **क.** | | |
| कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः | ६ | ३८ |
| कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! | १८ | ७२ |
| कट्वम्ललवणात्युष्ण— | १७ | ९ |
| कथं न ज्ञेयमस्माभिः | १ | ३९ |
| कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये | २ | ४ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| कथं विद्यामहं योगिन् ! | १० | १७ |
| कर्मजं बुद्धियुक्ता हि | २ | ५१ |
| कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः | १४ | १६ |
| कर्मणैव हि संसिद्धिम् | ३ | २० |
| कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यम् | ४ | १७ |
| कर्मण्यकर्म यः पश्येत् | ४ | १८ |
| कर्मण्येवाधिकारस्ते | २ | ४७ |
| कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि | ३ | १५ |
| कर्मेन्द्रियाणि संयम्य | ३ | ६ |
| कर्षयन्तः शरीरस्थम् | १७ | ६ |
| कविं पुराणमनुशासितारम् | ८ | ९ |
| कस्माच्च ते न नमेरन् | ११ | ३७ |
| काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिम् | ४ | १२ |
| काम एष क्रोध एषः | ३ | ३७ |
| कामक्रोधवियुक्तानाम् | ५ | २६ |
| काममाश्रित्य दुष्पूरम् | १६ | १० |
| कामात्मानः स्वर्गपराः | २ | ४३ |
| कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः | ७ | २० |
| काम्यानां कर्मणां न्यासम् | १८ | २ |
| कायेन मनसा बुद्ध्या | ५ | ११ |
| कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः | २ | ७ |
| कार्यकारणकर्तृत्वे | १३ | २१ |
| कार्यमित्येव यत्कर्म | १८ | ९ |
| कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् | ११ | ३२ |
| काश्यश्च परमेष्वासः | १ | १७ |
| किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तम् | ११ | ४६ |
| किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च | ११ | १७ |
| किं कर्म किमकर्मेति | ४ | १६ |
| किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मम् | ८ | १ |
| किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः | ९ | ३३ |
| कुतस्त्वा कश्मलमिदम् | २ | २ |
| कुलक्षये प्रणश्यन्ति | १ | ४० |
| कृपया परयाऽऽविष्टः | १ | २८ |
| कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम् | १८ | ४४ |
| कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान् | १४ | २१ |
| क्रोधाद्भवति सम्मोहः | २ | ६३ |
| क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् | १२ | ५ |
| क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! | २ | ३ |
| क्षिप्रं भवति धर्मात्मा | ९ | ३१ |
| क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम् | १३ | ३५ |
| क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि | १३ | ३ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| **ग.** | | |
| गतसङ्गस्य मुक्तस्य | ४ | २३ |
| गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी | ९ | १८ |
| गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् | १ | ३० |
| गामाविश्य च भूतानि | १५ | १३ |
| गुणानेतानतीत्य त्रीन् | १४ | २० |
| गुरूनहत्वा हि महानुभावान् | २ | ५ |
| **च.** | | |
| चञ्चलं हि मनः कृष्ण ! | ६ | ३४ |
| चतुर्विधा भजन्ते माम् | ७ | १६ |
| चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम् | ४ | १३ |
| चिन्तामपरिमेयां च | १६ | ११ |
| चेतसा सर्वकर्माणि | १८ | ५७ |
| **ज.** | | |
| जन्म कर्म च मे दिव्यम् | ४ | ९ |
| जरामरणमोक्षाय | ७ | २९ |
| जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः | २ | २७ |
| जितात्मनः प्रशान्तस्य | ६ | ७ |
| ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये | ९ | १५ |
| ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा | ६ | ८ |
| ज्ञानेन तु तदज्ञानम् | ५ | १६ |
| ज्ञानं कर्म च कर्ता च | १८ | १९ |
| ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानम् | ७ | २ |
| ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता | १८ | १८ |
| ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी | ५ | ३ |
| ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि | १३ | १३ |
| ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते | ३ | १ |
| ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः | १३ | १८ |
| **त.** | | |
| ततः पदं तत्परिमार्गितव्यम् | १५ | ४ |
| तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य | १८ | ७७ |
| ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च | १ | १३ |
| ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते | १ | १४ |
| ततः स विस्मयाविष्टः | ११ | १४ |
| तत्त्ववित्तु महाबाहो ! | ३ | २८ |
| तत्र तं बुद्धिसंयोगम् | ६ | ४३ |
| तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् | १४ | ६ |
| तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः | १ | २६ |
| तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नम् | ११ | १३ |
| तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा | ६ | १२ |
| तत्रैवं सति कर्तारम् | १८ | १६ |
| तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च | १३ | ४ |
| तदित्यनभिसन्धाय | १७ | २५ |
| तद्बुद्धयस्तदात्मानः | ५ | १७ |
| तद्विद्धि प्रणिपातेन | ४ | ३४ |
| तपस्विभ्योऽधिको योगी | ६ | ४६ |
| तपाम्यहमहं वर्षम् | ९ | १९ |
| तमस्त्वज्ञानजं विद्धि | १४ | ८ |
| तमुवाच हृषीकेशः | २ | १० |
| तमेव शरणं गच्छ | १८ | ६२ |
| तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते | १६ | २४ |
| तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय | ११ | ४४ |
| तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ | ३ | ४१ |
| तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व | ११ | ३३ |
| तस्मात्सर्वेषु कालेषु | ८ | ७ |
| तस्मादसक्तः सततम् | ३ | १९ |
| तस्मादज्ञानसम्भूतम् | ४ | ४२ |
| तस्मादोमित्युदाहृत्य | १७ | २४ |
| तस्माद्यस्य महाबाहो ! | २ | ६८ |
| तस्मान्नार्हा वयं हन्तुम् | १ | ३७ |
| तस्य सञ्जनयन् हर्षम् | १ | १२ |
| तं विद्याद् दुःखसंयोगम् | ६ | २३ |
| तं तथा कृपयाऽऽविष्टम् | २ | १ |
| तानहं द्विषतः क्रूरान् | १६ | १९ |
| तानि सर्वाणि संयम्य | २ | ६१ |
| तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः | १ | २७ |
| तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी | १२ | १९ |
| तेजः क्षमा धृतिः शौचम् | १६ | ३ |
| ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकम् | ९ | २१ |
| तेषामहं समुद्धर्ता | १२ | ७ |
| तेषामेवानुकम्पार्थम् | १० | ११ |
| तेषां सततयुक्तानाम् | १० | १० |
| तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः | ७ | १७ |
| त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् | ४ | २० |
| त्याज्यं दोषवदित्येके | १८ | ३ |
| त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः | ७ | १३ |
| त्रिविधा भवति श्रद्धा | १७ | २ |
| त्रिविधं नरकस्येदम् | १६ | २१ |
| त्रैगुण्यविषया वेदाः | २ | ४५ |
| त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापाः | ९ | २० |
| त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम् | ११ | १८ |
| त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः | ११ | ३८ |
| **द.** | | |
| दण्डो दमयतामस्मि | १० | ३८ |
| दम्भो दर्पोऽभिमानश्च | १६ | ४ |
| दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि | ११ | २५ |
| दातव्यमिति यद्दानम् | १७ | २० |
| दिवि सूर्यसहस्रस्य | ११ | १२ |
| दिव्यमाल्याम्बरधरम् | ११ | ११ |
| दुःखमित्येव यत्कर्म | १८ | ८ |
| दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः | २ | ५६ |
| दूरेण ह्यवरं कर्म | २ | ४९ |
| दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम् | १ | २ |
| दृष्ट्वेदं मानुषं रूपम् | ११ | ५१ |
| दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण ! | १ | २८ |
| देवद्विजगुरुप्राज्ञ- | १७ | १४ |
| देवान् भावयतानेन | ३ | ११ |
| देही नित्यमवध्योऽयम् | २ | ३० |
| देहिनोऽस्मिन्यथा देहे | २ | १३ |
| दैवमेवापरे यज्ञम् | ४ | २५ |
| दैवी ह्येषा गुणमयी | ७ | १४ |
| दैवी सम्पद्विमोक्षाय | १६ | ५ |
| दोषैरेतैः कुलघ्नानाम् | १ | ४३ |
| द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि | ११ | २० |
| द्यूतं छलयतामस्मि | १० | ३६ |
| द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः | ४ | २८ |
| द्रुपदो द्रौपदेयाश्च | १ | १८ |
| द्रोणं च भीष्मं च | ११ | ३४ |
| द्वाविमौ पुरुषौ लोके | १५ | १६ |
| द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् | १६ | ६ |
| **ध.** | | |
| धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे | १ | १ |
| धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः | ८ | २५ |
| धूमेनाऽऽव्रियते वह्निः | ३ | ३८ |
| धृत्या यया धारयते | १८ | ३३ |
| धृष्टकेतुश्चेकितानः | १ | ५ |
| ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति | १३ | २५ |
| ध्यायतो विषयान्पुंसः | २ | ६२ |
| **न.** | | |
| न कर्तृत्वं न कर्माणि | ५ | १४ |
| न कर्मणामनारम्भात् | ३ | ४ |
| न काङ्क्षे विजयं कृष्ण ! | १ | ३२ |
| न च तस्मान्मनुष्येषु | १८ | ६९ |
| न च मत्स्थानि भूतानि | ९ | ५ |
| न च मां तानि कर्माणि | ९ | ९ |
| न च शक्नोम्यवस्थातुम् | १ | ३० |
| न च श्रेयोऽनुपश्यामि | १ | ३१ |
| न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः | २ | ६ |
| न जायते म्रियते वा | २ | २० |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| न तदस्ति पृथिव्यां वा | १८ | ४० |
| न तद्भासयते सूर्यः | १५ | ६ |
| न तु मां शक्यसे द्रष्टुम् | ११ | ८ |
| न त्वेवाहं जातु नासम् | २ | १२ |
| न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म | १८ | १० |
| न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य | ५ | २० |
| न बुद्धिभेदं जनयेत् | ३ | २६ |
| नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णम् | ११ | २४ |
| नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते | ११ | ४० |
| न मां कर्माणि लिम्पन्ति | ४ | १४ |
| न मां दुष्कृतिनो मूढाः | ७ | १५ |
| न मे पार्थास्ति कर्तव्यम् | ३ | २२ |
| न मे विदुः सुरगणाः | १० | २ |
| न रूपमस्येह तथोपलभ्यते | १५ | ३ |
| न वेदयज्ञाध्ययनैः | ११ | ४८ |
| नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा | १८ | ७३ |
| नहि कश्चित्क्षणमपि | ३ | ५ |
| न हि देहभृता शक्यम् | १८ | ११ |
| न हि प्रपश्यामि ममापनुद्यात् | २ | ८ |
| न हि ज्ञानेन सदृशम् | ४ | ३८ |
| नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति | ६ | १६ |
| नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम् | ५ | १५ |
| नान्तोऽस्ति मम दिव्यानाम् | १० | ४० |
| नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम् | १४ | १९ |
| नासतो विद्यते भावः | २ | १६ |
| नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य | २ | ६६ |
| नाहं प्रकाशः सर्वस्य | ७ | २५ |
| नाहं वेदैर्न तपसा | ११ | ५३ |
| निमित्तानि च पश्यामि | १ | ३१ |
| नियतस्य तु सन्यासः | १८ | ७ |
| नियतं कुरु कर्म त्वम् | ३ | ८ |
| नियतं सङ्गरहितम् | १८ | २३ |
| निराशीर्यतचित्तात्मा | ४ | २१ |
| निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः | १५ | ५ |
| निश्चयं शृणु मे तत्र | १८ | ४ |
| निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः | १ | ३६ |
| नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति | २ | ४० |
| नैते सृती पार्थ ! जानन् | ८ | २७ |
| नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि | २ | २३ |
| नैव किञ्चित्करोमीति | ५ | ८ |
| नैव तस्य कृतेनार्थः | ३ | १८ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| **प** | | |
| पञ्चैतानि महाबाहो ! | १८ | १३ |
| पत्रं पुष्पं फलं तोयम् | ९ | २६ |
| परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः | ८ | २० |
| परं ब्रह्म परं धाम | १० | १२ |
| परं भूयः प्रवक्ष्यामि | १४ | १ |
| परित्राणाय साधूनाम् | ४ | ८ |
| पवनः पवतामस्मि | १० | ३१ |
| पश्य मे पार्थ ! रूपाणि | ११ | ५ |
| पश्याऽऽदित्यान्वसून्रुद्रान् | ११ | ६ |
| पश्यामि देवांस्तव देव ! | ११ | १५ |
| पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् | १ | ३ |
| पाञ्चजन्यं हृषीकेशः | १ | १५ |
| पार्थ ! नैवेह नामुत्र | ६ | ४० |
| पितासि लोकस्य | ११ | ४३ |
| पिताऽहमस्य जगतः | ९ | १७ |
| पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च | ७ | ९ |
| पुरुषः प्रकृतिस्थो हि | १३ | २२ |
| पुरुषः स परः पार्थ ! | ८ | २२ |
| पुरोधसां च मुख्यं माम् | १० | २४ |
| पूर्वाभ्यासेन तेनैव | ६ | ४४ |
| पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानम् | १८ | २१ |
| प्रकाशं च प्रवृत्तिं च | १४ | २२ |
| प्रकृतिं पुरुषं चैव | १३ | १ |
| प्रकृतिं पुरुषं चैव | १३ | २० |
| प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य | ९ | ८ |
| प्रकृतेः क्रियमाणानि | ३ | २७ |
| प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः | ३ | २९ |
| प्रकृत्यैव च कर्माणि | १३ | ३० |
| प्रजहाति यदा कामान् | २ | ५५ |
| प्रयत्नाद्यतमानस्तु | ६ | ४५ |
| प्रयाणकाले मनसा | ८ | १० |
| प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् | ५ | ९ |
| प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च | १६ | ७ |
| ,, ,, ,, ,, | १८ | ३० |
| प्रशान्तमनसं ह्येनम् | ६ | २७ |
| प्रशान्तात्मा विगतभीः | ६ | १४ |
| प्रसादे सर्वदुःखानाम् | २ | ६५ |
| प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानाम् | १० | ३० |
| प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् | ६ | ४१ |
| **ब.** | | |
| बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य | ६ | ६ |
| बलं बलवतां चाहम् | ७ | ११ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| बहिरन्तश्च भूतानाम् | १३ | १६ |
| बहूनां जन्मनामन्ते | ७ | १९ |
| बहूनि मे व्यतीतानि | ४ | ५ |
| बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा | ५ | २१ |
| बीजं मां सर्वभूतानां | ७ | १० |
| बुद्धियुक्तो जहातीह | २ | ५० |
| बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः | १० | ४ |
| बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव | १८ | २९ |
| बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः | १८ | ५१ |
| बृहत्साम तथा साम्नाम् | १० | ३५ |
| ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम् | १४ | २७ |
| ब्रह्मण्याधाय कर्माणि | ५ | १० |
| ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा | १८ | ५४ |
| ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः | ४ | २४ |
| ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् | १८ | ४१ |
| **भ.** | | |
| भक्त्या त्वनन्यया शक्यः | ११ | ५४ |
| भक्त्या मामभिजानाति | १८ | ५५ |
| भयाद्रणादुपरतम् | २ | ३५ |
| भवान्भीष्मश्च कर्णश्च | १ | ८ |
| भवाप्ययौ हि भूतानाम् | ११ | २ |
| भीष्मद्रोणप्रमुखतः | १ | २५ |
| भूतग्रामः स एवायम् | ८ | १९ |
| भूमिरापोऽनलो वायुः | ७ | ४ |
| भूय एव महाबाहो ! | १० | १ |
| भोक्तारं यज्ञतपसाम् | ५ | २९ |
| भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् | २ | ४४ |
| **म.** | | |
| मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि | १८ | ५८ |
| मच्चित्ता मद्गतप्राणाः | १० | ९ |
| मत्कर्मकृन्मत्परमः | ११ | ५५ |
| मत्तः परतरं नान्यत् | ७ | ७ |
| मदनुग्रहाय परमम् | ११ | १ |
| मनःप्रसादः सौम्यत्वम् | १७ | १६ |
| मनुष्याणां सहस्रेषु | ७ | ३ |
| मन्मना भव मद्भक्तः | ९ | ३४ |
| ,, ,, | १८ | ६५ |
| मन्यसे यदि तच्छक्यम् | ११ | ४ |
| मम योनिर्महद्ब्रह्म | १४ | ३ |
| ममैवांशो जीवलोके | १५ | ७ |
| मया ततमिदं सर्वम् | ९ | ४ |
| मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः | ९ | १० |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदम् | ११ | ४७ |
| मयि चानन्ययोगेन | १३ | ११ |
| मयि सर्वाणि कर्माणि | ३ | ३० |
| मय्यावेश्य मनो ये माम् | १२ | २ |
| मय्यासक्तमनाः पार्थ ! | ७ | १ |
| मय्येव मन आधत्स्व | १२ | ८ |
| महर्षयः सप्त पूर्वे | १० | ६ |
| महर्षीणां भृगुरहम् | १० | २५ |
| महात्मानस्तु मां पार्थ ! | ९ | १३ |
| महाभूतान्यहङ्कारः | १३ | ६ |
| मा ते व्यथा मा च | ११ | ४९ |
| मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय ! | २ | १४ |
| मानापमानयोस्तुल्यः | १४ | २५ |
| मामुपेत्य पुनर्जन्म | ८ | १५ |
| मां च योऽव्यभिचारेण | १४ | २६ |
| मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य | ९ | ३२ |
| मुक्तसङ्गोऽनहंवादी | १८ | २६ |
| मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत् | १७ | १९ |
| मृत्युः सर्वहरश्चाहम् | १० | ३४ |
| मोघाशा मोघकर्माणः | ९ | १२ |
| **य** | | |
| य इदं परमं गुह्यम् | १८ | ६८ |
| य एनं वेत्ति हन्तारम् | २ | १९ |
| य एवं वेत्ति पुरुषम् | १३ | २४ |
| यच्चापि सर्वभूतानाम् | १० | ३९ |
| यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि | ११ | ४२ |
| यजन्ते सात्त्विका देवान् | १७ | ४ |
| यज्ञो दानं तपः कर्म | १८ | ५ |
| यज्ञशिष्टामृतभुजः | ४ | ३१ |
| यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः | ३ | १३ |
| यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र | ३ | ९ |
| यज्ञे तपसि दाने च | १७ | २७ |
| यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहम् | ४ | ३५ |
| यततो ह्यपि कौन्तेय ! | २ | ६० |
| यतन्तो योगिनश्चैनम् | १५ | ११ |
| यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम् | १८ | ४६ |
| यतेन्द्रियमनोबुद्धिः | ५ | २८ |
| यतो यतो निश्चरति | ६ | २६ |
| यत्करोषि यदश्नासि | ९ | २७ |
| यत्तदग्रे विषमिव | १८ | ३७ |
| यत्तु कामेप्सुना कर्म | १८ | २४ |
| यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् | १८ | २२ |
| यत्तु प्रत्युपकारार्थम् | १७ | २१ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| यत्र काले त्वनावृत्तिम् | ८ | २३ |
| यत्र योगेश्वरः कृष्णः | १८ | ७८ |
| यत्रोपरमते चित्तम् | ६ | २० |
| यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानम् | ५ | ५ |
| यथाऽऽकाशस्थितो नित्यम् | ९ | ६ |
| यथा दीपो निवातस्थः | ६ | १९ |
| यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः | ११ | २८ |
| यथा प्रकाशयत्येकः | १३ | ३४ |
| यथा प्रदीप्तं ज्वलनम् | ११ | २९ |
| यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात् | १३ | ३३ |
| यथैधांसि समिद्धोऽग्निः | ४ | ३७ |
| यदग्रे चानुबन्धे च | १८ | ३९ |
| यदहङ्कारमाश्रित्य | १८ | ५९ |
| यदक्षरं वेदविदो वदन्ति | ८ | ११ |
| यदा ते मोहकलिलम् | २ | ५२ |
| यदादित्यगतं तेजः | १५ | १२ |
| यदा भूतपृथग्भावम् | १३ | ३१ |
| यदा यदा हि धर्मस्य | ४ | ७ |
| यदा विनियतं चित्तम् | ६ | १८ |
| यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु | १४ | १४ |
| यदा संहरते चायम् | २ | ५८ |
| यदा हि नेन्द्रियार्थेषु | ६ | ४ |
| यदि मामप्रतीकारम् | १ | ४६ |
| यदि ह्यहं न वर्तेयं | ३ | २३ |
| यदृच्छया चोपपन्नम् | २ | ३२ |
| यदृच्छालाभसन्तुष्टः | ४ | २२ |
| यद्यदाचरति श्रेष्ठः | ३ | २१ |
| यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वम् | १० | ४१ |
| यद्यप्येते न पश्यन्ति | १ | ३८ |
| यया तु धर्मकामार्थान् | १८ | ३४ |
| यया धर्ममधर्मं च | १८ | ३१ |
| यया स्वप्नं भयं शोकम् | १८ | ३५ |
| यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् | ३ | १७ |
| यस्त्विन्द्रियाणि मनसा | ३ | ७ |
| यस्मात्क्षरमतीतोऽहम् | १५ | १८ |
| यस्मान्नोद्विजते लोकः | १२ | १५ |
| यस्य नाहङ्कृतो भावः | १८ | १७ |
| यस्य सर्वे समारम्भाः | ४ | १९ |
| यं यं वाऽपि स्मरन् भावम् | ८ | ६ |
| यं लब्ध्वा चापरं लाभम् | ६ | २२ |
| यं सन्न्यासमिति प्राहुः | ६ | २ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| यं हि न व्यथयन्त्येते | २ | १५ |
| यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य | १६ | २३ |
| यः सर्वत्रानभिस्नेहः | २ | ५७ |
| यातयामं गतरसम् | १७ | १० |
| या निशा सर्वभूतानाम् | २ | ६९ |
| यान्ति देवव्रता देवान् | ९ | २५ |
| यामिमां पुष्पितां वाचम् | २ | ४२ |
| यावत्सञ्जायते किञ्चित् | १३ | २७ |
| यावदेतान्निरीक्षेऽहम् | १ | २२ |
| यावानर्थ उदपाने | २ | ४६ |
| युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा | ५ | १२ |
| युक्ताहारविहारस्य | ६ | १७ |
| युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानम् | ६ | १५ |
| ,, ,, | ६ | २८ |
| युधामन्युश्च विक्रान्तः | १ | ६ |
| ये चैव सात्त्विका भावाः | ७ | १२ |
| ये तु धर्म्यामृतमिदम् | १२ | २० |
| ये तु सर्वाणि कर्माणि | १२ | ६ |
| ये त्वक्षरमनिर्देश्यम् | १२ | ३ |
| ये त्वेतदभ्यसूयन्तः | ३ | ३२ |
| येऽप्यन्यदेवताभक्ताः | ९ | २३ |
| ये मे मतमिदं नित्यम् | ३ | ३१ |
| ये यथा मां प्रपद्यन्ते | ४ | ११ |
| ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य | १७ | १ |
| येषामर्थे काङ्क्षितं नः | १ | ३३ |
| येषां त्वन्तगतं पापम् | ७ | २८ |
| ये हि संस्पर्शजा भोगाः | ५ | २२ |
| योगयुक्तो विशुद्धात्मा | ५ | ७ |
| योगसन्न्यस्तकर्माणम् | ४ | ४१ |
| योगस्थः कुरु कर्माणि | २ | ४८ |
| योगिनामपि सर्वेषाम् | ६ | ४७ |
| योगी युञ्जीत सततम् | ६ | १० |
| योत्स्यमानानवेक्षेऽहम् | १ | २३ |
| यो न हृष्यति न द्वेष्टि | १२ | १७ |
| योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः | ५ | २४ |
| यो मामजमनादिं च | १० | ३ |
| यो मामेवमसम्मूढः | १५ | १९ |
| यो मां पश्यति सर्वत्र | ६ | ३० |
| यो यो यां यां तनुं भक्तः | ७ | २१ |
| योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः | ६ | ३३ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| **र** | | |
| रजस्तमश्चाभिभूय | १४ | १० |
| रजसि प्रलयं गत्वा | १४ | १५ |
| रजो रागात्मकं विद्धि | १४ | ७ |
| रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! | ७ | ८ |
| रागद्वेषवियुक्तैस्तु | २ | ६४ |
| रागी कर्मफलप्रेप्सुः | १८ | २७ |
| राजन् ! संस्मृत्य संस्मृत्य | १८ | ७६ |
| राजविद्या राजगुह्यम् | ९ | २ |
| रुद्राणां शङ्करश्चास्मि | १० | २३ |
| रुद्रादित्या वसवो ये च | ११ | २२ |
| रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रम् | ११ | २३ |
| **ल** | | |
| लभन्ते ब्रह्म निर्वाणम् | ५ | २५ |
| लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात् | ११ | ३० |
| लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा | ३ | ३ |
| लोभः प्रवृत्तिरारम्भः | १४ | १२ |
| **व** | | |
| वक्तुमर्हस्यशेषेण | १० | १६ |
| वक्त्राणि ते त्वरमाणा | ११ | २७ |
| वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः | ११ | ३९ |
| वासांसि जीर्णानि यथा | २ | २२ |
| विद्याविनयसम्पन्ने | ५ | १८ |
| विधिहीनमसृष्टान्नम् | १७ | १३ |
| विविक्तसेवी लघ्वाशी | १८ | ५२ |
| विषया विनिवर्तन्ते | २ | ५९ |
| विषयेन्द्रियसंयोगात् | १८ | ३८ |
| विस्तरेणाऽऽत्मनो योगम् | १० | १८ |
| विहाय कामान् यः सर्वान् | २ | ७१ |
| वीतरागभयक्रोधाः | ४ | १० |
| वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि | १० | ३७ |
| वेदानां सामवेदोऽस्मि | १० | २२ |
| वेदाविनाशिनं नित्यम् | २ | २१ |
| वेदाहं समतीतानि | ७ | २६ |
| वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव | ८ | २८ |
| वेपथुश्च शरीरे मे | १ | २९ |
| व्यवसायात्मिका बुद्धिः | २ | ४१ |
| व्यामिश्रेणैव वाक्येन | ३ | २ |
| व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् | १८ | ७५ |
| **श.** | | |
| शक्नोतीहैव यः सोढुम् | ५ | २३ |
| शनैः शनैरुपरमेत् | ६ | २५ |
| शमो दमस्तपः शौचम् | १८ | ४२ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| शरीरं यदवाप्नोति | १५ | ८ |
| शरीरवाङ्मनोभिर्यत् | १८ | १५ |
| शुक्लकृष्णे गती ह्येते | ८ | २६ |
| शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य | ६ | ११ |
| शुभाशुभफलैरेवम् | ९ | २८ |
| शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यम् | १८ | ४३ |
| श्रद्धया परया तप्तम् | १७ | १७ |
| श्रद्धावाननसूयश्च | १८ | ७१ |
| श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् | ४ | ३९ |
| श्रुतिविप्रतिपन्ना ते | २ | ५३ |
| श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् | ४ | ३३ |
| श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः | ३ | ३५ |
| ,, ,, | १८ | ४७ |
| श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् | १२ | १२ |
| श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये | ४ | २६ |
| श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च | १५ | ९ |
| श्वशुरान्सुहृदश्चैव | १ | २६ |
| **स.** | | |
| स एवायं मया तेऽद्य | ४ | ३ |
| सङ्करो नरकायैव | १ | ४२ |
| सङ्कल्पप्रभवान्कामान् | ६ | २४ |
| सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः | ३ | २५ |
| सखेति मत्वा प्रसभम् | ११ | ४१ |
| स घोषो धार्तराष्ट्राणाम् | १ | १९ |
| सततं कीर्तयन्तो माम् | ९ | १४ |
| स तया श्रद्धया युक्तः | ७ | २२ |
| सत्कारमानपूजार्थम् | १७ | १८ |
| सत्त्वं रजस्तम इति | १४ | ५ |
| सत्त्वं सुखे सञ्जयति | १४ | ९ |
| सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम् | १४ | १७ |
| सत्त्वानुरूपा सर्वस्य | १७ | ३ |
| सदृशं चेष्टते स्वस्याः | ३ | ३३ |
| सद्भावे साधुभावे च | १७ | २६ |
| सन्तुष्टः सततं योगी | १२ | १४ |
| सन्नियम्येन्द्रियग्रामम् | १२ | ४ |
| सन्न्यासस्तु महाबाहो ! | ५ | ६ |
| सन्न्यासस्य महाबाहो ! | १८ | १ |
| सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण ! | ५ | १ |
| सन्न्यासः कर्मयोगश्च | ५ | २ |
| समदुःखसुखः स्वस्थः | १४ | २४ |
| समं कायशिरोग्रीवम् | ६ | १३ |
| समं पश्यन्हि सर्वत्र | १३ | २९ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. |
|---|---|---|
| समं सर्वेषु भूतेषु | १३ | २८ |
| समः शत्रौ च मित्रे च | १२ | १८ |
| समोऽहं सर्वभूतेषु | ९ | २९ |
| सर्गाणामादिरन्तश्च | १० | ३२ |
| सर्वकर्माणि मनसा | ५ | १३ |
| सर्वकर्माण्यपि सदा | १८ | ५६ |
| सर्वगुह्यतमं भूयः | १८ | ६४ |
| सर्वतः पाणिपादं तत् | १३ | १४ |
| सर्वद्वाराणि संयम्य | ८ | १२ |
| सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् | १४ | ११ |
| सर्वधर्मान् परित्यज्य | १८ | ६६ |
| सर्वभूतस्थमात्मानम् | ६ | २९ |
| सर्वभूतस्थितं यो माम् | ६ | ३१ |
| सर्वभूतानि कौन्तेय ! | ९ | ७ |
| सर्वभूतेषु येनैकम् | १८ | २० |
| सर्वमेतदृतं मन्ये | १० | १४ |
| सर्वयोनिषु कौन्तेय ! | १४ | ४ |
| सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः | १५ | १५ |
| सर्वाणीन्द्रियकर्माणि | ४ | २७ |
| सर्वेन्द्रियगुणाभासम् | १३ | १५ |
| सहजं कर्म कौन्तेय ! | १८ | ४८ |
| सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा | ३ | १० |
| सहस्रयुगपर्यन्तम् | ८ | १७ |
| साधिभूताधिदैवं माम् | ७ | ३० |
| साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः | ५ | ४ |
| सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म | १८ | ५० |
| सीदन्ति मम गात्राणि | १ | २९ |
| सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा | २ | ४८ |
| सुखदुःखे समे कृत्वा | २ | ३८ |
| सुखमात्यन्तिकं यत्तत् | ६ | २ |
| सुखं त्विदानीं त्रिविधम् | १८ | ३६ |
| सुदुर्दर्शमिदं रूपम् | ११ | ५२ |
| सुहृन्मित्रार्युदासीन– | ६ | ९ |
| स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या | ११ | ३६ |
| स्थितप्रज्ञस्य का भाषा | २ | ५४ |
| स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान् | ५ | २७ |
| स्वधर्ममपि चावेक्ष्य | २ | ३१ |
| स्वभावजेन कौन्तेय ! | १८ | ६० |
| स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानम् | १० | १५ |
| स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः | १८ | ४५ |
| **ह.** | | |
| हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम् | २ | ३७ |
| हन्त ते कथयिष्यामि | १० | १९ |
| हृषीकेशं तदा वाक्यम् | १ | २१ |


इति श्रीमद्भगवद्गीताश्लोकानामकारादिवर्णानुक्रमः समाप्तः ।

# THE BHAGAVAD-GITA

## WITH
## ELEVEN COMMENTARIES

First Collection

( 1 ) Shankaracharya's *Adwaita Bhashya*; ( 2 ) Anandagiri's *Vyakhya*; ( 3 ) Ramanuja's *Vishishta-dwaita Bhashya*, ( 4 ) Deshika's *Tatparya chandrika*; ( 5 ) Madhava's *Dwaita Bhashya*, ( 6 ) Jayatirtha's *Prameya deepika*; ( 7 ) Hanumat's *Paishacha Bhashya*; ( 8 ) Venkatnatha's *Bhramanandagiri*; ( 9 ) Vallabha's *Tattva-deepika*, ( 10 ) Purushotama's *Amrita-tarangini*; ( 11 ) Nilakantha's *Bhava-deepa*, and last Yamuna muni's *Artha-sangraha* with Deshika's Raksha and *Gita Mahatmya* of each Adhyaya

## VOL 1

( First Six Adhyayas )

New Edition ( 2ND )

Critically Edited and Thoroughly Revised by
SHASTRI GAJANANA SHAMBHU SADHALE

BOMBAY
THE "GUJARATI" PRINTING PRESS
Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort
1935

*This book Can be had from :—*

**The Gujarati Printing Press**

Sassoon Building, Elphinstone Circle

Fort, BOMBAY

( All rights reserved by the Publishers )

CONTENTS

| Commentators:— | Commentaries:— |
|---|---|
| General Gita Mahatmya (2) | From Varahapuran etc., |
| 1 SHANKARACHARYA ... | ... Adwaita BHASHYA |
| 2 Ananda-giri... ... ... | ... ...Bhashya Vyakhya |
| 3 RAMANUJA ... ... | Vishishta-dwaita BHASHYA |
| 4 Vedant-deshika ... ... | ... Tatparya-Chandrika |
| 5 MADHAVA ... ... | ... Dwaita BHASHYA |
| 6 Jayatirtha ... ... ... | ... ... Prameya-Deepika |
| 7 Hanuman ... ... ... | ... Paishacha BHASHYA |
| 8 Venkatanatha ... ... | ... ...Bhrahmananda giri |
| 9 Vallabha ... ... ... | ... ... Tattva-deepika |
| 10 Purushotama ... ... | ... ... Amrita-tarangini |
| 11 Nilakantha... ... ... | ... ... Bhava-deepa |
| 12 Yamuna-muni ... ... | ... ... Artha sanghraha |
| 13 Deshika ... ... ... | ... ... ... Raksha |
| 14 Mahatmya at the end of each Adhyaya | From Padmapuran |
| 15 Avigita Notes by Dhupakara Shashtri | ... ... ... |

*This Book is Printed and Published*

by

Natverlal Itchharam Desai B. A.

at

**The Gujarati Printing Press**

Sasson Building, Elphinstone Circle, Fort. BOMBAY

ॐ

# श्रीमद्भगवद्गीता

## शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता ।

[ प्रथमो गुच्छः ]

प्रथमषट्कम्

( १–६ )

द्वितीयावृत्तिः

संशोधनकर्ता

'साधले' इत्युपाह्व–शम्भुजनुर्गजाननशर्मा

प्रकाशकः

'गुजराती' प्रिन्टिंग प्रेस

सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल

कोट, मुंबई

खिस्ताब्दः १९३५ ] वैक्रमाब्दः १९९१ [ शाकाब्दः १८५७

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्ः—
"गुजराती" प्रिन्टिंग प्रेस
सासून बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन् सर्कल, कोट–मुंबई

[ ग्रन्थस्यास्य पुनर्मुद्रणाद्यः सर्वेऽप्यधिकाराः राजशासनपट्टमनुसृत्य स्वायत्तीकृताः सन्ति । ]

## व्याख्योपव्याख्याकार–व्याख्या–नामानि ।

| भाष्यकाराष्टीकाकाराश्च ( श्रीगीतामाहात्म्ये, न्यासादि च ) | (संप्रदायः) | भाष्याणि टीकाश्च |
|---|---|---|
| १ श्रीमच्छङ्कराचार्याः | (केवलाद्वैतः) | भाष्यम् |
| २ आनन्दगिरिः | ,, | शां. भाष्यव्याख्या |
| ३ श्रीमद्रामानुजाचार्याः | (विशिष्टाद्वैतः) | भाष्यम् |
| ४ वेदान्तदेशिकाचार्यवेंकटनाथः | ,, | रा. भा. तात्पर्यचंद्रिका |
| ५ श्रीमदानन्दतीर्थाः | (द्वैतः) | ( माध्व- ) भाष्यम् |
| ६ जयतीर्थः | ,, | प्रमेयदीपिका |
| ७ श्रीमद्धनुमान् | (केवलाद्वैतः) | पैशाचभाष्यम् |
| ८ श्रीवेंकटनाथः | ,, | ब्रह्मानंदगिर्याख्यानम् |
| ९ श्रीमद्वल्लभाचार्याः | (शुद्धाद्वैतः) | तत्त्वदीपिका |
| १० पुरुषोत्तमजी | ,, | अमृततरङ्गिणी |
| ११ नीलकण्ठः | (अद्वैतः) | भारतभावदीपः |
| १२ यामुनमुनिः | (विशिष्टाद्वैतः) | गीतार्थसङ्ग्रहः |
| १३ महादेशिकाचार्यो वेंकटनाथः | | गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा |
| १४ श्रीपाद्मपुराणोक्तं गीतामाहात्म्यम् | | ( प्रत्यध्यायम् ) |
| १५ अनंताख्या धूपकरशास्त्रिणः | | अविगीता ( टीप्पन्यः ) |

पब्लीशर—नटवरलाल इच्छाराम देसाई बी. ए.
"गुजराती" प्रिन्टिंग प्रेस
सासून बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन् सर्कल, कोट–मुंबई १

# PUBLISHERS' NOTE

The first edition of this collection of Bhāshyas and Tikās (commentaries) on Shrimad Bhagwad Gitā, Volume I, Part I, was published in 1906 A. D. by our late and revered father Ichcharām Suryarām Desai, a great admirer of Shree Krishna. It took nearly 25 years to sell off that edition of 1000 copies. It had become very popular among lovers of Vedānt Philosophy and those interested in Hindu religion and literature. The late Bāl Gangādhar Tilak, the author of Gitā-Rahasya (Marathi) greatly appreciated our enterprise. At the request, therefore, of the many admirers and students of the Gitā, we have decided to bring out a second edition, which in addition to being critical has been thoroughly revised and enlarged. In editing it, the learned Shastri, who is responsible for the work, has taken the help of various printed and manuscript copies of the Gitā. In the present edition we have referred to 13 commentaries, (11 principal and 2 minor Tikās) and the order in which they have been printed has some significance underlying it.

Although the text of the Gitā is very old, it is not known whether there existed any commentator of it before the Ādi-Shankara Achārya. In his introduction of the Gitā Bhāshya, he refers to some desultory Tikās, extant in his time, and suggests a few–five or six–variants, but the palm of honour goes to him for settling the text of the Gitā and for having written his Adwaita Bhāshya on it, thus forming the Prasthān Trayee, i. e., the basic three principal Hindu books of theology and philosophy. It was he who first expounded his Absolute Adwaita philosophy basing it on the Gita, the ten principal Upanishads and the Brahma-Sutras (the Prasthān Trayee). He lived from 780 to 812 A. D. His work stimulated other Āchāryas i. e., heads of the different Sampradayās (sects) to examine and refute his reasoning and views and formulate their own theories. After him one religious thinker after another tried his best to vindicate his own doctrine. Some of them have corroborated Shankara's doctrine, while others have taken views quite opposite to those of Shankara on one and the same stanza and also in general. It is a veritable interesting intellectual fight, this wrangling about interpretation of words and phrases;—this method of twisting the meaning has not ceased o-day even. Even European scholars of note have interpretated the meaning of the Gitā in different ways.

We have in this edition given in sequence the four chief Bhāshyas along with the commentaries on them written by acknowledged Āchāryas and Tikākārs (commentators).

(1 and 2) First in order comes Kevala-Adwaita Bhāshya of the great philosopher Shree Shankarāchārya with the Vyākhyā of Ānandgiri (about A. D. 1200).

Gitā is accepted as an authority by both the Smartas and Vaishnavas without distinction. The Smartas consider the Bhāshya of Shankara as representing their doctrine. They make no distinction between the different Devatās, whom they consider as but the different phases of one Para-Brahma or Ātmā. Gitā is considered by the Vaishnavas as the chief book of authority in guiding their lives. The Smārtas also do not lag behind in respecting the Gitā for the same purpose. Thus, in some respects, Shankaracharya represents both the Vaishnava as well as the Smārta side of the Hindu religion.

(3 and 4) Next is the Vishishta-Adwaita Bhāshya of the great Rāmānuja Āchārya (about 1017-1137 A. D.) with the Tikā Tātparya-Chandrikā of Vedānta Deshika.

But before Rāmānuja flourished, his Guru (predecessor) Yamunā Muni had written a very small Tikā, compressed and terse, in about 32 stanzas, known as Artha sangraha, and Vedānta Deshika the erudite scholar and follower of Rāmānuja, wrote a running commentary on it called the Rakshā. To understand thoroughly the Bhāshya of Rāmānuja, it is absolutely necessary to read these two Tikās together. We have therefore printed them (Artha-sangraha and Rakshā) in this edition at the begining of each chapter. This anthology completely represents the tenets of the Vishishta-adwaita doctrine of the Shree Sampradaya of the Vaishnava sect of Rāmānuja.

(5 and 6) The third in order comes the Dwaita Bhāshya of Madhvācharya (about 1199-1278 A. D.) with the Tikā Prameya Deepikā of Jayateertha. They represent the Dualistic school of philosophy. This sect, is also a branch of Vaishnavism.

(7) After this has been printed the Paishacha Bhāshya of Hanumat. There is no commentary on it.

Tradition says that on the battle field of Kurukshetra it was Hanumān, the servent of Shree Rāmchandra Bhagwān, popularly known as the Monkey-God, who holding the banner on the chariot of Arjuna, was the first to listen to the great divine spiritual discourse of Lord Shree Krishna; [Sanjaya who naratted word for word the events to Dhritarāshtra was the second listener; Veda-Vyāsa the composer of the discourse into verse, was the third; Ganapati who wrote it down at the request of Veda-Vyāsa was the fourth; Vaishampāyana who renarrated it to Janmejaya was the fifth; and Suta Purānik who retold it to Shaunaka and other Rishis in Naimyshāranya the sixth; and so on, it became very popular.] At the end of the discourse when Lord Shree Krishna found Hanumān committing his discourse to memory on the battle field, he asked him not to reveal its secret meaning to any one, but Hanuman asked the Lord's permission to do so, as it would benefit mankind. The Lord told him that he could do it not in the same body, but on assuming a new body. To this Hanuman agreed and taking the astral body of a Pishācha wrote out the Bhashya known after him as the Paishācha-Bhāshya; but even a superficial study of this Bhāshya would show that it does not materially differ from Shankara's doctrine of Absolute Adwaitism.

Some, however, believe the Paishacha Bhashya to be the basis of Shankara's Bhāshya, and that the real meaning of the teaching of the Gitā is what Hanumān

and Shankara state. For this reason Hanumān is placed before Shankar in sequence of time. But some scholars do not believe in the above tradition. They are of opinion that Hanumān must be the name of a Pandit who might have flourished after Shankara, and who wrote this Bhāshya in the Pishācha language, Keeping-shankar's Bhāshya as a model before him, (a branch of the Prākrit language, used in Sanskrit dramas) and the present Bhāshya that goes by his name is merely a Sanskrit version of the same. Pishāch Bhāshā is the popular language in which Gunadhya (about A. D. 135) wrote Brihat-kathā-manjari, from which Somadeva Bhatta of Kashmir wrote his famous Kathā-saritsāgar in Sanskrit (about A. D. 900).

It may be, it is only a surmise, that the original Paishācha Bhāshya was written in the Pishāch Bhāshā which is now lost to us. From that some one has rendered it into Sanskrit, and it is before us now. Whether the original author of it was the Monkey-God or a learned Pandit of the name of Hanumān, the acknowledged author of Hanumān-Nātaka, it is very difficult to decide at this distant date.

This popular tradition alluded to here is to demonstrate that the real meaning of the Gitā is Absolute (Kevala or Nirguna) Adwaitavāda propounded by Shankara, because it has the support of Hanumān, the standard bearer of Arjuna. From all these some what doubtful data and stories it is very difficult to assign any definite date to the author of the Paishācha Bhāshya.

(8) After the Paishâcha Bhāshya has been printed the Brahmānanda-giri Vyākhyā of Vyankatanātha. It is a unique commentary. Vyankatanāth, its author critically examines the three doctrines of Shankara, Ramanuja and Madhva and gives his own independent judgment on them. He leans more towards the Adwaitavada of Shankara, still at times respectfully differs from him and in some places from Madhusudan Saraswati also. He is a very bold commentator. He even has the boldness to suggest a kind of re-arrangement of the stanzas of the sixth chapter according to the Yogasutras of Pātanjali. He has not commented upon the different *Vibhutis* of the Lord mentioned in the 10th Adhyāya, considering them to be simple and already sufficiently clear. It is very refreshing to read his Tikā. He flourished after Madhusudan Saraswati, i. e., in the seventeenth century A. D.

(9 and 10). The third Vaishnava sect is represented by Shri Vallabhācharya (1473-1531 A. D.) His doctrine is known as Shuddhadwaitavāda, but he himself has not written any Bhāshaya on the Gita, nor on any of the principal Upanishads. He has only written a Bhāshya on Brahma-Sutras called Anu Bhāshya and that too only upto a portion of its third Adhyāya. But what his teachings and opinions are, can very easily be gleaned from Sarvanirnaya and Shastrārtha Prakarans of his Nibandha. He has expressed his opinion on the Gitā in the Tatva-deepa Nibandha, which has been printed at the end of the text of the Gitā.

Although Shree Vallabha Ācharya has not written any Bhāshya on the Gitā, two of his descendants, Vallabha and Purushottama (1668-1784 A. D.) have written commentaries for the guidance of his (Shree Vallabhācharya's) disciples. This second Vallabha who was a desendant of Shree Raghunathji Māharaj, (who was the fifth grand-son of Shree Vallabhācharya) wrote Tattva-deepikā Tikā, but nothing particular is known about the date and place of his birth. Even a

cursory glance at his work will show that this second Vallabha has mostly followed Rāmānuja in his Tikā, whereas Purushottamji's Amrittarangini is illuminated with some original brilliant ideas, though we miss in the commentary his powerful and masterly genius which produced the Anu-bhāshya-prakāsh. These two commentaries bring out clearly the doctrine and tenets of the Shuddhādwaita sect.

(11) The last commentary on the Gitā which has been selected for printing is the Bhāva-deepa of Nilkantha Bhatta, the well known commentator on the whole of the Mahabharata. He follows Shankarāchārya's doctrine of Adwaita. He flourished in the fifteenth century A. D.

Thus this collection of Tikās covers a period of more than one thousand years, but it is strange to find that all the writers come from South India, and are mostly of Dravidian origin.

The doctrines of the chief four Sampradāyas would, thus, be found in this volume, namely (1) Kevaladwaitism of Shankara, (2) Vishistadwaitism of Rāmānuja, (3) Dwaitism of Madhva and (4) Shuddhadwaitism of Vallabha.

There now remains the Tikā of one more Sampradāya. It is that of Nimbārkaswami, (about 1164 A. D.) which is known as Dwaita-adwaitism or Bheda-abhedism. Like Shree Vallabhāchārya, Nimbarka has also not written any commentary ( Bhāshya or Tikā ) on the Gitā or the Upanishads, but a short Tikā on Brahma-Sutras known as Vedanta Kaustubha. His well-known disciple Keshava Kashmirin ( 1510 A. D. about ) has written out a commentary on the Gitā in accordance with his teachings. This Tikā has already been published by us years ago in the second collection of the eight Tikās on the Gitā written by altogether different well-known authors or religious teachers.

If any one is interested in the study of the different shades of meaning attached to the words of the Gitā and the hair-splitting interpretation of its phrases, these two collections of the Bhāshyas and Tikās will prove a very valuable asset to him. Besides these published Tikās, we possess in our Library four hitherto unpublished Tikās. The diversity of views is due to the fact that the Gitā is such a book that every scholar finds some new light in its words and phrases, and even to day many Tikās in various vernaculars have been and are being written and published in India, Europe and America along with articles and essays, in journals and magazines.

In order to make the collection complete, even from the orthodox point of view, we have printed two kinds of Gitā-Mahātmyas and Nyāsa-Dhyāna etc., at the begining of the work. The second Gitā-Mahātmya, so far as we are aware, has not still been published any where. At the end of each chapter or Adhyāya we have inserted Mahātmyas peculiar to that chapter from the Padma-purān, showing in what great veneration and esteem the Gitā is held by all sects of Hindus.

We cannot close this preface without thanking Shastri Annant Yagneshwara Dhupkara of Goa ( Mashal ) who has kindly gone through the book while it was being printed and has written valuable notes, styled by him as Avi-Gitā. He has made use of Marathi commentaries on the Gitā viz. that of Gyanāneshwara Maharaj

and Vāmana Pandit. His rendering of the Marathi Ovis and Aryas in Sanskrit inspires admiration. He has also suggested many variants in the text based on old manuscripts, and they have been shown in their proper places.

We thank the editor, the learned Shastri, Gajanan Shambhu Sadhale for the pains taken by him in hunting out the various sources of the original quotations appearing in the Bhāshyas and the Tikās. His labour cannot be over valued. In order to allow him time to trace the original source of the quotations, composed forms or pages of the book were often delayed in going to the press for days together; where he has not been able to trace the source blank space is left for the diligent and studious reader to fill it up. We shall feel highly obliged if any of the readers of this volume of the Gitā points out the untraced source or draws our attention to any mistake that might have crept in. No pains have been spared to ensure accuracy, but still it is beyond human effort to escape committing mistakes or misprints altogether, for which our apologies are due to the reader.

We are aware that a book of this nature should have different kinds of proper indexes, but we have been able to give in this volume only the index of the verses at the end, and an exhaustive contents of the different subjects treated in each Adhyaya at the beginning. The rest we propose to do, God willing, in a separate publication.

In conclusion we reverently place this collection of fragrant flowers and *Tulsi patras* (leaves of the Tulsi-plant) picked from Bhāshyas and Tikās, the result of many years' labour and expense, at the holy lotus feet of Lord Shree Krishna, who sang, not only for Arjuna alone, but for the benefit of all creation, the Divine Song, full of melodious notes touching Hindu morals and religion, high philosophy and proper conduct of human life.

## SEQUENCE.

| | | |
|---|---|---|
| | Yamunā Muni | Artha-sangraha |
| | Deshika | Rakshā |
| 1. | Shankara | Kevala (absolute) Adwaita Bhāshya |
| 2. | Ānandagiri | Vyākhyā |
| 3. | Rāmānuja | Vishishta-Adwaita (peculiar) Bhāshya |
| 4. | Deshika | Tatparya-chandrikā |
| 5. | Madhva | Dwaita-Bhāshya |
| 6. | Jayatirtha | Prameya Deepikā |
| 7. | Hanumat | Paishācha-Bhāshya |
| 8. | Venkata-nātha | Brahmanāndagiri |
| 9. | Vallabha | Shuddha (Pure) Adwaita |
| 10. | Purushottama | Amrita-tarangini. |
| 11. | Nilakantha | Bhāva-deepa |

Gita-Jayanti
Bombay
6-12-1935

Natverlal Itchharam Desai
Proprietor
The Gujarati Pr. Press

Rs. a.p.

श्रीमद्भगवद्गीता

**Shreemad-Bhagavat-Geeta** *Vol. II.*

This volume contains another set of 8 more useful commentaries or glossaries. The first is the Bhashya *Tattwa-prakashika* तत्त्वप्रकाशिका by Shree *Keshava Kashmiri Bhattacharya*, a follower of the *Dwaita-adwaita* school of Shree *Nimbarka* Swami, a great Vaishnava preacher. The second commentary known as *Guddhartha-deepika* is by the able exponent of *Adwaitic* philosophy, (with a tinge of *Bhakti*-devotion) Shree *Madhusudan Saraswati*. It is a running glossary on Shree Shankaracharya's Bhashya. The third commentary is *Tatparya-bodhini* of Shree *Shankaranand Swami*; (He was the guru of Shree Vidyaranya Swami, the author of Vedanta *Panchdashi*); the fourth is *Subodhini* by Shree *Shreedhar Swami*; the fifth is *Bhava-Prakasha* by *Sadananda* (It is in verse-form); the sixth is *Bhashyotkarsha deepika* i. e. further light on the exposition of the Bhashya of Shree Shankaracharya by Shree *Dhanapatisuri*; the seventh is *Paramarthaprapa* by Daivadnya Pandit Shree *Surya*. The commentaries from two to seven are different expositions of the Adwaita philosophy, while the last one *Arthasangraha* is an exposition of the Dwaita philosophy by Shree *Raghavendra*. (This is different from that one of Yamun Muni, printed in the 1st Vol).

This collection of Bhashyas and commentaries of different schools of thought in India is very rare and unique and was very much praised and appreciated by the late *Lok-Manya Bal Gangadhar Tilak*, who specially recommended these two volumes for a comparative study to the scholars in his famous book called the *Geeta Rahasya* (written in Marathi Language).

The second volume is bulky ( Pages 1327 ) and the size is super-octovo... ... ... ... Rs. 10- 0-0

## Annalysis of the Commentaries:—

| | Schools of Philosophy | Exponents. | Works. | vol. |
|---|---|---|---|---|
| 1 | Adwaita. | Shankara. | Bhashya. | (I) |
| 2 | Dwaita. | Madhwa. | Bhashya. | (I) |
| 3 | Vishista-Adwaita. | Ramanuja. | Bhashya. | (I) |
| 4 | Suddha-Adwaita. | Vallabha. | Tatva-deepika. | (I) |
| 5 | Dwaita-Adwaita. | Nimbarka. | Tatva-Prakashika. | (II) |

(I) Further expositions of the Adwaita Philosophy:—

| | Writers. | Works. | |
|---|---|---|---|
| 1 | Hanumat | Paishacha-Bhashya | (I) |
| 2 | Anandagiri. | Bhashya-Vyakhyanam. | (I) |
| 3 | Nilkantha. | Bhava-Pradeepa. | (I) |
| 4 | Madhusudana. | Guddhartha-Deepika. | (II) |
| 5 | Shankarananda. | Tatparya-Bodhini. | (II) |
| 6 | Shreedhara. | Subodhini. | (II) |
| 7 | Sadananda. | Bhava-Prakasha. | (II) |

| | | | Rs. a.p. |
|---|---|---|---|
| 8 | Dhanpatisuri. | Bhashyotkarsha-Deepika. | (II) |
| 9 | Shri Surya Daivadnya. | Paramartha-Prapa. | (II) |
| 10 | Dhupakara Shastri | Avi-Gita | (I) |

(II) Further expositions of the Dwaita Philosophy:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | Jayateertha | Prameya-Deepika. | (I) |
| 2 | Raghavendra. | Artha-Sangraha. | (II) |

(III) Further expositions of Vishishtadwaita Philosophy:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | Yamuna Muni | Artha-Sangraha | (I) |
| 2 | Vedanta Deshika (Venkatnatha) | Artha-Sangraha-raksha | (I) |
| 3 | ,, | Tatparya-chandrika | (I) |

(IV) Further expositions of Shuddhadwaita Philosophy:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | Purshotamji | Amrita-tarangini | (I) |

(V) Further exposition and examination of Absolute Adwaita Vishishtadwaita, and Dwaita philosophy:—

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1 | Venkatanatha (Gauda-Brahmananda) | Brahmananda-giri | (I) |

उत्तरगीता **Uttara-Geeta** With a commentary by Shree *Gaudapada*, the spiritual teacher of the great Shankaracharya, and a disciple of Shuka-Deva, son of Shree Vyas, the author of Mahabharata and Bhagvat. Size Royal 12 mo. ... ... ... 0- 3-0

## Pauranic and Historical.

श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्

**Ramayana** by **Valmiki**. India's greatest epic poem, composed by the first Sanskrit poet Valmiki more than 8000 years ago, with 3 wel-known commentaries:—1st called *Ramayana-Tilaka*; by Shree *Nagesha Bhatta*, 2nd called *Ramayana-Shiromani* by Pandit Shree *Vanshidhara Shiva Sahaya* and 3rd called *Ramayana-Bhushana*, by *Govinda Raj*. The Book is bound in seven parts, cloth bound, size Super-Royal 8 vo. Pages 3082 ... ... Rs. 31—0-0

| | | Pages | | |
|---|---|---|---|---|
| 1 | Bala Kanda बालकाण्डम् | 1—402 | ... | 3- 0-0 |
| 2 | Ayodhya Kanda अयोध्याकाण्डम् | 403-1040 | ... | 5- 0-0 |
| 3 | Aranya Kanda अरण्यकाण्डम् | 1041-1378 | ... | 2-12-0 |
| 4 | KishkindhaKanda किष्किन्धाकाण्डम् | 1379-1694 | ... | 2-12-0 |
| 5 | Sundera Kanda सुन्दरकाण्डम् | 1695-2038 | ... | 3- 8-0 |
| 6 | Yuddha Kanda युद्धकाण्डम् ... | 2039-2726 | ... | 8- 0-0 |
| 7 | Uttara Kanda उत्तरकाण्डम् ... | 2727-3082 | ... | 6- 0-0 |

## Mahabharata.

श्रीमहाभारत विराटपर्व

**Mahabharata-Virata Parva** *(IV)* with 8 commentaries. This book published for the first time in the history of the Sanskrit-literature. This is an enterprizing venture and a publication making quite a new departure from the stereotype printing of the original great epic of India. For the clear understanding of the text and for the elucidation of the various interpretations put

Rs. a.p.

on the verses by different writers, at a very heavy cost it is arranged to publish all available commentaries on all the Parvas or as many Parvas as possible of Mahabharata in a collected form.

The Virata Parva contains the following eight commentaries: (1) *Bharatbhava-deepa* i. e. light on the inner meaning of Bharata by the great commentator of scholastic fame Shree *Nilkantha*. On all the Parvas this commentary is available. (2) *Bharata-deepika* by *Arjuna-Mishra* known also as *Partha Sarathi* who is considered the earliest commentator on Bharata. His commentary is available on about 10 Parvas, though it is thought that he commented on all the Parvas. (3) *Bharata-Prakasha* by *Chaturbhuja-Mishra*. (4) *Bharatartha-Prakasha* by *Sarvadnya-Narayana*. (5) *Durghatartha-Prakashini* i. e. light on only the difficult portions of Bharat by *Vimala-Bodha*. (6) *Virodhartha-Bhanjini* i. e. solution of the apparently diverse meanings of the different verses of Bharata by *Rama-Krishna*. (7) *Vishama-pada-vivarana*, i. e. explanation of the knotty portions of Bharata (8) *Laksh-Abharan* by *Vadirajtirtha*. ... ... ... ... ...

Numerous different readings from various manuscripts have also been given for the facilities of scholars. No library in India or anywhere else should be without these valuable volumes. We can safely say that even the western scholars of renown have not yet attempted an undertaking of this kind. What they have attempted is only to publish the text. We have only a limited number of copies in hand. ... ... ... ... Price Rs. 4- 8-0

श्रीमहाभारत उद्योगपर्व-

**Mahabharata Udyoga Parva** (*V.*)

This parva contains 5 important available commentaries: (1) *Bhava-deepa* by *Nilkantha*; (2) *Deepika* by *Arjuna Mishra*; (3) *Durghatartha Prakashini* by *Vimala Bodha*; (4) *Bharatartha-Prakasha* by *Sarvadnya-Narayana*, and (5) *Lakshabharana* by *Vadirajtirtha*.

It includes besides these commentaries the *Bhashya* of *Shree Shankaracharya* on the *Sanatasujatiya Akhyana* with numerous readings.

These two volumes of Mahabharata are edited with greatest care and pain by the late able Shastri Mahadeva Gangadhar Bakre. These volumes are prescribed as text books in the B. A. and M. A. classes of the University of Bombay and were highly spoken of by the professors. The volumes are printed on thick paper and in beautiful bold types with proper divisions. A friend writes:—"To find the correct text of the great epic this attempt must be encouraged by every Indian and must be preserved in. It is really an example of what is necessary for scholars to do." Cloth bound, Imperial 8 vo. Rs. 8- 8-0

ॐ

# किञ्चिन्निवेदनम्

दिष्ट्येदमिदानीं प्रकाश्यते भगवतो भौमस्य ब्रह्मणो गुह्यै कृतावतारस्य जगद्गुरोः श्रीकृष्णस्य कृपया गीताव्याख्योपव्याख्यानां प्रथमगुच्छे प्रथमं षट्कम् ।

भगवद्गीता नाम जगत्स्थितिकारणप्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणवैदिकधर्मपरमार्थतत्त्वावबोधनरूपविषयमहिम्ना, संशयविपर्ययावस्पृशन्त्या, सत्तर्कशुद्धया प्रतिपादनसरण्या, अकृत्रिमयौजस्विन्या भारत्या, अस्थूलकृशया मूर्त्या, रसानुगुणया पदसंहत्या, नादमधुरया छन्दोविचित्या, अन्यैश्च तैस्तैर्गुणविशेषैर्विष्वक्प्रकृष्यमाणा परमोपनिषदेवाशेषस्य वाङ्मयप्रपञ्चस्य। न केवलं भारते वर्षे, न वा संस्कृतभाषायामेव, अपितु सकलेऽपि वसुमतीतले सर्वास्वपि च भाषासु नास्ति कश्चिदप्यपरो ग्रन्थो योऽस्यास्तुलामारोहेदिति निश्चप्रचमेव सर्वेषां विशेषविदामिदानीम् ।

सा चेयं बादरायणशाण्डिल्यादिभिर्महर्षिभिर्मीमांसितार्था, बौधायनादिभिर्धर्माचार्यैरादृता, पाद्मवाराहादिमहापुराणैरुदीर्णमाहात्म्या, जाग्रता जगन्नायकेन स्वयं गीतत्वाचन्निश्वासीभूतायाः श्रुतेरप्यतिशायिप्रामाण्येति कैश्चन साम्प्रदायिकैः परिगृहीता, परश्शतैः प्राचीनैराचार्यैः प्रज्ञावद्भिश्च व्याख्याता, सम्प्रत्यपि पौरस्त्यैः पाश्चात्यैश्च पण्डितैः सादरं परिशील्यमाना, अधिवसुधं न कस्याप्यविदितेति यद्यपि नापरं परिचायकमपेक्षते, नापि च तत्र चापलायाल्पविषयास्मल्लेखनी प्रगल्भते, तथापि शिष्टाचारानुरोधेन सम्पादककर्तव्यतया प्राप्तमस्याः प्रतिपाद्य-तात्पर्य-वक्तृ-श्रोतृ-व्याख्यातृ-व्याख्यावैशिष्ट्य-कालनिर्णयादिषु विदुषां विवादास्पदीभूतविषयविशेषविवेचनादि 'अवाच्यः सर्वः स्वमतिपरिणामावधि गृणन्' इति पुष्पदन्तोक्तिविसम्भाचिकीर्षितमपि ग्रन्थावलोकनोत्सुकमनसां सहृदयानां समयातिपातसम्भूतो रसभङ्गो माभूदिति पृथगेवोपसंहारात्मना विधित्समानाः प्रकृतप्रकाशनविषयान् कतिचन विशेषान् प्रदर्श्याञ्जसाऽपसरामः ।

यद्यपि चास्मादेव मुद्रणालयात्प्रकाशितपूर्वस्य प्रथमगुच्छस्य द्वितीयमेतत्प्रकाशनं, तथापि प्रथिमादिभिः प्रकर्षविशेषैः सर्वेष्वप्यद्यतनगीताप्रकाशनेषु प्रथमं पदमर्हतीति प्रत्यक्षमेव प्रेक्षावताम् । अत्र तावत्प्रथमं शिरोलेख्यैरुपदर्शितविषयाः प्रतिपङ्क्तिविभक्तार्धाः श्रीभगवद्गीताश्लोकाः शोभन्ते । ततो व्याख्यानपङ्क्तौ—

(१) सम्प्रत्युपलभ्यमानसकलगीताव्याख्यानेषु श्रीमच्छङ्करभगवत्पादाचार्यप्रणीतं प्रसन्नगम्भीरं भाष्यमेव 'ज्येष्ठं पुरोजन्मतया गुणैश्च' इति तदेवाग्रासनमध्यास्ते ।

(२) तत्समीपस्थितेन चानन्दज्ञानविरचितेन 'विवेचनेन' तत्पादपीठं परिपाल्यते ।

(३) तदनन्तरपदे विशिष्टाद्वैताख्येन स्वमतेनाद्वैतद्वैतमतयोरिव समयेनापि तदाचार्ययोः शङ्कराचार्यानन्दतीर्थयोर्मध्यस्थैः श्रीरामानुजाचार्यैर्विरचितं भाष्यरत्नं विराजते ।

(४) तदधस्स्थितया कवितार्किकसिंहश्रीवेङ्कटनाथनिर्मितया तात्पर्यचन्द्रिकया च तत्सम्यगुद्भास्यते ।

(५) तदग्रिमं स्थानं द्वैतमतप्रवर्तकैरानन्दतीर्थापराभिधैर्मध्वाचार्यैः प्रणीतमतिदुरूहाशयं भाष्यं भूषयति ।

(६) तच्च जयतीर्थप्रदीपितया 'प्रमेयदीपिकया' नितान्तं नीराज्यते ।

(७) अध्यात्मशास्त्रे प्राधान्येन प्रस्थानभेदमातस्थुषामेषां भाष्याणां पश्चादतथाविधं पैशाचभाष्यं निषीदति । यद्यपि पार्थरथकेतननिकेतनः प्राभञ्जनिरेवोपर्यासिकया गीताश्रवणापराधकुपितभगवच्छापावाप्तपिशाचभावस्तदपोहनोपायतया प्रणतितुष्टभगवदुपदिष्टमेतद्भाष्यमभाषिष्टेत्यस्ति काऽपि किंवदन्ती,

तथापि भगवत्पादीयं भाष्यमेव भूम्नाऽनुवददो भाष्यमन्येनैव केनचिदर्वाचीनेन हनूमन्नाम्ना पण्डितेन कृतमिति कृतमतयस्तैस्तैर्हेतुभिर्निश्चिन्वते । अत उचितमेवैतस्यात्रावमस्थानेऽवस्थानम् ।

(८) ततः परं वेङ्कटनाथकृतं 'ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानं' व्याख्यानं वरीवर्ति । एतच्च तत्र तत्र माध्वरामानुजोदितानर्थान्सम्यग्विमृश्य निराकुर्वत्, क्वचिन्मधुसूदनादीनतिक्रामतः सयूथ्यानपि तर्जयत्, शाङ्करभाष्यस्य शरीररक्षकत्वं सम्यङ्निर्वहति । शाङ्कररामानुजमाध्वभाष्याणि तुलनयाऽभ्यस्यतामत्रस्थमिदं मन्यामहे महत्साहाय्यमावक्ष्यति । परमत्र माध्वीयत्वेनानूद्यमानं व्याख्यानं न मध्वभाष्यगतं, किन्तु प्रायो विद्याधिराजभट्टकृत- मध्वमतानुवर्तिनीस्थं, क्वचिच्चान्यत एव कुतश्चिदुद्धृतमिति ज्ञेयम् ।

(९, १०) ततः प्रतीचीनं पदयुगुलं वल्लभलालोल्लासिता 'तत्त्वदीपिका 'पुरुषोत्तमजीप्रकाशिता 'अमृततरङ्गिणी' चेति वल्लभाचार्योपज्ञशुद्धाद्वैताख्यवेदान्तप्रस्थानान्तरानुसारि टीकाद्वयं क्रमादाटीकते ।

(११) चरमं स्थानं च व्याख्यास्वचरमश्चतुर्धरनीलकण्ठदीपितो 'भावदीपः' उद्योतयति ।

अथ मध्ये मध्ये मुहुरात्मानमाविष्कुर्वती 'अविगीता' नाम्नी अस्मदीया टिप्पणी विबुधानाराधयितुं प्रयतते । एषा हि क्वचिदभिनवमर्थान्तरमुद्भावयति, विवादास्पदीभूतान्विषयान् विचारयति, सङ्क्षेपतः कुव्याख्यानानि निराकरोति, अत्रासङ्कलितव्याख्यान्तरस्थान् ज्ञानदेवीयादिभाषान्तरमयव्याख्यागतांश्च हृदयहारिणोऽर्थान्मधुकरीव मधुबिन्दून्समाहरति । तत्र च शिवराजसमकालीनेन वामनपण्डितेन प्रणीताया द्वाविंशतिसहस्राधिकवोवीविलसिताया महाराष्ट्रभाषामय्या यथार्थदीपिकाख्यव्याख्याया अपूर्वा प्रतिपादनप्रणाली संस्कृतपण्डितानामपि स्थालीपुलाकन्यायेन परिचिता भवत्विति तद्गताः केचन विषया पद्यैरेव कणशोऽनूद्यन्ते तथा भिन्नभिन्नप्रस्थानानुसारिव्याख्याननिधावस्मिन् गुच्छे प्रत्यभिज्ञाप्रस्थानमपि स्थानमर्हतीति तन्न्यूनतापरिजिहीर्षयाऽभिनवगुप्ताचार्यग्रथितात् गीतार्थसङ्ग्रहादपि कतिचनांशा उपादीयन्ते । इत्थं यथाप्राणं घटमानाममौढामेनां वात्सल्यपूरितया दृशाऽनुगृह्णीयुर्निसर्गकरुणावरुणालया महान्त इति विश्वसिमः ।

(१२) तथाऽयमप्यपरो विशेषो यद्वेङ्कटनाथकृतरक्षालंकृतः श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो 'गीतार्थसङ्ग्रहः' प्रत्यध्यायमिह प्रतीहारायते, नानाख्यानोपशोभितस्य पद्मपुराणीयस्य गीतामाहात्म्यस्य चाध्यायो यथायथं पृष्ठगोप इवोपतिष्ठते ।

(४) तात्पर्यचन्द्रिका (७) पैशाचभाष्यम् (८) ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानं (९) तत्त्वदीपिका चेति व्याख्याचतुष्कमपीदम्प्रथमतया साम्प्रतमस्मिन् गुच्छे समेवति ।

सर्वे चामी ग्रन्थाः शास्त्रिभिः सूक्ष्मेक्षिकया संशोधिता अर्थावच्छेदानुरोधेन विभज्य, वाक्यच्छेद-पदविश्लेषण-परसवर्णकरण-काकुलिङ्गयोजनैः तत्र तत्रोद्धृतप्रमाणवचसामाकरस्थाननिर्देशादिभिश्च प्रसाध्य नानाकारैर्नयनमनोहरैः सीसकाक्षरैराङ्किताः समुद्भासन्ते ।

इत्थमास्थितेऽपि महति यत्ने मुद्रणकार्ये दुर्वारोदयानि यान्यशुद्धिपिशाचानि क्वचित्पदं चक्रुः, तेषां सम्प्रत्यपसारणोपायः शुद्धिपत्रयोजनादपरः कोऽपि नास्तीति प्रत्यध्यायं योजयितुमुपक्रान्तमपि तद्ग्रन्थान्ते पृथङ्निवेशनीयत्वेन प्रकाशकैर्निर्धारितत्वादुपेक्षितमिति क्षन्तव्योऽयं प्रक्रमभङ्गः प्रेक्षावद्भिः ।

अथ तर्ककर्कशवाग्गुम्फकरम्बितानां मीमांसामांसलानां भिन्नभिन्नप्रस्थानपरिकर्मितत्वाद्विशेषतो दुर्विगाहानामेषां ग्रन्थानां सम्पादन-संशोधन-शिरोलेख्ययोजन-पूर्वफल (-प्रूफ-) शोधनादिभिः क्वचिट्टिपन्यादिभिश्च परिष्करणपूर्वकं, समुचितसन्निवेशमनोहरं सुमनसामामोदास्पदं कुसुममुकुलपल्लवानामिवाच्छच्छविगुच्छं निर्मितवन्तो 'गुजराती' मुद्रणालयस्था अनन्यसामान्यसौजन्यशालिनः 'साधले' इत्युपाह्वा

गजाननशास्त्रिणः सर्वेषामेव लब्धवर्णानामुत्तमर्णा इति-मन्यामहे सर्वात्मनेह धन्यवादानर्हन्ति । अस्मिन्प्रकाशन इदम्प्रथमतया संगृहीतानां सर्वेषामपि ग्रन्थानां संशोधनादि तैरेवाकारीति नैतदकीर्तयित्वा तिष्ठामः ।

अन्ततोऽमितद्रव्यव्ययमविगणय्यैवंविधशास्त्रीयमहाकायग्रन्थप्रकाशनेनाखिलस्य कृतिकुलस्य संस्कृतसाहित्यस्य च नितान्तमुपकर्तॄणामगणितगुणगणमण्डितानां 'गुजराती' मुद्रणालयाधिपतीनामायुरारोग्यैश्वर्यादिभिः सर्वाङ्गीणां समुन्नतिं विधत्तात् शाकयताच्चावशिष्टान्यपि गीताव्याख्यानानि तृतीयगुच्छात्मना प्रकाशयितुं तान् भगवान् गीतागुरुर्गोविन्द इत्याशास्य तदनुज्ञया तत्रभवतां विपश्चितामपचित्यै द्वितीयं षट्कं परिष्कृत्योपाहर्तुं प्रवर्तामहे ।

दोषा भवेयुः शतशोऽस्मदीयास्तान्घोषयेयुश्च मृषा द्विषन्तः ।
जानीमहे किन्तु निधाय भारं गुणैकगृह्येषु घटामहेऽत्र ॥

विद्वच्चरणरजःकणः—

विद्याविहारमन्दिरं माशेल–गोवा
शाके १८५६ दीपावली

धूपकरोपाह्वोऽनन्तयज्ञेश्वरशर्मा ।

## विशेषनिवेदनम् ।

इदं विदितमेवात्रभवतां भवतां वेदान्तसिद्धान्तज्ञानामृतपारावारपारीणानां विमलधीविदग्धधुरीणानां यद्भारतभूभारनिर्हरणाय कृतावतारस्यार्जुनसखस्य भगवतो नन्दनन्दनस्याननलिननिर्गतं भवतरङ्गिणीतरणीभूतं निर्वाणपदप्रदं गीताशास्त्रमिति । तन्नामनिर्वचनादिकं किञ्चिन्निवेदने निवेदितमतो न तद्विषयेऽधिकं किञ्चिन्निवेदनीयमिति केवलं ग्रन्थस्यास्य प्रकाशनविषय एवात्र किञ्चिदुच्यते—

यैरयं 'गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस' इति नाम्ना मुद्रणालयः संस्थापितः समुन्नतिं प्रापितश्च तैर्गुर्जरवृत्तपत्रोत्पादकैः 'देसाई' इत्युपाख्यकुलावतंसैः सूरि–सूर्यरामतनूजैरिच्छारामाख्यैः श्रेष्ठिवर्यैर्विद्याज्ञानधनदानोपादानैकव्यसनिभिर्मोक्षैकद्वारभूतवेदान्तज्ञानामृतपरिप्लुतचन्द्रकान्तादिप्रणेतृभिर्विपुलतरद्रव्यव्ययेन वेदवेदान्तोपनिषन्न्यायमीमांसास्मृतिपुराणेतिहासादयः सहस्रद्वयाधिकग्रन्थाः सङ्गृहीताः, यत्रैकैकविषया द्वित्राश्चत्वारो वाऽऽदर्शभूता ग्रन्था दृग्गोचरतां समुपयान्ति । तत एव तैः श्रीमद्भिः श्रेष्ठिवर्यैर्गीतायाः शाङ्करभाष्यादिसप्तव्याख्योपव्याख्यासंवलितः प्रथमं प्रथमो गुच्छः प्राकाशि, द्वितीयश्चाष्टटीकोपेतो गुच्छः । एवं भगवद्गीतायाः स्वसङ्ग्रहोपलब्धव्याख्याग्रथितं तृतीयं गुच्छमप्यङ्कयितुं त्रिकालमुद्युक्तास्तेऽकालं त्रिभुवनं कलयता कालेन वैकुण्ठचरणनलिनसेवनाय समाहूता इव वैकुण्ठमगमन् ।

अथ प्रकाशितपूर्वश्चिररात्राय दुर्लभतामापन्नः स एवायं प्रथमोऽच्छो गुच्छः सहकार्यकर्त्रा वैद्येत्युपाह्वबालकृष्णशर्मणा सहास्माभिः साम्प्रतं टीकाचतुष्टयेन संवर्धित आदर्शपुस्तकैः सुसंस्कृत्य समीकृतो व्याख्योपव्याख्याप्रणेतृभिः स्वस्वमतपुष्ट्यर्थं श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासग्रन्थेभ्यः समुद्धृतानां प्रमाणवचसां मूलस्थलानि प्रचुरतरप्रयत्नैरन्विष्यान्विष्य प्रकरणाध्यायश्लोकवाक्याद्यङ्कैः पाठभेदैश्चालङ्कृत परसवर्ण-पदच्छेद-वाक्यच्छेद-परिच्छेदैर्विरामादिव्यञ्जकचिह्नैश्च चिह्नितो मुद्र्यते पितृचरणपदवीमनुसरद्भिस्तत्सूनुभिः 'नटवरलाल– मदनलाल– बाबुभाई' इति नामधेयप्रथितैः श्रीमद्भिः श्रेष्ठिभिः । तस्येदं प्रथमं षट्कं नितान्तवेदान्तसिद्धान्तानुचिन्तनशीलेभ्य उपहारीक्रियते सानन्दं सविनयं च प्रसन्नचेतोभिस्तैः ।

मुद्रितेषु षोडशपृष्ठेष्वस्य मुद्रणसमारम्भं कुतश्चिदाश्रुत्य सङ्केश्वरमठाधिष्ठितशङ्कराचार्यवर्येभ्यो विद्यालङ्कारेतिलब्धोपपदैर्धूपकरेत्यन्ववायालङ्कारैः श्रीमदनन्तनामधेयैः शास्त्रिभिः स्वविद्याविहारमन्दिरसङ्गृहीतं श्रीमद्वेङ्कटाचार्यविरचितं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानं गीताव्याख्यानं सप्रमदं सविनयं साग्रहं च प्रेषितम् । यदादर्शभूतं याश्चात्र भवल्लोचनालोचनपथमवगाहन्तेऽविगीताख्याष्टिप्पन्यस्तास्तैरेव श्रीमद्भिर्महोदयैर्विरचिता इत्यवधेयम् ।

एवंगुणगणविशेषेण सुसाधिते सुसंस्कृतेऽप्यस्मिन्ग्रन्थेऽस्मद्दृष्टिपथतोऽपगता विद्युदाघाततः कृता वर्णावियोजकवियुक्ताश्च दोषाः स्युस्तान्दोषज्ञाः समीकृत्यामुमङ्गीकुर्वन्त्वित्याशास्ते—

प्राज्ञपादपांसुः—

'साधले' इत्युपाभिख्यः शम्भुसूनुर्गजाननः ।

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमगुच्छे

## प्रथमषट्कस्य विषयानुक्रमः


| विषयाः | पृष्ठांकाः |
|---|---|
| श्रीमद्भगवद्गीतामहात्म्यं | |
| ( अस्मत्संग्रहोपलब्धम् ) ... ... ... | ११ |
| ( वराह पुराणोक्तम् ) ... ... ... | १३ |
| श्रीमद्भगवद्गीताया ऋष्यादिः ... ... ... | १४ |
| शाङ्करभाष्योपोद्घाते — | |
| भाष्यप्रणेतुस्तद्व्याख्यातुश्च मङ्गलम् ... | १ |
| गीताशास्त्रस्य प्रवृत्तिद्वारा भगवदवतारकारणम् | २– ३ |
| वेदार्थसारसङ्ग्रहभूतगीताशास्त्रार्थाविष्करणाय शङ्कराचार्याणां सहेतुका प्रतिज्ञा ... ... | ४– ५ |
| रामानुजभाष्योपोद्घाते— ... ... ... | |
| भाष्यकर्तुस्तद्व्याकर्तुश्च मङ्गलम् ... ... | ५ |
| भगवदवतारद्वारा गीताशास्त्रस्य प्रवृत्तिः ... | ६– ११ |
| माध्वभाष्योपोद्घाते— ... ... ... ... | |
| भाष्य-तट्टीकाकर्त्रोर्मङ्गलम् ... ... | ११ |
| श्रीमद्व्यासावतारकारणम् ... ... ... | १२ |
| महाभारतप्रणयनद्वारा गीताशास्त्रप्रवृत्तिः ... | १२– १४ |
| पैशाचभाष्योपोद्घाते-भाष्यकर्तुर्मङ्गलं गीताशास्त्रप्रवृत्तिश्च | १५ |
| श्रीवल्लभाचार्यप्रकटित-तत्त्वदीपिकोपोद्घातः ... | १६ |
| पुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिण्युपोद्घाते-अद्वैतानां मोक्षोपायत्वेन गीताशास्त्रस्य वर्णनं(अस्मत्-)सिद्धान्तस्याननुगुणं, विशिष्टाद्वैतानामननुगुणं,अस्मदादीनां शुद्धाद्वैतानां तु गीताशास्त्रे मुख्यतया भक्तेरेवोपदेशवर्णनं इति सिद्धान्तप्रतिपादनम् | १८– १९ |
| यामुनमुनिप्रणीतगीतार्थसङ्ग्रहोपोद्घाते — | |
| मङ्गलपूर्वको गीताशास्त्रार्थसङ्ग्रहः ... ... | १९ |
| प्रथममध्यमान्तिमषट्कानामर्थसंग्रहः ... ... | २१ |

### प्रथमोऽध्यायः १।

| विषयाः | श्लो. पृ. |
|---|---|
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः[अध्यायः १] ... | २४ |
| कौरवपाण्डवानां युद्धवृत्तं जिज्ञासोर्धृतराष्ट्रस्य सञ्जयं प्रति प्रश्नः ... ... ... | १– २६ |
| सञ्जयदत्तं धृतराष्ट्रप्रश्नस्योत्तरं; पाण्डवसेनां विलोक्य भीतस्य दुर्योधनस्य द्रोणं प्रत्युक्तिश्च ... | २– २८ |
| पाण्डवपक्षीयाः केचन महारथाः ... ... | ४– ३१ |
| दुर्योधनपक्षीयाः केचन युद्धविशारदा महारथाः | ७– ३३ |
| दुर्योधनस्यावश्यकर्तव्योक्तिः ... ... ... | १०– ३५ |
| युद्धमहोत्सवे भीष्मादिकृतो शङ्खादिवादित्रघोषः | १२– ३६ |
| स्वसारथ्यं स्वीकुर्वाणं श्रीकृष्णं प्रत्यर्जुनोक्तिः ... | २०– ४१ |
| अर्जुनविषादस्य निदानम् ... ... ... | २४– ४४ |
| श्रीकृष्णं प्रति विषण्णार्जुनस्य विषादोक्तिः युद्धाकरणनिश्चयश्च ... ... ... ... | २८– ४५ |
| सञ्जयवाक्यम् ... ... ... ... ... | ४७– ५६ |
| श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमाध्यायस्य माहात्म्यम् | ५८ |
| परिशिष्टम् ( टिप्पन्यः )— ... ... ... | ५९ |

### द्वितीयोऽध्यायः २

| विषयाः | श्लो. पृ. |
|---|---|
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः २ ] | ६० |
| अर्जुनस्य युद्धोपरतिं श्रुत्वा प्रहृष्टं धृतराष्ट्रं प्रति तद्धर्षनाशनं सञ्जयवचनम्, युद्धप्रवृत्तिपरं भगवद्वाक्यं च | १–६१ |
| पूजार्हैर्भीष्मादिभिः स्वजनैश्च युद्धं युक्तमयुक्तं वेत्यर्जुनप्रश्नः ... ... ... ... | ४– ६४ |
| जयापजयसन्दिहानस्यार्जुनस्य श्रीकृष्णं प्रति शरणोपसर्पणम् ... ... ... ... | ६– ६७ |
| सञ्जयवाक्यम् ... ... ... ... ... | ९– ७१ |
| स्वजनवधाद्विषीदन्तं युद्धादुपरतमर्जुनं प्रति आत्मानात्मज्ञानोत्पादनपूर्वकं शोकमोहहरं युद्धप्रवृत्तिकरं भगवद्वचनम् ... ... ... ... | ११– ७३ |
| आत्मनोऽविनाशित्वान्नित्यत्वे दृष्टान्तः ... | १३– ९० |
| आत्मनो नित्यत्वेऽविक्रियत्वे च सहेतुकं दृष्टान्तान्तरम् ... ... ... ... | २३–१३४ |
| लौकिकदृष्ट्याऽप्यात्मनः सहेतुकं शोकमोहानर्हत्वम् | २६–१४५ |
| आत्मनो दुर्बोधत्वं तद्द्रष्टृश्रोतृवक्तॄणां च दौर्लभ्यम् | २९–१५५ |
| आत्मनः सर्वगतत्वान्नित्यमवध्यत्वाच्चाशोच्यत्वम् | ३०–१५५ |
| क्षत्रियस्य प्रधानधर्मत्वाद्युद्धं श्रेयस्साधनं,तत्फलं च | ३१–१५६ |
| क्षत्रियस्य धर्म्ययुद्धाकरणे प्रत्यवायः ... ... | ३३–१६० |
| युद्ध्यमानस्य प्रासङ्गिकोपयुक्तोपदेशः ... ... | ३७–१६४ |
| मुक्त्युपयुक्तज्ञानोपदेशोपक्रमः ... ... ... | ३९–१६७ |
| विच्छिन्नस्यासमाप्तस्यापि निष्कामकर्मणो माहात्म्यं फलप्राप्तिश्च। ... ... ... | ४०–१७१ |
| तत्त्वज्ञानप्रापकैका संसारास्पदभूताश्चानन्ता बुद्धयः | ४१–१७३ |

| विषयाः | श्लो. पृ. |
|---|---|
| मुक्तिसाधनप्रवृत्त्यर्था संसारवैतृष्ण्याय काम्यकर्माधिकृतानां फलाशापाशबद्धानां निन्दा ... | ४२-१७७ |
| कामात्मनां फलीभूताद्वेदोदितादपि मुमुक्षुणा स्वोचितसारग्राहिणा भाव्यमित्यादिः सदृष्टान्तोपदेशः | ४५-१८३ |
| योगयुक्तानां जनिमृतिनिवृत्तिपूर्वको ... ... मोक्षपदप्राप्त्युपायः ... ... ... ... | ५१-२०५ |
| बुद्धिशुद्धिसिद्धिद्वारा वैराग्यज्ञाननिष्ठयोः प्राप्तिकालः ... ... ... ... | ५२-२०७ |
| स्थितप्रज्ञस्य(ज्ञाननिष्ठस्य ) किंलक्षणमित्यर्जुनस्य प्रश्नः ... ... ... ... | ५४-२११ |
| श्रीभगवदुक्तानि स्थितप्रज्ञस्य ( ज्ञाननिष्ठस्य ) ससाधनानि लक्षणानि ... ... ... | ५५-२१४ |
| इन्द्रियाणां विषयवैमुख्येऽपि तद्रागानुवृत्तिनिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्युपायः ... ... | ५९-२२१ |
| स्थितप्रज्ञत्वसिद्ध्यर्थं बलवदिन्द्रियाणां ... ... जयोपायस्तत्फलं च ... ... ... ... | ६०-२२४ |
| विषयस्मरणस्यानर्थकरत्वादिन्द्रियनिग्रहावश्यकता | ६२-२२६ |
| सेन्द्रियनिग्रहो मनसः स्वास्थ्योपायस्तत्फलं च | ६४-२२९ |
| स्थितप्रज्ञस्य ज्ञानिनोऽपि विषयानुभवे दृष्टान्तः | ७०-२३९ |
| मुमुक्षोर्जीवनाद्यर्थं विषयसेविनोऽपि मुक्त्युपायः | ७१-२४२ |
| मुमुक्षोः ससन्न्यासब्रह्मनिष्ठावश्यकतापूर्वक एतदध्यायोक्तार्थस्योपसंहारः ... ... | ७२-२४३ |
| द्वितीयाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | २४९ |
| द्वितीयाध्यायस्य परिशिष्टम् ( टिप्पन्यः ) | २५१ |


## तृतीयोऽध्यायः ३


| | |
|---|---|
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः [ अध्यायः ३ ] | २५७ |
| प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गयोर्युगपदुपदेशेनाकुलीभूतस्यार्जुनस्य प्रश्नः ... ... ... ... | १-२५८ |
| पूर्वोक्तं व्यामिश्रं मन्वानस्यार्जुनस्य भ्रमापाकरणायाधिकारभेदेन कर्मज्ञानयोरङ्गाङ्गिभावज्ञापनाय च भगवदुत्तरम् ... ... | ३-२६९ |
| अनात्मविदः कर्मयोगावश्यकत्वम् ... ... | ४-२७३ |
| नित्यनैमित्तिककर्मणोऽवश्यकर्तव्यता प्रामाण्यं च | १०-२८८ |
| कर्मणो जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वम् ... ... ... | १४-२९५ |
| ज्ञानिनः कर्मकरणानपेक्षा ... ... ... | १७-३०३ |
| असम्यग्ज्ञानिन एव निष्कामकर्मोपदेशः... ... | १९-३०९ |
| लोकस्य धर्मसंग्रहार्थं कर्मकर्तव्यतायां श्रेष्ठाचारनिदर्शनम् ... ... ... ... | २२-३१५ |
| भगवदाज्ञानुवर्तिनां फलसौष्ठवमितरेषां च वैफल्यम् | ३१-३२८ |
| विदुषामविदुषां च सदसदाचारानुसरणे कारणम्... | ३३-३३१ |
| बलवदिष्टानिष्टानुपातिनो रागद्वेषयोर्नियमनावश्यकता ... ... ... ... | ३४-३३३ |
| परधर्मात्स्वधर्मस्यैव श्रेयस्करत्वम् ... ... | ३५-३८३ |
| ज्ञानिनोऽपि पापाचरणप्रवृत्तेः कारणम् ... ... | ३७-३३५ |
| कामस्य वैरित्वे दृष्टान्तत्रयं, तदावरणप्रकारपूर्वकं रूपं च ... ... ... ... | ३८-३४२ |
| कामस्याधिष्ठानप्रदर्शनं तज्जयोपायश्च ... ... | ४०-३४५ |
| सोपकरणकामजयार्थं तदावृतवस्तुनिदर्शनम् ... | ४२-३४७ |
| तृतीयाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | ३५३ |


## चतुर्थोऽध्यायः ४ ।


| | |
|---|---|
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः ४ ] | ३५५ |
| उक्तयोगोपदेशस्य कृत्रिमत्वशङ्कानिवृत्त्यर्था तत्स्तुतिः | १-३५६ |
| स्वस्मिन्मनुष्यत्वशङ्कां निवारयितुं भगवद्वचनम्... | ५-३६४ |
| भगवदाविर्भावस्य कालः प्रयोजनं च ... ... | ७-३७४ |
| भगवदवतारज्ञानस्य मोक्षोपयोगित्वम् ... | ९-३७२ |
| मोक्षोपायत्वे पूर्वप्रमाणम् ... ... ... | १०-३७७ |
| कर्मकर्तुरधिकारभेदेनैव तत्फलप्राप्तिः, नेश्वरवैषम्यम् | ११-३७९ |
| मुक्त्युपायभूतेशसृष्टा वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था, तया चेशस्याधिकारित्वम् ... ... ... | १३-३८५ |
| कर्माद्यवलेपशून्यपरमात्मज्ञानिनोऽपि कर्माद्यनवलेपता, तद्दार्ढ्याय च पूर्वपूर्वतरप्रामाण्यम् ... | १४-३८९ |
| कर्माकर्मविकर्मणां दुर्बोधत्वम् ... ... ... | १७-३९५ |
| कर्माकर्मविकर्मतत्त्वज्ञानिनो मोक्षार्हता ... ... | १८-३९७ |
| अकर्मणि कर्म कर्मणि चाकर्म पश्यतो विदुषः प्रशंसा | १९-४०६ |
| ज्ञानिना क्रियमाणस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानयज्ञसम्पादनम् ... ... ... ... | २४-४१७ |
| दैवाद्या द्वादशापरे यज्ञाः ... ... ... | २५-४२४ |
| उक्तयज्ञफलम् ... ... ... ... ... | ३०-४३२ |
| सर्वयज्ञेभ्यो ज्ञानयज्ञस्य वैशिष्ट्यम् ... ... | ३३-४३८ |
| ज्ञानप्राप्त्युपायस्तत्फलं च । ... ... ... | ३४-४४० |
| संशयेनाधःपतनसम्भवात्तदकरणोपदेशः... ... | ४०-४४९ |
| छिन्नसंशयस्य ज्ञानिनः कर्मबन्धनाभावः ... | ४१-४५१ |
| संशयनिरसनोपायः । ... ... ... ... | ४२-४५२ |
| चतुर्थाध्यायस्य माहात्म्यम्... ... ... | ४५५ |


## पञ्चमोऽध्यायः ५ ।


| | |
|---|---|
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः ५ ] | ४५६ |
| कर्मसन्न्यासकर्मयोगयोर्मध्ये कस्य प्राशस्त्यमित्यर्जुनस्य प्रश्नः । ... ... ... ... | १-४५७ |
| सन्न्यासकर्मयोगयोर्मध्ये कर्मयोगस्य वैशिष्ट्यम् । | २-४६४ |
| कर्मयोगस्य वैशिष्ट्ये कारणान्तरम् ... ... | ६-४७२ |
| सम्यग्दर्शनप्राप्त्यर्थं कर्म कुर्वतोऽपि योगिनः सकारणा कर्मालिप्तता । ... ... ... | ७-४७५ |
| ईश्वरार्पणबुद्ध्या फलाभिलाषबुद्ध्या च कर्मकर्तुः फलम् | १२-४८२ |

| विषयाः | श्लो. पृ. |
|---|---|
| अशुद्धचित्तस्याविदुषः सकाशाच्छुद्धचित्तस्य विदुषो वैशिष्ट्यम् । ... ... ... | १३–४८३ |
| जगतो मायाकर्तृत्वादात्मनोऽकर्तृत्वं अकारयितृत्वं च । ... ... ... ... | १४–४८७ |
| ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिस्तत्फलं च । ... ... ... | १६–४९१ |
| ज्ञानिनां समदर्शित्वं जीवन्मुक्तित्वं च ... | १८–४९५ |
| समदर्शित्वसिद्ध्यर्थं निर्द्वन्द्वत्वं, निस्सङ्गत्वं, कामादिदोषदर्शनं, तद्वेगनिवारणं, आत्मन्येव भोग्यताकल्पनं चेति पञ्चविधं क्रमशो ब्रह्मणि स्थितस्य लक्षणम्... | २०–४९९ |
| सम्यग्दर्शिनो मोक्षकारणस्य ज्ञानस्य साधनान्तरम् | २९–५०८ |
| मोक्षार्थिभिः कामक्रोधरहितैः संयतचित्तैश्च भाव्यमित्युपदेशः ... ... ... ... | २६–५१० |
| सम्यग्दर्शनान्तरङ्गभूतस्य वक्ष्यमाणध्यानयोगस्य सङ्क्षेपेणोपक्रमः ... ... ... ... | २७–५११ |
| पञ्चमाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | ५१९ |

षष्ठोऽध्यायः ६ ।

| विषयाः | श्लो. पृ. |
|---|---|
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः ६ । ] | ५०२ |
| ध्यानयोगाधिकारहेतुभूतस्य निष्कामकर्मयोगस्य प्रशंसा ... ... ... ... | १–५२१ |
| निष्कामकर्मैव ध्यानयोगस्य साधनम् ... ... | ३–५२८ |
| योगारूढत्वस्य सहेतुकः कालः ... ... ... | ४–५३१ |
| योगारूढत्वस्य मनोनिग्रह एव साधनं लक्षणं च | ५–५३३ |
| सम्प्रज्ञातसमाधेः साङ्गानि बाह्यान्तरुपकरणानि ... | १०–५४२ |
| सिद्धयोगिनोऽसम्प्रज्ञातसमाधेः सदृष्टान्तावस्था | १८–५५२ |
| सम्प्रज्ञातसमाधेः सलक्षणं विवरणं, अवश्यकर्तव्यत्वं च | २०–५५५ |
| मनोनियमनोपायः ... ... ... ... | २६–५६२ |
| सिद्धयोगस्य योगिनः सम्प्रज्ञातसमाधिरूपफलप्राप्तिः | २७–५६३ |
| जीवन्मुक्तस्य योगिनः सलक्षणं श्रेष्ठत्वम् ... | ३१–५६९ |
| भगवतोक्तयोगं चित्तचाञ्चल्याद्दुस्साध्यं मन्यमानस्यार्जुनस्योपायान्तरबुभुत्सया प्रश्नः... | ३३–५७८ |
| मनोनिग्रहोपायपूर्विका योगसिद्धेः शक्यता ... | ३५–५७० |
| मनसो दुर्निग्रहत्वाद्योगसिद्धावन्तरायं पश्यतोऽर्जुनस्य प्रश्नः ... ... ... ... | ३७–५७७ |
| सुकृतस्य सुकृतं फलम् ... ... ... ... | ४०–५८० |
| योगभ्रष्टस्य विनाशाभावादुत्तमगतिप्रतिपादनम् | ४१–५८१ |
| अध्यायार्थभूतस्य योगस्य सर्वतश्श्रैष्ठ्यात् योगिनोऽपि सर्वतश्श्रैष्ठ्यम् ... ... | ४६–५८८ |
| उपासनाकाण्डोपक्रमपूर्वकः कर्मकाण्डोपसंहारः | ४७–५९० |
| षष्ठाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... ... | ५९४ |
| श्रीमद्भगवद्गीता-प्रथमषट्कश्लोकानामादिवर्णानामनुक्रमः | ५९७ |

इति श्रीगीताप्रथमषट्कविषयानुक्रमणिका ।


# महाभारतम्

## श्रीमहाभारत—विराट्पर्व अष्टटीकोपेतम् ।

(१) नीलकण्ठकृतभारतभावदीपः
(२) अर्जुनमिश्रकृतदीपिका
(३) चतुर्भुजमिश्रकृतप्रकाशः
(४) सर्वज्ञनारायणकृतभारतार्थप्रकाशः
(५ विमलबोधकृतदुर्घटार्थप्रकाशिनी
(६) रामकृष्णकृतविरोधार्थभञ्जनी
(७) विषमपदविवरणं
(८) वादीराजतीर्थविरचितलक्षाभरणं चेत्येताभिरष्टभिष्टीकाभिरुपेतं विपुलपाठभेदसहितं च । मूल्यम् ४–८–०

## श्रीमहाभारत—उद्योगपर्व पञ्चटीकोपेतम् ।

(१) नैलकण्ठीयभावदीपः
(२) अर्जुनमिश्रीयदीपिका
(३) विमलबोधकृतदुर्घटार्थप्रकाशिनी
(४) सर्वज्ञनारायणीय–भारतार्थप्रकाशः
(५) वादीराजतीर्थविरचित–लक्षाभरणं चेत्येताभिः पञ्चभिः टीकाभिरुपेतम् । मूल्यम् ८–८–८

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—गुजराती प्रिंटिंग प्रेस
सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट–मुंबई.

# श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्* ।

**ऋषिरुवाच—**

गीतायाश्चैव माहात्म्यं यथावत्सूत ! मे वद ।
पुराणमुनिना प्रोक्तं, व्यासेन मुनिनोदितम् ॥ १ ॥

**सूत उवाच—**

पृष्टं भवद्भिर्ऋषिभिर्यद्धि गोप्यं पुरातनम् ।
शक्यते केन वै वक्तुं गीतामाहात्म्यमुत्तमम् ॥ २ ॥
कृष्णो जानाति वै सम्यक्किञ्चित्कुन्तीसुतः फलम् ।
व्यासो वा व्यासपुत्रो वा याज्ञवल्क्योऽथ मैथिलः ॥ ३ ॥
अन्ये श्रवणतः श्रुत्वा लेशं सङ्कीर्तयन्ति च ।
तस्मात्किञ्चिद्वदाम्यत्र व्यासस्यास्यान्मया श्रुतम् ॥ ४ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ५ ॥
सारथ्यमर्जुनस्यादौ कुर्वन्गीतामृतं ददौ ।
लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ६ ॥
संसारसागरं घोरं तर्तुमिच्छति यो नरः ।
गीतानावं समासाद्य पारं याति सुखेन सः ॥ ७ ॥
गीताज्ञानं श्रुतं नैव सदैवाभ्यासयोगतः ।
मोक्षमिच्छति मूढात्मा याति बालकहास्यताम् ॥ ८ ॥
ये शृण्वन्ति पठन्त्येव गीताशास्त्रमहर्निशम् ।
न ते वै मानुषा ज्ञेया देवरूपा न संशयः ॥ ९ ॥
गीताज्ञानेन सम्बोधं कृष्णः प्राहार्जुनाय वै ।
मोक्षस्थानं परं पार्थ ! सगुणं वाऽथ निर्गुणम् ॥ १० ॥
सोपानाष्टदशैरेवं परं ब्रह्माधिगच्छति ।
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने ॥ ११ ॥
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।
परास्याच्च श्रुतं ज्ञानं तस्मिञ्छ्रद्धा न भावना ॥ १२ ॥
गीतायाश्च न जानाति पठनं नैव पाठनम् ।
स एव मानुषे लोके मनुजो विड्वराहकः ॥ १३ ॥
तस्माद्गीतां न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक्तस्य मानुषं देहं धिग्ज्ञानं कुलशीलताम् ॥ १४ ॥
गीतार्थं नैव जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक् शरीरं शुभं शीलं विभवं सद्गृहाश्रमम् ॥ १५ ॥
गीताशास्त्रं न जानाति नाधमस्तत्परो जनः ।
धिक्प्रागल्भ्यं प्रतिष्ठां च पूजां मानं महत्तमम् ॥ १६ ॥
गीताशास्त्रे रतिर्नास्ति चेत्सर्वं निष्फलं जगुः ।
धिक्तस्य ज्ञानमाचारं व्रतं निष्ठां तपो यशः ॥ १७ ॥
गीतार्थपठनं नास्ति नाधमस्तत्परो जनः ।
गीतागीतं न यज्ज्ञानं तद्विद्ध्यासुरसम्मतम् ॥ १८ ॥
तन्मोघं धर्मरहितं वेदवेदान्तगर्हितम् ।
तस्माद्धर्ममयी गीता सर्वज्ञानप्रयोजिका ॥ १९ ॥
सर्वशास्त्रमयी यस्मात्तस्माद्गीता विशिष्यते ।
योऽधीते नित्यगीतां च दिवारात्रौ यथार्थतः ॥ २० ॥
स्वपञ्जाग्रन्व्रजंस्तिष्ठन् शाश्वतं मोक्षमाप्नुयात् ।
शालग्रामशिलायां तु देवागारे शिवालये ॥ २१ ॥
तीर्थे नद्यां पठेद्यस्तु वैकुण्ठं याति निश्चितम् ।
देवकीनन्दनः कृष्णो गीतापाठेन तुष्यति ॥ २२ ॥
यथा न वेदैर्दानेन यज्ञतीर्थव्रतादिभिः ।
गीताऽधीता च येनापि भक्तिभावेन चेतसा ॥ २३ ॥
तेन वेदाश्च शास्त्राणि पुराणानि च सर्वशः ।
योगिस्थाने सिद्धपीठे शिलाग्रे सत्सभासु च ॥ २४ ॥
यज्ञे च विष्णुभक्ताग्रे पठन्याति परां गतिम् ।
गीतापाठं च श्रवणं यः करोति दिने दिने ॥ २५ ॥
क्रतवो वाजिमेधाद्याः कृतास्तेन सदक्षिणाः ।
यः शृणोति च गीतार्थं कीर्तयत्येव यः पुमान् ॥ २६ ॥
श्रावयेच्च परार्थं वै स प्रयाति परं पदम् ।
गीतायाः पुस्तकं नित्यं योऽर्चयत्येव सादरात् ॥ २७ ॥
विधिना भक्तिभावेन तस्य पुण्यफलं शृणु ।
सकला भूः कृता तेन यज्ञस्तम्भवती किल ॥ २८ ॥
कृतानि सर्वतीर्थानि दानानि च बहून्यपि ।
भूतप्रेतपिशाचाद्यास्तत्र न प्रविशन्ति वै ॥ २९ ॥
अतिचौरोद्भवं दुःखं परेणापि कृतं च यत् ।
नोपसर्पति तत्रैव यत्र गीतार्चनं गृहे ॥ ३० ॥
तापत्रयोद्भवा पीडा नैव व्याधिभयं क्वचित् ।
न शापो नैव पापं च दुर्गतिर्नारकी न च ॥ ३१ ॥

---

* अस्मद्गुजरातीमुद्रणालयस्थ– पुराणहस्तलिखित– ग्रन्थसंग्रहादेतदुपलब्धम् ।

देहोर्मयः षडेते वै न बाधन्ते कदाचन।
भगवत्परमेशाने भक्तिरव्यभिचारिणी॥ ३२॥
जायते सततं तत्र यत्र गीताभिवन्दनम्।
प्रारब्धं भुञ्जमानोऽपि गीताभ्यासरतः सदा॥ ३३॥
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते।
महापापादिपापानि गीताध्यायी करोति चेत्॥ ३४॥
न किञ्चित्स्पृशते तस्य नलिनीदलमम्भसा।
अनाचारोद्भवं पापमवाच्यादि कृतं च यत्॥ ३५॥
अभक्ष्यभक्ष्यजं दोषमस्पर्शस्पर्शजं तथा।
ज्ञानाज्ञानकृतं नित्यमिन्द्रियैर्जनितं च यत्॥ ३६॥
तत्सर्वं नाशमायाति गीतापाठेन तत्क्षणात्।
सर्वत्र प्रतिभुक्त्वा च प्रतिगृह्य च सर्वशः॥ ३७॥
गीतापाठं प्रकुर्वाणो न लिप्येत कदाचन।
रत्नपूर्णां महीं सर्वां प्रतिगृह्य विधानतः॥ ३८॥
गीतापाठेन चैकेन शुद्धः स्फटिकवत्सदा।
यस्यान्तःकरणं नित्यं गीतायां रमते सदा॥ ३९॥
सदाग्निकः सदाजापी क्रियावान्स च पण्डितः॥
दर्शनीयः स धनवान्स योगी ज्ञानवानपि॥ ४०॥
स एव याज्ञिको याजी सर्ववेदार्थदर्शकः।
गीतायाः पुस्तकं यत्र नित्यपाठश्च वर्तते॥ ४१॥
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि भूतले।
निवसन्ति सदा देहे देहशेषेऽपि सर्वदा॥ ४२॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये।
गोपालबालकृष्णोऽपि नारदो ध्रुवपार्षदौ॥ ४३॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते।
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं तथा॥ ४४॥
तत्राहं निश्चितं पार्थ! निवसामि सदैव हि।
गीता मे चोत्तमं स्थानं गीता मे परमं पदम्॥ ४५॥
गीता मे परमं गुह्यं गीता मे परमो गुरुः।
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे परमं गृहम्॥ ४६॥
गीता मे हृदयं पार्थ! गीता मे सारमुत्तमम्।
गीता मे ज्ञानमत्युग्रं गीता मे ज्ञानमव्ययम्॥ ४७॥
गीताज्ञानं समाश्रित्य त्रिलोकीं पालयाम्यहम्।
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः॥ ४८॥
अर्धमात्राक्षरा नित्यमनिर्वाच्यपदात्मिका।
गीतानामानि वक्ष्यामि गुह्यानि शृणु पाण्डव!॥४९॥
कीर्तनात्सर्वपापानि विलयं यान्ति तत्क्षणात्।
गीता गङ्गा च गायत्री सीता सत्या पतिव्रता॥५०॥
ब्रह्मावली ब्रह्मविद्या त्रिसन्ध्या मुक्तिगेहिनी।
अर्धमात्रा चिदानन्दा भवघ्नी भ्रान्तिनाशिनी॥५१॥
वेदत्रयी पराऽनन्ता तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी।
इत्येतानि जपेन्नित्यं नरो निश्चलमानसः॥ ५२॥
ज्ञानसिद्धिं लभेच्छीघ्रं तथाऽन्ते परमं पदम्।
पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे तदर्धं पाठमाचरेत्॥ ५३॥
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः।
त्रिभागं पठमानस्तु सोमयागफलं लभेत्॥ ५४॥
षडंशं जपमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत्।
तथाऽध्यायद्वयं नित्यं पठमानो निरन्तरम्॥ ५५॥
इन्द्रलोकमवाप्नोति कल्पमेकं वसेद्ध्रुवम्।
एकमध्यायकं नित्यं पठते भक्तिसंयुतः॥ ५६॥
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम्।
अध्यायार्धं च पादं वा नित्यं यः पठते जनः॥ ५७॥
समेति रविलोकं च मन्वन्तरसमाः शतम्।
गीतायाः श्लोकदशकं सप्तपञ्चचतुष्टयम्॥ ५८॥
त्रिद्व्येकमेकमर्धं वा श्लोकानां प्रपठेन्नरः।
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं तथा॥ ५९॥
गीतार्थमेकपादं च श्लोकमध्यायमेव च।
स्मरंस्त्यक्त्वा जनो देहं प्रयाति परमं पदम्॥ ६०॥
गीतार्थं वापि पाठं वा शृणुयादन्तकालतः।
महापातकयुक्तोऽपि मुक्तिभागी भवेज्जनः॥ ६१॥
गीतापुस्तकसंयुक्तः प्राणांस्त्यक्त्वा प्रयाति यः।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते॥ ६२॥
गीताध्यायसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत्।
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम्॥ ६३॥
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत्।
यद्यत्कर्म च सर्वत्र गीतापाठप्रकीर्तितम्॥ ६४॥
तत्तत्कर्म च निर्दोषं भूत्वा पूर्णत्वमाप्नुयात्।
पितॄनुद्दिश्य यः श्राद्धे गीतापाठं करोति वै॥ ६५॥
सन्तुष्टाः पितरस्तस्य निरयाद्यान्ति स्वर्गतिम्।
गीतापाठेन सन्तुष्टा पितरः श्राद्धतर्पिताः॥ ६६॥
पितृलोकं प्रयान्त्येव पुत्राशीर्वादतत्पराः।
गीतापुस्तकदानं च धेनुपुच्छसमन्वितम्॥ ६७॥
कृत्वा च तद्दिने सम्यक्कृतार्थो जायते जनः।
पुस्तकं हेमसंयुक्तं गीतायाः शुद्धमानसः॥ ६८॥
दत्त्वा विप्राय विदुषे जायते न पुनर्भवः।
शतपुस्तकदानं च गीतायाः प्रकरोति यः॥ ६९॥
स याति ब्रह्मसदनं पुनरावृत्तिदुर्लभम्।
गीतादानप्रभावेण सप्तकल्पावधि समाः॥ ७०॥
विष्णुलोकमवाप्नोति विष्णुना सह मोदते।
सम्यक् श्रुत्वा च गीतार्थं पुस्तकं यः प्रदापयेत्॥ ७१॥
तस्मै प्रीतो हि भगवान्ददाति मनसेप्सितम्।
देहं मानुषमाश्रित्य चातुर्वर्ण्येषु भारत!॥ ७२॥
न शृणोति न पठति गीताममृतरूपिणीम्।
हस्तात्त्यक्त्वाऽमृतं प्राप्तं कष्टात् क्ष्वेडं समश्नुते॥७३॥

पीत्वा गीतामृतं लोके लब्ध्वा मोक्षं सुखी भवेत् ।
जनैः संसारदुःखार्तैर्गीताज्ञानं च यैः श्रुतम् ॥ ७४ ॥
सम्प्राप्तममृतं तैश्च गतास्ते सदनं हरेः ।
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ॥ ७५ ॥
निर्धूतकल्मषा लोके गतास्ते परमं पदम् ।
गीतासु न विशेषोऽस्ति जनेषूच्चावचेषु च ॥ ७६ ॥
ज्ञानेष्वेव समग्रेषु समा ब्रह्मस्वरूपिणी ।
योऽभिसूयति गीतां च यो निन्दां वा करोति च ॥ ७७ ॥
समेति नरकं घोरं यावदाभूतसम्प्लवम् ।
अहङ्कारेण मूढात्मा गीतार्थं नैव मन्यते ॥ ७८ ॥
कुम्भीपाकेषु पच्येत यावत्कल्पक्षयो भवेत् ।
गीतार्थं वाच्यमानं यो न शृणोति समीपतः ॥ ७९ ॥
श्वशूकरभवां योनिमनेकां सोऽधिगच्छति ॥
चौर्यं कृत्वा च गीतायाः पुस्तकं यः समानयेत् ॥ ८० ॥
न तस्मै तत्फलं किञ्चित्पठनाच्च वृथा भवेत् ।
यः श्रुत्वा नैव गीतार्थं मोदते परमार्थतः ॥ ८१ ॥
नैवाप्नोति फलं लोके प्रमादाच्च वृथा श्रमः ।
गीतां श्रुत्वा हिरण्यं च पट्टाम्बरप्रवेष्टनम् ॥ ८२ ॥
निवेदयेच्च तद्वक्त्रे प्रीतये परमात्मनः ।
वाचकं पूजयेद्भक्त्या द्रव्यवस्त्राद्युपस्करैः ।
अनेकैर्बहुधा प्रीत्या तुष्यतां भगवान्हरिः ॥ ८३ ॥
माहात्म्यमेतद्गीतायाः कृष्णप्रोक्तं पुरातनम् ॥ ८४ ॥
गीतान्ते पठते यस्तु यथोक्तफलभाग्भवेत् ।
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ॥ ८५ ॥
वृथा पाठफलं तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ।
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीतापाठं करोति यः ॥ ८६ ॥
श्रद्धया यः शृणोत्येव दुर्लभां गतिमाप्नुयात् ।
श्रुत्वा पठित्वा गीतां च माहात्म्यं यः शृणोति च ॥
तस्य पुण्यफलं लोके भवेद्वै मनसेप्सितम् ॥ ८७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यं समाप्तम् ।

# वाराहोक्तं गीतामाहात्म्यम् ।

**धरोवाच—**

भगवन्परमेशान ! भक्तिरव्यभिचारिणी ।
प्रारब्धं भुज्यमानस्य कथं भवति हे प्रभो ! ॥ १ ॥

**विष्णुरुवाच—**

प्रारब्धं भुज्यमानो हि गीताभ्यासरतः सदा ।
स मुक्तः स सुखी लोके कर्मणा नोपलिप्यते ॥ २ ॥
महापापादिपापानि गीताध्यानं करोति चेत् ।
क्वचित्स्पर्शं न कुर्वन्ति नलिनीदलमम्बुवत् ॥ ३ ॥
गीतायाः पुस्तकं यत्र यत्र पाठः प्रवर्तते ।
तत्र सर्वाणि तीर्थानि प्रयागादीनि तत्र वै ॥ ४ ॥
सर्वे देवाश्च ऋषयो योगिनः पन्नगाश्च ये ।
गोपाला गोपिका वाऽपि नारदोद्धवपार्षदैः ॥ ५ ॥
सहायो जायते शीघ्रं यत्र गीता प्रवर्तते ।
यत्र गीताविचारश्च पठनं पाठनं श्रुतम् ।
तत्राहं निश्चितं पृथ्वि ! निवसामि सदैव हि ॥ ६ ॥
गीताश्रयेऽहं तिष्ठामि गीता मे चोत्तमं गृहम् ।
गीताज्ञानमुपाश्रित्य त्रींल्लोकान्पालयाम्यहम् ॥ ७ ॥
गीता मे परमा विद्या ब्रह्मरूपा न संशयः ।
अर्धमात्राक्षरा नित्या स्वानिर्वाच्यपदात्मिका ॥ ८ ॥
चिदानन्देन कृष्णेन प्रोक्ता स्वमुखतोऽर्जुनम् ।
वेदत्रयी परानन्दा तत्त्वार्थज्ञानसंयुता ॥ ९ ॥
योऽष्टादशजपो नित्यं नरो निश्चलमानसः ।
ज्ञानसिद्धिं स लभते ततो याति परं पदम् ॥ १० ॥
पाठेऽसमर्थः सम्पूर्णे ततोऽर्धं पाठमाचरेत् ।
तदा गोदानजं पुण्यं लभते नात्र संशयः ॥ ११ ॥
त्रिभागं पठमानस्तु गङ्गास्नानफलं लभेत् ।
षडंशं जपमानस्तु सोमयागफलं लभेत् ॥ १२ ॥
एकाध्यायं तु यो नित्यं पठते भक्तिसंयुतः ।
रुद्रलोकमवाप्नोति गणो भूत्वा वसेच्चिरम् ॥ १३ ॥
अध्यायं श्लोकपादं वा नित्यं यः पठते नरः ।
स याति नरतां यावन्मन्वन्तरं वसुन्धरे ! ॥ १४ ॥
गीतायाः श्लोकदशकं सप्त पञ्च चतुष्टयम् ।
द्वौ त्रीनेकं तदर्धं वा श्लोकानां यः पठेन्नरः ॥ १५ ॥
चन्द्रलोकमवाप्नोति वर्षाणामयुतं ध्रुवम् ।
गीतापाठसमायुक्तो मृतो मानुषतां व्रजेत् ॥ १६ ॥
गीताभ्यासं पुनः कृत्वा लभते मुक्तिमुत्तमाम् ।
गीतेत्युच्चारसंयुक्तो म्रियमाणो गतिं लभेत् ॥ १७ ॥
गीतार्थश्रवणासक्तो महापापयुतोऽपि वा ।
वैकुण्ठं समवाप्नोति विष्णुना सह मोदते ॥ १८ ॥
गीतार्थं ध्यायते नित्यं कृत्वा कर्माणि भूरिशः ।
जीवन्मुक्तः स विज्ञेयो देहान्ते परमं पदम् ॥ १९ ॥
गीतामाश्रित्य बहवो भूभुजो जनकादयः ।
निर्धूतकल्मषा लोके गीता याताः परं पदम् ॥ २० ॥
गीतायाः पठनं कृत्वा माहात्म्यं नैव यः पठेत् ।
वृथा पाठो भवेत्तस्य श्रम एव ह्युदाहृतः ॥ २१ ॥
एतन्माहात्म्यसंयुक्तं गीताभ्यासं करोति यः ।
स तत्फलमवाप्नोति दुर्लभां गतिमुत्तमाम् ॥ २२ ॥

**सूत उवाच—**

माहात्म्यमेतद्गीताया मया प्रोक्तं सनातनम् ।
गीतान्ते च पठेद्यस्तु यदुक्तं तत्फलं लभेत् ॥ २३ ॥

इति श्रीवाराहपुराणे श्रीमद्गीतामाहात्म्यं सम्पूर्णम् ।

# श्रीमद्गीताया ऋष्यादि ।

(१) ॐ अस्य श्रीमद्भगवद्गीतामालामन्त्रस्य भगवान्वेदव्यास ऋषिः । (२) अनुष्टुप् छन्दः । (३) श्रीकृष्णः परमात्मा देवता । (४) 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इति बीजम् । (५) 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' इति शक्तिः । (६) 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति कीलकम् । श्रीकृष्णप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः ।

## करन्यासविधिः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
इत्यङ्गुष्ठाभ्यां नमः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।
इति तर्जनीभ्यां नमः ।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
इति मध्यमाभ्यां नमः ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
इत्यनामिकाभ्यां नमः ।
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
इति कनिष्ठिकाभ्यां नमः ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।
इति करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ।

## अङ्गन्यासविधिः ।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
इति हृदयाय नमः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।
इति शिरसे स्वाहा ।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
इति शिखायै वषट् ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।
इति कवचाय हुम् ।
पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।
इति नेत्रत्रयाय वौषट् ।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ।
इत्यस्त्राय फट् ।

## अथ ध्यानादि* ।

ॐ पार्थाय प्रतिबोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्येमहाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मम्ब ! त्वामनुसन्दधामि भगवद्गीते भवद्वेषिणीम् ॥ १ ॥

नमोऽस्तु ते व्यास ! विशालबुद्धे
फुल्लारविन्दायतपत्रनेत्र ।
येन त्वया भारततैलपूर्णः
प्रज्वालितो ज्ञानमयः प्रदीपः ॥ २ ॥

प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये ।
ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ ३ ॥
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ॥ ४ ॥
वसुदेवसुतं देवं कंसचाणूरमर्दनम् ।
देवकीपरमानन्दं कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् ॥ ५ ॥
भीष्मद्रोणतटा जयद्रथजला गान्धारनीलोत्पला
शल्यग्राहवती कृपेण वहनी कर्णेन वेलाकुला ।
अश्वत्थामविकर्णघोरमकरा दुर्योधनावर्तिनी
सोत्तीर्णा खलु पाण्डवै रणनदी कैवर्तकः केशवः ॥ ६ ॥
पाराशर्यवचःसरोजममलं गीतार्थगन्धोत्कटं
नानाख्यानककेसरं हरिकथासम्बोधनाबोधितम् ।
लोके सज्जनषट्पदैरहरहः पेपीयमानं मुदा
भूयाद्भारतपङ्कजं कलिमलप्रध्वंसि नः श्रेयसे ॥ ७ ॥
मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् ।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ ८ ॥
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ९ ॥

इति ध्यानादि ।

---

* ध्यैचिन्तायां स्मृतो धातुर्विष्णुचिन्ता मुहुर्मुहुः ।
अनाक्षिप्तेन मनसा ध्यानमित्यभिधीयते ॥ इत्यग्निपुराणे ।

# श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकासमलंकृता ।

[ प्रथमो गुच्छः ]

यदिदं प्रत्यक्षमेव अत्रभवद्भिर्वेदान्तशास्त्रपारावारपारीणैः भवदवदाव-
दाहजासहतृष्णाशनज्ञानामृतपिपासुभिश्च गुणमात्रैकग्राहिभिः
शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेतायाः श्रीमद्भगवद्गीतायाः

## प्रथमं षट्कं

पाणिपाथोजगतमालोच्यते ।

तथैवैतद्गुणगणानुगुणमन्तरमन्तरेण सम्प्रति मुद्र्यते

## मध्यमं षट्कम् ।

एतस्मिन्नपि व्याख्योपव्याख्याप्रणेतृभिः स्वस्वमतपुष्ट्यर्थं श्रुतिस्मृति-
पुराणेतिहासग्रन्थेभ्यः समुद्धृतानां प्रमाणवचसां मूलस्थलानि
प्रचुरतरप्रयत्नैरन्विष्यान्विष्य प्रकरणाध्यायश्लोकाद्यङ्कैर्निवे-
शितानि विराजन्ते । तदल्पीयसैवावसरेण श्रीमद्भ्यो
भवद्भ्यो वितरितुं प्रयतामहे । ततः परं तथैव

## अन्तिमं षट्कमपि ।

| | | |
|---|---|---|
| प्रथमषट्कम् .... .... ... | मूल्यम् | रु. ८ |
| मध्यमषट्कम् .... ....( प्रायः ) | ,, | रु. ५ |
| तृतीयषट्कम् .... .... ,, | ,, | रु. ७ |

श्रीमद्भगवद्गीता अष्टटीकोपेता । द्वितीयो गुच्छः मूल्यम् रु. १०

उपलब्धिस्थानम्-

' गुजराती ' प्रिन्टिंग प्रेस

सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट, मुंबई नं. १

निम्बार्कीयतत्त्वप्रकाशिकाद्यष्टटीकोपेता

# श्रीमद्भगवद्गीता

[ द्वितीयो गुच्छः ]

अयि समीक्ष्यकारिणो विचक्षणाः ! यदा खलु 'गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस' संस्थापकै-र्गुजरातीवृत्तपत्रोत्पादकैश्च देसाईकुलविभूषणैः सूर्यरामतनूजैरिच्छारामाख्यैः श्रेष्ठिवर्यैः स्वीयप्राचीनतरहस्तलिखितग्रंथसंग्रहाद्विचित्य विचित्य सप्तटीकात्मकः श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमो गुच्छो मुद्रितस्तदैव तदन्तर्गतव्याख्योपव्याख्याप्रणेतॄणां चतुर्णां सांप्रदायिनामद्वैतद्वैतविशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतमतानि, एकमतानुसारिणां विचक्षणानामपि तत्तद्व्याख्योपव्याख्याकृतं विचक्षणत्वरूपं चार्थान्तरवैचित्र्यमालोच्य कथं तेषां तत्परस्परविरुद्धराद्धान्तप्रतिपादनं, कथं तैरेक एवश्लोकः श्लोकार्धं तद्गतवाक्यानि वा स्वस्वसिद्धान्तसमर्थकनया स्वाविरोधितयोपवर्ण्यन्ते, कथं च ते परस्परं स्वाद्वैताद्यनुयाय्युपमर्दे प्रवर्तन्ते ? तद्दर्शनकुतुकजुषां तत्त्वजिज्ञासूनां चेप्सितं सम्पादयितुकामैस्तैरेव निम्बार्कपथानुयायितत्त्वप्रकाशिकायुतश्चाष्टटीकात्मकोऽयं द्वितीयगुच्छोऽपि मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

एवं प्रथमगुच्छान्तरालस्थितानां सम्प्रति टीकाचतुष्टयसंवर्धितशाङ्करभाष्याद्येकादशव्याख्योपव्याख्यानां द्वितीयगुच्छान्तर्गताष्टव्याख्यानां चावलोकनकृतां विदुषां टीकान्तरालोचनावशिष्टं किञ्चिदपि नावशिष्येतेत्यलमतिपल्लवितेन ।

पूर्वमत्र भारतेऽस्मिन्खण्डे देशे देशान्तरेषु दिक्षु विदिक्षु चाविगीतयशोभिर्लोकमान्यैः बालगङ्गाधरतिलकैः स्वोक्ते गीतारहस्ये यैः स्ववदननलिनवचनसुमनोभिः स्वलङ्कृतोऽयमच्छो गुच्छस्तान्येत्र तेषां सुमनसां सुमनोहराणि सुमनानीमानिः—

वल्लभसंप्रदायी तत्त्वदीपिका, गुजराती प्रिन्टिंगप्रेस मधली... ...; पण ... ... बाकीच्या आणि निंबार्क संप्रदायाची व दुसऱ्या कांहीं टीका मिळून एकंदर पंधरा [ सध्या एकोणीस ] संस्कृत टीका गुजराती प्रिंटिंग प्रेसनें नुकत्याच [ शके १८३४ ] छापून प्रसिद्ध केल्या असल्यामुळें या एकाच ग्रंथानें आतां सर्व निर्वाह होतो. (गीतारहस्य– पुणें, अधिक वैशाख शके १८३७; **बाळ गंगाधर टिळक.**)

निरनिराळ्या सांप्रदायिक आचार्यांचीं गीतेवरील भाष्यें व त्या संप्रदायांतील इतर प्रमुख टीका मिळून पंधरा [ सध्या एकोणीस ] टीका मुंबईस गुजराती प्रिंटिंग प्रेसचे मालक यांनीं नुकत्याच [ इ. स. १९१२ ] प्रसिद्ध केल्या आहेत. निरनिराळ्या टीकाकारांचे अभिप्राय एकदम कळण्यास हा ग्रंथ फार सोयीचा आहे.

[ गीतारहस्य टिपणी ] **बाळ गंगाधर टिळक.**

## टीकाकाराणां टीकानां च नामानि।

| | |
|---|---|
| १ निम्बार्कमतानुयायि श्रीकेशव-काश्मीरिभट्टाचार्यपादप्रणीता ... **तत्त्वप्रकाशिका** | ५ श्रीसदानन्दविरचितः ... **भावप्रकाशः** |
| २ श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृता ... **गूढार्थदीपिका** | ६ श्रीधनपतिसूरिविरचिता— **भाष्योत्कर्षदीपिका** |
| ३ श्रीशङ्करानन्दप्रणीता ... **तात्पर्यबोधिनी** | ७ दैवज्ञपंडितश्रीसूर्यविरचिता ... **परमार्थप्रपा** |
| ४ श्रीधरस्वामिकृता ... ... **सुबोधिनी** | ८ पूर्णप्रज्ञमतानुसारिश्रीराघवेन्द्रकृतः — **अर्थसंग्रहः** |

चेत्येताभिर्व्याख्याभिरष्टाभिः सहितायाः श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयो गुच्छः । अत्र श्लोकाः स्थूलतमाक्षरैष्टीकाश्च स्थूलाक्षरैर्मुद्रिताः वृद्धा मा क्लेशिषतेति ।

मूल्यम् १०–०–०

श्रीमद्भगवद्गीता– मूलमात्रं मू० ०–३–०

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीवेदव्यासप्रणीतमहाभारतान्तर्गता

# श्रीमद्भगवद्गीता ।

श्रीमदानन्दगिरिकृतव्याख्यासंवलित–शाङ्करभाष्य–श्रीमद्वेदान्ताचार्यवेङ्कटनाथवि-
रचिततात्पर्यचन्द्रिकान्वित–रामानुजभाष्य–जयतीर्थरचितप्रमेयदीपिकाभूषि-
तानन्दतीर्थ( माध्व )भाष्य–श्रीमद्धनुमत्कृतपैशाचभाष्य–श्रीवेङ्कटनाथ-
रचितब्रह्मानन्दगिर्याख्यव्याख्यान–वल्लभलालविरचिततत्त्वदीपिका-
पुरुषोत्तमजीप्रकाशितामृततरङ्गिणी–नीलकण्ठकृतभारतभा-
वदीपाख्यैरेकादशभिर्भाष्यतट्टीकादिभिः समलङ्कृता ।
प्रत्यध्यायारम्भे सुस्पष्ट–सुष्ठ्वर्थ–बोधनार्थं गीतार्थसंग्रहेण तद्रक्षापर-
नामाङ्कितया टीकया च विभूषिता ।

तत्रादौ शाङ्करभाष्योपोद्धातः ।

तत्र मङ्गलम् ।

ॐ नारायणः परोऽव्यक्तादण्डमव्यक्तसम्भवम् ।
अण्डस्यान्तस्त्विमे लोकाः सप्तद्वीपा च मेदिनी ॥ १ ॥

## आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

दृष्टिं मयि विशिष्टार्थां कृपापीयूषवर्षिणीम् । हेरम्ब ! देहि प्रत्यूहक्ष्वेडव्यूहनिवारिणीम् ॥ १ ॥
यद्वक्त्रपङ्करुहसम्प्रसूतं निष्ठामृतं विश्वविभागनिष्ठम् । साध्येतराभ्यां परिनिष्ठितान्तं तं वासुदेवं सततं नतोऽस्मि ॥ २ ॥
प्रत्यञ्चमच्युतं नत्वा गुरूनपि गरीयसः । क्रियते शिष्यशिक्षायै गीताभाष्यविवेचनम् ॥ ३ ॥

कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठेत्युपायोपेयभूतं निष्ठाद्वयमधिकृत्य प्रवृत्तं गीताशास्त्रं व्याचिख्यासुर्भगवान्भाष्यकारो विघ्नोपप्लवोपशमनादि-प्रयोजनप्रसिद्धये प्रामाणिकव्यवहारप्रमाणकमिष्टदेवतातत्त्वानुस्म-रणं मङ्गलाचरणं सम्पादयन्ननवशेषेणेतिहासपुराणयोर्व्याचिख्यासि-तगीताशास्त्रेणैकवाक्यतामभिप्रेत्य पौराणिकश्लोकमेकमेवान्तर्या-मिविषयमुदाहरति–**नारायण** इति । 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः'[मनुः १।१०] इति स्मृतिसिद्धः स्थूलदृशां नारायणशब्दार्थः सूक्ष्मदर्शिनः पुनराचक्षते— नरशब्देन चराचरात्मकं शरीरजातमुच्यते । तत्र नित्यसन्निहिताश्चिदाभासा जीवा नारा इति निरुच्यन्ते। तेषामयन-माश्रयो नियामकोऽन्तर्यामी नारायण इति। यमधिकृत्यान्तर्या-मिब्राह्मणं श्रीनारायणाख्यं मन्त्राम्नायं चाधीयते, तदनेन शास्त्र-प्रतिपाद्यं विशिष्टं तत्त्वमादिष्टं भवति । ननु परस्याऽऽत्मनो माया-सम्बन्धादन्तर्यामित्वं शास्त्रप्रतिपाद्यत्वं च वक्तव्यमन्यथा कूट-स्थासङ्गाविषयाद्वितीयस्य तदयोगात्, तथा च शुद्धताऽसिद्धौ कथं यथोक्ता परदेवता शास्त्रादावनुस्मर्यते ? शुद्धस्य हि तत्त्वस्य

अनुस्मरणमभीष्टकाल [फल] वदभीष्टं, तत्राऽऽह- **परोऽव्यक्ता**दिति। अव्यक्तमव्याकृतं मायेत्यनर्थान्तरं तस्मात्परो व्यतिरिक्तस्तेनासंस्पृष्टोऽयं परः "अक्षरात्परतः परः" [मुं. उ. २।१।२] इति श्रुतेर्गृहीतः । तत्त्वतो मायासम्बन्धाभावेऽपि कल्पनया तदीयसङ्गतिमङ्गीकृत्यान्तर्यामित्वादिकमुन्नेयम् । यस्मादीश्वरस्य व्यतिरेको विवक्षितस्तस्मिन्नव्यक्ते साक्षिसिद्धेऽपि कार्यलिङ्गकमनुमानमुपन्यस्यति— **अण्ड**मिति । अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मकं हैरण्यगर्भं तत्त्वमण्डमित्यभिलप्यते । तदव्यक्तात्पूर्वोक्तादुत्पद्यते । प्रसिद्धा हि श्रुतिस्मृतिवादेषु हिरण्यगर्भस्य मूलकारणादुत्पत्तिः । तथा च कार्यलिङ्गादव्यक्तादभिव्यक्तिरित्यर्थः। हिरण्यगर्भे श्रुतिस्मृतिसमधिगतेऽपि कार्यलिङ्गकमनुमानमस्तीति मन्वानो विराडुत्पत्तिमुपदर्शयति— **अण्डस्ये**ति । उक्तस्याण्डस्य हिरण्यगर्भाभिधानीयस्यान्तरिमे भूरादयो लोका विराडात्मका वर्तन्ते । कार्यं हि कारणस्यान्तर्भवति, तेन हिरण्यगर्भान्तर्भूता भूरादयो लोका विराडात्मानस्तेन सृष्टा इति तल्लिङ्गाद्धिरण्यगर्भसिद्धिरित्यर्थः । लोकानेव पञ्चीकृतपञ्चमहाभूतात्मकविराडात्मत्वेन व्युत्पादयति-**सप्तद्वीपे**ति । "सा पृथिव्यभवत्" [बृहदा.उ.१।२।२] इति श्रुतौ विराजो जन्म सङ्कीर्तितमित्यङ्गीकारादशेषद्वीपोपेता पृथिवीत्यनेन सर्वलोकात्मको विराडेवोच्यते । **च**शब्देन विराजो हि हिरण्यगर्भे पूर्वोक्ताण्डात्मन्यन्तर्भावात्ततः सम्भवोऽनुकृष्यते । परमात्मा हि स्वाज्ञानद्वारा जगदशेषमुत्पाद्याऽऽत्मन्येवान्तर्भाव्याखण्डैकरससच्चिदानन्दात्मना स्वे महिम्नि तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र च नारायणशब्देनाभिधेयमुक्तम् । नरा एव नारा जीवास्त्वम्पदवाच्यास्तेषामयनमधिष्ठानं तत्पदवाच्यं परं ब्रह्म । तथा च कल्पितस्याधिष्ठानातिरिक्तस्वरूपाभावाद्वाच्यस्य कल्पितत्वेऽपि लक्ष्यस्य ब्रह्ममात्रत्वाद्ब्रह्मात्मैक्यं विषयोऽत्र सूच्यते । तेनार्थाद्विषयविषयिभावः सम्बन्धोऽपि ध्वनितः । परोऽव्यक्तादित्यनेन मायासंस्पर्शाभावोक्त्या सर्वानर्थनिवृत्त्या परमानन्दाविर्भावलक्षणो मोक्षो विवक्षितः । तेन च तत्कामस्याधिकारो द्योतितः । परिशिष्टेन तु वस्तुनो वास्तवमद्वितीयत्वमावेदितम् । तेन च वस्तुद्वारा परमविषयत्वं तज्ज्ञाननिष्ठायास्तदुपायभूतकर्मनिष्ठायाश्चावान्तरविषयत्वमित्यर्थादुक्तमित्यवधेयम् ॥ १ ॥

**शां. भा.— स भगवान् सृष्ट्वेदं जगत्, तस्य च स्थितिं चिकीर्षुः, मरीच्यादीन् अग्रे सृष्ट्वा, प्रजापतीन् प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं ग्राहयामास वेदोक्तम् । ततः अन्यान् च सनकसनन्दनादीन् उत्पाद्य, निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानवैराग्यलक्षणं ग्राहयामास ।**

**आ. शां. व्या.**— ननु नैव साध्यसाधनभूतं निष्ठाद्वयमत्र भगवता प्रतिपाद्यते, भूमिप्रार्थितेन ब्रह्मणाऽभ्यर्थितस्य भगवतो भूमिभारापहारार्थं वसुदेवेन देवक्यामाविर्भूतस्य तादर्थ्येन मध्यमं पृथासुतं प्रथितमहिमानं प्रेरयितुं धर्मयोरिहानुद्यमानत्वात्, अतो नास्य शास्त्रस्य निष्ठाद्वयं परापरविषयभावमनुभवितुमलमिति । तत्रभगवतो धर्मसंस्थापनस्वाभाव्यध्रौव्याद्धर्मद्वयस्थापनार्थमेव प्रादुर्भावाभ्युपगमाद्भूभारपरिहारस्य चाऽऽर्थिकत्वादर्जुनं निमित्तीकृत्याधिकारिणं स्वधर्मप्रवर्तनद्वारा ज्ञाननिष्ठायामवतारयितुं गीताशास्त्रस्य प्रणीतत्वादुचितमस्य निष्ठाद्वयविषयत्वमिति परिहरति- **स भगवा**नित्यादिना **धर्मद्वयमर्जुनायोपदिदेशे**त्यन्तेन भाष्येण । तत्र नेदं गीताशास्त्रं व्याख्यातुमुचितमाप्तप्रणीतत्वनिर्धारणात्तथाविधशास्त्रान्तरवदित्याशङ्क्य मङ्गलाचरणस्योद्देश्यं दर्शयन्नादौ शास्त्रप्रणेतुराप्तत्वनिर्धारणार्थं सर्वज्ञत्वादिप्रतिज्ञापूर्वकं सर्वजगज्जनयितृत्वमाह— **स भगवा**निति । प्रकृतो नारायणाख्यो देवः सर्वज्ञः सर्वेश्वरः समस्तमपि प्रपञ्चमुत्पाद्य व्यवस्थितः। न च तस्यानाप्तत्वमीश्वरानुगृहीतानामाप्तत्वप्रसिद्ध्या तस्य परमाप्तत्वसिद्धेरित्यर्थः । ननु भगवता सृष्टमपि चातुर्वर्ण्यादिविशिष्टं हिरण्यगर्भादिलक्षणं जगन्न व्यवस्थितिमास्थातुं शक्यते, व्यवस्थापकाभावात्; न च परस्यैवेश्वरस्य व्यवस्थापकत्वं वैषम्यादिप्रसङ्गात्तत्राऽऽह- **तस्य चे**ति । सृष्टस्य जगतो मर्यादाविरहितत्वे शङ्किते तदीयां व्यवस्थां कर्तुमिच्छन्व्यवस्थापकमालोच्य क्षत्रस्यापि क्षत्रत्वेन प्रसिद्धं धर्मं तथाविधमधिगम्य सृष्टवानित्यर्थः । सृष्टस्य धर्मस्य साध्यस्वभावतया साधयितारमन्तरेणासंभवात्तस्यैव तदनुष्ठातृत्वानभ्युपगमात्प्राणिप्रभेदानामधर्मप्रायाणां तदयोगात्कुतस्तदीया सृष्टिरित्याशङ्क्याऽऽह— **मरीच्यादी**निति । तेषां भगवता सृष्टानां प्रजासृष्टिहेतूनां यागदानादिप्रवृत्तिसाध्यं धर्ममनुष्ठातुमधिकृतानां स्वकीयत्वेन तदुपादानमुपपन्नमित्यर्थः । चैत्यवन्दनादिभ्यो विशेषार्थं धर्मं विशिनष्टि— **वेदोक्त**मिति । ननु नैतावता जगदशेषमपि व्यवस्थापयितुं शक्यते, प्रवृत्तिमार्गस्य पूर्वोक्तधर्मं प्रति नियतत्वेऽपि निवृत्तिमार्गस्य तेन व्यवस्थापनायोग्यत्वात्तत्राऽऽह— **ततोऽन्यांश्चे**ति। निवृत्तिरूपस्य धर्मस्य शमदमाद्यात्मनो गमकमाह— **ज्ञाने**ति । विवेकवैराग्यातिशये शमाद्यतिशयो गम्यते ततो विवेकादि तस्य गमकमित्यर्थः ।

**शां. भा.— द्विविधो हि वेदोक्तो धर्मः, प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च; जगतः स्थितिकारणम् । प्राणिनां साक्षात् अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः यः स धर्मो ब्राह्मणाद्यैः वर्णिभिः आश्रमिभिश्च श्रेयोर्थिभिः अनुष्ठीयमानः। दीर्घेण कालेन अनुष्ठातृणां कामोद्भवात् हीयमानविवेकविज्ञानहेतुकेन अधर्मेण अभिभूयमाने धर्मे, प्रवर्धमाने च अधर्मे, जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य चाभिरक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवात् अंशेन [कृष्णः] किल सम्बभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्यात् वैदिको धर्मः, तदधीनत्वात् वर्णाश्रमभेदानाम् ।**

**आ. शां. व्या.**— धर्मे बहुविदां विवाददर्शनाज्जगतः स्थेम्ने [ स्थित्यै ] कारणीभूतधर्मान्तरमपि स्रष्टव्यमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह—**द्विविधो ही**ति । अतिप्रसङ्गाप्रसङ्गव्यावृत्तये प्रकृतं धर्मं लक्षयति—**प्राणिना**मिति । प्रवृत्तिलक्षणो धर्मोऽभ्युदयार्थिनां साक्षादभ्युदयहेतुः, निश्श्रेयसार्थिनां परम्परया निश्श्रेयसहेतुः; निवृत्तिलक्षणस्तु धर्मः साक्षादेव निश्श्रेयसहेतुरिति विभागः । ज्ञानस्यैव निश्श्रेयसहेतुत्वेऽपि शमादीनां ज्ञानद्वारा मोक्षहेतुत्वम् , ज्ञानातिरिक्तव्यवधानाभावाच्च **साक्षा**दित्युक्तम् । यद्येवं धर्मो लक्ष्यते तर्हि वर्णित्वमाश्रमित्वं चोपेक्ष्य सर्वैरेव पुरुषार्थार्थिभिः द्वावपि धर्मौ यथायोग्यमनुष्ठेयावित्यनुष्ठातृनियमासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **ब्राह्मणाद्यै**रिति । अर्थित्वाविशेषेऽपि श्रुतिस्मृतिपर्यालोचनयाऽनुष्ठानान्नियमसिद्धिरित्यर्थः । नित्यनैमित्तिकेषु यावज्जीवमनुष्ठानं काम्येषु करणांशे रागाधीना प्रवृत्तिरितिकर्तव्यतांशे वैधीति विभागेऽपि कदाचिदेवानुष्ठानमिति विभागमभिप्रेत्याऽऽह— **दीर्घेणे**ति । अथ यथोक्तधर्मवशादेव जगतो विवक्षितस्थितिसिद्धेर्भगवतो नारायणस्याऽऽदिकर्तुरनेकानर्थकलुषितशरीरपरिग्रहासम्भवादन्यस्यैव कस्यचिदनाप्तस्य वैषम्यनैर्घृण्यवतो निग्रहपरिग्रहद्वारेण गीताशास्त्रप्रणयनमिति कुतोऽस्याऽऽप्तप्रणीतत्वं तत्राऽऽह—**अनुष्ठातृणा**मिति । अथवा यथोक्तशङ्कायां दीर्घेणेत्यारभ्योत्तरम् । महता कालेन कृतत्रेतात्यये द्वापरावसाने साधकानां कामक्रोधादिपूर्वकादविवेकादधर्मबाहुल्याद्धर्माभिभवादधर्माभिवृद्धेश्च जगतो मर्यादाभेदे तदीयां मर्यादामात्मनिर्मितां पालयितुमिच्छन्प्रकृतो भगवानेतदर्थेन चातुर्वर्ण्यादिसंरक्षणार्थं लीलामयं मायाशक्तिप्रयुक्तस्वेच्छाविग्रहं जग्राहेत्यर्थः । ‘भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै वसुदेवादजीजनत्’ [ म.भा.शां. ४७।२९ ] इति स्मृतिमनुसृत्य पदद्वयमनूद्य व्याचष्टे—**भौमस्ये**ति । **अंशेने**ति, स्वेच्छानिर्मितेन मायामयेन स्वरूपेणेत्यर्थः । किलेत्यस्मिन्नर्थे पौराणिकी प्रसिद्धिरनूद्यते । न हि भगवतो व्यतिरिक्तस्येदं जन्मेति युज्यते बहुविधागमविरोधादिति भावः । ननु वैदिकधर्मसंरक्षणार्थं भगवतो जन्म ‘यदा यदा हि धर्मस्य’ [गी.४।७] इत्यादिदर्शनात् । किमिदं ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थमिति तत्राऽऽह—**ब्राह्मणत्वस्य ही**ति । तथापि वर्णाश्रमभेदव्यवस्थापनं विना कथं यथोक्तधर्मरक्षणमित्याशङ्क्याऽऽह— **तदधीनत्वा**दिति । ब्राह्मणं हि पुरोधाय क्षत्रादि प्रतिष्ठां प्रतिपद्यते, याजनाध्यापनयोस्तद्धर्मत्वात्तद्द्वारा च वर्णाश्रमभेदव्यवस्थापनात्, अतो ब्राह्मण्ये रक्षिते सर्वमपि सुरक्षितं भवतीत्यर्थः ।

**शां. भा.— स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नः त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां मूलप्रकृतिं वशीकृत्य, अजः अव्ययो भूतानां ईश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्, स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते । स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयं अर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नाय उपदिदेश, गुणाधिकैर्हि गृहीतः अनुष्ठीयमानश्च धर्मः प्रचयं गमिष्यतीति । तं धर्मं भगवता यथोपदिष्टं वेदव्यासः सर्वज्ञो भगवान् गीताख्यैः सप्तभिः श्लोकशतैः उपनिबबन्ध ।**

**आ. शां. व्या.**—नन्वेवमपि भगवतो नारायणस्य शरीरादिमत्त्वे सत्यस्मदादिभिरविशेषादनीश्वरत्वप्रसक्तिरित्याशङ्क्य ज्ञानादिकृतं विशेषमाह— **स चे**ति । ज्ञानं ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिः, ऐश्वर्यमीश्वरत्वं स्वातन्त्र्यं, शक्तिस्तदर्थनिर्वर्तनसामर्थ्यं, बलं सहायसम्पत्तिः, वीर्यं पराक्रमत्वं, तेजस्तु प्रागल्भ्यमप्रधृष्यत्वम्, एते च षड्गुणाः सर्वविषयाः सर्वदा भगवति वर्तन्ते । तथा च तस्य शरीरादिमत्त्वेऽपि नास्मदादिसाम्यमित्यर्थः । अथैवमपि कथमीश्वरस्यानादिनिधनस्य नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य स्वभावविपरीतं जन्मादि संभवति ? नहि भूतानामीशिता स्वतन्त्रश्चाऽऽत्मनोऽनर्थं स्वयमेव संपादयितुमर्हति, न चास्य देहादिग्रहे किमपि फलमुपलभ्यते, तत्राऽऽह—**त्रिगुणात्मिका**मिति । सिसृक्षितदेहादिगतवैरूप्यसिद्ध्यर्थमिदं विशेषणम् । तस्या व्यापकत्वं वक्तुं वैष्णवीमित्युक्तम् । ईश्वरपारवश्यं तस्या दर्शयति—**स्वा**मिति । तस्याश्च प्रतिभासमात्रशरीरत्वमेव, न तु वस्तुत्वमित्याह—**माया**मिति । तस्या नानाविधकार्याकारेण परिणामित्वं सूचयति—**मूलप्रकृति**मिति । ईश्वरस्य प्रकृत्यधीनत्वं वारयति— **वशीकृत्ये**ति । नित्यत्वं कार्याकारविरहित्वं, शुद्धत्वमकारणत्वम्, बुद्धत्वमजडत्वं, मुक्तत्वमविद्याकामकर्मपारतन्त्र्यराहित्यम् । नच नित्यत्वादयः संसारावस्थायामसन्तो मोक्षावस्थायां भवन्तीति युक्तमित्याह— **स्वभाव** इति । देहग्रहे प्राधान्यं मायाया दर्शयितुं पुनः स्वमाययेत्युक्तम् । “ स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः ” [ बृहदा. ४ । ३ । ८ ] इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह— **देहवानि**ति । इवकाराभ्यां देहादेरवस्तुत्वेन कल्पितत्वं द्योत्यते । धर्मद्वयोपदेशद्वारा प्राणिवर्गस्याभ्युदयनिश्श्रेयसतत्परत्वापादनं लोकानुग्रहः । यद्यपि कूटस्थः स्वतन्त्रो नित्यत्वादिलक्षणश्चायमीश्वरः स्वतो दृश्यते, तथापि यथोक्तमायाशक्त्या देहादि गृहीत्वा प्राणिनामनुग्रहमादधानो न स्वभावविपर्ययं प्रयातीत्यर्थः । ननु—‘प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते’ इति न्यायादीश्वरस्याऽऽप्तकामतया कृतकृत्यस्य प्रयोजनाभावादनुग्राह्याणां चाद्वैतवादे व्यतिरिक्तानामसत्त्वान्न धर्मद्वयमुपदेष्टुमुचितमिति; तत्राऽऽह—**स्वप्रयोजने**ति । कल्पितभेदभाञ्जि भूतान्युपादाय तदनुग्रहेच्छया चैत्यवन्दनादिविलक्षणं धर्मद्वयमर्जुनं निमित्तीकृत्याऽऽप्तकामोऽपि भगवानुपदिष्टवानित्यर्थः । अर्जुनस्योपदेशापेक्षाऽस्तीति दर्शयितुं विशिनष्टि—**शोके**ति । ननु भूतानुग्रहे कर्तव्ये किमित्यर्जुनाय धर्मद्वयं भगवतोपदिश्यते तत्राऽऽह—**गुणाधिकै**रिति । प्रचयं गमिष्यतीति मत्वा धर्मद्वयमर्जुनायोपदिदेशेति सम्बन्धः । अथ सुगतोपदिष्टधर्मवदयमपि भगवदुपदिष्टो धर्मो न प्रामाणिकोपादे-

यतामुपगच्छेदित्याशङ्क्य वेदोक्तत्वान्नास्य तत्तुल्यत्वमित्युत्तरमभिप्रेत्य शिष्टपरिगृहीतत्वाच्च मैवमित्याह— **तं धर्ममिति**। अधर्मे धर्मबुद्धिर्वेदव्यासस्य जातेत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वज्ञ** इति। 'कृष्णद्वैपायनं विद्धि व्यासं नारायणं प्रभुम्' [वि.पु.३।४।५] इति स्मृतेःसज्जनोपकारकभगवदवतारत्वाच्च व्यासस्य नान्यथाबुद्धिरित्याह—**भगवानिति**।

**शां. भा.— तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसङ्ग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थं तदर्थाविष्करणाय अनेकैः विवृतपदपदार्थ- [ वाक्य- ] वाक्यार्थन्यायमपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैः गृह्यमाणं उपलभ्य अहं विवेकतः अर्थनिर्धारणार्थं संक्षेपतो विवरणं करिष्यामि।**

**आ. शां. व्या.—** गीताशास्त्रस्यानाप्तप्रणीतत्वमपाकृत्य व्याख्येयत्वमुपपादितमुपसंहरति— **तदिद**मिति। पौरुषेयस्य वचसो मूलप्रमाणाभावेनाप्रामाण्यमिति मत्वा विशिनष्टि— **समस्ते**ति। शास्त्राक्षरैरेव तदर्थप्रतिपत्तिसम्भवे किमिति व्याख्यानमित्याशङ्क्याऽऽह—**दुर्विज्ञेयार्थ**मिति।

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पञ्चलक्षणम्॥

—इत्यादिक्रमेणास्य शास्त्रस्य पूर्वाचार्यैर्व्याख्यातत्वात्किमर्थमिदमारभ्यते? गतार्थत्वात्तत्राऽऽह—**तदर्थे**ति। गीताशास्त्रार्थस्य प्रकटीकरणार्थं पदविभागस्तदर्थोक्तिः समासद्वारा वाक्यार्थनिर्देशस्तत्रापेक्षितो न्यायश्चाऽऽक्षेपसमाधानलक्षणो वृत्तिकारैर्दर्शितस्तथापि तथाविधमेव शास्त्रं शास्त्रपरिचयशून्यैः समुच्चयासमुच्चयवादिभिर्विरुद्धार्थत्वेन अनेकार्थत्वेनच गृहीतमालक्ष्य तद्बुद्धिमनुरोद्धुमिदमारब्धव्यमित्यर्थः। येषां प्राचीने व्याख्याने बुद्धिरप्रविष्टा तेषां सम्प्रतितन एतस्मिन्नसौ प्रवेक्ष्यतीति कुतो नियमस्तत्राऽऽह—**विवेकत** इति। पूर्वव्याख्याने तत्तदर्थनिर्धारणार्थो न्यायः सङ्कीर्णवद्भातीति न तत्र केषाञ्चिन्मनीषा समुन्मिषति, प्रकृते त्वसङ्कीर्णतया तत्तत्पदार्थनिर्णयोपयोगी न्यायो विक्रियते। तेनात्र मन्दमध्यमयोरपि बुद्धिरवतरतीत्यर्थः। किञ्चानपेक्षिताधिकग्रन्थसद्भावान्न प्राचीने व्याख्याने श्रोतॄणां प्रवृत्तिः, अत्र त्वपेक्षितात्पग्रन्थे विवरणे प्रायशः सर्वेषां प्रवृत्तिः स्यादिति मत्वाऽऽह—**संक्षेपत** इति।

**शां. भा.— तस्य अस्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसं सहेतुकस्य संसारस्य अत्यन्तोपरमलक्षणम्। तच्च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठारूपात् धर्मात् भवति। तथा इममेव गीतार्थधर्मं उद्दिश्य भगवतैव उक्तम्—'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने'॥ [म. भा. अश्व. १६।१२] इति अनुगीतासु। तत्रैव च उक्तम्—'नैव धर्मी न चाधर्मी न चैव हि शुभाशुभी।' [म. भा. अश्व. १९।७] 'यः स्यादेकायने लीनः तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्।' [म. भा. अश्व. १९।१] 'ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम्' [म. भा. अश्व. ४३।२६] इति च। इहापि च अन्ते उक्तं अर्जुनाय—'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' [गी.१८।६६] इति। अभ्युदयार्थोऽपि यः प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो वर्णान् आश्रमांश्च उद्दिश्य विहितः स देवादिस्थानप्राप्तिहेतुरपि सन्, ईश्वरार्पणबुद्ध्या अनुष्ठीयमानः सत्त्वशुद्धये भवति फलाभिसन्धिवर्जितः। शुद्धसत्त्वस्य च ज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तिद्वारेण ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेन च निःश्रेयसहेतुत्वमपि प्रतिपद्यते। तथा चेममेवार्थमभिसन्धाय वक्ष्यति—'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' [गी.५।१०] 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' [५।११] इति।**

**आ. शां. व्या.—** नन्वनाप्तप्रणीतत्वाभावेऽपि नेदं शास्त्रं व्याख्येयं विषयाद्यनुबन्धस्यानभिहितत्वेन शास्त्रत्वाभावादित्याशङ्क्य सर्वव्यापाराणां प्रयोजनार्थत्वादादौ प्रयोजनमाह— **तस्ये**ति। प्रसाधितप्रामाण्यस्य व्याख्येयत्वेन मनसि सन्निहितस्य गीताशास्त्रस्य सङ्क्षेपः संग्रहः सम्पिण्डितत्वमेकवाक्यत्वं, तेनेदं परमं फलं यन्निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसं कैवल्यम्, अवान्तरफलं तु तत्र तत्रावान्तरवाक्यभेदेन मनोनिग्रहादि विवक्ष्यते। निःश्रेयसं च द्विविधं निरतिशयसुखाविर्भावो निःशेषानर्थोच्छित्तिश्च। तत्राऽऽद्यमुदाहरति—**पर**मिति। द्वितीयं दर्शयति— **सहेतुकस्ये**ति। संसारोपरमस्याऽऽत्यन्तिकत्वं प्रतियोगिनः संसारस्य पुनरुत्पत्त्ययोग्यत्वं, तच्च स्वापमूर्च्छादिव्यवच्छेदार्थं विशेषणं,तदेव साधयितुं सहेतुकस्येत्युक्तम्। उक्तं फलं समुच्चितादेकाकिनो वा कर्मणः स्यादिति तस्यैव शास्त्रप्रतिपाद्यतेत्याशङ्क्याभिधेयमभिधित्समानः समाधत्ते—**तच्चे**ति। आत्मज्ञाननिष्ठाशेषत्वेन कर्मनिष्ठाऽत्रोच्यते। प्राधान्येन त्वात्मज्ञाननिष्ठैवात्र प्रतिपाद्यत इत्यर्थः। ननु शेषिणी निष्ठा कुतो भवति? न संन्यासात्, कर्मनिष्ठायाः शेषत्वात्तत्राऽऽह—**सर्वे**ति। सन्न्यासद्वारेणासकृदनुष्ठितश्रवणादेः शेषिणी निष्ठा सिध्यति,शेषत्वं च कर्मणस्तत्र परम्परायत्तमित्यर्थः। ननु—'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' [गी.१८।५] इति वाक्यशेषादसमुच्चितमात्मज्ञानमत्र न प्रतिपाद्यते, नेत्याह— **तथे**ति। सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकमात्मज्ञाननिष्ठारूपं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं प्रागुक्तं परामृशति— **इममेवे**ति। वक्तृभेदादभिप्रायभेदाशङ्कां

वारयति—**भगवतैवेति** । उक्तमनुगीतास्विति संबन्धः । ब्रह्मणः पदं पूर्वोक्तं निःश्रेयसं तस्य वेदनं लाभस्तत्र विशिष्टज्ञाननिष्ठारूपो धर्मः **समर्थो** भवतीत्यर्थः । यज्ञदानादिवाक्यस्य तु तद्व्याख्यानावसरे तात्पर्यं वक्ष्यते । कर्मत्यागस्य भगवतोऽभिप्रेतत्वे वाक्यान्तरमनुगीतागतमेवोदाहरति—**तत्रैवेति**। धर्माधर्मपूर्वासंसर्गित्वे हेतुमाह— **न चैवेति** । क्रियाद्वयसंबन्धाभावात्तन्निर्वर्त्यपूर्वाभ्यामसंबन्धे आप्तमर्थमाह—**यः स्यादिति** । वागादिबाह्यकरणव्यापारविरहित्वं तूष्णीमित्युच्यते । किञ्चिदचिन्तयन्नित्यन्तःकरणव्यापाराभावोऽभिप्रेतः । द्विविधकरणव्यापारविरहितः सन्प्रागुक्तो योऽधिकारी केवलमेकस्मिन्नद्वितीये ब्रह्मण्यासनमवस्थानं तत्र लीनस्तस्मिन्नेव समाप्तिभागी स्यात्तस्यासम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठस्य सर्वकर्मत्यागहेतुकं ज्ञानं मुक्तिहेतुर्भवतीत्यर्थः । न केवलमनुगीतास्वेव यथोक्तं ज्ञानमुक्तं किंतु प्रकृतेऽपि शास्त्रे समाप्त्यवसरे दर्शितमित्याह— **इहापीति**। नन्वत्र निवृत्तिलक्षणधर्मात्मकं ससंन्यासमात्मज्ञानमेव न प्रतिपाद्यते 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' [ गी. ४।१५ ] इत्यादौ प्रवृत्तिलक्षणस्यापि धर्मस्य वक्ष्यमाणत्वात्, धर्मयोश्च प्रकृतत्वाविशेषात्तत्राऽऽह—**अभ्युदयार्थोऽपीति** । ननु वर्णिभिराश्रमिभिश्चानुष्ठेयत्वेनान्यत्र विहितस्यापि तस्य न युक्तं मोक्षसाधनत्वाधिकारे विधानं,देवादिस्थानप्राप्तिहेतुत्वेन मोक्षप्रतिपक्षत्वात्, सत्यं, तथापि फलाभिलाषमन्तरेणेश्वरार्पणधिया कृतस्य बुद्धिशुद्धिहेतुत्वात्तस्येह वचनमित्याह— **स देवादीति** । फलाभिसन्धिद्वारा कृतः सन्निति शेषः । प्रवृत्तिलक्षणधर्मस्योक्तरीत्या चित्तशुद्धिहेतुत्वेऽपि मोक्षहेतुत्वेन कुतो मोक्षाधिकारे निर्देशः स्यादित्याशङ्कयाऽऽह—**शुद्धेति** । प्रतिपद्यते प्रागुक्तो धर्म इति शेषः । यदुक्तं फलाभिसंधिवर्जितमीश्वरार्पणबुद्धयाऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धये भवतीति तत्र वाक्यशेषमनुकूलयति—**तथा चेति** ।

**शां. भा.—इमं द्विप्रकारं धर्मं निःश्रेयसप्रयोजनं, परमार्थतत्त्वं च वासुदेवाख्यं परब्रह्माभिधेयभूतं विशेषतः अभिव्यञ्जयत् विशिष्टप्रयोजनसम्बन्धाभिधेयवत् गीताशास्त्रम् । यतः तदर्थविज्ञानेन [ तदर्थे विज्ञाते ] समस्तपुरुषार्थसिद्धिः, अतः तद्विवरणे यत्नः क्रियते मया ।**

**आ. शां. व्या.**— शास्त्रस्य प्रयोजनं ससाधनमुक्तमनूद्य विषयं दर्शयति—**इममिति**। दर्शितेन फलेन शास्त्रस्य निष्ठाद्वयद्वारा साध्यसाधनभावः संबन्धो विषयेण विषयविषयित्वमिति विवक्षित्वाऽऽह—**विशेषत** इति । एवमनुबन्धत्रयविशिष्टं शास्त्रं व्याख्यानार्हमित्युपसंहरति—**विशिष्टेति** । सिद्धे व्याख्यानयोग्यत्वे व्याख्येयत्वं फलितमाह— **यत** इति ।

---

## रामानुजभाष्योपोद्घातः ।

**यत्पदाम्भोरुहध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः ।**
**वस्तुतामुपयातोऽहं यामुनेयं नमामि तम् ॥ १ ॥**

**वेदान्ताचार्य-वेङ्कटनाथरचिता तात्पर्यचन्द्रिका ।**

यतिपरिवृढो यद्गीतानामदर्शयदञ्जसा
निगमपरिषन्नेदीयांसं निरा-[सुधा-] मयमाशयम् ।
जननपदवीयातायातश्रमापहरां धियं
जनयतु स मे देवः श्रीमान् धनञ्जयसारथिः ॥ १ ॥

अनुचितपदवीमिश्चिन्तयित्वा प्रयाता-
नलमलमतिमात्रत्रासचिन्ताविषादैः ।
उपनिषदमुदारामुद्वमन् ( हन् ) पाण्डवार्थे
शरणमुपगतांस्त्रायते शार्ङ्गधन्वा ॥ २ ॥

सन्तः सारलिहश्चित्ततमःप्रमथिनीमिमाम् ।
भजन्तु भगवद्गीताभाष्यतात्पर्यचन्द्रिकाम् ॥ ३ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतां व्याचिख्यासुः अविघ्नपरिपूरणप्रचयगमनार्थं परमाचार्यस्य संग्रहश्लोकनिर्माणमुखेन तत्तदर्थोपदेष्टृतां तदनुवृत्तेः स्वाचार्यसंप्रीणनतामप्यनुसन्दधानः परमाचार्यभजनरूपं मङ्गलमाचरति—**यत्पदाम्भोरुहेत्यादि** । यच्छब्देन सर्वोत्तराचार्यगुणपौष्कल्यहेतुकां प्रसिद्धिं सूचयति । अम्भोरुहशब्देन भोग्यत्वप्रतीतेर्भक्तिरूपत्वं ध्यानस्य व्यज्यते । यामुनाचार्यस्य, द्रोणाचार्यस्य एकलव्य इवाहमित्यभिप्रायेण ध्यानशब्दः । सकृत्सन्दर्शनेन प्रायशः कल्मषाणि विध्वस्तानि, तन्मूलनिरन्तरस्मरणेन तेषां सवासनोन्मूलनं कृतमित्यभिप्रायेण 'ध्यानविध्वस्ताशेषकल्मषः' इत्युक्तम् । **वस्तुताम्** "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" [ तै. उप. २।६।१ ] इत्याद्युक्तप्रकाराम् । **अहं वस्तुतामुपयात** इत्याश्चर्यगर्भम् । एवमनिष्टनिवर्तनेष्टप्रापणरूपोपकारस्मृतिप्रेरितवागादित्रितयकरणकः प्रणामः शिष्यशिक्षणार्थं श्रोतॄणां फलसिद्ध्यर्थं च ग्रन्थे निवेशितः । तेन स्वाचार्यवत्तदाचार्यपरम्पराया अपि भजनमत्यादरेण करणीयमित्यपि शिक्षितम् । तथा च श्रूयते, 'स चाचार्यवंशो ज्ञेयो भवति, आचार्याणामसावसावित्या भगवत्तः' [रहस्याम्नायब्रा.] इति ॥ १ ॥

**रा. भा. ॐ—श्रियः पतिर्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानः, स्वेतरसमस्तवस्तुविलक्षणानन्तज्ञानानन्दैकस्वरूपः, स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यसंख्येयकल्याण-**

गुणगणमहोदधिः, स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौगन्ध्यसौन्दर्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिर्दिव्यरूपः, स्वोचितविविधविचित्रानन्ताश्चर्यनित्यनिरवद्यापरिमितदिव्यभूषणः, स्वानुरूपासंख्येयाचिन्त्यशक्तिनित्यनिरवद्यनिरतिशयकल्याणदिव्यायुधः, स्वाभिमतानुरूपनित्यनिरवद्यस्वरूपरूपगुणविभवैश्वर्यशीलाद्यनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगणश्रीवल्लभः, स्वसङ्कल्पानुविधायिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदाशेषशेषतैकरतिरूपनित्यनिरवद्यनिरतिशयज्ञानक्रियैश्वर्याद्यनन्तगुणगणापरिमितसूरिभिरनवरताभिष्टुतचरणयुगलः, वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावः, स्वोचितविविधविचित्रानन्तभोग्यभोगोपकरणभोगस्थानसमृद्धानन्ताश्चर्यानन्तमहाविभवानन्तपरिमाणनित्यनिरवद्याक्षरपरमव्योमनिलयः, विविधविचित्रानन्तभोग्यभोक्तृवर्गपरिपूर्णनिखिलजगदुदयविभवलयलीलः, परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणो ब्रह्मादिस्थावरान्तं निखिलं जगत्सृष्ट्वा, स्वेन रूपेणावस्थितः, ब्रह्मादिदेवमनुष्याणां ध्यानाराधनाद्यगोचरोऽपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यमहोदधिः, स्वमेव रूपं तत्तत्सजातीयसंस्थानं स्वस्वभावमजहदेव कुर्वंस्तेषुतेषु लोकेष्ववतीर्यावतीर्य तैस्तैराराधितः, तत्तदिष्टानुरूपं धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं प्रयच्छन्, भूभारावतारणापदेशेनास्मदादीनामपि [ संसारदुःखशमनाय ] समाश्रयणीयत्वायावतीर्योर्व्यां सकलमनुजनयनविषयतां गतः, परावरनिखिलजनमनोनयनहारिदिव्यचेष्टितानि कुर्वन्, पूतना-शकटयमलार्जुनारिष्टप्रलम्बधेनुक-कालिय-केशि-कुवलयापीड-चाणूरमुष्टिक-तोसलकंसादीन्निहत्य अनवधिकदयासौहार्दानुरागगर्भावलोकनालापामृतैर्विश्वमाप्याययन्, निरतिशयसौन्दर्यसौशील्यादिगुणगणाविष्कारेणाक्रूरमालाकारादीन् परमभागवतान् कृत्वा, पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगमवतारयामास ।

**वे. ता. चं.**—अथाभिमतपरदैवतस्य भगवतः स्वरूपरूपगुणविभवादिभावनावर्णनाभ्यामर्थादभङ्गुरं मङ्गलमाचरन्, 'स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः' 'नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः' [गी. सं. श्लो. १] इति संग्रहानुरोधेन व्याख्येयशास्त्रप्रधानप्रतिपाद्यं च सप्रकारं दर्शयन्, शास्त्रप्रामाण्यस्थापनाय वक्तुः स्वतः सर्वज्ञत्व-परमकारुणिकत्व-साधुपरित्राणोन्मुखावस्थत्व-सर्वशक्तित्वादिना भ्रमविप्रलम्भप्रमादाशक्त्याद्यभावप्रदर्शनेनाप्ततमत्वं समर्थयन्, अपवर्गप्रधानचतुर्वर्गोपायबोधात्मकमवान्तरप्रयोजनं अपवर्गदशानुभाव्यसप्रकारभगवत्स्वरूपं च परमप्रयोजनं प्रकाशयन्, शङ्करादिपक्षे शास्त्रोपदेशारम्भाद्यनुपपत्तेर्वक्ष्यमाणायाः स्वपक्षे प्रसङ्गाभावाय शास्त्रोपदेशाद्यनुकूलजीवपरमात्मपारमार्थिकभेदादिकथनेन शास्त्रारम्भं समञ्जसयन्, कारणशोधकोपासनभेदाभेदघटकवचसां सर्वेषामपि मुख्यतां ख्यापयन्, गुणतनुजनिविभवविहरणादिविधिनिषेधोपनिषदामल्पश्रुतकुमतिविहितप्रतारणकृतकलहकूलङ्कषां विषयव्यवस्थामपि स्थापयन्, अवाप्तसमस्तकामस्यापि लीलामात्रविहितनिखिलव्यापारत्वेन शारीरकद्वितीयाध्यायसिद्धं विरोधपरिहारमुपलक्षयन्, जिज्ञास्यजगत्कारणपरब्रह्मभूतदेवताविशेषमपि सर्वशाखाप्रत्ययसामान्यविशेषादिन्यायैः त्रिमूर्त्यैक्यसाम्योत्तीर्णव्यक्त्यन्तरत्वव्युदासेन निरूपिताकारं निर्दिशन्, "बहु स्याम्" [ छां. उप. ६।२।३ ] इति संकल्पमारभ्य सारथ्यचर्यापर्यन्तस्य सर्वस्य जगद्व्यापारस्याश्रितार्थतया व्याजमात्रलाभादपि परमपुरुषार्थभूतस्वात्मोपलम्भकाध्यात्मशास्त्रावतरणादिना च सौलभ्यातिशयमुद्घोषयन्, प्राप्यत्वोपास्यत्वैकान्तपरत्व-सौलभ्य-स्थापनौपयिकगुणवर्गद्वयं जगत्पतित्वसर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वसर्वेश्वरत्वादिकं परमकारुणिकत्वशुभाश्रयत्वाश्रितार्थावतारत्वविरोधिनिरसनशीलत्वासेचनकदर्शनत्वादिकं चोदाहरन्, पञ्चमवेदपरमप्रतिपाद्यस्य भगवतो नारायणस्य प्राक्तनोदन्तं गीतोपनिषदुपदेशेन संगमयति—**श्रियःपतिरित्यादिना अवतारयामासेत्यन्तेन** ।

**तत्रे**त्यादिना **च**कारेत्यन्तेन द्वितीयेन वाक्येन बुभुत्सोर्धृतराष्ट्रस्य ज्ञातांशनिष्कर्षः । **एवं ज्ञात्वापी**त्यादिना तु तृतीयेन वाक्येन शास्त्रोपोद्घातारम्भभूतप्रश्नसंगतिः । अत्र दिव्यात्मस्वरूपव्यतिरिक्तं समस्तमपि नारशब्दार्थतया विविच्य दर्शयिष्यन्, तदयनं स्वरूपमन्यपदार्थतया उत्तरपदार्थतया वा समासद्वयेऽपि प्रधानभूतं प्रथमं निष्कृष्य दर्शयति—**श्रियःपति**रित्यादिना ।

विशेषज्ञप्तये भर्तुरभिगम्यत्वसिद्धये । समस्तमङ्गलाप्त्यै च प्रथमं श्रीरिहोदिता । 'एष नारायणः श्रीमान्क्षीरार्णवनिकेतनः । नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मधुरां पुरीम्' [ ह. वं. वि. प. ५४-५० ] 'अर्थो विष्णुरियं वाणी' [ वि. पु. प्र. ८।१८ ] इत्यादिकमिह भाव्यम् ।

कतिपयहेयनिवर्तकतीर्थसेवादिव्युदासाय **निखिले**ति विशेषणम् । अत्र हेयशून्यत्वमर्थसिद्धम् । न हि परगतनिखिलहेयनिराकरणसमर्थः स्वगतं हेयं क्षमते । यद्वा हेयविरोधिस्वभावतया

हेयशून्यमित्यर्थः। तदा **निखिल**शब्दः सर्वाचिद्गतं विकारादिकं सर्वचिद्गतं क्लेशादिकं च संगृह्णाति; कुमतिपरिकल्पितमंशभेदेनाकल्याणस्पर्शमपाकर्तुं **कल्याणैकतान**शब्दः। अत एव 'ज्ञानानन्दैकस्वरूपः' इत्यनेनापौनरुक्त्यम्। अथवा सामान्यविशेषनिर्देशरूपत्वादपुनरुक्तिः। यद्वा **कल्याणैकतानः** कल्याणगुणानामेवाश्रयभूत इति वक्ष्यमाणगुणप्रपञ्चस्य संग्रहः।

त्रिविधानां चेतनाचेतनानां पराधीनत्वादिसाम्यादेवम्भूतं वस्त्वन्तरं नास्तीत्यभिप्रायेणाह— **स्वेतरे**ति। एतेन ज्ञानभोगसाम्येऽपि सर्वप्रकारसमत्वनिषेधः। "नित्यं विभुं सर्वगतम्" [मुं. उप. १।१।६] "विश्वमेवेदं पुरुषः" [तै. ना. उप. ११।१] इत्यादिप्रसिद्धं त्रिविधपरिच्छेदराहित्यं प्राधान्यतः पृथगाह— **अनन्ते**ति। **अनन्तं** त्रिविधपरिच्छेदरहितम्। 'अत्रैव देशेऽस्ति, अत्र तु नास्ति' इति देशपरिच्छेदः; 'अत्र कालेऽस्ति, अत्र तु नास्ति' इति कालपरिच्छेदः; 'इदमिदं (भवति), इदमिदं न भवति' इति वस्तुपरिच्छेदः, अल्पवर्णस्वर्णवत् स्वरूपापकृष्टत्वादिकं वा। एवंविधपरिच्छेदत्रयराहित्यं नाम सर्वदेशसर्वकालव्यापित्व-सर्वान्तर्यामित्वादिरूपम्। वस्तुपरिच्छेदराहित्यं हि समस्तवस्तुसामानाधिकरण्ययोग्यत्वादिकम्; न पुनर्मिथो विरुद्धविविधवस्तुतादात्म्यं स्वव्यतिरिक्तसमस्तवस्तुमिथ्यात्वं वा, उभयोरत्यन्तासम्भावितत्वात्। विस्तरस्तु शतदूषण्यां कृतोऽस्माभिः। आनन्दस्य ज्ञानविशेषत्वात् ज्ञानानन्दशब्दयोः सामानाधिकरण्यमुपपन्नम्। तर्हि आनन्दशब्दस्य विशेषणशब्दत्वात् 'घटद्रव्यम्' इत्यादिवत् 'आनन्दज्ञानम्' इति वक्तव्यमिति चेत्, तन्न; बहुलग्रहणेन सर्वोपपत्तेः। यद्वा आनन्दशब्दस्य अनुकूलवेदनीयेषु जडेष्वपि प्रयोगात्तद्विशेषणतया ज्ञानशब्दस्य पूर्वत्वोपपत्तिः। स्वरूपं प्रतीदं विशेषणद्वयं वा।

**स्वाभाविके**ति। स्वरूपापेक्षया गुणविग्रहादीनामपृथक्सिद्धिसाम्येऽपि विग्रहादिधारणनियमनादौ ज्ञानादिगुणगणापेक्षत्वप्रदर्शनाय उत्तरोत्तरसुग्रहत्वसिद्धये च प्रथमं गुणोक्तिः। समस्तगुणवृन्दप्रधानतया षाड्गुण्यस्य स्वरूपेणोपादानम्; इतरेषां च सौशील्यादीनां प्रभृतिशब्देन संग्रहणं कृतम्। 'तवानन्तगुणस्यापि षडेव प्रथमे गुणाः। यैस्त्वयेव जगत्कुक्षावन्येऽप्यन्तर्निवेशिताः' इति ह्याहुः। संहृतिसृष्टिस्थितिहेतुभूतसङ्कर्षणादिव्यूहत्रये ज्ञानबलादिद्वन्द्वत्रिकस्य यथाक्रमं तत्तत्कार्यविशेषोन्मुखत्वेनाविर्भावविशेषात् ज्ञानबलेत्यादिक्रमविशेषः कृतः। स्वतः सर्वं सर्वथा सर्वदा साक्षात्करोति, तथा तथा साक्षात्कृतं च सर्वं धारयति, धारयन्नेव नियच्छति, धारयन्नियच्छंश्चाशिथिलो भवति, अघटितं च घटयति, तत्र च सहकारिनिरपेक्षो न केनचिदप्यभिभूयते किंतु सर्वाभिभूर्भवति, इति च गुणक्रमपाठविवक्षा। स्वाभाविकत्वमनन्याधीनत्वम्। मुक्तनित्ययोरपि हि तादृशं ज्ञानादिकं तदनुगुणपरमात्मसङ्कल्पाधीनम्। अनवधिकत्वमत्रोत्कृष्टावधिराहित्यम्। द्वाभ्यां विशेषणाभ्यां "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" [श्वेताश्व. ६-८] इत्याम्नाते परत्वस्वाभाविकत्वे प्रतिगुणमन्विते प्रदर्शिते। असङ्ख्येयशब्देन महोदधिशब्देन च 'यथा रत्नानि जलधेरसङ्ख्येयानि पुत्रक। तथा गुणा ह्यनन्तस्य असङ्ख्येया महात्मनः' [वि. पु. ७४।४०] इत्यादि स्मारितम्। कल्याणशब्देन गुणनिषेधवचनानां हेयगुणविषयत्वमुत्सर्गापवादन्यायसिद्धं सूचितम्॥

अथ कारणोपासनादिप्रकरणेष्वस्त्रभूषणाध्यायादिषु च प्रतिपन्नं विलक्षणविग्रहयोगं दर्शयति— **स्वाभिमते**ति। अभिमतेऽप्यननुरूपत्वस्य अनुरूपेऽप्यनभिमतत्वस्य लोके दृष्टत्वात्तदुभयव्यवच्छेदाय स्वाभिमतानुरूपेत्युक्तम्। एकरूपेत्यनेन व्यूहविभवाद्यवस्थास्वपि हेयप्रत्यनीकत्वानन्दावहत्वमुमुक्षूपास्यत्वप्राप्यत्वादिस्वभावापरित्यागोऽभिहितः। यद्वा व्यूहादिपरिणामे सत्यपि परमव्योमनिलयस्य विग्रहस्य प्राचीनसंस्थानावस्थितिरुक्ता। 'सावयवत्वादनित्यम्' इत्यादीनां धर्मिग्राहकबाधादिभिराभासतामभिप्रेत्य अचिन्त्यत्वोक्तिः। एको दिव्यशब्दः संस्थानवैलक्षण्यपरः, परमव्योमवर्तित्वमात्रपरो वा; इतरस्त्वप्राकृतत्वपरः। विचित्रावतारयोगः प्रतिक्षणमपूर्ववदनुभाव्यत्वम्, वटपत्रशयनविश्वरूपाद्यवस्थागतमाश्चर्यं च अद्भुतशब्देन विवक्षितम्। नित्यत्वं कालापरिच्छिन्नत्वम्। तथा चामनन्ति रहस्याम्नायविदः 'नित्यालिङ्गा स्वभावसंसिद्धिरिन्द्रियाकाराङ्गप्रत्यङ्गव्यञ्जनवती' [रह. ब्रा.] इति। श्रीपौष्करे च— 'नित्यसिद्धे तदाकारे तत्परत्वे च पौष्कर। यस्यास्ति सत्ता हृदये तस्यासौ सन्निधिं व्रजेत्' [पां. पौ. सं.] इति। निरवद्यत्वं जरादिराहित्यम्। उत्तरोत्तरनिरवद्यशब्देषु पूर्वपूर्वेभ्यः सुग्रहत्वं वा विवक्षितम्। शुभाश्रयत्वभोग्यत्वाद्युपयुक्तमङ्गलगुणयोगो निरतिशयौज्ज्वल्येत्यादिनोक्तः। निरतिशयत्वं स्वापेक्षया उत्कृष्टराहित्यम्, अनुत्तमत्ववत्। तच्च प्रतिगुणमन्वेतव्यम्। औज्ज्वल्यं भास्वरत्वम्। सौन्दर्यं अवयवशोभा। 'सर्वगन्धः' [छां.उ.३।१४।४] इति श्रुतिरनुकूलगन्धविषया; स्रक्चन्दनादि चात्र कृतकरमित्यभिप्रायेण सौगन्ध्यशब्दः। सौकुमार्यं महाबलत्वेऽपि 'पुष्पहासः' [वि.स.ना.१०२] इति नाम दुहानं मार्दवम्; यथोक्तम्— 'सुकुमारौ महाबलौ [रा. आ. कां. १९।१४] इति। लावण्यं समुदायशोभा। यत्तदुच्यते भगवच्छास्त्रे 'विश्वमाप्याययन्कान्त्या पूर्णेन्द्वयुततुल्यया' [सा. सं. २।७०] इति। 'भूयिष्ठं तेज एवाद्भिर्बहुलाभिर्मृदूकृतम्। चक्षुरानन्दजननं लावण्यमिति कथ्यते' [अहि. सं. ५२] इति ह्याहुः। यौवनं कौमारानन्तर्योपलक्षणीयः स्वभावविशेषः 'न तु कौमारानन्तरभाविन्येव दशा; तयौवनस्यानादित्वात्। देवादिषु च केषाञ्चित् युवत्वेनैवोत्पत्तिदर्शनात्। आदिशब्देन शुभाश्रयप्रकरणेषूक्ताः सर्वे विग्रहगुणाः संगृहीताः।

एवं स्वरूपतद्गुणौ विग्रहतद्गुणौ च प्रतिपाद्य, विग्रहाश्रितमाभरणवर्गमायुधवर्गं च दर्शयति— **स्वोचिते**त्यादिपदद्वयेन। पूर्वोक्तविलक्षणविग्रहविशिष्टं स्वरूपमिह स्वशब्दार्थः। अत्र 'आयताश्च सुवृत्ताश्च बाहवः परिघोपमाः। सर्वभूषणभूषार्हाः—' [रा. किं. कां. ३।१५] इत्यादि भाव्यम्। किरीटहारादिरूपेण वैविध्यम्। एकजातीयेष्वपि मणिकाञ्चनादिद्रव्यविशेष-

वर्णसंस्थानादिविशेषविशिष्टव्यक्तिभेदाद्वैचित्र्यम् । अपरिमितेत्यसंख्येयत्वोक्तेः अनन्तत्वमाश्चर्यविशेषणम् । अनवधिकाश्चर्यरसावहत्वमनन्ताश्चर्यत्वम् ; अथवा अनन्तानि आश्चर्याणि संस्थानविशेषसौगन्ध्यसुखस्पर्शत्वादीनि येषां भूषणानां तानि तथोक्तानि । नित्यनिरवद्यशब्दौ पूर्ववत् । अपरिमितत्वमसंख्येयत्वमेव, न तु ह्रस्वदीर्घादिपरिमाणविरहः । यद्वा अनन्तेत्यसङ्ख्येयत्वम्, अपरिमितेति च विग्रहानुरूपमहत्त्वं विवक्षितम् । भूषणायुधयोर्दिव्यत्वमप्राकृतत्वम् । पूर्वोक्तगुणविग्रहाभरणविशिष्टः 'स्वानुरूप' इत्यत्र स्वशब्दार्थः । **असंख्येयेति** । पञ्चायुधत्वप्रसिद्धिः प्राधान्यादिति भावः । **अचिन्त्यशक्तीति** । कुठारटङ्ककुद्दालादिभिः प्रत्येकं कृच्छ्रसाध्यं सालशैलवसुधातलविदारणम् । एकेन हि महेषुणा कृतमिति भावः । निरतिशयकल्याणत्वं निरतिशयानन्दावहत्वम्, भूषणकोटावप्यनुप्रवेशात् ; यद्वा लोके यान्यायुधलक्षणानि मङ्गलावहतया प्रसिद्धानि, तैः सर्वैः सम्पूर्णत्वम् ।

पूर्वं स्वरूपनिरूपकतया सामान्यतोऽभिहितां श्रियं विभूतिमध्येऽपि स्थितां विशेषतो दर्शयन्नर्थात्तत्स्वरूपादिकमप्याह— **स्वाभिमतेति** । स्वरूपं स्वासाधारणधर्मविशिष्टं श्रियो दिव्यात्मस्वरूपम् । रूपं दिव्यविग्रहः । रूपानन्तरो गुणशब्दस्तद्गतनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यादिपरः । विभवशब्दः परिजनपरिबर्हादिपरः । परत्वसौलभ्यौपयिकगुणवर्गद्वयं ऐश्वर्यशीलपदाभ्यामुपलक्षितम् । ततश्चादिशब्दः प्रत्येकमन्वयात् ज्ञानशक्त्यादिकं वात्सल्यादिकं च संगृह्णाति । ऐश्वर्यशीलादयः अनवधिकातिशयाश्च असंख्येयाश्च कल्याणाश्च गुणा इति विशेषणसमासः । एवंविधगुणानां गण इति षष्ठीतत्पुरुषः । ऐश्वर्यशीलादेर्गणविशेषणत्वानौचित्यात्, अनवधिकातिशयत्वस्यापि गुणविशेषणत्वे प्रत्येकं गुणानामुत्कर्षस्याशाब्दत्वात्, गुणविशेषणतयैव समास उचितः । स्वरूपम्, रूपम्, तद्गुणः, विभवः, ऐश्वर्यादिगुणगणश्च, इति द्वन्द्वः । स्वरूपादिपञ्चकं भगवदभिमतानुरूपं नित्यं निरवद्यं यस्याः, सा स्वाभिमतेत्यादिगुणगणेत्यन्तेनोक्ता । स्वरूपम्, रूपम्, तद्गुणः, विभवः, ऐश्वर्यम्, शीलम्, इत्यादिगुणगण इति योजनायां स्वरूपरूपयोरपि गुणानुप्रवेशप्रसङ्गः । स्वरूपादेः सर्वस्य परमात्माभिमतत्वं व्यक्तम् । स्वरूपस्य नित्यत्वं निर्विकारतया सर्वकालवर्तमानत्वम् । निरवद्यत्वं पूर्वं परमात्मस्वरूपे प्रतिपादितप्रकारम् । तद्वत् पितृत्वप्रयुक्तकादाचित्कोष्मलत्वादिराहित्यं वा । अनुरूपत्वं तु यथाप्रमाणं प्राग्वदेव कल्याणैकतानत्वादिकम् । 'शान्तानन्त' इत्यादिकमिह भाव्यम् । रूपस्य नित्यत्वमवतारादिदशायामपि परमपदनिलयभगवदेकासनस्थितस्य तथावस्थितत्वम् । अनुरूपत्वं च 'अस्या देव्या यथा रूपमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम् । रामस्य च यथा रूपं तस्येयमसितेक्षणा' [रा. सुं. कां. १५।५] 'विष्णोर्देहानुरूपां वै' 'करोत्येषात्मनस्तनुम्' [वि. पु. १।९।१४५] इत्यादिप्रतिपादितम् । विग्रहगुणानां नित्यत्वं नाम औज्ज्वल्यादेः कदाचिदप्यपकर्षाद्यभावः । निरवद्यत्वं च दुष्प्रेक्षतादिराहित्यम् । अनुरूपत्वं 'घनकनकद्युती युवदशामपि मुग्धदशाम्' [गु. र. को.] इत्याद्युक्तप्रकारम् । विभवस्यानुरूपत्वं 'देवतिर्यङ्मनुष्येषु पुन्नामा भगवान् हरिः । स्त्रीनाम्नी लक्ष्मीर्मैत्रेय नानयोर्विद्यते परम्' [वि. पु. १।८।३५] इत्यादिभिरनुसंधेयम् । अनवधिकातिशयत्ववचनादीश्वरव्यतिरिक्ताशेषगोचरस्यापि तदैश्वर्यस्य ईश्वराभिमतत्वान्न द्वैराज्यादिदोषः । "अस्येशाना जगतो विष्णुपत्नी" [यजुषि ४–४।१२।५७] इति विष्णुपत्नीत्ववेषेण हि सर्वस्य जगत इयमीष्टे । 'ईश्वरीं सर्वभूतानाम्' [श्रीसूक्ते] इत्यत्र तु यद्यपि सर्वभूतानामिति प्रतिसम्बन्धिनिर्देशात् स्त्रीप्रत्ययानुसारेण ईश्वरपत्नीति विवक्षा न शक्या । तथापि वाक्यान्तरबलादर्थस्य तथात्वसिद्धिः । निरवद्यत्वं भगवदैश्वर्यैकरसत्वं वा निग्रहादिप्रसङ्गाभावो वा । प्रतिकूलदण्डकत्वं हि पुंस्त्वानुरूपं तद्वल्लभस्यैव भागः । शीलस्य नित्यत्वं महत्त्वे सत्यपि मन्दैः सह नीरन्ध्रसंश्लेषे कदाचिदपि स्वोत्कर्षप्रकाशनाभावः । निरवद्यत्वं तत्र विप्रलम्भाभिप्रायादिविरहः । अनुरूपत्वे, अनवधिकातिशयत्वं च, 'तुल्यशीलवयोवृत्ताम्' [रा. सुं. कां.१६।५] इत्याद्युक्तप्रकारम् । एवं श्रियः पृथङ्नित्यस्वरूपरूपगुणविभवैश्वर्यशीलादिप्रतिपादनेन ज्ञानादिगुणवदपृथक्सिद्धशक्तिमात्रत्वम्, व्यूहविशेषत्वम्, स्वरूपैक्यम्, अन्यदपि वदन्तो निरस्ताः । शक्तित्ववादास्तु पत्नीत्वेन कार्योपयुक्तविशेषणत्वाभिप्रायाः । प्रयुज्यते हि शास्त्रेषु सर्वत्र स्त्रीपुंसात्मकेषु द्वन्द्वान्तरेष्वपि स्त्र्यंशे शक्तिशब्दः । एकत्ववादास्तु समस्तप्रपञ्चप्रतियोगिकैकशेषित्वाश्रयत्वेन, विशिष्टैक्येन, आत्महविःप्रत्युद्देश्यैकदेवतात्वादिवेषेण वा, निर्वाह्याः । अत एव हि 'व्यापकावतिसंश्लेषादेकतत्त्वमिवोदितौ' इत्युच्यते । उक्तं च श्रीराममिश्रैः षडर्थसंक्षेपे 'उभयाधिष्ठानं चैकं शेषित्वम्' इत्यादि । एवंविधाया भगवत्याः श्रियो वल्लभः प्रियतमः, श्रीः वल्लभा यस्येति वा । न चाभिमतशब्दपुनरुक्तिः, प्रत्येकसमुदायविषयतयाऽभिमतत्वातिशयव्यञ्जनपरत्वादिति ।

अथ नित्यपरिजनविशिष्टतां दर्शयति—**स्वसङ्कल्पेति** । स्वरूपं धर्म्यंशः । स्थितिः अप्रच्युततयाऽवस्थानम् । प्रवृत्तिः व्यापारः । नित्यानां स्वरूपस्थित्योः परमात्मसङ्कल्पानुविधायित्वं नाम तन्नित्येच्छासिद्धत्वम् । तच्चानिच्छासम्भवे निवर्तयितुं शक्यतामात्रम् । तेषु त्वनिच्छायाः कदाचिदप्यभावात् स्थितेः सदातनत्वम् । इदं च परमात्मसङ्कल्पानुविधायिस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं बद्धमुक्तप्रकृतिप्राकृतकालादिष्वपि भाव्यम् । तच्च सर्वं प्रपञ्चयिष्यते । शेषता शेषवृत्तिरित्यर्थः । अशेषशेषता यथाभिमताकारता । अत्र 'शरा नानाविधाश्चापि धनुरायतविग्रहम् । अन्वगच्छन्त काकुत्स्थं सर्वे पुरुषविग्रहाः' [रा. उ. कां. १०९।७] 'निवासशय्यासनपादुका' [स्तो. र. ] इत्यादि द्रष्टव्यम् । एकैककृतस्यैव हि कैङ्कर्यस्य मिथः सर्वार्थतयाऽनुसन्धानात् सर्वेऽप्यस्य सर्वकैङ्कर्यकारिणो भवेयुः । यद्वा स्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदा एव अशेषशब्देन संगृह्यन्ते; तेषामशेषाणां परमात्मानं प्रति शेषताशेषभावः । एवमुक्तप्रकारायां शेषतायामितरपरित्यागेन तदेकावलम्बिनी प्रीतिरेव रूपं स्वरूपं स्वभावो वा येषां ते अशेषशेषतकरतिरूपाः । ते च सर्वे नित्याः । स्वरूपनित्यत्वस्य सर्वात्मसाधारणत्वात् मुक्तवत्कदाचिदाविर्भूत-

स्वरूपत्वमिह नित्यशब्देन व्युदस्यते, नित्यासंकुचितज्ञानादिगुणा इत्यर्थः । तत एव निरवद्याः क्लेशकर्मस्वातन्त्र्याभिमानादिदोषात्यन्ताभाववन्तः । एषां ज्ञानस्य निरतिशयत्वं परमात्मज्ञानतुल्यत्वम् । क्रियाया निरतिशयत्वं स्वच्छन्दानन्तकैङ्कर्यात्मकत्वम् । ऐश्वर्यस्य निरतिशयत्वं परमात्मकैङ्कर्योपयोगिस्वेच्छागृहीतशरीरेन्द्रियादिनियमने निर्विघातत्वम्; न तु सर्वविषयत्वम्, 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' [ब्र. सू. ४।४।१७] इति न्यायात् । अत्र निरतिशयज्ञानक्रियैश्वर्यादिरनन्तो गुणगणो येषामिति विग्रहः । ते च अपरिमिताः असङ्ख्येयाः सूरयः । "सदा पश्यन्ति सूरयः। तद्विप्रासो विपन्यवो जागृवाँसः समिन्धते" [ऋक्.वामनसू. सामवे.प्र.३अ. १८.खं.२ वा.४] इत्याद्यनुसन्धानेनाह—**अनवरताभिष्टुतचरणयुगल** इति । विपन्यवः विशेषेण स्तुतिशीलाः । 'पण व्यवहारे स्तुतौ च । पन च' । [धा. पा. ] अभिष्टुतेत्यभिर्विशब्दार्थः । स्तुतिशीलत्वादनवरतत्वोक्तिः । स्तुतिविषयत्वप्रसक्तमैश्वर्यादेरियत्तारूपं परिच्छेदमपाकरोति—**वाङ्मनसेति** । एतेन "यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्" [केनोप. २।३ ] "सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" [ ऋक्. ८।७ ] "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" [ तै. उप. २ । ९ ] इत्यादीनां वाङ्मनसयोरवेद्यत्वार्थतां वदन्तो निरस्ताः । तथा सति "तद्विजिज्ञासस्व" [ तै. उप. ३।१] "मनसा तु विशुद्धेन" [मनुव्याख्याने १।८] "ब्रह्मवित्" "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"[तै. उ. २।४॥२।९ ] इत्यादिभिः । "यतो वाचो निवर्तन्ते" [ तै. उप.२।४ ] इत्यत्र यच्छब्दादिभिश्च, विरोधप्रसङ्गः । विरोधपरिहाराय मुख्यवृत्तिनिषेधविषयतया व्यवस्थाप्यत इति चेत्, आगतोऽसि पन्थानम्; विषयव्यवस्था तु यथाप्रमाणमस्माभिः क्रियत इति विशेषः । वाङ्मनसेत्यादिकं परमव्योमविशेषणतया केचिद्व्याचक्षते, श्रीवैकुण्ठगद्ये तथोक्तेः । वयं तु अत्रैव षष्ठाध्याये 'योगिनामपि' [गी.६।४७]इति श्लोके 'वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावम्' इति परमात्मविशेषणत्वेनैवाभिधानात्, कुमतिनिरासार्थमपेक्षितत्वाच्च, अत्रापि तथा विवक्षामाचक्ष्महे ॥

**स्वोचितेत्यादि** । अत्राप्यनन्ताश्चर्यशब्दः पूर्ववत् । विभवशब्देन वाहनरत्नादिसंग्रहः । अनन्तपरिमाणत्वं तिर्यगूर्ध्वादिदेशापेक्षया, अधस्तात् प्रकृत्यवच्छिन्नत्वात् । अनन्तशब्दावृत्तिः प्रत्येकमानन्त्ये तात्पर्यातिरेकात् । नित्यत्वं प्राकृतव्योमवल्लयरहितत्वम् । निरवद्यत्वं शुद्धसत्त्वमयत्वेन रजस्तमस्तत्कार्यराहित्यम् । अक्षरत्वं अंशतोऽपि सृष्टिसंहारविरहः । परमशब्देन परनिर्दिष्टप्रक्रियया प्राकृतव्योमव्यवच्छेदः । एतेन "तदक्षरे परमे व्योमन्" [ तै. उप. २।४] इत्यादिश्रुतिसूचनम् । एवं नित्यविभूतियोग उक्तः ॥

अथ लीलाविभूतियोगप्रतिपादनमुखेन "यतो वा इमानि" [ तै. उप. २ । ४ ] इत्यादिवाक्यैः, "जन्माद्यस्य यतः" [ शा. सू. १।१।२ ] इति सूत्रेण च, निरूपितं जिज्ञास्यब्रह्मलक्षणयोगं दर्शयति—**विविधेति** । शब्दस्पर्शादिरूपेण दिव्यादिव्यादिभेदेन चात्र भोग्यवैविध्यवैचित्र्ये । 'इमानि' इत्यादिश्रुत्या हस्तप्रसारणेन तत्तत्प्रमाणसिद्धसमस्तकार्यप्रकारनिर्देशात् बहुवचनासङ्कोचाच्च भोक्तॄणां ज्ञानसुखादितारतम्यहेतुभूतं देवादिरूपेण वैविध्यम्, तदवान्तरविधाभूतब्राह्मणादिरूपेण वैचित्र्यं च दर्शितम् । यद्वा विविधशब्द एव सावांतरभेदं समस्तं वैविध्यं संगृह्णाति । विचित्रशब्दस्त्वाश्चर्यपरत्वेनान्याशक्यत्वपरः, 'मेघोदयः' इत्यारभ्य 'विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः' [वि.स.ना.भा.३०३] इत्यादिवत् । ज्ञानसुखादितारतम्यभावेन परमव्योम्नि भोक्तृवैविध्याभावात् परभोग्यतैकरसानां नित्यसूरीणां पृथगुक्तत्वाच्च तत्र भोक्तृवर्गानुक्तिः । भोगोपकरणभोगस्थानान्यत्राप्यर्थसिद्धानि । एवंविधायाश्च विषमसृष्टेर्विचित्रानादिचेतनकर्मप्रवाहमूलत्वान्न वैषम्यादिदोषः । निखिलशब्देन कतिपयसृष्ट्यादिनिमित्तोपादानभूतचतुर्मुखादिव्यावर्तनम् । उदयशब्देन सद्वारकाद्वारकसमस्तसृष्टिसंग्रहणम् । एवं विभवशब्देन विष्ण्ववतारान्तर्यामित्वादिकृतविविधस्थितिसंग्रहः । लयोऽपि नित्यनैमित्तिकादिरूपः । निखिलसृष्ट्यादिष्वन्यतमस्यैव ब्रह्मलक्षणत्वे सम्भवत्यपि उपात्तव्यतिरिक्तयोः किमन्यः कर्तेति शङ्काव्यावर्तनाय सृष्ट्यादित्रयोपादानम् । जगद्गतानां त्रयाणामुदयविभवलयानामेतद्गतलीलात्वेन व्यपदेशादुपादानत्वं सूचितम् । जगदाकारेण जायमानत्वादीन्यस्य लीलाः, "बहु स्यां प्रजायेय" [ तै. उप. २।६; छां. उप. ६ । २ ] इति हि जगत्कारणस्य तस्य सङ्कल्पः, सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्यैवोपादनत्वात्; बालस्येव युवत्वादिप्राप्तौ न स्वरूपतो विकार इति निर्विकारत्वश्रुत्यविरोधः । अवाप्तसमस्तकामस्य कथं जगद्व्यापार इति शङ्कां परिहरता लीलाशब्देन निमित्तत्वमपि तस्यैवेति सिद्धम् । एतेन निमित्तोपादानभेदं वदन्तो निरस्ताः । न च लोके निमित्तोपादानभेददर्शनमात्राद्विरोधः, लौकिककारणविलक्षणत्वाच्छ्रुतिसिद्धस्य ब्रह्मणः । अन्ततो वैशेषिकादिभिरपि घटेश्वरगतसंयोगविभागद्वित्वपृथक्त्वादिकार्येष्वीश्वरस्यैव निमित्तत्वं; उपादानत्वं च अभ्युपगतमिति न कश्चिदस्मिन्मते दोषः । तथा बुद्धिपूर्वकस्वसुखोत्पादनादावपि द्रष्टव्यम् ॥

एवं ब्रह्मलक्षणयोगात् नारायणस्यैव परब्रह्मत्वं दर्शयन्, सद्ब्रह्मात्मादिसामान्यशब्दानां नारायणाख्यविशेषपर्यवसानं च सूचयन्, "नारायणपरं ब्रह्म" [ना.उ. ] इति श्रुत्यनुकारिणः 'नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः' इति गीतार्थसंग्रहश्लोकस्य[ १ ] प्रपञ्चनमिह क्रियत इति च ज्ञापयन्, उक्तैः प्रकारैः समाख्यात्रयमस्यैव सङ्गतमिति चोदाहरन्, उक्तेष्वर्थेषु वा समाख्यात्रयं प्रमाणयन्, 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' [गी.१०।१२] 'प्रथितः पुरुषोत्तमः' [ गी.१५।१८ ] 'एष नारायणः श्रीमान्' [ ह. वं. वि.प.५४।५० ] च इत्यमीषां कृष्णैकविषयत्वं च दर्शयन्, अभेदश्रुतीनां भेदश्रुतीनां घटकश्रुतीनां कारणशोधकोपासनश्रुतीनां च निष्कृष्टमर्थं संगृह्णाति—**परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायण** इति । सर्वसामानाधिकरण्यं सर्ववैलक्षण्यं च सर्वान्तर्यामित्वेनोपपन्नमिति पदत्रयाभिप्रायः । अत एव अत्र प्रपञ्चबाधभेदाभेदादिना सामानाधिकरण्यं वदन्तो

निरस्ताः । "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" [ महोपनिषदि १।१।१ ] इत्यारभ्य "तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत" [ म. उप. १।२।१] "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" [ श्वे.उप. ६।१८ ] इत्याद्युक्तप्रकारेण करणकलेवरप्रदानहितोपदेष्टृत्वादिकमभिप्रेत्याह-**ब्रह्मादिस्थावरान्तमखिलं जगत् सृष्ट्वे**ति । ब्रह्मसृज्यस्य स्थावरपर्यन्तस्य जगतः परमात्मसृज्यत्ववचनात् ब्रह्मादिकक्षुक्तिः परमात्मा तत्तत्सृजतीति सिद्धम् ॥

अथ स्वेच्छयाऽवतारं तत्प्रयोजनं च वक्तुमनवतारदशायां तत्प्रयोजनानिर्वृत्तिं दर्शयति-**स्वेने**त्यादिना **अगोचर** इत्यन्तेन । अगोचरत्वं अव्यक्तत्वात् । यथोच्यते—'यैर्लक्षणैरुपेतो हि हरिरव्यक्तरूपधृक् । तैर्लक्षणैरुपेता हि व्यक्तरूपदशा युवाम्' इति । ब्रह्मादिदेवेति वचनात् 'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्' [ ब्र. सू. १।३।२५] इत्यधिकरणेऽर्थित्वसामर्थ्याभ्यां समर्थितं ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिदेवजातीनामपि परमात्मोपासनाधिकारित्वं सूचितम् । स्वप्रयोजनाभावे कथं प्रवर्ततेत्यत्राह—**अपारे**ति । स्वार्थनिरपेक्षया परदुःखासहिष्णुतया, महत्त्वाप्रतिरुद्धया मन्दैः सह निरन्तरसंश्लेषरसिकतया, स्वाभाविकेन परदोषतिरस्कारिणा सम्बन्धविशेषेण, पिशाचगोपालगोपिकादिभ्यः स्वात्मसमर्पणे कृतेऽपि कियद्दत्तमिति भावयता महौदार्येण च प्रेरितोऽवतरतीत्यर्थः । अस्त्रभूषणाध्यायोक्त विग्रहं 'समस्ताः शक्तयश्चैता नृप यत्र प्रतिष्ठिताः । तद्विश्वरूपवैरूप्यं रूपमन्यद्धरेर्महत्' [ वि.पु.६।७।७०] इति परामृश्य, 'समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर । देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया' [वि. पु. ६।७।७१ ] इत्युक्तप्रकारेणावतारविग्रहस्याप्यप्राकृतपरमपदनिलयविग्रहांशविशेषत्वं दर्शयितुं **स्वमेव रूपं** इत्याद्युक्तम् । 'नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत्प्रभुः' [ म. भा.स. प. अर्घप. प. ६१। ३२] "न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा" [ वा. पु. पू. खं. ३४।४०] 'न भूतसंघसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः' [ भारते ] इति चोच्यते । 'अजोऽपि सन्' [ गी. ४।६ ] इत्यादि वक्ष्यमाणमनुसंदधान आह—**स्वस्वभावमजहदेवे**ति । 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' 'संभवामि युगे युगे' [ गी. ४।७] इत्यादिवीप्सार्थम्, 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' [गी.४।५] इत्याद्यर्थं च भावयन्नाह—**तेषु तेषु लोकेष्ववतीर्यावतीर्ये**ति । 'स उ श्रेयान्भवति जायमानः' [ यजु. ३।६।१।३ ] 'यस्यावताररूपाणि समर्चन्ति दिवौकसः । अपश्यन्तः परं रूपम्' [ वि. पु. १।१९।८० ] इत्यादिकं स्मारयितुं **अवतीर्यावतीर्य तैस्तैराराधित** इत्युक्तम् । **तत्तदिष्टानुरूपम्** इति वचनात् फलप्रदाने वैषम्यदोषः परिहृतः । 'तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यम्' [ वि. पु. १।१७।९१ ] इत्यादि चात्रानुसन्धेयम् ॥

एवमवतारसामान्यं तत्प्रयोजनं च दर्शितम् । अथ तद्विशेषं प्रस्तुतान्वितं दर्शयति—**भूभारावतारणे**त्यादिना । भूभारावतारणं व्याजमात्रम् । सर्वसमाश्रयणीयत्वं तु साक्षादुद्देश्यम् । दुष्कृद्विनाशस्य साधुपरित्राणाख्यमहाप्रयोजनानुषङ्गिकत्वात् **भूभारावतारणापदेशेन** इत्युक्तम् । **अस्मदादीनामपि** अयोगिनामित्यर्थः । समाश्रयणीयत्वं विवृणोति—**सकले**ति । 'यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः । जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्' [ वि. पु. १।९।५५ ] इत्यादिप्रतिपादितप्रकारेण महायोगिनां परिशुद्धेन मनसापि दुर्ग्रहः सौलभ्यातिरेकात् मनुष्याणां, तत्राप्यागोपालमवधीरितविरुद्धाविरुद्धविभागानां मांसचक्षुषा ग्राह्योऽभूदिति भावः । एवमवतरणनयनविषयत्वयोर्न केवलमाराध्यत्वमेव प्रयोजनम्, किंतु तदनुभवोऽपीत्यभिप्रायेणाह—**परावरे**ति । पराः उपासनसमर्था ब्रह्मरुद्रभीष्माक्रूरादयः, अवरास्तु आभीरप्रभृतयः । **निखिलजन** इति स्त्रीपुंसादिविभागोऽपि नास्तीत्यभिप्रेतम्, 'पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्' [रा.अयो. ३।२९] इतिवत् । दिव्यचेष्टितानि नवनीतनटनादीनि । एवं विशेषणद्वयं साधुपरित्राणप्रकारविशेषतयाऽभिहितम् ।

अथ साधुपरित्राणानुषङ्गिकं दुष्कृद्विनाशनप्रकारं प्रपञ्चयति—**पूतने**ति । भगवतो बलभद्रस्याप्येतदंशरूपत्वात् प्रलम्बमुष्टिकादिहननमप्येतत्कर्तृकतयोपात्तम् । पुनः साधुपरित्राणान्तर्गतां भोग्यतां दर्शयति—**अनवधिके**ति । प्रियतमस्वरूपदर्शनं धारकम्; तच्चेष्टितदर्शनं पोषकम्; तेन सहालापादिः भोगप्रकारः; इति नयनविषयत्वचेष्टितालोकनादिविभागनिर्देशाभिप्रायः । दया स्वार्थनिरपेक्षा परदुःखनिराकरणेच्छा; सौहार्दं हितैषित्वम्; अनुरागः प्रीतिः । एवं साधुपरित्राणं तदौपयिकं दुष्कृद्विनाशनं चोक्तम् । अथ धर्मसंस्थापनं आराध्यस्वरूपप्रदर्शनेन देशकालविप्रकृष्टानामपि परम्परयाऽनुग्राहकेणोपदेशेन च दर्शयति—**निरतिशये**त्यादिना वाक्यशेषेण । एतच्चाखिलं 'परित्राणाय' [ गी. ४।८ ] इति श्लोके व्याख्यास्यते । तत्र हि साधूनां लक्षणस्वभावादिकमुक्त्वाऽनन्तरमेवमुक्तम्—मत्स्वरूपचेष्टितावलोकनालापादिदानेन तेषां परित्राणाय; तद्विपरीतानां विनाशाय च, क्षीणस्य वैदिकस्य धर्मस्य मदाराधनरूपस्य आराध्यस्वरूपप्रदर्शनेन स्थापनाय च, देवमनुष्यादिरूपेण 'युगे युगे संभवामि' इति उपदेशतो धर्मस्थापनं व्यासादिमुखेनापि कर्तुं शक्यम् । आराध्याकारप्रदर्शनेन स्थापनं तु स्वेनैवावश्यकर्तव्यमिति भावः । बाह्यान्तरकरणग्राह्यगुणवर्गद्वयप्रदर्शनतया सौन्दर्यसौशील्ययोर्ग्रहणम् । परमभागवतान् कृत्वेति भगवद्भक्तिरूपपरधर्मनिष्ठान् कृत्वेत्यर्थः ॥

एवं प्राचीनभगवच्चरितस्य श्रीमद्गीतार्थोपदेशेन सङ्गतिः प्रदर्शिता । **पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन** इति तु भारतकथासङ्गतिः । अत्र व्याजशब्देन 'अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम् । पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्' [ गी. सं. श्लो.५] इत्यत्र 'उद्दिश्य' इति पदस्याभिप्रायो विवृतः । **परमपुरुषार्थ**-इत्यादिना शास्त्रस्य परमप्रयोजनाभिधानम् । तेनात्र भूमविद्यायामिवात्मानुभवोक्तिरप्यैश्वर्योक्तिवद्भगवदनुभवापेक्षया निकृष्टपर्वज्ञापनायेति सूचितम् । **मोक्षसाधनतया** इति साध्यसाधनभावनिर्देशेन संसार्यात्मन एव नित्यमुक्तिं वदन्तो निरा-

कृताः। वेदान्तोदितं वेदान्तविहितम्, न तु वेदान्तोत्पादितमित्यर्थः। एतेन अविधेयज्ञानवादिनो निरस्ताः। वेदान्तोदितस्यार्थस्योपबृंहणमत्र क्रियत इति भावः। **स्वविषयमिति**—मोक्षार्थोपासनवाक्यानां अनन्यपरतया साक्षात्परमपुरुषाराधनविषयत्वमेव। अथर्वशिरःप्रतर्दनविद्यादिषु रुद्रेन्द्रादिभिः स्वस्य मुमुक्षूपास्यत्ववचनेऽपि रुद्रेन्द्राद्यन्तर्यामिभूतः परमात्मैवोपास्य इति 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' [ब्रह्मसू. अ. ११।३१] इति सूत्रकारैरेव प्रतिपादितमिति भावः। एतेन वेदान्तोदितमाहात्म्यवादिनो भगवतः 'स्वगुणाविष्क्रियादोषो नात्र भूतार्थशंसिनः' (का. द. प्र. प.) इति सूचितम्। **स्वविषयम्** इति भक्तियोगस्य सिद्धरूपपरमप्रतिपाद्यानुबन्धित्वमपि दर्शितम्। प्रधानविधेयांशनिष्कर्षाय **भक्तियोगम्** इत्युक्तम्। ज्ञानकर्मानुगृहीतत्वं ज्ञानकर्मसाध्यत्वम्। एतेन समुच्चयादिपक्षा निरस्ताः। वैराग्यस्य गीतार्थसंग्रहश्लोके पृथगुक्तस्यापि निष्ठाद्वयानुप्रविष्टत्वादिहानुक्तिः। एवमुपायोपेयात्मकमुभयमपि शास्त्रप्रतिपाद्यमिति संग्रहश्लोकतात्पर्यमुक्तं भवति। **मोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं भक्तियोगम्** इति वचनात् उपासनस्यार्वाचीनब्रह्मप्राप्त्यादिसाधनत्वं वाक्यार्थज्ञानमात्रस्य मोक्षसाधनत्वं च वदन्तः प्रत्युक्ताः। ज्ञानध्यानादिसामान्यवचसां भक्तिरूपविशेषे पर्यवसानमिति च भावः। एतच्चाखिलमुत्तरत्र व्यक्तं भविष्यति।

**रा० भा०—तत्र पाण्डवानां कुरूणां च युद्धे प्रारब्धे स भगवान् पुरुषोत्तमः सर्वेश्वरेश्वरो जगदुपकृतिमर्त्य आश्रितवात्सल्यविवशः पार्थं रथिनमात्मानं च सारथिं सर्वलोकसाक्षिकं चकार। एवमर्जुनस्योत्कर्षं ज्ञात्वाऽपि सर्वात्मनाऽन्धो धृतराष्ट्रः सुयोधनविजयबुभुत्सया [सुयोधनविजये संदिहानः] सञ्जयं पप्रच्छ॥**

**वे. ता. चं.**—एवं शास्त्रं संगमय्य, शास्त्रोपोद्घातं संगमयितुं **पाण्डुतनय** इत्यादिना सूचितं पूर्ववृत्तान्तं प्रकटयन्, सारथित्वेनावस्थायाचार्यकृत्यकरणे अतारकत्वशङ्कां च वारयति-**तत्रेति**। तत्र प्रथमं भक्तियोगमवतारयितुमेवं चकारेत्यर्थः। यद्वा तत्र युद्धे प्रारब्धे इत्यन्वयः। भक्तियोगावतरणव्याजभूतप्रोत्साहनविषयभूते युद्धे प्रारब्धे इत्यर्थः। भगवतोऽवतारदशायामपि पूर्णत्वस्वाच्छन्द्यादिकं वात्सल्यादिमूलसारथ्याद्यपकृष्टकर्मानुष्ठानस्य गुणरूपत्वादिकं च प्रदर्शयितुं **स भगवान्** इत्याद्युक्तम्। **स भगवान् पुरुषोत्तम सर्वेश्वरेश्वर** इति चतुर्भिः पदैः स्वरूपगुणवैलक्षण्यविभूत्यादिप्रतिपादनेन परत्वसंग्रहः। सर्वेश्वरेश्वर इत्यनेन 'सर्वेश्वरेश्वरः कृष्णः' इत्यादिवचनोक्तं स्वाच्छन्द्यं जगत्कुटुम्बित्वं च ज्ञापितम्। **जगदुपकृतिमर्त्य आश्रित**वात्सल्यविवश इति सौलभ्यसंग्रहः। अविप्रलम्भकत्वं चानेन व्यञ्जितम्। 'जगतामुपकाराय' [वि. पु. ६।७।७२] 'जगदुपकृतिमर्त्ये को विजेतुं समर्थः' [वि. पु. ५। ३०।८०] इत्यादिकमिह स्मारितम्। जगदुपकृतिमर्त्यत्वेऽप्युत्कृष्टचरितं परित्यज्य निकृष्टसारथ्यादिकृत्यं किमर्थं कुरुते इत्यत्रोक्तं **आश्रितवात्सल्यविवश** इति। **पार्थं रथिनमात्मानं च सारथिमिति** अपकृष्टं पार्थमुत्कृष्टकृत्ये स्वयमेवावस्थाप्य आत्मानमुत्कृष्टं निकृष्टकृत्ये चकारेति भावः। पार्थशब्देन वात्सल्यौपयिकलौकिकसम्बन्धविशेषोऽपि सूचितः। पितृष्वसा हि पृथा भगवतः। **सर्वलोकसाक्षिकमिति**—न चासौ निकृष्टकृत्यं सापत्रपो रहस्ये कृतवान्; अत इदमपि आश्रितवात्सल्यस्य नैरपेक्ष्यस्य अर्थापह्नवायसम्भवस्य च लिङ्गमिति भावः। यद्वा सर्वेषां स्वसमाश्रयणेन पुरुषार्थलाभाय स्वस्य शास्त्रैकसमधिगम्यमाश्रितपारतन्त्र्यं सर्वलोकप्रत्यक्षं चकारेति भावः।

अथ 'त्वां शीलरूप-' इत्यादिक्रमेणानन्यसाधारणशीलरूपचरितपरमसत्त्वप्रबलशास्त्रदेवतापारमार्थ्यवेदिशान्तनवसञ्जयादिवचनैरप्यासुरप्रकृतीनां यथावदवगन्तुमशक्यतां प्रदर्शयन्, गीतोपनिषत्प्रस्तावनार्थं प्रथमश्लोकमवतारयति—**एवमिति**; श्रियःपतिरित्यादिना पूर्वोक्तप्रकारेणेत्यर्थः। **सर्वात्मनेति**—न केवलं चक्षुषा, परत्रेह च हितमजानता मनसाऽपीत्यर्थः। एवंविधमान्ध्यं सुयोधनविजयाभिलाषेण प्रश्ने हेतुः। 'मामकाः' [गी. १।१] इति प्रथमोक्त्या ममकारेण, 'यत्र योगेश्वरः' [गी. १८।७८] इत्यादिप्रतिवचनप्रक्रियया च सूचितं प्रष्टुरभिप्रायं दर्शयितुं **सुयोधन** इत्यादिकमुक्तम्। **सञ्जयमिति**—व्यासप्रसादलब्धसकलभारतसमरवृत्तान्तसाक्षात्कारं 'शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम्' [म. भा. उ. प. ६८।७५] इत्यादिवादिनम्; एवं यथार्थदर्शित्वयथादृष्टार्थवादित्वाभ्यामाप्ततमतया निर्णीतमिति भावः। **पप्रच्छ** समरवृत्तान्तमिति शेषः॥

---

आनन्दतीर्थकृत- (माध्व-) भाष्योपोद्घातः।

**देवं नारायणं नत्वा सर्वदोषविवर्जितम्। परिपूर्णं गुरूंश्चान् गीतार्थं वक्ष्यामि लेशतः॥ १॥**

**जयतीर्थमुनिविरचिता प्रमेयदीपिका।**

गुणगणनिलयं पतिं रमाया जगदघदहनं च वासवीसूनुम्।
मुनिकुलतिलकं च पूर्णबोधं गुरुमपि परमगुरुं च मे वन्दे॥१॥
आनन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविनिर्मितम्।
व्याख्यास्ये भगवद्गीताभाष्यं तत्करुणाबलात्॥२॥

प्रारिप्सितविघ्नविघातादिप्रयोजनं समुचितविशिष्टेष्टदेवतागुरुप्रणामं ग्रन्थारम्भप्रतिज्ञां चादौ निबध्नाति भगवान् भाष्यकारः—**देवमिति**। अत्र देवशब्दो देवताशब्दपर्यायः। प्रतिपाद्यमाह सन्निधानाच्च भगवद्गीताया इति लभ्यते, तेनेदानीं नारायणस्य

प्रणामे समुचितमाचष्टे, अज्ञानपारतंत्र्यादिभिः सर्वदोषैर्विशेषेण सर्वदा सर्वात्मना वर्जितं परितो देशतः कालतो गुणतश्च पूर्णमिति वैशिष्ट्यमाचष्टे । परमवैष्णवस्य भगवतो भाष्यकारस्य विष्णुरिष्टदेवतेति प्रसिद्धमेव । यद्वा भगवद्गीताप्रतिपाद्यत्वं नारायणस्य न परेषामिव जीवत्वनिर्विशेषत्वादिरूपेण । किन्नाम सर्वदोषवर्जिततया परिपूर्णतया चेति पदद्वयेनाख्याति—आन् व्यासान् । अआअंअः पुराणर्षिर्व्यासः शाखासहस्रकृदित्यकारस्य तन्नामसुपाठाद्बहुवचनं च गौरवादेव । **गीते**ति भगवद्गीतैवाभिप्रेयते । ''मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः''इति न्यायात् यद्यपि बह्वर्था गीता,शक्तश्चाहं तद्वचने,तथापि श्रोतॄणां मंदां मतिमवेक्ष्याल्पमेवोच्यत इति भावेनोक्तं **लेशत** इति । इत्थंभूतलक्षणार्थेतृतीयांतात्तसिः । अर्थशब्देन सर्वार्थग्रहणप्रसक्तौ सर्वेषां भाष्ये चादर्शनाद्व्यर्थेयं प्रतिज्ञेति मंदाशंकानिरासायेदमुदितम् । नन्वस्तु नमस्कारग्रथनं शिष्यशिक्षणार्थं, प्रतिज्ञा तु किमर्थं ग्रंथे निवेशनीया ? उच्यते—बहुभिर्व्याख्यातृभिर्भगवद्गीताया व्याख्यातत्वाद्व्यर्थमिदं भाष्यमित्याशंकानिरसनं प्रयोजनमस्याः अन्यैः स्वपक्षनिक्षिप्तदृष्टिभिः स्वाभिप्रायो भगवद्गीतार्थत्वेनारोप्योक्तः, अहं तु गीतार्थमेव वक्ष्यामीति सूचनात् । नचात्र यतिभंगो दोषः, तस्य काव्यविषयत्वात् । शास्त्रे य उपाधिर्लिंगति साध्ये संबंधविशेषण इत्याद्यभियुक्तवाक्ये दर्शनादिति ॥ १ ॥

**आ. मा. भा.— नष्टधर्मज्ञानलोककृपालुभिर्ब्रह्मरुद्रेन्द्रादिभिरर्थितो ज्ञानप्रदर्शनाय भगवान् व्यासोऽवततार ।**

**ज. प्र. दी.—**नतु प्राधान्येन व्याख्येयताप्रामाण्ये अधिकारिविषयप्रयोजनाभिसंबंधे दुर्गमार्थत्वे च सति संभवति तत्कथं भगवद्गीतायाः प्रामाण्यादिकम् ? सति वा तस्मिन् तथाविधग्रंथांतरपरिहारेणास्या एव व्याख्याने को हेतुरित्याशंक्य महाभारतांतर्गतत्वाद्भगवद्गीतायास्तस्य प्रामाण्यादिसिद्धौ तस्या अपि तत्सेत्स्यतीत्याशयवान्महाभारतस्य प्रामाण्यादिकं साधयितुमाह— **नष्टधर्मज्ञाने**ति । किमनया कुटिलिकया ? पृथग्गीताया एव प्रामाण्यादिकं साध्यताम् । मैवम्, महावाक्यप्रामाण्याद्यनधिगतावान्तरवाक्यप्रामाण्यादेरसंभावनाग्रस्तत्वेन साधयितुमशक्यत्वात् । यथोक्तं 'संभावितः प्रतिज्ञाया अर्थः साध्येत हेतुना' इति। नष्टशब्दोऽदर्शनवाची, नश् अदर्शन इति स्मरणात् । धर्मो निवृत्तिलक्षणः । ज्ञानशब्देन ज्ञेयं परं तत्त्वं वासुदेवाख्यं अपरं च प्रकृत्यादिकं लक्ष्यते । लक्षणायां च प्रयोजनम् । यथा धर्मो ज्ञात्वोत्पादनीयो न तथेदम्, किंतु ज्ञानपरंपरैव तद्विषयानुष्ठेयेति ज्ञापनम् । लोक इति सज्जनो विवक्षितः । नष्टे अदर्शनं गते धर्मज्ञाने यस्य तस्मिन् लोके विषये कृपालुभिः । यद्यपि 'स्पृहिगृही' [अष्टा. १।२ १५८ ] त्यादिना कृपेरालुच्प्रत्ययो न विहितः तथापि व्याकरणांतरबलादवगंतव्यः । कलशवाची आलुशब्दः । कृपापूर्णकलशैरित्यर्थः। मोक्षसाधनयोर्धर्मज्ञानयोरदर्शनात्संसारे क्लिश्यमानान् सज्जनानवलोक्य उत्पन्नकृपैरिति यावत् । अन्यपदार्थानां देवानां ब्रह्मरुद्रेंद्रादिभिरिति यद्विशेषणं तत्प्रसिद्धप्रभावानामपि भगवदितरेषामशक्यमिदं कार्यमिति ज्ञापनार्थम् ।ज्ञानपदेन धर्मोऽप्युपलक्ष्यते। समकक्षत्वनिरासाय स्वशब्देनाग्रहणं, एतच्च पूर्वेणोत्तरेण च संबध्यते । ज्ञानप्रदर्शनायार्थितो ज्ञानप्रदर्शना यावततारेति । भगवान् समग्रज्ञानैश्वर्यवैराग्यादिगुणसंपन्नो नारायणो व्यासरूपेणावततारेत्यर्थः ।

**आ. मा. भा.—ततश्चेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसाधनादर्शनाद्वेदार्थाज्ञानाच्च संसारे क्लिश्यमानानां वेदानधिकारिणां स्त्रीशूद्रादीनां च धर्मज्ञानद्वारा मोक्षो भवेदिति कृपालुः सर्ववेदार्थोपबृंहितां तदनुक्तकेवलेश्वरज्ञानदृष्टार्थयुक्तां च सर्वप्राणिनामवगाह्यानवगाह्यरूपां केवलभगवत्स्वरूपपरां परोक्षार्थां महाभारतसंहितामचीक्लृपत् ।**

**तच्चोक्तम्—लोकेशा ब्रह्मरुद्राद्याः संसारे क्लेशिनं जनम् । वेदार्थज्ञसमर्थीकारवर्जितं च स्त्रियादिकम् ॥१॥**

**अवेक्ष्य प्रार्थयामासुर्देवेशं पुरुषोत्तमम् । ततः प्रसन्नो भगवान् व्यासो भूत्वा च तेन च ॥ २ ॥**

**अन्यावताररूपैश्च वेदानुक्तार्थभूषितम् । केवलेनात्मबोधेन दृष्टं वेदार्थसंयुतम् ॥ ३ ॥**

**वेदादपि परं चक्रे पञ्चमं वेदमुत्तमम् । भारतं पञ्चरात्रं च मूलरामायणं तथा ॥ ४ ॥**

**पुराणं भागवतं चेति सम्भिन्नः शास्त्रपुङ्गवः—इति नारायणाष्टाक्षरकल्पे ॥**

**ब्रह्माऽपि तन्न जानाति ईषत्सर्वोऽपि जानति । बह्वर्थमृषयस्तत्तु भारतं प्रवदन्ति हि—इत्युपनारदीये ५**

**ब्रह्माद्यैः प्रार्थितो विष्णुर्भारतं स चकार ह ।**

**यस्मिन् दशार्थाः सर्वत्र न ज्ञेयाः सर्वजंतुभिः—इति नारदीये ॥ ६ ॥**

**ज. प्र. दी.—**ततः किं प्रकृत इत्यत आह—**ततश्चे**ति । तस्माद्धर्मज्ञानप्रदर्शनार्थमवतीर्णत्वादेव अवतारानंतरमेव वा विजातीयव्यापारव्यवधानमंतरेणेति यावत् । धर्मज्ञानप्रदर्शनाय महाभारतसंहितां महाभारताख्यं शास्त्रमचीक्लृपत् समर्थितवान् ,व्यास इति संबंधः । धर्मादिज्ञानमपुरुषार्थं कथं शास्त्रप्रयोजनमभिप्रेतवानित्यत उक्तं धर्मज्ञानलक्षणया द्वारा सज्जनानां मोक्षो भवेदित्यभिप्रायेणेति । अत्र ज्ञानशब्दो मुख्यार्थ एव । ग्रंथनिर्माणे भगवतः किं प्रयोजनमित्यत उक्तं—**कृपालु**रिति । संसारे स्वाभाविके मोक्षार्थं प्रयत्नः काकीयकार्ष्ण्यापनयनार्थप्रयत्नतुल्य इत्यत उक्तं इष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारसाधनादर्शनात् संसारे **क्लिश्यमानाना**-

मिति । मोक्षस्य पुरुषार्थतासमर्थनार्थं वादिविप्रतिपत्तेस्तत्स्वरूपनिर्धारणार्थं चेष्टेत्याद्युक्तम्। आत्यंतिकेति चोपस्कर्तव्यम् । साधनं च धर्मज्ञानरूपम् । ननु वेदानामुद्धृतत्वात्तत एव धर्मादिप्रतीतिसंभवात्किं भारतनिर्माणेन ? इत्यत उक्तं **सर्ववेदार्थे**ति । अनेन वेदाधिकारिणां त्रैवर्णिकानां पुंसां वेदार्थज्ञानोपायो भारतमिति सूचयति । वेदानधिकारिणां वेदतुल्यत्वाच्च तन्निर्माणं युक्तमित्याशयवानाह–**वेदे**ति । तदनेन परमाप्तिमूलत्वान्महाभारतस्य प्रामाण्यम् । धर्मः परमपरं च तत्त्वं विषयः । तज्ज्ञानं चावांतरप्रयोजनं, मोक्षः परमम् । सज्जनाश्चाधिकारिण इत्युक्तं भवति । नष्टधर्मेत्यादिना बहुशो विषयप्रयोजनाभिधानेन तयोरनन्यलभ्यत्वं सूचयति । यदभावात्सतां संसारक्लेशो यदर्थं देवतानां प्रार्थनं यदर्थश्च भगवतोऽवतारः तद्भारतनिर्माणेनैव पर्यवसितमिति । एतेनैतदपि अयुक्तम् , यदाह–**भास्करः** । शास्त्रप्रयोजनाभिधाने प्रस्तुतेऽवतारप्रयोजनाभिधानमसंगतम् । इति संकरः । कृष्णावतारपुरस्कारेण गीतायाः संगतिमाह–तदतिक्रमेण व्यासावतारपुरस्कारे को हेतुरिति चेत्, कृष्णस्य बलकार्यत्वेन ज्ञानोपदेशस्य प्रासङ्गिकत्वं व्यासस्य ज्ञानकार्यत्वेन प्राधान्यमिति वेदादिसंवादेनापि भारतस्य प्रामाण्यनिश्चय इत्याशयेनाह–**सर्वे**ति । नैतावता वेदादिसमं भारतं किंतु तदनुक्तार्थस्यापि प्रतिपादनेन ततोऽधिकमिति भावेनाह—**तदि**ति । तर्हि निर्मूलत्वेनाप्रामाण्यं प्रसज्यत इत्यत उक्तं–**ईश्वरे**ति । ज्ञानदृष्टो ज्ञानविषयीकृतः सर्वज्ञस्य झटिति स्फुरणार्थं स्वेत्यनुक्त्वा ईश्वरेत्युक्तम्। ईश्वरज्ञानस्य कुतः प्रामाण्यमित्यत उक्तम्–**केवले**ति, इन्द्रियाद्यनपेक्षम् । अनेन सत्स्वप्यन्येषु ग्रंथेषु किमेतद्व्याख्यानेनेति परिहृतम् । ननु नष्टधर्मेत्यादिना मंदान्प्रतीदं निर्मितमिति सूचितम् । ते च वेदैकदेशार्थमपि ज्ञातुमशक्तास्तत्कथं सर्ववेदाद्युक्तानुक्तार्थवतोऽस्य प्रणयनम् ? मैवम् , ब्रह्मादीनामप्यत्राधिकारित्वात् । यथोक्तं 'वेदोत्तमं तच्च विधातृशंकरप्रधानकैस्तन्मुखतः सुरैः श्रुतम्' इति । कथमेतदुभयमित्यत आह–**सर्वे**ति । रूपशब्दोऽभिधेयार्थः । 'स्वं रूपं शब्दस्य'[अष्टा.१।१।६८]इत्यत्र रूपशब्देन प्रसक्तस्य बाह्यार्थस्य व्यावृत्तये स्वमित्युक्तत्वात् । स च व्याघातपरिहारार्थः। सामान्येन द्व्यर्थं भारतं, तत्रैकोऽर्थः सर्वप्राणिनामवगाह्यः, अपरः सर्वप्राणिनां नावगाह्यः, किंतु केषांचिदेवेति न कश्चिद्दोषइति । अनवगाह्यरूपतायां हेतुमाह–**परोक्षे**ति । परोक्षोऽत्यंतगूढः। ननु धर्माद्यनेकविषयत्वेऽस्य कथमेकवाक्यतेत्यत आह–**केवले**ति । केवलमेव भगवत्स्वरूपं परं मुख्यप्रतिपाद्यं यस्याः सा तथोक्ता। धर्मादिकं तु तादर्थ्येनामुख्यप्रतिपाद्यमिति भावः । भगवत्प्रतिपादनं च न सङ्कीर्णतया अपि तु निष्कृष्टतयेति ज्ञापनाय स्वरूपेत्युक्तम् । कुत एतत्प्रतिपत्तव्यमित्यत आह–**तच्चोक्त**मिति । यदेतन्नष्टधर्मेत्यादिनोक्तं तल्लोकेशा इत्याद्यागमचतुष्टयेनोक्तं च । न केवलमस्माभिरुच्यते "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" [अष्टा.६।३।१२२] इत्यतोऽधीकारेति दीर्घः । क्रियादिकमिति छांदस इयङ् ॥ १ ॥ व्यासो भूत्वा च व्यासो भूत्वैव विलंबमकृत्वा अभूत्वा मूलरूपेण चेति वा, तेन व्यासरूपेण ॥२॥ अन्यावताररूपैश्च ॥ ३ ॥ परमतिशयेनोक्तम् । कोऽसौ पञ्चमो वेद इत्यत आह–**भारत**मिति। पञ्चमवेदाख्यः शास्त्रपुङ्गव इति सम्भिन्नः प्रभिन्नः। अथवेति शास्त्रपुंगवः स च संभिन्नः एकार्थतया सङ्गत इत्यनेकेष्वपि ग्रंथेष्वेकवचनमिति योज्यम्। अत्र पंचरात्रं नारायणावतारेण कृतम् । मूलरामायणं हयग्रीवावतारेण कृतम् । आदिभागवतं मूलरूपेण ॥ ४ ॥ ब्रह्मापि बृहस्पतिरपि, कृत्स्नमिति शेषः । सर्वोऽपि जनो जानाति जानाति । बह्वर्थमिति प्रवदंति । भारतं चापीति पूर्वोक्तेन समुच्चयः ॥ ५ ॥ दश अवतारा येषु ते तथा । ते अर्था येष्विति विग्रहः ॥ ६ ॥

**आ.मा.भा.—भारतं चापि कृतवान् पञ्चमं वेदमुत्तमम् ॥ दशावरार्थं सर्वत्र केवलं विष्णुबोधकम् ॥ ७ ॥**
**परोक्षार्थं तु सर्वत्र वेदादप्युत्तमं च यत्—इति स्कान्दे ।**

**यदि विद्याच्चतुर्वेदान् सांगोपनिषदान्द्विजः । न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः ॥८॥[म.भा.२।८२]**
**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रचलिष्यति ॥९॥[म.भा.१।६७]**
**मन्वादि केचिद्ब्रुवते ह्यास्तीकादि तथाऽपरे । तथोपरिचराद्यन्ये भारतं परिचक्षते ॥१०॥[म.भा.१।५२]**
**भारतं सर्ववेदाश्च तुलामारोपिताः पुरा । देवैर्ब्रह्मादिभिः सर्वैरृषिभिश्च समन्वितैः ॥ ११ ॥**
**व्यासस्यैवाज्ञया तत्र त्वत्यरिच्यत भारतम् । महत्त्वाद्भारवत्त्वाच्च महाभारतमुच्यते ॥ १२ ॥[म.भा १]९२]**
**निरुक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते । यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥ १३ ॥[म.भा.१।७४]**

**'विराटोद्योगसारवान्' [म.भा.१।८९] इत्यादितद्वाक्यपर्यालोचनया ऋषिसम्प्रदायात् 'को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्' [वि.पु.३।४।५] इत्यादिपुराणग्रन्थांतरगतवाक्यान्यथानुपपत्त्या नारदाध्ययनादिलिङ्गैश्चावसीयते । कथमन्यथा भारतनिरुक्तिज्ञानमात्रेण सर्वपापक्षयः ? प्रसिद्धश्च सोऽर्थः ।**

**ज. प्र. दी.**––याजकादेराकृतिगणत्वाद्विष्णुबोधकमिति समासः । करणार्थघञंतेन वा समासः । पश्चादल्पाद्यर्थे कः ॥ ७ ॥ उत्तममित्युक्तस्यैव विवरणं वेदादप्युत्तममिति । एतेषु वाक्येषु यथासम्भवं पूर्वोक्तोर्थोऽवगंतव्यः । 'यदि विद्यात्' इत्यादिभारतवाक्यपर्यालोचनया चोक्तं तदवसीयते इति संबंधः । चत्वारश्च ते वेदाश्चेति विशेषणसमास एवायं, न द्विगुः । अंगानि च उपनिषदश्चांगोपनिषदमिति समाहारद्वन्द्वः। तेन "द्वन्द्वाच्चुदषहांतात्समाहारे" [अष्टा.५।४।१०६] इति समासांतोऽकारः । ततो बहु-

व्रीहिः ॥८॥ प्रचलिष्यति प्रचालयिष्यतीति ॥९॥१०॥११॥ भारवत्त्वादित्यनेन मत्वर्थे तप्रत्यय इत्युक्तं भवति ॥१२॥१३॥

भारतप्रामाण्यमङ्गीकृत्यैवेतरदनंगीकुर्वाणं प्रतीदमुक्तम् । युक्त्यनुसंधानेन विनाभिप्रेतार्थोऽत्र न प्रतीयतेऽतः पर्यालोचनयेत्युक्तम् । अनुसन्धानप्रकारं च लेशेन दर्शयिष्यति । ऋषीणां वैशंपायनादीनां संप्रदायात् शिष्येभ्यः प्रदानाच्चैतदवसीयते। न हि प्रामाण्यादिरहितमृष्यादयः शिष्येभ्यः श्रेयसे व्याकुर्युरिति युज्यते। 'को ह्यन्यः' इत्यादिपुराणलक्षणग्रंथांतरगतवाक्यार्थान्यथानुपपत्त्या च तदवसीयते। ग्रंथांतरेति विशेषणस्य प्रयोजनं स्वयमेव वक्ष्यति। वाक्यस्योक्तार्थे सामर्थ्याभावात् अन्यथानुपपत्त्येत्युक्तं, तच्च प्रदर्शयिष्यते । नारदस्याध्ययनव्याख्यानादिलिङ्गैश्चोक्तार्थोऽवसीयते, ऋषिसंप्रदायादित्यनेनैव गतमेतदिति चेत्, न; ऋषीणां गृहस्थत्वेन परार्थोऽन्यविषयोपि व्यवहारः कथंचित्संभाव्येतापि। नारदस्य तु परमहंसस्य स्वार्थोपि व्यापारोऽन्यविषयो न भवतीति ज्ञापनार्थत्वात्, अत एव संप्रदायादित्यध्ययनेति चोक्तम्। तद्वाक्यपर्यालोचनयेत्युक्तम्, कीदृशी सा पर्यालोचनेत्यतो लेशेन दर्शयति-कथमिति। महत्त्वादिति वाक्ये भारतशब्दं निरुच्य तज्ज्ञानात्सर्वपापक्षयोऽभिधीयते, न तु भारतस्योत्तमत्वं साक्षात्। तथापि पर्यालोचनया गम्यत एव। यथा हि नारायणादिभगवन्नामनिरुक्तिज्ञानाद्भवत्पापक्षयोऽभिधेयस्य सर्वोत्तमत्व एव तथाऽयमपि। अन्यथा भारतस्य सर्वशास्त्रोत्तमत्वाभावे कथं तच्छब्दनिरुक्तिज्ञानमात्रेण सर्वपापक्षयः स्यात्? शब्दांतरनिरुक्तिज्ञानेन तदभावादिति। स्यादेतदनुमानम्, यदि हेतुकृतोऽर्थः प्रमितः स्यात्, न चैवम्, अयथार्थप्रशंसाया अपि दर्शनेन वचनस्यान्यथासिद्धेरित्यत आह-प्रसिद्धश्चेति। धियां तावत्प्रामाण्यं स्वतः, बाधकादप्रामाण्यं, न चात्र तदस्ति। अर्थवादानां चाबाधिते स्वार्थे प्रामाण्यमस्त्येव। अतो हेतुकृतो योऽर्थो भारतशब्दनिरुक्तिज्ञानेन सर्वपापक्षयः स प्रसिद्धः प्रमित एवेति। सर्वपापक्षये तदैव मुक्तिः स्यादिति चेत् तर्हि सर्वशब्दार्थ एव संकोच्यतां, न तु सर्वो वाक्यार्थः ।

एवमन्यान्यपि भारतवाक्यानि पर्यालोचनीयानि। तथा हि- 'यदि विद्यात्'इति वाक्ये यद्यपि भारतं नोक्तं तथाप्युत्तरत्रेतिहासशब्देन गृहीतत्वात्पुराणपदं तदुपलक्षणमिति ज्ञायते। न ह्यनुक्तस्योपपादनं युक्तम्। ततश्च भारतस्य वेदार्थज्ञानोपायताऽनेन सिद्ध्यति । अचेतनत्वपर्यालोचनया बिभेतीत्येतद्बिभेतीव स्वमर्थमंतर्धापयतीति ज्ञेयम्। यद्यपि मन्वादीत्येतदापाततो न प्रकृतं कमप्यर्थं प्रत्यापादयति, तथापि भगवत्पादैरन्यत्रोदाहृतस्य एतद्व्याख्यानरूपवाक्यस्यानुसंधाने भारतस्य भगवत्परत्वादि गमयति। तुलारोपणं भारवत्त्वं च प्रतिनिधिद्वारेणोपपादनीयम्। 'यदिह' इत्यस्य स्तुतिपरत्वोपपत्तये तदेवान्यत्रेति व्याख्याने सर्ववेदाद्यर्थोपबृंहितत्वादिकं सिद्ध्यति। 'विराट्' इत्येतत्पूर्वोत्तरवाक्यानुसंन्धानेन भारतस्य कल्पतरुतां प्रतिपादयद्द्वारतस्य सर्वपुरुषार्थहेतुतां गमयतीति ।

**आ. मा. भा.**—कथं चान्यस्य कर्तुं न शक्यते ? ग्रन्थान्तरगतत्वाच्च नाविद्यमानस्तुतिः । न च कर्तुरेव । इतरत्रापि साम्यात् । तत्र च वासुदेवार्जुनसंवादरूपां सर्वभारतार्थसंग्रहां भारतपारिजातमधुभूतां गीतामुपनिबबंध । तच्चोक्तं—'भारतं सर्वशास्त्रेषु भारते गीतिका वरा । विष्णोः सहस्रनामापि ज्ञेयं पाठ्यं च तद्द्वयम्' इति महाकौर्म्ये ॥ 'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने' इत्यादि च ।

**अ. प्र. दी.**—को ह्यन्य इति पुराणवाक्यस्यान्यथानुपपत्त्येत्युक्तं कीदृशी सान्यथानुपपत्तिरित्यत आह-कथमिति। अन्यथेति च वर्तते। अन्यस्येति व्यत्ययेन तृतीयार्थे षष्ठी। यद्वा कर्तुमिति कृद्योगे कर्तरि 'न लोकाव्यय-' [अष्टा. २।३।६९] इति प्रतिषेधश्च नञा निर्दिष्टमनित्यमित्यनित्यः । अत एव तोसुन्कसुनोर्योगे षष्ठी दृश्यते। 'सूर्यस्योदेतोः' कूरस्य विसृप इति [पा. भा. १९४८] । को ह्यन्य इति वाक्ये तावद्भारतस्य नारायणान्येन कर्तुमशक्यत्वमुच्यते। तत्कथमन्यथा केवलेश्वरज्ञानदृष्टार्थयुक्तत्वाभावेन युज्यते। तथाविधानामन्यैः कर्तुं शक्यत्वस्य दर्शनादिति। नन्वन्यैः कर्तुमशक्यत्वमिति हेतुरसिद्धः। को ह्यन्य इतिवाक्यस्याविद्यमानार्थस्तुतिपरत्वोपपत्तेरित्यत आह-ग्रंथांतरेति । अविद्यमानेत्यतः परमर्थशब्दोऽध्याहार्यः। इदं वाक्यमिति शेषः। यद्वा स्तुतिर्गुणोत्कर्षः। अत्रोच्यत इति शेषः। अत्र नार्थशब्दाध्याहारः। अनेन प्रागुक्तस्य ग्रंथांतरेतिविशेषणस्य प्रयोजनमुक्तम्। इयं च सम्भावनायुक्तिः। निश्चययुक्तिस्तु चशब्दसूचिता। बाधकरहितत्वादिः। ननु भवेद्यत्र भारतस्यान्येन कर्तुमशक्यत्वलक्षणा स्तुतिरुच्यते, न चैवम्। 'कृष्णद्वैपायनं व्यासं विद्धि नारायणं परम्' [ ] इति भारतकर्तुर्व्यासस्य नारायणत्वलक्षणायाः स्तुतेरुपक्रमात्।

उत्तरत्र तस्यैवार्थस्योपपादनादित्यत आह—न चेति। कर्तुरेवात्र स्तुतिरुच्यत इति न वाच्यम्, किंतु भारतस्यापि। कथमिति चेत्, अत्र ह्यनुमानेन व्यासस्य नारायणत्वं साध्यते। कृष्णद्वैपायनमिति पूर्वार्धः प्रतिज्ञारूपः, को ह्यन्य इति द्वितीयार्धो व्यतिरेकव्याप्तेः प्रतिपादकः। अनुक्तो हेतुर्व्याप्तिवचनसामर्थ्यादूह्यः। तत्र न तावद्ग्रंथकर्तृत्वं हेतुः। कुत इत्यत आह-इतरत्रापीति। ग्रंथकर्तृत्वस्य नारायणवदितरत्रापि साम्यादन्यैकांत्यप्रसंगात्। नापि भारतकर्तृत्वं कुत इत्यत आह-इतरत्रापीति। ग्रंथविशेषकर्तृत्वेन नारायणत्वसाधनस्य इतरत्र कालिदासादावपि साम्यादतिप्रसंगात्। तस्मान्नारायणादन्येन कर्तुमशक्यस्य कार्यस्य कर्तृत्वमत्र हेतुः। न चासावसिद्धः। भारतस्य तथात्वादित्यूह्यम्। व्याप्तिवाक्यं च तदभिप्रायं मंतव्यम्। तथा च कथमत्र भारतस्य स्तुतिर्न विगम्यते ? श्रुत्यावगमेप्यर्थादवगमादिति ।

अस्त्वेवंविधं भारतम् , व्याचिख्यासितायास्तु गीतायाः किमायातमित्यत आह—**तत्र** **चे**ति । तत्रैवंविधप्रामाण्याद्युपेते भारते गीतामुपनिबबंध व्यासः, किमियं गीतायाः प्रामाण्यादेः संभावना उत निश्चययुक्तिः ? न द्वितीयः, तथात्वे कलिंगोपदेशादेरपि तत्प्रसंगात् । अनुवादोऽसाविति चेत् , अयमपि तथैव । आद्ये निश्चायकं वाच्यमित्यत उक्तं-**वासुदेवे**ति । संवादं रूपयतीति संवादरूपा । तथापि भारतैकदेशांतरपरिहारेणास्या एव व्याख्याने को हेतुरित्यत उक्तं-**सर्वे**ति । सर्वभारतार्थस्य संग्रहो यस्यामिति गमकत्वात् व्यधिकरणो बहुव्रीहिः । एतद्व्याख्याने सर्वमपि भारतं व्याख्यातप्रायं भवतीति भावः । नैतावता भारतसमा गीता, किंतु ततोऽधिका चेत्याशयवानाह—**भारते**ति । कुत एतदित्यत आह—**तच्चोक्त**मिति । सर्वशास्त्रेषु वरं तदेवमाप्तमूलत्वादिना प्रामाण्याद्धर्मादिप्रतिपादनेन सविषयत्वान्मोक्षार्थत्वेन सप्रयोजनत्वात्सदधिकारित्वाद्दुर्गमार्थत्वाच्च व्याख्येया गीतेति स्थितं; तत्र ज्ञानमेव केवलं मोक्षसाधनम् , धर्मस्तु ज्ञानात्प्रागनुष्ठितोऽन्तःकरणशुद्ध्यादिद्वारा ज्ञानं जनयन् मोक्षसाधनम् । ज्ञानोत्तरस्तु मुक्तावानंदोत्कर्षहेतुरित्येवं विषयप्रयोजनयोः संबंधोऽभिमतः । केचित्तु ज्ञानोत्तरकालं धर्मानुष्ठानमेव नास्तीति ब्रुवते, अन्ये तु ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यत्वान्मोक्षस्य तत्प्रतिपादनाय गीतारंभः, न धर्मादिप्रतिपादनार्थं, तदर्थानां मन्वादिधर्मशास्त्राणां सनकादियोगशास्त्राणां च प्रतिकालं विद्यमानत्वादित्याचक्षते, तदुभयं निराकर्तुमाह—**सही**ति । स गीतोक्तो धर्मो ब्रह्मणः स्वरूपज्ञाने सुपर्याप्तो ज्ञानात्प्रागनुष्ठितः, ब्रह्मणः पदवेदने जाते अनुष्ठितः सुपर्याप्तः सुपर्याप्तमुक्तिहेतुरित्यनुगीतोपक्रमे भगवतैवोक्तम् । उदाहरिष्यंते चात्र स्पष्टार्थानि वाक्यानि । न च गीतायां तथाविधमेकमपि वाक्यं दृश्यते, तथा च वक्ष्यते । मन्वादिशास्त्राणां विद्यमानत्वेन धर्मादेरप्रतिपाद्यत्वे समुच्चयोऽपि न प्रतिपाद्यः, श्रुत्यादिप्रतिपाद्यत्वाभ्युपगमात् । तत्र च न स्फुटं प्रतिपादनमिति चेत् , न; समम् । यथोक्तं वेदार्थाज्ज्ञानाच्चेति । तस्माद्यत्किंचिदेतदित्युक्तमेव विषयादिकमिति ।

पैशाचभाष्योपोद्घातः ।

*सर्वं रसं गूढरविद्धरासभो नागामरावेगरविं शमन्तरा ।
वेलासरस्तीरकराजहंसः श्लोकामृतं सप्तशतेन पूरितम् ॥ १ ॥
प्रपन्नपारिजाताय तोत्रवेत्रैकपाणये । ज्ञानमुद्राय कृष्णाय गीतामृतदुहे नमः ॥ २ ॥
करकमलनिदर्शितात्ममुद्रः परिकलितोन्नतबर्हिबर्हचूडः ।
इतरकरगृहीतवेत्रतोत्रो मम हृदि संनिधिमातनोतु शौरिः ॥ ३ ॥
सारथ्यमर्जुनस्याऽऽदौ कुर्वन्गीतामृतं ददौ । लोकत्रयोपकाराय तस्मै कृष्णात्मने नमः ॥ ४ ॥
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने । सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ॥ ५ ॥
अकृत्यमपि कुर्वाणो भुञ्जानोऽपि यथा तथा ।
कदाचिन्नारकं दुःखं गीताध्यायी न पश्यति ॥ ६ ॥
वेदोदधिप्रमथितं वासुदेवसमुद्धृतम् ।
सन्तः पिबन्ति सततं गीतामृतरसायनम् ॥ ७ ॥
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव ।
एको मन्त्रो यानि नामानि तस्य कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा ॥ ८ ॥

* एतच्छ्लोकव्याख्या कुत्रचित् टिप्पण्यां दृश्यते सा यथा—"तत्र भगवानञ्जनीसूनुः श्रीमद्भगवद्गीताभाष्यमारभमाणस्तदुद्भूतस्वश्रद्धातिशयेन तदुत्कर्षं व्यञ्जयति—सर्वमिति । अहं गूढरविद्धरासभो वेलासरस्तीरकराजहंसोऽपि सप्तशतेन पूरितं श्लोकामृतमन्तरा सर्वं रसमरावेगरविं शं नागामित्यन्वयः । तमनु पदव्याख्या—गूढं यथा भवति तथा रेणाग्निना, लङ्कादहनेनेति यावत् । विद्धः सराल्पी [ त्रासी ] कृतो रासभो रावणो येन, स तथा । वेलाविशिष्टं सरः समुद्रस्तत्तीरकराजहंसः । स च समुद्रपारावारगामी । ईदृग्दुष्कृतकर्मणा प्रभुमाराधितवानपीति भावः । सप्तगुणितं शतं तेन पूरितं तत्परिमितं श्लोकाभिन्नममृतं भगवच्छ्रीकृष्णमुखनिर्गतमन्तरा विना सर्वं रसमानन्दमात्ररूपम् । 'एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ' [ बृहदा. ४।३।३२ ] इत्यादिश्रुतेः । अराणां तत्सदृशनाडीनां वेगो यस्मात्तदभिन्नं रविम् । अत्र मूलं श्रुतिद्वयं यथा— 'अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः ' । [ मुं. उ. २।६ ] 'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः' ॥ [ कठो. ५।११ ] एतादृशं शं वेदान्तैकवेद्यं सुखं नागां न प्राप्तम् अनेन तु प्राप्तम् । अतः परमोत्कृष्टमेतद्व्याख्यायत इति भावः । एतदर्थव्यञ्जकं(नाम)व्याख्यानं श्रीरामकृष्णविदुषा कृतम्" इति ।

वन्दे कृष्णार्जुनौ वीरौ नरनारायणावुभौ । धार्तराष्ट्रकुलोन्मत्तगजारोहणवल्लभौ ॥ ९ ॥

अस्य श्रीभगवद्गीताशास्त्रमन्त्रस्य वेदव्यासो भगवानृषिः, प्रायेणानुष्टुप्छन्दः, श्रीकृष्णः परमात्मा देवता, अशोच्यानन्वशोचस्त्वमिति बीजम्, सर्वधर्मान्परित्यज्येति शक्तिः, ऊर्ध्वमूलमधःशाखमिति कीलकम्, मम मोक्षार्थे जपे विनियोगः ।

कारणख्याति जगतां तारणार्थमनागसाम् । वारणाननमात्मानमद्वयं समुपास्महे ॥ १० ॥

प्रणम्य परमात्मानं विष्णुं जिष्णुं जगद्गुरुम् । परमात्मावबोधार्थं गीताव्याख्या मयोच्यते ॥ ११ ॥

अस्य संबन्धाभिधेयप्रयोजनान्युच्यन्ते—मोक्षस्तावत्प्रयोजनम् । स च गीताशास्त्रप्रतिपादितात् परमार्थसबोधादेवेति परमार्थस्वरूपमभिधेयम् । परमात्मस्वरूपावबोधस्यास्य च शास्त्रस्य साध्यसाधनलक्षणः संबन्ध इति विशिष्टप्रयोजनसंबन्धाभिधेयवद्गीताशास्त्रम् । अत्र चार्जुनस्य राज्यार्थं शत्रुं जिगीषोर्धार्तराष्ट्रैः सह युद्धं संप्राप्तम् । तत्र सहायार्थं वृतेन भगवता वासुदेवेन सह रथमारुह्य योद्धुं युद्धभूमिं प्रविष्टोऽर्जुन उभयोरपि सेनयोर्मध्ये योद्धुं व्यवस्थितानाचार्यपितृपितामहपुत्रमित्रादीन्दृष्ट्वा एते मया हन्तव्याः, मदर्थं चैते मरिष्यतीति पर्यालोच्य शोकमोहाभिभूतचित्ततया बहु प्रलप्य न योत्स्य इत्युक्त्वा युद्धादुपरराम । एवमुपरताय तस्मै तदविद्यामूलशोकमोहापनोदाय परमकारुणिको भगवान् भक्तवत्सलो वासुदेवो वेदान्तवाक्यैः समधिगम्यं परमार्थतत्त्वमुपदिदेश ।

---

### श्रीवल्लभाचार्यप्रकटिततत्त्वदीपिकोपोद्घातः ।

श्रीगोपीजनवल्लभो जयति ।

यदंघ्रिपोतशरणस्तीर्त्वा मोहाम्बुधिं नरः । स्वात्मधर्ममुपैत्याशु तं वन्दे पुरुषोत्तमम् ॥ १ ॥

यदीक्षणसुधाधाराप्यायितः सुकृती नरः । कृशोऽपि लभते पुष्टिं तं श्रीवल्लभमाश्रये ॥ २ ॥

यत्करुणारसवृष्ट्या हृदि हरिभक्त्यंकुरः समुल्लसति । तं विठ्ठलविभुमनिशं पूर्णानंदात्मकं वंदे ॥ ३ ॥

विचार्य श्रीमदाचार्यभारतीं तत्त्वदीपिकाम् । आरभे भगवद्गीताव्याख्यां तद्व्याख्ययाऽन्विताम् ॥ ४ ॥

इह खलु निखिलालौकिककल्याणगुणगणश्चतुर्मूर्त्तिः परमकारुणिकः स्वपार्थसमर्थसहायः पूर्णपुरुषोत्तमो भगवान्प्रमाणप्रमेयमार्गाधीशोऽनन्तपरिमाणाऽशेषाक्षरपरमव्योमपदात्मनिलयनो विभुरात्मानात्मधर्मतत्त्वाविवेकविजृंभितमनोधैर्याश्रयाभावविमूढतयाऽऽत्मधर्मत्यागपरधर्माभिसन्धिपरं भगवदीयं नरं लोकवेदपण्डितमानिनं सांख्ययोगभक्त्याश्रयब्रह्मविद्योपदेशेन स्वात्मधर्मे निवेशयन्मोक्षयामास ॥ अत्र—

स्वपुष्टिमिश्रभक्तं हि यदा श्रीपुरुषोत्तमः । विवेकवत्या सांख्यीयबुद्ध्या धर्मे न्ययोजयत् ॥ १ ॥

अतन्मात्ररुचिं ज्ञात्वा धैर्यवत्या ततो हरिः । योगबुद्ध्याऽऽह स्वधर्मं षट्केन भगवान् गुणैः ॥ २ ॥

तथापि किञ्चित्संदिग्धधियं माहात्म्यभक्तितः । द्विषड्भिर्योजयामास स्वधर्मे मोक्षदो हरिः ॥ ३ ॥

प्रथमं सूत्रवत्षट्कं द्वितीयं चापि वृत्तिवत् । तृतीयं भाष्यरूपं हि स्वयं भगवतोच्यते ॥ ४ ॥

सांख्यमिश्रतया चादौ यद्योगस्य निरूपणम् । पुष्टिमिश्रत्वबोधार्थं स्वभक्तस्येति तत्तथा ॥ ५ ॥

बिभर्ति सांख्यं योगं च देवो मकरकुंडले । तदावृतमुखोक्त्यैव नरं स्वान्तमभासयत् ॥ ६ ॥

पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दोऽनुगृहीतवान् । अतः शरणमार्गेण सेवाधर्ममसूचयत् ॥ ७ ॥

विवेकधैर्याश्रयेऽपि यथा सप्तदश स्थिताः । एतदध्यायसंख्याकाः श्लोका बद्धास्तथोच्यते ॥ ८ ॥

पूर्वं दुःखं नरस्यांते सांख्ययोगाश्रये सुखम् । मर्यादयाऽष्टधा पूर्वमुक्तिस्तत्पुष्टितोऽष्टधा ॥
वाचोपदेशे मर्यादा पुष्टिर्भक्त्यात्मदर्शने ॥ ९ ॥

अंते सन्न्यस्य तत्सर्वं स्वाश्रये सेवया कृतिः । इत्येतत्पुष्टिधर्मेण सर्वथा मुक्तिरेव हि ॥ १० ॥
एवमष्टदशाध्यायया गीतया भगवान् हरिः । स्वयं स्वतत्त्वं शास्त्रीयं पार्थायोपदिशत्यदः ॥ ११ ॥

अत्रेदं तत्त्वमुक्तम्–भक्तिमार्गरीतिर्ह्यलौकिकी, न साधारणरीत्या; अतस्तन्निर्णयः कर्तुमुचितः । अतएव 'पार्थस्तु देवो भगवान्मुकुंदोऽनुगृहीतवान्' [ भाग. ३।१।१२ ] इति विदुरवाक्यम् । एवं सति 'भ्राताऽपि भ्रातरं हन्यात्' [ भाग. १०।५४।४० ] इति न्यायेन लोकवद्रिपून्हत्वा स्वयं राज्यं कुर्युस्तदा राज्ये भगवत्संबंधाभावात्तद्भोगे भगवदीयत्वं न भवेत् । एवं हि पार्थस्य स्वतस्ततो निवृत्त्युक्त्या लौकिकरीत्यभाव उक्तो भवति । 'क्षत्रियाणामयं धर्मः' [ भाग. १०।५४।४० ] इति वचनाच्च शूराणां तेषां युद्धोपस्थितौ वीररस एवोत्पद्येत, वस्तुस्वभावान्न वैराग्यम् । पार्थे च तदुत्पत्तौ भगवदीयत्वमेव हेतुः । अन्यथा तुल्ययोगक्षेमत्वाद्धार्त्तराष्ट्रेष्वपि तदुत्पत्तिः स्यात् । एतज्ज्ञापनायैवादौ धृतराष्ट्रतत्पुत्रकथोक्ता । तया तदुत्साह उक्तो भवति । भगवदीयस्य तु भगवच्चिकीर्षित-कार्योन्मुख्येव मतिरुचिता, तद्विरुद्धा कुमतिरेव । अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात्ततो निवर्तिका मतित्वेन नोच्यते ।

उक्तं च—'व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या । कुमतिरहरदात्मविद्यया यः—' [ भाग. १।९।३६ ] इति । एतेन भक्तिमार्गमर्यादा वेदलोकातीता, अतस्तौ आदाय भक्तिमार्गो न विचारयितुं युक्तः, तदतीतत्वादिति ज्ञापितं भवति । अतएव ब्रह्मविद्योपदेशानुपदमेव भगवत्कार्ये आसुरहनने प्रवृत्तिरभूत् । एतेनैतच्छ्रवणानंतरं 'सर्वत्याग उचितः, न तु गुर्वादिहननं' इति निरस्तम् । वस्तुतस्तु सर्वत्यागोऽयमेव लोक-वेदत्यागपूर्वकं भगवदाश्रयग्रहणं यतः । अतः 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ' [ गी. १८।७२ ] इत्यादिना भगवता पृष्टः पार्थो 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' इत्युपक्रम्य 'करिष्ये वचनं तव' [ गी. १८।७३ ] इत्यंगीकृतवान्, तेन केवलं भगवदीयत्वं फलितम् । राज्यादेस्त्यागस्तु स्वमुक्तेः प्रतिबंधकत्वज्ञानेन तत्र प्रभुसंबंधोऽस्त्यतो तुच्छतरः ।

ननु भगवदिच्छाननुरूपा मतिर्भक्ते कथमभूदिति चेत्, इत्थम्—वस्तुतो भगवदीयत्वेऽपि तदधीनोऽहं युद्धादिकं करिष्य इति न ज्ञानमासीत्, भगवता पूर्वं तदज्ञापनात्; किन्तु स्वक्षात्रधर्मत्वेन । तथा तत्कृतिर्भक्तस्य नोचितैव, तदीयत्वविरुद्धत्वात् । अतस्तस्यैवांतःस्थितस्यानुभावेन तत्प्राकट्यहेतुर्वैराग्यमभूत्, भगवदिच्छया न तथा कुमतिः । एतेन प्रभुतत्त्वं तज्ज्ञापितमेव, भक्तस्यापि ज्ञापितं भवति, न तु स्वत इति सूचितमिति दिक् । किञ्च शुद्धपुष्टिमार्गे तदङ्गीकारे स्वत एव तत्स्फूर्तिः स्यादपि । पार्थस्तु पुष्टिमर्यादायामङ्गीकृता इति पूर्वं तदुत्पत्तिः पश्चादुपदेशेनैव तन्निवृत्तिः—इति ।

तथाहि–कुरूणां पाण्डवानां च युद्धे उपक्रान्ते भगवान् वासुदेवो निखिलनिरोधमुक्तिकारणावतारो महाकारुणिको विभुः स्वात्मानं विश्वसाक्षिणं पार्थस्य सारथिं चकार । इत्थमुत्कर्षमवगत्यापि सर्वात्मनान्धो धृतराष्ट्रो निजात्मजविजये संशयानः सञ्जयं पृच्छति ॥

---

## पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिण्युपोद्घातः ।

श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः । श्रीगणेशाय नमः ॥

यन्नामस्मृतिमात्रेण निश्शेषक्लेशसंक्षयः ।
जायते तत्क्षणादेव तं श्रीकृष्णं नमाम्यहम् ॥ १ ॥
यत्कृपादृष्टिसंसिक्ताः स्नेहपल्लविताः सदा ।
रमयन्ति स्म गोपीशं तं श्रीवल्लभमाश्रये ॥ २ ॥
श्रीविठ्ठलपदांभोजकृपामधुसुपूरितः ।
व्याख्यास्ये भगवद्गीतां भक्तिमार्गानुसारतः ॥ ३ ॥

तत्र गीताशास्त्रं किंपरमिति पूर्वं विचार्यते, तत्र शङ्कराचार्याः—भगवान् सृष्ट्वेदं जगत् तस्य स्थित्यर्थं प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं तन्निःश्रेयसार्थं निवृत्तिलक्षणं धर्मं च ग्राहयित्वा सांप्रतं कलिधर्मेण धर्मेऽभिभूयमाने तद्रक्षार्थं स आदिकर्त्ता नारायणाख्यो विष्णुः देवक्यां वसुदेवादंशेन किल सम्बभूव । स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदासंपन्नस्त्रिगुणात्मिकां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन् मायया देहवानिव जीववज्जात इव लोकानुग्रहं कुर्वन् लक्ष्यते । स एव च स्वप्रयोजनाभावेऽपि भूतानुजिघृक्षया वैदिकं हि धर्मद्वयमर्जुनाय शोकमोहमहोदधौ निमग्नायोपदिदेश । तस्यास्य गीताशास्त्रस्य संक्षेपतः प्रयोजनं परं निःश्रेयसम् । तच्च सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमलक्षणम् । तच्च काम्यनिषिद्धत्यागपूर्वकात् परमेश्वरार्पणबुद्ध्या क्रियमाणाद्धर्माद्बहुजन्माभ्यस्तात् क्रमेण भवति, सर्वकर्मसंन्यासपूर्वकादात्मज्ञाननिष्ठारूपाद्धर्मात् शीघ्रं भवति । इमं द्विप्रकारं धर्मसाधनं निःश्रेयसं प्रयोजनम् । परमार्थतत्त्वं वासुदेवाख्यं च परं ब्रह्माभिधेयं साध्यभूतं विशेषतोऽभिव्यंजयद्विशिष्टप्रयो-

जनसंबंधाभिधेयवत् गीताशास्त्रमित्यूचुः। तेन तन्मते आत्मज्ञाननिष्ठारूपाद्विद्यात्मकाद्धर्माद्युक्तरूपो मोक्षो भवति इति सिध्यति। तत्र विद्या सात्विकी अविद्या राजसतामसी, सत्त्वरजस्तमसां च परस्पराभिभावकत्वम्। 'रजस्तमश्चाभिभूय' [गी. १४।१०] इति वक्ष्यमाणवाक्यात्। अतो रजस्तमःक्रियमाणाभिभवनिवृत्त्यर्थं गुणत्रयनिवारकं साधनान्तरमन्वेष्टव्यं भगवत्प्रतिरूपम्। तदत्र नोक्तमतो न्यूनमेतदवगंतव्यम्। न तु गीतायां भगवता ज्ञानस्य संन्यासस्य चोपदेशात्तत्रैव गीताया अपि तात्पर्यमिति शंक्यम्, पूर्वोक्तविस्मरणादर्जुनं प्रति क्रुद्धेन भगवता तावन्मात्रोपदेशात्। 'न शक्यं तन्मया भूयस्तथा वक्तुमशेषतः। परं हि ब्रह्म कथितं योगयुक्तेन तन्मया' [म. भा. आ. प. ] इत्यनुगीतारंभस्थवाक्येन तथावसायात्, अत्राप्यन्ते शरणगमनस्यैवोपदेशात्, न ज्ञाने वा संन्यासे तात्पर्यमिति दिक्।

मधुसूदनसरस्वती तु निःश्रेयसे विशेषमाह—'सच्चिदानन्दरूपं तत्पूर्णं विष्णोः परं पदम्। यत्प्राप्तये समारब्धा वेदाः काण्डत्रयात्मकाः' [द्वि. गु. पृ. ४] इति। किञ्च 'कर्मोपास्तिस्तथा ज्ञानमिति काण्डत्रयं क्रमात्। तद्रूपाष्टादशाध्यायी गीता कांडत्रयात्मिका॥ एकमेकेन षट्केन कांडमात्रोपलक्षयेत्॥' इत्युक्त्वा प्रथमे षट्के कर्मनिष्ठा, द्वितीये भक्तिनिष्ठा, तृतीये ज्ञाननिष्ठा चोक्ता। ज्ञानकर्मणोरत्यन्तं विरुद्धत्वेन तत्समुच्चयस्यानङ्गीकारात्प्रथमतृतीययोः कांडत्रये विश्लेषः, उपासनारूपभगवद्भक्तिनिष्ठा तु मध्यानुगतत्वान्मध्यमेनोक्ता। किञ्च उपासनात्मिका भगवद्भक्तिस्त्रिविधा—कर्ममिश्रा शुद्धा ज्ञानमिश्रा चेति। तत्राद्या प्रथमे षट्के कर्मत्यागमुखेन विशुद्धत्वम्पदार्थो निरूप्यते, द्वितीये षट्के भगवद्भक्तिनिष्ठावर्णनमुखेन भगवान्परमानन्दस्तत्पदार्थो निरूप्यते, तृतीये तु तयोरैक्यं वाक्यार्थः स्फुटं वर्ण्यत इति विशेषमाह। तदपि च न रोचिष्णु, तादृशवाक्यस्य तत्रादर्शनात्। सर्वधर्मानिति [१८।६६] वाक्ये यच्छरणपदं तत्तु 'शरणं गृहरक्षित्रोः' [अ. ३।३।५२] इति कोशात् तयोरन्यतरवाचकं सत् तादृशेऽर्थे लाक्षणिकतामापद्यते इत्यसंगतत्वात्। श्रीधरस्तु—सकललोकवंदितचरणः परमकारुणिको भगवान् श्रीदेवकीनन्दनः तत्त्वज्ञानविजृम्भितशोकमोहविभ्रंशितविवेकतया निजधर्मपरित्यागपरधर्माभिसंधिपरमर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशप्लवेन तस्माच्छोकमोहसागरादुद्दधार इत्येतावदुक्त्वा गीतायां च प्रायशो भगवदुक्ता एव श्लोकाः, व्यासचरणैस्तु तत्सङ्गत्यर्थं मध्ये मध्ये केचन श्लोका उक्ता इति बोधनाय गीतामाहात्म्यस्थं वाक्यमुक्तवान्। 'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः। या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता' इति॥

रामानुजाचार्यास्तु—'निरतिशयानवधिककल्याणगुणैकतानाऽनंतज्ञानानन्दैकादिस्वरूपादिनिखिलजगदुदयविभवलयलीलान्तनिखिलविशेषणविशिष्टः परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमो नारायणो ब्रह्मादि स्थावरान्तं निखिलं जगत् सृष्ट्वा स्वेन रूपेणावस्थितो भूभारावतारणोपदेशेनास्मदादीनामपि संसारदुःखप्रशमनाय सकलमनुष्यनयनविषयावगतः परापरनिखिलजनसंतापहराणि चेष्टितानि कुर्वन् परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनभूतं वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगतं भक्तियोगमवतारयामास इति वदन्तः ज्ञानकर्मसमुच्चयांगसहितो भक्तियोगो गीताशास्त्रार्थ इति, तदाविर्भावे प्रयोजनं तु भक्तानामस्मदादीनां संसारदुःखशमनमिति च सूचयामासुः। इदं च सिद्धान्तस्यानुगुणम्।

इह खलु भगवान् पुरुषोत्तमः श्रीकृष्णः सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णः स्वरूपेण भक्तिं दत्वा सात्विकादींस्त्रिविधान् भक्तानुद्धरन् सर्वधर्मशून्यस्य कलेः प्रवृत्तिं वीक्ष्याग्रिमाणामुद्धारार्थं भक्तिजननाय स्वस्वरूपमर्जुनाय प्रसङ्गादुपदिदेश 'चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च' [गी. ७।१६] इति वक्ष्यमाणवाक्ये वक्तव्येषु चतुर्धाधिकारिषु प्रथमाधिकारद्वयस्याऽर्जुने विद्यमानत्वात्। स उपदेशो भगवज्ज्ञानावतारैर्व्यासचरणैः सप्तश्लोकशतेष्पनिबद्धः। तदर्थसंग्रहस्त्वेवं प्रभुचरणैरुक्तः—"प्रवृत्तिधर्मं भगवान् ऋषिद्वारा निरूप्य तु। निवृत्तिमिष्टां सुदृढां निःसंदिग्धां हरिर्जगौ॥ सांख्यं योगो रहस्यं च रहस्यतममेव च। अन्योन्याधिक्यनिर्द्धारो ज्ञानविज्ञानयोरपि॥ स्वस्वरूपविनिर्द्धारो भजनेतरनिर्णयः। तद्धेतुर्गुणवैषम्यं सर्वशास्त्रविनिर्णयः॥ इति गीतार्थनिर्द्धारो यथाभागो वितन्यते। सांख्ययोगौ निरूप्यादौ मोहमुत्सार्य फाल्गुनम्॥ भक्तिपीयूषपातारं कृतवानिति संग्रहः" इति। तत्र प्रथमेऽध्याये धृतराष्ट्रवाक्येन कुत उपक्रम इत्याकांक्षायां गीतातात्पर्यग्रन्थे प्रभुचरणैर्विचारितम्। अत्र हि भगवान् स्वतत्त्वं पार्थायोपदिशति। तत्रोपक्रमे धृतराष्ट्रस्य वचनं नोपयुज्यते, अभक्तत्वात्। नापि तत्पुत्रस्य दुर्योधनस्य अत्यन्तबहिर्मुखत्वात् राक्षसावतारत्वाच्च। किञ्चात्र ब्रह्मविद्योपदिश्यते, तत्र च शान्तोऽधिकारी सनत्कुमारनारदसंवादे 'सोऽहं भगवतः शोचामि' इति नारदस्य शोकश्रवणादिति वाच्यम्, तत्र शोकस्यात्मज्ञानार्थत्वात्। अत्र पापभीत्यादिकथनेन तद्वैलक्षण्यात्, पार्थे आत्मज्ञानार्थित्वस्यादर्शनाच्च। किञ्च अत्र उपदेष्टा भगवान् सत्यसङ्कल्पः, स चेदर्जुनोद्वारायात्मविद्यामुपदिशेत्तदाऽर्जुनोपि राज्यात्संसाराच्चोपरतो भवेत्। तत्तु न दृश्यते, अतः फलव्यभिचारादपि नोपदेशो युक्त इति चेत्, अत्र वदामः—पार्थो हि भगवता स्वीयत्वेन भक्तिमार्गेऽङ्गीकृतः 'पार्थांस्तु देवो भगवान्मुकुन्दो गृहीतवान्स क्षितिदेवदेवः' इति तृतीयस्कन्धे [भाग. ३।१।१२] विदुरवाक्यात्।

भगवांश्च भूभारहरणं चिकीर्षुर्युधिष्ठिरेण राजसूयं कारितवान्, राजसूयोत्तरं महायुद्धस्य दर्शनात्। तत्र च भगवदिच्छाविषयत्वं दशमस्कन्धे [भाग. ७१।१०] श्रीमदुद्धवैरुक्तम्—'प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः' इति। किञ्च युधिष्ठिरादिद्वारा भगवता धर्म उपस्थापनीयः, असुरा हंतव्याः, 'यदा यदा हि धर्मस्य' [गी. ४।७] इति वक्ष्यमाणवाक्येन तदर्थमवतारस्य स्वयमेव कथनात्। तच्च युधिष्ठिरस्य राज्ये सति भवति,

राज्यान्ते नरकमित्युत्सर्गः। एवं सति 'आतापि भ्रातरं हन्यात्' [ भाग. १०।५४।४० ] इति न्यायेन लोकवद्रिपून्मारयित्वा स्वयं चेद्राज्यं कुर्युस्तदा राज्ये भगवत्संबंधाभावात्तद्भोगे भगवदीयत्वं न भवेत्, दुष्टं च फलं भवेत्; अतस्तन्निवृत्त्यर्थं भगवान् पार्थस्य वक्ष्यमाणप्रकारकं विषादमुत्पादितवान् । अत एव पार्थस्य स्वतो युद्धान्निवृत्तिरुक्ता । तेन तेषु लौकिकरित्यनुभाव उक्तो भवति । अन्यथा 'क्षत्रियाणामयं धर्मः' [ भाग. १०।५४।४० ] इति वचनाच्छूराणां तेषां युद्धोपस्थितौ वस्तुस्वभावाद्वीररस एवोत्पद्येत धार्त्तराष्ट्रादिवत्, न तु वैराग्यम्। अतः पार्थे तदुत्पत्तौ भगवदीयत्वमेव हेतुरिति निश्चयः, अतस्तादृशे भक्तिमार्गस्यैवोपदेष्टव्यत्वात् भक्तिमार्गः । निर्णयस्य च लोकवेदसाधारणरीत्या कर्तुमयुक्तत्वं बोधयितुमादौ धृतराष्ट्रतत्पुत्रयोः कथा उक्ताः, तथा तदुत्साह उक्तो भवति। किंच भगवदीयस्य भगवच्चिकीर्षितकार्योन्मुखी मतिः सुमतिस्तद्विरुद्धा मतिः कुमतिरेव। अन्यथा धर्मशास्त्रादिषु गुर्वादिहननस्य निषिद्धत्वात्तन्निवर्त्तिका मतिः कुमतित्वेन नोच्येत। न चात्र मानाभावः। 'व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या। कुमतिमहरदात्मविद्यया यः' इति [ भाग. ] प्रथमस्कन्धे [ ९।३६ ] भीष्मवाक्यात्। एतेन यद्ब्रह्मविद्योपदेशे विषण्णाधिकारबोधनार्थमर्जुनविषादग्रन्थ इति कैश्चिदिष्यते तदपि फल्गूकृतम्, तस्य मुख्यप्रयोजनाभावात् । अत्र भक्तिमार्गमर्यादायाः लोकवेदातीतत्वज्ञापनस्यैव प्रयोजनत्वादिति। अत एव समासौ फाल्गुनेन—'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' [गी. १८।७३] इत्युक्तम्। अतोऽत्र मुख्यतया भक्तेरेवोपदेशः, यत्पुनरन्यत्तत्सर्वं तस्यैव शेषभूतमिति दिक्।

अतः परं वाक्यानि व्याख्यायन्ते। तत्र पुष्टिमर्यादाभक्तिरनुग्रहाद्विविधश्रेयोद्धारेण भवतीति बोधनाय पाण्डवानां धर्मिष्ठत्वमर्जुनस्य तेभ्योऽप्युत्कर्षं वदद्भिर्व्यासचरणैरर्जुने भजनोपदेशाधिकारद्वयं वक्तुं प्रथमेऽध्यायेऽर्जुनस्यार्त्तत्वं प्रतिपाद्यते। भक्तिमार्गीयस्यापि लौकिकाभिनिविष्टचित्ततायां प्रवृत्तिधर्माभिनिविष्टचित्ततायां च भगवत्तत्त्वं भक्तिमार्गतत्त्वं च सहसा नोपदेष्टव्यमिति च बोध्यत इत्युपोद्घातसङ्गतिः ।

---

यामुनमुनिप्रणीतगीतार्थसंग्रहोपोद्घातः।

**[ विगाहे यामुनं तीर्थं साधुवृन्दावने स्थितम् ।**
**निरस्तजिह्मगस्पर्शे यत्र कृष्णः कृतादरः ॥ ]**

**स्वधर्मज्ञानवैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः ।**
**नारायणः परं ब्रह्म गीताशास्त्रे समीरितः ॥ १ ॥**

गीतार्थसंग्रहरक्षा।

श्रीमान्वेङ्कटनाथार्यः कवितार्किककेसरी। वेदान्ताचार्यवर्यो मे सन्निधत्तां सदा हृदि ॥ १ ॥
मानत्वं भगवन्मतस्य महतः पुंसस्तथा निर्णयस्तिस्रः सिद्धय आत्मसंविदखिलाधीशानतत्त्वाश्रयाः ।
गीतार्थस्य च सङ्ग्रहः स्तुतियुगं श्रीश्रीशयोरित्यमून् यद्ग्रन्थाननुसन्दधे यतिपतिस्तं यामुनेयं नुमः ॥ २॥
श्रीमद्वेङ्कटनाथेन यथाभाष्यं विधीयते। भगवद्यामुनेयोक्तगीतासङ्ग्रहरक्षणम् ॥ ३ ॥

तत्त्वं जिज्ञासमानानां हेतुभिः सर्वतोमुखैः। तत्त्वमेको महायोगी हरिर्नारायणः परः ॥ [म.भा.शां.मो.३४७। ८३
आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा ॥ [ना.सिं.पु.१८।३४]

— इत्यादिभिस्तत्त्वहितरूपं समस्ताध्यात्मशास्त्रार्थसारं महर्षयः सञ्जगृहुः। तदेतदुभयं सर्वोपनिषत्सारसङ्कलनात्मिकायां भगवद्गीतायां प्रतिपाद्यतया प्रदर्शयन् तत्राप्युपनिषदां तत्त्वप्राधान्यस्य शारीरके सूचितत्वादिहापि तत्प्रधानतया व्यपदिशति—स्वे धर्माः **स्वधर्माः** स्ववर्णाश्रमनियतशास्त्रार्थाः, 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः' [ गी. १८।४५ ] इति हि गीयते। स्वस्य धर्म इति समासेऽप्ययमेवार्थः। **ज्ञान**मत्र परशेषतैकरसयथावस्थितात्मविषयम्। **वैराग्यं** परमात्मव्यतिरिक्तेषु सर्वेषु विरक्तिः, 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि' [ ना. प. उ. ३ उ. दे.] इति मुमुक्षोः **स्वभावप्रतिपादनात्**। तथा च पातञ्जलयोगानुशासनसूत्रम्—'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' [ १पा.–१५ सू. ] इति कर्मयोगपरिकरभूतस्यापि वैराग्यस्य पृथगुपादानमपवर्गस्य तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन तत्प्राधान्यज्ञापनार्थं कन्दभूतरागनिवृत्त्या तन्मूलक्रोधादिसमस्तदोषनिवृत्तिज्ञापनार्थं च। तत्र स्वधर्मज्ञानयोः प्रथमं कर्मयोगज्ञानयोगरूपेणावस्थितयोरात्मसाक्षात्कारद्वारा भक्तियोगाधिकारनिर्वर्तकत्वेन तत्साधकत्वम्। तदभिप्रायेणोक्तमात्म-

सिद्धौ—'उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः' इति। उत्पन्नभक्तियोगानामपि विशदतमप्रत्यक्षसमानाकारस्य तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपस्य आप्रयाणादनुवर्तनीयस्य अहरहरभ्यासाधेयातिशयस्य भक्तियोगस्य सत्त्वविवृद्धिसाध्यतया तद्विरोधिरजस्तमोमूलभूतपापनिबर्हणद्वारेण सत्त्वोपचयहेतुतयोपकारकत्वादात्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकैः परित्यक्तफलसङ्गकर्तृत्वादिभिः परमपुरुषाराधनैकवेषैर्नित्यनैमित्तिककर्मभिर्भक्तेरुपचीयमानत्ववेषेण साध्यत्वम्। तदेतत्सर्वमभिसन्धायोक्तं भगवता पराशरेण—"इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः। ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया॥" [वि. पु. अं. ६ अ. ६ श्लो. १२] इति॥ महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः। 'प्रीतिपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' [लिं. पु. उ. खं.९-१९] इति वचनमपि पूज्यविषयविशेषनियतं योज्यम्। सैव वेदनोपासनध्यानादिशब्दैरध्यात्मशास्त्रेषु मोक्षोपायविधिवाक्यैः सामान्यतो विशेषतश्च प्रतिपाद्यते, गुरुलघुविकल्पानुपपत्तेः सामान्यशब्दानां समानप्रकरणोक्तविशेषविश्रमे च सम्भवति द्वारि द्वारादिकल्पनायोगात्, विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनात् "निदिध्यासितव्यः" [बृहदा. २।४।५] इत्यस्य स्थाने विज्ञानशब्दश्रवणाच्च, परमपुरुषवरणीयताहेतुभूतगुणविशेषवतैव लभ्यत्वश्रुतेश्च, तद्वरणस्यास्मिन् शास्त्रे भक्त्यधीनत्वोक्तेश्च। एवं सति वेदनेतरमोक्षोपायनिषेधकश्रुतीनां 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप' [गी. ११-५४] इत्यादिस्मृतीनां चाविरोधः। तदेतदुक्तं भक्त्येकगोचर इति, भक्तेरेव गोचरः, नान्यस्येत्यर्थः। एतेन कर्मसमुच्चयवाक्यार्थज्ञानादिपक्षाः प्रतिक्षिप्ताः। गोचरत्वमिह फलत्वेन ग्राह्यम्, 'भक्त्येकलभ्ये पुरुषे पुराणे' [गा. पु. पू. खं. २१९-३४] इत्यादिभिरैकरस्यात्, भक्तियोगलभ्य इति स्वोक्तसंवादाच्च। उपायतया फलतया चैकस्यैवावलम्बनादैश्वर्याद्यर्थभक्तिव्यवच्छेदार्थं वाऽत्रैकशब्दः। अत्र ह्यैश्वर्याद्यर्वाचीनपुरुषार्थग्रहणं भूमविद्यायामिव निरतिशयपुरुषार्थप्रतिपादनार्थम्। तदभिप्रायेण च भाष्यम्—'परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतया वेदान्तोदितं स्वविषयं ज्ञानकर्मानुगृहीतभक्तियोगमवतारयामास' [रा. भा. उपो.] इति। यद्वा निरतिशयैश्वर्ययुक्ततया भक्त्यर्हत्वमिह तद्गोचरत्वम्। ऐकान्तिकत्वादिव्यञ्जनाय त्वेकशब्दः। 'परावरज्ञं भूतानाम्' इत्याद्युक्तपरावरतत्त्वनिश्चयेन अन्यभक्त्युन्मूलनादव्यभिचारेण अनन्यविषयत्वमैकान्तिकत्वम्। सातिशयनिरतिशयपुरुषार्थविवेकेन तदेकभोग्यतया उत्तरावधिराहित्यमात्यन्तिकत्वम्। कारणवाक्यस्थानां सद्ब्रह्मादिसामान्यशब्दानां समानप्रकरणमहोपनिषदादिपठिताबाधितासंभवद्वृत्त्यन्तरनारायणादिविशेषशब्दार्थविश्रमं व्यञ्जयितुं 'नारायणः परं ब्रह्म' [ना.उ.] इति विशेषतः सामान्यतश्च व्यपदेशद्वयम्। अनेनाविभक्तिकेऽपि नारायणानुवाकवाक्ये पूर्वापरवाक्यच्छायानुसाराच्छाखान्तरसविसर्जनीयपठनाच्च व्यस्तत्वं व्यञ्जितम्। तेन च सर्वपरविद्योपास्यविशेषनिर्धारणार्थतया केवलपरतत्त्वप्रतिपादनपरनारायणानुवाकसिद्ध एवास्य शास्त्रस्य विषयः। तद्विभूतित्वेन 'विश्वमेवेदं पुरुषः' [ना.उ.] इतिवत् समानाधिकरणतया तत्राम्नातानां ब्रह्मशिवेन्द्रादीनां नारशब्दार्थानामिहापि 'ब्रह्माणमीशम्' [गी. ११।१५] इत्यादिभिस्तद्विभूत्येकदेशाश्रयत्वं प्रतिपाद्यत इति ख्यापितम्। उक्तं च स्तोत्रे—'स्वाभाविकानवधिकातिशयेशितृत्वं नारायण त्वयि न मृष्यति वैदिकः कः। ब्रह्मा शिवः शतमखः परमस्वराडित्येतेऽपि यस्य महिमार्णवविप्रुषस्ते' इति। संवित्सिद्धौ च अद्वितीयश्रुतिव्याख्याने च दर्शितम्—'यथा चोलनृपः सम्राडद्वितीयोऽस्ति भूतले। इति तत्तुल्यनृपतिनिवारणपरं वचः॥ न तु तत्पुत्रतद्भृत्यकलत्रादिनिवारकम्। तथा सुरासुरनरब्रह्माण्डशतकोटयः॥ क्लेशकर्मविपाकाद्यैरस्पृष्टस्याखिलेशितुः। ज्ञानादिषाड्गुण्यनिधेरचिन्त्यविभवस्य ताः। विष्णोर्विभूतिमहिमसमुद्रद्रप्सविप्रुषः॥' इति। पुरुषनिर्णये च एतत्प्रपञ्चो ग्राह्यः। तदेतद्व्यपदेशद्वयं 'श्रियःपतिः' इत्यादिना प्रारम्भभाष्येण व्याकृतम्। अत एव हि तत्रापि—'परं ब्रह्म पुरुषोत्तमो नारायणः' इत्यन्तेन समभिव्याहृतम्। प्रपञ्चितमेतदस्माभिस्तात्पर्यचन्द्रिकायामिति नात्र विस्तृणीमहे। निर्विशेषणस्यैव ब्रह्मशब्दस्य काष्ठाप्राप्तबृहत्त्वबृंहणत्वयोगिनि परमात्मन्येव योगरूढत्वेऽपि तस्मादन्यत्र जीवादौ तद्गुणलेशयोगादौपचारिकप्रयोगरूढेस्तद्व्यवच्छेदाय 'परम्' इति विशेषितम्। एवमेव ह्यन्यत्रापि विशेष्यते।

व्योमातीतवादिमतनिरासार्थं वा परत्वोक्तिः । गीतैव तत्त्वहितयोर्यथावच्छासनात् शास्त्रम् । उपनिषत्समाधिना सिद्धव्यवहारनिरूढेः स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । एतेन शास्त्रान्तरादस्य शास्त्रस्याधिक्यं व्यञ्जितम् । स्वयं च महाभारते महर्षिणोक्तम्—'अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्' [म. भा. आ. प. १।२७९] इति। उक्तं चाभियुक्तैः—'यस्मिन् प्रसादसुमुखे कवयोऽपि ये ते शास्त्राण्यशासुरिह तन्महिमाश्रयाणि । कृष्णेन तेन यदिह स्वयमेव गीतं शास्त्रस्य तस्य सदृशं किमिवास्ति शास्त्रम्' इति । पञ्चमवेदे चास्यांशस्य प्राधान्यमुद्धृत्याहुः 'भारते भगवद्गीता धर्मशास्त्रेषु मानवम् । वेदेषु पौरुषं सूक्तं पुराणेषु च वैष्णवम्' इति । समीरितः सम्यगीरितः; अज्ञानसंशयविपर्ययप्रतिक्षेपेण परमप्राप्यत्व-प्रापकत्व-सर्वकारणत्व-सर्वरक्षकत्व-सर्वसंहर्तृत्व सर्वाधिकत्व-सर्वाधारत्व-सर्वनियन्तृत्व-सर्वशेषित्व-सर्ववेदवेद्यत्व-सर्वहेयरहितत्व-सर्वपापमोचकत्वसर्वसमाश्रयणीयत्वादिभिः स्वभावैः समस्तवस्त्वन्तरविलक्षणतया पुरुषोत्तमत्वेन प्रतिपादित इत्यर्थः । समन्वयसूत्रवन्निरतिशयपुरुषार्थत्वविवक्षया वा समित्युपसर्गः । एवमनेन श्लोकेन शास्त्रार्थः संगृहीतः ॥ १ ॥

**या. गी. सं.—ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठा योगलक्ष्ये सुसंस्कृते ।**
**आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते ॥ २ ॥**

**गी. सं. र.**— अथ त्रिभिः श्लोकैस्त्रयाणां षट्कानामर्थं संगृह्णाति—ज्ञानात्मिका निष्ठा ज्ञानयोगः, कर्मात्मिका निष्ठा कर्मयोगः । नितिष्ठत्यस्मिन्नर्थे अधिकर्तव्येऽधिकारीति निष्ठा, नियता स्थितिरेव वा निष्ठा, यावत्फलं स्थिरपरिगृहीतमुपायानुष्ठानमित्यर्थः । अनयोः स्वरूपं व्यञ्जयिष्यति 'कर्मयोगस्तपस्तीर्थ—' [गी. सं. श्लो. २३] इत्यादिना । योगलक्ष्ये योगः साध्यतया लक्ष्यमुद्देश्यं ययोस्ते योगलक्ष्ये । अत्र कर्मनिष्ठया ज्ञाननिष्ठामारुह्य तया योगप्राप्तिरिति द्वैतीयः क्रमः । तार्तीयस्तु ज्ञाननिष्ठाव्यवधानमन्तरेण कर्मनिष्ठयैव यावद्योगारम्भं दृढपरिगृहीतया अन्तर्गतात्मज्ञानया शिष्टतया व्यपदेश्यानां लोकानुविधेयानुष्ठानानामितरेषामपि निष्प्रमादसुकरोपायसक्तानां योगावाप्तिरिति । योगोऽत्रासनादिविशेषपरिकरवान् साक्षात्कारार्थं आत्मावलोकनापरनामा चित्तसमाधानविशेषरूपो व्यापारः, तत्साध्यसाक्षात्कार एव वा । तेन स्मृतिसन्ततिविशेषरूपात्स्वकारणभूतज्ञानयोगात् स्वकार्यभूतादात्मानुभवाच्च भेदः । सुसंस्कृते परमात्माधीनत्वतत्प्रीत्यर्थत्वफलान्तरसङ्गराहित्यादिबुद्धिविशेषैः परिकर्मिते इत्यर्थः । आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्' [गी. ६।२१] इत्याद्युक्तप्रकारेण वैषयिकानन्दविलक्षणस्येतरसमस्तवैतृष्ण्यावहसुखस्वभावप्रत्यगात्मसाक्षात्कारविशेषरूपसिद्धिविशेषप्रयोजने इत्यर्थः । पूर्वषट्केन चोदिते कर्तव्यतयाऽनुशिष्टे इति यावत् । तादर्थ्यादुपोद्घातरूपस्य प्रथमाध्यायस्य 'नत्वेवाहम्' [गी. २।१२] इत्यतः पूर्वस्य द्वितीयाध्यायैकदेशस्य च तदनुप्रवेशवाचो युक्तिः । आहुश्चोपोद्घातलक्षणम्—'चिन्तां प्रकृतसिद्ध्यर्थामुपोद्घातं प्रचक्षते' इति । एवमनेन श्लोकेन प्रथमषट्कस्यावरतत्त्वविषयव्यवहितोपायपरत्वमुक्तम् ॥ २ ॥

**या. गी. सं.—मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये ।**
**ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः ॥ ३ ॥**

**गी. सं. र.**—अथ मध्यमषट्कस्य परतत्त्वविषयाव्यवहितोपायपरत्वमाह—पूर्वश्लोके समासस्थस्यापि षट्कशब्दस्यात्र बुद्ध्या निष्कृष्य विपरिणतस्यानुषङ्गः । भगवच्छब्दो मध्यमषट्कोक्तसकलजगदेककारणत्वनिर्दोषत्वकल्याणगुणाकरत्वयोगिनि परस्मिन् ब्रह्मणि प्रत्यक्षरं प्रकृतिप्रत्ययरूढिभिश्च भगवत्पराशरादिभिर्निरुक्तो द्रष्टव्यः। यस्यैष संग्रहः—'तत्र पूज्यपदार्थोक्तिपरिभाषासमन्वितः । शब्दोऽयं नोपचारेण ह्यन्यत्र ह्युपचारतः' [वि. पु. ६। ५।७७] इति । अयं च ब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वे निदर्शनतया शारीरिकभाष्यारम्भे दर्शितः 'भगवच्छब्दवत्' इति । भक्तेषु भागवतसमाख्या च भजनीये भगवच्छब्दस्य नामधेयतां व्यनक्ति । भगवानेव

तत्त्वं भगवत्तत्त्वं, तत्त्वमिह प्रामाणिकः पदार्थः। तत्त्वेन प्रवेष्टुमित्यस्यार्थं व्यनक्ति—**याथात्म्यावाप्तिसिद्ध्य** इति । ऐश्वर्यादिपुरुषार्थान्तरोत्कर्षात्मानन्यार्थत्वमनेन सूचितम् । याथात्म्यमत्र अनवच्छेदेन पुष्कलमनारोपितं रूपम् । अवाप्तिरनवच्छिन्नानन्दतयाऽनुभूतिः, सैव सिद्धिः । पुरुषार्थकाष्ठारूपत्वात्तस्या वा सिद्धिर्लब्धिः । **ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्य** इत्यनेन प्रथममध्यमषट्कयोः क्रमनियामकः सङ्गतिविशेषः सूचितः । तदनुसारेण सप्तमारम्भे भाष्यम्—"प्रथमेनाध्यायषट्केन परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निरवद्यस्य निखिलजगदेककारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वभूतात्मभूतस्य सत्यसङ्कल्पस्य महाविभूतेः श्रीमन्नारायणस्य प्राप्त्युपायभूतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभूतमात्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनमुक्तम् । इदानीं मध्यमेन षट्केन परब्रह्मभूतं परमपुरुषस्वरूपं तदुपासनं च भक्तिशब्दवाच्यमुच्यते" [ रा. भा. ] तदेतदुत्तरत्र—'यतः प्रवृत्तिर्भूतानाम्' [गी. १८।४६।] इत्यारभ्य 'मद्भक्तिं लभते पराम्' [गी. १८।५४] इति संक्षिप्य वक्ष्यत इति । भक्तिरेव योगः भक्तियोगः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' [अमरे ना. व. २२] इति पाठाद्योगशब्दोऽत्र उपायपरः । ध्यानपरत्वेऽपि सामान्यविशेषरूपतयाऽन्वयसिद्धिः । **प्रकीर्तितः** स्वरूपत इतिकर्तव्यततो विषयतः कार्यतश्च प्रकृष्टतया कीर्तित इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**या. गी. सं.— प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम् ।**
**कर्मधीभक्तिरित्यादिः पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः ॥ ४ ॥**

**गी. सं. र.**—एवं षट्कद्वयोक्तनानाविधतत्त्वहितविशोधनपरं क्रमादन्तिमषट्के त्रिकद्वयमित्यभिप्रायेणाह—**प्रधानं** कारणावस्थमचिद्द्रव्यम् । **पुरुषः** अचिन्मिश्रावस्थो विशुद्धावस्थश्च । **व्यक्तं** तु महदादिविशेषान्तं तदारब्धदेवतिर्यङ्मनुष्यादिरूपं च कार्यजातम् । **सर्वेश्वरः** 'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' [ गी. १५।१७ ] इत्युक्तः पुरुषोत्तमः । एतेनार्वाचीनपरिच्छिन्नेश्वरव्यवच्छेदः । समाख्या चैषा सार्थी भगवतः 'अजः सर्वेश्वरः सिद्धः' [ वि. स. ना. ११ ] इति तन्नामपाठात् । एतेषां **विवेचनं** परस्परव्यावर्तको धर्मः, तेन वा पृथक्त्वेनानुसन्धानम् । **कर्मधीभक्तिरिति** कर्मयोगादीनां स्वरूपग्रहणम्, इति निर्दिष्टपदार्थवर्गः **आदिः** यस्य स इत्यादिः । **आदिशब्देन** तदुपादानप्रकारः तदुपयुक्तशास्त्रवश्यत्वादिकं च गृह्यते । **पूर्वशेष** इत्यनेन प्रकृतशोधनरूपतया पुनरुक्तिपरिहारः सङ्गतिप्रदर्शनं च । अयं श्लोकः त्रयोदशारम्भभाष्येण स्पष्टं व्याख्यातः । पूर्वस्मिन् षट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूतभक्तिरूपभगवदुपासनाङ्गभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोगकर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसाध्यमुक्तम् । मध्यमे च परमप्राप्यभूतभगवत्तत्त्वयाथात्म्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगनिष्ठा प्रतिपादिता । अतिशयितैश्वर्यापेक्षाणामात्मकैवल्यमात्रापेक्षाणां च भक्तियोगस्तत्तदपेक्षितसाधनमिति चोक्तम् । इदानीमुपरितने तु षट्के प्रकृतिपुरुषतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरतद्याथात्म्यकर्मज्ञानभक्तिस्वरूपतदुपादानप्रकाराश्च षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्त इति । अत्र त्रिकभेदविवक्षा च षोडशारम्भे दर्शिता—"अतीतेनाध्यायत्रयेण प्रकृतिपुरुषयोर्विभक्तयोः संसृष्टयोश्च याथात्म्यं तत्संसर्गवियोगयोश्च गुणसङ्गतद्विपर्ययहेतुकत्वं सर्वप्रकारेणावस्थितयोः प्रकृतिपुरुषयोर्भगवद्विभूतित्वं, विभूतिमतो भगवतो विभूतिभूतादचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनश्च बद्धमुक्तोभयरूपादव्ययत्वव्यापनभरणस्वाम्यैरर्थान्तरतया पुरुषोत्तमत्वेन च याथात्म्यं च वर्णितम्" [ गी. रा. भा. अ. १६ ] इति । तदत्र तृतीयषट्के तत्त्वविशोधनपरं प्रथमत्रिकम् । अनुष्ठानशोधनपरं द्वितीयमिति प्रायिकतयाऽयं विभागो ग्राह्यः ॥ ४ ॥

# सूचीपत्रम्

| पृ. | पं. | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|---|---|---|---|
| १-१ | २८ | शब्दार्थः । सूक्ष्मदर्शिनः | शब्दार्थः सूक्ष्मदर्शिनः । |
| २-२ | ३ | विराजो हि हिरण्य- | विराजो हिरण्य- |
| „-१ | २६ | तत्रभवतो | तत्र भवतो |
| „-१ | ३१ | तत्त्वनिर्धारणात् | तत्त्वानिर्धारणात् |
| „ | ४२ | -त्वस्य चाभिरक्षणार्थं | -त्वस्य रक्षणार्थं |
| ३-२ | ६।७ | 'भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै वसुदेवादजीजनत्' | 'वसुदेवादजीजनत्' 'भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै' |
| „-१ | १८ | निग्रहपरिग्रह- | विग्रहपरिग्रह- |
| „ | २२ | वैदिकं हि धर्मद्वयं | वैदिकं धर्मद्वयं |
| „ | २९ | वीय | वीर्यं |
| ४ | ४ | दुर्विज्ञेयाथ | दुर्विज्ञेयार्थं |
| „ | २२ | लीनः तूष्णीं | लीनस्तूष्णीं |
| ६-१ | २१ | गोचरः'नारायणः | गोचरः । नारायणः |
| ७-२ | ३६ | -विशेषः 'न तु | विशेषः, न तु |
| „-२ | ४४ | भाव्यम् किरीट- | भाव्यम् । किरीट- |
| ८-१ | १२ | विदारणम् । एकेन | विदारणमेकेन |
| „ | ४१ | वै' 'करो- | वै करो |
| „ | ४४ | शेषतकरति- | शेषलैकरति- |

पृ. १ — 'नारायणः परोऽव्यक्तात्' अयं श्लोकः पुराणान्तराच्छंकराचार्यैरुद्धृतत्वादर्थतश्च न स मङ्गलपरोऽतस्तदुपरिस्थायाः 'तत्र मंगलम्' इत्यस्याः पंक्तेर्नावश्यकतेति केषांचिन्मतम् A । परं च 'मङ्गलाचरणं संपादयन्' इत्यानन्दगिरिचरणानां व्याख्यादर्शनात्तयाऽलंकृतं तत्स्थानम् । तच्चिन्त्यम् ।

पृ. ४-१ पं. ३४ 'सम्पिण्डितत्वं' इतिपदं भाष्यगतमित्यपि केषांचिन्मतम् A । तदपि चिन्त्यं सुधीभिः ।

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः।

[ अध्यायः १ ]

**या. गी. सं.—अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम् ।**
**पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य–शास्त्रावतरणं कृतम् ॥ ५ ॥**

**गीतार्थसंग्रहरक्षा ।**

एवं शास्त्रार्थषट्कत्रयार्थश्च चतुर्भिः श्लोकैः संगृहीतः । इतःपरमष्टादशभिः श्लोकैः प्रत्यध्यायमर्थाः संगृह्यन्ते । तत्र शोकतदपनोदनरूपकथावान्तरसङ्गत्या महर्षिणा प्रथमद्वितीयाध्यायविभागे कृतेऽपि शास्त्रैतदुपोद्घातरूपार्थविभागज्ञापनाय द्वितीयैकदेशमपि प्रथमश्लोकेन संगृह्णाति । तद्व्यञ्जनाय च 'तमुवाच हृषीकेशः' [ गी० २।१० ] इत्यस्मात्पूर्वं अर्थव्याख्यानपूर्वकमयं श्लोको भाष्यकारैरुदाहृतः— "एवमस्थाने समुपस्थितस्नेहकारुण्याभ्यामप्रकृतिज्ञतं क्षत्रियाणां युद्धं परमधर्ममप्यधर्मं मन्वानं धर्मबुभुत्सया च शरणागतं पार्थमुद्दिश्य आत्मयाथात्म्यज्ञानेन युद्धस्य फलाभिसन्धिरहितस्य स्वधर्मस्य आत्मयाथार्थ्यप्राप्त्युपायताज्ञानेन च विनाऽस्य मोहो न शाम्यतीति मत्वा भगवता परमपुरुषेण अध्यात्मशास्त्रावतरणं कृतम् । तदुक्तम्— अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम् । पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्" इति । अस्थानस्नेहकारुण्याभ्यां जाता धर्माधर्मधीः अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधीरिति ।

अत्र भाष्याभिप्रायः—'बन्धुस्नेहेन परया च कृपया धर्मभयेन च अतिमात्रसन्नसर्वाङ्गः' [रा. भा. अ. १] इति प्रथमाध्यायान्तभाष्यानुसारेण। 'धर्माधर्मभयाकुलम्' इति पाठे त्रयाणां द्वन्द्वः। धर्माधर्मभयं रज्जुसर्पभयमितिवत् । उद्दिश्य व्याजीकृत्येत्यर्थः। तदेतत्सूचितमारम्भे 'पाण्डुतनययुद्धप्रोत्साहनव्याजेन' इति। प्रपन्नत्वात्तमुद्दिश्येति विवक्षितम् । तदपि सूचितम्—'अस्य मोहो न शाम्यतीति मत्वा' इति। तदत्र 'तमुवाच' [गी. २।१० ] इत्यादि श्लोकत्रयपर्यन्तो ग्रन्थः शास्त्रावताररूपः । तावत्संग्रहणायात्र श्लोके प्रथमाध्याय इत्यनुक्तिः । अस्ति ह्युत्तरेषु सप्तदशसु तत्तदध्यायग्रहणम् । अनन्तरे च संग्रहश्लोके 'न त्वेवाहं जातु नासम्' [ गी. २।१२ ] इत्यादेरर्थमभिप्रेत्य द्वितीयग्रहणम् । स च द्वितीयान्ते व्याख्यानपूर्वकमुद्धृतः ॥ ५ ॥

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीवेदव्यासप्रणीतमहाभारतान्तर्गता

# श्रीमद्भगवद्गीता ।

## कर्मकाण्डाख्यं प्रथमं षट्कम् ।

## अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः १ ।

कौरवपाण्डवानां युद्धवृत्तं जिज्ञासोर्धृतराष्ट्रस्य सञ्जयं प्रति प्रश्नः ।

**धृतराष्ट्र उवाच— धर्मक्षेत्रे[1] कुरुक्षेत्रे समवेता[2] युयुत्सवः ।**
**मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय ॥ १ ॥**

**शां. भा.— अत्र च—**

आनन्दगिरिकृता टीका ।

एवं गीताशास्त्रस्य साध्यसाधनभूतनिष्ठाद्वयविषयस्य परापराभिधेयप्रयोजनवतो व्याख्येयत्वं प्रतिपाद्य व्याख्यातुकामः शास्त्रं तदेकदेशस्य प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाध्यायैकदेशसहितस्य तात्पर्यमाह—**अत्र चेति** । गीताशास्त्रे प्रथमाध्याये प्रथमश्लोके कथासम्बन्धप्रदर्शनपरे स्थिते सतीति यावत् । तत्रैषाऽक्षरयोजना—धृतराष्ट्रो हि प्रज्ञाचक्षुर्बाह्यचक्षुरभावाद्बाह्यमर्थं प्रत्यक्षयितुमनीशः सन्नभ्याशवर्तिनं सञ्जयमात्मनो हितोपदेष्टारं पृच्छति—**धर्मक्षेत्र** इति । धर्मस्य तद्धुद्धेश्च क्षेत्रमभिवृद्धिकारणं यदुच्यते कुरुक्षेत्रमिति तत्र **समवेताः** सङ्गता युयुत्सवो योद्धुकामाः, ते च केचिन्मदीया दुर्योधनप्रभृतयः पाण्डवाश्चापरे युधिष्ठिरादयः, ते च सर्वे युद्धभूमौ सङ्गता भूत्वा किं कृतवन्तः ? ॥ १ ॥

**रा. भा. —॥ १ ॥**

वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

**धर्मक्षेत्रे**— धर्मस्य स्थानभूते समराध्वरसमुचिते इति भावः । **कुरुक्षेत्रे** पाण्डवधार्तराष्ट्राणां स्वकूटस्थनामोपलक्षितत्वेन बहुमानविषय इति भावः । **युयुत्सवः समवेताः** मिथः प्रत्यनीकरूपेण व्यूढा इत्यर्थः । **च एव** इत्यव्ययद्वयमनतिरिक्तार्थम्; यद्वा समस्तभूमण्डलवर्तिनां राज्ञां तत्र समाहारेऽपि तादर्थ्याद्वर्गद्वयमेव तथाऽभूदित्येवकाराभिप्रायः । **अकुर्वत** इत्यात्मनेपदेन कर्त्रभिप्रायक्रियाफलविषयेण **स्वार्थो**क्ता ॥ १ ॥

---

१ 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' इत्यारभ्य 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह' (गी. २–९) इत्येतदन्तग्रन्थपर्यन्तं श्रीमच्छङ्कराचार्यचरणानां भाष्याभावात् (शाङ्करभाष्याभावस्थाने) केवलमानन्दगिरिकृता टीकैवात्रोपन्यस्ता । तथैवानन्दतीर्थानां (माध्वचरणानां) भाष्याभावाचास्मिन् प्रथमगुच्छे प्रथममुद्रितावृत्त्यां राघवेन्द्रयतिकृता टीका माध्वभाष्यस्थाने उपन्यस्ताऽऽसीत्; परन्त्वस्माभिरस्मदीये मुद्रिते द्वितीयगुच्छेऽष्टमं स्थानं तयैव (राघवेन्द्रयतिकृतया टीकयैव) अलंकृतमिति आदिमगुच्छे न सा संगृहीतेति ज्ञेयम् । २ 'इह समवपूर्वकस्येणोऽर्थः प्रविश्यैकीभवनम्' इति तत्त्वबोधिनी ।— **अविगीता**

हनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम् ।

संतोषं च गुरुं वन्दे परं संवित्प्रदायकम् । शान्तिसिंहासनारूढमानन्दामृतभोगदम् ॥ १ ॥
मूकं करोति वाचाऽलं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम् । यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम् ॥ २ ॥

इह खलु सकललोकहितावतारः परमकारुणिको भगवान्देवकीनन्दनस्तत्त्वाज्ञानविजृम्भितशोकमोहविभ्रंशितविवेकतया निजधर्मपरित्यागपरधर्माभिसन्धिपरमर्जुनं धर्मज्ञानरहस्योपदेशलवेन तस्माच्छोकमोहसागरादुद्दधार । तमेव भगवदुपदिष्टमर्थं कृष्णद्वैपायनः सप्तभिः श्लोकशतैरुपनिबबन्ध । तत्र तावद्धर्मक्षेत्र इत्यादिना विषीदन्निदमब्रवीत् [ १।२८ ] इत्यन्तेन ग्रन्थेन श्रीकृष्णार्जुनसंवादप्रस्तावाय कथा निरूप्यते । ततःपरमासमाप्तेस्तयोर्धर्मज्ञानार्थः संवादः । तत्र 'धर्मक्षेत्रे' इत्यनेन श्लोकेन धृतराष्ट्रेण हस्तिनापुरस्थितं समीपस्थं स्वसारथिं सञ्जयं प्रति कुरुक्षेत्रवृत्तान्ते पृष्टे सञ्जयो हस्तिनापुरस्थितोऽपि व्यासप्रसादाल्लब्धदिव्यचक्षुः कुरुक्षेत्रवृत्तान्तं साक्षात्पश्यन्धृतराष्ट्राय निवेदयामास 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं' इत्यादिना ।

धर्मक्षेत्र इति । हे सञ्जय ! मामका दुर्योधनादयश्चान्ये पाण्डवा युधिष्ठिरादयो युयुत्सवो योद्धुकामा धर्मक्षेत्रे धर्मप्रसवभूमौ कुरुक्षेत्रे समवेता मिलिताः सन्तः किमकुर्वत किं विदधुः? ॥ १ ॥

श्रीवेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यव्याख्यानम् ।

पार्थस्येवात्मगीताहृदयमुपदिशन् यो ममापार्थभावं
प्रच्याव्याहन्धनित्वं वितनु कृतिमिहाभीप्सितं प्राप्स्यसीति ।
सानन्दं सन्दिदेश स्फुरतु स पुरतः सान्द्रजीमूतधामा
श्रीमानद्वैतभूमा मम परमगुरुः श्रीयशोदाकिशोरः ॥ १ ॥
श्रीमद्रामब्रह्मश्रीचरणस्मरणपरिणतस्फुरणः ।
भगवदुपदिष्टगीताभावं विवरीतुमारभे सोऽहम् ॥ २ ॥
व्याख्यातारः कति न कृतिनः सन्ति गीतासु किं तै-
र्व्याख्यास्येऽहं यदुकुलपतिश्रीमुखाब्जोपदिष्टम् ।
भावं तावच्छृणुत भगवत्पादभाष्योपनीत-
ब्रह्माद्वैतामृतरसपरिस्यन्दिसन्दर्भगर्भम् ॥ ३ ॥
सद्यः परब्रह्मरसास्वादो यैरभिकाङ्क्षितः ।
ब्रह्मानन्दगिरिव्याख्या भाव्यतां तैरियं मुहुः ॥ ४ ॥
जातासि त्वं मुरहरमुखाज्जाह्नवी तस्य पादात्
सर्वानभ्युद्धरति भवति सा तु मग्नान्विधत्ते ।
प्रत्यग्ब्रह्मामृतरसनिधिं प्राप्य विश्राम्यसि त्वं
मातर्गीते जडनिधिमियं माति न त्वत्प्रभावः ॥ ५ ॥

तत्र तावद्भगवान् बादरायणः श्रीकृष्णार्जुनसंवादरूपं गीताशास्त्रमवतारयितुकामस्तत्प्रस्तावनार्थत्वेन कुरुपाण्डवयुद्धसन्नाहं निरूपयितुमुपोद्घातत्वेन प्रथमतः सञ्जयं प्रति धृतराष्ट्रप्रश्नमुपक्षिपति—

हे सञ्जय ! मामकाः पाण्डवाश्च किमकुर्वतेति प्रथममन्वयः । व्यासप्रसादलब्धदिव्यचक्षुषा सम्यग्जयति उत्कर्षेण वर्तत इति सञ्जयः ; तादृशस्य तव न किञ्चिदविदितमस्ति ; अतो मत्पुत्रेषु पाण्डवेषु च यद्यद्वृत्तम् , तत्सर्वं वक्तुमर्हस्त्वमिति हेतुगर्भमिदं सम्बोधनम् । मामकाः पाण्डवाश्चेति स्वकीयेभ्यः पाण्डवानां पृथङ्निर्देशेन तेषु ममकाराभावोक्तेर्दुर्योधनादीनां जयः, पाण्डवानां पराजयश्च स्वाभिमतोऽर्थः प्रदर्शितः । तदेवोपपादयति— धर्मक्षेत्र इति । धर्मस्य क्षेत्रं जन्मस्थानं यत्कुरुक्षेत्रं तस्मिन् युयुत्सव एव सन्तः समवेता इत्युत्तरार्धगतैवकारेण सहान्वयः । अत्र धर्मक्षेत्र इत्यनेन विषदानलाक्षागृहदहनकपटराज्यग्रहणाद्यधर्ममार्गेण स्वपुत्रैर्बहुशः क्लेशिता अपि पाण्डवाः स्वयमिदानीं दुर्योधनादिषु तथाविधमधर्म्यं कर्म किंचिन्न करिष्यन्ति, धर्मक्षेत्रे तादृशाधर्ममार्गस्यासंभावितत्वादिति सूचितम् । तेन च स्वपुत्राणां प्राक्तनदौष्ट्यप्रयुक्ततथाविधबाधकाभावः प्रदर्शितः । कुरुक्षेत्र इत्यनेन तु—लोके सर्वोऽपि स्वक्षेत्रे प्रबलः; इदं तु कुरुक्षेत्रम् ; न तु पाण्डवक्षेत्रम् । अतोऽत्र कुरूणामेव प्राबल्यमिति साधकमुक्तम् । समवेता इत्यनेन च समुदायापरपर्यायं समवायं प्राप्ता इत्यर्थकेन सप्ताक्षौहिणीसमुदायरूपात् पाण्डवबलादेकादशाक्षौहिणीसमुदायस्याधिक्येन ततोऽपि स्वपुत्राणां जय इति सूचितम् । युयुत्सव इत्यनेन महाभिमानी दुर्योधनः पाण्डववत्क्षत्रधर्मानुचितभिक्षाचर्यादिहीनवृत्तिं न सहते, किन्तु समये युद्धमेव चिकीर्षति; अतो युयुत्साख्यपुरुषकाररूपं जयसाधनमपि स्वपुत्रासाधारणमिति ध्वनितम् ।

दुर्योधनादयो युधिष्ठिरादयश्चेत्यनुक्त्वा मामकाः पाण्डवाश्चेत्युक्त्येदं सूचितम्— मदीयं हि राज्यं मत्पुत्रा एवार्हन्ति, न तु मदनुजस्तत्पुत्रा वा ; ततः परद्रव्यार्थं पाण्डवाः कथं युयुत्सति ? तेष्वन्याय इति । एवमस्य श्लोकस्य लोकदृष्ट्या प्रतीयमानः प्रकृतकथोपोद्घातो धृतराष्ट्रप्रश्नरूपोऽर्थः कथितः । अथान्यस्तात्त्विकार्थोऽस्ति । यथा हि—रामायणप्रवृत्त्युपोद्घातभूतस्य 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः । यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्' [वा.रा.१।२।१५] इति

श्लोकस्याग्रिमकथोपोद्घातभूताद्वाल्मीकिकृतव्याधशापरूपात् प्रकृतार्थादन्यो रावणसंहारकरघुनाथमहिमवर्णनरूपस्तात्त्विकोऽर्थः, तथा धृतराष्ट्रप्रश्नरूपात् प्रकृतार्थादन्यो भगवद्गीतामहिमवर्णनरूपस्तात्त्विकार्थो युज्यते । तमेनं दर्शयामः— मामकाः पाण्डवाश्च किमकुर्वतेति पूर्ववदेव प्रथममन्वयः । किमित्येतत्कुत्सायामाश्चर्ये च वर्तते । उभयत्रापि लोके प्रयोगात् । तत्र कौरवपक्षे मामकाः किमकुर्वतेति कुत्सितमकुर्वन्नित्यर्थः । पाण्डवपक्षे त्वाश्चर्यमकुर्वन्नित्यर्थः । तत्र कौरवपक्षे तावदुच्यते—धर्मक्षेत्र इति । धर्मावतारत्वाद्युधिष्ठिरो धर्मः, तदुपलक्षिताः पाण्डवाः; तेषां क्षेत्रं शरीरं कृष्णः, 'मम प्राणा हि पाण्डवाः' इति भगवत्प्राणत्वेनोक्तानां पाण्डवानां भगवदन्तर्वर्तित्वावश्यम्भावेन भगवतः पाण्डवशरीरत्वाविष्करणात् । तदेव श्रीकृष्णाख्यं धर्मक्षेत्रं कुरुक्षेत्रम्, देवयजनस्थानत्वात् । "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" [ ऋक्. ६।४।१९ ] इति भगवान्देवयजनस्थानत्वेन श्रुतः । तथा कुरुक्षेत्रमपि, "यदनु कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्" [ जा. उ. १ ] इति जाबालश्रुतेः, "कुरुक्षेत्रं वै देवयजनम्" [ ] इति शतपथश्रुतेश्च । तस्मिन्कुरुक्षेत्रे युयुत्सव एव सन्तः समवेता मामका इति संबन्धः । कृष्णशरीरान्तर्गततदीयप्राणभूताः पाण्डवास्तच्छरीरभूतं कृष्णमपहाय योद्धुमशक्या इति पाण्डवैः सह युयुत्सवः कौरवाः कृष्णेनैव युयुत्सवः संपन्नाः, ते च तथाभूताः सन्तस्तत्रैव श्रीकृष्णाख्ये कुरुक्षेत्रे समवेता अपृथग्भावेन संबद्धा निलीनाः, 'अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' [ ११।२६ ] इति प्रस्तुत्य 'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः । तथैव नाशाय विशन्ति' [ ११।२९ ]इत्यादिविश्वरूपाध्यायोक्तरीत्या भगवति प्रविष्टा इति यावत् । एतादृशा मामकाः कुत्सितमेवाकुर्वन्नित्यर्थः । 'मामकाः' इत्यनेन ममान्धस्य पुत्रा दुर्योधनादयोऽप्यन्धा एव; ततस्तेषामात्मनाशमविज्ञाय ज्वलनपतंगन्यायेन भगवति विलयो युक्त इति व्यज्यते । अत्र कौरवाणां भगवति विलयप्रदर्शनेन 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' [ ११।३३ ] इति श्लोकार्थो दर्शितः, तेन च बहुसेनाबलाढ्याः कथं नष्टा इति शङ्का निरस्ता, भगवद्बलस्य सर्वबलापवादित्वात् । कः पुनः पाण्डवैः सह युयुत्सतः कुरून्निहन्तुं भगवतः संबन्धः ? इति शङ्कानिरासाय भगवतः पाण्डवानां च शरीरशरीरिभावं दर्शयितुं धर्मक्षेत्र इत्युक्तम् । तस्यैव कुरुक्षेत्रत्वनिरूपणेन कुरुक्षेत्रे कुरवो बलिष्ठा इत्याशा निरस्ता, भगवत एव कुरुक्षेत्रत्वे तस्यापि प्रतिकूलत्वात् । युयुत्सापुरुषकारस्तु दुर्योधने व्यभिचरित इति 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' इत्यग्रिमश्लोक एव स्फुटीभविष्यति । मामका एव राज्यार्हा इति महदान्ध्यम् । जात्यन्धतया राजपदानर्हमपि ज्येष्ठतालोहेन राजपदे निधाय सर्वमपि राज्यनिर्वाहं कृतवतः पाण्डोः पुत्रेषु पाण्डुमर्यादयैव पालयितव्येषु, यदा स्वयं तेभ्यो विभज्य राज्यं दत्त्वा कपटेनापहृत्य पुनस्तैस्तद्याचितः पञ्चग्राममात्रमन्ततः सूच्यग्रभूमिमपि युद्धं विना न दातुमियेष, तदा को नाम पाण्डवेष्वन्यायो यत्र तैर्योद्धव्यमिति स्पष्टम् । एवं च प्रकृतार्थव्याख्यानसमये यद्धृतराष्ट्रेण स्वपुत्रोत्कर्षकारणमुक्तं तत्सर्वं निरस्तमिति ध्येयम् । सोऽयं कौरवपक्षेऽर्थः ।

अथ पाण्डवपक्षे— तत्र धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्र इति पूर्ववदेव व्याख्येयम् । तादृशे श्रीकृष्णे समवेताः सन्तो युयुत्सव इति यथाश्रुत एवान्वयः । समवेताः समवायसम्बन्धं प्राप्ता इत्यर्थः । अयुतसिद्धयोः संबन्धः समवायः । अयुतसिद्धीश्च द्वयोरेकस्या" पराश्रयनियमः । पाण्डवाश्च भगवत्प्राणभूताः स्वशरीरभूतं भगवन्तमाश्रित्यैवावतिष्ठन्त इति समवेतपदस्वारस्यम् । एवम्भूता युयुत्सव एव च सन्तः पाण्डवाः किमाश्चर्यमकुर्वतेति योजना । युयुत्सया प्रवृत्तानां हि सार्वभौमपदलाभो युज्यते, न तु सार्वभौमादिब्रह्मानन्दान्ता यदीयपरमानन्दसागरशीकरास्तादृशज्ञानलाभस्तेषामस्ति । अत्र पुनरर्जुनो युयुत्सयैव प्रवृत्तः स्वजनं कथं हनिष्यामीति मोहेन श्रीकृष्णमुपसद्य तदुपदिष्टगीतामृताञ्जननिरञ्जनः परं तत्त्वमधिगत्य सद्य एव युद्धमोहेन संसारमोहमपि विधूतवानित्यतः काचान्वेषिणो दिव्यमणिलाभ इव युयुत्सोरर्जुनस्य तत्त्वज्ञानलाभोऽत्यन्तविचित्र इति भावः । पाण्डवा इत्यनेन परिशुद्धस्वभावो ह्यर्थः पाण्डुः; तस्य पुत्रा अपि तथैवेति तेषां भगवन्निष्ठा तत्प्रसादसमासादितैहिकामुष्मिकश्रेयःसंपत्तिश्च युज्यत इति व्यज्यते । सञ्जयेति च संबोधयन्नस्मिन्नर्थे 'यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः । तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम' [ १८।७८ ] इति वदन्भवानेव साक्षीति दर्शयति । एवं च युद्धमोहापनयनकामनयाऽर्जुन इव अन्योऽपि यः कश्चिद्येन केनापि कामेन भगवन्तमवष्टभ्य तदुपदिष्टगीतापरिनिष्ठितः कृतकृत्यो भवतीति सर्वैरपि श्रेयोर्थिभिर्गीताः शरणीकरणीया इति सोऽयमर्थो धृतराष्ट्रेणाविवक्षितोऽपि 'मा निषाद' [ वा. रा. १।२।१५ ] इतिवद्भगवत्या सत्यसरस्वत्या स्वयमुपनीयमानः पण्डितानां हृदयङ्गम इत्यास्तामतिविस्तरः ॥ १ ॥

### श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता तत्त्वदीपिका ।

'धर्मक्षेत्रे' इत्यारभ्य 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां' [ १।१९ ] इत्यन्तं सम्बन्धः । अत्रैतदध्यायव्याख्या श्रीविट्ठलेशप्रभुकृता बोध्या ॥ १ ॥

### पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

वैशम्पायनस्तु जनमेजयाय कथासङ्गतिं वक्तुं प्रथमतो धृतराष्ट्रसंवादमाह । तत्र धृतराष्ट्रो बहुधा पाण्डवान् धर्मपरानेवावगत्य बन्धलक्षणमधर्मं कथं कृतवन्त इत्यभिप्रेत्य पृच्छति । अत्र ह्येवं कथाप्रकारः—सञ्जय आगत्य पूर्वं सेनापतिमरणं वक्ति, ततो धृतराष्ट्रेण तत्परिदेवने कृते पश्चात्तन्निवृत्तौ सर्वा कथां विस्तारेण वदतीति । तत्र पाण्डवानां स्वल्पं सैन्यं, स्वस्य तु

महत्, स्वस्य शूराश्च भूयांसः, तेषां सर्वेषामेव पश्यतां तैरुपेक्षितो भीष्मो रणे पतितः? उत पाण्डवैः प्रसह्य मारितः? पाण्डवाश्च तादृशे क्षेत्रे पितामहावज्ञालक्षणमधर्मं कथं कृतवन्तः? इति ज्ञातुं—हे सञ्जय! धर्मक्षेत्रे धर्मोत्पत्तिभूमौ कुरुक्षेत्रे मामकाः मत्पुत्राः पाण्डवाः पाण्डुपुत्राश्च युयुत्सवो योद्धुकामाः समवेताः मिलिताः किमकुर्वत किं कृतवन्तः?। स्वपुत्राणामधर्मपरायणत्वाद्धर्मक्षेत्रेऽप्यधर्ममेव कृतवन्तः किंवा धर्ममिति स्वीयानां प्रश्नः; पाण्डवाश्च धर्मपरायणास्तत्र धर्मक्षेत्रे द्रोणादीन् गुरून् कथं मारितवन्तः? इति तेषां प्रश्नः। इदमेव चकारेण द्योतितम्-यत्तेषां धर्मपरायणत्वम्। तथा चैकमरणेनैवान्यस्य राज्यप्राप्तिरिति निश्चित्यापि किं कृतवन्त इत्यर्थः। सञ्जयस्य वरप्राप्तसर्वज्ञत्वमालक्ष्य सम्बोधनम् ॥ १ ॥

नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः।

ॐ नमो ब्रह्मादिभ्यो ब्रह्मविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यो वंशऋषिभ्यो नमो गुरुभ्यः।
प्रणम्य भगवत्पादान् श्रीधरादींश्च सद्गुरून्। सम्प्रदायानुसारेण गीताव्याख्यां समारभे ॥ १ ॥
भारते सर्ववेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः। गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता ॥ २ ॥
कर्मोपास्तिज्ञानभेदैः शास्त्रं काण्डत्रयात्मकम्। अन्ये तूपासनाकाण्डात्तृतीयो नातिरिच्यते ॥ ३ ॥
"तदेव ब्रह्म विद्धि त्वं नेदं यदिदमुपासते" [के. उ. १।४]। इति श्रुत्यैव वेद्यस्य ह्युपास्यादन्यतेरिता ॥ ४ ॥
इयमष्टादशाध्यायी क्रमात् षट्कत्रिकेण हि। कर्मोपास्तिज्ञानकाण्डत्रितयात्मा निगद्यते ॥५॥

तत्र युद्धोद्यमं श्रुत्वौत्सुक्याद्ग्रिमं वृत्तान्तं बुभुत्सुर्धृतराष्ट्र उवाच—धर्मक्षेत्र इति। तत्र वेदे तेषां "कुरुक्षेत्रं देवयजनमास" [जा. उ. १] इति कर्मकाण्डप्रसिद्धं कुरुक्षेत्रमन्यत्। "अविमुक्तं वै कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्" [जा. उ. १] इत्यविमुक्ताख्यं ब्रह्मप्राप्तिस्थानभूतं कुरुक्षेत्रमन्यत्। ब्रह्मसदनत्वं चास्य "अत्र हि जंतोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवतीति" [जा. उ. १] वाक्यशेषेण व्युत्पादितं एतद्व्यावृत्त्यर्थं धर्मक्षेत्रे इति विशेषणम्। कुरुदेशान्तरगतं हि कुरुक्षेत्रं धर्मक्षेत्रमेव, न तु तत् ब्रह्मसदनं, प्रवर्ग्यकांडे तस्य धर्मक्षेत्रत्वमात्रश्रवणात्। तत्र समवेताः मिलिताः युयुत्सवो योद्धुमिच्छवः। पाण्डवानां पृथग्ग्रहणं तेषु ममत्वाभावसूचनार्थम् ॥ १ ॥

सञ्जयदत्तं धृतराष्ट्रप्रश्नस्योत्तरं, पाण्डवसेनां विलोक्य

भीतस्य दुर्योधनस्य द्रोणं प्रत्युक्तिश्च।

**सञ्जय उवाच—दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।**
**आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥ २ ॥**
**पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।**
**व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥ ३ ॥**

**आ. गि. टी.**—किमस्मदीयं प्रबलं बलं प्रतिलभ्य धीरपुरुषैर्भीष्मादिभिरधिष्ठितं परेषां भयमाविरभूत्? यद्वा पक्षद्वयहिंसानिमित्ताधर्मभयमासीद्येनैते युद्धादुपरमेरन्? इत्येवं पुत्रपरवशस्य पुत्रस्नेहाभिनिविष्टस्य धृतराष्ट्रस्य प्रश्ने सञ्जयस्य प्रतिवचनम्—**दृष्ट्वेत्यादि।** पाण्डवानां भयप्रसङ्गो नास्तीत्येतत्तुशब्देन द्योत्यते। प्रत्युत दुर्योधनस्यैव राज्ञो भयं प्रभूतं प्रादुर्बभूव। पाण्डवानां पाण्डुसुतानां युधिष्ठिरादीनामनीकं सैन्यं धृष्टद्युम्नादिभिरतिधृष्टैर्व्यूहाधिष्ठितं दृष्ट्वा प्रत्यक्षेण प्रतीत्य त्रस्तहृदयो दुर्योधनो राजा तदा तस्यां सङ्ग्रामोद्योगावस्थायामाचार्यं द्रोणनामानमात्मनः शिक्षितारं रक्षितारं च श्लाघयन्नुपसङ्गम्य तदीयं समीपं विनयेन प्राप्य भयोद्विग्नहृदयत्वेऽपि तेजस्वित्वादेव वचनमर्थसहितं वाक्यमुक्तवानित्यर्थः ॥ २ ॥

तदेव वचनमुदाहरति—**पश्येति।** एतामस्मदभ्याशे महापुरुषानपि भवत्प्रमुखानपरिगणय्य भयलेशशून्यामवस्थितां चमूमिमां सेनां पाण्डुपुत्रैर्युधिष्ठिरादिभिरानीतां महतीमनेकाक्षौहिणीसहितामक्षोभ्यां पश्येत्याचार्यं दुर्योधनो नियुङ्क्ते। नियोगद्वारा च तस्मिन्परेषामवज्ञां विज्ञापयन्क्रोधातिरेकं उत्पादयितुमुत्सहते। परकीयसेनाया वैशिष्ट्याभिधानद्वारा परपक्षेऽपि त्वदीयमेव बलमिति सूचयन्नाचार्यस्य तन्निरसनं सुकरमिति मन्वानः सन्नाह—**व्यूढामिति।** राज्ञो द्रुपदस्य पुत्रस्तव च शिष्यो धृष्टद्युम्नो लोके ख्यातिमुपगतः स्वयं च शस्त्रास्त्रविद्यासम्पन्नो महामहिमा तेन व्यूहमापाद्याधिष्ठितामिमां चमूं किमिति न प्रतिपद्यसे? किमिति वा मृष्यसि? इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**रा. भा.—दुर्योधनः स्वयमेव भीमाभिरक्षितं पाण्डवानां बलं, आत्मीयं च भीष्माभिरक्षितं बलमवलोक्य, आत्मविजये तस्य बलस्य पर्याप्ततां आत्मीयस्य बलस्य तद्विजये चापर्याप्ततामाचार्याय निवेद्य, अन्तर्विषण्णोऽभवत् ॥ २–११ ॥**

**वे. ता. चं.**—एवं सुयोधनविजयबुभुत्सया कृतस्य प्रश्नस्य 'यत्र योगेश्वरः' [ १८।७८ ] इति साक्षादुत्तरं वक्ष्यन्, तत्प्रत्यायनार्थमखिलमवान्तरवृत्तमपि सञ्जय उवाच—**दृष्ट्वेति**। पाण्डवानीकं व्यूढं दृष्ट्वा इति सुयोधनस्य धैर्यभ्रंशहेतुः। तदधीनो धैर्यभ्रंशरूपोऽवस्थाविशेषः **तु**शब्देन सूच्यते। दृष्ट्वेत्यादेरनुनादयन्नित्यन्तस्याव्यक्तांशं व्यञ्जयति—**दुर्योधन** इत्यादिना **अकथयत्** [रा. भा. १।१९] इत्यन्तेन। संज्ञार्थे सम्यग्ज्ञानार्थम्; संज्ञया परिसंख्यानार्थं वा। तत्र **अन्तर्विषण्णोऽभवत्** इत्यन्तेन 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि' [ १।११ ] इत्येतदन्तं व्याख्यातम्। 'अपर्याप्तं' [ १।१० ] इति श्लोकस्यायमर्थः—तत् तस्मात्; अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितमपर्याप्तं परबलविजयाय नालम्; इदं त्वेतेषां पाण्डवानां बलं भीमाभिरक्षितं पर्याप्तमस्मद्बलविजयायालम्—इति। नन्विदमनुपपन्नं तद्बलमिति सामानाधिकरण्यप्रतीतिभङ्गायोगात्; पूर्वत्र च परबलस्वबलयोः सामर्थ्यासामर्थ्यहेतूपन्यासाभावात्। न च भीष्मद्रोणादिरक्षितं स्वबलमयमसमर्थं मन्यते। प्रबलानामेव हि भीष्मद्रोणादीनां वधः सोपाधिकः। 'न भेतव्यं महाराज' [ म. भा. उ. प. ५५।१ ] इत्यादिषु च बहुशः स्वबलस्यैव सामर्थ्यं दुर्योधनेनोपन्यस्तम्। न चेदानीं तद्विपरीतप्रतीतौ कारणमस्ति। द्वितीयदिवसारम्भे च दुर्योधन एवं वक्ष्यति—'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं पार्थाभिरक्षितम्। पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं पार्थिवसत्तमाः' [म. भा. उ. प.   ] इति। तत्र चास्माकमपर्याप्तमित्येवान्वयः; न पुनरस्माकं बलमिति। ततोऽत्रापि तथैव वचनव्यक्तिरुचिता। तस्मात् पाठभेदेन व्यवहितान्वयेन वाक्यभेदेन पदार्थभेदेन वा योजना स्यात्। तत्र भीमभीष्मशब्दयोर्विपर्यासात्पाठभेदः। तथा च भीमाभिरक्षितं तद्बलमस्माकं अपर्याप्तमित्यन्वये सामानाधिकरण्यम्, तदिति विप्रकृष्टनिर्देशस्वारस्यम्, दुर्योधनाभिप्रायाविरोधश्च सिद्ध्यति। व्यवहितान्वयेऽप्ययमेवार्थः। द्विधा च व्यवहितान्वयोऽत्र शक्यः। भीमाभिरक्षितभीष्माभिरक्षितयोर्विपर्यासादेकः, 'अपर्याप्तं तत् ... ... पर्याप्तं त्विदम्' इत्यनयोर्विपर्यासाद्द्वितीयः। अर्थौचित्याय तु व्यवधानमात्रं सह्यते।

वाक्यभेदेऽप्येवं योजना—अपर्याप्तं तदित्येका प्रतिज्ञा; पर्याप्तं त्विदमिति द्वितीया। अत्र को हेतुरिति शङ्कायां हेतुपरं वाक्यद्वयम्; अस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्, एतेषां बलं भीमाभिरक्षितमिति। अस्मद्बलस्य प्रबलाधिष्ठितत्वात् परबलस्य च दुर्बलाधिष्ठितत्वादित्यर्थः। पदार्थभेदे त्वेवं योजना—पर्याप्तं पर्यापनं समापनम्; पर्याप्तमिति कर्तरि क्तः, नाशनसमर्थमित्यर्थः। अपर्याप्तं नाशनासमर्थमित्यर्थः। भीष्माभिरक्षितमस्माकं बलं तत् अपर्याप्तं नाशयितुं न शक्नोति। 'तत्' इत्यत्र पाण्डवबलं कर्तृतया निर्दिश्यते; 'इदम्' इति च स्वबलं परबलपर्यापनकर्तृतया। निष्ठायोगाच्च न कर्मणि षष्ठीप्राप्तिः। यद्वा अपर्याप्तमपरिमितमित्यर्थः; पर्याप्तं परिमितमित्यर्थः; स्वबलस्यैकादशाक्षौहिणीयुक्तत्वात्, परबलस्य सप्ताक्षौहिणीयुक्तत्वाच्च। सर्वथा तावन्न स्वबलदौर्बल्यं परबलप्राबल्यं च युद्धारम्भे दुर्योधनः प्रसञ्जयेदिति—सोऽयं घण्टापथात्पाटच्चरकुटीरप्रवेशः। तथाहि—इह तावद्भीष्माभिरक्षितमित्येतत्प्रतिशिरस्तया भीमाभिरक्षितमिति केनाभिप्रायेण निर्दिश्यते? न तावद्भीष्मवद्भीमस्यापि सेनापतित्वेन; धृष्टद्युम्नस्य तत्पतित्वेनोक्तत्वात्। नापि भीष्मसमपौरुषत्वेन; अत्यन्तविषमतया प्रसिद्धेः। यथोक्तं भीष्मेणैव—'शक्तोऽहं धनुषैकेन निहन्तुं सर्वपाण्डवान्। यद्येषां न भवेद्गोप्ता विष्णुः कारणपूरुषः' [ म. भा.   ] इति। नापि प्रतिबलाधीश्वरत्वेन; धर्मसूनोस्तथात्वात्। नापि परबलभटप्रधानत्वेन; अर्जुनस्यैव तथा प्रसिद्धेः। अतो भीमस्य समस्तधार्तराष्ट्रवधदीक्षितत्वात्तदुचितसाहसबलसहायादियुक्तत्वाच्च तस्य विशेषतो निर्देशः। एवं सति तत्प्रतिशिरस्त्वेन भीष्मस्य निर्देशोऽपि समस्तपाण्डुतनयसंरक्षणप्रवणत्वेन प्रतिपन्नत्वात्। अतः शत्रुभयसहायातिशङ्के पदद्वयसूचिते इत्युक्तं भवति। यत्तूक्तं पूर्वत्र परबलस्वबलयोः सामर्थ्यासामर्थ्यहेतुः कश्चिन्नोक्त इति तदप्यसमीक्षितवचनम्। उपक्रमे हि प्रथममेव स्वबलाच्चतुरक्षौहिणीन्यूनापि 'महतीं चमूम्' [ १।३ ] इति प्रतिचमूर्वर्णिता। अनन्तरं 'धीमता' [ १।३ ] इत्यन्तेन प्रतिसेनापतिर्वर्णितः। तदनन्तरं च 'अत्र शूरा महेष्वासाः' [१।४] इत्यारभ्य 'सर्व एव महारथाः' [१।६] इत्यन्तेन दृष्टान्तीकृतभीमार्जुनाभ्यां सहासन्नविंशतिसङ्ख्याः पुरुषा निरतिशयपौरुषतया वर्णिताः; स्वपक्षे तु न चमूर्वर्णिता; नापि सेनापतिः। स्वबलप्रधानपरिसंख्याने च सप्त पुरुषा उपात्ताः; व्यतिरिक्तास्त्वाकृतिगणत्वेन 'अन्ये च बहवः शूराः' इत्युक्ताः 'मदर्थे त्यक्तजीविताः' [ १।९ ] इति चोक्तम्; न तु 'मदर्थे जिगीषवः' इति साभिसन्धिकत्वमेव तेनापि प्रतिपाद्यत इति चेत्; सत्यम्। तथापि वचनव्यक्तिप्रकार एवंविधः—अभिसन्धिद्योतनायापि हि त्यक्तजीवितत्ववचनं प्रतिभटानां बलीयस्त्वबुद्ध्यैव भवति। अनन्तरं च 'तस्य सञ्जनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः' [ १।१२ ] इति दुर्योधनस्य

१ इदं भाष्यं तट्टीका ( वे.ता. चं.) च 'दृष्ट्वा तु' इत्यारभ्य 'भवन्तः सर्व एव हि' इत्यन्तानां श्लोकानां [ ११ ] इति ज्ञेयम्।

जनयितव्यहर्षत्वेन पूर्वं विषादः स्वरसतया प्रतीयते । एतदभिप्रायेणोक्तं **अन्तर्विषण्णोऽभवत्** इति । परस्ताच्च 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' [ १।१९ ] इति धार्तराष्ट्रहृदयसंक्षोभ एवोच्यते । अत उपक्रमे प्रतिचमूतत्सेनापतिसमग्रभटवर्णनात्, उपसंहारेऽपि शङ्खशब्दमात्रेण हृदयसंक्षोभवचनात्, मध्ये जनयितव्यहर्षत्वेन विषादोत्पत्तितदपनयनसूचनात्, एतच्छ्लोकस्वारस्याच्च, उक्तार्थ एव तात्पर्यम् । अतस्तच्छब्दस्य तस्मादिति हेत्वर्थत्वमुपपन्नम् । अत एव विप्रकृष्टनिर्देशचोद्यं च परिहृतम् । न च परबलमिदानीं दुर्योधनस्य परोक्षम्, 'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' [ १।२ ] 'पश्यैताम्' [ १।३ ] 'एतेषाम्' [ १।१० ] इत्यादिप्रत्यक्षनिर्देशात् ।

यत्तु भीष्मद्रोणादिरक्षितस्य स्वबलस्य दौर्बल्यप्रतीतिर्न युक्तेति तदप्यसत्; सोपाधिकस्यापि भीष्मद्रोणादिवधस्य ज्ञातोपाधिना दुर्योधनेन शङ्कितत्वोपपत्तेः । यत्तु 'न भेतव्यम्' इत्यादौ बहुशः स्वबलसामर्थ्यमुपन्यस्तम्; इदानीं च तद्विपरीतप्रतीतौ हेतुर्नास्तीति, तदपि न । यथाऽर्जुनो जिघांसया शरचापोद्यमनपर्यन्तं प्रवृत्तोऽपि हन्तव्यबन्धुसमुदायसन्निधिसन्दर्शनेनोल्बणैः स्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयैराकुलीकृतः पुनर्भगवता पर्यवस्थाप्यते, तथाऽत्रापि दृढघटितव्यूहबहुमहाभटनिबिडप्रतिभटबलसाक्षात्कारादुल्बणभयविषादो दुर्योधनो भीष्मेण पर्यवस्थाप्यत इति किमनुपपन्नम्? । प्रत्यक्षितं च दुर्योधनेन गोग्रहणस्वग्रहणादिवृत्तान्तेषु सर्वेभ्यः स्वबलभटेभ्यः परेषां सामर्थ्यम् । न चेदानीं तन्न स्मरति; वदति हि स्वयमेव 'अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसः [म. भा.] इति । यत्तु द्वितीयदिवसारम्भोक्तवचनव्यक्तिवदत्रापि वचनव्यक्तिः कार्येति । तदपि मन्दम् । न ह्यवश्यमेकदेशसादृश्यात् सर्वथासादृश्येन भवितव्यमिति नियमः । प्रथमद्वितीयदिवसयोरभिप्रायभेदोऽनुपपन्न इति चेत्, न; युद्धसिद्धेश्चञ्चलत्वाद्यनुसन्धानेन विषमत्वादभिप्रायपद्धतेः । किंचात्राचार्यभीष्माभ्यां सह व्यूहान्तरमार्गेषु यथाभागमवस्थापनसेनासंरक्षणादिहितनिरूपणे प्रवृत्तत्वादेवमभिप्राय उपपन्नः । तदेतद्दर्शितं **आचार्याय निवेद्यान्तर्विषण्णोऽभव**दिति ।

द्वितीयदिवसे तु स्वसहायभूतेभ्यः सर्वेभ्यः पार्थिवेभ्यः स्वधैर्यप्रकाशने बलसान्त्वनादौ च प्रवृत्तत्वात् तथा व्यवहार इति न कश्चिद्दोषः । तदेतदखिलमभिप्रेत्य 'दृष्ट्वा तु' इति तुशब्दः प्रयुक्तः । इदं च प्रारम्भे दैवोपहतस्य दुर्योधनस्यातर्कितागतविषादमूलं स्वबलस्यापर्याप्तत्ववचनमागामिनमपजयं सूचयति । अतः सर्वजनपठितपाठस्वरससिद्धार्थस्य निर्दोषत्वात्, पाठभेदादिपक्षाः परिक्षीणाः; पाठभेदव्यवहितान्वयवाक्यभेदाप्रसिद्धार्थकल्पनादीनामेव च प्रबलदूषणत्वात् । वाक्यभेदयोजनायां तु प्रतिज्ञाद्वये हेतुद्वयस्य यथाक्रमं तावदन्वयो न घटते । यो हि प्रबलो दुर्बलो वा यद्बलं रक्षति, स तस्य पर्याप्तावपर्याप्तौ वा हेतुः स्यात्; न तु तत्प्रतिबलस्य; फलतस्तथानिर्देश इति चेत्, तथाप्यस्वारस्यम् । प्रातिलोम्येन हेत्वोरन्वय इति चेत्, तर्हि व्यवहितान्वयोऽप्यागतः । हेतुद्वयं समुच्चित्य प्रत्येकं प्रतिज्ञायां योज्यत इति चेत्, तथापि व्यवहितान्वयास्वारस्ययोर्न परिहारः, समुच्चायकशब्दाभावश्चाधिको दोषः । एवं दूषणान्तराण्यपि भाव्यानि । अतो यथाभाष्यमेवार्थ इति ॥ २—११ ॥

**ह.पै.भा.—दृष्ट्वेति । तु पुनः । तथा तेषु मिलितेषु सत्सु स दुर्योधनोऽनेकवीरसमुदाये लब्धदीप्तिर्दुःखेन योधयितुमशक्य आचार्यं धनुर्वेदोपदेष्टारं द्रोणमुपगम्याऽऽधिक्येनाऽऽचार्यत्वकृतेन सङ्गम्य ( सङ्गतो भूत्वा ) वचनमनन्तरमब्रवीत् । किं कृत्वा ? पाण्डवानीकं व्यूढं दृष्ट्वा— पाण्डवानां युधिष्ठिरादीनामनीकं सैन्यं व्यूढं सूचीव्यूहरचनया सम्पन्नं दृष्ट्वाऽवलोक्य ॥ २ ॥**

**दुर्योधनो द्रोणं प्रति यद्वचोऽवोचत्तदेव नवभिः श्लोकैः सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्याह—पश्यतामिति । हे आचार्य ! एतां पाण्डुपुत्राणां महतीं सप्ताक्षौहिणीपरिमितां चमूं सेनां पश्य । कथंभूताम्? तव शिष्येण द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन, धीमता तव शिष्यत्वेन सेनाव्यूहविन्यासादिबुद्धिमता व्यूढां व्यूहविन्यासेन स्थापिताम् । तव शिष्येणेति तवापि पाण्डवसेनायां कश्चिदनुरागोऽस्तीति कौटिल्यवचनं दुर्योधनस्येति । पाण्डुपुत्राणामिति—पाण्डुः पाण्डुधर्मा, तत्पुत्रा जारपुत्रा इत्यभिप्रायं वचनं दुर्योधनस्य ॥ ३ ॥**

वें. ब्र. गि.—इत्थं निजतनयविजयदुराशाविष्टेन धृतराष्ट्रेण 'मामकाः पाण्डवाश्च किमकुर्वत?' इति पृष्टस्तदुराशानिरासाय प्रथमकौरववृत्तान्तं तावत्सञ्जय उवाच 'दृष्ट्वा' इत्यादिना 'ततः श्वेतैर्हयैः' [ १।१४ ] इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन—

व्यूढं व्यूहरचनया स्थितं पाण्डवसैन्यं दृष्ट्वा तदा दुर्योधनः सन् राजा द्रोणाचार्यमुपेत्य वचनमब्रवीदित्यन्वयः । अत्र राजेत्यनेनैव कर्त्राकांक्षाशान्तेर्दुर्योधनपदमधिकं सत् दुःखं योधनमस्येति व्युत्पत्त्या युद्धनिर्विण्णो जात इत्यमुमर्थं प्रतिपादयति । तत्र हेतुः—दृष्ट्वा तु । तु-शब्देन दर्शनपूर्वावस्थातो वैलक्षण्यं द्योत्यते । अनेन त्वत्पुत्रस्याप्येवमेव बह्वक्षौहिणीबलाढ्योऽहं ममैव विजय इति प्रथमं दुराशा स्थिता; सा तु पाण्डवबलदर्शनानन्तरं विगता; त्वमपि तथैव तद्बलं द्रक्ष्यसि चेन्निराशो भविष्यसि; न चान्धस्य तव तद्दर्शनं घटत इति ध्वन्यते । पाण्डवानीकमित्यनेन प्रधानभूताः पाण्डवा न दृष्टाः, किन्तु तदनीकमात्रम्;

तदपि न युद्धायोत्थितम्, किन्तु व्यूढं व्यूह्य स्वस्वस्थाने स्थितम्; यदैनां व्यूढसेनां दृष्ट्वैवायं निर्विण्णो जातस्तदा प्रधानभूतपाण्डवदर्शने शस्त्रसम्पाते च सति कीदृशीमवस्थां गमिष्यतीत्युक्तं भवति। तदा दुर्योधन इति दुर्योधननाम तदानीमन्वर्थं जातमित्यपहासोक्तिः। द्रोणमित्यनुक्त्वा आचार्यमिति वदता 'भीष्ममेवाभिरक्षन्तु [ १।११ ] इत्यग्रे करिष्यमाणद्रोणतिरस्कारस्य आचार्यविषयत्वेनानर्थत्वं दर्शितम्। भीष्मादीन्विहाय द्रोणं प्रत्युपगमनस्य 'व्यूढां द्रुपदपुत्रेण' इत्यग्रिमश्लोके हेतुं वक्ष्यति। उपसङ्गम्येति। उप समीपे सम्यगुपसत्तिविधिना गत्वा अब्रवीत्, कर्णे रहस्यमुक्तवानित्यर्थः। अनेन महद्भयं जातमिति दर्शितम्। राजेत्यनेन राज्ञ एवेदृशी दशा चेत्किमुतान्येषामिति सूचितम्॥ २॥

तदेव राजवचनमाह नवभिः— स्पष्ट एवान्वयः। पाण्डुपुत्राणां महतीं चमूं पश्येत्यनेन स्वस्य भयकारणं तन्निमित्तमागमनं च दर्शितम्। ननु बह्वक्षौहिणीपतेस्तवैव महती सेना, न त्वियम्; तत्कुतो बिभेषि? तत्राह— एतामिति। न संख्याकृतमिह सेनामहत्त्वम्, 'शतमप्यन्धानां न पश्यति' इति न्यायात्; किन्तु विशिष्टसेनान्यधिष्ठितत्वपरदलाभेद्यव्यूहविशेषतेजश्शौर्योत्साहादिसम्पन्नत्वरूपम्; तच्चात्र प्रत्यक्षमेवेत्यङ्गुल्या निर्देशसूचकोऽयमेतच्छब्दः। द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनयाऽधिष्ठितामित्यनेन त्वद्वधार्थं द्रुपदेनोत्पादितोऽयं धृष्टद्युम्नः पुरतः सेनामधिष्ठाय तिष्ठन्क्षणमपि त्वया नोपेक्षणीयः, किन्तु हन्तव्य एवेत्ययमर्थो दर्शितः। तव शिष्येणेति च तद्वधोपायोक्तिः। त्वया हि धनुर्विद्यामध्यापितोऽयं तव शिष्यः; तस्य च मर्म त्वमेव वेत्सि; तथा च यदस्त्रमनेन नासीच्छिक्षितं, यस्य चोपरि नास्य प्रत्यस्त्रं विद्यते, तादृशं किञ्चिद्विचार्य तेन हन्तव्य इति भावः। धीमतेत्यनेन एतादृशव्यूहरचनाकुशलेऽस्मिन्निहते नैवंविधः पाण्डवानामन्यः सेनापतिर्बुद्धिमान्भविष्यतीति सर्वमिदं बलं विफलमिति ज्ञापितम्॥ ३॥

व० त० दी०—दुर्योधनोऽपि वृकोदरादिभी रक्षितं पाण्डवानां बलं भीष्माभिरक्षितं स्वीयं च बलं विलोक्य आत्मजविजये तद्बलस्य पर्याप्ततां आत्मबलस्य तद्विजयेऽपर्याप्ततां च आचार्ये निवेद्यान्तरेव विषण्णोऽभूत्॥ २-११॥

पु. अ. टी.—सञ्जयस्तु नायमधर्मो भगवता कर्तव्यत्वेन बोधनादिति वक्तुं तदर्थं सङ्गतिमाह—दृष्ट्वेत्याद्यष्टादशश्लोकैः। तत्रैवं धृतराष्ट्रवाक्यं श्रुत्वा सञ्जयः पूर्वपृष्टत्वात्तत्पुत्रकथामेवाह पूर्वं—दृष्ट्वा त्विति। राजा दुर्योधनः व्यूढं व्यूहरचनया स्थितं पाण्डवसैन्यं दृष्ट्वा द्रोणाचार्यमुपसङ्गम्य निकटे गत्वाग्रे वक्ष्यमाणं वचनमब्रवीदुवाच। तदा धर्मयुद्धोपस्थितावित्यर्थः। एतेनापराधित्वेऽपि धार्तराष्ट्र एव युद्धे प्रथमं प्रवृत्त इति दशभिस्तत्कथाकथनेन बोधितम्॥ २॥

तद्वाक्यमेवाह—पश्येत्यादिनवभिः। तत्र भीष्मस्याभिषिक्तत्वात्स्वत एवोत्साहः, द्रोणस्यौदासीन्यमालक्ष्य प्रोत्साहयति परोत्कर्षवर्णनैः—एतां निकटस्थाम्। युधिष्ठिरस्य राजत्वाभावादविशेषेण पाण्डुपुत्राणामित्युक्तम्। हे आचार्य! यद्यपि त्वमुभयोः समस्तथापि तेषां सेनायाः प्रबलत्वादस्मत्पक्षपातं कुर्वित्यतः सम्बोधनम्। पाण्डुपुत्राणां महतीं स्वभयजनिकां चमूं धीमता व्यूहरचनाकृतिना द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन व्यूढां व्यूहरचनया सम्मार्जितां पश्य। तव शिष्येणेति विशेषणेन स्वस्य भयजनकत्वसामर्थ्यं द्योतितम्। तस्य भयाभावः॥ ३॥

नी. भा. दी.—व्यूढं व्यूहरचनया स्थितम्। आचार्यं द्रोणम्। राजा दुर्योधनः। राजाऽब्रवीदित्येव सिद्धे वचनपदेन संक्षिप्तबह्वर्थत्वादिगुणवत्त्वं वाक्यस्य सूच्यते॥ २॥ द्रुपदपुत्रेणेति पूर्ववैरसूचनेन क्रोधोद्दीपनार्थं विशेषणम्॥ ३॥

पाण्डवपक्षीयाः केचन महारथाः।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः॥ ४॥
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः॥ ५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः॥ ६॥

---

१ 'पुरुजित् कुन्तिभोजश्च महेष्वासो महाबलः। मातुलो भीमसेनस्य स च मेऽतिरथो मतः॥' [ म. भा. उ. प. १७२।२ ] इति दर्शनादत्र पुरुजित्कुन्तिभोजयोर्भेदं वदद्भिर्व्याख्यातृभिरयं तत्सम्बन्धो नावलोकित एवेति भाति।— अविगीता।

**आ. गि. टी.**—अन्येऽपि प्रतिपक्षे पराक्रमभाजो बहवः सन्तीत्यनुपेक्षणीयत्वं परपक्षस्य विवक्षयन्नाह— **अत्रेति** । अस्यां हि प्रतिपक्षभूतायां सेनायां शूराः स्वयमभीरवः शस्त्रास्त्रकुशला भीमार्जुनाभ्यां सर्वसम्प्रतिपन्नवीर्याभ्यां तुल्या युद्धभूमौ उपलभ्यन्ते तेषां युद्धशौण्डीरं ( र्यं ) विशदीकर्तुं विशिनष्टि— **महेष्वासा** इति । इषुरस्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या धनुस्तद्व्यते, तच्च महदन्यैरप्रधृष्यं, तद्येषां ते राजानस्तथा विवक्ष्यन्ते । तानेव परसेनामध्यमध्यासीनान् परपक्षानुरागिणो राज्ञो विज्ञापयति— **युयुधान** इत्यादिना **सौभद्रो द्रौपदेयाश्चे**-त्यन्तेन ॥ ४ ॥ ५ ॥ तेषां सर्वेषामपि महाबलपराक्रमभाक्त्वादनुपेक्ष्यत्वं पुनर्विवक्षति-**सर्व एवेति** ॥ ६ ॥

**ह. पै. भा.**—अत्रेति । अत्रास्यां चम्वाम् । अमी शूराः शौर्येण शत्रुधर्मेणोपेताः, महेष्वासाः-इषवो बाणा अस्यन्ते यैस्तानि धनूंषि महान्ति येषां ते मेहष्वासाः । कथम्भूताः ? युधि संग्रामे भीमार्जुनसमाः—भिया भयेन मीयत इति चकितैरेव वीरान्तरैर्विलोक्यत इति भीमः, अर्जुनः–पशुपतिसंग्रामोपार्जितयशोविभूतिभिरर्जुनं पाण्डुरं सम्पादितं विश्वं येन सोऽयमर्जुनः, ताभ्यां समास्तुल्याः । युयुधानो वीरवरैरेव मिश्रीभावेन युद्धाविष्टः, युध मिश्रण इति धातुपाठात् । विराटो विनतो विपक्षभूतो वा राट् राजा यस्य शत्रुसूदनस्य स विराटः । द्रुपदो द्रुवद्वृक्षवत्संग्रामे निश्चले पदे यस्य स द्रुपदः । महारथः, प्रत्येकं महारथत्वविशेषणम् । युयुधानो महारथ इत्यादि ॥ ४ ॥ धृष्टेति । धृष्टकेतुर्धृष्टः प्रगल्भः शत्रुविनाशनः केतुश्चिह्नं ध्वजादिर्यस्य, धृष्टानां रणे प्रगल्भानां केतुर्विनाशक इति वा धृष्टकेतुः । चेकितानः संग्रामे कुशलः । काशिराजः—काशो ब्रह्मतत्त्वप्रकाशो यस्यां निवसतां सुलभः, सा काशी, तस्या राजा काशिराजो वैरिपुरविजयी शैब्यः संग्रामविजयी संग्रामविजयार्हः ॥ ५ ॥ युधामन्युरिति । युधामन्युश्च परं विक्रान्तः, वीर्यवानुत्तमौजाः, सौभद्रश्च परं द्रौपदेया द्रौपद्यास्तनयाः प्रतिविन्ध्यादयः, एते सर्वे महारथाः । एते च महाय युद्धोत्सवाय आ समन्ताद्रथाः शस्त्रास्त्रप्रभृता येषां ते महारथाः । "एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धान्विनः । अस्त्रशस्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथी त्वेकेन यो युध्येत्तन्यूनोऽर्धरथो मतः" [ म. भा. ] इति ॥ ६ ॥

**वे. ब्र. गि.**—एवमुक्तवति स्वस्मिन्नप्रतिवचनमाचार्यमुपलभ्य किमयं असमानयुद्धप्रवर्तनबुद्ध्या मां न भाषत इति वितर्क्य समानजनयुद्धमेवेति दर्शयन्नाह 'अत्र शूराः' इति त्रिभिः--

अत्र अस्यां धृष्टद्युम्नाधिष्ठितायां पाण्डवसेनायां महान्त इष्वासा धनूंषि येषां ते धनुर्विद्याप्रवीणाः शूराः, सन्तीति शेषः । ननु धनुर्विद्याचार्योऽहं महाञ्छूरः ; मम तु पुरतस्तावेव भीमार्जुनौ गणय, किमेतैर्धानुष्कैरित्यत आह—**भीमार्जुनसमा युधीति**। तानेव शूरान्नामभिर्निर्दिशति-**युयुधान** इति । युयुधानादयो द्रौपदेयान्ताः सप्तदश राजानः । तेषामेव यथायोगं महारथो वीर्यवान्नरपुङ्गवो विक्रान्तो वीर्यवानिति पञ्च विशेषणानि । तत्र युयुधानः सात्यकिः, विराटादय उत्तमौजान्ता दश तत्तन्नामान एव, सौभद्रोऽभिमन्युः । द्रौपदेया द्रौपद्यां पञ्चभ्यो युधिष्ठिरादिभ्यो जाताः प्रतिविन्ध्यादयः 'प्रथमः प्रतिविन्ध्यस्तु श्रुतसेनस्तथाऽपरः । श्रुतकीर्तिः शतानीकः श्रुतकर्मा तु पञ्चमः [ म. भा. ] इति श्लोकोक्ताः । द्रौपदेयाश्चेति चकारस्य महारथा इत्यनेनान्वयः । तथाच युयुधानादयः सर्व एवैते महारथा अतिरथाश्च ; न त्वेतेषांमध्ये कश्चिदपि रथोऽर्धरथो वाऽस्तीति नैतेऽवमन्तव्या इत्यर्थः । महारथादीनां लक्षणं तु 'एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः । अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथस्त्वेकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथो मतः' [ मं. भा. ] इति ॥ ४—६ ॥

**पु. अ. त.**—एवं सेनां दर्शयित्वा तस्याः प्रबलत्वसूचनाय तस्थितान् शूरान् वर्णयति—**अत्रेति** । अत्र अस्यां सेनायां इषवो अस्यन्ते एभिरितीष्वासाश्चापाः । महान्त इष्वासा येषां ते महेष्वासाः । **शूरा महेष्वासा** इति पदद्वयेन स्वतः शिक्षातश्च सामर्थ्यं दर्शितम् । युधि संग्रामे भीमार्जुनसमाः शूराः सन्ति । भीमार्जुनावतिबलाविति तत्समत्वेन वर्णिताः । **युधीति** पदेनान्यत्र न तत्समा दानादिष्वित्यर्थः । तानेव गणयति **युयुधान** इत्यादिभिः । युयुधानः सात्यकिः । विराटद्रुपदौ राजानौ, धृष्टकेतुप्रभृतयो राजानोऽसंबद्धा अस्मच्छत्रवश्च । वीर्यवानिति प्रत्येकं सर्वेषां विशेषणम् ॥ ४ ॥५ ॥ विक्रान्तः अतिपराक्रमी । वीर्यवानिति सौभद्रविशेषणम् । द्रौपदेयाः पञ्च प्रतिविन्ध्यादयः । सर्व एव महारथाः । महारथलक्षणं च—'एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः ॥ अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथी चैकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्द्धरथः स्मृतः' इत्यादि ॥ ६ ॥

नी० भा० दी० —महेष्वासाः—महान्त इष्वासाः धनूंषि येषां ते । युयुधानः सात्यकिः । द्रुपदश्च महारथ इत्येकः ॥४॥ धृष्टकेत्वादयः षट् ॥५॥ युधामन्यूत्तमौजसौ, सौभद्रोऽभिमन्युः, पञ्च द्रौपदेयाः प्रतिविन्ध्यादयश्चेत्यष्टौ । चकारात् पाण्डवा घटोत्कचादयश्चातिप्रसिद्धा ग्राह्याः । सर्वेऽपि महारथा एव । तल्लक्षणं तु 'एको दशसहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम् । शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च स वै प्रोक्तो महारथः ॥ अमितान्योधयेद्यस्तु सम्प्रोक्तोऽतिरथस्तु सः । रथस्त्वेकेन योद्धा स्यात्तन्न्यूनोऽर्द्धरथः स्मृतः ' [　　] इति ॥ ६ ॥

दुर्योधनपक्षीयाः केचन युद्धविशारदा महारथाः ।

**अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।**
**नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते ॥ ७ ॥**
**भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः ।**
**अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥ ८ ॥**

[ ' सौमदत्तिर्जयद्रथः ' इति नीलकण्ठपाठः ]

**अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।**
**नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥ ९ ॥**

आ. गि. टी.— यद्येवं परकीयं बलमतिप्रभूतं प्रतीत्यातिभीतवदभिदधासि, हन्त सन्धिरेव परैरिष्यतां, अलं विग्रहाग्रहेण इत्याचार्याभिप्रायमाशङ्क्य ब्रवीति—अस्माकमिति । तुशब्देनान्तरुत्पन्नमपि स्वकीयं भयं तिरोदधानो धृष्टतामात्मनो द्योतयति । ये खल्वस्मत्पक्षे व्यवस्थिताः सर्वेभ्यः समुत्कर्षजुषस्तान्मयोच्यमानान्निबोध, निश्चयेन मद्वचनादवधारयेत्यर्थः । यद्यपि त्वमेव त्रैवर्णिकेषु त्रैविद्यवृद्धेषु प्रधानत्वात्तान्प्रतिपत्तुं प्रभवसि तथापि मदीयसैन्यस्य ये मुख्यास्तानहं ते तुभ्यं संज्ञार्थमसङ्ख्येषु तेषु मध्ये कतिचिन्नामभिर्गृहीत्वा परिशिष्टानुपलक्षयितुं विज्ञापनं करोमि, न त्वज्ञातं किञ्चित्तव ज्ञापयामीति मत्वाऽऽह—द्विजोत्तमेति ॥ ७ ॥ तानेव स्वसेनानिविष्टान्पुरुषधौरेयान् आत्मीयभयपरिहारार्थं परिगणयति— भवानित्यादिना ॥ ८ ॥ द्रोणादिपरिगणनस्य परिशिष्टपरिसंख्यार्थत्वं व्यावर्तयति—अन्ये चेति । सर्वेऽपि भवन्तमारभ्य मदीयपृतनायां प्रविष्टाः स्वजीवितादपि मह्यं स्पृहयन्तीत्याह—मदर्थे इति । यत्तु तेषां शूरत्वमुक्तं तदिदानीं विशदयति—नानेति । नानाविधान्यनेकप्रकाराणि शस्त्राण्यायुधानि प्रहरणानि प्रहरणसाधनानि येषां ते तथा । बहुविधायुधसम्पत्तावपि तत्प्रयोगे नैपुण्याभावे तद्वैफल्यमिति चेत्, नेत्याह—सर्व इति ॥ ९ ॥

ह. पै. भा.—अस्माकमिति । हे द्विजोत्तम ! तु पुनर्येऽस्माकं धार्तराष्ट्राणां विशिष्टाः पाण्डवसेनावीरेभ्योऽपि श्रेष्ठास्तान्निबोधावधारय । मम सैन्यस्य नायका जेतारस्तांस्ते तुभ्यं संज्ञार्थं ब्रवीमि ॥ ७ ॥ भवानिति । भवांस्त्वमेव तावत्पश्य; तव युद्धकौशल्योपदेशेन भगवान्पशुपतिरर्जुनेन निर्जितः स त्वम् । भीष्मः सकलक्षत्रियकुलकालनात्रिवक्रायुधलीलावतारपरशुरामस्यापि रणे भयङ्करत्वाद्भीष्मः । कर्णो वैरिणां कर्तनकरत्वात्कर्णः । कृपः शत्रुहिंसनशीलः । कृधातुर्हिंसार्थः । अश्वत्थामा—अश्नुते व्याप्नोति तदेतादृशं स्थाम बलं यस्य सः । यद्वा अश्नाति वैरिणो भक्षयति येन तादृशं स्थाम बलं यस्य सः अश्वत्थामा । स किल लोकोपसंहारदक्षस्य दाक्षायणीपतेर्लीलावतारो यस्मात् । विकर्णः—यस्यासमवीरसङ्ग्रामोपार्जितकीर्तिमञ्जरीवर्णनायां प्रत्यर्थिभूताः पार्थिवा विगतकर्णा बधिरा इवोद्विजन्तो भवन्तीति विकर्णः । पार्वतीपतिदत्तवरः सौमदत्तिः । तथैव च वयं यथा भवान्भीष्मश्च त्रैलोक्यपराजयक्षमौ तथैव चेतरेऽपीत्यर्थः ॥ ८ ॥ अन्ये चेति । अन्येऽपरे सहायत्वेन समागता भगदत्तशल्यप्रभृतयो बहवः शूरा मदर्थे मम विजयसाधनार्थं त्यक्तं जीवितं यैस्ते सर्वे युद्धविशारदा युद्धकुशलाः ॥ ९ ॥

**वें. ब्र. गि.**—एवमुक्तवत्यपि स्वस्मिन्नप्रत्युत्तरं द्रोणमुपलभ्य नूनमयमादित आरभ्य पाण्डवपक्षपाती मन्मतप्रतिक्षेप्ता, अतो मन्निदेशमननुमन्यमानो मां न प्रतिभाषत इति निश्चित्य किमित्येवंविधे शत्रुपक्षीयेऽस्मिन्निजभयमसूचयम् ? अहो पुनरहमपहासपदमासम्, तथा राजा नाचार्येण प्रतिभाषित इति लोकमध्येऽवमानितोऽपि जातोऽस्मि इति विचार्य दुर्योधनः पुनः स्वबलस्तुतिव्याजान्निजभयमाच्छादयन् गुरुमुखाच्च प्रियवचनमादातुं तमभिष्टुवन्नाह—

'अत्र शूराः' इति पूर्वश्लोकगतस्य अत्रेत्यस्य वा, 'मम सैन्यस्य' इत्युत्तरार्धगतसैन्यपदस्य वा विभक्तिविपरिणामेन अनुषङ्गः। हे द्विजोत्तम ! अस्माकं तु सैन्ये विशिष्टाः श्रेष्ठा ये मम सैन्यस्य नायका नेतारः, तान् ते तव संज्ञार्थं सम्यग्ज्ञानार्थं ब्रवीमि, तान्निबोध अवधारयेति योजना। 'अस्माकं सैन्ये' इत्यनेन यथा ममैतत्सेनास्वामित्वं तथा तवापीत्याचार्यबहुमानो दर्शितः। **तु**-शब्दः 'अत्र शूरा महेष्वासाः' इति पूर्वोक्तपाण्ड दलगतशूरवैलक्षण्यार्थः । तदेवाह—**विशिष्टा** इति। भीमार्जुनसमत्वेन पूर्वोक्तेभ्यो युयुधानादिभ्यः श्रेष्ठा इत्यर्थः। 'कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च' [ २।४ ] इति प्रस्तुत्य 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इत्यर्जुनेन भीष्मद्रोणनिमित्तकनिजपराजयस्य शङ्कितत्वेन भगवताऽपि 'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्। मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः' [११।३४] इति भीष्मद्रोणादिनिमित्तकार्जुनीयभयस्यानूदितत्वेन भीष्मादयो भीमार्जुनातिशायिन इति सर्वसम्प्रतिपन्ना इत्यभिमानः। 'मम सैन्यस्य' इत्युक्त्वा लोके सेनानीद्वारक एव राज्ञः सैन्यानुबन्धः; इह तु न तथा, किन्तु मयैव पृथक्पृथग्दानमानादिसत्कृतं सैन्यं मय्येवानुरज्यत इति साक्षादेव स्वस्य सेनासम्बन्ध इति दर्शितम्। 'संज्ञार्थं ब्रवीमि निबोध' इत्यनेन मयैतान्सर्वानपि सेनापतीन्सम्यग्विज्ञाय त्वयैव यथार्हं विनियोज्यास्ते इति बहुमानोक्तिर्व्यज्यते । द्विजोत्तमेत्यनेन च—तिष्ठन्त्वन्ये भीष्मादयो विशिष्टाः क्षत्रियाः; 'धिग्बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्' [म.भा.१।१७५।४६] इति निखिलक्षत्रबलातिशायिब्रह्मतेजोबलजलनिधिस्त्वमेक एव अलमस्माकमिति स्तुतिराचार्यस्याभिमुख्याय क्रियते । वस्तुतस्तु 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम्' [ १।३ ] इत्यादिना मया बहुधोच्यमानोऽपि तूष्णीमेव स्थितस्त्वं निस्संज्ञोऽसीति मत्वा तव संज्ञार्थं ब्रवीमि इत्यन्तःपारुष्यगर्भोक्तिः । द्विजोत्तमेत्यपि क्षत्रियश्चेत्खलु परदलगतशूरवर्णनमाकर्ण्य तद्युयुत्सासमुत्साहमापत्स्यते; त्वं तु ब्राह्मणः; कुतस्तव क्षात्रम् ? अतो मौनेनावस्थानमुचितमिति पारुष्यगर्भा। निबोधेति भौवादिकपरस्मैपदनिबोधे रूपम्। तान्निबोध, तान्ब्रवीमि, इति वाक्यभेदात् न तच्छब्दद्वयस्य पुनरुक्तिः ॥ ७ ॥

विशिष्टानेवाह—पूर्वोक्तब्राह्मणबलप्राधान्याभिप्रायेण स्तुत्यर्थतया वा भवानिति द्रोणस्य भीष्मादप्यादौ गणनम्। विकर्णो दुर्योधनानुजः। सौमदत्तिः सोमदत्तस्य पुत्रो भूरिश्रवाः। समितिञ्जय इति विशेषणम्, समितिं युद्धं जयतीति तथा ॥ ८ ॥

एवं द्रोणादीन् कतिचिन्निर्दिश्य पाण्डवबल इव नास्मद्बले परिमिताः सेनान्यः शूराः, किन्त्वनन्ता इति न पृथक्ते निर्देष्टुं शक्यन्त इत्याह—अन्ये च शल्यकृतवर्मादयः बहवोऽनन्ताः शूराः, तिष्ठन्तीति शेषः। ननु तिष्ठन्तु शूराः, तथापि स्वार्थ इव ते परार्थेऽपि किं तथा शौर्यं करिष्यन्ति ? तत्राह—मदर्थे इति, मत्प्रयोजनार्थे जीवितं त्यक्तुमध्यवसिता इत्यर्थः। अनेनानुरागातिशयो दर्शितः । तथापि स्वस्वपरिचितशस्त्रमात्रयोधिन एते बहुशस्त्रयोधिभिः परकीयैरभिभूयेरन्नित्यत उक्तं नानाशस्त्रप्रहरणा इति, नानाविधानि शस्त्राणि प्रहरणानि युद्धसाधनानि येषां ते तथा। 'सर्वे' इत्यनेन एतेषां मध्ये न कश्चिदप्यनेवंविधोऽस्तीत्युक्तम्। युद्धविशारदा इत्यनेन च बहुयुद्धानि पूर्वं कृतवन्तः, न त्विदंप्रथमतया युद्धे प्रवर्तिता इति शौर्यातिशयो दर्शितः ॥ ९ ॥

**ब० त० दी०**—॥ ७-९ ॥

**पु. अ. त.**—एवं तत्सैनिकानुक्त्वा स्वीयानाह प्रोत्साहनार्थं—**अस्माकमित्यादिभिः** । अस्माकं ये विशिष्टाः महान्तस्तान्निबोध बुध्यस्व। द्विजोत्तमेति विस्मृतिसम्भावनया सम्बोधनम्। मम सैन्यस्य नायकाः नेतारः, तान्संज्ञानार्थं मया विशेषेण स्वरूपतो ज्ञायन्ते न वेति ते ब्रवीमि ॥ ७ ॥ एवं विज्ञाप्य तन्नामान्याह—**भवानिति** द्वाभ्याम्। भवान्द्रोणः सर्वेषामाचार्योऽस्माकं मुख्यः । त्वया कार्यार्थमन्ये प्रेर्याः। 'उभयोर्द्रोणसामर्थ्यं' इति वाक्यात् परमबलीति पूर्वं गणितः। भीष्मश्च तथैव मुख्यः। चकारेण क्षत्रियत्वात् शापसामर्थ्याभावमाशङ्क्य पितामहत्वात् शापसामर्थ्यं ज्ञाप्यते। कर्णस्याप्यग्रेऽर्धरथिषु गणनात्स दुःखितो भविष्यतीति सोऽपि मुख्यत्वेन गणितः। इदमेव चकारेण गृह्यते। कृपाचार्योऽपि तथा। एते सर्वेऽपि समितिञ्जयाः सङ्ग्रामजेतारः, भिन्नतया सर्वेषां विशेषणम्। अश्वत्थामा त्वत्पुत्रः, विकर्णश्च, सौमदत्तिः भूरिश्रवाः। **तथेति** यथा भवदादयस्तुल्या अप्यस्मत्पक्षपातिनस्तथैव सौमदत्तिरित्यर्थः । य ।—तथैवेत्युत्तरत्र योज्यम् ॥ ८ ॥ अन्ये चैतादृशा बहवः शूरा मदर्थे मत्कार्यार्थे त्यक्तं जीवितं यैः तादृशाः जीविताशां परित्यज्य मत्कार्यं कर्तुं कृतनिश्चया इत्यर्थः। यद्वा—आदिकर्मणि क्तः। त्यक्ष्यमाणजीविता इत्यर्थः। नानाशस्त्राणि प्रहरणसाधनानि येषां ते युद्धे विशारदाः अतिनिपुणाः ॥९॥

**नी० भा० दी०**—विशिष्टाः श्रेष्ठाः। निबोध बुध्यस्व। भौवादिकस्य परस्मैपदिनो बुधेरिदं रूपम्। संज्ञार्थं अस्मत्पक्षेऽपि शूराः सन्तीति ज्ञापनार्थम्। परेषु प्राबल्यं दृष्ट्वा तवोत्साहभङ्गो मा भूदित्यर्थः ॥ ७ ॥ विकर्णः

स्वभ्राता। सौमदत्तिर्भूरिश्रवाः। जयद्रथपदस्थाने 'तथैव च' इति क्वचित्पाठः ॥८॥ अन्ये शल्यकृतवर्मप्रभृतयः शस्त्राणि विदारकाणि खड्गादीनि, प्रहरणानि केवलं प्रहारार्थानि गदादीनि, नानाविधानि येषां ते नानाशस्त्रप्रहरणाः ॥ ९ ॥

दुर्योधनस्यावश्यकर्तव्योक्तिः।

**अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।**
**पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम् ॥ १० ॥**
**अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।**
**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥ ११ ॥**

**आ. गि. टी.**— राजा पुनरपि स्वकीयभयाभावे हेत्वन्तरमाचार्यं प्रत्यावेदयति—**अपर्याप्त**मिति। अस्माकं खल्विदं एकादशसंख्याकाक्षौहिणीपरिगणितमपरिमितं बलं भीष्मेण च प्रथितमहामहिम्ना सूक्ष्मबुद्धिना सर्वतो रक्षितं पर्याप्तं परेषां परिभवे समर्थम्। एतेषां पुनस्तदल्पं सप्तसंख्याकाक्षौहिणीपरिमितं बलं भीमेन चपलबुद्धिना कुशलताविकलेन परिपालितमपर्याप्तमस्मानभिभवितुमसमर्थमित्यर्थः। अथवा तदिदमस्माकं बलं भीष्माधिष्ठितमपर्याप्तमपरिमितमधृष्यमक्षोभ्यम्, एतेषां तु पाण्डवानां बलं भीमेनाभिरक्षितं पर्याप्तं परिमितं, सोढुं शक्यमित्यर्थः। अथवा तत्पाण्डवानां बलमपर्याप्तं नालम्, अस्माकमस्मभ्यं भीष्माभिरक्षितं भीष्मोऽभिरक्षितोऽस्मै परबलनिवृत्त्यर्थमिति तदेव तथोच्यते; इदं पुनरस्मदीयं बलमेतेषां पाण्डवानां पर्याप्तं परिभवे समर्थं, भीमाभिरक्षितं भीमो दुर्बलहृदयो यस्मादस्मै परबलनिवृत्त्यर्थमभिरक्षितस्तस्मादस्माकं न किञ्चिदपि भयकारणमस्तीत्यर्थः॥१०॥

स्वकीयबलस्य भीष्माधिष्ठितत्वेन बलिष्ठत्वमुक्त्वा भीष्मशेषत्वेन तदनुगुणत्वं द्रोणादीनां प्रार्थयते—**अयने**ष्विति। कर्तव्यविशेषद्योती चशब्दः। समरसमारम्भसमये योधानां यथाप्रधानं युद्धभूमौ पूर्वापरादिदिग्विभागेनावस्थितिस्थानानि नियम्यन्ते तान्यत्रायनान्युच्यन्ते। सेनापतिश्च सर्वसैन्यमधिष्ठाय मध्ये तिष्ठति तेषु सर्वेषु प्रक्लृप्तं प्रविभागमप्रत्याख्याय भवानश्वत्थामा कर्णश्चेत्येवमादयो भवन्तः सर्वेऽवस्थिताः सन्तो भीष्ममेव सेनापतिं सर्वतो रक्षन्तु। तस्य हि रक्षणे सर्वमस्मदीयं बलं रक्षितं स्यात्, परबलनिवृत्त्यर्थत्वेन तस्यास्माभी रक्षितत्वादित्यर्थः॥ ११ ॥

**ह. पै. भा.— सैन्यद्वयपरिकल्पनप्रयोजनमाह— अपर्याप्तमिति। तदिति तत्तथाभूतैर्वीरैर्युक्तमपि भीष्मेणाभितो रक्षितमप्यस्माकं बलं सैन्यमपर्याप्तं तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति। इदं तेषां पाण्डवानां बलं भीमेनाभितो रक्षितं सत्पर्याप्तं समर्थं भाति ॥ १० ॥ भीष्मस्योभयपक्षपातित्वादस्मद्बलं पाण्डवसैन्यं प्रति असमर्थं, भीमस्यैकपक्षपातित्वादेतद्बलमस्मद्बलं प्रति समर्थं तस्माद्भवद्भिरेवं वर्तितव्यमित्याह— अयनेष्विति। अयनेषु व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभागं विभक्तां स्वां रणभूमिं परित्यज्यावस्थिताः सन्तो भीष्ममेवाभितो रक्षन्तु। यथा तुल्यैर्युध्यमानः पृष्ठतः कैश्चिन्न हन्येत तथा रक्षन्तु। भीष्मबलेनैवास्माकं जीवनमिति भावः ॥ ११ ॥**

**वें. ब्र. गि.**—एवं शौर्येण संख्यया च स्वशूराणामाधिक्योक्त्या यत्पूर्वम् 'अत्र शूरा महेष्वासाः' [१।४] इत्यादिना सूचितं परकीयशूरप्रयुक्तं निजभयम्, तदाच्छादितम्। इदानीं 'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्' [१।३] इत्यादिनाऽऽविष्कृतं यत्परसैन्यप्रयुक्तं निजभयम्, तत्स्वसैन्याधिक्यवर्णनेनाच्छादयति—तत्पूर्वोक्तविशिष्टबहुशूरपुरुषाधिष्ठितं भीष्मेण सेनापतिना अभितः सर्वतो रक्षितमक्षौहिणीसंख्यया चाधिकं अस्माकं बलं अपर्याप्तमपरिच्छिन्नम्, 'जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना' [शि. व. १।२७] इत्यादिप्रयोगदर्शनात्। एतेषां पाण्डवानां तु इदं अस्मदीयशूरापकृष्टयुयुधानादिपरिमितशूरोपेतं भीमाभिरक्षितं अक्षौहिणीसंख्यया च न्यूनं बलं उक्तविविधाधिक्यवैधुर्यात् पर्याप्तं परिमितम्। यद्यपि कुरुबले भीष्म इव पाण्डवबले धृष्टद्युम्नः सेनाधिपत्येऽभिषिक्त इति भीष्मप्रतिद्वन्द्वितया धृष्टद्युम्नाभिरक्षितमित्येव वक्तुमुचितं, न तु भीमा-

---

१ 'अयनेषु च'—'तस्य सञ्जनयन्—' इतीमौ श्लोकावर्थतोऽपि विश्लिष्टाविव दृश्येते। तेन तन्मध्यगतः कियांश्चित् ग्रन्थभागः परिभ्रष्टः स्यादिति सम्भाव्यते। उपलभ्यते च श्लोकत्रयमधिकमत्र हंसयोगिभाष्ये— 'अथोच्चैः सम्प्रहृष्टात्मा युक्तः शान्तनवोऽब्रवीत्। प्रीतिमान् हि दृढं कृष्णः पाण्डवेषु यशस्विषु ॥ तस्माद्बिभेमि राजेन्द्र! शमो भवतु पाण्डवैः। पृथिवीं भुङ्क्ष्व सहितो भ्रातृभिर्बलिभिर्वशी ॥ नरनारायणौ देवाववज्ञाय नशिष्यसि। इत्येवं कथयन् राजन्! भीष्मः शान्तनवो महान्॥' इति। तत्र 'प्रीतिमान्' इत्यादिश्लोकद्वयं च नीलकण्ठीयभारतपाठेऽपि [म. भा. ६।६८१७-१८ इत्यत्र] पठ्यते। तत्तस्यात्र संग्राह्यत्वे प्रमाणं सुधिय एव।

—अविगीता।

भिरक्षितमिति; तथापि भीष्मस्य पुरतो धृष्टद्युम्नस्य का गणनेत्यभिप्रायेण तं विहाय युधिष्ठिरेण धृष्टद्युम्नाभिषेकात्पूर्वमुद्योगपर्वणि सेनापतित्वेन निश्चितं महाबलं भीमं सेनापतित्वेन गृहीत्वा, सोऽपि स्वेच्छामरणधर्मतया जितकालस्य सकलक्षत्रियजिता जामदग्न्येनाप्यजितस्य महाबलपराक्रमनिधेर्भीष्मस्य न समान इत्यभिमानेन 'भीमाभिरक्षितं पर्याप्तं' इत्युक्तम् । एतेन च धृष्टद्युम्नं घातयितुं यत्त्वां प्रति 'व्यूढां द्रुपदपुत्रेण' [ १।३ ] इत्याद्युक्तम्, तत्तु त्वद्वधार्थमुत्पादितस्त्वया नोपेक्षणीय इति त्वदर्थमेवोक्तं, न तु मदर्थम्; मदीयसेनापतेरप्यग्रे गणनानर्हाद्धृष्टद्युम्नान्मम भीतेरप्रसक्तेः; तत्र च त्वमवज्ञया मौनी भवसि चेत्किं नश्छिन्नम् ? इत्याचार्यं प्रति सोल्लुण्ठनं वाक्यमभिव्यज्यते । पितामहवृकोदरादिनामान्तरसत्त्वेऽपि 'भीष्माभिरक्षितम्' 'भीमाभिरक्षितम्' इति वदताऽयं चमत्कारो दर्शितः—भीष्मनामनि भीमनामान्तर्भवति; भीमनामनि तु न भीष्मनाम, मध्ये षकारस्याधिकत्वात् । तथा च भीष्मभीमयोर्लोके भयङ्करत्वेनाविशेषेऽपि भीष्मस्तावन्नामतो भीमं निगिलति, भीमस्तु न तथेति तयोर्महत्त्वामहत्त्वे इति ॥ १० ॥

इत्थमाचार्यस्तुतिपूर्वकं निजबलप्रदर्शनेन स्वस्य परबलान्न किञ्चिद्भयमस्तीति न तदर्थमिहागमनम्, किन्तु गुरुदर्शनार्थमेवेति तत्प्रतिवचनावसरो दर्शितः । तमेतमन्तःकापट्यगर्भमुक्तिसन्दर्भमुपश्रुत्य सत्यमयमस्मिन्नपि समये निर्मर्यादं वक्ति वचनमिति विचार्याचार्येणाप्रतिभाषितोऽतिरोषितो भवन्नार्यो दुर्योधनस्तं तिरस्कुर्वन्नाह—भागो नाम पूर्वादिक्रमेणास्यायमयमिति विभज्य नियमितो योधानामवस्थानार्थो देशः, तमनतिक्रम्य यथाभागं अयनेषु व्यूहप्रवेशमार्गेषु अवस्थिताः विभक्तस्वस्वरणभूम्यपरित्यागेन सर्वतः समावृत्य सज्जीभूय स्थिताः सन्त इत्यर्थः । भवन्तः सर्वेऽपि भीष्ममेव अभितो रक्षन्तु । स एक एवास्माकं जीवातुरिति भावः । तत्र च 'भवन्तः सर्वे' इति योधाभिमुख्यप्रदर्शनेनाचार्यः पृष्ठे कृत इति ज्ञापितम् । भीष्ममेवेत्येवकारेण द्रोणव्यवच्छेदः । तेन च हितमपि मदभिहितमविज्ञाय मामवज्ञातवतो द्रोणस्याग्रे भाविनि धृष्टद्युम्नसमरदौरवस्थ्ये भवद्भिरुदास्थेयमिति तत्प्रतीकारक्रौर्यमुद्गीर्यते ॥ ११ ॥

व० त० दी०—॥ १० ॥ ११ ॥

पु. अ. त.—एवं सर्वानन्वैतद्रक्षितमप्यस्मद्बलं तद्बलयुद्धासमर्थं मम भातीत्याह–अपर्याप्तमिति । भीष्माभिरक्षितमप्यस्माकं बलं अपर्याप्तं तैः सह योद्धुमसमर्थं भाति । द्रोणः कदाचित्कुप्येदिति भीष्माभिरक्षितमेवोक्तम् । पाण्डवानां च बलमस्माभिर्योद्धुं समर्थं भातीत्याह–पर्याप्तमिति । इदं तेषां पाण्डवानां बलं भीमेनाभितः सर्वतो रक्षितं सत् पर्याप्तं समर्थं प्रतिभाति । तुशब्देनापर्याप्तपक्षो निराकृतः । यद्वा तत्प्रसिद्धमस्माकं बलं अपर्याप्तं अत्यधिकम् । किञ्च भीष्मेणाभितो रक्षितम् । तेषां तु बलं शूरभूयिष्ठमपि पर्याप्तम्, अक्षौहिणीसप्तकमितत्वात् । किञ्च भीमेनाभिरक्षितम् ॥ १० ॥ एवं सति किं कर्त्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह– अयनेषु चेति । व्यूहप्रवेशमार्गेषु यथाभागं विभक्ताः स्वस्वस्थाने स्थिता भवन्तः सर्व एव भीष्ममेवाभितः सर्वतः रक्षन्तु । यतोऽस्माकं बलं भीष्मरक्षितमेव । चकारेण व्यूहप्रवेशमार्गात् परस्थानेऽपि स्थितैरिदमपि ज्ञापितम् । एवकारेणास्मदादिरक्षा कार्येति ज्ञापितम् । हीति युक्तत्वम् ॥ ११ ॥

नी० भा० दी०—पर्याप्तं परित आप्तं परिवेष्टितम् । पाण्डवसैन्यं हि सप्ताक्षौहिणीमितत्वादल्पं बहुनैकादशाक्षौहिणीमितेनास्मत्सैन्येन वेष्टयितुं शक्यं, न तु तदीयेनास्मदीयमित्यर्थः । एवं च पर्याप्तमित्यस्य पारणीयमित्यर्थः ॥१०॥ अयनेषु व्यूहरचनया स्थिते सैन्ये प्रवेशमार्गेषु स्वे स्वे स्थाने स्थिता यूयं मध्यस्थं भीष्ममेवाभिरक्षन्तु । अस्य सेनापतेश्चाञ्चल्ये सर्वाऽपि सेना आकुलीभवेत्, तत्स्थैर्ये स्थिरा च भवेत्, अतः स एव रक्ष्य इत्यर्थः ॥११॥

युद्धमहोत्सवे भीष्मादिकृतो शङ्खादिवादित्रघोषः । [ १२-१९ ]

**तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।**
**सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान् ॥ १२ ॥**
**ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।**
**सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥ १३ ॥**
**ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।**
**माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥**

---

१ पणवाः 'ढोल' इति, आनकाः 'मर्दळ–मांदळ' इति गोमुखाश्च 'काहळा' इति महाराष्ट्रप्रसिद्धा इति गीतार्णवे। शङ्खादिपञ्चानां ग्रहणमखिलरणवाद्योपलक्षणमिति रङ्गनाथः । —अविगीता ।

**आ. गि. टी.—** तमेवमाचार्यं प्रति संवादं कुर्वन्तं भयाविष्टं राजानं दृष्ट्वा तदभ्याशवर्ती पितामहस्तद्बुद्ध्यनुरोधार्थमित्थं कृतवानित्याह— **तस्येति**। राज्ञो दुर्योधनस्य हर्षं बुद्धिगतमुल्लासविशेषं परपरिभवद्वारा स्वकीयविजयद्वारकं सम्यगुत्पादयन्भयं तदीयमपनिनीषुरुच्चैः सिंहनादं कृत्वा शङ्खमापूरितवान् । किमिति दुर्योधनस्य हर्षमुत्पादयितुं पितामहो यतते? कुरुवृद्धत्वात्तस्य कुरुराजत्वात्पितामहत्वाच्चास्य दुर्योधनभयापनयार्था प्रवृत्तिरुचिता, तदुपजीवितया तद्वशत्वाच्च। तस्य च सिंहनादे शङ्खशब्दे च परेषां हृदयव्यथा सम्भाव्यते, दूरादेवारिनिवहं प्रति भयजननलक्षणप्रतापत्वादित्यर्थः ॥ १२ ॥ राजाभिप्रायं प्रतीत्य भीष्मप्रवृत्त्यनन्तरं तत्पक्षैस्तैस्तै राजभिः शङ्खादयो वाद्यविशेषा झटिति शब्दवन्तः सम्पादिताः। स च शङ्खादिप्रयुक्तशब्दस्तुमुलो बहुलं भयं परेषां परिद्योतयन्नासीदित्याह **तत इति** ॥ १३ ॥ एवं दुर्योधनपक्षे प्रवृत्तिमालक्ष्य परिसरवर्तिनौ केशवार्जुनौ श्वेतैर्हयैरतिबलपराक्रमैर्युक्ते महत्यप्रधृष्ये रथे व्यवस्थितावप्राकृतौ शङ्खौ पूरितवन्तावित्याह— **ततः श्वेतैर्हयैरिति** ॥ १४ ॥

**शं० भा०—** तस्य विषादमालोक्य भीष्मस्तस्य हर्षं जनयितुं सिंहनादं शङ्खाध्मानं च कृत्वा शङ्खभेरीनिनादैश्च विजयाभिशंसिनं घोषं चाकारयत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ ततस्तं घोषमाकर्ण्य सर्वेश्वरेश्वरः पार्थसारथी रथी च पाण्डुतनयस्त्रैलोक्यविजयोपकरणभूते महति स्यन्दने स्थितौ त्रैलोक्यं कम्पयन्तौ श्रीमत्पाञ्चजन्यदेवदत्तौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

**वे. ता. चं.—** 'तस्य सञ्जनयन' इत्यादेः 'तुमुलोऽभवत्' इत्यन्तस्यार्थमाह— **तस्येति**। जनयन्निति शतुः 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' [ अष्टा. ३।२।१२६ ] इति हेत्वर्थत्वसूचनाय **जनयितुं** इत्युक्तम्। 'सिंहनादं विनद्य' इत्येतत् 'ओदनपाकं पचति' इतिवदिति सूचयितुं 'कृत्वा' इति पदम्। 'कृभ्वस्तयः क्रियासामान्यवचनाः' इत्येतद्व्यञ्जनायोदाहरणतया 'शङ्खाध्मानं च कृत्वा' इत्युक्तम्। 'ततः शङ्खाः' इत्यत्र ततःशब्देन विजिगीषासूचनाय भीष्मेण सेनापतिना कारितत्वं ज्ञापितमित्यभिप्रायेणोक्तं **अकारयदिति**। **शङ्खभेरीति** पणवाद्युपलक्षणम्, ततः श्लोकेऽपि कतिपयवाद्यविशेषनिर्देश उपलक्षणार्थ इति सूचितम्। सिंहनादशङ्खध्मानाभ्यां शङ्खभेर्यादिनादसमुच्चयार्थो द्वितीयश्चकारः। कृत्वेत्यनेन अकारयदित्यस्य समुच्चयार्थस्तृतीयः ॥ १२ ॥ १३ ॥ 'ततः श्वेतैः' इत्यादिकं 'धनञ्जयः' इत्यन्तं व्याचष्टे— **ततस्तमिति**। तत इति व्याख्येयपदम्। **तं घोषमाकर्ण्य** इति तद्विवक्षितकथनम्। **सर्वेश्वरेश्वरः पार्थसारथिरिति**—सर्वोत्कृष्टेभ्य उत्कृष्टः परमपुरुषो निकृष्टमानुषमात्रादपि निकृष्टतामाश्रितवात्सल्येन नीत इति भावः । पाण्डवविजयसूचनाय सञ्जयेनोपात्तो **माधव**शब्दोऽत्र श्रियःपतित्ववाची सर्वेश्वरेश्वरत्वपर एव। 'स्यन्दने स्थितौ' इत्यविशेषेण स्थितिव्यवच्छेदाय सारथित्वरथित्वविभागः । 'श्वेतैः' इत्यादिना प्रतिपादितमहत्त्वव्यक्त्यर्थमुक्तं **त्रैलोक्येति**' नात्र परिमाणादिमहत्त्वमात्रं विवक्षितमिति भावः। **त्रैलोक्यं कम्पयन्ता**विति— तयोः स्यन्दने स्थितिमात्रमपि त्रैलोक्यकम्पनहेतुरिति भावः। यद्वा 'दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः' इत्याद्युक्तप्रकृष्टाध्मानमूलकशङ्खघोषातिशयेन, 'नभश्च पृथिवीं चैव' [ १।१९ ] इति वक्ष्यमाणेन च फलितमिदम् ॥ १४ ॥

**ह. पै. भा.—** द्रोणं प्रति राज्ञा भीष्मस्य च बहुमानपुरस्सरं यदुक्तं तच्छ्रुत्वा भीष्मः किमकरोत्तदाह— **तस्येति**। कुरुवृद्धः पितामहो भीष्मस्तस्य राज्ञो दुर्योधनस्य हर्षं प्रीतिं सञ्जनयन्नुच्चैर्महान्तं सिंहनादं विनद्य कृत्वा शङ्खं दध्मौ वादितवान् ॥ १२ ॥ तदेवं सेनापतेर्भीष्मस्य युद्धोत्सवमालक्ष्य सर्वतो युद्धोत्सवः प्रवृत्त इत्याह— **तत इति**। ततो भीष्मस्य शङ्खपूरणानन्तरम्। **शङ्खाश्च** परं भेर्यः **पणवानकगोमुखाः**—पणवा आनका गोमुखा वाद्यविशेषाः सहसैव तत्क्षणमेवाभ्यहन्यन्त वादिताः। स च शङ्खादिशब्दस्तुमुलो महानभवत् ॥ १३ ॥ ततः पाण्डवसैन्ये प्रवृत्तं युद्धोत्सवमाह **तत इति** पञ्चभिः— ततो दुर्योधनस्य सैन्ये वाद्यकोलाहलानन्तरम्। **श्वेतैः** शुक्लैः कैलासाचलकल्पैः परसैन्योत्कर्षतनूकरणसामर्थ्यवद्भिः **हयैः**— अतिवेगातिरेकात्स्वभावतो वा ह आकाशे यान्तीति हया विशिष्टा अश्वास्तैर्युक्ते संयोजिते महत्यादित्यमण्डलकल्पे पूज्ये स्यन्दने संग्रामभूमिप्रद्रवणशीले रथवरे स्थितौ वर्तमानौ। **माधवः**—मा लक्ष्मीस्तस्या धवः पतिर्माधवः कृष्णः, पाण्डवोऽर्जुनश्चापि दिव्यौ दिवि भवौ शङ्खौ प्रदध्मतुः प्रकर्षेण परकीयवाद्यकोलाहलाभिभवसम्पादनेन दध्मतुः आपूरितवन्तौ ॥ १४ ॥

**वें. ब्र. गि.**—एवं द्रोणतिरस्कृतस्य स्वपुत्रस्य भीष्मतिरस्कारोऽप्यवश्यम्भाव्येव, द्रोणभीष्मयोरेकविचारत्वात्; तथा च सत्यद्यैव नष्टं मत्कुलमिति व्याकुलं धृतराष्ट्रमालोक्याह सञ्जयः—कुरुषु वृद्धः श्रेष्ठः प्रतापवान्पितामहो भीष्मः तस्य द्रोणतिरस्कारदुःखितस्य दुर्योधनस्य हर्षं सञ्जनयन्—हेतौ शतृप्रत्ययः—हर्षं जनयितुं उच्चैः सिंहनादं विनद्य कृत्वा। सिंहनादमिति णमुलन्तत्वाद्धातोः पुनः प्रयोगः। शंखं दध्मौ वादितवान्। अत्र 'कुरुवृद्धः' इत्यनेन यद्यपि द्रोण इव भीष्मेऽप्यादित आरभ्य दुर्विनीत एव तव पुत्र इति भीष्मेणाप्युपेक्षणीय एव, तथापि कुरुश्रेष्ठतया स्वमहत्त्वमालोच्यैव तेन नोपेक्षित इति सूचितम्। 'प्रतापवान्' इत्यनेन परबलभयादिते राज्ञ्युपेक्षिते पराभिभवनतेजोरूपप्रतापहानिर्भवतीति दर्शितम्। वृद्धः पितामहस्तस्य हर्षं जनयन्नित्यनेन परबलभयेनाचार्यतिरस्कारेण च गतप्राणस्य दुर्योधनस्य तात्कालिकप्राणप्रतिष्ठापनार्थ एवायं सिंहनादः, न तु वस्तुतः परबलनिरासपर्यन्तः, वृद्धपितामहस्य तदशक्तेरिति ध्वनितम् ॥ १२ ॥ एवं भीष्मः स्वयं सिंहनादपूर्वकं शंखमाध्माय स्वसैन्येऽपि सर्वत्र शंखभेर्यादिनादमकारयदित्याह—पणवा आनका गोमुखाश्च वाद्यविशेषाः। सहसा तत्क्षणमेव अभ्यहन्यन्त वादिताः। कर्मकर्तरि लकारः। स च शंखादिशब्दः तुमुलो महानभवत् ॥ १३ ॥ एवं 'मामकाः पाण्डवाश्च किमकुर्वत ?' इति प्रश्ने कौरववृत्तान्तमुक्त्वा पाण्डववृत्तान्तमाह—तत इत्यादिभिः षड्भिः। ततो माधवः पाण्डवश्च शंखौ प्रदध्मतुरित्यन्वयः। कौरवेषु दुर्योधनस्येव पाण्डवेष्वपि प्रधानभूतस्य राज्ञो वृत्तान्ते कथनीये माधवः पाण्डव इति प्रधानतो भगवद्वृत्तान्तं वदता भगवानेव पाण्डवबले प्रधानभूतो राजा, धर्मार्जुनादयस्तु निमित्तमात्रमिति ज्ञाप्यते। तत्र च कथं पाण्डवसारथेर्भगवतस्तद्राजत्वमिति शङ्कानिरासाय माधवः पाण्डव इति पूर्वपश्चाद्भावेन निर्दिष्टम्। पाण्डवरक्षणार्थमवतीर्णेन भगवता स्वरक्षणीयस्य परैरुपघाते प्राप्ते तं पृष्ठतो विधाय स्वयमग्रेऽवस्थितमित्येतदेव भगवतः पाण्डवसारथ्यं नाम, तच्च न तत्स्वामित्वविरोधीति भावः। माधवपदेन लक्ष्मीपतिर्यत्र तत्रैव जयशौर्यादिसर्वविधलक्ष्मीनिवास इति पाण्डवानामेव जयः, न त्वलक्ष्मीकस्य दुर्योधनस्येति सूचितम्। स्यन्दने स्थिताविति रथस्थत्ववर्णनेन परबलं दृष्ट्वा भयेनाचार्यमुपसङ्क्रम्य ततो योधान्भीष्मं चोपधाव्य तत इतो विलुठतो दुर्योधनाद्वैलक्षण्यमुक्तम्। प्रथमतो यं यथा रथमारूढौ, तत्रैव तथैव स्थितौ, न तु कुतश्चित्क्वापि प्रचलितावित्यर्थः। स्थिताविति तुल्यवदवस्थानोक्त्या रथचालनकाल एव भगवतः सारथ्युपवेशस्थानेऽवस्थानम्, अर्जुनस्य रथमध्येऽवस्थानम्, समयान्तरे तु सर्वदा द्वयोरेकस्मिन्नेवासनेऽवस्थितिरिति तयोरखण्डसख्यातिशयो दर्शितः। श्वेताश्वरथानामन्येषामपि बहुशः सत्त्वेऽपि खाण्डवदहनसमयेऽग्निना यः श्वेताश्वरथोऽर्जुनाय दत्तः, येन च श्वेतवाहन इत्यर्जुनस्यासाधारणं नाम, सोऽयं दिव्यो रथ इति दर्शयितुं श्वेतैर्हयैर्युक्त इत्युक्तम्। महतीत्यनेन 'उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः। पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे ॥ सर्वोपकरणैर्युक्तमजेयं देवदानवैः। ससर्ज यं स्व-[ सु-] तपसा भुवने [ भौमनो ] भुवनप्रभुः ॥ प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव। आश्रिता यं रथश्रेष्ठं शक्रध्वजसमा बभौ ॥ तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा। यस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः [ लांगूललक्षणः ] ॥ भीमो ननर्द तत्रास्य संश्रितो मूर्ध्न्यशोभत। ध्वजे भूतानि चात्रासन्विविधानि महान्ति च ॥ नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति,' इत्यादिपर्वोक्तं [ अ. २२५ श्लो. १०–१७ ] रथमाहात्म्यं स्मारितम्। तेन च तादृशो रथ एक एवालम्; तदुपरि माधवः पाण्डवश्च किल किमु वक्तव्यं जयविषय इति सूचितम्। दिव्यौ शंखावित्यनेन 'ततः शंखाश्च' इति पूर्वोक्तपरबलशंखानां प्राकृतत्वेनाकिञ्चित्करत्वमुक्तम्। माधवः पाण्डवश्चैवेत्येवकारस्य त्वयमर्थः—कुरुसेनापतिना भीष्मेण स्वयं शंखं ध्मात्वा सर्वतः सैन्ये शखनादे प्रवर्तिते सति तदनुरूपतया पाण्डवसेनापतिना धृष्टद्युम्नेन स्वयं तथा विधातुमुचितम्; न तु तथा कृतम्; कृष्णार्जुनावेव शंखौ वादितवन्ताविति। अत्र हेतुः प्रदध्मतुरित्यत्र प्रकर्षार्थवाचिना प्रेत्युपसर्गेणोक्तः। प्रकर्षोऽप्यत्र सकलधार्तराष्ट्रगर्भनिर्भेदपर्यन्ततारूपः, 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' [ १।१९ ] इत्यादिवक्ष्यमाणत्वात्। ततश्चायं भावः—यदि हि धृष्टद्युम्नादय एव शंखान्वादयेयुः, तदा भीष्मादिवादनस्यात्रापि प्रतिशंखवादनं जातमित्येव स्यात्; परहृदयविदारणपर्यन्तं शंखध्वनिर्विधेय इति हि भगवतोऽभिमतम्; अतस्तदर्थं कृष्णार्जुनावेव प्रदध्मतुरिति ॥ १४ ॥

व० त० दी०—ततस्तद्विषादमवलोक्य भीष्मस्तस्य हर्षं जनयितुं सिंहनादं शङ्खनादं च कृत्वा शङ्खभेरीनिनादैर्विजयाभिशंसकं घोषं चाकारयत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ ततस्तद्घोषं निशम्य भगवान् पार्थसारथिरर्जुनश्च त्रैलोक्यविजयोपकरणभूते मध्ये रणे महति रथे स्थितौ विश्वं कम्पयन्तौ स्वशङ्खौ प्रदध्मतुः ॥ १४ ॥

**पु. अ. टी.**—सेनापतिरेव रक्षणीय इत्येवं स्वबहुमानप्रतिपादकं राजवाक्यं श्रुत्वा राज्ञो हर्षमुपजनयन् भीष्मः स्वबलख्यापकं शङ्खनादं कृतवानित्याह—तस्येति। तस्य राज्ञः हर्षं सम्यक् प्रकारेण योत्स्यामि इत्यादिरूपेण जनयन्। भीष्मस्य भक्तत्वात्स्वपराजयज्ञानेन स्वतो हर्षेण न शङ्खादिवादनं, किन्तु दुर्योधनस्य वाक्यं श्रुत्वा भगवदिच्छां ज्ञात्वा तस्य राज्ञः हर्षजननार्थं तथा कृतवानिति बोधयितुमेवमुक्तम्। कुरुवृद्धः कुरूणां कुरुषु वा वृद्धः देशकालोचितज्ञानः—पितामह इति हर्षजनने हेतुरुक्तः—भीष्मः उच्चैरूर्ध्वमुखं यथा स्यात्तथा, महान्तं वा सिंहनादं विनद्य स्वप्रौढिज्ञापकं गर्जनं कृत्वा प्रतिभटः कोऽपि नास्तीति ज्ञापयन् शंखं दध्मौ वादितवान्। ननु राज्ञा बहुमाने कृतेऽपि राज्ञोऽग्रे तथा विनादं

शङ्खादिवादनं च न कर्त्तव्यं तत्कथं कृतवानित्याशङ्क्याह — **प्रतापवानिति** । नादेनैव शत्रुजयः सूच्यते ॥ १२ ॥ एवं सेनापतेर्युद्धोत्सवप्रवर्त्तकं शङ्खध्वनिमाकर्ण्य सर्वेसावधानकरणार्थं वादका दुन्दुभ्यादिवादनं कृतवन्त इत्याह— **तत इति**। सहसा तच्छ्रवण एव शङ्खा भेर्यश्च पणवा आनकाः गोमुखाः अभ्यहन्यन्त, वादिता इत्यर्थः। एवकारेण तच्छ्रवणादेव वादितवन्तः, नतु युद्धोपस्थित्या स्वशौर्याविर्भावेनेति व्यज्यते । स शङ्खादिशब्दस्तुमुलो महानासीत्॥ १३ ॥ एवं युद्धोत्सवज्ञापकशंखध्वनिश्रवणानन्तरं पाण्डवसैन्येऽपि युद्धोत्सवोऽभूदित्याह— **तत इति** पञ्चभिः । ततः कौरवप्रवृत्त्यनन्तरं श्वेतैर्हयैः शुभसूचकैरश्वैर्युक्ते । परमेश्वरस्य सारथित्वप्रतिपादनाय भगवतोऽश्वानां च वर्णनं, नायं भगवद्रथ इति ज्ञापनाय च भगवतोऽश्वानां चित्रवर्णत्वादत्र श्वेतैरिति हयविशेषणम्। युद्धप्रवृत्तिज्ञापनार्थं हयैर्युक्त इति । महति अग्निदत्ते भगवत्स्थितियोग्ये गरुडसमे स्यन्दने नन्दिघोषाख्ये रथे स्थितौ श्रीकृष्णार्जुनौ दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः वादितवन्तौ । माधवपदेन तेषां शीघ्रमेव लक्ष्मीप्राप्तिर्भविष्यति इति व्यञ्जितम् । पाण्डवत्वोक्त्या तेषां न्यायत्वमुक्तम् । भगवतः शङ्खध्वनिः सर्वेषां यथा दर्पघ्नस्तथैवार्जुनस्यापीति चकारेणैवकारेणापि व्यज्यते॥ १४ ॥

**नी० भा० दी०**— तस्यैवं वदतो दुर्योधनस्य । सञ्जयवाक्यमिदम् । सिंहनादमिति णमुलन्तम् । तेन विनद्येत्यस्यानुप्रयोगः । कषादित्वात् 'समूलकाषं कषतिस्म दैत्यान्' इत्यादिवत् । कुरुवृद्धो भीष्मः प्राग्विराटनगरादौ दृष्टप्रभावान् पाण्डवान्दृष्ट्वा राज्ञो भयं मा भूदिति शङ्खं दध्मौ । हर्षं युद्धोत्साहं जनयन् । हेत्वर्थे शतृप्रत्ययः। हर्षजननार्थमित्यर्थः ॥ १२ ॥ अभ्यहन्यन्त अभिहताः । कर्मकर्तरि प्रयोगः ॥ १३–१४ ॥

**पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः ।**
**पौण्ड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥ १५ ॥**
**अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।**
**नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥ १६ ॥**
**काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः ।**
**धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः ॥ १७ ॥**
**द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते ! ।**
**सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक् ॥ १८ ॥**
**स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत् ।**
**नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन् ॥ १९ ॥**

**आ. गि. टी.**—तयोः शङ्खयोर्दिव्यत्वमेवाऽऽवेदयति— **पाञ्चजन्यमिति** । केशवार्जुनयोर्युद्धाभिमुख्यं दृष्ट्वा संहृष्टः स्वारस्येन समररसिको भीमसेनोऽपि युद्धाभिमुखोऽभूदित्याह— **पौण्ड्रमिति** ॥ १५ ॥ एतेषामीदृशीं प्रवृत्तिं प्रतीत्य परिपालनावकाशमासाद्य राज्ञो युधिष्ठिरस्यापि प्रवृत्तिं दर्शयति— **अनन्तेति** । ज्यायसां भ्रातॄणामनुसरणमावश्यकमिति मत्वा तयोर्यवीयसोर्भ्रात्रोरपि प्रवृत्तिमाह— **नकुल इति** ॥ १६ ॥ अन्येषामपि तत्पक्षीयाणां राज्ञामैकमत्यं विज्ञापयन्धृतराष्ट्रस्य दुराशां सञ्जयो व्युदस्यति— **काश्यश्चेत्यादिना** । परमेष्वासादिविशेषणचतुष्टयं प्रत्येकं सम्बध्यते ॥ १७ ॥ १८ ॥ तैस्तै राजभिः शङ्खानापूरयद्भिरापादितो महान् घोषस्तुमुलोऽतिभैरवो नभश्चान्तरिक्षं पृथिवीं च भुवनं लोकत्रयं सर्वमेव विशेषेणानुक्रमेण नादयन्नादयुक्तं कुर्वन्धार्तराष्ट्राणां दुर्योधनादीनां हृदयान्यन्तःकरणानि व्यदारयद्विदारितवान्। युज्यते हि तत्प्रेरितशङ्खघोषश्रवणात् त्रैलोक्याक्रोशे तमुपशृण्वतां तेषां हृदयेषु दोधूयमानत्वं तदाह— **स घोष इति** ॥ १९ ॥

---

१ पञ्चजना मनुष्याः । 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इत्यमरः । तेषां हितः अनिष्टनिवारणात्। हितार्थे तद्धितः, इति पूर्णसरस्वती। पञ्चजनो नाम समुद्रान्तश्चरः शङ्खरूपी कश्चिदसुरः । गुरुपुत्रानयनप्रसङ्गे तं हत्वा गृहीतस्तदस्थिसम्भवः पाञ्चजन्यः ।, 'स तु पञ्चजनं हत्वा शङ्खं लेभे जनार्दनः । यस्य देवमनुष्येषु पाञ्चजन्य इति श्रुतिः ॥ ' ( ह. वं. २।३३।१७ ) इति निर्वचनात् ।

२ देवदत्तं निवातकवचनिबर्हणप्रीतैर्देवैरिन्द्रद्वारा दत्तम्। 'देवदत्तं च मे शङ्खं पुनः प्रादान्महारवम् । दिव्यं चेदं किरीटं मे स्वयमिन्द्रो युयोज ह ' ( म. भा. ३।१७४।६ ) इति वचनात्। खाण्डवदाहेऽग्निदत्त इति वामनोक्तिस्त्वमूला । **—अविगीता।**

**रा० भा०**—ततो युधिष्ठिरो वृकोदरादयश्च स्वकीयान् शङ्खान् पृथक् पृथक् प्रदध्मुः। स घोषो दुर्योधनप्रमुखानां सर्वेषामेव भवत्पुत्राणां हृदयानि बिभेद। 'अद्यैव नष्टं कुरूणां बलम्' इति धार्तराष्ट्रा मेनिरे। एवं तद्विजयाभिकाङ्क्षिणे धृतराष्ट्राय सञ्जयोऽकथयत्॥ १५-१९॥

**वे. ता. चं.**— दिव्यत्वोक्तिदर्शितशङ्खातिशयवैशद्याय पाञ्चजन्यदेवदत्तसंज्ञोक्तिः। एवं भीमसेनादिशङ्खचतुष्टयविशेषे नामनिर्देशोऽपि। **पृथक् पृथक् प्रदध्मुरि**ति—यथैकैकशङ्खध्वनिरेव धार्तराष्ट्रहृदयभेदाय स्यात्, तथा प्रदध्मुरिति भावः। यद्वा यथास्वं प्रहर्षद्योतनाय क्रमात्प्रदध्मुरिति। 'स घोषः' इति श्लोके नभश्च पृथिवीं चानुनादयन्नपि धार्तराष्ट्राणामेव हृदयानि बिभेदेत्यन्वयः; अन्येषां तु हर्षहेतुरिति भावः। **सर्वेषामेव भवत्पुत्राणा**मित्यनेन तेषु दृढचित्तः कश्चिदपि नास्तीति द्योतनाय धार्तराष्ट्रशब्दतद्गतबहुवचनयोरर्थ उक्तः। 'व्यदारयत्' इत्यस्य वक्ष्यमाणाभिप्रायद्योतकं प्रतिपदं **बिभेद** इति। घोषस्य शस्त्रादिवत् हृदयविदारणत्वं कथमित्यत्राह—**अद्यैवे**ति। स्वबलस्य विजयित्वमध्यवस्यतां तन्नाशबुद्धिरेव हि हृदयभेद इति भावः। धार्तराष्ट्रविजयबुभुत्सया पृच्छते धृतराष्ट्राय प्रागुक्तप्रकारेण तदपजयसूचकमेव सञ्जयोऽकथयदित्याह—**एव**मिति॥ १५-१९॥

**ह. पै. भा.**— तदेव विभागेन प्रदर्शयन्नाह— **पाञ्चजन्यमि**ति। हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशोऽधिष्ठाता लीलागृहीतदेहो भगवान् विष्णुः। पाञ्चजन्यं पञ्चजनाह्वयदैत्यदेहोद्भवं, धनञ्जयो देवदत्तं, वृकोदरो भीमं घोरं कर्म यस्य सः भीमकर्मा महाशङ्खं पौण्ड्रं दध्मौ, आपूरितवान्॥ १५॥ अनन्तविजयमित्यादियुग्मं पूर्वश्लोकक्रियया सम्बध्यते। **अनन्ते**ति। कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरो राजा पाण्डवानां स्वामी अनन्तविजयं महाशङ्खं दध्मौ, यस्य पूरणादनन्तः सततं विजयो भवतीत्यनन्तविजयः। नकुलः सहदेवश्चोभौ सुघोषमणिपुष्पकौ—नकुलः सुघोषं नाम शङ्खं दध्मौ सहदेवो मणिपुष्पकं च॥ १६॥ **काश्यश्चे**ति। च परं काश्यः काशिराजः परमेष्वासः परम उत्कृष्ट इष्वासो धनुर्यस्य सः, च पुनः शिखण्डी महारथः शिखण्डवान्सकलसुरासुराजेयभीष्मवधार्थमुत्पन्नः पौरुषेयशिखायुक्तः, च परं धृष्टद्युम्नः, विराटः, सात्यकिः स एवापराजितोऽजयः, एते सर्वे पृथक्पृथक्शङ्खान्दध्मुर्वादयामासुरिति परेण सम्बन्धः॥ १७॥ **द्रुपद** इति। हे पृथिवीपते! द्रुपदः, च परं द्रौपदेया द्रौपदीपुत्राः, च परं महाबाहुः सौभद्रः, एते सर्वे प्रत्येकं शङ्खान्दध्मुः॥ १८॥ तस्य शङ्खनादस्य धार्तराष्ट्रान्प्रति जयभयजनकत्वमाह— **स घोष** इति। स तुमुलो घोरः पाण्डवसेनापतीनां शङ्खादिजनितो घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्। किं कुर्वन्? नभ आकाशं पृथिवीं च व्यनुनादयन् प्रतिशब्दयुक्तं कारयन्॥ १९॥

**वें. ब्र. गि.**— 'दिव्यौ शङ्खौ' इत्युक्तं दिव्यत्वं दर्शयन्नेव भगवच्छङ्खवादनानुप्रवृत्तं पाण्डवबलशङ्खवादनं प्रपञ्चयति—पाञ्चजन्यमित्यादिभिः पञ्चभिः। सर्वेन्द्रियाधिष्ठातृत्ववाचिना हृषीकेशपदेन भगवतः परहृदयविदारणं न दुष्करम्, नियम्यभङ्गे नियन्तुर्भाराभावादिति सूचितम्। पाञ्चजन्यं देवदत्तमिति च नामग्रहणेन कृष्णार्जुनशङ्खयोर्दिव्यत्वं दर्शितम्। पौण्ड्रः अनन्तविजयः सुघोषः मणिपुष्पकः इति भीमयुधिष्ठिरनकुलसहदेवशङ्खानां नामानि। अनेन च पाण्डवसेनायामेतावन्तः स्वनामभिः प्रसिद्धाः शङ्खाः, परसैन्ये तु नैकोऽपि तादृशोऽस्तीत्याशयो व्यज्यते। परमेष्वासो महाधनुर्धरः काश्यः काशीराजः। स्पष्टमन्यत्॥ १५-१८॥

प्रदध्मतुरित्युक्तं प्रकर्षमेव स्फुटीकरोति—**स घोष** इति। भगवत्पाञ्चजन्यघोषस्तदनुप्राणितोऽर्जुनादिशङ्खघोषश्चेत्यर्थः। धार्तराष्ट्राणामिति धृतराष्ट्रसम्बन्धिनां दुर्योधनभीष्मद्रोणादीनां सर्वेषामपीत्यर्थः। 'तस्येदम्' [ अष्टा. ४।३।१२० ] इति सम्बन्धसामान्येऽण्प्रत्ययः। हृदयानि मनांसि वक्षांसि च। 'हृदयं चित्तवक्षसोः' इति निघण्टुः। व्यदारयत् बिभेद। तत्र मनोविदारणं नाम ज्ञानेच्छाकृतिधैर्योत्साहादिमनोधर्मनाशनम्। वक्षोविदारणं तु भयप्रयुक्तो महाविपत्तिष्वनुभूयमानो गर्भनिर्भेदः। एवमुभयविधहृदयविदारणोक्त्या धार्तराष्ट्रा निहता एव जाता इत्युक्तं भवति। तदेतद्भगवानेव वक्ष्यति—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' [ ११।३३ ] इति, पूर्वमेव शङ्खवादनकाल एवेत्यर्थः। अत्र 'घोषो हृदयानि व्यदारयत्' इत्यनेन भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं सूचितम्। स्वयमयोद्धैव पाण्डवयुद्धं निर्वर्तयिष्यामीति हि भगवता प्रतिज्ञातम्; तथैव च कृतम्। पाञ्च-

जन्यघोष एव धार्तराष्ट्राञ्जघान, न तु भगवानिति । 'ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च' [ १।१३ ] इति श्लोके धार्तराष्ट्रशङ्खनादोऽपि तुमुलत्वेनोक्तः, तथैवायमपि तुमुल इति भ्रमं निराकरोति— **नभश्च पृथिवीं चैव** व्यनुनादयन्निति । वीत्युपसर्गः पृथक्करणवाची । भूमिमाकाशं च विभिद्यानुनादं कुर्वन्नित्यर्थः । पृथिवीं चैवेत्येवकारेण पृथिव्याकाशौ विदारयतो धार्तराष्ट्रविदारणे को वा भार इति दर्शितम् ॥ १९ ॥

व० त० दी०— ततो युधिष्ठिरभीमादयश्च पृथक्पृथक् शङ्खान् दध्मुः । स घोषः दुर्योधनादिहृदयानि बिभेद ॥१५-१९॥

**पु. अ. त.**—श्रीकृष्णादिशङ्खानां महत्त्वज्ञापनार्थं नामान्याह—**पाञ्चजन्यमि**त्यादिद्वयेन । पाञ्चजन्यं हृषीकेशो वादितवान् । पाञ्चजन्यादीनि तत्तच्छङ्खानां नामानि शङ्खमाहात्म्यज्ञापनार्थमुक्तानि । पञ्चजनदैत्यप्रभवत्वात्पाञ्चजन्यः । देवदत्तमग्निदत्तम् । पौण्ड्रादयोऽपि तत्तद्गुणविशिष्टास्तत्तदुपाख्यानैरवगन्तव्याः । सर्वेषामिन्द्रियप्रवर्त्तकस्य युद्धप्रवृत्तौ सर्वेन्द्रियाणि स्वत एव प्रवर्त्तेरन्निति हृषीकेश इत्युक्तम् । धनञ्जयः देवदत्तं वादितवान् । धनं जयोऽस्य, जये यस्येति वा । पौण्ड्रं महाशङ्खं स्वरूपतो गुरुतरं भीमकर्मा भयानककर्मकर्ता वृकोदरो भीमसेनो दध्मौ वादितवान् । 'भक्तिर्ज्ञानं सवैराग्यं प्रज्ञा मेधा धृतिः स्थितिः । योगः प्राणो बलं चैव वृकोदर इति स्मृतः । एतद्दशात्मको वायुस्तस्माद्भीमस्तदात्मकः ।' इति ॥ १५ ॥ अनन्तानां विजयो येन तादृशं वादितवान् । राजेति प्रवृत्तावावश्यकता । कीदृशो राजा ? कुन्तीपुत्रः । कुन्तीपुत्र इति तत्प्रेरितत्वं भगवत्कृपाधिकारित्वं च ज्ञापितम् । युधिष्ठिर इति सार्थकनाम्ना सामर्थ्यम् । नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ वादयामासतुः ॥ १६ ॥ एवं मुख्यानां नामानि, तच्छङ्खानां चोक्त्वा तत्सैनिकानां महता सर्वेषां नामान्याह—**काश्यश्चे**ति द्वयेन । काश्यः काशिराजः परमेष्वासः परमः श्रेष्ठ इष्वासो धनुर्यस्य । शिखण्डी च महारथः शस्त्रशास्त्रप्रवीणः । चकारेण परमेष्वासोऽपि । धृष्टद्युम्नादयो गणिताः सर्वे तथा । सौभद्रोऽभिमन्युः महाबाहुः परमयुद्धसमर्थः । पृथक् पृथक् भिन्नस्थाने स्थिताः शङ्खान्दध्मुः । पृथिवीपत इति सम्बोधनं धृतराष्ट्रस्य सर्वेषां स्वरूपज्ञानार्थम् ॥ १७ ॥ १८ ॥ स शङ्खध्वनिस्तावकानां भयमुत्पादयामासेत्याह—**स** इति । स पूर्वोक्तपाञ्चजन्यादिजन्मा घोषः शब्दः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि विशेषेण दारितवान् । नभः आकाशं पृथिवीं विशेषेण अनुनादयन् प्रतिध्वनयन् तथा कृतवान् । चकारद्वयेन नभः पृथिवीं व्यदारयदिति ज्ञापितम् । नभोविदारणं लोकोक्तिः । पृथिवीविदारणं तु स्पष्टम्, वियुन्महाशब्देन कूपादिविदारणस्य दर्शनात् । कीदृशः सः ? तुमुलो महान् । नभश्च पृथिवीं च अनुनादयन् तुमुलो भूत्वा स घोषः धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयदिति वा । उत्साहभङ्गेन हृदये भयं जनयामासेत्यर्थः । एवं पाण्डवानां धर्मिष्ठत्वभक्तत्वयोर्बोधनार्थमष्टादशभिः सङ्गतिरुक्ता १९

नी० भा० दी०—॥ १५-१९ ॥

स्वसारथ्यं स्वीकुर्वाणं श्रीकृष्णं प्रत्यर्जुनोक्तिः ।

**अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः ।**
**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः ॥ २० ॥**
**हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते ! ।**
**अर्जुन उवाच—सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ! ॥ २१ ॥**
**यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान् ।**
**कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥ २२ ॥**
**योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।**
**धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥ २३ ॥**

**आ. गि. टी.**—दुर्योधनादीनां धार्तराष्ट्राणामेवं भयप्राप्तिं प्रदर्श्य पार्थादीनां पाण्डवानां तद्वैपरीत्यमिदानीमुदाहरति—**अथे**त्यादिना । भीतिप्रत्युपस्थितेरनन्तरं पलायने प्राप्तेऽपि वैपरीत्याद्व्यवस्थितानप्रचलितानेव परान्प्रत्यक्षेणोपलभ्य हनुमन्तं वानरवरं ध्वजलक्षणत्वेनाऽऽदायावस्थितोऽर्जुनो भगवन्तमाहेति सम्बन्धः । किमाहेत्यपेक्षायामिदं वक्ष्यमाणं हेतुमद्वचन-

मित्याह- **वाक्यमिद**मिति । कस्यामवस्थायामिदमुक्तवानिति तत्राऽऽह—**प्रवृत्त** इति । शस्त्राणामिषुप्रासप्रभृतीनां सम्पातः समुदायस्तस्मिन्प्रवृत्ते प्रयोगाभिमुखे सतीति यावत् । किं कृत्वा भगवन्तं प्रत्युक्तवानिति तदाह— **धनु**रिति । महीपतिशब्देन राजा प्रज्ञाचक्षुः सञ्जयेन सम्बोध्यते। तदेव गाण्डीवधन्वनो वाक्यमनुक्रामति— **सेनयो**रिति । उभयोरपि सेनयोः सन्निहितयोर्मध्ये मदीयं रथं स्थापयेत्यर्जुनेन सारथ्ये सर्वेश्वरो नियुज्यते। किं हि भक्तानामशक्यं यद्भगवानपि तन्नियोगमनुतिष्ठति ? युक्तं हि भगवतो भक्तपारवश्यम् । अच्युतेति सम्बोधनतया भगवतः स्वरूपं न कदाचिदपि प्रच्युतिं प्राप्नोतीत्युच्यते ॥ २० ॥ २१ ॥ मध्ये रथं स्थापयेत्युक्तं तदेव रथस्थापनस्थानं निर्धारयति— **याव**दिति । एतान्प्रतिपक्षे प्रतिष्ठितान् भीष्मद्रोणादीनस्माभिः सार्धं योद्धुमपेक्षावतो यावद्गत्वा निरीक्षितुमहं क्षमः स्यां तावति प्रदेशे रथस्य स्थापनं कर्तव्यमित्यर्थः । किञ्च प्रवृत्ते युद्धप्रारम्भे बहवो राजानोऽमुष्यां युद्धभूमावुपलभ्यन्ते तेषां मध्ये कैः सह मया योद्धव्यम् ? न हि क्वचिदपि मम गतिप्रतिहतिरस्तीत्याह— **कैर्मये**ति ॥ २२ ॥ प्रतियोगिनामभावे कथं तव युद्धौत्सुक्यं फलवद्भवेदिति तत्राह— **योत्स्यमाना**निति । ये केचिदेते राजानो नानादेशेभ्योऽत्र कुरुक्षेत्रे समवेतास्तानहं योत्स्यमानान्परिगृहीतप्रहरणोपायानतितरां संग्रामसमुत्सुकानुपलभे ; तेन प्रतियोगिनां बाहुल्यमित्यर्थः । तेषामस्माभिः सह पूर्ववैराभावे कथं प्रतियोगित्वं प्रकल्प्यते ? तत्राऽऽह— **धार्तराष्ट्रस्ये**ति । धृतराष्ट्रपुत्रस्य दुर्योधनस्य दुर्बुद्धेः स्वरक्षणोपायमप्रतिपद्यमानस्य युद्धाय संरम्भं कुर्वतो युद्धे युद्धभूमौ स्थित्वा प्रियं कर्तुमिच्छवो राजानः समागता दृश्यन्ते; तेन तेषामौपाधिकमस्मत्प्रतियोगित्वमुपपन्नमित्यर्थः ॥ २३ ॥

**रा० भा०**— अथ युयुत्सूनवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् भीष्मद्रोणप्रमुखान् दृष्ट्वा लङ्कादहनवानरध्वजः पाण्डुतनयो ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसां निधिं स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलं हृषीकेशं परावरनिखिलजनान्तर्बाह्यसर्वकरणानां सर्वप्रकारकनियमनेऽवस्थितमाश्रितवात्सल्यविवशतया स्वसारथ्येऽवस्थितं युयुत्सूनेतान् समवेतान् यावदहं निरीक्षे तावदुभयोः सेनयोर्मध्ये तदीक्षणक्षमे स्थाने रथं स्थापयेत्यचोदयत् ॥ २०-२३ ॥

**वे. ता. चं.**—'अथ व्यवस्थितान्' इत्यादेः 'कुरून्' [ १।२५ ] इत्यन्तस्यार्थमाह— **अथे**त्यादिना **इति चाचोद**दित्यन्तेन । तत्र वाक्यत्रये प्रथमेन वाक्येन 'प्रियचिकीर्षवः' इत्यन्तस्यार्थ उच्यते। 'व्यवस्थितान्' इत्यत्र विशब्दसूचितविशेषव्यक्तये **युयुत्सू**नित्युक्तम्; 'योद्धुकामानवस्थितान्' इति ह्यनन्तरमप्युच्यते । 'कपिध्वजः' इत्यत्र कपित्वमात्रप्रतिपन्नलाघवं निवारयितुं सौगन्धिकयात्रायां हनुमद्दत्तं वरम्, स्वरूपसन्दर्शनमात्रेण रक्षसामिव परेषां संक्षोभं च सूचयितुं **लङ्कादहनवानरध्वज** इत्युक्तम् । अप्रच्युतस्वभावत्वप्रतिपादकाच्युतपदाभिप्रेतव्यञ्जनाय **ज्ञाने**त्यादिकम् । हृषीकेशपदव्याख्या **परावरे**त्यादि । यद्वा सृष्ट्यादिकं वीर्यादिकं तदुपलक्षितं ज्ञानादिकमपि हृषीकेशशब्दार्थ एव । यथोक्तमहिर्बुध्न्यसंहितायाम्—'क्रीडया हृष्यति व्यक्तमीशः सन् सृष्टिरूपया । हृषीकेशत्वमीशत्वं देवत्वं चास्य तत्स्फुटम् ॥ अविकारितया जुष्टो हृषीको वीर्यरूपया । ईशः स्वातन्त्र्ययोगेन नित्यं सृष्ट्यादिकर्मणि ॥ ऐश्वर्यवीर्यरूपत्वं हृषीकेशत्वमुच्यते' इति। आश्रितान् न च्यावयति, अतश्च च्युतोऽस्य नास्तीत्यच्युतशब्दस्य काचिन्निरुक्तिः;तां दर्शयति—**आश्रितवात्सल्ये**त्यादिना । **स्वसारथ्येऽवस्थित**मिति—हृषीकेशतया सर्वेषां करणानां सर्वप्रकारनियमने स्थितस्य रथयुग्यमात्रनियमनं कियदिति भावः । 'निरीक्षे' इत्यत्रोपसर्गार्थः यथावदिति दर्शितः। **याव**च्छब्दोऽत्र साकल्यवाची, निरीक्षणकालावधिवाची वा, 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' [ अष्टा. ३।३।४ ] इति निरीक्षणस्य भविष्यत्वद्योतको वा । 'यैः सह मया योद्धव्यं तान्निरीक्षे' इत्यत्र मया सह यैर्योद्धव्यं तानवेक्ष इति नोक्तम्; अतः 'योत्स्यमानान्' इति श्लोकस्योत्थानम् 'धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेः' इति दुर्योधनादिदोषप्रख्यापनतात्पर्याच्च न पौनरुक्त्यम्। यद्वा 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' इति पूर्वोक्तत्वात् 'सेनयोरुभयोरपि स्थितानपश्यत्' [१।२६] इति वक्ष्यमाणत्वाच्च स्वसेनास्थितस्वसहायविषयः पूर्वश्लोकः; तत्र कैर्मया सह स्थित्वा परैर्योद्धव्यमित्यर्थः। उत्तरस्तु श्लोकः प्रतिसैन्यस्थितधार्तराष्ट्रसहायविषय इति व्यक्त एव । प्रागेव तेषां विदितत्वेऽपि इदानीन्तनसंरम्भादिविशेषदर्शनेन तत्तदुचितसाम्परायिकव्यापारसौकर्याय यथावद्दर्शनमिहार्जुनेनाकाङ्क्षितम् । 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' [ १।२४ ] इत्यस्याभिप्रेतकथनं **तदीक्षणक्षमे स्थाने** इति । **अचोदय**दित्यनेन 'स्थापय' इत्यत्र प्रत्ययस्य नियोगार्थत्वं दर्शितम् । सर्वप्रशासिता नियोज्योऽभवदित्याश्चर्यमिति भावः ॥२०-२३॥

**ह. पै. भा.**—तस्मिन्समये श्रीकृष्णं प्रत्यर्जुनेन यदुक्तं तच्चतुर्भिः श्लोकैः सञ्जय आह— **अथे**ति । अथ शङ्खपूरणानन्तरम् । कपिध्वजः पाण्डवो व्यवस्थितान्विशेषेणावस्थितान् स्वशङ्खनादाद्घोरतरादपि अपरित्रस्तान्धार्तराष्ट्रान् दृष्ट्वा शस्त्रसम्पाते उत्तमाहवस्थले च धार्तराष्ट्राणां प्रवृत्ते सति धनुरुद्यम्य सज्जीकृत्य हृषीकेशं प्रति वाक्यमाहेति द्वितीयेनान्वयः ॥२०॥ **हृषीकेश**मिति । हे महीपते ! तदा हृषीकेशमिदं वाक्यमाह। हेऽच्युत ! मे मम रथमुभयोः सेनयोर्मध्ये मध्यप्रदेशे स्थापय ॥२१॥

यावदिति । अहं यावदेतान् प्राधान्याद्वीरान् योद्धुकामानवस्थितान्निरीक्षे निरीक्षणपूर्वकं परीक्षां करोमि। अस्मिन् रणसमुद्यमे मया कैः सह योद्धव्यं? युद्धं कर्तव्यमित्यर्थः ॥ २२॥ योत्स्यमानानिति। अहं योत्स्यमानानग्रे युद्धं करिष्यमाणानवेक्षे निर्धारयामि। य एतेऽत्र मम च पुनस्तव समागमे दुर्बुद्धेरविचारिणो धार्तराष्ट्रस्य दुर्योधनस्य युद्धे युद्धस्थले प्रियचिकीर्षवः प्रियं विजयं कर्तुकामाः समागताः प्रागल्भ्यातिरेकेण सम्यग्विरचितसमारम्भेणाऽऽगताः, अविचारकारिण इत्यर्थः ॥ २३ ॥

वे. ब्र. गि.— यद्येवं शङ्खनादेनैव धार्तराष्ट्रा निर्भिन्नाः तर्हि 'अद्यैव नष्टं मत्कुलम्, अहो कष्टम्' इति व्याकुलं धृतराष्ट्रं दृष्ट्वाऽऽह सञ्जयः अथेत्यादिसार्धेन—

अथ भगवच्छङ्खनादनानन्तरं तद्विदीर्णहृदयतया तदैव मरणे समुपस्थितेऽपि व्यवस्थितान् 'मया हतांस्त्वं जहि' [११।३४] इति भगवत्सङ्कल्पितार्जुनजयख्यातिकारकत्वेन सप्राणीभूय युद्धोद्योगेनावस्थितान् धार्तराष्ट्रान्दृष्ट्वा, कपिध्वजः कपिना रामायणमणिहारमहानायकत्वेन भगवतः शङ्करस्यावतारेणाञ्जनेयेन ध्वजरूपतयाऽनुगृहीतः। अनेन भगवच्छङ्खनादनिहतावशिष्टस्यापि धार्तराष्ट्रस्वरूपस्य नात्मलाभः सम्भावितः, केतनहनुमद्गर्जनाशनेरवर्जनीयत्वादिति दर्शितम्। पाण्डवः तदा शस्त्रसम्पाते शस्त्रपातने प्रवृत्ते कर्तव्यतया प्राप्ते सत्यपि धनुः गाण्डीवं उद्यम्य सज्यं कृत्वा हृषीकेशमिदं वाक्यमाह, न तु सहसा शस्त्रसम्पातं कृतवानित्यर्थः । एवं च— त्वदीयानामीदृश्यवस्था, अर्जुनेन च नाद्यापि योद्धुमुपक्रान्तम्, अतः स्वपुत्रदुराशां त्यक्त्वा इदानीमपि पाण्डवैः सह समाधाय स्वपुत्रान्परावर्तयसि चेत्त्वत्कुलं स्थास्यति, नो चेद्विनङ्क्ष्यतीति भावः। महीपते इत्यनेन राज्ञा सता त्वया स्वपुत्रान्निगृह्यापि समाधातुं शक्यमिति दर्शितम्।

तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति— पाण्डव आहेत्युक्त्वा अर्जुन उवाचेति पुनर्वचनमादरार्थम्। अहो भाग्यमर्जुनस्य, येन सर्वजगन्नियोजकः परमेश्वरोऽपि नियुज्यते रथं स्थापयेति; किमिव हि भगवद्भक्तस्य दुर्लभमिति। ननु सेनाद्वयमध्ये रथस्थापने सति मुखे पतितान्बन्धूनुपलभ्य स्वजनवधव्यामोहेन युद्धविमुखो भविष्यसि; तथा सति प्रच्यावितमेव सर्वमपि कार्यमित्यतः सम्बोधयति—अच्युतेति। समरसमारम्भतः प्रच्युतेऽपि मयि, भक्तरक्षणव्रतादच्युतस्त्वं मां न च्यावयिष्यसीति तादृशे त्वयि मम नियन्तरि यन्तरि च अवस्थिते सति का मम कार्यच्युतिशङ्का? इति भावः। यावन्निरीक्षे, निरीक्षिष्य इत्यर्थः। 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' [अष्टा. ३।३।४] ननु युयुत्सुनिरीक्षणेन तव किं फलम्? तत्राह—कैर्मयेति। अयमयमत्र योद्धेति युद्धप्रतियोगिनिर्धारणमेव निरीक्षणफलमित्यर्थः । नन्वेवं भीष्मद्रोणादीन्योद्धॄनुपलभ्याचार्यबुद्ध्या युद्धे त्यक्ष्यस्येवेत्यत आह— योत्स्यमानानिति। दुर्बुद्धेर्धार्तराष्ट्रस्य युद्धे प्रियचिकीर्षवः सन्तः य एते भीष्मद्रोणादयः अत्र समागताः, तान्योत्स्यमानान् युद्धं करिष्यतोऽहमवेक्ष इत्यन्वयः । माध्यस्थ्यमर्यादां विहाय शत्रुषु मिलित्वाऽस्माभिः सह योत्स्यमानेषु भीष्मद्रोणादिषु न मे वैमुख्यं भविष्यतीत्यर्थः॥ २०-२३॥

व० त० दी०—'अथ व्यवस्थितान्' इत्यारभ्य 'भीष्मद्रोणप्रमुखतः' [१-२५] इत्यन्तम्। अथ युयुत्सूनवस्थितान् धार्तराष्ट्रान् वीक्ष्य कपिध्वजः स्वाश्रितजनपोषकं स्वसारथ्ये स्थितं हृषीकेशं जगाद—यावदेतान् निरीक्षेऽहं तावत् उभयोः सेनयोर्मध्ये मम रथं स्थापयेति ॥ २०-२३ ॥

पु. अ. त.—एवं कृष्णार्जुनसमागमनार्थं सेनाद्वयेऽपि युद्धोत्सवमुक्त्वा प्रेरितकृष्णार्जुनयन्त्रणेन युद्धमध्ये प्रवृत्तस्य बन्धुनाशदर्शनेन वैराग्यं वक्तुमर्जुनस्य सहेतुकं कृष्णप्रेरणमाह—अथेति चतुर्भिः। तत्र प्रेरणे प्रथमं हेतुदर्शनमाह । अथ भिन्नक्रमेण भयाभावेन धार्तराष्ट्रान् व्यवस्थितान् विशेषेण अवगता स्थितिर्येषां तादृशान् दृष्ट्वा कपिध्वजोऽर्जुनः—कपिध्वज इति शस्त्रलाघवं सूचितम्— शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते सति धनुरुद्यम्य पाण्डवः पाण्डोः पुत्रः स्वराज्याप्तिकाम्यया हृषीकेशं तथैवेन्द्रियप्रेरकं तदा तत्समये इदं वाक्यं वक्ष्यमाणमाह। महीपत इति सम्बोधनं राज्ञां तथैव धर्म इति ज्ञापनार्थम्। तद्वाक्यान्येवाह—सेनयोरित्यादिना। हे अच्युत! उभयोः सेनयोर्मध्ये रथं स्थापय ॥ २० ॥ २१॥ यावदेतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् अवाङ्मुखस्थित्या स्थितान् पलायनपरानहं निरीक्षे । ननु निरीक्षणेन किं स्यादित्यत आह— कैर्मयेति । अस्मिन् रणसमुद्यमे यत्र रणप्रवृत्तिं विनैव शङ्खध्वनिनैव विदारितहृदयाः शुष्कवदनाः प्रतिभटास्तत्र कैः सह मया योद्धव्यम्? इत्याह ॥२२॥ अवेक्ष इति। किञ्च दुर्बुद्धेः धार्तराष्ट्रस्येति भगवत्प्रतिपक्षत्वेन स्वपराजयमननुसन्दधानस्यान्धस्य पुत्रस्तस्य प्रियं चिकीर्षवस्तेऽप्यन्धा एव, तथाभूता येऽत्र समागताः सम्यक्प्रकारेण युद्धार्थमागतास्तान् योत्स्यमानान् युद्ध्यमानानहं अवेक्षे तावन्मे रथं सेनयोर्मध्ये स्थापयेति पूर्वेणैव सम्बन्धः। तत्र मध्ये रथस्थापने मम भयं तु नास्त्येव यतस्त्वमच्युतोऽसि। एवं चतुर्भिर्युद्धोद्योगोऽप्युक्तः ॥ २३ ॥

नी० भा० दी०— व्यवस्थितान् भयोद्विग्नतया वैषम्येणावस्थितान्। कपिध्वजपाण्डवपदाभ्यां भीषणध्वजत्वं शौर्यं च प्रदर्श्यते ॥ २० ॥ हृषीकेशं सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रवर्तकत्वेन परचित्ताभिज्ञम् । न तु कञ्चिदर्थमिति द्योतनार्थं वाक्यपदम्। वाक्यमेवाह- सेनयोरिति ॥२१॥ रथस्थापनप्रयोजनमाह— यावदिति । कैः सह मया योद्धव्यम् ? मया सह वा कैर्योद्धव्यम् ? इत्युभयत्र सहशब्दसम्बन्धः । के वा मां जेतुं यतन्ते ? मया वा के जेतव्याः ? इत्यालोचनार्थमित्यर्थः ॥२२॥ योत्स्यमानान्, न तु शान्तिकामान्; यतो दुर्बुद्धेः प्रियं चिकीर्षन्ति तेषामपि तेन तत्तुल्यत्वं सूचितम् ॥ २३ ॥

अर्जुनविषादस्य निदानम् [ २४-२७ ]

**सञ्जय उवाच—एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन[1] भारत !**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥ २४ ॥**
**भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम् ।**
**उवाच पार्थ ! पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥ २५ ॥**

**आ. गि. टी —** एवमर्जुनेन प्रेरितो भगवानहिंसारूपं धर्ममाश्रित्य प्रायशो युद्धात्तं निवर्तयिष्यतीति धृतराष्ट्रस्य मनीषां दुदूषयिषुः सञ्जयो राजानं प्रत्युक्तवानित्याह—**सञ्जय** इति । भगवतोऽपि भूभारापहारार्थं प्रवृत्तस्यार्जुनाभिप्रायप्रतिपत्तिद्वारेण स्वाभिसन्धिं प्रतिलभमानस्य परोक्तिमनुसृत्य स्वाभिप्रायानुकूलमनुष्ठानमादर्शयति— **एवमिति** । भीष्मद्रोणादीनामन्येषां च राज्ञामन्तिके रथं स्थापयित्वा भगवान्किं कृतवानिति तदाह—**उवाचेति** । एतानभ्याशे वर्तमानान्कुरून्कुरुवंशप्रसूतान्भवद्भिः सार्धं युद्धार्थं सङ्गतान्पश्य । दृष्ट्वा च यैः सहात्र युयुत्सा तवोपावर्तते तैः सार्कं युद्धं कुरु । नो खल्वेतेषां शस्त्रास्त्रशिक्षावतां महीक्षितामुपेक्षोपपद्यते, सारथ्ये तु न मनः खेदनीयमित्यर्थः ॥ २४ ॥ २५ ॥

**रा० भा०— स च तेन चोदितस्तत्क्षणादेव भीष्मद्रोणादीनां सर्वेषामेव महीक्षितां पश्यतां यथाचोदितमकरोत्। ईदृशी भवदीयानां विजयस्थितिरिति चावोचत् ॥ २४ ॥ २५ ॥**

**वे. ता. चं.**—'एवमुक्तः' इत्यादेः 'महीक्षिताम्' इत्यन्तस्यार्थमाह— **स चेति** । अर्जुनवचनरथस्थापनयोर्व्यवधायकाभावफलितमुक्तं **तत्क्षणादेवेति** । ' भीष्मद्रोणप्रमुखतः ' इत्यत्र प्रमुखशब्दः आदिशब्दसमानार्थः; तद्वतस्तसिप्रत्ययश्च सार्वविभक्तिकत्वात् षष्ठीबहुवचनार्थ इत्यभिप्रायेणोक्तं **भीष्मद्रोणादीना**मिति । तथा **च**कारोऽवधारणार्थ इति दर्शयितुं **सर्वेषामेवे**त्युक्तम्। अनादरे षष्ठीति व्यञ्जनाय **पश्यता**मिति पदाध्याहारः। यद्वा प्रमुखतः अग्रत इत्यर्थः। तदेव 'महीक्षिताम्' इत्यत्रापि बुद्धया निष्कृष्य योजनीयम् , तदा चकारः समुच्चयार्थः । भाष्ये त्वेवकारोऽपि तदर्थ एव पश्यतामिति फलितार्थोक्तिः । 'उवाच पार्थ' इत्यस्य तात्पर्यमाह—**ईदृशीति** । ' एतान्समवेतान् ' इति जेतव्यसमुदायप्रदर्शनेन विजयस्थितिरभिप्रेतेति भावः । यद्वा धार्तराष्ट्रकर्मकविजयस्थितिरित्यर्थः । धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयवाक्याभिप्रायेण **भवदीयाना**मित्युक्तम्। अथवा धार्तराष्ट्रकर्तृकविजयस्थितिरित्थमित्युपालम्भगर्भमवोचदित्यर्थः । अयमेवार्थ उचितः; अर्जुनं प्रति कृष्णेन भवतामित्येतावन्मात्रस्य वक्तव्यत्वात्। धृतराष्ट्रं प्रति तु 'भवत्पुत्राणाम्' [पृ.४०रा.भा.] इति पूर्वोक्तवत् 'भवदीयान्विलोक्य' [पृ.४६रा.भा.] इति वक्ष्यमाणवच्चात्रापि भवदीयनिर्देशोपपत्तेः। 'किमकुर्वत' [ १।१ ] इति गूढाभिसन्धेः पृच्छतो धृतराष्ट्रस्य गूढाभिसन्धिः सञ्जयो धार्तराष्ट्रहृदयविदारणादिकमेवमकथयत् ॥ २४ ॥ २५ ॥

---

१ **गुडाकेशेने**ति, ' निद्रा गुडाका सम्प्रोक्ता प्रमीला मृत्युतन्द्रिका ।' इति कोशः ।अर्जुनेन यदेन्द्रकीले विनिद्रेण तपस्तप्तं तदा पशुपतिना गुडाकेशोऽयमित्युक्तमिति पुराणान्तरे-- इति ( वंशीधरी १।१०।१७ ) गुडाकेशेन युद्धोद्योगलक्षणकेशबन्धविशिष्टेनार्जुनेन । अत्र निश्चितयुद्धत्वेन ' गुडाकेश ' इति तदर्जुननिर्देश इति भावः-- इति हंसयोगिभाष्यम्। वस्तुतस्त्वत्र गुडाः कुटिलाः केशा यस्येत्येव विग्रहः साधुः, ' मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं -' ( १०।३८।९ ) इति भागवतात्। ' गुडैः स्निग्धैस्तथा कृष्णैरभिन्नाग्रैस्तथैव हि । केशैर्न चातिबहुलैर्मृदुभिः पार्थिवो भवेत् ' ॥ ( भ. पु. १।२७।२७ ) इति कोशः । दीर्घत्वं पृषोदरादित्वकल्पनया आकेशा इति विगृह्य वा समाधेयम् ।

**—अविगीता ।**

ह. पै. भा.— ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह— एवमिति युग्मेन। हे भारत धृतराष्ट्र! गुडाकेशेनार्जुनेनैवं यथावर्णितमुक्तो हृषीकेश उभयोः सेनयोर्मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वोवाच। भीष्मेति। भीष्मद्रोणयोः प्रमुखेऽग्रे तथा सर्वेषां च महीक्षितां भूमण्डलाध्यक्षयोधवराणामग्र इत्युवाच। इतीति किम्? हे पार्थ! एतान्समवेतान्– द्रष्टुमङ्गुल्या निर्दिशति– भीष्मद्रोणकर्णकृपादीन् कुरूनवस्थितान् योधान् पश्य इति भगवानुवाच॥ २४॥ २५॥

वें. ब्र. गि.— ततः किं वृत्तमित्याकाङ्क्षायां— सञ्जयधृतराष्ट्रसंवादरूपेऽस्मिन् शास्त्रे सर्वस्यापि सञ्जयवाक्यत्वे सत्यपि विशिष्यात्र 'सञ्जय उवाच' इत्यस्यायं भावः– सेनाद्वयमध्ये रथे स्थापिते,तत्रार्जुनस्य स्वजनोपलम्भेन शोकमोहाववश्यम्भाविनाविति विज्ञायापि सर्वज्ञेन भगवता तन्निषेधमकृत्वा परसेनामुखे रथं स्थापयित्वा अस्मिन्नेव प्रसङ्गे निखिलशोकमोहनिबर्हणब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानोपदेशेनार्जुनोऽनुग्राह्य इत्येतावत्पर्यन्तं निर्धारितमासीदित्यहो भगवतो भक्तवात्सल्यमर्जुनस्य च धन्यधन्यत्वमित्यर्थं विशेषमिह व्यञ्जयितुं सञ्जय उवाचेत्युक्तिरिति। एवमुक्त इति। हे भारत धृतराष्ट्र! एवं गुडाकेशेन अर्जुनेनोक्तो हृषीकेशः उभयोः सेनयोर्मध्ये भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः सम्मुखे, सर्वेषां महीक्षितां राज्ञां च प्रमुखत इति पूर्ववाक्यगतस्य समस्तस्यापि प्रमुखशब्दस्याकर्षणार्थश्चकारः। तत्र रथोत्तमं स्थापयित्वा हे पार्थ! समवेतानेतान्कुरून् पश्येत्युवाच। अत्र रथं स्थापयामासेत्येतावतैव निर्वाहे समवेतान् कुरून्पश्येत्युक्त्या स्वसेनातो निर्गत्यैकाकितया परसेनामुखे स्थित्वा युयुत्सून्निरीक्षमाणं मां कुरवः सबलाः परिवार्य निगृह्णीयुरिति मा शङ्किष्ठाः; तदाऽहं रक्षकोऽस्मि; त्वं निश्शङ्कीभूय यं यं द्रष्टुमिच्छसि तं पश्य इत्ययमर्थो दर्शितः। 'हृषीकेशः' इत्यनेन सर्वेन्द्रियनियामकेन भगवता परित्रातमर्जुनं प्रति कथमयमेकाक्यस्मानविगणय्य सम्मुखे तिष्ठतीति केनचिद्घ्राणं मोक्तुं चक्षुषा वा द्रष्टुं मनसा वा स्मर्तुमशक्यम्, पाण्यादिव्यापाराणां भगवदधीनत्वात्; यः पुनः स्वजनवधव्यामोहलक्षणः शत्रुरर्जुनं ग्रहीष्यति, सोऽपि हृषीकेशपदवाच्यसर्वधीवृत्तिप्रेरकभगवत्प्रतिपादितदिव्यज्ञानेन निरसिष्यत इति सूचितम्। 'गुडाकेशेन' इत्यनेन च गुडाकाया निद्राया ईशेन सर्वत्र जागरूकेणेत्यर्थकेन एकाकितया परबलं प्रविश्य तद्दिदृक्षुरप्यर्जुनो भगवदवलम्बेन प्रवृत्तत्वादप्रमत्त एवेति ज्ञापितम्। 'भारत' इत्यनेन च अद्यापि द्रोहबुद्धिं त्यक्त्वा पाण्डवैः सन्धिं न मन्यस इति महति भरतवंशेऽस्मिञ्जनितुमनर्ह एव, तत्र जातोऽसीति सोल्लुण्ठनं सम्बोध्यते॥ २४॥ २५॥

व०त०दी०— एवमुक्तः स भगवान् वासुदेवः सर्वेषां भीष्मादीनां प्रमुखतश्च यथोक्तं दर्शयन् चकार॥२४॥२५॥

पु. अ. त.— एवमर्जुनवाक्यं श्रुत्वोभयोः सेनयोर्मध्ये रथमास्थाप्यार्जुनं प्रत्युवाच भगवान् इत्याह सञ्जयो द्वाभ्यां— एवमुक्त इति। एवं गुडाकेशेन जितनिद्रेणार्जुनेन उक्तो हृषीकेशः उभयोः सेनयोर्मध्ये रथोत्तमं स्थापयित्वाऽर्जुनं प्रत्युवाच। हृषीकेशत्वात्तत्प्रेरकः स्वयमेवेति न विमनस्कत्वम्॥२४॥ भीष्मद्रोणौ च परमयुद्धविशारदाविति तत्प्रमुखतः रथं स्थापयित्वा, सर्वेषां महीक्षितां राज्ञां च; हे पार्थ! समवेतान् मिलितान् कुरूनेतान् पश्येत्युवाच॥ २५॥

नी० भा० दी०– रथोत्तमं स्थापयित्वा उवाचेति द्वयोः सम्बन्धः। महीक्षितां पृथिवीश्वराणाम्॥२४॥२५॥

तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान् मातुलान् भ्रातॄन् पुत्रान् पौत्रान् सखींस्तथा।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि॥ २६॥
तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाऽऽविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्॥ २७॥

श्रीकृष्णं प्रति विषण्णार्जुनस्य विषादोक्तिर्युद्धाकरणनिश्चयश्च [२८–४६]

अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण! युयुत्सुं समुपस्थितम्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति॥ २८॥

**वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ।**
**गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ॥ २९ ॥**
**न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।**
**निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ! ॥ ३० ॥**

**आ. गि. टी.**— एवं स्थिते महानधर्मो हिंसेति विपरीतबुद्ध्या युद्धादुपरिरंसा पार्थस्य सम्प्रवृत्तेति कथयति— **तत्रे**त्यादिना । सप्तम्या भगवदभ्यनुज्ञाने समरसमारम्भाय सम्प्रवृत्ते सतीत्येतदुच्यते । सेनयोरुभयोरपि स्थितान् पार्थोऽपश्यदिति सम्बन्धः । अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः । श्वशुरा भार्याणां जनयितारः । सुहृदो मित्राणि कृतवर्मप्रभृतयः । सेनाद्वये व्यवस्थितान्यथोक्तान्पितृपितामहादीनालोच्य परमकृपापरवशः सन्नर्जुनो भगवन्तमुक्तवानित्याह— **तानि**ति । विषीदन्यथोक्तानां पित्रादीनां हिंसासंरम्भनिबन्धनं विषादमुपतापं कुर्वन्नित्यर्थः ॥ २६ ॥ २७ ॥

तदेवेदंशब्दवाच्यं वचनमुदाहरति— **दृष्ट्वे**ति । आत्मीयं बन्धुवर्गं युद्धेच्छया युद्धभूमावुपस्थितमुपलभ्य शोकप्रवृत्तिं दर्शयति— **सीदन्ती**ति । देवांशस्यैवार्जुनस्यानात्मविदः स्वपरदेहेष्वात्मात्मीयाभिमानवतस्तत्प्रियस्य युद्धारम्भे तन्मृत्युप्रसङ्गदर्शनशोको महानासीदित्यर्थः ॥ २८ ॥ अङ्गेषु व्यथा मुखे परिशोषश्चेत्युभयं शोकलिङ्गमुक्तं; संप्रति वेपथुप्रभृतीनि भीतिलिङ्गान्युपन्यस्यति- **वेपथुश्चे**ति । रोमहर्षो रोम्णां गात्रेषु पुलकितत्वम् ॥ २९ ॥ किञ्चाधैर्यमपि संवृत्तमित्याह— **न चे**ति । मोहोऽपि महान्भवतीत्याह— **भ्रमतीवे**ति । विपरीतनिमित्तप्रतीतेरपि मोहो भवतीत्याह— **निमित्तानी**ति । तानि विपरीतानि निमित्तानि यानि वामनेत्रस्फुरणादीनि ॥ ३० ॥

**रा० भा०—स तु पार्थो महामनाः परमकारुणिको दीर्घबन्धुः परमधार्मिकः सभ्रातृको भवद्भिः अतिघोरैर्मारणैर्जतुगृहदाहादिभिरसकृद्वञ्चितोऽपि परमपुरुषसहायोऽपि हनिष्यमाणान् भवदीयान् विलोक्य बन्धुस्नेहेन परया कृपया धर्माधर्मभयेन चातिमात्रस्विन्नसर्वगात्रः—॥ २६— ॥**
[अतः परं अ. १ श्लो. ४७ ] 'सर्वथाऽहं' इत्यादि रामानुजभाष्यमनुसन्धेयम् ]

**वे. ता. चं.**— अथाध्यायशेषस्य सङ्कलितार्थमाह— **स** त्विति । तुशब्देन पूर्वोक्तप्रकाराद्दुर्योधनात् वक्ष्यमाणप्रकारविशिष्टस्य पार्थस्य विशेषं 'स कौन्तेयः' इत्यनेनाभिप्रेतं द्योतयति । बन्धुव्यपदेशमात्रयोग्यशत्रुवधानिच्छया विजयादिकं त्रैलोक्यराज्यावधिकमपि तृणाय मन्यत इति **महामना** इत्युक्तम् । 'न काङ्क्षे विजयम्' [ १।३१ ] इत्यादिकं हि वदति । शत्रूणामप्यसौ दुःखं न सहत इति **परमकारुणिक**त्वोक्तिः, 'कृपया परयाऽऽविष्टः' इति ह्युक्तम् । 'पितॄनथ पितामहान्' 'आचार्याः पितरः पुत्राः [ १।३४ ] इत्याद्युक्तस्नेहविषयप्राचुर्यं **दीर्घबन्धु**शब्देनोक्तम्; यद्वा बन्धुना महापकारे कृतेऽपि स्वयं न शिथिलबन्धो भवतीति भावः । 'सर्वान्बन्धून्' 'स्वजनं हि' [१।३७] इत्यादिकमिह भाव्यम् । आततायिपक्षस्थानामप्याचार्यादीनां अहन्तव्यत्वानुसन्धानात्, कुलक्षयादिजनिताधर्मपारम्पर्यदर्शनाच्च **परमधार्मिक** इत्युक्तिः । आततायिवधानुज्ञानमाचार्यादिव्यतिरिक्तविषयम् इत्यर्जुनस्य भावः । **सभ्रातृक** इति—नायमेक एवैवंविधः, किन्तु सर्वेऽपि पाण्डवा इति भावः । एतेन 'अस्मान्' 'नः' 'वयम्' 'अस्माभिः' इत्यादिभिरुक्तं संगृहीतम् । यद्वा न केवलं स्वापकारमात्रानादरादेष बन्धुवधादिकमुपेक्षते, अपितु आसन्नतराचार्यादिस्थानीयबहुमतिस्नेहदयादिविषयधर्मराजद्रौपद्याद्यपकारेऽपीति भावः । आचार्यादिवधदोषो भ्रातॄणामपि मा भूदित्यर्जुनाभिप्रायः । हन्तव्यत्वसूचनाय 'घ्नतोऽपि' [१।३५] इत्युक्तम् । तद्विवृणोति — **भवद्भि**रित्यादिना । **जतुगृहदाहादिभि**रित्यादिना आततायिशब्दोऽपि व्याख्यातः । 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥' मनुः [ ८।३५० श्लो. २३ ] 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' [ मनुः ८।३५१ ] इति हि स्मरन्ति । आदिशब्देनासकृच्छब्देन चाततायित्वहेतवः प्रत्येकं बहुशः कृताः; न चेदानीमप्युपरतमिति दर्शितम् । अनुपरतिश्च 'घ्नतोऽपि' [१।१।१४] इति वर्तमाननिर्देशेन सूचिता । **भवद्भि**रित्यनेन धृतराष्ट्रमपि 'मुह्यन्तमनुमुह्यामि दुर्योधनममर्षणम्' [म. भा. १।१।१४७] इति पुत्रस्नेहवशादनुमन्तारं तत्तुल्यं व्यपदिशति । एवं च दुर्योधनादीनां सर्वेषामप्यतिलोभोपहतचेतस्त्वादिना महामना इत्युक्त-

---

१ गाण्डयो ग्रन्थयोऽस्य सन्तीति गाण्डिवम् । 'गाण्ड्यजगात्—' ( अष्टा. ५।२।११० ) इति वः । विषमपदविवरणे तु —"गण्डो वदनैकदेशस्तस्माज्जातं गाण्डीवम् । तथा च स्कन्दपुराणे देवासुरे प्रह्लादनारायणयुद्धे—'नरोऽपि च धनुर्गृह्य महिषासुरगण्डजम् । गाण्डीवमिति विख्यातं वराहमिव पर्वतम् ॥'" इत्युक्तम् । —**अविगीता** ।

विपरीतत्वमुक्तं भवति । शकुनिकर्णादिसहायानां धार्तराष्ट्रादीनां हनिष्यमाणानामपि हतत्वनिश्चयेन शोकोत्पत्त्यर्थमुक्तं **परमपुरुषेति** । परमपुरुषः सहायो यस्येति विग्रहः, परमपुरुषस्य सहायो निमित्तमात्रमिति वा । वक्ष्यति हि—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्' [ ११।३३ ] इति; अर्जुनश्च पूर्वं महाबलसहस्रेभ्योऽपि निरायुधस्य परमपुरुषस्य सन्निधिमात्रमेव विजयहेतुतया निश्चित्य तमेव वव्रे। स्नेहाद्यस्थानत्वसूचनाय **भवदीयान्विलोकयेत्युक्तम्** । **बन्धुस्नेहेनेत्यादि**— न ह्यसौ दुर्योधनवत् बन्धुद्वेषनृशंसत्वप्रतिभटभयादिना विषण्णः; नापि परेषां गुणान्निवर्तते; न च परमपुरुषसचिवस्य स्वस्य दौर्बल्यादिति भावः । 'सीदन्ति' [ १।२८ ] इत्यादेः 'मनः' [ १।३० ] इत्यन्तस्यार्थः **अतिमात्रेत्यादिना** संगृहीतः । सखीन् वयस्यान् । सुहृदः वयोविशेषानपेक्षया हितैषिणः। 'सेनयोरुभयोरपि' एकै स्यां सेनायामेते सर्वे प्रायशो विद्यन्त इति भावः । समीक्ष्य शास्त्रलोकयात्रायुक्तमवलोक्येत्यर्थः । 'सर्वान्बन्धून्' न ह्यत्रानागतः कश्चिद्बन्धुरवशिष्यत इति भावः ॥ २६– ॥

**ह.पै.भा.—** ततः किं वृत्तमित्यत आह—**तत्रेति** । **अथानन्तरम्** । **पार्थोऽर्जुनः तत्रोभयोः सेनयोः [मध्ये] स्थितान्पितॄन्**—पिबन्ति चुम्बन्ति लालयन्ति तर्पयन्त्यपत्यानिति पितरस्तान्पितॄन् । अत्र च पितृकक्ष्याः पितृव्यादयः संग्राह्याः । **पितामहान्** गाङ्गेयादीन्, **आचार्यान्** द्रोणादीन्, **मातुलान्**—मात्रा जनन्या साम्यं येषां ते मातुलाः शल्यादयस्तान्, **भ्रातॄन्** सोदरान्, **पुत्रान्** पुंनाम्नो नरकात्पितॄणां त्राणात्पुत्राः, तानपश्यत् । **श्वशुरानिति** । च पुनः श्वशुरान्सुहृदश्चापश्यत् ॥ २६ ॥ ततः किं कृतवांस्तदाह—**तानिति** । स कौन्तेयोऽर्जुनः सर्वान्विशेषेण बन्धून्— बध्नन्ति परस्परं स्नेहपाशैरिति बन्धवस्तानवस्थितान्समीक्ष्य । **कृपयेति** । कृपया करुणया । परयाऽतिशयितयाऽऽविष्टो युक्तो विषीदन्विशेषेण सीदन्नवसादं ग्लानिं लभमान इदमनन्तरमुच्यमानमब्रवीत् ॥ २७ ॥ किमब्रवीदित्यपेक्षायामाह **दृष्ट्वेममित्यादिना** यावदध्यायसमाप्ति— हे कृष्ण ! भक्तानां संसारक्लेशविलेखनात्कृष्णः । इमं स्वजनं युयुत्सुं योद्धुकामं सन्तं समुपस्थितमिहाऽऽगतं दृष्ट्वा मम गात्राणि सीदन्तीत्युत्तरेण सम्बन्धः । **सीदन्तीति** । हे कृष्ण ! इमं स्वजनमुपस्थितं दृष्ट्वा मम गात्राण्यङ्गानि सीदन्ति विशीर्णानि शिथिलानि निरुत्साहानि भवन्ति, च पुनर्मुखं परितः समन्ताच्छुष्यति निर्द्रवीभवति ॥ २८ ॥ मे मम शरीरे वेपथुः कम्पश्च जायते, तथा रोमहर्षश्च जायते । **गाण्डीवमिति** । मे मम हस्ताद्गाण्डीवं स्रंसतेऽधः पतति । त्वक्चैव परिदह्यते आन्तरशोकानलेन सन्तप्यते ॥२९॥ च परं मे मनः कर्तव्याकर्तव्यबोधसाधनमन्तःकरणं भ्रमतीव भ्रमं गच्छति निर्धारणं कर्तुं न शक्नोति । च पुनरवस्थातुं स्थितिं कर्तुं न शक्नोमि । **निमित्तानीति** । हे केशव ! च पुनर्विपरीतानि अहितसूचकानि निमित्तानि शकुनानि पश्यामि ॥ ३० ॥

**वें. ब्र. गि.**— अथार्जुनस्य स्वजनदर्शनेन मोहः शोकश्चासीदित्याह—**तत्रेति** सार्धद्वयेन । अथ रथस्थापनानन्तरं पार्थः तत्र रथस्थापनप्रदेशे स्थितान्पित्रादीनपश्यदित्यन्वयः । पितॄन् पितृव्यान् भूरिश्रवःप्रभृतीन्, पितामहान्भीष्मसोमदत्तप्रभृतीन्, आचार्यान्द्रोणकृपप्रभृतीन्, मातुलान् शकुनिप्रभृतीन्, भ्रातॄन्दुर्योधनादीन्, पुत्रान् दुर्योधनादीनां ये पुत्रा लक्ष्मणाद्यास्तान्, पौत्रान् लक्ष्मणादीनां पुत्रान्, सखीन् पूर्वस्निग्धान् अश्वत्थामादीन्, श्वशुरान् दुर्योधनादीनां ये श्वशुरास्तान्, सुहृदः शत्रुदले स्थित्वाऽपि स्वपक्षपातिनः शल्यादीन् । तथा सेनयोरुभयोरपि सुहृद इत्यनुषङ्गः; पक्षद्वयेऽपि तुल्यसौहृदाः केचिद्राजानः; तांश्चापश्यत् । ततः किं कृतवानित्यत आह—**तानिति** । ननु कृपयाऽऽविष्ट इत्ययुक्तम्, शत्रुवधे प्रवृत्तस्य हन्तव्येषु तेषु कृपायोगात्, अत आह—**परयेति** । विलक्षणयेत्यर्थः । वैलक्षण्यमेवोपपादयति— **तान्बन्धून्समीक्ष्येति** । सम्यक्पितृत्वाचार्यत्वादिप्रकारेणेक्षित्वेत्यर्थः । हन्तव्यत्वबुद्ध्या प्रवृत्तस्यैव पितृत्वादिप्रकारकतत्साक्षात्कारानन्तरमेते न हन्तव्या इति विपरीतबुद्ध्युदये सति, ततो मन्निमित्तकमेतेषां मरणदुःखं मा भूदित्येवमाकारकमनोवृत्तिरूपा काचित्कृपा जाता। सा च आततायिषु वस्तुतो हन्तव्येषु दुर्योधनादिष्ववस्थानेपातिनीति लोकप्रसिद्धकृपा विलक्षणैवेत्यतो मोहविकाररूपेयं कृपेत्यर्थः । आविष्ट इत्यनेन च अकस्मात्पिशाचावेशवत्कृपाख्यमोहावेशो जात इत्युक्तम् । विषीदन्नब्रवीदिति विषादवचनयोः समकालीनत्वोक्त्या अश्रुपातगद्गदकण्ठतादि विषादकार्यं वचनकाले दर्शितम् ।

यत्त्वत्र **मधुसूदनसरस्वतीव्याख्यानम्**—'कृपयाविष्ट इति, कृपया कर्त्र्या स्वव्यापारेणैवाविष्टः, न तु कृपां केनचि-

द्व्यापारेणाविष्ट इति स्वतस्सिद्धैवास्य कृपेति सूच्यते' इति, तच्चिन्त्यम् ।

अत्र हि कृपाशब्देन युयुत्सुविषयैव खलु कृपोच्यते । न तु दीनानाथशरणागतादिविषयाऽर्जुनस्य नैसर्गिकी कृपा । युयुत्सुविषया च कृपा न तस्य स्वतस्सिद्धा; तथा सति तस्य युद्धप्रवृत्तेरेवासिद्धिप्रसङ्गात् । प्रवृत्तस्य खल्वर्जुनस्यायं वृत्तान्तः । न च युयुत्सुविषया कृपा स्वव्यापारेणैवाविष्टा, स्वजनदर्शनव्यापारभूतेन मया ते न हन्तव्या इति मोहेनावेशितत्वात् । न च कृपयाविष्ट इति कर्तृत्वनिर्देशात्तस्याः स्वाभाविकत्वम्, 'पिशाचेनाविष्टः' इत्यादिव्यवहारसत्त्वात् । अतः अत्रागन्तुको मोहविकार एव कृपेति यथोक्तमेव युक्तमुत्पश्यामः ॥ २६ ॥ २७ ॥

**वें. ब्र. गि.**— तदेवार्जुनवाक्यमवतारयति अर्जुन उवाचेत्यादिना यावदध्यायसमाप्ति । **अर्जुन उवाच** । अत्र कौन्तेयोऽब्रवीदित्युक्त्वाऽपि पुनः अर्जुन उवाचेति वदता सञ्जयेन धृतराष्ट्रदुराशा निरस्ता । मोहाक्रान्तः कौन्तेय इति न स्वपुत्रदुराशा कार्या, सर्वमोहापनोदकभगवदनुगृहीतस्य तस्यार्जुनशब्दवाच्यपरिशुद्धस्वभावतानपायेन कदाचिद्वैचित्र्यस्याकिञ्चित्करत्वादिति ॥

'कृपया परयाविष्टो विषीदन्' इति पूर्वश्लोके 'कृपया परयाविष्टः' इत्यनेन मोहः, 'विषीदन्' इत्यनेन शोकश्चोक्तः । तत्र प्रथमं शोकं तल्लिङ्गकथनेन दर्शयति त्रिभिः— हे कृष्ण ! भक्तशोककर्षिन्निति प्रकृतोपयुक्तं सम्बोध्यते । युयुत्सुं सन्तं पुरतः स्थितं स्वजनं दृष्ट्वा स्थितस्य मम गात्राणि करचरणादीनि सीदन्ति शिथिलायन्ते निस्सत्त्वानि भवन्ति, ततो न योद्धुं शक्नोमीत्यर्थः । सन्नगात्रतया कायिकं कर्म कर्तुमशक्ता अपि लोके वाचिकं किञ्चित्कुर्वन्ति; तदप्यशक्यम्, शुष्यन्मुखतया वाग्व्यापारस्यैवानवकाशादित्याह— मुखं च परिशुष्यतीति ॥ २८ ॥

नन्वस्मिन्समये नैवं वक्तुमुचितम्, विद्यमानमपि शोकविकारमाच्छाद्य धीरतयैव स्थेयमित्यत आह— शरीरे वेपथुः कम्पो जायते । अनेन शोकविकारस्याच्छादयितुमशक्यत्वमुक्तम् । 'गाण्डीवं स्रंसते' इत्यनेन अन्तर्बलरूपधैर्यराहित्यमुक्तम् । एतदेवाधैर्यं रोमाञ्चत्वक्परिदाहरूपाभ्यामन्तर्विकारान्तस्तापलिङ्गाभ्यां निदर्शितम् ॥ २९ ॥

यद्येवं गाण्डीवं विसृज्य तूष्णीं तिष्ठ, तत्राह— चो हेतौ । यस्मान्मे मनः चक्रमिव भ्रमति, मूर्च्छायाः पूर्वावस्थारूपविकारविशेषोऽत्र भ्रमणम्, तस्मात्स्थातुमपि न शक्नोमीत्यर्थः । ननु शात्रवाञ्जित्वा साम्राज्यमवाप्स्यसि, कुतः शोचसि ? तत्राह— **निमित्तानि** चेति । शकुनान्यपि दिव्यान्तरिक्षभौमरूपाण्यशुभसूचकान्येव पश्यामि, अतो न जयाशावकाश इत्यर्थः । रामरावणयुद्धे राक्षसारिष्टसूचकानि निमित्तानि रघुनाथेनेव वस्तुतः कौरवारिष्टसूचकान्येव निमित्तान्यर्जुनेनोपलब्धानि; परं त्वत्र शोकव्याकुलत्वादर्जुनेन तेषु स्वारिष्टसूचकत्वमारोप्यैवमुक्तमिति ध्येयम् । 'केशवः क्लेशनाशाय' इति क्लेशनाशार्थमनुसन्धेयतया पुराणप्रसिद्धेन केशवपदेन सम्बोधयन् दुश्शकुनक्लेशनाशनमाशास्ते ॥ ३० ॥

व० त० दी०—'तत्रापश्यत् स्थितान् पार्थः' [ १–२६ ] इत्यारभ्य 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः' [१।४६] इत्यन्तं लोकसम्बन्धाभिमानेन अर्जुनः कातर्यतः स्वावस्थां निवेदयति ॥२६॥२७॥ 'सीदन्ति' इत्युपक्रम्य 'भ्रमतीव च मे मनः' इत्यन्तं देहधर्माभिमानेन, विषयदर्शनपूर्वकं स्वस्याश्रयो निवेदयति 'निमित्तानि' इत्यादिना ॥ २८–३० ॥

**पु. अ. त.**—एवं भगवदुक्तोऽर्जुनस्तान्दृष्टवानित्याह सार्धेन— **तत्रे**ति । तत्र सङ्ग्रामाजिरे उभयोः सेनयोरपि मध्ये स्थितानेतानपश्यत् । पितॄन् पितृव्यादीन् इत्यर्थः । सखीन् बाल्ये क्रीडायां सम्मतान्, सुहृदो मित्राणि ॥ २६ ॥ तत्पार्श्वेऽपि स्थित्वा स्वश्रेयो विचारकांस्तान्दृष्ट्वा किं कृतवान् इत्यत आह— **तानि**ति । तान् समीक्ष्य कौन्तेयः विषीदन् इदमग्रे वक्ष्यमाणमब्रवीत् । ननु क्षत्रियाणां युद्धोत्सवं दृष्ट्वोत्साह एवोचितः, अर्जुनस्य कथं विषादो जायते? इत्यत आह— **कृपया परयाऽऽविष्ट** इति । परया भक्तिरूपया कृपया आविष्टः 'सर्वभूतेषु यः पश्येत्' [भाग. ११।२।४५] इत्यादिरूपया । ननु तथासति राज्यापगमे लोकरक्षा न भविष्यतीति, तत्रापि सा मे कथमाविर्भूतेत्यत आह— बन्धून् इति । तेऽपि स्वबान्धवा राज्यरक्षणसमर्थाः, स्वयं तु भगवच्चरणैकतत्पर इति ॥ २७ ॥ तथाभूतोऽर्जुनो वाक्यान्याह— **दृष्ट्वेम**मिति । हे कृष्ण ! इमं युयुत्सुं योद्धुकामं समुपस्थितं सम्यक्प्रकारेणोपस्थितमनिवर्तिनं स्वजनं दृष्ट्वा मम गात्राणि सर्वाङ्गानि सीदन्ति विशीर्यन्ते, मुखं च परितः बाह्याभ्यन्तरभेदेनेत्यर्थः ॥ २८ ॥ **वेपथुश्चे**ति— एतत्सर्वं भवति ॥ २९ ॥ **शक्नो**मीति । अवस्थातुं न च समर्थोऽस्मीति भावः । किञ्च हे केशव दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक ! विपरीतानि निमित्तानि पश्यामि । असमर्थः युद्धं कृत्वा राज्यादिकरणरूपाणि तानि तथाभूतानि सर्वाणि पश्यामि । भगवदीयस्य तथात्वमनुचितमिति भावः ॥ ३० ॥

नी० भा० दी०—पितॄन् पितृव्यादीन् भूरिश्रवःप्रभृतीन् । पितामहान् भीष्मादीन् । मातुलान् शल्यादीन् । भ्रातॄन् दुर्योधनादीन् । पुत्रान् लक्ष्मणादीन् । पौत्रान् लक्ष्मणादिपुत्रान् । सखीन् अश्वत्थामादीन् । सुहृदः

कृतवर्मादीन् ॥ २६ ॥ कृपया स्नेहेन ॥ २७ ॥ स च स्वजनमिति विशेषणेन प्रदर्श्यते । सीदन्ति निश्चेष्टानि भवन्ति ॥ २८ ॥ रोमहर्षो रोमाञ्चः ॥ २९ ॥ निमित्तानि लोकक्षयकराणि भूमिकम्पादीनि ॥ ३० ॥

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण ! न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द ! किं भोगैर्जीवितेन वा ॥ ३२ ॥
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च ॥ ३३ ॥

आ. गि. टी.—युद्धे स्वजनहिंसया फलानुपलम्भादपि तस्मादुपरिरंसा जायत इत्याह—**न चेति**। प्राप्तानां युयुत्सूनां हिंसया विजयो राज्यं सुखानि च लब्धुं शक्यानीति कुतो युद्धादुपरतिरित्याशङ्क्याऽऽह—**न काङ्क्ष** इति ॥ ३१ ॥ किमिति राज्यादिकं सर्वाकाङ्क्षितत्वान्न काङ्क्ष्यते ? तेन हि पुत्रभ्रात्रादीनां स्वास्थ्यमाधातुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह—**किमिति**। राज्यादीनामाक्षेपे हेतुमाह—**येषामिति** ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

रा. भा.—॥ ३१-३३ ॥ ॥ वे. ता. चं.—॥ ३१-३३ ॥

ह. पै. भा.—॥३१॥ च पुनः हे कृष्ण ! अहं विजयं विशिष्टं जयं सङ्ग्रामोत्कर्षं न काङ्क्षे न प्रार्थये। च पुना राज्यमाधिपत्यं सुखानि च विषयजन्यान्प्रमोदान्न प्रार्थये । हे गोविन्द ! नोऽस्माकं राज्येन किम् ? भोगैर्विषयसुखैः किम् ? जीवितेनापि किम् ? । गोभिः श्रुतिभिर्वेदान्तवाक्यैर्विद्यते परमार्थरूपेण लभ्यत इति गोविन्दः ॥ ३२ ॥ येषामर्थे इति । येषां स्वजनानामर्थे प्रयोजनाय नोऽस्माकं राज्यं भोगाश्च पुनः सुखानि एतत्सर्वं काङ्क्षितं वाञ्छितं त इमे युद्धे युद्धनिमित्तं प्राणानान्तरप्राणान्धनानि बाह्यप्राणांश्च त्यक्त्वाऽवस्थिताः ॥ ३३ ॥

वे. ब्र. गि.—इत्थम् 'कृपया परयाविष्टो विषीदन्' [ १।२७ ] इति श्लोके विषादशब्दोक्तं शोकं प्रदर्श्य, इदानीं 'कृपया परया' इत्यनेनोक्तं मोहं दर्शयति 'न च' इत्यादिना 'एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये' [ १।४७ ] इत्यतः प्राक्तनेन । किञ्च युद्धे स्वजनं हत्वा श्रेयः फलं दृष्टमदृष्टं वा किमपि न पश्यामि ॥ ३१ ॥

तत्र दृष्टफलाभावमुपपादयति द्वाभ्याम्—युद्धाद्विजयः, ततो राज्यम्, ततः सुखानि, इत्येतानि खलु दृष्टफलानि; तानि च अनाकांक्षितत्वान्न मे फलानीत्यर्थः। कुतोऽनाकांक्षितत्वमिति चेत्, तत्र वक्तव्यम्—राज्यसुखादीनां किमत्र स्वार्थमाकांक्षा, किंवा स्वजनार्थम् ? नाद्य इत्याह—**किं न** इति। 'हत्वा स्वजनम्' इति पूर्वश्लोकादनुषङ्गः। हे गोविन्द ! स्वजनं हत्वा नः अस्माकं जीवितेन किम् ? ततो राज्येन भोगैर्वा किमिति योजना । जीवतः खलु राज्यसुखकांक्षा, वयं च स्वजनं हत्वा न जिजीविषामः; तथा च वक्ष्यति 'यानेव हत्वा न जिजीविषामः' [ २।६ ] इति, अतो न स्वार्थं तदाकांक्षेत्यर्थः। नापि स्वजनार्थं तदाकांक्षेत्याह—**येषामिति**। स्वजनानामित्यर्थः। यदर्थमस्माकं राज्याद्यपेक्षा, त एते स्वजनाः प्राणधनत्यागमङ्गीकृत्य युद्धार्थमवस्थिताः। तथा च स्वजनवधनिष्पाद्यानि राज्यानि न स्वजनार्थं भविष्यन्तीत्यर्थः। अत्र कृष्णेति निरतिशयानन्दब्रह्मवाचिना पदेन सम्बोधयन् भगवन्निष्ठानां राज्यसुखादीनि न प्रलोभकानीति वस्तुगतिं सूचयति । गोविन्देति च गां देववाणीं विन्दति प्राप्नोतीत्यर्थकेन धर्ममार्गप्रवर्तकस्त्वं बन्धुजनघातिनां जीवनाद्याकांक्षित्वं न धर्म इति जानास्येवेत्युक्तम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

श० त० दी०—॥ ३१-३३ ॥

पु. अ. त.—तदेवाह—**न चेति**। स्वजनमाहवे सङ्ग्रामे हत्वा अनु पश्चात् श्रेयो न पश्यामि । श्रेयो भगवत्कृपात्मिकां भक्तिमित्यर्थः। अत एव भगवतोक्तम्—'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः

श्रेयो भवेदिह' [भाग. ११।२०।३१] इति ॥ ३१ ॥ तद्विनाऽहं विजयं राज्यं च न काङ्क्षे, तज्जनितानि सुखान्यपि । चकारेण भक्तावपि सुखानि न काङ्क्षे, यतो भगवत्तोषहेतुस्ताप एवेति भावः । पुनर्विस्तरेण तदाकाङ्क्षित्वाभावः प्रपञ्चयति— **किं नो राज्येनेति** । नः राज्येन किं ? भोगैर्वा किं ? जीवितेन वा किं ? हे गोविन्द ! त्वां विना एतैर्न किञ्चित्प्रयोजनमस्माकमिति भावः । गोविन्देति सम्बोधनेन यथा व्रजवासिनां त्वमिन्द्रो भूत्वा सुखभोगं कारितवान् तथैव भक्तानामुचितमिति भावो ज्ञाप्यते ॥ ३२ ॥ ननु तवैकस्य नाकांक्षा, तथापि स्वकीयसम्बन्धिनां सर्वेषामर्थे शत्रून्मारयित्वा राज्यं स्वकीयं कुर्वित्याशङ्कायामाह— **येषामर्थ इति** । येषामर्थे नः राज्यमाकाङ्क्षितं, भोगाः सुखानि च कांक्षितानि, ते सर्वे इमे प्राणान् धनानि च त्यक्त्वा युद्धे सङ्ग्रामे मरणार्थमवस्थिता इत्यर्थः । तस्मादेतन्मारणेन लौकिकसिद्धिरपि नास्माकमिति भावः ॥ ३३ ॥

नी० भा० दी०—॥ ३१–३३ ॥

**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।**
**मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ॥ ३४ ॥**

[ स्यालाः–इति नैलकण्ठीयः पाठः ]

**एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ! ।**
**अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥ ३५ ॥**
**निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ! ।**
**पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः ॥ ३६ ॥**
**तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् स्वबान्धवान् ।**
**स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव ! ॥ ३७ ॥**

**आ. गि. टी.**— तानेव विशिनष्टि— **आचार्या** इति । श्याला भार्याणां भ्रातरो धृष्टद्युम्नप्रभृतयः ॥ ३४ ॥ वध्येष्वपि स्वराज्यपरिपन्थिष्वाततायिषु कृपाबुद्ध्या स्वधर्माद्युद्धात्पूर्वोक्तमोहादिवशात्प्रच्युतिं प्रदर्शयति— **एतानिति** । 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' [ व. ध. सू. ३।१७ ] इति न्यायादेतेषां हिंसा न दोषायेत्याशङ्क्याऽऽह— **घ्नतोऽपीति** । पृथिवीप्राप्त्यर्थं हि हननमेतेषामिष्यते, न च तत्प्राप्तिः समीहितेति कैमुतिकन्यायेन दर्शयति— **अपीति** । नहि महदपि त्रैलोक्यलक्षणं राज्यं लब्धुं स्वजनहिंसायै मनो मदीयं स्पृहयति, पृथिवीप्राप्त्यर्थं पुनर्बन्धुवधं न श्रद्दधामीति किं वक्तव्यं ? इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ दुर्योधनादीनां शत्रूणां निग्रहे प्रीतिप्राप्तिसम्भवाद्युद्धं कर्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **निहत्येति** । यदि पुनरमी दुर्योधनादयो न निगृह्येरन्भवन्तस्तर्हि तैर्निगृहीता दुःखिताः स्युरित्याशङ्क्याऽऽह— **पापमेवेति** । यदीमे दुर्योधनादयो निर्दोषानेवास्मानकस्माद्युद्धभूमौ हन्युः, तदैतान् 'अग्निदो गदरश्च' [ मनुः ८।३५० क्षे. २३ ] इत्यादिलक्षणोपेतानाततायिनो निर्दोषस्वजनहिंसाप्रयुक्तं पापं पूर्वमेव पापिनः समाश्रयेदित्यर्थः । अथवा यद्यप्येते भवन्त्याततायिनस्तथाप्येतानतिशोच्यान्दुर्योधनादीन्हिंसित्वा हिंसाकृतं पापमस्मानेवाऽऽश्रयेदतो नास्माभिरेते हन्तव्या इत्यर्थः । अथवा गुरुभ्रातृसुहृत्प्रभृतीनेतान्हत्वा वयमाततायिनः स्याम, ततश्चैतान् हत्वा तत्कृतं पापमाततायिनोऽस्मानेव समाश्रयेदिति युद्धात् उपरमणमस्माकं श्रेयस्करमित्यर्थः ॥ ३६ ॥ फलाभावादनर्थसम्भवाच्च परहिंसा न कर्तव्येत्युपसंहरति— **तस्मादिति** । किञ्च राज्यसुखमुद्दिश्य युद्धमुपक्रम्यते, न च स्वजनपरिक्षये सुखमुपपद्यते, तेन न कर्तव्यं युद्धमित्याह— **स्वजनं हीति** ॥ ३७ ॥

**रा. भा.**—॥ ३४–३७ ॥ वे. ता. चं.—॥ ३४–३७ ॥

**ह. पै. भा.— आचार्या इति** । आचार्यादयो यथाव्याख्याताः, पितरः पुत्रास्तथा पितामहा मातुलाः श्वशुराः पौत्राः, श्यालाः पत्न्या भ्रातरः, स्वस्य सम्बन्धिनो विवाहादिसम्बन्धवन्तः ॥३४॥ यदि कृपया त्वमेतान्न हन्यास्तर्हि त्वामेते राज्यलोभेन हनिष्यन्त्येव, अतस्त्वमेतान् हत्वा राज्यं भुंक्ष्व तत्राऽऽह सार्धेन— **एतानिति** । हे मधुसूदन ! एतानाचार्यादीन् घ्नतोऽप्यस्मान्घात-

घ्नतोऽपि त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तत्प्राप्त्यर्थमपि हन्तुं नेच्छामि। किं पुनर्महीमात्रप्राप्त्यर्थम्?। निहत्येति। हे जनार्दन! देवविपक्षभूतान् असुरादीञ्जनानर्दयति पीडयतीति जनार्दनः, अथवा जनैरधिकारिपुरुषैरभ्युदयादिकं प्रार्थ्यत इति जनार्दनः। धार्तराष्ट्रान्निहत्य हत्वा नोऽस्माकं का प्रीतिः स्यात्किं सुखं स्यात्? न किमपीत्यर्थः ॥ ३५ ॥ नन्वाततायिनामेषां वधो युक्तो विहितत्वात्तथा चोक्तम्—'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः' [ मनुः ८।३५० क्षे. २३ ] इति स्मरणादग्निदत्वादिभिः षड्भिरपि हेतुभिरेते भवत आततायिनः। आततायिनां वधो युक्त एव 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाऽऽततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन [ मनुः ८।३५० ] इति वचनात्; तत्राऽऽह सार्धेन—पापमिति। 'आततायिनमायान्तं' इत्यादिकमर्थशास्त्रं हि धर्मशास्त्राद्दुर्बलम्। यथोक्तं याज्ञवल्क्येन [ २।२१ ] 'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः। अर्थशास्त्राच्च बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' तस्मादाततायिनां मध्ये तेषामाचार्यादीनां वधेऽस्माकं पापमेव भवेत्, अन्याय्यत्वादधर्मत्वाच्च तद्वधस्य। हे माधव! हि यस्मादेतेषां हनने लोकद्वयेऽप्यकल्याणमेव, तस्मात् स्वबान्धवान् धार्तराष्ट्रान्हन्तुं वयं नार्हा न योग्याः; एतेषां वधस्यान्याय्यत्वादधर्मत्वाच्च। न केवलमस्माकं पारलौकिकं सुखं भवत्यैहिकमपि न भवतीत्याह—स्वजनं हीति। हि यस्मात् स्वजनं हत्वा वयं सुखिनः कथं स्याम कथं सुखयुक्ता भवाम? ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

वें. ब्र. गि.— एवं दृष्टफलाभाव उक्तः; इदानीमदृष्टफलाभावमाह द्वाभ्याम्— न हन्तुमिच्छामीति। 'घ्नतोऽपि' इत्यस्मादपिशब्दस्यानुषङ्गः। हन्तुमिच्छामपि न करोमि, आचार्यादिवधविषयेच्छामात्रस्यापि महानर्थकरत्वेन श्रवणात्; किमुत तद्वधस्य? इत्यर्थः। तथा च स्मरणमात्रेणापि महानर्थकरस्याचार्यादिस्वजनवधस्य अदृष्टफलकत्वमत्यन्तायुक्तमिति भावः। ननु 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' [ व. ध. सू. ३।१७ ] इति वचनादाचार्यादयोऽपि जिघांसन्तो हन्तव्या इत्यत आह— घ्नतोऽपीति। 'गुरुं हुंकृत्य त्वंकृत्य' [या.व.३।२९१] इत्यादिना शब्दमात्रेणापि गुरुद्रोहस्यानिष्टफलकत्वश्रवणात्। 'जिघांसन्तं' इति वचनमाचार्याद्यतिरिक्तविषयकमिति भावः। मधुसूदनेत्यनेन मधुनामकासुरनाशिना त्वया तादृशदुष्टजनवध एवानुमन्तव्यः, न त्वाचार्यादिवध इति दर्शितम् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

एवं च न केवलं स्वजनवधे फलाभावमात्रम्, किन्तु विपरीतफलमपीत्याह — अत्र पूर्वार्धेन पूर्वोक्तफलाभावानुवादः, उत्तरार्धेन तु विपरीतफलमुच्यते। धार्तराष्ट्रान् धृतराष्ट्रसम्बन्धिनः, स्वजनानित्यर्थः। पापमेवेति। एतान्हत्वा स्थितानस्मान्पापमेवाश्रयेदित्यन्वयः। ननु 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहर्ता च षडेते ह्याततायिनः' [मनुः ८।३५०–क्षे.२३ ] इति सम्पूर्णाततायिलक्षणलक्षितत्वादेतेषां वधे कथं पापं स्यात्? 'नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन' [ मनुः ८।३५१ ] इति स्मृतेः, तत्राह— आततायिन इति। आततायिनोऽपीत्यर्थः। आततायित्वेऽपि स्वजनत्वादेते न हन्तव्या इत्यभिमानः। जनार्दनेत्यनेन जनार्दनः सन्नपि 'छिन्द्यां स्वबाहुमपि यः प्रतिकूलवृत्तिः' [ भाग. ३।१६।६ ] इति स्वजनानभिमन्यमानस्त्वमेवात्र प्रमाणमिति द्योतितम् ॥ ३६ ॥

तस्मादिति। यस्मात्पापमेवाश्रयेत्तस्मादित्यर्थः। किञ्च नैतावदिह वक्तव्यं स्वजनघातिनः सुखं नास्तीति, किन्तु लोकप्रसिद्धमेवेदमित्याह— स्वजनं हीति। हिः प्रसिद्धौ। नन्वेवं युद्धविमुखस्य तव कथं देहयात्रेत्यत आह— माधवेति। श्रियः पतिं त्वामाश्रितवतो मम न तच्छङ्केति भावः ॥ ३७ ॥

व० त० दी०— ॥ ३४–३७ ॥

पु. अ. त.— तान् सर्वान्नामभिर्गणयति— आचार्या इति। एते राज्यभोगे नियुक्तास्ते त्वत्र मरणार्थमुपस्थितास्तन्मारणानन्तरं स्वस्यानपेक्षितत्वात् राज्यभोगसुखादिभिर्न किञ्चित्कार्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥ ननु त्वत्सम्बन्धिनोऽपि ये युद्धार्थमुपस्थितास्तांश्चेत् त्वं न मारयिष्यसि तदा त एव त्वां मारयिष्यन्तीति चेत्तत्राह— एतानिति। हे मधुसूदन! मां घ्नतोऽपि एतानहं हन्तुं नेच्छामि। मधुसूदनेति सम्बोधनेन त्वत्सहायवन्तं मामेते मारयितुमेव न समर्था इति ज्ञाप्यते। त्रैलोक्यराज्यस्यापि हेतोस्तथाकर्तुं नेच्छामि, किं पुनः महीकृते तथा करिष्यामि? ॥३५॥ हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक! धार्तराष्ट्रान् ज्ञानदृष्टिरहितानेतान् निहत्य नः का प्रीतिः स्यात्? न कापीत्यर्थः। जनार्दनेति सम्बोधनेन त्वदीयानां

अस्माकं तथाकरणमनुचितमिति भावो व्यञ्जितः । ते तु धृतराष्ट्रात्मजा इति त्वां न पश्यन्ति, तेन तेषां तथाकरणमुचितमिति धार्तराष्ट्रेति पदेन व्यञ्जितम् । यद्वा अस्मदीयान् धार्त्तराष्ट्रान्निहत्य तव का प्रीतिः स्यात्? । अत्रायं भावः— लौकिकभावेन ते त्वस्मदीया एव, तन्मारणे नास्माकं तु प्रीतिः स्यात्तदा त्वत्प्रीत्यर्थं हन्तव्याः, अस्माकं यथाकथञ्चित् त्वं प्रीणनीय इति भावः। ननु ते आततायिन इति 'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिनः ॥' [मनुः ८।३५० क्षे. २३] 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ' [ मनुः ८।३५०।५१ ] इत्यादिवाक्यैः प्रीतिर्भवतु, मा वा; सर्वथैते ह्युक्तसर्वदोषसहिता इति हन्तव्या एव, ते तु स्वपापेनैव हन्तव्याः, त्वं निमित्तमात्रं भवेति चेत्तत्राह—**पापमेवाश्रयेदिति** । आततायिन एतान् हत्वा पापमस्मानेवाश्रयेत् । किञ्च आततायिमारणे दोषाभावस्तु धर्मशास्त्रविचारेणार्थशास्त्रविचारेण वा निरूपितः, न तु भक्तिविचारेण; भक्तिमार्गात्तु तयोर्दुर्बलत्वात्तन्मारणेनास्माकं पापमेव भवेत्, पापाच्च भगवत्सम्बन्धो न स्यात्; अतएव 'नराणां क्षीणपापानाम्' [ पां. गी. श्लो. ४० ] इति निरूपितम् ॥३६॥ तस्माद्वयं त्वदीयत्वादेतन्मारणानर्हा इत्याह—**तस्मादिति** । तस्माद्वयं स्वबान्धवान्धार्त्तराष्ट्रान् हन्तुं नार्हा न योग्या इत्यर्थः । हे माधव ! स्वजनं हत्वा कथं सुखिनः स्याम सुखिनो भविष्यामः ? इत्यर्थः । वयमित्युक्त्या भगवतः स्वमध्यपातित्वमुक्तम्, तेनास्माकं त्वत्सङ्ग एव सुखरूपः, त्वमेवास्माकं स्वजन इति ज्ञापितम् । तस्मात्स्वजनापराधात्, स्वजननाशः स्यादस्माकं च त्वमेव स्वजन इति त्वत्सम्बन्धाभावे वयं कथं सुखिनो भविष्यामः? इति व्यञ्जितम् । माधवेति सम्बोधनेनास्माकं न लक्ष्म्याद्यपेक्षितेति ज्ञापितम् ॥ ३७ ॥

**नी० भा० दी०**—स्याला इति । स्यालशब्दो दन्त्यादिः । 'विजामातुरुत वाघास्यालात्' इति मन्त्रवर्णात् । 'स्याल्लाजानावपतीति वा लाजा लाजतेः स्यं शूर्पं स्यतेः' इति यास्कः ॥ ३४ ॥ हन्तुं इच्छाऽपि न भवति, किमुत हन्तृत्वमित्यर्थः । महीकृते पृथिव्यर्थे ॥३५॥ आततायिनः—'अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः । क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः । [मनुः ८।३५०क्षे.२३] 'आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् । नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन ' [मनुः८।३५१] इति; यद्यप्येवं तथापि एतान्हत्वा अस्मान्पापमेव आश्रयेत् । आततायिवधो हि अर्थशास्त्रविहितः, 'न हिंस्यात्सर्वा भूतानि' इति तु धर्मशास्त्रम्; तच्च पूर्वस्मात्प्रबलम् । यथोक्तं याज्ञवल्क्येन— 'स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः । अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः' [ २।२१ ] इति । अस्मान् हत्वा एतान् आततायिनः पापमेवाश्रयेदित्यपरा योजना; तथा च एत एवास्मद्वधेन नश्यन्तु, न तु वयं एतेषां वधेन नङ्क्ष्याम इति भावः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।**
**कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥ ३८ ॥**
**कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम् ।**
**कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ! ॥ ३९ ॥**

**आ० गि० टी०**—कथं तर्हि परेषां कुलक्षये स्वजनहिंसायां च प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह—**यद्यपीति** । लोभोपहतबुद्धित्वात्तेषां कुलक्षयादिप्रयुक्तदोषप्रतीत्यभावात्प्रवृत्तिविस्रम्भः सम्भवतीत्यर्थः ३८ परेषामिवास्माकमपि प्रवृत्तिविस्रम्भः सम्भवेदिति चेत्, न; इत्याह—**कथमिति** । कुलक्षये मित्रद्रोहे च दोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिस्तद्दोषशब्दितं पापं कथं न ज्ञातव्यम्? तदज्ञाने तत्परिहारासम्भवात् । अतोऽस्मात्पापान्निवृत्त्यर्थं तज्ज्ञानमपेक्षितमिति पापपरिहारार्थिनामस्माकं न युक्ता युद्धे प्रवृत्तिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥

**रा० भा०**—॥ ३८-३९ ॥ ॥ **वे० ता० चं०**—॥ ३८ ॥ ३९ ॥

**ह० पै० भा०**—ननु चैतेषामपि बन्धुवधदोषे समाने सति यथैवैते बन्धुत्वानङ्गीकारेण युद्धे प्रवर्तन्ते तथैव भवानपि प्रवर्ततां, किमनेन विषादेन ? इत्याक्षिप्तमविवेकिविवेकिभेदेन परिहरति—**यद्यपीति** । हे कृष्ण ! यद्यप्येते धार्तराष्ट्रा लोभोपहतचेतसः, लोभः परद्रव्याद्यभिलाषः, लुनाति नाशयति लोकद्वयं प्राणिनामिति लोभः, तेनोपहतचेतसः तिरस्कृतकर्तव्याकर्तव्यविवेकविज्ञानाः सन्तः कुलक्षयकृतं गोत्रवधनिमित्तदोषं मित्रद्रोहे च पातकं न पश्यन्ति ॥ ३८ ॥ **कथमिति** ।

**हे जनार्दन! तथाऽप्यस्माभिः कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्? कथं न यत्नः कर्तव्यः? ॥ ३९ ॥**

**वें. ब्र. गि.**— ननु स्वजनवधदोषे तुल्येऽपि तमविगणय्य यथैते युद्धे प्रवृत्तास्तथा त्वमपि प्रवर्तस्वेत्याशङ्क्य निराकरोति द्वाभ्याम्— यद्यप्येते दुर्योधनादयः राज्यलोभेन भ्रष्टविवेकाः कुलक्षयकृतं वर्णसाङ्कर्यरूपं दोषं स्वजनवधप्रयुक्तं पापं च न पश्यन्ति, तथापि दोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिः अस्मात्पापात् स्वजनवधयुक्तयुद्धरूपात् निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्? न हि भ्रान्तवदभ्रान्तोऽपि प्रवर्तेत इत्यर्थः। जनार्दनपदं पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

**व० त० दी०**— ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

**पु. अ. त.**— ननु ये स्वजनत्वादिवधदोषमविचार्य प्रवृत्तास्ते निवृत्तमपि त्वां हनिष्यन्त्यतस्त्वमप्यविचार्यैवैतान्मारयेत्याशङ्क्याह— **यद्यप्येत इति** द्वाभ्याम्। लोभेन उपहतं विभ्रंशितं चेतो मनो येषां ते एते धार्त्तराष्ट्राः कुलक्षयकृतं कुलक्षयकरणं दोषं यद्यपि न पश्यन्ति, मित्रद्रोहे च यत्पातकं तन्न पश्यन्ति, तथापि पातकं तु भविष्यत्येवेत्यर्थः ॥ ३८ ॥ हे जनार्दन अविद्यानाशक! त्वत्स्वरूपविद्भिः कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिरस्माभिर्लोभानुपहतचित्तैरस्मात्पापान्निवर्तितुं कथं न ज्ञेयम्? ज्ञेयमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**नी० भा० दी०**— ॥ ३८ ॥ ननु 'आहूतो न निवर्त्तेत द्यूतादपि रणादपि' इति 'विजितं क्षत्रियस्य' इति च युद्धादनिवृत्तिर्हिंसया च वृत्तिः क्षत्रियस्येष्टा, तत्कथं युद्धान्निवृत्तिमिच्छसीत्याशङ्क्याह— कथमिति। सा हि लोभमूलिका स्मृतिः कुलक्षयदोषविधिना बाध्यते। यथा— "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इति स्पर्शनविधिना विरुद्धा सती "औदुम्बरी सर्वा वेष्टयितव्या" इति सर्ववेष्टनस्मृतिर्बाध्यते, लोभमूलकत्वात्तद्वत्। न हि विधिमात्राद्यत्किञ्चित्कर्त्तव्यं, श्येनादीनामधर्मरूपाणामप्यवश्यानुष्ठेयत्वापत्तेः। तस्माद्यत्फलतो न दुष्यति तदेव विहितं धर्मरूपमनुष्ठेयम्। यथोक्तम्— 'फलतोऽपि च यत्कर्म नानर्थेनानुबध्यते। केवलं प्रीतिहेतुत्वात्तद्धर्म इति कथ्यते' इति, श्येनादिवत्पापानुबन्धित्वात् युद्धं त्याज्यमेवेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।**
**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥ ४० ॥**
**अधर्माभिभवात्कृष्ण! प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय! जायते वर्णसङ्करः ॥ ४१ ॥**
**सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।**
**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥ ४२ ॥**

**आ. गि. टी.**— कोऽसौ कुलक्षये दोषो यद्दर्शनाद्युष्माकं युद्धादुपरतिरपेक्ष्यते? तत्राऽऽह— **कुलेति**। कुलस्य हि क्षये कुलसम्बन्धिनश्चिरन्तना धर्मास्तत्तदग्निहोत्रादिक्रियासाध्या नाशमुपयान्ति, कर्तुरभावादित्यर्थः। धर्मनाशेऽपि किं स्यादिति चेत्तत्राऽऽह— **धर्म** इति। कुलप्रयुक्ते धर्मे कुलनाशादेव नष्टे कुलक्षयकरस्य कुलं परिशिष्टमखिलमपि तदीयोऽधर्मोऽभिभवति, अधर्मभूयिष्ठं तस्य कुलं भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ कुलक्षयकृतोऽवशिष्टकुलस्याधर्मप्रवणत्वे को दोषः स्यात्? इति तत्राह— **अधर्मेति**। पापप्रचुरे कुले प्रसूतानां स्त्रीणां प्रदुष्टत्वे किं दुष्यति? तत्राह— **स्त्रीष्विति** ॥ ४१ ॥ वर्णसङ्करस्य दोषपर्यवसायितामादर्शयति— **सङ्कर** इति। कुलक्षयकराणां दोषान्तरं समुच्चिनोति- **पतन्तीति** कुलक्षयकृतां पितरो निरयगामिनो भवन्तीत्यत्र हेतुमाह— **लुप्तेति**। पुत्रादीनां कर्तृणामभावाल्लुप्ता पिण्डस्योदकस्य च क्रिया येषां ते तथा, ततश्च प्रेतत्वपरावृत्तिकारणाभावान्नरकपतनमेवाऽऽवश्यकमापतेदित्यर्थः ॥ ४२ ॥

**रा. भा.**— ॥ ४०-४२ ॥

**वे. ता. चं.**— 'अधर्मोऽभिभवति' इति मानसदोषोक्तिः ॥ ४० ॥ 'प्रदुष्यन्ति' इति कायिकदोषोक्तिः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

**ह. पै. भा.**— कुलक्षये कृते दोष उत्पद्यते तं दोषं कथयति— **कुलक्षय** इति । कुलक्षये गोत्रपुरुषाणां विनाशे सनातनाः पारम्पर्यागताश्चिरन्तनाः कुलधर्माः प्रणश्यन्ति । धर्मे नष्टे कृत्स्नमपि कुलमधर्मोऽभिभवति तिरस्करोति । उतापि । अधर्माभिभवनिवारकधर्मस्याभावादित्यर्थः ॥ ४० ॥ अधर्मेति । हे कृष्ण ! अधर्माभिभवात्कुलस्त्रियो विशुद्धवंशोद्भवाः प्रदुष्यन्ति स्वैरिण्यो भवन्ति, तासु स्त्रीषु दुष्टासु हे वार्ष्णेय वृष्णिवंशोद्भव ! वर्णसङ्करो जायते । वर्णस्य वर्णान्तरमिश्रीकरणं सङ्करः ॥ ४१ ॥ सङ्कर इति । सङ्कर एषां कुलघ्नानां चापरं कुलस्यैव नरकाय भवतीति । हि यस्मादेषां कुलघ्नानां कुलहन्तॄणाम् । न केवलं तेषां कुलस्यैव नरकाय भवति, किन्तु एषां कुलघ्नानां स्वर्गारूढाः पितरो लुप्तपिण्डोदकक्रियाः सन्तः पतन्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

**वें. व्र. गि.**— कुलक्षयकृतमेव दोषं दर्शयति त्रिभिः— सनातनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलक्षये सति कर्त्रभावात् प्रणश्यन्ति । ततः धर्मे नष्टे— जातावेकवचनम्— अवशिष्टं कृत्स्नमपि कुलं अधर्मः अभिभवति आवृणोति । उतशब्दोऽप्यर्थे, स च कृत्स्नपदेन सम्बध्यते ॥ ४० ॥ ततश्च स्पष्टोऽर्थः । कृष्णेत्यनेन 'अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्' [ ४।७ ] इत्यधर्मशिक्षार्थमवतीर्णेन त्वया तदभिभवो न सोढव्य इति सूचितम् । **वार्ष्णेये**त्यनेन कुरूणां वृष्णीनां च परस्परसम्बन्धितया कुरुकुलसाङ्कर्यं वृष्णिकुलप्रसूतस्य तवानिष्टमिति ध्वनितम् ॥ ४१ ॥ एवं सति न केवलं कुलघ्नानां, न वा केवलं सङ्कीर्णस्यैव कुलस्य नरकपातः, किन्तु तत्पितॄणामपीत्याह— **पतन्तीति** । अप्यर्थे **हि**शब्दः । एषां कुलघ्नानां पितरोऽपि लुप्ता पिण्डोदकयोः क्रिया येषां ते तथोक्ताः सन्तो नरके पतन्ति । कुलसम्बन्धिनः पितरः पुत्रादिकर्त्रभावेन लुप्तपिण्डोदकक्रियाः; कुलघ्नानां पितरस्तु कुलघ्नैर्दत्तानि पिण्डोदकानि नोपभुञ्जीरन्निति लुप्तपिण्डोदकक्रिया इत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥

व० त० दी०— ॥ ४०-४२ ॥

**पु. अ. त.**— एवमुक्त्वा कदाचिल्लौकिकस्नेहवशादेव निवृत्तः, न तु पापस्वरूपज्ञानादधर्मबुद्ध्या, इत्याशङ्क्य कुलक्षयकृतं दोषमनुवदति— **कुलक्षय** इति पञ्चभिः । सनातनाः प्राचीनाः परम्पराप्राप्ताः कुलधर्माः कुलक्षये कृते जाते वा प्रणश्यन्ति प्रकर्षेण नश्यन्ति । पुनरुदयाभावः प्रकर्षः । तस्माद्वयं पार्थाः पृथासम्बन्धेन त्वयाऽङ्गीकृत्वा इत्यस्माकं परम्परागतो धर्मस्त्वद्भक्तिः, तन्नाशकपापादस्माकं विनिवृत्तिरेवोचितेति भावः । नन्विदानीं धर्मनाशेऽप्यग्रे प्रह्लादादिवत्कुले कोऽपि भक्तो भवेच्चेत्तदा धर्मः पुनरुद्भविष्यति, तस्माच्छौर्यक्षात्रधर्मानाशकत्वेन युद्धकरणमेवोचितमित्यत आह— **धर्मे नष्ट इति** । उत कृत्स्नमवशिष्टमपि कुलं धर्मे नष्टे सति अधर्मोऽभिभवति, व्याप्नोतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ तेनाग्रेऽपि कोऽपि तथा न भवतीत्याह— **अधर्माभिभवा**दिति । अधर्माभिभवादधर्मव्याप्ताः कुलस्त्रियः प्रदुष्यन्ति, व्यभिचारादिदोषयुक्ता भवन्तीत्यर्थः । स्त्रीषु दुष्टासु जातासु वर्णसङ्करो जायते । वार्ष्णेयेति सम्बोधनेन सत्कुलोत्पन्नानां तथात्वं कुलेऽनुचितमिति ज्ञापितम् ॥ ४१ ॥ सङ्कराच्च नरक एव स्यादित्याह— **सङ्कर इति** । सङ्करः कुलस्य नरकायैव भवति । एवकारेण पापभोगानन्तरं नरकोद्धरणाद्यभावो ज्ञापितः । कुलघ्नानामेषां पितरश्च पतन्ति स्वधर्मोपार्जिताजादिलोकेभ्यः । हीति युक्तश्चायमर्थः । यतो लुप्तपिण्डोदकक्रियाः लुप्ताः पिण्डोदकाः क्रिया येषाम् ॥ ४२ ॥

नी० भा० दी०— प्रणश्यन्ति अनुष्ठातॄणां वृद्धानामभावात् अवशिष्टं बालादिरूपं वंशं धर्मलोपादधर्मोऽभिभवति ॥४०॥ दुष्टासु पुत्रार्थं वर्णान्तरमुपासीनासु ॥४१॥ कथं तर्हि जामदग्न्येन रामेण क्षत्त्रियेषु हतेषु तत्स्त्रियः पुनः पुनर्ब्राह्मणेभ्यः पुत्रान् जनयामासुरित्युपाख्यायते ? कथं वा धृतराष्ट्रादीनां असङ्करजत्वं ? इत्याशङ्क्याह—पतन्तीति । हिशब्दो वैदिकीं प्रसिद्धिं द्योतयति । सा हि "न शेषो अग्ने अन्यजातमस्ति" [ऋ. ५।२।६] इति श्रुतिः । अन्यस्माज्जातं शेषोऽपत्यं नास्तीति तदर्थः, 'अन्योदर्यो मनसाऽपि न मन्तव्यो ममायं पुत्रः' इति यास्कवचनाच्च । 'ये यजामहे' इति शास्त्रात् ये वयं स्मस्ते वयं यजामह इत्यर्थकाद्दृश्यमानस्य पित्रादेः संशयग्रस्तत्वादयं मम पितैवेति निश्चयस्य दुस्साध्यत्वात् । मन्त्रश्च—"योऽहमस्मि स सन्यजे ब्राह्मणेऽर्थवादश्च । न चैतद्विद्मो ब्राह्मणाः स्मो वयमब्राह्मणा वा" इति । तस्माद्बीजपतेरेव पिण्डादिप्राप्तिर्न तु क्षेत्रपतेरिति लुप्तपिण्डोदकक्रियत्वादवश्यं पितॄणां पातो भवति । क्षेत्रजपुत्रस्मृतिस्तु इह लोके वंशस्थापनमात्रपरा, न तु तेन क्षेत्रपतेः कश्चिदामुष्मिक उपकारोऽस्ति, उदाहृतश्रुतिविरोधात् । अयं च सङ्करोऽस्माभिः स्वयं कृतश्चेदवश्यमस्मान् बाधिष्यत एवेति भावः ॥ ४२ ॥

**दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।**
**उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥ ४३ ॥**
**उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ! ।**
**नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥ ४४ ॥**

**आ. गि. टी.**— कुलक्षयकृतामेतैरुदाहृतैर्दोषैर्वर्णसङ्करहेतुभिर्जातिप्रयुक्ता वंशप्रयुक्ताश्च धर्माः सर्वे समुत्साद्यन्ते तेन कुलक्षयकारणाद्युद्धादुपरतिरेव श्रेयसीत्याह— **दोषैरिति** ॥४३॥ किञ्च जातिधर्मेषु कुलधर्मेषु चोत्सन्नेषु तत्तद्धर्मवर्जितानां मनुष्याणामनधिकृतानां नरकपतनध्रौव्यादनर्थकरमिदमेव हेयमित्याह— **उत्सन्नेति**। यथोक्तानां मनुष्याणां नरकपातस्याऽऽवश्यकत्वे प्रमाणमाह— **इत्यनुशुश्रुमेति** ॥ ४४ ॥

**रा. भा.**— ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ **वे. ता. चं.**— ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

**ह. पै. भा.**—उक्तदोषमुपसंहरति दोषैरिति द्वाभ्याम्— एतैर्धर्मनाशधर्माभिभवादिलक्षणैर्वर्णसङ्करकारकदोषैः कुलघ्नानां जातिधर्माः क्षत्रियत्वप्रयुक्ता धर्मास्तथा शाश्वताः कुलधर्माः पारम्पर्यागता वंशधर्माश्चोत्साद्यन्ते लुप्यन्ते, तेषामाचरणं न भवति। चकारादाश्रमधर्मादयो गृह्यन्ते ॥ ४३ ॥ उत्सन्नेति। भो जनार्दन! उत्सन्नकुलधर्माणां विनष्टकुलवर्णाश्रमादिधर्माणां मनुष्याणां नरके नियतं नियमेन वासो भवतीत्यनु वारंवारं व्यासादिभ्यः शुश्रुम श्रुतवन्तो वयम् ॥ ४४ ॥

**वे. ब्र. गि.**— ननु साङ्कर्यदोषवशात् कुलस्य नरकोऽस्तु, कुलघ्नानां तु कथं नरक इत्यत आह— **वर्णसङ्करकारकैः** कुलघ्नानामेतैर्दोषैः शाश्वता वर्णधर्माः कुलधर्माश्च–चकारादाश्रमधर्मादयश्च–उत्साद्यन्ते विलोप्यन्ते। तथा च वर्णाश्रमादिधर्मनाशकत्वाद्वर्णसङ्करकारित्वाच्च कुलघ्नानामपि नरको दुर्निवार इत्यर्थः ॥ ४३ ॥ तर्हि कुलघ्नानामेव नरको युक्तः, न कुलस्येत्यत्राह— उत्सन्ना विनष्टाः कुलधर्मा एषाम्। जातिधर्मादीनामप्युपलक्षणमिदम्। अनुशुश्रुम श्रुतिस्मृतिमुखाद्वयं श्रुतवन्तः; न तु स्वकल्पनेत्यर्थः। वर्णाश्रमधर्मलोपात्कुलमपि पापिष्ठमेव जातमिति तस्यापि नरकः शास्त्रोक्त इति भावः। ननु वर्णसङ्करकारिणं त्वां त्वत्कुलमपि सङ्कीर्णमहं रक्षिष्यामि, किमिति नरकाद्बिभेषि? इत्यतः सम्बोधयति— **जनार्दनेति**। पापिष्ठजनान्निजाज्ञारूपश्रुतिस्मृत्यतिलङ्घितया त्वमेव नरकयातनाभिर्दयसीति शास्त्रस्थितिरित्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

**व० त० दी०**— ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

**पु. अ. त.**— किञ्च कुलघ्नानां तु नरको भवत्येवात्र किं वाच्यम्? यतस्तत्सम्बन्धात्सर्वत्रैव भूमौ धर्मनाशो भवतीत्याह— **दोषैरेतैरिति**। दोषैरेतैर्वर्णसङ्करकारकैरेतैः कुलघ्नानां दोषैर्जातिधर्माः शाश्वताः कुलधर्माश्च उत्साद्यन्ते लुप्यन्त इत्यर्थः। चकारेणाश्रमादिधर्माश्च परिगृह्यन्ते ॥ ४३ ॥ एवं सर्वधर्मलोपात्सर्वेषां नरकलोको भवतीत्याह— **उत्सन्नकुलधर्माणामिति**। हे जनार्दन! उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां नियतं नरके वासो भवतीति वयमनुशुश्रुम, श्रुतवन्त इत्यर्थः। जनार्दनेति सम्बोधनेन त्वत्सम्बन्धरहितास्तथा भवन्ति अविद्यासम्बन्धादिति ज्ञापितम् ॥ ४४ ॥

**नी० भा० दी०**— एतदेव विवृणोति द्वाभ्यां– दोषैरिति ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।**
**यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः ॥ ४५ ॥**
**यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।**
**धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् ॥ ४६ ॥**

**आ. गि. टी.**— राज्यप्राप्तिप्रयुक्तसुखोपभोगलुब्धतया स्वजनहिंसायां प्रवृत्तिरस्माकं गुणदोषविभागविज्ञानवतामतिकष्टेति परिभ्रष्टहृदयः सन्नाह— **अहो बतेति** ॥४५॥ यद्येवं युद्धे विमुखः सन्परपरिभवप्रतीकाररहितो वर्तेथास्तर्हि त्वां शस्त्रपरिग्रहरहितं शत्रुं शस्त्रपाणयो धार्तराष्ट्रा निगृह्णीयुरित्याशङ्क्याऽऽह— **यदीति**। प्राणत्राणादपि प्रकृष्टो धर्मः प्राणभृतामहिंसेति भावः ॥ ४६ ॥

रा॰ भा॰—॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ॥ वे. ता. चं.—॥ ४५ ॥ ४६ ॥

ह. पै. भा.—बन्धुवधाध्यवसायेन सन्तप्यमानतयाऽऽह—अहो बतेति। अहो बत कष्टं यत्परमेश्वरस्य तव सन्निधानेऽपि वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिता व्यवसायं निश्चयं गताः। किं तन्महत्पापं कर्तुं? यद्राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यताः उद्‌तिशयेन यत्नवन्तो यताः ॥ ४५ ॥ एवं सन्तप्तो मृत्युमेवाऽऽशासानोऽर्जुन आह—यदीति। यदि शस्त्रपाणयो धार्तराष्ट्रा अप्रतीकारं प्रतियुद्धमकुर्वाणं मामशस्त्रं रणे सङ्ग्रामे हन्युर्हनिष्यन्ति चेत्तर्हि तद्धननं मे मम क्षेमतरं पापस्यानुत्पत्तेर्हेतोरत्यन्तं हिततरं भवेत् ॥ ४६ ॥

वें. ब्र. गि.—एवं कुलक्षयकृतं दोषं प्रदर्श्य तन्निमित्तमात्मानमनुशोचन्नाह—अहो इत्याश्चर्ये। बतेति खेदे। महत्पापमिति। स्वजनवध एव प्रथमतः पापम्, तदुपरि कुलक्षयदोषो मिलित इति महत्पापमित्यर्थः। कर्तुं व्यवसिता अध्यवसायं कृतवन्तः। वयमिति बहुवचनेन युधिष्ठिरभीमादयोऽप्येतद्बोधयित्वा पापादस्मान्निवर्तनीया इति सूचितम् ॥ ४५ ॥ नन्वेवं युद्धमारभ्य अकस्मान्निर्व्यापारं त्वां प्रसह्य धार्तराष्ट्रा निहन्युरिति चेदिष्टापत्तिः, कुलक्षयपर्यवसितात् स्वजनवधमहापातकतः स्वमरणस्यैव श्रेयस्त्वात्; तच्च मरणं लोके द्वेधा भवति, एकं तावत्परैः सह युध्यमानस्य तैर्मरणम्, अन्यत्तु न्यस्तशस्त्रतया तूष्णीं स्थितस्य परैर्निहननम्; द्विविधमपि तत्स्वजनवधाद्वरिष्ठमेव, तत्रापि द्वितीयं वरिष्ठतरम्, तत्र स्वजनवधस्यैवाप्रसक्तेः पापशङ्कानवकाशात्; प्रथमं त्वनीदृशत्वात्पापशङ्कास्कन्दितम्, अतश्च द्वितीयमेव मरणं ममास्त्वित्यभिप्रेत्याह—यदीति। चिकीर्षितेऽस्मिन् रणे अप्रतीकारम्, प्रयुक्तास्त्रेषु प्रत्यस्त्रप्रयोगः प्रतीकारः, तद्रहितम्। अत्र हेतुः—अशस्त्रं न्यस्तशस्त्रं मां यदि शस्त्रपाणयो धार्तराष्ट्रा हन्युः, तदा तद्धननं मे क्षेमतरं प्रशस्ततरं भवेत्। मे क्षेमतरमित्यनेन न्यस्तशस्त्रहन्तारो धार्तराष्ट्रा एवं पापिष्ठीभवन्तीति सूचितम्। तरप्प्रत्ययस्वारस्यं तूक्तम् ॥ ४६ ॥

व॰ त॰ दी॰—॥ ४५ ॥ ४६ ॥

पु. अ. त.—नन्वेतादृशी बुद्धिश्चेत्तदा पूर्वं कथं युद्धव्यवसायः कृतः? इत्याशङ्क्य पूर्वमज्ञानात्कृतमिति पश्चात्तापं करोति—अहो बतेति। बतेति खेदे। वयं महत्पापं कर्तुं व्यवसिताः, अध्यवसायं कृतवन्त इत्यर्थः। पापस्वरूपमेवाह—यद्राज्येति। यद्यस्मात्कारणाद्राज्यसुखलोभेन स्वजनं हन्तुमुद्यताः, उद्यमं कृतवन्त इत्यर्थः। अहो इत्याश्चर्यम्। यतो राज्यसुखं तु स्वजनैः सहैव स्वजनार्थं वा; तानेव हन्तुमुद्यता इत्याश्चर्यम् ॥ ४५ ॥ ननु त्वं चेन्न हनिष्यसि तदैते त्वां हनिष्यन्त्येवेति चेत्तत्राह—यदि मामिति। धार्तराष्ट्रा अन्धापत्यानि यदि वा अप्रतीकारमकृतप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्ररहितं मां शस्त्रपाणयः सन्तो हन्युः हनिष्यन्ति तन्मे क्षेमतरं भवेत्, कल्याणरूपं भवेदित्यर्थः। पूर्वकृतव्यवसायप्रायश्चित्तरूपं भवेदित्यर्थः। अजिघांसन्तं मां हनिष्यन्ति चेत्तदा क्षेमरूपं भवेत्, तव सन्निधौ मरणे च क्षेमतरं भवेदिति भावः ॥ ४६ ॥

नी॰ भा॰ दी॰—॥ ४५ ॥ ४६ ॥

**सञ्जय उवाच—एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।**
**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥ ४७ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

आ. गि. टी.—यथोक्तमर्जुनस्य वृत्तान्तं सञ्जयो धृतराष्ट्रं राजानं प्रति प्रवेदितवांस्तमेव प्रवेदनप्रकारं दर्शयति—एवमिति। प्रदर्शितेन प्रकारेण भगवन्तं प्रति विज्ञापनं कृत्वा शोकमोहाभ्यां परिभूतमानसः सन् अर्जुनः सङ्ख्ये युद्धमध्ये शरेण सहितं गाण्डीवं त्यक्त्वा न योत्स्येऽहमिति ब्रुवन्मध्ये रथस्य सन्न्यासमेव श्रेयस्करं मत्वोपविष्टवानित्यर्थः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

रा० भा०— सर्वथाऽहं न योत्स्यामीत्युक्त्वा बन्धुविश्लेषजनितशोकसंविग्नमानसः ( पार्थः ) सशरं चापं विसृज्य रथोपस्थ उपाविशत् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्रामानुजाचार्यकृते गीताभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वे. ता. चं.— 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' [ १।३५ ] 'यदि मामप्रतीकारम्' [ १।४६ ] इत्यादेरभिप्रेतमाह— सर्वथाहमिति । सर्वथा बहुप्रकारम् । एषामाततायित्वेऽपि, इदानीं हन्तुमुद्यतत्वेऽपि, युद्धान्निवृत्तेरधर्माकीर्त्यादिहेतुत्वेऽपि, युद्धस्य त्रैलोक्यराज्याद्युपायत्वेऽपि, किं बहुना? सर्वेश्वरेश्वरेण मम हिततमोपदेशिना भवतोक्तत्वेऽपीति भावः । बन्धुविनाशस्य सिद्धत्वाध्यवसायः शोकहेतुः, विषादमात्रपरो वाऽत्र शोकशब्दः । स शोकः शरचापपरित्यागे हेतुरिति व्युत्क्रमपाठेन दर्शितम् । 'संविग्नमानसः' इति अत्यर्थचलितयुद्धाध्यवसाय इत्यर्थः । 'ओ विजी भयचलनयोः' इति धातुः । एवं चलितयुद्धाध्यवसायत्वात् समराध्वरस्रुक्स्रुवादिस्थानीयं सशरं चापं विसृज्य प्रायोपवेशादिपर इव रथोपस्थे रथिस्थानाद्विनिवृत्य रथोत्सङ्ग उपाविशदिति भावः ॥ ४७ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतंत्रस्वतंत्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्भगवद्गीतायां रामानुजभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ह. पै. भा.— ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह— एवमिति । अर्जुन एवमुक्त्वा सङ्ख्ये सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथस्योपर्युपाविशत् उपविवेश । किं कृत्वा? सशरं शरेण बाणेन सह वर्तमानं धनुर्विसृज्य शोकसंविग्नमानसः शोकेन संविग्नं मानसं यस्य सः, एवंविधः सन्नुपविष्ट इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वें. ब्र. गि.— इत्थं स्वजनवधव्यामोहाक्रान्तस्यापि कौन्तेयस्य भगवदनुग्रहोपसम्पत्स्यमानतत्त्वज्ञानस्य परिशुद्धस्वभावतानपायैवेत्यर्जुनपदेन व्यञ्जयन् धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच अध्यायार्थमुपसंहरन्— एवमुक्त्वा अर्जुनः सशरं चापं विसृज्य शोकेन संविग्नं कलिलं मानसं यस्य स तथोक्तः सन्, सङ्ख्ये युद्धे रथोपस्थे रथोपरि उपाविशत् । अनेन पूर्वं युद्धार्थमवलोकनार्थं चोत्थितोऽभूदिति गम्यते । यद्वा, पूर्वमप्युपविष्टः सन् 'न च शक्नोम्यवस्थातुं' [ १।३० ] इत्युक्तरीत्या दृढोपवेशनसामर्थ्यात् रथोपस्थ उपाविशत् रथोपरि पृष्ठमासज्ज्योपविष्टो जात इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीमद्वेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ब० त० दी०— एवं तु पार्थो महाकरुणो लोकवेदधर्मपण्डितमानी कोमलमना वासुदेवसहायो निहनिष्यमाणान् विलोक्य बन्धुस्नेहेनाधर्मभयेन च प्रस्विन्नाङ्गः सर्वथा न योत्स्यामीत्युक्त्वा मोहशोकाविष्टः सशरं चापं उत्सृज्य रथोपस्थ उपाविशत् सर्वतो दुःखेन निर्विण्ण उपविष्टः, इत्यार्तवत्त्वं तस्य सूचितम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां तत्त्वदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

पु. अ. त.— ततः किं कृतवानित्यपेक्षायां सञ्जय आह । एवमुक्त्वा अर्जुनः सङ्ख्ये सङ्ग्रामे रथोपस्थे रथोपरि स्थितः भक्त्यन्तरायत्वेन युद्धोपक्रान्तिराज्यानाकाङ्क्षणेऽपि भगवदनुत्तरे भक्तिज्ञानार्थं शोकसंविग्नमानसो भूत्वा सशरं चापं विसृज्य उप समीपे भगवत आविशत्, स्थित इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

एवमस्मिन्नध्यायेऽर्जुनस्य विषादे लोकशास्त्रातिक्रमो हेतुत्वेनोक्तः । न चात्राधिकारस्याग्रिमाध्यायारम्भ एव सिद्धेरस्याध्यायस्य किं प्रयोजनमिति शङ्क्यम्, कृपावेशबोधनार्थत्वेन सप्रयोजनत्वात् । अत एव पाद्मे गीतामाहात्म्ये— 'तस्मादध्यायमाद्यं यः पठेद्यः संस्मरेत्तथा । अभ्यासादस्य न भवेद्भवाम्भोधिः सुदुस्तरः' [श्लो.५३] इति फलमुक्तं तस्मादुपोद्घातसङ्गतिः ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

नी० भा० दी०— सङ्ख्ये संग्रामे ॥ ४७ ॥

इति श्रीभगवद्गीतायां भारतभावदीपे नैलकण्ठीये [ भीष्मपर्वणि गीतार्थप्रकाशे ] प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

श्रीपार्वत्युवाच—
भगवन्सर्वतत्त्वज्ञ श्रीविष्णोस्त्वत्प्रसादतः ।
श्रुता नानाविधा धर्मा लोकनिस्तारहेतवः ॥ १ ॥
अधुना श्रोतुमिच्छामि गीतामाहात्म्यमप्यहम् ।
श्रुतेन येन देवेश हरौ भक्तिर्विवर्धते ॥
तद्वदस्वाधुना देव यद्यहं तव वल्लभा ॥ २ ॥
श्रीमहादेव उवाच—
अतसीपुष्पसङ्काशं खगेन्द्रासनमच्युतम् ।
शयानं शेषशय्यायां महाविष्णुमुपास्महे ॥ ३ ॥
कदाचिदासने रम्ये सुखासीनं मुरद्विषम् ।
आनन्दयित्री लोकानां लक्ष्मीः पप्रच्छ सादरात् ॥४॥
श्रीरुवाच—
शयालुरसि दुग्धाब्धौ भगवन्केन हेतुना ।
उदासीन इवैश्वर्ये जगन्ति स्थापयन्नपि ॥ ५ ॥
ईश्वर उवाच—
इति देव्या वचः श्रुत्वा मुरभिद्रागगर्भितम् ।
उवाच श्लक्ष्णया वाचा विस्मयस्मेरलोचनः ॥ ६ ॥
श्रीभगवानुवाच—
नाहं सुमुखि निद्रालुर्निजं माहेश्वरं महः ।
दृशा तत्त्वानुवर्तिन्या पश्याम्यन्तर्निमग्नया ॥ ७ ॥
कुशाग्रया धिया देवि यदन्तर्योगिनो हृदि ।
पश्यन्ति यच्च वेदानां सारं मीमांसते भृशम् ॥ ८ ॥
तदेकमक्षरं ज्योतिरात्मरूपमनामयम् ।
अखण्डानन्दसन्दोहं निष्पन्दि द्वैतवर्जितम् ॥ ९ ॥
यदाश्रया जगद्वृत्तिर्यन्मया चानुभूयते ।
न येन रहितं किञ्चिज्जगत्त्रयं चराचरम् ॥ १० ॥
निर्मथ्य बहुधाऽऽलोक्य वेदशास्त्राम्बुधिं सुधीः ।
द्वैपायनो यदासाद्य गीताशास्त्रं निसृष्टवान् ॥ ११ ॥
यदास्थाय महानन्दानन्दीकृतमनाः सदा ।
निद्रालुरिव देवेशि दुग्धाब्धौ प्रतिभामि ते ॥ १२ ॥
ईश्वर उवाच—
इति तस्य मुरारातेर्मितमानन्ददं वचः ।
प्रहर्षोत्फुल्ललोलाक्षी लक्ष्मीः श्रुत्वा विसिस्मिये ॥१३॥
श्रीरुवाच—
भवानेव हृषीकेश ध्येयोऽसि यमिनां यदा ।
तस्मात्त्वत्तः परं यत्तच्छ्रोतुं कौतूहलं हि मे ॥ १४ ॥
चराचराणां लोकानां कर्ता हर्ता स्वयं प्रभुः ।
यथा स्थितस्ततोऽन्यस्त्वं यदि मां बोधयाच्युत १५
श्रीभगवानुवाच—
मायामयमिदं देवि ! वपुर्मे न तु तात्त्विकम् ।
सृष्टिस्थित्युपसंहारक्रियाजालोपबृंहितम् ॥ १६ ॥
अतोऽन्यदात्मनो रूपं द्वैताद्वैतविवर्जितम् ।
भावाभावविनिर्मुक्तमाद्यन्तरहितं प्रिये ॥ १७ ॥
शुद्धसंवित्प्रभालाभपरानन्दैकसुन्दरम् ।
रूपमैश्वरमात्मैक्यं गम्यं गीतासु कीर्तितम् ॥ १८ ॥
ईश्वर उवाच—
इत्याकर्ण्य वचो देवी देवस्यामिततेजसः ।
शङ्कमानाऽऽह वाक्येषु परस्परविरोधिताम् ॥ १९ ॥
श्रीरुवाच—
स्वयं चेत्परमानन्दमवाङ्मनसगोचरम् ।
बोधयति कथं गीता इति मे छिन्धि संशयम् ॥ २० ॥
ईश्वर उवाच—
श्रियः श्रुत्वा वचो युक्तमितिहासपुरस्सरम् ।
आत्मानुगामिनीं दृष्टिं गीतां बोधितवान्प्रभुः ॥ २१ ॥
अहमात्मा परेशानि परापरविभेदतः ।
द्विधा ततःपरः साक्षी निर्गुणो निष्कलः शिवः ॥२२॥
अपरः पञ्चवक्त्रोऽहं द्विधा तस्यापि संस्थितिः ।
शब्दार्थभेदतो वाचो यथाऽऽत्माऽहं महेश्वरः ॥२३॥
गीताया वाक्यरूपेण यन्निरुच्छिद्यते दृढः ।
मदीयः पाशबन्धोऽयं संसारविषयात्मकः ॥ २४ ॥
यदभ्यासपराधीनः पञ्चवक्त्रो महेश्वरः ।
इति तस्य वचः श्रुत्वा गीताशास्त्रमहोदधेः ॥ २५ ॥
इदं परमभेदेन बोध्यते भवभीरुभिः ।
तमपृच्छदिदं वाक्यमङ्गप्रत्यङ्गसंस्थितम् ॥
माहात्म्यमितिहासं च सर्वं तस्यै न्यवेदयत् ॥ २६ ॥
श्रीभगवानुवाच—
शृणु सुश्रोणि वक्ष्यामि गीतासु स्थितिमात्मनः ।
वक्त्राणि पञ्च जानीहि पञ्चाध्यायाननुक्रमात् ॥२७॥
दशाध्यायान्भुजांश्चैकमुदरं द्वे पदाम्बुजे ।
एवमष्टादशाध्यायी वाङ्मयी मूर्तिरैश्वरी ॥ २८ ॥
जानीहि ज्ञानमात्रेण महापातकनाशिनी ।
अत्राध्यायं तदर्धं वा श्लोकमर्धार्धमेव च ॥
अभ्यस्यति सुमेधा यः सुशर्मेव स मुच्यते ॥ २९ ॥
श्रीरुवाच—
सुशर्मा नाम को देव किञ्जातीयः किमात्मकः ।
कुत्रत्यस्तस्य वै मुक्तिः केनाजायत हेतुना ॥ ३० ॥
श्रीभगवानुवाच—
सुशर्मा नाम दुर्मेधाः सीमा पापात्मनामभूत् ।
अनाम्नायविदां वंशे विप्राणां क्रूरकर्मणाम् ॥ ३१ ॥
न ध्यानं न जपो होमो नैव चातिथिपूजनम् ।
केवलं विषयेष्वेव लाम्पट्येनाभ्यवर्तत ॥ ३२ ॥
हलेन विलिखन्भूमिं पर्णजीवी सुराप्रियः ।
मांसोपहारैः सुचिरं कालमेवं निनाय सः ॥ ३३ ॥
आनेतुकामः पर्णानि पर्यटन्नृषिवाटिकाम् ।
ततः कालेन दष्टोऽभूत्कालसर्पेण मूढधीः ॥ ३४ ॥

कालधर्मं समासाद्य गत्वाऽथ निरयान्बहून् ।
पुनरागत्य मर्त्येषु बलीवर्दत्वमेयिवान् ॥ ३५ ॥
पङ्गुना केनचित्क्रीतस्ततः स्वजीवनाय सः ।
वहन्पृष्ठेन शरदः सप्ताष्टौ कष्टतोऽनयत् ॥ ३६ ॥
कदाचित्पङ्गुना उच्चैश्चिरमावर्तितो जवात् ।
पपात तरसा भूमौ मूर्छां च प्रतिपेदिवान् ॥ ३७ ॥
विकीर्णाङ्गो विवृत्ताक्षः फेनसन्ततिमुद्गिरन् ।
न जीवति न मृत्युं वा प्रतिपेदे कुकर्मणा ॥ ३८ ॥
कौतुकाकृष्टलोकेऽस्मिंस्तस्मिञ्जनसमागमे ।
श्रेयसे तस्य सुकृती कश्चित्पुण्यं वितीर्णवान् ॥ ३९ ॥
कर्माणि स्वान्यनुस्मृत्य ददुरन्ये च केचन ।
गणिका काऽपि तत्रस्था लोकयात्रानुवर्तिनी ॥ ४० ॥
अज्ञातनिजपुण्या सा किञ्चिदुत्सृष्टवत्यभूत् ।
परेतनगरीमादौ स नीतः कालकिङ्करैः ॥ ४१ ॥
गणिकादत्तपुण्येन पुण्यवानिति मोचितः ।
पुनरागत्य भूलोकं कुलशीलवतां गृहे ॥ ४२ ॥
द्विजन्मनामसौ जज्ञे जातिं स्वामनुसंस्मरन् ।
काले महति जिज्ञासुः श्रेयः स्वाज्ञाननोदनम् ॥ ४३ ॥
उपेत्य गणिकां दत्तं ख्यापयित्वा स पृष्टवान् ।
आचष्ट सा शुको नित्यं पञ्जरस्थः पठत्ययम् ॥ ४४ ॥
तेन पूतान्तरात्माऽहं तत्पुण्यं पयकल्पयम् ।
ताभ्यां शुकस्तु पृष्टोऽसौ व्याख्यातुमुपचक्रमे ॥
आख्यायिकां पुरा वृत्तां स्मृत्वा जातिं निजामपि ।

शुक उवाच—

पुरा विद्वानहं भूत्वा वैदुष्यस्मयमोहितः ।
रागद्वेषेण विद्वत्सु गुणवत्स्वपि मत्सरी ॥ ४६ ॥
कालेनाहं ततः प्रेत्य प्राप्य लोकाञ्जुगुप्सितान् ।
सोऽहं कीरकुलेऽभूवं सद्गुरावतिनिन्दकः ॥ ४७ ॥
कालधर्मेण दुष्कर्मा पितृभ्यां च वियोजितः ।
निदाघेऽध्वनि सन्तप्त आनीतोऽस्म्यृषिपुङ्गवैः ॥४८॥
पाठितः पञ्जरस्थोऽहमाश्रमे महदाश्रमे ।
आवर्तयद्भ्यो गीतानामाद्यमध्यायमादरात् ॥ ४९ ॥
श्रुत्वा ऋषिकुमारेभ्यः पाठं चाकरवं मुहुः ।
एतस्मिन्नन्तरे कश्चिद्व्यागुरिश्चौरकर्मकृत् ॥
मामाहृत्य तदाऽक्रीणादिति वृत्तमुदाहृतम् ॥ ५० ॥

श्रीभगवानुवाच—

अध्यायोऽयं पुराऽऽम्नातो येन पापमनोदयम् ।
पूतान्तरात्मा येनासौ मोचितश्च द्विजोत्तमः ॥
एवमन्योन्यमाभाष्य तन्माहात्म्यं प्रशस्य च ।
ते जपन्तोऽनिशं धीरा मुक्तिमाहो प्रपेदिरे ॥ ५२ ॥
तस्मादध्यायमाद्यं यः पठते शृणुते तु यः ।
अभ्यसेत्तस्य न भवेद्भवाम्भोधिर्दुरुत्तरः ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे सतीश्वरसंवादे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताप्रथमाध्याय-महिमकथनं नाम एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १ ॥

---

## परिशिष्टम् ।

**टिप्पनी— अ. १ श्लो. १ पृ. २५— कुरुक्षेत्र**मिति भूमध्यरेखासन्नो विस्तीर्णः समश्च भूप्रदेश उच्यते । तत्र कुरुक्षेत्रपदप्रवृत्तिनिमित्तमुक्तं महाभारते (श. प. ५३।२)— ‘पुरा च राजर्षिवरेण धीमता बहूनि वर्षाण्यमितेन तेजसा । प्रकृष्टमेतत्कुरुणा महात्मना ततः कुरुक्षेत्रमितीह पप्रथे ॥’ इति । तन्मर्यादाऽप्युक्ता तत्रैव— ‘तरन्तुकारन्तुकयोर्यदन्तरं रामह्रदानां च मचक्रुकस्य । एतत्कुरुक्षेत्रसमन्तपञ्चकं प्रजापतेरुत्तरवेदिरुच्यते ॥’ (व. प. ८३।२०८ श. प. ५३।२४) इति ॥ ॥ नीलकण्ठस्तु— ‘मनसाऽप्यभिकामस्य कुरुक्षेत्रं युधिष्ठिर । पापानि विप्रणश्यन्ति ब्रह्मलोकं च गच्छति ॥’ (म. भा. व. प. ८३।६) इति श्लोकव्याख्यायां ‘कुत्सितं रौतीति कुरु पापम्, तस्य क्षेपणात्त्रायत इति कुरुक्षेत्रं पापनिवर्तकम्’ इति निरवोचत् ॥ ॥ श्रीहंसयोगिभाष्ये तु “प्रसिद्धानां हि तेषां तेषां दर्शनानां प्रथमेन प्रबन्धेन तत्तद्दर्शनसमग्रार्थसङ्ग्रहः शब्दतोऽर्थतो वा मनाक् सूचितो भवितुमर्हति’ इति नियममनुसृत्य ‘धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे’ इत्यादिप्रथमश्लोकस्य द्वाभ्यां वाक्याभ्यां समग्रश्रीगीतार्थसङ्ग्रहोऽपि शब्दशक्त्यैव व्याख्यातो भवतीति विज्ञायते । अत्र च ‘धर्मक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः मामकाः किमकुर्वत ?’ इति प्रथमवाक्येन योगब्रह्मविद्यापूर्वकाण्डार्थभूतशुद्धसाङ्ख्याधिकारिनियतानुष्ठेयससारव्यवसायानुगतधर्मस्वरूपं शुद्धाशुद्धयोगब्रह्मविद्याधिकारिभिः प्रथमं संवेद्यम्, ‘कुरुक्षेत्रे युयुत्सवः समवेताः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत ?’ इति द्वितीयवाक्येन तद्योगब्रह्मविद्योत्तरकाण्डार्थभूतशुद्धयोग्यधिकारिनियतानुष्ठेययोगसंसारव्यवसायानुगतधर्मस्वरूपं शुद्धयोगब्रह्मविद्याधिकारिभिः पुनर्द्वितीयत्वेन संवेद्यं व्याख्यातं भवति” इत्युक्तम् ॥ ॥ अथ चात्र ‘धर्मक्षेत्रकुरुक्षेत्रपदाभ्यां प्रतिपाद्यमानं प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणं वैदिकं धर्मद्वयं सूच्यते । तथा हि— धर्मपदेन प्रवृत्तिलक्षण एव धर्मो बोध्यते, ‘चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः’ (जै. सू. १।१।२) इति तल्लक्षणात् । तस्य धर्मस्य उत्पत्तेर्वृद्धेश्च निमित्तं शस्यस्य क्षेत्रमिव क्षेत्रम् । उक्तञ्च मनुना— ‘कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः ।’ [२।१९] इत्याद्यनुक्रम्य ‘एषा धर्मस्य वो योनिः समासेन प्रकीर्तिता ।’ (२।२५) इति ॥ ॥ कुरुशब्देन च परमात्माभिधीयते ‘आत्मा हि शुद्धः परमेश्वराख्यो यतश्च सर्वं क्रियते ह्यनेन । ततः परोऽयं कुरुरित्युदीर्यते स एव कर्ता परमः स्वतन्त्रः ॥’ (म. भा. शु. ध. मं फो. शां. प. २५१) इति वचनात् । तेन तदाप्तिसाधनीभूतो निवृत्तिलक्षणो धर्मो लक्ष्यत इति ॥ [इतोऽग्रिमे ६० पृष्ठे—]

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः।

[ अध्यायः २ ]

**नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरा साङ्ख्ययोगधीः।**
**द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये ॥ ६ ॥**

## गीतार्थसंग्रहरक्षा।

एवमात्मयाथात्म्यं युद्धाख्यस्य च कर्मणस्तत्प्राप्तिसाधनतामजानतः शरीरात्मज्ञानेन मोहितस्य तेन च मोहेन युद्धान्निवृत्तस्यास्य मोहशान्तये नित्यात्मविषया साङ्ख्यबुद्धिस्तत्पूर्विका च असङ्गकर्मानुष्ठानरूपकर्मयोगविषया बुद्धिः स्थितप्रज्ञता योगसाधनभूता द्वितीयाध्याये प्रोक्ता। तदुक्तम्— 'नित्यात्मासङ्ग....तन्मोहशान्तये' इति।

संख्यया बुद्ध्या अवधारणीयमात्मतत्त्वं सांख्यम्, तद्विषयबुद्धिः सांख्यधीः। नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरेति तद्विवरणम्। एवमत्र असङ्गकर्मेहाशब्देनापि योगशब्दार्थविवरणादपौनरुक्त्यम्। स्थितधीः स्थितप्रज्ञता, ज्ञाननिष्ठेत्यर्थः। सा साध्यत्वेन लक्षं यस्याः सा तथोक्ता। तन्मोहशान्त्यै उक्तप्रकारस्य अर्जुनस्य देहात्मादिभ्रमनिवृत्त्यर्थम् ॥ ६ ॥

---

[ ५९ पूर्वपृष्ठोर्वरिता टिप्पनी ]

—'समवेतायुयुत्सवः' इत्येकं सामासिकं वा पदं 'मामकाः' इत्यस्य विशेषणम्। नास्ति युयुत्सुर्येषु ते अयुयुत्सवः। युयुत्सुर्नाम धृतराष्ट्रस्य वैश्यायामुत्पन्नः पुत्रः। तदुत्पत्तिरुक्ताऽऽदिपर्वणि ( ११५।४१–४२ ) 'गान्धार्यां क्लिश्यमानायामुदरेण विवर्धता। धृतराष्ट्रं महाराजं वैश्या पर्यचरत् किल। तस्मिन् संवत्सरे राजन्धृतराष्ट्रान्महायशाः। जज्ञे धीमांस्ततस्तस्यां युयुत्सुः करणो नृप' इति। स च युद्धारम्भ एव पाण्डवपक्षं प्रविष्टः। तदुक्तम्— 'ततो युयुत्सुः कौरव्यान् परित्यज्य सुतांस्तव। जगाम पाण्डुपुत्राणां सेनां विश्राव्य दुन्दुभिम् ॥' ( म. भा. भी. प. ४३।१०० ) इति। अतो युयुत्सया समवेता धार्तराष्ट्रा अयुयुत्सव एवासन्निति युक्तमेतत्। 'इह समवपूर्वकस्येणोऽर्थः प्रविश्यैकीभवनं' इति तत्त्वबोधिनी। न च गीतोपदेशोत्तरमेव युयुत्सुना दुर्योधनः पक्षत्यागादत्र धृतराष्ट्रस्य तज्ज्ञानायोगेन निर्दिष्टार्थस्यायुक्तत्वं वाच्यम्, 'सञ्जयोऽहं महाराज नमस्ते भरतर्षभ। हतो भीष्मः शान्तनवो भरतानां पितामहः' ( म. भा. भी. प. १३।३ ) इत्यादिना तेन प्रागेव सञ्जयात् सङ्क्षेपतः समस्तस्य वृत्तान्तस्य ज्ञातत्वात्।

— **अविगीता।**

**श्लो. २।३ पृ. २८**— व्यूढं वज्राख्यव्यूहरचनया स्थितम्। 'एष व्यूहामि ते व्यूहं राजसत्तम दुर्जयम्। अचलं नाम वज्राख्यं विहितं वज्रपाणिना ॥' ( म. भा. भी. प. १९।७ ) इत्यर्जुनवाक्यात्। यद्यपि 'एष व्यूहामि ते—' इत्यादिपूर्वोदाहृतवाक्यादिसन्दर्भात्पाण्डवसेनाव्यूहोऽर्जुनेनैव विहित इति प्रतीयते, तथापि धृष्टद्युम्नस्य प्रधानसेनापतित्वादत्र द्रुपदपुत्रेणेत्युक्तम्। **नीलकण्ठो**क्तोऽपि हेतुर्युक्तः।

— **अविगीता।**

| पृ. | पं. | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|---|---|---|---|
| ९–१ | ११ | ऋक्वामनसू. | ऋ.सं. १।२।७–६ |
| १०–१ | २४ | व्याख्या चेष्टा- | व्याख्याचेष्टा– |
| १२–१ | ८ | पाठाद्बहु– | पाठात्। बहु– |
| ,, | १३ | व्याख्येयताप्रामाण्ये | व्याख्येयता प्रामाण्ये |
| ,, | २३ | नशू अदर्शने | 'णशू अदर्शने' |
| १२–२ | १७ | वाची आलु- | वाची वाऽऽलु– |
| ,, | ३० | वेदार्थज्ञ– | वेदार्थाज्ञ– |
| १३–१ | १३ | प्रयुक्तम्, यदाह— भास्करः। शास्त्र...संगतम्। इति सङ्करः। कृष्णा— | प्रयुक्तं यदाह भास्करः— 'शास्त्र—...सङ्गतम्' इति सङ्करः कृष्णा ... |
| १५-२ | १४ | न; सम्। | न सम्। |
| | ३५ | ईदृग्दुष्कृत... | ईदृग्दुष्कर...... |
| १६ | ८ | परमार्थसबोधा- | परमार्थावबोधा- |
| १७ | ४ | हन्यात' | हन्यात्, |
| ,, | १५ | गुर्वादिहनं | गुर्वादिहननं |
| १८–२ | २२ | भक्तिपीयूप– | भक्तिपीयूष– |
| २६–१ | ३८ | यद्यद्वृत्तम्, | यद्यद्वृत्तम्, |
| २७–२ | १५ | अयुतसिद्धीश्च | अयुतसिद्धिश्च |
| २७–२ | २९ | संबोध न... | सम्बोधयन्न .. |
| ,, २ | ४१ | सर्वा कथां | सर्वां कथां |
| २८ | १५ | " अविमक्तं | " अविमुक्तं |
| ३०–१ | ३० | प्रथमकौरव... | प्रथमं कौरव... |
| ३२ | १० | वीरवररेव | वीरवरैरेव |
| ,, १ | २४ | धृष्टद्यम्ना ... | धृष्टद्युम्ना ... |

# साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः २ ।

अर्जुनस्य युद्धोपरतिं श्रुत्वा प्रहृष्टं धृतराष्ट्रं प्रति तद्धर्षनाशनं
सञ्जयवचनम् । युद्धप्रवृत्तिपरं भगवद्वाक्यं च ।

**सञ्जय उवाच— तं तथा कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।**
**विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥ १ ॥**
**श्रीभगवानुवाच— कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।**
**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ! ॥ २ ॥**
**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।**
**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ! ॥ ३ ॥**

आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

'अहिंसा परमो धर्मो भिक्षाशनं च' इत्येवंलक्षणया बुद्ध्या युद्धवैमुख्यमर्जुनस्य श्रुत्वा स्वपुत्राणां राज्यैश्वर्यमप्रचलितमवधार्य स्वस्थहृदयं धृतराष्ट्रं दृष्ट्वा तस्य दुराशामपनेष्यामीति मनीषया सञ्जयस्तं प्रत्युक्तवानित्याह— **सञ्जय** इति । परमेश्वरेण स्मार्यमाणोऽपि कृत्याकृत्ये सहसा नार्जुनः सस्मार, विपर्ययप्रयुक्तस्य शोकस्य दृढतरमोहहेतुत्वात्; तथापि तं भगवान्नोपेक्षितवानित्याह— **तं तथे**ति । तं प्रकृतं पार्थं तथा स्वजनमरणप्रसङ्गदर्शनेन कृपया करुणयाऽऽविष्टमधिष्ठितमश्रुभिः पूर्णे समाकुले चेक्षणे यस्य तमश्रुव्याप्ततरलाक्षं विषीदन्तं शोचन्तमिदं वक्ष्यमाणं वाक्यं सोपपत्तिकं वचनं मधुनामानमसुरं सूदितवानिति मधुसूदनो भगवानुक्तवान्, न तु यथोक्तमर्जुनमुपेक्षितवानित्यर्थः ॥ १ ॥ किं तद्वाक्यमित्यपेक्षायामाह— **श्रीभगवा**निति । कुतो हेतोस्त्वा त्वां सर्वक्षत्रियप्रवरं कश्मलं मलिनं शिष्टगर्हितं युद्धात्पराङ्मुखत्वं विषमे सभयस्थाने समुपस्थितं प्राप्तम्? अनार्यैः शास्त्रार्थमविद्वद्भिर्जुष्टं सेवितम्, अस्वर्ग्यं स्वर्गानर्हं— प्रत्यवायकारणम्, इह चाकीर्तिकरमयशस्करम् । अर्जुननाम्ना प्रख्यातस्य तव नैतद्युक्तमित्यर्थः ॥२॥ पुनरपि भगवानर्जुनं प्रत्याह— **क्लैब्य**मिति । क्लैब्यं क्लीबभावमधैर्यं मा स्म गमो मा गाः । हे पार्थ पृथातनय ! न हि त्वयि महेश्वरेणापि कृताहवे प्रख्यातपौरुषे महामहिमन्येतदुपपद्यते । क्षुद्रं क्षुद्रत्वकारणं हृदयदौर्बल्यं मनसो दुर्बलत्वमधैर्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ युद्धायोपक्रमं कुरु । हे परन्तप ! परं शत्रुं तापयतीति तथा सम्बोध्यते ॥ ३ ॥

रामानुजभाष्यम् ।

**एवमुपविष्टे पार्थे कुतोऽयमस्थाने समुपस्थितः शोकः? इत्याक्षिप्य तमिमं विषमस्थं शोकमविद्वत्सेवितं परलोकविरोधिनमकीर्तिकरमतिक्षुद्रं हृदयदौर्बल्यकृतं परित्यज्य युद्धायोत्तिष्ठेति श्रीभगवानुवाच ॥ १-३ ॥**

वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

अथ शोकापनोदनविषयो द्वितीयोऽध्याय आरभ्यते । सञ्जयवाक्याविच्छेदेऽपि 'सञ्जय उवाच' इति निर्देशोऽध्यायान्तरारम्भरूपतयाऽन्योक्तिशङ्कापरिहाराय । 'तं तथा' इत्यादि श्लोकत्रयं व्याख्याति— **एवमि**ति । 'विषीदन्तम्' इत्यन्तस्य पूर्वाध्यायोक्तानुवादत्वं सूचयितुं **एवमुपविष्टे पार्थे** इत्युक्तम् । 'तथा' इति अस्थान इत्यर्थः । कृपा च आन्तरो विषादः, ततः अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं बाह्यशोकेनाप्याविष्टमित्यर्थः । विषीदन्तं पूर्वाध्यायोक्तरीत्या विषादं प्राप्योपविष्टम् । मधुसूदनशब्देन शोकमूलरजस्तमोनिबर्हणत्वं सूचितम् । **अस्थाने** इति विषमशब्दोपचरितार्थः । कश्मलमिह मूर्च्छाकल्पः शोकः; 'शोकसंविग्नमानसः' [ १।४७ ] इति प्रकृतत्वात् । प्रख्यातवंशवीर्यश्रुतादिसूचकाः अर्जुन-पार्थ-परन्तपेति शब्दाः कौन्तेयत्वात्त्वयि आक्षेपकाकुगर्भा इत्यभिप्रायेण **आक्षिप्य** इत्युक्तम् । **कुतः**शब्दश्च हेत्वाभासस्य हेतुतां प्रक्षिपन् धिक्कारगर्भः । परान् तापयतीति परन्तपः । क्लैब्यमिह कातर्यम्, तत् **हृदयदौर्बल्य**शब्देन विवृतम् । पूर्वश्लोकस्थविशेषणानामप्यत्र कातर्यत्याज्यताहेतुत्वादर्थतस्तान्यप्यत्र सङ्गमयति— **तमिमं विषमस्थ**मित्यादिना । अतत्त्वेभ्यः आरात् दूरात् याता बुद्धिर्येषां ते आर्याः विद्वांसः, तदन्ये तु अनार्याः । 'अस्वर्ग्यम्' इत्यत्राविशेषात् स्वर्गशब्दः परलोकमात्रोपलक्षकः । नञश्चात्र विरोधिपरतया स्वर्ग्यशब्दनिर्दिष्टस्वर्गहेतुविरोधित्वेऽर्थतस्तत्फलविरोधात् **परलोक**विरोधिनमित्युक्तम् । क्षुद्रशब्दस्यात्र सङ्कोचकाभावेना-

पेक्षिकक्षुद्रविषयत्वायोगात् महत्तरस्यार्जुनस्य तथाविधावस्थापर्यालोचनाच्च काष्ठाप्राप्तं क्षुद्रत्वं विवक्षितमिति दर्शयितुं **अतिक्षुद्रम्** इत्युक्तम्। कार्ये कारणोपचार इति वा, कारणत्यागस्य कार्यत्यागार्थतया पूर्वोत्तरश्लोकफलितार्थविवक्षया वा **हृदयदौर्बल्यकृतम्** इत्युक्तम्; अदृढहृदयत्वकृतमित्यर्थः । 'परन्तप' इत्यनेन ज्ञापितं प्राकरणिकमर्थमध्याहृत्योक्तं **युद्धायोत्तिष्ठेति** ॥ २ ॥ ३ ॥

### हनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम् ।

**ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह— तमिति । मधुसूदनः श्रीकृष्णस्तमर्जुनं तथा तेन प्रकारेण कृपयाऽऽविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तं पूर्वोक्तप्रकारेण विषादं प्राप्तवन्तं प्रतीदं वक्ष्यमाणमुवाच ॥१॥ तदेव वाक्यं दर्शयति—कुत इति द्वाभ्याम् । हेऽर्जुन! इदं कश्मलं मोहकलुषं विषमे सङ्कटे त्वां कुतो हेतोः समुपस्थितम्? । अनार्यजुष्टमार्यैरसेवितम्, अस्वर्ग्यं स्वर्गस्यासाधनम्, अकीर्तिकरमयशस्करम् ॥२॥ तस्माद्यत्कर्तव्यं तदाह— क्लैब्यमिति । हे पार्थ! क्लैब्यं मा स्म गमः कातर्यं मा प्राप्नुहि । त्वयि विषम एतन्नोपपद्यते युक्तं न भवति । हे परन्तप! क्षुद्रं तुच्छं हृदयदौर्बल्यं कातर्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ ॥३॥**

### श्रीवेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यं व्याख्यानम् ।

प्रथमेऽध्याये अर्जुनस्य शोकमोहौ वर्णितौ, द्वितीये तु तन्निवर्तकब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानोपदेशोऽनुवर्ण्यते । तत्र तावत्पूर्वाध्यायान्ते अर्जुनेन सशरं चापमुत्सृज्य रथोपर्युपविष्टमित्याकर्ण्य तस्मिन्युद्धकातरतां तत्सारथेर्भगवतस्तदीययुद्धोपरमानुमोदित्वे स्वेष्टसिद्धिं च मन्यमानं बहिरिवान्तरपि दृष्टिशून्यतया सर्वथान्धं धृतराष्ट्रमालोक्य तदीयदुरध्यवसायनिरासाय सञ्जयस्तमुवाचेत्याह भगवान्बादरायणः—**सञ्जय उवाच**—इति। एवमग्रेऽपि यत्र यत्र सञ्जय उवाचेति श्रूयते, तस्य प्रयोजनं तत्र तत्रैव वक्ष्यामः । अन्यथा सर्वस्यापि गीताशास्त्रस्य धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जयोक्तिरूपत्वात् विशिष्य क्वचित्क्वचित् 'सञ्जय उवाच' इत्यस्य वैयर्थ्यापातादिति ध्येयम् ।

सञ्जयवाक्यमेवावतारयति—**मधुसूदनस्तमुवाचेति** प्रथममन्वयः । महता समरसमारम्भेण रणरङ्गं प्रविश्य न्यस्तशस्त्रतया रथोपर्युपविष्टमिति तच्छब्दार्थः । तत्र हेतुगर्भविशेषणं **कृपयाऽऽविष्टमिति** । मन्निमित्तमेषां मरणदुःखं मा भूदित्येवमाकारकश्चित्तवृत्तिविशेषः कृपा, तयाऽऽविष्टम् । अनेन कृपाप्रयुक्तमेवार्जुनस्य न्यस्तशस्त्रत्वं, न तु भयप्रयुक्तम्; अतस्तस्मिन्युद्धकातरतां मा शङ्किष्ठा इत्युक्तं भवति ।

ननु कथमर्जुनस्य धार्तराष्ट्रेष्वरिषु योद्धव्येषु कृपा जाता, तत्राह—**तथेति** । तथाकृपयेत्येकं पदम्, सुप्सुपेति समासः । तथाविधा या कृपा तयेत्यर्थः । यद्यपि धार्तराष्ट्रेष्वर्जुनस्य न वस्तुतः कृपा भवितुमर्हति, दीनानाथशरणागतादिरूपस्थाने पातिन एव परदुःखप्रहाणेच्छात्मकचित्तवृत्तिविशेषस्य लोके कृपात्वेन प्रसिद्धतया तेषु तदसम्भवात्, 'कुतस्त्वा कश्मलं' इत्यनन्तरश्लोके मोहापरपर्यायकश्मलत्वेनैव भगवता तन्निरूपणाच्च । तथापि स्वजनताव्यामोहस्तादृशचित्तवृत्तिरूपेण परिणतः प्रसिद्धकृपावैलक्षण्यात्तथाकृपेत्यर्थः । अथ कथं विवेकिनाऽर्जुनेन तादृशो मोहो न निरस्तः? इत्याशङ्क्योक्तम्—**आविष्टमिति** । आविष्टशब्दः पिशाचाद्यावेशवति प्रयुज्यते । आविष्ट इवाविष्टः । यथा हि पिशाचेनाविश्य जनः स्ववशीक्रियते, तथा अयमपि स्वजनताव्यामोहेनेति न तन्निरासे शक्तोऽयमिति भावः । अत एव कृपां प्राप्त इत्यनुक्त्वा तस्याः स्वातन्त्र्यप्रयुक्तप्राबल्यप्रदर्शनाय **कृपयाविष्टमिति** कर्तृत्वनिर्देशः स्वारस्यमालम्बते । आविष्टपदेनोक्तमेव पिशाचाविष्टसाधर्म्यं दर्शयति— **अश्रुपूर्णाकुलेक्षणं विषीदन्तमिति**, अश्रुभिः पूर्णे व्याप्ते आकुले अस्वस्थे विकृते ईक्षणे चक्षुषी यस्मिन्कर्मणि तत्तथा । लोके हि पिशाचाविष्टस्य नयने बाष्पायमाणे विकृते च भवतः, अकाण्ड एव विषादश्च भवतीति तत्साधर्म्योक्तिः । एवम्भूतमर्जुनं प्रति इदमाह पिशाचोच्चाटनसिद्धमन्त्ररूपं वक्ष्यमाणवाक्यं मधुसूदन उवाच ।

अत्र च **इदमुवाचेत्यनेन** भगवतोऽर्जुनीययुद्धोपरमानुमोदित्वप्रयुक्ता धृतराष्ट्रस्य स्वेष्टसिद्धिदुराशा निरस्ता । यदि हि न्यस्तशस्त्रमर्जुनं भगवाननुवर्तेत, तर्ह्येव स्वेष्टसिद्धिराशङ्क्या, न त्वेवम्; किन्त्वत्र भगवानर्जुनं युद्धे प्रवर्तयिष्यन्नेव 'कुतस्त्वा कश्मलं' इत्याद्युवाचेति भावः । मधुसूदन इत्युक्त्या मधुनामानं महादैत्यं निषूदितवतस्तादृशपिशाचोच्चाटने को भार इति सूचितम् ॥ १ ॥

**श्रीभगवानुवाचेति** । यद्यपि 'मधुसूदन उवाच' इत्यनेन गतार्थमिदम्, तथापि अर्जुनमोहनिरासे ज्ञानोपदेश एव मुख्यं कारणम्, अन्धकारनिवृत्तौ केवलदीपवत् । तत्र च मधुसंहार इव पराक्रमरूपक्रियाशक्तेर्नोपयोग इति तदुपयुक्तज्ञानशक्तिपौष्कल्यप्रदर्शनाय भगवानुवाचेति पुनर्वचनम् । भगवच्छब्दो हि ज्ञानादिषड्गुणवचनः, 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा' [ वि. पु. ६।५।७४ ] इति स्मरणात् ।

भगवद्वचनमेवावतारयति द्वाभ्याम्— हे अर्जुन! त्वा त्वां इदं 'दृष्ट्वेमं स्वजनं' [ १।२८ ] इत्यादि 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' [ १।४६ ] इत्यन्तं पूर्वाध्यायोक्तं कश्मलं मोहः तद्धेतुः । तद्धेतुकत्वात्तच्छब्द्यम् । 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' [ २।८।१०९ ] इत्यमरः । विषमे अस्थाने समुपस्थितं प्राप्तं कुतः? इत्यन्वयः । अत्र 'अर्जुन त्वा' इत्यनेन नामतोऽर्थतश्च तस्य मोहानर्हत्वमुक्तं भवति । अर्जुनशब्दो हि शुक्लस्वभाववस्तुवचनः, 'शुक्लशुभ्र—' [ १।५।१२ ] इत्यादि—(अमर) कोशस्मृतेः, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' [ १८।६१ ] इत्यत्र

अर्जुनः शुक्लस्वभावान्तरात्मा विशुद्धान्तःकरणः "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" [ ऋ. सं. ४।५।११।१ ] इति श्रुतेरिति शङ्करभाष्ये व्याख्यातत्वाच्च । ईदृशं नाम विश्रुतो महाक्षत्रियप्रवरस्य तव भास्वतोऽन्धकार इव मोहो न युक्त इत्यर्थः । अत एव त्वं मोहं प्राप्तवानित्यनुक्त्वा मोहस्त्वां समुपस्थित इत्युक्तम् । वस्तुतो मोहस्यापि स्वयं प्राप्तुमत्रावकाशो नास्तीत्येतत् 'विषमे' इत्यनेनोच्यते । विषमशब्दो ह्यसदृशवचनः प्रकृतमोहोत्पत्त्यसदृशदेशकालपरः सन्नस्थानवाची भवति । तथा च सर्वमपि कार्यं स्वदेशे स्वकाल एवोत्पद्यत इति वस्तुस्थितिः । अत्र चेदृशे युद्धरङ्गे सन्नद्धेषु शत्रुषु पुरतः स्थितेषु 'न योत्स्यामि' इति धीर्नोत्पत्तुमर्हतीत्यतोऽयमस्थाने मोह इत्यर्थः । एवमाकस्मिकत्वादत्यन्तायुक्तोऽयं मोह इति तदनुशोच्यत्वप्रदर्शनाय कुत इत्युक्तिः । तथा च एतादृशस्तव मोह एवानुशोच्यः, न तु त्वदनुशोचितो जन इति भगवतोऽभिप्रायः । तदेतद्वक्ष्यति— 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' [ २।११ ] इति । इदं कश्मलमित्युक्तकश्मलोपपादनाय अनार्यजुष्टमित्यादीनि त्रीणि तद्विशेषणानि । अनार्यैर्नीचैर्जुष्टं सेवितमित्यर्थः । अनेन 'दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् । सीदन्ति मम गात्राणि' [ १।२८ ] इत्यादेः 'विपरीतानि केशव' [ १।३१ ] इत्यन्तस्य कश्मलत्वं प्रदर्शितम्, करचरणादिशैथिल्यमुखशोषगात्रकम्पादेर्युद्धकातरनीचपुरुषव्यापारत्वप्रदर्शनेन शूरे तद्वत्तायाः कश्मलत्वाविष्करणात् । नाहं युद्धकातरतया तथोक्तवानस्मि, किन्तु स्वजनवधव्याकुलतयैव; ततो न मे मोह इत्याशङ्कायामपि तदेवोत्तरम्— **अनार्यजुष्टमिति** । आर्यैर्विद्वद्भिः आततायिवधविधिज्ञैः जुष्टं न भवतीत्यर्थः । आततायी हि स्वजनः परो वाऽवश्यं शासनीय इति धर्मशास्त्रस्थितिः, 'अपि भ्राता सुताद्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा । नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात्' इति याज्ञवल्क्यस्मृतेः [ १।३५८ ] । धार्तराष्ट्राश्चाततायिनः 'अग्निदो गरदश्च' [ मनुः ८।३५० क्षे. २३ ] इत्यादितल्लक्षणवत्त्वात् । तान्निहन्तुं युद्धे प्रवृत्तस्य तव 'सीदन्ति मम गात्राणि' [ १।२९ ] इत्यादिकं कश्मलमेवेति भावः । एतेन 'पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः' [ १।३६ ] इत्यारभ्य 'तन्मे क्षेमतरं भवेत्' [ १।४६ ] इत्यन्तस्य सर्वस्यापि कश्मलत्वमुक्तं भवति । **अस्वर्ग्यमिति** । स्वर्गविरोधी अस्वर्गो नरकः, तस्मै हितमस्वर्ग्यं नरकसाधनमित्यर्थः । तदेतद्वक्ष्यति—'ततः पापमवाप्स्यसि' [ २।३३ ] इति । स्वर्ग्यात्स्वर्गसाधनादन्यदस्वर्ग्यमित्यपरोऽर्थः । अनेन युद्धं स्वर्गसाधनमित्यर्थादुक्तं भवति । इदमपि वक्ष्यति—'स्वर्गद्वारमपावृतम्' [२।३२] इति । अनेन 'न च श्रेयो नु पश्यामि' [१।३१] इत्यादेः कश्मलत्वं प्रदर्शितम् । युद्धाकरणे स्वधर्मत्यागेन नरकः, तत्करणे स्वर्ग इत्यनिष्टनिवृत्तेरिष्टप्राप्तेश्च सत्त्वेन 'श्रेयो न पश्यामि' इत्यस्य मोहत्वाविष्करणात् । **अकीर्तिकरमिति** । अपकीर्तिकरं कीर्तिभङ्गकरं चेत्यर्थः । अनेन 'आचार्याः पितरः पुत्राः' इत्यारभ्य 'एतान्न हन्तुमिच्छामि' [ १।३४-३५ ] इत्यन्तस्य कश्मलत्वं प्रदर्शितम् । यदि ह्याचार्यादीन्न जिघांसेत्तदा पूर्वमेव तूष्णीं स्थातव्यम् । महता तु संरम्भेण युद्धं प्रस्तुत्य तदानीमेतान्न हन्तुमिच्छामीत्युक्ते 'भयाद्रणादुपरतम्' [ २।३५ ] इत्यादिवक्ष्यमाणविधया अपकीर्तिकरम्, महादेवयोधित्वनिवातकवचादिजेतृत्वकृतपूर्वतनस्वकीर्तिभङ्गकरं च भवति । अतो 'न हन्तुमिच्छामि' इति मोह एवेति भावः । तदेवमनार्यजुष्टमित्यादिविशेषणत्रयेण पूर्वाध्यायोक्तं सर्वमप्यर्जुनवाक्यजातं कश्मलमित्युपपादितं भवति ॥ २ ॥

ननु किमिति मां मोहीत्युपालभसे, लोके मोहस्य पुरुषमात्रस्वभावत्वादित्यत्राह—हे पार्थ ! वीर्यनाशकत्वात्क्लैब्यमिव क्लैब्यं मोहं मा स्म गमः मा गाः । स्मेति वाक्यालङ्कारे । यतः त्वयि पार्थे नैतत्क्लैब्यं युज्यते । यस्त्वपार्थस्तस्य क्लैब्यं युक्तम्, त्वं त्वपार्थो न भवसि, किन्तु पार्थः; ततस्त्वयि नैतद्युक्तमिति पार्थेत्यनेन ध्वन्यते । प्राकृतपुरुषाणामेवैतादृशमोहस्वाभाव्यम्, न त्वादृशस्येति भावः । यद्वा पार्थेत्यनेन पृथया देवतावरप्रसादेन लब्धस्य क्लैब्यानौचित्यमुक्तम् । त्वयीत्यनेन पृथापुत्रेष्वपि महादेवयोधित्वादिविशेषगुणैः, तदुपजीवनप्रवृत्तेन 'पाण्डवानां धनञ्जयः' [ १०।३७ ] इति वक्ष्यमाणवचनेन च अवगतमहामहिमशालिनि नेदं युक्तमित्युक्तं भवति । ननु सत्यमेव न युक्तं क्लैब्यमिति, तथापि दुर्वारमिदम्; अतो नोत्थातुमपि शक्नोमि, किं कुर्याम् ? इत्यत आह— हे परन्तप शत्रुतापन ! क्षुद्रमतितुच्छं हृदयदौर्बल्यम्—दुष्टं बलं यस्य तद्दुर्बलम्, तद्भावो दौर्बल्यम्; हृदयबलं विवेकः, तद्विरोधितया तं दोषं यन्मोहो हृदयदौर्बल्यम्— त्यक्त्वा युद्धायोत्तिष्ठ ।

अत्र क्षुद्रमिति मोहस्य सुनिरसनत्वप्रदर्शनात्तस्य दुर्वारत्वं प्रत्युक्तम् । परन्तपेत्यनेन मोहनिरासे हेतुरुक्तः । शत्रुसन्तापनो हि शत्रुं प्रतिसन्धाय क्रोधात्तत्सन्तापने प्रवर्तते । त्वया च कौरवसन्तापने प्रवृत्तेन तच्छत्रुत्वं प्रतिसन्धेयमिति कौरवकृतलाक्षागृहदाहविषदानादितत्कृत्यप्रतिसन्धायिनस्तव तद्विषयकस्वजनतामोहनिरासः सुखेन भवतीति तत्कृत्यं मुहुरनुसन्धेयमिति भावः ॥ ३ ॥

## श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटिता तत्त्वदीपिका ।

वैराग्यं प्रथमेऽध्याये पार्थदुःखमुदीरितम् । अधिकारी त्वतः सिद्धः साङ्ख्ययोगनिरूपणे ॥ १ ॥
तौ विद्यापर्वरूपत्वाद्धरिवेशानुकारिणौ । आत्मस्वरूपविज्ञानस्थिरबुद्धिप्रयोजनौ ॥ २ ॥
ततोऽशत्वपरिस्फूर्त्या भवेदाश्रयणादरः । तदाश्रयवतः कार्यं तदाज्ञाधर्मपालनम् ॥ ३ ॥
अतस्तदाज्ञारूपेण युद्धादिकरणं मतम् । न पुष्टिमिश्रभक्तो हि साङ्ख्यमात्ररुचिर्भवेत् ॥ ४ ॥

मध्ये स्वधर्मवचनं यदुक्तं साङ्ख्ययोगयोः । तेन तद्बुद्धि पुष्टिस्थः प्रकारः सम्भविष्यति ॥ ५ ॥
द्वितीये पूर्वमध्याये विषादः साङ्ख्यमुच्यते । तत्र स्वधर्मो योगान्ते स्थिरबुद्धिप्रयोजनः ॥ ६ ॥

ततः किं कृतमित्यपेक्षायां पुनः सञ्जय उवाच— तं तथेति ॥ १ ॥ मोहमधुहन्ता वाक्यं वक्ष्यमाणमुवाच— कुतस्त्वेति । विषमे सङ्कटे हे अर्जुन शुद्धस्वरूप ! कुत इदं च कश्मलं समुपस्थितम् ? ॥ २ ॥ ३ ॥

**पु. अ. त.**—श्रीकृष्णाय नमः ॥ शोकसागरसम्मग्नं पार्थं स्वीयस्वभावतः । कृष्णः स्वसाङ्ख्ययोगाभ्यामुज्जहार दयापरः ॥ पूर्वाध्याये शोकसंविग्नमानसोऽर्जुनः सशरं चापमुत्सृज्योपाविशदित्युक्तम्, ततः किं जातमित्याकांक्षायां सञ्जय आह— तथेति । तमर्जुनमाविष्टं स्वस्मिन् अश्रुभिः पूर्णे आकुले ईक्षणे यस्य तं तथा विषीदन्तं पूर्वोक्तप्रकारेण खिद्यन्तं मधुसूदनः सर्वमारणसमर्थः कृपया इदं वाक्यमग्रे उच्यमानमुवाच ॥१॥ भगवद्वाक्यमेवाह— कुतस्त्वामिति । विषमे असमये 'अयं युद्धोत्साहसमयः, नतु दयायाः' इत्यस्मिन्समये हे अर्जुन ! त्वामिदं कश्मलं कुतः समुपस्थितं अयं तव मोहः कुतः प्राप्तः ? । स्वेच्छाज्ञानादस्य कश्मलत्वमुक्तं भगवता । कश्मलं विशिनष्टि विशेषणत्रयेण— अनार्यजुष्टं न विद्यते आर्यत्वं येषु तैः सेवितम्, अस्वर्ग्यं न विद्यते स्वर्गो यस्मात्, तेन धर्मप्रतिपक्षतोक्ता । अकीर्तिकरं कीर्तिनाशकं, तेन क्षात्त्रधर्मनाशकत्वेन कुलधर्मप्रतिपक्षकत्वमुक्तम् ॥ २ ॥ अयं धर्मस्तव नोचित इत्याह— हे पार्थ क्षत्त्रियकुलोद्भव ! क्लैब्यं नपुंसकधर्मकातर्यं मा स्म गमः मा प्राप्नुहि । एतत् त्वयि न उपपद्यते । क्षुद्रं तुच्छं अश्रुद्रे न स्यात् । हे परन्तप शत्रुतापन ! हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ सावधानो भव, युद्धायेति शेषः ॥ ३ ॥

**नी० भा० दी०**—अर्जुने युद्धादुपरते मत्पुत्रा निष्कण्टकं राज्यं प्राप्स्यन्तीत्याशावन्तं राजानं प्रति सञ्जय उवाच– तं तथेति । तमर्जुनं तथा 'स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव' [ १।३७ ] इत्युक्तप्रकारेण कृपया स्नेहेन, न तु दयया परदुःखप्रहाणेच्छारूपया; तस्याः परदौर्बल्यनिश्चयोत्तरभाविन्याः अर्जुने 'यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इति स्वपराजयमाशङ्कमाने दुर्भणत्वात्; 'यानेव हत्वा न जिजीविषामः' [ २।६ ] इति स्नेहातिशयसूचकवाक्यशेषविरोधाच्च । आविष्टं व्याप्तं विषीदन्तं 'सीदन्ति मम गात्राणि' [ १।२८ ] इत्यादिना उक्तरूपं विषादं प्राप्नुवन्तं इदं वक्ष्यमाणं वाक्यं वचनीयं उवाच । मधुसूदन इति दुष्टहन्तृत्वादेवार्जुनं निमित्तीकृत्य त्वत्पुत्रानपि हनिष्यत्येवेति त्वया जयाशा न कार्येति भावः ॥ १ ॥ अर्जुनमुद्योजयन् श्रीभगवानुवाच— कुत इति । कश्मलं वैक्लव्यं, विषमे युद्धसङ्कटे, अनार्यैर्भीरुभिर्जुष्टं सेवितं, न तु त्वादृशैः शूरैः, न आर्यैर्जुष्टमिति वा । यत्तु आर्यैरजुष्टमिति विग्रहो दर्शितस्तदर्थैक्येऽपि पदव्युत्क्रमदोषादुपेक्ष्यं अत एवास्वर्ग्यमकीर्त्तिकरं च । हे अर्जुन स्वच्छस्वभाव ! तव नैतद्युक्तमिति भावः ॥ २ ॥ तदेवाह— क्लैब्यमिति । क्लैब्यं निर्वीर्यत्वम् । 'न च शक्नोम्यवस्थातुं' [ १।३० ] इत्युक्तरूपं मा गाः । नैतत् त्वयि महादेवप्रतिभटे युक्तम् । अतः क्षुद्रं तुच्छं हृदयकृतमेव तव दौर्बल्यं, न तु शक्तिसहायाद्यभावकृतं, तत्त्यक्त्वा उत्तिष्ठ युद्धाय । परन्तप शत्रुतापन ! ॥ ३ ॥

पूजार्हैर्भीष्मादिभिः स्वजनैश्च युद्धं युक्तमयुक्तं वेत्यर्जुनप्रश्नः ।

## अर्जुन उवाच—कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ! ।
## इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥ ४ ॥
## गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके ।

[ ह. पैशाचभाष्यपाठस्तु—भैक्ष्यमपीह–इति ]

## हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥

**आ. गि. टी.**—एवं भगवता प्रतिबोध्यमानोऽपि शोकाभिभूतचेतस्त्वादप्रतिबुध्यमानः सन्नर्जुनः स्वाभिप्रायमेव प्रकृतं भगवन्तं प्रत्युक्तवान्— कथमित्यादिना । भीष्मं पितामहं द्रोणं चाऽऽचार्यं सङ्ख्ये रणे हे मधुसूदन ! इषुभिः सायकैस्तौ कथं प्रतियोत्स्यामि प्रतियोत्स्ये ? तौ हि पूजार्हौ कुसुमादिभिरर्चनयोग्यौ । हेऽरिसूदन ! सर्वानेवारीनयत्नेन सूदितवानिति भगवानेवं सम्बोध्यते ॥४॥ राज्ञां धर्मेऽपि युद्धे गुर्वादिवधे वृत्तिमात्रफलत्वं गृहीत्वा पापमारोप्य ब्रूते— गुरूनिति । गुरून् भीष्मद्रोणादीन् भ्रात्रादींश्चात्र प्राप्तानहिंसित्वा । महानुभावान्महामाहात्म्यान् श्रुताध्ययनसम्पन्नान् । श्रेयः प्रशस्यतरं युक्तं

१ 'कुतस्त्वां' इत्यमृततरङ्गिणीप्रणेतृसम्मतः पाठः ।

भोक्तुमभ्यवहर्तुम् । भैक्षं भिक्षाणां समूहम् । भिक्षाशनं नृपादीनां निषिद्धमपि । इह लोके व्यवहारभूमौ । न हि गुर्वादिहिंसया राज्यभोगोऽपेक्ष्यते । किञ्च हत्वा गुर्वादीनर्थकामानेव भुञ्जीय न मोक्षमनुभवेयम् । इहैव भोगः, न स्वर्गे । अर्थकामानेव विशिनष्टि— **भोगा**निति । भुज्यन्त इति भोगास्तान् रुधिरप्रदिग्धाँल्लोहितलिप्तानिवात्यन्तगर्हितान्, अतो भोगान्गुरुवधादिसाध्यान् परित्यज्य भिक्षाशनमेव युक्तमित्यर्थः ॥ ५ ॥

**रा० भा०— पुनरपि पार्थः स्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयाकुलो भगवदुक्तं हिततममजानन्निदमुवाच— भीष्मद्रोणादिकान् गुरून् बहुमन्तव्यान् कथमहं हनिष्यामि ? कथन्तरां भोगेष्वतिमात्रप्रसक्तान् तान् हत्वा तैर्भुज्यमानांस्तानेव भोगांस्तद्रुधिरेणोपसिच्य तेष्वासनेषूपविश्य भुञ्जीय ? ॥ ४ ॥ ५ ॥**

**वे. ता. चं.**—अथ भगवदुक्तयुद्धारम्भस्य परम्परया परमनिश्श्रेयसहेतुत्वरूपहिततमत्वाज्ञानात् तत्प्रतिक्षेपरूपस्यार्जुनवाक्यस्योत्थानं तथाविधाज्ञानस्य चास्थानस्नेहाद्याकुलतामूलत्वं वदन्नुत्तरमवतारयति— **पुनरपी**ति । उक्तार्थविषयतया **पुनरपीदमुवाचे**त्युक्तम् । ' कथम् ' इत्यादिश्लोके चकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वप्रदर्शनाय **आदि**शब्दः ; उपात्तस्यानुपात्तोपलक्षणतया वा । पूजार्हशब्दविवक्षितबहुमन्तव्यत्वहेतुतयोत्तरश्लोकस्थमत्राकृष्योक्तं **गुरू**निति । **बहुमन्तव्या**निति— ' महानुभावान् ' इत्युत्तरश्लोकस्थानुसन्धानाद्वा; ते स्वत एव बहुमन्तव्याः। पितामहत्वधनुर्वेदाचार्यत्वादिभिरत्यन्तबहुमन्तव्या इति भावः । पुष्पादिभिः पूजार्हाणां पूजादिनिवृत्तिरेव साहसम्; हननं त्वतिसाहसम्; गुरुभक्त्या च तद्विरोधिभिः सह योद्धव्यम्, न पुनर्गुरुभिरिति ' कथं गुरूनिषुभिः प्रतियोत्स्यामि ' इत्यस्य भावः । **अहं**शब्देन प्रख्यातवंशत्वादिकमभिप्रेतम् । 'इषुभिः प्रतियोत्स्यामि' इत्यस्य हननपर्यन्तप्रतियुद्धाभिप्रायत्वमुत्तरश्लोकेन विवृतमिति **हनिष्यामी**त्युक्तम् । मधुसूदनारिसूदनशब्दाभ्यां नहि त्वमपि सान्दीपिन्यादिसूदन इति सूचितम् । **चर्तुम्** इत्यत्र भावमात्रार्थस्तुमुन्, न तु क्रियार्थोपपदिकः। यद्यपि या काचिज्जीविकाऽऽश्रयणीया, तथापि गुरुवधलब्धभोगेभ्य इह लोके परधर्मरूपभैक्षाचरणमपि श्रेयः प्रशस्यतरम्। महाप्रभावगुरुवधसाध्यपारलौकिकदुःखस्यातिमहत्त्वादिति भावः। प्रकृतविरुद्धार्थत्वभ्रमव्युदासाय पूर्वश्लोकस्थ**कथं**शब्दानुषङ्गादतिनृशंसत्वसामर्थ्यात् **तु**शब्दद्योतितवैषम्याच्च **कथन्तराम्** इत्युक्तम् । 'गर्हायां लडपिजात्वोः' [ अष्टा. ३।३।१४२ ] 'विभाषा कथमि लिङ् च' [ अष्टा. ३।३।१४३ ] इति गर्हार्थे इह लिङ्प्रत्ययः । अत्र 'अर्थकामान्' इत्यत्र द्वन्द्वादिभ्रान्तिनिवर्तनाय समासतदंशद्वयार्थौ **भोगेष्वतिमात्रप्रसक्तान्** इत्युक्तः । अर्थेषु कामो येषामिति विग्रहः; 'अवर्ज्यो हि व्यधिकरणो बहुव्रीहिर्जन्माद्युत्तरपदः' । अर्थ्यन्त इत्यर्था भोगाः; कामश्चातिमात्रसङ्गो वक्ष्यते । यद्वा अर्थं कामयन्त इत्यर्थकामाः, ते निष्कामाश्चेत् तद्भोगहरणमपि सह्येत; इदं तु क्षुधितानामोदनहरणवदिति भावः । हननादप्यतिनृशंसत्वसूचनाय **भोगरुधिरा**दिशब्दैरर्थसिद्धिः । **तु**शब्देन च द्योतितो विशेषस्तैरित्यादिना उक्तः । 'इहैव' इत्यनेन विवक्षितो नृशंसत्वातिशय**स्तेषु** इत्यादिना दर्शितः । गुरुवधसाध्यभोगा रुधिरप्रदिग्धगुरुस्मृतिहेतुत्वात् स्वयमपि तथाविधा इव दुर्भोजा भवन्तीत्यैहलौकिकसुखमपि नास्तीति रुधिरप्रदिग्धशब्दाभिप्राय इत्याह— **तद्रुधिरेणोपसिच्ये**ति । उपसेचनं हि स्वयमद्यमानं सदन्यस्यादनहेतुः, इह तदुभयमपि विपरीतमिति भावः ॥ ४ ॥ ५ ॥

**ह.पै.भा.—अहं न कातरतया युद्धादुपरतोऽस्मि किन्तु युद्धस्यान्याय्यत्वादिति प्रतिवचनमाह— कथमिति । हेऽरिसूदन ! अहं सङ्ग्रामे भीष्मं च पुनर्द्रोणमिषुभिः कथं योत्स्यामि? यौ भीष्मद्रोणौ प्रति वाचाऽपि योत्स्यामीति वक्तुमनुचितं ताविषुभिः कथं योत्स्यामीत्यर्थः । यतस्तौ पूजार्हौ ॥ ४ ॥ तर्हि तव स्थितिरपि न स्यादिति चेत्तत्राऽऽह— गुरूनिति । हि यस्मात् गुरूनहत्वा । गुरवः शास्त्रोपदेष्टारो मुख्यवृत्त्या, 'प्राकृतैः संस्कृतैश्चैव गद्यपद्याक्षरैस्तथा । देशभाषादिभिः शिष्यं बोधयेत्स गुरुः स्मृतः' [ ] इत्युक्तत्वात्; अन्येऽपि तत्तुल्या जनकादयस्तेऽपि गुरवः, तान् महानुभावान्द्रोणादीन्गुरून् अहत्वा, परलोकविरुद्धं गुरुवधमकृत्वेह लोके भैक्ष्यं भिक्षामात्रमपि भोक्तुं श्रेय उचितम् । न केवलं परत्र दुःखं, इहापि नरकदुःखमनुभवितव्यमित्याह— हत्वेति । तु पुनरर्थकामान् अर्थोऽभिलाषस्तत्परान्गुरून् हत्वा इहास्मिन्नेव शरीरे गुरूणां रुधिरेण प्रदिग्धान्प्रकर्षेण लिप्तानाऽऽप्तकामान्मरणानन्तरं नरके भोक्तव्यान् भोगाञ्जीवन्नेवाहं कथं भुञ्जीय भोक्ष्यामि? इत्यर्थः ॥ ५ ॥**

वें. व्र. गि.— इत्थं भगवता प्रतिबोधितोऽपि स्वजनस्नेहमोहपिहितस्वहितपरिज्ञानः स्वाशयमाविष्कुर्वन् पुनरप्यर्जुन उवाच कथमित्यादिपञ्चभिः— हे मधुसूदन! भीष्मं द्रोणं च युद्धे इषुभिः कथं प्रतियोत्स्यामि? न कथञ्चिदपि; हे अरिसूदन! यतस्तौ पूजार्हावित्यन्वयः। अत्र 'सङ्ख्ये इषुभिः' इत्यनेन पूज्याभ्यां सह विनोदगोष्ठ्यामपि केवलं वाचिकमपि युद्धं निषिद्धम्, किमु वक्तव्यं ताभ्यां सह युद्धरङ्गे बाणैर्न योद्धव्यम्? इत्युक्तं भवति। 'प्रतियोत्स्यामि' इत्यनेन च भीष्मद्रोणाभ्यां मयि बाणप्रक्षेपे कृतेऽपि नाहं तदुपरि शरं क्षिपामीति प्रदर्शितम्, 'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन' [१।३५] इत्युक्तेः। 'मधुसूदन' इत्यनेन मधुदैत्यं निषूदितवता त्वया तादृश एव विषयेऽहं नियोज्यः, न त्वेवंविधे पूजार्हविषय इति सूचितम्। ननु मयाऽपि मातुलत्वेन पूजार्हः कंसो निषूदित इत्याशङ्कायामरिसूदनेत्युक्तम्, कंसः किल तव जन्मप्रभृति तत्पूर्वमेव शत्रुः, नैवं मम भीष्मद्रोणौ; बाल्य एव हि गतपितृकाणामस्माकं पोषकपिता भीष्मः; द्रोणस्तु स्वपुत्रादश्वत्थाम्नः कर्णदुर्योधनादिभ्योऽप्यतिशयितस्नेहेन मम सरहस्यधनुर्वेदोपदेशात्पितुरप्यधिकः, 'स हि विद्यातस्तं जनयति, तच्छ्रेष्ठं जन्म; शरीरमेव मातापितरौ जनयतः' इति स्मृतेः। अथ च ब्राह्मणः, तन्निषूदने प्रवर्तनमत्यन्तानुचितमिति भावः। यद्वा 'अरिसूदन!' इत्यस्य भिन्नवाक्यगतत्वान्न तेन मधुसूदनपदस्य पुनरुक्तिदोषः॥ ४॥

ननु 'अनार्यजुष्टम्' [२।२] इत्यादिना युद्धवैमुख्यस्य कश्मलत्वं प्रागेवोक्तमित्याशङ्क्य गुरुविषये युद्धवैमुख्यं न कश्मलम्, किन्तु युद्धमेवेत्याह— महानुभावान् स्वेच्छामरणयावज्जीवनैष्ठिकब्रह्मचर्यसर्वधर्मपरिज्ञानसर्वशास्त्रार्थसम्पत्तिश्रुताध्ययनतपोनिष्ठादिरूपो महाननुभावो माहात्म्यं येषां तान्। हिशब्दस्तत्प्रसिद्धिद्योतकः। गुरून् भीष्मद्रोणौ। पूजायां बहुवचनम्, कृपाद्यपेक्षया वा बहुत्वोक्तिः। तानहत्वा परलोकविरुद्धं तद्वधमकृत्वा इह लोके नृपाणां निषिद्धं भिक्षान्नमपि भोक्तुं श्रेयः प्रशस्तम्। भिक्षासमूहवाचिना भैक्षशब्देन एकभिक्षया निर्वाहाभावे प्रतिगृहभिक्षाटनमपि ततो वरमित्युक्तं भवति। एतदेवोपपादयन्विपक्षे दोषमाह— हत्वेति। गुरून्हत्वा तु इहैव लोके भोगान्भुञ्जीय अश्नीयाम्, न तु परलोके। भुज्यन्त इति भोगाः पुरुषार्थाः। कर्मणि घञ्। पुरुषार्था अपि अर्थकामात्मका एव, न तु धर्ममोक्षौ। अर्थकामा अपि न परिशुद्धाः, किन्तु रुधिरप्रदिग्धाः, जुगुप्सिता इत्यर्थः। सर्वतोक्षतदीयरुधिरधाराप्रवाहव्यूहमन्तरार्थकामा न निष्पद्यन्त इति तदनुनिष्पादिषु तेषु रुधिरप्रदिग्धा इत्यतिशयोक्तिः। अतो रुधिराशनाद्भिक्षान्नमेव श्रेय इत्यैहिकामुष्मिकदुःखराहित्यादयुद्धमेव युक्तमित्यर्थः। किञ्च रुधिरप्रदिग्धाशनमप्यस्माकं जये सति भवति; न च तन्निश्चयोऽस्ति, जयस्य सन्दिग्धत्वादित्याह— न चैतदिति। द्वयोर्मध्ये गरीयः अधिकतरं कर्म नः अस्माकं कतरत्किं भविष्यतीत्येतच्च न जानीमः। किं तद्द्वयम्? यद्वा वयमेताञ्जयेम, यदि वा नोऽस्मानेते जयेयुः। तथा च 'काकमांसं शुनोच्छिष्टं स्वल्पं तदपि दुर्लभम्' [ ] इति न्यायात्सर्वथा भीष्मद्रोणाभ्यां सह युद्धं न युक्तमिति भावः।

अत्र 'महानुभावान्गुरूनहत्वा' इत्यनेन भीष्मादियुद्धस्यानार्यजुष्टत्वम्, 'इहैव भुञ्जीय' इत्यनेन तस्यास्वर्ग्यत्वं च दर्शितम्। तेन तद्युद्धपक्षे अनार्यजुष्टत्वमस्वर्ग्यत्वं च नेति ज्ञापितम्। 'रुधिरप्रदिग्धान्, यदि वा नो जयेयुः' इत्यनेन युद्धस्यापकीर्तिकरत्वं दर्शितम्। तेन चायुद्धपक्षे अकीर्तिकरमित्यपकीर्तिदोषः प्रागुक्तो निरस्तः। युद्धपक्षेऽपि जये सति गुरून्हत्वा तद्विनाशनं करोतीत्यपकीर्तिः; पराजये तु सति धिगेनं मूढं यः स्वशक्तिमविज्ञाय महापुरुषैः सह युयुत्सुर्दीपपतङ्गन्यायेन नष्ट इत्यकीर्तेः सत्त्वादुभयत्राकीर्तिसाम्येऽपि युद्धपक्षीयाकीर्तेः परलोकहानिसनाथत्वेनायुद्धपक्षीयाकीर्तेरेव ततो ज्यायस्त्वादिति भावः। तदनेन भीष्मद्रोणौ प्रति न योत्स्यामीत्यस्मिन्नर्थे अनार्यजुष्टमित्यादिभगवदुक्तकश्मलत्वदोषो नेति प्रतिपादितम्॥ ५॥

**ब० त० दी०**— इति श्रुत्वाऽर्जुनः स्नेहकारुण्यधर्माकुलो भगवद्वाक्यं सम्यगजानन्नाह— कथमिति। अरिसूदनेति शत्रुमारणे त्वयाऽपि कश्चिन्नैवं कृतमिति सम्बोधयति॥४॥ अतो गुर्वादिहननं लोकवेदविरुद्धमित्याह— गुरूनिति। महानुभावान्गुरूनहत्वा भैक्ष्यं भिक्षालब्धमन्नं भोक्तुं सन्न्यासिनेव लोके श्रेष्ठम्। तान् रुधिरप्रदिग्धान्भोगानहं भुञ्जीयेति हि काकुः। नैतद्युक्तमिति भावः॥ ५॥

पु. अ. त.— एवमुक्तोलकभगवद्वाक्यं श्रुत्वा 'अहं कातर्येण युद्धान्नापक्रान्तः, किन्तु धर्मबुद्ध्या' इत्यर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयामास— कथमित्यादिषड्भिः। हे मधुसूदन मधुदैत्यमारणेन मधुरस्थापनेन भक्तपरिपालक! अहं सङ्ख्ये सङ्ग्रामे भीष्मं द्रोणं च इषुभिः शरैः कथं प्रतियोत्स्यामि? प्रतिकूलतया योत्स्यामीत्यर्थः। भीष्मस्य भक्तत्वान्मरणमनुचितं द्रोणस्यापि गुरुत्वात्तथेति द्रोणं चेत्यनेन ज्ञापितम्। भीष्मद्रोणौ च पूजार्हौ पूर्वोक्तप्रकारेण। हे अरिसूदन शत्रुमारक! अनेन सम्बोधनेनैतौ भक्तद्विजौ, नतु शत्रू, ततः कथं मारणार्थं मां प्रवर्त्तयसीति ज्ञापितम्॥ ४॥ गुरूणां मारणाद्भिक्षाटनं श्रेयः, न तु तन्मारणेन राज्यभोग इत्याह— गुरूनिति। गुरून्भीष्मद्रोणादीन् अहत्वा इह लोके भैक्ष्यं भिक्षान्नमपि भोक्तुं श्रेयः, श्रेयोरूपमित्यर्थः। यतस्ते महानुभावाः, महतो भगवतोऽनुभावका इत्यर्थः। इह लोके तथा भोगेन परलोके सुखं स्यादितीह लोकपदेन ज्ञापितम्। एतेषां मारणेन तु परलोक एव दुःखं भविष्यतीति न, किन्त्विह लोक एव नरकादिसमं दुःखं भविष्यतीत्याह— हत्वेति। अर्थकामान् अर्थात्मकान् गुरून् हत्वा तु इहैव रुधिरप्रदिग्धान् रुधिरावलिप्तान् [भोगान्] भुञ्जीय अश्नीयाम्॥ ५॥

१ मूलगतं 'भैक्षं' इत्यत्र 'भैक्ष्यं' इति तत्त्वदीपिकाकारस्यापि सम्मतः पाठः।

नी० भा० दी०— ननु शत्रवो वा स्वभावदुष्टा वा तापनीयाः, न तु बान्धवाः साधवश्चेत्यर्जुन उवाच-कथमिति। मधुसूदनारिसूदनेति सम्बोधयन् त्वंऽपि दुष्टानपि शत्रूनेव तापयतः पूजार्हौ अदुष्टौ गुरू च भीष्मद्रोणौ जहीति वक्तुमयुक्तमिति सूचयति। समानार्थकमिदं सम्बोधनद्वयं वक्तुः शोकेन विक्लवत्वान्न पौनरुक्त्यदोषावहमित्यन्ये। इषुभिरिति ताभ्यां सह वाचाऽपि योद्धुमशक्यं, किमुत बाणैः? इति भावः ॥४॥ ननु युद्धोद्यतानां गुरूणामपि वधः श्रेयानित्याशङ्क्याह— गुरूनिति। यद्यपि त्वदुक्तं प्रशस्तमेव, तथापि महानुभावान् गुरूनहत्वा भैक्ष्यमेव भोक्तुं श्रेयः प्रशस्ततरम्। एवं तर्हि गुरूंस्त्यक्त्वा दुर्योधनादीनेव दुष्टान् जहीत्याशङ्क्याह—अर्थकामानिति। धनार्थिनो गुरवोऽवश्यं दुर्योधनसाहाय्यं करिष्यन्ति तेन तद्वधोऽपि प्रसक्त एवेत्यर्थः। तुशब्दः पक्षान्तरोपन्यासार्थः। इहैव, न तु परलोके। भुञ्जीयेति सम्प्रश्ने लिङ्। गुरूनहत्वा भैक्ष्यं श्रेयः उत हत्वा भोगसम्पादनं श्रेयः? इति सम्प्रश्ने स्वयमेवान्त्यपक्षे दूषणमाह— रुधिरप्रदिग्धानिति ॥ ५ ॥

जयापजयसन्दिहानस्यार्जुनस्य श्रीकृष्णं प्रति शरणोपसर्पणम्।

**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**
**यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥ ६ ॥**
**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।**
**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥**
**न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।**
**अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥ ८ ॥**

आ. गि. टी.— क्षत्रियाणां स्वधर्मत्वाद्युद्धमेव श्रेयस्करमित्याशङ्क्याऽऽह— न चैतदिति। एतदपि न जानीमो भैक्ष्ययुद्धयोः कतरन्नोऽस्माकं गरीयः श्रेष्ठम्? किं भैक्ष्यं हिंसाशून्यत्वादुत युद्धं स्ववृत्तित्वादिति। सन्दिग्धा च जयस्थितिः। किं साम्यमेवोभयेषां यद्वा वयं जयेमातिशयीमहि, यदि वा नोऽस्मान्धार्तराष्ट्रा दुर्योधनादयो जयेयुः? जातोऽपि जयो न फलवान्यतो यान्बन्धून्हत्वा न जिजीविषामो जीवितुं नेच्छामस्त एवावस्थिताः प्रमुखे सम्मुखे। धार्तराष्ट्रा धृतराष्ट्रस्यापत्यानि। तस्माद्भैक्ष्ययुद्धस्य श्रेष्ठत्वं न सिद्धमित्यर्थः ॥ ६ ॥ समधिगतसंसारदोषजातस्यातितरां निर्विण्णस्य मुमुक्षोरुपसन्नस्याऽऽत्मोपदेशसङ्ग्रहणेऽधिकारं सूचयति— कार्पण्येति। योऽल्पां स्वल्पामपि स्वक्षतिं न क्षमते स कृपणः, तद्विधत्वात्; अखिलोऽनात्मवित् अप्राप्तपरमपुरुषार्थतया कृपणो भवति "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" [बृ. उ. ३।८।१०] इति श्रुतेः। तस्य भावः कार्पण्यं दैन्यं, तेन दोषेणोपहतो दूषितः स्वभावश्चित्तमस्येति विग्रहः। सोऽहं पृच्छाम्यनुयुञ्जे, त्वा त्वाम्। धर्मसम्मूढचेता धर्मो धारयतीति परं ब्रह्म, तस्मिन् सम्मूढमविवेकतां गतं चेतो यस्य ममेति तथाऽहमुक्तः। किं पृच्छसि? यन्निश्चितमैकान्तिकमनपेक्षिकं श्रेयः स्यात्, न रोगनिवृत्तिवदनैकान्तिकमनात्यन्तिकं, स्वर्गवदापेक्षिकं वा, तन्निश्श्रेयसं मे मह्यं ब्रूहि। "नापुत्रायाशिष्याय" [श्वे. उ. ६।२२] इति निषेधान्न प्रवक्तव्यमिति मा मंस्थाः, यतः शिष्यस्तेऽहं भवामि। शाध्यनुशाधि मां निश्श्रेयसं, त्वामहं प्रपन्नोऽस्मि ॥ ७ ॥ कुतो निश्श्रेयसमेवेच्छसि तत्राह— नहीति। यस्मान्न प्रपश्यामि। किं न पश्यसि? ममापनुद्यादपनयेद्यच्छोकमुच्छोषणं प्रतपनमिन्द्रियाणां तन्न पश्यामि। ननु शत्रून्निहत्य राज्ये प्राप्ते शोकनिवृत्तिस्ते भविष्यति, नेत्याह— अवाप्येति। अविद्यमानः सपत्नः शत्रुर्यस्य तदृद्धं राज्यं राज्ञः कर्म प्रजारक्षणप्रशासनादि, तदिदमस्यां भूमाववाप्यापि शोकापनयकारणं न पश्यामीत्यर्थः। तर्हि देवेन्द्रत्वादिप्राप्त्या शोकापनयस्ते भविष्यति, नेत्याह— सुराणामपीति। तेषामाधिपत्यमधिपतित्वं स्वाम्यमिन्द्रत्वं ब्रह्मत्वं वा तदवाप्यापि मम शोको नापगच्छेदित्यर्थः ॥ ८ ॥

रा० भा०— एवं युद्धमारभ्य निवृत्तव्यापारान् भवतो धार्तराष्ट्राः प्रसह्य हन्युरिति चेत्, अस्तु; तद्वधलब्धविजयादधर्म्यादस्माकं धर्माधर्मावजानद्भिस्तैर्हननमेव गरीय इति मे प्रतिभातीत्युक्त्वा, यन्मह्यं श्रेय इति निश्चितं तत् शरणागताय तव शिष्याय मे ब्रूहीत्यतिमात्रकृपणो भगवत्पादाम्बुजमुपससार ॥ ६-८ ॥

**वे. ता. चं.**— 'न चैतद्विद्मः' इत्यादेश्चकारद्योतितशङ्कापूर्वकं तात्पर्यार्थमाह—**एवमिति** । बन्धुविनाशाद्भीतेन त्वया धर्मसुतभीमनकुलाद्यासन्नतरबन्धुविनाश एव कारितः स्यादिति **भवत** इत्यनेन सूचितम् । 'विद्मः' इत्यादिबहुवचनानुसारेणाह— **अस्माक**मिति । अस्माकमित्यनेन हन्तव्यतया निर्दिष्टभीष्मद्रोणाद्यपेक्षया सर्वेषां शिष्यत्वादिकमभिप्रेतम् । पूर्वोत्तरार्धाभ्यां विमर्शस्वाभिमतपक्षौ व्यञ्जितौ । 'यद्वा' इति 'यदि वा' इति च तुल्यार्थम् । येषां वधेन जीवनमस्माकमनिष्टं त एवास्मान् जिघांसन्तः स्वहननानुरूपत्वेनावस्थिता इति 'यानेव' इत्यादेरन्वयार्थः । 'न जिजीविषामः' इत्यनेन सूचितां अनिर्णयपर्यवसितां अत एव प्रश्नहेतुभूतां प्रतिभामाह—**इति मे प्रतिभातीति** । 'यच्छ्रेयः' इत्यादेरन्वयफलितार्थमुपदेशयोग्यत्वायोक्तां शिष्यगुणसम्पत्तिं च स्फुटयति— **यन्मह्य**मित्यादिना । निश्चेतव्याकारनिष्कर्षणाय इतिकरणम् । शासनीयो हि शिष्यः, अतः 'शिष्यस्तेऽहं शाधि माम्' इति वदति । स्वभावोऽत्र धैर्यम्, कर्तव्यविशेषाज्ञानात् शोकापनोदनोपायराहित्यादिना वा अतिमात्रकार्पण्यम् । त्याज्यस्यापरित्यागोऽत्र कार्पण्यमित्येके; दयाजनकदीनवृत्तिनिरतत्वमित्यपरे । **भगवत्पादाम्बुजमुपससारेति** शिष्यत्वप्रपन्नत्वाद्युक्तिफलमेव ॥ ६—८ ॥

**ह. पै. भा.**—किञ्च यद्यधर्ममपि अङ्गीकरिष्यामस्तथाप्यस्माकं जयः पराजयो वा भवेदिति न ज्ञायते । अपि च तयोः कतरच्छ्रेयः ? इत्याह— **न चैतदिति** । च पुनरेतद्द्वयं न विद्मो न जानीमः । नोऽस्माकं कतरत्किं नाम गुरूणां हननं वाऽहननं गरीयः ? किमधिकतरं भविष्यति इति न विद्मः । यद्वैतान्वयं जयेम जेष्यामः, यदि वा नोऽस्मानेव ते जयेयुर्जेष्यन्तीति न विद्मः । किञ्च अस्माकं जयोऽपि फलतः पराजय एवेत्याह— **यानेवेति** । किञ्च जयपक्षेऽपि जयप्रवृत्तिरस्माकं न युक्ता, यस्माद्यानेव धार्तराष्ट्रान्हत्वा वयं न जिजीविषामो न जीवितुमिच्छामः; एवं च राज्यादिभोगस्य शङ्काऽपि का? । त एव धार्तराष्ट्राः प्रमुखेऽग्रे युद्धार्थमवस्थिता वर्तन्ते ॥ ६ ॥ तस्मात् संशयानो निर्णेतुं पृच्छति— **कार्पण्येति** । एतान्हत्वा कथं जीविष्यामः इति कार्पण्यं, दोषश्चास्य कुलस्य क्षयकृतः, ताभ्यामुपहतः स्वभावः शौर्यलक्षणो यस्य सोऽहं कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः । अथवा कृपणस्य भावः कार्पण्यं दैन्यमज्ञाननिमित्तं तदेव दोषस्तेनोपहतः स्वभावो यस्य स त्वां पृच्छामि । कथम्भूतः ? धर्मसम्मूढचेताः—धर्मे सम्मूढं चेतो यस्य, विवेकविज्ञानानुदयात् । अथवा धर्मसम्मूढचेताः— युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनमपि क्षत्रियस्य धर्मोऽधर्मो वेति सन्दिग्धं चेतश्चित्तं यस्य सोऽहं धर्मसम्मूढचेताः, अतो यन्मे श्रेयो हितं स्यात्तन्निश्चितं ब्रूहि । किञ्च ते तवाहं शिष्यः शासनार्हः, अतस्त्वां प्रपन्नं शरणमागतं मां शाधि शिक्षय ॥ ७ ॥ त्वमेव विचारवान्यद्युक्तं तत्कुर्विति चेत्तत्राऽऽह— **न हीति** । क्षत्रियाणां युद्धं स्वधर्मप्रदं, तदेव निश्चयेन कर्तव्यमिति भगवदुपदेशं स्वयमेवाऽऽशङ्क्याऽऽह— युद्धे क्रियमाणे जयस्तावत्पाक्षिकः । निश्चयपक्षेऽपि युद्धफलं भूमौ राज्यं तच्चासपत्नं निष्कण्टकं च, तदवाप्यापि यन्मम शोकं मदीयं यत्कर्मापनुद्यादपनयेत्तदहं न हि प्रपश्यामि । किंविशिष्टं शोकम् ? इन्द्रियाणामुच्छोषणमिति शोषकरम् । न केवलं भूमौ राज्यं शोकविच्छेदकरं भवति, सुराणामप्याधिपत्यं युद्धे मरणपक्षे प्राप्तमिति जन्मान्तरेऽपि स्वजनवधनिमित्तशोकशान्तिं न पश्यामीत्यर्थः । भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं चापरं सुराणामप्याधिपत्यमवाप्य यत्कर्म कृतं तन्ममेन्द्रियाणामुच्छोषणं शोकमपनुद्यादपनयेत्तन्न हि प्रपश्यामीत्यन्वयः ॥ ८ ॥

**वें. ब्र. गि**— नन्वेवं तर्हि भीष्मं द्रोणं च विहाय धार्तराष्ट्रैरन्यैः सह युद्धं क्रियताम्; तत्राह— यान्गुरून्भीष्मादीन् हत्वा न जिजीविषामः जीवितुं नेच्छामः, त एव गुरवो धार्तराष्ट्राः सन्तः सम्मुखेऽवस्थिता इति योजना । भीष्मद्रोणावनिहत्य धार्तराष्ट्रैर्युद्धं कर्तुमशक्यम्, तदविनाभावेन तत्पुरस्कारेणैव च तेषां युद्धे प्रवृत्तत्वादिति भावः ॥ ६ ॥

नन्विदं सर्वमयुक्तम्; तथा हि यदि भीष्मद्रोणौ भवत्पक्षपातिनौ, तदा भवत्स्वेव ताभ्यां मिलित्वा स्थेयम् । यदि च तन्न शक्यम्, तदा धार्तराष्ट्रैः सह यथेदं युद्धं भवतां न प्रसज्येत तथा मिथः समाधेयम् । यदि च ते दुर्विनीताः स्ववचनं न शृण्वन्ति, तदा तान्विसृज्य मध्यस्थतया वा भवितव्यम् । न त्वेवं ताभ्यां कृतम्, किन्त्वाततायिषु तेष्वेवान्तर्भूय स्थीयते, तदप्यर्थलोभेन । तदुक्तं भीष्मेणैव युधिष्ठिरं

प्रति—‘अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाबाहो बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः’ [म. भा. ६।४३।५६] इति। तथा च कथं भीष्मद्रोणयोः पूजार्हत्वं महानुभाव्यं वा यद्वधादैहिकमामुष्मिकं च दुःखं स्यात्। ‘गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्’ [म. भा. शां. प. ५७।७ वा. रा. अयो. २१।१३] इति स्मृतिपर्यालोचनया शौर्यमदावलिप्तयोः अधार्मिकदुर्योधनदलप्रवेशेन कार्याकार्यविवेकशून्ययोः अत एवोत्पथाविष्टयोश्च तयोः शासनीयत्वात्, ‘गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम्। आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्’ [ ८।३५० ] इति मनुवचनादिपर्यालोचनयाऽप्याततायिनोर्भीष्मद्रोणयोर्वध्यत्वप्राप्तेश्च। न ह्याततायिभ्यः स्वात्मानं विक्रीय तदर्थे प्राणत्यागमुपेत्य तदेकलोलीभावेनास्मान् हन्तुमागतयोस्तयोराततायित्वे विवादोऽस्ति। उक्तं च भीष्मेणैव स्वाततायित्वम्। यथोक्तं भागवते [ १।९।३८ ]—‘शितविशिखहतो विशीर्णदंशः क्षतजपरिप्लुत आततायिनो मे’ इति। प्रतिज्ञातश्च त्वयैव पूर्वमुद्योगपर्वणि [ १६३।८ ] दुर्योधनदूतमुलूकं प्रति राजसभायां भीष्मवधः—‘यस्य वीर्यं समाश्रित्य धार्तराष्ट्र विकत्थसे। हन्ताऽस्मि प्रथमं भीष्मं मिषतां सर्वधन्विनाम्’ इति। न चैवं शास्त्रविहिते पूर्वप्रतिज्ञाते चाततायिवधे प्रवृत्तस्य तव स्वधर्मं युद्धमपहाय अविहिते प्रत्युत क्षत्रियं प्रति निषिद्धे भिक्षाटने मनः कर्तुमुचितम्। तदेतत्सर्वमधीतधर्मशास्त्रस्य महाक्षत्रियस्य तव स्पष्टमेवेति नापूर्वतयाऽत्रोपदेष्टव्यम्। अथापि स्मारितम् ‘कुतस्त्वा कश्मलम्’ ‘अनार्यजुष्टम्’ [ २।२ ] इत्यादिना। तथापि कथं भीष्मं द्रोणं च प्रति ब्रूषे ? अहो तव स्वभावसिद्धो विवेकः केदानीं गत इति भगवदभिप्रायमाशङ्क्याह द्वाभ्याम्—

गुरून्निहत्य कथं जीविष्यामीति दैन्यं कार्पण्यम्, स एव दोषः, तेनोपहतो बुद्धिशौर्योत्साहादिरूपः क्षत्रियस्वभावो यस्य स तथोक्तः, अतो धर्मसम्मूढचेताः धर्मे शास्त्रविहिते त्वदुपदिष्टे च युद्धरूपे सम्मूढं अधर्मोऽयमिति सम्यङ्मोहं प्राप्तं चेतो यस्य सोऽहं त्वां पृच्छामि, श्रेय इत्यनुषङ्गः। पृच्छतश्च मे यत् श्रेयो धर्मः स्याद्भवति। स्यादिति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम्। ‘पुण्यश्रेयसी सुकृतम्’ इति निघण्टुः। तत् ब्रूहि। ननु ‘तस्माद्युध्यस्व भारत’ [ २।१८ ] इत्युक्तमेव तव युद्धं श्रेय इति तत्राह—निश्चितमिति। इदमित्थमेवेति मे निश्चितं यथा भवति तथा ब्रूहि। ‘तस्माद्युध्यस्व’ इति त्वदुक्तं तु धर्मसम्मूढचेतसो न मे निश्चितमिति भावः। न चैवम्, उक्तार्थनिर्णयमयं न प्रतिपद्यते, किमनेनेति मामुपेक्षेथा इत्याह—शिष्य इति। लोके ह्यशिष्यभावेन पृच्छन् वक्त्रा स्वोक्तार्थानवधारणे सत्युपेक्ष्यते। अहं तु शिष्यभावेन पृच्छामीति नोपेक्ष्यः। अतो मां शाधि शिक्षय, अप्रतिपद्यमानं शिष्यं प्रति नानोपायैस्तत्त्वनिर्णयोत्पादनस्यैवाचार्यधर्मत्वादिति भावः। ‘गुरूनहत्वा’ [२।५ ] इत्यादि वदन्नहं भीष्मद्रोणयोरपि शिष्योऽस्मि; किं तथैव तवापि शिष्य इति मन्यसे ? नेत्याह—त्वां प्रपन्नमिति, शरणागतमित्यर्थः ॥ ७ ॥

शरणागतिरपि अनन्यशरणत्वाध्यवसायपूर्विका त्वमेव शरणमिति त्वदुपसत्तिः, न त्वन्यस्मिञ्छरणे स्थितेऽपि त्वमपि शरणमित्येवंलक्षणत्वदुपसदनरूपेत्याह— यद्रस्तु मम शोकमपनुदेत्तन्न पश्यामीत्यनन्यशरणत्वोक्तिः। ननु नायं शोकापनोदनविचारावसरः, शत्रुषु सन्नह्य पुरः स्थितेषु प्राप्तकालस्यैव कर्मणः कर्तव्यत्वात्; पश्चात्तु तद्विचारो भविष्यतीत्यत उच्छोषणमिति शोकविशेषणम्। इन्द्रियाणामतितापकं शोकमनपनुद्य न किञ्चिदपि कर्तुं शक्यम्, शोकव्याकुलेन्द्रियतायाः सर्वकार्यप्रतिबन्धकत्वात्। अतस्तदपनोदनविचार एव प्राप्तकाल इति भावः। ननु युद्धमेव तव शोकनिवर्तकम्; जये सति सार्वभौमपदस्य मरणे सत्यैन्द्रपदस्य च लाभेन परमानन्दसिद्धेरित्यत आह—अवाप्येति। ‘अपि च’ इत्यस्य अवाप्येत्यनेन सम्बन्धः। भूमौ इह लोके जयेन निष्कण्टकं समृद्धं राज्यं, मरणेन परलोके सुराणामाधिपत्यं वा अवाप्यापि च शोकापनोदनं न पश्यामीति योजना। निश्चितोत्तरक्षणमरणस्य साम्राज्यपट्टबन्ध इव गुरुवधशोकदग्धस्य नैहिकमामुष्मिकं वा सुखं विश्रान्तिकरमिति भावः। अवाप्यापीत्यनेन जीवता खलु राज्यं प्राप्यम्, ‘यानेव हत्वा न जिजीविषामः’ इत्युक्तरीत्या गुरुवधोत्तरक्षणे म्रियमाणस्य कथं राज्यं, कथं च गुरुघ्नस्य स्वर्ग इति तदुभयावाप्तिरेव मम दुर्लभा; सत्यामपि तत्प्राप्तौ महत्तरशोकाय न ततः शान्तिरिति दर्शितम्।

यत्त्वत्र मधुसूदनसरस्वतीभिर्व्याख्यातम्—“अधिकारिविशेषणप्रदर्शनार्थोऽयं ग्रन्थसन्दर्भः। तथा हि—‘अवाप्य भूमौ’ इत्यैहिकफलभोगविरागः, ‘सुराणामाधिपत्यं’ इत्यामुष्मिकफलभोगविरागः; एवम् ‘न काङ्क्षे विजयं कृष्ण’ [१।३२] ‘अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः’ [ १।३५ ] इत्यत्राप्यैहिकामुष्मिकफलभोगविरागो दर्शितः। तथा ‘किं नो राज्येन गोविन्द’ इति शमः ‘किं भोगैः’ [१।३२] इति दमश्च प्रतिपादितः। ‘यद्यप्येते न पश्यन्ति’ [१।३८] इत्यत्र निर्लोभता। ‘तन्मे क्षेमतरं भवेत्’ [१।४६ ] इत्यत्र तितिक्षा। ‘श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि’ [ २।५ ] इत्यत्र भिक्षाचर्योपलक्षितः सन्न्यासः। ‘न च श्रेयोऽनु पश्यामि’ [ १।३१ ] इत्यत्र दृष्टादृष्टश्रेयोनिषेधेनार्थादात्मैव श्रेय इति प्रतीतेर्नित्यानित्यविवेकश्च” इति— तच्चिन्त्यम्।

यदि हि निरुपाधिकमिहामुत्रार्थफलभोगवैराग्यादिकमत्रोच्येत, तर्ह्येवाधिकारिविशेषणपरत्वमस्य ग्रन्थस्य युज्येत। न त्वेवम्; किन्तु ‘यच्छोकमुच्छोषणम्’ इति शोकोपाधिकमेव भोगवैराग्यं स्पष्टमुक्तम्। ‘न काङ्क्षे विजयं कृष्ण’ [१।३१] ‘किं नो राज्येन’ [१।३२ ] इत्यत्रापि ‘येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च’ इत्युत्तरश्लोकेन स्वजनानामर्थे राज्याद्याकाङ्क्षाप्रदर्शनाद्बन्धुवधोपाधिकमेव वैराग्यमिति स्पष्टम्।

'यद्यप्येते न पश्यन्ति' [ १।३८ ] इत्यत्रापि 'कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिः' [ १।३९ ] इति कुलक्षयोपाधिकमेव निर्लोभत्वमिति स्फुटम् । 'तन्मे क्षेमतरम्' [ १।४६ ] इत्यत्रापि 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' [ १।२८ ] इत्युपक्रमादत्रापि 'धार्तराष्ट्रा रणे हन्युः' [ १।४६ ] इति धार्तराष्ट्रग्रहणाच्च स्वजनकर्तृकवधोपाधिक्येव तितिक्षेति विशदम् । 'श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपि' [ २।५ ] इत्यत्रापि 'हत्वाऽर्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्' इत्युत्तरार्धेन गुरुवधोपाधिकमेव भिक्षाटनश्रेयस्त्ववर्णनमिति प्रदर्शितम् । 'न च श्रेयोऽनुपश्यामि' [ १।३१ ] इत्येतदपि 'हत्वा स्वजनमाहवे' इति वाक्यशेषात्स्वजनवधोपाधिकमेवेति व्यक्तम् । न हि सोपाधिकमेतादृशवैराग्यादिकं ज्ञानाधिकारिविशेषणमिति शास्त्रस्थितिः; तथा सति सर्वस्यापि स्वजनमरणशोकोपाधिकमीदृग्वैराग्यमस्तीति व्यावर्तनीयाभावाद्वैराग्यादेरधिकारिविशेषणत्वमेव नोपपद्येत। तस्माद्दैवासुरसम्पद्विभागाध्याये 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः । दानं दमश्च यज्ञश्च' [ १६।१ ] इत्यादि प्रस्तुत्य 'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' इति दैवसम्पदं ज्ञानाधिकारिविशेषणत्वेनोक्त्वा 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव' [ १६।५ ] इति यद्भगवताऽर्जुनं प्रत्युक्तं तदेवाधिकारिविशेषणनिरूपणपरम्। अत्र तु ज्ञानोपदेशोपोद्घातत्वेन अर्जुनस्य शोकमोहप्रादुर्भाववर्णनमात्रमिति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ८ ॥

व० त० दी०—न चैतदिति प्रश्नस्त्रिभिः। स्पष्टार्थः ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥

पु. अ. त.—किञ्च अधर्माङ्गीकारेणापि तथा कर्त्तव्यं यद्यस्मज्जय एवेत्यस्माकं हि तज्ज्ञानं निश्चितं स्यादित्याह—न चैतदिति । वयमेतच्च न विद्मः यद्द्वयोर्मध्ये कतरत् नोऽस्माकं गरीयः श्रेष्ठमधिकं भवति, यद्वयं तान् जयेम यदि वा एते नोऽस्मान् जयेयुः जेष्यन्ति । अस्मद्विचारेण त्वस्माकं जयादपि तेषामेव जयो गरीयस्त्वेन भातीत्याह—यानेवेति। यान् हत्वा वयं न जिजीविषामो न तु जीवितुमिच्छामस्त एवैते धार्त्तराष्ट्राः पितृव्यजा भ्रातरः प्रमुखे युद्धार्थमवस्थिताः। अत एतान् हत्वा किं करिष्यामः? इत्यर्थः ॥ ६ ॥

एवं स्वविचारमुक्त्वा तस्य दोषरूपतां वदन् भगवदाज्ञां करिष्यमाण आह—कार्पण्यदोषोपहतस्वभाव इति । कार्पण्यं बन्धुमारणानुचितज्ञानरूपं तद्रूपो यो दोषस्तेन उपहतः स्वभावः क्षात्रः शौर्यादिरूपो यस्य तादृशस्त्वां पृच्छामि । ननु उपहतस्वभावस्य विकलस्य किं प्रश्नेनेत्यत आह—धर्मसम्मूढचेता इति। धर्मे धर्मज्ञानार्थे सम्मूढं चेतो यस्य सः। एतन्मारणे त्वं प्रसन्नः? किं वा अमारणे? एतन्मध्येऽन्यद्वा यच्छ्रेयः श्रेयोरूपं त्वत्प्रसादरूपं स्यात्तन्मे निश्चितं ब्रूहि । अहं ते शिष्यः, न तु मित्रं, अतस्त्वां प्रपन्नं शरणागतं धर्मजिज्ञासया मां त्वं शाधि शिक्षय ॥ ७ ॥

ननु मित्रत्वाच्छरणागतत्वाच्च यथेच्छा तव भवति तथैव मया कर्त्तव्यमिति चेत्तत्राह—नहीति । भूमौ असपत्नमद्वितीयं शुद्धं सर्वविभूतिमद्राज्यमवाप्य प्राप्य अपरत्र सुराणामाधिपत्यमिन्द्रैश्वर्यमपि प्राप्य इन्द्रियाणां उच्छोषणमतिशोषणकरमभिलाषपूरकं किमपि नास्ति, अतो यन्मच्छोकमपनुद्यादपनयेत् तदहं न प्रपश्यामि । अतः किं विज्ञापयामीति भावः । हीति युक्तश्चायमर्थः । यतो दुरापूराणीन्द्रियाणि ॥ ८ ॥

नी० भा० दी०—एवं तर्हि भैक्ष्यमेव तव श्रेय इत्याशङ्क्याह—न चैतदिति। यद्यप्यक्षत्रियस्य भैक्ष्यमेवेष्टं तथापि नः अस्माकं क्षत्रियाणां भैक्ष्यभोगयोर्मध्ये कतरत् गरीय इति वयं न विद्मः। ननूक्तं युद्धमेव गरीय इति तत्राह—यद्वेति । यदि वा वयं जयेम शत्रून्, यदि वा नोऽस्मान् शत्रव एव जयेयुः, इदमपि न विद्मः। अन्त्यपक्षे पुनर्मरणमप्रार्थितं भैक्ष्यमेव वाऽऽपद्यत इति भावः । ननु मयि सहाये सति तव जय एव निश्चित इत्यत आह—यानेवेति। इष्टनाशाज्जयोऽपि पराजयरूप एवेत्यर्थः । यत्तु—निश्चितेऽपि भैक्ष्यश्रेयस्त्वे पुनर्युद्धभैक्ष्ययोः कतरत् श्रेय इति संशयो नोचितः, अतो नः अस्माकं मध्ये कतरत् सैन्यं गरीय इति व्याख्येयमिति तदसत्। धर्मसम्मूढचेता इति वाक्यशेषादुक्तसंशयस्यैवोचितत्वात्; सैन्यगरीयस्त्वसंशयेनैव जयसंशयेऽन्यथासिद्धेऽन्यतरसंशयस्य वैयर्थ्यात्, विशेषाध्याहारदोषाच्च ॥ ६ ॥

उक्तसंशयवानेव पृच्छति—कार्पण्येति । कार्पण्यं दीनत्वम्। स्वभावः 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं' [ १८।४३ ] इत्यादिना वक्ष्यमाणलक्षणः । शेषं स्पष्टम् ॥ ७ ॥ ननु 'क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप' [ २।३ ] इति युद्धमेव श्रेय इत्युक्तं किं पुनः पृच्छसि ? इत्यत आह—न हीति । बन्धुनाशनिमित्तः शोको राज्यलाभेन स्वर्गाधिपत्यलाभेन वा न निवर्त्तयिष्यत इति ॥ ८ ॥

**सञ्जय उवाच— एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।**
**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥**
**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत!।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः ॥ १० ॥**

[ ‘सीदमानमिदं’ इति रामानुजीयः पाठः। ]

**आ. गि. टी.**— एवमर्जुनेन स्वाभिप्रायं भगवन्तं प्रति प्रकाशितं सञ्जयो राजानमावेदितवानित्याह— **सञ्जय** इति। एवं प्रागुक्तप्रकारेण भगवन्तं प्रत्युक्त्वा परन्तपोऽर्जुनो न योत्स्ये न सम्प्रहरिष्येऽत्यन्तासह्यशोकप्रसङ्गादिति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीमब्रुवन्बभूव, ह किलेत्यर्थः ॥ ९ ॥

तमर्जुनं सेनयोर्वाहिन्योरुभयोर्मध्ये विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तमतिदुःखितं शोकमोहाभ्यामभिभूतं स्वधर्मात्प्रच्युतप्रायं प्रतीत्य प्रहसन्निवोपहासं कुर्वन्निव तदाश्वासार्थं हे भारत भरतान्वय! इत्येवं सम्बोध्य भगवानिदं प्रश्नोत्तरं निश्श्रेयसाधिगमसाधनं वचनमूचिवानित्याह— **तमुवाचेति** ॥ १० ॥

**रा. भा.— एवमस्थाने समुपस्थितस्नेहकारुण्याभ्यामप्रकृतिङ्गतं क्षत्रियाणां युद्धं परमधर्ममप्यधर्मं मन्वानं धर्मबुभुत्सया च शरणागतं पार्थमुद्दिश्यात्मयाथात्म्यज्ञानेन युद्धस्य फलाभिसन्धिरहितस्य स्वधर्मस्य आत्मयाथार्थ्यप्राप्त्युपायताज्ञानेन च विना अस्य मोहो न शाम्यतीति मत्वा, भगवता परमपुरुषेण अध्यात्मशास्त्रावतरणं कृतम्। तदुक्तम्—‘अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम्। पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम्’ [ गी. सं. ६ ] इति ॥ ९ ॥**

**तमेवं देहात्मनोर्याथात्म्याज्ञाननिमित्तशोकाविष्टं देहातिरिक्तात्मज्ञाननिमित्तं च धर्माधर्मौ भाषमाणं परस्परविरुद्धगुणान्वितं उभयोः सेनयोर्युद्धायोद्युक्तयोर्मध्ये अकस्मान्निरुद्योगं पार्थमालोक्य परमपुरुषः प्रहसन्निवेदमुवाच— पार्थं प्रहसन्निव परिहासवाक्यं वदन्निव आत्मपरमात्मयाथात्म्यतत्प्राप्त्युपायभूतकर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगगोचरं ‘न त्वेवाहं जातु नासम्’ ( २।१२ ) इत्यारभ्य ‘अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः’ [ १८।६६ ] इत्येतदन्तं वचनमुवाचेत्यर्थः ॥१०॥**

**वे. ता. चं.**— ‘एवमुक्त्वा’ इति श्लोके हृषीकेशपदेन सदर्थश्रवणायार्जुनहृषीकप्रेरकत्वम्, ‘यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्’ इत्याद्युक्तेन्द्रियक्षोभशान्तिकरत्वं च व्यञ्जितम्। हृष्यन्ति हर्षयन्तीति वा हृषीकाणि इन्द्रियाणि। एवमुक्त्वा स्वावस्थामावेद्येत्यर्थः। ‘निद्रालस्ये गुडाका स्यात्’ इति गुडाका निद्रा तस्या ईशो गुडाकेशः; प्रबुद्धस्वभाव इत्यर्थः। पिण्डितकेश इति वा। गोविन्दशब्देन शोकापनोदनयोग्यवाक्छालित्वम्, गोशब्दनिर्दिष्टाया भुवो भारावतरणार्थं प्रवृत्तत्वं च अभिप्रेतम्।

एवमनेनोपोद्घातेनोचितावसरे वक्ष्यमाणशास्त्रावतरणसङ्गतिं वदन् अर्थादुपोद्घातसङ्ग्रहश्लोकं च व्याकरोति— **एवमिति**। अस्थानशब्दस्य ‘विषमे समुपस्थितम्’ [ २।२ ] इत्येतद्विषयत्वं व्यञ्जयन् तस्य स्नेहकारुण्याभ्यामेवान्वयाय तयोः पृथङ्निर्देशं कृतवान्। **अप्रकृतिङ्गतम्** इति आकुलशब्दार्थ उक्तः। तेन स्वभावतो धीरत्वं सूच्यते। ‘उपहतस्वभावः’ [२।७] इति हि स्वेनैवोक्तम्। एतेन कार्पण्यदोषोपहतस्वभावत्वं धर्मसम्मूढचेतस्त्वे हेतुतयोक्तमित्यपि दर्शितम्। ‘धर्मसम्मूढचेताः’ [ २।७ ] इत्येतद्विवरणरूपस्य ‘धर्माधर्मधिया—’ इत्यस्य अर्थः **क्षत्रियाणा**मित्यादिनोक्तः। धर्मे अधर्मधीः धर्माधर्मधीः, शुक्तिकारजतधीरितिवत्, तत्र यथार्थख्यातिपक्षे भेदाग्रहो विवक्षितः। तामसी चेयं धीः; ‘अधर्मं धर्ममिति या मन्यते’ [ १८।३२ ] इत्यादि हि वक्ष्यते। अत्रास्थानस्नेहकारुण्याभ्यां जाता धर्माधर्मधीरिति विग्रहो द्रष्टव्यः। स्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयाकुल इत्यादिप्राचीनभाष्यानुसारेण। ‘धर्माधर्मभयाकुलम्’ इति पाठे तु त्रयाणां द्वन्द्वः। ‘पृच्छामि त्वां’ [ २।७ ] इत्यादिसमभिव्याहृतप्रपन्नशब्दार्थः **धर्मबुभुत्सया च शरणागत**मित्युक्तः। एवं योग्योद्देशेन प्रवृत्तिर्युज्यत इत्याह— **पार्थमुद्दिश्येति**। व्याजलाभमात्रेण शास्त्रावतरणं कृतमिति भावः। ‘आकुलं पार्थमुद्दिश्य’ [गी.सं. ५] इत्यस्य तात्पर्यं **आत्मे**त्यादिनामत्वेत्यन्तेनोक्तम्। आत्मनो याथात्म्यं नित्यत्वभगवदधीनत्वादिकम्; ‘नहि प्रपश्यामि’ [२।८] इत्यादिकं वदतोऽस्यायमेव शोकनिरासोपाय इति भावः। **कृतम्** इत्यस्य केनेत्याकाङ्क्षायां प्रबन्धकर्तृभूतव्यासादिशङ्काव्यावर्तनायोक्तं **भगवता परमपुरुषेणेति**। अनेन पदद्वयेन शास्त्रप्रामाण्याद्युपयुक्तमुभयलिङ्गत्वादिकमभिप्रेतम्। अन्यपरशास्त्रान्तरव्युदासाय **अध्यात्मेति** विशेषितम्। अस्यार्थस्य साम्प्रदायिकत्वायाह— **तदुक्तमिति**।

प्रत्यध्यायं सङ्ग्रहश्लोकैरर्थभेदेऽभिधीयमानेऽपि इतःपूर्वस्य द्वितीयाध्यायैकदेशस्यापि शास्त्रोपोद्घातत्वम्। अतःपरस्य शास्त्रावतरणरूपत्वं च विवेक्तुं ‘अस्थान—’ इत्यादिना संग्रहश्लोके-

नानिर्दिष्टप्रथमाध्यायेनैतावत्सङ्गृहीतम् । महर्षिस्तु शोकतदपनोदनरूपकथावान्तरसङ्गत्या ‘तं तथा’ [ २।१] इत्यादिकं द्वितीयेऽध्याये न्यवीविशत्; इदमपि सूचितम् ‘तन्मोहशान्तये’ [गी. सं. ६] इति द्वितीयाध्यायफलं सङ्गृह्णद्भिः । ततश्चास्थानस्नेहाद्याकुलत्वं प्रथमाध्यायार्थः; सविशेषः स एवात्र सङ्गत्यर्थमनूदित इत्यपि दर्शितं भवति । नन्वेवंविधमुद्दिश्य कथमपृष्टकर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगादिविषयं शास्त्रमुपदिश्यते ? ‘नापृष्टः कस्यचिद्ब्रूयात्’ [मनुः २।११०] इति हि स्मरन्ति। विशेषतश्चायं गुह्यगुह्यतरगुह्यतमप्रकारोऽर्थः सहसोपदेष्टुमयुक्तः । ‘तस्माद्युध्यस्व भारत’ [२।१८] ‘युद्धाय कृतनिश्चयः’[२।३७] इत्यादिषु च प्राकरणिकयुद्धप्रोत्साहनपरत्वमेव प्रतीयते । अतो नास्य शास्त्रस्याध्यात्मपरत्वमिति । अत्रोच्यते—‘यच्छ्रेयः स्यात्’ [ २।७] इति प्रश्नवाक्ये ‘यच्छ्रेयः’ इत्यनिर्धारितविशेषं दृश्यते । न चार्जुनस्य युद्धमेव श्रेयस्त्वेन जिज्ञास्यमित्यस्ति नियमः, परमास्तिकस्य तस्य भगवति सन्निहिते प्रस्तुतमुखेन परमनिःश्रेयसपर्यन्तजिज्ञासोपपत्तेः । अस्तु वा तस्य युद्धमात्रविषया जिज्ञासा; तथापि परमकारुणिकेन भगवता ‘यच्छ्रेयः’ इति सामान्यवचनमालम्ब्य परमहितोपदेश उपपन्नः । ‘युध्यस्व’ इत्यादिकमपि परमनिःश्रेयसोपायतयेति तत्रतत्र व्यक्तम् । तस्माद्युक्तमिदं **अध्यात्मशास्त्रावतरणम्**इति ॥९॥

परिहासयोग्यत्वाय ‘तम्’ इति परामृष्टमाह— **एवम्**इत्यादिना । ‘उभयोः’ इत्यनेन सूचितमुक्तं **युद्धायोद्युक्तयोः**रिति। एतेनोपदेशावसरलाभो व्यञ्जितः । ‘सीदमानम्’ इत्यनेन निरुद्योगत्वं फलितम् । युद्धविनिवृत्त्यनर्हावस्थाज्ञापकेन ‘मध्ये’ इत्यनेनाभिप्रेतमाह— **अकस्मात्**दिति । अधर्मादिः पराजयादिर्वा युद्धनिवृत्तेः सम्यग्घेतुरत्र नास्ति; अहेतुकोपक्रान्तत्यागे तु परिहास्यत्वमिति भावः। अत्र हृषीकेशत्वोक्तिफलितं वक्ष्यमाणशास्त्रप्रामाण्याद्युपयुक्तं वक्तुः पुरुषस्य सर्ववैलक्षण्यं **परमपुरुष** इति दर्शितम् । यद्यप्यसौ हृषीकेशत्वात्पार्थस्य हृषीकादिकं सर्वं सङ्कल्पमात्रेण नियम्य भूभारावतारणाय प्रेरयितुं शक्तः; तथापि जगदुपकृतिमर्त्यतया पार्थतदितरात्मसाधारणपुरुषार्थोपायशास्त्रोपदेशद्वारा प्रवर्तयतीति भावः । यद्वा धीरमर्जुनं हृषीकेशतया स्वयं प्रक्षोभ्य प्रहसन्निव जगदुपकाराय शास्त्रमुवाचेति सम्बन्धविशेषात् समनन्तरवाक्यपर्यालोचनया च परिहासार्थत्वौचित्यात् प्रहासस्य पार्थकर्मकत्वमुक्तम् । यद्वा प्रपन्नस्य दोषनिरीक्षणेन परिहासासम्भवं शिष्यं प्रत्यध्यात्मोपदेशे प्रहासमात्रं दृष्टान्तानुपयोगं च अभिप्रेत्य **पार्थ**शब्दः । अतः **प्रहसन्निव** इत्यनेन फलितं सरसत्वं सुग्रहत्वं निखिलनिगमान्तगह्वरनिलीनस्य महतोऽर्थजातस्यानायासभाषणम्, इदंशब्दस्य वक्ष्यमाणसमस्तभगवद्वाक्यविषयत्वम्, इङ्गितेनापि विवक्षितसूचनं च दर्शयति— **परिहास**इत्यादिना । ‘अशोच्यान्’ इतिश्लोकस्यापि उपदेशार्थविधानापादनार्थपरिहासच्छायतया शास्त्रावतरणमात्रत्वेन साक्षाच्छास्त्रत्वाभावात् **न त्वेवाहम्** इत्यारभ्य इत्युक्तम् । यद्वाऽत्र ‘अशोच्यान्’ [ २।११ ] इति श्लोकः प्रहसन्निवेत्यस्य विषयः ‘न त्वेवाहम्’ [२।१२] इत्यादिक**मिदं**शब्दार्थः। अत्र ‘मा शुचः’[१६।५] इत्येतदन्तं **भक्तियोगगोचर**मिति निर्देशः, सर्वसाधकस्यापि चरमश्लोकोक्तप्रपदनस्य प्रकृतान्वयेन भक्तिविरोधिनिवर्तकतयोदाहरिष्यमाणत्वात् ॥ १०॥

**ह. पै. भा.— एवमुक्त्वाऽर्जुनः किं कृतवानित्यपेक्षायामाह— एवमिति । गुडाकेशोऽर्जुनो हृषीकेशं श्रीकृष्णं प्रति एवं पूर्वोक्तप्रकारेण ‘कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये योत्स्यामि’ [ २।४ ] इत्यादि हे परन्तप हे धृतराष्ट्र ! अहं न योत्स्ये युद्धं न करिष्यामीति गोविन्दं प्रत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव मौनमाश्रितवान् ॥ ९ ॥ ततः किं वृत्तमित्यपेक्षायामाह— तमिति । हे भारत ! हृषीकेशः श्रीनारायणः प्रसन्नवदनः सन्नुभयोः सेनयोर्मध्ये विषीदन्तं विषादं कुर्वन्तमर्जुनं प्रतीदं वक्ष्यमाणं वचो वाक्यमुवाच । अत्र च ‘दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्’ [ १।२ ] इत्यारभ्य ‘न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह’ इत्येवमन्तो ग्रन्थः प्राणिनां शोकमोहबहुलः संसारोऽविद्यामूल इति प्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्येयः ॥ १० ॥**

वें. ब्र. गि.— तदेवम् ‘दृष्ट्वेमं स्वजनम्’ [ १।२८ ] इत्यादिना अर्जुनस्य शोकमोहग्रासिमुक्त्वा पुनः ‘कुतस्त्वा कश्मलम्’ [ २।२ ] इत्यादिना भगवत्प्रतिबोधितस्यापि तस्य ‘कथं भीष्ममहं’ [ २।४ ] इत्यादिना शोकमोहतादवस्थ्यं प्रतिपाद्य तत्र स्वयं विस्मयमानः **सञ्जय उवाच**—

परन्तपः शत्रुतापनः गुडाकेशोऽर्जुनः गोविन्दं गाम् ‘कुतस्त्वा कश्मलम्’[ २।२ ] इत्यादिकं वाचं विन्दति वक्तव्यतया लभत इति गोविन्दः, तं हृषीकेशं कृष्णं प्रति एवमुक्त्वा ‘कथं भीष्मम्’ [ २।४ ] इत्यादिना ‘सुराणामाधिपत्यम्’ [ २।८ ] इत्यन्तेनोक्तप्रकारेण कथयित्वा पुनरपि ‘न योत्स्ये’ इति स्वसिद्धान्तमुक्त्वा तूष्णीं बभूव हेत्याश्चर्यार्थे निपातः। तच्चाश्चर्यं ‘गोविन्दं’ इत्यनेन प्रदर्शितम् । ‘कुतस्त्वा’ [ २।२ ] इत्यादिना बोधितोऽपि मोहवाक्यान्येवोक्तवानित्याश्चर्यमित्यर्थः । ‘हृषीकेशं’ इत्यनेन तथा मोहग्रस्तं प्रत्यपि प्रतिबोधने सर्वधीवृत्तिप्रेरकस्य न भार इति सूचितम् । ‘परन्तपः’ इत्यनेन च शत्रुतापनस्य युद्धवैमुख्यं न भयप्रयुक्तं, किन्तु मोहोपाधिकमिति ज्ञापितम् । मोहोऽपि च हृषीकेशानुगृहीतस्य अकिञ्चित्कर इति गुडाकेशपदेन निस्तन्द्रत्ववाचिनोक्तम् ॥ ९ ॥

ततः किं जातं इत्यत आह— तमिति। प्रतिबोधनानन्तरमपि मुह्यन्तमित्यर्थः। मोहोऽपि स्वरूपसन्नेव (?) न स्थितः, किन्तु शोकरूपस्वकार्यपर्यन्त इत्याह— विषीदन्तमिति। विषादोऽपि न लोक इव किञ्चित्कालमवस्थाय गतः, किन्तु स्वजनदर्शने यथा प्रथममारब्धस्तथैवानुस्यूत इति दर्शयितुं वर्तमानार्थकः शतृप्रत्ययः। एवंविधोऽपि शोको यदि स्वसेनामध्यस्थितिकाल एव स्यात्तदा सावकाशं समाधातुं शक्येत, न त्वेवम्; किन्तु स्वबलान्निर्गत्य युयुत्सुः परकीयशरमुखे स्थित्वा स्वयं धनुस्त्यज्य प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते यदा बन्धूनवैक्षत, तदानीमुत्पन्नः; ततो महत्कष्टं जातमित्यभिप्रेत्याह— सेनयोरुभयोर्मध्य इति। एवं सत्यपि भगवतोऽर्जुनसङ्कटनिरासेऽनायासं दर्शयति— प्रहसन्निवेति। परिहासवाक्यं वदन्निवेत्यर्थः। अर्जुनस्य पैतृष्वसेयतया तं प्रति भगवतः सर्वदाऽपि परिहासोक्तय एव भवन्तीति तदा सङ्कटेऽपि तन्निराचिकीर्षुर्भगवान् परिहासरीत्यैव इदं वक्ष्यमाणम् 'अशोच्यान्' इत्यादिकमतिगम्भीरार्थमशेषवेदान्तसारभूतं वचनमुवाच। तत्र च विनोदफलकत्वेन लोके परिहासः प्रसिद्धः, अयं त्वर्जुनस्य तत्त्वज्ञानोत्पादनफलक इति प्रसिद्धपरिहासवैलक्षण्यद्योतनार्थः प्रहसन्निवेतीवकारः। सर्वधीप्रेरकस्य ज्ञानोत्पादनं हासमात्रेणैव सुकरमिति हृषीकेशपदेनोक्तम्। भारतेति च धृतराष्ट्रसम्बोधनेनेदं व्यज्यते— भरतवंशोत्पन्नेन त्वयाऽनभिज्ञाता भरतवंशीया राजानो न सन्ति, तेषु किमेतादृशभगवत्प्रेमानुग्रहपदं कश्चिदपि राजा दृष्टः श्रुतो वा? इति ॥ १० ॥

व० त० दी०— एवमुक्त्वाऽर्जुनः किं कृतवानित्यपेक्षायां सञ्जय उवाच– एवमिति। गुडाका निद्रा, तस्या ईशः तन्द्रारहितोऽपि, गुडाऽलको वा। सर्वेन्द्रियाध्यक्षं गोविन्दं शरणागतः व्रजेन्द्रमिति। 'न योत्स्ये' इत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव ह ॥ ९ ॥ ततः किं जातमिति तमुवाचेति। अहो अस्यात्मतत्त्वाज्ञानतः क्लैब्यं कीदृक्? इति प्रहसन् धर्मिष्ठत्वादस्यैतदप्युचितमिति भावेनेत्युक्तम् ॥ १० ॥

पु. अ. त.— एवमुक्त्वाऽर्जुनः किं कृतवानित्यत आह— एवमुक्त्वेति। गुडाकेशोऽर्जुनः हृषीकेशं तथेन्द्रियप्रेरकमेवमुक्त्वा पूर्वोक्तप्रकारमुक्त्वा गोविन्दं भक्तपरिपालकं 'न योत्स्ये' इत्युक्त्वा तूष्णीं बभूव। ह इत्याश्चर्ये। भगवद्भक्तोऽपि न राज्यस्य स्पृहालुर्जातः। परन्तप उत्कृष्टं तपो यस्येति सम्बोधनम्, त्वदीयाः श्रीकृष्णसम्मुखे जीवितं त्यक्त्वा कृतार्था भविष्यन्ति इत्यभिप्रायेण। अत एव 'पार्थाः स्वपूताः पदमापुरस्य' [भाग. ३।२।२०] इति वचनं गीयते ॥ ९ ॥ ततो भगवान् किमुक्तवानित्याकाङ्क्षायामाह— तमुवाचेति। हृषीकेशः विषीदन्तमर्जुनं प्रहसन्निव उभयोः सेनयोर्मध्ये इदं वचोऽग्रे वक्ष्यमाणमुवाच। स्वोक्ताकारिष्वपि स्वीयेषु भगवान् पुनर्वदति विश्वासार्थं सम्बोधने भारतेति ॥ १० ॥

नी० भा० दी०— युद्धादन्यं कञ्चित् निवृत्तिरूपं शमोपायं ब्रूहीत्याशयः। अत्रार्जुनविषादव्याजेन ब्रह्मविद्याधिकारिविशेषणं भैक्षचर्या इहामुत्रार्थफलभोगविरागश्च दर्शितः ॥ ९ ॥ तमिति। मूढोऽप्ययममूढवद्वदतीति प्रहसन्निव। इदं वक्ष्यमाणम् ॥ १० ॥

स्वजनवधाद्विषीदन्तं युद्धादुपरतमर्जुनं प्रत्यात्मानात्मज्ञानोत्पादनपूर्वकं शोकमोहहरं युद्धप्रवृत्तिकरं भगवद्वचनम्।

**श्रीभगवानुवाच— अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।**
**गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥ ११ ॥**

## १ शाङ्करभाष्यम्।

'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकम्' [ १।२ ] इत्यारभ्य यावत् 'न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।' [ २।९ ] इत्येतदन्तः प्राणिनां शोकमोहादिसंसारबीजभूतदोषोद्भवकारणप्रदर्शनार्थत्वेन व्याख्येयो ग्रन्थः।

## २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या।

अतीतसन्दर्भस्येत्थमक्षरोत्थमर्थं विवक्षित्वा तस्मिन्नेव वाक्यविभागमवगमयति— दृष्ट्वा त्विति। 'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे' [ १।१ ] इत्यादिराद्यश्लोकस्तावदेकं वाक्यं, शास्त्रस्य कथासम्बन्धपरत्वेन पर्यवसानात्; 'दृष्ट्वा' [ १।२ ] इत्यारभ्य यावत् 'तूष्णीं बभूव ह' [ २।९ ] इति तावच्चैकं वाक्यम्, इत आरभ्य 'इदं वचः' [ २।१० ] इत्येतदन्तो ग्रन्थो भवत्यपरं वाक्यमिति विभागः। नन्वाद्यश्लोकस्य युक्तमेकवाक्यत्वं प्रकृतशास्त्रस्य महाभारतेऽवतारावद्योतित्वात्, अन्तिमस्यापि सम्भवत्येकवाक्यत्वमर्जुनाश्वासार्थतया प्रवृत्तत्वात्, तन्मध्यमस्य तु कथमेकवाक्यत्वमित्याशङ्क्यार्थैकत्वादित्याह– प्राणिनामिति। शोको मानसस्तापः, मोहो विवेकाभावः। आदिशब्दस्तदवान्तरभेदार्थः। स एव संसारस्य दुःखात्मनो बीजभूतो दोषस्तस्योद्भवे कारणमहङ्कारो ममकारस्तद्धेतुरविद्या च तत्प्रदर्शनार्थत्वेनेति योजना।

**१ शां. भा.—तथा हि—अर्जुनेन राज्यगुरुपुत्रमित्रसुहृत्स्वजनसम्बन्धिबान्धवेषु 'अहमेतेषां, मम एते' इत्येवं भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्तस्नेहविच्छेदादिनिमित्तौ आत्मनः शोकमोहौ प्रदर्शितौ 'कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये' [ २।४ ] इत्यादिना। शोकमोहाभ्यां हि अभिभूतविवेकविज्ञानः स्वत एव क्षत्रधर्मे युद्धे प्रवृत्तोऽपि तस्माद्युद्धात् उपरराम, परधर्मं च भिक्षाजीवनादिकं कर्तुं प्रववृते।**

२ आ. शां. व्या.—सङ्गृहीतमर्थं विवृणोति—**तथा हीति**। राज्यं राज्ञः कर्म परिपालनादि। पूजार्हा गुरवो भीष्मद्रोणादयः। पुत्राः स्वयमुत्पादिताः सौभद्रादयः। सम्बन्धान्तरमन्तरेण स्नेहगोचरा गुरुपुत्रप्रभृतयो मित्रशब्देनोच्यन्ते। उपकारनिरपेक्षतया स्वयमुपकारिणो हृदयानुरागभाजो भगवत्प्रमुखाः सुहृदः। स्वजना ज्ञातयो दुर्योधनादयः। सम्बन्धिनः श्वशुरश्यालप्रभृतयो द्रुपदधृष्टद्युम्नादयः। परम्परया पितृपितामहादिष्वनुरागभाजो राजानो बान्धवाः, तेषु यथोक्तं प्रत्ययं निमित्तीकृत्य यः स्नेहो यश्च तैः सह विच्छेदो यच्च तेषामुपघाते पातकं या च लोकगर्हा सर्वं तन्निमित्तं ययोरात्मनः शोकमोहयोस्तावेतौ संसारबीजभूतौ '**कथं**' [ २।४ ] इत्यादिना दर्शिताविल्यर्थः। कथं पुनरनयोः संसारबीजयोरर्जुने सम्भावनोपपद्यते ? न हि प्रथितमहामहिम्नो विवेकविज्ञानवतः स्वधर्मे प्रवृत्तस्य तस्य शोकमोहावनर्थहेतू सम्भाविताविल्याशङ्क्य विवेकतिरस्कारेण तयोर्विहिताकरणप्रतिषिद्धाचरणकारणत्वादनर्थाधायकयोरस्ति तस्मिन्सम्भावनेत्याह—**शोकमोहाभ्यामिति**। भिक्षया जीवनं प्राणधारणम्। **आदि**शब्दादशेषकर्मसन्न्यासलक्षणं पारिव्राज्यमात्माभिध्यानमित्यादि गृह्यते।

**१ शां. भा.—तथा च सर्वप्राणिनां शोकमोहादिदोषाविष्टचेतसां स्वभावत एव स्वधर्मपरित्यागः प्रतिषिद्धसेवा च स्यात्। स्वधर्मे प्रवृत्तानामपि तेषां वाङ्मनःकायादीनां प्रवृत्तिः फलाभिसन्धिपूर्विकैव साहङ्कारा च भवति। तत्र एवं सति धर्माधर्मोपचयात् इष्टानिष्टजन्मसुखदुःखसम्प्राप्तिलक्षणः संसारोऽनुपरतो भवति। इत्यतः संसारबीजभूतौ शोकमोहौ। तयोश्च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकादात्मज्ञानात् नान्यतो निवृत्तिरिति तदुपदिदिक्षुः सर्वलोकानुग्रहार्थं अर्जुनं निमित्तीकृत्य आह भगवान् वासुदेवः 'अशोच्यान्' इत्यादि।**

२ आ. शां. व्या.—किञ्चार्जुने दृश्यमानौ शोकमोहौ संसारबीजं, शोकमोहत्वात्, अस्मदादिनिष्ठशोकमोहवत्, इत्युपलब्धौ शोकमोहौ प्रत्येकं पक्षीकृत्यानुमातव्यमित्याह—**तथा चेति**। **शोकमोहादी**त्यादिशब्देन मिथ्याभिमानस्नेहगर्हादयो गृह्यन्ते, स्वभावतश्चित्तदोषसामर्थ्यादित्यर्थः। अस्मदादीनामपि स्वधर्मे प्रवृत्तानां विहिताकरणत्वाद्यभावान्न शोकादेः संसारबीजतेति दृष्टान्तस्य साध्यविकलतेति चेत्तत्राऽऽह—**स्वधर्म** इति। कायादीनामित्यादिशब्दादवशिष्टानीन्द्रियाण्यादीयन्ते। फलाभिसन्धिस्तद्विषयोऽभिलाषः। कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानोऽहङ्कारः। प्रागुक्तप्रकारेण वागादिव्यापारे सति किं सिध्यति ? तत्राऽऽह—**तत्रेति**। शुभकर्मानुष्ठानेन धर्मोपचयादिष्टं देवादिजन्म, ततः सुखप्राप्तिः, अशुभकर्मानुष्ठानेनाधर्मोपचयादनिष्टं तिर्यगादिजन्म, ततो दुःखप्राप्तिः, व्यामिश्रकर्मानुष्ठानादुभाभ्यां धर्माधर्माभ्यां मनुष्यजन्म, ततः सुखदुःखे भवतः, एवमात्मकः संसारः सन्ततो वर्तत इत्यर्थः। अर्जुनस्यान्येषां च शोकमोहयोः संसारबीजत्वमुपपादितमुपसंहरति—**इत्यत** इति। तदेवं प्रथमाध्यायस्य द्वितीयाध्यायैकदेशसहितस्याऽऽत्माज्ञानोत्थनिवर्तनीयशोकमोहाख्यसंसारबीजप्रदर्शनपरत्वं दर्शयित्वा वक्ष्यमाणसन्दर्भस्य सहेतुसंसारनिवर्तकसम्यग्ज्ञानोपदेशे तात्पर्यं दर्शयति—**तयोश्चेति**। तद्यथोक्तं ज्ञानमुपदिदिक्षुरुपदेष्टुमिच्छन्भगवानाहेति सम्बन्धः। सर्वलोकानुग्रहार्थं यथोक्तं ज्ञानं भगवानुपदिदिक्षतीत्ययुक्तम्, अर्जुनं प्रत्येवोपदेशादित्याशङ्क्याऽऽह-**अर्जुन**मिति। न हि तस्यामवस्थायामर्जुनस्य भगवता यथोक्तं ज्ञानमुपदेष्टुमिष्टं, किन्तु स्वधर्मानुष्ठानाद्बुद्धिशुद्ध्युत्तरकालमित्यभिप्रेत्योक्तम्—**निमित्तीकृत्येति**।

**१ शां. भा.—तत्र केचित् आहुः—सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकात् आत्मज्ञाननिष्ठामात्रादेव केवलात् कैवल्यं न प्राप्यत एव। किं तर्हि ? अग्निहोत्रादिश्रौतस्मार्तकर्मसहितात् ज्ञानात् कैवल्यप्राप्तिरिति सर्वासु गीतासु निश्चितोऽर्थ इति। ज्ञापकं च आहुरस्यार्थस्य—'अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि' [ २।३३ ] 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [ २।४७ ] 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' [ २।१५ ] इत्यादि।**

२ आ. शां. व्या.—सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकादात्मज्ञानादेव केवलात्कैवल्यप्राप्तिरिति गीताशास्त्रार्थः स्वाभिप्रेतो व्याख्यातः, सम्प्रति वृत्तिकृतामभिप्रेतं निरसितुमनुवदति—**तत्रेति**। निर्धारितशास्त्रार्थः सतिसप्तम्या परामृश्यते। तेषामुक्तिमेव विवृण्वन्नादौ सैद्धान्तिकमभ्युपगमं प्रत्यादिशति—**सर्वकर्मेति**। वैदिकेन कर्मणा समुच्चयं व्युदसितुं **मात्र**पदम्, स्मार्तेन कर्मणा समुच्चयं निरसितुमवधारणम्। अभ्याससम्बन्धं धुनीते—**केवला**दिति। नैवेत्येवकारः सम्बध्यते। केन तर्हि प्रकारेण ज्ञानं कैवल्यप्राप्ति-

कारणमित्याशङ्क्याऽऽह— **किं तर्हीति**। किं तत्र प्रापकमित्याशङ्क्येदमेव शास्त्रमित्याह— **इति सर्वास्विति**। यथा प्रयाजानुयाजाद्युपकृतमेव दर्शपौर्णमासादि स्वर्गसाधनं तथा श्रौतस्मार्तकर्मोपकृतमेव ब्रह्मज्ञानं कैवल्यं साधयति। 'विमतं सेतिकर्तव्यताकमेव स्वफलसाधकं करणत्वाद्दर्शपौर्णमासादिवत्'। तदेवं ज्ञानकर्मसमुच्चयपरं शास्त्रमित्यर्थः। इतिपदमाहुरित्यनेन पूर्वेण सम्बध्यते। पौर्वापर्यपर्यालोचनायां शास्त्रस्य समुच्चयपरत्वं न निर्धारितमित्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञापकं** चेति। न केवलं ज्ञानं मुक्तिहेतुः, अपितु समुच्चितमित्यस्यार्थस्य स्वधर्माननुष्ठाने पापप्राप्तिवचनसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं गमकमित्यर्थः। शास्त्रस्य समुच्चयपरत्वे लिङ्गवद्वाक्यमपि प्रमाणमित्याह— **कर्मण्येवेति**। तत्रैव वाक्यान्तरमुदाहरति— **कुरु कर्मेति**।

**१ शां॰ भा॰—हिंसादियुक्तत्वात् वैदिकं कर्म अधर्मायेति इयमपि आशङ्का न कार्या। कथम्? क्षात्रं कर्म युद्धलक्षणं गुरुभ्रातृपुत्रादिहिंसालक्षणं अत्यन्तक्रूरमपि स्वधर्म इति कृत्वा नाधर्माय; तदकरणे च 'ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।' [२।३३] इति ब्रुवता यावज्जीवादिश्रुतिचोदितानां पश्वादिहिंसालक्षणानां च कर्मणां प्रागेव नाधर्मत्वमिति सुनिश्चितं उक्तं भवति—इति।**

**२ आ. शां. व्या.**— ननु "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" [ ] इत्यादिना प्रतिषिद्धत्वेन हिंसादेरनर्थहेतुत्वावगमात्तदुपेतं वैदिकं कर्माधर्मायेति नानुष्ठातुं शक्यते, तथा च तस्य मोक्षे ज्ञानेन समुच्चयो न सिध्यतीति साङ्ख्यमतमाशङ्क्य परिहरति—**हिंसादीति**। आदिशब्दादुच्छिष्टभक्षणं गृह्यते। यथोक्ता शङ्का न कर्तव्येत्यत्राऽऽकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमाह—**कथमित्यादिना**। स्वशब्देन क्षत्रियो विवक्ष्यते। युद्धाकरणे क्षत्रियस्य प्रत्यवायश्रवणात्तस्य तं प्रति नित्यत्वेनावश्यकर्तव्यत्वप्रतीतेर्गुर्वादिहिंसायुक्तमतिक्रूरमपि कर्म नाधर्मायेति हेत्वन्तरमाह— **तदकरणे चेति**। आचार्यादिहिंसायुक्तमतिक्रूरमपि युद्धं नाधर्मायेति ब्रुवता भगवता श्रौतानां हिंसादियुक्तानामपि कर्मणां दूरतो नाधर्मत्वमिति स्पष्टमुपदिष्टं भवति। सामान्यशास्त्रस्य व्यर्थहिंसानिषेधार्थत्वात्क्रतुविषये चोदितहिंसायास्तदविषयत्वात्क्रतो वैदिककर्मानुष्ठानानुपपत्तिरित्यर्थः। ज्ञानकर्मसमुच्चयात्कैवल्यसिद्धिरित्युपसंहर्तुमितिशब्दः।

**१ शां॰ भा॰— तदसत्; ज्ञानकर्मनिष्ठयोः विभागवचनात् बुद्धिद्वयाश्रययोः 'अशोच्यान्' इत्यादिना भगवता यावत् 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [२।३१] इत्येतदन्तेन ग्रन्थेन यत्परमार्थात्मतत्त्वनिरूपणं कृतम्, तत् साङ्ख्यम्। तद्विषया बुद्धिः आत्मनो जन्मादिषड्विक्रियाभावात् अकर्ताऽऽत्मेति प्रकरणार्थनिरूपणात् या जायते, सा साङ्ख्यबुद्धिः, सा येषां ज्ञानिनां उचिता भवति, ते साङ्ख्याः। एतस्या बुद्धेर्जन्मनः प्राक् आत्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यपेक्षो धर्माधर्मविवेकपूर्वको मोक्षसाधनानुष्ठाननिरूपणलक्षणो योगः, तद्विषया बुद्धिः योगबुद्धिः, सा येषां कर्मिणां उचिता भवति ते योगिनः।**

**२ आ. शां. व्या.**—यत्तावत् 'ब्रह्मज्ञानं सेतिकर्तव्यताकं, स्वफलसाधकं, करणत्वात्' इत्यनुमानं तद्दूषयति—**तदसदिति**। न हि शुक्तिकादिज्ञानमज्ञाननिवृत्तौ स्वफले सहकारि किञ्चिदपेक्षते, तथा च व्यभिचारादसाधकं करणत्वमित्यर्थः। यत्तु गीताशास्त्रे समुच्चयस्यैव प्रतिपाद्यतेति प्रतिज्ञातं तदपि विभागवचनविरुद्धमित्याह— **ज्ञानेति**। साङ्ख्यबुद्धिर्योगबुद्धिश्चेति बुद्धिद्वयम्, तत्र साङ्ख्यबुद्ध्याश्रयां ज्ञाननिष्ठां व्याख्यातुं साङ्ख्यशब्दार्थमाह— **अशोच्यानित्यादिनेति**। 'अशोच्यान्' इत्यादि 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [२।३१] इत्येतदन्तं वाक्यं यावद्भविष्यति तावता ग्रन्थेन यत्परमार्थभूतमात्मतत्त्वं भगवता निरूपितं, तद्यया सम्यक्ख्यायते प्रकाश्यते सा वैदिकी सम्यग्बुद्धिः सङ्ख्या, तया प्रकाश्यत्वेन सम्बन्धि प्रकृतं तत्त्वं साङ्ख्यमित्यर्थः। साङ्ख्यशब्दार्थमुक्त्वा तत्प्रकाशिकां बुद्धिं तद्द्वतश्च साङ्ख्यान्व्याकरोति— **तद्विषयेति**। तद्विषया बुद्धिः साङ्ख्यबुद्धिरिति सम्बन्धः। तामेव प्रकटयति— **आत्मन इति**। 'न जायते म्रियते वा' [२।२०] इत्यादिप्रकरणार्थनिरूपणद्वारेणाऽऽत्मनः षड्भावविक्रियासम्भवात्कूटस्थोऽसाविति या बुद्धिरुत्पद्यते सा साङ्ख्यबुद्धिः, तत्पराः सन्न्यासिनः साङ्ख्या इत्यर्थः। सम्प्रति योगबुद्ध्याश्रयां कर्मनिष्ठां व्याख्यातुकामो योगशब्दार्थमाह— **एतस्या इति**। यथोक्तबुद्ध्युत्पत्तौ विरोधादेवानुष्ठानायोगात्तस्यास्तन्निवर्तकत्वात्पूर्वमेव तदुत्पत्तेरात्मनो देहादिव्यतिरिक्तत्वाद्यपेक्षया धर्माधर्मौ निष्कृष्य येनेश्वराराधनरूपेण कर्मणा पुरुषो मोक्षाय युज्यते योग्यः सम्पद्यते, तेन मोक्षसिद्धये परम्परया साधनीभूतप्रागुक्तधर्मानुष्ठानात्मको योग इत्यर्थः। अथ योगबुद्धिं विभजन्योगिनो विभजते— **तद्विषयेति**।

**१ शां॰ भा॰— तथा च भगवता विभक्ते द्वे बुद्धी निर्दिष्टे 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।' [२।३९] इति। तयोश्च साङ्ख्यबुद्ध्याश्रयां ज्ञानयोगेन निष्ठां साङ्ख्यानां**

१ "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत" "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यादयो यावज्जीवश्रुतयो बह्वृचब्राह्मणे श्रूयन्ते। भाष्यगतादिशब्दादन्याः पश्वाद्यालम्भप्रतिपादकाः श्रुतयोऽपि क्रतुविषये सूचिता भवन्ति।

विभक्तां वक्ष्यति—‘ पुरा वेदात्मना मया प्रोक्ता ’ इति । तथाच योगबुद्ध्याश्रयां कर्मयोगेन निष्ठां विभक्तां वक्ष्यति—‘ कर्मयोगेन योगिनाम् ’ [ ३।३ ] इति । एवं साङ्ख्यबुद्धिं योगबुद्धिं च आश्रित्य द्वे निष्ठे विभक्ते भगवतैव उक्ते ज्ञानकर्मणोः कर्तृत्वाकर्तृत्वैकत्वानेकत्वबुद्ध्याश्रययोः युगपत् एकपुरुषाश्रयत्वासम्भवं पश्यता ।

२ आ. शां. व्या.—उक्ते बुद्धिद्वये भगवतोऽभिमतिं दर्शयति—तथा चेति । साङ्ख्यबुद्ध्याश्रया ज्ञाननिष्ठेत्येतदपि भगवतोऽभिमतमित्याह—तयोश्चेति । ज्ञानमेव योगो ज्ञानयोगस्तेन हि ब्रह्मणा युज्यते तादात्म्यमापद्यते तेन, सन्न्यासिनां निष्ठा निश्चयेन स्थितिस्तात्पर्येण परिसमाप्तिस्तां कर्मनिष्ठातो व्यतिरिक्तां निष्ठयोर्मध्ये निष्कृष्य भगवान्वक्ष्यतीति योजना । ‘ लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ । ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम् ’ [३।३] इत्येतद्वाक्यमुक्तार्थविषयमतोऽनुवदति—पुरेति । योगबुद्ध्याश्रया कर्मनिष्ठेत्यत्रापि भगवदनुमतिमादर्शयति—तथा चेति । कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन हि बुद्धिशुद्धिद्वारा मोक्षहेतुज्ञानाय पुमान्युज्यते तेन, निष्ठां कर्मिणां ज्ञाननिष्ठातो विलक्षणां कर्मयोगेनेत्यादिना वक्ष्यति भगवानिति योजना । निष्ठाद्वयं बुद्धिद्वयाश्रयं भगवता विभज्योक्तमुपसंहरति—एवमिति । कया पुनरनुपपत्त्या भगवता निष्ठाद्वयं विभज्योक्तं ? इत्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानकर्मणोरिति । कर्म हि कर्तृत्वानेकत्वबुद्ध्याश्रयम्, ज्ञानं पुनरकर्तृत्वैकत्वबुद्ध्याश्रयम्, तदुभयमित्थं विरुद्धसाधनसाध्यत्वान्नैकावस्थस्यैव पुरुषस्य सम्भवति, अतो युक्तमेव तयोर्विभागवचनमित्यर्थः ।

१ शां० भा०—यथा एतत् विभागवचनं तथैव दर्शितं शातपथीये ब्राह्मणे—“एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तो ब्राह्मणाः प्रव्रजन्ति ”इति सर्वकर्मसन्न्यासं विधाय तच्छेषेण “किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः” [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति । तत्रैव च प्राक् दारपरिग्रहात् ‘ पुरुषः ’ ‘ आत्मा ’ प्राकृतो धर्मजिज्ञासोत्तरकालं लोकत्रयसाधनं पुत्रं, द्विप्रकारं च वित्तं मानुषं दैवं च; तत्र मानुषं वित्तं कर्मरूपं पितृलोकप्राप्तिसाधनं, विद्यां च दैवं वित्तं देवलोकप्राप्तिसाधनं “सोऽकामयत” [बृ. उ. १।४।१७] इति अविद्याकामवत एव सर्वाणि कर्माणि श्रौतादीनि दर्शितानि । “तेभ्यो व्युत्थाय प्रव्रजन्ति ” इति व्युत्थानं आत्मानमेव लोकं इच्छतोऽकामस्य विहितम् । तदेतत् विभागवचनं अनुपपन्नं स्यात्, यदि श्रौतकर्मज्ञानयोः समुच्चयोऽभिप्रेतः स्यात् भगवतः ।

२ आ. शां. व्या.—भगवदुक्तविभागवचनस्य मूलत्वेन श्रुतिमुदाहरति—यथेति । तत्र ज्ञाननिष्ठाविषयं वाक्यं पठति—एतमेवेति । प्रकृतमात्मानं नित्यविज्ञप्तिस्वभावं वेदितुमिच्छन्तस्त्रिविधेऽपि कर्मफले वैतृष्ण्यभाजः सर्वाणि कर्माणि परित्यज्य ज्ञाननिष्ठा भवन्तीति पञ्चमलकारस्वीकारेण सन्न्यासविधिं विवक्षित्वा तस्यैव विधेः शेषेणार्थवादेन ‘ किं प्रजया ’ इत्यादिना मोक्षफलं ज्ञानमुक्तमित्यर्थः । ननु फलभावात्प्रजाक्षेपो नोपपद्यते, पुत्रेणैतल्लोकजयस्य वाक्यान्तरसिद्धत्वात् इत्याशङ्क्य विदुषां प्रजासाध्यमनुष्यलोकस्य आत्मव्यतिरेकेणाभावात् आत्मनश्चासाध्यात्वादाक्षेपो युक्तिमानिति विवक्षित्वाऽऽह—येषामिति । इति ज्ञानं दर्शितमिति शेषः । तस्मिन्नेव ब्राह्मणे कर्मनिष्ठाविषयं वाक्यं दर्शयति—तत्रैवेति । प्राकृतत्वमतत्त्वदर्शित्वेनाज्ञत्वं, स च ब्रह्मचारी सन्गुरुसमीपे यथाविधि वेदमधीत्यार्थज्ञानार्थं धर्मजिज्ञासां कृत्वा तदुत्तरकालं लोकत्रयप्राप्तिसाधनं पुत्रादित्रयं “सोऽकामयत जाया मे स्यात् ” [ बृ. उ. १।४।१७ ] इत्यादिना कामितवानिति श्रुतमित्यर्थः । वित्तं विभजते—द्विप्रकारमिति । तदेव प्रकारद्वैरूप्यमाह—मानुषमिति । मानुषं वित्तं व्याचष्टे—कर्मरूपमिति । तस्य फलपर्यवसायित्वमाह—पितृलोकेति । दैवं वित्तं विभजते—विद्यां चेति । तस्यापि फलनिष्ठत्वमाह—दैवेति । कर्मनिष्ठाविषयत्वेनोदाहृतश्रुतेस्तात्पर्यमाह—अविद्येति । अज्ञस्य कामनाविशिष्टस्यैव कर्माणि ‘‘सोऽकामयत’’ इत्यादिना दर्शितानीत्यर्थः । ज्ञाननिष्ठाविषयत्वेन दर्शितश्रुतेरपि तात्पर्यं दर्शयति—तेभ्य इति । कर्मसु विरक्तस्यैव सन्न्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा प्रागुदाहृतश्रुत्या दर्शितेत्यर्थः । अवस्थाभेदेन ज्ञानकर्मणोर्भिन्नाधिकारत्वस्य श्रुतत्वात्तन्मूलेन भगवतो विभागवचनेन शास्त्रस्य समुच्चयपरत्वं प्रतिज्ञातमपबाधितमिति साधितम् । किञ्च समुच्चयो ज्ञानस्य श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणा विवक्ष्यते ? यदि प्रथमस्तत्राऽऽह—तदेतदिति ।

१ शां० भा०—न च अर्जुनस्य प्रश्न उपपन्नो भवति ‘ ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते ’ [ ३।१ ] इत्यादिः । एकपुरुषानुष्ठेयत्वासम्भवं बुद्धिकर्मणोः भगवता पूर्वं अनुक्तं कथं अर्जुनः अश्रुतं बुद्धेश्च कर्मणो ज्यायस्त्वं भगवति अध्यारोपयेत् मृषैव ‘ ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः ’ [ ३।१ ] इति १ । किञ्च—यदि बुद्धिकर्मणोः सर्वेषां समुच्चय उक्तः स्यात्, अर्जुनस्यापि स उक्त एवेति,

'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्' [ ५।१ ] इति कथमुभयोरुपदेशे सति अन्यतरविषय एव प्रश्नः स्यात् ? न हि पित्तप्रशमनार्थिनो वैद्येन मधुरं शीतं च भोक्तव्यमित्युपदिष्टे 'तयोरन्यतरत्पित्तप्रशमनकारणं ब्रूहि' इति प्रश्नः सम्भवति ।

२ आ. शां. व्या.— समुच्चयेऽभिप्रेते प्रश्नानुपपत्तिं दोषान्तरमाह— **न चेति**। तामेवानुपपत्तिं प्रकटयति— **एकपुरुषेति**। यदि समुच्चयः शास्त्रार्थो भगवता विवक्षितस्तदा ज्ञानकर्मणोरेकेन पुरुषेणानुष्ठेयत्वमेव तेनोक्तमर्जुनेन च श्रुतं, तत्कथं तदसम्भवमनुक्तमश्रुतं च मिथ्यैव श्रोता भगवत्यारोपयेत् ? न च तदारोपादृते किमिति मां कर्मण्येवातिक्रूरे युद्धलक्षणे नियोजयसीति प्रश्नोऽवकल्पते । तथा च प्रश्नालोचनया प्रष्टृप्रतिवक्त्रोः शास्त्रार्थतया समुच्चयोऽभिप्रेतो न भवतीति प्रतिभातीत्यर्थः । किञ्च समुच्चयपक्षे कर्मापेक्षया बुद्धेर्ज्यायस्त्वं भगवता पूर्वमनुक्तमर्जुनेन चाश्रुतं कथमसौ तस्मिन्नारोपयितुमर्हति ? ततश्चानुवादवचनं श्रोतुरनुचितमित्याह— **बुद्धेश्चेति**। इतश्च समुच्चयः शास्त्रार्थो न भवत्यन्यथा पञ्चमादावर्जुनस्य प्रश्नानुपपत्तेरित्याह— **किञ्चेति** । ननु सर्वान्प्रत्युक्तेऽपि समुच्चये नार्जुनं प्रत्युक्तोऽसाविति तदीयप्रश्नोपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **यदीति**। एतयोः कर्मतत्त्यागयोरिति यावत् । ननु कर्मापेक्षया कर्मत्यागपूर्वकस्य ज्ञानस्य प्राधान्यात्तस्य श्रेयस्त्वात्तद्विषयप्रश्नोपपत्तिरिति चेत्, न; इत्याह— **न हीति**। तथैव समुच्चये पुरुषार्थसाधने भगवता दर्शिते सत्यन्यतरगोचरो न प्रश्नो भवतीति शेषः ।

१ शां० भा०— अथार्जुनस्य भगवदुक्तवचनार्थविवेकानवधारणनिमित्तः प्रश्नः कल्प्येत, तथापि भगवता प्रश्नानुरूपं प्रतिवचनं देयं, 'मया बुद्धिकर्मणोः समुच्चय उक्तः, किमर्थमित्थं त्वं भ्रान्तोऽसि?' इति । न तु पुनः प्रतिवचनमननुरूपं पृष्टादन्यदेव 'द्वे निष्ठे मया पुरा प्रोक्ते' [ ३।३ ] इति वक्तुं युक्तम् । नापि स्मार्तेनैव कर्मणा बुद्धेः समुच्चयेऽभिप्रेते विभागवचनादि सर्वमुपपन्नम् । किञ्च क्षत्रियस्य युद्धं स्मार्तं कर्म स्वधर्म इति जानतः 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि ?' [ ३।१ ] इत्युपालम्भोऽनुपपन्नः । तस्माद्गीताशास्त्रे ईषन्मात्रेणापि श्रौतेन स्मार्तेन वा कर्मणाऽऽत्मज्ञानस्य समुच्चयो न केनचिद्दर्शयितुं शक्यः ।

२ आ. शां. व्या.— समुच्चये भगवतोक्तेऽपि तदज्ञानादर्जुनस्य प्रश्नोपपत्तिरिति शङ्कते— **अथेति**। अज्ञाननिमित्तं प्रश्नमङ्गीकृत्यापि प्रत्याचष्टे— **तथापीति**। भगवतो भ्रान्त्यभावेन पूर्वापरानुसन्धानसम्भवादित्यर्थः। प्रश्नानुरूपत्वमेव प्रतिवचनस्य प्रकटयति— **मयेति** । व्यावर्त्यमंशमादर्शयति— **न त्विति** । प्रतिवचनस्य प्रश्नाननुरूपत्वमेव स्पष्टयति— **पृष्टादिति** । श्रौतेन कर्मणा समुच्चयो ज्ञानस्येति पक्षं प्रतिक्षिप्य पक्षान्तरं प्रतिक्षिपति— **नापीति** । श्रुतिस्मृत्योर्ज्ञानकर्मणोर्विभागवचनमादिशब्दगृहीतं बुद्धेर्ज्यायस्त्वं, पञ्चमादौ प्रश्नः, भगवत्प्रतिवचनं, सर्वमिदं श्रौतेनेव स्मार्तेनापि कर्मणा बुद्धेः समुच्चये विरुद्धं स्यादित्यर्थः । द्वितीयपक्षासम्भवे हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । समुच्चयपक्षे प्रश्नप्रतिवचनयोरसम्भवान्नेदं गीताशास्त्रं तत्परमित्युपसंहरति— **तस्मादिति** । विशुद्धब्रह्मात्मज्ञानं स्वफलसिद्धौ न सहकारि सापेक्षम्, अज्ञाननिवृत्तिफलत्वाद्रज्ज्वादितत्त्वज्ञानवत् । अथवा बन्धः सहायानपेक्षेण ज्ञानेन निवर्त्यतेऽज्ञानात्मकत्वात् रज्जुसर्पादिवदिति भावः ।

१ शां० भा०— यस्य त्वज्ञानाद्रागादिदोषतो वा कर्मणि प्रवृत्तस्य यज्ञेन दानेन तपसा वा विशुद्धसत्त्वस्य ज्ञानमुत्पन्नं परमार्थतत्त्वविषयं 'एकमेवेदं सर्वं ब्रह्म अकर्तृ च' इति, तस्य कर्मणि कर्मप्रयोजने च निवृत्तेऽपि लोकसङ्ग्रहार्थं यत्नपूर्वं यथा प्रवृत्तस्तथैव कर्मणि प्रवृत्तस्य यत्प्रवृत्तिरूपं दृश्यते न तत्कर्म, येन बुद्धेः समुच्चयः स्यात् ।

२ आ. शां. व्या.— ननु 'कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्' [ ३।२९ ] इति वक्ष्यमाणत्वात्कथं गीताशास्त्रे समुच्चयो नास्ति ? तत्राऽऽह— **यस्य त्विति** । चोदनासूत्रानुसारेण विधितोऽनुष्ठेयस्य कर्मणो धर्मत्वात् व्यापारमात्रस्य तथात्वाभावात् तत्त्वविदश्च वर्णाश्रमाभिमानशून्यस्याधिकारप्रतिपत्त्यभावात्, यागादिप्रवृत्तीनामविद्यालेशतो जायमानानां कर्माभासत्वात् 'कुर्याद्विद्वान्' [ ३।२५ ] इत्यादि वाक्यं न समुच्चयप्रापकमिति भावः। वाशब्दश्चार्थे । द्वितीयस्तु विविदिषावाक्यस्थसाधनान्तरसङ्ग्रहार्थः। सांसारिकं ज्ञानं व्यावर्तयति— **परमार्थेति**। तदेवाभिनयति— **एकमिति** । **प्रवृत्तिरूपमिति** रूपग्रहणमाभासत्वप्रदर्शनार्थम् । कर्माभाससमुच्चयस्तु यादृच्छिकत्वान्न मोक्षं फलयतीति शेषः ।

---

१ 'उभयोरुपदेशे सति' इत्यधिकमन्यत्र । कर्मसन्न्यासकर्मानुष्ठानयोरुभयोरित्यर्थः ।

१ शां० भा०— यथा भगवतो वासुदेवस्य क्षात्रधर्मचेष्टितं न ज्ञानेन समुच्चीयते पुरुषार्थसिद्धये, तद्वत्तत्फलाभिसन्ध्यहङ्काराभावस्य तुल्यत्वाद्विदुषः । तत्त्ववित्तु 'नाहं करोमि' इति मन्यते, न च तत्फलमभिसन्धत्ते । यथा च स्वर्गादिकामार्थिनोऽग्निहोत्रादिकामसाधनानुष्ठानाय आहिताग्नेः काम्य एवाग्निहोत्रादौ प्रवृत्तस्य सामिकृते विनष्टेऽपि कामे तदेवाग्निहोत्राद्यनुतिष्ठतोऽपि न तत्काम्यमग्निहोत्रादि भवति । तथा च दर्शयति भगवान् 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' [ ५।७ ] 'न करोति न लिप्यते' [ १३।३१ ] इति तत्र तत्र । यच्च 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' [ ४।१५ ] 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' [ ३।२० ] इति, तत्तु प्रविभज्य विज्ञेयम् । तत्कथम् ? यदि तावत् पूर्वे जनकादयस्तत्त्वविदोऽपि प्रवृत्तकर्माणः स्युः, ते लोकसङ्ग्रहार्थं 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' [ ३।२८ ] इति ज्ञानेनैव संसिद्धिमास्थिताः । कर्मसन्न्यासे प्राप्तेऽपि कर्मणा सहैव संसिद्धिमास्थिताः, न कर्मसन्न्यासं कृतवन्त इत्यर्थः [ इत्येषोऽर्थः ] ।

२ आ. शां. व्या.— किञ्च ज्ञानिनो यागादिप्रवृत्तिर्न फले समुच्चीयते, फलाभिसन्धिविकलप्रवृत्तित्वादहङ्कारविधुरप्रवृत्तित्वाद्वा भगवत्प्रवृत्तिवदित्याह— **यथे**ति । हेतुद्वयस्यासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति— **तत्त्वविदि**ति । कूटस्थं ब्रह्मैवाहमिति मन्वानो विद्वान्प्रवृत्तिं तत्फलं वा नैव स्वगतत्वेन पश्यति रूपादिवद्दृश्यस्य द्रष्टृधर्मत्वायोगात् । किन्तु कार्यकरणसङ्घातगतत्वेनैव प्रवृत्त्यादि प्रतिपद्यते । ततस्तत्त्वविदो व्याख्यानभिक्षाटनादावहङ्कारस्य तृप्त्यादिफलाभिसन्धेश्चाऽऽभासत्वान्नासिद्धं हेतुद्वयमित्यर्थः । ननु ज्ञानोदयात्प्रागवस्थायामिवोत्तरकालेऽपि प्रतिनियतप्रवृत्त्यादिदर्शनान्न तत्त्वदर्शिनिष्ठप्रवृत्त्यादेराभासत्वमिति तत्राऽऽह— **यथा चे**ति । स्वर्गादिरेव काम्यमानत्वात्कामस्तदर्थिनः स्वर्गादिकामस्याग्निहोत्रादेरपेक्षितस्वर्गादिसाधनस्यानुष्ठानार्थमग्निमाधाय व्यवस्थितस्य तस्मिन्नेव काम्ये कर्मणि प्रवृत्तस्यार्धकृते केनापि हेतुना कामे विनष्टे तदेवाग्निहोत्रादि निर्वर्तयतो न तत्काम्यं भवति नित्यकाम्यविभागस्य स्वाभाविकत्वाभावात्कामोपबन्धानुपबन्धकृतत्वात् तथा विदुषोऽपि विध्यधिकाराभावाद्वा ( या ) गादिप्रवृत्तीनां कर्माभासतेत्यर्थः । विद्वत्प्रवृत्तीनां कर्माभासत्वमित्यत्र भगवदनुमतिमुपन्यस्यति— **तथा चे**ति । विद्वद्व्यापारेऽपि कर्मशब्दप्रयोगदर्शनात्, तद्व्यापारस्य कर्माभासत्वानुपपत्तेः समुच्चयसिद्धिरिति तत्राऽऽह— **यच्चे**ति । ज्ञानकर्मणोः समुच्चित्यैव संसिद्धिहेतुत्वे प्रतिपन्ने कुतो विभज्यार्थज्ञानमिति पृच्छति— **तत्कथ**मिति । तत्र किं जनकादयोऽपि तत्त्वविदः प्रवृत्तकर्माणः स्युः ? आहोस्विदतत्त्वविदः ? इति विकल्प्य प्रथमं प्रत्याह— **यदी**ति । तत्त्ववित्त्वे कथं प्रवृत्तकर्मत्वं कर्मणामकिञ्चित्करत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **ते लोके**ति । तेषामुक्तप्रयोजनार्थमपि न प्रवृत्तिर्युक्ता सर्वत्रोदासीनत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **गुणा** इति । इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिद्वारा तत्त्वविदां प्रवृत्तकर्मत्वेऽपि ज्ञानेनैव तेषां मुक्तिरित्याह— **ज्ञानेने**ति । उक्तमेवार्थं सङ्क्षिप्य दर्शयति— **कर्मे**ति । कर्मणेत्यादौ बाधितानुवृत्त्या प्रवृत्त्याभासो गृह्यते ।

१ शां० भा०— अथ न ते तत्त्वविदः— ईश्वरसमर्पितेन कर्मणा साधनभूतेन संसिद्धिं सत्त्वशुद्धिं ज्ञानोत्पत्तिलक्षणां वा संसिद्धिमास्थिता जनकादय इति व्याख्येयम् । एतमेवार्थं वक्ष्यति भगवान् 'सत्त्वशुद्धये कर्म कुर्वन्ति' [ ५।११ ] इति । 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [ १८।४६ ] इत्युक्त्वा सिद्धिं प्राप्तस्य च पुनर्ज्ञाननिष्ठां वक्ष्यति 'सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म' [ १८।५० ] इत्यादिना । तस्मात् गीताशास्त्रे केवलादेव तत्त्वज्ञानात् मोक्षप्राप्तिः, न कर्मसमुच्चितात्— इति निश्चितोऽर्थः । यथा च अयमर्थः, तथा प्रकरणशो विभज्य तत्र तत्र दर्शयिष्यामः ।

२ आ. शां. व्या.— द्वितीयमनुवदति— **अथे**ति । तत्र वाक्यार्थं कथयति— **ईश्वरे**ति । विभज्य विज्ञेयत्वं वाक्यार्थस्योक्तमुपसंहरति— इति **व्याख्येय**मिति । कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वमित्युक्तेऽर्थे वाक्यशेषं प्रमाणयति— **एतमेवे**ति । 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति' [ ४।११ ] इत्यादिवाक्यमर्थतोऽनुवदति— **सत्त्वे**ति । स्वकर्मणेत्यादौ साक्षादेव मोक्षहेतुत्वं कर्मणां वक्ष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **स्वकर्मणे**ति । स्वकर्मानुष्ठानादीश्वरप्रसादद्वारा ज्ञाननिष्ठायोग्यता लभ्यते, ततो ज्ञाननिष्ठया मुक्तिः, तेन न साक्षात्कर्मणां मुक्तिहेतुतेत्यग्रे स्फुटीभविष्यतीत्यर्थः । तत्त्वज्ञानोत्तरकालं कर्मासम्भवे फलितमुपसंहरति— **तस्मा**दिति । ननु यद्यपि गीताशास्त्रं तत्त्वज्ञानप्रधानमेकं वाक्यं तथापि तन्मध्ये श्रूयमाणं कर्म तदङ्गमङ्गीकर्तव्यं प्रकरणप्रामाण्यादिति समुच्चयसिद्धिस्तत्राऽऽह— **यथा चे**ति । अर्थशब्देनाऽऽत्मज्ञानमेव केवलं कैवल्यहेतुरिति गृह्यते ।

१ शां० भा०— तत्रैवं धर्मसम्मूढचेतसो मिथ्याज्ञानवतः महति शोकसागरे निमग्नस्यार्जुनस्य अन्यत्र आत्मज्ञानादुद्धरणं अपश्यन् भगवान् वासुदेवः ततः कृपया अर्जुनं उद्दिधारयिषुः आत्मज्ञानाय अवतारयन् आह— 'अशोच्यान्' इत्यादि ।

७ ह. पै. भा.— अशोच्या न शोच्या भीष्मद्रोणादयः, धार्मिकत्वात्; वस्तुतश्च परमात्मस्वरूपत्वात् । अन्वशोचोऽनुशोचितवांस्त्वम् । प्रज्ञा परमात्मज्ञानं तन्निमित्तांश्च वादान्वचनानीह भाषसे । गता असवः प्राणा येषां ते गतासवः तान्, अगतासूनगतप्राणांश्च पण्डिताः परमार्थविदो नानुशोचन्ति । अतो मूढस्त्वं, प्रज्ञा परमा कुतस्ते ? ॥ ११ ॥

८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

मेधायाथात्म्यसिद्ध्यै भवतु भगवती दग्धजीवच्छरीर-
म्लेच्छालापाहिमूर्च्छानिमिषदुपनिषज्जीवजीवातुरुक्तिः ।
अद्वैतब्रह्मराद्धान्तिकसकलपुराणेतिहासोपक्लृप्ता-
माद्या साम्राज्यपीठीमनघजनमनश्शङ्करी शाङ्करी नः ॥१॥

तदेवं मोहसागरनिमग्नस्यार्जुनस्य आत्मतत्त्वज्ञानादन्यत्रोद्धारणोपायमपश्यन् ‘प्रहसन्निव’ इति पूर्वश्लोकोक्तमर्जुनापहासं विशदयन्नेव तदुक्तानुवादपूर्वकमात्मतत्त्वज्ञानमवतारयन् **श्रीभगवानुवाच** । अत्र हृषीकेश उवाचेत्युक्त्वाऽपि पुनर्भगवानुवाचेति वदता सञ्जयेन देशकालाद्यनपेक्षत्वरूपं भगवन्माहात्म्यं दर्शितम् । ‘अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः । प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः’ [१।२०] इत्येवंविधावस्थायां कथं श्रीकृष्णेन ज्ञानमुपदेष्टुं प्रवृत्तं ? कथं वाऽर्जुनस्य तथाविधोपदेशाज्ज्ञानलाभः ? देशकालौ विना सर्वत्र कार्यानुदयादिति न शङ्कनीयम्, अचिन्त्याद्भुतमहामहिमशालिनि भगवति देशकालयोरकिञ्चित्करत्वादिति । एवं च अत्र महात्मवाची भगवच्छब्दः, ‘भगं श्रीकाममाहात्म्य—’ [ अमरः ३।३।६ ] इत्यादिकोशस्मृतेरिति ज्ञेयम् ।

अत्राद्यपादेन प्रथमाध्यायगतार्जुनोक्तानुवादः । द्वितीयपादेन तु ‘कथं भीष्ममहम्’ [ २।४ ] इत्यादिद्वितीयाध्यायगततदुक्तानुवादः । उत्तरार्धेन च “तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः” [ईश.उ. ७] “तरति शोकमात्मवित्” [ छां. उ. ७।१।३ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धसर्वशोकमोहनिवर्तकभावस्य कृत्स्नगीताप्रतिपाद्यस्याद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानस्य निर्देश इत्यतो बीजे वृक्षस्वरूपस्येव कृत्स्नगीतार्थस्य अत्रान्तर्भावाद्बीजश्लोकोऽयमिति गीतान्यासरहस्यम् ।

**अथाक्षरार्थः**— अशोच्यान् आततायित्वेनावश्यवध्यतया शोचितुमनर्हानेव त्वं अन्वशोचः ‘दृष्ट्वेमं स्वजनम्’ [ १।२८ ] इत्यादिनाऽनुशोचितवानसि । ‘विषीदन्तम्’ इति पूर्वश्लोकोक्त्या शोकस्याद्यापि वर्तमानत्वादशोच इत्यार्षो लङ्प्रयोगः । अनुशोचसीत्यर्थः । विवेकी हि शोच्याननुशोचति, त्वं त्वशोच्यानुशोची मूढ इति दूषणगर्भोऽयमनुवादः । तत्र च ‘कुतस्त्वा कश्मलम्’ [ २।२ ] इत्यादिना प्रतिबोधितः ‘हा मयाऽनुचितमाचरितं’ इति स्वयं बुद्ध्याऽवगन्तव्ये तद्विहाय प्रज्ञावतां बुद्धिमतां वादान्वचनानि ‘कथं भीष्ममहम्’ [ २।४ ] इत्यादीनि भाषसे केवलम्, न तु वस्तुतः प्राज्ञोऽसीत्ययमपि दूषणगर्भोऽनुवादः । वादांश्चेति चकारेण प्रज्ञावादान्कुर्वन् । प्राज्ञमर्यादयाऽपि नावतिष्ठसे, यतः ‘पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः’ ‘शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्’ [ २।७ ] इति भाषसे । न च शिष्यमर्यादयाऽपि तिष्ठसि, यतः ‘न योत्स्यामि’ इति पुनः स्वातन्त्र्येण भाषसे; तथा च मौढ्यं प्राज्ञत्वं पुनः शिष्यत्वं स्वातन्त्र्यं चेत्येतत्परस्परविरुद्धं त्वयि दृश्यत इत्यपहासकारणोक्तिः

इत्थमनूद्य प्रथममशोच्यानुशोचनं निराकरोति— **गतासूनिति** । अत्र ‘अशोच्यान्’ इत्यादिभिः ‘स्वधर्ममपि चावेक्ष्य’ [ २।३१ ] इत्यन्तैर्विंशत्या श्लोकैः अशोच्यानुशोचननिरासः । ततः ‘स्वधर्ममपि चावेक्ष्य’ इत्याद्यष्टभिः प्रज्ञावादानां निरास इति ज्ञेयम् । यद्यपि ‘अशोच्यानन्वशोचः’ इति दूषणगर्भानुवादेनैव अर्जुनशोकस्य निरासो भवतीति किमर्थमत्र तत्त्वज्ञानमवतारणीयम् ? तथापि भीष्मद्रोणयोर्महानुभावत्वं वदन्नर्जुनस्तयोरशोच्यत्वं न मन्यते, धार्तराष्ट्रेष्वाततायित्वेनाशोच्यत्वं मन्यमानोऽपि भीष्मद्रोणपुरस्कारेण प्रवृत्तांस्तान्न योद्धुमिच्छतीत्यतस्तेष्वशोच्यत्वबुद्धिः सत्यपि शोकापनोदकत्वाभावात्फलतः शोच्यत्वबुद्धेर्न विशिष्यते । तथा च भीष्मादयो मरिष्यन्तीति शोकपल्लवाङ्कुरहेतुभूतायास्तद्विषयकममताबुद्धिलक्षणलताया मूलकन्दस्याज्ञानस्योन्मूलनं विना समूलशोकनाशो न भवतीति तदज्ञानमूलकूलङ्कषमात्मज्ञानमवतारितमिति द्रष्टव्यम् । **गतासूनिति** । पण्डिता ज्ञानिनः लोके गतासून् गतप्राणान् अगतासून् अगतप्राणान् गमिष्यत्प्राणान् आसन्नमरणानिति यावत्, तानुभयांश्च नानुशोचन्ति । तथा च त्वमपि पण्डितो भूत्वा भीष्मादयो मरिष्यन्तीति वा मरणानन्तरमपि ‘अहो बतैते मृताः’ इति वा नानुशोचितुमर्हसीत्यर्थः ।

**मधुसूदनसरस्वत्यस्तु**—“अगतासुशब्देन गतासूनां बान्धवा ये जीवन्ति ते कथ्यन्ते; ते च बन्धुविच्छेदे कथं जीविष्यन्तीत्येवंरूपः शोक एवात्र अगतासुशोकः” इति व्याचख्युः । तच्चिन्त्यम् ।

‘दृष्ट्वेमं स्वजनम्’ [ १।२८ ] इत्यादिना भीष्मादीन्स्वजनाञ्जीवतः प्रत्यर्जुनेन ‘मन्निमित्तमेते मरिष्यन्ति’ इति शोचितत्वेन तस्यैव शोकस्य कण्ठरवेणोक्तस्य प्राधान्येन निरसनीयस्यात्र अगतासुशोकत्वेन प्राप्ततया तद्विहाय युयुत्सुस्वजनसम्बन्धिबन्धुविषयशोकस्याप्रस्तुतस्य ग्रहणानौचित्यात्; अन्यथा अर्जुनशोकस्य गतास्वगतासुशोकद्वयानन्तर्भूततया तस्यात्र निरासालाभेन तादवस्थ्यापातात् । यदि च गतासून्नानुशोचन्तीति मृतविषयशोकनिषेधेनैव मरिष्यच्छोकनिषेधोऽपि सिध्यति, हेत्वविशेषात्; अतस्तन्निषेधः पृथङ्नापे-

४ वे. ता. चं.—'अशोच्यानन्वशोचः' इत्युक्ते केचिदशोच्याः शोचन्ति तदनन्तरमयमपि शोचतीति भ्रान्तिः स्यात्; तन्निवृत्त्यर्थमुक्तं **अशोच्यान्प्रति** इति । 'अन्वशोचः' इति लङ्प्रयोगोऽनुपपन्नः, शोकस्याद्यतनत्वात्, 'भाषसे' इति वर्तमानार्थव्यपदेशवैरूप्याच्च, इत्यत्राह— **अनुशोचसि** इति । अद्यतन एव चिरानुवृत्तत्वविवक्षया सोपसर्गलङ्प्रयोगः, यद्वा वर्तमानार्थ एव 'सुप्तिङुपग्रहः' इत्यादिना लकारव्यत्ययः। 'प्रज्ञावादांश्च भाषसे' इत्यत्र 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा' [ अष्टा. ३।३।१३१ ] इत्यनुशासनाद्भूते लट् । तेन 'तूष्णीं बभूव ह' [ २।९ ] इत्यनेन न विरोधः । अत्र प्रकृष्टज्ञानवाचिना प्रज्ञाशब्देन देहात्मनोः स्वभावज्ञानमुच्यते । प्रज्ञया कृता व्यवहाराः प्रज्ञावादा इति समासार्थव्यञ्जनाय निमित्तशब्दः । देहात्मभेदज्ञाने सति हि पितॄणां तदर्थपिण्डोदकक्रियायास्तल्लोपनिमित्तप्रत्यवायादेश्च विश्वासपूर्वको व्यवहार इत्येतत्सूचनाय 'पतन्ति' इत्याद्युपात्तम् । फलितमाह— **देहात्मेति** । 'गतासून्' इत्यादेर्विवक्षितं विशेष्यं निर्दिशन्, पण्डितशब्दं प्रकृतोपयोगितया व्याकुर्वन्नन्वयमाह— **गतासूनिति** । यद्यपि गतासूनगतासूनितिशब्दौ निष्प्राणसप्राणवाचकौ, तथापि तस्यार्थस्य प्रकृतासङ्गतेः—'अविश्रान्तमनालम्बमपाथेयमदेशिकम् । तमःकान्तारमध्वानं कथमेको गमिष्यसि' 'बद्धवैराणि भूतानि द्वेषं कुर्वन्ति चेत्ततः । शोच्यान्यहोऽतिमोहेन व्याप्तानीति मनीषिणा—' इत्यादिषु पण्डितानामेव सप्राणनिष्प्राणविषयशोकदर्शनात् 'अशोच्यानन्वशोचः' इत्यस्य वक्ष्यमाणे विस्तरे च 'अव्यक्तोऽयम्' [ २।२५ ] इत्यादिना 'अथ चैनम्' [ २।२६ ] इत्यादिना च, नित्यस्यात्मनः अनित्यस्य शरीरस्य च अशोचनीयत्वेन वक्ष्यमाणत्वादत्रापि तद्विषयतैव युक्तेत्यभिप्रायः। देहास्तावन्न शोचनीयाः, नश्वरत्वात्; आत्मानोऽपि तथा, अनश्वरत्वात्; इत्यूहापोहक्षमबुद्धिरूपा पण्डा येषां तेऽत्र पण्डिताः । प्रज्ञावादविप्रतिषिद्धशोकेनोन्नीतांस्तदज्ञानविषयानाह— **अतो देहे**त्यादिना । शोकस्तु सिद्धः, प्रज्ञा तु वादमात्रस्थेति भावः ।

को देहस्वभावः? कथमात्मा देहातिरिक्तो नित्यश्च? कथं च अनयोरशोच्यत्वम्? कथं वा घोरं युद्धादिकमात्मप्राप्त्युपायभूतं? इत्याशङ्क्य तदज्ञानविषयतयोक्तं त्रयं बुद्धिस्थक्रमेण विवृणोति— **इदं चे**त्यादिना । इदमेव युद्धं बुद्धिविशेषसंस्कृतत्वादात्मयाथात्म्यप्राप्तिकरमित्यर्थः । **उपायभूत**मित्यत्र च्विप्रत्ययाप्रयोगादयमेवास्य स्वभावः, फलान्तराभिसन्धिना तु स प्रतिबद्ध्यत इति भावः । **आत्मा हीति**, हिशब्देन 'न जायते' [ कठोप. २।१८ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिं द्योतयति । आत्मनो देहसंयोगवियोगलक्षणजन्ममरणसद्भावेऽपि नोत्पत्तिविनाशरूपे जन्ममरणे इत्यभिप्रायेणाह— **तस्येति** । **देहस्त्व**ति, तुशब्द आत्मापेक्षया वैलक्षण्यं प्रत्यक्षादिसिद्धं द्योतयति । देहत्वेनोपचयात्मकत्वादचेतनत्वाच्च घटादिवत्परिणामस्वभाव इत्यर्थः॥११॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं ( माध्व- ) भाष्यम् ।

**तत्र सेनयोर्मध्ये बान्धवादिमोहजालसंवृतं विषीदन्तमर्जुनं भगवानुवाच । प्रज्ञावादान् स्वमनीषोत्थवचनानि । कथमशोच्याः ? गतासून् ॥ ११ ॥**

## ६ जयतीर्थरचिता प्रमेयदीपिका ।

इदानीं गीताव्याख्यानावसरे प्राप्ते 'धर्मक्षेत्रे' [१।१]इत्यारभ्य 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' इत्यतः प्राक्तनस्य ग्रन्थस्यातिरोहितार्थत्वात्तात्पर्यमाह— **तत्रेति** । तत्र गीतिकायां कैश्चन श्लोकैरिदमुच्यत इति शेषः । नन्वत्र न धर्मो नापि तत्त्वं प्रतिपाद्यते, तत्कुतोऽस्य गीतायामनुप्रवेशः ? मैवम्; भगवतोऽर्जुनबोधने प्रसक्तिं दर्शयतोऽस्य ग्रन्थस्य तादर्थ्यात्तत्र प्रवेशोपपत्तेः । बान्धवादिविषयो मोहो 'ममैते, अहमेतेषां, एते च मन्निमित्तं नङ्क्ष्यन्ति, कथमेतैर्विनाऽहं भवेयम् ? पापं च मे भविष्यति, जयश्च सन्दिग्धः' इत्यादिरूपो मिथ्याप्रत्ययो बान्धवादिमोहः, तेषु स्नेहो वा । सजालमिव तेन संवृतं तत एव विषीदन्तम् । विषादो नाम मोहनिमित्ताच्छोकाद्यन्मनोदौर्बल्यम्, यस्मिन्सति सर्वव्यापारोपरमो भवति । नन्विदानीमेव कुतोऽर्जुनस्य मोहसमुत्पत्तिः? न ह्येते बान्धवादय इति प्राङ्न्नाज्ञासीत्, येन युद्धाय महान्तमुद्योगमकार्षीदित्यत आह— **सेनयोरि**ति । महापकारस्मरणेनानुवर्तमानोऽपि कोपो मृदुमनसां बान्धवादिष्वन्तकाले निवर्तते, स्नेहश्चोत्पद्यते, ततो मोह इति प्रसिद्धमेवेति भावः । अर्जुनस्य ज्ञानित्वान्मोहजालसंवृतत्वमीषदेवेति मन्तव्यम् । 'प्रज्ञावादान्' इत्येतत् 'प्रज्ञावतां बुद्धिमतां वादान् वचनानि' इति कश्चिद्व्याख्यातवान् ( शं. चा. ) तदसत् । न हि 'दृष्ट्वेमं स्वजनं' [ १।२८ ] इत्याद्यर्जुनवाक्येषु कश्चिद्बुद्धिमद्वादो दृश्यते । न हि बुद्धिमन्तो नारायणद्विट्तदनुबन्धिनिग्रहमधर्मं वदन्ति । न च धर्माधर्मविषयत्वमात्रेण बुद्धिमद्वादो भवति । बौद्धादेरपि तत्त्वप्रसङ्गादित्याशयेनान्यथा व्याचष्टे— **प्रज्ञावादानिति** । स्वस्या एव मनीषाया उत्थितानि, न तु शास्त्राचार्योपदेशप्राप्तानि । कथमेतल्लभ्यते ? उच्यते— प्रज्ञायाः वादाः प्रज्ञावादाः । कार्यकारणभावे षष्ठी । न हि स वादोऽस्ति यः प्रज्ञापूर्वो न भवतीति । सामर्थ्यात्स्वेति लभ्यते । सावधारणं चैतत् 'अब्भक्ष' इति यथा । अन्यथा पुनर्वैयर्थ्यादिति । कथमशोच्या इत्यत आहेति शेषः । गतासूनित्यतः परमितिशब्दः । आसन्नविनाशाः कथमशोच्या इत्यर्थः । ननु प्रागशोच्यत्वानुवादेनान्वशोच इत्येवोक्तम्, न त्वशोच्यत्वम्; तत्कथमेवमाक्षेपः? मैवम्; न हि यथाश्रुतैवाऽत्र वाक्यवृत्तिः । 'असिद्धस्यानुवादः सिद्धस्य बोधनं' इत्यापत्तेः । किन्तु यानन्वशोचस्त्वं तेऽशोच्यास्तस्मात्तान् प्रति न शोकः कार्यः । यांश्च भाषसे ते प्रज्ञावादाः, अतो न भाषणीया इति । तथा चाशोच्याः कुतोऽवगन्तव्याः ? इति प्रश्नो वा आक्षेपो वा युज्यत एव ॥ ११ ॥

**७ ह. पै. भा.— अशोच्या न शोच्या भीष्मद्रोणादयः, धार्मिकत्वात्; वस्तुतश्च परमात्मस्वरूपत्वात् । अन्वशोचोऽनुशोचितवांस्त्वम् । प्रज्ञा परमात्मज्ञानं तन्निमित्तांश्च वादान्वचनानीह भाषसे । गता असवः प्राणा येषां ते गतासवः तान्, अगतासूननगतप्राणांश्च पण्डिताः परमार्थविदो नानुशोचन्ति । अतो मूढस्त्वं, प्रज्ञा परमा कुतस्ते ? ॥ ११ ॥**

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

मेधायाथात्म्यसिद्ध्यै भवतु भगवती दग्धजीवच्छरीर-
म्लेच्छालापाहिमूर्च्छानिमिषदुपनिषज्जीवजीवातुरुक्तिः ।
अद्वैतब्रह्मराद्धान्तिकसकलपुराणेतिहासोपक्लृप्ता-
माशा साम्राज्यपीठीमनघजनमनश्शाङ्करी शाङ्करी नः ॥१॥

तदेवं मोहसागरनिमग्नस्यार्जुनस्य आत्मतत्त्वज्ञानादन्यत्रोद्धारणोपायमपश्यन् 'प्रहसन्निव' इति पूर्वश्लोकोक्तमर्जुनापहासं विशदयन्नेव तदुक्तानुवादपूर्वकमात्मतत्त्वज्ञानमवतारयन् **श्रीभगवानुवाच** । अत्र हृषीकेश उवाचेत्युक्त्वाऽपि पुनर्भगवानुवाचेति वदता सञ्जयेन देशकालाद्यनपेक्षत्वरूपं भगवन्माहात्म्यं दर्शितम् । 'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः । प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः' [१।२०] इत्येवंविधावस्थायां कथं श्रीकृष्णेन ज्ञानमुपदेष्टुं प्रवृत्तं ? कथं वाऽर्जुनस्य तथाविधोपदेशाज्ज्ञानलाभः ? देशकालौ विना सर्वत्र कार्यानुदयादिति न शङ्कनीयम्, अचिन्त्याद्भुतमहामहिमशालिनि भगवति देशकालयोरकिञ्चित्करत्वादिति । एवं च अत्र महात्मवाची भगवच्छब्दः, 'भगं श्रीकाममाहात्म्य—' [ अमरः ३।३।६ ] इत्यादिकोशस्मृतेरिति ज्ञेयम् ।

अत्राद्यपादेन प्रथमाध्यायगतार्जुनोक्तानुवादः । द्वितीयपादेन तु 'कथं भीष्ममहम्' [ २।४ ] इत्यादिद्वितीयाध्यायगततदुक्तानुवादः । उत्तरार्धेन च "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" [ईश.उ. ७] "तरति शोकमात्मवित्" [ छां. उ. ७।१।३ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धसर्वशोकमोहनिवर्तकभावस्य कृत्स्नगीताप्रतिपाद्यस्याद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानस्य निर्देश इत्यतो बीजे वृक्षस्वरूपस्येव कृत्स्नगीतार्थस्य अत्रान्तर्भावाद्बीजश्लोकोऽयमिति गीतान्यासरहस्यम् ।

**अथाक्षरार्थः**— अशोच्यान् आततायित्वेनावश्यवध्यतया शोचितुमनर्हानेव त्वं अन्वशोचः 'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' [ १।२८ ] इत्यादिनाऽनुशोचितवानसि । 'विषीदन्तम्' इति पूर्वश्लोकोक्त्या शोकस्याद्यापि वर्तमानत्वादशोच इत्यार्षो लङ्प्रयोगः । अनुशोचसीत्यर्थः । विवेकी हि शोच्याननुशोचति, त्वं त्वशोच्यानुशोची मूढ इति दूषणगर्भोऽयमनुवादः । तत्र च 'कुतस्त्वा कश्मलम्' [ २।२ ] इत्यादिना प्रतिबोधितः 'हा मयाऽनुचितमाचरितं' इति स्वयं बुद्ध्याऽवगन्तव्ये तद्विहाय प्रज्ञावतां बुद्धिमतां वादान्वचनानि 'कथं भीष्ममहम्' [ २।४ ] इत्यादीनि भाषसे केवलम्, न तु वस्तुतः प्राज्ञोऽसीत्ययमपि दूषणगर्भोऽनुवादः । वादांश्चेति चकारेण प्रज्ञावादान्कुर्वन् । प्राज्ञमर्यादयाऽपि नावतिष्ठसे, यतः 'पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः' 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' [ २।७ ] इति भाषसे। न च शिष्यमर्यादयाऽपि तिष्ठसि, यतः 'न योत्स्यामि' इति पुनः स्वातन्त्र्येण भाषसे; तथा च मौढ्यं प्राज्ञत्वं पुनः शिष्यत्वं स्वातन्त्र्यं चेत्येतत्परस्परविरुद्धं त्वयि दृश्यत इत्यपहासकारणोक्तिः

इत्थमनूद्य प्रथममशोच्यानुशोचनं निराकरोति—**गतासूनिति** । अत्र 'अशोच्यान्' इत्यादिभिः 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [ २।३१ ] इत्यन्तैर्विंशत्या श्लोकैः अशोच्यानुशोचननिरासः । ततः 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्याद्यष्टभिः प्रज्ञावादानां निरास इति ज्ञेयम् । यद्यपि 'अशोच्यानन्वशोचः' इति दूषणगर्भानुवादेनैव अर्जुनशोकस्य निरासो भवतीति किमर्थमत्र तत्त्वज्ञानमवतारणीयम् ? तथापि भीष्मद्रोणयोर्महानुभावत्वं वदन्नर्जुनस्तयोरशोच्यत्वं न मन्यते, धार्तराष्ट्रेष्वाततायित्वेनाशोच्यत्वं मन्यमानोऽपि भीष्मद्रोणपुरस्कारेण प्रवृत्तांस्तान्न योद्धुमिच्छतीत्यतस्तेष्वशोच्यत्वबुद्धिः सत्यपि शोकापनोदकत्वाभावात्फलतः शोच्यत्वबुद्धेर्न विशिष्यते । तथा च भीष्मादयो मरिष्यन्तीति शोकपल्लवाङ्कुरहेतुभूतायास्तद्विषयकममताबुद्धिलक्षणलताया मूलकन्दस्याज्ञानस्योन्मूलनं विना समूलशोकनाशो न भवतीति तदज्ञानमूलकूलङ्कषमात्मज्ञानमवतारितमिति द्रष्टव्यम् । **गतासूनिति** । पण्डिता ज्ञानिनः लोके गतासून् गतप्राणान् अगतासून् अगतप्राणान् गमिष्यत्प्राणान् आसन्नमरणानिति यावत्, तानुभयांश्च नानुशोचन्ति । तथा च त्वमपि पण्डितो भूत्वा भीष्मादयो मरिष्यन्तीति वा मरणानन्तरमपि 'अहो बतैते मृताः' इति वा नानुशोचितुमर्हसीत्यर्थः ।

**मधुसूदनसरस्वत्यस्तु**—"अगतासुशब्देन गतासूनां बान्धवा ये जीवन्ति ते कथ्यन्ते; ते च बन्धुविच्छेदे कथं जीविष्यन्तीत्येवंरूपः शोक एवात्र अगतासुशोकः" इति व्याचख्युः । तच्चिन्त्यम् ।

'दृष्ट्वेमं स्वजनम्' [ १।२८ ] इत्यादिना भीष्मादीन्स्वजनाञ्जीवतः प्रत्यर्जुनेन 'मन्निमित्तमेते मरिष्यन्ति' इति शोचितत्वेन तस्यैव शोकस्य कण्ठरवेणोक्तस्य प्राधान्येन निरसनीयस्यात्र अगतासुशोकत्वेन ग्राह्यतया तद्विहाय युयुत्सुस्वजनसम्बन्धिबन्धुविषयशोकस्याप्रस्तुतस्य ग्रहणानौचित्यात्; अन्यथा अर्जुनशोकस्य गतास्वगतासुशोकद्वयानन्तर्भूततया तस्यात्र निरासालाभेन तादवस्थ्यापातात् । यदि च गतासून्नानुशोचन्तीति मृतविषयशोकनिषेधेनैव मरिष्यच्छोकनिषेधोऽपि सिध्यति, हेत्वविशेषात्; अतस्तन्निषेधः पृथङ्नापे-

क्षित इत्युच्यते; तर्हि मृतसम्बन्धिबन्धुविषयशोकनिषेधोऽपि तत एव कैमुतिकन्यायेन सिद्ध इति तदर्थमगतासूनानुशोचन्तीति न वक्तव्यमेव स्यात् । तथा च प्रस्तुतनिरासे सति अप्रस्तुतनिरासस्यार्थिकत्वात् आसन्नविनाशभीष्मादिशोचनमेवागतासुशोक इति व्याख्यानं युक्तम् ।

एतेन 'अगतासून् जीवत इव गतासूनपि नानुशोचन्ति' इति माध्वव्याख्यानमपि निरस्तम्; अगतासुशब्दस्योक्तरीत्या आसन्नमरणजीवद्वाचित्वावश्यम्भावेन स्वस्थजीवद्वाचित्वायोगात्, इवकारादेरश्रवणेन समुच्चयवाचकचकारस्य चोक्तरीत्या मुख्यार्थे सम्भवत्यगतिकगतिकानैकार्थ्योपगमानौचित्येन दृष्टान्ततया व्याख्यानासम्भवाच्च ।

एतेनैव 'गतासून्देहान् अगतासूनात्मनश्च नानुशोचन्ति' इति रामानुजव्याख्यानमपि निरस्तम्, गतास्वगतासुशब्दयोर्मृतजीवद्वाचित्वेन प्रसिद्धयोस्तथैवार्थे सम्भवत्यप्रसिद्धार्थकल्पनायोगात् । न हि देहे आत्मनि च तयोः प्रसिद्धिरस्ति । न च गता असवो यस्मादिति योगाश्रयणेन देहो गतासुः आत्मा च अगतासुरिति युक्तम् । तथा सति गतास्वगतासुशब्दाभ्यां मृतजीवच्छरीरयोरेव प्राप्तेः । न च गतासुरनित्यः अगतासुर्नित्य इति ताभ्यां देहात्मनोः प्रतिपत्तिरिति वाच्यम्, अनित्ये घटादौ गतासुरिति, नित्ये च आकाशादावगतासुरित्यव्यवहारेण तयोर्नित्यानित्यवाचित्वासिद्धेः लक्षणायां च तस्या एव दोषत्वात् । तस्माद्यथोक्त एवार्थ इति शङ्करभगवत्पादीयव्याख्यानमेवानवद्यम् ॥ ११ ॥

९ व० त० दी०—अथ नरस्य मोहशोकनिवृत्त्यर्थं साङ्ख्यबुद्धिमाह—

तत्र साङ्ख्यं बहुविधमत्रैकं सत्प्रमाणकम् । अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः ॥ १ ॥
अन्ये सूत्रे निषिध्यन्ते योगोऽप्येकः सदादृतः । यस्मिन्ध्यानं भगवतो निर्बीजेऽप्यात्मबोधकः ॥ २ ॥
वैराग्यज्ञानयोगैश्च प्रेम्णा च तपसा तथा । एकेनापि दृढेनेशं भजन् सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ३ ॥
अतः कुमतिनाशार्थं साङ्ख्ययोगौ प्रकीर्तितौ । त्यागात्यागविभागेन साङ्ख्ये त्यागः प्रकीर्त्यते ॥ ४ ॥
अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहङ्कृतौ । स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थो हरिमाश्रितः ॥ ५ ॥
अत्यागे योगमार्गो हि त्यागोऽपि मनसैव हि । यमादयस्तु कर्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता ॥ ६ ॥
ईश्वरालम्बनो योगो जनयित्वा तु तादृशम् । बहुजन्मविपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम् ॥ ७ ॥
साङ्ख्येऽपि भगवच्चित्ते फलमेतन्न चान्यथा । समर्पणात्कर्मणां च भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ ८ ॥
अतः पूर्वं साङ्ख्यधिया धर्मनिष्ठा निरूप्यते ॥ ९ ॥

तथाहि हृषीकेशो भगवान् वासुदेवस्तदा स्वमार्गे न स्वीकुर्वन्नात्मनस्तत्त्वाविवेकादस्यैवं शोको भवतीति तन्निवारणार्थं साङ्ख्यबुद्धिं प्रदर्शयन्नाह—अशोच्यानिति । उभयथाऽपि न शोचितुं योग्यास्तान्प्रति अन्वशोचस्त्वम् । 'पतन्ति पितरो ह्येषां' [ १।४२ ] इत्यादिना देहात्मस्वभावप्रज्ञानिमित्तवादांश्च भाषसे, देहात्मस्वभावज्ञानवतां शोके निमित्ताभावात् । गतासून्मृतिं प्राप्तान्, अगतासून् जीवतः तत्कलत्रादीन् । 'मृतानां परलोके का गतिर्जीवतामिह का भविता' इति न शोचन्ति । यद्वा— गतासून् जडान् अनात्मनो देहान् अगतासून् चेतनान् जीवात्मनश्च पण्डिता विवक्षितलक्षणा न शोचन्ति । त्वं च कीदृक् पण्डितो यच्छोचसीति भावः । आत्मनो वक्ष्यमाणचिदक्षरपुरुषत्वादेकविधत्वं देहस्य चानात्मप्रकृतिकार्यत्वादनित्यत्वं प्रसिद्धमिति हृदयम् ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.—पूर्वं शास्त्रार्थज्ञानेन स्थिरां बुद्धिं कृत्वा भक्त्युपदेशः कर्तव्य इति पूर्वं सर्वशास्त्रोक्तज्ञानमुक्त्वा भक्तिमुपदिशन्नात्मानात्मज्ञानार्थमात्मानात्मज्ञानमाह भगवान्— अशोच्यानिति । त्वं अशोच्यान् शोकानर्हान् अन्वशोचः अनुशोचितवानसि, यतस्तेऽसुरावेशिनो भूभारहरणार्थं मे मारणीया एव, न तु ते भक्ताः । किञ्च तेषां शोकं कृत्वा प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतां पण्डितानां वादान् भाषसे वदसि । तेषां वादानेव वदसि, न तु त्वं प्रज्ञावान् । यतस्ते प्रज्ञावन्तः पण्डिता मदिच्छयैव सर्वं भवतीति ज्ञानवन्तः, अतः गतासून् गतप्राणान् 'परलोके तेषां का गतिर्भविष्यति,' अगतासून् जीवतः 'जीवतां तेषां कथं योगक्षेमो भविष्यति' इति नानुशोचन्ति । अत एव श्रुतिरप्याह—"एष एव तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति एष एव तमसाधु कर्म कारयति यमधोनिनीषति" ( ... ह्येवैनं ...तं यमन्वानुनेषति ... तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सत ) [ कौ. उ. ३।९ ] इति । अतो मत्कृतेऽर्थे कथं शोकः कर्तव्य इति भावः ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०—अर्जुनस्य देहनाशे आत्मनाशधीः स्वधर्मे युद्धे चाधर्मधीरिति मोहद्वयम्, तत्राद्यं ब्रह्मविद्यासूत्रभूतैर्विंशत्या श्लोकैरपनिनीषन् श्रीभगवानुवाच— अशोच्यानन्वशोचस्त्वमिति । "जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते, न जीवो म्रियते" [ छां. ६।११।३ ] इति श्रुतेर्देहाद्युपाधिनाशेऽप्याकाशवन्नाशरहितत्वेन अशोचनीयान् भीष्मादीनन्वशोचः कथमेते गुरवो मया हन्तव्याः कथं वा तैर्विनाऽहं जीविष्यामीति शोकं कृतवानसि, एवं मूढोऽपि त्वं प्रज्ञावादान् प्रज्ञावतां देहादन्यमात्मानं जानतां वादान् शब्दान् 'नरके नियतं वासः' [ १।४४ ]

'पतन्ति पितरो ह्येषां' [ १।४२ ] इत्यादीन् भाषसे, परं न तु प्रज्ञावानसि। तत्र हेतुः— गतासूनिति। गतासून् गतप्राणान् देहान्नानुशोचन्ति, प्रत्युत निर्हरन्त्येव। एतेन प्राण एवेष्टः, न तु देहः। तथा च श्रुतिः— "प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राण आचार्यः" [ छां. उ. ७।१५।१ ] इत्यादिः। अत एव सप्राणानेतानवगणयन्तं नरं पित्रादिहन्ता त्वमसि धिक्त्वामिति वदन्ति। उत्क्रान्तप्राणान् दहन्तमपि नैवं वदन्तीति लोकवेदप्रसिद्धिः। तस्मात् आत्मा देहादन्यः, चेतनत्वात्; व्यतिरेकेण घटवत्। देहो न चेतनः, दृश्यत्वात्; घटवत्। यदि देहश्चेतनः स्यात् मृतेऽपि तत्र चैतन्यमुपलभ्येत, तस्माद्देहनाशेनात्मनाशं मन्वानो मूर्ख एवासीत्यर्थः। यत्तु प्रज्ञानां पण्डितानां अवादान् वक्तुमयोग्यान् भाषसे इति तार्किकव्याख्यानं, तत्त अर्हार्थे घञो दुर्लभत्वात्, विशेषाध्याहारसापेक्षत्वाच्चोपेक्ष्यम् ॥ ११ ॥

**न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।**
**न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ १२ ॥**

१ शां. भा.— कुतस्ते अशोच्याः? यतो नित्याः। कथम्? न त्विति। न त्वेव जातु कदाचिदहं नासम्, किन्तु आसमेव। अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु घटादिषु वियदिव नित्य एव अहमासं इत्यभिप्रायः। तथा न त्वं न आसीः, किन्तु आसीरेव। तथा न इमे जनाधिपा नासन्, किन्तु आसन्नेव। तथा न चैव न भविष्यामः, किन्तु भविष्याम एव सर्वे वयम्; अतोऽस्माद्देहविनाशात् परं उत्तरकालेऽपि त्रिष्वपि कालेषु नित्या आत्मस्वरूपेणेत्यर्थः। देहभेदानुवृत्त्या बहुवचनम्, नात्मभेदाभिप्रायेण ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— नित्यत्वमशोच्यत्वे कारणमिति सूचितं विवेचयितुं प्रश्नपूर्वकं प्रतिजानीते— कुत इत्यादिना। नित्यत्वमसिद्धं प्रमाणाभावादिति चोदयति— कथमिति। आत्मा न जायते प्रागभावशून्यत्वान्नरविषाणवदिति परिहरति— न त्वेवेति। किञ्चाऽऽत्मा नित्यः, भावत्वे सत्यजातत्वात्, व्यतिरेकेण घटवदित्यनुमानान्तरमाह— न चैवेति। यत्तु कैश्चित् आत्मयाथात्म्यं जिज्ञासितं भगवानुपदिशति न त्वित्यादिना श्लोकचतुष्टयेनेत्यादिष्टं, तदसत्; विशेषवचने हेत्वभावात्सर्वत्रैवाऽऽत्मयाथात्म्यप्रतिपादनाविशेषादित्याशयेन। 'पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्वाक्ययोजना' इति त्रितयमपि व्याख्यानाङ्गं सम्पादयति— न त्वित्यादिना। नन्वात्मनो देहोत्पत्तिविनाशयोरुत्पत्तिविनाशप्रसिद्धेरुक्तमनुमानद्वयं प्रसिद्धिविरुद्धतया कालात्ययापदिष्टमिति नेत्याह— अतीतेष्विति। 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्' [ ब्र. सू. २।३।१६ ] इति न्यायेनाऽऽत्मनो जन्मविनाशप्रसिद्धेरौपाधिकजन्मविनाशविषयत्वान्निरुपाधिकस्य तस्य जन्मादिराहित्यमिति भावः। यद्यपि तवेश्वरस्य जन्मराहित्यं तथापि कथं मम? इत्याशङ्क्याऽऽह— तथेति। तथापि भीष्मादीनां कथं जन्माभावस्तत्राऽऽह— तथा नेमे इति। द्वितीयमनुमानं प्रपञ्चयन्नुत्तरार्धं व्याचष्टे— तथेत्यादिना। ननु देहोत्पत्तिविनाशयोरात्मनो जन्मनाशाभावेऽपि महासर्गमहाप्रलययोस्तस्याग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तश्रुत्या जन्मविनाशावेष्टव्याविति आशङ्क्य 'नाऽऽत्माऽश्रुतेः' [ ब्र. सू. २।३।१७ ] इति न्यायेन परिहरति— त्रिष्वपीति। 'यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्' [ ब्र. सू. २।३।७ ] इति न्यायेन भिन्नत्वाद्विकारित्वमात्मनामनुमीयते, भिन्नत्वं च बहुवचनप्रयोगप्रमितमित्याशङ्क्याऽऽह— देहेति ॥ १२ ॥

३ रा. भा.— प्रथमं तावदात्मनां स्वभावं शृणु— अहं सर्वेश्वरस्तावत्, अतो वर्तमानात्पूर्वस्मिन् अनादौ काले न नासम्, अपित्वासम्। त्वन्मुखाश्चैते ईशितव्याः क्षेत्रज्ञाः न नासन्, अपित्वासन्। अहं च यूयं च सर्वे वयं अतः परं अस्मादनन्तरे काले न चैव न भविष्यामः, अपितु भविष्याम एव। यथाऽहं सर्वेश्वरः परमात्मा नित्य इति नात्र संशयः, तथैव भवन्तः क्षेत्रज्ञा आत्मानोऽपि नित्या एवेति मन्तव्याः। एवं भगवतः सर्वेश्वरादात्मनां परस्परं च भेदः पारमार्थिक इति भगवतैवोक्तमिति प्रतीयते।

४ वे. ता. चं.— एवमुपायोपेयनिवर्त्यस्वभावानभिज्ञं प्रति त्रितयोपदेशाय बुभुत्सोत्पादिता; अथ पारलौकिकफलोपायानुष्ठानाधिकारित्वाय देहातिरिक्तत्वेनावश्यं ज्ञातव्यं पुरुषार्थतयोपेयमात्मानं तत्प्राप्तीच्छामुखेन तदुपायेच्छाजननाय प्रथममेवोपदिशतीत्यभिप्रायेणाह— प्रथममिति। शृण्वित्यनेन प्रकृतश्लोकस्य प्रतिवादिवाक्यवदुपालम्भमात्रार्थताव्युदासाय अवधा-

नापादनार्थत्वं व्यञ्जितम्। जीवेश्वररूपेष्वात्मसु नित्यत्वे शीघ्रसम्प्रतिपत्तियोग्यांशं प्रथममाहेत्यभिप्रायेणाह—**अहमिति**। ईश्वरस्याहङ्कारः सर्वनियन्तृत्वगर्भ इति तद्व्यपदेशफलितमाह— **सर्वेश्वर** इति। **तावदिति** सम्प्रतिपत्तिसूचनम्। 'अतः परम्' इत्यत्र अतश्शब्दार्थं, तस्य पूर्ववाक्येऽपि यथार्हमनुषङ्गं, जातुशब्दाभिप्रेतं च आह— **अत** इत्यादिना। अनभिमतपक्षनिषेधाय व्यतिरेकरूपेऽपि वाक्ये तुशब्दद्योतितमन्वयमाह— **अपित्वास**मिति। 'न त्वं नेमे' इति भेदनिर्देशेऽपि क्षेत्रज्ञत्वाकारेण समुदायीकुर्वन्, ईश्वरापेक्षया युष्मदिदंशब्दार्थतया फलितमीशितव्यत्वाकारं च साधारणं दर्शयन्, सन्निहितनिदर्शनपराया एकदेशोक्तेस्तात्पर्यतो ब्रह्मादिसकलक्षेत्रज्ञविषयत्वं चाह— **त्वन्मुखा** इति। तुशब्दानुषङ्गं क्रियापदे विभक्तिविपरिणामं च दर्शयति— **अपित्वास**न्निति। 'न त्वं नेमे जनाधिपाः' इत्यत्र 'न त्वेव' इत्येतदनुषज्य, न त्वं नासीः, नेमे जनाधिपा नासन् इत्यन्वयः। 'सर्वे वयम्' इत्यस्य पूर्वोक्तजीवेश्वरसमुदाये सम्प्रतिपत्तव्यांशं विविनक्ति— **अहं चेति**। 'त्यदादीनां मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते' [वार्तिकं. अष्टा. १।२।७२] इति युष्मदस्मदोरत्रैकशेषः। एवमुत्तरत्र 'भवन्तः' इत्यत्रापि मन्तव्यम्। कालानन्त्यात् पर्वतादीनामिवातिस्थिराणामपि कदाचित् नाशः स्यादित्युत्प्रेक्षां निवारयति— **अपितु भविष्याम एवेति**।

अप्रस्तुतस्वनिर्देशस्य दृष्टान्तार्थतां तत्र **अहमिति** निर्देशाभिप्रेतसर्वेश्वरत्व-सर्वात्मत्व-रूपनित्यत्वोपपत्तिं, दार्ष्टान्तिके च नित्यत्वसम्भावनामाह— **यथेति**। **सर्वेश्वरः** कालत्रयवर्तिनः सर्वस्याधिपतिः कथं न कालत्रयवर्ती, कथं च सर्वेषां नियन्ता केनचित्कदाचिन्निरुद्ध्येत? इति भावः। **परमात्मा**— 'देशकालस्वरूपानवच्छिन्नव्याप्तिः' इति परमात्मपदनिरुक्तिः। तथा च व्याप्तत्वात् व्याप्यैरस्य न नाशः, सर्वात्मत्वेन सर्वकालवर्तित्वं च सिद्धमिति भावः। ननु यः प्रत्यक्षयोग्ये देहातिरिक्ते जीवेऽपि संशेते, स कथं ततो व्यतिरिक्तेऽत्यन्तागोचरे परमात्मनि निःसंशयः स्यात्? उच्यते— न ह्यसावर्जुनः, 'पुरुषं शाश्वतं दिव्यम्' [१०।१२] इत्यादेः स्वयं वक्ता नारदासितदेवलव्यासादिपरमर्षिशतवचनविदितपरब्रह्मभूतपरमपुरुषस्वभावः, प्रत्यक्षीकृतपुरन्दरलोकसकलास्त्रमन्त्रतपःप्रभावादिः, निरतिशयगुरुदेवताभक्तिः, अस्खलितसकलवर्णाश्रमाचारः, धर्मलोपभयविह्वलः, देहातिरिक्तमात्मानमीश्वरं चात्यन्तानित्यतया वा नास्तीति भ्राम्यति संशेते वा। तत्प्रकारविशेषानभिज्ञतयैव हि तस्य शोकादिः। ततोऽयमीश्वरं तन्नित्यतां च सर्वेश्वरत्वादिसिद्धां सामान्यतो मन्यते; लोकदृष्ट्या जन्मविनाशादिदर्शनात्। "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" [बृ. उ. २।४।१२] इत्यादिश्रुत्यर्थापातप्रतीत्या च जीवप्रकारविशेषांस्तत्त्वतो न जानातीति न कश्चिद्दोषः। **क्षेत्रज्ञा आत्मान** इति— यथा जीवात् परमात्मनो वैलक्षण्येन जीवस्वभावास्तस्मिन्न भवन्ति, तथा क्षेत्राद्विलक्षणत्वेन वक्ष्यमाणेन क्षेत्रगतमनित्यत्वादिकं तन्नियन्तरि जीवे न शङ्कनीयमिति भावः।

अथ कुमतिसौचिकविनिर्मितानामामूलचूडमघटितविघटितजरत्कर्पटशकलकन्थासगन्धानां प्रबन्धानां दोषान् स्थालीपुलाकन्यायेन निदर्शयन्, प्रथमं शास्त्रोपक्रमविरोधं शास्त्रप्रवृत्त्यनुपपत्तिं च वदति— **एवमित्यादिना**। एवं तत्त्वोपदेशप्रवृत्तशास्त्रारम्भोक्तिप्रकारेणेत्यर्थः। **भगवतः सर्वेश्वरा**दिति। उभयलिङ्गात् सर्वनियन्तुः अहमिति निर्दिष्टादित्यर्थः। यदीश्वराज्जीवानां भेदः पारमार्थिको न स्यात्, उभयलिङ्गत्वदुःखित्वादिस्वभावसङ्करः स्यात्, यदि चात्मनां मिथोभेदः सत्यो न स्यात्, बद्धमुक्तशिष्याचार्यादिव्यवस्थानुपपत्तिः स्यादिति भावः। **भगवतैव**— न तु रथ्यापुरुषकल्पेन केनचित्। यद्वा 'त्वमेव त्वां वेत्थ, योऽसि सोऽसि' [यजुःकाठके १प्र. ६] "सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" [ऋक्सं. ८।७।११] इत्युक्तेर्भगवता स्वेनैव स्वस्य स्वशरीरभूतजीवानां च तत्त्वमुक्तमिति प्रतीयत इत्यभिप्रायः।

**३ रा. भा.— अज्ञानमोहितं प्रति तन्निवृत्तये पारमार्थिकनित्यत्वोपदेशसमये 'अहं त्वं इमे सर्वे वयं' इति व्यपदेशात्। औपाधिकात्मभेदवादे हि आत्मभेदस्यातात्त्विकत्वेन तत्त्वोपदेशसमये भेदनिर्देशो न सङ्गच्छते। भगवदुक्तात्मभेदः स्वाभाविक इति श्रुतिरप्याह— "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" [कठो. २।५।१३ श्वे. उ. ६।१३] इति। नित्यानां बहूनां चेतनानां य एको नित्यश्चेतनः, स कामान् विदधातीत्यर्थः।**

**४ वे. ता. चं.— अज्ञानमोहित**मिति— न हि स्वयं बम्भ्रम्यमाणस्याप्तेनापि भ्रान्तिरेवोत्पादनीयेति भावः। बुद्धावतारेणासुरादिभ्य इवायं उपदेशः किं न स्यादित्यत्रोक्तं **तन्निवृत्तय** इति। मोहनिवृत्त्यर्था गीतोपनिषदिति भवद्भिरपि स्वीकृत्य व्याख्यानादि च कृतमिति भावः। 'देहभेदाभिप्रायेण बहुवचनम्, नात्मभेदाभिप्रायेण' इति **शङ्करोक्तं** दूषयति— **पारमार्थिके**ति। न ह्यसौ 'न त्वेवाहम्' इत्यादिग्रन्थो भ्रान्तिनिवृत्त्यर्थो मन्त्रपाठः, येन भेदनिर्देशस्यान्यपरतां मन्येमहि; किन्त्वसौ तत्त्वार्थोपदेशरूप इति भावः। **अहम्** इति प्रत्यक्त्वेन, **त्वम्** इति स्वाभिमुखचेतनान्तरत्वेन, **इमे** इति स्वपराङ्मुखानेकचेतनत्वेन, **सर्वे** इति एकोपाधिसङ्गृहीतानेकव्यक्तित्वेन, **वयम्** इति स्वेन सहात्मतयैकवर्गीकृतानन्तव्यक्तित्वेन इति भावः। **इति व्यपदेशा**दिति— न ह्यत्र नाहमिति कश्चिदस्ति, न च त्वमिति नाप्यन्य इति प्रत्यादेशः कृत इति भावः। भास्करमते भेदस्य सत्योपाधिप्रयुक्तत्वात् भेदनिर्देश उपपद्यत इति शङ्कायां तत्रापि सामान्यत उक्तं दूषणमपरिहार्यमित्याह— **औपाधिके**ति। **हि**शब्द उपाधिभेदोपहितस्य परोक्तघटाकाशाद्युदाहरणेष्वपि भेदांशसात्त्विकत्वाभ्युपग-

मपरः। उपाधिसत्यत्वेऽपि यथैकस्यैव मुखचन्द्रादेर्मणिकृपाणसरित्समुद्रादिभिः सत्यैरप्युपाधिभिर्भेदोऽपारमार्थिकः, यथा चैकस्यैवाकाशादेर्घटमणिकादिसत्योपाधिभिरपि संयोगभेदातिरिक्तो नोपाध्यधीनो भेदः, एवमन्तःकरणादिभिः सत्यैरप्युपाधिभिर्निरवयवत्वेन छेदनभेदनाद्ययोग्यस्य सर्वत्र परिपूर्णस्य ब्रह्मणो भेदोऽपारमार्थिक इत्यभ्युपगन्तव्यम्। ततश्च तत्त्वोपदेशसमये तद्विपरीतोपदेशो हितोपदेशिनो न घटत इति भावः।

द्वयोरपि पक्षयोः श्रुतिविरोधोऽपि दूषणम्, स्वपक्षे च श्रुत्यैकार्थ्यान्न बुद्धागमादिवन्मोहनार्थत्वशङ्केत्यभिप्रायेणाह—**भगवद**िति। यद्वा भास्करपक्षदूषणायैव श्रुतिरुपात्ता; ततश्च कैमुत्येन शङ्करपक्षोऽपि दूषितः। अपिशब्दः प्रमाणद्वयसमुच्चये। **भगवदुक्तात्मभेद** इत्यनेन श्रौतवदेव प्रमाणान्तरनैरपेक्ष्यं सूच्यते। श्रुतिरपि नित्या तदाज्ञारूपतयैव हि प्रमाणम्। "नित्यो नित्यानाम्" [श्वे. उ. ६।१३] इत्यत्रापि 'पवित्राणां पवित्रम्' [म. भा. १३।१४९।१०] इत्यादिवद्योजनया जीवानित्यत्वपर्यवसितमर्थान्तरभ्रमं निरस्यन्, नित्यत्वबहुत्वचेतनत्वसामानाधिकरण्येन निरुपाधिकमेवात्मनां बहुत्वं चेतनत्वं चेति प्रदर्शयन्, तत एवात्मानित्यत्ववादिनां सौगतादीनां अविद्यादिमूलभेदवादिनां शङ्करादीनां आगमापायिचैतन्यवादिनां वैशेषिकादीनां चिच्छक्तिमात्रनित्यत्ववादिनामन्येषामपि निरासमभिप्रयन्, प्रथमान्तपदचतुष्टयसामानाधिकरण्यबलादीश्वरैक्यं तदैक्यस्य हिरण्यगर्भरुद्रेन्द्रादिवत्कालादिभेदाभेद्यत्वेन प्रवाहेश्वरपक्षप्रतिक्षेपं श्रुत्यन्तरादिप्रसिद्धनित्यचैतन्यं प्रसरादिकं च सूचयन्, 'यदाग्नेयः' [यजुः. ३।९।१७] इत्यादिवदनुवादलिङ्गसद्भावेऽप्यप्राप्तत्वबलेन विशिष्टविधित्वं च व्यञ्जयन्, सर्वदा सर्वत्र सर्वेषां चेतनानामेक एवेश्वरस्तत्तत्कर्मसमाराधितस्तत्तदनुरूपाण्यपेक्षितानि करोतीति श्रुत्यर्थमाह— **नित्याना**मिति।

**३ रा. भा.— अज्ञानकृतभेददृष्टिवादे तु परमपुरुषस्य परमार्थदृष्टेर्निर्विशेषकूटस्थनित्यचैतन्यात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारान्निवृत्ताज्ञानतत्कार्यतया अज्ञानकृतभेददर्शनं तन्मूलोपदेशादिव्यवहाराश्च न सङ्गच्छन्ते। [परमपुरुषोऽप्यज्ञ इति पक्षेऽर्जुनवाक्यात् परमपुरुषवाक्यस्याज्ञानमूलमिथ्यार्थत्वे विशेषाभावान्न तस्योपदेशरूपत्वम्। ]**

**४ वे. ता. चं.**— पुनः सिंहावलोकितेन शङ्करमतस्योपदेशानुपपत्तिरूपं शास्त्रारम्भमूलघातमाह— **अज्ञाने**ति। किमयं भगवान् स्वेन ज्ञातमर्थमुपदिशति, अज्ञातं वा? ज्ञातमपि साक्षात्कृतम्, श्रुतमात्रं वा? उभयत्रापि तदज्ञानं निवृत्तम्, अनिवृत्तं वा? तन्निवृत्तावपि तत्कार्यभेदभ्रमो निवर्तते, न वा? इति विकल्पमभिप्रेत्य साक्षात्कारादज्ञानतत्कार्यनिवृत्तिपक्षे दूषणमाह— **परमपुरुषस्ये**ति। क्षेत्रज्ञस्य हि अपरमार्थदृष्टिः स्यादिति भावः। **निर्विशेषे**त्यादि—निर्विशेषत्वं सजातीयविजातीयस्वगतभेदराहित्यम्, कूटस्थत्वं मायानिष्ठत्वम्, साधारण्यं निर्विकारत्वं वा। स्वयमविक्रियमाणस्यापि कूटस्य यथा स्वसंसर्गिणामयःप्रभृतीनां विकारहेतुत्वं तद्वत्, तत एव **नित्यत्वं** कालानवच्छिन्नत्वम्। **याथात्म्यम्** उक्तप्रकारम्; अयथासाक्षात्कारोऽस्मदादीनामपि परैरभ्युपगत इति तद्व्युदासाय **याथात्म्यसाक्षात्कारोक्तिः**। अज्ञानं अविद्या; तत्कार्यं भेदभ्रमः। आदिशब्देनानुष्ठापनादि गृह्यते। उपदेशादिव्यवहारो हि उपदेश्यार्थतद्वाचकाधिकारिशिष्याचार्यप्रयोजनभेदादिनानाविधभेददर्शनमूलः। भेददर्शनं चाज्ञानेनैव कृतमिति त्वन्मतम्। ततश्चाज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ कथं तत्कार्यपरम्परानुवृत्तिरिति व्याघातापसिद्धान्तशास्त्रानारम्भोपदेशाभावनिष्फलपरिश्रमत्वश्रुतिविरोधादिदोषशतमुन्मिषेदिति भावः।

**३ रा. भा.— अथ परमपुरुषस्याधिगताद्वैतज्ञानस्य बाधितानुवृत्तिरूपमिदं भेदज्ञानं दग्धपटादिवन्न बन्धकमित्युच्यते, नैतदुपपद्यते; मरीचिकाजलज्ञानादिकं हि बाधितमनुवर्तमानमपि न जलाहरणादिप्रवृत्तिहेतुः। एवमत्राप्यद्वैतज्ञानेन बाधितं भेदज्ञानमनुवर्तमानमपि मिथ्यार्थविषयत्वनिश्चयान्नोपदेशादिप्रवृत्तिहेतुर्भवति। न चेश्वरस्य पूर्वमज्ञस्य शास्त्राधिगततत्त्वज्ञानतया बाधितानुवृत्तिः शक्यते वक्तुम्; "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" [मुं. उ. १।१।९,+२।२।७] "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" [श्वे. उ. ६।८] 'वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन' [७।२६] इति श्रुतिस्मृतिविरोधात्।**

**४ वे. ता. चं.**— अद्वैतज्ञानादज्ञाननिवृत्तावपि वासनादिवशाद्भेदभ्रमस्यानुवृत्तिं तस्य चाबन्धकत्वमाशङ्कते—**अथे**ति। **दग्धपटादिव**दिति—यथा दग्धपटादेः पटादिप्रतिभासविषयत्वेऽपि न पटादिकार्यकरत्वम्, तद्वदत्र भेदभ्रमस्यानुवृत्तस्यापि न संसारहेतुत्वमिति भावः। **नैतदुपपद्यते** इति—दृष्टान्तमात्रमुक्तं, नतूपपत्तिः, प्रत्युतानुपपत्तिश्च विद्यत इति भावः। अनुपपत्तिं सोदाहरणामाह— **मरीचिके**ति। एवमत्र प्रसङ्गः—विप्रतिपन्नभेदज्ञानमद्वैतज्ञानबाधिततया मिथ्यार्थविषयमिति निश्चितं चेत्, न स्वविषयानुरूपप्रवृत्तिहेतुः स्यात्; यथा बाधितानुवृत्तं मरीचिकाजलज्ञानम्—इति। एवं च बाधितानुवृत्तभेदज्ञानं दग्धपटादिवत् न स्वकार्यकरमिति बाधितानुवृत्तिफलाभावात् स्वेष्टव्याघात इति भावः। श्रुतमात्रपक्षेऽपि निर्विशेषविषयसाक्षात्कार-

श्रवणयोर्विषयानतिरेकेणाज्ञाननिवृत्तिरनुपपन्नेति कृत्वाऽथ सर्वेश्वरे बाधितानुवृत्तिस्वरूपं दूषयति—**न चेति** । ईश्वरत्वादेव पूर्वमज्ञ इति वक्तुं न शक्यते, अनीश्वरत्वप्रसङ्गात् । ईश्वरोऽपि चेत् पूर्वमज्ञः, तस्य शास्त्राधिगमोऽपि न सम्भवति, तदधिकज्ञानवतोऽन्यस्य शास्त्रोपदेष्टुरभावात् । भावेऽपि स एवेश्वरोऽनीश्वरो वा सन् कुतः सिद्धज्ञान इत्यनवस्थादिदोषात् । न च प्रवाहेश्वरपारम्पर्यमस्ति, तस्य दूषितत्वात् । न चेश्वरः स्वकृतेन शास्त्रेण तत्त्वमवगच्छति, वेदानित्यत्वान्योन्याश्रयादिप्रसङ्गात् । न चानादीनेव वेदान् स्मृत्वा तैरर्थमधिजगाम; स्मृत्यादिहेतोः पूर्वोपलम्भस्याप्युपदेष्टृभावादिदुःस्थत्वात्, इत्यादिदोषानभिप्रेत्योक्तं **पूर्वमज्ञस्येत्या**दि । ईश्वरस्य पूर्वमज्ञत्वे शास्त्राधीनज्ञानत्वे तदुपदेष्ट्रन्तरसद्भावे भ्रान्त्यनुवृत्तौ च श्रुतिस्मृतिविरोधमाह—**यः सर्वज्ञ** इति । स्वरूपतः प्रकारतश्च सर्वं जानाति वेत्तीति विवक्षया सर्वज्ञसर्वविच्छब्दयोरपुनरुक्तिः; सर्वं विन्दति प्राप्नोतीति वा सर्ववित् ।

**३ रा. भा.— किञ्च परमपुरुषश्चेदानीन्तनगुरुपरम्परा च अद्वितीयात्मस्वरूपनिश्चये सति अनुवर्तमानेऽपि भेदज्ञाने स्वरूपनिश्चयानुरूपमद्वितीयात्मज्ञानं कस्मा उपदिशतीति वक्तव्यम् ? । प्रतिबिम्बवत्प्रतीयमानेभ्योऽर्जुनादिभ्य इति चेत्, नैतदुपपद्यते । न ह्यनुन्मत्तः कोऽपि मणिकृपाणदर्पणादिषु प्रतीयमानेषु स्वात्मप्रतिबिम्बेषु तेषां स्वात्मनोऽनन्यत्वं जानन् तेभ्यः कमप्यर्थमुपदिशति ।**

**४ वे. ता. चं.**— एवमुपदेशस्य हेत्वनुपपत्तिरुक्ता । अथोपदेष्टृतापि नोपपद्यत इत्याह—**किञ्चेति** । **इदानीन्तनेति** । न केवलमीश्वरकृतः प्रथम एवोपदेशोऽनुपपन्नः, अपित्वद्यतनोऽपीति; कुमतिमठपतिपरम्परायाः शिष्यान्नकुक्षिम्भरेः शिष्याद्यभावात्प्रायोपवेशनं प्रसज्यत इति भावः । अज्ञातोपदेशपक्षानुपपत्तिमभिप्रेत्याह—**स्वरूपनिश्चयेति** । न ह्येतेऽनुपलब्धार्थाः, नापि सन्दिग्धार्थाः, नापि विप्रलम्भकाः, न च परोक्तानुवादिनः, नापि बालोन्मत्तादिवद्यथोपनतजल्पाकाः, इति भावः । **कस्मा** इति । स्वस्मै परस्मै वा ? पूर्वत्र भिन्नतया निश्चिताय, अन्यथा वा ? भिन्नतयेत्यत्रापि सत्यतया निर्णीताय, असत्यतया वा ? परस्मा इत्यत्रापि तात्त्विकाय, अतात्त्विकाय वा ? अतात्त्विकत्वेऽपि तथा प्रतीताय, अन्यथा वा ? इति विकल्प्य प्रष्टृ तदुत्तरं वक्तव्यमित्यर्थः । तत्र स्वस्यैव भिन्नस्य सत्यत्वनिश्चयेऽपसिद्धान्ताज्ञत्वादिदोषप्रसङ्गः । असत्यत्वनिश्चये वन्ध्यातनयादिभ्य इवानुपदेशः । अभिन्नतया निश्चिताय स्वस्मै चेत्, अर्जुनादिप्रतिभासमन्तरेण सर्वदोपदेशः स्यात्; न च तत्रोपदेशस्य किञ्चित्प्रयोजनमस्ति; परस्मै तात्त्विकायेति तु शरीरभेदेऽपि भवान्नाभ्युपगच्छति; अतात्त्विकतयैव प्रतीताय परस्मै चेत्, पूर्ववदेवानिर्वचनीयत्वेनासत्त्वेन वा निश्चितेभ्यः प्रतिबिम्बवन्ध्यासुतादिभ्योऽप्युपदेशप्रसङ्गः; अतात्त्विकस्यैव परस्य तात्त्विकत्वबोधे तु तत्त्ववेदित्वमेव न स्यादिति न तत्त्वोपदेशित्वसिद्धिरिति स्थिते, परमार्थत एकत्वेऽपि भ्रान्त्या भिन्नतया प्रतीयमानेभ्यो बाधकज्ञानबलेनाभिन्नतया निश्चितेभ्यश्चेति पक्षं शङ्कते—**प्रतिबिम्बवदिति** । दूषयति—**नेति** । अनुपपत्तिं विवृणोति—**न हीति** । **अनुन्मत्त** इति—ईश्वरादेरुन्माद एव भवता स्वीकृतः स्यादिति भावः । **कोऽपीति**—किमुतेश्वर इति भावः । **अनन्यत्वं जानन्निति**—अनन्यत्वमजानन्तो बालादयः काममुपदिशेयुः; अत्रोपदेष्टुरन्यत्वाध्यवसाये भ्रान्तत्वादिप्रसङ्ग इति भावः । **कमपीति**—लौकिकमलौकिकं वा दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा, किं पुनर्मोक्षार्थमित्यर्थः ।

**३ रा. भा.—बाधितानुवृत्तिरपि तैर्न शक्यते वक्तुम्; बाधकेनाद्वितीयात्मज्ञानेनात्मव्यतिरिक्तभेदज्ञानकारणस्यानादेर्विनष्टत्वात् । द्विचन्द्रज्ञानादौ तु चन्द्रैकत्वज्ञानेन पारमार्थिकतिमिरादिदोषस्य द्विचन्द्रज्ञानहेतोरविनष्टत्वात् बाधितानुवृत्तिर्युक्ता । अनुवर्तमानमपि प्रबलप्रमाणबाधितत्वेनाकिञ्चित्करम् । इह तु भेदज्ञानस्य सविषयस्य सकारणस्यापारमार्थिकत्वेन वस्तुयाथात्म्यज्ञानविनष्टत्वान्न कथञ्चिदपि बाधितानुवृत्तिः सम्भवति । अतः सर्वेश्वरस्येदानीन्तनगुरुपरम्परायाश्च तत्त्वज्ञानमस्तीति चेत्, भेददर्शनतत्कार्योपदेशाद्यसम्भवः । भेददर्शनमस्तीति चेत् अज्ञानस्य तद्धेतोः स्थितत्वेनाज्ञत्वादेव सुतरामुपदेशो न सम्भवति ।**

**४ वे. ता. चं.**—बाधितानुवृत्तिस्वरूपमभ्युपगम्य पूर्वं दूषणान्तरमुक्तम्; इदानीं तन्मते तदेव न सिध्यतीत्याह—**बाधितेति** । उपपादयति—**बाधकेनेति** । न हि कारणाभावे कार्यं घटेत, न च दोषनिवृत्तौ भ्रान्तिनिवृत्तिर्न स्यादिति वक्तुं युक्तम् । **अनादेरिति** । स्वरूपतः प्रवाहतो वा अनादेरन्यानिवर्त्यतयैतावन्तं कालमनुवृत्तस्य भेदज्ञानकारणभूतस्य दोषस्य यदि अद्वैतज्ञानेनापि नाशो न स्यात्, नित्यसंसारित्वं ब्रह्मणः स्यादिति भावः । अत्राज्ञानादेरिति क्वचित्पाठः, तत्रादिशब्देन भेदभ्रमस्तद्विषयश्च गृह्यते । परैरुदाहृते दृष्टान्ते बाधितानुवृत्तेरुपपत्तिमाह—**द्विचन्द्रेति** । **पारमार्थिकेति**—न हि पारमार्थिकं बाध्येत, तथासति बाधाबाधविप्लवप्रसङ्गादिति भावः । **द्विचन्द्रज्ञानहेतोरिति**— न हि बाधकज्ञानेन पूर्वज्ञानस्य कारणं बाध्यते, इन्द्रियादेरपि बाधप्रसङ्गात् । अतो विषय एवारोपितस्तदधिष्ठानविषयेण विरुद्धाकारग्राहिणा ज्ञानेन बाध्यः । न चात्र तिमिरादिद्विचन्द्रज्ञानस्य चन्द्रैकत्वज्ञानस्य वा विषयः । भवतस्तु समस्तभेदभ्रमोपा-

दानस्याज्ञानवासनादेः साक्षिचैतन्यविषयत्वात्, बाधकज्ञानस्य चाद्वितीयात्मव्यतिरिक्तसमस्तभावगोचरत्वात्, कारणस्याप्यनादेर्बाध एवेति भावः। **युक्तेति**— सामग्र्यनुवृत्तौ कार्यानुवृत्तिरुपपन्नेति भावः। यदि भ्रान्तिरनुवृत्ता कथं तर्हि तत्कार्यविस्मयभयादिनिवृत्तिरित्यत्राह— **अनुवर्तमानमपीति**। **प्रबल**शब्देन परपक्षे भेदभ्रमतद्बाधकयोरविशेषः सूचितः। द्वयोरपि हि अज्ञानकारणत्वं तैराश्रितम्, अन्यथा सत्यद्वयप्रसङ्गात्। तथा च सति किं कस्य बाधकं बाध्यं वा?। न च दोषमूलत्वं बाधकज्ञानस्याज्ञातमिति वाच्यम्, प्रथममेव श्रवणवेलायां ब्रह्मव्यतिरिक्तसमस्तमिथ्यात्वप्रत्ययात्। न चाज्ञातमिति तावता तत्त्वसिद्धिः; सत्यरजतबाधकेन शुक्तिकाज्ञानेनाज्ञातदोषेणापि तत्त्वतो रजतस्वरूपबाधाभावात्। दोषमूलत्वाविशेषेऽपि पूर्वत्वपरत्वाभ्यां बाध्यबाधकव्यवस्थेति चेत्, न; दोषमूलत्वे ज्ञाते सति परत्वस्याकिञ्चित्करत्वात्, भ्रान्ततयाऽवगतेनोक्तसर्वबाधकवाक्यवत्। अन्यथा शून्यमेव तत्त्वमिति माध्यमिकवाक्येन दोषमूलतया ज्ञातेनापि परत्वमात्रेण संविन्मात्रस्यापि बाधः स्यात्।

अथ कारणस्यापि बाध्यतया विषयत्वापारमार्थिकत्वलक्षणं दृष्टान्ताद्वैषम्यं विवृण्वन् बाधितानुवृत्त्यसम्भवं निगमयति— **इह त्विति**। **न कथञ्चिद**पि— अनाद्यज्ञानेन वा भेदज्ञानवासनादिभिर्वेत्यर्थः। ज्ञातं वा अज्ञातं वेति विकल्पाभिप्रायेणोपक्रान्तामुपदेशकारणाद्यनुपपत्तिं विकल्पस्फोरणेनोपसंहरति— **अत इति**। **सुतरामिति**— जानतस्तु बाधितानुवृत्तौ दृष्टान्तमात्रमपि तावदस्ति; अजानत उपदेशो सोऽपि नास्तीति भावः।

**३ रा॰ भा॰— किञ्च गुरोरद्वितीयात्मविज्ञानादेव ब्रह्मात्मज्ञानस्य सकार्यस्य विनष्टत्वात् शिष्यं प्रत्युपदेशो निष्प्रयोजनः। गुरुस्तज्ज्ञानं च कल्पितमिति चेत् शिष्यतज्ज्ञानयोरपि कल्पितत्वात्तदप्यनिवर्तकम्। कल्पितत्वेऽपि पूर्वविरोधित्वेन निवर्तकमिति चेत्, तदाचार्यज्ञानेऽपि समानमिति तदेव निवर्तकं भवतीत्युपदेशानर्थक्यमेव, इति कृतमसमीचीनवादैर्निरस्तैः॥ १२॥**

**४ वे॰ ता॰ चं॰**— उपदेशस्य कारणाद्यनुपपत्तिरुक्ता, अथानर्थक्यमाह— **किञ्चेति**। प्रतिबिम्बवत्प्रतीयमानेभ्य इत्यादिना पूर्वमेव जीवाज्ञानपक्षस्यापि दूषितत्वाद्ब्रह्माज्ञानपक्षे अधिकदूषणमिदमुच्यते। ते खलु 'एकमेव ब्रह्माविद्याशबलमेक एव जीवः; स्वप्नदृश इवैकस्यैव तस्य भ्रमात् स्वप्नदृष्टपुरुषादय इवान्ये जीवादयः प्रतिभान्ति; तस्यैकस्यैवानिश्चितदेशविशेषस्थितेरनिर्णीतकालेन भविष्यता तत्त्वज्ञानजागरेण समस्तः प्रपञ्चोऽपि स्वप्नप्रपञ्चवद्बाध्यते' इति वर्णयन्ति। तत्रायमुपदेष्टा वासुदेवादिर्गुरुः स एव, तद्दृष्टो वा? शिष्योऽप्यर्जुनादिः स एव, तद्दृष्टो वा? इति विकल्पमभिप्रेत्य गुरुः स एवेति पक्षे, दूषणमाह— **गुरोरिति**। **सकार्यस्येति**— शिष्याचार्यत्वादेरपीति भावः; तेनोपदेष्ट्रभावः प्रष्ट्रभाव उपदेशपरिकराभावश्चोक्तो भवति। गुरोस्तद्दृष्टत्वपक्षमनुवदति— **गुरुरिति**। न हि स्वप्नदृशा कल्पितपुरुषविज्ञानेन स्वप्नो बाध्येत; तद्वदत्रापि गुरोर्ज्ञानेन प्रपञ्चबाधाभावात्तद्बाधायोपदेशः सप्रयोजन इति भावः। दूषयति— **शिष्येति**।

**अयं भावः**— न तावदत्रार्जुनादिः स एव जीव इति तृतीयकल्पे प्रमाणमुपलभामहे; न च 'अयं मम शिष्यो जीवो मुक्तो भविष्यति, अहं त्वनेन स्वप्नदृशेव कल्पितः' इत्याचार्योऽपि मन्यते, तथा सति स्वसंहारकारिणे महापकारिणे तस्मै नोपदिशेत्; स्वयं हि स्वप्नस्वभावान्नियमेनैव निवृत्तः स्यादिति न मोक्षोपायमाचरेत्; शिष्योऽपि यदि स्वप्नदृष्टवद्गुरुं मन्येत, ततो न शृणुयात्। गुरुतज्ज्ञानविशेषयोः स्वभ्रान्तिकल्पिततया स्वयमेव तज्ज्ञानविषयविशेषं जानन् ततः किमर्थं शृणोति? स्वकल्पितोपदेष्टृजनितोपदेशभ्रमात् स्वभ्रान्तिनिवृत्तिरिति च हास्यम्, तमन्तरेणापि स्वप्रत्यक्षभ्रमादपि तन्निवृत्त्युपपत्तेः। न च ज्ञातार्थेऽप्यर्जुनेऽद्य यावत् भ्रमनिवृत्तिर्दृश्यते, अतः शिष्योऽप्याचार्यवत्समस्तप्रपञ्चस्वप्नदृशान्येनैव दृष्ट इति चतुर्थः कल्पः परिशिष्यते। ततश्च शुकवामदेवादिज्ञानवदर्जुनादिज्ञानमपि नाज्ञाननिवर्तकमिति निष्फलः शिष्याचार्याणां कृष्णार्जुनादीनां त्रिवर्गपरित्यागेनापवर्गार्थं प्रयास इति शास्त्रारम्भोऽनुपपन्नः।

अथ **परिहासकाकुपूर्वमपच्छेदनयमाशङ्क्य** परिहरति— **कल्पितत्वेऽपीत्यादिना**। एवमुपदेशानुपपत्तौ तस्य सर्वद्रष्टुरेकस्यापि जीवस्य कदाचिदपि मोक्षायोगात् शास्त्रप्रयोजनमपि नास्तीति ततोऽपि शास्त्रारम्भानुपपत्तिरिति फलितम्। एवं शास्त्रोपदेशस्य तदुपदेष्टुस्तच्छ्रोतुस्तत्प्रयोजनस्य चानुपपत्तौ सामान्यतः सर्वस्मिन्नपि परमते दूषिते किमवान्तरदूषणैरित्यन्यपरतयोपसंहरति— **इति कृतमिति**। कृतं अलमित्यर्थः। **असमीचीनवादैरि**त्यनेन भास्करादिमतेऽप्येवंविध-दूषणशतं शारीरकभाष्याद्युक्तं स्मारितम्॥ १२॥

**५ आ॰ मा॰ भा॰— किमिति। न त्वेवाहम्। ईश्वरनित्यत्वस्याप्रस्तुतत्वाद्दृष्टान्तत्वेनाह— न त्वेवेति। यथाऽहं नित्यः सर्ववेदान्तेषु प्रसिद्धः, एवं त्वमेते जनाधिपाश्च नित्याः॥ १२॥**

**६ ज॰ प्र॰ दी॰— किमिति** कस्मात्कारणात्पण्डिता अप्यगतासूनिव गतासूनासन्नविनाशान्नानुशोचन्तीति शेषः। अत्र नित्यत्वादित्युत्तरम्। कुतो नित्यत्वमित्यत आहेति वाक्यं चाध्याहार्यम्। न त्वेवाहमित्यतः परमिति शब्दश्च। अर्जुनं निमित्तीकृत्य प्राप्तलोकोपकारार्थं हि भगवतोपदेशः क्रियते। तत्र ये भगवतः कृष्णस्येश्वरत्वं नित्यत्वं च न जानन्ति, तान् प्रति यथाश्रुतैव योजना। दृष्टान्तस्तूत्तरत्र भविष्यति। ये तु तज्ज्ञात्वा जीवनित्यत्वमेव न जानन्ति, तान्प्रत्यन्यथा योज्यमित्याह—

**ईश्वरे**ति। अप्रस्तुतत्वादनाशङ्कितत्वाद्दृष्टान्तत्वेनाह। जीवनित्यतायां साध्यायामीश्वरमिति शेषः। अत एव कृष्णेत्यनुक्त्वेश्वरेत्युक्तम्। नन्वीश्वरनित्यत्वं कुतः सिद्धं? पूर्वार्द्धे वाक्यत्रयसद्भावात्, कथञ्चिद्योजनासम्भवेऽपि उत्तरार्द्धस्यैकवाक्यत्वात्कथं योजना? इत्यत आह—**यथे**ति। वेदान्ता उपनिषदः। सिद्धस्यार्थस्य साध्यत्वेन निर्देशो दोषायेति सामर्थ्याद्यथैवंशब्दाध्याहारेण वाक्यभेदेन च योज्यमिति भावः। ननु वेदान्तैरीश्वरनित्यत्वं जानन्तस्तत्रैवोक्तं जीवनित्यत्वं कथं न जानन्ति? उच्यते—"नित्यो नित्यानां" [कठो. ५।१३; श्वे. उ. ६।१३] इति निर्धारणसामर्थ्याज्जीवानां नित्यत्वमीश्वरस्य परमनित्यत्वमवगम्य मन्दाः प्रतिपद्यन्ते। नित्यत्वं हि विनाशाभावः। न चाभावस्तारतम्यवान्। अत ईश्वर एव नित्यः, जीवेषु तूपचार इति। तान्प्रत्यनुमानेन जीवनित्यत्वं ईश्वरदृष्टान्तेन साध्यते। तत्र 'न त्वेवाहं जातु नासं' इति दृष्टान्तेनानादित्वसाधनमनुवदति। न त्वमित्यादिना तस्य पक्षधर्मतामाह— **नचैवे**त्यादिना। दृष्टान्ते पक्षे च साध्याभिधानमिति। अत्र भगवता जीवानां परस्परमीश्वराच्च भेदे प्रतिपादितेऽपि बहुवचनं शरीरापेक्षया, न स्वात्मापेक्षयेति वदतो [शं. चा.] भविष्यत्युत्तरम्॥ १२॥

**७ ह. पै. भा.— कुतस्तेऽशोच्याः? जन्ममरणादिमत्त्वासम्भवात्; अत आह— न त्विति। जातुशब्दः कदाचिदित्येतस्मिन्नर्थे वर्तते। नाहं कदाचिन्नाऽऽसम्, अपित्वासमेव। न त्वं नाऽऽसीः, आसीरेवेत्यर्थः। नेमे भीष्मादयो नाऽऽसन्, किन्तु आसन्नेव। न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्— त्वमहमिमे राजानश्च सर्वे वयं जातु न न भविष्यामः, अपितु भविष्याम एव। अतीतेषु देहोत्पत्तिविनाशेषु सर्वेषामेवास्माकमुत्पत्तिविनाशौ न स्तः, परमात्मस्वरूपेण नित्यत्वात्। तथा भविष्यद्देहोत्पत्तिविनाशशङ्का न कर्तव्येत्यर्थः। बहुवचनं देहाभिप्रायेण। बहुदेहेषु जायमानेषु विनश्यत्सु चाऽऽत्मनो जन्मविनाशौ न स्त इत्युक्तं भवति॥ १२॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु सर्वोऽपि मृतानासन्नमरणांश्च बन्धून्छोचति, तत्कथं पण्डितास्तान्न शोचन्तीत्युच्यते? तत्र वक्तव्यम्— को नाम शोचनीयः पदार्थः? किमात्मा? किं वा देहः? नाद्यः, तस्य नित्यत्वेन मरणासम्भवादित्यभिप्रेत्यात्मनित्यत्वं साधयति— न त्वेवेत्यादिषड्भिः। **तु**-शब्दो देहादात्मनो वैलक्षण्यद्योतनार्थः। अहं जातु कदापि पूर्वकाले नैव नासम्, किन्त्वासमेव। त्वं च न नासीः, किन्त्वासीरेव। इमे जनाधिपा भीष्मादयोऽपि न नासन्, किन्त्वासन्नेव। अतः परं उत्तरकालेऽपि जातु अहं त्वमिमे जनाधिपाश्चेति सर्वे वयं नैव न भविष्यामः, किन्तु भविष्याम एव; इति कालद्वयसम्बन्ध उक्तः। वर्तमानकालसम्बन्धस्तु स्फुटत्वान्न वक्तव्यः। ततः कालत्रयसम्बन्धित्वेनात्मनो नित्यतया मरणासम्भवान्न शोच्यत्वमित्यर्थः।

अत्र 'आसं भविष्यामि' इत्युक्त्यैव कालद्वयसम्बन्धसिद्धावपि प्रागभावप्रतियोगित्वध्वंसप्रतियोगित्वयोः साक्षान्निषेधार्थं 'न नासं, न न भविष्यामः' इति नञ्द्वयगर्भवचनमुक्तम्। यद्यपि भीष्माद्यात्मनामशोच्यत्वप्रतिपादनाय तदीयात्मनित्यत्वमेव वक्तव्यम्, न त्वेवाहमिति स्वात्मनित्यत्वप्रदर्शनं तु किमर्थम्? तथापि 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [२।६] इति वदता अर्जुनेन परेषामिव स्वेषामपि पराजयपक्षे मरणमाशङ्कितमिति तत्परिहाराय तत्प्रदर्शनमर्थवत्। तत्र च परात्मापेक्षया स्वात्मनः प्रत्यासन्नत्वादादौ स्वात्मनित्यत्वोक्तिः। तत्राप्यर्जुनस्य स्वात्मापेक्षया भगवदात्मा अधिकतरप्रेमास्पदम्। अतो भगवद्विपत्त्यभाव एव प्रथमं तस्य बुभुत्सेति तद्विजानता भगवता प्रथमं 'न त्वेवाहं' इति स्वनित्यत्वं प्रदर्शितम्।

यत्त्वत्र माध्वरामानुजव्याख्यानम्— 'भगवत्सामर्थ्यमर्जुनेन बहुशो दृष्टम्, अचिन्त्यशक्तिकत्वेन तस्य जीववैलक्षण्यमप्यवगतम्, अतस्तन्नित्यत्वस्यानाशङ्कितत्वात् दृष्टान्तत्वेनैव ग्रहणम्। एवं च यथाऽहं परमात्मा नित्यः सर्ववेदान्तप्रसिद्धः, तथा त्वमिमे जनाधिपाश्च नित्या इत्यर्थः' इति। तन्न; जीवनित्यत्वस्यापि वेदान्तप्रसिद्धत्वेन तस्याप्यनाशङ्कितत्तयाऽत्र प्रतिपादनानपेक्षणात्। न च "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्" [कठो. ५।१३] इति श्रुत्या निर्धारणसामर्थ्याज्जीवानां नित्यत्वमीश्वरस्य परमनित्यत्वं च ज्ञायते; नित्यत्वं च विनाशाभावः, न चाभावे तारतम्यमस्तीति जीवनित्यत्वमुपचरितमाशङ्क्येत, तदर्थं प्रागभावध्वंसाप्रतियोगित्वदर्शनेनात्र जीवनित्यत्वमुपपाद्यत इति वाच्यम्। तदुपपादनस्यापि "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [कठो. २।१८] "अविनाशी वा अरेऽयमात्मा" [बृ. उ. ४।५।१४] इत्यादिश्रुतिभिरेव कृतत्वात्, नित्यानां चेतनानां बहूनां नित्यश्चेतन एको यः कामान्विदधाति इति सम्बन्धषष्ठ्यैवात्र श्रुत्यर्थोऽन्वयेन निर्धारणषष्ठ्यसिद्धेश्च। यदुच्येत अर्जुनेन विदितमपि जीवनित्यत्वमत्र भीष्माद्यशोच्यत्वहेतुतयोच्यमानं न दुष्यत इति, तर्हि भगवन्नित्यत्वमपि 'यद्वा जयेम' [२।६] इत्याद्यर्जुनीयभगवदपायशङ्कानिरासायोच्यमानं न दुष्यत इति समानम्। परमात्मन्यनित्यत्वशङ्कैव नेति चेत्, जीवात्मन्यपि न सेति तुल्यम्। किञ्च 'श्रीकृष्णः परब्रह्म' इति नार्जुनस्याद्यापि निश्चयोऽस्ति, येन त्वदुक्तं व्याख्यानं युज्येत। यद्यपि भगवत्सामर्थ्यमर्जुनेन बहुशो दृष्टं युधिष्ठिरराजसूयादिषु भीष्मादिभ्यो बहुधा श्रुतं च; तथापि विश्वरूपप्रदर्शनात्

पूर्वमर्जुनस्य भगवत्यपरिमितबलपराक्रमसम्पन्नो योगादिलब्धदिव्यशक्तिः कश्चिदयं महान्पुरुषस्तैस्तैरीश्वरत्वेन स्तूयत इत्येव निश्चयः। विश्वरूपदर्शनानन्तरं तु परब्रह्मत्वनिश्चय इत्यर्जुनवचनैरेवावगम्यते। विश्वरूपाध्याये— 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति। अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु। एकोऽथवाऽप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्॥ पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य—' [ ११।४१–४३ ] इत्यादि वदता अर्जुनेन भगवन्तं प्रति 'तव महिमानमजानता मया त्वं लोकसाधारणः सखेति मत्वा इतः पूर्वं विहारशय्यादिषु यदसत्कृतं तत्क्षामये, त्वं हि सकलजगत्पिता परब्रह्मैवासि' इति कथनेन विश्वरूपदर्शनात्पूर्वं भगवति स्वस्य परब्रह्मत्वाध्यवसायाभावस्य तदनन्तरं तत्सद्भावस्य च कण्ठत एवोक्तेः। आदित आरभ्यैवार्जुनस्य भगवति परब्रह्मत्वनिश्चये चतुर्थेऽध्याये [ श्लो. ४ ] भगवन्तं प्रति 'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः। कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति' इत्यर्जुनस्य प्रश्नायोगाच्च। न हि परब्रह्मणि इदानीन्तनस्य तव पूर्वसिद्धं विवस्वन्तं प्रत्युपदेशः कथमिति प्रश्नोऽवतरति, न वा सर्वज्ञं ब्रह्मैवायमिति निश्चितवन्तं प्रति 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप' [४।५] इति भगवतः प्रत्युक्तिरर्थवती भवति। पूर्वमेव श्रीकृष्णेऽर्जुनस्य ब्रह्मत्वनिश्चये ब्रह्मैव स्वसाहाय्यार्थं निजरथमधितिष्ठतीति जानतस्तस्य 'यद्वा जयेम—' [ २।६ ] इत्यादिजयसंशयायोगाच्च। तस्मात् 'न त्वेवाहम्' इत्यस्य दृष्टान्ततया व्याख्यानायोगाच्छङ्करभगवत्पादव्याख्यातो यथोक्त एवार्थः।

यत्पुनरत्र **रामानुजेनोक्तम्**— "अज्ञानमोहितं पार्थं प्रति तन्निवृत्तये पारमार्थिकनित्यत्वोपदेशसमये भगवता 'अहं त्वं इमे सर्वे वयं' इति व्यपदेशाज्जीवेश्वरभेदः परस्परभेदश्च पारमार्थिक इति भगवतैवोक्तम्" इति। तत्तु 'देहभेदानुवृत्त्येह बहुवचनं, न त्वात्मभेदाभिप्रायेण' इति गीताभाष्यगतभगवत्पादश्रीसूक्त्यैव प्रतिहतोद्यम्, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत' [ १३।२ ] इत्यादिना भगवतैव नानाशरीरेषु स्थितो जीवः स्वयमेवेति प्रतिपादनाद्भगवन्मताज्ञानविजृम्भितं सत्कूपमण्डूकन्यायावहम्, "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुविष्टः। उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" इत्यादिश्रुतिशतैरेव दत्तोत्तरं च। किञ्च नात्र जीवे भेदो जीवपरस्परभेदो वा प्रतिपाद्यः, प्रत्यक्षेणैव तत्सिद्धेः, अनन्यलभ्यस्यैव शब्दार्थत्वात्। अतः प्रत्यक्षप्राप्तभेदानात्मनः 'अहं त्वमिमे' इत्यनूद्य तन्नित्यत्वमेवात्र प्रतिपाद्यम्। अन्ते षट्के तु 'क्षेत्रज्ञं च' [ १३।२ ] इत्यादिनाऽप्यद्वैतं प्रतिपाद्यत इति नास्माकमनुपपत्तिलेशः; प्रत्युत द्वैतवादिनस्तवैव तद्वचनविरोधो दुरुद्धरः। अपि च 'अहं त्वं' इति व्यपदेशमात्राच्च भेदसिद्धिः। **रामायणे रामपरशुरामसंवादे** 'ब्राह्मणोऽसीति मे पूज्यो विश्वामित्रकृतेन च। तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्' [ वा. रा. १।७६।६ ] 'न चेयं मम काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति। त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः' [ वा. रा. १।७६।१९ ] इति रघुरामपरशुरामाभ्यामहं त्वमिति व्यपदिष्टतया तयोरपि भेदप्रसङ्गात्। न चेष्टापत्तिः, 'रामः शस्त्रभृतामहम्' [ १०।३१ ] इत्यत्र 'शस्त्रभृत्त्वे विभूतिरर्थान्तराभावात्' इति व्याख्यातवता त्वयाऽपि अवतारभेदनिषेधात् अपसिद्धान्ताच्च। तत्र प्रमिताभेदयोर्भेदव्यपदेशः काल्पनिकभेदनिबन्धन इति चेत्, समः समाधिः। एतेन— श्रीकृष्णस्य इदानीन्तनगुरुपरम्परायाश्चाद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानमस्ति चेत् निवृत्ताज्ञानतत्कार्यत्वात् अज्ञानकृतभेददर्शनतन्मूलोपदेशादिव्यवहारानुपपत्तिरिति कृष्णार्जुनसंवादरूपगीताशास्त्रासङ्गतिः, ज्ञानं नास्ति चेदज्ञानित्वादुपदेष्टृत्वानुपपत्त्या सुतरां तदसङ्गतिरित्यपि निरस्तम्; **रामपरशुरामयोः** परस्पराभेदज्ञानसत्त्वेन भेददर्शनाभावेऽपि तन्मूलकजयपराजयव्यवहारतदुक्तिप्रत्युक्तिरूपसंवादवदत्राप्युपपत्तेः।

ननु रामयोर्वास्तवस्वाभेददर्शित्वेऽप्यौपाधिकस्वभेददर्शनमस्तीति चेत्, इहापि तथाऽस्तु, "उपाधिना क्रियते भिन्नरूपः" [          ] इति श्रुतेः। अथैक एव परमेश्वरः स्वमायया रूपद्वयं विधाय लीलया मिथः संवादमिव कृतवान्, न वस्तुगत्येति चेत्, सममत्रापि। वस्तुतस्तु— ऐन्द्रजालिकस्य परमोहनार्थस्वमायाकल्पितसर्पवृश्चिकादिषु मिथ्यात्वनिश्चये सत्यपि, परोपलभ्यमानमिथ्याभूतसर्पादिप्रतिभास इव भगवतोऽप्यद्वितीयात्मतत्त्वदर्शने सत्यपि अस्मदाद्युपलभ्यमानस्वमायाशक्तिकल्पितमिथ्याद्वैतप्रपञ्चप्रतिभासोऽप्यस्त्येव, यदाहुर्वाचस्पत्यकल्पतरुकाराः—'प्रतिबिम्बगताः पश्यन्नृजुवक्रादिविक्रियाः। पुमान् क्रीडेद्यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः' इति। तत्र च मिथ्याभूतं जगन्मिथ्यात्वेनैव पश्यतो न तस्य तत्त्वदर्शित्वे विरोधः, न वा निवृत्ताज्ञानतत्कार्यतयोपदेशादिव्यवहारायोगः; नित्यसर्वज्ञस्येश्वरस्य अस्मदादेरिव पूर्वमज्ञस्य सतः शास्त्राधिगतज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिरिति वक्तुमशक्यत्वेन तस्य निवृत्ताज्ञानतया एवासिद्धेः। न च निवृत्ताज्ञानत्वाभावेऽप्यज्ञानराहित्यमस्तीति कथं तन्मूलकव्यवहार इति युक्तम्, महामायाविनि तस्मिन्नज्ञानराहित्यस्याप्ययोगात्। मायाज्ञानैक्यं च अन्यत्रोपपादितम्, अग्रे च अभिधास्यते। न च सर्वज्ञस्याज्ञानसम्बन्धविरोधः, उपाधेः प्रतिबिम्बपक्षपातित्वात्। अत एव न तस्य नित्यमुक्तत्वविरोधः; न वा ज्ञानाज्ञानयोः सामानाधिकरण्यानुपपत्तिः, ज्ञानस्य स्वविषयावारकाज्ञानेनैव सह सामानाधिकरण्यविरोधात्। तस्माद्भगवतस्तत्त्वज्ञानित्वेऽप्यैन्द्रजालिकवत् स्वाधीनमायामूलकमिथ्याजगत्प्रतिभासोऽप्यस्तीति **रामभृगुराम**व्यवहारवन्मायामूलकार्जुनाद्युपदेशव्यवहारोऽपि तस्य सङ्गच्छते। गुरुपरम्परायास्तु निवृत्ताज्ञानतत्कार्यत्वेऽपि बाधितानुवृत्तिरूपं भेदज्ञानमस्तीति तन्मूलकोपदेशो युज्यते। न च बाधकेनाद्वितीयज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तेरुपादाननाशात्कथं बाधि-

तानुवृत्तिरिति वाच्यम्, रज्जुतत्त्वज्ञानेन सर्पाज्ञाननिवृत्त्यनन्तरमपि भयकम्पाद्यनुवृत्तिदर्शनेन "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" [ छां. उ. ६।१४।२ ] इति श्रुत्या च बाधितानुवृत्तिसिद्धेः। न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम किञ्चिदस्ति।

न च शुक्तिरजतादिज्ञानमनुवर्तमानं यथा न रजतार्थप्रवृत्तिहेतुः, तथैव द्वैतज्ञानमपि बाधितानुवृत्तं नोपदेशार्थप्रवृत्तिहेतुः स्यादिति वाच्यम्; तत्र सवासनाज्ञानक्षयेण अर्थक्रियाप्राप्त्यभावेऽप्यत्र वासनासत्त्वेनार्थक्रियोपपत्तेः। न च अज्ञाने नष्टे कथं तद्वासनेति वाच्यम्; पुष्पनाशानन्तरमपि पेटिकायां पुष्पवासनाया दर्शनादित्यन्यत्र विस्तरः। एतेन गुरुशिष्ययोरभेदाद्गुरुज्ञानेनैव शिष्योऽपि ज्ञानीति तस्याज्ञानाभावात्तं प्रत्युपदेशायोग इत्यपि निरस्तम्, रामयोरभेदाद्रघुरामजयेनैव भृगुरामोऽपि जयीति तस्य पराजयाभावेऽपि तं प्रति 'मोक्तुं प्राणहरं शरम्' [पृ. ८९-२] इत्यादिरघुरामोक्तेरिवास्याप्युपपत्तेः। सौहार्दे तु गुरुशिष्ययोर्वास्तवाभेदेऽपि घटाकाशमठाकाशयोरिव औपाधिकभेदसत्त्वान्मठनाशे तदुपाधिकाकाशस्य महाकाशतापत्तावपि घटाकाशस्य तदभाववत् गुरोर्ज्ञानादज्ञाननाशेन ब्रह्मात्मतासम्पत्तावपि न शिष्यस्य तत्प्रसङ्ग इत्यलं बहुना ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०—कुत इत्यपेक्षायां शोच्यास्तु ते भवन्ति ये उत्पन्ना म्रियन्ते, ते त्वात्मान इत्येषामुत्पत्तिरेव न सम्भवतीत्यात्मवादेनोत्पत्तिं निराकुर्वन्नशोच्यतामाह—न त्वेवाहमिति। 'अहं यूयं सत्यवार्य इमे च द्वारकौकसः' इतिवत्कालत्रयेऽपि देहस्येवात्मनो भवनं निवारयति भगवान्। नैव त्वमहं परमात्मोत्पन्नोऽस्मि, जातु कदाचिन्नासं न तथाऽभूवं वा, नोत्पन्नोऽसि वाऽभूश्च, इमे पुरः स्थिता जनाधिपाश्च नोत्पन्नाः, किन्तु सर्वदा नित्याः शुद्धाश्चेतना एवात्मान इत्यशोच्याः। "नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्" [ कठो. ५।१३ श्वे. उ. ६।१३ ] इत्यादिश्रुतेरात्मनामुत्पत्तिरूपो विकारो निराकृतः ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.—अशोच्यत्वे अभक्तत्वं हेतुमुक्त्वा पुनरशोच्यत्वे हेत्वन्तरमाह—नत्विति। अहमेतादृशो यादृशं त्वं द्रक्ष्यसि तादृशो जातु कदाचिदपि नासमिति न, किन्त्वेवम्भूतः सर्वदैवाऽऽसम्; अस्मीत्यर्थः। एतेन स्वस्य नित्यत्वमुक्तम्। ननु त्वन्नित्यत्वे कथमेते शोकानर्हाः? इत्यत आह—न त्वमासीः। न च इमे जनाधिपा आसन्निति न, किन्तु सर्वे मल्लीलारूपत्वान्नित्यमेवेत्यर्थः। तेनासुराणां मरणमपि नित्यमेवेत्यर्थः। तस्मादेते माया एवेति शोकानर्हा इति भावः (?)। नन्वहं युद्धे मरिष्ये चेत्तदा भवच्चरणवियोगो भविष्यत्यधर्माचरणाद्वा तथा भविष्यतीति शोचामीति चेत्तत्राह—न चैवेति। अतःपरं वर्त्तमानकालानन्तरं सर्वे वयं न भविष्याम इति न, किन्तु भविष्याम एव। एवं सर्वस्य नित्यत्वात्सर्वेऽशोच्या इति त्वं शोकं कर्तुं नार्हसीति भावः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०—ननु देहादन्योऽपि देहनाशेन नश्यतां कोशकार इव कोशनाशेनेति तत्राह—न त्वेवाहमिति। त्वमहमिमे च सर्वे अनादयोऽनन्ताश्च स्म इत्यर्थः। जातु कदाचित् अहं न आसं इति न, अपितु आसमेव; तथा त्वमपि नासीरिति न, अपित्वासीरेव; इमे जनाधिपाः राजानः—इत्युपलक्षणं सर्वस्य जन्तुजातस्य—नासन्निति न, अपित्वासन्नेवेति योजना। अनादित्वादनन्तांश्चेत्याह—न चेति। न भविष्याम इति नैव, किन्तु सर्वे भविष्याम एव। ननु देहस्यानात्मत्वे कथं तत्पीडयाऽयं पीड्यत इति चेत्, यक्षवत्तदभिमानमात्रात्, इति ब्रूमः। यदा हि यक्षः परशरीरे विशति तदा तत्पीडया देहपतिर्न बाध्यते, तस्य तदानीं देहाभिमानाभावात्। यक्षस्तु बाध्यतेऽभिमानसत्वादिति लोके प्रसिद्धम्। किञ्च प्राचीनकर्मव्यतिरेकेण जीवनं नोपपद्यते कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। वृक्षादिष्वपि प्राक्कर्मास्तीत्यनुमेयं स्थावरजीविका प्राक्कर्मपूर्विका जीविकात्वात् पाकादिक्रियापूर्वकास्मदादिजीविकावत्; अपि च क्रियावैचित्र्यात्कार्यवैचित्र्यं दृष्टं घटशरावोदञ्चनादिषु, तद्वदिहापि सुखदुःखादिवैचित्र्यं प्राक्कर्मवैचित्र्यादनुमेयम्। तथा सद्योजातस्य गोवत्सस्य स्तनपानादौ प्रवृत्तिर्जन्तुमात्रस्य मरणात्रासश्च प्राग्भवीयानुभवजनितसंस्कारजन्यौ भोजनादिप्रवृत्तिश्चोच्छ्वासादिवदित्यतोऽस्ति प्राचीनं कर्म। अपि च कौलिकशास्त्रप्रसिद्धमेतत्— यथा देवदत्तः स्वशरीरे कण्टकवेधेन खिद्यते, एवं शत्रुकृतायां देवदत्तप्रतिमायां कण्टकेन विद्धायां देवदत्तो व्यथते। तत्र व्यथाहेतुर्नान्तरं धातुवैषम्यं, नापि बाह्यं कण्टकवेधादि, किन्तु केवलं प्राक्कर्ममात्रम्। एवं च बीजाङ्कुरन्यायेन कर्म तज्जन्यसंस्कारपरम्परयाऽनादिः संसार इति न देहनाशादात्मनाशोऽस्तीति न भीष्मादयः शोचनीयाः। अत्र पूर्वस्मिन् श्लोके आत्मनो देहादन्यत्वमुक्तं 'गतासून् देहान्' इति विशेषणेन; अत्र तु सूक्ष्मशरीरविशिष्टस्यात्मनो व्यवहारदृष्ट्या नित्यत्वं साधितमिति भेदः ॥ १२ ॥

आत्मनोऽविनाशित्वान्नित्यत्वे दृष्टान्तः।

**देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।**
**तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥ १३ ॥**

१ शां. भा.— तत्र कथमिव नित्य आत्मा ? इति दृष्टान्तमाह— देहिन इति। देहोऽस्यास्तीति देही, तस्य देहिनो देहवत आत्मनः अस्मिन् वर्तमाने देहे यथा येन प्रकारेण कौमारं कुमारभावो बाल्यावस्था, यौवनं यूनो भावो मध्यमावस्था, जरा वयोहानिः जीर्णावस्था, इत्येताः तिस्रोऽवस्था अन्योन्यविलक्षणाः, तासां प्रथमावस्थानाशे न नाशः, द्वितीयावस्थोपजनने नोपजननमात्मनः। किं तर्हि ? अविक्रियस्यैव एकस्य द्वितीयतृतीयावस्थाप्राप्तिरात्मनो दृष्टा। तथा तद्वदेव देहादन्यो देहो देहान्तरं, तस्य प्राप्तिः देहान्तरप्राप्तिः, अविक्रियस्यैव आत्मन इत्यर्थः। धीरो धीमान् तत्रैवं सति न मुह्यति न मोहमापद्यते ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु पूर्वं देहं विहायापूर्वं देहमुपाददानस्य विक्रियावत्त्वेनोत्पत्तिविनाशवत्त्वविभ्रमः समुद्भवेदिति शङ्कते — तत्रेति। अशोच्यत्वप्रतिज्ञायां नित्यत्वे हेतुकृते सतीति यावत्। अवस्थाभेदे सत्यपि वस्तुतो विक्रियाभावादात्मनो नित्यत्वमुपपन्नमित्युत्तरश्लोकेन दृष्टान्तावष्टम्भेन प्रतिपादयतीत्याह— दृष्टान्तमिति। न केवलमागमादेवाऽऽत्मनो नित्यत्वं, किन्त्ववस्थान्तरवज्जन्मान्तरे पूर्वसंस्कारानुवृत्तेश्चेत्याह— देहिन इति। देहवत्त्वं तस्मिन्नहम्ममाभिमानभाक्त्वम्। तासामिति निर्धारणे षष्ठी। आत्मनः श्रुतिस्मृत्युपपत्तिभिर्नित्यत्वज्ञानं; 'धीमान्' इत्यत्र धीर्विवक्ष्यते— एवं सतीति। तत्त्वतो विक्रियाभावान्नित्यत्वे समधिगते सतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

३ रा. भा.— एकस्मिन् देहे वर्तमानस्य देहिनः कौमारावस्थां विहाय यौवनाद्यवस्थाप्राप्तौ आत्मनः स्थिरत्वबुद्ध्या यथाऽऽत्मा नष्ट इति न शोचति, देहाद्देहान्तरप्राप्तावपि तथैव स्थिर आत्मेति बुद्धिमान्न शोचति। अत आत्मनां नित्यत्वादात्मानो न शोकस्थानम्। एतावदत्र कर्तव्यम्— आत्मनां नित्यानामेवानादिकर्मवश्यतया तत्तत्कर्मोचितदेहसंसृष्टानां तैरेव देहैर्बन्धनिवृत्तये शास्त्रीयं स्ववर्णोचितं युद्धादिकमनभिसंहितफलं कर्म कुर्वतामवर्जनीयतया इन्द्रियैरिन्द्रियार्थस्पर्शाः शीतोष्णादिप्रयुक्तसुखदुःखदा भवन्ति, ते तु यावच्छास्त्रीयकर्मसमाप्ति क्षन्तव्या इति ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— आत्मनामशोचनीयत्वाय नित्यत्वमुक्तम्, तत्रात्मनित्यत्वे जन्ममरणादिप्रतीतिव्यवहारौ कथमिति शङ्कां दृष्टान्तेन परिहरति— देहिन इति। 'अस्मिन्' इति निर्देशाभिप्रेतमाह— एकस्मिन्निति। देहस्यावस्थात्रयान्वयनिदर्शनादपि देहिन्येव तन्निदर्शनमुचितमित्यभिप्रायेणाह— देहे वर्तमानस्येति। कौमारं यौवनं जरा इति क्रमनिर्देशसूचितार्थस्वभावफलितमुक्तं विहायेति। कौमारयौवनत्यागयोरपि शोकविशेषनिमित्तत्वात्तद्व्यवच्छेदार्थं यथाशब्दतात्पर्यव्यक्त्यर्थं चोक्तं आत्मन इत्यादि। बाल्यावस्थानिवृत्तावप्यात्मनः स्थिरत्वबुद्धिर्हि तद्विनाशनिमित्तशोकाभावहेतुः; सोऽत्रापि समान इत्यर्थः। 'देहान्तरप्राप्तिः' इत्यवान्तरशब्दसूचितं पूर्वदेहत्यागाख्यं शोकप्रसञ्जकं दर्शयति— देहादिति। धीरशब्दस्य प्रकरणविशेषितोऽर्थः स्थिर आत्मेति बुद्धिमानिति। 'अशोच्यान्' इत्यादिना प्रागुक्तेन सङ्गमयति— अत इति। एवं श्लोकद्वयेन क्रमात् प्राप्यं निवर्त्यं च व्यञ्जितम्, अथात्र हृद्गतं प्रापकविषयोत्तरश्लोकद्वयफलितं सङ्कलय्य सङ्गतमाह— एतावदिति बन्धनिवृत्तय इत्यन्तः 'अमृतत्वाय कल्पते' [२।१५] इत्यस्यार्थः। शुद्धस्वभावानां संसारानुपपत्तिपरिहारायोक्तं अनादीति। कर्मवश्यतया, न त्वनिर्वचनीयाज्ञानादिवश्यतयेति भावः। स्वतोऽत्यन्तसमानानामात्मनां देहभोगादिवैषम्यसिद्ध्यर्थमुक्तं तत्तत्कर्मेति। देहैर्बन्धनिवृत्तय इति, देहैर्यो बन्धस्तस्य निवृत्तय इत्यर्थः। यद्वा देहैः कर्म कुर्वतामित्यन्वयः। तदा तु बन्धका एव देहा मोक्षसाधनौपयिकाः सम्भवन्तीति अवधारणाभिप्रायः। शास्त्रीयमिति। अन्यथेश्वरशासनातिलङ्घनाद्दण्ड एव स्यादिति भावः। स्ववर्णोचितमिति, न तु त्वया युद्धादिकं परित्यज्य भैक्षं चर्तुं श्रेय इति भावः। अमृतत्वहेतुत्वायोक्तं अनभिसंहितेति। प्रतिकूलस्वभावस्य कथं कर्तव्यत्वमिति शङ्कानिवर्तकतुशब्दद्योतितमवर्जनीयत्वं तितिक्षितव्यत्वे हेतुः, इत्येतावदत्र कर्तव्यमित्यन्वयः ॥ १३ ॥

५ आ. म. भा.— देहिनो भावे एतद्भवति, तदेवासिद्धमिति चेत्, न; देहिनोऽस्मिन्। यथा कौमारादिशरीरभेदेऽपि देही तदीक्षिता सिद्धः, एवं देहान्तरप्राप्तावपि, ईक्षितृत्वात्। न हि जडस्य शरीरस्य कौमाराद्यनुभवः सम्भवति, मृतस्यादर्शनात्। मृतस्य वाय्वाद्यपगमादनुभवाभावः। 'अहं मनुष्यः' इत्याद्यनुभवाच्चैतत्सिद्धमिति चेत्, नः सत्येवाविशेषे देहे सुप्त्यादौ ज्ञानादिविशेषादर्शनात्।

६ ज. प्र. दी.— ननु चात्र किं परिदृश्यमानदेहपक्षीकारेणानुमीयते ? किंवा तदतिरिक्तदेहिपक्षीकारेण ?। नाद्यः, देहोत्पत्तिनाशयोः प्रत्यक्षसिद्धत्वेन हेतोः स्वरूपासिद्धत्वात्कालात्ययापदिष्टत्वाच्चेति स्फुटत्वान्नोक्तम्। द्वितीये दोषमाह— देहिन

इति । देहिनो देहवतो देहातिरिक्तस्यात्मनो भावे सद्भावे एतन्नित्यत्वानुमानं सम्भवति, देहपक्षोक्तदोषाभावात्; किन्तु देहातिरिक्तात्मसत्त्वमेवासिद्धम्, प्रमाणाभावात् । ततश्चाश्रयासिद्धिरिति । अस्तु वा देहातिरिक्तात्मसत्त्वं, तथापि नानुमानं सम्भवतीत्याह—**देहिन** इति । देहिन इत्येकवचनमतंत्रम् । पूर्वोत्तरदेहेष्वेक एवात्मेत्यस्यार्थस्य भावे एतदनुमानं सम्भवति, स्वरूपसिद्ध्याद्यभावात् । किं नाम तत्पूर्वोत्तरदेहेष्वात्मैक्यमेवासिद्धं ? प्रमाणाभावात् । तथाच देहोत्पत्तावुत्पत्तिमतस्तद्विनाशे च विनाशवतः कथमनादित्वेन नित्यत्वं साध्यते ? इति । उभयस्यापि परिहारदर्शनादेवं योज्यम्– अर्थद्वयानुगुण्यायैव बहुवचने प्रकृतेऽप्येकवचनम्, तथा भाव इति पुँल्लिङ्गे प्रकृतेऽपि तदेवेति सामान्यग्रहणाय नपुंसकनिर्देशः । नेत्याहेति शेषः । देहिनोऽस्मिन्नित्यतःपरमितिशब्दश्च । आक्षेपद्वयपरिहाराय पादत्रयं व्याख्याति—**यथेति** । अत्र देहीति तदीक्षिता सिद्ध इति देहातिरिक्तात्मसाधनं तद्दिति कौमारादिपरामर्शः । याजकादित्वात्समासः । द्वितीयान्तस्य तृजन्तेन वा समासः । अस्ति तावत्कौमारादिविषयमीक्षणम् । न चेक्षणमीक्षितारं विना सम्भवति । स च वक्ष्यमाणात् परिशेषप्रमाणाद्देही देहातिरिक्तः सिद्ध इति । अत्र कौमारादिग्रहणमतन्त्रम्, ज्ञानमात्रेण ज्ञातुः सिद्धेः । देहशब्दश्चेन्द्रियादिसहितशरीरवृत्तिः, श्लोके च कौमारं यौवनं जरेति विषयेण विषयीक्षणमुपलक्ष्यते, तद्देहिनो देहातिरिक्तस्येत्युक्तं भवति । यथेत्यादि समस्तं वाक्यं श्लोके च पादत्रयं देहभेदेऽप्यात्मैकत्वे साधनम् । कौमारादिमच्छरीरभेद इत्यर्थः । देही एक एवेत्यर्थः । **तदीक्षितेति** । योऽहं कुमारशरीरवानभूवं, स इदानीं युवशरीरवान्वर्त इत्यादिप्रत्यभिज्ञातेत्यर्थः । देहान्तरप्राप्तावपीति अनेकदेहप्राप्तावपीत्यर्थः । एक एव देही सिद्ध इति वर्तते । ईक्षितृत्वादिति प्रत्यग्रजातस्य शिशोः आहाराद्यभिलाषेण पूर्वदेहानुसन्धानसिद्धेरित्याशयः । एवमात्मनो देहातिरिक्तत्वं देहभेदेप्येकत्वं च प्रसाध्य 'धीरस्तत्र न मुह्यति' इत्युच्यते तस्य वैयर्थ्यमित्याशङ्क्य येऽस्मिन्विषयेऽन्येऽपि मोहास्ते धीरेण स्वयं निराकार्या इत्येवमर्थत्वान्न वैयर्थ्यमित्याशयवान् तत्प्रदर्शनार्थमुत्तरं प्रकरणमारभते । तत्रेक्षणेन कथं देहातिरिक्तात्मसिद्धिः ? ईक्षिता हि तेन सिध्यति । स च शरीरप्राणजठरानलेन्द्रियमनोविषयसन्निधौ ईक्षणदर्शनात्तेषामन्यतमः किं न स्यात् ? इत्यतः शरीरस्य तावदीक्षणं निषेधति—**न हीति** । अत्रापि कौमारादीत्यतन्त्रम् । शरीरस्यानुभवो न सम्भवतीति प्रतिज्ञा । **जडस्य शरीरस्ये**ति हेतुद्वयम् । मृतस्यादर्शनादिति दृष्टान्तोक्तिः । जडत्वं च भौतिकत्वं विवक्षितमिति न साध्याविशिष्टता । अप्रयोजकत्वाभिप्रायेण शङ्कते— **मृतस्येति** । जीवच्छरीरमृतशरीरयोर्भौतिकत्वे शरीरत्वे च समानेऽपि मा भून्मृतशरीरस्येक्षणम्, प्राणादिवायूनां जाठरानलस्येन्द्रियाणां चापगमात् । जीवतस्तु प्राणादिसन्निधानाद्भविष्यतीति । को विरोधः ? मा हि भूदेकधर्मोपपन्नानामवान्तरकारणवैचित्र्यात् वैचित्र्याभावः । न केवलमिदमाशङ्कते, किन्तु अहं मनुष्य इत्याद्यनुभवादेतद्देहस्येक्षितृत्वं सिद्धं प्रमितं चेत्यर्थः । दूषयति— **नेति** । न प्राणादिसन्निधानं शरीरस्येक्षितृत्वे प्रयोजकं वाच्यम्, सुप्तिमूर्छयोः शरीरे प्राणाद्यपगमलक्षणरहिते सत्येव ज्ञानादीनां धर्माणामदर्शनात् । ज्ञानग्रहणमुपलक्षणम् । सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नैरप्यात्मा साध्य इति सूचयितुमादिपदम् । मृतादौ ज्ञानाद्यभावश्च तत्कार्यादर्शनात्सिद्ध इति दर्शयितुं **ज्ञानादिविशेषे**त्युक्तम् । ज्ञानादीनां विशेषः कार्यमिति । एतेन सङ्घातचैतन्यपक्षः प्राणादिचैतन्यपक्षश्च पराकृतो वेदितव्यः ।

**५ आ. भा. भा.— समश्चाभिमानो मनसि काष्ठादिवच्च । श्रुतेश्च । प्रामाण्यं च प्रत्यक्षादिवत् । न च बौद्धादिवत्, अपौरुषेयत्वात् । न ह्यपौरुषेये पौरुषेयाज्ञानादयः कल्पयितुं शक्याः । विना च कस्यचिद्वाक्यस्यापौरुषेयत्वं, न सर्वसमयाभिमतधर्मादिसिद्धिः ।**

**६ ज. प्र. दी.**— मनस ईक्षितृत्वमतिदेशेन निराचष्टे—**समश्चेति** । मनोविषय ईक्षितृत्वाभिमानश्च पूर्वेण समः, सुप्त्यादौ सत्यपि मनसि ज्ञानादर्शनात् । एवं तर्ह्यात्मापि ज्ञाता न स्यादिति चेत्, न; तदा तस्य मनसा सन्निकर्षाभावात् । मनसोऽपि तथाऽस्त्विति चेत्, सिद्धस्तावदात्मा । मनसो ज्ञातृत्वे दोषान्तरमाह— **काष्ठादिवच्चेति** । मनो न ज्ञातृ, ज्ञानकरणत्वात् । यद्यस्यां क्रियायां करणं, न तत्तत्र कर्तृ; यथा पाके काष्ठानि, छिदायां कुठारो वा । न चासिद्धो हेतुः, मनसा जानामीत्यनुभवात् । एतेनात्ममनस्सन्निकर्षेण मनो ज्ञात्रिति निरस्तम् । ननु जन्यज्ञानं मनोनिष्ठमिति सिद्धान्तः, तत्कथमेतत् ? नैवम्; मनोनिष्ठस्यापि ज्ञानस्य न मनः कर्तृ, किन्तु आत्मैव; यथाऽवयवविक्लेदलक्षणस्य पाकस्य न तण्डुलाः कर्तारः, किन्तु देवदत्त इति । एतेनेन्द्रियचैतन्यपक्षोऽपि निरस्तः, चक्षुषा पश्यामीत्यादौ तेषामपि करणत्वप्रतीतेरिति । अतीतादिज्ञानदर्शनाद्विषयचैतन्यपक्षः स्फुटदूषण इति न निराकृतः । एवं परिशेषप्रमाणेन देहातिरिक्तात्मा सिद्धः, तस्य स्वभावादेवाहाराद्यभिलाषोपपत्तेः, प्रत्यभिज्ञानमसिद्धमिति वदन्तं प्रति आत्मनित्यत्वे प्रमाणान्तरं चाह—**श्रुतेश्चेति** । "अस्माच्छरीरभेदादूर्ध्वमुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके" [ ऐ. उ. ४।६ ] इत्यादिश्रुतेश्च देहातिरिक्तो नित्य आत्मा सिद्धः । अत एव न स्वभाववादानवकाश इति । ननु बौद्धचार्वाकादीन् प्रति देहातिरिक्तनित्यात्मसाधनमिदम्, न च ते श्रुतेः प्रामाण्यमङ्गीकुर्वते, तत्कथं श्रुत्युदाहरणमित्यत आह—**प्रामाण्यं चेति** । बौद्धेन तावत्प्रत्यक्षानुमानयोश्चार्वाकेण च प्रत्यक्षस्य प्रामाण्यमङ्गीकृतम्, तत्कुतः ? इति वक्तव्यम् । बोधकत्वेनेति चेत्तर्हि तद्वच्छ्रुतेरप्यङ्गीक्रियताम् । ननु वाक्यत्वे समेऽपि केषाञ्चिद्बौद्धादिवाक्यानामप्रामाण्यदर्शनाच्छ्रुतेरपि तदाशङ्क्यत इत्यत आह— **नचेति** । बुद्धस्येदं बौद्धम्, चार्वाको बौद्धमुदाहरति, बौद्धस्त्वन्यदिति द्रष्टव्यम् । अप्रामाण्यं श्रुतेः शङ्कनीयमिति शेषः । तथा सति इन्द्रियलिङ्गयोरपि क्वचिदप्रामाण्यदर्शनात्, सम्प्रतिपन्नयोरपि प्रत्यक्षानुमानयोस्तच्छङ्काप्रसङ्गादिति

भावः । प्रसक्ताऽपि शङ्का तत्र निर्दोषत्वेनापनीयत इति चेत्समं प्रकृतेऽपीत्याह—**अपौरुषेयत्वा**दिति। अपौरुषेयत्वेऽपि दोषित्वं किं न स्यादित्यत आह— **नहीति**। सामान्योक्तित्वादपौरुषेये इति नपुंसकत्वोक्तिः। अन्यथा श्रुतेः प्रकृतत्वात्स्त्री लिङ्गं स्यात् । शब्दे ह्यबोधकत्वादयो दोषाः, ते च वक्तृपुरुषाश्रिताज्ञानादिमूलाः । यस्य तु वक्ता पुरुष एव नास्ति, तत्र कथं वक्तृपुरुषाश्रिताज्ञानादयो दोषमूलत्वेन कल्पयितुं शक्याः ? व्याहतेरिति। अत्राज्ञानादीनां पौरुषेयत्वोक्तिरुपचारात्, पुरुषशब्दात्तत्कृतवाक्यादिष्वेव ढञः स्मरणात्। ननु श्रुतेरपौरुषेयत्वमेव नास्ति, वाक्यत्वात् । लौकिकवाक्यवदिति चेत्, किमेवं वदतः किमपि वाक्यमपौरुषेयं नास्तीति मतम् ? उत किञ्चिदस्तीति ? । आद्ये दोषमाह— **विनेति** । कस्यचिद्वाक्यस्यापौरुषेयत्वाभावे धर्माधर्मयोरनिश्चयः प्रसज्येत, निश्चायकप्रमाणाभावात् । नच तथाऽस्त्विति वक्तुं शक्यम्; तत्सद्भावस्य सर्वैः समयिभिर्निश्चितत्वादिति ।

**५ आ. मा. भा.— यश्च तौ नाङ्गीकुरुते, नासौ समयी; अप्रयोजकत्वात् । मास्तु धर्मो निरूप्यत्वादिति चेत्, न; सर्वाभिमतस्य प्रमाणं विना निषेद्धुमशक्यत्वात् । न च सिद्धिरप्रमाणकस्येति चेत्, न; सर्वाभिमतेरेव प्रमाणत्वात्, अन्यथा सर्ववाचनिकव्यवहारासिद्धेश्च ।**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी यश्चार्वाको धर्माधर्मौ नाङ्गीकुरुते, तस्य नेदमनिष्टम्; किमप्यपौरुषेयं वाक्यं अनङ्गीकृत्य वेदापौरुषेयत्वं प्रत्याचक्षाणान्सर्वान्प्रति चायं प्रसङ्ग इत्यतस्तेनापि धर्मादिकमङ्गीकार्यमेतं प्रसङ्गं वक्ष्याम इत्याशयेनाह— **यश्चेति** ।तौ धर्माधर्मौ इति प्रसज्येत इति शेषः। धर्माद्यनङ्गीकारे कुतस्तच्छास्त्रस्याशास्त्रत्वप्रसङ्गो येनासौ शास्त्री न स्यादित्यत आह— **अप्रयोजकत्वा**दिति । प्रयुज्यते प्रवर्त्यते प्रणेता प्रणयने श्रोता च श्रवणे शास्त्रे याभ्यां ते प्रयोजके विषयप्रयोजने, अविद्यमाने प्रयोजके यस्य शास्त्रस्य तत्तथा । अनन्यलभ्यं कमपि पुरुषार्थमधिकृत्य तत्साधनं तथाविधमर्थं प्रतिपादयन्वाक्यसमूहो हि शास्त्रम् , अन्यथाऽतिप्रसङ्गात्; न चातीन्द्रियस्याभावेऽन्यत्तथाभूतं शक्यनिरूपणम्। अतः शास्त्रत्वसिद्धये विषयादित्वेन धर्मादिकं किमप्यङ्गीकार्यमिति भावः। शङ्कते— **मास्त्विति** । मायं नमाङ् । अस्त्वित्यव्ययम् । धर्म इत्युपलक्षणम्, अनिरूप्यत्वात् तत्प्रमाणाभावेन प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। इदमुक्तं भवति— **विषयप्रयोजने** हि ते भवतः, ये प्रमाणेन प्रतिपादयितुं शक्येते, वाङ्मात्रस्य श्रोतृभिरनादरणात् । नच धर्मादिकं प्रमाणेन प्रतिपादयितुं शक्यम्, प्रत्यक्षागोचरत्वात्, अनुमानादेश्च प्रामाण्याभावात्। अतो न शास्त्रस्य विषयत्वादिना धर्मादिकमङ्गीकर्तुमुचितम् । न चैतावता निर्विषयत्वाद्यापत्तिः, यतो धर्माद्यभावो विषयो भविष्यति । प्रयोजनं च श्रोतॄणां धर्माद्यनुष्ठानप्रसक्तक्लेशनिवृत्तिः, धर्मादिसद्भावभ्रमोपरुद्धविषयसुखावाप्तिश्च, प्रणेतुश्च लोकोपकारः, उपकर्तारं च प्रत्युपकुर्वन्ति लोका इति निराकरोति— **नेति** । एवं वदता धर्माद्यभावोऽपि न शास्त्रविषयत्वेन शक्यते वक्तुम् , सर्वाभिमतस्य धर्मादेः प्रमाणं विना वाङ्मात्रेण निषेद्धुं नास्तीति प्रतिपादयितुमशक्यत्वात्। घटाद्यभाव इव प्रत्यक्षेणैव धर्माद्यभावो निश्चेष्यत इति चेत्, स्यादेवम्; यद्यत्र न काचिद्विप्रतिपत्तिः । यत्र त्वस्तित्वाभिमानस्तत्र पिशाचादाविव प्रत्यक्षानुपलम्भः सन्देहहेतुरेव भवति इति । तदिदमुक्तं **सर्वाभिमतस्येति** । पुनः शङ्कते— **नचेति** । मा भूद्धर्माद्यभावस्य विषयत्वं, तत्साधकप्रमाणाभावात्; तथापि धर्मादेर्विषयत्वादिकं न घटते; अप्रामाणिकस्य प्रमित्यनुपपत्त्या साधयितुमशक्यत्वादिति निराकरोति— **नेति**। अस्ति तावद्धर्मादिविषये सर्वेषामाविपालगोपालमस्तित्वाभिमानः । अभिमानो ज्ञानमेव। न च तस्य बाधकं किञ्चित् , धर्माद्यभावप्रतिपादकप्रमाणाभावस्योक्तत्वात्। अतः सर्वाभिमतेरेव धर्मादौ प्रमाणत्वात्, तत्करणस्य च प्रमाणत्वात्, धर्मादेः प्रामाणिकत्वसिद्धौ किमनया व्यर्थचिन्तया ? । नच तत्र प्रमाणविशेषोऽशक्यनिरूपणः, आगमस्य तत्सहकारिणोऽनुमानस्य च सत्वात्। अत एव नान्धपरम्पराऽपि। आगमादेः प्रामाण्यं नास्तीति उक्तमित्यत आह— **अन्यथेति** । यदाऽऽगमस्यानुमानस्य च न प्रामाण्यं तदा सर्वस्य वाचा निर्वर्त्यस्य व्यवहारस्यासिद्धिः स्यात्। परप्रत्ययनार्थो हि वाग्व्यवहारः, स यदि न परं प्रत्याययेत् व्यर्थो न क्रियेतैवेति। चशब्दः प्रमाणसामान्यसिद्ध्या तद्विशेषसिद्धेः समुच्चये।

**५ आ. मा. भा.—न च मया श्रुतमिति तव ज्ञातुं शक्यम्, अन्यथा वा प्रत्युत्तरं स्यात्, भ्रान्तिर्वा तव स्यात्, सर्वदुःखकारणत्वं वा स्यात्, एको वाऽन्यथा स्यात्। रचितत्वे च धर्मप्रमाणस्य कर्तुरज्ञानादिदोषशङ्का स्यात् । न चादोषत्वं स्ववाक्येनैव सिद्ध्यति। न च येनकेनचिदपौरुषेयमित्युक्तमुक्तवाक्यसमम्, अनादिकालपरिग्रहसिद्धत्वात्।**

**६ ज. प्र. दी.**— भवत्वागमप्रामाण्ये वाचनिकव्यवहारासिद्धिः, अनुमानप्रामाण्ये तु कथमित्यत आह— **नचेति** । त्वदीयं वाक्यं मया श्रूयते इति ज्ञात्वा मां प्रति त्वया वाग्व्यवहारः क्रियते ? अन्यथा वा ? । द्वितीये निष्फलो न कर्तव्यः स्यात्। नाद्यः— परचित्तवृत्तीनां परस्याप्रत्यक्षत्वेन मया श्रुतमिति तव ज्ञातुमशक्यत्वात्। मदीयं प्रत्युत्तरमेव तज्ज्ञानोपाय इत्येव वक्तव्यमिति भावः। अस्त्वेवमित्यत आह— **अन्यथा वेति** । वाशब्दोऽवधारणे । प्रत्युत्तरं हि लिङ्गतया ज्ञापकम् , नच तव मतेऽनुमानं प्रमाणम् । अतः प्रत्युत्तरमन्यथैवाज्ञापकमेव स्यादिति । ननु लिङ्गशब्दयोः प्रामाण्यमेव नाङ्गीक्रियते, ज्ञापकत्वमात्रमङ्गीक्रियत एव। अतः कथं वाचनिकव्यवहारसिद्धिरित्यत आह— **भ्रान्तिर्वेति** ।

ज्ञापकत्वमङ्गीकृत्य प्रामाण्यानङ्गीकारे शब्दलिङ्गाभ्यां जायमानः प्रत्ययस्तव मतेभ्रान्तिर्वा स्यात्संशयो वा, गत्यन्तराभावात्। न च परस्य भ्रान्त्याद्यर्थं वचनप्रयोगः, नापि प्रत्युत्तरेण भ्रान्तः सन्दिग्धो वा वाक्यं प्रयुङ्क्त इति युक्तम्; अतो वाचनिकव्यवहार-सिद्ध्यर्थमागमानुमानप्रामाण्यमङ्गीकार्यमिति। एवं चार्वाकशास्त्रस्य विषयं निराकृत्य प्रयोजनमपि निराकुर्वन् श्रोतृप्रयोजनं तावन्नि-राचष्टे— **सर्वे**ति । यथा शास्त्रस्य सर्वेषां श्रोतॄणां सुख-कारणत्वम्, यथा धर्माद्यभावज्ञाने सर्वमर्यादातिक्रमे परस्पर-हिंसादिना सर्वदुःखकारणत्वं च स्यात्, तथा च समव्ययफलं निष्प्रयोजनमेवेति । इदानीं शास्त्रप्रणेतृप्रयोजनं निराकरोति— **एको वे**ति । धर्मादिज्ञानशून्याः पशुप्राया नोपकारिणमुप-कुर्वन्ति; अपितु सर्वेऽप्यपकर्तुमलम्। तदभावेऽप्येको वाऽन्यथा-ऽपकारकः स्यादिति भावः । तदेवं धर्माद्यनङ्गीकारे शास्त्रस्य विषयाद्यभावेनाशास्त्रत्वप्रसङ्गात्सर्वैर्धर्मादिकमङ्गीकार्यमिति । ननु स्वीकृतं धर्मादिकं पौरुषेयवाक्यात्तन्निश्चय इत्यत आह— **रचि-तत्वे** चेति । ततश्च न धर्मादिनिश्चय इति भावः । निर्दोषत्वेन प्रमितोऽसाविति चेत्, तस्य निर्दोषत्वं किं तद्वाक्यात्सिद्धं? प्रमा-णान्तरेण वा?। न द्वितीयः, तदभावात्। आद्यं दूषयति—**नचे**ति, अतिप्रसङ्गादिति भावः । न च प्रत्यक्षादिना धर्मादिसिद्धिः। अतः सर्वैः किमप्यपौरुषेयं वाक्यमङ्गीकार्यम्। अङ्गीकृतं च बौद्धा-दिभिः स्वसमयापौरुषेयत्वम्, शौद्धोदनिप्रभृतयः सम्प्रदायप्रव-र्तकाः इत्युक्तत्वात्। ततः किमिति चेद्वाक्यत्वहेतोस्तत्रानैकान्त्य-मिति । अस्त्वेवमनुमानस्यान्यतरानैकान्त्याच्छ्रुतेरपौरुषेयत्वे बाधकाभावः । तत्साधकं तु किमिति चेत्कर्तुरप्रसिद्धिरपौरुषे-यत्वप्रसिद्धिश्चेति ब्रूमः। एवं तर्हि गूढकर्तृकस्य कृतापौरुषेयत्व-प्रसिद्धिकस्याप्यपौरुषेयत्वप्रसङ्ग इत्यत आह— **न चे**ति। केन-चित्कृतमिति शेषः। **उक्तवाक्यसमं** वेदवदपौरुषेयमित्यर्थः। अनादिकाले यः परिग्रहः प्राक्तनमेवैतदिति ज्ञानं तेन विषयी-कृतत्वाच्छ्रुतेः, इतरस्य तदभावादपौरुषेयत्वप्रसिद्धिरेव तत्र भग्नेति भावः ।

**५ आ. मा. भा.— अतः प्रामाण्यं श्रुतेः । अतः कुतर्कैर्धीरस्तत्र न मुह्यति । अथवा जीवनाशं देहनाशं वा अपेक्ष्य शोकः । न जीवनाशं, नित्यत्वादित्याह— न त्वेवेति । नापि देहनाशमित्याह— देहिन इति । यथा कौमारादिदेहहानेन जरादिप्राप्तावशोकः, एवं जीर्णादिदेहहानेन देहान्तर-प्राप्तावपि ॥ १३ ॥**

६ **ज. प्र. दी.**— अपौरुषेयत्वसिद्धौ सिद्धमर्थमुप-संहरति— **अत** इति । एवं चतुर्थपादोपयुक्तं प्रमेयमुक्त्वा तमिदानीं निवेशयति— **अत** इति। यत एवं नैरात्म्यवादि-भिरुत्प्रेक्षिताः कुतर्काः, अतस्तैः कुतर्कैर्धीरो धीमांस्तत्र देहा-तिरिक्तनित्यात्मसद्भावविषये न मोहमापद्यते। 'नरके नियतं वासः' [ १।४४ ] इत्याद्यर्जुनवचनेन तस्य नित्यात्मप्रति-पत्तिसिद्धेः प्रथमपुरुषप्रयोगः। अनेकार्था गीतेति दर्शयितुं श्लोक-द्वयं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे— **अथवे**ति । न जीवनाशमपेक्ष्य शोकः कार्य इति शेषः। नित्यत्वाज्जीवस्य । अनेन योजनापूर्वव-देवेति ज्ञापयति। नापीत्यत्रापि पूर्ववच्छेषः । अत्र पूर्वयोजना न सङ्गच्छते, अतोऽन्यथापादत्रयं व्याख्याति— **यथे**ति । जरादि-प्राप्तौ देहान्तरप्राप्ताविति निमित्तसप्तम्यौ, ततश्चायमर्थः। कौमारा-द्यवस्थाविशिष्टदेहहाने तावन्नास्ति शोक इति प्रसिद्धम्; तत्कस्य हेतोः? इति वाच्यम्; जरादिविशिष्टदेहान्तरलाभात्। समानलाभेन हानिर्हि समाधीयत इति चेत्, तर्हि मरणेऽपि शोको न कार्यः; देहान्तरस्य लाभादेव। यदा तु जीर्णलाभेन समीचीनहानेः प्रति-विधानं, तदा तु सुतरां समीचीनलाभेन जीर्णहानेरिति । तत्रा-वस्थामात्रहानिः, अत्र त्ववस्थावतोऽपीत्येतदनुपयुक्तं वैषम्यं, निष्कप्रदानेन पटग्रहणदर्शनादिति भावनोक्तं **धीर** इति॥१३॥

**७ ह. पै. भा.— अत्रोचितं दृष्टान्तमाह— देहिनो देहवतोऽस्मिन्वर्तमाने देहे यथा कौमारं कुमारभावः, यौवनं यूनो भावः, जरा वृद्धत्वं, तथा तद्वद्देहान्तरप्राप्तिः। धीरो धीमांस्तत्र न मुह्यति न मोहं गच्छति। यथाऽस्मिन्देहे कौमारयौवनजरासु आत्मनोऽभेद एव, भिन्नाः शरीरावस्थाः, एवं शरीरान्तराणीत्यर्थः ॥ १३ ॥**

८ **वें. ब्र. गि.**— एवमात्मनो नित्यत्वेन मरणाभावादशो-च्यत्वमिति स्थितम् । नन्विदमनुपपन्नम्, देवदत्तो जातो मृत इत्यनुभवेनात्मनोऽपि जन्ममरणसत्त्वादित्याशङ्क्य, देहस्यैव ते जन्ममरणे, न त्वात्मन इति सदृष्टान्तमुपपादयति— **देहिनो** जीवस्य यथा अस्मिन्देहे कौमारं यौवनं जरेति विलक्षणावस्था भवन्ति, तथा एतस्माद्देहाद्देहान्तरप्राप्तिरूपाऽपि काचिदात्मनोऽवस्था भवति । यथा च तत्र देहधर्मभूता अपि कौमाराद्यवस्था देहैक्याध्यासादात्मनि प्रतीयन्ते देव-दत्तः कुमारो युवा जीर्ण इति, न तु वस्तुतस्तद्धर्माः; तथैव देहधर्मभूतावुत्पत्तिविनाशावपि तदैक्याध्यासादात्मनि प्रती-येते देवदत्तो जातो मृत इति, न वस्तुतस्तद्धर्मौ । यथा वा तत्र कौमारावस्थां विहाय यौवनावस्थाप्राप्तौ आत्मा नष्टो जात इति न मोहः, तथैतद्देहं विहाय देहान्तरप्राप्त्यवस्था-यामपि नात्मनो नाशोत्पत्तिमोहः सम्भवतीत्यर्थः ।

ननु विषमो दृष्टान्तः, कौमाराद्यवस्थासु पूर्वावस्थाना-शेन अवस्थान्तरोत्पत्तावपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानेन अवस्थाद्वयानुगतात्मैक्यसम्प्रतिपत्त्या तत्रात्मनो जन्मनाशा-भावनिश्चयसम्भवेऽपि देहाद्देहान्तरप्राप्त्यवस्थायां 'स एवाहं' इति प्रत्यभिज्ञानाभावेन देहनाशतदुत्पत्त्यवस्थाद्वयानुगता-त्मैक्यासिद्ध्या तदयोगादित्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञानाभावेऽपि

श्रुत्या तत्सिद्धिसम्भवान्न दोषः; श्रुत्येकसमधिगम्यात्मतत्त्वे लौकिकप्रत्यभिज्ञानाभावस्याकिञ्चित्करत्वादित्यभिप्रेत्याह — **धीरस्तत्र न मुह्यतीति** । "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [कठो. २।१८] "जीवापेतं वाव शरीरं म्रियते न जीवो म्रियते" [छां. उ. ६।११।३] इत्यादिश्रुतिवाक्यैरधिगतात्मतत्त्वः पण्डितो धीरः "मत्वा धीरो न शोचति" [कठो. ४।४] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः; स च धीरः तत्र देहनाशोत्पत्त्योः न मुह्यति, आत्मैव मृतो जातश्चेति न मोहमापद्यत इत्यर्थः । स्यादेतत् । देहात्मैक्याध्यास एवासिद्धः, येन कौमारस्येव नाशस्यापि देहधर्मस्यैव तदैक्याध्यासादात्मनि प्रतीतिरुच्येत । प्रत्यक्षेणैव हि देहात्मनोर्भेदः प्रतीयते, 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामि' इति बालस्थविरदेहभेदधीपूर्वकमात्मैक्यप्रत्यभिज्ञादर्शनेन व्यावृत्ताभ्यां कौमारजरादेहाभ्यां आत्मनोऽनुवर्तमानस्य प्रत्यक्षेणैव भेदग्रहणात्; न हि प्रत्यक्षसिद्धभेदयोरैक्याध्यासोऽस्ति, 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादावप्यध्यासप्रसङ्गादित्याशङ्क्याह— **अस्मिन्देहे** इति । 'यदेव मम कौमारे शरीरमतिकोमलं तदेवेदानीं जरायामतिजर्जरं' इति प्रत्यभिज्ञादर्शनेन योऽहं बाल्य इति त्वदुक्तप्रत्यभिज्ञानस्य कौमारजरावस्थामात्रभेदावगाहितया बालस्थविरदेहभेदस्यैवासत्त्वान्न देहात्मैक्याध्यासानुपपत्तिशङ्कावकाश इत्यर्थः । न च परिमाणभेदाद्द्रव्यभेद इति बालस्थविरदेहभेदः स्यादेवेति वाच्यम्; एकस्मिन्नेव देहे कण्ठोदरादिदेशभेद इव कालभेदेन परिमाणभेदोपपत्तेस्तदप्रयोजकत्वात् ।

यत्त्वारम्भवादिभिरुच्यते— 'अवयवापचयोपचयौ विना न परिमाणभेदः । तत्रावयवापचये समवायिकारणनाशात्पूर्वावयविनाशे सति, स्थितावयवैरवयव्यन्तरोत्पत्तिः । अवयवोपचये तु पश्चादापततामवयवानां पूर्वसिद्धावयविनि कारणत्वायोगेन पूर्वसिद्धावयवसहितैस्तैर्महावयव्यन्तरोत्पत्तिरिति परिमाणभेदे द्रव्यभेद आवश्यकः' इति । तन्न; पटत्वाद्यवच्छेदेन क्लृप्ततुर्यादिहेतुं विना तदुत्पत्त्यसम्भवेन अवयवनाशस्थले द्रव्यान्तरोत्पत्तिकल्पनानुपपत्तेः । न च महापटत्वावच्छेदेनैव तद्धेतुत्वम्, गौरवात्, महापटोत्पत्तेः पूर्वमपि द्वितन्तुकादिखण्डपटसम्भवेन तत्रापि तदहेतुत्वप्रसङ्गाच्च, खण्डपटस्यापि स्वन्यूनपटापेक्षया महत्त्वाच्च । महापटशब्देन तुर्यादिजन्यपटस्य तदन्यखण्डपटान्यस्य चोक्तौ अद्यापि तदसिद्ध्याऽन्योन्याश्रयात् । एतेन पटध्वंसाजन्यपटत्वावच्छेदेन तुर्यादिहेतुत्वमित्यपि निरस्तम् । वस्तुतस्तु दीपारोपणसमकालसौधोदरव्यापिप्रभाविकासतदाच्छादनसमकालतत्सङ्कोचाद्यननुसारिपरमाणुप्रक्रिययाऽऽरम्भवादोऽनुपपन्नः । विवर्तवादे तु ऐन्द्रजालिकप्रदर्शितदेहवदवयवापचयोपचयौ विना माययैव देहवृद्धिः सम्भवतीत्यास्तां तावत् । विस्तरेण चास्माभिः **अद्वैतवज्रपञ्जरे**ऽयमर्थः प्रसाधितस्तत्रैवानुसन्धेयः । एतेन 'कौमारादिदेहभेदेऽपि स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानाद्देहातिरिक्तात्मप्रतिपादनपरोऽयं श्लोकः' इति **माध्वव्याख्यानं** निरस्तम्; अस्मिन्देहे कौमारं यौवनं जरेति वदता कौमाराद्यवस्थाभेदमात्रं, देहस्त्वेक एवेति कण्ठत एवोक्तत्वेन तथा व्याख्यानस्य मूलविरुद्धत्वात् ।

न च केवलदेहस्यैकत्वेऽपि कौमारादिविशिष्टत्वेन भेदो न विरुद्ध इति वाच्यम्; आत्मन्यपि तथा भेदस्य सुवचत्वेन ततो देहात्मवादनिरासासिद्धेः । अत एव 'योऽहं कुमारदेहवानासं सोऽहमिदानीं युवदेहोऽस्मि' इति प्रत्यभिज्ञानाद्देहभेद इत्यपि निरस्तम्, 'योऽहं कुमार आसं सोऽहं युवास्मि' इति प्रत्यभिज्ञानादात्मभेदस्यापि प्रसङ्गात् । तत्र कौमारयौवनयोर्भेदः, नात्मनः, स एवाहमिति प्रत्यभिज्ञानादिति चेत्, समं; अत्रापि स एवायं देह इति प्रत्यभिज्ञानात् । तस्मात् "न जायते म्रियते" [कठो. २।१८] इत्यत्रैव देहात्मवादनिरासः । अत्र त्वात्मनित्यत्वप्रतिपादनमिति **शाङ्करभाष्यार्थ** एव युक्तः ।

'देहिनो यथाऽस्मिन्स्थूलदेहे कौमारादिकं तद्देहनिबन्धनमेव, न तु स्वतः; तथैतद्देहनाशे देहान्तरप्राप्तिरपि लिङ्गशरीरनिबन्धना, न तु स्वतः' इति प्राचां व्याख्याने तु उक्तरीत्या यथाश्रुतेनैव निर्वाहे लिङ्गशरीरनिबन्धनेत्यध्याहारश्चिन्त्यः ।

'देहिन एकस्यैव यथा कौमाराद्यवस्थोत्पत्तिनाशयोर्न भेदः, नित्यत्वात्; तथैकस्यैव युगपत्सर्वदेहान्तरप्राप्तिरपि विभुत्वात्, तथा च सर्वदेहेष्वेक एवात्मेति स्थिते वध्यघातकभेदकल्पनया त्वमधीरत्वान्मुह्यसि, धीरस्तु विद्वान्न मुह्यति' इति **मधुसूदनसरस्वती**व्याख्याने युगपत्सर्वदेहेत्याद्यशब्दार्थकल्पनं विभुत्वादिति हेत्वध्याहारक्लेशश्चेति यथोक्त एवार्थः ॥ १३ ॥

**९ ब०त०दी०— एवमात्मनामशोच्यतामनुत्पत्त्योपपाद्य देहात्मादीनामशोच्यतामाह— देहिन इति । लौकिकनिदर्शनेन यथाऽस्मिन्स्थूलदेहे कौमाराद्यवस्थाप्राप्तिस्तथा देहान्तरप्राप्तिरात्मनां नियतेति धीरो न मुह्यति न तत्र शोचति ॥ १३ ॥**

१० **पु. अ. त.**— ननु वयमेकत्रैव भविष्याम इति सत्यं, परन्तु पुनरलौकिको देह एतादृश एव भविष्यति न वेति सन्देहात् शोचामीत्याकाङ्क्षायामाह— **देहिन इति** । देहिनो जीवस्य यथाऽस्मिन्देहे कौमारं यौवनं जरा अवस्थात्रयं भवति कालेन, तथा भगवदिच्छया भगवदीयस्य देहान्तरप्राप्तिरलौकिकद्वितीयदेहप्राप्तिर्भवतीत्यर्थः । धीरो भक्तस्तत्र देहप्राप्त्यर्थं न मुह्यति, मोहं न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

**११ नी०भा०दी०— यद्यप्येवं तथापीष्टदेहवियोगजः शोको भवत्येवेत्याशङ्क्याह— देहिन इति । देहौ स्थूलसूक्ष्मौ विद्येते अस्य स देही चिदात्मा, तस्य यथाऽस्मिन् स्थूलशरीरे कौमाराद्यवस्थासु देहभेदेऽपि 'एक एवाहं**

बाल आसमिदानीं वृद्धोऽस्मि' इत्यभेदप्रत्यभिमानादैक्यं बालादिशरीरेभ्योऽन्यत्वं च । 'व्यावृत्तेभ्योऽनुवृत्तं भिन्नं कुसुमेभ्यः सूत्रमिव' इति न्यायात्। एवं देहान्तरप्राप्तिरपि स्थूलाच्छरीरादन्येषां लिङ्गशरीराणां सूक्ष्माणां स्थूलशरीरानुकारिणां प्राप्तिः। अयमर्थः—यथा एकमपि स्थूलं शरीरं कौमाराद्यवस्थाभेदादनेकरूपं, एवं नित्यमपि लिङ्गशरीरं प्राणिकर्मभेदात्सुरनरतिर्यगाद्यवस्थाभेदादनेकं भवति, ततश्चोक्तन्यायेन स्थूलादिवत्सूक्ष्मादपि शरीरादात्मा विविक्त एव। एवं च शोकादिधर्मिणो लिङ्गादपि विभिन्नस्य तव इष्टवियोगजः शोकोऽपि न युक्तः। अत एव तत्र तस्मिन्विषये धीरो न मुह्यति। आभिमानिकौ शोकमोहौ देहद्वयाभिमानत्यागाद्धीरं न बाधेते, अतस्त्वमपि धीरो भवेति भावः। पूर्वश्लोकयोः 'गतासून्' इति 'वयं' इति च बहुवचनं उपाधिभेदाभिप्रायम्। अत्र तु 'देहिनः' इत्येकवचनं उपधेयचिदात्मैक्याभिप्रायमिति ज्ञेयम्। तथा च श्रुतिरेकस्यात्मन औपाधिकं भेदमाह—"यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनगच्छन्। उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" [ ] इति। क्षेत्रेषु वक्ष्यमाणलक्षणेषु स्थूलसूक्ष्मदेहद्वयात्मकेषु "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा" [श्वे. उ. ६।११] इति च, एकत्वाच्च विभुत्वमप्यस्य सिद्धम्, तेन देहादीनामनित्यानामविभूनां च पराभिमतमात्मत्वं प्रत्याख्यातं वेदितव्यम्॥ १३॥

**मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय! शीतोष्णसुखदुःखदाः।**
**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥ १४॥**

१ **शां. भा.**— यद्यपि आत्मविनाशनिमित्तो मोहो न सम्भवति नित्य आत्मेति विजानतः, तथापि शीतोष्णसुखदुःखप्राप्तिनिमित्तो मोहो लौकिको दृश्यते, सुखवियोगनिमित्तो मोहः दुःखसंयोगनिमित्तश्च शोकः, इत्येतदर्जुनस्य वचनमाशङ्क्य भगवान् आह— **मात्रास्पर्शा** इति। मात्रा आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि। मात्राणां स्पर्शाः मात्रास्पर्शाः शब्दादिभिः संयोगाः; ते शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतमुष्णं सुखं दुःखं च प्रयच्छन्तीति। अथवा— स्पृश्यन्ते इति स्पर्शा विषयाः शब्दादयः, मात्राश्च स्पर्शाश्च मात्रास्पर्शाः शीतोष्णसुखदुःखदाः; शीतं च कदाचित्सुखदं भवति कदाचित् दुःखदम्। तथोष्णमपि अनियतस्वरूपम्। सुखदुःखे पुनर्नियतरूपे, यतो न व्यभिचरतः। अतस्ताभ्यां पृथक् शीतोष्णयोर्ग्रहणम्। यस्मात्ते मात्रास्पर्शादय आगमापायिन आगमापायशीलाः, तस्मात् अनित्याः। अतस्तान् शीतोष्णादीन् तितिक्षस्व प्रसहस्व। तेषु हर्षं विषादं च मा कार्षीरित्यर्थः॥ १४॥

२ **आ. शां. व्या.**— आत्मनः श्रुत्यादिप्रमिते नित्यत्वे तदुत्पत्तिविनाशप्रयुक्तशोकमोहाभावेऽपि प्रकारान्तरेण शोकमोहौ स्यातामित्याशङ्कामनूद्योत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति— **यद्यपीत्यादिना**। शीतोष्णयोस्ताभ्यां सुखदुःखयोश्च प्राप्तिं निमित्तीकृत्य यो मोहादिर्दृश्यते तस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां दृश्यमानत्वमाश्रित्य लौकिकविशेषणम्। 'अशोच्यान्' [२।११] इत्यत्र यो विद्याधिकारी सूचितस्तस्य "तितिक्षुः समाहितो भूत्वा" [बृ. उ. ४।४।२३] इति श्रुतेस्तितिक्षुत्वविशेषणमिहोपदिश्यते। व्याख्येयं पदमुपादाय करणव्युत्पत्त्या तस्येन्द्रियविषयत्वं दर्शयति— **मात्रास्पर्शा** इत्यादिना। षष्ठीसमासं दर्शयन्भावव्युत्पत्त्या स्पर्शशब्दार्थमाह— **मात्राणा**मिति। तेषामर्थक्रियामादर्शयति— **ते शीतेति**। सम्प्रति शब्दद्वयस्य कर्मव्युत्पत्त्या शब्दादिविषयपरत्वमुपेत्य समासान्तरं दर्शयन्विषयाणां कार्यं कथयति— **अथवेति**। ननु शीतोष्णप्रदत्वे सुखदुःखप्रदत्वस्य सिद्धत्वात्किमिति शीतोष्णयोः सुखदुःखाभ्यां पृथग्ग्रहणम्? इति तत्राऽऽह— **शीत**मिति। विषयेभ्यस्तु पृथक्कथनं तदन्तर्भूतयोरेव तयोः सुखदुःखहेत्वोरानुकूल्यप्रातिकूल्ययोरुपलक्षणार्थम्। अध्यात्मं हि शीतमुष्णं वाऽनुकूलं प्रतिकूलं वा सम्पाद्य बाह्या विषयाः सुखादि जनयन्ति। ननु विषयेन्द्रियसंयोगस्याऽऽत्मनि सदा सत्त्वात्तत्प्रयुक्तशीतादेरपि तथात्वात्तन्निमित्तौ हर्षविषादौ तथैव तस्मिन्नापन्नावित्याशङ्क्योत्तरार्धं व्याचष्टे— **यस्मादित्यादिना**। अत्र च 'कौन्तेय भारत' इति सम्बोधनाभ्यामुभयकुलशुद्धस्यैव विद्याधिकारित्वमित्येतदेव द्योत्यते॥ १४॥

३ **रा. भा.**— इममर्थमनन्तरमेवाह— शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः साश्रयास्तन्मात्राकार्यत्वान्मात्रा इत्युच्यन्ते। श्रोत्रादिभिस्तेषां स्पर्शाः शीतोष्णमृदुपरुषादिरूपसुखदुःखदा भवन्ति। शीतोष्ण-

**शब्दः प्रदर्शनार्थः । तान् धैर्येण यावद्युद्धादिशास्त्रीयकर्मसमाप्ति तितिक्षस्व । ते चागमापायित्वा-द्धैर्यवतां क्षन्तुं योग्याः; अनित्याश्च ते बन्धहेतुभूतकर्मनाशे सत्यागमापायित्वेनापि निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ १४ ॥**

४ **वे.ता.चं.**— आत्मनित्यत्वप्रकरणपर्यवसाने वक्तव्योऽप्ययमर्थस्तात्पर्यातिशयात्सहसोच्यत इत्याह— **इममर्थमनन्तर-मिति** । आभिर्मीयन्ते शब्दादय इति श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि मात्रा इति **शङ्करा**युक्ताप्रसिद्धयोजनाव्युदासाय मात्रा-शब्दार्थमाह— **शब्देति** । **साश्रया** इति । गुणविशिष्टद्रव्यस्य हि तन्मात्रा-कार्यत्वमिति भावः । **तन्मात्राकार्यत्वा**दिति । तन्मात्राणां मात्राशब्दवाच्यत्वे तावन्नास्ति विवादः । 'शब्दमात्रा, स्पर्शमात्रा' इत्यादिप्रयोगाश्च सन्ति । ततश्च तत्कार्यद्रव्यस्यापि तदेकद्रव्यत्वात्तच्छब्दगोचरत्वमुपपन्नमिति भावः । कर्मव्युत्पत्ते-रपि भावव्युत्पत्तेः प्रसिद्धिप्रकर्षं विषयसम्बन्धस्यैव च साक्षा-त्सुखादिहेतुत्वं मत्वा स्पर्शस्य प्रतिसम्बन्ध्यन्तरं निर्दिशन् समासार्थमप्याह— **श्रोत्रादिभिस्तेषां स्पर्शा** इति । शीतो-ष्णशब्दयोरुपलक्षणत्वं समासार्थं चाह— **शीतोष्णसुखदुःखा-दिरूपे**ति । एवं हेतुफलभावं विहाय शीतोष्णदाः सुखदुःखदाश्चेति योजनायां पृथग्व्यपदेशवैयर्थ्यमिति भावः । सङ्ग्रामे शीतोष्ण-योरप्रसक्तत्वात्किमर्थमिदमुच्यत इत्यत्राह— **शीतोष्णशब्दः प्रदर्शनार्थ** इति । शस्त्रपातादेरिति शेषः । शीतोष्णादिकं तु तेषु तेषु वर्णाश्रमधर्मेषु यथासम्भवं ग्राह्यम् । 'धीरम्' इति वक्ष्यमाणम् [ २।१५ ] 'धीरस्तत्र' [ २।१३ ] इति पूर्वोक्तं चाकृष्याह— **तान् धैर्येणे**ति । यद्वाऽत्रैव 'कौन्तेय भारत' शब्दाभ्यां क्षत्रियायामुत्पन्नस्य विशिष्टक्षत्रियसान्तानिकस्य ते धैर्यमेवोचितमिति सूचितम् । यथा तपश्चर्यायां यागादौ च वातातपक्षुत्पिपासापश्वालम्भादयो यावत्तत्कर्मसमाप्ति क्षन्त-व्याः, तथाऽत्रापि शस्त्रपातशत्रुवधादयः । तस्मादवर्जनीयेन्द्रिया-र्थस्पर्शनिमित्तदुःखानां शोकेन दुष्परिहरत्वान्निरर्थके शोके तितिक्षैव युक्तेति भावः । अत्र सुखांशस्य क्षमा नाम उपेक्षया अनुत्सेकः । तत्रापि हेतुरागमापायित्वमेव । अनित्यशब्दस्या-पौनरुक्त्यायाह— **बन्धे**ति । अनित्यशब्दोऽत्र प्रवाहनित्यतानिषे-धकः । 'नित्याः' इति पदच्छेदेन नित्यानुबन्धितया तितिक्षितव्य-त्वद्योतने तु मन्दम् । मुक्तौ तदभावाच्च प्रवाहतोऽपि नित्यत्वं नास्तीति भावः ॥ १४ ॥

५ **आ. मा. भा.— तथापि तद्दर्शनाभावादिना शोक इति चेत्, न, इत्याह— मात्रास्पर्शा इति । मीयन्त इति मात्रा विषयाः, तेषां स्पर्शाः सम्बन्धाः, त एव शीतोष्णसुखदुःखदाः । देहे शीतोष्णादि-सम्बन्धाद्धि शीतोष्णाद्यनुभव आत्मनः । ततश्च सुखदुःखे ।**

६ **ज.प्र.दी.**— प्रकारान्तरेण शोकं शङ्कते— **तथापी**ति । यद्यपि बान्धवादीनां हानिर्भविष्यतीति धिया न शोको युक्तः, उक्तविधयात्महानेरभावात् । देहहानावपि प्रतिनिधिलाभात् । तथापि तन्मरणे ममैव सुखहानिर्दुःखावाप्तिश्च भविष्यतीति धिया मे शोकः समुत्पतितः । कथम् ? **तद्दर्शनाभावादिना** । तदिति बान्धवादिपरामर्शः । आदिपदेन विकृततद्दर्शनं च गृह्यते । प्रेमा-स्पदानां हि दर्शनस्पर्शनालापादिकं सुखहेतुः । तेषु मृतेषु तद्दर्शनाद्यभावात्सुखहानिः । तथा तेषां छेदभेदादिदर्शनेन दुःखा-वाप्तिश्चेति, एतन्निषेधपूर्वकं श्लोकमवतारयति— **नेति** । 'मीयन्ते विषया यैरिति मात्रा इन्द्रियाणि' इति व्याख्यानमसत् । पुराणादौ मात्राशब्दस्य विषये रूढत्वादित्याशयवान् व्याचष्टे— **मीयन्त** इति । ननु गन्धरसरूपस्पर्शशब्दा विषयाः । अतो भिन्नपदत्वे द्वन्द्वे वा स्पर्शानां विषयान्तर्गतानां पुनरुक्तिर्व्यर्थैत्यत आह— **तेषा**मिति विषयाणाम् । तथाप्यनुपपत्तिः । विषयाणां स्पर्शा-भावादित्यत आह— **सम्बन्धा** इति । एवं तर्हि किं? षष्ठीसमास-परिग्रहेणेन भिन्नपदत्वादावपि दोषाभावादित्यतो वाक्यं योजय-ति— **त एवे**ति । तुशब्दार्थ एवेति । नहि विषयाणां सम्बन्धानां च पृथगेतत्कार्यं सम्भवतीति भावः । ननु शीतोष्णशब्दौ विषय-विशेषवचनौ, तत्कथं विषयसम्बन्धा विषयविशेषं दद्युः ?; कथं च साक्षात्सुखदुःखे? कश्च प्रतिसम्बन्धी? कस्मै ददतीत्यत आह— **देहे** इति । देहशब्देनात्रेन्द्रियाणि लक्ष्यन्ते । अनेन शीतोष्ण-शब्दौ सकलविषयोपलक्षकौ । विषयोक्त्या च तत्साक्षात्कारो लक्ष्यते इति लक्षितलक्षणेयम् । अनुभवद्वारैव सुखदुःखादानम् । प्रतिसम्बन्धी देहः । दानं च आत्मन इत्युक्तं भवति । एतेन लौकिकी प्रतीतिरर्जुनेन शङ्किताऽनूद्यते । तत्तद्विषयाणां तैस्तैरि-न्द्रियैर्ये ये सन्निकर्षास्तैस्तैस्तत्तद्विषयसाक्षात्कारा भवन्ति, तत्रेष्टविषयसाक्षात्कारात्सुखं भवति, अनिष्टविषयसाक्षात्कारात् दुःखं भवतीति ।

५ **आ. मा. भा.— न ह्यात्मनः स्वतो दुःखादिः सम्भवति । कुतः? आगमापायित्वात् । यद्यात्मनः स्वतः स्युः सुप्तावपि स्युः । अतो यतो ते मात्रास्पर्शा जाग्रदादावेव सन्ति, नान्यदेति तदन्वयव्यति-रेकित्वात्तन्निमित्ता एव, नात्मनः स्वतः । आत्मनश्च तैर्विषयविषयीभावादन्यः सम्बन्धो नास्ति ।**

६ **ज. प्र. दी.**— भवेदेवं, ततः किं प्रकृतशङ्काया इत्यतस्तु-शब्दात्परया काका सिद्धमर्थमाह— **न ह्री**ति । **स्वत** इति । विषयेन्द्रियसन्निकर्षमात्रेण । **दुःखादि**रिति विषयसाक्षात्कारः सुखदुःखे च । अनेन मात्रास्पर्शा एव केवलाः किं शीतोष्ण-सुखदुःखदाः? नहि, किन्नामाभिमानसहिताः ? इत्युक्तं भवति । अभिमानो नामात्र विषयेषु शोभनत्वाध्यासनिमित्तस्नेहः ।

अरित्वादिभ्रमनिमित्तो द्वेषश्च शरीरेन्द्रियान्तःकरणेषु ममतातिशयहेतुकोऽविवेक इत्यादि। विषयेन्द्रियसन्निकर्षा एव ज्ञानस्य सुखदुःखयोश्च कारणं कुतो न स्युः ? येनाभिमानोऽधिकः कारणसामग्र्यां निवेश्यत इति शङ्कापूर्वकमुत्तरपादं व्याचष्टे— **कुत** इति । ननु कथमिदं लभ्यते ? यत इत्यध्याहारादिति ब्रूमः; प्रयोजनान्तराभावाद्धेत्वर्थगर्भत्वेन वा । 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः' इति न्यायात् । शीतोष्णसुखदुःखदत्वविशिष्टानां मात्रास्पर्शानामिदं विशेषणं भवच्छीतोष्णसुखदुःखदत्वमुपसङ्क्रामति । मात्रास्पर्शानां शीतोष्णसुखदुःखदत्वं यत्तस्यागमापायित्वादित्यर्थः । अनेन कथमुक्तशङ्कापरिहार इत्यतोऽतिप्रसङ्गमुखेन व्याचष्टे— **यदी**ति । मात्रास्पर्शा यदि स्वतः स्वयमेवाभिमानमनपेक्ष्यात्मनः शीतोष्णसुखदुःखदाः स्युः, तर्हि **सुप्तावपि स्युः** । नहि कारणसामग्री कार्यं व्यभिचरतीत्यर्थः । नच वाच्यं सुप्तौ विषयेन्द्रियसम्बन्धा एव न सन्तीति; स्पर्शत्वगिन्द्रियसम्बन्धस्यावर्जनीयत्वात् । अतएव शीतोष्णग्रहणं कृतम् । एतेनेन्द्रियमनस्सन्निकर्षाभावोऽपि प्रत्युक्तः। न चात्मनः सन्निकर्षाभावः, मनसः कदाप्यात्मवियोगाभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् । अतिप्रसङ्गस्य विपर्यये पर्यवसानं वदन्साक्षादर्थं दर्शयति--**अत** इति । अतो **मात्रास्पर्शा** नात्मनः स्वतः स्वयमेव केवलाः शीतोष्णसुखदुःखदा भवन्तीति सम्बन्धः । अत इत्युक्तस्य विवरणं **यतस्तन्निमित्ता** एवेति । तदित्यभिमानपरामर्शः । तेन निमित्तेन सहिता एव शीतोष्णसुखदुःखदा यत इत्यर्थः । तत्कुत इत्यत उक्तं **मात्रे**ति । मात्रास्पर्शा जाग्रत्स्वप्नयोरभिमानवतोरेव, ते तथाविधाः शीतोष्णसुखदुःखदाः सन्तः सम्भवन्ति । नान्यदा अभिमानरहिते सुप्त्यादाविति मात्रास्पर्शानां शीतोष्णसुखदुःखदत्वस्याभिमानान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वादित्यर्थः । न चाभिमानहीनेऽपि ज्ञानोत्पत्तिस्तृणादौ दृश्यते, सत्यं, सुखदुःखहेतुभूतज्ञानमत्राधिकृतमित्यदोष इति । इतश्चाभिमान एवात्मन उपप्लव इत्याह— **आत्मनश्चे**ति । अत्र तैरिति ज्ञानसुखदुःखपरामर्शः । आत्मनो ज्ञानादिभिः सम्बन्धो नास्ति, तेषां मनोवृत्तित्वात् । तथा चान्यगतधर्माः कथमन्यस्य विक्रियाहेतवो विनाभिमानात् ? । प्रसिद्धं च स्वाभिमतगृहदाहो देवदत्तं दुःखीकरोतीति । ज्ञानादिभिरात्मनः सम्बन्धाभावे कथमुक्तं शीतोष्णाद्यनुभव आत्मन इत्यादीत्यत उक्तम्— **विषये**ति । मनोवृत्तिरूपाणि ज्ञानादीनि विषयभूतानि । आत्मा च विषयी, साक्षिचैतन्यस्य तद्विषयत्वात् । एतमेव सम्बन्धमभिप्रेत्यात्मनो ज्ञानमित्यादिव्यवहारः । उपलक्षणं चैतत् । ईश्वराधीनं स्वामित्वमपि ग्राह्यं तादात्म्यसमवायिनिरासे तात्पर्यात् ।

**५ आ. मा. भा.— न चागमापायित्वेऽपि प्रवाहरूपेणाऽपि नित्यत्वमस्ति, सुप्तिप्रलयादावभावादित्याह— अनित्या इति । अत आत्मनो देहाद्यात्मभ्रम एव दुःखकारणम् । अतस्तद्विमुक्तस्य बन्धुमरणादौ दुःखं न भवति । अतोऽभिमानं परित्यज्य तान् शीतोष्णादींस्तितिक्षस्व ॥ १४ ॥**

**६ ज. प्र. दी.—** नन्वभिमानसहितानामेव मात्रास्पर्शानां ज्ञानादिहेतुत्वं, न केवलानामित्युपपादितमेतत्; ततो नित्या इति व्यर्थमिति चेत्, न; आगमापायित्वस्यैवानेन व्याख्यानात्, व्याख्यानेऽपि किं प्रयोजनमित्यत आह— **नचे**ति । आगमापायिशब्दो द्वयोः प्रयुज्यते, यत्प्रवाहरूपेण नित्यं व्यक्तिरूपेणानित्यं, यथा गङ्गोदकं; तदेकमागमापायीत्युच्यते । यस्य तु प्रवाहोऽपि छिद्यते, यथा किंशुककुसुमानां, तदपरमिति । तत्रागमापायिशब्दादुभयप्रतीतौ, आगमापायित्वेऽप्यागमापायिशब्दार्थोऽपि, यत्प्रवाहरूपेण नित्यत्वं तदत्र विवक्षितं **नास्ति** न भवति । मात्रास्पर्शानां शीतोष्णसुखदुःखदत्वे सम्भवात्, प्रकृतानुपयोगाच्च । किन्तु द्वितीयमेव, सुप्त्यादावभावेन सम्भवादुक्तरीत्या प्रकृतोपयोगाच्च, इत्येतदनित्या इत्यनेनाह भगवानित्यर्थः । प्रलयो मूर्छा । आदिपदेनासम्प्रज्ञातसमाधेर्ग्रहणम् । नन्वनित्यपदमनेकार्थमेव, सत्यम् , तथापि पुनः प्रयत्नाद्यालोचनादेतत्सिद्धिः । एतदपि विशेषणोपसङ्क्रान्तं विशेषणम् । आगामिव्याख्यानमपेक्ष्य भाष्यकृताऽयमर्थः प्रागुपन्यस्त इति ज्ञेयम् । उक्तमर्थं पिण्डीकृत्योपसंहरति— **अत** इति । उक्तप्रकारेण देहादावात्मनो ममैत इत्यादिभ्रम एव, भ्रमसहिता एव मात्रास्पर्शा इत्यर्थः । ततः किमित्यतश्चतुर्थपदं व्याख्यातुमुपोद्धातमाह-- **अत** इति । तद्विमुक्तस्य भ्रमविमुक्तस्य बन्धुमरणादिदुःखं यत्प्राक् शङ्कितं न हि सामग्रीकार्यमेकदेशेन भवतीति भावः । ततः किमित्यतश्चतुर्थपादं व्याख्याति-- **अत** इति । तितिक्षस्व विफलीकुर्विति भावः । ननु तानिति मात्रास्पर्शानां परामर्शो युक्तः, तत्कथं शीतोष्णादीनित्युक्तम्; मैवम् । शीतोष्णहेतूनां मात्रास्पर्शानामेव तच्छब्देनोपलक्षणात् ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.— यद्यपि आत्मनाशनिमित्तः शोको न सम्भवति नित्य आत्मेति जानतः, तथापि शीतोष्णनिमित्तः शोकः सम्भवतीत्येतदर्जुनस्य वचनमाशङ्क्याऽऽह– मात्रास्पर्शास्त्विति । मीयन्त आभिः शब्दादय इति मात्रा इन्द्रियाणि, मात्राणां स्पर्शाः शब्दादिभिः संयोगाः; शीतोष्णसुखदुःखदाः– शीतं चोष्णं च शीतोष्णे, ते एव सुखदुःखे, ते ददतीति शीतोष्णसुखदुःखदाः; आगमापायिन आगमापायशीलास्तस्मादनित्याः, तान्मात्रास्पर्शांस्तितिक्षस्व प्रसहस्व, तेषु हर्षविषादौ मा कार्षीरित्यर्थः ॥ १४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु जन्ममरणयोर्देहधर्मत्वादात्मनि देहैक्याध्यासेन तत्प्रतीतावपि न तयोरात्मधर्मत्वमिति नात्मनाशप्रयुक्तः शोकः सम्भवतीत्युक्तम्, अस्त्वेवम्; तथापि युद्धे परुषशस्त्रप्रहारादिभिरात्मन्यनुभूयमानं दुःखमात्मधर्म एव, न तु देहधर्मः, देहस्य जडत्वेन दुःखादिधर्मित्वायोगात्, अन्यथा देहात्मवादप्रसङ्गात्; तथा च भीष्माद्यात्मनां शस्त्राभिघातदुःखं भविष्यतीति तत्प्रयुक्तः शोको मम युक्त एवेत्याशङ्क्य, दुःखस्यात्मनि मिथ्यात्वान्न तन्निमित्तकोऽप्यात्मनः शोको युक्त इत्याह— हे कौन्तेय! मात्रास्पर्शाः, मीयन्ते आभिर्विषया इति मात्रा इन्द्रियाणि, तेषां ये स्पर्शाः स्वस्वविषयैः सह सम्बन्धाः, ते शीतोष्णसुखदुःखदाः शीतमुष्णं सुखं दुःखं च ददतीति तथोक्ताः। अत्र शीतोष्णसुखदुःखदा इति वाक्यशेषान्मात्रास्पर्शपदं त्वगिन्द्रियतद्विषयसम्बन्धरूपमात्रास्पर्शैकपरमिति ज्ञायते। तत्रापि परुषशस्त्रस्पर्शा दुःखदा इत्येतावति प्रकृतोपयुक्ते वक्तव्ये शीतोष्णसुखग्रहणं दृष्टान्तार्थम्। यथा त्वगिन्द्रियस्य हिमाग्न्यादिविषयस्पर्शरूपो मात्रास्पर्शः शीतोष्णप्रदः, यथा वा तस्यैव मृदुकुसुमादिस्पर्शः सुखप्रदः, तथा परुषशस्त्रस्पर्शरूपो मात्रास्पर्शो दुःखद इत्यर्थः। तुशब्दो यद्यप्यर्थे। यद्यपि मात्रास्पर्शाः शीतोष्णसुखदुःखदाः, तथापि आगमापायिन उत्पत्तिविनाशशीलाः तस्मादनित्याः। तथा च आगमापायिमात्रास्पर्शजन्यस्य दुःखस्यापि आगमापायित्वेनानित्यत्वमिति न तस्यात्मधर्मत्वम्, अनित्यस्वभावस्य नित्यस्वभावधर्मत्वायोगादिति भावः।

तथा हि— यदि दुःखमात्मनः स्वाभाविकधर्मः स्यात्, तदा धर्मिनिवृत्तिं विना स्वाभाविकधर्मनिवृत्त्यसम्भवादनिर्मोक्षप्रसङ्गः; 'न हि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः' [　　　　] इति स्मृतेः, रूपप्रागभावासमानाधिकरणसर्वरूपनिवृत्तेरिव दुःखप्रागभावासमानाधिकरणयुगपत्सर्वदुःखनिवृत्तेरपि धर्मिनिवृत्तिनान्तरीयकत्वनियमेन तार्किकैरपि दुःखादीनामात्मगुणत्वस्य निर्वोढुमशक्यत्वात्, "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा" इत्यारभ्य "एतत्सर्वं मन एव" [ बृ.उ.१।५।३ ] "कामा येऽस्य हृदि श्रिताः" [ बृ. उ. ४।४।७ ] इत्यादिश्रुतिभिः 'शोकहर्षभयक्रोधलोभमोहस्पृहादयः। अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः' [ भाग. ११।२८।१५ ] इत्यादिस्मृतिभिश्च दुःखादीनां मनोधर्मत्वप्रतिपादनाच्च। अहङ्कारस्येत्यनेन हि मन एवोच्यते, चिदचिद्ग्रन्थिरूपेऽहङ्कारे नात्मन इति चिदंशनिषेधे सति अचिदंशस्य मनस एवाहङ्कारशब्दार्थत्वेन प्राप्तेः, 'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ! मनोगतान्' [ २।५५ ] इति कामादीनां मनोधर्मत्वस्य भगवता कण्ठत एवोक्तेश्च। विस्तरस्तु वज्रपञ्जरे द्रष्टव्यः।

तस्माद्दुःखस्यानात्मधर्मत्वेन श्रुतिस्मृतियुक्तिविद्वदनुभवसिद्धत्वात् देहधर्मभूतजन्ममरणयोरिव मनोधर्मभूतदुःखस्याप्यात्मनि स्वधर्मितादात्म्याध्यासात् 'अहं सुखी' इति प्रतिभास इति तन्मिथ्यात्वं निश्चित्य हे भारत! तांस्तितिक्षस्व शस्त्राभिघातरूपान्मात्रास्पर्शान् सहस्व, तन्निमित्तं शोकं मा कार्षीरित्यर्थः। 'भारत कौन्तेय' इति सम्बोधनद्वयेन भरतकुलप्रसूतत्वेनैव इयं तितिक्षा तवोचिता, तत्रापि कुन्त्या देवतावरप्रसादेन लब्धस्य किमु वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति। अत्र भीष्मादिवियोगरूपान्मात्रास्पर्शांस्तितिक्षस्वेति व्याख्याने भीष्मात्मनो वियोगाभावस्य पूर्वमेवोक्तेः तच्छरीरवियोगस्य च 'अन्तवन्त इमे देहाः' [ २।१८ ] इत्यादिनैवाकिञ्चित्करत्वस्य वक्ष्यमाणत्वान्न तत्र स्वारस्यमित्यस्त्राभिघातरूपोऽत्र मात्रास्पर्शस्तत्कृतात्मदुःखनिबन्धनः, शोकश्चानेन निरस्यत इति व्याख्यातम्। भाष्यमप्येतदनुगुणमेवेति ध्येयम्। 'मात्रास्पर्शा देहाभिमानद्वारैवात्मनो दुःखप्रदाः, तस्मादभिमानं त्यक्त्वा तांस्तितिक्षस्व, इति माध्वव्याख्याने त्वध्याहारक्लेशः स्पष्टः। 'क्रूरायुधस्पर्शरूपाणां मात्रास्पर्शानामागमापायित्वेन अनित्यत्वात्तांस्तितिक्षस्व' इति रामानुजव्याख्याने अर्जुनस्य युद्धकातर्यमुक्तं स्यात्। न हि तद्युक्तम्, महाक्षत्रियश्रेष्ठस्य युधिष्ठिरराजसूयकृतदिग्विजयस्य निवातकवचादिहन्तुर्निखिलशूराग्रेसरस्य च तस्य युद्धकातरनीचपुरुषवदायुधस्पर्शभयेऽप्राप्ते तांस्तितिक्षस्वेत्युपदेशकल्पनस्यासङ्गतेः।

तस्माद्भीष्माद्यात्मनां शस्त्राभिघातदुःखं भविष्यतीति तदर्थमर्जुनस्य शोकप्राप्तावात्मनो दुःखाभावेन तन्निरासोऽत्र क्रियत इति भगवत्पादव्याख्यानमेव उत्तरश्लोकानुसारि युक्तमित्यालोचयामः॥ १४॥

९ व० त० दी०— ननु धैर्यमेव तन्नायाति, यतो न मूढः स्यामिति चेत्तत्प्राप्त्युपायमाह— मात्रास्पर्शा इति। मात्रा रूपादयस्तासां स्पर्शा इन्द्रियाख्याः इन्द्रियैर्वा स्पर्शाः योगाः शीतादिद्वन्द्वाः, ते चागमापायिनोऽनित्यास्तान्विशिष्टानेव सहस्व। सर्वसहनं हि साङ्ख्ये योगे चावश्यकं ततो धीरस्य न मोहः॥ १४॥

१० पु. अ. त.— नन्वग्रे देहाप्तिरपि भविष्यति, परं किञ्चित्कालं भवति (?) भोगदुःखासहिष्णुत्वाच्छोचामीति चेत्तत्राह— मात्रास्पर्शा इति। हे कौन्तेय परमस्निग्ध! मात्रास्पर्शा इन्द्रियवृत्तिविषयसम्बन्धाः शीतोष्णसुखदुःखदा भवन्ति। अत्रायमर्थः— इन्द्रियवृत्तिस्पृष्टा जलातपादयो शीतोष्णदा भवन्ति। तथा मित्रसंयोगविप्रयोगादयश्च सुखदुःखदा भवन्ति। संयोगे स्वस्य सुखं भवति, विप्रयोगे च दुःखम्, तत्रस्थसुखदुःखादिकं न विचारणीयम्। किन्तु मित्रसुखविचारेण स्वस्य तत्सहनमेवोत्तममुचितं, यतस्ते न स्थिरा इत्याह— आगमापायिन इति। आगमापायिन आगच्छन्त्यपयान्ति च, अत एव अनित्याः, अतस्तान् तितिक्षस्व सहस्व। 'भारत' इति सम्बोधनात्तवैतदुचितमिति ज्ञापितम्॥ १४॥

११ नी. भा. दी.— ननु आत्मनो लिङ्गशरीरादन्यत्वेऽप्यहं दुःखीत्याद्यनुभवाद्दुःखादिधर्माश्रयत्वं दुर्वारं, ततश्च भीष्मादिबन्धुवर्गनाशे सति दुःखसम्बन्धो भवत्येवेत्याशङ्क्याह— मात्रास्पर्शा इति। मीयन्ते विषया आभिस्ता

मात्रा इन्द्रियवृत्तयः। यद्वा दश प्रज्ञामात्राः वागादयः दश भूतमात्राः नामादयः कौषीतकिप्रसिद्धा इन्द्रियविषयरूपा ग्राह्याः, तासां स्पर्शाः परस्परं विषयविषयिभावेन सम्बन्धा इति व्याख्येयम् । यद्वा मात्रा प्रमात्रा सह स्पर्शाः विषयेन्द्रियसम्बन्धाः। स्पर्शशब्दस्य तद्वाचित्वं 'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्' [ ५।२७ ] इत्यत्र दृष्टं, तत्र स्पर्शपदेन तद्धतोर्विषयेन्द्रिययोरपि लाभः, तेन प्रमातुः प्रमाणद्वारा प्रमेयेण सह सम्बन्धाः सर्वे शीतोष्णादिवदागमापायिनः उत्पत्तिविनाशशीलाः, अत एवानित्याश्च तद्वदेव सुखदुःखदाश्च; अतस्तान् तितिक्षस्व सहस्व। हे कौन्तेय ! भारतेत्युत्तमवंश्यत्वेन धीरत्वमस्य सूचयति। प्रमातृत्वादिरनथा हि सुप्तिसमाधिग्रहावेशादिष्वभावाज्जाग्रत्स्वप्नादौ भावाच्च कादाचित्कतया आत्मनि प्रतीयमानोऽपि रज्जूरगादिवन्मिथ्याभूतः सन्नतद्धर्मत्वं भजते। यद्धि यत्राभेदेन कदाचिद्भाति, कदाचिन्न, तत्तत्राध्यस्तं रज्ज्वामिव सर्पः । प्रमात्रादिश्च प्रतीचि प्रत्यगभेदेन कदाचिद्भाति, अतो मिथ्येति निश्चितं; तेन प्रतीचि प्रमातृसम्बन्ध एव नास्ति, सत्यमिथ्यावस्तुनोर्वास्तवसम्बन्धायोगात् ; प्रमातृधर्माणां दुःखादीनां तु प्रतीचि सम्बन्धो दूरापेत एव। कथं तर्ह्यात्मनि दुःखित्वप्रत्ययः ? तत्तदुपाधितादात्म्याध्यासादिति ब्रूमः। अत एव जाग्रति दृष्टं दुःखं स्वप्ने नानुवर्त्तते, स्वप्नदृष्टं वा जाग्रति न दृश्यते; तथा च श्रुतिः-"स यत्तत्र ( किञ्चित् ) पश्यति पुण्यं च पापं चानन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः" [ बृ. उ. ४।३।१५ ] इति। "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा" [ बृ. उ. १।५।३ ] इत्यादिश्रुतिः। "एतत्सर्वं मन एव" [ बृ. उ. १।५।३ ] इति अभेदनिर्देशात्कामादिसर्वविकारोपादानत्वं मनस एवाह, तस्मात्स्वप्न इवात्मनि दुःखित्वप्रतीतिर्भ्रान्तिरेवेतीष्टवियोगजनितां तां तितिक्षस्वेति भावः ॥ १४ ॥

**यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।**
**समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १५ ॥**

**१ शां. भा.—** शीतोष्णादीन् प्रसहतस्तव किं स्यात् ? इति शृणु—**यं हीति** । यं हि पुरुषं समदुःखसुखं- समे दुःखसुखे यस्य तं समदुःखसुखं, सुखदुःखप्राप्तौ हर्षविषादरहितं धीरं धीमन्तं न व्यथयन्ति न चालयन्ति, नित्यात्मदर्शनात् एते यथोक्ताः शीतोष्णादयः, स नित्यात्मस्वरूपदर्शननिष्ठो द्वन्द्वसहिष्णुः अमृतत्वाय अमृतभावाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** अधिकारिविशेषणं तितिक्षुत्वं नोपयुक्तं, केवलस्य तस्य पुमर्थाहेतुत्वादिति शङ्कते— **शीतेति** । विवेकवैराग्यादिसहितं तन्मोक्षहेतुज्ञानद्वारा तदर्थमिति परिहरति— **शृण्विति** । तितिक्षमाणस्य विवक्षितं लाभमुपलम्भयति— **यं हीति** । हर्षविषादरहितमित्यत्र शमादिसाधनसम्पन्नत्वमुच्यते। धीमन्तमिति नित्यानित्यविवेकभागित्वम्, एतच्चोभयं वैराग्यादेरुपलक्षणम्। नित्यात्मदर्शनं त्वमर्थज्ञानम्। साधनचतुष्टयवन्तमधिकारिणमनूद्य त्वम्पदार्थज्ञानवतस्तस्य मोक्षौपयिकवाक्यार्थज्ञानयोग्यतामाह— **स नित्येति** ॥१५॥

**३ रा. भा.—** तत्क्षमा किमर्थेत्यत आह— **यं** पुरुषं धैर्यादियुक्तमवर्जनीयदुःखं सुखवन्मन्यमानममृतत्वसाधनतया स्ववर्णोचितं युद्धादिकर्मानभिसंहितफलं कुर्वाणं तदन्तर्गताः शस्त्रपातादिमृदुक्रूरस्पर्शा न व्यथयन्ति; स एवामृतत्वं साधयति। न त्वादृशो दुःखासहिष्णुरित्यर्थः। अत आत्मनां नित्यत्वादेतावदत्र कर्तव्यमित्यर्थः ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.—** **तत्क्षमा किमर्थेति**, किं दृष्टार्थत्वात् ? उतादृष्टार्थत्वात् ? उत स्वरसवाहित्वेनावर्जनीयत्वात् ? । न प्रथमः, दुःखरूपतयोपलम्भात्; न द्वितीयः, गुरुवधकुलक्षयादिरूपाधर्मबहुलत्वात् ; न तृतीयः, युद्धान्निवृत्त्यैव शस्त्रपाताद्यभावादिति भावः। तितिक्षार्हत्वद्योतनाय 'धीरम्' इति पदम् । सुखदुःखवैषम्याज्ञत्वभ्रमं तयोः समपरिमाणत्वादिभ्रमं च व्युदस्यन् किमर्थेति शङ्कां च प्रतिवदति— **अवर्जनीयदुःखं सुखवन्मन्यमान**मिति। यथा ह्यारोग्यकाम औषधादिक्लेशं सुखसाधनत्वात्सुखवन्मत्वा प्रवर्तते, यथा चार्थार्थी समुद्रतरणादिक्लेशम्; तथा तापत्रयनिवृत्तिं निरतिशयानन्दं च लिप्सुः तदुपायनान्तरीयकदुःखं सुखवदेव मन्येतेति भावः। तस्करादिष्वपि सम्भावितस्य द्वन्द्वतितिक्षामात्रस्य मोक्षे हेतुत्वव्युदासायोक्तं **अमृतत्वसाधनतये**त्यादि। 'एते' इत्यस्य तात्पर्यमवर्जनीयत्वं च दर्शयितुमुक्तं **तदन्तर्गता** इति। व्यथयन्ति, अप्राप्तत्वधिया परितापेन चालयन्तीत्यर्थः; न तु पीडयन्तीति। **मृदुक्रूरस्पर्शा** इति। मृदुस्पर्शस्याप्युपादानात् । यत्तच्छब्दरूपपरोक्षनिर्देशेन 'पुरुषर्षभ' इति विपरीतकाक्वा च फलितमाह— **स एवेति**।

त्वादृशः अस्थानस्नेहाद्याकुलः । अनन्तरश्लोकार्थप्रसङ्गायात्मनाशप्रतीकारनैरपेक्ष्याय च निगमयति— आत्मनां नित्यत्वादिति । एतावदिति तितिक्षामात्रं, न तु शोकादि । अत्रेति, आगमापायिनां तत्त्वज्ञानेन निवर्तिष्यमाणसन्तानानां अमृतत्वलक्षणपरमपुरुषार्थोपायानुष्ठानेऽवर्जनीयसन्निधीनां शस्त्रपातादिदुःखानामागतावित्यर्थः । कर्तव्यमिति, अकरणे त्वपवर्गरूपफलाभावः, स्वधर्मपरित्यागेन प्रत्यवायः, धैर्याद्यभावनिमित्ताकीर्त्यादिप्रसङ्गश्च स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.— अतः प्रयोजनमाह— यं हीति । यमेते मात्रास्पर्शा न व्यथयन्ति । पुरिशयमेव सन्तं शरीरसम्बधाभावे सर्वेषां व्यथाभावात्पुरुषमिति विशेषणम् । कथं न व्यथयन्ति ? समदुःखसुखत्वात्, तत्कथं ? धैर्येण ॥ १५ ॥**

६ ज. प्र. दी.— अतो मात्रास्पर्शानां विफलीकरणतो भवत्प्रयोजनमाह— अत इति । दुःखाभावस्य युद्धाकरणेनैव सम्भवात्किं तत्कृत्वा प्रसक्तदुःखाभावायाभिमानत्यागेनेत्येतदाशङ्कापरिहारायेति शेषः । पूर्वश्लोके तितिक्षस्वेतिपदं सहस्वेति कैश्चिद्व्याख्यातम्, तदसत् । तदनुवादे विफलीकरणस्यैव प्रतीतेरिति भावेनाद्यपादं व्याख्याति— यमिति । न व्यथयन्ति न चालयन्ति, न शीतोष्णसुखदुःखलक्षणवैषम्यवन्तं कुर्वन्तीत्यर्थः । स्त्रीणामप्येवंविधानां मैत्रेयीप्रमुखानाममृतत्वश्रवणात्पुरुषमिति विशेषणमयुक्तमित्यतोऽन्यथा व्याचष्टे— पुरीति; शरीरसबन्धिनमेव सन्तं शरीरदर्शनवन्तमित्यर्थः । एतदपि किमर्थं विशेषणमित्यत आह— शरीरेति । सुप्त्यादौ सर्वेषां प्राकृतानामप्यभिमानाभावेन व्यथाभावादमृतत्वप्रसक्तिरित्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । ननु यस्य देहादावभिमानो नास्ति, तस्य दुःखं सुखं च नास्तीत्युक्तं, तस्य कथं ‘ समदुःखसुखं धीरं ’ इति विशेषणद्वयम् ? अस्य पूर्वकक्ष्यागतत्वादित्याशङ्क्य तदुपायप्रदर्शनार्थं पूर्वावस्थानुवादोऽयमिति क्रमेण पृच्छापूर्वकमाशयमाह— कथमिति । येनाभिमानत्यागेन मात्रास्पर्शा न व्यथयन्ति, स कथं केनोपायेन भवतीत्यर्थः । दुःखं यथानुपादेयमपुरुषार्थत्वात्, तथा वैषयिकं सुखमप्यमृतत्वविरोधित्वादनुपादेयं यस्य स समदुःखसुखः । एवम्भावे च कथं सुखहेतुषु शोभनाध्यासलक्षणस्तद्विरोधिषु द्वेषलक्षणोऽभिमानः स्यादिति भावः । तत्समदुःखसुखत्वमेव कथं केनोपायेन भवतीत्यर्थः— धैर्येणेति ; सुखे दुःखे च प्राप्त सति तत्कार्ययोरुत्सेकविषादयोः स्तम्भकेन प्रयत्नेनेत्यर्थः ॥ १५ ॥

**७ ह. पै. भा.— मात्रास्पर्शान्सहमानस्य किं स्यादित्यत्राऽऽह— यं हि न व्यथयन्तीत्यादि । यं हि पुरुषं न व्यथयन्ति न चालयन्ति एते मात्रास्पर्शाः समदुःखसुखं सुखदुःखप्राप्तौ हर्षविषादरहितं धीरं धीमन्तं सोऽमृतत्वायामृतभावाय, मोक्षायेत्यर्थः । कल्पते समर्थो भवति ॥ १५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु भीष्माद्यात्मविषयकशोकपरिहारस्य युद्धाकरणेनापि सम्भवात्किमिति तैः सह युद्ध्वा शस्त्रप्रहारकृततदीयात्मदुःखस्य मिथ्यात्वविवेकेनैतच्छोकः परिहार्य इत्याशङ्क्य युद्धवर्जनप्रयुक्तशोकपरिहाराद्विवेकप्रयुक्तः शोकपरिहार एव श्रेयानित्यभिप्रेत्याह— एते मात्रास्पर्शाः यं न व्यथयन्ति न विषादयन्ति । अनेन ‘ तांस्तितिक्षस्व ’ इति पूर्वश्लोकोक्तं तितिक्षणं दुःखाध्यासकृतशोकवर्जनरूपमिति दर्शितम् । स पुरुषः अमृतत्वाय कल्पते द्वन्द्वसहिष्णुत्वेन ज्ञानाधिकारात् तद्द्वारा मोक्षाय योग्यो भवतीत्यर्थः । न व्यथयन्तीत्यत्र हेतुः समदुःखसुखमिति, समे दुःखसुखे यस्य तं तथोक्तम् । सुखं यथा शोककरं न भवति तथा दुःखमपि, यथा च दुःखं हर्षकरं न भवति तथा सुखमपीत्येवं सुखदुःखयोः साम्यम् । अत्र हेतुः धीरमिति । दुःखादीनामात्मनि मिथ्यात्वनिश्चयो धीः, तद्वान्धीरः । ‘ धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः ’ इति निघण्टुः । रज्जौ सर्पमिथ्यात्वनिश्चयेन तत्स्पर्शदुःखस्येव आत्मनि सुखदुःखमिथ्यात्वनिश्चयेन तयोरकिञ्चित्करत्वबुद्ध्या तच्छोकपरिहारो भवतीत्यर्थः । अत्र ‘ यं न व्यथयन्ति सः ’ इत्येकवचनेन एतादृशो यः कश्चिदेक एवेति तद्दौर्लभ्यमुक्तम् । पुरुषमित्यनेन च अनेनैव पुरुषस्य पौरुषमित्युक्तम् । ‘पुरुषर्षभ’ इत्यनेन पुरुषश्रेष्ठे त्वयि नेदमाश्चर्यमिति दर्शितम् ॥ १५ ॥

**९ व० त० दी०— सहनमेवाऽमृतत्वे हेतुरित्याह— यं हीति । न व्यथयन्ति धीरं, सोऽमृतत्वाय क्षमो भवति ॥ १५ ॥**

१० पु. अ. त.— नन्वेतेषां सहनं किंफलकमित्याकाङ्क्षायामाह— यं हि न व्यथयन्त्येत इति । हे पुरुषर्षभ पुरुषश्रेष्ठ स्वतन्त्रमोक्षसाधनकारणसमर्थ ! यं पुरुषं समदुःखसुखं समे दुःखसुखे वियोगसंयोगौ यस्य, एतादृशं धीरं तत्सहनसमर्थमेते मात्रास्पर्शाः न व्यथयन्ति न पराभवन्ति, स पुरुषः अमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते । यद्वा मोक्षभावाय भक्त्यर्थं कल्पते योग्यो भवति । भक्तिप्राप्तियोग्यो भवतीत्यर्थः । समदुःखत्वेन तदिच्छया सर्वमानन्दरूपमेवाभाति इति व्यञ्जितम् ॥ १५ ॥

**११ नी. भा. दी.— तितिक्षाफलं प्रत्यक्षमेवेत्याह— यं हीति । एते मात्रास्पर्शाः प्राक् व्याख्यातरीत्या त्रिविधा अपि यं जाग्रति स्वप्नेऽसम्प्रज्ञातसमाधौ वा न व्यथयन्ति स्वास्थ्यान्न प्रच्यावयन्ति; पुरुषं पूर्षु अष्टासु भवतीति पुरुषस्तम् । पुरश्च— ‘कर्मेन्द्रियाणि खलु पञ्च तथाऽपराणि ज्ञानेन्द्रियाणि मनआदिचतुष्टयं च । प्राणादिपञ्चकमथो वियदादिकं च कामश्च कर्म च तमः पुनरष्टमी पूः ’ [ सं. शा. ३।१६ ] इति प्रसिद्धाः । यद्वा स्थूल-**

सूक्ष्मोपाधिमध्ये एव इतरासामन्तर्भावादत्र पूरिति तम एव ग्राह्यं, तेन कारणोपाधेरप्यात्मनो विविक्तत्वं दर्शितम् । पुरुषर्षभेति त्वमप्येतदनुभवितुं योग्योऽसि, सर्वपुरुषश्रेष्ठत्वादिति सूचयति । उपाधित्रयत्यागादेव समे दुःखसुखे यस्य तं–' न हि समाधिस्थस्य सुखाय दुःखाय वा शीतोष्णस्पर्शौ भवतः ' इति युक्तमस्य समदुःखसुखत्वं धीरं– ध्यायिनं योगिनं न व्यथयन्ति सोऽमृतत्वाय मोक्षाय कल्पते योग्यो भवति ॥ १५ ॥

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।**
**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥ १६ ॥**

**१ शां. भा.**— इतश्च शोकमोहावकृत्वा शीतोष्णादिसहनं युक्तं, यस्मात्— **नासत** इति । **नासतः** अविद्यमानस्य शीतोष्णादेः सकारणस्य न विद्यते नास्ति **भावो** भवनं अस्तिता । न हि शीतोष्णादि सकारणं प्रमाणैर्निरूप्यमाणं वस्तु सत् भवति । विकारो हि सः, विकारश्च व्यभिचरति । यथा घटादिसंस्थानं चक्षुषा निरूप्यमाणं मृद्व्यतिरेकेण अनुपलब्धेरसत्, तथा सर्वो विकारः कारणव्यतिरेकेण अनुपलब्धेरसन् । जन्मप्रध्वंसाभ्यां प्रागूर्ध्वं चानुपलब्धेः । कार्यस्य घटादेः मृदादिकारणस्य च तत्कारणव्यतिरेकेण अनुपलब्धेरसत्त्वम् । तदसत्त्वे च सर्वाभावप्रसङ्ग इति चेत्, न; सर्वत्र बुद्धिद्वयोपलब्धेः सद्बुद्धिरसद्बुद्धिरिति ।

**२ आ. शां. व्या.**— अधिकारिविशेषणे तितिक्षुत्वे हेत्वन्तरपरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति— **इतश्चेति** । **इतः**शब्दार्थमेव स्फुटयति— **यस्मादिति** । यतः शीतादेः शोकादिहेतोरनात्मनो नास्ति वस्तुत्वं, वस्तुनश्चाऽऽत्मनो निर्विकारत्वेनैकरूपत्वं, अतो मुमुक्षोर्विशेषणं तितिक्षुत्वं युक्तमित्याह— **नेत्यादिना** । कार्यस्यासत्त्वेऽपि कारणस्य सत्त्वेनात्यन्तासत्त्वासिद्धिरित्याशङ्क्य विशिनष्टि— **सकारणस्येति** । नासत इत्युपादाय पुनर्नकारानुकर्षणमन्वयार्थम् । असतः शून्यस्यास्तित्वप्रसङ्गाभावादप्रसक्तप्रतिषेधप्रसक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **नहीति** । विमतमतात्त्विकमप्रामाणिकत्वाद्रज्जुसर्पवत्, न हि धर्मिग्राहकस्य प्रत्यक्षादेस्तत्त्वावेदकं प्रामाण्यं कल्प्यते, विषयस्य दुर्निरूपत्वात्, अतोऽनिर्वाच्यं द्वैतमित्यर्थः । कथं पुनरध्यक्षादिविषयस्य शीतोष्णादिद्वैतस्य दुर्निरूपत्वेनानिर्वाच्यत्वं ? तत्राऽऽह— **विकारो हीति** । ततश्च विमतं मिथ्याऽऽगमापायित्वात्सम्प्रतिपन्नवदिति । फलितमाह— **विकारश्चेति** । वाचारम्भणश्रुतेर्द्वैतमिथ्यात्वेऽनुग्राहकत्वं दर्शयितुं चकारः । किञ्च कार्यं कारणाद्भिन्नमभिन्नं वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— **यथेति** । निरूप्यमाणमन्तर्बहिश्चेति शेषः । विमतं कारणान्न तत्त्वतो भिद्यते, कार्यत्वाद्घटवदित्यर्थः । इतोऽपि कारणाद्भेदेन नास्ति कार्यम् । 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा । [ मां. का. २।६।४।१ ] इति न्यायादित्याह— **जन्मेति** । यदि कार्यं कारणादिभिन्नं तदा तस्य भेदेनासत्त्वे पूर्वस्मादविशेषः । तादात्म्येनावस्थानं तु न युक्तं, तस्यापि कारणव्यतिरेकेणाभावात्, कार्यकारणविभागविधुरे वस्तुनि कार्यकारणपरम्पराया विभ्रमादित्यभिप्रेत्याऽऽह— **मृदादीति** । कार्यकारणविभागविहीनं वस्त्वेव नास्तीति मन्वानश्चोदयति— **तदसत्त्व इति** । अनुवृत्तव्यावृत्तबुद्धिद्वयदर्शनादनुवृत्ते च व्यावृत्तानां कल्पितत्वादकल्पितं सर्वभेदकल्पनाधिष्ठानमकार्यकारणं वस्तु सिद्ध्यतीति परिहरति— **न; सर्वत्रेति** ।

**१ शां. भा.**— यद्विषया बुद्धिर्न व्यभिचरति, तत्सत्, यद्विषया बुद्धिर्व्यभिचरति, तदसत्, इति सदसद्विभागे बुद्धितन्त्रे स्थिते सर्वत्र द्वे बुद्धी सर्वैरुपलभ्येते समानाधिकरणे– न नीलोत्पलवत्– सन् घटः, सन् पटः, सन् हस्ती, इति । एवं सर्वत्र । तयोर्बुद्ध्योः घटादिबुद्धिर्व्यभिचरति । तथा च दर्शितम् । न तु सद्बुद्धिः । तस्माद्घटादिबुद्धिविषयोऽसन्, व्यभिचारात् । न तु सद्बुद्धिविषयः, अव्यभिचारात् । घटे विनष्टे घटबुद्धौ व्यभिचरन्त्यां सद्बुद्धिरपि व्यभिचरतीति चेत्, न, पटादावपि सद्बुद्धिदर्शनात् विशेषणविषयैव सा सद्बुद्धिः । सद्बुद्धिवद्घटबुद्धिरपि घटान्तरे दृश्यते इति चेत्, न; पटादौ अदर्शनात् ।

**२ आ. शां. व्या.**— सम्प्रति सतो वस्तुत्वे प्रमाणमनुमानमुपन्यस्यति— **यद्विषयेति** । यद्व्यावृत्तेष्वनुवृत्तं तत्परमार्थसत्, यथा सर्पधारादिष्वनुगतो रज्ज्वादेरिदमंशः, विमतं सत्यमव्यभिचारित्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्यर्थः । व्यावृत्तस्य कल्पितत्वे प्रमाणमाह— **यद्विषयेत्यादिना** । यद्व्यावृत्तं तन्मिथ्या, यथा सर्पधारादि; विमतं मिथ्या, व्यभिचारित्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्यर्थः । इत्यनुमानद्वयमनुसृत्य सतोऽकल्पितत्वमसतश्च कल्पितत्वम्, स्थितमिति शेषः । ननु नेदमनुमानद्वयमुपपद्यते,

समस्तद्वैतवैतथ्यवादिनो विभागाभावादनुमानादिव्यवहारानुपपत्तेस्तत्राऽऽह— **सदसदिति** । उक्ते विभागे बुद्धिद्वयाधीने स्थिते सत्यनुमानादिव्यवहारो निर्वहति प्रातिभासिकविभागेन तद्योगात्परमार्थस्यैव तद्धेतुत्वे केवलव्यतिरेकाभावादित्यर्थः । कुतः ? सदसद्विभागस्य बुद्धिद्वयाधीनत्वं बुद्धिविभागस्यापि तवाभावात्तत्राऽऽह— **सर्वत्रेति** । व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः । बुद्धिविभागस्यापि कल्पितस्यैव बोध्यविभागप्रतिभासहेतुतेति भावः । बुद्धिद्वयमनुरुध्य सदसद्विभागे सतः सामान्यरूपतया विशेषाकाङ्क्षायां सामान्यविशेषौ द्वे वस्तुनी वस्तुभूते स्यातामिति चेत्, न; इत्याह— **समानाधिकरणे** इति । पदयोः सामानाधिकरण्यं बुद्धयोरुपचर्यते । सोऽयमिति सामानाधिकरण्यवद्घटः सन्नित्यादिसामानाधिकरण्यमेकवस्तुनिष्ठं, वस्तुभेदे घटपटयोरिव तदयोगादित्यर्थः । नीलमुत्पलमितिवद्धर्मधर्मिविषयतया सामानाधिकरण्यस्य सुवचत्वान्न वस्त्वैक्यविषयत्वमिति चेत्, न; इत्याह— **न नीलेति** । न हि सामान्यविशेषयोर्भेदेऽभेदे च तद्भावो भेदाभेदौ च विरुद्धौ, अतो जातिव्यक्त्योः सामानाधिकरण्यं नीलोत्पलयोरिव न गौणं, किन्तु व्यावृत्तमनुवृत्ते कल्पितमित्येकनिष्ठमित्यर्थः । सामान्यविशेषयोरुक्तन्यायं गुणगुण्यादावतिदिशति— **एवमिति** । तुल्यौ हि तत्रापि विकल्पदोषाविति भावः । सामानाधिकरण्यानुपपत्त्या द्वे वस्तुनी सामान्यविशेषाविति पक्षं प्रतिक्षिप्य विशेषा एव वस्तूनीति पक्षं प्रतिक्षिपति— **तयोरिति** । बुद्धिव्यभिचाराद्बोध्यव्यभिचारेऽपि कथं व्यावृत्तानां विशेषाणामवस्तुत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तथा चेति** । विकारो हि स इत्यादाविति शेषः । न चैकं वस्तु सामान्यविशेषात्मकमेकस्य द्वैरूप्यविरोधादित्यभिप्रेत्य सामान्यमेकमेव वस्तु तद्बुद्धेरव्यभिचाराद्बोध्यस्यापि सतस्तथात्वादित्याह— **न त्विति** । व्यभिचरतीति पूर्वेण सम्बन्धः । विशेषाणां व्यभिचारित्वे सतश्चाव्यभिचारित्वे फलितमुपसंहरति— **तस्मादिति** । असत्त्वं कल्पितत्वम् । तच्छब्दार्थमेव स्फोरयति— **व्यभिचारादिति** । सद्बुद्धिविषयस्य सतोऽकल्पितत्वे तच्छब्दोपात्तमेव हेतुमाह— **अव्यभिचारादिति** । बुद्धिव्यभिचारद्वारा बोध्यस्यापि व्यभिचारात्तदव्यभिचारित्वहेतोरसिद्धिरिति शङ्कते— **घटे विनष्ट इति** । सद्बुद्धेर्घटबुद्धिवद्घटविषयत्वाभावान्न घटनाशे व्यभिचारोऽस्तीति परिहरति— **न पटादाविति** । सद्बुद्धेरघटविषयत्वे निरालम्बनत्वायोगाद्विषयान्तरं वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **विशेषणेति** । सतोऽकल्पितत्वहेतोरव्यभिचारित्वस्यासिद्धिमुद्धृत्य विशेषाणां कल्पितत्वहेतोर्व्यभिचारित्वस्यासिद्धिं शङ्कते— **सद्धिति** । यथा सद्बुद्धिर्घटे नष्टे पटादौ दृष्टत्वादव्यभिचारिणीत्यव्यभिचारः सतो दर्शितः, तथा घटबुद्धिरपि घटे नष्टे घटान्तरे दृष्टेत्यव्यभिचाराद्घटे व्यभिचारासिद्धौ विशेषान्तरेष्वपि कल्पितत्वहेतुर्व्यभिचारो न सिध्यतीत्यर्थः । घटबुद्धेर्घटान्तरे दृष्टत्वेऽपि पटादावदृष्टत्वेन व्यभिचाराद्घटादिविशेषेष्वपि व्यभिचारित्वसिद्धिरित्युत्तरमाह— **न; पटादाविति** ।

**१ शां. भा.— सद्बुद्धिरपि नष्टे घटे न दृश्यत इति चेत्, न; विशेष्याभावात् । सद्बुद्धिर्विशेषणविषया सती विशेष्याभावे विशेषणानुपपत्तौ किंविषया स्यात् ? न तु पुनः सद्बुद्धेर्विषयाभावात् । एकाधिकरणत्वं घटादिविशेष्याभावे न युक्तमिति चेत्, न; 'इदं उदकम्' इति मरीच्यादौ अन्यतराभावेऽपि सामानाधिकरण्यदर्शनात् । तस्माद्देहादेर्द्वन्द्वस्य च सकारणस्य असतो न विद्यते भाव इति ।**

**२ आ. शा. व्या.**— विशेषाणामेवं व्यभिचारित्वे सतोऽपि तदुपपत्तेरव्यभिचारित्वहेत्वसिद्धितादवस्थ्यमिति शङ्कते— **सद्बुद्धिरिति** । घटादिनाशदेशे तदुपरक्ताकारेण सत्त्वाभानेऽपि नासत्त्वं, घटाद्यभावाधिष्ठानतया भानादित्याह— **न विशेष्येति** । यथा सर्वगता जातिरित्यत्र खण्डमुण्डादिव्यक्त्यभावदेशे गोत्वं व्यञ्जकाभावान्न व्यज्यते, न गोत्वाभावात्; तथा सत्त्वमपि घटादिनाशे व्यञ्जकाभावान्न भाति न स्वरूपाभावादित्युक्तमेव प्रपञ्चयति— **सदित्यादिना** । सप्रतियोगिकविशेषणव्यभिचारेऽपि स्वरूपाव्यभिचाराद्युक्तं सतः सत्यत्वमिति भावः । द्वयोः सतोरेव विशेषणविशेष्यत्वदर्शनाद्घटसतोरपि विशेषणविशेष्यत्वे द्वयोः सत्त्वध्रौव्याद्घटादिकल्पितत्वानुमानं सामानाधिकरण्यधीबाधितमिति चोदयति— **एकेति** । अनुभवमनुसृत्य बाधितविषयत्वमुक्तानुमानस्य निरस्यति— **नेत्यादिना** । घटादेः सति कल्पितत्वानुमानस्य दोषराहित्ये फलितमुपसंहरति— **तस्मादिति** । प्रथमपादव्याख्यानपरिसमाप्ताविति शब्दः । ननु नेदं व्याख्यानं भाष्यकाराभिप्रेतं, सर्वद्वैतशून्यत्वविवक्षायां शास्त्रतद्भाष्यविरोधात् । केनापि पुनर्दुर्विदग्धेन स्वमनीषिकयोत्प्रेक्षितमेतदिति चेत्, मैवं; किमिदं द्वैतप्रपञ्चस्य शून्यत्वं ? किं तुच्छत्वं ? किंवा सद्विलक्षणत्वम् ?। नाऽऽद्यः, अनभ्युपगमात्; द्वितीयानभ्युपगमे तु तवैव शास्त्रविरोधो भाष्यविरोधश्च, सर्वं हि शास्त्रं तद्भाष्यं च द्वैतस्य सत्यत्वानधिकरणत्वसाधनेनाद्वैतसत्यत्वे पर्यवसितमिति त्रैविद्यवृद्धैस्तत्र तत्र प्रतिष्ठापितम् । तथा च प्रक्षेपाशङ्का सम्प्रदायपरिचयाभावादिति द्रष्टव्यम् ।

**१ शां. भा.— तथा सतश्च आत्मनोऽभावोऽविद्यमानता न विद्यते, सर्वत्र अव्यभिचारादिति अवोचाम । एवं आत्मानात्मनोः सदसतोरुभयोरपि दृष्ट उपलब्धोऽन्तो निर्णयः । सत् सदेव, असदसदेवेति तु अनयोर्यथोक्तयोस्तत्त्वदर्शिभिः-तदिति सर्वनाम, सर्वं च ब्रह्म, तस्य नाम तदिति**

तद्भावः तत्त्वं ब्रह्मणो याथात्म्यम्; तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते तत्त्वदर्शिनः, तैः तत्त्वदर्शिभिः। त्वमपि तत्त्वदर्शिनां दृष्टिमाश्रित्य शोकं मोहं च हित्वा शीतोष्णादीनि नियतानियतरूपाणि द्वन्द्वानि, विकारोऽयमसन्नेव मरीचिजलवन्मिथ्यावभासत इति मनसि निश्चित्य तितिक्षस्वेत्यभिप्रायः ॥१६॥

२ आ. शां. व्या.— अनात्मजातस्य कल्पितत्वेनावस्तुत्वप्रतिपादनपरतया प्रथमपादं व्याख्याय द्वितीयपादमात्मनः सर्वकल्पनाधिष्ठानस्याकल्पितत्वेन वस्तुत्वप्रसाधनपरतया व्याकरोति— **तथेति**। नन्वात्मनः सदात्मनो विशेषेषु विनाशिषु तदुपरक्तस्य विनाशः स्यादित्याशङ्क्य विशिष्टनाशेऽपि स्वरूपानाशस्योक्तत्वान्नैवमित्याह— **सर्वत्रेति** । ननु कदाचिदसदेव पुनः सत्त्वमापद्यते, प्रागसतो घटस्य जन्मना सत्त्वाभ्युपगमात्। सच्च कदाचिदसत्त्वं प्रतिपद्यते, स्थितिकाले सतो घटस्य पुनर्नाशेनासत्त्वाङ्गीकारात्; एवं सदसतोरव्यवस्थितत्वाविशेषादुभयोरपि हेयत्वमुपादेयत्वं वा तुल्यं स्यादिति तत्राऽऽह— **एवमिति** । तुशब्दो दृष्टशब्देन सम्बध्यमानो दृष्टिमवधारयति। न हि प्रागसतो घटस्य सत्त्वं, असत्त्वे स्थिते सत्त्वप्राप्तिविरोधात्। असत्त्वनिवृत्तिश्च सत्त्वप्राप्त्या चेत्प्राप्तमितरेतराश्रयत्वं, अन्तरेणैव सत्त्वापत्तिमसत्त्वनिवृत्तावसत्त्वमनवकाशि भवेत्। एतेन सतोऽसत्त्वापत्तिरपि प्रतिनीतेति भावः। कथं तर्हि सतोऽसत्त्वमसतश्च सत्त्वं प्रतिभातीत्याशङ्क्य तत्त्वदर्शनाभावादित्याह— **तत्त्वेति**। तस्य भावस्तत्त्वम्। न च तच्छब्देन परामर्शयोग्यं किञ्चिदस्ति प्रकृतं प्रतिनियतमित्याशङ्क्य व्याचष्टे— **तदि**-त्यादिना। ननु सदसतोरन्यथात्वं केचित्प्रतिपद्यन्ते, केचित्तु तयोरुक्तनिर्णयमनुसृत्य तथात्वमेवाधिगच्छन्ति, तत्र केषां मतमेषितव्यमिति तत्राऽऽह— **त्वमपीति** ॥ १६ ॥

**३ रा. भा.**— यत्त्वात्मनां नित्यत्वं देहानां स्वाभाविकं नाशित्वं च शोकानिमित्तमुक्तं 'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः' [ २।११ ] इति; तदुपपादयितुमारभते— **नासत इति**। असतो देहस्य सद्भावो न विद्यते। सतश्चात्मनो नासद्भावः। उभयोर्देहात्मनोरुपलभ्यमानयोर्यथोपलब्धितत्त्वदर्शिभिरन्तो दृष्टः। निर्णयान्तत्वान्निरूपणस्य निर्णय इहान्तशब्देनोच्यते। देहस्याचिद्वस्तुनोऽसत्त्वमेव स्वरूपम्; आत्मनश्चेतनस्य सत्त्वमेव स्वरूपमिति निर्णयो दृष्ट इत्यर्थः।

**४ वें. ता. चं.**— 'नासतः' इति श्लोकं व्यवहितप्रकृतस्थापनोपक्रमतयाऽवतारयति— **यत्त्विति** । **स्वाभाविकं** परिणामिस्वभावस्यावश्यम्भावि, न तु हेतुनिरपेक्षं शोकानिमित्तं शोकनिमित्तविरोधि, शोकाभावनिमित्तमित्यर्थः । इतःपूर्वं स्वभावकथनमात्रत्वात् **उपपादयितुमित्युक्तम्** । अस्यापि श्लोकस्योपपादनार्थं प्रतिज्ञामात्ररूपत्वात् **आरभत** इत्युक्तम्। सदसद्भावाभावादिशब्दानां प्रकरणोचितमर्थविशेषं विवृण्वन् व्याख्याति— **असत** इति। असतः सतश्चेति व्याख्येयम्। तस्य प्रकरणादिविशेषितार्थप्रतिपादनं— **देहस्यात्मन** इति। **अनयोरिति** निर्देशफलितमुक्तं— **उपलभ्यमानयोरिति** । तत्त्वदर्शनस्य **तुशब्दद्योतितामुपलम्भानतिवृत्तिमभिप्रेत्याह— यथोपलब्धितत्त्वदर्शिभिरिति**। एतेन तद्ब्रह्म, तद्भावस्तत्त्वमिति **शङ्करोक्तमपहसितम्** । सच्छब्दनिर्दिष्टस्य नित्यस्य विनाशायोगादन्तशब्दस्य निर्णयार्थत्वम् । तत्र शब्दवृत्तिप्रकारम्, इह देहात्मविवेकप्रकरणे **तत्त्वदर्शिभि**रित्यादिसन्निधौ च तस्यैवौचित्यं चाह— **निर्णयान्तत्वादिति** । ननु देहस्य सद्भावो न विद्यत इत्ययुक्तं प्रत्यक्षादिविरोधात्; आत्मनोऽसद्भावो न विद्यत इति चायुक्तम्, "असदेवेदमग्र आसीत्" [ छां. उ. ६।२।१ ] इत्यादिसकलनिषेधदशायां तस्याप्यसच्छब्दवाच्यत्वात्। अवस्थाविशेषापेक्षयाऽपि सत्त्वमसत्त्वं च देहात्मनोर्द्वयोरपि समानम्। अतो भाष्यान्तरवत् सत्कार्यवादादिविषयतया अयं श्लोको व्याख्येय इत्यत्राह— **देहस्येति** । **अचिद्वस्तुनः चेतनस्य** इति पदाभ्यां सत्त्वासत्त्वयोः स्वभावत्वे हेतुः, चिदचिद्विषयतया सदसच्छब्दयोः प्रयोगश्च सूचितः।

**३ रा. भा.**— विनाशस्वभावो ह्यसत्त्वम्; अविनाशस्वभावश्च सत्त्वम्। यथोक्तं भगवता पराशरेण—'तस्मान्न विज्ञानमृतेऽस्ति किञ्चित्क्वचित् कदाचिद्द्विज वस्तुजातम्' [वि. पु. २।१२।४३] 'सद्भाव एवं भवतो मयोक्तो ज्ञानं यथा सत्यमसत्यमन्यत्' [ वि. पु. २।१२।४५ ] 'अनाशी परमार्थश्च प्राज्ञैरभ्युपगम्यते। तत्तु नाशि न सन्देहो नाशिद्रव्योपपादितम्' [ वि. पु. २।१४।२४ ] 'यत्तु कालान्तरेणापि नान्यसंज्ञामुपैति वै। परिणामादिसम्भूतं तद्वस्तु नृप तच्च किम्' [ वि. पु. २।१३।१०० ] इति। अत्रापि 'अन्तवन्त इमे देहाः' [ २।१८ ] 'अविनाशि तु तद्विद्धि' [ २।१७ ] इति ह्युच्यते। तदेव सत्त्वासत्त्वव्यपदेशहेतुरिति गम्यते।

**४ वें. ता. चं.**— नन्वेवमपि देहात्मनो सदसत्त्वचोद्यं न परिहृतमित्यत्राह— **विनाशेति**। हिशब्देन प्रयोगप्रसिद्धिर्द्योतिता, तामेव दर्शयति— **यथोक्तमिति** । दशश्लोक्यां— वस्त्ववस्त्वस्तिनास्तिसत्यासत्यशब्दानां शारीरकभाष्ये पुराणो-

पक्रमोपसंहारादिना तत्प्रकरणोपक्रमोपसंहारादिना मध्ये ' मही घटत्वं घटतः कपालिका ' [ वि. पु. २।१५।४२ ] इत्यादिना च सविकारत्वेनैवावस्तुत्वोपपादनात् श्रुतिस्मृत्यन्तरप्रत्यक्षाद्यनुरोधाच्च निर्विकारसविकारतया नित्यानित्यचेतनाचेतनविषयत्वं स्थापितम्। व्यवहारार्हत्वानर्हत्वादिविषयौ सदसच्छब्दौ, तयोः परमार्थापरमार्थविषयसत्यासत्यशब्दाभ्यां कथमैकार्थ्यमिति शङ्कायां नाशानाशयोरेव परमार्थापरमार्थादिशब्दप्रयोगहेतुत्वे महर्षिवचनमुपादत्ते— **अनाशी**ति। विनाशोपलक्षितपरिणामवृद्ध्यादिभिः पूर्वावस्थाप्रहाणेन संज्ञान्तरयोगादेव अवस्तुशब्दवाच्यत्वं, तदभावाच्च वस्तुशब्दवाच्यत्वमित्यस्मिन्नर्थे स्पष्टोक्तिं दर्शयति— **यत्त्वि**ति। अत्रोत्तरश्लोकद्वयैकार्थ्याच्चायमेवार्थ इत्याह— अत्रापीति। एतेन क्वचिच्चेतनविषयासच्छब्दोऽपि देवादिनामरूपप्रहाणाद्यवस्थाविशेषापेक्षयेत्युक्तं भवति। स्वरूपतस्तु निर्विकारत्वात् सच्छब्दवाच्यत्वमेव; श्लोकयोः व्युत्क्रमेणोपपादनं 'नासतः' इति क्रमापेक्षया। ततः किमित्यत्राह— **तदेवे**ति। प्रतिज्ञातस्यार्थस्य हेतुर्ह्यनन्तरं वाच्यः। तद्धेतुत्वं चात्र स्वरसतोऽवगम्यमानं परित्यज्यार्थान्तरपरत्वं व्याख्यातुं न युक्तमिति भावः।

**३ श. भा.— अत्र तु सत्कार्यवादस्यासङ्गतत्वान्न तत्परोऽयं श्लोकः। देहात्मस्वभावाज्ञानमोहितस्य तन्मोहशान्तये ह्युभयोर्नाशित्वानाशित्वरूपस्वभावविवेक एव वक्तव्यः। स एव 'गतासूनगतासून्' [२।११] इति च प्रस्तुतः। स एव च 'अविनाशि तु तद्विद्धि' [२।१७] 'अन्तवन्त इमे देहाः' [२।१८] इत्यनन्तरमुपपाद्यते। अतो यथोक्त एवार्थः॥ १६॥**

**४ वें. ता. चं.**-कुदृष्टिकल्पितव्याख्यां दूषयति-**अत्रे**ति। न ह्यत्र वैशेषिकादिनिरासः, एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपादनं साङ्ख्यसिद्धान्तोपन्यासादिर्वा प्रक्रियते। न च सत्कार्यवादेन देहात्मविवेकोपपादनं शोकशान्तिर्वा सिद्ध्येत्। सर्वस्य नित्यत्वाच्चेतनानामपि नित्यत्ववर्णनमसिद्धस्यात्यन्तासिद्धेन साधनमिति भावः। उक्तार्थपरत्वे महाप्रकरणसङ्गतिमाह— **देहे**ति। यदज्ञानान्मोहः, तस्यैव हि ज्ञापनं तन्निवृत्तये स्यादिति भावः। अत्र 'तन्मोहशान्तये' इति द्वितीयाध्यायार्थसङ्ग्रहश्लोकः सूचितः। सत्कार्यवादे पूर्वोत्तरविरोधमभिप्रयन् स्वोक्तस्यावान्तरप्रकरणसङ्गतिमप्याह-**स एवे**ति वाक्यद्वयेन। **अनन्तर**मिति। नहि मात्रयाऽप्यन्यव्यवधानमस्तीति भावः। **प्रस्तुत उपपाद्यत** इतिशब्दाभ्यामपौनरुक्त्यं दर्शितम्। उपसंहरति— **अत** इति। **यथोक्त एवे**त्यवधारणेनान्येषामपि व्याख्यातॄणामसत्प्रतिभासा निवर्त्यन्ते। यत्तूक्तं यज्ञस्वामिना— 'असच्छब्देनाशुभं रजस्तमस्तत्कार्यं दुःखादिकं गृह्यते। सच्छब्देन तु सत्त्वतत्कार्यसुखादिकम्। भावाभावशब्दाभ्यां चाभ्युदयानभ्युदयपर्यायौ भूत्यभूती। उभयोरपि दृष्टोऽन्त इति च राशिद्वयस्य नश्वरत्वमुच्यते। ततश्च पूर्वोक्तद्वन्द्वतितिक्षाहेतुभूतदुःखात्मकत्वनश्वरत्वयोरेव प्रपञ्चनं कृतं भवति' इति। तदयुक्तम्; रजस्तमःप्रभृतीनामसदादिशब्दैरुपादाने प्रकरणाद्ययोगात्; एतदभिप्रायेण च **स एव प्रस्तुत** इत्युक्तम्। ननु 'मात्रास्पर्शास्तु' इति श्लोके मात्राशब्देन सत्त्वादिगुणा उच्यन्ते। तथा च कपिलासुरीयके— 'गुणाः गुणमात्राः, गुणलक्षणं गुणा अवयवं सत्त्वं रजस्तम इति गुणा इत्युच्यन्ते। सत्त्वादिगुणानां गुणाश्च तेषां मात्रा अपदिश्यन्ते। तत्र तत्त्वदर्शनताभयनाशस्वभावताप्रसन्नेन्द्रियतासुखस्वप्रबोधनतेति सत्त्वमात्रा इत्यादौ उपकरणेषु च मात्राशब्दः प्रयुज्यते। 'लघुमात्रः परिव्रजेत्' इत्यादिषु मात्राशब्देन शब्दादिविषयग्रहणे तु शीतोष्णशब्दपौनरुक्त्यं च स्यात्' इति। तदप्यसत्— मात्राशब्दस्य सत्त्वादिषु मुख्यप्रयोगाभावादन्यत्रापि प्रसिद्ध्यभावादत्राप्रसिद्धार्थस्वीकारहेत्वभावाच्च। शीतोष्णशब्दपौनरुक्त्यं तु सामान्यविशेषपरत्वात्, प्रदर्शनार्थत्वाच्च परिहृतम्। अस्तु तर्हि प्रस्तुतयोः सुखदुःखयोरेव सदसच्छब्दाभ्यां ग्रहणम्। मैवं; तयोरेव अभ्युदयानभ्युदयरूपत्वविवक्षायां तद्धेतुतया व्यतिरेकनिर्देशायोगात्। सुखदुःखयोर्दुःखसुखकारणत्वनिर्देशश्च लोकवेदविरुद्धः। सुखादिनैश्वर्यनिवृत्त्यादिकथनं च प्रस्तुतानुपयुक्तम्। एवं योजनान्तरेष्वपि दूषणमूह्यम्। अतो महाप्रकरणपूर्वापरादिसङ्गतेर्यथोक्त एवार्थः॥ १६॥

**५ आ. मा. भा.— नित्य आत्मेत्युक्तम्, किमात्मैव नित्य आहोस्विदन्यदपि? अन्यदपि; तत्किमिति आह— नासत इति। असतः कारणस्य सतो ब्रह्मणश्चाभावो न विद्यते—'प्रकृतिः पुरुषश्चैव नित्यौ कालश्च सत्तम' इति वचनाच्छ्रीविष्णुपुराणे। पृथग्विद्यत इत्यादरार्थः। असतः कारणत्वं च—'सदसद्रूपया चासौ गुणमय्याऽगुणो विभुः' इति भागवते, "असतः सदजायत" इति च, अव्यक्तेश्च। सम्प्रदायतश्चैतत्सिद्धमित्याह— उभयोरपीति। अन्तो निर्णयः॥ १६॥**

**६ ज. प्र. दी.**—'न त्वेवाहं' [२।१२] इत्यत्र भगवान् कृष्णोऽपि यं प्रति पक्षे निक्षिप्तः, स आक्षेप्तुं प्रसक्तिं दर्शयति— **नित्य** इति। उक्तमनादित्वेन हेतुनाऽनुमितम्। ततः किमित्यत आह— **किमि**ति। अनादिश्चेत्यपि ग्राह्यम्। आद्ये दृष्टान्ताभावेन व्याप्तिग्रहासम्भवः। द्वितीयस्त्वप्रामाणिकत्वादशक्योपन्यास इति पूर्वपक्ष्यभिप्रायः। विदिताभिप्रायः सिद्धान्ती किमृजावन्वये सम्भवति, वक्रेण व्यतिरेकेणेति मन्यमानो द्वितीयपक्षमुपादत्ते— **अन्यदपी**ति। उक्ताभिप्रायेण पृच्छति— **तदि**ति। इति शङ्कायामिति शेषः। दुर्गमार्थत्वात्पूर्वार्धं व्याचष्टे— **असत** इति। कारणस्य प्रकृतेः।

अभावः प्रागभावः प्रध्वंसश्च । कुत एतदित्यतो भाष्यकारस्तावत्प्रमाणमाह— **प्रकृतिरि**ति । पुरुषः परमात्मा ब्रह्मशब्दोक्तः । अनादित्वेऽप्येवमागमो ज्ञेयः । ननु असतः सतश्चाभावो न विद्यत इत्येकेनैव वाक्येन द्वयोरभावप्रतिषेधे कर्तुं शक्ये किमेवं पृथक्प्रतिषेधेनेत्यत आह— **पृथगि**ति । **विद्यत** इति वाक्यद्वयग्रहणम् , असतो भावो न विद्यते, सतश्चाभावो न विद्यते इति द्वयोः पृथगभावप्रतिषेध आदरार्थं इति योज्यम् । आदरश्चानुमानव्याप्तिसद्भावे । अतएवानेकदृष्टान्तप्रदर्शनम् । ननु सतो ब्रह्मण इत्यस्तु, असतः कारणस्येति तु कथमिति अत आह— **असत** इति । असच्छब्दार्थस्य कारणत्वं च भागवते प्रसिद्धमित्यर्थः । असतोऽसच्छब्दस्य कारणत्वं कारणार्थत्वमिति वा । सदसद्रूपया कार्यकारणरूपया । असत इति श्रुतेरनेकार्थत्वादत्रोदाहरणम् । कारणस्याव्यक्तेश्च असच्छब्दार्थत्वम् । गत्यर्थस्य सदेः कर्मणि क्विबन्तस्य हि सदिति रूपम् । 'असदव्यक्तरूपत्वात्कारणं चापि शब्दितम् ' इति वचनात् । अत्रार्थे भगवता प्रमाणमुच्यते— **उभयोरपी**ति । तदसत् । अन्यदर्शनस्यान्यान्प्रत्यप्रत्यायकत्वात् इत्याशङ्क्य दर्शनमूलकः सम्प्रदायः उपदेशपरम्परारूपो लक्षणयाऽत्र प्रमाणत्वेनोच्यत इत्याह— **सम्प्रदायतश्चे**ति । चशब्दो भाष्यकारोदितप्रमाणसमुच्चये । आगमो ग्रन्थनिबद्धं वाक्यं, सम्प्रदायस्तु उपदेशपरम्परामात्रमिति भेदः । एतत्प्रकृतिपुरुषयोरनादिनित्यत्वम् । केचिदपिशब्दस्य भिन्नक्रमत्वमङ्गीकृत्य तेन सूचितं प्रमाणं प्रागुदाहृतमिति वर्णयन्ति । नन्वन्तो विनाशादिः परिच्छेदो वाऽत्र तत्त्वदर्शिभिर्दृष्ट इत्युच्यते तत्कथं न विरोध इत्यत आह— **अन्त** इति । निर्णयोऽनादिनित्यत्वावधारणम् । अपव्याख्यानं त्वन्यत्र निराकृतम् ॥ १६ ॥

**७ ह. पै. भा.— इतश्च शोकमोहावकृत्वा शीतोष्णादिसहनम्; यस्मादुक्तम्— नासत इत्यादि । असतोऽविद्यमानस्य रज्जुसर्पवद्दृष्टनष्टस्वभावस्य जगतो भावः सत्ता न विद्यते । तथा परमार्थस्य सत आत्मनोऽभावोऽविद्यमानता न विद्यते, सर्वत्राव्यभिचारात् । अनयोः सदसतोर्दृष्ट उपलब्धोऽन्तो निश्चयः, तत्त्वदर्शिभिरात्मदर्शिभिरित्यर्थः । तस्मात्तत्त्वदर्शिनां दृष्टिमाश्रित्य शोकं मोहं च हित्वा शीतोष्णादींस्तितिक्षस्वेत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु सुखदुःखयोर्मिथ्यात्वात्तन्निमित्तकौ हर्षविशादौ न सम्भवत इत्युक्तम्, तदयुक्तम्, मिथ्यात्वस्यैव तयोर्निर्वक्तुमशक्यत्वात्; तथाहि— न तावदत्यन्तासत्त्वं मिथ्यात्वम् , सुखदुःखयोरात्मन्यसत्त्वेऽप्यन्तःकरणे सत्त्वोपगमेन शशशृङ्गवत्तयोरत्यन्तासत्त्वाभावात्; नापि सद्भिन्नत्वम् ; तद्धि सत्त्वानधिकरणत्वम्, अन्यथा सतोऽपि सदन्तरभिन्नत्वेनातिव्याप्तेः ; तच्चासम्भवि, सुखदुःखादिप्रपञ्चस्य सत्त्वाधिकरणत्वात् इत्याशङ्क्य, सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वमेव मिथ्यात्वमिति दर्शयितुं सुखदुःखादिप्रपञ्चे सदसत्त्वयोरनुपपत्तिमाह— अत्र सदसच्छब्दौ "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् असदेवेदमग्र आसीत् " [ छां. उ. ६।२।१ ] "कथमसतः सज्जायेत " [ छां. उ. ६।२।२ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धसदसद्वाचिनौ । भावाभावशब्दौ तु न सत्तातदभाववाचिनौ, सदसतोरसत्त्वतदभावाभावस्य घटाघटयोरघटत्वतदभावाभाववल्लोकप्रसिद्धत्वेनानुपदेष्टव्यत्वात् । किन्तु उत्पत्तिविनाशवाचिनौ ; 'भावः सत्तास्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु ' [ अमरे३।३।२०६ ] इत्यनुशासनेन भावशब्दस्योत्पत्तिवाचितया तत्प्रतिद्वन्द्वित्वेन उपात्तस्याभावशब्दस्यापि उत्पत्तिप्रतिद्वन्द्विविनाशरूपाभावपरत्वौचित्यात्, 'नाभावो विद्यते सतः ' इत्येतद्विवरणपरे 'अविनाशि तु तद्विद्धि ' इत्यग्रिमश्लोके विनाशपरत्वेनैवाभावशब्दस्य दर्शितत्वेन भावशब्दस्यापि तत्प्रतिद्वन्द्विजन्मार्थकत्वप्रदर्शनाच्च । ततश्चायमर्थः— असतः अत्यन्तासतो निस्स्वरूपस्य भावो भवनमुत्पत्तिर्न विद्यते, सतः त्रिकालाबाध्यरूपस्य परमार्थसतः अभावो नाशो न विद्यते । अपिशब्दश्चोत्तरार्धादिहानुषञ्जनीयः । तेन असत उत्पत्तिर्नाशोऽपि न विद्यते, सतो नाश उत्पत्तिरपि न विद्यत इत्यर्थः सिध्यति । इत्थं अनयोरुभयोरपि सदसतोः अन्तो निश्चयो दृष्टः । 'अन्तोऽस्त्री निश्चये नाशे ' इति निघण्टुः । तथा च सुखदुःखादेः प्रपञ्चस्यात्यन्तासत्त्वे शशशृङ्गादेरिव तस्योत्पत्तिर्नाशश्च न घटते, सत्त्वे त्वात्मवन्नाशो जन्म च न घटत इत्युत्पत्तिविनाशशीलस्य प्रपञ्चस्य सत्त्वेनासत्त्वेन च विचारासहत्वरूपं मिथ्यात्वं सिद्ध्यतीत्यर्थः ।

ननु 'नासतो विद्यते भावः ' इति युक्तम् , अत्यन्तासतः शशशृङ्गादेरुत्पत्तिनाशाभावात् ; 'नाभावो विद्यते सतः' इति तु न युक्तम्, परमार्थसत एव घटादेर्जन्मविनाशसम्भवात् तार्किकादिभिस्तथैवाभ्युपगमाच्च इत्याशङ्क्याह— **तत्त्वदर्शिभिरि**ति । अन्तस्त्वित्यत्र तुशब्दस्यावधारणार्थकस्यात्रान्वयः । वस्तुयाथात्म्यदर्शिभिरेवायं निर्णयो दृष्टः, न तु कुतार्किकैः । अतस्ते भ्रान्ता इत्यर्थः ।

अयं भावः— कालत्रयाबाध्यत्वमेव हि सत्त्वम् , सत्ताजातेरर्थक्रियाकारित्वस्यान्येषां वा सत्त्वनिर्वचनानामसम्भवस्यान्यत्र प्रपञ्चितत्वात् । कालत्रयाबाध्यस्य चोत्पत्तिविनाशौ न सम्भवतः । न हि सर्वकालेष्वप्यबाध्यस्वरूपतयाऽवस्थितस्य उत्पत्तिर्नाशो वाऽस्ति, तादृश्यस्यात्मनोऽपि तत्प्रसङ्गात्, घटादेः सर्वकालाबाध्यत्वे उत्पत्तेः पूर्वमप्युपलम्भप्रसङ्गाच्च; कारकव्यापारवैयर्थ्यापाताच्च । न चोत्पत्तेः पूर्वं सूक्ष्मरूपेण घटादिकं सत् स्थूलरूपेण त्वसदिति नोक्तदोष इति वाच्यम् ; स्थूलरूपस्य सूक्ष्मरूपेण सहाभेदे तद्दोषतादवस्थ्यात्, भेदे च कालत्रयाबाध्यत्वायोगात् । अतः सदसद्विलक्षणमनिर्वचनीयमेवोत्पद्यते नश्यति चेत्यवश्यमभ्युपेयम् । न च सद्विलक्षणस्यासत्त्वात् असद्विलक्षणस्य च सत्त्वात् कथ-

सुभयवैलक्षण्यमेकत्रेति वाच्यम्; उक्तरीत्या घटादावेव कालत्रयाबाध्यवैलक्षण्यस्य अत्यन्तासद्वैलक्षण्यस्य च दर्शनेन "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्" [ऋ. ८। ] इत्यादिश्रुतिप्रतिपन्नत्वेन च सदसद्वैलक्षण्यस्यैकत्र न्यायमते संयोगतदभावयोरिव भट्टमते भेदाभेदयोरिव च प्रमितत्वेनाविरोधादिति।

अत्र च असद्विलक्षणत्वमात्रं सत्यतिव्याप्तमिति सद्विलक्षणत्वविशेषणं समर्पयितुं 'नाभावो विद्यते सतः' इत्युक्तम्। तावन्मात्रं चासत्यतिव्याप्तमित्यसद्विलक्षणत्वविशेषणं समर्पयितुं 'नासतो विद्यते भावः' इत्युक्तम्। यद्यप्यसति तुच्छे सद्विलक्षणत्वधर्मसत्त्वे धर्मिसत्त्वावश्यम्भावान्नातिव्याप्तिः, तथाप्यभ्युपगमवादेनासद्विलक्षणत्वविशेषणम्। वस्तुतः सत्त्वानधिकरणत्वमात्रमेव मिथ्यात्वलक्षणम्। अत एव असद्विलक्षणत्वविशेषणस्यानावश्यिकत्वाभिप्रायेण तत्समर्पकस्य 'नासतो विद्यते भावः' इत्यस्य विवरणमकृत्वा 'नाभावो विद्यते सतः' इति सद्विलक्षणत्वसमर्पकद्वितीयपादस्यैव विवरणम् 'अविनाशि तु तद्विद्धि' इत्यग्रिमश्लोकेन क्रियते। न च तथापि सद्विलक्षणत्वविशेषणं व्यर्थं सतो निर्धर्मकत्वेन तत्रासद्विलक्षणत्वरूपधर्माभावादेवानतिव्याप्तेरिति वाच्यम्; निर्धर्मके पारमार्थिकधर्माभावेऽपि व्यावहारिकधर्मसत्त्वेन तत्रातिव्याप्तेः सम्भवात्। व्यावहारिकधर्मानादायैव निर्धर्मके सर्वोऽपि व्यवहार इति सिद्धान्तमर्यादा; अन्यथा 'अनुभूतिः स्वप्रकाशा, अनुभूतित्वात्' इत्याद्यनुमानेषु बाधासिद्धी, स्वप्रकाशत्वादिलक्षणेष्वसम्भवश्चेत्यापद्येतेति सङ्क्षेपः।

यद्यप्यत्र **भाष्ये** 'नासतो विद्यते' इत्यत्र 'असतः कदाचिदविद्यमानस्य देहादेर्विकारस्य भावः सत्ता न विद्यते, विकाराणां कारणव्यतिरेकेणासत्त्वस्य वाचारम्भणादिश्रुतिसिद्धत्वेन प्रपञ्चस्याज्ञानमात्रत्वपर्यवसानात्' इति व्याख्यातम्; तथापि सदसद्विलक्षणत्वेन जगन्मिथ्यात्वप्रतिपादनपरतया स्पष्ट एवास्मिञ्छ्लोके प्रकारान्तरेणापि मिथ्यात्वपरत्वं योजयितुं शक्यमिति प्रौढिवादेनैव तद्व्याख्यानम्, निरुपपदस्यासत्पदस्यात्यन्तासति स्वरसस्य कदाचिदविद्यमानदेहादिपरत्वोक्तेरनाञ्जस्यात्। 'नाभावो विद्यते सतः' इत्युक्तम्, किं पुनस्तत्सदित्याकाङ्क्षोत्तरत्वेन 'अविनाशि तु' इत्यग्रिमश्लोकमवतार्य 'असतो विशेषणार्थस्तुशब्दः; अविनाशि तद्विद्धि; किम्? येन सर्वमिदं व्याप्तम्' इति व्याचक्षाणेन भगवता भाष्यकृता अविनाशिपदेन पूर्वश्लोकोक्तसत्परामर्शप्रदर्शनेन 'नाभावो विद्यते सतः' इत्यत्र विनाशाप्रतियोगित्वेन सद्विवक्षितमित्याविष्करणेन 'नासतो विद्यते भावः' इत्यत्राप्युत्पत्त्यप्रतियोगित्वेन सद्विवक्षितमिति प्राप्त्या उत्पत्तिविनाशान्यथानुपपत्तिप्रयुक्तं यत्सदसद्वैलक्षण्यरूपं मिथ्यात्वम्, तत्पर एवायं श्लोक इत्येव भाष्याभिप्रायावगमाच्चेति न तदुल्लङ्घनशङ्कावकाशः।

'असतः अनात्मधर्मत्वादविद्यमानशीतोष्णादेरात्मनि भावः सत्ता न विद्यते, सतश्चात्मनोऽभावो नाशो न विद्यते' इति **श्रीधरीयव्याख्याने** तु असच्छब्देनानात्मधर्मोक्तावशब्दार्थकथनम्, अनात्मधर्मत्वहेतुकस्यात्मन्यविद्यमानत्वस्योक्तौ आत्मन्यविद्यमानस्यात्मनि भावः सत्ता न विद्यत इति साध्याविशिष्टो हेतुः, नाभाव इत्यभावशब्दस्य नाशार्थकत्वेन व्याख्याने तत्प्रतिद्वन्द्विभावशब्दस्योत्पत्त्यर्थकत्वमेव व्याख्यातुमुचितं च।

'असतो देशकालवस्तुपरिच्छेदवतो घटादेः भावः सत्ता तादृशापरिच्छेदसत्यत्वरूपं पारमार्थिकत्वं न विद्यते, सतः अपरिच्छिन्नस्य अभावः देशकालवस्तुपरिच्छेदो न विद्यते' इति **मधुसूदनसरस्वती**व्याख्यानेऽपि देशकालवस्तुपरिच्छेदवति घटादावसत्पदाप्रयोगादशब्दार्थव्याख्यानम्, जगत्सत्यत्ववादिभिरपि प्रपञ्चस्य देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यत्वरूपसत्त्वस्यानुपगमात् तदभावरूपमिथ्यात्वपरत्वे अस्य श्लोकस्य पराभिमतसत्यत्वविरोधिमिथ्यात्वपरत्वासिद्धिश्च इत्यादि विचारणीयम्।

यत्त्वत्र **माध्वव्याख्यानम्**– "'न त्वेवाहं' [२।१२] इति श्लोकोक्तं ब्रह्मणो नित्यत्वं समर्थयमानः प्रसङ्गात्प्रकृतेरपि नित्यत्वं समर्थयते— **नासत** इति। असतः कारणस्याव्यक्तस्य सतो ब्रह्मणश्च अभावो न विद्यते। पृथगभावप्रतिषेध आदरार्थः। यद्वा 'पापमेवाश्रयेदस्मान्' [१।३६] इत्यादिना बन्धुवधस्य पापहेतुत्वमुक्तं निराकरोति—**नासत** इति। सदसच्छब्दौ सत्कर्मासत्कर्मवाचिनौ, 'सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते' [१७।२६] इति वक्ष्यमाणत्वात्। भावाभावशब्दौ च सुखदुःखवाचिनौ। तथा च असत्कर्मणः सकाशाद्यथा सुखं नास्ति, तथा सत्कर्मणः सकाशाद्दुःखं नास्तीति तत्त्वदर्शिभिर्दृष्टम्। इदं च बन्धुहननं नारायणद्विडनुबन्धिनिग्रहरूपत्वात्सत्कर्मैव" इति, तत्तुच्छम्। अर्जुनशोकनिरासार्थं प्रवृत्तेऽस्मिन्प्रकरणे साक्षात्तन्निरासानुकूलार्थप्रतिपादकत्वे सम्भवति प्रसङ्गसङ्गत्या प्रकृतिनित्यत्वप्रतिपादनपरत्वस्यान्याय्यत्वात्, 'नाभावो विद्यते सतः' इति द्वितीयपादगतसच्छब्दप्रतिद्वन्द्वितया प्रथमपादे 'नासतः' इत्यसत्पदस्यैव तत्रत्याभावशब्दप्रतिद्वन्द्वित्वेनात्र भाव इत्येव पदस्य च्छेत्तव्यतया तथैव चार्थस्याप्युपपन्नतया उभयत्राप्यभाव इति पदच्छेदस्य आदरार्थं पृथगभावनिषेध इति तद्व्याख्यानस्य च अगतिकगतित्वेनास्वारस्याच्च, 'न त्वेवाहम्' इत्यत्र 'भगवन्नित्यत्वप्रदर्शनं दृष्टान्तार्थम्, अर्जुनेन भगवत्सामर्थ्यस्य बहुशो दृष्टत्वेन जीवविलक्षणतयाऽवगते तस्मिन्नित्यत्वशङ्कानुदयात्' इति वदतस्तव अस्मिन् श्लोके भगवन्नित्यत्वसमर्थनपरत्वोक्त्यनौचित्याच्च। न चात्रापि दृष्टान्तार्थमेव तदिति युक्तम्, इवकारादेरश्रवणात् 'उभयोरपि दृष्टोऽन्तः' इत्युभयत्रापि तुल्यवद्दृष्टत्वविधानेन दृष्टान्तभावासम्भवाच्च। किञ्च प्रकृतिशब्देन जडप्रकृतेरुक्तौ अज्ञानाविद्यामायादिशब्दवाच्यातिरिक्तजडप्रकृतौ मानाभावेन अज्ञानस्य च ज्ञाननिवर्त्यत्वेन "तमः पुरुषे लीयते" [ ] 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निर्गुणे प्रविलीयते' [ ] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यश्चानित्यतया तन्नित्यत्वानुपपत्तिः; चित्प्रकृतेरभिधाने तु तस्याः परब्रह्माभिन्नत्वोक्तौ 'नाभावो विद्यते सतः' इति ब्रह्मनित्यत्वाभिधानेनैव तन्नित्यत्वसिद्ध्या नासत इति पृथक्तदुक्तिवैय-

र्थ्यम् उभयोरपीति भेदोक्त्ययोगश्च, ब्रह्माभिन्नत्वोक्तौ तु जीवातिरिक्तब्रह्मभिन्नचिदसिद्धेर्जीवनित्यत्वस्य चेह साक्षात्प्रस्तुतस्य प्रसङ्गसङ्गत्ययोगः। यद्वेत्याद्यप्ययुक्तम्; सदसतोर्दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकभावानुपपत्तेरुक्तत्वात्, 'सद्भाववाचकाः शब्दाः सर्वे ते सुखवाचकाः' इति त्वत्कल्पितवचनस्याप्रमाणत्वेन भावाभावशब्दयोः सुखदुःखवाचित्वासिद्धेश्च, भीष्मादिहननं नारायणाद्विडनुबन्धिनिग्रहरूपत्वात् सत्कर्मेत्यस्यार्थस्य अत्र श्लोकेऽनुपलम्भात्, उपलभ्यमानस्य च त्वदुक्तरीत्या पुण्यपापयोः सुखदुःखहेतुत्वरूपार्थस्य अर्जुनेन प्रागेवावगततया तदुपदेशवैयर्थ्याच्च। एतेन यदत्र **रामानुजेन** व्याख्यातम्—"सदसच्छब्दौ अविनाशितदन्यवचनौ, 'अनाशी परमार्थश्च' इत्यादिविष्णुपुराणवचनात्। एवं च असतः नश्वरस्य देहस्य भावः सत्त्वमनश्वरत्वं न विद्यते, सतश्च अनश्वरस्यात्मनः अभावो नाशित्वं न विद्यते" इति, तदपि निरस्तम्; घटाघटयोः अघटत्वतदभावाभाववन्नश्वरानश्वरयोः अनाशतदभावाभावरूपार्थस्य लोकसिद्धत्वेनोपदेशवैयर्थ्यात् तत्त्वदर्शिपदानर्थक्याच्च, हेतोः साध्याविशिष्टत्वेन सदसत्पदयोर्हेतुसमर्पकत्वायोगाच्चेत्यलं बहुना।

तस्माद्व्याख्यानान्तरायोगात्सुखदुःखादिप्रपञ्चस्य सदसद्भिन्नत्वेन मिथ्यात्वात्तत्सहनं युक्तमिति भगवत्पादव्याख्यानमेव युक्तम्॥ १६॥

९ व० त० दी०— अस्तित्वरूपविकारं निराकुर्वन् अशोच्यतामाह— नासत इति। उत्पत्त्यनन्तरभावित्वादस्तित्वविकारादिरिति भावः। यथा "असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत" [ तै. उ. २।७ ] इति श्रुतौ "कथमसतः सज्जायेत" [ छां. उ. ६।२।२ ] इति तर्कविरोधादसद्वादो निराकृतस्तथाऽत्रापि भगवताऽसद्वादो निराक्रियते। असतः कालत्रयेऽप्यविद्यमानस्य खपुष्पादेर्भावः सत्ता न विद्यते। अथ च सतो विद्यमानस्य कालत्रयेऽपि सतोऽप्यात्मनः अभावो न। आत्मा नाऽभून्नास्ति न भविष्यतीत्यप्रतीतेः। असतो हि न सत्तेत्यतो देहादीनां सत्ताऽपि न वक्तुं शक्या विनाशित्वात्। असत्ताऽपि न वक्तुं शक्या, उत्पत्तिमत्त्वात्। यतोऽसतो भावः उत्पत्तिर्नोपपद्यते, इत्यतः सदसत्त्वं देहादिप्रपञ्चस्यास्य वाच्यं; सदसद्भिन्नत्वे च सदसत्वानपायात्। अत एवोक्तम्—'छाया प्रत्याह्वयाभासा असन्तोऽप्यर्थकारिणः। एवं देहादयो भावा यच्छन्त्यामृत्युतो भयम्' इति विनाशिस्वरूपत्वेऽपि अर्थकारित्वात्सत्वम् 'यथासतोदानयनाद्यभावात्' इति भागवतवाक्यात्। सदसत्स्वरूपप्रकृतिकार्यत्वादपि तथात्वमिति वयमवोचाम। इदमेवानित्यत्वं प्रागभावप्रतियोगित्वेन ध्वंसप्रतियोगित्वात्। नित्यत्वं चास्य प्रकृतिकारणभूतसच्चिदानन्दात्मकब्रह्मानन्यत्वदृष्टेत्यवधेयम्। यथोक्तं श्रीविष्णुपुराणे— 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्' इत्यादि, 'अक्षरात्मकमेतद्धि' इति च। न च वेदस्तुतावसत्त्वमेवास्योपपादितमिति वाच्यम्, ततो भेदेन सत्त्वनिराकरणात्। मीमांसकादिमतस्य निराकरणीयत्वेन कटाक्षितत्वमिति तत्रैवोक्तं 'व्यवहृतये विकल्प ईषित' इत्यादि। यद्वा नासत इति। अत्रायं विचारः। सद्विविधं शुद्धमशुद्धं च, शुद्धमात्मगतं अशुद्धमनात्मगतमिति। तथा च असत आत्मापेक्षया शुद्धसत्त्वरहितस्य जनस्य देहादेर्भावः शुद्धं सत्त्वमस्तित्वं न विद्यते किन्तु विकृतमस्थिरं च तथा सतः शुद्धास्तित्ववत आत्मनः अक्षरात्मैकाभिप्रायेणैकवचनम्, तस्याभावोऽसत्त्वं शुद्धास्तित्वाभावो विकृतमस्तित्वं न विद्यते इति उभयोरनयोर्निर्णयस्तत्त्वदर्शिभिर्दृष्टः। एतेन वृद्धिविपरिणामावपि निराकृतौ॥ १६॥

१० पु. अ. त.— ननु दुःखादिसहनादेतद्देहनाश एव स्यात्, देहनाशेन मोक्षस्तु नापेक्षित एव, ततः किं दुःखसहनेनेत्याशङ्क्याह— नासत इति। असतो लौकिकस्य भावोऽलौकिको न विद्यते सतः अलौकिकस्य भगवत्सत्तात्मकस्य नाभावो नाशो न विद्यते इत्यर्थः। अत्र निदर्शनं गोपिका एकास्त्वन्तर्गृहगताः, द्वितीयास्तु भगवद्रासलीलागताः, तदाहुः उभयोरपीति। तु शब्दः त्वदर्शननिवारणार्थः। अनयोरुभयोरपि तत्त्वदर्शिभिः भगवदर्शनयोग्यैर्भगवदीयैः अन्तो दृष्टः, तत्फलं दृष्टमित्यर्थः। त्वमपि तथा चेदिच्छसि तदा सुखदुःखादि सहस्व, नैतावता भगवद्योग्यदेहादिनाशो भविष्यतीति भावः॥ १६॥

११ नी० भा० दी०— ननु सुप्तिसमाध्यादौ त्यक्तोपाधेरात्मनः समदुःखसुखत्वेऽपि सोपाधिकदशायां तप्तायःपिण्डस्य दग्धृत्वमिव तस्य दुःखित्वं दुर्वारम्, उपाधिश्च मूलप्रकृतेर्व्याविकाया मात्रारूप इति, तत्सत्त्वे तु न निर्मूलोच्छेदमर्हत्यतः 'सोऽमृतत्वाय कल्पते' [२।१५] इत्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याह— नासत इति। प्रमात्रादेरागमापायित्वेन कादाचित्कत्वात् रज्जूरगादिवत् असतः भावः सत्ता कालत्रयेऽपि नास्ति। अयमर्थः— प्रमात्रादिमूलाज्ञानेन चिदात्मनि कल्पितः मूलाज्ञानस्य चात्मज्ञानेन निवृत्तौ कारणाभावान्न पुनः प्रमात्राद्युद्भवोऽस्तीति निष्प्रत्यूहममृतत्वं ज्ञानात्सिद्ध्यतीति।

नन्वप्रतीतिमात्रात् प्रमात्रादेर्मिथ्यात्वोपगमे आत्मनोऽपि सुषुप्त्यादावप्रतीयमानत्वाविशेषान्मिथ्यात्वमस्तु उभयोर्वा सत्यत्वमस्तु इत्याशङ्क्याह— नाभावो विद्यते सत इति । सद्वस्तुनः अभावोऽसत्त्वं कदाचिदपि न विद्यते सुषुप्त्यादावप्यनुभूतयोः सुखाज्ञानयोः 'सुखमहमस्वाप्सं, न किञ्चिदवेदिषम्' इत्युत्थाने परामर्शदर्शनात् तदनुभवमन्तरेण तयोः परामर्शासम्भवात्, अतः सतोऽसत्त्वं नास्ति । श्रुतिरपि सुप्तिकैवल्ययोः प्रमात्राद्यभावं द्रष्टुर्नित्यत्वं चाह— " यद्वै तन्न पश्यति, पश्यन्वै तन्न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्, नतु तद्द्वितीयमस्ति, ततोऽन्यद्विभक्तं यत्पश्येत् " [ बृ. उ. ४।३।२३ ] इति ।

यदि प्रमात्रादिः सत्यस्तर्हि सतोऽर्थस्य सुषुप्त्यादावदर्शनं सान्निध्याभावाद्वा द्रष्टुर्दृग्लोपाद्वा वक्तव्यम् ? नाद्यः, आत्मनि दृष्टनष्टस्वभावस्यान्यत्र सद्भावकल्पनायोगात् । नान्त्यः, उदाहृतया श्रुत्यैव तन्निषेधात् । तस्मादुभयोरपि सत्यत्वेन मिथ्यात्वेन वा साम्यं दुर्वचम् । ननु सत आकाशादेः क्वचिदपि देशे काले चाभावो यद्यपि नास्ति तथापि सत एव परमाणोर्देशान्तरेऽभावोऽस्ति प्रागसतोऽपि घटादेर्भावश्च दृष्टः तत्कथमुच्यते 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' इत्याशङ्क्य विद्वदनुभवेन निरस्यति— उभयोरपीति । अन्तो याथात्म्यम् । यथा स्वप्ने नभःकुम्भरज्जूरगादयो नित्यत्वानित्यत्वसत्यत्वासत्यत्वादिधर्मोपेततया निश्चिता अपि प्रबोधेन बाध्यन्ते, तद्वज्जाग्रद्दृष्टा अपि ते तत्त्वज्ञानेन बाध्यन्ते । ननु जाग्रद्वासनावशात् स्वप्नगतनभआदौ नित्यत्वादिनिश्चयो भ्रम इति चेत्, अनादिकालप्रवृत्तप्राग्भवीयसंस्कारवशात् जाग्रन्नभआदावपि स भ्रम एवेति तुल्यम् । ननु स्वरूपसदेव रजतादिकं शुक्त्यादावध्यस्यते, न त्वसत्; शशशृङ्गादिकं गगनादिकं तु त्वद्रीत्या स्वरूपेणासदपि कथमात्मन्यध्यस्यत इति चेत्, न; अध्यासे हि पूर्वानुभवमात्रमपेक्षते नत्वनुभूतस्य स्वरूपेण सत्त्वमपि दर्पणप्रतिबिम्बिते गगनेऽपि नैल्याध्यासदर्शनात् । न च गगने नैल्यं स्वरूपेण सत्यमस्ति, अथ चान्यत्राध्यस्यते तस्मात् भ्रमपरम्परायाः सम्भवात् स्वप्नद्रष्टृभिरिवास्माभिरदृष्टमपि सदसतोर्याथात्म्यं प्रबुद्धैर्द्रष्टुं शक्यमेव । तथा च श्रुतयः– " नेह नानाऽस्ति किञ्चन " [ बृ.उ. ४।४।१९ ] "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः " [कठो.६।१३] " अतोऽन्यदार्तम् " [बृ. उ. ३।४।२] इत्याद्या अनात्मनोऽसत्त्वं चात्मनश्च सत्त्वं प्रतिपादयन्ति । एवं सतो ज्ञानेनासतो बाधात्कैवल्यं सिद्ध्यतीति भावः ॥ १६ ॥

## अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम् ।
## विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति ॥ १७ ॥

**१ शां. भा.— किं पुनः तत् यत् सदेव सर्वदैवास्ति ? इति । उच्यते— अविनाशि इति ॥ अविनाशि न विनष्टुं शीलं अस्येति । तुशब्दः असतो विशेषणार्थः । तत् विद्धि विजानीहि । किम् ? येन सर्वं इदं जगत् ततं व्याप्तं सदाख्येन ब्रह्मणा साकाशं, आकाशेनेव घटादयः । विनाशं अदर्शनं, अभावम् । अव्ययस्य न व्येति उपचयापचयौ न याति इति अव्ययं, तस्य अव्ययस्य । न एतत् सदाख्यं ब्रह्म स्वेन रूपेण व्येति व्यभिचरति, निरवयवत्वात् देहादिवत् । नापि आत्मीयेन आत्मीयाभावात्, यथा देवदत्तो धनहान्या व्येति, न तु एवं ब्रह्म व्येति । अतः अव्ययस्य अस्य ब्रह्मणः विनाशं न कश्चित् कर्तुं अर्हति, न कश्चित् आत्मानं विनाशयितुं शक्नोति ईश्वरोऽपि । आत्मा हि ब्रह्म; स्वात्मनि च क्रियाविरोधात्, यथा चक्षुर्गतरेखाश्चक्षुर्न पश्यति ॥ १७ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— ननु सदिति सामान्यं स्वरूपं वा? प्रथमे तस्य विशेषसापेक्षतया प्रलयदशायामशेषविशेषविनाशे विनाशः स्यात्, न चाऽऽत्मादयो विशेषास्तदाऽपि सन्तीति वाच्यम्, आत्मातिरिक्तानां विशेषाणां कार्यत्वाङ्गीकारात्, प्रलयावस्थायामनवस्थानात्, आत्मनस्तु सामान्यात्मनो धर्मित्वादुक्तदोषात्; द्वितीये तु स्वरूपस्य व्यावृत्तत्वे कल्पितत्वाद्विनाशित्वमनुवृत्तत्वे तस्यैव सामान्यतया प्रागुक्तदोषानुषक्तिरिति मन्वानश्चोदयति— **किं पुनरिति** । सामान्यविशेषभावशून्यमखण्डैकरसं 'सदेव' [छां.उ६।२।१] इत्यादिश्रुतिप्रमितं सर्वविक्रियारहितं वस्तु प्रकृतं सद्विवक्षितमित्युत्तरमाह— **उच्यत** इति । आत्मनः सदात्मनो विनाशराहित्यविज्ञाने सर्वजगद्व्यापकत्वं हेतुमाह— **येने**ति । आत्मनो विनाशाभावे युक्तिमाह— **विनाशमि**ति । आत्मनो विनाशमिच्छता स्वतो वा परतो वा नाशस्तस्येष्यते ? नाऽऽद्य इत्याह— **अविनाशी**ति । देहादिद्वैतमसदुच्यते । ततः सतो विशेषणं स्वतो नाशराहित्यम् । तस्य द्योतको निपात इत्याह— **तुशब्द** इति । आकाङ्क्षापूर्वकं विशेष्यं

दर्शयति—**किमित्यादिना**। विमतमविनाशि, व्यापकत्वादाकाशवत्; न हि प्रमितमेवोदाहरणं किन्तु प्रसिद्धमपीति भावः। न द्वितीय इत्याह—**विनाशमिति**। न खल्वस्य विनाशं कर्तुं कश्चिदर्हतीति सम्बन्धः। विनाशस्य सावशेषत्वनिरवशेषत्वाभ्यां द्वैराश्यमाश्रित्य व्याकरोति—**अदर्शनमभावमिति**। न कश्चिदस्याभावं कर्तुं शक्नोतीत्यत्र हेतुमाह—**अव्ययस्येति**। ब्रह्म हि स्वरूपेण व्येति स्वसम्बन्धिना वा? इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति—**नैतदिति**। न हि निरवयवस्य स्वावयवापचयरूपव्ययः सम्भवतीत्यत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह—**देहादिवदिति**। द्वितीयं निरस्यति—**नापीति**। तदेव व्यतिरेकदृष्टान्तेन स्पष्टयति—**यथेति**। द्विविधेऽपि व्ययायोगे फलितमाह—**अत** इति। किञ्च ब्रह्म परतो न नश्यत्यात्मत्वात्, घटवदित्याह—**न कश्चिदिति**। आत्मत्वहेतोरसिद्धिमुद्धरति—**आत्मा हीति**। तादात्म्यश्रुतिरत्र हीति हेतूक्रियते। अस्तु तर्हि स्वयमेव ब्रह्माऽऽत्मनो नाशकमुद्बन्धनादिदर्शनात्, नेत्याह—**स्वात्मनीति**॥ १७॥

**३ रा. भा.—आत्मनस्त्वविनाशित्वं कथमुपपद्यत इत्यत्राह—तदात्मतत्त्वमविनाशीति विद्धि, येनात्मतत्त्वेन चेतनेन तद्व्यतिरिक्तमिदमचेतनतत्त्वं सर्वं ततं व्याप्तम्। व्यापकत्वेन निरतिशयसूक्ष्मत्वादात्मनो विनाशानर्हस्य तद्व्यतिरिक्तो न कश्चित्पदार्थो विनाशं कर्तुमर्हति, तद्व्याप्यतया तस्मात्स्थूलत्वात्। नाशकं हि शस्त्रजलाग्निवाय्वादिकं नाश्यं व्याप्य शिथिलीकरोति। मुद्गरादयोऽपि हि वेगवत्संयोगेन वायुमुत्पाद्य तद्द्वारेण नाशयन्ति। अत आत्मतत्त्वमविनाशि॥ १७॥**

**४ वे. ता. चं.**—अथ प्राप्यविशेषणतया तदनुवेशात् पुरुषार्थभूतस्य सहसैव शोकनिवृत्तिहेतोरात्मनित्यत्वस्य 'नासतः' इति श्लोके चरमप्रतिज्ञातस्यापि बुद्धिस्थक्रमेण प्रथममुपपादनं क्रियते इत्यभिप्रायेणाह—**आत्मनस्त्विति**। **तु**शब्देन जननमरणादेः सर्वलोकसाक्षिकत्वात्, "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" [ बृ. उ. २।४।१२ ] इति देहसमानयोगक्षेमत्वश्रवणाच्च कथमात्मनो देहाद्विशेषः?। इत्यभिप्रेतम्। एवमपि विशेषोऽस्तीति श्लोकस्थतुशब्दार्थः। तच्छब्दार्थं नपुंसकतात्पर्यं प्रतिज्ञांशं तत्राप्याश्रयसाध्यधर्मयोर्भेदं च व्यनक्ति—**तदात्मतत्त्वमिति**। न विनष्टुं शीलमस्येत्यविनाशि। हेत्वंशप्रतिपादकद्वितीयपादं व्याकुर्वन् सर्वशब्दस्य वाक्यान्वयौचित्यप्राप्तं सङ्कोचं इदन्त्वनिर्देशस्वारस्यसूचितं बाह्यानां पराक्त्वं तद्विपर्ययेणात्मनः फलितं चेतनत्वं तत एवाचेतने चेतनस्यात्मत्वेन व्याप्तिं च गमयति—**येनेति**। चेतनसमुदायेन अचेतनसमुदायः तिलतैलदारुवह्न्यादिवद्यथांशं व्याप्त इत्यर्थः। यद्वा सर्वाचेतनानुप्रवेशयोग्यत्वमिह विवक्षितमित्युभयथापि नात्माणुत्वविरोधः।

**अत्रायं प्रयोगः**—आत्मा शस्त्राद्यधीनविनाशो न भवति, तद्व्यापकत्वेन ततः सूक्ष्मत्वात्, यथाऽऽकाशः। व्यतिरेकेण वा—यो यदधीनविनाशः, स ततः सूक्ष्मो न भवति, यथा वायुविनाश्यो दीपः—इति। इमं प्रयोगं व्यञ्जयन् प्रयोगान्तरपरतयोत्तरार्धं व्याचष्टे—**व्यापकत्वेनेति**। **विनाशानर्हस्ये**त्यव्ययशब्दार्थः। तस्य हेतुः **निरतिशयसूक्ष्मत्वादिति**। इदं च निरतिशयसूक्ष्मत्वमचेतनापेक्षया। 'कश्चित्' इत्यस्येश्वरोऽपीति परस्य व्याख्या स्वदर्शनविरुद्धेत्यभिप्रायेणाह—**तद्व्यतिरिक्तः कश्चित्पदार्थ** इति। धर्मिनिर्देशोऽयम्। आत्मनो विनाशं कर्तुं नार्हतीति साध्यार्थः। तत्र हेतुमाह—**तद्व्याप्यतया तस्मात्स्थूलत्वादिति**। तस्मात्स्थूलत्वादित्येव हेतुः। तस्यासिद्धिपरिहारायोक्तं—**तद्व्याप्यतयेति**। व्याप्तिपूर्वं दृष्टान्तमाह—**नाशकमिति**। घटादिनाशकमुद्गरादावनैकान्त्यमाशङ्क्य परिहरति—**मुद्गरेति**।

**अयमभिप्रायः**—न तावन्मुद्गरादेः संयोगमात्रं घटादिनाशकम्, मुद्गरोपरिस्थापितघटस्य नाशप्रसङ्गात्। नापि वेगमात्रम्, असंयोगेऽपि ध्वंसप्रसङ्गात्। नापि तदुभयमात्रं, वेगवत्तृणसंयोगेऽपि प्रसङ्गात्। न च वेगवद्द्रव्यविशेषसंयोगो नाशकः, तस्यैव पृष्ठभागसंयोगे नाशादर्शनात्। अतो वेगवत्काठिन्यादिविशिष्टद्रव्यविशेषभागविशेषसंयोगविशेष एव नाशक इत्यविवादम्। तथा च वायुविशेषोत्पत्तिरपि प्रायशः प्रत्यक्षसिद्धत्वाददविवादा। वायोश्च तत्तद्द्रव्यानुप्रवेशेन नाशकत्वं कठिनतरशब्दाभिघातसङ्क्षोभ्यमाणपदार्थेष्वभ्युपगतम्। एवं सति क्लृप्तकारणभावस्यात्रापि विद्यमानस्य वायुविशेषस्य नाशहेतुत्वं अवश्याभ्युपगमनीयम्। स च वायुर्घटाद्यपेक्षया सूक्ष्मः। यत्र तु वेगाभावेऽप्याक्रमणादिमात्रेण नाशकत्वम्, तत्र मुद्गरावयवानुप्रघटादिद्रव्यावयवविशेषा भागान्तरं स्वस्मात् स्थूलतरमनुप्रविश्य भिन्दन्ति, आक्रमणमूलान्तरवायुनिस्सरणवशाद्वा वायुपूरितभस्त्रिकाक्रमणादिष्विवेति। **अत** इति, उक्तहेतुद्वयेन शस्त्रादेरनाशकत्वात्। आत्मनोऽपि सूक्ष्मतरस्य तन्नाशकस्यान्यस्यादर्शनादीश्वरस्यापि तन्नाशसङ्कल्पाभावादिति भावः॥ १७॥

**५ आ. मा. भा.—किं बहुना? यद्देशतोऽनन्तं तन्नित्यमेव। वेदाद्यन्यदपीत्याह—अविनाशीति। नापि शापादिना विनाश इत्याह—विनाशमिति। अव्ययं च तत्॥ १७॥**

**६ ज. प्र. दी.**—'अविनाशि तु' इति श्लोके सर्वगतस्य नित्यत्वमुच्यते, तत्प्रकृतानुपयुक्तमित्याशङ्क्य पूर्वार्धे तावत्प्रकृतोपयोगं सूचयन्व्याचष्टे—**किं बहुनेति**। वाक्यानामुपासनार्थत्वात् सम्प्रदायस्य च मूलानिश्चयात्, प्रकृतिब्रह्मणोश्च स्वरूपस्यैवासिद्धेः जीवादन्यस्यानादिनित्यस्याभावात् पुनरन्यस्य व्याप्यसिद्धिरित्याशङ्क्य किं बहुना प्रकृत्यादिस्वरूप-

साधनेन ? किञ्चेदमिदं नित्यमिति बहुना प्रत्येकमुक्तेन ? **यद्देशतोऽनन्तं तन्नित्यमेवे**त्येवं सङ्ग्राहकसङ्गृहीतं वेदादिकं जीवादन्यदप्यस्ति तद्व्याप्तिग्रहणस्थलं भविष्यतीत्याह भगवानित्यर्थः । वेदशब्देन वर्णा गृह्यन्ते । **आदि**पदेनाकाशादयः । एतेषां च प्रत्यभिज्ञानादिना नित्यत्वसिद्धिः । ननु कालावयवाः क्षणादयः सर्वगता अपि न नित्याः, सत्यं, नह्यत्र व्याप्तिरुच्यते, किन्तु बहूक्तिपरिहारायोपलक्षणमात्रमिति । तुशब्दार्थ एवेति । तथाप्युत्तरार्धः पुनरुक्त इत्यत आह— **नापी**ति । पूर्वं स्वाभाविको नाशो निषिद्धः, अविनाशीति ताच्छीलिकप्रत्ययात् । अत्र तु नैमित्तिकः कश्चित्कर्तुं नार्हतीति वचनात् । प्रागनुक्तस्य वेदादेरव्ययत्वस्य कथमनुवाद इति अत आह— **अव्यय**मिति । विधानमेवेदं कैमुत्येन शापादिना विनाशस्याभावं साधयितुमिति भावः ॥ १७ ॥

**७ ह. पै. भा.— किं पुनस्तद्यदेव सर्वदा सदेवेत्युच्यते अविनाशीति । विनष्टुं शीलमस्येति विनाशि, न विनाश्यविनाशि । तुशब्दोऽसतो विशेषणार्थः । तद्विद्धि जानीहि, येन सर्वमिदं जगद्व्याप्तमाकाशेनेव । विनाशमदर्शनम्, घटादिवत् अस्याव्ययस्य ब्रह्मणो विनाशं कर्तुं नार्हति, न कश्चिदात्मानं विनाशयितुं शक्नोति ॥ १७ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु सुखदुःखादेः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य जन्मविनाशान्यथानुपपत्त्या सदसद्वैलक्षण्यरूपमिथ्यात्वसिद्धिरित्युक्तमयुक्तम्, तार्किकादिरीत्याकाशकालादीनां नित्यत्वेन तेषु जन्मविनाशप्रयुक्तसदसद्वैलक्षण्यासिद्धेः, सिद्धान्तरीत्या च अनाद्यविद्यादीनामुत्पत्त्यसम्भवेन तेष्वपि तदसिद्धेश्चेत्याशङ्क्य 'नाभावो विद्यते सतः' इत्यनेनोक्तं सद्वैलक्षण्यमेव मिथ्यात्वलक्षणम्, तत्र यद्यसद्वादी कश्चिदसत्यतिव्याप्तिं ब्रूयात्तदा सोऽपि तुष्यत्वित्येवमभ्युपेत्यवादेनैव 'नासतो विद्यते भावः' इत्यसद्विलक्षणत्वविशेषणं दत्तम्, तथा च 'नाभावः—' इत्यनेनोक्तं नाशानुपपत्तिप्रयुक्तं सद्वैलक्षण्यमेव मिथ्यात्वमिति स्थिते सति अनाद्यविद्यादावाकाशादिषु वा नाव्याप्तिः, आत्मातिरिक्तस्य कृत्स्नस्यापि विनाशित्वेन सद्वैलक्षण्यसत्त्वादित्यभिप्रायेण 'नाभावो विद्यते सतः' इत्येतदुपपादयति—

येन सद्वस्तुना सर्वमिदं जगत् ततमधिष्ठानस्वरूपेण व्याप्तं रज्जुस्वरूपेणेव सर्पधारादिकम् । तुशब्दोऽवधारणार्थः । तदेव सद्वस्तु अविनाशीति विद्धि; न तु तदध्यस्तं जगत्, अध्यस्तस्य रज्जुसर्पादेरिव अधिष्ठानतत्त्वज्ञानविनाश्यत्वात् प्रपञ्चस्य सर्वस्यात्मस्वरूपे ब्रह्मणि सद्वस्तुन्यध्यस्तत्वात् । तदेतद्भगवानेव राजगुह्याध्याये स्पष्टं वक्ष्यति । तत्र हि 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' [ ९।४ ] इति ब्रह्मणः स्वस्य सकलजगद्व्याप्तिमुक्त्वा, कीदृशी जगद्व्याप्तिरित्याकाङ्क्षायाम् 'मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः' इत्युत्तरार्धेन अधिष्ठानतया सर्वजगदनुस्यूतत्वरूपा जगद्व्याप्तिरिति प्रदर्श्य 'न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्' इत्युत्तरश्लोकेन प्रपञ्चस्य तस्मिन्नधिष्ठाने पुनर्निषेधोक्त्या प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं जगतो दर्शितम् । तत्र च 'मत्स्थानि' [ ९।४ ] 'न च मत्स्थानि' [ ९।५ ] इति कथमिदं विरुद्धमुच्यत इत्याशङ्क्योक्तं 'पश्य मे योगमैश्वरम्' [ ९।५ ] इति । योगो माया, 'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः' [ ७।२५ ] इत्युक्तेः । अतः स्वकीयमायावैभवस्याचिन्त्यत्वान्न किञ्चिद्विरुद्धमित्युक्तं भवति ।

'अव्यक्तमूर्तिना' [ ९।४ ] इत्यनेन चास्पष्टस्वरूपेणेत्यर्थकेनाधिष्ठानत्वमुपपादितम्, सर्वथा प्रकाशमानेऽप्रकाशमाने वाऽधिष्ठानेऽध्यासासम्भवेन सामान्यतो ज्ञातत्वे सति विशिष्याज्ञातत्वरूपस्य अध्यासाधिष्ठानत्वप्रयोजकस्य तेनोपदर्शनात्, आत्मनश्च 'सन्घटः' 'सन्पटः' इति सद्रूपेण सामान्यतो ज्ञातत्वे सति विशिष्याखण्डचिदानन्दरूपेणाज्ञातत्वात् । सोऽयमेव श्लोकार्थोऽत्रापि 'येन सर्वमिदं ततं' इत्यनेन विवक्षित इत्यवसीयते । श्रुतिरपि भगवदभिमतं जगन्मिथ्यात्वमावेदयति "एकमेवाद्वितीयं [ ब्रह्म ]" [ छां. उ. ६।२।१-२ ] "नेह नानास्ति किंचन" [ बृ. उ. ४।४।१९ कठो. ४।११ ] 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' [ गौ. का. १।१७ ] "न तु तद्द्वितीयमस्ति" [ बृ. उ. ४।३।२३ ] इत्याद्या । इत्थं श्रुतिस्मृतिन्यायैः सर्वप्रपञ्चस्य सद्वस्तुन्यध्याससिद्धौ अध्यस्तस्याधिष्ठानतत्त्वज्ञाननाश्यत्वे सिद्धे यत्तार्किकाणामाकाशादेर्निरवयवत्वेन नित्यत्वानुमानं तदकिञ्चित्करम्; विनाशित्वग्राहकप्रबलतराध्यासप्रमाणोपहतेर्हेत्वसिद्धेश्च, 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते । आपस्तेजसि लीयन्ते तेजो वायौ प्रलीयते ॥ वायुः प्रलीयते व्योम्नि व्योमाव्यक्ते प्रलीयते । अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्' [ वि.पु. ] इत्यादिश्रवणेन नरास्थिशौचानुमानवदागमबाधाच्च, "आत्मन आकाशः सम्भूतः" [ तै. उ. २।१।१ ] "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापश्च पृथिवी विश्वस्य धारिणी" [ मुं. उ. २।१।३ ] इत्यादिश्रुत्यवगतजन्यत्वहेतुप्रतिपक्षितत्वाच्च । न च 'आकाशमजन्यमस्पर्शद्रव्यत्वादात्मवत्' इति प्रत्यनुमानं युक्तम्, अभातत्वेन सोपाधिकत्वादित्यन्यत्र विस्तरः । एतेन 'आकाशादीनां नित्यत्वप्रतिपादनपरोऽयं श्लोकः' इति माध्वव्याख्यानं निरस्तम् ।

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" [ ] इति श्रुतौ सर्वगतत्वांश एवाकाशवदिति दृष्टान्तः; न तु नित्यत्वेऽपि पूर्वोक्तश्रुतिविरोधात् । सर्वगतत्वांशेऽपि न ब्रह्मण इवाकाशस्य देशापरिच्छिन्नत्वमस्तीत्यभिप्रायेण तदुपमानीकरणम्; बृहदारण्यके [ ३।८।७-८ ] "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च" इति गार्गीप्रश्ने "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्" इत्यादियाज्ञवल्क्यप्रतिवचनेन 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' इति तदर्थनिर्णायकब्रह्ममीमांसासूत्रेण [ १।

३।१० ] चाक्षरशब्दोक्ते ब्रह्मण्याकाशस्य ओतप्रोतशब्दवाच्यदीर्घतिर्यग्भावप्रदर्शनेन "येनावृतं[1] खं च दिवं मही च" [ महाना. उ. १ ] इति तैत्तिरीयकादिश्रुत्या चाकाशस्य ब्रह्मतः परिभेदावगमात् । किन्तु लोकदृष्ट्याऽऽकाशादधिकं व्यापकं वस्तु किञ्चिन्नास्तीति तस्योपमानीकरणम् । तेन कालस्यापि नित्यत्वं निराकृतम्, तस्याप्यात्मन्यध्यस्तत्वेनाधिष्ठानतत्त्वज्ञाननाश्यत्वात् भूतभविष्यद्वर्तमानकालेष्वेकस्मिन्नन्यस्याभावेन तत्त्रितयातिरिक्तस्य चाखण्डकालस्यासिद्ध्या सिद्धौ वा अविद्यातत्सम्बन्धातिरिक्तकालस्यानभ्युपगमेन नित्यत्वायोगाच्च । परमाणुजातिसमवायादयस्तु पूर्वाचार्यैरेव निरस्ता इत्यास्तां तावत्तन्नित्यत्वप्रस्तावः । तस्मादधिष्ठानभूतं सद्वस्त्वेवाविनाशि, तदध्यस्तं तु कृत्स्नं जगन्नश्वरमेवेति सुष्ठूक्तं 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' इति ।

स्यादेतत्; अध्यासाधिष्ठानस्य सद्वस्तुनोऽपि रज्ज्वादेरिव नाशः किं न स्यादित्याशङ्कामुत्तरार्धेन परिहरति— **विनाशमव्ययस्येति** । नात्र व्ययशब्दो नाशार्थकः, सद्वस्तुनः कथं न नाश इति शङ्कायां नाशरहितस्य नाशं कर्तुं न शक्नोतीत्युक्तेरसङ्गतेः; नाप्यवयवापचयार्थकः, निरवयवस्यापि प्रागभावादेरिव नाशसम्भवात् । किन्त्वविगममात्रार्थकः, अयतेरिणो वा गतिकर्मणो विपूर्वस्य विगमवाचित्वात्, विगमस्य चेह सङ्कोचकाभावन्यायेन देशकालवस्तुपरिच्छेदाख्यत्रिविधविगमपरत्वात् । अतस्तद्राहित्यमव्ययशब्दार्थः । तादृशस्यास्य सद्वस्तुनो विनाशं कर्तुं कश्चिदपि देशः कालः पदार्थो वा न शक्नोति । लोके हि नश्यद्वस्तु क्वचिद्देशे कस्मिंश्चित्काले केनचित्पदार्थेन नश्यति । सर्वदेशकालवस्त्वपरिच्छिन्नस्य तु क्व देशे कस्मिन्काले केन वा वस्तुना नाशो भविष्यतीत्यतः अधिष्ठानस्य सद्वस्तुनो रज्ज्वादेरिव न नाशशङ्कावकाश इति भावः ।

यत्त्वत्र **रामानुजव्याख्यानम्**— "आत्मनः कथमविनाशित्वमित्यत आह— **अविनाशीति** । तदात्मतत्त्वमविनाशीति विद्धि, येन आत्मतत्त्वेन चेतनेन तद्व्यतिरिक्तमिदं सर्वमचेतनं व्याप्तम् । अतो व्यापकत्वेन निरतिशयसूक्ष्मत्वात् अव्ययस्य नाशानर्हस्यात्मनः कश्चित्पदार्थो नाशे न शक्तः" इति, तदसत् । त्वन्मते जीवस्याणुत्वेन व्यापकत्वायोगात्, घटादेः स्वन्यूनपरिमाणदण्डादिनाश्यत्वेन आकाशादेर्व्यापकतया निरतिशयसूक्ष्मस्य विनाशित्वेन च अविनाशित्वं प्रति तस्याहेतुत्वाच्च, पूर्वार्धेनैव व्यापकत्वरूपहेतुलाभेन विनाशमस्य न कश्चित्कर्तुमर्हतीत्युक्त्यैव पूर्तेरव्ययपदवैयर्थ्याच्च, नाशानर्हत्वस्याव्ययपदार्थत्वाभावाच्च ।

यच्चात्र **माध्वव्याख्यानम्**— "भगवत्पूजात्वेन युद्धं कार्यमिति वक्तुं भगवतो जीवेभ्योऽतिशयमाह— **अविनाशीति** । 'देशतः कालतश्चैव गुणतश्च त्रिधा ततिः । सा समस्ता हरेरेव न ह्यन्यः पूर्णसद्गुणः' [ ] इति वचनात्सर्वप्रकारेण ततमधिष्ठानाख्यं ब्रह्म तदविनाशीति विद्धि । यद्यपि नित्यत्वं जीवस्याप्यस्ति, तथापि सर्वप्रकारेणाविनाशित्वं विष्णोरेवेति तु-शब्दार्थः । तदुक्तम्— 'नित्यत्वं देहहानिश्च दुःखप्राप्तिरपूर्णता । नाशश्चतुर्विधः प्रोक्तस्तदभावो हरेः सदा' इति । अत ईश्वरस्य सर्वप्रकारेणाविनाशित्वम्, जीवस्य तु नित्यत्वमात्रं, न तु सर्वप्रकारेणापि, देहहान्यादिरूपनाशसत्त्वादिति भगवतस्ततोऽतिशयः" इति, तत्तुच्छम् । त्वन्मते गुणगुणिनोरभिन्नतया गुणिनो भगवत एकत्वेन तदभिन्नगुणानामप्यनेकत्वासिद्ध्या त्वदभिमतविशेषस्य च भेदव्यवहारमात्रनिर्वाहकत्वेन वास्तवभेदसमनियतसाकल्यानिर्वाहकतया त्वन्मते भगवतः सकलगुणपूर्तेरुपपत्त्ययोगस्य वज्रपञ्जरे प्रपञ्चितत्वात्, देहहानेरपि रामकृष्णाद्यवतारेषु भारतभागवताद्युक्तत्वेन भगवतस्त्वत्परिभाषितसर्वप्रकाराविनाशित्वरूपातिशयासिद्धेश्च । अतो यथोक्त एवार्थः ॥ १७ ॥

९ व० त० दी०— क्षयविनाशौ निराकरोति— अविनाशीति । पुनः तदात्मवस्तु अविनाशि विद्धि । किम्भूतं ? येन सर्वमिदं देहादि विश्वं ततं व्याप्तं असदपि विनश्यदवस्थमपि सदिति व्यवह्रियते । अव्ययस्य क्षयरहितस्यास्योपलभ्यमानस्य तदुत्तरतोऽप्यदृश्यमानं विनाशं कर्तुं कश्चिज्जनः शस्त्राग्न्यादिभिश्च नार्हति ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वलौकिकत्वाद्देहनाशो मास्तु । परं तत्सम्बन्धिसमर्पितसेवाद्युपयुक्तपदार्थानां नाशः स्यात् तदर्थमुत्कटपापभयं भवतीति शोचामि, इति चेत्तत्राह— अविनाशि त्विति । येन भावात्मकभगवदीयदेहेनेदं सर्वं ततं व्याप्तं सेवादियोग्यं वस्तु, तदलौकिकं शरीरं अविनाशि नाशरहितं विद्धि जानीहि । तुशब्दो नाशसम्भावनाव्यावृत्तिं ज्ञापयति । अस्याव्ययस्य स्वरूपस्य विनाशं कश्चित् पापाद्युपाधिजन्यकालादिः कर्तुं नार्हति न समर्थोऽस्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— यस्याभावो नास्ति तस्य सतः सत्त्वे किं मानमित्याशङ्क्याह— अविनाशीति । तच्छब्देन प्रकृतं सत् परामृश्यते, येन सता इदं सर्वं वियदादि ततं व्याप्तं घटः सन्पटः सन्निति सर्वस्य सदभेदानुभवात् । यथा घटो मृत् शरावो मृदिति घटादीनां मृदभेदानुभवान्मृदुपादानकत्वं तद्वत्सर्वस्यापि सदुपादानकत्वं बोध्यम् । ननु मृद्वत्सदपि किं विकारवद्भवतीत्याशङ्क्याह— अविनाशीति । तत् सत् अविनाशि विद्धि ।

---

१ 'येनावृतं' नारायणोपनिषदन्तर्गतेयं श्रुतिः तैत्तिरीयोपनिषदि नोपलभ्यते । तच्चिन्त्यम् ।

अयमर्थः— पूर्वावस्थापरित्यागोऽत्र विनाशः, मृद्धि पिण्डाकारतां त्यक्त्वा घटीभवति अतः सा विनाशशीला विकारधाराश्रयत्वात्, ब्रह्म तु न तथा । किं तर्हि रज्जुवत्स्वयमविनश्यदेव कार्याकारं भवति स्वकीये च सत्तास्फुरणे कार्येऽर्पयति अतोऽविनाशि । तथा च श्रुतयः— "अजायमानो बहुधा विजायते" [ तै. आ. ३।१३।३ ] "जात एव न जायते को न्वे(ं)नं जनयेत्पुनः" [बृ.उ.३।९।२८] अजायमानो जन्माख्यं विकारमलभमानोऽपि विजायते वियदादिरूपेणाविर्भवति । तथा लोकदृष्ट्या जातो घटादिः परमार्थदृष्ट्या न जायते, परिणाम्युपादानस्याभावात्; मृदादेस्तु स्वाप्नमृदादिवत्तुच्छत्वात् । अत एनं घटादिं को नु जनयेत् ? न कोऽपि ।

कुतस्तर्हि भासत इति चेत्, रज्जूरगादिवदिति दत्तोत्तरमेतत् । तथा "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" [ बृ. उ. २।१।२० ] "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [ कठो. ५।१५ ] इति सतः सत्यत्वेन प्राणोपलक्षितस्य प्रपञ्चस्य सत्यत्वं सतो भानमेव प्रपञ्चस्य भानमिति । तथा च प्रपञ्चगते सत्तास्फूर्ती सतः सत्त्वे प्रमाणमित्यर्थः । श्रुतिश्च— "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलाः सोम्येमाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" [ छां. उ. ६।८।४ ] इति सतो जगदुपादानत्वं कार्यलिङ्गेन द्रढयति । सतोऽविनाशित्वं च विनाशहेत्वभावादित्याह— विनाशमिति । न व्येति नापक्षीयत इत्यव्ययम् । एतेन सर्वविकारशून्यस्य विनाशो नास्तीत्यर्थः । अपक्षयो हि जन्मादिविकारवत एव भवतीति स एवात्र सर्वविकारोपलक्षणतया बोध्यः । न कश्चिदित्यनेन तदन्यस्य विनाशहेतोरभावो दर्शितः, "द्वितीयाद्वै भयं भवति" [ बृ. उ. १।४।२ ] इति श्रुतेः ॥ १७ ॥

**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।**
**अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ! ॥ १८ ॥**

**१ शां. भा.**— किं पुनः तत् असत्, यत् स्वात्मसत्तां व्यभिचरतीति ? उच्यते— अन्तवन्त इति । अन्तः विनाशः विद्यते येषां ते अन्तवन्तः । यथा मृगतृष्णिकादौ सद्बुद्धिः अनुवृत्ता प्रमाणनिरूपणान्ते विच्छिद्यते, स तस्य अन्तः; तथा इमे देहाः स्वप्नमायादेहादिवच्च अन्तवन्तः नित्यस्य शरीरिणः शरीरवतः अनाशिनः अप्रमेयस्य आत्मनः अन्तवन्त इति उक्ताः विवेकिभिरित्यर्थः । 'नित्यस्य' 'अनाशिनः' इति न पुनरुक्तम्; नित्यत्वस्य द्विविधत्वात् लोके, नाशस्य च । यथा देहो भस्मीभूतः अदर्शनं गतो नष्ट उच्यते, विद्यमानोऽपि यथा अन्यथा परिणतो व्याध्यादियुक्तो जातो नष्ट उच्यते । तत्र 'नित्यस्य' 'अनाशिनः' इति द्विविधेनापि नाशेन असम्बद्धस्येत्यर्थः । अन्यथा पृथिव्यादिवदपि नित्यत्वं स्यात् आत्मनः, तत् मा भूदिति 'नित्यस्य' 'अनाशिनः' इत्याह । अप्रमेयस्य न प्रमेयस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैः अपरिच्छेद्यस्येत्यर्थः ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सदसतोरनन्तरप्रकृतयोः स्वरूपाव्यभिचारित्वेन परमार्थतया सन्निर्धारितं, इदानीमसन्निर्दिधारयिषया पृच्छति— **किं पुन**रिति । असदसदेवेति निर्धारितत्वात् प्रश्नस्य निरवकाशत्वमाशङ्क्य शून्यं व्यावर्त्य विवक्षितमसन्निर्धारयितुं तस्य सावकाशत्वमाह— **यत्स्वात्मे**ति । देहादेरनात्मवर्गस्य प्रकृतासच्छब्दविषयतेत्याह— **उच्यत** इति । ननु देहादिषु सद्बुद्धेरनुवृत्तेस्तस्या विच्छेदाभावात्कथमन्तवत्त्वं तेषामिष्यते तत्राऽऽह— **यथे**ति । तथेमे देहाः सद्बुद्धिभाजोऽपि प्रमाणतो निरूपणायामवसाने विच्छेदादन्तवन्तो भवन्तीति शेषः देहत्वादिना च जाग्रद्देहादेरन्तवत्त्वं सम्प्रतिपन्नवदनुमातुं शक्यमित्याह— **स्वप्ने**ति । तेषां स्वातन्त्र्यं व्युदस्यति— **नित्यस्ये**ति । आकाशादिव्यावृत्त्यर्थं विशिनष्टि— **शरीरिण** इति । परिणामिनित्यत्वं व्यवच्छिनत्ति— **अनाशिन** इति । तस्य प्रत्यक्षाद्यविषयत्वमाह— **अप्रमेयस्ये**ति । प्रवाहस्य प्रवाहिव्यतिरेकेणानिरूपणान्न तदात्मना देहाद्यभावे सम्बन्धसिद्धिरित्यभिसन्धायोक्तं— **विवेकिभि**रिति । शरीरादेरन्तवत्त्वेऽपि प्रवाहरूपेणाऽऽत्मनस्तत्सम्बन्धस्यानन्तवत्त्वमाशङ्क्याऽऽह— **नित्यस्ये**ति । नित्यत्वस्य द्वैविध्यसिद्ध्यर्थं नाशद्वैविध्यं प्रतिज्ञातं प्रकटयति— **यथे**त्यादिना । नाशस्य निरवशेषत्वेन सावशेषत्वेन च सिद्धे द्वैविध्ये फलितमाह— **तत्रे**ति । पदद्वयस्यैकार्थत्वमाशङ्क्य निरस्यति— **नित्यस्ये**त्यादिना । विशेषणाभ्यां कूटस्थनित्यत्वमात्मनो विवक्षितमित्यर्थः । अन्यतरविशेषणमात्रोपादाने परिणामिनित्यत्वमात्मनः शङ्क्येतेत्यनिष्टापत्तिमाशङ्क्याऽऽह— **अन्यथे**ति ।

**१ शां. भा.— ननु आगमेन आत्मा परिच्छिद्यते, प्रत्यक्षादिना च पूर्वम्, न, आत्मनः स्वतःसिद्धत्वात्। सिद्धे हि आत्मनि प्रमातरि प्रमित्सोः प्रमाणान्वेषणा भवति। न हि पूर्वं 'इत्थं अहं' इति आत्मानं अप्रमाय पश्चात् प्रमेयपरिच्छेदाय प्रवर्तते। न हि आत्मा नाम कस्यचित् अप्रसिद्धो भवति। शास्त्रं तु अन्त्यं प्रमाणं अतद्धर्माध्यारोपणमात्रनिवर्तकत्वेन प्रामाण्यं आत्मनः प्रतिपद्यते, न तु अज्ञातार्थज्ञापकत्वेन। तथा च श्रुतिः—'यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः' [ बृ. उ. ३. ४. १ ] इति। यस्मात् एवं नित्यः अविक्रियश्च आत्मा तस्मात् युध्यस्व, युद्धात् उपरमं मा कार्षीः इत्यर्थः। न हि अत्र युद्धकर्तव्यता विधीयते, युद्धे प्रवृत्त एव हि असौ शोकमोहप्रतिबद्धः तूष्णीं आस्ते। अतः तस्य कर्तव्यप्रतिबन्धापनयनमात्रं भगवता क्रियते। तस्मात् 'युध्यस्व' इति अनुवादमात्रं, न विधिः॥ १८॥**

२ **आ.शां. व्या.**— औपनिषदत्वविशेषणमाश्रित्याप्रमेयत्वमाक्षिपति— **नन्विति**। इतश्चाऽऽत्मनो नाप्रमेयत्वमित्याह— **प्रत्यक्षादिनेति**। तेन चाऽऽगमप्रवृत्त्यपेक्षया पूर्वावस्थायामात्मैव परिच्छिद्यते तस्मिन्नेवाज्ञातत्वसम्भवात्; 'अज्ञातज्ञापकं प्रमाणं' इति च प्रमाणलक्षणादित्यर्थः। "एतदप्रमेयम्" [ बृ. उ. ४।४।२० ] इत्यादिश्रुतिमनुसृत्य परिहरति— **नेत्यादिना**। कथं मानमनपेक्ष्याऽऽत्मनः सिद्धत्वमित्याशङ्क्योक्तं विवृणोति— **सिद्धे हीति**। प्रमित्सोः प्रमेयमिति शेषः। तदेव व्यतिरेकमुखेन विशदयति— **न हीति**। आत्मनः सर्वलोकप्रसिद्धत्वाच्च तस्मिन्न प्रमाणमन्वेषणीयमित्याह— **न ह्यात्मेति**। प्रत्यक्षादेरनात्मविषयत्वात् तत्र चाज्ञाततायाव्यवहारे सम्भवात् तत्प्रामाण्यस्य च व्यावहारिकत्वात् विशिष्टे तत्प्रवृत्तावपि केवले तदप्रवृत्तेः यद्यपि नाऽऽत्मनि तत्प्रामाण्यं, तथापि तद्धितश्रुत्या शास्त्रस्य तत्र प्रवृत्तिरवश्यम्भाविनीत्याशङ्क्याऽऽह— **शास्त्रं** त्विति। शास्त्रेण प्रत्यग्भूते ब्रह्मणि प्रतिपादिते प्रमात्रादिविभागस्य व्यावृत्तत्वाद्युक्तमस्यान्त्यत्वम्, अपौरुषेयतया निर्दोषत्वाच्चास्य प्रामाण्यमित्यर्थः। तथापि कथमस्य प्रत्यगात्मनि प्रामाण्यं? तस्य स्वतस्सिद्धत्वेनाविषयत्वात् अज्ञातज्ञापनायोगादित्याशङ्क्य स्वतो भानेऽपि प्रतीचो 'मनुष्योऽहं कर्ताऽहं' इत्यादिना मनुष्यत्वकर्तृत्वादीनामतद्धर्माणामध्यारोपणेनाऽऽत्मनि प्रतीयमानत्वात्तन्मात्रनिवर्तकत्वेनाऽऽत्मनो विषयत्वमनापद्यैव शास्त्रं प्रामाण्यं प्रतिपद्यते, 'सिद्धं तु निवर्तकत्वात्' [ ] इति न्यायादित्याह— **अतद्धर्मेति**। घटादाविव स्फुरणातिशयजनकत्वेन किमित्यात्मनि शास्त्रप्रामाण्यं नेष्टमित्याशङ्क्य जडत्वाजडत्वाभ्यां विशेषादिति मत्वाऽऽह— **न त्विति**। ब्रह्मात्मनो मानापेक्षामन्तरेण स्वतस्स्फुरणे प्रमाणमाह— **तथा चेति**। साक्षादन्यापेक्षामन्तरेण अपरोक्षादपरोक्षस्फुरणात्मकं यद्ब्रह्म न च तस्याऽऽत्मनोऽर्थान्तरत्वं सर्वाभ्यन्तरत्वेन सर्ववस्तुसारत्वात्तमात्मानं व्याचक्ष्वेति योजना। अप्रमेयत्वेनाविनाशित्वं प्रतिपाद्य, फलितं निगमयति— **यस्मादिति**। देहादेरवस्तुत्वादात्मनश्चैकरूपत्वाद्युद्धे स्वधर्मे प्रवृत्तस्यापि तव न हिंसादिदोषसम्भावनेत्याह— **तस्मादिति**। स्वधर्मनिवृत्तिहेतुनिषेधे तात्पर्यं दर्शयति— **युद्धादिति**। आत्मनो नित्यत्वादिस्वरूपमुपपाद्य युद्धकर्तव्यत्वविधानात् ज्ञानकर्मसमुच्चयोऽत्र भातीत्याशङ्क्याऽऽह— **न हीति**। युध्यस्वेति वचनात्तत्कर्तव्यत्वविधिरस्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **युद्ध** इति। कथं तर्हि 'कथं भीष्ममहं' [ २।४ ] इत्याद्यर्जुनस्य युद्धोपरमपरं वचनम्? इति तत्राऽऽह— **शोकेति**। यदि स्वतो युद्धे प्रवृत्तिस्तर्हि भगवद्वचनस्य का गतिरित्याशङ्क्याऽऽह— **तस्येति**। भगवद्वचनस्य प्रतिबन्धनिवर्तकत्वे सत्यर्जुनप्रवृत्तेः स्वाभाविकत्वे फलितमाह— **तस्मादिति**॥ १८॥

**३ रा. भा.— देहानां तु विनाशित्वमेव स्वभाव इत्याह—'दिह उपचये' इत्युपचयरूपा इमे देहा अन्तवन्तः विनाशस्वभावाः। उपचयात्मका हि घटादयोऽन्तवन्तो दृष्टाः। नित्यस्य शरीरिणः कर्मफलभोगार्थतया भूतसङ्घातरूपा देहाः "पुण्यः पुण्येन" [ बृ. उ. ४।४।५ ] इत्यादिशास्त्रैरुक्ताः कर्मावसानविनाशिनः।**

४ **वे.ता.चं.**— 'नासतः' इतिप्रतिज्ञांशस्योपपादकतयोत्तरश्लोकमवतारयति— **देहानामिति**। अवधारणेन स्वभावशब्देन च असद्व्यपदेशैकान्त्यं सूचितम्। 'अन्तवन्तः' इति साध्यस्य हेत्वाकाङ्क्षां शमयन् धर्मिप्रतिपादकमेव देहशब्दं निर्वक्ति— **दिह उपचय** इति। उपचयरूपाः सावयवा इत्यर्थः। देहशब्दो रूढ्या धर्मिप्रतिपादकः, योगेन हेतुप्रतिपादनपर इति भावः। साध्यनिर्देशे प्रकृतिप्रत्यययोरर्थमाह— **विनाशस्वभावा** इति। नात्र निरूपणापेक्षया देशाद्यपेक्षया वा निर्णयपरिमाणादिरन्तो विवक्षितः। मतुप् च नित्ययोगादिविषय इत्यर्थः। व्याप्तिदृष्टान्तावाह— **उपचयेति**। श्रुतितदर्थापत्तिभ्यामपि शरीरस्य विनाशस्वभावतामुपपादयतीत्याह— **नित्यस्येति**। 'नित्यस्य, शरीरिणः' इति पदद्वयसूचिते श्रुतितदर्थापत्ती। कथं कैरुक्ता इत्याकाङ्क्षां शमयति— **कर्मेत्यादिना**। शरीरिण इतीनिप्रत्ययेन षष्ठ्या च प्रतीतस्य सम्बन्धस्य कर्मा-

ख्यो हेतुः प्रकृतोपयोगाद्दर्शितः। ईश्वरादिशरीराणामकर्माधीनत्वात्तद्व्यवच्छेदार्थम् 'इमे' इति निर्देशसूचितमुक्तम्— **भूतसङ्घातरूपा** इति। अनेकभूतसङ्घातात्मकत्वमपि अनित्यत्वे हेतुः। **कर्मावसानविनाशिन** इति शरीरशब्दनिर्वचनफलितम्। विशरणाद्धि शरीरम्। कैश्चिच्छास्त्रैस्तावद्देहानामुत्पत्तिविनाशौ द्वावप्यभिधीयेते। यैश्च कर्माधीनोत्पत्तिमात्रमुक्तम्, तैरप्यर्थात्कर्मावसाने विनाशोऽप्युक्त एव स्यादिति भावः। एवं च 'इमे देहाः शरीरिणः' इति पदत्रयेण सूचितं भूतसङ्घातरूपत्वसावयवत्वकर्मफलभोगार्थत्वरूपं शरीरानित्यत्वे हेतुत्रयमुक्तम्।

**३ रा. भा.—आत्मा त्वविनाशी, कुतः? अप्रमेयत्वात्। न ह्यात्मा प्रमेयतयोपलभ्यते, अपितु प्रमातृतया। तथा च वक्ष्यते—'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः' [१३।१] इति। न चानेकोपचयात्मक आत्मोपलभ्यते, सर्वत्र देहे 'अहमिदं जानामि' इति देहस्य चान्यस्य च प्रमातृतयैकरूपेणोपलब्धेः।**

४ वे. ता. चं.— **अनाशिनोऽप्रमेयस्ये**ति पदद्वयमात्मनित्यत्वाख्यसाध्यसम्भावनात्तद्धेतुपरतया व्याख्याति— **आत्मा त्वि**ति। नित्यत्वस्य नाशानर्हत्वेन स्थिरीकरणात् 'नित्यस्य' 'अनाशिनः' इत्यनयोरपुनरुक्तिः; स्थूलसूक्ष्मनाशविरहाभिप्रायाद्वा। असिद्धो हेतुः, आत्मनोऽप्यस्मत्सिद्धान्ते प्रमाविषयत्वादित्यत्राह— **न ह्यात्मे**ति। प्रमेयत्वपर्युदासः प्रमेयतैकस्वभावशरीरादिव्यावर्तनमुखेन प्रमातृत्वपर्यवसितः, नञोऽत्र तदन्यवाचित्वात्। एवमेव हि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेको वक्ष्यत इत्याह— **तथा चे**ति। एतेन ज्ञानाविषयत्वमात्रं व्याकुर्वन्निरस्तः। प्रमेयत्वं चात्र भोग्यत्वपर्यवसितम्। तद्व्यतिरेकश्च पूर्वोक्तकर्मफलभोगार्थत्वरूपहेतुव्यतिरेकरूपेण भोक्तृत्वपर्यवसितः। ततश्चायं पूर्वोक्तहेत्वन्तरद्वयव्यतिरेकस्यापि प्रदर्शनार्थ इति मत्वा तयोरपि व्यतिरेकमाह— **न चे**त्यादिना। सावयवत्वे योग्यानुपलब्धिमाह— **सर्वत्रे**ति। सर्वशब्दोऽत्र देहांशकार्त्स्न्यपरः। तेनाणोरप्यात्मनः 'पादे मे वेदना, शिरसि मे सुखम्' इत्यादिसुखदुःखनिमित्ततत्तदवयवावच्छिन्नव्यवहारदशायामपि निरवयवत्वोपलब्धिरुक्ता। यद्वा देवादिरूपेण विचित्रप्रकारेष्वनन्तेषु देहेषु क्वचिदपि देहे देहिनः सावयवत्वं नोपलब्धमित्यर्थः। अहमित्येकवचनमेकस्मिन् देहेऽभिमन्तुरात्मन एकत्वं सूचयति। यद्यात्मा सावयवः स्यात्, तदावयवीति कदाचिदुपलभ्येत, प्रत्येकं तदवयवानामपि चैतन्यस्यावश्याभ्युपगमनीयत्वात्। सावयवत्वे ह्यवयवसङ्घातरूपोऽवयविरूपो वा स्यात्, उभयथाप्यवयवगतविशेषगुणमन्तरेण न तत्र विशेषगुणसिद्धिः। किण्वादिष्वपि हि प्रत्येकमसिद्धापि मदशक्तिः पाकविशेषाद्रसविशेषादिवत्प्रत्येकं जायते। शक्तेश्चापर्यनुयोज्यत्वेऽपि विशेषगुणेष्वयं नियमो दुस्त्यजः। ज्ञानद्रव्यत्वपक्षेऽप्येवमेव, निष्प्रभसमुदाये सप्रभत्वायोगवत्। एवं च सति समाजवदेकस्मिन् देहे मिथः कलहासूयेर्ष्यानिग्रहानुग्रहादयोऽप्युपलभ्येरन्। समुदायावयविनोश्चातिपीडायामवयवव्यतिरिक्तयोरभावादवयवानामेवानुभवितृत्वं स्यात्। तथा सति पाण्याद्यवच्छिन्नात्मावयवानुरूपं तदन्योऽवयवो न प्रतिसन्दधीतेति 'दक्षिणहस्तेन मयैव स्पृष्टं वामहस्तेन पुनः स्पृशामि' इत्यादिप्रतिसन्धानं न स्यात्। न चात्मावयवानामाशुतरसञ्चारात्तदुपपत्तिः, आत्मनश्चूर्णपुञ्जकल्पत्वप्रसङ्गेन सङ्घातविशेषस्याप्यसिद्धिप्रसङ्गात्। न च वस्त्रादिषु मृगमदवासनेवान्यवासनासङ्क्रमः, मात्रानुभूतस्य गर्भस्थेनापि स्मरणप्रसङ्गात्। न च भेदाभेदात्सर्वोपपत्तिः, तस्यैव व्याघातादिदुस्थत्वस्य शारीरकभाष्यादिषु प्रपञ्चितत्वात्। तदेवम् 'अहम्' इत्येकत्वेनोपलम्भो निरवयवत्वमन्तरेण नोपपद्यते। एतेनार्थाद्देहेन्द्रियप्राणानामप्यात्मत्वं निरस्तं वेदितव्यम्। तथाहि— न हि पाण्याद्यारब्धोऽवयव्यस्ति, सत्कार्यवादस्थापनात्। न च पाण्यादय एवात्मानः, प्रत्येकमहन्त्वाद्यभावात् अविवादनियमासम्भवाच्च। न चात्र परस्परोपकार्योपकारकभावाभिमानः सुवचः। अत एव च न तत्समुदायः। एवमिन्द्रियग्रामे प्राणाख्यसङ्घातेऽपि— इति।

**देहस्य चान्यस्य चे**ति। गृहक्षेत्रादितुल्यो 'ममेदम्' इति देहस्येदङ्ग्रहः। 'स्थूलोऽहम्' इत्यादिकं तु प्रबुद्धस्यापृथक्सिद्धेरप्रबुद्धस्य तु भ्रान्त्येति न कश्चिद्दोष इति भावः। **प्रमातृत**येति। विमर्शदशायां प्रमेयस्याप्यात्मनः प्रमातृत्वेनैव हि सर्वदा विषयग्रहणवेलायां स्फुरणम्। 'अज्ञासिषम्' इत्येवमादिरूपेण अन्यदापि प्रमातृत्वं परामृष्टम्। आत्मग्रहणेऽपि '**मां** जानामि' इति प्रमातृत्वमपि सुस्थितमेवेति भावः। **एकरूपेणे**ति। सावयवत्वे कस्यचिदवयवस्य कदाचित्प्रमातृत्वेऽन्येषां चाप्रमातृत्वेन स्फुरणं स्यात्। न ह्यनेकेषां चेतनानामवयवानां प्रमाप्रसरयौगपद्यनियमोऽस्तीति भावः।

**३ रा. भा.—न च देहादेरिव प्रदेशभेदे प्रमातुराकारभेद उपलभ्यते। अत एकरूपत्वेन अनुपचयात्मकत्वात् प्रमातृत्वाद्व्यापकत्वाच्च आत्मा नित्यः। देहस्तु उपचयात्मकत्वात् शरीरिणः कर्मफलभोगार्थत्वात् अनेकरूपत्वात् व्याप्यत्वाच्च विनाशी।**

४ वे. ता. चं.— अथ पूर्वोक्तमेव मुखभेदेन साधयन् विजातीयसङ्घातात्मकत्वे योग्यानुपलब्धिं चाह— **न चे**ति। पाञ्चभौतिकेषु देहादिषु तत्तद्भूतांशभूतत्वगसृङ्मांसादौ तत्तद्भूतप्रयुक्ताकारभेद उपलभ्यते; नैवं प्रमातरि। तथा च श्रूयते—

“कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव” [ बृ. उप. ४।५।१३ ] इत्यादि । यद्वा **आकारभेद** इति पाणिपादादिसन्निवेशभेदो विवक्षितः। तदेवमात्मनो नित्यत्वे देहस्य विनाशित्वे च प्रत्येकं हेतुचतुष्टयं श्लोकद्वयसिद्धं सुखग्रहणाय सङ्कलय्य दर्शयति— **अत** इति । **एकरूपत्वेन** अभूतसङ्घातात्मकत्वादित्यर्थः। **अनुपचयात्मकत्वात्** निरवयवत्वादित्यर्थः। नन्विदमखिलमपि हेतुजातमनुपपन्नम् ; तथा हि— तत्रासङ्घातरूपत्वस्य निरवयवत्वस्य च रूपरसादिभिर्महदादिभिश्चानैकान्त्यम् ; प्रमातृत्वं च यदि कर्मफलभोक्तृत्वं विवक्षितम् , तदानीम् असाधारणानैकान्त्यम्, सकलसपक्षविपक्षव्यावृत्तेः । तत्र चेश्वरादेरपि पक्षीकारे भागासिद्धिश्च । यदि प्रमाश्रयत्वमात्रं विवक्षितम्, तदा सर्वप्रमातृपक्षीकरणे पूर्ववदसाधारण्यम् । जीवमात्रपक्षीकारे त्वीश्वरनित्यत्वस्यापि दृढाभ्युपगमाभावात्तस्मिन् दृष्टान्ते सन्दिग्धसाध्यवैकल्यादिदोषः। व्यापकत्वं च यदि सर्वव्यापकत्वम्, तदा स्वरूपासिद्धिः, प्रत्येकं क्षेत्रज्ञानामणूनां तदभावात्, ईश्वरापेक्षया व्याप्यत्वाच्च । यदि कतिपयव्यापकत्वम्, तदा शस्त्राकाशादिभिरेवानैकान्त्यम्। शरीरानित्यत्वसाधकं सावयवत्वमपीश्वरदिव्यविग्रहाभरणायुधादिविशेषैः, एवं कर्मफलभोगार्थत्वं च। यदि तद्धेतुत्वं, तदेश्वरजीवस्वरूपादिभिः पूर्ववदनैकान्त्यम्। यदि तदर्थमुत्पन्नत्वम्, तदा व्यर्थविशेषणत्वम्, उत्पन्नत्वमात्रेण व्याप्तिसिद्धेः। सङ्घातरूपत्वमपि सावयवत्ववदनैकान्तिकम् । व्याप्यत्वं च यदि सर्वापेक्षया तदा त्वसिद्धिदोषः। न हि शरीरादिकं पर्वतादिभिर्व्याप्यते । अप्रसिद्धत्वं च हेतोः कुत्रचिदपि तस्याभावात्। यदि कतिपयापेक्षया, तदेश्वरव्याप्यैर्जीवदिव्यमङ्गलविग्रहादिभिरनैकान्त्यम् । यदि जीवव्याप्यत्वमिति विशेष्येत, तदा नित्यसूरिविग्रहविशेषादिभिः प्रकृत्यादिभिश्च प्राग्वद्व्यभिचारः । एतेन क्षेत्रज्ञव्याप्यत्वमित्यपि निरस्तम् । यदि पुनरव्यापकत्वं विवक्षितम्, तदाणिमाद्यैश्वर्यवद्योगिप्रभृतिशरीरेषु स्वरूपासिद्धिः, तच्छरीराणां शिलाद्युन्मज्जननिमज्जनादेरपि योग्यत्वात्— इति ।

अत्रोच्यते— असङ्घातत्वनिरवयवत्वयोस्तावत् अर्जुनादिबुद्ध्याधातकतया प्रस्तुतशस्त्राग्न्याद्यधीनविनाशनिवृत्तेः। साध्यत्वान्न महदादिभिरनैकान्त्यम्। द्रव्यत्वेन विशेषणाच्चाग्न्यादिनाश्यरूपादिभिरनैकान्त्यम् । एवं प्रत्यक्षादिसिद्धनाशकनिषेधे महदादिवत्केवलमीश्वरसङ्कल्पादिना नाशः शङ्क्येत, तदपि श्रुत्यैव प्रतिषिध्येतेति भावः। प्रमातृत्वस्य भोक्तृत्वपर्यवसाने कर्मफलभोगार्थत्वरूपप्रमेयत्वनिषेधमुखेनानुत्पत्तिपर्यवसितत्वादनुत्पन्नत्वस्य च नित्यत्वेन व्याप्तिसिद्धेः आत्मस्वरूपानुत्पत्तेश्च शास्त्रसिद्धत्वान्न कश्चिद्दोषः । प्रमाश्रयत्वमात्रस्य हेतुत्वे त्वीश्वरो दृष्टान्तः । तत्र साध्यसन्देहो ‘न त्वेवाहम्’ [ २।१२ ] इत्यस्य व्याख्यानदशायां निराकृतः । व्यापकत्वस्य प्रयोगस्तु पूर्वमस्मद्व्याख्यातप्रकारेण शस्त्रादिविषयतया पठितव्य इति न तत्रापि दोषः। शरीरानित्यत्वसाधनेषु च सावयवत्वभूतसङ्घातत्वयोः प्राकृतत्वे सतीति विशेषणान्न व्यभिचारः। एतदर्थं हि ‘**इमे देहाः**’ इत्युक्तम्। कर्मफलभोगार्थत्वमपि तदर्थमुत्पन्नत्वमेव, न च व्यर्थविशेषणम्, मुक्तात्मज्ञानविकासस्य व्यवच्छेद्यत्वात्। न हि सोऽनुत्पन्नः, प्रागभावात्। निवृत्ते प्रतिबन्धके करणनिरपेक्षस्वरूपाधीनोत्पत्तित्वमात्रेण हि स्वाभाविकमुच्यते; न त्वनुत्पन्नत्वेन। ‘दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा। प्रकाश्यन्ते न जन्यन्ते नित्या एवात्मनो हि ते’ [ वि. ध. १०४।५५ ] इत्यादिकं त्ववबोधादिस्वरूपस्यानुत्पन्नतामाह, न तु तद्विकासस्य । अथवाऽवस्थारूपत्वेन तस्योत्पन्नत्वं नाम पृथक्चिन्त्यताम्। तदवस्थावस्थितव्यवच्छेदाय विशेषणं स्यात्। अस्तु वा विशेषणनैरपेक्ष्यम्; तथाप्युत्पन्नत्वमात्रेणानित्यत्वं तावत्सिद्धम्, अज्ञातोत्पत्तिषु केषुचिच्छरीरेषु हेत्वसिद्धिशङ्कापरिहारः कर्ममूलत्वप्रदर्शनेन क्रियते। कर्मावसानविनाशित्वस्य वा साध्यत्वात्तदौचित्याय चेदं विशेषणं सार्थम्। साध्यत्वं व्याप्यत्वं च शस्त्राद्यपेक्षया विवक्षितम् । साध्यं च तदधीनविनाशित्वमिति न कश्चिद्दोषः । ननु यो यद्व्याप्यः स तदधीनविनाश इति न व्याप्तिः, ईश्वरव्याप्यैः प्रकृतिपुरुषकालादिभिरनैकान्त्यादिति चेत्, न; योग्यत्वस्य साध्यत्वात्तत्रापि तत्सम्भवात् । ईश्वरनित्येच्छापरिग्रहादेव हि तन्नित्यत्वम्, अन्यथा यदीश्वरो जीवादिस्वरूपमपि सञ्जिहीर्षेत्, कस्तस्य शासिता । तर्हि जीवाकाशादिव्याप्यैस्तदधीननाशरहितैः शरीरादिभिर्व्यभिचार इति चेत्, न; तेषामपि तन्नाश्यत्वयोग्यत्वात् । तन्नाशकर्तेश्वरस्तु न तत्र जीवादीन्युपकरणीकरोतीति विशेषः । ततश्चैवं प्रयोगः— शरीरादि शस्त्राद्यधीनविनाशयोग्यं, तद्व्याप्यत्वात्। यत् यद्व्याप्यं तत्तदधीनविनाशयोग्यम्—इति। यद्वा तिष्ठतु सामान्यव्याप्तिः, शस्त्रादिनाश्यत्वमेव साध्यम्, शस्त्रादिव्याप्यत्वादित्येव च हेतुः। यच्छस्त्रादिव्याप्यं तच्छस्त्रादिनाश्यम्, यथा कदलीकाण्डादीति। न चाकाशादि शस्त्रादिव्याप्यं, सूक्ष्मत्वे सत्यनुप्रवेशस्य विवक्षितत्वात्; सूक्ष्मत्वस्य चात्र यत्र यत्प्रतिहन्यते, तत्राप्रतिहतत्वं ततः सूक्ष्मत्वमिति निष्कर्षात्। योगिप्रभृतिशरीराणां तु शस्त्रादिव्याप्यत्वमेव परिणामविशेषादेर्निवृत्तम् । अतस्तदधीननाशाभावः। शस्त्राद्यपेक्षया व्यापकत्वमेव तेषामिति तैर्न व्यभिचारः। ततोऽपि सूक्ष्मतरैरीश्वरसङ्कल्पस्वसङ्कल्पादिभिस्तु तन्नाशः । एतेन शस्त्रास्त्रादिप्रतिबन्धकौषधाद्यनुगृहीतशरीरवृत्तान्तोऽपि व्याख्यातः, औषधादिभिस्तत्र प्रवेशप्रतिबन्धात्। तस्मात्सिद्धमष्टावपि हेतवोऽष्टदिग्विजयिनः- इति।

ननु— किमर्थमिह लोकसिद्धं शरीरानित्यत्वं प्रसाध्यते। केषुचिच्छरीरेषु प्रत्यक्षत एव नाशो दृष्टः। अविनष्टेषु भीष्मादिशरीरेष्वपि तत्तुल्यतया नाशित्वं निश्चितमेव । अन्यथा शत्रून् प्रति शस्त्रादिकमपि न प्रहीयेत। स्वयमपि शत्रुशस्त्रादिकं न निवारयेत्। अतः शरीरानित्यत्वस्य सम्प्रतिपन्नत्वात्सन्दिग्धे च न्यायापेक्षणान्निरर्थकमिह सावयवत्वाद्यनुमानचतुष्टयम्—इति।

अत्रोच्यते—प्रथमं तावदात्मनित्यत्वानुमानानां यच्छस्त्राद्यधीनविनाशम्, तत् सावयवं यथा शरीरमिति व्यतिरेकव्याप्तिप्रद-

र्शनमेकं प्रयोजनम्। तत एव देहात्मनोर्विरुद्धधर्मप्रपञ्चनेन भेदस्थापनं द्वितीयम्। शस्त्रादिनिवारणरसायनसेवादिभिर्नित्यत्वमपि किं सम्भवेदिति सन्देहापाकरणं तृतीयम्। एवं देहानां नाशतद्धेत्वोरवश्यम्भावित्वप्रतिपादनेन स्वदेहवैराग्यजननं चतुर्थम्। परदेहेषु च स्वस्यैकस्यैव नाशहेतुत्वभ्रमनिरसनेन वक्ष्यमाणप्रकारेण स्वतन्त्रकर्तृत्वाभिमानक्षालनं पञ्चमम्। नाशहेतौ सत्यवश्यं नश्यतीति प्रतिपादनात् फलाभिसन्धिरहितकर्मानुष्ठानादिनाऽत्यन्तनाशस्यापि सम्भावनाद्योतनं षष्ठम्। नश्वरस्वभावत्वादशोचनीयत्वं सप्तमम्। शीघ्रं मोक्षसाधने प्रवर्तितव्यमित्यष्टमम्। एवं यथोचितमन्यदपि भाव्यम्— इति।

**३ रा. भा.— तस्माद्देहस्य विनाशस्वभावत्वादात्मनो नित्यस्वभावत्वाच्च उभावपि न शोकस्थानमिति शस्त्रपातादिपरुषस्पर्शानवर्जनीयान् स्वगतानन्यगतांश्च धैर्येण सोढ्वा अमृतत्वप्राप्तये अनभिसंहितफलं युद्धाख्यं कर्मारभस्व ॥ १८ ॥**

**४ वे. ता. चं.**—'तस्माद्युध्यस्व भारत' [२।१८] इत्यत्र तस्मादित्यस्य व्याख्यानं **देहस्येत्यादि न शोकस्थानमित्यन्तम्**। 'मात्रास्पर्शास्तु' [२।१४] इत्यादिश्लोकद्वयप्रतिपादितेन द्वन्द्वतितिक्षारूपपरिकरेणामृतत्वरूपफलेन च पूरयन्नाह—**शस्त्रे**ति। अत्र **परगतान्** प्रति शोचतः स्वगताभिधानं मर्मोद्घाटनेन मानजननार्थम्। शास्त्रीयत्वादेव हि **स्वगत**मपि दुःखं सह्यते। तथा यज्ञपशुशत्रुप्रभृतिगतमपि सोढव्यमिति प्रदर्शनार्थं च युद्धस्यानीप्सितराज्यादिक्षुद्रभोगान्तरप्रधानकत्वव्युदासाय प्रकरणारम्भोक्तमेव फलमुचितमिति **अमृतत्वप्राप्तये** इत्युक्तम्। धात्वर्थस्य पराभिमतं करणतयान्वयमपाकुर्वन् 'युध्यस्व' इत्यत्र प्रकृतिप्रत्ययार्थौ विविच्याह—**युद्धाख्यं कर्मारभस्वे**ति। अयमर्थः सेश्वरमीमांसायां प्रपञ्चितोऽस्माभिः ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.— भवतु देहस्यापि कस्यचिन्नित्यत्वमिति, नेत्याह— अन्तवन्त इति। अस्तु तर्हि दर्पणनाशात् प्रतिबिम्बनाशवदात्मनाश इत्यत आह— नित्यस्य शरीरिण इति। ईश्वरव्यावृत्तये। न च नैमित्तिकनाश इत्याह—अनाशिन इति। कुतः? अप्रमेयेश्वरसरूपत्वात्। नह्युपाधिबिम्बसन्निध्यनाशे प्रतिबिम्बनाशः, सति च प्रदर्शके। स्वयमेवात्र प्रदर्शकः, चित्त्वात् नित्यश्चोपाधिः कश्चिदस्ति। 'प्रतिपत्तौ विमोक्षस्य नित्योपाध्या स्वरूपया। चिद्रूपया युतो जीवः केशवप्रतिबिम्बकः' इति भगवद्वचनात् ॥ १८ ॥**

**६ ज. प्र. दी** — देहानामन्तवत्त्वं प्रागुक्तं किमर्थमुच्यत इत्यत आह— **भवत्वि**ति। आत्मनित्यत्वानुमानस्य प्रतिपक्षं वक्तुं स्वाभिप्रेतस्य हेतोः सिद्धान्तिनाप्यभ्युपगतत्वं दृढीकुर्वता पूर्वपक्षिणा देहस्यापि कस्यचिन्नित्यत्वं भवतु किमिति पृष्टे (सति) नेत्याहेत्यर्थः। सिद्धार्थतापरिहाराय **कस्यचि**दित्युक्तम्। नन्वतिप्रसङ्गोऽयं कस्मान्न भवति? **कस्यचि**दिति विशेषणवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। नित्य**स्ये**त्यात्मनित्यत्वं पुनः कस्मादुच्यत इत्यत आह— **अस्त्वि**ति। एवं देहानित्यत्वं सिद्धान्तिनोऽपि सिद्धं कृत्वा तर्हि प्रतिबिम्बस्यात्मन उपाधेर्देहस्य नाशान्नाशोऽस्तु दर्पणनाशान्मुखप्रतिबिम्बस्येवेति पूर्वपक्षिणा प्रतिपक्षेऽभिहिते तत्प्रतिषेधायेदमाहेत्यर्थः। अनेन तथाऽप्यात्मा नित्य इति वाक्यवृत्तिः सूचिता। अनुवादे प्रयोजनाभावात् ये देहा अनित्या न तेषामुपाधित्वम्, यस्योपाधित्वं नासावनित्य इति भावः। तदिदमुक्तं इमे इति। व्यक्तीकरिष्यते चैतत्। ननु शरीरिणो देहा इति व्यर्थम्, अशरीरस्य देहाभावादित्यत आह— **शरीरिण** इति। नित्यस्य देहा अन्तवन्त इत्युच्यमाने ईश्वरदेहस्याप्यन्तवत्त्वं प्रसज्यते, तद्व्यावृत्त्यर्थं '**शरीरिणः**' इति विशेषणम्। 'जन्तुजन्युशरीरिणः' [अमरे १।४।३०] इत्यभिधानाच्छरीरिशब्दस्य जीवे प्रसिद्धेः। तथापि 'अनाशिनः' इति पुनरुक्तिरिति। अत्र केचित्तत्परिहाराय 'विनाशिनः' इति पाठान्तरं कुर्वन्ति, तदसत्; 'अन्तवन्तः' इत्यनेन पुनरुक्तितादवस्थ्यात्। कथञ्चित्समाधानेऽन्यत्रापि तत्समम्। किमन्यथापाठेनेत्याशयवानाह— **न चे**ति। उपाधिनाशेन नाशाभावेऽपि उपाधिबिम्बसन्निधिनाशान्निमित्तात्प्रतिबिम्बस्यात्मनो नाशो भविष्यति। न चासिद्धिः शङ्क्या। परिच्छिन्नस्यैव प्रतिबिम्बसम्भवेन सन्निधिनाशध्रौव्यादिति पुनः प्रतिपक्षिते तत्प्रतिषेधायेदमिति भावः। अप्रमेयस्येत्येतदसम्भवि विशेषणम्। व्यर्थं चेत्यतस्तन्निवर्त्यामाशङ्कां दर्शयित्वा व्याचष्टे— **कुत** इति। न हि प्रतिपक्षो वाङ्मात्रेण निषेद्धुं शक्यत इति भावः। अप्रमेयेत्यनेन प्रतिपक्षहेतोरसिद्धिमाचष्टे। नायमात्मा घटादेः कस्यचित्प्रतिबिम्बः; किन्त्वीश्वरस्य। स चाप्रमेयः सर्वगत इति कथं तस्योपाधिसन्निधिनाश इति। ननु कथमिदं लभ्यते. अतद्भावे सामानाधिकरण्यं सारूप्यं गमयतीति प्रसिद्धमेव, न च सर्वगतस्य प्रतिबिम्बासम्भवः, तदधीनसारूप्यस्य प्रतिबिम्बत्वात्, तदिदमुक्तं सरूपत्वादिति।

ननु वक्तव्यं सर्वमुक्त्वोपसंहारः क्रियते, तत्किमात्मनित्यत्वविषये सर्वशङ्कोद्धारो जातो येन 'तस्माद्युद्धयस्व' इत्युपसंह्रियत इत्यतो जात इत्याह— **नही**ति। उपाधिबिम्बसन्निध्यनाशे प्रदर्शके आदर्शे उपाधौ बिम्बे चाविनष्टे सति प्रतिबिम्बनाशो न ह्यस्ति उपपादितश्चात्र त्रयस्यानाश इति भावः। ननु विनाशिनां देहानामप्यनुपाधिकत्वात्कोऽत्रोपाधिरित्यत आह—**स्वयमि**ति। उपाध्युपाधिमद्भावो विशेषबलेनेति भावः।

लोकेऽदृष्टमिदं कथमङ्गीकार्यमित्यत आह— **चित्त्वादिति**। जडेष्वयावद्वस्तुभावित्वात्सर्वत्र भेदाभेदौ । चित्स्वरूपे तु यावद्वस्तुभावित्वादभेद **एवे**ति भावः। स्वस्यैवोपाधित्वे मुक्तावात्मनिवृत्तिः स्यात् । उपाधिनिवृत्तिलक्षणत्वान्मुक्तेरित्यत आह— **नित्य** इति। द्विविध उपाधिरात्मनः नित्योऽनित्यश्च, तत्र नित्यस्यावस्थानं, अन्यस्य निवृत्तिर्मुक्ताविति कुत एतदित्यत आह— **प्रतिपत्ता**विति। प्राप्तौ सत्यां कुतस्तिष्ठतीति शेषः। ननूपाध्येति कथं? किप्रत्ययान्तस्य पुल्लिङ्गतानियमात्। तर्हि इषुधिर्द्वयोः कथम्। प्रयोगदर्शनादपवादः। यथाह 'लिङ्गशेषविधिर्व्यापी विशेषैर्यद्यबाधितः' इति । समं प्रकृतेऽपि। स्व आत्मा रूपं यस्याः सा स्वरूपा । चिद्रूपत्वात् स्वरूपत्वं, स्वरूपत्वान्नित्यत्वम् ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.— किं पुनस्तदसत्, यत्स्वात्मसत्तां व्यभिचरति इत्युच्यते–अन्तो नाशो विद्यते येषां तेऽन्तवन्तः। नित्यस्य शरीरिणो यथा मृगतृष्णिकादौ सद्बुद्धिरनुवृत्ता प्रमाणनिरूपणाद्विच्छिद्यते स तस्यान्तः, तथेमे देहाः स्वप्नमायालब्धदेहादिवदन्तवन्तः। नित्यस्य शरीरिणः शरीरवतोऽनाशिनोऽप्रमेयस्याऽऽत्मनोऽन्तवन्त इत्युक्ताः, पण्डितैर्ब्रह्मवादिभिरित्यर्थः । अप्रमेयस्य प्रत्यक्षादिप्रमाणैरपरिच्छेद्यस्य, न त्वात्मा परिच्छिद्यते। तथा च श्रुतिः—"यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा" [ बृहदा० ३।४।१ ] इति । यस्मादेवं नित्यः सन्नविच्छेद्यश्चाऽऽत्मा तस्माद्युध्यस्व, तदुपरमं मा कार्षीरित्यर्थः। न ह्यत्र युद्धकर्तव्यता विधीयते, युद्धे प्रवृत्त एवासौ मोहप्रतिबन्धतस्तूष्णीमास्ते, तस्य प्रतिबन्धापनयनं भगवता क्रियते, तस्माद्युध्यस्वेत्यनुवादमात्रं न विधिः ॥१८॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' [ २।११ ] इति प्राथमिकश्लोके भीष्माद्यात्मनां वा शोच्यत्वं तदीयदेहानां वेति विकल्प्य 'न त्वेवाहम्' [ २।१२ ] इत्यादिभिः षड्भिराद्यः पक्षो निरस्तः। इदानीं द्वितीयपक्षं निराचिकीर्षुः, तत्रापि देहनिमित्तः शोक इति वदता वक्तव्यं किं भीष्मादिदेहा मया न निहन्यन्ते चेत्, नित्या एवावतिष्ठेरन्नित्यभिप्रायः, किं वा स्वतो नश्वरस्वभावा एव ते, तथापि मत्तो न नश्येयुः इति विकल्प्य क्रमेण निराकरोति—इमे देहा अन्तवन्त इति प्रथमं सम्बन्धः। इमेऽन्तवन्त इति प्रत्यक्षनिर्देशः। तथा च देहानां विनाशिस्वभावत्वं प्रत्यक्षेणैव सिद्धमिति न तन्नित्यत्वशङ्कावकाश इत्यर्थः। ननु देहानामिव देहिनोऽपि नाशः प्रत्यक्षेणैव सिद्धः देवदत्तो नष्ट इति प्रतीतेः, ततश्चात्मनोऽपि नित्यत्वं न स्यादित्याशङ्क्य, देहतादात्म्याध्यासापन्नस्यात्मनो देहात्पृथगनुपलब्ध्या देहनाशातिरेकेण देहिनाशस्य प्रत्यक्षत्वमसिद्धमिति नात्मनित्यत्वहानिः। तथा च श्रुतिः—"जीवापेतं वाव किलेदं (शरीरं) म्रियते न जीवो म्रियते" [ छां. उ. ६।११।३ ] इतीत्येतत् 'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे' [ २।१३ ] इत्यत्र प्रतिपादितं स्मारयति— **नित्यस्येति**। नित्यस्य देहिन आत्मनः सम्बन्धिनः इमे देहा अन्तवन्त इति श्रुत्योक्ता इति योजना। श्रुत्यनुग्राहकं तर्कं दर्शयति— **अनाशिनोऽप्रमेयस्येति**। अधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्यस्य अपरिच्छिन्नस्य चेत्यर्थः। अनेन 'यद्यनित्य आत्मा स्यादधिष्ठानतत्त्वज्ञाननिवर्त्यस्त्रिविधपरिच्छेदयोगी च स्यात्' इति तर्को दर्शितः। अत्र च देहा इति बहुवचनात् शरीरिण इत्येकवचनाच्च प्रतिशरीरमात्मभेद इति मतं निरस्तम्।

**मधुसूदनसरस्वत्यस्तु**— 'देहा इति बहुवचनात् स्थूलसूक्ष्मकारणरूपाः पञ्चकोशात्मकाः सर्वेऽप्यत्र देहा गृह्यन्ते; ते च सर्वेऽप्येकस्यैव देहिनो देहाः' इति व्याचख्युः; तच्चिन्त्यम्।

भीष्मादिदेहनाशनिमित्तकार्जुनीयशोकनिरासार्थेऽस्मिन् श्लोके अर्जुनविनाश्यत्वेन प्रसक्तानां भीष्मादिस्थूलदेहरूपान्नमयकोशानामेव ग्रहणमुचितम्; न तु यावन्मोक्षमनपायितया युद्धाविनाश्यानां तदीयसूक्ष्मदेहरूपाणां प्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशानां तदीयकारणदेहरूपस्यानन्दमयकोशस्य वा ग्रहणम्, तेषामविनाशित्वेनार्जुनस्य तन्नाशप्रयुक्तशोकाप्रसक्तेः। न चायं श्लोको न भीष्मादिदेहशोकनिरासार्थः, किन्तु 'नासतो विद्यते भावः' [ २।१६ ] इत्येतद्विवरणार्थ इति वाच्यम्; तथा सति 'नासतः' इति श्लोकप्रथमपादविवरणरूपस्यास्य श्लोकस्य तच्छ्लोकीयद्वितीयपादविवरणरूपात् 'अविनाशि तु' इति श्लोकात्पूर्वभावित्वौचित्येन तदनन्तरभावित्वानुपपत्तेः; कथञ्चित्तदुपपत्तावपि 'नासतो विद्यते भावः' इत्यत्र 'असतः त्रिविधपरिच्छेदवतः कृत्स्नस्यापि प्रपञ्चस्य भावः सत्ता न विद्यते, इत्येवं भवद्भिर्व्याख्यातस्यार्थस्यास्मिन् श्लोकेऽनुपलम्भेन अस्य तद्विवरणरूपत्वायोगाच्च। न चात्र अन्तवच्छब्दस्त्रिविधपरिच्छेदवद्वाचीत्यसच्छब्दविवरणरूपत्वं कल्पयितुं शक्यम्; नित्यस्य शरीरिणः अन्तवन्तो देहा इति नित्यशब्दप्रतिद्वन्द्विनः अन्तवच्छेदस्य कालपरिच्छेदरूपनाशमात्रवाचित्वात्। न च नित्यशब्दोऽपि त्रिविधपरिच्छेदराहित्यवाचीति युक्तम्; अविनाशवाचित्वेनैव तस्य प्रसिद्धेः, "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" [ ] "नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं" [ मुं. उ. १।१।६ ] इत्यादिषु सर्वगतपदवैयर्थ्यापाताच्च । भाष्याभिप्रायस्तु प्रागेवोक्त इत्यास्तां तावत्।

एवं भीष्मादिदेहनिमित्तकः शोक इति पक्षे किं तेषां देहा इदानीमनिहन्यमाना नित्या एव स्युरित्याशयः किंवा स्वतो

नश्वरा अपि ते मत्तो न नश्येयुरितीति विकल्प्य आद्यो निरस्तः । इदानीं द्वितीयं निराह—**तस्माद्युध्यस्वेति** । हे भारत भरतवंशप्रसूत! तस्मात् भरतवंश्यत्वेन महाक्षत्रियत्वात् क्षत्रियं प्रति च युद्धस्य विहितत्वात् युध्यस्व अग्नीषोमीयालम्भमिव विहितं शत्रुविशसनरूपं युद्धं कुरुष्व । मन्निमित्तमेते नश्यन्तीति युद्धप्रतिबन्धकं मोहं शोकं च मा कार्षीरित्यर्थः । न ह्यत्र युद्धं विधीयते, सामान्यशास्त्रादेव तस्य प्राप्तेरित्युपोद्घातप्रकरणे प्रपञ्चितत्वादिति ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०—उक्तं सर्वं निगमयति—**अन्तवन्त इति** । इमे देहा नित्यस्य शरीरिणोऽस्यान्तवन्तः अनित्याः कृतेऽप्यकृते शोकेऽस्थिरा उक्ताः । शास्त्रे अन्तश्चिदात्मा तु अविनाशी अप्रमेयत्वादग्राह्यत्वादिति युद्ध्यस्व ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.—ननु देहादिनाशः प्रत्यक्षमनुभूयमानः किंरूप इत्याशङ्कायामाह—**अन्तवन्त इति** । नित्यस्य जन्ममरणशून्यस्य शरीरिणो जीवस्य जीवभावनाभिलाषप्राप्तमायासम्बन्धिन इमे देहा लौकिकाः परिदृश्यमानाः भीष्मादीनां सर्वेषां चान्तवन्तः अन्तयुक्ता उक्ता इत्यर्थः । अनाशिनो विनाशहीनस्याप्रमेयस्योपायसहस्रैरपि प्रमातुमयोग्यस्य भगवत्सम्बन्धिनः शरीरिणो जीवस्य भगवदीयस्य देहास्तु नान्तवन्त इत्यर्थः । सर्वेषामेवान्तवत्त्वकथने तु पूर्वोक्तवचनैर्विरोधः स्यात् । अत एव तेषु भिन्नत्वज्ञानार्थमेव 'इमे' इत्युक्तवान्प्रभुः । तस्मादेतेषां मारणेन पापसम्भावना नास्तीति युद्धयस्व युद्धं कुर्वित्यर्थः । भारतेति सम्बोधनमुक्तवचनविश्वासार्थं, यतः सत्कुलोत्पन्नस्यैवम्भूतभगवद्वाक्ये विश्वासो भवति ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०—एवं सत आत्मनो नित्यत्वमसतो देहादेरनित्यत्वं चोक्तमुपसंहरन्नेनं युद्धाभिमुखं करोति—अन्तवन्त इति । यद्यपि 'नासतो विद्यते भावः' [ २।१६ ] इत्यसतां देहानां कालत्रयेऽपि सत्त्वं नास्तीति परमार्थदृष्ट्योक्तं तथापि तां दृष्टिमप्रतिपद्यमानस्य नरकादिभयमनुरुध्यमानस्य व्यवहाराभिप्रायेण नित्यानित्यविभागमभिप्रेत्य देहानामन्तवत्त्वमुच्यत इति न दोषः । नित्यत्वं कालापरिच्छेद्यत्वं, तच्च व्यवहारे नभसोऽप्यस्तीत्यत उक्तमनाशिन इति । नाशः अदर्शनं तद्वान् हि आकाशः 'नभ आत्मनि लीयते' [ ] इति स्मृतेः । अयं तु न तथेत्यनाशी, सर्वदैव प्रकाशमान इत्यर्थः । एतदपि न घटादिवदृश्यत्वेनेत्याह—अप्रमेयस्येति । तथा च श्रुतिरात्मनोऽप्रमेयत्वमाह—"एतदप्रमेयं ध्रुवम्" [बृ.उ.४।४।२०] इति, अप्रमेयमित्यस्याप्रमेयमित्यर्थः । एतच्चात्मनि प्रमाणाप्रसराज्ज्ञेयम् । तथा च श्रुतिः—"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्........ विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" [ बृ. उ. ४।५।१५ ] इति प्रसिद्धिस्त्वस्य प्रत्यगात्मत्वादेव । "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" [ बृ. उ. ३।४।१ ] इति श्रुतेः । उक्तं च—'प्रमाणमप्रमाणं च प्रमाभासस्तथैव च । यत्प्रसादात्प्रसिद्ध्यन्ति तदसम्भावना कुतः' इति । तस्माद्युद्ध्यस्व भारत । भीष्मादिदेहानां मिथ्यात्वादनित्यत्वाच्च स्वयमेव नष्टप्रायतया हननान्निवृत्त्या त्वया स्वधर्मो न नाशनीय इति भावः ॥ १८ ॥

**य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ॥**
**उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥**
**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वाभविता* वा न भूयः ।**
*शङ्कराचार्यसम्मतः पाठस्तु 'अभविता' इति, इतरेषां मते तु 'भविता' इति ।
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ २० ॥**

**१ शां. भा.**—शोकमोहादिसंसारकारणनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं, न प्रवर्तकं, इत्येतस्य अर्थस्य साक्षिभूते ऋचौ [ कठ. २।१८।१९ ] आनिनाय भगवान् ॥ यत्तु मन्यसे 'युद्धे भीष्मादयो मया हन्यन्ते, अहमेव तेषां हन्ता' इति, एषा बुद्धिः मृषैव ते । कथम्?—**य एनं इति** । य एनं प्रकृतं देहिनं वेत्ति विजानाति हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं, यश्च एनं अन्यो मन्यते हतं देहहन-

१ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥ [ कठो. २-१९ ] गीताशास्त्रस्य श्रुतिमूलकत्वे प्रमाणभूतोऽयं श्लोकः । अग्रिमश्च । स यथा—न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् । अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ [ कठो. २-१८ ]

नेन 'हतः अहम्' इति हननक्रियायाः कर्मभूतं, तौ उभौ न विजानीतः न ज्ञातवन्तौ अविवेकेन आत्मानम्। 'हन्ता अहम्' 'हतः अस्मि अहम्' इति देहहननेन आत्मानं अहम्प्रत्ययविषयं यौ विजानीतः तौ आत्मस्वरूपानभिज्ञौ इत्यर्थः। यस्मात् न अयं आत्मा हन्ति न हननक्रियायाः कर्ता भवति, न हन्यते न च कर्म भवतीत्यर्थः, अविक्रियत्वात् ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'अविनाशि तु तद्विद्धि' [२।१७] इत्यत्र पूर्वार्धेन तत्पदार्थसमर्थनमुत्तरार्धेन निरीश्वरवादस्य परिणामवादस्य वा निराकरणमात्मनि जन्मादिप्रतिभानस्यौपचारिकत्वप्रदर्शनार्थं 'अन्तवन्तः' [२।१८] इत्यादि वचनमिति केचित्; अस्तु नामायमपि पन्थाः, पूर्वोक्तस्य गीताशास्त्रार्थस्योत्प्रेक्षामात्रमूलत्वं निराकर्तुं मन्त्रद्वयं भगवानानीतवानिति श्लोकद्वयस्य सङ्गतिं दर्शयति— **शोकमोहादी**ति। तत्र प्रथममन्त्रस्य सङ्गतिमाह— **यत्त्वि**ति। प्रत्यक्षनिबन्धनत्वादमुष्या बुद्धेर्मृषात्वमयुक्तमित्याक्षिपति— **कथ**मिति। प्रत्यक्षस्याज्ञानप्रसूतत्वेनाऽऽभासत्वात्तत्कृता बुद्धिर्न प्रमेति परिहरति— **य एन**मिति। "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्" [कठो २।१९] इत्याद्यामृचमर्थतो दर्शयित्वा व्याचष्टे— **य एनं प्रकृत**मिति। हन्तारं हतं वाऽऽत्मानं मन्यमानस्य कथमज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह— **हन्ताऽह**मिति। हन्तृत्वादिज्ञानमज्ञानमित्यत्र हेतुमाह— **यस्मा**दिति। आत्मनो हननं प्रति कर्तृत्वकर्मत्वयोरभावे हेतुं दर्शयति— **अविक्रियत्वा**दिति ॥ १९ ॥

१ शां. भा.— कथं अविक्रियः आत्मेति द्वितीयो मन्त्रः— न जायते न उत्पद्यते, जनिलक्षणा वस्तुविक्रिया न आत्मनो विद्यते इत्यर्थः। तथा न म्रियते वा। वाशब्दः चार्थे। न म्रियते च इति अन्त्या विनाशलक्षणा विक्रिया प्रतिषिद्ध्यते। कदाचिच्छब्दः सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः सम्बद्ध्यते— न कदाचित् जायते, न कदाचित् म्रियते, इत्येवम्। यस्मात् अयं आत्मा भूत्वा भवनक्रियां अनुभूय पश्चात् अभविता अभावं गन्ता न भूयः पुनः, तस्मात् न म्रियते। यो हि भूत्वा न भविता स म्रियते इति उच्यते लोके। वाशब्दात् नशब्दाच्च अयं आत्मा अभूत्वा वा भविता देहवत् न भूयः पुनः। तस्मात् न जायते। यो हि अभूत्वा भविता स जायते इति उच्यते। नैवं आत्मा। अतो न जायते। यस्मात् एवं तस्मात् अजः। यस्मात् न म्रियते तस्मात् नित्यः च।

२ आ. शां. व्या.— तदेव साधयितुं "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [कठो॰ २।१८] इत्यादिमन्त्रान्तरमवतारयति— **कथ**मिति। सर्वविक्रियाराहित्यप्रदर्शनेन हेतुं विशदयन्मन्त्रमेव पठति— **न जायत** इति। जन्ममरणविक्रियाद्वयप्रतिषेधं साधयति— **नाय**मिति। अयमात्मा भूत्वा नाभविता, न वाऽभूत्वा भूयो भवितेति योजना। न केवलं विक्रियाद्वयमेवात्र निषिध्यते, किन्तु सर्वमेव विक्रियाजातमित्याह— **अज** इति। वाच्यमर्थमुक्त्वा विवक्षितमर्थमाह— **जनिलक्षणे**ति। विकल्पार्थत्वं व्यावर्तयति— **वे**ति। निष्पन्नमर्थं निर्दिशति— **नेत्या**दिना। सम्बन्धमेवाभिनयति— **न कदाचि**दिति। अन्त्यविक्रियाभावे हेतुत्वेन नायमित्यादि व्याचष्टे— **यस्मा**दिति। उक्तमेव व्यनक्ति— **यो ही**ति। आत्मनि तु भूत्वा पुनरभवनाभावान्नास्ति मृत्युरित्यर्थः। आत्मनो जन्माभावेऽपि हेतुरिहैव विवक्षित इत्याह— **वाशब्दा**दिति। अभूत्वेति च्छेदः देहवदिति व्यतिरेकोदाहरणम्। उक्तमेवार्थं साधयति— **यो ही**ति। जन्माभावे तत्पूर्विकाऽस्तित्वविक्रियाऽपि नाऽऽत्मनोऽस्तीत्याह— **यस्मा**दिति। प्राणवियोगात्मनो मृतेरभावे सावशेषनाशाभाववन्निरवशेषनाशाभावोऽपि सिध्यतीत्याह— **यस्मा**दिति।

१ शां. भा.— यद्यपि आद्यन्तयोः विक्रिययोः प्रतिषेधे सर्वाः विक्रियाः प्रतिषिद्धाः भवन्ति, तथापि मध्यभाविनीनां विक्रियाणां स्वशब्दैरेव तदर्थैः प्रतिषेधः कर्तव्यः इति अनुक्तानां अपि यौवनादिसमस्तविक्रियाणां प्रतिषेधो यथा स्यात् इत्याह— शाश्वतः इत्यादिना। शाश्वत इति अपक्षयलक्षणा विक्रिया प्रतिषिद्ध्यते। शश्वद्भवः शाश्वतः। न अपक्षीयते स्वरूपेण; निरवयवत्वात् निर्गुणत्वाच्च। नापि गुणक्षयेण अपक्षयः। अपक्षयविपरीतापि वृद्धिलक्षणा विक्रिया प्रतिषिद्ध्यते पुराणः इति। यो हि अवयवागमेन उपचीयते स वर्धते, अभिनव इति च उच्यते। अयं तु आत्मा निरवयवत्वात् पुरापि नव एवेति पुराणः; न वर्धते इत्यर्थः। तथा— न हन्यते न विपरिणम्यते हन्यमाने विपरिणम्यमानेऽपि शरीरे। 'हन्तिः' अत्र विपरिणामार्थे द्रष्टव्यः अपुनरुक्ततायै।

न विपरिणम्यते इत्यर्थः । अस्मिन् मन्त्रे षट् भावविकाराः लौकिकवस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिषिद्ध्यन्ते । सर्वप्रकारविक्रियारहित आत्मा इति वाक्यार्थः । यस्मादेवं तस्मात् 'उभौ तौ न विजानीतः' [ कठो. १।२।१९ ] इति पूर्वेण मन्त्रेणास्य सम्बन्धः ॥ २० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ननु जन्मनाशयोर्निषेधे तदन्तर्गतानां विक्रियान्तराणामपि निषेधसिद्धेस्तन्निषेधार्थं न पृथक्प्रयतितव्यमिति तत्राऽऽह— **यद्यपी**ति । स्वशब्दैर्मध्यवर्तिविक्रियानिषेधवाचकैरिति यावत् । आर्थिकेऽपि निषेधे निषेधस्य सिद्धतया शाब्दो निषेधो न पृथगर्थवानित्याशङ्क्याऽऽह— **अनुक्ताना**मिति । नित्यशब्देन शाश्वतशब्दस्य पौनरुक्त्यं परिहरन् व्याकरोति— **शाश्वत** इत्यादिना । अपक्षयो हि स्वरूपेण वा स्याद्गुणापचयतो वेति विकल्प्य क्रमेण दूषयति— **नेत्या**दिना । पुराणपदस्यागतार्थत्वं कथयति— **अपक्षये**ति । तदेव स्फुटयति— **यो ही**ति । 'न म्रियते वा' इत्यनेन चतुर्थपादस्य पौनरुक्त्यमाशङ्क्य व्याचष्टे— **तथे**त्यादिना । ननु हिंसार्थो हन्तिः श्रूयते, तत्कथं विपरिणामो निषिध्यते ? तत्राऽऽह— **हन्ति**रिति । हिंसार्थत्वसम्भवे किमित्यर्थान्तरं हन्तेरिष्यते ? तत्राऽऽह— **अपुनरुक्तताया** इति । हिंसार्थत्वे मृतिनिषेधेन पौनरुक्त्यं स्यात्तन्निषेधार्थं विपरिणामार्थत्वमेष्टव्यमित्यर्थः । 'पूर्वावस्थात्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विपरिणामतः' तदर्थश्चेदत्र हन्तिरिष्यते तदा निष्पन्नमर्थमाह— **ने**ति । न जायत इत्यादिमन्त्रार्थमुपसंहरति— **अस्मि**न्निति । षण्णां विकाराणामात्मनि प्रतिषेधे फलितमाह— **सर्वे**ति । आत्मनः सर्वविक्रियाराहित्येऽपि किमायातमित्याशङ्क्याऽऽह— **यस्मा**दिति ॥२०॥

**३ रा. भा.**— य एनं उक्तस्वभावमात्मानं प्रति हन्तारं हननहेतुं कमपि मन्यते, यश्चैनं केनापि हेतुना हतं मन्यते, तावुभौ न विजानीतः; उक्तैर्हेतुभिरस्य नित्यत्वादेवायं हननहेतुर्न भवति, अत एव चायमात्मा न हन्यते । हन्तिधातुरप्यात्मकर्मकः शरीरवियोगकरणवाची । "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' [क. स्मृ. ८।२ ]इत्यादीन्यपि शास्त्राणि अविहितशरीरवियोगकरणविषयाणि ॥ १९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथ 'अविनाशि तु' [ २।१७ ] इति श्लोकेनोक्तं 'नैनं छिन्दन्ति' [ २।२३ ] इति प्रपञ्चयिष्यमाणं शस्त्रादीनामात्मनश्च हन्तृत्वहन्तव्यत्वायोग्यत्वं तद्विपर्ययवेदिनिन्दया द्रढयति— **य एन**मिति । सामानाधिकरण्यभ्रमनिरासायोक्तं— **प्रती**ति । 'हन्तारम्' इत्यस्य तृन्नन्तत्वात् 'एनम्' इति द्वितीया, 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' [अष्टा. २।३।६९] इति कृद्योगषष्ठीनिषेधात् । **हननहेतु**मिति । प्रत्ययस्यात्र हेतुमात्रविवक्षेति भावः । 'न कश्चित्कर्तुमर्हति' [ २।१७ ] इति पूर्वोक्तवत्पदार्थविवक्षया पुल्लिङ्गत्वोपपत्तिरिति ज्ञापनायोक्तम्— **कम**पीति । छेदनादिहेतुषु कश्चिदपीत्यर्थः । ननु "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् । उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते" [१।२।१९] इत्यस्य कठवल्लीवाक्यस्योपबृंहणरूपोऽयं श्लोकः । तस्य च वाक्यस्यात्मनो हन्तृत्वहन्तव्यत्वनिषेधार्थत्वं 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ब्र. सू. २।३।३३] इत्यधिकरणभाष्ये पूर्वपक्षिणोक्तम् । सिद्धान्ते च यदुक्तं 'हन्ता चेन्मन्यते' इत्यादिना हननक्रियायामकर्तृत्वमात्मनः श्रूयत इत्येवमनूद्य, तदात्मनो नित्यत्वेन हन्तव्यत्वाभावादुच्यत इति परिहृतम् । कथमत्रैनं हन्तारमित्यादिना स्वरससिद्धसामानाधिकरण्यादिभङ्गेन हननहेतुं कमपीत्यध्याहृत्य व्याख्यायते ? । उच्यते— न तावदत्र शारीरकभाष्यविरोधः, एकार्थ्यात् । अत्र हि यस्य कस्यापि हेतोरात्महननहेतुत्वं नास्तीत्युक्तम्, तथा सत्यात्मनोऽप्यात्महननहेतुत्वं नास्तीत्युक्तं भवति । एवं चात्र सामान्योक्तस्य विशेषनिष्ठतामभ्युपेत्योक्तं शारीरके । न चात्र सामानाधिकरण्याभ्युपगमः, आत्मनो हन्तारमिति वैयधिकरण्येऽपि फलितोक्तिः । तत्र ह्यपेक्षितपदान्तरस्य योग्यविभक्त्यन्ततयाऽध्याहारः । अत्र तु सामानाधिकरण्यादपि क्रियाकर्मणोराकाङ्क्षादिमतोः परस्परान्वय एव स्वारसिकः । सामान्यविषयत्वे च प्रकरणौचित्यम् । आत्मनो हन्तृत्वनिषेधरूपविशेषोपसंहारस्तु 'वेदाविनाशिन' [ २।२१ ] इति श्लोके भविष्यति । तस्मादयमिति शब्दस्य भिन्नार्थत्वादिकमपि न दोषायेति सिद्धम् ।

प्रतिज्ञान्तरभ्रमव्युदासायाह— **उक्तै**रिति । **अस्य नित्यत्वा**दिति । तत्कार्यशक्तमपि न हि तदयोग्ये प्रवर्तत इति भावः । 'एनम्' इति पूर्ववाक्यादनुकृष्योक्तम् । **अतएव चे**ति । अयोग्यतया हेत्वभावे तत्क्रियाविषयत्वरूपफलाभाव इति भावः । 'अयं हननहेतुः, अयमात्मा' इत्युभयत्र अयंशब्दप्रयोगात्तन्त्रेणोच्चारितोऽयं शब्दो 'हन्ति,हन्यते' इत्यनयोर्विवक्षाभेदात्कर्तृकर्मसमर्पक इति भावः । कथं तर्हि 'मनुष्यं हन्ति' इत्यादिप्रयोगः ? । न ह्यसौ शरीरमात्रहननविषयः, मृतशरीरघातकेषु 'पितृहा मातृहा' इत्यादिप्रयोगोपक्रोशाद्यभावात् । मनुष्यादिशब्दाश्चात्मपर्यवसिता इति नः सिद्धान्तः । 'मां जिघांसति' इत्यादिप्रयोगेषु व्यक्तमेव हन्तेरात्मकर्मकत्वम् । अतो हिंसायोगश्चेतन एव हन्तिधातोः कर्मभूतः । तथा सति 'नायं हन्ति न हन्यते' इत्युक्तमुभयमपि नोपपद्यत इत्याशङ्क्याह— **हन्तिधातु**रिति । 'आत्मकर्मकः' इत्यनेन शङ्कासूचनम्; सत्यमात्मकर्मक एव स्वतो हन्तिधातुः, न तु तत्स्वरूपप्रच्युतिप्रतिपादकः; किन्तु मारणपरः । तथैव हि लोकवेदयोः प्रयोगः । मारणं च शरीरादिविश्लेषणात्मकम् । 'मृङ् प्राणत्यागे' इति

चानुशिष्यत इति भावः । एवं लोकप्रयोगो निर्व्यूढः । "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इति शास्त्रप्रयोगस्य कोऽर्थः ?। स चास्तु यः कश्चित्, स तावत् सामान्यतो विशेषतश्च निषिद्धत्वादकर्तव्य इत्याशङ्क्याह— **न हिंस्या**दिति । पराभिमतप्रक्रिययोत्सर्गापवादन्यायाद्वा स्वमतेन विहितशरीरवियोगकरणस्य पशुशत्रुप्रभृतीनामपि हिततमत्वेन हिंसात्वस्यैवाभावाद्वेति भावः ॥१९॥

**३ रा. भा.— उक्तैरेव हेतुभिर्नित्यत्वेनापरिणामित्वादात्मनो जननमरणादयः सर्व एवाचेतनदेहधर्मा न सन्तीत्युच्यते । तत्र 'न जायते म्रियते' इति वर्तमानतया सर्वेषु देहेषु सर्वैरनुभूयमाने जननमरणे कदाचिदप्यात्मानं न स्पृशतः । नायं भूत्वा भविता वा न भूयः- अयं कल्पादौ भूत्वा भूयः कल्पान्ते च न न भविता; केषुचित्प्रजापतिप्रभृतिदेहेष्वागमेनोपलभ्यमानं कल्पादौ जननं कल्पान्ते च मरणमात्मानं न स्पृशतीत्यर्थः । अतः सर्वदेहगत आत्मा अजः, अत एव नित्यः, शाश्वतः, प्रकृतिवदविशदसततपरिणामैरपि नान्वीयते, अतः पुराणः पुरापि नवः, सर्वदा अपूर्ववदनुभाव्य इत्यर्थः । अतः शरीरे हन्यमानेऽपि न हन्यतेऽयमात्मा ॥ २० ॥**

**४ वे. ता. च.**— अथ 'विपश्चित्' [ कठो. १।२।१८ ] इत्यधीतस्य अत्र 'कदाचित्' इत्येकपदमात्रविशेषितस्य 'न जायते' इति कठवल्लीश्लोकस्य पौनरुक्त्यप्रत्यक्षविरोधादिदोषमाशङ्क्याह— **उक्तैरेवे**ति । एतेन प्रतिज्ञामात्रत्वशङ्का परास्ता । **नित्यत्वेनापरिणामित्वा**दिति— अविनाशत्वेन विकारमात्रस्यापि निरस्तत्वादित्यर्थः । तथाहि- विनाशो नाम पूर्वावस्थाप्रहाणरूपनामान्तरभजनार्हावस्थान्तरापत्तिः । यथा घटादिद्रव्यस्य कपालाद्यवस्था; तदवस्थौन्मुख्यं च तस्या अपक्षयः । सैव कपालाद्यवस्थस्य तस्यैव द्रव्यस्योत्पत्तिः । एवं परिणामवृद्ध्यादिकमुदाहरणीयम् । वक्ष्यति चेममर्थम्— 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' [ २।२७ ] इत्यत्र । अतो विनाशित्वनिराकरणेन जननादिकमप्यर्थतो निरस्तम् । **सर्व एवे**त्यपौनरुक्त्यार्थमुक्तम् । एवकारोऽत्र अपिशब्दसमानार्थः । न केवलं हन्तव्यत्वमात्रमेव नास्ति; अपितु जन्यत्वादिकमपीत्यपुनरुक्तिरिति भावः । **देहधर्मा** इति । 'हन्यमाने शरीरे' इति सूचितजननमरणादिव्यवहारविषय उक्तः; तत्र हेतुः— **अचेतने**ति । जननादयो देहधर्मा आत्मनो न सन्तीत्युच्यत इति आत्मनि देहधर्मान् प्रत्यक्षादिनाभिमन्यमानायार्जुनाय 'न जायते' इत्युपनिषन्मन्त्रेणैव यथावस्थिताकारो विविच्याभिधीयते; न तु देहसंयोगवियोगलक्षणजनिमरणप्रतिक्षेपः क्रियत इत्यर्थः । वाशब्दश्चार्थः । श्लोकस्थपदानां पौनरुक्त्यपरिहाराय वर्तमानादिनिर्देशसिद्धां व्यवस्थां व्यञ्जयन्नाह— **तत्रे**ति । ननु कदाचिदित्यनेन वर्तमानकालविवक्षायां वैयर्थ्यं, लकारेणैव गतार्थत्वात् । भूतभविष्यतोः सङ्ग्रहे वर्तमाननिर्देशो न सङ्गच्छत इत्याशङ्क्योक्तम्— **वर्तमानतये**त्यादि । तत्तत्कालीनैः पुरुषैस्तेषु तेषु देहेषु 'जायते' 'म्रियते' इति वर्तमानतयैव हि जननमरणयोरनुभवः; अतस्तदपेक्षया वर्तमाननिर्देशोपपत्तिः; तेन कल्पाद्यन्तव्यतिरिक्तः समस्तः कालः **कदाचि**दिति सङ्गृहीत इति भावः । 'भूत्वा' इति पूर्वकालनिर्देशाभिप्रेतमाह— **कल्पादा**विति । तत्र भूयश्शब्दः कल्पान्तपरः । 'भूत्वा भविता' इत्यनयोः क्रिययोः प्रत्येकं नञन्वयभ्रमव्युदासायोक्तम्— **न न भविते**ति । भूत्वा न भवितेति विशिष्टं नञन्तरेण प्रतिषिध्यते । ननु 'नायं भूत्वा' इत्यादिकं किमर्थमुच्यते, 'न जायते' इत्यादिनैव सङ्ग्रहीतुं शक्यत्वादित्याशङ्क्याह— **केषुचि**दिति ।

अयं भावः— कालविशेषेषु देहविशेषेषु सृष्टिप्रलयविशेषः श्रूयते । स च न देहसम्बन्धतद्वियोगमात्रम्, "तोयेन जीवान् विससर्ज भूम्याम्" [महाना. १।४] इति कण्ठोक्तेः, प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणादेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपपत्तेरेकस्यैव बहुभवनसङ्कल्पादेश्च— इति । जीवस्वरूपोत्पत्तिनाशावेवाभ्युपगन्तव्याविति जीवानामाप्रलयावस्थायित्ववादशङ्कानिरासाय 'नायं भूत्वा' इत्याद्युक्तम् । तत्र चैवमुत्तरम्— जीवानां विसृष्टिः सदेहीकरणेन विक्षेपः । प्राक्सृष्टेरेकत्वावधारणं नामरूपविभागाभावात्; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरकस्य ब्रह्मणः स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया परिणामात् । अत एव बहुभवनसङ्कल्पाद्युपपत्तिश्च । अतः कल्पाद्यन्तयोरपि ज्ञानसङ्कोचविकासकरदेहविश्लेषसंश्लेषमात्रमेव, न पुनः स्वरूपोत्पत्तिः- इति । 'अजो नित्यः' इत्यनयोः पूर्वोक्तार्थस्य सङ्कलय्य निगमनरूपतया तत्तत्कालेषु जन्मादिनिषेधेन सर्वदेहगतात्माजत्वादिविवक्षया चापौनरुक्त्यमित्यभिप्रायेणाह— **अतः सर्वदेहगत** इति । **अतएव नित्य** इति, उत्पत्तिरहितत्वान्नाशित्वरहित इत्यर्थः । सृष्ट्यवस्थागतस्थूलपरिणामानामात्मनि निरस्तत्वात् प्रलयाद्यवस्थागतसूक्ष्मपरिणामनिरसनपरः शाश्वतशब्द इत्यभिप्रायेणाह— **प्रकृतिव**दिति । पुराणशब्दमपि 'अक्षरसाम्यान्निर्ब्रूयात्' इत्युक्तन्यायेन निर्वक्ति— **पुरापि नव** इति । किमिदं पुरापि नवत्वम्, अनुत्पन्नस्य कदाचिदपि नवत्वायोगात् । उत्पन्नेऽपीदानीमपि नव इति वा परस्तादपि नव इति वा वक्तव्यम् । पुरा नवत्वस्याविस्मयनीयत्वादित्याशङ्क्याह— **सर्वदे**ति । पुराशब्दस्य कालत्रयोपलक्षणतया वा वृत्त्यन्तर्गताभिप्रायकापिशब्दसमुचितकालान्तरतात्पर्येण वा पुरातनोऽपि नव इति विरोधाभिप्रायेण वा निर्वाहः । नवशब्दोऽप्यत्र नवत्वसहिताश्चर्यत्वपरः । वक्ष्यति च 'आश्चर्यवत्' [ २।२९ ] इत्यादीति भावः । यद्वा सावयवानामवयवाप्यायनादिना नवीकरणं स्यात्, अयं तु निरवयवत्वेनानवीकार्यतया पुरापि नव इत्युपपादितम् । इममर्थमर्जुनस्य शङ्क्यमानविषये निगमयतीत्यभिप्रायेणाह— **अत इति** ॥ २० ॥

५ आ. मा. भा.— व्यवहारस्तु भ्रान्त इत्याह—य एनमिति । कुतः ? उक्तहेतुभ्यो नायं हन्ति, न हन्यते । न हि प्रतिबिम्बस्य क्रिया । स हि बिम्बक्रिययैव क्रियावान् । "ध्यायतीव" [बृ. उ. ४।३।७ ] इति श्रुतेश्च ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— य एनमिति । पुनरात्मनित्यत्वं किमित्युच्यत इति अतो नास्य नित्यत्वप्रतिपादने तात्पर्यम्, किन्तु निष्टङ्कितं चेदात्मनो नित्यत्वं, तर्हि का गतिस्तद्धननव्यवहारस्येत्याशङ्क्य तस्य भ्रान्तत्वमनेनोच्यत इत्याह— व्यवहारस्त्विति । व्यवहारोऽत्र ज्ञानम् । तथापि 'नायं हन्ति न हन्यते' इति पुनरुक्तिरेवेति चेत्, न; ज्ञानानां प्रामाण्यस्य बाधकैकापोद्यत्वात् । कुतो बाधकादस्य भ्रान्तत्वमित्याशङ्क्य स्वपक्षसाधकानामेवोक्तहेतूनामेतद्बाधनेऽपि व्यापारप्रदर्शनार्थत्वादस्येत्याह— कुत इति । नन्वत्र हननमेकमेव तत्कथमुभाविति, कथं च 'नायं हन्ति न हन्यते' इति, अथैकस्या अपि क्रियायाः कारकभेदादेव मुक्तिस्तर्हि करणाधिकरणोक्तिरपि प्रसज्यत इति उच्यते आत्मनो नित्यत्वमिवास्वातन्त्र्यमपि प्राक्प्रतिपादितम् । यथोक्तं तात्पर्यनिर्णये—'तत्र हननव्यवहारवत्स्वातन्त्र्यव्यवहारस्यापि भ्रान्तत्वमनेनोच्यते' इति उभावित्याद्युपपद्यते । अतएव भाष्यकारो व्यवहारस्त्विति सामान्येनाह, न तु हननव्यवहार इति निष्कृष्य । ननु नित्यत्वे बिम्बनित्यत्वादयो हेतव उक्ताः, अस्वान्त्र्ये तु न कोऽपि, तत्कथमुक्तहेतुभ्य इत्युक्तं ? इति चेत्, न; प्रतिबिम्बत्वस्योक्तत्वात्, तस्य कथमस्वातन्त्र्ये हेतुत्वमित्यत आह— नहीति । क्रियेति वदता 'हन्तारं हन्ति' इति पदद्वयमुपलक्षणार्थमिति सूचितम् । ननु प्रतिबिम्बस्यापि लोके क्रिया दृश्यते, जीवस्य च क्रियाभावे 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ब्र. सू. २।३।३३] इत्यादिविरोध इत्यत आह— स हीति । बिम्बक्रियया बिम्बाधीनक्रियया । तथा च पूर्वं स्वातन्त्र्याभावापेक्षया क्रियाप्रतिषेध इति ज्ञातव्यम् । ननूपाधिक्रिययापि प्रतिबिम्बे क्रिया भवति, तत्कथमुच्यते बिम्बक्रिययैवेति ? मैवम्; स्वातन्त्र्यप्रतिषेधे तात्पर्यात्, जीवस्य पृथगुपाध्यभावाच्च । जीवस्येश्वराधीनक्रियत्वे श्रुतिं चाह—ध्यायतीवेति । ईश्वरो जीवं ध्यायतीत्यर्थः । इवशब्दोऽल्पार्थे ॥१९॥

५ आ. मा. भा.— अत्र मन्त्रवर्णोऽप्यस्तीत्याह— न जायत इति । नचेश्वरज्ञानवद्भूत्वा भविता । तद्धि "तदैक्षत" [छां.उ.६।२।३] 'देशतः कालतो योऽसाववस्थातः स्वतोऽन्यतः । अविलुप्तावबोधात्मा' इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धम् । कुतः ? अजादिलक्षणेश्वरसरूपत्वात् । शाश्वतः सदैकरूपः । पुरं देहमणतीति पुराणः । तथापि न हन्यते हन्यमानेऽपि देहे ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— तथापि 'न जायते' इति पुनरुक्तमित्याशङ्क्य नेदं भगवद्वाक्यं, किन्तूक्तार्थे सम्मतित्वेन मन्त्रवर्णोऽयमुदाहियत इत्याह— अत्रेति । ननु जीवः स्वरूपेण भूत्वा देहसम्बन्धेन भवितैव, तत्कथमुच्यते 'भूत्वा भविता न' इतीत्यतोऽन्यथा व्याचष्टे— न चेति । जीवो न जायते चेत्तर्हि यथेश्वरज्ञानं वृद्धिह्रासादिवर्जितं भूत्वैव कयाचिदचिन्त्यया शक्त्या भूतमिति व्यवहारालम्बनं, तथा जीवेऽपि किं जननव्यवहारस्तन्निमित्त इति पृच्छायां नेत्यनेनोच्यत इत्यर्थः । नन्वीश्वरज्ञानस्योक्तप्रकारं भूत्वा भवनं कुतः सिद्धम्, येन जीवस्य तथाभावासम्भावनायोदाह्रियते ? इत्यत आह— तद्धीति । तदीश्वरज्ञानस्योक्तप्रकारेण भूत्वा भवनं श्रुतिस्मृतिसिद्धं हीति सम्बन्धः । "तदैक्षत" [छां. उ. ६।२।३ ] इति भवनमुच्यते, देवदत्तोऽपश्यदितिवत् । देशत इति वृद्धिह्रासादिराहित्यम् । नन्वीश्वरवदित्येव कस्मान्नोक्तम् ? नैवं शङ्क्यं, लोकदर्शनस्याधिकस्य तत्रोत्पादात् 'अजो नित्यः' इति पुनरुक्तमित्याशङ्क्य तन्निवर्त्यामाशङ्कामुक्त्वाऽन्यथा व्याचष्टे— कुत इति । 'न जायते म्रियते' इत्येतत्कस्मात्कारणादित्यर्थः । अजादीत्यनेन 'अजो नित्यः शाश्वतः' इति व्याख्यातम् । शाश्वत इत्येतन्नित्य इत्यनेन गतार्थमित्यन्यथा व्याचष्टे— शाश्वत इति । तथा चाजो नित्य इत्याभ्यां बिम्बोत्पत्तिनाशनिमित्तौ शाश्वत इत्यनेनोपाधिबिम्बसान्निधिजनननाशनिमित्तौ जन्मनाशौ न स्त इत्युक्तं भवति । तथाप्यज इत्युक्तत्वात्पुराण इति पुनरुक्तिरिति चेत्, न; भूत्वा भविता वा नेत्युक्तम् । तत्कुतः किंनिमित्तश्च तर्हि जननव्यवहारः? इत्याशङ्क्य देहान्तरप्राप्तिरस्यास्तीत्यनेनोच्यत इत्याह— पुरमिति । एवमपि न हन्यत इति पुनरुक्तिरिति चेत्, न; यदि पुराणस्तर्हि उपाधिभूतदेहनाशाद्दर्पणनाशात्प्रतिबिम्बनाशवदात्मनाशः स्यादित्याशङ्काऽत्र पूर्वाभिप्रायेण परिह्रियत इति भावेनाह— तथापीति, पुराणत्वेऽपि ॥२०॥

७ ह. पै. भा.— शोकमोहादिसंसारसागरनिवृत्त्यर्थं गीताशास्त्रं प्रवर्तत इत्येतस्यार्थस्य साक्षिभूते ऋचावानिनाय भगवान् । यत्तु मन्यसे युद्धे भीष्मादयो हन्यन्ते, अहमेषां हन्तेति, एषा बुद्धिर्मृषैव सा ते । कथम् ? य एनं प्रकृतं देहिनं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतं देहहननेन हतोऽयमिति हननक्रियायाः कर्मभूतमात्मानं, तावुभौ न विजानीतोऽविवेकेनाऽऽत्मानमहम्प्रत्ययविषयं, तावुभावात्मस्वरूपानभिज्ञावित्यर्थः । यस्मान्नायमात्मा हन्ति हननक्रियाया न कर्ता, न हन्यते न च कर्म भवतीत्यर्थः । अविक्रियत्वात् ॥ १९ ॥

कथमविक्रिय आत्मेति द्वितीयो मन्त्रः—न जायते नोत्पद्यते जननस्य न कर्ता, जनिलक्षणवस्तुविक्रियाऽऽत्मनो न विद्यत इत्यर्थः। तथाऽयं न म्रियते वा कदाचिदुत्पत्तिक्रियायाः सत्तां नानुभवति, उत्पत्तेः सत्तानुभवस्य मरणाव्यभिचारात्। उत्पत्तेः स नोत्पद्यते जननस्य न कर्ता जननलक्षणा वस्तुविक्रिया न विद्यते। उत्पत्तेः सत्तामननुभवन्न म्रियत इत्युच्यते। ततोऽस्तिलक्षणा भावविक्रियाऽऽत्मनो न विद्यत इत्यर्थः। वाशब्दश्चार्थे। कदाचिच्छब्दः सर्वविक्रियाप्रतिषेधैः सम्बध्यते। न कदाचिज्जायते, न कदाचिन्म्रियत इति सर्वत्र योज्यम्। अयं भूत्वा भविता वा न भूयः—अयमात्मा भूत्वोत्पत्तिक्रियामनुभूय भूयो भविता न अवस्थान्तरं प्राप्यावस्थान्तरं न प्राप्नोति, न विपरिणमत इत्यर्थः। विपरिणामलक्षणा भावविक्रियाऽऽत्मनो न विद्यत इत्यर्थः। अजोऽवयवोपचयरूपेण नोपचीयते, वृद्धिलक्षणा भावविक्रिया न विद्यत इत्यर्थः। अतो नित्यः, अपक्षयलक्षणा भावविक्रियाऽऽत्मनो न विद्यत इत्यर्थः। शश्वद्भवः शाश्वतः, अविनाशीत्यर्थः। अतः पुराणः, पुराऽपि नवः, पुराणः सदैकरूप इत्यर्थः। तस्मान्न हन्यते न विक्रियते हन्यमाने विक्रियमाणेऽपि शरीरे। अस्मिन्मन्त्रे षड्भावविकारा लौकिका वस्तुविक्रिया आत्मनि प्रतिषिध्यन्ते। सर्वप्रकारविक्रियारहित आत्मेति वाक्यार्थः। यस्मादेवं तस्मादुभौ तौ न विजानीत इति पूर्वेण मन्त्रेणास्य सम्बन्धः॥ २०॥

८ वे. ब्र. गि.—स्यादेतत्। यदि देहातिरिक्त आत्मा सिध्येत् तर्ह्येवेदं युज्यते देहनिमित्त आत्मनिमित्तो वा शोको न सम्भवतीति; तदेवासिद्धं मानाभावात्। तथा हि—न तावद्देहातिरिक्त आत्मनि प्रत्यक्षं प्रमाणम्; 'गौरोऽहं कृशोऽहं गच्छामि' इत्यादिप्रत्यक्षेण देहस्यैवाहमर्थात्मरूपत्वेनानुभूयमानतया तद्भिन्नस्यात्मनः प्रत्यक्षत्वासिद्धेः। न चेदं प्रत्यक्षं देहात्मैक्याध्यासनिबन्धनमिति युक्तम्; अध्यासत्वकल्पनस्य देहातिरिक्तात्मसिद्ध्यधीनत्वेनान्योन्याश्रयात्। न च 'मम देहो गौरः' इति देहात्मभेदप्रत्यक्षदर्शनात् 'गौरोऽहं' इत्यस्य गौणात्माभेदविषयत्वमिति युक्तम्; देहभिन्नास्मदर्थानुपलम्भेन कीदृशस्य तवेति प्रश्ने 'कृशस्य मम देहो गौरः' इत्यस्मदर्थविवरणदर्शनेन च 'मम देहः' इत्यस्यैव 'ममात्मा' इतिवद्गौणभेदविषयत्वौचित्यात्। नापि 'योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं वार्धके प्रणप्तॄननुभवामि' इति बालवृद्धदेहभेदेऽप्यात्मैक्यानुसन्धानरूपं प्रत्यक्षं देहात्मभेदे मानम्; 'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे' [ २।१३ ] इति श्लोके बाल्यजरास्थले तत्तदवस्थाभेदमात्रं, न तु देहभेद इति प्रतिपादितत्वेन 'योऽहं बाल्ये पुष्टः पितरावन्वभूवं सोऽहं वार्धके कृशः प्रणप्तॄननुभवामि' इति पुष्टत्वकृशत्वधर्मिनिष्ठतयैव पितृप्रणप्त्रनुभवितृविषयाभेदप्रत्यभिज्ञानदर्शनेन च ततोऽपि देहात्मभेदासिद्धेः। नापि 'योऽहं स्वप्ने व्याघ्रदेहः सोऽहमिदानीं मनुष्यदेहः' इति व्याघ्रनरदेहभेदानुसन्धानपूर्वकं 'स एवाहं' इति प्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षं देहात्मभेदे मानम्; 'योऽहं स्वप्ने शुकात्मा भूत्वा मुक्त आसं, सोऽहमिदानीं देवदत्तात्मा बद्धोऽस्मि' इति बन्धमोक्षान्वयिस्वरूपभेदानुसन्धानपूर्वकं 'सोऽहं' इति प्रत्यभिज्ञानेन बद्धमुक्तस्वरूपादप्यन्य एवाहमर्थ इत्यापातात्। अस्तु इष्टापत्तिः, सिद्धान्तेऽहमर्थस्यात्मातिरिक्तत्वादिति चेत्; एवं तर्हि 'योऽहं व्याघ्रदेहः' इति प्रत्यभिज्ञयाऽपि देहाहमर्थभेद एव सिद्ध इति ततो देहात्मभेदासिद्धिप्रसङ्गः। यद्युच्येत समानसत्ताकयोरेव पदार्थयोर्व्यावृत्त्यनुसन्धानस्थले यस्यानुवृत्तिप्रत्यभिज्ञा तस्य ताभ्यां भेदस्तया सिध्यति, स्वप्नानुभूतश्च शुकात्मा न देवदत्तात्मसमानसत्ताक इति न तद्भेदोऽहमर्थस्येति; तर्हि स्वप्नदृष्टव्याघ्रदेहोऽपि न मनुष्यदेहसमसत्ताक इति न ताभ्यामप्यहमर्थभेद इति तुल्यम्। नापि योगिकृतकायव्यूहस्थले देहभेदानुसन्धानपूर्वकं 'स एवाहं' इति तदीयप्रत्यक्षं देहात्मभेदे मानम्; एकस्यैवैन्द्रजालिकस्य गजाश्वरथपदातिकायव्यूहेन युद्धप्रतियुद्धस्थले योधप्रतियोधस्वरूपभेदानुसन्धानपूर्वकस्य 'स एवाहं' इति तदीयप्रत्यक्षस्येव अस्यापि लीलामात्रविषयकतया वस्तुतत्त्वव्यवस्थापकत्वाभावात्; अन्यथा तत्रापि विलक्षणज्ञानेच्छाप्रयत्नकयोधप्रतियोधस्वरूपात् ऐन्द्रजालिकाहमर्थस्य भेदप्रसङ्गात्। तत्रैकस्यैवाहमर्थस्यैन्द्रजालमहिम्ना विरुद्धस्वरूपप्रदर्शनमात्रमिति चेत्, योगिस्थलेऽप्येकस्यैव योगिशरीररूपस्यात्मनो योगमहिम्ना कायव्यूहप्रदर्शनमात्रमित्यस्तु।

तस्मान्न प्रत्यक्षं देहात्मभेदे प्रमाणम्। नापि 'देहोऽनात्मा बाह्येन्द्रियग्राह्यत्वाज्जडत्वाद्वा घटवत्' इत्यनुमानम्; 'अहमर्थोऽनात्मा अन्तरिन्द्रियग्राह्यत्वाद्दुःखवत्' इत्यनुमानस्येवाद्यस्याप्रयोजकत्वात्, 'गौरोऽहं जानामि' इति देहस्यैव ज्ञातृत्वानुभवेन द्वितीयस्यासिद्धेश्च। नापि "जीवापेतं वाव किलेदं ( शरीरं ) म्रियते, न जीवो म्रियते" [ छां. उ. ६।११।३ ] इत्याद्या श्रुतिस्तद्भेदे मानम्; 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' [क. स्मृ. ८।२ ]इति ब्रह्महत्यानिषेधेन अश्वमेधादिरूपतत्प्रायश्चित्तविधानेन च श्रुत्यैवात्मनाशस्य प्रदर्शनेन 'जीवापेतम्' इति तदनाशश्रुतेरात्मविद्याप्रशंसार्थवाद-

१ अस्ति, जायते, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यतीति षड्भावाः।

मात्ररूपत्वात् । न ह्यात्मनाशाभावे 'न हन्तव्यः' इति तन्निषेधो हनननिमित्तकप्रायश्चित्तविधिर्वा युज्यते, अप्रसक्तप्रतिषेधस्यानिमित्तकप्रायश्चित्तस्य चायोगात् । न च 'न हन्तव्यः' इति श्रुतिर्देहात्मैक्याध्यासप्रसञ्जितात्मनाशनिषेधपरेति न दोष इति वाच्यम्; अत्रापि देहातिरिक्तात्मासिद्धेरन्योन्याश्रयात् । एवम् "यतो वा इमानि भूतानि" [तै. उ. ३।१।१] इत्यादिश्रुतिर्भूतशब्दवाच्यजीववृन्दगतजन्मस्थितिनाशं ब्रह्मलक्षणत्वेन वदन्ती जीवानां नाशमेवावेदयति । भूतशब्दो ह्यत्र जीववाची, "येन जातानि जीवन्ति" [तै. उ. ३।१।१] इति वाक्यशेषात् "न हिंस्यात्सर्वा भूतानि" इत्यादिदर्शनाच्च । एवम् "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्पुत्रे जाते" इत्यादिकं जीवोत्पत्तिश्रुतिवाक्यमप्युदाहार्यम् । न च जीवस्योत्पत्तिविनाशाभ्युगमे कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्ग इति वाच्यम्; सिद्धान्तेऽपि ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादेर्देहधर्मत्वोपगमेन "ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत" [ ] "राजा राजसूयेन यजेत" [ ] इत्यादिषु ब्राह्मण्याद्याश्रयाणां भूतानां जन्मविनाशिनां देहानामेव कर्तृत्वप्राप्त्या कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गस्यानिवार्यत्वात् । तत्र देहधर्मस्यापि ब्राह्मण्यादेरात्मन्यारोपेण कर्तृभोक्तृभेदाभावान्नोक्तदोष इति चेत्, एवं तर्हि देहात्मवादेऽप्यन्यगतकर्तृत्वस्यान्यत्रारोपसम्भवान्नोक्तदोष इति कुतो न समर्थनीयम्? न च आत्मनो जन्मनाशोपगमे जातमात्रस्य स्तन्यपानादौ प्रवृत्तिर्न स्यात् तद्धेतोः 'इदं स्तन्यपानमिष्टसाधनं स्तन्यपानत्वात् प्राग्भवीयस्तन्यपानवत्' इत्यनुमितेर्जन्मान्तरीयस्तन्यपानगतेष्टसाधनत्वव्याप्तिस्मरणाधीनत्वेन पौर्वदैहिकात्मावस्थानं विना तदनुपपत्तेः, इति वाच्यम्; एवमपि पक्षत्वेनाभिमतस्तन्यपानोपस्थितिरचिन्त्याद्भुतपरमेश्वरसङ्कल्पशक्तिमहिम्नैवेत्यवश्यवाच्यत्वेन जातमात्रप्रवृत्तेरपि तत एवोपपत्त्या, इष्टसाधनत्वानुमितेरनपेक्षितत्वेन तद्धेतुव्याप्तिस्मरणार्थात्मावस्थानासिद्धेः । तत्रादृष्टमहिम्नैव पक्षोपस्थितिश्चेत्, तेनैव प्रवृत्तेरपि सिद्धेरनुमितिवैयर्थ्यतादवस्थ्यम् । न चादृष्टाधारत्वेनैव जन्मान्तरीयात्मस्थितिरिति वाच्यम्; अदृष्टकारणत्ववादिनापि परमेश्वरशक्तिकारणत्वस्योपेतत्वेन तत एव प्रवृत्तिसम्भवे देहातिरिक्तनित्यात्मसिद्ध्यधीनस्यादृष्टस्यानुपेयत्वात् । तस्मान्नास्ति देहात्मभेदे प्रमाणम् । देहात्मवादे तु 'गौरोऽहम्' इत्यादिप्रत्यक्षं ब्रह्महत्यानिषेधतत्प्रायश्चित्तशास्त्रम् 'यतो वा इमानि' [तै. उ. ३।१।१] इत्यादिपूर्वोदाहृतवाक्यजातं च प्रमाणम् । अतो देहातिरिक्तात्मासिद्धः देहनिमित्त आत्मनिमित्तो वा शोक इति विकल्पोऽनुपपन्न इति तामिमां चार्वाकस्य तच्छायापन्नवैदिकतटस्थस्य च शङ्कामाशङ्क्य तत्परिहाराय कठवल्ल्युपनिषद्गतं मन्त्रयुग्ममानिनाय भगवान्वासुदेवः—[य एनमिति]

अत्र कठवल्लीमन्त्रोपन्यासेन तत्रत्यो मृत्युनचिकेतस्संवादवृत्तान्तः स्मारितः । तेन देहात्मवादोक्तप्रत्यक्षप्रमाणनिरासः सूच्यते । तथा हि—कठवल्लीषु [१।१।९] "त्रीन्वरान्वृणीष्व" इति मृत्युनोक्तो नचिकेताः प्रथमवरेण पितृप्रसादं, द्वितीयवरेण अग्निविद्यां, तृतीयवरेण च "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः" [कठो. १।१।२०] इति देहतदन्यात्मवादिचार्वाकवैदिकानादिकलहप्रयुक्तविप्रतिपत्तिनिरासफलकं आत्मतत्त्वज्ञानोपदेशं च वव्रे । मृत्युश्च आद्यं वरद्वयं प्रदाय तृतीयवरविषये "देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व" [कठो. १।१।२१] इत्युक्त्वा "शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्" [कठो. १।१।२३] इत्यादिना बहुभिः कामैः प्रलोभनेऽप्यप्रचलितं नचिकेतसं दृष्ट्वा "विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त" [कठो. १।२।४] इति ज्ञानाधिकारितया तं प्रशस्य "न जायते म्रियते" [कठो. १।२।१८] इत्याद्युपदिदेश । तत्र यदि प्रत्यक्षमात्मतत्त्वे प्रमाणं स्यात्, तदा "येयं प्रेते विचिकित्सा" [कठो. १।१।२०] इति प्रश्न एवायुक्तः स्यात्; प्रत्यक्षनिर्णीतेऽर्थे विचिकित्सानुदयेन प्रश्नहेतुसंशयस्यैवासिद्धेः । "देवैरत्रापि विचिकित्सितम्" [कठो. १।१।२२] इत्यादिमृत्युप्रतिवचनमपि न युक्तं स्यात् । 'न हि गौरोऽहं गच्छामि तिष्ठामि' इत्याबालगोपमखिलप्रत्यक्षसिद्धमात्मतत्त्वं देवानामपि सन्दिग्धतया कैमुत्येनान्यदुर्ग्रहमिति वक्तुं युक्तम् । एवम् "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" [कठो. २।४।१] इत्यात्मन इन्द्रियागोचरत्ववर्णनम् 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्' [तै. ब्रा. ३।१२।९] इति तस्य श्रुत्येकगम्यत्ववर्णनं चायुक्तमेव स्यात् । यद्यप्यहमिति प्रत्यक्षे अध्यासाधिष्ठानत्वेनात्मा भासत इति सिद्धान्तः, यद्यपि चात्मतत्त्वसाक्षात्कारे मनः करणमिति गीताभाष्य एव भगवत्पादैरुक्तम्; तथाप्यहमिति प्रत्यक्षस्य देहेन्द्रियान्तःकरणतादात्म्याध्यासापन्नात्मस्वरूपविषयकत्वेन रजततादात्म्याध्यासापन्नतदधिष्ठानशुक्तिविषयकेदम्प्रत्ययस्य शुक्तितत्त्वं प्रतीव शुद्धात्मतत्त्वं प्रत्यहम्प्रतीतेरप्रमाणत्वात्, गीताभाष्येऽपि 'शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्' इत्युक्त्या श्रुत्युपजीवनेनैव मनस आत्मनि प्रवृत्तिवर्णनात्, नात्मतत्त्वस्य श्रुत्येकसमधिगम्यत्वविरोध इत्यतो 'गौरोऽहं' इत्यादिप्रत्यक्षस्य नात्मतत्त्वावधारणं प्रति प्रमाणत्वमिति ।

सोऽयं देहात्मवाद्यभिमतात्मप्रत्यक्षप्रमाणनिरासः कठवल्लीमन्त्रोदाहरणेन तत्रत्यमृत्युनचिकेतस्संवादवृत्तान्तं प्रत्यभिज्ञापयता भगवता दर्शितः, इदानीं देहात्मत्वसाधकपूर्वोक्तश्रुतिप्रमाणनिरासो मन्त्रमुखेन क्रियते । तत्र मन्त्रस्यायमर्थः—यः एनं प्रकृतमात्मानं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं वेत्ति, यश्च एनं हतं हननकर्मभूतं मन्यते, तौ उभौ न विजानीतः देहातिरिक्तात्मतत्त्वानभिज्ञौ; तत्र हेतुः—नायं हन्ति न हन्यत इति । एवमात्मनि हन्तृहन्तव्यभावाभिमानस्य देहविविक्तात्मस्वरूपाज्ञानमूलकत्ववर्णनेन यद्देहात्मवादे श्रुतिप्रमाणमुक्तं तन्निरस्तं भवति । 'ब्राह्मणो न हन्तव्यः' [क.स्मृ. ८।२] इत्यादिहत्यानिषेधशास्त्रस्य अश्वमेधादितत्प्रायश्चित्तशास्त्रस्य च

देहात्मैक्याध्यासनिबन्धनतयोपपन्नत्वेन ततो देहात्मवादासिद्धेः। न हि 'न हन्तव्यः' इति शास्त्रमात्मनो हन्तव्यत्वं प्रतिपादयति, तथा सति 'हन्तव्यो न हन्तव्यः' इत्यावृत्तिलक्षणवाक्यभेदप्रसङ्गात्; किन्तु देहैक्याध्यासप्रसञ्जितमात्मनो हन्तव्यत्वं निषेधति। प्रायश्चित्तशास्त्रमपि 'उभौ तौ न विजानीतः' इत्युक्तरीत्या देहाद्यतिरिक्ताकर्त्रात्मस्वरूपाज्ञानेनात्मानं हन्तारं मन्यमानस्य कर्तव्यविशेषमुपदिशति; न तु स्वोपदिष्टप्रायश्चित्तनिमित्तभूतस्य हननस्यात्मनि तात्त्विकत्वमपि बोधयति, अनुपलम्भात् उक्तरीत्या वाक्यभेदप्रसङ्गात् अनन्यथासिद्धश्रुतिशतविरोधाच्च। एवं "यतो वा इमानि" [तै. उ. ३।१] इति श्रुतिरपि लोकप्रसिद्धं प्राणिनां जन्मस्थितिनाशं ब्रह्मलक्षणत्वेनोपदिशति। जातेष्टिवाक्यमपि पुत्रजननं मन्यमानस्य तन्निमित्तामिष्टिं विदधाति। सर्वेषामपि विधिनिषेधशास्त्राणामतत्त्वविद्विषयत्वात्। एतच्च 'वेदाविनाशिनम्' इत्यग्रिमश्लोके वक्ष्यते। न च अहम्प्रतीत्यध्यासस्वकल्पनस्य देहाद्यतिरिक्तात्मसिद्ध्यधीनत्वादन्योन्याश्रय इति युक्तम्; "उभौ तौ न विजानीतः" [कठो. २।१९] "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" इति श्रुत्यैव देहाद्यध्यासस्य तदतिरिक्तात्मनश्चोपदिश्यमानत्वेनास्माभिरध्यासस्याकल्पितत्वात्। श्रुत्येकसमधिगम्ये हि वस्तुनि यथाश्रुत्येव प्रतिवक्तव्यम्। न च श्रुतेः प्रत्यक्षविरोधः शङ्क्यः; श्रोत्रैकगम्यं शब्दं प्रत्यसाधकस्य चक्षुष इव श्रुत्येकगम्यमात्मानं प्रत्यसाधकस्य प्रत्यक्षस्य तद्बाधकताया अप्रयोगात्। तस्मान्न श्रुतिरात्मजन्मविनाशप्रतिपादिका काचिदस्तीति न ततो देहात्मत्वसिद्धिरिति भावः।

अत्र च श्लोके य एनं हन्तारं हतं च वेत्ति स न जानातीत्यनुक्त्वा 'य एनं' 'यश्चैनम्' 'उभौ तौ' इत्युक्त्या वादिभेदः प्रदर्शितः। 'य एनं वेत्ति हन्तारं' तार्किकादिः कर्त्रात्मवादी, तथा 'यश्चैनं मन्यते हतं' चार्वाकादिरनित्यात्मवादी, तावुभावज्ञानिनाविति। एवं स्थिते, यदत्र स्वाभिमतकर्त्रात्मवादाविरोधाय माध्वेन व्याख्यातम्—'य एनं जीवं स्वातन्त्र्येण हन्तारं वेत्ति' इति, यच्च रामानुजेन—'य एनमात्मानं प्रति हन्तारं हननहेतुं वेत्ति' इति, तावुभौ प्रति 'उभौ तौ न विजानीतः' इति भगवद्वचनमेव प्रतिवचनम्; 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' [३।२७] 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते' [१३।३१] 'तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः। पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः' [१८।१६] इत्यादिषु अकर्तृतयैवात्मस्वरूपस्य भगवता सिद्धान्तितत्वेन तयोस्तदज्ञानित्वात्। स्वातन्त्र्येण इति प्रतीतिश्चाप्रामाणिकी, अध्याहारक्लेशदुष्टत्वात्, 'नायं हन्ति न हन्यते' इति वाक्यशेषे इदंशब्देन प्रकृतमात्मानं परामृश्य तस्यैव हन्तृत्वहन्तव्यत्वनिषेधाच्च, हन्तृताया इव हन्तव्यताया अपि जीवे परमेश्वराधीनत्वेन न हन्तीतिवन्न हन्यत इत्यपि स्वातन्त्र्येण हन्तव्यत्वनिषेधपरं, वस्तुतस्तु हन्तव्य एवेत्यपि सुवचत्वाच्च इत्यलं बहुना ॥ १९॥

एवं देहात्मवादे प्रमाणं निरस्तम्; इदानीं देहातिरिक्तात्मनि श्रुत्येकसमधिगम्यस्वरूपे प्रमाणतया कठवल्लीपठितं मन्त्रमवतारयति—**न जायत** इति। अत्र देहात्मनोर्जन्मविनाशतदभावरूपविरुद्धधर्मोपपत्तिप्रदर्शनमुखेन भेदः प्रतिपाद्यते। तत्र च "येयं प्रेते विचिकित्सा" [कठो. १।१।२०] इति मरणविषय एव नचिकेतसा प्रश्नकरणात्तदुत्तरदानार्थम् "न हन्यते हन्यमाने शरीरे" [कठो. १।२।१८] इत्युक्तम्। तत्र 'न जायते' इति प्रतिज्ञानुसारात् 'जायमाने शरीरे' इत्यस्याप्युपलक्षणम्। शरीरमेव जायते म्रियते, आत्मा त्वजो नित्य उक्तः। शरीरे जायमाने हन्यमाने वा न जायते न म्रियत इत्युक्त्या आत्मनि 'जातो मृतः' इति लोकव्यवहारप्रसञ्जकः शरीरैक्याध्यासो दर्शितः। एवं स्थिते, मन्त्रस्येत्थं योजना—अयमात्मा शरीरे हन्यमाने न हन्यते, यतः ततो म्रियते इति प्रथममन्वयः। 'न हन्यते न म्रियते' इति पृथगुक्तेर्मरणहेतुच्छेददाहादिरत्र हननशब्दार्थो बोध्यः। म्रियते वेति वाशब्देन च शरीरे जायमाने न जायत इति वाक्यावृत्तिः सूच्यते। तत्र हेतुः—**अजो नित्य** इति। यस्मादजो नित्यः तस्मात् शरीरे जायमाने हन्यमाने वा न जायते न म्रियत इति सम्बन्धः। अतो न हेतोः साध्याविशेषः। जन्मरहितस्यापि प्रागभावादेर्नाशदर्शनादजत्वं नाशाभावं प्रति न हेतुरिति नित्यत्वस्य तद्धेतुत्वोक्तिः। तार्किकैर्नित्य एव ध्वंसो जायत इत्युपगमान्नित्यत्वं जन्माभावं प्रति न हेतुरित्यजत्वस्य तद्धेतुत्वोक्तिः।

ननु शरीरे जायमाने हन्यमानेऽप्यात्मा न जायतां न म्रियतां वा; तथापि सर्गाद्यकाल एवाकाशादिवत्पृथग्जायते सर्गावसाने च म्रियते; एवं च "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" [तै. उ. ३।१] इत्यादिश्रुतिरनुगृहीता भविष्यति; अजत्वनित्यत्वश्रुतिरपि शरीरजन्मनाशप्रयुक्तजन्मनाशनिषेधपरेत्युभयसमाधानसिद्धिरिति आभूतसम्प्लवस्थाय्यात्मवादं निराकरोति—**कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूय** इति। अयमात्मा कदाचिन्न कल्पादौ भूत्वा उत्पद्य भूयः पुनः कल्पान्ते भविता नेति न, भवनं सत्तां गन्ता नेति न, विनश्वरो नेत्यर्थः। तत्र हेतुः **शाश्वत** इति। शश्वद्भवः सदा विद्यमानः। यस्माच्छाश्वतः तस्मात्सर्गादावुत्पद्य सर्गान्ते न विनश्यतीति। यद्येवं 'यतो वा' इत्यादिजन्मविनाशश्रुतेः का गतिरित्याशङ्क्य देहाद्देहान्तरप्राप्तिपरा सेति पूर्वोक्तं स्मारयति—**पुराण** इति। पुराणि शरीराणि अणति गच्छतीति **पुराणः**।

अत्र च 'नायं हन्ति न हन्यते' इति पूर्वमन्त्रे "हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्" इति श्रौतः पूर्वार्धपाठः। 'न जायते' इति द्वितीयमन्त्रे तु "न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" [कठो. २।१८] इति श्रौतः पूर्वार्धपाठः। इह तु भगवता स्वनिश्वसितरूपश्रुतितः स्वमुखवचनरूपगीताया एतावान्भेद इति दर्शयितुं श्रुत्यर्थविवरणरूपम् 'य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्' 'कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः' इति किञ्चित्पाठभेदमाश्रित्य तावेव मन्त्रावाम्नाताविति ध्येयम्।

यद्यप्यत्र भाष्यकारैरात्मनः षड्भावविकाररहितत्यपरत्वेनामुं मन्त्रं व्याख्याय 'नायं हन्ति न हन्यते' इति पूर्वश्लोकोक्तमात्मनो हन्तृहन्तव्यभावाभावं प्रति निर्विकारस्वरूपत्वहेतुसमर्पकोऽयं 'न जायते' इति श्लोक इत्युक्तम्; तथापि 'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति' इति पूर्वश्लोक एव आत्मनो हन्तृहन्तव्यत्वाभावोक्तेः 'कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्' इत्युत्तरश्लोके च षड्भावविकाररहित्यहेतुकस्यात्मनो हन्तृहन्तव्यभावाभावस्य स्पष्टमुक्तत्वेनात्र तत्प्रतिपादने प्रयोजनाभावात् कठवल्लीषु च देहात्मवादनिरासार्थत्वेनैव 'न जायते' इति मन्त्रस्य प्रवृत्तत्वात् 'त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च' [१।४।६] इति ब्रह्ममीमांसासूत्रभाष्ये 'न जायते' इति मन्त्रस्य देहातिरिक्तात्मप्रतिपादकत्वेन भगवत्पादैर्निरूपणात् अत्रापि तथैवास्योक्तरीत्या सामञ्जस्यात् 'न जायते म्रियते वा' इत्याद्यन्तविकारनिषेधेनैव तया सर्वा विक्रियाः प्रतिषिद्धा भवन्तीति भाष्यवचनेनैव षड्भावविकाररहित्यपरत्वव्याख्यानस्य नातिप्रयोजनत्वावगतेश्च देहातिरिक्तात्मप्रतिपादनस्वरस एवायं मन्त्रोऽभ्युच्चयतया विकाररहित्यपरत्वेनापि व्याख्यातुं शक्यत इत्येव भगवतो भाष्यकारस्याभिप्राय इति स एवार्थोऽस्माभिर्व्याख्यात इति पण्डितैरयमविनयः क्षन्तव्यः ॥ २० ॥

९ व० त० दी०—आत्मनो हन्तिकर्तृकर्मत्वज्ञानिनं निन्दति। य एनमिति हन्तेः सावयवशरीरवियोगकरणवाचित्वान्नायमात्मा हन्ति न हन्यते। 'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि' इत्यादिरपि शरीरदृष्ट्यभिप्रायेणोपपद्यते ॥ १९ ॥
उक्तेऽर्थे प्रमाणभूताः काठकश्रुतयो दर्शयन्ति। 'न जायते' इत्यादिनोत्पत्त्यस्तित्वनाशरूपा विकारा अन्ये चात्मनि निषिद्धाः। अज इत्यादिना निगमनम् ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.—ननु तथापि जीवस्य भगवदंशत्वे कथं हननमत आह—य एनमिति। य एनं हन्तारं वेत्ति, यश्च एनं हतं मन्यते, तावुभावपि न विजानीतः। अयं न हन्ति, न वा हन्यते। मदिच्छयैव सर्वं भवतीति भावः ॥ १९॥
मारणादिसम्भावना तु जन्मादिभावे सति भवति, तदेव नास्तीत्याह—न जायत इति। जन्माभावो निरूपितः। 'न वा कदाचिन्म्रियते' अनेन मरणनिषेधो निरूपितः। अयं भूत्वा भूयः न भविता। अत्रायमर्थः—मत्क्रीडनार्थं सृष्टौ येन भावेन पूर्वं यथा विभावितः तथा तेनैव भावेन पुनर्न भविष्यति। तस्माद्यदर्थं मयोत्पादितस्तदेव मत्प्रीत्यर्थं कुर्यादन्यथा जन्मवैयर्थ्यं स्यात्। भूत्वेत्युक्तत्वात् जन्मशङ्का स्यात्तदर्थमाह—अजः, न जायत इत्यर्थः; मदंशत्वात्। एवम्भूत एवायमित्याह—नित्य इति। किञ्च शाश्वतः। मयि स्थित एव निरन्तरमेकभावात्मकः। किञ्च पुराणः सर्वदैवमेव मत्सेवार्थं दासरूपः पुराणोऽपि नव एवेत्यर्थः। यदर्थमेतदुक्तं तदाह—न हन्यत इति। हन्यमाने शरीरे गतोऽयं जीवस्तस्मिन्हते न हन्यते इत्यर्थः। अयमर्थः—हन्यमाने अन्तयुक्ते लौकिके देहे प्रविष्ट इत्यर्थः। 'हन्यमाने' इत्यनेन तदर्थसृष्टत्वं ज्ञापितम्। तस्माद्भगवदिच्छानुरूपकरणाभ्रातिभ्रमजन्योऽपि दोषः स्यादिति भावः ॥ २० ॥

११ नी०भा०दी०—ननु 'नासतो विद्यते भावः' [२।१६] इति न्यायेनासतो मात्रादेर्मिथ्यात्वेन निस्स्वरूपत्वात्कर्तृत्वं न सम्भवति, अतः सत एव कर्तृत्वं बन्धमोक्षभाक्त्वं च वाच्यम्, अन्यथाऽन्तःकरणे बन्ध आत्मनश्च मोक्ष इति तयोर्वैयधिकरण्यं स्यात्, तथा 'येन सर्वमिदं ततम्' [२।१७] इति सतो देहाद्युपादानत्वं चोक्तम्। तथा च हननक्रियां प्रत्येकस्यैव कर्तृत्वं कर्मत्वं चापतति तच्च विरुद्धं, स्वात्मनि स्वव्यापारायोगात्; न हि वह्निर्वह्निं दहतीति युक्तमित्याशङ्क्याह—य एनमिति। यश्च तार्किकादिरेनमात्मानं हन्तारं हननक्रियायाः कर्तारं मन्यते, यश्च चार्वाकादिरेनं हतं हननक्रियायाः कर्मीभूतं मन्यते तावुभावपि न जानीतः; आत्मतत्त्वमिति शेषः। यस्मान्नायं हन्ति न हन्यते। न हि यः कर्ता स आत्मा; नापि देह आत्मा तयोः प्रागेवानात्मत्वावधारणात्।

अयं भावः—यथाऽयःपिण्डे वह्निसम्बन्धादेव दग्धृत्वं, न तु स्वतः, एवं मात्राद्युदयसमनियतं कर्तृत्वं मात्रादिधर्म एव, नात्मनः। आत्मनि तु कर्तृत्वप्रतीतिर्मात्रादिसम्बन्धादेव। अतो मात्रादिविशिष्टस्यैव बन्धः, न केवलस्य। मोक्षश्च मात्रादिवियोग एवेति न बन्धमोक्षयोर्वैयधिकरण्यम्। न च मात्रादेर्निस्स्वरूपत्वमस्ति, सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयस्य व्यवहारयोग्यस्य ब्रह्मज्ञानैकबाध्यस्य स्वप्नमायागन्धर्वनगरादितुल्यस्य तत्स्वरूपस्याभ्युपगमात्; तस्मान्न कर्तृत्वमात्मधर्मः। यथोक्तम्—'आत्मा कर्त्रादिरूपश्चेन्माकाङ्क्षीस्तर्हि मुक्तताम्। नहि स्वभावो भावानां व्यावर्तेतौष्ण्यवद्रवेः' इति। किञ्च। कर्तृत्वं रागद्वेषादिविकारवत एव सम्भवति, तद्वांश्च दुःखीत्यात्मनोऽनुभूयमानं साक्षित्वं बाध्येत। यथोक्तं—'नर्ते स्याद्विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः। धीविक्रियासहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः' इति। न च सतो देहाद्युपादानत्वेन हननक्रियाकर्मत्वं सम्भवति, विवर्तवादाभ्युपगमात्। न ह्यध्यस्तस्य धर्मैरधिष्ठाने विकारो दृश्यते। यथोक्तं भाष्ये—'यत्र यदध्यस्तं तत्कृतेन गुणेन दोषेण वाऽणुमात्रेणापि न सम्बध्यते' इति। विवृतं चैतद्वृद्धैः 'न हि भूमिरूषरवती मृगतृड्जलवाहिनी सरितमु-

द्रवति । मृगवारिपूरपरिपूरवती न नदी तथोषरभुवं स्पृशति ’ [ सं. शा. ३।२५ ] इति । एतेन कर्तृत्वकर्मत्वयोरनात्मधर्मत्वादनात्मनश्चानेकरूपत्वादेकत्रात्मनि तदुभयविरोधोद्भावनमपि निरस्तं वेदितव्यम् । एवं चार्वाकतार्किकाभिमतौ देहात्मकर्त्रात्मवादौ । “हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम् ॥ उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ”[ २।१९ ] इति काठकोक्तेन मन्त्रेण पूर्वार्धे पाठभेदात्पठितेन परिहृतौ वेदितव्यौ ॥ १९ ॥

‘ नायं हन्ति न हन्यते ’ इत्युक्तं तत्र ‘ न हन्यते ’ इत्येतदुपपादयति तत्रस्थेनैव द्वितीयेन मन्त्रेण— न जायत इति । अयं आत्मा कदाचित् न जायते अभिनवो नोत्पद्यते । न वा म्रियते निरन्वयो न नश्यति, तार्किकाभिमतघटवत् । तत्र क्रमेण हेतुद्वयं ‘अजो नित्यः’ इति; अजत्वान्न जायते, नित्यत्वाच्च न वा म्रियत इत्यर्थः । अस्तु तर्हि क्षणिकविज्ञानधारारूपः तस्याविज्ञानवादिभिरजत्वनित्यत्वाभ्युपगमादित्याशङ्क्याह— भूत्वा भविता वा न भूय इति । अयमित्यनुवर्तते । अयं भूत्वा भूयो भविता, न भूयोऽसकृद्भूत्वा भवितेति भवनक्रियाद्वयस्यक्त्वाप्रत्ययोक्तं समानकर्तृत्वं धारैक्याभिप्रायेण भूत्वैव भविता, न तु भूत्वा स्थित्वा विनश्यति । तार्किकाणां हि विज्ञानमुत्पत्तिस्थितिनाशक्षणव्यापित्वात्त्रिक्षणावस्थायि । विज्ञानवादिनां तु पूर्वस्य नाशक्षण एवोत्तरस्योत्पत्तिक्षणः स एव तस्य स्थितिक्षणश्चेति क्षणिकत्वाद्विज्ञानानां भवनक्रियाद्वयस्य अव्यवधानाद्भूत्वा भवितेत्युक्तम् । तादृशोऽप्ययं न, यतः शाश्वतः शश्वदेकरूपः ‘ योऽहं बाल्ये पितरावन्वभूवं सोऽहं स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामि ’ इति बाल्यस्थविरयोरात्मैक्यप्रत्यभिज्ञानात् । न च सादृश्यात्प्रत्यभिज्ञानं सादृश्यग्रहीतुः स्थिरस्याभावात् । यद्वा जन्ममरणहीनोऽपि धर्मान्तरविशिष्टः, पूर्वं भूत्वा पुनर्धर्मान्तरविशिष्टो भविता इत्यपि न, भूत्वैव भविता न त्वभूत्वेति योजना ।

आर्हता हि शरीरपरिमाणं आत्मानमभ्युपगच्छन्तो नित्यस्यैवात्मनः क्रमेण व्युत्क्रमेण वा मशकमनुजमतङ्गजशरीरप्राप्तौ परिमाणभेदं मन्यमाना भूतस्यैवात्मनो विशेषणीभूतपरिमाणाभवनादौपचारिकं भवनमभ्युपगच्छन्ति, तदपि न; शाश्वतत्वादेव उपचयापचयवतो मध्यमपरिमाणस्य वस्तुनो नित्यत्वायोगात् । अनेनैव सुखदुःखादिधर्मान्तरोत्पत्त्याऽऽत्मनो भाक्तं भूत्वा भवनं प्रत्याख्येयम् । न हि दुःखादिधर्मिणः स्वनाशमन्तरेणात्यन्तिकदुःखोच्छेदः सम्भवति, घटादौ यावद्रूपनाशादर्शनात् ।

नन्वजत्वं नित्यत्वं शाश्वतत्वं चाकाशेऽप्यस्ति अत आह— पुराण इति । पुरा वियदादिसृष्टेः प्रागपि नव एव । एतेन अपक्षयादिधर्मराहित्यान्मुख्यमजत्वादिकं आत्मन एव, वियदादेस्त्वमुख्यं तदिति दर्शितम् । अत एव शरीरे हन्यमाने न हन्यते । भाष्ये तु “वाशब्दश्चार्थे” न जायते म्रियते चेत्यर्थः । तत्रोपपत्तिः—अयं न भूत्वा अनुत्पद्य, न भविता घटादिवदतो न जायते । अथवा नञः पूर्वान्वयित्वं; न जायते न वा म्रियत इति । यतो भूत्वा अभविता घटवद्विनाशी न, अतो न म्रियते इति । ‘शाश्वतः पुराणः’ इत्येताभ्यामुपचयापचयौ निषिध्येते इति न हन्यते न विपरिणम्यते इति च व्याख्यातम् । केचिदेवमाहुः— न जायते म्रियत इति प्रतिज्ञा, कदाचिदित्यादिना तस्या उपपादनं, अज इत्यादिरुपसंहार इति ॥ २० ॥

**वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।**
**कथं स पुरुषः पार्थ ! कं घातयति हन्ति कम् ॥ २१ ॥**

१ शां. भा.— ‘ य एनं वेत्ति हन्तारम् ’ [२।१९ ] इत्यनेन मन्त्रेण हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवतीति प्रतिज्ञाय, ‘न जायते’ [२।२०] इत्यनेन अविक्रियत्वे हेतुमुक्त्वा प्रतिज्ञातार्थं उपसंहरति— वेदाविनाशिनं इति । वेद विजानाति अविनाशिनं अन्त्यभावविकाररहितं नित्यं विपरिणामरहितं यो वेद इति सम्बन्धः । एनं पूर्वेण मन्त्रेण उक्तलक्षणं, अजं जन्मरहितं, अव्ययमपक्षयरहितं कथं केन प्रकारेण स विद्वान् पुरुषोऽधिकृतो हन्ति हननक्रियां करोति ? कथं वा घातयति हन्तारं प्रयोजयति ? न कथञ्चित्कञ्चित् हन्ति, न कथञ्चित्कञ्चित् घातयति इति उभयत्र आक्षेप एव अर्थः, प्रश्नार्थासम्भवात् । हेत्वर्थस्य च अविक्रियत्वस्य तुल्यत्वात् विदुषः सर्वकर्म-

प्रतिषेध एव प्रकरणार्थोऽभिप्रेतो भगवतः । हन्तेस्तु आक्षेप उदाहरणार्थत्वेन कथितः। विदुषः कं कर्मासम्भवे हेतुविशेषं पश्यन् कर्माण्याक्षिपति भगवान् कथं स पुरुष इति ।

२ आ. शां. व्या.— पूर्वश्लोकार्थस्यैवोत्तरत्रापि प्रतिभानात्पौनरुक्त्यमाशङ्क्य वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरश्लोकमवतारयति— य एनमित्यादिना । कर्तृत्वाद्यभिमानविरोधादद्वैतकूटस्थात्मनिश्चयसामर्थ्यात्प्राप्तं विदुषः सन्न्यासं विद्यापरिपाकार्थमभ्यनुजानाति— वेदेति । पदद्वयस्य पूर्वमेव पौनरुक्त्यपरिहारेऽपि प्रकारान्तरेणापौनरुक्त्यमाह— अविनाशिनमित्यादिना । प्रश्नेऽपि सम्भवति किमिति नञुल्लेखेन व्याख्यायते तत्राऽऽह— उभयत्रेति । उत्तरत्र प्रतिवचनादर्शनान्नात्र प्रश्नः सम्भवतीत्यर्थः । विवक्षितं प्रकरणार्थं निगमयति— हेत्वर्थस्येति । अविक्रियत्वं हेत्वर्थस्तस्य विदुषः सर्वकर्मनिषेधे समानत्वादिति यावत् । यदि विदुषः सर्वकर्मनिषेधोऽभिमतस्तर्हि किमिति हन्त्यर्थ एवाऽऽक्षिप्यते ? तत्राऽऽह— हन्तेरिति । उक्तं हेतुमाक्षेप्तुं पृच्छति— विदुष इति ।

१ शां. भा.— ननु उक्त एव आत्मनोऽविक्रियत्वं सर्वकर्मासम्भवकारणविशेषः। सत्यं उक्तः, न तु स कारणविशेषः, अन्यत्वात् विदुषोऽविक्रियादात्मन इति । न ह्यविक्रियं स्थाणुं विदितवतः कर्म न सम्भवति इति चेत्, न; विदुष आत्मत्वात् । न देहादिसङ्घातस्य विद्वत्ता । अतः पारिशेष्यात् असंहत आत्मा विद्वानविक्रिय इति तस्य विदुषः कर्मासम्भवादाक्षेपो युक्तः 'कथं स पुरुषः' इति । यथा बुद्ध्याद्याहृतस्य शब्दाद्यर्थस्य अविक्रिय एव सन् बुद्धिवृत्त्यविवेकविज्ञानेन अविद्यया उपलब्धाऽऽत्मा कल्प्यते, एवमेव आत्मानात्मविवेकज्ञानेन बुद्धिवृत्त्या विद्यया असत्यरूपयैव परमार्थतोऽविक्रिय एव आत्मा विद्वान् उच्यते । विदुषः कर्मासम्भववचनात् यानि कर्माणि शास्त्रेण विधीयन्ते तान्यविदुषो विहितानीति भगवतो निश्चयोऽवगम्यते ।

२ आ. शां. व्या.— अभिप्रायमप्रतिपन्नमानो हेतुविशेषं पूर्वोक्तं स्मारयति— नन्विति । उक्तमङ्गीकृत्याऽऽक्षिपति— सत्यमिति । विदुषो विज्ञानात्मनो ब्रह्मणश्च वेद्यस्य विरुद्धधर्मत्वेन दहनतुहिनवद्भिन्नत्वाद्विदुषः सर्वकर्मत्यागे नासौ कारणविशेषः स्यादित्याह— अन्यत्वादिति । अविक्रियादिति च्छेदः । तथापि कूटस्थमविक्रियं ब्रह्म प्रतिपद्यमानस्य कुतो विक्रिया सम्भवेत् ? ब्रह्मप्रतिपत्तिविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह— न हीति । "अयमात्मा ब्रह्म" [ बृ. उ. २।५।१९ ] इत्यादिश्रुत्या समाधत्ते— न; विदुष इति । किञ्च विद्वत्ता विशिष्टस्य वा ? केवलस्य वा ? नाऽऽद्यः, विशिष्टस्य विद्वत्तायां विशेषणस्यापि तत्प्रसङ्गात् । न च विशेषणीभूतसङ्घातस्याचेतनत्वाद्विद्वत्ता युक्तेत्याह— न देहादीति । द्वितीये तु जीवब्रह्मविभागासिद्धिरित्याह— असंहत इति । किञ्च प्रामाणिकविरुद्धधर्मवत्त्वस्यासिद्धत्वात्प्रातिभासिकस्य च बिम्बप्रतिबिम्बयोरनैकान्त्याद्भेदानुमानायोगाज्जीवब्रह्मणोरभेदसिद्धिरित्यभिप्रेत्य फलितमाह— इति तस्येति । नन्वविक्रियस्य ब्रह्मस्वरूपतया सर्वकर्मासम्भवे विदुषो विद्वत्ताऽपि कथं सम्भवति ? न हि ब्रह्मणोऽविक्रियस्य विद्यालक्षणा विक्रिया स्वीक्रियामर्हति तत्राऽऽह— यथेति । अदृष्टेन्द्रियादिसहकृतमन्तःकरणं प्रदीपप्रभावद्विषयपर्यन्तं परिणतं बुद्धिवृत्तिरुच्यते । तत्र प्रतिबिम्बितं चैतन्यमभिव्यञ्जकबुद्धिवृत्त्यविवेकाद्विषयज्ञानमिति व्यवह्रियते, तेनाऽऽत्मोपलब्धा कल्प्यते । तच्चाविद्याप्रयुक्तमिथ्यासम्बन्धनिबन्धनम् । तथैवाऽऽध्यासिकसम्बन्धेन ब्रह्मात्मैक्याभिव्यञ्जकवाक्योत्थबुद्धिवृत्तिद्वारा विद्वानात्मा व्यपदिश्यते; न च मिथ्यासम्बन्धेन पारमार्थिकाविक्रियत्वविहतिरस्तीत्यर्थः । 'अहं ब्रह्म' इति बुद्धिवृत्तेर्मोक्षावस्थायामपि भावादात्मनः सविशेषत्वमाशङ्क्य तस्या यावदुपाधिसत्त्वमेवेत्याह— असत्येति । ननु कूटस्थस्याऽऽत्मनो मिथ्याविद्यावत्त्वेऽपि तस्य कर्माधिकारनिवृत्तौ कस्य कर्माणि विधीयन्ते ? न हि निरधिकाराणां तेषां विधिरित्याशङ्क्याऽऽह— विदुष इति ।

१ शां. भा.— ननु विद्याऽप्यविदुष एव विधीयते, विदितविद्यस्य पिष्टपेषणवत् विद्याविधानानर्थक्यात्; तत्राविदुषः कर्माणि विधीयन्ते, न विदुष इति विशेषो नोपपद्यत इति चेत्, न; अनुष्ठेयस्य भावाभावविशेषोपपत्तेः । अग्निहोत्रादिविध्यर्थज्ञानोत्तरकालं अग्निहोत्रादिकर्म अनेकसाधनोपसंहारपूर्वकं अनुष्ठेयं 'कर्ताऽहं, मम कर्तव्यम्' इत्येवम्प्रकारकविज्ञानवतोऽविदुषः यथा अनुष्ठेयं भवति, न तु तथा 'न जायते' इत्याद्यात्मस्वरूपविध्यर्थज्ञानोत्तरकालभावि किञ्चिदनुष्ठेयं भवति, किन्तु 'नाहं कर्ता, नाहं भोक्ता' इत्याद्यात्मैकत्वाकर्तृत्वादिविषयज्ञानादन्यत् नोत्पद्यते इत्येष विशेष उपपद्यते ।

**२ आ. शां. व्या.**— कर्माण्यविदुषो विहितानीति विशेषमाक्षिपति— **नन्विति** । कर्मविधानमविदुषो विदुषश्च विद्याविधानमिति विभागे का हानिः? इत्याशङ्क्याऽऽह— **विदितेति**। विद्याया विदितत्वं लब्धत्वम्। कर्मविधिरविदुषो विदुषो विद्याविधिरिति विभागासम्भवे फलितमाह— **तत्रेति** । धर्मज्ञानानन्तरमनुष्ठेयस्य भावाद्ब्रह्मज्ञानोत्तरकालं च तदभावाद्ब्रह्मज्ञानहीनस्यैव कर्मविधिरिति समाधत्ते— **न; अनुष्ठेयस्येति** । विशेषोपपत्तिमेव प्रपञ्चयति— **अग्निहोत्रादीति**। ननु देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानं विना पारलौकिकेषु कर्मसु प्रवृत्तेरनुपपत्तेस्तथाविधज्ञानवता कर्मानुष्ठेयमिति चेत्तत्राऽऽह— **कर्ताऽहमिति** । आत्मनि 'कर्ता भोक्ता' इत्येवंविज्ञानवत्त्वेऽपि ब्रह्मज्ञानविहीनत्वेनाविदुषोऽनुष्ठेयं कर्मेत्यर्थः । देहादिव्यतिरिक्तज्ञानवद्ब्रह्मज्ञानमपि ज्ञानत्वाविशेषात्कर्मप्रवृत्तावुपकरिष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **न त्विति** । अनुष्ठेयविरोधित्वादविक्रियात्मज्ञानस्येति शेषः । ननु ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानादुत्तरकालमपि कर्ताऽहमित्यादिज्ञानोत्पत्तौ कर्मविधिः सावकाशः स्यादिति नेत्याह— **नाहमिति** । कारणाभावादिति शेषः । कर्तृत्वादिज्ञानमन्यदित्युक्तम् ; अनुष्ठानानुष्ठानयोरुक्तविशेषादविदुषोऽनुष्ठानं विदुषो नेत्युपसंहरति— **इत्येष इति** ।

**१ शां. भा.— यः पुनः 'कर्ताऽहं' इति वेत्त्यात्मानं, तस्य 'ममेदं कर्तव्यम्' इति अवश्यम्भाविनी बुद्धिः स्यात्; तदपेक्षया सोऽधिक्रियत इति तं प्रति कर्माणि सम्भवन्ति। स च अविद्वान् 'उभौ तौ न विजानीतः' [ २।१९ ] इति वचनात्, विशेषितस्य च विदुषः कर्माक्षेपवचनाच्च 'कथं स पुरुषः' इति। तस्मात् विशेषितस्याविक्रियात्मदर्शिनो विदुषो मुमुक्षोश्च सर्वकर्मसन्न्यास एवाधिकारः। अत एव भगवान् नारायणः साङ्ख्यान् विदुषोऽविदुषश्च कर्मिणः प्रविभज्य द्वे निष्ठे ग्राहयति— 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] इति। तथा च पुत्राय आह भगवान् व्यासः— 'द्वाविमावथ पन्थानौ' [ म. भा. शां. प. २४०।६ ] इत्यादि। तथाच 'क्रियापथश्चैव पुरस्तात् पश्चात् सन्न्यासश्च' [ तै. आ. १०।६२।१२ ] इति। एतमेव विभागं पुनः पुनः दर्शयिष्यति भगवान्। अतत्त्ववित् 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' [ ३।२७ ] 'तत्त्ववित्तु' [ ३।२८ ] नाहं करोमीति। तथा च 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते' [ ५।१३ ] इत्यादि।**

**२ आ. शां. व्या.**— नन्वात्मविदो न चेदनुष्ठेयं किञ्चिदस्ति कथं तर्हि 'विद्वान्यजेत' इत्यादिशास्त्रात्तं प्रति कर्माणि विधीयन्ते? तत्राऽऽह— **यः पुनरिति** । आत्मनि कर्तृत्वादिज्ञानापेक्षया कर्मस्वधिकृतत्वज्ञाने तथाविधं पुरुषं प्रति कर्माणि विधीयन्ते । स च प्राचीनवचनादविद्वानेवेति निश्चीयते । न खल्वकर्तृत्वादिज्ञानवतस्तद्विपरीतकर्तृत्वादिज्ञानद्वारा कर्मसु प्रवृत्तिरित्यर्थः। कर्मासम्भवे ब्रह्मविदो हेत्वन्तरमाह— **विशेषितस्येति**। 'वेदाविनाशिनं' इत्यादिनेति शेषः। यद्यपि विदुषो नास्ति कर्म, तथापि विविदिषोः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मादिति** । विद्यया विरुद्धत्वादिष्यमाणमोक्षप्रतिपक्षत्वाच्च कर्मणामित्यर्थः । यद्यपि मुमुक्षोराश्रमकर्माण्यपेक्षितानि तथापि विद्यातत्फलाभ्यामविरुद्धान्येव तान्यभ्युपगतान्यन्यथा विविदिषासन्न्यासविधिविरोधादित्यभिप्रेत्योक्तेऽर्थे भगवतोऽनुमतिमाह— **अत एवेति** । विदुषो विविदिषोश्च सन्न्यासेऽधिकारः, अविदुषस्तु कर्मणीति विभागस्येष्टत्वादित्यर्थः । अधिकारिभेदेन निष्ठाद्वयं भगवता वेदव्यासेनापि दर्शितमित्याह— **तथा चेति** । अध्ययनविधिना स्वाध्यायपाठे त्रैवर्णिकस्य प्रवृत्त्यनन्तरं तत्र क्रियामार्गो ज्ञानमार्गश्चेति द्वौ मार्गावधिकारिभेदेनाऽऽवेदितावित्यर्थः। आदिशब्दात् 'यत्र वेदाः प्रतिष्ठिताः' इत्यादि गृह्यते। उक्तयोर्मार्गयोस्तुल्यतां परिहर्तुमुदाहरणान्तरमाह— **तथेति** । बुद्धिशुद्धिद्वारा कर्मतत्फलयोर्वैराग्योदयात् पूर्वं कर्ममार्गो विहितः, विरक्तस्य पुनः सन्न्यासपूर्वको ज्ञानमार्गो दर्शितः । स चेतरस्मादतिशयशालीति श्रुतमित्यर्थः । उक्ते विभागे पुनरपि वाक्यशेषानुकूल्यमादर्शयति— **एतमेवेति** । अहङ्कारविमूढात्मेत्यस्य व्याख्यानम्— **अतत्त्वविदिति**। 'तत्त्ववित्तु' इति श्लोकमवतार्य तात्पर्यार्थं सङ्गृह्णाति— **नाहमिति** । पूर्वेण क्रियापदेनेतिशब्दः सम्बध्यते । विरक्तमधिकृत्य वाक्यान्तरं पठति— **तथा चेति** । आदिशब्दस्तस्यैव श्लोकस्य शेषसङ्ग्रहार्थः ।

**१ शां. भा.— तत्र केचित् पण्डितम्मन्या वदन्ति— 'जन्मादिषड्भावविक्रियारहितोऽविक्रियोऽकर्ता एकोऽहमात्मा' इति न कस्यचित् ज्ञानमुत्पद्यते, यस्मिन् सति सर्वकर्मसन्न्यास उपदिश्यते इति। तन्न; 'न जायते' इत्यादिशास्त्रोपदेशानर्थक्यप्रसङ्गात्। यथा च शास्त्रोपदेशसामर्थ्यात् धर्माधर्मास्तित्वविज्ञानं कर्तुश्च देहान्तरसम्बन्धविज्ञानं उत्पद्यते, तथा शास्त्रात्तस्यैव आत्मनोऽविक्रियत्वाकर्तृत्वैकत्वादिविज्ञानं कस्मात् न उत्पद्यते? इति प्रष्टव्यास्ते। करणागोचरत्वात्**

इति चेत्, न; "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" [ बृ. उ. ४।४।१९ ] इति श्रुतेः। शास्त्राचार्योपदेशजनितशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्। तथाच तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यते इति साहसमात्रमेतत्।

२ आ. शां. व्या.— अविक्रियात्मज्ञानात्कर्मसन्न्यासे दर्शिते, मीमांसकमतमुत्थापयति— **तत्रे**ति। आत्मनो ज्ञानक्रियाशक्त्याधारत्वेन अविक्रियत्वाभावादविक्रियात्मज्ञानं सन्न्यासकारणीभूतं न सम्भवतीत्यर्थः। यथोक्तज्ञानाभावो विषयाभावाद्वा मानाभावाद्वा? इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— **नेत्या**दिना। न तावदविक्रियात्माभावः 'न जायते म्रियते वा' [ २।२० ] इत्यादिशास्त्रस्याऽऽप्तवाक्यतया प्रमाणस्यान्तरेण कारणमानर्थक्यायोगादित्यर्थः। द्वितीयं प्रत्याह— **यथा चे**ति। पारलौकिककर्मविधिसामर्थ्यसिद्धं विज्ञानमुदाहरति— **कर्तुश्चे**ति। कर्मकाण्डादज्ञाते धर्मादौ विज्ञानोत्पत्तिवत् ज्ञानकाण्डादज्ञाते ब्रह्मात्मनि विज्ञानोत्पत्तिरविरुद्धा, प्रमाणत्वाविशेषादित्यर्थः। ज्ञानस्य मनस्संयोगजन्यत्वादात्मनश्च श्रुत्या मनोगोचरत्वनिरासान्नाऽऽत्मज्ञाने साधनमस्तीति शङ्कते— **करणे**ति। श्रुतिमाश्रित्य परिहरति— **न; मनसे**ति। तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थमनोवृत्त्यैव शास्त्राचार्योपदेशमनुसृत्य द्रष्टव्यं तत्त्वमिति श्रूयते। स्वरूपेण स्वप्रकाशमपि ब्रह्मात्मवस्तुवाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तं सविकल्पकव्यवहारालम्बनं भवतीति मनोगोचरत्वोपचारादसिद्धं करणागोचरत्वमित्यर्थः। कथं तर्हि ब्रह्मात्मनो मनोविषयत्वनिषेधश्रुतिः? इत्याशङ्क्यासंस्कृतमनोवृत्त्यविषयत्वविषया सेति मन्वानः सन्नाह— **शास्त्रे**ति। सत्यपि श्रुत्यादौ तदनुग्राहकाभावान्नास्माकमविक्रियात्मज्ञानमुत्पत्तुमर्हतीत्याशङ्क्याऽऽह— **तथे**ति। तस्याविक्रियस्याऽऽत्मनोऽधिगत्यर्थं, 'विमतो विकारो नाऽऽत्मधर्मो विकारत्वादुभयाभिमतविकारवत्' इत्यनुमाने पूर्वोक्तश्रुतिस्मृतिरूपागमे च सत्येव तस्मिन्नोत्पद्यते ज्ञानमिति वचः साहसमात्रं, सत्येव माने मेयं न भातीतिवदित्यर्थः।

१ शां. भा.— ज्ञानं च उत्पद्यमानं तद्विपरीतमज्ञानमवश्यं बाधते इत्यभ्युपगन्तव्यम्। तच्चाज्ञानं दर्शितं 'हन्ता अहं, हतोऽस्मि' इति, 'उभौ तौ न विजानीतः' [ २।१९ ] इति। अत्र च आत्मनो हननक्रियायाः कर्तृत्वं, कर्मत्वं, हेतुकर्तृत्वं चाज्ञानकृतं दर्शितम्। तच्च सर्वक्रियास्वपि समानं कर्तृत्वादेरविद्याकृतत्वं, अविक्रियत्वात् आत्मनः। विक्रियावान् हि कर्ता आत्मनः कर्मभूतं अन्यं प्रयोजयति 'कुरु' इति। तदेतदविशेषेण विदुषः सर्वक्रियासु कर्तृत्वं हेतुकर्तृत्वं च प्रतिषेधति भगवान् वासुदेवो विदुषः कर्माधिकाराभावप्रदर्शनार्थं 'वेदाविनाशिनं.... कथं स पुरुषः' इत्यादिना। क्व पुनर्विदुषोऽधिकारः? इत्येतदुक्तं पूर्वमेव 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्' [ ३।३ ] इति तथा च सर्वकर्मसन्न्यासं वक्ष्यति 'सर्वकर्माणि मनसा' [ ५।१३ ] इत्यादिना।

२ आ. शा. व्या.—ननु यथोक्तं ज्ञानमुत्पन्नमपि हानायोपादानाय वा न भवतीति कुतोऽस्य फलवत्त्वं? तत्राऽऽह— **ज्ञानं चे**ति। **अवश्यमि**ति। प्रकाशप्रवृत्तेस्तमोनिवृत्तिव्यतिरेकेणानुपपत्तिवदात्माज्ञाननिवृत्तिमन्तरेणाऽऽत्मज्ञानोत्पत्तेरनुपपत्तेरित्यर्थः। नन्वज्ञानस्य ज्ञानप्रागभावत्वात्तन्निवृत्तिरेव ज्ञानं, न तु तन्निवर्तकमिति तत्राऽऽह— **तच्चे**ति। कथं पुनर्भगवताऽपि ज्ञानाभावातिरिक्तमज्ञानं दर्शितं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अत्र चे**ति। विमतं ज्ञानाभावो न भवत्युपादानत्वान्मृदादिवदिति भावः। ननु हननक्रियायाः "न हिंस्यात्" इति निषिद्धत्वात्तत्कर्तृत्वादेरज्ञानकृतत्वेऽपि विहितक्रियाकर्तृत्वादेर्न तथात्वमिति नेत्याह— **तच्चे**ति। न तावदात्मनि कर्तृत्वादि नित्यममुक्तिप्रसङ्गात्; न चानित्यमपि निरुपादानं, भावकार्यस्योपादाननियमात्; न चानात्मा तदुपादानं, आत्मनि तत्प्रतिभानात्; न चाऽऽत्मैव तदुपादानं, कूटस्थस्य तस्याविद्यां विना तदयोगात्; इत्याह— **अविक्रियत्वा**दिति। कर्तृत्वाभावेऽपि कारयितृत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **विक्रियावा**निति। आत्मनि कर्तृत्वादिप्रतिभानस्यानाद्यनिर्वाच्यमज्ञानमुपादानं तन्निवृत्तिश्च तत्त्वज्ञानादित्युक्तम्; इदानीं कर्तृत्वकारयितृत्वयोरविद्याकृतत्वे भगवतोऽनुमतिं दर्शयति— **तदेत**दिति। विदुषो यदि कर्माधिकाराभावो भगवतोऽभिमतस्तर्हि कुत्र तस्य जीवतोऽधिकारः स्यात्? इति पृच्छति— **क्व पुन**रिति। ज्ञाननिष्ठायामित्युक्तं स्मारयति— **उक्त**मिति। तदङ्गभूते सर्वकर्मसन्न्यासे च तस्याधिकारोऽस्तीत्याह— **तथे**ति।

१ शां. भा.— ननु 'मनसा' इति वचनात् न वाचिकानां कायिकानां च सन्न्यास इति चेत्, न; 'सर्वकर्माणि' इति विशेषितत्वात्। मानसानामेव सर्वकर्मणामिति चेत्, न; मनोव्यापारपूर्वकत्वात् वाक्कायव्यापाराणां, मनोव्यापाराभावे तदनुपपत्तेः। शास्त्रीयाणां वाक्कायकर्मणां कारणानि मानसानि कर्माणि वर्जयित्वाऽन्यानि सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते इति चेत्, न;

'नैव कुर्वन्न कारयन्' [५।१३] इति विशेषणात् । सर्वकर्मसन्न्यासोऽयं भगवतोक्तो मरिष्यतः, न जीवत इति चेत्, न; 'नवद्वारे पुरे देही.... आस्ते' [५।१३] इति विशेषणानुपपत्तेः ।

**२ आ. शां. व्या.**— वक्ष्यमाणे वाक्ये सर्वकर्मसन्न्यासो न प्रतिभाति, मानसानामेव कर्मणां विशेषणवशात्त्यागावगमादिति शङ्कते— **नन्विति** । विशेषणान्तरमाश्रित्य दूषयति— **न; सर्वेति** । मनसेति विशेषणान्मानसेष्वेव कर्मसु सर्वशब्दः संकुचितः स्यादिति शङ्कते— **मानसानामिति** । सर्वात्मना मनोव्यापारत्यागे व्यापारान्तराणामनुपपत्तेः सर्वकर्मसन्न्यासः सिद्ध्यतीति परिहरति— **नेत्यादिना** । मानसेष्वपि कर्मसु सन्न्यासे सङ्कोचान्न वागादिव्यापारानुपपत्तिरिति शङ्कते— **शास्त्रीयाणामिति** । **अन्यानीति**, अशास्त्रीयवाक्कायकर्मकारणान्यशास्त्रीयाणि मानसानि तानि च सर्वाणि कर्माणीत्यर्थः । वाक्यशेषमादाय दूषयति— **न; नैवेति** । न हि विवेकबुद्ध्या सर्वाणि कर्माण्यशास्त्रीयाणि सन्न्यस्य तिष्ठतीति युक्तं, 'नैव कुर्वन्' इत्यादिविशेषणस्य विवेकबुद्धेश्च त्यागहेतोस्तुल्यत्वादित्यर्थः । भगवदभिमतसर्वकर्मसन्न्यासस्यावस्थाविशेषे सङ्कोचं दर्शयन्नाशङ्कते— **मरिष्यत इति** । सन्न्यासो जीवदवस्थायामेवात्र विवक्षित इत्यत्र लिङ्गं दर्शयन्नुत्तरमाह— **न; नवेति** ।

**१ शां. भा.**— न हि सर्वकर्मसन्न्यासेन मृतस्य तद्देहे आसनं सम्भवति । अकुर्वतोऽकारयतश्च देहे सन्न्यस्य इति सम्बन्धः । न देहे आस्ते इति चेत्, न; सर्वत्र आत्मनोऽविक्रियत्वावधारणात्, आसनक्रियायाश्च अधिकरणापेक्षत्वात्, तदनपेक्षत्वाच्च सन्न्यासस्य । सम्पूर्वस्तु न्यासशब्दोऽत्र त्यागार्थः, न निक्षेपार्थः । तस्मात् गीताशास्त्रे आत्मज्ञानवतः सन्न्यास एवाऽधिकारः, न कर्मणीति तत्र तत्र उपरिष्टादात्मज्ञानप्रकरणे दर्शयिष्यामः ॥ २१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— अनुपपत्तिमेव स्फोरयति— **न हीति** । अन्वयविशेषान्वाख्यानेन लिङ्गासिद्धिं चोदयति— **अकुर्वत इति** । विवेकवशादशेषाण्यपि कर्माणि देहे यथोक्ते निक्षिप्याकुर्वन्नकारयंश्च विद्वानवतिष्ठते । तथा च देहे कर्माणि सन्न्यस्याकुर्वतोऽकारयतश्च सुखमासनमिति सम्बन्धसम्भवाद्विशेषणस्य सति देहे कर्मत्यागविषयत्वाभावाज्जीवतः सर्वकर्मत्यागो नास्तीत्यर्थः । अथवाऽकुर्वत इत्यादि पूर्वत्रैव सम्बन्धनीयं, लिङ्गासिद्धिचोद्यं तु देहे सन्न्यस्येत्यारभ्येत्युन्नेयम् । आत्मनः सर्वत्राविक्रियत्वनिर्धारणाद्देहसम्बन्धमन्तरेण कर्तृत्वकारयितृत्वाप्राप्तेरप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गपरिहारार्थमस्मदुक्त एव सम्बन्धः साधीयानिति समाधत्ते— **न; सर्वत्रेति**, श्रुतिषु स्मृतिषु चेत्यर्थः । किञ्च सम्बन्धस्याऽऽकाङ्क्षासन्निधियोग्यताधीनत्वादाकाङ्क्षावशादस्मदभिमतसम्बन्धसिद्धिरित्याह— **आसनेति** । भवदिष्टस्तु सम्बन्धो न सिध्यत्याकाङ्क्षाभावादित्याह— **तदनपेक्षत्वाच्चेति** । सन्न्यासशब्दस्य निक्षेपार्थत्वात्तस्य चाधिकरणसापेक्षत्वादस्मदिष्टसम्बन्धसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **सम्पूर्वस्त्विति**, अन्यथोपसर्गवैयर्थ्यादित्यर्थः । मनसा विवेकविज्ञानेन सर्वाणि कर्माणि परित्यज्याऽऽस्ते देहे विद्वानित्यस्यैव सम्बन्धस्य साधुत्वं मत्वोपसंहरति— **तस्मादिति** । सर्वव्यापारो परमात्मनः सन्न्यासस्याविक्रियात्मज्ञानाविरोधित्वात् प्रयोजकज्ञानवतो वैधे सन्न्यासेऽधिकारः सम्यग्ज्ञानवतस्त्ववैधे स्वाभाविके फलात्मनीति विभागमभ्युपेत्योक्तेऽर्थे वाक्यशेषानुगुण्यं दर्शयति— **इति तत्र तत्रेति** ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.**— एवमविनाशित्वेनाजत्वेन व्ययानर्हत्वेन च नित्यमेनमात्मानं यः पुरुषो वेद, स पुरुषो देवमनुष्यतिर्यक्स्थावरशरीरावस्थितेषु आत्मसु कमप्यात्मानं कथं घातयति ? कं वा कथं हन्ति ? कथं नाशयति ? कथं वा तत्प्रयोजको भवतीत्यर्थः। 'एतानात्मनो घातयामि हन्मि' इत्यनुशोचनमात्मस्वरूपयाथात्म्याज्ञानमूलमेवेत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'य एनम्' [२।१९] इत्युक्तविपर्ययपरे 'वेद' इत्यादिश्लोके 'नित्यम्' इति परमसाध्यानुवादः । 'अविनाशिनम्' इत्यादिकं तु तद्धेतुरित्यभिप्रायेणाह— **एवमिति** । व्ययशब्देनात्र जन्मनाशव्यतिरिक्तविकारा विवक्षिताः। अपक्षय एव वा छेदनादियोग्यावयवविश्लेषादिर्वा । कमिति निर्धारणस्यानिर्धारितानेकव्यक्तिसापेक्षत्वादाह **देवमनुष्ये**त्यादि । घातयतिहन्त्योः पौनरुक्त्यमाशङ्क्य बुद्धिस्थक्रमेणार्थमाह— **कथं नाशयती**त्यादि । वेदितुर्विशेषेण हन्तृत्वादिनिषेधो न युज्यते । आत्मनो नित्यत्वे तदवेदितुरपि तद्धननायोगादित्याशङ्कापरिहाराय फलितार्थं वदन् प्रकृतेन सङ्गमयति— **एतानिति** । नात्र श्लोके हन्तृत्वादिमात्रं निषिध्यते ; किन्तु तत्प्रयुक्तं शोचनम् ; तदुत्पादकप्रकारप्रतिषेधयैव ह्यत्र कथंशब्द इति भावः ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.**— अतो य एवं वेद स कथं घातयति हन्ति वा ? अविनाशिनं नैमित्तिकविनाशरहितम् । नित्यं स्वाभाविकनाशरहितम् । अथवाऽविनाशिनं दोषयोगरहितम् । नित्यं सदाभाविनमिति सर्वत्र विवेकः; दोषयुक्तपुरुषादिषु नष्टशब्दप्रयोगात् ॥ २१ ॥

६ ज. प्र. दी.— **वेदाविनाशिन**मिति । पुनरात्मनोऽविनाशित्वादिकं किमर्थमुच्यते ? इत्यतोऽस्य तात्पर्यमाह— **अत** इति । उक्तैः प्रमाणैरेवमविनाशित्वादिरूपं कं कथं घातयति हन्ति वेत्येवंभावं करोतीत्यर्थः । जीवस्यानित्यत्वादिकं मन्यमानो न जानातीत्युक्तम् , इदानीं तु ज्ञानी नैवं मन्यत इत्युच्यत इति । अविनाशिनं नित्यमिति पुनरुक्तिमाशङ्क्य द्वेधार्थभेदमाह— **अविनाशिन**मिति । **नैमित्तिको** बिम्बनाशादिनिमित्तकः । स्वाभाविकः कालकृतः । दोषयोगरहितमित्यनेन मात्रास्पर्शा इत्यत्र यदुक्तमाभिमानिकमेवात्मनो दुःखादिकं, न तु स्वगतमिति तस्यानुवादः क्रियते । एवं व्याख्यानप्रकारमन्यत्राप्यतिदिशति— **इतीति** । विवेकः शब्दार्थयोः । अविनाशिनं दोषयोगरहितमिति कुतो लभ्यमित्यत आह— **दोषेति**। अनेकार्थत्वाद्धातूनामिति भावः ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.— 'य एनं वेत्ति हन्तारं' [ २।१९ ] इत्यनेन मन्त्रेण हननक्रियायाः कर्ता कर्म च न भवतीति प्रतिज्ञाय 'न जायते' इत्यनेनाविक्रियत्वं हेतुमुक्त्वा प्रतिज्ञातार्थमुपसंहरति— वेदाविनाशिनमिति। वेद विजानाति। अविनाशिनं प्रेत्यभावविकाररहितं नित्यं विपरिणामरहितं यो वेदेति सम्बन्धः। एनं पूर्वोक्तमन्त्रेणोक्तलक्षणम्। अजं जननक्रियारहितम्, अव्ययमपक्षयरहितम् , कथं केन प्रकारेण स विद्वान्पुरुषोऽधिकृतो हन्ति हननक्रियां करोति ? कथं वा घातयति हन्तारं प्रयोजयति ? न कथञ्चिद्धन्ति न कथञ्चिद्घातयति। उभयत्राऽऽक्षेप एवार्थः प्रश्नासम्भवात्। हेत्वर्थस्य तुल्यत्वाद्विदुषः सर्वकर्मप्रतिषेध एव प्रकरणार्थोऽभिहितो भगवता; हन्तेस्त्वाक्षेप उदाहरणार्थत्वेनोक्तः। विदुषः सर्वकर्मासम्भवे कं हेतुविशेषं पश्यन्कर्माण्याक्षिपति भगवान् ? कथं स पुरुष इति ॥ २१ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—नन्वस्तु देहातिरिक्त आत्मा; तथापि देहनिमित्त आत्मनिमित्तो वा शोको न सम्भवतीत्युक्तमयुक्तम्, आत्मनिमित्तस्यैव शोकस्य सम्भवात्; न चात्मनो हन्तृहन्तव्यभावासम्बन्धस्योक्तेः कथं तन्निमित्तः शोक इति वाच्यम्, वस्तुतस्तत्सम्बन्धस्यात्मन्यसत्त्वेऽपि आध्यासिकं तमादाय 'न हन्तव्यः' इति शास्त्रेण प्रत्यवायदोषस्योक्ततया प्रकृतेऽपि तादृशसम्बन्धपुरस्कारेणैव भीष्मादिगुर्वात्महन्तुर्मम प्रेरकतया तद्घातयितुस्तव च प्रत्यवायस्यापरिहार्यत्वेन तन्निमित्तशोकसम्भवादित्याशङ्क्य, आत्मविदि निवृत्ताध्यासे नैतद्दोषशङ्केत्याह— अत्र षड्भावविकाररहित्येनात्मा विशेष्यते । जायते अस्ति वर्धते परिणमते अपक्षीयते नश्यति चेति षड्भावविकाराः । अत्र 'अजं' इति जन्मप्रतिषेधः, तेनैव जन्मोत्तरकालीनसत्तारूपद्वितीयविकारोऽपि जन्मान्तर्भूतः प्रतिषिद्धः । नित्यमेकरूपम् , तेन वृद्धिपरिणामरूपतृतीयचतुर्थविकारप्रतिषेधः । अव्ययं— न विद्यते व्ययोऽवयवापचयरूपो गुणापचयरूपो वा यस्य निरवयवस्य निर्गुणस्य च तमव्ययमित्यपक्षयाख्यपञ्चमविकारप्रतिषेधः । अविनाशिनं— न विनष्टुं शीलं यस्य तमित्यन्त्यविकारनिषेधः । एवम्भूतमेनं 'अविनाशि तु तद्विद्धि' [ २।१७ ] इत्याद्येतत्पर्यन्तश्लोकोक्तलक्षणं त्रिविधपरिच्छेदशून्यमकर्तृभोक्तृस्वरूपमखिलजगदध्यासाधिष्ठानभूतमात्मानं यो वेद जानाति, स विद्वान्पुरुषः पूर्णः कं हन्ति ? न कञ्चिदपि, अद्वितीयात्मदर्शित्वेन तस्य हन्तव्यद्वितीयपदार्थस्यैवाभावात् । तथा कथं हन्ति ? न कथञ्चिदपि, हन्तव्यत्वेनाभिमतस्यात्मनो निर्विकारत्वेन तत्र छेददाहादेर्हननप्रकारस्य कस्याप्यनवतारात् । एतदेव 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि' [२।२३] इत्यादिना प्रपञ्चयिष्यते । एवं कं घातयति कथं घातयतीत्यपि व्याख्येयम् । अत्र 'कथं घातयति हन्ति' इति न घातयितृत्वहन्तृत्वाक्षेपः, किन्तु तत्कार्यप्रत्यवायाक्षेपः । अतः 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' 'मया हतांस्त्वं जहि' [११।३३–३४ ] इत्यादिना भगवतैव स्वस्मिन्हन्तृत्वघातयितृत्वप्रदर्शनं न विरुध्यते। तदेतद्भगवानेव वक्ष्यति— 'ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि' [ २।३८ ] इति।

न च वास्तवहन्तृत्वघातयितृत्वाभावोऽत्र विवक्षितः 'मयैव' इत्याद्युक्तं तु हन्तृत्वादिकं न वास्तवमित्यविरोध इति वाच्यम्; वास्तवहन्तृत्वाभावस्य विद्वदविद्वत्साधारण्येन 'कथं स पुरुषः' इति विशिष्य विदुषस्तत्प्रतिषेधोक्त्ययोगात् । अतो भृत्यकर्म कुर्वति 'कथं भृत्यः' इत्याक्षेप इव 'कं घातयति' इत्याक्षेपोऽपि ज्ञानिनि तत्कार्यप्रतिषेधपर इति त्वमप्येतादृशात्मज्ञानेन निवृत्ताध्यासो भूत्वा तन्निबन्धनप्रत्यवायशङ्कां माकार्षीरिति भावः ।

अत्र 'कथं स हन्ति' इति हननाक्षेपोक्तिर्विदुषः सर्वकर्माक्षेपपरा, विद्वत्त्वहेतोरविशेषात् । हेतुसाधारण्येन हेतुमति सर्वत्रार्थाद्विधेयलाभ इति हि मीमांसकमर्यादा । अत एव 'चतुर्गृहीतान्याज्यानि भवन्ति, न ह्यत्रानूयाजा इज्यन्ते' इति वचनस्य प्रकरण्यातिथ्येष्टिमात्रविषयत्वेऽपि 'न ह्यत्रानूयाजा इज्यन्ते' इति हेतुसाधारण्याद्यत्रेष्टावनूयाजानामभावस्तत्र सर्वत्रापि चतुर्गृहीतमेव नाष्टगृहीतमिति सिद्धिरिष्यते । एवं च विद्वत्त्वसम्बन्धरूपहेतुसाधारण्यात्कर्ममात्रनिषेधरूपविधेयलाभ इति स्थिते सति, यानि शास्त्रविहितकर्माणि तान्यविद्वद्विषयाण्येवेति भगवतो निश्चयोऽवगम्यते । तथा च वक्ष्यति— 'तस्य कार्यं न विद्यते' [ ३।१७ ] इति। भाष्ये चास्य विस्तरः ॥२१॥

९ व० त० दी०— निर्विकारात्मज्ञानोत्पन्नं फलमाह— वेदाविनाशिनमिति । कथमिति प्रकारनिषेधः । कं हन्तीति कर्मकर्तृत्वम्, घातयतीति प्रयोजकत्वं च निषिध्यते ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च अस्य मारणादिदोषबुद्धावज्ञानमेव कारणमित्याह— वेदाविनाशिनमिति । अविनाशिनं विशेषविकाररहितं, नित्यं सदैकरूपं, अजं जन्मादिरहितं, मयैव लीलार्थं तथाकृतम्; अव्ययं नाशादिशून्यं, य एवं वेद स पुरुषः कथं केन साधनेन कं स्वयं प्रेरको भूत्वाऽन्येन घातयति? न कमपीत्यर्थः । स्वयं च कं हन्ति? न कञ्चिदित्यर्थः ॥ २१ ॥

११ नी०भा०दी०— नायं हन्तीत्येतदुपपादयति— वेदेति । विनष्टुं अदर्शनं गन्तुं शीलमस्येति विनाशि, रज्जूरगतुल्यमुपाधित्रयं स्थूलसूक्ष्मकारणशरीराख्यं, ततोऽन्यं अविनाशिनं अत एव नित्यं नाशहीनम् । तत्र हेतुः-अजं, जन्मवान् हि अनित्यः; अयं तु अजत्वान्नित्यश्चेत्यर्थः । ननु विनाशिनः स्वकार्यापेक्षया अन्यत्वमजत्वं नित्यत्वं च साङ्ख्याभिमते प्रधाने तार्किकाभिमते नभसि चास्ति अत उक्तं— अव्ययमिति । न व्येति पूर्वावस्थां त्यजतीत्यव्ययमपरिणामि, प्रधानं तु चलं गुणवृत्तमितिन्यायेन गुणसाम्यावस्थायामपि परिणममाणमेव सर्वदाऽस्तीति तेषामभ्युपगमात् । आकाशस्यापि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" [ तै. उ. २।१ ] इति उत्पत्तिश्रवणादजत्वाभावादेव नाव्ययत्वम् । तादृशं आत्मानं यो वेद अपरोक्षीकरोति स पुमान् कथं केन प्रकारेण कमन्यं घातयति हननक्रियायां प्रवर्त्तयति? कं वा हन्ति? न केनचित्प्रकारेण कमपि घातयति, न वा हन्तीत्यर्थः; द्वैताभावात् । तथाहि श्रुतिर्विद्यावस्थायां सर्वकारकव्यापारं निषेधति— "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" [ बृ. उ. ४।५।१९ ] इत्यादि अविद्यावस्थायामेव च सर्वकारकव्यवहारं दर्शयति । "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं जिघ्रति तदितर इतरं पश्यति" [ बृ. उ. २।४।१४ ] इत्यादि । एतेन सर्वकारकोपमर्दिन्या विद्यायाः सर्वकारकसापेक्षैः कर्मभिः सह समुच्चयो निरस्तः । परस्परविरुद्धस्वभावत्वेन शीतोष्णयोरिव द्वयोरेककार्यकारित्वस्य रथाश्वन्यायेनासम्भवादित्यन्यत्र विस्तरः । मादृशानां ज्ञानिनां व्युत्थानकाले अविद्यालेशानुवृत्त्या घातयितृत्वादेः प्रसक्तावपि विद्यया तस्य बाधितत्वादागामिकर्मणामश्लेषाच्च न दोषः । तथा च वक्ष्यते 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते' [ १८।१७ ] इति ॥ २१ ॥

आत्मनो नित्यत्वेऽविक्रियत्वे च सहेतुकं दृष्टान्तान्तरम् [ २२।२९ ]

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ॥ २२ ॥**

१ शां. भा.— प्रकृतं तु वक्ष्यामः । तत्रात्मनोऽविनाशित्वं प्रतिज्ञातम्, तत् किमिव इत्युच्यते?— वासांसीति । वासांसि वस्त्राणि जीर्णानि दुर्बलतां गतानि यथा लोके विहाय परित्यज्य नवान्यभिनवानि गृह्णाति उपादत्ते नरः पुरुषोऽपराण्यन्यानि, तथा तद्वदेव शरीराणि विहाय जीर्णानि अन्यानि संयाति सङ्गच्छति नवानि देही आत्मा, पुरुषवत् अविक्रिय एवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— आत्मनोऽविक्रियत्वेन कर्मासम्भवं प्रतिपाद्याविक्रियत्वहेतुसमर्थनार्थमेव उत्तरग्रन्थमवतारयति— प्रकृतं त्विति । किं तत्प्रकृतं? इति शङ्कमानं प्रत्याह— तत्रेति । अविनाशित्वमित्युपलक्षणं, अविक्रियत्वमित्यर्थः । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयितुमुत्तरश्लोकमुत्थापयति— तदित्यादिना । आत्मनः स्वतो विक्रियाभावेऽपि पुरातनदेहत्यागे नूतनदेहोपादाने च विक्रियावत्त्वध्रौव्यात् अविक्रियत्वमसिद्धमिति चेत्तत्राऽऽह— वासांसीति । शरीराणि जीर्णानि वयोहानिं गतानि वलीपलितासङ्गतानीत्यर्थः । वाससां पुरातनानां परित्यागे नवानां चोपादाने त्यागोपादानकर्तृभूतलौकिकपुरुषस्यापि अविकारित्वेनैकरूपत्ववत् आत्मनो देहत्यागोपादानयोरविरुद्धमविक्रियत्वमिति । वाक्यार्थमाह— पुरुषवदिति ॥ २२ ॥

३ रा. भा.— यद्यपि नित्यानामात्मनां शरीरविश्लेषमात्रं क्रियते, तथापि रमणीयभोगसाधनेषु शरीरेषु नश्यत्सु तद्वियोगरूपं शोकनिमित्तमस्त्येवेत्यत्राह— वासांसीति । धर्मयुद्धे शरीरं त्यजतां त्यक्तशरीरादधिकतरकल्याणशरीरग्रहणं शास्त्रादवगम्यत इति । जीर्णानि वासांसि विहाय नवानि कल्याणानि वासांसि गृह्णतामिव हर्षनिमित्तमेवात्रोपलभ्यते ॥ २२ ॥

**४ वे. ता. चं**—शङ्कापूर्वकं 'वासांसि' इति श्लोकमवतारयति—**यद्यपीति ।** ननु सार्वभौमादिशरीरपरित्यागे तत्तत्कर्मानुरूपनारकतिर्यक्स्थावरादिशरीरपरिग्रहसम्भावनया प्रलयवत् अपरिगृहीतशरीरतयाऽवस्थितिसम्भावनया चास्त्येव शोकनिमित्तम् ; न च नूतनत्वमात्रं सुखाय, चिरन्तननरपतिगृहपरित्यागेनापि नूतनकारागारप्रवेशादेः जीर्णांशुकप्रहाणेन नूतनगोणीग्रहणादेश्च दुःखरूपत्वात् । न च वयमिह मानुषादिशरीरविलयसमनन्तरं अभिनववसनपरिधानवत् अनिमिषदेहादिसङ्ग्रहमुपलभामहे इत्याशङ्क्याह—**धर्मयुद्धे** इति । **अधिकतरे**ति कल्याणविशेषणम् । नवशब्दाभिप्रेतोक्तिः—**कल्याणानीति । हर्षनिमित्तमेवेति**—पुरा शोकाविषयमात्रे शोकः कृतः; इदानीं तु तद्विपरीतहर्षविषये क्रियत इति भावः ॥२२॥

**५ आ. मा. भा.—देहात्मविवेकानुभवार्थं दृष्टान्तमाह— वासांसीति ॥ २२ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**—देहानामुपगमापगमयोरप्येक एवायमात्मेत्येतत् 'देहिनोऽस्मिन्' [ २ । १३ ] इत्यत्रैव सदृष्टान्तमुक्तं अतो 'वासांसि' इति व्यर्थोऽयं श्लोक इत्यत आह—**देहेति** । कौमारादिदेहानामनतिभिन्नत्वान्न तेन देहात्मनो**र्विवेको** विनाशित्वाविनाशित्वलक्षणः स्पष्टमनुभवारूढो भवतीति भावः । **दृष्टान्तं** पूर्वोक्ताद्विलक्षणमिति शेषः । दृष्टान्तमित्युपलक्षणं दार्ष्टान्तिकस्यापि कथितत्वात् ॥ २२ ॥

**७ ह.पै.भा.— आत्मनो नित्यत्वं प्रतिज्ञातं शरीरेषु तत्कथं नश्यत्स्वित्यत्राऽऽह- वासांसीति । यथा नरो जीर्णानि वासांसि विहाय नवानि वस्त्राणि गृह्णाति स्वयं विद्यमान एव; तथा जीर्णानि शरीराणि विहायान्यानि नवानि संयाति देहीस्वयं पूर्वदेहविनाशेऽप्यविक्रियो विनाशरहितः ॥२२॥**

**८ वें. ब्र. गि.**—ननु मास्त्वात्मनिमित्तकः शोकः, शरीरनिमित्तकस्तु स्यादेव; यद्यपि शरीराणि स्वतो नश्वराणि तद्वधश्च युद्धे विहित इति न तानि शोकस्थानमित्युक्तम्, तथापि रमणीयभोगसाधनेषु तेषु नश्यत्सु तन्निमित्तः शोकोऽपरिहार्य एवेत्याशङ्क्याह—अत्र जीर्णवस्त्रत्यागे नूतनवस्त्रपरिग्रहवत् जीर्णशरीरत्यागेऽपि निर्विकारस्यात्मनो नूतनशरीरस्वीकार इत्येतावानुत्तानदृष्ट्यार्थः प्रतीयते । स च 'देहिनोऽस्मिन्' [ २।१३ ] इति श्लोके कौमारावस्थात्यागेन यौवनावस्थेव निर्विकारस्यात्मनो देहाद्देहान्तरप्राप्त्यवस्थेति निरूपणात् प्रागेवोक्त इति पुनस्तत्प्रतिपादनस्य नातिप्रयोजनत्वात्, जीर्णानि वस्त्राणि विहाय यथा नवानि गृह्णाति तथा जीर्णानि शरीराणि विहाय नवानि यातीत्येतावतैव निर्वाहे सति अपराणि अन्यानीति च संयातीति ससमुपसर्गं च प्रयुञ्जानेन भगवता अर्थविशेषस्य गर्भीकृतत्वात्तमेवार्थं दर्शयामः । यथा हि लोके नरो जीर्णानि वासांसि त्यक्त्वाऽन्यानि नवानि वासांसि गृह्णाति, तथा अयं देही भीष्मद्रोणादिः जीर्णानि जरसा कृशानि शरीराणि त्यक्त्वा अन्यानि नवानि शरीराणि "अन्यन्नवतरं कल्याणरूपं कुरुते पित्र्यं वा गान्धर्वं वा दैवं वा" [ बृ. उ. ४।४।४ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धानि दिव्यशरीराणि संयाति सम्यग्गर्भवासादिक्लेशं विनैव प्राप्नोति । दुर्योधनादियुवशरीराणां जीर्णत्वाभावेऽपि भाविदिव्यशरीरापेक्षया हेयत्वाज्जर्जराण्येव तानीत्यभिप्रायेण जीर्णत्वोक्तिः । एवं च कर्परपटच्चराणि परिहाप्य दुकूलानि परिधापयन्निव कश्मलनरशरीराणि युद्धे परिहाप्य भीष्मादीनां दिव्यभोगार्हदेवताशरीरार्पयिता त्वं तेषामुपकर्तैवासीति तदीयैतच्छरीरनाशे हर्ष एव तवोचितः, धर्मयुद्धे शरीरं त्यजतः स्वर्गभोगार्हदिव्यशरीरप्राप्तेः शास्त्रप्रसिद्धत्वादिति भावः ॥ २२ ॥

**९ व० त० दी०**— नन्वात्मनोऽविनाशेऽपि तदीयभोगसाधनदेहानां विनाशं पर्यालोच्य शोचामीति चेत्तत्राह— **वासांसीति** । यथेति दृष्टान्तः । नरो जीर्णानि वासांसि विहायापराणि नवानि गृह्णाति, तथा देही जीव आत्मा जीर्णानि शरीराणि त्यक्त्वाऽन्यानि नवानि प्राप्नोति । कर्मनिबन्धनानां नूतनानां देहानामवश्यम्भावात् न जीर्णदेहनाशे शोकावकाश इति भावः ॥ २२ ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु भगवत्क्रीडार्थं मृष्टदेहादीनां मारणमपि दोषरूपं, अतः शोचामीति चेत्तत्राह— **वासांसीति** । यथा जीर्णानि कार्यानुपयुक्तानि वासांसि विहाय नवानि कार्योपयोगीनि अपराणि पूर्वविलक्षणानि नरो गृह्णाति, तथा जीर्णानि मत्क्रीडानुपयुक्तानि शरीराणि विहाय नवानि अन्यानि मत्क्रीडार्थं विलक्षणरसोत्पादकानि देही संयाति मदिच्छया प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

**११ नी०भा०दी०**—ननु "ब्राह्मणो यजेत, जातपुत्रः कृष्णकेशोऽग्नीनादधीत" इति आत्मानं वयोवर्णादिविशेषणवन्तमेवाधिकृत्य कर्मविधयः प्रवर्तन्ते, तेन नीलादुत्पलमिव देहादन्य आत्माऽवधारयितुं न शक्यत इत्याशङ्क्याह— वासांसीति । दण्डी प्रैषानन्वाहेति दण्डस्य विशेषणत्वेऽपि न प्रैषानुवक्तृस्वरूपान्तर्गतत्वं, एवं ब्राह्मणत्वादेरपि न स्वर्गकामस्वरूपान्तर्गतत्वमिति वस्त्रदेवदत्तयोरिव जडाजडयोर्देहात्मनोः अत्यन्तविलक्षणत्वमस्तीति वस्त्रनाशेन देवदत्तनाशं मन्वानस्येव तत्र देहनाशादात्मनाशं मन्वानस्यात्यन्तमौढ्यं स्पष्टमिति भावः । स्पष्टार्थश्च श्लोकः ॥ २२ ॥

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥ २३ ॥
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ॥ २४ ॥

[ नित्यसर्वगतस्थाणुः— इति माध्वसम्मतः पाठः ]

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

१ शां. भा.— कस्मात् अविक्रिय एव ? इत्याह— **नैनं छिन्दन्ति** इति । एनं प्रकृतं देहिनं **न छिन्दन्ति शस्त्राणि** निरवयवत्वात् नावयवविभागं कुर्वन्ति । शस्त्राणि अस्यादीनि । तथा **नैनं दहति पावकः**, अग्निरपि न भस्मीकरोति । तथा **न चैनं क्लेदयन्ति आपः**, अपां हि सावयवस्य वस्तुन आर्द्रीभावकरणेन अवयवविश्लेषापादने सामर्थ्यम् । तत्र निरवयवे आत्मनि सम्भवति । तथा स्नेहवत् द्रव्यं स्नेहशोषणेन नाशयति वायुः । एनं तु आत्मानं **न शोषयति मारुतो**ऽपि ॥२३॥

२ आ. शां. व्या.— पृथिव्यादिभूतचतुष्टयप्रयुक्तविक्रियाभाक्त्वात् आत्मनोऽसिद्धं अविक्रियत्वमिति शङ्कते— **कस्मा**दिति । यतो न भूतान्यात्मानं गोचरयितुमर्हन्ति अतो युक्तमाकाशवत् तस्याविक्रियत्वमित्याह— **आहे**त्यादिना ॥ २३ ॥

१ शां. भा.— यत एवं तस्मात्— **अच्छेद्योऽयम**िति । यस्मात् अन्योन्यनाशहेतूनि भूतानि एनमात्मानं नाशयितुं नोत्सहन्ते तस्मान्नित्यः । **नित्य**त्वात् **सर्वगतः** । सर्वगतत्वात् **स्थाणु**रिव स्थिर इत्येतत् । स्थिरत्वाद**चलो**ऽयमात्मा, अतः **सनातन**श्चिरन्तनः, न कारणात् कुतश्चित् निष्पन्नः,अभिनव इत्यर्थः । नैतेषां श्लोकानां पौनरुक्त्यं चोदनीयम्, यत एकेनैव श्लोकेन आत्मनो नित्यत्वमविक्रियत्वं चोक्तं 'न जायते म्रियते वा' [२।२०] इत्यादिना । तत्र यदेवात्मविषयं किञ्चिदुच्यते, तदेतस्मात् श्लोकार्थान्नातिरिच्यते, किञ्चिच्छब्दतः पुनरुक्तं किञ्चिदर्थत इति । दुर्बोधत्वादात्मवस्तुनः पुनः पुनः प्रसङ्गमापाद्य शब्दान्तरेण तदेव वस्तु निरूपयति भगवान् वासुदेवः, कथं नु नाम अव्यक्तं तत्त्वं संसारिणां [ असंसारित्व-] बुद्धिगोचरतामापन्नं सत् संसारनिवृत्तये स्यात् ? इति ॥ २४ ॥

२ आ. शां. व्या.— पृथिव्यादिभूतप्रयुक्तच्छेदनाद्यर्थक्रियाभावे योग्यताभावं कारणमाह— **यत** इति । पूर्वार्धमुत्तरार्धे हेतुत्वेन योजयति— **यस्मा**दिति । नित्यत्वादीनामन्योन्यं हेतुहेतुमद्भावं सूचयति— **नित्यत्वा**दित्यादिना । न च नित्यत्वं परमाणुषु व्यभिचारादसाधकं सर्वगतत्वस्येति वाच्यं, तेषामेवाप्रामाणिकत्वेन व्यभिचारानवतारात् ; न च सर्वगतत्वेऽपि विक्रियाशक्तिमत्त्वमात्मनोऽस्तीति युक्तं, विभुत्वेनाभिमते नभसि तदनुपलम्भात् ; न च विक्रियाशक्तिमत्त्वे स्थैर्यमास्थातुं शक्यं, तथाविधस्य मृदादेरस्थिरत्वदर्शनात् , इत्याशयेनाऽऽह— **स्थिरत्वा**दिति । स्वतो नित्यत्वेऽपि कारणान्नाशसम्भवादुत्पत्तिरपि सम्भावितेति कुतश्चिरन्तनत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **न कारणा**दिति । आत्मनोऽविक्रियत्वस्य 'न जायते म्रियते वा' [२।२०] इत्यादिना साधितत्वात्तस्यैव पुनः पुनरभिधाने पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याह— **नैतेषा**मिति । अनाशङ्कनीयस्य चोद्यस्य प्रसङ्गं दर्शयति— **यत** इति । अतो 'वेदाविनाशिनं' [२।२१]इत्यादौ शङ्क्यते; पौनरुक्त्यमिति शेषः। कथं तत्र पौनरुक्त्याशङ्का समुन्मिषति ? तत्राऽऽह— **तत्रे**ति । 'वेदाविनाशिनं' [२।२१] इत्यादिश्लोकः सप्तम्या परामृश्यते । श्लोकशब्देन 'न जायते म्रियते वा' [२।२०] इत्यादिरुच्यते । नन्विह श्लोके जन्ममरणाद्यभावोऽभिलक्ष्यते,'वेद' इत्यादौ पुनरपक्षयाद्यभावो विवक्ष्यते तत्र कथमर्थातिरेकाभावमादाय पौनरुक्त्यं चोद्यते ? तत्राह— **किञ्चि**दिति । कथं तर्हि पौनरुक्त्यं न चोदनीयमिति मन्यसे ? तत्राऽऽह— **दुर्बोधत्वा**दिति । पुनः पुनर्विधानभेदेन वस्तु निरूपयतो भगवतोऽभिप्रायमाह— **कथं न्वि**ति ॥२४॥

१ शां. भा.— किञ्च– अव्यक्तोऽयमिति । अव्यक्तः सर्वकरणाविषयत्वात् न व्यज्यते इत्यव्यक्तोऽयमात्मा । अत एवाचिन्त्योऽयम् । यद्धि इन्द्रियगोचरं वस्तु तच्चिन्ताविषयत्वमापद्यते । अयं तु आत्माऽनिन्द्रियगोचरत्वादचिन्त्यः । अविकार्योऽयम्, यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विकारि, न तथाऽयं आत्मा । निरवयवत्वाच्चाविक्रियः । न हि निरवयवं किञ्चित् विक्रियात्मकं दृष्टम् । अविक्रियत्वादविकार्योऽयमात्मा उच्यते । तस्मादेवं यथोक्तप्रकारेणैनमात्मानं विदित्वा त्वं नानुशोचितुमर्हसि ‘ हन्ताऽहमेषां, मया एते हन्यन्ते ’ इति ॥ २५ ॥

२ आ. शां. व्या.— त्वम्पदार्थपरिशोधनस्य प्रकृतत्वात्तत्रैव हेत्वन्तरमाह—किञ्चेति । आत्मनो नित्यत्वादिलक्षणस्य तथैव प्रथा किमिति न भवति ? तत्राऽऽह— अव्यक्त इति । मा तर्हि प्रत्यक्षत्वं भूत्, अनुमेयत्वं तु तस्य किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— अत एवेति। तदेव प्रपञ्चयति— यद्धीति। अतीन्द्रियत्वेऽपि सामान्यतो दृष्टविषयत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्य कूटस्थेनाऽऽत्मना व्याप्तिलिङ्गाभावात्, मैवमित्याह— अविकार्य इति । अविकार्यत्वे व्यतिरेकदृष्टान्तमाह— यथेति । किञ्चाऽऽत्मा न विक्रियते, निरवयवद्रव्यत्वात्; घटादिवदिति व्यतिरेक्यनुमानमाह— निरवयवत्वाच्चेति । निरवयवत्वेऽपि विक्रियावत्त्वे का क्षतिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह– न हीति । सावयवस्यैव विक्रियावत्त्वदर्शनाद्विक्रियावत्त्वे निरवयवत्वानुपपत्तिरित्यर्थः । यद्धि सावयवं सक्रियं क्षीरादि, तद्दध्यादिना विकारमापद्यते; न चाऽऽत्मनः श्रुतिप्रमितनिरवयवत्वस्य सावयवत्वं, अतोऽविक्रियत्वान्नायं विकार्यो भवितुमलमिति । फलितमाह— अविक्रियत्वादिति । आत्मयाथात्म्योपदेशं ‘ अशोच्यानन्वशोचस्त्वं ’ [ २।११ ] इत्युपक्रम्य व्याख्यातमुपसंहरति— तस्मादिति। अव्यक्तत्वाचिन्त्यत्वाकार्यत्वनित्यत्वसर्वगतत्वादिरूपो यस्मादात्मा निर्धारितस्तस्मात्तथैव ज्ञातुमुचितस्तज्ज्ञानस्य फलवत्त्वादित्यर्थः । प्रतिषेध्यमनुशोकमेवाभिनयति— हन्ताऽहमिति ॥ २५ ॥

३ रा. भा.— पुनरपि ‘अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्’ [ २।१७ ] इति पूर्वोक्तमविनाशित्वं सुखग्रहणाय व्यञ्जयन् दृढयति— नैनमिति । शस्त्राग्न्यम्बुवायवः छेदनदहनक्लेदनशोषणान्यात्मानं प्रतिकर्तुं न शक्नुवन्ति, सर्वगतत्वादात्मनः सर्वतत्त्वव्यापकस्वभावतया सर्वेभ्यस्तत्त्वेभ्यः सूक्ष्मत्वादस्य तैर्व्याप्त्यनर्हत्वात्, व्याप्यकर्तव्यत्वाच्च छेदनदहनक्लेदनशोषणानाम् । अत आत्मा नित्यः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः स्थिरस्वभावोऽप्रकम्प्यः पुरातनश्च ॥ २३ ॥ २४ ॥

छेदनादियोग्यानि वस्तूनि यैः प्रमाणैर्व्यज्यन्ते, तैरयमात्मा न व्यज्यत इत्यव्यक्तः; अतश्छेद्यादिविसजातीयोऽचिन्त्यश्च सर्ववस्तुविजातीयत्वेन तत्तत्स्वभावयुक्ततया चिन्तयितुमपि नार्हः; अतश्चाविकार्यः विकारानर्हः । तस्मादुक्तलक्षणमेनमात्मानं विदित्वा तत्कृते नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

४ वे. ता. चं.— पूर्वोक्तेन पुनरुक्तिं दार्ढ्यसुखग्रहणरूपप्रयोजनभेदेन परिहरन् ‘ नैनम् ’ इति श्लोकद्वयमवतारयति— पुनरपीति । ‘ नैनम् ’ इत्यादौ सार्धश्लोके वैशद्याय पृथगुक्तं करणासामर्थ्यं विषयायोग्यत्वं च परस्परप्रतियोगितया अन्यत्र इतरदन्तर्भवतीति भाष्ये पृथगनुपात्तम् । ‘ अच्छेद्यः ’ इत्यादौ प्रत्ययोऽर्हार्थः । तेन ‘ नैनं छिन्दन्ति ’ इत्यादिष्वपि तदर्हत्वं शस्त्रादेः प्रतिषिध्यत इति दर्शयति— न शक्नुवन्तीति । सर्वगतपदं पूर्वोक्तहेत्वनुवादतया व्याचष्टे— सर्वगतत्वादात्मन इति । अणोरात्मनः कथं सर्वगतत्वं ? इत्याशङ्क्याह— सर्वतत्त्वेति । नात्र बहुश्रुत्यादिविरुद्धं जीवविभुत्वं सर्वगतशब्देनोच्यते; किन्त्वनुप्रवेशविशेषयोग्यतेति स्वभावशब्दं प्रयुञ्जानस्य भावः । व्यापित्वस्य पूर्वोक्तं हेतुत्वप्रकारं प्रपञ्चयति सर्वेभ्य इति । अत आत्मा नित्य इति— सूक्ष्मत्वेन छेदनाद्ययोग्यत्वादात्मा नाशरहित इत्यर्थः । स्थिरेत्यादि । स्थाणुरचल इति पदद्वयं नित्यत्वप्रपञ्चनरूपम्, नाशायोग्यत्वनाशकाविषयत्वपरं वा, स्वाभाविकौपाधिकाविशदपरिणामराहित्यपरं वेति भावः । पुरातन इति । अत्र नित्यशब्देनानन्तत्वस्योक्तत्वात् सनातनशब्दोऽनादित्वपरतया सङ्कोचनीय इति भावः ॥२३ ॥ २४ ॥

पूर्वोक्तानुमानानामुपलम्भयुक्तिविरोधपरिहारमुखेन सर्वदूषणपरिहारपरं प्रकृतोपसंहारपरं च ‘ अव्यक्तः ’ इति श्लोकं व्याख्याति— छेदनेति । शरीरादीनि यैः प्रमाणैः च्छेदनादियोग्यतया प्रत्याय्यन्ते, तैस्तथाऽसौ न प्रत्याय्यते ‘अहं जानामि ’ इत्यादिरूपेणैव ह्यात्मन उपलम्भः । शाश्वतस्तु नित्यत्वादिविशिष्टरूपेणेति न पूर्वोक्तानुमानानां धर्मिग्राहकविरोध इति भावः । निरूपितश्च मोक्षधर्मे व्यक्ताव्यक्तशब्दः— ‘इन्द्रियैर्गृह्यते यद्यत्तद्व्यक्तमिति स्थितिः । अव्यक्तमिति विज्ञेयं लिङ्गग्राह्यमतीन्द्रियम् ’ [ म. भा. शां. प. ] इति । ननु कुसूलनिहितबीजस्याङ्कुरायोग्यत्वे साध्ये न तावद्व्यक्त्यपेक्षया धर्मिग्राहकविरोधः । तथाप्यन्वयव्यतिरेकविषयभूतबीजत्वजात्याक्रान्ततया सामान्यतो विरोध एव भवति । तद्वदत्रापि दृष्टसजातीयतया विरोधः स्यादित्याशङ्क्याह— अतश्छेद्यादिवि-

**सजातीय** इति । साजात्यग्राहकाभावाद्वैजात्यग्राहकाच्चेति भावः । सहेतुकं सप्रकारं चाचिन्त्यशब्दार्थमाह—**सर्वेति** । एतेन सौगताद्यभिमतानामात्मानित्यत्वसाधनानां सत्त्वादीनां तदनुग्राहकतर्काणां चोपलम्भागमादिविरोधात् मूलशैथिल्यमुक्तं भवति । **अतश्चेति**, पूर्वोक्तप्रमाणानां बाधकाभावादपीत्यर्थः । यद्वा अनुमानान्तरमुच्यते । तथाहि—आत्मा विकारानर्हः, विकारित्वग्राहकप्रमाणशून्यत्वात् ; यथेश्वरस्वरूपम् , इत्यन्वयदृष्टान्तः, यथा घटादिः , इति व्यतिरेकः । यद्वा सामान्येन व्याप्तिः—यद्यादृशाकारग्राहकप्रमाणशून्यं, तत्तादृशाकारं न भवति, यथा 'नीलं न पीताकारम्' इति । अविकार्य इत्येतावति निर्दिष्टे कादाचित्कविकाराभावमात्रेण सिद्धसाधनता स्यादिति तत्परिहारकं प्रत्ययार्थं विवृणोति—**विकारानर्ह** इति । निषेधापेक्षया वेदनस्य पूर्वकालत्वात् क्त्वानिर्देशः; न तु शोकापेक्षया । तेनात्मवेदनस्य शोकाभावहेतुत्वमुक्तं भवति । **अर्हसि**, आत्मवेदिनस्ते शोकयोग्यतैव न स्यादिति भावः ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.— स्वतः प्रायो निमित्तैश्चाविनाशिनोऽपि केनचिन्निमित्तविशेषेण स्यात् करच्छेदादिवत्, इत्यतो विशेषनिमित्तानि निषेधति— नैनमिति ॥ २३ ॥**

६ ज. प्र. दी.—नैमित्तिकनाशस्य प्राङ्निरस्तत्वात्किं नैनमिति श्लोकेनेत्यतस्तन्निवर्त्याशङ्काप्रदर्शनपूर्वकं तात्पर्यमाह—**स्वत** इति । स्वतः कालतः । प्रायो बाहुल्येन, शङ्क्यमाननिमित्तव्यावृत्त्यर्थमेतदव्ययम् । केनचिच्छस्त्रादिना स्याद्विनाश इति शेषः । असम्भावितशङ्कया न पर्यवसानमित्यतो दृष्टान्तमाह—**करच्छेदादि**वदिति । यथा दक्षस्य प्रजापतेः शिरश्छेदो न स्वतो जातः, नापि वीरभद्रस्यायुधेन निमित्तेन ; किन्तु यज्ञपशुभावनाख्येन निमित्तविशेषेण, तथेत्यर्थः । इत्यत एवं शङ्कितत्वात् । विशिष्यन्त इति विशेषाः । विशिष्टनिमित्तानि विनाशस्य ॥ २३ ॥

**५ आ. मा. भा.— वर्तमाननिषेधात्स्यादुत्तरत्रेत्यत आह—अच्छेद्य इति । वर्तमानादर्शनाद्युक्तयोग्यत्वमिति सूचयति वर्तमानापदेशेन । कुतोऽयोग्यता ? नित्यसर्वगतादिविशेषणेश्वरसरूपत्वात् । शाश्वत इत्येकरूपत्वमात्रमुक्तम् । स्थाणुशब्देन नैमित्तिकमप्यन्यथात्वं निवारयति । नित्यत्वं सर्वगतत्वविशेषणम्, अन्यथा पुनरुक्तेः ।**

६ ज. प्र. दी.—तर्ह्यच्छेद्योऽयमित्यादि पुनरुक्तमित्यत आह—**वर्तमाने**ति । लटः प्रयोगेन वर्तमानस्यैव च्छेदादेर्निषेधादिदानीं दृश्यमानत्वेनात्मनः प्राग्विनाशाभावेऽप्युत्तरत्र शस्त्रादिना विनाशः स्यात्, इति शङ्कायां च्छेदादियोग्यतैवात्मनो नास्तीति प्रतिपादनायेदमुदितम् । 'अर्हे कृत्यतृचश्च' [अष्टा. ३।३।१६९] इति कृत्यस्यार्हार्थत्वस्मरणादिति भावः । तर्हि तेनैवालं, किमाद्येन श्लोकेन ? इत्यत आह— **वर्तमाने**ति । 'प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते' [१।२०] इति वचनात्प्रसक्तौ सत्यामपि वर्तमानस्य च्छेदादेरदर्शनाच्छेदाद्ययोग्यत्वमात्मनो युक्तमिति दर्शयति प्रथमश्लोकेन । एवं तर्ह्युत्तरावैयर्थ्यप्रसङ्ग इति चेत्, न ; उपोद्घाताभिप्रायेण भगवतोक्तेऽभिप्रायमजानानस्य शङ्कामनूद्यावतारस्य कृतत्वात् । स्वाभिप्रायेण तूपोद्घातमुक्त्वा साध्यमाहेत्यवतारः कर्तव्यः । 'नित्यः सर्वगतः' इत्यादिकं जीवेऽसम्भावितमित्याशङ्क्य तन्निवर्त्याशङ्काप्रदर्शनपूर्वकं व्याचष्टे—**कुत** इति । वर्तमानच्छेदाद्यदर्शनमात्मनः च्छेदाद्ययोग्यतायां किं निश्चययुक्तिः ? उत सम्भावनायुक्तिः ? । नाद्यः, कदाचिददृष्टस्यापि पश्चाद्दर्शनात् । द्वितीये तु कुतो योग्यतानिश्चयः ? इति शङ्कार्थः । नित्यसर्वगतेति भावप्रधानो निर्देशः । ईश्वरस्य तावच्छेदाद्ययोग्यत्वं सिद्धम्, नित्यसर्वगतत्वादिविशेषणवत्त्वात् । नह्येवम्भूतस्य छेदादिकं सम्भवति, अतस्तत्प्रतिबिम्बस्यापि जीवस्य तदयोग्यत्वमिति भावः । मन्त्रवर्णे [कठो. १।२।१८] "शाश्वतः" इतीश्वरविशेषणमुक्तम् । अत्र स्थाणुरिति तयोर्भेदमाह—**शाश्वत** इति । एकरूपत्वमात्रं सामान्येनान्यथात्वाभावः; तस्य सामान्यप्रकरणत्वात् । 'स्थाणुः' इत्यस्य नैमित्तिकनिषेधप्रकरणत्वात् । अस्यार्थभेदकथनस्योत्तरत्रोपयोगं वक्ष्यामः । नित्य इतीश्वरविशेषणं प्रतिभाति तदन्यथा व्याचष्टे—**नित्यत्व**मिति । भिन्नपदोक्तमपि विशिष्टस्य विशेषणं विशेषणमुपसंक्रामति । सन्निधानाच्च सर्वगतत्वमिति भावः । द्वयं पृथगीश्वरविशेषणं किं न स्यात् ? इत्यत आह— **अन्यथे**ति । 'अजो नित्यः' [२।२०] इति नित्यत्वमीश्वरस्य प्रागुक्तं, अप्रमेयस्येति सर्वगतत्वं च । अतस्ताभ्यां पुनरुक्तेरित्यर्थः । अस्याप्युत्तरत्रोपयोगः ।

**५ आ. मा. भा.— ऐक्योक्तावप्यनुक्तविशेषणोपादानान्नेश्वरैक्ये पुनरुक्तिः । युक्ताश्च बिम्बधर्माः प्रतिबिम्बेऽविरोधे । तत्ता च " रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव " [बृ.उ. २।५।१९ कठो. ५।२।१०] 'आभास एव च' इत्यादिश्रुतिस्मृतिसिद्धा । न चांशत्वविरोधः, तस्यैवांशत्वात् । न चैकरूपतैवांशता । प्रमाणं चोभयविधवचनमेव । न चांशस्य प्रतिबिम्बत्वं कल्प्यम्, गाध्यादिष्वंशबाहुरूप्यदृष्टेरितरत्राहष्टेः ।**

६ ज. प्र. दी.—ननु जीवस्येश्वरप्रतिबिम्बत्वमत्र बहुवारमुक्तम्, अतः पुनरुक्तिरित्यत आह— **ऐक्योक्ता**विति । जीवस्येश्वरैक्यविषये न पुनरुक्तिदोषः । कुतः ? ऐक्यमात्रस्य पुनःपुनरुक्तावपि पूर्वपूर्वानुक्तानां तत्र तत्रोपयुक्तानां ईश्वरविशेषणानां उत्तरत्रोपादानादिति । ऐक्यमत्र गौणं विवक्षितम् । विशेषणभेदाद्विशिष्टभेद इति भावः । ननु एतदपि नास्ति,

'शाश्वतः' [ २ । २० ] इत्युक्तस्यैव स्थाणुशब्देन ग्रहणादित्यादिशङ्कानिरासाय 'शाश्वतः' इत्येकरूपत्वमात्रमित्यादिकः प्राचीनो ग्रन्थः । ननु प्रतिबिम्बत्वं तत्तत्साध्यसिद्धये हेतुत्वेनोक्तम्, न चैकस्यैव हेतोरनेकसाध्यसिद्ध्यर्थं पुनः पुनरुपन्यासे दोषोऽस्ति, तत्कस्य हेतोः ? प्रमेयभेदात्, अतः कथमियं शङ्केति ? उच्यते— एकत्रोक्तमीश्वरप्रतिबिम्बत्वमन्यत्रापि हेतुत्वेन शिष्यैरेव ज्ञायतां, किं स्वयं वचनेनेति शङ्कितुरभिप्रायः, ईश्वरप्रतिबिम्बत्वमात्रस्य तत्तद्विशिष्टशङ्कानिरासासामर्थ्यात्, तत्तदौपयिकविशेषणप्रदर्शनार्थं स्वयमुपादानमिति परिहाराभिप्रायः । नन्वीश्वरस्य नित्यसर्वगतत्वादिविशेषणवत्त्वात् अस्त्वच्छेद्यत्वादिकं, जीवस्य तु कुतः ? तथाविधेश्वरप्रतिबिम्बत्वादिति चेत्, न; 'यो यत्प्रतिबिम्बः स तद्धर्मा' इति नियमाभावादित्यत आह— **युक्ता** इति । बिम्बधर्मा बिम्बसमानधर्माः । यो यत्प्रतिबिम्बः सोऽसति विरोधे तद्धर्मेति व्याप्तिरभिप्रेतेति भावः । स्यादिदं व्याख्यानं यदि जीवस्येश्वरप्रतिबिम्बता स्यात्, सैव कुतः सिद्धेत्यत आह— **तत्त्वे**ति । ननु जीवस्येश्वरप्रतिबिम्बत्वाङ्गीकारे 'अंशो नानाव्यपदेशात्' [ब्र. सू. २।३।४३] 'ममैवांशो जीवलोके' [१५।७] इत्यादिवाक्यसिद्धेन तदंशत्वेन विरोधः स्यात् । प्रतिबिम्बो हि बिम्बादत्यन्ताभिन्न इति केषाञ्चिन्मतं, अत्यन्तभिन्न इत्यपरेषाम् । अंशस्तु तदेकदेशः, तेन भिन्नाभिन्नः, यथा पटांशस्तन्तुः पटेन । ततः पक्षद्वयेऽपि कथं न विरोध इत्यत आह— **न चे**ति । जीवस्येश्वरप्रतिबिम्बत्वाङ्गीकारेऽपि न तदंशत्वविरोधः । कुत इत्यत आह— **तस्ये**ति । प्रतिबिम्बत्वस्यैवांशशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वात् । **अयं भावः**— अत्यन्तभिन्नस्य जीवस्य यदीश्वराधीनतत्सादृश्योपेतत्वं तत्प्रतिबिम्बत्वमुच्यते, अभेदमतस्य निराकरिष्यमाणत्वात् । तदेव तदंशत्वमिति कुतो विरोधः ? इति । नन्वंशत्वं तदेकदेशत्वं, तत्कथमुच्यते प्रतिबिम्बत्वमेवांशत्वं इति ? तत्राह— **न चे**ति । अंशता अंशशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् । न केवलमेकदेशत्वमंशशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्, अपितु प्रतिबिम्बताऽपीति भावः । अस्तु नामानेकार्थत्वमंशशब्दस्य तथापि 'अंशो नाना' [ ब्र. सू. २ । ३ । ४३ ] इत्यादौ प्रतिबिम्बत्वमेवांशत्वमित्यत्र किं प्रमाणं ? तदेकदेशत्वं किं न स्यात् ? इत्यत आह— **प्रमाण**मिति । जीवस्येश्वरप्रतिबिम्बत्वं तदंशत्वं च तावदुच्यते । नच परस्परविरुद्धः शास्त्रार्थो भवितुं युक्तः । तत्रानेकार्थस्यांशशब्दस्य विरुद्धार्थं परित्यज्यार्थान्तरं गृह्यत इत्यर्थापत्तिरेवात्र प्रमाणमिति भावः । स्यादेतत् । तथा प्रतिबिम्बत्वमेव तत्त्वं अंशशब्दस्यापि तदेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति वचनद्वयविरोधशान्त्यर्थं कल्प्यते, तथैकदेशत्वमेव तत्त्वं प्रतिबिम्बशब्दस्यापि तदेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति कुतो न कल्प्यम् ? वचनद्वयविरोधस्यैवमपि शान्तेरित्यत आह— **न चे**ति । अंशस्यांशत्वस्यैकदेशत्वस्य प्रतिबिम्बत्वं प्रतिबिम्बशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वं कुतो न कल्प्यम् ? कुत इत्यत आह— **गाधी**ति । गाध्यादिष्वंशशब्दाभिधेयेषु अंशत्वस्य बाहुरूप्यदृष्टेः । इतरत्र प्रतिबिम्बशब्दाभिधेयेषु सूर्यकादिषु प्रतिबिम्बत्वस्यानेकरूपत्वादृष्टेः । इदमुक्तं भवति— इन्द्रांशो गाधीत्युच्यते । तत्र विशेष एवांशशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं भेदाभेदादेः प्रमाणबाधितत्वात् । 'पटांशस्तन्तुः' इत्यत्रैकदेशत्वं, 'सूर्यांशश्चक्षुः' इत्यत्रात्यन्तभिन्नस्य तदधीनसादृश्यम् । एवमंशशब्दोऽनेकार्थः प्रयोगेषु दृश्यते । तथा चोक्तं— 'द्विरूपावंशकौ तस्य' इत्यादि । नन्वेवं प्रतिबिम्बशब्दस्यानेकं प्रवृत्तिनिमित्तं दृश्यते । तथाच सावकाशस्यांशशब्दस्य निरवकाशेन प्रतिबिम्बशब्देन बाधो युक्तः, न तु वैपरीत्यमिति ।

**५ आ. मा. भा.— स्थाणुत्वेऽपि "तदैक्षत" इत्याद्यविरुद्धमीश्वरस्य, उभयविधवाक्यात्, अचिन्त्यशक्तेश्च । न च माययैकम् 'त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुद्ध्यते' 'न योगित्वादीश्वरत्वात्' 'चित्रं न चैतत् त्वयि कार्यकारणे' इत्याद्यैश्वर्येणैव विरुद्धधर्माविरोधोक्तेः, महातात्पर्याच्च । मोक्षो हि महापुरुषार्थः । तत्रापि मोक्ष एवार्थः । 'अन्तेषु रेमिरे धीरा न ते मध्येषु रेमिरे । अन्तप्राप्तिं सुखं प्राहुर्दुःखमन्तरमेतयोः' [ शां. मो. ध. प. १७४।३४ ] "पुण्यचितो [ जितो ] लोकः क्षीयते" [ छां. उ. ८।१।६ ] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । स च विष्णुप्रसादादेव सिद्ध्यति । 'वासुदेवमनाराध्य को मोक्षं समवाप्नुयात्' । 'तुष्टे तु तत्र किमलभ्यमनन्त ईशे ( आद्ये )' [भाग. ३।६।२५] 'तत्प्रसादादवाप्नोति परां सिद्धिं न संशयः' । 'येषां स एव भगवान्दययेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम् । ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये' [भाग. २।७।४२] 'तस्मिन्प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते' 'ऋते यदस्मिन्भव ईश जीवस्तापत्रयेणोपहता न शर्म' "आत्मँल्लभन्ते" 'ऋते भवत्प्रसादाद्धि कस्य मोक्षो भवेदिह' "तमेवं विद्वान्" [नृ. पू. उ. १।६] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः । स चोत्कर्षज्ञानादेव भवति लोकप्रसिद्धेः ।**

६ ज. प्र. दी.— नन्वीश्वरस्य स्थाणुत्वं न युज्यते "तदैक्षत" [ छां. उ. ६।२।३ ] "सोऽकामयत" [बृ. उ. १।२।४-७] इत्यादिकर्तृत्वविरोधादित्यत आह— **स्थाणुत्वेऽपी**ति । कुतः ? इति चेत्, किं द्वयोः परस्परपरिहारेण वृत्तिदर्शनाद्विरोधश्चोद्यते ? उत सहादर्शनात् ? । नाद्यः, कर्तृत्वरहितस्य कस्याप्यदर्शनात् । न द्वितीय इत्याह— **उभये**ति । अन्यत्र सहादृष्टं स्थाणुत्वं कर्तृत्वं च कुतो भगवतीत्यत आह— **अचिन्त्ये**ति । मायावादी तु कर्तृत्व

स्थाणुत्वयोरेकं कर्तृत्वं मायामयं, स्थाणुत्वं तु पारमार्थिकम्, काल्पनिकपारमार्थिकयोश्च गगने नीलत्वनीरूपत्वयोरिव न विरोध इति विरोधसमाधानं मन्यते, तदसदित्याह— **न चे**ति। कुत इत्यत आह— **त्वयी**ति। **ब्रह्मणि ईश्वर** इति सम्पूर्णैश्वर्ये न योगित्वात्; किन्तु ईश्वरत्वात्। **कार्यकारणे** सकलकार्योत्पादनसामर्थ्योपेते। **इत्यादी**ति क्रियाविशेषणम्। विरुद्धानामन्यत्र सहानवस्थितानां धर्माणां भगवत्यविरोधस्य सहावस्थानस्योक्तेः। तथा च बादरायणीयं मतमवलम्बमानस्यैवं विरोधसमाधानं असाम्प्रदायिकमिति भावः। इतश्च तदयुक्तमित्याह— **महातात्पर्याच्चे**ति। सकलवेदानां परमेश्वरगुणोत्कर्षे महातात्पर्यम्। तत्रेक्षितृत्वादीनां मिथ्यात्वकल्पने तद्विरोधः स्यादित्यर्थः। समस्तवेदानां भगवद्गुणोत्कर्षे तात्पर्यमित्येतदेव कुत इति चेत्? उच्यते— यस्य हि शास्त्रस्य यत्प्रयोजनं तत् यस्य ज्ञानाद्भवति, स तस्य विषय इति नियमः। अन्यथा विषयप्रयोजनयोः सम्बन्धो न स्यात्। तथा च तत्र प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्न भवेत्। वेदस्य च मोक्षः प्रयोजनम्। स च गुणोत्कर्षज्ञानादेव भवतीति तत्रैव तस्य महातात्पर्यं युक्तमिति प्रतिपादयिष्यन् सर्ववेदानां मोक्षः प्रयोजनमित्येवासिद्धं, न स्वर्गादेः फलान्तरमिति कैश्चिदङ्गीकृतत्वादित्यतस्तत्तावत्साधयति— **मोक्ष** इति। वेदो हि महच्छास्त्रं 'वेदशास्त्रात्परं नास्ति' इति वचनात्। तस्य च महापुरुषार्थेनैव प्रयोजनेन भवितुं युक्तम्। मोक्षश्च महापुरुषार्थः। अतः स एव तस्य प्रयोजनमिति भावः। मोक्षस्य महापुरुषार्थत्वं कुतः? इत्यत आह— **तत्रापी**ति। पुरुषार्थेष्वपि अत्र निर्धारणेन महत्त्वं गम्यते। अन्तेषु धर्ममोक्षेषु मध्येषु अर्थकामेषु अन्तयोरन्तरं मध्यम्। नैतावता धर्मो मोक्षसमः, क्षयिफलत्वादित्याह— **पुण्येऽ**ति। चितः आप्तः। अस्त्वेव ततः किं? इत्यत आह— **स चे**ति। मोक्षस्य भगवत्प्रसादसाध्यत्वं अन्यसाध्यत्वाभावश्चेति द्वे एते प्रमेये। तत्र यथायोगं वाक्यान्येतानि ज्ञातव्यानि। यदि निर्व्यलीकं छद्मना विना सर्वात्मना सर्वेण प्रकारेण आश्रितपदो भगवान्येषां दययेद्दयां कुर्यात्, तर्हि येषां श्वश्रृगालभक्ष्ये देहे 'ममाहं' इति धीर्न भवति ते देवमायां देवस्य महिमानं विदन्ति अतितरन्ति च संसारमित्यर्थः। ऋते सत्ये। यद्यस्मात्। ईशेति सम्बुद्धिः। अतस्तवाङ्घ्रिच्छायां आश्रयेमेति सम्बन्धः। ज्ञानं प्रसादसाधनमित्यनुपदं वक्ष्यते। अतः 'तमेवं' इत्याद्युदाहरणम्; ततोऽपि किं? इत्यत आह— **स चे**ति। विष्णुप्रसादश्च लोके सत्पुरुषप्रसादो गुणोत्कर्षज्ञानसाध्यः प्रसिद्धः। तद्दृष्टान्तेनानुमानादित्यर्थः।

**८ आ. मा. भा.**— लोकप्रसिद्धमविरुद्धमत्राप्यङ्गीकार्यम्। अहल्याजारत्वाद्यपि दोषकृतोऽपि ते न बहुतरो लेप आसीदित्युत्कर्षमेव वक्ति। "बहुनरकफलो ह्यसौ"। "तस्य (मे तत्र) न लोम च (ना-) मीयते" [कौ.उ. ३।१] इति श्रुत्यन्तराच्च। 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' [१५।१९] इति तदुक्तेश्च। 'सत्यं सत्यं पुनः सत्यं शपथैश्चापि कोटिभिः। विष्णुमाहात्म्यलेशस्य विभक्तस्य च कोटिधा॥ पुनश्चानन्तधा तस्य पुनश्चापि ह्यनन्तधा। नैकांशसममाहात्म्याः श्रीशेषब्रह्मशङ्कराः।' इति नारदीये। अन्योत्कर्षे ऐक्यं च 'तथैव सर्वशास्त्रेषु महाभारतमुत्तमम्। को ह्यन्यः पुण्डरीकाक्षान्महाभारतकृद्भवेत्' [वि. पु. ३।४।५] इत्यादिग्रन्थान्तरसिद्धोत्कर्षमहाभारतविरुद्धम्। तत्र हि 'नास्ति नारायणसमं न भूतं न भविष्यति। एतेन सत्यवाक्येन सर्वार्थान्साधयाम्यहम्' 'यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रश्च क्रोधसम्भवः। न त्वत्समोऽस्ति' इत्यादिषु साधारणप्रश्नावसर एव महान्तमुत्कर्षं विष्णोर्वक्ति। अन्यत्र यत्किञ्चिदुक्तावप्यसाधारण एवावसरे। तद्वदग्न्यादेरपि वेदादावस्ति। "त्वमग्न इन्द्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरुरुगायो नमस्यः" [ऋक्सं. २।५।१७।३] "विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः" [ऋक्सं. ८।४।२।१] इत्यादिषु तद्ग्रन्थविरोधाच्च।

**९ ज. प्र. दी.**— नन्वीश्वरस्यानुमानाविषयत्वात्कथं तत्र लोकप्रसिद्धमङ्गीकार्यम्? अन्यथाऽज्ञानादिकमङ्गीकार्यं स्यादिति, अत आह— **लोके**ति। अन्यथा मीमांसारम्भानुपपत्तिरिति भावः। नन्विन्द्रप्रसादकामोऽहल्यायै जागर्ति तन्निन्दामेव करोति। ततो भग्नव्याप्तिकमिदमनुमानमित्यत आह— **अहल्ये**ति। अहल्याजारत्वादिप्रतिपादकं वाक्यमप्युत्कर्षमेव वक्ति। कथं दोषकृतोऽपि ते यस्तत्फलं बहुतरो लेपः स नासीदित्यस्यार्थस्य अनेन व्यञ्जनादित्यर्थः। कुत एतत्? अत्यन्तालौकिककल्पनादेवं कल्पनस्य ज्यायस्त्वात्; तत्फलं बहुतरो लेप इत्येतत्कुतः? इत्यत आह— **बह्वि**ति। असौ परनारीधर्षणदोषः। हीति सकलधर्मशास्त्रप्रसिद्धिं द्योतयति। स लेपस्तस्य नासीदित्येतत्कुतः? इत्यत आह— **तस्ये**ति। अहल्याधर्षणेन तस्येन्द्रस्य लोमापि न क्षीयते इत्यर्थः। भगवत्प्रसादस्तद्गुणोत्कर्षज्ञानसाध्य इत्येतन्न केवलमनुमानात्सिद्धं, किं तर्हि? तद्वचनाच्चेत्याह— **य** इति। अत्र 'स सर्ववित्' [१५।१९] इत्यादिस्तुत्या प्रसादोऽवगम्यते। तदेवं भगवद्गुणोत्कर्षे महातात्पर्यं सर्वागमानामिति प्रमितम्। ननु ब्रह्मरुद्रादीनां सर्वोत्कृष्टत्वप्रसिद्धेर्विष्णोः सर्वोत्कर्ष एव नास्ति, कुतस्तत्र सर्वागमानां महातात्पर्यं? इति चेत्, न; तत्प्रसिद्धेर्भ्रान्तित्वात्। तत्कुत इत्यत आह— **सत्यमि**ति। सत्यं वक्ष्यमाणम्। तस्य लेशस्येति

सर्वत्र सम्बध्यते । ननु पुराणविरोधाल्लौकिकी प्रसिद्धिरस्तु भ्रान्तिः, पुराणेष्वेवान्येषां सर्वोत्कर्षो भगवदैक्यं च उच्यते तत्कथम् ? नहि पुराणस्य पुराणं बाधकम्, साम्यादित्यत आह— अन्येति । अन्योत्कर्ष ऐक्यं च पुराणेषु प्रतीतमपि महाभारतविरुद्धम्, अतो न ग्राह्यमित्यर्थः । अत्रैक्यं प्रसङ्गादुक्तम् । महाभारतस्य पुराणबाधकत्वं कुत इत्यत उक्तं तथैवेति । इत्यादिना ग्रन्थान्तरेण सिद्धः प्रमित उत्कर्षः सर्वशास्त्रोत्तमत्वं यस्य तत्तथोक्तम् । कथं महाभारतविरुद्धत्वमित्यत आह— तत्र हीति । तत्र महाभारते इत्यादिषु वाक्येषु वक्ति भगवान्व्यासः इतोऽपि महाभारतस्य पुराणबोधकत्वं युक्तमित्युक्तं— साधारणेति । 'कः सर्वोत्कृष्टः ?' इत्यादिसाधारणप्रश्नरूपेऽवसरे विष्णुप्रशंसामनुपक्रम्य स्वरूपकथनावसर इति यावत् । पुराणेऽप्येवमेवान्योत्कर्षायुक्तौ साम्यमेवेत्यत आह— अन्यत्रेति । अन्यत्र पुराणे यत्किञ्चिदुक्तावप्यन्योत्कर्षावुक्तावप्यसाधारण एवावसरे तत्स्तुतिप्रसङ्गे तदुक्तमिति शेषः । असाधारणावसरोक्तमपि रुद्रादेरुत्कृष्टत्वादि कुतो दुर्बलं ? इत्यत आह— तद्धीति । यत्स्तुतिप्रस्तावोक्तं सर्वोत्कृष्टत्वं वेदादावन्यादेरप्यस्ति, तस्यापि ग्राह्यत्वं स्यादित्यर्थः । इतश्च न पुराणोक्तं रुद्रादेरुत्कृष्टत्वं ग्राह्यमित्याह— तद्ग्रन्थेति । तद्ग्रन्थः शैवपुराणम् ।

५ आ. मा. भा.—तथाहि स्कान्दे शैवे—'यदन्तरं व्याघ्रहरीन्द्रयोर्वने यदन्तरं मेरुगिरीन्द्रविन्ध्ययोः । यदन्तरं सूर्यसुरेड्यबिम्बयोस्तदन्तरं रुद्रमहेन्द्रयोरपि ॥ यदन्तरं सिंहगजेन्द्रयोर्वने यदन्तरं सूर्यशशाङ्कयोर्दिवि । यदन्तरं जाह्नविसूर्यकन्ययोस्तदन्तरं ब्रह्मगिरीशयोरपि ॥ यदन्तरं प्रलयजवारिविप्रुषोर्यदन्तरं स्तम्बहिरण्यगर्भयोः । स्फुलिङ्गसंवर्त्तकयोर्यदन्तरं तदन्तरं विष्णुहिरण्यगर्भयोः ॥ अनन्तत्वान्महाविष्णोस्तदन्तरमनन्तकम् । माहात्म्यसूचनार्थाय ह्युदाहरणमीरितम् ॥ तत्समो ह्यधिको वापि नास्ति कश्चित्कदाचन । एतेन सत्यवाक्येन तमेव प्रविशाम्यहम्' इत्याह । तत्रैव शिवं प्रति मार्कण्डेयवचनम्— 'संसारार्णवनिर्मग्न इदानीं मुक्तिमेष्यसि' इत्यादि । पाद्मे शैवे मार्कण्डेयकथाप्रबन्धे शिवान्निषिध्य विष्णोरेव मुक्तिमाह—'अहं भोगप्रदो वत्स मोक्षदस्तु जनार्दनः' इत्यादि । समग्राह्यविरोधाच्च । वेदश्चेतिहासाद्यविरोधेन योज्यः, 'यदि विद्यात्' इति वचनात् । अनिर्णयाच्चेन्द्रादिशङ्कयाऽन्यथा तत्रापीष्टसिद्धिः, नामवैशेष्यात् । अतो भगवदुत्कर्ष एव सर्वागमानां महातात्पर्यम् । तथापि स्वतः प्रामाण्यात्सन्नेवोच्यते, अविरोधात् ।

६ ज. प्र. टी.— तत्कथमित्यत आह— तथा हीति । तद्ग्रन्थेत्युक्तप्रदर्शनाय शैव इत्युक्तम् । 'ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्' [ अष्टा. ६।३।६३ ] इति जाह्नवीति ह्रस्वः । तत्रैव स्कान्द एव । शिवान्मुक्तिं निषिध्य । इतश्च न पुराणोक्तं शिवादेरुत्कृष्टत्वे ग्राह्यमित्याह— समेति । समं शैववैष्णवपक्षयोः, 'नाहं न च शिवोऽन्ये च' इत्यादितद्वचनम् । अस्तु लौकिकीप्रसिद्धिर्भ्रान्तिः, पुराणं च विप्रलम्भमूलं व्यामोहनार्थम्, तथापि 'विश्वाधिको रुद्रः' इत्यादिवेदविरोध इत्यत आह— वेदश्चेति । सङ्कुचितार्थो व्याख्यातव्यः कुत इत्यत आह— यदीति । इतिहासाद्यननुरुध्य यथाश्रुतवेदव्याख्यानेऽनिष्टमाह— अनिर्णयाच्चेति । न केवलं विश्वाधिक इत्यादिवेदो विष्णोः सर्वोत्कर्षस्याविरोधी, किन्तु प्रत्युत तत्र वेदेऽसमदिष्टस्य विष्णोः सर्वोत्कर्षस्य सिद्धिरपीत्याह— तत्रापीति । कुत इत्यत आह— नामेति । विष्णोर्नामविवैशेष्याद्विशिष्टत्वाद्रुद्रादिसर्वनामवत्त्वादित्यर्थः । 'महातात्पर्यञ्च' इत्यादिनोक्तमर्थमुपसंहरति— अत इति । अप्रामाणिकत्वात् प्रमाणविरुद्धत्वाच्चेत्यर्थः । अस्त्वेवं, तथापि ईक्षितृत्वादेर्न मायामयत्वे तद्विरोधः । गुणोत्कर्षस्य सत्त्वे हि स स्यात् । नच वेदतात्पर्यविषयत्वमात्रेण सत्यता; मोक्षापेक्षयेश्वरं प्रसादयितुमुक्तस्य राजाद्युत्कर्षस्येवासत्त्वसम्भवात् । संवादाभावेन सत्यत्वनिश्चयायोगादित्यत आह— तथापीति । फलापेक्षया प्रसादयितुं प्रतिपादितत्वेऽपि स्वतः प्रामाण्यात् संवादमनपेक्ष्य ज्ञानग्राहकेणैव प्रामाण्यस्य निश्चितत्वात् । नहि प्रामाण्यनिश्चये विषयासत्त्वशङ्का सम्भवति । एवं सति बौद्धाद्यागमविषयस्यापि सत्त्वं स्यादिति चेत्, न; प्रसक्तस्यापि तत्प्रामाण्यग्रहणस्य बलवद्विरोधेनापोदितत्वात् । नच तथाप्रकृतेऽपीत्याह— अविरोधादिति ।

५ आ. मा. भा.— नच प्रमाणसिद्धस्य अन्यत्रादृष्ट्यापह्नवो युक्तः, धर्मवैचित्र्यादर्थानाम् । स्वतः प्रामाण्यानङ्गीकारे मानोक्तादावप्यदोषत्वं च साधयेदित्यतिप्रसङ्गः । अनन्यापेक्षया च तत्परत्वं सिद्धमागमानाम् । 'नारायणपरा वेदाः' [भाग. २।५।१५] "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" [ कठो. १।२।१५ ] 'वासुदेवपरा वेदाः' [ भाग. १।२।२८ ] इति । न चैतद्विरुद्धम्, ईश्वरनियमात् । अनादौ च तत्सिद्धम् 'द्रव्यं कर्म च कालश्च' [भाग. २।१०।१२] इत्यादौ । प्रयोजकत्वं तु पूर्वोक्तन्यायेन । अतः सिद्धमेतत् । तच्चानन्यापेक्षाचिन्त्यशक्तित्वादेव युक्तम् । अतो न मायामयमेकम् ।

६ ज. प्र. दी.—नन्वन्यत्र पुरुषे सर्वोत्कर्षस्यादर्शनात्तद्दृष्टान्तेनेश्वरेऽपि तदभावस्य साधयितुं शक्यत्वात् अनुमानविरोधोऽस्तीत्यत आह—**नचे**ति। कालातीतमनुमानमिति भावः। प्रमाणविरुद्धस्याप्यनुमानत्वेऽतिप्रसङ्गं सूचयति—**धर्मे**ति। धर्मैर्वैचित्र्यं धर्मवैचित्र्यम्। एवमनुमानेऽर्थानां धर्मवैचित्र्यं न स्यादिति भावः। यद्वाऽनेन ग्रन्थेनासम्भावनाविरोधं परिहर्तुं सम्भावनां दर्शयति। भवेदेवं, यदि स्वत एव प्रामाण्यग्रहः स्यात्, तदनङ्गीकारे किमुत्तरमित्यत आह—**स्वत** इति। संवादाधीनः प्रामाण्यग्रह इत्यङ्गीकारे तु प्रामाण्यनिश्चयाय संवादकमानोक्तौ तस्याप्यदोषत्वं प्रामाण्यमन्यसंवादेन साधयेदित्यनवस्थालक्षणातिप्रसङ्ग इत्यर्थः। इतोऽपि न वेदतात्पर्यगोचरस्य भगवद्गुणोत्कर्षस्यासत्त्वं शङ्कनीयमित्याह—**अनन्ये**ति। प्रयोजनापेक्षया चेत्यर्थः। तर्हि तत्परत्वमेव न सिद्ध्येत्। प्रयोजनपर्यालोचनया हि तत्प्राक्साधितमित्यत आह—**सिद्ध**मिति। कथमित्यत आह—**नारायणे**ति। प्रयोजनापेक्षया भगवद्गुणोत्कर्षपरत्वपक्षे प्रयोजनेन तत्साधनं कृतम्; प्रयोजनानपेक्षापक्षे त्वागमैरेव तत्सिद्धम्। पक्षद्वयं च 'सर्वे वेदास्तु देवार्थाः' इत्यादिवक्ष्यमाणप्रमाणसिद्धम्। एकस्यैव वाक्यस्य प्रयोजनसापेक्षत्वमनपेक्षत्वं च विरुद्धमित्यत आह—**नचे**ति। प्रतिपत्तृभेदादिति भावः। ननु जडस्य वेदस्यैतान्प्रति एवं प्रतिपादयिष्याम्येतान्प्रत्येवमिति कथं चेतनवत्प्रवृत्तिरित्यत आह—**ईश्व**रेति। अनादिर्वेद इत्युक्तम्, तत्र कथमीश्वरस्य नियमनमित्यत आह—**अनादौ** **चे**ति। अनादिपदार्थविषये नियामकत्वमन्यत्राहृष्टं कथमीश्वरस्येत्यत आह—**प्रयोजकत्वं त्वि**ति। अनादेर्नियोजकत्वमीश्वरस्याचिन्त्यशक्त्या युक्तम्। अनन्यापेक्षया चेत्यादिनोक्तमुपसंहरति—**अत** इति, तथा च पक्षद्वयेऽपि महातात्पर्यविरोधान्नेश्वरस्येक्षितृत्वादिकं मायामयमिति भावः। अप्रामाणिकं च तन्मायामयत्वम्। तथा हि किं स्थाणुत्वे ईक्षितृत्वान्यथानुपपत्त्यैतत्कल्प्यते? उत प्रमाणान्तरात्?। नाद्यः, अन्यथैवोपपत्तेरुक्तत्वादित्याह—**तच्चे**ति। स्थाणोरपीक्षितृत्वम्, अनन्यापेक्षा स्वतन्त्रा। न द्वितीयः, तददर्शनादिति भावेनोपसंहरति—**अत** इति।

**५ आ. मा. भा.—अचलत्वं त्वप्रहर्षमनानन्दमदुःखमसुखमप्रज्ञमसद्वेत्यादिवत्। क्रियादृष्टेः 'तपो मे हृदयं साक्षात् [ ब्रह्मन् ] तनुर्विद्या क्रियाकृतिः' [ भाग. ६।४।४६ ] इत्याद्युक्तम्। अतश्च न मायामयं सर्वम्, ऐश्वर्यादिवाचिभगशब्देनैव सम्बोधनाच्च। "तं त्वा भग" [ ऋक्सं. ५।४।८।५ ] इत्यादौ स्वरूपत्वान्न मायामयत्वं युक्तम्। 'विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः' [ भाग. ३।९।२४ ] 'मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतोऽनन्तविग्रहे' [ भाग. ६।४।४८ ] "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" [ श्वे. उ. ६।८ ] इत्यादिवचनात् ॥ २४ ॥**

६ ज. प्र. दी.—प्रकृतमनुसरन् 'अचलः' इत्येतत्पदं यदन्यैः परिस्पन्दरहित इति व्याख्यातम्, तदसदिति भावेनाह—**अचलत्व**मिति। इत्यादिवद्व्याख्येयमिति शेषः। सत्यज्ञानानन्दस्वरूपं ब्रह्म अभ्युपगच्छता यथैतानि वाक्यानि व्याख्यायन्ते लौकिकसत्तादिरहितमिति तथाचल इत्येतदपि लौकिकक्रियाप्रतिषेधपरं व्याख्येयम्। सर्वथा परिस्पन्दाभावार्थत्वेऽप्रहर्षमित्यादेरपि सर्वथाऽनानन्दत्वादिकमर्थः स्यात्। अविशेषादिति भावः। ननु विषमोऽयमुपन्यासः "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [ बृ. उ. ३।९।२८ ] "सत्यं ज्ञानं" [ तै. उ. २।१ ] इत्यादिभिरानन्दरूपत्वादेः प्रमितत्वेन तथाव्याख्यानोपपत्तेरिति चेत्, समं प्रकृतेऽपीत्याह—**क्रिये**ति। कुतः क्रियादृष्टिः? इत्यत आह—**तप** इति। तप आलोचनम्। "विज्ञानमानन्दं" इत्यादीनि निरवकाशानि क्रियावाक्यानि सावकाशानि, सर्वस्य ब्रह्मधर्मस्य मायामयत्वात्। अतः पुनर्वैषम्यमित्यत आह—**अतश्चे**ति। अतएव महातात्पर्यविरोधादेव। इतश्च नेश्वरधर्माणां मायामयत्वमित्याह—**ऐश्वर्यादी**ति। सम्बोधनादीश्वरस्य अर्थआयजन्तोऽयं शब्द इत्येवकारेण व्यवच्छिनत्ति। नियामकाभावेनाश्रुतप्रत्ययकल्पनायोगात्। एवं सम्बोधने तत्स्वरूपत्वमेवैश्वर्यादीनां स्यात्, न त्वमायामयत्वमित्यत आह—**स्वरूपत्वा**दिति। अनन्तत्वस्वाभाविकत्वादिवचनाच्च नेश्वरशक्त्यादीनां मायामयत्वम्। मायामयस्यानन्तत्वाद्यनुपपत्तेरित्याह—**विज्ञाने**ति ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.—अत एवाव्यक्तादिरूपः ॥ २५ ॥**

६ ज. प्र. दी.—ननु ज्ञानिभिर्भगवान् दृश्यते चिन्त्यते च तत्कथमुच्यतेऽव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमिति? तत्राऽऽह—**अतए**वेति। अचिन्त्यशक्तित्वादेव। यथोक्तं 'अतोऽनन्ते न तथाहि लिङ्गम्' इति ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.—कथं पूर्वं न विक्रियत इत्युक्तमत आह—नैनं छिन्दन्तीति। एनं प्रकृतं देहिनं न च्छिन्दन्ति निरवयवत्वान्नावयवविभागं कुर्वन्ति शस्त्राणि वास्यादीनि। तथा नैनं दहति पावकः, अग्निरपि न भस्मीकरोति। तथा च नैनं क्लेदयन्त्यापः, अपां हि सावयववस्तुन्यार्द्रभावकरणेनावयवविश्लेषणापादने सामर्थ्यं, न निरवयव आत्मनि सम्भवति। तथा स्नेहद्रव्यं स्नेहशोषणेन शोषयति वायुः, एवं चाऽऽत्मानमस्नेहवन्तं न शोषयति मारुतोऽपि ॥ २३ ॥**

यत एवं तस्मात्—अच्छेद्य इत्यादि । यस्मादन्यनाशहेतुभूतान्यात्मानं नाशयितुं नोत्सहन्ते तस्मान्नित्योऽयं नित्यत्वात्, सर्वगतः सर्वगतत्वात्, स्थाणुरिव स्थितः स्थितत्वात्, अचलोऽयमात्माऽतः सनातनश्चिरन्तनः। न कारणात्कुतश्चिन्निष्पन्नोऽभिनव इत्यर्थः। कथं नु नाम संसारिणां बुद्धिगोचरतामापन्नः संसारनिवृत्तये स्यात्? इति पुनः पुनरुच्यते ॥ २४ ॥

किञ्च—अव्यक्तोऽयमिति। सर्वेन्द्रियाविषयत्वान्न व्यज्यत इत्यव्यक्तः। अव्यक्तोऽयमात्माऽत एवाचिन्त्योऽयम्। य इन्द्रियगोचरः स विषयत्वमापद्यते। अयं त्वात्मा निरिन्द्रियगोचरत्वात् अचिन्त्यः। अविकार्योऽयम्—यथा क्षीरं दध्यातञ्चनादिना विक्रियते, न तथाऽऽत्मा। किन्तु निरवयवत्वादविक्रियः। न हि निरवयवं विक्रियात्मकं च वस्तु दृष्टम्, अतोऽविक्रियत्वादविकार्योऽयमात्मोच्यते। तस्मादेवं यथोक्तप्रकारमेनमात्मानं विदित्वा नानुशोचितुमर्हसि 'हन्ताऽहमेषां मयेमे हन्यन्ते' इति ॥ २५ ॥

८ वें. ब्र. गि.—ननु यदि जीर्णनूतनवस्त्रन्यायेन देहाद्देहान्तरमात्मा गृह्णाति, तदा वस्त्रान्तस्स्थितस्य देहस्य वस्त्रच्छेददाहादिनेव देहान्तस्स्थितस्यात्मनोऽपि देहच्छेददाहादिना नाशप्राप्तेरात्मनाशनिमित्त एव शोको जात इति घट्टकुटीप्रभातन्यायापात इत्याशङ्क्य 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' [ २।२० ] 'कथं स पुरुषः पार्थ ... हन्ति' [ २।२१ ] इति पूर्वश्लोकोक्तमात्महननाभावमुपपादयन्नेव परिहरति नैनमित्यादिभिस्त्रिभिः—एनमात्मानं शस्त्राणि खड्गादीनि न च्छिन्दन्ति न द्विधा कुर्वन्ति, पावकोऽप्येनं न दहति न भस्मीकरोति, आपश्चैनं न क्लेदयन्ति आर्द्रतापादनेन मृदूकृत्य शिथिलं न कुर्वन्ति, मारुतश्चैनं न शोषयति न नीरसं करोति ॥ २३ ॥

अत्र हेतुमाह—चो हेतौ । यस्मादयमात्मा अच्छेद्यः छेदनायोग्यः तस्मान्नैनं छिन्दन्ति, तदयोग्यस्य तदसम्भवात्। एवमदाह्य इत्यादिश्वपि 'नैनं दहति' इत्यादौ क्रमेण हेतुर्योज्यः। एवकारस्य च प्रत्येकमच्छेद्यादिभिः सम्बन्धः । अच्छेद्यत्वादौ हेतुरुत्तरार्धेनोच्यते—**नित्य** इति। अत्र नित्यत्वं सर्वदैकरूपत्वं विवक्षितम्, न त्वविनाशित्वम्; तस्यैव परमसाध्यत्वेन हेतोः साध्याविशेषात्। यस्मादयं सर्वदैकरूपः तस्मादच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्यश्च; लोके च्छेद्यदाह्यादिवस्तूनां सर्वदैकरूपत्वाभावात् । एवं सर्वगतत्वमप्यच्छेद्यत्वादौ हेतुः- आकाशादेश्छेद्यत्वाद्यदर्शनात्। स्थाणुत्वमविकारित्वम्। तदप्यच्छेद्यत्वादौ हेतुः, लोके च्छेद्यादीनां विकारित्वात्। एवं क्रियाशून्यत्वरूपमचलत्वमपि हेतुः, छेद्यादीनां क्रियावत्त्वात्। तत्र पूर्वावस्थात्यागेनावस्थान्तरापत्तिर्विकारः, अवस्थैक्येऽपि चलनमात्रं क्रियेति भेदः। सनातनत्वमनादित्वम्। तदपि सादेरेव लोके च्छेदनदहनादिदर्शनादच्छेद्यत्वादौ हेतुः।

अव्यक्तत्वं चक्षुराद्यगोचरत्वम्। एतदप्यच्छेद्यत्वादौ हेतुः, छेद्यत्वादीनां चक्षुरादिभिर्गृह्यमाणस्यैव लोके दृष्टत्वात्। अचिन्त्यत्वं मनसोऽप्यविषयत्वम्। तदप्यच्छेद्यत्वादौ हेतुः; श्रुत्येकगम्यात्मनि तदनुपजीवनेन मनसः प्रवृत्त्यसिद्ध्या तेन तत्र च्छेद्यत्वादिग्रहासम्भवात्, श्रुत्युपजीवनेन प्रवर्तमानस्य तस्य "ज्ञान-(ध्यान) प्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" [ मुं. उ. ३।१।८ ] इत्यादिना निर्विकारस्वरूपेणैवात्मग्राहित्वात् । अविकार्यत्वं निरवयवत्वम्; विकर्तुं योग्या विकार्या अवयवाः, ते न विद्यन्ते यस्येति व्युत्पत्तेः। एतदप्यच्छेद्यत्वादौ हेतुः, सावयवस्यैव लोके च्छेद्यत्वादिदर्शनात्। इत्थं नित्यत्वादयोऽष्टावच्छेद्यत्वादिषु हेतवः। एतेषामसिद्धिशङ्कां वारयितुं उच्यते इत्युक्तम्। श्रुतिभिरिति शेषः। "कूटस्थमचलं ध्रुवम्" [ १२।३ ] "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" "निर्विकारोऽक्षरः शुद्धः" "निष्कलं निष्क्रियं शान्तम्" [ श्वे. उ. ६।१९ ] "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" [ ऐ. उ. १।१ ] "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः" [ कठो. २।४।१ ] अप्राप्य मनसा सह" [ तै. उ. २।४।१ ] "निष्कलम्" इत्यादिश्रुतिभिः क्रमेण नित्यसर्वगतादिस्वरूप आत्मोच्यत इत्यर्थः। अत्र नित्यत्वाद्यष्टहेतुषु एकेनान्यस्यार्थात्सिद्धावपि वह्न्यनुमाने धूमवत्त्ववह्निसामग्र्यादेरिव स्वरूपभेदात्पृथग्घेतुत्वोपन्यासः।

उपसंहरति—**तस्मा**दिति । तस्मात् नित्यत्वादिहेतोः एवमच्छेद्यत्वादिप्रकारेण एनमात्मानं विदित्वा वस्त्रच्छेददाहादिना तदन्तर्वर्तिदेहस्येव देहच्छेददाहादिना तदन्तर्वर्त्यात्मनो विनाश इति शङ्कां निरस्य तन्निमित्तं शोकं मा कुर्वित्यर्थः ।

यत्त्वत्र **माध्वव्याख्यानम्**—"सर्वगतस्थश्चासावणुश्चेति विग्रहः। सर्वगते विष्णौ तिष्ठतीति सर्वगतस्थः, विष्णवधीन इत्यर्थः। तदधीनत्वात्कदापि न चलतीत्यचलः। नादेन शब्देन सह वर्तत इति सनादनः, स एव सनातनः, विधिनिषेधशास्त्रबद्ध इत्यर्थः" इति, तत्तुच्छम्; विष्णवधीनत्वसमानाधिकरणस्याणुत्वस्य त्वदुक्ताचलत्वसनातनत्वयोर्वा पूर्वार्धोक्तमच्छेद्यत्वादिकं प्रत्यहेतुत्वेन पूर्वोत्तरार्धयोरसम्बद्धप्रलापत्वापातात्। विष्णवधीनत्वलभ्यस्य च जीवस्वातन्त्र्यस्य 'नैनं छिन्दन्ति' इत्युपक्रम्य 'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' इत्यच्छेद्यत्वादिहेतुकतयोपसंह्रियमाणे शोकनिषेधेऽनुपयोगात्। 'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्' [ २।१७ ] इति

जीवविभुत्वावेदकपूर्ववचनविरोधाच्च । तद्वचनं ब्रह्मपरं, न जीवपरमिति चेत्, इदमपि तथैवास्तु; किमिति 'सर्वगतस्थाणुः' इत्यत्र स्वरसतः प्राप्तोऽर्थस्त्यज्यते ? अचलपदस्य च सङ्कोचः सनातनपदस्याशब्दार्थश्च स्वीक्रीयते ? यद्युच्येत अच्छेद्यत्वादेर्ब्रह्मण्यप्रसक्तप्रतिषेधत्वादिदं वचनं जीवपरमेवेति, तर्हि तत्रापि 'विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति' [ २।१७ ] इत्यस्य ब्रह्मण्यप्रसक्तेर्जीवपरमेव तदिति कुतो न कल्प्यम् ? यदि च भीष्माद्यात्मनाशनिमित्तार्जुनशोकनिरासप्रकरणेऽस्मिञ्जीवस्यैव नित्यत्वमच्छेद्यत्वादिभिरिहोपपाद्यं, न तु ब्रह्मण इति, तत्तत्रापि तुल्यम् । निरस्तं च विस्तरेण वज्रपञ्जरे जीवस्याणुत्वम् । एतेन 'जीवस्याणुत्वेऽपि क्रमेण नानाशरीरसम्बन्धात् सर्वगतत्वोक्तिः' इति रामानुजव्याख्यानमपि निरस्तम्, क्रमेण नानाशरीरसम्बन्धस्याच्छेद्यत्वादिसाधकत्वाभावादिति दिक् ॥ २४ ॥ २५ ॥

९ ब० त० दी०— पुनरस्यात्मनोऽविनाशित्वमेव सुग्रहणाय श्रावयति— सार्द्धाभ्यां नैनमित्यादिना । एतेन पृथिव्यप्तेजोवायुभिरविनाशित्वं निरूपितम् ॥ २३ ॥ अच्छेद्य इत्यर्द्धेन निगमनम् । कार्यत्वव्यावृत्त्यर्थं नित्य इति । सर्वगत इति व्यापकत्वम् । ब्रह्मभावाभिप्रायेण जीवस्तु व्यापकः, न स्वरूपेण; किन्तु स्वचैतन्यगुणेन भगवद्धर्मभूतत्वात्; तदग्रे वक्ष्यते । स्थाणुरिति स्थिरत्वम् । अचल इति निष्क्रियत्वम् । नन्वेवं भूतमाकाशं प्रसिद्धं तदेव इति चेत्, न; इत्याह— सनातन इति । "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" [ तै. उ. २।१ ] इति तत्सम्भवश्रवणादित्यर्थः ॥ २४ ॥

अव्यक्तोऽयमिति । अक्षरोऽयं वस्तुतोऽचिन्त्यश्च । 'प्रकृतिभ्यः परं यत्तु तदचिन्त्यस्य लक्षणम्' इति वाक्यात् । नन्वेवम्भूतमव्यक्तं प्रधानं प्रसिद्धं तदेव किं निरूप्यत इति चेत्तत्राह— अविकार्योऽयमिति । प्रधानस्य विकार्यत्वादित्यर्थः । तस्मादेवम्भूतमेनमात्मानं ज्ञात्वा त्वं नानुशोचितुमर्हसि ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— तस्मात्त्याज्यदेहस्य दूरीकरणेऽपि एनमविनाशादिधर्मयुक्तत्वात् शस्त्रादयो न छिन्दन्तीत्याह— नैनं छिन्दन्तीति । एनं शस्त्राणि न छिन्दन्ति, घनाभावात् । एनं पावकः न दहति, शुष्कधर्माभावात् । आप एनं न क्लेदयन्ति, मृदुत्वान्न शिथिलयन्ति, काठिन्यादिराहित्यात् । मारुतः न शोषयति, द्रवाभावादित्यर्थः । तस्मात् शस्त्रादिप्रक्षेपेऽप्यस्य न किमपि भविष्यति । इदमपि मत्क्रीडारूपमतो मत्सन्तोषार्थं युद्धादिकं कर्त्तव्यमिति भावः । एतेषां सर्वेषां तथाकरणे मदिच्छैव हेतुरिति भावः । यतो भगवदिच्छैव सर्वेषां स्वधर्मकरणे शक्तिः । अत एव श्रीभागवते [ ३ । २५ । ४२ ] उक्तम्— 'मद्भयाद्वाति वातोऽयम्' इत्यादि ॥ २३ ॥

एते च्छेदनादिधर्मयुक्ता अपि मदिच्छां विना तत्र कुर्वन्ति, मदिच्छयैव च त्याज्यदेहादिषु तथा कुर्वन्त्यतस्त्वमप्येतेष्वच्छेद्यादिधर्मान् ज्ञात्वा प्रवृत्तो भवेस्युक्त्वाऽच्छेद्यत्वादिधर्मानाह— अच्छेद्य इति । अच्छेद्यादिधर्मवानयमित्यर्थः । अच्छेद्यादिधर्मवत्त्वे कारणमाह— नित्यः अविनाशी, सर्वगतः व्यापकः, स्थाणुः स्थिरस्वभावः, अचलः सर्वदैकरूपः, सनातनः अनादिः ॥ २४ ॥

अव्यक्तो लौकिकेन्द्रियाग्राह्यः । अचिन्त्यो मनसोऽप्यगम्यः । अविकार्यो विकाररहितः कर्मभिर्वाऽविकार्यः । अयं सर्वत्र व्यापकत्वेन प्रत्यक्षतयोक्तः । उच्यते वेदैस्तद्रूपश्चेत्यर्थः । यदर्थमेतदुक्तं तदाह— तस्मादिति । तस्मादेनं पूर्वोक्तधर्मवन्तं विदित्वा अनुशोचितुं नार्हसि ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— कीदृशोऽसौ देही ? इत्यत आह— नैनमिति । एनं शस्त्राणि न च्छिन्दन्ति न द्वेधाकुर्वन्ति अस्थूलत्वात् । तर्हि पार्थिवपरमाणुवत् पाकजरूपाद्याश्रयो भविष्यति इत्याशङ्क्याह— नैनं दहति पावक इति; अनणुत्वात् । आपश्चैनं न क्लेदयन्ति, अस्पर्शत्वात् । स्पर्शवद्धि द्रव्यमद्भिरार्द्रीकर्त्तव्यं, न त्वस्पर्शम् । न शोषयति मारुतः; अस्नेहत्वात् । एतेन "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" [ बृ.उ.३।८।८ ] "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्" [ कठो. १३।१५ मु. उ. २।७२ ] इति श्रुतिप्रसिद्धानामस्थूलत्वाशब्दत्वादीनामपि संग्रहो ज्ञेयः ॥ २३ ॥

कुतो हेतोरस्य शस्त्रादीनि च्छेदादीन्न कुर्वन्ति ? इत्याशङ्क्य तस्य च्छेदाद्ययोग्यत्वादित्याह— अच्छेद्योऽयमिति । अत्राच्छेद्यत्वादौ पूर्वोक्तान्येव अस्थूलत्वादीनि कारणानि ज्ञेयानि । एवमच्छेद्यत्वादिना स्थूलादीनभावरूपान् गुणानुक्त्वा भावरूपानपि गुणानाह— नित्य इति । सर्वैर्विशेषणैरखण्डैकरसस्यैव वस्तुनो लक्ष्यत्वात् नित्यत्वादिभिरुत्पाद्यत्वादिकं निराक्रियते । यतो नित्यः, अतो घटवदनुत्पाद्यः । यतः सर्वगतः, अतो ग्रामवदप्राप्यः यतः स्थाणुः पूर्वरूपापरित्यागेन स्थिरस्वभावः, अतः क्षीरादिवदविकार्यः । अचलः यथा दर्पणः स्वतः स्वाच्छ्यादप्रच्युतोऽपि मलरूपेणावरणेन स्वाच्छ्यात्प्रच्याव्यते, एवं स्वयं स्थाणुरपि अन्यसंयोगाच्चाञ्चल्यमश्नुवीत; स च दोषापकर्षणलक्षणं संस्कारमपेक्षते । अयं तु अचलत्वान्न तथा । एवं च उत्पत्त्याप्तिविकृतिसंस्कृतिरूपं चतुर्विधं

क्रियाफलमात्मनि न सम्भवतीत्युक्तम् । तत्र हेतुः सनातन इति । सना इत्यव्ययं नैरन्तर्यं, तच्च देशतः कालतो वस्तुतश्च परिच्छेदराहित्यम् । परमते परमाणूनां कालतः परिच्छेदाभावेऽपि देशतः परिच्छेदोऽस्ति, आकाशस्य तदुभयाभावेऽपि वस्तुतः परिच्छेदोऽस्ति, सोऽपि त्रिविधः सजातीयविजातीयस्वगतभेदरूपः । 'यथा वृक्षस्य स्वगतो भेदः पत्रपुष्पफलादितः । वृक्षान्तरात्सजातीयो विजातीयः शिलादितः ।' [पं. द्व. २।२०] ततश्च सना नैरन्तर्येण त्रिविधपरिच्छेदराहित्येन भवति अस्तीति सनातनोऽखण्डैकरसो यस्मात्तस्मान्नोत्पत्त्याद्याश्रय इत्यर्थः ॥ २४ ॥

एवं ज्ञेयं वस्तूक्तं, तच्च तत्राध्यस्तदेहत्रयनिरासेन अपरोक्षीकर्त्तव्यमित्याह— अव्यक्तोऽयमिति । व्यक्तं स्थूलशरीरं प्रत्यक्षगम्यं, तदन्योऽयं प्रत्यगात्मा । तथा अचिन्त्योऽयं, चिन्त्यं चिन्तायोग्यं रूपादिप्रकाशकार्येणानुमेयं चक्षुरादिसमुदायात्मकं लिङ्गशरीरं अप्रत्यक्षं, ततोऽप्यन्योऽयम् । तथा अविकार्योऽयं विकारं स्थूलसूक्ष्मकार्यभावेनावस्थानमर्हतीति विकार्यं त्रिगुणात्मकं मूलाज्ञानं कारणशरीरं, सुप्तोत्थितस्य 'न किञ्चिदवेदिषं' इति परामर्शदर्शनात् 'अहं न जानामि' इत्यनुभवाच्च साक्ष्येकगम्यं, ततोऽप्यन्योऽयम् । उच्यते व्यक्तादिनिषेधमुखेन, न तु शृङ्गग्राहिकयाऽयमेवंविध इति विधिमुखेनोच्यते । यस्मादेवमयमुच्यते तस्मादेनं विदित्वा नानुशोचितुमर्हसि । " तरति शोकमात्मवित् " [ छां. उ. ७।१।३। ] इति श्रुतेरात्मविद्भूत्वा बन्धुवियोगजं शोकं माकार्षीरित्यर्थः । उक्तं चात्मनोऽवस्थात्रयातीतत्वम् , 'स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया । न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ' इति ॥ २५ ॥

लौकिकदृष्ट्याऽप्यात्मनः सहेतुकं शोकमोहानर्हत्वम् [ २६–२८ ]

## अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम् ।
## तथापि त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥

**१ शां. भा.—** आत्मनोऽनित्यत्वं अभ्युपगम्येदमुच्यते— **अथ चैनमिति** । अथ चेत्यभ्युपगमार्थः । एनं प्रकृतमात्मानं नित्यजातं लोकप्रसिद्ध्या प्रत्यनेकशरीरोत्पत्ति जातो जात इति वा मन्यसे ? तथा प्रति तत्तद्विनाशं नित्यं वा मन्यसे मृतं मृतो मृत इति ? तथापि तथाभाविन्यप्यात्मनि त्वं महाबाहो ! नैवं शोचितुमर्हसि, जन्मवतो नाशो नाशवतो जन्म चेत्येतौ अवश्यम्भाविनाविति यस्मात् ॥ २६ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** आत्मनो नित्यत्वस्य प्रागेव सिद्धत्वादुत्तरश्लोकानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मन** इति । 'अनित्यत्वं' इति च्छेदः । शाक्यानां लोकायतानां वा मतमिदमापराभृश्यते । श्रोतुरर्जुनस्य पूर्वोक्तमात्मयाथात्म्यं श्रुत्वाऽपि तस्मिन्निर्धारणासिद्धेर्द्वयोर्मतयोरन्यतरमताभ्युपगमः शङ्कितस्तदर्थो निपातद्वयप्रयोग इत्याह— **अथ चेति** । प्रकृतस्याऽऽत्मनो नित्यत्वादिलक्षणस्य पुनः पुनर्जातत्वाभिमानो मानाभावादसम्भवीत्याशङ्क्याऽऽह— **लोकेति** । नित्यजातत्वाभिनिवेशे पौनःपुन्येन मृतत्वाभिनिवेशो व्याहतः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तथेति** । परकीयमतमनुभावितमभ्युपेत्य ' अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ' [ १।४५ ] इत्यादेस्तदीयशोकस्य निरवकाशत्वमित्याह— **तथापीति** । एवमित्यर्जुनस्य दृश्यमानमनुशोकप्रकारं दर्शयित्वा तस्य कर्तुमयोग्यत्वे हेतुमाह— **जन्मवत** इति । 'जन्मवतो नाशो नाशवतश्च जन्म ' इत्येताववश्यम्भाविनौ मिथो व्याप्ताविति योजना ॥ २६ ॥

**३ रा. भा.—** अथ नित्यजातं नित्यमृतं देहमेवैनमात्मानं मनुषे, न देहातिरिक्तमुक्तलक्षणम् ; तथाप्येवमतिमात्रं न शोचितुमर्हसि, परिणामस्वभावस्य देहस्योत्पत्तिविनाशयोरवर्जनीयत्वात् ॥ २६ ॥

**४ वे. ता. चं.—** एवं देहातिरिक्तात्माभ्युपगमे शोकनिमित्ताभाव उक्तः; अथ नास्तिकदृष्ट्या देहात्मवादेऽपि शोकनिमित्तं नास्तीत्युच्यते— **अथ चेत्यादिना** श्लोकत्रयेण । 'अथ' इति पक्षान्तरारम्भार्थः, प्रश्नार्थो वा, अभ्युपगमार्थो वा । वाशब्दोऽपि विशेषणद्वयसमुच्चयार्थः । **नित्यजातं नित्यमृतं** नियतोत्पत्तिनाशमित्यर्थः । उत्तरश्लोके चेममर्थं प्रपञ्चयिष्यति । नहि नित्यस्य जातत्वमृतत्वसम्भवः । न च जन्ममरणक्रियास्वरूपं नित्यत्वेन विशेषयितुं शक्यम् । व्यस्तस्य नित्यशब्दस्यात्मविशेषणत्वभ्रमव्युदासाय 'नित्यजातम्' इतिवत् 'नित्यमृतम्' इति समस्योक्तम् । **देहमिति** विशेषणादिसामर्थ्यफलितमुक्तम् । **एवेति** चशब्दार्थः । अवधारणफलितमाह— **न देहेति** । पूर्वमात्मनो नाशाभावाच्छोकप्रसङ्ग एव नास्तीत्युक्तम्, इदानीं देहतयाभिमतस्यात्मनो नाशे सत्यपि दुष्परिहरत्वान्महाबाहुस्त्वं नातीव शोचितुमर्हसीत्यभिप्रायेण 'एवं' शब्दः । यद्वा

पूर्वं देहातिरिक्तात्माभ्युपगमात्परलोकादिभयेनातिमात्रशोकोऽपि युज्यते। इदानीं तु संसारमोचकादिवन्महाबाहोस्तव अतिमात्रप्रीतिस्थाने कथमतिमात्रशोक इति भावः । 'त्वं महाबाहो' इति शूरस्य ते स्वपरमरणोद्वेगो न युक्त इत्याकूतम् । प्रतिज्ञाया हेतुसाकाङ्क्षत्वादुत्तरश्लोकस्थं वा विशेषणद्वयसूचितं वा हेतुं निष्कृष्याह— **परिणामेति** ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.— अस्त्वेवमात्मनो नित्यत्वम्, तथापि देहसंयोगवियोगात्मकजनिमृती स्त एवेत्यत आह— अथ चेति ॥ २६ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु सर्वशङ्कोद्धारेणात्मनित्यत्वं प्रतिपाद्य तस्मादेवमित्युपसंहृतं, तत्किं 'अथ च' इति पुनरुच्यते ? इत्यतोऽङ्गीकृत्यात्मनित्यत्वं प्रकारान्तरेण शोकशङ्क्यमित्याशयेनाह— **अस्त्वेवमिति** । युद्धे च मृतिर्नियता, जनिमृतिनिमित्तं च दुःखं मदीयानां भविष्यतीति ममैव शोक इति शङ्काशेषः । अनेन पूर्वार्धोऽपि व्याख्यातः । अत एव **देहसंयोगवियोगात्मकजनिमृती** इत्युक्तम् । अन्यथा देहसंयोगवियोगावित्येव वा जनिमृती इत्येव वा ब्रूयात् । 'स्त एव' इत्यनेन नित्यशब्दोऽवधारणार्थ इत्युक्तं भवति । अस्त्वेवमात्मनो नित्यत्वमिति वदता 'आत्मनोऽनित्यत्वमभ्युपगम्येदमुच्यते' इति मायावादिनो व्याख्यानं निरस्तं भवति । 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' [ २।२७ ] इत्युत्तरवाक्यविरोधात्, 'अव्यक्तादीनि' [ २।२८ ] इत्यनेनापि विरोधात् ॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.— आत्मनस्तु हननमभ्युपगम्यैतदुच्यते— अथ चैनमिति । अथ चेत्यभ्युपगमार्थम् । प्रकृतमेनं नित्यजातं लोकप्रसिद्ध्या नित्यं जातो नित्यजातः, नित्यं वा मन्यसे मृतं तथाप्येवमपि त्वं महाबाहो ! एनमात्मानं शोचितुं नार्हसि, जननमरणयोरस्य स्वाभाविकत्वात् २६**

**८ वें. ब्र. गि.**— एवमात्मनो जन्ममरणाभावात्तन्निमित्तः शोको युक्त इत्युक्तम्, इदानीं तदुपगमेऽपि न शोकप्रसक्तिरित्याह द्वाभ्याम्—

अथेति पक्षान्तरे । चकारो 'मृतं' इत्यनेन सम्बध्यते । हे महाबाहो पुरुषश्रेष्ठ ! त्वं एनमात्मानं नित्यजातं नित्यमवश्यं जातो नित्यजातस्तं नित्यमवश्यं मृतं च मन्यसे वा ? इति काकुः । परमास्तिकः पुरुषधौरेयस्त्वं वेदबाह्याभिमतं प्राङ्निरस्तं चात्मजन्मनाशपक्षं वस्तुतो न मन्यस एवेति काक्वर्थः । यदि कदाचिल्लोकवासनया मन्यसे, तथापि एवं धनुर्बाणत्यागपूर्वकरथोपरि निपातसाश्रुनेत्रत्वादिरूपेणानेन प्रकारेण शोचितुं नार्हसि; अपरिहार्यत्वादिवक्ष्यमाणहेतोरित्यभिप्रायः । एवम्प्रकारेण न शोचितुमर्हसीत्युक्त्या प्रकारान्तरेण शोकोऽभ्यनुज्ञायते । तेन सकलप्रकारकसमूलशोकनिर्मूलने पूर्वोपदिष्टनिर्विकारात्मतत्त्वाद्वैतज्ञानमेवोपायः, अयं तु 'तस्मादपरिहार्येऽर्थे' [२।२७] इत्यादिर्न तादृश इति ध्वन्यते ॥ २६ ॥

**९ व०त०दी०— अथेति पक्षान्तरे । लौकायतिकमते स्थित्वाऽऽत्मानं नित्यं सदा जातं मृतं मन्यसे तथापि न शोचितुमर्हसि ॥ २६ ॥**

**१० पु. अ. त.**— एवं विद्वत्सिद्धान्तमुक्त्वाऽविद्वत्सिद्धान्तेनापि शोकं कर्तुं नार्हसीत्याह— **अथ चेति** । अथ च पक्षान्तरेण । एनं नित्यजातं तत्तद्देहेन सह जातं तस्मिन्मृते मृतं वा मन्यसे, तथापि त्वं एनं शोचितुं नार्हसि । यतस्त्वं महाबाहुः । **अत्रायमर्थः**— नित्यस्यास्य जन्ममरणज्ञानं तु देहाध्यासेनैव भवति । तथासति स्वबाहुबलादिनाशः क्व ? २६

**११ नी० भा० दी०— एवं तत्त्वदृष्ट्या शोको नोचित इत्युक्तम्, इदानीं प्राकृतजनदृष्ट्याऽपि शोको नोचित इत्याह— अथ चेति । नित्यं नियमेन जातं नित्यजातमिति चार्वाकपक्षः । नित्यं सर्वदा जातमिति क्षणिकविज्ञानवादिपक्षः । नित्यश्चासौ अपूर्वदेहेन्द्रियसम्बन्धाज्जातश्चेति तार्किकादिपक्षः । एवं नित्यं वा मन्यसे ? । मृतमित्यपि योज्यम् । पक्षत्रयेऽपि शोको न युक्तः । 'महाबाहो !' इति युद्धार्थमुत्साहयति ॥ २६ ॥**

## जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
## तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

**१ शां. भा.— तथा च सति— जातस्य इति । जातस्य हि लब्धजन्मनो ध्रुवोऽव्यभिचारी मृत्युर्मरणं; ध्रुवं जन्म मृतस्य च । तस्मादपरिहार्योऽयं जन्ममरणलक्षणोऽर्थः, [ यस्मात्, तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि । जन्मवतो नाशः नाशवतो जन्म इति च स्वाभाविकश्चेदपरिहार्यः सोऽर्थः । ] तस्मिन्नपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥**

२ आ. शां. व्या.— तयोरवश्यम्भावित्वे सत्यनुशोकस्याकर्तव्यत्वे हेत्वन्तरमाह— **तथा** चेति ॥ २७ ॥

**३ रा. भा.— उत्पन्नस्य विनाशो ध्रुवोऽवर्जनीय उपलभ्यते, तथा विनष्टस्यापि जन्म अवर्जनीयम्। कथमिदमुपलभ्यते विनष्टस्योत्पत्तिरिति? सत एवोत्पत्त्युपलब्धेः, असतश्चानुपलब्धेः। उत्पत्तिविनाशादयः सतो द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः। तन्तुप्रभृतीनि हि द्रव्याणि सन्त्येव; सत्यम्, उच्यते— रचनाविशेषयुक्तानि पटादीन्युच्यन्ते। असत्कार्यवादिनाऽप्येतावदेवोपलभ्यते। न हि तत्र तन्तुसंस्थानविशेषातिरेकेण द्रव्यान्तरं प्रतीयते। कारकव्यापारनामान्तरभजनव्यवहारविशेषाणामेतावतैवोपपत्तेः न च द्रव्यान्तरकल्पना युक्ता। अत उत्पत्तिविनाशादयः सतो द्रव्यस्यावस्थाविशेषाः।**

४ वे. ता. चं.— ध्रुवमृत्युमृतादिशब्दानां अर्थान्तरव्युदासाय प्रकृतोपपादकं 'जातस्य' इत्यादिकं व्याख्याति— **उत्पन्नस्ये**त्यादि। **उपलभ्यते** इति **हि**शब्दसूचितप्रमाणप्रसिद्धिरुच्यते। हेतुपरत्वेऽपि हिशब्दस्यार्थात्तत्सिद्धिः। मृतस्य जन्मव्याघाताभिप्रायेण चोदयति— **कथ**मिति। यदि केवलमौपदेशिकोऽयमर्थः स्यात्, तथाऽभ्युपगम्येत। अत्र तु 'जातस्य हि' इति लोकसिद्धानुवादेनोच्यते। लोके च प्रागसत एवोत्पत्तिर्दृष्टा। न तु कदाचिदुत्पद्य निरुद्धस्य। यदि च नष्टं पुनर्जायेत, तदा दुःखात्यन्तनिवृत्तेरशक्यत्वादपवर्गशास्त्रमखिलमप्रमाणं स्यात्, व्याधिशत्रुविजयादिप्रयासश्च निरर्थकः स्यात्। पुत्रादिमरणे च न शोचनीयम्; अतो नेदमुपपत्तिमदिति भावः। परिहरति— **सत एवे**ति। नन्विदमुभयमप्ययुक्तम्, सत उत्पत्तिनैरपेक्ष्यात्, प्रागसतामेव च घटादीनामुत्पत्तिदर्शनादित्याशङ्क्याह— **उत्पत्ती**ति। निदर्शयति— **तन्तुप्रभृतीनि ही**ति। अन्त्यतन्तुसंयोगात्पूर्वं दीर्घैकतन्त्वारब्धे च त्वयाऽप्येवमिष्यत इति भावः। उक्तं च नारायणाचार्यैः— 'एकस्माद्दीर्घतमात्तन्तोः पटादेरुत्पत्तिर्दृष्टा' [ नी. मा. ] इति। असत्कार्यवादिनं प्रति किमवयवीति कश्चिदवयवसमुदायातिरिक्तः पदार्थो दृश्यते, कल्प्यते वेति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमकल्पे दूषणमाह— **अस**दिति। **एतावत्** रचनाविशेषयुक्तत्वमात्रमित्यर्थः। **वादिनोपलभ्यत** इति पदाभ्यां वाङ्मनसविसंवादमभिप्रैति। एतावदेवेत्युक्तमर्थं प्रपञ्चयति— **नही**ति। द्वितीयकल्पं दूषयति— **कारके**ति। यदि साङ्ख्यवद्द्रव्यमपि सर्वस्याप्यनागन्तुकत्वं वदामः, तदा भवेदेव कारकव्यापारादिनैरर्थक्यादिदोषः। वयं हि द्रव्याणां सर्वेषामनागन्तुकत्वं तदवस्थानां चागन्तुकत्वं ब्रूमः। घटादिवत् प्रदीपादिष्वपि अवस्थान्तरापत्तिरनुमीयते। चूर्णितविशीर्णघटस्येव तु सूक्ष्मावस्थाप्राप्त्यानुपलम्भः। अतो न कश्चिद्दोष इति भावः। व्यवहारविशेषोऽत्र उदकाहरणादिरभिमतः, नामान्तरभजनस्य पृथगुक्तत्वात्। एतेन कारणसङ्ख्यापरिमाणादिबुद्धिसंस्थानादिभेदः पूर्वत्वोत्तरत्वनष्टत्वानष्टत्वादिरपि निर्व्यूढः। द्रव्यान्तरत्वकल्पनायां गुरुत्वान्तरकार्यादिप्रसङ्गस्य अवयवावयविगुरुत्वयोरन्यतरप्रतिबन्धादिना निर्वाहश्च अतिक्लिष्ट इत्यभिप्रायेणाह— **न च द्रव्यान्तरे**ति। आहुश्च— 'यदि द्रव्यान्तरं कार्यं कारणेभ्यो भवेदिह। गुरुत्वमतिरिच्येत कार्ये तच्च न दृश्यते। द्विपलं घट इत्येतद्व्यपदेशो न युज्यते' [ म. भा. ] इति। निगमयति— **अत** इति। तावत एवोपलम्भादन्यस्यानुपलम्भात् कल्पकानां चान्यथैवोपपन्नत्वादित्यर्थः।

**३ रा. भा.— उत्पत्त्याख्यामवस्थामुपयातस्य द्रव्यस्य तद्विरोध्यवस्थान्तरप्राप्तिर्विनाश इत्युच्यते। मृद्द्रव्यस्य पिण्डत्वघटत्वकपालत्वचूर्णत्वादिवत् परिणामिद्रव्यस्य परिणामपरम्परा अवर्जनीया। तत्र पूर्वावस्थस्य द्रव्यस्योत्तरावस्थाप्राप्तिर्विनाशः। सैव तदवस्थस्य चोत्पत्तिः। एवमुत्पत्तिविनाशाख्यपरिणामपरम्परा परिणामिनो द्रव्यस्यापरिहार्येति न तत्र शोचितुमर्हसि ॥२७॥**

४ वे. ता. चं.— ननु भवतु नामोत्पत्तिर्द्रव्यस्यावस्थाविशेषः; विनाशस्त्वभावरूपः, तद्विरुद्धश्च कथं तदवस्थेत्युच्यत इत्यत्राह— **उत्पत्त्याख्या**मिति। अयमभिप्रायः— न तावदभावाख्यं किञ्चित्पदार्थान्तरं विविच्योपलभामहे; नापि नास्तिव्यवहारादिना कल्पयितुं युक्तम्, उभयसम्प्रतिपन्नावस्थान्तरादिनैव निर्वाहात्। न च श्यामावस्थाप्रहाणेन रक्तावस्थापरिग्रहे घटनाशव्यवहारप्रसङ्गः, कपालाद्यवस्थावत् रक्तावस्थाया घटावस्थाविरोधित्वस्य भवताप्यनभ्युपगमात्। न च भावत्वेनैकराश्यनुप्रविष्टानां विरोधो युज्यत इति वाच्यम्, तेजस्तिमिरशीतोष्णतृणदहनादीनां भावानामेव सहानवस्थानवध्यघातुकत्वलक्षणविरोधदर्शनात् अभावाभावस्य च भावत्वस्वीकारात्। अन्यथा पदार्थत्वेनैकराशेरभावस्यापि भावविरोधो न कथञ्चिदुपपद्यते। तदेवं विरोध्युत्तरावस्था प्रध्वंसः। विरोधिपूर्वावस्था प्रागभावः। वस्त्वन्तरगतासाधारणविरोधिधर्म एव समानाधिकरणव्यधिकरणनिषेधभेदेनान्योन्याभावोऽत्यन्ताभावश्च। देशकालसम्भेदविशेषस्तत्कृतावस्थाविशेषो वा संसर्गाभावः। प्रतियोग्यादिभेदाच्च पितृत्वपुत्रत्वादिव्यहारवत् अस्तिनास्तीत्यादिव्यवहारवैचित्र्यमिति।

ननु यदि कपालत्वाद्युत्तरावस्थाप्राप्तिर्विनाशः, तर्हि कपालविनाशे घटविनाश एव विनष्टः स्यादिति चूर्णावस्थायां घटोन्मज्जनप्रसङ्गः; यदि च पिण्डावस्था घटप्रागभावः, तदा पिण्डीकारात्पूर्वं प्रागभावाभावाद्घटसिद्धिर्घटात्यन्ताभावो वा

स्यादित्यत्राह— **मृद्द्रव्यस्येति** । अयमभिप्रायः— न तावदेकैव कपालत्वावस्था घटत्वावस्थाविरोधिनी । चूर्णत्वाद्यवस्थानामपि तद्विरोधित्वादभावरूपं प्रध्वंसमभ्युपगच्छतोऽपि विरोध्यवस्थापरम्परा अवर्जनीया । ततः कपालत्वचूर्णत्वादीनां विरोध्युत्तरावस्थात्वाविशेषात्तासु सर्वास्ववस्थासु घटविनाशाव्यवहारोपपत्तिः । एवं प्रागभावेऽपि विरोधिपूर्वावस्थापरम्परया निर्वाहः । एवमनभ्युपगमे व्यतिरिक्ताभावपक्षेऽप्युक्तदोषो दुर्वारः । तत्रापि हि यदि घटाख्यं द्रव्यं घटप्रागभावनिवृत्तिः, तर्हि घटनिवृत्तौ घटप्रागभावनिवृत्तिरेव निवृत्तेति पुनः घटप्रागभावोन्मज्जनप्रसङ्गः । तथाच सति मध्ये प्रागभावस्य विच्छेदायोगाद्घट एव न स्यात् । प्रागभावस्य च सामग्रीसम्पत्तौ भावशिरस्कत्वान्नष्टाया एव घटव्यक्तेः पुनरुन्मज्जनं स्यात् । एवं यदि प्रध्वंसस्य घट एव प्रागभावस्तदा घटोत्पत्तेः पूर्वं प्रध्वंसप्रागभावाभावात्पिण्डावस्थायां घटप्रध्वंसः स्यात् । तथा च सति घट एव कदाचिदपि नोत्पद्येत स्वप्रध्वंसे वर्तमाने स्वोत्पत्त्ययोगात्, अन्यथा कपालाद्यवस्थायामपि तदुन्मज्जनप्रसङ्गात् । एवं च पिण्डावस्थायां घटविनाशप्रसङ्गे विनाशस्य भावोत्तरकालीनत्वात्पिण्डात्प्रागेव घटसिद्धिः स्यात् । ततश्च तत्सिद्धिनाशकालयोर्द्वयोरपि कारकव्यापारानर्थक्यं स्यादित्यादि दूषणशतं देयम् । अतः सूक्तं 'विरोध्यवस्थापरम्परैव प्रागभावप्रध्वंसौ' इति । **पिण्डत्वघटत्वेत्यादिना** ' मही घटत्वं घटतः कपालिका कपालिकाचूर्णरजस्ततोऽणुः [ वि. पु. २।१२।४२ ] इति भगवत्पराशरवचनं स्मारयति । तत्र हि प्रकरणे नास्त्यवस्त्वसत्यादिशब्दानामवस्थान्तरापत्तिनिबन्धनत्वं स्पष्टम् । व्याख्यातं च शारीरकभाष्ये ।

नन्वेवमपि 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इत्येतावदुपद्यताम्, उत्पन्नस्य घटादेर्नाशदर्शनात् । 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति तु नोपपद्यते, नष्टस्य घटादेः पुनरुत्पत्त्यदर्शनात्; न च पुनरुत्पत्तिरस्य शोकनिमित्तं, येन तस्यावर्जनीयत्वं प्रतिपाद्येतेत्यत्राह— **तत्रे** ति । अयमभिप्रायः— यदवस्थस्य द्रव्यस्य विनाशः, न तदवस्थस्यैव पुनरुत्पत्तिरुच्यते; किन्तु तस्यैव द्रव्यस्यावस्थान्तरविशिष्टस्य । एकमेव हि द्रव्यं घटाकारेण नष्टं कापालाकारेणोत्पद्यते । एकैव हि कपालावस्था घटावस्थस्य द्रव्यस्य नाशः कपालावस्थस्य तस्यैवोत्पत्तिः । अत एवोपपन्नं नष्टस्यैवोत्पत्तिरिति । **सैव** उत्तरावस्थाप्राप्तिरित्यर्थः । अत्र प्राप्तिशब्देन प्रथमक्षणागमस्य विवक्षितत्वादुत्तरेषु क्षणेषूत्पत्तिशब्दप्रयोगाभाव उपपन्न इति सूचितम् । एवं सति पुनरुत्पत्तेरवर्जनीयत्वप्रतिपादनं च नाशावर्जनीयत्वप्रतिपादनमेव । तत एव शोकापनोदनार्थताऽपि युक्ता । यद्वा यदीदमचिद्द्रव्यं नष्टमिति शोचसि, तर्हि तदेव हि द्रव्यं तदुत्तरावस्थं तथोत्पन्नमिति किं न प्रीयस इति भावः । एकस्यैव परिणामस्य निरूपणभेदादुत्पत्त्याख्या विनाशाख्या चेति **उत्पत्तिविनाशाख्यपरिणामे**त्युक्तम् । एवं प्रलयापेक्षया सृष्टेर्विनाशत्वेऽपि पुरुषार्थयोगायोगादिविवक्षया व्यवहारव्यवस्था । **परिणामिन** इति अपरिहार्यत्वकारणं तत्स्वभावत्वमुक्तम् । इतिशब्देनापरिहार्यपदं हेत्वभिप्रायमिति व्यञ्जयति ॥ २७ ॥

**५ आ. मा. भा.— कुतोऽशोकः ? नियतत्वादित्याह— जातस्येति ॥ २७ ॥**

६ ज. प्र. दी.— अनेनैव अभिप्रायेण एतदेकवाक्यतयोत्तरं श्लोकद्वयं क्रमेणावतारयति— **कुत** इति । शङ्कामनूद्य तथापि न शोचितुमर्हसीत्युक्तम्, तत्र को हेतुरित्यर्थः ॥ २७ ॥

**७ ह. पै. भा.— तदेव दर्शयति— जातस्येति । जन्मवतो नाशो नाशवतो जन्म स्वाभाविकश्चेदपरिहार्योऽयम्, तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥**

८ वें. व्र. गि.— यद्यप्यत्र भीष्माद्यात्ममरणनिमित्तशोकनिरासाय तन्मरणस्यापरिहार्यत्वं वक्तुं 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इत्येतावदेवालम्, 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' इति व्यर्थं जन्मनिमित्तशोकस्याप्रस्तुतत्वात्, वेदबाह्योत्प्रेक्षितदेहात्मवादावलम्बनेनात्मनाशं मन्यमानं प्रति " पुण्यः पुण्येन ... पापः पापेन " [ बृ. उ. ४।४।५ ] इत्यादिवेदैकगम्यं मृतस्य पुनर्जन्मवर्णनमप्ययुक्तम्; तथापि पूर्वश्लोके 'नित्यजातं नित्यं वा मृतं मन्यसे' इति वदता भगवता मतद्वयं क्रोडीकृतम् । तत्र 'देहस्यैवात्मत्वादात्मनो जन्ममरणे स्तः' इत्येकं मतम्; 'देहातिरिक्तो नित्य एव चात्मा श्रुतिप्रामाण्यात्, तस्यैव तु देहसंयोगवियोगात्मके जन्ममरणे अपि स्तः, जातेष्टेः श्राद्धस्य च श्रुत्यैव विधानात्' इत्यपरं मतम् । आद्यमते 'नित्यजातं नित्यं मृतं' इत्यस्यावश्यजातमवश्यं मृतं चेत्यर्थः । द्वितीयमते, नित्यश्चासौ जातश्चेति तथा, स्वरूपेण नित्यमपि देहयोगरूपजन्मवन्तं तद्वियोगरूपमरणवन्तं चेत्यर्थः । तत्र च आद्यमते भीष्माद्यात्ममरणप्रयुक्त एवार्जुनस्य शोकः, द्वितीयमते तु मृतस्य श्रुतिबलात् पूर्वदेहकृतकर्मफलभोगार्थं देहान्तरसम्बन्धरूपं गर्भवासादिक्लेशास्पदं च पुनर्जन्मावश्यम्भावीति भीष्माद्यात्मनामपि तथाविधे मरणजन्मनी मन्यमानस्यार्जुनस्य तदुभयप्रयुक्तः शोकः ।

एवं पूर्वश्लोकोक्तशोकद्वयनिरासार्थं प्रवृत्तेऽस्मिन् श्लोके प्रथमपादेनाद्यशोकनिरासायात्ममरणस्यापरिहार्यत्वं वक्तुं 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' इत्युक्तम् । तत्र प्रत्यक्षप्रसिद्धप्रदर्शनाय हि शब्दः । द्वितीयपादेन तु जन्ममरणोभयप्रयुक्तद्वितीयशोकनिरासायात्मनि तदुभयस्यापरिहार्यत्वं वक्तुं मृतस्य ध्रुवं जन्म, चकाराज्जातस्य ध्रुवं मरणं चेति जन्ममरणयोरवश्यम्भावित्वमुक्तम् । अतो न वैयर्थ्यं, न वा श्रुत्येकगम्यस्य मृतपुनर्जन्मनोऽनुपपत्तिः; द्वितीयमते श्रुतिप्रामाण्योपगमात् 'मृतस्य' इत्यनेन पूर्वकर्मफलभोगाय सानुशयस्यैव मृतस्य विवक्षितत्वात्; जीवन्मुक्ते विदेहमुक्ते च निरनुशयमृते

न व्यभिचारः। तस्मादिति। यस्मादुक्तरीत्या जन्ममरणयोरात्मन्यवश्यम्भावित्वं तस्माद् अपरिहार्ये परिहर्तुमशक्ये जन्ममरणरूपेऽर्थे शोचितुं नार्हसि ।

नन्वपरिहार्य एव पित्रादिमरणे लोकः सर्वोऽपि शोचतीत्यत उक्तं 'त्वं' इति । 'दुःखान्यपरिहार्याणि प्राप्य मूढो विषीदति । दुरितक्षपणानीति मत्वा धीरस्तु हृष्यति' इति वचनोक्तरीत्या मूढानामशोचनेऽपि धीराणां तदसम्भवान्महाधीरस्त्वं न शोचितुमर्हसीत्यर्थः । ननु भीष्मादात्मनां मरणं भविष्यतीति न मे शोकः, येनापरिहार्येऽर्थे स न युज्येत; किन्तु मन्निमित्तमेषां मरणं भविष्यतीत्येव, तच्च मरणं युद्धं त्यजता मया परिहर्तुं शक्यमेवेति नायमपरिहार्यविषयः शोक इति शङ्कायामप्येतदेवोत्तरम्—तस्मादपरिहार्येऽर्थे इति । 'यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे । मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ... ... ... । कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्' [१८।५९-६०] इति वक्ष्यमाणरीत्या त्वन्निमित्तमपि भीष्मादिमरणं त्वयाऽत्र परिहर्तुमशक्यमेवेति भावः ॥ २७ ॥

९ श० त० दी०—कुत इत्यत आह । हि यतः । जातस्येति । मृत्युर्ध्रुवो मृतस्य च ध्रुवमवर्जनीयं जन्म । एवमवर्जनीयेऽर्थे न शोचितुमर्हसि ॥ २७ ॥

१० पु. अ. त.— ननु स्वसमानाभावान्निर्बले तु शोकः कर्तव्य एवेति चेत्तत्राह—जातस्येति । जातस्य देहस्य मृत्युर्ध्रुवः, मृतस्य ध्रुवं जन्म भवतीत्यर्थः । अत्रायमर्थः—जातस्य गृहीतजन्मनो येन मृत्युर्निर्मितस्तस्य तेनैव मृत्युर्ध्रुवो निश्चितस्तस्मादेषां मृत्युस्त्वयैव निर्मितः स च तथैव भविष्यति । तस्माद्यथा ईश्वरनिर्मितं तत्तथैव भविष्यतीत्यपरिहार्ये सर्वथा भाव्येऽर्थे त्वं न शोचितुं योग्योऽसीत्यर्थः । हीति युक्तोऽयमर्थः । ईश्वरकृतं कोऽन्यथा कर्तुं समर्थः ? ॥ २७ ॥

११ नी० भा० दी०—शोचितुं नार्हसीत्युक्तं तत्र हेतुमाह—जातस्येति । जातस्य ध्रुवोऽपरिहार्यः मृत्युर्मरणम् । अपरिहार्येऽर्थे मरणाख्ये त्वदुद्योगं विनाऽपि अवश्यम्भाविनि विषये न त्वं शोचितुमर्हसि । वक्ष्यति च—'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' [ ११।३३ ] इति ॥ २७ ॥

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ! ।**
**अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ २८ ॥**

**१ शां. भा.— कार्यकारणसङ्घातात्मकान्यपि भूतान्युद्दिश्य शोको न युक्तः कर्तुं, यतः—अव्यक्तादीनीति । अव्यक्तादीनि अव्यक्तं अदर्शनमनुपलब्धिः आदिर्येषां भूतानां पुत्रमित्रादिकार्यकरणसङ्घातात्मकानां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि प्रागुत्पत्तेः । उत्पन्नानि च प्राक् मरणाद्व्यक्तमध्यानि । अव्यक्तनिधनान्येव पुनः अव्यक्तमदर्शनं निधनं मरणं येषां तानि अव्यक्तनिधनानि । मरणादूर्ध्वमव्यक्ततामेव प्रतिपद्यन्ते इत्यर्थः । तथा चोक्तम्—'अदर्शना(दिहायातः)-दापतितः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा का परिदेवना' [ म. भा. ११।२।१३ ] इति । तत्र का परिदेवना को वा प्रलापः ? अदृष्टदृष्टप्रनष्टभ्रान्तिभूतेष्वित्यर्थः ॥ २८ ॥**

२ आ. शां. व्या.—आत्मानमुद्दिश्यानुशोकस्य कर्तुमयोग्यत्वेऽपि भूतसङ्घातात्मकानि भूतान्युद्दिश्य तस्य कर्तव्यत्वमाशङ्क्याऽऽह—कार्येति । समनन्तरश्लोकस्तत्र हेतुरित्याह—यत इति । चाक्षुषदर्शनमात्रव्यावृत्तिं व्यावर्तयति—अनुपलब्धिरिति । नहि यथोक्तसङ्घातरूपाणि भूतानि पूर्वमुत्पत्तेरुपलभ्यन्ते तेन तानि तथा व्यपदेशभाञ्जि भवन्तीत्यर्थः । किं तन्मध्यं यदेषां व्यक्तमिष्यते ? तदाह—उत्पन्नानीति । उत्पत्तेरूर्ध्वं मरणाच्च पूर्वं व्यावहारिकं सत्त्वं मध्यमेषां व्यक्तमिति तेथोच्यते । जन्मानुसारित्वं विलयस्य युक्तमिति मत्वा तात्पर्यार्थमाह—मरणादिति । उक्तेऽर्थे पौराणिकसम्मतिमाह—तथा चेति । तत्रेत्यस्यार्थमाह— अदृष्टेति । पूर्वमदृष्टानि सन्ति, पुनर्दृष्टानि, तान्येव पुनर्नष्टानि, तदेवं भ्रान्तिविषयतया घटीयन्त्रवच्चक्रीभूतेषु भूतेषु शोकनिमित्तस्य प्रलापस्य नावकाशोऽस्तीत्यर्थः ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.— सतो द्रव्यस्य पूर्वावस्थाविरोध्यवस्थान्तरप्राप्तिदर्शनेन योऽल्पीयाञ्छोकः, सोऽपि मनुष्यादिभूतेषु न सम्भवतीत्याह—मनुष्यादिभूतानि सन्त्येव, द्रव्याण्यनुपलब्धपूर्वावस्थान्युपलब्धमनुष्यत्वादिमध्यमावस्थान्यनुपलब्धोत्तरावस्थानि स्वेषु स्वभावेषु वर्तन्त इति न तत्र परिदेवनानिमित्तमस्ति ॥ २८ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवमपरिहार्यत्वेनाशोचनीयत्वमुक्तम्, अथ तत्तद्वस्तूनां प्रतिनियतस्वभावत्वेन पूर्वोत्तरावस्थायां सुखरूपत्वदुःखरूपत्वयोः अन्यतरविवेकानर्हानुपलभ्यदशापत्त्या चाशोचनीयत्वमुच्यते—**अव्यक्तादीनी**ति। भूतशब्दस्यात्र देहपरत्वार्थमुक्तम्— **मनुष्यादी**ति । अव्यक्तव्यक्तादिशब्दानां प्रकृत्यवस्थाविशेषादिपरत्वभ्रमव्युदासाय यादवप्रकाशोक्तसूक्ष्मादिपरत्वस्य च प्रकृतानुपयोगज्ञापनायोक्तम्- **अनुपलब्धे**त्यादि । 'अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः । नासौ तव न तस्य त्वं वृथा किमनुशोचसि' [ म. भा. ११।२। १३ ] इति ह्यन्यत्राप्युच्यते । **स्वेषु स्वभावेषु वर्तन्त** इति । अयमभिप्रायः— न तावदेषां द्रव्याणां मनुष्यत्वादिव्यक्तावस्था स्वभावः, संहतिविशेषादिसाध्यत्वात् । नाप्यव्यक्तपूर्वोत्तरावस्था, तस्या अपि विभागादिसाध्यत्वात् । अतः सामान्यतः परिणामित्वमात्रं स्वभावः । ततश्च यथा परिणामिनो द्रव्यस्याव्यक्तपूर्वावस्था व्यक्तमध्यावस्था च न शोकनिमित्तम् ; एवमुत्तरावस्थाऽपि । एवकारोऽत्रावर्जनीयत्वपरः, स्वभावप्राप्तिपरो वा । यद्यव्यक्तावस्थैव स्वभाव इति मनुषे, तदा स्वभावपरित्यागलक्षणमनुष्यत्वाद्यवस्थैव शोचनीया । यदि पुनर्मनुष्यत्वावस्थैव स्वभावः प्रतिबन्धकवशादव्यक्तावस्थेति मन्वीथाः, तदा प्रतिबन्धकस्यावर्जनीयत्वादागन्तुकस्य तस्य कदाचिदपगमे पुनर्मनुष्यत्वादिसिद्धेश्च अवर्जनीयत्वान्न कथञ्चिदपि शोचनीयम्। यदि तु स्वभाव एव वस्तूनां सामान्यतः शोकनिमित्तम्, तर्हि प्रतिनियतविचित्रस्वभावानन्तवस्तुसन्तते जगति सर्वस्य सर्वथा दुःखजलनिधावेव मज्जनमिति नेदानीं विशेषतः शोकनिमित्तमस्ति । अथौपाधिकस्यापि सुखहेतोर्वियोगाच्छोकः, तदा दुःखहेतूनां शत्रुप्रभृतीनां भैक्षचर्यादेश्च परमार्थतः शोकनिमित्तत्वम्, न तु सुखहेतोः शत्रुनिरसनस्य सार्वभौमत्वादेर्वा । अथ सुखहेतोः स्वशरीरादेर्नाशात् बिभेषि; तर्हि महाबाहुना भारतेन त्वया जिघांसूनां सन्निधौ यथाशक्ति व्यापारेण शरीरादिरक्षणं कार्यम् । यदि च बन्धुवधादिनिमित्तलोकापवादादेर्भीतिः, तदा समर्थस्य ते बन्धुसंरक्षणाद्यभावनिमित्तो महीयानपवादः स्यात्, भीरुत्वादिनिमित्ता मरणातिरिक्ता चाकीर्तिः स्यात्; न चायं दुस्त्यजः शीतातपादिसंस्पर्शिकदुःखवच्छोकः, किन्त्वविचारितरमणीयाभिमानमूलतया तन्निवृत्त्या परिहार्यः ; अत एव देहात्ममोहमहाग्रहगृहीतस्त्वं लोकायतसमयरहस्यतत्त्वविचारेणापि न कथञ्चिदपि शोचितुमर्हसीति परिदेवना किंनिमित्तेत्यर्थः । तदिदमुक्तं— **न तत्र परिदेवनानिमित्तमस्ति** इति ॥ २८ ॥

५ **आ. मा. भा.— तदेव स्पष्टयति—अव्यक्तादीनीति ॥ २८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— स्पष्टनं च जन्ममरणस्वरूपनिरूपणेन ॥ २८ ॥

७ **ह. पै. भा.— कार्यकारणधर्मकाण्यपि एतान्युद्दिश्य शोको न युक्तः कर्तुं, यतः— अव्यक्तादीनीति । अव्यक्तमदर्शनमनुपलब्धिरादिर्येषां भूतानां तान्यव्यक्तादीनि प्रागुत्पत्तेः । उत्पन्नानि च प्राग्विनाशाद्व्यक्तमध्यानि व्यक्तान्तरालानि । अव्यक्तनिधनान्येव पुनरप्यव्यक्तमदर्शनं मरणं येषां तान्यव्यक्तनिधनानि । मरणादूर्ध्वमव्यक्तमेव प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तथा चोक्तम्— "अदर्शनादिहाऽऽयातः पुनश्चादर्शनं गतः" [ म. भा. ११।२।१३ ] इति । तत्र का परिदेवना को वा विलापः ? । दृष्टनष्टभ्रान्तिभूतेषु भूतेष्विवेत्यर्थः ॥ २८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—एवं देह एवात्मेति मते देहातिरिक्त एवात्मा स्वरूपेण नित्योऽपि देहयोगवियोगाभ्यां जन्ममरणे इति मतेऽपि जन्ममरणयोरपरिहार्यत्वान्न शोको युक्त इत्युक्तम्; अथास्मिन्नेव मतद्वये हेत्वन्तरेणापि न शोकावकाश इत्याह—

भूतानि पृथिव्यादिभूतमयानि शरीराणि अव्यक्तादीनि । अव्यक्तमदर्शनम् । भावे निष्ठा । तदेवादिरुत्पत्तेः पूर्वावधिर्येषां तान्यव्यक्तादीनि, उत्पत्तेः प्रागनुपलब्धानीत्यर्थः । व्यक्तमध्यानि व्यक्तं दर्शनं मध्यं जन्ममरणान्तरालस्थितिलक्षणं येषां तानि, जन्मोत्तरं मरणात्प्रागुपलब्धानीत्यर्थः । अव्यक्तनिधनान्येव अव्यक्तमदर्शनं निधनं स्थितेरुत्तरावधिर्येषां तान्येव मरणादूर्ध्वमप्यनुपलब्धान्येवेत्यर्थः । तत्र तेषु शरीरेषु स्वाप्नैन्द्रजालिकपदार्थवत् अदृष्टदृष्टनष्टभ्रान्तिरूपतयाऽतितुच्छेषु का परिदेवना को वा दुःखप्रलापः ? न हि स्वप्नेन्द्रजालाद्युपलब्धबन्धुविच्छेदेन प्रबुद्धः शोचितुमर्हतीति भावः । तदुक्तं पुराणे— 'अदर्शनादिहायातः पुनश्चादर्शनं गतः । त्वं चाहं चापि राजेन्द्र ततः किमनुशोचसि' [ म. भा. ११।२।१३ ] इति । अदर्शनादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अदर्शनं प्राप्यायात इत्यर्थः । एवं च देहात्ममते देहयोगवियोगावेवात्मनो जन्ममरणे इति मते च आत्मजन्ममरणयोर्देहजन्ममरणपर्यवसायित्वात् देहानां चोक्तरीत्या शोकस्थानत्वासम्भवात् मतद्वयेऽपि न शोकप्रसक्तिरिति भावः । 'भारत' इत्यनेन महति भरतवंशे जातस्य तवेदृशं देहात्मवादावलम्बेन शोचितुमनुचितमिति सूचितम् ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०—पुनरपि साङ्ख्येनैवोपदिशति—अव्यक्तादीनीति । 'भूतानि' इत्यत्रैवं विवेचनीयम्—भूतशब्देन यदि कार्यशरीराणि तदाऽव्यक्तं प्रधानं प्रकृतिस्तदादीनि तन्निधनान्येव । एतेन कारणात्मकत्वमुक्तम् ।

मध्ये व्यक्तता कार्यता तां दृष्ट्वा न शोकः कार्यः, आद्यन्तयोरव्यक्तत्वात् । अन्यथा ध्वस्तघटादेरपि शोकः स्यात् । यदि वा भूतशब्देनात्मानः तदाऽव्यक्तस्याक्षरस्य महतो भूतस्य सकाशात् व्युच्चरितानि तन्निधनान्येवेति तदात्मकत्वं बोध्यम् । मध्ये व्यक्ततां देहात्मतां दृष्ट्वा न शोकः कार्यः, आद्यन्तयोरव्यक्तस्य मध्येऽप्यव्यक्ततैवाऽभ्युपगन्तव्या; व्यक्तता तु दृश्यमाना मदिच्छया प्राकृतेति सिद्धान्तः । अतएव "आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टो बुद्धेर्गुणेनात्मगुणो न चैव" [ श्वे. उ. ५।८ ] इति श्रुतावात्मेच्छागुणकृतमणुत्वमात्मनां मायाबुद्धिगुणकृतमवरत्वं च व्यक्त्यभिमति सुखिदुःखित्वादीति निरूपितम् ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वीश्वरोत्पादितानां देहानां स्वस्य नाशकरणमनुचितमित्याशङ्क्य देहानामुत्पत्तिस्थितिप्रलयविचारेणापि शोकाभावमाह— अव्यक्तादीनीति । अव्यक्तं अक्षरमादिरुत्पत्तिर्येषां तानि अव्यक्तादीनि भूतानि शरीराणि । व्यक्तं जगत् तदेव मध्यं स्थितिरूपमुत्पत्तिलययोर्मध्यं येषां तानि । अव्यक्ते अक्षर एव निधनं लयो येषां तानि तथा । तत्र तेषु का परिदेवना का चिन्तेत्यर्थः । अत्रायमर्थः— यत उत्पत्तिस्तत्रैव नाशे शोकः स्वस्याऽनुचित इत्यर्थः । स्वस्यापि तन्मारणानन्तरं न नरकादिसम्भावना, यत उत्पत्तिस्थल एव स्वस्यापि नाशो भविष्यति ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— अस्त्वात्मनोऽशोच्यत्वं, तथापि इष्टदेहविनाशजः शोको भवत्येवेत्याशङ्क्य सकारणस्य देहादेर्मिथ्यात्वं साधयति— अव्यक्तादीनीति । भूतानि वियदादीनि तद्विकारभूतानि जरायुजादीनि च । न व्यक्तमव्यक्तमज्ञानं आदिर्येषां तथाविधानि । व्यक्तः स्पष्टः मध्यः उत्पत्तिमारभ्य मरणात्प्रागवस्था येषाम् । अव्यक्ते एव निधनं लयो येषामिति । अयमर्थः— रज्जूरगादिकारणमज्ञानं न रज्जुवत् उरगवद्वा व्यक्तमस्ति, परीक्ष्यमाणं च न दृष्टिपथमवतरति, अतस्तदव्यक्तं; तत उत्पन्नः सर्पस्तत्रैव लीयते, न रज्ज्वाम् । एवं आत्मनि कल्पितानां भूतानां आदिरन्तश्चाव्यक्तमेव । तेन 'आदावन्ते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा' [गौ.का.२।६] इति न्यायेन मध्ये भासमानान्यपि तानि रज्जूरगवत् असन्त्येव । एवंविधे तत्र तस्मिन्विषये का परिदेवना को वा विलापः ? । न हि मरुमरीचिकाह्रदो नष्ट इति कश्चित्तत्त्ववित् विलपति । अत एव भूतानां रज्जूरगादीनामिव प्रतीतिसमकालिकीं सृष्टिमभिप्रेत्य कौषीतकिब्राह्मणे स्वापप्रबोधयोर्जगल्लयोदयौ पठ्येते "स यदा स्वपिति[1] तदैनं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति, चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति, श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति, मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति, स यदा प्रतिबुध्यते...... (अथ) एतस्मादात्मनः (सर्वे) प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते, प्राणेभ्यो देवाः, देवेभ्यो लोकाः" [ कौ. उ. ३।३ ] इति । प्राणाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि, देवास्तदनुग्राहकाः सूर्योदयः, लोका रूपादयः । नन्विहान्यत्र च आत्मैव सर्वभूतानां लयोदयस्थानमित्युच्यते, नान्यत्; तत्कथमेतेषामव्यक्तं लयोदयस्थानमित्युच्यते ? सत्यं; अज्ञानाश्रयत्वाद्ब्रह्मणि तथात्वव्यपदेशः, न वस्तुगत्या । न ह्यपरिणामिनः कूटस्थस्य मृद्वत्कार्यप्रविलयोदयस्थानत्वं सम्भवति । यथोक्तम्— 'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्मकारणमुच्यते' इति ॥ २८ ॥

आत्मनो दुर्बोधत्वं तद्द्रष्टृश्रोतृवक्तॄणां च दौर्लभ्यम् ।

## आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः ।
## आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥ २९ ॥

१ शां. भा.— दुर्विज्ञेयोऽयं प्रकृत आत्मा; किं त्वामेवैकमुपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते ? कथं दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा ? इत्यत आह— आश्चर्यवदिति ॥ आश्चर्यवत् आश्चर्यमदृष्टं पूर्वमद्भुतं अकस्माद्दृश्यमानं तेन तुल्यं आश्चर्यवदाश्चर्यमिव एनमात्मानं पश्यति कश्चित् । आश्चर्यवदेनं वदति तथैव चान्यः, आश्चर्यवच्चैनं अन्यः शृणोति । श्रुत्वा दृष्ट्वोक्त्वा अप्येनमात्मानं वेद न चैव

१ 'स यदा स्वपिति' एतावती श्रुतिः छान्दोग्ये (३।३।४) 'तदैनं' इत्यारभ्य 'लोकाः' इत्यन्ता तु कौषीतकिब्राह्मणे । चिन्त्यमेतत् ॥ २ यदा स देवो जागर्ति तदेदं चेष्टते जगत् । यदा स्वपिति शान्तात्मा तदा सर्वं निमीलति ॥ [ १।५२ ] इति मनुरप्येनमेवार्थं द्योतयति । ३ श्रुतिमूलकोऽयं श्लोकः [ कठो. २।७ ]

कश्चित् । अथवा—योऽयमात्मानं पश्यति स आश्चर्यतुल्यः । यो वदति यश्च शृणोति, सोऽनेकसहस्रेषु कश्चिदेव भवति । अतो दुर्बोध आत्मेत्यभिप्रायः ॥ २९ ॥

२ आ. शां. व्या.—अर्जुनं प्रत्युपालम्भं दर्शयित्वा प्रकृतस्यात्मनो दुर्विज्ञेयत्वात्तं प्रत्युपालम्भो न सम्भवतीति मन्वानः सन्नाह—**दुर्विज्ञेय** इति । तथा चाऽऽत्माज्ञाननिमित्तविभ्रमस्य साधारणत्वादसाधारणोपालम्भस्य निरवकाशतेत्याह—**किं त्वामेवेति** । अहम्प्रत्ययवेद्यत्वादात्मनो दुर्विज्ञेयत्वमसिद्धमिति शङ्कते—**कथमिति** । विशिष्टस्याऽऽत्मनोऽहम्प्रत्ययदृष्टत्वेऽपि केवलस्य तदभावादस्ति दुर्विज्ञेयतेति श्लोकमवतारयति—**आहेति** । 'आश्चर्यवत्' इत्याद्येन पादेनाऽऽत्मविषयदर्शनस्य दुर्लभत्वं दर्शयता द्रष्टुर्दौर्लभ्यमुच्यते । द्वितीयेन तद्विषयवदनस्य दुर्लभत्वोक्त्या तदुपदेष्टुस्तथात्वं कथ्यते । तृतीयेन तदीयश्रवणस्य दुर्लभत्वद्वारा श्रोतुर्विरलता विवक्षिता । श्रवणदर्शनोक्तीनां भावेऽपि तद्विषयसाक्षात्कारस्यात्यन्तायासलभ्यत्वं चतुर्थेनाभिप्रेतमिति विभागः । आत्मगोचरदर्शनादिदुर्लभत्वद्वारा दुर्बोधत्वमात्मनः साधयति—**आश्चर्यवदिति** । सम्प्रत्यात्मनि द्रष्टुर्वक्तुः श्रोतुः साक्षात्कर्तुश्च दुर्लभत्वाभिधानेन तदीयं दुर्बोधत्वं कथयति—**अथवेति** । व्याख्यानद्वयेऽपि फलितमाह—**अत** इति ॥ २९ ॥

३ रा. भा.—एवं शरीरात्मवादेऽपि नास्ति शोकनिमित्तमित्युक्त्वा शरीरातिरिक्त आश्चर्यस्वरूप आत्मनि द्रष्टा श्रोता वक्ता श्रवणायत्तात्मनिश्चयश्च दुर्लभ इत्याह—एवमुक्तस्वभावं स्वेतरसमस्तवस्तुविसजातीयतया आश्चर्यवदवस्थितमनन्तेषु जन्तुषु महता तपसा क्षीणपाप उपचितपुण्यः कश्चित्पश्यति । तथाविधः कश्चित्परस्मै वदति । एवं कश्चिदेव शृणोति । श्रुत्वाऽप्येनं यथावदवस्थितं तत्त्वतो न कश्चिद्वेद । चकारात् द्रष्टृवक्तृश्रोतृष्वपि तत्त्वतो दर्शनं तत्त्वतो वचनं तत्त्वतः श्रवणं दुर्लभमित्युक्तं भवति ॥ २९ ॥

४ वे. ता. चं.—एवमन्वारुह्यवादपरिसमापनेन पूर्वोक्तं स्वसिद्धान्तमेव देहात्ममोहमूलदुरितावलीमलीमसे जगति तदधिकारिदुर्लभत्वादिकथनेन प्रशंसतीत्याह—एवमिति । कतिपयपदविशेषितोऽयमौपनिषद एव 'आश्चर्यवत्' इत्यादिश्लोकः । **एवमुक्तस्वभावं** इति 'एनम्' इत्यस्यार्थः । 'अव्यक्तोऽयम्' इत्यादिनोक्तं वैजात्यं आश्चर्यत्वहेतुत्वायाह—**स्वेतरेति** । आश्चर्यवच्छब्दस्य पश्यत्यादिक्रियाविशेषणत्वभ्रमव्युदासायोक्तं **आश्चर्यवदवस्थितमिति** । आत्मनो वैलक्षण्यकथनमेवात्रोचितमिति भावः । एतेन कर्तृदृष्टान्ततया **शंकरोक्तं** योजनान्तरमपि दूषितम् । कश्चिदिति निर्धारणार्थमाह—**अनन्तेष्विति** । ज्ञानेन हीनानां नराणां पशुभिः समत्वप्रदर्शनायोक्तं **जन्तुष्विति** । 'कश्चित्' इत्यस्य तात्पर्यार्थमाह—**महतेति** । तथा चोच्यते—कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' [म. भा. अनु. प. ] इति । अन्यशब्दोऽत्र पूर्वोत्तरवाक्यगतकश्चिच्छब्दसमानार्थः । 'परस्मै' इत्यर्थलब्धोक्तिः । **श्रुत्वापि न वेद** इत्युक्ते व्याघातशास्त्रानारम्भादिदोषः स्यादित्याशङ्क्योक्तम्—**यथावदवस्थितं तत्त्वत** इति । प्रामाणिकसमस्ताकारयुक्तमनारोपितेन प्रकारेणेत्यर्थः । तत्त्ववेदिनोऽत्र दुर्लभत्वमात्रे तात्पर्यं श्रुत्वाऽपीत्यादिवाक्यस्थचकारस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वं तत्समुच्चेतव्यानि चाह—**चकारादिति** । देहातिरिक्तस्यात्मनो द्रष्टैव तावद्दुर्लभः ; किमुत यथावस्थितद्रष्टा ? तथाविधेषु सत्स्वपि वक्तैव दुर्लभः ; किमुत सकलरहस्यवक्ता ? । तादृशेषु सत्स्वपि श्रोतैव दुर्लभः ; किम्पुनर्बाह्यान्तरसकलशिष्यगुणसम्पन्नतया यथावस्थितश्रोता त्वादृशः ? इत्यभिप्रायः । प्रथमं श्रवणम् , ततो मननाच्छ्रवणायत्तात्मनिश्चयः , ततश्च वचनयोग्यता, तत्रापि चिराभ्यासादिना यथावस्थितवचनयोग्यता, ततश्च निदिध्यासनाद्दर्शनम् , ततो रत्नतत्त्ववत् चिरनिरीक्षणसंस्कारात् सविशेषदर्शनमिति वा क्रमः । अत्र देहातिरिक्तश्चेदात्मा किं तथा नोपलभ्यते ? इति शङ्कापाकरणाय दुर्ज्ञानत्वकथनम् । सर्वैर्ज्ञातुमशक्ये वा वस्तुनि किं त्वामेकमुपालभे ? इति भावः ॥ २९ ॥

५ आ. मा. भा.—देहयोगवियोगस्य नियतत्वादात्मनश्चेश्वरसरूपत्वात् सर्वथानाशान्न शोकः कार्य इत्युपसंहर्तुमैश्वरं सामर्थ्यं पुनर्दर्शयति—आश्चर्यवदिति । दुर्लभत्वेनेत्यर्थः । तद्ध्याश्चर्यं लोके । दुर्लभोऽपीश्वरसरूपत्वात्सूक्ष्मत्वाच्चात्मनस्तद्द्रष्टा ॥ २९ ॥

६ ज. प्र. दी.—आश्चर्यवदिति श्लोकस्य न प्रकृतसङ्गतिर्दृश्यते तदुत्तरश्च पुनरुक्त इत्यत आह—**देहयोगेति** । द्वन्द्वैकवद्भावोऽयम् । सर्वथेति बिम्बनाशाभावादिभिः सर्वैः प्रकारैरित्युपसंहर्तुमुत्तरेण श्लोकेन । ईश्वरसरूपत्वेऽपि कथमनाश इत्याशङ्कापरिहारहेतुत्वाद्**उपसंहर्तुमि**त्युक्तम् । अप्रमेयस्येत्यादिना प्रागुक्तत्वात्पुनरिति । एवं यः कश्चित्पश्यति स आश्चर्यवदित्युक्त्वा चतुर्थपादेन तदुपपादनं क्रियते, तं व्याचष्टे—**दुर्लभत्वेनेति** । दुर्लभत्वमाश्चर्यशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमित्यर्थः । तत्कथमित्यत आह—**तद्धीति** । 'आश्चर्यमनित्ये' [अष्टा. ६।१।१४७] इत्यादिस्मृतिं हिशब्देन सूचयति । सर्वेषामात्मद्रष्टृत्वात्कथमा-

त्मद्रष्टा दुर्लभोऽपि येनाश्चर्यमुच्यते ? इत्यत आह— दुर्लभोऽपीति । ईश्वरसरूपत्वादिनाऽऽत्मद्रष्टा दुर्लभ इति भावः । अनेन आश्चर्य एवाश्चर्यवदित्युच्यत इत्युक्तं भवति । यत्प्रतिबिम्बस्य जीवस्य द्रष्टाऽपि दुर्लभः, किं तत्सामर्थ्यं वर्णनीयम् ? इतीश्वरसामर्थ्यदर्शनम् । देहयोगवियोगस्येत्यादिना 'देही नित्यं' [ २।३० ] इति (उत्तर-) श्लोको (ऽपि) व्याख्यातः । 'स्वधर्म' [२।३१—३८] इत्यादयः श्लोका अतिरोहितार्थत्वान्न व्याख्याताः । एवमुत्तरत्रापि ॥ २९ ॥

**७ ह. पै. भा.— दुर्बोधोऽयं प्रकृत आत्मा किं त्वामेवैकमुपालभे साधारणे भ्रान्तिनिमित्ते ? कथं दुर्विज्ञेय आत्मा ? इति, तत्राऽऽह— आश्चर्यवदिति । आश्चर्यवदाश्चर्यमद्भुतम्, स्वार्थे वतिप्रत्ययः । आश्चर्यमेवाऽऽश्चर्यवददृष्टं अननुभूतमकस्माद्दृश्यमानं आश्चर्यमेनमात्मानं कश्चित्पश्यतीत्याश्चर्यम् । तथैवैनमात्मानमन्यः कश्चिद्वदतीत्येतदाश्चर्यं श्रुत्वा दृष्ट्वोक्त्वाऽप्येनं न च वेदेत्याश्चर्यम्; अतो दुर्बोध आत्मेत्यभिप्रायः ॥ २९ ॥**

८ वे. ब्र. गि.— 'न जायते म्रियते' [ २।२० ] इत्यादिना निर्विकारात्मतत्त्वमुक्त्वाऽपि 'अथ चैनं नित्यजातम्' [ २।२६ ] इत्यात्मनो जन्मनाशावभ्युपेत्य यदशोच्यत्वं वर्णितं तत्तु शोकनिवर्तकतयोक्तस्य निर्विकारात्मतत्त्वज्ञानस्य दुर्लभत्वेन लोकदृष्ट्या आत्मनि जन्मनाशोपगमेऽपि न शोकप्रसक्तिरित्येतदभिप्रायेणैव, न त्वात्मनः सविकारत्वमस्तीत्यभिप्रायेणेति दर्शयितुं निर्विकारात्मतत्त्वज्ञानस्य दुर्लभत्वमाह—

कश्चिदेनं पश्यतीति प्रथममन्वयः । एनमिति निर्विकारात्मपरामर्शः । 'कश्चित्' इत्यनेन च 'कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः' [ ७।३ ] 'स महात्मा सुदुर्लभः' [ ७।१९ ] इत्यादिवक्ष्यमाणरीत्या अनेकसहस्रेषु कश्चिदेवात्मदर्शी भवति, न सर्वोऽपि; "पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्" [ कठो. ३।१ ] "आत्मानं चेद्विजानीयात्" [बृ.उ.४।४।१२] इत्यादिश्रुत्या पराक्प्रवणतयैव ब्रह्मणा लोकसृष्टेरात्मदर्शनदौर्लभ्यस्य चावगमादित्ययमर्थः सूचितः । ननु सर्वोऽप्यहमित्यात्मानं पश्यति, तत्कथमात्मविद्दौर्लभ्यम् ? अत आह— आश्चर्यवदिति । ऐन्द्रजालिकमघटमानमाश्चर्यम् । तद्वदवस्थितमेनं पश्यतीति योजना । सत्यम्, अखिलोऽप्यहमित्यात्मानं पश्यति, तत्तु नात्मतत्त्वदर्शनम्, आत्मतत्त्वं हि परमाश्चर्यरूपम्, यतः कर्तृभोक्त्रादिरूपतयाऽहम्प्रत्ययेनावगम्यमानमपि वस्तुतो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावरूपपरमात्मानन्दपरब्रह्मरूपम्; ईदृशं चात्मतत्त्वं श्रुत्याचार्योपदेशैकसमधिगम्यं नाहम्प्रत्ययेन लोकोऽवगच्छति; किन्तु अनेकजन्मसंसिद्धश्रमशरीरी यः कश्चिदेवेति तद्दर्शनं दुर्लभमित्यर्थः । न केवलं ज्ञातृदौर्लभ्यविषयदुर्बोधत्वाभ्यामेव आत्मदर्शनदौर्लभ्यम्; किन्तूपदेष्टुराचार्यस्य दुर्लभत्वादपीत्याह— आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः । पश्यतिना सह वदतेः समुच्चयार्थश्चकारः । तथाशब्दस्तु प्रथमपादात् 'कश्चिदेनं' इत्यस्यातिदेशार्थः । एवं च कश्चिदेवैनं वदतीति प्रथमं सम्बन्धः । कश्चिदेवेत्येवकारेण अनेकेषु कश्चिज्ज्ञाता, तत्रापि कश्चिदेवोपदेष्टेति ज्ञात्रपेक्षयाऽप्युपदेष्टुर्दौर्लभ्यमुक्तम् । यः खल्वात्मानं जानाति स सर्वोऽपि हि नोपदेष्टा भवति; समाधिनिष्ठस्य तदभावात्, व्युत्थितस्यापि ख्यातिलाभपूजाद्यनपेक्षित्वेन स्वतस्तत्प्रवृत्त्यभावात्, कथञ्चित्कृपामात्रेणोपदेष्टुं प्रवृत्तस्तु परमेश्वरवदतिदुर्लभ एवेति भावः । कथञ्चिदुपदेष्टुर्लाभेऽपि "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" [ कठो. २।७ ] इति श्रुत्युक्तः शिष्यसमाधानकुशलो वक्ताऽप्यत्यन्तविरल एव भवति; श्रूयते हि भगवतो बादरायणादजातसमाधानः शुको जनकमुपेत्य विश्रान्तचित्तोऽभूदिति ज्ञानवासिष्ठे [ यो. वा. प्र. २ स. १ ] कथेत्यभिप्रायेणाह— अन्य इति; विलक्षण इत्यर्थः । वदतीति स्ववाक्योपात्तसन्निहितवक्तृप्रतियोगिकमेवेह वैलक्षण्यम् । तच्च वक्तुरेव सतः शिष्यसमाधानकुशलत्वेन वक्त्रन्तरवैलक्षण्यरूपं लभ्यते, अन्येतरादिशब्दानां प्रतियोगिसदृशतद्भिन्नवाचित्वस्य दृष्टत्वात् । 'समानमितरच्छ्येनेन' [ ] इति वाक्ये हीतरशब्दस्य प्रस्तुतविधृतिविकाररूपवैशेषिकाङ्गसदृशपरत्वात्तद्वाक्यं तत्सदृशानां श्येनवैशेषिकाङ्गानां लोहितोष्णीषत्वादीनामतिदेशकम्, न तु श्येन इषौ च साम्येन प्राप्तानां प्राकृताङ्गानामनुवादकमिति वचनातिदेशविचारे सिद्धान्तितम् ।

अथ उपदेशस्वरूपपर्यालोचनयाऽप्युपदेष्टुर्दौर्लभ्यमित्याशयेनाह— आश्चर्यवद्वदतीति । अत्र वदतेर्विशेषणमाश्चर्यवत्पदम्, आश्चर्यं यथा तथा वदति । शब्दविषये हि वस्तुन्युपदेशः प्रवर्तते । आत्मतत्त्वं तु न कस्यापि शब्दस्य विषयः, "यद्वाचानभ्युदितम्" [ केनो. १।४ ] "यतो वाचो निवर्तन्ते" [ तै. उ. २।९ ] इत्यादिश्रुतेः । अतः कथं तदुपदेष्टव्यम् ? अत एव खलु श्रुतिः— "अवचनेनैव...प्रोवाच" [ ? नृ. उ. ता. ७ ] इति । तस्मादघटमानत्वेनाश्चर्यतुल्यत्वादात्मोपदेश आश्चर्यवदित्यर्थः । यद्यपि अभिधेयात्मनि शब्दस्याप्रवृत्तावपि लक्षणया वेदान्तरूपशब्दस्तत्र प्रवर्तते, "तं त्वौपनिषदम्" [ बृ. उ. ३।९।२६ ] इति श्रुतेः; "यद्वाचा" [ केनो. १।४ ] इत्यादिकं च अभिधावृत्त्यात्मनि शब्दनिषेधपरमिति सिद्धान्तः; तथापि लक्षणयाऽप्यात्मोपदेशोऽत्यन्ताश्चर्यरूपः, अन्तरेण शक्यसम्बन्धं, अन्तरेण च शक्यतावच्छेदकं, अन्तरेण च केनापि शब्देन वाच्यतां क्वचिदपि लक्षणया लोके शब्दप्रवृत्तेरदर्शनादित्यभिप्रायः । एवं ज्ञातुरेव विरलत्वात् सत्यपि तस्मिन्नुपदेष्टुर्दुर्लभत्वादात्मदर्शनदौर्लभ्यमित्युक्तम् ।

इदानीं सत्यप्युपदेष्टरि श्रोतुर्विरलत्वात्तद्दौर्लभ्यमित्याह— **आश्चर्यवच्चैनमन्यः** शृणोतीति । वदतिना सह शृणोतेः समुच्चयार्थश्चकारः । आश्चर्यवदिति च अन्य इत्यस्य विशेषणम् । आश्चर्यतुल्यो यः कश्चिदेवैनं शृणोति वेदान्तविचाराख्यश्रवणविषयीकरोति, न सर्वोऽपि; नास्तिकस्य तदभावात् । आस्तिकस्यापि 'वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः' [२।४२] इत्यादिवक्ष्यमाणरीत्या प्रायेण भोगैश्वर्यैकतानतया कर्ममार्ग एव स्वरसतः प्रवृत्तिरिति ज्ञानमार्गप्रवृत्तिर्दुर्लभैव । क्वचित्कदाचित्कस्यचिज्जाताऽपि सा देवैः प्रतिबध्यते "यदेतद्ब्रह्म मनुष्या विदुस्तदेषां देवानामप्रियम्" इति श्रुतेः । न हि देवताप्रातिकूल्ये मनुष्ययत्नः प्रभवति । एतदभिप्रेत्यैव श्रुतिर्वदति "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः" [कठो.१।२] इति । वक्ष्यते चात्रापि— 'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये' [७।३] इति । तथा च अनेकजन्मकृतसुकृतप्रक्षालितान्तःकरणमलः शमदमादिसाधनसम्पन्नो मुमुक्षया विधिवदाचार्यमुपसृत्य यः कश्चिदेव वेदान्तश्रवणं करोतीति श्रोता अतिदुर्लभ इति भावः । एवं कथञ्चिच्छ्रोतृलाभेऽपि तस्य यदि श्रवणेनैवात्मज्ञानं जायत इति नियमः स्यात्, तर्ह्यभ्युपगच्छेमैवात्मज्ञानसौलभ्यम् । न त्वेवम्, कृतेऽपि श्रवणे बहुविघ्नप्रतिबन्धसत्त्वात् । असत्येव च प्रतिबन्धे श्रवणादीनां ज्ञानजनकत्वम् । श्रूयते खल्विन्द्रविरोचनयोरात्मविविदिषया ब्रह्माणं विधिवदुपसद्य कृतश्रवणयोर्विरोचनोऽनधिगतात्मतत्त्वज्ञान एव स्वपुरं प्राप्तः, इन्द्रस्तु एकशतं वर्षाणि तत्र ब्रह्मचर्यमुषित्वा विदितात्मतत्त्वो जात इति छान्दोग्ये [अ.८। खं.७-१२] कथा । वामदेवश्च कृतश्रवणोऽपि जन्मान्तरप्रापकबलवत्प्रारब्धप्रतिबन्धादनुत्पन्नज्ञानस्तथैव गर्भवासं प्राप्य प्रतिबन्धक्षये सति तदा ज्ञानी जात इति गर्भस्थ एव "ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे" [बृ.उ.१।४।१०] इत्यादिश्रुत्याऽवगम्यते । जडभरतोऽपि बहुशः कृतात्मविचारः प्रारब्धवशाज्जन्मत्रयमनुभूय क्षीणवासनः पश्चादप्रतिबन्धादात्मतत्त्वसाक्षात्कारान्मुक्तो जात इति भागवतादिषु [५।७-१३] प्रतिपाद्यते । वक्ष्यते चात्रापि— 'अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्' [६।४५] इति । घुष्यन्ति च स्मृतिपुराणानि— 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः' [म.भा. १२।२०४।८] इति । श्रुतिरप्येतदेवाभिप्रेत्य "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" [कठो.२।७] इत्याचष्टे । सूत्रितं चैवमेव भगवता बादरायणेन ब्रह्ममीमांसायाम्— 'ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात्' [३।४।५१] इति ।

तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह— 'श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्' इति । एनमात्मानं श्रुत्वाऽपि च कश्चिन्न वेदैवेति योजना । 'श्रुत्वाऽपि' इत्यनेन श्रवणमेव दुर्लभम्, कृतेऽपि श्रवणे कश्चिन्न वेदेत्ययमर्थो दर्शितः । यद्वा श्रुत्वाऽपि न वेद, किन्तु वक्तव्यमश्रुत्वेत्यर्थः । अथवा श्रुत्वाऽपीत्यादेरित्थं व्याख्यानम्— ननु सुषुप्तौ सर्वोऽपि सुखरूपमात्मानमनुभवत्येव, "सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति" [कै. उ.१३ पं. द. ११ । ५८] इति श्रुतेः; तत्कथमुच्यते कश्चिदेनं पश्यतीति ? तथा लोके सर्वेऽपि वेदान्तान् व्याचक्षते शृण्वन्ति चेति कथं वोपदेष्टुः श्रोतुश्च दौर्लभ्यं ? इत्याशङ्क्याह— **श्रुत्वाऽप्येनमिति** । अपिशब्दः पूर्वार्धोक्तदर्शनोपदेशसमुच्चयार्थः । दृष्ट्वोपदिश्य श्रुत्वाऽपि कश्चिच्चैनं नैव वेदेत्यन्वयः । "सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति (सम्पत्स्यामहे) सम्पद्यामहे" [छां. उ. ६।९।२] इति "तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः" [छां. उ. ८।३।२] इति सौषुप्तिकात्मसुखसम्पत्तेरज्ञानावृतत्वोक्तेः । इदानीन्तनप्रापञ्चिकगुणशिष्यसमुदायस्य च 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' [४।३४] इति वक्ष्यमाणरीत्या यथावदात्मतत्त्वदर्शनशीलत्वाभावेन तदीयोपदेशश्रवणयोरकिञ्चित्करत्वाच्च उक्तदर्शनोपदेशश्रवणैर्न कोऽप्यात्मतत्त्वमप्रतिबद्धापरोक्षं जानातीत्यतो दुर्बोधमात्मतत्त्वमिति निर्गलितोऽर्थः । तदनेन श्लोकेन "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः" [२।२७] इति कठवल्लीश्रुत्यर्थः प्रदर्शितो भवति ॥२९॥

९ ब० त० दी०— सोऽयमात्माऽव्यक्तो यत आश्चर्यवदित्याह— आश्चर्यवदिति । अवितर्क्यमिव पश्यतीत्यादि ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.—नन्वेवं चेत्तदा विद्वांसः पापकर्मणा नरकसम्भावनया कथं शोचन्तीत्याशङ्क्याह— **आश्चर्यवदिति** । एनं कश्चिदाश्चर्यवत् पश्यति, शास्त्रार्थज्ञानान्नित्यमव्यक्तादिरूपं जानन् जन्मादिभावदर्शनादाश्चर्यवन्मायाकृतैन्द्रजालवत्पश्यतीत्यर्थः । एतेषां जन्मादिभावास्तु मदिच्छया मत्क्रीडार्थका इति आश्चर्यवदित्युक्तम् । तथैव च मन्मायया मोहितः कश्चिदाश्चर्यवद्वदति, अन्यान् बोधयतीत्यर्थः । अन्यश्च श्रोता स्वतो ज्ञानरहित आश्चर्यवत् शृणोति । श्रुत्वाऽप्येनं यथार्थमिदमित्युक्त्वा न वेद । वै निश्चयेनैतत्त्रितयेषु कोऽपि न वेद, न ज्ञातवानतोऽज्ञानात्तेऽपि शोचन्तीति भावः ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु वज्रपञ्जरतुल्यस्य सर्वप्रमाणसिद्धस्य वियदादिप्रपञ्चस्य कथं रज्जूरगादिवदज्ञानप्रभवत्वेनात्यन्ततुच्छत्वमुच्यते ? कथं वा कर्मज्ञानकाण्डापेक्षितमात्मनो यज्ञादिकर्तृत्वं श्रवणादिकर्तृत्वं चापह्नूयते ? इत्याशङ्क्याह— **आश्चर्यवदिति** । कश्चित् ज्ञातात्मतत्त्व एनमतीतानन्तरश्लोकोक्तं भूतग्राममाश्चर्यवत्— आश्चर्यमद्भुतं स्वप्नमायैन्द्रजालादिकं, तेन तुल्यं आश्चर्यवत्, तथाभूतं पश्यति । तथा कश्चिदेनं आश्चर्यवद्वदति,

सत्त्वेन असत्त्वेन वा निर्वक्तुमशक्यमपि अनिर्वचनीयेनैव लोकाप्रसिद्धेन रूपेणोपपादयति । तथाहि—रज्जूरगवत्प्रपञ्चः संश्चेत् "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" [बृ. उ. ४।४।१९ कठो. ४।११ ] इति श्रुत्या न बाध्येत, असंश्चेन्न प्रतीयेत, तस्मादनिर्वचनीयोऽयमिति । तदिदं सर्वव्यवहारास्पदस्यापि प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वोपपादनमत्याश्चर्यमित्यर्थः । तथा एनं प्रपञ्चमन्य आश्चर्यवत् शृणोति । "इमे लोका इमे देवा इमे वेदाः (इमानि भूतानि) इदं सर्वं यदयमात्मा" [ बृ. उ. ४।५।७ ] इति प्रत्यक्षेणानात्मतया उपलभ्यमानस्यापि प्रपञ्चस्य यत् प्रत्यगभिन्नत्वेन श्रवणं तदत्यन्तमाश्चर्यम् । न हीयं श्रुतिः "यजमानः प्रस्तरः" [ तै. सं. १।७।४ ] इत्यादिवदुपचरितार्था प्रपञ्चस्यात्मनः पृथक्त्वे । "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितं भवति" [ बृ. उ. २।४।५ ] इत्येकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञोपरोधापत्तेः । न च प्रतिज्ञाऽप्यौपचारिकी, प्रदेशान्तरे श्रुतस्य "यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्" [छां. उ. ६।१।४] इति दृष्टान्तस्योपरोधापत्तेः । तस्मात्प्रतिज्ञादृष्टान्तनिगमनानामेकवाक्यत्वात् न प्रपञ्चस्यात्मान्यत्वम् ; तच्च भेदग्राहिप्रत्यक्षविरोधादाश्चर्यमिव शृणोति । तथा कश्चिदेनं प्रपञ्चं प्रत्यगनन्यत्वेन श्रुत्वा, अपिशब्दादुक्त्वा स्वप्नादिदृष्टान्तैरुपपाद्य, दृष्ट्वा ध्यानेन च साक्षात्कृत्वाऽपि तत्त्वतो न वेद न जानाति । तथा हि प्राप्ताऽपि प्रज्ञा तीव्रविक्षेपवतः परिहीयत इति वक्ष्यति, तस्मादात्मैक्यात्सम्भवत्येव प्रपञ्चस्य रज्जूरगादितुल्यत्वेन तुच्छत्वम् । यद्वा—एनं आत्मानं कर्तृत्वभोक्तृत्वदुःखित्वानित्यत्वजडत्वसङ्गित्वपरिच्छिन्नत्वादिधर्मवत्तया प्रसिद्धमपि "तत्त्वमसि" [ छां. उ. ६।८।७+६।९।४ ] इत्यागमोत्थया ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्त्या ब्रह्मविद्याख्यया अकर्तारमभोक्तारमानन्दघनं सच्चिद्रूपमसङ्गमनन्तमपरोक्षीकरोतीति महदाश्चर्यम् । यत् पश्यति तदाश्चर्यवदिति क्रियाविशेषणं वा । अविद्यकमपि दर्शनमविद्यां स्वात्मानं च कतकरजोवन्निवर्त्तयतीति । यद्वा यः पश्यति स आश्चर्यवदिति कर्तृविशेषणम् ; यत एक एव विद्वान् समाधिव्युत्थानयोः परस्परविरुद्धमात्मनो ब्रह्मभावं जीवभावं च यावदारब्धकर्मक्षयमनुभवतीति । तथा वाङ्मनसातीतमप्यात्मानं यद्वाचा वदति तदप्याश्चर्यम् । अगृहीतसङ्गतिकेनापि शब्देन यथा सुप्तः प्रबोध्यते तद्वत् । यथोक्तं वार्तिके—'अगृहीत्वैव सम्बन्धमभिधानाभिधेययोः । हित्वा निद्रां प्रबुध्यन्ते सुषुप्ते बोधिताः परैः ॥ जाग्रद्वन्न यतः शब्दं सुषुप्ते वेत्ति कश्चन । ध्वस्तेऽतो ज्ञानतोऽज्ञाने ब्रह्मास्मीति भवेत्फलम् ॥ अविद्याघातिनः शब्दाद्याऽहं ब्रह्मेति धीर्भवेत् । नश्यत्यविद्यया सार्द्धं हत्वा रोगमिवौषधम्' इति । तथा यः शृणोति सोऽपि आश्चर्यवत्, अतिदुर्लभ इत्यर्थः । "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः" [ कठो. २।७ ] इति श्रुतेः । "शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः" [ कठो. २।७ ] इति श्रुतिद्वितीयपदार्थं संगृह्णाति । श्रुत्वाऽप्येनमिति 'आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलेनानुशिष्टः" [कठो. २।७] इति उत्तरार्द्धस्तु श्लोकपूर्वार्द्धेन संगृहीत इति ज्ञेयम् । दुर्विज्ञेयोऽयमात्माऽतस्त्वं तज्ज्ञानार्थं यतस्वेति भावः ॥ २९ ॥

आत्मनः सर्वगतत्वान्नित्यमवध्यत्वाच्चाशोच्यत्वम् ।

## देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ! ।
## तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

**१ शां. भा.— अथेदानीं प्रकरणार्थमुपसंहरति— देहीति ॥ यस्मात् देही शरीरी नित्यं सर्वदा सर्वावस्थासु अवध्यो निरवयवत्वान्नित्यत्वाच्च, तत्रावध्योऽयं देहे शरीरे सर्वस्य सर्वगतत्वात् स्थावरादिषु स्थितोऽपि । सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽप्ययं देही न वध्यः यस्मात्, तस्मात् भीष्मादीनि सर्वाणि भूतान्युद्दिश्य न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥**

२ आ. शां. व्या.— श्लोकान्तरमुत्थापयति— अथेति । आत्मनो दुर्ज्ञानत्वप्रदर्शनानन्तरमिति यावत् । वस्तुवृत्तापेक्षया शोकमोहयोरकर्तव्यत्वं प्रकरणार्थः । देहे वध्यमानेऽपि देहिनो वध्यत्वाभावे फलितमाह— यस्मादिति । हेतुविभागं विभजते— सर्वस्येति । फलितप्रदर्शनपरं श्लोकार्धं व्याचष्टे— तस्माद्भीष्मादीनीति ॥ ३० ॥

**३ रा. भा.— सर्वस्य देवादिदेहिनो देहे वध्यमानेऽप्ययं देही नित्यमवध्य इति मन्तव्यः । तस्मात्सर्वाणि देवादिस्थावरान्तानि भूतानि विषमाकाराण्यप्युक्तेन स्वभावेन स्वरूपतः समानानि**

नित्यानि च । देहगतं तु वैषम्यमनित्यत्वं च । ततो देवादीनि सर्वाणि भूतान्युद्दिश्य न शोचितुमर्हसि; न केवलं भीष्मादीन्प्रति ॥ ३० ॥

४ वे. ता. चं.— अथ यथा देवादिस्थावरान्तेषु भूतेषु देहांशे जातिगुणदेशकालदुर्भेदत्वसुभेदत्ववैषम्यमुपलभ्यते, तद्वत् देहिष्वपि सुखित्वदुःखित्वादिवैषम्यं दृश्यते । देवादिशब्दाश्च देवत्वादिविशिष्टात्मपर्यन्ताः । एवं नित्यानित्यत्वादिलक्षणवैषम्यमपि सम्भाव्येतेति शङ्कानिराकरणायोच्यते— देहीति । वध्यमानेऽपीति सामर्थ्यानीतमुक्तं ' हन्यमाने शरीरे ' [ २।२० ] इतिवत् । अन्यथा ' देहे सर्वस्य ' इत्यस्य नैरर्थक्यं 'देही' इत्येतावतैव देहवर्तित्वसिद्धेः । भूतशब्दोऽत्र क्षेत्रज्ञपर्यन्तः । ' सर्वाणि ' इत्यादिसूचितशङ्काहेतुः विषमाकाराण्यपि इत्यनूदितः । देवादिभेदात्तत्प्रयुक्तसुखादिभेदाच्चेति शेषः । उक्तेन स्वभावेनेति; पूर्वोक्तसूक्ष्मत्वाच्छेद्यत्वादिनेत्यर्थः । नित्यानि चेति; न तु नित्यत्वानित्यत्वलक्षणवैषम्यं शङ्कनीयमित्यर्थः । देहगतं तु वैषम्यमिति । देहगतमत्र देवादिसन्निवेशवैषम्यम् । सुखादिवैषम्यं स्वात्मगतमपि तत्तद्देहौपाधिकधर्मभूतज्ञानावस्थाविशेषतारतम्यात्मकम् । चेतनानां देहादिशब्दैर्व्यपदेशस्तु शरीरस्यापृथक्सिद्धिमात्रनिबन्धन इति भावः । प्रकृतसङ्गतिज्ञापनाय 'सर्वाणि' इत्यस्य व्यवच्छेद्यमाह— न केवलं भीष्मादीन् प्रतीति । एवं ' अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् ' [ २।११ ] इत्यादिना ' न त्वं शोचितुमर्हसि ' [ २।३० ]—इत्यन्तेनास्थानकारुण्यमपोदितम् ॥ ३० ॥

५ आ. मा. भा.—॥ ३१ ॥ ३२ ॥

६ ज. प्र. दी. ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

७ ह. पै. भा.— अथेदानीं प्रकरणमुपसंह्रियते— तस्माद्भीष्मादीनि सर्वाणि भूतान्युद्दिश्य न त्वं शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

८ वे. ब्र. गि.— अथेदानीं 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' [ २ । ११ ] इत्यारभ्यैतदन्तेनोक्तमर्थमुपसंहरति— सर्वस्य प्राणिजातस्य देहे वध्यमानेऽपि अयं देही आत्मा वध्यो न भवतीति नित्यं नियतं यस्मात्, तस्मात् भीष्मादीनि सर्वाण्यपि भूतानि प्राणिन उद्दिश्य त्वं शोचितुं नार्हसि । आत्मनो नाशाभावेन देहानां च स्वतो नश्वरस्वभावत्वेन शोकविषयस्यैव कस्यचित्पदार्थस्याभावादित्यर्थः ॥ ३० ॥

९ ब० त० दी०— यतो देही आत्मा जीवो नित्यमवध्यः सर्वस्यानेकविधस्य देहे तस्मात् सर्वाणि भूतानि न शोचितुमर्हसि ॥ ३० ॥

१० पु. अ. त.— पूर्वोक्तमुपसंहरन् शोकाभावमुपदिशति— देहीति । देही सर्वस्य देहे अवध्यस्तस्मात्सर्वाणि भूतानि जातदेहानि ननु देही जायत इति त्वं शोचितुं नार्हसि । भारतेति सम्बोधनात्तथाज्ञानभवत्वं बोध्यते ॥३०॥

११ नी० भा० दी०— प्रकृतमर्थमुपसंहरति— देहीति । सर्वाणि भूतानि कथं ते दीना अल्पबला बलवत्तरेण मया हन्तव्याः ? कथमेषां पुत्रादय एतैर्विना जीविष्यन्ति ? कथं वाऽहं भीष्मादिभिर्गुरुभिर्विना जीविष्यामीति शोचितुं नार्हसीत्यर्थः ॥ ३० ॥

क्षत्रियस्य प्रधानधर्मत्वाद्युद्धमेव श्रेयस्साधनं, तत्फलं च ।

**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।**
**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते ॥ ३१ ॥**
**यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।**
**सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ ! लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥ ३२ ॥**

१ शां. भा.— इह परमार्थतत्त्वापेक्षायां शोको वा मोहो वा न सम्भवतीत्युक्तम्, न केवलं परमार्थतत्त्वापेक्षायामेव, किन्तु— स्वधर्ममिति ॥ स्वधर्ममपि स्वो धर्मः क्षत्रियस्य धर्मः युद्धं, तमप्यवेक्ष्य त्वं न विकम्पितुं प्रचलितुमर्हसि, धर्म्यात् क्षत्रियस्य स्वाभाविकाद्धर्मात्, आत्मस्वाभाव्यादित्यभिप्रायः । तच्च युद्धं पृथिवीजयद्वारेण धर्मार्थं प्रजारक्षणार्थं चेति परमं धर्म्यम् । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । तस्माद्धर्म्यात् युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते, हि यस्मात् ॥ ३१ ॥

**कुतश्च तद्युद्धं कर्तव्यं ? इत्युच्यते— यदृच्छयेति । यदृच्छया च अप्रार्थिततयोपपन्नमागतं स्वर्गद्वारं अपावृतमुद्धाटितं य एतदीदृशं युद्धं लभन्ते क्षत्रियाः हे पार्थ ! किं न सुखिनस्ते ? ॥ ३२॥**

२ आ. शां. व्या.— श्लोकान्तरमवतारयन् वृत्तं कीर्तयति— **इहेति** । पूर्वश्लोकः सप्तम्यर्थः । यत्पारमार्थिकं तत्त्वं तदपेक्षायामेव केवलं शोकमोहयोरसम्भवो न भवति, किन्तु 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इति सम्बन्धः । स्वकीयं क्षात्रं धर्ममनुसन्धाय ततश्चलनं परिहर्तव्यमित्यर्थः । यद्धि क्षत्रियस्य धर्मादनपेतं श्रेयस्साधनं तदेव मयाऽनुवर्तितव्यमित्याशङ्कयाऽऽह— **धर्म्यादि**ति । जातिप्रयुक्तं स्वाभाविकं धर्ममेव विशिनष्टि— **क्षत्रियस्येति** । पुनर्नकारोपादानमन्वयार्थम् । प्रचलितुमयोग्यत्वे प्रतियोगिनं दर्शयति— **स्वाभाविका**दिति । स्वाभाविकत्वमशास्त्रीयत्वमिति शङ्कां वारयितुं तात्पर्यमाह— **आत्मेति** । आत्मनः स्वस्यार्जुनस्य स्वाभाव्यं क्षत्रियस्वभावप्रयुक्तं वर्णाश्रमोचितं कर्म तस्मादित्यर्थः । धर्मार्थं प्रजापरिपालनार्थं च प्रयतमानस्य युद्धादुपरिरंसा श्रद्धातव्येत्याशङ्कयाऽऽह— **तच्चेति** । ततोऽपि श्रेयस्करं किञ्चिदनुष्ठातुं युद्धादुपरतिरुचितेत्याशङ्कयाऽऽह— **तस्मा**दिति । तस्मात् युद्धात्प्रचलनमनुचितमिति शेषः ॥ ३१ ॥

युद्धस्य गुर्वाद्यनेकप्राणिहिंसात्मकस्याहिंसाशास्त्रविरोधान्नास्ति कर्तव्यतेति शङ्कते— **कुतश्चेति** । अग्नीषोमीयहिंसावद्युद्धमपि क्षत्रियस्य विहितत्वादनुष्ठेयं, सामान्यशास्त्रतो विशेषशास्त्रस्य बलीयस्त्वादित्याह— **उच्यत** इति । तथापि युद्धे प्रवृत्तानामैहिकामुष्मिकस्थायिसुखाभावादुपरतिरेव ततो युक्ता प्रतिभातीत्याशङ्कयाऽऽह— **यदृच्छयेति** । चिरेण चिरतरेण च यागाद्यनुष्ठायिनः स्वर्गादिभाजो भवन्ति, युध्यमानास्तु क्षत्रिया बहिर्मुखताविहीनाः सहसैव स्वर्गादिसुखभोक्तारः, तेन तव कर्तव्यमेव युद्धमिति व्याख्यानेन स्फुटयति— **यदृच्छये**त्यादिना । इहामुत्र च भाविसुखवतामेव क्षत्रियाणां स्वधर्मभूतयुद्धसिद्धेस्तादर्थ्येनोत्थानं शोकमोहौ हित्वा कर्तव्यमित्यर्थः ३२॥

**३ रा. भा.— अपि चेदं प्रारब्धं युद्धं प्राणिमारणमपि अग्नीषोमीयादिवत् स्वधर्ममवेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि । धर्म्यान्न्यायतः प्रवृत्ताद्युद्धादन्यन्न हि क्षत्रियस्य श्रेयो विद्यते । 'शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् । दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्' [ १८।४३ ] इति हि वक्ष्यते । अग्नीषोमीयादिषु च न हिंसा पशोः, निहीनतरच्छागादिदेहपरित्यागपूर्वककल्याणतरदेहस्वर्गादिप्रापकत्वश्रुतेः संज्ञपनस्य "न वा उ वेतन्म्रियसे न रिष्यसि देवाँ इदेषि पथिभिस्सुगेभिः । यत्र यन्ति सुकृतो नापि दुष्कृतः । तत्र त्वा देवः सविता दधातु" [ यजु. ४।६।९।४६ तै. ब्रा. ३।७।७।१४] इति हि श्रूयते । इह च युद्धे मृतानां कल्याणतरदेहादिप्राप्तिरुक्ता, 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति' [ २।२२ ] इत्यादिना । अतश्चिकित्सकशल्यादिकर्म आतुरस्येवास्य रक्षणमेवाग्नीषोमीयादिषु संज्ञपनम् ॥ ३१ ॥ अयत्नोपनतमिदं निरतिशयसुखोपायभूतं निर्विघ्नमीदृशं युद्धं सुखिनः पुण्यवन्तः क्षत्रिया लभन्ते ॥ ३२ ॥**

४ वे. ता. चं.— अथ 'स्वधर्मम्' इत्यादिना 'मरणादतिरिच्यते' [२।३४] इत्यन्तेन धर्माधर्मधीरपोद्यते । **अपिचेति** समुच्चेतव्यहेत्वन्तरपरप्रकरणभेदद्योतनार्थः । **धर्म्याद्धि युद्धात्** इति वाक्यशेषप्रदर्शितं 'स्वधर्मम्' इत्यस्य विशेष्यमाह— **इदं युद्धमिति** । स्वो धर्मः स्वस्य वा धर्मः स्वधर्मः । 'विकम्पितुं' इत्येतत्सामर्थ्यसिद्धमुक्तं **प्रारब्धमिति** । अधर्मधीहेतुं सामान्यनिषेधमनुवदति **प्राणिमारणमपीति** । प्रबलं विशेषशास्त्रं निषेधशास्त्रात् निषेधस्याप्रसक्तिं वा स्मारयति— **अग्नीषोमीयादिवदि**ति । धर्मयुद्धव्यतिरिक्तस्य कस्यचिदन्यस्य श्रेयसः क्षत्रिये स्वरूपनिषेधभ्रमं व्युदस्यन् क्षत्रियस्य प्रशस्यतरं धर्म्ययुद्धादन्यन्नास्तीत्येतदर्थमन्वयमाह— **धर्म्यादिति** । धर्म्यत्वं धर्मादनपेतत्वम् । तद्धेतुर्न्यायतः प्रवृत्तत्वम् । तच्च निरायुधनिवृत्तशरणागतादिषु शस्त्रप्रयोगाद्यभावात् । हिशब्दसूचितं वक्ष्यमाणमाह— **शौर्यमिति** ।

ननु 'अग्नीषोमीयादिवत्' इत्येतदेव न सम्प्रतिपन्नं तस्यापि हिंसात्वेन अधर्मत्वस्यावर्जनीयत्वात्; न च निषिद्धत्वमुपाधिः 'न हिंस्यात्' [ मनुः ४।१६२ ] इति सामान्यनिषेधेन तस्य साधनव्यापकत्वात् । नापि विहितेतरत्वमुपाधिः, अविहिताप्रतिषिद्धेष्वपि तस्य विद्यमानत्वेन साध्यव्यभिचारात् । न च साध्यसमव्याप्तत्वाभिप्रायेण सामान्यनिषेधो विशेषविधिवाक्यविरोधात्सङ्कुचितविषयः, सङ्कोचहेतोर्विरोधस्यैवाभावात्; सामान्यविशेषवाक्ययोः प्रत्यवायक्रतुसाधनत्वपरत्वादेकस्यैव क्रतुप्रत्यवायसाधनत्वाविरोधात् । न च प्रत्यवायसाधनं न विधीयेत इति वाच्यम्, हरीतकीभक्षणादिष्विव क्रत्वनुप्रविष्टप्रायश्चित्ताहंहिंसासाध्यदुःखस्याल्पतया क्रतुसाध्यसुखस्य च भूयस्तया तदुपपत्तेः । उक्तं च साङ्ख्यैः— 'सा (हिंसा) हि पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति क्रतोश्चोपकरिष्यति' इत्यादि । आह च पञ्चशिखाचार्यः— 'स्वल्पःसङ्करःसुपरिहरःसप्रत्यवमर्शः' इति । अतोऽग्नीषोमीय-

वदित्यसिद्धस्यासिद्धमेव निदर्शनमुक्तमित्यत्राह— **अग्नीषोमीयादिषु चेति** । अधर्मसाधको हिंसात्वहेतुरसिद्धः । उपाधिश्च न पक्षव्यापकः, पक्षस्याहिंसारूपत्वात् ; तत एव निषेधाभावाच्चेति भावः । अहिंसात्वमेवोपपादयति— **निहीनतरेति** । अनर्थप्रापकव्यापारत्वं हिंसालक्षणम् । अत्र तु तद्विपरीतत्वेन रक्षणत्वमेव युक्तमिति मन्त्रलिङ्गेन ज्ञापयति— **न वा इति** । एतदिति क्रियाविशेषणम् । सुगेभिः सुगैरित्यर्थः । पिष्टपश्वादिविधिस्तु कार्तयुगधर्मनिष्ठाधिकारिविशेषनियतः ' पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति ' [ म. भा. १२।१७५।३३ ] इत्यादिवचनाच्चेति भावः ।

अस्त्वग्नीषोमीयादौ श्रुतिबलादहिंसात्वम् , इह तु कथमित्यत्राह— **इह चेति** । अयमप्यर्थः श्रुतिस्मृतिसिद्ध इति भावः। ननु 'अहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः' इत्यादिनाऽग्नीषोमीयादेरन्यस्य हिंसात्वं प्रतीयते, अन्यथाऽन्यत्रेति तद्व्यवच्छेदानुपपत्तेरित्यत्राह— **अत इति** । **अयमभिप्रायः**— न तावदिह दुःखजननमात्रं हिंसा, रक्षणरूपेषु चिकित्सकशल्यप्रयोगादिष्वपि प्रसङ्गात् ; नापि प्राणवियोजनमात्रम् , अतद्रूपेषु सर्वस्वहरणनरकपीडादिषु हिंसाशब्दप्रयोगदर्शनात् । न चायमुपचारः, नियामकाभावात्, विपरिवर्तस्यापि दुर्वारत्वात् । अतोऽनर्थपर्यवसितस्तादात्विकदुःखजनको व्यापारो हिंसेत्येव तत्त्वम्— इति । ततश्च ' अन्यत्र तीर्थेभ्यः ' इत्येतत्पश्वादेर्भाविपुरुषार्थविशेषानभिज्ञपामरदृष्ट्योक्तम् । तस्मिन्नपि वाक्ये हिंसात्वं नास्तीत्येव तात्पर्यम् । उक्तं च मनुना— 'तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः' [ ५।३९ ] इति । तत्रापि ' वधः ' इति पामरदृष्ट्याऽनुवादः । 'अवधः' इति तत्त्वकथनम् । यद्यपि क्रत्वनुप्रविष्टानां सोमोच्छिष्टभक्षणप्रभृतीनां हिंसालक्षणवत्तल्लक्षणान्तरेण व्यवच्छेदः शक्यः ; तथापि तेषां प्रत्यवायानाधायकवचनबलादेव तथात्वमङ्गीकुर्मः ; न पुनः क्रत्वर्थतया विधानमात्रेण । नन्वेवमुत्सर्गापवादन्यायस्य कीदृशो विषयः ? तादृश एव, यत्र निरवकाशविशेषवाक्यविरोधादेव सावकाशसामान्यशब्दसङ्कोच इति निस्तरङ्गमेतत् ॥ ३१ ॥

पुनरपि प्राणिमारणस्यापि युद्धस्य प्रशंसामुखेनाधर्मभ्रममुन्मूलयति— यदृच्छयेति । 'यदृच्छयोपपन्नं' इत्यत्राहेतुत्वादिभ्रमव्युदासायाह— **अयत्नोपनतमिति** । प्राक्तननिरतिशयपुण्यविपाकलभ्यत्वादिदानीमयत्नोपनतत्वम् । **निरतिशयसुखोपायभूतमिति** । स्वर्गशब्दो हि ' यस्मिन्नोष्णं न शीतं' 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं तत्सुखं स्वर्गपदास्पदम् ' इति निरतिशयसुखविशेषे व्युत्पन्नः । देशविशेषस्तु तादृशसुखभोगस्थानतया स्वर्गः । धर्माणां च स्वतो निरतिशयसुखसाधनत्वं स्वभावः । फलाभिसन्ध्यादिलक्षणप्रतिबन्धकवशादन्यथात्वमिति च्विप्रत्ययमप्रयुञ्जानस्य भावः । अपावृतशब्दाभिप्रेतं निर्विघ्नत्वम् । 'सुखिनः' इत्यस्य **पुण्यवन्त** इति प्रतिपदम् । न हि सुखमेवेदृशयुद्धलाभहेतुः । अतोऽत्र सुखशब्देन सुखसाधनं लक्ष्यत इति भावः । यद्वाऽत्र सुखिशब्दः सुखयोग्यत्वलक्षणसम्बन्धपरः । तद्योग्यत्वं च पुण्यवत्त्वमेवेति भावः ॥ ३२ ॥

५ **आ. मा. भा.— ॥ ३१ ॥ ३२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

**७ हृ. पै. भा.— परमार्थतत्त्वापेक्षया शोकमोहौ न सम्भवत इत्युक्तम्; न किं केवलं परमार्थतत्त्वापेक्षया शोकमोहयोरकर्तव्यता साध्यते तत्राऽऽह— स्वधर्ममपि स्वधर्मः क्षत्रियस्य युद्धं तदप्यवेक्ष्य त्वं विकम्पितुं नार्हसि प्रचलितुं नार्हसि । स्वाभाविकाद्युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते । हि यस्मात् ॥ ३१ ॥ इतश्च युद्धं कर्तव्यमित्युच्यते— यदृच्छया चोपपन्नमागतं कर्तव्यतया प्राप्तमपि ॥ ३२ ॥**

८ वें. व्र. गि.— इत्थं विंशत्या श्लोकैः ' अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् ' [ २।११ ] इत्यनेन प्रतिज्ञातोऽर्थो निरूपितः; इदानीं ' प्रज्ञावादांश्च भाषसे ' [ २।११ ] इत्यनेन प्रतिज्ञातमर्थं निरूपयत्यष्टभिः । द्विविधो ह्यर्जुनस्य प्रज्ञावादः । तत्राद्यस्तावत् ' न च श्रेयोऽनु पश्यामि हत्वा स्वजनम् ' [१।३१] इत्यादिः ' धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत् । [ १।४६ ] इत्यन्तः स्वजनवधानौचित्यपुरस्कारप्रवृत्तः । स तु ' अनार्यजुष्टम् ' [ २।२ ] इत्यादिनाऽस्मिन्नध्याये निरस्तः । ततः ' कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये ' [ २।४ ] इत्यादिपञ्चश्लोक्या गुरुवधानौचित्यपुरस्कारप्रवृत्तो द्वितीयः प्रज्ञावादः । सोऽयमत्र निरस्यते । यद्यपि ' वेदाविनाशिनम् ' [२।२१] इत्यत्र विदुषः कर्मलेपाभावप्रतिपादनेनैव गुरुवधप्रत्यवायाभावस्यापि सिद्धेः तेनैव ' कथं भीष्ममहम् ' [ २।४ ] इत्यादिः प्रज्ञावादोऽपि निरस्तो भवति; तथापि हेत्वन्तरेणापि तन्निरासार्थमयमारम्भः । अत एव श्लोके ' अपि च ' इत्युक्तम् । न केवलं परमार्थदृष्ट्यैव युद्धप्रतिबन्धकयोः शोकमोहयोरकर्तव्यत्वम् , किन्तु स्वधर्ममवेक्ष्यापि शोकमोहाभ्यां विकम्पितुं नार्हसीत्यर्थः । कोऽसौ स्वधर्मः ? तत्राह— **युद्धादिति** । युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयः प्रशस्तं कर्म न विद्यते । ' युद्धं क्षत्रियस्य धर्मः ' इत्येतावतैव निर्वाहेऽपि ' युद्धादन्यन्न विद्यते ' इत्युक्त्या क्षत्रियस्य राज्यपालनादिधर्मान्तराणां सत्त्वेऽपि तेषां युद्धमूलकपृथिवीजयाधीनत्वाद्युद्धमेव मुख्यो धर्म इति दर्शितम् ।

ननु सत्यमेव युद्धं मुख्यो धर्मः ; तथापि भीष्मद्रोणादिगुरुब्राह्मणवधरूपत्वान्नेदं युद्धं धर्म इत्यत्राह— **धर्म्यादिति** । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । गुरुब्राह्मणयोरपि तयोराततायित्वाद्धर्म एव तद्वध इति भावः । आततायित्वं च तयोः ' कार्पण्यदो-

षोपहत—' [ २।७ ] इति श्लोकावतारिकायामुपपादितम्, हि-शब्देन चाततायिगुरुब्राह्मणवधो धर्मशास्त्रेषु विहितः प्रसिद्ध एवेति द्योत्यते । तथा हि मन्वादिवचनानि—' गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् । आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥ नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति कश्चन । प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा (प्रकाशं वाऽप्रकाशं वा ) मन्युस्तं मन्युमृच्छति ' [ मनुः ८ । ३५०-३५१ ] 'आततायिनमायान्तमपि वेदान्तगं रणे । जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ' इत्यादीनि । न च ' आचार्यं च प्रवक्तारं पितरं मातरं गुरुम् । न हिंस्याद्ब्राह्मणान् गाश्च सर्वांश्चैव तपस्विनः ' [ ४।१६२ ] इति मनुवचनं ब्राह्मणादीनामाततायित्वेऽपि हिंसाप्रतिषेधपरम्, हिंसामात्रनिषेधस्य सामान्यशास्त्रेणैव सिद्धत्वात् 'नाततायिवधे दोषोऽन्यत्र गोब्राह्मणवधात् ' इति सुमन्तुवचनाच्च; तथा च ' गुरुं वा बालवृद्धौ वा ' [ मनुः ८।३५० ] इत्यादिवचनान्याततायिवधविध्यर्थवादाः ' इत्थं किलाततायिवधः प्रशस्तो यद्गुरुब्राह्मणादयोऽत्यन्तावध्या अप्याततायिनो हन्तव्याः ' इति तत्प्रशंसापरा इति वाच्यम् । हिंसामात्रनिषेधस्य सामान्यशास्त्रसिद्धत्वेऽपि आचार्यब्राह्मणादिहिंसायां गुरुप्रायश्चित्तप्रदर्शनार्थं ' आचार्यं च ' इति वचनम्; यद्वा तस्याततायिब्राह्मणविषयत्वेऽपि ' गुरुं वा ' इत्यादिवचनेषु ' आततायिनमायान्तम् ' ' जिघांसन्तं जिघांसीयात् ' इत्यादिश्रवणाज्जिघांसार्थप्रवृत्ताततायिब्राह्मणादिविषयाणि तानि वचनानि, ' आचार्यं च ' इति त्वजिघांसुकेवलाततायिब्राह्मणविषयमित्युभयोरपि भिन्नविषयतायाः स्पष्टत्वेन विरोधासिद्ध्या अर्थवादत्वकल्पनानौचित्यात्, अन्यथा ब्राह्मणादिप्रशंसार्थं ' आचार्यं च ' [ मनुः ४।१६२ ] इति वचनम् ' इत्थं प्रशस्ता ब्राह्मणादयो यदाततायित्वेऽपि न हन्तव्याः ' इति वैपरीत्यस्यैवापातात्; ' उद्यतेषुं रणे दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् । यो हन्यात्समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् । ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निर्णयः ' इति [ ५।१७८।५१ ] महाभारतवचनपर्यालोचनया उक्तरीत्या विषयव्यवस्थाया औचित्याच्च; 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य ' 'धर्म्याद्धि युद्धात् ' 'अथ चेत्त्वं धर्म्यमिमम् ' [ २।३३ ] इत्यादिपरमाप्तसर्वज्ञभगवद्वचनानुगृहीतस्य ' गुरुं वा ' इत्यादेराततायिगुरुब्राह्मणवधधर्मत्ववचनस्य स्वार्थपरत्वावश्यम्भावाच्च । न च तथापि ' न हिंस्याद्ब्राह्मणान् ' [ मनुः ४।१६२ ] इत्येतद्धर्मशास्त्रम्, आततायिब्राह्मणवधशास्त्रं तु ' जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ' [ २।३७ ] इति वक्ष्यमाणविधया दृष्टार्थत्वादर्थशास्त्रम्; अर्थशास्त्राच्च धर्मशास्त्रं बलवत्, 'अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्थितिः ' इति याज्ञवल्क्यवचनात् [ २।२१ ]; तथा च भीष्मद्रोणाद्याततायिगुरुब्राह्मणवधस्य न धर्मत्वमिति वाच्यम्; दृष्टप्रयोजनोद्देश्यकशास्त्रस्यैवार्थशास्त्रत्वेन भीष्मादिवधस्य राज्यद्वारा प्रजापालनरूपधर्मोद्देश्यकत्वेन तद्विधेर्धर्मशास्त्रतयाऽर्थशास्त्रत्वाभावात् । ' जित्वा वा भोक्ष्यसे ' [ २।३७ ] इति त्वानुषङ्गिकफलकथनम् । पालनार्थो वा भुजिः, ' भुजोऽनवने ' [ अष्टा. १।३।६६ ] इति पालनार्थस्य भुजो निषिद्धमप्यात्मनेपदमार्षत्वान्न दोष इति सर्वं रमणीयम् ॥ ३१ ॥

न केवलं धर्मशास्त्रपर्यालोचनयैव भीष्मद्रोणादिभिः सह योद्धव्यम्, किन्तु शिष्टाचारपर्यालोचनयाऽपीत्याह—**यदृच्छयेति** । किञ्च क्षत्रिया ईदृशं युद्धं लभन्त इति प्रथममन्वयः । ईदृशमित्यस्यैव विवरणं **यदृच्छयेत्यादि** । यदृच्छयोपपन्नं अप्रार्थनयोपस्थितम् । न हि भीष्मद्रोणावुद्दिश्यायं समरसमारम्भः, येन ' कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च ' [ २।४ ] इत्यादि ब्रूयाः, किन्तु महाततायिनं दुर्योधनमुद्दिश्य; तत्र यदि भीष्मद्रोणौ धर्मस्थितिमतिलङ्घ्य स्वयमापतेताम्, ताभ्यां सह युद्धे को वाऽस्माकं दोषः ? इत्यर्थः । न केवलं दोषाभावमात्रम्, प्रत्युताभ्युदय इत्याह—**स्वर्गद्वारमिति** । स्वर्गस्य द्वारमिव द्वारम्, तत्प्राप्तिहेतुः; श्रूयते हि—" ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनुत्यजः । ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापिगच्छताम् " इति; युद्धस्य दिव्यगतिसाधनत्वं स्मर्यते च—' आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः । युद्ध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः ' [ मनुः ७।८९ ] इति, इति भावः । ननु कथं युद्धस्य स्वर्गसाधनत्वं हिंसारूपत्वेन श्येनादिवत् प्रत्यवायजनकत्वादित्यत आह— **अपावृतमिति** । आवृतमावरणम् । भावे निष्ठा । अपगतमावृतं प्रत्यवायरूपं स्वर्गद्वारताप्रतिबन्धकं यस्मात्तदपावृतम् । श्येनादयो हि विहिता अपि फलदोषेण दुष्टत्वात् प्रत्यवायजनकाः, तत्फलस्य शत्रुवधस्य ' न हिंस्यात्सर्वा भूतानि ' इत्यादिशास्त्रनिषिद्धत्वात् फले च विध्यभावेन 'विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः' इति न्यायस्याप्यनवतारात् । युद्धं तु नैवम्, तत्फलस्य स्वर्गस्यानिषिद्धत्वात् । स्वयं हिंसारूपस्यापि तस्याग्नीषोमीयालम्भवद्विहिततया ' विधिस्पृष्टे निषेधानवकाशः ' इति न्यायान्न प्रत्यवायजनकतेति भावः । ईदृशं उक्तविशेषणत्रयविशिष्टं युद्धं सुखिन एव सन्तः, न तु त्वमिव शोचन्त इत्यर्थः; क्षत्रिया भीष्ममरुत्तादयो लभन्ते । तस्मात्त्वमपि क्षत्रियाणां पूर्वतनमाचारं दृष्ट्वा इदं युद्धं न त्यक्तुमर्हसीत्यर्थः ।

यद्यपि पूर्वाचारं प्रदर्शयितुं ' अलभन्त ' इति भूतार्थलकार एवोचितः, तथापि भीष्मद्रोणौ पूजार्हौ गुरू प्रति ' कथं योत्स्यामि ' इति मन्यमानमर्जुनं प्रति स्वगुरुणाऽथ च परशुरामेण सह कृताहवं तमेव भीष्मं पुरतः स्थितं निदर्शयितुं तदीययुद्धवृत्तान्तस्य भूतत्वेऽप्युत्साहविशेषजननाय तस्मिन्वर्तमानत्वारोपेण लभन्त इति लट्प्रयोगः कृतः । भीष्मः किल पुरा काशीराजपुत्रीरम्बाम्बिकाम्बालिकाख्यास्तिस्रो वीर्यशुल्काः कन्याः स्वशौर्येणानीय कनिष्ठभ्रात्रे विचित्रवीर्याय दातुमियेष । तमम्बाख्या राजकन्योवाच ' साल्वः पूर्वं मया वृतस्तेनाप्यहं ' इति । तां च भीष्मस्तथैव तत्याज । साल्वं गत्वा बहुशः प्रार्थयमानाऽपि ' नाहं भीष्मेण बला-

नीतां त्वां परिणेष्यामि ' इति तेन प्रत्युक्ता परशुरामं शरणं जगाम । स च भीष्ममागत्योवाच—

' भीष्म कां बुद्धिमास्थाय काशीराजसुता त्वया ।
अकामे [न त्वयाऽऽ] यमिहाऽऽनीता पुनश्चैव विसर्जिता ॥
परित्यक्ता हि साल्वेन त्वया नीतेति भारत ।
तस्मादिमां मन्नियोगात्प्रतिगृह्णीष्व भारत ॥
न करिष्यसि चेदेतद्वचनं मे कुरूद्वह ।
निहनिष्यामि सामात्यं त्वामद्यैव पुनः पुनः ' इति ।

ततस्तं भीष्मः प्राह—

' नाहमेनां पुनर्दद्यां भ्रात्रे ब्रह्मन्कथञ्चन ।
साल्वस्याहमिति प्राह पुरा मामिह भार्गव ॥
मया चैवाभ्यनुज्ञाता ब्रह्मर्षे किं श्रमेण ते ।
प्रसीद मा वा यद्वा ते कार्यं तत्कुरु मा चिरम् ॥
अयं चापि विशुद्धात्मन् पुराणः श्रूयते महान् ।
मरुत्तेन महाबुद्धे गीतः श्लोको महात्मना ॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥
स त्वं गुरुरिति प्रेम्णा मया सम्मानितो भृशम् ।
गुरुवृत्तं न जानीषे तस्माद्योत्स्याम्यहं त्वया ॥
गुरुं न हन्यां समरे ब्राह्मणस्त्वं विशेषतः ।
विशेषतस्तपोवृद्ध एवं क्षान्तं मया तव ॥
उद्यतेषुं रणे दृष्ट्वा ब्राह्मणं क्षत्रबन्धुवत् ।
यो हन्यात्समरे क्रुद्धं युध्यन्तमपलायिनम् ॥
ब्रह्महत्या न तस्य स्यादिति धर्मेषु निश्चयः ।
व्यपनेष्यामि ते दर्पं युद्धे राम न संशयः ॥
तत्र त्वं निहतो राम मया शरशतार्दितः ।
प्राप्स्यसे निर्जितांल्लोकाञ्छस्त्रपूतो मया रणे ' इति ॥

तदेतत्सर्वमुद्योगपर्वणि [ १७८ । २८-५८ ] स्थितम् । एवं युद्धावलेपेन कार्याकार्यविचारशून्यतया आततायीभूय युद्ध्यमानस्य गुरोर्ब्राह्मणस्यापि वधो न दोषावह इति मरुत्तादिपूर्वक्षत्रियप्रवर्तितधर्मनिर्णयमुपजीव्य स्वगुरुणा ब्राह्मणेन जामदग्न्येन सह महद्युद्धं भीष्मश्चकार । तच्च यदृच्छयोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतं च भवति । एवमन्येऽपि क्षत्रिया उदाहार्याः । तमिमं शिष्टाचारं त्वमप्यनुवर्तस्वेति भावः ॥ ३२ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च यदुक्तं ' वेपथुश्च शरीरे मे ' [१।२९] इत्यादिधर्मविरुद्धमात्मलक्षणं तदप्ययुक्तमित्याह— स्वधर्ममिति । धर्मनिष्ठस्य नैतदुचितमित्याह—धर्म्यादिति ॥ ३१ ॥ तदेतदुपपादयति— यदृच्छयेति । सुखिनो भाग्यवन्तः युद्धं स्वर्गद्वारभूतम् । 'द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापौ' इति भागवतवाक्यात् [६।१०।३३]॥३२॥

१० पु. अ. त.— एवमात्मस्वरूपज्ञानेन शोको न कर्त्तव्य इत्युक्त्वा स्वधर्मादपि मा शुच इत्याह— स्वधर्ममपीति । स्वधर्मं क्षात्रमवेक्ष्य विकम्पितुं नार्हसि यतः क्षत्रियाणामयमेवोत्तमो धर्म इत्याह— धर्म्यादिति । धर्म्याद्युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयो न विद्यते । क्षत्रियाणां परलोकादिकं स्वनेनैव भवति ॥ ३१ ॥

तस्मादेतादृशं भाग्यवन्त एव लभन्ते इत्याह— यदृच्छयेति । यदृच्छया भगवदिच्छया उपपन्नम् । अपावृतमुद्घाटितकपाटस्वर्गद्वारम् । ईदृशं युद्धं क्षत्रियाः सुखिनो भाग्यवन्तो लभन्ते । प्राप्नुवन्ति एतादृशयुद्धासौ भाग्यवत्त्वं भगवदिच्छयानुरूपत्वाद्भगवत्सन्निधिर्वाचेति भावः ॥ ३२ ॥

११ नी० भा० दी०— अर्जुनस्य अनात्मनि देहे आत्मधीरूपो मोहो निवारितः, इदानीं स्वधर्मे युद्धे अधर्मधीरूपं मोहं निवारयति— स्वधर्ममपीत्यादिना । युद्धं क्षत्रियस्य स्वो धर्मः, तमवेक्ष्यापि विकम्पितुं चलितुं नार्हसि । हि यस्मात् धर्म्यात् धर्मादनपेताद्युद्धादन्यत् क्षत्रियस्य श्रेयः प्रशस्ततरं नास्ति ॥ ३१ ॥ किञ्च यदृच्छया अप्रार्थितमप्युपपन्नमुपस्थितं स्वर्गद्वारमपावृतमुद्घाटितं ये क्षत्रिया लभन्ते ते सुखिनो धन्या भवन्तीति सम्बन्धः ॥ ३२ ॥

क्षत्रियस्य धर्म्ययुद्धाकरणे प्रत्यवायः ।

## अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि ।

' चेत्त्वं धर्म्यमिमं ' इति ब्रह्मानन्दगिरिकारसम्मतः पाठः ।

## ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥

## अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
## सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥ ३४ ॥

१ शां. भा.— एवं कर्तव्यताप्राप्तमपि— अथेति ।। अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं धर्मादनपेतं विहितं सङ्ग्रामं युद्धं न करिष्यसि चेत्, ततस्तदकरणात् स्वधर्मं कीर्तिं च महादेवादिसमागमनिमित्तां

हित्वा केवलं पापमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ न केवलं स्वधर्मकीर्तिपरित्यागः— अकीर्तिमिति । अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति ते तव अव्ययां दीर्घकालाम् । 'धर्मात्मा शूरः' इत्येवमादिभिर्गुणैः सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते, सम्भावितस्य चाकीर्तेर्वरं मरणमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

२ आ.शां.व्या.—स्वधर्मस्य युद्धस्य श्रद्धया करणे स्वर्गादिमहाफलप्राप्तिं प्रदर्श्य तदकरणे प्रत्यवायप्राप्तिं प्रदर्शयन्नुत्तरश्लोकगतार्थशब्दार्थं कथयति- एवमिति । विहितत्वं फलवत्त्वमित्यनेन प्रकारेणेत्यर्थः। अन्वयार्थं पुनश्चेदित्यनूद्यते । महादेवादीत्यादिशब्देन महेन्द्रादयो गृह्यन्ते॥ ३३ ॥ युद्धाकरणे क्षत्रियस्य प्रत्यवायमामुष्मिकमापाद्य शिष्टगर्हालक्षणं दीर्घकालभाविनमैहिकमपि प्रत्यवायं प्रतिलम्भयति- न केवलमिति । युद्धे स्वमरणसन्देहात् तत्परिहारार्थमकीर्तिरपि सोढव्या, आत्मसंरक्षणस्य श्रेयस्करत्वादित्याशङ्कयाऽऽह— धर्मात्मेति । मान्यानामकीर्तिर्भवति मरणादपि दुःसहेति तात्पर्यार्थमाह— सम्भावितस्येति ॥ ३४ ॥

३ रा. भा.— अथ क्षत्रियस्य स्वधर्मभूतमिममारब्धं सङ्ग्रामं मोहादज्ञानान्न करिष्यसि चेत् ततः प्रारब्धस्य धर्मस्याकरणात्स्वधर्मफलं निरतिशयसुखं विजयेन निरतिशयां च कीर्तिं हित्वा पापं निरतिशयमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ न ते केवलं निरतिशयसुखकीर्तिहानिमात्रम्, अपितु 'पार्थो युद्धे प्रारब्धे पलायितः' इत्यव्ययां सर्वदेशकालव्यापिनीमकीर्तिं च समर्थान्यसमर्थान्यपि सर्वाणि भूतानि कथयिष्यन्ति । ततः किमिति चेत्— शौर्यवीर्यपराक्रमादिभिः सर्वसम्भावितस्य तद्विपर्ययजा ह्यकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते; एवंविधाया अकीर्तेर्मरणमेव तव श्रेय इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

४ वे.ता.चं.— एवं युद्धस्य धर्म्यत्वेन निरतिशयसुखसाधनत्वमुक्तम् ; अथ तदकरणे प्रत्यवायमाह— अथ चेदिति । युद्धाकरणस्य ब्राह्मणादीनां पापहेतुत्वाभावात् त्वंशब्दः क्षत्रियत्वपर इत्यभिप्रायेणोक्तम्— क्षत्रियस्य स्वधर्मभूतमिति । 'इमम्' इति निर्देशाभिप्रेतमुक्तम्— आरब्धमिति । मोहात् धर्मेऽप्यधर्मत्वभ्रमादित्यर्थः । न हि युद्धस्याकरणमात्रं क्षत्रियस्यापि प्रत्यवायहेतुः, सर्वदा युद्धकरणप्रसङ्गादित्यत उक्तं प्रारब्धस्येति । स्वधर्मफलमिति । धर्मशब्दोऽत्र फलपरः, अन्यथा पौनरुक्त्यात् ; अनुवादमात्रत्वेऽनिष्टप्रसङ्गपर्यवसानाभावाच्चेति भावः । आगामिकीर्तिविषयत्वायोक्तं विजयेनेति । न केवलं दृष्टादृष्टरूपनिरतिशयपुरुषार्थहानमात्रम्, निरतिशयदुःखहेतुभूतं पापमवाप्स्यसीति वाक्यार्थः ॥ ३३ ॥

एवं दृष्टादृष्टरूपफलहानिरदृष्टप्रत्यवायश्चोक्तः; अथ दृष्टप्रत्यवायमाह—अकीर्तिं चेति । अकीर्तिरिह दुष्कीर्तिः । 'न ते केवलम्' इत्यादावपि पारलौकिकनिरतिशयपापमात्रमित्यनुसन्धेयम् । प्रारब्धे पलायित इति कान्दिशीकतया प्रथमव्यापारमप्यकृत्वेति भावः । अव्ययशब्देनाविनाशित्वाभिधानात् सर्वकालव्यापित्वमुच्यताम् ; सर्वदेशव्यापित्वं तु कथमुच्यते ? इत्थं- यद्यकीर्तिः सर्वदेशव्यापिनी न स्यात्, सर्वकालव्यापिन्यपि न स्यात्, कालक्रमेण सङ्कोचाद्विच्छेदोपपत्तेरिति । यद्वा देशतः कालतश्चान्यूनत्वमेवात्र अव्ययत्वं विवक्षितम् । भूतान्यपीति अपिशब्दान्वयः । चापीत्यनतिरिक्तार्थत्वे निष्प्रयोजनत्वम्, 'ततो भूतानि' इति सामान्यनिर्देशात्। अपिशब्दान्वयबलाच्चोक्तं समर्थान्यसमर्थान्यपीत्यादि । अकीर्तेरिष्टत्वमाशङ्क्योत्तरार्धमुच्यत इत्याह— ततः किमिति । चशङ्कानिराकरणार्थः । अर्जुनस्य सम्भावितत्वहेतूनाह— शौर्येति । सर्वसम्भावितस्येति । पूर्वनिर्दिष्टैः समर्थैरसमर्थैश्च भूतैः सम्भावितस्येत्यर्थः । ननु मरणादतिरेकः किं हेयतया ? उपादेयतया वा ? । न प्रथमः, 'जीवन् भद्राणि पश्यति' [म.भा.] 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' इत्यादिवचनात्। न द्वितीयः, प्रकरणविरोधादित्यत्राह— एवंविधाया इति । 'जीवन् भद्राणि' इत्यादिकं तु क्षत्रियापुत्रस्य तेऽद्य नोपादेयम् । न चेयमकीर्तिर्लघीयसी, येन मरणाच्छ्रेयसी स्यात् । किन्त्वेवंविधा सर्वकालदेशव्यापिनी, इयं च नरकायापि स्यात्, तथैव स्मृत्यादिसिद्धत्वात्। तथा चोत्तरस्मिन् रामायणे[वा. ७।८० १२-१३] रघुनाथवाक्यम्— 'अकीर्तिर्यस्य गीयेत लोके भूतस्य कस्यचित् । पतत्येवाधमान् लोकान्यावच्छब्दः स कीर्त्यते' इति । युद्धे मरणं तु तत एव स्वर्गाय स्यादिति भावः ॥ ३४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

७ ह. पै. भा.— धर्म्यं धर्मादनपेतम् ॥ ३३ ॥ न केवलं स्वधर्मकीर्तिपरित्यागः— सम्भावितस्य 'धर्मात्मा शूरः' इत्यादिगुणैः सम्भावितस्याकीर्तेर्वरं मरणमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

८ वे. ब्र. गि.— एवं धर्मशास्त्रशिष्टाचारपर्यालोचनया दोषाभावादभ्युदयावहत्वाच्च भीष्मद्रोणादिभिर्युद्धं कर्तव्यमित्युक्तम् । इदानीमकरणे प्रत्यवायप्रसङ्गादपि तत्कर्तव्यमित्याह— अथ चेति । अथेति पक्षान्तरे । त्वं इममारब्धं धर्म्यं धर्मादनपेतं च सङ्ग्रामं न करिष्यसि चेत्, ततो युद्धाकरणाद्धेतोः पापमवाप्स्यसि । ननु युद्धं काम्यं, न तु नित्यं नैमित्तिकं वा, 'युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराङ्मुखाः' इत्यादिस्मृतेः; ततः कथं तदकरणे

पापम्? तत्राह— स्वधर्ममिति । 'प्रारब्धं काम्यं नित्यायते' इति न्यायात् काम्यस्याप्यारम्भादूर्ध्वमकरणे प्रत्यवायोऽस्त्येव । अत एव खलु "यः सत्रायापगुरते स विश्वजिता यजते" इति सत्रार्थे सङ्कल्प्य तदननुष्ठायिनः प्रायश्चित्तत्वेन विश्वजिद्विधीयते। तथा चेदं युद्धं त्वयाऽऽरब्धमिति नित्यस्याकरणे प्रारब्धावश्यपरिसमापनरूपं स्वधर्मं तथा महादेवादिसमागमनिमित्तां कीर्तिं च हित्वा पापं यास्यसीत्यर्थः।

पापशब्देन चात्र दुःखहेत्वनिष्टमुच्यते । तच्च द्विविधं नरकपातलक्षणं लोकगर्हालक्षणं च; तत्राद्यं स्वधर्मं हित्वेत्यनेनोपपादितम्, द्वितीयं तु कीर्तिं हित्वेत्यनेन सूचितम् ॥ ३३ ॥

तदेव प्रपञ्चयति त्रिभिः— अकीर्तिमिति । ते तव अकीर्तिं चापि 'नायं शूरः' इत्येवंरूपां भूतानि कथयिष्यन्ति । न केवलं स्वधर्मत्यागान्नरकपातमात्रम्, किन्तु सत्कीर्तिहान्याऽसत्कीर्त्यवाप्तिश्चेति निपातयोरर्थः । ननु यद्यकीर्तिभयाद्युद्धं कर्तव्यं तर्हि मे मरणमेव स्यात्, जये सति 'यानेव हत्वा न जिजीविषामः' [ २।६ ] इति प्रागुक्तेः, पराजये च सत्यनुक्तसिद्धत्वात्; तच्च मरणं महद्दुःखम्, अतोऽपकीर्तिरपि सोढव्येत्याशङ्क्य मरणदुःखादकीर्तिदुःखमेवाधिकमित्याह— अकीर्तिर्मरणादिति । अतिरिच्यते अधिका भवति । आधिक्य एव हेतुगर्भमकीर्तिविशेषणम् । अव्ययामिति, दीर्घकालामित्यर्थः ।

मरणं हि तत्काल एव दुःखं दत्त्वा गच्छति । अकीर्तिस्तु दीर्घकालं तद्वितन्वाना लोकमुखपरम्परया स्वयमप्यभिवर्धते, मृत्वा लोकान्तरप्राप्तावपि तत्रत्यैर्देवर्ष्यादिभिरयं गर्हितं कृतवानित्युपालम्भं, इह च पुत्रपौत्रादीनां 'गर्हितस्येयं सन्ततिः' इति मनुष्यैरुपालम्भं च जनयति । तदेतद्भूतानि कथयिष्यन्तीति देवमनुष्यादिसाधारणप्राणिमात्रवाचिना भूतशब्देन ध्वनितम् ।

नन्वाततायीति लोकैर्गर्हितस्यापि दुर्योधनस्य ततो न किञ्चिद्दुःखं दृश्यते, तत्कथमुच्यते 'मरणादकीर्तिरतिरिच्यते' इति? तत्राह— सम्भावितस्येति । बहुमतस्येत्यर्थः । दुर्योधनो हि जन्मत एव पापिष्ठः कलिपुरुषोऽपकीर्तिरूप एव स्वयमिति तमसो मालिन्यमिव न तस्यापकीर्तिर्दोषः, किन्तु लोकैर्बहुमान्यस्य पुरुषस्य । त्वं तु सर्वलोकेश्वरेश्वरेण महादेवेन सह साक्षात्कृताहवः तदनुग्रहावाप्तदिव्यास्त्रविभवः पुरुषधौरेयः सर्वैरेव सम्भाव्यस इति त्वादृशस्यैवाकीर्तिदुःखम्, 'पाषाणपातो हि फलद्रुमाणाम्' इति न्यायादिति भावः । चो हेतौ । यस्मादेवं तस्मान्मरणमप्यङ्गीकृत्यापकीर्तिः परिहर्तव्येति तदर्थं युद्धं कार्यमित्याशयः ॥ ३४ ॥

९ श्र० त० दी०— विपक्षे बाधकमाह—अथ चेदिति । धर्म्यं धर्मादनपेतं युद्धं न करिष्यसि तर्हि लौकिकवैदिकहानिपूर्वकं प्रत्यवायमवाप्स्यसि ॥ ३३ ॥ किञ्च अकीर्तिमिति । भूतानि प्राणिजातानि । विजयीति सम्भावितस्य ॥ ३४ ॥

१० पु. अ. त.— एवं स्वधर्मावेक्षणेन मदुक्तसङ्ग्रामाकरणे तव बाधकं स्यादित्याह— अथ चेदिति । अथ स्वधर्मावेक्षणानन्तरमपि इमं मदग्रे धर्म्यं मदाज्ञारूपं सङ्ग्रामं चेन्न करिष्यसि तदा स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसीत्यर्थः ॥३३॥ किञ्च पापात्परलोकनाश एव भविष्यतीति न, किन्त्विह लोकेऽप्यपकीर्तिर्भविष्यतीत्याह— अकीर्तिं चापीति । भूतानि अपि ते अकीर्तिमव्ययां सदानुवर्त्तमानां कथयिष्यन्ति । भूतानीति नपुंसकलिङ्गकथनेन तथा कथनायोग्या अपि कथयिष्यन्तीति व्यञ्जितम् । नन्वकीर्तिकथनेन किं स्यादित्यत आह— सम्भावितस्येति । सम्भावितस्य युद्धादौ अकीर्तिः मरणात् अतिरिच्यते, अधिका भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

११ नी० भा० दी०— युद्धत्यागे इष्टनाशोऽनिष्टप्राप्तिश्च भवतीत्याह— अथ चेदिति ॥ ३३ ॥ अव्ययां दीर्घकालाम् ॥ ३४ ॥

**भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।**
**येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥ ३५ ॥**
**अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।**
**निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्? ॥ ३६ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च भयादिति । भयात् कर्णादिभ्यो रणात् युद्धादुपरतं निवृत्तं मंस्यन्ते चिन्तयिष्यन्ति, न कृपया; इति त्वां महारथा दुर्योधनप्रभृतयः। [ के मंस्यन्ते? इति आह— ] येषां च त्वं दुर्योधनादीनां बहुमतो बहुभिर्गुणैः युक्त इत्येवं मतः (सः), बहुमतो भूत्वा पुनस्त्वं यास्यसि लाघवं लघुभावम् ॥ ३५ ॥ किञ्च— अवाच्यवादानिति ॥ अवाच्यवादान् अवक्तव्यान्

वादांश्च बहूननेकप्रकारान् वदिष्यन्ति तवाहिताः शत्रवः निन्दन्तः कुत्सयन्तः तव त्वदीयं सामर्थ्यं निवातकवचादियुद्धनिमित्तम्। ततस्तस्मात् निन्दाप्राप्तेर्दुःखात् दुःखतरं नु किं? ततः कष्टतरं दुःखं नास्तीत्यर्थः॥ ३६॥

२ आ. शां. व्या.— इतश्च त्वया युद्धं कर्तव्यमित्याह— किञ्चेति। प्राणिषु कृपया नाहं युद्धं करिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह— भयादिति। महारथानेव विशिनष्टि— येषां चेति। दुर्योधनादिभिस्तवोपहास्यतानिरसनार्थं सङ्ग्रामे प्रवृत्तिरवश्यम्भाविनीत्यर्थः॥ ३५॥ इतश्च मा त्वं युद्धादुपरमं कार्षीरित्याह— किञ्चेति। ननु भीष्मद्रोणादिवधप्रयुक्तं कष्टतरं दुःखमसहमानो युद्धान्निवृत्तः स्वसामर्थ्यनिन्दनादि शत्रुकृतं सोढुं शक्ष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह— तत इति॥ ३६॥

३ रा. भा.— बन्धुस्नेहात्कारुण्याच्च युद्धान्निवृत्तस्य शूरस्य ममाकीर्तिः कथमागमिष्यतीत्यत्राह— येषां कर्णदुर्योधनादीनां महारथानामितः पूर्वं त्वं शूरो वैरीति बहुमतो भूत्वेदानीं युद्धे समुपस्थिते निवृत्तव्यापारतया लाघवं सुग्रहतां यास्यसि, ते महारथास्त्वां भयाद्युद्धादुपरतं मंस्यन्ते। शूराणां हि वैरिणां शत्रुभयादृते बन्धुस्नेहादिना युद्धादुपरतिर्नोपपद्यते॥ ३५॥ किञ्च— शूराणामस्माकं सन्निधौ कथमयं पार्थः क्षणमपि स्थातुं शक्नुयात्? अस्मत्सन्निधानादन्यत्र ह्यस्य सामर्थ्यमिति तव सामर्थ्यं निन्दन्तः शूराणामग्रेऽवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तव शत्रवो धार्तराष्ट्राः; ततोऽधिकतरं दुःखं किं तव? एवंविधावाच्यश्रवणान्मरणमेव श्रेय इति त्वमेव मंस्यसे॥ ३६॥

४ वे. ता. चं.—एवं धर्माधर्मभ्रमो निवारितः। अथास्थानस्नेहः क्षिप्यते 'भयात्' इत्यादिना। बन्धुस्नेहादित्यादि। शूरस्य सतः स्नेहकारुण्याभ्यां निवृत्तस्य मे कीर्तिरेव स्यादिति भावः। येषामित्यतिप्रसिद्धपरामर्शात् कर्णदुर्योधनादीनामित्युक्तम्। तेनापकारवर्गं स्मारयति। यद्यपि भीष्मादयो याथार्थ्यं जानीयुः, तथापि कर्णादयो न तथेति भावः। 'भूत्वा' इत्यस्य यास्यसीत्युत्तरक्रियैकरस्येन 'स्नात्वा होष्यामि' इत्यादिष्विव क्रियापेक्षया पूर्वेणापि भविष्यता कालेन सम्बन्धभ्रमव्युदासायोक्तं पूर्वमिति। बहुभिर्गुणैर्बहुत्वेन मतो हि बहुमत इत्यभिप्रायेणाह— शूरो वैरीति। यदि शूरस्त्वं प्रागपि निर्वैरः, यदि च वैरी त्वं शौर्यरहितः, तदा महारथा न त्वां गणयेयुरिति भावः। तत्क्षणावधि वैरानुवृत्तिसूचनायोक्तं इदानीमिति। लाघवफलं सुग्रहतालाघवशब्देनोपचरिता। सुग्रहत्वं चात्र सुग्रहत्वाभिमानविषयत्वम्, बन्धुस्नेहादित्याद्युक्तां शङ्कां निराकरोति शूराणां हीति। यदि शूरत्ववैरित्वयोरन्यतरन्न स्यात्, तदा युज्येताप्यन्यथा सिद्धिरिति भावः॥ ३५॥ एवं प्राचीनमपकारं भविष्यल्लाघवारोपं चाभिधाय पुनरागामिनाऽप्यपकारेणास्थानस्नेहत्वं द्रढयतीत्यभिप्रायेणाह— किञ्चेति। प्रस्तुतोदन्तफलितं सामर्थ्यनिन्दाप्रकारमाह— शूराणामस्माकमित्यादिना। शूराणामवाच्यवादांश्च बहूनिति— शूरान् प्रति ये न वाच्याः, किन्तु कान्दिशीकान् प्रति, तान् पारुष्याश्लीलपरिहासादिवादानित्यर्थः। अहितशब्दोऽत्र अवाच्यवादहेतुपर इत्यभिप्रायेणाह— शत्रवो धार्तराष्ट्रा इति। यदि च भीष्मद्रोणकृपशल्यादयः किञ्चिद्वदेयुः, तदा शौर्यगौरवादिना सह्यतापि; कथं पुनरशूरैः शूराभिमानिभिर्महापकारिभिः कृतान् बहूनवाच्यवादान् सहेथाः? इति भावः। ननु गुणविशिष्टवाचिशब्देषु हि तरबाद्यौचित्यम्, न जात्यादिशब्देषु; न हि घटतर इत्यादिकं प्रयुज्यत इत्यत्राह— तत इति। ततोऽवाच्यवादात् तच्छ्रवणादिति फलितम्। दुःखशब्दः प्रातिकूल्यविशिष्टवाचि। प्रतिकूलतरमितिवद्दुःखतरमित्युक्तमित्यधिकतरशब्देन प्रत्ययार्थं निष्कृष्य वदतो भावः। तवेति— नहि त्वं रथ्यापुरुषः, न च समाध्यादिनिष्ठः, येनात्र दुःखिता न स्यादिति भावः। किंशब्दः पूर्वश्लोकोक्तदुःखतरस्मरणतत्पर इत्याह— एवमिति। त्वमेव मंस्यसे इति— गाण्डीवसामर्थ्यादिनिन्दाप्रसङ्गे धर्मपुत्रमपि हि भवान् हन्तुमुद्योक्ष्यते, किं पुनः कर्णादीन्? अत इदानीं निवृत्तोऽपि तदा दुस्सहतरदुःखप्रेरितो युद्धं करिष्यसीति हृदयम्॥ ३६॥

५ आ. मा. भा.—॥ ३५॥ ३६॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ३५॥ ३६॥

७ ह. पै. भा.— भयात्कर्णादीनां रणाद्युद्धादुपरतं निवृत्तं मंस्यन्ते चिन्तयिष्यन्ति, न कृपयेति त्वां महारथा दुर्योधनप्रभृतयः। के मंस्यन्ते? इत्यत्राऽऽह— येषां च दुर्योधनादीनां त्वं बहुमतो भूत्वा पुनर्यास्यसि लाघवं लघुभावं, ते मंस्यन्ते॥ ३५॥ किञ्च— अवाच्यवादानव्यक्तवादांश्च बहूननेकप्रकारान्वदिष्यन्ति तवाहिताः शत्रवो निन्दन्तः कुत्सयन्तस्तव सामर्थ्यं निवातकवचादिजयसामर्थ्यनिमित्तम्। ततस्तस्मान्निन्दाप्राप्तेर्दुःखतरं नु किं? ततः कष्टतरं नास्तीत्यर्थः॥ ३६॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु कृपयैव रणात् परावर्ते, न तु कातरतया ; तत्कथं ममापकीर्तिः? तत्राह— [ भयादिति ] मंस्यन्ते चिन्तयिष्यन्ति । ननु प्राकृता जना युद्धकातरं मां मन्यन्ताम्, महारथास्तु कृपालुमेव मंस्यन्ते, ततो न मे दोषः, वस्तुतत्त्वव्यवस्थायाः पामरप्रतीत्यधीनत्वासिद्धिकत्वाभावात् इत्याशङ्क्याह— महारथा इति । महारथाश्च त्वां भयाद्धेतोः रणादुपरतं मंस्यन्त इत्युत्तरार्धगतचकारेणान्वयः । अत्र हेतुगर्भं रणादुपरतं ' इत्येतत् ' त्वां ' इत्यस्य विधेयविशेषणम् । यदि हि भीष्मादिषु कृपा तर्हि रणार्थं तेषु प्रवृत्तिरेव न स्यात्, प्रवृत्त्यनन्तरं तु रणादुपरतिर्भयं विना न कृपयेत्युपरतशब्देन व्यञ्जितम् । ननु शूरत्वेन सदा मां बहुमन्यमाना महारथाः कदाचिदन्यथा मन्यन्ते चेत्को दोषः? तत्राह— येषामिति । येषां महारथानां बहुमतो भूत्वा त्वमग्रे लाघवं यास्यसि, ते महारथा मंस्यन्त इति योजना । पूर्वं बहुमतस्य तैरेवावमानः कुसुमापणकाष्ठविक्रयन्यायात्प्राक्तनप्रतिष्ठाविनाशनेन बहुनैच्यावहोऽतिकष्ट इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

ननु द्विविधा महारथा मध्यस्थाः शत्रवश्च ; तत्र मध्यस्थास्तावद्भयाद्रणादुपरतं मन्यन्ताम्, शत्रवस्तु धार्तराष्ट्रा मां स्तोष्यन्ति युद्धाकरणेन तदुपकारित्वादित्याशङ्क्याह– [ अवाच्येति ] तव अहिता दुर्योधनादयः बहूननाप्रकारान् अवाच्यान् वक्तुमयोग्यान्वादान् शब्दान् 'अर्जुनो योद्धुमागत्य दृष्ट्वैवास्मान् अपलायत धिगेनं ' इत्यादिरूपान् वदिष्यन्ति, स्तोत्रं तु दूरत एवेति भावः । मध्यस्थास्त्वां भयादुपरतं मंस्यन्ते केवलं, न त्ववाच्यवादान्वदिष्यन्ति, शत्रवस्तु अवाच्यवादांश्चेति चकारार्थः । ननु घोषयात्राविराटनगरगोग्रहणादिषु मत्सामर्थ्यं दृष्टवन्तो धार्तराष्ट्राः कथं मय्यवाच्यवादान् वदिष्यन्ति ? तत्राह— निन्दन्तस्तव सामर्थ्यमिति । युद्धादिह परावर्तमानस्य तव सर्वमपि पूर्वतनं सामर्थ्यं निन्दास्पदमसत्कल्पमेव स्यादित्यर्थः ।

नन्वेवं युद्धाकरणे ईदृशं दुःखम् ; युद्धकरणे च जये सति ' गुरून् हत्वा तद्रुधिराशनं करोति ' इति, पराजये तु सति ' धिगेनं मूढं यः स्वशक्तिमविज्ञाय महापुरुषैः सह युयुत्सुर्दीपशलभन्यायेन नष्टः ' इति च निन्दादुःखम् ; मया किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य युद्धपक्षीयनिन्दादुःखादयुद्धपक्षीयनिन्दादुःखमेव पूर्वोक्तरीत्या परलोकहानिसनाथत्वात् परिहर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह— ततो दुःखतरं नु किमिति । ततः सामर्थ्यनिन्दोपेतादयुद्धपक्षीयादवाच्यवाददुःखात् किं न्वतिशयितं दुःखम् ? न किञ्चिदपीत्यर्थः ।

तदेवं 'कथं भीष्मम् ' [ २।४ ] इत्यादिपञ्चश्लोक्युत्प्रेक्षितप्रज्ञावादनिरासार्थं प्रवृत्तेऽस्मिन् ग्रन्थसन्दर्भे 'स्वधर्ममपि च' [२।३१] इत्याद्येतदन्तैः षड्भिः श्लोकैः 'कथं भीष्मम्' [२।४] ' गुरूनहत्वा '[ २।५ ] इति च श्लोकद्वयोक्तः प्रज्ञावादो निरस्तो भवति । तत्र 'धर्म्याद्धि युद्धात् ' [ २।३१ ] इति भीष्मद्रोणयुद्धस्याततायिवधरूपत्वेन धर्मादनपेतत्वोक्त्या ' पूजार्हौ कथं प्रतियोत्स्यामि ' [ २।४ ] ' महानुभावान्गुरूनहत्वा ' [ २।५ ] इति च यत्तयोः पूज्यत्वं महानुभाव्यं चोक्तं तन्निरस्तम् । 'युद्धादन्यच्छ्रेयो न विद्यते'[२।३१] इत्यनेन 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षम् ' [ २।५ ] इत्येतन्निरस्तम् । ' स्वर्गद्वारमपावृतम् ' [ २।३२ ] इत्यनेन ' इहैव भोगान्भुञ्जीय ' [ २।५ ] इत्येतन्निरस्तम् । ' अकीर्तिं चापि भूतानि ' [ २।३४ ] इत्यादिना ' ततो दुःखतरं नु किम् ' इत्यन्तेन च श्लोकत्रयेण रुधिरप्रदिग्धपदसूचितं युद्धपक्षेऽपयशो निरस्तम् ॥ ३६ ॥

९ व० त० दी०— यद्यपि त्वं स्वबन्धुहिंसादोषभिया न युद्धमङ्गीकरोषि, तथाप्येते तु नैवं जानन्तीत्याह— भयात् रणादुपरतमिति । महारथा एते एवमजानन्तस्त्वां मरणभयाद्रणादुपरतं मंस्यंते; एवं च लाघवं प्राप्स्यसि ॥ ३५ ॥ किञ्च अवाच्यवादानिति । स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

१० पु. अ. त.— ननु पूर्वं ये दृष्टमत्पौरुषास्ते तु न तथा कथयिष्यन्ति किन्त्वज्ञा एव, तेषां कथनेऽपि किं स्यादित्यत आह— भयादिति । ये महारथास्ते त्वां रणाद्भयादुपरतं निवृत्तं मंस्यन्ते । ननु मम भयाभावात्तेषां मननेऽपि किं भविष्यतीत्यत आह— येषां च त्वमिति सार्द्धेन । त्वं येषां बहुमतः सम्भावितगुण आसीस्तादृशो भूत्वा लाघवं यास्यसि ॥ ३५ ॥

किञ्च । तव सामर्थ्यं निन्दन्तस्तवाऽहिताः शत्रवः बहून् अवाच्यवादान् कथनायायोग्यानि वाक्यानि वदिष्यन्ति । नु इति निश्चयेन । ततो दुःखतरं किम्? न किमपीत्यर्थः ॥३६॥

११ नी० भा० दी०— अकीर्तिमेवाह— भयादिति । त्वं बहुमतो भूत्वा स्वत एव अतिश्लाघ्यवृत्तः सन् लाघवं लघुभावं कातर्याख्यं येषां पुरतो यास्यसि ते महारथास्त्वां भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्त इति योजना ॥ ३५ ॥ किञ्च अवाच्यवादान् वक्तुमयोग्यान् शब्दान्षण्ढतिलोऽर्जुन इत्यादीन् सामर्थ्यं निन्दन्तः धिगस्य शौर्यं यो भीष्मादिभयात् पलायित इतीदं वचनं मरणादप्यधिकं दुःखं; इतोऽन्यद्दुःखतरमधिकं दुःखं किं ? न किमपीत्यर्थः ॥ ३६॥

युद्ध्यमानस्य प्रासङ्गिकोपयुक्तोपदेशः ।

**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।**

'प्राप्स्यसे' इति तात्पर्यचन्द्रिकाब्रह्मानन्दगिर्याख्यानकारयोः सम्मतः पाठः ।

**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः ॥ ३७ ॥**

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।**
**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥ ३८ ॥**

१ **शां. भा.**— युद्धे पुनः क्रियमाणे कर्णादिभिः—**हतो वेति** । हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, हतः सन् स्वर्गं प्राप्स्यसि । जित्वा वा कर्णादीन् शूरान् भोक्ष्यसे महीम् । उभयथाऽपि तव लाभ एवेत्यभिप्रायः । यत एवं तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! युद्धाय कृतनिश्चयः 'जेष्यामि शत्रून्, मरिष्यामि वा ' इति निश्चयं कृत्वेत्यर्थः ॥ ३७ ॥

तत्र युद्धं स्वधर्म इत्येवं युद्ध्यमानस्य उपदेशमिमं शृणु— **सुखदुःखे इति** ॥ सुखदुःखे समे तुल्ये कृत्वा, रागद्वेषौ [ अपि ] अकृत्वा इत्येतत् । तथा लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा ततो युद्धाय युज्यस्व घटस्व । नैवं युद्धं कुर्वन् पापमवाप्स्यसि । [ इति ] एष उपदेशः प्रासङ्गिकः ॥ ३८ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— तर्हि युद्धे गुर्वादिवधवशान्मध्यस्थनिन्दा, ततो निवृत्तौ शत्रुनिन्देत्युभयतः पाशरज्जुरित्याशङ्कयाऽऽह—**युद्धे पुनरिति** । जये पराजये च लाभध्रौव्याद्युद्धार्थमुत्थानमावश्यकमित्याह— **तस्मादिति** । न हि परिशुद्धकुलस्य क्षत्रियस्य युद्धायोद्युक्तस्य तस्मादुपरमः साधीयानित्याह— **कौन्तेयेति** । जये पराजये चेत्येतदुभयथेत्युच्यते । जयादिनियमाभावेऽपि लाभनियमे फलितमाह— **यत इति** । कृतनिश्चयत्वमेव विशदयति— **जेष्यामीति** ॥ ३७ ॥

पापभीरुतया युद्धाय निश्चयं कृत्वा नोत्थातुं शक्नोमीत्याशङ्कयाऽऽह— **तत्रेति** । युद्धस्य स्वधर्मतया कर्तव्यत्वे सतीति यावत् । सुहृज्जीवनमरणादिनिमित्तयोः सुखदुःखयोः समताकरणं कथं? इति तत्राऽऽह— **रागद्वेषादिति** । लाभः शत्रुकोषादिप्राप्तिः, अलाभस्तद्विपर्ययः । न्याय्येन युद्धेनापरिभूतेन परस्य परिभवो जयः, तद्विपर्ययस्त्वजयः, तयोर्लाभालाभयोर्जयाजययोश्च समताकरणं समानमेव रागद्वेषावकृत्वेत्येतद्दर्शयितुं तथेत्युक्तम् । यथोक्तोपदेशवशात् परमार्थदर्शनप्रकरणे युद्धकर्तव्यतोक्तेः समुच्चयपरत्वं शास्त्रस्य प्राप्तमित्याशङ्कयाऽऽह— **एष इति** । क्षत्त्रियस्य तव धर्मभूतयुद्धकर्तव्यतानुवादप्रसङ्गागतत्वादस्योपदेशस्य नानेन मिषेण समुच्चयः सिध्यतीत्यर्थः । ॥ ३८ ॥

३ **रा. भा.**— अतः शूरस्यात्मना परेषां हननमात्मनो वा परैर्हननमुभयमपि श्रेयसे भवतीत्याह— **हतो वेति** । धर्मयुद्धे परैर्हतश्चेत्तत एव परमनिश्श्रेयसं प्राप्स्यसि ; परान्वा हत्वाऽकण्टकं राज्यं भोक्ष्यसे । अनभिसंहितफलस्य युद्धाख्यस्य धर्मस्य परमनिश्श्रेयसोपायत्वात्, तच्च परमनिश्श्रेयसं प्राप्स्यसि ; तस्माद्युद्धायोद्योगः परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनमिति निश्चित्य तदर्थमुत्तिष्ठ । कुन्तीपुत्रस्य तवैतदेव युक्तमित्यभिप्रायः ॥ ३७ ॥

मुमुक्षोर्युद्धानुष्ठानप्रकारमाह— **सुखेति** । एवं देहातिरिक्तं असंस्पृष्टसमस्तदेहस्वभावं नित्यमात्मानं ज्ञात्वा युद्धे चावर्जनीयशस्त्रपातादिनिमित्तसुखदुःखार्थलाभालाभजयपराजयेषु अविकृतबुद्धिः स्वर्गादिफलाभिसन्धिरहितः केवलकार्यबुद्ध्या युद्धमारभस्व । एवं कुर्वाणो न पापमवाप्स्यसि, पापं दुःखरूपं संसारं नावाप्स्यसि ; संसारबन्धान्मोक्ष्यसे इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

४ **वे. ता. चं.**—'हतो वा' इति श्लोकं पूर्वश्लोकवाक्यशेषतयाऽवतारयति— **अत इति** । उभयथाऽपि तव लाभ इति भावः । 'प्राप्स्यसे, भोक्ष्यसे' इत्यर्जुनं प्रत्यभिधानेऽपि **शूरस्येत्यादि**साधारणाभिधानं भीष्मादिहननस्य तच्छ्रेयोहेतुतया शोकहेतुत्वं नास्तीति ज्ञापनार्थम् । श्रेयस इत्यनेन यथेच्छं स्वर्गराज्यादिसुखापवर्गान् सङ्गृह्णाति । न हि हतत्वमात्रात्पुरुषार्थ इत्यत उक्तं **धर्मयुद्ध इति** । **तत एवेति** । श्रेयस्साधनतया शास्त्रसिद्धहननादेवेत्यर्थः । **परमनिश्श्रेयसमिति** । स्वर्गशब्दोऽत्रामृतत्वप्रकरणात्परमनिश्श्रेयसपरस्तत्स्थानपरो वा । यथा "स एतेनैव प्राज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन् स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वा अमृतस्समभवत्" [ ऐ. उ. ३।४ ] "अनन्ते स्वर्गे लोकेऽज्येये प्रतितिष्ठति" [के. उ. ४।३४] "स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते" [ कठो. १।१।१३ ] इति, 'राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्' [ २।८ ] इति क्षुद्रस्वर्गोपेक्षकार्जुनोद्देशेन वचनाच्चायमेवार्थ इति भावः । **परान्वा हत्वेति** । महारथानां भीष्मद्रोणकर्णादीनां जयो हि हननमन्तरेण न युज्यत इति भावः । 'जित्वा भोक्ष्यसे' इत्युभाभ्यां फलितमुक्तं **अकण्टकमिति** । प्रतिकूलेषु जाग्रत्सु राज्यं सिद्धमपि हि

न भोगाय स्यादिति भावः । अर्जुनानादृतराज्यभोगमात्रपर्यवसानव्युदासायाह— अनभिसंहितेति । मुमुक्षोर्हि राज्यभोगादिरानुषङ्गिकः। सम्बुद्धितात्पर्यमाह— कुन्तीपुत्रस्येति। 'सूतं सूते क्षत्रिया राजपुत्री' इति हि प्रसिद्धम् । नहि सिंहीसुतेन हरिणीकुमारचरितमनुसरणीयम् ; न च शुद्धक्षेत्रजन्मना त्वया महीयसो धर्मस्य विच्छेदः कार्य इति भावः ॥ ३७ ॥ एवमस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलत्वमुपशमितम् ; अथ धर्मत्वेन स्थापितस्य मुमुक्षुविषयानुष्ठानप्रकारं वदतीत्याह— मुमुक्षोरिति । न हि राज्यादिकामिनामीदृशी बुद्धिरपेक्षिता, अतोऽल्पास्थिरदुःखमिश्रयुद्धसाध्यफलेन किं ममेति नाशङ्कनीयमिति भावः । पूर्वोक्तमात्मतत्त्वज्ञानमनुष्ठानदशायामनुवर्तनीयतया दर्शयति— एवमिति । देहातिरिक्तमिति । सति धर्मिणि हेयविरहादिधर्मचिन्तेति भावः । पौनरुक्त्यभ्रमपरिहाराय लाभालाभयोर्धनादिविषयत्वमुक्तम् । विषमयोः सुखदुःखप्रवाहयोः समीकरणं कथमित्यत्रोक्तं अविकृतबुद्धिरिति । विकारो हर्षशोकादिरूपः ; तदभावकथनेन विवेकादिसप्तकान्तर्गतानवसादानुद्धर्षयोर्ग्रहणम् । युद्धायेति । तादर्थ्यविभक्तिसूचितान्यार्थत्वनिवृत्तिरुच्यते— स्वर्गादीति । 'मा फलेषु कदाचन' [२।४७] 'एतान्यपि तु' [१८।६] इत्यादिवक्ष्यमाणमत्रानुहितम् । तत इत्यस्योपयुक्तहेतुविशेषपरत्वमेवोचितम्, आनन्तर्यादिपरत्वं तु अनुपयुक्तमित्यभिप्रायेणाह— केवलकार्यबुद्ध्येति । पापशब्दोऽत्र न गुरुवधादिशङ्कितपापपरः, युद्धस्य स्वधर्मतामात्रेण तन्निवृत्तौ सुखदुःखसाम्यादिबुद्धिविशेषस्यैवमित्यनूदितस्य नैरर्थक्यप्रसङ्गात् । न च कृतपापपरः, नावाप्स्यसीत्यनन्वयात् । करिष्यमाणे च न प्रायश्चित्तम् । न च विद्याव्यतिरिक्तेपूत्तराघाश्लेषः । अतोऽत्रात्मतत्त्वप्रकरणान्मुमुक्षवपेक्षयाऽनिष्टफलत्वाविशेषेण पुण्यपापरूपसकलसांसारिककर्मपरः । ततश्च तत्फलभूतः संसारोऽत्र लक्ष्यत इत्यभिप्रायेणाह— दुःखरूपं संसारमिति । 'नैवं पापमवाप्स्यसि' इत्युक्ते पापहेतुत्वाभावमात्रं प्रतिभातीत्यत्राह— संसारबन्धादिति। परम्परयेति शेषः । 'सोऽमृतत्वाय कल्पते' [२।१५] इति पूर्वोक्तमिह स्मारितम् ॥ ३८ ॥

५ आ. मा. भा.—॥ ३७ ॥ ३८ ॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ३७ ॥ ३८ ॥

७ ह. पै. भा.—युद्धे पुनः कर्णादिभिः क्रियमाणे— हतो वेति । जित्वा कर्णादीन्भोक्ष्यसे महीम् । उभयथापि ते लाभ इत्यभिप्रायः। यत एवं तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय ! कृतनिश्चयो जेष्यामि परान्मरिष्यामि वेति निश्चयं कृत्वेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ ततः स्वधर्म इत्येव युध्यस्व । उपदेशमिमं शृणु— सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वेति । एष उपदेशः प्ररोचनार्थः प्रासङ्गिकः ॥ ३८ ॥

८ वे. ब्र. गि.— इदानीं 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' [२।६] इत्येतन्निरुक्तं निरस्यति— [ हतो वेति ] जये पराजये च लाभध्रौव्यात् पक्षद्वयेऽपि न तव हानिरित्यर्थः । 'कौन्तेय' इत्यनेन त्विदं सूचितम्— मत्पितृष्वसृकुन्तीपुत्रस्य तव मदनुबन्धमहिम्ना जय एव भविता, न तु पराजय इति, तदेतद्भगवानेव वक्ष्यति— 'युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान्' [११।३४] इति । 'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गं' इति तु लोकदृष्ट्योक्तं, लोके शूरस्य युधि परैः स्वस्य हननं स्वेन वा परेषां हननं द्वयमपि श्रेय इति । ननु 'अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्' [२।८] इति राज्यस्वर्गनैराश्यमुक्तवन्तं प्रति 'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्' इत्याद्युक्तिः कथं घटते ? इति चेत्, न; तत्र 'यच्छोकमुच्छोषणम्' [२।८] इति भीष्मद्रोणवधप्रयुक्तशोकोपाधिकस्यैव राज्यस्वर्गनैराश्यस्योक्त्या तदुपाधिभूतशोकस्य भीष्मद्रोणयोरातताथित्वेनाशोच्यत्वप्रदर्शनेनैव निवृत्तौ तदुपाधिकराज्यस्वर्गनैराश्यस्यापि निवृत्त्यवश्यम्भावेनाविरोधादिति भावः ॥

अथेदानीम् 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि' [२।७] इत्यस्य प्रत्युत्तरमाह— तस्मादुत्तिष्ठेति । यस्मादिदं युद्धं धर्मशास्त्रशिष्टाचारपरिप्राप्तं करणेऽभ्युदयावहमकरणे प्रत्यवायापकीर्तिकरं च, तस्माद्धेतोरिदमेव श्रेयोऽवश्यकर्तव्यमिति कृतनिश्चयः सन्युद्धायोत्तिष्ठ ॥ ३७ ॥

एवं सकामस्य युद्धकर्तव्यत्वमुक्तम् ; इदानीं निष्कामस्य मुमुक्षोस्तत्कर्तव्यतामाह— [ सुखदुःखे इति ] सुखदुःखयोर्हेतू राज्यकीर्त्यादिलाभालाभौ, तयोरपि जयाजयौ । एतेषां च समत्वं नाम हर्षविषादरूपविलक्षणकार्यजनकत्वाभावरूपं विवक्षितम् । एवं सुखदुःखादिद्वन्द्वत्रिकं समीकृत्य तत्प्रयुक्तहर्षविषादौ विसृज्य, रागद्वेषौ निरस्येति यावत्; ततो युद्धाय युज्यस्व सन्नद्धो भव । एवं युद्ध्यमानः पापं संसारं नावाप्स्यसि ।

यद्यपि राज्यस्वर्गफलकं युद्धम्, तथापि फलकामनां विहायानुष्ठीयमानं चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानजनकत्वान्मोचकं भवत्येव, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" [बृ. उ. ४।४।२२] इति श्रुत्या काम्यकर्मणामपि संयोगपृथक्त्वन्यायेन ज्ञाने विनियोगात्, उक्तं हि वार्त्तिके— 'फलेच्छां तु परित्यज्य कृतं कर्म विशुद्धिकृत्' इतीति भावः । अत्र 'नैवं पापमवाप्स्यसि' इत्यस्य फलकामनां त्यक्त्वा युद्ध्यमानो गुरुब्राह्मणवधनिमित्तं पापं न प्राप्स्यसीति व्याख्याने 'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्' इति पूर्वश्लोकोक्ते फलकामना-

प्रयुक्तयुद्धकर्तव्यतापक्षे गुर्वादिवधपापमस्तीत्युद्भावितं स्यात् । न च पूर्वश्लोके स्वर्गादिफलकीर्तनमानुषङ्गिकफलोक्तिमात्रमिति न फलकामनाप्रयुक्तयुद्धोपदेशस्तत्रेति वाच्यम्; "सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ" इति श्रवणेऽपि यत्फलकामनया कर्मानुष्ठानं तदेव फलं तस्मिन् प्रयोग इति योगसिद्ध्यधिकरणे व्यवस्थापिततया कामनां विना स्वर्गस्यानुषङ्गिकत्वायोगात्, न च तथापि 'हतो वा...... जित्वा वा' [२।३७] इति नार्जुनोद्देशेनोक्तम्। तस्य जयापजयाभिसन्धिशून्यत्वादिति वाच्यम्; 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [२।६] इत्यर्जुनोक्त्या 'मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेताऽसि रणे सपत्नान्' [११।३४] इति भगवदुक्त्या च तस्य जयाभिसन्धिप्रदर्शनात् । तस्मात् सकामत्वपक्षे युद्धानुष्ठानप्रकारः पूर्वश्लोके वर्णितः, मुमुक्षुत्वपक्षे तदनुष्ठानप्रकारोऽस्मिन् श्लोक इत्येव व्याख्येयम् । भाष्यमप्यत्रैव स्वरसम्। न चैवं स्वर्गमुद्दिश्य युद्धकरणे तस्य काम्यत्वादकरणे प्रत्यवायोक्त्ययोगः, राज्यमुद्दिश्य युद्धकरणे स्वर्थशास्त्रतया धर्मशास्त्राद्दुर्बलत्वाद्दृष्टार्थगुरुब्राह्मणवधस्याधर्मत्वापत्तिरिति पूर्वश्लोके दोषः शङ्क्यः; काम्यस्याप्यारम्भादूर्ध्वमकरणे प्रत्यवायसत्त्वेन युद्धशास्त्रस्यार्थशास्त्रत्वनिरासेन चोक्तदोषानवकाशात् । तदेवं 'स्वधर्मम्' [२।३१] इत्याद्यष्टश्लोक्या 'कथं भीष्मम्' [२।४] इत्यादिपञ्चश्लोक्योक्ताः प्रज्ञावादाः सर्वेऽपि निरस्ता वेदितव्याः ॥ ३८ ॥

९ व० त० टी०— यच्चोक्तं 'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयः' [ २ । ६ ] इति तत्राह—हतो वेति । स्वर्गं प्राप्स्यसि जित्वा वा महीं भोक्ष्यसे। पक्षद्वयेऽपि तव लाभ इति भावः ।। ३७ ।। यच्चोक्तं 'पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वा' [ १ । ३६ ] इत्यादिना तत्रावधेहि— सुखदुःखे समे कृत्वेति । योगमपि संस्मरन्नाह— साङ्ख्येनैकीकृत्य । जगति फलभूते सुखदुःखे समे हेयोपादेयतया तुल्ये कृत्वा, तत्साधनक्रियाभूतौ लाभालाभौ जयाजयौ च समौ कृत्वा, युद्धाय युज्यस्व । एवं कृतेऽनुद्देशतस्त्वं पापं न प्राप्स्यसि ।। ३८ ।।

१० पु. अ. त.— ननु युद्धे मरणसम्भावनायां दुःखसम्भावनायां च किमपकीर्त्यादिनेति चेत्तत्राह— हतो वेति । वा विकल्पेन हननसम्भावनाभावात् । कदाचिद्धतश्चेत्तदा स्वर्गं प्राप्स्यसि । जित्वा वा दुःखादिसम्भवेऽपि महीं भोक्ष्यसे। तदा दुःखनिवृत्तिर्भविष्यतीति भावः । तस्माद्युद्धाय कृतनिश्चयः सन्नुत्तिष्ठ, उपस्थितो भवेत्यर्थः ॥ ३७ ॥ मया पूर्वं पापसम्भावना कृता तत्र का गतिरित्याशङ्क्याह— सुखदुःखे इति । सुखदुःखे देहस्य, लाभालाभौ राज्यस्य, जयाजयौ यशसः समौ कृत्वा हर्षविषादरहितः सन् ततस्तदनन्तरं मदाज्ञाविचारेण युद्धाय युज्यस्व युक्तो भव । एवंकृते पापं नावाप्स्यसीत्यर्थः ३८

११ नी० भा० दी०—'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इत्युक्तं तत्राह—हतो वेति । रणे स्थितस्य स्वर्गो वा राज्यं वा सिद्धमस्तीति पक्षद्वयमपि हितावहमित्यर्थः ।। ३७ ।।

स्वधर्मस्य युद्धस्याकरणे धर्मकीर्त्योर्नाशः पापावाप्तिश्च 'अथ चेत्त्वमिमं' इति श्लोकेन भगवता यद्यप्युक्ता तथापि युद्धस्य अर्जुनाभिमते काम्यत्वपक्षे 'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् । यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः' [ १।४५ ] इति तत्करणे पापप्रसक्तिरस्ति तां निवारयितुं सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वलक्षणं योगमाह— सुखदुःखे इति । समे कृत्वा सुखदुःखयोस्तद्धेत्वोः राज्यलाभालाभयोस्तद्धेत्वोश्च जयाजययोः रागद्वेषावकृत्वेत्यर्थः । केवलं स्वधर्मोऽयमिति मत्वा युद्धाय युज्यस्व घटस्व । एवं कुर्वंस्त्वं पापं नावाप्स्यसि । यस्तु राज्यलोभेन सुहृद्वधं करोति तस्यास्त्येव पापमिति भावः । कथं तर्हि स्वधर्मत्वेनानुष्ठितेऽपि युद्धे 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं' [ २।३७ ] इत्यादिफलस्मरणं आनुषङ्गिकमिति ब्रूमः । तथा चापस्तम्बः "तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति" इति आम्रनिदर्शनेन प्रतिपादयति ।। ३८ ।।

मुक्त्युपयुक्तज्ञानोपदेशोपक्रमः ।

## एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु ।
## बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ।। ३९ ।।

१ शां. भा.— शोकमोहापनयनाय लौकिको न्यायः 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [ २।३१ ] इत्याद्यैः श्लोकैरुक्तः, न तु तात्पर्येण । परमार्थदर्शनं तु इह प्रकृतम् । तच्चोक्तमुपसंह्रियते— एषा ते अभिहितेति शास्त्रविषयविभागप्रदर्शनाय । इह हि प्रदर्शिते पुनः शास्त्रविषयविभागे उपरिष्टात् 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] इति निष्ठाद्वयविषयं शास्त्रं सुखं प्रवर्तिष्यते, श्रोतारश्च विषयविभागेन सुखं ग्रहीष्यन्तीति अत आह— एषा

तेऽभिहितेति ॥ एषा ते तुभ्यमभिहिता उक्ता साङ्ख्ये परमार्थवस्तुविवेकविषये बुद्धिर्ज्ञानं साक्षात् शोकमोहादिसंसारहेतुदोषनिवृत्तिकारणम् । योगे तु तत्प्राप्त्युपाये निस्सङ्गतया द्वन्द्वप्रहाणपूर्वकं ईश्वराराधनार्थे कर्मयोगे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे चेमां अनन्तरमेवोच्यमानां बुद्धिं श्रृणु । तां च बुद्धिं स्तौति प्ररोचनार्थम्— बुद्ध्या यया योगविषयया युक्तो हे पार्थ ! कर्मबन्धं कर्मैव धर्माधर्माख्यो बन्धः कर्मबन्धः, तं प्रहास्यसि ईश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्त्यैवेत्यभिप्रायः ॥ ३९॥

२ आ. शां. व्या.— ननु 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [ २।३१ ] इत्यादिश्लोकैर्न्यायावष्टम्भेन शोकमोहापनयनस्य तात्पर्येणोक्तत्वात्तस्मिन्नुपसंहर्तव्ये किमिति परमार्थदर्शनमुपसंह्रियते ? तत्राऽऽह— **शोके**ति । 'स्वधर्ममपि' इत्यादिभिरतीतैः श्लोकैः शोकमोहयोः स्वजनमरणगुर्वादिवधशङ्कानिमित्तयोः सम्यग्ज्ञानप्रतिबन्धकयोरपनयार्थं वर्णाश्रमकृतं धर्ममनुतिष्ठतः स्वर्गादि सिध्यति, नान्यथा; इत्यन्वयव्यतिरेकात्मको लोकप्रसिद्धो न्यायो यद्यपि दर्शितस्तथापि नासौ तात्पर्येणोक्त इत्यर्थः। किं तर्हि तात्पर्येणोक्तं ? तदाह— **परमार्थे**ति । 'न त्वेवाहं जातु नाऽऽसं' [ २।१२ ]इत्यादि सप्तम्या परामृश्यते। उक्तं 'न जायते म्रियते वा' [ २।२० ] इत्यादिनोपपादितमित्यर्थः । उपसंहारप्रयोजनमाह— **शास्त्रे**ति। तस्य वस्तुद्वारा विषयो निष्ठाद्वयं तस्य विभक्तस्य तेनैव विभागेन प्रदर्शनार्थं परमार्थदर्शनोपसंहार इत्यर्थः । ननु किमित्यत्र शास्त्रस्य विषयविभागः प्रदर्श्यते ? उत्तरत्रैव तद्विभागप्रवृत्तिप्रतिपत्त्योः सम्भवादिति, तत्राऽऽह— **इह ही**ति । शास्त्रप्रवृत्तेः श्रोतृप्रतिपत्तेश्च सौकर्यार्थमादौ विषयविभागसूचनमित्यर्थः । उपसंहारस्य फलवत्त्वमेवमुक्त्वा तमेवोपसंहारमवतारयति— **अत आहे**ति । परमार्थतत्त्वविषयां ज्ञाननिष्ठामुक्तामुपसंहृत्य वक्ष्यमाणां संगृह्णाति— **योगे** त्विति। तामेव बुद्धिं विशिष्टफलवत्त्वेनाभिष्टौति— **बुद्ध्ये**ति । तत्रोपसंहारभागं विभजते— **एषे**त्यादिना। बुद्धिशब्दस्यान्तःकरणविषयत्वं व्यावर्तयति— **ज्ञान**मिति । तस्य सहकारिनिरपेक्षस्य विशिष्टं फलवत्त्वमाचष्टे— **साक्षा**दिति । शोकमोहौ रागद्वेषौ कर्तृत्वं भोक्तृत्वमित्यादिरनर्थः संसारस्तस्य हेतुर्दोषः स्वाज्ञानं तस्य निवृत्तौ निरपेक्षं कारणं ज्ञानमज्ञाननिवृत्तौ ज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकसमधिगतसाधनत्वादित्यर्थः । 'योगे त्विमां' इत्यादि व्याकुर्वन्योगशब्दस्य प्रकृते चित्तवृत्तिनिरोधविषयत्वं व्यवच्छिनत्ति— **तत्प्राप्ती**ति । प्रकृतं मुक्त्युपयुक्तं ज्ञानं तत्पदेन परामृश्यते । ज्ञानोदयोपायमेव प्रकटयति— **निस्सङ्गतये**ति, फलाभिसन्धिवैधुर्यं निस्सङ्गत्वम् । बुद्धिस्तुतिप्रयोजनमाह— **प्ररोचनार्थ**मिति । अभिष्टुता हि बुद्धिः श्रद्धातव्या सत्यनुष्ठातारमधिकरोति तेन स्तुतिरर्थवतीत्यर्थः । कर्मानुष्ठानविषयबुद्ध्या कर्मबन्धस्य कुतो निवृत्तिः ? नहि तत्त्वज्ञानमन्तरेण समूलं कर्म हातुं शक्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **ईश्वरे**ति ३९

३ रा. भा.— एवमात्मयाथात्म्यज्ञानमुपदिश्य तत्पूर्वकं मोक्षसाधनभूतं कर्मयोगं वक्तुमारभते— एषेति । सङ्ख्या बुद्धिः, बुद्ध्याऽवधारणीयमात्मतत्त्वं साङ्ख्यम्। ज्ञातव्ये आत्मतत्त्वे तज्ज्ञानाय या बुद्धिरभिधेया 'न त्वेवाहम्' [२।१२] इत्यारभ्य 'तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि' [ २।३० ] इत्यन्तेन सैषा तेऽभिहिता । आत्मज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभूतकर्मानुष्ठाने यो बुद्धियोगो वक्तव्यः, स इह योगशब्देनोच्यते । 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्' [ २।४९ ] इति हि वक्ष्यते । तत्र योगे या बुद्धिर्वक्तव्या, तामिमामभिधीयमानां शृणु, यया बुद्ध्या युक्तः कर्मबन्धं प्रहास्यसि । कर्मणा बन्धः कर्मबन्धः संसारबन्ध इत्यर्थः ।। ३९ ।।

४ वे.ता.चं.—अथ पूर्वप्रकरणोक्तशोकापनोदनहेतुषु प्रधानार्थेनोत्तरप्रकरणारम्भं सङ्गमयति— **एव**मिति । **तत्पूर्वक**शब्देन आत्मज्ञानकर्मयोगयोः क्रमाभिधानौचित्यमुक्तम्; आत्मयाथात्म्यज्ञानोपदेशानन्तरं तच्चिन्तनरूपज्ञानयोगाभिधानस्यौचित्येऽपि तस्य कर्मयोगसाध्यत्वात् प्रथमं कर्मयोग उच्यते। पश्चात्तु तत्फलतया 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५ ] इत्यादिना ज्ञानयोगो वक्ष्यते । **वक्तु**मिति— प्रसक्तं प्राधान्येन प्रपञ्चयितुमित्यर्थः । साङ्ख्ययोगाख्यवेदविरोधितन्त्राभिधानभ्रमं साङ्ख्यशब्दस्यात्र 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां' [३।३] इति वक्ष्यमाणज्ञानयोगविषयत्वभ्रमं च व्युदस्यन्नाह— **सङ्ख्ये**ति 'बुद्धिर्मतिश्च मेधा सङ्ख्या संवित्तिरुपलब्धिः' इति नैघण्टुकाः । 'पुरुषं निर्गुणं साङ्ख्यम्' [ मं. उ. १४ ] इत्याद्यौपनिषदप्रसिद्ध्या परमात्मवदात्मन्यपि साङ्ख्यशब्द उपपन्नः । न च 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्' [ ३।३ ] इत्यादिष्वर्थवैरूप्यप्रसङ्गः, तद्बुद्धियोगेन सर्वत्र तच्छब्दप्रयोगात् । सदपि च वैरूप्यं प्रकरणाद्यानुगुण्येन सर्वत्र सन्नह्यते । एकवचनस्य जात्यभिप्रायत्वज्ञापनाय **आत्मतत्त्व**मित्युक्तम् । **तज्ज्ञानाये**त्यनेन तन्निर्णयमात्रमव्यवहितफलमिति दर्शितम् । **बुद्धि**रिति; निर्णयफला वाक्ययुक्तिपरामर्शगर्भा बुद्धिर्विवक्षितेति न साध्यसाधनभावविरोधः । अथवा बुद्धिरिह शास्त्रनिष्पाद्यो निर्णयः ; **तज्ज्ञानाये**ति साक्षात्कारादिपरः । आत्मतत्त्वाभिधानप्रदेशमवच्छिद्याह— **न त्वे**वेति । ततः परस्तात्तु 'स्वधर्मं' [ २।३१ ] इत्यादिना धर्माधर्मभ्रमास्थानस्नेहयोराक्षेपो हि क्रियत इति भाव. ।

योगशब्दस्यात्र प्रकरणादिविशेषितमर्थमाह— **आत्मज्ञाने**त्यादिना । इहेत्यभिप्रेतं विवृणोति— **दूरेणे**ति । **इमा**मिति निर्देशसूचितमविलम्बिताभिधानमाह— **अभिधीयमाना**मिति । एतेनानुप्रविष्टबुद्धेस्तद्विषयाभिधीयमानबुद्धेश्च भेदोऽपि दर्शितः । यद्वाऽनुष्ठानप्रकारविषयबुद्धिजनकमभिधानं शृण्वित्यर्थः । एतेन कर्मयोगशब्दोऽप्यत्र बुद्धिविशेषयोगमूल इति दर्शितम् । 'बुद्ध्या यया' इत्यनयोर्वैयधिकरण्येन क्रियाद्वयान्वयभ्रमं निरस्यति— **यया बुद्ध्या युक्त** इति । कर्मबन्धशब्दस्य अनतिशयितार्थसमासान्तरमपाकरोति— **कर्मणा बन्ध** इति । 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' [अष्टा. २।१।३०] इति तत्पुरुषः । बन्धशब्दस्यात्र मुख्यार्थासम्भवादभिप्रेतमाह— **संसारे**ति । एतेनानुष्ठीयमानकर्मसम्बन्धहानभ्रमोऽपि निरस्तः ॥ ३९ ॥

**५ आ. मा. भा.— साङ्ख्यं ज्ञानम् । 'शुद्धात्मतत्त्वविज्ञानं साङ्ख्यमित्यभिधीयते' इति भगवद्वचनाद्व्यासस्मृतौ । योग उपायः 'दृष्टा योगाः प्रयुक्ताश्च पुंसां श्रेयःप्रसिद्धये' इति प्रयोगाद्भागवते । नेतरौ साङ्ख्ययोगौ उपादेयत्वेन विवक्षितौ कुत्रचित्सामस्त्येन, कर्मयोग इत्यादिप्रयोगाच्च । निन्दितत्वाच्चेतरयोर्मोक्षधर्मेषु भिन्नमतत्वमुक्त्वा पञ्चरात्रस्तुत्या वेदानां त्वेकार्थत्वान्न विरोधः । पार्थक्यं तु साङ्ख्याद्यपेक्षया युक्तम् । तत्रैव चित्रशिखण्डिशास्त्रे पञ्चरात्रमूले वेदैक्योक्तेश्च एवमेव सर्वत्र साङ्ख्ययोगशब्द उपादेयवाचको वर्णनीयः । युक्तेश्च ज्ञानं पूर्वं जैवमुक्तम् । उपायश्च वक्ष्यते । बुध्यतेऽनयेति बुद्धिः । साङ्ख्यविषयो यया वाचा बुध्यते सा वागभिहितेत्यर्थः ॥ ३९ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— पूर्वप्रकरणोपसंहारपूर्वकं तत्सङ्गतत्वेनोत्तरप्रकरणारम्भप्रतिज्ञार्थं 'एषा तेऽभिहिता' इत्युक्तम्, तत्र साङ्ख्ययोगशब्दौ कापिलपातञ्जलशास्त्रवचनाविति प्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे— **साङ्ख्य**मिति । प्रतीतार्थावेव कुतो न स्यातां ? इत्यत आह— **नेतरा**विति । इतरौ शास्त्रलक्षणौ । कुत्रचिदागमे एतौ तूपादेयौ । 'बुद्ध्या युक्तः' इत्यादिवचनात् । अतो न तावत्र विवक्षिताविति वाक्यशेषः । प्रकृतिपुरुषविवेकादेस्तदुक्तस्योपादेयत्वात्कथमेतत् ? इत्यत उक्तं **सामस्त्येने**ति । एकदेशस्योपादेयतया तदुपादेयत्वे सौगतादेरपि तत्प्रसङ्ग इति भावः । इतोऽपि न योगः पातञ्जलशास्त्रमित्याह— **कर्मे**ति; अस्मिन्नेव योगे कर्मयोगो विशिष्यत इत्यादिप्रयोगाच्च । न हि शास्त्रे कर्मयोगशब्दोऽस्तीति । न केवलमुपादेयत्वाभावान्नेतरौ विवक्षितौ किन्त्वित्यत आह— **निन्दितत्वादि**ति । कथं निन्दितत्वं ? इत्यत आह— **भिन्ने**ति । 'साङ्ख्यं योगः पाशुपतं वेदारण्यकमेव च । ज्ञानान्येतानि भिन्नानि नात्र कार्या विचारणा [म. भा. १२।३४९।६४] इति साङ्ख्यादीनां विरुद्धमतत्वमुक्त्वा 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम् । ज्ञानेष्वेतेषु राजेन्द्र सर्वेष्वेतद्विशिष्यते' [म. भा. १२।३४९।६८] इति पञ्चरात्रस्तुत्या विरुद्धानामेकस्तुतिपरनिन्दां गमयतीति प्रसिद्धमेवेति भावः । एवं तर्हि वेदारण्यकस्यापि निन्दा स्यादित्यत आह— **वेदानां** त्विति । एकार्थत्वात्पञ्चरात्रेण । 'ज्ञानान्येतानि भिन्नानि' इति पार्थक्योक्तेः कथमेकार्थत्वं ? इत्यत आह— **पार्थक्यं** त्विति । युक्तमित्यनेन तेषामेव प्रकृतत्वादित्यभिप्रैति । तथा चाद्यवाक्ये वेदारण्यकपदेन पञ्चरात्रमुत्तरवाक्ये च पञ्चरात्रपदेन वेदारण्यकमुपलक्ष्यते इति भावः । वेदपञ्चरात्रयोरेकार्थत्वं कुत इति चेत्, उदाहृतमोक्षधर्मवाक्यार्थान्यथानुपपत्त्या तावत् ।

अपरं प्रमाणमाह— **तत्रैवे**ति । मोक्षधर्मे एव 'ये हि ते यतयः ख्याताः सत्यचित्रशिखण्डिनः । तैरेकमतिभिर्भूत्वा यत्प्रोक्तं शास्त्रमुत्तमम् ॥ वेदैश्चतुर्भिः समितं कृतं मेरौ महागिरौ' [म.भा. १२] इत्यादिना चित्रशिखण्डिशास्त्रस्य वेदैक्योक्तेश्च असङ्गतमेतदित्यत आह— **पञ्चरात्रे**ति । पञ्चरात्रमूलकस्येत्यर्थः । एतच्च वैखानससंहितोपक्रम एव प्रसिद्धम् । अत एतद्व्याख्यानं 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां' [३।३] 'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः' [५।४] इत्यादावप्यतिदिशति— **एवमेवे**ति । शब्द इति जात्यभिप्रायमेकवचनम् । इतोऽप्यत्र साङ्ख्ययोगशब्दौ ज्ञानोपायवाचिनावित्याह— **युक्तेश्चे**ति । तामेव युक्तिं दर्शयति— **ज्ञान**मिति । अत्रोक्तवक्ष्यमाणयोरर्थयोः साङ्ख्ययोगशब्दौ प्रयुक्तावुक्तवक्ष्यमाणार्थौ ज्ञानोपायावेवेति तदर्थावेतौ युक्ताविति— **जैवं ज्ञान**मिति । जीवस्य तत्त्वमित्यर्थः । यद्यपीश्वरतत्त्वं चोक्तं तथापि तादर्थ्येनेत्यदोषः । ननु बुद्धिर्ज्ञानं तदुत्पाद्यत एव, न त्वत्राभिहितं, नापि श्राव्यते, तत्कथमुच्यते 'साङ्ख्ये बुद्धिरभिहिता, योगे त्विमां शृणु' इति ? तत्राह— **बुध्यत** इति । वागिति शेषः । ननु साङ्ख्यं न वाचोऽधिकरणं तत्कथं सप्तमी ? किमर्थं च प्रसिद्धवाक्छब्दपरित्यागेनाप्रसिद्धबुद्धिशब्दोपादानं ? इत्यत आह— **साङ्ख्ये**ति । साङ्ख्यं चासौ विषयश्च अनेन विषयसप्तमीयमित्याह । नाविशदं वाङ्मात्रमुक्तं, किन्तु तव बोधो यथोत्पद्यते तथेत्यप्रसिद्धपदोपादानप्रयोजनमित्युक्तं भवति ॥ ३९ ॥

**७ ह. पै. भा.— शोकापनये लौकिको न्यायः 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' इत्याद्यैः श्लोकैरुक्तः, न तात्पर्येण । परमार्थदर्शनमिह प्रोक्तं प्रकृतं, तच्चोक्तमुपसंहरति— एषा ते तुभ्यमभिहितोक्ता, साङ्ख्ये परमात्मवस्तुविवेकविषये बुद्धिर्ज्ञानं साक्षाच्छोकमोहादिसंसारनिवृत्तिकारणम् । योगे तत्प्राप्त्युपाये निस्सङ्गतया द्वन्द्वप्रहरणपूर्वकमीश्वराराधनार्थे कर्मानुष्ठाने समाधियोगे चेमामनन्तरं मयोच्यमानां बुद्धिं शृणु ।**

तां बुद्धिं स्तौति श्रोतॄणां प्ररोचनार्थम्—बुद्ध्या यया योगविषयया युक्तो हे पार्थ ! कर्मबन्धं कर्मैव धर्माधर्माख्यं बन्धस्तं प्रहास्यसि । ईश्वरप्राप्तिनिमित्तज्ञानं प्राप्स्यसीत्यभिप्रायः ॥ ३९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवम् 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' [२।११] इत्याद्येतदन्तेन आत्मतत्त्वज्ञानमुपदिश्य तद्धेतुभूतं कर्मयोगमुपदेष्टुकामः श्रोतृजनमनस्समाधानाय वृत्तानुवादपूर्वकं वक्ष्यमाणं प्रस्तौति— [एषेति]

अत्र साङ्ख्ययोगशब्दौ न प्रसिद्धसाङ्ख्ययोगशास्त्रपरौ; अकर्तृभोक्तृनिर्विकारात्मतत्त्वाद्वैतस्य पूर्वोक्तसाङ्ख्यस्य 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' [२।४५] इत्यादिवक्ष्यमाणयोगस्य च प्रसिद्धसाङ्ख्ययोगशास्त्रयोरनिरूपणेन 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' इत्युक्तेरयोगात्, साङ्ख्ययोगशास्त्रयोस्तत्त्वज्ञानविषयेऽनुपादेयत्वस्य ब्रह्ममीमांसायां व्यवस्थापितत्वाच्च; 'साङ्ख्यं योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपतं तथा । ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि नानामतानि वै' इति पाञ्चरात्रादेरिव साङ्ख्ययोगशास्त्रयोर्वैदिकमतान्मतान्तरत्वस्य भगवतैवोक्तेश्च । किन्तु सम्यक्ख्यायते प्रतिपाद्यतेऽनया आत्मतत्त्वमिति सङ्ख्या उपनिषद्, तत्प्रतिपाद्यमात्मतत्त्वं साङ्ख्यम्; तद्विषये या बुद्धिः साक्षान्मोक्षहेतुः एषा ते तुभ्यमभिहिता, योगे तु युज्यतेऽनेन ज्ञानमिति योगः पूर्वोक्तात्मतत्त्वज्ञानोपायभूतः परमेश्वराराधनार्थनिष्कामकर्मानुष्ठानरूपः, तस्मिन् करणीयां इमां 'सुखदुःखे समे कृत्वा' [२।३८] इत्यत्रोक्तामग्रे च विस्तार्यमाणां बुद्धिं शृणु । शृण्वत एव पुनः शृण्वित्युक्तिरादरेण श्रोतव्यतार्था ।

अत्र च 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' [२।११] इत्यादिना आत्मतत्त्वज्ञानरूपां साङ्ख्यबुद्धिमुक्त्वा ततः 'स्वधर्ममपि च' [२।३१] इत्यादिना लौकिकन्यायमुपदिश्य पुनः 'सुखदुःखे समे कृत्वा' [२।३८] इत्यादिना योगमप्यभिधाय 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये' इति साङ्ख्यबुद्धिमात्रमुपसंहरता भगवता—आत्मतत्त्वज्ञानमेव गीतातात्पर्यविषयः, 'स्वधर्ममपि च' [२।३१] इत्यादिकं तु शोकनिवृत्तावभ्युच्चयत्वेन प्रासङ्गिकलौकिकन्यायप्रदर्शनमात्रम्, 'सुखदुःखे समे' [२।३८] इत्यादिकर्मयोगोऽपि ज्ञानार्थत्वेन तच्छेषत्वाज्ज्ञानतात्पर्येणैवोक्त इत्ययमर्थो दर्शितः। एतदभिप्रायेणैव ह्यध्यायान्ते भगवानुपसंहरिष्यति—'एषा ब्राह्मी स्थितिः' [२।७२] इति; शास्त्रान्ते च 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' [१८।६३] इति ।

ननु बन्धहेतुः कर्मयोगः कथं मोक्षफलकसाङ्ख्यबुद्धावुपयोक्ष्यते? इत्याशङ्क्याह—बुद्ध्येति । यया योगविषयया बुद्ध्या युक्तः कर्मबन्धं संसारं प्रकर्षेण हास्यसि त्यक्ष्यसि। 'पार्थ' इत्यनेन उपदेशविश्वासहेतुः पितृष्वसृपुत्रत्वानुबन्धः सूचितः ।

यत्त्वत्र मधुसूदनसरस्वतीभिरुक्तम्— "कर्मबन्धशब्देन संसारोक्तौ ईश्वरप्रसादनिमित्तज्ञानप्राप्त्येत्यध्याहारदोषः कर्मपदवैयर्थ्यं च स्यात् । अतः कर्मनिमित्तश्चित्तकालुष्यरूपो ज्ञानप्रतिबन्ध एव कर्मबन्धः । तं प्रहास्यसीत्यर्थः । 'धर्मेण पापमपनुदति' [म. ना. उ. २२।१] इति श्रुत्या पापनिमित्तज्ञानप्रतिबन्धस्य कर्मणा प्रहाणोपपत्तेः । श्रवणादिलक्षणो विचारस्तु कर्मात्मकप्रतिबन्धरहितस्यासम्भावनादिप्रतिबन्धं दृष्टद्वारेणापनयतीति न कर्मबन्धनिरासायोपदेष्टुं शक्यते । अतः अत्यन्तमलिनान्तःकरणत्वाद्बहिरङ्गसाधनं कर्मैव त्वयाऽनुष्ठेयम् । नाधुना श्रवणादियोग्यताऽपि तव जाता, दूरे तु ज्ञानयोग्यतेत्यभिप्रायः । तथा च वक्ष्यति— 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इति" इति ।

अत्रेदं चिन्त्यम्— एवं हि श्रवणानधिकारिणमेवार्जुनं प्रति भगवता ज्ञानमुपदिष्टमिति तस्याविवेकिगुरुत्वं स्यात् । न ह्येतद्युक्तं 'इदं ते नातपस्काय' [१८।६७] इत्यादिनाऽनधिकारिणे गीताशास्त्रं नोपदेष्टव्यमिति वदन्भगवान् स्वयमर्जुनाय मलिनान्तःकरणतया श्रवणानधिकारिण एव ज्ञानमुपदिदेशेति ।

किञ्च दैवासुरसम्पद्विभागाध्याये 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' [१६।१] इत्यादिना दैवसम्पदं प्रस्तुत्य 'दैवी सम्पद्विमोक्षाय' [१६।५] इति तस्यास्तत्त्वज्ञानाधिकारिविशेषणत्वमुक्त्वा 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव' [१६।५] इत्यर्जुनस्य ज्ञानाधिकारित्वं प्रदर्शयद्भगवद्वचनं तस्यानधिकारित्वे विरुध्येत । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इति तूपोद्घातप्रकरणे [गी. ब्र. पृ. २६ । २७] एव व्याख्यातम् । अपि च 'अवाप्य भूमावसपत्नम्' [२।८] इति श्लोकव्याख्यानावसरे अर्जुनस्य ज्ञानाधिकारिविशेषणसम्पत्तेः स्वयमेव प्रदर्शनात् स्वव्याघात इति यत्किञ्चिदेतत् । तस्मात् कर्मबन्धशब्दस्य श्रवणानधिकारापादकमनःकालुष्यार्थकत्वासम्भवाद्भाष्योक्त एव तदर्थः । न चाध्याहारदोषः, अनुक्तोपालम्भापातात् । न ह्यत्र ज्ञानप्राप्त्येत्यध्याहार इति भाष्ये लिखितम् । किन्तु योगविषयबुद्धेर्बन्धप्रहाणहेतुत्वं ज्ञानद्वारेति वस्तुगतिरुक्ता । न च कर्मपदवैयर्थ्यम्; बन्धहेतोः कर्मणः कथं तन्निवर्तकत्वमिति चोद्ये, 'बुद्ध्या युक्तो यया' इत्यनेन परमेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्य कर्मणो बन्धकत्वेऽपि तदर्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्य तन्निवर्तकत्वमेव, 'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः' [३।९] इति वक्ष्यमाणत्वात्, इत्येवं परिहारस्य दर्शितत्वेन कर्मबन्धमित्यत्र कर्मपदस्य उक्तपरिहारस्फोरणार्थतादृशचोद्यावसरदानार्थत्वेन सार्थकत्वादिति दिक् ॥ ३९ ॥

९ व० त० दी०— एवमशोकार्थमुपदिष्टेऽपि साङ्ख्येऽतन्मात्ररुचिं पार्थमालक्ष्य आत्मयोगोपदेशेन मनस्समाधानाय तं प्रस्तौति— एषा ते इति । साङ्ख्यमात्मानात्मतत्त्वसङ्ख्यानं तत्राभिधेये 'न त्वेवाहं' [२।१२] इत्यारभ्य 'तस्मात्सर्वाणि भूतानि' [२। ३०] इत्यन्तमुपादेयतयोक्त्वा मध्ये स्वधर्मकरणमुपपाद्य पुनरप्यन्ते

'सुखदुःखे समे कृत्वा' [ २ । ३८ ] इत्यादिना योगवत्साङ्ख्यशास्त्रबुद्धिर्मयोक्ता । योगे तु मनोनिरोधरूपे साम्यस्थितिप्रयोजनके ईश्वरालम्बने याऽभिधेया बुद्धिस्तामिमां स्वधर्माचरणाभिमतां शृणु । तुर्भेदार्थकः । यया बुद्ध्या युक्तस्त्वं क्रियमाणकर्मसु बन्धमुभयात्मकं पुण्यपापात्मकं प्रहास्यसि ॥ ३९ ॥

१० पु. अ. त.— एवं साङ्ख्यमात्मज्ञानात्मकमुपदिश्योपसंहरति— एषेति । एषा पूर्वोक्ता ते तव साङ्ख्ये आत्मानात्मप्रकाशके बुद्धिः करणार्थमभिहिता । साङ्ख्यस्य भगवतो विप्रयोगरसात्मककुण्डलरूपत्वात्तत्र भगवदात्मकात्मज्ञानेन न स्वास्थ्यं भवति तस्मादात्मज्ञानबुद्धिरभिहिता उक्तेत्यर्थः । तज्ज्ञानार्थमेव एतच्छ्रवणेऽपि चेत्तव न ज्ञानं जातं, तदा कर्मयोगेन मोहो निवर्तिष्यत इति कर्मयोगं शृण्वित्याह— योग इति । योगे तु इमां बुद्धिं शृणु, यया बुद्ध्या युक्तः सन् पार्थ मद्भक्तवर! कर्मबन्धं कृतकर्मपापं प्रहास्यसि, त्यक्ष्यसीत्यर्थः । त्यागे प्रकर्षः पुनस्तद्भावानुदयः ॥ ३९ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमर्जुनस्य पूर्वोक्तौ द्वावपि मोहावपनीतौ, तत्र 'कं घातयति हन्ति कं' [२।२१] इति कर्तृत्वकारयितृत्वयोरात्मन्यसम्भव उक्तः । 'ततो युद्धाय युज्यस्व' [ २।३८ ] इति नियोगश्चोक्तः । न ह्यकर्तुराकाशवत्सर्वगतस्य नियोज्यत्वं सम्भवतीति परस्परव्याहतमेतदितीममाशङ्कां अधिकारिभेदेनोभयं व्यवस्थापयन् परिहरति— एषा ते इति । एषा ते तुभ्यं अभिहिता 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं' [ २।११ ] इत्यादिना 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [ २।३१ ] इत्यतः प्राक्तनेन सन्दर्भेण उक्ता । साङ्ख्ये सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते वस्तुतत्त्वमनयेति सङ्ख्या उपनिषत्, तत्र विदिते साङ्ख्ये औपनिषदे ब्रह्मणि विषये बुद्धिर्ज्ञानं संसारनिवर्त्तकं एषा ते साङ्ख्ये बुद्धिरभिहितेति सम्बन्धः । योगे 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' [ २।४८ ] इति वक्ष्यमाणलक्षणे विषये तुशब्दः पूर्ववैलक्षण्यद्योतनार्थः । वक्ष्यति च ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्विभिन्नाधिकारिकत्वं 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ । ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] इति ; एतेन ज्ञानकर्मणोः समुच्चयशङ्काऽप्यपास्ता । इमां 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [ २।३१ ] इत्यादिनाऽनन्तरग्रन्थेनोक्तामपि विस्तरेणाभिधीयमानां शृणु । इमामेव बुद्धिं स्तौति सार्धेन– बुद्ध्येत्यादिना ।

ननु कर्मबन्धप्रहाणमात्मज्ञानेनैव श्रूयते— "तस्यैवात्मपदं (तस्यैव स्यात्पदवित्तं) विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन" [ बृ. उ. ४।४।२३ ] इति श्रुतेः, कर्मयोगस्तु कर्मबन्धं दृढीकरिष्यत्येवेति कथमुच्यते ? कर्मबन्धं प्रहास्यसीति चेत् श्रुतिबलादिति ब्रूमः । तथा हि— "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चिज्जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् । कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" [ ई. उ. १।२ ] इति श्रुतिरीश्वरेणेदं सर्वं स्तम्भितमस्तीति न कश्चित्किञ्चित्स्वेच्छया कर्तुं प्रभवति । अतः सर्वत्र ममताहीनः सन् भोक्तृत्वकर्तृत्वाभिमानत्यागेनैव भोगान् भुङ्क्ष्व, कर्माणि च कुरु । एवं कुर्वति त्वयि कर्मलेपो नास्ति इतोऽन्यदुपायान्तरं च नास्तीति वदति । तस्मात् कनककार्ष्णायसादिवत् केनचिद्विशेषरूपेणोपेतं कर्मैव सजातीयोच्छेदनिमित्तं भविष्यतीति युक्तमुक्तं 'कर्मयोगेनापि कर्मबन्धं प्रहास्यसि' इति ॥ ३९ ॥

विच्छिन्नस्यासमाप्तस्यापि निष्कामकर्मणो माहात्म्यं फलप्राप्तिश्च ।

**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते ।**
**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥ ४० ॥**

**१ शां. भा.— किञ्चान्यत्– नेहेति ॥ नेह मोक्षमार्गे कर्मयोगे अभिक्रमनाशः, अभिक्रमणं अभिक्रमः प्रारम्भस्तस्य नाशो नास्ति, यथा कृष्यादेः । योगविषये प्रारम्भस्य नानैकान्तिकफलत्वमित्यर्थः । किञ्च— नापि चिकित्सावत् प्रत्यवायो विद्यते । किन्तु स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य योगधर्मस्यानुष्ठितं त्रायते रक्षति महतो भयात् संसारभयाज्जन्ममरणादिलक्षणात् ॥ ४० ॥**

२ आ. शां. व्या.— ननु कर्मानुष्ठानस्यानैकान्तिकफलत्वेन अकिञ्चित्करत्वादनेकानर्थकलुषितत्वेन दोषवत्त्वाच्च योगबुद्धिरपि न श्रद्धेयेति तत्राऽऽह— किञ्चेति । अन्यच्च किञ्चिदुच्यते कर्मानुष्ठानस्याऽऽवश्यकत्वे कारणमिति यावत् । कर्मणा सह समाधेरनुष्ठातुमशक्यत्वादनेकान्तरायसम्भवात्तत्फलस्य च साक्षात्कारस्य दीर्घकालाभ्याससाध्यस्यैकस्मिन् जन्मन्यसम्भवात्; अर्थाद्योगी भ्रश्येतानर्थे च निपतेदित्याशङ्क्याऽऽह— नेहेति । प्रतीकत्वेनोपात्तस्य नकारस्य पुनरन्वयानुगुणत्वेन नास्ती-

त्स्नुवादः । यत्तु कर्मानुष्ठानस्य अनैकान्तिकफलत्वेन अकिञ्चित्करत्वमुक्तं तद्दूषयति— **यथेति** । कृषिवाणिज्यादेरारम्भस्यानियतं फलं सम्भावनामात्रोपनीतत्वात्, न तथा कर्मणि वैदिके प्रारम्भस्य फलमनियतं युज्यते, शास्त्रविरोधादित्यर्थः । यत्तूक्तमनेकानर्थकलुषितत्वेन दोषवदनुष्ठानमिति तत्राऽऽह— **किञ्चेति** । इतोऽपि कर्मानुष्ठानमावश्यकमिति प्रतिज्ञाय हेत्वन्तरमपि स्फुटयति— **नापीति** । चिकित्सायां हि क्रियमाणायां व्याध्यतिरेको वा मरणं वा प्रत्यवायोऽपि सम्भाव्यते, कर्मपरिपाकस्य दुर्विवेकत्वात्; न तथा कर्मानुष्ठाने दोषोऽस्ति, विहितत्वादित्यर्थः । सम्प्रति कर्मानुष्ठानस्य फलं पृच्छति— **किं त्विति** । उत्तरार्धं व्याकुर्वन्विवक्षितं फलं कथयति— **स्वल्पमपीति** । सम्यग्ज्ञानोत्पादनद्वारेण रक्षणं विवक्षितम् 'सर्वपापेषु सक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । यतिस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावनपावनः' इति स्मृतेरित्यर्थः ॥ ४० ॥

**३ रा. भा.— वक्ष्यमाणबुद्धियुक्तस्य कर्मणो माहात्म्यमाह— नेहेति । इह कर्मयोगे नाभिक्रमनाशोऽस्ति; अभिक्रम आरम्भः, नाशः फलसाधनभावनाशः, आरब्धस्यासमाप्तस्य विच्छिन्नस्यापि न निष्फलत्वम् । आरब्धस्य विच्छेदे प्रत्यवायोऽपि न विद्यते । अस्य कर्मयोगाख्यस्य धर्मस्य स्वल्पांशोऽपि महतो भयात् संसारभयात् त्रायते । अयमर्थः— 'पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते' [ ६।४० ] इत्युत्तरत्र प्रपञ्चयिष्यते । अन्यानि हि लौकिकानि वैदिकानि च साधनानि विच्छिन्नानि न हि फलप्रसवाय भवन्ति, प्रत्यवायाय च भवन्ति ॥ ४० ॥**

४ वे. ता. चं.— ननु 'इमां शृणु' [२।३९] इत्युक्तेऽनन्तरं 'व्यवसाया-' [२।४१] इत्यादि वक्तव्यम्, मध्ये 'नेहाभिक्रम' इत्येतन्न सङ्गच्छत इत्यत्राह— **वक्ष्यमाणेति** । उपक्रमे माहात्म्यकथनेन बुभुत्सातिशयजननाय प्ररोचना क्रियत इति भावः । इहेत्यनेन सूचितं कर्मान्तरेभ्यो वैलक्षण्यमाह— **कर्मयोग** इति । अभिमुखक्रमणशङ्कां व्युदस्यति— **अभिक्रम आरम्भ** इति । उपक्रमशब्दवदयमिति भावः । क्रियारूपस्याभिक्रमस्य कथमविनाशित्वमित्यतो **नाशः फलसाधनभावनाश** इति । तात्पर्यमाह— **आरब्धस्येति** । प्रत्यवायशङ्काहेतुं दर्शयन् द्वितीयं पादं व्याकरोति— **आरब्धस्य विच्छेदे** इति । उक्तविवरणरूपमुत्तरार्धं व्याख्याति— **अस्येति** । **संसारभयादिति** । महत्त्वविशेषितं भयं संसारभयमेव हीति भावः । स्वल्पांशस्यापि संसारनिवृत्तिहेतुत्वं देशकालादिवैगुण्यात् प्रामादिकाकल्यकरणादिना च विच्छिन्नस्याप्यवश्यं पुनः सन्धानादिति दर्शयन्नस्य श्लोकस्योक्तार्थैकपरत्वं सङ्ग्रहविस्तररूपत्वेन वक्ष्यमाणापौनरुक्त्यं चाह— **अयमर्थ** इति । कृतांशस्य कथं न नाशप्रसङ्ग इति शङ्कायामिहेत्यस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति— **अन्यानि हीति** । **लौकिकानी**त्यतिशङ्काहेतुर्दृष्टान्त उक्तः । **वैदिकानी**ति सामान्यनिर्देशस्यायं भावः— नित्यनैमित्तिकान्यपि विच्छेदे सति न फलाय स्युः; प्रत्यवायाय च भवेयुः । अशक्त्यादिमूलमीषद्वैकल्यमात्रं हि तत्र सह्यम् । काम्येषु त्वङ्गवैकल्येऽपि नैष्फल्यमिति विशेष इति प्रत्यवायाय च भवन्तीति न केवलं स्वर्गादिरलाभमात्रम्, ब्रह्मरक्षस्त्वप्राप्त्यादिरपि स्यादिति भावः ॥ ४० ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ४० ॥**

६ ज. प्र. दी. ॥ ४० ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्च— इह मोक्षमार्गेऽभिक्रमनाशोऽभिक्रमणमभिक्रमः प्रारम्भस्तन्नाशो नास्ति, यथा कृष्यादेः । मोक्षविषये प्रारम्भस्य नानैकान्तिकफलत्वमित्यर्थः । किञ्च चिकित्सावत्प्रत्यवायो न विद्यते । किन्तु भवति, स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य मोक्षसाधनानुष्ठितं त्रायते रक्षति संसारभयाज्जन्ममरणादिलक्षणात् ॥ ४० ॥**

८ वे. ब्र. गि.— ननु कर्मयोगेन बन्धप्रहाणमयुक्तम्, कर्मणामानन्त्येन तेषां पुरुषायुषेणाप्यनुष्ठातुमशक्यत्वादित्याशङ्क्याह— [ **नेहेति** ] अस्य धर्मस्य स्वल्पमपि महतो भयात् त्रायत इति प्रथममन्वयः । अस्य परमेश्वराराधनार्थनिष्कामकर्मानुष्ठानरूपस्य कर्मयोगाख्यस्य धर्मस्य स्वल्पांशोऽपि संसारभयाद्रक्षति । कर्मणामानन्त्येऽपि तन्मध्ये यथाशक्त्येकमपि कर्म ईश्वराराधनबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं सन्मोचकं भवतीत्यर्थः । यावच्छक्ति किञ्चिदनुष्ठानेऽपि 'आरब्धस्यावश्यपरिसमापन एव फलं, नान्यथा' इति नियमो नास्तीत्याह— **नेहेति** । इह मोक्षार्थकर्मयोगे अभिक्रमस्यारम्भस्य नाशः फलहेतुत्वनाशः आरब्धस्यासमाप्तस्य विच्छिन्नस्यापि निष्फलत्वं नास्ति; आरम्भमात्रमपि फलप्रदमित्यर्थः । आरम्भमात्रेऽपि यावच्छक्त्याङ्गानुष्ठानमेवालम्, न च तथा सति स्वर्गाद्यर्थकर्मणीव यत्किञ्चिदङ्गवैकल्यप्रयुक्तः कर्मवैगुण्यरूपः प्रत्यवायोऽस्तीत्याह— **प्रत्यवायो न विद्यत** इति । सर्वाणि हि लौकिकवैदिकानि कृषियज्ञादीनि काम्यकर्माणि आरभ्य विच्छिन्नानि न फलाय प्रभवन्ति, अङ्गवैगुण्ये च प्रत्यवायाय भवन्ति, नायं कर्मयोगस्तथेत्यर्थः । एतच्च 'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते' [ ६।४० ] इत्यादिना भगवतैवाग्रे प्रपञ्चयिष्यते ॥ ४० ॥

९ ब० त० दी०— सर्वतो योगे सुगमतामाह—नेहाभिक्रमनाश इति। इह योगबुद्धौ धर्मस्य योऽभिक्रमः प्रारम्भस्तस्य नाशो नास्ति। 'नह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो स्वधर्मस्योद्धवाण्वपि। मया व्यवसितः' [ ११।२९।२० ] इति भागवतवाक्यात्। स्वल्पमप्यस्य धर्मस्याभिक्रमो महतो भयात्त्रायते। साङ्ख्ये तु सिद्धे धर्मकर्मणां त्यागः; अत्र तु न तथा। उक्तं च—'यमादयस्तु कर्त्तव्याः सिद्धे योगे कृतार्थता' इति ॥ ४० ॥

१० पु. अ. त.— नतु कर्मणां बाहुल्यात्कालादिसाध्यत्वाच्च कृतानां पूर्णत्वाभावाद्वैकल्यं प्रत्युत अङ्गवैगुण्यादिना प्रत्यवायादिसम्भावना भवेदिति कथं बन्धो न भविष्यतीति चेत्, इत्याशङ्क्यार्जुनस्य भगवत्कुण्डलात्मकसंयोगरूपयोगस्वरूपाज्ञानात्तज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपमाह— नेहाभिक्रमनाश इति। भगवन्मार्गे भगवदर्थं भगवदाज्ञारूपेण कर्त्तव्यत्वं कर्मणां, न तु फलसाधकत्वेन,तस्मान्न पूर्वोक्तदोषसम्भावनात्र। तदेवाह— इह मदाज्ञात्वेन क्रियमाणस्य कर्मणोऽभिक्रमनाशः प्रारब्धकर्मनाशो नास्ति, निष्फलत्वं न भवतीत्यर्थः। प्रत्यवायश्च न विद्यते। यतोऽस्य धर्मस्य स्वल्पमपि कृतं महतो भयात् त्रायते रक्षति। अत्रायं भावः— अन्यत्र कृतकर्मसाफल्यार्थं साङ्गत्वाय च भगवत्स्मरणं बोध्यते 'यस्य स्मृत्या' [ वि. पु. ] इत्यादिना, तत्र साक्षाद्भगवदर्थं कृतानां कर्मणां कथं वैफल्यं भवेत्? ॥ ४० ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवोपपादयति—नेहेति। इह कर्मबन्धप्रहाणार्थे कर्मयोगेऽनुष्ठीयमाने अभिक्रम्यते व्याप्यत इत्यभिक्रमः कर्मारम्भः, कर्मैव वा, तस्य नाशो नास्ति। अन्यत्तु फलं दत्त्वा नश्यति, न त्विदमिष्टफलस्याजननात्। नन्वेतस्यापि काम्यान्तःपातितया नित्याकरणजनितः प्रत्यवाय उत्पाद्यैतैव, सकृदनुष्ठितस्य बन्धप्रहाणप्रत्यवायपरिहाराख्यफलद्वयहेतुत्वायोगादित्याशङ्क्याह— 'प्रत्यवायो न विद्यते' इति। "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुत्या संयोगपृथक्त्वन्यायेन "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" इत्यनेन नित्यस्य दध्नो वीर्यार्थत्वमिव नित्यानामपि कर्मणां विविदिषार्थत्वं विनियोगबलात्सिद्धयति। ततश्च काम्येनैव प्रयोगेण नित्यस्यापि सिद्धेर्न नित्याकरणनिमित्तो वाऽकाम्यत्वात्सर्वाङ्गानुपसंहारनिमित्तो वा प्रत्यवायो विद्यते, नित्यानामेव विनियोगात्, नित्येषु च यथाशक्त्युपबन्धस्यानुज्ञानात्। वार्त्तिके तु काम्यानामप्यत्र विनियोगो दृष्टः। यथा—'वेदानुवचनादीनामैकात्म्यज्ञानजन्मने। तमेतमिति वाक्येन नित्यानां वक्ष्यते विधिः॥ यद्वा विविदिषार्थत्वं काम्यानामपि कर्मणाम्। तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः' इति। अस्मिन्पक्षे काम्यानामपि तुल्यफलत्वात् नित्यवद्यथाशक्त्युपबन्धो भविष्यतीति न सर्वाङ्गानुपसंहारजनितः प्रत्यवायो विद्यते। स्वल्पमपि अस्य योगधर्मस्यानुष्ठितं अनुपभुक्तबीजकल्पम्। 'जन्मजन्मान्तराभ्यस्तं दानमध्ययनं तपः। तेनैवाभ्यासयोगेन तच्चैवाभ्यसते पुनः' इति स्मृतेरुत्तरोत्तरसंस्काराधानद्वारा स्वसजातीयवृद्धेर्निमित्तं सत्कामादिदोषक्षपणद्वारा महतो भयात् संसारात्त्रायते। तस्मात्साङ्ख्यानधिकारिणा कर्मयोग एवानुष्ठेय इति भावः ॥ ४० ॥

तत्त्वज्ञानप्रापकैका संसारास्पदभूताश्चानन्ता बुद्धयः।

**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन !।**
**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ ४१ ॥**

१ शां. भा.— येयं साङ्ख्ये बुद्धिरुक्ता, योगे च वक्ष्यमाणलक्षणा सा— व्यवसायेति। व्यवसायात्मिका निश्चयस्वभावा एकैव बुद्धिः इतरविपरीतबुद्धिशाखाभेदस्य बाधिका, सम्यक् प्रमाणजनितत्वात्, इह श्रेयोमार्गे हे कुरुनन्दन!। याः पुनरितरा विपरीतबुद्धयः यासां शाखाभेदप्रचारवशात् अनन्तोऽपारोऽनुपरतः संसारो नित्यप्रततो विस्तीर्णो भवति, प्रमाणजनितविवेकबुद्धिनिमित्तवशाच्च उपरतास्वनन्तभेदबुद्धिषु संसारोऽपि उपरमते; ता बुद्धयो बहुशाखाः बह्व्यः शाखा यासां ता बहुशाखाः, बहुभेदा इत्येतत्। प्रतिशाखाभेदेन हि अनन्ताश्च बुद्धयः। केषाम्? अव्यवसायिनां, प्रमाणजनितविवेकबुद्धिरहितानामित्यर्थः ॥ ४१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ननु बुद्धिद्वयातिरिक्तानि बुद्ध्यन्तराण्यपि काणादादिशास्त्रप्रसिद्धानि विद्यन्ते, तथा च कथं बुद्धिद्वयमेव भगवतोपदिष्टमिति तत्राऽऽह— **सेय**मिति । सैवैका प्रमाणभूता बुद्धिरित्याह— **व्यवसायात्मिके**ति । बुद्ध्यन्तराण्यविवेकमूलान्यप्रमाणानीत्याह— **बहुशाखा** हीति । व्यवसायात्मिकाया बुद्धेः श्रेयोमार्गे प्रवृत्ताया विवक्षितं फलमाह— **इत**रेति । प्रकृतबुद्धिद्वयापेक्षया इतरा विपरीताश्चाप्रमाणजनिताः स्वकपोलकल्पिता या बुद्धयस्तासां शाखाभेदः संसारहेतुस्तस्य बाधिकेति यावत् । तत्र हेतुः— **सम्य**गिति । निर्दोषवेदवाक्यसमुत्थत्वादुक्तं उपायोपेयभूतं बुद्धिद्वयं साक्षात्पारम्पर्याभ्यां संसारहेतुबाधकमित्यर्थः । उत्तरार्धं व्याचष्टे— **याः पुन**रिति । प्रकृतबुद्धिद्वयापेक्षयाऽर्थान्तरत्वमितरत्वम् । तासामनर्थहेतुत्वं दर्शयति- **यासा**मिति । अप्रामाणिकबुद्धीनां प्रसक्तानुप्रसक्त्या जायमानानामतीव बुद्धिपरिणामविशेषाः शाखाभेदास्तेषां प्रचारः प्रवृत्तिस्तद्वशादित्येतत् । अनन्तत्वं सम्यग्ज्ञानमन्तरेण निवृत्तिविरहितत्वम्, अपारत्वं कार्यस्यैव सतो वस्तुभूतकारणविरहितत्वम् । अनुपरतत्वं स्फोरयति— **नित्ये**ति । कथं तर्हि तन्निवृत्त्या पुरुषार्थपरिसमाप्तिस्तत्राऽऽह— **प्रमाणे**ति । अन्वयव्यतिरेकाख्येन अनुमानेनाऽऽगमेन च पदार्थपरिशोधनपरिनिष्पन्ना विवेकात्मिका या बुद्धिस्तां निमित्तीकृत्य समुत्पन्नसम्यग्बोधानुरोधात् प्रकृता विपरीतबुद्धयो व्यावर्तन्ते । तास्वसङ्ख्यातासु व्यावृत्तासु सतीषु निरालम्बनतया संसारोऽपि स्थातुमशक्नुवन्नुपरतो भवतीत्यर्थः । याः पुनरित्युपक्रान्तास्तत्त्वज्ञानापनोद्याः संसारास्पदभूता विपरीतबुद्धीरनुक्रामति— **ता बुद्धय** इति । बुद्धीनां वृक्षस्येव कुतो बहुशाखित्वं? तत्राऽऽह— **बहुभेदा इत्येत**दिति । एकैकां बुद्धिं प्रति शाखाभेदोऽवान्तरविशेषस्तेन बुद्धीनामसङ्ख्यात्वं प्रख्यातमित्याह— **प्रतिशाखे**ति । बुद्धीनामानन्त्यप्रसिद्धिप्रद्योतनार्थो हिशब्दः । सम्यग्ज्ञानवतां यथोक्तबुद्धिभेदभाक्त्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्य प्रत्याह— **केषा**मित्यादिना ॥ ४१ ॥

**३ रा. भा.— काम्यकर्मविषयाया बुद्धेर्मोक्षसाधनभूतकर्मविषयां बुद्धिं विशिनष्टि— व्यवसायेति । इह शास्त्रीये सर्वस्मिन् कर्मणि व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका । मुमुक्षुणाऽनुष्ठेये कर्मणि बुद्धिर्व्यवसायात्मिका बुद्धिः ; व्यवसायो निश्चयः, सा हि बुद्धिरात्मयाथात्म्यनिश्चयपूर्विका । काम्यकर्मविषया तु बुद्धिरव्यवसायात्मिका । तत्र हि कामाधिकारे देहातिरिक्तात्मास्तित्वमात्रमपेक्षितम्, नात्मस्वरूपयाथात्म्यनिश्चयः ; स्वरूपयाथात्म्यनिश्चयेऽपि स्वर्गादिफलार्थित्वतत्साधनानुष्ठानतत्फलानुभवानां सम्भवाद्विरोधाच्च । सेयं व्यवसायात्मिका बुद्धिः एकफलसाधनविषयतयैका ; एकस्मै मोक्षाख्यफलाय हि मुमुक्षोः सर्वाणि कर्माणि विधीयन्ते । अतः शास्त्रार्थस्यैकत्वात् सर्वकर्मविषया बुद्धिरेकैव ; यथैकफलसाधनतया आग्नेयादीनां षण्णां सेतिकर्तव्यताकानामेकशास्त्रार्थतया तद्विषया बुद्धिरेका, तद्वदित्यर्थः ।**

**४ वे.ता. चं.**— एवं माहात्म्याभिधानव्याजेनास्य कर्मणः सर्वकर्मभ्यो वैषम्यमुक्तम् ; अथोपदेष्टव्यतया प्रतिज्ञातां तद्विषयबुद्धिं काम्यकर्मविषयबुद्धिभ्यो हेतुफलवैषम्येण विशिंषन्नुपदिशतीत्याह— **काम्ये**ति । 'इह' इति सङ्गृहीतमाह— **शास्त्रीये सर्वस्मिन् कर्मणी**ति । अविहिताप्रतिषिद्धलौकिककर्मणां भिन्नफलत्वात्तद्विषयेऽप्यैक्यं मा भूदित्यत उक्तं **शास्त्रीय** इति । यद्वा सङ्ग्राहकोपाधिकथनमिदम् । प्रस्तुतयुद्धादिमात्रव्युदासाय **सर्वस्मिन्नि**ति । नित्यनैमित्तिककाम्यतदवान्तरविधाभेदसङ्ग्रहः । नानाकर्मविषयनानाबुद्धेः कथमेकत्वमिति शङ्कायां विशेषणप्रकरणसामर्थ्यफलितेन विषयेण बुद्धिं विशिनष्टि— **मुमुक्षुणे**ति । व्यवसायशब्देन कृत्यध्यवसायभ्रमं निरस्यति— **निश्चय** इति । पौनरुक्त्यव्युदासाय विषयं समासांशोत्तरपदलक्ष्यं च दर्शयन् मुमुक्षुणेत्युक्तमुपपादयति— **सा ही**ति । 'व्यवसायात्मिका' इत्येतद्व्यवच्छेद्यमाह— **काम्ये**ति ।

ननु देहातिरिक्तपारलौकिकात्मज्ञानमन्तरेण कथं देहान्तरानुभाव्यस्वर्गादिसाधनयागादिमहाप्रयासानुष्ठानमित्यत्राह— **तत्र ही**ति । कामनयाऽधिक्रियत इति वा, कामेनाधिकारो यत्रेति वा कामाधिकारः काम्यकर्म, तदधिकारित्वं वा । यद्वा तच्छास्त्रम् । अधिकारश्च मदभिलषितसाधनत्वान्मदर्थमिदं कर्मेत्यभिमानः । देहातिरिक्तात्मशब्देन देहान्तरपरिग्रहार्हस्थिरत्वमभिप्रेतम् ; अन्यथाऽतिरेकमात्रनिर्णयेऽपि देहसमकालनाशित्वभ्रमे सति पारलौकिककाम्यकर्माननुष्ठानप्रसङ्गात् । मात्रशब्दाभिप्रेतं विवृणोति— **नात्मे**ति । आत्मस्वरूपयाथात्म्यं चात्र नित्यत्वस्वयम्प्रकाशत्वानन्दत्वभगवत्प्रकारत्वस्वाभाविकापहतपाप्मत्वादिरूपमभिप्रेतम् । ननु देहोत्तरकालमनुभाव्ययोः स्वर्गापवर्गयोः क्वचिदात्मास्तित्वज्ञानमात्रमपेक्षितम्, क्वचित्तद्याथात्म्यनिश्चय इति कुतोऽयं विवेक इत्यत्राह— **स्वरू**पेति । अयमभिप्रायः— कामाधिकारे याथात्म्यनिश्चयोऽनुपपत्त्या वा शास्त्रबलाद्वाऽपेक्ष्यते । पूर्वत्रापि याथात्म्यनिश्चयाभावे किं स्वर्गादिफलेच्छैव न स्यात्? उत तत्साधनानुष्ठानम्? उत तत्फलानुभवः? । न प्रथमः— सुखरूपतया प्रमाणसिद्धेषु स्वरसत इच्छासिद्धेः । न द्वितीयः— तदर्थिनस्तदनुकूलकरणकलेवरादिमतः स्वस्य तत्फलकालेऽप्यवस्थानं निश्चिन्वतः पामरकृष्यादिन्यायेनानुष्ठानोपपत्तेः । न तृतीयः— अविकलानुष्ठितोपायस्य फलोत्पत्तेरन्यनिरपेक्षत्वात्, अनुभवार्थमेवोत्पन्न-

तया च तदनुभवसिद्धौ सार्वभौमादिभोगेष्विव स्वर्गादिभोगेष्वनुभववेलायामात्मयाथात्म्यानुभवनैरपेक्ष्यात्। तदेतदखिलमुक्तं **सम्भवा**दित्यन्तेन । अनुपपत्त्यभावोऽत्र सम्भवः । नात्र शास्त्रबलादिति वक्तुं युक्तम्; शास्त्रमपि दृष्टार्थं वा विदधीत? अदृष्टार्थं वा ? । अत्र केवलदृष्टार्थत्वं दत्तोत्तरम्। अन्यत्रापि न तावद्यागादिकरणशरीरनिर्वर्तकत्वं, तदनालोचनात् । नापि कर्तुरात्मनः संस्कारतयाऽनुप्रवेशः, कामाधिकारप्रकरणेषु प्रोक्षणादिविधिवत् 'आत्मानं तत्त्वतो जानीयात्' इति विध्यभावाद्वेदान्तविहितज्ञानस्यातिशयितफलान्तरार्थत्वादिना कर्मशेषत्वाभावस्य शारीरके समर्थितत्वात् । आत्मतत्त्वानभिज्ञानामपि च स्वर्गादिफलं प्रतिपादयन्ति हि "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः" [मुं. उ. १।२।७] इत्याद्याः श्रुतयः। 'यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः' [२।४२] इत्यादिना चानन्तरमेवोच्यते। अविदुषां धूमादिमार्गेण स्वर्गारोहणादिकं चोपनिषत्सु जोघुष्यते, अतो विध्यभावादेवारादुपकारकत्वमपि निरस्तम्। तदेतदखिलमुक्तम्— **अविरोधाच्चे**ति । शास्त्रादिविरोधाभावादित्यर्थः। पक्षान्तरे च शास्त्रविरोधः स्यादिति भावः।

मोक्षाधिकारे तु निखिलमिदमन्यथा । तथाहि— यथावस्थितस्वरूपप्राप्तिरेव हि मोक्षपुरुषार्थः । स कथमनिश्चीयमान इष्येत ? कथं च तज्ज्ञानं तदिच्छामप्यन्तरेण तत्साधनमनुष्ठीयेत ? स्वरूपयाथात्म्यज्ञानस्य च विहिततया साधनानुप्रवेश इति कथं तद्व्यतिरेकेण साधनं पुष्कलमनुष्ठितं स्यात्? कथं च स्वरूपाविर्भावलक्षणफलानुभवः स्वनिश्चयशून्यस्य स्यात्? इति युक्तिविरोधः । चोदयन्ति च शास्त्राणि मोक्षस्य सर्वविधोपकारकतया आत्मतत्त्वज्ञानम् । अतस्तदभावे शास्त्रविरोधः स्यादिति । ननु व्यवसायात्मिकाया बुद्धेः किमिदमेकत्वम्? न तावद्व्यक्त्यैक्यं तथाविधबुद्धिसन्तानासम्भवात्। नापि विषयैक्यादेकरूपत्वम्, अङ्गप्रधानाद्यवान्तरविषयभेदेन तदयोगात्। नापि समुदायगोचरत्वात्तद्योगः, काम्यकर्मस्वपि तत्साम्यादित्यत उक्तं **एकफलसाधनविषयतये**ति। तदेवोपपादयति— **एकस्मा** इति। **सर्वाणी**ति—नित्यनैमित्तिककाम्यानां सर्वेषां कर्मणां मुमुक्षुणाऽनुष्ठितानां साक्षात्परम्परया वा मोक्षसाधनोपकारित्वेन मोक्ष एक एव प्रधानं फलम् । "सर्वमायुरेति" [छां. उ. ४।११।२] इत्याद्यवान्तरफलाभिधानमपि तदुपयोगित्वमात्रादिति भावः ।

अस्तु सर्वेषामेकफलसाधनत्वम्, तथापि क्रमभाविकर्मस्वरूपनानात्वे कथं तद्बुद्धेरैक्यं? इत्यत्राह— **अत** इति। एकफलसाधनतया सर्वेषां कर्मणामेकविधिगृहीतत्वेन एकशास्त्रार्थत्वात्तद्गोचरबुद्धिरवान्तरकर्मभेदसद्भावेऽप्येकशास्त्रार्थगोचरत्वादेकेत्युच्यत इत्यर्थः । पृथग्विधिसिद्धानां पृथग्वाक्यसिद्धेतिकर्तव्यताकानां कथमेकशास्त्रार्थत्वं? इत्यत्रोक्तप्रकारेणैकत्वे दृष्टान्तमाह— **यथे**ति। आग्नेयादयो हि सेतिकर्तव्यताकाः षड्यागा उत्पत्तिवाक्यैः पृथगुत्पन्नाः समुदायानुवादिवाक्यद्वयेन समुदायद्वयत्वमापन्नाः कामाधिकारे पुनरेकफलसाधनत्ववेषेणैकतया विधीयन्ते। तथा चैकशास्त्रार्थगोचरतया तद्बुद्धिरप्येकैव तद्वदित्यर्थः।

**३ रा. भा.— अव्यवसायिनां तु स्वर्गपुत्रपश्वन्नादिफलसाधनकर्माधिकृतानां बुद्धयः फलानन्त्यादनन्ताः; तत्रापि बहुशाखाः; एकस्मै फलाय चोदितेऽपि दर्शपूर्णमासादौ कर्मणि "आयुराशास्ते, सुप्रजास्त्वमाशास्ते" इत्याद्यवगतावान्तरफलभेदेन बहुशाखात्वं च विद्यते। अतोऽव्यवसायिनां बुद्धयोऽनन्ता बहुशाखाश्च।**

**४ वे. ता. चं.**—'अव्यवसायिनाम्' इति हेतुपरमित्याह— **स्वर्गपुत्रे**त्यादिना। **फलानन्त्यादनन्ता** इति। फलबाहुल्यात् स्वर्गाद्यनन्तफलभेदेन तत्साधनानामपि कर्मणां भिन्नशास्त्रार्थत्वात्तद्विषया बुद्धयोऽपि यावत्फलभेदं भेदिन्य इत्यर्थः। अनन्तबहुशाखशब्दयोः प्रधानाप्रधानस्वरूपभेदप्रकारभेदविषयतया पौनरुक्त्यं परिहरन् कर्मभेदापादकत्वाभावेऽपि वैषम्यान्तरपरं बहुशाखशब्दं व्याचष्टे— **तत्रापी**ति। एकैकस्यैव बहुशाखत्वमुपपादयति— **एकस्मा** इति । एकैकमपि हि काम्यकर्म प्रधानफलावच्छिन्नवेषेण एकपादपस्थानीयं विरोधिगुणफलाद्यवच्छिन्नं तत्तदंशभेदेन बहुशाखं भवति। मोक्षशास्त्रे तु सर्वायुःप्राप्त्यादिकमपि साधनानुष्ठानाद्यर्थत्वेन मोक्षोपयोगितया तदेकफलान्तर्भूतमित्युक्तम् ।

वैषम्यद्वयोपपत्तिस्थैर्याभिप्रायेण निगमयति — **अत** इति । प्रधानावान्तरफलभेदादित्यर्थः । आकाङ्क्षाक्रमेणान्वयप्रदर्शनायानन्ता बहुशाखा इति व्युत्क्रमेण व्याख्यातम् । ननु कथं भिन्नप्रधानावान्तरफलसाधनतयैव विहितानां नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मणामेकमेव फलं स्यात्? कथन्तरामेकशास्त्रार्थत्वम्? काम्यानां च कर्मणां निष्कामेन कथमनुष्ठानम्?। यदि च तत्तत्काम्यफलाभावेऽपि तत्तत्कर्मानुष्ठानं तर्हि तत्तदधिकाराभावेऽपि ब्राह्मणादेः क्षत्रियादिधर्मानुष्ठानप्रसङ्गः; सर्वकाम्योपसंहारः फलादिविरोधाद्याहतो दुष्करश्च ।

**३ रा. भा.—एतदुक्तं भवति— नित्येषु नैमित्तिकेषु कर्मसु प्रधानफलान्यवान्तरफलानि च यानि श्रूयमाणानि, तानि सर्वाणि परित्यज्य मोक्षैकफलतया सर्वाणि कर्माण्येकशास्त्रार्थतयाऽनुष्ठेयानि; काम्यानि च स्ववर्णाश्रमोचितानि तत्तत्फलानि परित्यज्य मोक्षफलसाधनतया नित्यनैमित्तिकैरेकीकृत्य यथाबलमनुष्ठेयानि— इति ॥ ४१ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— कतिपयोपसंहारे तु किं कियदनुष्ठेयमित्यत्र किं नियामकं? इत्यादिशङ्कापरिहाराय बुद्ध्येकत्वबहुत्वोक्तेः फलमाह— **एतदुक्त**मिति । नित्यनैमित्तिकयोः प्रधानफलान्यवान्तरफलानि च प्राजापत्यलोकादिप्राप्त्युपात्तदुरितक्षयाकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारादिरूपाणि । संवलितनित्यनैमित्तिकयोरप्यत्र नित्यनैमित्तिकशब्देन सङ्ग्रहः । काम्यशब्दः केवलकाम्यपरः । ननु तानि सर्वाणि परित्यज्येत्ययुक्तम्, मुमुक्षोरप्युपात्तदुरितक्षयादेरवश्यापेक्षितत्वादित्यत उक्तं **मोक्षैकफलतये**ति । दुरितक्षयादेरप्यन्तःकरणशुद्धिद्वारेणोपकारकत्वान्न पृथक्फलत्वमिति भावः । **एकशास्त्रार्थतयाऽनुष्ठेयानी**ति । विनियोगभेदादन्यत्र भिन्नफलत्वं भिन्नशास्त्रार्थत्वं च । अत्र तु सर्वेषामप्येकत्र विनियुक्तानां फलैक्यं शास्त्रार्थैक्यं च युज्यते । सिद्धं च नित्यकाम्यज्योतिष्टोमादावपि विनियोगपृथक्त्वमिति भावः । **स्ववर्णाश्रमोचितानी**ति । कस्यचिद्धि किञ्चित्फलमुद्दिश्य कानिचित्कर्माणि विधीयन्ते । तेषामेव कर्मणां फलान्तरार्थतया विनियोगेऽपि स एवाधिकारी भवितुमर्हति 'क्लृप्तकल्प्यविरोधे तु युक्तः क्लृप्तपरिग्रहः' इति न्यायादधिकार्यन्तरकल्पने प्रमाणाभावात् । यथा नित्यकाम्यज्योतिष्टोमादौ, यथा चाध्ययनस्य जपादाविति भावः । निष्कामस्य काम्यकर्मानुष्ठानोपपादनायोक्तम्— **तत्फलानि परित्यज्य मोक्षसाधनतये**ति । **नित्यनैमित्तिकैरेकीकृत्ये**ति— एकफलसाधनतयैकशास्त्रार्थीकृत्येत्यर्थः । **यथाबल**मिति । शक्त्यनुरोधेन हि शास्ति शास्त्रम् । आह च मनुः— 'तद्धि कुर्वन्यथाशक्ति प्राप्नोति परमां गतिम्' [ ११।३४क्षे. ३ ] इति । एवं नित्यनैमित्तिकयोरिव काम्येष्वपि मुमुक्षोः कतिपयाङ्गवैकल्येऽपि न दोष इत्युक्तं भवति । एतेन विच्छेदे प्रत्यवायाभावकथनमपि न ज्योतिष्टोमाद्यैकैकान्तर्विच्छेदपरम्; अपित्वामोक्षादनुष्ठेयैकशास्त्रार्थभूतकर्मकलापे प्रयाजादिवदितिकर्तव्यतास्थानीयैकैककर्मानुष्ठानेऽपि देशादिवैगुण्यकृतोत्तराननुष्ठानपरमिति च दर्शितम् ॥ ४१ ॥

**५ आ. मा. भा.— योग इमां बुद्धिं शृण्वित्युक्तम्, बह्व्यो हि बुद्धयो मतभेदात्, तत्कथमेकत्र निष्ठां करोमि? इत्यत आह— व्यवसायात्मिकेति । सम्यग्युक्तिनिर्णीतानां मतानामैक्यमेवेत्यर्थः ॥ ४१ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु 'व्यवसायात्मिका' इति श्लोकेन प्रतिज्ञातो योग उच्यते, नापि 'बुद्ध्या युक्तः' [२।३९] इत्यादिवत्प्रशंसा तत्किमर्थोऽयं? इत्यत आह— **योग** इति । ज्ञानोपायविषयामिमां वक्ष्यमाणां वाचं शृणु, श्रुत्वा तत्र निष्ठां कुर्वित्युक्तमित्यर्थः । श्रवणमात्रस्य विधिना विनाऽसम्भवात् । बह्व्यो हि बुद्धयो ज्ञानोपायविषया वाचः परस्परविरुद्धाः सन्ति । कथं? मतभेदात्; एकमतमवलम्बमानाः किञ्चिज्ज्ञानसाधनमाचक्षते; अपरं मतमाश्रितास्तत्प्रतिषेधेनान्यदाहुः । तत्र चेदमेव तत्त्वं नेदमिति विनिगमकं नास्ति । तत्तस्मात्कथमेकत्र त्वदीयामेव वाचि निष्ठां विश्वासं करोमि ? । ननु सर्वाण्यपि मतानि व्यवसायात्मकान्येव, स्वे स्वेऽर्थे सर्वेषां सन्देहाभावात् । अतः कथमुच्यते व्यवसायात्मिका अव्यवसायिनां बुद्धय इति ? तत्राह— **सम्य**गिति । युक्तिरिति प्रमाणसामान्यमुच्यते । प्रमाणत्वेन निर्णीतत्वमेवात्र व्यवसायशब्दार्थः, न निश्चयमात्रमित्यर्थः । प्रामाणिकमेव मतं ग्राह्यं, तत्र न कदाचिद्विप्रतिपत्तिः, यतस्तत्रैकत्र निष्ठाभावः, अप्रामाणिकेषु विद्यमानाऽपि विप्रतिपत्तिः किं करिष्यति ? इति भावः ॥ ४१ ॥

**७ ह. पै. भा.— व्यवसायात्मिका निश्चयात्मिका बुद्धिः साङ्ख्ययोगे व्यवसायिनां पुरुषार्थसाधिका । अव्यवसायिनां बुद्धयो बहुशाखा बहुस्कन्धा अनन्ताश्च भवन्ति । न ताः पुरुषार्थं प्रति साधनमित्यभिप्रायः ॥ ४१ ॥**

**८ वे. ब्र. गि.**— नन्वेवमपि योगबुद्धेर्मोक्षहेतुत्वं न युक्तम्, "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [ श्वे. उ. ६।१५ ] इत्यादिश्रुत्या साङ्ख्यबुद्धिव्यतिरेकेण मोक्षहेतोरन्यस्य प्रतिषेधादित्याशङ्क्याह— [ **व्यवसाये**ति । ] इह साङ्ख्ये योगे च विषये या बुद्धिः सा बुद्धिरेकैव । **अयं भावः**— नास्माभिर्मोक्षं प्रति साङ्ख्यबुद्धिर्योगबुद्धिश्चेति स्वतन्त्रं साधनद्वयमुक्तम्, येन "नान्यः पन्थाः" [ श्वे. उ. ६।१५ ] इति श्रुतिविरोधः स्यात् । किन्तु बुद्धिद्वयमप्येकीभूतमेव मोक्षसाधनमित्युच्यते । एकीभावश्च योगबुद्धेः साङ्ख्यबुद्ध्यपेक्षितचित्तशुद्धिरूपोपकारजनकत्वेन तदङ्गतया तत्रैवान्तर्भावात् । वक्ष्यते हि— 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते' [ ४।३३ ] इति, तथा 'एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' [ ५।५ ] इति च । एवं च योगबुद्धिजन्या साङ्ख्यबुद्धिर्मोक्षहेतुरिति योगबुद्धेर्मोक्षहेतुत्वव्यपदेश इति ।

ननु सकामकर्मानुष्ठानबुद्धेरिव निष्कामकर्मानुष्ठानरूपयोगबुद्धेरपि साङ्ख्यबुद्धिबहिर्भाव एवोचित इति कुतस्तदैक्यम्? इत्याशङ्क्य विशिनष्टि— **व्यवसायात्मिके**ति । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इत्यादिश्रुतिभिः "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" [ब्र. सू. ३।४।२६] इत्यादिभिः श्रुत्यनुग्राहकैर्ब्रह्ममीमांसान्यायैश्च सम्पन्नः साङ्ख्ययोगबुद्ध्योः साध्यसाधनभावनिश्चयो व्यवसायः; तद्रूपेत्यर्थः । हेतुगर्भमिदं विशेषणं, यस्मादुक्तरूपव्यवसायात्मिकेयं साङ्ख्ययोगबुद्धिस्तस्मादेकेति ।

सकामकर्मानुष्ठानबुद्धेस्त्वेतादृशव्यवसायरूपत्वाभावान्न साङ्ख्यबुद्धयैक्यं, किन्तु भिन्नभिन्नरूपतैवेत्युत्तरार्धेन दर्शयति—बहुशाखा इति । अव्यवसायिनां पूर्वोक्तनिश्चयशून्यानां स्वर्गपशुपुत्राद्यर्थकर्मानुष्ठेयताध्यवसायिनां बुद्धयोऽनन्ताः स्वर्गपश्वादिफलानन्त्यात्, तत्रापि बहुशाखा एकस्मै फलाय विहितेऽपि दर्शपूर्णमासादौ 'आयुराशास्ते' 'सुप्रजास्त्वमाशास्ते' इत्याद्यवान्तरफलभेदेन बहुभेदा इत्यर्थः । तथा च बहुशाखानन्तफलोपभोगार्थबहुशरीरयोगवियोगरूपनित्यसंसारकारणीभूतां सकामकर्मानुष्ठानबुद्धिं विहाय नित्यनिरतिशयमोक्षानन्दसन्धायकज्ञानहेतुं निष्कामकर्मानुष्ठाननिष्ठामातिष्ठेत्यभिप्रायः । एवमस्य श्लोकस्य भाष्योक्तार्थः सपरिष्कारं दर्शितः ।

श्रीधराचार्यास्तु—'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' इति पूर्वश्लोकार्थे हेतुवर्णनत्वेनाग्रं श्लोकमवतार्य 'इह निष्कामकर्मयोगे व्यवसायात्मिका परमेश्वरभक्त्यैव ध्रुवं तरिष्यामीति निश्चयात्मिका एकैव निष्ठा बुद्धिर्भवति । ईश्वराराधनार्थत्वेन क्रियमाणं हि कर्म किञ्चिदङ्गवैकल्येऽपि न नश्यति । यथा शक्नुयात्तथा कुर्यादिति विधीयते । न च वैगुण्यमपि परमेश्वरोद्देशेनैव, तदसम्भवात् । अव्यवसायिनां कामिनां तु बुद्धयो अनन्ता बहुशाखाश्च, नैकनिष्ठाः । तस्मात् काम्यकर्मानुष्ठानबुद्धितो योगबुद्धेर्महद्वैलक्षण्यम्' इति व्याख्यातवन्तः । सर्वथाऽपि 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि... त्रायते महतो भयात्' [२।३९-४०] इति साधूक्तम् ॥४१॥

९ म० त० दी०—कुत इत्यपेक्षायामाह—व्यवसायेति । इह योगे बुद्धिरेका व्यवसायात्मिका । अफलार्थं भगवदर्थं वा कर्म किञ्चित्कर्त्तव्यमिति निश्चयरूपा बुद्धिरेकविषयत्वादेका । साङ्ख्ये तु त्रिपुटिशून्या वृत्तिः । काम्यकर्मतोऽपि भेदमाह—अव्यवसायिनां काम्यकर्माभिनिविष्टानां तु बुद्धयो बहुशाखा अनन्ताश्चेति हि प्रसिद्धम् । वक्ष्यति चासुरसम्पत्प्रसङ्गे—'यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्ये' [ १६।१५ ] इत्यादि ॥ ४१ ॥

१० पु० अ० त०—किञ्च । फलार्थं कर्मकर्तृणामनेकत्र बुद्धिर्भवति मदाज्ञात्वेन कर्तृणां मन्निष्ठत्वेनैकैव बुद्धिरिति अमात्र वैपरीत्यशङ्कैत्याह—व्यवसायात्मिकेति । हे कुरुनन्दन सत्कुलोत्पन्न ! इह भक्तिमार्गे व्यवसायात्मिका भगवदाज्ञयैव करिष्यामीति रूपैकैव भवति । अव्यवसायिनां बहिर्मुखानामनिश्चितहृदयानां बुद्धयोऽनन्ताश्च भवन्ति, फलार्थं बहुशाखाश्च भवन्ति । तत्र साङ्गत्वाभावात् प्रत्यवायादिसम्भावना स्यादेव; भक्तानां तु साङ्गत्वान्नैव वैफल्यप्रत्यवायादिसम्भावना । अत एव भगवद्वाक्यम्—'मत्कर्म कुर्वतां पुंसां काललोपो भवेद्यदि । तत्कर्म तस्य कुर्वन्ति तिस्रः कोट्यो महर्षयः' इति ॥ ४१ ॥

११ नी० भा० दी०—नन्वेवं साङ्ख्ययोगयोर्महाभयात्राणहेतुत्वं तुल्यं चेत्, कोऽनयोर्विशेषः? इत्याशङ्क्य साङ्ख्यानां पातशङ्का नास्ति, योगिनां तु यावद्विदेहकैवल्यं पातशङ्काऽस्तीत्याह—व्यवसायात्मिकेति । व्यवसायस्तत्त्वनिश्चयस्तदात्मिका तदाकारा बुद्धिरन्तःकरणवृत्तिः "अहं ब्रह्मास्मि" [बृ.उ.१।४।१०] इति वाक्यजन्या ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिर्ब्रह्मविद्याभिधाना समस्तवृत्त्यन्तरबाधेन सम्यगभ्युदिता एका एकैव । "सकृद्विभातो ह्ये(वै)ष ब्रह्मलोकः" [ गौ. पा. का. ४।८१ ] इति श्रुतेः । ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोक इह ब्रह्मैव; न हि सकृज्ज्ञाते ब्रह्मणि ज्ञातव्यं कर्तव्यं वा किञ्चिदवशिष्यते कृताकृत्यत्वाद्ब्रह्मविदः; अतोऽस्य पातशङ्का नास्ति । अव्यवसायिनामज्ञानिनां तु बुद्धयोऽनन्ताः, ताश्च प्रत्येकं बहुशाखा इति 'इदमेव मम श्रेयः' इति निश्चयस्य दुर्लभत्वात्कदाचिदश्रेयस्यपि श्रेयोबुद्धौ सत्यां पातशङ्काऽस्तीति महांस्तयोर्विशेष इति भावः ॥ ४१ ॥

मुक्तिसाधनप्रवृत्त्यर्था संसारवैतृष्ण्याय काम्यकर्माधिकृतानां फलाशापाशबद्धानां निन्दा ।

**यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।**
**वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥ ४२ ॥**
**कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।**
**क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ ४३ ॥**
**भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयाऽपहृतचेतसाम् ।**
**व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ ४४ ॥**

१ शां० भा०—येषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्नास्ति ते—यामिमामिति । यामिमां वक्ष्यमाणां पुष्पितां पुष्पितवृक्ष इव शोभमानां श्रूयमाणरमणीयां वाचं वाक्यलक्षणां प्रवदन्ति । के? अविपश्चितो-

ऽल्पमेधसः, अविवेकिन इत्यर्थः । वेदवादरता बह्वर्थवादफलसाधनप्रकाशकेषु वेदवाक्येषु रताः हे पार्थ ! नान्यत् स्वर्गप्राप्त्यादिफलसाधनेभ्यः कर्मभ्योऽस्तीत्येवंवादिनो वदनशीलाः ॥ ४२ ॥

२ आ. शां. व्या.— यदि साङ्ख्ययोगरूपैकैव प्रमाणभूता बुद्धिस्तर्हि सैव सर्वेषां चित्ते किमिति स्थिरा न भवति ? तत्राऽऽह— येषामिति । ते यामिमां वाचं प्रवदन्ति तयाऽपहृतचेतसां कामिनां कामवशान्निश्चयात्मिका बुद्धिर्न प्रायः स्थिरा भवतीत्याह— ते-यामिति । 'इमां' इत्यध्ययनविध्युपात्तत्वेन प्रसिद्धत्वं कर्मकाण्डरूपाया वाचो विवक्ष्यते । वक्ष्यमाणत्वं क्रियाविशेषबहुलामित्यादौ द्रष्टव्यम् । किंशुको हि पुष्पशाली शोभमानोऽनुभूयते, न पुरुषभोग्यफलभागी लक्ष्यते । तथेयमपि कर्मकाण्डात्मिका श्रूयमाणदशायां रमणीया वागुपलभ्यते, साध्यसाधनसम्बन्धप्रतिभानान्न त्वेषा निरतिशयफलभागिनी भवति, कर्मानुष्ठानफलस्यानित्यत्वादिति मत्वाऽऽह— पुष्पितामिति । वाक्यत्वेन लक्ष्यतेऽर्थवत्त्वप्रतिभानात्, वस्तुतस्तु न वाक्यमर्थाभासत्वादित्याह— वाक्यलक्षणामिति । प्रवक्तॄणां वेदवाक्यतात्पर्यपरिज्ञानाभावं सूचयति— अविपश्चित इति । वेदवादा वेदवाक्यानि, तानि च बहूनामर्थवादानां फलानां साधनानां च विधिशेषाणां प्रकाशकानि तेषु रतिरासक्तिस्तन्निष्ठत्वं तद्वत्त्वमपि तेषां विशेषणमित्याह— वेदवादरता इति । कर्मकाण्डनिष्ठत्वफलं कथयति— नान्यदिति । ईश्वरो वा मोक्षो वा नास्तीत्येवं वदन्तो नास्तिकाः सन्तः सम्यग्ज्ञानवन्तो न भवन्तीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

१ शां. भा.— ते च-कामात्मान इति । कामात्मानः कामस्वभावाः, कामपरा इत्यर्थः । स्वर्गपराः स्वर्गः परः पुरुषार्थो येषां ते स्वर्गपराः स्वर्गप्रधानाः । जन्मकर्मफलप्रदां, कर्मणः फलं कर्मफलं, जन्मैव कर्मणः फलं जन्मकर्मफलं तत् प्रददातीति जन्मकर्मफलप्रदा, तां वाचं प्रवदन्तीत्यनुषज्यते । क्रियाविशेषबहुलां, क्रियाणां विशेषाः क्रियाविशेषाः, ते बहुला यस्यां वाचि तां, स्वर्गपशुपुत्राद्यर्था यया वाचा बाहुल्येन प्रकाश्यन्ते । भोगैश्वर्यगतिं प्रति, भोगश्चैश्वर्यं च भोगैश्वर्ये, तयोर्गतिः प्राप्तिः भोगैश्वर्यगतिः, तां प्रति साधनभूता ये क्रियाविशेषाः, तद्बहुलां तां वाचं प्रवदन्तो मूढाः संसारे परिवर्तन्ते इत्यभिप्रायः ॥ ४३ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रकृतान्प्रवक्तॄनविवेकिनो व्यवसायात्मकबुद्धिभाक्त्वासम्भवसिद्ध्यर्थं विधान्तरेण विशिनष्टि— ते चेति । तेषां संसारपरिवर्तनपरिदर्शनार्थं प्रस्तुतां वाचमेव विशिनष्टि— जन्मेति । ननु पुंसां कामस्वभावत्वमयुक्तं चेतनस्येच्छावतस्तदात्मत्वानुपपत्तेरिति तत्राऽऽह— कामपरा इति । तत्परत्वं तत्तत्फलार्थित्वेन तत्तदुपायेषु कर्मस्वेव प्रवृत्ततया कर्मसन्न्यासपूर्वकाज्ज्ञानाद्बहिर्मुखत्वम् । ननु कर्मनिष्ठानामपि परमपुरुषार्थापेक्षया मोक्षोपाये ज्ञाने भवत्याभिमुख्यमिति नेत्याह— स्वर्गेति । तत्परत्वं तस्मिन्नैवाऽऽसक्ततया तदतिरिक्तपुरुषार्थराहित्यनिश्चयवत्त्वम् । उच्चावचमध्यमदेहप्रभेदग्रहणं जन्म । वाचो यथोक्तफलप्रदत्वं अप्रामाणिकं इत्याशङ्क्यानुष्ठानद्वारा तदुपपत्तिरित्याह— क्रियेति । क्रियाणामनुष्ठानानां यागदानादीनां विशेषा देशकालाधिकारिप्रयुक्ताः सत्राहीनैकाहलक्षणास्ते खल्वस्यां वाचि प्राचुर्येण प्रतिभान्तीत्यर्थः । कथं यथोक्तायां वाचि क्रियाविशेषाणां बाहुल्येनावस्थानमित्याशङ्क्य प्रकाश्यत्वेनेत्येतद्विशदयति— स्वर्गेति । तथापि तेषां मोक्षोपायत्वोपपत्तेस्तन्निष्ठानां मोक्षाभिमुख्यं भविष्यति, नेत्याह— भोगेति । यथोक्तां वाचमभिवदतां पर्यवसानं दर्शयति— तद्बहुलामिति ॥ ४३ ॥

१ शां. भा.— तेषां च- भोगेति । भोगैश्वर्यप्रसक्तानां, भोगः कर्तव्यं, ऐश्वर्यं चेति भोगैश्वर्ययोरेव प्रणयवतां तदात्मभूतानाम्; तया क्रियाविशेषबहुलया वाचाऽपहृतचेतसां आच्छादितविवेकप्रज्ञानां व्यवसायात्मिका साङ्ख्ये योगे वा या बुद्धिः, सा समाधौ समाधीयतेऽस्मिन् पुरुषोपभोगाय सर्वमिति समाधिरन्तःकरणं बुद्धिः, तस्मिन् समाधौ न विधीयते न भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु कर्मकाण्डनिष्ठानां कर्मानुष्ठायिनामपि बुद्धिशुद्धिद्वारेणान्तःकरणे साध्यसाधनभूतबुद्धिद्वयसमुदायसम्भवादतो मोक्षो भविष्यति, न, इत्याह— तेषां चेति । तदात्मभूतानां तयोरेव भोगैश्वर्ययोरात्मकर्तव्यत्वेनाऽऽरोपितयोरभिनिविष्टे चेतसि तादात्म्याध्यासवतां बहिर्मुखानामित्यर्थः । तथापि शास्त्रानुसारिण्या विवेकप्रज्ञया व्यवसायात्मिका बुद्धिस्तेषामुदेष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— तयेति । ननु समाधिः सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातभेदेन द्विधोच्यते, तत्र बुद्धिद्वयविधिरप्रसक्तः सन्कथं निषिध्यते ? तत्राऽऽह— समाधीयत इति ॥ ४४ ॥

३ रा. भा.— अथ काम्यकर्माधिकृतान्निन्दति- यामिमामिति । यामिमां पुष्पितां पुष्पफलां आपातरमणीयां वाचमविपश्चितोऽल्पज्ञा भोगैश्वर्यगतिं प्रति वर्तमानां प्रवदन्ति,

**वेदवादरताः वेदेषु ये स्वर्गादिफलवादाः तेषु सक्ताः 'नान्यदस्ति' इतिवादिनः तत्सङ्गातिरेकेण स्वर्गादेरधिकं फलं नान्यदस्तीति वदन्तः कामात्मानः कामप्रवणमनसः स्वर्गपराः स्वर्गपरायणाः स्वर्गादिफलावसाने पुनर्जन्मकर्माख्यफलप्रदां क्रियाविशेषबहुलां तत्त्वज्ञानरहिततया क्रियाविशेषप्रचुरां भोगैश्वर्यगतिं प्रति वर्तमानां यामिमां पुष्पितां वाचं ये प्रवदन्तीति सम्बन्धः; तेषां भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तया वाचा भोगैश्वर्यविषययाऽपहृतात्मज्ञानानां यथोदितव्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ मनसि न विधीयते नोत्पद्यते। समाधीयतेऽस्मिन्नात्मज्ञानमिति समाधिर्मनः, तेषां मनस्यात्मयाथात्म्यनिश्चयज्ञानपूर्वकमोक्षसाधनभूतकर्मविषया बुद्धिः कदाचिदपि नोत्पद्यते इत्यर्थः। अतः काम्येषु कर्मसु मुमुक्षुणा न सङ्गः कर्तव्यः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवं काम्यकर्मविषयबुद्धितो मोक्षसाधनभूतकर्मविषयाया बुद्धेः वैलक्षण्यमुपपाद्य अनन्तरं मोक्षसाधने प्रवृत्तिशैघ्र्यार्थमितरफलवैतृष्ण्यजननाय तत्फलसाधनकर्माधिकृतान् निन्दतीत्युपरितनश्लोकत्रयमवतारयति— **अथे**ति। **काम्यकर्माधिकृतानि**ति, काम्यकर्मसु स्वर्गादिस्वाभिलषितसाधनत्वस्वार्थताबुद्धियुक्तानित्यर्थः। 'पुष्पिताम्' इत्येतत्फलव्यवच्छेदमुखेनासुखोदर्कत्वपरमित्यभिप्रायेणाह— **आपातरमणीया**मिति। **अल्पज्ञा** इति। विविधं पश्यच्चित्त्वं हि विपश्चित्त्वम्। 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' [अष्टा. ६।३।१०९] पश्यच्छब्दावयवस्य यच्छब्दस्य लोपः। तच्च बहुज्ञत्वम्। तद्व्यतिरेकश्चात्रोपनिषत्साध्यस्थिरास्थिरादिविवेकाभावादल्पज्ञत्वमिति भावः। 'जन्मकर्म-' इत्यादेः गतिविशेषणत्वभ्रमव्युदासाय गतिं प्रतीत्यस्यापेक्षितपूरणाय च क्रममुल्लङ्घ्य प्रागेवोक्तम्। **भोगैश्वर्यगतिं प्रति वर्तमाना**मिति। एतेन 'वाचं' इत्यस्य काम्यविधिभागपरत्वमुक्तं भवति।

सामान्येन वैदिकनिन्दाभ्रममपाकरोति— **स्वर्गादिफलवादा** इति। वेदशब्दोऽत्र 'वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते' इत्यादाविव कर्मभागपरः। तत्रापि विधिभागफलार्थवादभागविषयतया पुरुषवाक्यवेदवाक्यविषयतया वा वाचं 'वेदवाद-' इत्यनयोरपौनरुक्त्यमिति भावः। 'नान्यदस्ति' इतिवादे पूर्वोत्तरपदानामर्थं हेतुतया उपादत्ते— **तत्सङ्गातिरेकेणे**ति। अपवर्गस्वरूपनिषेधोऽशक्य इत्यभिप्रायेणोक्तम्— **अधिकं फल**मिति। 'वादिनः' इत्यनेन तथावदनशीलत्वविवक्षाव्यञ्जनाय वदन्त इति वर्तमानप्रत्ययान्तेन व्याख्यातम्। **कामप्रवणमनस** इति— कामेष्वात्मा मनो येषां ते कामात्मान इति व्यधिकरणबहुव्रीहिरिति भावः। **स्वर्गपरायणा** इति; स्वर्गः परः परायणं परमप्राप्यं येषां ते स्वर्गपराः, मोक्षविमुखा इति भावः। 'कामात्मानः स्वर्गपराः' इतिपदद्वयस्य सामान्यविशेषविषयतया दृष्टादृष्टविषयतया वा हेतुसाध्यविषयतया वा कामोन्मुख्यान्यवैमुख्यपरतया वा पुनरुक्तिपरिहारः।

स्वर्गादिफलभोगमध्ये जन्मादिभ्रमं व्युदस्यति— **स्वर्गादिफलावसान** इति। "यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" [छां. उ. ५।१०।५] "प्राप्यान्तं कर्मणस्तस्य यत्किञ्चेह करोत्ययम्। तस्माल्लोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे" [बृ. उ. ४।४।६] 'आब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन' [८।१६] 'स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः' [वि. पु. ६।५।५०] इत्यादिश्रुतिस्मृतय इह द्रष्टव्याः। जन्मवत्कर्मणोऽप्यनुशयाख्यकर्मशेषफलत्वख्यापनाय समानाधिकरणसमासतां दर्शयति— **जन्मकर्माख्यफलप्रदा**मिति। कर्मशेषेण पुनरुत्कृष्टापकृष्टजन्मप्राप्तौ श्रुतिस्तावत् "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापि यन्ति" [मुं. उ. १।२।७] "तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा" [छां. उ. ५।१०।७] इत्यादिः। जन्मकर्मादेः सर्वस्य कर्मशेषमूलत्वे स्मृतयश्च— 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य स्वकर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुश्श्रुतवित्तवृत्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते। विष्वञ्चो विपरीता नश्यन्ति' [गौ. ध. २।११।१०।११] इति। तथा "ततः परिवृत्तौ कर्मफलशेषेण जातिं रूपं वर्णं बलं मेधां प्रज्ञां द्रव्याणि धर्मानुष्ठानमिति प्रतिपद्यते। तच्चक्रवदुभयोर्लोकयोः सुख एव वर्तते" [आ. स्तं. ध. २।१।२।३] इत्यादयः। वैराग्यपादे चायमर्थो व्यक्तमनुसन्धेयः। अत्र जन्माख्यकर्मफलप्रदामिति केषुचित्कोशेषु पाठः। ननु ज्योतिष्टोमादिक्रियाविशेषस्वरूपमात्रं कामिनो ज्ञानिनश्च समानम्, तत्कथं 'क्रियाविशेषबहुलाम्' इति कामिनो विशिष्याभिधीयते? तत्रोक्तम्— **तत्त्वज्ञानरहिततये**ति। ज्ञानिनां हि सर्वं कर्म क्रियमाणमपि ज्ञानप्रचुरमेव। तच्चैकफलसाधनतया एकशास्त्रार्थरूपम्। न च मोक्षानुपयुक्ताः सर्वे क्रियाविशेषास्तेन क्रियन्ते। अतः प्रयासबहुलं परिमितनश्वरफलं चामुमुक्षोः कर्मेति भावः। अन्येषां वाचा अन्येषामपहृतचित्तत्वभ्रमं निरस्यन् षष्ठ्यन्तपदयोरदृष्टविशेष्ययोः प्रस्तुतविशेष्यविषयत्वं चाह— **तेषा**मिति। **तये**ति। यद्वृत्तप्रतिनिर्देशरूपव्याख्येयोपादानम्, तत्परामृष्टं प्रकृतं चेतोपहरणहेतुमाह— **भोगैश्वर्यविषयये**ति। 'अपहृतचेतसाम्' इत्यस्य पूर्वपदेनार्थपौनरुक्त्यपरिहाराय तदर्थस्य प्रकृतव्यवसायात्मकबुद्ध्यभावहेतुत्वाय चोक्तम्— **अपहृतात्मज्ञानाना**मिति। **यथोदिते**ति— प्रागुक्तप्रकारेत्यर्थः। **न विधीयते** केनचिद्धेतुना न क्रियत इत्यर्थः। ततः फलितमुच्यते— **नोत्पद्यत** इति। समाधिशब्दस्य

बुद्धिविशेषविवक्षायामत्रानन्वयान्मनोविषयत्वे व्युत्पत्तिमाह— **समाधीयतेऽस्मिन्निति**— निधीयतेऽस्मिन्निति निधिवत् । यथोदितेत्याद्युक्तं प्रकारं विवृणोति— **तेषां मनसी**त्यादिना । विधीयत इति वर्तमाननिर्देशतात्पर्यसिद्धमुक्तं **कदाचिद**पीति । एषां निन्दा किमर्थमित्यत आह **अत** इति; व्यवसायात्मकबुद्धिविरोधादित्यर्थः । **मुमुक्षुणा न सङ्गः कर्तव्य** इति— निस्सङ्गेन काम्यानामपि करणमनुमन्यते ; स्वरूपमात्रस्य मोक्षविरोधित्वाभावात् । मोक्षेच्छाऽस्ति चेद्बन्धकेच्छा न कार्येत्युक्तं भवति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

**५ आ. मा. भा.— स्युरवैदिकानि मतानि अव्यवसायात्मकानि ; न तु वैदिकानि । तेऽपि हि केचित्कर्माणि स्वर्गादिफलान्येवाहुरित्यत आह— यामिमामिति । यामाहुस्तयेत्यन्वयः । मोक्षफलमपेक्ष्य स्वर्गादिपुष्पयुक्तां वाचं प्रवदन्ति । वेदवादरताः कर्मादिवाचकवेदवादरताः । वेदैर्यन्मुखत उच्यते तत्रैव रताः । नान्यदस्तीतिवादिनः 'परोक्षविषया वेदाः' "परोक्षप्रिया इव हि देवाः" [ ऐ. उ. १।१४ बृ. उ. ४।२।२ ] 'मां विधत्तेऽभिधत्ते माम्' [ भाग. ११।२१।४३ ] इत्यादिभिः पारोक्ष्येण प्रायो भगवन्तं वदन्ति ॥ ४२ ॥**

६ ज. प्र. दी.—'यामिमाम्' इतिश्लोकस्य प्रकृतोपयोगादर्शनात्सङ्गतिमाह— **स्युरि**ति । न तु वैदिकान्यप्यव्यवसायात्मकानि । ततः किं प्रकृते ? इत्यत उक्तं **तेऽपी**ति । व्यवसायात्मकं मतं वैदिकमतमवलम्बमाना अपि केचित् वैदिकानि सर्वाण्येव कर्माणि स्वर्गादिफलान्याहुः । भवांस्तु काम्यान्येव स्वर्गादिफलकानि, निष्कामानीश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितानि तु ज्ञानार्थानीत्यभिप्रैति । तथाच त्वद्वचने निष्ठानुपपत्तिस्तदवस्थेति भावः । **आह** तेषां वैदिकाभासत्वप्रदर्शनाय निन्दामिति शेषः । भोगैश्वर्यगतेरपि प्रकृतत्वात्तयेति तत्परामर्शभ्रान्तिं वारयति— **यामि**ति । अन्यथा यच्छब्दः साकाङ्क्षोऽनन्वितः स्यादिति भावः । वाचः पुष्पितत्वं कथं ? इत्यत आह— **मोक्षे**ति । अत्यल्पत्वेनोपमा । वेदवादरता इत्येतत्कथं निन्दावचनं इत्यत आह— **वेदे**ति । कथमेतस्मात्पदाल्लभ्यते ? कथं चैषाऽपि निन्दा ? इत्यत आह— **वेदै**रिति । वादशब्दोऽत्रापाततः प्रतिपादने वर्तते । वक्ष्यते चात्राभिधानम् । आपाततः प्रतिपाद्यं च कर्मादि सावधारणं चैतत् । अब्भक्षो वायुभक्ष इति यथेत्यर्थः । सावधारणत्वं कुत इति चेत्, उत्तरपदबलादिति तानि पठति— **नान्य**दिति । आपाततः प्रतीतार्थादन्यस्य सद्भावे भवेदेषां निन्दा । कोऽसौ कुतश्च ? इत्यत आह— **परोक्षे**ति । क्वचित्प्रकटवचनादिवेत्युक्तम् । अतएव प्राय इत्याह— **देवा** वेदाभिमानिनः । तत्प्रकारसूचनार्थं मां विधत्त इत्याद्युदाहृतम् । वदन्ति वेदाः ॥ ४२ ॥

**५ आ. मा. भा.—भोगैश्वर्यगतिं तत्प्राप्तिं प्रति । तत्प्राप्तिफला एव वेदा इति वदन्तीत्यर्थः ॥४३॥**

६ ज. प्र. दी.— गतिशब्दस्यावगतिरप्यर्थः प्रतीयेतेत्यत आह— **भोगे**ति । अन्यथाऽसदनुवादप्रसङ्गादिति भावः । एषाऽपि कथं निन्दा ? इत्यत आह— **तत्प्राप्ती**ति । मोक्षं वेदफलं न मन्यत इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

**५ आ. मा. भा.— तेषां सम्यग्युक्तिनिर्णयात्मिका बुद्धिः समाधौ समाध्यर्थे न विधीयते । सम्यङ्निर्णीतार्थानामीश्वरे मनस्समाधानं सम्यग्भवति । तद्धि मोक्षसाधनम् । उक्तं चैतदन्यत्र— 'न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्वरीयसीरपि वाचः समासन् । स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधिसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात्' [ भाग. ५।११।३ ] ॥ ४४ ॥**

६ ज. प्र. दी.— तयाऽपहृतेत्यादेरप्रतीतिनिरासायार्थमाह— **तेषा**मिति । तेषां बुद्धिर्मनोवृत्तिर्व्यवसायात्मिका सम्यग्युक्तिनिर्णयात्मिका न भवति । तत एवेश्वरे सम्यक्समाधानार्थं न विधीयत इत्यर्थः । सम्यग्युक्तिनिर्णयात्मकत्वाभावे कुतः समाध्यभावः? इत्यत आह— **सम्यगि**ति । अनेन समाधिशब्दार्थोऽपि विवृतो भवति । किमीश्वरे मनस्समाधानेन येन तदभावे निन्दा स्यात्? इत्यत आह— **तद्धी**ति । मोक्षाभावश्च महानिन्देति । वक्ष्यति । सम्यङ्निर्णीतार्थानामित्युक्तम् । न केवलमानुभाविकं किन्तु पुराणेऽप्युक्तमित्याह— **उक्तं** चेति । वरीयसीः वरीयस्यः । 'सुपां सुलुक्' [अष्टा. ७।१।३९] इत्यादिना जसः पूर्वसवर्णः । वाचो वेदवाचः । स्वप्ने निरुक्त्या स्वप्नप्रतीतार्थदृष्टान्तेन हेयानुमितं हेयत्वेनानुमितम् । इदमेव हि सम्यङ्निर्णीतार्थत्वम् । यद्धेयोपादेयविवेकेन हेयहानमुपादेयोपादानं च तद्धि मोक्षसाधनमित्येतत्तु श्रुत्यादिप्रसिद्धमेव ॥४४॥

**७ ह. पै. भा.— यामिमां वैदिकीं वेदभवां द्रव्यगुणकर्मणां स्वर्गादिफलोत्पादनसमर्थानां फलपूर्वभावित्वात् पुष्पमिव पुष्पं तानि च पुष्पितानि एषां पुष्पितानां प्रतिपादिका वागपि पुष्पिता, तां वाचं वदन्ति पठन्ति अविपश्चितोऽपण्डिताः । वेदस्य वादो वदनं वेदवादस्तत्र रताः सक्ताः**

वेदवादरताः । वेदवाक्यप्रतिपादितस्वर्गादिफलाशापाशबद्धा इत्यर्थः । स्वर्गादिफलादन्यदपवर्गाख्यं सुखं नास्तीतिवादिनो वदनशीलाः ॥ ४२ ॥ कथम्भूतास्तेऽविपश्चित इत्यत्राऽऽह— कामात्मानः कामिनः, स्वर्गपराः स्वर्गप्रधानाः । जन्मकर्मफलप्रदां जन्मविशिष्टशरीरेन्द्रियप्राप्तिः कर्मणः फलानि स्वर्गादीनि जन्म च कर्मफलानि च जन्मकर्मफलानि तानि प्रददातीति जन्मकर्मफलप्रदा तां वाचम् । क्रियाविशेषबहुलां क्रियाणां विशेषाः क्रियाविशेषाः पाकयज्ञादयः । बहूनर्थाल्लाति प्रतिपादयतीति बहुला । क्रियाविशेषैर्बहुला क्रियाविशेषबहुला ताम् । भोगैश्वर्यगतिं— भोगः शब्दादिविषयलाभः, ऐश्वर्यमणिमादि, भोगैश्वर्ययोर्गतिस्तां भोगैश्वर्यगतिं प्रति तल्लक्षणां शब्दादिविषयलाभाणिमादिसाधनभूतामित्यर्थः । तां वाचं त्यज, तदर्थे पुरुषार्थबुद्धिं मा कार्षीरित्यर्थः । तथा च श्रुतिः— "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म" [ मुं. उ. २ । ७ ] इत्यादि ॥ ४३ ॥ कस्मात्सा वाक् त्याज्या? इत्यत्राऽऽह— यदि सा वाक्प्रमाणत्वेनोपादीयते तदनुष्ठाने तत्फलप्राप्तौ च प्रसक्तिः स्यात्ततश्च भोगैश्वर्यप्रसक्तानां भोगैश्वर्ययोरेव प्रणयवतां, तया वाचाऽपहृतचेतसामाच्छादितविवेकप्रज्ञानां व्यवसायात्मिका साङ्ख्ये योगे वा बुद्धिः समाधौ परमात्मावबोध इयमेव बुद्धिः परमपुरुषार्थतया कर्तव्येत्येवं निश्चिता सा बुद्धिर्न विधीयते नोत्पादयितुं शक्यते । तस्मादियं वाक् परमपुरुषार्थविरोधित्वात्त्याज्येत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— व्यवसायात्मिका बुद्धिरवैदिकानां न भवत्येव; वैदिकानामपि न सर्वेषां भवति, कामभोगप्रवाहपातित्वाल्लोकानाम् ; किन्तु कस्यचिदेव पुण्यशालिन इति दर्शयितुं काम्यकर्माधिकृतान् निन्दति त्रिभिः— यामिमामिति ।

इदं श्लोकत्रयमेकान्वयम् । 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते' इति तृतीयश्लोके प्रथममन्वयः । समाधीयतेऽस्मिन्निति समाधिर्मनः, तस्मिन्न विधीयते । कर्मकर्तरि लकारः । नोत्पद्यत इत्यर्थः । यद्वा परमेश्वरैकनिष्ठत्वरूपं चित्तैकाग्र्यं समाधिः ; तद्विषये निश्चयात्मिका बुद्धिर्नोत्पद्यते । केषाम् ? भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्— इहामुत्र च भोगस्तदनुगुणमैश्वर्यं च सम्पाद्यमित्येवं भोगैश्वर्ययोरेव प्रकर्षेणासक्तानामित्यर्थः । ननु भोगैश्वर्यासक्तानामपि "परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन" [ मुं. उ. १।२।१२ ] इत्यादिश्रुत्युक्तविवेकवैराग्यादिना तदासक्तिविधूनने व्यवसायात्मिका बुद्धिः कुतो न स्यात् ? इत्यत्राह— तयाऽपहृतचेतसामिति । तया भोगैश्वर्यप्रतिपादकश्रुत्या अपहृतं चित्तं येषां ते तथोक्तानाम् । ततो न विवेकवैराग्यप्रसक्तिरित्यर्थः ।

ननु मातृवत्सर्वलोकवत्सला श्रुतिः कथं विवेकवैराग्यभ्रंशनेन पुरुषान्नाशयेत् ? इत्याशङ्क्याह— यामिमामिति । यामिमामधीयमानां "स्वर्गकामो यजेत" [ आ. श्रौ. १०।१।२।१ ] इत्यादिरूपां वाचं प्रवदन्ति परमपुरुषार्थपरेयमेवेत्येवंरूपेण प्रकर्षेण वदन्ति, तयाऽपहृतचेतसामिति सम्बन्धः । सत्यमेव श्रुतिः स्वयं न कस्यचिद्विवेकज्ञानमपहरति, तस्याः परमपुरुषार्थभूतनिरतिशयानन्दरूपब्रह्माद्वैतपरतया स्वर्गादिभोगैश्वर्यप्रतिपादने तात्पर्याभावेन तदर्थं विवेकभ्रंशनाप्रसक्तेः । किन्तु 'स्वर्गादेरेव परमपुरुषार्थता, तत्प्रतिपादिन्येवेयं श्रुतिः' इत्यभिमन्यमानमीमांसकम्मन्यदुरालापा एव पुरुषाणां विवेकवैराग्यभ्रंशका इति भावः । ननु स्वर्गादिफलश्रुतिस्तत्पारम्यप्रतिपादनपराऽस्तीत्याशङ्क्य विशिनष्टि— पुष्पितामिति ; पुष्पितविषलतावदापातरमणीयामित्यर्थः । यद्वा पुष्पितां केवलं जातपुष्पां, न तु फलवतीमित्यर्थः । अथवा मोक्षफलमपेक्ष्य स्वर्गादिपुष्पयुक्तामित्यर्थः । स्वर्गादेर्मोक्षात् पूर्वमेवोल्लास इति फलपूर्वकालोल्लासित्वात् पुष्पत्वेन निरूपणम् । तथा च पुष्पस्थानीयस्य न फलत्वमिति भावः । सर्वथापि 'पुष्पितां' इत्यनेन स्वर्गादेरफलत्वात्तच्छ्रुतेः पुरुषार्थपरत्वं नेत्युक्तं भवति ।

एतदेवोपपादयति— जन्मकर्मफलप्रदामिति । कर्मणः फलं कर्मफलम्, जन्म च कर्मफलं च जन्मकर्मफले, ते प्रददातीति तथोक्ताम् । कर्मफलं हि स्वर्गः ; स च तदुपभोगार्हदेहविशेषप्राप्तिरूपं जन्म विना न निष्पद्यत इति स्वर्गप्रदं कर्म जन्मप्रदमपि जातमिति तत्प्रतिपादकश्रुतेरपि तत्प्रदत्वोक्तिः । जन्मग्रहणेन च तदविनाभूतमरणस्याप्युपलक्षितत्वात् जन्ममरणानुविद्धं स्वर्गादिकमित्युक्तं भवति । अतो न तस्य परमपुरुषार्थत्वप्रसक्तिरिति भावः । न केवलं जन्ममरणदोषेणैव स्वर्गस्य परमपुरुषार्थत्वाभावः, किन्तु स्वकाले दुःखकरम्बितत्वादपीत्याह— भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलामिति । भोगैश्वर्ययोर्गतिर्विशेषः, गम्यत इति व्युत्पत्तेः । प्राप्त्यर्थकत्वे तु भोगैश्वर्ये प्रतीत्येव चारितार्थ्याद्गतिशब्दवैयर्थ्यम् । विशेषार्थकत्वे तु क्रियाविशेषशब्दोक्तसाधनविशेषानुगुणसाध्यविशेषलाभात् सार्थकत्वम् । एवं च भोगैश्वर्यविशेषसाधनभूता ये क्रियाविशेषा अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमाद्याः, तैर्बहुलां प्रभूतामित्यर्थः । अग्निहोत्रादिकर्मणामुच्चावचत्वात्तत्फलभूतः स्वर्गोऽप्युच्चावच एव ; 'कर्म-

भूयस्त्वात्फलभूयस्त्वम्' इति न्यायात्, "तद्वा एतत्सहस्रस्यायनं सहस्रं सहस्रं स्तोत्रीयाः सहस्रं दक्षिणाः सहस्रसम्मितः सुवर्गो लोकः" इत्यादिश्रुतेश्च, अल्पायाससाध्याग्निहोत्रेणैव बह्वायाससाध्यदर्शपूर्णमासादिफलभूतस्वर्गसिद्धौ तदानर्थक्यापातेन तत्फलभूतस्वर्गतारतम्यस्यावश्यवाच्यत्वाच्च। तारतम्यवच्च फलं दुःखास्पदम्। परसम्पदुत्कर्षौ हि हीनसम्पदं दुःखाकरोति। अतो न स्वर्गस्य निरतिशयपुरुषार्थत्वमिति भावः।

नन्वेतादृशस्वर्गफलश्रुतिं कथं परमपुरुषार्थपरत्वेन वदन्ति? इत्यत्राह— **अविपश्चित** इति, श्रुतितात्पर्याज्ञानिन इत्यर्थः। अज्ञानित्वे तूष्णीमेव स्थेयम्, कुतः स्वर्गपारम्यप्रतिपादनपाण्डित्यं? इत्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह— **वेदवादरता** इति। वेदेषु ये वादाः "अपाम सोममसृता अभूम" [ऋक्. ६।४।११] इत्याद्यर्थवादाः, तेषु रताः। वेदार्थस्य सत्यत्वादेवमेवैतदिति मिथ्याविश्वासेन तत्र प्रीतिमन्त इत्यर्थः। तादृशार्थवाददर्शनमेव तेषां तथापाण्डित्यहेतुरिति भावः। 'यत्कृतकं तदनित्यम्' इति न्यायोपबृंहितया "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते" [छां.उ. ८।१।६] इत्यादिश्रुत्या विरुद्धत्वात् अमृतत्वश्रुतिर्गुणार्थवाद एव, न तु स्वार्थपरेति तद्वादपदेन दर्शितम्। एवं सत्यपि तत्र प्रीतिवशात्तदीयमर्थवादत्वदोषं न पश्यन्तीत्येतत् 'रताः' इत्यनेनोक्तम्। एतदाश्चर्येणैव पार्थेति सम्बोधनम्।

ननु नित्यनिरतिशयब्रह्मानन्दप्रतिपादिन्युपनिषत्काण्डे स्थिते, किमिति तादृशार्थवादेषु रताः? तत्राह— **नान्यदस्तीति वादिन** इति। स्वर्गपशुपुत्रादिफलादन्यन्नित्यनिरतिशयमोक्षाख्यफलं तत्परं वेदवाक्यं वा किञ्चिन्नास्ति, सर्वस्यापि वेदस्य कार्यपरत्वेन सिद्धरूपे ब्रह्मणि तस्याप्रामाण्यात्। व्यवस्थापितं हि कर्ममीमांसायाम् 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्—' [पू. मी. १।२।१] इत्यादिसूत्रेण वेदस्य क्रियार्थत्वादक्रियार्थानामप्रामाण्यमाशङ्क्य, 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्...' [पू. मी. १।२।७] इति सूत्रेण अक्रियार्थानामपि सिद्धार्थविषयवेदवाक्यानां विध्येकवाक्यत्वेन क्रियार्थत्वमुपपाद्य प्रामाण्यमिति सिद्धान्तयता जैमिनिना वेदस्य क्रियापरत्वम्; अतः कर्मविध्यपेक्षितकर्त्रात्मस्तावकमेवोपनिषत्काण्डं न स्वार्थपरम् इत्यादिभिर्दुर्मीमांसकवादैर्ब्रह्मकाण्डमेवापलपन्तीत्यर्थः। ननु उपक्रमोपसंहारादिषड्विधतात्पर्यलिङ्गदृढीकृतब्रह्मैदम्पर्यमौपनिषदं काण्डं कथमपलपनीयम्? सिद्धरूपेऽपि ब्रह्मणि वेदप्रामाण्यस्य 'तत्तु समन्वयात्' [ब्र. सू. १।१।४] इति ब्रह्ममीमांसासूत्रे भगवता बादरायणेन व्यवस्थापितत्वात्; 'आम्नायस्य—' [पू. मी. १।२।१] इति जैमिनीयं पूर्वपक्षसूत्रमपि हि धर्मप्रमाणत्वेनाभिमतस्याम्नायस्य क्रियार्थत्वेनैव प्रामाण्यं वाच्यमित्येतत्परम्; 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात्...' [पू. मी. १।२।७] इति तदीयसिद्धान्तसूत्रमपि धर्मप्रमाणत्वाभिमतक्रियाविधिसमभिव्याहृतवायुक्षेपिष्ठादिवाक्यमात्रविषयमित्यवगम्यते; 'अथातो धर्मजिज्ञासा' [पू. मी. १।१।१] इति धर्मविचारं प्रतिज्ञाय 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' [पू. मी. १।१।२] इति द्वितीयसूत्रे तस्यैव लक्षणमुक्त्वा 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' [पू. मी. १।१।३] इत्यनन्तरसूत्रेण धर्मप्रमाणस्यैव परीक्ष्यत्वेन प्रतिज्ञानात्; न चात्मतत्त्वप्रतिपादकमुपनिषत्काण्डं कर्मविध्यपेक्षितकर्त्रात्मसमर्पणेन तदेकवाक्यतां प्रतिपत्स्यते; तथा च कथं 'नान्यदस्ति' इति वक्तुमुचितं? इति शङ्कानिरासाय वादिन इति। ताच्छील्यार्थे णिनिप्रत्ययः। सत्यमेवेत्थं वक्तुमुचितमिति; तथापि तेषां तथावचनशीलता दुर्निवारेत्यर्थः।

कुत एतादृशं दुश्शीलम्? तत्राह— **कामात्मान** इति। कामस्वरूपा इत्यर्थः। स्वसंसर्गिण्यपि मोक्षप्रसङ्गमसहमानः कामः साक्षात् स्वस्मिन्नेव तत्प्रसङ्गं न सहत इति किमु वक्तव्यम्? अतः कामस्वरूपतया तेषां मोक्षकाण्डासहत्वस्वभाव इति भावः। ननु मोक्षोऽपि स्वर्ग इव कामस्य विषयः; तत्कथं कामात्मनां मोक्षे द्वेषः? तत्राह— **स्वर्गपरा** इति। परशब्द इष्टवचनः, 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' [अष्टा. १।४।२] इत्यत्र 'अस्तीष्टवाची परशब्दः' इति महाभाष्योक्तेः। स्वर्ग एव पर इष्ट एषामिति स्वर्गपराः। स्वर्गे ह्यमृतपानरम्भासम्भोगपारिजातपरिमलगन्धर्वगानादिसम्पत्तिः; मोक्षे तु न किञ्चिदपि। न हि नयनानन्दि सुन्दरीरूपं, घ्राणसन्तर्पणो गन्धः, श्रवणामृतायमानं गानं, रुचितं वा भक्ष्यभोज्यादिकं मोक्षे किञ्चिदस्ति; "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कं जिघ्रेत्" [बृ. उ. ४।५।१५] इत्यादिश्रुतेः; अतो मोक्षाय नमः, स्वर्ग एवास्माकमस्तु इति मन्यमाना मोक्षं न कामयन्त इति तत्र द्वेष एव तेषां वैषयिकाणामिति भावः।

एवम्भूता अविपश्चितो यामिमां वाचं प्रवदन्ति, तयाऽपहृतचेतसां समाधौ व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयत इति श्लोकत्रयार्थः। तदनेन श्लोकत्रयेण "प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति" [मुं उ. १।२।७] "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः। जङ्घन्यमानाः (दन्द्रम्यमाणाः) परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः" [कठो. २।५] इत्याथर्वणिकश्रुत्यर्थो दर्शितः ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

९ व० त० दी०— अव्यवसायिनां बुद्धिभेदं निरूपयति— यामिमामिति। जैमिनीया वेदवाचं सर्वकाण्डरूपां सर्वां पुष्पितां प्रकर्षेण कर्तृकर्मफलभावेन युक्तां वदन्ति। पुष्पस्थानीयेषु स्वर्गादिषु फलत्वबुद्ध्या रता भवन्तीत्यर्थः। यतो वेदवादेषु फलबोधककर्मवादेषु रताः। न च तत्तत्फलं वेदबोधितत्वादिति वाच्यम्,

अर्थान्तरेण वेदबोधितत्वात् तत्फलस्य 'यन्न दुःखेन सम्भिन्नं' इत्यादिवाक्यात् । तथा चेयं वाक् पुष्पिता न फलिता। तेषु परं गन्धलोभितचेतस एव ते भ्रान्ता भवन्तीति हृदयम् ॥ ४२ ॥ किम्भूतास्तेऽविपश्चितः? वेदवादतात्पर्यानभिज्ञाः । भोगैश्वर्यगतिं प्रति कामात्मानः, कामयते आत्मा येषाम् । तथा स्वर्गलोक एव परः प्राप्यं फलं येषाम् । किम्भूतां वाचम्? जन्मकर्मफलप्रदाम् । गतिविशेषणं वा । क्रियाविशेषबहुलां वाचं जन्मकर्मफलप्रदां वा प्रवदन्तीत्यन्वयः ॥४३॥ तथाभूतानां तेषां तया वाचाऽपहृतचेतसां काम्यकर्मपराणां व्यवसायात्मिकैका बुद्धिः समाधिविषयिणी न विधीयते । विशेषेण न स्थाप्यते इति वा । तेषां समाधौ हृदीति वा॥४४॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं फलोत्तमतां ज्ञात्वा सर्व एवमेव व्यवसायात्मिकां बुद्धिं कथं न कुर्वन्तीत्याशङ्क्याह— यामिमामिति त्रयेण । ये इमां पुष्पितां यां वाचं फलादिरहितां कुत्सितपुष्पयुक्तलतावद्दूरदृष्टरम्यां प्रवदन्ति प्रकर्षेण फलरूपतया वन्दति तेषां व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते, नोत्पद्यत इत्यर्थः । ननु तेऽपि शास्त्रोक्तज्ञानवन्तः कथं तथा वदन्ति? इत्याकाङ्क्षायामाह— अविपश्चित इति । मूर्खा अज्ञाना इत्यर्थः । तेषां मूढत्वं विशेषणैः प्रकटयति— वेदवादरता इति वेदोक्तफलककर्मकरणमेवोचितं, न तु निष्कामतया, ते तथा अत एव नान्यदस्तीति वादिनः वेदोक्तव्यतिरिक्तं कर्मफलं नास्तीति वदनशीलाः॥४२॥ ननु तेषां तथाकथनं किं प्रयोजनकं? इत्याकाङ्क्षायामाह— कामात्मान इति कामनाव्याप्तरूपाः । ननु कथं कामनायां तुच्छफले प्रवर्त्तन्त इत्याशङ्क्याह— स्वर्गपरा इति । स्वर्ग एव परो मोक्षरूपं येषां तेषाम् । स्वर्गस्य तथाज्ञानार्थं पूर्ववाचं विशिनष्टि— जन्मकर्मफलप्रदाम् । जन्म उत्तमयोनौ तत्रोत्तमं कर्म, तथोत्तमफलं च तानि प्रकर्षेण ददाति तां तथा, भोगैश्वर्यगतिं भोगैश्वर्यप्राप्तिं प्रति क्रियाविशेषा बहुला यस्यां तां तथा फलरूपां वदन्ति ॥४३॥ ततो भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तेषां तया वाचा अपहृतचित्तानां समाधौ वैयग्र्यभावेन भगवच्चिन्तने तथा बुद्धिर्न भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

११ नी० भा० दी०— उत्तरार्धमेव विवृणोति— 'यामिमां' इत्यादिना। पुष्पितां पुष्पितद्रुमवद्दूरतो रमणीयां वाचम्। "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति" [ शत. ब्रा. २।६।३।१ ] "अपाम सोममृता अभूम" [ ऋक्सं. ६ । ४ । ११ ] इत्येवंरूपां प्रवदन्ति अविपश्चितः अव्यवसायिनो मूढाः यतो वेदवादरताः वेदान्तर्गतेषु अर्थवादेषु । "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न पापꣳ श्लोकꣳ शृणोति" [ तै. सं. ३।५।७ ] इत्येवमादिषु रताः बद्धश्रद्धाः अत एव कर्मणोऽन्यत् आत्मज्ञानं तत्फलं मोक्षश्च नास्तीति वादिनो वदनशीलाः ॥४२॥

तथा भोगश्च ऐश्वर्यं च तयोर्गतिः प्राप्तिस्तां प्रति तदर्थमित्यर्थः । कामात्मानः कामग्रस्तचित्ताः अत एव स्वर्गपराः । कीदृशीं भोगैश्वर्यगतिं जन्मकर्मफलप्रदाम्? प्राप्तभोगैश्वर्यो हि पुरुषस्तद्वासनावासितः पुनर्भोगैश्वर्यप्राप्तये जन्म लभते, तदर्थं कर्माणि च कुरुते, फलं च ततो भोगादिकं प्राप्नोतीति चक्रमनिशमावर्त्तते तेन निष्टालश्युतो भवतीत्यर्थः । किञ्च क्रियाविशेषेण बहुलां यथा यथा वित्तव्ययायासाद्याधिक्यं तथा तथा भोगैश्वर्यप्राप्तेरप्याधिक्यमित्यर्थः । एतेनात्यन्तायाससाध्येष्वपि कर्मसु फललोभात् सज्जन्त इत्युक्तम्। भाष्ये भोगैश्वर्यगतिं प्रति साधनभूताः ये क्रियाविशेषा अग्निहोत्रादयः तद्बहुलां जन्मरूपं यत् कर्मफलं तत्प्रदां च वाचमेवेति व्याख्यातम् ॥४३॥

भोगेति । तया पुष्पितया वाचा अपहृतचेतसां पुंसां बुद्धिः समाधौ समाध्यनुष्ठानकाले व्यवसायात्मिका व्यवसायो ज्ञानं तदात्मिका शुद्धचिन्मात्राकारा न विधीयते न भवति । कर्मकर्तरि लकारः । विरक्तस्य हि बुद्धिः समाधौ चिन्मात्राकारा भवति, न तु भोगाद्यासक्तस्येति स्पष्टमेव । भाष्ये तु 'समाधौ अन्तःकरणे व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न भवति' इति व्याख्यातम् । यद्वा समाध्यनुष्ठानार्थमेव निश्चयात्मिका तेषां बुद्धिर्न भवतीति व्याख्येयम् ॥ ४४ ॥

कामात्मनां फलीभूताद्वेदोदितादपि मुमुक्षुणा स्वोचितसारग्राहिणा भाव्यमित्यादिः सदृष्टान्तोपदेशः [ ४५–५० ]

**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।**
**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥ ४५ ॥**
**यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।**
**तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ ४६ ॥**

१ शां. भा.— य एवं विवेकबुद्धिरहितास्तेषां कामात्मनां यत्फलं तदाह— **त्रैगुण्येति** । त्रैगुण्यविषयाः, त्रैगुण्यं संसारः विषयः प्रकाशयितव्यो येषां ते वेदास्त्रैगुण्यविषयाः । त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव अर्जुन ! निष्कामो भवेत्यर्थः । निर्द्वन्द्वः, सुखदुःखहेतू सप्रतिपक्षौ पदार्थौ द्वन्द्वशब्दवाच्यौ, ततो निर्गतो निर्द्वन्द्वो भव । त्वं नित्यसत्त्वस्थः सदा सत्त्वगुणाश्रितो भव । तथा निर्योगक्षेमः, अनुपात्तस्योपादानं योगः, उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः, योगक्षेमप्रधानस्य श्रेयसि प्रवृत्तिर्दुष्करेत्यतो निर्योगक्षेमो भव । आत्मवानप्रमत्तश्च भव । एष तवोपदेशः स्वधर्ममनुतिष्ठतः ॥ ४५ ॥

२ आ. शां. व्या.— अविवेकिनामपि वेदाभ्यासवतां विवेकबुद्धिरुदेष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **य एव**मिति । तर्हि वेदार्थतया कामात्मता प्रशस्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **निस्त्रैगुण्य** इति । 'भव' इति पदं निर्द्वन्द्वादिविशेषणेष्वपि प्रत्येकं सम्बध्यते । त्रयाणां सत्त्वादीनां गुणानां पुण्यपापव्यामिश्रकर्मतत्फलसम्बन्धलक्षणः समाहारस्त्रैगुण्यमित्यङ्गीकृत्य व्याचष्टे— **संसार** इति । वेदशब्देनात्र कर्मकाण्डमेव गृह्यते । तदभ्यासवतां तदर्थानुष्ठानद्वारा संसारध्रौव्यान्न विवेकावसरोऽस्तीत्यर्थः । तर्हि संसारपरिवर्जनार्थं विवेकसिद्धये किं कर्तव्यं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **त्वं त्वि**ति । कथं 'निस्त्रैगुण्यो भव' इति गुणत्रयराहित्यं विधीयते ? 'नित्यसत्त्वस्थो भव' इति वाक्यशेषविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह— **निष्काम** इति । सप्रतिपक्षत्वं परस्परविरोधित्वम् । पदार्थौ शीतोष्णादिलक्षणौ । निष्कामत्वे द्वन्द्वान्निर्गतत्वं शीतोष्णादिसहिष्णुत्वं हेतुमुक्त्वा तत्रापि हेत्वपेक्षायां सदा सत्त्वगुणाश्रितत्वं हेतुमाह— **नित्ये**ति । योगक्षेमव्यापृतचेतसो रजस्तमोभ्यामस्पृष्टे सत्त्वमात्रे समाश्रितत्वमशक्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **तथे**ति । योगक्षेमयोर्जीवनहेतुतया पुरुषार्थसाधनत्वात् 'निर्योगक्षेमो भव' इति कुतो विधिरित्याशङ्क्याऽऽह— **योगे**ति । योगक्षेमप्रधानत्वं सर्वस्य स्वारसिकमिति ततो निर्गमनमशक्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मवा**निति । अप्रमादो मनसो विषयपारवश्यशून्यत्वम् । अथ यथोक्तोपदेशस्य मुमुक्षुविषयत्वादर्जुनस्य मुमुक्षुत्वमिह विवक्षितमिति नेत्याह— **एष** इति ४५

१ शां. भा.— सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यान्युक्तान्यनन्तानि फलानि तानि नापेक्ष्यन्ते चेत्, किमर्थं तानीश्वरायेति अनुष्ठीयन्ते ? इति । उच्यते, शृणु— **यावा**निति । यथा लोके कूपतडागाद्यनेकस्मिन् उदपाने परिच्छिन्नोदके यावान् यावत्परिमाणः स्नानपानादिरर्थः फलं प्रयोजनं स सर्वोऽर्थः सर्वतः सम्प्लुतोदके तावानेव सम्पद्यते; तत्रान्तर्भवतीत्यर्थः । एवं तावान् तावत्परिमाण एव सम्पद्यते सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तेषु कर्मसु योऽर्थो यत् कर्मफलं सोऽर्थो ब्राह्मणस्य सन्न्यासिनः परमार्थतत्त्वं विजानतो योऽर्थः यत् विज्ञानफलं सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीयं तस्मिन् तावानेव सम्पद्यते, तत्रैवान्तर्भवतीत्यर्थः । "सर्वं तदभिसमेति यत् किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत् स वेद" [ छां.४।१।४ ] इति श्रुतेः । 'सर्वं कर्माखिलम्' [४।३३] इति च वक्ष्यति । तस्मात् प्राक् ज्ञाननिष्ठाधिकारप्राप्तेः कर्मणि अधिकृतेन कूपतडागाद्यर्थस्थानीयमपि कर्म कर्तव्यम् ॥ ४६ ॥

२ आ. शां. व्या.— ईश्वरार्पणधिया स्वधर्मानुष्ठानेऽपि फलकामनाभावाद्वैफल्यं योगमार्गस्येति मन्वानः शङ्कते— **सर्वेष्वि**ति । कर्ममार्गस्य फलवत्त्वं प्रतिजानीते— **उच्यत** इति । किं तत्फलमित्युक्ते तद्विषयं श्लोकमवतारयति— **शृण्वि**ति । यथोदपाने कूपादौ परिच्छिन्नोदके स्नानाचमनादिर्योऽर्थो यावानुत्पद्यते स तावानपरिच्छिन्ने सर्वतः सम्प्लुतोदके समुद्रेऽन्तर्भवति परिच्छिन्नोदकानां अपरिच्छिन्नोदकांशत्वात् । तथा सर्वेषु वेदोक्तेषु कर्मसु यावानर्थो विषयविशेषोपरक्तः सुखविशेषो जायते स तावानात्मविदः स्वरूपभूते सुखेऽन्तर्भवति परिच्छिन्नानन्दानामपरिच्छिन्नानन्दान्तर्भावाभ्युपगमात् "एतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" [ बृ. उ. ४।३।३२ ] इति श्रुतेः । तथा चापरिच्छिन्नात्मानन्दप्राप्तिपर्यवसायिनो योगमार्गस्य नास्ति वैफल्यमित्याह— **यावा**निति । उक्तमर्थमक्षरयोजनया प्रकटयति— **यथे**ति । उदकं पीयतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या कूपादिपरिच्छिन्नोदकविषयत्वं उदपानशब्दस्य दर्शयति— **कूपे**ति । कूपादिगतस्याभिधेयस्य समुद्रेऽन्तर्भावासम्भवात् कथमिदमित्थमित्याशङ्क्यार्थशब्दस्य प्रयोजनविषयत्वं व्युत्पादयति— **फल**मिति । यत्फल्गुत्वेन लीयते तत्फलमित्युच्यते तत्कथं तडागादिकृतं स्नानपानादि तथा ? इत्याशङ्क्य तस्याल्पीयसो नाशोपपत्तेरित्याह— **प्रयोजन**मिति । तडागादिप्रयुक्तप्रयोजनस्य समुद्रनिमित्तप्रयोजनमात्रत्वमयुक्तं अन्यस्यान्यात्मत्वानुपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह— **तत्रे**ति । घटाकाशादेरिव महाकाशे परिच्छिन्नोदककार्यस्यापरिच्छिन्नोदककार्ये अन्तर्भावः सम्भवति तत्प्राप्तावितरापेक्षाभावादित्यर्थः । पूर्वार्धे दृष्टान्तभूतमेवं व्याख्याय दार्ष्टान्तिकमुत्तरार्धं व्याकरोति— **एवमि**त्यादिना । कर्मसु योऽर्थ इत्युक्तं व्यनक्ति— **यत्कर्मफल**मिति । सोऽर्थो विजानतो ब्राह्मणस्य योऽर्थस्तावानेव सम्पद्यत इति

सम्बन्धः । तदेव स्पष्टयति— विज्ञानेति । तस्मिन्नन्तर्भवन्निति शेषः । सर्वं कर्मफलं ज्ञानफलेऽन्तर्भवतीत्यत्र प्रमाणमाह— सर्वमिति । यत्किमपि प्रजाः साधु कर्म कुर्वन्ति तत्सर्वं स पुरुषोऽभिसमेति प्राप्नोति, यः पुरुषस्तद्वेद विजानाति यद्वस्तु स रैक्वो वेद तद्वेद्यमिति श्रुतेरर्थः । कर्मफलस्य सगुणज्ञानफलेऽन्तर्भावः संवर्गविद्यायां श्रूयते, कथमेतावता निर्गुणज्ञानफले कर्मफलान्तर्भावः सम्भवति ? इत्याशङ्क्याऽऽह— सर्वमिति । तर्हि ज्ञाननिष्ठैव कर्तव्या, तावतैव कर्मफलस्य लब्धतया कर्मानुष्ठानानपेक्षणादित्याशङ्क्याऽऽह— तस्मादिति । योगमार्गस्य निष्फलत्वाभावस्तच्छब्दार्थः ॥ ४६ ॥

**३ रा. भा.**— एवमत्यन्ताल्पफलानि पुनर्जन्मप्रसवानि कर्माणि मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरतया आत्मोज्जीवने प्रवृत्ता वेदाः किमर्थं वदन्ति ? कथं वा वेदोदितं त्याज्यतयोच्यत इत्यत आह— त्रैगुण्येति । त्रयो गुणास्त्रैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि; सत्त्वरजस्तमःप्रचुराः पुरुषास्त्रैगुण्यशब्देनोच्यन्ते; तद्विषया वेदाः; तमःप्रचुराणां रजःप्रचुराणां सत्त्वप्रचुराणां च वत्सलतरतयैव हितमवबोधयन्ति वेदाः । यद्येषां स्वगुणानुगुण्येन स्वर्गादिसाधनमेव हितं नावबोधयन्ति, तदैव ते रजस्तमःप्रचुरतया सात्त्विकफलमोक्षविमुखाः स्वापेक्षितफलसाधनमजानन्तः कामप्रावण्यविवशा अनुपादेयेषूपादेयभ्रान्त्या प्रविष्टाः प्रणष्टा भवेयुः ।

**४ वे. ता. चं.**— अथैवं काम्यकर्मसु तदधिकृतेषु च निन्दितेषु हिततमोपदेशिनः शास्त्रस्येदृशकर्मविधानं अनुपपन्नम्, विहितस्य चात्र त्याज्यतयोपदेशो व्याहतः कर्मविधिशास्त्राणामप्रामाण्यं वा, तत्प्रामाण्ये वा तन्निषेधोपदेशस्याप्रामाण्यं प्रसज्यत इति शङ्कामुत्तरश्लोकद्वयेन परिहरतीत्याह— एवमत्यन्ताल्पेत्यादिना । पुनर्जन्म येषां प्रसवभूतं तानि पुनर्जन्मप्रसवानि । संसारविपिनवानस्पत्यानां हि कर्मणां परिणिनंसोः फलस्य नियतपूर्वकत्वसूचकत्वादिभिर्देहविशेषपरिग्रहः प्रसूनस्थानीयः । प्रियहितोपदेशितया मातापित्रोरुपादानम् । सर्वजन्मानुवृत्तिसूचनाय सहस्रशब्दः । सर्वात्मसाधारणचतुर्विधपुरुषार्थसकलापुरुषार्थनिवृत्तितत्साधनाभिधायितया कदाचिदप्यनुपरमादिना च वत्सलतरत्वोक्तिः । अतिशयहेतुत्रयं आत्मोज्जीवने प्रवृत्ता इति त्रिभिः सूचितम् । न हि देहादेरारोग्यादिमात्रे कदाचिदेव व्यापृता इति क्रमात्त्रयाणां भावः । किमर्थं वदन्तीति— न तावत्प्रतारणार्थं, हितोपदेशित्वात् । नापि हितान्तरपर्यवसितोपच्छन्दनार्थं, प्रतिकरणं तत्फलमात्रपर्यवसितत्वात् । अतोऽनाधेयातिशयपरमकारुणिकपुरुषोत्तमाज्ञारूपाणां वेदानामामूलपर्यवसानमपरिमितदुःखदुर्दिनानुबन्धिसुखकणखद्योतसाधनोपदेशो विषसंपृक्तमधुभोजनोपदेशवदयुक्तः; निषेध एव तु कर्तव्यः । यद्वा न सोऽपि, प्रत्यक्षादेस्तत्प्रसञ्जकत्वाभावात्; स्वयं प्रसज्य प्रतिषेधे जम्बालमज्जनक्षालनसमत्वादित्यभिप्रायः । कथं वेति— वेदविरुद्धं हि त्याज्यतयोपदेश्यं, न तु वेदविहितमिति भावः । त्रयो गुणास्त्रैगुण्यमिति । अत्रार्थान्तरासम्भवात् 'चातुर्वर्ण्यादीनां स्वार्थे' इत्युपसङ्ख्यानात्स्वार्थिकप्रत्ययः । गुणशब्दस्य प्रयोगप्राचुर्यात्सङ्ख्याविशेषान्वयबलाद्वक्ष्यमाणपर्यालोचनाच्च सिद्धमर्थविशेषं निर्दिशति— सत्त्वरजस्तमांसीति । स्वर्गादिफलकरणेतिकर्तव्यताधिकारिविशेषादिविषया हि वेदाः । न पुनः सत्त्वरजस्तमोविषया दृश्यन्त इत्यत्राह— सत्त्वरजस्तमःप्रचुरा इति । तत्तद्गुणप्राचुर्यात्पुरुषास्तत्तच्छब्देनोपचर्यन्ते । भाष्यान्तरोक्ता तु फललक्षणा मन्दा; अधिकारव्यवस्थापनं त्वत्रोपयुक्ततममिति भावः । अस्त्वेवं गुणत्रयप्रचुरपुरुषविषया वेदाः; चोद्यस्य किमायातमित्यत्राह— तम इति । एकस्मिन्नेवाधिकारिणि गुणत्रयप्राचुर्यभ्रमनिरासेन तत्तद्विधिनिषेधविषयाधिकारिवैचित्र्याभिव्यक्त्यर्थं तमःप्रचुराणामित्यादिपृथङ्निर्देशः । तामसाद्यधिकारिबाहुल्याल्पत्वाल्पतरत्वप्रकाशनाय सत्त्वरजस्तमसामत्र व्युत्क्रमपाठः । ततश्च क्रमादैहिकामुष्मिकापवर्गाभिलाषिण उपलक्ष्यन्ते । सत्त्वप्रचुराणामिति दृष्टान्ताभिप्रायः । अत एव ह्युपपादकग्रन्थे यद्येषामित्यादिना रजस्तमःप्रचुराणामेव ग्रहणम् । स्वगुणानुगुण्येनेति— यथा वातपित्तकफोपात्तशुद्धसमसङ्कीर्णप्रकृतीन् पुरुषानालोच्य हितोपदेशिनो वैद्यास्तत्प्रकृत्यनुकूलभोजनभैषजादि विदधति, अपथ्यादीनि च निषेधन्ति; तदभावे च यथा दुरुपदेशादिमूढचेतसः प्राणिनोऽपथ्यगरलादिसेवया प्रणश्यन्ति, यथा च ताम्बूलाद्यर्थिनः पुत्राः पित्रादिभिस्तत्प्रदानाभावे चौर्यादिना प्रणश्यन्ति, तथाऽत्रापीति भावः । स्वर्गादिसाधनमेवेति— न हि पिपासादिपीडितानां तदानीं रसायनादिकं विधेयमिति भावः । मोक्षवैमुख्यं स्वापेक्षितफलसाधनाज्ञानं च तमःकृत्यम् । कामप्रावण्यादिकं तु यथांशं रजस्तमःकृत्यम्; कामप्रावण्यविवशाः काम्यफलाभिसन्धिबलेनात्मानं नियन्तुमशक्ताः । अनुपादेयेष्वित्यादि— यथा बौद्धादय इति भाव्यम् । प्रणष्टा भवेयुरिति— दुष्कर्मविपाकेन स्थावरादिभावमप्याश्रित्याचिरकल्पतया पुरुषार्थयोग्यतागन्धरहिता भवेयुरित्यर्थः ।

**३ रा. भा.**— अतस्त्रैगुण्यविषया वेदाः, त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव; इदानीं सत्त्वप्रचुरस्त्वं तदेव वर्धय; नान्योन्यसङ्कीर्णगुणत्रयप्रचुरो भव; न तत्प्राचुर्यं वर्धयेत्यर्थः । निर्द्वन्द्वः निर्गतमकलसांसारिकस्वभावः; नित्यसत्त्वस्थो गुणद्वयरहितनित्यप्रवृद्धसत्त्वस्थो भव । कथमिति चेत्—

**आत्मस्वरूपतत्प्राप्त्युपायबहिर्भूतानामर्थानां योगं परिपालनं प्राप्तानां च क्षेमं परित्यज्य आत्मवान् भव; आत्मस्वरूपान्वेषणपरो भव। अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेमः। एवं वर्तमानस्य ते रजस्तमःप्रचुरता नश्यति; सत्त्वं च वर्धते ॥ ४५ ॥**

४ वे. ता. चं.— **अत** इति— उक्तप्रकारेण काम्योपदेशस्य हिततमत्वादित्यर्थः। **त्वं** त्विति तुशब्देनाधिकारिवैषम्यं द्योतयति। किमस्याधिकारिणो वैषम्यं? कथं च संसारिणस्त्रैगुण्यनिषेधः? तथा सति 'नित्यसत्त्वस्थः' इत्यनेन विरोधश्च स्यादित्यत्राह— **इदानीं सत्त्वप्रचुर** इति। 'शिष्यस्तेऽहम्' [२।७] इत्यादिवचनपरामर्शादिदमुक्तम्। अर्जुनशब्दसम्बुद्धितात्पर्यलब्धो विशेषोऽस्य सत्त्वप्राचुर्यम्। अर्जुनशब्दस्यावदातपर्यायत्वात्, सत्त्वस्यापि शुक्लशब्दव्यपदेशादधिकारिवैषम्यस्य चापेक्षितत्वात्तथा प्रसिद्ध्यादिबलाच्चेदमेवात्र तात्पर्यम्। **तदेव वर्धये**ति— न तु सिद्धं सत्त्वप्राचुर्यं परित्यज्य विहिताकरणनिषिद्धकरणादिना रजस्तमसी वर्धयेत्यर्थः। 'निस्त्रैगुण्यो भव' इति निषेधे गुणत्रयसाधारणे सति कथं सत्त्वं वर्धयेत्युच्यते? इत्यत्राह— **नान्योऽन्ये**ति। सत्यं गुणत्रयसाधारणो निषेधः, स तु सङ्कीर्णविषयः; अन्यथा 'नित्यसत्वस्थः' इति वक्ष्यमाणानुपपत्तेरिति भावः। 'निस्त्रैगुण्यो भव' इत्येतत् 'अरोगो भव' इत्यादिवत्पुरुषव्यापारासाध्यत्वेन प्रेषणानुपपत्तेः, आशीरूपमिव दृश्यत इत्यत्राह— **न तदि**ति। रजस्तमःप्राचुर्यहेतुभूताहारादिकं परित्यजेत्युक्तं भवति।

**निर्गते**त्यादि। द्वन्द्वशब्दः पुण्यपापमूलसांसारिकस्वभाववर्गद्वयपर इति भावः। एतेन फलस्वरूपं वा साधनानुष्ठानदशासमकालीनस्वास्थ्यं वा द्वन्द्वतितिक्षारूपेतिकर्तव्यता वा विवक्षिता। **गुणद्वयरहिते**ति। नित्यसत्त्वस्थपदमब्भक्षादिवदवधारणगर्भमिति भावः। यद्वा नित्यपदेन कदाचिदपि गुणान्तरानभिभूतत्वमिहाभिप्रेतम्। अत एव च प्रवृद्धत्वम्। गुणान्तराभिभवे हि नित्यप्रवृद्धिर्न स्यादिति भावः। सत्त्वसम्बन्धमात्रस्य सर्वक्षेत्रज्ञसाधारणत्वान्नित्यप्रवृद्धेत्युक्तम्। ननु रजस्तमःप्राचुर्यं न वर्धयेति निषेधः, सत्त्वप्राचुर्यं वर्धयेति विधिश्च नोपपद्यते; न ह्यसौ 'एतद्रजः, इदं तमः, इदमहं वर्धयामि' इति बुद्ध्या प्रवर्तते; यतो निषिद्ध्येत; यतश्च सिद्धे रजस्तमसी शमयेत्; न चासौ सत्त्वतदुपायौ जानाति, येन तत्र प्रवर्तेत; अतः किमसौ कथं कुर्यात्? इत्यभिप्रायेण शङ्कते— **कथमिति चे**दिति। तत्र निषेधस्य विधेश्चोपपादकतया 'निर्योगक्षेम आत्मवान्' इति पदद्वयं क्रमाद्व्याचष्टे— **आत्मस्वरूपे**त्यादिना। 'निर्योगक्षेमः' इति सामान्येन निषेधो मुमुक्षोर्विहितव्यतिरिक्तविषय इति ज्ञापनाय बहिर्भूतानामित्यन्तमुक्तम्। 'आत्मवान् भव' इत्यत्र मत्वर्थानुपपत्तिमाशङ्क्याह— **आत्मस्वरूपान्वेषणपर** इति। स्वस्यैवाप्रमत्ततागर्भस्वबुद्धिविशेषतः प्राप्त्यपेक्षया सम्बन्धविषयः प्रत्ययः। यद्वा स्वरूपान्वेषणादेव ह्ययमात्मानं लभते, अन्यथा आत्महानिरेव स्यादिति भावः। एवं निषेधस्य विधेश्चानुष्ठानाय विषय उक्तः। अतः किमित्यत्र तदुभयाधीनं फलद्वयमाह— **एवमि**ति। न साक्षाद्गुणान्विषयीकृत्य तव किञ्चित्कर्तव्यम्, तेषां तु निर्योगक्षेमत्वात्मवत्त्वाभ्यां असात्त्विकाहारादित्यागहेतुभ्यां स्वयमेव यथार्हं नाशोन्मेषौ स्यातामिति भावः ॥४५॥

**३ रा. भा.— न च वेदोदितं सर्वं सर्वस्योपादेयम्; यथा सर्वार्थपरिकल्पिते सर्वतः सम्प्लुतोदके उदपाने पिपासोर्यावानर्थः यावदेव प्रयोजनं पानीयं तावदेव तेनोपादीयते, न सर्वम्। एवं सर्वेषु च वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः— ब्रह्मसम्बन्धी ब्राह्मणः। वेदार्थं विजानन् मुमुक्षुः; वैदिकस्य मुमुक्षोर्यदेव मोक्षसाधनं तदेवोपादेयम्; नान्यत् ॥ ४६ ॥**

४ वे.ता.चं.— अथ सनिदर्शनमधिकारिभेदं प्रतिपादयन्तं 'यावानर्थः' इत्यादिश्लोकं व्याचष्टे— **न चे**ति। वर्णाश्रमप्रवरचरणादिभेदेन प्रतिनियताधिकारिविषया हि वेदोदिता धर्मा इति भावः। **सर्वार्थपरिकल्पित** इति— तत्तत्प्रयोजनाभिलाषिसर्वाधिकार्यर्थं परिकल्पिते। यद्वा सर्वशब्दः प्रयोजनकात्स्न्र्यपरः; स्नानपानादिनानाप्रयोजनार्थं परिकल्पिते। एतच्च 'सर्वतस्सम्प्लुतोदके' इत्यनेनार्थसिद्धमुक्तम्। उदपानं कूपतटाकादि। **पिपासोरि**ति दार्ष्टान्तिकप्रस्थानानुरोधेनाध्याहारः। नन्वत्र दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः का सङ्गतिः? न हि पिपासोरुदपाने यावत्प्रयोजनं तावदेव विजानतः सर्वेषु वेदेष्वित्याशङ्कां परिहर्तुं वाक्यपूरणायाध्याहृत्योक्तम्— **तावदेव तेनोपादीयत** इत्यादि। सर्वेषु चेति चशब्द उपादेयानुपादेयांशसङ्कलनद्योतनार्थः। ननु 'ब्राह्मणस्य' इत्येतत्प्रकरणासङ्गतम्, क्षत्रियायैव ह्युपदिश्यते। कश्चात्र ब्राह्मणस्य विशेषः? ब्रह्मविद्याया अपि त्रैवर्णिकसाधारणत्वात्। 'विजानतः' इति चायुक्तम्; विजानन्नेव हि कामनाधिकारादिष्वपि प्रवर्तते। ब्राह्मणशब्दश्चात्र न 'तदधीते' [अष्टा. ४।२।५९] इत्याद्यर्थान्तरपरः; 'ब्राह्मोऽजातौ' [अष्टा. ६।४।१७१] इति निपातनेन जातिव्यतिरिक्तार्थे ब्राह्म इत्येव वक्तव्यत्वात्। तत्राह— **वैदिकस्य मुमुक्षोरि**ति। ब्रह्म अणतीति निरुक्त्या ब्राह्मणः 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्' [अष्टा. १।१।६४] इति पररूपे कृते प्रज्ञादित्वादण्प्रत्यये च ब्राह्मण इति रूपं भवति। ब्रह्म चात्र वेदः, वेदेष्वित्यत्रैव प्रसक्तत्वात्। अतोऽत्र ब्राह्मणशब्दो वैदिकमात्रपर इति न क्षत्रियार्थोपदेशाद्यनुपपत्तिः। ब्राह्मणशब्दस्यात्र सन्न्यासिपरत्वेन शाङ्करव्याख्या त्वतिमन्दा। "अमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" [बृ.उ. ३।५।१] इति श्रुतिस्तु योगिनः प्रकृष्टलाभान्तरसत्त्वं अव-

स्थाविशेषमाह। 'विजानतः' इति च विशिष्टज्ञानवत्त्वमुच्यते। विशिष्टत्वं च हेयोपादेयविषयतया। तथाविधज्ञानवांश्च मुमुक्षुरेव स्यादिति। तावानित्यस्य व्यवच्छेद्यमाह— नान्यदिति। वेदोदितमपि न मोक्षसाधनव्यतिरिक्तमुपादेयम्, अनधिकृतत्वात्। न ह्यन्यवर्णाश्रमान्यफलकामुकादिधर्मोऽन्यस्योपादेय इति भावः॥ ४६॥

**५ आ. मा. भा.— तां योगबुद्धिमाह— त्रैगुण्यविषया इत्यादिना। इतरदपोह्य वेदानां परोक्षार्थत्वात्त्रिगुणसम्बन्धिस्वर्गादिप्रतीतितोऽर्थ इव भाति। 'परोक्षवादो वेदोऽयं' इति ह्युक्तम्। अतः प्रातीतिकेऽर्थे भ्रान्तिं मा कुर्वित्यर्थः। 'वादो विषयकत्वं च मुखतोवचनं स्मृतम्' इत्यभिधानात्। न तु वेदपक्षो निषिध्यते। 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदावन्ते च मध्ये च विष्णुः सर्वत्र गीयते॥' "सर्वे वेदा यत्पदम्" [ कठो. २। १५ ] 'वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्। आचारश्चैव साधूनामात्मनो रुचि-(नस्तुष्टि-) रेव च' [ मनुः २।१६ ] 'वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः।' [ भाग. ६।१।४० ] इति वेदानां सर्वात्मना विष्णुपरत्वोक्तेस्तद्विहितस्य तद्विरुद्धस्य च धर्माधर्मोक्तेश्च॥ ४५॥**

६ ज. प्र. दी.— यथैषा चतुश्श्लोकी न प्रतिज्ञातं योगमाह, तथा 'त्रैगुण्य-' इत्येतदपीतिप्रतीतिनिरासायाह— **तामिति**; प्रतिज्ञाताम्। आदिग्रहणेनाषष्ठसमाप्तेरिति सूचयति। सप्तमोपक्रमे पुनः प्रतिज्ञानात्। तर्हि प्रतिज्ञानन्तरमेव कुतो नावोचदिति मन्दाशङ्कानिरासायोक्तं **इतरदिति**। स्वोक्तौ निष्ठाभावे कारणमेवमपोह्येदानीं प्रतिज्ञातमाह। अन्यथा तत्प्रबन्धेनास्यानवसरादिति भावः। अथवा वक्ष्यमाणानां वाक्यानां द्वेधावृत्तिमनेनाचष्टे। कैश्चिद्वाक्यैरितरयोगविरुद्धमपोह्य कैश्चियोगमाहेति। यद्वा 'बहूनि मे व्यतीतानि' [ ४। ५ ] इत्यादि प्रासङ्गिकं विहायान्ययोगविषयं ज्ञातव्यमित्यर्थः। तथा च वक्ष्यति 'साधनं प्राधान्येनोक्तम्' इति। वेदास्त्रैगुण्यविषयाः, त्वं तु 'निस्त्रैगुण्यो भव' इत्यनेन वेदपरित्यागो विधीयते इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे— **वेदाना**मिति। त्रिगुणसम्बन्धीत्यनेन तस्येदमित्यर्थे तद्धितोऽयम्। विचित्रा हि तद्धितगतिरिति वचनादिति सूचयति। सम्बन्धि कार्यम्। प्रतीतितः आपाततः प्रतीतितः। अर्थः प्रतिपाद्यं प्रयोजनं च। वेदानां परोक्षार्थत्वं कुतः? इत्यत आह— **परोक्षे**ति। यत एवं भवति अतः प्राप्तिसद्भावात्प्रसक्तां भ्रान्तिं माकार्षीः। कथमेतदनेन लभ्यते? इत्यत आह— **वाद** इति। वेदवादरता इत्यत्राप्येतदेव चाभिधानम्। प्रतीत एवार्थोऽस्तु इत्यत आह— **नत्विति**। पक्षः परमसिद्धान्तः। उत्तानार्थो वेदो निषिध्यत एव। योगविरोधित्वादित्यतः पक्ष इत्युक्तम्। कुत इत्यत आह— **वेद** इति। धर्ममूलं धर्मज्ञप्तेः कारणम्। तद्विदां वेदविदां मन्वादीनां स्मृतिर्ग्रन्थः, शीलं मनोगतिः, आचारो धर्मबुद्ध्यानुष्ठानम्, आत्मनो मनसो रुचिः। विकल्पविषये प्रणिहितो विहितः। तद्विपर्ययः प्रतिषिद्धः, विवक्षितयोगविरोधे हि वेदे सिद्धान्तो निषेध्यः स्यात्। नचैवं प्रत्युत तदनुगुण एवेति भावः। धर्मशब्दोऽत्र निवृत्तिधर्मपरः॥ ४५॥

**५ आ. मा. भा.— तथापि काम्यकर्मिणां फलं ज्ञानिनां न भवतीति साम्यमेवेत्यत आह— यावानर्थ इति। यथा यावानर्थः प्रयोजनमुदपाने कूपे भवति, तावान्सर्वतः सम्प्लुतोदकेऽन्तर्भवत्येव। एवं सर्वेषु वेदेषु यत्फलं तद्विजानतोऽपि ज्ञानिनो ब्राह्मणस्य फलेऽन्तर्भवति। ब्रह्म अणतीति ब्राह्मणोऽपरोक्षज्ञानी। स हि ब्रह्म गच्छति। विजानत इति ज्ञानफलत्वं तस्य दर्शयति॥ ४६॥**

६ ज. प्र. दी.— योगोपदेशप्रसङ्गे ज्ञानफलकथनस्य क उपयोगः? इत्यत आह— **तथापीति**। 'यामिमाम्' [२।४२] इत्यत्र काम्यकर्मिणां निन्दा कृता, 'निस्त्रैगुण्यो भव' [२।४५] इति च तत्त्यागो विहितः। तत्र प्रष्टव्यम्— किंनिमित्तमेतदिति। ननूक्तं काम्यकर्मिणां समाध्यभावेन ज्ञानाभावान्मोक्षो न भवतीति। अत्रेदमुच्यते— यद्यपि ज्ञानफलं काम्यकर्मिणां न भवति तथापि तन्निन्दादिकं नोपपद्यते। कुतः काम्यकर्मिणां फलं स्वर्गादिकं ज्ञानिनां न भवति? इति ज्ञानकर्मणोः साम्यमेवेति योगानुष्ठाननियमाक्षेपे सतीत्याहेत्यर्थः। केचिदस्य श्लोकस्य कर्ममात्रत्यागे तात्पर्यमाहुः, अपरे तु यत्कर्मसमुचितं ज्ञानं मोक्षसाधनं तत्कर्मपर एव वेदभागोऽधिगन्तव्यः, न तु समस्तवेदाभ्यासेनायुः समापनीयमिति तन्निरासाय व्याचष्टे— **यथेति**। सामर्थ्याद्यथैवंशब्दयोरध्याहारः। यावांस्तावानित्येतयोरावृत्तिश्च— **सर्वेषु वेदे**ष्विति। तदुक्तकाम्यकर्मिणामित्यर्थः। ब्राह्मणस्येति न क्षत्रियादिव्यावृत्तिः शङ्क्येति भावेनाह— **ब्रह्मेति**। वर्णविपर्ययो निरुक्तत्वात्। एवं तर्हि ब्राह्मणशब्दो मुक्तवाचीति स्यात्, न च मुक्तस्य फलमस्तीत्यत आह— **अपरोक्षेति**। तदुपपादयति— **स हीति**। तर्हि विजानत इति पुनरुक्तिरिति चेत्, न; तस्य परोक्षज्ञानिवाचित्वात्। उभयग्रहणमनुपपन्नमित्यत आह— **विजानत** इति। तस्यापरोक्षज्ञानस्य परोक्षज्ञानफलत्वम्। एतच्च स्वरूपकथनम्। यद्यपि ज्ञानिनः कर्मिणश्चान्योन्यफलाभावः, तथापि ज्ञानिनः फलं महासमुद्रोदकमिव महत्त्वात्। कर्मिणां फलं तु कूपोदकमिवात्यन्तात्पम्। अतस्तयोर्न साम्यम्। तथा चाल्पास्थिरकर्मनिन्दया महानन्तफलज्ञानसाधने योगे प्रेरणं युक्तमेवेति भावः। अपव्याख्यानं च निरस्तम्॥ ४६॥

७ ह. पै. भा.— केनोपायेन सा वाक् त्यज्यत इत्यत्राऽऽह— त्रय एव गुणास्त्रैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि, तत्कार्यत्वाद्रागद्वेषौ त्रैगुण्यवन्तौ तौ विषयौ येषां ते वेदास्त्रैगुण्यविषयाः। निस्त्रैगुण्यो भव उपायैरुन्मूलितरागद्वेषो भवेत्यर्थः। निर्द्वन्द्वो निर्गतशीतोष्णादिः, नित्यसत्त्वस्थः सदा सत्त्वगुणप्रधानः। तथा निर्योगक्षेमः— अनुपात्तस्योपादानं योगः, उपात्तस्य रक्षणं क्षेमः। योगक्षेमप्रसक्तस्य श्रेयसि प्रवृत्तिर्दुष्करेत्यतो निर्योगक्षेमो भव। एष तव तस्या वाचस्त्यागोपदेशः॥ ४५॥

ज्ञाननिष्ठैकार्थभूतबुद्धेर्व्यवसायिनो योगनिष्पन्नस्य श्रौतस्मार्तफलानवाप्तिलक्षणो दोष इति चेत्, नैवं; यतः— यथा लोके कूपतटाकाद्यनेकस्मिन्नुदपाने, उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं जलाशयः, तस्मिञ्जलाशये यावान्यावत्प्रमाणः स्नानपानादिरर्थः फलं स सर्वोऽर्थः सर्वतः सम्प्लुतोदके कूपतटाकाद्यविभागेन स्थिते जलपूरे भवत्येव; यथैवं तथा वेदविहितयागदानादिसाधनसाध्यो यावानर्थस्तावान्विजानतोऽकामहतस्य ब्राह्मणस्य भवति। "एनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद स वेद" [ छां. उ. ४।१।४ ] इति श्रुतेः। 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' [ ४।३३ ] इति च वक्ष्यते॥ ४६॥

८ वें. ब्र. गि.— नन्वेवं जन्ममरणप्रदान्यतिफल्गुफलानि च कर्माणि किमिति मातापितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरैर्वेदविधिभिरुपदिश्यन्ते? इत्याशङ्क्याह— त्रयो गुणास्त्रैगुण्यं सत्त्वरजस्तमांसि, तत्प्रचुराः पुरुषाः त्रैगुण्यशब्देनोच्यन्ते। तद्विषया वेदाः तत्तद्गुणप्रचुराणां वत्सलतया हितमेव बोधयन्ति। यदि ह्येषां स्वगुणानुगुण्येन स्वर्गादिसाधनमेव हितं नावबोधयेयुः, तदैते रजस्तमःप्रचुरतया सात्त्विकफलमोक्षविमुखाः स्वापेक्षितफलसाधनमजानन्तः कामप्रावण्यविवशा अनुपायेषूपायभ्रान्त्या प्रनष्टा भवेयुः; अतस्त्रैगुण्यविषयाः। त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव मिथः सङ्कीर्णगुणत्रयप्राचुर्यरूपात् त्रैगुण्यान्निर्गतो भव; शुद्धसत्त्वप्रधानो भवेत्यर्थः। अर्जुनस्य तव शुद्धसत्त्वप्राधान्यमेवोचितमिति सम्बोधनाभिप्रायः।

ननु रजस्तमोविकारभूतै रागद्वेषादिद्वन्द्वैरभिहन्यमानोऽहं कथं शुद्धसत्त्वप्रधानः स्याम्? तत्राह— निर्द्वन्द्व इति। भवेति सर्वत्र सम्बन्धः। निर्गतरागद्वेषो भवेत्यर्थः। कथं रजस्तमोभ्यां बलादुपनीयमानौ रागद्वेषौ त्यजेयम्? तत्राह— नित्यसत्त्वस्थ इति। नित्यप्रवृद्धं सत्त्वं नित्यसत्त्वम्, तत्र तिष्ठतीति तथोक्तः; तादृशो भव। प्रवृद्धसत्त्वस्य न रजस्तमसी रागद्वेषावुत्पादयितुं शक्नुतः। ततः सत्त्वमभिवर्धयेत्यर्थः। सत्त्ववृद्धावुपायमाह— निर्योगक्षेम इति। अलब्धलाभो योगः, लब्धरक्षणं क्षेमः, तद्रहितो भव। योगक्षेमव्यापृतस्य तद्द्वारा रजस्तमस्सम्बन्धप्रसक्तिः, न निर्योगक्षेमस्येत्यर्थः। निर्योगक्षेमस्य कथं शरीरयात्रा? तत्राह— आत्मवानिति। आत्मा परमेश्वर एव योगक्षेमनिर्वाहकोऽस्यास्तीत्यात्मवान्। सर्वकामनात्यागेन भगवन्तमेवाराधयतो मम 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' [ ९।२२ ] इति धृतप्रतिज्ञः स एव तन्निर्वाहक इति निश्चितो भवेत्यर्थः॥ ४५॥

नन्वेवं निस्त्रैगुण्यतया स्वर्गादिफलककर्माकरणे वेदोक्तकर्मपरित्यागदोषप्रसङ्ग इत्याशङ्क्य, वेदोदितं सर्वमपि न सर्वस्योपादेयं, किन्तु स्वोचितमात्रमित्येतद्दृष्टान्तमुखेनोपपादयति— यावानिति। अत्र 'यावान् तावान्' इत्यनयोरावृत्तिः यथातथाशब्दाध्याहारश्च कर्तव्यः। एवं च यथा सर्वार्थपरिकल्पिते सर्वतस्सम्प्लुतोदके उदपाने उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानो वापीकूपतडागादिस्तस्मिन् पिपासोः यावानर्थः यावत्प्रयोजनं तावदेव तेनोपादीयते, न सर्वम्; तथा सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य ब्रह्मनिष्ठस्य विजानतः व्यवसायात्मकबुद्धियुक्तस्य मुमुक्षोः यावदेव मोक्षसाधनं निष्कामतयेश्वराराधनरूपं कर्म, तावदेवोपादेयं, नान्यदित्यर्थः।

यावानित्यादेरन्यद्व्याख्यानम्— ननु स्वर्गादिफलकामनात्यागेन परमेश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठाने स्वर्गाद्यानन्दासिद्धिरित्याशङ्क्य मोक्षानन्दसमुद्रे स्वर्गाद्यानन्दानामपि शीकरत्वेनान्तर्भावान्नायं दोष इत्याह— यावानिति। वापीकूपतडागादावुदपाने स्नानपानादिर्यावानर्थो भवति, तावानर्थः सर्वतस्सम्प्लुतोदके वापीकूपाद्यविभागेन सर्वमापूर्य स्थिते महाप्रवाहे भवत्येव; तथा सर्वेषु वेदेषु वेदोक्तकाम्यकर्मसु यावानर्थः मानुषानन्दादिर्हैरण्यगर्भानन्दान्तः, तावानर्थो ब्राह्मणस्य ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानरूपब्रह्मनिष्ठायुक्तस्य तेनैव हेतुना विजानतः तत्त्वसाक्षात्कारिणः परब्रह्मानन्दसम्पत्तौ सत्यां भवति; ब्रह्मानन्दे क्षुद्रानन्दानामप्यन्तर्भावात्। तथा च श्रुतिः— "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" [ बृ. उ. ४।३।३२ ] "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति" [ तै. उ. २।१ ] इति। उपबृंहितश्चायमर्थः स्कान्दे सूतसंहितायाम् [४।३।३२] 'सोऽश्नुते सकलान् कामानक्रमेण सुरर्षभाः। विदितब्रह्मरूपेण जीवन्मुक्तो न संशयः' इति।

यत्त्वत्र माध्वव्याख्यानम्— "'त्रैगुण्यविषयाः' इत्यत्र विषयपदं मुखतोवचनपरम्। तथा च आपातात् त्रिगुणसम्बन्धिस्वर्गादिप्रतिपादका इव वेदाः प्रतीयन्ते। अतो निस्त्रैगुण्यो भव, प्रातीतिकेऽर्थे भ्रान्तिं मा कार्षीरित्यर्थः।

वेदानां कर्मपरत्वेन प्रतीयमानानां ब्रह्मपरत्वस्य 'ज्योतिरुपक्रमात्तु तथा ह्यधीयत एके' [ ब्र. सू. १।४।९ ] इत्यधिकरणे व्यवस्थापनात्। तत्र स्थालीपुलाकन्यायेनैकं वाक्यमुदाह्रियते। यथा—'वसन्ते वसन्ते ज्योतिषायजेत' इति वाक्यम्। अत्र वसन्ते इति विष्णुसम्बोधनम्। वसतीति वसः। पचाद्यच्। तनोतीति तिः। औणादिके डिप्रत्यये टिलोपे च सति तीति रूपनिष्पत्तिः। पूर्वपदस्य च नकारागमः। वसंश्चासौ तिश्चेति वसन्तिः। सर्वत्र व्याप्त्या वर्तमानो जगत्कर्ता चेत्यर्थः। तस्य सम्बुद्धिः हे वसन्ते! द्विरुक्तिरादरार्था। ज्योतिषेति। अत्रापि जायत इति जिर्जगत्। 'जनी प्रादुर्भावे' इति धातोः पूर्ववदेव डिः। आ ऊतिर्यस्येत्योतिरोतम्। जगत् ओतं प्रविष्टं यस्मिन्स ज्योतिः। षः प्राणः, चेष्टकत्वात्, 'षकारः प्राण आत्मा' इति श्रुतेः। ज्योतिश्चासौ षश्चेति ज्योतिषः। तस्य सम्बुद्धिर्हे ज्योतिष!। एवम् 'आयजेत' इत्यपि सम्बुद्धिः। आ समन्ताद्यजैर्यज्वभिः इतः प्राप्त इत्यर्थः। 'यजेर्घञर्थे कविधानम्' इति कप्रत्ययः। 'वचिस्वपियजादीनां किति' [ अष्टा. ६।१।१५ ] इति सम्प्रसारणं तु च्छान्दसत्वान्न भवति इति कृत्स्नमपि कर्मकाण्डं ब्रह्मपरत्वेन योजनीयम्। अतः प्रातीतिके कर्मकाण्डार्थे नाभिनिवेष्टव्यमिति। यद्वा त्रैगुण्याख्यं विषं यापयन्त्यपगमयन्तीति त्रैगुण्यविषया वेदाः। अतस्तानाश्रित्य निस्त्रैगुण्यो भवेत्यर्थः। तदुक्तम्—'आश्रित्य वेदांस्त्वासतमांस्त्रैगुण्यविषहारिणः। निस्त्रैगुण्यो भवेन्नित्यं वासुदेवैकसंश्रयः' इति। त्रैगुण्यनिवृत्त्यर्थं वेदाश्रयणं कार्यमित्यत्र हेतुमाह—यावानिति। सर्वतः सम्प्लुतं व्याप्तमुदकं यस्मिन् प्रलये स सर्वतस्सम्प्लुतोदकः; 'प्रकृतिर्बुद्रूपेण सर्वमाश्रित्य तिष्ठति। प्रलयेऽतो लयं प्राहुः सर्वतस्सम्प्लुतोदकम्' इति वचनात्। तस्मिन्प्रलयेऽपि उद्रिक्तत्वात् पालकराहित्यात् कालादिचेष्टकत्वादुदपानो विष्णुः; 'उद्रेकात्पातृराहित्यादनत्वाच्चाखिलस्य च। प्रलयेऽप्युदपानोऽसौ भगवान् हरिरीश्वरः' इति वचनात्। तस्मिन् प्रसन्ने यावत्फलं तावत्सर्ववेदेषु विजानतो भवतीत्यर्थः" इति।

तद्वेदमेव व्याकुलीकुर्वतो गीताव्याकुलीकरणमुचितमेवेति समाश्वसितव्यम्, वेदगीतयोः प्रारब्धमीदृशमिति वाऽनुशोचितव्यम्। कथं नाम प्रतिवसन्तं यागानुष्ठानं केवलभ्रममात्रमिति वैदिको ब्रूयात्? कथं वा 'निस्त्रैगुण्यो भव' इति प्रतीयमानकर्मकाण्डार्थपरित्यागमुपदिशता भगवता 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [ २।४७ ] इति पुनः कर्म कर्तव्यतयोपदिष्टम्? कथं च विषयोदपानादिशब्दानां प्रसिद्धार्थपरत्वे सम्भवत्यप्रसिद्धक्लिष्टार्थव्याख्याने दुराग्रहः? कथं च वा 'त्रैगुण्यविषहारिणः' 'प्रलयेऽप्युदपानोऽसौ' इत्यादिकं स्वकपोलकल्पितमेव वचनं सम्मतित्वेनोदाहरसि? अथवा नेदं त्वय्याश्चर्यम्; माठरकौरव्यमांडव्यभालवेयादिश्रुतीर्ब्रह्मतन्त्रपुरुषोत्तमतन्त्रब्रह्मतर्कादिस्मृतीश्च क्वचिदपि प्रसिद्धस्मृतीतिहासपुराणेषु अनाघ्रातनामगन्धास्त्वत्सयूथ्यै रामानुजादिभिःक्वचिदप्यनुदाहृताः कल्पयतो विषयोदपानव्याख्यावचनकल्पनस्य अनाश्चर्यत्वात्। न हि स्वतन्त्रश्रुतिकल्पनसाहसिकस्य द्वित्रस्मृतिवचनकल्पनाद्भयमस्तीत्यास्तां तावत्; प्रस्तुतमेवानुसरामः॥४६॥

९ व०त०दी०—स्वयमेव वेदतात्पर्यमाह भगवान्—त्रैगुण्यविषया वेदा इति। यत एवं कामात्मनां त्रैगुण्याधिकारिणां त्रैगुण्यफलविषया वेदास्त्रिकाण्डविषया अपि अतस्त्वं वेदादिमूलनिस्त्रिगुणतत्त्वाश्रितो भव। त्रिगुणमाश्रितस्त्रैगुण्यस्तद्भिन्नो निस्त्रैगुण्यः। निस्त्रिगुणं मामाश्रितो भवेति गूढाभिप्रायः। तल्लिङ्गमाह—निर्द्वन्द्व इत्यादि। 'त्रिदुःखसहनं धैर्य' इति नित्यं सत्वे धैर्ये स्थितः 'सत्त्वैकमनसो वृत्तिः' इति वाक्यान्नित्यसत्त्वरूपभगवन्निष्ठो भवेति गूढाभिसन्धिः। स्वबलेन कृतमप्राप्तसम्पादनं योगः। प्राप्तपरिपालनं क्षेमः। योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमौ तद्रहित इति योगानुरोधेनोक्तम्। वस्तुतस्तु सत्त्वैकमनसो भगवदीयस्य भक्तियोगानुसारेण भगवदधीनयोगक्षेमवत्त्वं सूच्यते निर्योगक्षेमशब्देन। एवमेवाग्रे वक्ष्यति—'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' [ ९।२२ ] इति। आत्मा मनो विद्यते यस्य वश इति तथा॥ ४५॥ न चोक्तरूपं वेदोदितं सर्वं सगुणस्यागुणस्य सर्वस्योपादेयं युगपत्, किन्तु यावदर्थमित्याह निदर्शनेन—यावानर्थ इति। सर्वार्थपरिकल्पके सर्वतः सम्प्लुतोदके च निम्नजले उदपाने उदन्वति सरसि पिपासादिमतो यावानर्थः यावदेव प्रयोजनं तावदेव तेन तेनोपादीयते, न सर्वं; एवं सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य वेदाधिकृतस्य तदर्थं विवेकेन जानतो योगिनो यदेवात्मसंसिद्धिसाधनं तदेवोपादेयं; न सर्वम्॥ ४६॥

१० पु. अ. त.—ननु ते त्वज्ञाः वेदोक्तविषये प्रवर्तन्ते, परं स्वर्गादीनां फलाभावे वेदः कथं बोधयति? इत्याशङ्क्याह—त्रैगुण्यविषया वेदा इति। त्रैगुण्याः त्रिगुणसृष्टौ सृष्टा ये जीवास्तद्विषयास्तदर्थं स्वर्गादिफलककर्मबोधका वेदाः। न तु गुणातीतसाक्षाद्भगवत्क्रीडौपयिकभगवदीयसृष्टयन्तर्गतभगवद्भक्तविषया इत्यर्थः। भगवल्लीलासृष्टिस्तु निर्गुणा अत एव 'अन्यैव काचित्सा सृष्टिर्विधातुर्व्यतिरेकिणी' इत्यादि श्रीवराहवचनम्। गुणातीतपुरुषोत्तमस्वरूपं तु वेदाद्यविषयमेव। अत एव श्रुतिराह "नेति नेति" [ बृ. उ. २।३।६ ] "यतो वाचो निवर्त्तन्ते" [ तै. उ. २।४।१+२।९।१ ] इत्यादि। यस्माद्वेदास्त्रिगुणविषयास्तस्मात् त्वं निस्त्रैगुण्यो भक्तो भवेत्यर्थः। निस्त्रिगुणस्य भावुको भवेति भावः। यद्वा, वेदास्त्रैगुण्यविषयाः त्रिगुणात्मकस्वरूपफलप्रतिपादकाः, न तु साक्षाद्भगवत्सम्बन्धप्रतिपादकाः। अतस्तथा बोधयन्तीरित्यर्थः। ननु

वेदास्त्रिगुणविषयाश्चेत्तदाऽस्माकमज्ञानानां का गतिरित्याशङ्क्याह–निस्त्रैगुण्य इति। गुणातीतमद्वमेकपरो भवेति भावः। केन साधनेन तथात्वं भवेत्? इत्याशङ्कायामाह- निर्द्वन्द्व इति। निर्गतानि द्वन्द्वानि सुखदुःखाहम्ममेत्यादीनि तद्रहितो भव। सर्वं त्यक्त्वा भक्तिपरो भव। तथा त्वमपि कथं? इत्याकाङ्क्षायामाह— नित्यसत्त्वस्थ इति। नित्यं सत्त्वं यस्मात्तस्मिन् गुणातीते स्थितो भव। किञ्च— निर्योगक्षेम इति। साधनासाध्यपरमाप्तवस्त्वभिलाषो योगः, स्वेच्छाप्राप्तवस्तुन्यात्मज्ञानेन स्वीकारो क्षेमस्तद्रहित आत्मवान् आत्मज्ञानवान् भवेत्यर्थः४५

नन्वेवं वेदोक्ताकरणे कथं फलसिद्धिः स्यात्? इत्याशङ्कायामाह— यावानिति । उदपाने उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपानं जलपात्रं, तस्मिन् यावानर्थः । सर्वतः सम्प्लुतोदके तडागे च भवति, परं तत्र जलाहरणपात्ररक्षणादिक्लेशोऽधिकः। तथा यावानर्थो वेदोक्तकर्मफलं वेदेषु भवति, तावान् विजानतो ब्रह्मस्वरूपविदुषो ब्राह्मणस्य ब्रह्मैकनिष्ठस्य भवतीत्यर्थः। नैवं च श्रुतिविरोधः । अत एव श्रुतिराह "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" [तै. उ. २।४।१] "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" [श्वे. उ. ३।८+६।१५]॥४६॥

११ नी० भा० दी०—— कस्य तर्हि समाधौ बुद्धिर्भवति ? इत्यत आह—— त्रैगुण्येति । त्रैगुण्यं गुणत्रयकार्यमूर्ध्वमध्याधोगतिरूपं संसरणं तदेव प्रकाश्यत्वेन विषयो येषां तादृशाः कर्मकाण्डपरा वेदाः। त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव; ऊर्ध्वगतावपि विरक्तो भवेत्यर्थः। वक्ष्यति च तत्तद्गुणप्रधानं गतित्रयम्—'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' [१४।१८] इति। दिव्येभ्योऽपि विषयेभ्यो विरक्तः समाधावधिक्रियत इति भावः। किंलक्षणोऽसौ निस्त्रैगुण्यः? इत्यत आह——निर्द्वन्द्व इति। सुखदुःखे मानापमानौ शत्रुमित्रे शीतोष्णे इत्यादीनि द्वन्द्वानि सप्रतिपक्षपदार्थरूपाणि तेभ्यो निर्गतो निर्द्वन्द्वः, सर्वत्र समबुद्धिरित्यर्थः। ननु बाधमानमुष्णादिकं कथं शीतादिवत् क्षन्तुं शक्यं? अत आह——नित्यसत्त्वस्थ इति। नित्यं सर्वदा सत्त्वं धैर्यं सत्त्वगुणो वा तदाश्रितो भूत्वा। धीरो हि सर्वं सोढुं शक्तः। सात्त्विको वा प्रारब्धकर्मोपस्थापितमिदं दुःखमपरिहार्यं किमु तप्ततया? इति जानन् सर्वं सोढुं शक्नोत्येव। नन्वत्यन्तदुस्सहं क्षुधादिदुःखं कथं निस्त्रैगुण्येन सर्वथा प्रवृत्तिशून्येन सोढुं शक्यं? अत आह—— निर्योगक्षेम इति । अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः, प्राप्तसंरक्षणं क्षेमः, एतद्द्वयमपि प्रारब्धकर्माधीनमिति ततोऽपि निर्गत इत्यर्थः। तत्र हेतुः—यत आत्मवान् जितचित्तः। स हि सर्वास्वप्यापत्स्वनाकुलो नित्यतृप्ततया निरुद्यमश्च भवतीति; त्वमप्येतादृशो निस्त्रैगुण्यो भवेत्यर्थः॥ ४५॥

नन्वात्मवत्त्वं चित्तशुद्धौ सत्यामेव भवति, सा च सकलवेदोक्तकर्मानुष्ठानसाध्या, अतो निस्त्रैगुण्यत्वं दुर्लभमित्याशङ्क्याह—— यावानिति। सर्वतः सम्प्लुतोदके महति उदपाने जलाशये पुरुषस्य यावान् अर्थो यावत् स्नानपानादिकं प्रयोजनं घटमात्रजलनिर्वर्त्यं भवति, न कृत्स्नजलाशयव्ययनिर्वर्त्यं, तावानेवार्थो विजानतो व्युत्पन्नचित्तस्य ब्राह्मणस्य ब्रह्मबुभूषोः सर्वेषु वेदेषु वेदैकदेशोपनिषच्छ्रवणमात्रनिर्वर्त्यो भवति; न कृत्स्नवेदार्थानुष्ठानं स्वसिद्ध्यर्थमपेक्षते; एकेन जन्मना कृत्स्नवेदार्थानुष्ठानासम्भवात्। ऐहिकेन जन्मान्तरीयेण वा जपादिना चित्तशुद्धौ सत्यामुपनिषच्छ्रवणान्निस्त्रैगुण्यता सम्भवतीति भावः। वृद्धास्तु सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये आत्मज्ञाने पुरुषस्य तावानर्थः कृत्स्नोऽपि भवति यावान् अनेककूपरूपोदपानस्थानीयेषु सकलवेदोक्तकर्मस्वनुष्ठितेषु भवति, ब्रह्मानन्दे क्षुद्रानन्दानामन्तर्भावात्। तथा च श्रुतिर्ज्ञाने सर्वकर्मफलान्तर्भावं दर्शयति "यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद" [छां. ४।१।४] इति। वक्ष्यति च 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते' [४।३३] इति। गङ्गातुल्यज्ञानोदयात्प्रागेव कूपोपमानि कर्माणि कर्त्तव्यानीति भावः–इति व्याचख्युः। अस्मिन्पक्षे पूर्वार्धे अनेकस्मिन् यथा तथा भवतीति पदचतुष्टयाध्याहारः, 'यावान् तावान्' पदयोरनुषङ्गश्च दार्ष्टान्तिके द्रष्टव्यः॥ ४६॥

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥ ४७॥**

१ शां. भा.— तव च- कर्मणीति। कर्मण्येवाधिकारः, न ज्ञाननिष्ठायां ते तव। तत्र च कर्म कुर्वतो मा फलेषु अधिकारोऽस्तु, कर्मफलतृष्णा मा भूत् कदाचन, कस्यांचिदप्यवस्थायामित्यर्थः। यदा कर्मफले तृष्णा ते स्यात् तदा कर्मफलप्राप्तेर्हेतुः स्याः, एवं मा कर्मफलहेतुर्भूः। यदा हि

कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते तदा कर्मफलस्यैव जन्मनो हेतुर्भवेत् । यदि कर्मफलं नेष्यते, किं कर्मणा दुःखरूपेण ? इति मा ते तव सङ्गोऽस्तु अकर्मण्यकरणे प्रीतिर्मा भूत् ॥ ४७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तर्हि परम्परया पुरुषार्थसाधनं योगमार्गं परित्यज्य साक्षादेव पुरुषार्थकारणमात्मज्ञानं तदर्थमुपदेष्टव्यं, तस्मै हि स्पृहयति मनो मदीयमित्याशङ्क्याऽऽह— **तव चेति**। तर्हि तत्फलाभिलाष्यपि स्यामिति नेत्याह— **मा फलेष्विति**। पूर्वोक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति— **मा कर्मेति**। फलाभिसन्ध्यसम्भवे कर्माकरणमेव श्रद्धेयमित्याशङ्क्याऽऽह— **मा त** इति । ज्ञानानधिकारिणोऽपि कर्मत्यागप्रसक्तिं निवारयति— **कर्मण्येवेति**। 'कर्मण्येव' इत्येवकारार्थमाह— **न ज्ञानेति** । न हि तत्राब्राह्मणस्यापरिपक्वकषायस्य मुख्योऽधिकारः सिध्यतीत्यर्थः । फलैस्तर्हि बन्धो दुर्वारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तत्रेति**। कर्मण्येवाधिकारे सतीति सप्तम्यर्थः । फलेष्वधिकाराभावं स्फोरयति— **कर्मेति** । कर्मानुष्ठानात्प्रागूर्ध्वं तत्काले चेत्येतत्कदाचनेति विवक्षितमित्याह— **कस्याञ्चिदिति** । फलाभिसन्धाने दोषमाह— **यदेति** । एवं कर्मफलतृष्णाद्वारेणेत्यर्थः । कर्मफलहेतुत्वं विवृणोति— **यदा हीति** । तर्हि विफलं क्लेशात्मकं कर्म न कर्तव्यमिति शङ्कामनुभाष्य दूषयति— **यदीत्यादिना** । अकर्मणि ते सङ्गो मा भूदित्युक्तमेव स्पष्टयति— **अकरण** इति ॥ ४७ ॥

**३ रा. भा.**— अतः सत्त्वस्थस्य मुमुक्षोरेतावदेवोपादेयमित्याह— **कर्मणीति**। नित्ये नैमित्तिके काम्ये च केनचित् फलविशेषेण सम्बन्धितया श्रूयमाणे कर्मणि नित्यसत्त्वस्थस्य मुमुक्षोस्ते कर्ममात्रेऽधिकारः। तत्सम्बन्धितयाऽवगतेषु फलेषु न कदाचिदप्यधिकारः, सफलस्य बन्धरूपत्वात् फलरहितस्य केवलस्य मदाराधनरूपस्य मोक्षहेतुत्वाच्च मा च कर्मफलयोर्हेतुर्भूः । त्वयाऽनुष्ठीयमानेऽपि कर्मणि नित्यसत्त्वस्थस्य मुमुक्षोस्तवाकर्तृत्वमप्यनुसन्धेयम् । फलस्यापि क्षुन्निवृत्त्यादेर्न त्वं हेतुरित्यनुसन्धेयम्। तदुभयं गुणेषु वा सर्वेश्वरे मयि वाऽनुसन्धेयमित्युत्तरत्र वक्ष्यते । एवमनुसन्धाय कर्म कुरु । अकर्मण्यननुष्ठाने 'न योत्स्यामि' इति यत्त्वयाऽभिहितं न तत्र ते सङ्गोऽस्तु । उक्तेन प्रकारेण युद्धादिकर्मण्येव सङ्गोऽस्त्वित्यर्थः ॥ ४७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं तर्हि मोक्षसाधनेतरसकलपरित्यागे नित्यनैमित्तिकनिषेधशास्त्रातिलङ्घनेन कामचारदोषः स्यात्; तावानिति च कियानुच्यते ? इति शङ्कायामुत्तरश्लोकमवतारयति— **अत** इति । न कामचारदोषः, एतावत उपादेयत्वात्; नाप्यन्येच्छोरन्योपायप्रवृत्तिदोषः, तत्तत्फलपरित्यागेन साधारणस्वरूपमात्रस्योपादेयत्वादिति भावः ! 'कर्मणि' इति सामान्यशब्दस्य योग्यान्विशेषानाह— **नित्य** इत्यादिना । केनचित्' इत्यादिकं [ नित्यनैमित्तिककाम्यरूपे ] राशित्रयेऽपि सम्बध्यते । तेन नित्यनैमित्तिकयोरपूर्वमात्रार्थतामिच्छतां कुदृष्टीनां दृष्टिपरता । कर्मान्तराधिकारोपात्तदुरितक्षयाकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारप्राजापत्यादिलोकपशुपुत्रादि यथासम्भवं नित्यादेः फलम् । **फलविशेषेणेति** । यथोत्पत्तिवाक्ये स्वरूपेणैवोत्पन्नानां कर्मणां कामाधिकारे स्वर्गादिफलविशेषेण सम्बन्धितया श्रुतत्वात् स्वर्गादिकं फलमिष्यते; एवं मोक्षाधिकारेऽपि मोक्षाख्यफलविशेषेण सम्बन्धितया श्रुतत्वात् सोऽपि फलमिति भावः । 'ते' इतिशब्दस्य प्रकृतान्वितं तात्पर्यमाह— **नित्यसत्त्वस्थस्य मुमुक्षोरिति** । मोक्षतत्साधनादिफलव्यवच्छेदाय **तत्सम्बन्धितयाऽवगतेष्विति** उक्तं स्वर्गपश्वादिष्विति शेषः । मेति न निषेधविधिः; किन्त्वभावमात्रबोधक इति **न कदाचिदित्युक्तम्** । फलयोग्यतानिषेधात् तत्सङ्गनिषेधोऽपि फलितः । कर्ममात्राधिकारे फलानधिकारे च बुद्धिस्थक्रमेण हेतुद्वयमाह— **सफलस्येति**। न हि मोक्षमिच्छतो बन्धरूपफलाभिलाष उपपन्नः, न च तद्धेतुपरित्याग उचित इति भावः । **केवलस्येत्येतन्न** फलराहित्यमात्रपरं, **फलरहितस्येत्युक्तत्वात्** । अपि तर्हि स्वरूपत एव प्रयोजनत्वपरम् । तत्र हेतुः— **मदाराधनरूपस्येति** । **कर्मफलयोरिति** । पुनरुक्तिप्रसञ्जकषष्ठीसमासादपि उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्व एवोचितः । वक्ष्यमाणाकर्तृत्वानुसन्धानसङ्ग्रहश्चात्र युक्त इति भावः ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते ... मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' इति पूर्वोत्तरवचनाभ्यामयं कर्महेतुत्वनिषेधो व्याहन्येतेत्यत्राह— **त्वयेति** । नात्र वस्तुतो हेतुत्वं निषिध्यते; अपितु हेतुत्वानुसन्धानमित्यर्थः । ननु फलहेतुत्वनिषेधः पुनरुक्तः, 'मा फलेषु कदाचन' इत्युक्तत्वात्; यदि तु भोजनादिसाध्यक्षुन्निवृत्त्यादिफलनिषेधः, तदा तदुपायरागस्यापि निवृत्तेः शरीरधारणादेरप्यभावप्रसङ्गेन उपायानुष्ठानस्यैव लोपः स्यादित्यत्राह— **फलस्यापीति**। **क्षुन्निवृत्त्यादेरित्यनेन** पौनरुक्त्यं परिहृतम् । **न त्वं हेतुरित्यनुसन्धेयमिति** । नात्र क्षुन्निवृत्त्यादिस्वरूपं निषिध्यते । अपित्वात्मनस्तद्धेतुत्वानुसन्धानमिति भावः । ननु कथं कर्मफलयोर्हेतुः सन्नहेतुरित्यनुसन्धीयेत । एवं च चार्वाकादिवत् अनयोर्निर्हेतुकत्वमनुसन्धेयं स्यात्; ततश्चोपायानुष्ठानमेव हीयेत । अहेतुकतया बुध्यमाने प्रयासायोगादित्यत्राह— **तदुभयमिति** । उभयं कर्महेतुत्वं फलहेतुत्वं च । **उत्तरत्रेति**। अयमेव तृतीयाध्यायप्रधानार्थः । तथा हि सङ्ग्रहः— 'असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम् ।

सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता ' [ गी. सं. ७ ] इति। एवमहेतुकत्वचोद्यं तावत्परिहृतम् । तथाप्यात्महेतुकत्वानुसन्धाननिषेधेन अननुष्ठानप्रसङ्गस्तदवस्थ इति चेत्, मैवं; नह्यत्रानुष्ठानस्याननुष्ठानतया भ्रान्तिरुच्यते; नाप्यनुष्ठातृत्वस्य सतोऽप्यप्रतिपत्तिर्विधीयते, येन विरोधः स्यात्; किन्त्वनेकहेतुके कस्मिंश्चिदेकस्यैव हेतुत्वं त्रैगुण्याद्युपाधिके स्वरूपप्रयुक्तत्वं च भ्रान्तिसिद्धमिति तदुभयं निषिद्ध्यते । वक्ष्यते हि ' शरीरवाङ्मनोभिः ' [ १८।१५ ] इत्यादौ, तृतीयाध्याये च। किञ्च, साक्षात्कर्तृत्वाननुसन्धानविधावपि नाकर्तृत्वानुसन्धानकर्तृत्वप्रतिपत्तिनिषेधयोरप्यननुष्ठानप्रसङ्गः। स हि कुर्वन्नेव स्वकृतोपकारनिगूहनवदाहार्यबोधेन तथा प्रतिपद्यते। अन्यत्र वा कर्मणि क्रियमाण इति न कश्चिद्दोषः। ' सर्वेश्वरे ' इति निर्देशस्तस्मिन् कर्तृत्वाद्ध्यवसायौचित्यार्थः । जीवस्यापि हि कर्तृत्वं तत्त्वतः परमात्मायत्तमिति ' परात्तु तच्छ्रुतेः '[ब्र.सू. २।३।४१ ] इत्यधिकरणे स्थापितम् ।

पूर्वोत्तरवाक्याद्यविरोधाय कर्मस्वरूपपरित्यागं परिहरति— **एवमिति** । गुणेश्वराधीनत्वबुद्धावपि किं मे परित्यक्तफलेन दुःखस्वरूपेण भोजनादिकर्मणा ? इति त्वया नोदासितव्यमिति भावः। **अननुष्ठान** इति। **अकर्मणी**त्यत्र कर्मशब्दः क्रियावाची; नञत्र तदभावपर इति भावः । अननुष्ठानस्य प्रतिषेधार्थं प्रसङ्गं स्मारयति— **न योत्स्यामी**ति। अकर्मसङ्गनिषेधफलितमन्यत्र सङ्गमाह— **उक्तेने**ति ॥ ४७ ॥

**५ आ. मा. भा.— कामात्मनां निन्दा कृता। कथं? एषां " स्वर्गकामो यजेत " [ आप. श्रौ. १०।१।२।१ ] इत्यादौ कामस्यापि विहितत्वात्, इत्यत आह— कर्मण्येवेति। त इत्युपलक्षणार्थम्। तव ज्ञानिनोऽपि न फलकामकर्तव्यता, किम्वन्येषाम्?। नत्वस्ति केषाञ्चिन्न तेऽस्तीति। स हि ज्ञानी नरांश इन्द्रश्च, मोहादिस्त्वभिभवादेः। यदि तेषां शुद्धसत्त्वानां न स्याज्ज्ञानं, क्वान्येषाम्?। उपदेशादेश्च सिद्धं ज्ञानं तेषाम्।**

६ ज. प्र. दी.— ज्ञानिनः कर्माभावमुक्त्वा इदानीमज्ञानिनः कर्मोच्यत इत्यन्यथा व्याख्याननिरासायाह— **कामात्मना**मिति। येषां कर्मिणां सकामतया कर्म कुर्वतां या निन्दा कृता ' यामिमां ' [२।४२ ] इत्यादिना सा न युक्तेत्यर्थः । कुतः? " स्वर्गकामो यजेत" [ आप. श्रौ. १०।१।२।१ ] इत्यादौ । यजनवत्स्वर्गकामस्यापि विहितत्वान्नहि विहितं कुर्वतां निन्द्यत्वम् । तथात्वे यजनस्यापि निन्द्यत्वप्रसङ्गादिति वदन्विशिष्टविधित्वं मन्यते पूर्वपक्षी। ' ते ' इत्येतदर्जुनमात्रविषयमित्यन्यथा प्रतीतिनिरासायाह— **त** इति । सर्ववर्णाश्रमोपलक्षणमर्थः प्रयोजनमस्येति तथोक्तम्। वक्तर्यायत्ते शब्दप्रयोगे वाचकमेव प्रयुज्यतां, किं लक्षणया? इत्यत आह— **तवे**ति। फलकामः कर्तव्यो यस्यासौ तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता। फलकामस्य कर्तव्यता तव कर्तुरिति वा। कुतोऽपि फलकामो ज्ञानिनो नात्यन्तबाधकः। तत्प्रतिबन्धनीयस्य ज्ञानस्याप्तत्वात्, मोक्षस्य च नियतत्वात्। तथापि मोक्षविलम्बहेतुत्वात्तस्यापि न कर्तव्यः,किम्वन्येषामज्ञानिनाम्? इति प्रदर्शनायोपलक्षकपदप्रयोग इति भावः। ननु 'कर्मण्येवाधिकारो...मा फलेषु' इति द्वयमुक्तम्, तत्कथं न फलकामकर्तव्यतेत्येकस्यैव ग्रहणम्?। उच्यते— फलकामकर्तव्यतानिषेधस्यैवात्र प्राधान्यात्कर्मण्येवाधिकार इति तदर्थानुवादः। तथापि न फलकामाधिकार इति वक्तव्यम्। मैवम्; अधिकाराभावाभावयोः कर्तव्यत्वाकर्तव्यत्वसमर्थनार्थमुक्तत्वेन साध्यस्यैवोपादानात्। तथा च वक्ष्यति। त इत्युपलक्षणार्थमित्युक्तस्य व्यावर्त्यमाह— **न त्वि**ति। केषाञ्चित्फलकामकर्तव्यताऽस्ति, केवलं तेनास्तीत्यर्थस्तु नेत्यर्थः। "कामान्यः कामयते" [मु. उ.३।२।२ ] इत्यादौ सर्वेषां निषेधादिति भावः। नन्वर्जुनस्य ज्ञानित्वे स्यादिदं, तदेव कुत इत्यत आह— **स ही**ति। हिशब्दसूचितां प्रमाणसिद्धिमेव दर्शयति— **नरांश** इति । कथं तर्हि ' यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं' [४।३५ ] इत्यर्जुनस्य मोह उच्यते? कथं च प्रश्नकरणम्? इत्यत आह— **मोहादि**रिति । बलवता प्रारब्धकर्मादिना ज्ञानस्याभिभवान्मोहः। विशेषज्ञानार्थः प्रश्न इत्यर्थः। नन्विन्द्रादीनामेव कुतो ज्ञानित्वं? इत्यत आह— **यदी**ति। सत्त्वं हि ज्ञानकारणम् । ' सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं ' [ १४।१७ ] इति वचनात् देवाश्च शुद्धसत्त्वाः, अतः कारणसद्भावायुक्तं तेषां ज्ञानम्। अन्यथा न कस्यापि स्यात्। इतश्चेन्द्रादयो ज्ञानिन इत्यत आह— **उपदेशे**ति। "एतदु हैवेंद्रो विश्वामित्राय प्रोवाच " इत्यादिरुपदेशः। आदिपदेन प्रजापतौ ब्रह्मचर्यम्।

**५ आ. मा. भा.—पार्थर्ष्टिषेणेत्यादिज्ञानिगणनाच्च कामनिषेध एवात्र। फलानि ह्यस्वातन्त्र्येण भवन्ति। नहि कर्मफलानि कर्माभावे यत्नतो भवन्ति। भवन्ति च काम्यकर्मिणो विपर्ययप्रयत्नेऽप्यविरोधे। अतः कर्माकरण एव प्रत्यवायः, न तु ज्ञानादिना वाऽकामनया फलाप्राप्तौ, अतः कर्मण्येवाधिकारः। अतस्तदेव कार्यम्। न तु कामेन ज्ञानादिनिषेधेन वा फलप्राप्तिः।**

६ ज. प्र. दी.— अर्जुनस्य ज्ञानित्वे प्रमाणान्तरमाह— **पार्थे**ति। ज्ञानिषु गणनात्। एतेनापव्याख्यानमपि निरस्तम्। नन्वत्र ' मा फलेषु ' इति फलविषयो निषेधः कृतः, तत्कथमुक्तं फलकामेति तत्राह— **कामे**ति। फलशब्देन तद्विषयं काममुपलक्ष्य तद्विषयो निषेधोऽत्र क्रियते, न फलविषय इत्यर्थः। कुतो लक्षणाश्रयणं? इत्यत आह— **फलानी**ति। यत्र हि पुरुषस्य कर्तुमकर्तुं वा स्वातन्त्र्यं तत्रैव निषेधः, नान्यत्र, प्रसक्तेरभावात्। न च फलेषु स्वातन्त्र्यमस्ति अतो मुख्ये बाधकाल्लक्षणाश्रयणमित्यर्थः।

कथमस्वातंत्र्यमित्यतः करणे तावदाह—**न हीति**। अकरणेपि तदाह **भवन्ति चेति**। चोऽवधारणे। अविरोधे ब्रह्मदर्शनादितत्तद्विरोध्यभावे। तदनेन 'ते' इति 'फलेषु' इति च पदद्वयं व्याख्यातम्। स्यादेतत्। "स्वर्गकामो यजेत" [ आप. श्रौ. १०।१।२।१ ] इत्यादौ स्वर्गादिकामनाविशिष्टं यजनादिकं कर्म कार्यतयोच्यते, अतो न कामात्मनां निन्दोचितेति शङ्कायां किमेतत् 'कर्मण्येवाधिकारः' इत्याद्यसङ्गतमुच्यते ? यश्च कर्मवत्कामनाया अपि कार्यतां मन्यते, कुतस्तस्य फलकामनायामधिकाराभावः सिद्धः ? फलेष्विति लाक्षणिकशब्दप्रयोगे च किं प्रयोजनं ? इत्याशङ्क्य पूर्वार्धं व्याचष्टे—**अत** इति। 'अतः' इत्यस्य वक्ष्यमाणेन 'भूत्वा' इत्यतः परेणेत्यर्थ इत्यनेनान्वयः। अत उक्तन्यायेन पदद्वयस्य लाक्षणिकत्वे सतीत्यर्थः। श्लोकार्थः सम्पद्यते इति शेषः। तत्र तावत्कर्मण्येवाधिकारः सर्ववर्णाश्रमिणां न फलकामनायामित्युक्तेऽर्थद्वये हेतुद्वयमाह—**कर्माकरण** इति। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्युक्त्वा "एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" [ई.उ.२] इत्युक्तत्वात्। कर्माकरण एव प्रत्यवायोऽनिष्टप्राप्तीष्टानवाप्तिलक्षणः। न स्वकामनया प्रत्यवायः, प्रमाणाभावात्। ननु कामाभावे तत्तत्फलानवाप्तेः कथं प्रत्यवायाभाव इत्यत उक्तम्—**फलाप्राप्ताविति**। काम्यकर्मफलाप्राप्तावपि न प्रत्यवाय इत्येतदुपपादनायोक्तं **ज्ञानादिना वेति**। वाशब्द उपमायाम्। यथा ज्ञानादिना साधनेन मोक्षं गच्छतः स्वर्गाद्यलाभो न खेदहेतुः, महाफललाभेऽल्पफलहानेरकिञ्चित्करत्वात्; तथाऽकामनया फलाप्राप्तावपि न खेदः, निष्कामेण कर्मणा महाफलस्य ज्ञानादेर्लाभादिति भावः। ततः किमित्यत उक्तस्य हेतुद्वयस्य गीतोक्तं साध्यद्वयमाह— **अत** इति। न तु फलकामनायामिति च वक्तव्यम्। यत एवं कर्माकरणे प्रत्यवायोऽतः कर्मण्येवाधिकारः। यतः कामाकरणे प्रत्यवायोऽतो न कामेऽधिकार इत्यर्थः। ततः किं प्रकृते ? इत्यतः परमसाध्यद्वयमाह— **अत** इति। यतः कर्मण्येवाधिकारोऽतस्तदेव कार्यं विधिविषय इत्यर्थः। यतः कामेनाधिकारोऽतः कामेन फलप्राप्तिः, फलप्राप्तये कामः— इति यावत्— न कार्यः। तत्र दृष्टान्तः। **ज्ञानादिनिषेधेन वेति**। अत्रापि वाशब्द उपमायाम्। यथा प्रेक्षावता ज्ञानादिकं परित्यज्य फलप्राप्तिर्न क्रियते तथेत्यर्थः।

**५ आ. मा. भा.— कामवचनानां तु तात्पर्यं भगवतैवोक्तम्— 'रोचनार्थं फलश्रुतिः'। 'यथा भैषज्यरोचनम्' इति भागवते। [ ११ । २१ । २३ ] अत एव कामी यजेतेत्यर्थः। न तु कामी भूत्वेत्यर्थः। 'निष्कामं ज्ञानपूर्वं च' इति वचनात् वक्ष्यमाणेभ्यश्च। "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" इत्यादिभ्यश्च। अतो मा कर्मफलहेतुर्भूः। कर्मफलं तत्कृतौ हेतुर्यस्य स कर्मफलहेतुः स मा भूः।**

**६ ज.प्र. दी.**— पूर्वोक्त एवाभिप्रायः। यदि कर्मैव विधिविषयो न कामः, तर्हि "स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिवाक्यानां किं तात्पर्यम्? इत्यत आह— **कामेति**। अनादिविषयवासनावासितान्तःकरणा न सहसा ज्ञानसाधने कर्मणि प्रवर्तितुं शक्यन्ते, अतस्तेषां कर्मण्यभिरुचिजननार्थं "स्वर्गकामः" [ आ. श्रौ. १०।१।२।१ ] इत्यादिश्रुतिः प्रवृत्ता, कर्मणि प्रवृत्तांस्तु शनैः कामं त्याजयिष्यामीत्यभिप्रायवती। यथा फलेन प्रलोभ्य बालानां भैषज्यरोचनं क्रियते तथेत्यर्थः। अस्त्वेवं तात्पर्यं, योजना तु कथं ? इत्यत आह— **अत** इति। यत एवं न्यायेन कर्मण एव कार्यत्वं, न कामस्येति प्राप्तम्, अतः कामी यजेतेत्येव श्रुत्यर्थः। कामानुवादेन यजनं विधीयत इति यावत्। एवशब्दव्यावर्त्यमाह— **नत्विति**। कामविशिष्टयजनविधानं तु नेत्यर्थः। एतदुक्तं भवति— विशिष्टविधानशङ्कायां नेदं विशिष्टविधानं, किन्तु कामानुवादेन यजनस्यैवेति परमसाध्यमत्राध्याहार्यम्। तत्कुतः ? इत्यपेक्षायां कर्मण एव कार्यत्वात् कामस्य तदभावादिति वा हेतुवचनं चोपस्कर्तव्यम्। तदपि कुत इत्यपेक्षायां कर्मण्येवाधिकारः, न फलकाम इति गीतोक्तयोर्हेत्वोरुपस्थानम्। तदपि कुतः ? इत्यपेक्षायां कर्मकामकरणाकरणयोः प्रत्यवायभावाभावयोर्हेत्वोरध्याहारः। एतदुपपादनाय लाक्षणिकफलशब्दोपादानमिति। **भास्करस्त्वाह**— नित्यनैमित्तिकान्येव कर्माणि मुमुक्षुणा निष्कामतया कर्तव्यानि, न तु ज्योतिष्टोमादीनि कामाधिकारे विहितानि, तेषां निष्कामतया करणे प्रमाणाभावात्; अतोऽसदिदं व्याख्यानमिति, तत्राह— **निष्काम**मिति। यज्ञादिकमेव प्रक्रम्य तस्य निष्कामतयाऽनुष्ठानवचनाद्युक्तमिदं व्याख्यानम्। 'एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा' [ १८।६ ] इत्यादिवक्ष्यमाणवचनेभ्यश्च। न चैतानि नित्यनैमित्तिकविषयाणि, तत्र कामप्रसक्त्यभावेन तत्प्रतिषेधानुपपत्तेः। किञ्च नित्यनैमित्तिकातिरिक्तस्य ज्योतिर्नामकयज्ञस्य फलकामनया विनाऽविधानाच्च। ज्योतिष्टोमस्यैवायं गुणविधानायानुवाद इति तु न सम्मतम्। आदिपदेन "विश्वजिता यजेत" इत्यादेर्ग्रहणम्। तत्रापि स्वर्गकामपदाध्याहारो निर्णीत इति चेत्, सत्यम्; कामिनां तु तथा स्ववचनेनानुक्तौ कारणमिहोक्तमिति। ननु पूर्वार्धेनैव शङ्काया निरस्तत्वात्किमुत्तरार्धेन ? इत्यतः क्रमेण पादद्वयोपयोगमाह— **अत** इति। फलकामस्याकर्तव्यत्वात् कर्मफलहेतुत्वमप्रसक्तं किमिति प्रतिषिध्यत इत्यत आह— **कर्मेति**। शाकपार्थिवादित्वात्तत्कृतिपदलोपोऽत्रेति भावः।

**५ आ. मा. भा.— तर्हि न करोमीत्यत आह— मा त इति। कर्माकरणे स्नेहो मास्त्वित्यर्थः। अन्यथा फलाभावेऽपि मत्प्रसादाख्यफलभावात्। इच्छा च तस्य युक्ता, 'वृणीमहे ते परितोषणाय' इति महदाचारात्। अनिन्दनाद्विशेषत इतरनिन्दनाच्च। सामान्यं विशेषो बाधत इति च प्रसिद्धम् 'सर्वानानय नैकं मैत्रम्' इत्यादौ। अतो 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्' [ भाग. ३।२५।३४ ]**

भक्तिमन्विच्छन्तः । 'ब्रह्मजिज्ञासा' [ ब्र. सू. १ । १ । १ ] "विज्ञाय प्रज्ञां" "द्रष्टव्यः" [ बृ.उ. २।४।५+४।५।६ ] इत्यादिवचनेभ्यः । स्वार्थसेवकं प्रति न तथा स्नेहः । किं ददामीत्युक्ते सेवादि याचकंप्रति बहुतरस्नेह इति लोकप्रसिद्धन्यायाच्च भक्तिज्ञानादिकामना कार्येति सिद्धम् ॥४७॥

**६ ज. प्र. दी.**— **तर्हीति** । यदि फलं नाकाङ्क्ष्यमित्यर्थः । न करोमि स्वयं क्लेशरूपत्वादिति भावः । अकर्मपदस्य निषिद्धेऽपि प्रवृत्तेः सङ्गशब्दस्य चानेकार्थत्वात्प्रकृतोपयुक्ततया व्याचष्टे— **कर्मेति** । सोपपत्तिकमाक्षिप्ते कथमिदमुत्तरं? इत्यतो भगवदभिप्रायमाह— **अन्येति** । प्रसादशब्देन भक्तिज्ञानादिकमप्युपलक्ष्यते । एवं तर्हि भगवत्प्रसादादीच्छया कर्म कर्तव्यमित्युक्तं स्यात् । न च तद्युक्तम्, कामस्य निन्दितत्वात् । अन्यथा स्वर्गादिकामनाया अपि प्रसङ्गात् । अतो नेदं भगवदभिप्रायवर्णनं युक्तमित्यत आह— **इच्छा** चेति । ते तव परितोषणाय सकलं कर्म वृणीमह इति महदाचारेण भगवत्परितोषणस्य कर्तव्यतावगमात् । ननु तदकर्तव्यतायामपि कामनानिन्दावचनं प्रमाणमस्तीत्युक्तमित्यत आह— **अनिन्दना**दिति । यथा महदाचारो विशेषविषयो न, तथा कामनिन्दावचनं; किन्तु सामान्यविषयमेव । अतो महदाचारेण बाध्यत इति भावः । तर्हि तद्वत्स्वर्गादिकामनाऽपि कार्येति यदुक्तं तत्राह— **विशेषत** इति । चशब्देन प्रमाणाभावं समुच्चिनोति । अस्त्वाचारो विशेषविषयः, कामनिन्दावचनं तु सामान्यविषयम्; तथापि कुतो बाध्यबाधकभाव इत्यत आह— **सामान्य**मिति । सामान्यविशेषशब्दौ तद्विषयप्रमाणपरौ । चशब्दाद्विरोधे सति । उक्तं च प्रमाणमुपसंहरन् प्रमाणान्तराण्यप्यत्राह— **अत** इति । एकात्मतां सायुज्यम् । अस्यैव शेषो भक्तिमन्विच्छन्त इति । ननु न ब्रह्मजिज्ञासाशब्दो ज्ञानेच्छापरः, किन्तु विचारस्योपलक्षकः, सत्यम्; तथापि तत्पूर्वको विचारो लक्ष्यते; अन्यथा सम्बन्धाभावात्, लोकसिद्धन्यायात्, लोकसिद्धव्याप्तिकानुमानात्॥४७॥

**७ ह. पै. भा.— कर्मण्येवाधिकारः, न ज्ञाननिष्ठायां ते तव । तत्र कर्म कुर्वतो मा फलेष्वधिकारोऽस्तु कर्मफलतृष्णा मा भूत् । कदाचन कस्याञ्चिदवस्थायामित्यर्थः । यदा कर्मफलतृष्णा स्यात्तस्मान्मा कर्मफलहेतुर्भूः । यदा हि कर्मफलतृष्णाप्रयुक्तः कर्मणि प्रवर्तते तदा कर्मफलस्यैव जन्मनो हेतुर्भवेत् । यदि कर्मफलं नेष्यते किं कर्मणा बहुरूपेणानुष्ठितेनेति मा ते तव सङ्गोऽस्त्वकर्मणि, अकरणे प्रीतिर्मा भूत् ॥ ४७ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— ननु यदि सर्वतस्सम्प्लुतोदकस्थानीये ब्रह्मानन्दे कर्मानन्दानामन्तर्भावः, तर्हि साक्षाद्ब्रह्मानन्दप्राप्तिहेतुत्वेन त्वयोपदिष्टायां साङ्ख्यबुद्धावेव निष्ठामनुतिष्ठेयम्, किमिति कर्मयोगबुद्धिरुपदिश्यत इत्याशङ्क्याह—

कर्मणीति जातावेकवचनम्, 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इत्युत्तरश्लोके वक्ष्यमाणत्वात्; ते तव नित्यनैमित्तिककर्मस्वेवाधिकारः, न तु कर्मसन्न्यासरूपज्ञाननिष्ठायाम्, अपक्वकषायत्वात् । वक्ष्यति हि— 'कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्तते' इति । विशिष्य चार्जुनं प्रति— 'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति । तदा गन्तासि निर्वेदम्' [ २।५२ ] इत्यादिभगवद्वचनानि चास्मिन्नर्थे प्रागुपोद्घातप्रकरण एव उदाहृतानि । तथा च साङ्ख्यबुद्धिं श्रुतवतोऽपि तवेदानीं परोक्षमेव ज्ञानं, न त्वपरोक्षसाक्षात्कार इति तत्प्रतिबन्धकदुरितनिरासाय कर्मैव कार्यम्, न कर्मसन्न्यास इत्यर्थः । तर्हि 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' [ २।४३ ] इति त्वदुक्तो दोषः स्यादेव, तत्राह— **मा फलेष्विति** । कर्म कुर्वतस्तव तत्फलेषु स्वर्गादिषु कदाचिदपि 'मयेदं भोक्तव्यम्' इति बोधरूपोऽधिकारो मास्तु । फलेच्छया कृतमेव कर्म जन्मकर्मफलाभ्यां पुरुषं बध्नाति, न त्वीश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितमित्यर्थः ।

ननु फलेच्छां विनाऽपि कृतं कर्म वस्तुस्वाभाव्यात्फलं जनयेदेव, 'अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः' इति न्यायात्; अत आह— **मा कर्मफलहेतुर्भूः** कर्मफलं प्रवृत्तिहेतुर्यस्य स मा भूः । 'यो यत्फलकामनया यत्कर्म करोति तदेव तस्य तत्फलं ददाति' इति हि कर्मस्वभावः । अन्यथा 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो दर्शपूर्णमासौ' इति सर्वफलदानस्वभावदर्शपूर्णमाससकृदनुष्ठानादेव सर्वकामावाप्तिप्रसङ्ग इति भावः । यदि कर्मफलं नेष्यते, किं कर्मणा दुःखरूपेणेत्यत्राह— मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणीति । कर्मणामकरणे तव प्रीतिर्माऽस्त्वित्यर्थः ॥ ४७ ॥

**९ व० त० दी०— एवं सति मम वेदोदन्वति किमुपादेयमित्याकाङ्क्षायामाह— कर्मण्येवाधिकारस्ते इति । कर्मैवोपादेयं तत्रैव तवाधिकार इति । परन्तु तत्फलेषु मा कदाचनाधिकारोऽस्तु । उपदेशमुद्रामाह— मा कर्मफलहेतुर्भूरिति । अकर्मणि च निषिद्धे परधर्मे सङ्गो मा तेऽस्तु ॥ ४७ ॥**

**१० पु. अ. त.**— नन्वेवं चेत्तर्हि किमिति कर्मकरणोपदेशः? इत्याशङ्क्याह— **कर्मण्येवाधिकारस्त** इति । ते तव स्वपराहम्ममज्ञानयुक्तस्य कर्मण्येव अधिकारः । अस्तीति शेषः । अत्रायं भावः— यावत्पर्यन्तं स्वपरेति ज्ञानं तावन्न कर्मत्यागः । अत एव 'तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता' इत्याद्युक्तं श्रीभागवते [ ११ । २० । ९ ]

ननु तर्हि पूर्वोक्तबाध इति चेत्तत्राह— **मा फलेषु** इति । फलेषु तदुक्तेषु अधिकारो मनसि कामो मास्तु । कदाचनेति साधनदशायामपि । ननु कृतं कर्म कामाभावे स्वफलं करिष्यत्येव, अज्ञानादपि भक्षणे विषवन्मृत्युमित्यत आह— **मा कर्मफलहेतुरि**ति । त्वं कर्मफलहेतुः कर्मफलभोगभोग्यदेहयुक्तो मा भूः । न भविष्यसीत्यर्थः । मदाज्ञयेति भावः । किञ्च, ते अकर्मणि सकामकर्त्तरि सङ्गः सम्बन्धो मास्तु । एवं वरमेव ददामीति भावः ॥ ४७ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु ममाप्यौपनिषदात्मज्ञानार्थिनः शम एवेष्टस्तत्कथं मां युद्ध्यस्वेति प्रेरयसि ? इत्याशङ्क्याह— **कर्मण्येवे**ति । कर्मण्येवाधिकारः, न ज्ञाननिष्ठायाम् । मा फलेषु सङ्गोऽस्त्वित्यपकृष्यते । कर्मफलं स्वर्गपश्वादिहेतुः कर्मसु प्रवर्त्तकं यस्य तादृशो मा भूः । अकर्मणि कर्माकरणेऽपि तव सङ्गो मास्तु ॥ ४७॥

## योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! ।
## सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥

**१ शां. भा.— यदि कर्मफलप्रयुक्तेन न कर्तव्यं कर्म, कथं तर्हि कर्तव्यं ? इत्युच्यते— योगस्थ इति ॥ योगस्थः सन् कुरु कर्माणि केवलं ईश्वरार्थम्; तत्रापि 'ईश्वरो मे तुष्यतु' इति सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ! । फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणे कर्मणि सत्त्वशुद्धिजा ज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिः, तद्विपर्ययजा असिद्धिः, तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योरपि समस्तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि । कोऽसौ योगः यत्रस्थः कुर्विति उक्तम् ? इदमेव तत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥**

२ आ. शां. व्या.— आसक्तिरकरणे न युक्ता चेत्तर्हि क्लेशात्मकं कर्म किमुद्दिश्य कर्तव्यमित्याशङ्कामनूद्य श्लोकान्तरमवतारयति— **यदी**त्यादिना । वक्ष्यमाणयोगमुद्दिश्य तन्निष्ठो भूत्वा कर्माणि क्लेशात्मकान्यपि विहितत्वादनुतिष्ठेत्याह— **योगस्थः सन्नि**ति । कर्मानुष्ठानस्योद्देश्यं दर्शयति— **केवलमि**ति । फलान्तरापेक्षामन्तरेणेश्वरार्थं तत्प्रसादनार्थमनुष्ठानमित्यर्थः । तर्हीश्वरसन्तोषोऽभिलाषगोचरीभूतो भविष्यति, नेत्याह— **तत्रापी**ति । ईश्वरप्रसादनार्थे कर्मानुष्ठाने स्थितेऽपीत्यर्थः । सङ्गं त्यक्त्वा कुर्विति पूर्वेण सम्बन्धः । आकाङ्क्षितं पूरयित्वा सिद्धिशब्दार्थमाह— **फले**ति । तद्विपर्ययजा सत्त्वाशुद्धिजन्याऽज्ञानप्राप्तिलक्षणेति यावत् । कर्माण्यनुतिष्ठतो योगमुद्दिश्य शेषतया प्रकृतमाकाङ्क्षापूर्वकं प्रकटयति— **कोऽसा**वित्यादिना ॥ ४८ ॥

**३ रा. भा.— एतदेव स्फुटीकरोति— योगस्थ इति । राज्यबन्धुप्रभृतिषु सङ्गं त्यक्त्वा युद्धादीनि कर्माणि योगस्थः कुरु, तदन्तर्भूतविजयादिसिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा कुरु । तदिदं सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं 'योगस्थः' इत्यत्र योगशब्देनोच्यते । योगः सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वरूपं चित्तसमाधानम् ॥ ४८ ॥**

४ वे. ता. चं.— अनन्तरग्रन्थं सङ्गमयति— **एतदेवे**ति । अवधारणेनार्थान्तरपरत्वव्युदासः । **स्फुटीकरोती**ति पौनरुक्त्यपरिहारः । **राज्यबन्धुप्रभृति**ष्विति; राज्यप्रभृतिषु सङ्गः फलद्वारा बाधकः, बन्धुप्रभृतिषु सङ्गस्तु युद्धाद्यननुष्ठानद्वारेति तदुभयमपि त्याज्यत्वादत्र सङ्गशब्देन सङ्गृहीतमिति भावः । **युद्धादीनी**ति प्रकृतविशेषप्रदर्शनम् । आनुषङ्गिकत्वसूचनायोक्तं **तदन्तर्भूते**ति । 'लाभालाभौ जयाजयौ' [ २।३८ ] इति पूर्वोक्तानुसन्धानेनाह— **विजयादी**ति । 'योगस्थः...सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' इत्यनयोरेकवाक्यत्वे पौनरुक्त्याद्भिन्नवाक्यत्वे तु तादृशश्रुतिवाक्यविशेषोपबृंहणौपयिकयोगशब्दार्थव्याख्यानरूपत्वेन पौनरुक्त्याच्च कुर्वितीदमावर्तितम् । 'विद्याविनयसम्पन्ने' [ ५।१८ ] इत्यादिप्रदेशान्तरोक्तसमत्वान्तरव्यावर्तनायोक्तं **तदिदं सिद्ध्यसिद्ध्योरि**ति । सार्वत्रिकयोगशब्दप्रयोगविषयव्यावृत्त्यर्थमुक्तं **योगस्थ इत्यत्रे**ति । योगशब्दस्य सिद्ध्यसिद्धिसाम्ये क्वचिदपि प्रयोगो न दृश्यत इत्यत्राह— **योग** इति । चित्तसमाधाने प्रयोगस्तावद्योगानुशासनादिसिद्धः । इदमपि समत्वं तद्रूपमिति योगशब्दार्थ इत्याकूतम् ॥ ४८ ॥

**५ आ. मा. भा.— पूर्वश्लोकोक्तं स्पष्टयति— योगस्थ इति । योगस्थः उपायस्थः । सङ्गं फलस्नेहं त्यक्त्वा । तत एव सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा । स एव च मयोक्तो योगः ॥ ४८ ॥**

६ ज. प्र. दी.—'कर्मण्येव' इत्यनेन 'योगस्थः' इत्यस्य गतार्थतापरिहारार्थमाह— **पूर्वे**ति । निष्कामनादिविशिष्टानि कर्माण्येव योगः । अतो 'योगस्थः' इत्यनेनैव लब्धं पुनः 'कुरु कर्माणि' इति किमर्थमुच्यते ? इत्यत आह— **योगस्थ** इति । ज्ञानोपायमनुतिष्ठन्नित्यर्थः । कर्मसम्बन्धं त्यक्त्वा कर्माणि कुर्वित्येतद्व्याहतमित्यत आह— **सङ्गमि**ति । 'ईश्वरो मे प्रसीदतु इत्य-

भिसन्धिमपि त्यक्त्वा' इति व्याख्यानं पूर्वेणैव निरस्तम्। तत एवेति परामर्शसौकर्याय त्यक्त्वेत्यनुवादः कृतः। 'सङ्गं त्यक्त्वा' 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' इति द्वयमुक्त्वा 'समत्वं योग उच्यते' इति एकस्यैव ग्रहणमयुक्तम्। तथा सति सङ्गत्यागस्यायोगत्वप्रसङ्गादित्यत आह— **तत** इति सङ्गत्यागादेव। एतयोः कार्यकारणभावात्कार्ये गृहीते कारणमर्थाद्गृहीतमिति भावः। ननु समत्वयोगयोर्भेदः केन शङ्कितः येन 'समत्वं योग उच्यते' इति तयोरैक्यमुच्यते? इत्यत आह— **स एवे**ति। 'योगस्थः' इत्युक्ते को योग इत्यपेक्षायां भगवता 'सङ्गं त्यक्त्वा ...सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' इति योगो व्याख्यातः। मन्दास्तु पृथगेवैते विशेषणे कल्पयिष्यन्तीति तदनुजिघृक्षया इदमुदितमिति भावः। स एव यत्समत्वमिति शेषः। योगैकदेशे योगशब्दः॥ ४८॥

**७ ह. पै. भा.— यदि कर्मफलयुक्तेन न कर्तव्यं कर्म, कथं तर्हि कर्तव्यं? इत्यत्रोच्यते— योगस्थः सन् कुर्वन्ननुष्ठेयकर्माणि, केवलमीश्वरार्थमीश्वरो मे तुष्यतीति सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!। फलतृष्णाशून्येन क्रियमाणेषु सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिलक्षणा सिद्धिः, तद्विपर्ययोऽसिद्धिः, तयोः सिद्ध्यसिद्ध्योरपि समस्तुल्यो भूत्वा कुरु कर्माणि। कोऽसौ योगः? इदमेव तत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योग उच्यते॥ ४८॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं तावत् 'योगे त्विमां शृणु' [२।३९] इति योगबुद्धिं प्रस्तुत्य 'बुद्ध्या युक्तः' इति सार्धेन तत्प्रशंसापूर्वकं 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका' [२।४१] इति तस्या मोक्षहेतुत्वमुक्त्वा 'यामिमाम्' [२।४२] इत्यादिना सार्धत्रयेण काम्यकर्मनिन्दया निष्कामत्वम्, 'निर्द्वन्द्वः' [२।४५] इत्यादिना द्वन्द्वसहिष्णुत्वं सत्त्वैकनिष्ठता निर्योगक्षेमता भगवति भरन्यासश्चेति योगाङ्गपञ्चकमुद्दिश्य 'यावानर्थः' [२।४६] इत्यनेन योगफले सर्वानन्दसम्पत्त्या योगानुष्ठातुः काम्यकर्मानन्दविरहदोषं परिहृत्य, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इत्यनेनार्जुनस्य योगोपदेशाधिकारोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृढीकृतः। इदानीं योगबुद्धिमुपदिशति— योगस्थः सन् कर्माणि कुर्विति प्रथममन्वयः। कथं योगस्थता कश्च योगः? इत्यत आह— **सिद्ध्यसिद्ध्योः** समो भूत्वेति। कर्मफलसिद्धौ हर्षं तदसिद्धौ विषादं च त्यक्त्वा केवलं परमेश्वराराधनमेवेदमित्यवस्थानमेव योगस्थतेत्यर्थः, अत्रोपायमाह— **सङ्गं त्यक्त्वे**ति। फलासक्तिरहितस्य तत्सिद्ध्यसिद्ध्योः समता भवतीत्यर्थः। अस्मिन्नर्थे 'धनञ्जय!' इति हेतुगर्भमिदं सम्बोधनम्। कश्च योग इत्यस्योत्तरम्— '**समत्वं योग उच्यते**' इति। सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वरूपं चित्तसमाधानमेव योग इति सद्भिरुच्यत इत्यर्थः। एवं च अनुष्ठीयमानकर्मविषयकचित्तसमाधानमस्य योगशब्दार्थत्वात् तादृशसमाधानोपेतं कर्म तदनुष्ठानमपि योग इति व्यवहारो भवति॥ ४८॥

९ व० त० दी०— तर्हि कथं स्वकर्म करोमि? इति चेत्तत्राह— **योगस्थ इति।** फलस्वरूपो योगो भवेद्योगस्थ इत्यर्थः। फलेषु सङ्गं त्यक्त्वा। योगं व्याचष्टे— समत्वं योग इति। तच्च मनोनिरोधे सम्भवति तथैव कुर्विति पूर्वोक्तं समर्थितम्॥ ४८॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवमेव चेत्तर्हि किं कर्मकरणेनेत्याशङ्क्याह— **योगस्थ** इति। योगस्थः भगवदेकपरचित्तो भूत्वा सङ्गं त्यक्त्वा पूर्वोक्तानां कर्माणि कुरु। मदाज्ञारूपाणि कुर्वित्यर्थः। सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा। सिद्धिस्तत्फलाप्तिः, असिद्धिः फलविपरीतफलं, तत्र समो भूत्वा। ननु समत्वे सति किं स्यात्? अत आह— '**समत्वं योग उच्यते**' इति। तत्र समत्वमेव योगः। भगवदाज्ञया कर्तव्यत्वेन तत्फलाफले समता स्यात्; सा च भगवत्परत्वज्ञापिकेति योगरूपत्वम्। यद्वा योगस्थः भगवत्संयोगे स्थितः कर्माणि तत्रोपयुक्तानि कुरु; सङ्गं त्यक्त्वा सर्वत्यागं कृत्वेति भावः। 'धनञ्जय' इति सम्बोधनेन स्वविभूतिरूपत्वात्स्वसंयोगयोग्यता बोधिता; किञ्च सिद्ध्यसिद्ध्योः, सिद्धिः सर्वदा योगः, असिद्धिर्विप्रयोगस्तत्र समो भूत्वा संयोगानन्तरभाविविप्रयोगानन्तरभाविपरमसुखज्ञानेच्छाजनितानन्दभरभगवद्दत्तविप्रयोगे वैमनस्यमविचार्य तथा कुरु। तत्र समत्वे योग उच्यते। तद्रसज्ञैरिति शेषः। मया वा भगवद्दत्तविप्रयोगस्यापि परमानन्दरूपत्वात्तद्दत्तत्वेन योगरूपतेति भावः। संयोगानन्तरजत्वात्तन्मध्यपातित्वादपि तथा तत्साधकत्वेनापि तथा॥ ४८॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव विवृणोति— **योगस्थ इति।** योगस्थः सन् सङ्गं फलतृष्णां कर्तृत्वाभिमानं च त्यक्त्वा कर्माणि ज्ञानार्थं कुरु। हे धनञ्जय! सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मफलस्य विविदिषादेः सिद्धावसिद्धौ वा समो हर्षविषादशून्यो भूत्वा कर्माणि कुर्विति सम्बन्धः। इदमेव 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वं योगः' इत्युच्यते॥ ४८॥

**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय!।**
**बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥ ४९॥**

**१ शां. भा.— यत् पुनः समत्वबुद्धियुक्तमीश्वराराधनार्थं कर्म [ उक्तं ] एतस्मात् कर्मणः— दूरेणेति । दूरेण अतिविप्रकर्षेण हि अवरमधमं निकृष्टं कर्म फलार्थिना क्रियमाणं बुद्धियोगात् समत्वबुद्धियुक्तात् कर्मणः, जन्ममरणादिहेतुत्वात् । हे धनञ्जय ! यत एवं ततो योगविषयायां बुद्धौ तत्परिपाकजायां वा साङ्ख्यबुद्धौ शरणमाश्रयं अभयप्राप्तिकारणमन्विच्छ प्रार्थयस्व, परमार्थज्ञानशरणो भवेत्यर्थः । यतोऽवरं कर्म कुर्वाणाः कृपणा दीनाः फलहेतवः फलतृष्णाप्रयुक्ताः सन्तः "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" [बृ.उ.३।८।१०] इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— किमिति योगस्थेन तत्त्वज्ञानमुद्दिश्य कर्म कर्तव्यं ? फलाभिलाषेणापि तदनुष्ठानस्य सुलभत्वात्, इत्याशङ्क्य यथोक्तयोगयुक्तं कर्म स्तुवन्ननन्तरश्लोकमुत्थापयति— **यत्पुनरि**ति । अवरं कर्म बुद्धिसम्बन्धविधुरमिति शेषः । बुद्धियुक्तस्य बुद्धियोगाधीनं प्रकर्षं सूचयति— **बुद्धी**ति । बुद्धिसम्बन्धासम्बन्धाभ्यां कर्मणि प्रकर्षनिकर्षयोर्भावे करणीयं नियच्छति— **बुद्धा**विति । यत्तु फलेच्छयाऽपि कर्मानुष्ठानं सुकरमिति तत्राऽऽह— **कृपणे**ति । निकृष्टं कर्मैव विशिनष्टि— **फलार्थिने**ति । कस्मात्प्रतियोगिनः सकाशादिदं निकृष्टं ? इत्याशङ्क्य प्रतीकमुपादाय व्याचष्टे— **बुद्धी**त्यादिना । फलाभिलाषेण क्रियमाणस्य कर्मणो निकृष्टत्वे हेतुमाह— **जन्मे**ति । समत्वबुद्धियुक्तात्कर्मणस्तद्धीनस्य कर्मणो जन्मादिहेतुत्वेन निकृष्टत्वे फलितमाह— **यत** इति । योगविषया बुद्धिः समत्वबुद्धिः । बुद्धिशब्दस्यार्थान्तरमाह— **तत्परिपाके**ति । तच्छब्देन समत्वबुद्धिसमन्वितं कर्म गृह्यते, तस्य परिपाकस्तत्फलभूता बुद्धिशुद्धिः । शरणशब्दस्य पर्यायं गृहीत्वा विवक्षितमर्थमाह— **अभये**ति । सप्तमीमविवक्षित्वा द्वितीयं पक्षं गृहीत्वा वाक्यार्थमाह— **परमार्थे**ति । तथाविधज्ञानशरणत्वे हेतुमाह— **यत** इति । फलहेतुत्वं विवृणोति— **फले**ति । तेन परमार्थज्ञानशरणतैव युक्तेति शेषः । परमार्थज्ञानबहिर्मुखानां कृपणत्वे श्रुतिं प्रमाणयति— **यो वा** इति । अस्थूलादिविशेषणमेतदित्युच्यते ॥ ४९ ॥

**३ रा. भा.— किमर्थमिदमसकृदुच्यत इत्यत आह— दूरेणेति । योऽयं प्रधानफलत्यागविषयोऽवान्तरफलसिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वविषयश्च बुद्धियोगः, तद्युक्तात्कर्मण इतरत् कर्म दूरेणावरम् । महदिदं द्वयोरुत्कर्षापकर्षरूपं वैरूप्यम् । उक्तबुद्धियोगयुक्तं कर्म निखिलं सांसारिकदुःखं विनिवर्त्य परमपुरुषार्थलक्षणं च मोक्षं प्रापयति । इतरदपारिमितदुःखरूपं संसारमिति । अतः कर्मणि क्रियमाणे उक्तायां बुद्धौ शरणमन्विच्छ । शरणं वासस्थानम् । तस्यामेव बुद्धौ वर्तस्वेत्यर्थः । कृपणाः फलहेतवः फलसङ्गादिना कर्म कुर्वाणाः कृपणाः संसारिणो भवेयुः ॥ ४९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— अभ्यासरूपतात्पर्यलिङ्गविवक्षामभिप्रयन् पौनरुक्त्यशङ्काद्वारेणोत्तरश्लोकमवतारयति— **किमर्थ**मिति । इदं साम्यानुसन्धानरूपं चित्तसमाधानम् । तद्व्यनन्तरं प्रशस्यते । कर्ममात्रनिन्दाभ्रमं परिजिहीषन् बुद्धियोगशब्दस्य प्रकरणविशेषितं वाच्यांशं तावदाह— **योऽय**मिति । अजहल्लक्षणया बुद्धिप्राचुर्यहेतुकया लक्षितमाह— **तद्युक्तात्कर्मण** इति । **इतर**दित्यनेन प्रकरणविहितकर्मव्यतिरिक्तविषयाऽत्र कर्मनिन्देति सूचितम् । दूरावरशब्दयोरत्र विवक्षितं निष्कर्षति— **महद**िति । तृतीया प्रकारे । 'कृपणाः फलहेतवः' इत्यनन्तरवाक्येन बुद्धियुक्त इत्यादिना च वक्ष्यमाणं श्रुतिस्मृत्यन्तरादितश्च सिद्धं वैरूप्यप्रकारमाह— **उक्ते**ति । नीतिमन्त्रौषधकेवलयागादिव्यावर्तनाय निखिलशब्दः । तस्योपाधिविशेषावच्छिन्नत्वात् कार्त्स्न्येऽपि प्रयोगादवच्छेदकोपाध्यन्तरव्यावर्तनायोक्तं— **सांसारिके**ति । केवलकर्मसाध्यस्वर्गादिव्यावर्तनाय परमशब्दः । अपरिमितशब्देन स्वभावसङ्ख्याकालादिप्रयुक्तसम्भावितसमस्तपरिच्छेदनिरासः ।

हिशब्दस्य हेत्वर्थतामभिप्रयन्नाह— **अत** इति । प्रकरणादिविरुद्धसाङ्ख्याद्युक्तकर्मस्वरूपपरित्यागपूर्वकज्ञानमात्रोपादानभ्रमव्युदासायोक्तं **कर्मणि क्रियमाण** इति । **उक्ताया**मिति । तात्पर्यातिशयव्यक्त्यर्थं पूर्वोक्तमभ्यस्यत इति भावः । 'उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम्' [ अ. बु. सं. ३६।३४] इत्यादिनाऽवगतं शरणशब्दस्य रक्षकाद्यर्थान्तरं व्यावर्तयन् विवक्षितं वक्तुं वाच्यं तावदाह— **वासस्थान**मिति । नन्विदमसङ्गतं बुद्धेर्वासस्थानभूतगृहाद्याश्रयत्वभावादित्यत्राह— **तस्यामेवे**ति । कर्मयोगनिष्ठा ह्यत्रोपदिश्यत इति भावः, 'कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः' [ अमरः ३।१।४९ ] इति कृपणशब्दस्य पुरुषविशेषे रूढत्वात्, बुद्धियुक्त इत्यादिना फलाभिसन्धिरहितपुरुषाणां प्रशस्यमानत्वात्, 'मा कर्मफलहेतुः' [२।४७] इति पुरुषे फलहेतुशब्दस्य प्रकृतत्वात् 'कृपणाः फलहेतवः' इत्यत्रापि फलाभिसन्धिपूर्वककर्मकारिणः पुरुषा एव निन्द्यन्ते, न तु फलमात्रमित्यभिप्रायेणाह— **फलसङ्गादिने**ति । पुरुषाणामपि हि स्वकर्मद्वारा फलहेतुत्वमस्त्येव, 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः' [२।५१] इत्यादेः प्रतिरूपतया परमनिश्श्रेयसवैधुर्यस्यात्र कृपणशब्देनाभिधातुमुचितत्वात् **संसारिण** इत्युक्तम् । अकृपणप्रदर्शनपरानन्तरश्लोकपरामर्शाच्च अयमेवार्थ उचित इति भावः ॥ ४९ ॥

५ आ. मा. भा.— इतश्च योगाय युज्यस्वेत्यत आह— **दूरेणे**ति । बुद्धियोगाज्ज्ञानलक्षणादुपायात् । दूरेणातीव । अतो बुद्धौ शरणं ज्ञाने स्थितिम् । फलं कर्म, कृतौ हेतुर्येषां ते फलहेतवः ॥४९॥

६ ज. प्र. दी.— ननु योगोपदेशमुपक्रम्य कर्मणो बुद्धियोगादवरत्वं किमर्थमुच्यते ? इत्यत आह— **इतश्चे**ति । युज्यस्व प्रयतस्व । 'यावानर्थः' [ २।४६ ] इति कर्मफलस्य ज्ञानफलापेक्षयाऽल्पत्वाद्योगाय युज्यस्वेत्युक्तम् । अत्र तु तत्रैव हेत्वन्तरमुच्यते— **बुद्धियोगा**दिति, षष्ठीसमासप्रतिनिरासायाह— **बुद्धी**ति । लक्षणशब्दः स्वरूपार्थः । पुरुषार्थसम्बन्धिना कर्मणा सह निर्देशे तथाभूतस्य ज्ञानस्यैव ग्रहणं युक्तमिति भावः । उपायात्पुरुषार्थस्य । दूरशब्दो विप्रकर्षवाची, तस्यात्र कथमन्वयः ? इत्यत आह— **दूरेणे**ति । उक्तं कर्मणो ज्ञानादतीवावरत्वं; इदानीमुपपादनीयं तद्विहाय किमिदं तृतीयपादेनोच्यते ? इत्यतः साध्यनिर्देशोऽयमिति सूचयन् व्याचष्टे— **अत** इति । ज्ञाने स्थितिं तदुपाययोगानुष्ठानलक्षणाम् । फलहेतूनां कृपणत्ववर्णनमनुपयुक्तमित्यत आह— **फल**मिति ॥ ४९ ॥

७ ह. पै. भा.— यत्पुनः समत्वबुद्धियुक्तमीश्वराराधनार्थं कर्म, तस्मात्कर्मणो दूरेणात्यन्तदूरमेव; अवरमधमं निकृष्टं कर्म फलार्थिना क्रियमाणं बुद्धियोगात्समत्वबुद्धियुक्तात्कर्मणः, जन्ममरणादिहेतुत्वादित्यर्थः । अत एव योगविषयायां बुद्धौ तत्पाकजायां साङ्ख्यबुद्धौ शरणमाश्रयमभयप्राप्तिकारणमन्विच्छ प्रार्थय, परमार्थज्ञानशरणो भवेत्यर्थः । यतोऽवरं कर्म कुर्वाणाः फलहेतवः फलतृष्णाप्रयुक्ताः सन्तः कृपणाः । "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः" [ बृ. उ. ३।८।१० ] इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु 'सुखदुःखे समे कृत्वा' [ २।३८ ] इत्यत्रैव सिद्ध्यसिद्ध्योः साम्यमुक्तम्, पुनरपि किमर्थमुच्यते 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' इति ? न च तत्र जयापजयसाम्येन युद्धमात्रकर्तव्यता प्रकृतत्वादुक्ता; इह तु दृष्टादृष्टसर्वफलत्यागेन सर्वकर्मकर्तव्यतेति विशेष इति वाच्यम्; 'कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्' [ २।४३ ] 'त्रैगुण्यविषया वेदाः' [ २।४५ ] 'मा फलेषु कदाचन' [ २।४७ ] इत्यादिना सर्वफलत्यागस्याप्युक्तत्वात्; अतः किमित्यसकृदेतदुच्यते ? इत्याशङ्क्य काम्यकर्मणोऽतिनिकृष्टत्वात् तत्परित्यागोऽवश्यविधेय इति मुहुरुपदिश्यत इत्यभिप्रायेणाह— दूरेणेति ।

हे धनञ्जय ! बुद्धियोगात्, युज्यत इति योगः कर्म, बुद्धिः पूर्वोक्तसमत्वबुद्धिः, तद्युक्तो योगो बुद्धियोगः; तदपेक्षया काम्यं कर्म दूरेण विप्रकर्षेण अवरम्, अतिनीचमित्यर्थः । हि यस्मादेवं तस्मात् समत्वबुद्धौ शरणं वासस्थानमन्विच्छ प्रार्थयस्व, तस्यां बुद्धौ वर्तस्वेत्यर्थः; तामेव शरणं कुरुष्वेति वा । 'अत्र बुद्धौ जातायामपि विष्णुमेव शरणमन्विच्छ, न तु स एवाहमित्यैक्यं भावय' इति माध्वव्याख्याने तदेव विचारगत्या प्रत्याख्यानमित्यसारे तस्मिन्नास्माकमभिनिवेशः । दूरेणावरत्वमेवोपपादयति— **कृपणा** इति । फलं प्रवृत्तिहेतुर्येषां ते फलहेतवः सकामाः, कृपणाः जन्ममरणघटीयन्त्रपरिभ्रमणपरतन्त्रतया दीना इत्यर्थः । तथा च बृहदारण्यकश्रुतिः [ ३।८।१० ]— "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" इति ॥ ४९ ॥

९ व० त० दी०— अयुक्तं कर्म व्यवसायबुद्धियोगादवरमपकृष्टं, हि यतः, अतो बुद्धौ बुद्धिनिमित्तं बुद्धिविषये वा शरणं कञ्चिदन्वेषय बुद्धावाश्रयं वाऽन्विच्छ; गृहाणेत्यर्थः । कर्मणोऽवरत्वं दर्शयति— तत्र फलहेतवः कृपणा इति फलमेव हेतुः प्रकृतिकारण येषां ते जनाः कृपणाः, प्राप्तेऽपि फले पुनः सतृष्णाः ॥ ४९ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं चेत्तदा कथं न तत्र सर्वप्रवृत्तिः ? इत्याशङ्क्याह— दूरेणेति । धनञ्जय मद्विभूतिरूप ! तथा कर्मायोग्यबुद्धियोगात् दूरेण कृतं कर्म फलाद्यर्थकृतम्; न तु मदाज्ञारूपत्वेन तदवरमपकृष्टमित्यर्थः । हीति युक्तोऽयमर्थः । भगवदाज्ञाव्यतिरिक्तत्वेन फलेच्छया कृतकर्मणो नीचत्वमेव । तस्मात्तदपकृष्टानां प्राकृतानामेव योग्यं, नोत्कृष्टानां मदंशानामिति धनञ्जयसम्बोधनेन ज्ञापितम्; तेनात्राधिकाराभावान्न सर्वेषां प्रवृत्तिरिति भावः । यस्मात्ते नीचाः, सात्त्विकाधिकाररहितानां चाप्रवृत्तिः, त्वं च मदंशत्वात् बुद्धियोगयोग्य इति बुद्धियोगाय यतस्वेत्याह— बुद्धाविति । बुद्धौ बुद्धियोगनिमित्तमीश्वरं शरणमन्विच्छ अनुतिष्ठ । ननु सकामकर्त्तारोऽपीश्वरशरणमिच्छन्तीत्यत्र को विशेषः ? इत्याशङ्क्याह— **कृपणा** इति । फलहेतवः सकामाः । कृपणा लुब्धा दीना इत्यर्थः । नहि लुब्धैरहं प्राप्तः । अत एव श्रुतौ ब्रह्मभूतस्यैव ब्रह्मप्राप्तिर्निरूपिता "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति" [ ब्रह्माप्येति बृ. उ. ४।४।६ ] ॥ ४९ ॥

११ नी० भा० दी०— इममेव बुद्धियोगं स्तौति— दूरेणेति । कर्म फलकामेन क्रियमाणं बुद्धियोगात् पूर्वोक्तान्निष्कामात्कर्मणः दूरेण हि प्रसिद्धं अवरं अत्यन्तनिकृष्टम्; अतो बुद्धौ योगरूपायां तत्फलभूतायां

साङ्ख्यरूपायां वा तन्निमित्तं शरणं रक्षितारं आश्रयं वा ईश्वरं अन्विच्छ प्रार्थयस्व, तत्प्रीत्यर्थं कर्माणि कुर्वित्यर्थः । यतः फलहेतवः फलमेव हेतुः प्रवर्त्तकं येषां तादृशाः फलतृष्णावन्तः कृपणा दीना भवन्ति । "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" [ बृ. उ. ३।८।१० ] इति श्रुतेः ॥ ४९ ॥

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।**
**तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥ ५० ॥**

**१ शां. भा.**— समत्वबुद्धियुक्तः सन् स्वधर्ममनुतिष्ठन् यत्फलं प्राप्नोति तत् शृणु— **बुद्धीति** । बुद्धियुक्तः समत्वविषयया बुद्ध्या युक्तो बुद्धियुक्तः, स जहाति परित्यजति इति । इहाऽस्मिन् लोके उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण यतस्तस्मात् समत्वबुद्धियोगाय युज्यस्व घटस्व । योगो हि कर्मसु कौशलं स्वधर्माख्येषु कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धिरीश्वरार्पितचेतस्तया; तत् कौशलं कुशलभावः । तद्धि कौशलं यत् बन्धनस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावात् निवर्तन्ते । तस्मात् समत्वबुद्धियुक्तो भव त्वम् ॥५०॥

**२ आ. शां. व्या.**— पूर्वोक्तसमत्वबुद्धियुक्तस्य स्वधर्मानुष्ठाने प्रवृत्तस्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **समत्वेति** । बुद्धियुक्तः स्वधर्माख्यं कर्मानुतिष्ठन्निति शेषः । बुद्धियोगस्य फलवत्त्वे फलितमाह— **तस्मादिति** । पूर्वार्धं व्याचष्टे— **बुद्धी**त्यादिना । ननु समत्वबुद्धिमात्रान्न पुण्यपापनिवृत्तिर्युक्ता परमार्थदर्शनवतस्तन्निवृत्तिप्रसिद्धेरिति तत्राऽऽह— **सत्त्वेति** । उत्तरार्धं व्याचष्टे— **तस्मादिति** । स्वधर्ममनुतिष्ठतो यथोक्तयोगार्थं किमर्थं मनो योजनीयं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **योगो हीति** । तर्हि यथोक्तयोगसामर्थ्यादेव दर्शितफलसिद्धेरनास्था स्वधर्मानुष्ठाने प्राप्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **स्वधर्माख्येष्विति** । ईश्वरार्पितचेतस्तया कर्मसु वर्तमानस्यानुष्ठाननिष्ठस्य या यथोक्ता बुद्धिस्तत्तेषु कौशलमिति योजना । कर्मणां बन्धस्वभावत्वात्तदनुष्ठाने बन्धानुबन्धः स्यादित्याशङ्क्य कौशलमेव विशदयति— **तद्धीति** । समत्वबुद्धेरेवम्फलवत्त्वे स्थिते फलितमुपसंहरति— **तस्मादिति** ॥ ५० ॥

**३ रा. भा.**— बुद्धियोगयुक्तस्तु कर्म कुर्वाणः उभे सुकृतदुष्कृते अनादिकालसञ्चिते अनन्ते बन्धहेतुभूते जहाति । तस्मादुक्ताय बुद्धियोगाय युज्यस्व । योगः कर्मसु कौशलं— कर्मसु क्रियमाणेष्वयं बुद्धियोगः कौशलमतिसामर्थ्यम् । अतिसामर्थ्यसाध्य इत्यर्थः ॥ ५० ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'बुद्धियुक्तो जहातीह' इत्यस्येह कर्मणि क्रियमाणे बुद्धियुक्त इत्यन्वयमभिप्रेत्याह— **बुद्धियोगयुक्तस्तु कर्म कुर्वाण** इति । यद्वा **कर्म कुर्वाण** इति प्रकरणापन्नमुक्तम्, इहशब्दस्य तु जहातिनाऽन्वयः, 'इहैव तैर्जितः सर्गः' [ ५ । १९ ] इत्यादिवत् । ततश्च प्रतिबन्धकनिवृत्तिरुक्ता भवति । बुद्धिरहितकेवलकर्मादिभिरनिवर्त्यत्वार्थमाह— **अनादिकालसञ्चिते अनन्ते** इति । अनादिकालसञ्चितत्वमनन्तत्वनिदानम् । सुकृतस्य हानिरपुरुषार्थः स्यादित्यत्रोक्तं **बन्धहेतुभूते** इति । नहि काञ्चनकालायसशृङ्खलयोर्बन्धहेतुत्वे कश्चिद्विशेषः; मुमुक्ष्वपेक्षया च स्वर्गादिकारणं सुकृतमपि दुष्कृतमेव ; अलौकिकत्वे सत्यनिष्टसाधनत्वात् । स्वर्गादेरपि हि मुमुक्ष्वपेक्षया निरयत्वम् 'एते वै निरयास्तात स्थानस्य परमात्मनः' [ म. भा. १२ । १९८ । ११ ] इत्यादिभिः प्रतिपादितमिति भावः । 'बुद्धियुक्तः' इत्यस्य 'योगाय' इत्यस्य च भिन्नार्थपरत्वव्युदासायाह— **तस्मादुक्ताय बुद्धियोगायेति** । युज्यस्व सन्नह्यस्व, उद्युक्तो भवेत्यर्थः । 'समत्वं योग उच्यते' [ २।४८ ] इतिवद्योगशब्दव्याख्याभ्रमनिरासायाह— **कर्मस्विति** । कौशलशब्दस्य तात्पर्यं वक्तुं वाच्यं तावदाह— **अतिसामर्थ्यमिति** । बुद्धियोगस्य कर्मसामर्थ्यात्मकत्वं कथं ? इत्यत्राह— **अतिसामर्थ्यसाध्य इत्यर्थ** इति । कार्ये कारणशब्द उपचरितः । अनेन श्लोकेन बन्धकसुकृतदुष्कृतहानमुक्तम् ॥५०॥

**५ आ. मा. भा.**— ज्ञानफलमाह— **बुद्धियुक्त इति** । सुकृतमप्यप्रियं मानुष्यादिफलं जहाति; न बृहत्फलमुपासनादिनिमित्तम् । "न हास्य कर्म क्षीयते" [ बृ.उ.१।४।१५ ] "अविदित्वाऽस्मिँल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति" [ बृ. उ.३।८।१० ] इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतः कर्मक्षयश्रुतिरज्ञानिविषया सर्वत्र । उभयक्षयश्रुतिरप्यनिष्टविषया । नहीष्टपुण्यक्षये किञ्चित्प्रयोजनम् । न चेष्टनाशो ज्ञानिनो युक्तः ।

**६ ज. प्र. दी.**— बुद्धियुक्तः प्रेक्षावान् काम्यं सुकृतं दुष्कृतं च जह्यादिति योगस्वरूपनिरूपणपरतां निराकर्तुमाह— **ज्ञाने**ति । कथं कर्मणो ज्ञानादतीवावरत्वमित्यतः काम्यकर्मिणः कृपणाः दीनाः "इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" [ मुं. उ. १।२।१० ] इत्युक्तम् ; तथापि कथं दूरेणावरमित्यपेक्षायां कर्मफलाद्विलक्षणं ज्ञानफलमाहेत्यर्थः । प्रतीतेऽर्थेऽनुपपत्तिं तूत्तरत्र दर्शयिष्यति । अत्र दुष्कृतवत्सुकृतस्यापि सर्वात्मना हानं प्रतीयते तत्सङ्कोचेन व्याचष्टे— **सुकृत**मिति । अप्रियं सुकृतं कीदृशं ? इत्यत आह— **मानुष्ये**ति । व्यावर्त्यमाह— **ने**ति । बृहत् प्राङ्मुक्तेर्ज्ञानादिगुणवृद्धिलक्षणं तदनन्तरं चानन्दवृद्धिरूपं फलं यस्य तत् बृहत्फलं, तथाभूतं सुकृतमेव नास्ति कारणाभावादित्यत आह— **उपासने**ति । आदिपदेन निवृत्तं कर्म । कुतः सङ्कोच इत्यत आह— **न हास्ये**ति । यजते ददाति तप्यतेऽनेनेति शेषः । अत्राविदित्वेति विशेषणाज्ज्ञानिनः सुकृताक्षयः प्रतीयते । उत्तरत्र वाऽस्याः श्रुतेरुपयोगः । ननु "नास्त्यकृतः कृतेन" [ मुं.उ.३।२।१२] इत्यादिश्रवणात्तत्प्रतिपक्षा एताः श्रुतय इत्यत आह— **अत** इति । विशेषश्रुतेर्बलवत्त्वादिति भावः । श्रुतिः श्रवणम् । "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" [ मुं.उ.२।२।८ ] इति ज्ञानिनोऽपि कर्मक्षयः प्रतीयत इति चेत्, न; निरवकाशश्रुतिविरोधेनास्य दुष्कृतविषयत्वात् । "तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय" [ मुं.उ. ३।१।२ ] इति ज्ञानिनोऽपि उभयक्षयश्रुतिरस्तीत्यत आह— **उभये**ति । उक्तैव युक्तिः । युक्तिविरुद्धं च ज्ञानिनः सर्वसुकृतहानम् । तथा हि उपासनादिजनितं सुकृतं ज्ञानिनः किमिष्टं? उतानिष्टम् ?। आद्ये किं तदिच्छया क्षीयते ? उत ज्ञानस्वभावात् ? । आद्यं दूषयति— **नही**ति । येन ज्ञानी तत्क्षयमिच्छेत् इति शेषः । द्वितीयं निराकरोति— **न चे**ति । ज्ञानस्यापुरुषार्थताप्रसङ्गादिति भावः । नान्त्यः— अनिष्टत्वे कारणाभावात् ।

**९ आ. मा. भा.— इष्टाश्च केचिद्विषयाः "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" [ छां. उ. ८।२।१ ] 'प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये' "यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां" [ छां. उ. ८।१४।१ ] "स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" [ छां. उ. ८।१२।३ ] "अस्माद्ध्येवात्मनो यद्यत्कामयते तत्तत्सृजते' [ बृ.उ.१।४।१५] "कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्" [ तै. उ.३।१०।५ ] "स एकधा भवति" [ छां. उ. ७ । २६ । २ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः । बहुत्वेऽप्यात्मसुखस्य पुनरिष्टत्वात्कर्मसुखेन विरोधः, अनुभवशक्तिश्चेश्वरप्रसादात् श्रुतेश्च ।**

**६ ज. प्र. दी.**— निष्फलत्वादनिष्टमित्यत आह— **इष्टाश्चे**ति । केचिदित्यलौकिकाः । मुक्तावलौकिका विषया इष्टा भवन्ति । तत्प्राप्तिः सुकृतफलमिति भावः । मुक्तो विषयानिच्छतीत्येतत्कुतः ? इत्यत आह— **स यदी**ति । यशो यशस्वी । ब्राह्मणानां सकाशात् । मुक्तो यद्यत्कामयते तत्कर्मास्मात्परमात्मनः सृजते । इष्टविषयप्राप्तिः सुकृतफलमित्येतदपि अनया श्रुत्योच्यते । उपासनादिकमेव ज्ञानी करोति । कृतेन वा सुकृतं न जायते इत्येतदप्यनया निराकृतम् । ननु मुक्तः किमर्थं विषयानिच्छेत् ? न तावत्सुखार्थम् ; ज्ञानेनावरणरूपाविद्यानिवृत्तौ आत्मनः स्वरूपसुखस्य व्यक्तत्वात् । पृथक्सुखस्यानङ्गीकारात् । नापि दुःखनिवृत्त्यर्थम्, अविद्यानिवृत्त्यैव तत्सिद्धेरिति । मैवम्, नाविद्यैवात्मस्वरूपावरणम्, किन्त्वीश्वरेच्छाऽपि । तथा च वक्ष्यति । तथा च ज्ञानेनाविद्यायां निवृत्तायामशेषानिष्टनिवृत्तिर्भवति । स्वरूपसुखं च बहुतरं व्यज्यते । न तु सर्वम् । ज्ञानोत्तरमनुष्ठितेन निवृत्तकर्मणा प्रसन्नः परमेश्वरो मुक्तौ विषयानुत्पाद्य तद्भोगेन ज्ञानानभिव्यक्तमपि स्वरूपसुखं व्यक्तीकरोति । अत्र च भाष्यकृतैव तत्र तत्र प्रमाणान्युक्तानि । अनेनैवाभिप्रायेण श्रुत्यादिषु मुक्तेर्ज्ञानमात्रसाध्यत्वं ज्ञानकर्मसमुच्चयसाध्यत्वं चोच्यते । ननु ज्ञानमात्रसाध्यं यत्स्वरूपसुखं तदेव बहुतरमस्ति, अतः कर्मसाध्यविषयभोगाभिव्यङ्ग्यसुखाङ्गीकारः किमर्थं ? इत्यत आह— **बहुत्वेऽपी**ति । कर्मसुखेऽङ्गीकृत इति शेषः । शरीरेन्द्रियरहितस्य मुक्तस्य कथं विषयानुभवे शक्तिः? इत्यत आह— **अनुभवे**ति । तदुक्तं 'ब्राह्मेण जैमिनिः' [ ब्र.सू.४।४।६ ] इति । किञ्च "कामरूप्यनुसञ्चरन्" [ तै. उ. ३।१०।५] इत्यादिलीलाविग्रहग्रहणश्रुतेश्च मुक्तस्य विषयानुभवो युज्यत इत्याह— **श्रुतेश्चे**ति ।

**९ आ. मा. भा.— न च शरीरपातात् पूर्वमेव । "स तत्र पर्येति" [ छां. उ. ८ । १२ । ३ ] "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य" [ तै. उ.३।१०।५ ] इत्याद्युत्तरत्र श्रवणात् । न चैकीभूत एव ब्रह्मणा सः । 'मग्नस्य हि परेऽज्ञाने किं न दुःखतरं भवेत्' इत्यादिनिन्दनान्मोक्षधर्मे । परिहारे पृथग्भोगाभिधानाच्च; शुकादीनां पृथग्दृष्टेश्च; 'जगद्व्यापारवर्जं' [ब्र.सू.४।४।१७] इत्यैश्वर्यमर्यादोक्तेश्च 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः' [ १४।२ ] इति च । उपाधिनाशे नाशाच्च प्रतिबिम्बस्य ।**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु यदेतदुदाहृतासु श्रुतिषु विषयेच्छादिकं श्रूयते तच्चरमशरीरपातात्पूर्वकालीनं किं न स्यात् ? इत्यत आह— **न चे**ति । "अस्माच्छरीरादुत्थाय......स तत्र पर्येति" [ छां. उ. ८।१२।३ ] "अस्माल्लोकात्प्रेत्य...... एतमानन्दमयमात्मानं" [ तै. उ.३।१०।५ ] इत्याद्युत्तरत्र श्रवणात् । इत्यादीति क्रियाविशेषणम् । अद्वैतवादिनस्त्वाहुः ब्रह्मैकमेव तत्त्वम् । तदेवोपाधिभेदभिन्नं जीवभावं प्रतिपद्यते, गगनमिव घटाद्युपाधिभिन्नं घटाकाशादित्वम् । तत्र यस्य जीवस्य ज्ञानं

उत्पन्नं स ब्रह्मणैकीभवति, घटनाशे घटाकाश इव महाकाशेनेति। तत्रैके जीवब्रह्मभेदस्योपाधेश्च मिथ्यात्वं मन्यन्ते। अन्ये च सत्यत्वम्। यदा च स ज्ञानी ब्रह्मणैकीभूतस्तदा सकलस्य क्रियाकारकलक्षणफलभेदस्य प्रविलयात्कुतो विषयभोगः, यदर्थं सुकृतस्यावस्थानं? इति तद्दूषयति— **न चे**ति। एवशब्देन भेदाभेदौ निराकरोति। 'परमात्मानमासाद्य तद्भूता यतयोऽमलाः। अमृतत्वाय कल्पन्ते न निवर्तन्ति वा विभो' [म. भा. १२।३०१।७८] इति भीष्मेण तस्मिन्भूतास्तद्भूता इत्यभिप्रायेणोक्ते मुक्तास्तद्ब्रह्मैव भूता इत्यर्थान्तरमाशङ्क्य युधिष्ठिरेण 'आजन्ममरणं वा ते स्मरन्त्युत न वाऽनघ' [म. भा. १२।३०१।८०] इति विकल्प्य पृष्टम्। यदि ज्ञानिनो मुक्तौ ब्रह्मणैकीभवन्ति तदैवं वाच्यम्— किं ते संसारानुभूतं दुःखं स्मरन्ति? उत न? इति। आद्यस्य दूषणमुक्तम्— 'मोक्षे दोषो महानेषः प्राप्य सिद्धिं गतानृषीन्। यदि तत्रैव विज्ञाने वर्तन्ते यतयः परे॥' [म. भा. १२।३०१।८२] पूर्वे सिद्धिं गतानृषीन्प्राप्य परेऽपि यतयो यदि तत्र मुक्तौ विज्ञाने विज्ञानेन प्रागनुभूतदुःखस्मरणेन युक्ता वर्तन्ते तर्हि मोक्षे महानेषः प्रसिद्धो दोष इति। दोषं च भाष्यकारः स्फुटीकरिष्यति। द्वितीयोऽपि दूषितः— **मग्नस्ये**ति। पूर्वानुभूतस्मरणाद्यभावे परेऽज्ञाने मग्नस्य चेतनस्य दुःखतरं दुःखातिशयो न भवेत्किं? भवेदेव। तदेवं मोक्षधर्मेऽस्य पक्षस्य निन्दितत्वान्न ज्ञानी ब्रह्मणैकीभूत इत्यर्थः। ननु पूर्वपक्षस्थेन युधिष्ठिरेण निन्दितत्वेऽपि कथं भीष्माचार्येणोक्तमसत्स्यात्? परिहारे तदुक्तदोषस्योद्धारसम्भवादित्यत आह— **परिहार** इति। न मयैतदुक्तं, किन्तु त्वमन्यथा गृहीत्वा दूषितवानसीत्याशयेन परिहारे भीष्मेण परमात्मनः पृथक्त्वेन मुक्तानां भोगाभिधानाच्च न ज्ञानी ब्रह्मणैकीभूत इत्यर्थः। तथा हि भीष्मवचनम्— 'तथापि [अत्रापि] तत्त्वं परमं शृणु सम्यङ्मयेरितम्। ... इन्द्रियाणि च बुध्यन्ते स्वदेहं देहिनो नृप॥ करणान्यात्मनस्तानि सूक्ष्मः पश्यति तैस्तु सः' [म. भा. १२।३०१।८५-८६] इति॥ यद्यपीदं दुर्बोधं तथापि स्वः स्वरूपभूतो देहो यस्य तं स्वदेहं परमात्मानं मुक्तमन्यान्देहान्विषयांश्च मुक्तस्य इन्द्रियाणि बुध्यन्ते। किं तानि कर्तॄणि? नेत्याह— [**करणानी**ति] कस्तर्हि पूर्वार्धस्यार्थः? इत्यत उक्तम्— [**सूक्ष्म इति**]। इतश्च न ज्ञानिनो ब्रह्मैक्यमित्याह— **शुकादीना**मिति। अनेन वाक्यत्रयेण मुक्तानां ब्रह्मभेदे क्रमेण प्रत्यक्षानुमानागमा उपन्यस्ताः। तत्र प्रत्यक्षं न बाधकम्। शुकादयो यद्यपि ज्ञानिनस्तथापीदानीमविनष्टोपाधित्वात्तन्निमित्तभेदवत्तया दृश्यन्ते। प्रारब्धकर्मक्षयाद्युपाधिनाशे ब्रह्मैव संवृत्ता भूताः, न पृथक् द्रक्ष्यन्त इत्यत आह— **उपाधिनाशे** इति। जीवास्तावद्ब्रह्मणः प्रतिबिम्बा इति समर्थितम्, तत्र यदि तदीयस्योपाधेर्नाशोऽङ्गीक्रियते तदा तेषां नाशः प्रसज्यते। दर्पणाद्युपाधिनाशे मुखादिप्रतिबिम्बस्य नाशदर्शनादित्यर्थः।

**५ आ. मा. भा.— न चैकीभूतस्य पृथग्ज्ञाने मानं पश्यामः। आसं दुःखी नासमिति ज्ञानविरोधाच्चेश्वरस्य। अनेन रूपेणेति च; भेदाभावात्। न च प्रतिबिम्बस्य बिम्बैक्यं लोके पश्यामः। उपाधिनाशे मानं वा। 'मग्नस्य हि परेऽज्ञाने' इति दुःखात्मकत्वोक्तेश्च। 'यावदात्मभावित्वात्....' [ब्र. सू. २।३।३०] इत्युपाधिनित्यत्वाभिधानाच्च। अतोऽनन्यवचनं प्रतीयमानमप्यौपचारिकम्।**

६ ज. प्र. दी.— यच्चोक्तं शुकादयोऽविनष्टोपाधित्वाद्ब्रह्मणः पृथक् दृश्यन्त इति तदसदित्याह— **न चे**ति। वस्तुत एकीभूतस्योपाधिनाऽपि पृथग्ज्ञाने न मानं पश्यामः। गगनादिदृष्टान्तस्यासम्मतत्वात्, सत्योपाधिभेदमतस्य चेदं दूषणम्। किञ्चोपाधिक एव जीवब्रह्मणोर्भेदः, वास्तवं त्वैक्यमिति वदन्प्रष्टव्यः— किं ब्रह्म निर्दुःखं स्वरूपमेवानुसन्धत्ते? न जीवगतं दुःखं, तत्तु जीव एवानुसन्धत्त इति पक्षः, उत तदपीति?। आद्यं दूषयति— **न चैकीभूतस्ये**ति। हस्तपादाद्युपाधिभेदेऽपि भोक्तुरेकत्वदर्शनादिति भावः। द्वितीयं निराकरोति— **आस**मिति; लङत्र सर्वकालोपलक्षणार्थः। जीवरूपेण दुःख्यासं, स्वरूपेण तु नेति व्यवस्थयाऽनुसन्धानान्न विरोध इत्यत आह— **अनेने**ति। इति च युक्तमिति शेषः। कुतः? इत्यत आह— **भेदे**ति। उपाधेरभेदकत्वस्योक्तत्वादिति भावः। अपरे तु ब्रह्मणैक्यमापन्नस्य मुक्तस्य पूर्वदुःखानुस्मरणमस्ति? न वा? नेतिपक्षे 'मग्नस्य हि' इत्युक्तो दोषः। आद्ये— किमसौ पृथक् स्मरति? उत ब्रह्मात्मक एव?। प्रथमस्य दूषणं **न चैकीभूतस्ये**ति; द्वितीयस्य **आसं** इत्यादीनि व्याचक्षते। अनेन 'मोक्षे दोषो महानेषः' इत्युक्तो दोषः प्रदर्शितो भवति। ननु 'उपाधिनाशे नाशाच्च प्रतिबिम्बस्य' इति यदुक्तं तदसत्; भेदे हि बिम्बप्रतिबिम्बयोरेतत्स्यात्; न चैवं, किन्तु बिम्बमेव प्रतिबिम्बं तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञानात्। 'नेक्षेतोद्यन्तमादित्यं नास्तं यान्तं कदाचन। नोपरक्तं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतम्' [मनुः ४।३८] इति स्मृतावुद्यदादाविव वारिस्थप्रतिबिम्बेऽपि आदित्यशब्दप्रयोगदर्शनात्। भेदस्तु दर्पणाद्युपाधिकृतः। तथाचोपाधिनाशे भेद एव नश्यति, प्रतिबिम्बस्य कुतो नाशः? एवं जीवस्यापीत्याशङ्क्य प्रत्यभिज्ञानं तावदसिद्धमित्याह— **न चे**ति। न पश्यामो न प्रत्यभिजानीमः; प्रत्युत प्रत्यग्भावादिना तयोर्भेदमेव पश्याम इति चार्थः। यच्चोक्तं 'जीवब्रह्मणोर्बिम्बप्रतिबिम्बयोरौपाधिको भेदः' इति, तन्नास्माकमनिष्टम्। किन्तु परस्यैव। जीवोपाधिनाशे प्रमाणाभावेन नित्यत्वात्तन्निमित्तस्यापि भेदस्य मुक्तौ स्थितेरित्याशयवानाह— **उपाधिनाश** इति। न पश्याम इत्यनुवर्तते। न केवलं उपाधिनाशे प्रमाणाभावः; किन्तु तन्नाशाङ्गीकारे बाधकमस्तीत्याह— **मग्नस्ये**ति। उपाध्यभावे स्मरणादिविलोपात्। न केवलमेतावत्, उपाधिनित्यत्वे प्रमाणं चास्तीत्याह— **याव**दिति। अस्तु तर्हि उदाहृतस्मृतिवाक्यं बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्ये प्रमाण-

मित्यत आह— **अत** इति; प्रत्यक्षेण भेदस्य प्रतीयमानत्वात्। प्रतीयमानमपीत्यनेन प्रत्यभिज्ञायामिव वचनस्वरूपेऽपि न विवादोऽस्तीत्याह वारिस्थमिति। न परस्य मुख्यं सम्भवतीत्यनौपचारिकैः सह पाठेऽपि बाधकवशादौपचारिकत्वं 'ब्रह्मज्ञानेन वा मुक्तिः' इत्यादौ दृष्टमिति। एवं 'शुकादीनां' इत्युक्तं प्रत्यक्षमुपपादितम्।

**५ आ. मा. भा.— दृष्टाश्च ते भगवतो भिन्ना नारदेन। प्रतिशाखं च "स एकधा" [छां. उ. ७।२६।२] इत्यादिषु भेदेन प्रतीयन्ते। विरोधे तु युक्तिमतामेव बलवत्त्वम्। युक्तयश्चात्रोक्ताः 'मग्नस्य हि' इत्यादयः। अतो जले जलैकीभाववदेकीभावः। उक्तं च— "यथोदकं शुद्धे शुद्धं" [कठो. ४।१५] "यथा नद्यः" [मुं. उ. ३।२।८] इत्यादौ। तत्राप्यन्योन्यात्मत्वे वृद्ध्यसम्भवः। अस्ति चेषत्समुद्रेऽपि द्वारि। महत्त्वादन्यत्रादृष्टिः। 'ता एवापो ददौ तस्य स ऋषिः शंसितव्रतः' इति महाकौर्मे। समर्थानां भेदज्ञानाच्च। 'नैव तत्प्राप्नुवन्त्येते ब्रह्मेशानादयः सुराः। यत्ते पदं ते कैवल्यम्' इति निषेधाच्च नारदीये। सविचारश्च निर्णयः कृतो मोक्षधर्मेषु। बलवांश्च सविचारो निर्णयो वाक्यमात्रात्।**

६ **ज. प्र. दी.**— अधुनाऽऽस्तां तावदुपपादनसापेक्षं प्रत्यक्षं, तन्निरपेक्षं चास्तीत्याह— **दृष्टाश्चे**ति। ते निवृत्तसकलकर्माणो मुक्ताः। एतच्च मोक्षधर्मे स्पष्टमुक्तम्, प्राङ्मुक्तेश्वरभेदे स्मृतिरुदाहृता, श्रुतिं चोदाहरति— **प्रतिशाखमि**ति। ननु भेद इवाभेदेऽपि 'परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति' इत्यादिवाक्यानि सन्ति, तत्कथं निर्णयः? इत्यतः सामान्यन्यायं तावदाह— **विरोधे** त्विति। बलवद्विरोधेन दुर्बलं बाध्यते इति भावः। ततः किं प्रकृते? इत्यत आह— **युक्तय** इति। **अत्र** भेदपक्षे; उपलक्षणमेतत्। प्रत्यक्षानुकूल्यं च भेदवाक्यानां प्राबल्याय ग्राह्यम्। तर्ह्येकीभवन्तीत्यस्य का गतिः? इत्यत आह— **अत** इति। उभयत्रैकीभाववादेन तद्वादिवाक्यं गृह्यते। स्थानैक्यविषयमैक्यवाक्यमित्यर्थः। इयं च रूढलक्षणेति न प्रयोजनमन्वेषणीयमिति दृष्टान्तोक्तिः। न केवलमियं गतिर्न्यायप्राप्ता, किन्तु श्रौती चेत्याह— **उक्तं चे**ति। उदकेऽप्यैक्यादसम्मतो दृष्टान्त इत्यत आह— **तत्रापी**ति। नास्त्येव समुद्रे वृद्धिरनुपलम्भादित्यत आह— **अस्ती**ति। समुद्रेऽपि वृद्धिरिति शेषः। अनुपलम्भस्यासिद्धिमाह— **द्वारी**ति। नदीनां द्वारि दृश्यते चेति शेषः। अन्यत्र कुतो न दृश्यते? इत्यत आह— **महत्त्वादि**ति, सामुद्रस्योदकस्य महत्त्वात्। न केवलं वृद्धिलिङ्गादनुमानादुदकभेदः सिद्धः; किं तर्हि? प्रत्यक्षादपीत्याह— **ता** इति। या इन्द्रकमण्डलोरादाय स्वकमण्डलूदके क्षिप्तास्ता एवापस्तस्येन्द्रस्य ददौ वसिष्ठ इति महाकौर्मवचनात्समर्थानां वसिष्ठादीनां जले भेददर्शनाच्च। भेदादर्शने विभज्य कथं दद्यादिति। इतश्च मुक्तभेदवाक्यमेव प्रबलम्; अभेदनिषेधात्मकत्वादित्याह— **नैवे**ति। कैवल्यं सर्वोत्तमत्वम्। इतोऽपि भेदपक्षो बलवानिति वक्तुमाह— **से**ति। पूर्वोत्तरपक्षबलाबलचिन्ता विचारः। निर्णयो जीवेशभेदावधारणम्। 'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्' इत्यादिनेति शेषः। न हि भिन्नयोर्मुक्तावभेदः सम्भवतीति भावः। ततः किमित्यत आह— **बलवानि**ति। निर्णयश्चेति सम्बन्धः। वाक्यमात्रादेकीभवन्तीत्यादेः।

**५ आ. मा. भा.— अतो यत्र "नान्यत्पश्यति" [छां. ७। २४। १] इत्याद्यपि तदधीनसत्तादिवाचि। अन्यथा कथमैश्वर्यादि स्यात्?। न च तन्मायामयमित्युक्तम्। अन्यथा कथं तत्रैव "स एकधा" इत्यादि ब्रूयात्?। न च 'न ह वै सशरीरस्य' [छां. उ. ८।१२।१] इत्यादिविरोधः। वैलक्षण्यात्तच्छरीराणाम्। अभौतिकानि हि तानि नित्योपाधिविनिर्मितानि ईश्वरशक्त्या। तथा चोक्तम् 'शरीरं जायते तेषां षोडश्या कलयैव हि' इति नारायणरामकल्पे।**

६ **ज. प्र. दी.**— कथं तर्हि यत्रेत्यादिभूमलक्षणमुच्यते? इत्यत आह— **अत** इति; सविचारनिर्णयविरोधादेव। विद्यमानस्याप्यन्यस्य भगवदधीनसत्तादित्ववाचि। इतश्चैवमित्याह— **अन्यथे**ति। यद्यन्यदेव न स्यात्तर्हि कथमीश्वरस्य सर्वेश्वरत्वसार्वज्ञादिकं श्रुत्यादिसिद्धं स्यात्? मायामयमेव तच्छ्रुत्यादावुच्यते इत्यत आह— **न चे**ति। बाधकान्तरमाह— **अन्यथे**ति। यदि भूमाऽद्वितीयः स्यात्, कथं तर्हि तज्ज्ञानान्मुक्तस्य "स एकधा" [छां. उ. ७।२६।२] इत्यादिभेदेनावस्थानं श्रुतिर्ब्रूयात्? न तद्भूमज्ञानफलम्, किन्तु सगुणविद्योपासनफलमित्यत उक्तम्— **तत्रैवे**ति, भूमप्रकरण एव। ननु नारदेन श्वेतद्वीपे भगवतो भिन्ना दृष्टास्ते मुक्ता एव न भवन्ति, सशरीरत्वात्; सशरीराणामपि मुक्तत्वाङ्गीकारे "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" [छां. उ. ८।१२।१] इत्यादिश्रुतिविरोध इत्यत आह— **न चे**ति। कुतो नेत्यत आह— **वैलक्षण्या**दिति। किं तदस्मदादिशरीरेभ्यस्तेषां वैलक्षण्यं? इत्यत आह— **अभौतिकानी**ति, अजडानीत्यर्थः। तर्हि किमात्मकानि? इत्यत आह— **नित्योपा**धीति। विकारित्वाद्विनाशः स्यादित्यत उक्तम्— **ईश्वर-**

**शक्त्ये**ति। कुत एतदित्यत आह— **तथा चे**ति। नित्योपाधिरेव षोडशी कला। एतदुक्तं भवति– यच्छ्रुतौ सशरीरस्य दुःखानपहतिवचनं, तत्कर्माधीनजडशरीराभिप्रायम्; श्वेतद्वीपे नारदेन दृष्टानि तु शरीराणि चिन्मयानि, जडान्यपि न कर्माधीनानि; अतो न दुःखकारणानि। तथा च न तेषां सशरीराणामपि मुक्तत्वे श्रुतिविरोध इति।

**९ आ. मा. भा.— वदन्ति च लौकिकाद्वैलक्षण्येऽभावशब्दं 'अप्रहर्षमनानन्दं' 'सुखदुःखबाह्यः' इत्यादिषु। निरुक्त्यभावाच्च न तानि शरीराणि। तथा हि श्रुतिः "अशारीति ह्रिहितच्छरीरमभवत्।" नाहि तानि शीर्णानि भवन्ति 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' [१४।२] इति वचनात्। साम्यात्प्रयोगः। प्रयोगाच्च 'अनिन्द्रिया अनाहारा अनिष्पन्दाः सुगन्धिनः। [म. भा. १२।३३७।२९] 'देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्' [भाग. ७।१।३४] इत्यादिदृष्टदेहेष्वेव। न चैषाऽन्या गौणी मुक्तिः 'बहुनाऽत्र किमुक्तेन यावच्छ्वेतं न गच्छति। योगी तावन्न मुक्तः स्यादेष शास्त्रस्य निर्णयः' इत्यादित्यपुराणे तदन्यमुक्तिनिषेधात्।**

**६ ज. प्र. दी.—** यदि मुक्ताः सशरीरास्तर्हि कथं तेषु "अशरीरं वा व सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" [छां. उ. ८।१२।१] इति शरीराभाववचनमित्यत आह— **वदन्ति चे**ति। लौकिकाद्वैलक्षण्ये सति तद्वदत्रापीति शेषः। इतश्चाशरीरत्वोक्तिर्युक्तेत्याह— **निरुक्त्ये**ति। निरुक्तिलभ्यार्थस्य तत्राभावादित्यर्थः। काऽसौ निरुक्तिरित्यतः प्रक्रियासम्पादनगौरवपरिहाराय श्रुतिमेव तत्परां दर्शयति— **तथाही**ति। अशारि शीर्णमभवदिति हेतोस्तच्छरीरशब्दमभवदित्यर्थः। कथं निरुक्तिलभ्योऽर्थस्तेषु नास्ति? इत्यत आह— **नही**ति। एवं तर्हि कथं तेषु 'शरीरं जायते तेषां' इति शरीरशब्दप्रयोगः? इत्यत आह— **साम्यादि**ति। अस्मदादिशरीरैः करचरणादिमत्त्वसाम्याद्गौण इत्यर्थः। कुतोऽयमशरीरशब्दस्याभिप्रायः? सर्वथा विग्रहराहित्यमेव किन्न स्यात्? इत्यत आह— **प्रयोगाच्चे**ति। नारदादिभिर्दृष्टदेहेष्वेव मुक्तेष्वेतद्वाक्यद्वये देहाभावप्रयोगादन्यथाऽनुपपत्त्याऽयमर्थः सिद्धः। न केवलं सम्भवमात्रेणेति चार्थः। इत्यादीति क्रियाविशेषणम्। प्रयोगादित्यनेन सम्बध्यते। सन्तु नारदेन दृष्टाः श्वेतद्वीपवासिनो मुक्ताः, तथापि नास्माकं प्रत्यक्षविरोधः, यत एतेषां श्वेतद्वीपप्राप्तिरूपा निर्गुणमुक्तेरन्या गौणी मुक्तिः। निर्गुणायामेव मुक्तौ वयमैक्यं ब्रूम इत्यत आह— **न चे**ति। श्वेतद्वीपप्राप्तिव्यतिरिक्तमुक्तिनिषेधादियमेव मुक्तिरित्यर्थः।

**९ आ. मा. भा.— ये त्वत्रैव भगवन्तं विशन्ति तेऽपि पश्चात्तत्रैव यान्ति। योग्यत्वं चात्र विवक्षितम्। युधिष्ठिरप्रश्ने इतरनिन्दनाच्च। सायुज्यं च ग्रहवत्। तदुक्तेश्च 'भुञ्जते पुरुषं प्राप्य यथा देवग्रहादयः। तथा मुक्तावुत्तमायां बाह्यान्भोगांस्तु भुञ्जते' इति नारायणाष्टाक्षरकल्पे। अतोऽनिष्टस्यैव वियोगः सोऽस्त्येव सर्वात्मना! 'अदुःखम्' 'सर्वदुःखविवर्जिताः' "अशोकमहिमम्"। [बृ. उ. ५।१०]. 'यत्र गत्वा न शोचन्ति' इत्यादिभ्यः, विशेषवचनाभावाच्च।**

**६ ज. प्र. दी.—** ननु शिशुपालादयः श्वेतद्वीपगमनेन विनैवात्र भगवन्तं प्रविश्य मुच्यन्ते; तत्कथमेतत्? इत्यत आह— **ये त्वि**ति। ते न तदा मुच्यन्ते इति शेषः। तर्हि कदेत्यत आह– **तेऽपी**ति। ततो मुच्यन्त इति शेषः। ननु 'केचिदत्रैव मुच्यन्ते' इत्याद्युक्त्वा 'महाज्ञाना गच्छन्ति क्षीरसागरम्' इति महायोग्यतावतामेव श्वेतद्वीपगमनोक्तेः कथमयं नियमः? इत्यत आह– **योग्यत्वमि**ति। अत्र निवास इति शेषः। अस्ति सर्वेषां श्वेतद्वीपप्राप्तिः। महाज्ञानत्वलक्षणं योग्यत्वं त्वत्र निवासे विवक्षितमित्यर्थः। नन्विदं वाक्यं श्वेतद्वीपप्राप्तिं विना सगुणमुक्तिर्नास्तीत्येतत्परम्; निर्गुणमुक्तिस्त्वन्याऽस्तीत्यत आह— **युधिष्ठिरे**ति। सायुज्यं तावत्प्रसिद्धम्, सैव निर्गुणमुक्तिः, तत्रात्मनो ब्रह्मणैकत्वमित्यत आह— **सायुज्यं चे**ति। यथा ग्रहस्य पुरुषान्तरं प्रविश्य भोगः, तथा मुक्तस्येश्वरं प्रविश्य भोग एव सायुज्यं, न त्वैक्यमित्यर्थः। कुत एतत्? सायुज्यशब्दसामर्थ्यादागमवाक्याच्चेत्याह— **तदुक्तेश्चे**ति। उत्तमायां मुक्तौ सायुज्यलक्षणायामीश्वरं प्रविश्येति शेषः। ईश्वरानन्दव्युदासाय— **बाह्यानि**ति। बाह्येष्वपि विभागो वचनान्तरादवसेयः। सुकृतमप्यप्रियमित्यादिनोक्तमर्थमुपसंहरति— **अत** इति। यथा सुकृतत्यागे सङ्कोचस्तथाऽनिष्टत्यागेऽप्यस्ति किमिति जिज्ञासायामाह— **स** इति। प्राचुर्याभिप्रायाण्येतानि वचनानि किं न स्युः? इत्यत आह— **विशेषे**ति।

**९ आ. मा. भा.— येषां त्वीषद्दृश्यते न सायुज्यं प्राप्ताः। सामीप्याद्येव तेषाम्। अतः प्रारब्धकर्मशेषभावात्। तद्भुक्त्वा सायुज्यं गच्छन्ति। तच्चोक्तम् 'सङ्कर्षणादयः सर्वे स्वाधिकारादनन्तरम्। प्रविशन्ति परं देवं विष्णुं नास्त्यत्र संशयः' इति व्यासयोगे। अतोऽनिष्टस्य सर्वात्मना वियोगः।**

'परब्रह्मत्वमिच्छामि परब्रह्मजनार्दन' इत्यादिना ब्रह्मादिभिरपि प्रार्थितत्वात् । 'न मोक्षसदृशं किञ्चिदधिकं वा सुखं क्वचित् । ऋते वैष्णवमानन्दं वाङ्मनोगोचरं महत्' इत्यादेश्च । ब्रह्मादिपदादप्यधिकतमं सुखं मोक्ष इति सिद्धम् । अतो योगाय युज्यस्व । ज्ञानोपायाय । तद्धि कर्मकौशलम् ॥ ५० ॥

६ ज. प्र. दी.— सङ्कर्षणादयः समष्टिजीवास्तावन्मुक्ताः, तेषां च बललक्ष्मणादिरूपेषु दुःखं दृश्यते; तदेव विशेषप्रमाणमित्यत आह— **येषामिति** । न सायुज्यं प्राप्ताः, न मुक्ता इत्यर्थः । सायुज्ययोग्यानां तदभावे मुक्त्यभावात् । तेषां मुक्तत्वोक्तेस्तर्हि का गतिः? इत्यत आह— **सामीप्यादीति** । मुक्तत्वोक्तौ बीजमिति शेषः । कुतस्ते न मुक्ताः? इत्यत आह— **अत** इति । दुःखदर्शनात्तद्धेतुभूतप्रारब्धकर्मभावान्न मुक्ताः । कदा तर्हि मुच्यन्ते? इत्यत आह— **तदिति** । अत्रागमसम्मतिमाह— **तच्चोक्तमिति** । सोऽस्त्येवेत्याद्युक्तमुपसंहरति— **अत** इति । तत्किमनिष्टनिवृत्तिमात्रं मुक्तिः? इत्यतोऽनुमानागमाभ्यां परमसुखं चेत्याह— **परब्रह्मत्वमिति** । मुक्तत्वं ब्रह्मादिभिर्दुःखहीनैरपि मोक्षे सक्तिस्तुत्यर्थमेतदिति न ब्रह्मण एकान्तित्वविरोधः । 'समासान्तविधेरनित्यत्वाद्वाङ्मनोगोचरं' इत्युक्तम् । 'महत्' इत्येतत् 'सुखं' इत्यनेन सम्बध्यते । **ब्रह्मादिपदादप्यधिकतममिति** । ब्रह्मणो ब्रह्मपदादप्यधिकं शेषस्य शेषपदादप्यधिकमित्यादि ज्ञेयम् ।

एवं ज्ञानफलप्रदर्शनत्वेन पूर्वार्धो व्याख्यातः । उक्तविधया योगस्वरूपनिरूपणपरः किं न स्यात्? इत्यतोऽस्मदुक्तार्थं तृतीयपादसङ्गतेः, अन्यथा तदसङ्गतेरित्यभिप्रेत्य तं पठति— **अत** इति । न दूरस्थहेतुपरामर्शोऽयमिति ज्ञापयितुं तस्मादिति पठितव्ये 'अतः' इत्युक्तम् । ज्ञानस्य महाफलत्वात् **योगाय युज्यस्वेति** कथं हेतुहेतुमद्भाव इत्यतो 'योगाय' इत्येतद्व्याचष्टे— **ज्ञानेति** । ननु 'समत्वं योग उच्यते' [ २ । ४८ ] इति योगो व्याख्यातः, 'योगः कर्मसु कौशलम्' इति पुनर्व्याख्यायते इत्यतः स्तुतिरियं योगस्य क्रियत इति भावेनाह— **तद्धीति** । तद्योग इति शेषः ॥ ५० ॥

७ ह. पै. भा.— समत्वबुद्धियुक्तः सन् स्वकर्म चानुतिष्ठन् यत्फलं प्राप्नोति तच्छृणु— बुद्धियुक्तः समत्वबुद्ध्या युक्तो जहातीहास्मिँल्लोके उभे सुकृतदुष्कृते पुण्यपापे सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण । तस्मात् समत्वबुद्धियोगाय युज्यस्व घटस्व । योगः कर्मसु कौशलम्— स्वधर्माख्येषु कर्मसु वर्तमानस्य या सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धिरीश्वरार्पितचेतस्कतया, तत्कौशलम् । यद्बन्धस्वभावान्यपि कर्माणि समत्वबुद्ध्या स्वभावान्निवर्तन्ते तस्मात्समत्वबुद्धियुक्तो भव त्वम् ॥ ५० ॥

८ वें. ब्र. गि.— एतदेव कृपणत्वं बुद्धियोगफलस्वरूपनिरूपणेन प्रकटयति द्वाभ्याम्— **बुद्धियुक्त इति** । 'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि' [२।३९] इत्यस्यायं प्रपञ्चः । इह कर्मविषये समत्वबुद्धियुक्तः उभे सुकृतदुष्कृते जहाति । ननु दुष्कृतस्यानिष्टफलस्य हातव्यत्वेऽपि सुकृतस्येष्टफलस्य कथं हानम्? तत्राह— **उभे इति** । 'तस्यान्तरायो मैत्रेय! देवेन्द्रत्वादिकं फलम्' इति विष्णुपुराणोक्तरीत्या सुकृतस्यापि दुष्कृतस्येव बन्धहेतुत्वात् प्रहातव्यत्वमित्यर्थः । 'इह उभे' इति गुणाभावस्त्वार्षः । अस्तु, ततः किम्? तत्राह— **तस्मादिति**; मोक्षफलकत्वादित्यर्थः । योगाय उपदिष्टाय युज्यस्व सन्नद्धो भव । ननु बन्धस्वभावानां कर्मणां बन्धनिवर्तने किं सामर्थ्यम्? तत्राह— **योगः कर्मसु कौशलमिति** । समत्वबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानस्वरूपो योग एव कर्मसु बन्धनिवर्तनसामर्थ्यम्, बन्धस्वभावस्यापि योगमहिम्ना मोचकत्वमित्यर्थः । अथवा बन्धकस्य कथं मोचकत्वमिति शङ्कायाम्, 'योगः कर्मसु कौशलं' इत्यर्थान्तरन्यासरूपोऽयं परिहारः । योगशब्द उपायपरः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' [ अमरः ३।३।२२ ] इति निघण्टुः । कर्मसु क्रियमाणेषु उपाय एव कौशलमतिसामर्थ्यम् । अनिष्टफलजननस्वभावमपि कर्मोपायविशेषेण प्रयुज्यमानं सदिष्टफलसमर्थं भवति, 'विज्ञाय सेवितश्चोरो मैत्रीमेति न चोरताम्' इति ज्ञानवासिष्ठोक्तन्यायादिति भावः ॥ ५० ॥

९ व० त० दी०— एतद्बुद्धियोगयुक्त एव निर्द्वन्द्वो भवतीत्याह— बुद्धियुक्त इति । उभे पुण्यपापे स्वर्णलोहबन्धनतुल्ये इहैव जहाति । तस्माद्योगायोक्तस्वरूपाय युक्तो भव । योगो हि कर्मसु कौशलं निर्बन्धनतावृत्तिसाधनमिति । गुणाविष्करणम् ॥ ५० ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं बुद्धौ किं स्यात्? इत्याशङ्क्याह— **बुद्धियुक्त इति** । बुद्ध्या युक्त इहैव उभे सुकृतदुष्कृते जहाति । **अयमर्थः**— मयि बुद्ध्या युक्त इह अस्मिन्नेव जन्मनि सुकृतफलं स्वर्गादि दुष्कृतफलं नरकं तत्साधने सुकृतदुष्कृते त्यजति । सुकृतमुत्तमफलार्थं करोमि; दुष्कृतं प्रमाज्जातं तत्फलभोगो मम भविष्यतीति न विचारयति । किन्तु यथा ईश्वरः प्रेरयति तथा करोमीति करोति, तेन भक्तसाधनत्वं भवतीत्यर्थः । यस्माद्बुद्ध्याऽहं प्रसन्नः सन् भक्तिं ददामि तस्मात्त्वं योगाय-म इति शेषः— युज्यस्व यत्नं कुरु । ननु योगोऽपि कृतिसाध्यत्वात्

कर्म एवेति पूर्वोक्तमध्यपातित्वात्, किं योगेन ? इत्यत आह— **योग** इति । कर्मसु कौशलं चातुर्यम्; योग इत्यर्थः । मन्निष्ठत्वान्मद्दर्शनार्थं मनःस्थिरीकरणसाधकत्वाच्चातुर्यम् । साक्षाद्भक्त्यधिकारफलानि वा । मदाज्ञया कर्मकरणं योगः । एतदेव कर्मसु चातुर्यं, यत्कृत्वाऽपि भक्तिसाधने प्रवेशनीयं तादृशो योग उत्तम इति । इदानीं तदधिकाराभावात्तथोपदिशति । अन्यथा 'कर्मसु' इति पदं व्यर्थं स्यात् ॥ ५० ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च– बुद्धीति । बुद्धियुक्तः समत्वबुद्धियुक्तो योगाय समत्वबुद्धियोगाय युज्यस्व घटस्व । योगः सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वबुद्धिः । कर्मसु बन्धकेष्वपि कौशलं बन्धनिवर्त्तकत्वसम्पादनम् । ननु बुद्धियुक्तः कर्मभिर्दुष्कृतं त्यजतु "धर्मेण पापमपनुदति" [ म. ना. २२।१ ] इति श्रुतेः; सुकृतं तु सजातीयत्वात्तैर्दुष्परिहरमिति कथं 'उभे सुकृतदुष्कृते जहाति' इत्युच्यते ? सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेति प्राञ्चः । अर्वाञ्चस्तु–दुष्कृतत्यागमुक्तरीत्याऽभ्युपेत्य फलत्यागात् सुकृतत्यागोऽपि कर्मयोगिनो भवति, दुष्कृतफलवन्मोक्षप्रतिबन्धकतत्फलस्यानुत्पादात् । यत्तु आपस्तम्बोक्ताम्रवृक्षनिदर्शनेन नान्तरीयकं सुकृतफलमुक्तं, न तत्फलत्वेनोपपद्यते, नान्तरीयकत्वादेव । तस्मात्फलद्वारा मोक्षप्रतिबन्धके क्रियमाणे एव सुकृतदुष्कृते कर्मयोगी जहाति; ज्ञानी तु सञ्चितेऽपि ते जहातीति तयोर्विशेष इत्याहुः ॥ ५० ॥

योगयुक्तानां जनिमृतिनिवृत्तिपूर्वको मोक्षपदप्राप्त्युपायः ।

**कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः ।**
**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ॥ ५१ ॥**

**१ शां. भा.— यस्मात्– कर्मजमिति 'कर्मजं फलं त्यक्त्वा' इति व्यवहितेन सम्बन्धः । इष्टानिष्टदेहप्राप्तिः कर्मजं फलं कर्मभ्यो जातं बुद्धियुक्ताः समत्वबुद्धियुक्ताः सन्तः हि यस्मात् फलं त्यक्त्वा परित्यज्य मनीषिणो ज्ञानिनो भूत्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः– जन्म एव बन्धो जन्मबन्धः, तेन विनिर्मुक्ता जीवन्त एव जन्मबन्धात् विनिर्मुक्ताः सन्तः पदं परमं विष्णोर्मोक्षाख्यं गच्छन्ति, अनामयं सर्वोपद्रवरहितमित्यर्थः । अथवा— 'बुद्धियोगाद्धनञ्जय' [२।४९] इत्यारभ्य परमार्थदर्शनलक्षणैव सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीया कर्मयोगजसत्त्वशुद्धिजनिता बुद्धिर्दर्शिता, साक्षात् सुकृतदुष्कृतप्रहाणादिहेतुत्वश्रवणात् ॥ ५१ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— समत्वबुद्धियुक्तस्य सुकृतदुष्कृततत्फलपरित्यागेऽपि कथं मोक्षः स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यस्मा**दिति । समत्वबुद्धया यस्मात्कर्मानुष्ठीयमानं दुरितादि त्याजयति तस्मात् परम्परयाऽसौ मुक्तिहेतुरित्यर्थः । मनीषिणो हि ज्ञानातिशयवन्तो बुद्धियुक्ताः सन्तः स्वधर्माख्यं कर्म अनुतिष्ठन्तस्ततो जातं फलं देहप्रभेदं हित्वा जन्मलक्षणाद्बन्धाद्विनिर्मुक्ता वैष्णवं पदं सर्वसंसारस्पर्शशून्यं प्राप्नुवन्तीति श्लोकोक्तमर्थं श्लोकयोजनया दर्शयति— **कर्मजमि**त्यादिना । इष्टो देहो देवादिलक्षणः, अनिष्टो देहस्तिर्यगादिलक्षणः, तत्प्राप्तिरेव कर्मणो जातं फलं, तद्यथोक्तबुद्धियुक्ता ज्ञानिनो भूत्वा तद्बलादेव परित्यज्य बन्धविनिर्मोकपूर्वकं जीवन्मुक्ताः सन्तो विदेहकैवल्यभाजो भवन्तीत्यर्थः । बुद्धियोगादित्यादौ बुद्धिशब्दस्य समत्वबुद्धिरर्थो व्याख्यातः, सम्प्रति परम्परां परिहृत्य सुकृतदुष्कृतप्रहाणहेतुत्वस्य समत्वबुद्धावसिद्धेर्बुद्धिशब्दस्य योग्यमर्थान्तरं कथयति— **अथवे**ति । अनवच्छिन्नवस्तुगोचरत्वेन अनवच्छिन्नत्वं तस्याः सूचयन् बुद्ध्यन्तराद्विशेषं दर्शयति— **सर्वत** इति । असाधारणं निमित्तं तस्या निर्दिशति— **कर्मे**ति । यथोक्तबुद्धेर्बुद्धिशब्दार्थत्वे हेतुमाह— **साक्षा**दिति । जन्मबन्धविनिर्मोकादिरादिशब्दार्थः । यस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे परमार्थदर्शनलक्षणा बुद्धिरुद्देश्यतया युज्यते तस्मात्कर्मणः सकाशादितरत्कर्म तथाविधोद्देश्यभूतबुद्धिसम्बन्धविधुरमतिशयेन निष्कृष्यते । अतश्च परमार्थबुद्धिमुद्देश्यत्वेनाश्रित्य कर्मानुष्ठातव्यं, परिच्छिन्नं फलान्तरमुद्दिश्य तदनुष्ठाने कार्पण्यप्रसङ्गात्; किञ्च परमार्थबुद्धिमुद्देश्यामाश्रित्य कर्म अनुतिष्ठन्नन्तःकरणशुद्धिद्वारा परमार्थदर्शनसिद्धौ जीवत्येव देहे सुकृतादि हित्वा मोक्षमधिगच्छति । तथा च परमार्थदर्शनलक्षणयोगार्थं मनो धारयितव्यम् । योगशब्दितं हि परमार्थदर्शनमुद्देश्यतया कर्म स्वनुतिष्ठतो नैपुण्यमिष्यते । यदि च परमार्थदर्शनमुद्दिश्य तद्युक्ताः सन्तः समारभेरन्कर्माणि तदा तदनुष्ठानजनितबुद्धिशुद्ध्या ज्ञानिनो भूत्वा कर्मजं फलं परित्यज्य निर्मुक्तबन्धना मुक्तिभाजो भवन्तीत्येवमस्मिन्पक्षे श्लोकत्रयाक्षराणि व्याख्यातव्यानि ॥ ५१ ॥

**३ रा. भा.— बुद्धियोगयुक्ताः कर्मजं फलं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्तः, तस्मात् जन्मबन्धविनिर्मुक्ता अनामयं पदं गच्छन्ति । हि प्रसिद्धं ह्येतत्सर्वासूपनिषत्स्वित्यर्थः ॥ ५१ ॥**

४ वे. ता. चं.— अथ तत्फलभूतबन्धनिवृत्तिपूर्वकामृतत्वप्राप्तिपरस्य ' कर्मजं ' इति श्लोकस्य हेतुफलभावक्रमेण अन्वयमाह— **बुद्धियोगयुक्ता** इति । कर्मजं फलं सांसारिकम् । जन्मबन्धो जन्मनो बन्धः स्वच्छन्दत्वहानिः; अथवा जन्मैव बन्ध इति कर्मधारयः । अनामयं पदं स्थानविशेषो वा, परमप्राप्यं परमात्मस्वरूपं वा, प्रकरणवशादत्र ब्रह्मपर्यन्तजीवस्वरूपं वा, पद्यते गम्यत इति पदम् ; त्रयमपि हि साक्षादन्यथा वा मुक्तप्राप्यत्वात्पदशब्दवाच्यम् । हिशब्दस्यात्र हेतुत्वादिपरत्वासम्भवात् प्रसिद्धिपरत्वम् । प्रसिद्धिस्थलं चाह— **प्रसिद्धं ह्येतत्सर्वा**स्विति । एवमुक्तप्रकारो हेयोपादेयविभागो युक्त्यागमनिरपेक्षं तत्रैव स्पष्टो भविष्यतीति चमत्कारार्थमुच्यते ॥ ५१ ॥

**५ आ.मा.भा.— तदुपायमाह– कर्मजमिति । कर्मजं फलं त्यक्त्वाऽकामनयेश्वराय समर्प्य बुद्धियुक्ताः सम्यग्ज्ञानिनो भूत्वा पदं गच्छन्ति । स योगः कर्म ज्ञानसाधनम् । तन्मोक्षसाधनमिति भावः ॥५१॥**

६ ज. प्र. दी.— ननु कर्मजमिति श्लोकः पूर्वोक्तान्न विशिष्यत इत्यत आह— **तदिति** । तस्य ज्ञानस्य उपायं योगं तज्ज्ञानमुपायो यस्य तं मोक्षं चाह विवृणोतीत्यर्थः । व्यवहितत्वादन्वयमाह— कर्मजं फलं त्यक्त्वा । अप्राप्तस्य फलस्य कथं त्याग इत्यतो व्याचष्टे— **अकामनयेति** । प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानात्तृतीया । एतत्प्रागुक्तमित्यतः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे— **ईश्वरायेति** । 'बुद्धियुक्ता मनीषिणः' इति पौनरुक्त्यपरिहारायाऽऽह— **बुद्धीति** । सम्यग्ज्ञानिन इति शास्त्रजनिततत्त्वज्ञानिनः । अनेन ' मनीषिणः ' इत्यपरोक्षज्ञानिन इति सूचितम्, प्रशंसायां मत्वर्थीयविधानात् । नन्विदमेकं वाक्यं कथं वाक्यार्थद्वयस्य विवरणम् ? मोक्षस्वरूपविवरणेऽपि योगो न सम्यक् विवृतः, अङ्गिनः कर्मण एवानभिधानात्; अङ्गानां च सङ्कल्पत्यागादीनामित्यत आह— **स** इति । समस्ताङ्गसङ्ग्रहाय योगग्रहणम् । तज्ज्ञानं यद्यपि योजनावशादिदमेकं वाक्यं, तथाप्यर्थद्वयवशाद्द्वे वेदितव्ये । योगश्च ' कर्मजं फलं त्यक्त्वा ' इत्यनेन समग्रो लक्षित इति भावः ॥ ५१ ॥

**७ ह. पै. भा.— इतश्च फलसङ्गं त्यक्त्वा स्वधर्मोऽनुष्ठेयः– कर्मजं कर्मफलमिष्टदेहादिप्राप्तिलक्षणं त्यक्त्वा बुद्धियुक्ता ज्ञानिनो मनीषिणो मननशीलाः जन्मना बन्धो जन्मबन्धस्तेन विनिर्मुक्ता जीवन्त एव जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तः पदं वैष्णवं मोक्षाख्यं गच्छन्ति, अनामयं सर्वोपद्रवरहितमित्यर्थः ॥ ५१ ॥**

८ वे. ब्र. गि.— ननु कथं कर्मणां मोचकत्वम् ? " न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः " [म.ना. १०।५कै.उ.२] इत्यादिश्रुत्या तेषां मोक्षहेतुत्वनिषेधपूर्वकं तत्त्यागस्यैव तत्र हेतुत्वोक्तेः, इत्याशङ्क्य " तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [बृ. उ. ४।४।२२] इत्यादिश्रुत्या कर्मणां ज्ञानद्वारा मोक्षहेतुत्वावगमात् 'न कर्मणा...' इत्येतत्काम्यकर्मनिषेधपरम्, त्यागश्रुतिश्च फलत्यागपरैवेत्येतद्दर्शयितुं कर्मणां मोक्षहेतुत्वप्रकारमाह— कर्मजं फलं त्यक्त्वा फलेच्छां विहाय ततः समत्वबुद्धियुक्ता परमेश्वराराधनार्थत्वेनैव कर्म कुर्वाणाः सन्तः चित्तशुद्धिद्वारेण मनीषिणः तत्त्वमस्यादिमहावाक्यजन्याद्वैतब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्कारवन्तो भूत्वा जन्ममरणरूपेण बन्धेनातितरां मुक्ता अनामयं निर्दुःखं पदमद्वितीयानन्दात्मरूपं गच्छन्ति । हि यस्मादेवं तस्मात्त्वमप्येवंविधं कर्मयोगमनुतिष्ठेति भावः ॥५१॥

९ व० त० दी०— एवं योगेन व्यवसायिनां सिद्धिप्रकारं सदाचारेण दर्शयति— कर्मजमिति । फलं त्यक्त्वा जन्मैव बन्धरूपं तेन विनिर्मुक्ता अनामयं पदं धाम अक्षराख्यं स्वरूपं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

१० पु. अ. त.— ननु कर्मणां स्वतन्त्रफलकत्वे भक्तेः कथं साधनता ? इत्याशङ्क्याह— **कर्मजमिति** । मनीषिणः शास्त्रार्थज्ञातारः । बुद्धियुक्ता बुद्धिर्युक्ता येषां तादृशत्वं च भक्तिप्रयत्नवत्त्वेन; ते हि निश्चयेन कर्मजं फलं त्यक्त्वा जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः सन्तोऽनामयं पदं भक्तिरूपं गच्छन्तीत्यर्थः । अन्यत्र रोगादिकं भवति, न तु भक्तौ भगवच्चरणरूपायाम् । अत एव श्रीभागवते [ १० । ३ । २७ ] मृत्युभयाभावत्वं भगवच्चरणे निरूपितम् । ' मर्त्यः ' इत्यारभ्य ' मृत्युरस्मादपैति ' इत्यन्तेन श्लोकेन देवकीस्तुतौ ॥ ५१ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवाह— कर्मजमिति । बुद्धियुक्ताः समत्वबुद्धियुक्ताः क्रियमाणकर्मजं फलं त्यक्त्वा, मनीषिणो मनोनिग्रहसमर्था भूत्वा जन्मरूपेण बन्धेन मुक्ताः सन्तोऽनामयं निरुपद्रवं पदं मोक्षाख्यं गच्छन्ति ॥ ५१ ॥

बुद्धिशुद्धिसिद्धिद्वारा वैराग्यज्ञाननिष्ठयोः प्राप्तिकालः ।

**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।**
**तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ ५२ ॥**
**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।**
**समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥**

१ **शां. भा.**— योगानुष्ठानजनितसत्त्वशुद्धिजा बुद्धिः कदा प्राप्यते ? इत्युच्यते— **यदेति** ॥ यदा यस्मिन् काले ते तव मोहकलिलं मोहात्मकमविवेकरूपं कालुष्यं, येनात्मानात्मविवेकबोधं कलुषीकृत्य विषयं प्रत्यन्तःकरणं प्रवर्तते, तत्ते तव बुद्धिर्व्यतितरिष्यति व्यतिक्रमिष्यति, अतिशुद्धभावमापत्स्यत इत्यर्थः । तदा तस्मिन् काले गन्तासि प्राप्स्यसि निर्वेदं वैराग्यं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च, तदा श्रोतव्यं श्रुतं च ते निष्फलं प्रतिभाति– प्रतिपद्यते– इत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— यथोक्तबुद्धिप्राप्तिकालं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **योगेति** । श्रुतं श्रोतव्यं दृष्टं द्रष्टव्यमित्यादौ फलाभिलाषप्रतिबन्धान्नोक्ता बुद्धिरुदेष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **यदेति** । विवेकपरिपाकावस्था कालशब्देनोच्यते । कालुष्यस्य दोषपर्यवसायित्वं दर्शयन्विशिनष्टि— **येनेति** । तदनर्थरूपं कालुष्यं तवेत्यन्वयार्थं पुनर्वचनम् । बुद्धिशुद्धिफलस्य विवेकस्य प्राप्त्या वैराग्यप्राप्तिं दर्शयति— **तदेति** । अध्यात्मशास्त्रातिरिक्तं शास्त्रं श्रोतव्यादिशब्देन गृह्यते । उक्तं वैराग्यमेव स्फोरयति— **श्रोतव्यमिति** । यथोक्तविवेकसिद्धौ सर्वस्मिन् अनात्मविषये नैष्फल्यं प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ५२ ॥

१ **शां. भा.**— मोहकलिलात्ययद्वारेण लब्धात्मविवेकजप्रज्ञः कदा कर्मयोगजं फलं परमार्थयोगमवाप्स्यामि इति चेत्, तच्छृणु— **श्रुतिविप्रतिपन्नेति** । श्रुतिविप्रतिपन्नाऽनेकसाध्यसाधनसम्बन्धप्रकाशनश्रुतिभिः श्रवणैः प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणैः विप्रतिपन्ना नानाप्रतिपन्ना श्रुतिविप्रतिपन्ना विक्षिप्ता सती ते तव बुद्धिर्यदा यस्मिन् काले स्थास्यति स्थिरीभूता भविष्यति निश्चला विक्षेपचलनवर्जिता सती समाधौ– समाधीयते चित्तमस्मिन्निति समाधिः आत्मा, तस्मिन्नात्मनि इत्येतत् । साऽपि अचला, तत्रापि विकल्पवर्जिता इत्येतत् । बुद्धिरन्तःकरणम् । तदा तस्मिन् काले योगं अवाप्स्यसि विवेकप्रज्ञां समाधिं प्राप्स्यसि ॥ ५३ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— बुद्धिशुद्धिविवेकवैराग्यसिद्धावपि पूर्वोक्तबुद्धिप्राप्तिकालो दर्शितो न भवतीति शङ्कते— **मोहेति** । प्रागुक्तविवेकादियुक्तबुद्धेरात्मनि स्थैर्यावस्थायां प्रकृतबुद्धिसिद्धिरित्याह— **तच्छृण्विति** । पृष्टं कालविशेषाख्यं वस्तु तच्छब्देन गृह्यते । बुद्धेः श्रुतिविप्रतिपन्नत्वं विशदयति– **अनेकेति** । नानाप्रतिपन्नत्वमेव सङ्क्षिपति– **विक्षिप्तेति** । उक्तं हेतुद्वयमनुरुध्य वैराग्यपरिपाकावस्था कालशब्दार्थः, नैश्चल्यं विक्षेपराहित्यम्, अचलत्वं विकल्पशून्यत्वं, विक्षेपो विपर्ययः, विकल्पः संशय इति विवेकः ५३

३ **रा. भा.**— उक्तप्रकारेण कर्मणि वर्तमानस्य तया वृत्त्या निर्धूतकल्मषस्य ते बुद्धिर्यदा मोहकलिलं– अत्यल्पफलसङ्गहेतुभूतं मोहरूपं कलुषं– व्यतितरिष्यति, तदाऽस्मत्त इतः पूर्वं त्याज्यतया श्रुतस्य फलादेरितः पश्चाच्छ्रोतव्यस्य च कृते स्वयमेव निर्वेदं गन्तासि गमिष्यसि ॥ ५२ ॥

४ **वे. ता. चं.**— 'यदा' इति श्लोकेन मोहतरणहेतुं प्रकृतं दर्शयति— **उक्तेति** । पुण्यपापरूपसांसारिककर्मणा हि मोहः; स च फलाभिसन्ध्यादिरहितकर्मणा निवर्त्यः । ततः कारणाभावात्कार्याभाव इति भावः । **अत्यल्पफलसङ्गहेतुभूत**मित्यनेन मोहस्येदानीं निर्वेदप्रतिबन्धकत्वमुच्यते । मोहस्वरूपातिरिक्तस्य तत्साध्यस्य कालुष्यस्याभावात् **मोहरूप**मित्युक्तम् । **कलुष**शब्दोऽत्र कालुष्यपरः । **अस्मत्त** इति; आप्ततमेभ्य इति भावः । **त्याज्यतये**ति निर्वेदयोगत्वायोक्तम् । न हि श्रोतव्येषु श्रुतेषु च उपादेयांशो निर्वेदहेतुः । यद्वा 'श्रोतव्यस्य'इत्यस्योपादेयत्वाय 'श्रुतस्य'इत्यत्र त्याज्यतयेति विशेषणम् । हेयसङ्गमुपादेयवैतृष्ण्यं च परामृश्य भवति हि निर्वेदः । स च स्वावज्ञारूपः । यथाहुर्गन्धर्ववेदिनः— 'तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्' [ द. रू.४।९ ] इति । श्रोतव्यस्येत्यादेः सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या विवक्षितविशेष-

कथनं—**कृत** इति । **स्वयमेवे**ति । अस्मद्वाक्यादिनिरपेक्ष इत्यर्थः । 'गन्तासि' इत्यत्र पदभेदभ्रमं निरस्यति— **गमिष्यसी**ति । 'गन्तासि' इत्यत्र द्वितीयान्वयात्तृजन्तत्वं न युज्यते । तृन्नन्तत्वे तु भविष्यत्त्वविवक्षा न स्वारसिकी । अतो लुडन्ततयैकपद्यं युक्तम् । एवं 'जेतासि' इति वक्ष्यमाणेऽपि । अनद्यतनविहितलुडन्तोऽपिशब्दो 'व्यतितरिष्यति' इत्येतत्तुल्यतया भविष्यन्मात्रार्थेन व्याख्यात इति ॥ ५२ ॥

**३ रा. भा.—'योगे त्विमां शृणु' [ २ । ३९ ] इत्यादिनोक्तस्यात्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकस्य बुद्धिविशेषसंस्कृतस्य धर्मानुष्ठानस्य लक्षणभूतं योगाख्यं फलमाह— श्रुतीति । श्रुतिः श्रवणम् । अस्मत्तः श्रवणेन विशेषतः प्रतिपन्ना, सकलेतरविसजातीयनित्यनिरतिशयसूक्ष्मात्मविषया स्वयमचला एकरूपा बुद्धिरसङ्गकर्मानुष्ठानेन निर्मलीकृते मनसि, यदा निश्चला स्थास्यति, तदा योगमात्मावलोकनमवाप्स्यसि। एतदुक्तं भवति— शास्त्रजन्यात्मज्ञानपूर्वककर्मयोगः स्थितप्रज्ञताख्यज्ञाननिष्ठामापादयति; ज्ञाननिष्ठारूपा स्थितप्रज्ञता तु योगाख्यमात्मावलोकनं साधयति— इति ॥ ५३ ॥**

४ वे.ता.चं.—'नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरा साङ्ख्ययोगधीः। द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये' [ गी. सं. ६ ] इति सङ्ग्रहश्लोकमनुसन्दधानो ज्ञानयोगाभिधानोपक्रमभूतमुत्तरश्लोकमवतारयति— **योगे त्वि**ति । बुद्धिविशेषो 'व्यवसायात्मिका' [ २।४१ ] इत्यादिना पूर्वोक्तः । **लक्षभूतं** उद्देश्यभूतमित्यर्थः । 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' इत्यस्य प्रकृतानुपयुक्ताप्रकृतवैदिकवाक्यविरोधार्थताभ्रमं 'श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च' इति प्रकृतानुरोधेन व्युदस्यति— **श्रुतिः श्रवणमित्या**दिना । **अस्मत्त** इति— सार्वज्ञसर्वशक्तिपरमकारुण्यादिभिरनाघ्रातभ्रमविप्रलम्भप्रमादादिदोषगन्धात् अव्याजबन्धोरीश्वरादिति भावः । विशब्दस्य विरुद्धार्थताव्युदासाय वैशिष्ट्यार्थतामीश्वराच्छ्रवणेन सिद्धां दर्शयति— **विशेषत** इति । स्थास्यतीति स्थायित्वं ह्युक्तम्, विशेषं पूर्वोक्तं व्यनक्ति— **सकलेतरे**ति । 'अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्' [ सि. त्र. ] इति भावः । निश्चलाचलशब्दयोः पौनरुक्त्यपरिहारायोक्तं **स्वय**मित्यादि । उद्देश्यान्तर्गतमचलत्वम्, निश्चलत्वं तु तत्र विधेयो विशेष इति स्वयंशब्दस्य भावः । एकरूपार्थविषयत्वादेकरूपा विषयान्तरसञ्चाररहिता चेत्यर्थः । अथवा 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' इति श्रवणस्योक्तत्वान्मननस्थिरीकृतत्वं कुतर्कैरकम्पनीयत्वं च पदाभ्यां विवक्षितम् । यद्वा पूर्वोक्तबहुशाखत्वानन्तत्वनिषेधपरोऽचलशब्द इत्यभिप्रायेणोक्तम्— **एकरूपे**ति । समाधीयते अस्मिन्नात्मज्ञानमिति समाधिर्मन इति निर्वचनेन तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिहेतुतामभिप्रयतोक्तं **असङ्गे**त्यादि । योगशब्दस्यात्र ज्ञानयोगरूपनिश्चलबुद्धिसाध्यफलविषयत्वात् **आत्मावलोकन**मित्युक्तम् । **समाधि**शब्दस्यात्र बुद्धिविशेषपरत्वे पुनरुक्त्यादिः, तत्कालपरत्वे तु लक्षणा च स्यादिति भावः । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' [ अमरः ३ । ३ । १७९ ] इत्यादिभिरनेकार्थतया प्रसिद्धोऽयं शब्दस्तत्तद्वाक्यानुकूलमनुसन्धेयः । ननूपायतया हि योगो विहितः, स कथं फलतयाऽत्र निर्दिश्यते ? आत्मज्ञानपूर्वकस्य च कर्मयोगस्यात्मज्ञानमेव साध्यं चेदात्माश्रयादिदोषः, श्रवणमननाभ्यां स्थितप्रज्ञस्य ह्यनुष्ठानम् ; तथा च कथमनुष्ठानसाध्या स्थितप्रज्ञता ? निश्चलप्रज्ञास्थितिमन्तरेण च कोऽसावपरस्तदापायो योग इत्यत्राह— **एतदुक्त**मिति । तत्र प्रथमचोद्यं **कर्मयोग**शब्देन **योगाख्यमात्मावलोकन**मित्यनेन च परिहृतम् । शास्त्रजन्यात्मज्ञानात्मावलोकनशब्दाभ्यां आत्माश्रयादिनिरासः । आत्मज्ञानज्ञाननिष्ठाशब्दाभ्यां श्रवणमात्रसिद्धतत्त्वनिश्चयज्ञानयोगविषयाभ्यां तृतीयस्य परिहारः । चतुर्थोऽप्युक्तप्रकारेण साक्षात्कारतद्धेतुस्मृतिसन्ततिभेदात् परिहृतः । प्रथमं शास्त्रतस्तत्त्वज्ञानम्, ततः स्मृतिसन्ततिरूपमुपासनम्, ततस्तन्मूलसाक्षात्कार इति ज्ञानपर्वभेदः प्रदर्शितः ५३

**५ आ. मा. भा.— कियत्पर्यन्तमवश्यं कर्तव्यानि मुमुक्षुणैवं कर्माणीत्याह— यदेति । निर्वेदं नितरां लाभम् । प्रयोगात् "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" [ बृ. उ. ३।५।१ ] इत्यादि । न हि तत्र वैराग्यमुपपद्यते, तथा सति पाण्डित्यादिति स्यात् ।**

६ ज. प्र. दी.— 'यदा ते' इति श्लोके योगसम्बन्धि न किमप्युच्यत इत्यतस्तत्सङ्गतिमाह— **कियदि**ति । एवं फलकामनादिवर्जितानि ईश्वराराधनरूपाणीत्याकाङ्क्षायामाहेत्यर्थः । नन्वियमाकाङ्क्षैवानुपपन्ना, योगो हि ज्ञानफलसाधनतयोपदिष्टः, साधनं च साध्यप्राप्तिपर्यन्तमनुष्ठेयमिति प्रसिद्धमेव । 'नियतपूर्वक्षणवृत्ति कारणं' इति तल्लक्षणम् । उच्यते— योगो हि न साक्षाज्ज्ञानसाधनम्, किन्तु श्रवणादिकमेव; प्रमितेः प्रमाणफलत्वात् । योगस्त्वदृष्टद्वारा सत्त्वशुद्धिमुत्पाद्य श्रवणादीनामुपकरोति; उपकारस्य च द्वयी गतिर्दृष्टा, अतो युक्तैवेयमाकाङ्क्षेति । तथापि जिज्ञासुनेति वक्तव्यम् । सत्यम्, मोक्षसाधनज्ञानार्थिनेत्येतावतोऽर्थस्य ग्रहणाय मुमुक्षुणेत्युक्तम् । निर्वेदं वैराग्यमित्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह— **निर्वेद**मिति । ननु निरः पूर्वो विदिर्वैराग्ये रूढः, तत्कुतो लाभार्थतेत्यत आह— **प्रयोगादि**ति । अस्यामपि श्रुतौ वैराग्यार्थता किं न स्यात् ? इत्यत आह— **न ही**ति । कुतो नोपपद्यत इत्यत आह— **तथा सती**ति । 'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम्' इति

कात्यायनवचनात्पाण्डित्यस्य विरामार्थधातुयोगबलेनापादानत्वप्राप्तौ अपादाने पञ्चमी स्यात्, न द्वितीयेत्यर्थः । इदमत्राभिप्रेतम्– निरुपसर्गः सत्तार्थस्यैव विदेरर्थं बाधित्वा तं वैराग्यार्थं व्यवस्थापयति, निर्विद्यत इति कर्तरि प्रयोगदर्शनात् । लाभार्थस्य विदेरर्थं विशिनष्ट्येव केवलम् । 'निर्विन्दति' 'निर्विन्दते' इति वैराग्ये तत्प्रयोगादर्शनादिति । अथवाऽस्तु सर्वत्र निरो धात्वर्थबाधकत्वम्, विशेषकत्वमपि क्वचित् किं न स्यात् ? व्याददातीत्यादावुभयदर्शनादिति ।

**५ आ. मा. भा.— न च ज्ञानिनां भगवन्महिमादिश्रवणेन विरक्तिर्भवति । 'आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था ( निर्ग्रन्था ) अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः' [ भाग. १।७।१० ] इति वचनात्, अनुष्ठानाच्च शुकादीनाम् । न च तेषां फलं सुखं नास्ति, तस्यैव महत्सुखत्वात् । तेषां 'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात् । सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्किम्वन्तकासि लुलितात्पततां विमानात्' [भाग. ४।९।१० ] इत्यादिवचनात् । तेषामप्युपासनादिफलस्य साधितत्वात्, तारतम्याधिगतेश्च ।**

६ ज. प्र. दी.— न केवलं गीतायां प्रयोगाल्लाभार्थता, किन्तु वैराग्यार्थतानुपपत्तेश्चेत्याह— **न चेति** । अनेनान्तःकरणस्य मोहकलिलातिक्रमो नाम ज्ञानप्राप्तिरिति सूचितं भवति । आदिपदेन तदुपयुक्तं गृह्यते, कुतो न भवति ? इत्यत आह— **आत्मारामा** इति । भक्तिं श्रवणादिलक्षणाम् । 'कस्य वा महतीमेतामात्मारामः समभ्यसत्' इत्यस्योत्तरत्वात् अनुष्ठानाच्च, श्रवणादेरिति शेषः । ननु शुकादीनां श्रवणाद्यनुष्ठानेऽपि फलं नास्ति, तत्फलस्य ज्ञानस्य प्राप्तत्वात् । फलाभावानुसन्धानमेव चात्र वैराग्यशब्देनाभिप्रेतम् । यथाऽऽह मायावादी 'तदा श्रोतव्यं श्रुतं च निष्फलं प्रतिपद्यत इत्यभिप्रायः' [ शां. भा. ] इति । अनुष्ठानं तु लोकसङ्ग्रहार्थं संस्काराद्वेत्यत आह— **न चेति** । कुतो नेत्यत आह– **तस्यैवेति** । तस्यैव श्रवणादेरेव, स्थान्यादेशोक्तिव्यत्ययेन द्वन्द्वेऽल्पाच्तरस्य परनिपातेन च 'आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः' [ अष्टा. ६।३।४६ ] इत्यस्य विधेरनित्यत्वज्ञापनात् 'महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणात्' [ भाग. ३।५।२९ ] इत्यादिप्रयोगदर्शनाच्च महत्सुखत्वादिति युक्तम् । तथापि श्रवणादिकमेव कथं सुखम् ? उत्तरक्षण एव महासुखोदयादैक्योपचार इत्यदोषः । तिष्ठतु तावत् कालान्तरभावि महत्फलमित्येवशब्दः । नन्वस्मदादीनां श्रवणोत्तरक्षणे सुखं नोत्पद्यत इत्यत आह— **तेषामिति**; रसिकानामित्यर्थः । न हि पितृजीवनादिवार्ताश्रवणेनान्येषामिव न पुत्रस्यापि सुखेनोत्पत्तव्यमिति । अस्तु सम्भावना, निश्चयस्तु कुतः ? इत्यत आह— **येति** । भवतो भवज्जनानां च स्वमहिमन्याविर्भूतस्वरूपे आब्रह्मण्यल्पमुक्ते । न केवलं तात्कालिकं सुखं तत्फलम्; किन्तु मुक्तावानन्दवृद्धिश्चेत्याह— **तेषामिति** । ज्ञानिनामपि ज्ञानोत्तरस्याप्यनुष्ठानस्य यदि फलं स्यात्तर्ह्यनुष्ठानस्यैकाविध्यनियमासम्भवात् । स्वर्गवदपवर्गेऽपि तारतम्यं प्रसज्येत । न च तद्युक्तम्, अप्रामाणिकत्वात्, प्रमाणविरुद्धत्वाच्चेत्यतो नेदमनिष्टमिति भावेनाह— **तारतम्येति** । प्रमाणविरोधाभावाच्चेति चार्थः ।

**५ आ. मा. भा.— तथाहि– यदि तारतम्यं न स्यात् 'नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादं' [ भाग. ३।१५।४८ ] 'नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्' [ भाग. ३।२५।३४ ] 'एकत्वमप्युत दीयमानं न गृह्णन्ति' इति मुक्तिमप्यनिच्छतामपि मोक्ष एव फलम् । तमिच्छतामपि भवति सुप्रतीकादीनाम् । कथमनिच्छतां स्तुतिरुपपन्ना स्यात् ? वचनाच्च । 'यथा भक्तिविशेषोऽत्र दृश्यते पुरुषोत्तमे । तथा मुक्तिविशेषोऽपि ज्ञानिनां लिङ्गभेदने' इति । 'योगिनां भिन्नलिङ्गानामाविर्भूतस्वरूपिणाम् । प्राप्तानां परमानन्दं तारतम्यं सदैव हि' इति । 'न त्वामतिशयिष्यन्ति मुक्तावपि कदाचन । मद्भक्तियोगाज्ज्ञानाच्च सर्वानतिशयिष्यसि' इति च । साम्यवचनं तु प्राचुर्यविषयम्, दुःखाभावविषयं च । तथा चोक्तम्— 'दुःखाभावः परानन्दो लिङ्गभेदः समो मतः । तथापि परमानन्दो ज्ञानभेदात्तु भिद्यते' इति नारायणाष्टाक्षरकल्पे । अतो न वैराग्यं श्रुतादावत्र विवक्षितम् । न च सङ्कोचे मानं किञ्चिद्विद्यमान इतरत्र प्रयोगे महद्भिः श्रवणीयस्य श्रुतस्य च वेदादेः फलं प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ ५२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— कुतः प्रमाणान्मुक्ततारतम्याधिगतिः ? इत्यतोऽर्थापत्तिं तावदाह— **तथाहीति** । यदि मुक्तानां तारतम्यं न स्यात्, तदा मुक्तिमप्यनिच्छतामेकान्तिनां मोक्षमात्रफलं तं मोक्षमिच्छतामपि सुप्रतीकादीनां मोक्षो भवतीत्यङ्गीकार्यं स्यात् । तथा च नात्यन्तिकमिति मोक्षमनिच्छतां स्तुतिः कथमुपपन्ना स्यात् ? निमित्ताभावात्; अतः स्तुत्यन्यथानुपपत्त्येच्छतां मुक्तेरनिच्छतां मुक्तिरधिकेति गम्यते इत्यर्थः । आत्यन्तिकं मुक्तिहेतुम् । एकात्मतां सायुज्यम् । एकत्वमपि तदेव ।

आगमाच्च तारतम्याधिगतिरित्याह— **वचनाच्चे**ति । आविर्भूतस्वरूपिणामिति कर्मधारयादतिशयार्थे इनिः । अनेन जीवन्मुक्तवैश्वर्यतारतम्येनार्थापत्तेरन्यथोपपत्तिः परिहृता, 'लिङ्गभेदने भिन्नलिङ्गानां' इत्याद्युक्तेः । "परमं साम्यमुपैति" [ मु. उ. ३।१।३ ] इत्यादिवचनविरुद्धं मुक्ततारतम्यमित्यत आह— **साम्येति** । प्राचुर्यं पूर्णत्वम् । कुत एतत् ? उक्तप्रमाणविरोधात्, विशेषवचनाच्चेत्याह— **तथाचे**ति । यद्यपि परानन्दोऽलम्बुद्धिगोचरत्वमात्रेण समः, तथापि न च ज्ञानिनामित्यादिनोक्तमर्थमुपसंहरति— **अत** इति । अस्तु तर्हि, भगवन्महिमादिव्यतिरिक्तश्रुतादौ वैराग्यमत्र विवक्षितमित्यत आह— **न चे**ति । निर्वेदशब्दस्य वैराग्यार्थकत्वे निश्चिते तद्बलाच्छ्रोतव्यादिशब्दस्यार्थसङ्कोचः क्रियेतापि । इतरत्र नितरां लाभे तस्य प्रयोगे विद्यमाने निर्मूलं सङ्कोचकल्पनमित्यर्थः । ननु लाभार्थतायामपि असच्छास्त्रादिव्युदासाय सङ्कोचः कार्य एवेत्याह— **महद्भिरि**ति । अयोग्यतयैव तन्निरासः प्रकरणाद्वेति भावः ॥ ५२ ॥

**५ आ. मा. भा.— तदेव स्पष्टयति– श्रुतिविप्रतिपन्नेति । पूर्वं श्रुतिभिर्वेदैर्विप्रतिपन्ना विरुद्धा सती यदा वेदार्थानुकूलेन तत्त्वनिश्चयेन विपरीतवाग्भिरपि निश्चला भवति, ततश्च समाधावचला । ब्रह्मप्रत्यक्षदर्शनेन भेरीताडनादावपि परमानन्दमग्नत्वात् । तदा योगमवाप्स्यसि उपायसिद्धो भवसीत्यर्थः ५३**

६ अ. प्र. दी.— ननूत्तरश्लोकेऽपि योगानुष्ठानविधिरेवोच्यतेऽतः पुनरुक्तिदोष इत्यत आह— **तदेवे**ति । किं तन्मोहकलिलं कीदृशं च तदतितरणं ? इत्याकाङ्क्षायां पुंसां अधममध्यमोत्तमावस्थादिप्रदर्शनेन पूर्वश्लोकोक्तमेव योगानुष्ठानावधिमनेन स्पष्टं करोतीत्यर्थः । नन्वत्र 'श्रुतिविप्रतिपन्ना' इति श्रवणादितो वैराग्यमुच्यते, यथाह भास्करः 'वस्त्वन्तरश्रवणाद्विरक्तेति' । ततः पूर्वत्रापि वैराग्यमर्थः स्यात् । निश्चलाऽचलेति च पुनरुक्तिश्च । योगावाप्तेरुत्तरा चेयमवस्था, तत्कथमुच्यते 'तदा योगमवाप्स्यसि ?' इति शङ्कायां श्लोकं व्याचष्टे— **पूर्व**मिति । पूर्वावस्थायाः सामर्थ्यलब्धं वैलक्षण्यं दर्शयितुमुक्तं **वेदार्थे**ति । चलनप्रसक्तिं दर्शयति— **विपरीते**ति । असच्छास्त्रैरित्यर्थः । अनेन परोक्षज्ञानकाष्ठा दर्शिता । परोक्षतत्त्वनिश्चयानुवृत्तिव्युदासायोक्तम्— **ब्रह्मे**ति । अत्रापि चलनप्रसक्तिमाह— **भेरी**ति । एतत्कथमित्यत आह— **परमे**ति । परमानन्दे उपायसिद्धो भवसीत्यर्थः । एतेनापरोक्षज्ञानकाष्ठा दर्शिता । उपायेन सिद्धः प्राप्तफलः । योगशब्देन तत्फलमुपलक्ष्यत इति भावः । श्लोकद्वयेऽप्येतदवस्थाप्राप्तिर्योगानुष्ठानावधिरिति तात्पर्यम् ॥५३॥

**७ ह. वै. भा.— योगानुष्ठानजनिता सत्त्वशुद्धिः कदा प्राप्यते ? इत्यत्राऽऽह– यदेति । यदा यस्मिन्काले ते तव मोहकलिलं मोहात्मकमविवेकरूपं कालुष्यं येनाऽऽत्मानात्मविवेकं कलुषीकृत्य विषयान्प्रति अन्तःकरणं प्रवर्त्यते, तद्बुद्धिर्व्यतितरिष्यति शुद्धभावमापद्यत इत्यर्थः । तदा तस्मिन्काले गन्तासि प्राप्तासि निर्वेदं वैराग्यं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च, तदा श्रोतव्यं श्रुतं च निष्फलं प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ५२ ॥ मोहकलिलात्ययद्वारेण लब्धात्मविवेकप्रज्ञः कदा कर्मयोगजं फलं परमार्थयोगमवाप्स्यसि तच्छृणु—श्रुतीति । श्रुतिविप्रतिपन्नाऽनेकसाध्यसाधनसम्बन्धप्रकाशनश्रुतिभिः श्रुतैः श्रवणैर्विप्रतिपन्ना न सम्प्रतिपन्ना विक्षिप्ता सती ते तव बुद्धिर्यदा यस्मिन्काले स्थास्यति निश्चला विक्षेपचलनवर्जिता समाधौ समाधीयतेऽस्मिन्निति समाधिरात्मनीत्येतत् । अचला तत्रापि विकल्पवर्जिता, इत्येतद्बुद्धियुक्तेः कारणं, तदा योगमवाप्स्यसि ॥ ५३ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं कर्मयोगमनुतिष्ठतः कदा मम ब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्कारो भविष्यति ? इत्यत आह द्वाभ्याम्— न ह्येतावता कालेन ज्ञानं भवतीति नियमोऽस्ति, किन्तु उक्तरीत्या कर्मयोगे वर्तमानस्य तव यदा यस्मिन् काले परमेश्वरप्रसादेन बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं तत्त्वसाक्षात्कारप्रतिबन्धकमज्ञानविलसितमविवेकरूपं कालुष्यं व्यतितरिष्यति व्यतिक्रमिष्यति, शुद्धसत्त्वैकभावमापत्स्यत इति यावत्; तदा तस्मिन्काले 'निस्त्रैगुण्यो भव' [ २ । ४५ ] इत्यादिना पूर्वं त्याज्यतया श्रुतस्य इतः परमपि 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान्' [ २ । ५५ ] इत्यादिना त्याज्यत्वेन श्रोतव्यस्य चार्थस्य विषये निर्वेदं परं वैराग्यं गन्तासि गमिष्यसि ।

द्विविधं हि वैराग्यमपरं परं चेति । तत्र 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्' इति योगपातञ्जलोक्तं [ १।१५ ] स्रक्चन्दनवनिताधनक्षेत्रादिषु दृष्टेषु स्वर्गादिषु आनुश्रविकेषु च वैतृष्ण्यरूपमिहामुत्रफलभोगविरागाख्यं वशीकारापरपर्यायभूतमपरं वैराग्यम् । एतच्चाष्टाङ्गयोगप्रवर्तकत्वेन सम्प्रज्ञातसमाधेरन्तरङ्गम्, असम्प्रज्ञातसमाधेस्तु बहिरङ्गम् । सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातस्वरूपं च 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २ । ५५ ] इत्यत्र स्पष्टीकरिष्यते । परवैराग्यं तु 'तत्परं पुरुष - ( विवेक ) - ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्;' इति पातञ्जलसूत्रोक्तं [ १ । १६ ] त्रैगुण्यात्मककृत्स्नप्रपञ्चव्यवहारविषयं वैतृष्ण्यम् । तस्य च तारतम्यादसम्प्रज्ञातसमाधितारतम्यमिति योगशास्त्रमर्यादा । अत्र च दैवासुरसम्पद्विभागाध्यायोक्तदैवसम्पदन्तर्भूतसाधनचतुष्टयसम्पन्नस्य

भगवदुपदिष्टसाङ्ख्यज्ञानाधिकारिणश्चार्जुनस्य वशीकाराख्यमिहामुत्रफलभोगविरागरूपमपरं वैराग्यं पूर्वमेव सिद्धमिति न तद्विषयेयं निर्वेदं गन्तासीत्युक्तिः; किन्त्वसम्प्रज्ञातसमाधिजनकतया निदिध्यासनोपकारकपरवैराग्यविषया । मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यतीत्यपि ब्रह्मापरोक्षज्ञानप्रतिबन्धकमूलाज्ञानविकाररूपमोहातिक्रान्तिपरम्; न तु चित्तशुद्धिमात्रपरम्। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' [ १६।१ ] इति तस्याः पार्थे सहजसिद्धत्वेन मोहकलिलं व्यतितरिष्यतीत्युक्तेरयोगादिति ॥ ५२ ॥

नन्वेवमन्तःकरणशुद्धिं परवैराग्यं च प्राप्तवतः पुनः कस्मिन् काले साक्षात्कारः ? इत्यत आह— ते तव बुद्धिः इदानीं श्रुतिविप्रतिपन्ना श्रुत्या पूर्वोपदिष्टसाङ्ख्यबुद्ध्युपदेशश्रवणेन विप्रतिपत्तिमसम्भावनां प्राप्ता इतः परमनेन निश्चला 'इदमित्थमेव' इति दृढीकरणेनासम्भावनानिवृत्तेश्चाञ्चल्यरहिता । अनेन परोक्षज्ञानकाष्ठा दर्शिता । तदुपरि च पूर्वोक्तमोहकलिलात्ययपरवैराग्यानुगृहीतेन विजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणरूपेण निदिध्यासनेन निवातप्रदीपवदचला । अनेनापरोक्षज्ञानकाष्ठा दर्शिता । एवंरूपा सती समाधौ समाधीयतेऽस्मिन् बुद्धिरिति समाधिर्ब्रह्मात्मतत्त्वम्, तस्मिन् यदा स्थास्यति स्थिरीभविष्यति, तदा योगं पूर्वोक्तकर्मयोगफलं ब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्कारमवाप्स्यसि । समाधावचलत्वेन स्थिता सा बुद्धिरेव तत्त्वसाक्षात्कारो नामेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

९ ब० त० दी०— कदा तत्पदमहं प्राप्स्यामि ? इत्यपेक्षायामाह— यदेति द्वाभ्याम् । निश्चला विशोकधैर्यादिवती ते यदा बुद्धिर्व्यवसायात्मिकैव तदा श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च त्रैगुण्यस्य कर्मफलस्य निर्वेदं वैराग्यं प्राप्स्यसि । तस्यात्रानुपादेयत्वेन जिज्ञासां न करिष्यसीत्यर्थः । तादृशी सती ते बुद्धिरचला यदा समाधीयते तदा योगं योगस्वरूपं यास्यसि; ततश्च कार्यसिद्धिः ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

१० पु. अ. त.— ननु तत्प्राप्तिः कदा स्यात्? इत्यत आह— यदा त इति । ते बुद्धिर्यदा मोहकलिलं मोहगहनं लौकिकेषु देहादिषु विशेषेणाऽतितरिष्यति तदा निर्वेदं मोक्षं गमिष्यसि । श्रोतव्यस्य अग्रे प्रोच्यमानस्य शाश्वतो वा श्रुतस्य च निर्वेदं तदैव गन्तासि । यद्वा च पुनः । श्रुतस्य पूर्वोक्तसाङ्ख्यादेः । यदा ते बुद्धिर्मोहकलिलं विशेषेण अतितरिष्यति तदा श्रोतव्यस्य भक्तिमार्गस्य निर्वेदं गन्तासि । अत्रायं भावः— यावत्पर्यन्तं कर्मादिमार्गेषु मोहस्तावद्भक्तिमार्गफलं न भवति, तस्यानन्यसाध्यत्वात् । अत एवाग्रे तथैवोपदेष्टव्यः। अधुनाऽधिकाराभावान्नोपदिश्यते अधिकारसम्पत्त्यर्थं च सूचितः ॥ ५२ ॥

एतदेव द्रढयति— श्रुतिविप्रतिपन्नेति । श्रुतिविप्रतिपन्ना नानाविधधर्मश्रवणेच्छारहिता निश्चला श्रुतैरपि तैर्धर्मैश्चालनायोग्या यदा ते बुद्धिर्भविष्यति समाधौ मच्चिन्तनसमये अचला स्वतो दृढा स्थास्यति तदा योगं मत्सान्निध्यरूपमवाप्स्यसि, प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

११ नी० भा० दी०— कदा मनीषिणो भवन्ति ? इत्यत आह—यदेति । ते तव मोह इष्टानिष्टवियोगसंयोगजपरितापजन्यं वैचित्यम्, तदेव कलिलमिव कलिलं कालुष्यं बुद्धिगतं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति व्यतिक्रमिष्यति, बुद्धिः प्रसन्ना भविष्यति, तदा श्रोतव्यस्य शास्त्रभागस्य श्रुतस्य च निर्वेदं वैराग्यं गन्तासि । अयं भावः— मलिनायां बुद्धावसकृद्गृहीतस्यापि शास्त्रार्थस्यास्फुरणात् श्रोतव्यं श्रुतं च वृथैव, तद्वत् शुद्धायामपि बुद्धौ सद्यः शास्त्रार्थस्फुरणात्तयोर्वैयर्थ्यमित्युभयथाऽपि तत्र निर्वेद उचितः । प्रसन्ना च बुद्धिर्निग्रहीतुं योग्या भवतीति श्रवणादिकं त्यक्त्वा ध्याननिष्ठ एव भवेदिति ॥ ५२ ॥ ननु बुद्धिप्रसादोऽपि केन लिङ्गेन ज्ञेयः ? इत्यत आह— श्रुतीति । श्रुतिभिर्नानाविधशास्त्रश्रवणैर्विप्रतिपन्ना 'आत्मा नित्योऽनित्यो वा ? नित्योऽपि कर्त्ताऽकर्त्ता वा ? अकर्त्ताऽप्येकोऽनेको वा ?' इत्येवमादिसंशयग्रस्ता सती यदा [ते बुद्धिः] असम्भावनाविपरीतभावनानिरासपूर्वकं श्रुतितात्पर्यविषयीभूते ब्रह्माद्वैते निश्चला पुनः कुतर्कैरनास्कन्दनीया निर्विचिकित्साऽपरोक्षनिश्चयवती भूत्वा समाधौ निर्विकल्पके प्रत्यगात्मनि अचला लयविक्षेपशून्या स्थास्यति स्थिरा भविष्यति तदा योगं विवेकप्रज्ञां प्राप्स्यसि । निश्चलसमाधिलाभ एव बुद्धिप्रसादलिङ्गमिति भावः ॥ ५३ ॥

स्थितप्रज्ञस्य ( ज्ञाननिष्ठस्य ) किं लक्षणमित्यर्जुनस्य प्रश्नः ।

## अर्जुन उवाच—स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव ! ।
## स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ? ॥ ५४ ॥

१ शां. भा.— प्रश्नबीजं प्रतिलभ्यार्जुन उवाच लब्धसमाधिप्रज्ञस्य लक्षणबुभुत्सया— स्थितप्रज्ञस्येति । स्थिता प्रतिष्ठिता 'अहमस्मि परं ब्रह्म' इति प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञः, तस्य

का भाषा किं भाषणं वचनं ? कथमसौ परैर्भाष्यते समाधिस्थस्य समाधौ स्थितस्य हे केशव !। स्थितधीः स्थितप्रज्ञः स्वयं वा किं प्रभाषेत ? किमासीत ? व्रजेत किं ? आसनं व्रजनं वा तस्य कथं ? इत्यर्थः । स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमनेन श्लोकेन पृच्छयते ॥ ५४ ॥

२ आ. शां. व्या.—विवेकद्वारा जाता प्रज्ञा प्रागुक्ता बुद्धिः समाधिस्तत्रैव निष्ठा संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठा तत्प्राप्तिवचनं प्रश्नबीजं पृच्छतोऽर्जुनस्याभिप्रायमाह— **लब्धेति** । लब्धा समाधावात्मनि समाधानेन वा प्रज्ञा परमार्थदर्शनलक्षणा येन, तस्येति यावत् । ननु तस्य भाषा तत्तत्कार्यानुरोधिनी भविष्यति किमित्यसौ जिज्ञास्यते ? तत्राऽऽह— **कथमिति** । ज्ञाननिष्ठस्य लक्षणविवक्षया प्रश्नमवतार्य तन्निष्ठासाधनबुभुत्सया विशिनष्टि—**समाधिस्थस्येति**। तस्यैवार्थक्रियां पृच्छति– **स्थितधीरिति**॥५४॥

३ रा. भा.— एवमुक्तः पार्थोऽसङ्गकर्मानुष्ठानरूपकर्मयोगसाध्यस्थितप्रज्ञताया योगसाधनभूतायाः स्वरूपं, स्थितप्रज्ञस्यानुष्ठानप्रकारं च पृच्छति— समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य का भाषा को वाचकः शब्दः ? तस्य स्वरूपं कीदृशमित्यर्थः । स्थितप्रज्ञः किञ्च भाषणादिकं करोति ? ॥ ५४ ॥

४ वे. ता. चं.— प्रश्नरूपस्योत्तरश्लोकस्यावतारं तत्र पूर्वोत्तरार्धयोः क्रमान्निष्कृष्टप्रश्नार्थं चाह— **एवमिति** । पूर्वार्धस्याभिप्रेतं वक्तुमन्वयं तावदाह— **समाधीति** । समाधिरत्र पूर्वनिरुक्तप्रकारं मनः । तत्र स्थितिः तद्वशीकरणेनावस्थानम् । 'किं प्रभाषेत' इत्यनेन पुनरुक्तिपरिहाराय 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यत्र कर्तृतयाऽन्वयशङ्कामपाकरोति— **को वाचकः शब्द** इति । ननु 'स्थितप्रज्ञः ?' इत्येव वाचके सिद्धे किं वाचकान्तरं पृच्छ्यते ? किं चात्र वाचकप्रश्नस्य प्रयोजनं ? इत्यत्राह— **तस्येति** । केनचिद्वाचकेन हि कस्यचित्प्रकारभूतप्रवृत्तिनिमित्तविशिष्टं स्वरूपं निर्देष्टव्यमिति भावः । स्थितप्रज्ञशब्दात् स्थितधीशब्दस्यार्थान्तरपरत्वभ्रमनिरासाय 'स्थितप्रज्ञः' इति पूर्वार्धोक्तशब्द एवात्रावर्तितः । **किञ्च भाषणादिकमिति** 'किं प्रभाषेत' इत्यादयः किंशब्दाः क्रियाविशेषणतयाऽन्वीयमानाः क्रियाप्रकारप्रश्नपरा इति भावः । 'किं प्रभाषेत' इति वाचिके 'किं व्रजेत' इति कायिके च पृष्टे 'किमासीत' इति मानसपरम्, ध्यानार्थत्वादत्रासनस्य ॥ ५४ ॥

५ आ. मा. भा.— स्थिता प्रज्ञा ज्ञानं यस्य स स्थितप्रज्ञः । भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणमित्यर्थः । उक्तं लक्षणमनुवदति लक्षणान्तरं पृच्छामीति ज्ञापयितुम् । **समाधिस्थस्येति** । कं ब्रह्माणं ईशं रुद्रं च वर्तयतीति केशवः । **तथाहि** निरुक्तिः कृता हरिवंशेषु रुद्रेण कैलासयात्रायाम्— '**हिरण्यगर्भः** कः प्रोक्त ईशः शङ्कर एव च । सृष्ट्यादिना वर्तयति तौ यतः केशवो भवान्' इति वचनान्तराच्च । **किमासीत** किं प्रत्यासीत ? । न चार्जुनो न जानाति तल्लक्षणादिकम् । 'जानन्ति पूर्वराजानो देवर्षयस्तथैव च । तथापि धर्मान्पृच्छन्ति वार्तायै गुह्यवित्तये । न ते गुह्याः प्रतीयन्ते पुराणेष्वल्पबुद्धिनाम्' इति वचनात् ॥ ५४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ज्ञानिनि प्रकृते लब्धावसरोऽर्जुनः पृच्छतीति प्रसङ्गतः स्पष्टं ह्यनुक्त्वा प्रज्ञाशब्दस्य बुद्धिमात्रार्थत्वप्रतीतिनिरासाय स्थितप्रज्ञशब्दार्थमाह— **स्थितेति** । प्रतिष्ठां प्राप्ता । ज्ञानमपरोक्षम् । 'किं प्रभाषेत' इत्यतः का भाषेत्यस्यार्थान्तरमाह— **भाष्यत** इति । ज्ञानीति व्यवह्रियत इत्यर्थः । **भाषेति** । भाषाशब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वात् 'अनया' इत्युक्तम् । व्यवहारकारणानामनेकत्वात् कस्यायं प्रश्न इति न ज्ञायतेऽत आह— **लक्षणमिति** । सास्नादिमत्त्वं लक्षणं दृष्ट्वा हि गौरिति व्यवह्रियते । ज्ञानिमात्रव्युदासाय समाधिस्थस्येति विशेषणमिति प्रतीयते । **समाधिं कुर्वत** इति । यथाऽऽह **शङ्करः**— 'लब्धसमाधिप्रज्ञस्य लक्षणत्वबुभुत्सया अर्जुन उवाच' इति तदसदिति भावेनाह— **उक्तमिति** । ज्ञानिसामान्यलक्षणविषय एवायं प्रश्नः। किमर्थं तर्हि समाधिस्थस्य? इत्युक्तमिति चेत् 'समाधावचला बुद्धिः' [२।५३] इत्यनेनोक्तं ज्ञानिसामान्यलक्षणमनेनानुवदतीति ब्रूमः । न हीदं न लक्षणं ज्ञानिमात्रनिष्ठधर्मत्वात् । किमर्थोऽनुवादः ? इति चेत्, तज्ज्ञातं ममेति ज्ञापनायेति । वदामः । एतज्ज्ञापने किं प्रयोजनं ? इति चेत्, लक्षणान्तरं **पृच्छामीति** ज्ञापयितुम् । अन्यथा सिद्धप्रश्नोऽयमित्युपेक्ष्यः प्रसज्येतेति भावः । लक्षणान्तरप्रश्नस्य चेदं प्रयोजनम् । अयावल्लक्ष्यभावित्वान्न तत्सम्यग्व्यवहारोपयोगि, यावल्लक्ष्यभावि तु सार्वत्रिकव्यवहारोपयोगि ज्ञास्यामीति । अत एव प्रसिद्धलक्षणपदपरित्यागेन अप्रसिद्धभाषापदोपादानमिति । 'कश्चाश्चेशश्च केशाः ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः, ते यस्यावयवभूताः स केशवः परमात्मा' इति भास्करो निरुक्तवान् 'एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य' [११।३५] इत्यत्र तदसदिति भावेनाह— **कमिति** ।

कुत इयं निरुक्तिरित्यत आह— **तथाहीति** । 'को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिषु । आवां तवाङ्गे सम्भूतौ ततः केशवनामवान्' इति हरिवंशवचनं वचनान्तराच्चेयमेव निरुक्तिः स्वीकार्येत्याह— **हिरण्यगर्भ** इति । अत इति लभ्यते । तेन एवशब्दस्यान्वयः । हिरण्यगर्भ एव, न त्वन्यः प्रजापतिः ।

शङ्कर एव न त्वन्यः समर्थ इति वा । अनेन केशयोः कर्मणोरुपपदयोरन्तर्णीतण्यर्थात् 'वृतु वर्तने' इत्यस्माद्धातोः 'डोऽन्यत्रापि दृश्यते' इति डप्रत्यय इत्युक्तं भवति । आसेरकर्मकत्वात् कथं कर्मप्रश्न इत्यत आह— किमासीतेति । अध्याहृतप्रतियोगनिमित्तात् द्वितीया न कर्मणीत्यर्थः । प्रश्नकरणादर्जुनस्याज्ञत्वं प्रतीतं तन्निवारयति— न चेति । तल्लक्षणादिकं ज्ञानिलक्षणं तत्प्रश्नस्यनुपपत्तिसमाधानं च । प्रश्नस्यान्यथोपपत्तेरिति भावः । कुत इत्यत आह— जानन्तीति । समासान्तो विधिरनित्यः, अतः पूर्वराजान इति साधु । देवर्षयश्च तथैव जानन्त्येव, धर्मानित्युपलक्षणम् । वार्तायै गुरोरात्मनां च ख्यात्यै । लोकस्य गुह्यार्थवित्तये । एतेषां प्रश्नकरणं लोकानां कथं गुह्यार्थवित्तये भवतीत्यतो व्यतिरेकमुखेनोपपादयति— न त इति । 'छन्दस्युभयथा' [ अष्टा. ३।४।११७ ] इत्यतोऽल्पबुद्धीनामिति दीर्घत्वाभावः । गुह्यास्तेऽर्थाः पुराणादिषु प्रश्नोत्तरोपनिबन्धनेन विनोक्तिमात्रेणाल्पबुद्धीनां व्यक्तं न प्रकाशन्ते । न च प्रश्नाकरणे तदुपनिबन्धनं सम्भवतीति भावः । एतेन 'मोहादिस्त्वभिभवादेः' इत्येतत्प्रपञ्चितं भवति ॥ ५४ ॥

**७ ह. पै. भा.— अवाप्तयोगस्य लक्षणबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच— स्थिता प्रतिष्ठिता 'अहमस्मि परं ब्रह्म' इति प्रज्ञा यस्य तस्य का भाषा भाषणं वचनं कथमसौ भाष्यते? समाधिस्थस्य समाधौ स्थितस्य केशव!। स्थितधीः स्थितप्रज्ञः किं प्रभाषेत किमर्थं स्वरूपं भाषेत?। किमासीत कथं वाऽऽसीत?। व्रजेत किं कथं वा गच्छेत्? इत्यर्थः। स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमनेन श्लोकेन पृच्छ्यते। 'स्थितप्रज्ञस्य' इत्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तेः स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं साधनं चोपदिश्यते। सर्वत्राध्यात्मशास्त्रे लक्षणानि यानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते, यत्नसाध्यत्वात्। यानि यत्नसाध्यानि तानि लक्षणानि सर्वत्राध्यात्मशास्त्रे विद्यन्ते ॥ ५४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवमुक्तवति भगवति वासुदेवे तत्त्वज्ञानिलक्षणबुभुत्सुः **अर्जुन उवाच**— पूर्वश्लोकगतनिश्चलाचलपदद्वयोक्तासम्भावनाविपरीतभावनाप्रयुक्तविक्षेपद्वयराहित्येन स्थिता स्थिरीभूता 'अहं ब्रह्म' इति प्रज्ञा तत्त्वज्ञानं यस्य स स्थितप्रज्ञः; तस्य का भाषा? भाष्यते अनयेति भाषा, किं लक्षणम्? इत्यर्थः। द्विविधः स्थितप्रज्ञः समाधिस्थो व्युत्थितश्चेति। तयोरुभयोरपि लक्षणं पृच्छ्यते। तत्र पूर्वार्धेन समाधिस्थस्य स्थितप्रज्ञस्य लक्षणप्रश्नः, उत्तरार्धेन व्युत्थितस्येति विवेकः। स्थितधीः व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः किं प्रभाषेत कीदृशं भाषते? किमासीत कथमुपविशति? किं वा व्रजेत कथं वा गच्छति? आत्मनेपदमार्षम्। सर्वत्र सम्भावनायां लिङ्। व्युत्थितस्य भाषणोपवेशनगमनादिव्यवहारः किं मूढविलक्षणः किं वा तत्तुल्यः? इत्यर्थः। विलक्षणत्वे तदेव तस्य लक्षणं भविष्यतीति भावः। ननु योगिनः समाधिव्युत्थानस्वरूपं हिरण्यगर्भपातञ्जलादियोगशास्त्रप्रसिद्धमित्याशङ्क्य सम्बोधयति— **केशवेति**। अखण्डनित्यसार्वज्ञमखिललोकगुरुं केशवं त्वामुपसद्यान्यगवेषणं गङ्गातीरे कूपखननन्यायादनुचितमित्यर्थः। नन्वत्र स्थितधीरिति व्युत्थितस्य स्थितप्रज्ञत्वमुक्तं कथं युज्यते? तस्य बाह्यव्यवहारैः प्रज्ञानाशादिति चेत्, उच्यते— यथा हि जारेऽनुरक्ताया नार्याः सर्वेष्वपि व्यवहारेषु बुद्धिर्जारमेव ध्यायति, तथा ब्रह्मज्ञानिनस्तत्त्वज्ञस्य प्रत्यगानन्दतत्त्वास्वादिनी बुद्धिर्बाह्यव्यवहारेष्वपि तदेव तत्त्वमनुसन्दधातीति व्युत्थितस्यापि स्थितप्रज्ञत्वमुपपन्नम्। तदिदमुक्तं वासिष्ठे— 'परव्यसनिनी नारी व्यग्राऽपि गृहकर्मणि। तदेवास्वादयत्यन्तः परसङ्गरसायनम्॥ एवं तत्त्वे परे शुद्धे धीरो विश्रान्तिमागतः। तदेवास्वादयत्यन्तर्बहिर्व्यवहरन्नपि' [ पं. द. ११।१२२-१२३ ] इति ॥ ५४ ॥

**९ व० त० दी०— एवमुक्तेऽर्जुनः पूर्वश्लोकोक्तस्थिरप्रज्ञस्य स्वरूपमनुष्ठानप्रकारं च पृच्छति— स्थितप्रज्ञस्येति। समाधिस्थस्येति पूर्वोक्तानुवादविशेषणम्। का भाषा कस्तद्वाचकः शब्दः? कीदृशं तत्स्वरूपमिति प्रश्नः ॥५४॥**

१० पु. अ. त.— एतदुक्त्वा भगवांस्तूष्णीं स्थितस्तदाऽर्जुनस्तादृग्बुद्धिज्ञानार्थं पृच्छति— **स्थितप्रज्ञस्येति**। स्थितप्रज्ञस्य निश्चलबुद्धेः का भाषा? का परिभाषेत्यर्थः। कया परिभाषया स ज्ञेयः?। हे केशव दुष्टगुणव्यासयोरपि मोक्षदायक! मम मोक्षार्थं याथातथ्येन कथयेति भावः। समाधिस्थस्य च का भाषा तदपि कथय। स्थितधीः किं प्रभाषेत?। श्रोतव्यं चेत्र किञ्चित्तदा किं ब्रूयादित्यर्थः। स्वोच्चरितवाक्यस्यापि श्रवणसम्भवात्। किमासीत, कथमुपतिष्ठेत्? किं व्रजेत कथं गच्छेत्? इत्यर्थः ॥ ५४ ॥

**११ नी० भा० दी०— लब्धसमाधेः स्थितप्रज्ञापरनाम्नो लक्षणानि बुभुत्सुरर्जुन उवाच— स्थितप्रज्ञस्येति। स्थिता प्रत्यगात्मनि प्रतिष्ठिता प्रज्ञा यस्य तस्य स्थितप्रज्ञस्य, समाधिस्थस्य समाधौ स्थितस्य का भाषा भाषणं वचनं कथमसौ परैर्भाष्यते? इत्येकः प्रश्नः। स्थितधीः स्थितप्रज्ञः अर्थाद्व्युत्थितः सन् किं प्रभाषेत कथं वदति?। कथमास्ते कथं वा व्रजति विषयान् भुङ्क्ते? इति प्रश्नत्रयम् ॥ ५४ ॥**

श्रीभगवदुक्तानि स्थितप्रज्ञस्य ( ज्ञाननिष्ठस्य ) ससाधनानि लक्षणानि ।

**श्रीभगवानुवाच— प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ ! मनोगतान् ।**
**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ ५५ ॥**

१ **शां. भा.**— यो ह्यादित एव सन्न्यस्य कर्माणि ज्ञानयोगनिष्ठायां प्रवृत्तः, यश्च कर्मयोगेन, तयोः 'प्रजहाति' इत्यारभ्य अध्यायपरिसमाप्तिपर्यन्तं स्थितप्रज्ञलक्षणं साधनं च उपदिश्यते । सर्वत्रैव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तान्येव साधनानि उपदिश्यन्ते, यत्नसाध्यत्वात् । यानि यत्नसाध्यानि साधनानि लक्षणानि च भवन्ति तानि श्रीभगवान् उवाच— प्रजहातीति ॥ प्रजहाति प्रकर्षेण जहाति परित्यजति यदा यस्मिन् काले सर्वान् समस्तान् कामानिच्छाभेदान् हे पार्थ ! मनोगतान् मनसि प्रविष्टान् हृदि प्रविष्टान् । सर्वकामपरित्यागे तुष्टिकारणाभावात् शरीरधारणनिमित्तशेषे च सति उन्मत्तप्रमत्तस्येव प्रवृत्तिः प्राप्तेत्यत उच्यते—आत्मन्येव प्रत्यगात्मस्वरूप एव आत्मना स्वेनैव बाह्यलाभनिरपेक्षस्तुष्टः परमार्थदर्शनामृतरसलाभेन अन्यस्मादलम्प्रत्ययवान् स्थितप्रज्ञः स्थिता प्रतिष्ठिता आत्मानात्मविवेकजा प्रज्ञा यस्य स स्थितप्रज्ञो विद्वान् तदोच्यते । त्यक्तपुत्रवित्तलोकैषणः सन्न्यास्यात्माराम आत्मक्रीडः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— प्रतिवचनमवतारयितुं पातनिकां करोति— **यो हीति** । हिशब्देन कर्मसन्न्यासकारणीभूतविरागतासम्पत्तिः सूच्यते, आदितो ब्रह्मचर्यावस्थायामिति यावत्; ज्ञानमेव योगो ब्रह्मभावप्रापकत्वात्तस्मिन्निष्ठा परिसमाप्तिस्तस्यामित्यर्थः । कर्मैव योगस्तेन कर्माण्यसन्न्यस्य तन्निष्ठायामेव प्रवृत्त इति शेषः । ननु कथमेकेन वाक्येनार्थद्वयमुपदिश्यते ? द्वैयर्थ्ये वाक्यभेदात्; न च लक्षणमेव साधनं, कृतार्थलक्षणस्य तत्स्वरूपत्वेन फलत्वे साधनत्वानुपपत्तेरिति तत्राऽऽह— **सर्वत्रैवेति** । यद्यपि कृतार्थस्य ज्ञानिनो ज्ञानलक्षणं तद्रूपेण फलत्वान्न साधनत्वमधिगच्छति, तथापि जिज्ञासोस्तदेव प्रयत्नसाध्यतया साधनं सम्पद्यते । लक्षणं चात्र ज्ञानसामर्थ्यलब्धमनूद्यते, न विधीयते, विदुषो विधिनिषेधागोचरत्वात्; तेन जिज्ञासोः साधनानुष्ठानाय लक्षणानुवादात् एकस्मिन्नेव साधनानुष्ठाने तात्पर्यमित्यर्थः । उक्तेऽर्थे भगवद्वाक्यमुत्थापयति— **यानीति** । लक्षणानि च ज्ञानसामर्थ्यलभ्यानि, अयत्नसाध्यानीति शेषः । स्थितप्रज्ञस्य का भाषेति प्रथमप्रश्नस्योत्तरमाह— **प्रजहातीति** । कामत्यागस्य प्रकर्षो वासनाराहित्यम् । कामानामात्मनिष्ठत्वं कैश्चिदिष्यते, तदयुक्तं; तेषां मनोनिष्ठत्वश्रुतेरित्याशयवानाह— **मनोगतानिति** । 'आत्मन्येवाऽऽत्मना' इत्याद्युत्तरभागनिरस्यं चोद्यमनुवदति— **सर्वकामेति** । तर्हि प्रवर्तकाभावाद्विदुषः सर्वप्रवृत्तेरुपशान्तिरिति नेत्याह— **शरीरेति** । उन्मादवानुन्मत्तो विवेकविरहितबुद्धिभ्रमभागी, प्रकर्षेण मदमनुभवन्विद्यमानमपि विवेकं निरस्यन्भ्रान्तवद्व्यवहरन्प्रमत्त इति विभागः । उत्तरार्धमवतार्य व्याकरोति— **उच्यत इति** । 'आत्मन्येव' इत्येवकारस्य 'आत्मना' इत्यत्रापि सम्बन्धं द्योतयति— **स्वेनैवेति** । बाह्यलाभनिरपेक्षत्वेन तुष्टिमेव स्पष्टयति— **परमार्थेति** । स्थितप्रज्ञपदं विभजते— **स्थितेति** । प्रज्ञा प्रतिबन्धकसर्वकामविगमावस्था तदेति निर्दिश्यते । उक्तमेव प्रपञ्चयति— **त्यक्तेति** । आत्मानं जिज्ञासमानो वैराग्यद्वारा सर्वैषणात्यागात्मकं सन्न्यासमासाद्य श्रवणाद्यावृत्त्या तज्ज्ञानं प्राप्य तस्मिन्नेवाऽऽसक्त्या विषयवैमुख्येन तत्फलभूतां परितुष्टिं तत्रैव प्रतिलभमानः स्थितप्रज्ञव्यपदेशभागित्यर्थः ॥ ५५ ॥

३ **रा. भा.**— वृत्तिविशेषकथनेन स्वरूपमप्युक्तं भवतीति वृत्तिविशेष उच्यते— आत्मन्येवात्मना मनसा आत्मैकावलम्बनेन तुष्टस्तेन तोषेण तद्व्यतिरिक्तान् सर्वान्मनोगतान् कामान् यदा प्रकर्षेण जहाति; तदाऽयं स्थितप्रज्ञ इत्युच्यते । ज्ञाननिष्ठाकाष्ठेयम् ॥ ५५ ॥

४ **वे. ता. चं.**— एवं करणत्रयानुष्ठानप्रकारप्रश्नस्य साक्षादुत्तरेषु 'प्रजहाति' इत्यादिषु चतुर्षु श्लोकेषु प्रथमस्य स्वरूपप्रश्नोत्तरतामपि दर्शयति— **वृत्तिविशेषेति** । प्रकृष्टानुकूल्ययोगिन्यात्मनि प्रीतिरूपस्य तोषस्य कामान्तरप्रहाणहेतुत्वात्तथान्वयमाह— **आत्मन्येवेति** । सर्वशब्दस्य 'आत्मनि तुष्टः' इत्येतत्सन्निधानसिद्धं सङ्कोचमाह— **तद्व्यतिरिक्तानिति** । यद्वा 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः' इति यथाक्रममेवान्वयः; आत्मैकविषयेण हि मनसाऽन्यतो जातालम्बुद्धिरूपसन्तोष इत्यर्थः । एतदभिप्रायेणोक्तं **मनसाऽऽत्मैकावलम्बनेन तुष्ट** इति । **तेन तोषेणेति** । 'स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः । न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः' [ वि. पु. १। १७।३९ ] इतिवत् । **प्रकर्षेणेति**— अपुनरङ्कुरमित्यर्थः ।

यद्यपि सम्प्रज्ञातसमाधौ शुभाशुभप्रतीतिसम्भवेनासम्भवित्वं नाम लक्षणविरोधो नास्ति; तथापि कामादिहानं समाधिस्थ एव पुंसि इति नियमो नास्ति, समाधिस्थेऽपि ज्ञानिनि विद्यमानत्वात्; तथा चातिव्याप्तिः स्यादित्यर्थः । असमाधिस्थेऽपि ज्ञानिनि कामाद्यभावः कुतः ? इत्यत आह— **कामाद्य** इति । तदर्थं सर्वथेति विशेषणप्रक्षेपेऽपि पुरुषविशेषेऽतिव्याप्तिपरिहारो दुर्घट एव । न चास्मन्मतेऽप्यव्याप्तिदोषः, असम्प्रज्ञातसमाधिस्थव्यतिरिक्तविषयत्वात् । सम्भवतस्तु तद्विषयत्वादिति । कामानां मनोगतत्वाद्व्यर्थं विशेषणमित्यतो नेदं विशेषणम्, किन्तु सर्वकामत्यागस्यासम्भवित्वमाशङ्क्य तदुपपादनाय युक्तिरियमुक्तेत्याह— **मनोगता** इति । तत्रैव मनस्येव । कामज्ञानयोर्विरोधः कुतः ? इत्यत आह— **विरोधश्चे**ति । रसो राग इति वक्ष्यति । ननु सर्वकामप्रहाणमस्मदादिषु न दृष्टम्, तद्दृष्टान्तेन ज्ञानिष्वपि तदभावानुमानादसम्भवित्वं लक्षणस्येत्यत आह— **न चे**ति । कुतः ? उदाहृतप्रमाणविरोधात् । प्रमाणविरुद्धार्थानुमाने पण्डितमूर्खादिपुरुषवैचित्र्यापलापप्रसङ्गादित्याह— **पुरुषे**ति । **आत्मन्यात्मने**ति पदद्वयेन जीव एवात्रोच्यत इति कश्चित् [ शं.चा. ] तृतीयान्तेन मन इत्यपरः [ रामानुजः ] तदुभयमसदिति भावेनाह— **आत्मने**ति । स्थितः सन्निति शेषोक्तिः । वाक्यार्थं वदन् स्वव्याख्यानानुपपत्तौ परव्याख्यानानुपपत्तौ च युक्तिमाह— **आत्माख्य** इति । तस्मिन् स्थितस्य तदेकाग्रचित्तस्य अत्र त्यक्तविषयस्यापि तुष्टिरुच्यते । सा च परमात्मपरिग्रहे सम्भवति, नान्यथेत्यर्थः । कुतः ? इत्यत आह— **विषया**निति । ततः किम् ? इत्यत आह— **अत** इति ॥ ५५ ॥

**७ ह. पै. भा.— अतस्तान्येव साधनानि भगवानुवाच– प्रजहाति प्रकर्षेण जहाति परित्यजति यदा कामानिच्छाभेदान् हे पार्थ ! मनोगतान् मनसि प्रविष्टान् । आत्मन्येव प्रत्यगात्मस्वरूप एवाऽऽत्मना स्वेनैव बाह्यलाभनिरपेक्षस्तुष्टः परमार्थदर्शनामृतरसलाभेन अन्यस्मिन्वस्तुनि अलम्प्रत्ययवान्स्थितप्रज्ञः स्थिता प्रज्ञाऽऽत्मानात्मविवेकजा यस्य स स्थितप्रज्ञो विद्वांस्तदोच्यते । त्यक्तपुत्रवित्तलाभः सन्न्यस्यात्माराम आत्मक्रीडावान् स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥ ५५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अथास्य प्रश्नद्वयस्य क्रमेणोत्तरं [ आह भगवान् ]— अत्रेदं प्रथमं तावज्ज्ञानवासिष्ठोक्तं जीवन्मुक्तिप्रकरणादिषु च विद्यारण्यस्वामिभिर्निष्कृष्टं प्रमेयजातमनुसन्धेयम् । समाधियोगस्य सप्त भूमयः— तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपूर्विका मोक्षेच्छा प्रथमा भूमिः; ततो गुरुमुपसृत्य श्रवणमननादिरूपो वेदान्तविचारो द्वितीया भूमिः; ततो निदिध्यासनाभ्यासान्मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यत्वं तृतीया भूमिः ; ततो वेदान्तवाक्यादपरोक्षब्रह्मसाक्षात्कारश्चतुर्थी भूमिः ; ततः सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्था पञ्चमी भूमिः; ततस्तदभ्यासातिरेकेण चिरकालावस्थायिनी सैव षष्ठी भूमिः; ततस्तस्या अपि परिपाकेन सर्वदाऽपि स्वप्रकाशचिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि मग्नतया समुद्रमध्यस्थापितकुम्भवदन्तर्बहिःपूर्णत्वं सप्तमी भूमिः । अत्राद्यं भूमिकात्रयं साधनं जाग्रदवस्थेति चोच्यते, जाग्रतीवात्र द्वैतप्रपञ्चसत्यत्वप्रतिभासात् । चतुर्थी भूमिका तु फलं स्वप्नावस्थेति चोच्यते, द्वैतस्य बाधितत्वेऽपि स्वप्न इव तत्प्रतिभासात् । एनां भूमिं प्राप्तो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते । पञ्चम्यादयस्तिस्रो भूमयस्तु जीवन्मुक्त्यवान्तरभेदाः ।

ते च निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासकृतेन विश्रान्तितारतम्येन सम्पद्यन्ते । तत्र पञ्चमी भूमिः सुषुप्तिरित्युच्यते; द्वैतप्रतिभासाभावात्, तां प्राप्तस्य योगिनः सति विकल्पे स्वयमेव व्युत्थानाच्च । सोऽयं योगी ब्रह्मविद्वरः । षष्ठी भूमिस्तु गाढसुषुप्तिरित्युच्यते ; तां प्रपन्नस्य योगिनः परप्रयत्नेनैवोत्थानात् ; सोऽयं ब्रह्मविद्वरीयान् । सप्तमी तु तुर्यावस्थेत्युच्यते, तां प्राप्तस्य योगिनः स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव नास्ति, जगत्प्रतिभासशून्यतया सर्वदा तन्मयत्वेनैवावस्थानात् । तस्य च देहनिर्वाहो विनैव स्वप्रयत्नं परमेश्वरप्रेरितप्राणवायुनैव निष्पद्यते । यथा हि शिक्षितो बलीवर्दादिः सारथिना मार्गे योजितो विनैव सारथिप्रयत्नं स्वयमेव रथशकटादिकं पुरोवर्तिनं ग्रामं नयति तद्वत् । अत्रैवासम्प्रज्ञातसमाधिप्रतिपादकानि योगशास्त्राणि पर्यवस्यन्ति । एनामेव चावस्थामधिकृत्य भागवते [ ११ । १३ । ३६ ] प्रतिपादितम्— 'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् । दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं वासो यथा परिहितं मदिरामदान्धः ' इति । तामेनामवस्थां प्राप्तो ब्रह्मविद्वरिष्ठ इति ।

इत्थं स्थिते, पञ्चम्यादयस्तिस्रोऽवस्थाः परस्परतारतम्यवत्योऽसम्प्रज्ञातसमाधयः । एतत्त्रयानुगतं लक्षणमनेन श्लोकेनोच्यते । तथा हि— यदा सर्वान् कामान् प्रजहाति, तदा समाधिस्थः स्थितप्रज्ञ इत्युच्यत इति प्रथममन्वयः । 'सर्वान्' इत्यनेन स्रक्चन्दनवनितादिष्विव ब्रह्मलोकादिषु अणिमाद्यष्टैश्वर्येषु च ये कामास्तेषामपि हानं विवक्षितम् । तेन च 'कामप्रहाणोक्तिर्निषिद्धकामप्रहाणपरा, स्थितप्रज्ञस्याप्यनिषिद्धकामसम्भवात्' इति वदन्तो माध्वा निरस्ताः; अनिषिद्धकामानामपि लिलक्षयिषितासम्प्रज्ञातसमाधिविरोधित्वात्, "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" [ तै. उ. २ । ८ । १ ] इत्यादिश्रुतिविरोधाच्चेत्यन्यत्र विस्तरः; कामादिवृत्तीनां चानात्मधर्मत्वात् । प्रहाणयोग्यताऽस्तीति दर्शयितुं 'मनोगतान्' इत्युक्तम् । आत्मधर्मत्वे ह्येषां प्रहाणमशक्यम्, वह्न्यौष्ण्यवत् स्वाभाविकधर्माणां धर्मित्यागं विना त्यागायोगात् । मनोधर्मास्त्वेते, "कामः सङ्कल्पः" [ बृ. उ. १५ । ३ ] इत्यादि–

श्रुतेः । अतो मनस्त्यागेन त्यक्तुं शक्या इत्यर्थः । कामग्रहणं च सङ्कल्पादिसकलविधमनोवृत्त्युपलक्षणम् । तथाच सर्वविधमनोवृत्तिशून्यतैव समाधिस्थलक्षणमित्युक्तं भवति । तदेतदभिप्रेत्य पतञ्जलिना सूत्रितम् [ पा. यो. १।५१ ] 'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः' इति ।

नन्वेतत्सर्वधीवृत्तिशून्यत्वं सुषुप्तिसाधारणमिति शङ्कां निराकर्तुं प्रजहातीत्युपसर्गः; प्रकर्षेण निर्बीजतया जहाति । सुषुप्तौ हि कामादिवृत्तीनां न निर्बीजतया त्यागः, तद्बीजस्याज्ञानस्य सत्त्वात् । अत एव न तत्रानावृतमखण्डानन्दस्फुरणम् । समाधौ तु न तथेति महान्भेद इति भावः । सर्वकामप्रहाणे हेतुमाह— **आत्मन्येवेति** । निरतिशयानन्दरूपे स्वात्मन्येव सन्तुष्टः, अतोऽतिक्षुद्रकामानन्दत्यागो युक्त एव; 'न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी । नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव ' इति वासिष्ठोक्तन्यायादिति भावः । आत्मानन्दोऽप्यत्र सम्प्रज्ञातसमाधाविव न मनोवृत्त्योल्लिख्यते, किन्तु स्वप्रकाशचिद्रूपेणात्मनैव । तस्य तोषोऽपि न वृत्तिरूपः । किन्त्वात्मप्रकाश एवेत्याह— **आत्मना तुष्ट** इति; आत्मनैव तुष्ट इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

९ व० त० दी०— तत्रोत्तरम्— प्रजहातीति । इदं तत्स्वरूपमुच्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

१० पु. अ. त.— भगवान् पृष्टस्य स्थितप्रज्ञस्य परिभाषामाह— **प्रजहातीति** । हे पार्थ मद्वाक्यश्रवणयोग्य ! पृथायाः स्वभक्तायाः पुत्रत्वात् स्ववाक्यश्रवणयोग्यत्वे तथा सम्बोधितवान् । यदा मनोगतान् स्वमनसि स्थितान्, न तु भगवदिच्छया कृपया च प्राप्तव्यान् । भक्त्यादिरूपान् सर्वान् कामान् प्रजहाति प्रकर्षेण त्यजति । स्मरणाभावः प्रकर्षः । ननु कामत्यागे किं फलमित्याशङ्क्याह— आत्मन्येवेति । आत्मन्येव स्वात्मस्वरूपभूते भवति । आत्मना स्वस्यैव जीवात्मस्वरूपेण स्वयमेव तदैक्यस्फूर्त्या तुष्ट इत्यर्थः । अयं भावः— कामाः स्वसन्तोषदा भवन्तीति तदर्थयत्नेन तत्पूर्त्या तोषः, स च लौकिक एवातस्तत्त्यागे चात्मस्फूर्त्या लौकिकसन्तोषो भवत्यात्मगामीति फलम् । यदैतादृशः स्यात्तदा स्थितप्रज्ञो निश्चलबुद्धिः स उच्यते कथ्यत इति ॥ ५५ ॥

११ नी० भा० दी०— एतेषां क्रमेणोत्तराण्याह भगवान्— प्रजहातीत्यादिना । अत्र यान्येव कृतार्थलक्षणानि तानि ज्ञानसाधनानीति मत्वा उपदिश्यन्ते स्थितप्रज्ञलक्षणानि । तेषामकृतार्थेषु यत्नसाध्यत्वात् , कृतार्थेषु स्वाभाविकत्वात् । यथोक्तं 'उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः । भवन्त्ययत्नतस्तस्य न तु साधकरूपिणः' इति । यदाऽयं योगी सर्वान् स्थूलसूक्ष्मकारणशरीरभोग्यान् कामान् काम्यमानान्विषयान् प्रकर्षेण समूलं जहाति त्यजति । कीदृशान् कामान् ? मनोगतान् मनस्येव सङ्कल्पविकल्पात्मके स्थितान् , न तु बहिः । यथोक्तमक्षपादाचार्यैः(?)— 'दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः' [न्या. द.४।२।२] इति । तत्र स्थूलानां कामानां त्याग एकान्तसेवनमात्राद्भवतीति स स्थवीयानेव । विलीनकरणग्रामस्य समनस्कस्य जाग्रद्वासनामयाः स्वप्ने ये कामाः स्फुरन्ति तेषामपि त्यागो भगवद्ध्यानादिरूपसद्वासनाभ्यासबलेन भवति । ये तूपसंहृतकरणस्य सम्प्रज्ञातसमाधिकाले दिव्याः कामाः सङ्कल्पमात्रोपनता दहरविद्यादिषु प्रसिद्धास्तेषामपि त्यागोऽसम्प्रज्ञातसमाध्यभ्यासबलेन भवति । एवं त्रिविधान् कामान् त्यक्त्वा आत्मन्येवाखण्डैकरसे आत्मना स्वेनैव स्वरूपानन्देन तुष्टो बाह्यविषयनिरपेक्षो यदा भवति तदाऽयं स्थितप्रज्ञ इत्युच्यते ॥ ५५ ॥

## दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
## वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥ ५६ ॥

**१ शां. भा.— किंच– दुःखेष्विति । दुःखेष्वाध्यात्मिकादिषु प्राप्तेषु नोद्विग्नं न प्रक्षुभितं दुःखप्राप्तौ मनो यस्य सोऽयं अनुद्विग्नमनाः । तथा सुखेषु प्राप्तेषु विगता स्पृहा तृष्णा यस्य, नाग्निरिवेन्धनाद्याधाने सुखान्यनु वर्धन्ते स विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः–रागश्च भयं च क्रोधश्च, वीता विगता यस्मात् स वीतरागभयक्रोधः स्थितधीः स्थितप्रज्ञो मुनिः सन्न्यासी तदोच्यते ॥ ५६ ॥**

२ आ. शां. व्या.— लक्षणभेदानुवादद्वारा विविदिषोरेव कर्तव्यान्तरमुपदिशति— **किञ्चेति** । ज्वरशिरोरोगादिकृतानि दुःखान्याध्यात्मिकानि, आदिशब्देनाऽऽधिभौतिकानि व्याघ्रसर्पादिप्रयुक्तानि, आधिदैविकानि चातिवातवर्षादिनिमित्तानि दुःखानि गृह्यन्ते । तेषूपलब्धेष्वपि नोद्विग्नं मनो यस्य स तथेति सम्बन्धः । 'नोद्विग्नं' इत्येतद्व्याचष्टे— **न प्रक्षुभितमिति** । दुःखानामुक्तानां प्राप्तौ परिहाराक्षमस्य तदनुभवपरिभावितं दुःखमुद्वेगः, तेन सहितं मनो यस्य न भवति स तथेत्याह— **दुःखप्राप्ताविति** । मनो यस्य नोद्विग्नमिति पूर्वेण सम्बन्धः । सुखान्यपि दुःखवत्त्रिविधानीति मत्वा तथेत्युक्तम् ।

तेषु प्राप्तेषु सत्सु तेभ्यो विगता स्पृहा तृष्णा यस्य स विगतस्पृह इति योजना । अज्ञस्य हि प्राप्तानि सुखान्यनु विवर्धते तृष्णा, विदुषस्तु नैवमित्यत्र वैधर्म्यदृष्टान्तमाह— **नाग्निरिवेति** । यथा हि दाह्यस्येन्धनादेरभ्याधाने वह्निरनु विवर्धते तथाऽन्यस्य सुखान्युपनतान्यनुविवर्धमानाऽपि तृष्णा विदुषो न तान्यनु विवर्धते । न हि वह्निरदाह्यमुपनतमपि दग्धुं विवृद्धिमधिगच्छति ; तेन जिज्ञासुना सुखदुःखयोस्तृष्णोद्वेगौ न कर्तव्यावित्यर्थः । रागादयश्च तेन कर्तव्या न भवन्तीत्याह— **वीतेति** । अनुभूताभिनिवेशो विषयेषु रञ्जनात्मकस्तृष्णाभेदो रागः, परेणापकृतस्य गात्रनेत्रादिविकारकारणं भयं, क्रोधस्तु परवशीकृत्याऽऽत्मानं स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुर्बुद्धिवृत्तिविशेषः । मनुत इति मुनिरात्मविदित्यङ्गीकृत्याऽऽह— **सन्न्यासीति** । सुखादिविषयतृष्णादेः रागादेश्चाभावावस्था तदेत्युच्यते ॥ ५६ ॥

**३ रा. भा.— अनन्तरं ज्ञाननिष्ठस्य ततोऽर्वाचीनाऽदूरविप्रकृष्टाऽवस्थोच्यते— प्रियविश्लेषादिदुःखनिमित्तेषूपस्थितेष्वनुद्विग्नमनाः न दुःखीभवति; सुखेषु विगतस्पृहः प्रियेषु सन्निहितेष्वपि विगतस्पृहः वीतरागभयक्रोधः, अनागतेषु स्पृहा रागः, तद्रहितः; प्रियविश्लेषाप्रियागमनहेतुदर्शननिमित्तं दुःखं भयं, तद्रहितः; प्रियविश्लेषाप्रियागमनहेतुभूतचेतनान्तरगतदुःखहेतुभूतस्वमनोविकारः क्रोधः, तद्रहितः; एवम्भूतो मुनिरात्ममननशीलः स्थितधीरित्युच्यते ॥ ५६ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** अथैकेन्द्रियसंज्ञाख्यतृतीयावस्थोच्यत इत्याह— **ततोऽर्वाचीनेति** । 'ओ विजी भयचलनयोः' इति धातुरत्र चलनार्थः, 'वीतरागभय-' इति भयस्य पृथगभिधानात्। यद्वा 'अनुद्विग्न...' इति निर्दुःखत्वमात्रं विवक्षितम्। तत एव 'दुःखेषु' इत्येतदपि दुःखहेतुपरमिति मन्वान आह— **दुःखनिमित्तेष्विति** । आदिशब्देनाप्रियागमनसङ्ग्रहः । भयहेतुव्यावृत्त्यर्थमुक्तं— **उपस्थितेष्विति**— दुःखोत्पादनप्रवृत्तेष्वित्यर्थः । दुःखशब्दवदेवात्र सुखशब्दस्यापि हेतुपरतां तत्रापि पृथङ्निर्दिष्टरागविषयाद्विलक्षणतां चाह— **प्रियेषु सन्निहितेष्वपीति**। विगतस्पृहवीतरागशब्दयोरपुनरुक्तितां व्यनक्ति— **अनागतेषु स्पृहा राग** इति । स्पृहारागशब्दौ सामान्यविशेषविषयौ। ततश्च विशेषशब्दसन्निधाने गोबलीवर्दन्यायात् सामान्यशब्दस्तद्व्यतिरिक्तपर इति भावः । पुनरुक्तिपरिहाराय भयस्य दुःखविशेषतामाह— **प्रियेत्यादिना हेतुदर्शननिमित्तं दुःखमित्यन्तेन** । प्रियविश्लेषाप्रियागमनयोर्दुःखरूपयोः सामग्रीदशामापन्नो यो हेतुः सूचकश्च निमित्तादिकः, तस्य यद्दर्शनं सकलसहकारिसम्पत्त्युत्प्रेक्षागर्भम्, दर्शनमिति ज्ञानमात्रपरं वा ; तेन यद्दुःखं तदानीमेवाङ्गकम्पादिहेतुरुत्पद्यते, तद्भयमित्यर्थः । क्रोधलक्षणे प्रियविश्लेषादिस्त्रैकालिकः, सर्वत्र क्रोधोत्पत्तिदर्शनात्। अचेतनेषु वातातपकण्टकादिषु बाधकेष्वपि क्रोधाभावात् **चेतनेत्युक्तम्**। यस्तून्मत्तस्तत्रापि कुप्यति, सोऽपि चेतनत्वाध्यासेन । **अन्तर**शब्देन स्वदुःखहेतुस्वमनोविकारव्यावर्तनम् । स हि तथाविधो निर्वेदादिरूपः स्यात् । क्रोधादात्महननाद्यपि परपीडाभिसन्धिगर्भम् । मनोविकारोऽत्र रजस्तमस्समुन्मेषकृतो व्यापारविशेषः । तदधीनो ज्ञानविशेष इह तच्छब्देनोपचर्यते । मुनिर्मननशील इति व्युत्पत्तिः, तस्य मननस्यात्र साक्षात्करिष्यमाणात्मविषयत्वव्यक्त्यर्थमुक्तम्— **आत्ममननशील** इति। एवमस्यास्तृतीयावस्थाया उद्वेगस्पृहादिविरहसाम्येऽपि औत्सुक्यमात्रक्षमवासनाशेषस्य भस्मच्छन्नदहनवदवस्थितत्वाच्च चतुर्थावस्थातो विशेषः ॥ ५६ ॥

**५ आ. मा. भा.— तदेव स्पष्टयत्युत्तरैस्त्रिभिः श्लोकैः । एतान्येव ज्ञानोपायानि; तच्चोक्तम्— 'तद्वै जिज्ञासुभिः साध्यं ज्ञानिनां यत्तु लक्षणम्' इति । शोभनाध्यासो रागः । 'रसो रागस्तथा रक्तिः शोभनाध्यास इष्यते' इत्यभिधानम् ॥ ५६ ॥**

**६ ज. प्र. दी.—** ननु लक्षणस्यैवानेनैवोक्तत्वात् किं दुःखेष्वित्यादिना ? इत्यत आह— **तदेवेति**; उक्तं लक्षणमेव। स्पष्टत्वं च कामशब्दोपलक्षितदोषान्तरत्यागकथनादिनेति ज्ञेयम्। ननु कामत्यागादीनि ज्ञानसाधनतयोच्यन्ते 'अमानित्वम्' [१३।७] इत्यादौ। ततो ज्ञानिलक्षणस्य जिज्ञासावतिव्याप्तिरित्यत आह— **एतानीति**। उप समीपे आयः फललाभो येषां तान्युपायानि साधनानि। सत्यमेतत्। तथापि जिज्ञासौ प्रयत्नसाध्यानि; ज्ञानिनि तु स्वभावसिद्धानीत्यदोष इति भावः। अत्र प्रमाणमाह— **तच्चोक्तमिति**। समुच्चयवादी त्वाह यानीह स्थितप्रज्ञलक्षणान्युच्यन्ते तान्येवापवर्गसाधनानीति 'तद्वै' इत्यनेन दूषयति। ज्ञानसाधनान्येव नापवर्गसाधनानि। यथोक्तम् 'कामकारेण चैके' [ब्र. सू. ३।४।१५] इति । आनन्दवृद्ध्यर्थता त्वङ्गीकृतैव। 'योगे त्विमां शृणु' [२।३९] इत्युक्त्वा कथमिदं योगादन्यदुच्यत इत्यतो वा इदमुदितमिति । 'विगतस्पृहः' इत्यनेनैव 'वीतराग-' इत्येतद्गतार्थमित्यत आह— **शोभनेति**। अशोभनेषु विषयेषु शोभनत्वभ्रान्तिः 'रसो रागो रक्तिः' इत्येतैः काम उच्यते तथा शोभनाध्यास उच्यते इत्यर्थः॥ ५६ ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्च— दुःखेष्वाध्यात्मिकादिषु अनुद्विग्नमप्रक्षुभितं मनो यस्य सोऽनुद्विग्नमनाः । तथा सुखेषु प्राप्तेषु विगता स्पृहा तृष्णा यस्य । नाग्निरिवेन्धनाद्याधानेन सुखान्यनुवर्तन्ते**

स विगतस्पृहः । वीतरागभयक्रोधः— रागश्च भयं च क्रोधश्च विगता यस्मात्स वीतरागभयक्रोधः । स्थितधीः स्थितप्रज्ञो मुनिर्मननशीलस्तदोच्यते ॥ ५६ ॥

८ वें. व्र. गि.— एवं समाधिस्थस्य लक्षणमुक्तम् ; इदानीं व्युत्थितस्य लक्षणमुच्यते । तत्र मूढविलक्षणभाषणादिव्यवहार एव व्युत्थितस्य लक्षणमिति दर्शयन् 'किं प्रभाषेत' इत्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम्—

दुःखेषु प्राप्तेषु अनुद्विग्नमक्षुब्धं मनो यस्य स तथोक्तः, तथा सुखेष्वपि विगता स्पृहा यस्य स तथोक्तः । तत्र सुखदुःखानां प्रारब्धकर्मायत्तचित्तवृत्तिविशेषरूपत्वात् व्युत्थितस्य च प्रारब्धकर्मचित्तवृत्त्योः सत्त्वात् सुखदुःखानि सन्ति । स्पृहोद्वेगौ तद्विषयौ न भवतः । तत्र हेतुः— वीतरागेति । वीता विगता रागो भयं क्रोधश्च यस्मात्स तथोक्तः । वीतरागत्वं स्पृहाभावे हेतुः । शोभनाध्यासो हि रागः स्वविषये स्पृहां जनयति ; अतो वीतरागस्य न स्पृहा । वीतभयक्रोधत्वमुद्वेगाभावे हेतुः । भयं हि नाम प्रियविश्लेषाप्रियागमनादिहेतुदर्शनजन्यो दैन्यात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः स्वहेतुभूतप्रियविश्लेषादिप्रयुक्तमुद्वेगं जनयति । वीतभयस्य तु नोद्वेगः । द्वेषोऽपि प्रियविश्लेषादिहेतुपुरुषान्तरगतदुःखकारणीभूतः सन्तापात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः स्वविषयादावुद्वेगं जनयति ; वीतक्रोधस्य तु नोद्वेग इति योजनीयम् । एवम्भूतो मुनिः स्थितधीरुच्यते ; व्युत्थित इति शेषः ।

अत्र 'अनुद्विग्नमना विगतस्पृहो मुनिः' इत्यनेन व्युत्थितस्य लोकविलक्षणं भाषणं दर्शितम् । लोके हि दुःखप्राप्तौ 'धिङ्मां दुःखिनं पाप्मानम्' इत्यनुतापात्मकोद्वेगवचनानि मूढा भाषन्ते । यद्यप्ययमुद्वेगो विवेक इव भाति, तथापि पापानुष्ठानकाल एव चेदयं पापप्रवृत्तिप्रतिबन्धकतया सफलः स्यात् । भोगकाले तु निष्फलत्वाद्भ्रान्तिरेव । एवं सुखप्राप्तावपि 'एतादृशं सुखं मम नित्यं भूयात्' इति स्पृहावचनानि मूढा भाषन्ते । इयमपि तत्कारणधर्ममननुष्ठाय तदाकाङ्क्षारूपत्वात्तामसी चित्तवृत्तिर्भ्रान्तिरेव । एतादृशं वाग्व्यापारं व्युत्थितः स्थितप्रज्ञो न करोति; तस्य भ्रमोपादानाज्ञाननाशात् यथाकथञ्चिद्देहयात्रामात्रनिर्वाहकप्रारब्धकर्मफलस्य भ्रमं विनाऽपि बाधितानुवृत्त्यैवोपपत्तेः ; किन्तु स्वानुभवप्रकटनेन शिष्यशिक्षार्थमस्पृहानुद्वेगगमकं मुनिशब्दसूचितं स्वानुभवानुगुणयुक्त्युपबृंहितमेव वदतीति तादृशभाषणव्यवहारस्तस्य लक्षणम् । यद्यपि वीतरागभयक्रोधत्वप्रयुक्तं सुखदुःखप्रियोद्वेगराहित्यं ज्ञानाधिकारिणो जिज्ञासोरप्यस्तीति तद्व्यवहाररूपं स्थितप्रज्ञलक्षणं तत्रातिव्याप्तम् ; तथाप्यस्ति विशेषः; उक्तं हि श्रेयोमार्गकारैः— 'विद्यास्थितये प्राग्ये साधनभूताः प्रयत्ननिष्पाद्याः । लक्षणभूतास्तु पुनः स्वभावतस्ते स्थिताः स्थितप्रज्ञे ॥ जीवन्मुक्तिरितीमां वदन्त्यवस्थां स्थितात्मसम्बोधाम् । बाधितभेदप्रतिभामबाधितात्मप्रबोधसामर्थ्यात्' इति । एतदभिप्रायेणैव भाष्यकारैरपि [ शां. चा. ] उक्तम् 'सर्वत्रैव ह्यध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि तान्येव साधनान्युपदिश्यन्ते' इति ॥ ५६ ॥

९ व० त० दी०— यानि साधकस्य ज्ञानसाधनानि तानि तस्य स्वाभाविकान्यन्तरङ्गाणि चेत्याह— दुःखेष्विति ॥ ५६ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च । दुःखेषु अनुद्विग्नं मनो यस्य, सुखेषु च विगता स्पृहा इच्छा यस्य, तादृशो मुनिः मननधर्मयुक्तः स्थितधीः स्थितप्रज्ञ उच्यते । ननु दुःखानुद्वेगे सुखस्पृहाभावे च किं स्यात् ? अत आह— वीतरागभयक्रोध इति । विगता रागभयक्रोधा यस्मात्तादृशः स्यात्, एतदेव फलम् । इयं परिभाषा स्थितप्रज्ञस्येति भावः ॥ ५६ ॥

११ नी० भा० दी०— दुःखेषु शस्त्रपातादिषु दुःखसाधनेषु प्राप्तेष्वपि अनुद्विग्नमना अचञ्चलमनाः । वक्ष्यति च— 'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते' [ ६।२२ ] इति । सुखेषु सुखसाधनेषु स्रक्चन्दनादिषु प्राप्तेष्वपि विगतस्पृहो निवृत्तिकत्वाद्भवति । अत एव वीताः रागभयक्रोधा यस्मात् स तथा । न हि तस्यामवस्थायां रागादयो दुःखादयो वा सम्भवन्ति । एवंविधः समाधिस्थः स्थितधीः स्थितप्रज्ञ उच्यते ॥ ५६ ॥

**यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।**
**नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥**
**यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५८ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च— यः सर्वत्रेति ॥ यो मुनिः सर्वत्र देहजीवितादिष्वपि अनभिस्नेहोऽभिस्नेहवर्जितस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभं तत्तत् शुभमशुभं वा लब्ध्वा नाऽभिनन्दति न द्वेष्टि, शुभं प्राप्य

न तुष्यति न हृष्यति, अशुभं च प्राप्य न द्वेष्टीत्यर्थः। तस्यैवं हर्षविषादवर्जितस्य विवेकजा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥ किञ्च- यदा संहरते इति। यदा संहरते सम्यगुपसंहरते चायं ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो यतिः, कूर्मोऽङ्गानीव- यथा कूर्मो भयात् स्वान्यङ्गानि उपसंहरति सर्वशः सर्वतः,--एवं ज्ञाननिष्ठ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः सर्वविषयेभ्य उपसंहरते, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता--इत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥५८॥

**२ आ. शां. व्या.**— लक्षणभेदानुवादद्वारा विविदिषोरेव कर्तव्यान्तरमुपदिशति— **किञ्चे**ति। विवेकवतो विविदिषोर्विवेकजन्या प्रज्ञा कथं प्रतिष्ठां प्रतिपद्यतामित्याशङ्क्याऽऽह— **यः सर्वत्रे**ति। ननु देहजीवितादौ स्पृहा शुभाशुभप्राप्तौ हर्षविषादौ विदुषो विविदिषोश्चावर्जनीयाविति प्रज्ञास्थैर्यासिद्धिस्तत्राऽऽह— **यो मुनि**रिति। तत्तदिति शोभनवत्त्वेनाशोभनवत्त्वेन वा प्रसिद्धत्वं प्रतिनिर्दिश्यते। तदेव विभजते— **शुभ**मिति। विषयेष्वभिष्वङ्गाभावः शुभादिप्राप्तौ हर्षाद्यभावश्च प्रज्ञास्थैर्ये कारणमित्याह— **तस्ये**ति ॥ ५७ ॥ जिज्ञासोरेव कर्तव्यान्तरं सूचयति— **किञ्चे**ति। इन्द्रियाणां विषयेभ्यो वैमुख्यस्य प्रज्ञास्थैर्यकारणत्वादादौ जिज्ञासुना तदनुष्ठेयमित्याह— **यदे**ति। मुमुक्षुणा मोक्षहेतुं प्रज्ञां प्रार्थयमानेन सर्वेभ्यो विषयेभ्यः सर्वाणीन्द्रियाणि विमुखानि कर्तव्यानीति श्लोकव्याख्यानेन कथयति— **यदे**त्यादिना। उपसंहारः स्ववशत्वापादनं, तस्य च सम्यक्त्वमतिदृढत्वम्। अयमिति प्रकृतस्थितप्रज्ञग्रहणं व्यावर्तयति— **ज्ञाननिष्ठाया**मिति। इन्द्रियोपसंहारस्य प्रलयरूपत्वं व्यावर्त्य सङ्कोचात्मकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयति— **कूर्म** इति। दृष्टान्तं व्याकरोति— **यथे**ति। दार्ष्टान्तिके योजयन् ज्ञाननिष्ठपदं तत्र प्रवर्तयति— **एव**मिति। इन्द्रियाणां विषयेभ्यो वैमुख्यकरणं प्रज्ञास्थैर्यहेतुरित्युक्तमुपसंहरति— **तस्ये**ति ॥ ५८ ॥

**३ रा. भा.**— ततोऽर्वाचीनदशा प्रोच्यते- य इति। यः सर्वत्र प्रियेष्वनभिस्नेह उदासीनः, प्रियसंश्लेषविश्लेषरूपं शुभाशुभं प्राप्याभिनन्दनद्वेषरहितः, सोऽपि स्थितप्रज्ञः ॥ ५७ ॥ ततोऽर्वाचीनदशामाह— यदेति। यदेन्द्रियाणीन्द्रियार्थान् स्प्रष्टुमुद्युक्तानि, तदैव कूर्मोऽङ्गानीवेन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशः प्रतिसंहृत्य मन आत्मन्यवस्थापयति, सोऽपि स्थितप्रज्ञः ॥ ५८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथ व्यतिरेकसंज्ञाख्या द्वितीया दशोच्यते इत्याह— **ततोऽर्वाचीनदशे**ति। अप्रियेषु स्नेहप्रसङ्गाभावात् प्रियमात्रविषयः 'सर्वत्र' इतिशब्द इति दर्शयति— **प्रियेष्वि**ति। अभिस्नेहस्य प्रवृत्तिपर्यन्ततया तदभावोऽत्र तद्विशेषोपादानवृत्तिराहित्यपर्यन्त इत्याह— **उदासीन** इति। एतेन **प्रिये**त्यादिना च व्यतिरेकसंज्ञात्वं व्यनक्ति। अपक्वान् कषायान् पक्वेभ्यः पृथगनुसन्धाय तेषामपि पाकापादनदशा हि **व्यतिरेकसंज्ञा**। तत्र स्वयमप्रियेषु प्रवृत्तिरहितो दैवागतप्रियसंश्लेषविश्लेषयोश्चाभिनन्दनादिरहित इत्युक्ते पक्वेतरेषां रागादीनां पाकाभिलाषेण मनोव्यापारविशेषनिवारणमुक्तं स्यात्। अभिनन्दनं चात्राभितो नन्दनम्; अनुबन्धिषु कालान्तरेषु च प्रीत्यनुवृत्तिहेतुभूतनन्दनमित्यर्थः। एवं द्वेषेऽपि ॥ ५७ ॥ अथ यतमानसंज्ञाख्या प्रथमा दशोच्यते इत्याह— **ततोऽर्वाचीनदशे**ति। प्रसक्तप्रतिषेधार्थमाह— **स्प्रष्टुमुद्युक्तानी**ति। तेन वार्धकरोगादिप्रयुक्ताशक्तिसुषुप्त्यादिकृतनिवृत्तिव्यवच्छेदः। **तदैवे**ति भोगानन्तरनिवृत्तिव्युदासः। 'कूर्मोऽङ्गानीव' इत्यनेनेन्द्रियाणां सङ्कल्पविशेषमात्रनियाम्यत्वमुच्यते। **सर्वश** इति विलोकनभाषणविलासपरिहासादिनिवृत्तिपरः विषयदोषदर्शनादिहेतुप्रकारपरो वा। **प्रतिसंहृत्य** इत्यनेनेन्द्रियनिरोधस्यात्ममननाङ्गता दर्शिता। अत्र च ज्ञाननिष्ठावस्थाविशेषप्रकरणे सुषुप्त्यादिविलक्षणव्यापारोपरतिः तत्साध्यात्मगोचरमनोवस्थापनपर्यन्ता विवक्षितेत्याह— **मन आत्मनी**ति ॥ ५८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— सर्वत्रानभिस्नेहत्वाच्छुभाशुभं प्राप्य नाभिनन्दति न द्वेष्टि ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'वीतरागभयक्रोधः' [ २।५६ ] इत्युक्तत्वान्न द्वेष्टीति पुनरुक्तिरित्यत आह— **सर्वत्रे**ति। सकारणकद्वेषवर्जितत्वमत्रोच्यत इत्यर्थः ॥ ५७ ॥ **यदा संहरत** इति ॥ ५८ ॥

**७ ह. पै. भा.**— किञ्च- यो मुनिः सर्वत्र स्वदेहजीवनादिष्वनभिस्नेहोऽभिस्नेहवर्जितः। तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्- तत्तच्छुभाशुभं लब्ध्वा नाभिनन्दति न हृष्यति न द्वेष्टि; न विषादं करोतीत्यर्थः। तस्यैवं हर्षविषादवर्जितस्य विवेकजा प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥ किञ्च- यदा संहरते सम्यगुपसंहरति, अयं ज्ञाननिष्ठायां प्रवृत्तो मुनिः कूर्मोऽङ्गानीव- यथा कूर्मोऽभ्यासात्स्वाङ्गान्युपसंहरति, तस्य सर्वशः सर्वतः-एवं ज्ञाननिष्ठ इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः सर्वविषयेभ्य उपसंहरति, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेत्युक्तार्थं वाक्यम् ॥ ५८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— सुखहेतुस्वकलत्रादिकं शुभम् । तद्गुणप्रशंसार्था हर्षरूपा धीवृत्तिरभिनन्दः । अत्र गुणप्रशंसायाः परप्ररोचनार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात्तद्धेतुरभिनन्दस्तामसः । एवं दुःखहेतुपरकीयविद्यादिकमशुभम् । तन्निन्दार्थममर्षणरूपा धीवृत्तिर्द्वेषः । सोऽपि तामस एव, निन्दाया निवारणार्थत्वाभावेन व्यर्थत्वात् । एतावभिनन्दद्वेषौ भ्रान्तिरूपौ व्युत्थिते न सम्भवतः । अत्र हेतुः— सर्वत्रानभिस्नेह इति । सर्वत्र देहजीवितादावप्यनभिस्नेहः । स्नेहो नाम प्रेमापरपर्यायस्तामसो धीवृत्तिविशेषः, यस्मिन्सत्यन्यदीये वृद्धिहानी स्वस्मिन्नारोप्याभिनन्दद्वेषौ पुरुषः करोति । तद्रहितोऽनभिस्नेहः । एवम्भूतः प्रारब्धोपनतं शुभाशुभं प्राप्याभिनन्दद्वेषवर्जित उदासीनतयैव भाषते स व्युत्थितः स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः ॥ ५७ ॥

अथ 'किमासीत' इत्यस्योत्तरमाह षड्भिः— अयं व्युत्थितः सर्वशः सर्वाणीन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्यो यदा संहरते नियच्छति प्रत्याहरति तदा तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । अनायासेनोपसंहारे दृष्टान्तः— कूर्म इति । यथा कूर्मः करचरणादीन्ययत्नेनैवाकर्षति, तद्वदित्यर्थः । अनेन व्युत्थानविक्षिप्तानीन्द्रियाणि पुनरुपसंहृत्य समाध्यर्थमेव स्थितप्रज्ञस्योपवेशनमित्युक्तं भवति ॥ ५८ ॥

९ व० त० दी०— 'किं प्रभाषेत ?' इत्यस्योत्तरमाह— यः सर्वत्रेति । इहामुत्र विरागवान् नाभिनन्दति । न द्वेष्टीति रागद्वेषवचनं न भाषत इत्यर्थः । तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताऽवसेया ॥ ५७ ॥ 'किमासीत ?' इत्यस्योत्तरमाह— चतुर्भिः । यदेति विषयेभ्य इन्द्रियाणि संहरते प्रत्याहृत्यास्ते । अनायासेनैकत्र संहारे दृष्टान्तः— अङ्गानि करचरणादीनि यथा स्वभावतः कूर्मः संहरते तद्वत् ॥ ५८ ॥

१० पु. अ. त.— 'कथं भाषेत' इत्यस्योत्तरमाह— यः सर्वत्रेति । यः सर्वत्र संसारे अनभिस्नेहः स्नेहरहितस्तत्तच्छुभमशुभं च प्राप्य नाभिनन्दति, न द्वेष्टि, शुभं लौकिकानुकूलं प्राप्य न प्रशंसति, अशुभं तत्प्रतिकूलमवाप्य न द्वेष्टि न विपरीतं वदति, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता सर्वोत्तमेत्यर्थः । अयमर्थः— यः सुहृदामनुकूलतयाऽभिनन्दनं करोति, तस्य सर्वत्र भगवदीयत्वे वैषम्यं स्यात् । प्रतिकूलकर्तृषु तद्धर्मस्फूर्त्या तं निन्दति भगवत्कृतिर्विस्मृता स्यात् । अतः सर्वत्र भगवन्मयत्वं ज्ञात्वा शुभाशुभविवेकरहितः शुभमेव भाषते स उत्तम इत्यर्थः ॥५७॥ 'कथं तिष्ठेत्' इत्यत्रोत्तरमाह- यदा संहरत इति । यदा अयं सर्वशः सर्वत्र इन्द्रियार्थेभ्य इन्द्रियभोग्येभ्य इन्द्रियाणि संहरते तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह— कूर्मोऽङ्गानीवेति । यथा कूर्मः करचरणाद्यङ्गानि स्वभावादपकर्षति । कूर्मदृष्टान्तेन भोग्यदर्शनात् स्वत एवेन्द्रियनिवृत्तिः स्वभावतः स्यात्, तथा संहरणं कर्तव्यं, नित्यमिन्द्रियनियमं कुर्वंस्तिष्ठेदित्यर्थः ॥ ५८ ॥

११ नी० भा० दी०—'स्थितधीः किं प्रभाषेत ?' [ २।५४ ] इत्यस्योत्तरमाह—यः सर्वत्रेति । सर्वेषु धनदारदेहजीवनादिषु अनभिस्नेहः । अभिस्नेहवान्हि धनदारादिषु विकलेषु सकलेषु वा 'अहमेव विकलः सकलोऽस्मि' इति दैन्यदर्पोपेतः पूर्वापरानुसन्धानरहितो जल्पति; अयं तु न तथेति भावः । तथा शुभं प्राप्य नाभिनन्दति सन्तुष्टो भूत्वा शुभप्रापयितारं न प्रशंसति, तथाऽशुभं प्राप्य न द्वेष्टि, दुःखी भूत्वा अशुभप्रापयितारं न निन्दति यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ५७ ॥ 'किमासीत?' [ २।५४ ] इत्यस्योत्तरमाह— यदेति । इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिविषयेभ्यः प्रारब्धकर्मवशेन व्युत्थितोऽपि योगी द्वैतदर्शनादुद्विग्नः सन् निरोधसंस्कारप्राबल्यात् प्रीत्या समाधिमनुतिष्ठन्नेवास्ते इत्यर्थः । शेषं स्पष्टम् ॥ ५८ ॥

इन्द्रियाणां विषयवैमुख्येऽपि तद्रागानुवृत्तिनिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिष्ठाप्राप्त्युपायः ।

**विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः ।**
**रसवर्जं, रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥**

१ शां. भा.— तत्र विषयाननाहरत आतुरस्यापीन्द्रियाणि निवर्तन्ते कूर्मोऽङ्गानीव संह्रियन्ते, न तु तद्विषयो रागः । स कथं संह्रियत इति ? उच्यते— विषया इति । यद्यपि विषयाः विषयोपलक्षितानि विषयशब्दवाच्यानीन्द्रियाणि; अथवा विषया एव निराहारस्य अनाह्रियमाणविषयस्य कष्टे [ काष्ठ- ] तपसि स्थितस्य मूर्खस्यापि विनिवर्तन्ते देहिनो देहवतो रसवर्जं रसो रागो विषयेषु यस्तं वर्जयित्वा । रसशब्दो रागे प्रसिद्धः 'स्वरसेन प्रवृत्तः' 'रसिकः' 'रसज्ञः' इत्यादिदर्शनात् । सोऽपि रसो रञ्जनरूपः सूक्ष्मोऽस्य यतेः परं परमार्थतत्त्वं ब्रह्म दृष्ट्वोपलभ्य 'अहमेव तत्' इति वर्तमानस्य निवर्तते निर्बीजं विषयविज्ञानं सम्पद्यते इत्यर्थः । नासति सम्यग्दर्शने रसस्योच्छेदः, तस्मात् सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ५९ ॥

२ आ. शां. व्या.— इन्द्रियाणां विषयेभ्यो वैमुख्येऽपि तद्विषये रागानुवृत्तौ कथं प्रज्ञालाभः स्यात्? इति शङ्कते- **तत्रे**ति। व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः। विषयाननाहरतस्तदुपभोगविमुखस्येत्यर्थः। रागश्चेन्नोपसंह्रियते, न तर्हि प्रज्ञालाभः सम्भवति, रागस्य तत्परिपन्थित्वादिति मत्वाऽऽह— **स कथ**मिति। रागनिवृत्त्युपायमुपदिशन्नुत्तरमाह— **उच्यत** इति। विषयोपभोगपराङ्मुखस्य कुतो विषयपरावृत्तिस्तत्परावृत्तिश्चाप्रस्तुता? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यद्यपी**ति। 'निराहारस्य' इत्यस्य व्याख्यानमनाह्रियमाणविषयस्येति। यो हि विषयप्रवणो न भवति तस्याऽऽत्यन्तिके तपसि क्लेशात्मके व्यवस्थितस्य विद्याहीनस्यापीन्द्रियाणि विषयेभ्यः सकाशाद्यद्यपि संह्रियन्ते तथापि रागोऽवशिष्यते। स च तत्त्वज्ञानादुच्छिद्यत इत्यर्थः। रसशब्दस्य माधुर्यादिषड्विधरसविषयत्वं निषेधति— **रसशब्द** इति। वृद्धप्रयोगमन्तरेण कथं प्रसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **स्वरसेने**ति। स्वेच्छयेति यावत्। रसिकः स्वेच्छावशवर्ती रसज्ञो विवक्षितापेक्षितज्ञातेत्यर्थः। कथं तर्हि तस्य निवृत्तिस्तत्राऽऽह— **सोऽपी**ति। दृष्टिमेवोपलब्धिपर्यायां स्पष्टयति— **अहमेवे**ति। रागापगमे सिद्धमर्थमाह— **निर्बीज**मिति। ननु सम्यग्ज्ञानमन्तरेण रागो नापगच्छतीति चेत्तदपगमादृते रागवतः सम्यग्ज्ञानोदयायोगादितरेतराश्रयतेति नेत्याह— **नासती**ति। इन्द्रियाणां विषयपारवश्ये विवेकद्वारा परिहृते स्थूलो रागो व्यावर्तते। ततश्च सम्यग्ज्ञानोत्पत्त्या सूक्ष्मस्यापि रागस्य सर्वात्मना निवृत्त्युपपत्तेर्नेतरेतराश्रयतेत्यर्थः। प्रज्ञास्थैर्यस्य सफलत्वे स्थिते फलितमाह— **तस्मा**दिति ॥ ५९ ॥

**३ रा. भा.— एवं चतुर्विधा ज्ञाननिष्ठा पूर्वपूर्वोत्तरोत्तरनिष्पाद्येति प्रतिपादितम्; इदानीं ज्ञाननिष्ठाया दुष्प्रापतां तत्प्राप्त्युपायं चाह- विषया इति। इन्द्रियाणामाहारा विषयाः, निराहारस्य विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियस्य देहिनो विषया विनिवर्तमाना रसवर्जं विनिवर्तन्ते; रसो रागः, विषयरागो न निवर्तत इत्यर्थः। रसो रागोऽप्यात्मस्वरूपं विषयेभ्यः परं सुखतरं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥**

४ वे. ता. चं.— किमर्थमिदमवस्थाचतुष्टयं विभज्योपदिश्यत इत्यत आह- **एव**मिति। प्रथमं बाह्येन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य मन आत्मनि व्यवस्थापयितुं यतेत; इयं **यतमानसंज्ञा**। अथ बलात्संहृतान्यपि बाह्येन्द्रियाणि सावशेषरागद्वेषादिदोषकलुषितं मनः पुनः पुनरवसरे प्रेरयेत्, स्वयं चात्मनि स्थातुं न शक्नुयात्; अतः पक्वावशिष्टरागद्वेषादीनौदासीन्यानभिनन्दनादिक्रमेण पचेत्; इयं **व्यतिरेकसंज्ञा**। ततः पक्वेऽपि दोषशेषे अनादिविषयानुभवभावितवासनामात्रमात्मानमनुबुभूषन्तीं शेमुषीं प्रति विभत्सेत्; तत्र निरतिशयानन्दरूपमात्मानं पुरुषद्वेषिण्या योषित इव युवानं प्रदर्श्यप्रदर्श्य क्रमादात्मनि तोषं समुत्पाद्य तेन तोषविशेषेण दवीयसा च स्मृतिविधुरेण कालेन बाह्यविषयवासनाजालमुन्मूलयितुमीहेत; सेयं **एकेन्द्रियसंज्ञा**। या पुनः समस्तवासनाविलयादौत्सुक्यमात्रस्याप्यसम्भवेन परमवैराग्यदशा, सा **वशीकारसंज्ञा**। ज्ञाननिष्ठाकाष्ठा योगाख्यमात्मावलोकनं साधयति। तच्चावलोकनं परम्परया निरतिशयपुरुषार्थभूतामृतत्वाय कल्पत इति दर्शितं भवति। कामानां तथात्वेनादर्शनं तथा दृश्यमानेष्वपि निस्सङ्गतासङ्गलेशेन भुज्यमानेष्वपि नातिस्नेहः; प्रचुरेऽपि रागे तन्निरोधसंरम्भ इति चावस्थावैषम्यम्, आत्मरतित्वं तस्य स्वरूपम्, 'आश्चर्यवद्वदति' [ २।२९ ] इति तस्य तदेकभाषणं तदनुसन्धानरूपं तदासनं, तत्प्राप्त्यर्थप्रवृत्तिरूपं तस्य व्रजनं चेति प्रश्नचतुष्कोत्तरं सिद्धम्।

अथोत्तरप्रकरणं पूर्वेण पृथगर्थं प्रदर्श्य सङ्गमयन्नवतारयति— **इदानी**मिति। ज्ञाननिष्ठायाश्चतुर्विधाया अपीति शेषः। 'निराहारस्य' इत्यनेन भोजननिषेधभ्रमं व्युदस्यति— **इन्द्रियाणा**मित्यादिना। 'न चैकान्तमनश्नतः' [ ६।१६ ] 'युक्ताहारविहारस्य' [ ६।१७ ] इति हि वक्ष्यते। अन्यत्रापि 'अत्याशनादतीपानात्' [ तै. ना. १।३४ ] इति ह्युच्यते। मोक्षधर्मे च 'दशैतानीन्द्रियोक्तानि द्वाराण्याहारसिद्धये' [ म. भा. शां. मो. ] इति सर्वेन्द्रियविषयाणामाहारशब्देन ग्रहणं दृष्टम्, न च प्रसिद्धाहारनिषेधमात्रादशेषविषयनिवृत्तिः, तस्य कतिपयेन्द्रियविषयत्वादिति भावः। 'रसवर्जं' इत्येतावति वाक्यतात्पर्यमिति द्योतनाय विनिवर्तमाना इत्यनूदितम्। आत्मगोचररागव्यवच्छेदायाह— **विषयराग** इति। प्रस्तुता एव विषयाः परमिति निर्देशस्यावधित्वमर्हन्तीति **विषयेभ्य** इत्युक्तम्। कालादिकृतपरत्वमात्रस्यानुपयुक्तत्वाद्विषयरागनिवर्तनौपयिकं परशब्दार्थमाह— **सुखतर**मिति। विषया हि सुखरूपाः, आत्मस्वरूपं तु ततोऽप्यतिशयेन सुखरूपम्। अत्र 'दृष्ट्वा निवर्तते' इति दर्शनस्य रागकर्तृकतया निर्देश औपचारिकः। यद्वा दृष्ट्वा स्थितस्यास्य देहिनो रागो निवर्तत इत्यन्वयः। एवमात्मदर्शनेन विना विषयरागो न निवर्तत इत्युक्तम् ॥ ५९ ॥

**५ आ. मा. भा.— न चैतल्लक्षणं ज्ञानमयत्नतो भवतीत्याहोत्तरश्लोकैः। निराहारत्वेन विषयभोगसामर्थ्याभाव एव भवति, इतरविषयाकाङ्क्षाभावो वा; रसाकाङ्क्षादिर्न निवर्तते, स त्वपरोक्षज्ञानादेव निवर्तत इत्याह— विषया इति। 'इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः। वर्जयित्वा तु रसनमसौ रस्ये हि वर्धते' इति वचनाद्भागवते [११।८।२०] रसशब्दस्य रागवाचित्वाच्च ॥५९॥**

६ ज. प्र. दी.— 'विषया विनिवर्तन्ते' इत्यादिश्लोकत्रयान्तेऽपि 'तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' [ २।६१ ] इत्युक्तत्वादिदमपि लक्षणविवरणमिति भ्रान्तिः स्यात्तन्निरासार्थमाह—**न चे**ति। एतल्लक्षणं यस्माद्भवति तदेतल्लक्षणम्। अयत्नतोऽल्पयत्नतः 'अनुदरा कन्या' इति यथा। यद्येवँल्लक्षणकं ज्ञानं तर्हि सर्वोऽपि जनः कस्मान्न तत्साधयति कामाद्युपद्रवपरिहारार्थम्? किं दन्दह्यमानशिरा इव बम्भ्रमीति? अतो नास्त्येवेदं ज्ञानिषु लक्षणमित्याशङ्कापरिहारार्थमिति शेषः। त्रिभिरित्यनुवर्तते ज्ञानस्याल्पप्रयत्नासाध्यत्वमत्र न प्रतीयत इत्याशङ्क्योपोद्घातप्रक्रिययेन्द्रियजयस्य तावन्महाप्रयत्नसाध्यत्वमाद्येन श्लोकेनोच्यत इति भावेन तं व्याचष्टे— **निराहारत्वेने**ति; एतेन 'रसवर्जं' इत्येतदन्तस्य वाक्यस्यार्थं उक्तः। एवशब्देन 'रसवर्जं' इत्येतद्व्याचष्टे। तथा हि निराहारस्य देहिनः। तेन निराहारत्वेनेति यावत्। विषया रूपादयः। तद्भोगसामर्थ्यानीन्द्रियाण्यनेनोपलक्ष्यन्ते, तानि विनिवर्तन्ते। रसवर्जं रसो रागः तं वर्जयित्वा विषयाभिलाषश्चैतसिको निराहारत्वेन न निवर्तत इति। अस्यैवार्थान्तरमाह— **इतरे**ति। आकाङ्क्षाशब्देन भोगशक्तयोऽपि लक्ष्यन्ते। 'रसवर्जं' इत्यस्यार्थो रसाकाङ्क्षादिरिति। ततश्चेयं योजना—निराहारत्वेन रसादितरे विषयाः तद्भोगशक्तयः तदाकाङ्क्षाश्चेति यावत्, विनिवर्तन्ते। रसं वर्जयित्वा मनसो रसविषयाकाङ्क्षा रसनेन्द्रियस्य तद्भोगशक्तिश्च न निवर्तत इति। रसोऽपीत्यस्यार्थमाह— **स त्वि**ति। आद्येऽर्थे स रसः सर्वविषयविषयो रागः। द्वितीये स रसः तद्भोगशक्तिः तदाकाङ्क्षा च। उक्तमर्थं श्लोकारूढं करोति— **इत्याहे**ति। द्वितीयार्थे प्रमाणमाह— **इन्द्रियाणी**ति। जयन्ति भोगशक्तिक्षयेण च रागक्षयेण च। असौ रसना तु रस्ये विषये प्रकारद्वयेन च वर्धते। आद्यमर्थमुपपादयति- **रसे**ति। उक्तं युक्तमित्युभयत्र शेषः। रसशब्दस्य रागवाचित्वं उक्ताभिधानादवगन्तव्यम्। अचेतने चेतनवदुपचाराद्रसः परं दृष्ट्वा निवर्तते इति युक्तम्।

अयमर्थसङ्ग्रहः— यदा बाह्येन्द्रियाणि विषयैः सन्निकृष्यन्ते तदा तद्द्वारा मनस्तत्र प्रवर्तते, प्रवृत्ते च मनसि रागो भवति, तत आत्मनः क्षोभ इति। एवं इन्द्रियाणामविजयः। यो हि यं व्याकुलं करोति स तेन जित इत्युच्यते। यदा तु बाह्येन्द्रियाणि विषयसन्निधानेऽपि न तैः सन्निकृष्यन्ते, सन्निकृष्टान्यपि न मनस्तदाभिमुखेनाहरन्ति, आहृतेऽपि मनसि न विषयरागो जायते, तदा नात्मनः क्षोभो भवतीत्येष इन्द्रियजयः। सोऽयं सङ्ग्रहेण द्वेधा— बाह्येन्द्रियाणां शक्तिक्षयान्मनसो रागक्षयाच्च। एतत् द्वयं च पुरुषभेदेनोक्तप्रकारद्वयेन निराहारत्वब्रह्मसाक्षात्काराभ्यां भवतीत्येवमिन्द्रियजयस्य महाप्रयत्नसाध्यत्वमिति ॥ ५९ ॥

**७ ह. पै. भा.— तत्र विषयाननाहरन्नभ्यासात्कूर्मोऽङ्गानीवेन्द्रियाण्यर्थेभ्य उपसंहरति, अतस्तस्यापि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता स्यादित्यत आह— यद्यपि विषयोपलक्षितानि विषयशब्दवाच्यानीन्द्रियाणि निराहारस्यानाह्रियमाणविषयस्याऽऽतुरस्य काष्ठतपसि स्थितस्य मूर्खस्यापीन्द्रियाणि निवर्तन्ते न व्याप्रियन्ते, देहिनो देहवतः। मूढमदग्राहेण क्रियमाणं तपः काष्ठतपः। रसवर्जं 'रसो रागो रसिको रसज्ञः' इति प्रयोगदर्शनाद्रागं वर्जयित्वा। स्थितप्रज्ञालक्षणं तु रागेण सहेन्द्रियाणां विषयेभ्यो व्यावृत्तिरभिमता। कथं तर्हि विषयेभ्यो रागस्य निवृत्तिः? इति चेत्, रसोऽप्यस्य यतेः परं परमात्मानं दृष्ट्वोपलभ्य 'अहमेव तदिदम्भूतः' इति निवर्तते। निर्बीजरागः सम्पद्यत इत्यर्थः। नासति सम्यग्दर्शने रागस्योच्छेदः। तस्मात्सम्यग्दर्शनात्मिकायाः प्रज्ञायाः स्थैर्यं कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ५९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु मूढोऽप्यातुरतावस्थायामिन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहरति; तत्कथमयं व्यवहारो लोकविलक्षणः? स्थितप्रज्ञासाधारण इत्याशङ्क्य भेदमाह— इन्द्रियाणामाहारा विषयाः, निराहारस्य विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियस्य देहिन आतुरादेर्विषयाः तद्भोगसमर्थानीन्द्रियाणि विनिवर्तन्ते, किन्तु रसवर्जं, विनिवर्तन्त इत्यनुषङ्गः। रसो रागः, 'शृङ्गारादौ [विषे वीर्ये गुणे] गुणे वीर्ये बले रागे द्रवे रसः' [ अमरः ३।३।२२६ ] इति निघण्टुः। विषयाभिलाषस्तु न निवर्तत इत्यर्थः। अस्य तु स्थितप्रज्ञस्य परं निरतिशयानन्दरूपं ब्रह्म दृष्ट्वा साक्षात्कृत्य स्थितस्य स रसोऽपि विषयाभिलाषोऽपि निवर्तते स्वोपादानाज्ञाननाशान्निर्बीजो भवति। श्रूयते हि "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः" [ बृ. उ. ४ । ४ । २२ ] इत्यात्मदर्शिनो विषयरागनिवृत्तिः। तथा च सरागविषयप्रत्याहृतेन्द्रियत्वव्यवहारः स्थितप्रज्ञस्यैवेति न मूढेऽतिव्याप्तिरिति भावः ॥ ५९ ॥

९ व० त० दी०— यतो निराहारस्य विषयेभ्यः प्रत्याहृतेन्द्रियस्य सतः विषया विनिवर्त्तन्ते, नान्यस्य निराहारस्य रसवर्जं विषया वा निवर्त्तन्ते, न तु रसस्तदिन्द्रियस्य सर्वबलवत्त्वात्साधकाकर्षकत्वाच्च। रसनिवृत्त्युपायमाह— रसोऽपि अस्य सिद्धस्य स्थिरधियः परमात्मानमानन्दमनुभूय निवर्त्तते; महानन्दाग्रेऽल्पानन्दवस्तुनि सर्वस्य प्रवृत्त्यसम्भवनियमात्। अग्रे चैतस्यासनभाषणमननव्रतान्यात्मनिष्ठायुक्तानि लक्षितानि ॥ ५९ ॥

१० पु. अ. त.— ननु इन्द्रियाणामन्नाद्यभावेनेन्द्रियविषयेषु प्रवृत्तिः कथं? कथं न तेषामपि स्थितप्रज्ञता? इत्याशङ्क्याह— **विषया** इति। निराहारस्य देहिनो विषया विनिवर्तन्ते, तत्सत्यमित्यर्थः। परन्तु रसवर्जं; रसो नाम तदनु-

भवार्थाभिलाषस्तद्वर्जं तद्गृहीतमित्यर्थः । 'देहिनः' इति पदेन तेषां देहाध्यासोऽपि न निवर्त्तत इति ज्ञापितम् । अस्य स्थितप्रज्ञस्य रसोऽपि तदभिलाषोऽपि परमुत्कृष्टं भगवदीयरसं दृष्ट्वा निवर्त्तते । एतावद्वैलक्षण्यमिति भावः ॥ ५९ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु विषयेभ्य इन्द्रियाणां निवृत्तिश्चेत् स्थितप्रज्ञताहेतुस्तर्हि सुप्तिमूर्च्छालयग्रहावेशादावपि साऽस्तीति सर्वोऽपि स्थितप्रज्ञ एवेत्याशङ्क्याह— विषया इति । सत्यं देहिनो देहाभिमानवतो मूढस्य सुप्त्यादौ निराहारस्य इन्द्रियैर्विषयाननाहरतोऽभुञ्जानस्य विषया विनिवर्तन्त एव; तथापि रसवर्जं, रसो रागस्तद्वर्जं निवर्त्तन्ते तदाऽपि सूक्ष्मरूपेण रागोऽस्ति, रागमूलस्यात्माज्ञानस्यादाहान्नासौ स्थितप्रज्ञ इत्यर्थः । अस्यैव पुनः परं दृष्ट्वा आत्मानं साक्षात्कृत्य निराहारस्य शब्दादीनगृह्णतो रसोऽपि निवर्त्तते मूलाज्ञानदाहादित्यस्ति सुप्तादेः समाधिस्थस्य च महान् विशेष इति भावः । प्राञ्चस्तु—रोगिणः काष्ठतपस्विनो वा मूढस्यापि विषयान् अनाहरतो रसवर्जं विषया विनिवर्तन्ते, तस्यैव परं दृष्ट्वा स्थितस्य रसोऽपि निवर्त्तते—इति व्याचख्युः ॥ ५९ ॥

स्थितप्रज्ञत्वासिद्ध्यर्थं बलवदिन्द्रियाणां जयोपायस्तत्फलं च ।

**यततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितः ।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ॥ ६० ॥**
**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥**

१ शां. भा.— सम्यग्दर्शनलक्षणप्रज्ञास्थैर्यं चिकीर्षताऽऽदाविन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितव्यानि, यस्मात्तदनवस्थापने दोषमाह— यतत इति ॥ यततः प्रयत्नं कुर्वतो हि यस्मादपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चितो मेधाविनः—'अपि' इति व्यवहितेन सम्बन्धः— इन्द्रियाणि प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि विषयाभिमुखं हि पुरुषं विक्षोभयन्ति आकुलीकुर्वन्ति; आकुलीकृत्य च हरन्ति प्रसभं प्रसह्य प्रकाशमेव पश्यतो विवेकविज्ञानयुक्तं मनः ॥ ६० ॥ यतस्तस्मात्— तानीति ॥ तानि सर्वाणि संयम्य संयमनं वशीकरणं कृत्वा युक्तः समाहितः सन्नासीत मत्परः—अहं वासुदेवः सर्वप्रत्यगात्मा परो यस्य स मत्परः, 'नान्योऽहं तस्मात्' इति आसीत इत्यर्थः । एवं आसीनस्य यतेर्वशे हि यस्य इन्द्रियाणि वर्तन्ते अभ्यासवशात् [– बलात् ] तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

२ आ. शां. व्या.— श्लोकान्तरमवतारयति— **सम्यग्दर्शने**ति । मनसः स्ववशत्वादेव प्रज्ञास्थैर्यसम्भवे किमर्थमिन्द्रियाणां स्ववशत्वापादनं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यस्मा**दिति । ननु विवेकवतो विषयदोषदर्शिनो विषयेभ्यः स्वयमेवेन्द्रियाणि व्यावर्तन्ते, किं तत्र प्रज्ञास्थैर्यं चिकीर्षता कर्तव्यं इति तत्राऽऽह— **यततो ही**ति । विषयेषु भूयो भूयो दोषदर्शनमेव प्रयत्नः । हिशब्दस्य यस्मादर्थस्य समाप्तौ सम्बन्धं वक्ष्यति । अपिशब्दस्य प्रयत्नं कुर्वतोऽपीति सम्बन्धं गृहीत्वा सम्बन्धान्तरमाह— **पुरुषस्ये**ति । प्रमथनशीलत्वं प्रकटयति— **विषये**ति । विक्षोभस्याऽऽकुलीकरणस्य फलमाह— **आकुलीकृत्ये**ति । प्रकाशमेवेत्युक्तं विशदयति— **पश्यत** इति । विपश्चितो विदुषोऽपि प्रकाशमेव प्रकाशशब्दितविवेकाख्यविज्ञानेन युक्तमेव मनो हरन्तीन्द्रियाणीति सम्बन्धः ॥ ६० ॥

हिशब्दार्थमनूद्य तस्मादिन्द्रियाणि स्ववशे स्थापयितव्यानीति पूर्वेण सम्बन्धमभिसन्धायाऽऽह— **यतस्तस्मा**दिति । इन्द्रियाणां स्ववशत्वसम्पादनानन्तरं कर्तव्यमर्थमाह— **तानी**ति । एवमासीनस्य किं स्यात् ? इति तदाह— **वशे ही**ति । समाहितस्य विक्षेपविकलस्य कथमासनं ? इत्यपेक्षायामाह— **मत्पर** इति । परापरभेदशङ्कामपाकृत्याऽऽसनमेव स्फोरयति— **नान्योऽहमि**ति । उत्तरार्धं व्याकरोति— **एवमि**ति । हिशब्दार्थं स्फुटयति— **अभ्यासे**ति । 'परस्मादात्मनो नाहमन्योऽस्मि' इति प्रागुक्तानुसन्धानस्याऽऽदरेण नैरन्तर्यदीर्घकालानुष्ठानसामर्थ्यादित्यर्थः । अथवा विषयेषु दोषदर्शनाभ्याससामर्थ्यादिन्द्रियाणि संयतानीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

३ रा. भा.— आत्मदर्शनेन विना विषयरागो न निवर्तते, अनिवृत्ते विषयरागे विपश्चितो यतमानस्यापि पुरुषस्येन्द्रियाणि प्रमाथीनि बलवन्ति मनः प्रसह्य हरन्ति । एवमिन्द्रियजय आत्मदर्शनाधीनः, आत्मदर्शनमिन्द्रियजयाधीनमिति ज्ञाननिष्ठा दुष्प्रापा ॥ ६० ॥ अस्य सर्वस्य दोषस्य

परिजिहीर्षया विषयानुरागयुक्ततया दुर्जयानीन्द्रियाणि संयम्य चेतसः शुभाश्रयभूते मयि मनोऽवस्थाप्य समाहित आसीत; मनसि मद्विषये सति निर्दग्धाशेषकल्मषतया निर्मलीकृतं विषयानुरागरहितं मन इन्द्रियाणि स्ववशानि करोति। ततो वश्येन्द्रियं मन आत्मदर्शनाय प्रभवति; यथोक्तं— 'यथाऽग्निरुद्धतशिखः कक्षं दहति सानिलः। तथा चित्तस्थितो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम्' [वि.पु. ६।७।७४ ] इति। तदाह— 'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता' इति ॥ ६१ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथानिवृत्ते विषयरागे दुर्जयानीन्द्रियाणीत्युच्यते— 'यततः' इति श्लोकेन। विपश्चित्त्वं यतमानत्वे हेतुरिति द्योतनायोक्तं **विपश्चितो यतमानस्यापी**ति। अत्र विपश्चित्त्वं शास्त्रजन्यहेयोपादेयविवेकत्वम्। बलवतां प्रमाथित्वं हि'बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति'[मनुः२।२१५] इति स्मर्यते-इति ज्ञापनाय **बलवन्ती**त्युक्तम्। इन्द्रियाणां बलं च रागादिरेव। उक्तश्लोकद्वयतात्पर्यसिद्धमन्योन्याश्रयणं तत्फलं चाह— **एव**मिति॥६०॥ तर्ह्यन्योन्याश्रयदूषितेऽर्थे साध्यसाधनभावः कथं पूर्वमुपदिष्टः? इत्यत्रोच्यते 'तानि सर्वाणि' इति। **अस्ये**ति, अन्योन्याश्रयादिदोषस्येत्यर्थः। **संयम्ये**ति। विषयस्पर्शनिवारणमात्रमत्रोच्यते, न त्विन्द्रियजयावस्था। 'मत्परः' इत्यत्र वक्तृविग्रहवैशिष्ट्यविवक्षया सिद्धं शुभाश्रयविग्रहविशेषवत्त्वं **चेतस** इत्यादिना विवृतम्। शुभशब्देन हिरण्यगर्भादेः, आश्रयशब्देन परिशुद्धात्मस्वरूपस्य च व्यवच्छेदः। युक्तशब्देनात्र विषयस्वभावात्सुकरं चित्तसमाधानं विवक्षितमित्याह— **समाहित** इति। 'मत्परः' इत्येतावता कथमन्योन्याश्रयादिपरिहार इत्यत्राह— **मनसी**ति। अत्राशेषशब्देनोपायविरोधिसर्वकर्मसङ्ग्रहः। निर्मलीकृतं रजस्तमोविरहितं तत एव हि शब्दादिविषयानुरागरहितम्। अत्र प्रज्ञाशब्दस्य ज्ञाननिष्ठाफलपर्यन्तत्वमात्मदर्शनशब्देनोक्तम्। शुभाश्रयानुसन्धानस्य कल्मषविनाशकत्वे स्मृत्यन्तरसंवादमाह— **यथे**ति। आत्मदर्शनमन्तरेणैव इन्द्रियजयसिद्धेर्नान्योन्याश्रयः। अतः पूर्वोक्तसाध्यसाधनभावोपपत्तिरित्युत्तरार्धेनोच्यत इत्याह— **तदाहे**ति ॥ ६१ ॥

**५ आ. मा. भा.**— अपरोक्षज्ञानरहितज्ञानिनोऽपि साधारणयत्नवतोऽपि मनो हरन्तीन्द्रियाणि। पुरुषस्य शरीराभिमानिनः। को दोषस्ततः? प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि पुरुषस्य ॥ ६० ॥ तर्ह्यशक्यान्येवेत्यत आह— **तानी**ति। बहुयत्नतः शक्यानि। अतो यत्नं कुर्यादित्याशयः। युक्तो मयि मनोयोगयुक्तः। अहमेव परः सर्वस्मादुत्कृष्टो यस्य स मत्परः। फलमाह— **वशे ही**ति ॥ ६१ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ननु यत्नज्ञानाभ्यामिन्द्रियजयमुक्त्वा 'यततोऽपि' इति तद्विरुद्धं कथमुच्यते? इति चेत्, न; इन्द्रियजयार्थं किं निराहारत्वलक्षणेन महाप्रयत्नेन? प्रत्याहारादिना साधारणेन प्रयत्नेन तत्सम्भवात्; तथा किमपरोक्षज्ञानेन? नित्यानित्यविवेकज्ञानेनापि तदुपपत्तेरित्याशङ्क्य तन्निषेधोऽत्र क्रियत इत्याशयवान् व्याचष्टे— **अपरोक्षे**ति। ज्ञानस्य प्राधान्यसूचनाय विपश्चितोऽपीत्येतत्पश्चादुक्तमपि अपरोक्षेत्यादौ व्याख्यातम्। यततोऽपीत्यस्यार्थः— **साधारणे**ति। हरन्ति विषयसन्निकृष्टानि तदभिमुखं कृत्वा तद्रागीकुर्वन्तीत्यर्थः। पुरुषस्येति व्यर्थं स्त्रीणामप्येवम्भावादित्यत आह— **पुरुषस्ये**ति। एतच्चोक्तोपपादनार्थम्। 'प्रमाथीनि' इत्यस्य प्रयोजनं वक्तुमाह— **को दोष** इति। एतावताऽऽत्मनस्तदविजयः कथं? इत्याशयः। मनो हृतवन्ति पुरुषस्य क्षोभणशीलानि, न तेन विजितानीति भावः। 'पुरुषस्य'इत्यनेनोभयत्रास्यान्वयं दर्शयति॥६०॥

उपोद्घातस्य साध्ये वक्तव्ये तानि सर्वाणीति किमुच्यत इत्यतोऽन्तरापतितां शङ्कां निवर्तयितुमेतदिति भावेनाह— **तर्ही**ति। यदि साधारणविवेकज्ञानाभ्यां न जीयन्ते इत्यर्थः। अशक्यान्येव जेतुमिति शेषः। निराहारस्य देहावस्थानासम्भवात्। ब्रह्मापरोक्षज्ञानस्य चेन्द्रियजयसाध्यतयाऽभिप्रेतत्वेनेतरेतराश्रयप्रसङ्गादिति भावः। तथा च तज्जयस्य ज्ञानसाधनत्वं यद्विवक्षितं तन्न सम्भवतीति शङ्काशेषः। इन्द्रियसंयमोऽशक्य एवेति शङ्कायां तानि सर्वाणि संयम्यासीतेति किमेतदुच्यते? इत्यत आह— **बहुयत्ने**ति। यत्नं बहुमिति शेषः। यद्यपि तज्जयेन परोक्तं साधनं अस्मदुक्तं वा शक्यं, तथापि तत्प्रतिनिधिना महाप्रयत्नेन जय्यानीत्यर्थः। एतदप्युपोद्घातत्वेनैवोक्तमिति ज्ञातव्यम्। युक्त इति नैतद्युजिरो रूपम्, येन प्रतिसम्बन्ध्याकाङ्क्षायां तदनुक्तिदोषः स्यात्; किन्तु समाध्यर्थस्य युजेरिति भावेनाह— **युक्त** इति। मत्पर इत्युत्तरत्र श्रवणात् 'मयि'इत्युक्तम्। मत्पर इत्यद्वैतज्ञानं इत्यन्यैर्व्याख्यातं तन्नाक्षरानुसारीत्याशयवान्व्याचष्टे— **अहमेवे**ति। भगवानेव सर्वस्मादुत्कृष्ट इति ज्ञात्वा तस्मिन्नेव निरन्तरं मनसो योजनं इन्द्रियजये परं साधनमिति भावः। निराहारत्वादिकं तु वस्तुगतिप्रदर्शनार्थमेवोक्तमिति मन्तव्यम्। यदर्थमयमुपोद्घात उक्तस्तत्प्रदर्शनपर तयोत्तरार्धतात्पर्यमाह— **फल**मिति। यद्येवं ततः किमित्याशङ्कायां इन्द्रियजयस्य ज्ञानं फलमाहेत्यर्थः। यत एवं ज्ञानं महायाससाध्येन्द्रियजयफलं, अतएवायासभीरुर्जनो न तत्साधयति, न तु ज्ञानस्योक्तलक्षणत्वाभावादिति श्लोकत्रयतात्पर्यार्थः॥६१॥

**७ ह. पै. भा.**— तस्य च सम्यग्दर्शनस्थैर्यस्योपायमाह— यततो यतमानस्यापि पुरुषस्य विपश्चितो मेधाविनोऽपि मन इन्द्रियाणि प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि प्रसभं हरन्ति ॥६०॥ यस्मादेवं

तस्मात्- तानि सर्वाणीन्द्रियाणि वशीकृत्य युक्तः समाहितः समासीत । मत्परः, अयं वासुदेवः सर्वप्रत्यगात्मा परः प्रधानं यस्य स मत्परः । नान्योऽहं तस्माद्वासुदेवादित्युपासीतेत्यर्थः । वशे हि यस्येन्द्रियाणि वर्तन्तेऽभ्यासबलात्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६१ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु सरागविषयनिवृत्तेन्द्रियत्वमपि मूढानां सम्भवति, विषयदोषदर्शनेन नित्यानित्यविवेकेन च मानसिकेन विषयरागनिवृत्तेः सुकरत्वादित्याशङ्क्याह— यततः पुनः पुनर्विषयदोषदर्शनात्मकं यत्नं कुर्वतः तथा विपश्चितो विवेकिनोऽपि पुरुषस्य मनः क्षणमेकं निर्विकारीकृतमपि इन्द्रियाणि प्रसभं बलात्कृत्वा हरन्ति विकारप्रापणेन स्वविषयाविष्टं कुर्वन्ति । ननु वैराग्यरक्षके राजनि विवेके तन्मन्त्रिणि च प्रयत्ने जागरूके कथं हरन्ति ? इत्यत आह— **प्रमाथीनीति** । प्रमथनशीलत्वाद्राजमन्त्रिणावप्यभिभूय हरन्तीत्यर्थः । हिः प्रसिद्धौ । प्रसिद्धं हि लोके प्रमाथिनो दुष्टाश्चोरादयः पश्यत्येव धनिनि धनं हरन्तीति ॥ ६० ॥

नन्वेवं प्रयत्नविवेकाभ्यामपि यदीन्द्रियजयो न स्यात्तर्ह्यजय्यान्येव तानि स्युः ; न च 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' [२।५९ ] इत्युक्तमात्मदर्शनमेवेन्द्रियजयोपाय इति युक्तम् , तथा सति आत्मदर्शनादिन्द्रियजय इन्द्रियजयाच्चात्मदर्शनमित्यन्योन्याश्रयात् ; तथा च स्थितप्रज्ञत्वमतिदुर्लभमिति मन्यमानमर्जुनं प्रति भगवानिन्द्रियजयोपायमुपदिशति— तानीति । मत्परः सन् तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतेत्यन्वयः । परशब्द इष्टवचनः । अहमेव पर इष्टो यस्य स मत्परः, मदर्पितमना इति यावत् । एवम्भूतः सन् तानि प्रमाथीनि सर्वाणीन्द्रियाणि संयम्य वशीकृत्य युक्तः समाहित आसीत उपविशेत् । यथा हि— राज्ञि विन्यस्तं धनं न चोरैरपहर्तुं शक्यं, प्रत्युत राजाश्रितोऽयमिति भयाच्चोरादय एव तस्य वशवर्तिनो भवन्ति, तथा सर्वलोकेश्वरे भगवति विन्यस्तं मनो नेन्द्रियैरपहर्तुं शक्यम् , इन्द्रियाण्येव तु तस्य भयाद्वश्यानि भवन्तीति मत्परशब्देन ध्वन्यते । एतदुक्तं भवति— परमेश्वरे समर्पितं मनो निर्दग्धाशेषकल्मषमतिविमलं भवति, 'यथाऽग्निरुत्थितशिखः कक्षं दहति सानिलः । तथा चित्तगतो विष्णुर्योगिनां सर्वकिल्बिषम् ' [वि.पु.६।७।७४] इत्यादिस्मृतेः । तत्र विषयरागरहितं मनः सर्वाण्यपीन्द्रियाणि स्ववशीकरोति । ततो वश्येन्द्रियस्तत्त्वज्ञानाय प्रभवतीति न पूर्वोक्तान्योन्याश्रय इति । तदेतदाह— **वशे हि यस्येन्द्रियाणीति**। तदनेन 'किमासीत' [ २।५४ ] इति प्रश्नस्य वश्येन्द्रियः सन्नासीतेत्युत्तरमुक्तं भवति ॥ ६१ ॥

९ व० त० दी०— तेष्वेव प्रथममुपदेशे कर्तव्यतादृढनाय तस्यासनं सहेतुकं लक्षयति— यततोऽपीति द्वाभ्याम् । यततोऽपि तत्तदिन्द्रियजयाभ्यास एव श्रेयान् मनःप्रमाथित्वादिद्रियाणां अतस्तानि सर्वाणि प्रथमं बुद्ध्या संयम्य युक्तो य आसीत मत्परः तस्यैव प्रतिष्ठिता प्रज्ञाऽवसेया ॥ ६० ॥ ६१ ॥

१० पु. अ. त.— ननु इन्द्रियसंयमनं सर्वेषां कर्तुमुचितं, स्थितप्रज्ञे को विशेषः? इति चेत्तत्राह— **यतत** इति द्वाभ्याम् । हे कौन्तेय ! विपश्चितः शास्त्रार्थविदः पुरुषस्य यततोऽपि यत्नं कुर्वाणस्यापि प्रमाथीनि प्रकर्षेण मथनशीलानि इन्द्रियाणि प्रसभं बलात्कारेण मनो हरन्ति ॥ ६० ॥ अतस्तानि सर्वाणि संयम्य स्ववशगानि कृत्वा मत्परः अहमेव परो यस्य तादृशो युक्तः मयि युक्त आसीत । एवं यो मत्परस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता । यस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता तस्येन्द्रियाणि वशे भवन्ति; नान्यस्येत्यर्थः । प्रमाथित्वादिति भावः । अत एव पूर्वार्द्धे विपश्चितामपि तदसामर्थ्यमुक्तम् ॥ ६१ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च सुप्तादेरिन्द्रियाणि श्रान्त्या स्वयमेव लीयन्ते, समाहितेन तु तानि कूर्मेणाङ्गानीव स्वेच्छया संह्रियन्ते, एतच्चात्यन्तायाससाध्यमित्याह— यतत इति । विपश्चितः शास्त्राचार्योपदेशवतो यततोऽपि समाधिसिद्ध्यर्थं यतमानस्यापि पुरुषस्य इन्द्रियाणि-कर्तॄणि-मनः प्रतीचि स्थिरीक्रियमाणं-कर्मीभूतं-हरन्ति विषयप्रवणं कुर्वन्ति, यतः प्रमाथीनि । यथा— बहवश्चोरा वने एकं पुरुषं प्रमथ्य तस्य वित्तं हरन्ति एवमिन्द्रियाणि यततो मनो हरन्ति, यतः प्रसभमतिशयेन प्रमथनशीलानि ॥ ६० ॥ यद्यप्येवं तथापि तानि नियन्तव्यान्येव, अन्यथा स्थितप्रज्ञत्वस्यैवासिद्धेरित्याह— तानीति । संयम्य वशीकृत्य युक्तः सन्नद्धो मत्परः-अहमेव सर्वेषां प्रत्यगात्मा परः स्त्र्यादिभ्यो बाह्येभ्यो देहेन्द्रियादिभ्य आन्तरेभ्यश्च उत्कृष्टः प्रियतमो यस्य स मत्परः सन्नासीत; हि यस्मात् वशे आज्ञायाम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ६१ ॥

विषयस्मरणस्यानर्थकरत्वादिन्द्रियनिग्रहावश्यकता ।

**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।**
**सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥**

**क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ।**
**स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥**

**१ शां. भा.**— अथेदानीं पराभविष्यतः सर्वानर्थमूलमिदमुच्यते— ध्यायत इति ॥ ध्यायतश्चिन्तयतः विषयान् शब्दादीन् विषयविशेषानालोचयतः पुंसः पुरुषस्य सङ्ग आसक्तिः प्रीतिः तेषु विषयेषूपजायते उत्पद्यते । सङ्गात् प्रीतेः सञ्जायते समुत्पद्यते कामः तृष्णा । तस्मात् कामात् कुतश्चित् प्रतिहतात् क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधादिति ॥ क्रोधाद्भवति सम्मोहोऽविवेकः कार्याकार्यविषयः । क्रुद्धो हि सम्मूढः सन् गुरुमपि आक्रोशति । सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः शास्त्राचार्योपदेशाहितसंस्कारजनितायाः स्मृतेः स्यात् विभ्रमो भ्रंशः स्मृत्युत्पत्तिनिमित्तप्राप्तौ अनुत्पत्तिः । ततः स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः बुद्धेर्नाशः । कार्याकार्यविषयविवेकायोग्यता अन्तःकरणस्य बुद्धेर्नाश उच्यते । बुद्धिनाशात् प्रणश्यति । तावदेव हि पुरुषः यावदन्तःकरणं तदीयं कार्याकार्यविवेकयोग्यम् ; तदयोग्यत्वे नष्ट एव पुरुषो भवति । अतस्तस्यान्तःकरणस्य बुद्धेर्नाशात् प्रणश्यति पुरुषार्थायोग्यो भवतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— समनन्तरश्लोकद्वयतात्पर्यमाह— **अथे**ति । पुरुषार्थोपायोपदेशानन्तर्यमथशब्दार्थः । तन्निष्ठत्वराहित्यावस्थां दर्शयति— **इदानी**मिति । पराभविष्यतो महान्तमनर्थं गमिष्यतो विवेकविज्ञानविहीनस्येति यावत् । सर्वानर्थमूलं विषयाभिध्यानं तस्य तथात्वमनुभवसिद्धमिति वक्तुमिदमित्युक्तम् । विषयेषु विशेषत्वमारोपितरमणीयत्वम् । प्रीतिरासक्तिरिति साधारणासक्तिमात्रं गृह्यते । तृष्णेत्युद्रिक्तासक्तिरुक्ता । प्रतिबन्धेन प्रणाशेन वा प्रतिहतिः ॥६२॥ क्रोधस्य सम्मोहहेतुत्वमनुभवेन द्रढयति— **क्रुद्धो** हीति । आक्रोशत्यधिक्षिपति । तदयोग्यत्वमपेरर्थः । सम्मोहकार्यं कथयति— **सम्मोहा**दिति । स्मृतेर्निमित्तनिवेदनद्वारा स्वरूपं निरूपयति— **शास्त्रे**ति । क्षणिकत्वादेव तस्याः स्वतो नाशसम्भवान्न सम्मोहाधीनत्वं तस्येत्याशङ्क्याऽऽह— **स्मृती**ति । स्मृतिभ्रंशेऽपि कथं बुद्धिनाशः स्वरूपतः सिध्यति ? तत्राऽऽह— **कार्ये**ति । ननु पुरुषस्य नित्यसिद्धस्य बुद्धिनाशेऽपि प्रणाशो न कल्पते तत्राऽऽह— **तावदेवे**ति । कार्याकार्यविवेचनयोग्यान्तःकरणाभावे सतोऽपि पुरुषस्य करभवदपगततत्त्वविवेकविवक्षया नष्टत्वव्यपदेशः तदेतदाह— **पुरुषार्थे**ति ॥ ६३ ॥

**३ रा. भा.**— एवं मय्यनिवेश्य मनः स्वयत्नगौरवेणेन्द्रियजये प्रवृत्तो विनष्टो भवतीत्याह— अनिरस्तविषयानुरागस्य हि मय्यनिवेशितमनस इन्द्रियाणि संयम्यावस्थितस्याप्यनादिपापवासनया विषयध्यानमवर्जनीयं स्यात् । ध्यायतो विषयान् पुंसः पुनरपि सङ्गोऽतिप्रवृद्धो जायते । सङ्गात् सञ्जायते कामः । कामो नाम सङ्गस्य विपाकदशा । पुरुषो यां दशामापन्नो विषयानभुक्त्वा स्थातुं न शक्नोति स कामः । कामात्क्रोधोऽभिजायते— कामे वर्तमाने विषये चासन्निहिते सन्निहितान् पुरुषान् प्रति एभिरस्मदिष्टं विहतमिति क्रोधो भवति; । क्रोधाद्भवति सम्मोहः । सम्मोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता, तया सर्वं करोति । ततश्च प्रारब्धे इन्द्रियजयादिके प्रयत्ने स्मृतिभ्रंशो भवति । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः— आत्मज्ञाने यो व्यवसायः कृतस्तस्य नाशः स्यात्, बुद्धिनाशात्पुनरपि संसारे निमग्नो विनष्टो भवति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तान्योन्याश्रयणफलभूताया इन्द्रियजयात्मदर्शनयोरसिद्धेः प्रकारः श्लोकद्वयेन प्रपञ्च्यत इत्याह— **एव**मिति । अदृष्टात्मस्वरूपस्य विषयान् ध्यायत इत्यनुवादसिद्धां विषयेषु स्वरसवाहितां सहेतुकामाह— **अनिरस्ते**ति । अत्र संयम्येति निमीलनादिमात्रकृतं निवारणमुच्यते । उपजायत इत्यत्रोपसर्गाभिप्रेतं विविच्य दर्शयति— **अतिप्रवृद्धो जायत** इति । सङ्गकामयोरभेदात्कार्यकारणभावानुपपत्तिरित्यत्राह— **कामो नामे**ति । विपाकदशाशब्देन सामान्यत उक्तेऽपि व्यावृत्ताकारप्रतिपत्तिर्न स्यादिति तल्लक्षणमाह— **पुरुष** इति । सर्वदा कामस्य क्रोधहेतुत्वं नास्तीत्यत उक्तं **विषये चासन्निहित** इति । न केवलं कामप्रतिबन्धकानेव पुरुषान् प्रति क्रोधः, अपितु कृत्याकृत्यविवेकान्धतया तस्यां दशायामुपलभ्यमानान् सर्वान् प्रत्यपीति द्योतनाय **सन्निहिता**नित्युक्तम् । ईश्वरोऽपि हि क्रोधवेगमभिनयन् कस्मिंश्चिदेव

रक्षसि द्रुह्यति 'सदेवगन्धर्वमनुष्यपन्नगं जगत्सशैलं परिवर्तयाम्यहम्' [वा. रा. ३।६४।७६] इत्याह । अयं चाभिजायत इत्यत्रोपसर्गाभिप्रेतार्थः, अभितो जायत इत्यर्थः । समित्येकीकारे, ततोऽत्र सम्मोहः कृत्याकृत्याविवेकात्मा मोह इत्यभिप्रायेणाह— **कृत्ये**ति । सम्मोहस्य स्मृतिभ्रंशहेतुत्वेऽवान्तरव्यापारमाह— **तये**ति । 'क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि' [म. भा. ३] इत्याद्यनुसारेणोक्तं **सर्व**मिति । **ततश्चे**ति । सावान्तरव्यापारात्सम्मोहादित्यर्थः । स्मर्तव्ये प्रस्तुतविषये स्मृतिभ्रंशं योजयति— **प्रारब्ध** इति । स्मृतिभ्रंशादित्युत्तरवाक्यशृङ्खलावशात् स्मृतिविभ्रमशब्दस्य तदेकार्थत्वायोक्तं **स्मृतिभ्रंशो भवती**ति । बुद्धिनाश इत्यत्र प्रकृतं बुद्धेर्विशेषमाह— **आत्मे**ति । न तावदिह सामान्यतो ज्ञानमात्रं बुद्धिशब्दार्थः, न चेतःपूर्वमात्मदर्शनं सिद्धम्; न च भविष्यदात्मदर्शनादिकमिदानीं नाशयोग्यम् । अतस्तल्लिप्सया कृतस्तदुपायानुष्ठानाध्यवसाय इहोपायस्मृतिसाध्यो बुद्धिशब्देनोच्यत इति भावः । प्रणश्यतीत्यत्र नित्यस्यात्मनो नाशो ह्रसत्समत्वम् । तच्च यथावस्थितताकारानुपलम्भः । स च देहात्मभ्रमादिकृतः, तत्रापि हेतुर्देहसम्बन्ध इत्यभिप्रायेणोक्तं— **संसारे निमग्न** इति ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

**५ आ. मा. भा.— रागादिदोषकारणमाह परिहाराय श्लोकद्वयेन । सम्मोहोऽधर्मेच्छा । तथा हि— मोहशब्दार्थ उक्त उपगीतासु 'मोहसंज्ञितम् । अधर्मलक्षणं चैव नियतं पापकर्मसु' इति । तथा चान्यत्र 'सम्मोहोऽधर्मकामिता' इति । स्मृतिविभ्रमः प्रतिषेधादिस्मृतिनाशः । बुद्धिनाशः सर्वात्मना दोषबुद्धिनाशः । विनश्यति नरकाद्यनर्थं प्राप्नोति । तथा ह्युक्तम्—'अधर्मकामिनः शास्त्रे विस्मृतिर्जायते यदा । दोषादृष्टेस्ततःकृतेश्च नरकं प्रतिपद्यते' ॥ ६२ ॥ ६३ ॥**

६ **ज. प्र. दी.**— 'ध्यायतः' इत्यादिना प्रकृतानुपयुक्तं किमेतदुच्यते ? इत्यत आह— **रागादी**ति । रागादिदोषस्य कारणं रागादिदोषकारणम् । तथा रागादिदोषः कारणं यस्य तद्रागादिदोषकारणम्; परिहाराय रागादिदोषस्य । इदमुक्तं भवति— 'मत्परो युक्त आसीत' [२।६१] इतीन्द्रियजयस्य परमसाधनमुक्तम् । रागद्वेषपरिहारोऽप्यपरं साधनमिति वक्ष्यति । तत्र स एव कथं स्यात् ? इत्या -(शङ्कायां)- काङ्क्षायां उपोद्घातप्रक्रियेयं दमुच्यत इति । सम्मोहो मूर्च्छाऽत्र न सङ्गच्छत इत्यतोऽन्यथा व्याचष्टे— **सम्मोह** इति । अधर्मेच्छा अकार्येच्छा । कुतः ? इत्यत आह— **तथा ही**ति । संशब्दस्तु तस्यैव विशेषक इति भावः । अदृष्टरूपाधर्मविषयम् । तद्धेतुषु पापकर्मसु च नियतं कामनं मोहसंज्ञितमित्यर्थः । स्पष्टं चात्र प्रमाणमाह— **तथा चे**ति । यत्किञ्चिद्विषयस्य स्मृतिविभ्रमस्य प्रकृतानुपयोगात्सम्यग्व्याचष्टे— **स्मृतिविभ्रम** इति । विभ्रमोऽनवस्थानं, नाश इति यावत् । चेतनस्य कथं बुद्धिनाशः ? इत्यत आह— **बुद्धिनाश** इति । स्मृतिविभ्रम एवायमित्यतः सर्वात्मनेत्युक्तम् । नित्य आत्मेत्युक्तम्, तत्कथं विनश्यति ? इत्यत आह— **विनश्यती**ति । उक्तार्थे प्रमाणमाह— **तथा ही**ति । तदा दोषादृष्टेः । एतदुक्तं भवति—रागद्वेषयोः परम्परया नरकाद्यनर्थप्राप्तिः कार्यमिति ज्ञानेन तत्परिजिहीर्षायां विषयध्यानपरम्परया तत्कारणमिति ज्ञानेन तदकारणात्तयोरनुत्पादो भवतीति ६२।६३

**७ ह. पै. भा.— अथेदानीमात्मनाशस्य मूलमुच्यते— ध्यायतश्चिन्तयतः शब्दादिविषयान् सङ्गः प्रीतिस्तेषु शब्दादिषु विषयेषूपजायत उत्पद्यते; सङ्गात्प्रीतेः सञ्जायते समुत्पद्यते कामस्तृष्णा; कामात्कुतश्चित्प्रतिहतात्तु क्रोधोऽभिजायते रज्यमाने विसेवितश्च ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवति जायते सम्मोहः कार्याकार्याविवेकः, सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः शास्त्राचार्योपदेशजातसंस्कारजनितायाः स्मृतेर्भ्रंश उत्पत्तिनिमित्तप्राप्तौ सत्यामनुत्पत्तिः । ततश्च स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशः कार्याकार्यविवेकलक्षणाया बुद्धेर्नाशः । बुद्धिनाशात्स्वयं प्रणश्यति । एतावान्हि पुरुषो यावत्कार्याकार्यविवेकस्तन्नाशे नष्ट एव पुरुषो भवति ॥ ६३ ॥**

८ **वें. ब्र. गि.**— नन्वादौ मनः परमेश्वरे विनिधाय निष्कल्मषीकृतेन तेन बाह्येन्द्रियाणि वशीकर्तव्यानीति कोऽयं शिरोवेष्टनेन नासिकाग्रहणप्रयासः ? चक्षुरादीनां तत्तद्गोलकोपरोधेनैव जयसिद्धेः । न च 'रसवर्जम्' [२।५९] इति प्रागुक्तरीत्या रागजयं विना बाह्यगोलकोपरोधमात्रमकिञ्चित्करमिति विषयप्रवणं मनः परमेश्वरप्रावण्ययोजनेन तेभ्यो व्यावर्त्य बाह्येन्द्रियाणि तदनुसारीकर्तव्यानीति वाच्यम्, बाह्येन्द्रियप्रवृत्तिद्वारैव मनसोऽनर्थहेतुत्वेन निगृहीतबाह्येन्द्रियं प्रत्यान्तरविषयाभिलाषसत्त्वेऽप्यक्षतेरित्याशङ्क्याह द्वाभ्याम्—

अमदर्पितचित्तस्यानिवृत्तविषयरागस्य अभिनिरुद्धकेवलबाह्येन्द्रियगोलकस्य अनादिवासनास्वाभाव्यात् विषयध्यानमवर्जनीयं स्यात् । तत्र च विषयान्ध्यायतः पुनः पुनर्मनसा चिन्तयतः पुंसः तेषु विषयेषु तत्तदिन्द्रियाणां सङ्गः सम्बन्ध उपजायते, बलवान्विषयचिन्ताप्रवाहः सैकतसेतुवद्दतिदुर्बलं बाह्यगोलकोपरोधमवधूय तत्तद्विषयेन्द्रियसंयोगं जनयेदेवेत्यर्थः । तस्माच्च विषयेन्द्रियसङ्गात् कामः तद्विषयकस्तृष्णाविशेषः सञ्जायते, यस्मिञ्जाते पुरुषो विषयानभुक्त्वा स्थातुं न

शक्नोति । कामाच्च कुतश्चित्प्रतिहन्यमानात् प्रतिघातकविषयः क्रोधो ज्वलनात्माऽभिजायते । क्रोधाच्च कृत्याकृत्यविवेकशून्यतारूपः सम्मोहः । क्रुद्धो हि सम्मूढः पितरमपि हन्ति । सम्मोहाच्च सिषाधयिषितेन्द्रियजयप्रयत्नविषयकस्मरणभ्रंशरूपः स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाच्च बुद्धिनाशः इन्द्रियजयफलत्वेनाभिमताया बुद्धेस्तत्त्वज्ञानस्य नाशोऽभावः । बुद्धिनाशात्प्रणश्यति पुनरपि संसारे निमग्नो भवति। इत्थं महानर्थबीजं विषयानुचिन्तनमित्यर्थः ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

९ व० त० दी०— एवं बाह्येन्द्रियसंयमाभावे दोष उक्तः; इदानीं मनोनिरोधाभावे योगबुद्धिभ्रंशदोष इति कथयंस्तस्य स्थिरप्रज्ञतां दर्शयति - चतुर्भिः । तत्र मनःसंयमाभावे दोषमाह द्वाभ्याम्— ध्यायत इति विषयानिति । विचारयतश्चिन्तयत इति यावत्, आसक्तिर्भवति; ततः कामाभिलाषः । ततः प्रतिहतादेव क्रोधः । ततो विवेकाभावः । ततश्च शास्त्राचार्योपदिष्टार्थः स्मृतेर्विप्लवः । ततो व्यवसायात्मिकबुद्धेर्नाशः । ततः प्रणश्यति अत्यन्तविस्मृतिं प्राप्तः प्राकृत एव भवति अविशुद्धोऽपि च ॥ ६२ ॥ ६३ ॥

१० पु. अ. त.— अथ 'कथं व्रजेत ?' इत्यत्रोत्तरमाह— ध्यायत इति । विषयान् ध्यायतः पुंसस्तेषु सङ्ग आसक्तिः स्यात् । आसक्त्या किं स्यात् ? इत्यत आह— सङ्गादिति । सङ्गात्कामः सञ्जायते, कामाच्च क्रोधोऽभिजायते । अभितः सर्वतः तदयोग्येष्वपीत्यर्थः ॥६२॥ क्रोधाच्च सम्मोहः । सम्यक्प्रकारेण मोहो विवेकराहित्यम् । सम्मोहात्स्मृतेर्भगवत्स्मरणस्य विभ्रमः विशेषेण भ्रमः । भगवत्स्मरणानन्तरमन्यस्मरणभ्रमे विशेषः । स्मृतिभ्रंशात्पूर्वोक्तबुद्धिनाशः स्यात् । बुद्धिनाशात्प्रणश्यति । पुनस्तत्साधनप्रवृत्तिराहित्यं नाशे प्रकर्षः । विषयध्यानसङ्गरहितो व्रजेति भावः (?) ॥ ६३ ॥

११ नी० भा० दी०— " यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् " [ कठो. ६।१० ] इति श्रुतौ इन्द्रियमनोबुद्धीनां निग्रहे परमपदप्राप्तिरित्युक्तं, तत्र उपसंहृतकरणस्य बाह्यान् शब्दादीनगृह्णतो मनोमात्रेणावस्थितस्य योगिनो मनसोऽनिग्रहे किं स्यात् ? इत्याह— ध्यायत इति द्वाभ्याम् । विषयान् शब्दादीन् ध्यायतश्चिन्तयतः पुंसः पुरुषस्य तेषु शब्दादिषु सङ्गः सम्बन्धो जायते । बाह्यार्थेभ्यो निगृहीतान्यपि इन्द्रियाणि मनोदोषात्पुनर्बाह्यार्थान् गृह्णन्तीत्यर्थः । ततः सङ्गात्कामस्तस्मिन्विषयेऽभिलाषः सञ्जायते । कामात्कुतश्चिद्धेतोः प्रतिहतादभिज्वलनात्मा क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥ ततः क्रोधात् सम्मोहः कार्याकार्यविवेकाभावो भवति । ततः स्मृतिविभ्रमः शास्त्रार्थानुसन्धानस्य विभ्रंशरूपं चलनं भवति । स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः शास्त्रार्थस्य निश्चितस्यापि तिरोधानं भवति । तस्मिंश्च शास्त्रजे परोक्षज्ञानेऽपि नष्टे पुरुषो नश्यति पुरुषार्थायोग्यो भवति; यो हि तादृशः स नष्ट एवेति लोके वदन्ति ॥ ६३ ॥

सेन्द्रियनिग्रहो मनसः स्वास्थ्योपायस्तत्फलं च ।

**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।**
**आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥ ६४ ॥**
**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।**
**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥ ६५ ॥**

१ शां. भा.— सर्वानर्थस्य मूलमुक्तं विषयाभिध्यानम्, अथेदानीं मोक्षकारणमिदमुच्यते— रागद्वेष इति । रागद्वेषवियुक्तैः रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ, तत्पुरस्सरा हि इन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी । तत्र यो मुमुक्षुर्भवति स ताभ्यां वियुक्तैः श्रोत्रादिभिरिन्द्रियैः विषयानवर्जनीयान् चरन् उपलभमान आत्मवश्यैः आत्मनः वश्यानि वशीभूतानि इन्द्रियाणि तैः आत्मवश्यैः विधेयात्मा इच्छातः विधेयः आत्मा अन्तःकरणं यस्य सोऽयं प्रसादमधिगच्छति । प्रसादः प्रसन्नता, स्वास्थ्यम् ॥ ६४ ॥ प्रसादे सति किं स्यात् ? इत्युच्यते— प्रसादे इति । प्रसादे सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनां हानिर्विनाशोऽस्य यतेरुपजायते । किञ्च प्रसन्नचेतसः शुद्धा [ स्वस्था- ]न्तःकरणस्य हि यस्मादाशु शीघ्रं बुद्धिः पर्यवतिष्ठते आकाशमिव परि समन्तादव-

तिष्ठते, आत्मस्वरूपेणैव निश्चलीभवतीत्यर्थः । एवं प्रसन्नचेतसोऽवस्थितबुद्धेः कृतकृत्यता यतः,तस्मात् रागद्वेषवियुक्तैरिन्द्रियैः शास्त्राविरुद्धेष्ववर्जनीयेषु युक्तः समाचरेदिति वाक्यार्थः ॥ ६५ ॥

२ आ. शां. व्या.— विषयाणां स्मरणमपि चेदनर्थकारणं सुतरां तर्हि भोगस्तेन जीवनार्थं भुञ्जानो विषयाननर्थं कथं न प्रतिपद्यते? इत्याशङ्क्य वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **सर्वानर्थस्येति** । अनर्थमूलकथनानन्तर्यमथशब्दार्थः । परिहर्तव्ये निर्णीते तत्परिहारोपायजिज्ञासां दर्शयति— **इदानीमिति** । रागद्वेषपूर्विका प्रवृत्तिरित्यत्र अनुभवदर्शनार्थो हिशब्दः, शास्त्रीयप्रवृत्तिव्यासेधार्थं स्वाभाविकीत्युक्तम् । तत्रेत्यधिकृतानधिकृत्य प्रयोगः । अवर्जनीयानशनपानादीन् देहस्थितिहेतूनिति यावत् । इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिश्चेन्नियमानुपपत्त्या वर्जनीयेष्वपि सा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मेति** । अन्तःकरणाधीनत्वेऽपीन्द्रियाणां तदनियमात् तेषामपि नियमानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **विधेयात्मेति** ॥ ६४ ॥

तथापि नानाविधदुःखाभिभूतत्वात् न स्वास्थ्यमास्थातुं शक्यमित्याशयेन पृच्छति— **प्रसाद** इति । श्लोकार्धेनोत्तरमाह— **उच्यत** इति । सर्वदुःखहान्या बुद्धिस्वास्थ्येऽपि प्रकृतं प्रज्ञास्थैर्यं कथं सिद्धं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **प्रसन्नेति** । बुद्धिप्रसादस्यैव फलान्तरमाह— **किञ्चेति** । तस्माद्बुद्धिप्रसादार्थं प्रयतितव्यमिति शेषः । श्लोकद्वयस्याक्षरोत्थमर्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थमुपसंहरति— **एवमिति** । युक्तः समाहितो विषयपारवश्यशून्यः सन्निति यावत् ॥ ६५ ॥

३ रा. भा.— उक्तेन प्रकारेण मयि सर्वेश्वरे चेतसः शुभाश्रयभूते न्यस्तमना निर्दग्धाशेषकल्मषतया रागद्वेषवियुक्तैरात्मवश्यैरिन्द्रियैर्विषयांश्चरन् विषयांस्तिरस्कृत्य वर्तमानो विधेयात्मा विधेयमनाः प्रसादमधिगच्छति । निर्मलान्तःकरणो भवतीत्यर्थः॥६४॥ अस्य पुरुषस्य मनसः प्रसादे सति प्रकृतिसंसर्गप्रयुक्तसर्वदुःखानां हानिरुपजायते । प्रसन्नचेतस आत्मावलोकनविरोधिदोषरहितमनसः तदानीमेव हि विविक्तात्मविषया बुद्धिर्मयि पर्यवतिष्ठते । अतो मनःप्रसादे सर्वदुःखानां हानिर्भवत्येव॥६५॥

४ वे. ता. चं.— अथ तानि सर्वाणीत्युक्तार्थकरणेऽन्योन्याश्रयपरिहारप्रकारः प्रयोजनभूतसंसारनिवृत्तिश्च श्लोकद्वयेन प्रपञ्च्यते— **रागद्वेषेति** । रागद्वेषवियोगो हि कुतः ? इत्यत्र पूर्वोक्त एव हेतुरित्यभिप्रायेणाह— **उक्तेनेति** । रागद्वेषवियोगोऽत्र इन्द्रियाणामात्मवश्यताहेतुः विषयांश्चरन्नित्यनेन विषयभोगभ्रमव्युदासाय आत्मवश्यत्वफलितमाह— **विषयांस्तिरस्कृत्य वर्तमान** इति । चरतिरत्र गत्यर्थः, आक्रमणरूपगतिपरः, भक्षणार्थो वा, संहारपर इत्युभयथाऽपि तत्तिरस्कारार्थत्वमत्र विवक्षितम् । तिरस्कारोऽत्रानादरः, तथाच नैघण्टुकाः— ' अनादरः परिभवः परीभावस्तिरस्क्रिया ' [ अमरः १।७।२२ ] इति । बाह्येन्द्रियतद्विषयविजयो हि मनोविजयार्थ इत्यभिप्रायेणाह— **विधेयमना** इति । विधेयात्मेति मनसः प्रकृतत्वात् ' प्रसन्नचेतसः ' इति वक्ष्यमाणत्वाच्च । प्रसादोऽत्र मनोनैर्मल्यमित्याह— **निर्मलेति** ॥ ६४ ॥ ' प्रसादे ' इति श्लोके प्रसादहानिशब्दयोः क्रमात् षष्ठीद्वयान्वयभ्रमं व्युदस्यन्नन्वयप्रकारमाह— **अस्येति** । ' दुःखाज्ञानमला धर्माः प्रकृतेस्ते न चात्मनः [ वि. पु. ६।७।२२ ] इत्याद्यभिप्रेतौपाधिकत्वेन हानियोग्यत्वार्थमाह— **प्रकृतीति** । प्रतिबन्धकाभावे ह्याशु कार्योत्पत्तिरित्यभिप्रायेण प्रसन्नचेतस इत्यस्यार्थमाह— **आत्मावलोकनविरोधिदोषरहितमनस** इति । मनःप्रसादस्य सर्वदुःखहानिहेतुत्वमात्मदर्शनहेतुत्वादुपपद्यत इति हेत्वर्थस्य **हि**शब्दस्यार्थमाह— **अत** इति ॥ ६९ ॥

५ आ. मा. भा.— इन्द्रियजयफलमाहोत्तराभ्यां श्लोकाभ्याम्— विषयाननुभवन्नपि विधेय आत्मा यस्य सः, जितात्मेत्यर्थः । प्रसादं मनःप्रसादम् ॥ ६४ ॥ कथं प्रसादमात्रेण सर्वदुःखहानिः ? प्रसन्नचेतसो हि बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ब्रह्मापरोक्ष्येण सम्यक्स्थितिं करोति । प्रसादो नाम स्वतः प्राप्तो विषयागतिः ॥ ६५ ॥

६ ज. प्र. दी.— रागद्वेषेति श्लोकद्वयस्य तात्पर्यमाह— **इन्द्रियेति** । इन्द्रियजयश्च तत्फलं चेन्द्रियजयफलं, इन्द्रियजयस्य फलमिन्द्रियजयफलम् । अस्त्वेवं रागद्वेषपरिहारः, ततः किं ? इत्याकाङ्क्षायां रागद्वेषपरिहारस्येन्द्रियजयाख्यं फलमाह— इन्द्रियजयेन किं भवति ? ' वशे हि यस्येन्द्रियाणि ' [२।६१ ] इति ज्ञानं भवती त्युक्तमिति चेत्, सत्यम् ; तत्किं साक्षादिन्द्रियजयफलं उत व्यवहितं ? इत्याकाङ्क्षायां इन्द्रियजयस्य फलं ज्ञानं यथा भवति तथाऽऽहेत्यर्थः। रागद्वेषपरिहारवद्विषयाचरणस्यापि इन्द्रियजयसाधनत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह— **विषयानिति** । निराहारत्वमिन्द्रियजये कारणं, तच्चाशक्यमतः कथमिन्द्रियजयः ? इत्याशङ्क्य देहधारणामात्रोपयुक्तविषयानुभवो न दोषायेति तदभ्युपगममात्रमनेन क्रियत इति भावः । इन्द्रियजयवाचकं पदमत्र न श्रूयत इति, अतस्तद्व्याचष्टे । **विधेय** इति । स विधेयात्मेति शेषः । किमनेनापि ? इत्यत आह— **जितात्मेति** । अनेन पादत्रयेण रागद्वेषपरिहारस्येन्द्रियजयाख्यं फलमुक्तम् । यद्यप्यनुवादोऽयं प्रतीयते, तथाप्यप्राप्त-

त्वादन्यथा वाक्यवृत्तिः । तथाहि य उक्तविधया त्यक्तरागद्वेषः, स रागद्वेषवियुक्तैस्ताभ्यामप्रयुक्तैः केवलशरीरधारणार्थं विषयांश्चरति स विधेयात्मा भवति, तत एव बाह्येन्द्रियाण्यपि तस्य वश्यानि भवन्तीति । अत एव क्रमेण वाक्यद्वयस्य पृथक् तात्पर्यं नोक्तम् । द्वितीयाकाङ्क्षोत्तरत्वेनेन्द्रियजयस्य ज्ञानं व्यवहितफलमिति दर्शयितुं साक्षात्फलमुक्तम् । विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छतीति । तत्र प्रसादो नामात्मधर्म इति प्रतीयते तन्निवृत्त्यर्थमाह— **प्रसाद**मिति । प्रसन्नचेतस इति वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ॥ ६४ ॥ प्रसादे सति किं स्यात् ? इत्यत उक्तं 'प्रसाद' इति, तदाक्षिपति— **कथ**मिति । "तरति शोकमात्मवित्" [ छां. उ. ७।१।३ ] इत्यादिविरोधादिति भावः । किञ्च प्रसादे सति ज्ञानं भवतीति वा व्यवधानान्तरं वा वक्तव्यं ? तत्रोक्तम् । सर्वदुःखहानिश्चावक्तव्यैवोक्तेति चाक्षेपशेषः । एतत्परिहारत्वेनोत्तरार्धं व्याख्याति— **प्रसन्न**ेति । एतेन 'प्रसादस्य फलद्वयमुच्यते' इत्यपि प्रतीतिर्निरस्ता भवति । प्रसादे सति ब्रह्मापरोक्षज्ञानं भवति । तच्च व्यवधानेनेति भविष्यति । ततो भवति सर्वदुःखहानिः प्रसादफलतयोक्तेति न वक्तव्यानुक्तिः; नाप्यवक्तव्योक्तिः । ' बुद्धियुक्तः ' [२।५० ] इति श्लोके सुकृतदुष्कृतहानं ज्ञानफलमित्युक्तम्, तदयुक्तम्, अपुरुषार्थत्वात्; इत्याशङ्कां परिहर्तुं प्रसङ्गादिदमुक्तमिति । ननु यस्यानायासेनाभिलषितविषयोपनतिस्तस्य मनोऽव्याकुलं प्रसन्नमित्युच्यते । ततः कथं प्रसादस्येन्द्रियजयफलत्वं ज्ञानसाधनत्वं चोच्यते ? इत्यत आह— **प्रसाद** इति । अत्र विवक्षितेति शेषः । स्वतोऽपि प्रयत्नं विनाऽपि विषयागतिर्विषयान्प्रत्यप्रवृत्तिः ॥६५॥

**७ ह. पै. भा.— अथेदानीं मोक्षकारणमुच्यते— रागश्च द्वेषश्च रागद्वेषौ, तत्पुरस्सरा हीन्द्रियाणां प्रवृत्तिः स्वाभाविकी, ताभ्यां वियुक्तैरिन्द्रियैरात्मवश्यैर्विषयांश्चरन्नुपलभमानो योग्यात्मवश्यैः स्वाधीनैर्विधेय आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयं विधेयात्मा प्रसादं स्वास्थ्यमधिगच्छति प्राप्नोति ॥६४॥ प्रसादे सति किं स्यात् ? इत्यत्रोच्यते— प्रसादे प्रसन्नतायां सत्यां सर्वदुःखानामाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां हानिर्नाशः । आध्यात्मिकानि जन्मजरामरणे तदन्तराले परिपतितवातपित्तश्लेष्मसङ्क्षोभजनिता विकाराः । आधिभौतिकानि भूतानामितरेतरं वध्यघातकभावेन जनितानि दुःखानि शस्त्रप्रहरणादीनि । आधिदैविकानि वातातपवर्षतत्प्रतिबन्धजनितानि दुःखानि । एतेषामाध्यात्मिकादीनां दुःखानां हानिर्नाशोऽस्य योगिनः प्रजायते । किञ्च प्रसन्नचेतसः स्वस्थान्तःकरणस्याऽऽशु शीघ्रं बुद्धिः पर्यवतिष्ठते आकाशमिवाऽऽत्मैकत्वग्राहिणी परितः समन्तादवतिष्ठते । आत्मस्वरूपेणैव निश्चला भवतीत्यर्थः ॥ ६५ ॥**

८ वे. ब्र. गि.— एवं व्यतिरेकमुखेन रागजयस्यावश्यिकत्वमुक्त्वा अन्वयमुखेनापि तत्प्रदर्शयन् ' किं व्रजेत ? ' [ २।५४ ] इत्यस्योत्तरमाह— **रागे**ति । **रागद्वेषवियुक्तैस्तु,** तुशब्दः पूर्वस्माद्व्यतिरेकार्थः । रागद्वेषविरहितत्वे हेतुः— **आत्मवश्यै**रिति, मनोधीनैरित्यर्थः । मनोगतरागद्वेषाभ्यामेव बहिरिन्द्रियाणां तद्वत्त्वम् । मनसि च भगवदर्पणक्षीणरागद्वेषाद्यखिलकलुषे सति, तदधीनेन्द्रियाणामपि तद्राहित्यं भवति । एवंविधैरिन्द्रियैः विषयांश्चरन्नुपलभमानः सन्नपि प्रसादं प्रसन्नतां अमृतक्षालनयेव मनसि कामपि स्वच्छतामधिगच्छति । ननु विषयध्यानमपि खल्वनर्थकारणम्, तद्ग्रहणमपि तु सुतरामेवेति कथं विषयान्पश्यतः प्रसादः ? इत्याशङ्क्य रागद्वेषवियुक्तपदसूचितं हेतुं दर्शयति— **विधेयात्मे**ति; जितान्तःकरण इत्यर्थः । मनोजयशून्यस्यैव विषयदर्शनमनर्थावहम्, न तु जितमनस इति भावः । तदनेन 'किं व्रजेत' इति प्रश्नस्य आत्मवश्यैरिन्द्रियैर्विषयान् प्राप्नोतीत्युत्तरमुक्तं भवति ॥ ६४ ॥ ' प्रसादमधिगच्छति ' इत्युक्तम्; प्रसादस्य किं फलम् ? अत आह— **प्रसाद** इति । प्रसादे उक्तलक्षणे सति सर्वदुःखानामाध्यात्मिकादीनां हानिर्नाशोऽस्य पुरुषस्योपजायते । ननु ज्ञानफलत्वेन प्रसिद्धस्य सर्वदुःखनाशस्य कथं प्रसादफलत्वं ? इत्याशङ्क्याह— **प्रसन्नचेतस** इति । हि यस्मात् प्रसन्नचेतसः शीघ्रं बुद्धिर्ब्रह्मात्मविषया पर्यवतिष्ठते स्थिरा भवति । दुःखहानिर्ज्ञानद्वारा प्रसादफलमित्यर्थः ॥ ६५ ॥

९ म० त० दी०— नन्विन्द्रियाणां विषयाभिमुखस्वभावानां निरोधस्याशक्यत्वाद्दोषो दुष्परिहर इति कथं प्रज्ञायाः प्रतिष्ठितत्वं ? इत्याशङ्क्याह द्वाभ्याम्— **रागे**ति । यो वश्यात्मा स्वेन्द्रियै रागद्वेषवियुक्तैर्विषयानुपभुञ्जानोऽपि प्रसादं प्रशान्तिमधिगच्छति तस्य प्रसन्नचेतसः प्रज्ञा प्रतिष्ठिताऽवसेया ॥ ६४ ॥ ६५ ॥

१० पु. अ. त.— समाधिस्थस्योत्तरमाह— **रागद्वेषवियुक्तै**रिति । तुशब्दः पूर्वनिरूपणं व्यावर्त्तयति । विधेयात्मा विधेयो वशवर्त्ती आत्मा भगवान् यस्य तादृशो रागद्वेषादियुक्तैरात्मवश्यैः स्ववशैर्भगवद्वश्यैर्वा इन्द्रियैः विषयान् भोगान् भगवदिच्छया प्राप्तान् उपयोगं कुर्वन् प्रसादं भगवत्प्रसादमधिगच्छति । अत्रायं भावः— भगवदिच्छया रसज्ञानार्थं स्वस्वरूपरसदानेच्छया प्राप्तान् भोगान् आत्मवश्यैर्भगवद्रसाभिलाषिभिस्तद्रसदानार्थं तद्दत्तान् ज्ञात्वा यावत् कार्यसिद्धि

भुञ्जतो भगवान् प्रसादं करोति । अत एव श्रीभागवते [ ११।१४।१८ ] ' बाध्यमानोऽपि ' इत्यारभ्य ' विषयैर्नाभिभूयते ' इत्यन्तेन तथैवोक्तम् ॥ ६४ ॥

प्रसादे किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह— प्रसाद इति । प्रसादे जाते सति अस्य तदनुगृहीतस्य सर्वदुःखानां हानिर्नाशः स्यात् । सर्वपदेनालौकिकविप्रयोगादीनामपि नाशो ज्ञापितस्तेन संयुक्त एव नित्यं तिष्ठेदिति भावो व्यञ्जितः । सर्वदुःखहानौ सत्यां किं स्यात् ? अत आह— प्रसन्नचेतस इति । दुःखहानौ प्रसन्नं चेतो यस्य तादृशो भवति । ततस्तस्य अत्र शीघ्रमेव बुद्धिः पर्यवतिष्ठते । मयीति शेषः ॥ ६५ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु विषयानध्यायतोऽपि योगिनो व्युत्थाने प्रमाणस्वाभाव्यादिन्द्रियाणां विषयेषु सङ्गो दुष्परिहरस्तत्रश्चोक्तरीत्या तस्यापि नाशप्रसक्तिरित्याशङ्क्याह— रागद्वेषेति । विधेयात्मा किङ्करीकृतमनास्तु आत्मवश्यैर्मनोधीनैरिन्द्रियैः स्वामिनश्चित्तस्य किङ्करीकृतस्य कामक्रोधहीनत्वात्स्वयमपि रागद्वेषवियुक्तैः विषयान् पथि पतिततृणादीनीवास्थया चरन् पश्यन्नपि पुमान् तत्र कामाद्यनुदयात् प्रसादं सङ्कल्पविकल्पपङ्कलेपप्रक्षालनेन मनसः स्वाच्छयमधिगच्छति । मनसः स्वाच्छयमेव प्रत्यगात्मनः स्वाच्छयं, तस्य तद्गुणसारत्वात् । अजितमनस्कमिव जितमनस्कं विषयसङ्गो न बाधते, अतो मनोजयोऽवश्यं कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥६४॥ किञ्च चित्तस्य प्रसादे हि अस्य पुंसः सर्वदुःखानां काममूलकानां कामाभावात् हानिः परिहारो जायते; कामानुदये हेतुमाह— प्रसन्नेति । हि यस्मात् प्रसन्नचेतसः पुंसो बुद्धिर्ब्रह्मात्मैक्यनिश्चय आशु शीघ्रं पर्यवतिष्ठते सुदृढो भवति; तस्मिंश्च सति प्राप्याभावान्न कामोदय इत्यर्थः ॥ ६५ ॥

**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।**
**न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ ६६ ॥**

१ शां. भा.— सेयं प्रसन्नता स्तूयते— नास्तीति । नास्ति न विद्यते, न भवतीत्यर्थः । बुद्धिः आत्मस्वरूपविषयायुक्तस्यासमाहितान्तःकरणस्य । न चास्त्ययुक्तस्य भावनाऽऽत्मज्ञानाभिनिवेशः । तथा न चास्त्यभावयत आत्मज्ञानाभिनिवेशमकुर्वतः शान्तिरुपशमः । अशान्तस्य कुतः सुखम् ? इन्द्रियाणां हि विषयसेवातृष्णातो निवृत्तिर्या तत् सुखं, न विषयविषया तृष्णा; दुःखमेव हि सा । न तृष्णायां सत्यां सुखस्य गन्धमात्रमपि उत्पद्यते इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

२ आ. शां. व्या.— किं पुनः सत्त्वशुद्धयैव यथोक्तबुद्धिः सिध्यति ? नेत्याह— सेयमिति । असमाहितस्यापि बुद्धिमात्रमुत्पद्यमानं प्रतिभातीत्याशङ्क्य विशिनष्टि— आत्मस्वरूपेति । नहि विक्षिप्तचित्तस्याऽऽत्मस्वरूपविषया बुद्धिरुदेतुमर्हतीत्यत्र हेतुमाह— न चेति । आत्मज्ञाने शब्दादापाततो जाते स्मृतिसन्तानकरणं साक्षात्कारार्थमभिनिवेशो भावनेति चोच्यते । न चासौ विक्षिप्तबुद्धेः सिध्यतीति हेत्वर्थं विवक्षित्वाऽऽह— आत्मज्ञानेति । भावनाद्वारा साक्षात्काराभावेऽपि का क्षतिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— तथेति । असमाहितस्य भावनाभाववदिति यावत् । आत्मन्यापाततो ज्ञाते श्रवणाद्यावृत्तिरूपां स्मृतिमनातन्वानस्यापरोक्षबुद्ध्यभावे नानर्थनिवृत्तिः सिध्यतीत्याह— उपशम इति । अनिवृत्तानर्थस्य परमानन्दसागराद्बिभक्तस्य संसारवारिधौ निमग्नस्य सुखाविर्भावो न सम्भवतीत्याह— अशान्तस्येति । तस्यापि विषयसेवातो वैषयिकं सुखं सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह— इन्द्रियाणां हीति । तृष्णाक्षयस्य शास्त्रप्रसिद्धमानुभविकं च सुखत्वमिति वक्तुं हिशब्दः । विषयसेवातृष्णयाऽपि विषयोपभोगद्वारा सुखमुपलब्धमित्याशङ्क्याऽऽह— दुःखमेवेति । तत्रापि हिशब्दोऽनुभवावद्योती । तदेव स्पष्टयति— नेत्यादिना ॥ ६६ ॥

३ रा. भा.— मयि सन्न्यस्तमनोरहितस्य स्वयत्नेनेन्द्रियनियमने प्रवृत्तस्य कदाचिदपि विविक्तात्मविषया बुद्धिर्न सेत्स्यति । अतएव तस्य तद्भावना च न सम्भवति । विविक्तात्मानमभावयतो विषयस्पृहाशान्तिर्न भवति । अशान्तस्य विषयस्पृहायुक्तस्य कुतो नित्यानिरतिशयसुखप्राप्तिः?६६

४ वे. ता. चं.— अथ पूर्वोक्तान्योन्याश्रयफलभूतामात्मदर्शनासिद्धिं ' बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ' [ २।६३ ] इत्येतद्विवरणरूपेणानूद्य ततः परमप्रयोजनस्यापि अलाभप्रकार उच्यते— नास्तीति । 'युक्त आसीत मत्परः' [ २।६१ ] इति पूर्वोक्तस्य निवृत्तिरयुक्तशब्देनोच्यत इति तात्पर्येणाह— मयीति । 'यततो ह्यपि' [ २।६० ] इति पूर्वोक्तं स्मारयति— स्वयत्नेनेति । नास्तीत्यनेनाभिप्रेतमाह— कदाचिदपीत्यादिना । अतिचिरकालप्रयासेनापीत्यर्थः । द्वितीयपादस्थमयुक्तस्येति पदं शृङ्खलौचित्यायायुक्तत्वफलभूतबुद्ध्यभावलक्षकमिति तात्पर्येणाह— अत एवेति । यद्वा तस्येत्ययुक्त-

परामर्शः । अत एवेति तु बुद्ध्यभावादेवेत्यर्थः । अथवा परम्परया हेतुत्वमभिप्रेत्यायुक्तत्वादेवेति विवक्षा; भिन्नविषयभावनान्तरनिषेधायोगात्तद्भावनेत्युक्तम् । 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' [ २।५९ ] 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' [२।३४] 'सुखेषु विगतस्पृहः' [ २ । ५६ ] इत्याद्यानुगुण्येन शान्तिं विशिनष्टि— **विषयस्पृहा शान्तिरिति** । अशान्तस्यैव स्वर्गादिसुखलाभादमृतत्वप्रकरणसिद्धं सुखस्य विशेषमाह— **नित्यनिरतिशयेति** ॥ ६६ ॥

**५ आ. मा. भा.— प्रसादाभावे दोषमाहोत्तराभ्यां श्लोकाभ्याम्— न हि प्रसादाभावे युक्तिश्चित्तनिरोधः । अयुक्तस्य च बुद्धिः सम्यग्ज्ञानं च नास्ति । तदेवोपपादयति— न चायुक्तस्येति । शान्तिर्मुक्तिः 'शान्तिर्मोक्षोऽथ निर्वाणम्' इत्यभिधानात् ॥ ६६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— वक्तव्यस्योक्तत्वान्नास्ति बुद्धिरित्यादिकं किमर्थं ? इत्यत आह— **प्रसादेति** । श्रवणमननाभ्यामुपकृतेन ध्यानेनैव ब्रह्मापरोक्षज्ञानसिद्धेः किमनेन प्रसादेन यदर्थमिन्द्रियजयोऽपेक्षितः ? इत्याशङ्क्येति शेषः । नन्वत्र प्रसादाभाव इदं स्यादिति नोच्यते ततः कथमेतदुक्तं ? इत्यतः प्रकरणप्राप्तमध्याहरति— **न हीति** । ननु प्रसादरहिता अनुमिमते इत्यत आह— **चित्तेति** । एकाग्रतेत्यर्थः । एवमध्याहारे सति 'नास्ति बुद्धिः' इत्येतत्सम्बध्यत इति भावेनाह— **अयुक्तस्येति** । ज्ञानमात्रं प्रकृतानुपयुक्तमयुक्तं चेत्यत आह— **सम्यगिति**; ब्रह्मापरोक्षज्ञानमित्यर्थः । एतावता प्रसादाभावे दोष उक्तस्ततकिमर्थं न चायुक्तस्य ? इत्येतदित्यत आह— **तदेवेति** । ध्यानेनैव ज्ञानोत्पादात्कथं नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य ? इत्याशङ्क्येति शेषः । भावना ध्यानम् । अत एव 'न चाभावयतो ज्ञानम्' । 'न चाज्ञानिनः शान्तिः' इति योज्यम् । ननु शान्तिः प्रसादः, तस्य ज्ञानसाधनत्वेनोक्तत्वात्कथं ज्ञानोत्तरत्वमुच्यते ? इत्यत आह— **शान्तिरिति** । एतच्च न केवलं मुक्तौ सर्वदुःखहानिः, किन्तु संसारिभिरलभ्यं परमं सुखं चेति ज्ञापयितुं प्रसङ्गादुक्तम् । एतदेवावेक्ष्य भाष्यकृता ब्रह्मादिपदादित्याद्युक्तम् ॥ ६६ ॥

**७ ह. पै. भा.— न विद्यते सेयं प्रसन्ना बुद्धिरात्मस्वरूपविषयायुक्तस्यासमाहितस्य । न चायुक्तस्य भावना, आत्मज्ञानाभिनिवेशो भावना । न चाभावयतः शान्तिः, अभावयत आत्मज्ञानाभिनिवेशशून्यस्य शान्तिरुपशमो न विद्यते । अशान्तस्यानुपरतेन्द्रियस्य कुतः सुखम् ? । इन्द्रियाणां विषयतृष्णातो निवृत्तिः सुखं, न विषयतृष्णा; दुःखमेव हि सा । तृष्णायां सत्यां न सुखस्य गन्धमात्रमप्युपपद्यते ॥ ६६ ॥**

८ वें. व्र. गि.— तदेवं निरूपितस्येन्द्रियनिग्रहस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्त्वज्ञानसाधनत्वं दर्शयन्प्रथमं व्यतिरेकमुपपादयति द्वाभ्याम्— **नास्तीति** । अयुक्तस्य इन्द्रियनिग्रहाख्योपायरूपयुक्तिरहितस्य क्रियमाणेऽपि वेदान्तश्रवणे बुद्धिरात्मतत्त्वविषया नास्ति नोत्पद्यते, साधनचतुष्टयान्तर्गतशमदमादिसम्पत्तिविरहात् । **न चायुक्तस्य भावना**; अत्रायुक्तपदेन श्रवणजन्यात्मबुद्धियोगरहित उच्यते । तस्य भावना निदिध्यासनात्मिका नास्ति । सर्वत्र नञोऽस्तीत्यनेनान्वयः । श्रवणसिद्ध्यधीनत्वान्निदिध्यासनस्येत्यर्थः । **न चाभावयतः शान्तिः** आत्मानमभावयतश्च न शान्तिः । 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादिवत्कारणे कार्यव्यपदेशः । निदिध्यासनमकुर्वतः सर्वानर्थनिवृत्तिकरस्तत्त्वसाक्षात्कारो नास्ति, तत्कारणकत्वात्तस्येत्यर्थः । अशान्तस्य च कुतः सुखं मोक्षानन्दः ? तत्त्वसाक्षात्कारसाध्यत्वान्मोक्षस्येत्यर्थः ॥ ६६ ॥

**९ व० त० दी०— मनोनिग्रहस्य स्थितप्रज्ञता साधनत्वं व्यतिरेकमुखेनोपपादयति— नास्तीति । अयुक्तस्यासतो निरोधयोगरहितस्य बुद्धिरेका व्यवसायात्मिका न भवति । न च भावना तत्त्वचिन्तनम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ६६ ॥**

१० पु. अ. त.— ननु समाधिस्थस्यापि स्थितप्रज्ञतैवोक्ता तदा को विशेषः ? इत्यत आह— **नास्ति बुद्धिरिति** । अयुक्तस्य मयि योगरहितस्य बुद्धिरेव नास्ति । अयमर्थः— बुद्ध्यनन्तरं चेन्मयि योगो न जातस्तदा सा स्थितप्रज्ञैव न । तस्मात्समाधिस्थभगवत्संयोगाभावे स्थितप्रज्ञाप्यकिञ्चित्करीत्यर्थः । ननु समाधिस्थयोगेनापि किं फलं ? इत्याशङ्क्याह— **न चेति** । अयुक्तस्य भगवत्सम्बन्धरहितस्य भावना भगवद्रसौपयिकदेहाभिलाषो न च भवति । ननु भावनामात्रेणापि किम् ? अत आह— **न चेति** । अभावयतः भावनामकुर्वतः शान्तिर्भगवद्रसौपयिकदेहावाप्तिर्न च भवति । तादृग्देहिनः साक्षादानन्दानुभवो न भवतीत्याह— **अशान्तस्येति** । अशान्तस्य तादृग्देहाप्त्या तापरहितस्य सुखं साक्षात्सम्बन्धात्मकभजनानन्दानुभवः कुतः स्यात् ? इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

**११ नी० भा० दी०— समनस्कानामिन्द्रियाणामनिग्रहे दोष उक्तः, बुद्धेरपर्यवस्थाने को दोषः ? इत्यत आह— नास्तीति । अयुक्तस्य श्रवणमननयोरनासक्तस्य बुद्धिर्ब्रह्मात्मैक्यनिश्चयो नास्ति, प्रमाणविषयासम्भाव-**

नायाः प्रमेयविषयासम्भावनायाश्चानिरासात् । तथा अयुक्तस्यासमाहितमनसो भावना ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिप्रवाहो नास्ति, मनसश्चाञ्चल्येन बुद्धेरपि चाञ्चल्यात् । अभावयतो ध्यानमकुर्वतः शान्तिः सर्वदुःखोपरमश्च नास्ति, चेतसोऽनवस्थितत्वेन दुःखावश्यम्भावात् । अशान्तस्यानुपरतसर्वदुःखस्य सुखं प्रत्यगद्वयानन्दात्मकं कुतः ? न कुतश्चित्, दुःखित्वादेव । आद्यमयुक्तस्येति पदं युजियोगे इत्यस्य रूपम्, द्वितीयं युज समाधावित्यस्य; तस्मात् बुद्धेः पर्यवस्थानमावश्यकम् ॥ ६६ ॥

**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते ।**
**तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ ६७ ॥**
**तस्माद्यस्य महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः ।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥**

**१ शां. भा.**— अयुक्तस्य कस्माद्बुद्धिर्नास्ति ? इत्युच्यते— **इन्द्रियाणामिति** । इन्द्रियाणां हि यस्मात् चरतां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां यन्मनोऽनुविधीयतेऽनुप्रवर्तते तदिन्द्रियविषयविकल्पनेन प्रवृत्तं मनोऽस्य यतेर्हरति प्रज्ञां आत्मानात्मविवेकजां नाशयति । कथं ? वायुर्नावमिवाम्भसि उदके जिगमिषतां सांयात्रिकाणां मार्गादुद्धृत्य उन्मार्गे यथा वायुर्नावं प्रवर्तयति, एवमात्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा मनो विषयविषयां करोति ॥ ६७ ॥ 'यततो ह्यपि' [२।६०] इत्युपन्यस्तस्यार्थस्य अनेकधोपपत्तिमुक्त्वा तं चार्थमुपपाद्य उपसंहरति— **तस्मादिति** । इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ दोष उपपादितो यस्मात् तस्माद्यस्य यतेर्हे महाबाहो ! निगृहीतानि सर्वशः सर्वप्रकारैर्मानसादिभेदैरिन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥ ६८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— आकाङ्क्षाद्वारा श्लोकान्तरमुत्थापयति— **अयुक्तस्येति** । विक्षिप्तचेतसो भावनाभावे साक्षात्कारलक्षणा बुद्धिर्न भवतीति हेत्वन्तरेण साधयति— **इन्द्रियाणामिति** । यत्पदोपात्तं मनस्तत्पदेनापि गृह्यते । इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां विषयाः शब्दादयस्तेषां विकल्पनं मिथो विभज्य ग्रहणं तेनेति यावत् । दृष्टान्तं व्याकरोति— **उदक** इति । करोति यस्मात्तस्मादयुक्तस्य नोत्पद्यते बुद्धिरिति योजना ॥ ६७ ॥ 'यततो हि' [२।६०] इत्यादिश्लोकाभ्यामुक्तस्यैवार्थस्य प्रकृतश्लोकाभ्यामपि कथ्यमानत्वादस्ति पुनरुक्तिरित्याशङ्क्य परिहरति— **यततो हीत्यादिना** । 'ध्यायतो विषयान्' [२।६२] इत्यादिनोपपत्तिवचनमुन्नेयम् । तच्छब्दापेक्षितार्थोक्तिद्वारा श्लोकमवतारयति— **इन्द्रियाणामिति** । असमाहितेन मनसा यस्मादनुविधीयमानानीन्द्रियाणि प्रसह्य प्रज्ञामपहरन्ति तस्मादिति योजना ॥ ६८ ॥

**३ रा. भा.**— पुनरप्युक्तेन प्रकारेणेन्द्रियनियमनमकुर्वतोऽनर्थमाह— **इन्द्रियाणां** विषयेषु चरतां वर्तमानानां वर्तनमनु यन्मनो अनुविधीयते पुरुषेणानुवर्त्यते; तन्मनोऽस्य विविक्तात्मप्रवणां प्रज्ञां हरति, विषयप्रवणां करोतीत्यर्थः । यथाऽम्भसि नीयमानां नावं प्रतिकूलो वायुः प्रसह्य हरति ॥ ६७ ॥ तस्मादुक्तेन प्रकारेण शुभाश्रये मयि निविष्टमनसो यस्येन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः सर्वशो निगृहीतानि, तस्यैवात्मनि प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवति ॥ ६८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अनेन श्लोकेन प्रत्याहारादियोगावयवचतुष्टयस्य तत्फलस्य निःश्रेयसस्य च यथासम्भवमभिधानात्पर्याभ्यां पूर्वपूर्वाभावादुत्तरोत्तरस्यालाभः सूचितो भवति । अथेन्द्रियनिग्रहाभावे बुद्ध्यभावस्य पूर्वोक्तस्य प्रकारः 'इन्द्रियाणाम्' इत्यनन्तरश्लोकेनोच्यत इत्यपुनरुक्तिः ; आदरार्थं वा पुनरुक्तिरित्यभिप्रायेणाह— **पुनरपीति** । केवलस्पन्दादिमात्रव्युदासाय **विषयेष्वित्युक्तम्** । इन्द्रियाणां सर्वेषां न विषयेषु सञ्चारोऽस्ति, अतस्तदौन्मुख्यमर्थ इति व्यञ्जनाय 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' [५।९] इति प्रयोगान्तरानुसारेण **वर्तमानानामित्युक्तम्** । यत्तच्छब्दयोर्मनोविषयत्वमेवोचितं प्रज्ञाहरणे तस्यैव प्रधानत्वात्; मनसो बाह्येन्द्रियानुविधाने सर्वेन्द्रियसाधारण्येन वक्तव्ये यदिति निर्धारणस्य प्रयोजनाभावात् बाह्येन्द्रियस्य मनोनुविधाने प्रज्ञाहरणाभावाच्च । 'यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्' इति मनुवचने [२।९९] तु मनसोऽनुक्तत्वादिन्द्रियशब्दाभ्यासात् एकशब्दबलाच्च निर्धारणार्थतैव । न च तत्तुल्यत्वमस्यापि वाक्यस्य निर्बन्धनीयमिति कृत्वा **वर्तनमनु यन्मन** इत्याद्यु-

क्तम् । 'विधीयते' इत्यस्य कर्त्रपेक्षां पूरयति— **पुरुषेणे**ति । स्वस्यैवायमविनय इति भावः। अनभिसंहितदेशप्रापणं हि दृष्टान्तेऽभिप्रेतमिति प्रदर्शयन् हरतेर्विनाशनार्थताभ्रमव्युदासाय चाह— **विषयप्रवणा**मिति। 'अम्भसि'इत्यस्य हरतिनाऽन्वयभ्रान्तिमपाकरोति— **अम्भसि नीयमाना**मिति । अनिष्टविषयप्रापणनिदर्शनत्वायोक्तं— **प्रतिकूल** इति ॥ ६७ ॥

'यदा संहरते' [ २।५८ ] इत्याद्युपक्रान्त इन्द्रियनिग्रहोपदेश उपसंह्रियते—तस्मादिति श्लोकेन। **तस्मा**दिति इन्द्रियानुविधायिनो मनसः प्रज्ञाप्रतिष्ठाविरोधित्वादित्यर्थः । निग्रहहेतुं प्रागुक्तमनुकर्षति— **उक्ते**नेत्यादिना ॥ ६८ ॥

**५ आ. भा. मा.— कथमयुक्तस्य भावना न भवति ? इत्याह— इन्द्रियाणामिति । अनुविधीयते क्रियते नन्वीश्वरेण इन्द्रियाणामनु बुद्धिर्ज्ञानमिति वक्ष्यमाणत्वात्। प्रज्ञां ज्ञानं उत्पत्स्यदपि निवारयतीत्यर्थः। उत्पन्नस्याप्यभिभवो भवति॥ ६७ ॥ तस्मात्सर्वात्मना निगृहीतेन्द्रिय एव ज्ञानीति निगमयति। तस्मादिति ॥ ६८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— एकेनैव श्लोकेन प्रमेयस्य समुदितत्वात् श्लोकाभ्यामिति किमर्थमुक्तमत आह— **कथ**मिति । कृतश्रवणमननस्य ध्यानोपपत्तेरिति भावः । न भवतीत्याशङ्क्येति शेषः । अनुविधानं सदृशभवनं तदत्रासङ्गतं, कर्ता चात्र जीव इति प्रतीयतेऽत आह— **अनुविधीयत** इति । विपूर्वो दधातिः करोत्यर्थे वर्तते, कर्ता चात्रेश्वर एवेत्यर्थः। अत्रानुः पृष्ठभावित्वार्थः, न लक्षणाद्यर्थ इति कर्मप्रवचनीयो न भवति । नन्विति सम्प्रतिपत्तिरुक्ता सा कुतः? इत्यत आह— **बुद्धि**रिति। ग्रहणशक्तिः प्रज्ञा। तद्ग्रहणमत्रायुक्तमित्यत आह— **प्रज्ञा**मिति। परोक्षनिश्चयं यस्य प्रज्ञानं नोत्पन्नं तस्य युक्त्यभावः किं करिष्यति ? विद्यमानस्य हि हरणमत आह— **उत्पत्स्य**दिति । तर्ह्युत्पन्नपरोक्षज्ञानस्य युक्त्यभावोऽकिञ्चित्करः इत्यत आह— **उत्पन्नस्यापी**ति । चित्तनिरोधरहितश्रवणमनने अपि न ध्यानोपयोगिनौ तत्त्वनिश्चयवेदार्थनियमौ कुरुत इति भावः ॥ ६७ ॥ अत्र परमं प्रमेयं ज्ञानिलक्षणं प्रकृतं तस्यासम्भवपरिहाराय ज्ञानस्य महाप्रयत्नसाध्येन्द्रियनिग्रहसाध्यत्वं च तत्र कस्यायमुपसंहार इति न ज्ञायतेऽत आह— **तस्मा**दिति । ज्ञानी जायत इति शेषः । यत एवं निगृहीतेन्द्रियस्यैव प्रसादः, प्रसादवत एव युक्तिः, युक्तिमत एव श्रवणमननाभ्यां तत्त्वज्ञानं, तत्त्वज्ञानवत एवापरोक्षज्ञानसाधनं ध्यानं, नान्यथा तस्मादित्यर्थः ॥ ६८ ॥

**७ ह. पै. भा.— अनुपरतेन्द्रियस्य सुखं नास्ति, कस्मात्? इत्यत्राऽऽह- इन्द्रियाणां हि यस्माच्चरतां विषयेषु वर्तमानानां यन्मनोऽनुविधीयतेऽनुवर्तते तदस्य हरति प्रज्ञां तदिन्द्रियविषयविकल्पने प्रवृत्तं मनोऽस्य यतेर्हरति प्रज्ञामात्मानात्मविवेकजाम् । वायुर्नावमिवाम्भसि- उदके जिगमिषतां मार्गादुद्धृत्य दुर्गममार्गे यथा वायुर्नावं प्रवर्तयति-एवमात्मविषयां प्रज्ञामिन्द्रियानुविधायि मनो विषयाभिमुखीकरोति ॥ ६७ ॥ 'यततो ह्यपि' [२।६०] इत्युपन्यस्तस्यानेकविधोपपत्तिमुक्त्वा तस्यार्थमुपपाद्योपसंहरति— तस्मादिति। यस्यैव योगिनः परमात्मनि नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावे सर्वगतेऽयमहमस्मीति प्रज्ञा प्रतिष्ठिता, स संयमयोगी ॥ ६८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' इत्येतदेवोपपादयति— चरतां स्वस्वविषयेषु स्वैरं प्रवर्तमानानामिन्द्रियाणां मध्ये यदिन्द्रियमनुसृत्य मनो विधीयते प्रवर्त्यते, यदिन्द्रियविषयाविष्टं मनो भवतीत्यर्थः । तदिन्द्रियमस्य साधकस्य प्रज्ञामात्मतत्त्वबुद्धिं हरति विक्षिप्य नाशयति । तदित्येकवचनात् एकमपीन्द्रियं प्रज्ञां हरति, किमु वक्तव्यं सर्वाणि हरन्ति? इत्येतत्सूचितम्। अत्र दृष्टान्तः— **वायु**रिति। दार्ष्टान्तिके मनोऽनुयातत्वेनेन्द्रियस्य विशेषितत्वाद्दृष्टान्तेऽपि नाविकानुयातत्वं वायोर्विशेषणं गम्यते। ततश्चायमर्थः— लोके हि समुद्रे नावमारुह्य द्वीपान्तरं गच्छतां प्रतिकूलवायौ सति नाविकः सावधानतया नौकाबन्धं दृढीकृत्य तां पालयति । स यदि नाविकः कालविपर्ययवशात् कदाचित्प्रतिकूलवायुमनुसृत्यैव नावं प्रवर्तयेत्तदा नाविकानुसृतो वायुरितस्ततः समुद्रे नावं परिभ्राम्य नाशयेदेव। तथा संसारसमुद्रे प्रज्ञानावमवलम्ब्य पारं जिगमिषत इन्द्रियलक्षणप्रतिकूलवायौ सति, तदा मनोनाविके परमेश्वरानुबन्धदृढबन्धनेन तामपरिपाल्येन्द्रियाण्येवानुयातवति मनोनाविकानुयातेन्द्रियप्रतिकूलवायुः प्रज्ञानौकामितस्ततो विक्षिप्य नाशयतीति । 'यततो ह्यपि' [ २।६० ] इति श्लोकार्थस्यैव सदृष्टान्तोपपादनरूपोऽयं श्लोकः ॥ ६७ ॥ एवमिन्द्रियनिग्रहस्य ज्ञानहेतुत्वं व्यतिरेकमुखेनोक्त्वा अन्वयमुखेनापि तत्प्रतिपादयति— **तस्मा**दिति। यस्मादिन्द्रियनिग्रहाभावे प्रज्ञा नास्ति तस्मात् यस्य पुरुषस्येन्द्रियाणि सर्वशः सर्वेभ्य इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्यो निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। 'यस्य निगृहीतानि तस्य' इत्युक्त्या निगृहीतेन्द्रियो दुर्लभ इति सूचितम्। 'महाबाहो' इति सम्बोधनेन बाह्यशत्रुनिग्रहकारणभुजबलाढ्यस्य तव अन्तरशत्रुभूतेन्द्रियनिग्रहकारणप्रज्ञाबलमुचितमिति व्यज्यते ॥ ६८ ॥

९ व० त० दी०—अत्र हेतुमाह—इन्द्रियाणामिति । विषयेषु चरतामिन्द्रियाणां मध्ये यन्मनः कर्तृ प्रबलमेकमनुविधीयते अनेन चानुक्रियते तदस्य प्रज्ञां हरति । तत्र दृष्टान्तः—वायुर्नावमिवाम्भसीति ॥ ६७ ॥ उक्तमुपसंहरति—तस्मादिति । हे क्रियाशक्तियुक्त ! यस्येन्द्रियाणि सर्वशः इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्यो निगृहीतानि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताऽवसेया । स तादृशो लक्ष्यत इत्यर्थः । सम्बोधनेन त्वमपि महाबाहुभ्यां इममिन्द्रियनिग्रहणं कुरुष्वेति सूचितम् ॥ ६८ ॥

१० पु. अ. त.—ननु भावनायामास्थितचेतसोऽपीन्द्रियनिग्रहः किमर्थं ? स तु साधनदशापन्नस्यैव सम्भवति; भावनायुक्तस्य तु सिद्धत्वादेव न प्रयोजनं ज्ञानिन इवेत्याशङ्क्याह—इन्द्रियाणामिति । चरतां लौकिकेषु स्वेच्छया विहरतामिन्द्रियाणां यस्येन्द्रियस्य सङ्गे मनः अनुविधीयते तत्सङ्गे गच्छति तत् तदेव इन्द्रियस्य पुरुषस्य प्रज्ञां भावनात्मिकां हरति । तत्र दृष्टान्तमाह—वायुर्नावमिति । अम्भसि जले नावं तारणसाधिकां वायुरिव । यथा प्रबलो वायुरनवस्थितकर्णधारयुक्तां नावं मज्जयति तथेति भावः ॥ ६७ ॥ तस्मात् सर्वथेन्द्रियनिग्रहकर्तुरेव प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्याह—तस्मादिति । यस्मादिन्द्रियनिग्रहाभावे प्रज्ञा नश्यति तस्मात् यस्य इन्द्रियार्थेभ्यो विषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता भवतीत्यर्थः । 'महाबाहो !' इति सम्बोधनेन तथाकरणसामर्थ्यं ज्ञापितम् ॥ ६८ ॥

११ नी० भा० दी०—तदभावे दोषमाह—इन्द्रियाणां हीति । हि यस्मादिन्द्रियाणां चरतां स्वस्वविषये प्रवर्त्तमानानां—कर्मणि षष्ठी—यत् रागादिकलुषितं मनः तान्यनुलक्षीकृत्य विधीयते प्रवर्त्यते—कर्मकर्त्तरि लकारः—प्रवर्त्तेत इत्यर्थः । तत् इन्द्रियानुसारि मनोऽस्य साधकस्य प्रज्ञामात्मतत्त्वविषयां बुद्धिं हरति । तस्या मनोनुसारित्वात् । दृष्टान्तः स्पष्टार्थः । अन्ये तु—इन्द्रियाणां मध्ये यदिन्द्रियमनुलक्षीकृत्य मनः प्रवर्त्तते तदिन्द्रियमस्य साधकस्य मनसो वा प्रज्ञां हरतीति योजयन्ति । आत्मविषयां प्रज्ञां हृत्वा मनो विषयविषयां करोतीति (शां.) भाष्यमप्यालोचनीयम् ॥ ६७ ॥ 'यततो ह्यपि' [२।६०] इत्यत्रोपक्रान्तमर्थं बहुधा उपपाद्य उपसंहरति—तस्मादिति । यस्मादिन्द्रियाधीनं मनो मनोनुगा च प्रज्ञा तस्मात् हे महाबाहो ! यस्य यतेरिन्द्रियाणि सर्वशः सर्वप्रकारेण स्वकारणेन मनसा—सहितानीति यावत्—इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यो निगृहीतानि भवन्ति तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठितेति विद्धि ॥ ६८ ॥

## या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
## यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥ ६९ ॥

१ शां. भा.—योऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः स उत्पन्नविवेकज्ञानस्य स्थितप्रज्ञस्य अविद्याकार्यत्वादविद्यानिवृत्तौ निवर्तते, अविद्यायाश्च विद्याविरोधान्निवृत्तिः, इत्येतमर्थं स्फुटीकुर्वन्नाह—या निशेति ॥ या निशा रात्रिः सर्वपदार्थानामविवेककरी तमस्स्वभावत्वात् । सर्वभूतानां सर्वेषां भूतानाम् । किं तत् ? परमार्थतत्त्वं स्थितप्रज्ञस्य विषयः । यथा नक्तञ्चराणां अहरेव सदन्येषां निशा भवति, तद्वत् नक्तञ्चरस्थानीयानां अज्ञानिनां सर्वभूतानां निशेव निशा परमार्थतत्त्वं, अगोचरत्वादतद्बुद्धीनाम् । तस्यां परमार्थतत्त्वलक्षणायां अज्ञाननिद्रायां प्रबुद्धो जागर्ति संयमी संयमवान्, जितेन्द्रियो योगीत्यर्थः । यस्यां ग्राह्यग्राहकभेदलक्षणायां अविद्यानिशायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रतीत्युच्यन्ते, यस्यां निशायां प्रसुप्ता इव स्वप्नदृशः, सा निशा अविद्यारूपत्वात् परमार्थतत्त्वं पश्यतो मुनेः—इति ॥

२ आ. शां. व्या.—आत्मविदः स्थितप्रज्ञस्य सर्वकर्मपरित्यागेऽधिकारस्तद्विपरीतस्याज्ञस्य कर्मणीत्येतस्मिन्नर्थे समनन्तरश्लोकमवतारयति—योऽयमिति । अविद्यानिवृत्तौ सर्वकर्मनिवृत्तिश्चेत्तन्निवृत्तिरेव कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह—अविद्यायाश्चेति । स्फुटीकुर्वन्बाह्याभ्यन्तरकरणानां पराक्प्रत्यक्प्रवृत्तितथाविधदर्शने च मिथो विरुध्येते पराग्दर्शनस्य अनाद्यात्मावरणाविद्याकार्यत्वात् आत्मदर्शनस्य च तन्निवर्तकत्वात्ततश्चाऽऽत्मदर्शनार्थमिन्द्रियाण्यर्थेभ्यो निगृह्णीयादित्याहेति योजना । सर्वप्राणिनां निशा पदार्थाविवेककरीत्यत्र हेतुमाह—तमस्स्वभावत्वादिति । सर्वप्राणिसाधारणीं प्रसिद्धां निशां दर्शयित्वा

तामेव प्रकृतानुगुणत्वेन प्रश्नपूर्वकं विशदयति— **किं तदि**त्यादिना । स्थितप्रज्ञविषयस्य परमार्थतत्त्वस्य प्रकाशैकस्वभावस्य कथमज्ञान्प्रति निशात्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**यथे**ति । तत्र हेतुमाह— **अगोचरत्वा**दिति । अतद्बुद्धीनां परमार्थतत्त्वातिरिक्तद्वैतप्रपञ्चप्रवृत्तबुद्धीनामप्रतिपन्नत्वात्परमार्थतत्त्वं निशेवाविदुषामित्यर्थः । 'तस्यां' इत्यादि व्याचष्टे— **तस्या**मिति । निशावदुक्तायामवस्थायामिति यावत् । **योगी**ति ज्ञानी कथ्यते । द्वितीयार्धं विभजते— **यस्या**मिति । प्रसुप्तानां जागरणं विरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— **प्रसुप्ता इवे**ति । परमार्थतत्त्वमनुभवतो निवृत्ताविद्यस्य सन्न्यासिनो द्वैतावस्था निशेत्यत्र हेतुमाह— **अविद्यारूपत्वा**दिति ।

**१ शां. भा.— अतः कर्माण्यविद्यावस्थायामेव चोद्यन्ते, न विद्यावस्थायाम् । विद्यायां हि सत्यामुदिते सवितरि शार्वरमिव तमः प्रणाशमुपगच्छत्यविद्या । प्राग्विद्योत्पत्तेरविद्या प्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणा क्रियाकारकफलभेदरूपा च सती सर्वकर्महेतुत्वं प्रतिपद्यते । नाप्रमाणबुद्ध्या गृह्यमाणायाः कर्महेतुत्वोपपत्तिः । 'प्रमाणभूतेन वेदेन मम चोदितं कर्तव्यं कर्म' इति हि कर्मणि कर्ता प्रवर्तते, न 'अविद्यामात्रमिदं सर्वं निशेव' इति ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— परमार्थावस्था निशेवाविदुषां ; विदुषां तु द्वैतावस्था तथेति स्थिते फलितमाह— **अत** इति ; अविद्यावस्थायामेव क्रियाकारक-फलभेदप्रतिभानादित्यर्थः । विद्योदयेऽपि तत्प्रतिभानाविशेषात्पूर्वमिव कर्माणि विधीयेरन्नित्याशङ्क्याऽऽह— **विद्याया**मिति । अविद्यानिवृत्तौ बाधितानुवृत्त्या विभागभानेऽपि नास्ति कर्मविधिर्विभागाभिनिवेशाभावादित्यर्थः । अविद्यावस्थायामेव कर्माणीत्युक्तं व्यक्तीकरोति— **प्रागि**ति । विद्योदयात्पूर्वं बाधकाभावादबाधिताऽविद्या क्रियादिभेदमापद्य प्रमाणानुरूपतया बुद्ध्या ग्राह्यतां प्राप्य कर्महेतुर्भवति, क्रियादिभेदाभिमानस्य तद्धेतुत्वादित्यर्थः । न विद्यावस्थायामित्युक्तं प्रपञ्चयति— **नाप्रमाणे**ति । उत्पन्नायां च विद्यायामविद्याया निवृत्तत्वात् । क्रियादिभेदभानमप्रमाणमिति बुद्धिरुत्पद्यते तया गृह्यमाणा यथोक्तविभागभागिन्यप्यविद्या न कर्महेतुत्वं प्रतिपद्यते, बाधितत्वेनाऽऽभासतया तद्धेतुत्वायोगादित्यर्थः । विद्याविद्याविभागेनोक्तमेव विशेषं विवृणोति— **प्रमाणभूतेने**ति । यथोक्तेन वेदेन कामनादिमतो 'मम कर्म विहितं तेन मया तत्कर्तव्यं' इति मन्वानः सन् कर्मण्यज्ञोऽधिक्रियते तं प्रति साधनविशेषवादिनो वेदस्य प्रवर्तकत्वादित्यर्थः । सर्वमिदमविद्यामात्रं द्वैतं निशेवेति मन्वानस्तु न प्रवर्तते कर्मणीति व्यावर्त्यमाह— **न, अविद्ये**ति ।

**१ शां. भा.— यस्य तु पुनः 'निशेवाविद्यामात्रमिदं सर्वं भेदजातम्' इति ज्ञानं तस्याऽऽत्मज्ञस्य सर्वकर्मसन्न्यास एवाधिकारः, न प्रवृत्तौ । तथा च दर्शयिष्यति 'तद्बुद्धयस्तदात्मानः' [ ५।१७ ] इत्यादिना ज्ञाननिष्ठायामेव तस्याधिकारम् । तत्रापि प्रवर्तकप्रमाणाभावे प्रवृत्त्यनुपपत्तिरिति चेत् , न; स्वात्मविषयत्वादात्मविज्ञानस्य । न ह्यात्मनः स्वात्मनि प्रवर्तकप्रमाणापेक्षा, आत्मत्वादेव; तदन्तत्वाच्च सर्वप्रमाणानां प्रमाणत्वस्य । न ह्यात्मस्वरूपाधिगमे सति पुनः प्रमाणप्रमेयव्यवहारः सम्भवति । प्रमातृत्वं ह्यात्मनो निवर्तयत्यन्त्यं प्रमाणम् । निवर्तयदेव चाप्रमाणीभवति स्वप्नकालप्रमाणमिव प्रबोधे । लोके च वस्त्वधिगमे प्रवृत्तिहेतुत्वादर्शनात्प्रमाणस्य । तस्मान्नाऽऽत्मविदः कर्मण्यधिकार इति सिद्धम् ॥ ६९ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— विदुषो न कर्मण्यधिकारश्चेत्तस्याधिकारस्तर्हि कुत्र ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यस्ये**ति । तस्याऽऽत्मज्ञस्य फलभूतसन्न्यासाधिकारे वाक्यशेषं प्रमाणयति— **तथा चे**ति । प्रवर्तकं प्रमाणं विधिस्तदभावे कर्मस्विव विदुषो ज्ञाननिष्ठायामपि प्रवृत्त्यनुपपत्तेराश्रयणीयो ज्ञानवतोऽपि विधिरिति शङ्कते— **तत्रापी**ति । किमात्मज्ञानं विधिमपेक्षते ? किंवाऽऽत्मा? । नाऽऽद्यः— तस्य स्वरूपविषयस्य यथाप्रमाणप्रमेयमुत्पत्तेर्विध्यनपेक्षत्वादित्याह— **न स्वात्मे**ति । न द्वितीय इत्याह— **न ही**ति । प्रवर्तकप्रमाणशब्दितस्य विधेः साध्यविषयत्वादात्मनश्चासाध्यत्वादिति हेतुमाह— **आत्मत्वादेवे**ति । आत्मतज्ज्ञानयोर्विध्यनपेक्षत्वेऽपि ज्ञानिनो मानमेयव्यवहारप्रतिनियमार्थं विध्यपेक्षा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तदन्तत्वाच्चे**ति । सर्वेषां प्रमाणानां प्रामाण्यस्याऽऽत्मज्ञानोदयावसानत्वात् तस्मिन्नुत्पन्ने व्यवहारस्य निरवकाशत्वान्न तत्प्रतिनियमाय ज्ञानिनो विधिरित्यर्थः । उक्तमेव व्यक्तीकरोति— **न ही**ति । धर्माधिगमवत् आत्माधिगमेऽपि किमिति यथोक्तो व्यवहारो न भवति ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **प्रमातृत्वं ही**ति । तन्निवृत्तौ कथमद्वैतज्ञानस्य प्रामाण्यं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **निवर्तयदेवे**ति । प्रमातृत्वं निवर्तयदद्वैतज्ञानं स्वनिवृत्तेर्न प्रमाणमित्यत्र दृष्टान्तमाह— **स्वप्ने**ति । आत्मज्ञानस्य विध्यनपेक्षत्वे हेत्वन्तरमाह— **लोके चे**ति । व्यवहारभूमौ हि प्रमाणस्य वस्तुनिश्चयफलपर्यन्तत्वे

सति प्रवर्तकविधिसापेक्षत्वानुपलम्भादद्वैतज्ञानमपि प्रमाणत्वान्न विधिमपेक्षते, रज्ज्वादिज्ञानवदित्यर्थः । आत्मज्ञानवतस्तन्निष्ठाया विधिमन्तरेण ज्ञानमाहात्म्येनैव सिद्धत्वात्तस्य कर्मसन्न्यासेऽधिकारः, न कर्मणीत्युपसंहरति—— **तस्मा**दिति ॥६९॥

**३ रा. भा.— एवं नियतेन्द्रियस्य प्रसन्नमनसः सिद्धिमाह— या आत्मविषया बुद्धिः सर्वभूतानां निशा निशेवाप्रकाशा, तस्यामात्मविषयायां बुद्धौ इन्द्रियसंयमी प्रसन्नमनाः जागर्ति आत्मानमवलोकयन्नास्त इत्यर्थः । यस्यां शब्दादिविषयायां बुद्धौ सर्वाणि भूतानि जाग्रति प्रबुद्धानि भवन्ति; सा शब्दादिविषया बुद्धिरात्मानं पश्यतो मुनेर्निशेवाप्रकाशा भवति ॥ ६९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवमुपायमुपदिश्य फलमुपदिशतीत्याह— **एव**मिति । प्रागुक्तस्यैव फलस्य प्रशंसापरत्वादपुनरुक्तिः, अतो 'या निशा' इत्यादिभिः त्रिभिः श्लोकैः 'प्रजहाति' [२।५५] इत्यादिनोक्ताऽवस्थाचतुष्टयसिद्धिर्निगम्यते । 'विहाय कामान्' [२।७१] 'निःस्पृहः' [६।१८] इत्युभाभ्यां यतमानव्यतिरेकसंज्ञयोरुपलक्षणम् । यद्वा श्लोकद्वयेनावस्थाचतुष्टयफलं तृतीयेन त्ववस्थाचतुष्टयं निगम्यत इति विभागः। 'या' इति प्रसिद्धतयेष्टनिर्देशोऽत्र प्रस्तुतप्रज्ञाविषयः । साक्षान्निशाया देशकालभेदेन विपरिवर्तमानायाः सर्वभूतसाधारण्याभावादिति तात्पर्येणाह— **या आत्मविषये**ति । उपचारनिमित्तं व्यनक्ति— **निशेवाप्रकाशे**ति । स्वप्रकाशाया अपि बुद्धेरप्रसृतदशायामप्रकाशत्वमुपपद्यते । इन्द्रियनिग्रहस्य प्रकृतत्वात्स एवात्र संयमिशब्दार्थ इत्यभिप्रायेणोक्तम्— **इन्द्रियसंयमी**ति । या पुनः 'त्रयमेकत्र संयमः' इति धारणाध्यानसमाधीनां समुच्चितानां संयमत्वेन पातञ्जलपरिभाषा, साऽत्र न विवक्षितेति भावः । इन्द्रियसंयमस्य बुद्धिजनने अवान्तरव्यापारं पूर्वोक्तमाह— **प्रसन्नमना** इति । जागर्तीत्यत्र मुख्यार्थायोगादाह— **आत्मान**मिति । बुद्धौ जागरणशब्दनिर्दिष्टं प्रबुद्धत्वं प्रकाशमानप्रसृतबुद्धिविशिष्टत्वमेव ; सा च सविषया प्रकाशते— इति भावः । बुद्धिप्रकरणत्वाद्यस्यामिति निर्देशोऽपि बुद्धिविषयः ; सा च बुद्धिः भूतानीत्यसंयमिनिष्ठतया व्यपदेशादात्मदर्शिनो निशात्ववचनाच्च **शब्दादिविषये**त्युक्तम्। **सर्वभूताना**मित्यत्र समासनिमग्नोऽपि सर्वशब्दो भूतानीत्यत्रापि बुद्ध्या निष्कृष्यान्वेतव्य इति **सर्वाणी**त्युक्तम् । **पश्यत** इत्यत्र कर्माकाङ्क्षायां **आत्मान**मिति प्रकरणसिद्धमुक्तम् ॥ ६९ ॥

**५ आ. मा. भा.— उक्तं लक्षणं पिण्डीकृत्याह— या निशेति। या सर्वभूतानां निशा परमेश्वरस्वरूपलक्षणा । यस्यां सुप्तानीव न किञ्चिज्जानन्ति, तस्यामिन्द्रियसंयुक्तो ज्ञानी जागर्ति सम्यगापरोक्ष्येण पश्यति; परमात्मानमित्यर्थः । यस्यां विषयलक्षणायां भूतानि जाग्रति तस्यां निशायामिव सुप्तः प्रायो न जानाति । मत्तादिवद्गमनादिप्रवृत्तिः । तदुक्तम् 'देहं (च तं न चरमः) तु तत्र चरमम्' [भाग. ३।२८।३७] 'देहोऽपि दैववशगः' [भाग. ३।२८।३८+११।१३।३७] इति श्लोकाभ्याम् । मननयुक्तो मुनिः । पश्यत इत्यस्य साधनमाह ॥ ६९ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ज्ञानिनः सर्वकर्मत्यागप्रतिपादनार्थाय 'या निशा' इत्ययं श्लोक इति कश्चित् । तत्र तत्प्रतिपादकाक्षराश्रवणात् प्रमाणविरोधाच्चेत्याशयेन तत्प्रतिपाद्यमाह— **उक्तलक्षण**मिति, चतुश्श्लोक्या विक्षिप्योक्तम् । नन्वत्रोक्तं किमपि न प्रतीयत इत्यत आह— **ये**ति । परमेश्वरस्वरूपस्य निशासाम्यमुपपादयति— **यस्या**मिति । विषयत्वमधिकरणत्वं चाविवक्षित्वा कारकत्वमात्रविवक्षया साम्यमिदमुक्तम् । संयमीत्यस्याक्षरार्थं **इन्द्रिये**ति,प्रकरणलभ्योऽर्थो **ज्ञानी**ति। उत्तरार्धार्थमाह— **यस्या**मिति । अत्रापि पूर्ववत्साम्यम् । यदि न किञ्चित्पश्यति कथं तर्हि तस्य गमनादिप्रवृत्तिः ? इत्यत आह— **मत्तादिव**दिति । कुत एतत् ? इत्यत आह— **तदुक्त**मिति । मुनेरित्युक्तत्वाच्चतुर्थाश्रमिण एव ज्ञानमिति व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **मननयुक्त** इति । याज्ञवल्क्यादीनामयतीनामपि ज्ञानश्रवणादिति भावः । मननस्य प्राङ्निवृत्तत्वात् 'पश्यतो मुनेः' इति कथं ? इत्यत आह— **पश्यत** इति। दर्शनसाधनत्वेन मननमिहोक्तं, न तु तत्समकालीनतयेत्यर्थः। एतच्च प्राङ्मननादेः स्पष्टदर्शनसाधनत्वानुक्तेः प्रसङ्गादिहोक्तम् । ननु 'स्थितधीः किं प्रभाषेत ?' [२।५४] इत्याद्यु-(देरु-) त्तरमयं श्लोक इति प्रागुक्तं तत्कथमिदानीं लक्षणपरतया व्याख्यातः ? अन्यपरादपि तल्लाभ इत्याशयेनेति ब्रूमः; अन्यथा 'प्रभाषेत' इत्यादेरुत्तरमाहेत्यत्रैवावेक्ष्यत् , किं तत्र स्थानप्रदर्शनादिना ? इति ॥ ६९ ॥

**७ ह. पै. भा.— या निशा रात्रिः सर्वपदार्थानामविवेककारिणी सर्वभूतानां निशेति सर्वप्राणिव्यवहारागोचरब्रह्मरूपमुच्यते, तस्यां जागर्ति प्रबुद्धवानास्ते । यस्यां सर्वभूतानि जाग्रति प्रबुध्यन्ते यस्यां व्यवहरन्ति साऽविद्या निशा परमार्थस्वरूपं ब्रह्म पश्यतो मुनेर्योगिनः । एवमविद्याविद्याभेदादविदुषः सर्वकर्माणि, विदुषः सर्वकर्मनिवृत्तिः स्वभावात्सकलकर्मसन्न्यास एव ॥ ६९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तदेवं 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५ ] इत्यारभ्यैतावत्पर्यन्तैश्चतुर्दशभिः श्लोकैः स्थितप्रज्ञस्य समाधिव्युत्थानावस्थयोर्लक्षणं सपरिकरमुक्तम्; इदानीमवस्थाद्वयानुगतं स्थितप्रज्ञलक्षणमाह— या सर्वभूतानां निशेव निशा परं ब्रह्म । लोके हि निशायां निद्राणो न निशां पश्यति; तथा ब्रह्मलक्षणनिशायामज्ञाननिद्रापरवशानि सर्वभूतानि न ब्रह्मतत्त्वं पश्यन्ति । तस्यां ब्रह्मरूपायां सर्वभूतनिशायां संयमी इन्द्रियसंयमवान् स्थितप्रज्ञो जागर्ति अज्ञानलक्षणनिद्राक्षयेण प्रबुद्धः परं ब्रह्म पश्यति । यस्यां तु द्वैतप्रपञ्चव्यवहाररूपायामविद्यायां प्रसुप्तान्येव भूतानि जाग्रति प्रबुध्यन्ते, स्वप्न इव व्यवहरन्तीति यावत् । सा अज्ञातत्त्वं पश्यतो मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा अप्रकाशरूपा । अनेन आविद्यिकप्रपञ्चव्यवहारशून्यत्वे सति परब्रह्मद्रष्टृत्वं स्थितप्रज्ञलक्षणमित्युक्तं भवति । अत्र च सत्यन्तविशेषणं श्लोकोत्तरार्धेन लब्धम्; ब्रह्मद्रष्टृत्वविशेष्यं तु पूर्वार्धेनेति विवेकः । याज्ञवल्क्यादिषु सन्न्यासावस्थातः पूर्वमविश्रान्तचित्ततया स्थितप्रज्ञतानापन्नेषु केवलज्ञान्यवस्थेष्वतिव्याप्तिनिरासाय सत्यन्तम् । तत्र च व्यवहारशून्यत्वं नाम तद्वासनाशून्यत्वम् । याज्ञवल्क्यादीनां च तदवस्थायां मलिनवासनानुवृत्तेर्नातिव्याप्तिः । सुषुप्तेष्वतिव्याप्तिपरिहाराय परब्रह्मद्रष्टृत्वम् ॥ ६९ ॥

९ म० त० दी०— तस्यैवान्येभ्यो वैलक्षण्येन लक्षणमाह— या निशेति । याऽऽत्मविषया बुद्धिः संसारिणां स्वपतामिव निशेवाऽप्रकाशिका अज्ञानतिमिरोपहतमतीनां आत्मदर्शनव्यवहारायोग्या तस्यां संयमी जागर्ति । यस्यां च शब्दादिविषयिण्याम् । एवं विलक्षणलक्षणो मुनिर्दर्शितः ॥ ६९ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेतादृशेन्द्रियनिग्रहकृत् किंलक्षणः? इत्यपेक्षायामाह— या निशेति । सर्वभूतानां या निशा रात्रौ निद्रायामिव विषयसुखेषु सर्वेषां या निशा सुखावाप्तिः । नितरां शं सुखं यस्यामिति निशा । तस्यां संयमी इन्द्रियनिग्रहकर्ता जागर्ति, न सुखमवाप्नोतीत्यर्थः । यस्यां निशायां भूतानि जाग्रति न सुखं प्राप्नुवन्ति सा भगवत्सुखं पश्यतो मननशीलस्य निशा सुखाप्तिः । तत्सुखस्य कथनायोग्यत्वान्मुनेरिति विशेषणमुक्तम् ॥ ६९ ॥

११ नी० भा० दी०— "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते" इत्युदाहृतश्रुतेः "तामाहुः परमां गतिम्" [ कठो. २।६।१० ] इत्येतं चतुर्थं पादं व्याचष्टे— या निशेति । सर्वेषां भूतानामज्ञानां या निशेव निशा यस्यां मध्यन्दिने उलूका इवानन्धा अप्यन्धा एव सर्वे प्राणिनो भवन्ति, तस्यां तस्मिन्प्रत्यग्ज्योतिषि संयमी इन्द्रियमनोबुद्धीनां निग्रहणशीलो योगी जागर्ति, इन्द्रियादीनां दृक्शक्तिलोपेऽप्यनुपरतदृक्शक्तिरेवास्ते । तथा च श्रुतिः— "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" [बृ.उ.४।३।२३ ] इति । यस्यामविद्याख्यायां निशायां क्रियाकारकादिद्वैतस्वप्नप्रवर्तिकायां सर्वाणि भूतानि जाग्रति निशीथे उलूका इव स्वस्वव्यापारे प्रवर्त्तन्ते सा अविद्या पश्यतो मुनेः आत्मदर्शनवतो योगिनः प्रारब्धकर्मणा विदेहकैवल्यप्रतिबन्धात् लेशतोऽनुवर्त्तमाना व्युत्थानकाले व्यवहरतोऽस्य गाढान्धकारवती निशेव क्लेशकरी भवति । अतिसुकुमारा हि योगिनो बाह्यव्यवहारादुद्विजन्ते, नरा इव गाढान्धकारे सञ्चारात् । यथोक्तं योगभाष्ये— 'अक्षिमात्रकल्पो हि विद्वानत्यल्पदुःखलेशेनाप्युद्विजते' इति । अत्र वार्तिकानि 'कारकव्यवहारे हि शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते । शुद्धे वस्तुनि सिद्धे च कारकव्यापृतिस्तथा ॥ काकोलूकनिशेवायं संसारोऽज्ञात्मवेदिनोः । या निशा सर्वभूतानामित्यवोचत्स्वयं हरिः' इति । 'बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽयं जडोन्मत्तपिशाचवत् । बुद्धतत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत्' इति; तदेवं 'किमासीत' [ २।५४ ] इत्यस्योत्तरं 'यदा संहरते चायं' [ २।५८ ] इत्यादिना एतदन्तेन ग्रन्थेन स्थितप्रज्ञः सदा समाधिमनुतिष्ठन् परमां गतिं प्राप्यास्त इत्युक्तम् ॥ ६९ ॥

स्थितप्रज्ञस्य ज्ञानिनोऽपि विषयानुभवे दृष्टान्तः ।

**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।**
**तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥ ७० ॥**

**१ शां. भा.— विदुषस्त्यक्तैषणस्य स्थितप्रज्ञस्य यतेरेव मोक्षप्राप्तिर्न त्वसन्न्यासिनः कामकामिन इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयिष्यन्नाह— आपूर्येति । आपूर्यमाणमद्भिः,अचलप्रतिष्ठं अचलतया**

प्रतिष्ठाऽवस्थितिर्यस्य तमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः सर्वतो गताः प्रविशन्ति स्वात्मस्थमविक्रियमेव सन्तं यद्वत्, तद्वत्कामा विषयसन्निधावपि सर्वत इच्छाविशेषाः यं पुरुषं [ मुनिं ]- समुद्रमिवाऽऽपः- अविकुर्वन्तः प्रविशन्ति सर्वे आत्मन्येव प्रलीयन्ते, न स्वात्मवशं कुर्वन्ति, स शान्तिं मोक्षमाप्नोति, नेतरः कामकामी- काम्यन्त इति कामा विषयास्तान्कामयितुं शीलमस्य स कामकामी, स नैव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

२ आ. शां. व्या.— नन्वसन्न्यासिनाऽपि विद्यावतां विद्याफलस्य मोक्षस्य लब्धुं शक्यत्वात्किमिति विदुषः सन्न्यासो नियम्यते ? तत्राऽऽह— **विदुष** इति । आपातज्ञानवतो विवेकवैराग्यादिविशिष्टस्यैषणाभ्यः सर्वाभ्यो व्युत्थितस्य श्रवणादिद्वारा समुत्पन्नसाक्षात्कारवतो मुख्यस्य सन्न्यासिनो मोक्षः, नान्यस्य विषयतृष्णापरिभूतस्येत्येतद्दृष्टान्तेन प्रतिपादयितुमिच्छन् 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' [ २।६४ ] इति श्लोकोक्तमेवार्थं पुनराहेति योजना । अद्भिः समुद्रस्य समन्तात्पूर्यमाणत्वे वृद्धिह्रासवती तदीया स्थितिरापतेदित्याशङ्क्याऽऽह— **अचले**ति । न हि समुद्रस्योदकात्मकं प्रतिनियतं रूपं कदाचिदपि वर्धते ह्रसते वा तेन तदीया स्थितिरेकरूपैवेत्यर्थः । तत्तन्नादेयाश्चेदापः समुद्रान्तर्गच्छन्ति तर्हि तस्य विक्रियावत्त्वादप्रतिष्ठा स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **स्वात्मस्थ**मिति । इच्छाविशेषा- विषयाणामसन्निधौ विदुषि निर्विकारेऽप्रविशन्तोऽपि सन्निधाने तस्मिन्प्रविशन्तो विकारमापादयेयुरित्याशङ्क्याऽऽह— **विषये**ति । प्रवेशं विशदयति— **सर्वे** इति । "योऽकामः" [ बृ. उ. ४।४।६ ] इत्यादिश्रुतेर्विषयविमुखस्य निष्कामस्य मोक्षः, न कामकामुकस्येत्याह— **स शान्ति**मिति ॥ ७० ॥

३ रा. भा.— यथा स्वेनैवापूर्यमाणमेकरूपं समुद्रं नादेया आपः प्रविशन्ति; आसामपां प्रवेशेऽप्यप्रवेशे च समुद्रो न कश्चन विशेषमापद्यते; एवं सर्वे कामाः शब्दादयो विषयाः यं संयमिनं प्रविशन्ति, इन्द्रियगोचरतां यान्ति, स शान्तिमाप्नोति— शब्दादिष्विन्द्रियगोचरतामापन्नेष्वनापन्नेषु च स्वात्मावलोकनतृप्त्यैव यो न विकारमाप्नोति, स एव शान्तिमाप्नोतीत्यर्थः । न कामकामी—यः शब्दादिभिर्विक्रियते, स कदाचिदपि न शान्तिमाप्नोति ॥ ७० ॥

४ वे. ता. चं.— एवं शब्दाद्यदर्शिनः पर्यवसितात्मदर्शनमयी सिद्धिरुक्ता, एतस्या एव सिद्धेरर्वाचीनामदूरविप्रकृष्टां शब्दादिविषयदर्शनेऽप्यविकारतारूपामवस्थामाह— **आपूर्यमाण**मिति । अत्र प्रवेशाप्रवेशयोरविशेषोपलम्भस्य विवक्षितत्वात् **आपूर्यमाण**मिति न प्रविशन्तीभिर्नादेयीभिरद्भिरापूरणं विवक्षितम्, अपितु दार्ष्टान्तिके विवाक्षितायाः स्वात्मावलोकनतृप्तेः प्रतिनिर्देशः क्रियते इति दर्शयति— **स्वेनैवे**ति । अचलप्रतिष्ठशब्दोऽत्र सीमातिलङ्घनादिहेतुभूतवृद्धिह्रासराहित्यपर इत्याह— **एकरूप**मिति । नादेया इत्यनेन समुद्रप्रयत्ननिरपेक्षं स्वतस्समुद्रप्रावण्यं सूच्यते । दृष्टान्ते निर्मथितार्थमाह— **आसा**मिति । कामा इत्यत्र कर्मणि व्युत्पत्तिमभिप्रेत्याह— **शब्दादयो विषया** इति । अविकारतासिद्ध्यर्थं यच्छब्दस्य पूर्वोक्तसंयमित्वाभिप्रायतामाह— **यं संयमिन**मिति । रूपादिविषयाणां पुरुषे प्रवेशो नान्नपानादिवच्छरीरान्तःप्रवेशः; अतः तत्तदिन्द्रियद्वारा ज्ञानविषयत्वमेव विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— **इन्द्रिये**ति । यस्येति शेषः । तद्वदित्यनेन सिद्धमाह— **शब्दे**ति । नित्यनिरवद्यनिरतिशयस्वात्मानुभवानन्दसन्दोहमग्नो नश्वरदुःखमिश्रसातिशयविषयानुभवानन्दबिन्दुषु न सज्जते इति भावः । 'न कामकामी' इत्येतत्पूर्वोक्तस्यार्थस्य व्यतिरेकेण दृढीकरणमिति व्यञ्जयति— **य** इति । विकारस्य प्रसक्तत्वात् कामित्वं स्वकार्यं विकारमप्यजहल्लक्षणया लक्षयतीति **विक्रियत** इत्युक्तम् । कामान्कामयितुं शीलं यस्य स कामकामी; **कदाचिदपी**ति यावत्कामपरित्यागमित्यर्थः । एतेन— यो विक्रियते, स न शान्तिमाप्नोतीत्यनयोरैकार्थ्यशङ्का परिहृता । विषयदर्शने विक्रियमाणोऽन्यदापि स्पृहारहितो न स्यादित्यर्थः ॥ ७० ॥

५ आ. मा. भा.— तेन विषयानुभवप्रकारमाह— **आपूर्यमाण**मिति । यो विषयैरापूर्यमाणोऽप्यचलप्रतिष्ठो भवति नोत्सेकं प्राप्नोति; न च प्रयत्नं करोति; न चाभावे शुष्यति । न हि समुद्रः सरित्प्रवेशाप्रवेशनिमित्तौ वृद्धिशोषौ बहुतरौ प्राप्नोति, प्रयत्नं वा करोति । स मुक्तिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७० ॥

६ ज. प्र. दी.— पृष्टस्य समस्तस्योत्तरमुक्तं तत्किं 'आपूर्यमाणं' इत्यनेनेत्यत आह— **तेने**ति । क्रियमाणेत्युपस्कर्तव्यम् । निरयसापेक्षत्वादसामर्थ्याभावः । बाह्यानुसन्धानरहितस्य युज्येतापि कथञ्चिद्गमनादिकं; विषयानुभवस्तु दृश्यमानः कथं स्यात् ? तस्य नियतसाधनसाध्यस्यानुसन्धानेन विनाऽनुदयादित्याशङ्कापरिहारार्थमिति शेषः । 'तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति'

इति सङ्क्षेपेणोक्तं तद्विवृणोति— **य** इति। कामशब्दस्यार्थो विषयैरिति । अन्यथा 'विहाय कामान्' [२।७१ ] इत्युत्तरविरोधात् । अचलप्रतिष्ठत्वस्यैव व्याख्यानं नोत्सेकमित्यादि। कुत एषोऽर्थः ? इत्यतः समुद्रदृष्टान्तोपादानसामर्थ्यादिति भावेनाह— **न** हीति । 'स शान्तिमाप्नोति' इत्यस्यार्थमाह— **स** इति । ज्ञानिप्रशंसार्थमेतत् । एतद्दृष्ट्वा केचिज्ज्ञानिन एव मुक्तिरित्यनेनाहेत्याहुः; तदसत्, गतार्थत्वात् ॥ ७० ॥

**७ ह. पै. भा.— विदुषस्त्यक्तैषणस्य स्थितप्रज्ञस्य यतेरेव मोक्षः, न कामकामिनः, इत्येवमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपादयिष्यन्नाह— आपूर्यमाणमद्भिः, अचलप्रतिष्ठं अचला प्रतिष्ठा यस्य सः, तमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वद्यथा तद्वत्तथा कामा यं प्रविशन्ति परमात्मज्ञानेनैव रागद्वेषाभ्यामकम्प्यमानं, स शान्तिं मोक्षलक्षणां प्राप्नोति। न कामकामी, कामान्कामयत इति कामकामी ॥ ७० ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अथान्यत्स्थितप्रज्ञलक्षणं तत्फलं चाह— **आपूर्यमाणमिति** । आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं यं सर्वे कामाः प्रविशन्ति, स शान्तिमाप्नोतीति प्रथममन्वयः। आपूर्यमाणं निरतिशयस्वात्मानन्देनैव परिपूर्णम्, अत एव अचला क्षुद्रविषयानन्देच्छारूपविकाराभावान्निर्विकारा प्रतिष्ठा स्थितिर्यस्य तमेवंविधं यं पुरुषं सर्वे कामाः काम्यमाना विषयाः प्रविशन्ति इन्द्रियगोचरतामापद्यन्ते, न तु विकुर्वन्ति । अनेन कामैरविकार्यत्वं स्थितप्रज्ञलक्षणमित्युक्तं भवति । **स शान्तिमाप्नोतीति** मोक्षफलोक्तिः। ननु विषयेन्द्रियसम्बन्धे विकारः स्यादेवेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमुखेन निराकरोति— **समुद्रमिति** । 'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं' इति समुद्रेऽपि योज्यम्। आपूर्यमाणं निरवधिकनिजस्वरूपजलभरणेनैव परिपूर्णम्, अत एव अचलप्रतिष्ठं निर्विकारस्थितिं च समुद्रं आपो यद्वत् प्रविशन्ति तद्वत्कामा इति सम्बन्धः । यथा हि निजस्वरूपपरिपूर्णस्यार्णवस्य नद्यादिजलप्रवेशाप्रवेशाभ्यां नोत्सेकह्रासरूपः कश्चिद्विकारः, एवं निजस्वरूपानन्दपूर्णस्य विषयेन्द्रियसम्बन्धासम्बन्धाभ्यां न कोऽपि विकार इत्यर्थः । 'न कामकामी' इत्यनेन स्थितप्रज्ञस्यैव मोक्षः; नान्यस्येति प्रदर्शितम् । 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५ ] इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ ७० ॥

९ व० त० दी०— **अन्यच्च** । यथा समुद्रो न कं प्रतियाति किन्तु तं प्रत्येवापः सर्वा यान्ति, तथा कामाः सर्वे तमेव विशन्ति, तत आप्तकामः स शान्तिमाप्नोति क्षुब्धोऽपि समुद्र इवाचलप्रतिष्ठो बाह्याद्युपाधिकृतकामतरङ्गानाकुलितस्वरूपो भवति। उपमीयत इति तथा विशेषणसमभिव्याहारः॥७० ॥

१० पु. अ. त.— ननु लौकिकविषयाणां दर्शनाद्यभावात्कथं प्राप्तिः ? इत्यत आह— **आपूर्यमाणमिति**। नानानदीभिः आपूर्यमाणमपि अचलप्रतिष्ठं वर्द्धनादिविकाररहितं समुद्रं यद्वदापः प्रविशन्ति तद्वदनेकस्त्रीभिः कामरसे प्रवर्त्यमानं यं भगवत्कामाः सर्वे स्वमनोरथाः स्वार्थं प्रविशन्तीति यो जानाति स शान्तिं कामानां शान्तिं परमसुखमाप्नोति। अत एव श्रीभागवते—'मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः' [१०।३२।१३]इत्युक्तम्। न कामकामी, यस्तु लौकिककामभोगशीलः स न प्राप्नोतीत्यर्थः। यद्वा— यं सर्वे कामाः पूर्वोक्तप्रकारेण प्रविशन्ति तम् । योऽदृष्ट्वापि कामयते तदर्थं वा स शान्तिं परमानन्दमाप्नोति, न तु स्वार्थं कामाभिलाषीति भावः ॥ ७० ॥

११ नी० भा० दी०— ननु 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५] 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निगृहीतानि' [ २।६८ ]इत्यादिनाऽसकृद्विषयाणां प्रहाणं तेभ्यश्च इन्द्रियादीनां प्रत्याहरणमुक्तं तेन तेषामात्मनः पृथक्सत्त्वमस्तीति सिद्धम्। न च " नेह नानास्ति किञ्चन " [ बृ. उ. ४।४।१९ ] इत्यादिश्रुत्या तेषां बाधान्न तदस्तीति वाच्यं, इहेति प्रतीच्येव तन्निषेधात्। न हि इह भूतले घटो नास्तीत्युक्ते घटस्य स्वरूपं निषिध्यते, किन्तु तस्य भूतलसम्बन्धमात्रं; तस्मात्कामानां पृथक्सत्त्वमस्त्यतो नाद्वैतसिद्धिरित्याशङ्क्य सदृष्टान्तं परिहरति— **आपूर्यमाणमिति** । प्रविशन्तीभिरद्भिरापूर्यमाणमप्यचलप्रतिष्ठमनुद्रिक्तं, वृद्धिहीनत्वात्। एवं निर्गच्छन्तीभिरद्भी रिच्यमाणमप्यचलप्रतिष्ठमरिक्तं ह्रासहीनत्वादित्यपि बोध्यम्। एवंविधं समुद्रं यद्वत् आत्मप्रभवा आपः प्रविशन्ति तद्वत्, यं पुरुषं कामैरापूर्यमाणं हीयमानं वा अचलप्रतिष्ठं निर्विकारं वृद्धिह्रासहीनत्वात् आत्मप्रभवाः सर्वे कामाः प्रविशन्ति स एव शान्तिं मोक्षमात्यन्तिकं दुःखोपरमं प्राप्नोति; न तु कामकामी विषयार्थी। अयं भावः— कूटस्थादात्मनः सर्वस्योत्पत्तिस्तत्रैव च लय इति सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं, तेन कामानां प्रहाणं तेभ्यश्चेन्द्रियाणां प्रत्याहरणं स्मर्यमाणं न तेषां परमार्थतः पृथक्सत्त्वं साधयति, बहुप्रमाणविरोधात्। किन्तु पामरप्रसिद्धं पृथक्सत्त्वमभिप्रेत्य प्रहाणादिकमुक्तं, प्रविलापनं त्वेवमेव व्याख्येयम्। यथा "अग्नये पथिकृतेऽष्टाकपालं निर्वपेत्" [ ]इत्यादौ निर्वपतिना याग उच्यते, न तु श्रौतार्थमात्रं तद्वदिहापि ज्ञेयम् "नेह नानास्ति" [बृ.उ.४।४।१९

कठ. ४।११] इत्यपीह परिदृश्यमाने प्रपञ्चे आत्मातिरिक्तं नाना किमपि नास्तीत्येवम्परतया व्याख्येयम्। तथाच— "आत्मैवेदं सर्वं" [ छां. उ. ७।२५।२ ] "ब्रह्मैवेदं सर्वं" [ नृ. उ. उ. ७ ] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [ छां. उ. ३।१४।१ ] इत्यादयः श्रुतिवादाः सङ्गच्छन्ते, आत्मनि कल्पितस्यास्य तत्रैव निषेधेनान्यत्र सत्त्वानुपपत्तेर्न कामानां पृथक्सत्त्वमस्तीति युक्त एव समुद्रदृष्टान्तः। यत्तु समुद्रात्पृथग्गङ्गायाः सत्त्वमस्तीति तन्न; कार्ये कारणसत्तातिरिक्तसत्ताया अभावात्, "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" [ छां. उ. ६।१।४ ] इति कार्यस्य वागालम्बनमात्रत्वश्रवणादित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ७० ॥

मुमुक्षोर्जीवनाद्यर्थं विषयसेविनोऽपि मुक्त्युपायः।

**विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्स्पृहः।**
**निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥**

१ **शां. भा.— यस्मादेवं तस्मात्— विहायेति ॥** विहाय परित्यज्य कामान् यः सन्न्यासी पुमान्सर्वानशेषतः कार्त्स्न्येन चरति जीवनमात्रचेष्टाशेषः पर्यटतीत्यर्थः। निस्स्पृहः शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य स निस्स्पृहः सन्, निर्ममः शरीरजीवनमात्राक्षिप्तपरिग्रहेऽपि 'ममेदं' इत्यभिनिवेशवर्जितः, निरहङ्कारः विद्यावत्त्वादिनिमित्तात्मसम्भावनारहित इत्येतत्। स एवम्भूतः स्थितप्रज्ञो ब्रह्मवित् शान्तिं सर्वसंसारदुःखोपरमलक्षणां निर्वाणाख्यामधिगच्छति प्राप्नोति; ब्रह्मभूतो भवतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥

२ **आ. शां. व्या.—** यदि गृहस्थेनापि मनसा समस्ताभिमानं हित्वा कूटस्थं ब्रह्मात्मानं परिभावयता ब्रह्मनिर्वाणमाप्यते, प्राप्तं तर्हि मौढ्यादिविडम्बनमेवेत्याशङ्क्याऽऽह— **यस्मा**दिति। शब्दादिविषयप्रवणस्य तत्तदिच्छाभेदभागिनो न मुक्तिरिति व्यतिरेकस्य सिद्धत्वात्पूर्वोक्तमन्वयं निगमयितुमनन्तरवाक्यमित्यर्थः। अशेषविषयत्यागे जीवनमपि कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **जीवने**ति। सम्भवद्रागद्वेषादिके देशे निवासव्यावृत्त्यर्थं चरतीत्येतद्व्याचष्टे— **पर्यटती**ति। 'विहाय कामान्' इत्यनेन पुनरुक्तिं परिहरति— **शरीरे**ति। निस्स्पृहत्वमुक्त्वा निर्ममत्वं पुनर्वदन्कथं पुनरुक्तिमार्थिकीं न पश्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **शरीरजीवने**ति। सत्यहङ्कारे ममकारस्याऽऽवश्यकत्वान्निरहङ्कारत्वं व्याकरोति— **विद्यावत्त्वादी**ति। 'स शान्तिमाप्नोति' [ २।७० ] इत्युक्तमुपसंहरति— **स एवम्भूत** इति। सन्न्यासिनो मोक्षमपेक्षमाणस्य सर्वकामपरित्यागादीनि श्लोकोक्तानि विशेषणानि यत्नसाध्यानि, तत्सम्पत्तिफलं तु कैवल्यमित्यर्थः ॥ ७१ ॥

३ **रा. भा.—** काम्यन्त इति कामाः शब्दादयः। यः पुमान् शब्दादीन् सर्वान्विषयान् विहाय तत्र निस्स्पृहः तत्र ममतारहितश्च अनात्मनि देहे आत्माभिमानरहितश्चरति; स आत्मानं दृष्ट्वा शान्तिमधिगच्छति ॥ ७१ ॥

४ **वे. ता. चं.—** किं कामकामिनः सर्वदा शान्तिर्न स्यात् ? इति शङ्कामपाकुर्वन्नदर्शनाविकारत्वावस्थयोः कारणभूतां विषयसङ्ग्रहणस्पृहाममकारदेहात्मभ्रमाणां क्रमात्कार्यकारणभावनिबन्धनानुलोमप्रतिलोमान्वयव्यतिरेकद्वयानां निवृत्तिरूपामवस्थामाह— **विहाये**ति। पूर्वत्रात्र च श्लोके प्रवृत्तं कामशब्दं निर्वक्ति— **काम्यन्त इति कामा** इति। **चरती**ति वर्तत इत्यर्थः। आत्मदर्शिपुरुषपर्वभेदविषयौ पूर्वश्लोकौ; अयं त्वात्मदर्शनार्थिपुरुषविषय इति विवेकं द्योतयति— **आत्मानं दृष्ट्वे**ति ॥ ७१ ॥

५ **आ. मा. भा.— एतदेव प्रपञ्चयति— विहायेति। कामान् विषयान् निस्स्पृहतया विहाय यश्चरति भक्षयति; भक्षयामीत्यहङ्कारममकारवर्जितश्च स हि पुमान्। स एव च मुक्तिमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ ७१ ॥**

६ **ज. प्र. दी.—** 'विहाय' इत्यनेनाप्ययमेवार्थ उच्यतेऽतः पुनरुक्तिरित्यत आह— **एतदेवे**ति। यद्यत्र कामा इच्छाविशेषास्तर्हि निस्स्पृह इति पुनरुक्तिः; यदि काम्यन्त इति विषयास्तदा चरतिर्यदि भक्षणार्थस्तदा व्याघातः; अथ गत्यर्थस्तदा व्यर्थ इत्यतो व्याचष्टे— **कामा**निति। 'निर्ममो निरहङ्कारः' इत्येतदसम्भवपरिहाराय व्याचष्टे— **भक्षयामी**ति। कर्तृत्वाभिमान एवाहङ्कारः, स्वामित्वाभिमान एव ममता, न त्वहम्प्रत्ययादिमात्रमिति भावः। स हि पुमान् अन्यः पशुरित्यर्थः। कुतः ? इत्यत आह— **स एवे**ति। 'स पुमान्' इत्यनेनैवान्वयसमाप्तिं वदता ज्ञानिन एव मुक्तिरित्येषोऽर्थो नात्र प्रतिपाद्यत इति दर्शितम्; स्त्रीव्यावृत्त्यभावश्च ॥ ७१ ॥

७ ह. पै. भा.— यस्मादेवं तस्मात्— चरति शरीरजीवनमात्रमेव चेष्टते । निस्स्पृहः शरीरजीवनमात्रेऽपि निर्गता स्पृहा यस्य स निस्स्पृह उपेक्षकः, निर्ममः शरीरादौ 'ममेदं' इतिबुद्धिरहितः, निरहङ्कारो विद्यावत्त्वादिनिमित्तेनाऽऽत्मसम्भावनारहितः, स शान्तिमविद्योपरमलक्षणामधिगच्छति; सैषा ज्ञाननिष्ठा ॥ ७१ ॥

८ वें. ब्र. गि.— यस्मादेवं कामिनो न शान्तिस्तस्मात्— यः सर्वान्कामान्विहाय चरति, स शान्तिं मोक्षमधिगच्छतीति प्रथममन्वयः । 'सर्वान्' इत्यनेन बाह्यान्तरवासनारूपेण त्रिविधा अपि कामा उच्यन्ते । तत्र गृहक्षेत्रादयो बाह्याः, मनोराज्यादय आन्तराः, पथिगततृणादिवदापाततः प्रतीता वासनाः, तान्सर्वान् परित्यजतः कथं शरीरयात्रानिर्वाहः? तत्राह— चरति निस्स्पृह इति । जीवनेऽपि निस्स्पृह एव सन् प्रारब्धोपनतदेहयात्रामात्रचेष्टावशेषः पर्यटतीत्यर्थः । निस्स्पृहत्वे हेतुर्निर्मम इति; जीवनमात्रेऽपि प्रारब्धकर्माक्षिप्तभिक्षाकन्थादौ 'मम' इत्यभिमानशून्य इत्यर्थः । तत्रापि हेतुर्निरहङ्कार इति; देहादिषु 'अयमहं' इत्यहङ्कारवत एव 'ममेदं' इति ममकारः, तद्वत एव स्वकीयत्वनिबन्धना तत्स्पृहा; तदभावे तु तदुभयाभाव इत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ ७१ ॥

९ व० त० दी०— यस्मादेवं तस्मात् विहाय कामान्प्राकृतान् त्यक्त्वा स्वात्मारामत्वात्; अन्यत्र निस्स्पृहः 'अहन्ताममतानाशे सर्वथा निरहंकृतौ । स्वरूपस्थो यदा जीवः कृतार्थः स निगद्यते' इति । स शान्तिमधिगच्छतीत्यवसेयम् ॥ ७१ ॥

१० पु. अ. त.— यतो लौकिककामाभिलाषी न शान्तिं प्राप्नोत्यतस्तां त्यजेदित्याह— विहायेति । यो दुर्लभः पुमान् भगवद्भावनैकयोग्यः सर्वान् कामान् विहाय निस्स्पृहः भगवदेकपरश्चरति सर्वत्र वैकल्येन परिभ्रमति, निर्ममो देहादिषु निरहङ्कारो भवति, स शान्तिमधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ७१ ॥

११ नी० भा० दी०— प्रासङ्गिकीमाशङ्कां परिहृत्य 'व्रजेत किं' [ २।५४ ] इत्यस्य प्रश्नस्योत्तरमाह— विहायेति । पूर्वोक्तान् त्रिविधान् कामान् विहाय यश्चरति विषयान्भुङ्क्ते निस्स्पृहश्च, यतो निर्ममः; ममतावान् हि इदं मम भूयादित्यन्यथनाद्यर्थं स्पृहां करोति । निर्ममोऽपि कुतः ? यतो निरहङ्कारः, न ह्यहङ्कारशून्यस्य सुप्त्यादौ ममता दृष्टा, तस्मादहङ्कारप्रविलयात् शान्तिं मोक्षं प्राप्नोति । अत्र 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः' [ २।५७ ] इति सर्वत्र यच्छब्ददर्शनात् साधनविधिपर एवायं ग्रन्थः । अन्यथा स्थितप्रज्ञस्य प्रकृतत्वात्तदनुवादार्थो यच्छब्दोऽनर्थकः प्राप्नोति । लोकेऽपि हि परस्वभावकथने 'स एवं करोति' इति तच्छब्द एव प्रयुज्यते, न तु यच्छब्दः । विधौ तु 'य एवं करोति, स इदं प्राप्नोति' इति द्वयोरपि प्रयोगो दृश्यते । लक्षणकथनार्थत्वेऽपि तत्र तात्पर्याभावाद्विधावेव पर्यवस्यतीति दिक् ॥ ७१ ॥

मुमुक्षोः ससन्न्यासब्रह्मनिष्ठावश्यकतापूर्वक एतदध्यायोक्तार्थस्योपसंहारः ।

**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।**
**स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥ ७२ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१ शां. भा.— सैषा ज्ञाननिष्ठा स्तूयते— एषेति । एषा यथोक्ता ब्राह्मी ब्रह्मणि भवेयं स्थितिः, सर्वं कर्म सन्न्यस्य ब्रह्मस्वरूपेणैवावस्थानमित्येतत् । हे पार्थ ! नैनां स्थितिं प्राप्य लब्ध्वा न विमुह्यति न मोहं प्राप्नोति । स्थित्वाऽस्यां स्थितौ ब्राह्म्यां यथोक्तायां अन्तकालेऽप्यन्त्येऽपि वयसि

१ 'ब्रह्म निर्वाणं' इति पदद्वयं रामानुजमाध्वभाष्यसम्मतम् ।

ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिं मोक्षमृच्छति गच्छति। किमु वक्तव्यं ब्रह्मचर्यादेव सन्न्यस्य यावज्जीवं यो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते स ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीति ? ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तत्र तत्र सङ्क्षेपविस्तराभ्यां प्रदर्शितां ज्ञाननिष्ठामधिकारिप्रवृत्त्यर्थत्वेन स्तोतुमुत्तरश्लोकमवतारयति— **सैषेति**। गृहस्थः सन्न्यासीत्युभावपि चेन्मुक्तिभागिनौ किं तर्हि कष्टेन सर्वथैव सन्न्यासेन ? इत्याशङ्क्य सन्न्यासिव्यतिरिक्तानामन्तरायसम्भवादपेक्षितः सन्न्यासो मुमुक्षोरित्याह— **एषेति**। स्थितिमेव व्याचष्टे— **सर्वमिति**। न विमुह्यतीति पुनर्नञोऽनुकर्षणमन्वयार्थम्। सन्न्यासिनो विमोहाभावेऽपि गृहस्थो धनहान्यादिनिमित्तं प्रायेण विमुह्यति, विचित्तः सन् परमार्थविवेकरहितो भवतीत्यर्थः। यथोक्ता ब्राह्मी स्थितिः सर्वकर्मसन्न्यासपूर्विका ब्रह्मनिष्ठा, तस्यां स्थित्वा तामिमामायुषश्चतुर्थेऽपि भागे कृत्वेत्यर्थः। अपिशब्दसूचितं कैमुतिकन्यायमाह— **किमु वक्तव्यमिति**। तदेवं तत्त्वम्पदार्थौ तदैक्यं वाक्यार्थस्तज्ज्ञानादेकाकिनो मुक्तिस्तदुपायश्चेत्येतेषामेकैकत्र श्लोके प्राधान्येन प्रदर्शितमिति निष्ठाद्वयमुपायोपेयभूतमध्यायेन सिद्धम् ७२

इति श्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

**३ रा. भा.**— एषा नित्यात्मज्ञानपूर्विका असङ्गकर्मणि स्थितिः स्थितधीलक्षा ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका, ईदृशीं कर्मणि स्थितिं प्राप्य न विमुह्यति पुनः संसारं नाप्नोति, अस्यां स्थित्यामन्तिमेऽपि वयसि स्थित्वा ब्रह्म निर्वाणमृच्छति निर्वाणमयं ब्रह्म गच्छति; सुखैकतानमात्मानमवाप्नोतीत्यर्थः। एवमात्मयाथात्म्यं युद्धाख्यस्य च कर्मणस्तत्प्राप्तिसाधनतामजानतः शरीरात्मज्ञानेन मोहितस्य तेन च मोहेन युद्धान्निवृत्तस्य मोहशान्तये नित्यात्मविषया या साङ्ख्यबुद्धिः, तत्पूर्विका च असङ्गकर्मानुष्ठानरूपकर्मयोगविषया बुद्धिः स्थितप्रज्ञतायोगसाधनभूता द्वितीयेऽध्याये प्रोक्ता। तदुक्तम्— 'नित्यात्मासङ्गकर्मेहागोचरा साङ्ख्ययोगधीः। द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये' [ गी. सं. ६ ] इति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्रामानुजाचार्यकृते गीताभाष्ये साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अनयोः श्लोकयोः [७०।७१] विषयानुभवनिवृत्तिलक्षणा 'सा निशा' [६९] इति पूर्वश्लोकोक्तशान्तिरुक्ता; 'एषा' इति श्लोकेन परमप्रयोजनतया प्रकृतायाः संसारनिवृत्तिलक्षणशान्तेरुपसंहारः क्रियते; यद्वा श्लोकत्रये शान्तिनिर्वाणशब्दाभ्यामेकमेव फलमुच्यते। 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' [ ४।३९ ] इत्यत्र 'परं निर्वाणमाप्नोति' इति हि व्याख्यास्यति। 'एषा ब्राह्मी' इति श्लोकेनाध्यायार्थस्य निगमनं फलाव्यभिचारस्थापनं च। 'एषा' इति निर्देशस्य पूर्वोक्तनिखिलप्रकारपरामर्शित्वात्तं प्रकारमाह— **नित्येति**। स्थितधीर्लक्षं यस्याः सा स्थितधीलक्षा, ज्ञानयोगाख्यस्थितप्रज्ञतासाधनभूतेत्यर्थः। ब्राह्मीत्यत्र तद्धितविवक्षितसम्बन्धविशेषं दर्शयति— **ब्रह्मप्रापिकेति**। एनामित्यन्वादेशोऽपि सप्रकारपरामर्शीति व्यञ्जयति— **ईदृशीमिति**। मोहनिषेधफलितमाह— **पुनरिति**। अन्तकाल इत्युत्क्रान्तिकालभ्रमव्युदासायाह— **अन्तिमेऽपि वयसीति**। 'उत्तमे चेद्वयसि साधुवृत्तः' इत्यादिवत्। एतेन बाल्यादिषु विषयप्रवणस्यापि पश्चान्निर्विण्णस्याधिकारः सूचितः। किं पुनर्ब्रह्मचर्यादिकमारभ्य स्थितस्येति भावः। स्थित्यां स्थितिस्तत्सम्बन्धः। षष्ठीसमासभ्रमापाकरणायाह— **निर्वाणमयं ब्रह्मेति**। निर्वाणब्रह्मशब्दयोः अर्वाचीनविषयतामाह— **सुखेति**। ननु नित्यात्मज्ञानतत्साक्षात्कारयोरपि प्रकृतत्वात् कर्मनिष्ठामात्रनिगमनपरोऽयं श्लोक इत्ययुक्तमिति शङ्कायां प्रधानभूततदनुबन्धेन अन्यकथनमिति दर्शयन् उत्तराध्यायचतुष्टयसङ्गतिं वक्तुमुक्तमर्थं च सङ्कलय्य दर्शयन्नित्यात्मेत्यादिकं द्वितीयार्थसङ्ग्रहश्लोकमपि व्याख्याति— **एवमिति**। मोहस्य हेतुस्वरूपकार्याणि विशदयति— **आत्मे**त्यादिना **निवृत्तस्ये**त्यन्तेन। व्याख्यानव्याख्येयात्मना सङ्ग्रहश्लोकस्थसमासान्तर्गतपदद्वन्द्वद्वयस्य यथासङ्ख्यं सम्बन्धं व्यनक्ति— **नित्यात्मे**त्यादिना। **साङ्ख्यबुद्धिरिति**। कर्मयोगात्प्राक् 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिः' [ २।३९ ] इत्युक्तमात्मतत्त्वज्ञानमुच्यते; तद्व्यक्त्यर्थं हि **नित्यात्मविषये**त्युक्तम्। ज्ञानयोगस्तु कर्मयोगसाध्यतयानन्तरं पृथगेवोपादीयते। **स्थितधीलक्षेति**। अत्र स्थितधीशब्दो भावप्रधानः; तल्लक्ष्यत्वं च तत्साधनत्वम्। **स्थितप्रज्ञतायोगे**त्यत्र स्थितप्रज्ञताशब्दो योगशब्देन सह विशेषणविशेष्यभावेन द्वन्द्वेन वाऽत्र समस्यते; योगाख्यं फलमित्यपि पूर्वं पृथगुक्तेः। साम्प्रदायिकत्वायाह— **तदुक्तमिति** ॥ ७२ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य कृतिषु श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.**— उपसंहरति— एषेति । ब्राह्मी स्थितिः ब्रह्मविषया स्थितिः लक्षणम् । अन्तकालेऽप्यस्यां स्थित्वैव ब्रह्म गच्छति, अन्यथा जन्मान्तरं प्राप्नोति। 'यं यं वाऽपि' [ ८।६ ] इति वक्ष्यमाणत्वात्। ज्ञानिनामपि सति प्रारब्धकर्मणि शरीरान्तरं युक्तम् । 'भोगेन त्वितरे' इति ह्युक्तम् । सन्ति हि बहुशरीरफलानि कर्माणि कानिचित् ; 'सप्तजन्मनि विप्रः स्यात्' इत्यादेः; दृष्टेश्च ज्ञानिनामपि बहुशरीरप्राप्तेः । तथा ह्युक्तम् 'स्थितप्रज्ञोऽपि यस्तूर्ध्वः प्राप्य रुद्रपदं गतः । साङ्कर्षणं ततो मुक्तिमगाद्विष्णुप्रसादतः' इति गारुडे । 'महादेव परे जन्मनि तव मुक्तिर्निरूप्यते' इति नारदीये ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ज्ञानी स्तूयते 'एषा' इत्यनेनेत्यसत्, प्रथमवाक्ये तददर्शनादिति भावेनाह— **उपसंहरती**ति । प्रकरणं समापयतीत्यर्थः । ब्रह्मधर्मभूतेति प्रतीतिनिरासायाह— **ब्राह्मी**ति । स्थितिर्नोक्ता कथमेवमुच्यते ? इत्यत आह— **लक्षण**मिति; ब्रह्मविषयज्ञानवतो लक्षणमुक्तमित्यर्थः । 'किं प्रभाषेत' [ २ । ५४ ] इत्यादिप्रश्नपरिहारस्यार्थादुक्तत्वादनुपसंहारः । 'अन्तकाले चरमे वयस्यपि यः परिव्रज्यास्यां स्थितौ तिष्ठति सोऽपि ब्रह्माप्नोतीति किमु ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रज्य' इति (शां.) व्याख्यानमसत्, अप्रकृतत्वात्, इत्याशयवान्व्याचष्टे— **अन्तकालेऽपी**ति । ज्ञानिनो ब्रह्मप्राप्तिरुक्ता सा किं तद्देहपातान्तरमेव ? उतान्यथा ? इत्यपेक्षायामिदमुच्यते । कुतोऽस्यार्थस्य भगवदभिप्रेतत्वं ? इत्यत आह— **यं यमि**ति । ननु ज्ञानमेव मोक्षसाधनम्, कारणपौष्कल्ये च कार्यं भवत्येव, अतः कथं ज्ञानिनः शरीरान्तरप्राप्तिः ? इत्यत आह— **ज्ञानिना**मिति । प्रारब्धकर्म सामग्र्याः प्रतिबन्धकं तदेवान्तकाले ब्रह्मानुसन्धानं प्रतिबध्नातीति भावः । ननु ज्ञानादेव सर्वं कर्म क्षीणमित्यत आह— **भोगेने**ति । अस्तु प्रारब्धकर्मणो भोगेनैव क्षयः, स च ज्ञानं यच्छरीरे जातं तत्रैवाभूत्, अतः कथं शरीरान्तरारम्भ इत्यत आह— **सन्ति ही**ति । तानि कथमेकेनैव शरीरेण भुज्येरन्निति शेषः । सप्तजन्मनीति द्विगुः । इतश्चैवमित्याह— **दृष्टेश्चे**ति । बहित्यनेकोपलक्षणम् । कथं ज्ञानिनां बहुशरीरप्राप्तिर्दृश्यते ? इत्यत आह— **तथाही**ति ।

**५ आ. मा. भा.**— निश्चितफलं च ज्ञानं "तस्य तावदेव चिरम्" [ छां. उ. ६।१४।२ ] ॥ "यदु.... च नार्चिषमेवाभिसम्भवन्ति" [ छां. उ. ४।१५।५ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च कायव्यूहापेक्षा "तद्यथेषीकातूलम्" [छां. उ. ५।२४।३] । "तद्यथा पुष्करपलाशे" [छां. उ. ४।१४।३] 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' [ ४।३७] इत्यादिवचनेभ्यः । प्रारब्धे त्वविरोधः, प्रमाणाभावाच्च । न च तच्छास्त्रं प्रमाणम् । 'अक्षपादकणादानां साङ्ख्ययोगजटाभृताम् । मतमालम्ब्य ये वेदं दूषयन्त्यल्पचेतसः' इति निन्दावचनात् ।

**६ ज. प्र. दी.**— ननु ज्ञानिनोऽपि यदि शरीरान्तरप्राप्तिस्तर्हि गर्भवासादिभिर्दुःखैर्लुप्तशक्तिकं ज्ञानं न मोक्षाय पर्याप्तं स्यादित्यत आह— **निश्चिते**ति । तस्य ज्ञानिनस्तावदेव चिरं तावानेव विलम्बः, यावन्न विमोक्ष्ये विमोक्ष्यते प्रारब्धकर्मणा अवसिते कर्मणि ब्रह्म सम्पत्स्यत इत्यर्थः; अवसितकर्मणि ज्ञानिनि विषये यदि पुत्रादयः शव्यकर्म कुर्वन्ति, यदु च न यदि वा न कुर्वन्ति । सर्वथाऽर्चिषमभिसम्भवति प्राप्नोत्येवेत्यर्थः । तदिदमुक्तं 'नैनां प्राप्य विमुह्यति' इति । पाशुपतवैशेषिकादयस्त्वाहुः— अनियतकालविपाकान्यपि कर्माणि ज्ञानी योगसामर्थ्यात्समाहृत्यानेकशरीरफलान्यपि कायव्यूहनिर्माणेन क्षपयित्वा प्रव्रज्यते तत्कुतोऽस्य देहान्तरमिति ? तत्राह— **न चे**ति । ज्ञानिनः कर्मक्षयार्थमिति शेषः । तथा हि अप्रारब्धकर्मक्षयार्थं वा सा स्यात् प्रारब्धकर्मक्षयार्थं वा ? नाद्यः— तेषां ज्ञानेनैव क्षीणत्वात्, इति भावेनाह— **तद्यथे**ति । द्वितीये तु यः कश्चिज्ज्ञानी तथा करोति ? सर्वो वा ? । आद्ये—सम्प्रतिपत्तिमुत्तरमाह— **प्रारब्धे त्वि**ति । द्वितीयासम्भवे हेतुमाह— **प्रमाणे**ति । चशब्दात्प्रागुदाहृतप्रमाणविरोधाच्च । पाशुपतादिशास्त्रेषु तथोक्तत्वात्कथं प्रमाणाभावः ? इत्यत आह— **न चे**ति । तच्छिष्या अपि तच्छब्देनोच्यन्ते इति बहुवचनम् ।

**५ आ. मा. भा.**— यत्र तु स्तुतिस्तत्र शिवभक्तानां स्तुतिपरत्वमेव, न सत्यत्वम् । न हि तेषामपीतरग्रन्थविरुद्धार्थे प्रामाण्यम् । तथाह्युक्तम् 'एष मोहं सृजाम्याशु यो जनान्मोहयिष्यति । त्वं च रुद्र ! महाबाहो ! मोहशास्त्राणि कारय ॥ अतथ्यानि वितथ्यानि दर्शयस्व महाभुज ! । प्रकाशं कुरु चात्मानमप्रकाशं च मां कुरु' इति वाराहे । 'कुत्सितानि च मिश्राणि रुद्रो विष्णुप्रचोदितः । चकार शास्त्राणि विभुर्ऋषयस्तत्प्रचोदिताः ॥ दधीचाद्याः पुराणानि तच्छास्त्रसमयेन तु । चक्रुर्वेदैश्च ब्राह्माणि वैष्णवा विष्णुचोदिताः ॥ पञ्चरात्रं भारतं च मूलरामायणं तथा । तथा पुराणं भागवतं विष्णुर्वेद इतीरितः । अतः शैवपुराणानि योज्यान्यन्याविरोधतः' इति नारदीये ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'उमापतिः पशुपतिः श्रीकण्ठो ब्रह्मणः सुतः । उक्तवानिदमव्यग्रं ज्ञानं पाशुपतं शिवः' इत्यादौ तत्स्तुतिरपि दृश्यते इत्यत आह— **यत्रे**ति । वैष्णवशास्त्रोक्तप्रकारेण शिवभक्तानां लक्षणयेति शेषः । सत्यत्वं तदुक्तार्थस्येति शेषः । उक्तनिन्दाविरोधादिति भावः । तर्हि शैवपुराणानि कायव्यूहनिर्माणनियमादौ प्रमाणानीत्यत आह— **न ही**ति । तेषामिति बुद्धिस्थशैवपुराणपरामर्शः, इतरग्रन्था उदाहृतगारुडादयः । शैवपुराणानां गारुडादिवैष्णवग्रन्थानां च को विशेषो येन बाध्यबाधकभावः ? इत्याशङ्क्य दुर्जनव्यामोहार्थं प्रणीतपाशुपतादिशास्त्राणां व्यामोहनार्थत्वे तावत्प्रमाणमाह— **तथा ही**ति । कारयेति स्वार्थे णिच् । अतथ्यानि सर्वथाऽप्यविद्यमानानि, वितथ्यानि व्यधिकरणानि च, तेषु दर्शयस्व । प्रकाशं प्रसिद्धम् । इदानीं तन्मूलत्वं शैवपुराणानां इतरेषां पञ्चरात्रादिमूलत्वमित्यत्र प्रमाणमाह— **कुत्सिता**नीति । तच्छास्त्रसमयेन तच्छास्त्रसिद्धान्तमनुसृत्य । वेदैरिति वेदानामापाततः प्रतीतिमनुसृत्य । भागवतं भगवद्विषयम् ।

**५ आ. मा. भा.—अतो ज्ञानिनां भवत्येव मुक्तिः । भीष्मादीनां तु तत्क्षणे मुक्त्यभावः । स्मरंस्त्यजतीति वर्तमानव्यपदेशो हि कृतः । तच्चोक्तम् 'ज्ञानिनां क्रमयुक्तानां कायत्यागक्षणो यदा । विष्णुमाया तदा तेषां मनो बाह्यं करोति हि' इति गारुडे । न चान्येषां तदा स्मृतिर्भवति । 'बहुजन्मविपाकेन भक्तिज्ञानेन ये हरिम् । भजन्ति तत्स्मृतिं त्वन्ते देवो याति न चान्यथा' इति ब्रह्मवैवर्ते । निर्वाणमशरीरम् । 'कायो बाणं शरीरं च' इत्यभिधानात् । 'एतद्बाणमवष्टभ्य' इति प्रयोगाच्च । निर्वाणशब्दप्रतिपादनं 'अनिन्द्रियाः' [म. भा. १२।३३६।२९ ] इत्यादिवत् । कथमन्यथा सर्वपुराणादिप्रसिद्धाऽऽकृतिर्भगवत उपपद्यते ? । न चान्यद्भगवत उत्तमं ब्रह्म । 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' इति भागवते । 'भगवन्तं परं ब्रह्म' 'परं ब्रह्मजनार्दन' । 'परमं यो महद्ब्रह्म' [म. भा. १३।१४९।९] 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।' [ १५ । १८ ] 'योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः' । 'नास्ति नारायणसमं न भूतं न भविष्यति' । 'न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः' [ ११ । ४३ ] इत्यादिभ्यः । न च तस्य ब्रह्मणोऽशरीरत्वादेतत्कल्प्यम् ; तस्यापि शरीरश्रवणात् "आनन्दरूपममृतम्" [मुं. उ. २ । २ । ७] "सुवर्णज्योतिः" [ तै. उ. ३ । १० । ६ ] "दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः" [ छां. उ. ८।१।२ ] इत्यादिषु ।**

**६ ज. प्र. दी.**— उक्तमुपसंहरति— **अत** इति । ज्ञानिनां मुक्तिर्भवतीत्येव, न तु तद्देहपातानन्तरमिति नियम इत्युपसंहारार्थः । ननु भीष्मादयो ज्ञानिनोऽन्तकालेऽस्यां ब्राह्म्यां स्थितौ स्थिताश्च न मुक्ताश्च तत्कथमेतदुक्तं ? इत्यत आह— **भीष्मादीना**मिति । साक्षाद्देहत्यागक्षणे युक्त्या परमेश्वरे मनोयोगेन भाव्यमित्येतत्कुतः? इत्यत आह— **स्मरन्नि**ति । ननु तत्क्षणे युक्त्या मुक्तिश्चेदज्ञानिनामपि तत्सम्भवेन मुक्तिरित्यत आह— **न चे**ति । भक्तिज्ञानेनेति द्वन्द्वैकवद्भावः । भक्तिसहितं ज्ञानं भक्तिज्ञानमिति वा । 'ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मस्वरूपानन्दं' इति व्याख्यानं सर्वप्रमाणविरुद्धमित्याशयवान्निर्वाणमिति भिन्नं पदं व्याचष्टे— **निर्वाण**मिति । कथमेतत् ? इत्यत आह— **काय** इति । कार्यब्रह्मव्यावृत्त्यर्थमेतत् । अनेन ब्रह्मणो निराकारत्वं प्राप्तं तत्प्रतिषेधार्थमाह— **निर्वाणे**ति । प्रतिपादनं व्याख्यानम् । इत्यादिवत् इत्यादेरिव; प्राकृतादिविग्रहराहित्यार्थत्वेनेत्यर्थः । किमनेन व्याख्यानेन निराकारमेव ब्रह्म किं न भवेत् ? इत्यत आह— **कथ**मिति । भगवतो विष्णोः साकारत्वेऽपि ब्रह्मणो निराकारत्वमेव । न च भगवानेव ब्रह्म, तस्य तदुत्तमत्वेन ततोऽन्यत्वात्, अतो न पुराणादिविरोध इत्यत आह— **न चे**ति । 'महत् ब्रह्म' इत्येतानि वाक्यानि भगवतो ब्रह्मत्वप्रतिपादकानि । 'यस्मात्' इत्यादीनि तस्यैव सर्वोत्तमत्वेन तदुत्तमाभावप्रतिपादकानि । इन्द्रियग्राह्यमतिक्रान्तस्तदुत्तमः; सर्वमेव योगीन्द्रियग्राह्यम् । उत्तमाधमभावेन ब्रह्मेश्वरयोर्भेदो माभूत्; ब्रह्माशरीरं, ईश्वरस्तु सविग्रह इत्यतो भेदोऽस्तु, अभेदस्यापि सत्त्वाद्ब्रह्मशब्दोपपत्तिरित्यत आह— **न चे**ति । तस्य पराभिमतस्य एतद्भगवतोऽन्यत्वम् । कुत इत्यत आह— **तस्या**पीति । 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं' इत्यन्तं वाक्यं इह विवक्षितम् । इत्यादिषु ब्रह्मविद्यात्वेन सम्मतेष्विति शेषः ।

**५ आ. मा. भा.— यदि रूपं न स्यात्, आनन्दमित्येव स्यात्, न त्वानन्दरूपमिति । कथं सुवर्णरूपत्वं स्यादरूपस्य? कथं दहरत्वम् ? दहरस्थश्च केचित्स्वदेहेत्यादौ रूपवानुच्यते "सहस्रशीर्षा पुरुषः" [ऋक्सं. ८।४।१७।१+य. सं. ३१।१] "रुक्मवर्णं कर्तारं" [ मुं. उ. ३।१।३ ] "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" [य. सं. ३१।१८] "सर्वतः पाणिपादं तत्" [ १३।१३ + श्वे. उ. ३।१६] "विश्वतश्चक्षुरुत**

विश्वतोमुखः ।" [ऋक्सं. ८।३।१६।३+य. सं. १७।१९ ] इत्यादिवचनात् । विश्वरूपाध्यायादेश्च रूपवानवसीयते । अतिपरिपूर्णतमज्ञानैश्वर्यवीर्यानन्दयशश्श्रीशक्त्यादिमांश्च भगवान् । "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।" [ श्वे. उ. ६।८ ] "यः सर्वज्ञः" [ मुं. उ.१।१।९ २।२।७ ]"आनन्दं ब्रह्मणः" [तै.उ.२।४।१+२।९।१ ] "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति ।" [ बृ. उ. ४।३।३२ ] 'अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यसहस्रलक्षामितकान्तिकान्तम्' । 'मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतोऽनन्तविग्रहे' [भाग. ६।४।४८] 'विज्ञानशक्तिरहमासमनन्तशक्तेः'[ भाग. ३।९।२४] 'तुर्यं तत्सर्वदृक् सदा' । [ गौ. पा. का. १।१२ ] 'आत्मानमन्यं च स वेद विद्वान्' [ भाग. ११।११।७ ] 'अन्यतमो मुकुन्दात्को नाम लोके भगवत्पदार्थः' [ भाग. ३।१८।२१ ] 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य' । [ वि. पु. ६।५।७४ ] 'अतीव परिपूर्णं ते सुखं ज्ञानं च सौभगम् । यच्चात्ययुक्तं स्मर्तुं वा शक्तः कर्तुमतः परः" [ ] इत्यादिभ्यः ॥ "तानि सर्वाण्यन्योन्यानन्यरूपाणि" । [ ] "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृ. उ. ३।९।२८] "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" [तै.उ.३।६] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [तै.उ. २।१ ] "यस्य ज्ञानमयं तपः"[मुं. उ. ।१।१९] "समा भग प्रविश स्वाहा" [तै.उ.१।४।३] 'न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोऽस्थिसम्भवा । न योगित्वादीश्वरत्वात्सत्यरूपोऽच्युतो विभुः ॥ सद्देहः सुखगन्धश्च ज्ञानभाः सत्पराक्रमः । ज्ञानज्ञानः सुखसुखः स विष्णुः परमोऽक्षरः' इति पैङ्गिखिले । 'देहोऽयं मे सदानन्दो नायं प्रकृतिनिर्मितः । परिपूर्णश्च सर्वत्र तेन नारायणोऽस्म्यहम् ॥' इत्यादि ब्रह्मवैवर्ते ।

६ ज. प्र. दी.— कथमत्र श्रवणं? इत्यत आह— **यदी**ति । रूपं विग्रहः । "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृ. उ.३।९।२८]इत्यानन्दशब्दस्य नपुंसकत्वदर्शनात्तथोपादानम्। ज्योतिश्शब्दो भास्वररूपस्य वाचकः; अत उक्तं सुवर्णरूपत्वमिति । दहरत्वं दहरस्थत्वमविग्रहस्येति वर्तते । दहरस्थत्वं कथं अविग्रहस्यानुपपन्नं ? इत्यत आह— **दहरस्थश्चे**ति । एवमुपपत्तिसापेक्षाणि वाक्यान्युदाहृत्य स्पष्टान्युदाहरति— **सहस्रशीर्षे**ति । अवसीयते परमात्मा । प्राग्भवतोऽन्यस्योत्तमत्वं वाक्यविरुद्धमित्युक्तम्, इदानीं व्याहतं च तदिति भावेनाह— **अतिपरिपूर्णतमे**ति। अत्यादिशब्दैर्निरतिशयत्वं द्योत्यते । ऐश्वर्यं वशित्वम् । श्रीः कान्तिः । परमेश्वरे भगवच्छब्दस्यौपचारिकत्वपरिहारायैतेषां गुणानां सद्भावे प्रमाणान्याह— **परे**ति ।"आनन्दं ब्रह्मणः" इत्यत्र "यतो वाचः" इति पूर्ववाक्यमभिप्रेतम् । अमितशब्दात्परश्चन्द्रशब्दोऽध्याहार्यः । द्रष्टृपुरुषभेदात्त्रिविधोक्तिः । ऐश्वर्याद्यनन्तगुणत्वे मयीति प्रमाणम् । सङ्ख्यापरिमाणाभ्यां गुणानामानन्त्यमनेनोच्यते । शक्तेः परत्वं प्रागुक्तं तदस्पष्टमित्यतो **विज्ञाने**ति । ज्ञानस्यापरोक्षरूपताप्रतिपादनाय **तुर्य**मिति । ईश्वरो नात्मानं वेत्ति, कर्तृकर्मभावविरोधात्, इत्येतन्निरासाय **आत्मान**मिति । ईश्वरे भगवच्छब्दस्यौपचारिकत्वासम्भवं दर्शयितुं तदन्यस्य तच्छब्दार्थतानिरासायान्य**तम** इति । अन्य एवान्यतमः, भगवच्छब्दस्यायमर्थ इत्यत्रैश्वर्येति प्रमाणम् । अत्र षण्णामित्युपलक्षणम् । षाड्गुण्ये सर्वगुणान्तर्भावो वा । तद्वान् भगवानिति सिद्धमेव । भगवत्त्वात्स एव सर्वोत्तम इति । समग्रार्थो वेति— **अतीवे**ति । यदन्येन करिष्यामीति स्मर्तुं बुद्धिस्थीकर्तुं वाऽयुक्तं तत्त्वं कर्तुं शक्तः । मतुपा ज्ञानादीनां भगवता भेदः प्रतीतः । षण्णामित्यादिना परस्परं च तथाऽऽकृतिर्भगवत इत्युक्त्या कृतेस्तन्निरासार्थमाह— **तानी**ति । तत्र प्रमाणान्याह— **विज्ञान**मिति । **तप** आलोचनक्रिया । ज्ञानमयं ज्ञानात्मकमिति । धर्माणां परस्परमभेदोक्तिः । प्राकृतेति ङीबभावश्छान्दसः । अणञ्भ्यामन्यो वा प्रत्ययः । मांसमेदोऽस्थिभिः सम्भवो यस्याः सा तथोक्ता । एतच्च न योगित्वात्, किन्त्वीश्वरत्वात् । अत एव विभुः निर्दोषगुणात्मकविग्रहादच्युतः । 'ज्ञानज्ञानः' इत्यादेरतिशयितज्ञानादित्यर्थः । **तेन** निर्दोषत्वादिना ।

९ आ. मा. भा.— तदेव लीलया चासौ परिच्छिन्नादिरूपेण दर्शयति मायया । 'न च गर्भेऽवसद्देव्या न चापि वसुदेवतः । न चापि राघवाज्जातो न चापि जमदग्नितः ॥ नित्यानन्दोऽव्ययोऽप्येवं क्रीडते मोघदर्शनः' इति च पाद्मे । 'न वै स आत्माऽऽत्मवतां (तां सुहृत्तमः सक्तस्त्रिलोक्यां) तामधीश्वरो भुङ्क्ते हि दुःखं भगवान्वासुदेवः' [ भाग. ५।१९।६ ] 'स्वर्गादेरीशिताऽजः परमसुखनिधिर्बोधरूपोऽथ बोधं लोकानां दर्शयन्यो मुनिसुतहृतात्मप्रियार्थे जगाम'। 'स ब्रह्मवन्द्यचरणो जनमोहनाय स्त्रीसङ्गिनामिति रतिं प्रथयंश्चचार' । 'पूर्तैरचिन्त्यवीर्यो यो यश्च दाशरथिः स्वयम्। रुद्रवाक्यमृतं कर्तुमजितो जितवत्स्थितः ॥ योऽजितो विजितो भक्त्या गाङ्गेयं न जघान ह । न चाम्बां ग्राहयामास करुणः कोऽपरस्ततः' इत्यादिभ्यश्च स्कान्दे ।

६ ज. प्र. दी.— भगवद्रूपस्यैवम्भावे कथं परिच्छिन्नत्वगर्भवासादिसंसारिधर्माश्च तत्र दृश्यन्ते? इत्यत आह— तदेवेति । किमर्थं? इत्यत उक्तं लीलयेति। मायया मोहकशक्त्या । अत्र प्रमाणमाह— न चेति । देव्या देवक्याः। एवं गर्भवासादिप्रदर्शनेन मोघं दर्शनं यस्मिन्विषये स तथा। आत्मवतां भागवतानाम्। आत्मा निरुपाधिकप्रिय इति यावत्। मुनिसुतो रावणः । ब्रह्मवाक्यवत् रुद्रवाक्यमप्यतुलं प्रत्यस्तीत्यतः'रुद्रवाक्यं'इत्युक्तम्। करुणः करुणावान्,अर्शआदित्वादच्।

**५ आ. मा. भा.— न तत्र संसारधर्मा निरूप्याः, यत्र च परापरभेदोऽवगम्यते, तत्राज्ञबुद्धिमपेक्ष्यावरत्वं विश्वरूपमपेक्ष्य अन्यत्र। तच्चोक्तम् 'परिपूर्णानि रूपाणि समान्यखिलरूपतः । तथाप्यपेक्ष्य मन्दानां दृष्टिं त्वामृषयोऽपि हि । परावरं वदन्त्येव ह्यभक्तानां विमोहनम्' इति गारुडे । न चात्र किञ्चिदुपचारादिति वाच्यम्, अचिन्त्यशक्तेः पदार्थवैचित्र्याच्चेत्युक्तम् । 'रामकृष्णादिरूपाणि परिपूर्णानि सर्वदा । न चाणुमात्रं भिन्नानि तथाप्यस्मान्विमोहसि' इत्यादेश्च नारदीये । तस्मात्सर्वदा सर्वरूपेष्वपरिगणितानन्तगुणगणं नित्यनिरस्ताशेषदोषं च नारायणाख्यं परं ब्रह्मापरोक्षज्ञान्यृच्छतीति च सिद्धम् ॥ ७२ ॥**

**इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥**

६ ज. प्र. दी.— तदेवेत्याद्युक्तमुपसंहरति— न तत्रेति । अत इत्युपस्कर्तव्यम् । यद्येवं तर्हि विश्वरूपं परं तदपेक्षया कृष्णादिरूपाण्यपराणीति कथं ग्रन्थेषूच्यते? इत्यत आह— यत्र चेति । यत्र ग्रन्थे । तत्र विश्वरूपमपेक्ष्यान्यत्र कृष्णादावपरत्वमज्ञबुद्धिमपेक्ष्योक्तं ज्ञातव्यमित्यर्थः । कुत एतदित्यत आह— तच्चेति । अखिलरूपतोऽखिलधर्मैः विमोहनं कर्तुम् । नन्वयमुपचारो वा स्तुतिर्वा किं न स्यात्? इत्यत आह— न चेति । असम्भवे ह्येषा कल्पना । अचिन्त्यशक्त्या चैकस्यैवानेकपरिमाणत्वादिकं सम्भवति । अन्यत्रादर्शनेन त्वपलापेऽतिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अत्रैव प्रमाणमाह— कृष्णेति । विमोहसि विमोहयसि । श्लोकार्थमुपसंहरति— तस्मादिति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य श्रीमद्भगवद्गीता-(माध्व)-भाष्यस्य टीकायां
जयतीर्थमुनिकृतायां प्रमेयदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.— एषा यथोक्ता ब्राह्मी ब्रह्मणि भवेयं स्थितिः । नैनां स्थितिं प्राप्य लब्ध्वा विमुह्यति न मोहं प्राप्नोति । स्थित्वाऽस्यां ब्राह्म्यां स्थितौ यथोक्तायामन्तकालेऽप्यन्ते वयस्यपि ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिं मोक्षमृच्छति गच्छति ॥ ७२ ॥**

**इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्याख्ये श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने
साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अध्यायार्थमुपसंहरति— एषेति। एषा 'अशोच्यानन्वशोचः' [ २।११ ] इति प्रस्तुता, ततः 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये' [२।३९] इति मध्ये परामृष्टा, 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु' [ २।३९ ] इत्यादिनोपदिष्टसाधना, 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५ ] इत्यादिना लक्षिता च ब्राह्मी ब्रह्मविषया स्थितिर्निष्ठा, ज्ञानमिति यावत्। उपदिष्टेति शेषः। अनेनाध्यायार्थोपसंहारो दर्शितः । यद्यपि कृत्स्नस्यापि गीताशास्त्रस्य ज्ञानमेव प्रतिपाद्यम्, 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' [ १८।६३ ] इत्युपसंहारात्, तथा च न तस्य द्वितीयाध्यायमात्रार्थत्वेनोपसंहारो युक्तः; तथापि कृत्स्नगीताशास्त्रार्थसूत्ररूपत्वात् द्वितीयाध्यायस्य सम्पूर्णशास्त्रार्थनिरूपणमत्राभ्यौहीति तथोपसंहारो युज्यत इति ध्येयम्। तामेतां ज्ञाननिष्ठां फलमुखेन प्रशंसति— नैनमिति। एनां ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्य न विमुह्यति संसारानर्थहेतुं मोहं न प्राप्नोतीत्यर्थः।

एवमुक्तवति भगवत्यर्जुनस्य विषादो जातः 'इयं ज्ञाननिष्ठाऽधुना मया न प्राप्ता, इदानीमप्राप्ता च नातः परमपि भविष्यति, अतो धिङ्मां पापिष्ठं' इति, तमिममर्जुनविषादमालक्ष्याह— स्थित्वाऽस्यामिति। अन्त्ये काले मरणकालेऽपि अस्यां ब्रह्मज्ञाननिष्ठायां स्थित्वा ब्रह्मरूपं निर्वाणं ऋच्छति प्राप्नोति । इदानीमप्राप्तमपि तत्त्वज्ञानमीश्वराराधनमननिदिध्यासनपरिपक्वकषायस्य तवान्त्यसमये प्राप्तं भविष्यति; अतो न विषादः कार्य इत्यर्थः। अयमर्थो भागवते दर्शितः। तद्वचनानि चोपोद्घातप्रकरणे लिखितानीति नेह पुनर्लिख्यन्ते । अन्त्यकालेऽपीत्यपिशब्देन कर्ममार्गात् ज्ञानमार्गेऽतिशयो दर्शितः । अग्निहोत्रादिकं हि यावज्जीवादिश्रुतिचोदितं न यदा कदाचित्सम्पादनेन फलाय प्रभवति; ज्ञानं तु यदा कदाचिदपि सम्पादितं फलदमिति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने साङ्ख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

९ व० त०दी०— उक्तां योगवन्निष्ठां स्तुवन्नुपसंहरति— एषेति । ब्रह्म हि निर्दोषं समम्; तत्स्थैवेति ब्राह्मी ब्रह्मसम्बन्धिनी वा स्थितिः स्थितधीलक्षणा । अस्यां स्थित्वा ब्रह्मसुखं प्राप्नोति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां श्रीमद्वल्लभाचार्यवंश्य-श्रीवल्लभप्रादुर्भावितायां तत्त्वदीपिकायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

१०पु.अ.त.— उपसंहरति— एषेति । एषा ब्राह्मी ब्रह्मनिष्ठस्य स्थितिः । एनां प्राप्य न विमुह्यति मोहं न प्राप्नोति । अन्तकाले क्षणमप्यस्यां स्थित्वा ब्रह्मनिर्वाणं पुरुषोत्तमभक्तिं प्राप्नोति । गीतायाश्चोपनिषद्रूपत्वादत्र ब्रह्मपदं पुरुषोत्तमवाचकमेव । आजन्मस्थितौ तु किं वक्तव्यम्? इति भावः ॥ ७२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— प्रतिपादितां कर्मयोगप्राप्यां साङ्ख्ययोगनिष्ठां फलेन स्तुवन्नुपसंहरति— एषेति । एषा स्थितप्रज्ञलक्षणप्रसङ्गात् कथिता ब्राह्मी-ब्रह्मशब्देनात्र ब्रह्मविदुच्यते "ब्रह्मविद् (वेद) ब्रह्मैव भवति" [मुं.उ.३।२।९] इति श्रुतेः- तस्येयं ब्राह्मी, स्थितिर्निष्ठा; एनां निष्ठां प्राप्य नरो न विमुह्यति पुनर्मोहं न प्राप्नोति । 'अस्यामन्तकालेऽपि स्थित्वा' इति सकृज्ज्ञाताऽपीयं फलवती, न तूपासनावच्चिराभ्याससापेक्षेत्युक्तम् । ब्रह्म ऋच्छति प्राप्नोति । किं लोकान्तरवत् गतिप्राप्यं ब्रह्म? नेत्याह— निर्वाणमिति, निर्गतं वानं गमनं यस्मिन्प्राप्ये ब्रह्मणि तन्निर्वाणम् । तथा च श्रुतिः—"न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति" [नृ.उ.उ.५;बृ.उ.३।२।११+४।४।६] इति; गतिमन्तरेण प्राणरूपोपाधिप्रविलयमात्रात् घटाकाशस्य महाकाशत्वप्राप्तिवत् । जीवस्य ब्रह्मप्राप्तिमाह—अन्तकालेऽपीत्यपिशब्दात् यो ब्रह्मचर्यादारभ्यात्र तिष्ठति स ब्रह्मनिर्वाणं कैमुतिकन्यायेन प्राप्नोतीति गम्यते । अस्याध्यायस्यार्थः संगृहीतो मधुसूदनश्रीपादैः 'ज्ञानं तत्साधनं कर्म सत्त्वशुद्धिश्च तत्फलम् । तत्फलं ज्ञाननिष्ठेवेत्यध्यायेऽस्मिन् प्रकीर्तितम्' इति ॥ ७२ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञ-मर्यादाधुरन्धर-चतुर्धरवंशावतंस-श्रीगोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकण्ठसूरिवर्यस्य कृतौ भीष्मपर्वणि गीतार्थप्रकाशे द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

---

## श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयाध्यायस्य माहात्म्यम् २ ।

श्रीभगवानुवाच—

आदिमस्यैवमाख्यानमुदीरितमनुत्तमम् ।
शृणु माहात्म्यमन्येषामध्यायानामपीन्दिरे ! ॥ १ ॥
दक्षिणस्यां दिशि श्रीमानासीदाम्नायवेदिनाम् ।
पुरे पुरन्दराह्वाने देवशर्मेति विश्रुतः ॥ २ ॥
अर्चितातिथिराम्नातो वेदशास्त्रविशारदः ।
आहर्ता क्रतुसङ्घानां तापसानां प्रियः सदा ॥ ३ ॥
देवान्सन्तर्पयामास द्रव्यैर्हुतवहे चिरम् ।
न चोपलेभे धर्मात्मा शान्तिमैकान्तिकीं ततः ॥ ४ ॥
निश्श्रेयसं स जिज्ञासुस्तापसाननुवासरम् ।
सिषेवे सत्यसङ्कल्पानन्नपरेव कल्पकैः ॥ ५ ॥
एवमाचरतस्तस्य काले महति गच्छति ।
मुक्तकर्मा ततः कश्चित्प्रादुरासीत्पुरा भुवि ॥ ६ ॥
अनुभूतो निराकाङ्क्षी नासाग्रन्यस्तलोचनः ।
शान्तचेताः परं ब्रह्म ध्यायन्नानन्दनिर्भरः ॥ ७ ॥
पादौ तस्योपसङ्गृह्य प्रणतेनान्तरात्मना ।
चकार विधिवत्तस्मै विद्वानतिथिसत्क्रियाम् ॥ ८ ॥
तं च शुद्धेन भावेन परितुष्टं तपस्विनम् ।
प्रणतः परिपप्रच्छ निर्वाणस्थितिमात्मनः ॥ ९ ॥
स तस्मै कथयामास पुरेऽसौ पुण्यनामनि ।
मित्रवन्तमजापालमुपदेष्टारमात्मवित् ॥ १० ॥
स चाभिवन्द्य तत्पादावेत्यासौ पुरमूर्जितम् ।
तस्योत्तरदिशो भागे ददर्श विपुलं वनम् ॥ ११ ॥
मरुदान्दोलितानेककुसुमामोदसुन्दरम् ।
उन्मत्तभ्रमरोद्गीतनादापूरितदिङ्मुखम् ॥ १२ ॥
तस्मिन्वने सरित्तीरे निषीदन्तं शिलातले ।
मित्रवन्तं ददर्शाथ सानन्दस्तिमितेक्षणम् ॥ १३ ॥
अपि स्वाभाविकं वैरं हित्वाऽन्योन्यं विरोधिभिः ।
सत्त्वैरावृतमुद्याने मन्दस्पन्दनभस्वति ॥ १४ ॥
शान्तेषु मृगयूथेषु दृशाऽऽनन्दमनोज्ञया ।
कृपानुविद्धया भूमिं निषिञ्चन्तमिवामृतम् ॥ १५ ॥
उपेत्य विनयेनामुमुन्मनाः प्रीतमानसः ।
किञ्चिदानम्रशिरसा तेनापि स तु सत्कृतः ॥ १६ ॥
उपतस्थे ततो विद्वान्मित्रवन्तमनन्यधीः ।
समाप्तध्यानकालं तं पर्यपृच्छत्समीहितम् ॥ १७ ॥

देवशर्मोवाच—

आत्मानं वेत्तुमिच्छामि तदमुष्मिन्मनोरथे ।
लब्धसिद्धिमुपायं मामुपदेष्टुं त्वमर्हसि ॥ १८ ॥

श्रीभगवानुवाच—
परामृश्य क्षणं सोऽपि मित्रवानिदमब्रवीत् ।॥ १९ ॥
मित्रवानुवाच—
विद्वन्विद्धि पुरा वृत्तमुच्यमानमिदं मया ।
अस्ति गोदावरीतीरे प्रतिष्ठानाभिधं पुरम् ॥ २० ॥
तत्र दुर्दमनामाऽऽसीदन्वये च मनीषिणाम् ।
तत्रास्ति विक्रमो नाम सेव्यमानो महीपतिः ॥ २१ ॥
दानानि प्रत्यहं गृह्णन्वर्तते स्वोदरम्भरः ।
कालेन कालपाशेन बद्ध्वा नीतो यमालयम् ॥ २२ ॥
निरयानभिगम्यासावावर्तत पुनर्भुवम् ।
कस्मिंश्चित्स कुले जातो दुर्वृत्तानां द्विजन्मनाम् २३
भवान्तरानुवर्तिन्याऽविद्यया स पुरस्कृतः ।
उपयेमे दुराधर्षो कन्यकामधमे कुले ॥ २४ ॥
कालेन सा वयो हित्वा शैशवं यौवनं ययौ ।
पीनस्तनी च सुश्रोणी मदविह्वललोचना ॥ २५ ॥
न सेहे पतिदौर्भिक्ष्यं चकमे सा पतीन्परान् ।
वृत्तिमाहर्तुकामेऽस्मिन्निर्गते सा पुराद्बहिः ॥ २६ ॥
सङ्गता कामुकेनासौ चिरं चाण्डालजन्मना ।
दध्रे गर्भमसौ तस्मात्सा च कन्योदपद्यत ॥ २७ ॥
सैव भार्याऽथ तस्याभूत्पूर्वपापप्रसङ्गतः ।
सा च वृद्धा ततः काले डाकिनी समजायत ॥ २८ ॥
कुसङ्गात्कुमतिर्जाता दुष्टनारीप्रसङ्गतः ।
चखाद व्याधितं व्याधमसृगास्वादलालसा ॥ २९ ॥
भ्रमन्ती विपिने घोरे जनैर्दृष्टा बहिष्कृता ।
परेतलोकमासाद्य व्याधो व्याघ्रोऽभ्यवर्तत ॥ ३० ॥
नरकान् दारुणान् भुक्त्वा जीवहिंसाप्रभावतः ।
साऽपि कालेन दुष्टात्मा मृत्युगेहमुपागता ॥ ३१ ॥
निरयानेत्य दुर्धर्षानजाऽजायत मद्गृहे ।
तामन्या अप्यहं विद्वन्पालयन्काननान्तरे ॥ ३२ ॥
अपश्य द्वीपिनं घोरं जिघृक्षन्तमिवाखिलम् ।
समालोक्य तमायान्तं भयेन प्रपलायितम् ॥ ३३ ॥
अजासङ्घं पुरस्कृत्य मया मरणभीरुणा ।
उपदुद्राव स द्वीपी पूर्ववैरमनुस्मरन् ॥ ३४ ॥
अजा तु तत्समीपेऽगात्सत्वरं सरिदन्तिके ।
तत्र सा भयमुत्सृज्य हित्वा वैरमनर्गला ॥ ३५ ॥
अवतस्थे स च द्वीपी तूष्णीमासीदमत्सरः ।
तं तथाविधमालोक्य सा वक्तुमुपचक्रमे ॥ ३६ ॥
अजोवाच—
द्वीपिन्नभीप्सितं भुङ्क्ष्व मांसमुद्धृत्य सादरम् ।
नेयं भवति ते बुद्धिः कथं चिरमसि स्थितः ॥ ३७ ॥
मित्रवानुवाच—
इत्याकर्ण्य स तद्वाक्यं प्राह द्वीपी विमत्सरः ॥ ३८ ॥
द्वीप्युवाच—
स्थानेऽस्मिन्मे गतो द्वेषः क्षुत्पिपासा च निर्ययौ ।
न ह्यर्थयामि तेन त्वामपि मे समुपस्थिताम् ॥ ३९ ॥

मित्रवानुवाच—
सैवमुक्ता पुनः प्राह जाताऽहं निर्भया कथम् ? ।
किमत्र कारणं वेत्सि यदि मे वक्तुमर्हसि ॥ ४० ॥
एवमुक्तः पुनर्द्वीपी तामाहाज्ञां न वेद्म्यहम् ।
पुरोगतमिमं प्रष्टुं महान्तमिति निर्गतौ ॥ ४१ ॥
ताभ्यामुभाभ्यामागत्य पृष्टोऽहं बहुविस्मयः ।
अहं च सहितस्ताभ्यामपृच्छं वानरेश्वरम् ।
अनुयुक्तः स विप्रेन्द्र ! ह्यब्रवीत्सादरं कपिः ! ॥ ४२ ॥
कपिरुवाच—
शृणु वक्ष्याम्यजापाल ! वृत्तमत्र पुरातनम् ।
इदमायतनं पश्य पुरो वनगतं महत् ॥ ४३ ॥
अत्र त्र्यम्बकलिङ्गं हि द्रुहिणेन प्रतिष्ठितम् ।
सुकर्मा नाम मेधावी पर्युपास्ते तपश्चरन् ॥ ४४ ॥
वनपुष्पाण्युपाहृत्य सुरपूज्यं पुरा भवम् ।
संस्नाप्य सरिदम्भोभिः केवलं कर्मणा वसन् ॥ ४५ ॥
काले महति तस्यागादतिथिः कश्चिदन्तिकम् ।
उपाहृत्य फलाहारं स चास्मै पर्यकल्पयत् ॥ ४६ ॥
तेनाऽऽतिथ्येन सम्प्रीतः सुकर्माणमभाषत ।
अतिथिरुवाच—
किमिदं कर्मणो मूलं फलं भुक्त्वा तु तिष्ठसि ।
गतानुगतया वृत्त्या किंवा केवलमीहसे ॥ ४७ ॥
कपिरुवाच—
स एवमुक्तः प्रायेण प्रीतेनाऽऽत्मविदा तदा ।
प्रत्युवाच वचः स्पष्टमात्मनो हितमुत्तमम् ॥ ४८ ॥
सुकर्मोवाच—
विद्वन्न वेद्मि तत्त्वेन फलमेतस्य कर्मणः ।
बुभुत्सया परः शम्भुः सेव्यते केवलं मया ॥ ४९ ॥
फलमेतस्य सेवायाः परिपक्वं कपर्दिनः ।
यन्मां समनुगृह्णासि संस्पृश्याऽऽत्ममनोरथान् ५०
कपिरुवाच—
तस्यैवं सूनृतं वाक्यं श्रुत्वा प्रीतस्तपोधनः ।
द्वितीयमालिलेखासौ गीताध्यायं शिलातले ॥ ५१
आदिदेश च तं विप्रं पठनाभ्यसनाय च ।
फलिष्यत्यात्मनः स्वैरं परितस्ते मनोरथः ॥ ५२ ॥
इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे धीमान्पुरतस्तस्य पश्यतः ।
विस्मितस्तस्य चाऽऽदेशात्सोऽन्वतिष्ठदनारतम् ५३
ततः कालेन महता भावितात्मा प्रसन्नधीः ।
यत्र यत्र चचारासौ शान्तं तत्तत्तपोवनम् ॥ ५४ ॥
न द्वन्द्वबाधा नैव क्षुत्पिपासा न च वा भयम् ।
तपसा तस्य जानीहि द्वितीयाध्यायजापिनः ॥ ५५ ॥
मित्रवानुवाच—
एवमुक्तश्च तेनाहं ख्यापयित्वा परां कथाम् ।
अनुज्ञातः प्रसन्नेन च्छागीव्याघ्रयुतोऽगमम् ॥ ५६ ॥
गत्वा शिलातलेऽपश्यमध्यायं लिखितं पठे ।
तस्यैवाऽऽवर्तनादासं तपसः पात्रमुत्तमम् ॥ ५७ ॥

तेन त्वमपि कल्याण! नित्यमावर्तुमर्हसि ।
अध्यायं तेन ते मुक्तिरदूरस्था भविष्यति ॥ ५८ ॥
श्रीभगवानुवाच—
देवशर्मा समादिष्टस्तेन मित्रवता स्वयम् ।
अभ्यर्च्य प्रणतो भूत्वा पुरन्दरपुरं ययौ ॥ ५९ ॥
तत्राऽऽत्मविदमासाद्य देवतायतने क्वचित् ।
वृत्तमेतन्निवेद्याऽऽदावध्यायमपठत्ततः ॥ ६० ॥
तेनाऽऽदिष्टः स पूतात्मा पठतेऽध्यायमादरात् ।
द्वितीयमाससादोच्चैर्निरवद्यं परं पदम् ॥ ६१ ॥
द्वितीयस्येदमाख्यानं कथितं शृणु साम्प्रतम् ।
तृतीयस्याथ वक्ष्यामि माहात्म्यमपि चेन्दिरे! ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये सतीश्वरसंवादे द्वितीयाध्याय-महिमकथनं नाम द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

---

## द्वितीयाध्यायस्य परिशिष्टम् ।

**श्लो. २ कुतस्त्वा कश्मल**मिति— यद्यपि 'मूर्च्छा तु कश्मलं मोहः' [अमरः २।८।१०९] इति त्रयोऽप्येते शब्दा मिथः पर्यायत्वेनोक्ताः, तथापि मूर्च्छा विसंज्ञता; मोहश्च विवेकलोप इत्यस्ति तयोर्भेदः । कोशे पर्यायोक्तिस्त्वौपचारिकी 'स्यात्किन्नरः किम्पुरुषः' [अमरः १।१।७१] इत्यादिवत् । कश्मल-शब्दस्य तूभयार्थत्वं दृश्यते । यथा— 'तत्रानिमित्ततो दैवात्सूतं कश्मलमाविशत् । तदाचचक्षे विदुरः सभायां राजसंसदि ॥ सञ्जयोऽयं महाराज! मूर्च्छितः पतितो भुवि ।' [म. भा. ५।५०।११] इत्यादिषु मूर्च्छार्थत्वम्, 'अहो नाशंससे किञ्चित् पुंस्त्वं क्लीब इवात्मनि । कश्मलेनाभिपन्नोऽसि तेन ते विकृतं मनः ॥' [म. भा. ५।७५।१७] इत्यादिषु मोहार्थत्वं च । ततोऽत्रापि मोहापरपर्यायविवेकलोपार्थत्वं युक्तमेव । **विषमपदविवरणे** तु 'कश्मलं चागतं मम' [म. भा. ४।३८।१५] इत्यत्र 'कश्मलमतिभयम्' इति विवृतम् ।

**श्लो. ३ क्लैब्य**मिति— पार्थेति सम्बोधनेन 'सुपुत्राद्य पृथा तात! त्वया पुत्रेण सत्तम!' इत्यादि 'तेन नर्तनवेषेण अपुंस्त्वेन तथैव च । वर्षमेकं विहृत्यैव ततः पुंस्त्वमवाप्स्यसि ॥' (म. भा. ३।४६।९९) इत्यन्तं पुरन्दरवाक्यमनुसन्दधानो गोविन्दोऽतीतार्थकेन 'स्म' इत्यव्ययेन 'यस्मान्मां नाभिनन्देथाः कामबाणवशं गताम् । तस्मात्त्वं नर्तनः पार्थ! स्त्रीमध्ये मानवर्जितः ॥ अपुमानिति विख्यातः षण्ढवद्विचरिष्यसि' । (म. भा. ३।४६।५०) इत्युर्वशीशापादापतितस्य क्लैब्यस्य दूरापेतत्वं प्रकाशयति, उपपादयति च तस्येदानीमर्जुनेऽनुपपन्नत्वं गोग्रहकालीनतद्विक्रमस्मारकेण 'परन्तप!' इति विशेषणेनेति ध्येयं सुधीभिः । 'स्मातीते' (३।५।१७) इत्यमरः । 'मा क्लैब्यं गच्छ कौन्तेय!' इत्यपि पाठान्तरं क्वचिद्दृश्यते । यद्यपि क्लैब्यस्यानध्यक्षत्वातदेतदानिर्देष्टुमनर्हं, तथापि तत्कार्यस्याश्रुपूर्णेक्षणत्वादेः प्रत्यक्षत्वात्तस्यापि तथात्वं बोध्यम् ।

**श्लो. ४ कथं भीष्म**मिति— ईषन्ते हिंसन्तीतीषवः । 'ईष— गतिहिंसादर्शनेषु' भ्वा. ६११ इत्यस्मात् 'ईषेः किच्च' उ. ११३ इति किदुरादेरिच । एतेन भीष्मद्रोणादिहननमेव मम विषादबीजं, न युद्धमात्रमिति सूचितं सव्यसाचिना । स्पष्टीकृतं चैतदुत्तरश्लोकेन । तेन शिरोऽस्त्रग्रहणप्रसङ्गे गुरुदक्षिणात्वेन 'ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीद्गुरुः । युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युद्ध्यमानस्त्वयाऽनघ! । तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः । उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥' [म.भा.१।१३९।१४,१५] इति द्रोणेन सह प्रतियुद्धस्य प्रतिश्रुतत्वात्, भीष्मादिभिः सह गोग्रहसमये प्रागेव कृतत्वाच्च किमिदानीं शोचसीति निरस्तम् । इदानीन्तनस्य युद्धस्य तद्वधपर्यन्तता-निश्चयेन महानर्थकरत्वात्– इति ।

**श्लो. ५ गुरू**निति— अत्र 'रुधिरप्रदिग्धान्' इति गुरूणां विशेषणम्, 'अर्थकामान्' इति भोगानाम् । तथा च 'रुधिरप्रदिग्धान्' रक्तप्रधानबलावलिप्तान्, गुरून् आचार्यान्, हत्वा तु नाशयित्वा पुनः, इहैव अस्मिञ्जन्मन्येव, अर्थकामान् अर्थकामप्रधानान् भोगान् भुञ्जीयानुभवेयम् । भोगानां धर्मार्थत्वे मोक्षार्थत्वे वा गुर्वादिहननप्रकृतिरपि कदाचित्साध्वी स्यात् । इह तु विनाऽर्थकामौ नान्यत्किञ्चित्सम्भवतीति युद्धादुपरम एव श्रेयान् भवतीति केचिद्व्याचक्षते ।

यद्यपि 'न भैक्षं क्षत्रियश्चरेत् ।' [म. भा. ५।७३।३] इति भवतो मतम्, तथापि गुरुहननलब्धराज्यापेक्षया तदप्यस्माकं श्रेयः पूर्वमङ्गीकृतत्वात् । तथा ह्युक्तम्– 'एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः । चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते!' ॥ [म. भा. १।१५७।४] इति 'सोऽयं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ । भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥' [म. भा. १।१९२।३] इति च । अयं भावः– गुरुहननेन स्वधर्मपालने परलोके श्रेयः स्यान्न वेति सन्देह एव । धर्मतत्त्वस्य दुर्ज्ञेयत्वात्, परलोकस्याप्रत्यक्षत्वाच्च । रुधिरप्रदिग्धत्वात् हृदयदाहिभोगप्राप्तिस्त्विहैव प्रत्यक्षा, अकीर्तिसम्भवश्च । गुरूनहत्वा भैक्षचरणे तु लोके नाकीर्तिर्भवति, किन्तु सौजन्यजन्यं यश एव विजृम्भत इत्यनुभूतमेव । अतो 'दृष्टादृष्टयोः समवाये दृष्टं बलीयः' इति न्यायेनेह लोके सुकीर्तिकरं भैक्षमेव श्रेयः परलोकफलप्रदस्वधर्मपालनापेक्षयाऽपि–इति ।

**श्लो. ६ न चैत**दिति— वयमेतान् जयेम, एतन्नो गरीयः, ते वाऽस्मान् जयेयुरेतद्गरीयः— एतन्न विद्मः । अस्माकं जयः श्रेयानुत तेषामिति न निश्चीयत इत्यर्थः । ननु जयस्य गरीयस्त्वं निर्विशङ्कमेव, तत्र किं सन्देक्षि? इत्यत आह— **यानेवे**ति । अयमभिप्रायः— यद्यस्माकं जयः स्या-

त्तर्हि प्रथमं तेषां नाशः सिद्ध एव । अनन्तरं चास्माकमपि तान्हत्वा जीवितुमनिच्छतां भविष्यतीति सर्वकुलनाशप्रसङ्गः । तेषां जये तु केवलमस्माकमेव नाश इति कुलार्द्धमप्यवशिष्येत, गुर्वादिहिंसा च नो न स्यादिति तेषां जयस्यैव कुतो न गरीयस्त्वम्? इति ॥ ॥ जयपराजयविषयकसन्देहपरत्वेन व्याख्यानं तु पूर्वश्लोके श्रेयस्त्वेन निर्द्धारितस्य भैक्ष्यभोजनस्य पुनः सन्देहविषयत्वायोगात्, उत्तरार्द्धस्वारस्यभङ्गाच्च न युक्तम् ॥ ॥ किञ्च पार्थस्य स्वपराजयशङ्कायां कृपावेशो न सङ्गच्छते, प्राचीनेषु तपस्तोषितत्रिपुरारिपुरन्दरदिगीशादिवचनेषु इदानीन्तनेषु 'ध्रुवो जयः पाण्डवानामिति मे निश्चिता मतिः । ' [ म. भा. ४।१५७।३१] इति हलधरादिवाक्येषु प्रत्यग्रलब्धे 'स्वल्पेनैव तु कालेन शत्रूञ्जेष्यसि पाण्डव !'। [ म. भा. ६।२३।१८ इति भगवतीवरे चास्याविश्वासः प्रसज्जते, 'नास्मि भीतो महाबाहो ! सहायार्थश्च नास्ति मे ' [ म. भा. ५।१५८।३५] इत्यादिना रुक्मिप्रत्याख्यानं च नोपपद्यते, भवति च 'हन्यामेकरथेनैव वासुदेवसहायवान् । सामरानपि लोकांस्त्रीन् सर्वान् स्थावरजङ्गमान् ॥ ' [ म. भा. ५।१९४।१० ] इति तत्प्रतिज्ञायाः प्रलापमात्रमिति न तथा वर्णयितुं शक्यम् । उक्तं चानेनानुपदमेव 'धनञ्जय ! कथं शक्यमस्माभिर्योद्धुमाहवे । ' इति पृष्टवते युधिष्ठिराय सावष्टम्भं 'ध्रुवोऽस्माकं रणे जयः । ' [ म. भा. ६।२१।१२ ] इति ॥ ॥ न च मोहाभिभूतत्वेन इदानीं तथा शशङ्क इति वाच्यम्, तन्मोहस्य तादात्विककर्तव्यमात्रविषयकत्वात् । अन्यथा सर्वमपि तद्भाषणमुन्मत्तप्रलपितकल्पं स्यात् । तत्तु प्रज्ञावादत्वेनाभ्युपगतं भगवताऽपीति यथोक्तमेव ज्यायः । व्याख्यातं चैवमेव **वामने**नापि ।

**श्लो. ७ कार्पण्येति**— अत्रार्जुनः 'सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय ' इति स्वशुद्धात्मस्वभावनियतं साम्यमधिष्ठायैव युद्धाय प्रवृत्तोऽपि सञ्जातसमुपस्थितस्वबान्धवमहनीयाचार्यजनभावसमुन्मीलितप्राकृतभावदृष्ट्या विनष्टस्वशुद्धात्मस्वभावस्वरूपविज्ञानः सन्निधौ भगवतः 'सीदन्ति मम गात्राणि' इत्यारभ्य 'त्वक्चैव परिदह्यते' [ १।२८,२९ ] इत्यन्तैः स्वस्वरूपविज्ञापनपरैः षड्भिर्वाक्यैः स्वात्मस्वभावस्वरूपविज्ञानाभावम् १, ततः ' न च शक्नोम्यवस्थातुम् ' [ १।३० ] इत्येकेन स्वनियतकर्मानुष्ठानत्यागलक्षणां स्वाधिकारच्युतिम् २, ततः ' भ्रमतीव च मे मनः' इत्येकेन स्वदुष्टेन्द्रियविजृम्भणम् ३, ततः 'निमित्तानि च पश्यामि' इत्येकेन स्वनानाभावसन्दर्शनविनष्टशुद्धात्मस्वभावस्वरूपविज्ञाननिदानं भ्रमम् ४, ततः ' न च श्रेयोऽनुपश्यामि ' इत्यादि 'न चैतद्विद्मः' [ २।६ ] इत्यन्तैः स्वाशयविज्ञापनपरैश्चतुर्भिः स्वनियतानुष्ठेयसंसारव्यवसायधर्माधर्माविवेकं च विज्ञाप्य पुनः स्वविज्ञापितस्वस्वरूपपञ्चकपरिणामलक्षणं स्वरूपं विज्ञापयति 'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः' [ २।७ ] इति । ततश्च सोऽयमर्जुनः स्वनियतानुष्ठेयसंसारव्यवसायप्रतिबन्धकस्वशुद्धात्मस्वभावस्वरूपविज्ञानाभावलक्षणस्वार्थाग्रहदोषनिवर्तकदर्शनशिक्षाया एव ' शिष्यस्तेऽहम् ' इत्यात्मानमावेद्य सर्वलोकाचार्यं भगवन्तं वासुदेवं शरणमुपजगाम ।

अत एवाधिकारिणां सर्वेषां सति स्वार्थाग्रहदोषे ज्ञानाचार्यशरणागतिरेव मुख्येति भगवता गीतायां स्वशुद्धात्मस्वभावस्वरूपप्रयोजनसाम्यलक्षणज्ञानयोगनियतकर्मानुष्ठानात् तदभावप्रयोजनवैषम्यलक्षणज्ञानयोगनियतकर्मानुष्ठानस्यावरत्वम्, तदनुष्ठाननिदानस्वार्थाग्रहदोषनिवृत्तये परमहंसलक्षणज्ञानाचार्यविषयकशरणागतेर्मुख्यत्वम्, तदनुष्ठानपराणां चाधिकारिणां फलतृष्णावत्त्वेन कृपणत्वं च 'दूरेण ह्यवरं कर्म' [२।४९] इत्यादिनोपदिष्टमिति विज्ञायते— इति **हंसयोगी** ।

**श्लो. ९ तूष्णीं बभूव** हेति— अत्र केचित्— एतदन्तो ग्रन्थो गीतोपदेशनिदानीभूतपार्थव्यामोहप्रदर्शनरूपविषयैक्यात् युद्धादुपरमोपपादकार्जुनवचनप्रधानत्वाच्च पूर्वाध्याय एवान्तर्भावमर्हति । ' अर्जुनविषादयोगः ' इति प्रथमाध्यायसमाख्याप्यस्य तदवयवत्व एव स्वारस्यं भजते ' कथं भीष्ममहं ' [ २।४ ] इत्यादिनाऽत्राप्यर्जुनेन स्वविषादप्रदर्शनात् । उक्तं च सञ्जयेन— ' सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तं ' इति । प्रकृते त्वध्यायविभागेऽर्जुनवचसः समाप्तपुनरात्तता, द्वितीयाध्यायोपक्रमस्योपसंहाराननुरूपता च प्रसज्यते । अतोऽत्रैव प्रथमाध्यायसमाप्तिं विधाय ' सञ्जय उवाच . तमुवाच' इत्यादिना द्वितीयोऽध्याय आरम्भणीय इति वदन्ति । प्रदर्शयन्ति च **हंसयोगि**भाष्यानुकूल्यम्; तदयुक्तम् । प्रथमाध्यायगतस्यात्रत्यस्य चार्जुनवचसो भिन्नरूपत्वात् । तत्र ह्यसौ स्वाशयं सिद्धान्तरूपेणैवोपन्यास्थत्, न प्रश्नरूपेण । न हि तत्र रणादुपरमस्यायुक्तत्वशङ्कालेशोऽप्यस्य चेतसि पदमधत्त । अत्र तु परमाप्तेनापि भगवताऽरुन्तुदैः पदैरवभर्त्सितः स्वव्यवसायस्यौचित्ये सन्दिहानोऽसौ कर्तव्यजिज्ञासया तमेव भगवन्तं पृच्छन्नेव स्वमतमन्ववददिति व्यक्तं वैषम्यम् । अर्जुनस्य विषादप्राप्तिश्च प्रथम एवाध्याये चापोत्सर्गपूर्वकरथोपस्थोपवेशनरूपफलपर्यन्तोपवर्णिताऽत्रानूद्यते, न त्वपूर्वा वर्ण्यत इति न तत्रान्तर्भावोऽस्य ग्रन्थस्यावश्यकः । द्वितीयाध्यायस्य 'पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः' [ २।७ ] इत्याद्युपक्रमोऽप्ययं ' एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ' [ २।७२ ] इत्युपसंहारानुगुण एवेति नास्मिन्नध्यायविभागे दर्शितदोषाणामवसरः ।

प्रत्युत सपरिकरं स्वकर्तव्यत्यागरूपफलपर्यन्तं पार्थस्य व्यामोहं प्रदर्श्य, तत्प्रश्नाभावेन प्रतिवचनेऽसम्भवत्यध्यायसमापनम्, ततः परमहितैषिकृष्णकृतमवसरोचितं तद्व्यवसायनिषेधम्, तच्छ्रवणेन 'एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि' [ १।३५] इति निश्चयस्य सन्देहसोपानावतरणम्, तदनुरूपं च ' कथं भीष्ममहं ' [२।४] इत्यादिप्रश्नमुपवर्ण्य तत्प्रतिवचनतया 'साधु आगतोऽसि मार्गेण' इत्यभिप्रायेण 'प्रहसन्निव हृषीकेश उवाच' [२।१०] इति भगवदुपदेशोपक्रमवर्णनं च नितान्तं समुचितं विहितं महर्षिणेति यथावस्थित एवाध्यायविभागो मर्मविदां मनोहरः ।

किञ्च शोकसंविग्नमानसतया सशरं चापमुत्सृज्य रथोपस्थ

उपविष्टस्यार्जुनस्य शोकावेगापगमार्थं किञ्चित्कालप्रतीक्षणमेव तत्सुहृदः परमदयालोर्भगवतः समुचितम्, न तु सहसैव कठोरैः पदैस्तदवभर्त्सनम्। तच्च तत्राध्यायं समापयता सुव्यञ्जितं सहृदयसार्वभौमेन सत्यवतीसूनुनेति दरमुकुलितनयनं विभावनीयं सुधीभिः। **हंसयोगि**पाठस्तु सर्वात्मना भिन्न एवेति नात्र तदवलम्बो युक्त इत्यलमप्रकृतेन।

**श्लो. १० तमुवाचेति**— यदि पार्थः स्वधर्ममजानन् युद्धमधर्मं मन्यते, तर्हि नियतं हास्यः स्यात्। अत्र त्वसौ स्वकर्तव्यं विदन्नपि सकलबुद्धिप्रेरकेण परमहितैषिणा ब्रह्मविद्यामुपदिदिक्षता मयैव मे हितमतिरित्थं चेष्टत इति कथं हास्यः? इति मन्वानोऽपि माधव 'अर्जुनः मम मौर्ख्यमालोक्यैवायमुपहसतीति यथा प्रत्येति तथोवाच' इतीव पदभावं विवृण्वते केचित्। एवं प्रेरकत्वेऽपि भगवतो वैषम्याद्यभावस्तु 'न कर्तृत्वं न कर्माणि' (५।१४) इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते।

**उभयो**रिति— उभिः क्षत्रियैः भा दीप्तिर्ययोः क्षत्रियप्रधानयोरित्यर्थः। 'उकारः क्षत्रिये नेत्रे हरमौलौ हरे हरौ।' ति रत्नकोशः। एतेन 'वृथाऽकुलसमाचारैर्न युद्ध्यन्ते नृपात्मजाः।' [ म. भा. १।१३६।३२ ] इत्येतदपि युद्धादुपरमकारणमत्र न सम्भवतीति द्योत्यते। उभयोर्ज्ञानाज्ञानयोर्मध्ये विषीदन्तं सेनयोर्मध्ये उवाचेति केचित्। अत्र प्रहासः परिहास एवं नोच्चैर्हासः 'प्रहासे च मन्योपपदे—' [ अष्टा. १।४।१०६ ] इत्यादौ तथार्थदर्शनात्, उच्चैर्हासस्यानुचितत्वाच्च।

**श्लो. ११ अशोच्यानिति**— यत्तु— 'गतानगतान्वा प्राणान्नानुशोचन्ति' इति **नव्यै**र्व्याख्यातम् तत् गतत्वागतत्वयोरिह वृत्तौ गुणीभावेनाविमृष्टविधेयांशदुष्टत्वात्, केवलप्राणानां केनापि शोच्यत्वाभावाच्च तुच्छमेव।

'अशोच्यान्' इति श्लोकात्पूर्वं 'त्वं मानुष्येणोपहतः' इत्यादिः कोऽपि श्लोकोऽधिकः पठ्यत इति अभिनवगुप्तव्याख्यानात् प्रतीयते।

**श्लो. १४ मात्रास्पर्शास्त्विति**—

अत्र स्पर्शशब्दः 'तत्त्वेन स्पर्शसम्मूढः संसारं प्रतिपद्यते।' [ भाग. ११।२२।५० ] इत्यादाविव विषयवाचकः। दृष्टश्चात्राप्येतच्छ्लोकसच्छाये 'ये हि संस्पर्शजा भोगाः' [ ५।२२ ] इति श्लोके 'बाह्यस्पर्शेषु' [ ५।२१ ] 'बाह्यान् स्पर्शान्' [ ५।२७ ] इत्यत्र च विषयार्थे तस्य प्रयोगः। तत्समभिव्याहारबलेन चानेकार्थस्य मात्राशब्दस्य करणव्युत्पत्त्या इन्द्रियपरत्वमवधार्यते, यथा— "मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति" [ बृ. उ. माध्यं. ४।५।१४ ] इति श्रुतौ। अस्यात्मनः, मात्राभिर्भूतेन्द्रियादिभिः, असंसर्गो भवति संयोगाभावः सम्पद्यते। इन्द्रियादिसंयोगाभावेन चास्य मरणोर्ध्वं 'अयमहम्, अयं मम पुत्रः' इत्यादिविशेषविज्ञानं न भवतीति श्रुतेरर्थः। अन्ये तु— 'मीयन्त इति मात्रा विषयाः' इति विवृण्वते। तेषां 'वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं ...' [ ७।१५।४१ ] 'मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः।' [ १०।६०।५३ ] इति च भागवतम्। 'मात्रासङ्गाद्विनिर्गतः।' [ म. स्मृ. ६।५७+व. ध. सू १०।१६ ] इत्यस्य माधवीयं व्याख्यानं चानुकूलम्। परं यद्भगवत्पादीयं व्याख्यानं दूषयता माध्वेन मात्राशब्दस्य विषये रूढत्वमुक्तम्, तत्साहसमात्रम्। तस्य तत्र तत्र नानार्थेषु प्रचुरं प्रयोगदर्शनात्। तथा हि— "प्र मात्राभी रिरिचे" [ ऋक्सं. ३।३।१० ] इति मन्त्रे— शिलोच्चयेषु ॥ 'अमात्रं त्वा—' [ ऋक्सं. १।७।१५ ] 'परो मात्रया तन्वा—' [ऋक्सं. ५।३।२४] 'परो मात्रमृचीषमं' [ऋक्सं. ६।५।२] इत्यादिषु — इयत्तायाम् ॥ 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' [ बृ. उ. ४।३।३२ ] इति— कलायाम् ॥ न मात्रामनुरुद्ध्यन्ते-' [ म. भा. १२।२७१।१२ ] इति— बुद्धौ ॥ 'मात्राशी स्यात्' [ च. सं. सू. स्था. ५।१ ] इति— अल्पे परिमाणे वा ॥ 'मात्रासङ्गात्—' [ म. स्मृ. ६।५७ ] इत्यपरार्कमतेन— उपकरणद्रव्ये ॥ 'अण्व्यो मात्रा—' [ म. स्मृ. १।२७ ] इति— तन्मात्रेषु ॥ 'मात्रास्वप्रत्ययसन्धाने नष्टस्य पुनरुत्थानम्' [ शि. सू. ३।२४ ] इति पदार्थेषु ॥ एवं 'मायाद्यवनिपर्यन्ततत्त्वग्रामकलास्तु याः। ता मात्राव्यक्तयो याश्च प्रतितत्त्व स्वगोचरे ॥' [ शि. सु. वा. ] इत्याद्यनुसन्धेयम्। अस्माभिस्तु भगवत्पादाभिमतस्यार्थस्य प्रागेव समाहितत्वादप्रस्तुतमति प्रपञ्च्यते तत्।

**नव्यास्तु**—'शीतोष्णसुखदुःखदा य इमे मात्राणां बाह्यस्थ्यन्तर्गतपदार्थानामिन्द्रियैः संयोगास्त उद्भवविनाशशीलाः, अतोऽनित्याः' इति व्याचक्षते। तत्र 'तैजसमन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते—' वे. प. १ इत्यादिप्रक्रियाविरोधात्, 'मात्रास्पर्शाः' इत्यस्य 'शीतोष्णसुखदुःखदाः' इत्यस्य च विशेष्यविशेषणभावो न सङ्गतः; अतस्तयोरुद्देश्यविधेयभावाभ्युपगमेन प्राचां व्याख्यानमेवानवद्यम्।

**श्लो. १८ अत्र नव्यगृह्याः**— 'न योत्स्ये—[२।९] इति वाक्येनार्जुनस्य युद्धप्रवृत्तिलोपावगमादत्र तस्याप्राप्तमेव युद्धम्। अतस्तत्र तत्प्रवर्तकमिदं भगवद्वचनं विधित्वेनैव स्वीकर्तुमुचितम्—' इत्याहुः। तदविचारविजृम्भितम्; युद्धस्य वर्णधर्मविधायकशास्त्रेणैव प्राप्तत्वात्, तत्र प्रवृत्तस्याप्यर्जुनस्य तत उपरतेः शोकमोहमूलकत्वेन आप्तोपदेशजन्यविवेकादिना तद्बाधे 'अपवादापवादे उत्सर्गस्य स्थितिः' इति न्यायेन युद्धप्रवृत्तेर्निर्बाधत्वाच्च। यदपि— अत्रात्मतत्त्वप्रतिपादनेन मोक्षफलकवस्तुप्रतिपादनप्रकरणत्वावगमात् तत्र स्वधर्मत्वेन विहितस्य युद्धस्य प्राकरणिकमोक्षफलसम्बन्धप्रतीतेरेकत्र फले भिन्नव्यापारकं साधनद्वयस्य समुच्चयौचित्याज्ज्ञानकर्मसमुच्चयः सिद्ध्यतीति—मन्यन्ते, तदाशामोदकाशनमात्रम्। शब्दतो मोक्षफलोद्देशेनात्राविधानात्, 'युद्ध्यस्व' इत्यस्याभ्यनुज्ञामात्रत्वव्यवस्थापनेन प्रागभिसन्धिविषयफलसम्बन्धस्य तत्र प्रतीतेर्मोक्षफलसम्बन्धाभावाच्च।

**श्लो. ३९ एषेति**—'साङ्ख्यशब्दस्य योगरूढतयाऽत्र साङ्ख्यशब्देन साङ्ख्यशास्त्रमेव ग्राह्यम्, न पुनरर्थान्तरं कल्पनीयम्'— इति वि-

ज्ञानभिक्षुः। तन्न विचारसहम् , अत्रैतच्छब्देनानुपपदमुपदिष्टस्यात्मानात्मविवेकस्यैव परामर्शेन साङ्ख्यशास्त्रस्याप्रस्तुतत्वात् , उपनिषन्मूले गीताशास्त्रे तद्विरुद्धसाङ्ख्यदर्शनानुयानकल्पनाया अन्याय्यत्वाच्च । अत्र नव्यपक्षपातिनः केचिद्वदन्ति— यदत्र भगवत्पादैः कर्मयोगस्य ज्ञानप्राप्त्युपायत्वमभिहितम् , तत्तेषां कल्पनामूलमेव; न गीतायाः सम्मतम् । ज्ञानेनैव फलाभिसन्धिरहितेन कर्मणाऽपि साक्षान्मोक्षः सिद्ध्यति, तत्रापि 'कर्मयोगो विशिष्यते' [५।२] इति तत्सिद्धान्तात्— इति । तदयुक्तम् ; गीतायाः स्मृतित्वेन तन्मूलभूतोपनिषच्छ्रुतिसिद्धान्ताविरोधेनैव तदर्थस्य नेयत्वात् । आकरे **महाभारते** च ' शरीरपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः । कषाये कर्मभिः पक्के रसज्ञाने च तिष्ठति ॥ आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम् । अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा ॥ पन्थानो ब्रह्मणस्त्वेते एतैः प्राप्नोति यत्परम् । ' [म.भा. १२।२७०।३८-४०] इत्यादौ कर्मणो ज्ञानप्राप्त्युपायत्वस्य व्यक्तमुक्तत्वेन तत्प्रकरणीभूतायां गीतायामपि तथैवाङ्गीकारस्य समुचितत्वाच्च । 'भवतु नामान्यत्र तथा; गीताशास्त्रे तु न किञ्चिदपि तथाविधं प्रमाणमस्ति'— इति जल्पनं तु धूलिप्रक्षेपमात्रम् । 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।' [५।६] 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते । [६।३] इत्यादौ कर्मणो ज्ञानसाधनत्वस्य स्पष्टमुक्तत्वादिति ।

**श्लो. ४२ यामिमा**मिति ।

पुष्पितामिति पदं प्रयुञ्जता व्यञ्जितं किमपि यद्गदाभृता ।
**वामनो**क्तिमनुसृत्य तन्मया किञ्चिदत्र विशदं प्रदर्श्यते ॥
कर्मैव वल्ली, सुमधु प्रसूनं स्वर्गादि, मोक्षश्च फलं तदीयम् ।
पक्के फले शुष्यति वीरुदत्र बोधे प्रजाते लयमेति कर्म ॥
उदेति पूर्वं कुसुमं लतायां फलं च पश्चादिति निश्चितोऽर्थः ।
फलेच्छुना नैव परं विचेयं प्रसूनमेतत्प्रथितं जनेषु ॥
अमृष्यमाणाः समयातिपातं लुनन्ति बालास्तदपि प्रसूनम् ।
न त्वेतदेषामुपदेष्टुरिष्टं पितुर्लतां रोपयितुं फलार्थम् ॥
प्रवृत्तिमाधातुमथापि तेषां पिता लतारोपणकर्मणीह ।
शाशंस्ति पुष्पाण्यपि तत्प्रियाणि फलाप्तिमूलान्यनुसन्दधानः॥
आप्तोऽपवर्गाख्यफलं तथाऽऽप्तुं वेदोऽपि कर्माण्युपदेदिशीति।
मोक्षः प्रबोधात्स च चित्तशुद्ध्या वैधेन सा सिद्ध्यति कर्मणेति॥
प्रवर्तनार्थं च नृणाममुत्र स नाकलोकप्रमुखान्सुभोगान् ।
आपातरम्यानपि तोष्टवीति वाचा यया सा खलु पुष्पिताख्या॥
कृत्वा व्रजेयुर्नरकाणि पापं ततो वरं स्वर्गसुखं जुषन्ताम् ।
मत्वेति तच्छ्लाघत एष वेदो विवक्षितोऽत्रास्य तु मोक्ष एव ॥
केचित्पण्डितमानिनोऽविदिततद्गूढाशयाः कर्मणां
स्वर्गायेव फलं विदन्ति परमं लब्धुं यतन्ते च तत् ।
पुष्पं केवलमेव तत्र तु फलं तत्स्ताविका वागतः
सम्प्रोक्ता हरिणा बुबोधयिषुणा तत्त्वं परं 'पुष्पिता'॥इति ।

उपबृंहितश्चायमर्थो भागवते— [ ११।२१।२६ ]

'एवं व्यवसितं केचिदविज्ञाय कुबुद्धयः ।
फलश्रुतिं कुसुमितां न वेदज्ञा वदन्ति हि ॥
कामिनः कृपणा लुब्धाः पुष्पेषु फलबुद्धयः'— इति ।

**श्लो. ४४ भोगे**ति— विपूर्वस्य धाञः करोतिसमानार्थत्वात् 'विधीयते' इत्यस्य क्रियत इत्यर्थः स्यात् , कर्तव्यत्वेन ज्ञापनार्थकत्वे च कर्तव्यत्वेन ज्ञाप्यत इत्यर्थः स्यात् ; तस्य चोभयस्य सर्वस्यैव सदैव कृत्यविषये बुद्धिस्वरूपेऽभावात् षष्ठ्यन्तोपादानमनर्थकं स्यादित्यत आह **मधुसूदनसरस्वती**— ' विधीयत इति कर्मकर्तरि लकारः ' इति । तथा च करोत्यर्थकस्य तस्य कर्म घटादिकम् , तस्यैव सौकर्यद्योतनाय कर्तृत्वेन विवक्षायां, कर्मणो घटादेरेव व्यापारो धातुतात्पर्यविषयः पर्यवस्यति । स च भवनमेव । तदाश्रयत्वमेव कर्तृत्वमिति घटो विधीयत इत्यस्य स्वयमेव घटो भवतीत्यर्थः पर्यवसितो भवति— इति **गूढार्थतत्त्वालोकः** ।

**श्लो. ४५ त्रैगुण्ये**ति— केचिदमुं श्लोकमखिलगीतासुरतरुबीजभूतं मन्यन्ते । तथा हि— प्रथममुपोद्घातत्वेन किञ्चित्साङ्ख्ययोगं प्रतिपाद्य 'नेहाभिक्रमनाशः' [२।४०] इत्यादिनोपक्रान्तबुद्धियोगाङ्गत्वेनात्र निर्द्वन्द्वत्व– निस्त्रैगुण्यत्व– नित्यसत्त्वस्थत्व–निर्योगक्षेमत्वात्मवत्त्वरूपं गुणपञ्चकमुपदिश्यते । तत्र निर्द्वन्द्वत्वस्पष्टीकरणार्थं तृतीयोऽध्यायः प्रवर्तते । निस्त्रैगुण्यबोधनार्थं चतुर्थः, नित्यसत्त्वस्थत्वज्ञानार्थं पञ्चमः, निर्योगक्षेमत्वसिद्ध्यर्थं षष्ठः, आत्मवत्त्वसिद्ध्यर्थं सप्तमः, तदन्त आत्मवत्त्व उपदिष्टायाः षट्प्रकारकोपासनाया ब्रह्माध्यात्माकर्माधिभूताधिदैवाधियज्ञाख्यप्रकारविवेकायाष्टमः, तत्र अधियज्ञस्वरूपोपासनज्ञानार्थं नवमः, अधिदैवस्वरूपज्ञानार्थं दशमः, अधिभूतस्वरूपज्ञानार्थमेकादशः, अध्यात्मज्ञानार्थं द्वादशः, कर्मज्ञानार्थं त्रयोदशः, कर्मणो बन्धकत्वाबन्धकत्वे गुणायत्ते इति ज्ञानार्थं चतुर्दशः, ब्रह्मस्वरूपज्ञानार्थं पञ्चदशश्च । अत्रैव गीतासमाप्तिः ॥ षोडशाद्यध्यायत्रयं तु **परिशिष्टरूपम्** । तत्र सप्तमनवमयोरध्याययोः सूचितदैवासुरसम्पत्स्वरूपज्ञानार्थं षोडशः, कर्मज्ञानरहस्यविवेचनार्थं सप्तदशः, उपसंहाररूपश्चाष्टादशः । एवं सकलगीताशास्त्रसङ्गतिरिति । अस्य युक्तायुक्तता ध्येया सुधीभिः ।

**श्लो. ४६ यावा**निति । **मध्वमतानुवर्तिनी**— ननु यथा सकामानां समाध्यभावेन ज्ञानाभावान्मोक्षो न भवति, तथा निष्कामाणां ज्ञानिनां स्वर्गफलं न भवतीति साम्यमेवेत्यत आह— **यावा**निति । यथातथाशब्दावध्याहार्यौ । यावांस्तावानित्येतयोरावृत्तिः । यथा यावानर्थः प्रयोजनमुदपाने कूपे भवति, तावान् सर्वतः सम्प्लुतोदके भवत्येव ; तथा सर्वेषु वेदेषु काम्यकर्मिणां यत्फलं तद्विजानतो ज्ञानिनो ब्राह्मणस्य फलेऽन्तर्भवति । ब्रह्म अणति इति ब्राह्मणः– अपरोक्षज्ञानी । स हि ब्रह्म गच्छति । अपरोक्षज्ञानसाधनं दर्शयति— **विजानत इति** । अथवा— त्रैगुण्यनिवृत्त्यर्थं वेदाश्रयणं कार्यमित्यत्र हेतुमाह— **यावा**निति । सर्वतः सम्प्लुतं व्याप्तमुदकं यस्मिन् प्रलये स सर्वतः सम्प्लुतोदकः । ' प्रकृतिर्ह्युदरूपेण सर्वमावृत्य तिष्ठति । प्रलयेऽतो लयं प्राहुः सर्वतः सम्प्लुतोदकम् ' इति वचनात् । तस्मिन्प्रलयेऽप्युद्रिक्तत्वात्, पालकवर्जितत्वात्, कालाद्यखिल-

चेष्टकत्वात्, उदपानो विष्णुः । 'उद्रेकात्पातृराहित्यादनन्त्वादखिलस्य च । प्रलयेऽप्युदपानोऽसौ भगवान्हरिरीश्वरः ।' इति वचनात् । तस्मिन्प्रलये यावत्फलं तावत्सर्ववेदेषु विशेषज्ञानी यः तस्यैव भवतीत्यर्थः । उक्तं च— 'यावत्प्रयोजनं विष्णोः सकाशात्साधकस्य तु । धर्ममोक्षादिकं तावत्सर्ववेदविदो भवेत् ॥ वेदार्थनिर्णयो यस्माद्विष्णोर्ज्ञानं प्रकीर्तितम् । ज्ञानात्प्रसन्नश्च हरिर्यमोऽखिलफलप्रदः ॥' इति ॥

**नव्यास्तु**— अध्याहारपरिहारकौशलं दर्शयन्तः 'सर्वतः सम्प्लुतोदके सति उदपाने यावानर्थः— न स्वल्पमपि प्रयोजनं विद्यते, तावान् विजानतः ब्राह्मणस्य सर्वेषु वेदेषु' इत्यन्वयेन व्याचक्षते । प्रदर्शयन्ति च— 'यथोदपाने महति सर्वतः सम्प्लुतोदके । एवं सर्वेषु वेदेषु आत्मानमनुजानतः' [म. भा. ५।४६।२६] इति श्लोकव्याख्यानस्य कस्यचिदव ष्टम्भम् । परं तेषां कारकदोषः, 'यावानर्थः' इत्यस्याशाब्दार्थकल्पनाक्लेशश्चापततीति सरस उत्तीर्य सागरे पतनमेव तत् ।

**श्लो. ४८ योगस्थ** इति— एतदनन्तरम्— 'यस्य सर्वे–' इत्यादिः कश्चन श्लोकोऽधिकः पठ्यते, कैश्चिदित्यभिनवगुप्तव्याख्यानाज्ज्ञायते ।

**श्लो. ५२ यदेति**— इम श्लोकमेवमवतारयामास **वामनः**—

अनादिवासना तद्वद्द्वितीया भोगकामना ।
उभयोर्लक्षणे सम्यगवधार्ये मनीषिभिः ॥
क्षुधितोऽन्नं नाद्यमानः पृष्टोऽमृतमपेक्षते ।
न वा किं ते मन ? इति ब्रूयान्नेति न संशयः ॥
मत्वाऽसाध्यां सुधां चेतस्तदीयं तां न वाञ्छति ।
यत्नेन लभ्यमशनं ज्ञात्वा तत्स्फुटमीहते ॥
लभेत यदि पीयूषं पास्यत्येव स तद्ध्रुवम् ।
असाध्यमित्येव ततस्तदसावन्नमिच्छति ॥
तत्र याऽन्नस्य साध्यस्य लिप्सा सा कामना भवेत् ।
असाध्यमित्यनुद्भूता पीयूषेहा तु वासना ॥
श्रूयन्ते ये बहुविधा भोगाः पुण्येन ते दिवि ।
साध्या इत्यवधार्याऽत्र कामना तेषु जायते ॥
विधायाध्वरं नाकलोकं व्रजेम
प्रपीयामृतं स्ववर्धूभिर्ललेम ।
नरा वेदवादेष्विति श्रद्दधानाः
श्रुतानि श्रुतौ कामयन्ते फलानि ॥
यद्यश्रुतान्यपि फलान्यपराणि काम-
माकर्णयेयुरिह तान्यपि तेऽर्थयेरन् ।
यद्वासनामुकुलमात्तविकासमन्त-
स्तत्कामना कुसुमतां हि तदोपयाति ॥
विदितस्य फलस्यैवं लिप्सा स्यात्कामनाभिधा ।
वासनाऽन्या च ते नैव स्पृशतो ज्ञानिनो मनः ॥
जीवन्मुक्तदशा सेयमेतत्सिद्धयर्थमच्युतः ।
पार्थमुद्दिश्य कृपया × × × वक्ति श्लोकमिमं स्वयम् ॥

**श्लो. ५९ विषया** इति— अत्र **ज्ञानदेवस्तु**—

आकर्णयापरमिदं कुतुकं किरीटिन् !
यत्साधका नियमतो विषयांस्त्यजन्ति ।
यच्छन्ति चेन्द्रियगणं न परं रसज्ञां
तेऽमीभिरेव विषयैः कवलीक्रियन्ते ॥
छित्वा तरोर्यदि शिखाः सलिलैर्निषिञ्चे-
न्मूलं भविष्यति तदा कथमस्य नाशः ? ।
तिर्यक्शिफं स हि समेधत एव तद्वत्
ह्यृध्नुवन्ति विषया रसनाबलेन ॥
त्यागेन यान्ति कृशतां विषयाः किलान्ये
न त्यज्यते तु रसनाविषयो हठेन ।
यज्जीवनं जनिमतामिह स प्रसिद्ध-
स्त्यक्त्वा च जीवति न तं हि शरीरमेतत् ॥
परं तत्परमं ब्रह्म यदा पार्थानुभूयते ।
रसोऽप्यसौ तदाऽयत्नात्साधकेन नियम्यते ॥
विस्मरन्ति हृषीकाणि विषयानखिलानपि ।
देहभावाश्च नश्यन्ति ब्रह्मास्मीति मतिर्यदा ॥

—इति भावार्थमाह । स च संवदतीव—

'इन्द्रियाणि जयन्त्याशु निराहारा मनीषिणः ।
वर्जयित्वा तु रसनं तन्निरन्नस्य वर्द्धते ॥
तावज्जितेन्द्रियो न स्याद्विजितान्येन्द्रियः पुमान् ।
न जयेद्रसनं यावज्जितं सर्वं जिते रसे ॥'–

–इति भागवतेन [११।८।२०,२१] परमत्र रसशब्दस्य रागवाचित्वमेव सन्दर्भस्वरसानुगुणमित्यतिरोहितमेव प्रेक्षावताम् । उक्तं च भगवता **शाण्डिल्येन** अत्रत्यमेव रसशब्दमधिकृत्य भक्तिमीमांसायाम्— 'रसशब्दाच्च रागः' [१।१।६] इति ।

**श्लो. ६० यतत** इति । 'चक्षिङो ङित्करणात्— अनुदात्तेतोऽनावश्यकमात्मनेपदमिति ज्ञापनात्परस्मैपदमविरुद्धम् । न च ङित्वाभावे सतीदित्वान्नुम् स्यादिति तद्वारणाय ङित्वकरणसार्थक्यात्– न तस्यानुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदानित्यत्वज्ञापकत्वम्; ङित्वेऽपीदित्वान्नुम्प्राप्तिस्तु न शङ्क्या, अन्त्ये दित्वस्यैव तन्निमित्तत्वेन ङित्करणेन तदभावादिति वाच्यम्; अनुदात्ताकारे त्वकरणेनापि नुम्प्राप्तिवारणसम्भवात् नित्यमात्मनेपदस्य सम्भवाच्च ङित्करणवैयर्थ्यस्य दुर्वारत्वात् । अनुदात्तेत्त्वलक्षणात्मनेपदस्यानित्यत्वे तु नित्यमात्मनेपदप्राप्त्यर्थं ङित्वस्य सार्थक्यसम्भवाद्भवति ज्ञापकत्वम्' इति गूढार्थदीपिकातत्त्वालोकौ ।

**श्लो. ६१ तानीति**— अत्र 'मत्पर'–पदं सगुणभक्तिस्तावकं मन्वानो **वामनो** भगवतोऽभिप्रायमेवं वर्णयति—

सर्वेश्वरोऽहं सगुणो मनोज्ञः प्रकाशमानो हृदि मत्परस्य ।
भवाम्यतस्तद्विषयीणि हर्तुमपि प्रमाथीनि न पारयन्ति ॥
आत्माऽहमेवेति विनिश्चितं ध्रुवं तथाप्यलं निर्विषयोऽङ्ग निर्गुणः ॥
मनश्च नीरं विषयास्तु निम्नभूरतः स्वभावात्तदमुत्र धावति ।

इन्द्रियाणां वृत्तयो या मनसः शक्तयो हि ताः ।
कल्पयन्त्यत्र विषयान्मनः साषङ्गि तत्र च ॥

मनो विवेकाद्विषयाञ्जहाति रसं तु गृह्णाति न निर्गुणेऽस्मिन् ।
ततो हृषीकाणि पुनर्व्रजन्ति ह्यस्यापि कामं विषयेषु सङ्गम् ॥

यद्यप्याकारमगुणो दर्शयाम्यत्र कल्पितम् ।
तथाप्यसौ सञ्जयति न चिरात्परमात्मना ॥

स्मरति सगुणमेतज्ज्ञातबोधो यदीह
स्फुरति हृदि तदीये निर्गुणं तत्त्वमेव ।
कनकरसकृता चेद्दृश्यते शालभञ्जी
न नयनपथमेति द्रष्टुरष्टापदं किम् ? ॥

निराकारं नीरं यदि करकतामेति कठिनं
तदाकारं धत्ते , यदि तु रसनायां विनिहितम् ।
न नीरादन्यत्वं गमयति, तथैवात्र सगुणं
फले भेदं कञ्चिद्व्रजति न परं निर्गुणपदात् ॥

बाभाति सगुणं चित्ते नैर्गुण्येन स्फुरत्यथ ।
अलङ्कारत्वमापन्नं हिरण्यमिव तत्परम् ॥

मनो मुह्यति सौन्दर्ये, नैर्गुण्ये स्फुरिते परम् ।
अप्यात्मानं विस्मरति हृषीकाणां तु का कथा ? ॥

ईदृशो 'मत्परो' ज्ञानी कूर्मोऽङ्गानीव यत्नवान् ।
इन्द्रियाणि नियम्यास्ते कश्चिच्चातुर्यवान्नरः ॥

अहमेव परो यस्य मत्परो ज्ञानवानसौ ।
सगुणे सादरस्तं च तारयामीति वक्ष्यते ॥

एवमीदृङ्मत्परो यो ज्ञानवान् यत्नवानपि ।
तस्यैव तिष्ठति वशे हृषीकाणामयं गणः ॥

**श्लो. ६९ या निशेति**—इयमतिशयोक्तिरिति रसगङ्गाधरे-
'जाग्रति स्वात्मनि स्वस्थाः सुप्ताः संसारसंस्थितौ ।
बालवत्प्रविवेपन्ते सुषुप्तसदृशाशयाः ॥
इति योगवासिष्ठे [ ५।४०।२४ ]

**सर्वा अप्याविगीताष्टिप्पन्यः ।**

## द्वितीयाध्यायस्य शुद्धिपत्रम् ।

| पृ. | पं. | अशुद्धिः | शुद्धिः |
|---|---|---|---|
| ४४ | ३५ | (भ.पु.१।२७।२७) इति कोशः । दीर्घत्वं | (भ.पु.१।२७।२७) इति तत्फलदर्शनाच्च । 'गुडः कौटिल्यगुडयोः' इति कोशः । दीर्घत्वं |
| ६७ | ३४ | धर्माधर्मविजानद्भिः | धर्माधर्मविवजानद्भिः |
| ७५– | १ | तत्र प्रापक– | तत्र प्रमापक– |
| ७६–१ | १२ | विषयमतो | विषयमर्थतो |
| ८३ | ७ | तत अर्हार्थे | तत् अर्हार्थे |
| ९०–२ | १६ | माया एवेति ...भावः (?) | मार्या एवेति ... भावः । |
| ९३–१ | ३८ | आगमप्रामाण्ये | आगमाप्रामाण्ये |
| ९६ | ९ | अनगच्छन् | अनुगच्छन् |
| ९९–१ | २९ | - नान्तरीयिकत्व- | - नान्तरीयकत्व- |
| ,, ,, | ३८ | भवति (?) भोग- | भवद्भियोग- |
| ,, २ | ४ | अतिदंशस्य | अचिदंशस्य |
| ,, ,, | ३८ | तत्रस्थसुख- | तत्र स्वसुख- |
| १०९–१ | २८ | - स्तकार्ये | - स्तत्कार्ये |
| ११२–२ | १८ | 'नित्यत्वं देहहानिश्च | 'अनित्यत्वं देहहानिर्दु- |
| ११८–२ | ३४ | अन्तवच्छेदस्य | अन्तवच्छब्दस्य |
| ११९ | ६ | उक्ताः। शास्त्रे अन्त- | उक्ताः शास्त्रे। अत- |
| ,, | १९ | अप्रमेयं ध्रु... | अप्रमयं ध्रु... |
| ,, | ,, | इति, अप्रमेय... | इति अप्रमय... |
| १२८–१ | २९ | औत्तराधैर्य- | औत्तराधर्य- |
| १३९–२ | १६ | –त्तत्वं कुतो न-कल्प्यम् ? कुत इ– | त्तत्वं न कल्प्यम्, कुतः ? इ– |
| १४४–१ | ४ | स्वीक्रीयते ? | स्वीक्रियते ? |
| ,, | | व्यापकत्वम् । ब्रह्म ...येण जीवस्तु | व्यापकत्वं ब्रह्म... येण । जीवस्तु |
| १४९ | २३ | -कार्यकरण- | -कार्यकारण- |
| १५१ | २४ | सूर्योदयः | सूर्यादयः |
| १९८ | २४ | न किं | तत्किं |
| १६ –२ | २४ | लभन्ते । प्राप्नुवन्ति | लभन्ते प्राप्नुवन्ति । |

स्थितप्रज्ञविषयश्लोकचतुष्टयं तदवस्थाचतुष्टयविषयमिति मन्वानश्चतुर्थीयमवस्थेत्याह— **ज्ञाननिष्ठाकाष्ठेय**मिति । उक्तं च **हैरण्यगर्भैः**— ‘ दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ’ [ पा. यो. १।१५ ] इति । ऐहिकामुष्मिकसकलफलविमुखस्य यस्तेषु फलेषु सवासनरागत्यागः, सा वशीकरणसंज्ञेत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ५५ ॥

**५ आ. मा. भा.— गमनादिप्रवृत्तिर्नात्यभिसन्धिपूर्विका मात्रादिप्रवृत्तिवदिति ‘ या निशा ’ [ २।६९ ] इत्यादिना दर्शयिष्यँल्लक्षणं प्रथमत आह— एवं परमानन्दतृप्तः किमर्थमेवं प्रवृत्तिं करोतीति प्रश्नाभिप्रायः । प्रारब्धकर्मणेषत्तिरोहितब्रह्मणो वासना प्रायोऽल्पाभिसन्धिप्रवृत्तिः सम्भवतीत्याशयवान् परिहरति । प्रायः सर्वान्कामान्प्रजहाति, शुकादीनामपीषद्दर्शनात् । ‘त्वत्पादभक्तिमिच्छन्ति ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ’ इत्युक्तेस्तामिच्छन्ति । यदा त्विन्द्रादीनामाग्रहो दृश्यते तदाऽभिभूतं तेषाम् । तच्चोक्तम् ‘ आधिकारिकपुंसां तु बृहत्कर्मत्वकारणात् । उद्भवाभिभवौ ज्ञाने ततोऽन्येभ्यो विलक्षणाः ’ इति । अत एव वैलक्षण्यादनधिकारिणां आग्रहादि चेदस्ति न ते ज्ञानिन इत्यवगन्तव्यम् ।**

**६ ज. प्र. दी.**— लक्षणप्रश्नस्यैवोत्तरं प्रतीयते , न तु ‘स्थितधीः’ इत्यादेरित्यतस्तदुत्तरस्थानं दर्शयन्ननन्तरप्रकरणार्थं दर्शयति— **गमनादी**ति । अभिसन्धिः प्रयोजनोद्देशः । ईषदभिसन्धिसूचनायातिशब्दः । प्रवृत्तिमात्रमिहाभिप्रेतं, न भाषणादिकमेवेति ज्ञापनाय भाषणादीति नोक्तम् । व्यवहाराय लक्षणप्रश्नो घटते । प्रवृत्त्युद्देशप्रश्नस्तु व्यर्थ एव; न च शक्यः प्रतिवक्तुम्, अनेकेषां प्रवृत्त्युद्देश्यस्यैकरूपस्याभावादित्यभिप्रायेण भगवतोपेक्षितोऽसाविति किं न स्यात् ? किं तदुत्तरस्थानप्रदर्शनेन? अन्यथाऽल्पमप्युद्देश्यं वक्तव्यमित्यत आह— **एव**मिति । एवं भेरीताडनादावपि, अचलेत्युक्तप्रकारेण परमानन्दतृप्तश्चेत्किमर्थं प्रवृत्तिं करोति ? न कुर्यात् ; करोति च तस्मादुक्तमसदित्युक्ताक्षेप एव । अत्राभिप्रेतप्रश्नस्तु मुखत एव । अतो नोपेक्षामर्हतीति भावः । एतच्चार्जुनस्य प्रेक्षावत्त्वाद्गम्यते , एवं चेद्गमनादिप्रवृत्तिरित्युक्तः परिहारो न पूर्णः , प्रवृत्तिकारणानुक्तेरित्यत आह— **प्रारब्धकर्मणे**ति । ईषत्तिरोहितं ब्रह्म यस्यासौ तथोक्तः । परिहरति द्वितीयं प्रश्नम् ‘ या निशा ’ इत्यादाविति शेषः । ननु सर्वकामप्रहाणं ज्ञानिलक्षणत्वेनोच्यते, तत्कथमल्पाभिसन्ध्यङ्गीकारः? इत्यत आह— **प्राय** इति । कुतः सर्वशब्दसङ्कोच इत्यत आह— **शुकादीना**मिति । विरुद्धकामस्येति शेषः । तच्च प्रवृत्तिलिङ्गेनागमाच्च ज्ञातव्यम् । अनुकूलकामस्तु सर्वथाऽस्त्येवातोऽपि सङ्कोच इत्यत आह— **त्वत्पादे**ति । तां भक्तिम् । उपलक्षणमेतत् । प्रायेण विरुद्धकामत्यागो ज्ञानिनो लक्षणं चेदिन्द्रादीनां ज्ञानित्वं न स्यात् ; बहुतरविरुद्धकामदर्शनात् । तथाभूता अपि चेज्ज्ञानिनस्तर्हि देवदत्तादयोऽपि किं न स्युरित्यत आह— **यदे**ति । आग्रहो विरुद्धकामाभिनिवेशः । एतत्प्रमाणेन स्थापयति— **तच्चोक्त**मिति । आधिकारिका इति पुरुषविशेषसंज्ञा , ‘ प्रजापाश्च तथा देवाः ’ इत्यादिवचनात् । देवदत्तादिप्रतिबन्दीं मोचयति— **अत एवे**ति । एतदागमोक्तादेव । आदिपदेन विरुद्धक्रोधादिग्रहणम् । अनेन कामशब्दः क्रोधादीनामुपलक्षणार्थ इति सूचितं भवति ।

**५ आ. मा. भा.— न चात्र समाधिं कुर्वतो लक्षणमुच्यते ‘यः सर्वत्रानभिस्नेहः’ [२।५७] इत्यादिस्नेहनिषेधात् । नहि समाधिं कुर्वतस्तस्य शुभाशुभप्राप्तिरस्ति, असम्प्रज्ञातसमाधेः । सम्प्रज्ञाते त्वविरोधस्तथापि न तत्रैवेति नियमः । ‘ कामादयो न जायन्ते ह्यपि विक्षिप्तचेतसाम् । ज्ञानिनां ज्ञाननिर्धूतमलानां देवसंश्रयात् ’ इति च स्मृतेः । मनोगता हि कामाः, अतस्तत्रैव तद्विरुद्धज्ञानोत्पत्तौ युक्तं हानं तेषामिति दर्शयति— मनोगतानिति । विरोधश्चोच्यते ‘ रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ’ [२।५९] इति । न चैतददृष्ट्या अपलपनीयम् ; पुरुषवैशेष्यात् । आत्मना परमात्मना । परमात्मन्येव स्थितः सन् । आत्माख्ये तस्मिन्स्थितस्य तत्प्रसादादेव तुष्टिर्भवति ‘ विषयांस्तु परित्यज्य रामे स्थितिमतस्ततः । देवाद्भवति वै तुष्टिर्नान्यथा तु कथञ्चन ’ इति नारायणरामकल्पे; अतो नात्मा जीवः ॥ ५५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु समाधिं कुर्वतो ज्ञानिनो लक्षणमेतदिति व्याक्रियताम्, तथा सति प्रश्नवाक्यस्थं ‘समाधिस्थस्य’ इति पदं समञ्जसं स्यात् , सर्वशब्दश्चासङ्कुचितार्थः स्यात् , इन्द्रादिविषयाक्षेपाप्रसक्तिश्चेत्यत आह— **न चे**ति । समाधिं कुर्वतः स्नेहनिषेधोऽनुगुण एवेत्यत आह— **नही**ति । नात्र स्नेहनिषेधमात्रमुच्यते, किन्तु ‘ तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ’ [ २।५७ ] इति शुभाशुभार्थप्राप्तिपूर्वकं, न च तत्प्राप्तिः समाधिं कुर्वतो ज्ञानिनोऽस्ति, कुतः ? इत्यत उक्तम्— **असम्प्रज्ञाते**ति । असम्प्रज्ञातः समाधिर्यस्यासौ तथोक्तः । बाह्यार्थानुसन्धानं यत्र नास्ति सोऽसम्प्रज्ञातसमाधिः, इतरः सम्प्रज्ञातसमाधिरिति योगशास्त्रे प्रसिद्धिः । तथा च लक्षणमसम्भवि प्रसज्जेत् । सावकाशेभ्यो बहुभ्यो निरवकाशस्यैकस्य बलवत्त्वमिति भावः । एवं तर्हि सम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्यैतल्लक्षणमस्तु, तत्रोक्तदोषाभावादित्यत आह— **सम्प्रज्ञाते** त्विति ।

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ३ ]

**असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम् ।**
**सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता ॥ ७ ॥**

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

एवं द्वितीयाध्यायोक्तस्य प्रपञ्चनरूपतया षष्ठान्तानां चतुर्णामेकपेटिकात्वं एकीकरणार्थं तृतीयारम्भे भाषितम्—' तदेव मुमुक्षुभिः परमप्राप्यतया वेदान्तोदितनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषगन्धानवधिकातिशया-सङ्ख्येयकल्याणगुणगणपरब्रह्मपुरुषोत्तमप्राप्त्युपायभूतं वेदनोपासनध्यानादिशब्दवाच्यं तदैकान्तिकात्यन्तिक-भक्तियोगं वक्तुं तदङ्गभूतं " य आत्मा अपहतपाप्मा " [ छां. उ.८।७।१;३ ] इत्यादिप्रजापतिवाक्योदितं प्राप्तुरात्मनो याथात्म्यदर्शनं तन्नित्यताज्ञानपूर्वकासङ्गकर्मनिष्पाद्यज्ञानयोगसाध्यमुक्तम् '— इत्यारभ्य ' अतः परमध्यायचतुष्टयेन इदमेव प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो दर्शनं ससाधनं प्रपञ्च्यते '— इति ।

असक्त्या— परमपुरुषप्रीतिव्यतिरिक्तस्वर्गादिफलसङ्गत्यागपूर्वकमित्यर्थः । लोकरक्षायै अनुविधेयानुष्ठा-नस्य कृत्स्नविदः स्वानुष्ठानानुसन्धानेन अकृत्स्नविदः शिष्टलोकस्य निष्प्रमादलुण्टाकरहितघण्टापथप्रवर्तनार्थ-मित्यर्थः । एतेन लोकसङ्ग्रहशब्दो व्याख्यातः । एवं लोकरक्षणार्थं प्रवृत्तेरन्ततः स्वरक्षापर्यन्तत्वं भाष्योक्तम् ' अन्यथा लोकनाशजनितं पापं ज्ञानयोगादप्येनं प्रच्यावयेत् ' [ रा. भा. ३।२१ ] इति । गुणेषु-सत्त्व-रजस्तमस्संज्ञकेषु प्रकृतिगुणेष्वित्यर्थः । आरोप्य कर्तृतां-स्वस्य देशकालावस्थादिनियतविषयज्ञानचिकीर्षा-प्रयत्नाश्रयत्वलक्षणां कर्तृतां गुणप्रयुक्ततया अनुसन्धायेत्यर्थः । तथाच भाष्यं—' गुणेषु कर्तृत्वानुसन्धानं च इदमेव आत्मनो न स्वरूपप्रयुक्तमिदं कर्तृत्वम्, अपितु गुणसम्पर्ककृतमिति प्राप्ताप्राप्तविवेकेन गुणकृतमित्यनु-सन्धानम् ' [ रा. भा. ३।२९ ] इति । ' मयि सर्वाणि कर्माणि ' [ ३।३० ] इत्यत्र अस्मच्छब्दाभिप्रेतं व्यनक्ति—सर्वेश्वरे वा न्यस्येति । गुणानां तदाश्रयस्य त्रिगुणद्रव्यस्य तत्संसृष्टस्य वियुक्तस्य च जीवस्य नियन्त-रि भगवति तस्यास्तन्मूलत्वभावनया निवेश्येत्यभिप्रायः । सूत्रकारश्च ' कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इत्यात्मनः कर्तृत्वमुपपाद्य अनन्तरं तस्य परमात्माधीनत्वं ' परात्तु तच्छ्रुतेः ' [ ब्र. सू. २।३।४१ ] इत्याह । सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानप्रकारश्चैवं भाषितः; ' इदानीमात्मनां परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वस्वरूपनिरूप-णेन भगवति पुरुषोत्तमे सर्वात्मभूते गुणकृतं च कर्तृत्वमारोप्य कर्मकर्तव्यतोच्यते ' [ रा. भा. ३।३० ] इति । पिण्डितार्थश्च दर्शितः—' स्वकीयेनात्मना कर्त्रा स्वकीयैश्चोपकरणैः स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषः सर्व-शेषी सर्वेश्वरः स्वयमेव स्वकीयकर्माणि कारयति ' [ रा. भा. ३।३० ] इत्यादिना ॥ ७ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

---

श्रीमद्भगवद्गीतायाः

# कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ३ ।

प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गयोर्युगपदुपदेशेनाकुलीभूतस्यार्जुनस्य प्रश्नः [ १।२ ]

**अर्जुन उवाच— ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ! ।**
**तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव !॥ १ ॥**

१ शाङ्करभाष्यम् ।

शास्त्रस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयभूते द्वे बुद्धी भगवता निर्दिष्टे, साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे बुद्धिरिति च । तत्र 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २ । ५५ ] इत्यारभ्य आ अध्यायपरिसमाप्तेः साङ्ख्यबुद्ध्याश्रितानां सन्न्यासं कर्तव्यमुक्त्वा तेषां तन्निष्ठतयैव च कृतार्थता उक्ता 'एषा ब्राह्मी स्थितिः' [ २।७२ ] इति । अर्जुनाय च 'कर्मण्येवाधिकारस्ते ... मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' [ २।४७ ] इति कर्मैव कर्तव्यमुक्तवान् योगबुद्धिमाश्रित्य, न तत एव श्रेयःप्राप्तिमुक्तवान् ।

२ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

पूर्वोत्तराध्याययोः सम्बन्धं वक्तुं पूर्वस्मिन्नध्याये वृत्तमर्थं सङ्क्षिप्यानुवदति— **शास्त्रस्येति** । गीताशास्त्रप्रारम्भापेक्षितं हेतुफलभूतं बुद्धिद्वयं भगवतोपदिष्टमित्यर्थः । प्रष्टुरर्जुनस्याभिप्रायं निर्देष्टुं प्रवृत्तमर्थान्तरमनुवदति— **तत्रेति** । अध्यायो बुद्धिद्वयनिर्धारणं वा सप्तम्यर्थः । पारमार्थिके तत्त्वे यज्ज्ञानं तन्निष्ठानामशेषकामत्यागिनां कामयुक्तानां कर्मिणामपि प्रतिपत्तिकर्मवत्त्यागं कर्तव्यत्वेन भगवानुक्तवानित्यर्थः । तथापि मोक्षसाधने विकल्पसमुच्चययोरन्यतरस्य विवक्षितत्वबुद्ध्या समनन्तरप्रश्नप्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **उक्तेति** । अर्जुनस्य मनसि व्याकुलत्वं प्रश्नबीजं दर्शयितुमुक्तमर्थान्तरमनुभाषते— **अर्जुनाय चेति** । साङ्ख्यबुद्धिमाश्रित्य कर्मत्यागमुक्त्वा पुनस्तस्यैव कर्तव्यत्वं कथं मिथो विरुद्धं ब्रवीति ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **योगेति** । यथा साङ्ख्यबुद्धिमाश्रितानां सन्न्यासद्वारा तन्निष्ठानां कृतार्थतोक्ता, तथा योगबुद्धिमाश्रित्य कर्म कुर्वतोऽपि कृतार्थत्वमुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **न तत एवेति** । 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्' [ २।४९ ] इति दर्शनादिति शेषः ।

**१ शां. भा.— तदेतदालक्ष्य पर्याकुलीभूतबुद्धिरर्जुन उवाच । कथं भक्ताय श्रेयोर्थिने यः साक्षात् श्रेयःप्राप्तिसाधनं साङ्ख्यबुद्धिनिष्ठां श्रावयित्वा मां कर्मणि दृष्टानेकानर्थयुक्ते पारम्पर्येणापि अनैकान्तिकश्रेयःप्राप्तिफले नियुञ्ज्यादिति युक्तः पर्याकुलीभावोऽर्जुनस्य, तदनुरूपश्च प्रश्नः 'ज्यायसी चेत्' इत्यादिः, प्रश्नापाकरणवाक्यं च भगवतो युक्तं यथोक्तविभागविषये शास्त्रे ।**

**२ आ. शां. व्या.**— बुद्धिव्याकुलत्वं प्रश्नबीजं प्रतिलभ्य प्रश्नं करोतीत्याह— **तदेतदिति** । साक्षादेव श्रेयस्साधनं ज्ञानमन्येभ्यो दर्शितं तदित्युच्यते, तद्विपरीतं कर्म स्वस्यानुष्ठेयत्वेनोक्तमेतदिति निर्दिश्यते, भगवदुक्तेऽर्थे सन्दिह्यमानस्य निर्णयाकाङ्क्षया प्रश्नप्रवृत्तेरस्ति पूर्वोत्तराध्याययोरुत्थाप्योत्थापकलक्षणा सङ्गतिरित्यर्थः । अर्जुनस्य प्रश्ननिमित्तं पर्याकुलत्वं प्रपञ्चयति— **कथमित्यादिना** । यद्धि साक्षादेव श्रेयस्साधनं साङ्ख्यशब्दितपरमार्थतत्त्वविषयबुद्धौ निष्ठारूपं तदन्यस्मै श्रेयोर्थिने भक्ताय श्रावयित्वा मां पुनरभक्तमश्रेयोर्थिनमिव कर्मणि पूर्वोक्तविपरीते कथं भगवान्नियोक्तुमर्हतीत्यर्जुनस्य पर्याकुलीभावो युक्त इति सम्बन्धः । ज्ञाननिष्ठातो वैपरीत्यं स्फोरयितुं कर्म विशिनष्टि— **दृष्टेति** । युद्धे हि क्षत्रकर्मणि दृष्टानेकानर्थो गुरुभ्रातृहिंसादिस्तेन सम्बद्धे, बुद्धिशुद्धिद्वाराऽपि वर्तमाने जन्मन्येव फलमित्यनियते मम भक्तस्य श्रेयोर्थिनो नियोगो भगवतो युक्तो न भवतीति शेषः । यथोक्तं निमित्तं प्रश्नस्य युक्तं, तदनुगुणत्वात्तस्येति द्योतकमाह— **तदनुरूपश्चेति** । ज्ञाननिष्ठानां कृतार्थता, कर्मनिष्ठानां तु न तथेत्युक्तविभागभागि शास्त्रमित्यत्र 'लोकेऽस्मिन्' [ ३ । ३ ] इत्यादिवाक्यस्यापि द्योतकत्वं दर्शयति— **प्रश्नेति** ।

**१ शां. भा.— केचित्तु— अर्जुनस्य प्रश्नार्थमन्यथा कल्पयित्वा तत्प्रतिकूलं भगवतः प्रतिवचनं वर्णयन्ति, यथा चात्मना सम्बन्धग्रन्थे गीतार्थो निरूपितः, तत्प्रतिकूलं चेह पुनः प्रश्नप्रतिवचन-**

**योरर्थं निरूपयन्ति । कथं ? तत्र सम्बन्धग्रन्थे तावत्— सर्वेषामाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो गीताशास्त्रे निश्चितोऽर्थ इत्युक्तम्; पुनर्विशेषितयावज्जीवश्रुतिचोदितानि कर्माणि परित्यज्य केवलादेव ज्ञानान्मोक्षः प्राप्यते इत्येतदेकान्तेनैव प्रतिषिद्धमिति । इह तु आश्रमविकल्पं दर्शयता यावज्जीवश्रुतिचोदितानामेव कर्मणां परित्याग उक्तः, तत् कथमीदृशं विरुद्धमर्थमर्जुनाय ब्रूयाद्भगवान् ? श्रोता वा कथं विरुद्धमर्थमवधारयेत् ? ।**

**२ आ. शां. व्या.**— साक्षादेव श्रेयस्साधनमन्येभ्यो भगवतोक्तं, न तु मह्यम्; इति मत्वाऽऽकुलीभूतः सन् पृच्छतीति स्वाभिप्रायेण सम्बन्धमुक्त्वा वृत्तिकाराभिप्रायं दूषयति— **केचित्त्विति** । ज्ञानकर्मणोः समुच्चयमवधारयितुं प्रश्नाङ्गीकारे समुच्चयावधारणेनैव प्रतिवचनमुचितं, न च तथा भगवता प्रतिवचनमुक्तं, तथा च प्रश्नस्य समुच्चयविषयत्वोपगमात् प्रत्युक्तेश्चासमुच्चयविषयत्वात्तयोर्मिथो विरोधो वृत्तिकारमते स्यादित्यर्थः। किञ्च केवलं प्रश्नप्रतिवचनयोरेव परमते परस्परविरोधो न भवति, अपितु परेषां स्वग्रन्थेऽपि पूर्वापरविरोधोऽस्तीत्याह— **यथा चेति** । आत्मना वृत्तिकारैरिति यावत् । सम्बन्धग्रन्थो गीताशास्त्रारम्भोपोद्घातः । इहेति तृतीयाध्यायारम्भं परामृशति । तदेव विवृण्वन्नाकाङ्क्षामाह— **कथमिति** । पूर्वापरविरोधं स्फोरयितुं सम्बन्धग्रन्थोक्तमर्थमनुवदति— **तत्रेति** । परकीया वृत्तिः सप्तम्या समुल्लिख्यते, सम्बन्धग्रन्थे तावदयमर्थ उक्त इति सम्बन्धः । तमेवार्थं विशदयति— **सर्वेषामिति** । सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकज्ञानादेव केवलात्कैवल्यमित्यस्मिन्नर्थे शास्त्रस्य पर्यवसानान्न समुच्चयो विवक्षितस्तत्रेत्याशङ्क्याऽऽह— **पुनरिति** । उक्तगीतार्थो वृत्तिकारैरेव कर्मत्यागायोगेन विशेषितत्वान्नाविवक्षितोऽलं भवितुमुत्सहते, तथा च श्रौतानि कर्माणि त्यक्त्वा ज्ञानादेव केवलान्मुक्तिर्भवतीत्येतन्मतं नियमेनैव यावज्जीवश्रुतिभिर्विप्रतिषिद्धत्वान्नाभ्युपगन्तुमुचितमित्यर्थः । तथापि कथं मिथो विरोधधीरित्याशङ्क्याऽऽह— **इह त्विति** । प्रथमतो हि सम्बन्धग्रन्थे समुच्चयो गीताप्रतिपाद्यत्वेन वृत्तिकृता प्रतिज्ञातः, श्रौतकर्मपरित्यागश्च श्रुतिविरोधादेव न सम्भवतीत्युक्तं तृतीयाध्यायारम्भे, पुनः सन्न्यासिनां ज्ञाननिष्ठा कर्मिणां कर्मनिष्ठेत्याश्रमविभागमभिदधता पूर्वप्रतिषिद्धकर्मत्यागाभ्युपगमान्मिथो विरोधो दर्शितः स्यादित्यर्थः । ननु यथा भगवता प्रतिपादितं तथैव वृत्तिकृता व्याख्यातमिति न तस्यापराधोऽस्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **तत्कथमिति** । न हीह भगवान्विरुद्धमर्थमभिधत्ते, सर्वज्ञस्य परमाप्तस्य विरुद्धार्थवादित्वायोगात्; किन्तु तदभिप्रायापरिज्ञानादेव व्याख्यातुर्विरुद्धार्थवादितेत्यर्थः । भगवतो विरुद्धार्थवादित्वाभावेऽपि श्रोतुर्विरुद्धार्थप्रतिपत्तिं प्रतीत्य व्याचक्षाणो वृत्तिकारो नापराध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **श्रोता वेति** । अर्जुनो हि श्रोता, सोऽपि बुद्धिपूर्वकारी भगवदुक्तमेवावधारयन्न विरुद्धमर्थमवधारयितुमर्हति, तथा च परस्यैव विरुद्धार्थवादितेत्यर्थः ।

**१ शां. भा.— तत्रैतत् स्यात्— गृहस्थानामेव श्रौतस्मार्तकर्मपरित्यागेन केवलादेव ज्ञानान्मोक्षः प्रतिषिध्यते, न तु आश्रमान्तराणामिति; एतदपि पूर्वोत्तरविरुद्धमेव । कथं ? सर्वाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयो गीताशास्त्रे निश्चितोऽर्थ इति प्रतिज्ञायेह कथं तद्विरुद्धं केवलादेव ज्ञानान्मोक्षं ब्रूयादाश्रमान्तराणाम् ? । अथ मतं— श्रौतकर्मापेक्षया एतद्वचनं केवलादेव ज्ञानात् श्रौतकर्मरहितात् गृहस्थानां मोक्षः प्रतिषिध्यत इति । तत्र गृहस्थानां विद्यमानमपि स्मार्तं कर्म अविद्यमानवदुपेक्ष्य ज्ञानादेव केवलादित्युच्यत इति । एतदपि विरुद्धम् । कथं ? गृहस्थस्यैव स्मार्तकर्मणा समुच्चिताज्ज्ञानान्मोक्षः प्रतिषिध्यते, न त्वाश्रमान्तराणाम्, इति कथं विवेकिभिः शक्यमवधारयितुम् ? । किञ्च— यदि मोक्षसाधनत्वेन स्मार्तानि कर्माणि ऊर्ध्वरेतसां समुच्चीयन्ते तथा गृहस्थस्यापि इष्यतां स्मार्तैरेव समुच्चयो न श्रौतैः ।**

**२ आ. शां. व्या.**— विरोधं परिहरन्नाशङ्कते— **तत्रेति** । सम्बन्धग्रन्थे हि वृत्तिकारस्यैतदभिप्रेतं गृहस्थानामेव सतां परिपक्वज्ञानमन्तरेण यावज्जीवश्रुतिचोदिताग्निहोत्रादित्यागेन केवलादेवाऽऽपातिकादात्मज्ञानान्मोक्षमपेक्षमाणानां यावज्जीवादिशास्त्रैरसौ निषिध्यते, न तु स्वरूपेणैव कर्मत्यागो ज्ञानान्मोक्षो वा निषेद्धुमिष्यते । तृतीये पुनरध्याये कर्मत्यागिनां गृहस्थेभ्यो व्यतिरिक्तानामेव केवलादात्मज्ञानान्मोक्षो विवक्ष्यते, अतो भिन्नविषयत्वान्निषेधाभ्यनुज्ञानयोर्न विरोधाशङ्केत्यर्थः । विधान्तरेण विरोधं दर्शयन्नुत्तरमाह— **एतदपीति** । विरोधमेवाऽऽकाङ्क्षाद्वारा साधयति— **कथमित्यादिना** । श्रौतं कर्म गृहस्थानामवश्यमनुष्ठेयमित्यनेनाभिप्रायेण तेषां केवलादात्मज्ञानान्मोक्षो निषिध्यते, न तु गृहस्थानां ज्ञानमात्रायत्तं मोक्षं प्रतिषिध्यान्येषां केवलज्ञानाधीनो मोक्षो विवक्ष्यते; आश्रमान्तराणामपि स्मार्तेन कर्मणा समुच्चयाभ्युपगमादिति चोदयति— **अथेति** । एतत्परामृष्टं वचनमेवाभिनयति— **केवलादिति** । ननु गृहस्थानां श्रौतकर्मसाहित्येऽपि

सति स्मार्ते कर्मणि कुतो ज्ञानस्य केवलत्वं लभ्यते, येन निषेधोक्तिरर्थवती ? तत्राऽऽह— **तत्रेति** । प्रकृतवचनमेव सप्तम्यर्थः । प्रधानं हि श्रौतं कर्म तद्राहित्ये सति स्मार्तस्य कर्मणः सतोऽप्यसद्भावमभिप्रेत्य ज्ञानस्य केवलत्वमुक्तमिति युक्ता निषेधोक्तिरित्यर्थः । गृहस्थानामेव श्रौतकर्मसमुच्चयः, नान्येषाम् ; अन्येषां तु स्मार्तेनेति पक्षपाते हेत्वभावं मन्वानः सन्परिहरति— **एतदपीति** । तमेव हेत्वभावं प्रश्नद्वारा विवृणोति— **कथमित्यादिना** । गृहस्थानां श्रौतस्मार्तकर्मसमुच्चित ज्ञानं मुक्तिहेतुरित्यभ्युपगमात् केवलस्मार्तकर्मसमुच्चितात्ततो न मुक्तिरिति निषेधो युज्यते; ऊर्ध्वरेतसां तु स्मार्तकर्ममात्रसमुच्चितात् ज्ञानान्मुक्तिरिति विभागे नास्ति हेतुरित्यर्थः । पक्षपाते कारणं नास्तीत्युक्त्वा पक्षपातपरित्यागे कारणमस्तीत्याह— **क्लिश्नेति** । गृहस्थानामपि ब्रह्मज्ञानं स्मार्तैरेव कर्मभिः समुच्चितं मोक्षसाधनं, ब्रह्मज्ञानत्वात्; ऊर्ध्वरेतस्सु व्यवस्थितब्रह्मज्ञानवदिति पक्षपातत्यागे हेतुं स्फुटयति— **यदीत्यादिना** ।

**१ शां. भा.— अथ श्रौतैः स्मार्तैश्च गृहस्थस्यैव समुच्चयो मोक्षाय; ऊर्ध्वरेतसां तु स्मार्तकर्ममात्रसमुच्चिताज्ज्ञानान्मोक्ष इति । तत्रैवं सति गृहस्थस्यायासबाहुल्यात् श्रौतं स्मार्तं च बहुदुःखरूपं कर्म शिरस्यारोपितं स्यात् । अथ गृहस्थस्यैव आयासबाहुल्यकरणात् मोक्षः स्यात्, नाश्रमान्तराणां श्रौतनित्यकर्मरहितत्वादिति । तदप्यसत्, सर्वोपनिषत्सु इतिहासपुराणयोगशास्त्रेषु च ज्ञानाङ्गत्वेन मुमुक्षोः सर्वकर्मसन्न्यासविधानात्, आश्रमविकल्पसमुच्चयविधानाच्च श्रुतिस्मृत्योः ।**

**२ आ. शां. व्या.**— यदि गृहस्थानां ब्रह्मज्ञानं स्मार्तैरेव कर्मभिः समुच्चितं मोक्षहेतुरिति विवक्षितं, तदा तान्प्रति यावज्जीवश्रुतिर्विरुध्येत; यदि स्मार्तैरपि कर्मभिः समुच्चितं तदीयं ज्ञानं मोक्षसाधनं विवक्ष्यते तदा सिद्धसाध्यतेति प्रागुक्तमभिप्रेत्य चोदयति— **अथेति** । आश्रमान्तराणां तर्हि केवलादेव ज्ञानात् मुक्तिरिति प्रागुक्तविरोधतादवस्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **ऊर्ध्वरेतसां त्विति** । यथोक्ते विभागे गार्हस्थ्यं क्लेशात्मकं कर्मबाहुल्यादनुपादेयमापद्येतेति दूषयति— **तत्रेति** । 'साधनभूयस्त्वे फलभूयस्त्वं' इति न्यायमाश्रित्य शङ्कते— **अथेति** । क्लेशबाहुल्योपेतं श्रौतं स्मार्तं च बहु कर्म तस्यानुष्ठानाद्गृहस्थस्य मोक्षःस्यादेवेत्यर्थः । एवकारनिरस्यं दर्शयति— **नाऽऽश्रमान्तराणामिति** । तेषां नास्ति मुक्तिरित्यत्र यावज्जीवादिश्रुतिविहितावश्यानुष्ठेयकर्मराहित्यं हेतुं सूचयति— **श्रौतेति** । शास्त्रविरोधिन्यायस्य निरवकाशत्वमभिप्रेत्य दूषयति— **तदपीति** । ऐकाश्रम्यस्मृत्या गार्हस्थ्यस्यैव प्राधान्यादनधिकृतान्धादिविषयं कर्मसन्न्यासविधानमित्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञानाङ्गत्वेनेति** । न खल्वनधिकृतानामन्धादीनां सन्न्यासः श्रवणाद्यावृत्तिद्वारा ज्ञानाङ्गं भवितुमलं, तेषां श्रवणाद्यभ्यासासामर्थ्यात्; अतः श्रुत्यादिना विरोधे नास्ति गार्हस्थ्यस्य प्राधान्यमित्यर्थः । तस्य प्राधान्याभावे हेत्वन्तरमाह— **आश्रमेति** । "ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्, ...... गृहाद्वनीभूत्वा प्रव्रजेत्; यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" [ जा. उ.४. या.उ.१ ] इति श्रुतौ तस्याऽऽश्रमविकल्पमेके ब्रुवत इति 'यमिच्छेत्तमावसेत्' इत्यादिस्मृतौ चाऽऽश्रमाणां समुच्चयेन विकल्पेन चाऽऽश्रमान्तरमिच्छन्तं प्रतिविधानान्न गार्हस्थ्यस्य प्रधानत्वमित्यर्थः ।

**१ शां. भा.— सिद्धस्तर्हि सर्वाश्रमिणां ज्ञानकर्मणोः समुच्चयः ? न, मुमुक्षोः सर्वकर्मसन्न्यासविधानात् । "पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" [ बृ. उ. ३।५।१ ] "तस्मात्सन्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः" [ म. ना. उ. २४ । १ ] "न्यास एवात्यरेचयत्" [ म. ना. २१।२ ] इति "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" [कै. उ. १।२] इति च "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्" [जा. उ. ४] इत्याद्याः श्रुतयः । 'त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज । उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज' [म. भा. १२।३२९।४०+३३१।४४ ] "संसारमेव निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया । प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहः परं वैराग्यमाश्रितः" [ ना. प. उ. ३।१५ ] इति बृहस्पतिः । 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः' [म. भा. १२।२४१।७] इति शुकानुशासनम् । इहापि च 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य' [ ५।१३ ] इत्यादि ।**

**२ आ. शां. व्या.**— यदि सर्वेषामाश्रमाणां श्रुतिस्मृतिमूलत्वं तर्हि तत्तदाश्रमविहितकर्मणां ज्ञानेन समुच्चयः सिध्यतीति शङ्कते— **सिद्धस्तर्हीति** । यद्यपि ज्ञानोत्पत्तावाश्रमकर्मणां साधनत्वं, तथापि ज्ञानमुत्पन्नं नैव फले सहकारित्वेन तान्यपेक्षतेऽन्यथा सन्न्यासविध्यनुपपत्तेरिति दूषयति— **न, मुमुक्षोरिति** । सन्न्यासविधानमेवानुक्रामति— **व्युत्थायेत्यादिना** । एषणाभ्यो वैमुख्येनोत्थानं तत्परित्यागः, आश्रमसम्पत्त्यनन्तरं तत्र विहितधर्मकलापानुष्ठानमपि कर्तव्यमित्याह— **अथेति** । प्रागुक्तानां सत्यादीनामल्पफलत्वान्न्यासस्य च ज्ञानद्वारा मोक्षफलत्वादित्याह— **तस्मादिति** ।

अतिरिक्तमतिशयवन्तं महाफलमिति यावत् । प्रकृतकर्मभ्यः सकाशान्न्यास एवातिशयवानासीदित्युक्तेऽर्थे वाक्यान्तरं पठति— **न्यास एवे**ति । लोकत्रयहेतुं साधनत्रयं परित्यज्य संसाराद्विरक्ताः सन्न्यासपूर्वकादात्मज्ञानादेव प्राप्तवन्तो मोक्षमित्याह— **न कर्मणे**ति । सति वैराग्ये नास्ति क्रमापेक्षा, सत्यां सामग्र्यां कार्याक्षेपानुपपत्तेरित्याह— **ब्रह्मचर्यादेवे**ति । इत्याद्याः सर्वकर्मसन्न्यासविधायिन्यः श्रुतयो भवन्तीति शेषः । "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" [बृ.उ.४।४।२२] इत्यादिवाक्यसङ्ग्रहार्थमादिपदम् । तत्रैव स्मृतीरुदाहरति-**त्यजे**ति । धर्माधर्मयोः सत्यानृतयोश्च संसारारम्भकत्वान्मुमुक्षुणा तत्त्यागे प्रयतितव्यमित्यर्थः । त्यक्तृत्वाभिमानस्यापि तत्त्वतः स्वरूपसम्बन्धाभावात्त्याज्यत्वमविशिष्टमित्याह—**येने**ति । अनुभवानुसारेण प्रमातृताप्रमुखस्य संसारस्य दुःखफलत्वमालक्ष्य मोक्षहेतुसम्यग्ज्ञानसिद्धये ब्रह्मचर्यादेव पारिव्राज्यमनुष्ठेयमित्युत्पत्तिविधिमुपन्यस्यति— **संसार**मिति । तत्त्वज्ञानमुद्दिश्य ब्रह्मचर्यादेव कर्मसन्न्यासमसामग्रीमभिदधानो विनियोगविधिं सूचयति— **पर**मिति । ज्ञानकर्मणोरसमुच्चयार्थं फलविभागं कथयति— **कर्मणे**ति । उक्तं फलविभागमनूद्य ज्ञाननिष्ठानां कर्मसन्न्यासस्य कर्तव्यत्वमाह— **तस्मा**दिति । वाक्यशेषेऽपि सर्वकर्मसन्न्यासो विवक्षितोऽस्तीत्याह— **इहापी**ति ।

**१ शां. भा.—** मोक्षस्य चाकार्यत्वान्मुमुक्षोः कर्मानर्थक्यम् । नित्यानि प्रत्यवायपरिहारार्थमनुष्ठेयानीति चेत्, न; असन्न्यासिविषयत्वात् प्रत्यवायप्राप्तेः । न ह्यग्निकार्याद्यकरणात् सन्न्यासिनः प्रत्यवायः कल्पयितुं शक्यः; यथा ब्रह्मचारिणामसन्न्यासिनामपि कर्मिणाम् । न तावन्नित्यानामकरणादभावादेव भावरूपस्य प्रत्यवायस्योत्पत्तिः कल्पयितुं शक्या, "कथमसतः सज्जायेत" [छां. ६।२।२] इत्यसतः सज्जन्मासम्भवश्रुतेः । यदि विहिताकरणादसम्भाव्यमपि प्रत्यवायं ब्रूयाद्वेदः, तदाऽनर्थकरो वेदोऽप्रमाणमित्युक्तं स्यात्, विहितस्य करणाकरणयोर्दुःखमात्रफलत्वात् । तथा च कारकं शास्त्रं न ज्ञापकमित्यनुपपन्नार्थं कल्पितं स्यात् । न चैतदिष्टम् । तस्मान्न सन्न्यासिनां कर्माणि; अतो ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः; 'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इत्यर्जुनस्य प्रश्नानुपपत्तेश्च ।

**२ आ. शां. व्या.—** ज्ञानार्थिनो मुमुक्षोः सन्न्यासविध्यनुपपत्तिबाधितं समुच्चयवचनमित्युक्तम्, इदानीं मोक्षस्वभावालोचनयाऽपि समुच्चयवचनमनुचितमित्याह— **मोक्षस्य चे**ति । 'अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति' [ मनुः ११।१४ ] इति स्मृतेर्मुमुक्षुणाऽपि प्रत्यवायनिवृत्तये कर्तव्यं नित्यं कर्मेति शङ्कते— **नित्यानी**ति । यो यस्मिन् कर्मण्यधिकृतस्तस्य तदकरणात् प्रत्यवायो भवति, न तु कर्मानधिकारिणः सन्न्यासिनस्तदकरणात्प्रत्यवायः सम्भवतीति दूषयति— **न; असन्न्यासी**ति । तदेव स्पष्टयति— **न ही**ति । समिद्धोमाध्ययनाद्यकरणात्प्रत्यवायः सन्न्यासिनो नास्तीत्यर्थः । तत्र व्यतिरेकोदाहरणमाह— **यथे**ति । अकरणात्प्रत्यवायोत्पत्तिमभ्युपेत्योक्तं, सम्प्रति प्रतिषिद्धकरणादेव प्रत्यवायः, न त्वकरणादभावाद्भावोत्पत्तेर्लोकवेदविरुद्धत्वादित्याह- **न तावदि**ति । ननु नित्यकर्मविधायी वेदस्तदकरणात्प्रत्यवायो भवतीति ब्रवीति तत्कथमकरणात्प्रत्यवायो न भवति इति श्रुतिमाश्रित्योच्यते श्रुत्यन्तरविरोधादिति तत्राऽऽह— **यदी**ति । विहितस्याकरणे सत्यनर्थप्राप्तेर्नित्यकर्मविधायी वेदोऽनर्थकरत्वेनाप्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह— **विहितस्ये**ति । न विहितस्य करणे पितृलोकप्राप्तिलक्षणं फलं भवतेष्यते, धूमादिना नयनपीडनादि दुःखं तु प्रत्यक्षमेव, अकरणे च प्रत्यवायोत्पत्तिः, उभयथाऽपि पुरुषस्यानर्थकरो वेदोऽप्रमाणमेव स्यादित्यर्थः । नन्वभावस्यापि भावोत्पादनसामर्थ्यं वेदः सम्पादयिष्यति तथा च विहिताकरणप्रत्यवायपरिहारो विहितकरणे फलिष्यतीति नेत्याह— **तथा चे**ति । लोकप्रसिद्धपदार्थशक्त्याश्रयणेन शास्त्रप्रवृत्त्यङ्गीकारादपूर्वशक्त्याधानायोगाज्ज्ञापकमेव शास्त्रमित्यर्थः । कारकत्वे च तस्याप्रामाण्यमप्रत्यूहं स्यादित्याह— **कारक**मिति । भवतु शास्त्रस्याप्रामाण्यमित्याशङ्क्यापौरुषेयतयाऽशेषदोषानाघ्रातत्वान्नैवमित्याह— **न चे**ति । अनिर्वाच्यानुपलम्भस्य संवेदनमभावज्ञाने कारणं, समीहितसाधनज्ञानं तु चरणन्यासादिप्रवृत्तिकारणं, इत्यङ्गीकृत्योपसंहरति— **तस्मा**दिति । अकरणात्प्रत्यवायोत्पत्त्यसम्भवस्तच्छब्दार्थः । सन्न्यासिनां ज्ञाननिष्ठानां कर्मसन्न्यासित्वादेव कर्मासम्भवे फलितमाह— **अत** इति । समुच्चयानुपपत्तौ हेत्वन्तरमाह— **ज्यायसी**ति ।

**१ शां. भा.—** यदि हि भगवता द्वितीयेऽध्याये 'ज्ञानं कर्म च समुच्चित्य त्वयैकेनानुष्ठेयम्' इत्युक्तं स्यात्, ततोऽर्जुनस्य प्रश्नोऽनुपपन्नः 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इति । अर्जुनाय चेत् 'बुद्धिकर्मणी त्वया अनुष्ठेये' इत्युक्ते, या च कर्मणो ज्यायसी बुद्धिः साप्युक्तैवेति 'तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव !' [ ३।२ ] इत्युपालम्भो वा प्रश्नो वा न कथञ्चनापपद्यते । न चार्जुनस्यैव ज्यायसी बुद्धिर्नानुष्ठेयेति भगवतोक्तं पूर्वमिति कल्पयितुं युक्तम्, येन 'ज्यायसी चेत्' इति

विवेकतः प्रश्नः स्यात् । यदि पुनरेकस्य पुरुषस्य ज्ञानकर्मणोर्विरोधाद्युगपदनुष्ठानं न सम्भवतीति भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वं भगवता पूर्वमुक्तं स्यात्, ततोऽयं प्रश्न उपपन्नः 'ज्यायसी चेत्' इत्यादिः । अविवेकतः प्रश्नकल्पनायामपि भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन भगवतः प्रतिवचनं नोपपद्यते । न चाज्ञाननिमित्तं भगवत्प्रतिवचनं कल्पनीयम् । अस्माच्च भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन ज्ञानकर्मनिष्ठयोर्भगवतः प्रतिवचनदर्शनात् ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः, तस्मात् केवलादेव ज्ञानान्मोक्ष इत्येषोऽर्थो निश्चितो गीतासु सर्वोपनिषत्सु च । ज्ञानकर्मणोः 'एकं वद निश्चित्य' [३।२] इति चैकविषयैव प्रार्थनाऽनुपपन्नोभयोः सम्भवे । 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' [४।१५] इति च ज्ञाननिष्ठासम्भवमर्जुनस्य अवधारणेन दर्शयिष्यति ।

२ आ.शां. व्या.-प्रश्नानुपपत्तिमेव प्रपञ्चयति- **यदि हीति** । समुच्चयोपदेशे प्रश्नैकदेशानुपपत्तेश्च न तदुपदेशोपपत्तिरित्याह— **अर्जुनायेति** । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' [२।४७] इत्यर्जुनं प्रत्युपदेशात्तं प्रति ज्यायसी बुद्धिर्नोक्तेति युक्तं तत्किमित्याद्युपालम्भवचनम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह — **न चेति** । येन कल्पनेन 'ज्यायसी चेत्' इत्यारभ्य 'तत्किं कर्मणि' इत्युपालम्भात्मा प्रश्नः स्यात्, तथा न युक्तं कल्पयितुम् 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिः' [२।३९] इति वचनविरोधादिति योजना । कस्मिन्पक्षे तर्हि प्रश्नस्योपपत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यदीति** । भगवदुक्तेऽर्थे प्रष्टुर्विवेकाभावात्प्रश्नः स्यादित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमेवाधिकविवक्षया स्मारयति— **अविवेकत इति** । भगवतोऽपि प्रतिवचनमज्ञाननिमित्तं प्रश्नानुरूपत्वादित्याशङ्क्याधिकं दर्शयति— **न चेति** । भगवतः सर्वज्ञत्वप्रसिद्धिविरोधादज्ञानाधीनप्रतिवचनायोगादित्यर्थः । इतश्च समुच्चयः शास्त्रार्थो न भवतीत्याह— **अस्माच्चेति** । कस्तर्हि शास्त्रार्थो विवक्षितस्तत्राऽऽह— **केवलादिति** । ज्ञानकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तौ कारणान्तरमाह— **ज्ञानेति** । वाक्यशेषवशादपि समुच्चयस्याशास्त्रार्थतेत्याह— **कुरु कर्मैवेति** ।

१ शां. भा.—ज्यायसी चेदिति ॥ ज्यायसी श्रेयसी चेद्यदि कर्मणः सकाशात् ते तव मताऽभिप्रेता बुद्धिर्ज्ञानं हे जनार्दन ! यदि बुद्धिकर्मणी समुच्चिते इष्टे, तदैकं श्रेयस्साधनमिति कर्मणो ज्यायसी बुद्धिरिति कर्मणोऽतिरिक्तकरणं बुद्धेरनुपपन्नमर्जुनेन कृतं स्यात्; न हि तदेव तस्मात् फलतोऽतिरिक्तं स्यात् तथा च, कर्मणः श्रेयस्करी भगवतोक्ता बुद्धिः, अश्रेयस्करं च कर्म कुर्विति मां प्रतिपादयति, तत् किं कारणम् ? इति भगवत उपालम्भमिव कुर्वन् 'तत् किं कस्मात् कर्मणि घोरे क्रूरे हिंसालक्षणे मां नियोजयसि केशव !' इति च यदाह, तच्च नोपपद्यते । अथ स्मार्तेनैव कर्मणा समुच्चयः सर्वेषां भगवतोक्तः, अर्जुनेन चावधारितश्चेत् 'तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि' इत्यादि कथं युक्तं वचनम् ? ॥ १ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्राथमिकेन सम्बन्धग्रन्थेन समस्तशास्त्रार्थसङ्ग्राहकेण तद्विवरणात्मनोऽस्य सन्दर्भस्य नास्ति पौनरुक्त्यमिति मत्वा प्रतिपदं व्याख्यातुं प्रश्नैकदेशं समुत्थापयति- **ज्यायसी चेदिति** । 'वेदाश्चेत्प्रमाणं' [ ] इतिवच्चेदित्यस्य निश्चयार्थत्वं व्यावर्तयति **यदीति** । बुद्धिशब्दस्यान्तःकरणविषयत्वं व्यवच्छिनत्ति **ज्ञानमिति** । पूर्वार्धस्याक्षरयोजनां कृत्वा समुच्चयाभावे तात्पर्यमाह— **यदीति** । इष्टे भगवतेति शेषः । एकं ज्ञानं कर्म च समुच्चितमिति यावत् । ज्ञानकर्मणोरभीष्टे समुच्चये समुच्चितस्य श्रेयस्साधनस्यैकत्वात्कर्मणः सकाशात् ज्ञानस्य पृथक्करणमयुक्तमित्यर्थः । एकमपि साधनं फलतोऽतिरिक्तं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याह— **न हीति** । न च केवलात्कर्मणो ज्ञानस्य केवलस्य फलतोऽतिरिक्तत्वं विवक्षित्वा पृथक्करणं समुच्चयपक्षे प्रत्येकं श्रेयस्साधनत्वानभ्युपगमादिति भावः । पूर्वार्धस्येवोत्तरार्धस्यापि समुच्चयपक्षे तुल्यानुपपत्तिरित्याह- **तथेति** । 'दूरेण ह्यवरं कर्म' [२।४९] इत्यत्र कर्मणः सकाशाद्बुद्धिः श्रेयस्करी भगवतोक्ता, कर्म च बुद्धेः सकाशादश्रेयस्करमुक्तं, तथापि तदेव कर्म 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु' [२।४७] इति स्निग्धं भक्तं च मां प्रति कुर्विति भगवान्प्रतिपादयति तत्र कारणानुपलम्भादयुक्तमतिक्रूरे कर्मणि भगवतो मन्नियोजनमिति यदर्जुनो ब्रवीति तच्च समुच्चयपक्षेऽनुपपन्नं स्यादित्यर्थः । यत्तु वृत्तिकारैरुक्तं 'श्रौतेन स्मार्तेन च कर्मणा समुच्चयो गृहस्थानां श्रेयस्साधनमितरेषां स्मार्तेनैव इति भगवतोक्तमर्जुनेन च निर्धारितं' इति तदेतदनुवदति— **अथेति** । तत्रापि तत्किमित्याद्युपालम्भवचनमनुपपन्नं कर्ममात्र समुच्चयवादिनो भगवतो नियोजनाभावादिति दूषयति— **तत्किमिति** ॥ १ ॥

### ३ रामानुजभाष्यम् ।

तदेवं मुमुक्षुभिः परमप्राप्यतया वेदान्तोदितनिरस्तनिखिलाविद्यादिदोषगन्धानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणपरब्रह्मपुरुषोत्तमप्राप्त्युपायभूतवेदनोपासनध्यानादिशब्दवाच्यतदैकान्तिकात्य-

न्तिकभक्तियोगं वक्तुं तदङ्गभूतं "य आत्माऽपहतपाप्मा" [ छां. उ. ८ । ७।१ ] इत्यादिप्रजापतिवाक्योदितं प्राप्तुरात्मनो याथात्म्यदर्शनं तन्नित्यताज्ञानपूर्वकासङ्गकर्मनिष्पाद्यज्ञानयोगसाध्यमुक्तम् ।

**४ वेङ्कटनाथरचिता तात्पर्यचन्द्रिका ।**

अथ सङ्गतिं विवक्षुः साक्षान्मोक्षोपायं वक्ष्यमाण च तत्स्वरूपं तत्प्राप्यं च दर्शयन् द्वितीयाध्यायोक्तार्थस्य साक्षान्मोक्षोपायत्वाभावेन अपवर्गप्रधाने शास्त्रे सङ्गत्यभावशङ्कां परिहर्तुमितिकर्तव्यतात्वं प्रथयति— **तदेव**मिति । तत् **शङ्करा**द्युक्तप्रकारनिराकरणेन यथावत् द्वितीयाध्यायनिर्वाहादित्यर्थः । **एव**मिति स्वोक्तौचित्यं निर्दिशति । "ब्रह्मविदाप्नोति परं" [ तै. उ.२।१।१ ] "परं ज्योतिरुपसम्पद्य" [छां.उ ८।३।४] "परात्परं पुरुषमुपैति" [ मुं. उ. ३।२।८ ] " रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति"[तै.उ. २।७]"परमं साम्यमुपैति" [मुं.उ ३।१।३]इत्यादिश्रुतिशतं 'कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च' [ ब्र. सू. १।२।४ ] इत्यादिसूत्रगणं चाभिप्रेत्योक्तं— **मुमुक्षुभिः परमप्राप्यतये**ति । 'मुमुक्षुभिः' इति बहुवचनेन सर्वब्रह्मविद्यानिष्ठानां प्राप्यमेकमिति द्योतयति । उपबृंहणीयानुरोधेन तदुपबृंहणार्थवर्णनाय **वेदान्तोदिते**त्युक्तम् । प्राप्यत्वोपयुक्तं प्रकृतिपुरुषवैलक्षण्यं सगुणनिर्गुणादिश्रुतिविषयव्यवस्थम् , 'आनन्दादयः प्रधानस्य' [ ब्र. सू. ३।३।११] 'अक्षरधियां त्ववरोधः' [ब्र सू. ३।३।३३] इत्यादिसूत्रोक्तसर्वविद्योपास्यसाधारणाकारं चाभिप्रेत्य **निरस्ते**त्यादिकमुक्तम् । कारणशोधकवाक्यैकार्थ्यं सामान्यशब्दानां विशेषोपसंहारं,तत एव त्रिमूर्त्यैक्यसाम्यातिरेकव्यक्त्यन्तरत्वनिरासम् , एकस्यैव जगदुपादाननिमित्तत्वम् ; उदाहरिष्यमाणश्रुतौ "स उत्तमः पुरुषः" [ छां.उ. ८।१२।३ ] इत्युक्तिं 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [१५।१७] इति वक्ष्यमाणप्रकरणार्थं च दर्शयितुं समाख्याद्वयमाह— **परब्रह्मपुरुषोत्तमे**ति । ज्ञानकर्मसमुच्चयान्यतरानुगृहीतान्यतरैकैकमात्रपक्षाणां निराकरणाय "नान्यः पन्थाः" [श्वे. उ. ३।८+६।१५] "नायमात्मा" [ कठो. १।२।२२+मुं. उ. ३।२।३ ] इत्यादिनिषेधतात्पर्यं वेदनादिसामान्यशब्दानां भक्तिलक्षणचरमविशेषे पर्यवसानं चाभिप्रेत्योक्तं **उपायभूते**त्यादि । **तदैकान्तिके**त्यत्र तत्क्रतुन्यायसिद्धोपास्यप्राप्यैक्यद्योतनाय तच्छब्दः । एकत्रान्तो निश्चय एकान्तः; तन्निबन्धना भक्तिरैकान्तिकी । ऐकान्तिकत्वं नाम देवतान्तरफलान्तरपरित्यागेन प्राप्यप्रापकभूतैकनिष्ठत्वम् । उक्तं च मोक्षधर्मे— 'ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः । प्रबुद्धचर्याः सेवन्ते मामेवैष्यन्ति यत्फलम् [ म. भा. १२।३४१।३६ ] इत्यादि । स्मरन्ति च— "परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि" [ना. प. उ. ३।१८] इति । वक्ष्यति चात्रैव 'भक्त्या त्वनन्यया' [ ११।५४ ] 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' [ १३।१० ] इत्यादि । विनाशाभावोऽत्यन्तशब्देन विवक्षितः । अतोऽत्र फलदशायामप्यनिवर्त्यत्वमात्यन्तिकत्वम् । एकैव भक्तिर्बहुलबहुलतरबहुलतमादिभावेन उपायदशामारभ्य फलदशापर्यन्तं प्रचीयमाना निरतिशयतामापद्यते । तद्यथा शारीरकेऽपीतिकर्तव्यताचिन्तनात् परस्ताद्भक्तिरङ्गिनी स्वरूपतो विशोधिता, तद्वदत्रापीत्यभिप्रायेणाह— **भक्तियोगं वक्तुं तदङ्गभूत**मित्यादि । अङ्गतायां प्रमाणमाह— **य आत्मे**ति । **प्राप्तु**रिति परव्यावृत्त्यर्थम् ।

**३ रा. भा.**— प्रजापतिवाक्ये हि दहरवाक्योदितपरविद्याशेषतया प्राप्तुरात्मनः स्वरूपदर्शनं "यस्तमात्मानमनुविद्य विजानाति" [छां. उ. ८।१२।६ ] इत्युक्त्वा जागरितस्वप्नसुषुप्त्यतीतं प्रत्यगात्मस्वरूपमशरीरं प्रतिपाद्य "एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [ छां. उ. ८।१२।३ ] इति दहरविद्याफलेनोपसंहृतम् ।

**४ वे.ता.चं.**—आत्मदर्शनस्य परविद्याङ्गतायां प्रमाणं प्रपञ्चयति— **प्रजापती**ति । फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गम् । तत्र सन्निधिस्तावदुच्यते— **दहरे**ति । प्रत्यगात्मविषयत्वव्यक्त्यर्थं तत्प्रकरणोदितप्रत्यगात्मपरिशोधनप्रकारमाह— **जागरिते**ति । प्रजापतिर्हि क्रमाज्जागरिताद्यवस्थात्रयविशिष्टं प्रत्यगात्मानमुपदिदेश इन्द्रस्तु "नाहमत्र भोग्यं पश्यामि" [ छां. उ. ८।९।१०।२ ] इति तत्रतत्र विमुखः पुनः पुनः पप्रच्छ; ततश्च शुश्रूषोर्योग्यतां विज्ञाय प्रजापतिः "अशरीरं वाव सन्तम्" [ छां. उ. ८।१२।१ ] इति परिशुद्धं स्वरूपमुक्तवान् । अत्राङ्गत्वसिद्ध्यर्थं दहरविद्यातः पृथक्फलाभावं तदेकफलत्वं चाह— **एवमेवे**ति ।

एतदुक्तं भवति— प्रजापतिवाक्यं हि दहरविद्याप्रकरणगतम्; न च प्रजापतिवाक्योदितप्रत्यगात्मदर्शनस्य निःश्रेयसातिरिक्तं फलमुक्तम्; न च केवलप्रत्यगात्मदर्शनं निःश्रेयससाधनं "नान्यः पन्थाः" [श्वे.उ. ३।८+६।१५] इत्यादिविरोधात् ; तत्क्रतुन्यायाच्च; न चात्र जीवप्राप्तिरेव फलमुच्यते, 'परं ज्योतिः' इति विशेषणात् "नारायणः परं ज्योतिः" [म. ना. उ. ११।४ ] इत्यादिना च परज्योतिश्शब्दस्य परमात्मविषयत्वप्रसिद्धेः, दहरविद्यायां पूर्वत्रापि तस्यैव परज्योतिश्शब्देनोक्तेः, उपसम्पत्तुरुपसम्पत्तव्याद्भेदस्य च स्वरससिद्धेः, प्राप्तुरात्मनः परब्रह्मसाम्यापन्नपुरुषलभ्यनिरतिशयस्वच्छन्दभोगनिर्दुःखताद्यभिधानाच्च । अतः प्रधानफलस्यैवात्र तदङ्गेऽपि निर्देशात्परविद्याङ्गं प्रत्यगात्मदर्शनम्— इति ।

**३ रा. भा.**— अन्यत्रापि "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" [ कठो. २।१२ ] इत्येवमादिषु देवं मत्वेति विधीयमानपरविद्याङ्गतया "अध्यात्मयोगाधिगमेन"

इति प्रत्यगात्मज्ञानमपि विधाय "न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [ कठो. २।१८ ] इत्यादिना प्रत्यगात्मस्वरूपं विशोध्य "अणोरणीयान्" इत्यारभ्य "महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति" [कठो. २।२०,२१] "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" [कठो. २।२२] इत्यादिभिः परस्वरूपं तदुपासनमुपासनस्य च भक्तिरूपतां प्रतिपाद्य "विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" [कठो. ३।९] इतिपरविद्याफलेनोपसंहृतम्।

४ **वे. ता. चं.**— अथ 'न जायते म्रियते' [२।२०] इत्यादिभिः कतिपयपदावापोद्वापभेदितैः श्लोकैः प्रत्यभिज्ञातार्थतया भगवद्गीताप्रबन्धसमानाकारां भक्तिशब्दकण्ठोक्तिमतीं कठवल्लीमुपनिषदमुक्तस्यार्थस्य निर्विशङ्कं विशदीकरणायोदाहरति— **अन्यत्रापी**ति। साङ्गसफलप्रधानविधिवाक्ये प्रधानांशमङ्गांशं च विभजते— **देवं मत्वे**ति। "अध्यात्मयोगाधिगमेन" इत्यत्र साक्षात्परविषययोगपरत्वे 'मत्वा' इत्यस्य साध्यत्वायोगात्, शास्त्रजन्यज्ञाने योगशब्दस्यावाचकत्वात्; 'मत्वा' इत्यत्र शास्त्रेणेत्यध्याहृत्य तद्व्युत्क्रमान्वयानौचित्याज्जीवस्यापि परवत्तत्रैव विवरिष्यमाणत्वाच्च जीवालम्बनयोगपरत्वं युक्तम्। अङ्गतया विहितस्य ज्ञानस्य ज्ञेयैकनिरूपणीयस्वरूपस्यापेक्षितज्ञेयस्वरूपशोधनोपदेशमाह— **न जायत** इति। एवं प्रथमषट्कोपबृंहणीयांश उक्तः। यथा सङ्गृहीतं 'ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्षे सुसंस्कृते। आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते' [गी. सं. २] इति। अथ द्वितीयतृतीयषट्कोपबृंहणीयांशमुदाहरति— **अणोरणीया**नित्यादिना। इदमपि सङ्गृहीतम्— 'मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये। ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः॥ प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम्। कर्मधीर्भक्तिरित्यादिः पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः' [गी. सं. ३,४] इति। 'अणोरणीयान्' इत्यादेरर्थमाह **परस्वरूप**मिति। 'महान्तं विभुं' इत्याद्युक्तमाह— **तदुपासन**मिति। 'नायमात्मा' इत्यस्याभिप्रेतमाह— **उपासनस्य चे**ति। केवलमनननिदिध्यासनश्रवणनिषेधमुखेन भक्त्याख्यवरणीयताहेतुगुणविशेषविधिपरमिदं वाक्यमिति शारीरकभाष्यादिषु विशदं व्याख्यातम्। "मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति" "मत्वा धीरो न शोचति" इत्युक्तस्यैव परविद्याफलस्योपसंहारेऽपि विशदोपदेशं प्रत्यगात्मज्ञानस्यैतदेकफलत्वप्रदर्शनायाह— **विज्ञाने**ति। एवमुपक्रमोपसंहारादिभिः परविद्यामयेऽस्मिन् प्रकरणे "अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा" इति परमात्मज्ञानकारणतया निर्दिष्टं पृथक्फलरहितं च प्रत्यगात्मज्ञानं परविद्याङ्गतया सिद्धमिति तदुपबृंहणतया प्रतीयमानेऽस्मिन्नपि प्रकरणे तथात्वमध्यवसातव्यमित्युक्तं भवति।

३ **रा. भा.**— अतःपरमध्यायचतुष्टयेनेदमेव प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो दर्शनं ससाधनं प्रपञ्चयति— यदि कर्मणो बुद्धिरेव ज्यायसीति ते मता, किमर्थं तर्हि घोरे कर्मणि मां नियोजयसि?। एतदुक्तं भवति— ज्ञाननिष्ठैव आत्मावलोकनसाधनम्; कर्मनिष्ठा तु तस्या निष्पादिका; आत्मावलोकनसाधनभूता च ज्ञाननिष्ठा सकलेन्द्रियमनसां शब्दादिविषयव्यापारोपरतिनिष्पाद्येत्यभिहिता। इन्द्रियव्यापारोपरतिनिष्पाद्यमात्मावलोकनं चेत्सिषाधयिषितं सकलकर्मनिवृत्तिपूर्वकज्ञाननिष्ठायामेवाहं नियोजयितव्यः; किमर्थं घोरे कर्मणि सर्वेन्द्रियव्यापाररूपे आत्मावलोकनविरोधिनि कर्मणि मां नियोजयसि? इति ॥ १ ॥

४ **वे. ता. चं.**— एवं सङ्क्षेपोक्तिपर्यवसाने प्रतिपत्तिसौकर्याय कुमतिमतभङ्गाय चात्मज्ञानस्य वक्ष्यमाणपरविद्याङ्गतामुपपाद्य उक्तविस्तररूपस्य प्रथमषट्कशेषस्योक्तांशेन सङ्गतिमाह— **अतःपर**मिति। एकस्मिन्नेव षट्के सङ्ग्रहविस्तररूपेण पेटिकाभेदप्रवृत्तिः। इदमेवेत्यवधारणेनाध्यायचतुष्टये परमात्मप्रसङ्गतद्ध्यानादेः 'युक्त आसीत मत्परः' [२।६८] इति पूर्ववदेवात्मदर्शनशेषत्वमवगमयति। पुनरुक्तिपरिहाराय **प्रपञ्चयती**त्युक्तम्। सप्रयोजनत्वाय प्रपञ्चनप्रकारमाह— **ससाधन**मिति।

अत्रार्जुनः प्रागेव समरव्यापारविरतिवासनायन्त्रितः कर्मयोगज्ञानयोगाख्यप्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकसाधनोपदेशे निवृत्त्युपदेशांशरसिकश्चोद्यमुखेन पृच्छति— **ज्याय**सीति। प्रथमश्लोकस्यान्वयं तावदाह— **यदी**ति। कर्मणो बुद्धिर्ज्यायसीति कुत्रोपदिष्टम्? 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात्' [२।४९] इत्यादि तु बुद्धिविशेषविशिष्टकर्मयोगपरमिति व्याख्यातम्; ज्यायस्त्वं च किंरूपमिहाभिमतम्? बुद्धेर्ज्यायस्त्वे च कर्मणि यथाधिकारं नियोगस्य को दोषः? घोरशब्दश्च भयङ्करपर्यायः, न च कर्मयोगो भयङ्करः; किंशब्दश्चात्र प्रश्नपरो वा प्रतिक्षेपपरो वा? इत्यादिकमाशङ्क्याह— **एतदुक्त**मिति। तत्र बुद्धेर्ज्यायस्त्वप्रकारं पूर्वं तदुक्तिप्रकारं चाह— **ज्ञाननिष्ठैवे**ति। स्थितप्रज्ञताप्रकरणे कर्मणो ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वमुक्तम्, ज्ञाननिष्ठाया एव चात्मावलोकनहेतुत्वम्, ततश्च अव्यवधानाद्बुद्धिर्ज्यायसीति

यथाधिकारं नियोगानर्हत्वाय ज्ञाननिष्ठानिष्पादनस्य कर्मप्रत्यनीकरूपत्वमुक्तं प्रकटयति— **आत्मेति** । 'यदा संहरते' [ २।५८ ] इत्याद्युक्तं स्मारयति— **सकलेन्द्रियेत्यादिना**। किंशब्दस्य प्रतिक्षेपपरत्वं 'ज्यायसी चेत्' इत्यत्र चेच्छब्दस्य निश्चितविषयत्वं चाभिप्रेत्य फलितमाह— **इन्द्रियव्यापारेति**। सकलकर्मेत्यसङ्गकर्मसङ्ग्रहणपरम् ।

**किमर्थमिति** । न तावत् स्वप्रयोजनार्थं, परिपूर्णत्वात्; न च सांसारिकफलप्रदानार्थम्, जनार्दनस्य जनिनिरासकस्य तव तन्निवर्तनस्वाभाव्यात्; नापि भूभारभूतधार्तराष्ट्रादिवधनिमित्तीकृतमद्विप्रलम्भार्थम्, प्रपन्नं मां प्रति केशवस्य ब्रह्मरुद्रादिपितुस्ते तदनौचित्यात्; नापि फलशौघ्र्यार्थं, पारम्पर्यस्य पूर्वमुपदिष्टत्वात्; न च सौकर्यार्थम्, अकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारार्थं वा, सकलेन्द्रियव्यापाररूपत्वेन तदुपरतिनिष्पाद्यात्मावलोकनविरोधितया मुमुक्षोर्घोरत्वात्; नच लोकसङ्ग्रहार्थं, लोकस्यापि यथावस्थिताकारोपदेशस्यैवोचितत्वात् । अतो भवतः प्राणसमतया भवतैवोद्घोषितं मां भवदनभिमते कर्मणि न नियोजयितुमर्हसीति भावः ।

घोरशब्दस्यात्र शास्त्रीयप्राणिपीडनपरत्वायोगात् प्रकृतोपयुक्तमभिप्रेतमाह— **सर्वेन्द्रियव्यापाररूप** इति । तथापि **कथं** घोरत्वमित्यत्राह— **आत्मावलोकनविरोधिनीति** ॥ ५ ॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं माध्वभाष्यम् ।

**आत्मस्वरूपं ज्ञानसाधनं चोक्तं पूर्वत्र । ज्ञानसाधनत्वेनाकर्म विनिन्द्य कर्म विधीयत उत्तराध्याये । कर्मणो ज्ञानमत्युत्तममित्यभिहितं भगवता 'दूरेण ह्यवरं कर्म' [ २।४९ ] इत्यादौ । एवं चेत्किमिति कर्मणि घोरे युद्धाख्ये नियोजयसि निवृत्तधर्मान्विना ? इत्याह— ज्यायसीति । कर्मणः सकाशाद्बुद्धिर्ज्यायसी चेत्ते तव मता, तर्हि ॥ १ ॥**

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेय दीपिका ।

श्रीव्यङ्कटेशाय नमः ॥ पूर्वोत्तराध्यायेभ्योऽस्य भेदं स्वस्मिन्नेकतां च दर्शयन्नेतदध्यायप्रतिपाद्यमर्थं पूर्वाध्यायार्थसङ्गतत्वेन विवक्षुस्तत्प्रतिपाद्यं तावदाह— **आत्मेति** । जीवेश्वरस्वरूपं साङ्ख्याख्यमित्यर्थः । ज्ञानसाधनमात्मज्ञानसाधनं योगाख्यम् । पूर्वत्र पूर्वस्मिन्नध्याये। न चैवं द्वितीयस्याध्यायस्यैक्यानुपपत्तिः, साधनस्यैव प्राचुर्यात् प्रचुरेण च व्यपदेशात्। तथा च सप्तमादौ वक्ष्यति 'साधनं प्राधान्येनोक्तमतीतैरध्यायैः' इति । 'आत्मस्वरूपं' इत्यादि तु प्रकरणभेदप्रदर्शनायोक्तमिति । एतत्सङ्गतत्वेन तृतीयाध्यायार्थमाह— **ज्ञानेति** । योगो द्विविधः, कर्मसमाधिभेदात् । तत्र तावज्ज्ञानसाधनत्वेन कर्म विधीयते कर्तव्यमेवेति ज्ञाप्यते कैश्चन वाक्यैरकर्म कर्माकरणं विनिन्द्यास्मिन्नध्याये अकर्मनिन्दाऽपि कर्मविध्यर्थेत्येकार्थता । तथापि प्रकरणभेदार्थमेवमुक्तम्। 'ज्ञानसाधनत्वेन' इति वदता मोक्षसाधनता निरस्ता । तेन प्रश्नप्रतिवचनापव्याख्यानमप्यपहस्तितम् । आनन्दवृद्ध्यर्थता त्वनुज्ञायत एव । बीजं प्रदर्शयन्प्रश्नवाक्यतात्पर्यमाह— **कर्मण** इति । आदिपदेन 'कृपणाः फलहेतवः' [ २।४९ ] इत्यादेर्ग्रहणम् । घोरे रागद्वेषाद्युपेते । अत्रोभयत्र कर्मशब्देन काम्यं कर्माभिप्रेतम् । निवृत्तधर्मान्निष्कामधर्मान् यत्याश्रमविहिताञ्छमदमादीन् । अत्र कर्मणि किमिति नियोजयसीत्येकः प्रश्नः, घोर इति द्वितीय इत्यवधेयम् ।

इदमुक्तं भवति— आश्रमत्रयविहितानि यज्ञादीनि, युद्धादीनि च कर्माणि काम्यान्येव, "सर्वे एते पुण्यलोका भवन्ति" [छां.उ. २।२३।२ ]इत्यादिफलश्रवणात् । तथाऽत्रापि 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्' [२।३७] इत्यादि । चतुर्थाश्रमविहितानि शमादीन्यकाम्यानि, फलाश्रवणात्; "शान्तो दान्तः" इत्युपक्रम्य "आत्मानं पश्यति" [ बृ. उ. ४।४।२३ ] इति ज्ञानार्थत्वश्रवणाच्च । ज्ञानं च काम्यात्कर्मणोऽत्युत्तममित्यभिहितम् । ततश्च काम्ये कर्मणि युद्धे 'युद्धस्व भारत' [ २।१८ ]इति नियोजनमयुक्तं, किन्तु चतुर्थाश्रमं स्वीकृत्य तद्धर्मनिष्ठो भवेति नियोक्तव्यम् । ननु युद्धमपि 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' [२।३९] इत्युक्तत्वाज्ज्ञानार्थं भवतीति मतम्, तदा व्यामिश्रेण वाक्येन बुद्धिमोहनमेव आपद्यते । अथैवं मतम्—युद्धादीनि कर्माणि काम्यान्यकाम्यानि च । तत्र यः सकामस्तं प्रति 'हतो वा' [२।३७] इत्याद्युक्तम् । यः पुनर्ज्ञानार्थी, तमुद्दिश्य 'कर्मण्येवाधिकारः' [ २।४७ ] इत्युक्तम्, तत्र का व्यामिश्रता ? इति । तथापि शुद्धेषु निवृत्तिलक्षणेषु यत्याश्रमधर्मेषु सत्सु वैकल्पिकेषु नियोजनमयुक्तमेव । तत्र मनोविक्षेपाभावात्, अत्र तद्भावादिति । किञ्च कामक्रोधादीनां नरकफलत्वमुक्तम् । युद्धे च कामाद्योऽवर्जनीयाः । ततोऽपि तत्र नियोजनमयुक्तम् । नन्वस्योत्तरं 'सुखदुःखे समे कृत्वा' [ २।३८ ] इत्युक्तम्, सत्यं ; तथापि रागादिप्रसक्तिहीनेषु शक्यानुष्ठानेषु यतिधर्मेषु सत्स्वशक्यानुष्ठाने युद्धे नियोजनमयुक्तमेवेति प्रथमश्लोके पदानां व्यवहितत्वादन्वयं दर्शयन् किञ्चिद्व्याचष्टे— **कर्मण** इति । षष्ठीभ्रान्तिनिरासाय सकाशादित्युक्तम् । बुद्धिरात्मज्ञानम् । ज्यायसी प्रशस्ततरा ॥ १ ॥

## ७ हनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम् ।

**ज्यायसीति । कर्मणः सकाशाद्धे जनार्दन! बुद्धिर्ज्यायसी तव मता चेत्तत्र तर्हि घोरे युद्धात्मके कर्मणि मां किमर्थं नियोजयसि केशव ? ॥ १ ॥**

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

एवं तावत् 'अशोच्यानन्वशोचः' [ २।११ ] इत्यारभ्य, 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' [ २।७२ ] इत्यन्तेन अखिलवेदान्तसिद्धान्तसारस्यं रहस्यनिधानमशेषशोकमोहव्यूहप्रत्यनीकं अद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानं सपरिकरमुपदिष्टम् । अस्यैव प्रपञ्चनार्थमखिलोऽप्युत्तराध्यायसन्दर्भः। एतच्चाग्रे तत्तदध्यायार्थदर्शनेन स्पष्टीभविष्यति । तत्रास्मिन्नध्याये पूर्वोक्तज्ञानसाधनकर्मयोगः प्रपञ्च्यते । पूर्वाध्याये तावदर्जुनाय ज्ञानयोगं सप्रपञ्चमुपदिश्य 'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' [ २।२५ ] इति तत्कर्तव्यतां चोक्त्वा पुनः 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु' [ २।३९ ] इति कर्मयोगं प्रस्तुत्य 'कर्मण्येवाधिकारस्ते...मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' [ २।४७ ] इति कर्मैव कर्तव्यत्वेनोपदिष्टम् । तदेतदालक्ष्य व्याकुलीभूतोऽर्जुन उवाच—

हे जनार्दन! कर्मणः सकाशात् बुद्धिरात्मतत्त्वविषया ज्यायसी प्रशस्ततरा चेत्तव सम्मता, तर्हि किमर्थं घोरे गुरुब्राह्मणादिहिंसारूपत्वेन क्रूरे युद्धकर्मणि मां नियोजयसि प्रेरयसि ?

अत्र 'जनार्दन' इत्यनेन नामानुगुणमेव किमिदं हिंसानियोजनमिति विनोदोपालम्भनं व्यज्यते । 'केशव' इत्यनेन तु 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' [ २।७ ] इत्येवमुपपन्नोऽहम्; त्वं च 'केशवः क्लेशनाशाय' इति प्रसिद्धकेशवनामा; ततश्च मुख्य एव श्रेयस्साधने त्वयाऽहं नियोजयितव्यः, न तु प्रतारणीय इति सूचितम् ।

नन्वत्र कर्मापेक्षया ज्ञानश्रैष्ठ्यं भगवदभिमतमिति कुतोऽर्जुनेनावगतम् ? न हि पूर्वाध्याये भगवता कण्ठरवेण तथा क्वचिदुक्तमस्ति; न च 'दूरेण ह्यवरं कर्म' [ २।४९ ] इति श्लोके ज्ञानापेक्षया कर्मणो निकृष्टत्वं भगवतोक्तमिति वाच्यम्; तत्र 'कृपणाः फलहेतवः' [ २।४९] इति वाक्यशेषेण काम्यकर्मण एव ज्ञानान्निकर्षोक्तेः । 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' इति निष्कामकर्मापेक्षयैव हि ज्ञानज्यायस्त्वमुच्यते । कर्मशब्दस्य सकामकर्मपरत्वे 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि' इत्युत्तरार्धासङ्गतेः, 'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व' [ २।३८ ] 'मा फलेषु कदाचन' [ २।४७ ] 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा' [ २।४८ ] इत्यादिना निष्कामकर्मनियोजनस्यैव प्रस्तुतत्वात् । यत्तु 'हतो वा प्राप्स्यसे स्वर्गम्' [२।३७] इति सकामकर्मनियोजनवचनम्, तत्तु सकामत्वपक्षेऽपि युद्धादुपरतिर्न कार्येत्येतत्परमेव, न तु तद्विधिपरम्; उदाहृतानेकनिष्कामकर्मनियोजनवचनविरोधात् । एतेन 'काम्यकर्मापेक्षया ज्ञानस्य ज्यायस्त्वे किमिति युद्धाख्ये काम्यकर्मणि मां नियोजयसीत्यर्थः' इति माध्वव्याख्यानमपि निरस्तम्, उक्तरीत्या निष्कामकर्मण्येव नियोजयन्तं प्रत्येवं प्रश्नायोगात्, कामनानिमित्तकानुष्ठानविषयत्वाविषयत्वाभ्यामेव च काम्याकाम्यविभागव्यवस्थितेर्निकृष्टकाम्यनियोजने को हेतुरिति पृष्टवन्तं प्रति 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' [ ३।३ ] इत्यादिप्रतिवचनस्याप्यसम्बद्धत्वाच्च । तस्मात्कर्मणो बुद्धिज्यायस्त्वं भगवदभिमतमित्येतत्र भगवत्कण्ठोक्त्याऽवगम्यते' नापि 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ !' [२।७२] इत्यादिना भगवता मोक्षार्थत्वेन ज्ञानप्रशंसनात् ज्ञानश्रैष्ठ्यं तदभिमतमित्युन्नीयत इति युक्तम्; 'बुद्धियोगे त्विमां शृणु। बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ ! कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥ नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते । स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' [ २।३९-४० ] इत्यादिना भगवता कर्मणोऽपि मोक्षार्थतया प्रशंसितत्वेन ततस्तस्य ज्ञानश्रैष्ठ्याभिमतत्वनवगतेः ।

न च 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' [५।११] इत्यादिना ज्ञानाङ्गत्वेन कर्मणो भगवताऽभिधास्यमानत्वात् 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' [२।३९] इति तस्य मोक्षहेतुत्वं ज्ञानद्वारकमेव विवक्षितं, न तु ज्ञानस्येव साक्षात्; अतस्तस्य ज्ञानान्निकर्षो भगवदभिमत इति वाच्यम्; एवं सति 'तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि......तदेकं वद निश्चित्य' [ ३।२ ] इति चार्जुनस्य प्रश्नायोगात् । न हि ज्ञानोपकारकं कर्मेति जानतः स्वयं च ज्ञानार्थिनः 'तत्किं कर्मणि नियोजयसि' इति वा 'ज्ञानकर्मणोरेकं निश्चित्य वद' इति वा प्रश्नो युज्यते । न चैवं तर्हि तदज्ञानादेवार्जुनस्य प्रश्न इति युक्तम्; तथा सति ज्ञानद्वारकं कर्मणो मोक्षहेतुत्वमित्यजानतोऽर्जुनस्य 'कर्मबन्धं प्रहास्यसि' [ २।३९ ]इत्यादिना यथाश्रुतमद्वारकमोक्षहेतुत्वमेवावगतमासीदिति तस्योक्तरीत्या भगवदभिमतज्ञानश्रैष्ठ्यावगत्यसम्भवेन 'ज्यायसी चेत्' इति प्रश्नानुपपत्तितादवस्थ्यात् । तस्मादत्र कारणं वक्तव्यं, येन 'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिः' इति प्रश्नस्यावकाशो भवतीति ।

अत्रोच्यते—पूर्वाध्याये ज्ञानकर्मणी भगवतोपदिष्टे; तयोरधिकारभेदो न स्पष्टमुपदिष्टः; तेनार्जुनस्य सन्दिग्धहृदयस्य 'ज्यायसी चेत्' इत्यादिविकल्परूपोऽयं प्रश्न इति न कश्चिद्दोषः । तथा हि—अयमत्र विकल्पक्रमः 'किमेते ज्ञानकर्मणी एकाधिकारिके किंवा भिन्नाधिकारिके ? एकाधिकारिकत्वेऽपि किं ज्ञानं कर्मापेक्षया ज्यायः किंवा मोक्षे जनयितव्ये ज्ञानकर्मणोः समप्राधान्यम् ? इति । एवं विकल्प्याद्ये दोषमाह—ज्यायसी चेदिति । ज्ञानस्य ज्यायस्त्वे तत्रैवाहं नियोजयितव्यः, न तु निकृष्टे कर्मणीत्यर्थः । ज्ञानकर्मणोः समप्राधान्यपक्षे दोषमाह—घोर इति । द्वयोरपि समत्वे हि सौम्ये ज्ञान एव प्रवर्तयितुमुचितम्, न तु गुर्वादिवधरूपत्वेन क्रूरे युद्ध इत्यर्थः ॥ १ ॥

## ९ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटीकृता तत्त्वदीपिका ।

अथाष्टभिस्त्रयीधर्मो माहात्म्यज्ञानभक्तिकृत् । पार्थाय श्रीभगवता मर्यादा वचसोच्यते ॥ १ ॥
साङ्ख्ययोगौ निरूप्यादौ तृतीये धर्मनिर्णयः । त्यागात्यागविभेदेन त्यागादत्याग उत्तमः ॥ २ ॥

यावच्छरीरसम्बन्धं त्यागः कर्त्तुं न शक्यते । अतो भगवदाज्ञातस्तदर्थं कृतिरुत्तमा ॥ ३ ॥
योगे कर्मपथे त्यागं साङ्ख्यबुद्ध्युपसंहृतम् । जानन्ननिश्चयात्तत्र फाल्गुनः परिपृच्छति ॥ ४ ॥

यद्यपि पूर्वं भगवता 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु' [ २।३९ ] इत्यादौ योगबुद्धिरुपक्रान्ता, तत्र च योगे स्वकर्मोपदिष्टं तथाप्यन्ते स्थिरधीप्रसङ्गे पुनस्त्यागमतिरेवोपसंहृतेति निर्णयमजानन् पृच्छति— अर्जुन उवाच, ज्यायसी चेदिति । कर्मणः सकाशात् बुद्धिस्तथा ज्यायसी चेत् ते मता तर्हि घोरे कर्मणि युद्धे नियोजयसि किम्? इति ॥ १ ॥

१० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
योगसाङ्ख्यब्रह्मभावकर्माद्याः प्रभुवाक्यतः ।
सर्वसंशयोऽब्रवीत् कृष्णं भक्तिप्राप्तीच्छुरर्जुनः ॥

एवं पूर्वाध्याये भगवता बुद्धियोगस्य कर्मण उत्तमत्वमुक्तमिति कर्मोपदेशः किमाशयः? इति संशयाविष्टोऽर्जुन उवाच— ज्यायसी चेदिति । हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक! ते कर्मणः सकाशात् बुद्धिश्चेज्ज्यायसी श्रेष्ठा मता सम्मता तदा मां घोरे अकरणप्रत्यवाये किञ्चिदपि कर्मलोपादिविफले कर्मणि किमिति नियोजयसि प्रवर्त्तयसि? । केशवेतिसम्बोधनेन दुष्टगुणव्यासयोरपि मोक्षदातृत्वात्तथा कर्म कारयित्वाऽपि चेन्मोक्षं दातुमिच्छसि तदा कर्तव्यमेवेति भावो व्यञ्जितः ॥ १ ॥

११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

११ नी० भा० दी०— पूर्वस्मिन्नध्याये 'एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु [ २।३९ ] इति द्वे बुद्धी प्रदर्श्य 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः' [ २।४१ ] इति श्लोकेन साङ्ख्यनिष्ठावतां पातशङ्का नास्ति, कर्मयोगनिष्ठावतां तु साऽस्तीत्युक्त्वा 'यावानर्थ उदपाने' [ २।४६ ] इति साङ्ख्यनिष्ठायां सर्वकर्मफलान्तर्भावश्रवणात्तामेव प्रशमात्मिकां स्वाशयानुकूलां मन्वानोऽर्जुन उवाच— ज्यायसीति । हे जनार्दन ! कर्मणो निष्कामकर्मयोगापेक्षया बुद्धिः साङ्ख्यनिष्ठालक्षणं ज्ञानं ज्यायसी प्रशस्ततरा चेत्ते तव मता, तत्तर्हि मां भैक्ष्यवृत्त्याऽपि तुष्यन्तं घोरे बन्धुवधाख्ये कर्मणि किं कुतो हेतोर्नियोजयसि पुनः पुनर्युध्यस्वेति वदन्? ॥ १ ॥

**व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।**
**तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च व्यामिश्रेणेति ॥ व्यामिश्रेणेव- यद्यपि विविक्ताभिधायी भगवान्, तथापि मम मन्दबुद्धेर्व्यामिश्रमिव भगवद्वाक्यं प्रतिभाति । तेन मम बुद्धिं मोहयसीव । मम मन्दबुद्धेर्व्यामोहापनयाय हि प्रवृत्तस्त्वं तु कथं मोहयसि? अतो ब्रवीमि बुद्धिं मोहयसीव मे ममेति । त्वं तु भिन्नकर्तृकयोर्ज्ञानकर्मणोरेकपुरुषानुष्ठानासम्भवं यदि मन्यसे, तत्रैवं सति तत्तयोरेकं बुद्धिं कर्म वा 'इदमेवार्जुनस्य योग्यं बुद्धिशक्त्यवस्थानुरूपं' इति निश्चित्य वद ब्रूहि; येन ज्ञानेन कर्मणा वाऽन्यतरेण श्रेयोऽहमाप्नुयां प्राप्नुयामिति । यदि हि कर्मनिष्ठायां गुणभूतमपि ज्ञानं भगवतोक्तं स्यात्तत् कथं 'तयोरेकं वद' इत्येकविषयैवार्जुनस्य शुश्रूषा स्यात्? । नहि भगवता पूर्वमुक्तम् 'अन्यतरदेव ज्ञानकर्मणोर्वक्ष्यामि, नैव द्वयम्' इति; येन उभयप्राप्त्यसम्भवमात्मनो मन्यमान एकमेव प्रार्थयेत ॥ २ ॥

२ आ. शां. व्या.— इतश्च प्रश्नः समुच्चयानुसारी न भवतीत्याह— किञ्चेति । भगवतो विविक्तार्थवादित्वादयुक्तं 'व्यामिश्रेण' इत्यादिवचनमित्याशङ्क्याऽऽह— यद्यपीति । यदि भगवद्वचनं सङ्कीर्णमिव ते भाति तर्हि तेन त्वदीयबुद्धिव्यामोहनमेव तस्य विवक्षितमिति किमिति मोहयसीव इत्युच्यते? तत्राऽऽह— ममेति । ज्ञानकर्मणी मिथो विरोधाद्युगपदेकपुरुषाननुष्ठेयतया भिन्नकर्तृके कथ्येते । तथा च तयोरन्यतरस्मिन्नेव त्वं नियुक्तः, न तु ते बुद्धिव्यामोहनमभिमतमिति भगवतो मतमनुवदति— त्वं त्विति । तदेकमित्यादिश्लोकार्धेनोत्तरमाह— तत्रेति । उक्तं भागवतं मतं सप्तम्या परामृश्यते 'एवं' इत्युक्तप्रकारोक्तिः । 'एकं' इत्युक्तमेव स्फुटयति— बुद्धिमिति । निश्चयप्रकारं प्रकटयति— इदमिति । योग्यत्वं

स्पष्टयति— **बुद्धीति** । अस्य क्षत्रियस्य सतोऽन्तःकरणस्य देहशक्तेः समरसमारम्भावस्थायाश्चेदमेव ज्ञानं कर्म वाऽनुगुणमिति निर्धार्य ब्रूहीत्यर्थः । निश्चित्यान्यतरोक्तौ तेन श्रोतुः श्रेयोवाप्तिं फलमाह— **येनेति** । तदेकमित्यादिवाक्यस्याक्षरोत्थमर्थमुक्त्वा समुच्चयस्य शास्त्रार्थत्वाभावे तात्पर्यमाह— **यदि हीति** । **गुणभूतमपी**त्यादिना प्रधानभूतमपि वेति विवक्षितम् । ननूभयप्राप्त्यसम्भवमात्मनो मन्यमानस्यार्जुनस्यान्यतरविषया शुश्रूषा भविष्यति, नेत्याह— **न हीति** । यथोक्तभगवद्वचनाभावे द्वयप्राप्त्यसम्भवबुद्ध्या नान्यतरप्रार्थना सम्भवतीत्याह— **येनेति** । न हि तथाविधं भगवद्वचनं भवतेष्टं, भगवतः समुच्चयवादित्वाङ्गीकारात्; अतस्तदभावादुक्तबुद्ध्या न युक्तान्यतरप्रार्थनेत्यर्थः ॥ २ ॥

**३ रा. भा.— अतो मिश्रवाक्येन मां मोहयसीवेति मे प्रतिभाति । तथा ह्यात्मावलोकनसाधनभूतायाः सर्वेन्द्रियव्यापारोपरतिरूपायाः ज्ञाननिष्ठायास्तद्विपर्ययरूपं कर्म साधनं तदेव कुर्विति वाक्यं विरुद्धं व्यामिश्रमेव, तस्मादेकममिश्ररूपं वाक्यं वद; येन वाक्येनाहमनुष्ठेयरूपं निश्चित्यात्मनः श्रेयः प्राप्नुयाम् ॥ २ ॥**

**४ वे.ता.चं.**— उक्तमर्थं हेतूकुर्वन् द्वितीयश्लोकार्थमाह— **अत** इति । अचेतनाया बुद्धेर्मोहनस्यौपचारिकत्वान्मामित्युक्तम् । इवशब्दद्योतितमाह— **प्रतिभातीति** । एतेन कारुणिकत्वात् त्वं तावन्न मोहयसि, अहं तु मन्दो मुह्यामीत्युक्तं भवति । व्यामिश्रशब्दाभिप्रेतं व्याघातं तत्प्रकारं चोपपादयति— **तथा हीति** । तद्विपर्ययरूपं कर्म तस्याः कथं साधनं ? तद्विरुद्धं च कथं तदर्थिना कर्तव्यं ? इति व्याहतिद्वयमिहाभिप्रेतम् । **एक**मित्येतत्र ज्ञानकर्मणोरन्यतरविषयं, तयोरेकस्यैव कर्मण उपदिष्टत्वात्; तत्र च स्वस्यानुपपन्नताप्रतिभासे तथा भ्रमनिवृत्तेश्चानन्तरमपेक्षणीयत्वात् तस्याश्च व्यामिश्रत्वनिवृत्तिसाध्यत्वाद्वाक्यशब्दस्य चैतच्छ्लोकगतस्य विशेष्यसमर्पकत्वौचित्यादित्यभिप्रेत्योक्तम्— **अमिश्ररूपं वाक्य**मिति । पूर्वेणान्वयभ्रमव्युदासाय निश्चित्येत्यादेरर्थमाह— **येनेति** । 'निश्चित्य' इत्यस्य न तावत् 'वद'इत्यनेनान्वयः, सर्वज्ञस्य तस्य प्रागप्यनिश्चयायोगात्, व्यामिश्रवाक्येनापि परव्यामोहनमात्रस्य शङ्कितत्वात् । अतोऽर्जुनस्यैव निश्चयाकाङ्क्षा, ततश्च निश्चित्य श्रेयः प्राप्नुयामित्येवान्वयः । निश्चयसापेक्षं सन्दिग्धविषयमाह— **अनुष्ठेयरूप**मिति ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २ ॥

॥ ६ ज. प्र. दी. ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्च— व्यामिश्रेणेव सङ्कीर्णेनेव बुद्धिं मोहयसीव 'कदाचित्कर्म श्रेयः' इति कदाचित् 'बुद्धिः श्रेयसी' इति च सङ्कीर्णेनेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मोहं नयसीव मे । तत्तस्मादेवमनुष्ठेयं निश्चित्य वद; येनानुष्ठितेन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥ २ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— भिन्नाधिकारिकत्वपक्षे दूषणमाह— **व्यामिश्रेणेति** । ज्ञानकर्मणोर्भिन्नाधिकारिकत्वे हि एकं प्रत्येव तयोरुभयोरप्युपदेशो न घटते । उपदिष्टं चैकमेव मां प्रति ज्ञानकर्मद्वितयम् 'तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि' [ २।२५ ] 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय !' [२।४८] इति; तदुपरि पुनः 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इति ब्रूषे । अतः सङ्कीर्णार्थकत्वाद्व्यामिश्रमेव तव वाक्यं प्रतीयते; एवंविधेन वाक्येन मम बुद्धिं मोहयसीव मोहं नयसीव । परमकारुणिकस्त्वं न मोहयस्येव, किन्तु मन्दबुद्धेर्ममैव त्वदुक्तितात्पर्याज्ञानादेवं मोहो भवतीतीवकारार्थः । तत्तस्मात् एकाधिकारभिन्नाधिकारविकल्पासहत्वा द्धेतोः ज्ञानकर्मद्वयोपदेशं विहाय मदधिकारानुगुणमेकं ज्ञानं कर्म वा निश्चित्य वद, येन अधिकारनिश्चयपूर्वकमुपदिष्टेन ज्ञानेन कर्मणा वाऽहमेकेनानुष्ठितेन श्रेयो मोक्षमाप्नुयां प्राप्स्यामि । अत्र 'तदेकं वद' इत्युक्त्या ज्ञानकर्मसमुच्चयो निरस्त इति भाष्ये प्रपञ्चः ॥ २ ॥

**९ ब० त० दी०**— ननु 'धर्म्याद्धि युद्धात्' [ २।३१ ] इति कर्मणः श्रेयस्त्वक्तो नोदितमिति चेत्तत्राह— **व्यामिश्रेणेति** । तर्हि तव वाक्यं व्यामिश्रं नैकान्तिकं सन्देहोत्पादकमिव क्वचित् कर्मप्रशंसा क्वचित् कर्मत्यागप्रशंसा । **एक**मिति । एतेन मे बुद्धिं मोहयसीव, तदेकं निश्चित्य वद ॥ २ ॥

**१० पु. अ. त.**— किञ्च स्पष्टतया बोधाभावान्मे बुद्धिर्मोहमवाप्नोतीति यथाऽहं त्वां प्राप्नोमि तत्तथा स्पष्टमाज्ञापयेत्याह— **व्यामिश्रेणेवेति** । व्यामिश्रेणेव वाक्येन क्वचित्कर्म प्रशंससि क्वचिज्ज्ञानमितिरूपसन्देहोत्पादकेन वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसीव । भगवद्वाक्यं तु व्यामिश्रं न भवति, परन्तु जीवैर्न बुध्यत इति 'इव' इत्यनेन ज्ञापितम् । 'मोहयसि' इत्यत्रापि इवेतिपदेन भगवत्सन्निधौ मोहोऽनुचित इति ज्ञापितम्, तस्मात्कारणाद्यथा मम बुद्धिर्मोहोऽपगच्छति तथा एकं श्रेयोरूपं कल्याणरूपं भक्तिप्रतिपादकं वाक्यं निश्चित्य मयि दानेच्छां कृत्वा वद; येनाऽहं त्वामाप्नुयां प्राप्नोमीत्यर्थः ।

पूर्वोक्तव्यामिश्रवाक्यमध्ये नैकस्यापि श्रेयोरूपत्वं, मोहकत्वात् । सर्वथा भगवत्प्रापकश्रेयोरूपत्वं भक्तेरेव । अत एव श्रीभागवते- 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य' इत्यारभ्य 'श्रेयो भवेदिह' [ ११।२०।३१ ] इत्यन्तं सर्वेषां न श्रेयोरूपत्वमुक्तम् । अतः पूर्वोक्तमध्ये 'एकं निश्चित्य वद' इति व्याख्यानं न साधु ॥ २ ॥

११ नी०भा०दी०— ननु तव ज्ञाननिष्ठायामनधिकारात् कर्मैव कुर्विति त्वां ब्रवीमीत्याशङ्क्याऽऽह— व्यामिश्रेणेति । व्यामिश्रेण अविविक्तेन । इवशब्दो विविक्तेऽपि बुद्धिदोषात् अविविक्ततां गृह्णामीति सूचयति । तेन वाक्येन 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !' [२।४५] इति क्वचिद्वेदनिष्ठां त्याजयसि, 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इति तामेव च ग्राहयसि ; तथा 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्-भव' [२।४५] इति निवृत्तिमार्गमुपदिशसि, 'धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते' [ २।३१ ] इति प्रवृत्तिमप्युपदिशसि ; न ह्येकेन मया युगपदुभयं स्थितिगतिवदनुष्ठातुं शक्यं, अतो मे मम बुद्धिं मोहयसीव । वस्तुतस्तु मम मोहं नाशयितुं प्रवृत्तोऽसीति इवशब्देनोच्यते । तत्तयोर्मध्ये यदेकं प्रधानं मद्योग्यं तन्निश्चित्य वद, येनानुष्ठितेनाहं श्रेयः कल्याणप्राप्नुयाम् ॥ २ ॥

पूर्वोक्तं व्यामिश्रं मन्वानस्यार्जुनस्य भ्रमापाकरणायाधिकारभेदेन कर्मज्ञानयोरङ्गाङ्गिभावज्ञापनाय च भगवदुक्तम् ।

**श्रीभगवानुवाच— लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा* पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ !।**
**ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥ ३ ॥**

१ शां. भा.— प्रश्नानुरूपमेव प्रतिवचनं श्रीभगवानुवाच- लोकेऽस्मिन्निति ॥ लोकेऽस्मिन् शास्त्रार्थानुष्ठानाधिकृतानां त्रैवर्णिकानां द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिरनुष्ठेयतात्पर्यं पुरा पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं वेदार्थसम्प्रदायमाविष्कुर्वता प्रोक्ता मया सर्वज्ञेनेश्वरेण हे अनघ अपाप ! । तत्र का सा निष्ठा द्विविधा ? इत्याह— ज्ञानेति । तत्र ज्ञानयोगेन- ज्ञानमेव योगस्तेन साङ्ख्यानामात्मानात्मविषयविवेकविज्ञानवतां ब्रह्मचर्याश्रमादेव कृतसन्न्यासानां वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थानां परमहंसपरिव्राजकानां ब्रह्मण्येवावस्थितानां निष्ठा प्रोक्ता । कर्मयोगेन- कर्मैव योगः कर्मयोगस्तेन कर्मयोगेन योगिनां कर्मिणां निष्ठा प्रोक्तेत्यर्थः । यदि चैकेन पुरुषेणैकस्मै पुरुषार्थाय ज्ञानं कर्म च समुच्चित्य अनुष्ठेयं भगवतेष्टमुक्तं वक्ष्यमाणं वा गीतासु वेदेषु चोक्तम्, कथमिहार्जुनायोपसन्नाय प्रियाय विशिष्टभिन्नपुरुषकर्तृके एव ज्ञानकर्मनिष्ठे ब्रूयात् ? । यदि पुनरर्जुनो

---

* यत्तु- 'पुरा पूर्वाध्याये' इति **नव्याः** । तन्न, "'प्रोक्ता' इत्येतावतैव निर्वाहे 'लोकेऽस्मिन्' इत्यस्य 'पुरा' इत्यस्य च वैयर्थ्यप्रसङ्गात् । 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' [ ४।१ ] इति वक्ष्यमाणेन भाष्योक्तार्थस्य स्पष्टप्रतिपादकेन मूलेन विरोधाच्च" इति भाष्योत्कर्षदीपिकया दत्तोत्तरत्वात् ॥ ॥ यदपि निष्ठाशब्दात्पूर्वं मोक्षपदमध्याहृत्य 'येन गच्छताऽन्ते मोक्षः प्राप्यते, स पन्थाः' इत्यर्थकल्पनम्, तदप्ययुक्तम् । सत्यां गतावध्याहारस्यान्याय्यत्वात्, निरुपसृष्टात् 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' [९२८] इत्यस्मात 'आतश्चोपसर्गे' [ अष्टा.३।३।१०६ ] इत्यङि निष्पन्नस्य निष्ठाशब्दस्याभिधानादिषु क्वापि मार्गवाचित्वादर्शनाच्च । स्थित्यर्थत्वे तु 'निष्ठा स्यात्स्थितिनाशयोः' इत्यभिधानं, 'तेषामशान्तकामानां का निष्ठाऽविजितात्मनाम् ।' [ भाग. ११।५।१ ] 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः ।' [भाग.११।२०।२६+२१।२ ] 'एवंरूपा परा निष्ठा शिवस्यास्ति स्वभावतः ।' [ब्र.गी.१२।२७] इत्यादयः शतशः प्रयोगाश्चानुकूलाः । दृष्टश्चात्रापि 'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण !' [ १७।१ ] इति स्थित्यर्थत्वेन प्रयोगः । स्वीकृतश्च तत्र **नव्यै**रपि तथार्थ इति नास्ति विस्तरापेक्षा ॥ ॥ यच्चात्र 'साङ्ख्ययोगसंज्ञे अस्मिञ्जगति द्विविधे द्विप्रकारे निष्ठे विद्येते' इति व्याख्याय 'गीतानुसारेण द्वे एवैते निष्ठे, ते चान्योन्यनिरपेक्षे । न ह्येकस्या अपराऽङ्गम्' इत्युक्तम्; तत्तुच्छमेव । "नास्त्यकृतः कृतेन" [मुं.उ.१।२।१२] "विविदिषन्ति यज्ञेन-" [बृ.उ.४।४।२२] इत्यादिश्रुतिविरोधात्, 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि' [१८।५] 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।' [५।११] 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि' [ २।५१ ] इत्यादितदनुगामिगीतावचोव्याकोपाच्च । निष्ठाद्वयकल्पनं च मूलगतैकवचनविरोधादेव पराहतम् । पराक्रान्तं च तद्विषये **मधुसूदन**सरस्वती**नीलकण्ठ**प्रभृतिभिरिति नाधिकं प्रपञ्च्यते ।

—**अविगीता**.

**ज्ञानं कर्म च द्वयं श्रुत्वा स्वयमेवानुष्ठास्यति, अन्येषां तु भिन्नपुरुषानुष्ठेयतां वक्ष्यामीति मतं भगवतः कल्प्येत, तदा रागद्वेषवानप्रमाणभूतो भगवान् कल्पितः स्यात्। तच्च अयुक्तम्। तस्मात् कयाऽपि युक्त्या न समुच्चयो ज्ञानकर्मणोः ॥ ३ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— समुच्चयविरोधितया प्रश्नं व्याख्याय तद्विरोधित्वेनैव प्रतिवचनमुत्थापयति— **प्रश्ने**ति । येयं व्यवहारभूमिरुपलभ्यते तत्र ये त्रैवर्णिका ज्ञानं कर्म वा शास्त्रीयमनुष्ठातुमधिक्रियन्ते, तेषां द्वयी स्थितिर्मया प्रोक्तेति पूर्वार्धं योजयति— **लोकेऽस्मिन्नि**ति । स्थितिमेव व्याकरोति— **अनुष्ठेये**ति । पूर्वं प्रवचनप्रसङ्गं प्रदर्शयन् प्रवक्तारं विशिनष्टि— **सर्गादा**विति । प्रवचनस्यायथार्थत्वशङ्कां वारयति— **सर्वज्ञेने**ति । अर्जुनस्य भगवदुपदेशयोग्यत्वं सूचयति— **अनघे**ति । निर्धारणार्थे तत्रेति सप्तमी । ज्ञानं परमार्थवस्तुविषयं, तदेव योगशब्दितं युज्यतेऽनेन ब्रह्मणेति व्युत्पत्तेस्तेन । निष्ठेत्यनुवर्तते । उक्तज्ञानोपायमुपादिदिक्षुः साङ्ख्यशब्दार्थमाह— **आत्मे**ति । तेषामेव कर्मनिष्ठत्वं व्यावर्तयति— **ब्रह्मचर्ये**ति । तेषां जपादिपारवश्येन श्रवणादिपराङ्मुखत्वं पराकरोति— **वेदान्ते**ति । उक्तविशेषणवतां मुख्यसन्न्यासित्वेन फलावस्थत्वं दर्शयति— **परमहंसे**ति । कर्म वर्णाश्रमविहितं धर्माख्यं, तदेव युज्यतेऽनेनाभ्युदयेनेति योगः, तेन निष्ठा कर्मिणां प्रोक्तेत्यनुषङ्गं दर्शयन्नाह— **कर्मैवे**त्यादिना । एवं प्रतिवचनवाक्यस्थान्यक्षराणि व्याख्याय तस्यैव तात्पर्यार्थं कथयति— **यदि चे**ति । इष्टस्यापि दुर्बोधत्वमाशङ्क्याऽऽह— **उक्त**मिति । ज्ञानस्यापि मूलविकलतया विभ्रमत्वमाशङ्क्याऽऽह— **वेदेष्वि**ति । तस्याशिष्यत्वबुद्ध्याऽन्यथाकथनमित्याशङ्क्याह— **उपसन्नाये**ति । तथापि तस्मिन्नौदासीन्यादन्यथोक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **प्रियाये**ति । ब्रवीति च भिन्नपुरुषकर्तृकं निष्ठाद्वयं, तेन समुच्चयो भगवदभीष्टः शास्त्रार्थो न भवतीति शेषः । नन्वर्जुनस्य प्रेक्षापूर्वकारित्वाज्ज्ञानकर्मश्रवणानन्तरमुभयनिर्देशानुपपत्त्या समुच्चयानुष्ठानं सम्पत्स्यते, तद्व्यतिरिक्तानां तु ज्ञानकर्मणो भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वं श्रुत्वा प्रत्येकं तदनुष्ठानं भविष्यतीति भगवतो मतं कल्प्यते, तस्यार्जुनेऽनुरागातिरेकादितरेषु च तदभावादिति तत्राऽऽह— **यदि पुन**रिति । अप्रमाणभूतत्वमनाप्तत्वम् । न च भगवतो रागादिमत्त्वेनानाप्तत्वं युक्तं 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तम्' [ १३।२७ ] इत्यादिविरोधादित्याह— **तच्चे**ति । निष्ठाद्वयस्य भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वनिर्देशफलमुपसंहरति— **तस्मा**दिति ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.— पूर्वोक्तं न सम्यगवधृतं त्वया, पुरा ह्यस्मिन् लोके विचित्राधिकारिसम्पूर्णे द्विविधा निष्ठा ज्ञानकर्मविषया यथाधिकारमसङ्कीर्णैव मयोक्ता; नहि सर्वो लौकिकः पुरुषः सञ्जातमोक्षाभिलाषस्तदानीमेव ज्ञानयोगाधिकारे प्रभवति, अपित्वनभिसंहितफलेन केवलपरमपुरुषाराधनरूपेण अनुष्ठितेन कर्मणा विध्वस्तस्वान्तमलोऽव्याकुलेन्द्रियो ज्ञाननिष्ठायामधिकरोति 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [१८।४६] इति परमपुरुषाराधनैकवेषता कर्मणां वक्ष्यते; इहापि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [ २।४७ ] इत्यादिना अनभिसंहितफलं कर्मानुष्ठेयं विधाय तेन विषयव्याकुलतारूपमोहादुत्तीर्णबुद्धेः 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५ ] इत्यादिना ज्ञानयोग उदितः । अतः साङ्ख्यानामेव ज्ञानयोगेन स्थितिरुक्ता । योगिनां तु कर्मयोगेन । सङ्ख्या बुद्धिः, तद्युक्ताः साङ्ख्याः आत्मैकविषयया बुद्ध्या युक्ताः साङ्ख्याः । अतदर्हाः कर्मयोगाधिकारिणो योगिनः, विषयव्याकुलबुद्धियुक्तानां कर्मयोगेऽधिकारः; अव्याकुलबुद्धीनां तु ज्ञानयोगेऽधिकार उक्त इति न किञ्चिदिह विरुद्धं, नापि व्यामिश्रमभिहितम् ॥ ३ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवमसङ्कीर्णरूपे वाक्ये बुभुत्सिते पूर्वोक्तस्यैवासङ्कीर्णरूपतां प्रकटयन् श्रीभगवानुवाच— **लोकेऽस्मिन्नि**ति । 'मया प्रोक्ता' इति निर्देशात्काका च फलितमाह— **पूर्वोक्त**मिति । 'अस्मिन् लोके' इत्यस्य प्रकृतोपयोगितात्पर्यमाह— **विचित्राधिकारिसम्पूर्णे** इति । तेन ज्ञानयोगकर्मयोगयोरधिकारिभेदसम्भवः, परस्परविरुद्धानामपि धर्माणां प्रतिनियताधिकारिविषयत्वव्यवस्थापकवर्णाश्रमदेशकालकामनानिमित्तादिदृष्टान्तश्च सूचितः । अनघशब्देनाप्येतदेवाभिप्रेतम् । यथाऽस्मिन् लोकेऽनघतया त्वमपवर्गसाधनेऽधिकरोषि, इतरे तु काम्यादौ, तद्वदनघमात्रस्य कर्मयोगेऽधिकारः, अनघतराणां तु ज्ञानयोग इति संसारदाहज्वरचिकित्सकस्य सर्वज्ञस्य भिषजस्तत्तदवस्थोचितोऽयमुपदेशः । 'प्रोक्ता' इत्यस्य सोपसर्गस्याभिप्रेतमाह— **यथाधिकार**मिति । अधिकारानतिलङ्घनमत्र प्रकर्षः । द्वैविध्यमात्रस्य ज्ञातत्वात्तदुक्त्यभिप्रेतमाह— **असङ्कीर्णैवे**ति । **मये**ति तत्तदधिकारिभेदवेदिना तत्तद्धितकामेनास्पृष्टभ्रमविप्रलम्भप्रमादाशक्तिगन्धेनेत्यर्थः ।

ज्यायसि ज्ञानयोगे तिष्ठति कर्मयोगः कथमाद्रियेत ? इत्यत्राह— **नही**ति । मोक्षाभिलाषे जातेऽपि जन्मान्तरशतसुच-

रितमृदितकषायाणां केषाञ्चिदेव तदानीमेव ज्ञानयोगाधिकारः, तथा दर्शनात्; ततः शक्ताशक्तविषयतया ज्ञानकर्मयोगयोर्व्यवस्थेति भावः । नन्वशक्तानां कदाचिदपि ज्ञानयोगाधिकारो न स्यात्, तच्छक्तिहेतुतयोक्तस्य कर्मयोगानुष्ठानस्य तत्प्रातिकूल्यचोद्यस्थितेरित्यत्राह— **अनभिसंहिते**ति । सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वकारुण्यादिविशिष्टभगवदनुग्रहरूपादृष्टद्वारा ज्ञानहेतुत्वाय परमपुरुषाराधनरूपतोक्तिः । व्याकुलेन्द्रियत्वं हि ज्ञाननिष्ठाविरोधि, तच्च स्वान्तमलमूलम्, तदप्यनादिपुण्यपापरूपदुष्कर्ममूलरजस्तमोमयम्; तच्च सत्त्वोन्मेषहेतुभूतैवंविधकर्मनिबर्हणीयम्; अतो ज्ञाननिष्ठाहेतुभूतशान्तिहेतुत्वात्तदनुकूल एव कर्मयोग इत्युक्तं भवति । "धर्मेण पापमपनुदति" [तै. ना. उ. ६।५०] इत्यादिकमिहाभिप्रेतम्, अनभिसंहितफलत्वं पूर्वमेवोक्तमिति कृत्वा केवलपरमपुरुषाराधनवेषतायां कर्मणैव सिद्धिप्राप्तौ च वक्ष्यमाणं दर्शयति— **यत** इति । प्रोक्तशब्दनिर्दिष्टं अव्याप्तिमिश्राभिधानं अनभिसंहितफलत्वोक्ति च व्यनक्ति— **इहापी**ति । 'यदा ते मोहकलिलं' 'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते' [२।५२–५३] इत्याद्यर्थं स्मारयति— **विषये**ति । आभिप्रायिकमवधारणं व्यञ्जयन्नुत्तरार्धं व्याचष्टे— **अतः साङ्ख्यानामेवे**ति । साङ्ख्यशब्दस्यात्र सिद्धान्तविशेषनिष्ठपरत्वं व्युदस्यति— **साङ्ख्यबुद्धि**रित्यादिना । अतदर्हा इत्यशक्तिविषयत्वं सूचितम् । **कर्मयोगाधिकारिण** इति । योगिशब्दस्थो योगो ह्यत्र कर्मयोगः; प्रत्ययार्थः सम्बन्धश्चात्र तद्योग्यतारूप इत्यर्थः । अतदर्हत्वं तदर्हत्वं च विशदयन् विरोधशङ्कापरिहारस्य फलितत्वेनाव्याप्तिमिश्राभिधानमुपसंहरति— **विषये**ति ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.— ज्यायस्त्वेऽपि बुद्धेराधिकारिकत्वात् त्वं कर्मण्यधिकृत इति तत्र नियोक्ष्यामीत्याशयवान्भगवानाह— लोक इति । द्विविधा अपि जनाः सन्ति, गृहस्थादिकर्मत्यागेन ज्ञाननिष्ठाः सनकादिवत्; तत्स्था एव ज्ञाननिष्ठाश्च जनकादिवत्; मद्धर्मस्था एवेत्यर्थः । साङ्ख्यानां ज्ञानिनां सनकादीनाम् । योगिनामुपायिनां जनकादीनाम् । ज्ञाननिष्ठा अप्याधिकारिकत्वादीश्वरेच्छया लोकसङ्ग्रहार्थत्वाच्च ये कर्मयोग्या भवन्ति तेऽपि योगिनः । निष्ठा स्थितिः । त्वं तु जनकादिवत् सकर्मैव ज्ञानयोग्यः; न तु सनकादिवत्तत्त्यागेनेत्यर्थः। सन्ति हीश्वरेच्छयैव कर्मकृतः प्रियव्रतादयोऽपि ज्ञानिन एव । तथा ह्युक्तम्— 'ईश्वरेच्छया विनिवेशितकर्माधिकारः' [ भाग. ५।१।२३ ] इति ॥ ३ ॥**

६ ज. प्र. दी.— एवं चेत्प्रश्नस्तर्हि कथं परिहारवाक्यं सङ्गच्छते ? तत्र निष्ठाद्वैविध्यकथनात्, इत्यतस्तदभिप्रायं वदन् अवतारयति— **ज्यायस्त्वेऽपी**ति । बुद्धिः काम्यकर्मणो ज्यायसीति यदुक्तं तत्तथैव ; तथापि त्वां तत्र वैकल्पिके युद्धादिकर्मणि प्रेरयामि, कुतः ? आधिकारिकत्वात्; त्वं कर्मण्यपि विक्षेपकारिण्यपि वैकल्पिकेऽधिकृत इति कृत्वा । अयमत्रोत्तरक्रमः— आश्रमत्रयविहितानि यज्ञादीनि युद्धादीनि च न शुद्धकाम्यानि ; किन्तु कर्तुरिच्छया स्वर्गाद्यर्थानि ज्ञानाद्यर्थानि च भवन्ति; अतो बुद्धेः काम्यकर्मणो जायस्त्वेऽपि युद्धस्य बुद्ध्यर्थत्वसम्भवात्तत्र नियोगो नानुपपन्नः । यतिधर्मान्विना किमेतेन नियोगेन ? इति चेत्, अनधिकारिणामेव यत्याश्रमस्वीकाराधिकारः, नाधिकारिकाणाम् । तैर्गृहस्थाद्याश्रममपरित्यज्यैव तद्विहितानि कर्माणि निष्कामतयाऽनुष्ठेयानीतीश्वरनियमात्; तच्चाधिकारिकत्वादिति । 'स्वराद्यन्तोपसृष्टाच्च' इति कात्यायनवचनमनित्यम् । अत एव न पाणिनिरभाणीत् । अयमाशयः- श्लोकात्कथं लभ्यते इत्यतो व्याचष्टे— **द्विविधा अपी**ति । निष्ठा द्विविधेति व्याख्याने क्रमेणैकस्यैव पुरुषस्य तत्सम्भवान्नोक्तोऽभिप्रायो लभ्यत इत्येवं व्याख्यातम् । न केवलमेकविधाः साङ्ख्या एवेत्यपेरर्थः । द्वैविध्यमेव सोदाहरणमाह— **गृहस्थादी**ति । यत्याश्रमपरिग्रहेणेत्यपि ग्राह्यम् । ज्ञाननिष्ठाः यत्याश्रमविहितैरेव कर्मभिर्ज्ञानसाधनैर्युक्ताः सनकादिभिस्तुल्यं वर्तन्त इति **सनकादिवत्** । एवं जनकादिवदित्यपि । तत्स्था एव गृहस्थाद्याश्रमस्था एव तद्धर्मैर्युद्धादिभिर्ज्ञानसाधनैर्युक्ताः द्विविधा अपि जनाः सन्तीत्युक्ते कर्ममार्गस्था ज्ञानमार्गस्थाश्चेति द्वैविध्यं प्रतीयते, तन्निवृत्त्यर्थमाह— **मद्धर्मे**ति । ज्ञानमार्गस्था एव ततश्च मद्धर्मस्था एव जना द्विविधा अपि सन्तीत्यन्वयः । तत्कथमित्याकाङ्क्षायामुत्तरं वाक्यद्वयम् । **साङ्ख्यानां योगिना**मिति पदद्वयमन्यथाप्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे— **साङ्ख्याना**मिति । सम्यक् ख्यातिर्ज्ञानं सङ्ख्या, तत्र भवाः साङ्ख्याः; तेषां ज्ञानिनां, ज्ञाननिष्ठानामित्यर्थः । ननु जनकादयोऽपि ज्ञाननिष्ठास्तत्कथं योगिन इत्यत आह— **ज्ञाननिष्ठा अपी**ति । कर्मयोग्या गृहस्थादिकर्मयोग्याः । साङ्ख्ययोगशब्दौ प्रसिद्धार्थौ किं न स्यातामित्यतो मुक्तिवचनादिति भावेनाह— **निष्ठे**ति, स्थितिः; स्वरूपेणेति शेषः । अस्त्वेवं श्लोकार्थः ; तथाप्याधिकारिकत्वादित्यादिकं अत्र न श्रूयत इत्यतोऽध्याहृत्याह— **त्वं त्वि**ति । सकर्मा गृहस्थादिकर्मवान् । भवेदिदं व्याख्यानं यदि ते जनाः प्रमिताः स्युर्येषां ज्ञाननिष्ठानामपि गृहस्थादिकर्मस्वेवाधिकारः, न यत्याश्रमकर्मसु । जनकादयस्तु यत्याश्रमं नानुष्ठितवन्त इत्येव प्रमितम्, न तु तत्रानधिकार इति तत्राह— **सन्ति ही**ति । विनिवेशितः कर्माधिकारो गृहस्थकर्माधिकारो यस्मिन्स तथोक्तः । प्रियव्रतो हि यत्याश्रमं स्वीचिकीर्षुराधिकारिकत्वयुक्त्या हिरण्यगर्भेण निवारित इत्यनेनोच्यते ॥ ३ ॥

**७ ह. पै. भा.— लोक इति । लोकेऽस्मिन् शास्त्रानुष्ठानाधिकृतेषु पुरुषेषु द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा स्थितिरनुष्ठेयतात्पर्यं पुरा पूर्वं सर्गादौ प्रजाः सृष्ट्वा तासामभ्युदयनिःश्रेयसप्राप्तिसाधनं**

वेदार्थसम्प्रदायं कुर्वता पुरा प्रोक्ता मया सर्वज्ञेनेश्वरेणानघापाप ! । का निष्ठा द्विविधा ? इत्यत आह— तत्र ज्ञानमेव योगस्तेन साङ्ख्यानामात्मविषयविवेकज्ञानवतां निष्ठा प्रोक्ता । कर्मयोगेन कर्मैव योगः, अनेन कर्मयोगेन कर्मिणां कर्मनिष्ठा प्रोक्तेत्यर्थः ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अत्रानुरूपं प्रतिवचनं श्रीभगवानुवाचेति । मदुक्तं न त्वया सम्यगवगतम् । मया हि ज्ञानकर्मयोगाख्यं परस्परनिरपेक्षतया स्वतन्त्रं मोक्षसाधनद्वयं नोक्तम्; किन्तु साक्षान्मोक्षसाधनं ज्ञानं तदपेक्षितचित्तशुद्धिजनकत्वेन तदङ्गभूतं कर्म चोक्तम्; अतः साङ्गप्रधानविषयिण्येकैव ज्ञाननिष्ठा मुमुक्षुणाऽनुष्ठेया; तत्र त्वधिकारिभेदात् प्रकारद्वयमस्ति— जन्मान्तरसुकृतवशात्स्वतः शुद्धान्तःकरणस्य साक्षाज्ज्ञान एव स्थितिः, अतथाभूतस्य तु चित्तशुद्धिपर्यन्तं ज्ञानाङ्गे कर्मणि स्थितिरिति । तत्र तु ज्ञानोपदेशमात्रार्था चित्तशुद्धिः, न तूपदिष्टज्ञानस्याप्रतिबद्धसाक्षात्कारत्वपर्यन्तेति तावत्पर्यन्तं कर्मैव स्ववर्णाश्रमविहितं त्वया कार्यमित्युक्तम् । अतो बुद्धेर्ज्यायस्त्वेऽपि क्षत्रधर्मे त्वां नियोजयामीति भगवतोऽभिप्रायः । तदेतस्मिन्नर्थे श्लोकं नियोजयामः— लोक इति ।

अस्मिन् अधिकारित्वेनाभिमते लोके शुद्धाशुद्धान्तःकरणभेदेन द्विविधे जने द्विविधा ज्ञानकर्मरूपप्रकारद्वयवती निष्ठा स्थितिर्मया पुरा पूर्वाध्याये प्रोक्ता । ते एव द्वे विधे दर्शयति— ज्ञानयोगेनेति । चित्तशुद्धया ज्ञानभूमिकामारूढाः साङ्ख्याः, तेषां ज्ञानयोगेन ज्ञानमेव योगः श्रेयःप्राप्त्युपायः तेन निष्ठा-तत्परत्वमित्यर्थः । योगिनां चित्तशुद्ध्युपायभूतकर्मयोगाधिकारिणां कर्मयोगेन कर्मरूपेणैव श्रेयःप्राप्त्युपायेन निष्ठेति । एवं द्विविधा निष्ठोक्ता ।

नन्वहं शुद्धचित्तोऽस्मि, न वा ?; आद्ये मां प्रति कर्मोपदेशायोगः, अन्त्ये त्वधिकाराभावाज्ज्ञानोपदेशानुपपत्तिरित्याशङ्क्योक्तम्— अनघेति । अत्र ' अनघ ' इत्यनेन ज्ञानोपदेशाधिकारार्था दैवासुरसम्पद्विभागाध्याये वक्ष्यमाणा सत्त्वशुद्धिरुच्यते । तेन च कर्मोपदेशनिमित्तं 'यदा ते मोहकलिलम्' [ २।५२ ] इति पूर्वोक्तमपरोक्षसाक्षात्कारप्रतिबन्धकबुद्धिकालुष्यं ज्ञापितम्, अतो नोक्तदोष इति भावः । निष्ठेत्येकवचनेन च कर्मज्ञानविषयकनिष्ठयोर्न पृथक्स्वातन्त्र्यं, गुणप्रधानयोस्तदयोगात्, किन्त्वैक्यमेव; वक्ष्यते हि— 'एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' [ ५।५ ] इतीत्ययमर्थः सूचितः । 'पुरा प्रोक्ता' इत्यनेन 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!' [२।४१] इति पूर्वाध्यायोक्तं कर्मज्ञानयोरङ्गाङ्गिभावप्रयुक्तमेकत्वं स्मार्यते ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच— लोकेऽस्मिन्निति । पूर्वोक्तं त्वया सम्यक् नावधृतं, यतः अस्मिन् लोके द्विविधा निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता; ये तु साङ्ख्यास्तेषां ज्ञानयोगेन सर्वत्यागरूपा स्थितिरुक्ता, ये चोक्तयोगाधिकारिणस्तेषामुक्तविधकर्मयोगेनेति । स्वस्वाधिकारानुसारेणैव सर्वं योग्यमिति न बुद्धिव्यामोहः कार्यः । अधिकारभेदस्तु सर्वाभिमतोऽत एव क्वचिज्ज्ञानं क्वचिद्भक्तिरिति स्वतः पुरुषार्थहेतवः । एवं मोक्षोपायाः 'योगो ज्ञानं च भक्तिश्च' इत्युक्ताः ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— एवमर्जुनस्य मोहापगमार्थं प्रश्नोत्तरमाह कृष्णः— लोकेऽस्मिन्निति । हे अनघ निष्पाप ! मद्वाक्यश्रवणयोग्य ! मया अस्मिँल्लोके प्रवृत्तिनिष्ठे द्विविधा निष्ठा पुरा पूर्वं तवाग्रे भक्त्यधिकारसिद्ध्यर्थं प्रोक्ता, न तु स्वदर्थमिति भावः । द्विविधत्वमेव स्पष्टयति— ज्ञानयोगेनेति । साङ्ख्यानां ज्ञानयोगेन, साङ्ख्यानां सर्वत्र भगवदात्मज्ञानवतां ज्ञानयोगेन ब्रह्मनिष्ठोक्ता । योगिनां योगेन भगवदुपासकानां कर्मयोगेन ब्रह्मनिष्ठोक्ता । तयोः स्वरूपज्ञानार्थं निष्ठाद्वयमुक्तं, न तु स्वदर्थमित्यर्थः ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच— लोकेऽस्मिन्निति । पुरा पूर्वाध्याये मया निष्ठा एकैव प्रोक्ता, परन्तु सा द्विविधा द्विप्रकारा, एकस्या एव ब्रह्मनिष्ठायाः प्रकारद्वयमुक्तमधिकारिभेदेन ; न तु ब्रह्मप्राप्तये परस्परनिरपेक्षमार्गद्वयमुक्तमिति भावः । हेऽनघ विशुद्धान्तःकरण ! मद्वचनस्यार्थं सम्यगालोचयेत्यर्थः । तदेव प्रकारद्वयमाह— ज्ञानयोगेनेति । साङ्ख्यानां प्रकृतिपुरुषयोर्विविक्तत्वं जानतामात्मानात्मविवेकज्ञानवताम् । ज्ञानार्थं युज्यते इति ज्ञानयोगः ज्ञानोपायो वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनात्मकः, तेन ज्ञानयोगेन । ब्रह्मणि निष्ठां परिसमाप्तिं साङ्ख्याः प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । योगिनां 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते' [२।४८] इत्युक्तलक्षणयोगवतां कर्मयोगेन सन्ध्योपासनादिनिर्विकल्पसमाध्यनुष्ठानान्तमिह कर्मयोगपदार्थः, तेन योगिनो ब्रह्मनिष्ठां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ।

अयं भावः— इह जन्मनि जन्मान्तरे वाईश्वरप्रीत्यर्थमनुष्ठितैः कर्मभिर्विशुद्धसत्त्वो विवेकवैराग्यशमादिषट्कोपेतो मुमुक्षुः प्रत्यक्प्रवणचित्तः श्रवणमननाभ्यामेव कृतकृत्यो भवति । स चेत् श्रवणादेः प्रागसमाहितचित्तस्तर्हि निदिध्यासनमस्यापेक्षितम् । अत एव 'सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण' [ब्र.सू.३।४।४७]इति सूत्रकृता निदिध्यासनस्य

पाक्षिकत्वमुक्तम्, सोऽयं साङ्ख्यमार्गः । तथा सर्वाणि कर्माणि परमगुरावर्पयन् श्रवणमननात्मकं विचारमन्तरेणैव केवलं श्रद्धामात्रात् प्रतीचो निर्विशेषब्रह्मरूपत्वं गुरुवाक्यतो निश्चित्यासम्भावनादिदोषरहित आचार्यत्रिगुणब्रह्मोपास्तिप्रकारमधिगम्य कर्मच्छिद्रेषु समाध्यभ्यासं कुर्वन्निष्कलं प्रत्यगात्मस्वरूपं साक्षात्करोति, सोऽयं योगमार्गः; तेन ऊहापोहकौशलं येषामस्ति ते साङ्ख्याः; येषां तन्नास्ति ते योगिन इति ।

अत इयं द्विप्रकारा निष्ठा; न तु द्वे निष्ठे इति भ्रमितव्यम् । यथोक्तं वसिष्ठेन– 'द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ! । योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥ असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचित्तत्त्वनिश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः' [ यो. वा. ] इति । चित्तादर्शनोपलक्षितस्य ब्रह्मसाक्षात्कारस्य द्वौ क्रमौ । चित्तादेर्मिथ्यात्वपक्षे ज्ञानमेव; यथा रज्जूरगादिसम्यगवेक्षणेनैव नश्यति, तद्वत् । तस्य सत्यत्वपक्षे योग एव यथा सत्य उरगो मन्त्रादिना निरुद्धप्रचारः स्वयमेव नश्यति, तद्वच्चित्तमपि योगेन निरुद्ध्यमानं नश्यति; तस्य निरन्वयोच्छेदस्तु प्रारब्धकर्मान्ते पक्षद्वयेऽपि तुल्य इति ॥ ३ ॥

अनात्मविदः कर्मयोगावश्यकत्वम् ।

**न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।**
**न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥**

१ **शां. भा.**— यदर्जुनेनोक्तं कर्मणो ज्यायस्त्वं बुद्धेः, तच्च स्थितम्, अनिराकरणात् । तस्याश्च ज्ञाननिष्ठायाः सन्न्यासिनामेवानुष्ठेयत्वं, भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्ववचनात् । भगवत एवमेवानुमतमिति गम्यते, मां च बन्धकारणे कर्मण्येव नियोजयसीति विषण्णमनसमर्जुनं 'कर्म नारभे' इत्येवं मन्वानमालक्ष्य आह भगवान्— न कर्मणामनारम्भादिति । अथवा– ज्ञानकर्मनिष्ठयोः परस्परविरोधादेकेन पुरुषेण युगपदनुष्ठातुमशक्यत्वे सति इतरेतरानपेक्षयोरेवं पुरुषार्थहेतुत्वे प्राप्ते कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिहेतुत्वेन पुरुषार्थहेतुत्वं, न स्वातन्त्र्येण; ज्ञाननिष्ठा तु कर्मनिष्ठोपायलब्धात्मिका सती स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुरन्यानपेक्षा, इत्येतमर्थं प्रदर्शयिष्यन्नाह भगवान्— न कर्मणामिति । न कर्मणामनारम्भादप्रारम्भात् कर्मणां क्रियाणां यज्ञादीनामिह जन्मनि जन्मान्तरे वा अनुष्ठितानामुपात्तदुरितक्षयहेतुत्वेन सत्त्वशुद्धिकारणानां तत्कारणत्वेन च ज्ञानोत्पत्तिद्वारेण ज्ञाननिष्ठाहेतूनां 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात् पापस्य कर्मणः । यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि'[म.भा. १२।२०८।८]

---

१ अत्र नैष्कर्म्यपदप्रयोगहेतुमित्थं विवृणोति **वामनः**—

ज्ञानं न कर्मणः सिद्धिरिति सत्यमिदं वचः । तथापि कर्मभिश्चित्ते शुद्धे ज्ञानं प्रवर्तते ॥
कर्मणैव ज्ञानमिति वक्तुमेवं न युज्यते । अतो नैष्कर्म्यशब्देन तत्क्रमेणाभिधीयते ॥ इति ।

**नव्यास्तु**— 'कर्मणां बन्धकत्वं यथा न भवति, तथा युक्त्या तदनुष्ठानं नैष्कर्म्यम्' इति वदन्ति । 'कर्मस्वासक्तित्याग एव सा युक्तिः' इत्यपि तेषां मतम् । तत्र तदुक्तो नैष्कर्म्यशब्दस्यार्थ एवमुपपादयितुं शक्यः– 'निर्गतं कर्मत्वं बन्धहेतुत्वं येभ्यस्तानि निष्कर्माणि, तेषां भावो नैष्कर्म्यम् । कर्मशब्दो भावप्रधानो ज्ञेयः । तथा च प्रयोगः–'तत्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः ।' [ भाग. १ । ३ । ८ ] इति ॥ परमत्र प्रष्टव्यास्ते– ज्ञानोदयादूर्ध्वमपि यावज्जीवं कर्माण्येवानुष्ठेयानीति गीतासिद्धान्त इति भवतामभिप्रेतम् । तथा च यदि ज्ञानोत्तरमेवानुष्ठेयानि कर्माण्यत्र प्रकृतानि, तर्हि किमित्यासक्तित्याग उपदिश्यते ? न हि ज्ञानिनः कर्मस्वासक्तिः सम्भवति; ज्ञानोदयात्प्रागेव तस्या विलीनत्वात् । तथा चोक्तं भगवतैव–' असक्तबुद्धिः सर्वत्र' [ १८ । ४९ ] इत्यादीति । किञ्च– कीदृगसौ ज्ञानी भवतामभिमतो येनानुष्ठेयान्येव कर्माणि ? आत्मयाथात्म्यज्ञानसम्पन्नो वाऽन्यो वा कश्चित् ? नाद्यः–तस्य 'ज्ञानेनैकेन तृप्तस्य त्यक्तसङ्गस्य योगिनः । कर्तव्यं नास्ति विप्रेन्द्रा ! अस्ति चेत्तत्त्वविन्न च ॥' [ लिं. पु. पू. ८६ । ६ ] इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां तस्य कर्मासम्भवप्रतिपादनात्; इहापि 'तस्य कार्यं न विद्यते' [ ३।१७ ] इति व्यक्तमुक्तत्वाच्च । अन्य एव चेदलं विवादेन । आत्मयाथात्म्यज्ञानवत एव प्राज्ञैः कर्मासम्भवप्रतिपादनात् । एतेन–'कर्मत्यागमात्रेणैव सिद्धिः प्राप्या चेदश्माऽपि मोक्षं विन्देत' इत्यपि निरस्तम्, अनुक्तोपालम्भनत्वात् । इदं तु तत्र वक्तव्यम्– यद्यश्माऽपि कर्मारम्भपूर्वकं तत्त्यागी स्यात्, यदि वा तस्य बन्धाभासोऽपि भवेत्तर्हि स मुच्येतैवेति वदतामस्माकं न किञ्चिद्धीयते; परमत्राचार्यचरणानुपहसद्भिर्भवद्भिरेव केवलमात्माबालोपहास्यतामनायीत्यास्तां तावत् । — अभिनवगीता ।

इत्यादिस्मरणात्, अनारम्भादननुष्ठानान्नैष्कर्म्यं निष्कर्मभावं कर्मशून्यतां ज्ञानयोगेन निष्ठां, निष्क्रियात्मस्वरूपेणैवावस्थानमिति यावत्; पुरुषो नाश्नुते न प्राप्नोतीत्यर्थः ।

२ आ. शां. व्या.— किमिति भगवता बुद्धेर्ज्यायस्त्वं 'ज्यायसी चेत्'[३।१] इत्यत्रोक्तमुपेक्षितमिति ? तत्राऽऽह— **यदर्जुनेने**ति । किञ्च ज्ञाननिष्ठायां सन्न्यासिनामेवाधिकारो भगवतोऽभिप्रेतोऽन्यथा तदीयविभागवचनविरोधादिति विभागवचनसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह— **तस्याश्चे**ति । तर्हि विभागवचनानुरोधादर्जुनस्यापि सन्न्यासपूर्विकायां ज्ञाननिष्ठायामेवाधिकारो भविष्यति, नेत्याह— **मां चे**ति; बुद्धेर्ज्यायस्त्वमुपेत्यापीति चकारार्थः । अर्जुनमालक्ष्य भगवानाहेति सम्बन्धः । अन्तरेणापि कर्माणि श्रवणादिभिर्ज्ञानावाप्तिर्भविष्यतीति परबुद्धिमनुरुध्य विशिनष्टि— **कर्मे**ति । विभागवचनवशादसमुच्चयश्चेदुभयोरपि ज्ञानकर्मणोः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वं, अन्यथा कर्मवज्ज्ञानमपि न स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थं साधयेदित्याशङ्क्य सम्बन्धान्तरमाह— **अथवे**ति । तर्हि ज्ञाननिष्ठाऽपि कर्मनिष्ठावन्निष्ठात्वाविशेषान्न स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुरिति समुच्चयसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञाननिष्ठा** त्विति । न हि रज्जुतत्त्वज्ञानमुत्पन्नं फलसिद्धौ सहकारिसापेक्षमालक्ष्यते, तथेदमपि चोत्पन्नं मोक्षाय नान्यदपेक्षते तदाह— **अन्ये**ति । "यस्य वैतत्कर्म" [ कौ. उ. ४।१८ ] इति श्रुताविव कर्मशब्दस्य क्रियमाणवस्तुविषयत्वमाशङ्क्य व्याचष्टे— **क्रियाणा**मिति । ताश्च नित्यनैमित्तिकत्वेन विभजते— **यज्ञादीना**मिति । अस्मिन्नेव जन्मन्यनुष्ठितानां कर्मणां बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञानकारणत्वे ब्रह्मचारिणां कुतो ज्ञानोत्पत्तिर्जन्मान्तरकृतानां वा कर्मणां तथात्वे गृहस्थानामैहिकानि कर्माणि न ज्ञानहेतवः स्युः ? इत्याशङ्क्यानियमं दर्शयति— **इहे**ति । नेमानि सत्त्वशुद्धिकारणान्युपात्तदुरितप्रतिबन्धादित्याशङ्क्याऽऽह— **उपात्ते**ति । तर्हि तावतैव कृतार्थानां कुतो ज्ञाननिष्ठाहेतुत्वं ? तत्राऽऽह— **तत्कारणत्वेने**ति । कर्मणां चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानहेतुत्वे मानमाह— **ज्ञान**मिति । अनारम्भशब्दस्योपक्रमविपरीतविषयत्वं व्यावर्तयति— **अननुष्ठाना**दिति । निष्कर्मणः सन्न्यासिनः कर्म ज्ञानं नैष्कर्म्यमिति व्याचष्टे— **निष्कर्मे**ति । कर्माभावावस्थां व्यवच्छिनत्ति— **ज्ञानयोगेने**ति । तस्याः साधनपक्षपातित्वं व्यावर्तयति— **निष्क्रिये**ति ।

१ शां. भा.— 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' इति वचनात्, तद्विपर्ययात्तेषामारम्भात् नैष्कर्म्यमश्नुत इति गम्यते । कस्मात् पुनः कारणात् कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं नाश्नुते इति ? उच्यते—नैष्कर्म्योपायत्वात् कर्मारम्भस्य । न हि उपायमन्तरेणोपेयप्राप्तिरस्ति । कर्मयोगोपायत्वं च नैष्कर्म्यलक्षणस्य ज्ञानयोगस्य, श्रुतौ इह च प्रतिपादनात् । श्रुतौ तावत् प्रकृतस्यात्मलोकस्य वेद्यस्य वेदनोपायत्वेन "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन" [बृ. उ. ४।४।२२] इत्यादिना कर्मयोगस्य ज्ञानयोगोपायत्वं प्रतिपादितम् । इहापि च 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' [ ५।६ ] 'योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये' [ ५।११ ] 'यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्' [ १८।५ ] इत्यादि प्रतिपादयिष्यति । ननु च 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' [म.भा. १४।४६।१८] इत्यादौ कर्तव्यकर्मसन्न्यासादपि नैष्कर्म्यप्राप्तिं दर्शयति । लोके च कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यमिति प्रसिद्धतरम् । अतश्च नैष्कर्म्यार्थिनः किं कर्मारम्भेण ? इति प्राप्तम्; अत आह— **न च सन्न्यसनादेवे**ति । नापि सन्न्यसनादेव केवलात् कर्मपरित्यागमात्रादेव ज्ञानरहितात् सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञानयोगेन निष्ठां समधिगच्छति न प्राप्नोति ४

२ आ. शां. व्या.— कर्मानुष्ठानोपायलब्धा ज्ञाननिष्ठा स्वतन्त्रा पुमर्थहेतुरिति प्रकृतार्थसमर्थनार्थं व्यतिरेकवचनस्यान्वये पर्यवसानं मत्वा व्याचष्टे— **न कर्मणा**मिति । तद्विपर्ययमेव व्याचष्टे— **तेषा**मिति । उक्तेऽर्थे हेतुं पृच्छति— **कस्मा**दिति । जिज्ञासितं हेतुमाह— **उच्यत** इति । उपायत्वेऽपि तदभावे कुतो नैष्कर्म्यासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **न ही**ति । ज्ञानयोगं प्रति कर्मयोगस्योपायत्वे श्रुतिस्मृती प्रमाणयति— **कर्मयोगे**ति । श्रौतमुपायोपेयत्वप्रतिपादनं प्रकटयति— **श्रुता**विति । यत्तु गीताशास्त्रे कर्मयोगस्य ज्ञानयोगं प्रत्युपायत्वोपपादनं तदिदानीमुदाहरति— **इहापि चे**ति । 'न कर्मणां' इत्यादिना पूर्वार्धं व्याख्यायोत्तरार्धं व्याख्यातुमाशङ्कयति— **नन्वि**ति । आदिशब्देन "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः" [बृ. उ. ४।४।२३] "सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः" [मुं. उ. ३।२।६ ] इत्यादि गृह्यते । तत्रैव लोकप्रसिद्धिमनुकूलयति— **लोके चे**ति । प्रसिद्धतरम्— "यतो यतो निवर्तते ततस्ततो विमुच्यते । निवर्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि" [ सं. शा. ३।३६४ ] इत्यादिदर्शनादिति शेषः । लौकिकवैदिकप्रसिद्धिभ्यां सिद्धमर्थमाह— **अतश्चे**ति । तत्रोत्तरत्वेनोत्तरार्धमवतार्य व्याकरोति— **अत आहे**त्यादिना । एवकारार्थमाह— **केवला**दिति । तदेव स्पष्टयति— **कर्मे**ति । उक्तमेव नञमनुकृष्य क्रियापदेन सङ्गतिं दर्शयति— **न प्राप्नोती**ति ॥४॥

**३ रा. भा.— सर्वस्य लौकिकस्य पुरुषस्य मोक्षेच्छायां सञ्जातायां सहसैव ज्ञानयोगो दुष्कर इत्याह— नेति । न शास्त्रीयाणां कर्मणामनारम्भादेव पुरुषो नैष्कर्म्यं ज्ञाननिष्ठामाप्नोति ; सर्वेन्द्रियव्यापाराख्यकर्मोपरतिपूर्विकां ज्ञाननिष्ठां न प्राप्नोतीत्यर्थः । न चारब्धस्य शास्त्रीयस्य कर्मणस्त्यागात् ; यतोऽनभिसंहितफलस्य परमपुरुषाराधनविषयस्य कर्मणः सिद्धिरात्मनिष्ठा स्यात् ; अतस्तेन विना तां न प्राप्नोति ; अनभिसंहितफलैः कर्मभिरनाराधितगोविन्दैरविनष्टानादिकालप्रवृत्तानन्तपापसञ्चयैरव्याकुलेन्द्रियतापूर्विकाऽऽत्मनिष्ठा दुस्सम्पाद्या ॥ ४ ॥**

४ वे. ता. चं.— ननु मोक्षेच्छैव हि कर्मयोगेऽपि पुरुषं प्रवर्तयति; सा यदि जाता, ततः किमव्यवहिते ज्ञानयोगे न प्रवर्तते ? इति शङ्का 'न कर्मणाम्' इति श्लोकेन निराक्रियत इत्याह— **सर्वस्ये**ति । 'लौकिकस्य' इत्यनेन संसारलोकान्तर्गततया विषयव्याकुलेन्द्रियत्वमभिप्रेतम् । **सहसैवे**ति कर्मयोगमकृत्वेत्यर्थः । निषेधस्यान्यविषयत्वज्ञापनाय शास्त्रीयशब्दः । नैष्कर्म्यशब्दस्याननुष्ठानादिपरत्वे साध्याविशेषादिदोषः स्यात्, अतो निष्कर्मा निष्क्रान्तकर्मयोगः पर्यवसितकर्मयोगः ज्ञाननिष्ठ इत्यर्थः; तस्य भावो नैष्कर्म्यमित्यभिप्रायेणाह— **ज्ञाननिष्ठा**मिति । सन्न्यसनशब्दस्याप्यत्र 'कर्मणां' इत्यनेनैवान्वयं सन्न्यसनस्वभावादारब्धविषयत्वं तत एव सव्यसाचिनः समरजिहासावृत्तान्तं चाभिप्रेत्याह— **न चारब्धस्ये**ति । नैष्कर्म्यशब्दानुषङ्गेऽपि सम्भवति पुनः सिद्धिशब्देनाभिधानस्य तात्पर्यं व्यञ्जयति— **यत** इति । अनारम्भं सन्न्यसनं च सङ्कलय्याह— **अतस्तेन विने**ति । कारणभूतकर्माभावे कथं कार्यं स्यादिति भावः । पञ्चम्या हेतुपरत्वं निषेधान्वयेन तन्निषेध्यान्वयेन वा योज्यम् । पूर्वत्र कर्मयोगानारम्भे ज्ञानयोगासिद्धिः स्यादिति वाक्यार्थः; उत्तरत्र तु यत्कर्मयोगत्यागादेव ज्ञानयोगसिद्धिरित्यभिप्रेतम्, तदयुक्तम्, सा हि तेनैव जन्येति तात्पर्यम् । तदिमामुभयीमपि वाक्यवृत्तिमभिप्रेत्य श्लोकाभिप्रेतमर्थमाह— **अनभिसंहिते**ति । कर्मभिरित्यस्यानाराधितेत्यनेनान्वयः । एतेन 'अनाराधितगोविन्दा ये नरा दुःखभागिनः' इत्यादिकं स्मारितम् । अनभिसंहितफलकर्माभावे निःश्रेयसौपयिकपरमपुरुषप्रीत्यभावः, तदभावाच्च पापसञ्चयानुपरमः, तेन च रजस्तमोमयमनोमलानपायः, ततश्च रागद्वेषादिदोषाणां दीर्घायुष्यम्, तेषु च जीवत्सु नेन्द्रियव्याकुलताशान्तिः, बहिर्विषयव्याकुलेषु च तेषु न प्रत्यगर्थनिष्ठेति तादृशकर्मपरित्यागेन ज्ञाननिष्ठामनुतिष्ठासुः सप्तभूमस्य गोपुरस्य सप्तमं तलं प्रथमं चिकीर्षतीत्यपहास्यमिति भावः ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.—इतश्च नियोक्ष्यामीत्याह— न कर्मणामिति ॥ कर्मणां युद्धादीनामनारम्भेण नैष्कर्म्यं निष्कर्मतां काम्यकर्मपरित्यागेन प्राप्यत इति मोक्षं नाश्नुते । ज्ञानमेव तत्साधनं, न तु कर्माकरणमित्यर्थः । कुतः ? पुरुषत्वात् । सर्वदा स्थूलेन सूक्ष्मेण वा पुरेण युक्तो ननु जीवः ; यदि कर्माकरणेन मुक्तिः , स्यात् स्थावराणाम् । न चाकरणे कर्माभावान्मुक्तिर्भवति , प्रतिजन्मकृतानामनन्तकर्मणां भावात् ।**

६ ज. प्र. दी.— **न कर्मणा**मिति । मोक्षस्य कर्मसाध्यत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह— **इतश्चे**ति । स्ववर्णाश्रमोचिते युद्धादाविति शेषः । प्रागाधिकारिकत्वात्त्वया कर्म कर्तव्यमित्युक्तम्; इदानीं कोऽपरो हेतुरुच्यते ? इत्यतो व्याचष्टे— **कर्मणा**मिति । **अयमभिप्रायः**— कर्माणि न कार्याणीति वदन्प्रष्टव्यः किं ज्ञानं न मोक्षसाधनम् ? अपितु कर्माकरणमेवेति मत्वा कर्माणि त्यज्यन्ते ? उत ज्ञानं मोक्षसाधनं भवत्येव ? किन्तु 'कर्मणा बध्यते जन्तुः'[म.भा.१२।२४१।७] इत्यादेः कर्माणि तत्प्रतिबन्धकानीति मत्वा । आद्येऽपि किं मोक्षस्य नैष्कर्म्यशब्दवाच्यत्वमात्रमाश्रित्येदमुच्यते ? अथवा क्रियाकारकफलरूपस्य संसारस्य कर्मैव बीजम् ?। अकरणे च बीजाभावात्संसारो न भविष्यतीति युक्तिमाश्रित्य आद्यस्येदं दूषणम् 'न कर्मणां' इति । नैष्कर्म्यशब्दस्यान्यथापि व्याख्यानान्नाद्य इत्यर्थः । ततः किमित्यत आह— **ज्ञानमेवे**ति । उक्तमाक्षिप्य समाधत्ते-**कुत** इति । नैष्कर्म्यशब्दस्यान्यार्थतामङ्गीकृत्य कर्माकरणस्य मोक्षसाधनत्वनिराकरणे को हेतुः ? इत्यर्थः। कथमस्य हेतुत्वं ? इत्यतो व्याचष्टे— **सर्वदे**ति । प्रलयेऽपि सम्भवार्थं स्थूलेन सूक्ष्मेण वेत्युक्तम् । तथापि कथं हेतुत्वमित्यत आह— **यदी**ति । 'स्यात्' इत्यस्य पूर्वोत्तराभ्यां सम्बन्धः । 'स्थावराणां' इत्यनधिकृतोपलक्षणम् । ततश्चानादौ संसारेऽनधिकृतदेहस्य सम्भवेन मुक्तिप्रसङ्गादधुनाऽपि दृश्यमानस्य पुरुषत्वं न स्यादिति भावः । द्वितीयनिरासेऽप्यस्यैवार्थस्य तात्पर्यमाह— **न चे**ति । कर्माभावात् संसारबीजाभावात् । अत्र नैष्कर्म्यमिति मुक्तिनामैव, न तु परप्रमाणानुवादः । कुतो न भवतीत्यतोऽत्रापि पुरुषत्वादिति हेतुमभिप्रेत्याह— **प्रती**ति। जन्मनिजन्मनि कृतानामित्यर्थः । पुरुषत्वेनानादौ संसारेऽधिकृतानन्तजन्मसम्भवात् । तत्र कृतानामनन्तकर्मणां भावात् । किमुताकरणमात्रेण भवतीत्यर्थः ।

५ आ. मा. भा.—न च सर्वाणि भुक्तानि एकस्मिञ्छरीरे बहूनि हि कर्माणि करोति। तानि चैकैकानि बहुजन्मफलानि कानिचित्; तत्र चैकैकानि कर्माणि भुञ्जन्प्राप्नोत्येव शेषेण मानुष्यम्। ततश्च बहुशरीरफलकर्माणीत्यसमाप्तिः। तच्चोक्तं 'जीवंश्चतुर्दशादूर्ध्वं पुरुषो नियमेन तु। स्त्री वाप्यनूनदशकं देहं मानुषमार्जते॥ चतुर्दशोर्ध्वजीवीनि संसारश्चादिवर्जितः। अतोऽवित्वा परं देवं मोक्षाशा का महामुने' इति ब्राह्मे। यदि सादिः स्यात्संसारः पूर्वकर्माभावादतत्प्राप्तिः। अबन्धकत्वं त्वकामेनैव भवति। तच्च वक्ष्यते 'अनिष्टमिष्टं' [१८।१२] इति।

६ ज. प्र. दी.—ननु पूर्वपूर्वशरीरकृतानि कर्माण्युत्तरोत्तरशरीरे भुक्तानि तत्कुतोऽनन्तकर्मणां भाव इत्यत आह—न चेति। कुतो नेत्यत आह—एकस्मिन्निति। हिशब्दो हेतौ। बहून्यपि भुज्यन्तां को दोष इत्यत आह—तानि चेति, तानि च कानिचिदिति सम्बन्धः; एकैकानीति प्रत्येकमित्यर्थः। ननु तथाविधान्यप्यनधिकृतजन्मभिर्भुक्तानीत्यत आह—तत्र चेति। तेषु कर्मसु भुञ्जन्भुञ्जानः। शेषेण कर्मशेषेण। मानुष्ये चाकरणमसम्भावितमित्याह—ततश्चेति। असमाप्तिर्भोगेन; कर्मणामिति शेषः। सम्भावनामात्रेणेदमुक्तं, न तु प्रमितमित्यत आह—तच्चोक्तमिति। चतुर्दशवर्षात्। अनूनो दशको यस्येति विग्रहः। ह्रस्वदीर्घव्यत्ययेन चतुर्दशोर्ध्वजीवीनीति क्रिया विशेषणम्। संसारश्चेति कर्मणामनन्तत्वोपपादनम्। अतो भोगेन क्षयासम्भवात्। अवित्वा अविदित्वा। पुरुषशब्देनानादिदेहसम्बन्ध उक्तः, सोऽसिद्ध इत्यत आह—यदीति। अतत्प्राप्तिराकस्मिकस्य संसारस्याप्राप्तिः स्यात्, अतः पुरुषत्वं सिद्धमिति। ननु सन्तु प्राग्भवीयान्यनन्तकर्माणि, तथापि बन्धकानि कथं प्रेक्षावता क्रियेरन्? न ह्यनन्तानि पापानि प्राक्तनानि सन्तीत्येतावताऽद्य क्रियन्त इत्यत आह—अबन्धकत्वं त्विति। कर्मणां बन्धाहेतुत्वं त्वकामनादिनैव भवति; न त्वकरणेन, प्रत्यवायस्यैव प्राप्तेरित्यर्थः। अकामेनाबन्धकत्वं भगवत्सम्मतमिति भावेनाह—तच्चेति। शङ्करस्तु 'अकरणमसन्न सन्तं प्रत्यवायं जनयति; "कथमसतः सज्जायेत" [छां. उ. ६।२।२] इति श्रुतेः, इत्यवादीत्। तद्भास्करः प्रत्यषेधीत्। द्रव्यविषया श्रुतिः "गुणस्त्वसतोऽपि जायते" इति। उभावपि स्थूलदृश्वानौ; न ह्यकरणमसत्, तथा सति करणप्रसङ्गात्। किन्त्वभावः, स च भाववत्तत्त्वमेवेति कथमकारणम्। गुणं प्रति कारणत्वे च द्रव्यकारणत्वं कुतो न भवेत्?। ननु चात्रोपादानत्वस्य विवक्षितत्वादकारणस्य चाभावरूपतया सत्त्वेऽप्यत्र विवक्षितापादनत्वानुपपत्तेर्न प्रत्यवायजनकत्वमित्यभिप्राय इत्यत आह—न हीति।

५ आ. मा. भा.—ननु निष्कामकर्मणः फलाभावान्मोक्षः स्मृतः। 'निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमिह चोच्यते। निवृत्तं सेवमानस्तु ब्रह्माभ्येति सनातनम्' इति मानवे [?]। अतस्तत्साम्यादकरणेऽपि भवतीत्यत आह—न चेति। सन्न्यासः काम्यकर्मपरित्यागः। 'काम्यानां कर्मणां' [१८।२] इति वक्ष्यमाणत्वात्। अकामकर्मणामन्तःकरणशुद्ध्या ज्ञानान्मोक्षो भवति। तच्चोक्तं 'कर्मभिः शुद्धसत्त्वस्य वैराग्यं जायते हृदि' इति भागवते [ ]। विरक्तानामेव च ज्ञानमुक्तम् 'न तस्य तत्त्वग्रहणाय साक्षाद्वरीयसीरपि वाचः समासन्। स्वप्ने निरुक्त्या गृहमेधसौख्यं न यस्य हेयानुमितं स्वयं स्यात्' [भाग. ५।११।३] इति। न तु फलाभावात् कर्माभावात्। अतो न कर्मत्याग एव मोक्षसाधनम्।

६ ज. प्र. दी.—न ह्यत्रोपादानत्वं विवक्षितं, किन्तु निमित्तत्वमेवेत्युक्तम्। 'न च सन्न्यसनादेव' इति पुनरुक्तम्; अत्रापि कर्मसन्न्यसनस्य मोक्षसाधनत्वोक्तेरित्यत आह—नन्विति। 'निष्कामं ज्ञानपूर्वं च' इति मानवे [?] वाक्ये तावन्निष्कामकर्मणा मोक्षः स्मृतः। स चोपपत्त्यन्तरादर्शनान्निष्कामकर्मणः फलाभावादित्येव तत्रोपपत्तिरङ्गीकार्या; यत एवं फलाभावस्यैव प्राधान्यम्, अतोऽकरणेऽपि फलाभावस्य साम्यान्मोक्षो भवत्येव। यत्प्राग्भवीयकर्मफलमुक्तं, निष्कामकरणपक्षेऽपि तत्समानम्। न च विनिगमने कारणाभावः; आयासाभावस्य सत्त्वात्। न च प्रत्यवायप्राप्तिः, अमुमुक्षुविषयत्वसम्भवात्। अतो न कर्माणि करोमीति भावः। अनेन कथमस्य परिहारः? इत्यत आह—सन्न्यास इति। तेन च निष्कामकर्मकरणमुपलक्ष्यत इति भावः। निष्कामकर्मकरणान्मोक्षं न प्राप्नोतीति। अतो न तत् प्रतिबन्दीग्रहणं युक्तमित्यनेनोक्तम्। तथा च स्मृतिविरोध इत्यतः स्मृतेरभिप्रायमाह—अकामेति। सकाशादिति शेषः, पुंसामिति वा। अकामकर्मभिरन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानं जायत इत्येतत्कुतः? इत्यत आह—तच्चोक्तमिति। नन्वत्र वैराग्यं जायत इत्युच्यते, न तु ज्ञानमिति तत्राह—विरक्तानामेवेति। प्रागपि वैराग्यद्वारेत्यभिमतमिति भावः। तथापि कथं विरोधपरिहारः? गीतायामकामकर्मणां मोक्षसाधनत्वाभावावधारणात्; इत्यतस्तदभिप्रायमाह—न त्विति। फलाभावोपपत्तिकं कर्मणां मोक्षसाधनत्वं निषिद्ध्यते, न तु सर्वथाऽपीत्यर्थः। प्रतिबन्दीं मोचयति—कर्माभावादिति। अतः कर्माभावान्न मोक्ष इत्यर्थः। श्लोकतात्पर्यमुपसंहरति—अत इति।

५ आ. मा. भा.— यत्याश्रमस्तु प्रायत्यार्थो भगवत्तोषणार्थश्च । अप्रयतत्वमेव हि प्रायो गृहस्थादीनाम्, इतरकर्मोद्योगात् । अप्रयतानां च न ज्ञानम्, तथा हि श्रुतिः "नाशान्तो नासमाहितः" [ कठो. २।२३ ] इति । महांश्च यत्याश्रमे भगवतस्तोषः । तथा ह्याह— 'यत्याश्रमं तुरीयं तु दीक्षां मम सुतोषिणीम्' इति नारायणाष्टाक्षरकल्पे । आधिकारिकास्तु तथैव प्रायत्ये समर्थाः । स एव च महान्भगवतस्तोषः । तत्रोक्तम्— 'देवादीनामादिराज्ञां महोद्योगोऽपि भोगिनः । विष्णोश्चलति तद्योगोऽत्यतीव हरितोषणम्' इति पाद्मे ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु यत्याश्रमो मोक्षसाधनत्वेन श्रुत्यादिप्रसिद्धः, तत्र चेयमेवोपपत्तिः । यत्तद्धर्माणां फलाभावः, अतस्तत्साम्याद्करणेऽपि मोक्षो भवतीत्येतच्छङ्कानिरासार्थं चोक्तं 'न च सन्न्यसनादेव' इति । एवं तर्हि श्रुत्यादिविरोध इत्यत आह— यत्याश्रमस्त्विति । प्रायत्यं प्रयतत्वमीश्वरे मनस्समाधानम् । यतेर्द्वारद्वयेन मोक्षसाधनत्वं श्रुत्यादेरभिप्रेतम् । फलाभावोपपत्तिकं तु गीतायां निवारितं, अतो न विरोध इति भावः । आश्रमान्तरेऽपि प्रायत्यसम्भवात्किं तदर्थं यत्याश्रमेण? इत्यत आह— अप्रयतत्वमेवेति । इतरकर्मसु यजनादिषु । प्रायत्यं कथं मोक्षसाधनं? इत्यतो व्यतिरेकमुखेनोपपादयति अप्रयतानां चेति । "प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" [ कठो. २।२३ ] इति श्रुतिशेषः । अशान्तोऽभगवन्निष्ठः । असमाहितस्तत्र चित्तसमाधानरहितः । भगवत्तोषणस्याश्रमान्तरेऽपि सम्भवात्किं यत्याश्रमेण? इत्यत आह— महांश्चेति । तुरीयं परमहंसाख्यम् । वाक्यशेषेणान्वयः । यत्याश्रम एव चेत्प्रायत्यं महान्भगवतस्तोषश्च तर्हि तद्रहितानामाधिकारिकाणां तदुभयाभावप्रसङ्ग इत्यत आह— आधिकारिकास्त्विति । तत्स्था अधिकारस्थाः । स एव अधिकार एव । तुष्यत्यनेनेति तोषः । समासान्तविधेरनित्यत्वादादिराज्ञामित्युक्तम् । यथोक्तं महाभाष्ये– 'शुच्यांपि तटाकानि' इति ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— घोरं कर्म न कर्तव्यमिति मन्यमानमर्जुनं प्रति कर्माधिकारिणा कर्म कर्तव्यमिति प्रतिपादयितुमाह— नेति । कर्मणामनारम्भादकरणान्नैष्कर्म्यं नैष्कर्म्यलक्षणामकर्तृत्वज्ञानलक्षणां सिद्धिं पुरुषो नाश्नुते ; यथा ज्ञानाधिकारी ज्ञानेन । तर्हि सकलकर्मसन्न्यास एव पुरुषार्थस्तमनुतिष्ठामीति चेत्तदपि न नियतः । न च सन्न्यसनादेव कर्मत्यागमात्रादेव सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तत्र तावत् 'कर्मयोगेन योगिनाम्' [ २।३ ] इत्यनेनोक्तामशुद्धचित्तस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तां कर्मकर्तव्यतामुपपादयति 'न कर्मणां' इत्यादित्रयोदशभिः— नेति । कर्मणां "तमेतं वेदानुवचनेन"[बृ.उ. ४।४।२२] इत्यादिश्रुत्या ज्ञानार्थत्वेनोक्तानां अनारम्भादननुष्ठानात् । 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' [ २।४० ] इत्यत्र परमेश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मारम्भमात्रस्यापि सफलत्वोक्तेस्तदभिप्रायोऽयमनारम्भशब्दः । नैष्कर्म्यं सर्वकर्मशून्यत्वम्, ज्ञाननिष्ठामिति यावत् । नाश्नुते न प्राप्नोति । अनेन 'कर्मणामारम्भान्नैष्कर्म्यम्' इत्यन्वयोऽपि प्रदर्शितः । तथा चान्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मणां ज्ञानहेतुत्वमुक्तं भवति । ननु "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्" इत्यादिश्रुत्या सर्वकर्मसन्न्यासस्यैव ज्ञानहेतुत्वं प्रतिपाद्यते, तत्कथमुच्यते 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम्' इति? इत्याशङ्क्याह— न च सन्न्यसनादेवेति । कर्मानुष्ठानजन्यचित्तशुद्धिं विना कृतात् केवलकर्मसन्न्यासमात्रात् सिद्धिं ज्ञानं न समधिगच्छति । चकाराद्सन्न्यासं च न सम्यगधिगच्छति, चित्तशुद्धिरहितस्य सन्न्यासहेतुवैराग्यासम्भवादिति दर्शितम् ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— योगेऽन्तःकरणशोधकत्वं कर्मादेः संयोगपृथक्त्वन्यायेनैव निर्णीतं, अन्यथा त्रयाणां जिज्ञासा स्वतन्त्रा न कृता स्यात् । 'योगेन संसिद्धिर्ज्ञानेन भक्त्या चेति पुरुषार्थसाधनं' इति व्यासभाष्ये निर्णीतं, तेनात्र कर्मणामारम्भान्नैष्कर्म्यमोक्षसिद्धिरिति योगमतं दृढयति— न कर्मणामनारम्भादिति । कर्माधिकारिणां त्वादृशानां कर्मसन्न्यसनात्साङ्ख्यादपि च न सिद्धिरित्याह– न चेति । जीवन्मुक्तिकैर्गुणैर्वा मुक्तेनापि देहवत्त्वेन कर्मकरणदर्शनात् ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं चेत्तदा मां प्रति कर्मकरणं किमाशयेनाज्ञसं ? इत्यत आह— न कर्मणामिति । कर्मणामनारम्भादकरणान्नैष्कर्म्यं कर्मादिरहितभावं भक्तिरूपं नाश्नुते न प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्रायं भावः— कर्मस्वरूपज्ञानाभावे त्यागे न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध्येत्, तस्माद्भेयत्वज्ञानार्थं तत्करणम् । अत एवारम्भ एवोक्तः, न त्वाद्यं तत्करणमुक्तम् । स्वरूपाज्ञाने केवलं न भवतीत्याह— न चेति । सन्न्यसनादेव स्वरूपाज्ञानात् केवलत्यागेन सिद्धिं त्यागफलं न च समधिगच्छति सम्यक् न प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— अनयोः प्रकारयोरङ्गाङ्गिभावमाह— न कर्मणामिति । कर्मणां यज्ञादीनामनारम्भादननुष्ठानात् नैष्कर्म्यं ज्ञाननिष्ठां नाश्नुते न प्राप्नोति । "विविदिषन्ति यज्ञेन" [ बृ. उ.४।४।२२ ] इति श्रुत्या यज्ञादीनां विद्याङ्गत्वेन विधानात् । ननु सन्प्रत्ययप्राधान्यात्कर्मणां विविदिषाङ्गत्वमत्र गम्यते, तेन विविदिषाया यज्ञादिना सिद्धायाम् "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" [ बृ. उ.४।४।२२ ] इति श्रुतेः प्रव्रज्यारूपमेव नैष्कर्म्यमिह ज्ञाननिष्ठासाधनं ग्राह्यम्; न ज्ञानम् । 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां' [१८।४९] इत्यादाविवात्र तद्ग्राहकस्य परमत्वविशेषणस्याभावात् । ननु कर्मयोगजनितचित्तशुद्ध्यभावे केवलात् सन्न्यासात् 'सिद्धिं समधिगच्छति' इति योजनायां विप्रकृष्टयोर्ज्ञानकर्मणोः समुच्चयासम्भवस्याभीष्टस्य सिद्धेः किमिति नैष्कर्म्यशब्देन निष्ठा गृह्यते ? इति चेत्, सत्यं; 'गुणैः कर्म कार्यते' इति वाक्यशेषान्नैर्गुण्यहेतुकं मुख्यं ज्ञानमेवेह नैष्कर्म्यपदार्थः, न तु प्रव्रज्या । "विविदिषन्ति यज्ञेन" इत्यत्रापि 'जिगमिषत्यश्वेन, जिघांसत्यसिना' इत्यादाविव तृतीयान्तस्य धात्वर्थेनैवान्वयादश्वादीनां गमनादाविव यज्ञादीनां वेदन एवान्वयो ज्ञेयः । "एतमेव" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुतिस्तु विविदिषासन्न्यासाभिप्रायेण प्रवृत्ता । "एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" [ बृ. उ. ३।५।१ ] इति ज्ञानपरिपाकार्थस्य जीवनमुक्तिसुखार्थस्य वा याज्ञवल्क्यादिभिरनुष्ठितस्य विद्वत्सन्न्यासस्यापि[1] शास्त्रे दर्शनात् ।

असन्न्यासिनो ज्ञानमेव नोत्पद्यत इति प्राचामाग्रहो विक्षेपककर्मत्यागरूपसन्न्यासविषयः, न तु काषायपरिधानमात्रविषयः; गार्गीव्याधवासिष्ठादीनामतथाविधानामपि ज्ञानोत्पत्त्यवगमात्; इत्यास्तां तावत् । कर्मभिरशोधितचित्तस्य मन्दबुद्धे रागद्वेषादिग्रस्तस्यात्मानात्मविवेकद्वारा चित्तरोधद्वारा वा नैष्कर्म्यप्राप्तिर्नास्तीति पूर्वार्द्धार्थः । ननु 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' [ ] इति केवलात्कर्मसन्न्यासादपि नैष्कर्म्यसिद्धिः स्मर्यते, तत्कथमुच्यते 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं' अस्तीति ? तत्राह— न चेति । कर्मजचित्तशुद्ध्यभावे कृतादपि सन्न्यासान्न मोक्षसिद्धिः । उदाहृतस्मृतिस्तु चित्तशुद्धिपूर्वकसन्न्यासाभिप्राया । न हि रागादिग्रस्तसर्वभूतेभ्यः सर्वात्मनाऽभयं दातुमीष्टेऽतो युक्तमुक्तं 'न च सन्न्यसनादेव' इति ॥ ४ ॥

**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।**
**कार्यते ह्यवशः कर्म * सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥**

१ शां. भा.— कस्मात् पुनः कारणात् कर्मसन्न्यासमात्रादेव केवलात् ज्ञानरहितात् सिद्धिं नैष्कर्म्यलक्षणां पुरुषो नाधिगच्छति ? इति हेत्वाकाङ्क्षायामाह— न हीति । न हि यस्मात् क्षणमपि किञ्चित् कालं जातु कदाचित् कश्चित् तिष्ठति अकर्मकृत् सन् । कस्मात् ? कार्यते प्रवर्त्यते हि यस्मात् अवश एव अस्वतन्त्र एव कर्म सर्वः प्राणी प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैः सत्त्वरजस्तमोभिः गुणैः । अज्ञ इति वाक्यशेषः, यतो वक्ष्यति 'गुणैर्यो न विचाल्यते' [ १४।२३ ] इति । साङ्ख्यानां पृथक्करणादज्ञानामेव हि कर्मयोगः, न ज्ञानिनाम् । ज्ञानिनां तु गुणैरचाल्यमानानां स्वतः चलनाभावात् कर्मयोगो नोपपद्यते । तथाच व्याख्यातं 'वेदाविनाशिनम्' [२।२१] इत्यत्र ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— उक्तेऽर्थे बुभुत्सितं हेतुं वक्तुमुत्तरश्लोकमुत्थापयति— **कस्मादिति** । कस्मान्न कर्मसन्न्यासादेव सिद्धिमधिगच्छतीति पूर्वेण सम्बन्धः । कदाचित्क्षणमात्रमपि न कश्चिदकर्मकृत्तिष्ठतीत्यत्र हेतुत्वेनोत्तरार्धं व्याचष्टे— **कस्मादिति** । सर्वशब्दाज्ज्ञानवानपि गुणैरवशः सन्कर्म कार्यते, ततश्च ज्ञानवतः सन्न्यासवचनमनवकाशं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **अज्ञ**

---

१ 'सम्यगनुष्ठितैः श्रवणमनननिदिध्यासनैः परं तत्त्वं विदितवद्भिः सम्पाद्यमानो ज्ञानफलभूतश्चतुर्थाश्रमो विद्वत्सन्न्यासः' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । * अत्र नव्याः सर्वपदेन ज्ञानिनोऽज्ञानिनश्च मनुष्या गृह्यन्त इति मन्यन्ते, तन्न विचारचतुरम् । सर्वेषामपि सर्वदा कर्मकर्तृत्वे भगवदुपदिष्टायाः कर्मयोगविरोधिन्या ज्ञाननिष्ठाया निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, 'उभावपीमौ पन्थानौ मोक्षदृष्ट्या स्वतन्त्रौ–तुल्यबलौ' इत्यादिस्वोक्तिविरोधाच्च । ज्ञानिनां कर्मयोगानुपपत्तिश्च भाष्यकारैरेवात्रान्यत्र च सुदृढं प्रतिपादितेति नाधिकं प्रपञ्च्यते ।
— अविगीता ।

इतीति। तमेव वाक्यशेषं वाक्यशेषावष्टम्भेन स्पष्टयति— यत इति। आत्मज्ञानवतो गुणैरविचाल्यतया गुणातीतत्ववचनादज्ञस्यैव सत्त्वादिगुणैरिच्छाभेदेन कार्यकरणसङ्घातं प्रवर्तयितुं अशक्तस्याजितकार्यकरणसङ्घातस्य क्रियासु प्रवर्तमानत्वमित्यर्थः। 'ज्ञानयोगेन' [३।३] इत्यादिनोक्तन्यायाच्च वाक्यशेषोपपत्तिरित्याह— साङ्ख्यानामिति। ज्ञानिनां गुणप्रयुक्तचलनाभावेऽपि स्वाभाविकचलनबलात् कर्मयोगो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— ज्ञानिनां त्विति। प्रत्यगात्मनि स्वारसिकचलनासम्भवे प्रागुक्तं न्यायं स्मारयति— तथा चेति ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.— एतदेवोपपादयति– नहीति। न ह्यस्मिन् लोके वर्तमानः पुरुषः कश्चित्कदाचिदपि कर्माकुर्वाणस्तिष्ठति; न किञ्चित्करोमीति व्यवसितोऽपि सर्वः पुरुषः प्रकृतिसम्भवैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्राचीनकर्मानुगुणं प्रवृद्धैर्गुणैः स्वोचितं कर्म प्रत्यवशः कार्यते प्रवर्त्यते। अत उक्तलक्षणेन कर्मयोगेन प्राचीनं पापसञ्चयं नाशयित्वा गुणांश्च सत्त्वादीन् वशे कृत्वा निर्मलान्तःकरणेन सम्पाद्यो ज्ञानयोगः ॥ ५ ॥**

४ वे. ता. चं.— अनन्वयशङ्कां परिहरन्ननन्तरश्लोकमवतारयति— एतदेवेति। परमपुरुषाराधनवेषस्य कर्मणस्त्यागे ज्ञाननिष्ठाया दुस्सम्पादत्वमेवेत्यर्थः। प्रथमो हिशब्दः पूर्वश्लोकार्थोपपादनद्योतकः। द्वितीयस्त्वेतच्छ्लोकपूर्वार्धोक्तोपपादनार्थः। प्रकरणारम्भे 'लोकेऽस्मिन्' [३।३] इत्युक्ताधिकारिवैचित्र्यमपि 'कश्चित्' 'सर्वः' इत्याभ्यामभिप्रेतमिति ज्ञापनाय अस्मिन् लोके इत्युक्तम्। जातुशब्दो दिवसादिस्थूलकालपरः। क्षणशब्दस्त्वत्र 'क्षणो व्यापारवैकल्ये कालभेदाल्पकालयोः' इत्यनेकार्थपाठात्तदन्तर्गताल्पकालविषय इत्यपौनरुक्त्यम्। तदुभयसङ्ग्रहेण कदाचिदपीत्युक्तम्। प्रलयादिदशाव्यतिरिक्ते सर्वस्मिन् काल इत्यर्थः। स्वपतोऽपि हि स्वापाख्यं कर्म, अत एव हि तत्र देशकालादिनियमेनानुज्ञाप्रतिषेधौ भवतः। 'अकर्मकृत्' इत्यत्राकर्मणः कर्ता न विवक्षितः; किन्तु कर्मणोऽकर्तेति व्यञ्जनाय कर्माकुर्वाण इत्युक्तम्। सर्वशब्दाभिप्रेतमाह— न किञ्चित्करोमीति व्यवसितोऽपीति। अयं चार्थः 'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य' इत्युत्तरश्लोके व्यक्तो भविष्यति। प्रकृतिजत्वेन विशेषणात् सत्त्वरजस्तमोभिरिति विशेषलाभः। प्रकृतौ नित्यं विद्यमानानां कथं प्रकृतिजत्वमित्यत्रोक्तं प्राचीनेत्यादि। तथा चाहुः— 'कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते' [वि. पु. २।१३।७०] इति। एतेन कर्मयोगतनूकृतगुणकज्ञाननिष्ठव्यवच्छेदः। स्वोचितशब्देन तृतीयषट्के वक्ष्यमाणः प्रकारो दर्शितः। स्वशब्दोऽत्र गुणपरः; 'अवशः सर्वः' इत्युद्देश्यविशेषणत्वभ्रममव्युदासाय अवशः कार्यते इत्युक्तम्। 'कार्यते' इत्यस्य प्रयोज्यकर्मपरत्वव्युदासेन प्रयोज्यकर्तृविषयत्वव्यक्त्यर्थं प्रवर्त्यत इत्युक्तम्। व्याख्यातश्लोकद्वयतात्पर्यमाह— अत इति। अतः गुणपरतन्त्रतया कर्मयोगमन्तरेण ज्ञानयोगस्य दुस्सम्पादत्वादित्यर्थः। पापनाशाद्गुणवशीकरणम्; तच्च मोक्षार्थप्रवृत्त्यनुकूलत्वम्। रजस्तमःप्राचुर्यनिवृत्तिर्वा तत्कार्यरागद्वेषाद्यभावो वा निर्मलत्वमिहाभिप्रेतम् ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.— न तु कर्माणि सर्वात्मना त्यक्तुं शक्यानीत्याह– न हीति ॥ ५ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ज्ञानरहितात् कर्मत्यागरूपात्यत्याश्रमात् 'सिद्धिं न समधिगच्छति' [३।४] इति किल पूर्वमुक्तम्, तत्र 'हेत्वाकाङ्क्षायां न हि कश्चिदित्युच्यते' इति व्याख्यानमसदिति भावेन श्लोकतात्पर्यमाह— न त्विति। न ह्यत्र ज्ञानस्यावश्यकत्वे किञ्चिदुच्यते। नापि यज्ञादिकर्माकरणस्यासम्भवोऽभिधीयते, येन प्रकृतसङ्गतिः स्यात्; किन्तु शरीरयात्रार्थानां कर्मणामपरिहार्यत्वम्। अतो नेदं व्याख्यानं, अपि तर्हि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' [म. भा. १२।२४१।७] इति स्मृतिमाश्रित्य यस्तृतीयः पक्षस्तमाशङ्क्य 'यज्ञार्थात्' [३।९] इति स्मृतेरर्थसङ्कोचं वक्ष्यति; तत्र कुतः स्मृतेरर्थसङ्कोचः? इत्याकाङ्क्षा स्यात्, तामपाकर्तुमुपोद्घातन्यायेन कर्मशब्दस्तावदसङ्कुचितार्थः परेणाप्यङ्गीकर्तुमशक्य इति प्रतिपादयितुं कर्माणि सर्वात्मना त्यक्तुं नैव शक्यानीत्यनेनाहेति भावः ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्च योगानुष्ठानपूर्वकात् सत्त्वशुद्धिजनितात्मविज्ञानात् सिद्धिं समधिगच्छति। तत्र कश्चित्कुतो नैष्कर्म्यं नाश्नुते? इति हेत्वाकाङ्क्षायामाह— नहीति। न हि यस्मात्क्षणमपि जातु कदाचित् तिष्ठत्यकर्मकृदक्रियः। कस्मात्? कार्यते प्रवर्त्यते हि यस्मादवश एव कर्मैव सर्वः प्राणी प्रकृतिजैर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः। अज्ञ इति वाक्यशेषः ॥ ५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च सर्वकर्मसन्न्यासमात्रात् ज्ञानमिति वदता वक्तव्यम्—कोऽयं सर्वकर्मसन्न्यासः? किं सर्वकर्मणां स्वरूपेण त्यागः, किंवा सर्वकर्मेन्द्रियाणां निग्रहः? नाद्य इत्याह— न हीति। जातु कस्याञ्चिदवस्थायामपि क्षणमपि कालम्—अत्यन्तसंयोगे द्वितीया—कश्चिदपि अकर्मकृत् कर्माण्यकुर्वाणो न तिष्ठति। हिः— प्रसिद्धौ। प्रसिद्धं ह्येतत्सर्वदाऽपि प्राणिनः कर्मकृत्त्वम्, सुषुप्तावपि निश्वासोच्छ्वासकर्मकृत्त्वात् "सुषुप्तो भूर्भूरित्येव श्वसिति" इति श्रुतेरित्यभिप्रायः। ननु

'नाहं किमपि कर्म कुर्याम्' इत्यभिसन्धाय काष्ठवत्तिष्ठन्नकर्मकृत् स्यादित्यत आह— कार्यत इति । हि यस्मात् सर्वोऽपि जन्तुरवशः अस्वतन्त्र एव सन् प्रकृतिजैः प्रकृतितोऽभिव्यक्तैः गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः समुद्रतरङ्गवन्निरन्तरमुपर्युपरि प्रवर्धमानैः स्वस्वोचितं कर्म प्रति कार्यते प्रवर्त्यते । अतः कर्मणां स्वरूपेण त्यागस्याशक्यत्वान्न तद्रूपः सन्न्यासः सम्भवतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— अतोऽवशः सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैर्वा कर्म कार्यत एव ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— अज्ञात्वा कर्मकरणे तत्त्यागोऽपि न भवति, ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा कर्म तु करोत्येवेत्याह— न हीति । कश्चित् जातु कदाचित् क्षणमपि अकर्मकृत् कर्माण्यकुर्वन् न तिष्ठति । कुतः ? इत्यत आह— सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः सात्त्विकादिभिः कर्म कार्यते कर्मणि प्रवर्त्यते । तत्र कारणमाह— ह्यवश इति । हीति निश्चयेन । अवशः न मद्वशो भक्त इत्यर्थः । अतस्तदारम्भात् स्वरूपज्ञानानन्तरं प्राकृतकार्यतां तेषु ज्ञात्वा मद्वशो भूत्वा त्यजेदिति भावः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव प्रपञ्चयति— न हीति । अवशः कर्मजशुद्ध्यभावादजितचित्तः कश्चिदपि जातु कदाचित् समाधिकालेऽपि क्षणमपि अकर्मकृत् कर्माणि दुर्मनोरथादीनि अकुर्वन् हि प्रसिद्धं न तिष्ठति । हि यस्मात् सर्वोऽपि लोकः प्रकृतिजैर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः स्वभावप्रभवैः रागद्वेषादिभिर्वा कर्म कायिकं वाचिकं मानसिकं वा कार्यतेऽवश्यं तत्र प्रवर्त्यते ॥ ५ ॥

**कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।**
**इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥**
**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ! ।**
**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥ ७ ॥**

१ **शां. भा.**— यस्त्वनात्मज्ञश्चोदितं कर्म नारभत इति तदसदित्याह— कर्मेन्द्रियाणीति । कर्मेन्द्रियाणि हस्तादीनि संयम्य संहृत्य य आस्ते तिष्ठति मनसा स्मरंश्चिन्तयन्निन्द्रियार्थान् विषयान् विमूढात्मा विमूढान्तःकरणो मिथ्याचारो मृषाचारः पापाचारः स उच्यते ॥ ६ ॥ यस्त्विति । यस्तु पुनः कर्मण्यधिकृतोऽज्ञो बुद्धीन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन ! कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाण्यादिभिः । किमारभते ? इत्याह— कर्मयोगमसक्तः सन् फलाभिसन्धिवर्जितः, स विशिष्यते इतरस्मान्मिथ्याचारात् ॥ ७ ॥

२ आ. शां. व्या.— आत्मवदनात्मज्ञस्यापि तर्हि कर्माकुर्वतो न प्रत्यवायः, शरीरेन्द्रियसङ्घातं नियन्तुमसमर्थस्य मूर्खस्यापि सन्न्याससम्भवादित्याशङ्क्याऽऽह— यस्त्विति । तस्य चोदिताकरणं तच्छब्देन परामृश्यते— तदसदिति । मिथ्याचारत्वादिति भावः । मिथ्याचारतामेव वर्णयति— कर्मेन्द्रियाणीति ॥ ६ ॥ अनात्मज्ञस्य चोदितमकुर्वतो जाग्रतो विषयान्तरदर्शनध्रौव्यान्मिथ्याचारत्वेन प्रत्यवायित्वमुक्त्वा विहितमनुतिष्ठतस्तस्यैव फलाभिलाषविकलस्य सदाचारत्वेन वैशिष्ट्यमाचष्टे— यस्त्विन्द्रियाणीति । विहितमनुतिष्ठतो मूर्खात्कर्म त्यजतो वैशिष्ट्यमक्षरयोजनया स्पष्टयति— यस्तु पुनरिति ॥ ७ ॥

३ **रा. भा.**— अन्यथा ज्ञानयोगाय प्रवृत्तो मिथ्याचारो भवतीत्याह— अविनष्टपापतया अजितबाह्यान्तःकरण आत्मज्ञानाय प्रवृत्तो विषयप्रवणतया आत्मनि विमुखीकृतमना विषयानेव

---

१ अत्र गूढार्थतत्त्वालोकः— "मिथ्याशब्दो मोघवचनः । आचारः सन्न्यासप्रयोजकबाह्येन्द्रियनिग्रहादिव्यापारः । तथा च सत्त्वशुद्ध्यभावेन तत्त्वम्पदार्थविवेकादिरूपसन्न्यासफलयोग्यत्वस्य चेतोविशुद्धिलक्षणस्याभावान्मोघ उक्तफलानुपधायक आचारो यस्य सः" इति मिथ्याचारपदं विवृणोति । २ नव्यास्तु— सन्न्यासमार्गादपि कर्मयोगस्य श्रेयस्त्वं श्लोकेऽस्मिन्नुपवर्णितमिति महता संरम्भेणोद्घोषयन्ति, तद्धूलिप्रक्षेपमात्रम् । अत्र सन्न्यासमार्गसम्बन्धाभावात् । पूर्वश्लोकोदितान्मिथ्याचारादेव हि कर्मयोगस्य विशिष्टत्वमत्रोच्यते, नाप्रकृतात्सन्न्यासमार्गात् । प्रत्युत कर्मयोगी मिथ्याचाराद्विशिष्यत इत्युक्त्या तस्य ज्ञाननिष्ठादवरत्वमेवात्रापि ध्वन्यत इति ध्येयं सुधीभिः । — अविगीता ।

स्मरन् य आस्ते, अन्यथा सङ्कल्प्य अन्यथा चरतीति स मिथ्याचार उच्यते; आत्मज्ञानायोग्युक्तो विपरीतो विनष्टो भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥ अतः पूर्वाभ्यस्तविषयसजातीये शास्त्रीये कर्मणि इन्द्रियाण्यात्मावलोकनप्रवृत्तेन मनसा नियम्य तैः स्वत एव कर्मप्रवणैरिन्द्रियैरसङ्गपूर्वकं यः कर्मयोगमारभते; सोऽसम्भाव्यमानप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठादपि पुरुषाद्विशिष्यते ॥ ७ ॥

४ वे. ता. चं.— अकरणे बाधं वदतीत्याह— **अन्यथेति** । कर्मयोगमकृत्वेत्यर्थः । 'मनसा स्मरन्' इत्यनेनार्थसिद्धं हेतुमाह— **अविनष्टेति । आत्मविमुखीकृतमना** इति । 'विमूढात्मा' इत्यत्रात्मशब्दो मनोविषयः । मूढत्वमात्मवैमुख्यम् । येभ्य एवेन्द्रियाणि निरोद्धुमिष्टानि तानेवेत्येवकारार्थः । मिथ्याचारप्रकारमाह— **अन्यथा सङ्कल्प्येति** । अन्यथाभाव एव ह्यन्ततः सर्वत्र मिथ्यात्वम्; तत्रापि सङ्कल्पितज्ञानयोगविपरीताचारतया ज्ञानयोगाभिमतस्तस्याचारो मिथ्येत्युक्तं भवति । मिथ्याचारसंज्ञानमात्रव्युदासेन दोषपर्यवसानमाह— **आत्मेति** । विपरीतविनष्टशब्दाभ्यामुपायवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यमिति दर्शितम् । द्वितीयेऽध्याये 'ध्यायतो विषयान्' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' [२।६२;६३] इत्यन्तेनास्यैवार्थस्य प्रपञ्चनं कृतमिति विनष्टशब्देन स्मारितम् ॥ ६ ॥

प्रथममेव ज्ञानयोगमारुरुक्षुमपोद्य कर्मयोगिनं प्रशंसति— **यस्त्विति** श्लोकेन । प्रकृतेन सङ्गमयन् व्याख्याति— **अत इति** । इन्द्रियाणां निश्शेषनियमनस्य कर्मयोगारम्भस्य च मिथो विरुद्धत्वादविरोधसिद्ध्यर्थमुक्तं— **शास्त्रीये कर्मणि नियम्येति** । 'नहि कश्चित्' [३।५] इत्यादिना ज्ञानयोगस्य दुष्करत्वे यो हेतुरुक्तः, तस्यैव कर्मयोगं प्रत्युपकारकत्वेन सौकर्यप्रतिपादनार्थं **पूर्वाभ्यस्तविषयसजातीये** इत्युक्तम् । यदि पूर्वाभ्यास उपकारकत्वेन स्वीक्रियते, तर्हि निषिद्धेभ्यो नियमनमशक्यं, तेष्वेव वासनायाः प्राचुर्यादिति शङ्कानिरासाय कर्मणः फलान्तरपरित्यागाय चोक्तं **आत्मावलोकने प्रवृत्तेनेति** । निषिद्धानामात्मावलोकनविरोधित्वाध्यवसायात्तेषु स्थिराऽपि वासना निराक्रियत इति भावः । 'कर्मेन्द्रियैः' इत्यनेनाभिप्रेतं सौकर्यं विशदयति— **स्वत एव कर्मप्रवणैरिन्द्रियैरिति** । असङ्गस्य कर्मयोगारम्भापेक्षितत्वादसक्तपदस्य यद्वृत्तवाक्यांशेऽन्वयमाह— **असङ्गपूर्वकमिति** । वैशिष्ट्यप्रकारं विशेषस्य चावधिं दर्शयति— **असम्भाव्यमानप्रमादत्वेन** ज्ञाननिष्ठादपीति ॥ ७ ॥

५ आ. मा. भा.— तथापि शक्तितः त्यागः कार्य इत्याह— **कर्मेन्द्रियाणीति** । मन एव प्रयोजकमिति दर्शयितुमन्वयव्यतिरेकावाह— **मनसा स्मरन् मनसा नियम्येति** । कर्मयोगं स्ववर्णाश्रमोचितम् । न तु गृहस्थकर्मैवेति नियमः, सन्न्यासादिविधानात्, सामान्यवचनाच्च ॥ ६ ॥ ७ ॥

६ ज. प्र. दी.— तथापि 'कर्मेन्द्रियाणि' इत्यसङ्गतम्, तृतीयपक्षस्थेन मनसेन्द्रियार्थस्मरणस्यानुक्तत्वादित्यत आह— **तथापीति** । यद्यपि शरीरयात्राद्यर्थानि कर्माणि त्यक्तुमशक्यानि, तथापि शक्तितः शक्यत्वाद्यज्ञादिकर्मणां त्यागः कार्यः । एतदुक्तं भवति— 'नाशक्यविषये शास्त्रप्रवृत्तिः' इत्यतस्तदतिरिक्तकर्मार्थः स्मृतौ कर्मशब्दो भविष्यतीति ॥ एतच्छङ्कापरिहारः श्लोकेन दृश्यते । द्वितीयश्लोकश्च व्यर्थ इत्यत आह— **मन एवेति** । मन एव बन्धमोक्षयोः प्रयोजकं, न कर्मकरणाकरणे । अतस्तन्निग्रह एव कार्यः, न कर्मत्याग इति ज्ञापयितुमित्यर्थः । अनिगृहीतत्वे मनसो बन्धापेक्षयाऽऽद्योऽन्वयः, द्वितीयो व्यतिरेकः; मोक्षापेक्षया तु व्यत्यास इति । एतेन स्मरणस्य मानसत्वव्यभिचारान्मनसेति व्यर्थमित्यपि परास्तम् । 'कर्मयोगेन योगिनां' [३।३] इत्यत्र कर्मयोगशब्दस्य गृहस्थादिकर्मविषयत्वेन प्रकृतत्वादत्रापि तद्विषयत्वप्रतीतिः स्यात्, तन्निरासार्थमाह— **कर्मयोगमिति** । गृहस्थकर्मैव वनस्थकर्मैव ब्रह्मचारिकर्मैवेति नियमो न विवक्षित इत्यर्थः । सन्न्यासादित्यादिपदेन यो नियम्यते तद्व्यतिरिक्तग्रहणम्; कर्मयोगशब्दस्य सामान्यवाचित्वाच्च । पूर्वं 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां' [३।३] इति यत्याश्रमकर्मणः पृथगुक्तत्वात् सामान्यशब्दोऽपि विशेषो व्यवस्थापितः । न चात्र तथाविधं किञ्चिदस्तीति भावः ॥ ६ ॥ ७ ॥

७ ह. पै. भा.— कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थानि संयम्य निरुध्य य आस्त उपविशति मनसेन्द्रियार्थान्विषयान् स्मरन् विमूढात्मा विमूढान्तःकरणो मिथ्याचारः पापाचारः स उच्यते । नासौ सन्न्यासी, मानसव्यापारस्यानुपरतत्वादित्यभिप्रायः ॥ ६ ॥ यत एवमतः— यस्तु पुनः कर्मण्यधिकृतोऽज्ञो बुद्धीन्द्रियाणि मनसा नियम्याऽऽरभतेऽर्जुन कर्मेन्द्रियैर्वाक्पाण्यादिभिः । किमारभते ? इत्यत्राऽऽह— कर्मयोगम् । कर्मैव योग आराध्याराधकसम्बन्धरूपकत्वात् । असक्तोऽफलाकाङ्क्षी स विशिष्यते तस्मान्मिथ्याचारात् ॥ ७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— नापि सर्वकर्मेन्द्रियनिरोधः सन्यास इति द्वितीय इत्याह— कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाण्यादीनि संयम्य निगृह्य इन्द्रियार्थान् रूपरसादीन् मनसा यः स्मरन्नास्ते। तत्र हेतुः— विमूढात्मा रागादिदूषितान्तःकरणः। स मिथ्याचारः असदाचारः, पापिष्ठ इति यावत्। उच्यते— 'त्वम्पदार्थविवेकाय सन्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्येह विहितो यस्मात्तत्यागी पतितो भवेत्' इत्यादिस्मृतिभिरिति शेषः। अतश्चित्तशुद्ध्यभावे केवलकर्मेन्द्रियनिग्रहमात्रस्यानर्थकरत्वान्न तद्रूपः सन्यास इति भावः ॥ ६ ॥

कस्तर्हि सर्वसन्यासो नाम? इति चेत्, शृणु— द्विविधः सन्यासः सर्वकर्मफलत्यागः, सर्वकर्मणां स्वरूपतस्त्यागश्च। तत्र स्वरूपतस्त्यागो नाम न सर्वकर्मणां दर्शनश्रवणादीनामकरणम्, किन्तु 'पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्' [ ५।८ ] 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्' [ ५।९ ] 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' [ ५।८ ] इति वक्ष्यमाणरीत्या दर्शनादिकर्मणामनात्मधर्मणामात्मन्यारोपितानामकर्त्रात्मज्ञानेन बाधः। तत्र चाद्ये सन्यासे कर्मयोगिनां गृहस्थादीनामप्यधिकारः। तथा च वक्ष्यते— 'अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः। स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः' [ ६।१ ] इति। द्वितीये तु ज्ञाननिष्ठानामेवाधिकारः। स च 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' [ ३।१७ ] इत्यादिनाऽग्रे वक्ष्यते। तदिदमभिप्रेत्य 'कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] इत्यस्येह प्रकृतत्वात्तदुपयुक्तं कर्मफलत्यागरूपं सन्यासं दर्शयति— यस्त्विति।

तु-शब्दः पूर्वोक्तकर्मेन्द्रियनिरोधवैलक्षण्यार्थः। तदेवाह— इन्द्रियाणि चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियाणि मनसा विवेकयुक्तेन नियम्य तत्तद्विषयासक्तेर्निवर्त्य कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगं कर्मरूपं चित्तशुद्ध्युपायमसक्तः फलाभिलाषशून्यः सन् य आरभते करोति, स विशिष्यते अधिको भवति। 'स सन्यासी च योगी च' [ ६।१ ] इत्यादिवक्ष्यमाणरीत्या निष्कामकर्मानुष्ठायिनः कर्मयोगकर्मसन्यासादुभावपि सिध्यत इति केवलकर्मठात् केवलसन्यासिनोऽपि स एव श्रेष्ठ इति स्तुतिः। 'अर्जुन' इत्याश्चर्येण सम्बोधनं, पश्येदमाश्चर्यं यदेकः कर्मेन्द्रियाणि नियम्य ज्ञानेन्द्रियाणि व्यापारयन्ननर्थमाप्नोति, अन्यस्तु ज्ञानेन्द्रियाणि नियम्य कर्मेन्द्रियाणि व्यापारयन् कृतार्थो भवति ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— यश्च कर्मेन्द्रियैः कर्माकरणे नैष्कर्म्यसम्भव उक्तः सोऽपि न साधुः, मानसक्रियानिवर्त्यत्वेनोक्तस्वरूपत्वासम्भवादित्याह— कर्मेन्द्रियाणीति। 'साङ्ख्ये प्रकीर्तितस्त्यागस्त्यागोऽपि मनसैव हि। अत्यागे योगमार्गो हि सिद्धे योगे कृतार्थता॥ तदर्थं प्रक्रिया काचित्पुराणेऽपि निरूपिता। ऋषिभिर्बहुधा प्रोक्ता फलमेकमवाह्यतः॥ कर्मत्यागेन सन्न्यासो मनसा तत्स्मृतेः पुनः। प्रत्यवायसमुच्छेदस्तस्मात्तत्करणं मतम्'॥ अतो यः पुमान्स्वयं मनसा कर्मकर्त्ता मानसविषयव्यापारवान् स मूढात्मा व्यर्थाचार उच्यते॥ ६॥ यस्तु मनसा योगशुद्धेनेन्द्रियाणि दुष्टानि नियम्य कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः सन्नारभते स उत्तमः॥ ७॥

१० पु. अ. त.— अज्ञानात्कर्मत्यागी दाम्भिको न यागफलमाप्नोतीत्याह— कर्मेन्द्रियाणीति। कर्मेन्द्रियाणि हस्तपादादीनि संयम्य निरुध्य, मनसा इन्द्रियार्थान् विषयान् स्मरन् य आस्ते तिष्ठति भगवद्ध्यानदशापन्न इव लोकज्ञापनार्थं, स विमूढात्मा मिथ्याचारः मिथ्याचरतीति दाम्भिक उच्यत इत्यर्थः॥ ६॥ स्वरूपज्ञानेन त्यागी उत्तमः, तत्त्यागस्वरूपं तस्योत्तमत्वमाह— यस्त्विति। तुशब्दो लौकिकार्थनिग्रहपक्षं व्यावर्तयति। य इन्द्रियाणि मनसा नियम्य मनसा मदर्थं नियमे स्थापयित्वा कर्मेन्द्रियैर्वाक्चक्षुर्हस्तादिभिः कर्मणां कृतीनां योगं मया सह योगमसक्तः स्वसुखाभिलाषाभावेन मत्सुखार्थमेव आरभते स विशिष्यते विशिष्टो भवति, उत्तमो भवतीत्यर्थः॥ ७॥

११ नी० भा० दी०— ननु सन्न्यासपूर्वकं ध्यानेनैव चित्तशुद्धिमपि सम्पादयिष्यामि, किं कर्मभिः? इत्याशङ्क्याह— कर्मेन्द्रियाणीति। यो विमूढात्मा रागाद्याक्रान्तचित्तः कर्मेन्द्रियाणि वागादीनि संयम्य निगृह्य आस्ते एकान्ते ध्यानापदेशेनोपविशति स मिथ्याचारः। तस्य तदासननियमनादिकमाचरणं मिथ्या अलीकमेव, निष्फलत्वात्। तत्र हेतुः— इन्द्रियार्थान्मनसा स्मरन्निति; यतः इन्द्रियार्थान् शब्दादीन् श्रोत्रादिभिर्गृह्णाति मनसा च स्मरति, अतो मिथ्याचारः। स विषयांश्चिन्तयन् योगनिष्ठामात्मनो लोकेऽभिव्यनक्ति, अतः कपटीत्यर्थः। तस्मात्कर्म व्यतिरिक्तश्चित्तशुद्ध्युपायो नास्तीति भावः॥ ६॥ यस्तु पूर्वस्मान्मिथ्याचाराद्विलक्षणः पुरुषधौरेय इन्द्रियाणिमनसा सह नियम्य रागद्वेषवियुक्तानि कृत्वा कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमारभते हे अर्जुन! सः कर्मफले स्वर्गादावैहिके वा शब्दादावसक्तोऽनासक्तोऽतो विशिष्यते पूर्वस्मादधिको भवतीत्यर्थः॥ ७॥

**नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।**
**शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥**

**१ शां. भा.**— यत एवमतः— **नियतमिति** । नियतं नित्यं, यो यस्मिन् कर्मण्यधिकृतः फलाय चाश्रुतं तन्नियतं कर्म, तत् कुरु त्वं हेऽर्जुन ! यतः कर्म ज्यायोऽधिकतरं फलतः, हि यस्मादकर्मणोऽकरणादनारम्भात् । कथं ? शरीरयात्रा शरीरस्थितिरपि च ते तव न प्रसिद्ध्येत् प्रसिद्धिं न गच्छेत् अकर्मणोऽकरणात् । अतो दृष्टः कर्माकर्मणोर्विशेषो लोके ॥ ८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— कर्मानुष्ठायिनो वैशिष्ट्यमुपदिष्टमनूद्य तदनुष्ठानमधिकृतेन कर्तव्यमिति निगमयति— **यत इति** । उक्तमेव हेतुं भगवदनुमतिकथनेन स्फुटयति— **कर्मे**ति । इतश्च त्वया कर्तव्यं कर्मेत्याह— **शरीरे**ति । तन्नियतं तस्याधिकृतस्येति सम्बन्धः । स्वर्गादिफले दर्शपूर्णमासादावधिकृतस्य तदपि नित्यं स्यादित्याशङ्क्य विशिनष्टि— **फलाये**ति । नित्यं कर्म नियमेन कर्तव्यमित्यत्र हेतुमाह— **यत** इति । हिशब्दोपात्तमुक्तमेव हेतुमनुवदति— **यस्मा**दिति । करणस्याकरणाज्ज्यायस्त्वं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **कथमि**त्यादिना । सत्येव कर्मणि देहादिचेष्टाद्वारा शरीरं स्थातुं पारयति, तदभावे जीवनमेव दुर्लभं भवेदिति फलितमाह— **अत** इति ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.**— नियतं व्याप्तं प्रकृतिसंसृष्टेन हि व्याप्तं कर्म, प्रकृतिसंसृष्टत्वमनादिवासनया । नियतत्वेन सुशकत्वादसम्भावितप्रमादत्वाच्च कर्मणः, कर्मैव कुरु; अकर्मणो ज्ञाननिष्ठाया अपि कर्मैव ज्यायः, 'नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' [ ३।४ ] इति प्रक्रमात् । अकर्मशब्देन ज्ञाननिष्ठैवोच्यते; ज्ञाननिष्ठाधिकारिणोऽप्यनभ्यस्तपूर्वतया ह्यनियतत्वेन दुश्शकत्वात्सप्रमादत्वाच्च ज्ञाननिष्ठायाः कर्मनिष्ठैव ज्यायसी; कर्मणि क्रियमाणे चात्मयाथात्म्यज्ञानेन आत्मनोऽकर्तृत्वानुसन्धानमनन्तरमेव वक्ष्यते ; अत आत्मज्ञानस्यापि कर्मयोगान्तर्गतत्वात् स एव ज्यायानित्यर्थः । कर्मणो ज्ञाननिष्ठाया ज्यायस्त्ववचनं ज्ञाननिष्ठायामधिकारे सत्येवोपपद्यते ।

**४ वे. ता. चं.**— अथ सौकर्यनिष्प्रमादत्वदुस्त्यजत्वादिहेतुभिः कर्मयोगस्यैव ज्यायस्त्वं दर्शयन् 'ज्यायसी चेत्कर्मणः' [ ३।१ ] इत्यादेः साक्षादुत्तरमाह— **नियत**मित्यादिना । नियतशब्दस्य मन्दप्रयोजनात्– क्रियाविशेषणत्वादपि प्रभूतप्रयोजनसमानाधिकरणकर्मविशेषणत्वमेवोचितम् । ततश्च कर्मणो नियतत्वं स्वभावतः शास्त्रतो वा स्यात्, उभयतो वा? । तत्रैकस्मिन्नुभयविवक्षाक्लृप्तिस्तावद्गरीयसी । 'शरीरयात्रा' इत्यत्र तु शास्त्रीयकर्मणि नियमाभिप्रायो व्याख्यास्यते अतोऽत्र स्वभावतो नियतत्वं विवक्षितम् । ज्ञाननिष्ठाया दुष्करत्वे प्रस्तुते कर्मनिष्ठायां सौकर्यमेव चानन्तरं वक्तुमुचितमित्येतदखिलमभिप्रेत्याह— **नियतं व्याप्त**मित्यादि । केन किन्निबन्धना व्याप्तिः? इत्यत्राह— **प्रकृतिसंसृष्टेने**ति । 'अकर्मणः' इतिपदे नञस्तदन्यविषयत्वं विभक्तेश्च पञ्चमीत्वेनावधिविषयत्वं व्यञ्जयति— **ज्ञाननिष्ठाया अपी**ति । अत्राकर्मशब्दस्य ज्ञाननिष्ठाविषयत्वं कथम्? 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' [ २।४७ ] इत्यत्र हि स एव कर्माभावविषयतया व्याख्यातः; तद्वदत्रापि अनुष्ठानत्यागे प्रसक्ते तस्मादनुष्ठानमेव ज्याय इति वक्तुमुचितमित्यत्राह— **नैष्कर्म्य**मिति । अत्र उपक्रमे कर्मयोगज्ञानयोगयोः तारतम्यमनुयुक्तम् ; तस्यैव चोत्तरमिह विवक्षितम् । मुमुक्षुसाध्यत्वेन निर्दिष्टस्य नैष्कर्म्यस्य सुषुप्त्यादिसुलभकर्माभावत्वं चायुक्तम्, कर्मानारम्भान्नैष्कर्म्यमित्यत्र साध्याविशेषप्रसङ्गाच्च । अतो ज्ञाननिष्ठैवात्राकर्मशब्देनाभिधीयत इत्यर्थः । कर्मनिष्ठाया ज्यायस्त्वे वक्ष्यमाणं हेत्वन्तरमाह— **कर्मणि क्रियमाणे चे**त्यादिना । अनन्तरमेवेत्यासन्नत्वाभिधानेन तस्येहाभिप्रेतत्वं दर्शितम् । ज्ञानयोगशक्तस्यापि कर्मयोगानुष्ठानायाभिप्रायिकमर्थमाह— **कर्मण** इति । इह **ज्ञाननिष्ठाया** इति पञ्चमी अप्रसक्तप्रतियोगिकं ज्यायस्त्ववचनमयुक्तमिति भावः ।

**३ रा. भा.**— यदि सर्वं कर्म परित्यज्य केवलं ज्ञाननिष्ठायामधिकरोषि, तर्ह्यकर्मणस्ते ज्ञाननिष्ठस्य ज्ञाननिष्ठोपकारिणी शरीरयात्राऽपि न सेत्स्यति; यावत्साधनसमाप्ति शरीरधारणं चावश्यं

---

१ **नव्यास्त्वत्र** अकर्मशब्देन सन्यासो विवक्षित इति मन्यन्ते । तन्न, तस्य कर्माकरणमात्रार्थत्वात् । सन्न्यासार्थत्वे 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येत्' इति हेतुवैयर्थ्यात् । न हि सन्यासग्रहणे कथञ्चिदपि शरीरयात्राप्रसिद्धिर्भवति, किन्तु अकरणरूपे तूष्णींभाव एव सा प्रसज्यते । दृश्यते च 'न हि कश्चित्–' [ ३।५ ] इत्यादावकरणार्थत्वमेवाकर्मशब्दस्य, न क्वापि सन्न्यासार्थत्वम् । न चाचार्यादयस्तथा व्याचक्षत इति किमनेन कुचोद्येन? । — अविगीता ।

कार्यम्, 'न्यायार्जितधनेन महायज्ञादिकं कृत्वा तच्छिष्टाशनेनैव शरीरधारणं कार्यम्', 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः' [ छां. उ. ७।२६।२ ] इत्यादिश्रुतेः; 'ते त्वघं भुञ्जते पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्' [ ३।१३ ] इति च वक्ष्यते। अतो ज्ञाननिष्ठस्यापि कर्माकुर्वतो देहयात्राऽपि न सेत्स्यति; यतो ज्ञाननिष्ठस्यापि ध्रियमाणशरीरस्य यावत्साधनसमाप्ति महायज्ञादि नित्यनैमित्तिकं कर्मावश्यं कर्तव्यम्; यतश्च कर्मयोगेऽप्यात्मनोऽकर्तृत्वभावनयाऽऽत्मयाथात्म्यानुसन्धानमन्तर्भूतम्; यतश्च प्रकृतिसंसृष्टस्य कर्मयोगः सुशकोऽप्रमादश्च; अतो ज्ञाननिष्ठायोग्यस्यापि ज्ञानयोगात् कर्मयोगो ज्यायान्। तस्मात्त्वं कर्मयोगमेव कुर्वित्यभिप्रायः ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— उत्तरार्धस्यावतारमाह— यद्यीति। अत्र त्वकर्मण इति बहुव्रीहिः। 'ते' इत्यनेन सामानाधिकरण्यादिति व्यञ्जनाय अकर्मणस्ते ज्ञाननिष्ठस्येत्युक्तम्। ननु सर्वकर्मपरित्यागिनो यदि शरीरयात्राऽपि न स्यात्ततो लब्धोपायस्य स्वरसतः प्रतिबन्धनिवृत्तेरयत्नलभ्यैव मुक्तिः स्यादित्याशङ्क्याह— यावदिति। नहि साधनानुप्रवेशमात्रात् फलसिद्धिः, किन्तु साधनसम्पूर्तेरेव; सा च न त्रिचतुरदिवसलभ्या; येन शरीरमुपेक्षेमहि। चिरकालसाध्यायां च साधनसम्पूर्तौ तावन्तं कालं शरीरमप्यवश्यं रक्षणीयम्। अनिष्पन्नोपायस्यौदासीन्यात् तत्परित्यागे प्रत्यवायोऽपि स्यादिति भावः। अस्तु शरीरधारणमपेक्षितम्, तथापि तन्न स्वेच्छया चिरकालं कर्तुं शक्यम्; नाप्यौदासीन्यमात्रान्निवृत्तिः, आरम्भककर्मविशेषेण शरीरस्य नियतावधिकत्वात्, स्मरन्ति च कर्मणां प्रतिनियतानि 'विवाहो जन्म मरणं' इत्यादीनि। अस्तु वा स्वेच्छया शरीरधारणम्, तथापि यत्किञ्चिल्लौकिककर्मणैव तत्सुशकमित्यत्राह— न्यायार्जितेति। अयमभिप्रायः—द्विविधानि कर्मफलानि, नियतानि अनियतानि चेति; प्रबलशापादिसम्भवानि नियतानि, इतराण्यनियतानि। अनियतत्वं च तेषां देशकालाद्यपेक्षया, न तु स्वरूपतः; येन कर्मणां निष्फलत्वप्रसङ्गः स्यात्। ततश्च यान्यत्रानियतानि तत्र स्वव्यापारविषयता, यान्यधिकृत्य प्रायश्चित्तमन्त्रौषधनीतिशास्त्रादीनि। अन्यथा विजिगीषुभिरुपपन्नपरिपन्थिभिरपि न चतुरङ्गादिकमङ्गीक्रियेत; आतुरैरपि न भेषजमुपभुज्येत; स्वेच्छया किञ्चित्करणाभावे स्वारसिककर्तृत्वाभावाच्छास्त्रस्याप्यनुदयः; अत एवं ज्ञानयोगमारुरुक्षता त्वया कर्मवश्यत्वमेव जगतो निवर्तितमिति सम्यगयत्नसिद्धो मोक्षः समर्थित इति भावः। एवं शरीरधारणाभावे स्वारसिकं विशरारुत्वं द्योतयति शरीरशब्दः। एवकारेण न्यायार्जनयज्ञशिष्टाशनादेर्नियमविधित्वं द्योतितम्। एवंविधा च शरीरयात्रा ज्ञानयोगसाध्यभक्तियोगदशायामप्यविच्छेद्येत्यभिप्रायेण आहाराशुद्धिश्रुत्युपादानम्। श्रौतस्यार्थस्यात्रापि विवक्षितत्वज्ञापनाय वक्ष्यमाणतामाह— ते त्वघमिति। पूर्वोपपादितान् हेतून्बुद्धिस्थक्रमेण विविच्योद्धृत्नाभिप्रायिकं शाब्दं चाखिलमर्थं सुखग्रहणाय सङ्कलय्य दर्शयति—यत इति। ज्ञाननिष्ठायोग्यस्यापि कर्मयोगो ज्यायान्, तस्मात्त्वं ज्ञानयोगयोग्योऽपि कर्मयोगमधिकुर्विति वा, न त्वमिदानीं ज्ञानयोगयोग्यः, अतः कैमुत्यात् कर्मयोगमेव कुर्विति वा त्वंशब्दाभिप्रायः ॥ ८ ॥

**५ आ. मा. भा.— अतो नियतं वर्णाश्रमोचितं कर्म कुरु ॥ ८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— उत्तरश्लोकपर्यालोचनया चैवमेवेति भावेन सङ्गतिं सूचयन् व्याचष्टे— अत इति। अतश्शब्दपरामृश्यं कर्म ज्याय इत्यादिनैवोच्यते ॥ ८ ॥

**७ ह. पै. भा.— यत एवमतः- नियतमिति। तस्मान्नियतं नित्यं कर्म त्वं कुरु। यतः कर्म ज्यायः श्रेष्ठं फलकरत्वात्, अकर्मणोऽनारम्भात् इतश्च ज्यायः, शरीरयात्रा शरीरस्थितिरपि च ते तव न प्रसिद्ध्येन्न प्रसिद्ध्यति अकर्मणोऽकरणात्। तस्मात्कर्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ८ ॥**

८ वें. व्र. गि.— एवं 'न कर्मणाम्' [ ३।४ ] इत्यादिश्लोकचतुष्टयोक्तं चित्तशुद्धिशून्यात् सर्वकर्मसन्न्यासाच्चित्तशुद्ध्यर्थं कर्मानुष्ठानमेव श्रेय इत्यमुमर्थमुपसंहरति— नियतमिति। तस्मात् त्वं नियतं नित्यं श्रौतस्मार्तरूपं कर्म कुरु। हि यस्मात् अकर्मणः सर्वकर्मसन्न्यासात्कर्म ज्याय उक्तरीत्या प्रशस्तम्। किञ्च तिष्ठत्वन्यत्, अकर्मणः सर्वकर्मसन्न्यासिनस्ते तव शरीरयात्रा देहनिर्वाहोऽपि न प्रसिध्येत्। 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षमपि' [ २।५ ] इति प्राक्त्वदुक्तस्य युद्धसन्न्यासपक्षीयस्य भिक्षाकर्मणोऽपि सर्वकर्मसन्न्यासे सत्यसम्भवादित्यर्थः। 'प्रसिद्धिं न गच्छेत्' इत्यनेन देहयात्राया नामतोऽप्यसत्त्वं सूचितम्। 'ते' इत्यनेन सर्वकर्मसन्न्यासमात्रादेव ज्ञाननिष्ठां सिसाधयिषतस्तवेत्यर्थकेन यावज्ज्ञानोदयं तदुपकारकत्वेन देहनिर्वाहस्त्वयाऽवश्यं कर्तव्य इति दर्शितम् ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— यतस्त्वं कर्मयोगे कर्माधिकारी भवसीत्यतो नियतं कर्म कुरु। अकर्मणस्तज्ज्यायः। न हि कर्म विना किञ्चिच्छरीरयात्रादिकमपि सिद्ध्यतीत्यतः कर्मैव भगवदीयेनाऽसक्ततया कार्यम् ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— यस्माल्लौकिकफलोत्पत्त्यर्थं कर्तुर्न फलमलौकिकं मदर्थं कर्मकर्तुरुत्तमं फलमतस्त्वं मदर्थं नियतं कर्म कुर्वित्याह— नियतमिति । त्वं नियतं नित्यं मत्सेवादिरूपं कर्म कुरु । पूर्वोक्तन्यायेन मदर्थं वा । यतोऽकर्मणः कर्मत्यागकर्तुर्ज्ञानवतः सकाशात् कर्म मत्सेवादिरूपं ज्याय अधिकतरम् । किञ्च ते मदर्थं मत्क्रीडार्थं गृहीतशरीरकार्यम् । अकर्मणः सेवादिरहितज्ञानमार्गे प्रपन्नस्य प्रकर्षेण न सिद्ध्येत् न सेत्स्यतीत्यर्थः । ज्ञानमार्गेऽपि ज्ञानप्राप्तिपर्यन्तं शरीराऽपेक्षास्ति, तदनन्तरं तु नापेक्षा भक्तिमार्गवत् 'अक्षण्वतां फलमिदं' [ भाग. १०।२१।७ ] इति न्यायेन । तस्मात्सर्वात्मना सेन्द्रियशरीरकार्यसिद्धौ प्रकर्ष इति भावः । अत एव वियोगक्लेशादिरससिद्ध्यर्थं शरीरपदमुक्तम् ॥ ८ ॥

११ नी०भा०दी०-- नियतमिति । यस्मादेवं तस्मात्त्वं सन्ध्योपासनादि कर्मैव कुरु । यद्वा नियतं नियमेन त्वं कर्म नित्यकाम्यसाधारणं यत्पापनिवर्त्तकस्वभावं तत्तदेव कुरु; हि यस्मात् अकर्मणः सकलकर्मेन्द्रियनिग्रहेण तदकरणात् चित्तजयशून्यात्कर्मैव ज्यायः प्रशस्ततरम् । अपि च ते तव क्षत्रियस्य अकर्मणः सत्यामपि चित्तशुद्धौ सर्वकर्मत्यागिनः शरीरयात्रा देहव्यवहारो न प्रसिद्ध्येत्, भैक्ष्यचर्यायामनधिकारात् । "ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" [ बृ. उ. ३।५।१ ] इति सन्न्यासविधायके वाक्ये "राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत" [ ] इत्यत्र राजपदवद्ब्राह्मणपदस्य विवक्षितस्यार्थत्वात् 'चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रयो राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य' इति स्मृतेश्च । अन्यत्राप्युक्तं पारिव्राज्यं प्रकृत्य 'मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् । बाहुजातोरुजातानां नायं धर्मो विधीयते' इति ॥ ८ ॥

**यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।**
**तदर्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥**

**१ शां. भा.— यच्च मन्यसे बन्धार्थत्वात् कर्म न कर्तव्यमिति, तदप्यसत्; कथम् ? यज्ञार्थादिति । 'यज्ञो वै विष्णुः' [ तै. सं. १।७।४ ] इति श्रुतेर्यज्ञ ईश्वरः, तदर्थं यत् क्रियते तद्यज्ञार्थं कर्म ।**

---

१ अत्र **वामनः —**

व्यनक्त्येषा भगवतो यज्ञशब्देन भारती । यन्निर्गुणेऽर्पितस्यात्र बन्धस्त्रुटचेन्न कर्मणः ॥
रज्जुर्मिथ्योरगस्येवाधिष्ठानमिह निर्गुणम् । किन्तु साधुस्तदन्यश्च ध्रुवं तस्य समावुभौ ॥
यथा न म्रियते रज्ज्वा जातु भ्रमभुजङ्गमः । तथैव निर्गुणेनापि पुण्यपापे न नश्यतः ॥
न रज्ज्वा कल्पितः सर्पो न च सा द्रावयत्यमुम् । रज्ज्वा नश्यति चेत्सर्पस्तत्र तिष्ठेदसौ कथम् ? ॥
वह्नौ प्रकाशते दारु परं तद्दह्यते क्षणात् । सति द्रष्टर्यप्रलयं भात्यज्ञाते गुणे फणी ॥
तस्माद्रज्जोर्यदज्ञानं तेन मिथ्योरगोद्भवः । वराटके तु विज्ञाते नावतिष्ठति स क्षणम् ॥
यदि ज्ञानं भवेच्छुल्वं भासेत तदहिः कथम्? । भासेत वा यदि ज्ञाते तस्मिन्नश्येत्कथं नु सः ? ॥
रज्ज्वज्ञानात् समुद्भूतस्तज्ज्ञानाच्च लयं गतः । यथोरगस्तथा कर्मप्रपञ्चोऽप्येष निर्गुणे ॥
कर्मैवं स्यादविद्या तां ब्रह्मविद्यैव बाधते । विद्या च काचिदीशस्य शक्तिराद्यस्य तस्य सा ॥
ईशोऽसौ सगुणस्तस्य चरणार्पणयोगतः । आविद्यकर्मणो नाशं केशवः कीर्तयिष्यति ॥
ब्रह्मार्पणप्रसङ्गेऽत्र भगवानेव वक्ष्यति । अविद्यानाशकं नैव निर्गुणं जात्विति स्फुटम् ॥
तस्मात्कर्म न यज्ञाख्यविष्णोर्यत्प्रीतये कृतम् । तदेव लोके बन्धाय भवतीति विनिश्चितम् ॥
अथ क्रियामयो यज्ञो यद्यत्राभ्युपगम्यते । स कर्मैव स्वयं, तस्माद्यज्ञो विष्णुः श्रुतेर्बलात् ॥
कर्मणोऽर्थे कृतं कर्म न बन्धकमिति स्फुटम् । अनुन्मत्तो नरो लोके को नाम कथयिष्यति ? ॥
नैस्स्व्येन नश्यते नैस्स्व्यं तमसा लुप्यते तमः । स्त्रियैव भुज्यते स्त्रीति यथा क्लिष्टमिदं तथा ॥
अथ यज्ञपदेनान्या देवता इति चेन्न तत् । इहान्यदेवतोपास्तेः सर्वथा प्रतिषेधनात् ॥
'यत्करोषि यदश्नासि तत्कुरुष्व मदर्पणम्' । इत्युक्तं नवमेऽध्यायेऽन्यत्रापि च वदिष्यति ॥
तदित्थं कर्म विष्णवाख्ये सगुणे ब्रह्मणीह यत् । नार्प्यते बन्धकं तत्स्यान्निरर्णैष्टेति नन्दकी ॥ इति ।

यत्तु **नव्यैः**- 'सृष्टिं विधाय तत्स्थित्यविच्छेदार्थं स्रष्ट्रा प्रजाभ्यश्चातुर्वर्ण्यविहितानि यानि यानि कर्माण्युपदिष्टानि, तानि सर्वाण्यप्यत्र यज्ञशब्देऽन्तर्भवन्ति' इत्युक्तम्; तदेतद्व्यतिरिक्तकर्मासम्भवेन यज्ञार्थादन्यस्य कर्मणो बन्धकत्वोक्त्यनुपपत्तेः **वामनो**क्तदूषणानुल्लङ्घनाच्चाविचारितरमणीयमेव । — **अविगीता ।**

तस्मात् कर्मणोऽन्यत्रान्येन कर्मणा लोकोऽयमधिकृतः 'कर्मकृत् कर्मबन्धनः' [ तै. भा. ३।१।६ ] कर्म बन्धनं यस्य सोऽयं कर्मबन्धनो लोकः, न तु यज्ञार्थात्। अतस्तदर्थं यज्ञार्थं कर्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः कर्मफलसङ्गवर्जितः सन् समाचर निर्वर्तय ॥ ९ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' [ म. भा. १२।२४१।७] इति स्मृतेर्बन्धार्थं कर्म, तन्न श्रेयोर्थिना कर्तव्यमित्याशङ्कामनूद्य दूषयति— यज्ञेत्यादिना । कर्माधिकृतस्य तदकरणमयुक्तमिति प्रतिज्ञातं प्रश्नपूर्वकं विवृणोति— कथमित्यादिना । फलाभिसन्धिमन्तरेण यज्ञार्थं कर्म कुर्वाणस्य बन्धाभावात्तादर्थ्येन कर्म कर्तव्यमित्याह— तदर्थमिति । यज्ञार्थं कर्मेत्ययुक्तं, न हि कर्मार्थमेव कर्मेत्याशङ्क्य व्याचष्टे— "यज्ञो वै विष्णुः" इति । कथं तर्हि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' इति स्मृतिः ? तत्राऽऽह— तस्मादिति । ईश्वरार्पणबुद्ध्या कृतस्य कर्मणो बन्धार्थत्वाभावे फलितमाह— अत इति ॥ ९ ॥

३ रा. भा.— एवं तर्हि द्रव्यार्जनादेः कर्मणोऽहङ्कारममकारादिसर्वेन्द्रियव्याकुलतागर्भत्वेनास्य पुरुषस्य कर्मवासनया बन्धनं भविष्यतीत्यत्राह— यज्ञार्थादिति । यज्ञादिशास्त्रीयकर्मशेषभूताद्द्रव्यार्जनादेः कर्मणोऽन्यत्रात्मीयप्रयोजनशेषभूते कर्मणि क्रियमाणेऽयं लोकः कर्मबन्धनो भवति । अतस्त्वं यज्ञाद्यर्थं द्रव्यार्जनादिकं कर्म समाचर । तत्रात्मप्रयोजनसाधनतया यः सङ्गः, तस्मात्सङ्गान्मुक्तः सन् तत्समाचर । एवं मुक्तसङ्गेन यज्ञाद्यर्थतया कर्मणि क्रियमाणे यज्ञादिभिः कर्मभिराराधितः परमपुरुषोऽस्यानादिकालप्रवृत्तकर्मवासनां समुच्छिद्याव्याकुलात्मावलोकनं ददातीत्यर्थः ॥ ९ ॥

४ वे. ता. चं.— 'यज्ञार्थात्' इति श्लोकः कर्मविधिनिषेधयोर्विषयव्यवस्थापक इति ज्ञापयितुं शङ्कते— एवं तर्हीति । द्रव्यार्जनादेरित्यत्रादिशब्देन महायज्ञादिग्रहणम् । ममकारादीत्यत्र तु रागद्वेषाभिनिवेशवचनादानविहरणादिग्रहः । अहङ्कारममकारादेर्मनोवृत्तिविशेषत्वादिन्द्रियव्याकुलतारूपत्वोक्तिः । अस्य पुरुषस्येति मुमुक्षोरपीति भावः । कर्मवासनयेति, प्राचीनयाऽनुपरतयाऽद्यतनव्यापाराभ्यासोपबृंहितया चेति भावः । बन्धनं भविष्यतीति उत्तरोत्तरशरीरबन्धादिना संसारानुवृत्तिप्रसङ्ग इत्यर्थः । अत्र 'यज्ञो वै विष्णुः' [तै.सं. १।७।४] इति श्रुतेः 'यज्ञ ईश्वरः' इति परैर्व्याख्यातम्, तच्चाविरुद्धमस्माकम् ; तथापि समनन्तरश्लोकपठितयज्ञशब्दैकार्थ्यमुचितमित्यभिप्रायेणाह- यज्ञादिशास्त्रीयकर्मेति । यज्ञादीत्यादिशब्देन यज्ञशब्दस्योपलक्ष्यपरत्वं ज्ञाप्यते । शास्त्रीयकर्मशब्देनोपलक्षणोपलक्ष्याणां सामान्यतः सङ्ग्राहकाकारं तदर्थकर्मणो निर्दोषत्वहेतुं च दर्शयति । यज्ञार्थात् यज्ञप्रयोजनात् । तदिदं दर्शितं शेषभूतादिति । कर्मैव बन्धनं, कर्मणा वा बन्धनं यस्य स कर्मबन्धनः ; तस्य च बन्धकत्वं स्ववासनाद्वारा; न पुनः पापतया अविहितप्रतिषिद्धविषयत्वादत्र कर्मबन्धनशब्दस्य । 'अस्य पुरुषस्य कर्मवासनया बन्धनं भविष्यति' इति शङ्काग्रन्थेनायमर्थो दर्शितः । लोकोऽत्र संसारिचेतनवर्गः । अत इति । यज्ञार्थस्य कर्मणो बन्धहेतुत्वभावादित्यर्थः । द्रव्यादिलाभहेतुभूतयुद्धप्रोत्साहनव्यक्त्यर्थं द्रव्यार्जनादिकमित्युक्तम् । तादर्थ्यं सङ्गत्यागश्चेत्युभयमपि विधेयमिति ज्ञापनाय पृथग्वाक्यकरणम् । कर्तृत्वफलत्यागयोर्विलक्षणं सङ्गत्यागस्य स्वरूपं दर्शयति— तत्रेति । यत्किञ्चित् 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति चेत् , सत्यं; प्रयोजनसाधनत्वबुद्ध्यभावेऽपि सुहृदुपचारवद्भगवत्समाराधनरूपतया स्वरूपेण प्रयोजनत्वबुद्ध्या प्रवृत्त्युपपत्तिः । 'मुक्तसङ्गं' इत्यत्र सङ्गस्य बन्धकत्वविवक्षया सङ्गान्मुक्त इत्युक्तम् । प्रकृतचोद्यस्यादृष्टद्वारा फलप्रदत्वेन परिहारं वदन्नतदर्थस्य बन्धहेतुत्वोक्त्या फलितं तदर्थस्य मोक्षहेतुत्वप्रकारं दर्शयति— एवमिति । एतेन कर्मणामप्रामाणिकापूर्वद्वारा फलप्रदत्वमिति कुदृष्टिमतं निरस्तम्, आर्थवादिकापेक्षितदेवताप्रीतिद्वारैव फलप्रदत्वोपपत्तौ "स एनं प्रीतः प्रीणाति" [यजुः ५।५।१०।४८] इत्यादिश्रुतहानाश्रुतकल्पनाद्यनुपपत्तेः । कर्मभिराराधित इत्यनेन हविर्ग्रहणं प्रीतिश्चाभिप्रेते, परमपुरुष इति तदविनाभूतादित्यवर्णादिश्रुतिसिद्धविग्रहविशेषवत्त्वं, सर्वब्रह्माण्डयुगपत्कर्मसन्निधिशक्तिश्च, ददातीति वरप्रदत्वमिति विग्रहादिपञ्चकप्रदर्शनम् । कर्मवासनां समुच्छिद्येति विपरीतवासनाचोद्यं परिहृतम् ॥ ९ ॥

५ आ. मा. भा.— 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' [ म. भा. १२।२४१।७ ] इति कर्म बन्धकं स्मृतमित्यत आह— यज्ञार्थादिति । कर्म बन्धनं यस्य लोकस्य स कर्मबन्धनः । यज्ञो विष्णुः, यज्ञार्थं सङ्गरहितं कर्म न बन्धकमित्यर्थः । मुक्तसङ्ग इति विशेषणात्, "कामान्यः कामयते" [मुं.उ. ३।२।२] इति श्रुतेश्च, 'अनिष्टमिष्टं' [ १८।१२ ] इति वक्ष्यमाणत्वाच्च 'एतान्यपि तु कर्माणि' [ १८।६ ] इति च "तस्मान्नेष्टियाजुकः स्यात्" [ बृ. उ. १।५।२ ] इति च विशेषवचनत्वे समेऽपि विशेषणं परिशिष्यते ॥ ९ ॥

६ ज. प्र. दी.— इदानीं तृतीयं पक्षमाशङ्क्य तत्परिहाराय श्लोकमवतारयति— कर्मणेति । बन्धकं मोक्षस्य प्रतिबन्धकं, अतो न करोमीति शेषः । तत्पुरुषत्वभ्रान्तिनिरासायाह— कर्मेति । तत्पुरुषत्वेऽसङ्गतिः स्यादिति भावः । यज्ञशब्दस्य यागार्थत्वप्रतीतिमपाकर्तुमाह— यज्ञ इति । अवैष्णवयागस्यापि बन्धकत्वादिति भावः । तदर्थमित्युत्तरवाक्यस्यासङ्गतिपरिहारायार्थात्सिद्धं पूर्ववाक्यार्थमाह— यज्ञार्थमिति । सङ्गरहितमित्यनुक्तं कस्मादुक्तं ? इत्यत आह— मुक्तेति । इष्टियाजुकः फलेच्छया यष्टा । ननु ‘ कर्मणा बध्यते जन्तुः ’ इत्यपि विशेषवचनम्, अविद्यादीनामनेकेषां बन्धकत्वेनाविद्यादिभिरिति सामान्यस्यानुपात्तत्वात् ; गीतावाक्यं कर्म न बन्धकमितीदमपि विशेषवचनं, तत्कथं तत्परिहारायावतार्य व्याख्यातं ? इत्यत आह— विशेषेति । युक्तविधया द्वयोर्विशेषवचनत्वं समं तथापि गीतावाक्ये ‘ यज्ञार्थात् ’ इत्यादिविशेषणमुच्यतेऽतस्तदपेक्षया तत्सामान्यवचनमेव ; अतो युक्तमेतद्व्याख्यानमिति भावः । अयमत्र प्रत्युत्तरक्रमः ‘ कर्मणा बध्यते ’ इति वाक्यमाश्रित्य न युद्धादिकर्मत्यागः कार्यः ; तस्यावैष्णवकाम्यकर्मविषयत्वात्। कुतः सङ्कोचः ? इति चेत् परेणापि परिस्पन्दमात्रस्य त्यक्तुमशक्यत्वेनासङ्कुचितार्थतायाः स्वीकर्तुमशक्यत्वात् । तर्ह्यत एव बाधकाच्छरीरयात्रार्थकर्मव्यतिरिक्तविषयत्वं कल्प्यत इति चेत्, न ; वैय्यर्थ्यात् । एवमपि मनोव्यापारस्याहृपकत्वेन प्रतिबन्धकाभावो न सिध्यति । तस्यैवान्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजकत्वावधारणात् ; बाधकात्सङ्कोचमङ्गीकुर्वतां चायमपि सङ्कोचोऽङ्गीकार्यः ; विधानसामर्थ्यात् युद्धादीनामपि तत्तद्वर्णाश्रमोचितत्वात् । न च विधानस्यामुमुक्षुविषयत्वम्, कल्पकाभावात् । न चेदमेव वाक्यं कल्पकम्, तस्यावैष्णवादिकर्मत्यागेन चरितार्थत्वात्, धर्मिपरित्यागाद्धर्ममात्रपरित्यागस्य ज्यायस्त्वात् । अतो न कर्मस्वरूपं त्याज्यमिति ॥ ९ ॥

७ ह. पै. भा.— यत्तु मन्यसे बन्धहेतुत्वात्कर्म न कर्तव्यमिति, तदसत् ; कथम् ? यज्ञार्थात्, यज्ञो विष्णुः “ यज्ञो वै विष्णुः ” [ तै. सं. १।७।४ ] इति श्रुतेः । सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य तद्यज्ञार्थं विष्ण्वाराधनार्थं तस्माद्विष्ण्वाराधनार्थात् कर्मणोऽन्यत्रायं लोकः कर्मबन्धनः। तदर्थं विष्ण्वाराधनार्थं यज्ञादिकर्म कौन्तेय ! मुक्तः सङ्गो येन स मुक्तसङ्गः सन् समाचरानुतिष्ठ ॥ ९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु ‘ कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते ’ [ म. भा. १२।२४१।७ ] इत्यादिस्मृतिभिर्बन्धात्मकत्वेनोक्तं कर्म कथं ज्ञानसाधनं, येन कर्तव्यं स्यात् ? तत्राह—यज्ञार्थादिति । यज्ञरूपत्वाद्यज्ञाधिराजत्वाद्वा ; यज्ञोऽत्र परमेश्वरः ; ‘यज्ञो वै विष्णुः’ [ तै.सं.१।७।४ ] “आ वो राजानमध्वरस्य रुद्रम् ” [ ऋक्सं. ३।४।१०।१ ] इत्यादिश्रुतेः । तदाराधनार्थं कर्म यज्ञार्थम्, ततोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तोऽयं लोको जनः कर्मबन्धनो भवति । कर्म बन्धनं यस्य स तथोक्तः । अतस्तदर्थमीश्वरप्रीत्यर्थं कर्म हे कौन्तेय ! मुक्तसङ्गो निष्कामः सन् सम्यगाचर ॥ ९ ॥

९ ब० स० दी०— साङ्ख्यास्त्वात्मातिरिक्तस्य बन्धकत्वमालोच्य कर्म न कार्यमिति वदन्ति, तत्तदधिकृतविषयमपि न श्रौतमिति निर्णयमाह—यज्ञार्थादिति । इज्यतेऽनेन सावयवो भगवानिति यज्ञस्तदर्थात् । वेदे हि मुख्यः कर्मयज्ञ एव, भगवद्रूपत्वात् । ततोऽन्यत्र काम्ये परधर्मे वा बन्धनम् । ‘ यज्ञरूपो हरिः कर्मोपास्तिकाण्डे परे बृहत् । प्रेमभक्तौ तु स्वयं हीत्यानर्थक्यं न युज्यते ॥ ‘ बुद्ध्वा चेत्कुरुते कर्म ततस्तद्बन्धकं न हि । अन्यथा करणे तस्य सर्वथा बन्धसम्भवः ’ इत्यर्थो दर्शितः ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं चेत्तदा कर्माकरणं पूर्वं कथमुक्तं ? इत्याशङ्क्याह— यज्ञार्थादिति । अन्यत्र मत्सेवातोऽन्यत्र कर्ममार्गे कर्मबन्धनः कर्मनिबन्धनोऽयं लोकः । ‘कर्मणो यज्ञार्थात् ’ इत्युक्त्वा कर्म कार्यमित्याहुस्ततस्तत्कर्म न मत्फलकमिति मया बन्धकत्वात्तत्त्याग उक्तः, यतस्तत्कर्म बन्धकमतस्तत्त्यक्त्वा कर्म कुर्वित्याह— तदर्थमिति । तदर्थं यज्ञार्थं मुक्तसङ्गः सन् कर्म मत्सेवारूपं समाचर सम्यक्प्रकारेण कुरु ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु ‘ कर्मणा बध्यते जन्तुः ’ [ म. भा. १२।२४१।७ ] इति कर्मणां बन्धकत्वस्मृतेः कथं मुमुक्षुं मां तत्र नियोजयसि ? इत्याशङ्क्याह— यज्ञार्थादिति। यज्ञः परमेश्वराराधनम् । यज देवपूजायामिति धात्वर्थानुगमात्, तदर्थं “ यज्ञो वै विष्णुः ” [ तै. सं. १।७।४ ] इति श्रुतेर्विष्णुर्वा, तदाराधनार्थं यत्कर्म ततोऽन्यत्र कर्मणि स्वर्गाद्यर्थे प्रवृत्तोऽयं लोकः कर्मबन्धनः— कर्मणा बध्यते, न त्वीश्वराराधनार्थेन; अतस्तदर्थं ईश्वराराधनार्थं कर्म वर्णाश्रमोचितं हे कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः फलाभिलाषशून्यः सन् समाचर सम्यक्कुरु ॥ ९ ॥

नित्यनैमित्तिककर्मणोऽवश्यकर्तव्यता प्रामाण्यं च [ १०-१३ ]

**सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।**
[ 'सह यज्ञैः प्रजाः' इति रामानुजीयः पाठः । ]
**अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ १० ॥**
**देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।**
**परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.— इतश्चाधिकृतेन कर्म कर्तव्यम्— सहेति । सहयज्ञा यज्ञसहिताः प्रजास्त्रयो वर्णास्ताः सृष्ट्वोत्पाद्य पुरा पूर्वं सर्गादावुवाचोक्तवान् प्रजापतिः प्रजानां स्रष्टा अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिरुत्पत्तिस्तां कुरुध्वम् । एष यज्ञो वो युष्माकमस्तु भवतु इष्टकामधुक्, इष्टानभिप्रेतान् कामान् फलविशेषान् दोग्धीति इष्टकामधुक् ॥ १० ॥ कथम्? देवानिति । देवानिन्द्रादीन् भावयत वर्धयतानेन यज्ञेन । ते देवा भावयन्त्वाप्याययन्तु वृष्ट्यादिना वो युष्मान् । एवं परस्परमन्योन्यं भावयन्तः श्रेयः परं मोक्षलक्षणं विज्ञानप्राप्तिक्रमेण अवाप्स्यथ स्वर्गं वा परं श्रेयोऽवाप्स्यथ ॥ ११ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— नित्यस्य कर्मणो नैमित्तिकसहितस्याधिकृतेन कर्तव्यत्वे हेत्वन्तरपरत्वेनानन्तरश्लोकमवतारयति— **इतश्चे**ति । कथं पुनरनेन यज्ञेन वृद्धिरस्माभिः शक्या कर्तुमित्याशङ्क्याऽऽह— **एष** इति ॥ १० ॥ कथं पुनरभीष्टफलविशेषहेतुत्वं यज्ञस्य विज्ञायते? न हि देवताप्रसादादृते स्वर्गादिरभ्युदयो लभ्यते, नापि सम्यग्दर्शनमन्तरेण निश्श्रेयसं सेद्धुं पारयतीति शङ्कते— **कथ**मिति । तत्र श्लोकेनोत्तरमाह— **देवा**निति । मुमुक्षुत्वबुभुक्षुत्वविभागेन श्रेयसि विकल्पः॥ ११॥

**३ रा. भा.— यज्ञशिष्टेनैव सर्वपुरुषार्थसाधननिष्ठानां शरीरधारणकर्तव्यतामयज्ञशिष्टेन शरीरधारणं कुर्वतां दोषं चाह— "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं" [ तै. ना. ११।३ ] इत्यादिश्रुतेर्निरुपाधिकः प्रजापतिशब्दः सर्वेश्वरं विश्वस्य स्रष्टारं विश्वात्मानं परायणं नारायणमाह । पुरा सर्गकाले स भगवान् प्रजापतिरनादिकालप्रवृत्ताचित्संसर्गविवशा उपसंहृतनामरूपविभागाः स्वस्मिन् प्रलीनाः सकलपुरुषार्थानर्हाश्चेतनेतरकल्पाः प्रजाः समीक्ष्य परमकारुणिकस्तदुज्जिजीवयिषया स्वाराधनभूतयज्ञनिवृत्तये यज्ञैः सह ताः सृष्ट्वैवमुवाच— अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं, आत्मनो वृद्धिं कुरुध्वम्; एष वो यज्ञः परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षाख्यस्य कामस्य तदनुगुणानां च कामानां प्रपूरयिता भवतु ॥ १० ॥**

**४ वे. ता. चं.**— उक्तमर्थद्वयं 'सह यज्ञैः' इत्यारभ्य 'मोघं पार्थ ! स जीवति' [३।१६] इत्यन्तेन निन्दाप्रशंसादिभिर्द्रढयतीत्याह— **यज्ञशिष्टेनैवे**ति । **सर्वपुरुषार्थसाधननिष्ठाना**मित्यनेन 'प्रजाः सृष्ट्वा' इति सामान्यनिर्देशफलितमुक्तम् । अत्र प्रजापतिशब्दस्य हिरण्यगर्भादिविषयत्वव्युदासायाह— **पतिं विश्वस्येती**ति । हिरण्यगर्भादेरपि, न तु हिरण्यगर्भादिवदण्डाद्यवच्छिन्नस्येत्यर्थः । तत एवोक्तं **निरुपाधिक** इति । श्रुतार्थस्वभावादपि स एव सर्वप्रजापतिरिति प्रदर्शनाय **सर्वेश्वर**मित्यादिविशेषणोक्तिः । **नारायणम्** एतदखिलं नारायणशब्दवाच्यस्यैव हि नारायणा-

---

१ इतः श्लोकपञ्चकस्या**भिनवगुप्तपादीयं** व्याख्यानमनन्यलभ्यं कमपि रहस्यार्थं प्रकाशयतीति तदत्र सङ्गृह्यते— "देवाः क्रीडाशीला इन्द्रियवृत्तयः करणेश्वर्यो देवता रहस्यशास्त्रप्रसिद्धाः, ता **अनेन** कर्मणा तर्पयत- यथासम्भवं विषयान् भक्षयतेत्यर्थः । तृप्ताश्च सत्यस्ता वो युष्मानात्मन एव स्वरूपमात्रोचितानपवर्गान् भावयन्तु, स्वात्मस्थितियोग्यत्वात् । एवमनवरतं व्युत्थानसमाधिसमयपरम्परायामिन्द्रियतर्पणतदात्मसाद्भावलक्षणे परस्परभावे सति शीघ्रमेव परमं श्रेयः परस्परभेदविगलनलक्षणं ब्रह्म प्राप्स्यथ ।" इति ।

**—अविगीता ।**

नुवाकादिषु प्रतिपाद्यत इति भावः । उक्तं च जगत्पतित्वं स्रष्टृत्वादिकं च समुच्चित्य भगवता पराशरेण 'कलौ जगत्पतिं विष्णुं सर्वस्रष्टारमीश्वरम्' [ वि. पु. ६।१।५० ब्र. पु. च. १२०। ४५ ] इति । 'अनुमानात्तदुद्धारं कर्तुकामः प्रजापतिः' [वि.पु. १।४।७ ] इति च वराहरूपे भगवति प्रजापतिशब्दः तेन 'प्रजापतिः' [ तै. ना. ११।१ ] इत्यादिश्रुत्यनुसारात्प्रयुक्तः । किञ्च स्वतन्त्रस्य कर्मपरतन्त्रान्प्रति नियोगो ह्ययम् । अतोऽत्र 'प्रजाः सृष्ट्वा' इति प्रजाशब्दः सर्वान् ब्रह्मपर्यन्तान् जगदन्तर्व्यवस्थितान् कर्मजनितसंसारवशवर्तिनो यज्ञाद्यधिकारिणः प्राणिनः सङ्गृह्णाति । अतोऽत्र प्रजापतिशब्द उपक्रमस्थप्रजाशब्दानुरोधात् सङ्कोचेन तद्वैरूप्यायोगाच्च परित्यक्तरूढिरकर्मवश्यं नियोक्तारं सर्वेश्वरं नारायणमाह । तथा स्रज्यसमस्तक्षेत्रज्ञविषयो ह्ययमनवच्छिन्नः प्रजाशब्दः ।

**पुरे**ति प्रलयानन्तरकालाभिधानात्ततश्च "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ...... तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति" [ छां. उ. ६।२।१–३ ] "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः" [ छां. उ. ६।८।४ ] "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" इत्यारभ्य "बुद्बुदाक्षः शूलपाणिः पुरुषो जायते .....तत्र ब्रह्मा चतुर्मुखोऽजायत" [महो. १।१] 'सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः' [ मनुः १।८ ]इत्यादिषु हिरण्यगर्भादेरपि प्रजात्वावगमान्नारायणस्य च तज्जनकत्वावगतेः 'प्रजाः सृष्ट्वा' इत्यनवच्छेदेन निर्दिष्टो विश्वस्य स्रष्टा नारायण एवेति स एवात्र प्रजापतिः । किञ्च "तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे" [ऋक्सं.६।४।१८।४ यजुस्सं .३१।७] "सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः । नामानि कृत्वाऽभिवदन्यदास्ते" इति यज्ञैः सह सर्वप्रजानां स्रष्टृतया निर्दिष्टोऽप्यधिकारपुरुषस्यापि स्रष्टा सहस्रशीर्षत्वादिविशिष्टः परमपुरुष एव । अतोऽपि 'सह यज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा' इति निर्दिष्टः प्रजापतिः विश्वस्य स्रष्टा स एव । तथा 'सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते !' [वि.ध.६८।५१] इत्यादिवचनबलाद्धिरण्यगर्भाख्यप्रजापतिमुखेनापि विश्वस्रष्टा "सर्वभूतान्तरात्मा अपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" [ सु. उ. ७ ] इति श्रुतः स एव विश्वात्मा । किञ्चात्र निर्दिश्यमानं देवानां भावनादिकं परमात्मात्मकानामेवेति 'अहं हि सर्वयज्ञानाम्' [ ९।२४ ] इत्यादौ व्यक्तं भविष्यति ; "यस्मिन्निदं सञ्चविचैति" [ श्वे. उ. ४।११ ] "प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तः" [य.सं.३१।१९ तै. ना. ६।११] इत्यादिकं **विश्वस्य स्रष्टारं विश्वात्मानमि**ति विशेषणाभ्यां सूचितम् । अतोऽप्यत्र विश्वात्मानं तमेवाह । तथा "प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये" [ छां. उ. ८।१४।१ ] इत्यत्र परमप्राप्यतया च प्रजापतिशब्दनिर्दिष्टोऽपि परमात्मैवेति 'न च कार्ये प्रत्यभिसन्धिः' [ ब्र. सू. ४।३।१४ ] इति सूत्रे प्रत्यपादि, अतोऽपि परायणं तमेवाह । एवं— **सर्वेश्वरमि**त्यादिविशेषणैः तत्तत्प्रमाणसूचनं कृतम् । एवं श्यामैकरूपसप्तदशाग्नायतयामाज्यदैवतविष्णुविषयप्रजापतिशब्दश्रुतिरप्यनुसन्धेया ।

पुराशब्दस्य वचनान्वयं प्रतीतिव्युदासेन ब्रह्माद्यगोचरसृष्ट्यन्वयव्यक्त्यर्थमाह— **पुरा सर्गकाले** इति । श्रुतिस्मृत्यादिषु सृष्टिप्रकरणप्रसिद्धिप्रकारमभिप्रैति— **स भगवा**निति ; भगवच्छब्देन सृष्ट्यादिपञ्चकृत्योपयुक्तहेयप्रत्यनीककल्याणगुणविशिष्टत्वं दर्शितम् । तथा मानवे धर्मशास्त्रे प्रथमम् 'आसीदिदं तमोभूतम्' [१।५] इति प्रलयमभिधाय 'ततः स्वयम्भूर्भगवान्' [ १।६ ] इति भगवच्छब्देन सर्वस्रष्टा निर्दिष्टः । अनन्तरं च 'ता यदस्यायनं पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः' [१।१०] 'तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते' [ १।११ ] इति हिरण्यगर्भाख्यप्रजापतेः स्रष्टा नारायण इत्युक्तम् । 'अत्र प्रजापतिरुवाच' इति पराक्तया निर्देशस्तु सारथिभूतस्य स्वस्य प्रजापतिशब्दप्रतिपन्नात् स्वस्माद्भेदोपचारेणेति मन्तव्यम् । एवमुत्तरत्रापि सर्वत्र पराक्त्वनिर्देशेषु यथार्हमनुसन्धेयम् ।

सर्वत्र सृष्टेः संहारपूर्वकत्वदर्शनादत्रापि तथा विवक्षन् संहारस्य प्रयोजनं सृष्टेर्हेतुं चाह— **अनादी**ति । अनवरतसुखदुःखोपभोगायासपरिश्रान्तानां विश्रमार्थं अश्रान्तापथप्रवृत्तिवासनाविच्छेदार्थं चोपसंहारः । अतो न संहारे नैर्घृण्यदोषः । तादृशसुखदुःखोपभोगप्रदाने च परमात्मनित्यसङ्कल्पसिद्धजीवस्वातन्त्र्यनिबन्धनानादिकर्मप्रवाहहेतुकाचित्संसर्ग एव हेतुरिति न तत्र वैषम्यनैर्घृण्ये । सूत्रितं च 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति'; 'न कर्माविभागात्' [ ब्र. सू. २।१।३४,३५ ] इति चेन्नानादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' [ ब्र. सू. २।३।४२ ] इति । **उपसंहृतनामरूपविभागाः स्वस्मिन् प्रलीना** इति । असद्व्यपदेश एकत्वव्यपदेशादिश्च निर्व्यूढः । नामरूपप्रहाणं स्वस्मिन् प्रलयश्च मोक्षवत्पुरुषार्थ एव स्यादित्याशङ्क्याह— **सकले**ति । त्रिवर्गेऽप्यनर्हाः, किं पुनरपवर्ग इति भावः । तत्र हेतुमाह— **चेतनेतरकल्पा** इति । स्वप्रकाशत्वेऽप्यत्यन्तज्ञानसङ्कोचात्तत्कल्पत्वम् ; न तु ज्ञानविनाशात् । **प्रजाः** हिरण्यगर्भादिकाः समीक्ष्य सम्यगवलोक्य ; एतेन 'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः' [ म. भा. १२।३४८। ७३ ] 'नावेक्षसे यदि ततो भुवनान्यमूनि नालं प्रभो भवितुमेव कुतः प्रवृत्तिः । एवं निसर्गसुहृदि त्वयि सर्वजन्तोः स्वामिन्न चित्रमिदमाश्रितवत्सलत्वम्' [ स्तो. र. १० ] ॥ इत्यादिकमभिप्रेतम् । "स एकाकी न रमते" [ महो. १ ] इति श्रुतेः 'परमकारुणिकः किल त्वम्' इत्यादिस्मृतिसिद्धगुणविशेषे तात्पर्यमाह— **परमकारुणिक** इति । अवाप्तसमस्तकामस्य जगद्व्यापारानुपपत्तिं परिहरति— **तदुज्जिजीवयिषये**ति । कारुणिका हि स्वार्थनिरपेक्षा एव परोज्जिजीवयिषया प्रवर्तन्ते, सैव प्रवृत्तिरस्य लीलाऽपीति न दोष इति भावः । यज्ञैः सहेति निर्देश उज्जीवनोपायविशेषनिष्पत्त्यर्थ इत्यभिप्रायेणाह— **स्वाराधने**ति ।

यज्ञैरिति वैविध्यसूचनाय बहुवचननिर्देशे पूर्वं कृतेऽपि 'अनेन' इत्येकवचनेन परामर्शो जात्येकत्वपर इत्यभिप्रायेणाह— **अनेन यज्ञेने**ति । 'सहयज्ञाः' इति **शङ्करयादव**-

प्रकाशीयपाठस्त्वप्रसिद्धेरनादृतः । 'प्रसविष्यध्वम्' इत्यत्र 'षूञ् प्राणिप्रसवे' 'षूङ् गर्भविमोचने' इतिधातुद्वयेऽपि प्रजननमात्रप्रतीतिः स्यात्; न च द्वादशाहादिवत् सर्वेषां यज्ञादीनां प्रजामात्रं फलम् । अतः सन्तत्युपलक्षिता स्वनिष्पाद्या समृद्धिरत्र विवक्षितेत्यभिप्रायेणाह— **आत्मनो वृद्धिं कुरुध्वमि**ति । यज्ञसाध्यः कामो निषिद्धेतरधर्माविरुद्धसमस्तकाम्यवर्गः; तत्रापि मोक्षतत्साधनोपकारिषु तात्पर्यभूयस्त्वमित्यभिप्रायेण मोक्षतदनुगुणोपादानम् । रुचिवैचित्र्यज्ञापनाय इष्टशब्देन विशेषणम् । मोक्षस्येष्टकामशब्देन सङ्ग्रहाय **परमपुरुषार्थलक्षणे**त्युक्तम् । अवधीरितस्वर्गाय अर्जुनायोपदेशात् 'मा फलेषु' [२।४७] 'श्रेयः परम्' [३।११] इति पूर्वापरानुगुण्याच्चात्र मोक्षार्थतोक्तिर्युक्ता । **प्रपूरयिते**ति 'दुह प्रपूरणे' इति हि धातुः । ननु प्रपूरणं हि पूरणाभावेऽनुशिष्टं, प्रस्थानप्रस्मरणादिष्विवात्रापि प्रशब्दस्याभावविषयत्वात्; अत एव हि 'गां दोग्धि' इत्यादिप्रयोगः; सत्यम्, तथापि 'गां दोग्धि' इत्यत्रापि गोरेव पयोरेचनं, न तु पयसः स्वरूपवैकल्यम्; तद्वदत्रापि गोस्थानीयाद्यज्ञतः क्षीरस्थानीयाः कामा लभ्यन्ते; तैस्तस्य रेचनं स्यात्; फलदातुः सकाशात् फलमादाय युष्मभ्यं ददात्वित्यर्थः; तेन यज्ञाराधितोऽहं युष्मभ्यं कामान् ददामीत्युक्तं भवति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— कथम्? अनेन देवताराधनभूतेन देवान् मच्छरीरभूतान् मदात्मकानाराधयत 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' [ ९।२४ ] इति हि वक्ष्यते । यज्ञेनाराधितास्ते देवा मदात्मकाः स्वाराधनापेक्षितान्नपानादिकैर्युष्मान् पुष्णन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः परं श्रेयो मोक्षाख्यमवाप्स्यथ ॥ ११ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— यज्ञेनात्मनो वृद्धिः कथम्? क्षणिकक्रियारूपश्च यज्ञः कथं कालान्तरभाविफलसाधनम्? "नान्यः पन्थाः" [श्वे. उ. ३।८+६।१५] इत्यादिना ज्ञानस्यैव मोक्षप्रदत्वे सिद्धे कथं स्वर्गादिसाधनतया निर्दिष्टो यज्ञो मोक्षसाधनम्? स्मरन्ति च 'कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते । तस्मात्कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः' [ सं. उ. ९८ म.भा.१२।२४१।७] इति; तथा 'नैव धर्मी न चाधर्मी' "ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम्" [ ना. प. उ. ३ ] इति च; कथं च मोक्षबहिर्भूतानां विचित्रसांसारिककामानां तदनुगुणत्वं? इति शङ्कास्तबकमभिप्रेत्याह— **कथ**मिति । तत्र 'देवान् भावयत' इति प्रथमस्योत्तरम्, देवताराधनं ह्याराधकस्यातिशय एव, अतः स एवात्मनो वृद्धिः; 'यज देवपूजायाम्' इति यज्ञपदप्रकृतिं धातुं स्मारयति- **देवताराधनभूतेने**ति । यज्ञस्य मोक्षहेतुत्वानुपपत्तिपरिहाराय **मदात्मका**निति । परमात्मसमाराधनतया कृतं कर्मैव मोक्षसाधनज्ञानाङ्गतया स्थित्वा मोक्षं साधयतीति प्रागेवोक्तम् । 'मदात्मकान्' इत्यस्यान्तर्यामिब्राह्मणादिसिद्धत्वसूचनाय **मच्छरीरभूतानि**त्युक्तम् । यज्ञेन देवानां भावनं हि सन्तोषवत्तया भावनमित्यभिप्रायेणोक्तं **आराधयते**ति । तदभिप्रायेण च ब्राह्मणं "तस्मादितः प्रदानं देवा उपजीवन्ति" [यजुः ३।२।९] इति । 'मदात्मकान्' इत्यस्यात्रानुक्तस्य कथमुपादानं? इत्यत्राह— **अहं ही**ति । क्षणिकस्य फलप्रदानानुपपत्तिपरिहाररूपं द्वितीयं पादं व्याख्याति— **यज्ञेने**त्यादिना **पुष्णन्त्वि**त्यन्तेन । प्रस्तुताकारपरामर्शितच्छब्दार्थः- **यज्ञेनाराधिता** इति । देवानां फलप्रदानशक्तिसिद्ध्यर्थं पुनः **मदात्मका** इत्युक्तम् । एवं च क्षणिकस्यापि देवताप्रीतिरूपापूर्वद्वारा फलसाधनत्वम्; महाप्रलये त्विन्द्रादिलयेऽपि परदेवताप्रीतिद्वारा पुनः फलप्रदत्वमुपपन्नमित्युक्तं भवति । चतुर्थशङ्कापरिहारमभिप्रेत्याह— **स्वाराधने**ति । देवैराराधकानां भावनं नामापेक्षितैः पोषणमित्यभिप्रायेणोक्तं **पुष्णन्त्वि**ति । उत्तरार्धमुक्तस्यैवार्थस्य मोक्षोपयोगित्वज्ञापकमित्यभिप्रायेणाह- **एव**मिति । स्वर्गादिरूपश्रेयोव्यावृत्त्यर्थं परत्वविशेषणमित्यभिप्रायेणोक्तं **मोक्षाख्य**मिति ॥ ११ ॥

**५ आ. मा. भा.— अत्रार्थवादमाह— सहयज्ञा इति ॥ १० ॥ ११ ॥**

६ ज. प्र. दी.— 'सहयज्ञाः' इत्यादेर्न प्रकृते सङ्गतिर्दृश्यते, अत आह— **अत्रे**ति । वर्णाश्रमोचितस्य कर्मणः सर्वथा कर्तव्यत्वे स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्पोऽर्थवादः ॥ १० ॥ ११ ॥

**७ ह. वै. भा.— इतश्चाधिकृतेन कर्तव्यं कर्म- सहयज्ञा यज्ञसहिताः प्रजाः प्राणिनो ब्राह्मणाद्यान् यज्ञाधिकारिणः सृष्ट्वा पुरा पूर्वं सर्गादावुवाच प्रजापतिः प्रजाः, सृष्टेरनन्तरम् । कथमुवाच? अनेन यज्ञेनोत्पादयध्वम् । एष यज्ञो वो युष्माकमस्तु भवत्विष्टकामधुक्- इष्टकामानभिमतान्फलविशेषान्दोग्धीतीष्टकामधुक् ॥ १० ॥ कथमिष्टकामधुग्यज्ञः? इत्यत्राह— देवान्भावयतानेनेत्यादि । देवानिन्द्रादीन् भावयत वर्धयतानेन यज्ञेन । ते देवा वर्धिता युष्मान् भावयन्तु । परस्परं भावयन्तः श्रेयः परं विज्ञानप्राप्तिक्रमेणावाप्स्यथ ॥ ११ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं ज्ञानसाधनत्वात् कर्म कर्तव्यमित्युक्तम्; इदानीं सर्वस्यापि कर्माधिकृतस्य यज्ञशिष्टाशनेनैव शरीरधारणस्य विहितत्वादपि कर्म कर्तव्यमित्याह चतुर्भिः— सहेति । पुरा सर्गादौ प्रजापतिर्ब्रह्मा सहयज्ञाः । अत्र यज्ञग्रहणमावश्यिककर्मोपलक्षणार्थम्– यज्ञेन सह वर्तन्त इति सहयज्ञाः । यज्ञाधिकृता इति यावत् । 'वोपसर्जनस्य' [ अष्टा. ६।३।८२ ] इति सहस्य सादेशाभावः । प्रजास्त्रैवर्णिकान् सृष्ट्वा उवाच । किमिति ? अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रसवं वृद्धिं लभध्वम् । तत्र हेतुः— एष यज्ञः वो युष्माकमिष्टान् कामान्दोग्धि पूरयतीति तथोक्तो भवतु । यद्यपि निष्कामकर्मप्रकरणेऽस्मिन् 'इष्टकामधुक्' इति काम्यकर्मप्रस्तावो न युक्तः, तथापि नित्यकर्मणामप्यानुषङ्गिकफलसत्त्वादेवमुक्तम् ; यदाहुरापस्तम्बाः— 'तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे सिक्ते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते' इति । न हि फलसत्तामात्रेण काम्यता, किन्तु फलकामनानिमित्तकानुष्ठानविषयत्वेनैवेति न कोऽपि दोषः ॥ १० ॥

'इष्टकामधुक्' इत्येतदुपपादयति— देवानिति । अनेन यज्ञेन यूयं देवानिन्द्रादीन् भावयत हविर्भागैः संवर्धयत, तर्पयतेति यावत् । ते च देवा युष्मान् भावयन्तु संवर्धयन्तु । एवं परस्परं भावयन्तो यूयं देवाश्च परमिष्टं श्रेयोऽवाप्स्यथ ११

९ व० त० दी०— किञ्च श्रुतं च सर्गप्रकरणे यज्ञोपलक्षणकर्मसहितप्रजोत्पादनं ब्रह्मणेति कर्मणोऽवश्यकर्त्तव्यतामाह–सहेति चतुर्भिः । यज्ञाधिकृताः ब्राह्मणाद्याः प्रजाः सहयज्ञाः सृ ऽेवाच एष यज्ञो व इष्टकामधुगिति । ज्ञानमोक्षादिहेतुत्वं प्रकारान्तरेण वरप्रदानं तदाह–अस्त्विति । न चेयं काम्यकर्मप्रशंसा, कामधुक्त्वेनेष्टमात्रसाधकत्वाद्यज्ञादेर्विहितस्य नियतकर्मणः, अन्यथाऽकामितोऽपि मोक्षः स्यात् तेन सर्वपुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं भवति ; तदेवाह— देवानिति । अनेन यज्ञेन विष्ण्वादीन् देवान् भावयत तदा परं श्रेय आत्यन्तिकमवाप्स्यथेति भावः ॥ १० ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.— ननु तादृशं कर्म त्याज्यमेव चेत्त्वन्मतं तदा केनोक्तं कथमाचरति लोकः ? इत्याशङ्क्यैतत्कर्म प्रवृत्तिपरं मदाज्ञया प्रवृत्तिप्रवर्त्तकब्रह्मणोक्तं लोकः समाचरतीत्याह— सहयज्ञा इति । प्रजापतिर्ब्रह्मा सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा प्रवृत्तिधर्मसहिताः प्रजाः सृष्ट्वा पुरा मदवतारात् पूर्वमुवाच । मत्प्रादुर्भावानन्तरं तु मया भक्तिरेवोक्तेति ज्ञापनाय पुरेत्युक्तम् । तद्वाक्यमेवाह— अनेनेति । अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रकर्षेण वृद्धिं प्राप्स्यथ । किञ्च एष यज्ञः वो युष्माकं इष्टकामधुक् अभीष्टफलदोऽस्तु, भगवदाज्ञया ब्रह्मवाक्यं न मृषा भवतीति वरमेव दत्तवान् ॥ १० ॥

ननु कर्मणा जगतः कथमभीष्टम् ? इत्याशङ्क्याह— देवानिति । अनेन यज्ञेन देवान् तत्तत्कर्माधिष्ठातॄन् भावयत संवर्द्धयत । ते देवा वो युष्मान् भावयन्तु संवर्द्धयन्तु । अत्रायमर्थः– हविर्भागैस्तेषु यूयं देवत्वं वर्द्धयन्तु, ते च भवत्सु तत्कर्मसाधनानि वर्द्धयन्तु । एवं परस्परं भावयन्तः संवर्धयन्तो यूयं देवाश्च श्रेयः स्वाभीष्टमवाप्स्यथ ॥११॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवार्थवादेन द्रढयति– सहेति । यज्ञैः सहेति सहयज्ञाः । 'वोपसर्जनस्य' [ अष्टा. ६।३।८२ ] इति पक्षे सादेशाभावः । कर्माधिकृता इति यावत् । प्रजास्त्रैवर्णिकाः । अनेन यज्ञेन प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिस्तां लभध्वम् । एष यज्ञो वो युष्माकमिष्टकामधुक् इष्टार्थपूरकोऽस्तु ॥ १० ॥ इष्टार्थपूरकत्वमेवाह— देवानिति । भावयत तर्पयत । अनेन देवतापूजात्मकेन यज्ञेन वः युष्मान् भावयन्तु । वृष्ट्यादिदानेन परस्परं भावयन्तो देवाश्च यूयं च श्रेयः परं प्राप्स्यथ ॥ ११ ॥

**इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।**
**तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥ १२ ॥**
**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**
**भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥ १३ ॥**

---

१ अभिनवगुप्ताचार्यास्तु– "न केवलमिदमपवर्गं, यावत् सिद्धिलाभेऽप्ययं मार्ग इत्याह– इष्टानिति । यज्ञतर्पितानि हीन्द्रियाणि स्थितिं बध्नन्ति यत्र क्वापि ध्येयादौ इति । अत एतद्व्यापारे सति तेषां विषयाणां स्मृतिसङ्कल्पध्यानादिना भावा विषया इन्द्रियैरेव दत्ता यदि तेषामेवोपभोगाय न दीयन्ते तर्हि स्तेनत्वं चौर्यं स्यात्; छद्मचारित्वात् । उक्तं हि पूर्वमेव भगवता–'मिथ्याचारः स उच्यते' [ ३।६ ] इति । अतोऽयं वाक्यार्थः– यः सुखोपायं सिद्धिमपवर्गं वा प्रेप्सति, तेनेन्द्रियकौतुकनिवृत्तिमात्रफलतयैव भोगा यथोपनतमासेव्याः" इति विवृण्वन्ति ॥ ॥ २ त एवात्राप्याहुः— "अवश्यकर्तव्यतारूपशासनमहिमायातान् भोगान् येऽश्नन्ति अवान्तरव्यापारमात्रतया— अत एव च पृथक्फलत्वाभावाङ्गतया । अथ च इन्द्रियात्मकदेवगणतर्पणलक्षणयज्ञादवशिष्टमन्तःसारस्वात्मस्थित्यानन्दनलक्षणविघसं येऽश्नन्ति तत्रारूढा भवन्ति," तदुपादे—

**१ शां. भा.— किञ्च— इष्टान् भोगानिति** । इष्टानभिप्रेतान् भोगान् हि वो युष्मभ्यं देवा दास्यन्ते वितरिष्यन्ति स्त्रीपशुपुत्रादीन् यज्ञभाविताः यज्ञैर्वर्धिताः तोषिता इत्यर्थः । तैर्दत्तान् भोगान् अप्रदायादत्त्वा-आनृण्यमकृत्वेत्यर्थः—एभ्यो देवेभ्यो यो भुङ्क्ते स्वदेहेन्द्रियाण्येव तर्पयति स्तेन एव तस्कर एव स देवादिस्वापहारी ॥ १२ ॥ ये पुनः- यज्ञेति । देवयज्ञादीन्निर्वर्त्य तच्छिष्टमशनममृताख्यमशितुं शीलं येषां ते यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः सर्वपापैश्चुल्ल्यादिपञ्चसूनाकृतैः* प्रमादकृतहिंसादिजनितैश्चान्यैः । ये त्वात्मम्भरयो भुञ्जते ते त्वघं पापं स्वयमपि पापा ये पचन्ति पाकं निर्वर्तयन्त्यात्मकारणादात्महेतोः ॥ १३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— इतश्चाधिकृतेन कर्म कर्तव्यमित्याह- **किञ्चेति** । कथमस्माभिर्भाविताः सन्तो देवा भावयिष्यन्त्यस्मान्? इति तदाह— **इष्टानिति** । यज्ञानुष्ठानेन पूर्वोक्तरीत्या स्वर्गापवर्गयोर्भावेऽपि कथं स्त्रीपशुपुत्रादिसिद्धिरित्याशङ्क्य पूर्वार्धं व्याकरोति— **इष्टानभिप्रेतानिति** । पश्वादिभिश्च यज्ञानुष्ठानद्वारा भोगो निर्वर्तनीयः, अन्यथा प्रत्यवायप्रसङ्गादित्युत्तरार्धं व्याचष्टे— **तैरिति** । आनृण्यमकृत्वेत्ययमर्थः- देवानामृषीणां पितॄणां च यज्ञेन ब्रह्मचर्येण प्रजया च सन्तोषमनापाद्य स्वकीयं कार्यकरणसङ्घातमेव पोष्टुं भुञ्जानस्तस्करो भवतीति ॥ १२ ॥ देवादिभ्यः संविभागमकृत्वा भुञ्जानानां प्रत्यवायित्वमुक्त्वा तदन्येषां सर्वदोषराहित्यं दर्शयति— **ये पुन**रिति । यज्ञशिष्टाशिनो ये पुनस्ते तादृशाः सन्तः सर्वकिल्बिषैर्मुच्यन्त इति योजना । 'तैर्दत्तान्' इत्यादिनोक्तं निगमयति— **भुञ्जत** इति । 'देवयज्ञादीन्' इत्यादिशब्देन पितृयज्ञो मनुष्ययज्ञो भूतयज्ञो ब्रह्मयज्ञश्चेति चत्वारो यज्ञा गृह्यन्ते । चुल्लीशब्देन पिठरधारणाद्यर्थक्रियां कुर्वन्तो विन्यासविशेषवन्तस्त्रयो ग्रावाणो विवक्ष्यन्ते । आदिशब्देन कण्डनी पेषणी मार्जन्युदकुम्भश्चेत्येते हिंसाहेतवो गृहीताः । तान्येतानि पञ्च प्राणिनां सूनास्थानानि हिंसाकारणानि तत्प्रयुक्तैः सर्वैरपि बुद्ध्यबुद्धिपूर्वकैर्दुरितैर्मुच्यन्त इति सम्बन्धः । प्रमादो विचारव्यतिरेकेणाबुद्धिपूर्वकमुपनतं पादपातादिकर्म, तेन प्राणिनां हिंसा सम्भाव्यते । आदिशब्देनाशुचिसंस्पर्शादि गृहीतं, तदुत्थैश्च पापैर्महायज्ञकारिणो मुच्यन्ते । उक्तं हि— 'कण्डनं पेषणं चुल्ली उदकुम्भश्च मार्जनी । पञ्च सूना* गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात्प्रणश्यति' इति । 'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेष (ण्युपस्करः) ण्यवस्करः । कण्डनी चैव (चोद-) कुम्भश्च वध्यन्ते (बध्यते) यास्तु वाहयन्' [ मनुः३।६८ ] इति च । अस्यायमर्थः— या यथोक्ताः पञ्चसङ्ख्याका गृहस्थस्य सूनास्ता यो वाहयन्नापादयन्वर्तते तेन प्राणिनो बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं च वध्यन्ते, तत्प्रयुक्तं सर्वमपि पापं महायज्ञानुष्ठानात्प्रणश्यतीति । महायज्ञानुष्ठानस्तुत्यर्थं तदनुष्ठानविमुखान्निन्दन्ति— **ये त्वि**ति । आत्मम्भरित्वमेव स्फोरयति— **ये पचन्ती**ति । स्वदेहेन्द्रियपोषणार्थमेव पाकं कुर्वतां देवयज्ञादिपराङ्मुखानां पापभूयस्त्वं दर्शयति— **भुञ्जत** इति । पाठक्रमस्त्वर्थक्रमात् अपबाधनीयः ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.— यज्ञभाविताः यज्ञेनाराधिता मदात्मका देवा इष्टान्भोगान् वो दास्यन्ते उत्तमपुरुषार्थलक्षणं मोक्षं साधयतां ये इष्टा भोगास्तान्भोगान् पूर्वपूर्वयज्ञभाविता देवा दास्यन्ते; उत्तरोत्तराराधनापेक्षितान् सर्वान् भोगान् वो दास्यन्तीत्यर्थः । स्वाराधनार्थतया तैर्दत्तान् भोगांस्तेभ्योऽप्रदाय यो भुङ्क्ते चोर एव सः । चौर्यं हि नाम अन्यदीये तत्प्रयोजनायैव परिक्लृप्ते वस्तुनि स्वकीयताबुद्धिं कृत्वा तेन स्वात्मपोषणम् । अतोऽस्य न परमपुरुषार्थानर्हतामात्रं, अपितु निरयगामित्वं च भविष्यतीत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— 'ते देवा भावयन्तु वः' [ ३।११ ] इत्युक्तस्य पोषणस्य प्रकारो 'देवान् भावयत' इत्यस्य व्यतिरेके प्रत्यवायश्चोच्यते- **इष्टानि**तिश्लोकेन । 'इष्टान्' इत्यस्यार्थः- **उत्तरोत्तराराधनापेक्षितानि**ति । न हि मुमुक्षुभिरुदरपूरणाद्यर्थं भोगा इष्यन्त इति भावः । बहुवचनासङ्कोचमभिप्रेत्योक्तं **सर्वानि**ति । 'दास्यन्ते' इति कर्त्रभिप्रायक्रियाफलात्मनेपदस्वभावानुरोधेन आत्मार्थपाचकानां चोरत्वसिद्ध्यर्थं **स्वाराधनार्थतये**त्युक्तम् । ननु किमत्र चोरत्वम्? न हि देवानां भोगानसौ गूढं प्रसह्य वा हरति; न च तैर्दत्तस्य स्वहस्तागतस्य भोगश्चौर्यम्; न हि राजादिसेवकास्तद्दत्तभोगजीविनश्चोरा इति शूलमारोप्यन्ते; एवं च सति सर्वेषां यज्ञादिफलभुजामविशेषेण चोरत्वं प्रसज्यत इत्याशङ्क्याह- **चौर्य**

—योपायतया तु विषयभोगं वाञ्छन्ति, ते सर्वकिल्बिषैः शुभाशुभैर्मुच्यन्ते । ये **त्वात्मकारणा**दिति- अविद्यावशात् स्थूलमेव विषयभोगं परत्वेन मन्वाना आत्मार्थमिदं वयं कुर्म इति कुर्वते, त एवाघं शुभाशुभात्मकं लभन्ते ।" इति ॥ ॥ * **सूना**-पदनिरुक्तिमाह स्मृतिचन्द्रिकायां हारीतः— 'स्थावरजङ्गमादीन् प्राणिनः सूदयन्ति सूनाः' इति । —**अविगीता** ।

हीति । परबुद्ध्या परप्रयोजनत्वेन कल्पितस्य स्वकीयस्य परानुमत्या स्वप्रयोजनतया परिकल्पितस्यान्यदीयस्य च व्यवच्छेदाय **अन्यदीय** इत्यादिविशेषणद्वयम् । तेन स्वात्मपोषणमिति चौर्यस्य फलम्; अन्यदीये स्वकीयताबुद्धिकरणमित्येव लक्षणम्। तत्प्रयोजनतयेत्यन्यदीयत्वफलम्; तेन स्वात्मपोषणानौचित्यद्योतनम् । वस्तुशब्देन चोरयितव्यावान्तरभेदविवक्षां द्योतयति । **बुद्धिं कृत्वे**त्यनेन चौर्यस्य नाधिकव्यापारोऽवश्यापेक्षित इति सूचितम् । बुद्धिपूर्वत्वं च द्योतितम् । एवं च सति 'योऽन्यथा सन्तम्' [ म. भा. ५।५२।३५ ] इत्याद्युक्तात्मचौर्यमपि लक्षितं भवति । भगवदीये तद्गतातिशयाधानेच्छयैव परिकल्पिते प्रत्यगात्मनि स्वातिशयावहस्वतन्त्रत्वाभिमानरूपत्वात्तस्य ।

नन्वेवमप्यत्रोदाहरणे कथं चोरत्वम्? उच्यते— देवा हि कर्मभिराराधिता अपि हविर्ग्रहणार्थमेव फलं प्रयच्छन्ति; यथा राजानः षड्भागसङ्ग्रहाय स्वाराधकेभ्यः क्षेत्रादिकम्; तत्र करप्रदानविमुखाः पुरुषा इव हविरादिकमप्रयच्छन्तो दण्ड्या एव— इति । चोरत्वनिर्देशफलितं व्यनक्ति— **अत** इति । चोरत्वादित्यर्थः । **परमपुरुषार्थानर्हते**त्यनेन विहितकर्माकरणस्याधिकारित्वनिवृत्तिहेतुत्वमपि ख्यापितम् । **भविष्यतीत्य**नेन प्रत्यवायस्य देहान्तरभावितया योग्यानुपलम्भबाधाभावः सूचितः १२

**३ रा. भा.— तदेव विवृणोति । इन्द्राद्यात्मनावस्थितपरमपुरुषाराधनार्थतयैव द्रव्याण्युपादाय विपच्य तैर्यथावस्थितं परमपुरुषमाराध्य तच्छिष्टाशनेन ये शरीरयात्रां कुर्वते ते त्वनादिकालोपार्जितैः किल्बिषैः आत्मयाथात्म्यावलोकनविरोधिभिः सर्वैर्विमुच्यन्ते । ये तु परमपुरुषेणेन्द्राद्यात्मना स्वाराधनाय दत्तानामात्मार्थतयोपादाय विपच्याश्नन्ति ते पापात्मानोऽघमेव भुञ्जते -अघपरिणामित्वादघमित्युच्यते— आत्मावलोकनविमुखाः नरकायैव पच्यन्ते ॥ १३ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** पुनरुक्तिपरिहारायार्थान्तरपरत्वव्युदासाय चाह— **तदेव विवृणोतीति** । तत्र पूर्वार्धे 'श्रेयः परमवाप्स्यथ' [ ३।११ ] इत्यस्य प्रकारकथनम्; उत्तरार्धे तु 'तैर्दत्तान्' इत्याद्युक्तचोरत्वप्रपञ्चनरूपम् । यज्ञाकृष्टयष्टव्याद्याकारविशेषकथनम्— **इन्द्राद्यात्मने**त्यादि । अवधारणेन केवलेन्द्राद्यर्थत्वस्वार्थत्वयोर्व्यवच्छेदः । द्रव्योपादानपचनदशयोरपि परमपुरुषाराधनार्थत्वबुद्धिः कार्येति ज्ञापनाय **द्रव्याण्युपादाये**त्याद्युक्तम् । एतच्च 'ये पचन्ति' इत्येतद्व्यतिरेकलब्धम् । केवलेन्द्राद्याराधनस्यापि वस्तुतः परमपुरुषाराधनरूपत्वादत्र तद्व्यवच्छेदाय तत्तद्देवतायजनस्य परमपुरुषपर्यन्तत्वसिद्धये च **यथावस्थित**मित्युक्तम् । यज्ञशिष्टममृताख्यमशितुं शीलं येषां ते यज्ञशिष्टाशिनः । रागप्राप्तशरीरयात्रा यज्ञशिष्टेनैव कार्येति नियमः । **सन्तः** यज्ञशिष्टाशिन एव वर्तमाना इत्यर्थः । तदेतदुच्यते— **शरीरयात्रां कुर्वते** इति । यद्वा 'सन्तः' इति पदमुत्तरार्धस्थपापशब्दप्रतिस्थानीयत्वात् साधुविषयम् । उत्तरार्धवदत्रापि साध्यसाधनांशविभागद्योतनाय यत्तच्छब्दाभ्यां वाक्यभेदकरणम् । तुशब्देन सद्भ्यः पापानां विशेषे बोधिते तेभ्योऽपि सतां विशेषोऽर्थात्सिद्ध इति द्योतनायाह **ते त्वनादी**ति । अत्र चुल्ल्यादिपञ्चसूनाकृतपापमात्रस्य व्यवच्छेदार्थं सर्वशब्दबहुवचनाभ्यां प्रदर्शितं किल्बिषानन्त्यं समर्थयितुं **अनादिकालोपार्जितै**रित्युक्तम् । द्विविधानि किल्बिषाणि प्राप्तिविरोधीनि उपायविरोधीनि चेति । तत्र प्राप्तिविरोधीनि भक्तियोगैकनिवर्त्यानि । तेभ्योऽत्र सर्वशब्दसङ्कोचमभिप्रेत्योक्तं **आत्मयाथात्म्यावलोकनविरोधिभि**रिति । स्मरन्ति च 'ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथादर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि' [ म. भा. १२।२०४।८ ] इति । एतेन विरोधित्वाविशेषात् सांसारिकपुण्यान्यप्यत्र किल्बिषशब्देनोच्यन्ते इत्यपि सूचितम् । पूर्वोत्तराघविघातिनो भक्तियोगाद्विशेषसूचनाय **उपार्जिते**त्युक्तम् । 'आत्मकारणात्' इत्यत्र कारणशब्दः प्रयोजनरूपहेतुत्वपर इति ज्ञापनायोक्तं **आत्मार्थतये**ति । पचनमात्रस्याघभोजनत्वेन निन्दानुपपत्तेः 'आत्मकारणात्पचन्ति' इत्यनेनार्थसिद्धमुक्तं **अश्नन्ती**ति । पुल्लिङ्गोऽत्र पापशब्दस्तद्गुणसारन्यायात् पापविशिष्टविषय इत्यभिप्रायेणोक्तं **पापात्मान** इति; पापस्वभावा इत्यर्थः । अघशब्दस्य भोज्यनिन्दार्थमौपचारिकत्वद्योतनायाघ**मेवे**त्येवकार उक्तः । उपचारनिमित्तं सम्बन्धमाह— **अघपरिणामित्वा**दिति, अघहेतुत्वादित्यर्थः । फलितमनिष्टद्वयमाह— **आत्मावलोकनविमुखा** इति । आत्मार्थं पचमानस्य पूर्वकिल्बिषनिवृत्त्यभावादात्मावलोकनवैमुख्यम्; उत्तरोत्तरकिल्बिषहेतुत्वाच्च पुनर्नरकप्राप्तिरिति "केवलाघो भवति केवलादी" [ऋक्सं. ८।६।२३।६ तै. सं. २।८] इतिवचनाभिप्रेतमाह **नरकायैवे**ति । न पुनरैहिकायामुष्मिकाय वा सुखायेति भावः ॥१३॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १२ ॥ १३ ॥**

**॥ ६ ज. प्र. दी. ॥ १२ ॥ १३ ॥**

**७ ह. पै. भा.— किञ्च— इष्टानिति । इष्टान्भोगानभिमतान् स्वर्गपुत्रादीन् वो युष्मभ्यं देवा इन्द्रादयो दास्यन्ते यज्ञभाविताः । अतस्तैर्देवैर्दत्तान् परिगृह्य अप्रदाय चरुपुरोडाशादिरूपेणादत्त्वैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः । आनृण्यमकृत्वा तैर्दत्तोपभोगादीनामित्यभिप्रायः ॥ १२ ॥ यज्ञाः पञ्च**

महायज्ञाः, देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। एते पञ्च महायज्ञास्तेषां शिष्टं यज्ञशिष्टम्। देवयज्ञादीन्निर्वर्त्य तच्छिष्टमशनममृताख्यमशितुं शीलं येषां ते यज्ञशिष्टाशिनः; सर्वकिल्बिषैः सर्वपापैर्मुच्यन्ते। शिष्टाशिनः चुल्लीपेषण्यवस्करीखण्डनीकुम्भलक्षणपञ्चसूनाकृतैः प्रमादकृतहिंसाजनितैश्च किल्बिषैर्मुच्यन्ते। ये त्वात्मकारणात्पचन्ति ते तु पापाः पापस्वरूपा अघं पापमेव भुञ्जते। तस्मादवश्यं पञ्च महायज्ञाः कर्तव्याः॥ १३॥

८ वें. ब्र. गि.— नन्वस्मदुपकल्पसहविभागजन्या तृप्तिर्देवानां श्रेयो भवति; अस्माकं तु किं देवोपकल्पं श्रेयः? तत्राह— इष्टानिति। यज्ञेन भाविताश्तर्पिता देवाः वो युष्मभ्यं इष्टान्भोगान्दास्यन्ते, "तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयति" 'ते तृप्तास्तर्पयन्त्येनं सर्वकामफलैः शुभैः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिद्योतको हिशब्दः। एवमनुशास्य विपक्षे दोषमाह— तैरिति। तैर्देवैर्दत्तान्भोगान् एभ्यो देवेभ्योऽप्रदाय अदत्त्वा यः स्वयं भुङ्क्ते स स्तेनः तस्कर एव; देवस्वापहारित्वादित्यर्थः॥ १२॥ यद्येवं विद्यमानं सर्वमप्यन्नादि भोग्यजातं देवस्वमेवेति तत्सर्वं देवेभ्यः प्रदाय स्वयं कथं देहधारणं कुर्यात्? इत्यत्राह— यज्ञेति। यज्ञाः पञ्च महायज्ञाः, देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञो ब्रह्मयज्ञ इति। एतान् देवयज्ञादीन्निर्वर्त्य तदवशिष्टांशेनामृताख्येन देहधारणं कुर्वन्तः सन्तः सत्पुरुषाः सर्वैः किल्बिषैः पञ्चसूनाकृतैः पापैर्मुच्यन्ते। पञ्च सूनाश्च स्मृतावुक्ताः— 'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी। पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति॥ पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति। एवमन्वयमुखेन यज्ञशिष्टाशनस्यावश्यिकत्वमुक्त्वा व्यतिरेकमुखेनापि तदाह— भुञ्जत इति। ये तु आत्मकारणादात्मभोजनार्थमेव पचन्ति, न तु वैश्वदेवादियज्ञार्थम्, ते पापा दुराचारा अघमेव केवलं भुञ्जते; "केवलाघो भवति, केवलादी" [ऋक्सं.८।६।२३।१] इत्यादिश्रुतेः। इति प्रजापतिरुवाचेति योजना॥ १३॥

९ व० ल० दी०— इष्टानिति। तैर्वृष्ट्यादिना दत्तानन्नादीन् अप्रदाय एभ्यो यो भुङ्क्ते स स्तेन एवेति "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाञ्जायते (?) ब्रह्मचर्येणर्षिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजाभिः पितृभ्य एष वानृणः" [ ] इति श्रुतेस्त्रयाणामृणी चायमित्यतस्तैः पूर्वमृणं प्रदत्तवांस्तेभ्यः पुनर्न प्रत्ययेच्चोर एवेति तदनिवेदने दोष उक्तः॥१२॥ यज्ञशिष्टाशिन इति। पञ्चविधयज्ञो भगवत्स्वरूपस्तच्छिष्टाशिनः सर्वेऽपि मुच्यन्ते गृहिणः॥ १३॥

१० पु. अ. त.— ननु श्रेयसोऽनेकरूपत्वात्किंलक्षण। श्रेयःप्राप्तिर्भविष्यतीत्याह— इष्टानिति। वो युष्मभ्यं यज्ञभाविता देवा इष्टान् भोगान् वृष्ट्यादिकरणेनान्नादीन् दास्यन्ते। यद्वा वो युष्मभ्यं इष्टान् यदेवेष्टं भवताम्। भगवत्सेवौपयिकबलाद्यर्थकान्नादिसम्पत्त्यर्थं वृष्ट्यादिकं करिष्यन्तीत्यर्थः। ननु तैरेवान्नं देयं चेत्तदा तेभ्यः किमस्य यागकरणेन? इत्यत आह— तैरिति। तैर्दत्तान् अन्नादीन् एभ्यस्तद्दातृभ्योऽप्रदाय अदत्त्वा यो भुङ्क्ते भोगं करोति स स्तेन एव; चोर एवेत्यर्थः॥ १२॥ ननु पूर्वं यजनव्यतिरेकेण यथा दत्तं तथैवाऽग्रेऽपि दास्यन्त एव, अतः किं यजनेन? इत्यत आह— यज्ञशिष्टाशिन इति। सन्तः पूर्वदत्तस्वरूपाभिज्ञाः यज्ञशिष्टाशिनो भूत्वा सर्वकिल्बिषैर्मुच्यन्ते। अत्रायं भावः— वृष्ट्यादिना पूर्वमन्नादिरसोत्पत्तिस्तु भगवद्भोगार्थं, तेन स्वभोगकरणं पापरूपम्। अतो ये सन्तो भक्तास्तदुत्पत्तिप्रयोजनज्ञातारो भगवदर्थं पाकादिकं कृत्वा भगवते तत्सर्वं समर्प्य तदुपभुक्तावशिष्टभोजिनस्ते सर्वपापैः सेवाप्रतिबन्धरूपैर्मुच्यन्ते। ये तु पापाः पापरूपा आत्मकारणात् पचन्ति पाकादिक्रियां कुर्वन्ति ते तु अघं पापमेव भुञ्जते॥ १३॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च इष्टान् पुत्रपश्वादीन्, वः युष्मभ्यम्। एभ्यो देवेभ्यस्तद्दत्तानेव व्रीहिपश्वाज्यादीन् अप्रदाय अदत्त्वा देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकं यागं नित्यनैमित्तिकरूपं वैश्वदेवाग्निहोत्रजातेष्ट्यादिरूपं अकृत्वेत्यर्थः। अदत्त्वा यो भुङ्क्ते स स्तेन एव॥ १२॥

ये तु यज्ञशिष्टाशिनः वैश्वदेवादिशेषान्नभोजनशीलाः सन्तः ते ऋणापाकरणात् मुच्यन्ते; सर्वकिल्बिषैः प्रमादकृतैर्विहिताकरणनिमित्तैः, पञ्चसूनानिमित्तैर्वा। ये त्वात्मकारणात् स्वार्थमेव पचन्ति, न तु पञ्चमहायज्ञार्थं, ते पापाः स्वयं पापरूपा एव सन्तः पापमेव भुञ्जते। तथा च स्मृतिः— 'कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी॥ पञ्च सूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति' इति 'पञ्चसूनाकृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति' इति च। श्रुतिश्च "इदमेवास्य तत्साधारणमन्नं यदिदमद्यते स य एतदुपास्ते न स पाप्मनो व्यावर्त्तते मिश्रं ह्येतदिति" [ बृ. उ. १।५।२ ] इति। मन्त्रवर्णोऽपि "मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य। नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी" [ ऋक्सं. ८।६।२३।१ ] इति॥ १३॥

कर्मणो जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वम् ।

***अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।**
**यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥**
**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।**
**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥**
**एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः ।**
**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥ १६ ॥**

**१ शां. भा.—** इतश्चाधिकृतेन कर्म कर्तव्यम् । जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुर्हि कर्म । कथं ? इति उच्यते— **अन्नाद्भवन्तीति** । अन्नाद्भुक्ताल्लोहितरेतःपरिणतात्प्रत्यक्षं भवन्ति जायन्ते भूतानि ; पर्जन्याद्वृष्टेरन्नस्य सम्भवोऽन्नसम्भवः; यज्ञाद्भवति पर्जन्यः 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [ मनुः ३।७६ ] इति स्मृतेः यज्ञोऽपूर्वं, स च यज्ञः कर्मसमुद्भव ऋत्विग्यजमानयोश्च व्यापारः कर्म, ततः समुद्भवो यस्य यज्ञस्यापूर्वस्य स यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** देवयज्ञादिकं कर्माधिकृतेन कर्तव्यमित्यत्र हेत्वन्तरमितश्शब्दोपात्तमेव दर्शयति— **जगदिति** । ननु भुक्तमन्नं रेतोलोहितपरिणतिक्रमेण प्रजारूपेण जायते, तच्चान्नं वृष्टिसम्भवं प्रत्यक्षदृष्टं ; तत्कथं कर्मणो जगच्चक्रप्रवर्तकत्वमिति शङ्कते— **कथमिति** । पारम्पर्येण कर्मणस्तद्धेतुत्वं साधयति— **उच्यत** इति । उक्तेऽर्थे स्मृत्यन्तरं संवादयति— **अग्नाविति** । तत्र हि देवताभिध्यानपूर्वकं तदुद्देशेन प्रहिताऽऽहुतिरपूर्वतां गता रश्मिद्वारेणाऽऽदित्यमारुह्य वृष्ट्यात्मना पृथिवीं प्राप्य व्रीहियवाद्यन्नभावमापद्य संस्कृतोपभुक्ता शुक्रशोणितरूपेण परिणता प्रजाभावं प्राप्नोतीत्यर्थः । 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' इत्ययुक्तं, स्वस्यैव स्वोद्भवे कारणत्वायोगादित्याशङ्क्याऽऽह- **ऋत्विगिति** । द्रव्यदेवतयोः सङ्ग्राहकश्चकारः ॥ १४ ॥

**१ शां. भा.—** तच्च- **कर्मेति** । कर्म ब्रह्मोद्भवं, ब्रह्म वेदः स उद्भवः कारणं यस्य तत्कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि जानीहि, ब्रह्म पुनर्वेदाख्यमक्षरसमुद्भवम्, अक्षरं ब्रह्म परमात्मा समुद्भवो यस्य तदक्षरसमुद्भवं ब्रह्म, वेद इत्यर्थः । यस्मात्साक्षात्परमात्माख्यादक्षरात्पुरुषनिश्श्वासवत्समुद्भूतं ब्रह्म तस्मात्सर्वार्थप्रकाशकत्वात्सर्वगतम् । सर्वगतमपि सन्नित्यं सदा यज्ञविधिप्रधानत्वाद्यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** यदपूर्वहेतुत्वेन कर्मोक्तं, तत्किं चैत्यवन्दनादि ? किंवाऽग्निहोत्रादि ? इति सन्दिहानं प्रत्याह— **कर्मेति** । किमिति कर्मणो ब्रह्मोद्भवत्वमुच्यते ? सर्वस्य तदुद्भवत्वाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह— **ब्रह्म वेद** इति । ब्रह्म तर्हि वेदाख्यमनादिनिधनमिति तत्राऽऽह-- **ब्रह्म पुन**रिति । अक्षरात्मनो वेदस्य पुनरक्षरेभ्यः सकाशादेव समुद्भवो न

---

१ **अभिनवगुप्तास्त्वाहुः—" अन्नादिति, कर्मेति** । अन्नात्- अविभागभोग्यस्वभावात् कथञ्चित् मायाविद्याप्रकृतिकालाद्यनेकापरपर्यायात् भूतानि विचित्राणि भवन्ति । तच्चान्नं पर्जन्यात्- अविच्छिन्नसंवित्स्वभावादात्मनः, भोक्तृतन्त्रात्मलाभत्वाद्भोग्यतायाः । स च पर्जन्यो भोक्ता यज्ञात्, भोगक्रियायत्तत्वाद्भोक्तृत्वस्य । भोगक्रिया च कर्मणः, क्रियाशक्तिस्वातन्त्र्यबलात् । तच्च स्वातन्त्र्यं अविच्छिन्नमप्यनवच्छिन्नानन्तस्वातन्त्र्यपूर्णसमुच्छलन्महेश्वरभावपरमात्मब्रह्मणः संस्पर्शवशात् । तच्च उच्छलदच्छादितैश्वर्यं ब्रह्म अक्षरात्- प्रशान्ताशेषैश्वर्यतरङ्गात् संविन्मात्रात्, इत्येवं व्यवस्थितोऽयं यज्ञः षडरं चक्रं वाहयन् । तत्तु अरात्रयसन्धानादपवर्गं अरात्रयतत्रणाद्व्यवहारमासूत्रयतीति विद्याविद्योल्लासतरङ्गसुभगं ब्रह्म यज्ञ एव प्रतिष्ठितम् ।" इति ।

२ 'अघायुः मारणादिरूपपापेच्छावान्' इति व्याख्यातं "यो नो अग्ने अररिवाँ अघायुः" ऋक्सं. २।२।१६।४ इति मन्त्रव्याख्याने **सायणेन** । — **अविगीता** ।

* श्रुतिमूलकोऽयं श्लोकः "अन्नाद्वै प्रजा जायन्ते...... अन्नाद्भूतानि जायन्ते" [ तै. उ. २।२ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

सम्भवतीत्याशङ्कयाऽऽह— **अक्षरमिति** । ब्रह्मेत्यक्षरमेवोक्तं, तत्कथं तस्मादेवोद्भवति ? इत्याशङ्क्य ब्रह्मशब्दार्थमुक्तमेव स्मारयति— **वेद** इति । ननु ब्रह्मशब्दितस्य वेदस्यापि पौरुषेयत्वात्प्रामाण्यसन्देहात्कथं तदुक्तमग्निहोत्रादिकं कर्म निर्धारयितुं शक्यते ? तत्राऽऽह— **यस्मादिति** । कथं तर्हि तस्य यज्ञे प्रतिष्ठितत्वं ? सर्वगतत्वेन विशेषायोगादित्याशङ्कयाऽऽह— **सर्वगतमपीति** ॥ १५ ॥

**१ शां. भा.**— एवमिति । एवमित्थमीश्वरेण वेदयज्ञपूर्वकं जगच्चक्रं प्रवर्तितं नानुवर्तयतीह लोके यः कर्मण्यधिकृतः सन्नघायुरघं पापमायुर्जीवनं यस्य सोऽघायुः, पापजीवन इति यावत् । इन्द्रियाराम इन्द्रियैराराम आरमणमाक्रीडा विषयेषु यस्य स इन्द्रियारामो मोघं वृथा हे पार्थ ! स जीवति । तस्मादज्ञेनाधिकृतेन कर्तव्यमेव कर्मेति प्रकरणार्थः । प्रागात्मज्ञाननिष्ठायोग्यताप्राप्तेस्तादर्थ्येन कर्मयोगानुष्ठानमधिकृतेनानात्मज्ञेन कर्तव्यमेवेत्येतत् 'न कर्मणामनारम्भात्' [ ३।४ ] इत्यत आरभ्य 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' [ ३।८ ] इत्येवमन्तेन प्रतिपाद्य 'यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र' [ ३।९ ] इत्यादिना 'मोघं पार्थ ! स जीवति' इत्येवमन्तेनापि ग्रन्थेन प्रासङ्गिकमधिकृतस्यानात्मविदः कर्मानुष्ठाने बहुकारणमुक्तं, तदकरणे च दोषसङ्कीर्तनं कृतम् ॥ १६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— अधिकृतेनाध्ययनादिद्वारा जगच्चक्रमनुवर्तनीयम्, अन्यथेश्वराज्ञातिलङ्घिनस्तस्य प्रत्यवायः स्यादित्याह— **एवमिति** । 'न कर्मणामनारम्भात्' [ ३।४ ] इत्यादिनोक्तमुपसंहरति— **तस्मादिति**— जगच्चक्रस्य प्रागुक्तप्रकारेणाननुवर्तने वृथा जीवनमघसाधनं यस्मात्तस्माज्जीवता नियतं कर्म कर्तव्यमित्यर्थः । यद्यधिकृतेन कर्तव्यमेव कर्म तर्हि किमित्यज्ञेनेति विशेष्यते ? ज्ञाननिष्ठेनापि तत्कर्तव्यमेव, अधिकृतत्वाविशेषादित्याशङ्क्य पूर्वोक्तमनुवदति— **प्रागिति** । न हि ज्ञानकर्मणोर्विरोधाज्ज्ञाननिष्ठेन कर्म कर्तुं शक्यते, तथा चानात्मज्ञेनैव चित्तशुद्ध्यादिपरम्परया ज्ञानार्थं कर्मानुष्ठेयमिति प्रतिपादितमित्यर्थः । तर्हि 'यज्ञार्थात्' [ ३।९ ] इत्यादि किमर्थं ? न हि तत्र ज्ञाननिष्ठा प्रतिपाद्यते ; कर्मनिष्ठा तु पूर्वमेवोक्तत्वान्नात्र वक्तव्येत्याशङ्क्य वृत्तमर्थान्तरमनुद्रवति— **प्रतिपाद्येति** । प्रासङ्गिकमज्ञस्य कर्मकर्तव्यतोक्तिप्रसङ्गागतमिति यावत् । बहुकारणमीश्वरप्रसादो देवताप्रीतिश्चेत्यादि । दोषसङ्कीर्तनं 'तैर्दत्तानप्रदाय' [ ३।१२ ] इत्यादि ॥ १६ ॥

**३ रा. भा.**— पुनरपि लोकदृष्ट्या शास्त्रदृष्ट्या च सर्वस्य यज्ञमूलत्वं दर्शयित्वा यज्ञानुवर्तनस्यावश्यकार्यतामननुवर्तने दोषं चाह— **अन्नादिति** । अन्नात्सर्वाणि भूतानि भवन्ति, पर्जन्याच्चान्नसम्भव इति सर्वलोकसाक्षिकं, यज्ञात्पर्जन्यो भवति इति च शास्त्रेणावगम्यते 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [ मनुः ३।७६ ] इत्यादिना । यज्ञश्च द्रव्यार्जनादिकर्तृव्यापाररूपकर्मसमुद्भवः ॥ १४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तस्यैवार्थस्य प्रमाणप्रदर्शनपूर्वकप्रपञ्चनं 'अन्नाद्भवन्ति' इत्यादिना क्रियत इत्यादरार्थत्वादपौनरुक्त्यमित्यभिप्रायेणाह– **पुनरपीति** । यद्यपि लोकदृष्ट्या साक्षाद्यज्ञमूलत्वं दर्शयितुमशक्यम्, तथापि शास्त्रदृष्टिसमुचितवेषेणैतदुच्यत इत्यदोषः । विभजिष्यते च लोकशास्त्रदृष्ट्योर्विषयांशः । पर्जन्यशब्देनात्र पर्जन्यकार्यं वर्षं लक्ष्यते । अन्नादित्यादौ 'वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [ मनुः ३।७६ ] इत्ययमंशो लोकसिद्धत्वादनुपात्तः । 'कर्मसमुद्भवः' इत्युक्ते पुण्यपापरूपकर्मसमुद्भव इति धीः स्यात्, तद्व्युदासाय **द्रव्यार्जने**त्याद्युक्तम् । अत्र मुख्यार्थसम्भवात् यज्ञशब्देनापूर्वलक्षणां वदन्तो निरस्ता इति भावः । आदिशब्देन द्रव्यस्यार्जितस्य पचनादि गृह्यते । ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.**— कर्म च ब्रह्मोद्भवम् । अत्र च ब्रह्मशब्दनिर्दिष्टं प्रकृतिपरिणामरूपं शरीरम् । "तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते" [ मुं. उ. १।१।९ ] इति हि ब्रह्मशब्देन प्रकृतिर्निर्दिष्टा । इहापि 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' [ १४।३ ] इति हि वक्ष्यते । अतः 'कर्म ब्रह्मोद्भवम्' इति प्रकृतिपरिणामरूपशरीरोद्भवं कर्मेत्युक्तं भवति । 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इत्यत्राक्षरशब्दनिर्दिष्टो जीवात्मा, अन्नपानादिना तृप्ताक्षराधिष्ठितं शरीरं कर्मणे प्रभवतीति कर्मसाधनभूतं शरीरमक्षरसमुद्भवम् ; नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितं, यज्ञमूलमित्यर्थः ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— ननु कर्तृव्यापाररूपस्य कर्मणः कथं ब्रह्मोद्भवत्वम् ? तद्धि प्रत्यगात्मजन्यं शरीरेन्द्रियादिजन्यमिति वा निर्देष्टुं युक्तम् ; न च सर्वसाधारणं ब्रह्मणो हेतुत्वमिह विशिष्य निर्देष्टव्यम् ; ब्रह्मणश्चाक्षरसमुद्भवत्वमनुपपन्नम्, ब्रह्मशब्दस्य परमात्मविषयत्वे जीवविषयत्वे वा द्वयोरपि नित्यत्वात् कारणभूतस्य कस्यचिदक्षरस्याभावात् ; ब्रह्माक्षरशब्दयोर्वेदपरमात्मविषयतया **शङ्करव्याख्या**ऽपि चक्रत्वासङ्गता ; **यादव**प्रकाशाद्युक्तं, ब्रह्मशब्दस्य स्फोटादिपरत्वमक्षराणां तद्व्यञ्जकत्वादिकं च तत्तत्प्रक्रियादूषणादेव निरस्तम् । 'स्फोटत्वं वर्णसंश्रयः' इति तु वर्णानां स्वार्थस्फुटीकरणशक्तिपरमित्याद्याशङ्क्याह— **अत्र चे**ति । चश्शङ्कानिवृत्तौ । 'अत्र' इत्यनेन ब्रह्मशब्दस्य साक्षात्परमपुरुषे मुख्यत्वेऽपि प्रकरणादिबलात्, तस्मादन्यत्र तद्गुणलेशयोगादौपचारिकोऽयमित्यभिप्रेतम् । द्रव्यार्जनादिकर्मणः शरीरिणा साध्यत्वात्तत्र शरीर्यंशस्याक्षरशब्देन विविच्य वक्ष्यमाणत्वात् शरीरांशस्य विवक्षयाऽयं ब्रह्मशब्द इति— **प्रकृतिपरिणामरूपं शरीरमि**त्युक्तम् । प्रकृतिपरिणामरूपे शरीरे तद्द्रव्यत्वेन ब्रह्मशब्दनिर्देशाय प्रकृतौ तत्प्रयोगं तावदाह— **तस्मादेतद्**िति । एतत् प्रधानाख्यं ब्रह्म कार्याकारेण नामरूपविभागविभक्तं चेतनभोग्यं च जायते इति हि श्रुत्यर्थः । न च तत्र ब्रह्मशब्दः परमात्मविषयः, "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म" [मुं. उ. १।१।९] इति परमात्मनः पृथङ्निर्दिष्टत्वात् । नापि प्रत्यगात्मविषयः, "नामरूपमन्नं च" [मुं. उ. १।१।९] इत्यनेन साक्षात्सम्बन्धायोगात् ; अन्नत्वं चात्यन्तामुख्यं स्यादिति भावः । योनिशब्दनिर्देशान्ममेति परमात्मनः पृथङ्निर्देशाच्च 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' [ १४।३ ] इत्यत्र ब्रह्मशब्दस्य प्रकृतिविषयत्वं सिद्धम् । **अत** इति— ब्रह्मशब्दस्य प्रकृतौ प्रयोगाच्छरीरस्य च तत्परिणामरूपत्वाद्द्रव्यार्जनादेः शरीरसाध्यत्वात् परमात्मनश्च जन्यत्वायोगाच्चेत्यर्थः ।

एवमत्रत्यब्रह्मशब्दस्य शरीरविषयत्वे सिद्धे तदासन्ने प्रत्यगात्मनि अक्षरशब्दो युक्त इत्यभिप्रायेणाह— **ब्रह्माक्षरसमुद्भवमित्यत्रे**ति । जीवस्य चाक्षरशब्दवाच्यत्वं "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः" [ श्वे. उ. १।१० ] "कूटस्थोऽक्षरः" [ १५।१६ ] इत्यादिसिद्धम् । नन्वेवमपि 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इत्ययुक्तम्, स्वशरीरस्य सर्वस्य स्वबुद्धिपूर्वत्वाभावात् । न चात्र चक्रत्वं दृश्यते, अन्नप्रभृतिशरीरपर्यन्तस्य कार्यकारणभावेऽपि शरीरहेतोरक्षरस्य अन्नादिजन्यत्वाभावात् । न च 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' [३।१४] इति जीवो निर्दिष्टः, तत्र भूतशब्दस्यान्नविकारशरीरमात्रविषयत्वात्, तत्राह— **अन्नपानादिने**ति ।

**अयमभिप्रायः**— न तावदिह शरीरमात्रमक्षरजन्यतया निर्दिष्टम्, किन्तु 'कर्म ब्रह्मोद्भवम्' इत्यनेन कर्म साधनभूतम् ; तत्साधनत्वं च शरीरस्य प्रत्यगात्माधिष्ठितस्यैव ; तस्य चाधिष्ठातृत्वशक्तिरन्नपानादिजनिततृप्तिनिबन्धना । एवं च सति कर्मसाधनत्वविशिष्टं शरीरं प्रत्यगात्माधिष्ठानहेतुकत्वादक्षरसमुद्भवमिति युक्तमेव । चक्रत्वं चोपपन्नम् ; अक्षरस्यापि शरीराधिष्ठानेऽन्नपानादिसापेक्षत्वात् । न ह्यवश्यमुत्पत्तावेवापेक्षा चक्रत्वे हेतुः ; यद्वा कर्म जीवाधिष्ठितशरीरजन्यम्, जीवाधिष्ठितं शरीरं चान्नजन्यम्, 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' इति वचनात् । भूतशब्दश्चात्र 'भ्रामयन् सर्वभूतानि' [ १८।६१ ] इत्यादाविव सजीवशरीरपरः । अतोऽत्र चक्रत्वमुपपन्नम्— इति

इमं च प्रकारमनन्तरं च वक्ष्यति । एवमस्मिन् चक्रेऽनुवर्तनीये पुरुषस्य शास्त्रवश्यस्य कर्तव्यांशनिष्कर्षायोच्यते— **तस्माद्**िति । सङ्कुचितस्य शरीरस्य सर्वव्याप्तत्वायोगादक्षरस्य तदाधारस्य च निर्दिष्टत्वात् तदवान्तरभेदसङ्ग्रहपरः सर्वशब्द इत्यभिप्रायेणोक्तं **सर्वाधिकारिगत**मिति । न केवलं कर्मयोगाधिकारिणः शरीरं यज्ञसापेक्षम् ; किन्तु ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपीत्यर्थः । यज्ञे प्रतिष्ठितमित्यत्राधिकरणत्वाद्ययोगादाह— **यज्ञमूलमित्यर्थ** इति ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.— एवं परमपुरुषेण प्रवर्तितमिदं चक्रम्— 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि' इत्यत्र भूतशब्दनिर्दिष्टानि सजीवानि शरीराणि, पर्जन्यादन्नम्, यज्ञात्पर्जन्यः, यज्ञश्च कर्तृव्यापारानुरूपात्कर्मणः, कर्म च सजीवाच्छरीरात्, सजीवं शरीरं पुनरप्यन्नात्— इत्यन्योन्यकार्यकारणभावेन चक्रवत्परिवर्तमानम् ।**

**४ वे. ता. चं.**— प्रवर्तितमित्यस्य प्रवर्तकापेक्षायां 'सह यज्ञैः' [ ३।१० ] इत्यादिना प्रकृतो 'देवान् भावयत' [ ३।११ ] इत्यादिना यज्ञेषु प्रजाः प्रवर्तयन् प्रजापतिरेवासौ भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणोक्तं— **परमपुरुषेणे**ति । लोकदृष्टिशास्त्रदृष्टिभ्यां सिद्धमन्याशक्यत्वमपरोक्षयतेवोक्तं **इद**मिति । 'अन्नात्' इत्यादिना पुनरपि 'अन्नात्' इत्यन्तेन चक्रत्वं व्यज्यते । न तावदत्र भूतशब्देन भवनक्रियायोगिमात्रं निर्दिश्यते, महदादेः कार्यस्यान्नजन्यत्वाभावात् ; अत एव न महाभूतानि, नापि वेतालादिसहपठितभूतजातिः, तत्कथनस्यात्रानुपयुक्तत्वात् ; अन्नजन्यत्वे विशेषाभावाच्च । नापि शरीरमात्रं, केवलस्य शरीरस्यानुत्पत्तेः, शरीरलक्षणाक्रान्तस्य सर्वस्यान्नजन्यत्वाभावाच्च ; नापि केवलजीवः, तत्स्वरूपनित्यत्वादेरुक्तत्वात् । अतः परिशेषाद्भूतशब्दोऽत्र जीवविशिष्टाचित्परिणामविशेषपर इत्यभिप्रायेणोक्तं **सजीवानि शरीराणी**ति । 'कर्म ब्रह्मोद्भवं' 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इत्याभ्यां फलितं समुच्चित्य चक्रत्वसिद्ध्यर्थं निर्दिशति **कर्म सजीवाच्छरीरा**दिति । **अन्योन्यकार्यकारणभावेने**ति यथासम्भवं साक्षात्परम्परया च सिद्धमुक्तम् ; न हि साक्षात् सर्वेषामन्योन्यकार्यत्वं कारणत्वं वा, अन्योन्याश्रयग्रस्तत्वात् ; यद्वा कस्यचित्कार्यत्वं कस्यचित्कारणत्वं च सङ्कलय्यान्योन्यकार्यकारणभाव उक्तः । चक्रशब्दोपचारनिमित्तं व्यनक्ति— **चक्रवत्परिवर्तमान**मिति ।

३ रा. भा.— इह साधने वर्तमानो यः कर्मयोगाधिकारी ज्ञानयोगाधिकारी वा नानुवर्तयति न प्रवर्तयति, यज्ञशिष्टेन देहधारणमकुर्वन् सोऽघायुर्भवति; अघारम्भायैव यस्यायुरघपरिणतं वोभयरूपं वा सोऽघायुः। अत एवेन्द्रियारामो भवति, नात्मारामः; इन्द्रियाण्येवास्योद्यानानि भवन्ति; अयज्ञशिष्टवर्धितदेहमनस्त्वेन उद्रिक्तरजस्तमस्क आत्मावलोकनविमुखतया विषयभोगैकरतिर्भवति। अतो ज्ञानयोगादौ यतमानोऽपि निष्फलप्रयत्नतया मोघं पार्थ ! स जीवति ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं— इह लोके वर्तमानो यः पुरुष इति अधिकरणाधिकर्तव्ययोः सामान्यनिर्देशादपि इह साधने वर्तमानो योऽधिकारिविशेष इति विशेषपरामर्श एवोचितः, इदंशब्दादेः सन्निहितपरामर्शप्रावण्यात्, अनपेक्षिताभिधानादपि अपेक्षिताभिधानौचित्याच्च- इति **साधने वर्तमाने** इत्यादेर्भावः। अनुवर्तयतीत्यत्रानुमन्तृत्वादिमात्रव्यवच्छेदार्थं पुरुषव्यापारप्राधान्यद्योतनार्थं च **प्रवर्तयती**ति व्याख्यातम्। श्लोके चानुशब्दप्रयोगः परमपुरुषप्रवर्तितानुप्रवर्तनरूपत्वात् प्रवाहरूपत्वाद्वा। अघायुरित्यादीनां त्रयाणां पृथक्पृथग्दोषत्वव्यक्त्यर्थं पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरहेतुत्वज्ञापनार्थं च भवतीति पृथग्वाक्यकरणम्। अघकारणत्वादघकार्यत्वात् उभयसङ्ग्राहकाघसम्बन्धित्वमात्राद्वाऽत्राघशब्देनायुषो लक्षणेत्यभिप्रायेण— **अघारम्भायैवे**त्यादि निर्वाहत्रयमुक्तम्— **अत एवे**ति। उक्तप्रकारेणाघायुष्ट्वादेवेत्यर्थः। 'इन्द्रियारामः' इत्यस्याभिप्रेतं व्यवच्छेद्यमाह- **नात्माराम** इति। विशेषणत्वादिसिद्धव्यवच्छेदाभिप्रायसिद्ध्यर्थं समासतदंशयोरर्थमाह- **इन्द्रियाण्येवे**ति। इन्द्रियाणां कथमारामत्वमिति शङ्कायां 'एवं प्रवर्तितम्' इत्यादिना 'इन्द्रियारामः' इत्यन्तेन फलितमाह- **अयज्ञशिष्टे**ति। **अत** इति- विषयभोगैकरतित्वादित्यर्थः। स इति निर्देशस्य पूर्वव्याख्यातप्रकारयच्छब्दार्थविषयत्वात्। मोघशब्दस्य निष्फलप्रयत्नताविषयस्य प्रतिहन्तव्यप्रयत्नसाकाङ्क्षत्वाच्चाह- **ज्ञानयोगादौ यतमानोऽपी**ति ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— हेत्वन्तरमाह— **अन्नादि**ति। यज्ञः पर्जन्यत्वात्तत्कारणमुच्यते। पूर्वयज्ञविवक्षायां तस्य चक्रप्रवेशो न भवति; तद्ध्यापाद्यं कर्मविधये। न तु साम्यमात्रेणेदानीं कार्यम्। मेघचक्राभिमानी पर्जन्यः। तच्च यज्ञाद्भवति। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [३।७६] इति (मनु-) स्मृतेश्च। उभयवचनाच्चादित्यात्समुद्राच्चाविरोधः। अतश्च यज्ञात्पर्जन्योद्भवः सम्भवति। यज्ञो देवतामुद्दिश्य द्रव्यपरित्यागः। कर्म इतरक्रिया ॥१४॥

६ ज. प्र. दी.— 'अन्नात्' इत्यादेः सङ्गतिमाह— **हेत्वन्तरमि**ति। 'अत्र' इत्यनुवर्तते, अत्र पर्जन्यो मेघ आदित्यश्च विवक्षितौ; तत्रादित्यस्य पूर्वसिद्धस्य कथं 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इति यज्ञः कारणत्वेनोच्यते? इत्यत आह- **यज्ञ** इति। यद्यपि यज्ञो देवतामुद्दिश्य द्रव्यपरित्याग इति वक्ष्यति, तथाप्यत्र परित्यज्यमानं द्रव्यं गृह्यते, तस्य पर्जन्यान्तत्वात्पर्जन्योपभोग्यत्वात्; उपभुक्तेन च तस्य बलाद्युपचयाद्यज्ञस्तस्य पर्जन्यस्य कारणमुच्यते। ननु पर्जन्यो देवतात्मा यज्ञेन पर्जन्यत्वं प्राप्तः, स यज्ञो विवक्षितोऽत्रास्तु; तथा सति यज्ञात्पर्जन्योद्भवो मुख्य एव सम्पत्स्यत इति, नेत्याह— **पूर्वे**ति; तस्य पर्जन्यपदप्राप्तिहेतोः। यज्ञस्येति शेषः। ननु तदा चक्रं प्रवृत्तमेव, अतः कथं पूर्वयज्ञस्य चक्राप्रवेशः? इत्यत आह— **तद्धी**ति। तच्चक्रमापाद्यं ह्यत्र विवक्षितम्, न तु प्रागापादितम्; कुतः? कर्मविधये ह्येतदुच्यते। यदि विहितं कर्म करिष्यसि, तर्हि जगच्चक्रप्रवृत्तिर्भविष्यति, अन्यथा तद्विघातः; अतस्त्वया कर्म कर्तव्यमिति। कर्मविध्युपयोगिता चापाद्यस्यैव, न त्वापादितस्य। आपाद्ये च यज्ञव्यक्तिविशेषस्य पर्जन्यपदप्राप्तिहेतोर्न प्रवेश इत्यर्थः। प्राक् पर्जन्येन कर्म कृतं, तेन च यज्ञादिद्वारा चक्रं प्रवृत्तम्; अतस्त्वयाऽपि कर्म कर्तव्यमित्येवं प्रागापादितचक्रोक्तिरपि कर्मविध्युपयोगिनी भवतीति चेत्, मैवम्। अत इति कोऽर्थः? स्वत्कर्मणाऽपि चक्रप्रवृत्तिसम्भवादिति वा? कर्मत्वादिति वा?। नाद्यः' इदानीन्तनपुरुषकर्मजेन यज्ञेन पर्जन्योत्पत्त्यसम्भवेन चक्राप्रवृत्तेः। न हि सर्वेऽपि कर्मकारिणः पर्जन्यत्वं प्राप्नुवन्ति। द्वितीयं दूषयति- **न त्वि**ति। फलरहितेन कर्मत्वसामान्येनेदानीं कर्म कार्यं न भवति, स्वयं क्लेशरूपत्वादिति। प्रकारान्तरेणापि 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' इत्येतद्दर्शयितुमाह- **मेघे**ति। चक्रं समूहः। ततः किम्? इत्यत आह— **तच्चे**ति। मेघचक्रम्। कुतः? इत्यत आह— **अग्ना**विति। ननु 'स्वकीयमुदकं नद्यः' इति समुद्राद्वृष्टिरुच्यते; अत आदित्याद्वृष्ट्यङ्गीकारे तद्विरोधः स्यादित्यत आह— **उभये**ति। वृष्ट्यङ्गीकारादिति शेषः। वार्षिका मेघा इह वृष्टिशब्देनोच्यन्ते। ततोऽपि किम्? इत्यत आह— **अतश्चे**ति। प्राक् पर्जन्यस्य भवनं गौणमङ्गीकृत्य व्याख्यातम्, इदानीं त्वभिमन्यमानगतस्य भवनस्याभिमानिनि लक्षणामाश्रित्येति भेदः। यद्वा अभिमानिगतस्य पर्जन्यशब्दस्य अभिमन्यमाने लक्षणामाश्रित्य द्वितीयं व्याख्यानम्। **तात्पर्यनिर्णये** तु मेघसन्ततौ पर्जन्यशब्दो यौगिकोऽङ्गीकृतः। ननु यज्ञः कर्मात्मकः तत्कथमुच्यते 'यज्ञः कर्मसमुद्भवः' इति? तत्राह— **यज्ञ** इति। इतरक्रिया यज्ञाङ्गभूता। अपूर्वाङ्गीकारे रूढित्यागेन लक्षणाश्रयणं स्यात् ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.— कर्म ब्रह्मणो जायते "एष ह्येव (एनं) साधु कर्म कारयति" [ कौ.उ.३।९ ] 'बुद्धिर्ज्ञानम्' [ १०।४ ] इत्यादिभ्यः । न च मुख्ये सम्भाव्यमाने पारम्पर्येणौपचारिकं कल्प्यम् । न च जडानां स्वतः प्रवृत्तिः सम्भवति, "एतस्य वा अक्षरस्य" [ बृ. उ. ३।८।९ ] इति सर्वनियमनश्रुतेश्च, 'द्रव्यं कर्म च कालश्च' इत्यादेश्च । अचिन्त्यशक्तिश्चोक्ता । जीवस्य च प्रतिबिम्बस्य बिम्बपूर्वैव चेष्टा, 'न कर्तृत्वम्' [ ५।१४ ] इत्यादिनिषेधाच्च । अक्षराणि प्रसिद्धानि, तेभ्यो ह्यभिव्यज्यते परं ब्रह्म । अन्यथाऽनादिनिधनमचिन्त्यं परिपूर्णमपि ब्रह्म को जानाति ? । न च रूढिं विना योगाङ्गीकारो युक्तः, परामर्शाच्च ; तस्मात्सर्वगतं ब्रह्मेति ।**

**६ ज. प्र. दी.**— 'कर्म ब्रह्मोद्भवं ब्रह्मणा वेदेन प्रकाश्यं' इति परेषां व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **कर्मेति** । ब्रह्मणः परब्रह्मणः । कुतः ? इत्यत आह— **एष हीति** । अपव्याख्यानं प्रत्याख्याति— **न चेति** । उद्भवशब्दस्य मुख्येऽभिधेये जन्मनि सम्भाव्यमाने सत्यौपचारिकं प्रकाशनमर्थतया न कल्प्यम् । तथा ब्रह्मशब्दस्य मुख्येऽभिधेये परब्रह्मणि सम्भाव्यमाने सत्यौपचारिकममुख्यं वेदाख्यं ब्रह्मशब्दार्थतया न कल्प्यम् । किञ्चैवं व्याचक्षाणेनापि वेदस्य कर्मप्रकाशकत्वमन्तर्यामिद्वारा परम्परयाऽङ्गीकार्यम् । तथाचान्ततोऽपि परब्रह्मण्यङ्गीकार्ये शब्द एव प्राप्तस्य तस्य परित्यागोऽनुपपन्नः । ननु वेदः स्वयमेव कर्मप्रकाशक इति किं परब्रह्मणा ? अतो न परम्परेत्यत आह— **न चेति** । न केवलं जडत्वाद्वेदस्यान्याधीनत्वम्, किन्त्वागमाद्विष्णवधीनत्वं च प्रसिद्धमित्याह— **एतस्येति** ; विष्णोरिति शेषः । ननु शब्दस्यार्थप्रकाशनं स्वभावः, न त्वागन्तुको व्यापारः ; यथाऽग्नेरौष्ण्यम् । ततो जडत्वेऽपि न परापेक्षेत्यतः स्वभावस्यापि भगवदधीनत्वे प्रमाणमाह— **द्रव्यमिति** । प्रमाणसिद्धमपि स्वभावनियमनं विष्णोरसम्भावितमित्यत आह— **अचिन्त्येति** । यदि जडस्य न स्वतः प्रवृत्तिस्तर्हि अभिमानिदेवताद्वाराऽस्तु; तथाच नान्ततोऽपि परब्रह्माङ्गीकार इत्यत आह— **जीवस्य चेति** । ततश्चाधिक्येन परम्परेति भावः । न केवलं प्रतिबिम्बत्वाज्जीवस्य स्वतः प्रवृत्त्यभावः, किन्त्वागमाच्चेत्याह— **नेति** । 'ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्' इत्यत्र 'ब्रह्म वेदः, अक्षरात्परब्रह्मणो जायते' इति परेषां व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **अक्षराणीति** । प्रसिद्धान्यकारादीनि, नियतानुपूर्वीविशिष्टानि; वेद इति यावत् । ननु समुद्भवशब्दस्य मुख्यार्थाङ्गीकारे किं बाधकं, येनाभिव्यज्यत इत्यमुख्योऽर्थः स्वीक्रियते ? किञ्च प्रमाणान्तरेणापि ब्रह्माभिव्यक्तिसम्भवात्तेभ्य इति किमर्थमुक्तं? इत्यत आह— **अन्यथेति** । व्यक्त्यर्थत्वानङ्गीकारेऽनादिनिधनं ब्रह्म कथं जायते इति शेषः । तथा वेदस्य तदभिव्यञ्जकत्वानङ्गीकारे परिपूर्णत्वादचिन्त्यं ब्रह्म को जानाति ? वाक्यार्थद्वयसमुच्चयेऽपिशब्दः । समुद्भवशब्दस्य मुख्यार्थताभावात्परोक्तोऽर्थः किं न स्यात् ? इत्यत आह— **न चेति** । ब्रह्मशब्दो हि परब्रह्मणि रूढः ; वेदे तु बृहत्त्वयोगेन प्रवृत्तः । तथाऽक्षरशब्दो वर्णेषु रूढः ; परब्रह्मणि त्वक्षरणयोगेन प्रवृत्तः । तथाचान्यथा व्याकुर्वता रूढिं परित्यज्य योगोऽङ्गीकृतः स्यात्, तच्च न्यायबाह्यमित्यर्थः । इतश्च ब्रह्मशब्दः परब्रह्मवाचीत्याह— **परामर्शाच्चेति** । उत्तरवाक्ये ब्रह्मशब्देन परब्रह्मणः परामर्शाच्च पूर्ववाक्यस्थो ब्रह्मशब्दः परब्रह्मार्थो ज्ञायते । तथा चाक्षरशब्दोऽप्यर्थाद्वेदवचनो भविष्यतीति शेषः ।

**५ आ. मा. भा.— न ह्येकशब्देन द्विरुक्तेन भेदश्रुतिं विना वस्तुद्वयं कुत्रचिदुच्यते । तानि चाक्षराणि नित्यानि "वाचा विरूपनित्यया । वृष्णे चोदस्व सुष्टुतिम्" [ ऋक्सं. ८।५।२५+ तै. सं. ५।६।११ ] 'अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा' [ म. भा. १२।२३२।२४ ] 'अत एव च नित्यत्वम्' [ ब्र. सू. १।३।२९ ] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभगवद्वचनेभ्यः । दोषश्चोक्तः सकर्तृत्वे [ मा.भा.२।१३ ] न चाबुद्धिपूर्वमुत्पन्नानि ; तत्प्रमाणाभावात् । निश्वसितशब्दस्त्वक्लेशाभिप्रायः, नाबुद्धिपूर्वाभिप्रायः । "सोऽकामयत" [ बृ. उ. १।२।४,५ ] इत्यादेश्च, 'इष्टं हुतं' इत्यादिरूपप्रपञ्चेन सहाभिधानाच्च, महातात्पर्यविरोधाच्च; तच्चोक्तं पुरस्तात् ।**

**६ ज. प्र. दी.**— प्रागक्षरशब्दोक्तं परं ब्रह्मेदानीं ब्रह्मशब्देन परामृश्यते; अतः पूर्वोक्तो ब्रह्मशब्दो वेदार्थ एवेत्यत आह— **न हीति** । एकस्मिन्नेव प्रकरण इति शेषः । "अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" [ तै. उ. २।१।१ ] इत्यादिव्यावृत्त्यर्थं भेदश्रुतिं विनेत्युक्तम् । श्रुतिशब्दश्च प्रमाणोपलक्षणार्थः । अत्रापि सर्वगतमिति विशेषणमस्तीति चेत्, न; वर्णानामपि सर्वगतत्वात् । विकारत्वान्नेति चेत्, न ; अनन्तरमेव निराकरणात् । इदं च **भास्करं** प्रत्यभिहितम् । **मायावादिना** तु प्राग्ब्रह्मशब्दोक्तस्य वेदस्यैवायं परामर्श इत्यङ्गीकृतत्वात् यदप्यन्यथा व्याख्याने समुद्भवशब्दस्य मुख्यार्थतालाभ इत्यभिप्रेतं तदपि दुराशामात्रमित्याह— **तानि चेति** । यान्यस्माभिः प्रसिद्धानि व्याख्यातानि अनेनाभिधानादिबलाद्ब्रह्माक्षरशब्दौ द्वावप्युभयत्र योगरूढाविति प्रत्यवस्थानमपि परास्तम् । परामर्शस्य वर्णनित्यत्वस्य चापरिहार्यत्वात्, न केवलं श्रुत्यादिभ्यो

वेदस्य नित्यत्वं, किं तर्हि ? विपक्षे बाधकाच्चेत्याह— **दोषश्चे**ति। 'रचितत्वे च धर्मप्रमाणस्य' [मा.भा.२।१३] इत्यत्र। ननु वेदाक्षराणि ब्रह्मणो बुद्धिपूर्वमुत्पन्नानि, अतो न विपर्ययादिमूलत्वशङ्केत्यत आह— **न चे**ति। "निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः" [बृ.उ.२।४।१०] इति श्रुतिर्वेदानां ब्रह्मणोऽबुद्धिपूर्वमुत्पन्नत्वे प्रमाणमिति चेत्, किमयं निश्श्वसितशब्दोऽबुद्धिपूर्वमुत्पन्नत्वस्य वाचकः ? उत निश्श्वसितमिव निश्श्वसितं इवार्थश्चाबुद्धिपूर्वमुत्पन्नत्वमिति गौण्या वृत्त्या तदभिप्रायः ? नाद्यः, प्रमाणाभावात्। द्वितीयं दूषयति- **निश्श्वसिते**ति । अक्लेशेन निस्सरणस्यापीवार्थस्य सम्भवेन निश्वसितशब्दस्य तदभिप्रायतोपपत्तौ नाबुद्धिपूर्वोत्पत्त्यभिप्रायत्वनिश्चय इत्यर्थः। न च परस्येवास्माकमपि निश्चयायोग इति भावेनाह— **स** इति । "सोऽकामयत ...... ( सः ) इदं सर्वमसृजत" [ बृ. उ. १।२।४,५ ] इति ब्रह्मणः सर्वस्य सृष्टेरिच्छापूर्वकत्वमुच्यते । इच्छा च बुद्ध्याऽविनाभूता । अतो न किञ्चिद्ब्रह्मणोऽबुद्धिपूर्वमुत्पन्नमिति । ननु "निश्श्वसितमेतत्" इति श्रुतिर्नामप्रपञ्चस्याबुद्धिपूर्वमुत्पत्तिं वक्ति "सोऽकामयत" इति च रूपप्रपञ्चस्येच्छापूर्वमित्यतो न विरोध इत्यत आह— **इष्टमिति** । एवं सति "निश्श्वसितं" इति श्रुतौ 'इष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः' इति नामप्रपञ्चस्य रूपप्रपञ्चेन सहाभिधानात्। रूपप्रपञ्चस्यापि निश्वसितशब्देनाबुद्धिपूर्वोत्पन्नत्वप्राप्तौ "सोऽकामयत" इति श्रुतिर्निर्विषयैवापद्येतेति भावः। इतोऽपि नाबुद्धिपूर्वा ब्रह्मणः सृष्टिरित्याह— **महातात्पर्ये**ति। परब्रह्मणः सर्वोत्तमत्वे यत्सर्ववेदानां महातात्पर्यं तद्विरोधाच्चेत्यर्थः । तदेव कुतः ? इत्यत आह— **तच्चे**ति । उक्तं साधितम् ।

**५ आ. मा. भा.— न ह्यस्वातन्त्र्येण चोत्पत्तिकर्तुः प्राधान्यम्। अस्वातन्त्र्यं च तदमतिपूर्वकत्वेन भवति, यथा रोगादीनां पुरुषस्य तज्जत्वेऽपि। उत्पत्तिवचनान्यभिव्यक्त्यर्थानि, अभिमानिदेवताविषयाणि च, 'नित्या उत्सृष्टा' इति वचनात्। अभिव्यञ्जके कर्तृवचनं चास्ति 'कृत्स्नं शतपथं चक्रे' इति। कथमादित्यस्था वेदास्तेनैव क्रियन्ते ?। वचनमात्राच्च निर्णयात्मकशारीरकोक्तं बलवत्, शास्त्रं योनिर्यस्य तत् शास्त्रयोनित्वम् ।**

६ **ज. प्र. दी.**— कथं तद्विरोधः ? इत्यत आह— **न ही**ति। प्राधान्यं सर्वोत्तमत्वम्। अस्वातन्त्र्येणोत्पत्तिकर्तृत्वस्य प्राधान्यविरोधित्वेऽपि अबुद्धिपूर्वमुत्पादकत्वस्य किमायातं ? इत्यत आह— **अस्वातन्त्र्यं** चेति। कार्यस्य पुरुषमतिपूर्वकत्वाभावे तत्र तस्य पुरुषस्यास्वातन्त्र्यं भवति, तत्र दृष्टान्तमाह— **यथे**ति; रोगादीनां पुरुषजत्वेऽपि बुद्धिपूर्वकत्वाभावात्; तत्र पुरुषस्यास्वातन्त्र्यं तथेत्यर्थः। ततश्चाबुद्धिपूर्वमुत्पादकत्वादस्वातन्त्र्यम्, अस्वातन्त्र्याच्चाप्राधान्यं प्रसज्येतेति। तथा च महातात्पर्यविरोध इत्युक्तं भवति। साक्षात्प्रसङ्गसम्भवेऽपि व्युत्पादनार्थमेवमुक्तम्। ननु वेदनित्यत्ववत्तदुत्पत्तावपि "ऋचः सामानि जज्ञिरे" [ऋक्सं.८।४।१८।४ य.सं.३१।७] इत्यादिवचनानि सन्ति; तत्कथं निर्णयः ? इत्यतो विपक्षे बाधकोपेतानां नित्यत्ववाक्यानां प्राबल्यादुत्पत्तिवचनान्यन्यथाव्याख्येयानीत्याह— **उत्पत्ती**ति। उत्पत्तिवाची शब्दोऽभिव्यक्तौ क्व दृष्टः ? इत्यत आह— **नित्ये**ति। अनादिनिधनतया नित्या, न तूपचारेणेति मुख्यं नित्यत्वमुक्त्वा पुनरुत्सृष्टेत्युच्यते; तत्र गत्यन्तराभावाद्व्यक्तिरेव ग्राह्येत्यर्थः। अन्यत्रापि प्रयोगं दर्शयति— **अभिव्यञ्जक** इति। शतपथाभिव्यञ्जकतया निश्चिते याज्ञवल्क्ये कर्तृशब्दोऽस्तीत्यर्थः । याज्ञवल्क्यः शतपथस्य कर्तैव किं न स्यात् ? इत्यत आह— **कथमिति**। प्रागादित्ये स्थिताः ततो याज्ञवल्क्येनाधीता इत्येतत्प्रमितमित्यर्थः। इतोऽपि नित्यत्वपक्ष एव बलवानित्याह— **वचने**ति। "ऋचः सामानि" इत्यादिकं वचनमात्रम्, 'अत एव च नित्यत्वं' [१।३।२९] इति शारीरकोक्तं वाक्यं निर्णयात्मकम्, वचनं च वृत्त्यन्तरेणापि सम्भवतीति न तूपचारितो वाक्यार्थावधारणात्मको निर्णयः। अतस्तस्मादिदं बलवदित्यर्थः। ननु शारीरके 'शास्त्रयोनित्वात्' [ १।१।३ ] इति ब्रह्मणो वेदकारणत्वमुच्यत इत्यत आह— **शास्त्रमिति** ।

**५ आ. मा. भा.— 'जन्माद्यस्य' [ब्र. सू. १।१।२ ] इत्युक्ते प्रमाणं हि तत्रापेक्षितम्, न तु तस्य जातत्वं वेदकारणत्वं वा; न हि वेदकारणत्वं जगत्कारणत्व हेतुः। न हि विचित्रजगत्स्रष्टेर्वेदसृष्टिरशक्या सृज्यत्वे। न च सर्वज्ञत्वे। यदि वेदस्रष्टा सर्वज्ञः, किमिति न जगत्स्रष्टा सर्वज्ञः ? तस्माद्वेदप्रमाणकत्वमेवात्र विवक्षितम्; अतो नित्यान्यक्षराणि। यत एवं परम्परया यज्ञाभिव्यङ्ग्यं ब्रह्म तस्माच्चन्नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥**

६ **ज. प्र. दी.**— ननु तत्पुरुषं परित्यज्य कुतो बहुव्रीहिरङ्गीक्रियते ? तथात्वे च ब्रह्मणो वेदाज्जातत्वं प्रसज्येत इत्यत आह— **जन्मादी**ति । लक्षणप्रमाणाभ्यां हि वस्तुनिर्णयः । तत्र 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रेण लक्षणेऽभिहिते कुतः प्रमाणादेवं प्रतिपत्तव्यं ? इति ब्रह्मणो जगज्जन्मादिकारणत्वे प्रमाणाकाङ्क्षा स्यात्, न तु तस्य वेदाज्जातत्वं वेदकारणत्वं वाऽऽकाङ्क्षितम्, आकाङ्क्षादिवशाच्च वाक्यार्थोऽवसेयः । ततो योनिशब्दं प्रमाणवाचिनमङ्गीकृत्य बहुव्रीहिरेवायं

प्रतिपत्तव्यः, न तु तत्पुरुषः; वेदकारणत्वं च जगत्कारणत्वे हेतुत्वेनात्रोच्यते अतो नानाकाङ्क्षिताभिधानमेतदित्यत आह— **नहीति**। अन्वयाभावात्,एकदेशकारणत्वेन समुदायकारणत्वानुमानेऽतिप्रसङ्गाच्चेति हेरर्थः। मा भूदयं निश्चयहेतुः, तथाप्यशक्यसृष्टेर्वेदस्य कर्तुर्ब्रह्मणो जगत्सृष्टिकर्तृत्वं सम्भवतीति सम्भावनाहेतुरयं स्यादित्यत आह— **न हीति**। सम्भावना ह्यधिकेनाल्पस्य भवति; यथा सहस्रेण शतस्य। नच समुदायसृष्टेस्तदेकदेशसृष्टिरधिकेति भावः। सृज्यत्वे वेदस्य कार्यत्वपक्ष इत्यर्थः। जगत्कारणत्वोक्त्या ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं प्रतीतं, तत्स्फुटीकर्तुं तत्र वेदकारणत्वं हेतुरनेनोच्यते; अतो नासङ्गतिरित्यत आह— **न चेति**। वेदकारणत्वं हेतुरित्यनुवर्तते। अबुद्धिपूर्वमुत्पन्नत्वाङ्गीकारादिति भावः। किञ्च यदि जगदेकदेशस्य वेदस्य स्रष्टा परमेश्वरः सर्वज्ञः सिद्ध्येत्, तदन्तर्भावितवेदस्य जगतः स्रष्टा सुतरां सर्वज्ञः सिद्ध्येदेव; तथाचार्थादपि जन्मादिसूत्रेणैव सार्वज्ञस्य स्फुटं प्रतीतत्वात् पुनर्हेत्वाकाङ्क्षाभावेनासङ्गतिस्तदवस्थेति भावेनाह— **यदीति**। सूत्रार्थमुपसंहरति— **तस्मादिति**। ब्रह्मण इति शेषः। तानि चेत्यादिनोक्तमुपसंहरति— **अत इति**। तथा च न समुद्भवशब्दस्य मुख्यार्थत्वलाभाय ब्रह्माक्षरशब्दार्थव्यत्ययः कार्य इति। **तस्मादिति** परामर्शविषयाप्रतीतेस्तं दर्शयन्वाक्यं व्याख्याति। **यत इति**। प्रतिष्ठितमित्युच्यत इति शेषः॥ १५॥

**५ आ. मा. भा.— तानि चाक्षराणि भूताभिव्यङ्ग्यानीति चक्रम्। तदेतज्जगच्चक्रं यो नानुवर्तयति स तद्विनाशकत्वादघायुः, पापनिमित्तमेव यस्यायुः सोऽघायुः॥ १६॥**

६ ज. प्र. दी.— नन्वत्र कार्यकारणपरम्परैवोक्ता, न चक्रं; तत्कथं उच्यते 'एवं प्रवर्तितं चक्रम्' इति? तत्राह— **तानि चेति**। तानि वेदाख्यानि। चक्राप्रवृत्तौ कथमघायुष्ट्वादिकं? इत्यतो व्याचष्टे— **तदेतदिति**। आयुषोऽघत्वाभावात् कथमघायुः? इत्यत आह— **पापेति**। तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यमित्यर्थः॥ १६॥

**७ ह. पै. भा.— अन्नाद्भवन्ति जायन्ते भूतानि कार्यकारणसङ्घातात्मकानि। पर्जन्याद्वृष्टेरन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यः 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [मनुः ३।७६] इति स्मृतेः। यज्ञाद्यागक्रियासमुद्भवाद्धर्मात् (यज्ञात्) भवति पर्जन्यः। यज्ञः कर्मसमुद्भवो यागक्रियासमुद्भवो धर्मः कर्मसमुद्भवः। कर्मर्त्विग्यजमानव्यापारात्मको यागः समुद्भवः कारणं यस्यासौ कर्मसमुद्भवः, यागक्रियासमुद्भव इत्यर्थः॥ १४॥**

**कर्म ब्रह्मोद्भवं, ब्रह्म वेदः प्रकाशकं यस्य तत्कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि विजानीहि। ब्रह्म पुनर्वेदाख्यमक्षरसमुद्भवं विद्धि, अक्षरः परमात्मा समुद्भवः कारणं यस्य ब्रह्मणस्तदक्षरसमुद्भवम्। अक्षरात्पुरुषनिश्वासवत्समुद्भूतं ब्रह्म; तस्मात्सर्वार्थप्रकाशकत्वात्सर्वगतं ब्रह्म वेदो यज्ञप्रकाशकत्वाद्यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥ १५**

**एवमन्नपूर्वकं प्रवर्तितं चक्रं निष्पादितं चङ्क्रमणशीलं नानुवर्तयति नानुतिष्ठति योऽघायुरघमात्मन इच्छतीत्यघायुः। इन्द्रियाणामाराम इन्द्रियक्रीडास्थानम्। मोघं वृथा हे पार्थ! स जीवति स प्राणं धारयति। तस्मादज्ञेन कर्मण्यधिकृतेन यज्ञाः कर्तव्या इत्यभिप्रायः॥ १६॥**

८ वें.ब्र.गि.—एवं यज्ञशिष्टाशनस्यावश्यिकत्वाद्यज्ञादिकर्म कर्तव्यमित्युक्तम्,इदानीं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वेनापि कर्म कर्तव्यमित्याह त्रिभिः—**अन्नादिति**। अन्नात् भुक्ताच्छुक्रशोणितरूपेण परिणतात् भूतानि प्राणिन उत्पद्यन्ते; "अन्नाद्भूतानि जायन्ते" [तै.उ. २।२] इति श्रुतेः। अन्नस्य च सम्भवः पर्जन्याद्भवति; "याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षति, पर्जन्येनौषधिवनस्पतयः प्रजायन्ते, ओषधिवनस्पतिभिरन्नं भवति" [म. ना. ७९] इति श्रुतेः। स च पर्जन्यो यज्ञाद्भवति; 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [मनुः ३।७६] इति यज्ञीयाहुतेः पर्जन्यवृष्टिहेतुत्वस्मरणात्। स च यज्ञः कर्मसमुद्भवः, कर्मणा ऋत्विग्यजमानव्यापाररूपेण समुत्पद्यते।

तच्च कर्म यज्ञविषयकप्रवृत्तिरूपं ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्म वेदस्तस्मादुद्भूतं जानीहि। तच्च वेदाख्यं ब्रह्म अक्षरात्प्रणवात्समुद्भूतम्; 'ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः। ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा' [१७।२३] इति वक्ष्यमाणत्वात्। ननु ब्रह्मैव मुख्यं जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुः, यज्ञस्त्वन्नपर्जन्यादिवत्स्वयमपि कश्चिद्ब्रह्माधिष्ठितो जगच्चक्रप्रवर्तकः; तथा च केनातिशयेन यज्ञस्यावश्यकर्तव्यता? इत्याशङ्क्य तस्यान्नादिभ्योऽतिशयमाह— **तस्मादिति**। 'तेन रक्तं रागात्' [अष्टा. ४।२।१] इत्यादाविव बुद्धिस्थपरामर्शकोऽयं तच्छब्दः। तस्माद्विचित्रतरजगद्विरचनानिर्वाहकतया यज्ञस्यान्नपर्जन्यादिभ्योऽतिशयितत्वात् सर्वगतमपि सर्वाण्यन्नादीन्यधिष्ठातृत्वेन प्राप्तमपि परं ब्रह्म नित्यं सर्वदा यज्ञे प्रतिष्ठितं प्रतिष्ठां विश्रान्तिं प्राप्तम्। न हि यज्ञशब्दोपलक्षितं कर्म विना नीचमध्यमोत्तमभावरूपजगद्वैचित्र्यभारवाहि किञ्चिदस्ति, यदासाद्य

तस्मात्सर्वस्मिन् देशे काले च वर्तमानं ब्रह्म वेदः; एतेन वेदस्य नित्यत्वं शब्दस्य विभुत्वं च दर्शितम् । नित्यं नियमेन यज्ञे प्रतिष्ठितं तात्पर्येण पर्यवसन्नम् ।। १५ ।।

भवत्वेवं ततः किं फलितं ? इत्यत आह— एवमिति । भूतानामादौ वेदाधिगमः, ततः कर्मानुष्ठानं, ततो देवानां तृप्तिः, ततो वृष्टिः, ततोऽन्नं, ततो भूतानि, तेषां वेदाधिगम इत्येवंरूपं चक्रमिव चक्रं निरन्तरमावर्तमानं जगद्यात्रानिर्वाहकं यः नानुवर्तयति नानुतिष्ठति, स अघायुः पापजीवन इन्द्रियारामः, न तु धर्मारामः आत्मारामो वा; मोघं व्यर्थं दंशमशकादिवत् जीवति । यस्त्वेतदनुवर्तयति स जगदुपकारको धन्य इति भावः । तथाच श्रुतिः "अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽथ यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत् पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितॄणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषु श्वापदा वयांस्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोकः" [ बृ. उ. १।४।१६ ] इति ।। १६ ।।

ज्ञानिनः कर्मकरणानपेक्षा ।

**यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।**
**आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।। १७ ।।**
**नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन ।**
**न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः ।। १८ ।।**

---

१ "न्यायनये तु-**रति**रुत्कटेच्छा । **तृप्तिः** कामितलाभप्रयुक्तलब्धाधिकतज्जातीयेच्छाराहित्ये सति सुखविशेषः । कामितमनोज्ञान्नपानादिलाभेऽपि तज्जातीयलब्धाधिकेच्छावतो लब्धप्रयुक्तसुखसत्त्वेऽपि न तृप्तिव्यवहारः, अपितु 'नास्मि तृप्तः, अपरं देहि' इति व्यवहार इति सत्यन्तम् । तादृशेच्छाविरहेऽन्नपानाद्युपयोगप्रयुक्तसुखविरहे तृप्तत्वव्यवहारवारणाय विशेष्यदलम् । तुष्टिरल्पलाभेऽपि तदधिकवाञ्छाराहित्यम्— इति **गूढार्थतत्त्वालोकः**" ॥

अत्र **वामन** आह— यथा ह्यन्नतोऽन्नेन तृप्तोऽपि द्विजपुङ्गवः । दक्षिणायै स्पृहयति तां लब्ध्वा तोषमेति च ॥
आत्मतृप्तस्त्वात्मरतस्तथा किमपि नेहते । स्वरूप एव तुष्टोऽसौ कर्तव्यं नास्त्यतोऽस्य च ।। इति ।

**नव्यास्तु**— 'तस्य कार्यं न विद्यते' इति वाक्ये 'तस्य' इति पदमेव प्रधानम् । तथा च तस्य स्वार्थं किमपि कर्तव्यं नास्ति, परार्थं तु विद्यत एवेत्यर्थव्यक्त्या तेन ज्ञानिना स्वार्थाभावेऽपि परार्थं कर्मानुष्ठेयमेवेति सिद्ध्यति । अत एव च 'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।' [ ३।१९ ] इत्यमुमेव हेतुं पुरस्कृत्य कर्माचरणविधानमपि सङ्गच्छते । अन्यथा कर्मणः कर्तव्यत्वेन विधाने तदभावहेतुकथनमबद्धमेव स्याद्भगवतः । दृढीकृतश्चायमर्थो 'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं... वर्त एव च कर्मणि' [ ३।२२ ] इति स्वदृष्टान्तप्रदर्शनेन भगवता । अत आचार्यकल्पितोऽर्थ आग्रहमूलकः सन्दर्भाननुगुणः क्लिष्टश्चेति नादरणीय इति महता सन्दर्भेण प्रतिपादयन्ति । **तदेतन्निस्सारमेव**; अत्र 'तु स्याद्भेदे' ( अमरः ३।३।२४१ ) इत्यादिकोशावगतभेदार्थत्वस्य, तदर्थत्वेन शास्त्रेषु शतशः प्रयुक्तस्य, इहापि— 'यस्त्विन्द्रियाणि' [ ३।७ ] 'ये त्वेतत्' [ ३ । ३२ ] 'येषां त्वन्तगतं' [ ७।२८ ] इत्याद्यनेकस्थलेषु प्रकृतप्रतियोगिप्रदर्शनावसरे प्रयुक्तस्य 'तु'शब्दस्य प्रयोगदर्शनादस्य श्लोकस्य प्रस्तुतयज्ञादिजगच्चक्रप्रवर्तनाधिकारिभिन्नतदनधिकृतप्रदर्शनपरत्वस्यैवाभ्युपेयत्वात् । 'तस्य' इति पदस्य प्राधान्यमपि न युक्तम् । 'राज्ञः पुरुषः' इत्यत्र राजा विशेषणम्, पुरुषो विशेष्यः' ( २।३।५० ) इत्यादिभाष्यानुसारि 'प्रत्ययार्थस्य प्रकृत्यर्थं प्रति प्राधान्यादप्रधानादेव षष्ठी' इति पाणिनीयसिद्धान्तात्, 'प्रधानाप्रधानयोर्मध्येऽप्रधानादेव षष्ठी इति सारस्वतीयात्, 'गुणे षष्ठी' इति कैयटोदाहृतव्याकरणान्तराच्च षष्ठ्यन्तपदस्याप्रधानस्वरूपेणैवान्वयस्य सर्वव्याकरणसम्मतत्वावगमात् । तथाच तस्य ज्ञानिनः कार्यं न विद्यते, अज्ञस्य तु विद्यत एवेति वचनव्यक्त्या, यस्य कर्तव्यं न विद्यते स भिन्न आत्मरतत्वादिलक्षणः; त्वं तु न तादृशः, तस्मात्कर्म समाचर इति सन्दर्भस्वरसानुगुण्येन 'तस्मादसक्तः' [ ३ । १९ । ] इत्यपि सम्यगेव सङ्गच्छतेऽस्मत्पक्षे । **नव्यपक्ष** एव तु तदसङ्गतिः, अर्जुनस्य ज्ञानित्वाभावात् । गीताश्रवणमात्रेण तस्य ज्ञानित्वकल्पनं त्वविचारितरमणीयमेव । समग्रगीताश्रवणेनापि न तस्य सम्यग्ज्ञानमुत्पन्नमित्यनुगीताप्रसङ्गेनावगम्यमानत्वात्, श्रवणमात्रेण पूर्णज्ञानसम्भवे मननाद्युपदेशानर्थक्यप्रसङ्गाच्च । भवतु वा गीताश्रवणोत्तरमर्जुनस्य ज्ञानित्वम्, इह तु तेन तपस्विना गीताशास्त्रस्य तुरीयांशोऽपि न श्रुतिपथातिथीकृत इति कथं वा तस्य ज्ञानित्वं ? कथं चैतावतैव तस्य ज्ञानित्वसिद्धौ तत्सन्देहसमाधानरूपाग्रिमग्रन्थप्रवृत्तिः ? इति सर्वमप्येतद्धूलिप्रक्षेपमात्रमेव । भगवतः कर्मानुष्ठानं तु धर्मसंस्थापनार्थाय धृतलीलावतारस्य जनसङ्ग्रहार्थमेवेति न तद्दृष्टान्तोपष्टम्भेन कथमपि ज्ञानिनः कर्मानुष्ठानावश्यकत्वसिद्धिः । **भगवत्पाद**भाष्ये दोषारोपणं तु भगवति गभस्तिमालिनि थूत्करणमेवेत्यास्तां तावत् । — **अविगीता** ।

**१ शां. भा.**— एवं स्थिते किमेवं प्रवर्तितं चक्रं सर्वेणानुवर्तनीयं ? आहोस्वित्पूर्वोक्तकर्मयोगानुष्ठानोपायप्राप्यामनात्मविदा ज्ञानयोगेनैव निष्ठामात्मविद्भिः साङ्ख्यैरनुष्ठेयामप्राप्तेनैव ? इत्येवमर्थमर्जुनस्य प्रश्नमाशङ्क्य स्वयमेव वा शास्त्रार्थस्य विवेकप्रतिपत्त्यर्थं "एतं वै तमात्मानं विदित्वा निवृत्तमिथ्याज्ञानाः सन्तो ब्राह्मणा मिथ्याज्ञानवद्भिरवश्यं कर्तव्येभ्यः पुत्रैषणादिभ्यो व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं शरीरस्थितिमात्रप्रयुक्तं चरन्ति, न तेषामात्मज्ञाननिष्ठाव्यतिरेकेणान्यत्कार्यमस्ति" [ बृ. उ. ३।५।१ ] इत्येवं श्रुत्यर्थमिह गीताशास्त्रे प्रतिपादयिषितमाविष्कुर्वन्नाह भगवान्— यस्त्विति ।

**२ आ. शां. व्या.**— वृत्तमर्थमेवं विभज्यानूद्यानन्तरश्लोकमाशङ्कोत्तरत्वेनावतारयति— **एवमिति** । अर्जुनस्य प्रश्नमित्येवमर्थमाशङ्क्याऽऽह भगवानिति सम्बन्धः । नन्वेषाऽऽशङ्का नावकाशमासादयति, अनात्मज्ञेन कर्तव्यं कर्मेति बहुशो विशेषितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **स्वयमेवेति** । किमर्थं श्रुत्यर्थं स्वयमेव भगवानत्र प्रतिपादयति ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **शास्त्रार्थस्येति** । गीताशास्त्रस्य ससन्न्यासं ज्ञानमेव मुक्तिसाधनमर्थो नार्थान्तरमिति विवेकार्थमिह श्रुत्यर्थं कीर्तयतीत्यर्थः । तमेव श्रुत्यर्थं सङ्क्षिपति— **एतमिति** । सिद्धं चेदात्मवेदनमनर्थकं तर्हि व्युत्थानादीत्याशङ्क्याऽऽपातिकविज्ञानफलमाह— **निवृत्तेति** । ब्राह्मणग्रहणं तेषामेव व्युत्थाने मुख्यमधिकारित्वमितिज्ञापनार्थम् । क्लेशात्मकत्वादेषणानां ताभ्यो व्युत्थानं सर्वेषां स्वाभाविकत्वादविधित्सितमित्याशङ्क्याऽऽह— **मिथ्येति** । 'भिक्षाचर्यं चरन्ति' इति वचनं व्युत्थानविरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— **शरीरेति** ? तर्हि तद्वदेव तेषामग्निहोत्राद्यपि कर्तव्यमापद्येतेत्याशङ्क्य व्युत्थायिनामाश्रमधर्मवदग्निहोत्रादेरनुष्ठापकाभावान्नैवमित्याह— **न तेषामिति** । यथोक्तं श्रुत्यर्थमस्मिन्गीताशास्त्रे पौर्वापर्येण पर्यालोच्यमाने प्रतिपादयितुमिष्टं प्रकटीकुर्वन्कर्तव्यमेव कर्म जीवतेति नियमे 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्' [३।३] इति कथमुक्तं ? इति परिचोद्यपरिहारमुपदर्शयतीत्याह— **इत्येवमिति** ।

**१ शां. भा.**— यस्तु साङ्ख्य आत्मज्ञाननिष्ठ आत्मरतिरात्मन्येव रतिर्न विषयेषु यस्य स आत्मरतिरेव स्याद्भवेत् । आत्मतृप्तश्चाऽऽत्मनैव तृप्तः, नान्नरसादिना, मानवो मनुष्यः सन्न्यस्यात्मन्येव च सन्तुष्टः । सन्तोषो हि बाह्यार्थलाभे सर्वस्य भवति, तमनपेक्ष्याऽऽत्मन्येव च सन्तुष्टः सर्वतो वीततृष्ण इत्येतत् । य ईदृश आत्मवित्तस्य कार्यं करणीयं न विद्यते, नास्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— आत्मनिष्ठस्य विषयसङ्गराहित्यं दृष्टं, तदनात्मज्ञेन जिज्ञासुना कर्तव्यमिति मत्वाऽऽह— **यस्तु साङ्ख्य इति** । किञ्चाऽऽत्मज्ञस्य ज्ञानेनात्मनैव परितृप्तत्वान्नान्नपानादिना साध्या तृप्तिरिष्टा ; तेन विद्यार्थिना सन्न्यासिनाऽपि नान्नरसादावासक्तिर्युक्ता कर्तुमित्याह— **आत्मतृप्त इति** । किञ्चाऽऽत्मविदः सर्वतो वैतृष्ण्यं दृष्टं, तदनात्मविदा विद्यार्थिना कर्तव्यमित्याह— **आत्मन्येवेति** । रतितृप्तिसन्तोषाणां मोदप्रमोदानन्दवदवान्तरभेदः, अथवा रतिर्विषयासक्तिः, तृप्तिर्विषयविशेषसम्पर्कजं सुखं, सन्तोषोऽभीष्टविषयमात्रलाभाधीनं सुखसामान्यमिति भेदः । नन्वात्मरतेरात्मतृप्तस्याऽऽत्मन्येव सन्तुष्टस्यापि किञ्चित्कर्तव्यं मुक्तये भविष्यतीति, नेत्याह— **य ईदृश इति** ॥ १७ ॥

**१ शां. भा.**— किञ्च— नैवेति । नैव तस्य परमात्मरतेः कृतेन कर्मणाऽर्थः प्रयोजनमस्ति । अस्तु तर्ह्यकृतेनाकरणेन प्रत्यवायाख्योऽनर्थः, नाकृतेनेह लोके कश्चन कश्चिदपि प्रत्यवायप्राप्तिरूप आत्महानिलक्षणो वा नैवास्ति । न चास्य सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु भूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयप्रयोजननिमित्तक्रियासाध्यो व्यपाश्रयो व्यपाश्रयणं कञ्चिद्भूतविशेषमाश्रित्य न साध्यः कश्चिदर्थोऽस्ति, येन तदर्था क्रियाऽनुष्ठेया स्यात् । न त्वमेतस्मिन्सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये सम्यग्दर्शने वर्तसे ॥ १८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— इतश्चाऽऽत्मविदो न किञ्चित्कर्तव्यमित्याह— **किञ्चेति** । अभ्युदयनिःश्रेयसयोरन्यतरत् प्रयोजनं कृतेन सुकृतेनाऽऽत्मविदो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **नैवेति** । प्रत्यवायनिवृत्तये स्वरूपप्रच्युतिप्रत्याख्यानाय वा कर्म स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **नेत्यादिना** । ब्रह्मादिषु स्थावरान्तेषु भूतेषु कञ्चिद्भूतविशेषमाश्रित्य कश्चिदर्थो विदुषः साध्यो भविष्यति, तदर्थं तेन कर्तव्यं कर्मेत्याशङ्क्याऽऽह— **न चेति** । तत्राऽऽद्यं पादमादत्ते— **नैवेति** । तं व्याचष्टे— **तस्येति** । आत्मविदः स्वर्गाद्यभ्युदयानर्थित्वं निःश्रेयसस्य च प्राप्तत्वान्न कृतं कर्मार्थवदित्यर्थः । आत्मविदा चेत् कर्म न क्रियते तर्हि तेनाकृतेन तस्यानर्थो भविष्यतीति तत्प्रत्याख्यानार्थं तस्य कर्तव्यं कर्मेति शङ्कते— **तर्हीति** । द्वितीयपादेनोत्तरमाह— **नेत्यादिना** । अतो न तन्निवृत्त्यर्थं

कृतमर्थवदिति शेषः । द्वितीयं भागं विभजते— **न चास्येति** । व्यपाश्रयणमालम्बनं नेति सम्बन्धः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह— **कश्चिदिति** । भूतविशेषस्याऽऽश्रितस्यापि क्रियाद्वारा प्रयोजनप्रसवहेतुत्वमिति मत्वाऽऽह— **येनेति** । तर्हि मयाऽपि यथोक्तं तत्त्वज्ञानमाश्रित्य त्याज्यमेव कर्मेत्यर्जुनस्य मतमाशङ्क्याऽऽह— **न त्वमिति** ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.— असाधनायत्तात्मदर्शनस्य मुक्तस्येव महायज्ञादिवर्णाश्रमोचितकर्मानारम्भ इत्याह— यस्तु ज्ञानयोगकर्मयोगसाधननिरपेक्षः स्वत एवात्मरतिरात्माभिमुखः, आत्मनैव तृप्तः, नान्नपानादिभिरात्मव्यतिरिक्तैः; आत्मन्येव च सन्तुष्टः, नोद्यानस्रक्चन्दनगीतवादित्रनृत्तादौ; धारणपोषणभोग्यादिकं सर्वमात्मैव यस्य तस्यात्मदर्शनाय कर्तव्यं न विद्यते, स्वत एव सर्वदा दृष्टात्मस्वरूपत्वात् ॥ १७ ॥**

**अत एव तस्यात्मदर्शनाय कृतेन तत्साधनेन नार्थो न किञ्चित्प्रयोजनम् । अकृतेनात्मदर्शनसाधनेन न कश्चिदनर्थः, असाधनायत्तात्मदर्शनत्वात् । स्वत एवात्मव्यतिरिक्तसकलाचिद्वस्तुविमुखस्यास्य सर्वेषु प्रकृतिपरिणामविशेषेष्वाकाशादिषु भूतेषु सकार्येषु न कश्चित्प्रयोजनतया साधनतया वा व्यपाश्रयः; यतस्तद्विमुखीकरणाय साधनारम्भः; स हि मुक्त एव ॥ १८ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवं ज्ञानयोगाद्यधिकारिणोऽपि कर्मकर्तव्यताया उक्तत्वात्, 'तस्मादसक्तः' [ ३।१९ ] इत्यादिना वक्ष्यमाणत्वाच्च तन्मध्ये 'यस्त्वात्मरतिः' इत्यादिश्लोकौ न ज्ञानयोगाद्यधिकारिविषयौ, किन्तु फलदशाविषयावित्यभिप्रायेणाह— **असाधनायत्ते**ति । एतेन 'अभयं सर्वभूतेभ्यो दत्त्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' [ ] इत्याद्युक्तसन्न्यासाश्रमिपरत्वेन परव्याख्यानं निरस्तम्, तस्यापि हि स्वाश्रमधर्मनिष्ठस्य सर्वकर्मनिवृत्त्यभावात् । वर्णाश्रमविशिष्टस्यैव हि वर्णाश्रमधर्मारम्भः, न पुनर्वर्णाश्रमाधीननामरूपविनिर्मुक्तस्येति मुक्तशब्दस्य भावः । **यस्त्वि**ति, **तु**शब्दः साधननिष्ठव्यावृत्त्यर्थ इत्यभिप्रायेण **ज्ञानयोगकर्मयोगसाधननिरपेक्ष** इत्युक्तम् । कथं तर्हि साधनाभावे साध्यसिद्धिः? इत्यत्राह— **स्वत एवे**ति । प्रतिबन्धकं हि तन्निवृत्त्यर्थम्; आत्माभिमुखत्वं तु स्वतः प्राप्तमिति भावः । रतिशब्दोऽत्राभिमुख्यविषयः, तृप्त्यादेः पृथङ्निर्देशात् । 'आत्मरतिरेव' 'आत्मन्येव' इति पूर्वापरवत् 'आत्मतृप्तः' इत्यत्राप्यवधारणं विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— **आत्मनैवे**ति । तृप्तितुष्टिशब्दौ हि पोषकभोग्यजन्यप्रीतिविषयतया प्रसिद्धावित्यभिप्रेत्य तत्तदुचितं व्यवच्छेद्यमाह— **नान्नपानादिभिरि**ति, **नोद्याने**त्यादि च । 'आत्मरतिः' इत्यादेर्व्यवच्छेद्यत्रयं सङ्कलय्य सूचयन्वाक्यार्थमाह— **धारणे**ति । आदिशब्देन भोगस्थानादि विवक्षितम्; यस्य तु ज्ञानयोगनिष्ठस्यापि धारणादिकमन्नपानादिभिरेव तस्य कर्तव्यं विद्यते एवेति भावः । ननु 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्ययुक्तं, मुक्तस्यापि "जक्षन् क्रीडन्" [ छां. उ. ८।१२।३ ] इत्यादिकार्यश्रवणात् । न चात्र कार्यमिति "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" [ श्वे. उ. ६।७ ] इतिवच्छरीरादि निर्दिश्यते, तन्निषेधस्येदानीमनुपयुक्तत्वात्, तदत्यन्तनिषेधस्य च 'द्वादशाहवदुभयविधं' [ ब्र. सू. ४।३।१२ ] इत्यादिसूत्रतद्विषयश्रुतिभिर्विरुद्धत्वादित्याशङ्क्योक्तं **आत्मदर्शनाय कर्तव्यं न विद्यते** इति । 'यस्त्वात्मरतिः' इत्यादिनाभिप्रेतं हेतुं व्यनक्ति— **स्वत एवे**ति । 'स्वत एव सर्वदा' इत्युभाभ्यां उत्पत्त्यर्थं विनाशपरिहारार्थं च साधनापेक्षा नास्तीति ज्ञापितम् ॥ १७ ॥

अर्थशब्दस्यात्र प्रयोजनविषयतां वदन् 'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्यनेन पौनरुक्त्यं परिहरति— **न किञ्चित्प्रयोजन**मिति । प्रयोजनाभावात् कर्तव्यं नास्तीत्युक्तं भवति । 'नाकृतेन' इत्यत्रार्थो न निषेध्यः, किन्त्वकरणे प्रत्यवाय इत्यभिप्रायेणाह— **न कश्चिदनर्थ** इति । अर्थानर्थौ ह्यात्मदर्शनतदभावौ; तत्र पूर्वस्य सिद्धत्वात् न साध्यत्वम्, उत्तरस्य चात्यन्तनिवृत्तत्वान्न निवर्तनीयत्वमित्यभिप्रायेणाह— **असाधनायत्तात्मदर्शनत्वा**दिति । 'न चास्य' इत्यादिना प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमपेक्षा नास्तीत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **स्वत एवे**त्यादि । **अस्ये**तिशब्द आत्मरतिरित्यादिनिर्दिष्टप्रकारपरामर्शीत्यभिप्रायेणोक्तं **सकलाचिद्वस्तुविमुखस्ये**ति । सर्वशब्दस्यात्रासङ्कोचेन सावान्तरभेदसमस्तप्राकृतभोग्यविषयतामाह **प्रकृती**त्यादिना **सकार्येष्वि**त्यन्तेन । परिणामशब्देनात्र भूतशब्दस्य भवनक्रियायोगिपरत्वं दर्शितम् । 'अर्थव्यपाश्रयः' इत्यत्रार्थशब्दो भावप्रधान इति व्यनक्ति— **प्रयोजनतया व्यपाश्रय इति** । व्यपाश्रयः स्वीकरणम् । अर्थ एव व्यपाश्रयः स्वीकरणीयमिति वाऽभिप्रेतम् । एतेन प्रयोजननिमित्तो व्यपाश्रय इति परव्याख्या निरस्ता । नचास्येत्यादेर्हेत्वभिप्रायेण वा मुक्त एव हि साधननिरपेक्ष इति श्लोकद्वयार्थनिगमनाभिप्रायेण चोच्यते— **स हि मुक्त एवे**ति ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.— तर्ह्यतीव मनस्समाधानमपि न कार्यमित्यत आह— यस्त्विति । रमणं परदर्शनादिनिमित्तं सुखम् । तृप्तिरन्यत्रालम्बुद्धिः । सन्तोषस्तज्जनकं सुखम् । 'सन्तोषस्तृप्तिकारणम्' इत्यभिधानात् । परमात्मदर्शनादिनिमित्तं सुखं प्राप्तः । अन्यत्र सर्वात्मनाऽलम्बुद्धिः । महच्च तत्सुखं च**

तेनैवान्यत्रालम्बुद्धिरिति दर्शयति—आत्मन्येव च सन्तुष्ट इति। तत्स्थ एव सन्सन्तुष्ट इत्यर्थः। नान्यत्किमपि सन्तोषकारणमित्यवधारणम्। आत्मना तृप्तः। न ह्यात्मन्यलम्बुद्धिर्युक्ता। तद्वाचित्वं च 'वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमैः' [ भाग. १।१।१९ ] इति प्रयोगात्सिद्धम्। अध्याहारस्त्वगतिका गतिः। 'आत्मरतिरेव' इत्यवधारणादसम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्यैव कार्यं न विद्यते।

**६ ज. प्र. दी.**—एवमज्ञानिनः कर्म कर्तव्यमित्युक्तम्, इदानीं ज्ञानिनः कर्तव्याभावमाहेति परव्याख्यानमसदिति भावेन सङ्गतिमाह—तर्हीति; यद्येवं कर्माकरणे हानिस्तत्करणे च लाभस्तर्हीत्यर्थः। परमेश्वरेऽतीव मनस्समाधानमसम्प्रज्ञातसमाधिरित्यर्थः। न कार्यं प्रसज्येतेति शेषः। तत्र कर्मलोपस्यावश्यम्भावादिति भावः। अत्र रतितृप्तिसन्तोषशब्दांस्तावद्व्याचष्टे—रमणमिति। परेति स्वरूपकथनं, न शब्दार्थान्तर्भूतम्। तथा च पञ्चमेऽभिधानं वक्ष्यते। तथात्वे जीवनिराकरणं च व्यर्थं स्यात्, यद्दर्शनादिनिमित्तं सुखं ततोऽन्यत्र। तज्जनकं तृप्तेर्जनकम्। तृप्तिकारणं सुखमिति शेषः। इदानीमात्मशब्दस्य जीवविषयत्वप्रतीतिनिरासार्थमात्मरतिरिति समस्तं पदं व्याख्याति—परमात्मेति। प्राप्त आत्मरतिरिति शेषः। अनेनात्मनि रतिर्यस्येति विग्रहः सूचितः। आत्मनो रतिर्यस्येति वा। एवमुत्तरावप्यात्मशब्दौ परमात्मार्थौ ज्ञातव्यौ। न चैवं सति तृप्तशब्दस्य परमात्मनोऽन्यत्रालम्बुद्धिरर्थः स्यात्। ततश्चेदं न वक्तव्यम्। आत्मरतिरेवेत्यवधारणेनान्यरतिनिरासेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गादित्यत आह—अन्यत्रेति। अलम्बुद्धिस्त्वं प्राप्तस्तृप्तशब्देनोक्त इति शेषः। अलम्बुद्धिरिति पाठे तृप्तशब्दार्थ इति शेषः। अवधारणेनैवान्यत्ररत्यभावे लब्धेऽपि सर्वात्मनाऽन्यत्रालम्बुद्धिं वक्तुं तृप्त इति पुनर्वचनम्। अवधारणस्यान्यत्रालम्बुद्धिमात्रद्योतनेन चरितार्थस्य 'सर्वात्मना' इत्यत्राप्रवृत्तेरिति भावः। ननु 'सन्तुष्टः' इत्यनेनालम्बुद्धिजनकं सुखं प्राप्त इत्युच्यत इत्युक्तम्, तत्किं विषयजन्यम्? उतात्मरत्याख्यम्?। नाद्यः, विरोधात्। न द्वितीयः, तस्यात्मरतिशब्देनोक्ततया पुनरुक्तिप्रसङ्गात्। कथं च तस्यान्यत्रालम्बुद्धिजनकत्वं? इत्यत आह—महच्चेति। चशब्दो हेतौ। तदात्मरत्याख्यं प्रागुक्तमेव सुखं पुनरन्यत्रालम्बुद्धिकारणत्वेनोच्यतेऽतो न दोषः, तस्य च महत्त्वं संशब्देनोक्तमतस्तत्कारणत्वं चोपपन्नमित्यर्थः। आत्मरतिः सन्तोषशब्देन गृह्यते चेत्, पुनरात्मनीति व्यर्थमित्यत आह—तत्स्थ एवेति। सन्तोषाख्यात्मरतिः केनास्य जाता? इत्यपेक्षायामसम्प्रज्ञातसमाधिलक्षणया परमात्मनि स्थित्येति ज्ञापयितुं आत्मनीत्युक्तमित्यर्थः। अवधारणस्य प्रयोजनमाह—नान्यदिति। अन्यदसम्प्रज्ञातसमाधिरूपात्तत्स्थत्वात्; एतेनात्मरतिरेवेत्यवधारणेनास्य पुनरुक्तता परिहृता। नन्वात्मतृप्त इति कोऽयं समासः? इत्यत आह—आत्मनेति; न केवलमात्मरत्याख्येन सुखेन, किन्तु प्रसन्नेन परमात्मनैवेत्यर्थः। पञ्चमीसमासः कथं न स्यात्? इति चेत्, न, असामर्थ्यात्। 'अन्यत्र' इत्यनेन ह्यस्य सामर्थ्यं, न तु तृप्तशब्दार्थेन; तृप्तशब्दार्थ एवान्यत्रार्थान्तरभूतोऽस्तीति चेत्, न; तस्य प्रकरणलब्धस्य तदन्तर्भावाभावात्। अन्यथा 'वयं तु न वितृप्यामः' इत्यत्र ततोऽन्यत्रालम्बुद्धिं न प्राप्नुम इत्यर्थप्रसङ्गात्। अस्तु तर्हि सप्तमीसमास इति, नेत्याह—न हीति। पूर्वविशेषणविरोधात्, प्रमाणान्तरविरोधाच्चेति भावः। स्यादयं दोषो यदि तृप्तशब्दस्यालम्बुद्धिवाचित्वं स्यात्। तदेव कुतः? इत्यत आह—तद्वाचित्वं चेति। नन्वत्र तृप्तिशब्दः प्रीत्यर्थः, न चैवं सत्यर्थानुपपत्तिः, उत्तमश्लोकविक्रमैः श्रूयमाणैर्निमित्तैरन्यत्र प्रीतिं न प्राप्नुम इत्यध्याहारेणोपपत्तेरित्यत आह—अध्याहारस्त्विति। गत्यन्तररहिता गमनिका। अध्याहारो ह्यश्रुतशब्दकल्पनम्। तच्च कल्पकसद्भावे न दोषः; अन्यथा तु दोष एव। कल्पकं च गत्यन्तरराहित्यम्। अन्यथाऽनुपपत्तिरिति यावत्। अत्र त्वलम्बुद्ध्यर्थत्वे गृहीते विनाऽप्यध्याहारेण वाक्यार्थोपपत्तेरयुक्तोऽसाविति भावः। षष्ठीसमासस्तु 'पूरणगुणसुहितार्थ—' [ अष्टा. २।२।११ ] इति प्रतिषिद्धः। अपव्याख्यानं निराचष्टे—आत्मरतिरेवेति। न ज्ञानिमात्रस्येत्येवार्थः।

**५ आ. मा. भा.**— स्थितप्रज्ञस्यापि कार्यो देहादिर्दृश्यते। यद्वा 'स्वधर्मो मम तुष्ट्यर्थः सा हि सर्वैरपेक्षिता' इति वचनाच्च पञ्चरात्रे। अन्यदाऽन्यरतिरपीषत्सर्वस्य भवति। न च तत्रालम्बुद्धिमात्रमुक्तम्; आत्मतृप्त इति पृथगभिधानात्। कर्तृशब्दः कालावच्छेदेऽपि चायं प्रसिद्धः 'यो भुङ्क्ते स तु न ब्रूयात्' इत्यादौ; अतोऽसम्प्रज्ञातसमाधावेवैतत्।

**६ ज. प्र. दी.**— इतोऽपि न ज्ञानिमात्रस्य कार्याभाव इत्याह— स्थितप्रज्ञस्यापीति। स्वधर्मः कार्य इति सम्बन्धः। आत्मरतिरेवेत्यवधारणेऽपि कुतो न ज्ञानिमात्रविषयमेतत्? इत्यत आह— अन्यदेति। अवधारणेन ह्यनात्मरतिर्व्यावर्त्यते। असम्प्रज्ञातसमाधिकालादन्यदा सर्वस्य ज्ञानिनोऽपीषदन्यरतिर्भवतीत्युपपादितम्; अतोऽसम्प्रज्ञातसमाधिस्थव्यतिरिक्तानां ज्ञानिनामप्यवधारणेन व्यावर्तितत्वान्न तद्विषयमेतदिति भावः। ननु ज्ञानिनामन्यरतौ विद्यमानायामपि तत्रालम्बुद्धिरप्यस्तीत्यात्मरतिरेवेत्यवधारणमुपपद्यत इत्यत आह— न चेति। तत्र श्लोके तत्र कार्याभावे प्रयोजकत्वेनात्मनो-

ऽन्यत्रालम्बुद्धिमात्रमल्पालम्बुद्धिः- रतिसहचरितालम्बुद्धिरिति यावत्— नोक्ता ; किं तर्हि सर्वात्मनाऽलम्बुद्धिः ? कुतः? इत्यत आह— **आत्मेति** । अवधारणेनान्यत्रालम्बुद्धौ लब्धायामपि यत्पृथगात्मतृप्त इत्यभिधत्ते, तेन सर्वात्मनाऽलम्बुद्धिरवधारणेनाभिप्रेतेति ज्ञायत इति प्रागुक्तम् । अतो ज्ञानिमात्रे नेदमुपपद्यत इत्यर्थः । यस्त्वात्मरतिरेवेत्येतदसम्प्रज्ञातसमाधिस्थ एव सम्भवि; तथापि यत्पतति तद्गर्वितिवत् य एवंविधः कदाचित्तस्य सर्वदा कार्यं न विद्यत इत्येवं व्याख्याने ज्ञानिमात्रस्य कार्याभावः सेत्स्यति। न ह्यत्र यदैवं तदेति कालावच्छेदकशब्दोऽस्ति । आत्मरतिरिति समासस्तु रतेः कर्तारमेवाचष्ट इत्यत आह— **कर्तृशब्द** इति । अयं च यदा तदेति रहितोऽपीत्यर्थः । आदिग्रहणेन यो दारान् परिगृह्णाति स गृहीत्यादेः परिग्रहः । अयं भावः-'तस्य कार्यं न विद्यते' इत्युक्तेऽतिप्रसक्तौ सत्यामन्यव्यावर्तकं 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यनेनोक्तम् । व्यावर्तकं च द्विविधं भवति, विशेषणमुपलक्षणं चेति । तत्र व्यवच्छेद्यसमानकालं विशेषणम्, यथा सिद्धान्त्युदाहृतं भाजनम् । अन्यथा तूपलक्षणं; यथा पूर्वपक्ष्युदाहृतं पतनम्, तत्र विशेषणं मुख्यं, विशेषज्ञानहेतुत्वात् । अन्यदमुख्यं वैपरीत्यात् । 'मुख्यामुख्ययोश्च मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' । न चात्र विशेषणत्वग्रहणे बाधकमस्ति, येनोपलक्षणमेतदिति प्रतीम इति । कर्तृशब्द इत्युक्तस्य फलमाह— **अत** इति । एतत्कार्यराहित्यम् । 'समाधावेव' इत्युक्त्या समानकालतां सूचयति ।

**५ आ. मा. भा.— मानव इति ज्ञानिन एवासम्प्रज्ञातसमाधिर्भवतीति दर्शयति ; मनु अवबोधन इति धातोः । परमात्मरतिश्चात्र विवक्षिता । 'विष्णावेव रतिर्यस्य क्रिया तस्यैव नास्ति हि' इति वचनात् ॥ १७ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— न चासम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्य कार्याभावे व्याख्यायमाने कदाचिदपरोक्षज्ञानरहितस्यापि असम्प्रज्ञातसमाधिसम्भवात् कार्याभावप्रसङ्ग इति चेत्, न ; अपरोक्षज्ञानिन एव असम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति,नान्यस्येत्यस्यार्थस्य 'मानवं' इति पदेन भगवतैव दर्शितत्वादित्याह— **मानव** इति । 'मानवः' इति कथं ज्ञानिनो वाचकं ? इत्यत आह— **मन्विति** । धातोर्व्याख्यानादिति शेषः । अस्माद्धातोर्भावे उप्रत्ययः । ततो मनुरवबोधोऽस्यास्तीत्यस्मिन्नर्थे मनोरयमाश्रय इत्यर्थे वाऽण्प्रत्ययः । यद्वा धातोरेव वाण्प्रत्ययः । मनुष्य इतिव्याख्यायामृष्यादिव्यावृत्तिर्वैयर्थ्यं चापद्येत । आत्मशब्दस्याप्यन्यथाव्याख्यां निराकरोति— **परमात्मेति** । चशब्दोऽवधारणे । न स्वात्मरतिरित्यर्थः । 'तस्यैव' इत्यवधारणादिति ॥ १७ ॥

**५ आ. मा. भा.— तस्य कर्मकाले वक्तव्योऽहमिति कश्चित्प्रत्युक्त्वा तत्कृतावात्मरत्यधिकः समो वाऽर्थो नास्ति । न च सन्ध्याद्यकृतौ कश्चिद्दोषोऽस्ति । न चैतदपहाय सर्वभूतेषु कश्चित्प्रयोजनाश्रयः । अर्थो येन दर्शनादिना भवति सोऽर्थव्यपाश्रयः । ज्ञानमात्रेण यद्यपि प्रत्यवायो न भवति, तदर्जुनस्यापि सममिति न तस्य कर्मोपदेशोपयोग्ये तद्भवति । ईषत्प्रारब्धानर्थसूचकं च तद्भवति । महच्चेद्वृत्रहत्यादिवत् ॥ १८ ॥**

**६ ज. प्र. दी.** —यदीयं कार्याभावोक्तिर्न ज्ञानिमात्रस्य, किन्त्वसम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्यैव ; तर्हि 'नैव तस्य कृतेनार्थः' इत्युत्तरं वाक्यं न सम्बध्यते, असम्प्रज्ञातसमाधेः करणस्यैवाभावेन तत्प्रयोजनाभावकथनस्यैवायोगात् ; ज्ञानिनस्तु करणसम्भवेन तत्प्रयोजनप्रतिषेधोपपत्तिरिति चेत्, न; तर्ह्यतीव मनसस्समाधानमपि न कार्यमित्याक्षेपस्य 'तस्य कार्यं न विद्यते' [ ३ । १७ ] इत्युत्तरं कस्मादुक्तं ? कर्मकृतिकाले त्वयाऽहमुद्बोधनीय इति कश्चित्प्रत्युक्त्वा समाहितस्तेन योगशास्त्रोदितोपायैरुद्बोधितः कर्म करोतीति कुतो नोक्तम् ? इत्याशङ्कानिरासायेदमेवमुच्यत इत्यभिप्रेत्य व्याचष्टे— **तस्येति** । तस्यासम्प्रज्ञातसमाधिस्थस्यार्थो नास्तीति सम्बन्धः । उक्त्वोद्बुद्धस्येति शेषः । एवं तर्हि तस्यैव महत्सुखत्वादित्याद्युक्तिविरोध इत्यत उक्तम्— **आत्मेति** । समो वाऽऽत्मरत्या । समप्रतिषेधः कैमुत्यार्थः । न तु समन्ययफलं कर्मानुष्ठीयते । नन्वत्र कश्चनेत्यस्य विशेष्याकाङ्क्षायां सन्निधानादर्थ इति सम्बध्यते । तथा चेदमयुक्तम् । न हि कर्माकरणेऽर्थप्राप्तिरस्ति, येन प्रतिषेधः सङ्गच्छते । अर्थसन्निधानादपि योग्यताया बलवत्त्वात्कश्चन दोष इत्यध्याह्रियते । तथाप्यश्वमेधाद्यकृतौ प्रत्यवायाप्राप्तेः प्रतिषेधोऽसङ्गत एवेत्यतो 'नाकृतेन' इत्येतत् व्याचष्टे— **'न चेति** ।' मा भूद्यज्ञादिकरणार्थमुत्थानं, नित्यनैमित्तिकाकरणे प्रत्यवायप्राप्तेः,तदर्थं तु स्यादित्याशङ्कानिरासार्थमेतत् । सन्ध्येति तत्कालेऽनुष्ठेयं कर्मोच्यते । मा भूदल्पस्य यज्ञादेरनुष्ठाने प्रयोजनाभावः, सन्ध्याद्यकृतौ प्रत्यवायश्च; तथापि गुरुदेवतादिपूजाकरणाकरणयोरर्थप्रत्यवायौ स्यातामेव । अतस्तत्सन्निधिप्राप्तावुत्थानमावश्यकमेवेत्याशङ्कानिरासार्थं 'न चास्य' इत्युक्तं तदयुक्तम्, उक्तविरोधादेवेत्यतो व्याचष्टे — **न चैतदिति** । एतदसम्प्रज्ञातसमाधानं अपहायोत्थितस्येति शेषः । 'अपहाय' इत्यनेन गुर्वादिपूजाया अपि आधिक्यं निषेधति, आधिक्यस्यैव पूर्वत्यागोपयोगित्वात् । सर्वभूतेषु गुर्वादिषु । नन्वर्थव्यपाश्रयो नामार्थप्राप्तिः; तथा च सर्वभूतेभ्य इति स्यादित्यत आह— **अर्थ** इति । अनेनार्थस्य व्यपाश्रयः प्राप्तिर्येन दर्शनादिना व्यापारेण भवतीति व्यधि-

करणो बहुव्रीहिरयमित्युक्तं भवति । तथा च दर्शनादेर्विषया गुर्वादय इति सप्तम्युपपत्तिः । अनेनानर्थव्यपाश्रयोऽप्युपलक्ष्यते । स्यादेतत्, किमनेनायासेन ? ज्ञानिमात्रविषयमेतत्किं न स्यात् ? ज्ञानमात्रेण प्रत्यवायाभावात्तत्राप्यस्यार्थस्य सम्भवात् । अवधारणादेश्चोपचरितार्थत्वसम्भवादित्यत आह— ज्ञानेति ; तज्ज्ञानमात्रम् । इतिशब्दो हेतौ । एतत्कार्याभाववचनं प्रत्युत विरोधि ? इति हृदयम् । प्रत्यवायो न भवतीत्यङ्गीकृत्योक्तम् । वस्तुतस्तु ज्ञानिनोऽप्यस्ति । प्रतिषिद्धकर्मकरणादिनाऽनिष्टप्राप्तिरित्याह— ईषदिति । सूचिते च तदैव चित्तखेदः । उपलक्षणं चैतत् । मुक्तावानन्दह्रास इत्यपि द्रष्टव्यम् । (पुनश्च) मुक्तावानन्दह्रास इति श्रीनिवासतीर्थः । उपलक्षणमिति कृष्णाचार्यटिप्पणी । तथा विहितकरणे नानन्दवृद्धिरपीति ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.— कर्मण्यनधिकृतस्य ज्ञानिनः कर्म न कर्तव्यमित्याह— यस्त्विति । यस्तु साङ्ख्य आत्मज्ञाननिष्ठ आत्मरतिरात्मनि रतिर्यस्य स आत्मरतिः । आत्मन्येव तृप्तः, नान्नरसादिना । आत्मन्येव च सन्तुष्टः सन्तुष्टो बाह्यार्थलाभे भवति तमनपेक्ष्याऽऽत्मन्येव च सन्तुष्टः । आत्मविदस्तस्य कार्यं करणीयं न विद्यते ॥ १७ ॥ किञ्च— नैवेति । तस्याऽऽत्मरतेः कृतेन करणेन नार्थः प्रयोजनं ; एवं नाप्यकृतेनाकरणेन कश्चित्प्रत्यवायः । न चास्य विदुषः कश्चिद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेष्वर्थव्यपाश्रयः कार्यार्थमाश्रयणम् ॥ १८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं तावत् ' ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ' [ ३।३ ] इति प्रस्तुत्य ' न कर्मणामनारम्भात् ' [ ३।४ ] इत्यादिभिस्त्रयोदशभिः श्लोकैः कर्माधिकारिणां कर्मकर्तव्यताप्रतिपादनेन ' कर्मयोगेन योगिनाम् ' इत्येतन्निपुणतरमुपपादितम् ; इदानीं ' ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम् ' इत्येतदुपपादयितुं ज्ञानिनः कर्मकर्तव्यत्वाभावं दर्शयति द्वाभ्याम्— यस्त्विति ।

तु-शब्दः पूर्वोक्तादिन्द्रियारामाद्वैलक्षण्यार्थः । तदेव दर्शयति— आत्मरतिरेवेति । आत्मन्येव रतिः क्रीडा यस्य, न विषयेषु, स तथोक्तः । तत्र हेतुः— आत्मतृप्त इति । आत्मन्येव तृप्तः । तत्रापि हेतुः— आत्मन्येव सन्तुष्ट इति । विषयारामस्य हि विषयेष्वेव सन्तोषः । स प्रेमाभिलाषरूपो मनोवृत्तिविशेषः । ततस्तद्भोगेनैव तृप्तिः । ततस्तेष्वेव च क्रीडा भवति; तदभावे तस्यारत्यतृप्त्यतुष्टिदर्शनात् । ज्ञानिनस्तु निरतिशयानन्दस्वरूपात्मन्येव सन्तोषः; "किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मा" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इत्यादिश्रुतेः । ततः स्वात्मानन्दानुभवेनैव तृप्तः; "एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति" [ छां. उ. ३।६।१ ] इति श्रुतेः । तत आत्मन्येव रतिः; 'आत्मक्रीड आत्मरतिः' [ मुं. उ. ३।१।४ ] इत्यादिश्रुतेः । एते च रतितृप्तिसन्तोषा वैषयिकस्येव ज्ञानिनो न मनोवृत्तिरूपाः, किन्त्वात्मरूपा एवेत्येतत् ' आत्मन्येवात्मना तुष्टः ' [ २।५५ ] इत्यत्र प्रागदर्शितम् । य एवंविधो मानवो भवति । मानवग्रहणेन यः कश्चिदपि मनुष्य एवम्भूतः कृतकृत्यः, न तु ब्राह्मणत्वादिना प्रकर्षेणेति सूचितम् । उक्तं हि भगवत्पादैः— ' चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ' [ शं. मनीषापं. ] इति । तस्य कार्यं कर्तव्यं कर्म लौकिकं वैदिकं वा किमपि न विद्यते ॥ १७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— कुतः ? इत्यत आह— नैवेति । तस्य आत्मरतेः कृतेन । भावे निष्ठा । कर्मकरणेन अर्थः स्वर्गपश्वपुत्राद्यभ्युदयरूपं प्रयोजनं नैवास्ति, तस्याभ्युदयार्थित्वाभावात् । अतो न तावदभ्युदयार्थं तस्य कर्मकर्तव्यता, नाप्यकरणे प्रत्यवायपरिहारार्थम्, यतस्तस्य अकृतेन नित्यनैमित्तिककर्माकरणेन इह लोके शिष्टगर्हितत्वरूपो वाऽन्यो वा प्रत्यवायः प्राप्तरूपः कश्चिदर्थो नास्ति; अकर्त्रात्मदर्शिनस्तस्य विधिनिषेधाविषयत्वात्, कर्त्रात्मदर्शिविषयकयोर्विधिनिषेधयोस्तस्मिन्नुपल इव क्षुरतैक्ष्ण्यस्य कुण्ठीभावात् । एतदभिप्रायेणैव ज्ञानिनः पुण्यपापलेपाभावं श्रुतिराचष्टे— "एतꣳ ह वाव न तपति, किमहꣳ साधु नाकरवम्, किमहं पापमकरवमिति" इति । [ तै. २।९ ] ननु करणाकरणाभ्यामभ्युदयप्रत्यवायाभावेऽपि 'देवान्भावयताऽनेन ' [ ३।११ ] इत्यादिपूर्वोक्तरीत्या ज्ञानिनोऽपि देवताराधनार्थं कर्म कर्तव्यम्, देवप्रातिकूल्यस्य सर्वपुरुषार्थविरोधित्वादित्याशङ्क्याह— न चास्येति । अस्यात्मविदः सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु कश्चिदपि अर्थव्यपाश्रयः प्रयोजनसम्बन्धो नास्ति, कञ्चिद्भूतविशेषमाश्रित्य साध्योऽर्थः कोऽपि नास्तीत्यर्थः । " तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां स भवति" [ बृ.उ. १।४।१० ] इति श्रुत्या ब्रह्मज्ञानिनं प्रति विरुद्धमाचरितुं देवानामसामर्थ्यप्रतिपादनान्न तत्कृतानर्थप्रसक्तिः । अतः 'देवान्भावयत' इत्यादिकं कर्माधिकृतविषयम्, न तु ज्ञानिविषयमिति भावः ॥ १८ ॥

**९ व० त० दी०— तदेवं 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' [ ३।४ ] इति योगमार्गीयपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं कर्म विहितं विधेयमित्युक्तम् ; साङ्ख्यमार्गीयस्य तु ज्ञानमेव नानात्मभूतं कर्मोपयुक्तमित्याह द्वाभ्याम्— यस्त्विति । तुः पूर्वं प्रकृतभेदार्थकः । आत्मन्येवेति । तृप्तिर्तुष्टिर्यस्य नानात्मनि इत्यात्मैवकारलिङ्गेन साङ्ख्यमार्गीयो मुनिरुक्तः । तत्र हेतुमाह ॥ १७ ॥ नैवेति । तस्य कृतेन निषिद्धेन चार्थः फलं सुखदुःखादि नास्ति । किञ्चार्थमाश्रयः कश्चिन्नास्ति ॥ १८ ॥**

१० पु. अ. त.— नन्वेवं चेत्तदा सर्वे एव त्वद्भक्ताः कथं न कुर्वन्ति? इत्यत आह द्वयेन— यस्त्वात्मरतिरेवेति। यस्तु आत्मरतिरेव आत्मनि मय्येव रतिर्यस्य तादृशः स्यात्, यश्च आत्मतृप्तश्च भगवदानन्देन तृप्तः सुखितः, आत्मन्येव भगवत्येव सन्तुष्टः स्वभोगापेक्षारहितः, तस्य कार्यं कर्तव्यं न विद्यते, नास्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥ तस्य तादृशस्य भक्तस्य कृतेनापि कर्मणा अर्थः प्रयोजनं पुण्यादिरूपं नास्तीत्यर्थः। अकृतेन च कश्चन प्रत्यवायपापादिकं च नास्तीत्यर्थः। अस्य भक्तस्य सर्वभूतेषु देवादिषु अर्थार्थं मोक्षभक्त्याद्यर्थं च व्यपाश्रय आश्रयो नास्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमीश्वरेण वेदयज्ञपूर्वकं जगच्चक्रं प्रवर्त्तितमज्ञैरधिकृतैरनुवर्तितव्यमित्युक्तं, अस्याननुवर्त्तने च महान् प्रत्यवाय उक्तः, स ब्रह्मविदमपि स्पृशेदिति सम्भावितामाशङ्कां परिहरति— यस्त्विति। आत्मन्येव रतिः प्रीतिर्यस्य, न तु रूयादौ स तथा। नन्वात्मनि प्रीतिः प्राणिमात्रस्यानौपाधिकी अस्ति, प्रत्युत तदर्थत्वेनैव रूयादिष्वपि प्रीतिर्भवतीत्यत उक्तं 'आत्मतृप्तः' इति, आत्मनैव परमानन्दरूपेण तृप्तः, न मिष्टान्नादिना। ननु मन्दाग्निरपि रूयादौ न रमते, नापि मिष्टान्नेन तृप्यति, अत उक्तं 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' इति। मन्दाग्निर्हि धातुवृद्धिं जाठरोद्दीपनं च कामयमान औषधाद्यर्थमितस्ततो धावति, न त्वात्मन्येव तुष्यति; विद्वांस्तु रतितृप्तितुष्टिरात्मनैवानुभवति। न रूयन्नधनादिभिरिति तस्य कार्यं कर्तव्यं किमपि नास्ति; क्रियाप्राप्यस्य कस्यचिदप्यर्थस्याभावात् ॥ १७ ॥ एतदेवाह— नैवेति। तस्यात्मरतेः कृतेन कर्मणाऽर्थः प्रयोजनं नास्ति, स्वर्गादौ लिप्साभावात् मोक्षस्य चाक्रियासाध्यत्वात्। "नास्त्यकृतः कृतेन" [ मुं. उ. १।२।१२ ] इति श्रुतेः। अकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणा नास्तीति श्रुत्यर्थः। अकृतेन विरुद्धकर्मणाऽपि अर्थो नरकादिरस्य नास्ति। अत्र कृताकृतशब्दौ मित्रामित्रपदवत् परस्परविरुद्धार्थवाचितया पुण्यपापवचनौ। ये तु अकृतेनेति भावे निष्ठा नित्याकरणात् गर्हितत्वरूपो वा प्रत्यवायप्राप्तिरूपो वा कश्चनार्थो विदुषो नास्तीति व्याचक्षते तेषामप्यभावात् भावोत्पत्तेरनभ्युपगमान्नित्यानां काले यदन्यदविहितं क्रियते तत एव प्रत्यवायोत्पादो वक्तव्य इति घट्टकुट्यां प्रभातवृत्तान्त आपद्यते। अत्रोपपत्तिमाह— न चेति। चो हेतौ। यस्मात् आत्मरतेः सर्वभूतेषु चेतनाचेतनेषु उत्तममध्यमाधमेषु कश्चिदपि अर्थव्यपाश्रयः सुखभोगात्मकप्रयोजनाभिसम्बन्धो नास्ति; आत्मरतित्वादेव निष्कामत्वाद्विदुषः पुण्यपापफलसम्बन्धो नास्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

असम्यग्ज्ञानिन एव निष्कामकर्मोपदेशः।

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।**
**असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥ १९ ॥**

१ शां. भा.— यत एवम्— तस्मादिति। तस्मादसक्तः सङ्गवर्जितः सततं सर्वदा कार्यं कर्तव्यं नित्यं कर्म समाचर निर्वर्तय। असक्तो हि यस्मात् समाचरन्नीश्वरार्थं कर्म कुर्वन् परं मोक्षमाप्नोति पुरुषः सत्त्वशुद्धिद्वारेणेत्यर्थः ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— सम्यग्ज्ञाननिष्ठत्वाभावे कर्मानुष्ठानमावश्यकमित्याह— यत इति। तस्माज्ज्ञाननिष्ठाराहित्यादिति यावत्। मोक्षमेवापेक्षमाणस्य कथं कर्मणि फलान्तरवति नियोगः स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— असक्तो हीति ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— यस्मादसाधनायत्तात्मदर्शनस्यैव साधनाप्रवृत्तिः, यस्माच्च साधने प्रवृत्तस्यापि सुशकत्वादप्रमादत्वात्तदन्तर्गतात्मयाथात्म्यानुसन्धानत्वाच्च ज्ञानयोगिनोऽपि देहयात्रायाः कर्मानुवृत्त्यपेक्षत्वाच्च कर्मयोग एवात्मदर्शननिर्वृत्तौ श्रेयान्; तस्मादसङ्गपूर्वकं कार्यमित्येव सततं यावदात्मप्राप्ति कर्मैव समाचर। 'असक्तः' 'कार्यम्' इति वक्ष्यमाणकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वकं च कर्मानुचरन् पुरुषः कर्मयोगेनैव परमाप्नोतीत्यात्मानं, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.— 'तस्मात्' इत्येतत्कर्मणः कर्तव्यतायां पूर्वोक्तसमस्तहेतुपरामर्शीत्यभिप्रायेणाह— यस्मादिति। 'असक्तः कार्यम्' इत्युभयमपि कर्मणोऽनुष्ठानप्रकारपरमित्यभिप्रायेणोक्तं असङ्गपूर्वकं कार्यमित्येवेति। कार्यमित्येव, न तु तत्कार्यं स्वर्गाद्यपेक्षयेत्यर्थः। 'सततं' इत्यत्र ज्ञानयोगाधिकारे सत्यपि कर्मयोगस्यैवानुष्ठेयत्वायाह— यावदात्मप्राप्तीति। ज्ञानयोगव्यवधानमन्तरेणापि कर्मयोग एवात्मप्राप्तिं साधयतीति

'असक्तो हि' इत्यादिनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह— असक्त इति । कर्माचरन्... परमाप्नोतीति । न पुनः कर्माचरणानन्तरमन्यत्कर्तव्येत्यर्थः । 'कर्माचरन् परमाप्नोति' इत्युक्ते अर्थसिद्धं कर्मणः साधनत्वं व्यनक्ति— कर्मयोगेनैवेति । अत्र प्राप्यतया निर्दिष्टः परो देहातिरिक्तात्मप्रकरणत्वात् प्रकृतेः परो जीव इत्यभिप्रायेणाह आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थ इति ॥१९॥

**५ आ. मा. भा.— यतोऽसम्प्रज्ञातसमाधेरेव कार्याभावः, तस्मात्कर्म समाचर ॥ १९ ॥**

६ ज. प्र. दी.– तस्मादसक्त इति परामर्शविषयो न प्रतीयतेऽतस्तं दर्शयन् व्याख्याति– यत इति । त्वं चेदानीं असम्प्रज्ञातसमाधिर्न भवतीति शेषः । कर्मणोऽवश्यकर्तव्यत्वेऽसम्प्रज्ञातसमाधिविलोपप्रसङ्गान्नेदमवश्यं कर्तव्यमित्यतोऽहमपि न कुर्यामिति परिचोदनायामसम्प्रज्ञातसमाधिस्थविलोपप्रतिबन्दीं मोचयितुं तस्य वैलक्षण्यमुक्त्वा तत्फलमिदमुच्यत इति नासङ्गतिः १९

**७ ह. पै. भा.— त्वं तु कर्मण्यधिकृतः– तस्मादसक्तः फलसङ्गवर्जितः सततं सदा कार्यं कर्तव्यं कर्म युद्धादि समाचरानुतिष्ठ । किं तत इति चेत् ? असक्तः सङ्गवर्जितो हि यस्मादाचरन्ननुतिष्ठन्कर्म परं परमात्मानमाप्नोति पूरुषः ; तस्मान्नित्यं कर्म कुर्विति सम्बन्धः ॥ १९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा' [ ३।३ ] इति प्रस्तुत्य कर्मज्ञाननिष्ठे निपुणमुपपाद्य अर्जुनाय कर्मनिष्ठामेव कर्तव्यत्वेनोपदिशति— तस्मादिति । यस्मात्त्वं नोक्तरूपज्ञाननिष्ठस्तस्मात् असक्तः फलकामनारहितः सन् सततं कार्यं यावज्जीवादिश्रुत्या नित्यकर्तव्यत्वेनोक्तं कर्म सम्यगीश्वराराधनबुद्ध्या आचर । हि यस्मात् असक्तः कर्माचरन् पुरुषः परं मोक्षं चित्तशुद्धिज्ञानद्वारा प्राप्नोति ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— त्वं तु न साङ्ख्यज्ञानवान् । यतः तस्मादसक्तः कार्यं कर्म कुरु । त्वमिति साङ्ख्ययोगतत्त्वम् । यस्य यद्विहितं नित्यं नैमित्तिकं तदाचरन् असक्तः पुरुषो ब्रह्मविदाप्नोति परं पदम् । भगवदर्थमिति वाऽसङ्गपदार्थः । न हि कामव्यतिरेकेण कर्ममात्रं कश्चिद्देहाभिमानी करोति । नच "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इत्यादौ नित्ये कर्मणि कामफलाश्रवणान्नैवमिति वाच्यम्, तत्रापि विधिप्रयोगेन कामफलकल्पनात्, प्रत्यवायपरिहारस्यापि तत्त्वाच्च । ज्योतिष्टोमे स्वर्गकामवत् । अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । अतो भगवत्कामनया कर्म कार्यमित्युक्तं भवति तदग्रे स्फुटीकरिष्यते ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— यतो भक्तानां कर्मादिकरणे अकरणे वा न कोऽपि पुरुषार्थो हानिर्वाऽस्ति अतस्त्वमपि मदाज्ञारूपत्वेनावश्यकर्त्तव्यत्वात्कर्म कुर्वित्याह— तस्मादिति । यस्माद्भगवद्भक्तानां कर्मकरणे न फलम्, अकरणे च न प्रत्यवायः, तस्मात्त्वसक्तोऽनासक्तः सन् सततं कार्यं नित्यकर्म समाचर कुरु । नन्वनासक्तेनापि कृतं कर्म बाधकं भवत्येवेति चेदत आह— असक्त इति । पुरुषः पुरुषांशो भोक्ताधिकारी । हीति निश्चयेन असक्तः, न तु कापट्येन, कर्म आचरन् परं मोक्षं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— यस्मान्निष्कामस्य कर्मलेपो नास्ति तस्मात्त्वमपि असक्तः फलासक्तिशून्यः सततं सर्वदा कार्यं अवश्यकर्त्तव्यं कर्म नित्यनैमित्तिकं समाचर ; हि यस्मात् असक्तः कर्माचरन् परं मोक्षं सत्त्वशुद्धिद्वारेणाप्नोति ॥ १९ ॥

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।**
**लोकसङ्ग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥**
**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥ २१ ॥**

---

१ अत्र जनकदृष्टान्तेन ज्ञानिनः कर्मासम्भवो निराकृतः ; 'न हि प्रत्यक्षेऽनुपपन्नं नामास्ति' [ शाब. भा. १।३।३ ] इति न्यायात् । न च जनकेन प्रागेव ज्ञानोदयाद्यज्ञादीनि कर्माण्यनुष्ठितानि, नोर्ध्वमिति वाच्यम्, 'इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः । ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया' ॥ [ वि. पु. ६।६ ] इति यज्ञाद्यनुष्ठानात्प्रागेव तस्य ज्ञानसम्पन्नत्ववर्णनात् ; इति चेदुच्यते— न तावज्जनकस्य यज्ञाद्यनुष्ठानसमये मनोमला निरशेषमपगताः ; किन्तु ज्ञानेन दग्धप्राया अपि निर्वापिताङ्गारतुल्याः–

१ शां. भा.— यस्माच्च— कर्मणैवेति। कर्मणैव हि यस्मात् पूर्वे क्षत्रिया विद्वांसः संसिद्धिं मोक्षं गन्तुमास्थिताः प्रवृत्ताः। के? जनकादयो जनकाश्वपतिप्रभृतयः। यदि ते प्राप्तसम्यग्दर्शनास्ततो लोकसङ्ग्रहार्थं प्रारब्धकर्मत्वात्कर्मणा सहैवासन्न्यस्यैव कर्मसंसिद्धिमास्थिता इत्यर्थः। अथाप्राप्तसम्यग्दर्शना जनकादयः, तदा कर्मणा सत्त्वशुद्धिसाधनभूतेन क्रमेण संसिद्धिमास्थिता इति व्याख्येयः श्लोकः। अथ मन्यसे— पूर्वैरपि जनकादिभिरप्यजानद्भिरेव कर्तव्यं कर्म कृतं, तावता नावश्यमन्येन कर्तव्यं सम्यग्दर्शनवता कृतार्थेनेति; तथापि प्रारब्धकर्मायत्तस्त्वं लोकसङ्ग्रहमेवापि लोकस्योन्मार्गप्रवृत्तिनिवारणं लोकसङ्ग्रहस्तमेवापि प्रयोजनं सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥ लोकसङ्ग्रहं कः कर्तु-

—किञ्चिदवशिष्टा एव। तादृशा अपि च ते स्फुलिङ्गा इव घातका एवेति तानपि क्षपयितुं चित्तशुद्धिस्थिरतां सम्पादयितुं च सुपपन्ना खलु तस्य यज्ञाद्यनुष्ठाने प्रवृत्तिः। स्पष्टं चैतदवगम्यते 'तर्तुं मृत्युमविद्यया' इत्यनेन। तथा चैतन्मूलरूपा श्रुतिः— "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।' [ काण्वसं. ४०।११ ] इति।— 'अविद्यया ईश्वरार्पणबुद्ध्या कृताग्निहोत्रादिकर्मणा मृत्युं मारकं अन्तःकरणमलं तीर्त्वा। अन्तश्शुद्ध्या कृतकृत्यो भूत्वा विद्ययाऽऽत्मज्ञानेन अमृतम्— भावप्रधानो निर्देशः, 'अमृतत्वं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति' इत्यनन्ताचार्यव्याख्यानम्। आह च स्वयमेव जनकः— 'अहमप्यविद्यया मृत्युं तर्तुकामः करोमि वै। राज्यं यागांश्च विविधान् भोगैः पुण्यक्षयं तथा' [वि. पु. ६।७।९] इति। तथा स्पष्टमेवोक्तं तत्कृतकर्मणां पापक्षयादिरूपं फलमप्याख्यानोपसंहारे तत्रैव 'स कल्याणोपभोगैश्च क्षीणपापोऽमलस्ततः। अवाप सिद्धिमत्यन्तपापक्षयफलां द्विज: ॥' [ वि. पु. ६।७।१०४ ] इति। तस्माज्जनककृतयागादिकर्मणां मनोमलनिर्हरणार्थत्वं निस्सन्दिग्धमेव।

तथा च जनकेन ज्ञानपरिपाकोत्तरमप्यभिसन्धिपूर्वकं कर्माण्यनुष्ठितानीति न कथञ्चन वक्तुं शक्यम्, प्रत्युत एवं कर्मभिः कषायं पाचयित्वा सुप्रवृत्ते ज्ञाने सोऽपि स्वभावतः प्राप्तं सन्न्यासमेवाशिश्रियदिति प्रतिपत्तुं युक्तम्। तथा च कश्चिज्जनकमेव प्रकृत्योक्तं महाभारते— 'विदेहराज्यं च तदा प्रतिष्ठाप्य सुतस्य वै। यतिधर्ममुपासंश्चाप्यवसन्मिथिलाधिपः ॥ साङ्ख्यज्ञानमधीयानो योगशास्त्रं च कृत्स्नशः। धर्माधर्मं च राजेन्द्र! प्राकृतं परिगर्हयन् ॥' [ म. भा. १२।३१९।९७,९८ ] इति। तदेवं 'जनकादयो राजर्षयो ज्ञानिनामग्रेसराः कर्मयोगेनैव संसिद्धिमास्थिताः' इत्यादिरामानुजप्रदिपादनेऽपि अप्रतिष्ठितमूलतया प्रतिघातमापद्यमाने, ज्ञानोत्तरमपि कर्मावश्यकमेवेति जल्पतां **नव्यानामनल्पमपि** कल्पनाशिल्पं 'आषाढवाते चलति द्विपेन्द्रे चक्रीवतः सागर एव काष्ठा' इति न्यायेन सुदूरमपास्तमेवेति नात्र मृतमारणं क्रियते।

ननु जनकस्य सन्न्यासो नोपपद्यते, 'ब्राह्मणस्याश्रमाश्चत्वारः। क्षत्रियस्याद्यास्त्रयः। वैश्यस्याद्यौ' [ वैखा. ध. सू. १।१ १०—१२ ] 'चत्वारो ब्राह्मणस्योक्ता आश्रमाः श्रुतिचोदिताः। क्षत्रियस्य त्रयः प्रोक्ता द्वावेको वैश्यशूद्रयोः॥ [ यो. या. सं. १।२८ ] इत्यादिधर्मशास्त्रेभ्यः क्षत्रियस्य सन्न्यासाधिकाराभावावगमादिति चेदुच्यते— 'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः।' 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वाऽपि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात्।' इति मल्लिनाथोदाहृत—( र. वं. टी. ८।१४ ) धर्मसूत्रस्मृतिप्रमाणादिभिः त्रैवर्णिकानामपि प्रव्रज्याधिकारबोधनात्। 'भो भो राजन्! न दग्धव्यमेतद्विदुरसंज्ञकम्। कलेवरमिहैवं ते धर्म एव सनातनः ॥ लोकाः सान्तानिका नाम भविष्यन्त्यस्य भारत!। यतिधर्ममवाप्तोऽसौ नैष शोच्यः परन्तप! ॥' [ म. भा. १६।२६।३२,३३ ] इति दासीपुत्रस्यापि विदुरस्य 'अथ धर्मयुगे तस्मिन्योगधर्ममनुष्ठिता। महीमनुचचारैका सुलभा नाम भिक्षुकी ॥ [ म. भा. १२।३२१।७ ] इति स्त्रिया अपि सुलभायाश्च यतिधर्मव्यपाश्रयणदर्शनात्। **वार्तिककारचरणै**रपि— 'सर्वाधिकारविच्छेदि—' इत्यादिना विद्वत्सन्न्यासेऽधिकारनियमाभावस्य साधितत्वाच्च न जनकस्य सन्न्यासासम्भवः शङ्कनीयः। पूर्वोदाहृतानि वचनानि तु 'ब्राह्मणानामयं धर्मो यद्विष्णोर्लिङ्गधारणम्। राजन्यवैश्ययोर्नेति दत्तात्रेयमुनेर्वचः ॥' इति बौधायनादिवचनानुसारेण काषायदण्डधारणादिनिषेधपराणीति माधवाचार्याः। ( प. सं. व्या. २ ) कुटीचकादिपराणीति कमलाकरभट्टः ( नि. सिं. ३ ) विविदिषासन्न्यासपराणीत्यन्ये इत्यलमप्रकृतानुसरणेन।

अथ क्षत्रियस्य जनकादेः कथं कर्मणा ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिः? "ब्राह्मणा विविदिषन्ति—" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुत्या ब्राह्मणस्यैव ज्ञानार्थकर्मविधानात् ब्राह्मणकृतनिष्कामकर्मणामेव चेतःशुद्धिद्वारा ज्ञानसाधनत्वावगमात्। न च 'कर्मणैव' इत्यादिप्रकृतस्मृतेरेव श्रुतिकल्पनया जनकादिकर्मणां तथात्वबोधकत्वं स्यादिति वाच्यम्; प्रत्यक्षश्रुत्या ब्राह्मणाधिकारपरया स्मृतेर्दुर्बलाया बाधेन श्रुतिकल्पकत्वानवकाशात्—इति चेत्, "श्रोतव्यो मन्तव्यः" [ बृ. उ. २।४।५ ] इतिवर्णाविशेषेणैव मुमुक्षोः श्रवणादिसाधनविधानात्, "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवा जायते" [ तै. सं. ६।३।१० ] इति श्रुताविव 'प्रकृतेऽपि ब्राह्मणग्रहणस्य प्रदर्शनार्थत्वाच्च' न जनकादिकृतकर्मणां ज्ञानसाधनत्वानुपपत्तिरिति ब्रूमः। ब्राह्मणशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वोपपादनं तु पूर्वतन्त्रे शाबरभाष्ये [ ६।२।३१ ] द्रष्टव्यम्। यद्वा— 'वेदोऽध्यात्मं तपो ब्रह्म' [ शाश्व. १५५ ] इत्याद्यभिधानबलाद्वेदवाचिनो ब्रह्मशब्दात् 'तदधीते—' [ अष्टा. ४।२।५९ ] इत्यणि निष्पन्नो ब्राह्मणशब्दो योगमहिम्ना त्रैवर्णिकपरो बोध्यः। समाधानान्तरं च गूढार्थतत्त्वालोके द्रष्टव्यमित्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या।

—अभिगीता।

मर्हति ? कथं च ? इत्युच्यते— यद्यदिति । यद्यत्कर्माऽऽचरति करोति येषु येषु श्रेष्ठः प्रधानस्तत्तदेव कर्माऽऽचरतीतरोऽन्यो जनस्तदनुगतः । किञ्च स श्रेष्ठो यत्प्रमाणं कुरुते लौकिकं वैदिकं वा, लोकस्तदनुवर्तते तदेव प्रमाणीकरोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यद्यपि जितेन्द्रियोऽपि विवेकी श्रवणादिभिरजस्रं ब्रह्मणि निष्ठातुं शक्नोति, तथापि क्षत्रियेण त्वया विहितं कर्म न त्याज्यमित्याह— **यस्माच्चे**ति । तस्मात्त्वमपि कर्म कर्तुमर्हसीति सम्बन्धः । इतोऽपि त्वया विहितं कर्म कर्तव्यमित्याह— **लोके**ति । पूर्वार्धं विभजते— **कर्मणैवे**ति । कथं जनकादीनां कर्मणा संसिद्धिप्राप्तिरुच्यते ? कर्मत्यजां हि सम्यग्दर्शनवतां प्रसिद्धा संसिद्धिरिति; तत्र किं जनकादयोऽपि प्राप्तसम्यग्दर्शनाः स्युः ? उताप्राप्तसम्यग्दर्शना भवेयुः ? इति विकल्प्य, प्रथमं प्रत्याह— **यदी**ति । लोकसङ्ग्रहार्थं कर्मणा सहैव संसिद्धिमास्थिता इति सम्बन्धः । कर्मणा सहैवेत्येतद्व्याकरोति— **असन्न्यस्यैव कर्मे**ति । तत्र हेतुमाह— **प्रारब्धेति** । जनकादीनां सत्यपि ज्ञानित्वे प्रारब्धकर्मवशात्कर्मापरित्यज्यैव लोकसङ्ग्रहार्थं प्रवर्तमानानां ज्ञानमाहात्म्यादुपपन्ना संसिद्धिरित्यर्थः । द्वितीयमनूद्य पूर्वार्धेनैवोत्तरमाह— **अथे**त्यादिना । द्वितीयार्धव्यावर्त्यामाशङ्कामुत्थापयति- **अथे**ति । अज्ञेनाकृतार्थेन कर्तव्यं कर्मेत्येतावता ज्ञानवता कृतकृत्येन न तत्कर्तव्यमित्युक्तमङ्गीकरोति— **तथापी**ति । तर्हि मयाऽपि ज्ञानवता कृतार्थेन कर्म न कर्तव्यमित्याशङ्क्यार्जुनस्य कर्तव्यमेव कर्मेत्युत्तरार्धव्याख्यानेन कथयति— **प्रारब्धे**ति ॥ २० ॥ ज्ञानवता कृतार्थेन लोकसङ्ग्रहार्थमपि न प्रवर्तितव्यमित्याशङ्कामुत्थाप्य परिहरति— **लोके**त्यादिना । श्रुताध्ययनसम्पन्नत्वेनाभिमतो यद्यद्विहितं प्रतिषिद्धं वा कर्मानुतिष्ठति तत्तदेव प्राकृतो जनोऽनुवर्तते । तेन विद्यावताऽपि लोकमर्यादास्थापनार्थं विहितं कर्तव्यमित्यर्थः । श्रेष्ठानुसारित्वमितरेषामाचारे दर्शयित्वा प्रतिपत्तावपि दर्शयति— **किञ्चे**ति ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.**— यतो ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि कर्मयोग एवात्मदर्शने श्रेयान्, अत एव हि जनकादयो राजर्षयो ज्ञानिनामग्रेसराः कर्मयोगेनैव संसिद्धिमास्थिता आत्मानं प्राप्तवन्तः । एवं प्रथमं मुमुक्षोर्ज्ञानयोगानर्हतया कर्मयोगाधिकारिणः कर्मयोग एव कार्य इत्युक्त्वा ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि ज्ञानयोगात् कर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतुकमुक्तम् । इदानीं शिष्टतया व्यपदेश्यस्य सर्वथा कर्मयोग एव कार्य इत्युच्यते— लोकसङ्ग्रहं पश्यन्नपि कर्मैव कर्तुमर्हसि ॥ श्रेष्ठः कृत्स्नशास्त्रज्ञतयाऽनुष्ठातृतया च प्रथितो यद्यदाचरति, तत्तदेवाकृत्स्नविज्जनोऽप्याचरति; अनुष्ठीयमानमपि कर्म श्रेष्ठो यत्प्रमाणं यदङ्गयुक्तमनुतिष्ठति, तदङ्गयुक्तमेव अकृत्स्नविल्लोकोऽप्यनुतिष्ठति, अतो लोकरक्षार्थं शिष्टतया प्रथितेन श्रेष्ठेन स्ववर्णाश्रमोचितं कर्म सकलं सर्वदाऽनुष्ठेयं ; अन्यथा लोकनाशजनितं पापं ज्ञानयोगादप्येनं प्रच्यावयेत् ॥ २० ॥ २१ ॥

**४ वे. ता. चं.**— कर्मयोगस्य ज्यायस्त्वं शिष्टानुष्ठानेनोदाह्रियते— **कर्मणैवे**ति । हिशब्दसूचितं ज्ञानयोगाधिकारं दर्शयति- **राजर्षयो ज्ञानिनामग्रेसरा** इति । राजानो हि विस्तीर्णागाधमनसः ; तत्रापि ऋषित्वादतीन्द्रियार्थद्रष्टारः, तत्राप्यात्मविदः, तत्रापि निसर्गनिगृहीतेन्द्रियत्वात् प्रकृष्टोत्पत्तिकसत्त्वादिना च तेषामग्रगण्या इत्यर्थः । 'कर्मणैव' इत्येवकारो ज्ञानयोगशक्तस्यापि कर्मयोगानुपरतिपरः । संसिद्धिशब्दस्य परमाप्नोतीत्युक्तनिदर्शनपरत्वात् **आत्मानं प्राप्तवन्त** इत्युक्तम् । एवं च सति कर्मणैवेति पूर्वप्रसक्तज्ञानयोगनैरपेक्ष्यपरमवधारणमप्युपपन्नं भवति । उत्तरसङ्गत्यर्थमुक्तं सङ्ग्रहेणोद्गृह्णाति- **एव**मिति । 'इदानीं' इत्यनेन 'लोकसङ्ग्रहं' इत्यादिकं विद्वान्युक्तः समाचरन्' [ ३।२६ ] इत्यन्तमविच्छिन्नम् । **सर्वथे**ति । लोकरक्षार्थं, लोकोपप्लवजनितस्वपापेन ज्ञानयोगादपि प्रच्यावकेनोभयभ्रष्टत्वपरिहारार्थं चेत्यर्थः । 'लोकसङ्ग्रहमपि' इत्यन्वये लोकसङ्ग्रहस्याप्रधानता प्रतीयेत, पश्यन्नपीत्युक्ते तु कर्मकर्तव्यतायां पूर्वोक्तहेतुभ्यो लोकसङ्ग्रहस्याधिक्यं द्योत्यतेत्ययमन्वय उक्तः । एवकारो ज्ञानयोगव्यवच्छेदाय कर्तुमेवार्हसीत्यन्वेतव्य इत्यभिप्रायेणोक्तं- **कर्मैव कर्तुमर्हसी**ति । यद्वा 'लोकसङ्ग्रहमेव' इत्येवकारो लोकसङ्ग्रहस्य नैरपेक्ष्यपरः, 'कर्मैव' इति तु प्रकरणापन्नमुक्तम् । 'अर्हसि' इत्यनेन कर्मयोगैकानुष्ठानकारणमर्जुनस्य वैशिष्ट्यं द्योत्यते । **श्रेष्ठ** इति । 'प्रशस्यस्य श्रः' [ अष्टा. ५।३।६० ] इत्यनुशासनात्प्रशस्यतम इत्यर्थः । तच्चास्य प्रशस्यतमत्वमनुष्ठातॄणामनुविधेयानुष्ठानत्वोपयोगीति मत्वा 'तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत्' [ ३।२९ ] इति वक्ष्यमाणं चानुसन्धाय **कृत्स्नशास्त्रज्ञतयाऽनुष्ठातृतया च प्रथित** इत्युक्तम् । अकृत्स्नविदोऽनुष्ठातुः कृत्स्नवित्त्वेऽप्यननुष्ठातुरुभयाकारवत्त्वेऽपि अप्रसिद्धस्यानुविधेयानुष्ठानता नास्तीति तद्व्यवच्छेदाय पदत्रयम् । 'स यत्प्रमाणं कुरुते' इत्यत्र 'स यच्छास्त्रं प्रमाणीकरोति तदनुवर्तते लोकः' इत्यस्मिन्नर्थे तदनुवर्तनस्य तदर्थानुष्ठानरूपत्वादर्थतः पुनरुक्तिः

स्यात् । कुरुत इति चैतद्बुध्यत इत्यस्मिन्नर्थे नेतव्यम् । 'लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि' इति पूर्ववाक्ये च 'कर्तुमर्हसि' इत्येतावन्मात्रमुक्तम् , श्रुतिस्मृत्यादिकमपि प्रमाणीकर्तुमर्हसीत्यनुपन्यस्तम् ; येन तदर्थमिदमुच्येत 'यद्यदाचरति' इत्यङ्गिन्यनुष्ठेयस्वरूपे निर्दिष्टे तत्प्रकारे त्वपेक्षिते बुभुत्सा जायते ; अतस्तदभिधानमेवोचितमित्यभिप्रायेण **यत्प्रमाणं यदङ्गयुक्त**मित्युक्तम् । प्रमाणशब्दोऽत्रावधिपरः ; अनुष्ठेयकर्मस्वरूपस्य चावधिरङ्गान्येव ; अत एव हि विध्यन्तशब्देनेतिकर्तव्यतामुपचरन्ति । यत्प्रमाणं यथाभूतमिति**यादव**प्रकाशभाष्यमप्येतत्परमेव । अस्मिन्नर्थे 'कुरुते' इतिशब्दस्वारस्यप्रदर्शनाय **अनुतिष्ठती**त्युक्तम् । अन्यथाऽर्थान्तरे लक्षणा स्यादिति भावः । यत्प्रमाणमिति निर्दिष्टविशिष्टसिद्ध्यर्थं तच्छब्दार्थमाह **तदङ्गयुक्त**मिति । ननु यच्छब्देनाङ्गे निर्दिष्टे कथं तच्छब्देनाङ्गविशिष्टपरामर्शः ? इत्थं— यदङ्गयुक्तमनुतिष्ठति तदाचरतीत्युक्ते तदङ्गमाचरतीत्येव शब्दवृत्तिः । अङ्गस्य चाङ्गिपृथग्भावायोगात् अर्थतस्तदङ्गविशिष्टमिति सिद्धम् । आभिप्रायिकौ करणाकरणयोरर्थानर्थौ प्रकाशयति— **अत** इति । लोकानुविधेयानुष्ठानत्वादित्यर्थः । **सर्वदे**ति यावदात्मप्राप्तीत्यर्थः । ननु स्वयं यदि ज्ञानयोगेन मुक्तो भवति किमस्य लोकेन सङ्गृहीतेनासङ्गृहीतेन वा ? इत्यत्राह— **अन्यथे**ति ; ज्ञानयोगाधिकार्यहमिति कृत्वा कर्मयोगपरित्यागे सतीत्यर्थः । 'ज्ञानयोगादपि' इत्यपिशब्द उभयभ्रष्टतां द्योतयति ॥२०॥२१॥

५ आ. मा. भा.— आचारोऽप्यस्तीत्याह— **कर्मणैवे**ति । कर्मणा सह कर्म कुर्वन्त एवेत्यर्थः । कर्म कृत्वैव ततो ज्ञानं प्राप्य वा, न तु ज्ञानं विना ; प्रसिद्धं हि तेषां ज्ञानित्वं भारतादिषु । "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" [ नृ. पू. उ. १।६ ] इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । अत्रापि कर्मणां ज्ञानसाधनत्वोक्तेश्च बुद्धियुक्ता इति । गत्यन्तरं च "नान्यः पन्थाः" [ श्वे. उ. ३।८ ] इत्यस्य नास्ति इतरेषां ज्ञानद्वाराऽप्यविरोधः । यत्र च तीर्थाद्येव मुक्तिसाधनमुच्यते 'ब्रह्मज्ञानेन वा मुक्तिः प्रयागमरणेन वा । अथवा स्नानमात्रेण गोमत्यां कृष्णसन्निधौ' इत्यादौ तत्र पापादिमुक्तिः स्तुतिपरता च । तत्रापि हि कुत्रचिद्ब्रह्मज्ञानसाधनत्वमेवोच्यते । अन्यथा मुक्तिं निषिध्य 'ब्रह्मज्ञानं विना मुक्तिर्न कथञ्चिदपीष्यते । प्रयागादेस्तु या मुक्तिर्ज्ञानोपायत्वमेव हि' इत्यादौ । न च तीर्थस्तुतिवाक्यानि तत्प्रस्तावेऽप्युक्तं ज्ञाननियमं घ्नन्ति । यथा कश्चिद्दक्षं भृत्यं प्रत्युक्तानि 'अयमेव हि राजा, किं राज्ञा ?' इत्यादीनि । यथाऽऽह भगवान्— 'यानि तीर्थादिवाक्यानि कर्मादिविषयाणि च । स्तावकान्येव तानि स्युरज्ञानां मोहकानि वा ॥ भवेन्मोक्षस्तु मद्दृष्टेर्नान्यथा तु कथञ्चन' इति नारदीये । अतोऽपरोक्षज्ञानादेव मोक्षः । कर्म तु तत्साधनमेव ॥ २० ॥ स यद्वाक्यादिकं प्रमाणीकुरुते, यदुक्तप्रकारेण तिष्ठतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

६ ज. प्र. दी.— कर्मण एव मुक्तिसाधनत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय 'कर्मणैव हि' इत्यस्य तात्पर्यं तावदाह— **आचारोऽपीति** । विहितस्य कर्मणः कर्तव्यतायां प्रमाणमिति शेषः । अपिः पूर्वोक्तहेतुसमुच्चये । कर्मण एव मोक्षकारणत्वं तृतीययोच्यत इतिप्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे— **कर्मणेति** । नन्वेवं सहयोगे तृतीयायां व्याख्यायमानायां जनकादयः कर्मणा सहैव मुक्तिमास्थिता इति वाक्यार्थः स्यात् । न चायं युक्तः, 'पुत्रेण सहैवागतः पिता' इत्यत्र यथा पुत्रस्याप्यागमनान्वयः प्रतीयते तथा कर्मणोऽपि मुक्तिमास्थितत्वस्य प्रसङ्गादित्यत आह— **कर्मेति** । यद्यपि श्रूयमाणक्रियायां सहयोगो नोपपद्यते, तथाप्यध्याहृतावान्तरक्रियाया मुपपद्यत एव । ततश्च यथा 'सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी' इत्यत्र दशभिः पुत्रैः सहैव वर्तमानाऽप्येकैव भारं वहतीत्यर्थः; तथाऽत्रापि कर्मणा सहैव वर्तमानाः कर्म कुर्वन्त एवेत्यर्थ उपपद्यत इति भावः । द्विधाऽपि सहयोगमभिप्रेत्य समासविधौ पाणिनिरविशेषमभाणीत् 'तेन सहेति तुल्ययोगे' [ अष्टा. २।२।२८ ] इति । कर्मसाहित्यं च मुक्तावानन्दवृद्ध्यर्थमिति ज्ञातव्यम् । 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' इति चेत्, सत्यम् ; वक्ष्यमाणबाधात्तत्परिग्रहोपपत्तेः । अस्तु वा करणे तृतीया, तथापि 'लाङ्गलेन वयं जीवामः' इतिवत्पारम्पर्येण कर्मणो मुक्तौ कारणत्वमित्याह— **कर्मेति** । सिद्धिमास्थिता इति वेत्यर्थः । सिद्धिशब्दो ज्ञानार्थः ; वेत्यस्याप्युपलक्षणमेतत् । यथाप्रतीतार्थः किं न स्यात् ? इत्यत आह— **न त्विति** । ज्ञानं विना केवलेन कर्मणा जनकादयः सिद्धिं गता इत्यर्थस्तु नेत्यर्थः । **प्रसिद्धं हीति** । हिशब्दो हेतौ । अस्तु तेषां ज्ञानित्वं, मुक्तौ तु कर्मैव कारणमित्यत आह— **तमेव**मिति । अत्रापि गीतायामपि 'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि' [२।५१] इत्यादावित्यर्थः । 'प्राग्ज्ञानात् ज्ञानसाधनं, पश्चान्मुक्तिसाधनं' इति समुच्चयवादिनां मतं, न तु केवलकर्मवादिनाम् । न चात्र प्रमाणमप्यस्ति । ननु यथा मोक्षस्य ज्ञानसाध्यत्वे "तमेवं" [ नृ. पू. उ. १।६+ तै. आ. ३।१।३ ] इत्याद्यागमाः सन्ति । तथा कर्मसाध्यत्वेऽपि "अपामसोमममृता अभूम" [ ऋक्सं. ६।४।११ अ. शिर उ.३ ] इत्यादयो विद्यन्ते तत्कथं निर्णय इत्यतः सावकाशत्वनिरवकाशत्वबलादित्याह— **गत्यन्तरं चेति** । ज्ञानद्वारेति व्याख्यानेऽपीत्यर्थः ।

ननु कर्मवाक्यान्यपि ब्रह्मज्ञानेन वेत्यादीनि निरवकाशानि सन्ति, तत्र ब्रह्मज्ञानसमानकक्ष्यतया तीर्थस्नानादेरुक्तत्वेनोक्तव्याख्यानायोगात्। अतः पुनरनिर्णय एवेत्याशङ्क्य तेषामपि सावकाशत्वमाह— **यत्रेति । तीर्थादीति ;** तत्स्नानादीत्यर्थः । पापादिमुक्तिर्मुक्तिशब्दार्थ इत्यर्थः । न च सर्वत्र मुक्तिशब्द एवास्ति, संसारमुक्तिरित्यादेरपि सम्भवात् ; अतो गत्यन्तरमप्याह— **स्तुतीति ।** प्रशस्तत्वोपलक्षणेत्यर्थः ; प्रशस्तत्वसादृश्येन गौणी वा । दुष्टजनव्यामोहनार्थत्वस्याप्युपलक्षणमेतत् । कुत एतत्कल्प्यते ? इत्यत आह— **तत्रापीति ।** यत्र तीर्थस्नानादिकं मुक्तिसाधनमुच्यते तत्रैव प्रस्तावे साधनत्वं तीर्थस्नानादीनाम् । अन्यथा ज्ञानं विना या मुक्तिर्यन्मुक्तिसाधनत्वं वाक्यताविशेषाद्ब्रह्मज्ञानेन वेत्यादिभिरिव ब्रह्मज्ञानं विनेत्यादीनां बाधः किं न स्यात् ? इत्यत आह— **नचेति ।** असाधारणसाधारणप्रसङ्गोक्तत्वादिनेति भावः । अत्र दृष्टान्तमाह— **यथेति । इत्यादीनि** नायं राजा किन्तु भृत्य एवेत्यादीनि तत्प्रस्तावेऽप्युक्तानि । न निघ्नन्तीति शेषः । आगमसिद्धा चेयं व्यवस्थेत्याह **यथेति ।** मदृष्टेरित्येतदर्थप्रतिपत्त्यर्थं भगवानित्युक्तम् । तीर्थादिवाक्यानीति तीर्थस्नानक्षेत्रवासादीनां मोक्षसाधनत्ववाक्यानीत्यर्थः । कर्मेति यज्ञादेर्ग्रहणम् । आदिपदेन ध्यानादेः सङ्ग्रहः । पूर्ववदर्थः । अज्ञानां सम्यग्ज्ञानायोग्यानाम् । उपसंहरति— **अत** इति ॥ २० ॥

'स यत्प्रमाणं कुरुते' इत्यत्र यच्छब्देन प्रमाणमप्रमाणं वा विवक्षितम् ? आद्ये प्रमाणं कुरुत इत्ययुक्तम्, स्थितस्य करणाभावात् । द्वितीयेऽप्येवमेव अशक्यत्वादित्यत आह— **स इति ।** प्रमाणमेव सत् यद्वाक्यादिकं लोकेन प्रमाणतयाऽनवगतम्, तत्प्रमाणतया ज्ञापयतीत्यर्थः । यद्वैकमेवेदं पदं यत्प्रमाणकं लौकिकं वैदिकं वा कर्म कुरुत इत्यनेनाभिप्रायेण तात्पर्यमाह— **यदुक्तेति** ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.— इतश्च कर्म कर्तव्यम्- कर्मणैवेति । कर्मणैव हि पूर्वे क्षत्रिया जनकप्रभृतयः संसिद्धिं मोक्षं प्राप्तुं प्रवृत्ताः । यदि ते प्राप्तसम्यग्दर्शनाः केवलं लोकसङ्ग्रहार्थं कर्मणि प्रवृत्तास्तर्हि त्वमपि लोकसङ्ग्रहं लोकस्य धर्मपरिसङ्ग्रहं पश्यंस्तदर्थमेव कर्म कर्तुमर्हसि ॥ २० ॥ लोकसङ्ग्रहार्थं किं कर्तव्यं ? इत्युच्यते- यद्यदिति । यद्यत्कर्माऽऽचरति श्रेष्ठः प्रधानस्तत्तदेव कर्माऽऽचरतीतरो जनस्तदनुगतः । किञ्च स श्रेष्ठो यल्लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते प्रत्येति, लोकस्तदनुवर्तते तदेव प्रमाणीकरोतीत्यर्थः ॥ २१ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— सदाचारप्रामाण्यादपि कर्म कर्तव्यमित्याह— **कर्मणेति ।** हि यस्मात् जनकाजातशत्रुप्रभृतयः पूर्वे राजर्षयः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धाः कर्मणैव शुद्धसत्त्वाः संसिद्धिं सम्यग्ज्ञानं प्राप्ताः ; तस्मात्त्वमपि कर्मणैव संसिद्धो भवेत्यर्थः । इतोऽपि कर्म कुर्वित्याह— **लोकस्य स्वधर्मे प्रवर्तनं** लोकसङ्ग्रहः ; तं **लोकसङ्ग्रहं** सम्पश्यन्नपि **कर्मैव कर्तुमर्हसी**त्यन्वयः ॥ २० ॥ कथं मयि कर्म कुर्वाणे लोकसङ्ग्रहः स्यात् ? तत्राह— **यद्यदिति ।** सर्वशास्त्रज्ञतया शास्त्रार्थानुष्ठातृतया च प्रथितः श्रेष्ठः । स यद्यत् शुभमशुभं वा आचरति, तत्तदेव इतरस्तदनुयाय्यकृत्स्नवित् जनोऽप्याचरति, न त्वन्यत् । ननु श्रेष्ठस्याप्याचारे शास्त्रमेव मूलप्रमाणम्, तदेव कुतो न लोकाचारेऽपि प्रमाणं स्यात् ? तत्राह— **स इति ।** स श्रेष्ठः यल्लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं कुरुते प्रमाणत्वेन मन्यते, तदेव लोकोऽपि प्रमाणत्वेनानुवर्तते, न स्वातन्त्र्येण किञ्चित् । अतः श्रेष्ठेन त्वया वर्णाश्रमधर्माकरणे लोकोऽपि तमकुर्वन् यतेदिति लोकसंरक्षणार्थं त्वया कर्मावश्यमनुष्ठेयमित्यर्थः ॥ २१ ॥

**९ ब० त० दी०— अत्र सदाचारं प्रमाणयति— कर्मणैवेति । जनकादयः कर्मणैव जीवन्मुक्तदशामास्थिताः । संयोगपृथक्त्वन्यायेनोभयसाधकेन कर्मणा ज्ञानसंसिद्धिं वाऽऽस्थिता इति । तद्वत् सिद्धत्वाभिमानेऽपि तव कर्म कर्त्तव्यमेवायाति । लोकसङ्ग्रहार्थमपि तं पश्यन् कर्त्तुमर्हसि ॥ २० ॥ यतः यद्यदिति ॥ २१ ॥**

१० पु. अ. त.— एवमनासक्ताः कर्मकर्तारो मोक्षं प्राप्ताः इत्याह— **कर्मणैवेति ।** हीति निश्चयेन कर्मणा अनासक्तकर्मणा जनकादयः संसिद्धिं मुक्तिमास्थिताः प्राप्तवन्तः । जनकादयस्तु न साक्षात्त्वां प्रपन्ना इत्यनासक्त्यापि तेषां करणं युक्तम् । न तु मम त्वां प्रपन्नस्योचितमित्याशङ्क्याह— **लोकसङ्ग्रहमिति ।** लोकसङ्ग्रहमपि सम्पश्यन् कर्तुमेवार्हसि । अत्रायं भावः— यद्यपि मद्भक्तस्य नावश्यकं तथापि मदाज्ञया लोकसङ्ग्रहार्थं कर्तुमेवार्हसि ; न तु तज्जनितसिद्ध्यर्थम् । अयमेवार्थ एवकारेण विविच्यते ॥ २० ॥ ननु लोकसङ्ग्रहोऽपि भक्तानामनुचित एवेत्यत आह— **यद्यदिति ।** श्रेष्ठो मद्भक्तो यद्यदाचरति, तदेवेतरो जन आचरति । स मद्भक्तो यदेव प्रमाणं कुरुते, लोकस्तदेवानुवर्तते प्रमाणत्वेनाङ्गीकुरुते । अयं भावः— भक्तानां लोकसङ्ग्रहो मदाज्ञया कर्त्तव्यः, यतस्तदाचरणं दृष्ट्वा लोकोऽपि तथैव कुर्यात्, तत्स्वरूपाज्ञानेऽपि तदाऽनधिकारित्वात् ; फलं तु न स्यादेव ; फलदाने च मदिच्छा न । यतो भक्तिः परमकृपया कस्मैचिदेव दीयते, न सर्वेभ्यः । सर्वेभ्यो दाने सृष्टिरेवोच्छिद्येत । अतस्तद्गोपनेन सृष्टिप्रवृत्त्यर्थं बाह्यतः कापट्येन कर्म कर्तव्यमिति भावः ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— अत्र शिष्टाचारं प्रमाणयति— कर्मणेति । कर्मणैव सह संसिद्धिं श्रवणादिसाध्यां ज्ञाननिष्ठां गन्तुमास्थिताः प्रवृत्ताः जनकादयस्त्वादृशाः क्षत्रियाः; न तु सन्न्यासेन । ननु शुद्धचित्तस्य मम नास्ति कर्मापेक्षेत्याशङ्क्याह— लोकेति । लोकस्य सङ्ग्रहः स्वधर्मे प्रवर्त्तनम् । ननु स्वप्रयोजनाभावेऽपि केवलं लोकसङ्ग्रहार्थं चेत्कर्म कर्त्तव्यं तदा विदुषां ब्राह्मणानामपि सन्न्यासो न स्यात्- यतीनेव सन्न्यासधर्मान् ग्राहयितुं तेषां सन्न्यास इति चेत्, अर्जुनेऽपि न तद्दण्डवारितमस्ति । ननु क्षत्रियस्य सन्न्यासेऽधिकारो नास्तीति चेत्, लिङ्गधारणेऽधिकाराभावेऽपि भरतऋषभादिवद्विक्षेपकर्मत्यागमात्रेऽधिकारात् । वार्त्तिके— 'सर्वाधिकारविच्छेदि ज्ञानं चेदभ्युपेयते । कुतोऽधिकारनियमो व्युत्थाने क्रियते बलात्' इति विद्वत्सन्न्यासे क्षत्रियादेरपि अधिकारस्य साधितत्वात्, अतो लोकसङ्ग्रहो न मुख्यं कर्म प्रयोजनमिति चेत्, सत्यम्; 'न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं' [ ३।२२ ] इति स्वदृष्टान्तेनाधिकारिकत्वादर्जुन एवैवं नियोज्यते, न क्षत्रियमात्रमिति तुष्यतु भवान् ॥ २० ॥ २१ ॥

लोकस्य धर्मसङ्ग्रहार्थं कर्मकर्तव्यतायां श्रेष्ठाचारनिदर्शनम् । [ २२-२४ ]

## न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
## नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

**१ शां. भा.**— यद्यत्रापि ते लोकसङ्ग्रहकर्तव्यतायां विप्रतिपत्तिस्तर्हि मां किं न पश्यसि ?— **न म** इति । न मे मम पार्थ ! नास्ति न विद्यते कर्तव्यं त्रिष्वपि लोकेषु किञ्चन किञ्चिदपि । कस्मात् ? नानवाप्तमप्राप्तमवाप्तव्यं प्रापणीयम् ; तथापि वर्त एव च कर्मण्यहम् ॥ २२ ॥

**२ आ शां. व्या.**— कृतार्थस्यापि लोकसङ्ग्रहार्थं विहितं कर्म कर्तव्यमित्युक्त्वा तत्रैव भगवन्तमुदाहरणत्वेनोपन्यस्यति— **यदीत्यादिना** । अप्राप्तस्य प्राप्तये तवापि कर्तव्यसम्भवान्न किञ्चिदपि विद्यते कर्तव्यमिति कथमुक्तं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **नानवाप्तमिति** । प्रतीकमुपादाय व्याख्यानद्वारा विद्यावतोऽपि कर्मप्रवृत्तिं सम्भावयति— **नेत्यादिना** । अन्वयार्थं पुनर्नञोऽनुवादः । भगवतो नास्ति कर्तव्यमित्येतदाकाङ्क्षाद्वारा स्फोरयति— **कस्मादित्यादिना** । प्रयोजनाभावे त्वयाऽपि नानुष्ठेयं कर्मेत्याशङ्क्य लोकसङ्ग्रहार्थं ममापि कर्मानुष्ठानमिति मत्वाऽऽह— **तथापीति** ॥ २२ ॥

**३ रा. भा.**— न मे सर्वेश्वरस्यावाप्तसमस्तकामस्य सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्य त्रिषु लोकेषु देवमनुष्यादिरूपेण स्वच्छन्दतो वर्तमानस्य किञ्चिदपि कर्तव्यमस्ति; यतोऽनवाप्तं कर्मणाऽवाप्तव्यं न किञ्चिदप्यस्ति । अथापि लोकरक्षार्थं कर्मण्येव वर्ते ॥ २२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— मयाऽपि हि निरपेक्षेणैव लोकक्षोभे निष्प्रत्यवायेनापि परमकारुणिकतया लोकरक्षार्थं कर्मैव क्रियते ; त्वया तु सापेक्षेण सप्रत्यवायेन किम्पुनरित्युच्यते 'न मे पार्थ !' इत्यादिश्लोकत्रयेण । 'मे' इति पदेन कर्मवश्यचेतनान्तरव्यावृत्तो यथावस्थितो हीश्वरः परामृश्यत इत्यभिप्रायेण विलक्षणनित्यसिद्धविभूतिगुणपौष्कल्यस्य व्यञ्जनानि सर्वेश्वरस्येत्यादिविशेषणान्युक्तानि- **सर्वेश्वरस्येति** । श्रुतिस्मृती हि ममैवाज्ञा, सा चान्यैरनुवर्तनीया, न हि मे नियन्त्रन्तरमस्ति, यदधीनप्रत्यवायभयात् कुर्यामिति भावः**अवाप्तसमस्तकामस्येति** । न च मे सङ्कल्पमात्रादसाध्यमितः पूर्वमभिलाषदशामात्रापन्नं प्रयोजनमस्ति, यदुपायतया कर्म कर्तव्यमिति भावः । **सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्येति** । नापि मे कर्मवश्यानां देवमनुष्यतिरश्चां सजातीयतयाऽवतीर्णस्यापि तेषामिव ज्ञानसङ्कोच इच्छाप्रतिघातो वाऽस्ति, यन्निवृत्त्यर्थं कर्म कार्यमित्याशयः । 'त्रिषु लोकेषु' इत्यत्रार्थसिद्धं विशेषमध्याहृत्याह- **देवमनुष्येति** । उक्तं च भगवता पराशरेण 'समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वरः । देवतिर्यङ्मनुष्याख्या चेष्टावन्ति स्वलीलया ॥ जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा । चेष्टा तस्याप्रमेयस्य व्यापिन्यव्याहतात्मिका' [ वि. पु. ६।७।७१-७२ ] इति । 'नानवाप्तमवाप्तव्यम्' इत्येतत्कर्तव्याभावेऽपेक्षितहेतुपरतया व्याख्याति- **यत** इति । उत्तरश्लोकपर्यालोचनसिद्धं प्रयोजनमाह- **अथापि लोकरक्षार्थं** इति । 'अथापि' इति चकारस्यार्थः कर्मणि वर्त एवेत्युक्ते न कदाचिदपि कर्मणो विरम्य ज्ञानयोगमनुतिष्ठामीति फलितं, तद्व्यञ्जनायोक्तं- **कर्मण्येव वर्ते** इति । यद्वा प्रकरणौचित्यादेवकारोऽत्र भिन्नक्रमः ॥ २२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २२ ॥

॥ **६ ज.प्र.दी.**— ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— तद्दर्शयति— न म इति । मे मम पार्थ ! कर्तव्यमनुष्ठेयं त्रिषु लोकेषु किञ्चन किमपि न । कुतः ? इति चेत् , न मेऽनवाप्तमप्राप्तमवाप्तव्यं प्राप्तव्यं प्रापणीयं नास्ति, तथापि कर्मण्येव वर्ते ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च तिष्ठत्वन्यत्कारणम्, मदाचारं पश्यता त्वया मयेव कर्म कर्तव्यमित्याह त्रिभिः— न म इति । हे पार्थ ! मे मम सर्वलोकेश्वरस्य किञ्चिदपि कर्तव्यं कर्म नास्ति, तत्र हेतुः— नानवाप्तमिति । हि यस्मात् त्रिषु लोकेषु अप्राप्तं सत् प्राप्तव्यं नास्ति, अवाप्तसमस्तकामत्वात् ; अतः प्रयोजनाभावान्न किञ्चित्कर्तव्यमित्यर्थः । एवं प्राप्तप्रापणीयः कृतकृत्योऽप्यहं कर्मण्येव वर्ते कर्मैव करोमि, किन्तु वक्तव्यं त्वादृशानां कर्मकर्तव्यतायां इति भावः । 'पार्थ !' इत्यनेन च शूरापत्यापत्यत्वेन मत्समस्त्वम् , अतोऽहमिव वर्तितुमर्हसीति दर्शितम् ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०— अत्र चाहमेव निदर्शनमित्याह— न म इति त्रिभिः ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— मयापि तथैव क्रियत इत्याह— न मे पार्थेति । हे पार्थ परमानुगृहीत ! मे त्रिषु लोकेषु किञ्चन कर्तव्यं नास्ति, न वा अनवाप्तं अवाप्तव्यं प्राप्तव्यं; तथापि लोकसङ्ग्रहार्थमहं कर्मणि वर्त्ते कर्म करोमीत्यर्थः ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— कर्मणि वर्ते एव, अहं कर्म करोम्येवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

**यदि ह्यहं न वर्तेय जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।**
[ सर्वेषां व्याख्यातॄणां 'वर्तेयं' इति पाठः । शां. नी. वर्तेयेति ]
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ २३ ॥**
**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।**
**सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥ २४ ॥**

१ शां. भा.— यदीति । यदि हि पुनरहं न वर्तेय जातु कदाचित् कर्मण्यतन्द्रितोऽनलसः सन् , मम श्रेष्ठस्य सतो वर्त्म मार्गमनुवर्तन्ते मनुष्याः हे पार्थ ! । सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ २३ ॥ तथा च को दोषः ? इत्याह— उत्सीदेयुरिति । उत्सीदेयुर्विनश्येयुरिमे सर्वे लोकाः, लोकस्थितिनिमित्तस्य कर्मणोऽभावात् ; न कुर्यां कर्म चेदहम् । किञ्च सङ्करस्य च कर्ता स्याम् । तेन कारणेनोपहन्यामिमाः प्रजाः; प्रजानामनुग्रहाय प्रवृत्त उपहतिमुपहननं कुर्यामित्यर्थः । ममेश्वरस्याननुरूपमापद्येत ॥ २४ ॥

२ आ. शां. व्या.— लोकसङ्ग्रहोऽपि न ते कर्तव्यः, विफलत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— यदि हीति ॥२३॥ श्रेष्ठस्य तव मार्गानुवर्तित्वं मनुष्याणामुचितमेवेत्याशङ्क्य दूषयति— तथा चेत्यादिना । ईश्वरस्य कर्मण्यप्रवृत्तौ तदनुवर्तिनामपि कर्मानुपपत्तेरिति हेतुमाह— लोकस्थितीति । इतश्चेश्वरेण कर्म कर्तव्यमित्याह— किञ्चेति । यदि कर्म न कुर्यामिति शेषः । सङ्करकरणस्य कार्यं कथयति- तेनेति । प्रजोपहतिः परिप्राप्यते चेत्किं तया तव स्यात् ? इति तत्राऽऽह- प्रजानामिति ॥ २४ ॥

३ रा. भा.— अहं सर्वेश्वरः सत्यसङ्कल्पः स्वसङ्कल्पकृतजगदुदयविभवलयलीलः स्वच्छन्दतो जगदुपकृतिमर्त्यो जातोऽपि मनुष्येषु शिष्टजनाग्रेसरवसुदेवगृहेऽवतीर्णस्तत्कुलोचिते कर्मण्यतन्द्रितः सर्वदा यदि न वर्तेयम्, मम शिष्टजनाग्रेसरवसुदेवसूनोर्वर्त्माकृत्स्नविदः शिष्टाः ( च ) सर्वप्रकारेणायमेव धर्म इत्यनुवर्तन्ते । ते च स्वकर्तव्याननुष्ठानेनाकरणे प्रत्यवायेन चात्मानमलब्ध्वा निरयगामिनो भवेयुः ॥ २३ ॥

---

१ अत्र ' मनुष्याणां सहस्रेषु—' [ ७।३ ] इति वक्ष्यमाणमनुसन्दधानो वामन एवमाकूतमाह—
लक्षेषु कोटिष्वथ वा कश्चिदात्महितस्य ना । विवेकं कुरुतेऽन्ये तु नेश्वरस्य स्मरन्त्यपि ॥
एवं गतेऽनुवर्तन्ते मनुष्याः सर्वशो मम । वर्त्मेति वर्णयन्व्यक्तमत्र कौन्तेयसारथिः ॥
ये वर्त्म नानुवर्तन्त आत्मनो मूढबुद्धयः । मनुष्या नैव त इति गूढं ध्वनयति प्रभुः ॥ इति । — अविगीता ।

४ वे. ता. चं.— कर्तव्यप्रयोजनयोरभावे किमर्थं तर्हि कर्म क्रियते? इति शङ्कायामुच्यते 'यदि ह्यहं' इति पूर्वश्लोकः 'त्रिषु लोकेषु' इति निर्देशात् सर्वावतारपरः; अयं तु 'मनुष्याः' इति दर्शनात् कृष्णावतारासाधारणः, 'तस्मादहं' इति निर्देशस्येश्वरस्वभावसमुचितकृष्णावतारासाधारणाकारविषयतामाह— **अहं सर्वेश्वर** इत्यादिभिः। **सर्वेश्वरः सत्यसङ्कल्प** इति। पूर्ववदाप्तकामत्वाविरोधायोच्यते— **स्वसङ्कल्पकृते**ति। स्वसङ्कल्पमात्रेण सर्वं नियन्तुं शक्तोऽपि ज्ञानप्रदानादिद्वारा प्रवर्तनार्थं **जगदुपकृतिमर्त्यो जातो**ऽपीत्युक्तं, अन्यथा भूतावेशन्यायेन प्रवर्तितानां शास्त्रवश्यताभावात् तत्तदनुष्ठानाधीनं फलं न स्यात् 'छन्दतः सम्प्रवर्तते' इत्याद्यनुसारेणाह— **स्वच्छन्दत** इति, न तु कर्मणेत्यर्थः। कर्मफलभोक्तृत्वं व्युदस्यता **जगदुपकृतिमर्त्यः** इत्यनेन 'जगदुपकृतिमर्त्यं को विजेतुं समर्थः' [ वि. पु. ५।३०।८० ] इति पुराणोक्तिः स्मारिता। अपिशब्देनाकर्मवश्यावतारोऽपीत्यभिप्रेतम्। "अजायमानो बहुधा विजायते" [यजुस्सं. ३१।१९ तै. आ. ३।१३] 'नाकारणात्कारणाद्वा' [ वि.पु.६।१ ] 'इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः' [ वि.पु.६।६।८४ ] इत्यादिकमत्रानुसंहितम्। अनुविधेयानुष्ठानत्वासिद्ध्यर्थं हिशब्दद्योतितप्रसिद्धिप्रकारविवरणार्थं चोक्तं **मनुष्येष्वि**त्यादि। नन्वयमीश्वरः कस्मिन् कर्मणि वर्तेत? न ह्यस्य परमार्थतो वर्णाश्रमाः सामान्यधर्मयोग्यं मनुष्यत्वादिकं वाऽस्ति, येनाकर्मवश्य इच्छया कर्म कुर्वाणोऽपि तत्तदुचितं कर्मोपाददीत— इति शङ्कायां 'कुलोचितमिति क्षात्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते' इत्याद्यनुसारेणाह— **तत्कुलोचित** इति। **अयं भावः**— सत्यमस्य परमार्थतो वर्णाश्रमादिकं नास्ति, तथापि तत्तदुचितकर्मकरणायाप्राकृतमेव विग्रहं तत्तज्जातीयसन्निवेशं परिणमयति; तत्र तत्तज्जातीयत्वबुद्ध्या पुरुषाणामनुविधेयानुष्ठानत्वं स्यात्— इति। **अतन्द्रितः** अनुदासीनः। **सर्वदे**ति जातुशब्दार्थः; जात्वपीति हि तदभिप्रायः। अनुविधेयत्वोपयुक्तप्रकारविवक्षां 'मम' इत्यत्रापि दर्शयति— **मम शिष्टे**ति। 'सर्वशः' इति प्रमाणपौष्कल्यपरं, सेतिकर्तव्यताकत्वपरं वा? इत्यभिप्रायेणाह— **सर्वप्रकारेणे**ति। **अनुवर्तन्ते** अनुवर्तेरन्नित्यर्थः; प्रसङ्गरूपस्यापि सिद्धवत्काराभिप्रायेण वर्तमानव्यपदेशः। वक्ष्यमाणप्रसङ्गार्थं मनुष्याणां पूर्वसिद्धस्वानुवृत्तिमात्राभिप्रायेण वाऽनिष्टप्रसङ्गपरत्वायाह— **ते चे**ति ॥ २३ ॥

**३ रा. भा.—उत्सीदेयुरिति। अहं कुलोचितं कर्म न चेत्कुर्याम्, एवमेव सर्वे शिष्टलोका मदाचारायत्तधर्मनिश्चया अकरणादेवोत्सीदेयुर्नष्टा भवेयुः। शास्त्रीयाचाराणामननुपालनात् सर्वेषां शिष्टकुलानां सङ्करस्य च कर्ता स्याम्। अत एवेमाः सर्वाः प्रजा उपहन्याम्। एवमेव त्वमपि शिष्टजनाग्रेसरपाण्डुतनयो युधिष्ठिरानुजोऽर्जुनः सन् शिष्टतया यदि ज्ञाननिष्ठायामधिकरोषि, ततस्त्वदाचारानुवर्तिनोऽकृत्स्नविदः शिष्टाश्च मुमुक्षवः स्वाधिकारमजानन्तः कर्मनिष्ठायां नाधिकुर्वन्तो विनश्येयुः। अतोऽत्यन्तशिष्टतया व्यपदेश्येन विदुषा कर्मैव कर्तव्यम् ॥ २४ ॥**

४ वे. ता. चं.— शास्त्रमेवानुसृत्य तवाकरणं नाद्रियेरन्नित्यत्राह— **उत्सीदेयु**रिति। लोकशब्दस्याचारपरजनविषयतामौचित्यसिद्धामभिप्रेत्योक्तं **शिष्टलोका** इति। 'इमे' इतीदंशब्दबहुवचनयोः सामर्थ्यात्— **सर्वे** इत्युक्तम्। सर्वेषां शास्त्रार्थानां सर्वैर्निश्चेतुमशक्यत्वाच्छिष्टाचारदत्तदृष्टीनामुक्ताया अनुवृत्तेः प्रकारमालोच्योक्तं **मदाचारे**त्यादि। विशरणार्थासम्भवात्पुरुषार्थहानापुरुषार्थप्राप्तिरूपो नाश इहोत्साद इत्याह— **नष्टा भवेयु**रिति। 'असन्नेव' [ तै. आ. ६ ] इत्यादिवदेतत्। अकरणस्योत्सादहेतुत्वेऽवान्तरव्यापारः सङ्करः; स च ब्राह्मणादिधर्मस्य युद्धनिवृत्त्यादेः क्षत्रियादिभिरनुष्ठानम्। उपहतिः पश्चादपि कर्मानर्हता। स्वात्मनि दृष्टान्तभूते दर्शितमर्थं दार्ष्टान्तिकेऽभिप्रेतं व्यञ्जयति— **एवमेव त्व**मिति। 'न मे पार्थास्ति' [ ३।२२ ] इति पार्थशब्दसम्बुद्ध्यभिप्रेतमनुविधेयत्वोपयोग्याकारत्रयमाह **शिष्टे**ति। युधिष्ठिरशब्दोपादानं युद्धप्रोत्साहनाय रणयज्ञाख्यक्षत्रधर्मनिष्ठताद्योतनार्थम्; किं तव पित्रादिप्रतिसम्बन्ध्यन्तरेण? स्वयमेव हि शिष्टजनाग्रेसरतयोर्वशीविराटतनयादिवृत्तान्तैः प्रसिद्धस्त्वमित्यभिप्रायेणाह— **अर्जुनः सन्नि**ति। धर्मो हि शिष्टैरनुष्ठेयः; ज्ञानयोगश्च परमधर्मः, ततश्च तदनुवर्तनं लोकस्य मोक्षायैव स्यादिति लोकरक्षैव भवेदिति शङ्कायामुक्तं **स्वाधिकारमजानन्त** इति। तदनधिकारिणां तत्रानुप्रवेशेनोभयभ्रष्टता स्यादिति भावः। 'लोकसङ्ग्रहं' [ ३।२० ] इत्यादिनोक्तमुपसंहरति— **अत** इति ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २३ ॥ २४ ॥**

**॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ २३ ॥ २४ ॥**

**७ ह. पै. भा.— यदि पुनरहमिव त्वं कृतार्थबुद्धिरात्मविदन्यो वा तस्याऽऽत्मविदः कर्तव्याभावेऽपि परानुग्रहः कर्तव्य इत्यात्मसम इदमुच्यते। यदि ह्यहमिति ॥ २३ ॥ ततश्च को दोषः? इत्यत आह— उत्सीदेयुरिमे लोका इति। अनेन कारणेनोपहन्यामिमाः प्रजाः, प्रजानामनुग्रहाय प्रवृत्तः कर्मोपहतिं कुर्यामिति। ततश्च ममेश्वरस्यानुरूपमापद्येत ॥ २४ ॥**

८ वें. व्र. गि.— यद्येवं कृतकृत्यस्त्वम्, तर्हि किमिति कर्म करोषि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति न्यायात् ? तत्राह— यदीति । यद्यहमतन्द्रितोऽनलसः सन् जातु कदाचित् कर्मणि न वर्तेयं कर्म नानुतिष्ठेयम् । परस्मैपदमार्षम् । यद्वा 'अनुवर्तेऽयम्' इति पदद्वयम् । अयमहं नानुवर्त इति योजना । तदा ममैव वर्त्म मार्गं सर्वशः सर्वे मनुष्या अनुवर्तेरन् ॥ २३ ॥

अस्तु, ततः को दोषः ? तत्राह— उत्सीदेयुरिति । इमे लोकाः 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' [ म. ना. ८।७९ ] इति श्रुत्युक्तधर्मलोपादुत्सीदेयुर्नश्येयुः । किञ्चाहं चेत्कर्म न कुर्यां तदा धर्मभ्रंशेनावश्यम्भाविनो वर्णसङ्करस्याप्यहमेव कर्ता स्याम् । तेन च सङ्करेण अहमेव इमाः प्रजा उपहन्याम्रुपहतवान् भवेयम् । न हि प्रजारक्षणार्थमवतीर्णस्य मम प्रजाविनाशनमुचितमित्यर्थः ॥ २४ ॥

९ श० त० दी०— तथापि कर्म करोमीत्यकरणे लोकनाशं दर्शयति द्वाभ्यां— यदीति ॥ २३ ॥ उत्सीदेयुरिति ॥ २४ ॥

१० पु. अ. त.— ननु त्वदकरणे किं स्यात् ? इत्यत आह— यदीति । अहं जातु कदाचिदपि कर्मणि अतन्द्रितो निरालस्यः सन् न वर्तेय न प्रवृत्तो भवामि; तदा मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म भक्तिमार्गमनुवर्तन्त इत्यर्थः । अतस्तेषां ततो निवृत्त्यर्थं कर्ममार्गप्रवृत्त्यर्थं कर्म करोमीति भावः ॥ २३ ॥

ननु तथा तत्करणं किं प्रयोजनकं ? इत्यत आह— उत्सीदेयुरिति । अहं चेत्कर्म न कुर्यां तदा इमे लोका उत्सीदेयुः । अत्रायं भावः— सर्वेषां भक्तिप्रवृत्तौ सत्यां भगवत्साक्षात्कारो मुक्तिर्वा स्यात्तदा इमे मन्वादयो लोकाः सृष्ट्यभावादुच्छिन्ना भवेयुः । अत एव भगवता वृषभध्वजे आज्ञप्तं पाद्मे—'त्वं च रुद्र ! महाबाहो !' इत्यारभ्य 'सृष्टिरेषोत्तरोत्तरा' इत्यन्तम् । च पुनरिमाः प्रजा उपहन्यां तदाऽहमेव सङ्करस्य नरकसाधनस्य कर्ता स्यां भवामि । अयमर्थः— मदाज्ञया ब्रह्मादयः प्रजाः सृजन्ति, तांश्चेदहमुपहन्यां तदननुकूलो भवामि, तदा सङ्करस्य क्लिष्टस्य कर्ता स्यां ; प्रजानां च मदिच्छाव्यतिरेकेण भक्तिस्वरूपाज्ञाने सति प्रवृत्तौ सङ्करत्वं स्यात् ; फलाभावे भक्तिफलव्यभिचारोऽपि स्यात्, तदापि तत्कर्ताऽहमेव स्याम् ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— यद्यहं कर्मणि न वर्त्तेय तर्हि मनुष्याः ममैव वर्त्मानुवर्त्तन्ते अनुवर्त्तेरन्; कर्म न कुर्वीरन्नित्यर्थः । अतन्द्रितोऽनलसः । सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ २३ ॥ ततश्च किम् ? इत्यत आह— उत्सीदेयुरिति । 'यद्यदाचरति' [ ३।२१ ] इत्यादेरपरा योजना, न केवलं लोकसङ्ग्रहं पश्यन् कर्तुमर्हसि ; अपितु श्रेष्ठाचारत्वादपीत्याह— यद्यदिति । तथा च मम श्रेष्ठस्य यादृश आचारस्तादृश एव मदनुवर्त्तिना त्वयाऽनुष्ठेयः; न स्वातन्त्र्येणान्य इत्यर्थः । कीदृशस्तवाचारो यो मयाऽनुवर्त्तनीयः ? इत्याकाङ्क्षायां 'न मे पार्थ !' इत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैस्तत्प्रदर्शनम्- इति मधुसूदनश्रीपादाः ॥ २४ ॥

## सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ! ।
## कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥ २५ ॥

**१ शां. भा.— यदि पुनरहमिव त्वं कृतार्थबुद्धिरात्मविदन्यो वा, तस्याप्यात्मनः कर्तव्याभावेऽपि परानुग्रह एव कर्तव्य इत्याह— सक्ता इति । सक्ताः कर्मण्यस्य कर्मणः फलं मम भविष्यतीति केचिदविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ! कुर्याद्विद्वानात्मवित्तथाऽसक्तः सन् । तद्वत्किमर्थं करोति ? तच्छृणु; चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुर्लोकसङ्ग्रहम् ॥ २५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— त्वामनाचरन्तमनुवर्ततां सर्वेषां को दोषः स्यात् ? इत्यपेक्षायामीश्वरस्य कृतार्थतया कर्मानुष्ठानाभावे तदनुवर्तिनामपि तदभावादेव स्थितिहेत्वभावात् पृथिव्यादिभूतानां विनाशप्रसङ्गात् वर्णाश्रमधर्मव्यवस्थानुपपत्तेश्चाधिकृतानां प्राणभृतां पापोपहतत्वप्रसङ्गात् परानुग्रहार्थं प्रवृत्तिरीश्वरस्येत्युक्तं, सम्प्रति लोकसङ्ग्रहाय कर्म कुर्वाणस्य कर्तृत्वाभिमानेन ज्ञानाभिभवे प्राप्ते प्रत्याह- यदि पुनरिति । कृतार्थबुद्धित्वे हेतुमाह— आत्मविदिति । यथावदात्मानमवगच्छन्कर्तृत्वाद्यभिमानाभावात्कृतार्थो भवत्येवेत्यर्थः । अर्जुनादन्यत्रापि ज्ञानवति कृतार्थबुद्धित्वं कर्तव्यत्वाद्यभिमानहीने तुल्यमित्याह— अन्यो वेति । तस्य तर्हि कर्मानुष्ठानमफलत्वादनवकाशमित्याशङ्क्याऽऽह— तस्यापीति । कर्तव्य इत्यात्मविदाऽपि परानुग्रहाय कर्तव्यमेव कर्मेत्याहेति शेषः । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकरूपं श्लोकं व्याकरोति— सक्ता इत्यादिना । असक्तः सन्कर्तृत्वाभिमानं फलाभिसन्धिं वाऽकुर्वन्निति यावत् ॥ २५ ॥

३ रा. भा.— अविद्वांस आत्मन्यकृत्स्नविदः कर्मणि सक्ताः कर्मण्यवर्जनीयसम्बन्धा आत्मन्यकृत्स्नवित्तया तदभ्यासरूपज्ञानयोगेऽनधिकृताः कर्मयोगाधिकारिणः कर्मयोगमेव यथाऽऽत्मदर्शनाय कुर्वते, तथाऽऽत्मनि कृत्स्नवित्तया कर्मण्यसक्तो ज्ञानयोगाधिकारयोग्योऽपि व्यपदेश्यः शिष्टो लोकरक्षार्थं स्वाचारेण शिष्टलोकानां धर्मनिश्चयं चिकीर्षुः कर्मयोगमेव कुर्यात् ॥ २५ ॥

४ वे. ता. चं.— लोकस्य कर्मयोगज्ञानयोगयोरधिकारानधिकारप्रकारः, विदुषस्तु स्वाधिकारतिरस्कारेण तदधिकारानुरूपाचरणं लोकसङ्ग्रहप्रकारश्चोच्यते— **सक्ता** इत्यादिश्लोकद्वयेन । अवेदनं प्रस्तुतविषयमिति ज्ञापनायोक्तं **आत्मन्यकृत्स्नविद** इति । एवमुत्तरत्र 'विद्वानज्ञानां' इति शब्दयोरपि द्रष्टव्यम् । अत्यन्तानात्मज्ञताव्युदासायाकृत्स्नशब्दः । पूर्वोक्तं प्रकृतिसम्बन्धेन कर्मणोऽवर्जनीयत्वं 'सक्ताः' इत्यनेन विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— **कर्मण्यवर्जनीयसम्बन्धा** इति । अविद्वांसः कर्मणि सक्ता इत्युभयं न सांसारिककर्मतत्परपुरुषविषयम्, तथा सति कर्मयोगमपि परित्यज्य सांसारिककर्माण्येव विदुषाऽप्यनुष्ठेयानि स्युः ; तस्माज्ज्ञानयोगानधिकारः कर्मयोगाधिकारश्च ताभ्यां सूच्यत इत्यभिप्रायेण **आत्मन्यकृत्स्नवित्तये**त्यादिकमुक्तम् । एवमुत्तरत्र 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्' [३।२६] इत्यत्रापि ग्राह्यम् ; यथा कुर्वन्ति तथा कुर्यादित्येतदपि न केवलं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकविषयम्, अपितु येन प्रकारेण स्वानुष्ठानं दृष्ट्वाऽन्ये कर्म कुर्युः, तेन प्रकारेण विद्वानाचरेदित्येतदभिप्रायं ; तथासति हि, 'चिकीर्षुर्लोकसङ्ग्रहम्' इत्यपि सङ्गतं भवतीत्यभिप्रयन्वाक्यार्थमाह— **आत्मनी**त्यादिना **कुर्या**दित्यन्तेन । 'विद्वान्' 'असक्तः' इत्युभाभ्यां फलितमुक्तं— **ज्ञानयोगाधिकारयोग्योऽपी**ति । संग्रहशब्देन लोकरञ्जनादिभ्रमव्युदासायाह **धर्मनिश्चय**मिति ॥ २५ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २५ ॥

॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ २५ ॥

७ ह. पै. भा.— ततश्च— सक्ताः प्रसक्ताः फलाभिसन्धौ । विद्वान् ज्ञानी तथा तेन प्रकारेण । असक्तः फलाभिसन्धिरहितः । चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुः । लोकसङ्ग्रहं कर्तव्यं धर्मोत्पादनम् ॥ २५ ॥

८ वे. ब्र. गि.— ननु परमेश्वरस्य तव लोकरक्षार्थं कर्मानुष्ठानेऽपि न क्षतिः, मम तु जीवस्य कर्मबद्धस्वभावस्य न तदनुष्ठानं युक्तमनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ; अतः कथं त्वदृष्टान्तेन मया कर्म कर्तव्यं ? इत्याशङ्क्य असक्ततया कर्मानुष्ठानं ममेव तवाप्यबाधकमित्याह— **सक्ता** इति; कर्मणि सक्ताः कर्तृत्वाभिमानफलाभिलाषाभ्यामभिनिविष्टा अविद्वांसोऽज्ञाः यथा कुर्वन्ति, लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षुः विद्वानात्मविदपि तथैव कर्म कुर्यात्, किन्त्वसक्तः सन् कर्तृत्वाभिमानफलाभिलाषावकुर्वन् सन्नित्यर्थः । 'भारत' इत्यनेन महति भरतवंशे जातस्य तव श्रेष्ठतया लोकसङ्ग्रहोऽवश्यं कर्तव्य इति सूचितम् ॥ २५ ॥

९ व० न० दी०— तस्माद्विदुषाऽपि लोकसङ्ग्रहार्थं तत्कृपया कर्म कर्त्तव्यमित्युपसंहरन्नाह— सक्ता इति । उभयोः कर्माचरणे प्राप्ते प्रकारभेदं दर्शयति— अविद्वांस आत्मानात्मतत्त्वमजानन्तः सक्ताः कुर्वन्ति, न तथा विद्वान्, यतो लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षुरिति ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— अतस्तत्स्वरूपज्ञानेन लोकसङ्ग्रहार्थं कर्मस्वनासक्तं कर्म कुर्यादित्याह— सक्ता इति । यथा अविद्वांसो मूर्खाः कर्मणि सक्तास्तत्फलाभिलाषिणो विषयादीन् न त्यक्तुं समर्थाः कर्म कुर्वन्ति, तथा विद्वान् पण्डितो मत्स्वरूपज्ञः लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षुः कर्तुमिच्छुरसक्तस्तत्रासक्तिरहितो मदाज्ञया कुर्यादित्यर्थः ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— यदि मादृश एव त्वं कृतार्थोऽसि तथापि परानुग्रहार्थं कर्माणि कुर्वित्याह— सक्ता इति । कर्मणि कर्मफले । कुर्वन्ति कर्माणीति शेषः । असक्त इति च्छेदः ॥ २५ ॥

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥ २६ ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ॥ २७ ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥ २८ ॥

**१ शां. भा.**— एवं लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षोर्न ममाऽऽत्मविदः कर्तव्यमस्त्यन्यस्य वा, लोकसङ्ग्रहं मुक्त्वा ततस्तस्याऽऽत्मविद इदमुपदिश्यते— नेति। बुद्धेर्भेदो बुद्धिभेदो 'मयेदं कर्तव्यं भोक्तव्यं चास्य कर्मणः फलं' इति निश्चितरूपाया बुद्धेर्भेदनं चालनं बुद्धिभेदस्तं न जनयेन्नोत्पादयेत् अज्ञानामविवेकिनां कर्मसङ्गिनां कर्मण्यासक्तानामासङ्गवताम्। किन्तु कुर्याज्जोषयेत्कारयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् स्वयं तदेवाविदुषां कर्म युक्तोऽभियुक्तः समाचरन् ॥२६॥ अविद्वानज्ञः कथं कर्मसु सज्जते? इत्याह— प्रकृतेरिति। प्रकृतेः, प्रकृतिः प्रधानं सत्त्वरजस्तमसां गुणानां साम्यावस्था, तस्याः प्रकृतेर्गुणैर्विकारैः कार्यकरणरूपैः क्रियमाणानि कर्माणि लौकिकानि शास्त्रीयाणि च सर्वशः सर्वप्रकारैरहङ्कारविमूढात्मा कार्यकरणसङ्घातात्मप्रत्ययोऽहङ्कारः, तेन विविधं नानाविधं मूढ आत्माऽन्तःकरणं यस्य, सोऽयं कार्यकरणधर्मा कार्यकरणाभिमान्यविद्यया कर्माण्यात्मनि मन्यमानस्तत्तत्कर्मणामहं कर्तेति मन्यते ॥ २७ ॥ यः पुनर्विद्वान्— तत्त्वविदिति। तत्त्ववित्तु महाबाहो! कस्य तत्त्ववित्? गुणकर्मविभागयोर्गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदित्यर्थः। गुणाः करणात्मका गुणेषु विषयात्मकेषु वर्तन्ते नाऽऽत्मेति मत्वा न सज्जते सक्तिं न करोति ॥ २८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— वृत्तमनूद्योत्तरश्लोकमवतारयति— **एवमिति**। कर्तव्यं कर्मेति शेषः। पूर्वार्धमेवं व्याख्यायोत्तरार्धं प्रश्नपूर्वकमवतार्य व्याचष्टे— **किन्तु कुर्यादिति**। सर्वकर्माणि कारयेत्तेषु प्रीतिं कुर्वन्निति शेषः। कथं कारयेदित्याकाङ्क्षायामाह— **तदेवेति** ॥२६॥ 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनां' इत्युक्तं, तेनोत्तरश्लोकस्य सङ्गतिमाह— **अविद्वानिति**। कर्तृत्वमात्मनोऽवास्तवमित्यभ्युपगमाद्विद्वान् कथं कुर्वन्नेव तस्याभावं पश्यति? इत्याशङ्क्याऽऽह— **प्रकृतेरिति**। कर्मस्वविदुषः सक्तिप्रकारं प्रकटयन् व्याकरोति— **प्रकृतेरित्यादिना**। प्रधानशब्देन मायाशक्तिरुच्यते। अविद्ययेत्युभयतः सम्बध्यते ॥ २७ ॥ अज्ञस्य कर्मसु सक्तिमुक्त्वा विदुषस्तदभावमभिदधाति— **यः पुनरिति**। तत्त्वं याथार्थ्यं वेत्तीति व्युत्पत्त्या तत्त्वविदिति। तुशब्देनाज्ञाद्विशिष्टे निर्दिष्टे प्रश्नपूर्वकं द्वितीयपादमवतार्य व्याचष्टे— **कस्येत्यादिना**। गुणानामेव गुणेषु वर्तमानत्वमयुक्तं निर्गुणत्वात्तेषामित्याशङ्क्य विभजते— **गुणा इति**। कार्यकरणानामेव विषयेषु प्रवृत्तिः; आत्मनस्तु कूटस्थत्वान्नैवमिति ज्ञात्वा तत्त्ववित्कर्मसु दृढतरं कर्तृत्वाभिमानं न करोतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.**— अज्ञानामात्मन्यकृत्स्नवित्तया ज्ञानयोगोपादानाशक्तानां मुमुक्षूणां कर्मसङ्गिनां अनादिकर्मवासनया कर्मण्येव नियतत्वेन कर्मयोगाधिकारिणां कर्मयोगादन्यदात्मावलोकनसाधनमस्तीति न बुद्धिभेदं जनयेत्। किं तर्हि? आत्मनि कृत्स्नवित्तया ज्ञानयोगशक्तोऽपि पूर्वोक्तरीत्या कर्मयोग एव ज्ञानयोगनिरपेक्ष आत्मावलोकनसाधनमिति बुद्ध्या युक्तः कर्मैवाचरन् सर्वकर्मस्वकृत्स्नविदां प्रीतिं जनयेत् ॥ २६ ॥ अथ कर्मयोगमनुतिष्ठतो विदुषोऽविदुषश्च विशेषं प्रदर्शयन् कर्मयोगापेक्षितमात्मनोऽकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारमुपदिशति। प्रकृतेर्गुणैः सत्त्वादिभिः स्वानुरूपं क्रियमाणानि कर्माणि प्रति अहङ्कारविमूढात्माऽहं कर्तेति मन्यते; अहङ्कारेण विमूढ आत्मा यस्यासावहङ्कारविमूढात्मा। अहङ्कारो नाम अनहमर्थे प्रकृतावहमित्यभिमानः; तेन अज्ञातात्मतत्त्वस्वरूपो गुणकर्मसु अहं कर्तेति मन्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥ गुणकर्मविभागयोः— सत्त्वादिगुणविभागे तत्तत्कर्मविभागे च तत्त्ववित् गुणाः सत्त्वादयः स्वगुणेषु स्वेषु कार्येषु वर्तन्त इति मत्वा गुणकर्मसु अहङ्कर्तेति न सज्जते ॥ २८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— लोकस्य सङ्ग्रहणमेकीकृत्य स्वीकरणं स्वानुष्ठाने समानाभिप्रायतया सयूथ्यतापादनमित्यर्थः। कर्मवासना उत्तरोत्तरपुण्यपापारम्भकपूर्वपूर्वपुण्यपापांशविशेषः; उत्तरोत्तरशरीरप्रेरणसमर्थस्मृतिहेतुः पूर्वपूर्वशरीरप्रेरणानुभवविशेषजनितसंस्कारो वा; वादित्रवादनादिसंस्कारवत्। बुद्धिभेदो बुद्धेरन्यथाकरणम्; तच्च प्रकृतविषयं दर्शयति— **कर्मयोगादन्यदित्यादिना**। 'युक्तः' इत्यनेन लोकसङ्ग्रहार्थं कुर्वतः स्वापेक्षितविलम्बाभावाय प्रागुक्तनिरपेक्षत्वबुद्धियोगो विवक्षित इति **बुद्ध्या युक्त** इत्युक्तम्। 'जोषयेत्' इत्यस्यार्थः— **प्रीतिं जनयेदिति**। 'जुषी प्रीतिसेवनयोः' इति धातुः। कर्मसङ्गिनः

पुरुषान् सर्वकर्माणि जोषयेदित्यन्वयः ॥ 'प्रकृतेः' इत्यादिश्लोकचतुष्टयस्यार्थमाह— **कर्मयोग**मिति । **विदुषोऽविदुषश्चे**ति व्युत्क्रमेण श्लोकद्वयार्थः । तृतीये त्वेतद्विशदीकरणमुखेनाविचालनमुक्तम् । **कर्मयोगापेक्षितं** कर्मयोगेति कर्तव्यताभूतमित्यर्थः । 'प्रकृतेर्गुणैः' इत्युक्ते प्रसिद्धिप्रकर्षादिसिद्धं विशेषं प्रस्तुतानुपयुक्तशब्दादिप्राकृतगुणव्यवच्छेदायाह **सत्त्वादिभि**रिति । वक्ष्यमाणसात्त्विकादिकर्मविभागं 'सर्वशः' इति प्रकारवाचिपदसूचितमाह— **स्वानुरूप**मिति । 'कर्ता' इति तृजन्तयोगात् षष्ठीप्राप्तिः स्यादिति तत्परिहाराय कर्मसु कर्तृत्वाहन्त्वोक्तिभ्रमव्युदासाय च **कर्माणि प्रती**त्युक्तम् । तृन्नन्तत्वविवक्षायां त्वियं फलितोक्तिः । **अहङ्कारविमूढात्मे**ति— समानांशत्रयस्य बह्वर्थपरस्य अत्रार्थं विवक्षन् विगृह्णाति **अहङ्कारेणे**ति । नात्राहम्भावमात्रमुच्यते, तस्यात्मस्वभावान्तर्गतत्वात्; नापि अहङ्काराख्यमचिद्द्रव्यं, तस्यापि देहात्मभ्रमं द्वारीकृत्य कार्यकरत्वे सति अव्यवहितस्यैव वक्तुमुचितत्वात्; नापि गर्वः, उत्कृष्टपरिभवादिहेतुत्वेनानिर्देशात् । अतोऽहङ्कार इति देहात्मभ्रम एवात्र विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह— **अहङ्कारो नाम अनहमर्थे प्रकृतावहमभिमान** इति । एतेनाहङ्कारशब्दस्याभूततद्भावे च्विप्रत्ययेन व्युत्पत्तिर्दर्शिता । **अज्ञातात्मस्वरूप** इति । विमूढ आत्मा स्वरूपं यस्य स विमूढात्मा 'दिशो विमुह्येयुः' इतिवद्विमूढशब्दोऽत्र मोहविषयसमानाधिकरण इति भावः । 'गुणकर्मविभागयोः' इत्यत्र उपसर्जनान्वयिषष्ठीत्वादपि विषयसप्तमीत्वमुचितमिति मत्वोक्तं— **सत्त्वादिगुणविभागे तत्तत्कर्मविभागे चे**ति । विभागशब्दो द्वन्द्वात्परत्वात् प्रत्येकमन्वितः । गुणानां साक्षाद्गुणेषु वृत्त्यभावात् परोक्तप्रक्रिययेन्द्रियतद्विषयादिविवक्षायां पदद्वयोपचारात् सप्तम्यन्तो गुणशब्दो गुणकार्येष्वौपचारिक इत्यभिप्रायेणोक्तं **स्वगुणेषु स्वेषु कार्येष्वि**ति । गुणकार्याणि च विभजिष्यन्ते । यद्वा कारणस्य प्राधान्यात्कार्यस्य च तदपेक्षया गुणत्वादेवमुक्तम् ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २६ ॥ विद्वदविदुषोः कर्मभेदमाह— प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्गुणैरिन्द्रियादिभिः । प्रकृतिमपेक्ष्य गुणभूतानि हि तानि तत्सम्बन्धीनि च । न हि प्रतिबिम्बस्य क्रिया ॥ २७ ॥ कर्मभेदस्य गुणभेदस्य च तत्त्ववित् । गुणा इन्द्रियादीनि गुणेषु विषयेषु ॥ २८ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ॥२६॥ 'प्रकृतेः क्रियमाणानि' इति श्लोकद्वयस्यास्फुटत्वात्तात्पर्यमाह— **विद्वदि**ति । यथायोगं सम्बन्धः, न यथाक्रमम् । कर्मभेदं कर्मवैलक्षण्यं, आह प्रपञ्चयतीत्यर्थः । 'सक्ताः कर्मणि' [ ३।२५ ] इत्यादिनोक्तत्वात् । व्यवहितत्वादन्वयं दर्शयन् गुणशब्दस्यानेकार्थत्वात् विवक्षितमर्थमाह— **प्रकृते**रिति । आदिपदेन शरीरमनसोर्ग्रहणम् । कथमिन्द्रियादीनां द्रव्याणां प्रकृतिगुणत्वमित्यत आह— **प्रकृति**मिति । गुणभूतान्यप्रधानानि । प्रकारान्तरेण व्याचष्टे— **तदि**ति । प्रकृतिकार्याणि चेत्यर्थः । गुणशब्दः कार्यार्थ इत्युक्तं भवति । ननु जीवस्यापि कर्तृत्वात् 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' इति कथमुच्यते ? इत्यत आह— **न ही**ति । स्वातन्त्र्येणेति शेषः ॥ गुणानां कर्मणां चान्योन्यं यो विभागस्तस्मिन्वक्तव्ये एकवचनेनालं, कथं द्विवचनं ? केन वाऽस्यान्वयः ? इति शङ्काविभागशब्दस्यार्थं वदन्परिहरति— **कर्मे**ति । जीवेश्वरप्रकृतिलक्षणसम्बन्धिभेदात् कर्मणामिन्द्रियादीनां च भेदोऽत्र विवक्षितो ग्रन्थान्तरादवगन्तव्यः । गुणा गुणेष्विति पदद्वयस्य विवक्षितमर्थमाह— **गुणा** इति ॥ २७ ॥ २८ ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्च— समाचरन् कर्म न कर्तव्यमिति बुद्धेरन्यथाभावं न जनयेन्नोत्पादयेत् । केषाम् ? अज्ञानामविवेकिनां कर्मसङ्गिनामिदं विशिष्टफलसाधनमिति कर्मसङ्गिनाम् । किन्तु कुर्यात् । जोषयेत्कारयेत्सर्वकर्माणि यज्ञादीनि विद्वान्स्वयं तदेवाविदुषां कर्म युक्तोऽभियुक्तः समाचरन् ॥२६॥ इदं च कर्तृत्वमात्मनोऽपरमार्थरूपं कथम् ?— प्रकृतेरिति । प्रकृतेरव्यक्तस्य गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः क्रियमाणानि कर्माणि लौकिकानि शास्त्रीयाणि च सर्वशः सर्वप्रकाराणि अहङ्कारविमूढात्मा— अहङ्कारोऽव्यक्तकार्यकरणसङ्घातेष्वनात्मन्यहमिति बुद्धिः, तेनाहङ्कारेण विमूढो व्यामूढ आत्मा यस्य, सोऽयमहङ्कारविमूढात्मा 'कर्ताऽहमेषां कर्मणां' इति कर्तव्यं मन्यते ॥ २७ ॥ तत्त्वविदकर्तास्वरूपवित्— गुणाः सत्त्वादयः, गुणानां कर्तृभूतानां कर्मणां च कार्यभूतानां विभागयोः सतोः गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि गुणेषु तत्कार्येषु गमनागमनादिकर्मसु कर्तृत्वेन वर्तन्त इति तु मन्यमानो न सज्जते; नाहं कर्तेति मन्यत इत्यर्थः ॥ २८ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— यद्येवं ज्ञानोपदेश एव लोकरक्षार्थं क्रियतामित्याशङ्क्यानधिकारित्वान्नैवमित्याह— **नेति** । अज्ञानां निरतिशयपरमपुरुषार्थभूतं आत्मतत्त्वमजानतां, अत एव कर्मसङ्गिनां कर्मण्येवासक्तानाम्— अनेन ज्ञानानधिकारित्वं सूचितम्— तेषां बुद्धिभेदं 'अहमिदं करिष्ये, एतत्फलं भोक्ष्ये' इत्येवंरूपाया बुद्धेश्चालनं अकर्त्रात्मज्ञानोपदेशेन न कुर्यात् । अनधिकारिणां बुद्धिचालने कृते सति कर्मश्रद्धानिवृत्तेर्ज्ञानस्य चासम्भवादुभयभ्रष्टतैव तेषां स्यात् । अतः विद्वानज्ञाधिका-

रिकाणि सर्वकर्माणि स्वयं युक्तोऽवहितः समाचरन् सन् तेषां विश्वासमुत्पाद्य जोषयेत् प्रीत्या सेवयेदित्यर्थः ॥ २६ ॥

नन्वज्ञप्रीत्यर्थं तद्वदेव कर्मकरविदुषोऽपि कर्मबन्धो दुष्परिहरः; तद्वैलक्षण्येन कर्मकरणे तु नाज्ञप्रीतिरित्याशङ्क्य अज्ञवदेव ज्ञानिनः कर्मानुष्ठानम्; तथापि कर्तृत्वाभिमानाभावान्न तद्बन्ध इति दर्शयितुमज्ञस्य कर्तृत्वाभिमानं प्रतिपादयति — **प्रकृतेरिति** ।

प्रकृतिः, अज्ञानं, अविद्या, माया, इति परमेश्वरशक्तेः पर्यायाः । प्रकृतेर्गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि, तेन च तदात्मकं मन उच्यते, सत्त्वादिगुणकार्याणां ज्ञानप्रवृत्तिमोहानां मनसि दर्शनात् "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" [ बृ. उ. १।५।३ ] इत्यादिश्रुतेश्च । तथा च प्रकृतेर्गुणैः मनसा क्रियमाणानि सर्वशः सर्वाणि लौकिकवैदिकानि कर्माणि "विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च" [ तै. उ. २।५ ] इति श्रुत्युक्तानि, तानि अहमेव कर्ता करोमीति मन्यते । कर्तेति तृन्प्रत्ययः; तेन च 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' [ अष्टा. २।३।६९ ] इति षष्ठीनिषेधः । ननु मनसा क्रियमाणानि कर्माणि कथमात्मा अहं कर्तेति मन्यते ? तत्राह— अहङ्कारविमूढात्मा । अहङ्कारो नामानात्मनि मनस्यात्मत्वबुद्धिः, तदैक्याध्यास इति यावत्; तेन विमूढ आत्मा बुद्धिर्यस्य स तथोक्तः सन् । मनस्तादात्म्याध्यासादात्मनि तद्धर्मः कर्तृत्वमध्यस्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

एवमज्ञस्य कर्तृत्वाभिमानमुक्त्वा ज्ञानिनस्तदभावमाह— **तत्त्वविदिति** । गुणकर्मविभागयोः गुणस्त्रिगुणात्मकमन्तःकरणमहङ्कारास्पदम्, कर्म तु तत्कार्यं ज्ञानेच्छाकृत्यादिकं ममकारास्पदम्, गुणकर्मणोर्विभागौ गुणकर्मविभागौ । अत्र गुणविभागो नाम आत्मतादात्म्येन अध्यस्ताद्गुणशब्दवाच्यादन्तःकरणात् 'नाहमन्तःकरणम्' इति तत्तादात्म्यनिषेधः । कर्मविभागस्तु 'न मे ज्ञानेच्छाकृत्यादीनि कर्माणि' इति संसर्गनिषेधः । एवंविधयोर्गुणकर्मविभागयोः तत्त्वं याथार्थ्यं यो वेत्ति स पुमान् 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इति मत्वा 'गुणा मनोरूपेण परिणताः सत्त्वादयः ज्ञानेच्छादिकर्मरूपेण परिणतेषु गुणेषु कर्तृत्वेन वर्तन्ते, न त्वात्मा' इति मत्वा न सज्जते; कर्तृत्वाभिनिवेशरूपासक्तिं न करोतीत्यर्थः । यत्त्वत्र **मधुसूदनसरस्वती**भिरुक्तम्—'गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्वविदिति व्याख्याने गुणकर्मणोरित्येतावतैव निर्वाहाद्विभागपदस्य प्रयोजनं चिन्त्यम्' इति, तच्चिन्त्यम् । 'न सज्जते' इत्यनेनोक्तं आत्मकर्तृत्वाभिनिवेशराहित्यं प्रति गुणकर्मशब्दवाच्ययोर्मनस्तत्कार्ययोर्यस्तादात्म्यसंसर्गनिषेधरूपो विभागः, तद्विषयकत्ववेदनस्यैव हेतुत्वेन विभागपदस्य सप्रयोजनत्वात्; अन्यथा 'तत्त्ववित्' इत्येतावतैव निर्वाहाद्गुणकर्मग्रहणमपि व्यर्थं स्यात् । अथ यत्किञ्चित्तत्त्ववेदनमात्रं न सज्जत इत्यत्र हेतुर्न भवतीति गुणकर्मग्रहणं सप्रयोजनमिति चेत्, गुणकर्मणोर्यत्किञ्चित्तत्त्ववेदनमात्रमपि न तत्र हेतुः, किन्तु तयोरात्मनः सकाशाद्विभागज्ञानमिति । तदर्थं विभागग्रहणमपि सप्रयोजनमिति तुल्यम् । तस्मात् 'गुणकर्मविभागयोः' इत्यत्र भाष्योक्तो यथोदित एवार्थः ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०—नन्वज्ञेषु तु सक्ततया कर्मनिष्ठेषु कृपया साङ्ख्यप्रकारभेद उपदेष्टुं युक्तो विदुषा; नहिनहीत्याह– **न बुद्धिभेदमिति** । प्रकारभेदोपदेशे तेषां बुद्धिभेद एव भवति, फलादिसङ्गितया ज्ञातत्वात् । अतो जोषयेत्प्रीणयेत्सेवयेच्च स्वयं कृत्वा परिसङ्ख्यातात्पर्येण शनैः शनैः शिक्षयेत् । अन्यथा बुद्धिभेदः ॥ २६ ॥ कर्म कुर्वतोर्विद्वदविदुषोर्विशेषं स्पष्टं सन्दर्शयति– **प्रकृतेरिति** द्वाभ्याम् । प्रकृते योगे साङ्ख्यरीत्या विशेषदर्शनमिति नाप्रकृतप्रसङ्गः । तथाहि ब्रह्मवादिसाङ्ख्ये जगतः कर्त्ता भोक्ता सर्वधर्माश्रयः पुरुषोत्तम एवांशतोऽक्षरः कालः प्रकृतिः पुरुष आत्मा भवति "स (इममेव) आत्मानं द्वेधापातयत् (ततः) पतिश्च पत्नी चाभवत्" [बृ.उ.१।४।३] इति श्रुतेः । तत्र कर्त्री प्रकृतिस्तत्संसृष्टतया पुरुषश्च भोक्ता । वस्तुतः पुष्करपलाशवत्प्राकृतधर्मैरवशस्तथापि तद्गुणैः परिणतगुणैरिन्द्रियैरिन्द्रियनिष्ठैर्वा गुणैः क्रियमाणानि कर्माणि कर्त्ताऽहं पुरुष इति मन्यते विपरीतमतिः । गुणैः कर्माणि क्रियन्ते, न केवलेनात्मनेति । विभागतत्त्ववित्तु न सज्जते । इन्द्रियनिष्ठा गुणा विषयगुणेषु वर्तन्ते इति मननात्साङ्ख्ययोगयोरेक एवार्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— ननु लोकसङ्ग्रहार्थमेव चेत्कर्म कर्त्तव्यं, तदा यथाकथञ्चित्कर्त्तव्यम् । यथा तेऽज्ञानेन कुर्वन्ति तथा करणं किं प्रयोजनकं ? इत्याकाङ्क्षायामाह– **न बुद्धिभेदं जनयेदिति** । कर्मसङ्गिनां बुद्धिभेदं न जनयेत् । तथाकरणे तेषां भ्रमो भवेत्; भ्रमे सति कर्म न कुर्युरेव । ननु कर्मणा चित्तशुद्धौ सत्यां कथं भ्रम इत्यत आह– **अज्ञानामिति** । न हि अज्ञाश्चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म कुर्वन्ति, किन्तु कर्मैवेश्वरं मन्यमानाः फलरूपेणान्यं पण्डितं कर्म कुर्वाणं वीक्ष्य कुर्वन्ति, अत एव कर्मसङ्गिनामित्युक्तं; न तु कर्मिणाम् । विद्वान् युक्तो मां हृदि स्थाप्य मद्युक्तः स्वयं समाचरन् सम्यगाचरन् मत्सेवादि कुर्वन् अन्येषां हृत्यर्थं सदा कर्माणि अन्यानज्ञान् जोषयेत् कर्म कारयेदित्यर्थः ॥ २६ ॥ ननु विद्वानपि चेत्तथा कुर्यात्तदाऽविदुषः सकाशात् को भेदः ? तज्ज्ञानस्य च क्वोपयोगः ? सम्पूर्णे काले कर्मव्यावृत्त्या सेवाद्यनवसरादित्यतोऽविदुषो विदुषश्च भेदमाह– **प्रकृतेरिति** । अहङ्कारेण विमूढात्मा अविद्वान् सर्वशः प्रकृतेर्गुणैरिन्द्रियैः क्रियमाणानि कर्माणि 'अहमेव कर्ता' इति मन्यते; न तु भगवदिच्छाम् । तानि च भगवाँल्लोकव्यामोहार्थं कारयति ॥ २७ ॥ एवमविदुषः स्वरूपमुक्त्वा विद्व-

त्स्वरूपमाह– तत्त्वविदिति । हे महाबाहो ज्ञात्वा क्रियाकरणसमर्थ ! क्रियावान् गुणकर्मविभागयोस्तत्त्ववित् 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' इति मत्वा कर्मसु न सज्जते । अत्रायं भावः—गुणास्तु भगवता सात्त्विकादिभावभिन्नविचित्रस्वरसभोगार्थं प्रकटीकृताः । अत एव व्रजविलासिनीषु सात्त्विकादिगुणा निरूपिताः श्रीभागवते । कर्म तु लोकसङ्ग्रहार्थं कार्यते । तथा चैतद्विभागतत्त्ववित् गुणा जीवस्था गुणेषु भगवद्गुणेषु वर्त्तन्ते प्रभुः स्वरसभोगार्थं गुणभावैस्तदुपयोगिकर्माणि कारयति । अन्यानि कर्माणि तु लोकार्थं कारयतीति मत्वा मूढवदेवाहमेव कर्ता तत्फलं मम भविष्यतीति न सज्जत इति भावः ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— विद्वान् अज्ञानां कर्मस्वासक्तानां बुद्धिभेदं बुद्धेश्चालनं न जनयेत् नोत्पादयेत्; किन्तु तान् सर्वाणि कर्माणि जोषयेत्सेवयेत् । कथम् ? युक्त आदृतो भूत्वा समाचरन् ॥ २६ ॥

अविद्वान् कथं कर्मसु सज्जते ? इत्यत आह— प्रकृतेरिति । प्रकृतेः पारमेश्वर्याः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकायाः "देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" [ श्वे. उ. १।३ ] इति श्रुतिप्रसिद्धायाः शक्तेर्गुणैः कार्यकारणसङ्घातात्मकैः क्रियमाणानि कर्माणि । अहङ्कारेण स्वस्मिन्नध्यस्तेन विमूढः तदीयान् कर्तृत्वादीनात्मधर्मत्वेन पश्यन् आत्मनश्च असङ्गानन्दसंविद्रूपतामपश्यन् आत्मा अहङ्कारेण विमूढश्चासावात्मा चेति विग्रहः । अहं कर्माणि कर्मणां कर्त्तेति मन्यते कर्त्रध्यासेन । कर्ताऽहमिति तृन्प्रत्ययस्तेन 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' [अष्टा. २।३।६९] इति षष्ठीनिषेधः; अन्यथा तृच्प्रत्यये कर्मणां कर्त्ताऽहमिति षष्ठ्या भाव्यम् ॥ २७ ॥

एवं सक्तस्य कर्माचरणं प्रदर्श्यासक्तस्य तत्प्रदर्शयति— तत्त्वविदिति । "गुणकर्मविभागयोः गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्ववित्" इति (शं.) भाष्यम् । "नाहं गुणात्मक इति गुणेभ्य आत्मनो विभागः, नाहं कर्मात्मक इति कर्मभ्यश्चात्मनो विभागः, तयोर्गुणकर्मविभागयोर्यस्तत्त्वं वेत्ति" इति श्रीधरः । मधुसूदनस्तु– "गुणाः देहेन्द्रियान्तःकरणानि अहङ्कारास्पदानि, कर्माणि च तेषां व्यापारभूतानि ममकारास्पदानि । गुणकर्मेति द्वन्द्वैकवद्भावः । विभज्यते सर्वेषां जडानां भासकत्वेन पृथक् भवतीति विभागः; स्वप्रकाशज्ञानरूपोऽसङ्ग आत्मा । गुणकर्म च विभागश्चेति द्वन्द्वः । तयोर्जडाजडयोस्तत्त्वं यो वेत्ति सः 'गुणाः करणात्मकाः गुणेषु विषयेषु वर्त्तन्ते' इति मत्वा न सज्जते कर्तृत्वाभिनिवेशं न करोतीत्यर्थः । गुणविभागस्य कर्मविभागस्य च तत्त्ववित् इति पक्षे गुणकर्मणोरित्येव सिद्धे विभागपदं व्यर्थं" इति ।

यद्वा— यस्तत्त्ववित् स गुणाः गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा गुणविभागे कर्मविभागे च न सज्जते इति योजना । गुणानां सत्त्वरजस्तमसां विभागो बुद्ध्यहङ्कारज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियविषयरूपेण विभज्यावस्थानं, तस्मिन्न सज्जते 'इदमहं' इति न मन्यते । तथाहि शरीरे गौरेऽहं गौरोऽस्मि, हस्ताभ्यामात्ते मयेदमात्तमिति, चक्षुषा दृष्टे मयेदं दृष्टमिति, अहङ्कारेणाभिमते ममेदमित्यभिमन्यते; बुद्धौ विक्रियमाणायामहं सुखीति च सर्वेषु बुद्ध्यादिषु विभज्य गृह्यमाणेष्वपि प्रत्येकं प्रत्यक्त्वमध्यस्याहमिदमिति ममेदं कर्मेति च मन्यते । एतेन कर्मविभागोऽप्यावश्यकत्वेन व्याख्यातः ।

अन्यथा चिदात्मन्येव आदानादिकर्तृत्वं दुःखादिमत्त्वं चापतति । अयं च कर्मविभागः श्रुत्याऽपि दर्शितः— "अन्धो मणिमविन्दत्, तमनङ्गुलिरावयत् । अग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्, तमजिह्वो असश्चत" [ तै. आ. १।११ ] इति । 'अन्धः स्वयं प्रकाशहीनोऽपि चक्षुरादिर्मणिं रूपादिकं विषयमविन्दत्प्रकाशयति । अनङ्गुलिः काष्ठलोष्ठादिवत् जडत्वात् स्वयं कर्म कर्तुमशक्तोऽपि पाण्यादिः आवयत् आसीव्यत् विषयं उपादत्ते । अग्रीवः छिन्नशिरस्कवन्निर्जीवोऽहङ्कारस्तं प्रत्यमुञ्चत् ग्रीवायां धारयति मयेदं लब्धमिति मन्यते । अजिह्वो धीधातुः जडत्वात्स्वयं स्वगतसुखदुःखयोः पट इव स्वगतरूपादेः प्रकाशने असमर्थोऽपि अहं सुखी दुःखीति चानुभवति' । तथा च आत्मानात्मनोर्याथात्म्यज्ञो व्यावृत्तेष्वहङ्कारादिषु तत्कर्मसु चाभिमानादिषु कुसुमेषु सूत्रमिवानुवर्त्तमानमात्मानं तेभ्यः पृथग्भूतं जानन् गुणा धीचक्षुरादयो गुणेषु दुःखरूपादिषु वर्त्तन्ते, न त्वात्मेति मत्वा न सज्जतेऽहमेव हस्तादिसङ्घातरूपो ममैवेदमादानादिकं कर्मेति न सक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २८ ॥

**प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।**
**तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥ २९ ॥**

**१ शां. भा.— ये पुनः— प्रकृतेरिति । प्रकृतेर्गुणैः सम्यङ्मूढाः सम्मोहिताः सन्तः सज्जन्ते गुणानां कर्मसु गुणकर्मसु 'वयं कर्म कुर्मः फलाय' इति, तान्कर्मसङ्गिनोऽकृत्स्नविदः कर्मफलमात्रदर्शिनो मन्दान् मन्दप्रज्ञान् कृत्स्नविदात्मवित्स्वयं न विचालयेत्– बुद्धिभेदकरणमेव चालनं तन्न कुर्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥**

२ आ. शां. व्या.— विद्वानविद्वानित्युभावपि प्रकृत्य विद्वानविदुषो बुद्धिभेदं न कुर्यादित्युपसंहरति— **ये पुनरिति** । प्रकृतेरुक्तगुणैर्देहादिभिर्विकारैः सम्मूढास्तानेवाऽऽत्मत्वेन मन्यमाना ये, ते गुणानां तेषामेव देहादीनां कर्मसु व्यापारेषु सज्जन्ते सक्तिं दृढतरामात्मीयबुद्धिं कुर्वन्तीत्याह— **प्रकृतेरित्यादिना** । तेषामनात्मविदां स्वयमात्मविद्बुद्धिभेदं नाऽऽपादयेदित्याह— **तानित्यादिना** ॥ २९ ॥

**३ रा. भा.— अकृत्स्नविदस्त्वात्मदर्शनाय प्रवृत्ताः प्रकृतिसंसृष्टतया प्रकृतेर्गुणैर्यथावस्थितात्मनि सम्मूढा गुणकर्मसु क्रियास्वेव सज्जन्ते, न तद्विविक्तात्मस्वरूपे; अतस्ते ज्ञानयोगाय न प्रभवन्तीति कर्मयोग एव तेषामधिकारः । एवम्भूतांस्तान् मन्दानकृत्स्नविदः कृत्स्नवित् स्वयं ज्ञानयोगावस्थानेन न विचालयेत् । ते किल मन्दाः श्रेष्ठजनाचारानुवर्तिनः कर्मयोगादुत्थितमेनं दृष्ट्वा कर्मयोगात् प्रचलितमनसो भवेयुः; अतः श्रेष्ठः स्वयमपि कर्मयोगे तिष्ठन्नात्मयाथात्म्यज्ञानेनात्मनोऽकर्तृत्वमनुसन्दधानः, कर्मयोग एवात्मावलोकने निरपेक्षसाधनमिति दर्शयित्वा तानकृत्स्नविदो मन्दान् जोषयेदित्यर्थः । ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि ज्ञानयोगादस्यैव कर्मयोगस्य ज्यायस्त्वं पूर्वमेवोक्तम् । अतो व्यपदेश्यो लोकसङ्ग्रहाय कर्मैव कुर्यात् । प्रकृतिविविक्तात्मस्वभावनिरूपणेन गुणेषु कर्तृत्वमारोप्य कर्मानुष्ठानप्रकार उक्तः । गुणेषु कर्तृत्वानुसन्धानं चेदम्— आत्मनो न स्वरूपप्रयुक्तमिदं कर्तृत्वम्, अपितु गुणसम्पर्ककृतमिति प्राप्ताप्राप्तविवेकेन गुणकृतम्— इत्यनुसन्धानम् ॥ २९ ॥**

४ वे. ता. चं. — 'प्रकृतेर्गुण–' इति श्लोके तावन्न निषिद्धादिसङ्गो विवक्षितः, तदानीमविचाल्यत्वानुपपत्तेः । अतः पुरुषार्थोपायेषु केषुचित्सङ्गो वक्तव्यः ; प्रस्तुतश्च पुरुषार्थोऽत्रात्मदर्शनम् ; तत्र चाकृत्स्नविदधिकारे कस्मिंश्चित्तदुपाये सङ्गो विवक्षित इत्यभिप्रायेण– **अकृत्स्नविदस्त्वात्मदर्शनाय प्रवृत्ता** इत्याद्युक्तम् । 'अहङ्कारविमूढात्मा' [ ३।२७ ] इत्यात्मविषयो हि सम्मोहः प्रकृतः ; अतो गुणैः सम्मूढा इत्येव समासः ; उपसर्जनस्यापि च गुणशब्दस्य 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इत्यादिष्विव प्रकृतेरित्यनेनान्वय एवोपपन्न इत्यभिप्रायेणोक्तं– **प्रकृतेर्गुणैर्यथावस्थितात्मनि सम्मूढा** इति ; 'गुणकर्मसु' इत्यस्य कर्मयोगपर्यवसानायोक्तं **क्रियास्वेवे**ति । परिसङ्ख्यापरत्वव्यक्त्यर्थमेवकारः । तत्सूचितं व्यवच्छेद्यमाह– **न तदि**ति । गुणकर्मसङ्गोक्तिफलितमविचालनहेतुमाह– **अतस्त** इति । **न प्रभवन्ति** न समर्था इत्यर्थः । तेषां प्रतिषेध्यविचालनप्रसङ्गाय 'मन्दान्' इत्युक्तमित्यभिप्रायेण विचलनप्रक्रियामाह– **ते किल मन्दा** इति । स्वयं मन्दत्वाच्छ्रेष्ठजनाचारानुवर्तिनः । मन्दत्वं चात्र स्वयमाचारनिर्णयापाटवं विवक्षितम् ; अकृत्स्नवित्त्वफलितं विचालनीयत्वकारणम्, अधैर्यलक्षणमल्पत्वं वा । 'मूढाल्पापटुनिर्भाग्या मन्दाः' [ अमरः ३।६।९४ ] इति नैघण्टुकाः । 'न विचालयेत्' इत्येतत्पूर्वोक्तजोषणशेषमिति दर्शयति– **अत** इति । ज्ञानयोगाधिकारिणः कर्मयोगे स्थितिर्निकृष्टाधिकारपरिग्रहः स्यादित्याशङ्क्याह– **ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपी**ति । स्वकार्यमात्रसमीक्षयाऽपि कर्तव्यं किमुत परार्थसमुच्चिते स्वार्थत्वे ? इत्यभिप्रायेणाह— **अत** इति । उत्तरश्लोकमवतारयितुमुक्तांशमुद्गृह्णाति– **प्रकृती**ति । वक्ष्यमाणश्लोकप्रकारेण तु सर्वेश्वरे सर्वकर्मसन्न्यासः कार्यः ; मध्ये गुणेषु कर्तृत्वानुसन्धानकथनं तावताऽपि देहात्मविवेकादिकं सिद्ध्यतीत्यभिप्रायेणेति भावः । **आरोप्य** अनुसन्धायेत्यर्थः । एतां दशामवलम्ब्य पल्लवग्राहिणां कापिलादीनां मतं समुत्थितमिति तन्मतव्यावर्तनायाचेतनानां गुणानां कथं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नलक्षणं कर्तृत्वं ? इति शङ्काव्युदासाय चाह– **गुणेष्वि**ति । इदमिति वक्ष्यमाणम् । **इदं कर्तृत्व**मिति पुण्यपापादिकर्तृत्वमित्यर्थः । स्वाभाविकं हि कर्तृत्वं मुक्तावस्थायामपि नापैति, तस्य गुणसम्पर्ककृतत्वाभावात् । **प्राप्ताप्राप्तविवेके**नेति– अन्वयव्यतिरेकाभ्यां युक्तायुक्तनिश्चयेन वेत्यर्थः । अत्राकर्तृत्वोक्तेरकरणशेषत्वं पूर्वापरविरुद्धम् ; अनुसन्धानशेषार्थत्वं तु पूर्वापरसङ्गतमित्यभिप्रायेणानुसन्धानोक्तिः । एतेन 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इत्यधिकरणार्थः सूचितः ॥ २९ ॥

**५ आ. मा. भा.— प्रकृतेर्गुणेषु इन्द्रियादिषु सम्मूढाः । इन्द्रियाद्यभिमानाद्धि विषयादिषु सङ्गः । गुणकर्मसु विषयेषु कर्मसु च 'शब्दाद्या इन्द्रियाद्याश्च सत्त्वाद्याश्च शुभानि च । अप्रधानानि च गुणा निगद्यन्ते निरुक्तिगैः' इत्यभिधानात् । सत्त्वाद्यङ्गीकारे 'गुणा गुणेषु' [३।२८] इत्ययुक्तं स्यात् ॥२९॥**

६ ज. प्र. दी.— 'प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः' इत्यत्र गुणशब्दस्य विवक्षितमर्थं वदन् विग्रहं दर्शयति— **प्रकृतेरिति** । नित्यसापेक्षत्वाद्गुणशब्दस्य नासामर्थ्यमिति प्रदर्शनाय 'प्रकृतेः' इत्यनुवादः । देवदत्तस्य गुरुकुलमिति यथा । प्रकृतेर्गुणसम्मूढत्वात् सज्जन्ते गुणकर्मस्विति हेतुहेतुमद्भावोऽत्र विवक्षितः ; अन्यथा वैयर्थ्यापत्तेः; तमुपपादयति— **इन्द्रियादीति** । अभिमानो ममैवैतानि स्वातन्त्र्येण करणानीति भ्रमः । विषयादीत्युक्त्या गुणशब्दोऽत्र विषयार्थ इति दर्शयति । आदिशब्देन कर्मग्रहणम् । विषयेषु सङ्गः स्नेहादिः, कर्मसु स्वातन्त्र्यभ्रमः । 'गुणानां कर्मसु' इति केनचित् (शं.) व्याख्यातं तदसदिति भावेन द्वन्द्वोऽयमिति दर्शयति— **गुणेति** ; द्वन्द्वपरिग्रहेऽधिकार्थलाभात् । अनेन विषयादीत्येतदपि समर्थितं भवति । गुणशब्दस्योक्तानेकार्थत्वं कुतः ? इत्यत आह— **शब्दाद्या** इति । निरुच्यत इति निरुक्तिः शब्दार्थः निरुक्तिं गच्छन्त्यवगच्छन्तीति निरुक्तिगाः । अस्तु गुणशब्दस्यानेकेष्वर्थेषु शक्तिः, तथापि विवक्षाऽत्रैकस्यैवार्थस्य युक्ता ; अन्यथा न ह्येकशब्देनेत्युक्तविरोधात् । शब्दो हि यमर्थमादौ स्मारितवान् स एवार्थो बुद्धौ सन्निहितः पुनरुच्चारितेन स्मारयितुं युक्तः; तथा चात्र सर्वत्र सत्त्वादय एव ग्राह्याः । तद्ग्रहणे शब्दादीनामपि तदात्मकानां ग्रहणसम्भवादित्यत आह— **सत्त्वादीति** । कर्तृत्वाधारत्वयोरेकत्र विरोधादिति भावः । तदात्मकानामिन्द्रियादीनामुपलक्षणे सति वृथा प्रयासः । अनयैवानुपपत्त्याऽनेकार्थग्रहणोपपत्तेः ॥ २९ ॥

**७ ह. पै. भा.— ये पुनः— प्रकृतेर्गुणैर्वयं कर्तार इति सम्मूढाः सन्तः सज्जन्ते गुणानां कर्मसु 'वयं कर्म कुर्मः फलाय' इति सज्जन्ते मन्यन्ते, तानकृत्स्नविदः कर्मफलमात्रदर्शिनो मन्दान् मन्दप्रज्ञान् कृत्स्नवित्सर्वविद्ब्रह्मविन्न विचालयेत् । बुद्धिभेदकरणमेव चालनं, तन्न कुर्यादित्यर्थः २९**

८ वें. ब्र. गि.— एवं विद्वदविदुषोः कर्तृत्वाभिमानतदभावोक्त्या तयोस्तावन्मात्ररूप एव भेदः, कर्मानुष्ठाने तु साम्यमिति प्रदर्श्य यस्मादेवं तस्माद्विद्वान् समाचरन्नविदुषो जोषयेत्, न तु बुद्धिभेदं जनयेदिति पूर्वोक्तमुपसंहरति— प्रकृतेरिति । ये पुनः प्रकृतेर्मायायाः गुणैः सत्त्वादिभिः समुद्रतरङ्गवन्निरन्तरमाविर्भवद्भिः सम्मूढाः सन्तः तेषामेव गुणानां कर्मसु कार्येषु सज्जन्ते 'वयं कुर्मः फलाय' इति, तान् अकृत्स्नविदः कर्मफलमात्रदर्शिनः । तत्र हेतुः— मन्दान् मन्दप्रज्ञान्, अशुद्धचित्तत्वेन ज्ञानानधिकारिण इति यावत् । कृत्स्नविदात्मवित् । स हि सर्ववित्, "यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इति श्रुतेः । न विचालयेत् कर्मश्रद्धातो न प्रच्यावयेत् । किन्तु स्वयमेव ते कालेन विवेकोदयात् कर्मभ्यश्चलिष्यन्तीति भावः ॥ २९ ॥

९ व० त० दी०— 'न बुद्धिभेदं जनयेत्' [ ३।२६ ] इति दृढयति— प्रकृतेरिति ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.— ननु ते अज्ञात्वा तथा कुर्वन्तीति तान् शिक्षयेत्, न तु पुनस्तथैव प्रेरयेदित्यत आह— **प्रकृतेरिति** । प्रकृतेर्गुणैः सम्मूढाः कर्मफलाभिलाषिणो गुणकर्मसु देहधर्मेषु फलार्थं सज्जन्ते आसक्ता भवन्ति । यतोऽकृत्स्नविदः भगवत्प्राप्तिरूपं अशेषफलरूपं न जानन्ति । कर्मफलं लौकिकसुखं फलरूपं जानन्तीत्यर्थः । यतस्ते तत्रासक्तास्तेन ततो न मनो भगवति संविशेदतस्तान् मन्दान् मूर्खान् भूयः फलासक्तचित्तान् कृत्स्नवित् भगवत्प्राप्तिरूपाशेषानन्दवित् न विचालयेत् भगवन्मार्गे न प्रेरयेत् । ततोऽपि वा न चालयेत् । दुष्टसङ्गात् स्वस्यान्यथाभावं नयेदिति भावः ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं सक्तासक्तयोः कर्माणि विभज्य सक्तकर्मानुवादपूर्वकं न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानामित्युपक्रान्तमुपसंहरति— प्रकृतेरिति । गुणैरहङ्कारादिभिः स्वस्मिन्नध्यस्तैः सम्मूढाः एकीभावेन अभेदाध्यासेन मूढास्तु प्रकृतेः प्रकृतिसम्बन्धिषु गुणेषु देहादिषु कर्मसु गमनादिषु च सज्जन्ते अहमयं ब्राह्मणो ममैवेदं यज्ञादिकं कर्म, इति सज्जन्ते सक्ता भवन्ति, तान् मूढत्वात् अकृत्स्नविद आत्मज्ञानहीनान् आत्मविद्धि कृत्स्नवित्— "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" [ बृ. उ. २।४।५ ] इति श्रुतेः । मन्दान् शास्त्रार्थग्रहणासमर्थान् कृत्स्नवित् आत्मविन्न विचालयेत् कर्मनिष्ठातो न प्रच्यावयेत्, तेषामुभयभ्रष्टत्वापत्तेः प्रकृतेर्गुणैः सम्मूढाः गुणानां कर्मसु सज्जन्त इति प्राचां योजना ॥ २९ ॥

**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा ।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरः ॥ ३० ॥**

१ '**अध्यात्मचेतसे**ति तृतीयया समर्पणे उक्तबुद्धेः साधनत्वं लभ्यते । समर्पणं च कर्मणामीश्वरे न निधानरूपम्, अमूर्तत्वात् । कर्त्रा सह कर्मणां यः सम्बन्धस्तस्याप्यकर्तरि सम्बन्धसम्पादनमशक्यमिति तद्रूपमपि नेति— बुद्धिविशेष एव विषयताविशेषेण परमेश्वरगतस्तस्मिन् समर्पणम् । सा च बुद्धिर्भृत्यकृतकर्मणां राजेव मत्कृतकर्मणामीशः फलभाक्, नाहम् ; यद्वि कर्म यस्य फलार्थं तत्तस्य, इति ईशस्य प्रवर्तकस्यैतानि कर्माणि न मम इत्याकारिका । तस्यामीशस्यान्तर्यामिणः प्रवर्तकत्वगोचरायां निरुक्तबुद्धेः साधनत्वं युज्यते ' । इति केचित् ।
— अविगीता ।

**१ शां. भा.—** कथं पुनः कर्मण्यधिकृतेनाज्ञेन मुमुक्षुणा कर्म कर्तव्यं ? इत्युच्यते— **मयीति।** मयि वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वात्मनि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य निक्षिप्याध्यात्मचेतसा विवेकबुद्ध्या 'अहं कर्तेश्वराय भृत्यवत्करोमि' इत्यनया बुद्ध्या । किञ्च निराशीस्त्यक्ताशीर्निर्ममो ममभावश्च निर्गतो यस्य तव स त्वं निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरो विगतसन्तापो विगतशोकः सन्नित्यर्थः ॥ ३० ॥

**२ आ. शां. व्या.—** यद्यपि कर्मण्यज्ञोऽधिक्रियते तथापि मोक्ष्यमाणेन तेन कर्म त्यक्तव्यं; मोक्षस्य कर्मासाध्यत्वात्; न तु तेन कर्म कर्तुं शक्यं, कर्मणः स्वापेक्षितविरोधित्वादिति शङ्कते— **कथमिति** । श्लोकेनोत्तरमाह— **उच्यत** इति । यथोक्ते परस्मिन्नात्मनि सर्वकर्मणां समर्पणे कारणमाह— **अध्यात्मेति** । विवेकबुद्धिमेव व्याकरोति— **अहमिति** । दर्शितरीत्या कर्मसु प्रवृत्तस्य कर्तव्यान्तरमाह— **किञ्चेति** । त्यक्ताशीः फलप्रार्थनाहीनः सन्नित्यर्थः । निर्ममो भूत्वा पुत्रभ्रात्रादिष्विति शेषः । ननु युद्धे नियोगो नोपपद्यते पुत्रभ्रात्रादिहिंसात्मनस्तस्य सन्तापहेतोर्नियोगविषयत्वायोगादिति तत्राऽऽह— **विगतेति** ॥ ३० ॥

**३ रा. भा.—** इदानीमात्मनां परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वस्वरूपनिरूपणेन भगवति पुरुषोत्तमे सर्वात्मभूते गुणकृतं च कर्तृत्वमारोप्य कर्मकर्तव्यतोच्यते— मयि सर्वेश्वरे सर्वभूतान्तरात्मभूते सर्वाणि कर्माण्यध्यात्मचेतसा सन्न्यस्य, निराशीर्निर्ममश्च विगतज्वरो युद्धादिकं सर्वं चोदितं कर्म कुरुष्व । आत्मनि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतः, आत्मस्वरूपविषयेण श्रुतिशतसिद्धेन ज्ञानेनेत्यर्थः ।

**४ वे. ता. चं.—** अथ तदनन्तरस्य 'परात्तु तच्छ्रुतेः' [ब्र. सू. २।३।४१] इत्यधिकरणस्यार्थे तत्परोऽयमित्यभिप्रायेणोत्तरश्लोकमवतारयति— **इदानीमिति** । नियाम्यतायाः स्वरूपत्वोक्तिः, स्वरूपनिरूपकत्वात् । **भगवतीत्यादि**पदत्रयेण 'मयि' इत्यभिप्रेतस्योक्तिः । **भगवतीति** नियन्तृत्वोपास्यत्वफलप्रदत्वाद्युपयुक्तकल्याणगुणजातवति हेयप्रत्यनीके चेति भावः । **पुरुषोत्तम** इति, नियमनार्थानुप्रवेशादिनाऽप्यस्पृष्टहेयप्रसक्तौ 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [१५।१७] इति वक्ष्यमाणप्रकारवैलक्षण्यवतीति भावः । **सर्वात्मभूते गुणकृतं चेति**; त्रिगुणस्याचिद्द्रव्यस्यापि सर्वात्मभूतः स एव हि नियन्तेति भावः । एतेन 'असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम् । सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता' इति तृतीयाध्यायगीतार्थसङ्ग्रहश्लोके [ ७ ]— तुल्यविकल्पो नाभिमत इत्यपि सूचितं भवति । 'मयि' इत्यनेनाभिप्रेते सर्वेश्वरत्वे हेतुतया सर्वभूतान्तरात्मभूतत्वोक्तिः । 'ईश्वरः सर्वभूतानाम्' [१८।६१] इत्यादि वक्ष्यमाणं चानेन ख्यापितम् । **सर्वाणि** इति, स्वकृतानि गुणकृतानि चेत्यर्थः । 'युद्धस्व' इत्येतच्छास्त्रीयोपलक्षणमित्यभिप्रायेणोक्तं **युद्धादिकमिति** । **आत्मनीति** 'अध्यात्म' इति सप्तम्यर्थे समास इत्यर्थः । अत्र चेतश्शब्दस्य श्रुतिशतसिद्धतत्त्वानुसन्धानरूपज्ञानगोचरतां व्यनक्ति **आत्मस्वरूपेति** ।

**३ रा. भा.—** "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा ... अन्तः प्रविष्टं कर्तारमेतम्" [तै. आ. ३।११] "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [बृ. ५।७ मा. दि.] इत्येवमाद्याः श्रुतयः परमपुरुषप्रवर्त्यं तच्छरीरभूतमेनमात्मानं, परमपुरुषं च प्रवर्तयितारमाचक्षते । स्मृतयश्च 'प्रशासितारं सर्वेषाम्' [मनुः १२।१२२] इत्याद्याः । 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' [१५।१५] 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया [१८।६१] इति वक्ष्यते ।

**४ वे. ता. चं.—** श्रुतिशतसिद्धं प्रकारं दर्शयति— **अन्तरिति** । अन्तःप्रविष्टत्वशासितृत्वाभ्यां नृपादिगगनादिव्यावर्तकाभ्यां सर्वात्मत्वसिद्धिः । **कर्तारमिति**— जीवव्यापारेषु प्रयोजककर्तारमित्यर्थः; यद्वा प्रेरणक्रियाकर्तारमित्यर्थः; तदुच्यते— **प्रवर्तयितारमिति** । उपात्तश्रुतीनामैदम्पर्यदृढीकरणाय मन्वाद्युपबृंहणानुग्रहमाह— **स्मृतयश्चेति** । एतस्मिन्नपि शास्त्रेऽभ्यासलिङ्गायास्यैवार्थस्य वक्ष्यमाणतामाह— **सर्वस्य चेति** । 'मयि सर्वाणि' इत्यस्याभिप्रायव्यञ्जनाय पार्थसारथेरीश्वरस्य प्रत्यक्पराङ्निर्देशयोरीश्वरैकविषयत्वं दर्शयितुं वचनद्वयोपादानम् ।

**३ रा. भा.—** अतो मच्छरीरतया मत्प्रवर्त्यात्मस्वरूपानुसन्धानेन सर्वाणि कर्माणि मयैव क्रियमाणानीति मयि परमपुरुषे सन्न्यस्य तानि च केवलं मदाराधनानीति कृत्वा तत्फले निराशीः

तत एव तत्र कर्मणि ममतारहितो भूत्वा विगतज्वरो युद्धादिकं कुरुष्व। स्वकीयेनात्मना कर्त्रा स्वकीयैश्चोपकरणैः स्वाराधनैकप्रयोजनाय परमपुरुषः सर्वेश्वरः सर्वशेषी स्वयमेव स्वकर्माणि कारयतीत्यनुसन्धाय कर्मसु ममतारहितः, प्राचीनेनानादिकालप्रवृत्तानन्तपापसञ्चयेन कथमहं भविष्यामि? इत्येवम्भूतान्तर्ज्वरविनिर्मुक्तः परमपुरुष एव कर्मभिराराधितो बन्धान्मोचयिष्यतीति स्मरन् सुखेन कर्मयोगमेव कुरुष्वेत्यर्थः। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्" [ श्वे. उ. ६।७ ] "पतिं विश्वस्य" [ म. ना. उ. ३।१+ तै. ना. ११।३ ] "पतिं पतीनाम्" [ श्वे. उ. ६।७ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धं हि सर्वेश्वरत्वं सर्वशेषित्वं च। ईश्वरत्वं नियन्तृत्वं, शेषित्वं पतित्वम् ॥ ३० ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमर्थस्वरूपमुपपाद्य तज्ज्ञानस्य कर्तृत्वसन्न्यासहेतुतां 'सन्न्यस्य निराशीः निर्ममः' इति त्रयाणां पदानां कर्तृत्वत्यागफलत्यागस्वकीयतासङ्गत्यागविषयतां उत्तरोत्तरस्य च पूर्वपूर्वहेतुकतां पाठक्रमसूचितां प्रकाशयति— **अत** इति। अस्यार्थस्य श्रुतिस्मृत्यन्तरादिसिद्धत्वादित्यर्थः। **मय्येव क्रियमाणानीति**, भृत्यप्रवर्तकेन राज्ञेव सद्वारकमद्वारकं चेति भावः। ऋत्विज इव परस्य कर्तृत्वेऽपि स्वस्य फलाभिसन्धिः स्यादिति तन्निरासाय निराशीरित्युक्तमित्यभिप्रायेणाह— **तानि चेति**। **तत एवेति**— फलद्वारा हि कर्मणि ममता; 'मदभिलषितसाधनत्वान्मदर्थमिदं कर्म' इति कर्मण्यैश्वर्यबोधो ह्यधिकार इति भावः। ननु यदीश्वरे कर्तृत्वं सन्न्यस्तम्, कथं तर्हि युद्ध्यस्वेति जीवः कर्तृतया निर्दिश्यते? यदि चासौ निराशीः, कथं परमपुरुषाराधनरूपेऽपि कर्मणि प्रवर्तेत? यदि च निर्ममः, स कथं 'ममेदं कर्म' इति बुध्यमानः कर्म कुर्यात्? यदि च स्वव्यापारं नानुसन्धत्ते तदा त्यागरूपव्यापारमपि न मन्येत, ततश्च विगतज्वर इत्यप्यनुपपन्नमित्याशङ्क्याह— **स्वकीयेनात्मना कर्त्रेति**। स्वशेषभूतेन जीवेन प्रयोज्यकर्त्रेत्यर्थः। **स्वकीयैश्चोपकरणैरिति**। यथाऽसौ जीवः परशेषभूतः, तथा तस्य स्वशेषतया प्रागभिमतं हविरादिकमपि परशेषभूतमिति भावः। **स्वाराधनैकप्रयोजनायेति**— शेषस्य शेष्यतिशयाधानमेव प्रयोजनमिति भावः। आह च वेदार्थसङ्ग्रहे—'परगतातिशयाधानेच्छयोपादेयत्वमेव यस्य स्वरूपं स शेषः, परः शेषी' इति। 'स्वकीयेन' इत्यादौ प्रमाणसूचनाय **सर्वशेषी**त्याद्युक्तम्। **स्वयमेवेत्यादि**। आराध्यभूत एवाराधनं कारयतीति भावः। एवकारेण प्रवर्तकान्तरं च व्युदस्तम्। **कारयतीति**— सर्वेश्वरः सन् स्वेष्टं सर्वं स्वयमेव कर्तुं शक्तोऽपि स्वशेषभूतजीवानां शास्त्रवश्यत्वतत्फलभोक्तृत्वादिसिद्ध्यर्थं तान् कर्तॄन् कारयतीति भावः। प्राकरणिकं **प्रतिषेध्य**ज्वरविशेषप्रसङ्गं दर्शयति— **प्राचीने**त्यादिना। अस्तु श्रुतिसिद्धमीश्वरत्वम्, कारयितृत्वस्य किमायातं? इत्यत्राह— **ईश्वरत्वं नियन्तृत्वमिति**। **शेषित्वं पतित्वमिति**— चेतनगतं शेषित्वं पतित्वमेवेति भावः। यद्वा श्रुतिभाष्यपठितयोः शेषित्वेश्वरत्वयोः को भेदः? इति शङ्काऽपाक्रियते— **ईश्वरत्वं नियन्तृत्वमित्यादिना** ॥ ३० ॥

**५ आ. मा. भा.**— अतः सर्वाणि कर्माणि मय्येव सन्न्यस्य भ्रान्त्या जीवेऽध्यारोपितानि मय्येव विसृज्य भगवानेव सर्वाणि कर्माणि करोतीति मत्पूजेति च आत्मानं मामधिकृत्य यच्चेतस्तदध्यात्मचेतः। सन्न्यासस्तु भगवान्करोतीति। निर्ममत्वं नाहं करोमीति ॥ ३० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'मयि सर्वाणि' इत्यस्य सङ्गतिं दर्शयति— **अत** इति; यतो विद्वत्कर्मैवंविधं त्वं च विद्वानस्यतः। ननु सन्न्यासो विसर्गः, स च स्वकीयस्य भवति, न च जीवस्य कर्माणि सन्तीत्युक्तं तत्कथं तेषां विसर्गो विधीयत इत्यत आह— **भ्रान्त्येति**। कर्मणां परमेश्वरे सन्न्यासो नाम तदात्मकत्वविज्ञानमिति कश्चित्, तदसत्; अशाब्दत्वात्; प्रमाणविरुद्धत्वाच्चेति भावेन स्वपक्षे तदभिप्रायमाह— **भगवानिति**। इति ज्ञात्वेति शेषः। प्रकारान्तरं चाह— **मदिति**। इति समर्पणं च कर्मणां मयि सन्न्यास इति शेषः। कर्माणि परमेश्वरात्मकत्वं प्रतिपद्यन्ते तत्प्राप्तये कल्प्यन्त इत्यध्यात्मचेतसेति व्याख्यानमशाब्दमिति भावेन व्याचष्टे— **आत्मानमिति**। अनेनाव्ययीभावगर्भः कर्मधारय इत्युक्तं भवति। अस्य 'निराशीः' इत्यनेनान्वयः। परमात्मलाभेन निराशीराशारहित इत्युक्तं भवति। ननु निर्ममत्वं न मम कर्माणि सन्तीति ज्ञानम्। तच्च 'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य' इत्यनेन गतार्थमतो द्वयोर्भेदमाह— **सन्न्यासस्त्विति**। उभयत्रेतिशब्दात्परं ज्ञानमिति शेषः ॥ ३० ॥

**७ ह. पै. भा.**— त्वं तु कर्माधिकारी— मयि वासुदेवे परमेश्वरे सर्वज्ञे सर्वकर्मभोक्तरि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा विवेकबुद्ध्या निराशीर्निर्ममः कर्मणि तत्फले च ममत्ववर्जितो 'भूत्वा' युध्यस्व विगतज्वरो विगतसन्तापः ॥ ३० ॥

८ वें. ब्र. गि.— इयता प्रबन्धेनोपदिष्टमर्जुनस्य कर्मयोगावश्यिकत्वमुपसंहरति— मयीति । पुरुषो हि न स्वेच्छया शुभमशुभं वा किञ्चित्कर्तुं शक्नोति, "एष ह्येव साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति, तं यमधो निनीषते य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो ऽयमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [ कौ. उ. ३।८ ] इत्यादिश्रुतेः 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' [ १५।१५ ] इत्यादेर्वक्ष्यमाणाच्च । एवं च अध्यात्मचेतसा आत्मानमन्तर्यामिणमधिकृत्य यच्चेतो बुद्धिस्तदध्यात्मचेतः 'अन्तर्याम्यधीनोऽहं भृत्य इव राज्ञे परमेश्वराय कर्माणि करोमि' इति बुद्धिः, तया सर्वाणि लौकिकवैदिकानि कर्माणि मयि पुरतः स्थिते भक्तपारवश्योपगतसारथ्ये सर्वान्तर्यामिणि वासुदेवे सन्न्यस्य समर्प्यैति सौलभ्यप्रदर्शनम् । अत एव निराशीः कर्मणां मदाराधनैकरूपतया तत्फले निरभिलाषः, निर्ममः 'ममेदं कर्म' इति कर्तृत्वाभिमानरूपममताशून्यः, विगतज्वरः 'एवमाराधितः परमेश्वर एव बन्धान्मोचयिष्यति' इति निश्चयेन त्यक्तसंसारशोकश्च भूत्वा युध्यस्व । उपलक्षणमिदं सर्वाणि कर्माणीत्युपक्रमात् । युद्धादीनि सर्वाण्यपि विहितानि कर्माणि कुरुष्वेत्यर्थः ॥ ३० ॥

९ व० त० दी०— स्वमतमुपदिशति-मयीति । साङ्ख्यचेतसा सर्वकर्माणि मयि मुख्ये साक्षात्कर्त्तरि परदेवतायां सन्न्यस्य समर्प्यानुसन्धाय वा युद्ध्यस्व । कर्मत्यागे हि दण्डिपुरुषं त्यजेतिवत् विशेषणविषयक एव त्यागः, न तु विशेष्यविषयक इति तदाह-निराशीरिति । तत्फलविषयकस्त्यागः निर्मम इति ममताविषयकः विगतज्वर इति कर्तृत्वविषयक इति त्रिविधस्त्यागः कर्मणि प्रकीर्तितः । यथोक्तं निबन्धे 'साङ्ख्येऽपि भगवच्चित्ते फलमेतन्न चान्यथा । समर्पणात्कर्मणां च सिद्धिर्भवति नान्यथा' इति ॥ ३० ॥

१० पु. अ. त.— ननु तेषां कर्मकारणार्थं स्वस्य कर्मकरणे यावत्कालो गच्छति तावत्कालव्यर्थीभावापराधः स्वस्य स्यादित्यत आह—मयि सर्वाणीति । मयि सन्न्यस्य आधिदैविकभावेन सर्वं त्यक्त्वाऽध्यात्मचेतसा अध्यात्मभावेन मदाज्ञारूपेण सर्वाणि कर्माणि कुर्वित्यर्थः । मदाज्ञया करणे कालव्यर्थता न भविष्यतीति भावः । सर्वपदेन लौकिककार्याण्यपि कुर्वित्यर्थः । लौकिककर्मकरणमेवाह— निराशीरिति । निराशीः युद्धजस्वर्गादिफलानभीप्सुः निर्ममः राज्यादिप्राप्तभावरहितः, स्वीयेषु परेषु च भ्रातृगुर्वादिबुद्धिरहितो विगतज्वरो लौकिकतापरहितो मदाज्ञया युद्धयस्व युद्धं कुर्वित्यर्थः । त्वामुद्दिश्य तु क्षात्रं कर्म युद्धरूपं मयोच्यते, न तु पूर्वोक्तमन्यत्कर्म । अतो युद्धमेव कुर्वित्यर्थः ॥ ३० ॥

११ नी. भा. दी.— मयीति । त्वं तु अज्ञो मुमुक्षुश्च मयि सर्वान्तर्यामिणि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य समर्प्य अध्यात्मचेतसा आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तं शास्त्रं अध्यात्मं, तत्र प्रवणेन चेतसा— शाकपार्थिवादिवन्मध्यमपदलोपी समासः । आत्मानात्मविवेकवतेत्यर्थः । ईश्वरप्रेरितोऽहं करोमीत्यनया बुद्ध्या निराशीः फलमनिच्छन्निर्ममो लब्धे ममत्वाभिमानशून्यश्च भूत्वा युद्ध्यस्व विगतज्वरो विशोकः सन् ॥ ३० ॥

भगवदाज्ञानुवर्तिनां फलसौष्ठवमितरेषां च वैफल्यम् ।

**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः ।**
**श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः ॥ ३१ ॥**
**ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम् ।**
**सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥ ३२ ॥**

१ शां. भा.— यदेतन्मतं 'कर्म कर्तव्यं' इति सप्रमाणमुक्तं तत्तथा- ये म इति । ये मे मदीयमिदं मतं नित्यमनुतिष्ठन्त्यनुवर्तन्ते मानवा मनुष्याः श्रद्धावन्तः श्रद्दधाना अनसूयन्तोऽसूयां च मयि परमगुरौ वासुदेवेऽकुर्वन्तो मुच्यन्ते तेऽप्येवम्भूताः कर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः ॥ ३१ ॥ ये त्विति । ये तु तद्विपरीता एतन्मम मतमभ्यसूयन्तो निन्दन्तो नानुतिष्ठन्ति नानुवर्तन्ते मे मतं, सर्वेषु ज्ञानेषु विविधं मूढास्ते, सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि जानीहि नष्टान्नाशं गतानचेतसोऽविवेकिनः ॥ ३२ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रकृतं भगवतो मतमुक्तप्रकारमनुसृत्यैवानुतिष्ठतां क्रममुक्तिफलं कथयति— **यदेतदि**ति । शास्त्राचार्योपदिष्टेऽदृष्टार्थे विश्वासवत्त्वं श्रद्दधानत्वम्, गुणेषु दोषाविष्करणमसूया, अपिर्यथोक्ताया मुक्तेरमुख्यत्वद्योतनार्थः ॥ ३१॥ भगवन्मताननुवर्तिनां प्रत्यवायित्वं प्रत्याययति— **ये त्वि**ति । तद्विपरीतत्वं भगवन्मतानुवर्तिभ्यो वैपरीत्यम् । तदेव दर्शयति— **एतदि**त्यादिना । अभ्यसूयन्तस्तत्रासन्तमपि दोषमुद्भावयन्त इत्यर्थः । **सर्वज्ञानानि** सगुणनिर्गुणविषयाणि ; प्रमाणप्रमेयप्रयोजनविभागतो विविधत्वम् ॥ ३२ ॥

**३ रा. भा.— अयमेव साक्षादुपनिषत्सारभूतोऽर्थ इत्याह—ये म इति । ये मानवाः आत्मनिष्ठशास्त्राधिकारिणोऽयमेव शास्त्रार्थ इत्येतन्मे मतं निश्चित्य तथाऽनुतिष्ठन्ति, ये चाननुतिष्ठन्तोऽप्यस्मिन् शास्त्रार्थे श्रद्दधाना भवन्ति, ये चाश्रद्दधाना अप्येवं शास्त्रार्थो न सम्भवतीति नाभ्यसूयन्ति, अस्मिन् महागुणे शास्त्रार्थे दोषमनाविष्कुर्वन्तो भवन्तीत्यर्थः । ते सर्वे बन्धहेतुभिरनादिकालारब्धैः सर्वैः कर्मभिर्मुच्यन्ते । 'तेऽपि कर्मभिः' इत्यपिशब्दादेषां पृथक्करणम् । इदानीमननुतिष्ठन्तोऽप्यस्मिन् शास्त्रार्थे श्रद्दधाना अनभ्यसूयवश्च श्रद्धया चानसूयया च क्षीणपापा अचिरेणेममेव शास्त्रार्थमनुष्ठाय मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ ३१ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'ये मे मतम्' इति श्लोके मे मतमित्यौपनिषदपुरुषस्य सिद्धान्ताभिमानप्रदर्शनान्मोक्षसाधनत्वोपदेशमात्रस्य कृतकरत्वाच्च तत्प्राशस्त्यपरोऽयं श्लोक इत्यभिप्रायेणाह— **अयमेव साक्षादि**ति । ज्ञानयोगनिरपेक्ष इत्यर्थः । सारभूतः प्रधानभूतः 'सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीबं वरं त्रिषु' [ अमरः ३३।१७० ] इति नैघण्टुकाः । प्राधान्यं चात्र मोक्षसाधने ज्यायस्त्वम् । मानवशब्दस्यात्रानधिकृतशूद्रादिसङ्ग्राहकत्वादधिकृतदेवादिप्रतिक्षेपकत्वाच्च तदुभयपरिहाराय **य** इति प्रमाणसिद्धानुवादेनाधिकारिमात्रोपलक्षकोऽयं शब्द इत्यभिप्रायेणोक्तं **ये मानवा आत्मनिष्ठशास्त्राधिकारिण** इति । 'नित्यमनुतिष्ठन्ति' इत्युक्तं नित्यमनुष्ठानं निर्णयपूर्वकमेव प्रामाणिकत्वनिश्चयशून्यस्यानुष्ठानं कदाचिद्धज्येतापीत्यभिप्रायेणोक्तम्, **अयमेव शास्त्रार्थ** इत्यादि । एतत्— अयमेवेत्युक्तम् ; यद्वा एतन्मे मतं शास्त्रार्थ इति निश्चित्येत्यन्वयः ; शासितुर्मतमेव हि शास्त्रार्थ इति भावः । 'श्रद्धावन्तः' इति पदमनुष्ठानात् पूर्वावस्थापरमित्याह— **ये चाननुतिष्ठन्तोऽपी**ति । ततोऽप्यर्वाचीनावस्थानसूयेत्याह— **ये चाश्रद्दधाना** इति । गुणेषु दोषाविष्करणमसूयेत्यसूयालक्षणाभिप्रायेणाह— **अस्मिन्नि**ति । अपिशब्दो वर्गत्रयसमुच्चयपर इति **ते सर्व** इत्युक्तम् । ननु सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदश्च नेष्यते श्रद्धावन्त इत्यादौ च 'भवन्ति' इत्यध्याहारश्चानुचितः ; यच्छब्दस्य चैकत्र प्रयुक्तस्यावृत्तिरनुपपन्नेत्यत्राह **तेऽपी**ति । **एषामिति**— अधिकारिणां, बुद्धिस्थानां वाक्यानां वा ।

**अयमभिप्रायः**— नात्रैकवाक्यत्वं सम्भवति, अपिशब्दानन्वयात्, अपिशब्दो ह्यत्रानुष्ठातृभिः सहाधिकार्यन्तरसमुच्चयपरो वा; अनुष्ठातृणामपकर्षपरो वा स्यात् । तत्र ज्ञानयोगिनां समुच्चयः सम्भवन्नप्यत्रानपेक्षितः, कर्मयोगप्रशंसाप्रकरणानुचितश्च । ज्ञानयोगिभ्यः कर्मयोगिनामपकर्षसूचनं त्वत्रात्यन्तविरुद्धम् । नित्यमनुष्ठातॄणां श्रद्धावन्तोऽनसूयन्त इति विशेषणाभिधानं च निरर्थकम् । न हि नित्यमनुतिष्ठन्तोऽश्रद्धाना असूयन्तश्च भवेयुः । अवस्थात्रयविषयत्वे तु समुच्चयपरतया वा अर्वाचीनावस्थापकर्षपरतया वा शक्यमपिशब्दो नेतुमिति ।

अनुष्ठातॄणां श्रद्धानसूयामात्रवतां च तुल्यफलत्वेऽनुष्ठानविधायकशास्त्रवैयर्थ्यं स्यादित्याशङ्क्याह— **इदानी**मिति । श्रद्धानसूययोः पापनिर्हरणहेतुत्वं च 'धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा स्मृतो वा कथितोऽपि वा । अनुमोदितो वा राजेन्द्र ! पुनाति पुरुषं सदा' [म. भा. १४।९४।२९] इत्यादिसिद्धम् ॥ ३१ ॥

**३ रा. भा.— भगवदभिमतमौपनिषदमननुतिष्ठतां अश्रद्दधानानामभ्यसूयतां च दोषमाह— ये त्वेतत्सर्वमात्मवस्तु मच्छरीरतया मदाधारं मच्छेषभूतं मदेकप्रवर्त्यमिति मे मतं नानुतिष्ठन्ति— नैवमनुसन्धाय सर्वाणि कर्माणि कुर्वते, ये च न श्रद्दधते, ये चाभ्यसूयन्तो वर्तन्ते ; तान् सर्वेषु ज्ञानेषु विशेषेण मूढांस्तत एव नष्टानचेतसो विद्धि ; चेतःकार्यं हि वस्तुयाथात्म्यनिश्चयः ; तदभावादचेतसो विपरीतज्ञानाः सर्वत्र विमूढाश्च ॥ ३२ ॥**

४ वे. ता. चं.— व्यतिरेकनिन्दयाऽप्युक्तार्थप्राशस्त्यातिरेक उच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **भगवदि**ति । पूर्वोक्तव्यतिरेकरूपत्वादभ्यसूयोक्तिरश्रद्धोपलक्षणतयेत्यभिप्रायेण **अश्रद्दधानानामि**त्याद्युक्तम् । आधेयं शेषभूतं विधेयमपि हि शरीरमित्यभिप्रायेण **मदाधार**मित्यादिपदत्रयम्, स्वरूपस्थितिप्रवृत्तितादधीन्यपरं च । परबुद्धिवृत्तिविशेषरूपं मतं कथमनुष्ठेयमननुष्ठेयं वा ? सिद्धवस्तुनि च कथमनुष्ठानं ? इत्यत्राभिप्रेताध्याहारेणाह— **नैवमनुसन्धाये**ति । 'सर्वेषु ज्ञानेषु विशेषेण मूढान'

इति यथावस्थिततात्मस्वरूपानभिज्ञतया 'अहं मम' इत्यादिषु सर्वेषु ज्ञानेषु ज्ञातव्यवस्तूनां यथावस्थिततस्वरूपप्रकारानभिज्ञानित्यर्थः। नष्टानिति- पुरुषार्थातियोग्यानित्यर्थः। किं तत्त्वज्ञानरहितस्यान्तःकरणमपि नास्ति ? इत्यत्राह- **चेतःकार्य**मिति। कार्यादर्शनात् कारणं नास्तीत्युपचर्यत इति भावः। फलितमाह- **विपरीतज्ञानाः सर्वत्र विमूढाश्चे**ति ॥ ३२ ॥

**५ आ. मा. भा.— फलमाह- ये म इति। ये त्वेवं निवृत्तकर्मिणस्तेऽपि मुच्यन्ते ज्ञानद्वारा, किम्वपरोक्षज्ञानिनः ? न तु साधनान्तरमुच्यते। 'निवृत्तादीनि कर्माणि ह्यपरोक्षेशदृष्टये। अपरोक्षेशदृष्टिस्तु मुक्तौ किञ्चिन्न मार्गते॥ सर्वं तदन्तराऽधाय मुक्तये साधनं भवेत्। न किञ्चिदन्तराधाय निर्वाणायापरोक्षदृक्' इति ह्युक्तं नारायणाष्टाक्षरकल्पे। अत एव समुच्चयनियमो निराकृतः॥३१॥३२॥**

**६ ज. प्र. दी.—** अन्यथाप्रतीतिं निराकर्तुं तावदुत्तरश्लोकद्वयप्रतिपाद्यमाह— **फल**मिति। केचिद्विद्वांसः कुर्वन्तीत्येतावता मया कार्यं न वा ? इत्याशङ्क्य स्वोक्तकरणाकरणयोः फलमाहेत्यर्थः। 'मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः' इत्यपिशब्देन ज्ञानमिव निवृत्तं कर्मापि मोक्षसाधनमुच्यते इत्यन्यथा प्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे— **ये त्विति**। कैमुत्यद्योतनार्थोऽपिशब्दो न समुच्चयार्थ इत्यर्थः। प्रासङ्गिकं चैतत्। समुच्चये यद्यपिशब्दः, स च द्वेधा ज्ञानमिव कर्मापि पृथक्साधनं; ज्ञानकर्मसमुच्चय एवेति। तत्राद्यपक्षं निराकरोति— **न त्विति**। निष्कामत्वादिनाऽनुष्ठितानि यज्ञादीनि निवृत्तानि। आदिपदेन नित्यनैमित्तिकानां ग्रहणम्। अपरोक्षा च सा ईशदृष्टिश्च ; तादर्थ्ये चतुर्थी। मुक्तौ मुक्तिसाधने किञ्चित्सहकारि कर्मापि मुक्तिसाधनमुच्यत इत्यत उक्तं **सर्व**मिति। तत्सर्वं निवृत्तादिकम्। अन्तरा मध्ये। ज्ञानमाधाय। मुक्तये मुक्तेः। अहल्यायै जारेति यथा। साक्षात् साधनत्वेन श्रुतमपि कर्म यथा व्यवहितं जातं किमपि ज्ञानं तथा नेत्युक्तम्— **न किञ्चिदि**ति। द्वितीयमपि प्रकारमतिदेशेन निराचष्टे— **अत एवे**ति। 'अपरोक्षेशदृष्टिस्तु मुक्तौ किञ्चिन्न मार्गते' इत्युक्तत्वादेवेत्यर्थः॥ ३१ ॥ ३२ ॥

**७ ह. पै. भा.— यदेतन्मम मतं कर्म कर्तव्यमिति सप्रमाणमुक्तं तत्तथा- ये म इति। येऽधिकारिणो मे मम मतमिदमुक्तस्वरूपं नित्यं सदाऽनुतिष्ठन्ति मानवाः श्रद्धावन्तः श्रद्दधाना अनसूयन्तो मयि वासुदेव उपदेष्टरि असूयारहितास्तेऽपि कर्मभिः सकलकिल्बिषैर्मुच्यन्ते॥ ३१ ॥ ये त्विति। ये त्वेतन्मम मतमभ्यसूयन्त ईर्ष्यन्तो नानुतिष्ठन्ति न कुर्वन्ति मे ममेश्वरस्य मतम्। सर्वाणि च तानि ज्ञानानि तेषु विमूढानपरमार्थविदो विद्धि विजानीहि, नष्टानचेतसोऽविवेकिनः॥ ३२ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.—** एवमुपदिष्टस्यार्थस्यानुवर्तने गुणमाह— इदं फलाभिसन्धिममताराहित्येन परमेश्वराराधनतया कर्मकर्तव्यत्वरूपं मे सर्वज्ञस्य सर्वगुरोः सर्वसुहृदश्च मम मतं ये मानवा अनुतिष्ठन्ति, ये च अननुतिष्ठन्तोऽपि मन्मतेऽस्मिन् श्रद्धावन्तः 'एवमेवैतत्' इति केवलविश्वासमात्रवन्तो भवन्ति, ये च अश्रद्दधाना अपि नाभ्यसूयन्ति 'इदं मतमयुक्तं' इति दोषाविष्करणं न कुर्वन्ति, तेऽपि अनुतिष्ठन्तः श्रद्धावन्तोऽनसूयावन्तश्चेति त्रिविधा अपि कर्मभिः बन्धहेतुभिः पुण्यपापरूपैः मुच्यन्ते। 'तेऽपि' इत्यपिशब्दादेषां पृथक्करणम्, अन्यथा येऽनुतिष्ठन्ति तेऽपि मुच्यन्त इत्यसङ्गतेः। तथा च येऽनुतिष्ठन्ति ते मुच्यन्त एव, ये त्विदानीमननुतिष्ठन्तोऽप्यस्मिन्मते श्रद्धालवोऽनसूयाश्च भवन्ति, तेऽपि श्रद्धासूयासुकृतक्षीणपापा अचिरेणैवेदं मतमनुष्ठाय मुच्यन्त इति भगवतोऽभिप्रायः॥ ३१ ॥ अन्वये गुणमुक्त्वा व्यतिरेके दोषमाह-- **ये त्विति**। **तुशब्दः** पूर्वोक्तश्रद्धावद्वैधर्म्यमश्रद्धां सूचयति। ततश्चायमर्थः— ये मम एतन्मतं नानुतिष्ठन्ति ये चाननुतिष्ठन्तः पुनरभ्यसूयन्तो वर्तन्ते, ये चानुष्ठानासूयारहिता अपि न श्रद्दधते, तान् क्रमेण सर्वज्ञानविमूढान् नष्टानचेतसश्च विद्धि जानीहि। तत्र अननुतिष्ठन्तः सर्वज्ञानविमूढाः सर्वस्मिन् कर्मब्रह्मविषये यज्ज्ञानं तत्र विमूढाः तरणोपायत्वेन प्रसिद्धकर्मज्ञानमार्गद्वयभ्रष्टाः, नित्यसंसारिण इत्यर्थः। असूयन्तस्तु नष्टाः पापिष्ठाः, निरयगामिन इति यावत्। तथा च वक्ष्यति— 'तानहं द्विषतः क्रूरान्' [ १६।१९ ] इत्यादि। अश्रद्दधानास्तु अचेतसः चेतसा विवेकेन रहिता जडा इति॥ ३२ ॥

९ व० त० दी०— एवं कर्मानुष्ठाने गुणमाह— ये मे मतमिति। तेऽपि कर्मभिरेव कृत्वा कर्मतो वा मुक्तिं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः॥ ३१ ॥ विपक्षे दोषमाह— ये त्विति॥ ३२ ॥

**१० पु. अ. त.—** अर्जुनार्थं चेद्भगवतोक्तं स्यात्तदाऽर्जुनस्य तत्रैवासक्तिः स्यात्तदाऽग्रे पुष्टिरूपसर्वत्यागोपदेशोऽनुपपन्नः स्यात् ; अर्जुनस्याप्यन्यत्रानधिकाराद्भगवदुक्तेषु धर्मेष्वपि न प्रवृत्तिः ; स्वयोग्योपदेशार्थं पुनः पुनः प्रश्नानेव कृतवान्। ननु तदर्थं नोक्तं चेत्किमर्थम् ? तदर्जुनद्वारा सकलसन्मार्गप्रवृत्त्यर्थमुक्तम्। तदेवाह- परं योऽन्योऽप्येवं कुर्यात्तस्यापि कर्मजो बन्धो न स्यादित्याहुः— ये मे मतमिति। ये मानवाः सद्धर्मोत्पन्ना मे मतमिदं पूर्वोक्तं श्रद्धावन्तो मदुक्तत्वादनसूयन्तो-

ऽसहिष्णुताहीना अनुतिष्ठन्ति तेऽपि कर्मभिस्तज्जन्यफलभोगैर्मुच्यन्ते। मदाज्ञया कृतत्वान्मदुक्तिविश्वासतोऽन्यकर्माण्यपि मोक्षसाधकान्येव भवन्तीत्यर्थः॥ ३१॥ ये मदाज्ञारूपत्वं विहाय कर्मैव फलसाधकं फलरूपमिति ज्ञात्वा कुर्वन्ति ते नश्यन्तीत्याहुः— ये त्वेतदिति। ये तु एतन्मम मतमभ्यसूयन्तः कौटिल्येन जानन्तो नानुतिष्ठन्ति तान् सर्वज्ञानविमूढान् अचेतसः शून्यहृदयान् नष्टान् नाशं प्राप्तान् विद्धि जानीहि। मदाज्ञातिरेकं कर्मकर्त्तारो नश्यन्तीति भावः॥ ३२॥

११ नी० भा० दी०— ये म इति। येऽन्येऽपि त्वादृशा मे मम मतं असक्त्या कर्मानुष्ठानं अनुतिष्ठन्ति अनुवर्त्तन्ते मानवाः श्रद्धावन्तः अनसूयन्तः अत्र दोषमपश्यन्तः तेऽपि स्वकर्मभिर्धर्माधर्माख्यैः मुच्यन्ते॥ ३१॥ विपक्षे दोषमाह— ये त्विति। सर्वशब्द ईश्वरवाची। 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' [ ११-४० ] इति निर्वचनात्। तस्य ज्ञाने विषये विशेषेण मूढान् पारोक्ष्येणापि ते ईश्वरमजानन्तो देहमात्रनिष्ठास्तान्; नष्टान् स्वर्गापवर्गभ्रष्टान्, अचेतसः विवेकशून्यान्॥ ३२॥

विदुषामविदुषां च सदसदाचारानुसरणे कारणम्।

**सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।**
**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति॥ ३३॥**

१ **शां. भा.**— कस्मात्पुनः कारणात्त्वदीयं मतं नानुतिष्ठन्तः परधर्माननुतिष्ठन्ति? स्वधर्मं च नानुवर्तन्ते? त्वत्प्रतिकूलाः कथं न बिभ्यति त्वच्छासनातिक्रमदोषात्? तत्राऽऽह— **सदृश**मिति। सदृशमनुरूपं चेष्टते चेष्टां करोति। कस्याः? स्वस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेः— प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारा वर्तमानजन्मादावभिव्यक्ताः— सा प्रकृतिः, तस्याः सदृशमेव सर्वो जन्तुर्ज्ञानवानपि चेष्टते, किं पुनर्मूर्खः? तस्मात्प्रकृतिं यान्त्यनुगच्छन्ति भूतानि प्राणिनः। निग्रहो निषेधरूपः किं करिष्यति मम वाऽन्यस्य वा? 'दुर्निग्रहा प्रकृतिः' इति वाक्यशेषः॥ ३३॥

२ **आ. शां. व्या.**— भगवन्मतानुवर्तनमन्तरेण परधर्मानुष्ठाने स्वधर्माननुष्ठाने च कारणं पृच्छति— **कस्मा**दिति। भगवत्प्रतिकूलत्वमेव तत्र कारणमित्याशङ्क्याऽऽह— **त्वत्प्रतिकूला** इति। राजानुशासनातिक्रमे दोषदर्शनाद्भगवदनुशासनातिक्रमेऽपि दोषसम्भवात्प्रतिकूलत्वं भयकारणमित्यर्थः। उत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति— **सदृश**मिति ( तत्राऽऽहेति )। सर्वस्य प्राणिवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे कैमुतिकन्यायं सूचयति— **ज्ञानवान**पीति। सर्वाण्यपि भूतान्यनिच्छन्त्यपि प्रकृतिसदृशीं चेष्टां गच्छन्तीति निगमयति— **प्रकृति**मिति। भूतानां प्रकृत्यधीनत्वेऽपि प्रकृतिर्भगवता निग्राह्येत्याशङ्क्याऽऽह— **निग्रह** इति। का पुनरियं प्रकृतिर्यदनुसारिणी भूतानां चेष्टा? इति पृच्छति— **प्रकृतिर्नाम**ेति। भगवदभिप्रेतां प्रकृतिं प्रकटयति— **पूर्वे**ति। आदिशब्देन ज्ञानेच्छादि सङ्गृह्यते। यथोक्तः संस्कारः स्वसत्तया प्रवर्तकश्चेत्प्रलयेऽपि प्रवृत्तिः स्यादित्याशङ्क्य विशिनष्टि— **वर्तमाने**ति। सर्वो जन्तुरित्ययुक्तं विवेकिप्रवृत्तेस्तथात्वादित्याशङ्क्य 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति न्यायमनुसरन्नाह— **ज्ञानवा**निति। ज्ञानवतामज्ञानवतां च प्रकृत्यधीनत्वाविशेषे फलितमाह— **तस्मा**दिति। प्रकृतिं यान्ति प्रकृतिसदृशीं चेष्टां गच्छन्ति, अनिच्छन्त्यपि सर्वाणि भूतानीत्यर्थः। प्रकृतेर्भगवता तत्तुल्येन वा केनचिन्निग्रहमाशङ्क्यावतारितचतुर्थपादस्यार्थापेक्षितं पूरयति— **मम वे**ति॥ ३३॥

३ **रा. भा.**— एवं प्रकृतिसंसर्गिणस्तद्गुणोद्रेककृतं तच्च कर्तृत्वं परमपुरुषायत्तमित्यनुसन्धाय कर्मयोगयोग्येन ज्ञानयोगयोग्येन च कर्मयोगस्य सुशकत्वात्, अप्रमादत्वात्, अन्तर्गतात्मज्ञानतया निरपेक्षत्वात्, इतरस्य दुश्शकत्वात् सप्रमादत्वान् शरीरधारणाद्यर्थतया कर्मापेक्षत्वात् कर्मयोग एव कर्तव्यः। व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः स एव कर्तव्य इति चोक्तम्, अतःपरमध्यायशेषेण ज्ञानयोगस्य दुश्शकतया सप्रमादतोच्यते। प्रकृतिविविक्तमीदृशमात्मस्वरूपं तदेव सर्वदाऽनुसन्धेयमिति च शास्त्राणि प्रतिपादयन्तीति ज्ञानवानपि स्वस्याः प्रकृतेः प्राचीनवासनायाः सदृशं प्राकृतविषयेष्वेव चेष्टते। कुतः? प्रकृतिं यान्ति भूतानि— अचित्संसृष्टा जन्तवोऽनादिकालप्रवृत्तवासनामेव यान्ति; तानि वासनानुयायीनि भूतानि शास्त्रकृतो निग्रहः किं करिष्यति?॥ ३३॥

४ वे. ता. चं.— उत्तरप्रघट्टकसङ्गत्यर्थं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं च पूर्वोक्तं सङ्कलय्य दर्शयति— **एव**मिति । मुक्तानां कर्तृत्वस्य गुणाधीनत्वाभावात् **प्रकृतिसंसर्गिण** इत्युक्तम् । ज्ञानयोगादनादरहेतुभूतदुरशकत्वादिसमर्थनपरमनन्तरप्रकरणमित्यभिप्रायेणाह—**अतः पर**मिति । 'नानुतिष्ठन्ति' इत्यस्य हेतुरपि 'सदृशं' इत्यादिनाऽभिप्रेतः । **ज्ञानवानपी**त्यत्र न तावल्लौकिकज्ञानमात्रमुच्यते,तस्य प्रकृत्यनुकूलत्वप्रवृत्तिविरोधित्वाभावेनापिशब्दानन्वयात् । नाप्यात्मसाक्षात्कारपर्यन्तं ज्ञानं, तस्यामवस्थायां प्रकृत्यनुवर्तित्वप्रसङ्गाभावात् । अतो यदालम्ब्य ज्ञानयोगे प्रवर्तितुमुत्सहते तज्ज्ञानमिह विवक्षितम्; तच्च शास्त्रजन्यं यथावस्थितात्मतत्त्वज्ञानमित्यभिप्रायेणाह **प्रकृतिविविक्त**मिति । **ईदृश**मिति— यथावस्थितपरशेषत्वादिविशिष्टस्वरूपनिर्देशः । **तदेवे**ति विषयानुभवव्यवच्छेदः । **सर्वदे**ति आफलावाप्तेरित्यर्थः । स्वस्याः प्रातिस्विक्या इत्यर्थः । चेतनप्रवृत्तिरूपचेष्टाया असाधारणकारणं हि रागद्वेषौ, तौ चानन्तरश्लोकेऽभिधीयेते; तन्मूलं च प्राचीनवासनैव । अतोऽत्र प्रकृतिशब्देन स्वभावव्यपदेशार्हानादिवासनैव विवक्षितेत्यभिप्रायेणोक्तं- **प्राचीनवासनाया** इति । 'सदृशं' इत्यनेनाभिप्रेतमानुरूप्यमाह— **प्राकृतविषयेष्विति**; शब्दादिविषयवासनया पुनरपि तत्रैव प्रवर्तत इत्यर्थः । **कुत** इति । ज्ञानवांश्चेत् ज्ञानानुरूपं चेष्टताम् , कुतः प्रकृत्यनुरूपं चेष्टते? इत्यर्थः । अत्रोत्तरं 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' इति । पुनरुक्तिशङ्कां परिहरन्नुत्तरत्वं विवृणोति— **अचि**दिति । अचित्संसृष्टा जन्तव इति भूतशब्दार्थः । अनादिकालप्रवृत्ताचित्संसर्गकृतापरोक्षाभङ्गुरदेहात्मभ्रमजनितामत्यन्तप्रपञ्चितां वासनामचिरतनपरोक्षशास्त्रजन्यज्ञानं न सहसैव निरोद्धुं क्षममित्यभिप्रायः । तदेव विवृणोति— **तानी**ति । **निग्रह** इति, नियमनमित्यर्थः । अत्र मम वाऽन्यस्य वेति निग्रहकर्त्रध्याहारो न युक्तः, 'अनिच्छन्नपि' [ ३।३६ ] इत्यादिप्राकरणिकार्थानुसारेण शास्त्रकृतत्वमेवोचितम् । **किं करिष्यती**ति— न किञ्चन किञ्चिदपि निरोद्धुं शक्यमित्यर्थः ॥ ३३ ॥

**५ आ. मा. भा.— एवं चेत्किमिति ते मतं नानुतिष्ठन्ति लोकाः ? इत्यत आह— सदृशमिति । प्रकृतिः पूर्वसंस्कारः ॥ ३३ ॥**

६ ज. प्र. दी.— 'सदृशं' इति श्लोकस्य सङ्गतिर्न प्रतीयतेऽतस्तामाह— **एवं चे**दिति । यदि त्वन्मतानुष्ठाने मोक्षः; अन्यथा नाश इत्यर्थः । मूलप्रकृतेरेकत्वात्कथं स्वस्या इति प्रातिस्विकत्वमुच्यते ? इत्यत आह— **प्रकृति**रिति तत्कार्यौ रागद्वेषौ उपलक्ष्येते ॥ ३३ ॥

**७ ह. पै. भा.— तथा हि—सदृशमनुरूपं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेः । प्रकृतिर्नाम पूर्वकृतधर्माधर्मादिसंस्कारो वर्तमानजन्मादावभिव्यक्तो यः सा प्रकृतिः; तस्याः सदृशमेव । सर्वजन्तुर्ज्ञानवानपि; किमुत मूर्खः ? । प्रकृतिं यान्ति भूतानि । निग्रहो निरोधः किं करिष्यति मम वाऽन्यस्य वा ? ॥३३॥**

८ वें. व्र. गि.— यद्येवं तर्हि सर्वेऽपि लोकास्तव मतं किमिति नानुतिष्ठन्ति ? तत्राह— **सदृश**मिति । लोके ज्ञानवान् गुणदोषविवेकवानपि पुरुषः स्वस्याः स्वकीयायाः प्रकृतेः प्राचीनकर्मसंस्कारस्वभावस्य सदृशमनुरूपमेव चेष्टते, किमु वक्तव्यमज्ञश्चेष्टते इति ? । तस्माद्भूतानि प्राणिनः प्रकृतिं यान्ति पुरुषार्थभ्रंशहेतुमपि स्वस्वप्राचीनकर्मसंस्कारस्वभावमेव अनुवर्तन्ते, न तु नियमेन मम मतमित्यर्थः । ननु ' सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टान्' [ ३।३२ ] इति पूर्वोक्तेः प्राणिनामुन्मार्गनिग्रहे त्वदीये जाग्रति कथं प्रकृतिमेवानुवर्तेरन् ? तत्राह— **निग्रह** इति । मम निग्रहः किं करिष्यति ? न किञ्चिदपि । दृष्टं ह्येतदपथ्यसेवनचौर्यराजदारगमनादिषु अनर्थहेतुत्वं ज्ञात्वाऽपि तत्र प्रवर्तन्त इति । न चैतदीश्वरेणापि वारयितुं शक्यम् ; तत्कस्य हेतोः ? तेषु तद्भोगानामवश्यम्भावित्वात्, यदाह— 'अवश्यम्भाविभावानां प्रतीकारो भवेद्यदि । तदा दुःखैर्न युज्येरन्नलरामयुधिष्ठिराः' इति । तथा च नरकहेतुत्वं ज्ञात्वाऽपि प्रबलतरप्राक्कर्मवासनाप्राबल्यादुन्मार्गे प्रवर्तमाना न मदीयनिग्रहाद्बिभ्यतीति भावः । नन्वेवं प्रकृतेर्दुर्निग्रहत्वे ईश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्ग इति चेत् , न; दुर्निग्रहत्वस्यापि तस्या ईश्वरेणैव निर्मितत्वात् । उक्तं हि— 'न चेश्वरत्वमीशस्य हीयते तावता यतः । अवश्यम्भाविताऽप्येषामीश्वरेणैव निर्मिता' इति ॥३३॥

९ व० त० दी०— ननु तर्हि सर्वे बुधा महाफलत्वात्त्वन्मतमेव किमिति नानुतिष्ठन्ति ? तत्राह— सदृशमिति । कैमुत्येनाह— ज्ञानवानिति । शास्त्रीयं ज्ञानं सात्त्विकं तद्वानपि स्वस्याः परिणतायाः प्रकृतेरनुरूपं चेष्टते । चेष्टायां प्रकृतिरेवानुगुणहेतुः । प्रकृतिमोहित एवाहमित्यभिज्ञ इति मनुते । न परोक्तमनुसन्धत्ते; किं पुनर्वक्तव्यमज्ञ एवं भवतीति ? अतो भूतानि सर्वाणि सात्त्विकराजसतामसानि स्वभावमनुवर्त्तन्ते, वायुं तृणवत् । तत्र निग्रहः शिक्षणं ऐन्द्रियो वा किं करिष्यति ? प्रकृतेः प्रबलत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

१० पु. अ. त.— ननु त्वन्मतं विहाय नाशसाधने कथमनुवर्त्तन्ते ? इत्याशङ्क्याहुः— **सदृश**मिति । ज्ञानवानपि नरः स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं चेष्टते करोति । अत्रायं भावः— प्रकृत्यंशो जीवो न भगवदुक्ते प्रवर्तते, तदंशस्त्वात् । अत एव

स्मर्यते 'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इत्यादि। ... 'यो यदंशः स तं भजेत्' । माया तु भगवद्दत्तसामर्थ्येन ज्ञानवतोऽपि मोहयति । अत एव मार्कण्डेयपुराणे [ दुर्गासप्तशत्यां १।५५ ] 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा । बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति' इत्युक्तम् । ननु सत्सङ्गेन श्रीमद्वाक्येन वा कथं न ते यजन्ति तत्राहुः । भूतानि प्रकृतिं स्वाधिष्ठानमेव यान्ति । एतदर्थमेव नपुंसकत्वमुक्तम् । निग्रहः सत्सङ्गादीनां किं करिष्यति ? अकिञ्चित्करेष्वित्यर्थः ॥ ३३ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु ते चेत्तव मतं नानुतिष्ठन्ति तर्हि कथं तवान्तर्यामित्वम् , इत्यत आह— सदृशमिति । स्वस्याः प्रकृतेः स्वकीयस्य प्राग्भवीयधर्माधर्मसंस्कारस्य सदृशमनुरूपं ज्ञानवानपि चेष्टते, किमु मूर्खः ? 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इति न्यायात् । स्मात्प्रकृतिं यान्ति अनुसरन्ति भूतानि प्राणिनः, तत्र मम वाऽन्यस्य वा निग्रहः किं करिष्यति ? न किमपि । अहमपि पूर्वकर्मापेक्षयैव तान् प्रवर्त्तयामीति भावः ॥ ३३ ॥

बलवदिष्टानिष्टानुपातिनो रागद्वेषयोर्नियमनावश्यकता ।

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।**
**तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥ ३४ ॥**

१ शां. भा.— यदि सर्वो जन्तुरात्मनः प्रकृतिसदृशमेव चेष्टते, न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति, ततः पुरुषकारस्य विषयानुपपत्तेः शास्त्रानर्थक्यप्राप्ताविदमुच्यते— इन्द्रियस्येति । इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे सर्वेन्द्रियाणामर्थे शब्दादिविषये-इष्टे रागोऽनिष्टे द्वेषः-इत्येवं प्रतीन्द्रियार्थे रागद्वेषाववश्यम्भाविनौ । तत्रायं पुरुषकारस्य शास्त्रार्थस्य च विषय उच्यते । शास्त्रार्थे प्रवृत्तः पूर्वमेव रागद्वेषयोर्वशं नाऽऽगच्छेत् । या हि पुरुषस्य प्रकृतिः, सा रागद्वेषपुरस्सरैव स्वकार्ये पुरुषं प्रवर्तयति; तदा स्वधर्मपरित्यागः परधर्मानुष्ठानं च भवति । यदा पुना रागद्वेषौ तत्प्रतिपक्षेण नियमयति, तदा शास्त्रदृष्टिरेव पुरुषो भवति; न प्रकृतिवशः । तस्मात्तयो रागद्वेषयोर्वशं नागच्छेत् । यतस्तौ ह्यस्य पुरुषस्य परिपन्थिनौ श्रेयोमार्गस्य विघ्नकर्तारौ, तस्कराविव पथीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

२ आ. शां. व्या.— सर्वस्य भूतवर्गस्य प्रकृतिवशवर्तित्वे लौकिकवैदिकपुरुषकारविषयाभावाद्विधिनिषेधानर्थक्यमिति शङ्कते— यदीति । ननु यस्य न प्रकृतिरस्ति तस्य पुरुषकारसम्भवादर्थवत्त्वं तद्विषये विधिनिषेधयोर्भविष्यति, नेत्याह— न चेति । शङ्कितं दोषं श्लोकेन परिहरति— इदमित्यादिना । वीप्सायाः सर्वकरणगोचरत्वं दर्शयति— सर्वेति । प्रत्यर्थं रागद्वेषयोरव्यवस्थया प्राप्तौ प्रत्यादिशति— इष्ट इति । प्रतिविषयविभागेन तयोरन्यतरस्याऽऽवश्यकत्वेऽपि पुरुषकारविषयाभावप्रयुक्त्या प्रागुक्तं दूषणं कथं समाधेयं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— तत्रेति । तयोरित्याद्यवतारितं भागं विभजते— शास्त्रार्थ इति । प्रकृतिवशत्वाज्जन्तोर्नैव नियोज्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— या हीति । रागद्वेषद्वारा प्रकृतिवशवर्तित्वे स्वधर्मत्यागादि दुर्वारमित्युक्तं, इदानीं विवेकविज्ञानेन रागादिनिवारणे शास्त्रीयदृष्ट्या प्रकृतिपारवश्यं परिहर्तुं शक्यमित्याह— यदेति । मिथ्याज्ञाननिबन्धनौ हि रागद्वेषौ, तत्प्रतिपक्षत्वं विवेकविज्ञानस्य मिथ्याज्ञानविरोधित्वादवधेयम् । रागद्वेषयोर्मूलनिवृत्त्या निवृत्तौ प्रतिबन्धध्वंसे कार्यसिद्धिमभिसन्धायोक्तम्— तदेति । एवकारस्यान्ययोगव्यवच्छेदकत्वं दर्शयति— नेति । पूर्वोक्तं नियोगमुपसंहरति— तस्मादिति । तत्र हेतुमाह— यत इति । हिशब्दोपात्तो हेतुर्यत इति प्रकटितः, स च पूर्वेण तच्छब्देन सम्बन्धनीयः । पुरुषपरिपन्थित्वमेव तयोः सोदाहरणं स्फोरयति— श्रेयोमार्गस्येति ॥ ३४ ॥

३ रा. भा.— प्रकृत्यनुयायित्वप्रकारमाह— श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियस्यार्थे शब्दादौ वागादिकर्मेन्द्रियस्य चार्थे वचनादौ प्राचीनवासनाजनिततत्तदनुबुभूषारूपो रागोऽवर्जनीयो व्यवस्थितः; तदनुभवे प्रतिहते चावर्जनीयो द्वेषो व्यवस्थितः; तावेवं ज्ञानयोगाय यतमानं नियमितसर्वेन्द्रियं स्ववशे कृत्वा प्रसह्य स्वकार्येषु संयोजयतः; ततश्चायमात्मस्वरूपानुभवविमुखो विनष्टो भवति । तयोर्न वशमागच्छेत् ज्ञानयोगारम्भेण रागद्वेषवशमागम्य न विनश्येत्; तौ हि रागद्वेषौ ह्यस्य दुर्जयौ शत्रू आत्मज्ञानाभ्यासं वारयतः ॥ ३४ ॥

---

१ अत्र— 'इन्द्रियस्यार्थे रूपादिविषये इन्द्रियस्य चक्षुरादेः' इति व्याचक्षाणानां नव्यानां कथितपदाख्यदोषान्नापरः कोऽपि लाभ इति ध्येयं सुधीभिः । —अविगीता ।

४ वे. ता. चं.—वासनायाः स्वानुरूपचेष्टाहेतुत्वेऽवान्तरव्यापारोऽनन्तरमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह-**प्रकृत्यनुयायित्वेति**। इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सा सर्वेन्द्रियसङ्ग्रहार्थेत्यभिप्रायेण ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियोपादानम्। अर्थशब्दोऽत्र विषयपरः। साध्यस्य च व्यापारविषयत्वाद्वचनादेरप्यत्रार्थशब्दार्थता दर्शिता। 'व्यवस्थितौ' इत्यत्रोपसर्गार्थविवरणम्— **अवर्जनीय** इति। वासनाया इच्छाद्वारेणैव प्रवृत्तिहेतुत्ववचनात् ज्ञानवासनैव कर्महेतुत्ववेषेण कर्मवासनेत्युच्यते; न तु वासनान्तरमस्तीत्यपि सूचितं भवति। 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ' इत्युक्ते शब्दादिविषयेषु रागवद्द्वेषोऽपि किं स्वरसवाही? इति शङ्का स्यात्, तद्व्युदासायाह **तदनुभव** इति। ततः किं? इति शङ्कायां 'सदृशं चेष्टते' [३।३३] इत्यनेनैकीकृत्यानुसन्दधानस्तात्पर्यार्थमाह **तावेवमिति**। एवमुक्तवासनानुयायित्वप्रकारेणेत्यर्थः। **नियमितसर्वेन्द्रिय**मित्यनेन बलात् क्षणमात्रनिमीलनादिनियमनमुच्यते **स्वकार्येष्विति**— विषयानुभवेषु वचनादानादिषु कर्मसु चेत्यर्थः। 'सङ्गात्सञ्जायते' इत्यारभ्य 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' [२।६२,६३] इत्यन्तं पूर्वप्रपञ्चितमवसरे स्मारयति— **ततश्चाय**मिति। 'तयोर्न वशमागच्छेत्' इत्येतन्न तावद्रागद्वेषनिषेधमात्रम्, तदा ह्यौचित्यात् ज्ञानयोगाङ्गविधानं स्यात्। तच्च ज्ञानयोगानादरणीयताप्रकरणासङ्गतम्; अतोऽत्र यया वचनव्यक्त्या ज्ञानयोगानादरणीयता सूच्येत, सैव ग्राह्येत्यभिप्रायेणाह— **ज्ञानयोगेति**। कर्मयोगारम्भे तु चिराभ्यस्ततज्जातीयविषयेषु प्रवृत्तेर्न रागद्वेषयोर्बलात्कार इति भावः। **आगम्य न विनश्येदिति**— विनाशहेतुभूतं तद्वशगमनं परिहरेदित्यर्थः। तद्वशगमने कथं विनाशः? इति शङ्कायां चतुर्थपादमवतारयति **तौ हीति**। 'काम एष क्रोध एषः' [३।३७] इत्यादिभिः श्लोकैर्वक्ष्यमाणमाकारमभिप्रेत्य **दुर्जयौ शत्रू** इत्युक्तम्। परिपन्थित्वं प्रकृतविषयं योजयति— **आत्मज्ञानाभ्यासं वारयत** इति। मुक्तिघण्टापथे लुण्टाकवदवस्थिताविन्यर्थः॥ ३४॥

**५ आ. मा. भा.— तथापि शक्तितो निग्रहः कार्यः। निग्रहात्सद्यः प्रयोजनाभावेऽपि भवत्येवातिप्रयत्नत इत्याशयवानाह— इन्द्रियस्येति। तथा ह्युक्तम्— 'संस्कारो बलवानेष ब्रह्माद्या अपि तद्वशाः। तथापि सोऽन्यथाकर्तुं शक्यतेऽतिप्रयत्नतः' इति॥ ३४॥**

६ ज. प्र. दी.— 'इन्द्रियस्य' इत्यस्य सङ्गतिमाह— **तथापीति**। एवं तर्हि 'मयि सर्वाणि कर्माणि' [३।३०] इतिविधानं फलकथनं च व्यर्थमित्याशङ्क्येति भावः। यद्यपि 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' [३।३३] इति निग्रहोऽकिञ्चित्करस्तस्यापि व्याहतमेतदुच्यत इत्यत उक्तं **निग्रहादिति**। निग्रहादित्याद्याशयवांस्तथापीत्याद्याहेति योजना। अत्रागमसम्मतिमाह— **तथाहीति**॥ ३४॥

**७ ह. पै. भा.— अतः शास्त्रानर्थक्यमिति चेत्तत्राऽऽह— इन्द्रियस्येति। इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे सर्वेन्द्रियाणामर्थे रागः, अनिष्टे द्वेषः, इत्येवं यद्यपि प्रकृत्याख्यस्वभावतः प्रवृत्तिनिवृत्ती, तथापि तयो रागद्वेषपूर्वकत्वं प्रत्यक्षा रागात्प्रवृत्तिर्द्वेषान्निवृत्तिरिति। अतो रागद्वेषौ नियम्य यथाशास्त्रं प्रवर्तेत। यतस्तौ रागद्वेषौ परिपन्थिनौ पुरुषार्थप्रतिबन्धकौ॥ ३४॥**

८ वें. ब्र. गि.— नन्वेवं प्रकृत्यैव चेत्पुरुषस्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्च तर्हि विधिनिषेधशास्त्रवैयर्थ्यम्; न च प्रकृतिशून्यः कश्चिदस्ति, यं प्रति तयोरर्थवत्त्वं स्यादित्याशङ्क्याह— **इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति** वीप्सया ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां सर्वेषामपीति लभ्यते। तथा च श्रोत्रादिज्ञानेन्द्रियस्यार्थे शब्दादौ वागादिकर्मेन्द्रियस्यार्थे वचनादौ चानुकूले रागः प्रतिकूले द्वेष इत्येवं प्रतिविषयं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ अवश्यम्भाविनौ, तद्द्वारा च प्रकृतिः पुरुषस्य प्रवृत्तिनिवृत्ती जनयति। एवं स्थिते तयोः रागद्वेषयोर्वशवर्ती न भवेदिति शास्त्रेण नियम्यते, हि यस्मात् अस्य मुमुक्षोस्तौ परिपन्थिनौ विरोधिनाविति।

अयं भावः— सत्यमेव प्रकृत्यधीना पुरुषस्य प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति। तथापि सा प्रकृतिर्बलवदनिष्टाननुबन्धित्वज्ञानाभावसहकृतेष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं रागं पुरस्कृत्यैव शास्त्रनिषिद्धे परदारगमनादौ प्रवर्तयति; एवं बलवदिष्टसाधनत्वज्ञानाभावसहकृतानिष्टसाधनत्वज्ञाननिबन्धनं द्वेषं पुरस्कृत्यैव शास्त्रविहितादपि सन्ध्यावन्दनादेर्निवर्तयति। तत्र निषेधशास्त्रेण प्रतिषिद्धस्य बलवदनिष्टानुबन्धित्वे ज्ञापिते सहकार्यभावात् केवलं दृष्टेष्टसाधनमधुविषसंस्कृतान्नभोजन इव तत्र न रागं जनयितुं शक्नोति। एवं विधिशास्त्रेण बलवदिष्टानुबन्धित्वे बोधिते सहकार्यभावात् केवलमनिष्टसाधनताज्ञानं भोजनादाविव न तत्र द्वेषं जनयितुं शक्नोति। ततश्चाप्रतिबन्धं शास्त्रं विहिते पुरुषं प्रवर्तयति, निषिद्धाच्च निवर्तयतीति शास्त्रीयविवेकज्ञानप्राबल्येन रागद्वेषयोः कारणोपमर्देनोपमर्दान्न प्रकृतिः शास्त्रदृष्टिं पुरुषमुन्मार्गे प्रवर्तयितुं क्षमत इति न शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः। यत्र त्वनिष्टसाधनत्वज्ञाने सत्यपि रागोऽवतिष्ठते यथा राजदारगमनादौ, मा भूत्तत्र निषेधशास्त्रस्य निवर्तकत्वं, मा भूच्च तत्र तस्य प्राबल्यम्; इच्छाप्रारब्धरूपा प्रवृत्तिरेव तत्र प्रबलाऽस्तु; का नो हानिः? न चैतावता शास्त्रवैयर्थ्यम्, स्थलान्तरे रागनिवर्तनेन सार्थकत्वात्। न हि गभीरस्रोतःपातिनामुत्तरणं नासीदिति नौकावैयर्थ्यमिति ३४

९ व० त० दी०— नन्वेवं सति विधिनिषेधवैयर्थ्यं प्रकृत्यधीनत्वात्सर्वस्येत्याशङ्क्याह– इन्द्रियस्येति। न हि विधिनिषेधौ तत्त्वज्ञात्यन्ताज्ञयोः प्रवर्त्तकौ, अविषयत्वात्। किन्तु मध्यमस्येति इन्द्रियस्यानेवाधिकारीति तस्य प्रतीन्द्रियार्थं रागद्वेषावन्तरस्वकृतौ व्यवस्थितौ, तदनधीनत्वमेव सिद्धिहेतुरिति, अतस्तयोर्न वशमागच्छेत्, तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ विवेकवित्तस्य कुपथप्रापकौ, प्रसभं घातकावित्यर्थः ॥ ३४ ॥

१० पु. अ. त.— ननु प्रकृतेर्भगवद्दत्तसामर्थ्यान्निग्रहादीनामसाधकत्वे पुरुषसञ्जीवानां कथं फलसिद्धिः? इत्यत आहुः— इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थ इति। इन्द्रियस्य इन्द्रियाणां– जात्यभिप्रायेणैकवचनम्– इन्द्रियस्यार्थे रूपादौ रागद्वेषौ व्यवस्थितौ नियतभाव्यौ। इष्टे रागोऽनिष्टे द्वेषः। अवश्यमेतौ भाविनौ। तयोरिष्टानिष्टयोः रागद्वेषयोर्वा वशं नागच्छेत्। यतस्तावस्य परिपन्थिनौ द्वेषिणौ मार्गविच्छेदकौ। अत्रायमर्थः– मायायाः स्वीयान्तानां तत्सम्बन्धिनां च मोहनसामर्थ्यं भगवता दत्तमतः पुरुषांशो जीव इन्द्रियादिवशं नागच्छेत्तदा मोहो न भवेत्। मायायाः स्वसम्बन्धिमोहकसामर्थ्यज्ञापनायैव पूर्वं भूतानीति नपुंसकलिङ्गमुक्तम्। अत्रोपदेशे चास्येत्यनेन पुल्लिङ्गमुक्तं विषयादिसङ्गस्य मोहरूपत्वादेव श्रीभागवते [ ३।३१।३५ ]— 'न तथाऽस्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः। योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥' इत्युक्तम् ॥ ३४ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं तर्हि पुरुषस्य स्वातन्त्र्याभावाद्विधिनिषेधशास्त्रं व्यर्थमित्याशङ्क्याह— इन्द्रियस्येति। इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति द्विर्वचनं वीप्सायाम्। प्रतीन्द्रियं स्वे स्वेऽर्थे शब्दादौ वचनादौ च विषये रागद्वेषौ अनुकूले रागः प्रतिकूले द्वेषश्च व्यवस्थितौ नित्यसम्बद्धौ; तत्र तयोर्वशं नागच्छेदिति शास्त्रस्याभ्यनुज्ञा, पुरुषस्य च तदनुष्ठाने स्वातन्त्र्यमस्ति; हि यतः तौ रागद्वेषावेवास्य प्राणिनः परिपन्थिनौ विरोधिनौ, दृष्टद्वारेण प्रवर्त्तकत्वात्, न तु प्रकृत्यनुसारी ईश्वरोऽस्य परिपन्थी, तस्य वैषम्यादिदोषापत्तेः। अयं भावः– यथा ह्यलनेन स्वाज्ञोल्लङ्घनजेनापराधेन कुपितो राजाऽपराधिनं हि निगडादौ निग्रहीतुं स्वीयान् भटान् प्रवर्त्तयति स एवाद्यतनेन दानमानेन प्रसादित एनं तेषामेव भटानामाधिपत्ये नियुङ्क्ते। एवं पूर्वकर्मानुसारी ईश्वरो रागादिद्वारा पुरुषं बाधमानोऽपि विधिप्रतिषेधशास्त्रानुसारिणा तेनैव भक्तिध्यानप्रणिधानेनावर्जित एनं रागादिजये नियुङ्क्ते; तस्माद्विधिप्रतिषेधशास्त्रस्य नानर्थक्यं, पुरुषस्य स्वातन्त्र्यसत्त्वात्; नापीश्वरे वैषम्यादिकं प्राणिकर्मायत्तत्वादिति ॥ ३४॥

परधर्मात्स्वधर्मस्यैव श्रेयस्करत्वम्।

## श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
## स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥ ३५ ॥

**१ शां. भा.**— तत्र रागद्वेषप्रयुक्तो मन्यते शास्त्रार्थमप्यन्यथा 'परधर्मोऽपि धर्मत्वादनुष्ठेय एव' इति, तदसत्– श्रेयानिति। श्रेयान् प्रशस्यतरः स्वो धर्मः स्वधर्मो विगुणोऽपि विगतगुणोऽप्यनुष्ठीयमानः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्साद्गुण्येन सम्पादितादपि स्वधर्मे स्थितस्य निधनं मरणमपि श्रेयः परधर्मे स्थितस्य जीवितात्। कस्मात्? परधर्मो भयावहः नरकादिलक्षणं भयमावहतीति यतः ॥ ३५॥

२ आ. शां. व्या.— रागद्वेषयोः श्रेयोमार्गप्रतिपक्षत्वं प्रकटयितुं परमतोपन्यासद्वारा समनन्तरश्लोकमवतारयति– तत्रेत्यादिना। व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः। शास्त्रार्थस्यान्यथा प्रतिपत्तिमेव प्रत्याययति— परधर्मोऽपीति। स्वधर्मवदित्यपेरर्थः। अनुमानं दूषयन्नुत्तरत्वेन श्लोकमुत्थापयति— तदसदिति। क्षत्रधर्माद्युद्धादुरनुष्ठानात्परिव्राड्धर्मस्य भिक्षाशनादिलक्षणस्य स्वनुष्ठेयतयाऽपि कर्तव्यत्वं प्राप्तमित्याशङ्क्य व्याचष्टे– श्रेयानिति। उक्तेऽर्थे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह— कस्मादित्यादिना। स्वधर्ममवधूय परधर्ममनुतिष्ठतः स्वधर्मातिक्रमकृतदोषस्य दुष्परिहरत्वान्न तत्त्यागः साधीयानित्यर्थः ॥ ३५ ॥

**३ रा. भा.**— अतः सुशकतया स्वधर्मभूतः कर्मयोगो विगुणोऽप्यप्रमादगर्भः प्रकृतिसंसृष्टस्य दुश्शकतया परधर्मभूतात् ज्ञानयोगात् सगुणादपि किञ्चित्कालमनुष्ठितात् सप्रमादाच्छ्रेयान्; स्वेनैवोपादातुं योग्यतया स्वधर्मभूते कर्मयोगे वर्तमानस्यैकस्मिन् जन्मन्यप्राप्तफलतया निधनमपि श्रेयः; अनन्तरायहततयाऽनन्तरजन्मन्यपि अव्याकुलकर्मयोगारम्भसम्भवात्। प्रकृतिसंसृष्टस्य स्वेनैवोपादातुमशक्यतया परधर्मभूतो ज्ञानयोगः प्रमादगर्भतया भयावहः ॥ ३५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'श्रेयान्' इत्यत्र श्लोके **स्वधर्मपरधर्म**शब्दौ न तावद्वर्णाश्रमाद्यपेक्षया प्रयुज्येते, परवर्णाश्रमादिधर्मानुष्ठानस्य दूरतो निस्सत्त्वेन तन्निषेधायोगात्, अत्र च तत्प्रसङ्गाभावात्; 'परधर्मात्स्वनुष्ठितात्स्वधर्मो विगुणः श्रेयान्' इति चोक्ते श्रेयश्शब्दस्य प्रशस्यतरवाचित्वात् स्वनुष्ठितपरधर्मस्य प्रशस्यत्वमात्रं प्रसज्जेत; न च तदुपपद्यते स्वनुष्ठितस्य दुरनुष्ठितस्य वा परधर्मस्याधर्मत्वेन गर्हणीयत्वात्। अथ क्षत्रधर्मभूतयुद्धपरित्यागाभिलाषिणोऽर्जुनस्य स्वधर्मभूतयुद्धप्रशंसा ब्राह्मणादिधर्मभूततत्परित्यागनिन्दा च क्रियत इति चेत्, अस्त्वेतावताऽपि निषेध्यस्य प्रसङ्गः, तस्य प्रशस्यत्वमात्रप्रसङ्गचोद्यं तु न परिहृतम्; न चात्र 'स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं कुर्यां' इत्यर्जुनस्याभिसन्धिः; अत्रैव ह्यस्येदानीं स्वधर्मत्वबुद्धिः; स्वधर्मतया भ्राम्यतः परधर्मत्वमत्र ज्ञाप्यत इति चेत्, तन्न; स्वनुष्ठितात् परधर्मादित्यनुवादरूपत्वानुपपत्तेः; परधर्मतया सम्प्रतिपन्नत्वे ह्येवं व्यपदेश उपपद्यते; तत्र च परधर्मत्वज्ञापनं निष्प्रयोजनम्, अधर्मत्वमात्रस्यैव ज्ञाप्यत्वात्; अतोऽत्र स्वधर्मपरधर्मशब्दौ प्रशस्यतयाऽनादरणीयतया च प्रकृतकर्मयोगज्ञानयोगविषयौ; एवं च सति ज्ञानयोगस्य प्रशस्यत्वमात्रप्रसङ्गोऽपि न दूषणम्; पूर्वश्लोकद्वयप्रकृतवासनानुवर्तित्वेन सङ्गतिश्च स्यात्, 'अथ केन' इत्युत्तरश्लोकस्थप्रश्नोऽप्येवमेवोपपद्यते—

अत्र ह्यनिच्छतोऽपि पापाचरणहेतुः क इति प्रश्नः; स च ज्ञानयोगदुष्करत्वकथनेनैव सङ्गच्छेत; अनिच्छतोऽपि मे क्षत्रधर्मत्यागः केनेति प्रश्नार्थ इति चेत्, न; अस्यानिच्छत्वाभावात्, 'काम एष क्रोध एषः' [३।३७] इत्याद्युत्तरानुपपत्तेश्च; न हि कामक्रोधाभ्यामर्जुनो युद्धं परित्यजति, किन्तु कारुण्यादिनेत्युपक्रमेऽप्युक्तम्; अतः स्वधर्मपरधर्मशब्दौ स्वशक्यपरशक्यधर्मविषयौ; तदेतदखिलमभिप्रेत्याह—**अतः सुशकतयेति**। अतः श्लोकद्वयोक्तवासनानुवर्तित्ववशादित्यर्थः। **विगुणो**ऽपि अङ्गवैकल्ययुक्तोऽपीत्यर्थः। विगुणस्य कथं श्रेयस्त्वमित्यत्रोक्तं **अप्रमादगर्भे** इति?। वैगुण्यमात्रं स्वरूपविच्छेदाद्वरमिति भावः। स्वनुष्ठितादित्यस्य वैगुण्यप्रतियोग्याकारपरतया सुशब्दः साद्गुण्यपर इत्याह—**सगुणादपी**ति। अनुष्ठितशब्दस्य भूतार्थप्रत्ययान्तत्वाद्भूतत्वस्य चातिक्रान्ततारूपत्वात् प्रागनुष्ठानं पश्चाद्विच्छेदश्च सूचित इत्यभिप्रायेणोक्तं **कञ्चित्कालमनुष्ठितात्सप्रमादि**ति। एवं विच्छेदाविवक्षायां स्वनुष्ठितात् ज्ञानयोगाद्विगुणः कर्मयोगः श्रेयानित्येतदसङ्गतं स्यात्, सगुणस्याविच्छिन्नस्य फलाविनाभावादिति भावः।

सुशकतयेत्युक्तहेतुविवरणमुखेन **स्वधर्म**शब्दार्थं च विवृण्वन् विगुणस्य कर्मणः फलाविनाभावात् कथं श्रेयस्त्वं? इतिशङ्कापरिहारतया तृतीयं पादं व्याख्याति—**स्वेनैवे**ति। स्वेनैव प्रकृतिसंसृष्टतया व्याप्रियमाणेन्द्रियेणैवेत्यर्थः। यद्वा स्वेच्छयैवेति भावः। **एकस्मिन् जन्मन्यप्राप्तफलतयेति**। **अयमभिप्रायः**—यद्यप्यात्मसाक्षात्कारादिफलार्थतया विहितत्वात् कर्मयोगः काम्यकर्मैव; तथाप्यस्य काम्यकर्मणोऽयं विशेषः, यद्विगुणानुष्ठितमपि जन्मान्तरेऽपि सगुणानुष्ठानद्वारा फलं साधयति— इति। वैगुण्यं त्वस्य फलविलम्बमात्रप्रयोजकम्। काम्यकर्मान्तरवन्न फलाभावप्रयोजकमित्येकस्मिन् जन्मनीत्यभिप्रेतं विवृण्वन् जन्मान्तरेऽपि विगुणस्य कथं फलसाधनत्वं? इत्यत्राह— **अनन्तरायहततये**ति, इन्द्रियाणामनुभूतसजातीयविषयसमर्पणेन कर्मयोगस्वरूपस्यात्यन्तविच्छेदाभावादित्यर्थः। अव्याकुलत्वमत्राविकलत्वम्। एतच्च सर्वं 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' [२।४०] इति पूर्वं सङ्ग्रहेणोक्तम्। 'पार्थ! नैवेह नामुत्र' [६।४०] इत्यादिना प्रपञ्चयिष्यते च। अव्यवहितानन्तरजन्मनि पौष्कल्यनिर्णयाभावेन **सम्भवा**दित्युक्तम्। अनन्तरे ततोऽनन्तरे वा फलं तावत्सिद्धमिति भावः। यदि विगुणस्य कर्मयोगस्य जन्मान्तरस्थं फलमभिप्रेत्य श्रेयस्त्वमुच्यते; तर्हि ज्ञानयोगस्यापि तथा किं न स्यात्? इत्यत्र चतुर्थं पादं व्याख्याति—**प्रकृती**ति। जन्मान्तरेऽपि फलं न सम्भवतीत्यभिप्रायेण 'भयावहः' इत्युच्यते। स्वरूपेण विच्छिन्नस्य कथं जन्मान्तरेऽपि फलम्? अविच्छिन्नस्य विगुणस्य फलं विलम्बितमिति भावः॥ ३५॥

**५ आ. मा. भा— तथाप्युग्रं युद्धकर्मेत्यत आह— श्रेयानिति ॥ ३५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**—'श्रेयान्' इत्यस्य सङ्गतिमाह—**तथापी**ति। 'ज्यायसी चेत्' [३।१] इत्यत्र द्वावाक्षेपावर्जुनेन कृतौ, तत्राद्यः 'लोकेऽस्मिन्' [३।३] इत्यादिना परिहृतः; इदानीं 'युद्धयस्व विगतज्वरः' [३।३०] 'तयोर्न वशमागच्छेत्' [३।३४] इत्युक्त्या स्मारितं द्वितीयमाक्षेपमाशङ्क्य परिहरतीत्यर्थः। यद्यपि कर्म कर्तव्यं तथापि उग्रमवर्जनीयरागद्वेषं न कुर्यामिति शेषः॥ ३५॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्चान्यत्— श्रेयानिति। यतः श्रेयान् प्रशस्यतरः स्वधर्मो विगुणः कतिपयाङ्गै रहितः, परस्य धर्मः परधर्मस्तस्मात्; परधर्मात्सगुणमनुष्ठितात्। अतः स्वधर्मे निधनं श्रेयः प्रशस्यतरम्। परधर्मो भयावहः, भयमावहतीत्यर्थः॥ ३५॥**

८ वें. ब्र. गि.— इत्थम् 'मयि सर्वाणि' [३।३०] इति श्लोकेन कृत्स्नमध्यायार्थमुपसंहृत्य 'ये मे मतम्' [३।३१] इति द्वाभ्यां तस्यावश्यानुष्ठेयत्वमुक्त्वा 'सदृशं चेष्टते' [३।३३] इत्यनेन पापिष्ठानां तत्रारुचिमभिधाय 'इन्द्रियस्य' [३।३४] इति श्लोकेन स्वाभाविकरागद्वेषप्रयुक्तपश्वादिसाधारणप्रकृतिप्रहाणेन शास्त्रीयमेव कर्म कर्तव्यमित्युक्तम्; इदानीं

शास्त्रीयेऽपि कर्मणि स्वधर्म एव कर्तव्य इत्याह— **श्रेयानिति** । स्वनुष्ठितात् सर्वाङ्गोपसंहारेण कृतात् परधर्मात्स्वे प्रत्यविहितात् विगुणोऽङ्गहीनोऽपि स्वधर्मः स्वकीयवर्णाश्रमोदितो धर्मः श्रेयान् प्रशस्यतरः, यथा हि सुरूपिण्याः परमातुः सकाशात् कुरूपाऽपि स्वमाता हिता भवति तद्वत् । तथा हि यतः परधर्मस्थितस्य जीवनादपि स्वधर्मस्थितस्य मरणं श्रेयः, इह लोके कीर्तिकरत्वात्, परलोके च स्वर्गादिहेतुत्वात् । परधर्मस्तु इहाकीर्तिं परत्र नरकं च प्रयच्छन्भयावहः ॥ ३५ ॥

९ व० त० दी०— तदेवं रागद्वेषवशेन कस्यापि नोक्तधर्मे प्रवृत्तिः प्राकृतत्वादित्युक्तं, ततस्तौ विहाय प्राकृतेनापि स्वधर्मस्तु न हेयः, परधर्मोऽपि नोपादेयः, इति बोधयन्नाह— श्रेयानिति । विगुणोऽङ्गहीनोऽपि स्वनुष्ठितात्साङ्गात् ॥ ३५ ॥

१० पु. अ. त. — ननु सर्वप्रकारेण भवदुक्तधर्मस्य कठिनत्वेन कथं सिद्धिः ? इत्याशङ्क्याहुः— श्रेयानिति । स्वधर्मो भगवद्धर्मः विगुणः अङ्गादिभावरहितः परधर्मात् मोहकधर्मात् स्वनुष्ठितात् सुष्ठुप्रकारेणानुष्ठितात् सम्पादितात् श्रेयान् उत्तमः । यतः पूर्वं विगुणोऽपि भगवद्धर्मो मरणसमये भगवत्स्मारकत्वेनोपयुक्तो भवति, तस्मात् स्वधर्मे सति निधनं मरणं श्रेयः, मोक्षप्रापकमित्यर्थः । परधर्मो मरणसमये पूर्वानुष्ठितः स्वविषयस्मारको भवत्येव, स तत्क्षणे यमदूतादिदर्शकत्वेनाऽग्रे च नरकादियातनायां तत्साधकत्वेन च भयावहः भयकर्तेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

११ नी. भा. दी.— यस्मादेवं तस्मात्– श्रेयान् प्रशस्ततरः स्वधर्मः, स्वस्य वर्णाश्रमानुरूप्येण ईश्वरेण विहितत्वात् विगुणो हिंसादिमिश्रोऽपि किञ्चिदङ्गहीनोऽपि परधर्मात् हिंसादिदोषरहितपरधर्मापेक्षया स्वनुष्ठितात् सर्वाङ्गोपसंहारेण सम्यगनुष्ठितादपि स एव श्रेयान् । स्वधर्मे युद्धादौ निधनं मरणमपि श्रेयः, विहितत्वात्; परस्य धर्मो भैक्षचर्यादिर्भयावहः, क्षत्रियस्य तव निषिद्धत्वात् । तस्मात्स्वतन्त्रेण त्वया स्वधर्म एवानुष्ठेय इति भावः॥ ३५॥

## अर्जुन उवाच— अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
## अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय ! बलादिव नियोजितः ॥ ३६ ॥

**१ शां. भा.**— यद्यप्यनर्थमूलं 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' [ २।६२ ] इति 'रागद्वेषौ.... ह्यस्य परिपन्थिनौ' [ ३।३४ ] इति चोक्तं, विक्षिप्तमनवधारितं च तदुक्तं तत्सङ्क्षिप्तं निश्चितं चेदमेवेति ज्ञातुमिच्छन्नर्जुन उवाच ज्ञाते हि तस्मिंस्तदुच्छेदाय यत्नं कुर्यामिति— अथेति । अथ केन हेतुभूतेन प्रयुक्तः सन् राज्ञेव भृत्योऽयं पापं कर्म चरत्याचरति पूरुषः पुरुषः स्वयमनिच्छन्नपि हे वार्ष्णेय वृष्णिकुलप्रसूत ! बलादिव नियोजितः ? । राज्ञेवेत्युक्तो दृष्टान्तः ॥ ३६ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रागेवानर्थमूलस्योक्तत्वात्पुनस्तज्जिज्ञासया प्रश्नानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **यद्यपीति** । विक्षिप्तं विविधेषु प्रदेशेषु क्षिप्तं दर्शितमिति यावत्, अनवधारितमनेकत्रोक्तत्वादनेकधाऽविवेककामादिभिर्विकल्पितत्वादित्यर्थः। नन्वनर्थमूलं परिहर्तव्यं तत्किमिति ज्ञातुमिष्यते ? तत्राऽऽह— **ज्ञाते हीति** । कुर्यामिति तज्ज्ञानमर्थवदिति शेषः । वाक्यारम्भार्थत्वमथशब्दस्य गृहीत्वा प्रश्नवाक्यं व्याकरोति– **अथे**त्यादिना । अनिच्छतोऽपि बलादेव दुश्चरितप्रेरितत्वे दृष्टान्तमाचष्टे– **राज्ञेवेति** । विनियोज्यत्वस्येच्छासापेक्षत्वात्तदभावे तदसिद्धिमाशङ्क्य प्रागुक्तं स्मारयति— **राज्ञेवे**त्युक्त इति ॥३६॥

**३ रा. भा.**— अथायं ज्ञानयोगाय प्रवृत्तः पुरुषः स्वयं विषयाननुभवितुमनिच्छन्नपि केन प्रयुक्तो विषयानुभवरूपं पापं बलान्नियोजित इव चरति ? ॥ ३६ ॥

४ वे. ता. चं.— ननु 'सदृशं चेष्टते' [३।३३] इत्यादिना वासनानुवर्तित्वमुक्तम्; वासना च चेतनस्येच्छाद्वारेण प्रवर्तिका ; एवं च सति ज्ञानयोगमिच्छतस्तद्विरोधितया विषयानुभवमनिच्छतोऽपि कथं वासनाविषयानुभवे प्रवृत्तिहेतुः ? इति पृच्छति— **अथ केने**ति । अत्र 'अनिच्छमानोऽपि बलादाताडयेव नियोजितः' इति **यादवप्रकाश**पाठोऽपपाठः । अथशब्दोऽत्र प्रश्नार्थकः, कार्त्स्न्यपरो वा । ज्ञानवानपीति ज्ञानवत्त्वेन निर्दिष्टपरामर्शकोऽयंशब्द इत्यभिप्रायेणोक्तं **अयं ज्ञानयोगाय प्रवृत्त** इति । न ह्ययं वासनयाऽप्यनिच्छापूर्वं प्रवर्तते चेतनत्वादिति पुरुषशब्दस्य भावः । अनिच्छन्तोऽपि वायूदकादिप्रेरिताः प्रवर्तन्ते; तद्वदत्रापि केनचित्प्रेरकेण बलवता भवितव्यमिति मत्वोक्तं **बला**दित्यादि । 'बलादिव नियोजितः' इत्यस्य केनेत्यादिप्रश्नविरुद्धावगतार्थतां परिहर्तुं क्रमभेदेनान्वय उक्तः । वायूदकादिबलान्नियोजितो यथाऽनिच्छिन्नप्याचरति, तथाऽयमप्याचरति; तत्र केन प्रयुक्त इति प्रश्नार्थः ॥ ३६ ॥

५ आ. मा. भा.— बहवः कर्मकारणाः सन्ति, क्रोधादयः कामश्च। तत्र को बलवानिति पृच्छति– अथेति। अथेत्यर्थान्तरं 'तयोर्न वशमागच्छेत्' [ ३।३४ ] इति प्रश्नप्रापकम् ॥ ३६ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'अथ केन' इत्यर्जुनप्रश्नोऽनुपपन्नः। 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' [ ३।३४ ] इति रागद्वेषयोः परिपन्थित्वस्योक्तत्वात्; न हि पापप्रयोजकत्वात्। अन्यद्रागादेः पुरुषपरिपन्थित्वमित्यतः प्रश्नाभिप्रायमाह— बहव इति। कारणशब्दः करोतेर्ण्यन्तात्करणे ल्युडंतः, स च त्रिलिङ्गः। अयमनुमान इति भाष्ये प्रयोगात्। अथवा "ण्यासश्रंथो युच्" [अष्टा. ३।३।१०७ ] इति करणे युच्। अयं च स्त्रीलिङ्गः। बहव इत्यपि स्त्रीलिङ्ग एव। 'वोतो गुणवचनात्' [ अष्टा.४।१।४४ ] इति विकल्पविधानात्। कर्मेति पापं विवक्षितम्, द्वयोरेवोक्तत्वात् कथं बहव इत्यनुवादः? इत्यत आह— क्रोधादय इति। पूर्वं भगवता द्वेषशब्देन मदमत्सरादयोऽप्युपलक्षिताः, अरिषड्वर्गप्रसिद्धेः। तदेतद्विदित्वैवमनुवदतीति भावः। रागशब्देन कामः, द्वेषशब्देन क्रोधादयश्च त्वयोक्ता इत्यर्थः। अस्य प्रश्नस्य प्रकृते क उपयोगः? इत्यत आह— अथेति। नास्य प्रकृतेन हेतुहेतुमद्भावादिलक्षणासङ्गतिरिति स्वयमेव सूचितमित्यर्थः। अथेति शब्देनार्थान्तरमेतदिति सूच्यते। तर्ह्यसङ्गतं न प्रष्टव्यमित्यतः सङ्गत्यन्तराभावेऽपि प्रासङ्गिकी सङ्गतिरस्तीत्याशयवान् प्रसङ्गं दर्शयति— तयोरिति। अत्रापि यो बलवांस्तं प्रति महान्तं प्रयत्नं करिष्यामीति भावेन प्रश्नो युक्त एवेति भावः ॥ ३६ ॥

७ ह. पै. भा.— बुद्धिपूर्वकारिपुरुषेषु प्रसिद्धपरधर्मानुष्ठानदर्शनात्तस्य कारणबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच— अथेति। नियोजित इव ॥ ३६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमुपदिष्टस्य भगवन्मतानुष्ठानस्य प्रतिबन्धकापनोदनमन्तरेणासम्भवात्प्रथमं प्रतिबन्धकं विज्ञाय तदपनोदनं करिष्यामीति मन्वानोऽर्जुन उवाच— अथेति। अयं पुरुषः केन प्रेरितः पापं चरति? पापमिति निषिद्धं काम्यं च कर्मोच्यते। अथशब्दः प्रकृतादर्थादर्थान्तरवचनः। एवं च किम् 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' [ ३।३४ ] 'प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः' [ ३।२९ ] 'ध्यायतो विषयान्पुंसः' [२।६२] इत्यादिना पूर्वोक्तं रागद्वेषादिकमेव पापाचरणहेतुः, ? किंवा ततोऽन्यत्किञ्चिदस्ति यन्मयाऽपनोदनीयं? इति प्रश्नार्थः। रागादिभ्योऽन्यस्य पापप्रेरकत्वं सम्भावयति— अनिच्छन्नपीति। स्वयं कर्तुमनिच्छन्नपि राज्ञा भृत्य इव बलान्नियोजितः पापं चरति। अतो रागाद्यतिरिक्तोऽपि पापप्रवर्तकः कश्चित्सम्भावित इत्यर्थः। 'बलात्' इत्यनेन पापप्रेरकेषु यः प्रबलः, यस्य जयादन्ये स्वत एव पराजीयन्ते, स वक्तव्य इत्युक्तं भवति। 'वार्ष्णेय' इत्यनेन वृष्णिवंशेऽवतीर्णेन त्वया तद्वंशप्रसूतकुन्तीतनयोऽहमनुपेक्षणीय इति सूच्यते ॥ ३६ ॥

९ व० त० दी०— 'परधर्मकृतेः पापं पुण्यं च निजधर्मतः। इति ज्ञात्वा मतं पार्थः सन्दिहानोऽथ पृच्छति' अथ केनेति। 'तयोर्न वशमागच्छेत्' [३।३७] इत्यत्यशक्यं अस्वतन्त्रत्वात् रोगिवत्। परधर्मस्वधर्मानुष्ठाने वैपरीत्यमिति पापाचरणे तु केनचित्प्रवर्त्तकेन प्राकृतेनापि भाव्यमिति अतः 'केन' इति प्रश्नः ॥ ३६ ॥

१० पु. अ. त.— अथ पुरुषांशानामधिष्ठाता तु भगवान् स चैवमुपदिशति। माया केषाञ्चन मोहयितुं प्रोक्ता तदा केनचिन्नियुक्तः सन्नयं पापाचरणे प्रवर्तत इत्यर्जुनो जिज्ञासुर्विज्ञापयति। अर्जुन उवाच— अथ केनेति। अथ पुरुषः पुरुषसम्बन्धित्वादनिच्छन्नपि हे वार्ष्णेय भक्तिधर्मप्रवृत्त्यर्थं सत्कुलाविर्भूत! बलान्नियोजित इव अधिष्ठात्रा प्रेरित इव केन प्रयुक्तः पापं चरति पापगतियुक्तो भवति? तत्फलभोगं च करोति? ॥ ३६ ॥

११ नी. भा. दी.— ईश्वरो धर्माधर्मौ रागद्वेषौ वा पुरुषस्य प्रवर्त्तकौ भवत इत्यात्मनोऽस्वातन्त्र्यं मन्वानोऽर्जुन उवाच— अथ केनेति। केन ईश्वरादीनामन्यतमेनान्येन वा प्रयुक्तः प्रवर्तितः सन्नयं पुरुषः पापमनिष्टं चरति करोति? । 'अनिच्छन्' इत्यनेन रागद्वेषयोः प्रवर्त्तकत्वं निरस्तम्। सति हि रागे इच्छा भवति; अत इच्छाया अभावाद्रागाभावः, रागस्याप्रवर्त्तकत्वे तन्मूलभूतसंस्कारहेत्वोर्धर्माधर्मयोरप्रवर्त्तकत्वम्; ततश्च तत्सापेक्षस्य ईश्वरस्यापीति सर्वेषामाक्षेपः, तस्मान्मुख्यं प्रवर्त्तकं यत्तद्वाच्यमित्यर्थः। बलादिव नियोजितः विष्टिगृहीत इवेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ज्ञानिनोऽपि पापाचरणप्रवृत्तेः कारणम्।

**श्रीभगवानुवाच— काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।**
**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्[1] ॥ ३७ ॥**

---

१ अत्र वामनो विदग्धमनोहरं विवेचयति—
महाशनो महापाप्मेत्युभयं लक्षितं क्रमात्। सर्वभक्षोऽप्यसन्तुष्टः कामः क्रोधश्च पातकी ॥—

**१ शां. भा.**— शृणु त्वं तं वैरिणं सर्वानर्थकरं यं त्वं पृच्छसि, इति भगवानुवाच— 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः। वैराग्यस्याथ मोक्षस्य षण्णां भग इतीङ्गना' [वि.पु.६।५।७४] इति ऐश्वर्यादिषट्कं यस्मिन्वासुदेवे नित्यमप्रतिबद्धत्वेन सामस्त्येन च वर्तते 'उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति' [वि. पु. ६।५।७८] उत्पत्त्यादिविषयं च विज्ञानं यस्य स वासुदेवो वाच्यो भगवानिति। काम इति। काम एष सर्वलोकशत्रुर्यन्निमित्ता सर्वानर्थप्राप्तिः प्राणिनाम्। स एष कामः प्रतिहतः केनचित्क्रोधत्वेन परिणमते, अतः क्रोधोऽप्येष एव। रजोगुणसमुद्भवो रजश्च तद्गुणश्च स रजोगुणः, स समुद्भवो यस्य स कामो रजोगुणसमुद्भवः, रजोगुणस्य वा समुद्भवः। कामो ह्युद्भूतो रजः प्रवर्तयन्पुरुषं प्रवर्तयति। तृष्णया ह्यहङ्कारित इति दुःखिनां रजःकार्ये सेवादौ प्रवृत्तानां प्रलापः श्रूयते। महाशनो महदशनमस्येति महाशनः, अत एव महापाप्मा। कामेन हि प्रेरितो जन्तुः पापं करोति। अतो विद्ध्येनं काममिह संसारे वैरिणम् ॥ ३७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सम्प्रति प्रतिवचनं प्रस्तौति— **शृण्वि**ति। तस्य वैरित्वं स्फोरयति— **सर्वे**ति। अप्रस्तुतं किमिति प्रस्तूयते? तत्राऽऽह— **यं त्वमि**ति। भगवच्छब्दार्थं निर्धारयितुं पौराणिकं वचनमुदाहरति— **ऐश्वर्यस्ये**ति। 'समग्रस्य' इत्येतत्प्रत्येकं विशेषणैः सम्बध्यते। अथशब्दस्तथाशब्दपर्यायः समुच्चयार्थः। मोक्षशब्देन तदुपायो ज्ञानं विवक्ष्यते। उदाहृतवचसस्तात्पर्यमाह— **ऐश्वर्यादी**ति। स वाच्यो भगवानिति सम्बन्धः। तत्रैव पौराणिकं वाक्यान्तरं पठति— **उत्पत्तिमि**ति। भूतानामिति प्रत्येकमुत्पत्त्यादिभिः सम्बध्यते। कारणार्थौ चोत्पत्तिप्रलयशब्दौ, क्रियामात्रस्य पुरुषान्तरगोचरत्वसम्भवात्। 'आगतिर्गतिश्च' इत्यागामिन्यौ सम्पदापदौ सूच्येते। वाक्यान्तरस्यापि तात्पर्यमाह— **उत्पत्त्यादी**ति। वेत्तीत्युक्तः साक्षात्कारो विज्ञानमित्युच्यते। समग्रैश्वर्यादिसम्पत्तिसमुच्चयार्थश्चकारः।

उक्तलक्षणो भगवान्किमुक्तवानिति तदाह— **काम** इति। कामस्य सर्वलोकशत्रुत्वं विशदयति— **यन्निमित्ते**ति। तथापि—

— क्रोधोऽपि काम एव स्याद्भेदेऽप्याह्वानरूपयोः। किन्तु क्रोधस्तमोरूपो ज्ञेयः कामो रजोगुणः ॥
अत्रैवं सति कृष्णेन क्रोधोऽपि रजसो यदा। वक्ष्यते सूक्ष्मबुद्धीनां तदा सन्देह उद्भवेत् ॥
तत्रावधेयं कुशलैः किलेदं कामोऽम्बु तन्निर्मलमाविलं च। प्रसन्नमप्येति कमाविलत्वं चलाचलं पङ्किलपल्वलस्थम् ॥
वारो यथाधार इहास्ति पङ्कस्तथैव वेद्यो रजसस्तमोऽपि। क्षुब्धे रजस्याशु ततो नितान्तं क्रोधभ्रमं तत्र तमस्तनोति ॥
अविद्यमाने सलिले तु शुष्यन् निषद्वरः प्राच्छेति मृत्तिकात्वम्। स्वान्ते तथैवासति कामलेशे न कोपशङ्कापि पदं करोति ॥
यावदस्ति जलं तावन्निर्मलं चाविलं तथा। भासते किन्तु समलमपि कीलालमेव तत् ।
भेदावुभौ जलस्यैव यथाऽच्छकलुषाभिधौ। कामक्रोधौ तथा भेदौ रजसः परिकीर्तितौ ॥
जम्बालेनाविलमपि जलमेवोच्यते पयः। तमोयुक्तस्तथा कामो रज एवेति गीयते।
काम एव कथं क्रोध इति चिन्तयतां हृदि। बोधं गूढतमं कश्चित्स्फोरयत्यत्र **माधवः** ॥
तमोऽत्र विषया ज्ञेया हृषीकाणि रजोगुणः। तद्वासनामयः कामो विषयाधारतो भवेत् ॥
भूमौ यद्वत्स्थितवति जले याति सा पङ्कभावं कालुष्यं द्रागभजति च तदाधारमेवाभ्रपुष्पम्।
पात्रेऽन्यस्मिन्निहितमिह तन्नाविलत्वं जिहीते तद्वद्युक्तः स हरिभजने क्रोधतां नैति कामः ॥
हरिभक्तिकुठारोऽसौ छिनत्ति भवकाननम्। तदुद्भवं कामकाष्ठं किन्तु तत्र नियोजयेत् ॥
कामो निर्विषयस्तत्र नितान्तं रजसो लयः। उदयः शुद्धसत्त्वस्य भक्तिरित्यभिधीयते ॥
यः कामो विषयाश्रितस्तु बलवान् स ज्ञानमार्गे रिपुः प्रारब्धं हि बलेन तस्य विषयेष्वासञ्जयत्यञ्जसा।
वैराग्यप्रवणानपि क्षणमतोऽनिच्छन्त एते क्वचित् पापं चापि चरीकरीति भगवांस्तस्मान्निनिन्दाऽत्र तम् ॥ इति।

( श्लो. ३७ ) इतःपरं कियांश्चिद्ग्रन्थभागोऽधिक उपलक्ष्यतेऽ**भिनवगुप्ताचार्य**व्याख्याने; यथा—

**अर्जुन उवाच**— भवत्येष कथं कृष्ण! कथं चैव विवर्धते। किमात्मकः किमाचारस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥
**श्रीभगवानुवाच**— एष सूक्ष्मः परः शत्रुर्देहिनामिन्द्रियैः सह। सुखतन्त्र इवासीनो मोहयन्पार्थ! तिष्ठति ॥
कामक्रोधमयो घोरः स्तम्भहर्षसमुद्भवः। अहङ्कारोऽभिमानात्मा दुस्तरः पापकर्मभिः ॥
हर्षमस्य निवर्त्यैष शोकमस्य ददाति च। भयं चास्य करोत्येष मोहयंस्तु मुहुर्मुहुः ॥
स एष कलुषः क्षुद्रश्छिद्रप्रेक्षी धनञ्जय!। रजःप्रवृत्तो मोहात्मा मानुषाणामुपद्रवः ॥ इति।— **अविगीता**।

कथं तस्यैव क्रोधत्वं ? तदाह— **स एष** इति । कामक्रोधयोरवहेयत्वद्योतनार्थं कारणं कथयति— **रजोगुणे**ति । कारणद्वारा कामादेरवहेयत्वमुक्त्वा कार्यद्वाराऽपि तस्य हेयत्वं सूचयति—**रजोगुणस्ये**ति । कामस्य पुरुषप्रवर्तकत्वमेव, न रजोगुणजनकत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **कामो** हीति । तत्रैवानुभवानुसारिणीं लोकप्रसिद्धिं प्रमाणयति— **तृष्णया** हीति । तस्य योग्यायोग्यविभागमन्तरेण बहुविषयत्वं दर्शयति— **महाशन** इति । बहुविषयत्वप्रयुक्तं कार्यं निर्दिशति— **अत** इति । सर्वविषयत्वेऽपि कुतोऽस्य पापत्वमित्याशङ्क्याह— **कामेने**ति । कामस्योक्तविशेषणवत्त्वे फलितमाह— **अत** इति ॥ ३७ ॥

**३ रा. भा.— अस्योद्भवाभिभवरूपेण वर्तमानगुणमयप्रकृतिसंसृष्टस्य ज्ञानयोगारब्धस्य रजोगुणसमुद्भवः प्राचीनवासनाजनितः शब्दादिविषयोऽयं कामो महाशनः शत्रुः सर्वविषयेष्वेनमाकर्षति, एष एव प्रतिहतगतिः प्रतिहतिहेतुभूतचेतनान् प्रति क्रोधरूपेण परिणतो महापाप्मा परहिंसादिषु प्रवर्तयति; एनं रजोगुणसमुद्भवं सहजं ज्ञानयोगविरोधिनं वैरिणं विद्धि ॥ ३७ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— अथ 'इन्द्रियस्य' इत्यादिना सङ्क्षेपेणोक्तमेवार्थं प्रश्नस्योत्तरतया प्रपञ्चयन् भगवानुवाच— **काम एष** इति । विषयानुभववासनाबीजानां कामक्रोधाद्यङ्कुरोत्पादने रजोगुणः सलिलसेकः; कामादिर्ह्यस्मिन्मते ज्ञानविशेषरूप आत्मधर्मः; रजस्तु प्रकृतिगुणः; अन्यधर्मस्य कथमन्यत्र कार्यकरत्वमित्यत्रोक्तं **गुणमयप्रकृतिसंसृष्टस्ये**ति । औष्ण्याश्रयदहनसंयोगाद्यथा करतलादौ स्फोटादिः, तथा गुणाश्रयप्रकृतिसंसर्गादात्मनि कामादिरिति भावः । तर्हि गुणत्रयमयप्रकृतिसंसर्गात् सत्त्वादिकार्यज्ञानादिरपि युगपदेव किं न स्यात्? इत्यत्रोक्तम्— **उद्भवाभिभवादिरूपेण वर्तमाने**ति । पूर्वश्लोकोक्तायंशब्दस्यात्रापेक्षयाऽस्येति विपरिणत्याऽनुषङ्गः । रजोगुणप्रचुरस्यास्य कथं ज्ञानयोगप्रारम्भमात्रत्वमपीति चोद्यमुद्भवाभिभवक्रमेण मात्रया मध्ये कदाचित्सत्त्वोन्मेषसम्भावनया निरस्तमित्यभिप्रेत्य **ज्ञानयोगारब्धस्ये**त्युक्तम् । आरब्ध इति 'भुक्ता ब्राह्मणाः' इतिवत्कर्तरि क्तः । 'एषः' इति पदेन पापाचरणे प्रयोजकः प्रश्नविषयः परामृश्यते । तेनैव 'सदृशं चेष्टते' [ ३।३३ ] 'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे' [ ३।३४ ] इति श्लोकद्वयोक्तार्थोऽप्यत्र स्मारित इत्यभिप्रेत्य **प्राचीने**त्यादिविशेषणद्वयमुक्तम् । पूर्वोक्तरागद्वेषाववस्थान्तरापन्नावत्र कामक्रोधशब्देन व्यपदिश्येते इति भावः । महाशनत्वविवरणं **विषयेष्वेनमाकर्ष**तीति महदशनं भोग्यं यस्य स महाशनः । 'एषः' इति निर्देशस्यावृत्त्या वाक्यभेदः । तत्र च वाक्यद्वयस्यैकमेव मुखभेदेन प्रतिपाद्यम् । अन्यथा कः पापाचरणे प्रयोजकः ? इति प्रश्ने 'काम एष क्रोधश्च' इत्यादिप्रकारेण निर्देष्टव्यम् । अनन्तरं च 'विद्ध्येताविह वैरिणौ' इति वक्तव्यम् । उत्तरत्र च षट्स्वपि श्लोकेषु 'तेन एतेन कामरूपेण अस्य एनं यः कामरूपम्' इति सर्वत्रैकवचननिर्देशः काममात्रनिर्देशश्च क्रियते; न तु कामात्क्रोधस्य पृथक्त्वेनाभिधानम् । ततश्च काम एवावस्थाभेदेन क्रोधतयाऽत्र विवक्षितः; तदवस्थाद्वयविषयतया च वाक्यभेद उचितः । 'महाशनो महापाप्मा' इति पदद्वयमपि बाहुल्यानुसारेणौचित्यात् क्रमेण तदुभयविषयमित्येतदखिलमभिप्रेत्याह **एष एवे**ति । 'प्रतिहतगतिः' इति क्रोधाख्ये परिणामे हेतुरुक्तः । एकस्यैव शब्दादिविषयकामावस्थातः क्रोधावस्थाया विषयतो भेदप्रदर्शनार्थमतिप्रसङ्गपरिहारार्थं चोक्तं **प्रतिहते**त्यादि । महापाप्मतां विवृणोति **परहिंसादिषु प्रवर्तयती**ति । महान् पाप्मा कार्यतया यस्यास्तीति स महापाप्मा । 'क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि' [ ] इति हि प्रसिद्धम् । एतच्छ्लोकोक्तं रजोगुणाख्यं पूर्वोक्तप्रकृतिशब्दव्यपदेशार्हं वासनाख्यं कारणं चोपस्थाप्य तदुभयकार्यताविशिष्टं 'एनं' इत्यन्वादेशः परामृशतीत्यभिप्रायेण **रजोगुणसमुद्भवं सहज**मिति पदद्वयमुक्तम् । 'इह वैरिणं' इत्यत्र इहशब्दः प्रमादवत्तया बुभुत्सितज्ञानयोगविषय इत्यभिप्रायेणोक्तं— **ज्ञानयोगविरोधिन**मिति ॥ ३७ ॥

**५ आ. मा. भा.— यस्तु बलवान् प्रवर्तकः स एष कामः । क्रोधोऽप्येष एव, तज्जन्यत्वात् । 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' [ २।६२ ] इति ह्युक्तम् । यत्रापि गुरुनिन्दादिनिमित्तः क्रोधः, तत्रापि भक्तिनिमित्तानिन्दाकामनिमित्त एव । ये त्वन्यथा वदन्ति ते सङ्करान्न सूक्ष्मं जानन्ति । उक्तं च 'ऋते कामं न कोपाद्या जायन्ते च कथञ्चन' इति । महाशनः महद्भि कामभोग्यम् । महाब्रह्महत्यादिकारणत्वात् महापाप्मा । सर्वपुरुषार्थविरोधित्वाद्वैरी ॥ ३७ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— बलवद्विषयश्चेत् प्रश्नः तर्हि परिहारो न सङ्गच्छत इत्यतः परिहारं व्याचष्टे— **यस्त्वि**ति । प्रवर्तकः पापेषु पुरुषः, त्वया पृष्ट इति शेषः । एवं योजनायां क्रोधस्यापि कामसाम्यं स्यात्, तथा चोत्तरत्र कामस्यैवानुवृत्तिर्विरुद्ध्येतेत्यतः 'क्रोध एषः' इत्येतदन्यथा व्याचष्टे— **क्रोधोऽपी**ति । किं काम एव मुख्यया वृत्त्यैवमुच्यते ? नेति ब्रूमः, किन्तूपचारेण; इति भावेनाह— **तदि**ति । तदेव कुतः ? इत्यत आह— **कामादि**ति । नायमस्ति नियमः, यदा गुरुनिन्दादिश्रवणे निन्दकाय क्रुद्ध्यति तदा कामाभावेऽपि क्रोधोदयदर्शनात्, इत्यत आह— **यत्रापी**ति । भक्तिनिमित्तश्चासावनिन्दाकामश्चेति विग्रहः । 'सङ्गात्सञ्जायते कामः' [२।६२] इत्येतद्दर्शयितुं भक्तिनिमित्तेत्युक्तम् । 'काम एव (एषः) केनचित्

प्रतिहतः क्रोधत्वेन परिणमते ' इति परेषां ( शङ्करादीनां ) व्याख्यानं दूषयति— **ये त्विति** । एकान्तःकरणोपादानत्वलक्षणादानन्तर्यलक्षणाच्च सङ्करात्सूक्ष्मं कामक्रोधयोरत्यन्तभेदम्। न हि गुणो गुणस्योपादानं, किन्तु निमित्तमेव प्रागन्वये प्रमाणमुक्तं, इदानीं व्यतिरेकेऽप्याह— **उक्तं चेति** । महाशन इति कामे दुर्घटत्वाद्गौणमित्याह— **महाशन** इति । भोग्यं विषयः । यस्मात्कामभोग्यं महत्तस्मादसौ महाशन इत्यर्थः । 'काम एषः' इति पापकारणत्वेनोक्त्वा कथं महापाप्मेत्युच्यते ? इत्यतो न कर्मधारयोऽयम्, किन्तु महान्पाप्मा यस्मादिति बहुव्रीहिरिति भावेनाह— **महाब्रह्मेति** । महच्छब्दात्परतः पापशब्दोऽध्याहार्यः । वधादिकर्तृत्वाभावात्कथं वैरित्वं? इत्यत आह— **सर्वेति** ; सर्वः सम्पूर्णः पुरुषार्थो मोक्षः ॥ ३७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— आत्मपापप्रवृत्तिकारणं श्रीभगवानुवाच— **काम** इति । एष कामः क्रोधश्च रजोगुणसमुद्भवः । महाशनः, महदशनं यस्य स महाशनो विषयसेवानुपरतः ; अत एव महापाप्मा, महान्पाप्मा पापं यस्माद्भवति स महापाप्मा । एनं कामं क्रोधं च इहाधिकारिपुरुषाणां विषये शत्रुं विद्धि ॥ ३७ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— अत्रोत्तरं **काम** इति । यस्त्वया पृष्टः प्रबलः पापहेतुः, एष काम एव । एनं काममेव सर्वानर्थमूलभूतं इह मदुपदिष्टमोक्षमार्गे वैरिणं विद्धि जानीहीति प्रथमं योजना । ननु ' तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ' [ ३।३४ ] इति क्रोधोऽपि वैरित्वेन प्रागुक्तः, तत्कथं काम एक एवोच्यते ? तत्राह— **क्रोध एष** इति । पूर्वोक्तः क्रोधोऽप्येष एव । काम एव हि केनचिद्धेतुना प्रतिहतः क्रोधरूपेण परिणमते । अतस्तज्जयेनैव सर्वजय इति ; प्रधानशत्रुः कामोऽवश्यहन्तव्य इत्यर्थः । ननु सामदानभेददण्डाश्चत्वारः शत्रुजयोपायाः, तत्र पूर्वपूर्वोपायासम्भव एवोत्तरोत्तरोपायः प्रयोज्यः ; न तु सहसैव दण्डः, इत्याशङ्क्य त्रयाणामसम्भवं दर्शयितुं रजोगुणेत्यादीनि त्रीणि विशेषणानि । तत्र ' महापाप्मा ' इति सामासम्भवोक्तिः ; महान् पाप्मा पापं यस्मात्स महापाप्मा, कामेन प्रेरितो महदपि पापं करोति अतोऽत्युग्रत्वान्न साम्ना सन्धातुं शक्यः । **महाशन** इति दानासम्भवोक्तिः ; महदपरिमितमशनं भोग्यं यस्य स महाशनः ; ' न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । तदेकस्य न पर्याप्तमिति मत्वा शमं व्रजेत् ' [ म. भा. १।८५।१२,१३+ भाग. ९।१९।१३, १४ ] इति स्मृतेः । अतो न दानेन सन्धातुं शक्यः । 'रजोगुणसमुद्भवः' इति भेदासम्भवोक्तिः ; रजोगुणः समुद्भवः कारणं यस्येति, रजोगुणस्य समुद्भवो जन्म यस्मादिति च रजोगुणसमुद्भवः । ' रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ' [ १४।७ ] इति वक्ष्यमाणरीत्या रजसः कामाविनाभावात् कामस्य चोद्भूतस्य रजोविवर्धनेन प्रवर्तकताया लोके ' तृष्णयाऽहं प्रवर्तितोऽस्मि ' इति व्यवहारेण प्रतिपन्नतया रजोविनाभावाच्च न कामे भेदोपायः प्रवर्तत इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

**९ व० त० दी०**—तत्रोत्तरम्- काम एष इति । रागपूर्वावतारः कामः, तत्तदिच्छास्वरूप एवात्र हेतुः प्रवर्त्तकः, द्वेषपूर्वावतारश्च तत्परिणामभूतः क्रोध एवाऽवसेयः । रजोगुणसमुद्भवः काम एव क्रोधस्तमोगुणसमुद्भव इति यद्यपि युक्तं वक्तुं तथापि परिणामे तमसो हेतुत्वादेवं नोक्तं, अतएव कामानुज इत्युच्यते । कामश्च तदग्रजो बुद्धिनाशनो दुष्पूरो महापाप इति तेन बलादेव नियोजितः सर्वकर्मकारीति प्रायो राजसं तामसं रागं द्वेषं तद्धेतुकं पापं वैरिणमित्युत्तरपक्षार्थः । अत्र क्रोधस्याप्युपक्रमे यत्कामस्यैव वैरित्वकथनं तत्पार्थस्य युद्धोपस्थितौ तत्तद्वन्धुजीवनादिकामत्वाभिप्रायेणेति बोध्यम् ॥ ३७ ॥

**१० पु. अ. त.**— एतत्प्रश्नोत्तरमाह भगवान्, प्रपञ्चवैचित्र्यार्थप्रकटितत्रिगुणमध्यस्थविक्षिप्तकरणैकस्वभावरजोगुणात्मकभगवदंशमोहितस्तत्र प्रवर्त्तते ; तस्मात्तद्गुणकृतविक्षेपकर्माणि तत्स्वरूपज्ञानपूर्वकं त्यजेदित्याह—**काम एष** इति । एष इति लौकिकः कामः । रजोगुणसमुद्भवः रजोगुणादुत्पत्तिर्यस्य सः । सर्वेषां द्वेषी शत्रुः । एष एव कामोऽवस्थान्तरापन्नः क्रोधो भवति, सोऽपि रजोगुणसमुद्भवः । स महाशनो दुरापूरः । अत एव श्रीभागवते उक्तं [ ९।१९।१४ ]— 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ' ॥ किं पुनर्महापाप्मा महापापरूपो भगवद्भजनप्रतिबन्धकः ? । इह संसारे देहग्रहणानन्तरमेनं वैरिणं विद्धि । ' इह ' इतिपदादेतद्देहावसाने सति अलौकिकेऽयमेव कार्याय भविष्यतीति भावः ॥ ३७ ॥

**११ नी. भा. दी.**— अत्रोत्तरं "काममय एवायं पुरुषः" [ बृ. उ. ४।४।५ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धं भगवानुवाच— काम एष इति । एष प्रसिद्धः कामः । "सोऽकामयत जाया मे स्यादथ प्रजायेयाथ वित्तं मे स्यादथ कर्म कुर्वीय" [ बृ. उ. १।४।१७ ] इति श्रुतेः । 'इदं मे भूयादिदं मे भूयात्' इति तीव्राभिलाषहेतुभूतश्चेतसोऽनवस्थितत्वापादको वृत्तिविशेषः, स च चेतोरूप एव ; "कामः सङ्कल्पः" इत्युपक्रम्य "एतत्सर्वं मन एव" [ बृ. उ. १।५।३ ] इत्युप-

संहारात् । स एष कामः केनचिन्निमित्तेन प्रतिहतः क्रोधरूपेण परिणमतेऽतः क्रोधोऽभिज्वलनात्माऽप्येष एव, तमेनमिह शरीरेऽन्तःस्थितं वैरिणं विद्धि। कुतो वैरी ? यतः रजोगुणसमुद्भवः रजो रञ्जनात्मकः प्राकृतो गुणस्तस्य गुणौ कार्यभूतौ तृष्णासङ्गौ तावेव उद्भवो यस्य सः, रजःकार्यत्वात्; दुःखैकफलोऽयमतो वैरी । यद्वा रजोगुणस्य लोभप्रवृत्त्यादिलक्षणस्य समुद्भवो यस्मात् । ननु विषयाभिलाषात्मकः कामो विषयार्पणेन शाम्यति, विषयस्य दौर्लभ्यनिश्चये स्वत एव वा निवर्त्तते, अन्ध इव रूपदर्शनाभिलाषादित्याशङ्कयाह– महाशनो महापाप्मेति । महत् दातुमपारणीयं अशनमस्य स तथा । यथोक्तं ' न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' [ भाग. ९।१९।१४ ] इति । ' यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्' [ भाग. ९।१९।१३ ] इति । तथा महापाप्मा अत्युग्रः, स हि सहस्रशः प्रबोधितोऽपि न निवर्त्तते, तद्वदयमपि दुश्चिकित्स्यः महाशनत्वात्; नायं वैरी दानसाध्यः, नापि सामभेदसाध्यः, अत्युग्रत्वात्; अतो हन्तव्य एवेति ॥ ३७ ॥

कामस्य वैरित्वे दृष्टान्तत्रयं तदावरणप्रकारपूर्वकं रूपं च ।

**धूमेनाऽऽव्रियते वह्निर्यथाऽऽदर्शो मलेन च ।**
**यथोल्बेनाऽऽवृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥**
**आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।**
**कामरूपेण कौन्तेय ! दुष्पूरेणानलेन च ॥ ३९ ॥**

**१ शां. भा.**— कथं वैरी ? इति दृष्टान्तैः प्रत्याययति— **धूमेनेति** । धूमेन सहजेनाऽऽव्रियते वह्निः प्रकाशात्मकोऽप्रकाशात्मकेन, यथा वाऽऽदर्शो मलेन च, यथोल्बेन जरायुणा गर्भवेष्टनेन च आवृत आच्छादितो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥ ३८ ॥ किं पुनस्तदिदंशब्दवाच्यं यत्कामेनाऽऽवृतम् ? इत्युच्यते— **आवृतमिति** । आवृतमेतेन ज्ञानं ज्ञानिनो नित्यवैरिणा । ज्ञानी हि जानाति अनेन अहमनर्थे प्रयुक्तः पूर्वमेवेति । दुःखी च भवति नित्यमेव । अतोऽसौ ज्ञानिनो नित्यवैरी, न तु मूर्खस्य । स हि कामं तृष्णाकाले मित्रमिव पश्यंस्तत्कार्ये दुःखे प्राप्ते जानाति तृष्णयाऽहं दुःखित्वमापादित इति न पूर्वमेव । अतो ज्ञानिन एव नित्यवैरी । किंरूपेण ? कामरूपेण काम इच्छैव रूपमस्येति कामरूपस्तेन, दुष्पूरेण दुःखेन पूरणमस्येति दुष्पूरस्तेन, अनलेन नास्यालं पर्याप्तिर्विद्यत इत्यनलस्तेन च ॥ ३९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उत्तरश्लोकमवतारयति– **कथमिति** । अनेकदृष्टान्तोपादानं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थम् । सहजस्य धूमस्य प्रकाशात्मकवह्निं प्रत्यावरकत्वसिद्ध्यर्थं विशिनष्टि— **अप्रकाशात्मकेनेति** ॥ ३८ ॥ सामान्यतो निर्दिष्टं विशेषतो निर्देष्टुमाकाङ्क्षापूर्वकमनन्तरश्लोकमवतारयति– **किं पुनरिति** । कामस्य ज्ञानं प्रत्यावरणत्वसिद्ध्यर्थं ' ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ' इत्यादिविशेषणम् । प्रतीकमादाय व्याकरोति— **आवृतमित्यादिना** । ज्ञानिनं प्रति वैरित्वेऽपि नित्यवैरित्वं कामस्य कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञानी हीति** । अनर्थप्राप्तिमन्तरेण कामस्य प्रसङ्गावस्था पूर्वमेवेत्युच्यते, अतश्शब्देन कामप्रसक्तिरेव परामृश्यते, नित्यमेवेत्युत्पत्त्यवस्था कार्यावस्था च कामस्य कथ्यते । ननु सर्वस्यापि 'कामात्मता न प्रशस्ता' [मनुः २।२] इति कामो नित्यवैरी भवति, ततः कुतो ज्ञानिविशेषणं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **न त्विति** । 'अज्ञस्य नासौ नित्यवैरी' इत्येतदुपपादयति— **स हीति** । कार्यप्राप्तिप्रागवस्था पूर्वमित्युक्ता, अज्ञं प्रति वैरित्वे सत्यपि कामस्य नित्यवैरित्वाभावे फलितमाह— **अत इति** । स्वरूपतो नित्यवैरित्वाविशेषेऽपि ज्ञानाज्ञानाभ्यामवान्तरभेदसिद्धिरित्यर्थः । आकाङ्क्षाद्वारा प्रकृतं वैरिणमेव स्फोरयति— **किंरूपेणेत्यादिना** ॥ ३९ ॥

**३ रा. भा.**— यथा धूमेन वह्निराव्रियते; यथा चादर्शो मलेन; यथा चोल्बेनावृतो गर्भः; तथा तेन कामेनेदं जन्तुजातमावृतम् ॥ ३८ ॥ आवरणप्रकारमाह— **आवृतमिति** । अस्य जन्तोर्ज्ञा-

**निनो ज्ञानस्वभावस्यात्मविषयं ज्ञानमेतेन कामाकारेण विषयव्यामोहजननेन नित्यवैरिणा आवृतं दुष्पूरेण पूर्त्यनर्हविषयेण अनलेन च पर्याप्तिरहितेन ॥ ३९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— वैरित्वप्रकार उच्यते— **धूमेने**ति । तत्र यथेत्यन्तमेकं वाक्यम् । ‘ आदर्शो मलेन च ’ इत्यत्र चकाराद्यथाशब्दोऽनुषक्त इति व्यञ्जनाय **यथा धूमेने**त्युक्तम् । पूर्वस्मिन् श्लोके क्रोधस्यापि कामावस्थान्तरत्वव्यपदेशादुत्तरत्र च ‘ कामरूपेण ’ ‘ कामरूपम् ’ [ ३।४३ ] इति तस्यैवानुवृत्तेरत्रापि तच्छब्देन काम एव परामृश्यत इति व्यञ्जनाय **तेन कामेने**त्युक्तम् । इदमिति सामान्यनिर्देशेऽप्यचिद्ग्रहणासम्भवात्सर्वक्षेत्रज्ञग्रहणौचित्यादिदंशब्दस्य वक्ष्यमाणपरत्वादपि लोकप्रतीतिपरत्वस्वारस्याच्च ‘यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता’ इत्यादिवत् क्षेत्रज्ञानामावरणमिहोच्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं **इदं जन्तुजातमि**ति । जन्तुशब्देन शरीरित्वस्य विवक्षितत्वादावरणार्हत्वं दर्शितम् । नपुंसकनिर्देशस्य सामान्यविषयत्वप्रदर्शनाय जातशब्दः । अनादिवासनानुबन्धित्वेन सहजत्वं, निवृत्तस्यापि पुनः पुनरुपाधिवशादागमं, स्वेच्छया निवर्तयितुमशक्यत्वं च दर्शयितुं दृष्टान्तत्रयोपादानम् ॥ ३८ ॥

‘ आवृतं ज्ञानम् ’ इत्यादेः पौनरुक्त्यव्युदासायाह— **आवरणप्रकारमाहे**ति । अत्र ‘ तेनेदमावृतम् ’ [ ३।३८ ] इत्युक्ते किं तदावृतमित्याकाङ्क्षाया अपि कथमाकाङ्क्षा युक्तेति भावः । अत्र ज्ञानिशब्दो न तावन्निष्पन्नज्ञानविषयः, तदवस्थस्य कामावृतज्ञानत्वाभावात् । ततश्चानिष्पन्नज्ञानसर्वक्षेत्रज्ञपरत्वमेवोचितमित्यभिप्रायेण— **अस्य जन्तोर्ज्ञानिन** इत्युक्तम् । ‘ज्ञानिनः’ इत्यत्र प्रत्ययस्य श्रुतिसिद्धस्वाभाविकसम्बन्धपरत्वप्रदर्शनायावरणस्यौपाधिकत्वद्योतनाय च- **ज्ञानस्वभावस्ये**त्युक्तम् । क्षेत्रज्ञस्यापि कर्मफलभोक्तुः शब्दादिविषयज्ञानावरणाभावात्— **आत्मविषयं ज्ञान**मित्युक्तम् । कामरूपशब्दस्य स्वेच्छागृहीतरूपत्वे प्रसिद्धेस्तद्भ्रमव्युदासायोक्तं **कामाकारेणे**ति । कामस्वभावादर्थान्तरादाक्षिप्तमात्मविषयज्ञानावरणप्रकारं व्यञ्जयति— **विषयव्यामोहजननेने**ति । **नित्यवैरिणा** आत्मसाक्षात्कारोत्तरावधिनाऽनादिवैरिणेत्यर्थः । नित्यसंसारिसद्भावपक्षे चास्य केषुचिदात्मसु नित्यवैरित्वं सिद्धम् । योग्यैर्लब्धैरलम्भावराहित्यमनलशब्दार्थः । ‘ तृष्णाखनिरगाधेयं दुष्पूरा केन पूर्यते । या महद्भिरपि क्षिप्तैः पूरणैरेव खन्यते ’ इत्युक्तप्रकारेणायोग्येषु दुर्लभेषु प्रवृत्तिहेतुत्वं दुष्पूरशब्दविवक्षितमित्यभिप्रायेणोक्तं **दुष्पूरेण पूर्त्यनर्हविषयेण अनलेन च पर्याप्तिरहितेने**ति । यद्वाऽनलशब्दोऽग्निपर्यायः, कामे गौणः ; नह्यग्नेर्विषयविभागः पर्याप्तिर्वा स्यात्, तद्वदिति भावः ॥ ३९ ॥

**५ आ. मा. भा.— कथं विरोधी सः ? इदमनेनावृतम् । यथा धूमेनाग्निरावृतः प्रकाशरूपोऽप्यन्येषां न सम्यग्दर्शनाय तथा परमात्मा । यथाऽऽदर्शो मलेनावृतोऽन्याभिव्यक्तिहेतुर्न भवति, तथाऽन्तःकरणं परमात्मादेर्व्यक्तिहेतुर्न भवति कामेनावृतम् । यथोल्बेनावृत्य बद्धो भवति गर्भः तथा कामेनावृतो जीवः ॥ ३८ ॥ शास्त्रतो जातमपि ज्ञानं परमात्मापारोक्ष्याय न प्रकाशते कामेनावृतं ज्ञानिनोऽपि, किम्वल्पज्ञानिनः ? । कामरूपेण कामाख्येन नित्यवैरिणा दुष्पूरेण । दुःखेन हि कामः पूर्यते । न हीन्द्रादिपदं सुखेन लभ्यते । यद्यपीन्द्रादिपदं प्राप्तं पुनर्ब्रह्मादिपदमिच्छतीत्यलंबुद्धिर्नास्तीत्यनलः । उक्तं च ‘ ज्ञानस्य ब्रह्मणश्चाग्नेर्धूमो बुद्धेर्मलं तथा । आदर्शस्याथ जीवस्य गर्भस्योल्बो हि कामकः ’ इति ॥ ३९ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु प्रश्नस्योत्तरं जातं, किमुत्तरेण ? इत्यतः श्लोकद्वयस्य सङ्गतिमाह— **कथमि**ति । स कामः कथं मोक्षस्य विरोधी ? इति जिज्ञासायामाह— **धूमेने**त्यादिनेति शेषः । विवक्षितार्थस्यास्फुटत्वात् व्याख्याति– **इदमि**ति । ईश्वरान्तःकरणजीवलक्षणं वस्तुत्रयम् । केन किमिव ? इत्याकाङ्क्षायामाद्यं पादत्रयं व्याचष्टे— **यथे**ति । परमात्मा कामेनावृतः स्वयं सर्वज्ञोऽप्यन्यैर्न ज्ञायत इति शेषः । अन्यस्य मुखादेः । ‘परमात्मादेः ’ इत्यादिपदेन जीवो गृह्यते । बन्धापेक्षयाऽऽवरणस्य समानकर्तृकत्वम् । बद्धः सङ्कुचितो व्यापाराक्षम इति यावत् । उल्बो गर्भवेष्टनम् । कामेनावृतो जीवो नेश्वरादिज्ञाने क्षम इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

एवं ज्ञेयज्ञानकरणज्ञातृप्रतिबन्धकत्वोक्त्या ज्ञानप्रतिबन्धकत्वमुक्तम् । ‘ आवृतं ज्ञानं ’ इत्यनेन पुनः किमुच्यत इत्यत आह— **शाश्वत** इति । पूर्वं ज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकत्वमुक्तं, इदानीं तु कथञ्चिज्जातमपि ज्ञानं न स्वकार्याय प्रभवतीत्युच्यते । अतो न पुनरुक्तिदोष इति भावः । ‘ कामकारेण चैके ’ [ ब्र. सू. ३।४।१५ ] इति वचनात् । अपरोक्षज्ञानस्य मोक्षसाधने न केनापि प्रतिबन्ध इत्यत उक्तं **शाश्वत** इति । परमात्मापारोक्ष्यायेति च । न प्रकाशते न प्रभवति । ज्ञानिन इति व्यर्थम् । ज्ञानस्य ज्ञानिसम्बन्धाव्यभिचारादित्यत आह— **ज्ञानिनोऽपी**ति ; शास्त्रजनितज्ञानवतोऽपि । अल्पज्ञानिनो गुरूपदेशमात्रजनितज्ञानवतः । अपरे तु “ ज्ञानिनो नित्यवैरिणा, न मूर्खस्य । ज्ञानी हि विनाशयिष्यामि काममिति यतते ; मूर्खस्तु तमनुवर्तते ” इति वर्णयन्ति, तदनेनैव निरस्तम् । अपकारित्वं खल्वत्र वैरित्वं विवक्षितं, तच्च ज्ञान्यपेक्षया मूर्खेऽधिकं, न हि मूर्खस्तं नानुसन्धत्त इत्येतावता

तन्नास्ति । 'इच्छानुरूपं रूपं यस्यासौ कामरूपः' इत्युच्यते । न चैतत्कामेऽन्तःकरणधर्मे सम्भवतीत्यत आह— **कामेति** रूप्यतेऽनयेति रूपमाख्याऽत्र विवक्षितेत्यर्थः । तर्हि विशेषणपदमिदं जातं, किमस्य विशेष्यं ? इत्यत आह— **नित्येति** । यो न पूरयितुं शक्यः स दुष्पूरः । कामस्तु विषयसम्पादनेन पूरयितुं शक्यः । कथं दुष्पूरः ? इत्यतोऽन्यथा व्याचष्टे— **दुष्पूरेणेति** । न नञर्थे दुःशब्दः, किन्तु कृच्छ्रार्थे इत्यर्थः । तदुपपादयति— **न हीति** । कामविषयोपलक्षणमेतत् । ननु प्रज्वलनात्मकत्वात्क्रोधोऽनलो युक्तः, कामस्तु कथमनलः ? इत्यतः सोपपत्तिकमन्यथा व्याचष्टे— **यद्यपीति** । इदमपि प्राप्तादधिकस्योपलक्षणम् । श्लोकद्वयार्थे प्रमाणसम्मतिमाह— **उक्तं चेति** । कामकः कुत्सितकामो ज्ञानस्य ब्रह्मणश्चाग्नेर्धूमः । तथा बुद्धेरन्तःकरणस्यादर्शस्य मलम् । अथ जीवस्य गर्भस्योल्ब इति सर्वत्र गूढोपमा, 'एतेनेदं' इत्युक्तस्य विवरणं द्वितीयश्लोक इति व्याख्यानमपाकृतं भवति ॥ ३९ ॥

**७ ह. पै. भा.— कथं स वैरी ? इत्यत्राऽऽह— धूमेनेति । धूमेनाऽऽव्रियते पिधीयते वह्निर्यथा यथा चाऽऽदर्शो दर्पणो मलेन च कालिमाख्येन पिधीयते; यथा चोल्बेन जरायुणा गर्भाशयगतः प्राणी; तथा तद्वत्तेन कामेन क्रोधेन चेदं विवेकप्रभवं ज्ञानमावृतमाच्छन्नम् । सकलपुरुषार्थप्रकाशकज्ञानावरणद्वारेणायं कामः क्रोधश्च वैरीत्यभिप्रायः ॥ ३८ ॥ आवृतं पिहितं विवेकज्ञानमेतेन कामेन क्रोधेन च ज्ञानिनोऽपि । किमुत मूर्खस्य नित्यवैरिणा नित्यं वैरी तेन ? । नित्यवैरित्वं ज्ञानापिधानद्वारकम् । कामरूपेण दुष्पूरेणानलेन च, दुःखेन पूर्यत इति दुष्पूरः; न विद्यतेऽलं पर्याप्तिरस्येत्यनलः । भूयो भूयो विषयसेवया वर्धमानेन कामेन प्रयुक्तः श्रेयोऽर्थी पुरुषः पापं चरतीत्यर्थः ॥ ३९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अस्त्वेवंविधः कामः, तस्य तु वैरित्वं कथं ? इत्याशङ्क्य पुरुषार्थहेतुविवेकज्ञानात्मकमनोनाशकत्वाद्वैरित्वमित्याह— **धूमेनेति** । तत्र कामस्यावस्थात्रयानुसारेण धूमादिदृष्टान्तत्रयम् । तिस्रो हि कामस्यावस्थाः— सूक्ष्मता स्थूलताऽतिस्थूलता च— तत्राज्ञातविषयस्वादत्वेन तदभिनिवेशराहित्यं सूक्ष्मता; विषयचिन्तया प्रवर्धमानत्वं स्थूलता; विषयोपभोगेनात्यन्तमुद्रेकोऽतिस्थूलता । तत्राद्यावस्थायां **दृष्टान्तः**— यथा धूमेन वह्निरावियते आच्छाद्यते तथा कामेन मन आवृतम् । धूमेन ह्यावृतो वह्निर्दाहाद्यर्थक्रियाकारित्वेऽपि न प्रकाशरूपार्थक्रियाकारी; एवं सूक्ष्मरूपेण कामेनावृतं मनस्तत्तदर्थप्रतीतिजनकमपि न तत्त्वप्रकाशरूपार्थक्रियाकारि । अथ द्वितीयावस्थायां **दृष्टान्तः**— यथा आदर्शो दर्पणः मलेन मालिन्येन, **आव्रियत** इति क्रियानुकर्षणार्थश्चकारः । मालिन्येनावृतो हि दर्पणो न किञ्चिदपि प्रतिबिम्बं ग्रहीतुं क्षमते; एवं स्थूलेन कामेनावृतं मनो मोहयस्तं न कस्यचिदप्यर्थस्य प्रतीतिजननक्षमम् । अथ तृतीयावस्थायां **दृष्टान्तः**— यथा उल्बेन गर्भवेष्टनचर्मणाऽतिस्थूलेन गर्भः सर्वतो निरुध्याऽऽवृतो न हस्तपादप्रसारणरूपं स्वकार्यं करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यते; तथा अतिस्थूलेन कामेनावृतं मनो न किञ्चिदपि स्वकार्यं करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति ॥ ३८ ॥ 'तथा तेनेदमावृतम्' इत्येतदेव विवृण्वन् कामस्य वैरित्वमुपपादयति— **आवृतमिति** । एतेन कामाख्येन नित्यवैरिणा ज्ञानं विवेकज्ञानात्मकमन्तःकरणमावृतम् । ननु कामस्य कथं नित्यवैरित्वम् ? परिणामे तस्य दुःखहेतुत्वेऽपि भोगकाले सुखहेतुत्वादित्यत आह— **ज्ञानिन इति** । मूर्खस्य तथात्वेऽपि विवेकिनो भोगकालेऽप्यनर्थानुसन्धानेन दुःखहेतुत्वात्तं प्रति नित्यवैरीत्यर्थः । वस्तुतो विचार्यमाणे मूर्खं प्रत्यपि नित्यवैर्येवेत्याह— **दुष्पूरेणेति** । दुःखेन पूर्यत इति दुष्पूरः । न हीन्द्रादिपदं सुखेन लभ्यते । अनेन साधनावस्थायां दुःखहेतुत्वमुक्तम् । भोगावस्थायां तदाह— **अनलेनेति** । न विद्यते अलं पर्याप्तिर्यस्य सोऽनलो वह्निः, अनल इवानलः । स यथा काष्ठैर्न पर्याप्तिं गच्छति, 'नाग्निस्तृप्यति काष्ठानाम्' इति वचनात्; तथा कामोऽपि भोगेन न तृप्तिं गच्छति, स्वर्गभोगं भुञ्जानस्याप्यधिकभोगकामनया दुःखायमानत्वात् । अतः सर्वदा दुःखजनकत्वाद्विवेकिन इवाविवेकिनोऽपि नित्यवैरी काम इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**९ व० त० दी०— कामस्य वैरित्वमाह— धूमेनेति । आर्द्रेन्धनसंयोगजोपधिभूतेनैव, सहजेन मलेनागन्तुकेन वा, उल्बेन सर्वत आच्छादकेन गर्भवेष्टनचर्मणा गर्भ इवावृतं कामेन जगत् ॥ ३८ ॥ एतच्छब्देन निर्दिष्टं दर्शयन् वैरित्वं स्फुटयति— आवृतं ज्ञानमिति स्पष्टम् । अनलत्वं च शोकसन्तापहेतुत्वात् ॥ ३९ ॥**

१० पु. अ. त.— यतोऽयं वैरी ततोऽस्य ज्ञानमावर्तयति तेन मोहो भवतीत्याह— धूमेनेति त्रयेण । यथा धूमेन वह्निराव्रियते, मलेन आदर्श आव्रियते, उल्बेन गर्भवेष्टनेन गर्भ आवृतः, तथा तेन कामेन इदं ज्ञानमावृतम् । अत्र दृष्टान्तेषु वह्न्यादित्रयनिरूपणस्यायं भावः— पूर्वदृष्टान्तेन भगवत्तापात्मकं ज्ञानं व्यज्यते, द्वितीयेन सेवायोग्यस्वस्वरूपप्राप्तिरूपं ज्ञानं व्यज्यते, तृतीयेन बीजभावोत्पत्त्यात्मकज्ञानं व्यज्यते ॥ ३८ ॥

हे कौन्तेय मूलतो भक्त मदुपदेशयोग्य ! ज्ञानिनो मदंशत्वेन स्वस्वरूपज्ञानवतो नित्यवैरिणा तेन कामेन ज्ञानमावृतं, च पुनरनलेन रसपाचकेनोदरस्थेन तेनापि कामवृद्धिर्भवतीति कामरूपेण ज्ञानमावृतम् । कीदृशेनानलेन? दुष्पूरेण दुःखेन पूरणं यस्य सः। अत एव 'जितं सर्वं जिते रसे' [ ] इति वचनम् । कामस्यैव वा विशेषणम् ॥ ३९ ॥

११ नी० भा० दी०— अस्य वैरित्वमेव विवृणोति— धूमेनेत्यादिना । उल्बेन गर्भवेष्टनेन जरायुणा । तेन कामेन इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमावृतम् । आवरणीयस्य त्रैविध्यात्तदनुगुणं दृष्टान्तत्रयं ज्ञेयम् ॥ ३८ ॥

आवृतमिति । ज्ञानं अन्तःकरणसत्त्वम् । "ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" [ बृ. उ. १ । ५ । ३ ] इति श्रुतेः । एतेन कामेन रजोगुणात्मकेन आवृतं ज्ञानिनः अन्तःकरणविशिष्टस्य प्रमातुर्नित्यवैरिणा कामरूपेण दुष्पूरेण पूरयितुमयोग्येन । अयं हि पूर्यमाणोऽनर्थानेव प्रसवेत्, अनलेन अथापि पूर्यते चेत्, अनलः नास्त्यलं पर्याप्तिर्यस्य स तथा तेनानलेन; न ह्यनलः काष्ठैस्तर्पयितुं शक्यः, किन्तु वर्धत एव; तद्वदयमपीत्यर्थः । अयं भावः— अन्तःकरणसत्त्वं हि वह्निवत् प्रकाशात्मकं, तत्सहजेन कामेन वह्निरिव धूमेनावृतं चेत् प्रमातारमनर्थे पातयति, अन्यथा तदेव स्वभावशुद्धत्वात् विवेकवैराग्योपगं भूत्वा तमुद्धरेत्; अतोऽयं कामो ज्ञानिनो नित्यवैरीति ॥ ३९ ॥

कामस्याधिष्ठानप्रदर्शनं तज्जयोपायश्च ।

**इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।**
**एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥ ४० ॥**
**तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ! ।**
**पाप्मानं प्रजहिह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥ ४१ ॥**

'प्रजहि' इति रामानुजमाध्वहनुमन्नीलकण्ठानां पाठः ।

१ शां. भा.— किमधिष्ठानश्च पुनः कामो ज्ञानस्याऽऽवरणत्वेन वैरी सर्वस्य लोकस्य ? इत्यपेक्षायामाह— ज्ञाते हि शत्रोरधिष्ठाने सुखेन शत्रुनिबर्हणं कर्तुं शक्यत इति— इन्द्रियाणीति । इन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्चास्य कामस्याधिष्ठानमाश्रय उच्यते । एतैरिन्द्रियादिभिराश्रयैर्विमोहयति विविधं मोहयत्येष कामो ज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य देहिनं शरीरिणम् ॥ ४० ॥ यत एवं— तस्मादिति । तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ पूर्वमेव नियम्य वशीकृत्य हे भरतर्षभ ! पाप्मानं पापाचारं कामं प्रजहिहि परित्यज एनं प्रकृतं वैरिणं, ज्ञानविज्ञाननाशनं— ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्चाऽऽत्मादीनामवबोधः, विज्ञानं विशेषतस्तदनुभवः, तयोर्ज्ञानविज्ञानयोः श्रेयः प्राप्तिहेत्वोर्नाशनं नाशकरं प्रजहिहि आत्मनः परित्यजेत्यर्थः ॥ ४१ ॥

२ आ. शां. व्या.— कामस्य निराश्रयस्य कार्यकारकत्वाभावं मत्वा प्रश्नपूर्वकमाश्रयं दर्शयति— **किमधिष्ठान** इति । कामस्य नित्यवैरित्वेन परिजिहीर्षितस्य किमित्यधिष्ठानं ज्ञाप्यते ? तत्राऽऽह— **ज्ञाते** हीति । इन्द्रियादीनां कामाधिष्ठानत्वं प्रकटयति— **एतै**रिति । नन्वेताभिरिति वक्तव्ये कथमेतैरित्युच्यते ? तत्राऽऽह— **इन्द्रियादिभि**रिति ४०
तेषां कामाश्रयत्वे सिद्धे साश्रयस्य तस्य परिहर्तव्यत्वमाह— **यत** इति । तस्मादिन्द्रियादीनामाश्रयत्वादिति यावत् । पूर्वं कामनिरोधात्प्रागवस्थायामित्यर्थः । तेषु नियमितेषु मनोबुद्ध्योर्नियमः सिद्ध्यति, तत्प्रवृत्तेरितरप्रवृत्तिव्यतिरेकेणाफलत्वादिति भावः । पापमूलतया कामस्य तच्छब्दवाच्यत्वमुन्नेयम् । कामस्य परित्याज्यत्वे वैरित्वं हेतुं साधयति— **ज्ञाने**ति । ज्ञानविज्ञानशब्दयोरर्थभेदमावेदयति— **ज्ञानमि**त्यादिना ॥ ४१ ॥

---

१ प्रजहिहीति 'ओ हाक्' त्यागे १०९० इत्यस्य लोटि 'आ च हौ' [ अष्टा. ६।४।११७ ] इति चात्पाक्षिके इति रूपम् । 'रावणे जहिहि द्वेषं जहाहि प्रमदावनम् ।' इति भट्टिः [ २०।१० ] तेन 'प्रजहिहि परित्यज' इति भगवत्पादोदितं युक्तमेव । उक्तं च भगवता प्रागपि— 'प्रजहाति यदा कामान्—' [ २।५५ ] इति । —अविगीता ।

३ रा. भा.— कैरुपकरणैरयं काम आत्मानमधितिष्ठति ? इत्यत्राह— इन्द्रियाणीति । अधितिष्ठत्येभिरयं काम आत्मानमितीन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानम्; एतैरिन्द्रियमनोबुद्धिभिः कामाधिष्ठानभूतैर्विषयप्रवणैर्देहिनं प्रकृतिसंसृष्टं ज्ञानमावृत्य विमोहयति विविधं मोहयति, आत्मज्ञानविमुखं विषयानुभवपरं करोतीत्यर्थः ॥ ४० ॥ यस्मात् सर्वेन्द्रियव्यापारोपरतिरूपे ज्ञानयोगे प्रवृत्तस्यायं कामरूपः शत्रुः विषयाभिमुख्यकरणेनात्मनि वैमुख्यं करोति, तस्मात् प्रकृतिसंसृष्टतयेन्द्रियव्यापारप्रवणस्त्वमादौ मोक्षोपायारम्भसमय एवेन्द्रियव्यापारानुरूपे कर्मयोगे इन्द्रियाणि नियम्य एनं ज्ञानविज्ञाननाशनं आत्मस्वरूपविषयस्य ज्ञानस्य तद्विवेकविषयस्य च नाशनं पाप्मानं कामरूपं वैरिणं प्रजहि नाशय ॥ ४१ ॥

४ वे. ता. चं.— एवमावरणप्रकार उक्तः, अथावरणोपकरणान्यनन्तरं नियन्तव्यत्वोपदेशायोच्यन्त इत्यभिप्रायेणाह— कैरिति । आत्मानमधितिष्ठति, स्वतन्त्रमात्मानमाक्रम्य परतन्त्रं करोतीत्यर्थः । इन्द्रियशब्दोऽत्र गोबलीवर्दन्यायाद्बाह्येन्द्रियपरः । बुद्धिरत्रापुरुषार्थेषु पुरुषार्थत्वाध्यवसायः । प्रकृतानुपयुक्ताधिकरणादिव्युदासाय करणव्युत्पत्तिं दर्शयति— अधितिष्ठत्येभिरिति । एतैर्विमोहयतीति ह्युच्यत इति भावः । अधिष्ठानक्रियाकरणभूतानामिन्द्रियादीनां अवान्तरव्यापारप्रदर्शनाय विषयप्रवणैरित्युक्तम् । प्रकृतिसंसृष्टमिति देहिशब्देनेन्द्रियादेरवर्जनीयत्वं गुणवश्यत्वं च सूच्यत इति भावः । विशब्दः 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्वमिति या मतिः' [ वि. पु. ६।७।११ ] इत्याद्युक्तभ्रान्तिवैविध्यपर इत्यभिप्रायेणाह- विविधं मोहयतीति । भ्रान्तिवैविध्यं भोग्ये स्वात्मन्यभोग्यताभ्रमेण भोग्येषु च विषयेषु भोग्यताभ्रमेण विवृण्वन् प्रकृतोपयोगित्वं च दर्शयति- आत्मज्ञानेति ॥४०॥

अथ कामस्यात्माधिष्ठानोपकरणेष्विन्द्रियमनोबुद्धिषु प्रथममिन्द्रियाणां नियमनं कामविजयोपायतयोपदिश्यते— तस्मादिति श्लोकेन । तस्मादित्येतत्प्रकृतस्य ज्ञानयोगस्योक्तप्रकारदुष्करत्वपरामर्शीत्याह— यस्मादित्यादिना । त्वमिति निर्देशोऽर्जुनस्य तदानीन्तनावस्थापर इत्यभिप्रायेणोक्तं प्रकृतिसंसृष्टतया इन्द्रियव्यापारप्रवणस्त्वमिति । 'आदौ' इत्यनेनाभिप्रेतमाह— मोक्षेति । नात्रेन्द्रियनियमनमत्यन्तव्यापारोपरमः, आदौ तस्याशक्यत्वात्; प्रपञ्चितं च तत्प्रागेव । कर्मयोगार्थं चेन्द्रियनियमनं प्रागपि 'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा' [ ३।७ ] इत्यादावुक्तम् । अतोऽत्रापि तथैव वर्णनीयमित्यभिप्रायेणोक्तं इन्द्रियव्यापारानुरूप इत्यादि । ज्ञानविज्ञानयोर्द्वयोरपि आत्मविषयत्वं प्रकरणात्सिद्धम् । तत्र च 'ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः' [ मनुः १।९७ ] इतिवत्स्वरूपतद्विवेकविषयत्वात् अपौनरुक्त्यमित्यभिप्रायेणोक्तं- आत्मस्वरूपेत्यादि । विज्ञानं विविच्य ज्ञानं, व्यावृत्ततया ज्ञानमित्यर्थः । प्रत्यग्ज्ञानानन्दत्वादिविशिष्टमात्मनः स्वरूपम् । अणुत्वनित्यत्वज्ञातृत्वभोक्तृत्वकर्तृत्वादिभेदको धर्मवर्गोऽत्र विवेकः । यद्वा 'देहातिरिक्तः कश्चित् आत्माऽस्ति' इत्येतावत्स्वरूपमिह विवक्षितम्; प्रत्यक्त्वादयोऽप्यणुत्वादिवद्विवेकतया विवक्षिताः । अथवा तत्सर्वं स्वरूपं विवेको विवेककरणं शास्त्रम्; ततः प्रमेयं प्रमाणं चोक्तं भवति । 'एनं पाप्मानं' इत्यन्वादेशात् प्रस्तुतकामविषयः पाप्मशब्दः; तस्य पाप्मशब्देनाभिधानं निषेधविषयतया, ज्ञानविरोधित्वेन, अनिष्टफलत्वाच्चेत्यभिप्रेत्य- कामरूपं वैरिणमित्युक्तम् ॥ ४१ ॥

५ आ. मा. भा.— वधार्थं शत्रोरधिष्ठानमाह— इन्द्रियाणीति । एतैर्ज्ञानमावृत्य बुद्ध्यादिभिर्हि विषयगैर्ज्ञानमावृतं भवति । हताधिष्ठानो हि शत्रुर्नश्यति ॥ ४० ॥ ॥ ४१ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'इन्द्रियाणि' इत्यादिकमपृष्टं किमर्थमुच्यत इत्यत आह— वधार्थमिति । एतदर्थमेव ह्यर्जुनेन बलवान् पृष्टः, क्रियाद्वयश्रवणात् किं प्रतीन्द्रियादीनां करणत्वमिति न प्रतीयते । सन्निधानाद्विमोहनं प्रतीत्यन्यथा च प्रतीयतेऽत आह- एतैरिति । तदुपपादयति— बुद्ध्यादिभिरिति । इन्द्रियादित्वेनोक्तानामपि बुद्ध्यादित्वेन ग्रहणं प्राधान्यज्ञापनार्थम् । तस्मात्त्वमितीन्द्रियाणां निग्रहः कामहननायोपदिश्यते । तदुपपादयति— हतेति । नश्यति नाशयितुं शक्यो भवति ॥ ४० ॥ ४१ ॥

७ ह. पै. भा.—किञ्चास्य कामस्य कारणमुच्यते— इन्द्रियाणीति । इन्द्रियाणि लोचनादीनि, मनः सङ्कल्पात्मकम्, बुद्धिरध्यवसायात्मिका अस्य कामस्याधिष्ठानं कारणमुच्यते । इन्द्रियेण प्रहितं प्रथमं मदलीढं विषयमालोच्य मनसा तस्य सुखहेतुत्वं सङ्कल्प्य 'अहमनेनेन्द्रियेणैनं विषयं सेवे' इति बुद्ध्याऽध्यवस्य पुरुषः कामयते तस्मादिन्द्रियादीनि कामस्याधिष्ठानं कारणम् । एतैरिन्द्रियादिभिः कारणैरेनं देहिनं विमोहयति; भोक्तृत्वप्रतिपत्तौ हि कारणं भवतीति । ज्ञानं

**सम्यग्ज्ञानमावृत्याऽऽच्छाद्य । यत एवमतः ॥ ४० ॥ यस्मादिन्द्रियाणि रागद्वेषमूलम्– तस्मात्तान्यादौ प्रथमं नियम्य निरुद्ध्यैनं प्रकृतं वैरिणं पाप्मानं सकलपापहेतुं कामं प्रजहीति । ज्ञानमात्मशास्त्राचार्योपदेशजनितं, विज्ञानं तत्पूर्वकः प्रत्यगात्मानुभवः, तयोर्नाशनं प्रजहि ॥ ४१ ॥**

८ वें. व्र. गि.— एवं कामस्य वैरित्वमुक्त्वा तदुपकरणनिग्रहेण तज्जयं वक्तुं कामोपकरणान्याह— **इन्द्रियाणीति** । इन्द्रियाणि ज्ञानकर्मात्मकानि दश, मनः सङ्कल्पात्मकं, बुद्धिर्व्यवसायात्मिका च अस्य कामस्य अधिष्ठानम्; अधितिष्ठत्येभिरात्मानमित्यधिष्ठानमुपकरणमुच्यते । यत एतैरिन्द्रियादिभिरुपकृतः स एष कामः ज्ञानमावृत्य देहिनं विमोहयति । लोके हि कामी पुरुषश्चक्षुरादिना विषयमुपलभ्य तस्य सुखहेतुत्वं मनसि सङ्कल्प्य 'अहमेनं विषयमवश्यं भोक्ष्ये' इत्यध्यवसायगलितविवेको मुह्यति ॥ ४० ॥ एवमुपकरणान्युक्त्वा तन्निग्रहमेव कामजयोपायत्वेन विधत्ते– **तस्मादिति** । अत्रेन्द्रियग्रहणेन मनोबुद्ध्योरपि ग्रहणमिन्द्रियत्वात् । एवं च यस्मादिन्द्रियाणि कामस्योपकरणानि तस्मात् त्वं प्रथममिन्द्रियाणि नियम्य निगृह्य पाप्मानं सर्वपापमूलभूतमेनं वैरिणं कामं हि स्फुटं प्रजहि प्रकर्षेण मारय । शाखाच्छेदने वृक्षस्येव सहकारिभूतेन्द्रियनिग्रहे सति स्वयमेकाकितयाऽवशिष्यमाणस्य कामस्य स्फुटमेव निबर्हणं सम्यग्भवतीत्यर्थः । यद्वा प्रजहीति हनधातोर्न लोण्मध्यमपुरुषैकवचनम्; किन्तु 'ओ हाक्त्यागे' इत्यस्य लोण्मध्यमपुरुषे प्रजहिहीति रूपम् 'जहातेश्च' [अष्टा. ६।४।११६] इत्याकारस्येत्वम् । तथा च एनं प्रजहिहि परित्यजेत्यर्थः । ननु ज्ञाने सति कामः स्वयमेव विनङ्क्ष्यति; किमर्थमादावेव तज्जये यत्नः? इत्यत आह— **ज्ञानविज्ञाननाशनमिति** । ज्ञानं शास्त्रीयं परोक्षं, विज्ञानं त्वपरोक्षम् , तयोर्नाशनम् । कामजयं विना ज्ञानमेव नोत्पद्यते, उत्पत्तावपि नापरोक्षं भवतीत्यादावेव कामो जेतव्य इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

९ व० त० दी०— **अधुना तस्याधिष्ठानं वदन् जयोपायमाह– इन्द्रियाणीति द्वाभ्याम् ॥ ४० ॥ ४१ ॥**

१० पु. अ. त.— स कामः कुत्र तिष्ठतीति जिज्ञासार्थमाहुः— **इन्द्रियाणीति** । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि मनोऽन्तःकरणं बुद्धिर्ज्ञानमस्य कामस्याधिष्ठानं स्थानमुच्यते कथ्यते । एतैः करणभूतैर्ज्ञानमावृत्य एष कामो देहिनं विशेषेण मोहयति । स्वयं तु मोहयत्येव, पुनरेतैः स्वाश्रयभूतैः सहितोऽधिकं मोहयतीत्युपसर्गेण व्यज्यते ॥ ४० ॥ एतैरङ्गभूतैः स मोहयति शत्रुस्तमेतन्निरोधेन जहिहीत्याह– **तस्मादिति** । यस्मादिन्द्रियैरयं मोहयति तस्मादादौ त्वमिन्द्रियाणि तद्विषयेभ्यो नियम्य स्ववशे स्थापयित्वा हे भरतर्षभ ! एतन्नियमनसमर्थ ! ज्ञानविज्ञाननाशनं, शास्त्रीयं भक्तिरूपं ज्ञानं, विज्ञानं स्वरूपानुभवस्तयोर्नाशकर्त्तारं पाप्मानं पापरूपमेनमिदानीमपि मत्स्वरूपानुभवे विघ्नकर्त्तारं प्रजहिहि प्रकर्षेण जहिहि त्यज ॥ ४१ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च– **इन्द्रियाणीति** । अयमर्थः–इन्द्रियमनोबुद्धयो हि कामेनाधिष्ठिता बाह्यार्थप्रवणा भवन्ति, तैश्च तथाभूतैरयं कामो ज्ञानं चिदाकाशरूपमादर्शतलप्रख्यं यत्र योगिनो व्यवहितं विप्रकृष्टमतीतमनागतं वा पश्यन्ति । यथोक्तमाचार्यैः–'विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं पश्यन्नात्मनि' [ द.मू. स्तो. १ ] इति निजान्तर्गतं शरीरान्तर्गतं आत्मनि हार्दाकाशाख्ये ब्रह्मणि तत् मलेनादर्शमिवावृत्य देहिनं देहाभिमानिनं विशेषेण मोहयति । विशब्दात् देहाभिमानशून्यं योगिनमपि व्युत्थानावस्थायां किञ्चिन्मोहयतीति गम्यत इत्यक्षरयोजना स्पष्टा ॥ ४० ॥ **तस्मादिति** । यस्मादिन्द्रियाण्यस्याधिष्ठानं सामन्तस्येव गिरिदुर्गादिकं तस्मात्तान्येव नियम्य वशीकृत्य एनं कामं हि निश्चयेन प्रजहि प्रकर्षेण नाशय । गिरिदुर्गादीन् स्वायत्तीकृत्यैव तत्स्थं सामन्तं घ्नन्ति राजानस्तद्वत् । हन्तव्यत्वे हेतुः— पाप्मानमत्युग्रम् , तत्रापि हेतुः ज्ञानविज्ञाननाशनमिति; ज्ञानस्य शास्त्राचार्योपदेशजस्य परोक्षस्य विज्ञानस्य निदिध्यासनपरिपाकजस्यापरोक्षस्य च नाशनम् ॥ ४१ ॥

सोपकरणकामजयार्थं तदावृतवस्तुनिदर्शनम् [ ४२।४३ ]

**इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।**
**मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥ ४२ ॥**

१ श्रुतिमूलभूतोऽयं श्लोकः ॥ ॥ नन्वेतन्मूलभूतायां कठश्रुतौ [ ३।१० ]— 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ ' इतीन्द्रियेभ्यः परत्वेनार्था उक्ताः, अत्र च मन इति कथं न तद्विरोधः ? इति चेत्- अर्थानामिन्द्रियसमानजातीयत्वादिहेन्द्रियग्रहणेनैव तद्ग्रहणान्न दोष इति ब्रूमः । तथा च श्रुतं तत्रैव प्रदेशान्तरे [ ६।७ ]; 'इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् । सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ' इति । सत्त्वं बुद्धिः । अत्र 'उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सारः परावधिः । ' [ का. प्र. १०।१२३ ] इति लक्षितः सारालङ्कारो द्रष्टव्यः ।

**१ शां. भा.—** इन्द्रियाण्यादौ नियम्य कामं शत्रुं जहिहीत्युक्तं, तत्र किमाश्रयः कामं जह्यात् ? इत्युच्यते— **इन्द्रियाणीति** । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पञ्च, देहं स्थूलं बाह्यं परिच्छिन्नं चापेक्ष्य सौक्ष्म्यान्तरस्थत्वव्यापित्वाद्यपेक्षया पराणि प्रकृष्टान्याहुः पण्डिताः । तथेन्द्रियेभ्यः परं मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकम् । तथा मनसस्तु परा बुद्धिर्निश्चयात्मिका । तथा यः सर्वदृश्येभ्यो बुद्ध्यन्तेभ्योऽभ्यन्तरो यं देहिनमिन्द्रियादिभिराश्रयैर्युक्तः कामो ज्ञानावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तं स बुद्धेर्द्रष्टा पर आत्मा ॥ ४२ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** पूर्वोक्तमनूद्य कामत्यागस्य दुष्करत्वं मन्वानो ' रसोऽप्यस्य ' [ २।५९ ] इत्यत्रोक्तमेव स्पष्टीकर्तुं प्रश्नपूर्वकं श्लोकान्तरमवतारयति- **इन्द्रियाणी**त्यादिना । पञ्चेति ज्ञानेन्द्रियवत्कर्मेन्द्रियाण्यपि वागादीनि गृह्यन्ते । किमपेक्षया तेषां परत्वं ? तत्राऽऽह— **देहमिति** । तथापि केन प्रकारेण परत्वं ? तदाह— **सौक्ष्म्येति** । आदिशब्देन कारणत्वादि गृह्यते । इन्द्रियापेक्षया सूक्ष्मत्वादिना मनसः स्वरूपोक्तिपूर्वकं परत्वं कथयति— **तथेति** । मनसि दर्शितं न्यायं बुद्धावतिदिशति— **तथा मनसस्त्वि**ति । 'यो बुद्धेः ' इत्यादि व्याचष्टे— **तथे**त्यादिना । आत्मनो यथोक्तविशेषणस्याप्रकृतत्वमाशङ्क्याऽऽह— **यं देहिनमि**ति ॥ ४२ ॥

**३ रा. भा.—** ज्ञानविरोधिषु प्रधानमाह— **इन्द्रियाणीति** । ज्ञानविरोधे प्रधानानीन्द्रियाण्याहुः, यत इन्द्रियेषु विषयव्यापृतेषु आत्मनि ज्ञानं न प्रवर्तते; इन्द्रियेभ्यः परं मनः इन्द्रियेषूपरतेष्वपि मनसि विषयप्रवणे आत्मज्ञानं न सम्भवति । मनसस्तु परा बुद्धिः—मनसि वृत्त्यन्तरविमुखेऽपि विपरीताध्यवसायप्रवृत्तायां बुद्धौ नात्मज्ञानं प्रवर्तते; सर्वेषु बुद्धिपर्यन्तेषूपरतेष्वपीच्छापर्यायः कामो रजस्समुद्भवो वर्तते चेत्, स एवैतानीन्द्रियादीन्यपि स्वविषयेषु वर्तयित्वा आत्मज्ञानं निरुणद्धि; तदिदमुच्यते 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' इति बुद्धेरपि यः परः स काम इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

**४ वे. ता. चं.—** एवं विरोधिमात्राणामिन्द्रियाणां नियन्तव्यत्वमुक्तम् , अथ मनोबुद्धिकामानां नियन्तव्यतरतमत्वादिसिद्ध्यर्थमुत्तरोत्तरं विरोधितमत्वेन निर्दिश्यन्त इत्यभिप्रायेणाह— **ज्ञानविरोधिष्वि**ति । परशब्दस्यात्र कारणत्वादिपरत्वायोगात् प्राधान्यमेव विवक्षितम् ; तच्च प्रकरणवशात् ज्ञानविरोधापेक्षयेत्यभिप्रायेणोक्तं **ज्ञानविरोधे प्रधानानी**ति । प्राधान्यं चेन्द्रियाणां देशकालादिरूपसामान्यविरोध्यन्तरापेक्षया, शरीरापेक्षया वा सूक्ष्मत्वदुर्ग्रहत्वादिभिः इन्द्रियाणां प्राधान्यहेतुं विरोधित्वप्रकारमाह- **यत** इति । इन्द्रियेभ्यो मनसः परत्वे हेतुमाह- **इन्द्रियेष्वि**ति। पूर्ववाक्यात् 'यतः' इत्यनुषञ्जनीयम्। एवमुत्तरत्रापि हेतुवाक्ये भाव्यम् । विषयासन्निधानहठात्करणादिना बाह्येन्द्रियेषु विषयेभ्य उपरतेष्वपि मनसा तत्तद्विषयेषु चिन्त्यमानेष्वात्मज्ञानं न स्यात् ; ततो बाह्येन्द्रियोपरतिवेलायामपि विरोधित्वादस्य तेभ्यः परत्वम् । मनसो बुद्धेः परत्वे हेतुमाह- **मनसि वृत्त्यन्तरे**ति । ननु मनसो विषयान्तरवृत्तिवैमुख्ये कथं तद्गोचराध्यवसायप्रवृत्तिः ? मनसा कञ्चिद्विषयमालम्ब्य तत्रैव हि ' कुर्यां न कुर्यां ' इत्याद्यध्यवसीयते; उच्यते— नात्र मनसो निश्शेषव्यापारनिवृत्तिर्वृत्त्यन्तरवैमुख्यं विवक्षितम्; किन्तु बलादप्यशक्यनिरोधस्वारसिकविषयान्तरप्रावण्यनिवृत्तिः । सूचितं चैतत्पूर्ववाक्ये **मनसि विषयप्रवणे** इति । अतो यदृच्छया निद्रालस्यादिभिर्मनसः स्वरसतो विषयैकशरणत्वाभावेऽपि दुराग्रहादिमात्रेण विपरीताध्यवसायप्रवृत्तौ मनसस्तथाविधमपि प्रावण्यं स्यादेव । एवं च 'मनसस्तु ' इति तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः, एवंविधवैलक्षण्यार्थो वा ।

अध्यवसायादपि कामस्य परत्वे हेतुमाह- **सर्वेष्वि**ति । वासनाकार्यत्वस्य स्वानुरूपाध्यवसायहेतुत्वस्य च द्योतनाय **इच्छापर्याय** इत्युक्तम् । इन्द्रियमनोबुद्ध्युपरतिवेलायां कथं कामस्योत्पत्तिरित्यत्रोक्तं **रजस्समुद्भव** इति ; प्राचीनकर्मोन्मिषितरजोदूषितमनोमात्रसमुद्भव इत्यर्थः । नन्विन्द्रियादीनां विषयान्तरवैमुख्ये सिद्धे विषयेच्छायाः सद्भावेऽपि को विरोधः? आत्मानुभवेच्छया तत्रैवाध्यवसायमनःप्रावण्ययोरुपपत्तेरित्यत्रोक्तं- **स एवे**त्यादि । सत्यं, आत्मेच्छाप्यस्त्येव; सा हि कादाचित्काऽल्पसत्त्वमूला, विषयेच्छा तु प्रचितप्राचीनकर्मोद्भावितनिरन्तरानुवृत्तरजोमूला ; तस्मादात्मेच्छा यावदात्मदर्शनाध्यवसायादिकं करोति, तावद्विषयेच्छा प्रबला विषयानुभवाध्यवसायादिकमेव कुर्यादिति भावः । एवमत्र कामस्य पूर्वेषां प्रवर्तकत्ववचनं बुद्धिमनसोरपि पूर्वपूर्वप्रवर्तकत्वस्य उपलक्षणं मन्तव्यम् । **रजस्समुद्भवो वर्तयित्वे**ति पदाभ्यां कामस्याध्यवसायादिनिरपेक्षोत्पत्तिकत्वतदुपकरणत्वलक्षणं वैषम्यं तुशब्दद्योतितं विवृतम्, अर्थान्तरपरत्वमनन्वयभ्रमं च निरस्यन्नुक्तार्थपरतया चतुर्थं पादमुपादत्ते **तदिदमुच्यत** इति । 'परतः' इतिशब्दस्य पूर्ववाक्यत्रयस्थपदशब्दतुल्यार्थत्वात् सार्वविभक्तिकप्रत्ययेन प्रथमार्थत्वं स इत्यस्य प्रकरणसिद्धं विशेष्यं च व्यञ्जयति— **बुद्धेरपी**ति । 'अहङ्कारस्य भोक्त्रधिष्ठानाद्बुद्धेः परत्वं' इति केषाञ्चिद्व्याख्यानं प्रकृतासङ्गत्यादिभिरनादरणीयम् ।

ननु ‘ इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः । मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः। पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः’इति हि कठवल्ल्यां [१।३।१०,११] नियन्तव्यवर्गः श्रूयते। स्पष्टं चेदम् ‘आनुमानिकमप्येकेषाम्’ [ ब्र. सू. १।४।१ ]इत्यधिकरणे व्याख्यातम्। अस्मिन्नपि श्लोके तत्प्रत्यभिज्ञायते । न चेन्द्रियमनसोर्मध्येऽर्थानामदर्शनात् ‘ महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ’ इत्यनयोरनुपादानाच्च भिन्नार्थत्वमिति वाच्यम् ; सङ्ग्रहविस्तररूपेण कतिपयानभिधानसकलाभिधानयोरुपपत्तेः; सृष्टिप्रकरणादिषु कतिपयसमस्तसृज्यतत्त्वादिनिर्देशवत् । ‘आहुः’ इति बहुवचनात् क्वचिदन्यत्रास्यार्थस्याभिधानमवश्याभ्युपगन्तव्यम्; ततश्च‘ यो बुद्धेः परतस्तु सः ’ इत्यस्य ‘ बुद्धेरात्मा महान्परः ’ इत्यनेन तुल्यार्थत्वादात्मविषयत्वमेवोचितम्; एवं च सति ‘एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा ’ इत्यादौ उत्तरश्लोकेऽपि द्वितीयान्तात्मशब्दश्चेतनविषयतयोपपन्नतरः स्यात् ; अतः कथं स काम इति व्याख्यायते ? । उच्यते–यद्यपीन्द्रियादित्रयं तदेवात्र प्रत्यभिज्ञातम् ; तथापि स एव क्रमोऽत्र कार्त्स्न्येन न विवक्षितः; पूर्वत्र ‘इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः’ [ ३।४० ] इति श्लोके निर्दिष्टानामिन्द्रियादीनां कामपर्यन्तानां चतुर्णां विरोधिनामेवात्र तारतम्यनिर्देशोपपत्तेः, इन्द्रियमनोबुद्धीनां च क्रमस्यात्र न कश्चिद्भङ्गः। कठवल्ल्यर्थपरत्वे त्वर्थानामत्रानिर्देशान्मात्रया क्रमभङ्गः स्यात्। विरोधित्वे जेतव्यत्वे च प्रधानतया पूर्वत्रोत्तरत्र च काम एव व्यपदिश्यते। अतः स एवात्र सर्वप्रधानतया ‘ यो बुद्धेः परतस्तु सः ’ इति निर्देशमर्हति; अन्यथा स इति शब्दस्य विशेष्यमौपनिषदं दूरस्थं स्यात्; यदि त्वात्माऽप्यत्र नियन्तव्यतयाऽभिमतः, तदा ‘ इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः’[३।४०]इत्यत्राप्यात्माप्यधिष्ठानतया व्यपदिश्येत,न चैतत् तथाकृतम्। आत्मा हि तत्र चतुर्भिर्मोहनीयतया व्यपदिष्टः; अतश्चतुर्णां नियमनमेवानेन कार्यम् ;तथा सत्युत्तरश्लोकस्थात्मशब्दोऽप्येतदनुरोधेन वर्णनीयः । एतस्यैवानुवादो हि ‘ एवं बुद्धेः परम्’[३।४३] इति व्यक्तः। पादद्वयस्थितस्य ‘बुद्ध्वा’ इत्यादिक्रियाद्वयस्य कर्मद्वयं च भिन्नमेव स्वरसप्रतीतम्। अतस्तत्र द्वितीयान्तात्मशब्दो नियन्तव्यतया निर्दिष्टमनोविषयः। तृतीयान्तस्तु मनोनियमनकरणभूताध्यवसायविषयः । ‘आहुः’ इति निर्देशस्तु नावश्यमुपनिषदभिप्रायेण ‘ इन्द्रियाणां हि चरतां [ तु सर्वेषां ] यद्येकं क्षरतीन्द्रियम्। तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम्’ [ मनुः२।९९ ] इत्याद्यनुसारेण मन्वादय आहुरित्यपि विवक्षोपपत्तेः । तस्मात् ‘ यो बुद्धेः परतस्तु सः ’ इति काम एव निर्दिश्यते । तदेतदखिलमभिप्रेत्योक्तं **तदिदमुच्यत** इत्यारभ्य **स काम इत्यर्थ** इत्यन्तम् ॥ ४२ ॥

**९ आ. मा. भा.— शत्रुहनने आयुधरूपं ज्ञानं वक्तुं ज्ञेयमाह— इन्द्रियाणीति। ‘असङ्गज्ञानासिमादाय तरातिपारं’ इति ह्युक्तम्। शरीरादिन्द्रियाणि पराणि उत्कृष्टानि। न केवलं बुद्धेः परः श्रुत्युक्तप्रकारेणाव्यक्तादपि “ अव्यक्तात्पुरुषः परः ” [ कठो. ३।११ ] इति हि श्रुतिः। न च तत्र तत्रोक्तैकदेशज्ञानमात्रेण भवति मुक्तिः। सार्वत्रिकगुणोपसंहारो हि भगवता गुणोपसंहारपादेऽभिहितः ‘आनन्दादयः प्रधानस्य’ [ब्र.सू.३।३।११]इत्यादिना। तथा चान्यत्र ‘अपौरुषेयवेदेषु विष्णुवेदेषु चैव हि। सर्वत्र ये गुणाः प्रोक्ताः सम्प्रदायागताश्च ये।। सर्वैस्तैः सह विज्ञाय ये पश्यन्ति परं हरिम्। तेषामेव भवेन्मुक्तिर्नान्यथा तु कथञ्चन” इति गारुडे। तस्मादव्यक्तादपि परत्वेन ज्ञेयः। न चात्र जीव उच्यते; ‘रसोऽप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ’ [ २।५९ ] इत्युक्तत्वात्। ‘ अविज्ञाय परं मत्तो जयः कामस्य वै कुतः ’ इति च। अतः परमात्मज्ञानमेवात्र विवक्षितम्। आत्मानं मनः। आत्मना बुद्ध्या ॥४२॥**

**६ ज. प्र. दी.**—‘ इन्द्रियाणि पराणि ’ इत्यस्य पूर्वेण सङ्गतिर्न दृश्यते अत आह— **शत्रुहनन** इति। ‘एवं बुद्धेः परं’ [ ३।४३ ] इत्यनेन वक्तुं ज्ञानस्यात्रायुधत्वे प्रमाणमाह— **असङ्गे**ति । असङ्गं वैराग्यसहितम् । तराति पारं पारमतितर ‘‘छन्दसि परेऽपि’’ [ अष्टा. १।४।८१ ] इति वचनात्। परत्वस्यावधिसापेक्षत्वात्कस्मादिन्द्रियाणि पराणि ? इत्यत आह— **शरीरादि**ति । सन्निधानादिति भावः। किं परत्वमन्यत्वं ? नेत्याह— **उत्कृष्टानी**ति । ‘यो बुद्धेः परतस्तु सः’ इति परमात्मोच्यते, तस्य बुद्धेः परत्वे महताऽऽत्मना साम्यं स्यादत आह— **न केवलमि**ति । काऽसौ श्रुतिर्यद्बलादध्याहारः? इत्यत आह— **अव्यक्तादि**ति । अस्तु भगवानव्यक्तादपि कामादिजयार्थं बुद्धेः परत्वेनैव ज्ञातेनालं; किं प्रमाणान्तरसिद्धाध्याहारेण ? इत्यत आह— **न चे**ति। कामादिजयो हि मुक्तिद्वारं, न च मुक्तिरेकदेशज्ञानमात्रेण भवति। कुतः ? इत्यत आह— **सार्वत्रिके**ति । तस्यान्यथाव्याख्यानेऽपि स्पष्टं प्रमाणमाह— **तथा चे**ति । सर्वत्रैवेति सम्बन्धः । वेदाद्यनुक्ता अपि भगवत्सम्प्रदायागतास्तैः सह तैः सहितम्। न च तत्रेत्युक्तमुपसंहरति— **तस्मादि**ति । मायावादी तु ‘ यो बुद्धेः परतस्तु सः ’ इत्यनेन जीव उच्यत इत्याह, तन्निराकरोति— **न चे**ति। कुतः ? इति चेत्। ‘एवं बुद्धेः परं’इत्येतज्ज्ञानस्य कामविनाशसाधनत्वोक्तेः। तस्याश्च भगवत्परिग्रहे घटनादन्यथाऽघटनादिति भावेनोभयत्र प्रमाणमाह— **रसोऽपी**ति । न चात्रेत्युक्तमुपसंहरति— **अत** इति । **भास्करस्तु** कामोऽत्रो-

च्यत इत्याह तदतीव मंदं "कामः सङ्कल्पः" [ बृ. उ. १।५।३ ] इत्यादिश्रुतेः, तस्य मनोधर्मस्य तत्परत्वानुपपत्तेः । पक्षद्वयेऽपि 'इन्द्रियाणि पराणि' इत्यादिना तारतम्योक्तेर्न प्रयोजनमस्तीति । 'संस्तभ्यात्मानमात्मना' [ ३।४३ ] इत्यस्य जीवात्मानं परमात्मनैकीकृत्येतिव्याख्यानं शब्दबाह्यमित्याशयवानात्मशब्दद्वयं व्याख्याति— **आत्मानमिति** ॥ ४२ ॥

**७ ह. पै. भा.— यं ज्ञानरूपमात्मानं काम आवृणोति तस्य स्वरूपमाह— इन्द्रियाणीति । इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि पराणि प्रकृष्टानि सूक्ष्मत्वात्सकलदेहव्यापित्वाच्चाऽऽहुः कथयन्ति । तेभ्योऽपीन्द्रियेभ्यः परं प्रकृष्टं मन आहुः; तत्पूर्वकत्वादिन्द्रियाणां प्रवृत्तेः । मनसोऽपि परा बुद्धिः; बुद्धिरध्यवसायात्मिका तदर्थत्वान्मनसः । यो बुद्धेः परतो बोद्धा स कामेनाऽऽवृत इत्यभिप्रायः ॥ ४२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं भगवन्मतानुष्ठानौपयिकत्वेनेन्द्रियनिग्रहरूपं कामजयोपायमुक्त्वा इदानीं 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' [ २।५९ ] इति पूर्वाध्यायोक्तपरदर्शनरूपं निर्वासनकामनिरसनोपायमाह द्वाभ्याम्— इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि बाह्येभ्यो देहाद्यर्थेभ्यः पराणि उत्कृष्टान्याहुः, तत्प्रकाशकत्वात् । इन्द्रियेभ्यश्च सङ्कल्पात्मकं मनः प्रकृष्टम्, तत्प्रवर्तकत्वात् । मनसस्तु परा बुद्धिर्निश्चयात्मिका निश्चयपूर्वकत्वात् सङ्कल्पस्य । यस्तु बुद्धेः परतः तत्साक्षित्वेनावस्थितः, यमिन्द्रियाद्यधिष्ठानकः कामो विवेकावरणद्वारेण मोहयतीत्युक्तम्, सर्वान्तर आत्मा परो निरतिशयस्वरूपः । न ततोऽपि परं किञ्चिदस्ति, "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" [ कठो. १।२।११ ] इति श्रुतेः । अत्र बुद्धिशब्देन महदव्यक्तयोरप्युपलक्षणम्; "बुद्धेरात्मा महान्परः । महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः," [ कठो. १।३।१०,११ ] इति श्रुतौ अस्मदादिव्यष्टिबुद्ध्यपेक्षया समष्टिबुद्धिरूपहैरण्यगर्भबुद्धिलक्षणो महानात्मा परः" ततः अव्यक्तशब्दवाच्यं मायाख्यं जगद्बीजम्, ततः पुरुष आत्मा पर इति प्रतिपादनात् । यद्यपि श्रुतौ "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" [कठो. १।२।१०] इतीन्द्रियापेक्षयाऽर्थानां परत्वमुक्तम्, तथाप्यत्र प्रकाशकत्वविवक्षया अर्थेभ्य इन्द्रियाणां परत्वोक्तिरिति न विरोधः ।

यत्त्वत्र **माध्वव्याख्यानम्**— "इन्द्रियादिशब्दैस्तत्तद्देवता विवक्षिताः । तथा च लोक इन्द्रियदेवताः सर्वतः श्रेष्ठाः । ततो मनोभिमानी रुद्रः । तस्मात्सरस्वती बुद्ध्यभिमानिनी । ततो ब्रह्मा महानात्मा । ततोऽव्यक्तरूपा लक्ष्मीः । ततो विष्णुः" इति, तत्तुच्छम्; एवं सति पादेन्द्रियाभिमानिविष्ण्वपेक्षया मनोभिमानिरुद्रस्य श्रेष्ठत्वप्राप्त्या कीलोत्पाटि**वानर**न्यायापातात् । पाददेवताया विष्णोर्द्वादशादित्यान्तर्गतविष्णुरूपत्वान्न मूलविष्णोरपकर्ष इति चेत्, तर्हि मनोदेवताया रुद्रस्याप्येकादशरुद्रान्तर्गतरुद्ररूपत्वान्न मूलरुद्रस्याप्यपकर्ष इति कुतो न मन्यसे ? किञ्च त्वदुक्तदेवतातारतम्ये न तावत् 'इन्द्रियाणि पराणि' इत्यादिकमिदमेव वाक्यं प्रमाणम्, एतस्य व्याख्यातत्वात्; इन्द्रियादिशब्दानां स्वार्थपरत्वे सम्भवति तदभिमानिदेवतापरत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वाच्च । नाप्यन्यत् प्रमाणमस्तीति **पाषण्डगजकेसरिण्यस्माभिः** प्रपञ्चितमित्यास्तां तावत् ॥ ४२ ॥

९ व० त० दी०— **ज्ञानविरोधिषु प्रधानत्वेन निर्दिशन्नाह—इन्द्रियाणीति । पराणीति; अत्र परशब्दो बलवत्प्रतीपत्वसूचकः । यः कामो बुद्धेः परतः सर्वैरिति ॥ ४२ ॥**

**१० पु. अ. त.**— नन्विन्द्रियादीनां भगवत्स्वरूपादिविषयानुभावकानां नियमने किं फलं? इत्यत आह— **इन्द्रियाणीति** । इन्द्रियाणि 'अक्षण्वतां फलमिदं' [भाग. १०।२१।७ ] इति न्यायेन भगवत्स्वरूपदर्शनादिविषयानुभावकत्वेन पराण्युत्कृष्टान्याहुः । भक्ता इति शेषः । मनसोऽन्यत्र स्थितेन्द्रियैः संयुक्तं भगवत्स्वरूपं न फलरूपं मारणीयदैत्यादिभिरिवेतीन्द्रियेभ्यः परमुत्कृष्टं मन आहुः, मनोऽपि कामनाद्यशुद्धया बुद्ध्या हतं सन्न फलं साधयत्यत आहुः मनसस्तु सकाशाद्बुद्धिः परा उत्कृष्टेत्यर्थः । अत्रायं भावः— भगवान् लौकिकदेहेन्द्रियादिभिर्नानुभाव्यः । किन्त्वविकृतालौकिकभावात्मकात्मस्वरूपेण; अतः स आत्मैवोत्तम इति भावः ॥ ४२ ॥

**११ नी० भा० दी०— न केवलं बाह्येन्द्रियजयेनैव कृतार्थत्वं, किन्तु मनोबुद्ध्योरपि जयः कर्तव्यः, कामस्य समूलोच्छेदाय त्रिप्राकारदुर्गस्थस्य सामन्तस्येवाभ्यन्तरप्राकारद्वयजयेन; अतो मनोबुद्ध्योर्जयार्थं योगं दर्शयति— इन्द्रियाणीति । अत्र परत्वं सूक्ष्मत्वेन कारणत्वेन वा बोद्धव्यम् । इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि पराणि स्वविषयेभ्यः पृथिव्यादिस्वाश्रयसहितेभ्यो गन्धादिभ्यो वित्तपुत्रशरीरेभ्यश्च तेषां तत्कारणत्वात्; तथा च कौषीतकिनः समामनन्ति ब्राह्मणे [ ३।३ ] "प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः" इति । व्युच्चरन्तीत्यनुषज्जते । प्राणेभ्य इन्द्रियेभ्यो देवास्तदधिष्ठात्र्यो देवता उत्पद्यन्ते, देवेभ्यश्च लोका भूतभौतिका उत्पद्यन्त इति श्रुत्यर्थः । इन्द्रियेभ्यः परं मनः, "मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति" [ बृ.उ. १।५।३ ] इति श्रुतेरिन्द्रियाणां मनोविकारत्वात् । तेन बाह्या-**

र्थेभ्य इन्द्रियाण्याकृष्य मनसि प्रविलापनीयानीति दर्शितम्, केवलं परत्वमात्रप्रतिपादने प्रयोजनाभावात्। 'मनसस्तु परा बुद्धिः' "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" [तै. उ. २।४] इति श्रुतेः मनसः प्रविलापनं तत्कारणे बुद्धौ कर्त्तव्यमित्यर्थः। समष्टिबुद्धेरप्यत्रैवान्तर्भावः 'यो बुद्धेः परतस्तु सः' यस्तु (?) –तुशब्दो भास्यवर्गाद्बुद्ध्यादेर्भासकस्य ज्ञानस्य वैलक्षण्यं गमयति–यो बुद्धेरपि परतः स ज्ञानपदाभिधेयः कामेन –उल्बेन गर्भ इव– आवृत इति व्यवहितेन सम्बन्धः। तथा च श्रुतिः "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि। ज्ञानमात्मनि महति (नियच्छेत्) तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि" [कठो. ३।१३] इति। एतदुक्तं भवति— वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारमुत्सृज्य मनोमात्रेणावतिष्ठेत। मनोऽपि विषयविकल्पाभिमुखं ज्ञानात्मशब्दोदितायां बुद्धौ धारयेत, तामपि महत्यात्मनि समष्टिबुद्धौ धारयेत्, तत् तं महान्तमात्मानं शान्ते निष्कले परस्मिन् ज्योतिषि प्रत्यगात्मनि धारयेदिति ॥ ४२ ॥

**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।**
**जहि शत्रुं महाबाहो! कामरूपं दुरासदम् ॥ ४३ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता
सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

**१ शां. भा.**—ततः किं? एवमिति। एवं बुद्धेः परमात्मानं बुद्ध्वा ज्ञात्वा संस्तभ्य सम्यक्स्तम्भनं कृत्वाऽऽत्मानं स्वेनैवाऽऽत्मना संस्कृतेन मनसा सम्यक्समाधायेत्यर्थः। जह्येनं शत्रुं हे महाबाहो! कामरूपं दुरासदं दुःखेनाऽऽसद आसादनं प्राप्तिर्यस्य तं दुरासदं दुर्विज्ञेयानेकविशेषमिति ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य–गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ
श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये कर्मप्रशंसायोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— इन्द्रियादिसमाधानपूर्वकमात्मज्ञानात् कामजयो भवतीत्युपसंहरति— **एवमित्यादिना**। संस्कृतं मनो मनस्समाधाने हेतुरिति सूचयति— **संस्तभ्येति**। प्रकृतं शत्रुमेव विशिनष्टि— **कामरूपमिति**। तस्य दुरासदत्वे हेतुमाह— **दुर्विज्ञेयेति**। अनेकविशेषोऽतादृशो महाशनत्वादिः; तदनेनोपायभूता कर्मनिष्ठा प्राधान्येनोक्ता, उपेया तु ज्ञाननिष्ठा गुणत्वेनेति विवेक्तव्यम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंस– परिव्राजकाचार्य– श्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते
श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.**— एवं बुद्धेरपि परं कामं ज्ञानयोगविरोधिनं वैरिणं बुद्ध्वा आत्मानं मनः आत्मना बुद्ध्या कर्मयोगेऽवस्थाप्य एनं कामरूपं दुरासदं शत्रुं जहि नाशयेति ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

**४ वे. ता. चं.**—'सदृशं चेष्टते' [ ३।३३ ] इत्याद्युपक्रान्तज्ञानयोगसप्रमादतोपसंहारद्वारा मनसः कर्मयोगेऽवस्थापनमभिधायाध्यायार्थोऽप्युपसंहियते— **एवमिति** श्लोकेन। कामविजयात्पूर्वं मनसः संस्तम्भनं नाम कर्मयोगे स्थापनमेव, न पुनरत्यन्तवशीकृतत्वम्; सति हि कामे मनसोऽपि क्षोभः स्यादिति पूर्वमेवोक्तमित्यभिप्रायेण **कर्मयोगेऽवस्थाप्येत्युक्तम्**। **दुरासदं** अननुष्ठितकर्मयोगैरनिरस्तपापैरगृहीतसुदृढसत्त्वकवचैः दोषदर्शनेऽप्यपाकर्तुमशक्यमित्यर्थः। अचेतनस्य कामस्य शत्रुत्वारोपेण हिंसनीयत्वोक्तिफलितं तु नाशनमेवेत्यभिप्रायेण 'प्रजहि' [३।४१] 'जहि' इत्यनयोर्नाशयेति व्याख्या ॥ ४३ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु
श्रीमद्भगवद्गीतारामानुजभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.**—॥ ४३ ॥ **६ ज. प्र. दी.**— ॥ ४३ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादविरचितगीताभाष्यटीकायां प्रमेयदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

७ ह. पै. भा.— एवं बुद्धेः सम्भवं यतो बुद्धेः परं बोद्धारमात्मानं बुद्ध्वा ज्ञात्वाऽन्तःकरणमात्मनैव संस्तभ्य कामरूपं शत्रुं जहि। दुरासदं दुःखेनाऽऽसाद्यते विनाश्यत इति दुरासदस्तम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— नन्वस्त्वेवं देहादिबुद्ध्यन्तेभ्यः परत्वमात्मनः; प्रकृते किं जातम्? अत आह— एवमिति। 'परं दृष्ट्वा निवर्तते' [२।५९] इति परशब्दवाच्यमात्मानं एवमुक्तरीत्या बुद्धेर्देहादिबुद्ध्यन्तदृश्यवर्गात् परं निरतिशयानन्दरूपत्वेनोत्कृष्टं बुद्ध्वा साक्षात्कृत्य आत्मानं स्वेनैवात्मना संस्तभ्य निरतिशयानन्दनिमग्नतया स्थिरीकृत्य दुरासदं दुःखेनासादनीयं दुर्विज्ञेयगतिं कामरूपं शत्रुं जहि निर्बीजं नाशय। तदा निर्वासनः कामो भवतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्र-
स्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते
ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— एवं बुद्धेः परमवशभूतं तं बुद्ध्वा आत्मना योगशुद्धेनात्मानं मनः बुद्धेः परं आत्मानं पुरुषं बुद्धेति केचित्। महाबाहो! कामरूपशत्रुं नाशय। एतेषां बुद्धिस्थितानां नाशने प्रतिबन्धकं पूर्वं कामरूपं वैरिणं मारयित्वा स्वधर्मं कुरु ॥ ४३ ॥

बुद्धेर्विनाशकौ कामक्रोधौ निग्रहणं तयोः। उदितं तत्समस्तानामिन्द्रियाणां तथैव च ॥
तस्माद्धरीच्छया कर्मत्याग एव सुखावहः। त्यक्तव्यं च तदिच्छायामिति तद्धर्मबोधनम् ॥
स्वयं हि भगवान्यत्र कर्म कारयति स्वतः। क्व पुनस्तत्र बन्धः स्यादिति तत्करणं मतम् ॥
आत्मयोगे भक्तिमार्गे यत्प्रभोरिङ्गितं पुनः। तत्र कार्यो नो विचारस्तदीयैरिति बोध्यते ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— यत आत्मा उत्तमस्तस्मात्तमुत्तमं ज्ञात्वा लौकिकं कामं त्यजेत् तेन फलसिद्धिरित्याहुः— एवमिति। एवं मदुक्तप्रकारेण बुद्धेः परं आत्मानं परमुत्कृष्टं बुद्ध्वा आत्मनाऽविकृतस्वरूपेणात्मानं अविकृतस्वरूपं मनः संस्तभ्य समाधाय स्ववशीकृत्य। हे महाबाहो तन्निराकरणसमर्थ! कामरूपं शत्रुं एवम्भावनाशकं दुरासदं एवम्भूतात्मस्वरूपज्ञानातिरिक्तानाश्यं जहि त्यजेत्यर्थः ॥ ४३ ॥

कृतानां कर्मणां योगो यथा सम्भवतीश्वरे ॥
श्रीकृष्णेन तथा चायं कर्मयोगो निरूपितः ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

११ नी. भा. दी.— योगफलमाह— एवमिति। आत्मानं मनः हार्दाकाशेऽपि तत्स्थान्नित्यान् कामान् कामयानं श्रूयते हि दहरविद्यायां हार्दाकाशं प्रकृत्य "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति" [छां.उ.८।१।३] "सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते" [छां.उ. ८।३।२] इति तत्रत्यानां कामानां सत्त्वं तेषां च सत्यत्वम्। "त इमे सत्याः कामाः" [छां.उ. ८।३।१] इति श्रुतेः। आत्मानं मनः आत्मना मनसैव बुद्ध्यैव वा संस्तभ्य निर्वृत्तिकं कृत्वा बुद्धेः परं परमात्मानं बुद्ध्वा समूलघातं कामरूपं शत्रुं शातयितारं जहि नाशय 'हे महाबाहो' इति सम्बोधयंस्तन्नाशे तव सामर्थ्यमस्तीति दर्शयति। अयमर्थः— यावत्काममूलस्याज्ञानस्योच्छेद आत्मतत्त्वज्ञानेन क्रियते तावत्पर्यन्तं कामस्य निर्मूलोच्छेदो न भवतीति बुद्धेः परं बुद्ध्वा कामो नाशनीयः, तस्मिंश्च नष्टे संसारानर्थोच्छेदो भवतीति। दुरासदं परबोधं विना दुःखेनापि नाशयितुमशक्यम् ॥ ४३ ॥

उपायः कर्मनिष्ठाऽत्र प्राधान्येनोपसंहृता। उपेया ज्ञाननिष्ठा तु तद्गुणत्वेन कीर्तिता ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नैलकण्ठीये भारतभावदीपे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

# श्रीमद्भगवद्गीताया तृतीयाध्यायस्य माहात्म्यम् ३ ।

श्रीभगवानुवाच—

जनस्थाने जडो नाम द्विजन्मा कौशिकान्वयः ।
हित्वा जात्युचितं धर्मं वणिग्वृत्त्यां मनो दधे ॥ १ ॥
व्यसनी परदारेषु दीव्यन्नक्षैः पिबन्मधु ।
मृगयानिरतो नित्यं कालमेवं निनाय सः ॥ २ ॥
क्षीणे वित्ते ततो रात्रौ चौर्यमारब्धवांस्ततः ।
प्रतिपेदे धनं तेन यज्वनां यष्टुमर्थिनाम् ॥ ३ ॥
स दूरमगमत्तेन वाणिज्यायोत्तरां दिशम् ।
कस्तूरीमगुरुं कृष्णं चामरांश्चन्द्रिकोज्ज्वलान् ॥ ४ ॥
गृहीत्वाऽऽवृत्य चाऽऽनिन्ये पञ्चषानब्धयोजनात् ।
अथापरस्मिन्नहनि प्रियादर्शनदोहदी ॥ ५ ॥
दूरमध्वानमुल्लङ्घ्य रवावस्तमिते सति ।
ध्वान्ते प्रसर्पति स्वैरं दिशो दश तरोस्तले ॥ ६ ॥
गतो वशं स दस्यूनां निजघ्ने तैश्च सत्वरम् ।
धर्मलोपादसौ जज्ञे घोरश्चोग्रतरो ग्रहः ॥ ७ ॥
पिपासितो बुभुक्षार्तो लेलिहानश्च सृक्किणी ।
ऊर्ध्वकेशोऽतिजङ्घालुः पृष्ठलग्नोदरो महान् ॥ ८ ॥
अस्थिमात्रशरीरोऽभूदुद्वृत्तनयनो भृशम् ।
अत्रान्तरे सुतस्तस्य धर्मात्मा वेदकोविदः ॥ ९ ॥
पर्यपालयदत्यर्थं दिदृक्षुस्तं तदाऽऽगमत् ।
नित्यमन्वेषयन्वार्तां पान्थेभ्यो नोपलब्धवान् ॥ १० ॥
ततः कदाचिदायाते सहायिनि च मानवे ।
तस्माद्विदितवृत्तान्तः शुशोच पितरं बहु ॥ ११ ॥
ततो विमृश्य मेधावी चिकीर्षुः पारलौकिकम् ।
वाराणसीं ससम्भारः स गन्तुमुपचक्रमे ॥ १२ ॥
मार्गे निवासान्सप्ताष्टौ नीत्वा तस्य तरोस्तले ।
सन्ध्यां प्रचक्रमे कर्तुं यत्रास्य निहतः पिता ॥ १३ ॥
तत्राध्यायं स गीतानां तृतीयं सञ्जजाप ह ।
ततो घोरस्वरस्तत्र व्योममध्ये परामृशत् ॥ १४ ॥
ददर्श घोरमाकाशात्पतन्तं पितरं ततः ।
विस्मयेन भयेनापि विकलीकृतचेतनः ॥ १५ ॥
तेजसा भूयसा व्याप्तमालुलोके पुरोऽम्बरे ।
किङ्किणीकोटिसङ्कीर्णं तेजसा व्याप्तदिङ्मुखम् ॥ १६ ॥
विमानमग्रतोऽपश्यद्दिव्यमव्यग्रचेतनः ।
तत्रापश्यत्समारूढं दिव्याभिः स्त्रीभिरावृतम् ॥ १७ ॥
संस्तूयमानं मुनिभिः पितरं पीतवाससम् ।
प्रणतः स समालोक्य युयुजे तेन चाऽऽशिषा ॥
ततोऽपृच्छदिदं वृत्तं स च तस्मै न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

जड उवाच—

दुस्त्यजात्कर्मणो वत्स ! वपुषोऽमुष्य कारणात् ।
मोचितोऽस्मि त्वया दैवादध्यायं जपताऽन्तिके ॥ १९ ॥
तन्निवर्तस्व जपतः साम्प्रतं त्वामुपस्थितम् ।
वाराणसी यदर्थं यत्तदनुष्ठितमात्मनः ॥ २० ॥

श्रीभगवानुवाच—

एवमुक्तः सुतः प्राह पितरं दीप्ततेजसम् ॥ २१ ॥

सुत उवाच—

हितं ममानुशाधि त्वं कार्यमन्यच्च किञ्चन ॥ २२ ॥

श्रीभगवानुवाच—

ततः प्राह पिता पुत्रं कार्यमेतत्त्वयाऽनघ ! ।
यन्मयाऽऽचरितं कर्म भ्रात्रा मम तु तत्कृतम् ॥ २३ ॥
स यातो नरकं घोरं तं मोचयितुमर्हसि ।
अन्ये मदन्वया ये वै निरयं प्रतिपेदिरे ॥
ते च मोचयितव्यास्त इति मेऽस्ति मनोरथः ॥ २४ ॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्येवमुक्तः पुत्रस्तु पुनः प्राह कृताञ्जलिः ॥ २५ ॥

सुत उवाच—

कर्मणा केन तान्सर्वान्मोचयामि तदादिश ॥ २६ ॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं निवेदितो वाक्यं पिता पुत्रमुवाच ह ॥ २७ ॥
येनाहं मोचितो वत्स ! तदनुष्ठातुमर्हसि ।
अनुष्ठाय तदुत्पन्नं पुण्यं तेभ्यः समुत्सृज ॥ २८ ॥
ततोऽहमिव ते सर्वे पूर्वे सन्त्यज्य यातनाम् ।
गमिष्यन्त्यचिरेणैव तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ २९ ॥

श्रीभगवानुवाच—

स सन्दिष्टोऽवदत्पुत्रो यद्येवं तात ! नारकान् ।
सर्वानपि विमोक्ष्यामि यदि ते रोचते वचः ॥ ३० ॥
एवमस्तु शिवं भूयादुपपन्नं महत्प्रियम् ।
इत्याश्वास्य पिता पुत्रं ययौ विष्णोः परं पदम् ॥ ३१ ॥
सोऽपि तस्मात्परावृत्य जनस्थानं प्रपद्य च ।
सुन्दरस्य पुरः शौरेश्चाऽऽलये कालमभ्यगात् ॥ ३२ ॥
स कुर्वाणः समादिष्टं पित्रा गीताजपे रतः ।
उत्ससर्ज कृतं पुण्यं मोचयिष्यन्स नारकान् ॥ ३३ ॥
अत्रान्तरे पदाद्विष्णोर्यातनापदमीयुषः ।
नारकान्मोचयिष्यन्तः किङ्करा यममभ्ययुः ॥ ३४ ॥
तेन ते पूजिताः सर्वे सत्क्रियाभिरनेकधा ।
कुशलं परिपृष्टाश्च सर्वतः सुखमूचिरे ॥ ३५ ॥
एवं सत्कृत्य मेधावी पितृलोकमहेश्वरः ।
हेतुमागमनेऽपृच्छत्ते च तस्मै न्यवेदयन् ॥ ३६ ॥

विष्णुदूता ऊचुः—

विद्धि कीनाशनाथ ! त्वं शेषपर्यङ्कशायिना ।
शौरिणा प्रहितानस्मान्समादेष्टुं त्वदन्तिके ॥ ३७ ॥

अस्मन्मुखेन देवस्त्वां कुशलं परिपृच्छति ।
नारकान्प्राणिनः सर्वान्विमोक्तुं च नियच्छति ॥३८॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्याकर्ण्य समादिष्टं विष्णोरमिततेजसः ।
नतेन मूर्ध्ना सम्भाव्य दध्यौ किञ्चन चेतसा ॥ ३९ ॥
विमुक्तान्नारकान्यातांस्तान्विलोक्य मदोत्कटान् ।
स तैरनुगतः सर्वैर्विष्णोरायतनं ततः ॥ ४० ॥
ययौ स वरयानेन यत्राऽऽस्ते दुग्धवारिधिः ।
तदन्त उदितानेकसूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ ४१ ॥
इन्दीवरदलश्यामं लोकनाथं जगद्गुरुम् ।
शय्याफणिफणारत्नमरीच्यामिश्रतेजसम् ॥ ४२ ॥
विलोक्यमानन्दयुक्तं निर्भरप्रीतमानसम् ।
भावानुगैर्दृगालोकैः श्रिया प्रेम्णेक्षितं मुहुः ॥ ४३ ॥
योगिभिः परितो जुष्टं ध्याननिस्पन्दतारकैः ।
स्तूयमानं महेन्द्रेण पराजेतुं विरोधिनः ॥ ४४ ॥
आम्नायवचसामन्ते ब्रह्मणो निस्सृतैर्मुखात् ।
मूर्तिमद्भिर्वचोभिश्च गीयमानगुणोत्करम् ॥ ४५ ॥
सम्प्रीतं चाप्युदासीनमपि सर्वासु योनिषु ।
योगसञ्चितपुण्यानां यौगपद्येन जन्तुषु ॥ ४६ ॥
विलोकमानमात्मानमखिलं सचराचरम् ।
आमोदयन्तमालोकैरानन्दपरिपूरितैः ॥ ४७ ॥
आविभ्राणं वपुर्व्यापि द्योतितं भोगिनस्त्विषा ।
इन्दीवरदलश्यामं ज्योत्स्नयेव नभस्स्थलम् ॥
विलोक्य तं स तुष्टाव धिया बहुलया नतः । ॥ ४८ ॥

यम उवाच—

नमः समस्तनिर्माणनिर्मलीभूतचेतसे ।
वदनोद्गीर्णवेदाय विश्वरूपाय वेधसे ॥ ४९ ॥
बलवेगसुदुर्धर्षदानवेन्द्रमदद्रुहे ।
नमः स्थितौ च सत्त्वाय विश्वाधाराय विष्णवे ॥ ५० ॥
नमः पातकसङ्घातजिष्णवेऽखिलदेहिनाम् ।
ईषदुन्मीलल्ललाटनेत्राग्निप्रभवार्चिषे ॥ ५१ ॥
त्वं हि सर्वस्य लोकस्य गुरुरात्मा महेश्वरः ।
विसृज्य वैष्णवान्सर्वानतस्त्वमनुकम्पसे ॥ ५२ ॥
व्यापयन्निखिलं लोकं मायया परिबृंहितम् ।
न तया परिभूतोऽसि न च तत्प्रभवैर्गुणैः ॥ ५३ ॥
अन्तरा वर्तमानोऽपि न ताभ्यामभिभूयसे ।
दृशा विषयवर्तिन्या निगृहीतमना अपि ॥ ५४ ॥
तया फलाभिगामिन्या आत्मन्येवाभिलीयसे ।
न तवास्ति महिम्नोऽन्तो यथा निरवधिः स्वयम् ॥
मौनमेव प्रयुक्तं मे विषयोऽस्ति कथं गिराम् । ॥५५॥

श्रीभगवानुवाच—

इति स्तुत्वा ततो वाक्यमिदमाह कृताञ्जलिः ॥ ५६ ॥

यम उवाच—

त्वन्नियोगादमी मुक्ता देहिनो निर्गुणा मया ।
समादिश यदन्यन्मे कार्यमस्ति जगद्गुरो ! ॥ ५७ ॥

श्रीभगवानुवाच—

इति विज्ञापितस्तेन तमाह मधुसूदनः ।
मेघगम्भीरया वाचा सिञ्चन्निव सुधारसैः ॥ ५८ ॥

मधुसूदन उवाच—

पापादुद्धार्यते लोकस्त्वया हि समवर्तिना ।
त्वयि विन्यस्तभारोऽहं नानुशोचामि देहिनः ॥
तदाचर निजं कर्म प्रयाहि स्वनिकेतनम् ॥५९॥

श्रीभगवानुवाच—

इत्युक्त्वाऽन्तर्दधे देवः सोऽपि स्वं पुरमाययौ ।
सोऽपि स्वज्ञातिजान्सर्वान्निरयस्थानानेकशः ।
उद्धृत्य वरयानेन विष्णुलोकं ययौ स्वयम् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये तृतीयाध्याय-
महिमकथनं नाम त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ३ ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ४ ]

**प्रसङ्गात्स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मताऽस्य च ।**
**भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाध्याय उच्यते ॥ ८ ॥**

श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

स्वशब्देनावतीर्णावस्थो भगवानिह विवक्षितः, तस्य स्वभावः स्वासाधारणो भावः; स्वस्वभावोक्तिरुच्यत इति 'ओदनपाकः पच्यते' इतिवत्, क्रियत इत्यर्थः । कर्मणोऽकर्मता 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [ ४।१८ ] इत्यादिभिरुक्ता; अकर्मशब्दोऽत्र तदन्यवृत्त्या कर्मयोगासन्नात्मज्ञानविषयः; अस्य च भेदाः 'दैवमेवापरे यज्ञम्' [४।२५] इत्यादिनोक्ताः । देवार्चनेन्द्रियनिरोध-प्राणायाम-याग-दान-होम-तपस्तीर्थ-सेवा-स्वाध्याय-तदर्थाभ्यासादिरूपा वर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताकाः यथाज्ञानं यथाशक्ति यथारुचि प्रधानतया परिगृहीताः कर्मयोगावान्तरविशेषा इत्यर्थः । ज्ञानस्य माहात्म्यं 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्' [ ४।३३ ] इत्युक्तं प्राधान्यम् । अयं च श्लोकः तृतीयसङ्गतिपूर्वकं चतुर्थारम्भे [ रा. भा. ] व्याख्यातः—'तृतीयेऽध्याये प्रकृतिसंसृष्टस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् कर्मयोग एव कार्यः; ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि अकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वककर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतुकमुक्तम्; शिष्टतया व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग एव कार्य इति चोक्तम् । चतुर्थेन इदानीमस्यैव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्वन्तरादावेवोपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रढयित्वा अन्तर्गतज्ञानतयाऽस्यैव ज्ञानयोगाकारतां प्रदर्श्य कर्मयोगस्वरूपं, तद्भेदः, कर्मयोगे ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यं चोच्यते; प्रसङ्गाच्च भगवदवतारयाथात्म्यमुच्यते'— इति ।

ईदृशं चावतारमाहात्म्यमत्र निरमन्थि— निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्यापि भगवतो जन्म नेन्द्रजालवन्मिथ्या, अपितु सत्यम्; अवतरंश्च भगवानस्मदादिवन्न ज्ञानसङ्कोचादिमान् भवति, किन्तु अजत्वाव्ययत्वसर्वेश्वरत्वादिकं सर्वं पारमेश्वरं स्वभावजमजहदेवावतरति, नचावतारविग्रहोऽप्यस्य गुणत्रयमयः प्राकृतः, प्रत्युत अप्राकृतशुद्धसत्त्वमयः; न चास्य जन्म पुण्यापुण्यरूपेण कर्मणा, अपितु स्वेच्छयैव; न वा कर्मविपाककाले अस्य जन्म, अपितु धर्मग्लान्यधर्मोत्थानकाले; नापि भगवज्जन्मनः सुखदुःखमिश्राणि फलानि; अपि तर्हि साधुपरित्राणदुष्कृद्विनाशनधर्मसंस्थापनादीनीति स्वरूपतः प्रकारतो द्रव्यतः कारणतः कालतः प्रयोजनतश्च दिव्यत्वम् । एवं जानतश्चैकस्मिन्नेव जन्मनि उपायपूर्त्यानन्तरजन्मप्रतिषेधेन भगवत्प्राप्तिर्गीयते 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' [ ४।९ ] इत्यादिना । अत एव हि प्राचेतसपाराशर्यशुकशौनकादयः परमर्षयः प्रायस्तत्रैव निष्ठां भूयसीमाद्रियन्ते— इति ॥ ८ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकगुरवे नमः ।

# ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ४ ।

उक्तयोगोपदेशस्य कृत्रिमत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थां तत्स्तुतिः ।

श्रीभगवानुवाच— इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ! ॥ २ ॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥ ३ ॥

## १ शाङ्करभाष्यम् ।

योऽयं योगोऽध्यायद्वयेनोक्तो ज्ञाननिष्ठालक्षणः ससन्न्यासः कर्मयोगोपायः, यस्मिन्वेदार्थः परिसमाप्तः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च; गीतासु च सर्वास्वयमेव योगो विवक्षितो भगवता। अतः परिसमाप्तं वेदार्थं मन्वानस्तं वंशकथनेन स्तौति **श्रीभगवान्— इममध्यायद्वयेनोक्तं योगं विवस्वत आदित्याय सर्गादौ प्रोक्तवानहं** जगत्परिपालयितॄणां क्षत्रियाणां बलाधानाय । तेन हि योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्म परिरक्षितुम् । ब्रह्मक्षत्रे परिपालिते जगत्परिपालयितुमलम् । **अव्ययमव्ययफलत्वात्** । न ह्यस्य योगस्य सम्यग्दर्शननिष्ठालक्षणस्य मोक्षाख्यं फलं व्येति । **स च विवस्वान् मनवे प्राह । मनुरिक्ष्वाकवे** स्वपुत्रायाऽऽदिराजाया**ब्रवीत्** ॥ १ ॥

## २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

पूर्वाभ्यामध्यायाभ्यां निष्ठाद्वयात्मनो योगस्य गीतत्वाद्वेदार्थस्य च समाप्तत्वाद्वक्तव्यशेषाभावादुक्तयोगस्य कृत्रिमत्वशङ्कानिवृत्तये वंशकथनपूर्विकां स्तुतिं भगवानुक्तवानित्याह— **श्रीभगवानिति** । तदेतद्भगवद्वचनं वृत्तानुवादद्वारेण प्रस्तौति— **योऽयमिति** । उक्तमेव योगं विभज्यानुवदति— **ज्ञानेति** । सन्न्यासेनेतिकर्तव्यतया सहितस्य ज्ञानात्मनो योगस्य कर्माख्यो योगो हेतुः, अतश्चोपायोपेयभूतं निष्ठाद्वयं प्रतिष्ठापितमित्यर्थः । उक्ते योगद्वये प्रमाणमुपन्यस्यति— **यस्मिन्निति** । अथवा ज्ञानयोगस्य कर्मयोगोपायत्वमेव स्फुटयति— **यस्मिन्निति** । प्रवृत्त्या लक्ष्यते ज्ञायते कर्मयोगो निवृत्त्या च लक्ष्यते ज्ञानयोग इति विभागः । यद्यपि पूर्वस्मिन्नध्यायद्वये यथोक्तनिष्ठाद्वयं व्याख्यातं, तथापि विवक्ष्यमाणाध्यायेषु वक्तव्यान्तरमस्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **गीतासु चेति** । कथं तर्हि समनन्तराध्यायस्य प्रवृत्तिः ? अत आह— **अत इति** ।

---

१ विवस्वत्पदनिरुक्तिः साम्बपुराणे–[ ९।३३ ] वसत्यदृष्टः सर्वेषु भूतेष्वन्तर्हितो हरिः । धातु ‘ वस निवासे’ ( भ्वा. प. १००५ ) ऽस्ति विवस्वांस्तेन तूच्यते ॥ इति । मनुस्तत्पुत्रो वर्तमानमन्वन्तराधिपतिर्वैवस्वतः । इक्ष्वाकुस्तत्सुतः । क्षुते जातं ‘ इक्षु ’ इति शब्दमकतीतीक्ष्वाकुः । ‘ अक गतौ ’ ( भ्वा. ७९२ ) अस्माद्बाहुलकादुण् । उक्तं च हरिवंशे– ‘क्षुवतश्च मनोस्तात ! इक्ष्वाकुरभवत्सुतः ।’ ( १।११।१२ ) इति । ‘ अव्ययो नाशरहितोऽविनाशी चादिवर्जितः । तस्मादव्ययशब्देन योगस्यानादितोच्यते ॥ ’ इति **वामनाशयः** ॥ **नवीनास्तु**– ‘ कदापि न क्षीयते इति त्रिकालाबाधित इति वा नित्यः कर्मयोगमार्गः ’ इति व्याचक्रुः, तत् ‘ योगो नष्टः ’ इति वाक्यशेषविरोधादुपेक्ष्यम् ॥ ॥ २ राजर्षिशब्दनिरुक्तिर्ब्रह्माण्डपुराणे ‘ मानवे चैव ये वंशे ऐलवंशे च ये नृपाः । ये च ऐक्ष्वाकनाभागा ज्ञेया राजर्षयस्तु ते ॥ ऋषन्ति रञ्जनायस्मात्प्रजा राजर्षयस्ततः । ’ ( पू. भा. ३३ ) इति । अत्र ‘ परन्तप ’ इति सम्बोधनेन ‘ स्वस्याः प्रकृतेः सदृशं ’ युद्धमेव त्वं विधास्यसीति सूचितवान्भगवानित्याहुः ॥ ॥ ३ ‘ सखा च ’ इति चशब्देनान्वाचय उच्यते, तेन यथा भिक्षाटने भिक्षाणां प्राधान्यं गवानयने त्वप्राधान्यं, एवं भक्तिरत्र गुरुं प्रति प्रधानं ,न सखित्वमपीति तात्पर्यार्थः । **इत्यभिनवगुप्तपादाः** । — **अविगीता** ।

वंशकथनं सम्प्रदायोपन्यासः, सम्प्रदायोपदेशश्च कृत्रिमत्वशङ्कानिवृत्त्या योगस्तुतौ पर्यवस्यति । गुरुशिष्यपरम्परोपन्यासमेवानुक्रामति— **इममिति** । 'इमं' इत्यस्य सन्निहितं विषयं दर्शयति— **अध्यायेति** । योगं ज्ञाननिष्ठालक्षणं कर्मयोगोपायलभ्यमित्यर्थः । स्वयमकृतार्थानां प्रयोजनव्यग्राणां परार्थप्रवृत्त्यसम्भवाद्भगवतस्तथाविधप्रवृत्तिदर्शनात्कृतार्थता कल्पनीयेत्याह— **विवस्वत** इति । अव्ययवेदमूलत्वादव्ययत्वं योगस्य गमयितव्यं किमिति भगवता कृतार्थेनापि योगप्रवचनं कृतं ? इति तदाह— **जगदिति** । कथं यथोक्तेन योगेन क्षत्रियाणां बलाधानं ? तदाह— **तेनेति** । युक्ताः क्षत्रिया इति शेषः । ब्रह्मशब्देन ब्राह्मणत्वजातिरुच्यते । यद्यपि योगप्रवचनेन क्षत्रं रक्षितं तेन च ब्राह्मणत्वं, तथापि कथं रक्षणीयं जगदशेषं रक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह— **ब्रह्मेति** । ताभ्यां हि कर्मफलभूतं जगदनुष्ठानद्वारा रक्षितुं शक्यमित्यर्थः । योगस्याव्ययत्वे हेत्वन्तरमाह— **अव्ययफलत्वादिति** । ननु कर्मफलवदुक्तयोगफलस्यापि साध्यत्वेन क्षयिष्णुत्वमनुमीयते, नेत्याह— **न हीति** । अपुनरावृत्तिश्रुतिहतमनुमानं न प्रमाणीभवतीति भावः । भगवता विवस्वते प्रोक्तो योगस्तत्रैव पर्यवस्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **स चेति** । 'स्वपुत्राय' इत्युभयत्र सम्बध्यते । 'आदिराजाय' इतीक्ष्वाकोः सूर्यवंशप्रवर्तकत्वेन वैशिष्ट्यमुच्यते ॥ १ ॥

**१ शां. भा.— एवमिति ।** एवं क्षत्रियपरम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो राजानश्च त ऋषयश्च राजर्षयो विदुरिमं योगम् । स योगः कालेनेह महता दीर्घेण नष्टो विच्छिन्नसम्प्रदायः संवृत्तः । हे परन्तप ! आत्मनो विपक्षभूताः पर उच्यन्ते; तान् शौर्यतेजोगभस्तिभिर्भानुरिव तापयतीति परन्तपः शत्रुतापन इत्यर्थः ॥ २ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यथोक्ते योगे परम्परागते विशिष्टजनसम्मतिमुदाहरति— **एवमिति** । तस्य कथं सम्प्रति वक्तव्यत्वं ? तदाह-स कालेनेति । पूर्वार्धं व्याकरोति— **एवमित्यादिना** । स ऐश्वर्यसम्पत्ती राजत्वं येषां तेषामेव सूक्ष्मार्थनिरीक्षणक्षमत्वमृषित्वम् । 'इह' इति भगवतोऽर्जुनेन सह संव्यवहारकालो गृह्यते । परन्तपेति सम्बोधनं विभजते— **आत्मन** इति २

**१ शां. भा.— दुर्बलानजितेन्द्रियान्** प्राप्य नष्टं योगमिममुपलभ्य लोकं चापुरुषार्थसम्बन्धिनम्— **स एवायमिति ।** स एवायं मया ते तुभ्यमद्येदानीं योगः प्रोक्तः पुरातनः, भक्तोऽसि मे सखा चासीति । रहस्यं हि यस्मादेतदुत्तमम् । योगो ज्ञानमित्यर्थः ॥ ३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— किमिति वर्तमाने काले प्रकृतो योगः सम्प्रदायरहितोऽभूत् ? इत्याशङ्क्याधिकार्यभावादित्याह— **दुर्बलानिति** । तदेव दौर्बल्यं प्रकृतोपयोगित्वेन व्याकरोति— **अजितेन्द्रियानिति** । यद्यपि कामक्रोधादिप्रधानान् पुरुषान् प्रतिलभ्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो योगो नष्टो विच्छिन्नसम्प्रदायः सञ्जातस्तथापि योगादृते पुरुषार्थो लोकस्य लभ्यते चेत् किमनेन योगोपदेशेन ? इत्याशङ्क्य यथोक्तयोगाभावे परमपुरुषार्थाप्राप्तेर्मैवमित्याह— **लोकं** चेति । पूर्वो योगो विच्छिन्नसम्प्रदायः, अधुना त्वन्यो योगो मदर्थमुच्यते भगवतेत्याशङ्क्याह— **स एवेति** । कस्मादन्यस्मै यस्मै कस्मैचित्पुरातनो योगो नोक्तो भगवता ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **भक्तोऽसीति** । उक्तमधिकारिणं प्रति योगस्य वक्तव्यत्वे हेतुमाह— **रहस्यं हीति** । अनादिवेदमूलत्वाद्योगस्य पुरातनत्वम् । भक्तिः शरणबुद्ध्या प्रीतिस्तया युक्तो निजरूपमपेक्ष्य भक्तो विवक्षितः । समानवयाः स्निग्धः सहायः सखेत्युच्यते । एतदिति कथं योगो विशेष्यते ? तत्राऽऽह— **ज्ञानमिति** ॥३॥

### ३ श्रीमद्रामानुजकृतं भाष्यम् ।

तृतीयेऽध्याये प्रकृतिसंसृष्टस्य मुमुक्षोः सहसा ज्ञानयोगेऽनधिकारात् कर्मयोग एव कार्यः, ज्ञानयोगाधिकारिणोऽप्यकर्तृत्वानुसन्धानपूर्वकं कर्मयोग एव श्रेयानिति सहेतुकमुक्तम्; विशिष्टतया व्यपदेश्यस्य तु विशेषतः कर्मयोग एव कार्य इति चोक्तम्; चतुर्थेनेदानीमस्यैव कर्मयोगस्य निखिलजगदुद्धरणाय मन्वन्तरादावेवोपदिष्टतया कर्तव्यतां द्रढयित्वा अन्तर्गतज्ञानतयाऽस्यैव ज्ञानयोगाकारतां प्रदर्श्य, कर्मयोगस्वरूपं तद्भेदाः कर्मयोगे ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यं चोच्यते; प्रसङ्गाच्च भगवदवतारयाथात्म्यमुच्यते— **इममिति** ।

### ४ वेङ्कटनाथप्रणीता तात्पर्यचन्द्रिका ।

अथ चतुर्थसङ्गतिं वक्तुं तृतीयाध्यायार्थं सङ्ग्रहेणोद्गृह्णाति— **तृतीयेऽध्याय इति** । **सहेतुकमिति**— ज्ञानयोगकर्मयोगयोः सप्रमादत्वनिष्प्रमादत्वादिहेतुपूर्वकमित्यर्थः । एतेन 'असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम् । सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता ' [ गी. सं. ७ ] इति सङ्ग्रहश्लोकोऽपि व्याख्यातः । अशक्तस्य, शक्तत्वेऽप्यप्रसिद्धस्य च स्वार्थनिपुणस्य कर्म-

योग एव कार्यः; प्रसिद्धस्य त्वशक्तस्य शक्तस्य वा स्वार्थं लोकरक्षार्थं च स एव कार्य इति तृतीयाध्यायेनाधिकारिचिन्तनं, कर्मयोगस्य ज्ञानयोगाद्वैषम्यचिन्तनं च कृतमिति भावः। अथाधिकर्तव्यतयोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रामाणिकत्वं, ज्ञानमिश्रत्वं, स्वरूपं, तद्वैविध्यं, ज्ञानांशप्राधान्यं, प्रासङ्गिको भगवदवतार इति षडर्था इहोच्यन्त इत्याह— **चतुर्थेने**ति। ननु 'प्रसङ्गात्स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मताऽस्य च। भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाध्याय उच्यते' [ गी. सं- ८ ] इति चत्वारोऽर्थाः सङ्गृहीताः, तत्कथमत्र षडर्थानुकीर्तनम्? उच्यते— 'प्रसङ्गात्स्वस्वभावोक्तिः' इत्यत्र। सङ्गः प्रामाणिकत्वप्रसङ्गः। 'अस्य च भेदाः' इत्यत्र स्वरूपमन्तरेण तद्भेदस्य दुर्ज्ञानत्वात्स्वरूपमपि विवक्षितम्; चकारेण वा तत्समुच्चय इति सङ्ग्रहेऽपि षडर्था एव विवक्षिताः। स्वस्वभावोक्तिः स्वस्याकर्मवश्यावतारत्वादिस्वभावोक्तिः। कर्मणोऽकर्मता कर्मयोगस्यान्तर्गतज्ञानतया ज्ञानयोगाकारता; ज्ञानस्य माहात्म्यं कर्मयोगान्तर्गतज्ञानांशस्य प्राधान्यम्; एवं चतुर्थेन इत्यादिभाष्येणायमपि श्लोको व्याख्यातः। कर्तव्यता हि तृतीयाध्याये प्रोक्ता; अतस्तद्दार्ढ्यमात्रमत्र पुरावृत्ताख्यानेन क्रियत इति— **कर्तव्यतां द्रढयित्वे**त्यस्य भावः। साक्षाद्व्यायार्थानां सङ्गतिं प्रदर्श्य प्रासङ्गिकं पुनराह— **प्रसङ्गाच्चे**ति।

**३ रा. भा.— योऽयं तवोदितो योगः स केवलं युद्धप्रोत्साहनायेदानीमुदित इति न मन्तव्यम्। मन्वन्तरादावेव निखिलजगदुद्धरणाय परमपुरुषार्थलक्षणमोक्षसाधनतयेमं योगमहमेव विवस्वते प्रोक्तवान्; विवस्वांश्च मनवे, मनुरिक्ष्वाकव इत्येवं सम्प्रदायपरम्परया प्राप्तमिमं योगं पूर्वे राजर्षयो विदुः। स महता कालेन तत्तच्छ्रोतृबुद्धिमान्द्याद्विनष्टप्रायोऽभूत् ॥ १ ॥ २ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** 'इमं' इति निर्देशपूर्वकमुपदेशपरम्पराकथनस्य तात्पर्यमाह— **योऽयमि**त्यादिना **मन्तव्यमि**त्यन्तेन। योगोऽत्र कर्मयोगः। अत्र ज्ञानयोगपरत्वेन परव्याख्यानं प्रकृतासङ्गतम् 'कुरु कर्म' [ ४।१५ ] इत्यादिवक्ष्यमाणविरुद्धं चेति भावः। मनोरपि जनयित्रे तदुपदेष्ट्रे च विवस्वते प्रोक्तत्वादर्जुनेन चादावित्यनुवदिष्यमाणत्वात्फलितमुक्तं **मन्वन्तरादावि**ति। **निखिलजगदुद्धरणाये**ति— न केवलं युद्धप्रोत्साहनार्थमर्जुनमात्रार्थं वा, किन्तु समस्ताधिकारिवर्गापवर्गदानायेत्यर्थः। मन्वन्तरादावुपदेशात्तस्य निखिलजगत्साधारण्यं सूचितम्। नित्यसर्वज्ञे भगवति स्थितत्वादव्ययत्वम्। अथवा अव्ययत्वमिह फलद्वारा। 'इमं' इति निर्देशश्च पूर्वोक्तमोक्षसाधनत्वमप्यभिप्रैतीति ज्ञापनाय— **परमे**त्याद्युक्तम्। प्रागपि न फलान्तरार्थमुक्तमिति भावः। 'अहं प्रोक्तवान्' इत्यनेन मन्वन्तरादौ, महाकल्पारम्भे, भारतसमरारम्भे वा मदन्यः कश्चिदस्य यथावज्ज्ञाता वक्ता च दुर्लभ इत्यभिप्रेतम्। प्रसङ्गादवश्यं ज्ञातव्यं स्वावतारयाथात्म्यं वक्तुं स्वस्य मन्वादिकालविरोधरूपशङ्कोत्थापनं च कृतमिति व्यञ्जनाय **अहमेवे**त्युक्तम्। **विवस्वते प्रोक्तवानि**ति— नह्ययमसुरादिभ्यो मयोपदिष्टो बुद्धाद्यागमार्थः, किन्तु सर्ववेदात्मने विवस्वत इति भावः। **विवस्वांश्च मनवे मनुरिक्ष्वाकव** इति— 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजं' [ तै. सं. २।२।१२ ] इति सकलजगद्भेषजभूतवचनतया प्रसिद्धमर्यादाप्रवर्तनविशदाधिकृतकोटिनिविष्टपित्रा दिक्रमेण ह्युपदेशपरम्परा प्राप्ता, न तु सम्भवद्विप्रलम्भकुहकपाषण्ड्यादिसंसर्गप्रवृत्तेति भावः। एतत्सर्वं **एवं सम्प्रदायपरम्परये**त्यनेन व्यक्तम्। परम्पराशब्देनेक्ष्वाकोरर्वाचीनानामपि ग्रहणात्कृतादियुगे सम्प्रदायाविच्छेदो विवक्षित इति चाभिप्रायः। इदानीं नाशस्याभिधानादत्र **पूर्वे राजर्षय** इत्युक्तम्। **राजर्षयो विदुः**— राजानो हि विस्तीर्णागाधमनसः, तत्रापि ऋषित्वादतीन्द्रियार्थदर्शनक्षमाः; ते च बहवः; ते चाश्वपतिजनकाम्बरीषप्रभृतयः सर्वेऽप्यविगानेनेमं कर्मयोगमनुष्ठितवन्त इति भावः। कालदैर्घ्यस्य विच्छेदहेतुत्वप्रकारमिहशब्दसूचितमाह— **तत्तच्छ्रोतृबुद्धिमान्द्यादि**ति। इह विचित्राधिकारिपूर्णे जगति कृतत्रेतादिषु युगेषु कालक्रमेण बुद्धिशक्त्यनुष्ठानादयोऽपचीयमाना दृष्टाः; श्रुताश्चेति भावः। 'नष्टः' इत्यत्रात्यन्तविच्छेदो नाभिमतः, व्यासभीष्माक्रूरादेरिदानीमपि विद्यमानत्वादित्यभिप्रायेणोक्तं **विनष्टप्रायोऽभूदि**ति ॥ १ ॥ २ ॥

**३ रा. भा.— स एवायमस्खलितस्वरूपः पुरातनो योगः सख्येनातिमात्रभक्त्या च मामेव प्रपन्नाय ते मया प्रोक्तः, सपरिकरः सविस्तरमुक्त इत्यर्थः। मदन्येन केनापि ज्ञातुं वक्तुं वा न शक्यं, यत इदं वेदान्तोदितमुत्तमं रहस्यं ज्ञानम् ॥ ३ ॥**

**४ वे. ता. चं.— स एवायमि**ति। सप्रत्यभिज्ञसावधारणनिर्देशफलितमुक्तं **अस्खलितस्वरूप** इति। 'पुरातनोऽयं' इति निर्देशाभ्यां कालभेदमात्रेणापि न स्वरूपे वा प्रकारे वा भेद इति सूचितम्। भक्तोऽसीति वर्तमाननिर्देशादनिवृत्ता भक्तिः सूचिता। अल्पीयसी तु भक्तिः कदाचिन्निवर्तेतापीत्यभिप्रायेणोक्तं **अतिमात्रे**ति। भक्तोऽसि— शास्त्रदृष्टमहत्त्वानुसन्धानेन प्रीतिमानसीत्यर्थः। सखा चासि— अवतारदृष्टसौलभ्यविशेषेण प्रणयविस्रम्भवानसीत्यर्थः। 'ते मया' इति शब्दावपि 'शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' [२।७] इति प्रागुक्तप्रपत्तृप्रपत्तव्ययोः प्रत्यभिज्ञापराविटययमपि प्रवचनहेतुरिति ज्ञापनायोक्तं— **मामेव प्रपन्नाय ते मया प्रोक्त** इति। 'प्रोक्तः' इत्यत्र सोपसर्गधात्वर्थं विवृणोति— **सपरिकरः सविस्तरमि**ति। परिकरोऽङ्गम्, शब्दस्य प्रपञ्चो विस्तरः, अङ्गोक्तिरप्यत्र सविस्तरेति भावः। 'अहं प्रोक्तवान्मयाऽद्य प्रोक्तः' इत्याभ्यां सूचित-

माह— मदन्येनेति। प्रलयेन वा, युगादिस्वभावेन वा सम्प्रदायविच्छेदे सति पुनरहमेव सम्प्रदायप्रवर्तकः स्याम्; करणायत्तज्ञानेन मदन्येन हिरण्यगर्भादिनाऽपि मदुपदेशमन्तरेण ज्ञातुं वक्तुं चाशक्यमित्यर्थः। सख्यभक्तिप्रपत्त्यादिगुणपौष्कल्ययुक्तायोपदेश्यत्वे भगवद्व्यतिरिक्तेन ज्ञातुं वक्तुं चाशक्यत्वे हेतुपरं रहस्यमित्यादीति दर्शयति— यत इति। हिशब्दोऽत्र हेतुपरः; रहस्यत्वायोग्यायोपदेश्यम्; उत्तमरहस्यत्वान्मदन्येन ज्ञातुं वक्तुं चाशक्यमिति विभागः। उत्तमरहस्यत्वे हेतुः वेदान्तोदितमिति। नपुंसकनिर्देशयोग्यं विशेष्यमुक्तं ज्ञानमिति॥ ३॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्व-)भाष्यम्।

श्रीमदमलबोधाय नमः॥ हरिः ॐ॥॥ बुद्धेः परस्य माहात्म्यं कर्मभेदो ज्ञानमाहात्म्यं चोच्यतेऽस्मिन्नध्याये। पूर्वानुष्ठितश्चायं धर्म इत्याह— इममिति॥ १॥ २॥ ३॥

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका।

उक्तयोर्ज्ञानकर्मणोरुभयोर्विशेषविस्तारात्मकोऽयमध्याय इति पूर्वसङ्गताध्यायार्थस्थितौ इह प्रकरणभेदप्रतिपादनार्थमाह— बुद्धेरिति। 'एवं ज्ञात्वा' [४।१५;३२] इत्यतः प्राक्तनेन ग्रन्थेन बुद्धेः परस्य विष्णोर्माहात्म्यमुच्यते। आद्यस्य प्रकरणस्य पूर्वेण सङ्गतिं सूचयितुं 'बुद्धेः परस्य' इत्युक्तम्। 'श्रेयान्' इत्यतः पूर्वेण कर्मभेदः।निवृत्तस्य कर्मणोऽन्यस्माद्भेदः। निवृत्त एव कर्मण्युपासनायज्ञादिरूपेण वा भेदः। ज्ञानमाहात्म्यं शेषेणेति। 'इमं विवस्वते योगं' इत्युपदेशपरम्पराकथनं प्रकृतानुपयुक्तमित्यतस्तत्तात्पर्यमाह—पूर्वेति। पूर्वैरनुष्ठितः। 'ये मे मतम्' [३।३१]इत्युक्तेन हेतुना सहास्य समुच्चयार्थश्चशब्दः। अयं धर्मो 'मयि सर्वाणि' [३।३०] इत्यनेनोक्तः। योगशब्दोऽप्यनेन व्याख्यातः। न केवलमुपदेशपरम्पराऽत्रोच्यते; किन्तु तेषामनुष्ठानमप्युपलक्ष्यते। तच्चेतोऽपि त्वयाऽनुष्ठेयमिति प्रतिपादनार्थमिति भावः। 'कर्मणैव हि संसिद्धिं' [३।२०] इत्यनेनैतद्गतार्थमिति चेत्, न; गृहस्थकर्म त्वया न त्याज्यमित्यस्योपपादनायाचारस्य तत्रोक्तत्वात्। अत्र तु निवृत्तधर्मानुष्ठाने सदाचारस्योच्यमानत्वात्। अत एव तत्राचार इत्येवोक्तमिह त्वयं धर्म इति। 'लोकेऽस्मिन्द्विविधा' [३।३] इत्यत्रोक्तस्य 'कर्मणैव' इत्युदाहरणमुक्तमिति तत्रापि न दोषः॥ १॥ २॥ ३॥

## ७ श्रीमद्धनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम्।

पूर्वोक्तं योगमनेकशिष्टपरिग्रहेण च प्रस्तौति प्ररोचनार्थं श्रीभगवान्— इममिति। इमं पूर्वोक्तं विवस्वते प्रोक्तवानहम्। अव्ययमविनाशिनम्। स च विवस्वान्मनवे स्वपुत्राय प्राह। स च मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ १॥ एवं क्षत्रियपरम्पराप्राप्तं प्रोक्तमिमं राजर्षयो मनुप्रभृतयो विदुर्विजानन्ति। स योगो महता कालेन नष्टो विच्छिन्नसम्प्रदायः संवृत्तः। परन्तप! परांस्तापयतीति परन्तपः, शत्रूंस्तप इत्यभिप्रायः॥ २॥ स एव विच्छिन्नसम्प्रदायो योगः प्रोक्तः पुरातनः। ते तव। रहस्यमप्रकाश्यम्। उत्तमं निरुपमम्॥ ३॥

## ८ श्रीवेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यव्याख्यानम्।

तृतीयेऽध्याये ज्ञानयोगोपायः कर्मयोगः प्रतिपादितः; चतुर्थे तु स एव प्रपञ्च्यते, तत्र तावदनादिसम्प्रदायप्राप्तोऽयं योगस्त्वयाऽवश्यानुष्ठेय इति दर्शयितुं प्रस्तौति त्रिभिः— योऽयमध्यायद्वयेनोक्तः कर्मनिष्ठोपायलभ्यस्तत्त्वज्ञाननिष्ठारूपो योगः स तव युद्धप्रतिबन्धकशोकमोहापनोदनार्थमिदानीमेव केवलमुक्त इति न मन्तव्यम्; किन्तु मन्वन्तरादावेव निखिलजगदुद्धारणार्थं इममव्ययं मोक्षफलकं योगं विवस्वते सर्वक्षत्रियवंशबीजायादित्याय अहं प्रोक्तवान्। स च मम शिष्यो विवस्वान् मनवे वैवस्वताय स्वपुत्राय प्राह। स च मनुरिक्ष्वाकवे स्वपुत्रायादिराजायाब्रवीत्। यद्यपि स्वायम्भुवमन्वादिसर्वसाधारणोऽयं भगवदुपदेशः, तथापि साम्प्रतिकवैवस्वतमन्वन्तराभिप्रायेण विवस्वन्तमारभ्य सम्प्रदायो गणितः॥ १॥

एवं मन्वादिपरम्परासम्प्रदायप्राप्तमिमं योगमन्येऽपि राजर्षयो विदुः जानन्ति। यद्येवं तर्हि किमित्यद्यतना राजानो न जानते? तत्राह— स कालेनेति। हे परन्तप शत्रुतापन! स योगो महता कालेन इह मन्दमतीनजितेन्द्रियाननधिकारिणः प्राप्य कामक्रोधादिभिरभिभूयमानो विनष्टो विच्छिन्नसम्प्रदायो जातः। स एवायमस्खलितस्वरूपः पुराणो योगः ते तुभ्यमद्य मया प्रोक्तः। 'ते' इत्यनेन विवक्षितमर्थमाह— भक्तोऽसि मे सखा चेतीति। इतिर्हेतौ। यस्मात्त्वं मे भक्तः सखा चासि, तस्मात्तुभ्यमभिहितः, नान्यस्मै कस्मैचिदित्यर्थः। केवलं भक्ताः केवलं सखायश्च सन्ति; भक्तिसख्योभयविशिष्टस्तु भवानेवेति न त्वादृशः कश्चिन्मम प्रियोऽस्तीति चकारेण व्यज्यते। 'मया' इत्यनेन सूचितं वक्त्रतिशयं दर्शयति— रहस्यं हीति। हि यस्मात् एतदुपदिष्टं ज्ञानमुत्तमं अखिलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणरहस्यम्, अतो मदन्येन केनापि ज्ञातुं वक्तुं च न शक्यमित्यर्थः॥ २॥ ३॥

९ श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रकटीकृता तत्त्वदीपिका ।

योगिनः कर्म कर्त्तव्यमिति पूर्वं निरूपितम् । तुरीये तु ततोऽध्याये प्रतीत्यर्थं परम्परा ॥ १ ॥
योगस्य रूप्यते विष्णुर्वक्ता यस्मादभूद्रविः । उपदेशपदं तस्मादुपदेशाश्रयो मनुः ॥ २ ॥
इक्ष्वाकूणामपि तथा रामचन्द्रावतारभाक् । तस्य नित्यत्वविधया विधानमुपदिश्यते ॥ ३ ॥
ब्रह्मभावेन सर्वत्र फलादिभावत्यागतः । योगी तदाश्रयेणैव विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥ ४ ॥

एवं तावदध्यायद्वयेन योगे स्वधर्मो मोक्षसाधनमुपदिष्टः, तमेव ब्रह्मभावेन प्रपञ्चयिष्यन् प्रथमं तावत्परम्पराप्राप्तत्वेन स्तुवन् श्रीभगवानुवाच—इममिति त्रिभिः। अव्ययफलत्वादव्ययमिमं योगं विवस्वते प्रोक्तवान्; न चेमं तव युद्धप्रोत्साहनायैव केवलं वच्मि; किन्तु मन्वन्तरादावेव निखिलजगदुद्धरणायेमं प्रोक्तवानस्मीति सम्प्रदायपूर्वकमाह—स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

१० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

श्रीकृष्णाय नमः ।
कर्मसन्न्यासयोगस्य स्वस्मिन् योगो यथा भवेत् ।
तदर्थं कृपया कृष्णः कौन्तेयं प्रत्युवाच ह ॥ १ ॥

कर्मसन्न्यासनिरूपणप्रश्नोद्गमार्थं पूर्वानुवादमाह—इममिति त्रयेण । अहमिमं योगं पूर्वोक्तं अव्ययं सफलं मत्सम्बन्धजनकत्वात् विवस्वते प्रोक्तवान् । लोकानुग्रहार्थं सोऽपि लोक एतत्प्राकट्यार्थं मनवे प्राह; मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

एवं परम्पराप्राप्तं मत्परम्परयाऽऽप्तमिमं योगं राजर्षयः राज्यादिकं परित्यज्य मदर्थैकप्रयोजनवन्तोऽविदुः । ननु परम्परागतं चेदिदानीं केनापि कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याह—स कालेनेति । स योगो महता कालेन प्रमाणादिनिरासकेन महता मदिच्छारूपेण तद्व्यवधानादनवतारदशायां दर्शकाभावान्नष्टः । परन्तपेति सम्बोधनेन तवोत्कृष्टतापसंक्लेशेनाहं दर्शयामीति ज्ञापितम् ॥ २ ॥

स एवं पुरातनो योगोऽयमिति प्रत्यक्षं मत्सम्बन्धजनकस्ते तुभ्यं प्रोक्तः प्रकर्षेण मत्प्रीत्यात्मकफलयुक्त उक्तः । ननु योग एव फलसाधकश्चेद्भक्तिरस्मदादिभिः किमर्थं कर्तव्या ? इत्याशङ्क्याह—भक्तोऽसीति । त्वं भक्तोऽसि सखा चासीति मे मदीयं रहस्यम् । एतदुत्तमं कर्मयोगादुत्तमम् । हीति निश्चयेन ॥ ३ ॥

११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

अध्यायद्वयोक्तेऽर्थे प्रामाण्यशङ्का मा भूदिति विद्यावंशसम्प्रदायमात्मनश्च भ्रमविप्रलम्भकत्वादिनिरासायेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं च दर्शयति—इममित्यादिना । इमं साङ्ख्ययोगं कर्मयोगरूपोपायसहितम् । 'ससन्न्यासं' [ ? ] इति भाष्यम् । इमं सन्ध्योपासनादिनिर्विकल्पकसमाध्यनुष्ठानान्तं कर्मयोगं ज्ञाननिष्ठोपसर्जनं पारिव्राज्यानधिकारिणां राज्ञामेव योग्यं विवस्वते सूर्याय मण्डलाभिमानिने सर्वेषां क्षत्रियाणामादिभूतायाहमादित्यान्तर्यामी " अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्णस्तस्य यथाकप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम " [ छां. उ. १।६।६, ७ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः प्रोक्तवान् पुरा । अव्ययं अविच्छिन्नसम्प्रदायं, तेनानादित्वमपि । मनवे स्वपुत्राय विवस्वान् प्राह; इक्ष्वाकवे मनुः स्वपुत्रायाब्रवीत् ॥ १ ॥

एवमिति । एवं परम्पराप्राप्तमिक्ष्वाकोर्निमिनाभागादिक्रमेण राजर्षयः जनकाजातशत्रुकैकेयप्रभृतयो राजानः, ऋषयश्च सनकवसिष्ठाद्याः सूक्ष्मार्थदर्शिनस्ते, राजान एव ऋषय इति वा । अविदुर्ज्ञातवन्तः । "सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च" [ अष्टा. ३।४।१०९ ] इति लङो झेर्जुस् । नष्टः अदर्शनं गतः ॥ २ ॥

स इति । अद्य सम्प्रदायविच्छेदे सति । भक्तः शरणागतः, सखा प्रीतिविषयः, रहस्यं गोप्यं अभक्तादिभ्यो न देयम्, अन्यथा निर्वीर्या विद्या भवेदित्यर्थः । तथा च मन्त्रवर्णः "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ॥ असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् " [ मुक्ति. उ. १ । ९१ शाट्या. उ. ३३ ] इति ॥ ३ ॥

**अर्जुन उवाच— अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः ।**
' अवरं ' इति रामानुजीयः पाठः ।
**कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥**

---

१ ' कुरुपाण्डवयोर्मृधे । ' ( म. भा. १२।३४९।८ ) इत्यादौ कुरुपदेनेवात्र विवस्वत्पदेन तद्वंश्या राजानो लक्ष्यन्ते । " आत्मा वै पुत्रनामासि " ( कौ. उ. २।११ ) इति श्रुतेः । इत्यभ्युपगम्याह वामनः—

**१ शां. भा.— भगवता विप्रतिषिद्धमुक्तमिति मा भूत्कस्यचिद्बुद्धिरिति परिहारार्थं चोद्यमिव कुर्वन्नर्जुन उवाच— अपरमिति । अपरमर्वाग्वसुदेवगृहे भवतो जन्म, परं पूर्वं सर्गादौ जन्मोत्पत्तिर्विवस्वत आदित्यस्य, तत्कथमेतद्विजानीयामविरुद्धार्थतया यस्त्वमेवाऽऽदौ प्रोक्तवानिमं योगं, स एव त्वमिदानीं मह्यं प्रोक्तवानसीति ? ॥ ४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— भगवति लोकस्यानीश्वरत्वशङ्कां निवर्तयितुं चोद्यमुद्भावयति— **भगवते**ति । परिहारार्थं भगवतो मनुष्यवदवस्थितस्यानीश्वरत्वमुपेत्य तद्वचने शङ्कितविप्रतिषेधस्येति शेषः । भगवतो निजरूपमुपेत्य नेदं चोद्यं, किन्तु लीलाविग्रहं गृहीत्वेति वक्तुं चोद्यमिवेत्युक्तम् । एतच्छब्दार्थमेव स्फुटयति— **यस्त्वमि**ति ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.— अस्मिन् प्रसङ्गे भगवदवतारयाथात्म्यं यथावत् ज्ञातुमर्जुन उवाच— कालसङ्ख्यया अवरमस्मज्जन्मसमकालं हि भवतो जन्म, विवस्वतश्च कालसङ्ख्यया परमष्टाविंशतिचतुर्युगसङ्ख्यासङ्ख्यातम् । 'त्वमेवादौ प्रोक्तवान्' इति कथमेतदसम्भावनीयं विशेषेण यथार्थं जानीयाम् ? । ननु जन्मान्तरेणापि वक्तुं शक्यं, जन्मान्तरकृतस्य महतां स्मृतिश्च युज्यत इति नात्र कश्चिद्विरोधः ।**

४ वे. ता. चं.— 'प्रसङ्गात्स्वस्वभावोक्तिः' [गी. सं. ८] इति सङ्ग्रहश्लोकानुसारेणाह— **अस्मिन् प्रसङ्ग** इति । कर्तव्यतादृढीकरणार्थकथाप्रसङ्गे इत्यर्थः । **भगवदवतारयाथात्म्यं** अकर्मवश्यत्वादिरूपम् । **यथावदि**ति— प्रातिभासिकत्वादिप्रतिक्षेपकप्रमाणोपपत्तिपूर्वकमित्यर्थः । परावरशब्दाभ्यां न दैवमानुषत्वरूपजातिवैषम्यमुच्यते, तस्योपदेशविरोधित्वाभावात्, देवानामपि देवत्वेन च कृष्णस्य विदितत्वात्, जन्मशब्दस्य जननवाचितया साक्षाज्जातिवाचकत्वाभावात्, आदाविति कालविरोधस्य च व्यक्तमुक्तत्वात्, 'बहूनि मे व्यतीतानि' [४।५] 'यदा यदा हि' [४।७] 'युगे युगे' [४।८] इत्येवमादिरूपस्योत्तरस्य च कालविरोधपरिहाररूपत्वात् । अतः परावरशब्दौ कालसङ्ख्योरकर्षापकर्षविषयावित्यभिप्रायेणोक्तं **कालसङ्ख्यये**ति । अवरत्वहेतुतया विवक्षितं कालावधिं दर्शयति **अस्मदि**ति । **समकाल**मिति— अदूरविप्रकृष्टमित्यर्थः । त्वंशब्द इदानीन्तनत्वाभिप्रायतया विरोधपर इति द्योतनाय **त्वमेवे**त्युक्तम् । **कथ**मेतदित्याक्षेपसूचितमुक्तं **असम्भावनीय**मिति । 'विजानीयां' इत्यत्रोपसर्गविवक्षितमाह— **यथार्थ**मिति । जन्मान्तरस्यैवाभावाद्वा, जन्मान्तरानुभूतस्य स्मृत्यायोगाद्वा, वक्तुर्जन्मान्तरस्मृतिमत्तया श्रोतुरविदितत्वाद्वा खल्वेतज्जन्मावलम्बनेन विरोधचोद्यम् । न चैतदखिलमत्र सम्भवतीति प्रश्नमाक्षिपति **नन्वि**ति । **जन्मान्तरेणापि वक्तुं शक्य**मिति— नहि तदानीन्तनेन जन्मना तदानीन्तनायोपदेशो विरुद्ध इत्यर्थः । **महता**मिति— न केवलमीश्वरस्य कृष्णस्य, अन्येषामपि महतामिति भावः । श्रूयन्ते हि जातिस्मरवृत्तान्ताः 'जातिं स्मरति पौर्विकीम्' [४।१४८] इति च मनुः । **युज्यत** इति— अनुभवेन संस्कारे प्रागेव निष्पन्ने तस्य च अदृष्टविशेषादिवशादुद्बोधे जन्मान्तरानुभूतस्मृतौ न काचिदयुक्तिः ; यथा प्रथमस्तन्यपाने स्तन्यस्य पिपासाशान्तिहेतुत्वस्मृताविति भावः । महतामन्येषां स्मृतिः ; ईश्वरस्य तु प्राचीनवृत्तान्तगोचरः साक्षात्कारः स्मृतिरित्युपचर्यते । **कश्चि**दिति— कालविप्रकर्षरूपो वा कारणाभावादिरूपो वेत्यर्थः ।

**३ रा. भा.— न चासौ वक्तारमेनं वसुदेवतनयं सर्वेश्वरं न जानाति, यत एवं वक्ष्यति 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् । पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा । असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे' [ १०।१२,१३ ] इति । युधिष्ठिरराजसूयादिषु भीष्मादिभ्यश्चासकृच्छ्रुतं 'कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्' [ म. भा. २।३८।२३ ] इत्येवमादिषु । कृष्णस्य हि कृते इति कृष्णस्य शेषभूतमिदं कृत्स्नं जगदित्यर्थः ।**

---

— हरेर्जन्मापरं सूर्यवंशजानां तथा परम् । तस्मान्न युज्यते वाक्यं तस्येत्यमत फाल्गुनः ॥
यद्यत्र तिग्मकर एव विवक्षितः स्यात्तस्मै घटेत न कथं हरिणोपदेशः ? ।
वर्षीयसे न वयसा लघुनोपदेश्यमित्यस्ति कोऽपि नियमोऽपि न शास्त्रमार्गे ॥
देवहूत्यै च कपिलो मात्रे प्रागुपदिष्टवान् । अतोऽपरत्वाज्जनुषो नायुक्तमुपदेशनम् ॥
विवस्वद्वंशसम्भूता मन्वाद्या ये तु भूमिपाः । प्रादुर्भावाद्भगवतः प्रागेव प्रलयं गताः ॥
तेभ्यो हि वासुदेवेन नोपदेशोऽत्र युज्यते । व्याख्येयमेवमेवेह सूक्ष्मदृग्भिर्बुधैस्ततः ॥ इति । — अविगीता ।

४ वे. ता. चं.— **असाविति**— वृद्धोपसेवादिभिः श्रुतादिबहुलोऽर्जुनः । **वक्तारमिति**— 'विवस्वते प्रोक्तवानहं' इति स्वस्मै वक्तारम्, यद्वा विवस्वते वक्तारमित्यर्थः । **एनं वसुदेवतनयमिति** मानुषव्यापारजन्मभ्यां तिरोहितेश्वरभावमपीत्यभिप्रायः । **सर्वेश्वरमिति**— विवस्वदादीनामपीश्वरमिति भावः ; यद्वा, गोवर्धनोद्धरणाद्यतिमानुषवृत्तान्तैरवतारदशायामेव चतुर्भुजत्वादिना च व्यञ्जितेश्वरत्वमिति भावः । उक्तज्ञानसद्भावं कार्येण व्यवहारेण कारणेनोपदेशेन च स्थापयति— **यत एवमिति** । **एवं** अनेकाप्ततमोपदेशादिभिरीश्वरत्वनिष्कर्षपूर्वकमित्यर्थः ।

अर्जुनस्य स्ववाक्येन स्वोक्तमहर्षिगणोपदेशेन च ज्ञानानुमानमुक्तम् ; भारतकथावगतेन बन्धूपदेशेन च ज्ञानवत्तामाह— **युधिष्ठिरेति** । बहुष्वपि वृत्तान्तेष्वाप्ततमेभ्यो बहुभ्यो बहुधा श्रुतमित्यर्थः । **कृष्ण एवेति**— स्थितिहेतुत्वेन प्रसिद्धः स एवोत्पत्त्यादेरपि हेतुः, न तु ब्रह्मरुद्रादिः प्रधानादिर्वा ; यद्वा लौकिकैः पुरुषैर्वसुदेवतनयतया प्रतीयमानः कृष्ण एवेत्यर्थः । हिशब्दः "एको ह वै नारायण आसीत्" [ महो. १।१ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धिं दर्शयति । **लोकानामिति** । 'लोकस्तु भुवने जने' [ अमरः ३।३।२ ] तत्रान्यतरविवक्षायामितरदार्थम् ; उत्पत्त्यप्ययशब्दावत्रोत्पादकनाशकपरौ । चकारः प्रसिद्धिप्रकर्षादनुक्तं स्थितिहेतुत्वादिकं समुच्चिनोति । एवं "यतो वा इमानि भूतानि" [ तै. उ. ३।१।१ ] इत्यादिना ब्रह्मलक्षणतयोक्तं सर्वकारणत्वमुक्तम् । अत एव हि 'परं ब्रह्म' इत्यर्जुनोक्तिः, कृष्णस्य हीत्यत्र हिशब्देन "पतिं विश्वस्य" [ तै. ना. १०।१ ] "करणाधिपाधिपः" [ श्वे. उ. ६।९ ] इत्यादिप्रसिद्धिः सूच्यते । 'कृते' इत्यस्य अनेकार्थसाधारणत्वात्तादर्थ्यपरत्वव्यञ्जनायाह **कृष्णस्य शेषभूतमिति** । अत्र च्विप्रत्ययाभावात्, स्वाभाविकत्वं सूचितम् ; 'दासभूताः स्वतः सर्वे' [ पां. रा. ] इत्यादिवत् । कृष्णस्य कृते भूतमिति कृष्णार्थमुत्पन्नं सत्तायोगि चेत्यर्थः । 'जन्माद्यस्य यतः' [ ब्र. सू. १।१।२ ] "इमानि भूतानि" [ तै. उ. ३।१।१ ] इत्यादिवदत्रापीदंशब्दः तत्तत्प्रमाणसिद्धविचित्रचेतनाचेतनसमुदायपरः, पूर्वार्थोक्तसृज्यत्वसंहार्यत्वादिप्रकारानुवादपरो वा । तेन तदधीनोत्पत्त्यादिमत्त्वात्तादर्थ्यं हेतुरुक्तो भवति, 'कस्योदरे हरविरिञ्चमुखप्रपञ्चः को रक्षतीममजनिष्ट च कस्य नाभेः । क्रान्त्वा निगीर्य पुनरुद्गिरति त्वदन्यः कः केन वैष परवानिति शक्यशङ्कः' इत्यादिवत् ।

**३ रा. भा.— अत्रोच्यते— जानात्येवायं भगवन्तं वसुदेवसूनुं पार्थः; जानतोऽप्यजानत इव पृच्छतोऽयमाशयः— निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानस्य सर्वेश्वरस्य सर्वज्ञस्य सत्यसङ्कल्पस्यावाप्तसमस्तकामस्य कर्मपरवशदेवमनुष्यादिसजातीयं जन्म किमिन्द्रजालादिवन्मिथ्या? उत सत्यं? सत्यत्वे च कथं जन्मप्रकारः? किमात्मकोऽयं देहः? कश्च जन्महेतुः? कदा च जन्म? किमर्थं च जन्म? इति परिहारप्रकारेण प्रश्नार्थो विज्ञायते ॥ ४ ॥**

४ वे. ता. चं.— अथ चोद्यवादिनोक्तमभ्युपगमेन प्रतिवक्ति— **जानात्येवेति** । अवधारणेन नास्मिन्नंशे विवाद इति सूचितम् । अयमिति निर्देशः पूर्ववच्छ्रुतार्थत्वं सूचयति । वसुदेवसूनुं 'भगवान्' इति जानातीत्यर्थः । नामपरो गुणपरो वाऽत्र भगवच्छब्दः । वसुदेवसूनुपार्थशब्दाभ्यां मातुलसुतत्वपैतृष्वसेयत्वसूचनेन इतरपुरुषवदीश्वरत्वादितिरोधायकप्राकृतसम्बन्धे सत्यपि सुकृतवशादुपदेशवशाच्च जानातीत्यभिप्रेतम् । तर्हि प्रश्नो निरवकाश इत्यत्राह— **जानतोऽपीति** । नात्यन्ताज्ञातमनेन पृच्छ्यते, ज्ञातमेव विशेषान्तरजिज्ञासया परिपृष्टमिति भावः । **अजानत इवेत्यनेन** विनयगर्भपरिप्रश्नप्रकारश्च सूचितः । अज्ञातांशबुभुत्सां जन्मादेर्मिथ्यात्वादिशङ्कां च जनयन्तो भगवति ज्ञातांशविशेषा उपादीयन्ते **निखिलेत्यादि**षष्ठ्यन्तपदैः । **निखिलहेयप्रत्यनीकेति**— यः परगतमपि जन्मजरादिहेयं निवर्तयति, स कथं स्वयं तदेवोपाददीतेति भावः । **कल्याणैकतानस्येति** ; स्वरूपानन्दतृप्तस्य किं जन्मना? इति भावः । **सर्वेश्वरस्येति**— यदि कश्चित्स्वच्छन्दोऽस्य नियन्ता स्यात्तदा जन्मादि घटेत, न च सोऽस्तीत्याशयः । **सर्वज्ञस्येति**— यद्यसौ स्वस्य हितमहितं च न जानाति, तदा हि स्वेच्छयैव बालादीनामभ्यादिस्पर्शवज्जन्मादिपरिग्रहः स्यादित्यभिप्रायः । **सत्यसङ्कल्पस्येति**— हिताहितज्ञाने सत्यपि कश्चिच्छुष्के पतिष्यामीति कर्दमे पतति ; न चासौ तथेति हृदयम् ; यद्वा लोकरक्षणाद्यर्थमेवावतार इति हि परमोत्तरं स्यात्, तदप्ययुक्तं, सङ्कल्पमात्रेण रक्षणाद्युपपत्तेरिति भावः । **अवाप्तसमस्तकामस्येति**— यदि साध्यं किञ्चित्प्रयोजनं स्यात्, तदा तदर्थं जन्मादि परिगृह्येत ; न च तदप्यस्तीति भावः । एवं च सतीश्वरो न वस्तुतो जन्मादिमान्, अकर्मवश्यत्वात्, मुक्तात्मवत्-इत्यन्वयेन ; यो जन्मादिमान् स कर्मवश्यः, यथा संसारी, इति व्यतिरेकेण चैकमनुमानम् ; तत्रैव पक्षसाध्यादौ जन्मकारणभूतेश्वरादिनियोगाविषयत्वादिति द्वितीयम् ; द्वयोरप्यनुमानयोः यो यत्कारणरहितः न स तत्कार्यवान् ; यथा सम्प्रतिपन्न इति सामान्यतो वा व्याप्तिः सर्वेश्वरत्वादित्युक्ते तु न दृष्टान्तः ; केवलव्यतिरेकिविवक्षा तु देहपरिग्रहरहितघटादिसपक्षसद्भावात्, केवलव्यतिरेकिप्रामाण्यस्य च सामान्यतो यामुनाचार्यादिभिर्निरस्तत्वादयुक्ता । एवं देहपरिग्रहाद्यभावे सङ्कुचितज्ञानशून्यत्वात्, प्रतिहतसङ्कल्परहितत्वात्, अपूर्णकामत्वरहितत्वात्, साध्यप्रयोजनरहितत्वादिति मुक्तात्मघटादिदृष्टान्तेन हेतवः । यद्वा परमसाम्यापन्नान् मुक्तानेव दृष्टान्तीकृत्य सर्वज्ञत्वात्सत्यसङ्कल्पत्वादवाप्तसमस्तकामत्वादित्येव हेतवः ।

एवं यदि जन्मादयः स्युः, तदा कर्मवश्यत्वमनीश्वरत्वमसर्वज्ञत्वमसत्यसङ्कल्पत्वमपूर्णकामत्वं च क्षेत्रज्ञवत्स्यादिति प्रसङ्गाश्च विवक्षिताः । 'निखिलहेय-' इत्याद्युक्तोभयलिङ्गत्वे च हेतवः सर्वेश्वरत्वादयः । पूर्वोक्ताकारविरोधितया मिथ्यात्वशङ्काहेतुः सामान्यतो विदितो जन्मप्रकार उच्यते— **कर्मपरवशदेवमनुष्यादिसजातीयमि**ति; कर्मपरवशा देवमनुष्यादयः, तेषां सजातीयं तज्जन्मसमानतया प्रतीयमानमित्यर्थः । यद्वा जन्मशब्दोऽत्र जायमानविग्रहपरः, ईश्वरेण परिगृह्यमाणत्वात् इन्द्रजालादिवदित्युक्तम् । स्वेच्छया परेषां विचित्रभ्रमजननं हीन्द्रजालम् ; तेनात्र तत्प्रतिभानलक्षणा । आदिशब्देन शैलूषभूमिकापरिग्रहादि गृह्यते । मिथ्यात्वपक्षे न तत्र कश्चित्प्रकारो निरूपणीय इति कृत्वा सत्यत्वपक्षे शङ्कते— **सत्यत्व** इति । **कथमि**ति— किं पारमेश्वरस्वभावपरित्यागेन ? अन्यथा वा ? इत्यर्थः । **किमात्मक** इति— किं त्रिगुणात्मकः ? उताप्राकृतः ? इत्यर्थः । **अयमि**ति— भूतसङ्घसंस्थानवत्प्रतीयमान इति भावः । **देह** इति— उपचयरूपतया ह्युपलभ्यत इति भावः । **कश्च जन्महेतुरि**ति— किं सङ्कल्पमात्रं ? उतेश्वरस्यापि स्वेच्छापरिगृहीते पुण्यपापे ? इत्यर्थः । **कदा चे**ति— किं पुण्यपापविपाककाले ? उत धर्मग्लान्यादिकाले ? इत्यर्थः । **किमर्थं चे**ति— किं सुखदुःखोपभोगार्थम् ? उत साधुपरित्राणाद्यर्थं ? इत्यर्थः । इत्ययमाशय इत्यन्वयः । ननु 'अवरम्' इतिश्लोके व्याघातमात्रमेव चोद्यते ; तत्र बहुषु प्रश्नेष्वाशय इति कुतोऽवगतं ? इत्यत्राह— **परिहारे**ति । **अयमभिप्रायः**— न ह्यन्यस्य प्रश्ने तदन्यविषयतया प्रतिवचनमुपपद्यते ; तथा सति प्रतिवक्तुरनभिप्रायज्ञतादिप्रसङ्गात् ; अतो यावद्विषयं प्रतिवचनं तावद्विषय एवायं प्रश्न इत्यभ्युपगन्तव्यम् । अत्र च प्रतिवचने चतुर्भिः श्लोकैर्जन्मसत्यत्वं, जन्मप्रकारः, देहयाथात्म्यं, जन्मनो हेतुकालप्रयोजनानि च क्रमात् प्रतिपाद्यानि प्रतीयन्ते; अतस्तान्येव प्रष्टव्यतयाऽभिप्रेतानीति ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.— 'मयि सर्वाणि' [३।३०] इत्युक्तम् । तन्माहात्म्यमादितो ज्ञातुं पृच्छति— अपरमिति ॥ ४ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु 'नत्वेवाहं' [२।१२] इत्यादिना सर्वप्रकारेणोत्पत्तिविनाशराहित्यमुक्तं भगवतः, तच्छ्रुत्वा कथं 'अपरं' इति पृच्छति ? इत्यत आह— **मयी**ति । **तन्माहात्म्यमि**त्युपलक्षणम् । आदितः प्रमितिकारणतः । 'मयि सर्वाणि' [३ । ३०] इत्यत्र परमेश्वरस्य माहात्म्यं पूज्यत्वादिलक्षणमुक्तम् । अर्जुनस्य पूजकत्वादिकम् । तमिममीश्वरजीवयोः पूज्यपूजकत्वादिना भगवताऽङ्गीकृतं भेदं प्रमाणेन ज्ञातुमेवं पृच्छतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

**७ ह. पै. भा.— एवं श्रुत्वाऽर्जुन उवाच— अपरमिति । अपरमर्वाचीनं वसुदेवगृहे भवतो जन्म, परं पूर्वं विवस्वत आदित्यस्य जन्म सर्गादौ, अतः कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ विवस्वते प्रोक्तवानिति ॥ ४ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— 'विवस्वते प्रोक्तवानहम्' इत्येतदसम्भावितं मन्वानोऽर्जुन उवाच— किमेतद्देहेन तवादित्यं प्रत्युपदेशः ? किंवा देहान्तरेण ? आद्य आह— **अपरमि**ति । भवतो वसुदेवस्य गृहे जन्म शरीरग्रहणमपरमर्वाचीनम्, इदानीन्तनमिति यावत् । विवस्वतस्तु जन्म परं पूर्वकालीनम् । अतः 'त्वमादौ प्रोक्तवान्' इत्येतत्कथमविरुद्धं विजानीयाम्? इदानीन्तनस्य तव पूर्वतनमादित्यं प्रत्येतद्देहेनोपदेष्टृत्वं विरुद्धमित्यर्थः । देहान्तरेणोपदेश इति पक्षेऽप्येतदेवोत्तरमावर्तनीयम् । **कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानि**तीति । देहान्तरीयवृत्तान्तस्यैतद्देहे स्मरणमयुक्तम्, अन्यथा ममापि तत्प्रसङ्गात् ; अतो देहान्तरेण प्रोक्तवानिति विरुद्धमित्यभिप्रायः । ननु देहान्तरवृत्तान्तस्मरणं महतामस्तीति प्रसिद्धम् ; अहं च महान्दिव्यः पुरुष इति बाल्यप्रभृत्यमानुषमदीयचरित्रदर्शिनस्तव स्फुटमेवेति कथमेवं प्रश्नः क्रियत इति शङ्कायामप्येतदेवोत्तरं 'कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति' इति । **अयमर्थः**— सत्यमेव दिव्यपुरुषाणां जन्मान्तरीयस्मृतिरस्तीति । त्वमपि किं तादृश एव कश्चिद्दिव्यपुरुषः ? किंवा साक्षात्परमेव ब्रह्म ? नाद्यः— आदित्यस्यापि दिव्यपुरुषत्वेन माहानुभाव्यस्य श्रुतिपुराणादिप्रसिद्ध्या तं प्रति ततोऽधिकस्य परमेश्वरस्यैवोपदेष्टृत्वौचित्येन तत्समानमहिमस्वभावस्य तव तदनुपपत्तेः । नान्त्यः— परमेश्वरत्वे तव कर्मपरवशमनुष्यजन्माद्ययोगादिति । सोऽयमर्थः सर्वोऽपि 'कथं त्वं प्रोक्तवान्' इत्यनेन गर्भीकृत इत्यवगन्तव्यम् , अग्रेगतभगवदुत्तरानुसारेण प्रश्नार्थनिश्चयौचित्यादिति ।

यत्त्वत्र **रामानुजेनोक्तम्**— "नैवमिह प्रश्नार्थः सम्भवति । तथा हि— अर्जुनः किल भगवन्तं परब्रह्मत्वेन जानात्येव 'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्' [१०।१२] इति तेनैव वक्ष्यमाणत्वात् , युधिष्ठिरराजसूयादिषु भीष्माद्यावेदितभगवत्पारम्यत्वाच्च । न ह्येतादृशस्यार्जुनस्य भगवति 'अपरं भवतो जन्म' इत्यादिप्रश्नो युक्तः । किन्तु परब्रह्मणस्तव किमिन्द्रजालवन्मिथ्याभूतमेव जन्म ? किंवा सत्यं ? इति प्रश्नार्थः, इति, तदसत् ; 'सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति । अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु । एकोऽथवाप्यच्युत ! तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् [ ११।४१,४२ ] इत्यादिभिरर्जुनवचनैस्तस्य विश्वरूपदर्शनात्

प्राग्भगवत्यपरिमितबलपराक्रमशाली योगादिलब्धदिव्यशक्तिः कश्चिदयं महान् पुरुषस्तैस्तैरीश्वरत्वेन स्तूयत इत्येव निश्चयः, विश्वरूपदर्शनानन्तरं तु परब्रह्मत्वनिश्चय इत्यस्यार्थस्य द्वितीयाध्याये 'न त्वेवाहं जातु नासम्' [ २।१२ ] इत्यत्र प्रतिपादितत्वेन 'परं ब्रह्म परं धाम' इत्यस्यापि 'पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्' ॥ [ १०।१२ ] 'आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा'। [ १०।१३ ]इत्युत्तरवाक्यानुसारेण नारदायुक्तपरब्रह्मत्वानुवादमात्ररूपतया तादृशस्यार्जुनस्य भगवन्तं प्रति 'अपरं भवतो जन्म' इति यथोक्तप्रश्नविरोधात्; आदित आरभ्यैवार्जुनस्य भगवति ब्रह्मत्वनिश्चये परब्रह्मैव स्वसाह्यार्थं निजरथमधितिष्ठतीति निश्चयवतस्तस्य 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इति सन्देहायोगाच्च ।

किञ्च तिष्ठत्विदमस्मदीयप्रश्नव्याख्यानम् । त्वदीयं तु विचारणीयम् । त्वया हि 'सर्वेश्वरस्य मानुष्यं जन्म किं मिथ्याभूतं किंवा सत्यम्?' इति प्रश्नार्थो वर्णितः, तत्र न तावदयमर्थः प्रश्नश्लोकाक्षरैरवगम्यते, 'भगवतो जन्मापरं, विवस्वतस्तु जन्म परम्, तत्कथं त्वमादौ प्रोक्तवान्?' इत्युक्त्या जन्म मिथ्या सत्यं वा?इत्यस्यार्थस्याप्रतीतेः। नाप्युत्तरश्लोकाक्षरारूढोऽयमर्थः 'बहूनि मम तव च जन्मान्यतीतानि, तान्यहं वेद्मि, न तु त्वम्' इत्युक्त्या तत्राप्यस्यार्थस्याप्रतीतेः । न च प्रश्नोत्तरयोः शब्दतोऽनवगतोऽप्ययमर्थोऽभिप्रायतोऽवगम्यत इति युक्तम्, अभिप्रायस्यापि शब्दानुसारित्वात् । न च 'बहूनि जन्मानि व्यतीतानि' इत्युक्त्या जन्मसत्यत्वं प्रतीयत इति युक्तम्, ऐन्द्रजालिकेन पुनः पुनः सृष्ट्वोपसंह्रियमाणेषु गजादिषु बहवो जाता गजा इत्यादिव्यवहारात् 'अजोऽपि सन्नात्ममायया सम्भवामि' इत्युत्तरश्लोके [ ४।६ ] जन्मनो मायिकत्वप्रदर्शनेन मिथ्यात्वस्यैवोक्तेश्च, जन्मनः सत्यत्वे तद्विरोध्यजन्मनो मिथ्यात्वेन तत्सत्यत्वप्रतिपादकानाम् 'अजो नित्यः' [ २।२० ] इत्यादीनामप्रामाण्यप्रसङ्गाच्च जन्मवन्मरणस्यापि सत्यत्वापाताच्चेति धिगेतदमङ्गल्यमशब्दार्थव्याख्यानम् । अतो भगवत्पादभाष्यनिष्कर्षरूपो यथोक्त एव प्रश्नश्लोकार्थ इत्यास्तां तावत्, प्रस्तुतमनुसरामः ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— अत्र भगवदवतारयाथात्म्यगर्भितं प्रश्नं चिकीर्षुर्विवस्वन्तं प्रति त्वदुपदेशो न सम्भवतीति मिषेणार्जुन उवाच—अपरमिति । अर्वाचीनं परमं कालीनं सूर्यस्य जन्म । अत एतत्सम्भावनारूपं कथं विजानीयामिति ॥ ४ ॥

१० पु अ. त.— एवं श्रुत्वाऽर्जुनो भगवतोऽलौकिकस्वरूपत्वाद्विवस्वतो लौकिकत्वात् किमर्थं भक्तिं विहाय कर्मयोगं भगवानुक्तवानिति जिज्ञासया पृच्छति—अपरमिति । भवतो जन्म प्राकट्यमपरं न विद्यते परमुत्कृष्टं पूर्वं वा यस्मात्तादृशम्; विवस्वतो जन्म परमुत्कृष्टं पश्चाज्जातं वा इति हेतोस्त्वमादौ तस्मै योगं कथं किमभिप्रायेण प्रोक्तवानेतदहं विजानीयां जानामि तथा वदेति भावः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— भगवद्देहस्य वसुदेवादुत्पत्तिं मन्वानोऽर्जुन उवाच— अपरमिति । अपरं अर्वाक्कालिकं, परं बहुकालिकं विजानीयाम् । यद्यपि शब्दादयमर्थो ज्ञातस्तथापि विरुद्धस्य वाक्यस्याबोधकत्वात् 'कथमेतद्विजानीयां' इत्युक्तम् । पदयोजना स्पष्टा ॥ ४ ॥

स्वस्मिन्मनुष्यत्वशङ्कां निवारयितुं भगवद्वचनम् ।

**श्रीभगवानुवाच— बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन! ।**
**तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप! ॥ ५ ॥**

१ शां. भा.—या वासुदेवेऽनीश्वरासर्वज्ञाशङ्का मूर्खाणां, तां परिहरन् श्रीभगवानुवाच, यदर्थो हि अर्जुनस्य प्रश्नः— बहूनीति । बहूनि मे मम व्यतीतान्यतिक्रान्तानि जन्मानि तव च, हेऽर्जुन! तान्यहं वेद जाने सर्वाणि, न त्वं वेत्थ जानीषे; धर्माधर्मादिप्रतिबद्धज्ञानशक्तित्वात् । अहं पुनर्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वादनावरणज्ञानशक्तिरिति वेदाहं हे परन्तप! ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवत्यज्ञानान्मनुष्यत्वशङ्कां वारयितुं प्रतिवचनमवतारयति— या वासुदेव इति । अन्यथाप्रश्ने कथमाशङ्कान्तरं परिहर्तुं भगवद्वचनं? इत्याशङ्क्य प्रश्नप्रतिवचनयोरेकार्थत्वमाह— यदर्थो हीति । यस्य शङ्कितस्य विरोधस्य परिहारार्थो यस्य प्रश्नस्तमेव परिहारं वक्तुं भगवद्वचनमित्यर्थः । अतीतानेकजन्मवत्त्वं ममैव नासाधारणं, किन्तु सर्व-

---

१ जातोऽसि जीवः खलु कर्मभिस्त्वं संहर्तुमेवाखिलशत्रुसङ्घम् ।
इत्यच्युतोऽसूसुचदर्जुनाय सम्बोधयन्नत्र परन्तपेति ॥ -इति वामनः । —अविगीता ।

प्राणिसाधारणमित्याह— **तव चेति**। तानि प्रमाणाभावान्न प्रतिभान्तीत्याशङ्कयाऽऽह— **तानीति** । ईश्वरस्यानावृतज्ञानत्वादित्यर्थः। किमिति तर्हि तानि मम न प्रतीयन्ते ? तवाऽऽवृतज्ञानत्वादित्याह—**न त्वमिति**। परान्परिकल्प्य तत्परिहारार्थं प्रवृत्तत्वात्तव ज्ञानावरणं विज्ञेयमित्याह— **परन्तपेति**। अर्जुनस्य भगवता सहातीतानेकजन्मवत्त्वे तुल्येऽपि ज्ञानवैषम्ये हेतुमाह— **धर्मेति**। आदिशब्देन रागलोभादयो गृह्यन्ते। ईश्वरस्यातीतानागतवर्तमानसर्वार्थविषयज्ञानवत्त्वे हेतुमाह- **अहमिति** ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.**— परिहरन् श्रीभगवानुवाच–बहूनीति। अनेन जन्मनः सत्यत्वमुक्तम्, 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि' इति वचनात्; 'तव च' इति दृष्टान्ततयोपादानाच्च ॥ ५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एषूत्तरं क्रमाद्भगवानुवाच **बहूनीत्या**दिभिः। नहि पूर्वजन्मनामेकत्वबहुत्वे पृष्टे, न च तज्ज्ञानाज्ञाने इति शङ्कायामाह- **अनेनेति**। कथं जन्मनः सत्यत्वमुक्तं ? बहुत्वातीतत्वतज्ज्ञानादि हि वाचनिकतया प्रतीयत इत्यत्राह— **बहूनीति** । **अयमभिप्रायः**— 'इदानीन्तनस्त्वं तदानीन्तनाय कथमुक्तवान्?' इति प्रश्ने जन्मान्तरेणाहमुक्तवान्, तच्चेदानीमनुसन्धाय वदामीति साक्षादुत्तरमुच्येत, तस्य च प्रश्नस्यान्यपरत्वस्य पूर्वं सहेतुकमुक्तत्वादवश्यं प्रष्टव्येष्वर्थेषु यत्परत्वमत्र व्याकर्तुं शक्यं तत्पराण्येव बहूनीत्यादिविशेषणानि; सत्यत्वे हि बहुत्वातीतत्वादीनि स्वरसानि जन्मानीति चोक्तम्, न जन्मप्रतिभासा इति, 'तव च' इत्यपृष्टस्यार्थस्य उपादानमप्येतत्सत्यत्वदृष्टान्ताभिप्रायमन्तरेण न घटते, न चार्जुनस्य जन्म मिथ्या, तस्य वा तथात्वप्रतिभासः, तत्सम्भवे वा कृष्णजन्मनि कुतोऽस्य संशयः ? इति ॥ ५ ॥

**५ आ मा. भा.**— ॥ ५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— अत एव ज्ञाताशयो भगवान् 'तव च न त्वं वेत्सि' इति परिहरति। अन्यथाऽनुपयुक्तं तत्र वक्तव्यमेव ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— आत्मनो निरीश्वरतां मूर्खबुद्धिपरिकल्पितां परिहरन्भगवानुवाच— बहूनीति। तान्यहं वेद विजानाम्यनावरणज्ञानत्वात्। त्वं तु न वेत्थ न जानीषे, अविद्याकामकर्मावृतत्वात् ॥ ५ ॥

**८ वे. ब्र. गि.**— यदुक्तम्— सर्गादावादित्यं प्रति नैतद्देहेनोपदेशः सम्भवति तदानीमेतद्देहाभावात्, नापि देहान्तरेण इदानीं तत्स्मरणायोगादिति; तत्र देहान्तरेणैवोपदेशः; न चेदानीं तत्स्मरणायोगः, अविद्यावृतस्य तव जन्मान्तरीयस्मरणासम्भवेऽप्यखण्डसार्वज्ञ्यनिधेः परमेश्वरस्य मम तत्सम्भवादिति श्रीभगवानाह— बहूनीति। अत्र 'परन्तप' इत्यनेन शत्रुसन्तापनत्वमिव नित्यसार्वज्ञ्यं न साधारणो धर्मः, किन्तु ममैव परमेश्वरस्यासाधारणम्; अतस्तवेव ममापि जन्मान्तरस्मरणं किं न स्यात् ? इति पूर्वोक्तप्रतिबन्धनवकाश इति दर्शितम्। सार्वज्ञ्याभावेऽपि न लोकसाधारणस्त्वमज्ञः, किन्तु दैवसम्पदभिजातः सत्त्वप्रधान इत्याश्वासनमर्जुनेति सम्बोधनेन व्यज्यते ॥ ५ ॥

**९ व० त० दी०**— रूपान्तरेणोपदिष्टवानित्यवतारस्वरूपतः संशयं परिहरन् श्रीभगवानुवाच— बहूनीति। मे जन्मान्यवतारा बहवो व्यतीताः। अनेनावताराणां हेतुभूतमात्मानमवतारिणं सर्वदा सर्वांशपरिपूर्णमुपदिशति। तान्यहं जानामि, न तु त्वं, इति नित्यसिद्धज्ञानादिशक्तिमत्त्वं स्वस्योपदिष्टम्। 'तव च जन्मानि' इति नराद्यवताराभिप्रायेणोक्तम्। दृष्टान्तवद्वेति केचित्। अनेन सर्वज्ञासर्वज्ञत्वाभ्यां जीवेश्वरयोरेवं भेदतः स्वरूपं ब्रह्मवाद इति दर्शितम्। ॥ ५ ॥

**१० पु. अ. त.**— अत्रोत्तरमाह भगवान्— **बहूनीति**। मे जन्मानि बहूनि सन्ति। कीदृशानि ? अव्यतीतानि नित्यानीत्यर्थः। हे अर्जुन ! तव च जन्मानि बहूनि व्यतीतानि, तानि सर्वाणि तव जन्मान्यहं वेद जानामि यतो यदर्थं यत्र यत्रोत्पादितोऽसि। हे परन्तप उत्कृष्टतपोबलयुक्त ! तानि मदीयानि त्वं न वेत्थ न जानासि। परन्तपेति सम्बोधनेन तपोबलेन न भगवान् ज्ञायते, किन्तु तत्कृपयैवेति भावः ॥ ५ ॥

**११ नी० भा० दी०**— स्वदेहस्याजत्वं साधयितुं स्वस्य सर्वज्ञत्वं तावदाह— बहूनीति। स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ५ ॥

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥ ६ ॥

**१ शां. भा.**— कथं तर्हि तव नित्येश्वरस्य धर्माधर्माभावेऽपि जन्म ? इत्युच्यते— अजोऽपीति । अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन्, तथाऽव्ययात्माऽक्षीणज्ञानशक्तिस्वभावोऽपि सन्, तथा भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामीश्वर ईशनशीलोऽपि सन् । प्रकृतिं स्वां–मम वैष्णवीं मायां त्रिगुणात्मिकां यस्या वशे सर्वमिदं जगद्वर्तते, यथा मोहितं जगत् सत्स्वमात्मानं वासुदेवं न जानाति, तां प्रकृतिं स्वां– अधिष्ठाय वशीकृत्य सम्भवामि देहवानिव भवामि जात इवाऽऽत्ममाययाऽऽत्मनो मायया, न परमार्थतो लोकवत् ॥ ६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ईश्वरस्य कारणाभावाज्जन्मैवायुक्तं, अतीतानेकजन्मवत्त्वं तु दूरोत्सारितमिति शङ्कते– **कथमिति** । वस्तुतो जन्माभावेऽपि मायावशाज्जन्म सम्भवतीत्युत्तरमाह— **उच्यत** इति । पारमार्थिकजन्मायोगे कारणं पूर्वार्धेनानूद्य प्रातिभासिकजन्मसम्भवे कारणमाह— **प्रकृतिमिति** । प्रकृतिशब्दस्य स्वरूपविषयत्वं प्रत्यादेष्टु**मात्ममाययेत्युक्तम्** । वस्तुतो जन्माभावे कारणानुवादभागं विवृणोति— **अजोऽपीत्यादिना** । प्रातिभासिकजन्मसम्भवे कारणकथनपरमुत्तरार्धं विभजते— **प्रकृतिमित्यादिना** । प्रकृतिशब्दस्य स्वरूपशब्दपर्यायत्वं वारयति—**मायामिति** । तस्याः स्वातन्त्र्यं निराकृत्य भगवदधीनत्वमाह— **ममेति** । तस्याश्चाधिकरणद्वारेणानवच्छिन्नत्वं सूचयति— **वैष्णवीमिति** । मायाशब्दस्यापि प्रज्ञानामसु पाठात् विज्ञानशक्तिविषयत्वमाशङ्क्याह— **त्रिगुणात्मिकामिति** । तस्यां कार्यलिङ्गकमनुमानं सूचयति— **यस्या** इति । जगतो मायावशवर्तित्वमेव स्फुटयति— **ययेति** । यथा लोके कश्चिज्जातो देहवानालक्ष्यत एवमहमपि मायामाश्रित्य तया स्ववशया सम्भवामि जन्मव्यवहारमनुभवामि तेन मायामयमीश्वरस्य जन्मेत्याह— **तां प्रकृतिमित्यादिना** । 'सम्भवामि' इत्युक्तमेव विभजते— **देहवानिति** । अस्मदादेरिव तवापि परमार्थत्वाभिमानो जन्मादिविषयो स्यादित्याशङ्क्य प्रागुक्तस्वरूपपरिज्ञानवत्त्वादीश्वरस्य मैवमित्याह **न परमार्थत** इति । आवृतज्ञानवतो लोकस्य जन्मादिविषये परमार्थत्वाभिमानः सम्भवतीत्याह— **लोकवदिति** ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.**— अवतारप्रकारं देहयाथात्म्यं जन्महेतुं चाह— अजत्वाव्ययत्वसर्वेश्वरत्वादि सर्वं पारमेश्वरं प्रकारमजहदेव स्वां प्रकृतिमधिष्ठाय आत्ममायया सम्भवामि । प्रकृतिः स्वभावः, स्वमेव स्वभावमधिष्ठाय स्वेनैव रूपेण स्वेच्छया सम्भवामीत्यर्थः ।

---

१ अत्र प्रकृतिः– प्रकृष्टा कृतिः सृष्ट्यादिक्रिया यस्याः सकाशात्सा भगवतो दैवी मायैव विवक्षिता, न साङ्ख्यसम्मतसत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः–' ( सां. सू. १।६१ ) इति लक्षिता प्रधानापरपर्याया । तस्याः स्वतन्त्रत्वात्, अत्र च 'स्वां' इति ईशपारतन्त्र्यदर्शनात् । प्रधानकारणवादस्यावैदिकत्वेन ब्रह्ममीमांसायां निराकृतत्वाच्च । उक्तञ्च **ब्रह्मवैवर्ते**—

'प्रकृष्टवाचकः **प्रश्च कृतिश्च** सृष्टिवाचकः । सृष्टौ प्रकृष्टा या देवी **प्रकृतिः** सा प्रकीर्तिता ॥
गुणे प्रकृष्टे सत्त्वे च **प्रशब्दो** वर्तते श्रुतौ । मध्यमे **कृश्च** रजसि **तिशब्दस्तमसि** स्मृतः ॥
त्रिगुणात्मस्वरूपा या सर्वशक्तिसमन्विता । प्रधाना सृष्टिकरणे प्रकृतिस्तेन कथ्यते ।
प्रथमे वर्तते प्रश्च कृतिः स्यात्सृष्टिवाचकः । सृष्टेराद्या च या देवी प्रकृतिः सा प्रकीर्तिता ॥
सा च ब्रह्मस्वरूपा स्यान्माया नित्या सनातनी । ' इति । ( ब्र. वै. पु. खं. १ ) एतेनात्र कापिलसाङ्ख्यसंवादं वदन्तः परास्ता वेदितव्याः । **वामनस्तु**— प्रकृतिशब्देनाकृतिरुच्यते ; तेन स्वप्रकृतिः स्वरूपमूर्तिरित्यभ्युपेत्याह—
निर्विकारमपि कर्बुरं यथा साकृति स्फुरति भूषणात्मना ।
आस्थितः प्रकृतिसञ्ज्ञितां तथा स्वाकृतिं जगति सम्भवाम्यहम् ॥ इत्यादि ।
अत्र– ' पररूपे ह्यदेहेऽस्मिन् मुह्यन्ति स्थूलबुद्धयः । भक्तियुक्ताश्च तैर्ध्यातो यत्र यत्र यथा यथा ॥
तथा धत्तेऽनेकरूपं भक्तचिन्तामणिः स्वयम् । अतश्चेतन एवेशस्तद्देहः स्याच्चितिः परा ॥
चितिरेव महासत्तासाम्राज्ञी परमेश्वरी । त्रिपुरा भासते यस्यामविभिन्नं विभिन्नवत् ॥ '
इत्यादि त्रिपुरारहस्यमनुसन्धेयम् । [ ज्ञा. खं. ७ ] विस्तरस्तु नीलकण्ठीये द्रष्टव्यः । —अविगीता ।

४ वे. ता. चं.— अथ प्रकारादिप्रश्नत्रयोत्तरमनन्तरश्लोक इत्याह— **अवतारेति** । अजाव्ययशब्दाभ्यां प्रकृतिपुरुषयोरिव स्वरूपतो धर्मतश्च विकारा न सन्तीत्युच्यते ; अजाव्ययशब्दौ कर्मकृतजन्ममरणनिवृत्तिपरौ वा ; तेन हेयप्रत्यनीकत्वमुक्तं भवति । ' भूतानामीश्वरोऽपि ' इति कल्याणगुणाकरत्वाप्रच्युतिरुपलक्ष्यते । यद्वा अजशब्देन स्वरूपतः शरीरद्वारा च जन्मयुक्ताचित्क्षेत्रज्ञाभ्यां व्यावर्तनम् । 'अव्ययात्मा' इत्यात्मशब्दस्य स्वभावपरतया नचोत्ऽयन्ताभावपरतया च कदाचिज्ज्ञानसङ्कोचादिमतो मुक्ताद्यावृत्तिः । **ईश्वर**शब्देन नित्यासङ्कुचितज्ञानेभ्यो नित्यमुक्तेभ्यो व्यवच्छेदः । 'अव्ययात्मा' इत्यत्रापि पूर्वोत्तरवत् 'अपि सन्' इत्यनुषञ्जनीयम् । अत्र च पूर्वार्धेन तृतीयचतुर्थपादाभ्यां च प्रश्नत्रयस्य क्रमात्परिहारः । आदिशब्देनेश्वरत्वोपलक्षितसर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वावाप्तसमस्तकामत्वादीनि गृह्यन्ते । **सर्व**मिति— न कस्यचिदपि स्वभावलेशस्य हानिरिति भावः । परमेश्वरसम्बन्धि पारमेश्वरं, परमेश्वरत्वप्रयुक्तमित्यर्थः । ' अपि सत् ' इत्यस्य वर्तमाननिर्देशस्य तात्पर्यमाह— **अजहदेवेति** । एतेन तत्तदवतारेषु तासु तास्ववस्थासु च पारमेश्वरस्वभावस्य सत एव स्वेच्छाया तिरोधानमात्रमिति सूचितम् ; तथा चाहुः 'गुणैः षड्भिस्त्वेतैः प्रथमतरमूर्तिस्तव बभौ ततस्तिस्रस्तेषां त्रियुगयुगलैर्हि त्रिभिरभुः । व्यवस्था या चैषा ननु वरद साऽऽविष्कृतिवशात् भवान् सर्वत्रैव त्वगणितमहामङ्गलगुणः ॥ [ वरदराजस्तवे १६ ] इति । अवतारेषु हि परमेश्वरत्वं व्यपदिश्यते । ' ईशन्नपि महायोगी ' [ म. भा. ५।६८।१४ ] ' कृष्ण एव हि लोकानां ' [ म. भा. २।३८।२३ ] 'व्यक्तमेष महायोगी परमात्मा' [वा. रा. ६।१।११] इत्यादिभिः । नात्र प्रकृतिशब्देन 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि' [९।८] इत्यादिष्विव त्रिगुणा प्रकृतिरुच्यते, अवतारेष्वपि तद्विग्रहस्य त्रिगुणोपादानत्वाभावात् । यथोक्तं ' न भूतसङ्घसंस्थानो देहोऽस्य परमात्मनः ' [ म. भा. ] ' न तस्य प्राकृता मूर्तिर्मांसमेदोस्थिसम्भवा' [ वा. पु. पू. ३४।४० व. पु. १४।४१ ] इति । अतोऽत्रावतारोपयुक्तान्या प्रकृतिरुच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **प्रकृतिः स्वभाव** इति । ' प्रकृतिः पञ्चभूतेषु स्वभावे मूलकारणे ' इति नैघण्टुकाः । विग्रहस्यापि ' नित्यालिङ्गा स्वभावसंसिद्धिः ' [ र. ब्रा. ] इत्येकायनश्रुत्यनुसारेण निरुपाधिकस्वासाधारणविशेषणत्वात् स्वभावशब्देनोपादानम् । गोबलीवर्दन्यायाच्चात्र विग्रहाख्यस्वभावविशेषपरता, स्वभावपर्यायप्रकृतिशब्देनापृथक्सिद्धिलाभेऽपि 'स्वां' इति निर्देशो जीवसाधारणत्रिगुणप्रकृतिव्यवच्छेदार्थ इत्यभिप्रायेणोक्तं— **स्वमेवेति** । **अन्तरधिकरणभाष्ये**ऽप्येतद्व्याख्याने ' स्वमेव स्वभावमास्थाय न संसारिणां स्वभावमित्यर्थः ' इति । प्रकृतिशब्दस्यात्र विग्रहपरत्वं 'अधिष्ठाय'इत्यनेन सूचितं स्वातन्त्र्यं च दर्शयति— **स्वेनैव रूपेणे**ति । यद्वा 'स्वमेव स्वभावं' इत्याद्येकवाक्यं सङ्कलितार्थपरम्, तदधिष्ठायेत्येतदन्तं पूर्वार्धस्यार्थः, ' स्वेनैव रूपेण ' इति तु तृतीयपादस्य ' स्वेच्छया ' इति चतुर्थपादस्य । अस्यां योजनायां प्रकृतिशब्दोऽवतारोपादानभूतदिव्यविग्रहमेवाह ।

**३ रा. भा.— स्वस्वरूपं हि " आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् " [ यजुस्सं. ३१।१८ ] " क्षयन्तमस्य रजसः पराके " [ ऋक्सं. ५।६।२।५ सा. सं. १७।२।४।२ ] " य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः " [ छां. उ. १।६।६ ] " तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमय अमृतो हिरण्मयः ? " [ शी. उ. ६।१ ] " सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि " [ तै. ना. ६।१।८ ] ' भारूपः सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः ' [ छां. उ. ३।१४।२ ] ' माहारजनं वासः ' [ बृ. ह. उ. छ. २।३।६ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धम् । आत्ममायया-आत्मीयया मायया ' माया वयुनं ज्ञानम् ' [ वे. नि. ध. व. २२ ] इति ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः । तथाचाभियुक्तप्रयोगः ' मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम् ' इति । आत्मीयेन ज्ञानेन— आत्मसङ्कल्पेनेत्यर्थः ।**

४ वे. ता. चं.— अवतारविग्रहोपादानभूतप्रकृतेर्बहुश्रुतिसिद्धतामाह— **स्वस्वरूप**मिति । 'स्वरूपं ब्रह्मणोऽपरम्' इति प्रयोगात् स्वरूपशब्दोऽत्र विग्रहपरः । "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" इत्यनेनाप्राकृतत्वं, स्वासाधारणनिरतिशयदीप्तियुक्तत्वं च सिद्धम् । तत्प्रकरणे च देशविशेषवर्तित्वनित्यसूरिसेव्यत्वलक्ष्मीपतित्वादिकमपि भाव्यम् । 'क्षयन्तम्' इत्यत्र रजश्शब्दो मूलप्रकृतिविषयः, न तु लोकविषयः 'तमसः परस्तात्' इत्यनेन तुल्यार्थत्वात् । रजोगुणकत्वाच्च रजश्शब्देनोपादानम् । व्याप्तस्य देशविशेषे 'क्षयन्तम्' इति निवासवचनाद्विग्रहवत्त्वं सिद्धम् । एवं परमपदनिलयनित्यविग्रहसद्भावः श्रुतिद्वयेन दर्शितः । तस्यैव विग्रहस्यावतारदशां दर्शयति— **य एष** इति । 'आदित्यवर्णं' ' हिरण्मयः ' इति च एक एव वर्णः प्रतियोगिभेदाधीनप्रातिकूल्यानुकूल्याभ्यां मुखभेदेन निर्दिश्यते । यथाहुर्द्रमिडाचार्याः 'हिरण्मय इति रूपसामान्याच्चन्द्रमुखवत्' इति । यद्वा, हिरण्यविकारत्वव्यवच्छेदार्थं द्रमिडभाष्यम् । तत्र ' मयूरकण्ठच्छविशुद्धहेम ' इति शिल्पशास्त्रानुसाराच्छ्यामत्वसिद्धिः । अथवा स्वेच्छया तत्र तत्र रूपभेदेऽपि न दोषः; युगादिभेदे पर्यायतः सितरक्तादिविकल्पितवासुदेवादिव्यूहरूपभेदवत् । तस्यैव हृदयान्तर्वर्तित्वे श्रुतिमुदाहरति— **तस्मिन्नि**ति । **मनोमय** इति विशुद्धेन मनसा प्रचुरः प्राह्य इत्यर्थः । आभ्यां श्रुतिभ्यामुपासनस्थानविशेषस्थितिर्दर्शिता । कारणवाक्येऽपि तस्य सद्भावं दर्शयति— **सर्व** इति । विद्युत इतिपदं विद्युद्वर्णा-

दित्यन्यत्र व्याख्यातम् । "शान्त उपासीत" [छां.उ.३।१४।१] इति पूर्वोक्तमुपासनं 'स क्रतुं कुर्वीत' इत्यनूद्य तच्छेषतया विधीयमानेषु पारमार्थिकेषु गुणेषु विग्रहस्य सहपाठं दर्शयति— भारूप इति । भास्वररूप इत्यर्थः ।"माहारजनं वासः" इत्येषा श्रुतिः शारीरके व्याख्याता—"तस्य ह वा एतस्य पुरुषस्य रूपं यथा माहाराजनं वासः" [ बृ.उ. २।३।६ ] इत्यादिनाऽऽकारविशेषं चाभिधाय, इति । सर्वासु चासु श्रुतिषु विलक्षणस्थानविशिष्टत्ववर्णविशेषपुरुषशब्दादिभिः पूर्वोपात्तपुरुषसूक्तवाक्यैकार्थत्वं सिद्धम् । षष्ठीसमासे स्वस्वामित्वलक्षणः सम्बन्धोऽत्र विवक्षित इत्याह— **आत्मीययेति** । 'माया वयुनं ज्ञानम्' इति निघण्टूपादानम् । स्वेच्छावतरणप्रकरणे स एवार्थ उचित इति भावः । निघण्टुसिद्धमर्थं तन्मूलभूताभियुक्तप्रयोगेण द्रढयति— **तथा चेति** । 'मायया वेत्ति' इति निर्देशादियं माया निघण्टुसिद्धं ज्ञानमेव, परप्रसिद्धमायायास्तत्त्वार्थप्रकाशकत्वाभावादिति भावः । एतेन प्रकृतिशब्दस्यात्र त्रिगुणात्मकप्रकृतिविषयत्वं मायाशब्दस्य मिथ्यार्थपरत्वं च शाङ्करोक्तं प्रत्युक्तम् । 'आत्ममायया' इत्यस्य न परमार्थतो लोकवदिति व्यवच्छेदश्चायुक्तः; अन्येषामपि जन्मनस्तन्मते मिथ्यात्वाविशेषात् । फलितं वक्तुमाह— **आत्मीयेन ज्ञानेनेति** । ज्ञानमात्रस्य कथमवतारहेतुत्वम् ? तथा सति सर्वदावतारप्रसङ्गादित्यत्राह— **आत्मसङ्कल्पेनेत्यर्थ** इति ।

**३ रा. भा.— अतोऽपहतपाप्मत्वादिसमस्तकल्याणगुणात्मकत्वं सर्वमैशं स्वभावमजहत् स्वमेव रूपं देवमनुष्यादिसजातीयसंस्थानं कुर्वन्नात्मसङ्कल्पेन देवादिरूपः सम्भवामि तदिदमाह "अजायमानो बहुधा विजायते" [ यजुस्सं. ३१।१९ ] इति श्रुतिः । इतरपुरुषसाधारणं जन्माकुर्वन् देवादिरूपेण स्वसङ्कल्पेनोक्तप्रक्रियया जायत इत्यर्थः 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ! । तान्यहं वेद सर्वाणि ' [ ४।५ ] 'तदात्मानं सृजाम्यहं ' [ ४।७ ] ' जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ' [ ४।७ ] इति पूर्वापराविरोधाच्च ॥ ६ ॥**

४ वे. ता. चं.— श्लोकस्य पिण्डितार्थं विशदयति— **अत** इति । **अपहतपाप्मत्वादी**त्यनेन दहरविद्यासुबालोपनिषत्प्रभृतिषु निर्दोषत्वमङ्गलगुणाकरत्वप्रतिपादकानां वाक्यानां स्मारणम् । **समस्तकल्याणगुणात्मकत्व**मित्यादिना 'समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः । इच्छागृहीताभिमतोरुदेहः संसाधिताशेषजगद्धितोऽसौ' [ वि. पु. ६।५।८४] इत्यादि स्मारितम् । ईश्वरस्वभावः सर्वोऽप्युभयलिङ्गत्वेन सङ्गृह्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं **सर्वमैशं स्वभाव**मिति । स्वमेव रूपमित्यादिना 'समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वरः । देवतिर्यङ्मनुष्यादिचेष्टावन्ति स्वलीलया' [ वि.पु. ६।७।७० ] इत्यादि भगवत्पराशरवचनं स्मारितम् । अजत्वश्रुत्या स्मृतिरियं बाध्येतेत्यत्राह— **तदिदमाहे**ति । अजायमानत्वजायमानत्वोक्त्या व्याहतत्वादन्यपरेयं श्रुतिरित्यत्राह— **इतरे**ति । 'अजायमानः' इति सामान्यनिषेधो 'बहुधा विजायते' इति विशेषविधानसन्निधानात्सङ्कुचितविषयः । अतो विरोधे शान्ते तात्पर्यान्तरं न कल्प्यम् । न चेदं " बहु स्याम् " [ छां.उ.६।२।३ तै.आ.६।२ ] इतिवज्जगद्रूपेण बहुभवनम् ," तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम् " इत्यनन्तरवाक्यैर्मुमुक्षूणामत्यन्तोपकारकावताररहस्यज्ञानस्यैव वक्तुमुचितत्वात् ,अस्य च तदैकार्थ्यादिति भावः। सत्यमिथ्यात्वाभ्यां विरोधपरिहारशङ्कां प्रतिक्षेप्तुं 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' इत्यस्य विग्रहपरत्वे मायाशब्दस्य ज्ञानपरत्वे च हेत्वन्तरमाह **बहूनी**ति । ' वेद , सृजामि- दिव्यम् ' इति शब्दैर्जन्मनो बुद्धिपूर्वत्वेच्छामात्रकृतत्वदिव्यत्वादीनि प्रतीयन्ते । मायादिशब्दस्याविद्यादिपरत्वे तु तदखिलं विरुध्येत । नह्यत्र जन्मशब्दो जन्मप्रतिभासवाची ; न च प्रध्वस्तपर्यायो व्यतीतशब्दो बाधपरः; न च मायागृहीतस्य सर्ववेदित्वम् ; नापि मिथ्याभूते सृष्टिशब्दः; न च त्रिगुणप्रसूतस्य दिव्यत्वमिति भावः ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.— न तर्हनादिर्भवानित्यत आह— अजोऽपीति । अव्यय आत्मा देहोऽपीत्यव्ययात्मा । ' अनन्तं विश्वतोमुखम् ' [ ११।११ ] इति रूपविशेषणमुत्तरत्र ' एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् ' [ भाग. १।३।५ ] इति च ' जगृहे ' [ भाग. १।३।१ ] इति तु व्यक्तिः । युक्तयस्तूक्ताः [ मा. भा. २।२४ पृ. १३९ ] आत्माऽनादित्वं तु सर्वसमम् । कथमनादिनित्यस्य जनिः ? प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय प्रकृत्या जातेषु वसुदेवादिषु तथैव तेषां जात इव प्रतीये इत्यर्थः । न तु स्वतन्त्रामधिष्ठायेत्याह— स्वामिति । ' द्रव्यं कर्म च ' [ भाग. २।१०।४२ ] इति ह्युक्तम् । सा हि तत्रोक्ता ।**

**ज.प्र.दी.**— प्रश्नस्य परिहृतत्वात् 'अजोऽपि' इति किमर्थं ? इत्यत आह— **न तर्ही**ति । यदि जन्मानि व्यतीतानि तर्हीत्यर्थः । अनादिर्देहतोऽपि । उपलक्षणं चैतत् । मरणरहितः सर्वभूतानां ईश्वरश्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । तथा चोक्तविरोध इति भावः । ननु देहतोऽप्यनादित्वादेराक्षेपेऽजत्वादिमात्रं कथमुच्यते ? इत्यतो 'अव्ययात्मा' इत्येतावता देहतोऽप्यविनाशमाचष्टे । तत्साहचर्यात्

'अजोऽपि'इत्येतदपि तथैव व्याख्येयमिति भावेनाह— **अव्यय** इति। अपिपदात्परं अस्येत्यध्याहार्यम् । स्यादेवं व्याख्यानं यदि भगवद्विग्रहस्याप्यव्ययत्वं गीताचार्याभिमतं स्यात्; तदेव कुतः? इत्यत आह— **अनन्तमिति** ।इति च रूपविशेषणमिति वर्तते। एवं तर्हि कथं तत्रैव 'जगृहे पौरुषं रूपं ' [भाग. १।३।१ ] इति ग्रहणमुच्यते ? गृहीतस्य च त्यागो नियत एवेत्यत आह— **जगृह** इति । ' व्यक्तिः ' इत्युच्यत इति शेषः । कुत एवं कल्प्यते ? इत्यत आह— **युक्तय** इति । युज्यत एभिरिति युक्तयः प्रमाणानि असम्भावनापरिहारार्था अचिन्त्यशक्तित्वाद्या युक्तयो वा । उक्ता द्वितीये । अस्तु भगवद्विग्रहस्याप्यव्ययत्वम्, अत्र तु स्वरूपस्यैवोच्यत इति किं न स्यात् ? इत्यत आह— **आत्मेति** । आत्मनः स्वरूपस्य देहस्याप्यव्ययत्वोपपादनेनाजत्वमपि साहचर्यात्तस्यैवेति योऽभिप्रायस्तं प्रकटयितुमव्ययत्वमुपक्रम्यानादित्वमित्युक्तम् । **सर्वसमं** जीवानामप्यस्ति अतस्तद्विषयो नाक्षेपः परिहारो वा सम्भवतीति भावः । आत्मशब्दोऽप्यन्यथा व्यर्थः । अस्मत्पक्षे स्वरूपदेहयोरुपादानार्थः । अत एव 'देहोऽपि' [भाग.११।१३।१७] इत्युक्तम् । एवं तर्हि 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' इति कथमुक्तं? इत्यतस्तदन्यथा व्याख्यातुमाह— **कथमिति** । स्वरूपतो देहतश्चानादिनित्यस्य ' सम्भवामि' इति जनिः कथमुच्यते ? व्याहतत्वादित्यत आहेति शेषः । 'अधिष्ठाय' इत्यतः परमितिशब्दश्च । कथमनेन परिहारः? इत्यतो व्याचष्टे— **प्रकृत्येति** । वसुदेवादिषु प्रादुर्भूतत्वादिति शेषः । अनेन जन्मभ्रान्तेर्निमित्तमुक्तम् । यथोक्तं स्त्रीपुम्प्रसङ्गादित्यादि । भ्रान्तेरुपादानमाह— **तयैवेति** तमोरूपया, यदि मातापितृसम्बन्धोऽङ्गीकृतस्तर्हि तन्निमित्तं दुःखादिकमपि प्रसज्जत इत्याशङ्कानिरासाय 'स्वां' इतिपदं व्याख्याति— **न त्विति** । प्रकृतेर्भगवदधीनत्वं कुतः ? इत्यत आह— **द्रव्यमिति** । अत्र वाक्ये प्रकृतिर्न श्रूयत इत्यत आह— **सा हीति** । द्रव्यपदेनेति शेषः ।

**५ आ. मा. भा.— ततः सर्वसृष्टेः । आत्ममायया आत्मज्ञानेन प्रकृतेः पृथगभिधानात् । 'केतुः केतश्चितिश्चित्तं मतिः क्रतुर्मनीषा माया ' इति[1] ह्यभिधानम् । सृष्टिकारणया तेषां शरीरादि सृष्ट्वा विमोहिकया । अजात एव जात इव प्रतीये वा । उक्तं च— ' महदादेश्च माता या श्रीर्भूमिरिति कल्पिता । विमोहिका च दुर्गाख्या ताभिर्विष्णुरजोऽपि हि ॥ जातवत्प्रथते ह्यात्मचिद्बलान्मूढचेतसाम्' इति । ईश्वर ईशेभ्योऽपि वरः । तच्चोक्तम्—'ईशेभ्यो ब्रह्मरुद्रश्रीशेषादिभ्यो यतो भवान् । वरोऽत ईश्वराख्या ते मुख्या नान्यस्य कस्यचित्' इति ब्रह्मवैवर्ते । 'समर्थ ईश इत्युक्तस्तद्वरत्वात्त्वमीश्वरः' इति च ॥ ६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— तस्याप्रकृतिवाचित्वं कुतः? इत्यत आह— **तत** इति । सर्वसृष्टिकारणानि ह्यत्र निर्दिश्यन्ते । तच्च प्रकृतेरेव सम्भवति । न पृथिव्यादेरित्यर्थः । आत्ममाययाऽऽत्माविद्ययेति प्रतीतिनिरासायाह— **आत्मेति** । कुतो हेतोरेवं जीवविलक्षणं ते जन्म ? इत्याशङ्कानिरासार्थमेतत् । अन्यथाप्रतीतिरप्यनेन परिहृता; सर्वज्ञस्याविद्यायोगात् । प्रकृतिरत्र माया किं न स्यात् ? इत्यत आह— **प्रकृतेरिति** । मायाशब्दस्य ज्ञानवाचित्वं कुतः? इत्यत आह— **केतुरिति**, इति प्रज्ञायाः नामधेयानीति वाक्यशेषात् । प्राक् 'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' इत्यनेनैव भ्रमनिमित्तत्वमुपादानत्वं च प्रकृतेरुक्तमिति मायाशब्दो न प्रकृतिवाची, पुनरुक्तिप्रसङ्गादित्युक्तम्; इदानीं तस्य निमित्तमात्रपरत्वे मायाशब्दस्य प्रकृत्यर्थतायामपि न दोषः, उपादानप्रतिपादनार्थत्वादिति भावेनाह— **सृष्टीति**; प्रकृत्येति शेषः । तेषां वसुदेवादीनां सृष्ट्वा तत्र प्रादुर्भूतः विमोहिकया मायाख्यया । अत्रागमसम्मतिमाह— **उक्तं चेति** । आत्मचिद्बलादजात एव । नन्वीशनशीलानामपि ब्रह्मादीनामुत्पत्तिमरणदर्शनेन विरोधाभावादीश्वरोऽपि 'सम्भवामि' इति कथमुच्यते ? 'स्थेशभासपिसकसो वरच्' [अष्टा. ३।२।१७५] इत्येतद्विहायान्यथा व्याचष्टे— **ईश्वर** इति । कुत एतदित्यत आह— **ईशेभ्य** इति । एतदागमबलादेव समासाकारलोपावनुमन्तव्यौ । अजत्वादेः सम्भवेन शाब्दो व्याघातः, अस्य तु व्याप्त्येति ज्ञापनाय क्रममुल्लङ्घ्य व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.— कथं तर्हि तव नित्येश्वरस्य धर्माधर्माभावे जन्म ? इत्यर्जुनस्य प्रश्ने सति भगवानाह— अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन्नव्ययात्माऽनुपक्षीणज्ञानशक्तिस्वभावो भूतानामाब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानामीश्वर ईशनशीलोऽपि प्रकृतिं मम वैष्णवीं मायां त्रिगुणात्मिकां— यस्या वशे सर्वं जगद्वर्तते, यया मोहितं स्वमात्मानं वासुदेवं मां न जानाति तां— प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय स्वीकृत्य सम्भवामि देहवानिव जात इव भवामि; आत्ममाययाऽऽत्मनो मायया, न परमार्थतो लोकवत् ॥६॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु परमेश्वरत्वे तव जन्माद्यनुपपत्तिरित्युक्तम् ; तत्राह— **अज** इति । आत्ममायया सम्भवामीति प्रथममन्वयः । तथा च मायिकमेव मम जन्म, न तु परमार्थत इत्यतो वास्तवजन्मनाशराहित्यान्नेश्वरत्वभङ्गप्रसङ्ग इत्याह— **अजोऽपीति** । अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन् अव्ययात्मा नाशस्वभावरहितोऽपि सन् भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानामी-

१ केतुः केतश्चेतश्चित्तं धीः क्रतुरसुः शची माया— इति [ वैदिकको. ३।१३ ]

श्वरोऽपि सन् सम्भवामि । तथा च श्रुतिः:— "अजायमानो बहुधा विजायते" [ यजुस्सं. ३१।१९ तै. आ. ३।१३।३ ] इति । ननु वास्तवजन्मनाशराहित्यं जीवस्याप्यस्ति, कस्तवातिशयो येन त्वमीश्वरः ? इत्याशङ्कानिरासाय समित्युपसर्गः । सम्यगप्रच्युतज्ञानबलैश्वर्यादिशक्त्यैव भवामीत्यर्थः । न केवलं ज्ञानबलादिप्रयुक्त एव मम जीवादतिशयः, किन्तु जन्मतोऽपीत्याह-- **प्रकृतिं स्वामधिष्ठायेति** । प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया, 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' [ ७।१४ ] इति वक्ष्यमाणत्वात् , " मायां तु प्रकृतिं विद्यात् " [ श्वे. उ. ४।१० ] इति श्रुतेश्च । तां प्रकृतिमधिष्ठाय वशीकृत्य सम्भवामि । वशीकारे हेतुगर्भं ' स्वां ' इति विशेषणम् । स्वकीयाम् , स्वाधीनामिति यावत् । प्रकृत्यधीनस्य हि जीवस्य कर्मपारवश्यात्तदनुगुणमेव जन्म भवति; " रमणीयचरणा...... रमणीयां योनिमाप ( येरन् ) द्यन्ते कपूयचरणा......कपूयां योनिम् " [ छां. उ. ५।१०।७ ] इति श्रुतेश्च । प्रकृतिनियन्तुस्तु परमेश्वरस्य न कर्मायत्तं जन्म, किन्तु स्वेच्छायत्तमिति भावः । अत्र च मायया सम्भवामीति **भगवतैव** कण्ठरवेण देहग्रहणरूपस्य जन्मनो मायानिर्मितत्वोक्तेर्मायामयमेव भगवतः शरीरमिति भगवत्पादैर्व्यवस्थापितम् ; यदाहुर्गीताभाष्यारम्भे [ पृष्ठे ३ ]-- 'स च भगवान् ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं स्वां मायां प्रकृतिं वशीकृत्याजोऽव्ययो भूतानामीश्वरो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽपि सन्स्वमायया देहवानिव जात इव च लोकानुग्रहं कुर्वँल्लक्ष्यते' इति । ब्रह्ममीमांसाभाष्येऽप्युक्तम्- 'स्यात्परमेश्वरस्यापीच्छावशान्मायामयं रूपं साधकानुग्रहार्थम्' इति । न च 'सम्भवाम्यात्ममायया' इत्यत्र 'मायाशब्दः सङ्कल्पवाची' इति **रामानुजोक्तं** 'इच्छावाची' इति **माध्वोक्तं** वा युक्तम्; त्रिगुणात्मकप्रकृतावेव मायाशब्दस्य श्रुतिस्मृत्योः प्रसिद्धत्वात् । प्रसिद्धार्थे सम्भवत्यप्रसिद्धार्थस्वीकारायोगात् , अजोऽपि सन्मायया सम्भवामीत्यजत्वविरुद्धजन्मोपपादनार्थप्रयुक्तेन मायापदेन प्रसिद्धमायारूपार्थानुक्तौ तद्विरोधपरिहारालाभाच्च; 'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! । सर्वभूतगुणैर्युक्तं न च मां द्रष्टु- ( नैवं त्वं ज्ञातु-) मर्हसि' [ म. भा. १२।३३९।४४, ४५ ] इति मोक्षधर्मवचनपर्यालोचनयोक्तरीत्यैवास्य व्याख्यातव्यत्वाच्च; निराकारब्रह्मतत्त्वव्यवस्थापनेन तद्विग्रहमायिकत्वस्याद्वैतवज्रपञ्जरे प्रपञ्चितत्वाच्चेत्यलं बहुना ॥ ६ ॥

९व० त० दी०—नन्वनादेरविनाशिनस्तव जीववत्कथं जन्मोक्तं इत्यत आह— **अजोऽपीति** । सत्यमेवं तथाप्यजोऽपि सन्नव्ययात्माऽपि **सन्** कर्मपारतन्त्र्यरहितोऽपि सन् स्वमायया सम्भवामि । स्वतन्त्रमायानिबन्धनं मम जन्मेति । मायाशब्दः क्वचिच्छास्त्रे हरिसामर्थ्यवाचकः । 'काप्यविद्या मृषावाचिकृपाकपटवित्तवाक् ।' इति निरूपणादत्रात्मनां भक्तानामुपरि कृपयाऽऽत्मनो वा कृपयाऽऽविर्भवामि । 'मया सह वर्त्तमानमाया' इति तृतीयस्कन्धसुबोधिनीव्याख्यातया वाऽप्रच्युतज्ञानबलैश्वर्यादिशक्त्यैव सर्वभवनसामर्थ्यरूपमायया सम्भवामि । विजातीयनिवारणायात्मपदम् । मायात्वोक्तिः 'शक्तिर्मे मोहिनी त्वतः ' एवेति वयमवोचाम । ननु तथापि स्वरूपवैपरीत्यं जन्मभावेन जीवस्यैव तवायातमित्याशङ्क्याह— **प्रकृतिमिति** । प्रकृतिं स्वामसाधारणस्वरूपं स्वभावं वा सच्चिदानन्दमात्रं नित्यसिद्धज्ञानक्रियाशक्त्याश्रयं षड्गुणाश्रयमधिष्ठाय अपरित्यज्य सन्नेव प्रादुर्भवामि, न तु जीववत्स्वरूपादपि प्रच्युतः । जीवस्तु व्युच्चरणानन्तरं मायया पराभिध्यानात्तिरोहितानन्दषड्गुणः संसरतीति जन्ममरणपर्यावर्त्तमनुभवति; अहं तु न तथा जन्मादिमान्, अजत्वश्रुतेरव्ययत्वाच्च । एतेनैव षड्भावविकारा निराकृताः । यद्यपि जीवात्मनि न विकाराः षट्, किन्तु प्रकृतिपरिणामभूते देहे एव; तथापि ' आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत् ' शरीरं जगज्जीवात्मनि प्रत्याययति विकारान् संसृतिं च करोति प्राकृतत्वात् । अत एवोक्तं सूत्रकारेण—' पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ' [ ब्र. सू. ३ । २ । ५ ] इति । अत्र भाष्यकारः—" अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितं; तत्र हेतुः पराभिध्यानात् , परस्य भगवतोऽभिध्यानं स्वस्यैतस्य च सर्वतो भोगेच्छा, तस्मादीश्वरेच्छया जीवस्य व्युच्चरितस्य भगवद्धर्मतिरोभावः । ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वं च । वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनम् । यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वम् । श्रीतिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वम् । ज्ञानतिरोभावाद्देहादिष्वहम्बुद्धिः । सर्वविपरीतज्ञानं च अपस्मारसहितस्येव । वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः । बन्धश्चतुर्णां कार्यो विपर्ययो द्वयोस्तिरोभावादेव । नान्यथा, हि युक्तोऽयमर्थः । एकस्यैकांशप्राकट्येऽपि तथाभावात् ; आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितः, येन जीवभावः अत एव काममयः, अकामरूपत्वादानन्दस्य । निद्रा च सुतरां तिरोभावकर्त्री भगवच्छक्तिः । अतोऽस्मिन् प्रस्तावे जीवस्य धर्मतिरोभाव उक्तः । अन्यथा भगवत ऐश्वर्यादिलीला निर्विषया स्यात् । तस्माज्जीवरूपपर्यालोचनया न किञ्चिदाशङ्कनीयम्" इति । जीवस्य देहिनो जन्मनाशावुक्तौ ब्रह्मणो भगवत आविर्भावतिरोभावावित्याशयेनैव नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यमिति सम्भव उक्तः । अनेन योऽहमिह दृश्यमानः पुरुषोत्तमोऽवतारी स एवान्यत्र

प्रादुर्भवामि स्वत इत्युक्तं; तथा चाजोऽपि जन्मवान्, बालोऽपि किशोरः, एकोऽप्यनेक इत्यादि विरुद्धधर्मा श्रयत्वान्नानुपपत्तिः। विशेषस्तु भाष्यादेरवगन्तव्यः ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— ज्ञानार्थमेवाह— अजोऽपीति। अहं भूतानामव्ययात्माऽपि सन् विनाशरहितात्मरूपः सन्नपि ईश्वरोऽपि सन् सर्वकरणसमर्थोऽपि सन् स्वां प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामधिष्ठाय अजजीवरूपेण सम्भवामि आत्ममायया अन्तरङ्गया अजीवरूपेण अव्ययात्मा लीलायोग्यदेहेन सम्भवामि। अत्रायं भावः— यत्र धर्मरक्षार्थमाविर्भवामि तत्सामयिकजीवेषु कर्मयोगादिजीवेषु लीलार्थप्रकटीकृतस्वरूपेण रसात्मकभक्तिमेव कथयामि ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— किं तर्हि योगिनां सर्वज्ञत्वप्रसिद्धेस्त्वं जातिस्मरो जीवोऽसि ? इत्याशङ्क्याह— अज इति। देहान्निष्कृष्टस्याजत्वाव्ययत्वे 'न त्वेवाहं जातु नासं' [ २।१२ ] इत्यत्र साधिते, इह तु देहविशिष्टस्यैव ते उच्यते 'ईश्वरोऽपि' इत्यनेन। देहान्निष्कृष्टस्यास्मदादेरपीश्वरत्वं "तत्त्वमसि" [ छां.उ. ६।८।७] "अहं ब्रह्मास्मि" [ बृ.उ.१।४।१०] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमतो देहविशिष्टस्यैवाजत्वनित्यत्वे दृढीक्रियेते, अन्यथाऽनीश्वरत्वप्रसङ्गात्। न ह्यादित्यान्तर्यामिणः परमेश्वरस्य हिरण्यश्मश्रुत्वादिविशिष्टो देहो जन्मव्ययवानिति वक्तुं शक्यं, अकर्मजत्वात्; कर्मफलस्य हि पराकाष्ठा हैरण्यगर्भशरीरप्राप्तिः। न च "पुरुषो ह वै नारायणोऽकामयत अत्यतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि अहमेवेदं सर्वं स्यामिति स एतं पुरुषमेधं पञ्चरात्रं यज्ञक्रतुमपश्यत्" इत्यादिना शतपथे नारायणाख्यस्य परमात्मनः "सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्त्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" [ ऋक्सं. ८।४।१७।१ ] इति "पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" [ छां.उ.३।१२।६] इति च पुरुषसूक्तप्रतिपाद्यस्य सर्वाणि भूतान्यतिक्रम्य स्थितस्येश्वरस्यापि शरीरं पञ्चरात्राख्यकर्मविशेषफलमिति श्रूयते इति वाच्यम्, तत्र नारायणशब्देन हिरण्यगर्भस्यैव विवक्षितत्वात्। न हि परमेश्वरस्य पूर्णकामस्य सर्वानतिक्रम्य स्थितस्य पुनः 'अत्यतिष्ठेयं सर्वाणि भूतानि' इति कामना भवति।

ननु परमेश्वरेऽपि कामना दृष्टा "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" [ छां. उ.६।२।३ ] इति चेत् श्लाघनीयप्रज्ञो देवानां प्रियः, यतः "आप्तकामस्य का स्पृहा" [ गौ. पा. का. १।९ ] इति श्रुतेः, 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' [ ब्र. सू. २।१।३३ ] इति न्यायाच्च निस्स्पृहस्य लीलयैव ब्रह्माण्डकोटीः सृजतो भगवतो राजगोपालस्य कर्मकिङ्करेण कर्मणा सार्वात्म्यं प्रार्थयता साम्यमापादयति। तस्मान्न कर्मफलं भगवतः शरीरं, अत एव न भौतिकं, विराट्सूत्रात्मातिरिक्तस्य भौतिकस्याभावात्। तस्माद्युक्तं 'अजोऽपि सन्' इति। ननु तर्हि भगवच्छरीरस्य किमुपादानं? अविद्या इति चेत्, न; परमेश्वरे तदभावात्। जीवाविद्या चेत्, न; शुक्तिरजतादेरिव तुच्छत्वापत्तेः। चिन्मात्रं चेत्, न; चितः साकारत्वायोगात् तथात्वे वा तस्यातीन्द्रियत्वापत्तिः। तस्मात्किमालम्बो भगवद्देहो देवकीगर्भप्रवेशजननबाल्यकौमारपौगण्डयौवनादिप्रतीतिविषयः? इति चेत्, शृणु—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया' इति। अयमर्थः— जीवात्मानो हि अनात्मभूतां प्रकृतिं तेजोबन्नात्मिकां पञ्चभूतात्मिकां वा अधिष्ठाय सम्भवन्ति जन्मादीँल्लभन्ते, अहं तु स्वां प्रत्यगनन्यां प्रकृतिं प्रत्यक्चैतन्यमेवेत्यर्थः। तदेवाधिष्ठाय, न तूपादानान्तरं आत्ममायया स्वीयमायया सम्भवामि; यथा कश्चिन्मायावी स्वयं स्वस्थानादप्रच्युतस्वभावोऽप्यदृश्यो भूत्वा स्थूलसूक्ष्मभूतान्यनुपादायैव केवलया मायया द्वितीयं मायाविनं स्वसदृशमेव सूत्रमार्गेण गगनमारोहन्तं सृजति, एवमहं कूटस्थचिन्मात्रोऽग्राह्यः स्वमायया चिन्मयमात्मनः शरीरं सृजामि; तस्य बाल्याद्यवस्थाश्च सूत्रारोहणवद्दर्शयामि, एतावांस्तु विशेषः— लौकिकमायावी मायामुपसंहरन् द्वितीयं मायाविनमप्युपसंहरति। अहं तु तामनुपसंहरन् स्वविग्रहमपि नोपसंहरामीति।

एवं हि सति हिरण्यश्मश्रुत्वादिलक्षणविग्रहयोगिनश्चैतन्यस्य "अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्" [ ब्र. सू. १।१।२० ] इत्यादिन्यायसिद्धं वियदाद्युपादानत्वलक्षणं सर्वेश्वरत्वं युज्यते, नान्यथेति; तस्मात्सिद्धं परमेश्वरस्य मायामयं शरीरं नित्यमित्येकेनैव देहेन विवस्वन्तमुपदिश्य त्वामप्युपदिशामीति। अन्यत्रापि 'नित्यैव सा जगन्मूर्तिः' [ मा. पु. ७८।६६ स. श. १।६५ ] इति सावधारणं प्रतिज्ञायते। 'देवानां कार्यसिद्ध्यर्थमाविर्भवति सा यदा। उत्पन्नेति तदा लोके सा नित्याप्यभिधीयते' [ स. श. १।६६ ] इति नित्याया अप्याविर्भावापेक्षया सूर्यस्येव बाल्यादिकमुत्पत्त्याद्युपगम्यते। [शां.] भाष्ये तु 'स्वां प्रकृतिं वैष्णवीं त्रिगुणात्मिकां मायां अधिष्ठाय वशीकृत्य आत्ममायया सम्भवामि देहवान् जात इवात्मनो मायया, न परमार्थतो लोकवत्' इति व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

भगवदाविर्भावस्य कालः प्रयोजनं च ।

**यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।**
**अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥**
**परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।**
**धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ८ ॥**

**१ शां. भा.**— तच्च जन्म कदा किमर्थं च ? इत्युच्यते— **यदेति** । यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्हानिर्वर्णाश्रमादिलक्षणस्य प्राणिनामभ्युदयनिःश्रेयससाधनस्य भवति भारत ! अभ्युत्थानमुद्भवोऽधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहं मायया ॥ ७ ॥ किमर्थम् ? **परित्राणायेति** । परित्राणाय परिरक्षणाय साधूनां सन्मार्गस्थानां, विनाशाय च दुष्कृतां पापकारिणाम् । किञ्च धर्मसंस्थापनार्थाय धर्मस्य सम्यक्स्थापनं धर्मसंस्थापनं तदर्थं सम्भवामि, युगे युगे प्रतियुगम् ॥ ८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—यदीश्वरस्य मायानिबन्धनं जन्मेत्युक्तं, तस्य प्रश्नपूर्वकं कालं कथयति— **तच्चे**त्यादिना । चातुर्वर्ण्ये चातुराश्रम्ये च यथावदनुष्ठीयमाने नास्ति धर्महानिरिति मन्वानो विशिनष्टि— **वर्णे**ति । वर्णैराश्रमैस्तदाचारैश्च लक्ष्यते ज्ञायते यो धर्मस्तस्येति यावत् । धर्महानौ समस्तपुरुषार्थभङ्गो भवतीत्यभिप्रेत्याऽऽह— **प्राणिनामि**ति । न च यथोक्तस्य धर्मस्य हानिं सोढुं शक्तो भवानित्याह— **भारते**ति । न केवलं प्राणिनां धर्महानिरेव भगवतो मायाविग्रहस्य परिग्रहे हेतुः, अपितु तेषामधर्मप्रवृत्तिरपीत्याह— **अभ्युत्थानमि**ति । यदा यदेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ७ ॥ यथोक्ते काले कृतकृत्यस्य भगवतो मायाकृते जन्मनि प्रश्नपूर्वकं प्रयोजनमाह— **किमर्थमि**त्यादिना । यथा साधूनां रक्षणमसाधूनां निग्रहश्च भगवदवतारफलं तथा फलान्तरमपि तस्यास्तीत्याह— **किञ्चे**ति । धर्मे हि स्थापिते जगदेव स्थापितं भवति, अन्यथा भिन्नमर्यादं जगदसङ्गतमापद्येतेत्यर्थः ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.**— जन्मकालमाह— न कालनियमोऽस्मत्सम्भवस्य; यदायदा हि धर्मस्य वेदेनोदितस्य चातुर्वर्ण्यचातुराश्रम्यव्यवस्थयाऽवस्थितस्य कर्तव्यस्य ग्लानिर्भवति ; यदायदा च तद्विपर्ययस्याधर्मस्याभ्युत्थानं तदाऽहमेव स्वसङ्कल्पेनोक्तप्रकारेणात्मानं सृजामि ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**—कदा? इति प्रश्नस्योत्तरमुच्यत इत्याह— **जन्मकालमाहे**ति । युगानियमस्य वक्ष्यमाणत्वात् 'यदायदा' इति वीप्सा युगान्तर्वर्तिकालानियमपरेत्यभिप्रायेणाह— **न कालेति**। जीववत्पुण्यापुण्यविपाककृतो वा, व्यवस्थितस्वसङ्कल्पकृतो वा, मन्वन्तरमहाकल्पादिरूपो वा कालनियमो नास्तीत्यर्थः । प्रमाणतः स्वरूपतश्च ग्लानिप्रकारसूचनाय बाह्यधर्मधर्मैकदेशव्यवच्छेदाय च **वेदेनोदितस्ये**त्यादिविशेषणम् । 'वेदेनोदितस्य कर्तव्यस्य ' इति धर्मलक्षणमप्युक्तं भवति । अधर्मशब्दे नञो विरोधिविषयत्वमभिप्रेत्योक्तं **तद्विपर्ययस्ये**ति । ततश्चावैदिकागमोदितस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थारहितस्य तत एवाकर्तव्यस्येति पूर्वोक्तप्रकारवैपरीत्यं फलितम् । धर्मग्लानेरधर्मोत्थानस्य च तुलाग्रनमनोन्नमनवत्परस्पराविनाभावित्वं च दर्शितम् । तदेत्यत्रापि 'यदायदा' इत्येतत्प्रतिनिर्देशरूपत्वाद्वीप्साऽनुसन्धेया। धर्मस्य ग्लानिमपि न सहे, किं पुनर्विच्छेदं ? इति ग्लानिशब्दतात्पर्यम् । एवमधर्मस्योद्गममात्रमपि न सहे, किमुत शाखानुशाखतां ? इत्यभ्युत्थानशब्दाभिप्रेतम् । 'अहं सृजामि ' इत्यत्रापेक्षणीयान्तरादर्शनात् **अहमेव स्वसङ्कल्पेने**त्युक्तम् । तेन कालस्याप्यधिष्ठातुस्तस्य कालपरतन्त्रत्वं परिहृतं भवति। 'आत्मानं सृजामि' इत्येतन्न तावत्स्वरूपविषयं, तस्य नित्यत्वात्, आत्माश्रयादिप्रसङ्गाच्च । नापि जीवविषयं, तस्य प्रकरणासङ्गतत्वात् । नाप्याद्यविग्रहविशिष्टस्वात्मविषयं, तस्यापि रूपस्य नित्यत्वात् ; अतोऽवतारविग्रहविशिष्टस्वात्माऽत्र 'आत्मानम्' इति निर्दिश्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं **उक्तप्रकारेणे**ति ॥ ७ ॥

---

१ अत्र चित्तवृत्तिविशेषरूपाया ग्लानेर्धर्मे समन्वयायोगाद्धर्मपदेनाजहल्लक्षणया तत्सम्बन्धिनः पुरुषा आक्षिप्यन्ते । तथा च धर्मस्य ग्लानिस्तदनुष्ठातृपुरुषवैक्लव्यमेव । अत एव धर्मसंस्थापनार्थं सम्भवतो भगवतः प्रथमं साधुपरित्राणे प्रवृत्तिरुत्तरश्लोकोक्ता सङ्गच्छत इति बोध्यम् ॥ ॥ **ग्लानिरि**ति— हर्षक्षयार्थकात् ग्लायतेः ( भ्वा. ९०३ ) 'वहिश्रिश्रुयुद्रुग्ला-' ( उ. सू. ५०० ) इत्यौणादिको निः नित् । तल्लक्षणं चोक्तमालङ्कारिकैः— 'रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसम्भवा । ग्लानिर्निष्प्राणताकम्पकार्यानुत्साहतादिकृत् ॥' (सा. द. ३।१९७) इति । अग्निपुराणेऽपि— 'मनःपीडादिजन्मावसादो ग्लानिः शरीरगा ।' ( ३३९।२२ ) इति ।

— **अविगीता** ।

३ रा. भा.— जन्मनः प्रयोजनमाह— परित्राणायेति । साधव उक्तलक्षणधर्मशीला वैष्णवाग्रेसरा मत्समाश्रयणे प्रवृत्ता मन्नामकर्मस्वरूपाणामवाङ्मनसागोचरतया मद्दर्शनाद्विना स्वात्मधारणपोषणादिकमलभमानाः क्षणमात्रकालमपि कल्पसहस्रं मन्वानाः प्रशिथिलसर्वगात्रा भवेयुरिति मत्स्वरूपचेष्टितावलोकनालापादिदानेन तेषां परित्राणाय तद्विपरीतानां विनाशाय च क्षीणस्य वैदिकस्य धर्मस्य मदाराधनरूपस्याराध्यस्वरूपप्रदर्शनेन स्थापनाय च देवमनुष्यादिरूपेण युगे युगे सम्भवामि; कृतत्रेतादियुगविशेषनियमोऽपि नास्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— किमर्थं ? इति प्रश्नस्योत्तरमुच्यत इत्याह— **जन्मन** इति । साधुशब्दोऽत्र नासमर्थादिविषयः, दुष्कृच्छब्दप्रतियोगिरूपत्वात्; अतः सुकृतिविषयोऽयमित्यभिप्रायेणोक्तं-**उक्तलक्षणधर्मशीला** इति । **उक्तलक्षण**शब्देन 'वेदेनोदितस्य' इत्यादि परामृश्यते । ये पुनरुक्तलक्षणधर्मेण देवतान्तराण्येव उपासते; ये च वैष्णवाः **प्रदर्शन**विद्यादिन्यासेन तत्तद्देवताविशिष्टवेषेणैव भगवन्तमुपासते; न तेषामवतारप्रदर्शनेऽत्यन्तनिर्बन्धः; तत्तद्देवताकञ्चुकितवेषेणैव तदपेक्षितसकलप्रदानोपपत्तेरित्यभिप्रायेणोक्तं- **वैष्णवाग्रेसरा** इति— भगवद्भक्तवर्या इत्यर्थः । **उक्तलक्षणधर्मशीला** इति **वैष्णवाग्रेसरा** इति पदाभ्यां 'न चलति निजवर्णधर्मतो यः' [वि.पु.३।७।२०] 'वर्णाश्रमाचारवता' [वि.पु.३।८।९] इत्यादि सूचितम् । यथावस्थितमुपायं प्राप्यं चावलम्बमाना इति च फलितम् । त्राणं हि नामात्रानिष्टनिवर्तनपूर्वकेष्टप्रापणम् । एवंविधवैष्णवाग्रेसराणामनिष्टश्च भगवदलाभः; तत्समाश्रयणपूर्वकं तल्लाभेनैव च तस्यानिष्टस्य निवर्तनमित्यभिप्रेत्योच्यते **मत्समाश्रयण** इत्यारभ्य **आलापादिदानेने**त्यन्तम् । नह्यमीषामन्नपानताम्बूलादिधारणपोषणादिकम्, किन्तु 'अहं कृष्ण एव सर्वं' इत्यभिप्रायेणोच्यते **मद्दर्शनाद्विना स्वात्मधारणपोषणादिकमलभमाना** इति । अदर्शने चानिष्पन्नयोगावस्थत्वात् । यद्यमी मत्साक्षात्कारात्पूर्वमल्पं कालं लोचने मीलयित्वा सहेरन्, तदाऽहमपि तादृशीं तेषामवस्थां सहेयापि, नत्वेते तथेत्यभिप्रायेणोक्तं- **क्षणे**त्यादि । 'त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम्' [भाग.१०।३१।१५] इत्यादिकमिह भाव्यम् । अदर्शनदुःखस्य च चरमावस्थोच्यते **प्रशिथिलसर्वगात्रा भवेयु**रिति । स्वविश्लेषपरिक्लिष्टानामुज्जीवनाय प्रवृत्तस्य क्रमाद्भक्तानुभाव्याकारा उच्यन्ते **मत्स्वरूपचेष्टितावलोकनालापादिदानेने**ति । नह्यपवर्गसुखादिवदवतारमन्तरेण स्वसङ्कल्पमात्रेणैव तद्दातुं शक्यमिति भावः ।

'परित्राणाय' इत्यत्रोपसर्गेण विविधानिष्टनिवृत्तिपूर्वकविविधेष्टप्राप्तिः सूचितेत्यभिप्रायेण **मन्नामगुणकर्मे**त्यादिकं **धारणे**त्यादिकं **स्वरूपचेष्टिते**त्यादिकं चोक्तम् । स्वरूपमत्र विग्रहः । एवं साधूनामान्तरभयात्परित्राणमुक्तम्; अथ तेषामेव बाह्यभयात्परित्राणमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह **तद्विपरीतानां विनाशाय चे**ति । चकारोऽन्वाचयार्थः । इदमप्युक्तमन्तरादित्याधिकरणभाष्ये 'साधवो ह्युपासकाः, तत्परित्राणमेवोद्देश्यम्; आनुषङ्गिकस्तु दुष्कृतां विनाशः, सङ्कल्पमात्रेणापि तदुपपत्तेः' इति । भागवतानामपराधो हि दुष्कृत्त्वकाष्ठेत्यभिप्रायेण **तद्विपरीताना**मित्युक्तम् । 'रिपूणामपि वत्सलः' 'मच्छरैस्त्वं रणे शान्तस्ततः पूतो भविष्यसि' इतिवद्दुष्कृतामपि विनाशो नात्यन्तविनाशः; किन्तु, वैपरीत्यहेतुभूतराक्षसप्रभृतिशरीरग्रन्थ्यादिविनिवर्तनम्; तन्निवृत्तौ च तेषामपि धार्मिकत्वं सम्भवेदिति सोऽपि धर्मसंस्थापनपर्यवसितः । मच्छेषभूतमाराधनं मयैव हि स्थापनीयमित्यभिप्रायेण **मदाराधनरूपस्ये**त्युक्तम् । अनुष्ठानमुखेनोपदेशमुखेन च धर्मप्रवर्तनं व्यासादिद्वाराऽपि शक्यम्; आराध्यरूपप्रदर्शनेन भक्त्युत्पादनमवतारासाधारणप्रयोजनम्; परश्शतपरुषवादी जन्मत्रयशत्रुः शिशुपालोऽपि हि कृष्णदर्शनेन प्रीतिमान्भूत्वा मुक्तिं गत इत्यभिप्रायेण **आराध्यस्वरूपप्रदर्शनेने**त्युक्तम् । 'रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणाम्' [वा. रा. २।३।२९] इत्यादि च भाव्यम् । एतेन धर्मस्य सम्यक्स्थापनं हि स्वपर्यन्ततया स्थापनमित्युक्तं भवति । 'युगे युगे' इति वीप्सातात्पर्यं व्यनक्ति **कृतत्रेतादी**ति । न तु प्रतियुगमवश्यं सम्भवामि, नापि युगविशेषनिर्बन्ध इति भावः ॥ ८ ॥

५ आ. मा. भा.—॥ ७ ॥ न जन्मनैव परित्राणादि कार्यमिति नियमः । तथापि लीलया स्वभावेन च यथेष्टचारी । तथा ह्युक्तम्-'देवस्यैष स्वभावोऽयम्' । 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' [ब्र.सू.२।१।३३] 'क्रीडतो बालकस्येव चेष्टां तस्य निशामय' । "अरिभयादिव स्वयं पुराद्व्यवात्सीद्यदनन्तवीर्यः । पूर्णोऽयमस्यात्र न किञ्चिदाप्यं तथापि सर्वाः कुरुते प्रवृत्तीः । अतो विरुद्धेषुमिमं वदन्ति परावरज्ञा मुनयः प्रशान्ताः" इत्यादि ऋग्वेदखिलेषु ॥ ८ ॥

६ ज. प्र. दी.- ॥ ७ ॥ 'परित्राणाय साधूनां' इति साधुपरित्राणादिकं भगवदवतारस्य प्रयोजनमुक्तम्, तत्र किं जन्मनैव परित्राणादिकं कार्यमिति नियमः ? इत्यपेक्षायामाह— **नेति** । जन्मना विनाऽपि कर्तुं समर्थत्वादिति भावः । तर्हि किमर्थं

जन्मेत्यत आह— तथापीति । यथेष्टचारी इच्छयैव तथा चरति, तथेच्छैव किमर्था ? इत्यत उक्तम्— लीलयेति । लीलाप्यालस्यपरिहारार्थ्यर्था न भवतीत्यत उक्तम्— स्वभावेन चेति । अत्रैव प्रमाणान्याह— तथा हीति । अयमेष इयमिच्छा । अत्र प्रवृत्तिषु विरुद्धेषु लोकविपरीतेच्छुम् ॥ ८ ॥

७ ह. पै. भा.— तच्च जन्म कदा किमर्थं च ? इत्यत्रोच्यते— यदा यदा यस्मिन्यस्मिन्काले धर्मस्य प्राणिनामभ्युदयस्य निःश्रेयससाधनस्य ग्लानिर्भवति । अधर्मस्य यदाऽभ्युत्थानमुद्भवो भवति तदाऽहमात्मानं सृजाम्युत्पत्स्यामीति ॥ ७ ॥ किमर्थं ? इत्यत्राऽऽह— परित्राणायेति । युगे युगे प्रतियुगम् ॥ ८ ॥

८ वे. व्र. गि.— स्यादेतत् । जीवस्य मम कर्मपरतन्त्रतया तत्कालपरिपाचितं तत्कर्म खलु भोगार्थं तस्मिन्काले तस्मै प्रयोजनाय तज्जन्मेति व्यवस्था युज्यते । तव तु अकर्मपरतन्त्रस्यावाप्तसमस्तकामस्य च परमेश्वरस्य कस्मिन्काले कस्मै च प्रयोजनाय जन्म भविष्यति ? तथा च 'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव च' [ ४।५ ] इति मद्दृष्टान्तेन तव बहुजन्मोक्तिः कथं ? इत्याशङ्क्य,अवतारेषु कालं प्रयोजनं चाह द्वाभ्याम्— यदा यदेति । न जीवस्येव ममावतारे कालनियमोऽस्ति; किन्तु यदा यदा धर्मस्य वेदविहितस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्षणस्य ग्लानिर्हानिर्भवति, यदा यदा च अधर्मस्य वेदनिषिद्धस्य अभ्युत्थानमुद्भवो भवति, तदाऽऽत्मानं देहं सृजाम्यहमेव स्वेच्छया । न तु कर्मणस्तत्र कारणत्वेनावप्रवेशोऽस्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥ तत्किं धर्मस्य हानिरधर्मस्य च वृद्धिस्तव परितोषकारणं येन तस्मिन्नेव काले त्वमाविर्भवसि ? इत्यर्जुनस्य सविनोदाशङ्कायाम् , नेत्याह— परित्राणायेति । धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामीति प्रथमं सम्बन्धः । कथं धर्मस्य संस्थापनम् , स्थूणादेरिव मूर्तत्वाभावात् ? तत्राह— परित्राणाय साधूनामिति । धर्मवर्तिनः साधवः, तेषां परित्राणाय । कथं तेषां परित्राणम् ? तत्राह— विनाशायेति । दुष्टं कर्म कुर्वन्तीति दुष्कृतः पापिष्ठाः, तेषां वधेन साधुषु परिरक्षितेषु धर्मः स्थिरीकृतो भवतीतीदमेव धर्मसंस्थापनम्; एतदेवावतारप्रयोजनमित्यर्थः । युगे युगे इति । कृतत्रेतादियुगनियमोऽपि नास्ति, किन्तु धर्महान्यधर्मवृद्धिकाल एवावतारकाल इति नियम इत्यर्थः ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— कदा किमर्थं सम्भवसीत्यपेक्षायां स्वप्रादुर्भावकालमाह— द्वाभ्याम्— यदा यदा हीति । परित्राणायेति । साधूनां धर्मवतां परित्राणाय तत्प्रतिपक्षाणां दुष्कृतां दुष्टं कर्म कुर्वतां विनाशाय च युगेयुगे सम्भवामि । न चात्रावतारकालनियम इत्येतदर्थं यदा यदा युगेयुगे इत्युक्तम्; नचैवं दुष्टनिग्रहं कुर्वतोऽपि वैषम्यं शङ्कनीयं; यथा चोक्तं-'लालने ताडने मातुर्नाकारुण्यं यथाऽर्भके । तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः' इति ॥ ७ ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— एतदेव प्रकटयति— यदा यदेति । हे भारत ! यदा यदा धर्मस्य मद्भक्त्यादिरूपस्य ग्लानिः सङ्कोचो भवति । अधर्मस्य ज्ञानादिनाशकस्याभ्युत्थानमुत्पत्तिर्भवति । हीति निश्चयेन । तदा आत्मानं लीलोपयोग्याञ्जीवान् ज्ञानोपयोग्यांश्चाहं सृजामि । भारतेति सम्बोधनाद्यथेदानीं धर्मरक्षार्थं त्वं सृष्टोऽसीति ज्ञाप्यते । 'आत्मानं' इत्यत्रैकवचनं मुख्यात्माभिप्रायेण वा ॥ ७ ॥ एवं धर्मार्थं जीवान् सृष्ट्वा तेषां रक्षणार्थं चाहं प्रकटो भवामीत्याहुः— परित्राणायेति । साधूनां भक्तानां परित्राणाय, दुष्कृतां धर्मप्रतिपक्षिणां नाशाय, धर्मसंस्थापनाय ज्ञानकर्माश्रमादिरूपस्य सम्यक्प्रकारेण स्थापनाय युगे युगे सम्भवामीति । सम्यक्प्रकारेण भवामि प्रकटो भवामि; न जीववद्भवामि ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— कदा सम्भवसि ? इत्यपेक्षायामाह—यदेति । ग्लानिर्ह्रासः । अभ्युत्थानं वृद्धिः ॥७॥ किमर्थमात्मानं मायया सृजसि ? इत्यत आह— परित्राणायेति । दुष्कृतां दुष्टं कर्म कुर्वतां पापिनाम् । सम्भवामि आविर्भवामि ॥ ८ ॥

भगवदवतारज्ञानस्य मोक्षोपयोगित्वम् ।

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।**
**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ! ॥ ९ ॥**

---

१ वामनस्तु श्लोकमिमं-

श्रुत्वाऽवतारग्रहणकारणानि हरेर्मुखात् । त्रीण्यपीन्द्रात्मजः शङ्कां मनस्येवमबीभरत् ॥
परित्राणं हि साधूनां दुष्कृतां च विनाशनम् । संस्थापनं च धर्मस्य किमस्य कठिनं प्रभोः ॥ —

१ शां. भा.—जन्मेति । तज्जन्म मायारूपं, कर्म च साधुपरित्राणादि, मे मम दिव्यमप्राकृतमैश्वरमेवं यथोक्तं यो वेत्ति तत्त्वतस्तत्त्वेन यथावत्त्यक्त्वा देहमिमं पुनर्जन्म पुनरुत्पत्तिं नैति न प्राप्नोति, मामेत्यागच्छति, स मुच्यते हेऽर्जुन ! ॥ ९ ॥

२ आ. शां. व्या.—मायामयमीश्वरस्य जन्म, न वास्तवं; तस्यैव च जगत्परिपालनं कर्म, नान्यस्येति जानतः श्रेयोवाप्तिं दर्शयन्विपक्षे प्रत्यवायं सूचयति—तज्जन्मेत्यादिना । यथोक्तं मायामयं कल्पितमिति यावत् । वेदनस्य यथावत्त्वं वेद्यस्य जन्मादेरुक्तरूपानतिवर्तित्वम् । यदि पुनर्भगवतो वास्तवं जन्म साधुजनपरिपालनादि चान्यस्यैव कर्म क्षत्रियस्येति विवक्ष्येत तदा तत्त्वापरिज्ञानप्रयुक्तो जन्मादिः संसारो दुर्वारः स्यादिति भावः ॥ ९ ॥

३ रा. भा.—एवं कर्ममूलभूतहेयत्रिगुणप्रकृतिसंसर्गरूपजन्मरहितस्य सर्वेश्वरत्वसार्वज्ञ्यसत्यसङ्कल्पत्वादिसमस्तकल्याणगुणोपेतस्य साधुपरित्राणमत्समाश्रयणैकप्रयोजनं दिव्यमप्राकृतं मदसाधारणं मम जन्म चेष्टितं च तत्त्वतो यो वेत्ति, स वर्तमानं देहं परित्यज्य पुनर्जन्म नैति, मामेव प्राप्नोति; मदीयदिव्यजन्मचेष्टितयाथात्म्यविज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपाप्माऽस्मिन्नेव जन्मनि यथोदितप्रकारेण मामाश्रित्य मदेकप्रियो मदेकचित्तो मामेव प्राप्नोति ॥ ९ ॥

४ वे. ता. चं.—प्रासङ्गिकस्यावतारयाथात्म्यकथनस्य परमप्रकृतमोक्षोपयोगित्वमुच्यते—जन्म कर्म इति श्लोकेन । एवमिति—' अजोऽपि ' [ ४।६ ] इत्यादिनोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । ' दिव्यं ' इत्यस्यैवार्थः अप्राकृतमिति । मदसाधारणमित्यनेन "बहु स्यां प्रजायेय" [ छां. उ. ६।२।३ तै. आ. ६।२ ] इत्युक्तजन्मव्यवच्छेदः । वह्न्यौष्ण्यवद्धर्मिग्राहकप्रमाणसिद्धः पदार्थान्तरेष्वदृष्टश्च प्रकारो न तर्कबाध्य इति भावः । 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्' इत्युक्ते जन्मवत्तद्धेतुभूतं पुण्यमपि किमस्ति ? इति शङ्काव्युदासाय चेष्टितमिति व्याख्यातम् । तत्त्वत इति—संशयविपर्ययरहितमित्यर्थः । 'देहं परित्यज्य' इत्युक्ते प्रारब्धकर्मपर्यवसानदेहं परित्यज्येति साधारणप्रतीतिः स्यात्, तद्व्यवच्छेदाय–वर्तमानदेहं परित्यज्येत्युक्तम् । एतच्च 'यो वेत्ति स पुनर्जन्म नैति' इति वेदितृत्वावस्थापेक्षया पुनर्जन्मप्रतिषेधात्फलितम् । 'पुनर्जन्म नैति' इत्यनेन विरोधिनिवृत्तिरुच्यते; 'मामेति' इतीष्टप्राप्तिः । न केवलं विरोधिनिवृत्तिमात्रेण स्वात्मानन्दानुभवमात्रम्, अपित्ववताररहस्यज्ञानवान्मामेव प्राप्नोतीत्यवधारणार्थः । ननु वर्तमानदेहं परित्यज्येत्याद्ययुक्तम्, प्रारब्धकर्मावसाने हि मोक्षः शारीरके निर्णीतः; प्रारब्धस्य च कर्मणः कियन्ति जन्मानि साध्यानीति न नियमः; व्यासादिष्वनियमदर्शनात् । न च जन्मकर्मज्ञानमात्रान्मोक्षः, दीर्घकालनैरन्तर्यादरसेवनीयदुष्करतरकर्मज्ञानानुगृहीतोपासनशास्त्रार्थनैरर्थक्यप्रसङ्गादित्यत्राह—मदीयेति । दिव्यजन्मचेष्टितज्ञानेनोपासनविरोधिनां समस्तानां पापानां निवृत्तत्त्वादस्मिन्नेव जन्मनि जन्मान्तरारम्भकपापांशप्रशमनसमर्थपुष्कलोपासननिष्पत्तेर्न जन्मान्तरपरिग्रहः । स्मरन्ति च 'विनिष्पन्नसमाधिस्तु मुक्तिं तत्रैव जन्मनि' [वि.पु.६।७।३५] इति । एवं चोपासनपौष्कल्यहेतुतयाऽस्याभिधानात् परम्परया मोक्षसाधनत्वमिति नोपासनशास्त्रवैयर्थ्यमिति भावः । यथोदितप्रकारेण मामाश्रित्येति पुष्कलध्यानावस्थोच्यते । मदेकप्रिय इति तु भक्तिरूपापन्नतोक्तिः । अहमेक एव प्रियः प्रीतिविषयो यस्य स मदेकप्रियः 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्' [ ७।१७ ] इति वक्ष्यते । एतेन पुरुषार्थान्तरनिष्ठव्यवच्छेदः । मदेकचित्त इति समाध्यवस्था । मय्येकस्मिन्नेव चित्तं यस्य स मदेकचित्तः ॥ ९ ॥

— यस्य सङ्कल्पमात्रेण ब्रह्माण्डानि सहस्रशः । समुद्भवन्त्यद्भुतानि क्षयमृच्छन्ति च क्षणात् ॥
मायासूत्रेण सर्वेषां धियो यो नर्तयत्यपि । कर्तुं त्रीण्यपि कर्माणि प्रयासस्तस्य कः परः ? ॥
यस्यायुधं जाग्रति कालचक्रं युद्ध्येत दैत्यैः स मुधा किमर्थम् ? ।
सङ्कल्पमात्रेण च यः क्षिणाति ब्रह्माण्डकोटीः स कथं प्रयस्येत् ? ॥
इति शङ्काकुलो यावत्पिपृच्छिषति फाल्गुनः । धीसाक्षी भगवांस्तावत्स्मयञ्श्लोकमुदैरिरत् ॥
इत्यवतार्य एवं निगमयति—
मुख्यं तु कारणमिदमवतारे ममार्जुन ! । यज्जन्मकर्मनिर्मग्नजीवदुःखनिवारणम् ॥
उपायान्तरमन्यत्र कर्तुं शक्नोमि पाण्डव ! । जीवानां दुःखसंसाररोगे त्वेतन्महौषधम् ॥
शमनं भवबाधाया नास्त्येवान्यत्सुभेषजम् । समूलकाषं कषति मच्चरित्रकथा त्विमाम् ॥
कथारसं वर्द्धयन्ति हेतवश्च मयोदिताः । तानब्रवमतो वक्तुमेतदेव प्रयोजनम् ॥—इत्यादि । —अविगीता ।

५ आ. मा. भा.— पृथङ्मुक्त्युक्तिर्हि सर्वज्ञानि-(न)-नियमदर्शनार्थम्। न तु तावन्मात्रेण मुक्तिरित्युक्तम् [ ३।२० ]। 'वेदाद्युक्तं तु सर्वं यो ज्ञात्वोपास्ते सदा हि माम्। तस्यैव दर्शनपथं यामि नान्यस्य कस्यचित्' इत्युक्तेश्च महाकौर्मे। अत्रोक्तस्यैतज्ज्ञात्वैव जन्म नैतीति गतिः। इतरवाक्यानां नान्या गतिः। नान्यस्य कस्यचिदिति विशेषणात्, तत्त्वत इति विशेषणाच्च सर्वं ज्ञानमापतति। यत्रैवं भवति तत्र तत्त्वत इति विशेषणे न विरोधः। उक्तं च–' एकं च तत्त्वतो ज्ञातुं विना सर्वज्ञतां नरः। न समर्थो महेन्द्रोऽपि तस्मात्सर्वत्र जिज्ञसेत्' इति स्कान्दे ॥ ९ ॥

६ ज. प्र. दी.— जन्म कर्म चेति। भगवज्जन्मादिज्ञानमात्रेण मुक्तिरुच्यत इति प्रतीतिनिरासायाह— **पृथगिति**। एकदेशज्ञानेनेत्यर्थः। दर्शनार्थमुपलक्षणार्थम्। यथाप्रतीत एवार्थः किं न स्यात्? इत्यत आह— **न त्विति**! उक्तं तृतीये। प्रमाणान्तरं चाह— **वेदादीति**। वाक्यत्वाविशेषादेतस्य गीताबाधकत्वं कुतः? इत्यतः सावकाशत्वनिरवकाशत्वाभ्यामित्याह— **अत्रेति**। अयोगव्यवच्छेदमात्रपरत्वमित्यर्थः। एतच्च पूर्वोक्तादर्थान्तरमिति ज्ञेयम्। इतरवाक्यान्यधिकारिविशेषापेक्षया सावकाशानीति कुतो नान्या गतिः? इत्यत आह— **नेति**। विशेषणात् पक्षान्तरव्यवच्छेदात्। इतोऽप्यत्र सर्वज्ञानमङ्गीकार्यमित्याह— **तत्त्वत** इति। 'आपतति' इत्यनेनार्थापत्तिमभिप्रैति। एतमेव न्यायमन्यप्राप्यमतिदिशति— **यत्रेति**। एवं भवति— सर्वज्ञाने प्रमितेऽप्येकदेशज्ञानोक्तिर्भवति। तत्त्वतो ज्ञानं कथं सर्वज्ञतामाक्षिपतीत्यत आह— **उक्तं चेति**। जिज्ञसेत् जिज्ञासेत। अन्यत्रापि 'एको भावस्तत्त्वतो येन दृष्टः सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन दृष्टाः' इति। सर्वत्र सार्वज्ञं यथाशक्ति विवक्षितमित्यवधेयम् ॥ ९ ॥

७ ह. पै. भा.— जन्मेति। जन्म मायारूपं कर्म च धर्मसंस्थापनार्थाय कंसवधादिरूपं दिव्यमप्राकृतमैश्वर्यं यो वेत्ति तत्त्वतो यथावद्देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म न गच्छति, किन्तु मामेवैति प्राप्नोति, मुच्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

८ वें. ब्र. गि.—एवं 'बहूनि मे व्यतीतानि' [४।५] इत्यारभ्योक्तस्य भगवदवतारस्वरूपस्य ज्ञाने फलमाह— **जन्मेति**। एवमुक्तरीत्या दिव्यमलौकिकं मे मम जन्म अप्रच्युतज्ञानैश्वर्यादिशक्तिकं अतिविशुद्धसत्त्वमयस्वमायाविलसितदिव्यमङ्गलशरीरग्रहणरूपं जन्म, तथा दिव्यं कर्म दुष्टशिक्षणसाधुरक्षणरूपम्— चकाराद्धर्मसंस्थापनरूपं प्रयोजनं च— यः तत्त्वतो वेत्ति स वर्तमानं देहं परित्यज्य पुनर्जन्म नैति, किन्तु मामेव प्राप्नोति। मदीयदिव्यजन्मकर्मयाथार्थ्यविज्ञानध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपापः अस्मिन्नेव जन्मनि मामाश्रित्य मदनुग्रहावाप्ततत्त्वविज्ञानो मामेव परमेश्वरमुपैतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

व०त०दी०—किञ्च उत्पत्तिस्त्रिधा। यथोक्तं वैष्णवतन्त्रे 'अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः। नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा' इति। अतो न ममायं सम्भवः प्राकृतस्येव कर्म वा मायिकं, किन्त्वैच्छिकं दिव्यमित्याशयेन स्वजन्मकर्मणां ज्ञाने फलमाह—जन्मकर्मेति। जन्मन इह प्रादुर्भावार्थकत्वाद्दिव्यत्वं; किं पुनर्वपुषः? कर्म च तथा दिव्यमलौकिकं, तत्त्वतो यो वेत्ति सोऽपि जन्मफलं प्राप्य प्राकृतं देहं त्यक्त्वाऽर्थादलोकसम्बन्धिसच्चिदानन्दमयस्वरूपं प्राप्य पुनर्जन्म नैति; किन्तु मामेतीत्यर्थः।

अत्र केचित् जन्ममूलदेहस्य भगवति प्राकृतत्वमभ्युपगच्छन्ति, तदसत्; तत्र देहदेहिविभागाभावात्। पाञ्चभौतिकत्वजन्यत्वनियमस्य प्राकृतविषयत्वादप्राकृते यथाश्रुतीच्छाविषयत्वेन तत्सिद्धिः। अन्यथा ज्ञानेच्छादीनामनित्यत्वनियमान्नित्यज्ञानादिकमपि वाद्यभिमतं न तत्र सिद्ध्येत्। ननु ज्ञानादिभिरेव जगत्कर्तृत्वोपपत्तौ प्रत्यक्षबाधाच्च किमित्यानन्दमयदेहोऽभ्युपेयः? इति चेत्, न; कर्तृत्वनिर्वाहार्थमेव व्याप्तिबलेन नित्यज्ञानवत्तथाविधदेहस्वीकारात्, नित्यापरिच्छिन्नतनोः प्राकट्यस्यैव जन्मत्वेन जन्यत्वाभावात्। "आनन्दाद्ध्येव नित्यं" "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [बृ. उ. ३।९।२८] "स यथा सैन्धवघनः" [बृ.उ. ४।५।१३] 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' [ब्र. सू. १।१।१२] आह च 'तन्मात्रं आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः' इत्यादिश्रुतिन्यायपुराणवाक्यैः पूर्ण एव देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण[illegible]स्वरूप एव सदानन्दरूपो ज्ञानरूपः पुरुषोत्तमः, नत्वात्ममात्रमिति निर्बाधमुपैहि। ननु तथाप्यानन्दत्वदेहवत्त्वयोर्विरोध इति चेत्, न; स्वस्वाधिकरणे प्रमाणैरेकत्रोभयोः सिद्ध्यसिद्धिभ्यां वा विरोधाभावात्। तथाप्यानन्दस्य धर्मिरूपत्वे कथं धर्मरूपत्वम्? इति चेत्, न; "स यथा सैन्धवघनः" "यः सर्वज्ञः" [मुं.उ.१।९] इति श्रुतिभ्यां ज्ञानरूपत्वज्ञानाधारवदानन्दरूपत्वतदाधारत्वयोरविरोधात्। विरुद्धधर्माश्रयत्वाच्चानन्दादिमत्त्वमिति दिक्।

एतेन यस्तत्र परिदृश्यमानरूपः स एव साक्षात्स्वेच्छातनुरानन्दमयः पुरुषोत्तमो नान्य इति यथाभूतार्थोपदेष्टृभगवद्वाक्यादवसेयम् । 'पुरुषोत्तम एवायं स्वैश्वर्याद्यक्षरात्मकम् । विरुद्धधर्माश्रयणं स्वीयविश्वासपूर्त्तये ॥ क्वचित् क्वचिद्दर्शयति प्रभुर्गोपालनन्दनः । निगमप्रतिपाद्यात्मदृश्यमानवपुर्हरिः ॥' विशेषस्तूत्तरत्र स्पष्टीभविष्यति ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— तदेव विवृण्वन्ति— जन्म कर्म चेति । मे जन्म प्राकट्यं, कर्म क्रिया, दिव्यं क्रीडात्मकम् । अहं लीलार्थं प्रकटो भवामीत्यर्थः । लीलायां क्रियमाणायां कालीयदमनादिरूपकर्मभिः साधूनां भक्तानां रक्षा भवतीति भावः । यतो मत्प्राकट्यं क्रीडार्थं तत एवं यो वेत्ति स तत्त्वतो देहं त्यक्त्वा लीलायां सेवार्थसृष्टदेहेन सेवां कृत्वा तदसामर्थ्ये देहं त्यक्त्वा हे अर्जुन ! पुनर्जन्म लौकिकं पूर्ववन्नैति न प्राप्नोति । मामेति मां प्राप्नोति । प्रकर्षेणाप्नोति अलौकिकदेहेन लीलायामिति भावः । अत एव मामित्युक्तं, न तु मत्पदं मद्भावं वा एतादृशस्य दुर्लभत्वात्स इत्येकवचनमुक्तम् ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— जन्म मायामयं, कर्म साधुत्राणं, दिव्यं अप्राकृतं, यो वेत्ति स त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म न प्राप्नोति; किन्तु मामेति मामेव प्राप्नोति । एतेन भगवतो जन्मानि कर्माणि च भगवत्प्राप्तिकामेन गेयानीति दर्शितम् ॥ ९ ॥

मोक्षोपायत्वे पूर्वप्रमाणम् ।

**वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।**
**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥ १० ॥**

**१ शां. भा.— नैष मोक्षमार्ग इदानीं प्रवृत्तः; किं तर्हि ? पूर्वमपि— वीतरागेति । वीतरागभयक्रोधाः रागश्च भयं च क्रोधश्च, वीता विगता येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधा मन्मया ब्रह्मविद ईश्वराभेददर्शिनो मामेव च परमेश्वरमुपाश्रिताः, केवलज्ञाननिष्ठा इत्यर्थः । बहवोऽनेके ज्ञानतपसा ज्ञानमेव च परमात्मविषयं तपस्तेन ज्ञानतपसा पूताः परां शुद्धिं गताः सन्तो मद्भावमीश्वरभावं मोक्षमागताः समनुप्राप्ताः । इतरतपोनिरपेक्षज्ञाननिष्ठा इत्यस्य लिङ्गं 'ज्ञानतपसा' इति विशेषणम् ॥ १० ॥**

२ आ. शां. व्या.— सम्प्रति प्रस्तुतमोक्षमार्गस्य नूतनत्वेनाव्यवस्थितत्वमाशङ्क्य परिहरति— **नैष** इति । मन्मयत्वस्य मद्भावगमनेनापौनरुक्त्यं दर्शयति— **ब्रह्मविद** इति । आत्मनो भिन्नत्वेन भिन्नाभिन्नत्वेन वा ब्रह्मणि वेदनं व्यावर्तयति— **ईश्वरे**ति । अभेददर्शनेन समुच्चित्य कर्मानुष्ठानं प्रत्याचष्टे— **मामे**वेति । तदुपाश्रयत्वमेव विशदयति— **केवले**ति । 'मामुपाश्रिताः' इति केवलज्ञाननिष्ठत्वमुक्त्वा 'ज्ञानतपसा पूताः' इति किमर्थं पुनरुच्यते ? तत्राऽऽह— **इतरे**ति ॥ १० ॥

१ अत्र **वामन**स्त्वाह—

आत्मस्वरूपं विदुषो धनञ्जय ! ज्ञस्यैतदेवोक्तमनुत्तमं तपः । यद्दिव्यभावं मम जन्मकर्मणां ज्ञात्वा विधत्ते श्रवणं सकीर्तनम् ॥
इदं किल**ज्ञानतपो**ऽभिधीयते भूयान् प्रभावोऽस्य तथाऽद्भुतो मतः। हिनस्ति तूर्णं यदनादिवासनां मूलं महद्या प्रथिताखिलांहसाम् ॥
कथञ्चिदावेशिकमात्रमंहो यस्य प्रणश्येत्स भवेत्पवित्रः । किं त्वस्ति मूलं वृजिनस्य यावत्सा वासनाऽऽप्नोति परं न तावत् ॥
अतो वक्त्ररविन्दाक्षो ये ज्ञानतपसा भृशम् । पूतास्ते न पुनर्यान्ति गर्भवासमिति स्फुटम् ॥
**मद्भावमाप्ता** मद्रूपधरा वैकुण्ठवासिनः । जीवन्त एव वा मुक्त्या मद्भक्त्या च समन्विताः ॥
मुक्तिः सत्यात्मविज्ञाने भवेद्यद्यपि जीवतः । कामक्रोधौ भयं चास्ति यावत्तावन्न सा स्थिरा ॥
ये ज्ञानतपसा पूताः कामक्रोधभयं द्रुतम् । तेषां विलीयते दिव्यात्तपसोऽस्यानुभावतः ॥
कामो हि यस्य सुमतेः सकलो विलीनो नैवास्ति यस्य विषयेष्वनुरागलेशः ।
स्यात्साध्वसं जगति तस्य कुतः प्रतीतं ? क्रोधोऽपि वा किमिति तस्य भवेदुदीर्णः ? ॥
एवंविधा **वीतरागभयक्रोधाः** प्रकीर्तिताः। जीवन्मुक्तदशा चापि तेषामेवैव निश्चिता ॥
निदानमत्र विश्वात्मबोध एव परं मतम् । तत्रापि भगवज्जन्मकर्मणां भजनं भृशम् ॥
एतदेवाभिसन्धाय **मन्मया मामुपाश्रिताः** । इति प्रायुङ्क्त भगवान्विशेषणपदद्वयम् ॥ इति । —**अविगीता** ।

**३ रा. भा.— तदाह— वीतरागेति । मदीयजन्मकर्मतत्त्वज्ञानाख्येन तपसा पूता बहव एवं संवृत्ताः । तथाच श्रुतिः " तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम् " इति । धीराः धीमतामग्रेसराः; एवं तस्य जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥**

**४ वे. ता. चं.**— उपासनवैयर्थ्यमित्यादिशङ्कोत्तरत्वेन योऽयमर्थ उक्तः, अयमेव ' वीतराग– ' इति श्लोकेनोच्यत इत्याह— **तदाहेति**; तदेव पूर्वप्रस्तुतं ज्ञानमिह ' ज्ञानतपसा ' इत्युच्यते । ' मन्मया मामुपाश्रिताः ' इति तु परम्परया तत्साध्यज्ञानमित्यभिप्रायेणाह— **मदीयेति** । अस्य श्लोकस्य पूर्वश्लोके व्याख्यातप्रायत्वात् **एवं संवृत्ता** इति सङ्ग्रहेणोक्तम् । तथाहि ' ज्ञानतपसा पूताः ' इत्यस्यार्थो **मदीयेत्यारभ्य पाप्मा** इत्यन्तेन प्रपञ्चितः । ' मामाश्रित्य ' इत्यनेन ' मामुपाश्रिताः ' इत्यस्यार्थ उक्तः । ' मदेकप्रियः' इत्यनेन 'वीतरागभयक्रोधाः' इत्यस्यार्थोऽभिप्रेतः, विषयान्तरेषु प्रीतिर्हि रागः; तद्विरोधिषु निरसनेच्छा क्रोधः; आगामीष्टविरोध्यनिष्टागमोत्प्रेक्षा भयम् । तदेतदखिलमपि न वासुदेवभक्तानामस्ति, तदेकप्रियत्वेन विषयान्तरे रागाभावात्, तत एव तन्मूलक्रोधाभावात्, तल्लाभालाभव्यतिरिक्तेष्टानिष्टाभावेन भयाभावाच्च । इदं च 'न क्रोधो न च मात्सर्यम्' [म.भा. १३।१४९।१३४ ] इत्यादिषु प्रसिद्धम् । ' मदेकचित्तः ' इति 'मन्मयाः' इत्यस्यार्थः । ज्ञानविषयभूतेन मया प्रचुरा मन्मयाः, तादात्म्यविकारार्थयोरत्रानुपपन्नत्वात्; अन्तर्यामित्वविवक्षायां तस्य सर्वसाधारणत्वाच्च । 'मन्मयाः' इत्यत्र 'ईश्वराभेददर्शिनः' इति **शङ्करोक्तं** शास्त्रोपक्रमादिविरोधाच्छब्दस्य चावाचकत्वाच्च निरस्तम् । 'मामेव प्राप्नोति' इत्यनेन 'मद्भावमागताः' इत्यस्यार्थो दर्शितः । मुक्त्यवस्थायामपि तादात्म्यस्य श्रुतिस्मृतितदर्थापत्तिसूत्रादिविरुद्धत्वात्, अत्रापि ' मामेति सोऽर्जुन !' [४।९] इति कर्मकर्तृव्यपदेशात्, 'मम साधर्म्यमागताः' [ १४।२ ] इति परस्ताद्वक्ष्यमाणत्वाच्च, 'मद्भावमागताः' इत्यस्य मत्स्वभावमपहतपाप्मत्वादिकं प्राप्ता इत्यर्थः । यद्वा "ब्रह्मैव भवति" [ मुं.उ. ३।२।९ ] इत्यादाविवात्यन्तसाम्यात्तद्व्यपदेशः । अवताररहस्यस्य च ज्ञातव्यत्वे श्रुतिरप्यस्तीत्याह **तथा चेति** । उक्तार्थसंवादित्वं विवृणोति **धीमतामग्रेसरा** इत्यादिना । एवं धीरशब्दनिर्वचनेन प्रागुक्तभगवत्प्राप्तिपर्यन्ताभङ्गुरज्ञानवत्त्वमुक्तं भवति । 'परिजानन्ति' इत्यत्रोपसर्गेण पूर्वोक्तयथावस्थितप्रकारोऽभिप्रेत इति ज्ञापनाय **एवं तस्य जन्मप्रकारं जानन्तीत्युक्तम्** । 'धीमतामग्रेसरा एव' इति पाठे तु विशेषविधेः शेषनिषेधः फलित इति भावः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.— सन्ति च तथा मुक्ता इत्याह— वीतरागेति । मन्मयाः मत्प्रचुराः सर्वत्र मां विना न किञ्चित्पश्यन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥**

**६ ज.प्र.दी.**– किं चोत्तरश्लोकेऽधिकानुवादान्नात्रैतावन्मात्रं विवक्षितमिति भावेन तात्पर्यमाह--**सन्ति चेति** । तथोक्तज्ञानेन आह– श्रद्धोत्पादनार्थमिति शेषः । मन्मया मदात्मका इति प्रतीतिनिरासार्थमाह– **मन्मया** इति । सर्वेषां भगवान् प्रचुरः, को विशेषो ज्ञानिना ? इत्यत आह–**सर्वत्रेति** । सर्वेषु पदार्थेषु किञ्चित्सत्तादिकम् । मदायत्तमेव सर्वं पश्यन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.— नैष मोक्षमार्ग इदानीं प्रवृत्तः; किं तर्हि ? पूर्वमपि— वीतेति । मन्मया ब्रह्मविदो मामुपाश्रिता मामेव परमेश्वरमाश्रिताः । ज्ञानमेव तपस्तेन ज्ञानतपसा पूताः शुद्धाः । मद्भावमीश्वरभावमागताः, मुक्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥**

**८ वें.ब्र.गि.**–एतदेव विवृणोति-**वीतेति** । मां अखिललोकानुग्रहार्थं अवाप्तलीलामानुष्यं आश्रितजनसुलभमतिवेलकारुण्यं उपाश्रिताः एकान्तप्रेमलक्षणभक्त्याचरणमुपगताः, ततो मन्मयाः मदेकतानाः मां विना क्षणमात्रमपि प्राणधारणमलभमानाः, तत एव वीतरागभयक्रोधाः वीता विगता रागभयक्रोधा येभ्यस्ते तथोक्ताः । वीतरागता नाम ब्रह्मादिभिः स्वपददानेन प्रलोभ्यमानत्वेऽपि तत्तृणीकरणम् । तृणीकृतेभ्यस्तेभ्यः किं भविष्यति ? इति भयराहित्यं वीतभयत्वम् । ततः कुपितैस्तैर्बहुविघ्नैरुद्वेजितत्वेऽपि क्रोधशून्यत्वं वीतक्रोधत्वम् । एवं वीतरागभयक्रोधाः, तत एव ज्ञानतपसा पूताः 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' [ १०।१० ] इति वक्ष्यमाणरीत्या तद्वेदमसहमानेनैव मया प्रदत्तं यदात्मतत्त्वज्ञानं तदेव तपः, "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे" [ मुं. उ. २।२।८ ] इति सर्वदुरितक्षयहेतुत्वेनावगमात् 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' [ ४।३८ ] इति वक्ष्यमाणत्वाच्च । तेन ज्ञानतपसा पूताः शुद्धाः निरस्ताज्ञानतत्कार्यमलाः सन्तः मद्भावं मद्रूपत्वं प्राप्ता बहवः । न त्वधुनैव प्रवृत्तोऽयं मद्भक्तिमार्ग इत्यर्थः ।

अत्र च 'मद्भावमागताः' इत्यनेन 'मामेति' इति पूर्वश्लोकोक्तभगवत्प्राप्तिस्तद्भावापत्तिरूपैव; न तु देवदत्तस्य ग्रामप्राप्तिवत्तत्सम्बन्धरूपेति दर्शितम् । तेन च मोक्षप्रकरणे श्रूयमाणानां ब्रह्मप्राप्तिवचनानां ब्रह्मभावापत्तिरेवार्थ इति भगवतोऽभिप्रायो विज्ञायते । वक्ष्यते च स्वयमेव— 'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति' [ ५।२४ ] इति; श्रुतिरपि— "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" [बृ.उ.४।४।६+तै. आ.२।२+नृ.उ.५]

इत्यादिः । न च 'ज्ञानतपसा पूता जीवन्मुक्ताः सन्तो मद्भावमागताः मयि भावं प्रेमाणं प्राप्ताः' इति **मधुसूदन-सरस्वती**व्याख्यानं युक्तम्; 'मन्मयाः' इत्यनेनैव गतार्थत्वात्, अवतारस्वरूपज्ञानिनः फलप्रदर्शनपरेऽस्मिन् श्लोके ब्रह्मभाव-रूपमोक्षस्यैव पुरुषार्थस्य मद्भावशब्दार्थत्वौचित्येनातथाभूत-प्रेम्णस्तदर्थत्वायोगाच्चेति यथोदितो भाष्योक्त एवार्थः॥१०॥

९ व० त० दी०— किञ्च यद्यहं प्राकृतजन्मकर्मा तदा मदुपाश्रयान्न कोऽपि मुक्तः स्यात्; दृश्यन्ते तु मुक्ता इत्याह— वीतेति । मां पूर्णपुरुषोत्तममुपाश्रिता बहवो गोपीकंसचैद्यादयो अमुनाऽवतारेणैव, वीतशब्दोऽव्याप्तौ साङ्ख्ये सङ्केतितः, तथैव सूत्रं 'वीतनिवीतपरिचार्य्ये' इति । एवमाधिव्याप्तरागव्याप्तभयव्याप्तक्रोधव्याप्तास्तत्तदुपा-धिकभाववन्तोऽपि तत्तद्दोषशून्याः पूताः साक्षाद्वस्तुसामर्थ्यान्निर्दोषाः अतो ज्ञानेन कीटभृङ्गन्यायेन 'सोऽस्मि' इति भावनया अन्ये क्षात्राश्रितास्तपसा वा परेथ पूताः सन्तः तापेन च मन्मया मदाकारमज्जन्मादिना च ज्ञानरूपेण पूता वा प्रारब्धनिर्वाणसमये देहं प्राकृतं त्यक्त्वा लोकातिरिक्तां दिव्यां भागवतीं तनुं प्राप्ता इत्याशयेन मद्भा-वमागता इति तेषां स्वस्थितावागमनं वक्ति । एवं च बहवो मुक्ता मद्भावमागता दैवा आसुरा विवेकिनश्च निरूपिताः, न त्वधुना एवायं प्रवृत्तो मदाश्रयमार्ग इत्यर्थः । एतेन व्यापिवैकुण्ठे मुक्तजीवानां प्राकृतदेहेन्द्रि-यासुहीनानां दिव्यत्वं बहुत्वं च सूचितं; तेनान्ये एकदेशिकपक्षा व्यावर्त्तिताः ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— एवं भक्तानां स्वप्राप्तिं स्वप्राकट्यस्व-रूपज्ञानेनोक्त्वा ज्ञानेन द्वितीयायां स्वप्राप्तिस्वरूपमाहुः— **वीतरागेति**। बहवो ज्ञानतपसा ज्ञानयुक्तेन तपसा पूताः सन्तो मामुपाश्रिताः उप समीपे आगताः । आश्रयणमात्रमेव कृतवन्तः, न तु सेवादिकं; तादृशा मन्मया मद्रूपं सर्वत्र ज्ञान-रूपेण पश्यन्तस्तत्रैव लीना भूत्वा आगताः प्राप्तजन्मानो मद्भावं मोक्षं प्राप्नुवन्ति । कीदृशाः ? वीतरागभयक्रोधा ज्ञानप्रतिपक्षरहिताः ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०—एतस्यापि भगवत्प्राप्तेर्द्वारमाह— वीतेति । रागो विषयेषु प्रीतिः, भयं स्वोच्छेदा-शङ्का, क्रोधः स्वपरपीडाहेतुरभिज्वलनं, ते त्रयो वीताः येभ्यस्ते वीतरागभयक्रोधाः; अत एव मन्मयाः मदेक-प्रधानाः । किं जारिणी यथा जारमपि भर्त्तारं चाश्रिता योगक्षेमार्थं तद्वत् ? नेत्याह— मामुपाश्रिताः ज्ञानतपसा ज्ञानमयं तप आलोचनं मम जन्मकर्मणोः स्वरूपस्य च निरन्तरं चिन्तनम् । "यस्य ज्ञानमयं तपः *" [ मुं. उ. १।१।९ ] इति श्रुतिप्रसिद्धं ज्ञानतपः तेन पूताः सन्तो मद्भावं मत्तादात्म्यं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १० ॥

कर्मकर्तुरधिकारभेदेनैव तत्तत्फलप्राप्तिः, नेश्वरवैषम्यम् ।

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।**
**मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ ! सर्वशः ॥ ११ ॥**

---

* 'सत्त्वप्रधानमायाया ज्ञानाख्यो विकारस्तदुपाधिकं ज्ञानविकारं गृह्यमानसर्वपदार्थाभिज्ञत्वलक्षणं तपः, न तु क्लेशरूपम् । प्रजापतीनामिव' इति श्रुतेरानन्दज्ञानीयोऽर्थः ।

१ वर्तन्त इति लिङर्थे लट् । यथा 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णन्ति [ तै. सं. ६।६।११ ] इत्यत्र गृह्णीयुरित्यर्थः । एवमिहाप्यनु-वर्तेरन्निति—इति केचित् ॥ सर्वशः इति । अत्र सर्वशब्दार्थस्य कथञ्चित्कारकत्वसम्भवेऽपि सर्वशब्दस्य बहुशब्दपर्याय-तद्विशेषत्वाभावात् न 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकात्—' ( अष्टा. ५।४।४२ ) इत्यनेन शस् सम्भवति । नापि 'सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सा याम्' ( अष्टा. ५।४।४३ ) इत्यनेन, वीप्साया अत्राभावात् । तस्मात्स्वार्थमात्रेऽयं शस्, 'एकैकशः' इति महाभाष्योदाहरणेन स्वार्थिकशसो ज्ञापितत्वात् । उक्तं च धातुवृत्तौ "एकैकशः पितृसंयुक्तान्—' इत्यत्र शसः 'प्रायशः' इत्यादिवदत्यन्तस्वार्थि-कत्वात् वीप्सायामनभिधानाद्द्विर्वचनम् । तथाच 'सर्वस्य द्वे' ( अष्टा. ८।१।१ ) इत्यत्र भाष्यम्—'यत्र च तद्धितेनानुक्ता वीप्सा भवति, तत्र द्विर्वचनं; यथा— एकैकशो ददाति । इदमेव भाष्यमत्यन्तस्वार्थिकस्य शसो मूलम्' इति । तस्मात्सर्वशब्दस्य प्रकारकात्स्न्र्यपरत्वेन 'सर्वशः' इत्यस्य सर्वैः प्रकारैरित्यर्थः । **वामन**स्त्वत्र—

यो निर्गुणोऽस्मि सगुणोऽपि स एव पार्थ ! कस्तात्त्विकः कनकतत्प्रतिमासु भेदः ।
कल्पद्रुकल्प इह किन्तु फलं स्वरूपे भावो दृढो भवति यत्र ददामि तेन ॥
तथाप्युपास्योऽहमुपासकोऽसावेषापि वृत्तिर्गुणधर्मरूपा । न निर्गुणे तिष्ठति तत्र तस्माद्भ्राम्यन्ति तद्भक्तिपरा वृथैव ॥
यत्र न स्फुरति कोऽपि गुणांशस्तादृगीश इह नः समुपास्यः । भाव एष विषमः खलु येषामुद्धरामि सगुणः कथमेतान् ? ॥
उद्धर्तव्यः कश्चिदेको निजेष्टस्त्यक्तव्योऽन्यो वृत्तिरेषा गुणानाम् । सेवन्ते मां निर्गुणत्वेन येऽत्र तानुद्धर्तुं तप्यतेऽहं कथं नु ? ॥—

१ **शां. भा.—**तव तर्हि रागद्वेषौ स्तः, येन केभ्यश्चिदेवाऽऽत्मभावं प्रयच्छसि, न सर्वेभ्यः; इत्युच्यते— **ये यथेति** । ये यथा येन प्रकारेण येन प्रयोजनेन यत्फलार्थितया मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव तत्फलदानेन भजाम्यनुगृह्णाम्यहमित्येतत्; तेषां मोक्षं प्रत्यनर्थित्वात् । न ह्येकस्य मुमुक्षुत्वं फलार्थित्वं च युगपत्सम्भवति । अतो ये यत्फलार्थिनस्तांस्तत्फलप्रदानेन, ये यथोक्तकारिणस्त्वफलार्थिनो मुमुक्षवश्च तान् ज्ञानप्रदानेन, ये ज्ञानिनः सन्न्यासिनो मुमुक्षवश्च तान्मोक्षप्रदानेन, तथाऽऽर्तानार्तिहरणेन; इत्येवं यथा प्रपद्यन्ते ये तांस्तथैव भजामीत्यर्थः । न पुना रागद्वेषनिमित्तं मोहनिमित्तं वा कञ्चिद्भजामि । सर्वथाऽपि सर्वावस्थस्य ममेश्वरस्य वर्त्म मार्गमनुवर्तन्ते मनुष्याः । यत्फलार्थितया यस्मिन्कर्मण्यधिकृता ये प्रयतन्ते ते मनुष्या अत्र उच्यन्ते हे पार्थ! सर्वशः सर्वप्रकारैः॥ ११

२ **आ. शां. व्या.—**ईश्वरः सर्वेभ्यो मोक्षं प्रयच्छति चेत्प्रागुक्तविशेषणवैयर्थ्यं, यदि तु केभ्यश्चिदेव मोक्षं प्रयच्छेत्तर्हि तस्य रागादिमत्त्वादनीश्वरत्वापत्तिरिति शङ्कते— **तव तर्हीति** । ये मुमुक्षवस्तेभ्यो मोक्षमीश्वरो ज्ञानसम्पादनद्वारा प्रयच्छति, फलान्तरार्थिभ्यस्तु तत्तदुपायानुष्ठानेन तदेव ददातीति नास्य रागद्वेषाविति परिहरति— **उच्यत** इति । मुमुक्षूणामीश्वरानुसारित्वेऽपि फलान्तरार्थिनां कुतस्तदनुसारित्वमित्याशङ्क्य 'फलमत उपपत्तेः' [ ब्र.सू. ३।२।३८ ] इति न्यायेन तत्तत्फलस्येश्वरायत्तत्वात्तदनुवर्तित्वमावश्यकमित्याह—**ममेति** । भगवद्वचनभागिनां सर्वेषामेव कैवल्यमेकरूपं किमिति नानुगृह्यते ? तत्राऽऽह— **तेषामिति** । अभ्युदयनिश्श्रेयसार्थित्वं प्रार्थनावैचित्र्यादेकस्यैव किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्यापर्यायेण तदनुपपत्तिं साधयति— **न हीति** । मुमुक्षूणां फलार्थिनां च विभागे स्थिते सत्यनुग्रहविभागं फलितमाह— **अत** इति । फलप्रदानेनानुगृह्णामीति सम्बन्धः । नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठायिनामेव फलार्थित्वाभावे सति च मुमुक्षुत्वे कथं तेष्वनुग्रहः स्यात् ? इति तत्राऽऽह— **ये यथोक्तेति** । ज्ञानप्रदानेन भजामीत्युत्तरत्र सम्बन्धः । सन्ति केचित्त्यक्तसर्वकर्माणो ज्ञानिनो मोक्षमेवापेक्षमाणास्तेष्वनुग्रहप्रकारं प्रकटयति— **ये ज्ञानिन इति** । केचिदार्ताः सन्तो ज्ञानादिसाधनान्तररहिता भगवन्तमेवाऽऽर्तिमपहर्तुमनुवर्तन्ते तेषु भगवतोऽनुग्रहविशेषं दर्शयति— **तथेति** । पूर्वार्धव्याख्यानमुपसंहरति— **इत्येवमिति** । भगवतोऽनुग्रहे निमित्तान्तरं निवारयति— **न पुनरिति** । फलार्थित्वे मुमुक्षुत्वे च जन्तूनां भगवदनुसरणमावश्यकमित्युत्तरार्धं विभजते— **सर्वथाऽपीति** । सर्वावस्थत्वं तेन तेनाऽऽत्मना परस्यैवेश्वरस्यावस्थानं, मार्गो ज्ञानकर्मलक्षणः । मनुष्यग्रहणादितरेषामीश्वरमार्गानुवर्तित्वपर्युदासः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **यत्फलेति** । सर्वप्रकारैर्मम मार्गमनुवर्तन्त इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ११ ॥

३ **रा. भा.—**न केवलं देवमनुष्यादिरूपेणावतीर्य मत्समाश्रयणापेक्षाणां परित्राणं करोमि, अपितु ये मत्समाश्रयणापेक्षा यथा येन प्रकारेण स्वापेक्षानुरूपं मां सङ्कल्प्य प्रपद्यन्ते समाश्रयन्ते, तान् प्रति तथैव तन्मनीषितप्रकारेण भजामि मां दर्शयामि; किमत्र बहुना ? सर्वे मनुष्याः मदनुवर्तनैकमनोरथा मम वर्त्म मत्स्वभावं सर्वं योगिनां वाङ्मनसागोचरमपि स्वकीयैश्चक्षुरादिकरणैः सर्वशः स्वापेक्षितैः सर्वप्रकारैरनुभूयानुवर्तन्ते ॥ ११ ॥

४ **वे. ता. चं.—**एवं साधुपरित्राणाद्यर्थदेवमनुष्यादिसजातीयस्वेच्छावतारवर्णनमुखेनोपासनोपयुक्तं स्वस्य सौलभ्यमुक्तम् । अथ तस्यैव काष्ठाप्राप्तां दशां दर्शयति— 'ये यथा' इति श्लोकेन । अत्र कृष्णावतारवृत्तान्तेन सहार्चावतारवृत्तान्तोऽपि सङ्गृहीतः । 'ये यथा तांस्तथैव' इति शब्दाः पूर्वोक्ताधिकारितदनुष्ठानप्रकारादिनियमनिवृत्तिपरा इत्यभिप्रायेणाह— **न केवलमिति** । **स्वापेक्षानुरूपमिति**— पतित्वपुत्रत्वसारथित्ववाराहनारसिंहादिप्रक्रिययेत्यर्थः । **सङ्कल्प्य** मनोरथविषयं कृत्वेत्यर्थः । एतदेवात्र प्रपदनमित्याह— **समाश्रयन्त** इति । 'तांस्तथैव भजाम्यहम्' इत्यत्र तद्भजनप्रकारेणाहमपि तान्भजामीत्येतदसङ्गतमिति शङ्कानिरासाय तथैवेत्यस्यार्थमाह— **तन्मनीषितप्रकारेणेति** । न तु स्वकीयपरत्वानुरूपप्रकारेणेति भावः । अत्र यथाभिलषितफलप्रदानेन पक्षपातपरिहारार्थत्वं परोक्तं पूर्वोत्तराभ्यां नात्यन्तसङ्गतम्, 'चातुर्वर्ण्यम्' [ ४।१३ ] इत्यादिनाऽर्थतः पुनरुक्तिश्च स्यात् । सेवकान् प्रति सेव्यस्य भजनं नाम सुलभदर्शनत्वमित्यभिप्रायेण **मां दर्शयामीत्युक्तम्** ।

उक्तार्थस्य लोकेऽपि प्रदर्शनपरमुत्तरार्धम्, न पुनः 'यदि ह्यहं न वर्तेयम्' [ ३।२३ ] इत्यादाविव स्वस्य लोकानुविधेयानुष्ठानवत्त्वपरम्, तस्येहासङ्गतत्वादित्यभिप्रायेण वाङ्मनसा-

— ये मां भजन्ति सगुणं परिपक्वबोधा विघ्नान्निरस्य सुधियं प्रदिशामि तेभ्यः ।
ये चागुणप्रवणचेतस एव तेषु वर्ते तथैव गुणवृत्तिविलासहीनः ॥

इत्यादिना सगुणनिर्गुणभक्तिभेदं विस्तारयति । — अविगीता ।

गोचरसौलभ्यपरतां विवृणोति— **किमत्र बहुनेति** । मनुष्यशब्दः स्त्र्यादीनामपि सङ्ग्राहक इत्यभिप्रायेण सर्वशब्दः । अत्र वर्त्मशब्दो न साक्षात्सरणिवाचकः, असङ्गतवाक्यार्थत्वप्रसङ्गात्। नाप्याचारपरः, तस्याप्यत्रासङ्गतत्वेनोक्तदूषणत्वात्। अत एव 'एवं प्रवर्तितं चक्रम्' [ ३।१६ ] 'तेनैव स्थापिता ब्रह्ममर्यादा लोकभाविनी' इत्याद्युक्तशास्त्रमर्यादानुवर्तनपरत्वमपि निरस्तम् । अतोऽत्र सौलभ्योपदेशप्रकरणे स्वासाधारणविग्रहचेष्टासौशील्यादिस्वभावसमुदायपरत्वमेवोचितमित्यभिप्रायेणोक्तं— **मम वर्त्म मत्स्वभावं सर्वमिति** । सरणिवाचकमपि हिशब्दमुपचारात् स्वभावविषयतया प्रयुञ्जते । यथा 'कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयीत्थम्' इति । 'मनुष्याः' इत्यनेन सूचितमुच्यते— **योगिनामिति** । योगपरिशुद्धमनसां वाङ्मनसागोचरमपि मां सचक्षुषो मनुष्या बाह्येन्द्रियैरप्यनुभवन्तीत्यर्थः । प्रियतमपितृपुत्रसुहृद्भ्रातृभृत्यसारथित्वादिरूपाण्यर्चावताररूपाणि च 'सर्वशः' इत्यनेन विवक्षितानीत्याह **स्वापेक्षितैरिति** । **अनुभूयानुवर्तन्ते**— अनुभवन्तो वर्तन्त इत्यर्थः । अलङ्करणयात्रोत्सवसेवादिर्वाऽत्र प्रकारः । अत्र योगिनां वाङ्मनसागोचरमपि 'चक्षुरादिकरणैः' इति वचनादर्चावताररूपेऽपि पररूपत्वानुसन्धानं दर्शितम् । यथा स्मरन्ति 'तामेव ब्रह्मरूपिणीम्' [ वि.ध. १०३।२९ ] इति । वक्ष्यति च भगवान् 'भुजैश्चतुर्भिः' इत्यादि । एवं प्रसङ्गात् सौलभ्यातिरेकं सारथ्यादिना पश्यतोऽपि पाण्डवस्योपासिसिषापूर्त्यर्थं कण्ठोक्त्याप्युपदिदेश ।

नन्वेतावताऽपि चोद्यानुमानतर्काणां कः परिहार उक्तो भवति ? ; तदुच्यते— हेयप्रत्यनीकः स्वयं हेयं कथमुपाददीतेति चोद्यमवतारादेर्हेयत्वाभावादेव निरस्तम् ; तदभावश्चाकर्मवश्यत्वाप्राकृतत्वस्वेच्छाकृतत्वादिभिः । पुण्यपापाद्यभावे नियन्त्रन्तराभावे च कथं जन्मादीत्येतदपि स्वेच्छया परिहृतम् ? । हिताहिताज्ञानाशक्त्यादिचोद्यमकर्मवश्यस्य लीलयाऽवतरतोऽस्याहिताभावात्तदज्ञानाभावाच्च निरस्तम् । प्रयोजनाभावचोद्यं तु साधुपरित्राणादिप्रयोजनवर्णनेनापाकृतम् । यत्तु साधुपरित्राणादौ सङ्कल्पमात्रेणापि शक्ये किमवतारादिनेति, तदपि 'परित्राणाय साधूनाम्' [ ४।८ ] इत्यत्र 'मन्नाम' इत्यारभ्य 'आलापादिदानेन तेषां परित्राणाय' [ रा.भा. ४।८ ] इत्यन्तेन भाष्येण, 'धर्मसंस्थापनार्थाय' [ ४।८ ] इत्यत्र 'आराध्यस्वरूपप्रदर्शनेन' इत्यनेन, 'ये यथा' इत्यत्र सर्वसाधारणस्वसौलभ्यातिरेकप्रदर्शनेन च परिहृतम् । यदुक्तम्— 'ईश्वरो न वस्तुतो जन्मादिमान् अकर्मवश्यत्वात्, मुक्तात्मवत्' इति; तत्रेश्वराभ्युपगमानभ्युपगमयोर्धर्मिग्राहकबाधाश्रयासिद्धी ।

किञ्च किमत्र कर्महेतुकजन्मादिरहित इति साध्यार्थः ? उताकर्महेतुकजन्मादिरहित इति ? अथवा सामान्येन जन्मादिमात्ररहित इति ? । न प्रथमः, सिद्धसाधनात् । न द्वितीयः, हेतोरप्रयोजकत्वात् । न हि कर्मनिवृत्तिरकर्महेतुकं जन्मापि निवर्तयति; निषेध्यस्वरूपसमर्पकप्रमाणेन बाधश्च; यथाग्नेरनौष्ण्यानुमाने । न तृतीयः, दृष्टान्तस्य साध्यविकलत्वात्, मुक्तस्यापि हि शरीरपरिग्रहो 'जक्षन्क्रीडन् रममाणः" [ छां.उ. ८।१२।३ ] "स एकधा भवति त्रिधा भवति" [ छां.उ. ७।२६।२ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धः । तर्हि मुक्तोऽपि पक्षीकृत इति चेत्, तदा को दृष्टान्तः ? घटादिरिति चेत्, न; तत्र शरीरपरिग्रहाद्यभावस्य अचेतनत्वोपाधिकत्वात् । एतेन यो जन्मादिमान् स कर्मवश्य इति व्यतिरेकोऽपि भग्नः । यस्त्वीश्वरनियोगाविषयत्वादिति, सोऽपि प्रथमेन तुल्यार्थः । पुण्यपापनिरूपकशास्त्रस्यैवेश्वराज्ञारूपत्वात् । यत्तु तत्कारणरहितत्वात्, यो यत्कारणरहितः, न स तद्वानिति, तदप्यसत् ; उपादानकारणविवक्षया प्रयोगे स्वप्राकृताकर्मनिमित्तावतारोपादाननित्यविग्रहसद्भावोपपादनाद्धेत्वसिद्धेः । निमित्तविवक्षया प्रयोगे तु सङ्कल्पादिनिमित्तोपपादनात् । सामान्यविवक्षाऽपि तत एवोक्तोत्तरा । एवं 'सङ्कुचितज्ञानशून्यत्वात्' इत्यादिष्वपि धर्मिग्राहकबाधादिकं भाव्यम्, 'साध्यप्रयोजनरहितत्वात्' इत्यत्र हेत्वसिद्धिश्च, साधुपरित्राणलीलादिप्रयोजनस्योक्तत्वात् । तथापीदानीन्तनं सुखं प्राङ्नास्तीति तेनांशेनापूर्णत्वं प्रसज्यत इति चेत्, न; इदमपूर्णत्वम्, इष्टविघाताभावात्; इच्छाकाले च तत्सिद्धेः, तदानीमपि यदीच्छेत्सिद्ध्येदिति योग्यतासद्भावात्, उत्तरकालीनस्यापि तस्य प्रागपीश्वरेण सर्वज्ञेन स्वसुखतयाऽनुसन्धीयमानत्वात् । एवमतीतेऽपि भाव्यम् । भविष्यतोऽपि सुखत्वेन प्रकाशमानत्वे किमर्था तत्रेच्छा ? इति चेदुत्पत्त्यर्थेति ब्रूमः । तया किं प्रयोजनं ? इति चेत्सैव, सा तर्हि पूर्वोत्तरकालयोर्नास्तीति तयोः कालयोरपूर्णत्वमिति चेत्, न; तत्कालीनतया तयैव सर्वदा ज्ञायमानया पूर्णत्वात्; ननु कस्यचिदिष्यमाणत्वं तदलाभे दुःखादिति चेत्, न; तल्लाभस्य प्रयोजनत्वेनैव तदुपपत्तेः ; अशक्तस्य हि तदिच्छतस्तदसिद्धेर्दुःखं जायते; शक्तस्य तु तदिच्छैव तत्सुखत्वं पुष्यतीति न सङ्कटं किञ्चिदिति । एतेन साध्यप्रयोजनरहितत्वे हेतौ मुक्तदृष्टान्तोऽपि साधनविकलः, 'जक्षन्क्रीडन्' [ छां.उ. ८।१२।३ ] इत्यादिश्रुतेः । ये तु परमसाम्यापन्नदृष्टान्तेन सर्वज्ञत्वादित्यादिहेतवः, तेष्वपि साध्यविकलत्वादिदोषः समानः । प्रसङ्गाश्चानुमानवद्व्याप्त्याद्यभावेन दूषिता इति ।

तदेवं सिद्धं जन्मादिकमीश्वरस्य सत्यं, तत्प्रतिपादकं च वचः प्रमाणमिति । यत्त्ववतारेषु दुःखशोकभयादिकं क्वचिदुच्यते, तदस्यापहतपाप्मत्वादिबलात् 'तेन वञ्चयते लोकान्' [ म. भा. ५।६८।१५ ] इत्यादिवचनबलाच्चाभिनयमात्रं मन्तव्यमिति ॥ ११ ॥

**९ आ. मा. भा.— न च मद्भजनमात्रेण मुक्तिर्भवत्यन्यदेवतारूपेण, तथापि सर्वेषामानुरूप्येण फलं ददामीत्याह— ये यथेति । सेवयामि फलदानेन, न तु गुणभावेन । कथमयं विशेषः ? इत्यत आह— मम वर्त्मेति । अन्यदेवता यजन्तोऽपि मम वर्त्मैवानुवर्तन्ते । सर्वकर्मकर्तृत्वात् भोक्तृत्वाच्च**

मम। 'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' [९।२३] इति वक्ष्यति। "यो देवानां नामधा एक एव" [ऋक्सं. ८।३।१७।३] इति हि श्रुतिः। भगवानेव च तत्राभिधीयते। "अजस्य नाभावध्येकमर्पितम्" [ऋक्सं. ८।३।१७।६] इति तल्लिङ्गात् ॥ ११ ॥

६ ज. प्र. दी.—'ये यथा' इति वाक्यं न प्रकृतेन साक्षात् सङ्गतम्; अतस्तत्सङ्गमयितुं मध्ये शङ्कान्तरं निराकरोति—न चेति। मामुपासिता मद्भावमागता इत्युक्त्याऽन्यदेवतादिरूपेण मद्भजनमात्रेण त्रैविद्यानामपि मुक्तिर्भवतीति नाशङ्कनीयमित्यर्थः। विष्णुं सामान्यतः सर्वोत्तमं ज्ञात्वाऽन्यदेवताः पितॄंश्चेष्ट्वाऽन्ते विष्णौ समर्पणमन्यदेवतादिरूपेण भगवद्भजनम्। उपपत्तिं तूत्तरत्र वक्ष्यामीति भगवतोऽभिप्रायः। तत्किं त्रैविद्यानां त्वद्भजनं निरर्थकमेव? इत्यत आह तथापीति। यद्यपि न मुक्तिं ददामि तथापि तदभिप्रेतं स्वर्गादिकं ददामीति शेषः। एवं तर्हि ज्ञानिभ्यो मुक्तिं त्रैविद्येभ्योऽल्पं फलं ददद्विषमो भगवान् स्यादित्याशङ्कानिरासार्थत्वेनोत्तरवाक्यं सङ्गमयन्नाह—सर्वेषामिति। अनुरूपेण सेवानुसारेण सर्वेषां ज्ञानिनां त्रैविद्यानां चेति चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। 'तथैव भजामि' इत्येतदन्यथाप्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे—सेवयामीति। 'बहुलमेतन्निदर्शनम्' इति वचनात्स्वार्थे णिच्। 'मम वर्त्म' इत्यस्य सङ्गत्यप्रतीतेस्तामाह—कथमिति। यः फलतारतम्यहेतुरयं ज्ञानिभ्यस्त्रैविद्यानां सेवायां विशेषः कथं किम्प्रकार इत्यर्थः। कथमनेनैतच्छङ्कापरिहारः? इत्यतो व्याचष्टे—अन्येति। न केवलं ज्ञानिनः, किन्त्वन्यदेवता यजन्तोऽपि त्रैविद्या इति यावत्। किं तत्सर्वेषां त्वद्धर्मानुवर्तनं? इत्यत आह—सर्वेति। भोक्तृत्वाद्धविरादीनाम्। एतत् द्वयमेव भगवद्धर्मानुवर्तनम्। तथा व्यवहारे निमित्तत्वात्पञ्चमी। इदमुक्तं भवति। अहमेव सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रेरकश्च। तदेतज्ज्ञात्वा भागवता निष्कामा मामेव यजन्ते। त्रैविद्यास्त्वेतत्तत्त्वतोऽजानानाः कर्मणां सिद्धिं काङ्क्षन्तोऽन्यदेवता यजन्ते। एवं सेवाविशेषादुक्तं फलतारतम्यमिति। कुत इदं भगवतोऽभिप्रेतम्? इत्यत आह—येऽपीति। अनेन श्लोकद्वयमुपात्तम्। तत्र च स्पष्टमेषोऽर्थः प्रतीयते। नन्विन्द्रादिनामवद्भिर्मन्त्रैर्दत्तं हविरादिकं कथं भगवान् भुङ्क्ते? भगवतः सर्वनामत्वेन मन्त्राणां तत्परत्वादिति भावेनाह—य इति। ननु विश्वकर्मैवमुच्यत इत्यत आह—भगवानेवेति। तत्र चेति सम्बन्धः। अनेन भगवतः सर्वयज्ञादिभोक्तृत्वे बाधकं परिहृतम् ॥११॥

७ ह. पै. भा.—मद्भावमागता इत्युपश्रुत्य मोक्षमेव प्रयच्छति भगवान्भक्तानां, न ज्ञानैश्वर्यादिफलमित्यर्जुनस्य वचनमाशङ्क्याऽऽह—य इति। ये यत्फलप्रार्थिनः पुरुषा यथा येन प्रकारेण सात्त्विकराजसतामसभावेन मां प्रपद्यन्ते तानहं तथैव तत्फलदानेनैवैश्वर्यादिफलार्थिनस्तद्दानेनैवेत्यभिप्रायः। ममेश्वरस्य वर्त्म मार्गं यथाभिलषितफलप्रदत्वमनुवर्तन्तेऽनुसरन्ति। यद्यत्फलमभिलषितं तदेव मां प्रार्थयन्त इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

८ वं. व्र. गि.—नन्वेवं वीतरागस्त्वद्भावं गच्छति अवीतरागस्तु नेति तत्फलदातुस्तव वैषम्यं स्यात्, अत आह—ये यथेति। ये यथा येन प्रकारेण यत्फलोद्देशेन मामखिलफलप्रदं परमेश्वरं प्रपद्यन्ते समाश्रयन्ते, तान् तथैव तत्फलप्रदानेनैवाहं भजामि अनुगृह्णामि। अतो निष्कामतया भजतां मोक्षं सकामतया भजतामैश्वर्यादिकमेव च प्रयच्छतो मम न वैषम्यं, तत्तद्दान्येच्छया तत्तद्बीजावपनेन भजतां कृषीवलानां तानि तान्येव धान्यानि फलन्त्या इवोर्वराया इति भावः।

नन्वस्त्वेवं त्वद्भक्तेषु तत्तदिष्टफलदातुस्तव वैषम्याभावः; तथापि देवतान्तरभक्तेषूपेक्षारूपं तव वैषम्यमपरिहार्यमेवेत्यत्राह—मम वर्त्मेति। मनुष्या इति कर्माधिकारिण उच्यन्ते, कर्मणां तदधिकारिकत्वात्। तथा च सर्वशः सर्वप्रकारैः कर्मभिः इन्द्रादिदेवतान्तराण्यनुवर्तमाना अपि कर्मिणो ममैव वर्त्म भजनमार्गमनुवर्तन्ते, सर्वदेवानामपि मदात्मकत्वात्। वक्ष्यते हि 'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' [९।२३] 'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः' [११।३९] इत्यादिः; श्रुतिरपि 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः' [ऋक्सं. २।३।२२।६] इत्यादिः। अतः अन्यदेवताभक्तेष्वपि ममैव तत्तद्देवतारूपेण फलप्रदत्वान्न कुत्रापि वैषम्यमित्यर्थः ॥ ११ ॥

९ व. त. दी.—ननु तर्हि त्वय्यपि वैषम्यं यस्मादेवमुपाश्रितानामेवात्मभावं ददासि, नान्येषामिति तत्राह—ये यथेति। ये यादृशा अधिकारिणः पुष्टिप्रवाहमर्यादामार्गीयाः येन येन प्रकारेण सकामतया निष्कामतया वा मां प्रपद्यन्ते आश्रयन्ते तानहं तथैव भजाम्यनुकरोमि। "तत्रात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः" इतिन्यायेनाङ्गीकरोमि कल्पतरुवत्। न तु सकामा ये मां विहायेन्द्रादीनेव यजन्ते तानहमुपेक्षे इति मन्तव्यं, यतः सर्वशः सर्वप्रकारैर्देवान्तरभजनभेदैर्मनुष्या मम वर्त्मानुवर्तन्ते। न तु मामेवाऽथापि। तत्तद्रूपेण ममैव सेव्यत्वश्रवणात् तथा तेषामविवेकतो भजनं न साधु वस्तुविमर्शे तन्ममैवायाति तद्दर्शितत्वात्। वक्ष्यते च—'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' [९।३] इत्यादिना ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.—ननु त्वत्सङ्गता एवैके लीलायां सम्बन्धं प्राप्नुवन्ति, एके मुक्तिं, तत्र किं कारणं? इत्याशङ्क्याहुः— ये यथा मामिति । हे पार्थ! ये मां यथा येन प्रकारेण यदिच्छया वा प्रपद्यन्ते प्रपन्ना भवन्ति, अहं तांस्तथैव भजामि तत्फलरूपेण वशे भवामि । अत्रायमर्थः —यौ तु साक्षान्मत्प्राप्त्यर्थं च भक्तिज्ञानमार्गावुक्तौ तत्र यस्योत्तमत्वज्ञानेन यत्र रुचिः स्यात्तस्य तददाने तन्मनोरथो न स्यात्, दुःखं स्यात्, तदा ममात्मत्वं भज्येताऽतस्तथा करोमि । 'ये' इत्युक्त्या मर्यादामार्गीयज्ञानोपयोग्यजीवानामपि स्नेहभजने पुष्टिमर्यादायां मत्प्राप्तिरूपं फलं ददामीति व्यज्यते । पार्थेति सम्बोधनेन मूलतो भक्तेऽपि त्वय्येवं प्रश्नयोग्ये त्वत्प्रश्नानुसारेणोत्तरं प्रयच्छामीति त्वयैवानुभूयत इति ध्वन्यते । किञ्च ये मनुष्या मम वर्त्म मदुक्तमार्गं पुष्टिमार्गमनुवर्तन्ते मदुक्तप्रकारेण अनु पश्चाद्वर्तन्ते तान् सर्वप्रकारैरहं भजामि, व्रजरीत्येति भावः ॥ ११ ॥

११ नी०भा०दी०—ननु साध्वसाध्वोस्त्राणविनाशौ कुर्वतस्तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्तः,अतः किं तवास्मदादितुल्यस्य जन्मकर्मस्वरूपाणां चिन्तनेन? इत्याशङ्क्याह– ये यथेति । ये मनुष्याः मां सर्वशरीरस्थं यथा येन प्रकारेण शत्रुत्वेन मित्रत्वेन वा प्रपद्यन्ते प्राप्नुवन्ति तांस्तेनैव प्रकारेणाहमपि भजामि अनुसरामि । ये तु मम वर्त्म भक्तिध्यानप्रणिधानात्मकमनुवर्त्तन्ते तान् ममात्मभूतांस्तथैव सर्वशः सर्वैः प्रकारैरनुवर्त्तेऽहमिति योजना । ततश्च मद्बिम्बभूते प्राणिजाते यथा यः प्रीतिं द्वेषं वा करोति तस्मिन्मत्प्रतिबिम्बभूतेऽहमपि तथैव प्रीतिं द्वेषं च करोमि । बिम्बपूजापरिभवौ प्रतिबिम्बे एव सङ्क्रामतोऽतो न मम वैषम्यनैर्घृण्ये स्तः । तस्मात् श्रेयोर्थिना सर्वस्य कल्याणायैव यतितव्यमिति भावः । [ शां. ] भाष्ये तु 'ये यथा येन प्रकारेण येन प्रयोजनेन आर्ता जिज्ञासवोऽर्थार्थिनो ज्ञानिनो वा प्रतिपद्यन्ते तांस्तथैव पीडापरिहारेण ज्ञानदानेन अर्थदानेन मोक्षदानेन वाऽनुगृह्णामि । सर्वथा ते ममैव वर्त्मानुवर्त्तन्ते' इति । 'अन्यदेवताभक्ताः' [ ९।२३ ] इति चैतद्व्याचक्ष्यते ॥ ११ ॥

**काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः ।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥ १२ ॥**

**१ शां. भा.— यदि तवेश्वरस्य रागादिदोषाभावात् सर्वप्राणिष्वनुजिघृक्षायां तुल्यायां सर्वफलप्रदानसमर्थे च त्वयि सति 'वासुदेवः सर्वं' [७।१९] इति ज्ञानेनैव मुमुक्षवः सन्तः कस्मात्त्वामेव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते? इति, शृणु तत्र कारणम्— काङ्क्षन्त इति । काङ्क्षन्तोऽभीप्सन्तः कर्मणां सिद्धिं फलनिष्पत्तिं प्रार्थयन्तो यजन्त इहास्मिँल्लोके देवता इन्द्राग्न्याद्याः । "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद, यथा पशुः; एवं स देवानाम्" [ बृ. उ. १।४।१० ] इति श्रुतेः । तेषां हि भिन्नदेवतायाजिनां फलाकाङ्क्षिणां क्षिप्रं शीघ्रं हि यस्मान्मानुषे लोके, मनुष्यलोके हि शास्त्राधिकारः । 'क्षिप्रं हि मानुषे लोके' इति विशेषणात्, अन्येष्वपि कर्मफलसिद्धिं दर्शयति भगवान् । मानुषे लोके वर्णाश्रमादिकर्माधिकार इति विशेषः, तेषां च वर्णाश्रमाधिकारिणां कर्मिणां फलसिद्धिः क्षिप्रं भवति कर्मजा कर्मणो जाता ॥ १२ ॥**

२ आ. शां. व्या.— अनुग्राह्याणां ज्ञानकर्मानुरोधेन भगवता तेष्वनुग्रहविधानात्तस्य रागद्वेषौ यदि न भवतः, तर्हि तस्य रागाद्यभावादेव सर्वेषु प्राणिष्वनुग्रहेच्छा तुल्या प्राप्ता; न च तस्यां सत्यामेव फलस्याल्पीयसः सम्पादने सामर्थ्यं, न तु भगवतो महतो मोक्षाख्यस्य फलस्य प्रदाने शक्तिरिति युक्तम्, अप्रतिहतज्ञानेच्छाक्रियाशक्तिमतस्तव सर्वफलप्रदानसामर्थ्यात् । तथा च यथोक्तानुजिघृक्षायां सत्यां, त्वयि च यथोक्तसामर्थ्यवति सति, सर्वे फल्गुफलादभ्युदयाद्विमुखा मोक्षमेवापेक्षमाणा ज्ञानेन त्वामेव किमिति न प्रतिपद्येरन्? इति चोदयति— यदीति । मोक्षापेक्षाभावात्तदुपायभूतज्ञानादपि वैमुख्याद्भगवत्प्राप्त्यभावे हेतुमभिदधानः समाधत्ते—शृण्विति । कर्मफलसिद्धिमिच्छता किमिति मानुषे लोके देवतापूजनमिष्यते? तत्राऽऽह— क्षिप्रं हीति । कर्मफलसम्पत्त्यर्थिनां यष्टृयष्टव्यविभागदर्शिनां तद्दर्शने कारणमात्माज्ञानमित्यत्र बृहदारण्यकश्रुतिमुदाहरति— अथेति । अविद्याप्रकरणोपक्रमार्थमथेत्युक्तम् । उपासनं भेददर्शनमित्यनूद्य कारणमात्माज्ञानं तत्रेति दर्शयति— नेति । यथाऽस्मदादीनां हलवहनादिना पशुरुपकरोत्येवमज्ञो देवादीनां यागादिभिरुपकरोतीत्याह— यथेति । किमिति ते फलाकाङ्क्षिणो भिन्नदेवतायाजिनो ज्ञानमार्गं नापेक्षन्ते? तत्रोत्तरार्धमुत्तरत्वेन योजयति— तेषामित्यादिना । यस्माद्यथोक्तानामधिकारिणां कर्मप्रयुक्तं फलं लोकविशेषे झटिति सिध्यति, तस्मात्तेषां मोक्षमार्गादस्ति वैमुख्यमित्यर्थः । मानुषलोकविशेषणं किमर्थं? इत्याशङ्क्या-

ऽऽह— **मनुष्यलोके** हीति । लोकान्तरेषु तर्हि कर्मफलसिद्धिर्नास्तीत्याशङ्क्य क्षिप्रविशेषणस्य तात्पर्यमाह— **क्षिप्रमिति** । क्वचित्कर्मफलसिद्धिरविलम्बेन भवति, अन्यत्र तु विलम्बेनेति विभागे को हेतुः ? इत्याशङ्क्य सामग्रीभावाभावाभ्यामित्याह— **मानुष** इति । मनुष्यलोके कर्मफलसिद्धेः शैघ्र्यात्तदभिमुखानां ज्ञानमार्गवैमुख्यं प्रायिकमित्युपसंहरति— **तेषामिति** ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.**— इदानीं प्रासङ्गिकं परिसमाप्य प्रकृतस्य कर्मयोगस्य ज्ञानाकारताप्रकारं वक्तुं तथाविधकर्मयोगाधिकारिणो दुर्लभत्वमाह— काङ्क्षन्त इति । सर्व एव पुरुषाः कर्मणां फलं काङ्क्षमाणा इन्द्रादिदेवता यथाशास्त्रं यजन्त आराधयन्ति । न तु कश्चिदनभिसंहितफल इन्द्रादिदेवतात्मभूतं सर्वयज्ञानां भोक्तारं मां यजते । कुत एतत् ? यतः क्षिप्रमस्मिन्नेव मानुषे लोके कर्मजा पुत्रपश्वन्नाद्या सिद्धिर्भवति । मनुष्यलोकशब्दः स्वर्गादीनामपि प्रदर्शनार्थः । सर्व एव हि लौकिकाः पुरुषा अक्षीणानादिकालप्रवृत्तानन्तपापसञ्चयतयाऽविवेकिनः क्षिप्रफलाकाङ्क्षिणः पुत्रपश्वन्नाद्यस्वर्गाद्यर्थतया सर्वाणि कर्माणीन्द्रादिदेवताराधनमात्राणि कुर्वते; न तु कश्चित्संसारोद्विग्नहृदयो मुमुक्षुरुक्तलक्षणं कर्मयोगं मदाराधनभूतमारभत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमध्यायार्थतयाऽभिहितेषु षट्सु प्रसञ्जकं प्रासङ्गिकं चोक्तम्, अथ प्रकृतस्य कर्मयोगस्य ज्ञानाकारताप्रकारं वक्तुं तदुपोद्घाततया षट् श्लोकाः प्रवर्तन्ते । तत्राधिकारिविषयाश्चत्वारः, कर्मस्वरूपविषयौ द्वावित्यवान्तरविभागः । तदिदमभिप्रयन् प्रथमं श्लोकमवतारयति— **इदानी-मिति** । 'काङ्क्षन्तः' इत्यत्र विशेषनिर्देशाभावात् **सर्व एव पुरुषा** इत्युक्तम् । ये मुमुक्षुतया सम्भाव्यन्ते, तेऽपि हि प्रथमं त्रिवर्गप्रवणा इत्येवकाराभिप्रायः । '**कर्मणां सिद्धिम्**' इत्यत्र कर्मस्वरूपसिद्धिशङ्काव्युदासायोक्तं **फलमिति** । इहशब्दाभिप्रेतमाह— **इन्द्रादिदेवतामात्रमिति** । इह या देवतात्वेन प्रतीयन्ते, ता इत्यर्थः । 'यज देवपूजायाम्' इति धात्वर्थव्यञ्जनाय **आराधयन्तीत्युक्तम्** । एतेन तत्तद्देवताराधनभूतानां दानहोमादीनामपि सङ्ग्रहः । 'सर्वाणीन्द्रियकर्माणि' [ ४।२७ ] इत्यनन्तरमेतद्व्यञ्जयिष्यति । व्यतिरेकरूपमाभिप्रायिकं कर्मयोगाधिकारिदौर्लभ्यमाह **न तु कश्चिदिति** । **सर्वयज्ञानां भोक्तारमित्यनेन** 'अहं हि सर्वयज्ञानां' [ ९।२४ ] 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' [ ५।२९ ] इत्यादि वक्ष्यमाणं सूचितम् । हेतुपरहिशब्दार्थव्यञ्जनाय शङ्कते **कुत एतदिति** । महति फले स्थिते क्षुद्रफलाकाङ्क्षा किन्निबन्धना ? इत्यर्थः । क्षिप्रमानुषशब्दाभ्यां कालतो देशतश्चासत्तिरुच्यते । "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" [ यजुषि ६।१।१ ] इत्यादिकं क्षिप्रशब्देन स्मारितम् । **अस्मिन्नेवेत्यनेन** मानुषशब्दफलितदेशासक्तिद्योतनम् । क्षिप्रलाभादस्मिन्नेव लोके लाभाच्च क्षुद्रेष्वपि फलेषु प्रथममाकाङ्क्षा स्यादिति भावः । मानुषलोकौचित्येन सिद्धिं विशेषयति **पुत्रपश्वित्यादि** । अपवर्गप्रकरणफलितमाह **मनुष्येति** । अतिशयितफलसद्भावेऽपि क्षुद्रफलाकाङ्क्षायां तदनुषङ्गिदुःखसन्तानानुद्वेगे च हेतुं दर्शयन् कण्ठोक्तमाभिप्रायिकं च सङ्कलय्य वाक्यार्थमाह— **सर्व एवेति** । **लौकिका** इति त्रिवर्गप्रावण्यनिदर्शनार्थमुक्तम् । **अविवेकिनः**— अविवेकित्वादित्यर्थः । **क्षिप्रफलाकाङ्क्षिण** इति क्षुद्रत्वनश्वरत्वदुःखानुबन्धित्वादिदोषपुञ्जानादरेण 'वरमद्य काकः श्वो मयूरात्' इतिवन्मन्यमाना इति भावः । उपलक्षणोपलक्ष्यभूतैहिकामुष्मिकसङ्कलनेनोक्तं— **पुत्रपश्वन्नाद्यस्वर्गादीति** । एतेन 'कर्मणां सिद्धिम्' इत्यत्र सिद्धिशब्दः सामान्यविषय इति दर्शितम् । **सर्वाणि कर्माणि** यागदानहोमादीनि ॥ १२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— कुतो मम वर्त्मानुवर्तन्ते ? क्षिप्रं हि अत एव हि फलप्राप्तिः । "तस्मात्ते धनसनयः" [ छां. उ. १।७।६ ] इति श्रुतिः ॥ १२ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— साधकं तु प्रमाणं पृच्छति— **कुत** इति । 'मम वर्त्मानुवर्तन्ते' [४।११]इति यत्सर्वयज्ञादिभोक्तृत्वमुक्तम्, तत्कुतः प्रमाणाज्ज्ञायते ? इत्यर्थः । सर्वकर्तृत्वं तु जीवानामस्वातन्त्र्यदर्शनात्सिद्धम् । इत्यत आहेति शेषः । हीत्यतः परमितिशब्दश्च । किमनेन प्रमाणमुक्तं ? इत्यत आह— **अत एव हीति** । कर्मजा सिद्धिः फलप्राप्तिस्तावत् क्षिप्रं प्रत्यक्षोपलभ्याऽस्ति । सा चात एव कर्मणां भगवता भुक्तत्वादेव हि युज्यते; नान्यथेत्यर्थः । इन्द्रादिभ्योऽपि फलप्राप्त्युपपत्तेरुपक्षीणार्थापत्तिरित्यतश्चाह— **अत एव हीति**; भगवत एव । अत्र हीति सूचितं प्रमाणमाह— **तस्मादिति** । धनसनयो धनलाभवन्तः ॥ १२ ॥

**७ ह. पै. भा.**— किञ्च— काङ्क्षन्तः कामयमानाः कर्मणां यज्ञादीनां सिद्धिं स्वर्गादिफलं यजन्ते पूजयन्तीह लोके देवता इन्द्राद्याः । यतः क्षिप्रं शीघ्रं मानुषे लोके कर्मजा सिद्धिः कर्मफलं भवति जायते, न लोकान्तरे वर्णाश्रमादिविशेषालाभात् ॥ १२ ॥

८ वे. ब्र. गि.— यद्येवं, अवैषम्येण सर्वप्राणिष्वनुग्राहकस्वभावं त्वामेव परमेश्वरं किमिति न सर्वेऽपि मोक्षार्थमाश्रयन्ते? तत्राह— काङ्क्षन्त इति। सर्व एव पुरुषा इह लोके कर्मणां सिद्धिं फलनिष्पत्तिं काङ्क्षन्त इन्द्राद्या देवता एव यजन्ते पूजयन्ति ; न तु कश्चिदप्यनभिसंहितफलो निखिलदेवतात्मकं मामिति शेषः। कुतस्तत्? हि यस्मादस्मिन्नेव मानुष्ये लोके कर्मजा पुत्रपश्वन्नराज्यादिसिद्धिः क्षिप्रं भवति। चिरकालसञ्चितदुरितावलीमलीमसमनसः सर्वेऽपि क्षिप्रफलकाङ्क्षयेन्द्रादिदेवताराधनमात्ररूपाण्येव कर्माणि कुर्वते, न तु कश्चिदपि संसारोद्विग्नहृदयो मुमुक्षया मामाश्रयत इत्यर्थः १२

९ व० त० दी०— ननु देवान्तरभजनमन्ये कुर्वन्ति, इह किं? इति तत्राह— काङ्क्षन्त इति। हि यतः देवान्तरभजनेन कृत्वा शीघ्रं मानुषे लोके सिद्धिः फलं प्राकृतं कर्मजं भवति, अतो देवता इन्द्रादीन् यजन्ते, भगवन्तं न मां क्षिप्रं फलदातृत्वाभावनिश्चयात्, निरुपाधिकस्यौपाधिककामितदाने विचारस्तत्पूर्वकपरीक्षा शोधनेन च विलम्बसम्भवात्, तथाभावेन दातृत्वादित्यवगम्य क्षिप्रफलदानौपाधिकान्देवान्यजन्त इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं चेत्तदा कथं न सर्वे त्वामेव सेवन्ते? इत्याशङ्क्याहुः— काङ्क्षन्त इति। इह अस्मिन्नेव जन्मनि सिद्धिं काङ्क्षन्तो ये वाञ्छन्ति तादृशाः सन्तः कर्मणां देवताः कर्माधिष्ठातार इन्द्रादयस्तान् यजन्ते। यतः क्षिप्रं शीघ्रं मानुषे लोके अस्मिन्नेव जन्मनि कर्मजा सिद्धिर्भवति, न मत्प्राप्तिः। हीति युक्तत्वाय। तथा चायमर्थः— पुरुषोत्तमसम्बन्धो न लौकिकदेहप्राप्यः किन्त्वलौकिकस्वरूपप्राप्यः। तत्स्वरूपं च लौकिकदेहेन सेवायां क्रियमाणायां प्रेमोत्पत्त्या परीक्षासिद्ध्यनन्तरं तापे जाते तदनुभवार्थस्यागानन्तरमेतद्देहनिवृत्त्यनन्तरं भवति। तत्रापि परीक्षासिद्धौ परमतापे सति तदनुभवः स्यात्। सोऽपि क्लेशानन्दानुभवात्मकः। एतत्सर्वं व्रजे प्रसिद्धं कालीय अन्तर्गतभगवदन्तर्धानपुनःप्राकट्यरमणवनगमन श्रीमदुद्धवप्रसङ्गादिभिः। अन्यदेवानां तु जीववदंशरूपत्वादत्रैव मनुष्यलोके शीघ्रं तदर्थकृतकर्मसिद्धिर्भवति। अतोऽत्रैव शीघ्रं फलाभिलाषिणस्तत्र, प्रवर्तन्ते न मद्भजने; तत्र प्रवृत्तौ तेषां तत्सिद्धिर्भवति। देवानां मत्स्वरूपत्वादत्रैव लौकिकदेहेन लौकिकफलसिद्धिर्युक्तैवेति ज्ञापनाय हीति ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— काङ्क्षन्त इति। हि यस्मात् मानुषे लोके कर्मसिद्धिः काम्यकर्मफलं पुत्रपश्वादिकं क्षिप्रं भवति, न तु निष्कामकर्मजा चित्तशुद्धिः। अतो ये कर्मणां सिद्धिं फलं इहैव क्षिप्रं काङ्क्षन्तः काङ्क्षमाणा देवता इन्द्रादीन् यजन्ते तेऽपि ममैव वर्त्मानुवर्त्तन्त इति पूर्वेणान्वयः। वक्ष्यति च 'येऽप्यन्यदेवताभक्ताः' [ ९।२३ ] इत्यादि ॥ १२ ॥

मुक्त्युपायभूतेशसृष्टा वर्णाश्रमधर्मव्यवस्था, तया चेशस्याविकारित्वम्।

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**
**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ १३ ॥**

---

१ अत्र वर्णव्यवस्थाविध्वंसव्यसनिनः केचित् **पण्डितम्मन्यास्तु**— गुणकर्मणोर्यो विभागो भेदः, तदनुसारेण चातुर्वर्ण्यं सृष्टं व्यवस्थापितम्। चत्वारो वर्णाः स्वासाधारणगुणकर्मानुरोधेनैव कल्पिता इत्यर्थः। तथा च— यस्मिन् शूद्रजेऽपि 'शमो दमः'—( १८।४२ ) इत्यादि वर्तते, स एव ब्राह्मणः; न तु ब्राह्मणमातापितरजन्योऽपि तद्धीनः। एवं 'शौर्यं तेजः-'( १८।४३ ) इत्यादिसम्पन्नः क्षत्रिय इत्यादि बोध्यम्। सृष्टजात्युद्देशेन गुणकर्मविधानाभ्युपगमे तु जातिब्राह्मणाः सर्वत्र शमादिमन्तः स्युः, क्षत्रियाश्च शौर्यादिसम्पन्नाः। न च तथा नियम उपलभ्यते, प्रत्युत व्यभिचार एव भूयान् दृश्यतेऽतो यथोक्तमेव ज्यायः। अस्ति चात्रोपष्टम्भकं भारत एव स्पष्टं प्रमाणान्तरम्। यथा 'ब्राह्मणः को भवेद्राजन्?' इति सर्पप्रश्ने 'युधिष्ठिर उवाच— सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा। दृश्यते यत्र नागेन्द्र! स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ ... ... शूद्रे तु यद्भवेल्लक्ष्म द्विजे तच्च न विद्यते। न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो न च ब्राह्मणः ॥ यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः। यत्रैतन्न भवेत् सर्प! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ॥' ( म.भा. ३।१८०।२१-२६ ) इति ॥ तथा तत्रैव 'ब्राह्मणः केन भवति क्षत्रियो वा द्विजोत्तम!। वैश्यः शूद्रश्च विप्रर्षे! तद्ब्रूहि वदतां वर!' इति भरद्वाजप्रश्ने 'भृगुरुवाच— सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा। तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः ॥ क्षत्रजं सेवते कर्म वेदाध्ययनसङ्गतः। दानादानरतिर्यस्तु स वै क्षत्रिय उच्यते ॥ वणिज्या पशुरक्षा च कृष्यादानरतिः शुचिः। वेदाध्ययनसम्पन्नः स वैश्य इति संज्ञितः ॥ सर्वभक्षरतिर्नित्यं सर्वकर्मकरोऽशुचिः। त्यक्तवेदस्त्वनाचारः स वै शूद्र इति स्मृतः ॥ शूद्रे चैतद्भवेल्लक्ष्यं द्विजे'... (म.भा.१२।१८९।१,४-८) इति। अत्र गुणकर्मानुसारेणैव ब्राह्मणत्वादि व्यवस्थापितं; निरस्तं च जातिब्राह्मणत्वादीति व्यक्तमेव। एवं भागवतेऽपि [ ७।११।३५ ] 'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्तं पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्। यदन्यत्रापि दृश्येत तत्तेनैव विनिर्दिशेत्' ॥ इति लक्षणानुसारेणैव ब्राह्मणत्वादिना निर्देशो विहितः। तस्माद्ब्राह्मणादीनां जन्मसिद्धत्वं भगवतोऽनभिमतं सर्वथा निष्प्रमाणं च **प्रतारकबकैः** कल्पितमेव- इति महता संरम्भेण वर्णयन्ति ॥ —

१ शां. भा.— मानुष एव लोके वर्णाश्रमादिकर्माधिकारः, नान्येषु लोकेष्विति नियमः किन्निमित्तः ? इति, अथवा वर्णाश्रमादिप्रविभागोपेता मनुष्या मम वर्त्मानुवर्तन्ते सर्वश इत्युक्तं [ ४।११ ] कस्मात्पुनः कारणान्नियमेन तवैव वर्त्मानुवर्तन्ते, नान्यस्य इति ? उच्यते—चातुर्वर्ण्यमिति । चातुर्वर्ण्यं चत्वार एव वर्णाश्चातुर्वर्ण्यं मयेश्वरेण सृष्टमुत्पादितं "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" [ ऋक्सं. ८।४।१९।२ यजुस्सं. ३१।११ ] इत्यादिश्रुतेः, गुणकर्मविभागशो गुणविभागशः कर्म-

---

— तत्रोच्यते—अत्र हि भगवद्वाक्ये सृष्टवर्णोद्देशेनैव गुणकर्मणी विधीयेते, न तु गुणकर्मोद्देशेन वर्णाः; भगवत एव वचनान्तरेणोक्तार्थस्य गम्यमानत्वात् । तथा च तद्वचनम्—'ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! । कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥' (१८।४१) इति । अत्र हि ब्राह्मणादीनां कर्माणि ब्राह्मणत्वाद्यवच्छिन्नोद्देश्यतानिरूपितविधेयताविशिष्टान्येवाभ्युपगन्तव्यानि, आहारविहारादेर्मनुष्यमात्रसाधारण्येन विशेषाभावात् । तादृशकर्माचरणे चाधिकारसिद्ध्यर्थं तदाचरणात्प्रागेव ब्राह्मणत्वाद्यपेक्षितमिति न तैः कर्मभिर्ब्राह्मणत्वादिसिद्धिर्वक्तुं युक्ता, सिद्धसाधनत्वापत्तेः । न च क्षत्रियादिभिर्ब्राह्मणकर्मणि कृते तेषां ब्राह्मणत्वप्राप्तिः सम्भवति, अनधिकारिकृतस्य कर्मणः श्रेयस्साधनत्वाभावात्; प्रत्युत 'परधर्मो भयावहः' ( ३।३५ ) इति भगवतैव निन्दितत्वेन प्रत्यवायजनकत्वाच्च ॥ 'शमो दमः-' 'शौर्यं तेजः-' इत्यादीन्यपि न ब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादिजातिप्रयोजकत्वेनोक्तानि, किन्तु प्रयोज्यत्वेनैव; 'स्वभावजम्' इति लिङ्गात् ॥ किञ्च 'येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः-' ( ९।३२ ) इति वदतो भगवतो जन्मत एव जातिभेदोऽभिमत इत्यत्र न शङ्कालेशोऽपीति तदनुसारेण सृजेः शसश्च स्वारस्यानुगुण्ये न च गुणकर्मणी विभज्य विभज्य चातुर्वर्ण्यमीश्वरेण सृष्टमित्येव व्याख्येयम् ॥ उपबृंहितश्चायमर्थो महाभारत एव [१०।३।१८,१९] 'प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा कर्म तासु विधाय च । वर्णे वर्णे समाधत्त ह्येकैकं गुणभाग्गुणम् ॥ ब्राह्मणे वेदमग्र्यं तु क्षत्रिये तेज उत्तमम् । दाक्ष्यं वैश्ये च शूद्रे च सर्ववर्णानुकूलताम्' । इति । इह वर्णसृष्ट्यनन्तरं तत्र गुणकर्मणोर्विभागेनाधानं स्पष्टमेवेति महाभारतस्यापि जन्मसिद्धमेव ब्राह्मणत्वाद्यभिमतं प्रतीयते । उक्तं च कण्ठरवेणापि—'जन्मनैव महाभागो ब्राह्मणो नाम जायते ।' ( म. भा. १३।३५।१ ) इति; 'बह्वीस्तु संसरन् योनीर्जायमानः पुनः पुनः । पर्याये तात ! कस्मिंश्चिद्ब्राह्मणो नाम जायते ॥' ( म. भा. १३।२७।६;२९।१२ ) इति च ॥

नन्वेवं 'शूद्रे तु यद्भवेत्-' इत्यादेः का गतिः ? इति चेत्—'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते ।' इत्यत्र ब्रह्मस्वे विषत्वारोपदार्ढ्यार्थमेव विषे विषत्वनिषेधवदिहापि शूद्रे ब्राह्मणत्वारोपार्थमेव ब्राह्मणे ब्राह्मणत्वनिषेधात्, आरोप्यमाणारोपाधिकरणयोः पारमार्थिकभेदस्य सर्वसम्प्रतिपन्नत्वाच्च न तस्य वचसो जन्मसिद्धब्राह्मणत्वादिनिषेधे तात्पर्यम्; अपितु सत्यादिगुणविशिष्टप्रशंसायामेवेति गृहाण । अन्यथा तव प्रथमार्द्धोक्तशूद्रद्विजपदयोरसिद्धार्थता, द्वितीयार्द्धे उद्देश्यासिद्धिश्च दुर्वारैव । तस्मादत्र गुणहीनब्राह्मणस्य शूद्रसाम्यमात्रं विवक्षितं,न पुनस्तदभिन्नत्वम् । अत एवोक्तं तत्रैव—'तावच्छूद्रसमो ह्येष यावद्वेदेन जायते ।' ( म.भा. ३।१८०।३५) इति । एवं शूद्रपक्षेऽपि । एवं 'यस्य यल्लक्षणं-' इत्यादिभागवतमपि शौर्यादिशालिनि श्रीदत्ते सिंहपदवद्ब्राह्मणादिष्वपि गुणसादृश्याद्ब्राह्मणादिपदव्यवहारमात्रमवगमयति; न तु जन्मसिद्धब्राह्मणत्वाद्यभावमपि । दृश्यते च तथा व्यवहारः शास्त्रादिषु, यथा अत्रिसंहितायाम्—'अस्त्रहस्ताः सुधन्वानः सङ्ग्रामे सर्वसम्मुखे । आरम्भे निर्जिता येन स विप्रः क्षत्र उच्यते ॥ कृषिकर्मरतो यश्च गवां च प्रतिपालकः । वाणिज्यव्यवसायश्च स विप्रो वैश्य उच्यते ॥'(१२।७,८)इत्यादौ । जातिब्राह्मणा एव ह्यत्र गुणविशेषवशात्क्षत्रादिपदैर्व्यपदिश्यन्ते, अन्यथोद्देश्यविप्रतानुपपत्तेः । न चैतावन्मात्रेण तेषां परमार्थतः क्षत्रत्वाद्यभ्युपगन्तुं युक्तम्, तथा व्यवहारस्य—'दशाष्टपञ्चत्रिगुणशतमूर्द्धान्वितौ क्रमात् । विप्रौ नृपौ विशौ शूद्रौ द्वौ द्वौ नागेषु कीर्तितौ ॥' ( अग्निपु. २९४।३ ) इति सर्पेषु; 'विप्रः शुचिर्मधुपयः परमान्नसर्पिश्च्युतप्रसूनसमगन्धसुगन्धिताङ्गः ।', 'स क्षत्रियो विविधशस्त्रनिपातशूरः' 'क्रुद्धोऽपि तूर्णमुपशाम्यति वैश्यजातिः ।' ( मातङ्गलीला ८।९—११ ) इति गजेषु; 'सुगन्धा ब्राह्मणी भूमी रक्तगन्धा तु क्षत्रिया । मधुगन्धा भवेद्वैश्या मद्यगन्धा च शूद्रिणी ॥' ( विश्व. वा. शा. १।२५ ) इति मृत्सायां चैवमन्यत्रापि मनुष्यव्यतिरिक्तेष्वपि दर्शनादतिव्याप्तेः । न ह्येते विप्रादिसंज्ञाभाजः सर्पादयो याजनादिब्राह्मणकर्माधिकारिणो भवन्ति, नापि ब्राह्मणादीनां विवाह्या इत्यवचनसिद्धमिदम् । तथैव मनुष्या अपीति बोध्यम् । उक्तं च वारतान्तविस्मृतौ—'देहान्तरं विना धर्मसादृश्येनापि वर्णता । योच्यते सा न तद्वर्णपूजोद्वाहादिषु स्थिता ॥' इति । न च गुणकर्मव्यभिचारदर्शनविरोधोऽपि, तस्य सोपाधिकत्वादिभिरन्यथासिद्धत्वात्, सृष्टिन्यायेन ( पू. मी. १।४।२७ ) बाहुल्येन व्यवहारोपपत्तेः, 'श्वा कर्णे पुच्छे वा छिन्ने श्वैव भवति, नाश्वो न गर्दभः' ( पातं. म. भा. २।२।६ ) इति न्यायेन गुणकर्मव्यभिचारेऽपि जातिब्राह्मणत्वादीनामनपायात् । 'तपः श्रुतं च योनिश्चेत्येतद्ब्राह्मणलक्षणम् । तपश्श्रुताभ्यां यो हीनो जातिब्राह्मण एव सः ॥' ( पा. म. भा. २।२।६ ) इति ब्राह्मणलक्षणे तथा दर्शनाच्चेति सर्वथा जन्मसिद्धैव वर्णव्यवस्था, न केवलगुणकर्मानुसारिणीत्यत्र न शङ्कालेशोऽपि । तथा चोद्घोषितं सूतसंहितायाम्—'सर्वेषां जन्मना जातिर्नान्यथा कर्मकोटिभिः । पश्वादीनां यथा जातिर्जन्मनैव न चान्यथा ॥' (शि.मा.खं.१२।५१) इति ॥ सर्वेषामपि श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासादीनां चायमेव सिद्धान्त इत्यन्यत्र विस्तरः—इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । — **अविगीता** ।

विभागशश्च; गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि। तत्र सात्त्विकस्य सत्त्वप्रधानस्य ब्राह्मणस्य 'शमो दमस्तपः' [१८।४२] इत्यादीनि कर्माणि, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यतेजःप्रभृतीनि [१८।४३] कर्माणि, तमउपसर्जनरजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि [१८।४४] कर्माणि, रजउपसर्जनतमःप्रधानस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव कर्म, इत्येवं गुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टमित्यर्थः। तच्चेदं चातुर्वर्ण्यं नान्येषु लोकेषु, अतो 'मानुषे लोके' इति विशेषणम्। हन्त तर्हि चातुर्वर्ण्यसर्गादेः कर्मणः कर्तृत्वात्तत्फलेन युज्यसेऽतो न त्वं नित्यमुक्तो नित्येश्वरश्च इति। उच्यते-- यद्यपि मायासंव्यवहारेण तस्य कर्मणः कर्तारमपि सन्तं मां परमार्थतो विद्ध्यकर्तारं, अत एवाव्ययमसंसारिणं च मां विद्धि ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— मनुष्यलोके चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यमित्यनेन द्वारेण कर्माधिकारनियमे कारणं पृच्छति— **मानुष एवेति**। आदिशब्देनावस्थाविशेषा विवक्ष्यन्ते। प्रकारान्तरेण वृत्तानुवादपूर्वकं चोद्यमुत्थापयति— **अथवेत्यादिना**। प्रश्नद्वयं परिहरति-- **उच्यत** इति। तर्हि तव कर्तृत्वभोक्तृत्वसम्भवादस्मदादितुल्यत्वेनानीश्वरत्वमित्याशङ्कयाऽऽह-- **तस्येति**। ईश्वरस्य विषमसृष्टिं विदधानस्य सृष्टिवैषम्यनिर्वाहकं कथयति— **गुणेति**। गुणविभागेन कर्मविभागस्तेन चातुर्वर्ण्यस्य सृष्टिमेवोपदिष्टां स्पष्टयति— **तत्रेत्यादिना**। प्रश्नद्वयप्रतिविधानं प्रकृतमुपसंहरति— **तच्चेदमिति**। मनुष्यलोके परं वर्णाश्रमादिपूर्वके कर्मण्यधिकारस्तत्रैव वर्णादेरीश्वरेण सृष्टत्वात्; न लोकान्तरेषु, तत्र वर्णाद्यभावात्। ईश्वरमेव चातुर्वर्ण्याश्रमादिविभागभागिनोऽधिकारिणोऽनुवर्तन्ते,तेनैव वर्णादिस्तद्व्यापारस्य च सृष्टत्वात्तदनुवर्तनस्य युक्तत्वादित्यर्थः। तस्येत्यादिद्वितीयभागापोह्यं चोद्यमनुद्रवति— **हन्तेति**। यदि चातुर्वर्ण्यादिकर्तृत्वादीश्वरस्य प्रागुक्तो नियमोऽभिमतस्तर्हि तद्विषयसृष्ट्यादेस्तन्निष्ठव्यापारस्य च धर्मादेर्निर्वर्तकत्वात्तत्फलस्य कर्तृगामित्वात्कर्तृत्वभोक्तृत्वयोस्त्वयि प्रसङ्गान्नित्यमुक्तत्वादि ते न स्यादित्यर्थः। मायया कर्तृत्वं परमार्थतश्चाकर्तृत्वमित्यभ्युपगमान्नित्यमुक्तत्वादि सिध्यतीत्युत्तरमाह— **उच्यत** इति। मायावृत्त्यादिसंव्यवहारेण चातुर्वर्ण्यादेस्तत्कर्मणश्च यद्यपि कर्ताऽहं तथापि तथाविधं मां परमार्थतोऽकर्तारं विद्धीति योजना। अकर्तृत्वादेवाभोक्तृत्वसिद्धिरित्याह-- **अत एवेति** ॥ १३ ॥

३ रा. भा.— यथोक्तकर्मयोगारम्भविरोधिपापक्षयमाह— चातुर्वर्ण्यप्रमुखं ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं कृत्स्नं जगत् सत्त्वादिगुणविभागेन तदनुगुणशमादिकर्मविभागेन च प्रविभक्तं मया सृष्टम्; सृष्टिग्रहणं प्रदर्शनार्थम्। मयैव रक्ष्यते, मयैव चोपसंह्रियते; तस्य विचित्रसृष्ट्यादेः कर्तारमप्यकर्तारं मां विद्धि ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— नन्वक्षीणानन्तपापसञ्चयत्वं सर्वेषां समम्, ततश्चाविवेकित्वात्क्षिप्रफलकाङ्क्षित्वमपि समानम्; अतः कस्यापि मुमुक्षाविरहान्मोक्षोपायशास्त्रमप्रमाणं स्यादित्याशङ्क्य श्लोकद्वयेन तत्परिहारः क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— **यथोक्तेति**। पूर्वश्लोकोक्तेषु देवतान्तराधीनेषु क्षुद्रफलेष्वपि सर्वकर्तुः स्वस्यैव हेतुत्वं 'चातुर्वर्ण्यं' इत्यादिना दर्शितम्। व्यष्टिसृष्ट्यन्तर्गतचातुर्वर्ण्यकथनं समस्तव्यष्टिसृष्टिसङ्ग्रहार्थमित्यभिप्रायेण **चातुर्वर्ण्यप्रमुखमित्युक्तम्**। वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारप्रस्तावाय व्यष्टिसृष्ट्युपादानम्। 'गुणकर्मविभागशः' इत्येतत्प्रपञ्चयिष्यमाणसत्त्वादिविभागविषयमित्यभिप्रायेण **सत्त्वादीत्युक्तम्**। सत्त्वादिमूलत्वात्सर्वव्यापाराणां **तदनुगुणेत्युक्तम्**। 'तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्' [म.भा. १४।३९।११] इत्यादिगुणविभागः, 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' [१८।४१] इत्यादिकर्मविभागः। **शमादिकर्मेति**— शमाद्यनुष्ठेयमित्यर्थः। 'शमो दमः' इत्युपक्रम्य 'ब्राह्मं कर्म स्वभावजम्' [१८।४२] इति वक्ष्यते। एवं देवतिर्यङ्मनुष्यादिजातिषु वाराहपाद्मेशानकल्पादिषु च पुराणेषु प्रपञ्चितस्तत्तद्गुणोद्रिक्तो विषमसृष्टिप्रकारो द्रष्टव्यः। श्रुत्यादिषु सृष्ट्यादिसमस्तहेतुतयेश्वरस्य ज्ञातव्यत्वविधानादत्र सृष्टिग्रहणं रक्षादेरपि प्रदर्शनपरमित्याह— **सृष्टीति**। एतेन व्यष्टिसृष्ट्यादिव्यापारत्रयस्यापि स्वकर्तृकत्ववचनात्, 'सृष्टिं ततः करिष्यामि त्वामाविश्य प्रजापते !' [वि.ध. ६८।५१] इत्यादेरर्थोऽप्युक्तो भवति। सूत्रितं चैतत 'संज्ञामूर्तिकॢप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्' [ब्र. सू. २।४।२०] इति ॥ १३ ॥

५ आ. मा. भा.— अहमेव हि कर्तेत्याह— चातुर्वर्ण्यमिति; चतुर्वर्णसमुदायः। सात्त्विको ब्राह्मणः, सात्त्विकराजसः क्षत्रियः, राजसतामसो वैश्यः, तामसः शूद्र इति गुणविभागः। कर्मविभागस्तु 'शमो दमः' [१८।४२] इत्यादिना वक्ष्यते। क्रियायां वैलक्षण्यात्कर्ताऽप्यकर्ता। तथा हि श्रुतिः— "विश्वकर्मा विमनाः" [ऋक्सं. ८।३।१७] इत्यादि। 'तनुर्विद्या क्रियाऽऽकृतिः' [भाग. ६।४।४६] इति च। साधितं चैतत्पुरस्तात् [पृ. १४२] ॥ १३ ॥

६ ज. प्र. दी.— चातुर्वर्ण्यमित्यस्य सङ्गतिं सूचयन् तात्पर्यमाह— अहमेव हीति। यस्मादहमेव चातुर्वर्ण्यस्य कर्ता,त्रैविद्याश्च तदन्तर्भूताः,तस्मात्स्वपितरं मां परित्यज्यान्यदेवता यजन्तः कथं महाफलभाजो भवेयुः? इत्याहेत्यर्थः। 'विचित्रा तद्धितगतिः' इति वचनादतिरिक्तार्थसम्भवे 'चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्' [ वार्ति.७।३।३१] इति नादरणीयमिति भावेनाह-चतुर्वर्णेति। वर्णाश्चत्वारो गुणास्त्रयः तत्कथं तेषु गुणविभागः? इत्यत आह- सात्त्विक इति। राजसस्थसात्त्विकेष्वेवायं विभाग इति ज्ञातव्यम्। निर्देशप्राथम्यात्क्षत्रिये रजसः सत्त्वमधिकम्। तत एव वैश्ये तमसो रजस्तच्च समत्वयुतं, रजोपेक्षया तमोऽधिकं शूद्र इत्यसौ तामसः। सत्त्वं तु तमसोऽप्यधिकम्। कर्मविभागः कीदृशः? इत्यत आह— कर्मेति। यदि चातुर्वर्ण्यं त्वया सृष्टं तर्हि कर्तृत्वात् जीववत्त्वापि कर्मलेपः प्रसज्यत इत्यतः कर्मलेपाभावं वक्तुं हेतुस्तावदुच्यते, 'तस्य' इति, तदेतद्याहृतमित्यत आह— क्रियायामिति। कथं वैलक्षण्यमित्यतः श्रुत्यैव दर्शयति— तथा हीति। विश्वकर्माऽपि विमनास्तत्राभिनिवेशरहित इत्यर्थः। प्रकारान्तरेण वैलक्षण्यं पुराणेन दर्शयति— तनुरिति। क्रियाया मिथ्यात्वात्कर्ताऽप्यकर्तेति परव्याख्यां प्रत्याख्याति— साधितं चेति। एतत्क्रियायाः सत्यत्वं; पुरस्तात् द्वितीये ॥ १३ ॥

७ ह. पै. भा.— अत एव- चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यं मयेश्वरेण सृष्टम्। गुणाः सत्त्वादयस्तद्विभागेन च। तत्र सात्त्विकस्य ब्राह्मणस्य शमो दमस्तप इत्यादीनि कर्माणि। सत्त्वोपसर्जनस्य रजःप्रधानस्य क्षत्रियस्य शौर्यतेजःप्रभृतीनि कर्माणि। रजःप्रधानस्य वैश्यस्य कृष्यादीनि कर्माणि। तामसस्य शूद्रस्य शुश्रूषैव कर्म; इत्येवंगुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टमित्यर्थः। तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्मणः शमप्रभृतेः कर्तारं मामीश्वरं विद्धि जानीहि। वस्तुतोऽकर्तारमव्ययमविकारिणम् ॥ १३ ॥

८ वें.ब्र. गि.— किञ्च सर्वोऽपि लोकस्त्रिगुणात्मकत्वात् स्वस्वगुणानुरूपमेव तत्र तत्र प्रवर्तते, न तु मदाश्रयण एवेत्यभिप्रेत्याह— चातुर्वर्ण्यमिति। ब्रह्मक्षत्रवैश्यशूद्राख्याश्चत्वारो वर्णाः, तदेव चातुर्वर्ण्यम्। उपलक्षणमेतत्। चातुर्वर्ण्यप्रमुखमखिलमपि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगत् मयेश्वरेण सृष्टम्। कथं सृष्टम्? गुणकर्मविभागशः गुणविभागेन कर्मविभागेन च। तथाहि— सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः; तेषां शमदमादीनि कर्माणि। सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियाः; तेषां शौर्ययुद्धादीनि कर्माणि। रजस्तमःप्रधाना वैश्याः; तेषां कृष्यादीनि कर्माणि। तमःप्रधानाः शूद्राः; तेषां त्रैवर्णिकशुश्रूषादीनि कर्माणि। एवं गुणकर्मविभागशश्चातुर्वर्ण्योपलक्षितमशेषं जगन्मयोत्पादितम्।

तर्हि विषमस्वभावजगत्सृष्टिकर्तृत्वेन तव वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम्; तत्राह— तस्येति। विषमस्वभावस्य जगतो व्यवहारदृष्ट्या कर्तारमपि मां परमार्थदृष्ट्या अकर्तारं विद्धि। तत्र हेतुगर्भविशेषणं अव्ययमिति; त्रिविधपरिच्छेदरहितमित्यर्थः। विषमजगत्स्रष्टृत्वस्य मयि वास्तवत्वे हि तत्प्रयुक्तवैषम्यनैर्घृण्यदोषप्रसक्तिः; तदेव मिथ्येति कुतस्तत्प्रयुक्ततद्दोषशङ्का? इति भावः। ननु विषमसृष्टिकर्तृत्वस्यावास्तवत्वेऽपि व्यावहारिकत्वमस्त्येव; ततो वैषम्यनैर्घृण्ये अपि व्यावहारिके त्वयि स्यातामिति शङ्कायामपि तदेवोत्तरमावर्तनीयं 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' इति। सृज्यमानजगद्वैषम्यं न मत्प्रयुक्तम्, किन्तु प्राचीनतदीयगुणकर्मविभागप्रयुक्तम्, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' [ ब्र.सू.२।१।३४ ] इति न्यायात्। अतो व्यवहारदृष्ट्याऽपि न मयि वैषम्यादिप्रसक्तिरिति भावः। अत्र कर्तारमप्यकर्तारं विद्धीति भगवतैव जगत्कर्तृत्वस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वरूपमिथ्यात्वस्य कण्ठरवेणोक्त्या जगत्कर्तृत्वसमानयोगक्षेमाणां जगदुपादानत्वजगदीश्वरत्वजगदन्तर्यामित्वादीनामन्येषामपि ब्रह्मधर्माणां मिथ्यात्वे इदमेव लिङ्गमिति निर्विशेषब्रह्मवादजयदुन्दुभिरयं श्लोकः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— ननु केचित्सकामतया देवान्प्रपद्यन्ते, केचिदतिकामितया देवान्प्रपद्यन्ते; केचिन्निष्कामतया त्वां न, सर्वे एकमेवेति; कर्मवैचित्र्यं तत्कर्तॄणां च ब्राह्मणादीनाम्; उत्तमादिवैचित्र्यं कुर्वतस्तव कथं वैषम्यनैर्घृण्ये न स्याताम्? इत्याशङ्क्याह— चातुर्वर्ण्यमिति। चतुर्वर्णात्मकं जगन्मया सृष्टं 'चत्वारो जज्ञिरे वर्णाः पुरुषादाश्रमैः सह' इति भगवद्वाक्यात्। परं गुणकर्मविभागश इति गुणाः सत्त्वादयः तदनुगुणकर्माणि तैर्विभागस्तेषां कृतः स्थूलः। दैवासुरविभागस्तु पूर्वत एव कृतः सूक्ष्मः। तत्र सत्त्वप्रधाना विप्रास्तेषां च शमदमादीनि कर्माणि; सत्त्वरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां शौर्यादि; रजस्तमःप्रधाना वैश्यास्तेषां कृषिवाणिज्यादि; तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां द्विजशुश्रूषेत्येवं सृष्टं मयैव। जीवेषु चतुर्वर्णेष्वपि प्रकृत्या सह संसृष्टत्वाद्गुणकर्माणि सहैवेन्द्रियैर्दत्तानि 'बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः। मात्रार्थं च भवार्थं च स्वात्मनेऽकल्पनाय च' [ भाग. १०।८७।२ ] इति वाक्यात्। तानि तु तैर्यथा कृतानि तथैव च फलदानि ब्रह्मणो वरदानादिति पूर्वं उक्तं 'देवान् भावयतानेन' [ ३।११ ] इत्यादिना। अतः कर्तारमपि जनकमपि मां तत्त्वतोऽकर्तार-

मेव विद्धि; यतः अव्ययमिति, अहङ्कारादिरहितमित्यर्थः। तथाच सूत्रं 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति'। [ ब्र० सू० २।१।३४ ] अत्र भाष्यकारः—"जीवानां कर्मानुरोधात्सुखदुःखे प्रयच्छति" इति वादिबोधनायोक्तं सापेक्षत्वात् इति। वस्तुतस्तु आत्मसृष्टेर्वैषम्यनैर्घृण्यसम्भवोऽपि न, वृष्टिवद्भगवान् बीजवत्कर्म; तथाहि दर्शयति "एष ह्येव साधु कर्म कारयति यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति एष उ एव वाऽसाधु कर्म कारयति यमधो निनीषति" [ कौ.उ. ३।३।९ ] "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापःपापेन ( वा )" [ बृ. उ. ४।४।५ ] इति च सापेक्षमपि कुर्वन्नीश्वरमाहात्म्यमिति ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.—ननु कर्मसिद्धिरपि त्वां विना कथं भवति? इत्याशङ्क्याह—चातुर्वर्ण्यमिति। चातुर्वर्ण्यं वर्णचतुष्टयं गुणकर्मविभागशः गुणकर्मविभागैः सत्त्वरजस्तमसां यानि कर्माणि तेषां विभागैर्मया सृष्टम्, अतस्तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमव्ययमविनाशिनं ब्रह्मरूपमकर्तारं रसमार्गस्थं रसपरवशं मां तस्य चातुर्वर्ण्यस्य कर्तारमपि विद्धि। इच्छया अंशैः कर्ता, न तु साक्षात्स्वयं, इत्यपिशब्देन बोध्यते। अतो मदंशसम्बन्धेन तत्र सिद्धिर्भवतीति भावः ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०—अन्यदेवताभक्ता अपि कस्मात्पुनः कारणात्तवैव वर्त्मानुवर्त्तन्ते, नान्यस्य? इत्यत आह—चातुर्वर्ण्यमिति। चतुर्णां वर्णानां हितं चातुर्वर्ण्यम्। गुणाश्च कर्माणि चेति गुणकर्म; द्वन्द्वैकवद्भावः। कर्माणि अग्निहोत्रादीनि, गुणाश्च द्रव्यदेवतादिरूपाः, विभागशः साधारणासाधारणविभागेन। तथा हि दानजपादिकं सर्वसाधारणम्। अग्निहोत्रादिकं त्रैवर्णिकस्यैव, न शूद्रस्य; राजसूयादिकं राज्ञ एव, नेतरेषां; इति विभागो दृश्यते। यतश्चातुर्वर्ण्यं गुणकर्म मया सृष्टं ततोऽन्यदेवतानामपि मदुत्थत्वात्पुत्रप्रीत्या पितुरिव तत्प्रीत्या ममैव तृप्तिरस्तीत्यर्थः। यद्वा—'गुणविभागशः कर्मविभागशः' इति योज्यम्। तथाहि—सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणास्तेषां कर्म शमदमादिकम्, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां कर्म शौर्यादि, तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां कर्म कृष्यादि, रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां कर्म शुश्रूषैव; इति गुणकर्मविभागो दृश्यते। तद्वा चातुर्वर्ण्यमिति स्वार्थे ष्यञ्। चत्वारो वर्णाः गुणकर्मविभागशो मया सृष्टा इत्यर्थः। अन्यदेवताभक्ता अपि मदुक्तकर्मकारित्वान्मद्भक्ता एवेति भावः। ननु यद्येवं त्वं स्वसन्ततितर्पणेन स्वाज्ञाकरणेन प्रीयसे तदर्थं च त्वया चातुर्वर्ण्यं सृष्टं, तर्हि महान् संसारी त्वमसीत्याशङ्क्याह—तस्येति। कर्त्तारं मायायोगात्, वस्तुतोऽकर्त्तारं; अत एवाव्ययं अविकारिणम् ॥ १३ ॥

कर्माद्यवलेपशून्यपरमात्मज्ञानिनोऽपि कर्माद्यनवलेपता, तद्दृष्टान्ताय च पूर्वपूर्वतरप्रामाण्यम्।

## न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
## इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥ १४ ॥

**१ शां. भा.—येषां तु कर्मणां कर्तारं मां मन्यसे परमार्थतस्तेषामकर्तैवाहं, यतः—नेति। न मां तानि कर्माणि लिम्पन्ति देहाद्यारम्भकत्वेन, अहङ्काराभावात्। न च तेषां कर्मणां फलेषु मे मम स्पृहा तृष्णा। येषां तु संसारिणां 'अहं कर्ता' इत्यभिमानः कर्मसु, स्पृहा तत्फलेषु च, तान् कर्माणि लिम्पन्तीति युक्तं, तदभावान्न मां कर्माणि लिम्पन्तीत्येवं योऽन्योऽपि मामात्मत्वेनाभिजानाति 'नाहं कर्ता, न मे फले स्पृहा' इति स कर्मभिर्न बद्ध्यते। तस्यापि न देहाद्यारम्भकाणि कर्माणि भवन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥**

२ आ. शां. व्या.—ईश्वरस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वस्तुतोऽभावे कर्मतत्फलसम्बन्धवैधुर्यं फलतीत्याह—**येषां त्विति**। कर्मतत्फलसंस्पर्शशून्यमीश्वरं पश्यतो दर्शनानुरूपं फलं दर्शयति—**न मामिति**। **तानि कर्माणीति** येषां कर्मणामहं कर्ता तवाभिमतस्तानीति यावत्। देहेन्द्रियाद्यारम्भकत्वेन तेषां कर्मणामीश्वरे संस्पर्शाभावे तस्य तत्करणावस्थायामहङ्काराभावं हेतुं करोति—**अहङ्काराभावादिति**। कर्मफलतृष्णाभावाच्चेश्वरं कर्माणि न लिम्पन्तीत्याह—**न चेति**। उक्तमेव प्रपञ्चयति—**येषां त्विति**। तदभावात्कर्मसु 'अहं कर्ता' इत्यभिमानस्य तत्फलेषु स्पृहायाश्चाभावादित्यर्थः। ईश्वरस्य कर्मनिर्लेपेऽपि क्षेत्रज्ञस्य किमायातं? इत्याशङ्क्योत्तरार्धं व्याचष्टे—**इत्येवमिति**। अभिज्ञानप्रकारमभिनयति—**नाहमिति**। ज्ञानफलं कथयति—**स कर्मभिरिति**। कर्मासम्बन्धं विदुषि विशदयति—**तस्यापीति** ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.**—कथमित्यत्राह—न मामिति । यत इमानि विचित्रसृष्ट्यादीनि कर्माणि न मां लिम्पन्ति न सम्बध्नन्ति; न मत्प्रयुक्तानि तानि देवमनुष्यादिवैचित्र्याणि, सृज्यानां पुण्यपापरूपकर्मविशेषप्रयुक्तानीत्यर्थः । अतः प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विचित्रसृष्ट्यादेर्नाहं कर्ता ।

**४ वे. ता. चं.**— एककार्यापेक्षयैकस्यैव कर्तृत्वं तदभावश्चेति व्याहतमित्यभिप्रायेण चोदयति— **कथमिति** । कर्तृत्वं तावन्मुख्यम्, अकर्तृत्वं तु वैषम्यप्रयोजकत्वाभावादुच्यत इति व्यञ्जयति— **यत** इति । कर्मशब्दोऽत्र न पुण्यपापविषयः, प्रकृतानुपयुक्तत्वादिदानीं कर्मवश्यत्वशङ्काभावात्, शङ्कितविरोधपरिहारात्मकत्वस्यैव युक्तत्वादनपेक्षितविधानादपेक्षितविधानप्राबल्याच्चेत्यभिप्रायेण **इमानि विचित्रसृष्ट्यादीनि कर्माणी**त्युक्तम् । 'न मां लिम्पन्ति' इत्यस्य मुख्यासङ्गतेर्लक्ष्यं तावदाह— **न मां ... सम्बध्नन्ती**ति । कथमेतावता विरोधपरिहार इत्यत्राह— **न मत्प्रयुक्तानी**ति । वैषम्यांशे विशेषहेतुत्वं निषिद्ध्यत इति न विरोध इति भावः । कस्तर्हि विषमसृष्टेर्विशेषहेतुः ? इत्यत्राह— **तानी**ति । उक्तहेतुवशादकर्तृत्वव्यपदेशौचित्यं निगमयति— **अत** इति । **प्राप्ताप्राप्तविवेकेन**, पुण्यपापतारतम्यानुगुणसुखदुःखादिविषमसृष्टितारतम्यदर्शनकृतविशेषनिष्कर्षेणेत्यर्थः । यथा विचित्रेष्वङ्कुरेषु क्षितिजलादीनि सामान्यकारणानि, वैचित्र्यं स्वबीजवैचित्र्यहेतुकं तद्वदिति भावः । एवं विशेषप्रयोजकत्वाभावेनाकर्तृत्वमुक्तम् ।

**३ रा. भा.**— यतश्च सृष्टाः क्षेत्रज्ञाः सृष्टिलब्धकरणकलेवराः सृष्टिलब्धं भोग्यजातं फलसङ्गादिहेतुस्वकर्मानुगुणं भुञ्जते; सृष्ट्यादिफले कर्मफले च तेषामेव स्पृहेति न मे स्पृहा । तथाऽऽह सूत्रकारः 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' [ ब्र. सू. २।१।३४ ]इति ।

**४ वे. ता. चं.**— अथ विशेषसृष्टिफलनिस्स्पृहत्वेनाकर्तृत्वमुच्यत इत्यभिप्रायेण 'न मे कर्म-' इत्यादिकं व्याख्याति— **यतश्चे**ति । स्वस्य स्पृहानिषेध इतरेषां स्पृहासत्त्वाभिप्राय इति व्यञ्जनाय **सृष्टा** इत्यादिकमुक्तम् । **सृष्टाः क्षेत्रज्ञा** इति कर्मनिर्देशेन भोक्तृत्वदशापन्नक्षेत्रज्ञसिद्ध्यर्था सृष्टिरित्यभिप्रेतम् । भोक्तृत्वोपयुक्ताकार उच्यते- **सृष्टिलब्धकरणकलेवरा** इति । न हि मदीयकरणादिलाभार्था सृष्टिरिति भावः । फलसङ्गादिहेतुशब्दो बहुव्रीहितत्पुरुषयोरन्यतरेण स्वकर्मविशेषकः । 'फलसङ्गादिहेतुभिः' इति वा पाठः । स्वकर्मानुगुणं, न तु तन्निरपेक्षकेवलमत्सङ्कल्पविशेषानुगुणमिति भावः । 'कर्मफले' इत्यत्रापि कर्मशब्दः प्रकृतसृष्ट्यादिकर्मविषयः । फलस्वभावात्तु पुण्यपापरूपं कर्म फलितमित्यभिप्रायेण- **सृष्ट्यादिफले कर्मफले** चेत्युक्तम् । प्रवाहानादिवासनामूलतत्तदिच्छानुरूपं प्रवर्तयन् तत्तदिच्छाहेतुकतत्तत्पुण्यपापानुगुणं फलं प्रयच्छामि, न तु स्वेच्छानुरूपं प्रयच्छामि, नापि स्वातन्त्र्यमात्रेण विषमं फलं ददामि, न च स्वप्रयोजनार्थं परान्पीडयामीत्येतदखिलमपि 'न मे स्पृहा' इत्यन्तेनोक्तं भवति । 'अत्रोपनिषदं पुण्यां कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्' [ म. भा. १।१। १५३ ] इति पञ्चमवेदे गीतोपनिषत्सङ्ग्रहीतुः शारीरकसूत्रेणोक्तार्थं संवादयति— **तथाऽऽहे**ति ।

**३ रा. भा.**— तथाऽऽह भगवान्पराशरः 'निमित्तमात्रमेवायं सृज्यानां सर्गकर्मणि । प्रधानकरणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥ निमित्तमात्रं मुक्त्वेदं नान्यत्किञ्चिदपेक्षते । नीयते तपतां श्रेष्ठ ! स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्' [वि. पु. १।४।५१,५२] इति । सृज्यानां देवादीनां क्षेत्रज्ञानां सृष्टेः कारणमात्रमेवायं परमपुरुषः देवादिवैचित्र्ये तु प्रधानकारणं सृज्यभूतक्षेत्रज्ञानां प्राचीनकर्मशक्तय एव; अतो निमित्तमात्रं मुक्त्वा सृष्टेः कर्तारं परमपुरुषं मुक्त्वा इदं क्षेत्रज्ञवस्तु देवादिविचित्रभावे नान्यदपेक्षते; स्वगतप्राचीनकर्मशक्त्यैव हि देवादिवस्तुभावं नीयत इत्यर्थः ।

**४ वे. ता. चं.**— तत्पितुर्देवतापारमार्थ्यविदो वचनं च दर्शयति— **तथाऽऽहे**ति । तत्र हि वराहप्रादुर्भावमभिधाय 'भूराद्यांश्चतुरो लोकान्पूर्ववत्समकल्पयत्' [ वि. पु. १।४।४९] इत्यन्तेन पृथिवीसमुद्धरणभूपर्वतादिविभागादिकमुक्त्वा 'ब्रह्मरूपधरो देवस्ततोऽसौ रजसा वृतः । चकार सृष्टिं भगवांश्चतुर्वक्त्रधरो हरिः [ वि. पु. १।४।५० ] इति चतुर्मुखशरीरस्य भगवतो विष्णोः स्वर्गादिलोकान्तर्वर्तिसृष्टिरेव प्रसक्ता । ततो 'निमित्तमात्रम्' [ वि.पु. १।४।५१;५२ ] इति श्लोकद्वयमुक्तम् । अनन्तरं च 'यथा ससर्ज देवोऽयं देवर्षिपितृदानवान् । मनुष्यतिर्यग्वृक्षादीन् भूव्योमसलिलौकसः' [ वि.पु. १।५।१ ] इत्यादिः 'विस्तरात्' [ वि. पु. १ । ५ । २ ] इत्यन्तो मैत्रेयप्रश्नोऽपि देवादिविषमसृष्टिविषयः । प्रतिवक्त्रा च भगवता पराशरेण 'मैत्रेय! कथयाम्येष शृणुष्व सुसमाहितः । यथा ससर्ज देवोऽसौ देवादीनखिलान्विभुः' [ वि.पु. १।५।३ ] इत्यारभ्य 'किमन्यच्छ्रोतुमिच्छसि' [ वि. पु. १।५।२४ ] इत्यन्तेनाल्पविस्तरे कृते पुनरतिविस्तरे मैत्रेण पृष्टे 'कर्मभिर्भाविताः पूर्वैः कुशलाकुशलैस्तु ताः । ख्यात्या तयाऽप्यनिर्मुक्ताः संहारेऽप्युपसंहृताः ॥ स्थावरान्ताः सुराद्याश्च प्रजा ब्रह्मंश्चतुर्विधाः' [ वि.पु.

१।५।२६,२७ ] इत्यादिना तत्तत्कर्माधीनदेवादिविषमसृष्टिर्हि प्रपञ्च्यते। अतः पूर्वापरपर्यालोचनया सृज्यशब्देनात्र देवमनुष्यादयः सृज्यविशेषा निर्दिश्यन्ते; शक्तिशब्देन च तत्तत्कर्मैव; वक्ष्यति हि कर्मण्यपि शक्तिशब्दम्। 'अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते' [ वि.पु.६।७।६१ ] इत्यादौ। 'निमित्तमात्रम्' [ वि. पु. १।४।५२ ] इति च नोपादानत्वनिषेधः, श्रुतिस्मृतिसूत्रपूर्वापरकोपप्रसङ्गात्। अतस्तत्तत्कर्मविशेषप्रयुक्ततया प्रकरणोदितविषमसृष्टेर्वैषम्यांशं प्रति प्राधान्यमनेन निषिध्यते, 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्!' [ ११।३३ ] इतिवत्; 'प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः' [ वि. पु. १।४।५१] इति। ह्यत्राप्युच्यते। नन्वेवं सत्यप्रधानत्वमीश्वरस्योक्तं स्यात्, तदपि सूत्रादिविरुद्धं कर्तृत्वविरुद्धं च; 'स्वतन्त्रः कर्ता' [अष्टा.१।४।५४] इति हि कारकचक्रं प्रति प्राधान्यं कर्तृलक्षणं स्मरन्ति। अतोऽयं प्रधानशब्द उपादानपर इति चेत्, तन्न; निमित्तोपादानैक्यश्रुत्यादिविरोधात्; उपादाने करणशब्दानौचित्याच्च। न चास्वातन्त्र्यप्रसङ्गः, विशेषप्रयोजकस्य करणभूतस्यादृष्टस्यापि तत्सापेक्षत्वात्। अतो द्वितीयश्लोकेनापि साधारणकारणतयेश्वराकाङ्क्षणमसाधारणकारणान्तरनैरपेक्ष्यं चोच्यते। तदेतदखिलमभिप्रेत्य श्लोकद्वयं व्याख्याति—

**सृज्याना**मिति। सृज्यशब्दस्य प्रकरणविशेषितोऽर्थः—**क्षेत्रज्ञाना**मित्यनेनोक्तः। निमित्तशब्दस्यात्रोपादानसहपठितनिमित्तपरत्वव्युदासायाह—**कारणमात्र**मिति। 'सृज्यशक्तयः' इत्यत्र समानाधिकरणसमासभ्रमव्युदासाय **सृज्यभूते**त्याद्युक्तम्। प्रलयकाले करणकलेवरादिरहितानामविभागापन्नानां कथं कर्मेति शङ्काव्युदासाय - **प्राचीने**त्युक्तम्। पूर्वकल्पसम्भवशरीरैः कर्माणि निष्पन्नानि, 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' [ ब्र. वै. प्र. खं. २६।७० ] इति हि स्मरन्ति; न च नित्यानां क्षेत्रज्ञानां प्रलयेऽप्यत्यन्ताविभागः। सूत्रितं चैतत्— 'न कर्माविभागादिति चेत्, न; अनादित्वादुपपद्यते चाप्युपलभ्यते च' [ब्र. सू.२।१।३५,३६] इति। वस्तुशब्दोऽत्र प्रकरणादिसिद्धसृज्यविशेषविषय इत्यभिप्रायेण-**इदं क्षेत्रज्ञवस्त्वि**त्युक्तम्। 'स्वशक्त्या वस्तु वस्तुतां नीयते' इत्युक्ते अवस्थान्तरं नीयत इत्येवोक्तं भवति; प्रागसतः सत्तायोगित्वविवक्षायां सत्कार्यवादसिद्धान्तविरोधात्, 'स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम्' इत्यत्र आत्माश्रयादिप्रसङ्गाच्च। तच्चावस्थान्तरमस्मिन्प्रकरणे प्रलयदशापन्नानां देवादिभाव एवेत्यभिप्रायेण **देवादिवस्तुभाव**मित्युक्तम्।

**३ रा. भा.—एवमुक्तेन प्रकारेण सृष्ट्यादेः कर्तारमप्यकर्तारं सृष्ट्यादिकर्मफलसङ्गरहितं च यो मामभिजानाति, स कर्मयोगारम्भविरोधिभिः फलसङ्गादिहेतुभिः प्राचीनकर्मभिर्न सम्बध्यते मुच्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— तदेवं कर्तृत्वाकर्तृत्वयोरविरोध उपपादितः, उक्तार्थस्य प्रकृतोपयोग उच्यते— **इति मा**मित्यादिना। इतिशब्दः 'चातुर्वर्ण्यम्' [ ४।१३ ] इत्यादिकं सर्वं परामृशतीत्यभिप्रायेणाह— **एव**मिति। कर्मभिरिति सामान्यतो निर्देशेऽपि प्रकृतज्ञानमात्रात् सर्वकर्मविनाशायोगात्, 'एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म' [४।१५]इत्यनन्तरवाक्यानुरोधाच्च सङ्कोचे कार्ये प्रकृतोपयुक्तो विशेषोऽयमेवेत्यभिप्रायेण **कर्मयोगारम्भविरोधिभि**रित्याद्युक्तम्। विरोधित्वेऽवान्तरव्यापारकथनम्। **फलसङ्गादिहेतुभि**रिति। यद्वा फलसङ्गादिना कृतत्वात्फलादिद्वारा कर्मयोगारम्भविरोधिभिरिति भावः। अत्र प्राचीनशब्देन निष्पन्नोपासनस्य उत्तराघाश्लेष इत्यभिप्रेतम्। प्राचीनैः प्रागेव बद्धस्य कस्तैर्बन्ध इत्यत्राह **मुच्यत इत्यर्थ** इति। एवं श्लोकद्वयेन यथोक्तकर्मयोगारम्भविरोधिपापक्षयहेतुरुक्तः ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.— अत एव 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' [ ४।१४ ] इतश्च न लिम्पन्तीत्याह— न मे कर्मफले स्पृहेति। इच्छामात्रं त्वस्ति, न तु तत्राभिनिवेशः। तच्चोक्तम् - 'आकाङ्क्षन्नपि देवोऽसौ नेच्छते लोकवत्परः। न ह्याग्रहस्तस्य विष्णोर्ज्ञानं कामो हि तस्य तु' इति। न च केचिन्मुक्ता भवन्तीति क्रमेण सर्वमुक्तिः। तथा हि श्रुतिः— "ज्ञात्वा तमेवं मनसा हृदा च भूयो न मृत्युमुपयाति विद्वान्" [ म. ना. उ. ] इति। कथं वा ? "इत्यनन्ता वेत्यनन्तवदिति होवाच" इति ॥ १४ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— अपव्याख्यानस्य दूषणान्तरं सूचयन् क्रियावैलक्षण्यकथनस्य का सङ्गतिः ? इत्यत उत्तरेण सङ्गतिमाह— **अत एवे**ति। एवशब्देनास्मद्व्याख्यान एवायं हेतुहेतुमद्भावो युज्यते, न परव्याख्यान इति सूचयति। जीवानां कर्मलेपेऽभिनिवेशादिकं कारणं तस्य नास्तीति। मिथ्यात्वं तु जीवक्रियायामपि समानमिति तेषामपि लेपाभावे किमाश्रय आक्षेपः स्यात्? ज्ञानेन विशेष इति चेत्, न; तस्याश्रवणात्। लेपनिवारणं च व्यर्थम्, तस्यापि मिथ्यात्वेन ज्ञातव्यत्वात्। हेतुहेतुमतोरुक्तत्वात् 'न मे कर्म—' इति किमर्थं ? इत्यत आह— **इतश्चे**ति। नन्वात्मार्थं भगवतः फलस्पृहाभावेऽपि परार्थमस्त्येव, तत्कथमेवमुच्यते ? इत्यत आह— **इच्छे**ति। तत्र कर्मफले येन तत्प्राप्तिपर्यन्तं मनसो विक्षेपः सोऽभिनिवेशः। अत्र प्रमाणमाह— **तच्चे**ति। 'व्यत्ययो बहुलम्' [ अष्टा. ३।१।८५ ] इति व्यत्ययः। ज्ञानं ज्ञानमिव, इति मामित्येवं ज्ञानिनो मुक्तिः

फलमुच्यते। सा च वर्तमानप्रत्ययेन। प्राक् च भूतप्रत्ययेन 'मद्भावमागताः' [४।१०] इति। तत्रैकजीववादिनामाक्षेपमुद्भाव्य प्रतिषेधति- न चेति। केचिदिदानीं मुक्ता भवन्ति, केचिद्भूता इति पक्षेऽतीत एव काले क्रमेण सर्वमुक्तिः स्यात्। तथा चेदानीं संसारानुपलम्भः स्यादिति न शङ्कनीयम्। कस्मात्? यतः श्रुतिरेवमाशङ्क्य पर्यहार्षीदित्याह— **तथा हीति**। हृदा बुद्ध्या च इत्येतत्कथं वा युज्यते? उक्ताक्षेपादित्याशङ्कायामनन्ता जीवा इत्युत्तरम्। ननु कालोऽप्यनन्तोऽत इत्यस्योत्तरमाह- **अनन्तवदिति**। "यथा भगवान् कालक्षणेभ्योऽप्यतिशयेनानन्तस्तथाऽनन्ताः कुत इति होवाच" इति श्रुत्यन्तरमिति ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.—कर्तृत्वे कर्मफलसम्बन्धात्तवानीश्वरत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— न मामिति। न मां कर्माणि यज्ञादीनि लिम्पन्ति उपश्लिष्यन्ति; देहाद्यारम्भकत्वेनाहङ्काराभावात्। न मे कर्मफले स्पृहा। अतो हेतोरकर्त्रात्मज्ञानादहं कर्मभिरलिप्त इत्यतोऽपि मां परमात्मानं योऽभिजानात्यवगच्छति कर्मभिर्न स बध्यते न लिप्यते ॥ १४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एतदेवाकर्तृत्वमुपपादयन्नाह— **न मामिति**। कर्माणि विश्वसृष्ट्यादीनि मां निरहङ्कारं न लिम्पन्ति नोपश्लिष्यन्ति; न बध्नन्तीति यावत्। मे ममावाप्तसमस्तकामस्य कर्मफले स्पृहाऽपि न विद्यते। लोके ह्यहङ्कारफलेच्छाभ्यां कर्माणि लिम्पन्ति; तदुभयाभावान्न मे लेपोऽस्ति; तदभावाच्च न वास्तवं कर्तृत्वमित्यर्थः। एतच्चाकर्तृत्वं तात्पर्येणैवोच्यते न तूपचारेणेति दर्शयितुं फलरूपं तात्पर्यलिङ्गमाह— **इति मामिति**। उक्तप्रकारेण मामकर्तारं यो जानाति स कर्मभिर्न बध्यते। निरहङ्कारत्वनिस्स्पृहत्वाभ्यां निर्लेपमकर्तारं मां जानन्स्वयमप्यहङ्कारादिशैथिल्यं प्रतिपद्य तत्त्वम्पदार्थैक्यज्ञानान्मुच्यत इत्यर्थः। यत्त्वत्र **माध्वव्याख्यानम्**— 'तस्य कर्तारं मामकर्तारं कर्तृरहितं विद्धीत्यर्थः। यद्वा कर्तारमपि मां जीवविलक्षणकर्तृत्वादकर्तारं विद्धि' इति; अत्राद्यव्याख्याने कर्तृत्वस्य कर्तृराहित्यरूपेणाकर्तृत्वेन सह विरोधाप्रसक्तेः 'कर्तारमपि' इति विरोधार्थकस्यापिशब्दस्यानुपपत्तिः। कर्तारमकर्तारमपि विद्धीत्यपिशब्दस्य समुच्चयार्थकत्वे व्यवहितान्वयदोषः। यथाश्रुतान्वये च सम्भवति दूरान्वयो न न्याय्यः। द्वितीयव्याख्याने तु अकर्तारमिति सामान्यतः कर्तृत्वनिषेधस्य जीवसाधारणकर्तृत्वनिषेधपरत्वेन सङ्कोचकल्पनं दोषः। किञ्च 'न मां कर्माणि लिम्पन्ति' इत्युत्तरश्लोके कर्मलेपाभावेन कर्तृत्वसामान्यस्यैव निषेधावगमात्तद्विरोधः। अपि च 'कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारम्' इति स्वरसतः प्रतीयमानः कर्तृत्वाभावरूपोऽर्थः कुतस्त्यज्यते? ब्रह्मणि विश्वकर्तृत्वस्य शास्त्रप्रसिद्धेरिति चेत्, तदकर्तृत्वस्यापि "निष्कलं निष्क्रियम्" [श्वे.उ. ६।१९] इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धिं किं न पश्यसि? हेयक्रियाकर्तृत्वनिषेधपरमेवेदं शास्त्रमिति चेत्, न; शोकादिहेयक्रियाकर्तृत्वस्यापि ब्रह्मणि रामायणभारतादिशास्त्रप्रतिपन्नत्वेन तन्निषेधस्याप्ययोगात्। अथ शोकादिकर्तृत्वं मायामात्रमिति शास्त्रेणैव प्रतिपन्नमिति चेत्, विश्वकर्तृत्वमपि मायामात्रमिति "अतोऽन्यदार्तम्" [बृ.उ.३।४।२;३।५।१; ३।७।२३] "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः" [गौ. पा. का. १।१७] इत्यादिशास्त्रप्रतिपन्नं कुतो न जानीषे येनैवं दुराग्रहेण गीताशास्त्रमात्मानं च नाशयसि?। विस्तरस्तु **अद्वैतपञ्जरे** द्रष्टव्यः ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— तथाहि न मामिति यतो न कर्मफले स्पृहेति इदमेव मम जीवतो विलक्षणत्वमिति मां योऽभिजानाति सोऽपि मद्धर्मा भवति ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.- नन्वेवं चेद्विद्वांसः किमिति कर्म कुर्वन्ति? तत्राह—**न मामिति**। मां कर्माणि न लिम्पन्ति वशे न कुर्वन्ति। मे मम कर्मफले यज्ञाद्ये इन्द्रियादिवत् स्पृहा इच्छा न। इत्यनेन प्रकारेण मां योऽभितो जानाति स फलभोगैर्न बध्यते १४

११ नी० भा० दी०— ननु कर्तुरपि कथमकर्तृत्वं? अत आह— न मामिति। कर्मलेपोऽपि कुतो नास्तीत्यत आह— न मे इति। यः कर्तृत्वाभिमानी स लिप्यते, यस्तु फलेच्छुः स एवात्मनः कर्तृत्वं मनुते, इति फलेच्छाभावादकर्त्ता। अकर्तृत्वाच्च न लिप्यतेऽयं इति मां योऽभिजानाति स कर्मफलस्पृहात्यागात् कर्मभिर्न बध्यते ॥ १४ ॥

**एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।**
**कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥ १५ ॥**

---

१ **नव्यास्त्वत्र**— 'एवं मोक्षकर्मणोर्विरोधाभावात् त्वं कर्म कुर्विति निश्चितमुपदिष्टं भगवता' इत्याहुः। तन्मन्दम्, अत्र मोक्षकर्मणोर्विरोधाभावप्रतिपादनाभावात्, तद्विरोधस्यान्यत्र दृढतरं समर्थितत्वाच्च। 'मुमुक्षुभिः' इत्यस्य 'ज्ञानिभिः' इति। तदीयं विवरणमप्युपेक्ष्यमेव।

— **अविगीता**।

**१ शां. भा.**—'नाहं कर्ता, न मे कर्मफले स्पृहा' इति—**एवमिति** । एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरप्यतिक्रान्तैर्मुमुक्षुभिः । कुरु तेन कर्मैव त्वं, न तूष्णीमासनं, नापि सन्न्यासः कर्तव्यः, तस्मात्त्वं पूर्वैरप्यनुष्ठितत्वात् । यद्यनात्मज्ञस्त्वं तदाऽऽत्मशुद्ध्यर्थं, तत्त्वविच्चेल्लोकसङ्ग्रहार्थं; पूर्वैर्जनकादिभिः पूर्वतरं कृतं, नाधुनातनं कृतं निर्वर्तितम् ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—तव कर्मतत्फलसम्बन्धाभावे, तथा ज्ञानवतश्च तदसम्बन्धे ममापि किं कर्मणा ? इत्याशङ्क्य कर्मणि कर्तृत्वाभिमानं तत्फले स्पृहां चाकृत्वा मुमुक्षुत्वत्त्वया कर्म कर्तव्यमेवेत्याह—**नाहमित्यादि**ना । 'नाहं कर्ता' इत्येवमादि एवमा परामृश्यते । तेन पूर्वैर्मुमुक्षुभिरनुष्ठितत्वेन हेतुनेत्यर्थः । कर्मैवेत्येवकारार्थमाह—**नेत्या**दिना । त्वंशब्दस्य क्रियापदेन सम्बन्धः । तस्मादित्युक्तमेव स्फुटयति—**पूर्वैरिति** । यदुक्तं किं मम कर्मणा ? इति तत्र त्वमज्ञो वा तत्त्वविद्वा ? यद्यज्ञस्तदा चित्तशुद्ध्यर्थं कुरु कर्मेत्याह—**यदी**ति । द्वितीयं प्रत्याह—**तत्त्वविदि**ति । कुरु कर्मेति सम्बन्धः । पूर्वैर्मूढैराचरितमित्येतावता किमिति विवेकवता मया तत्कर्तव्यं ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**जनकादिभिरिति** । ते तावदेवं सम्पाद्य कर्म कृतवन्तः, न तदिदानीमप्रामाणिकत्वादननुष्ठेयमित्याशङ्क्याऽऽह—**पूर्वतरमिति** ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.**—एवं मां ज्ञात्वाऽपि विमुक्तपापैः पूर्वैरपि मुमुक्षुभिरुक्तलक्षणं कर्म कृतं तस्मात्त्वमुक्तप्रकारमद्विषयज्ञानविधूतपापः पूर्वैर्विवस्वन्मन्वादिभिः कृतं पूर्वतरं पुरातनं तदानीमेव मयोक्तं वक्ष्यमाणाकारं कर्मैव कुरु ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.**—तत्पूर्वकं कर्मयोगं शिष्टानुष्ठानप्रदर्शनेन द्रढयन् अर्जुनं प्रत्यनुशास्ति 'एवं' इति श्लोकेन । **एवमिति**—कर्तृत्वाकर्तृत्वादिनोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । 'ज्ञात्वा कृतं कर्म' इत्युक्ते ज्ञानस्य कर्मकरणहेतुत्वं सूचितम् । 'कर्मभिर्न स बध्यते' [ ४।१४ ] इति च पूर्वमुक्तम् । अतो विरोधिपापनिवर्तनद्वारा ज्ञानस्य कर्महेतुत्वमिति व्यञ्जनाय **ज्ञात्वाऽपि विमुक्तपापैरि**त्युक्तम् । कर्मशब्दोऽत्र मुमुक्षुकर्तव्यविषयत्वात् व्यवहितमपि प्रधानप्रकृतं कर्मयोगमवलम्बत इत्यभिप्रायेण **उक्तलक्षणमि**त्युक्तम् । त्वंशब्दो गृहीतस्वयाथात्म्योपदेशतां सूचयतीत्यभिप्रायेण **त्वमुक्तप्रकारमद्विषयज्ञानविधूतपाप** इत्युक्तम् । 'इमं विवस्वते' [ ४।१ ] इत्यादावुदाहृतानुष्ठातारः पूर्वैरिति परामृश्यन्त इत्यभिप्रायेण **विवस्वन्मन्वादिभिरि**त्युक्तम् । पूर्वतरमित्यस्य क्रियाविशेषणत्वव्युदासायाह **पुरातन**मिति । तदभिप्रेतमाह **तदानीमेव मयोक्त**मिति । एवं प्रवाहानादित्वमिह विवक्षितम् । कर्मयोगस्वरूपनिष्कर्षोपोद्घातरूपत्वादस्य **वक्ष्यमाणाकार**मित्युक्तम् ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.**—एवं ज्ञात्वा कर्मकरणे आचारोऽप्यस्तीत्याह—**एवमिति** । पूर्वतरं कर्म पूर्वभावीत्यर्थः ॥ १५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—नन्वेवं ज्ञात्वेति पुनरुक्तम्, कर्मकरण आचारस्य प्रागेवोक्तत्वात्; इत्यत आह—**एवमिति** । यदि ज्ञानी कर्मभिर्न बद्ध्यते, तर्हि ममापि ज्ञानित्वेन कर्मबन्धाभावात् कथं कर्मविधानं? इत्याशङ्क्य ज्ञानिनामप्यधिकमोक्षाकाङ्क्षया कर्मकरणमाचारोऽत्रोच्यते । प्राक्तु जनकादीनां विवस्वदादीनां च विद्यमानमपि ज्ञानित्वं भगवता न विवक्षितमिति भावः । अत एव भाष्यकारेण 'तत्र कर्म कृत्वैव' इत्याद्युक्तम् । न हि ज्ञानिनां कर्मज्ञानद्वारा मुक्तिहेतुः । मुमुक्षुभिरिति 'तत्साधुकारिणि [अष्टा.३।२।१३] उप्रत्ययः । पूर्वैः कृतमित्यनेनैव पूर्वतरत्वस्योक्तत्वात् पुनरुक्तिरित्यत आह—**पूर्वतर**मिति । तैरपि ततोऽपि पूर्वभावि कृतमित्यर्थः । कर्मणः क्षणिकत्वात्कथं तदेव कर्तव्यं ? इत्यतो वेदमुक्तम् । पूर्वमिव भवतीति पूर्वभावि; अत एव कर्मेत्यनुवादः ॥ १५ ॥

**७ ह. पै. भा.**—अहमेवेश्वरः कर्मणः स्रष्टाऽहमेव च कर्तेति ज्ञात्वा पूर्वैः पुरुषैः पूर्वतरमेव कृतं कर्म, त्वं तस्मादेव हेतोः कुरु ॥ १५ ॥

**८ वें. ब्र. वि.**—इत्थं प्रासङ्गिकमवतारस्वरूपमन्यच्च तत्प्रसक्तानुप्रसक्तं निरूप्य प्रकृतमेव कर्मयोगं प्रपञ्चयितुमारभते—**एवमिति** । निरहङ्कारत्वनिस्स्पृहत्वाभ्यां कृतं कर्म न बन्धकमित्येवं ज्ञात्वा पूर्वैरपि मुमुक्षुभिर्जनकादिभिः कर्म कृतम् । तस्मात्त्वमपि सम्प्रति कर्मैव कुरु, न तूष्णीमवस्थानं, न वा कर्मसन्न्यासमित्यर्थः । न केवलं त्वत्तः पूर्वैर्जनकादिभिरेव कृतम्, किन्तु ततोऽपि पूर्वैर्मन्वादिभिरपीत्याह—**पूर्वैरि**ति । पूर्वेभ्योऽपि पूर्वैः कृतम्, अत एव पूर्वतरमतिशयेन पूर्वम्; अनादिपरम्पराप्राप्तमित्यर्थः ॥ १५ ॥

**९ व० त० दी०**—एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वा पूर्वोक्तयोगे कर्तव्यं कर्म प्रपञ्चयितुमनुस्मारयति—**एवं ज्ञात्वेति** । पूर्वोक्तप्रकारेण योगिभाववतो भगवता कृतं कर्म न बधन्कमिति ज्ञात्वा पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः क्षी-

वन्नारदादिभिर्मन्वादिभिर्वा जनकादिभिर्वा कर्म स्वधर्माख्यं वक्ष्यमाणप्रकारेण कृतम् , तस्मात्त्वमपि कर्मैव कुरु । न चेदमाधुनिकम्, किन्तु पूर्वतरं पूर्वैश्च कृतम् । इति शिष्टाचारात्कर्तव्यता बोधिता ॥ १५ ॥

१० पु. अ. त.— पूर्वैर्मुमुक्षुभिरपि विद्वद्भिरप्येवं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा कर्म कृतं; मदाज्ञारूपत्वात् कृतमिति भावः । तैर्मदाज्ञया कृतं त्वमपि पूर्वाध्यायोक्तप्रकारेण मदाज्ञयैव कुर्विल्याह— एवं ज्ञात्वेति । तस्मादेवं बन्धकाभावादेव पूर्वैर्मुमुक्षुभिः कृतं, त्वं मदाज्ञारूपत्वेन कर्म कुरु । कीदृशं ? पूर्वतरं परम्परया मुक्तैरपि मुमुक्षुदशायां कृतम् ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव शिष्टाचारप्रदर्शनपूर्वकं ग्राहयति— एवं ज्ञात्वेति । पूर्वतरं वेदोक्तत्वात् । नत्वधुना केनचित् कल्पितमित्यर्थः । पूर्वतरं प्रथमतरं कृतं, अत्यावश्यकत्वादिति वाऽर्थः ॥ १५ ॥

## किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
## तत्ते(ऽ)कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १६ ॥

**१ शां. भा.—** तत्र कर्म चेत्कर्तव्यं, त्वद्वचनादेव करोम्यहं; किं विशेषितेन ? 'पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्' इति ? उच्यते– यस्मान्महद्वैषम्यं कर्मणि । कथम् ? किं कर्मेति । किं कर्म किं चाकर्मेति कवयो मेधाविनोऽप्यत्रास्मिन्कर्मादिविषये मोहिता मोहं गताः; अतस्ते तुभ्यमहं कर्माकर्म च प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा विदित्वा कर्मादि मोक्ष्यसेऽशुभात्संसारात् ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— कर्मविशेषणमाक्षिपति— **तत्रेति** । मनुष्यलोकः सप्तम्यर्थः । कर्मणि महतो वैषम्यस्य विद्यमानत्वात्तस्य पूर्वैरनुष्ठितत्वेन पूर्वतरत्वेन च विशेषितत्वे तस्मिन्प्रवृत्तिस्तव सुकरेति युक्तं विशेषणमिति परिहरति— **उच्यत** इति । कर्मणि देहादिचेष्टारूपे लोकप्रसिद्धे नास्ति वैषम्यमिति शङ्कते— **कथमिति** । विज्ञानवतामपि कर्मादिविषये व्यामोहोपपत्तेः सुतरामेव तव तद्विषये व्यामोहसम्भवात्तदपोहार्थमासवाक्यापेक्षणादस्ति कर्मणि वैषम्यमित्युत्तरमाह— **किं कर्मेति** । 'तत्तेकर्म' इत्यत्राकारानुबन्धेनापि पदं छेत्तव्यम् । कर्मादिप्रवचनस्य प्रयोजनमाह— **यज्ज्ञात्वेति** । तत्कर्माकर्म चेति सम्बन्धः । अतो मेधाविनामपि यथोक्ते विषये व्यामोहस्य सत्त्वादित्यर्थः ॥ १६ ॥

**३ रा. भा.—** वक्ष्यमाणस्य कर्मणो दुर्ज्ञानतामाह— **किमिति** । मुमुक्षुणाऽनुष्ठेयं कर्म किंरूपम् ? अकर्म च किम् ? फलाभिसन्धिरहितं भगवदाराधनरूपं कर्म । अकर्मेति कर्तुरात्मनो याथात्म्यज्ञानमुच्यते; अनुष्ठेयं कर्म तदन्तर्गतं ज्ञानं च, किंरूपमित्युभयत्र कवयो विद्वांसोऽपि मोहिताः– यथावन्न जानन्ति; एवमन्तर्गतज्ञानं यत्कर्म तत्ते प्रवक्ष्यामि; यत् ज्ञात्वाऽनुष्ठाय अशुभात् संसारबन्धात् मोक्ष्यसे । कर्तव्यकर्मज्ञानं ह्यनुष्ठानफलम् ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— 'किं कर्म' इति श्लोके कर्माकर्मशब्दाभ्यां पृथक् ज्ञातव्यभ्रमः स्यादिति तद्व्युदासायाह— **वक्ष्यमाणस्य कर्मण** इति । 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [ ४।१८ ] इत्यादिना कर्माकर्मणोर्द्वयोरप्येककर्मयोगांशत्वं हि वक्ष्यते । अत्रापि श्लोके 'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि' इति उच्यत इत्यभिप्रेत्य **वक्ष्यमाणस्य कर्मण** इत्युक्तम् । दुर्विज्ञानत्वज्ञापनायाह **मुमुक्षुणाऽनुष्ठेयमिति** । **अकर्मेति** कर्माभावादिव्युदासायाह **आत्मनो याथात्म्यज्ञानमिति** । अनुष्ठानोपयोगित्वज्ञापनाय **कर्तुरि**त्युक्तम् । 'कवयः क्रान्तदर्शिनः' इति प्रसिद्धयाऽर्थान्तरप्रसिद्धेरत्रानुपयोगाच्च **विद्वांस** इत्युक्तम् । 'मोहिताः' इत्यत्राज्ञानं अयथाज्ञानं च विवक्षितम् ; तदुभयसङ्ग्रहायाह **यथावन्न जानन्तीति** । मोहिताः विप्रकीर्णैः शास्त्रैरिति शेषः । 'किं कर्म किमकर्म' इति द्वयोः प्रकृतत्वेऽपि 'कर्म प्रवक्ष्यामि' 'कुरु कर्मैव' 'गहना कर्मणो गतिः' [ ४।१७ ] इति पूर्वापरपरामर्शेन कर्मणः प्राधान्यमकर्मणस्तद्विशेषणत्वं च विवक्षितमित्यभिप्रायेण तच्छब्दाभिप्रेतं वैशिष्ट्यं व्यनक्ति— **एवमन्तर्गतज्ञानमिति** । संसाराबन्धादिपरमप्रयोजनविवक्षयोक्तं **ज्ञात्वा मोक्ष्यस** इति । एतावति निर्दिष्टे अनुष्ठायेति कुतो लब्धम् ? इत्यत्राह **कर्तव्यकर्मज्ञानमिति** । अत्र 'ज्ञात्वा' इतिपदमजहल्लक्षणया कर्मज्ञानानुष्ठाने अपि गृह्णाति । 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' [ ४।१५ ] इति ह्यनन्तरमेवोक्तम्; अन्यथा कर्मानुष्ठानविधिनैरर्थक्यं च स्यादिति भावः ॥ १६ ॥

**५ आ. मा. भा.—** 'कर्म कुरु' इत्युक्तम्, तस्य कर्मणो दुर्विज्ञेयत्वमाह सम्यग्वक्तुम्– किं कर्म किमकर्मेति ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'किं कर्म' इत्यस्य सङ्गतिर्न प्रतीयतेऽत आह- कर्मेति । तस्य कर्तव्यतयोक्तस्य । किमर्थम् ? सम्यग्वक्तुम् । एतदेव सम्यग्वचनम् , यज्जिज्ञासितकथनम् ; जिज्ञासा च दुर्विज्ञेयत्वोक्तौ भवतीति भावः । अत एव प्रकर्षेण वक्ष्यामीत्याह । ननूत्तरश्लोके 'विकर्मणोऽपि' गृहीतत्वादिहाप्यकर्मशब्दस्तदुपलक्षणार्थ इति स्थिते कर्मादीनामिति वक्तव्यं, 'कर्मणः' इति कथम् ? अनुष्ठेयत्वात् । अकर्मादिकं हेयतया ज्ञेयम् । अत एव 'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि' इत्याह । तत्राप्यकर्मादिरुपलक्षणात् ॥ १६॥

७ ह. पै. भा.— अध्यात्मज्ञानेन कर्मफलं प्राप्तं मन्यमानः स्वयमेव कर्मणामाध्यात्मिकस्वरूपाविष्करणार्थमाह–किमिति । किं कर्म किमकर्मेति । कर्माकर्मस्वरूपमजानन्तः कवयोऽपि मोहिताः परममूढाः । तत्त्वतस्तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यत्कर्मस्वरूपं ज्ञात्वाऽशुभात्संसाराद्विमोक्ष्यसे ॥ १६ ॥

८ वे. ब्र. गि.–कर्म कुर्वित्युक्तम् ; तत्र कीदृशं कर्म ? इति जिज्ञासां जनयितुं प्रथमं तस्य दुर्विज्ञेयतामाह— किमिति । कीदृशं कर्म कीदृशं चाकर्म ? इति कवयो मेधाविनोऽप्यत्र मोहिताः । तत् तस्माद्धेतोः ते तुभ्यं कर्म प्रवक्ष्यामि यत् ज्ञात्वाऽनुष्ठाय अशुभात्संसारान्मुक्तो भविष्यसि । अत्र किमकर्मेत्यकर्मशब्देन कर्माभावो विरुद्धकर्म चोच्यते । तदुभयस्यापि हेयत्वेन ज्ञेयत्वात् त्रयाणां प्रस्तुतत्वेऽप्युपादेयत्वेन प्राधान्यात्तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामीत्युक्तिः । यद्वा 'तेकर्म' इत्यत्र 'अकर्म' इत्यपि पदच्छेदात्कर्मविकर्माकर्मणां ग्रहणम् ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०—तदिदं विचार्यैव कर्तव्यं, न लोकपरम्परामात्रत इत्यत आह–किं कर्म किमकर्मेति । 'किं विहितमुक्तं, किञ्चाऽविहितं ?' अत्र कवयोऽपि मोहिताः; तदहं सुबोधतया वक्ष्यामि, यत्कर्म ज्ञात्वा तृतीयाद्विकर्मणोऽशुभाद्विमुक्तो भविष्यसि ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— ननु लौकिकफलसाधकं कर्मरूपमेवेति चेत्तत्राह— किं कर्मेति । किं कर्म, कीदृशं कर्म कर्तव्यम् ? अकर्म किम्, अकर्म कीदृशं अकर्तव्यम् ? इत्यत्र एतज्ज्ञाने कवयोऽपि शब्दार्थज्ञातारोऽपि मोहिता मोहं भ्रमं प्राप्ताः । तत्तस्मात्कारणात्ते कर्म कर्तव्यं प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण सन्देहाभावपूर्वकं कथयामीत्यर्थः । यत्कर्म ज्ञात्वा अशुभादकर्मणो लौकिकफलसाधकात् मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०—आवश्यकत्वेऽपि न कर्मणो गतानुगतिकतयाऽनुष्ठानं कर्तव्यं, किन्तु 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत' इति वचनात् कर्माश्रितं किञ्चिद्विशेषं ज्ञापयितुमुपोद्घातयति— किं कर्मेति । यतः कर्माकर्मणी कवीनामपि दुर्निरूपे तत्तस्मात्ते तुभ्यं कर्म अकर्म च–अकारप्रश्लेषेण ग्राह्यं–ते उभे प्रवक्ष्यामि, यत् द्वयं ज्ञात्वाऽशुभात्संसारात् मोक्ष्यसे ॥ १६ ॥

कर्माकर्मविकर्मणां दुर्बोधत्वम् ।

**कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।**
**अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥ १७ ॥**

१ शां. भा.— न चैतत्त्वया मन्तव्यं, कर्म नाम देहादिचेष्टा लोकप्रसिद्धं, अकर्म नाम तदक्रिया तूष्णीमासनं; किं तत्र बोद्धव्यं ? इति । कस्मात् ? उच्यते— कर्मण इति । कर्मणः शास्त्र-

---

१ अभिनवगुप्ताचार्यास्तु— 'कर्माकर्मणोर्विभागो दुष्परिज्ञानः । यथा— कर्मण्यपि मध्ये दुष्टं कर्मास्ति, अग्निष्टोम इव पशुवधः । विरुद्धेऽपि च कर्मणि शुभमस्ति कर्म, यथा हिंस्रप्राणिवधे प्रजोपतापाभावः । अकरणेऽपि च शुभाशुभं कर्मास्ति, वाङ्मनसकृतानां कर्मणामवश्यम्भावात् , तेषां ज्ञानमन्तरेण दुष्परिहरत्वात् । अतः कुशलैरपि गहनत्वात्कर्म न ज्ञायते— अनेन शुभकर्मणा शुभमस्माकं भविष्यति, अनेन च कर्मणामनारम्भेण मोक्षो न भविष्यतीति । तस्माद्वक्ष्यमाणो विज्ञानवह्निरेवावश्यं सकलशुभाशुभकर्मेन्धनप्लोषसमर्थः शरणत्वेनान्वेष्य इति भगवतोऽभिप्रायः' इत्याहुः ॥ पूर्वश्लोके कर्माकर्मणोर्दुर्ज्ञेयत्वात्तुभ्यं कर्म वक्ष्यामीति प्रतिज्ञायात्र तृतीयं विकर्माप्युक्त्वा 'गहना कर्मणो गतिः' इति वदतो भगवतस्त्रीण्यपि कर्माकर्मविकर्माणि बन्धकत्वाविशेषात्कर्माभिन्नानीत्यभिप्रायः । नच नित्यस्य कर्मणः फलाभावान्न बन्धकत्वमिति वाच्यम् , "कर्मणा पितृलोकः" ( बृ. उ. १।५।१६ ) इति तस्यापि फलश्रवणात् । नापि निष्कामतामात्रेण कर्मणो बन्धकत्वं व्यपैति, तस्य कर्मस्वभावधर्मत्वात् । न हि मरणकामनाविरहेऽपि पीतस्य विषस्य मारकत्वं व्यभिचरति । तस्मात् यथा यन्मारकं तद्विषम् , तथा यद्बन्धकं तत्कर्मेति लक्षणानुगमात् कर्माकर्मविकर्मसु कर्मत्वसामान्यं सूपपन्नमिति युक्तमुक्तं 'कर्मणो गतिः' इति केचित् । — अविगीता ।

विहितस्य हि यस्मादप्यस्ति बोद्धव्यं, बोद्धव्यं चास्त्येव विकर्मणः प्रतिषिद्धस्य, तथाऽकर्मणश्च तूष्णीम्भावस्य बोद्धव्यमस्तीति त्रिष्वप्यध्याहारः कर्तव्यः। यस्माद्गहना विषमा दुर्ज्ञाना–'कर्मणः' इत्युपलक्षणार्थं कर्मादीनां– कर्माकर्मविकर्मणां गतिर्याथात्म्यं, तत्त्वमित्यर्थः॥ १७॥

२ आ. शां. व्या.— कर्मणोऽकर्मणश्च प्रसिद्धत्वात्तद्विषये न किञ्चिद्बोद्धव्यमिति चोद्यमनूद्य निरस्यति— न चेति। तत्र हेत्वाकाङ्क्षापूर्वकमनन्तरश्लोकमवतारयति– कस्मादिति। त्रिष्वपि कर्माकर्मविकर्मसु बोद्धव्यमस्तीति यस्मादध्याहारस्तस्मान्मदीयं प्रवचनमर्थवदिति योजना। बोद्धव्यसद्भावे हेतुमाह— यस्मादिति। त्रितयं प्रकृत्यान्यतमस्य गहनत्ववचनमयुक्तमित्याशङ्क्यान्यतमग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वमुपेत्य विवक्षितमर्थमाह— कर्मादीनामिति॥ १७॥

३ रा. भा.—कुतोऽस्य दुर्ज्ञानता? इत्यत्राह–यस्मान्मोक्षसाधनभूते कर्मस्वरूपे बोद्धव्यमस्ति, विकर्मणि च नित्यनैमित्तिककाम्यकर्मरूपेण, तत्साधनद्रव्यार्जनाद्याकारेण च विविधतामापन्नं कर्म विकर्म। अकर्मणि ज्ञाने च बोद्धव्यमस्ति, गहना दुर्विज्ञाना मुमुक्षोः कर्मणो गतिः। विकर्मणि च बोद्धव्यं नित्यनैमित्तिककाम्यद्रव्यार्जनादौ कर्मणि फलभेदकृतं वैविध्यं परित्यज्य मोक्षैकफलतयैकशास्त्रार्थत्वानुसन्धानम्। तदेतत् 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका' [२।४१] इत्यत्रैवोक्तमिति नेह प्रपञ्च्यते॥ १७॥

४ वे. ता. चं.—'तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि' [४।१६] इत्युक्ते अनन्तरं कर्मैवोपदेश्यम् 'कर्मणो ह्यपि' इत्यादि तु कस्यामाकाङ्क्षायामुच्यते? इत्यत्राह— कुतोऽस्येति। यस्मादिति हिशब्दार्थः। कर्मणो बोद्धव्यमित्यादिरूपेण वचनं बोद्धव्यांशविशेषनिष्कर्षपरमिति व्यञ्जनाय कर्मस्वरूपे बोद्धव्यमस्तीत्युक्तम्। अत्र सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। 'गहना कर्मणो गतिः' इत्यत्र गतिशब्दो बोद्धव्यप्रकारपर इत्यपि स्वरूपशब्दाभिप्रायः। अत्र विकर्मशब्देन 'पाषण्डिनो विकर्मस्थान्' [मनुः ४।३०] इत्यादाविव न विरुद्धं कर्मोच्यते, तस्यात्रोपयोगाभावात्; अतोऽत्र विशब्दोऽनुष्ठेयवैविध्यपरः। वैविध्यं च तत्र नित्यादिरूपं प्रसिद्धमित्यभिप्रायेणाह नित्येति। आदिशब्देन रक्षणतदुपायप्रवृत्त्यादि गृह्यते। अत्र विकर्माकर्मशब्दयोः प्रतिषिद्धकर्मतूष्णीम्भावपरत्वेन परव्याख्यानं 'गहना कर्मणो गतिः' इति निगमनेन विरुद्धम्। तत्रापि विकर्माद्युपलक्षणार्थत्वं क्लिष्टम्। एवमुत्तरेष्वपि श्लोकेष्वेदमर्थ्येन व्याख्यानं निरस्तम्। यस्मादिति पूर्वमुक्तत्वात् 'गहना' इत्यत्र तस्मादिति भाव्यम्। गहनत्वं दुष्प्रवेशत्वम्; तच्चात्र ज्ञानत इत्यभिप्रायेण दुर्विज्ञानेत्युक्तम्। ननु मुमुक्षोः फलान्तरार्थेऽपि कर्मणि किं बोद्धव्यम्? इति शङ्कायां वक्तव्यं परिशेषयितुं तस्योक्तामाह—विकर्मणीति। किमत्र प्रमाणं? इत्यत्राह— तदेतदिति। नेह प्रपञ्च्यते— अस्माभिर्भगवता वेति शेषः॥ १७॥

५ आ. मा. भा.— न केवलं तज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे ज्ञात्वैवेत्याशयवानाह— कर्मण इति। तच्चोक्तम्–'अज्ञात्वा भगवान्कस्य कर्माकर्मविकर्मकम्। दर्शनं याति हि मुने! कुतो मुक्तिश्च तद्विना' इति। अकर्म कर्माकरणम्, कर्माकर्मान्यद्विकर्म निषिद्धं कर्म बन्धकत्वात्। ततो विविच्य कर्मादि बोद्धव्यमित्यादि। न च शापादिना 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' [४।१६] अशक्यं चैतज्ज्ञातुमित्याह— गहनेति॥ १७॥

६ ज. प्र. दी.— ननु 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' [४।१६] इत्यनेनैव कर्मस्वरूपं मुमुक्षुणा ज्ञातव्यमिति लब्धम्, तत्किमर्थं 'कर्मणो हि' इत्याद्युच्यते? इत्यत आह— न केवलमिति। तत्कर्मादिकम्। सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ इति भावः। अत्रैव प्रमाणमाह— तच्चेति। दर्शनापेक्षया समानकर्तृकत्वात् क्त्वानिर्देशः। कर्मशब्दार्थौ भगवतैव वक्ष्यते। अकर्मशब्दार्थावाह— अकर्मेति। किं तद्विकर्म? इत्यत आह— निषिद्धमिति। एवं चेत्कामाद्युपेतस्य कुत्रान्तर्भावः? इति चेत्, विकर्मणीति ब्रूमः। कथं तस्य निषिद्धत्वं? इत्यत आह— बन्धकत्वादिति। अस्त्वेवं शब्दार्थः, योजना तु कथं? इत्यतो लाघवार्थं द्वितीयपादयोजनां तावदाह— तत इति। ततो विकर्मणः कर्मादि कर्माकर्म च इत्यादीत्यनेनाद्यतृतीयपादयोजनां सूचयति। कर्मणो विविच्य विकर्मादि बोद्धव्यम्। अकर्मणश्च विविच्य कर्मादि बोद्धव्यमिति। ननु 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' [४।१६] इत्यनेन कर्मादेर्दुर्ज्ञेयत्वमुक्तम्, तत्पुनः किमर्थमुच्यते? इत्यत आह— न चेति। ज्ञातुं स्वभावेनेति शेषः। एतच्च श्रोतुरधिकादरजननार्थमिति ज्ञेयम्॥ १७॥

७ ह. पै. भा.— कर्म नाम शरीरेन्द्रियव्यापारस्तदभावश्चाकर्म, कथमत्र कवयोऽपि मोहिताः ? इति चेत्, उच्यते— कर्मण इति। कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं शरीरेन्द्रियव्यापारनिर्वर्त्यं रूपं बोद्धव्यं किञ्चिदस्ति। तथा विकर्मणः प्रतिषिद्धस्यापि बोद्धव्यं प्रतिषेध्यरूपमस्ति। तथाऽकर्मणः कर्माभावस्यापि बोद्धव्यं रूपमस्ति। यतः कर्मणो गतिर्गहना दुर्बोधा॥ १७॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु विहितचेष्टा कर्म, प्रतिषिद्धचेष्टा विकर्म, अचेष्टा त्वकर्मेति लोकप्रसिद्धमेव वर्तते; तत्र किं त्वया वक्तव्यम्? अत आह— कर्मण इति। अत्र कर्मण इत्यादिवाक्यत्रयेऽपि 'तत्त्वमस्ति' इति पदद्वयमध्याहार्यम्। कर्मणोऽपि तत्त्वं बोद्धव्यम्, तथा विकर्मणोऽकर्मणश्च। हि यस्मादेवं तस्मात् गहना दुर्विज्ञेया कर्मणो गतिस्तत्त्वम्। कर्मणो गतिरिति विकर्माकर्मणोरप्युपलक्षणम्। पूर्ववदकर्मण इत्यपि पदच्छेदेन वा तयोर्ग्रहणम्॥ १७॥

९ व० त० दी०— कर्मणो ह्यपीति। 'यतश्च सुतरामेव कर्ममार्गो दुरत्ययः। अतोऽपि भजनं कार्यं भजनेन हि तादृशम्॥ अन्योन्यनाशकत्वं च कर्मणां भवति क्वचित्। कर्ममार्गे फलं तस्मान्न निरूप्यं हि सर्वथा॥ जायस्वेति म्रियस्वेति तृतीयो य उदाहृतः। प्रकीर्णकानां सर्वेषां तत्फल परिकीर्तितम्' इति। अतो विहितस्य कर्मणः स्वरूपमिति शेषः। अविहितस्य कर्मणोऽथ च निषिद्धकर्मणस्तत् बोद्धव्यम्, तत्र कर्मण एव गतिर्गहना, किं पुनरन्येषाम्? इत्येकग्रहणं प्रकृतार्थम्॥ १७॥

१० पु. अ. त.— तदेवाह— कर्मण इति। हीति निश्चयेन कर्मणः कर्तव्यस्य स्वरूपं बोद्धव्यं ज्ञातव्यम्; ततो ज्ञात्वा कर्तव्यमित्यर्थः; मत्स्वरूपज्ञानार्थं; विकर्माकर्मणोः स्वरूपं त्यागार्थं ज्ञातव्यमित्याह। च पुनः विकर्मणो निषिद्धकर्मणः संसारफलसाधकस्य वा तस्य स्वरूपं तथैव। च पुनः अकर्मणोऽकर्तव्यस्य आसुरस्य स्वरूपं बोद्धव्यम्। कर्मणो गतिः त्रयाणां कर्तव्यस्य पर्यवसानफलाप्तिरूपा गहना दुर्विज्ञेयेत्यर्थः॥ १७॥

११ नी० भा० दी०— एतज्ज्ञानमावश्यकमित्याह— कर्मण इति। तत्त्वं बोद्धव्यमस्तीति स्थलत्रयेऽपि तत्त्वमस्तीति पदद्वयाध्याहारः; कर्मणः शास्त्रविहितस्य, विकर्मणः प्रतिषिद्धस्य, अकर्मणस्तूष्णीम्भावस्य। 'गहना कर्मणः' इत्यत्र 'कर्मणः' इति त्रितयोपलक्षणं, कर्मविकर्माकर्मणां गतिर्याथात्म्यं तत्त्वं गहनम्॥ १७॥

कर्माकर्मविकर्मतत्त्वज्ञानिनो मोक्षार्हता।

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।**
**स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ १८॥**

१ शां. भा.— किं पुनस्तत्त्वं कर्मादेर्यद्बोद्धव्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातं? उच्यते— कर्मणीति। कर्मणि, कर्म क्रियत इति कर्म व्यापारमात्रं, तस्मिन्कर्मण्यकर्म कर्माभावं यः पश्येत्; अकर्मणि च कर्माभावे कर्तृतन्त्रत्वात् प्रवृत्तिनिवृत्त्योर्वस्त्वप्राप्यैव हि सर्व एव क्रियाकारकादिव्यवहारोऽविद्याभूमावेव कर्म यः पश्येत् पश्यति, स बुद्धिमान्मनुष्येषु, स युक्तो योगी च कृत्स्नकर्मकृत्समस्तकर्मकृच्च स इति स्तूयते कर्माकर्मणोरितरेतरदर्शी।

२ आ. शां. व्या.— उत्तरश्लोकमाकाङ्क्षापूर्वकमुपादत्ते— किं पुनरिति। प्रथमपादस्याक्षरोत्थमर्थं कथयति— कर्मणीत्यादिना। द्वितीयपादस्यापि शब्दप्रकाशितमर्थं निर्दिशति— अकर्मणि चेति। कर्माभावे यः कर्म पश्यतीति सम्बन्धः।

१ कर्मणीति— आत्मीयेषु कर्मसु यः अकर्तृत्वादकर्मत्वं पश्यति प्रशान्ततया, अकर्मसु च परकृतेष्वात्मकृतत्वं जानाति परिपूर्णोदितरूपत्वेन, स एव सर्वस्य मध्ये बुद्धिमान्। कार्त्स्न्येन साकल्येनासौ कर्म करोति, अतोऽस्य केन कर्मणा फलं दीयतामित्युदितदशायाम्। प्रशान्तत्वे तु— कृत्स्नानि कर्माणि कृन्तति छिनत्ति। अतः सर्वमेव कर्म करोति, न किञ्चिद्वा करोतीत्युपनिषत्— इत्यभिनवगुप्तपादाः। तत्र कर्मकृदिति कर्मण्युपपदे 'डुकृञ् करणे' (तना. १४७३) 'कृती छेदने' (तु. १४३६) इत्यनयोः 'क्विप् च' (अष्टा. ३।२।७६) इति क्विपि, पूर्वत्र 'ह्रस्वस्य पिति कृति—' (अष्टा. ६।१।७१) इति तुकि; परत्र तल्लोपमात्रे च बोध्यम्॥ ॥ नव्यास्त्वत्र कर्माकर्मविकर्मशब्दैः क्रमेण राजससात्त्विकतामसकर्माणि लक्ष्यन्त इति वदन्ति। तदयुक्तम्, तथा सति राजससात्त्विककर्मणोर्मिथोऽध्यासं पश्यतो मनुष्येषु बुद्धिमत्त्वयुक्तत्वादिप्रसङ्गात्, तादृशदृष्टेर्भ्रममूलकत्वेन तस्यासङ्गतत्वाच्च।　—अविगीता।

प्रवृत्तेरेव कर्मत्वान्निवृत्तेस्तदभावत्वात्तत्र कथं कर्मदर्शनमित्याशङ्क्य द्वयोरपि कारकाधीनत्वेनाविशेषमभिप्रेत्याऽऽह— **कर्तृतन्त्रत्वादि**ति। प्रवृत्ताविव निवृत्तावपि कर्मदर्शनमविरुद्धमिति शेषः। ननु निवृत्तेर्वस्त्वधीनत्वात् कारकनिबन्धनाभावान्न तत्र कर्मदर्शनं युज्यते, तत्राऽऽह— **वस्त्वि**ति। क्रियाकारकफलव्यवहारस्य सर्वस्याविद्यावस्थायामेव प्रवृत्तत्वाद्वस्तुसंस्पर्शशून्यत्वात् प्रवृत्तिवन्निवृत्तावपि यः कर्म पश्यति स मनुष्येषु बुद्धिमानिति सम्बन्धः। कर्मण्यकर्माकर्मणि च कर्म पश्यतो बुद्धिमत्त्वं युक्तत्वं समस्तकर्मकृत्त्वं च कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **इति स्तूयत** इति।

**१ शां. भा.— ननु किमिदं विरुद्धमुच्यते 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इति ? 'अकर्मणि च कर्म' इति ? न हि कर्माकर्म स्यादकर्म वा कर्म, तत्र विरुद्धं कथं पश्येद्द्रष्टा ? न; अकर्मैव परमार्थतः सत्कर्मवदवभासते मूढदृष्टेर्लोकस्य, तथा कर्मैवाकर्मवत्। तत्र यथाभूतदर्शनार्थमाह भगवान् 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यादि। अतो न विरुद्धम्, बुद्धिमत्त्वाद्युपपत्तेश्च। 'बोद्धव्यं' [४।१७] इति च यथाभूतदर्शनमुच्यते। न च विपरीतज्ञानादशुभान्मोक्षणं स्यात् 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' [४।१६] इति चोक्तम्। तस्मात्कर्माकर्मणी विपर्ययेण गृहीते प्राणिभिस्तद्विपर्ययग्रहणनिवृत्त्यर्थं भगवतो वचनं 'कर्मण्यकर्म यः' इत्यादि।**

**२ आ. शां. व्या.**— श्लोकस्य शब्दोत्थेऽर्थे दर्शिते, तात्पर्यार्थापरिज्ञानान्मिथोविरोधं शङ्कते— **नन्वि**ति। कथमिदं विरुद्धं ? इत्याशङ्क्य कर्मणीति विषयसप्तमी वा स्यादधिकरणसप्तमी वेति विकल्प्याऽऽद्येऽन्याकारं ज्ञानमन्यालम्बनमिति स्पष्टो विरोधः स्यादित्याह— **न ही**ति। अन्यस्यान्यात्मतायोगात्कर्माकर्मणोरभेदासम्भवादकर्माकारं कर्मालम्बनं ज्ञानमयुक्तमित्यर्थः। द्वितीयं दूषयति— **तत्रे**ति। कर्मण्यधिकरणे ततो विरुद्धमकर्म कथमाधेयं द्रष्टा द्रष्टुमीष्टे ? न हि कर्माकर्मणोर्मिथोविरुद्धयोराधाराधेयभावः सम्भवतीत्यर्थः। विषयसप्तमीमभ्युपेत्य सिद्धान्ती परिहरति— **ने**ति। लोकस्य मूढदृष्टेर्विवेकवर्जितस्य परमार्थतो ब्रह्माकर्माक्रियमेव सद्भ्रान्त्या कर्मसहितं क्रियावदिव प्रतिभातीत्यक्षरार्थः। परस्पराध्यासमभ्युपेत्योक्तं— **तथे**ति। यथा खल्वकर्म कर्मवदुपलभ्यते तथा कर्म सक्रियमेव द्वैतमक्रिये ब्रह्मण्यधिष्ठाने संसृष्टं तद्वद्भातीत्यक्षरयोजना। कर्माकर्मणोरितरेतराध्यासे सिद्धे सम्यग्दर्शनसिद्ध्यर्थं भगवतो वचनमुचितमित्याह— **तत्रे**ति। यथा यदिदं रजतमिति प्रतिपन्नं तदिदानीं शुक्तिशकलं पश्येति भ्रमसिद्धरजतरूपविषयानुवादेन तदधिष्ठान शुक्तिमात्रमुपदिश्यते, तथा भ्रमसिद्धकर्माद्यात्मकविषयानुवादेन तदधिष्ठानं कर्मादिरहितं कूटस्थं ब्रह्म भगवता व्यपदिश्यते। तथा च भगवद्वचनमविरुद्धमित्याह— **अत** इति। इतश्चाध्यारोपितकर्माद्यनुवादपूर्वकं तदधिष्ठानस्य कर्मादिरहितस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणो भगवता बोध्यमानत्वान्न तत्र विरोधाशङ्कावकाशो भवतीत्याह— **बुद्धिमत्त्वादी**ति। कूटस्थाद्ब्रह्मणोऽन्यस्य सर्वस्य मायामात्रत्वादन्यज्ञानाद्बुद्धिमत्त्वयुक्तत्वसर्वकर्मकृत्त्वानामनुपपत्तेः, अत्र च 'स बुद्धिमान्' इत्यादिना बुद्धिमत्त्वादिनिर्देशाद्ब्रह्मज्ञानादेव तदुपपत्तेः, सर्वक्रियारहितब्रह्मज्ञानमेव विवक्षितमित्यर्थः। बोधशब्दस्य सम्यग्ज्ञाने प्रसिद्धत्वात् कर्माकर्मविकर्मणां स्वरूपं बोद्धव्यमस्तीति वदता सम्यग्ज्ञानोपदेशस्य विवक्षितत्वादपि कूटस्थं ब्रह्मात्राभिप्रेतमित्याह— **बोद्धव्यमि**ति। फलवचनपर्यालोचनायामपि कूटस्थं ब्रह्मात्राभिप्रेतं प्रतिभातीत्याह— **न चे**ति। सम्यग्ज्ञानाधीनफलमत्र न श्रुतमित्याशङ्क्याऽऽह— **यज्ज्ञात्वे**ति। अध्यारोपापवादार्थं भगवद्वचनमविरुद्धमित्युपपादितमुपसंहरति— **तस्मादि**ति। 'तद्विपर्यय-' इत्यत्र तच्छब्देन प्राणिनो गृह्यन्ते।

**१ शां. भा.— न चात्र कर्माधिकरणमकर्मास्ति, कुण्डे बदराणीव। नाप्यकर्माधिकरणं कर्मास्ति कर्माभावत्वादकर्मणः। अतो विपरीतगृहीते एव कर्माकर्मणी लौकिकैः, यथा मृगतृष्णिकायामुदकं शुक्तिकायां वा रजतम्। ननु कर्म कर्मैव सर्वेषां न क्वचिद्व्यभिचरति; तन्न, नौस्थस्य नावि गच्छन्त्यां तटस्थेष्वगतिषु नगेषु प्रतिकूलगतिदर्शनात्, दूरेषु चक्षुषाऽसन्निकृष्टेषु गच्छत्सु गत्यभावदर्शनात्; एवमिहाप्यकर्मण्यहं करोमीति कर्मदर्शनं कर्मणि चाकर्मदर्शनं विपरीतदर्शनं येन, तन्निराकरणार्थमुच्यते 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यादि।**

**२ आ. शां. व्या.**— विषयसप्तमीपरिग्रहेण परिहारमभिधायाधिकरणसप्तमीपक्षे दर्शितं दूषणमनङ्गीकारेण परिहरति— **न चे**ति। व्यवहारभूमिरत्रेत्युच्यते, योग्यत्वे सत्यनुपलब्धेरित्यर्थः। अकर्माधिकरणं कर्म न सम्भवतीत्यत्र हेत्वन्तरमाह— **कर्माभावत्वादि**ति। न हि तुच्छस्याधिकरणं क्वचिद्दृष्टमिष्टं चेत्यर्थः। निरूप्यमाणे कर्माकर्मणोरधिकरणाधिकर्तव्यभावासम्भवे फलितमाह— **अत** इति। शास्त्रपरिचयविरहिणामध्यारोपमुदाहरति— **यथे**ति। कर्माकर्मणोरारोपितत्वमुक्तममृष्यन्नाशङ्कते— **नन्वि**ति। कर्म कर्मैवेत्यत्राकर्म चाकर्मैवेति द्रष्टव्यं,

विमतं सत्यम्, अव्यभिचारित्वात्, ब्रह्मवदित्यर्थः । तत्र कर्म तत्त्वतो नाव्यभिचारि, कर्मत्वात्; नौस्थस्य तटस्थवृक्षगमनवदित्यव्यभिचारित्वं कर्मण्यसिद्धमिति परिहरति— **तन्नेति** । अकर्म च तत्त्वतो नाव्यभिचारि, कर्माभावत्वात्; दूरप्रदेशे चैत्रमैत्रादिषु गच्छत्स्वेव चक्षुषा सन्निधानविधुरेषु दृश्यमानगत्यभाववदित्याह— **दूरेष्विति** । दूरत्वादेव विशेषतः सन्निकर्षविरहितेषु तेषु स्वरूपेण चक्षुस्सन्निकृष्टेषु चक्षुषा गत्यभावदर्शनादिति योजना । गतिरहितेषु तरुषु गतिदर्शनवत्प्रकृते ब्रह्मण्यविक्रिये कर्मदर्शनं सक्रिये च द्वैतप्रपञ्चे गतिमत्सु चैत्रादिषु गत्यभावदर्शनवत्कर्माभावस्य विपरीतस्य दर्शनं येन हेतुना सम्भवति, तेन तस्य विपरीतदर्शनस्य निरसनार्थं भगवद्वचनमिति दार्ष्टान्तिकं निगमयति— **एवमित्यादिना** ।

**१ शां. भा.— तदेतदुक्तप्रतिवचनमप्यसकृदत्यन्तविपरीतदर्शनभाविततया मोमुह्यमानो लोकः श्रुतमप्यसकृत्तत्त्वं विस्मृत्य विस्मृत्य मिथ्याप्रसङ्गमवतार्यावतार्य चोदयतीति पुनः पुनरुत्तरमाह भगवान्, दुर्विज्ञेयत्वं चाऽऽलक्ष्य वस्तुनः । ' अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं ' [ २।२५ ] 'न जायते म्रियते' [कठो. २।१८] इत्यादिनाऽऽत्मनि कर्माभावः श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्ध उक्तो वक्ष्यमाणश्च । तस्मिन्नात्मनि कर्माभावेऽकर्मणि कर्मविपरीतदर्शनमत्यन्तनिरूढम् । यतः ' किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' [ ४।१६ ] देहाद्याश्रयं कर्माऽऽत्मन्यध्यारोप्य 'अहं कर्ता, ममैतत्कर्म, मयाऽस्य कर्मणः फलं भोक्तव्यं' इति च । तथा 'अहं तूष्णीं भवामि, येनाहं निरायासोऽकर्मा सुखी स्यां' इति कार्यकरणाश्रयव्यापारोपरमं तत्कृतं च सुखित्वमात्मन्यध्यारोप्य ' न करोमि किञ्चित्तूष्णीं सुखमासं ' इत्यभिमन्यते लोकः । तत्रेदं लोकस्य विपरीतदर्शनापनयनायाऽऽह भगवान् ' कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ' इत्यादि ।**

२ आ. शां. व्या.— ननु कर्मतदभावयोरारोपितत्वादधिक्रियस्य ब्रह्मणो ज्ञानमत्राभिप्रेतं चेत् ' अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं' [२।२५] 'न जायते म्रियते वा' [२।१८] इत्यादिना पौनरुक्त्यं प्राप्तं, तत्रैव ब्रह्मात्मनो निर्विकारस्योक्तत्वादिति तत्राऽऽह— **तदेतदिति** । तदेतदात्मनि शङ्कितं सक्रियत्वमसकृदुक्तप्रतिवचनमपि, निर्विकारात्मवस्त्वपेक्षयाऽत्यन्तविपरीतदर्शनं मिथ्याज्ञानं तेन भावितत्वं तत्संस्कारप्रचयवत्त्वं, ततोऽतिशयेन मोहमापद्यमानो लोकः, श्रुतमपि तत्त्वं विस्मृत्य पुनर्यत्किञ्चित्प्रसङ्गमापाद्य सक्रियत्वमेवाऽऽत्मनश्चोदयतीति पुनःपुनस्तत्त्वभूतमुत्तरं भगवानभिधत्ते । वस्तुनश्च दुर्विज्ञेयत्वात्पुनः पुनः प्रतिपादनं तत्तद्भ्रमनिराकरणार्थमुपयुज्यते । तथा च नास्ति पुनरुक्तिरित्यर्थः । असकृदुक्तप्रतिवचनमेवानुवदति— **अव्यक्तोऽयमिति** । कर्माभाव उक्त इति सम्बन्धः । उक्तस्य " न जायते म्रियते वा विपश्चित् " [ कठो. २।१८ ] इत्यादिश्रुतौ प्रकृतस्मृतावसङ्गत्वादिन्यायेन च प्रसिद्धत्वमस्तीत्याह— **श्रुतीति** । न केवलमुक्तः कर्माभावः, किन्तु ' सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य ' [ ५।१३ ] इत्यादौ वक्ष्यमाणश्चेत्याह— **वक्ष्यमाणश्चेति** । ननु कर्मणो देहादिनिर्वर्त्यत्वेन त्रैविध्यात् कूटस्थस्वभावस्याऽऽत्मनोऽसङ्गत्वात् तद्व्यापाररूपस्य कर्मणोऽप्रसिद्धत्वान्न तस्मिन्नकर्मणि विपरीतस्य कर्मणो दर्शनं सिद्ध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मिन्निति** । कर्मैव विपरीतं तस्य दर्शनमिति यावत् । 'अहं कर्ता' इत्यात्मसमानाधिकरणस्य व्यापारस्यानुभवात्कर्मभ्रमस्तावदात्मन्यत्यन्तरूढोऽस्तीत्यर्थः । आत्मनि कर्मविभ्रमोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह— **यत इति** । आत्मनो निष्क्रियत्वे कुतस्तस्मिन् यथोक्तो विभ्रमः सम्भवेत्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **देहेति** । इदानीमात्मन्यकर्मभ्रममुदाहरति— **तथेत्यादिना** । यथा शुक्तौ स्वाभाविकमरूप्यत्वं रूप्यत्वमारोपितं, तदभावोऽध्यारोप्याभावत्वादारोपपक्षपाती; तथाऽऽत्मनोऽपि स्वाभाविकमविक्रियत्वं सक्रियत्वं पुनरध्यस्तं, तदभावत्वात्कर्माभावोऽप्यध्यस्त एवेति मन्वानः सन्नुपसंहरति— **तत्रेदमिति** । आत्मनि कर्मादिविभ्रमे लौकिके सिद्धे सतीदं 'कर्मणि' इत्यादिवचनं तत्परिहारार्थं भगवानुक्तवानित्यर्थः ।

**१ शां. भा.— अत्र च कर्म कर्मैव सत्कार्यकरणाश्रयं कर्मरहितेऽविक्रिय आत्मनि सर्वैरध्यस्तं, यतः पण्डितोऽपि ' अहं करोमि ' इति मन्यते । अत आत्मसमवेततया सर्वलोकप्रसिद्धे कर्मणि नदीकूलस्थेष्विव वृक्षेषु गतिः प्रातिलोम्येनाकर्म कर्माभावं यथाभूतं गत्यभावमिव वृक्षेषु यः पश्येत्, अकर्मणि च कार्यकरणव्यापारोपरमे कर्मवदात्मन्यध्यारोपिते ' तूष्णीमकुर्वन्सुखमासे ' इत्यहङ्काराभिसन्धिहेतुत्वात्तस्मिन्नकर्मणि च कर्म यः पश्येत् । य एवं कर्माकर्मविभागज्ञः स बुद्धिमान् पण्डितो मनुष्येषु, स युक्तो योगी कृत्स्नकर्मकृच्च; सोऽशुभान्मोक्षितः कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ।**

२ आ. शां. व्या.— सम्प्रत्युक्तेऽर्थे श्लोकाक्षरसमन्वयं दर्शयितुं कर्मणीत्यादि व्याचिख्यासुर्भूमिकां करोति— अत्र चेति। व्यवहारभूमौ कार्यकरणाधिकरणं कर्म स्वेनैव रूपेण व्यवस्थितं सदात्मन्यविक्रिये कार्यकरणारोपणद्वारेण सर्वैरारोपितमित्यत्र हेतुमाह— यत इति। अविवेकिनां तु कर्तृत्वाभिमानः सुतरामिति वक्तुमपिशब्दः। एवमात्मनि कर्मारोपमुपपाद्य प्रथमपादं व्याचष्टे— अत इति। आत्मनि कर्मरहिते कर्मारोपे दृष्टान्तमाह — नदीति। आरोपवशादात्मनिष्ठत्वेन कर्मणि सर्वलोकप्रसिद्धे कर्माभावं यः पश्येत्स बुद्धिमानिति सम्बन्धः। अकर्मदर्शनस्य यथाभूतत्वं सम्यक्त्वम्। तत्र दृष्टान्तमाह— गत्यभावमिवेति। द्वितीयपादं व्याकरोति— अकर्मणि चेति। अध्यारोपमभिनयति— तूष्णीमिति। अकर्मणि कर्मदर्शने युक्तिमाह— अहङ्कारेति। पूर्वार्धेनोक्तमनूद्योत्तरार्धं विभजते— स एवमिति।

**१ शां. भा.— अयं श्लोकोऽन्यथा व्याख्यातः कैश्चित्। कथं ? नित्यानां किल कर्मणामीश्वरार्थेऽनुष्ठीयमानानां तत्फलाभावादकर्माणि तान्युच्यन्ते गौण्या वृत्त्या। तेषां चाकरणमकर्म, तच्च प्रत्यवायफलत्वात्कर्मोच्यते गौण्यैव वृत्त्या। तत्र नित्ये कर्मण्यकर्म यः पश्येत्फलाभावात्। यथा धेनुरपि गौरगौरुच्यते क्षीराख्यं फलं न प्रयच्छतीति तद्वत्। तथा नित्याकरणे त्वकर्मणि कर्म यः पश्येन्नरकादिप्रत्यवायफलं प्रयच्छतीति। नैतद्युक्तं व्याख्यानम्। एवंज्ञानादशुभान्मोक्षानुपपत्तेः 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' [४।१६] इति भगवतोक्तं वचनं बाध्येत। कथं ? नित्यानामनुष्ठानादशुभात्स्यान्नाम मोक्षणं, न तु तेषां फलाभावज्ञानात्। न हि नित्यानां फलाभावज्ञानमशुभमुक्तिफलत्वेन चोदितं नित्यकर्मज्ञानं वा। न च भगवतैवेहोक्तम्।**

२ आ. शां. व्या.— आत्मनि कार्यकरणसङ्घातसमारोपद्वारेण तद्व्यापारमात्रे कर्मणि शुक्तिकायामिव रजतमारोपितविषये तदभावमकर्म वस्तुतो यो रजताभाववदनुभवति, अकर्मणि च सङ्घातव्यापारोपरमे तद्द्वारा स्वात्मनि 'अहं तूष्णीमासे सुखं' इत्यारोपिते गोचरे कर्माहङ्कारहेतुकं यस्तत्त्वतो मन्यते, स रूप्यतदभावविभागहीनशुक्तिमात्रवदात्ममात्रं कर्मतदभावविभागशून्यं कूटस्थं परमार्थतोऽवगच्छन्बुद्धिमानित्यादिस्तुतियोग्यतां गच्छतीत्येवं स्वाभिप्रायेण श्लोकं व्याख्याय तत्र वृत्तिकारव्याख्यानमुत्थापयति— अयमिति। अन्यथाव्याख्यानमेव प्रश्नद्वारा प्रकटयति— कथमित्यादिना। ईश्वरार्थेनानुष्ठाने फलाभाववचनं व्याहतमिति मत्वाऽऽह— किलेति। नित्यानामकर्मत्वमप्रसिद्धमित्याशङ्क्य फलराहित्यगुणयोगात्तेष्वकर्मव्यवहारः सिध्यतीत्याह— गौण्येति। नित्यानामकरणं मुख्यवृत्त्यैवाकर्मशब्दवाच्यमित्याह— तेषां चेति। तत्र कर्मशब्दस्य प्रत्यवायाख्यफलहेतुत्वगुणयोगाद्गौण्यैव वृत्त्या प्रवृत्तिरित्याह— तच्चेति। पातनिकामेवं कृत्वा श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे— तत्रेत्यादिना। 'अकर्मणि च' इत्यादि व्याकरोति— तथेति। 'स बुद्धिमान्' इत्यादि पूर्ववत्। परकीयं व्याख्यानं दूषयति— नैतदिति। नित्यं कर्माकर्म नित्याकरणं कर्मेति ज्ञानाद्दुरितनिवृत्त्यनुपपत्तेर्भगवद्वचनवृत्तिकारमते बाधितं स्यादित्यर्थः। "धर्मेण पापमपनुदति" [ म.ना.उ. २१।१ ] इति श्रुतेर्नित्यानुष्ठानाद्दुरितनिबर्हणप्रसिद्धेस्तदनुष्ठानस्य फलान्तराभावात्तदकर्मेति ज्ञात्वा नित्यानुष्ठाने क्रियमाणे कथमशुभक्षयो नेति शङ्कते— कथमिति। 'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' [ या. स्मृ. ३।३४ ] इति स्मरणात्कर्मणाऽऽत्यन्तिकाशुभक्षयाभावेऽप्यङ्गीकृत्य परिहरति— नित्यानामिति। नित्यानुष्ठानादशुभक्षयेऽपि नास्मिन्प्रकरणे तद्विवक्षितं 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' [४।१६] इति ज्ञानादशुभक्षयस्य प्रतिज्ञातत्वात्। नच तज्ज्ञानं फलाभावविषयमेषितव्यमित्याह— न त्विति। अशुभस्य फलाभावाज्ञानकार्यत्वाभावान्न फलाभावज्ञानात् क्षयः सिध्यतीत्यर्थः। किञ्चातीन्द्रियोऽर्थः शास्त्रान्निश्चीयते, न च नित्यकर्मणां फलाभावज्ञानादशुभनिवृत्तिरित्यत्र शास्त्रमस्तीत्याह— न हीति। नित्याकरणं कर्मेति ज्ञानमपि नाशुभनिवृत्तिफलत्वेन चोदितमस्तीत्याह— नित्यकर्मेति। भगवद्वचनमेवात्र प्रमाणमित्याशङ्क्याऽऽह— न चेति। साधारणमेव 'यज्ज्ञात्वा' इत्यादि भगवतो वचनं, न तु नित्यानां फलाभावं ज्ञात्वेति विशेषविषयमित्यर्थः।

**१ शां. भा.— एतेनाकर्मणि कर्मदर्शनं प्रत्युक्तम्; न ह्यकर्मणि कर्मेति दर्शनं कर्तव्यतयेह चोद्यते; नित्यस्य तु कर्तव्यतामात्रम्; न चाकरणान्नित्यस्य प्रत्यवायो भवतीति विज्ञानात्किञ्चित्फलं स्यात्। नापि नित्याकरणं ज्ञेयत्वेन चोदितम्। नापि कर्माकर्मेति मिथ्यादर्शनादशुभान्मोक्षणं, बुद्धिमत्त्वं, युक्तता, कृत्स्नकर्मकृत्त्वादि च फलमुपपद्यते, स्तुतिर्वा। मिथ्याज्ञानमेव हि साक्षादशुभरूपं कुतोऽन्यस्मादशुभान्मोक्षणं ? न हि तमस्तमसो निवर्तकं भवति।**

२ आ. शां. व्या.— अशुभमोक्षणासम्भवप्रदर्शनेन कर्मण्यकर्मदर्शननिराकरणन्यायेनाकर्मणि कर्मदर्शनं निराकरोति— एतेनेति। ग्रामादिषु फलाय ब्रह्मदृष्टिवदकर्मण्यपि फलार्थं कर्मदृष्टिविधानान्नाशुभमोक्षणानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— न हीति। अत्र हि श्लोके नित्यस्य कर्तव्यतामात्रं परमते विवक्षितमतश्चाकर्मणि कर्मदर्शनं विधीयते तत्फलायेति कल्पना

परस्य सिद्धान्तविरुद्धेत्याह— नित्यस्य त्विति । परमतेऽपि नित्यस्य कर्तव्यतामात्रमत्र श्लोके न विवक्षितं, किन्तु नित्यानुष्ठाने प्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं नित्याकरणात्प्रत्यवायो भवतीति ज्ञानमपि कर्तव्यत्वेनात्र विवक्षितमेवेत्याशङ्क्याऽऽह— न चेति । न तावत्प्रवृत्तिरस्य विज्ञानस्य फलं, नियोगादेव तदुपपत्तेः; नापि फलान्तरम्, अनुपलम्भात्; अतोऽफलत्वादकरणात्प्रत्यवायो भवतीति ज्ञानं नात्र कर्तव्यत्वेन विवक्षितमित्यर्थः । किञ्चाकरणे कर्मत्वविधिघाकरणस्याऽऽलम्बनत्वेन प्रधानत्वाज्ज्ञेयत्वं वक्तव्यं, तच्च तुच्छत्वादनुपपन्नमित्याह— नापीति । अकरणस्यासतो नामादिवदाश्रयत्वेन दर्शनासम्भवेऽपि सामानाधिकरण्येनेदं रजतमितिवद्दर्शनं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— नापि कर्मेति । आदिशब्देन सर्वोत्कर्षादि गृह्यते; फलवत्त्वं स्तुतिर्वा सम्यग्ज्ञानस्य युक्तं, न मिथ्याज्ञानस्य; अनुपलब्धेरित्यर्थः । स्वप्ने मिथ्याज्ञानमपि फलवदुपलब्धमित्याशङ्क्य मिथ्याज्ञानस्याशुभाविरोधित्वान्न तस्मात्तन्निवृत्तिरित्याह— मिथ्याज्ञानमेवेति । अशुभादेवाशुभानिवृत्तौ दृष्टान्तमाह-— न हीति ।

**१ शां. भा.— ननु कर्मणि यदकर्मदर्शनमकर्मणि वा कर्मदर्शनं, न तन्मिथ्याज्ञानं; किं तर्हि गौणं फलभावाभावनिमित्तम् ? न; कर्माकर्मविज्ञानादपि गौणात्फलस्याश्रवणात् । नापि श्रुतहान्यश्रुतपरिकल्पनया कश्चिद्विशेषो लभ्यते । स्वशब्देनापि शक्यं वक्तुं नित्यकर्मणां फलं नास्त्यकरणाच्च तेषां नरकपातः स्यादिति, तत्र व्याजेन परव्यामोहरूपेण 'कर्मणि अकर्म यः पश्येत्' इत्यादिना किम् ? तत्रैवं व्याचक्षाणेन भगवतोक्तं वाक्यं लोकव्यामोहार्थमिति व्यक्तं कल्पितं स्यात् । न चैतच्छद्मरूपेण वाक्येन रक्षणीयं वस्तु, नापि शब्दान्तरेण पुनः पुनरुच्यमानं सुबोधं स्यादित्येवं वक्तुं युक्तम् । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [ २।४७ ] इत्यत्र हि स्फुटतर उक्तोऽर्थो न पुनर्वक्तव्यो भवति । सर्वत्र च प्रशस्तं बोद्धव्यं च कर्तव्यमेव, न निष्प्रयोजनं बोद्धव्यमित्युच्यते ।**

२ आ. शां. व्या.— अविवेकपूर्वकं 'इदं रजतं' इति सदसतोः सामानाधिकरण्यान्मिथ्याज्ञानं युक्तं, कर्माकर्मणोस्तु विवेकेन भासमानयोः सामानाधिकरण्याधीनं ज्ञानं सिंहदेवदत्तयोरिव गौणं, न मिथ्याज्ञानमिति शङ्कते— नन्विति । कर्माकर्मेति दर्शनेन फलाभावो गुणः, अकर्म कर्मेति दर्शने तु फलभावो गुणस्तन्निमित्तमिदं ज्ञानं गौणमित्याह— फलेति । यथोक्तज्ञानस्य गौणत्वेऽपि प्रामाणिकफलाभावान्न तद्गौणतोचितेति दूषयति— नेत्यादिना । कर्माकर्मेत्यादिगौणविज्ञानोपन्यासव्याजेन नित्यकर्मणः कर्तव्यतया विवक्षितत्वाद्गौणज्ञानस्याफलत्वमदूषणमित्याशङ्क्याऽऽह— नापीति । ज्ञानादशुभमोक्षणस्य श्रुतस्य हानिरश्रुतस्य नित्यानुष्ठानस्य कल्पनेत्यनेन व्यापारगौरवेण न कश्चिद्विशेषः सिध्यतीत्यर्थः । उक्तमेव प्रपञ्चयति— स्वशब्देनेति । नरकपातः स्यादतो विधेरेवानुष्ठेयानि तानीति शेषः । यथोक्तवाचककर्मशब्दप्रयोगादेवापेक्षितार्थसिद्धिसम्भवे भगवतो व्याजवचनकल्पनमनुचितमित्याह— तत्रेति । प्रकृते श्लोके वृत्तिकृतां व्याख्यानेन परमाप्तस्यैव भगवतो विप्रलम्भकत्वमापादितमिति तदीयं व्याख्यानमुपेक्षितव्यमिति फलितमाह— तत्रैवमिति । नित्यकर्मानुष्ठानसिद्ध्यर्थं व्याजरूपमपि भगवद्वचनमुचितमित्याशङ्क्य स्वशब्देनापीत्यादिप्रागुक्तपरिपाट्या तदनुष्ठानबोधनसम्भवान्नैवमित्याह— न चैतदिति । वस्तुशब्देन नित्यकर्मानुष्ठानमुच्यते । यथाऽऽत्मप्रतिपादनं सुबोधत्वसिद्ध्यर्थं पौनःपुन्येन क्रियते तथा नित्यानामपि कर्मणामनुष्ठानं 'कर्मण्यकर्म' इत्यादिशब्दान्तरेणोच्यमानं सुबोधं स्यादिति भगवतः शब्दान्तरं युक्तमित्याशङ्क्य तस्य नित्यानुष्ठानवाचकत्वाभावान्नैवमित्याह—नापीति । किञ्च पूर्वमेव नित्यानुष्ठानस्य स्पष्टमुपदिष्टत्वान्न तस्य सुबोधत्वार्थं शब्दान्तरमपेक्षितमित्याह — कर्मण्येवेति । कर्माकर्मादिविज्ञानव्याजेन नित्यकर्मानुष्ठानकर्तव्यतायां तात्पर्यमित्येतन्निराकृत्य कर्माकर्मादिदर्शनं गौणमिति पक्षे दूषणान्तरमाह — सर्वत्र चेति । लोके वेदे च यथा प्रशस्तं देवतादितत्त्वं यच्च कर्तव्यमनुष्ठानार्हमग्निहोत्रादि, तदेव बोद्धव्यमित्युच्यते, न निष्फलं काकदन्तादि ; कर्मण्यकर्मदर्शनमकर्मणि च कर्मदर्शनं गौणत्वादेवाप्रशस्तमकर्तव्यं च ; नातस्तद्बोद्धव्यवचनमर्हतीत्यर्थः ।

**१ शां. भा.— न च मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं भवति तत्प्रत्युपस्थापितं वा वस्त्वाभासम् । नापि नित्यानामकरणादभावात्प्रत्यवायभावोत्पत्तिः, 'नासतो विद्यते भावः' [ २।१६ ] इति वचनात्, ''तत्कथमसतः सज्जायेत'' [छां-उ. ६।२।२] इति च दर्शितम् । असतः सज्जन्मप्रतिषेधादसतः सदुत्पत्तिं ब्रुवताऽसदेव सद्भवेत्, सच्चासद्भवेदित्युक्तं स्यात् । तच्चायुक्तं, सर्वप्रमाणविरोधात् । न च निष्फलं विदध्यात्कर्म शास्त्रं दुःखस्वरूपत्वात्, दुःखस्य च बुद्धिपूर्वकतया कार्यत्वानुपपत्तेः । तदकरणे च नरकपाताभ्युपगमेऽनर्थायैव, उभयथाऽपि करणेऽकरणे च शास्त्रं निष्फलं कल्पितं स्यात् । स्वाभ्युपगमविरोधश्च नित्यं निष्फलं कर्मेत्यभ्युपगम्य मोक्षफलायेति ब्रुवतः । तस्माद्यथाश्रुत एवार्थः कर्मण्यकर्म य इत्यादेः । तथा च व्याख्यातोऽस्माभिः श्लोकः ॥ १८ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— किञ्च कर्मादेर्मायामात्रत्वाद्गौणमपि तद्विषयं ज्ञानं मिथ्याज्ञानमिति न तस्य बोद्धव्यत्वसिद्धिरित्याह— **न चे**ति । मिथ्याज्ञानस्य बोद्धव्यत्वाभावेऽपि तद्विषयस्य बोद्धव्यता सिद्धयेदित्याशङ्कय वस्त्वाभासत्वान्मैवमित्याह— **तत्प्रत्युपस्थापितं चे**ति । यत्पुनरकरणस्य प्रत्यवायहेतुत्वमकरणे गौण्या वृत्त्या कर्मशब्दप्रयोगे निमित्तमिति तद्दूषयति— **नापी**ति । अकरणात्प्रत्यवायो भवतीत्यत्र श्रुतिस्मृतिविरोधमभिधाय युक्तिविरोधमभिदधाति— **असत** इति । असतः सद्रूपेण भवनमभवनं च निस्स्वरूपत्वादनुपपन्नं निरस्तसमस्ततत्त्वस्य किञ्चित्तत्त्वाभ्युपगमे सर्वप्रमाणानामप्रामाण्यप्रसङ्गादित्याह— **तच्चे**ति । यत्तु नित्यानां फलराहित्यं तत्राकर्मशब्दप्रयोगे निमित्तमिति, तन्निरस्यति— **न चे**ति । न केवलं विध्युद्देशे स्वफलाभावान्नित्यानां विध्यनुपपत्तिः, अपितु धात्वर्थस्य क्लेशात्मकत्वात्तत्र श्रुतफलाभावे नैव विधिरवकाशमासादयेदित्याह— **दुःखे**ति । दुःखरूपस्यापि धात्वर्थस्य साध्यत्वेन कार्यत्वात्तद्विषयो विधिः स्यादिति चेत्, न; इत्याह— **दुःखस्य चे**ति, स्वर्गादिफलाभावेऽपि नित्यानामकरणनिमित्तनिरयनिरासार्थं दुःखरूपाणामपि स्यादनुष्ठेयत्वमित्याशङ्कयाऽऽह— **तदकरणे चे**ति । फलान्तराभावेऽपि मोक्षसाधनत्वान्मुमुक्षुणा नित्यानि कर्माण्यनुष्ठेयानीत्याशङ्कयाऽऽह— **स्वाभ्युपगमे**ति । वृत्तिकारव्याख्यानासम्भवे फलितमुपसंहरति— **तस्मादि**ति । कोऽसौ यथाश्रुतोऽर्थः श्लोकस्य ? इत्याशङ्कयाऽऽह— **तथा चे**ति ॥१८॥

**३ रा. भा.— कर्माकर्मणोर्बोद्धव्यमाह— कर्मणीति । अकर्मशब्देनात्र कर्मेतरत्प्रस्तुतमात्मज्ञानमुच्यते । कर्मणि क्रियमाण एवात्मज्ञानं यः पश्येत्, अकर्मणि चात्मज्ञाने वर्तमान एव यः कर्म पश्येत्; किमुक्तं भवति ? क्रियमाणमेव कर्मात्मयाथात्म्यानुसन्धानेन ज्ञानाकारं यः पश्येत् तच्च ज्ञानं कर्मयोगान्तर्गततया कर्माकारं यः पश्येदित्युक्तं भवति । क्रियमाणे हि कर्मणि (अ)कर्तृभूतात्मयाथात्म्यानुसन्धानेन तदुभयं सम्पन्नं भवति । एवमात्मयाथात्म्यानुसन्धानगर्भं कर्म यः पश्येत्, स बुद्धिमान् कृत्स्नशास्त्रार्थवित्, मनुष्येषु स युक्तः मोक्षायार्हः, स एव कृत्स्नकर्मकृत्— कृत्स्नशास्त्रार्थकृत् ॥ १८ ॥**

**४ वे. ता. चं.**—एवं बोद्धातः स्थितः, अथ प्रकृतमुपदिश्यत इत्यभिप्रायेणाह **कर्माकर्मणो**रिति । 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इति कर्मणि बोद्धव्यमुच्यते । 'अकर्मणि च कर्म यः' इति तु ज्ञाने । अकर्मशब्दस्यात्र परोक्तकर्माभावस्वतन्त्रज्ञाननिष्ठाविषयतामपास्य तदन्यव्युत्पत्त्या आसत्त्या च सिद्धमाह—**अकर्मे**ति । अत्र कर्मयोगोपदेशप्रकरण इत्यर्थः । अन्वयार्थं दर्शयति— **कर्मणी**ति । अवधारणं शङ्काहेतुभूतविरोधद्योतनेन ज्ञानकर्मणोरनन्वितत्वपरिहारार्थम् । नन्विदमयुक्तम्, अन्यानुष्ठानेऽन्यदर्शनस्यानपेक्षितत्वात्, अन्यस्मिन्ननुष्ठीयमाने तदन्यज्ञानस्य दुष्करत्वात्, अन्यस्मिंश्चानुसन्धीयमाने तदन्यस्य कर्तुमशक्यत्वात्, अन्यतरत्रेतरदर्शने च तदन्यप्रतिक्षेपश्च स्यादित्यभिप्रायेण चोदयति— **किमुक्तं भवती**ति । यदेतद्युगपदशक्यत्वं चोदितं तत्किं शास्त्रार्थत्वाकारभेदेन ? अन्यथा वा ? इति विकल्पमभिप्रेत्य प्रथमं दूषयति— **क्रियमाणमे**वेति । ज्ञानविशिष्टस्य कर्मण उपायतया विहितत्वेन परस्परमन्वितत्वमिति न भिन्नशास्त्रार्थत्वमिति भावः । एतेन परस्परनिरपेक्षार्थद्वयपरतया परस्परप्रतिक्षेपशङ्काऽपि प्रत्युक्ता । द्वितीयेऽपि किं स्वरूपभेदमात्रेण दुष्करत्वम् ? उत विरुद्धत्वात् ? । न प्रथमः, एकेनैव प्रेक्षणगमनभाषणादेर्युगपदनुष्ठानात् । न द्वितीयः, गमनस्थानयोरिव ज्ञानकर्मणोर्विरोधाभावात् । न चानुपयोगः, ध्यानविशेषविशिष्टविषनिर्हरणार्थचेष्टाजपादिन्यायादित्यभिप्रायेणाह— **क्रियमाणे ही**ति । तदुभयं कर्मणो ज्ञानविशिष्टत्वं ज्ञानस्य कर्मविशिष्टत्वं च । **बुद्धिमानि**त्यत्र 'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः' [अष्टा.५।२।९४वा.]इति प्रत्ययवशात् प्रकृष्टा बुद्धिर्विवक्षितेत्याह— **कृत्स्नशास्त्रार्थवि**दिति । **कृत्स्नकर्मकृ**दिति ह्यनन्तरमुच्यते; तदनुरूपैव च बुद्धिरत्राभिधेयेति भावः । 'बुद्धिमान् कृत्स्नकर्मकृत्' इति ज्ञानेऽनुष्ठाने च अभिहिते तदधीनफलयोग्यत्वमेव हि योग्यपर्यायेण युक्तशब्देनात्राभिधेयमित्यभिप्रेत्य **मोक्षायार्ह** इत्युक्तं **स बुद्धिमान् स युक्त** इति । तच्छब्दद्वयेन वाक्यभेदे सिद्धे 'कृत्स्नकर्मकृत्' इत्येतदपि भिन्नवाक्यमेव भवितुमर्हति ज्ञानफलयोः पौष्कल्यस्येवानुष्ठानपौष्कल्यस्यापि प्रशंसाहेतुत्वे प्राधान्यादित्यभिप्रायेण तच्छब्दानुषङ्गमाह— **स एव कृत्स्नकर्मकृ**दिति ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.— कर्मादिस्वरूपमाह— कर्मणीति । कर्मणि क्रियमाणे सत्यकर्म यः पश्येत्, विष्णोरेव कर्म, नाहं चित्प्रतिबिम्बः किञ्चित्करोमीति । अकर्मणि सुप्त्यादावकरणावस्थायाम् । परमेश्वरस्य यः कर्म पश्यति अयमेव परमेश्वरः सर्वदा सर्वसृष्ट्यादिकं करोतीति स बुद्धिमान् ज्ञानी, स एव च युक्तो योगयुक्तः । सर्वाकरणात्स एव च कृत्स्नकर्मकृत्; कृत्स्नफलवत्त्वात् ॥ १८ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— 'कर्म प्रवक्ष्यामि' [४।१६] इति प्रतिज्ञातं कर्मादिप्रवचनं क्वापि नोपलक्ष्यते, 'कर्माणि' इति श्लोकस्य यत्किञ्चिद्दर्शनस्तुतिरूपत्वादित्यत आह— **कर्मादी**ति । यद्यप्ययं श्लोकोऽन्यथा प्रतीयते तथाप्यविहितस्य स्तुत्ययोगाद्वाक्यभेदेन कर्मादिकं प्रतिपाद्य तत्स्तुतिः क्रियते इति भावः । कथमनेन तत्स्वरूपमुच्यते ? इत्यतो व्याचष्टे— **कर्मणी**ति;

वर्णाश्रमोचिते । अकर्म कर्माभावं स्वस्य । तद्विवृणोति— विष्णोरेवेति । 'चित्प्रतिबिम्बः' इत्यनेन तदधीनः करोमीत्यपि सूचयति । सुप्त्यादिकं कथमकर्म ? इत्यत उक्तम्— अकरणेति । जीवापेक्षयेदम् । एतदपि विवृणोति— अयमेवेति । सर्वदा जीवव्यापारभावेऽभावे च सर्वस्य महदादेः स्वप्नगजादेश्च अनेन भगवतः परानपेक्षया कर्तृत्वं, स्वस्य तदधीनकर्तृत्वं च ज्ञात्वा वर्णाश्रमविहितानुष्ठानं कर्मेत्युक्तं भवति । अनेनैवोक्तलक्षणे विकर्माकर्मणी प्रोक्तप्रायो यः पश्येत्स बुद्धिमानिति कोऽर्थभेदः कथं च स्तुतिः ? इत्यत आह— स इति । ज्ञानिशब्दो हि पामरविलक्षणे प्रसिद्धः । मतुबादीनां प्रशंसार्थत्वात् स युक्त इत्येतत्स्तुतिर्यथा स्यात्तथा व्याचष्टे— स एव चेति । 'कृत्स्नकर्मकृत्' इत्येतन्मुख्ये बाधकं प्रदर्शयन् गौणं व्याख्याति— सर्वेति । सर्वस्याश्वमेधादेः । कृत्स्नकर्मणां फलस्य ज्ञानस्य मोक्षस्य प्राप्तप्रायत्वादित्यर्थः ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.**— इदानीं कर्माकर्मविकर्मणां बोद्धव्यं रूपं दर्शयितुमाह— **कर्मणीति** । कर्मणि शरीरेन्द्रियव्यापारलक्षणे कर्मण्यकर्म नित्यसिद्धत्वात्; आत्मस्वरूपं द्रष्टव्यमिति शेषः । यथा मरीच्युदक उदकस्य स्वरूपभूता मरीचयस्तदभाव उदकस्य नैरात्म्यप्रसङ्गात्, एवं कर्मणि अकर्त्रात्मस्वरूपमस्ति । तथाऽकर्मके वस्तुनि निश्चले कर्मस्वरूपं द्रष्टव्यम् । यथा नावि स्थितस्य निश्चले तटनगे भ्रमिकर्मदर्शनम् । अत एव यः कर्मण्यकर्मरूपमकर्माणि (च) कर्मरूपं पश्यति स मनुष्येष्वधिकारिषु पुरुषेषु बुद्धिमान्, स च युक्तो योगी, स च कृत्स्नकर्मकृत्सकलकर्मकृदित्यर्थः । तस्मात्त्वमपि कर्माकर्मणोर्यथावत्स्वरूपपरिज्ञानेन कर्माणि कुर्वित्यर्थः ॥ १८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— कीदृशं तर्हि कर्मादीनां तत्त्वम् ? तत्राह— **कर्मणीति** । कर्मणि अकर्मणि इति च विषयसप्तमी । तथा च कर्मणि विषये यस्तु अकर्म कर्माभावं पश्येत्, अकर्मणि च कर्माभावविषये यः कर्म पश्येत्, स मनुष्येषु बुद्धिमान्युक्तः कृत्स्नकर्मकृदित्यन्वयः । **अयमर्थः**— यथा नद्यादिषु नावमारुह्य गच्छतस्तीरस्थवृक्षेषु वस्तुतो गमनरहितेषु नौकागमनोपाधिकं गमनं प्रतीयते, तथा अन्तःकरणे कर्म कुर्वाणे सति तदुपाधिकमात्मनि कर्म प्रतीयते 'अहं करोमि' इति । तस्मिन्नात्मधर्मतया प्रतीयमाने कर्मणि विषये कर्माभावं पश्येत्, वस्तुतः कर्माभाववत्येवेदं कर्म प्रतीयते इति पश्येदित्यर्थः । तथा च आत्मधर्मतया सर्वलोकप्रसिद्धस्य कर्मणो वृक्षगमनस्येव प्रतिपन्नोपाधावभाव एव तत्त्वमित्युक्तं भवति । अयमर्थो भागवते [ १०।४६।४१ ] स्पष्टमुक्तः— 'यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव नभोन्तरम् ( महीयते )। चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहं धिया स्मृतः' इति । श्रुतिरपि "ध्यायतीव लेलायतीव" [ बृ. उ. ४।३।७ ] इति । अत्राप्युक्तम्— 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' [ ३।२७ ] इति । अनेन विकर्मणोऽपि तत्त्वमुक्तं भवति; 'कर्मणि' इत्यस्य विहितप्रतिषिद्धोभयकर्मसाधारणत्वात् विहितस्येव निषिद्धस्यापि प्रतिपन्नोपाधावात्मन्यसत्त्वेन अकर्म यः पश्येदिति तत्त्वविधानांशस्यापि तुल्यत्वाच्च ।

एवं प्रथमपादेन कर्मविकर्मणोस्तत्त्वमुक्तम्; द्वितीयपादेन त्वकर्मणस्तत्त्वमुच्यते— **अकर्मणि च कर्मेति** । यथा हि चक्षुषा दूरतः प्रेक्ष्यमाणेषु पुरुषेषु गच्छत्स्वप्यगमनं प्रतीयते, तथा त्रिगुणात्मकमायापरिणामत्वेन सर्वदा सव्यापारेष्वपि देहेन्द्रियादिषु 'अहं निर्व्यापारस्तूष्णीमासे' इति व्यापाराभावरूपमकर्म प्रतीयते । तस्मिन्नकर्मणि विषये कर्म पश्येत् कर्मवत्येवेदमकर्म प्रतीयत इति पश्येत्, तूष्णीमास इत्यभिमानस्यैवान्ततः कर्मत्वात् । तथा च स्वात्यन्ताभावाधिकरण एव प्रतीयमानस्याकर्मणः पूर्ववत्प्रतिपन्नोपाधावभाव एव तत्त्वमित्यर्थः । एवं यः कर्मविकर्माकर्मणां तत्त्वं जानाति सः मनुष्येषु कर्माधिकारिषु बुद्धिमान्, विकर्माकर्मणी परित्यज्य कर्तृत्वाभिमानफलाभिसन्धिहानेन कर्मानुष्ठातृत्वात्; स एव युक्तः पूर्वाध्यायोक्तकर्मयोगी; स एव कृत्स्नकर्मकृत् सर्वतस्संप्लुतोदकस्थानीये तत्कर्मणि सर्वकर्मफलानामन्तर्भावादिति भाष्यनिष्कृष्टोऽर्थः प्रदर्शितः ।

यदत्र 'कर्मणि परमेश्वराराधनरूपे अकर्म कर्मेदं न भवति बन्धकत्वाभावादिति यः पश्येत्, तथा अकर्मणि च नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायकरत्वेन बन्धकत्वात्कर्मेदमिति यः पश्येत्स बुद्धिमान्' इत्यादि पूर्वव्याख्यानम्; तद्भाष्य एव निरस्तमिति नास्माभिस्तत्र मुखं दीयते । यत्तु पैशाचभाष्ये 'कर्मणि देहेन्द्रियादिव्यापारात्मनि अकर्म नित्यसिद्धमात्मरूपमधिष्ठानत्वेन यः पश्येत्, अकर्मण्यात्मस्वरूपे च कर्माध्यस्तं यः पश्येत्, स बुद्धिमान्परमार्थदर्शी' इति व्याख्यातम्, तदिष्टमस्मदाचार्यस्वामिशङ्करभगवत्पादभाष्यानुसारित्वात् ।

यत्पुनरत्र रामानुजेन व्याख्यातम्— 'अकर्मशब्देन कर्मेतरप्रस्तुतमात्मज्ञानमुच्यते । कर्मणि क्रियमाण एव आत्मज्ञानं यः पश्येत्, अकर्मणि चात्मज्ञाने वर्तमान एव यः कर्म पश्येदित्यर्थः । क्रियमाणमेव हि कर्म आत्मयाथात्म्यानुसन्धानेन ज्ञानाकारं भवति । तच्च ज्ञानं कर्मण्यन्तर्गततया कर्माकारं भवति' इति, तदसत्; 'उभौ तौ न विजानीतः' [ २।१९ ] इति भगवतैवात्मयाथात्म्यज्ञानस्य कर्मविरोधित्वोक्त्या कर्मणस्तदाकारत्वायोगात्, 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' [ ३।१७ ] इत्यादिना आत्मज्ञाने सति कर्मनिषेधेन तज्ज्ञानस्य कर्माकारत्वायोगाच्च । यच्चात्र माध्वव्याख्यानम्—

'कर्मणि क्रियमाणे सति अकर्म विष्णोरेव कर्म सदाऽहं चित्प्रतिबिम्बः स्वातन्त्र्येण न किञ्चित्करोमीति स्वस्य कर्माभावं पश्येत्' इति, तनुच्छम्; 'किं कर्म किमकर्मेति' [४।१६] इति 'अकर्मणश्च बोद्धव्यम्' [४।१७] इति च पूर्वश्लोकयोः कर्माभाववाचिन एवाकर्मशब्दस्यात्र प्रयुक्तस्य तदैकार्थ्यौचित्येन विष्णुकर्मवाचित्वायोगात्, 'तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारम्' [४।१३] इति भगवदुक्त्या विष्णोरपि वस्तुतः कर्मासम्भवाचेत्यतो यथोक्त एवार्थः ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— तस्यैव कर्मणो याथात्म्यं स्वयं दर्शयन् क्रियाद्वैतमाह- कर्मण्यकर्मेति। वैदिकरूपे विहिते कर्मणि यज्ञकर्मणि स्वक्रियानिर्वर्त्ये उक्तप्रकारके कर्मणीत्युपलक्षणं सर्वत्रैव अकर्म निर्बन्धकत्वं समं ब्रह्म वा साङ्ख्ययोगमार्गीयः सन् पश्येत् भावयेत् "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत" [छां.उ.३।१४।१] इति श्रुतेः 'सर्वं ब्रह्मात्मकं जानन् तथा कर्म च भावयेत्' इत्याचार्योक्तेश्च। अयमेव ज्ञानयज्ञ इति स्वयमेव वक्ष्यति भगवान्। इदं चोत्तमाधिकारिककर्मणो याथात्म्यं सङ्क्षेपत उक्तम्। कर्माधिकारिणोऽकर्मणि च निषिद्धे अकरणे वा कर्म बन्धनं पश्येत्। अत्रेदमाकूतम् 'या निशा सर्वभूतानां' [२।६९] इत्यत्रैव परस्परं विपरीतस्वभावयोरुत्तमापकृष्टयोर्विपरीते क्रियानिर्वर्त्ये कर्मणी भवतः; तेनापकृष्टाधिकारिकं कर्मोत्तमाधिकारिणो कर्मैव; उत्तमाधिकारिककर्म चापकृष्टाधिकारिणः अकर्माकर्त्तव्यमेव। तत्र चान्योन्यभावधर्मभेदात् फलवैलक्षण्यं युक्तमेवेति। तदेवं यथाभूतं यः पश्येत्स सर्वमनुष्येषु बुद्धिमान् युक्तः ब्रह्मणि योगे च प्रवणः कृत्स्नकर्मकृच्च तत्कर्मणि सर्वकर्मफलानामानन्दानामन्तर्भूतत्वात्तत्कर्ता भवति। अन्येत्वयुक्ता अबुद्धिमन्तोऽपूर्णकर्मकारिणश्चेत्युक्ताः ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.— दुर्विज्ञेयत्वाज्ज्ञानार्थं तत्स्वरूपमाह— कर्मणीति। यः कर्मणि अकर्म पश्येत् कर्त्तव्ये अकर्तव्यं पश्येत्। मत्सम्बन्धं विना मदाज्ञां विना विकर्मणि अकर्त्तव्यं पश्येत्। तथैव मदाज्ञया अकर्मणि अकर्त्तव्ये कर्मणि कर्तव्यं पश्येत। एवं ज्ञात्वा यः कृत्स्नकर्मकर्ता मनुष्येषु स बुद्धिमान् भवेत्, स ज्ञानवान्; स युक्तः। ममेति शेषः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— यत्कर्मादिस्तत्त्वं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातं तदाह- कर्मणि कर्माकर्मविकर्मात्मके देहेन्द्रियादिव्यापारे अविद्यया प्रत्यगात्मनि आरोपिते सति तत्र अकर्म कर्माभावं- नौस्थेन तीरतरौ चलने आरोपिते सति तत्त्वबुद्ध्या तत्र चलनाभावमिव- यः पश्येत्। तथा 'चलं गुणवृत्तम्' इति न्यायेन त्रिगुणात्मकेषु देहेन्द्रियादिषु नित्यकर्मवत्सु यश्चन्द्रतारकादौ गत्यभावमिव 'तूष्णीम्भूतोऽहमस्मि, न किञ्चित्करोमि' इत्यध्यस्ते, अकर्मणि कर्माभावे कर्म तन्निग्रहाख्यप्रयत्नरूपं यः पश्यति, स मनुष्येषु बुद्धिमान् तत्त्वदर्शी। आत्मनि भ्रान्तिजनितव्यापारस्य अनात्मनि च तादृशनिर्व्यापारत्वस्य बाधात्। स एव च युक्तो योगी, कृत्स्नकर्मकृत्; कर्मयोगफलस्य तत्त्वज्ञानस्य प्राप्तत्वादिति स्तुतिमात्रम्। आत्मनोऽकर्तृत्वं सञ्जातस्यैव कर्तृत्वमिति भावयता कर्माणि कर्त्तव्यानीत्यर्थः। यद्यप्येतद्बहुधा प्रपञ्चितं 'अव्यक्तोऽयं' [२।२५] इत्यादौ तथापि तत्त्वस्य दुर्ज्ञेयत्वात्पुनः पुनरुच्यत इति प्राञ्चः।

यत्तु कर्मणि नित्ये परमेश्वरार्थेऽनुष्ठीयमाने बन्धहेतुत्वाभावादकर्मेदमिति यः पश्येत्तथाऽकर्मणि नित्यकर्माकरणे प्रत्यवायहेतुत्वेन कर्मेदमिति च यः पश्येत्स बुद्धिमानिति (श्रीधरः) तदसङ्गतमेव; नित्यकर्मणि अकर्मेदमिति ज्ञानस्य शुभमोक्षहेतुत्वाभावान्मिथ्याज्ञानत्वेन तस्यैवाशुभत्वाच्च। न चैतादृशं मिथ्याज्ञानं बोद्धव्यं तत्त्वं नाप्येतादृशज्ञाने बुद्धिमत्त्वादिस्तुत्युपपत्तिरिति दिक्।

ये तु कर्मणि ज्ञानकर्मणि दृश्ये जडे सद्रूपेण स्फुरणरूपेण वाऽनुस्यूतं सर्वभ्रमाधिष्ठानं अकर्म अवेद्यं स्वप्रकाशचैतन्यं परमार्थदृष्ट्या यः पश्येत्, तथा अकर्मणि स्वप्रकाशे दृग्वस्तुनि कल्पितं कर्म दृश्यं मायामयं न परमार्थसदिति यः पश्यति स बुद्धिमानिति परमार्थदर्शित्वाद्यस्तैरेव गुणैः स्तूयत इत्यपि व्याचख्युः (मधुसूदनाः) तदप्यसङ्गतमेव, 'कर्म कुरु' [४।१५] 'कर्म प्रवक्ष्यामि' [४।१६] इत्यनुष्ठेयकर्मप्रस्तावे तत्त्वज्ञानानवसरात्। नापि "कर्तुरीप्सिततमं कर्म" [अष्टा. १।४।४९] इति पारिभाषिक्या कर्मसंज्ञया दृश्यस्य कर्मशब्दार्थत्वं प्रतीतुं शक्यं, तस्याघुटिभादिसंज्ञानामिवागमार्थनिर्णयानर्हत्वादिति सङ्क्षेपः।

वस्तुतस्तु— 'कर्मणो हि' [४।१७] इति श्लोके कर्मविकर्माकर्मणां गतिशब्दितं पर्यवसानं गहनत्वाद्बोद्धव्यमित्युपक्षिप्तं, तद्व्याख्यानं 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्...... स मनुष्येषु बुद्धिमान्' इति। तथा हि कर्मणि कर्माकर्मविकर्मरूपे अकर्म तद्वैपरीत्यं शास्त्रतो दृश्यते। यथा क्रतुः कर्मणि श्रद्धाहीनस्य कृतोऽप्यकृत एव भवतीत्यकर्मणि पर्यवस्यति। दाम्भिकस्य तु विकर्मणि पर्यवस्यति। यथोक्तं 'अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।

असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ' [ १७।२८ ] इति; 'चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि । मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः ' [ म. भा. ५।३३।७३ ] इति च । एवमौदासीन्यमकर्मापि शक्तस्यार्त्तपरित्राणाभावाद्विकर्मणि पर्यवस्यति । दीक्षितस्य भगवद्ध्यानाद्यासक्तस्य वा स्वकाले पञ्चयज्ञाद्यकरणं 'दीक्षितो न ददाति' इत्यादिवचनात् 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' [१८।६६] इत्यादिवचनाच्च कर्मण्येव पर्यवस्यति; नित्यकर्मकाले प्रत्यवायहेतोरन्यस्याविहितस्याकरणात् । एवं विकर्मापि हिंसा "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" [ तै.सं. ६।१।११ ] इति वचनाद्यज्ञे कर्मैव भवति । सैव वृथा नष्टे पशौ न कर्म, विध्यर्थानिष्पत्तेः; नापि विकर्म, कामकारेणाकृतत्वात्; किन्तु परिशेषात् कृताऽप्यकृतैवेत्यकर्मणि पर्यवस्यति । एवं स्तेनप्रमोचनं तत्सयूथ्यानां कर्मापि राज्ञो विकर्म, 'स्तेनः प्रमुक्तो राजानि पापं मार्ष्टि' इति वचनात्; तदेव यतीनामुपेक्षणीयत्वादकर्म । एवं हिंसाफलके सत्यादौ दानफलके अनृतादौ च विकर्मत्वकर्मत्वे बोध्ये । तस्मात्कर्माकर्मविकर्माख्ये कर्मणि अकर्म तद्वैपरीत्यं यः पश्येत्, स कार्याकार्यविभागज्ञो बोद्धव्यानामेषां प्रबोधात् बुद्धिमानित्युच्यते ।

तथा 'किं कर्म' [ ४।१६ ] इति श्लोके यत्र कवीनामपि मोहोऽस्ति, ययोश्च ज्ञानमशुभमोक्षहेतुस्ते कर्माकर्मणी प्रवक्ष्यामीत्युपक्षिप्तं, तद्व्याख्यानमकर्मणि च कर्म यः पश्येत्स युक्त इति । चकारो दर्शनद्वयसमुच्चयार्थः । तेन यो बुद्धिमान्युक्तश्च स एव कृत्स्नकर्मकृत्, न त्वेकैक इत्यपि ज्ञेयम् । तथाहि अकर्मणि स्पन्दशून्ये कूटस्थे वस्तुनि कर्म सस्पन्दं बाह्यं वियदादि आभ्यन्तरं प्रमात्रादिकं चाधाराधेयभावेन वा उपादानोपादेयभावेन वा अधिष्ठानाध्यस्तभावेन वा पश्यन्तः शास्त्रविदः कर्माणि कुर्वन्ति । तत्राद्यः साङ्ख्यः– असङ्गे मयि सङ्घातधर्म एव सन्कर्त्रादिरविवेकात् स्फटिके लौहित्यमिव भातीति मन्यते । द्वितीयस्तु– कनककुण्डलवत् ब्रह्मोद्भवं सर्वं ब्रह्मैवेति कर्म तत्साधनादिकं अहं च ब्रह्मैवेति भावयन् करोति । एतौ युक्तावप्यतिबुद्धिमानप्ययुक्तः करोति तस्य सर्वं असदेव भवति, न त्वशुभमोक्षाय । "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिँल्लोके (जुहोति यजते) यजति ददाति तपस्तप्यतेऽपि बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति" [ बृ. ३।८।१० ] इति श्रुतेः । यस्य युक्तोऽपि निर्बुद्धित्वादकार्यमपि करोति, स प्रत्यवेति । पापाश्लेषनिमित्तस्यापरोक्षज्ञानस्याभावात् । अनयोश्चाविद्याविद्याशब्दितयोः कर्मपरोक्षज्ञानयोः समुच्चयः श्रूयते "विद्यां चाविद्यां च" [ ईशो. ११ ] इति मन्त्रे ।

यद्वा द्विविधं कर्मणि कर्मदर्शनं परोक्षमपरोक्षं च । तत्राद्यवान् ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठाता बुद्धिमानुच्यते । अपरोक्षमपि द्विविधं उपास्यसाक्षात्काररूपं तत्त्वसाक्षात्काररूपं च । तत्राद्यमपि व्याकृताव्याकृतरूपोपास्यभेदेन द्विविधम् । तत्रापि व्याकृतं सूत्रं कार्यं, तद्दर्शी विगतदेहाहङ्कारत्वात् योगशास्त्रे विदेह उच्यते; अव्याकृतं कारणं, तद्दर्शी प्रकृतिलय उच्यते; अनयोरुपासनयोः सम्भवासम्भवसंज्ञयोः समुच्चयो विधीयते । 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' इत्यादिना; सोऽयं युक्त इत्युच्यते । अस्याप्यग्रे कर्तव्यमवशिष्टमस्तीति नायमपि कृत्स्नकर्मकृत् । किन्तु यस्य कर्मबाधेनाकर्मदर्शनं मुख्यमस्ति, स एव कृतकृत्यत्वान्मुख्यः कृत्स्नकर्मकृदिति । एतेष्वाद्यो मनुष्येषु देहाभिमानिष्वेव बुद्धिमानित्यक्रान्तदर्शित्वादकविरेव । मध्यमौ क्रान्तदर्शिनावपि तत्त्वविषये मूढत्वात् 'कवयोऽप्यत्र मोहिताः' [ ४।१६ ] इत्युक्तौ । एतयोर्व्यवधानेनाशुभान्मुक्तिः । उत्तमस्तु जीवन्नेवाशुभान्मुक्त इति श्लोकार्थः प्रतिभाति । "व्याख्यातुरपि मे नास्ति भाष्यकारेण तुल्यता । गृहावद्योतिनोऽप्यस्ति किं दीपस्यार्कतुल्यता ?" ॥

यद्वा कर्माकर्मणी वक्तव्यत्वेन बोद्धव्यत्वेन चोपक्षिप्यात्र तयोर्लक्षणप्रदर्शनमुचितं, अतो यदकर्मणा विशेषितं तदेव कर्म, नान्यदिति कर्मलक्षणम् । यच्च कर्मणा विशेषितं तदेवाकर्मेत्यकर्मलक्षणमिति व्याख्येयम् । अक्षरार्थस्तु कर्म यज्ञादिकंससाधनं, तत्राकर्म स्पन्दशून्यं कूटस्थं ब्रह्म यः पश्येत् कर्मतदङ्गेषु ब्रह्मदृष्टिमध्यस्येत् । 'अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् । मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्' [ ९।१६ ] इत्युक्तप्रकारेण अन्यथा यत्कृतं तद्वृथाचेष्टारूपमेव, अतो गहना कर्मणो गतिः । किं तदकर्म यत्कर्मण्यध्यस्यते ? इत्याकाङ्क्षायां यत्रैतत्कर्म पुण्यपापात्मकं दृश्यते "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन" [ बृ. उ. ३।२।१३ ] इति; तत्फलं च सुखदुःखादिकं 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इति स प्रत्यक्चेतनोऽकर्म । तत्रैवेदं कर्म अस्पन्दे स्पन्दात्मकमसर्पे सर्प इवाध्यस्तमिति यः पश्येदिति ।

अयं भावः— यथा रज्ज्वामध्यस्तं सर्पं पश्यन् 'नायं सर्पः, रज्जुरियं' इति वाक्यात्तस्य रज्जुत्वं विक्षेपप्राबल्यादप्रतिपद्यमानो नरः सर्पमिमं रज्जुदृष्ट्योपास्वेति नियोज्यते; स चोपासनादार्ढ्ये सर्पं विस्मृत्य रज्जुतत्त्वमेव विन्दति। यस्तु वाक्यादेव रज्जुतत्त्वं विन्दति, न तस्य प्रत्ययावृत्तिलक्षणया उपास्त्या प्रयोजनमस्ति। एवमकर्मण्यध्यस्तं कर्त्रादि 'तत्त्वमसि' [छां.उ.६।८।७;९।४;१०।३;११।३;१२।३] इतिवाक्याद्बाधित्वाऽकर्मप्रतिपत्तिर्भवति शुद्धसत्त्वस्य। अन्यस्य तु कर्त्रादीनेवाकर्मदृष्ट्या उपासीनस्य भावनादार्ढ्यात् कर्त्रादिरूपतिरोधानेनाकर्मतत्त्वप्रतिपत्तिरिति। यद्वा— कर्मणीव अकर्मण्यपि विकर्मसहिते अकर्मदृष्टिर्माभूदित्याशङ्क्याह— कर्मणीति। विहिताकरणे प्रतिषिद्धाचरणे च कर्मदृष्टिरेव भवेत्, अकर्मतो बिभ्यत् कर्म ब्रह्मदृष्ट्या कुर्यात्, न त्वकर्मापि तादृशदृष्ट्या कुर्यादित्यर्थः॥ १८॥

अकर्मणि कर्म कर्मणि चाकर्म पश्यतो विदुषः प्रशंसा [ १९–२३ ]

**यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।**
**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥ १९॥**

**१ शां. भा.— तदेतत् कर्मण्यकर्मादिदर्शनं स्तूयते— यस्येति। यस्य यथोक्तदर्शिनः सर्वे यावन्तः समारम्भाः कर्माणि समारभ्यन्त इति समारम्भाः, कामसङ्कल्पवर्जिताः कामैस्तत्कारणैश्च सङ्कल्पैर्वर्जिता मुधैव चेष्टामात्रा अनुष्ठीयन्ते, प्रवृत्तेन चेल्लोकसङ्ग्रहार्थं, निवृत्तेन चेज्जीवनमात्रार्थं; तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्, कर्मादावकर्मादिदर्शनं ज्ञानं, तदेवाग्निस्तेन ज्ञानाग्निना दग्धानि शुभाशुभलक्षणानि कर्माणि यस्य, तमाहुः परमार्थतः पण्डितं बुधा ब्रह्मविदः॥ १९॥**

**२ आ. शां. व्या.—** कर्मण्यकर्मदर्शनं पूर्वोक्तं स्तोतुमुत्तरश्लोकं प्रस्तौति— **तदेतदि**ति। यथोक्तदर्शित्वं पूर्वोक्तदर्शनसम्पन्नत्वम्। समारम्भशब्दस्य कर्मविषयत्वं न रूढ्या, किन्तु व्युत्पत्त्येत्याह— **समारभ्यन्त इती**ति। कामसङ्कल्पवर्जितत्वे कथं कर्मणामनुष्ठानं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **मुधैवे**ति। उद्देश्यफलाभावे तेषामनुष्ठानं यादृच्छिकं स्यादित्याशङ्क्य प्रवृत्तेन निवृत्तेन वा तेषामनुष्ठानमिति विकल्प्य क्रमेण निरस्यति— **प्रवृत्तेने**त्यादिना। ज्ञानाग्नीत्यादि विभजते— **कर्मादा**विति। यथोक्तज्ञानं योग्यमेव दहति, नायोग्यमिति विवक्षित्वा तस्मिन्नग्निपदम्। यथोक्तविज्ञानविरहिणामपि वैशेषिकादीनां पण्डितत्वप्रसिद्धिमाशङ्क्य तेषां पण्डिताभासत्वं विवक्षित्वा विशिनष्टि— **परमार्थत** इति॥ १९॥

**३ रा. भा.— प्रत्यक्षेण क्रियमाणस्य कर्मणो ज्ञानाकारता कथमुपपद्यते? इत्यत्राह— यस्येति। यस्य मुमुक्षोः सर्वे द्रव्यार्जनादिलौकिककर्मपूर्वकनित्यनैमित्तिककाम्यरूपकर्मसमारम्भाः कामवर्जिताः फलसङ्गरहिताः सङ्कल्पवर्जिताश्च; प्रकृत्या तद्गुणैश्चात्मानमेकीकृत्यानुसन्धानं सङ्कल्पः; प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्ततया तद्रहिताः, तमेवं कर्म कुर्वाणं पण्डितं कर्मान्तर्गतात्मयाथात्म्यज्ञानाग्निना दग्धप्राचीनकर्माणमाहुस्तत्त्वज्ञाः; अतः कर्मणो ज्ञानाकारत्वमुपपद्यते॥ १९॥**

**४ वे. ता. चं.— प्रत्यक्षेणे**ति। प्रत्यक्षविरुद्धं न शास्त्रेणोपपत्त्या वा प्रतिपादयितुं शक्यमिति भावः। **क्रियमाणस्ये**ति। नहि चिरप्रध्वस्तं स्मृतिदशापन्नं ज्ञानमात्रपरिशेषाज्ज्ञानाकारमित्युच्यते, किन्तु क्रियमाणमेवेदं कर्मेति भावः। यद्वा **प्रत्यक्षेण क्रियमाणस्ये**ति पदाभ्यां ज्ञानविषयस्य ज्ञानकार्यस्य च कथं ज्ञानैक्यमित्यभिप्रेतम्?। **कथमुपपद्यत** इति नेदमुपपत्तिसहं यदि परं दृष्टिविधानादाविर्वं भावनीयमिति भावः। **सर्व**शब्दासङ्कोचात् द्रव्यार्जनादिसङ्ग्रहः।

---

१ ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमित्यत्र कर्माण्यतीतानेकजन्मसञ्चितानि ज्ञेयानि, एतज्जन्मकृतेषु ज्ञानाग्निसमिन्धनात्प्रागेवाकर्मदृष्टेः पूर्वश्लोके वर्णितत्वात्। तथा समारम्भा देहनिर्वाहार्थमावश्यकान्नोदकाद्याहरणादिकर्मणामारम्भाः। तत्रापि कामसङ्कल्पवर्जितत्वेन क्रियमाणकर्मलेपासम्भवोऽपि बोध्यः— इति **केचित्**॥ ॥ **नव्यास्तु**— ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमित्यस्य विधेयविशेषणत्वमभ्युपेत्यात्र ज्ञानेन कर्मणां भस्मीभावाभिधानस्य न कर्मत्यागे तात्पर्यम्, किन्तु फलेच्छाहानपूर्वकं तदाचरण एवेति वर्णयन्ति। तत्तुच्छम्; फलेच्छात्यागमात्रेण सञ्चितकर्मणां दाहासम्भवात्, तथात्वे ज्ञानाग्निदग्धकर्माणमित्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, विशिष्टविधाने गौरवादिदोषप्रसङ्गाच्च। —अविगीता।

'कामसङ्कल्पवर्जिताः' इत्यत्र न तावत्काम एव सङ्कल्प इति समासः,पर्यायत्वादिप्रसङ्गात् । नापि कामानां सङ्कल्प इति,उपयुक्तोभयपदार्थप्रधाने द्वन्द्वे सम्भवत्येकपदार्थप्रधानतत्पुरुषायोगात् । अतः कामसङ्कल्पाभ्यां वर्जिता इत्येवार्थ इत्यभिप्रेत्याह- **कामवर्जिता** इति । वर्जितशब्दस्य प्रत्येकमन्वयं दर्शयता द्वन्द्वो ह्ययं समासान्तरात्प्रबल इति सूचितम् । कर्मप्रकरणे कामो हि फलसङ्ग इत्यभिप्रायेणाह- **फलसङ्गरहिता** इति । सङ्कल्पोऽत्र न कर्मानुष्ठानसङ्कल्पः तदभावेऽनुष्ठानायोगात् । नापि फलसङ्कल्पः, कामशब्देन कृतकरत्वात् । अतोऽत्र प्रकृतिनियुक्तात्मोपदेशप्रकरणे तदुपयुक्तः कश्चिदर्थो वक्तव्य इत्यभिप्रायेणाह **प्रकृत्ये**ति । समित्येकीकारे, कल्पो भ्रान्तिज्ञानं, प्रकृत्येति देहरूपेण परिणतयेति शेषः, तद्गुणैरात्मन एकीकरणं नाम गुणहेतुके कर्मविशेषे स्वहेतुत्वानुसन्धानम् । यद्वा प्रकृतिगुणभूतानां सत्त्वरजस्तमसां देवत्वमनुष्यत्वादिसन्निवेशानां स्थौल्यकार्श्यशुक्लकृष्णादीनां च स्वमात्मानं प्रति गुणत्वेनानुसन्धानम् । एतेनास्वे गृहादौ स्वमिति बुद्धिरपि सङ्गृहीता भवति । एवंविधकामसङ्कल्पराहित्ये पण्डितशब्दाभिप्रेतं हेतुमाह- **प्रकृतिवियुक्ते**ति ।

**पण्डितं** हेयोपादेयभूतदेहात्मादिविवेकज्ञानवन्तम् ; ऊहापोहक्षमा हि बुद्धिः पण्डा । चरमोक्तस्यापि पण्डितशब्दस्य तं पण्डितमित्युद्देश्यनिवेशः, पापनिवर्तकत्वलक्षणज्ञानप्राशस्त्यविध्यौचित्यात् । अप्रस्तुतस्वतन्त्रज्ञानान्तरव्यवच्छेदायोक्तं **कर्मान्तर्गते**ति । नह्यत्र क्रियमाणमेव कर्म ज्ञानाग्निना दह्यते, निष्फलत्वप्रसङ्गात् , नाप्युत्तरं तस्य विद्यामाहात्म्यनिवर्त्यत्वात् ; अतः **प्राचीने**त्युक्तम् । **तत्त्वज्ञा** इति— प्राप्यस्य प्राप्तुश्चात्मनः प्रापकस्य च कर्मयोगस्यासन्दिग्धाविपरीतस्वरूपज्ञा बुधशब्देन विवक्षिता इति भावः । श्लोकोत्तरार्धं निगमयति— **अत** इति १९

**५ आ. मा. भा.**— एतदेव प्रपञ्चयति- यस्येत्यादिना श्लोकपञ्चकेन । उक्तप्रकारेण ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् ॥ १९ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ननु प्रतिज्ञातमुक्तं, किमुत्तरैः श्लोकैः ? इत्यत आह— **एतदेवे**ति ; कर्मस्वरूपमेव । अनेनात्रापि वाक्यभेदेन कामादिवर्जनं विधाय स्तुतिः क्रियत इति सूचितम् । मिथ्यात्वज्ञानेन कर्मणामुपमर्दो ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वमिति व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **उक्ते**ति । परमेश्वरस्यैव कर्तृत्वं ज्ञात्वा स्वस्य स्वातन्त्र्येण कर्माभावज्ञानमेव ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वमित्यर्थः ॥ १९ ॥

**७ ह. पै. भा.— तस्मात्— यस्य कर्माकर्मविदः सर्वाः क्रियाः कामसङ्कल्पवर्जिताः फलसङ्कल्परहितास्तं ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं कर्माकर्मतत्त्वज्ञानमेव ज्ञानाग्निस्तेन दग्धकर्माणं बुधा ब्रह्मविदः पण्डितमाहुः ॥ १९ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— तमिमं कर्मण्यकर्मादिदर्शिनं स्तौति षड्भिः-**यस्येति** । द्विविधः कर्माकर्मतत्त्वज्ञ आरुरुक्षुरारूढश्च । तयोरुभयोरपि स्तुतिः । तत्रारुरुक्षुविषये- यस्य कर्माकर्मतत्त्वविदः सर्वे समारम्भाः आरभ्यमाणानि कर्माणि कामसङ्कल्पेन फलेच्छया वर्जिताः, तं बुधाः पण्डितमाहुः । तत्र हेतुः— यतस्तैः समारम्भैर्जातेन ज्ञानाग्निना दग्धानि कर्माणि यस्य तम् । आरूढविषये तु- यस्य परमार्थदर्शिनः सर्वे लौकिका वैदिका वा समारम्भाः कामेन फलेच्छया सङ्कल्पेन च 'एतदर्थमहमिदं करिष्ये' इति फलेच्छाप्रयुक्तेन मनोवृत्तिविशेषेण वर्जिताः वृथाचेष्टामात्ररूपा भवन्ति । ज्ञानी हि प्रवृत्तश्चेल्लोकसङ्ग्रहार्थं निवृत्तश्चेज्जीवनार्थं चेष्टते । स्पष्टमन्यत् ॥ १९ ॥

**९ व० त० दी०**— एतस्यैव बुद्धिमत्त्वं द्रढयति- यस्येति । क्रियासमारम्भाः कामफले 'ममेदं कर्म फलसाधकं' इति सङ्कल्पश्च ताभ्यां वर्जिताः, स एवम्भूतः सकर्माऽप्यकर्मैव । यतो ब्रह्मज्ञानेनाग्निना दग्धकर्मा कर्मबीजबन्धनशून्य इत्यकर्मोच्यते- भ्रष्टधेनुगोवत् तं पण्डा विवेकवती बुद्धिः सञ्जाता यस्य तथाविधमाहुर्बुधाः । 'यथार्थदर्शी ज्ञानाग्निदग्धकर्माशयोऽमलः । ब्रह्मभावरतो योगी कर्मवानपि पण्डितः' इति ॥ १९ ॥

**१० पु. अ. त.**— किञ्च यो निष्कामो मदाज्ञात्वेन कर्म करोति स मद्भक्तानां च मे मत इत्याह— यस्येति । यस्य सर्वे समारम्भाः सर्वकर्मणां सम्यक् मदाज्ञात्वेन आरम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः- कामः फलं, सङ्कल्पस्तदिच्छा, एतदुभयरहिताः तं ज्ञानाग्निना दग्धकर्माणं ज्ञानाग्निना दग्धानि कर्माणि यस्य तादृशं, दग्धत्वादग्रे तद्भोगवृक्षोत्पत्तिबीजभावरहितं, बुधाः भक्ताः पण्डितं शास्त्रोक्तसर्वस्वरूपज्ञमाहुः वदन्ति ॥ १९ ॥

**११ नी० भा० दी०**— अविदुषां कर्मण्यकर्मभावनां द्रढयितुं विदुषां कर्मदर्शनं स्तौति- यस्य सर्वे समारम्भाः इत्यादिभिः षड्भिः । यस्य विदुषः सर्वे समारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि कामेन फलेच्छया सङ्कल्पेन 'अहमिदं करोमि' इत्यभिमानेन च वर्जिताः, तं ज्ञानाग्निना कर्मादावकर्मादिदर्शनेन दग्धानि अङ्कुरीभावाच्च्यावितानि कर्माणि शुभाशुभानि येन तं पण्डितं बुधा आहुः ॥ १९ ॥

**त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥**

१ **शां. भा.**— यस्तु कर्मादावकर्मादिदर्शी सोऽकर्मादिदर्शनादेव निष्कर्मा सन्यासी जीवनमात्रार्थचेष्टः सन् कर्मणि न प्रवर्तते, यद्यपि प्राग्विवेकतः प्रवृत्तः । यस्तु प्रारब्धकर्मा सन्नुत्तरकालमुत्पन्नात्मसम्यग्दर्शनः स्यात्, स सर्वकर्मणि प्रयोजनमपश्यन् ससाधनं कर्म परित्यजत्येव । स कुतश्चिन्निमित्तात् कर्मपरित्यागासम्भवे सति कर्मणि तत्फले च सङ्गरहिततया स्वप्रयोजनाभावाल्लोकसङ्ग्रहार्थं पूर्ववत्कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात्तदीयं कर्माकर्मैव सम्पद्यत इत्येतमर्थं दर्शयिष्यन्नाह— **त्यक्त्वेति** । त्यक्त्वा कर्मस्वभिमानं फलासङ्गं च यथोक्तेन ज्ञानेन नित्यतृप्तो निराकाङ्क्षो विषयेष्वित्यर्थः । निराश्रय आश्रयरहितः, आश्रयो नाम यदाश्रित्य पुरुषार्थं सिसाधयिषति; दृष्टादृष्टेष्टफलसाधनाश्रयरहित इत्यर्थः । विदुषा क्रियमाणं कर्म परमार्थतोऽकर्मैव, तस्य निष्क्रियात्मदर्शनसम्पन्नत्वात् । तेनैवम्भूतेन स्वप्रयोजनाभावात् ससाधनं कर्म परित्यक्तव्यमेवेति प्राप्ते, ततो निर्गमासम्भवाल्लोकसङ्ग्रहचिकीर्षया शिष्टविगर्हणापरिजिहीर्षया वा पूर्ववत् कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि निष्क्रियात्मदर्शनसम्पन्नत्वान्नैव किञ्चित्करोति सः ॥ २० ॥

२ **आ. शां. व्या.**— विवेकात्पूर्वं कर्मणि प्रवृत्तावपि सति विवेके तत्र न प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याङ्गीकरोति— **यस्त्विति** । विवेकात् पूर्वमभिनिवेशेन प्रवृत्तस्य विवेकानन्तरमभिनिवेशाभावात् प्रवृत्त्यसम्भवेऽपि जीवनमात्रमुद्दिश्य प्रवृत्त्याभासः सम्भवतीत्यर्थः । सत्यपि विवेके तत्त्वसाक्षात्कारानुदयात् कर्मणि प्रवृत्तस्य कथं तत्त्यागः स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यस्तु प्रारब्धेति** । त्यक्त्वेत्यादिसमनन्तरश्लोकमवतारयितुं भूमिकां कृत्वा तदवतारणप्रकारं दर्शयति— **स कुतश्चिदिति** लोकसङ्ग्रहादि निमित्तं विवक्षितम् । कर्मपरित्यागासम्भवे सति तस्मिन्प्रवृत्तोऽपि नैव करोति किञ्चिदिति सम्बन्धः । कर्मणि प्रवृत्तो न करोति कर्मेति कथमुच्यते ? तत्राऽऽह— **स्वप्रयोजनाभावादिति** । कथं तर्हि कर्मणि प्रवर्तते ? तत्राऽऽह **लोकेति** । प्रवृत्तेरर्थक्रियाकारित्वाभावं 'पश्वादिभिश्चाविशेषात् [ब्र.सू.भा. १।१।१] इति न्यायेन व्यावर्तयति— **पूर्ववदिति** । कथं तर्हि विवेकिनामविवेकिनां च विशेषः स्यात् ? इत्याशङ्क्य कर्मादौ सङ्गासङ्गाभ्यामित्याह— **कर्मणीति** । उक्तेऽर्थे समनन्तरश्लोकमवतारयति— **ज्ञानाग्नीति** । एतमर्थं दर्शयिष्यन्निमं श्लोकमाहेति योजना । यथोक्तं ज्ञानं कूटस्थात्मदर्शनं, तेन स्वरूपभूतं सुखं साक्षादनुभूय कर्मणि तत्फले च सङ्गमपास्य विषयेषु निरपेक्षश्चेष्टते विद्वानित्याह— **त्यक्त्वेत्यादिना** । इष्टसाधनसापेक्षस्य कुतो निरपेक्षत्वं ? इत्याशङ्क्य विशिनष्टि— **निराश्रय इति** । यदाश्रित्येति यच्छब्देन फलसाधनमुच्यते । 'आश्रयरहितः' इत्यस्यार्थं स्पष्टयति— **दृष्टेति** । तेन ज्ञानवता पुरुषेणैवम्भूतेन 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' इत्यादिना विशेषितेनेत्यर्थः । ततः ससाधनात्कर्मणः सकाशादिति यावत् । निर्गमासम्भवे हेतुमाह— **लोकेत्यादिना** । पूर्ववज्ज्ञानोदयात् प्रागवस्थायामिवेत्यर्थः । अभिप्रवृत्तोऽपि लोकदृष्ट्येति शेषः । नैव करोति किञ्चिदिति स्वदृष्ट्येति द्रष्टव्यम् ॥ २० ॥

३ **रा. भा.**— एतदेव विवृणोति— **त्यक्त्वेति** । कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा नित्यतृप्तो नित्ये स्वात्मन्येव तृप्तः, निराश्रयः, अस्थिरप्रकृतावाश्रयबुद्धिरहितो यः कर्माणि करोति, स कर्मण्याभिमुख्येन प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्कर्म करोति, कर्मापदेशेन ज्ञानाभ्यासमेव करोतीत्यर्थः ॥ २० ॥

४ **वे. ता. चं.**— अनन्तरश्लोकस्यार्थान्तरपरत्वपौनरुक्त्ययोर्व्युदासायाह— **एतदेव विवृणोतीति** । 'नित्यतृप्तः' इत्यत्र नित्यं तृप्त इति नार्थः, तृप्तिहेत्वनुक्तेः; 'कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा' इति कामवर्जितत्वविवरणेन अनित्यत्यागेऽभिहिते सङ्कल्पवर्जितत्वविवरणतया नित्यस्वीकारस्य च वक्तुमुचितत्वादित्यभिप्रेत्य **नित्ये स्वात्मन्येव तृप्त** इत्युक्तम् । 'निराश्रयः' इत्यत्र न तावदाश्रयभूतदेशादिमात्रं निषिध्यते, तत्परित्यागस्य अशक्यत्वात्; अतोऽत्र लौकिकानां य आश्रयणीयत्वबुद्धिविषयः, तस्याश्रयणीयत्वबुद्धिरेव निषिध्यत इत्यभि-

१ कर्मणां फलेष्वासङ्गं त्यक्त्वेति व्याख्यानं तु न रुचिरम्, कर्मस्वासक्तिप्रतिषेधालाभेन नित्यतृप्तत्वनिराश्रयत्वयोरनुपपद्यमानत्वादिति **केचित्** । **शङ्करानन्दचरणास्तु**— कर्माणि फलन्ति यत्रेति वा, कर्माणि फलतीति वा, स्वयं कर्मणां फलत्वाद्वा, कर्मफलो देहस्तत्रासङ्गं कर्ता भोक्ता वक्ता द्रष्टा श्रोताऽहमिति तत्तादात्म्यमितीतरविलक्षणं व्याचक्षिरे । —**अविगीता** ।

प्रेयोक्तं— अस्थिरेत्यादि। तद्वृत्तस्य आकाङ्क्षया य इत्यध्याहृतम्। अभिशब्दार्थ आभिमुख्यं तदेकपरता। 'नैव किञ्चित्' इत्युक्ते सामान्यतो ज्ञानमपि निषिद्धं स्यादिति तद्व्युदासायोचितं विशेष्यमाह— नैव किञ्चित्कर्मेति। 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति' इति व्याहतमिदमित्याशङ्क्याह— कर्मापदेशेनेति। विपरीतविषयसञ्चरणेन ज्ञानाभ्यासविरोधिनामिन्द्रियाणामनुकूलविषयसञ्चरणमात्रं हि कर्मयोग इति भावः॥ २०॥

५ आ. मा. भा.— न च कामसङ्कल्पाभावेनालम्, आसङ्गं स्नेहं च त्यक्त्वा ज्ञानस्वरूपमाह— पुनर्नित्यतृप्त इति। नित्यतृप्तनिराश्रयेश्वरसरूपोऽस्मीति तथाविधः॥ २०॥

६ ज. प्र. दी.— 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः' [४।१९] इत्यनेन यदुक्तं तदेव 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' इत्यनेनोच्यते। सङ्कल्पो हि कर्मासङ्गः, कामश्च फलासङ्ग इत्यतः सङ्गतिपूर्वमन्यथा व्याचष्टे— न चेति। नैतावता कर्मस्वरूपं सम्पूर्णमित्यर्थः। किं तर्हीत्यध्याहारः। ननु 'नित्यतृप्तो निराश्रयः' इति साध्योऽर्थः कथं साधने निवेश्यते? इत्यत आह— ज्ञानेति। कर्मण्यकर्मेत्यपेक्षया— पुनरिति। मिथ्याज्ञानमेतदित्यतोऽभिप्रायमाह— नित्येति। इति हेतोरहमपि तथाविधः, किन्त्वविद्यया तथा न प्रतीयत इति जानन्नित्यर्थः॥ २०॥

७ ह. पै. भा.— त्यक्त्वेति। स पण्डितः कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा निराश्रय आश्रयितव्यवर्जितः कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः। कर्मणा तस्य बन्धकत्वाभावादित्यभिप्रायः॥ २०॥

८ वे. ब्र. गि.— ननु कामसङ्कल्पवर्जितमपि कर्म कर्मस्वाभाव्यात्कुतो न बध्नाति? इति तत्राह— त्यक्त्वेति। नित्यतृप्तः निजानन्दलाभेन नित्यं तृप्तः सर्वत्र निराकाङ्क्षः, निराश्रयः निर्गतः कर्माश्रयीभूतदेहेन्द्रियादिरद्वैतदर्शिनो यस्मात्स निराश्रयः देहाद्यभिमानशून्यः। एतच्च 'कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा' इत्यत्र हेतुगर्भं विशेषणद्वयम्। निराश्रयत्वात् कर्तृत्वाभिमानरूपकर्मासङ्गत्यागः, नित्यतृप्तत्वात् फलासङ्गत्याग इति विवेकः। एवं कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा लोकसङ्ग्रहार्थं लोकनिन्दापरिहारार्थं वा कर्मणि लौकिके वैदिके च अभितः साङ्गोपाङ्गानुष्ठानाय प्रवृत्तोऽपि स्वदृष्ट्या नैव किञ्चित्करोति। ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात्तदीयं कर्माकर्मैव सम्पद्यत इति न कर्मस्वाभाव्यशङ्कावकाश इत्यर्थः॥ २०॥

९ व० त० दी०— एवं कर्त्ताऽप्यकर्तैव स असङ्गात् ब्रह्मवत् तदाह— त्यक्त्वेति। अत्र 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [४।१८] इत्याद्युक्तं स्वयमेव विवृणोति भगवांश्चतुर्भिः। क्रियानिर्वर्त्ये कर्मणि यज्ञादौ फलं स्वर्गादि प्राकृतं तथा सङ्गं प्राकृतं स्वस्य कर्तृत्वाभिनिवेशनं च त्यक्त्वा अर्थात् अप्राकृतं वस्तु यथाभूततया सर्वं विभाव्य कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति अकर्मैव स यथा ब्रह्म, कर्मोक्तं, तथैव नित्यानन्देन तृप्तः प्राकृताश्रयरहितश्च तत्तद्वस्तुनि ब्रह्मभावनादिति वक्ष्यति॥ २०॥

१० पु. अ. त.— ननु फलेच्छारहितस्त्वत्सेवां विहाय किमिति कर्म करोति? इत्याशङ्क्याह— त्यक्त्वेति। यो नित्यतृप्तो मदिच्छया नित्यं तृप्तः पूर्णः कर्मफलासङ्गं त्यक्त्वा कर्मफलेच्छासक्तिं त्यक्त्वा निराश्रयः कर्मजनितादृष्टाद्याश्रयरहितः कर्मणि मदाज्ञात्वेन अभिप्रवृत्तः सोऽपि नैव किञ्चित् करोति। मदाज्ञारूपत्वात्तस्य तत्कर्म मोक्षे स्वफलभोगादिना बन्धकं न भवतीत्यर्थः॥ २०॥

११ नी० भा० दी०— ननु प्रायश्चित्तेनेव ज्ञानाग्निना पूर्वकर्मदाहेऽपि क्रियमाणं तत्फलाय भवेदित्यत आह— त्यक्त्वेति। आत्मलाभेन नित्यतृप्तत्वात् फलासङ्गं त्यक्त्वा निराश्रयत्वात् अहङ्काराद्याश्रयेण हि कर्म क्रियते, निराश्रयो निरहङ्कारो यस्मात् ततः कर्मसङ्गं 'अहं करोमि' इत्यभिमानं च त्यक्त्वा कर्मणि लौकिके वैदिके वा अभितः सर्वाङ्गोपसंहारेण प्रवृत्तोऽपि स नैव किञ्चित्करोति, अतोऽस्य क्रियमाणमपि कर्म न फलाय प्रभवतीत्यर्थः॥ २०॥

**निराशीर्[1]यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।**
**शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम्॥ २१॥**

---

१ आशीरभिलषितप्रार्थना, 'आङः शासु इच्छायाम्' (धा.पा. १०२२) 'क्विप् च' (अष्टा. ३।२।७६) 'आ शासः क्वौ'— (वार्ति.) इतीत्त्वम्। सा च रजोवृत्तिविशेषः 'काम ईहा मदस्तृष्णा स्तम्भ आशीर्भिदा सुखम्।' (भाग. ११।२५।३) इत्यादिवचनात्। अत एवानेन रजोनिवृत्तिः 'यतचित्तात्मा' इत्यनेन सत्त्वाश्रयणम्, 'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' इत्यनेन च तमस्त्यागो —

१ शां. भा.— यः पुनः पूर्वोक्तविपरीतः प्रागेव कर्मारम्भाद्ब्रह्मणि सर्वान्तरे प्रत्यगात्मनि निष्क्रिये सञ्जातात्मदर्शनः, स दृष्टादृष्टेष्टविषयाशीर्विवर्जिततया दृष्टादृष्टार्थे कर्मणि प्रयोजनमपश्यन् ससाधनं कर्म सन्न्यस्य शरीरयात्रामात्रचेष्टो यतिर्ज्ञाननिष्ठो मुच्यत इत्येतमर्थं दर्शयितुमाह— निराशीरिति। निराशीर्निर्गता आशिषो यस्मात्स निराशीः, यतचित्तात्मा चित्तमन्तःकरणमात्मा बाह्यः कार्यकरणसङ्घातस्तावुभावपि यतौ संयतौ येन स यतचित्तात्मा, त्यक्तसर्वपरिग्रहस्त्यक्तः सर्वः परिग्रहो येन सः, शारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं केवलं तत्राप्यभिमानवर्जितं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति प्राप्नोति न किल्बिषमनिष्टरूपं पापं धर्मं च। धर्मोऽपि मुमुक्षोः किल्बिषमेव, बन्धापादकत्वात्। ( तस्मात्ताभ्यां मुक्तो भवति, संसारान्मुक्तो भवतीत्यर्थः। )

२ आ. शां. व्या.— सत्यपि विक्षेपके कर्मणि कूटस्थात्मानुसन्धानस्य सिद्धे कैवल्यहेतुत्वे विक्षेपाभावे सुतरां तस्य तद्धेतुत्वसिद्धिरित्यभिप्रेत्याऽऽह— **यः पुनरिति**। पूर्वोक्तविपरीतत्वं लोकसङ्ग्रहादिनिरपेक्षत्वम्। तदेव वैपरीत्यं स्फोरयति— **प्रागेवेति**। ससाधनसर्वकर्मसन्न्यासे शरीरस्थितिरपि कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **शरीरेति**। तर्हि तथाविधचेष्टानिविष्टचेतस्तया सम्यग्ज्ञानबहिर्मुखस्य कुतो मुक्तिः? इत्याशङ्क्य यथोपदिष्टचेष्टायामनादरान्नैवमित्याह— **ज्ञाननिष्ठ** इति। इति दर्शयितुमिमं श्लोकमाहेति पूर्ववत्। आशिषः प्रार्थनाभेदास्तृष्णाविशेषाः। आशिषां विदुषो निर्गतत्वे हेतुमाह— **यतेति**। चित्तवदात्मनः संयमनं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मा बाह्य** इति। द्वयोः संयमने सति सिद्धमर्थमाह— **त्यक्तेति**। सर्वपरिग्रहपरित्यागे देहस्थितिरपि दुःस्था स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **शारीरमिति**। मात्रशब्देन पौनरुक्त्यादनर्थकं केवलपदमित्याशङ्क्याऽऽह— **तत्रापीति**।

१ शां. भा.— किञ्च 'शारीरं केवलं कर्म' इत्यत्र किं शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं कर्माभिप्रेतं आहोस्विच्छरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरं कर्म? इति। किञ्चातो यदि शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं कर्म यदि वा शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरम्? इति। उच्यते— यदा शरीरनिर्वर्त्यं कर्म शारीरमभिप्रेतं स्यात्तदा दृष्टादृष्टप्रयोजनं कर्म प्रतिषिद्धमपि शरीरेण कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषमिति ब्रुवतो विरुद्धाभिधानं प्रसज्येत। शास्त्रीयं च कर्म दृष्टादृष्टप्रयोजनं शरीरेण कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषमित्यपि ब्रुवतोऽप्राप्तप्रतिषेधप्रसङ्गः। 'शारीरं कर्म कुर्वन्' इति विशेषणात्केवलशब्दप्रयोगाच्च वाङ्मनसनिर्वर्त्यं कर्म विधिप्रतिषेधविषयं धर्माधर्मशब्दवाच्यं कुर्वन्प्राप्नोति किल्बिषमित्युक्तं स्यात्।

२ आ. शां. व्या.— 'शारीरं केवलं' इत्यादौ शारीरपदार्थं स्फुटीकर्तुमुभयथा सम्भावनया विकल्पयति— **शारीरमिति**। शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमित्यस्मिन्पक्षे किं दूषणं? शरीरस्थित्यर्थं शारीरमित्यस्मिन्वा पक्षे किं फलम्? इति पूर्ववादी पृच्छति— **किञ्चात** इति। शरीरनिर्वर्त्यं शारीरमित्यस्मिन्पक्षे सिद्धान्ती दूषणमाह— **उच्यत** इति। शरीरेण यन्निर्वर्त्यं, तत्किं प्रतिषिद्धं विहितं वा? प्रथमे विरोधः स्यादित्याह— **यदेति**। प्रतिषिद्धाचरणेऽपि

— ध्वन्यत इति वदन्ति॥ परिगृह्यन्त इति परिग्रहा भोगसाधनानि 'ग्रहवृढवृश्च' — ( अष्टा. ३।३।५८ ) इत्यप्॥ शारीरं शरीरसम्बन्धि, तत्स्थितिप्रयोजनमिति यावत्। 'तस्येदम्' ( अष्टा. ४।३।१२० ) इत्यण्। शरीरनिर्वर्त्यमिति व्याख्यानं त्वसत्, केवलमिति विशेषणानुपपत्तेः। न हि केवलेन शरीरेण कर्मानुष्ठानं सम्भवति, मनोव्यापारपूर्वकत्वादिन्द्रियव्यापाराणाम्। न हि मनोव्यापारमन्तरेण विधिप्रतिषेधलक्षणं किमपि कर्मानुष्ठातुं शक्नोति कोऽपि कर्त्रात्मबुद्धिसम्पन्नः। अतः शरीरनिर्वर्त्यस्य कर्मणो मानसाविनाभावनियमाद्व्यावर्त्याभावेन केवलपदस्य व्यर्थत्वं प्रसज्जते 'कायेन मनसा बुद्ध्या' ( ५।११ ) इत्यत्र तु तस्य ममत्वव्यावर्तनार्थत्वं स्पष्टमेव। न चेहापि तथास्त्विति वक्तुं युक्तम्, वाङ्मनसनिर्वर्त्यस्य ममत्ववर्जितस्यापि किल्बिषापादकत्वापत्तेः, तथाभ्युपगमे चोक्तवचनविरोधाद्वैषम्यप्रसङ्गाच्च। तस्माद्यथोक्तमेव युक्तम्। एतेन 'शारीरं शरीरपोषणपर्याप्तं भिक्षाटनादि कर्मेत्यपि न' इत्यादि नव्योक्तं निरस्तं ज्ञेयम्। विशेषश्च भाष्ये द्रष्टव्यः। केचित्त्वत्र— 'कुर्वन् आप्नोति' इति छित्त्वा विहिताकरणात्किल्बिषं प्राप्नोत्येवेति व्याचक्रुः, तन्निराकरणं भाष्योत्कर्षदीपिकायां द्रष्टव्यम्। "अस्ति च श्रुतौ पुण्येऽपि पाप्मशब्दः 'नैनं सेतुमहोरात्रे तरतः' इत्यत्र सह दुष्कृतेन सुकृतमप्यनुक्रम्य 'सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते' ( छां. ८।१।४ ) इत्यविशेषेणैव प्रकृते पुण्ये पाप्मशब्दप्रयोगात" इति ब्रह्मसूत्रभाष्यमपि ( ४।१।१४ ) इहानुसन्धेयम्। — अभिनवगीता।

नानिष्टप्राप्तिरित्युक्ते प्रतिषेधशास्त्रविरोधः स्यादित्यर्थः । द्वितीये विहितकरणे सत्यनिष्टप्राप्त्यभावादप्राप्तप्रतिषेधः स्यादित्याह— शास्त्रीयं चेति । दृष्टप्रयोजनं कारीर्यादिकं कर्मादृष्टप्रयोजनं स्वर्गसाधनं ज्योतिष्टोमादिकं कर्मेति विभागः । शारीरनिर्वर्त्यं कर्म शारीरमभिमतमिति पक्षे दूषणान्तरमाह— शारीरमिति ।

**१ शां. भा.— तत्रापि वाङ्मनसाभ्यां विहितानुष्ठानपक्षे किल्बिषप्राप्तिवचनं विरुद्धमापद्येत । प्रतिषिद्धसेविपक्षेऽपि भूतार्थानुवादमात्रमनर्थकं स्यात् । यदा तु शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं शारीरं कर्माभिप्रेतं भवेत्, तदा दृष्टादृष्टप्रयोजनं कर्म विधिप्रतिषेधगम्यं शरीरवाङ्मनसनिर्वर्त्यमन्यदकुर्वंस्तैरेव शरीरादिभिः शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं केवलशब्दप्रयोगात् 'अहं करोमि' इत्यभिमानवर्जितः शरीरादिचेष्टामात्रं लोकदृष्ट्या कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् । एवम्भूतस्य पापशब्दवाच्यकिल्बिषप्राप्त्यसम्भवात्किल्बिषं संसारं नाऽऽप्नोति; ज्ञानाग्निदग्धसर्वकर्मत्वादप्रतिबन्धेन मुच्यते एवेति पूर्वोक्तसम्यग्दर्शनफलानुवाद एवैषः । एवं 'शारीरं केवलं कर्म' इत्यस्यार्थस्य परिग्रहे निरवद्यं भवति ॥ २१ ॥**

२ आ. शां. व्या.— वाचा मनसा वा कर्मणोऽनुष्ठाने सन्न्यासिनो भवत्येव किल्बिषप्राप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— तत्रापीति । वाङ्मनसाभ्यां विहितानुष्ठाने वा प्रतिषिद्धकरणे वा किल्बिषप्राप्तिः सन्न्यासिनः स्यादिति विकल्प्याऽऽद्ये जपध्यानविधिविरोधः स्यादित्युक्त्वा द्वितीयं दूषयति— प्रतिषिद्धेति । शरीरनिर्वर्त्यं कर्म शारीरमिति पक्षमेवं प्रतिक्षिप्य द्वितीयपक्षे लाभं दर्शयति— यदा त्विति । अन्यद्देहस्थितिप्रयोजनात्कर्मणः सकाशादिति शेषः । तत्रापि विदुषः स्वदृष्ट्या न प्रवृत्तिरिति सूचयति— लोकेति । विद्वानुक्तया रीत्या वर्तमानो नाऽऽप्नोति किल्बिषमित्यत्र विवक्षितमर्थमाह— एवम्भूतस्येति । विधिनिषेधगम्यं कर्म देहस्थितिहेतुव्यतिरिक्तमकुर्वत इत्यर्थः । 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं' इत्यस्योक्तेन प्रकारेण परिग्रहे 'शारीरं केवलं' इति विशेषणद्वयं निर्दोषं सिध्यतीति फलितमाह— एवमिति ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.— पुनरपि कर्मणो ज्ञानाकारतैव विशोध्यते— निराशीरिति । निराशीः निर्गतफलाभिसन्धिः यतचित्तात्मा यतचित्तमनाः त्यक्तसर्वपरिग्रहः आत्मैकप्रयोजनतया प्रकृतिप्राकृतवस्तुनि ममतारहितो यावज्जीवं केवलं शारीरमेव कर्म कुर्वन् किल्बिषं संसारं नाप्नोति, ज्ञाननिष्ठाव्यवधानरहितकेवलकर्मयोगेनैवंरूपेणात्मानं पश्यतीत्यर्थः ॥ २१ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'यस्य' [४।१९] इति श्लोकेन ज्ञानाकारत्वमुपपादितम्; 'त्यक्त्वा' [४।२०] इति श्लोकेन तदेव विवृतम्, अतः परं श्लोकत्रयेण तदेव विशोध्यत इत्यपुनरुक्ततामाह— पुनरपीति । उक्तार्थस्य दुर्ज्ञानत्वाद्विशदप्रतिपत्त्यर्थं पूर्वं बहुषु प्रदेशेषु व्याकीर्णताभिहितानां सङ्कलय्य प्रतिपत्त्यर्थं अस्यैवार्थस्यादरविषयत्वद्योतनार्थं चोक्त एवार्थः पुनरपि विविच्य प्रतिपाद्यते । कर्मपौष्कल्यादिविषयसर्वाशीर्निषेधपरत्वव्युदासाय निर्गतफलाभिसन्धिरित्युक्तम् । 'यतचित्तात्मा' इत्येतन्नियन्तव्यविषयम् । तत्र नियन्तव्यस्य नियन्तृव्यतिरेकः स्वारसिकः । आत्मशब्दस्य चित्तस्वरूपाद्यर्थत्वं तु निरर्थकम् । अतो मनोविषयत्वे युक्ते तदवस्थाविशेषरूपस्य बुद्ध्यहङ्काराव्यवृत्तिसहपठितस्य चित्तस्य वाचकोऽयं चित्तशब्द इत्यभिप्रायेण यतचित्तमना इत्युक्तम्; विषयान्तरचिन्तारहितमना इत्यर्थः । 'अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यते' [ब्र. सू. भा. २।४।५] इति शारीरकभाष्ये व्यक्तमुक्तम् । सृष्ट्यादिप्रकरणेषु तु बुद्ध्यादिशब्दो महदादिवाचकः । अत्र चित्तस्य पृथगभिधानं मनसो बुद्ध्यहङ्कारावस्थयोरप्युपलक्षणम् । प्रकृतिप्राकृतेति— सर्वशब्दाभिप्रेतभोग्यभोगोपकरणादिसङ्ग्रहः । सर्वविषयः परिग्रहः । स च स्वकीयताभिमानः 'पर्याप्तौ च परीवार आलवाले परिच्छदे । पत्नीस्वीकारशपथमूल्येष्वपि परिग्रहः' इति वैजयन्ती । शारीरशब्दसामर्थ्याच्छरीरावधिकत्वं सिद्धमिति यावज्जीवमित्युक्तम् । शारीरं शरीरसम्बन्धि शरीरिणो दुस्त्यजमिति भावः । यद्वा बुद्धिव्यापारभूतफलसङ्गादिराहित्यात् शारीरमित्युक्तम् । अथवा शारीरमेव शरीरधारणाद्यर्थमेव, न तु स्वर्गाद्यर्थमिति भावः । मनोनियमनातिशयसापेक्षज्ञानयोगव्यवच्छेदाय वा शारीरशब्दः । अत्र पारिव्राज्यासङ्गतेर्द्रव्यार्जनसाध्यकर्मव्यवच्छेदः परोक्तो न युक्तः । किल्बिषशब्दफलितमुक्तं संसारमिति । 'शारीरं केवलं कर्म' इत्युक्ते यज्ञादिकर्मणोऽपि निषेधः प्रतीयेतेति तद्व्युदासार्थं केवलशब्दस्यात्र व्यवधाननिषेधपरत्वमाह— ज्ञानेति ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.— कामादित्यागोपायमाह— निराशीरिति । यतचित्तात्मा भूत्वा निराशीरित्यर्थः । आत्मा मनः । परिग्रहत्यागोऽनभिमानम् । 'नैव किञ्चित्करोति' [४।२०] इत्यस्याभिप्रायमाह— नाप्नोति किल्बिषमिति ॥ २१ ॥**

६ ज. प्र. दी.— कामादिविवर्जितत्वमेव 'निराशीः' इत्यनेनोच्यत इत्यत आह— कामेति। आदिपदेन सङ्कल्पादिपरिग्रहः। कथमित्यतो योजयति— यतेति। निराशीः त्यक्तसर्वपरिग्रहश्च भवतीति शेषः। सेन्द्रियं शरीरमात्मेत्यसत्, अन्तःकरणवृत्तेः नियमेनैवैतन्नियमसिद्धेरिति भावेनाह— आत्मेति। ननु परिग्रहो देहादिः, तत्त्यागः कथं साधकस्य ? इत्यत आह— परिग्रहेति। अनभिमानमिति। स्थितिरित्यादिक्रियाविशेषणम्। अर्थाभावेऽव्ययीभावो वाऽयम्। अभिमानाभाव इत्यर्थः। पूर्वश्लोके 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः' इति कर्मणां मिथ्यात्वज्ञानादिति व्याख्यानमसत्। अत्र श्लोके अन्यथा तदभिप्रायस्य वर्णितत्वादिति भावेनाह— नैवेति। गौण्या वृत्त्यैतदभिप्रायकथनमवधेयम्॥ २१॥

**७ ह. पै. भा.— निराशीरिति। निराशीः प्रार्थनारहितः, यतचित्तात्मा संयतान्तःकरणः, त्यक्तसर्वपरिग्रहः शारीरं केवलं कर्म शरीरस्थितिसाधनं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषं पापम्॥ २१॥**

८ वें. व्र. गि.— यदैवमतिविक्षेपकं साङ्गोपाङ्गयागाद्यनुष्ठानमपि ज्ञानिनो न बन्धकम्, तदा शरीरस्थितिमात्रसाधनमविक्षेपकं भिक्षाटनादिकं न बन्धकमिति किमु वक्तव्यं ? इत्याह— निराशीरिति। शारीरं शरीरनिर्वाहमात्रप्रयोजनं कर्म भिक्षाटनादिकं कुर्वन् किल्बिषं संसारबन्धं नाप्नोतीति प्रथममन्वयः। भिक्षाटनमपि न कामवशात्, किन्तु प्रारब्धदेहवासनामात्रादित्याह— निराशीरिति। निर्गता आशिषः कामा यस्मादिति निराशीः। तत्र हेतुः— यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रह इति। लोके हि कामना स्वार्थं स्वपरिग्रहार्थं वा भवति। ज्ञानिनस्तु न तावत्स्वार्थं कामनाऽस्ति, यतचित्तात्मत्वात्। चित्तं मनः, आत्मा सबाह्येन्द्रियो देहः। यतौ नियमितौ चित्तात्मानौ येन स तथोक्तः। चपलचित्तस्य चपलजिह्वाचक्षुरादेरेव हि पुरुषस्य 'इदं मे स्यात्' इति कामना। न तु यतचित्तात्मनः; यदाहुः— 'अजिह्वः पण्डकः पङ्गुरन्धो बधिर एव च। मुग्धश्च मुच्यते भिक्षुः षड्भिरेतैर्न संशयः॥ इदं मृष्टमिदं नेति योऽश्नन्नपि न सज्जति। हितं सत्यं मितं वक्ति तमजिह्वं प्रचक्षते॥ अद्यजातां यथा नारीं तथा षोडशवार्षिकीम्। शत-(स्कन्न-)वर्षां च यो दृष्ट्वा निर्विकारः स पण्डकः॥ भिक्षार्थमटनं यस्य विण्मूत्रकरणाय च। योजनान्न परं याति सर्वथा पङ्गुरेव सः॥ तिष्ठतो व्रजतो वापि यस्य चक्षुर्न दूरगम्। चतुर्युगां भुवं मुक्त्वा परिव्राट् सोऽन्ध उच्यते॥ हिताहितं मनोरामं वचः शोकावहं च यत्। श्रुत्वा यो न शृणोतीव बधिरः स प्रकीर्तितः॥ सान्निध्ये विषयाणां यः समर्थोऽविकलेन्द्रियः। सुसवद्वर्तते नित्यं स भिक्षुर्मुग्ध उच्यते' [ना. प. उ. ३।६२–६८] इति। अतो यतचित्तात्मनो न स्वार्थं कामनाऽस्ति; नापि स्वपरिग्रहार्थम्, त्यक्तसर्वपरिग्रहत्वादित्यर्थः। एवं निराशीः शारीरं कर्म केवलं स्वयं कर्तृत्वाभिमानशून्यः पराध्यारोपितकर्तृत्वेन कुर्वन्न बध्यते॥ २१॥

९ व० त० दी०— निराशीरिति। अपकृष्टाधिकारी स्वर्गाद्याशीःपराङ्मुखः, योगेन च यतं चित्तं आत्मा देहश्च यस्य, त्यक्तः सर्वपरिग्रहो लोकभावो येन, केवलं शरीरनिर्वर्त्यं कर्म कुर्वन्न चात्माहङ्कारकृतं कुर्वन् भवति स चैवमनहङ्कारादिना केवलशरीरमात्रेण कुर्वन् किल्बिषं शुभेतरोत्थं प्रत्यवायसंज्ञं पापं नाप्नोतीत्यकर्मत्वं कर्तृत्वाभिनिवेशाभावात् ब्रह्मभावनाच्च; यथोक्तं 'देहेन्द्रियास्रवस्तस्य निरध्यस्ता भवन्ति हि' इति। अत्राध्यास एवापयाति, न स्वरूपं; प्रपञ्चमध्यगतत्वात्। अध्यासाभावे स्थितिर्न स्यादिति चेत्, न; स्वबुद्ध्या लीनवत्प्रतिभानेऽपि सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतिभानाभावात्॥ २१॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवमपि कर्मादिमन्त्रेषूत्कृष्टबुद्ध्या कर्म बन्धकं भवेदेवेति चेत्तत्राह— निराशीरिति। निराशीः निस्पृहः। यतचित्तात्मा वशीकृतेन्द्रियदेहः। त्यक्तसर्वपरिग्रहः त्यक्तः सर्वपरिग्रहः पशुपुत्रादिर्येन। सर्वशब्देन दैहिकोऽपि सुखरूप उच्यते। एतादृशः सन् केवलशारीरं कर्म कुर्वन् ब्राह्मणादिदेहत्वात् फलाभावेन मलमूत्रादिशारीरकर्मवद्भगवन्नामादिग्रहणं शुद्ध्यर्थं कुर्वन् किल्बिषं बन्धं नाप्नोति॥ २१॥

११ नी० भा० दी०— नन्वेतस्माद्गौणात्कर्मकरणादकरणं मुख्यमेव तद्वरमित्याशङ्क्य गृहस्थस्य तत्प्रत्यवायावहमिति व्यतिरेकमुखेनाह— निराशीरिति। यो निष्परिग्रहः स्त्र्यादिपरिग्रहरहितः सन्न्यासी, स चेन्निराशीर्योगैश्वर्यमप्यनिच्छन् यतं चित्तं बुद्धिः आत्मा च देहेन्द्रियसङ्घातो येन स यतचित्तात्मा; समाधिकाले निरुद्धबाह्याभ्यन्तरवृत्तिरित्यर्थः। स व्युत्थानकाले शारीरं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादि तदपि केवलं कर्तृत्वाभिमानशून्यं पराध्यारोपितकर्तृत्वेन कुर्वन्नपि किल्बिषं "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" इति यावज्जीवाधिकारचोदिताग्निहोत्राद्यकरणजं प्रत्यवायं नाप्नोति, विहितस्तेषां त्यागात्। यस्तु सपरिग्रहः स निराशीरपि यतचित्तात्माऽपि केवलमपि शारीरं कर्म कुर्वन् विहिताकरणात्किल्बिषं प्राप्नोत्येवेत्यर्थः॥ २१॥

**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।**
**समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥ २२ ॥**

**१ शां. भा.— त्यक्तसर्वपरिग्रहस्य यतेरन्नादेः शरीरस्थितिहेतोः परिग्रहस्याभावाद्याचनादिना शरीरस्थितौ कर्तव्यतायां प्राप्तायां 'अयाचितमसंक्लृप्तमुपपन्नं यदृच्छया' [ म.भा. १४।४६।१९ बौ. ध. सू. २१।८।१२ ] इत्यादिना वचनेनानुज्ञातं यतेः शरीरस्थितिहेतोरन्नादेः प्राप्तिद्वारमाविष्कुर्वन्नाह— यदृच्छेति । यदृच्छालाभसन्तुष्टः-प्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभः तेन सन्तुष्टः सञ्जातालम्प्रत्ययः, द्वन्द्वातीतो द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिर्हन्यमानोऽप्यविषण्णचित्तो द्वन्द्वातीत उच्यते, विमत्सरो विगतमत्सरो निर्वैरबुद्धिः, समस्तुल्यो यदृच्छालाभस्य सिद्धावसिद्धौ च, य एवम्भूतो यतिरन्नादेः शरीरस्थितिहेतोर्लाभालाभयोः समो हर्षविषादवर्जितः, कर्मादावकर्मादिदर्शी, यथाभूतात्मदर्शननिष्ठः ( सन् ) शरीरस्थितिमात्रप्रयोजने भिक्षाटनादिकर्मणि शरीरादिनिर्वर्त्ये 'नैव किञ्चित्करोति' [५।८] 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' [३।२८] इत्येवं सदा सम्परिचक्षाण आत्मनः कर्तृत्वाभावं पश्यन्नैव किञ्चिद्भिक्षाटनादिकं कर्म करोति । लोकव्यवहारसामान्यदर्शनेन तु लौकिकैरारोपितकर्तृत्वे भिक्षाटनादौ कर्मणि कर्ता भवति । स्वानुभवेन तु शास्त्रप्रमाणादिजनितेनाकर्तैव । स एवं पराध्यारोपितकर्तृत्वं शरीरस्थितिमात्रप्रयोजनं भिक्षाटनादिकं कर्म कृत्वाऽपि न निबध्यते, बन्धहेतोः कर्मणः सहेतुकस्य ज्ञानाग्निना दग्धत्वादित्युक्तानुवाद एवैषः ॥ २२ ॥**

२ आ. शां. व्या.— पूर्वश्लोकेन सङ्गतिं दर्शयन्नुत्तरश्लोकमुत्थापयति— **त्यक्तेति** । अन्नादेरित्यादिशब्देन पादुकाच्छादनादि गृह्यते । 'याचनादिना' इत्यादिपदेन सेवाकृष्याद्युपादीयते । भिक्षाटनार्थमुद्योगात्प्राक्काले केनापि योग्येन निवेदितं भैक्षमयाचितम् । अभिशस्तं पतितं च वर्जयित्वा सङ्कल्पमन्तरेण पञ्चभ्यः सप्तभ्यो वा गृहेभ्यः समानीतं भैक्षमसंक्लृप्तम् । सिद्धमन्नं भक्तजनैः स्वसमीपमुपनीतमुपपन्नम् ; यदृच्छया स्वकीयप्रयत्नव्यतिरेकेणेति यावत् । आदिशब्देन "माधूकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् । तात्कालिकोपपन्नं च भैक्षं पञ्चविधं स्मृतम्" [सं. उ. ६५ ] इत्यादि गृह्यते । आविष्कुर्वन्निदं वाक्यमाहेति योजनीयम् । परोत्कहर्षामर्षपूर्विका स्वस्योत्कर्षाभिवाञ्छा विगता यस्मादिति व्युत्पत्तिमाश्रित्य विवक्षितमर्थमाह— **निर्वैरेति** । सङ्क्षेपतो दर्शितमर्थं विशदयति— **य एवम्भूत** इति । तथापि प्रकृतस्य यतेर्भिक्षाटनादौ कर्तृत्वं प्रतिभाति, तदभावे भिक्षाटनाद्यभावेन जीवनाभावप्रसङ्गादित्याशङ्क्याऽऽह— **लोकेति** । लौकिकैरविवेकिभिः सह व्यवहारस्य स्नानाचमनभोजनादिलक्षणस्य विदुष्यपि सामान्येन दर्शनात्तदनुसारेण लौकिकैरध्यारोपितकर्तृत्वभाक्त्वाद्विद्वानपि लोकदृष्ट्या भिक्षाटनादौ कर्तृत्वमनुभवतीत्यर्थः । **कथं** तर्हि तस्याकर्तृत्वं ? तत्राऽऽह— **स्वानुभवेनेति** । **यदृच्छे**त्यादिपादत्रयं व्याख्याय **कृत्वाऽपी**त्यादिचतुर्थपादं व्याचष्टे— **स एवमिति** । भिक्षाटनादिना प्रातिभासिकेन कर्मणा विदुषो बद्धत्वाभावेऽपि कर्मान्तरेण निबद्धत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **बन्धेति** । ज्ञानाग्निदग्धत्वादित्येवं 'शारीरं केवलं' इत्यादावुक्तस्यायमनुवाद इति योजना । यथोक्तस्य कर्मणो मुक्त्या सहाविरोधाभ्युपगमसूचनार्थोऽपिशब्दः ॥ २२ ॥

---

१ 'निबद्धयत इति कर्मकर्तरि प्रयोगः । स्वयमेव ह्यात्मानं बध्नाति फलवासनाकालुष्यमुपाददानः— गृह्णान इत्यर्थः । अन्यथा जडानां कर्मणां बन्धने स्वातन्त्र्यं न तथा हृदयङ्गमम्'— इत्यभिनवगुप्तपादाः ॥ अत्राह **वामनः**—

ननु द्वन्द्वमतीतस्य यदृच्छालाभतुष्टता । कथं सङ्गच्छते ? लाभालाभौ तस्य समौ न किम् ? ॥
आत्मानुभवतुष्टस्याप्रार्थितोपनतैरपि । भोगैर्न तोषो, नातोषस्तैरलब्धैश्च सम्भवेत् ॥
सत्यमेतत्; परं यावत्क्षुत्तृड्बाधा न शाम्यति । निस्स्पृहस्याप्यपेक्षा स्यात्तावदन्नोदकादिषु ॥
यदा हि क्षुदुदन्या वा पीडयत्यन्तरं दृढम् । चेतः सर्वात्मताबोधं धर्तुं नोत्सहते तदा ॥
अतः क्षुत्तृट्प्रतीघातो येन स्यात्तादृशेन सः । यादृच्छिकेन लाभेन ज्ञानी सन्तोषमश्नुते ॥
अशनायाद्युपशमे चेतो विक्षेपवर्जितम् । नित्यात्मबोधमासाद्य स्थिरं स्यान्नितरामिति— ॥
भावेनानेन सन्तोषं मनुते ज्ञानवान्नरः । यदृच्छोपनते लाभमात्रे, वस्तुनि निस्स्पृहः ॥
यस्तु वस्तुनि सन्तोषः सोऽतिदोषो भवेदिह । सत्यत्वसुखहेतुत्वे तेन भातो यतो जडे ॥
द्वन्द्वातीतोऽप्यतो वस्तुविशेषे विगतस्पृहः । यदृच्छालाभसन्तुष्टो भवतीति मतं हरेः ॥— इति । — **अविगीता**।

**३ रा. भा.**— यदृच्छोपनतशरीरधारणहेतुवस्तुसन्तुष्टः, द्वन्द्वातीतः— यावत्साधनसमाप्त्यवर्जनीयशीतोष्णादिसहः, विमत्सरः अनिष्टोपनिपातहेतुभूतस्वकर्मनिरूपणेन परेषु विगतमत्सरः, समः सिद्धावसिद्धौ च युद्धादिकर्मसु जयादिसिद्ध्यसिद्ध्योः समचित्तः, कर्मैव कृत्वाऽपि ज्ञाननिष्ठां विनाऽपि न निबध्यते न संसारं प्रतिपद्यते ॥ २२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'शारीरं कर्म कुर्वन्' [४।२१] इत्युक्ते शरीरधारणार्थद्रव्यार्जनादिष्ववश्यं प्रवृत्तिः स्यात्, ततश्चावर्जनीयाः शस्त्रपातादिशीतोष्णमृदुपरुषादिस्पर्शाः, तत्र च प्रवृत्तिविघातिषु क्रोधः स्यात्, विहतायां च प्रवृत्तौ मोघप्रयत्नतया सन्तापो लाभे प्रहर्षश्च स्यातामिति कर्मयोग एवात्मदर्शनविरोधिसमस्तवैरिणामुत्थापकः प्रसज्यत इति शङ्कानिरासाय दृष्टफलेष्वसङ्ग उच्यते— **यदृच्छेति** श्लोकेन। तत्र शरीरधारणाद्यर्थेषु साभिसन्धिकात्यन्तव्यापारनिवृत्तिपरं प्रथमपादं व्याख्याति— **यदृच्छोपनतेति**। समस्तव्यापारनिवृत्तौ विवक्षितायां स्वयमुपनतानां निगरणादिव्यापारोऽपि निवृत्तः स्यात्; अतो व्याप्रियमाणस्यैवाभिसन्ध्यादिनिवृत्तिरिह विवक्षिता। एतेन यदा स्वयमेव यत्किञ्चिच्छरीरधारणवस्त्वागमः, तदा ततोऽतिशयितमाधुर्यादिविशिष्टेषु न प्रवर्तितव्यमित्युपदिष्टं भवति। **याव**दित्यादिना 'मात्रास्पर्शास्तु' [२।१४] इत्यादि पूर्वप्रपञ्चितं स्मारितम्। **अनिष्टे**त्यादि— यथा आतपादिहेतुषु तपनादिषु स्वकर्मनिरूपणेन न क्रोधः, यथा छत्रादिभिरातपनिवारणादिमात्रमेव क्रियते, तावदत्रापि कर्तव्यमिति भावः। **युद्धा**दीत्यादिना 'सुखदुःखे समे कृत्वा' [२।३८] 'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा' [२।४८] इत्यादिकं स्मारितम्। कृत्वेत्यस्य सामर्थ्यात् **कर्मैवे**त्युक्तम्। बन्धहेतौ सत्यपि न बध्यत इति विरोधव्युदासाय अपिशब्दतात्पर्यमाह— **ज्ञाननिष्ठां विनेति**। कर्मयोगानुष्ठानपूर्वकस्वतन्त्रज्ञानयोगं विनाऽपीत्यर्थः। 'न निबध्यते' इत्यस्य कर्मणैव ज्ञाननिष्ठाफलसिद्धौ तात्पर्यमाह **न संसार**मिति ॥ २२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— यतचित्तात्मनो लक्षणमाह— **यदृच्छालाभेति**। कथं द्वन्द्वातीतत्वं? इति आह— **समः सिद्धाविति** ॥ २२ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— कामादिवर्जने यदृच्छालाभसन्तुष्टत्वादिकमर्थात्सिद्धम्, तत्किमर्थमुच्यत इत्यत आह— **यतेति**। **द्वन्द्वातीत** इत्युक्तमेव 'समः सिद्धावसिद्धौ च' इत्यनेनोच्यत इत्यत आह— **कथमिति**; किम्प्रकारकं इत्यर्थः। इति जिज्ञासायामिति शेषः। व्याख्यानव्याख्येयत्वेन न पुनरुक्तिदोष इत्यर्थः ॥ २२ ॥

**७ ह. पै. भा.**— यदृच्छेति। यदृच्छालाभसन्तुष्टोऽप्रार्थितलाभसन्तुष्टः, द्वन्द्वातीतः शीतोष्णसुखदुःखादिरहितः, विमत्सरः क्रोधवर्जितः, कर्मणां फलभावाभावयोः समचित्तः, स एवम्भूतः कृत्वाऽपि न निबध्यते न कर्मफलं शरीरादि प्राप्नोति ॥ २२ ॥

**८ वे. त्र. गि.**— 'शारीरं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इत्युक्त्या शरीरस्थितिहेतोरन्नादेर्याचनादिना सम्पादने प्राप्ते नियममाह— **यदृच्छेति**। अत्र 'कृत्वाऽपि न निबध्यते' इत्यनेन 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' इति पूर्वोक्तार्थमनूद्य तत्र यदृच्छालाभसन्तुष्टत्वगुणो विधीयते। अप्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभः, तेन सन्तुष्टः सञ्जातालम्प्रत्ययः। यदृच्छालाभेत्यनेन च 'अयाचितमसंक्लृप्तम्' [म.भा. १४।४६।१९] इत्यादिशास्त्रनिषिद्धयाचनासङ्कल्पादिप्रयत्नस्यैव निषेधः, न तु शास्त्रानुमतप्रयत्नस्यापि। अतः 'भिक्षार्थं ग्रामं प्रविशेत्' इति शास्त्रोक्तप्रयत्नस्य न बाधः। ननु शास्त्रानुमतप्रयत्नं विना याचनादेर्निषिद्धत्वे शीतोष्णादिपीडितः कथं निर्वहेत्? तत्राह— **द्वन्द्वातीत** इति। शीतोष्णक्षुत्पिपासादिद्वन्द्वान्यतीतोऽतिक्रान्तः समाधिदशायां द्वन्द्वास्फुरणाद्व्युत्थानदशायां स्फुरणेऽपि तेषां मिथ्यात्वनिश्चयान्न तेन पीड्यमानोऽपि क्षोभं गच्छति, स्वप्नानुभूतद्वन्द्वैरिव जागरित इत्यर्थः। द्वन्द्वातीतत्वे हेतुः— **विमत्सर** इति। सुखदुःखादिहेतुस्वप्रारब्धकर्मनिरूपणेन शीतोष्णवर्षातपादिषु विगतमत्सर इत्यर्थः। ननु यदृच्छयाऽप्यन्नादेरलाभे कथं शरीरस्थितिः? तत्राह— **समः सिद्धावसिद्धौ चेति**। यदृच्छालाभस्य सिद्ध्यसिद्ध्योस्तुल्यः। लाभालाभप्रयुक्तशरीरस्थितिनिमित्तहर्षविषादरहित इति यावत्। एवम्भूतः कृत्वाऽपि न निबध्यते ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वादिति पूर्वोक्तस्यैवानुवादः ॥ २२ ॥

**९ व० त० दी०**— यतः यदृच्छेति। सिद्धावसिद्धौ च सम इति पूर्वोक्तसाङ्ख्ययोगार्थः प्रदर्शितः न निबद्ध्यत इति अकर्मत्वं सूचितम् ॥ २२ ॥

**१० पु. अ. त.**— अथ उत्कृष्टज्ञानेऽपि फलेच्छारहितं कर्म न बन्धकमित्याह— **यदृच्छेति**। यदृच्छालाभसन्तुष्टः भगवदिच्छालाभसन्तुष्टः; द्वन्द्वातीतः सुखदुःखसमः, विमत्सरः दुष्टवचनजक्षोभादिरहितः, सिद्धौ यथोक्तकर्मसिद्धौ फलोन्मुखत्वादानन्दरहितः; च पुनः असिद्धौ फलोन्मुखत्वाद्दुःखरहितः; समः कर्म कृत्वाऽपि तेन कर्मणा न निबद्ध्यते ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु सपरिग्रहः कुटुम्बभरणव्यग्रतया कथं वित्तव्ययायाससाध्यान्यग्निहोत्रादीन्यनुतिष्ठेत् ? इत्याशङ्कयाह— यदृच्छेति । यदृच्छया अप्रार्थितोपनतो लाभो यदृच्छालाभस्तेन सन्तुष्टः । तथाहि ऋतामृताभ्यां जीवनं ब्राह्मणस्य विधाय व्याख्यातम् 'ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेय-( प्रोक्त- )-ममृतं स्यादयाचितम्' [मनुः५।४] इति । द्वन्द्वातीतः बहुलाभेऽलाभे वा सुखदुःखाद्यतीतः, विमत्सरः परस्य लाभं दृष्ट्वा सन्तापहीनः, समः यदृच्छालाभेनैवेष्टिपशुचातुर्मास्यादेर्नित्यकर्मणः सिद्धौ असिद्धौ वा समो निर्विकारः, एवम्भूत इष्ट्यादीनि कृत्वाऽपि तत्फलेन स्वर्गादिना न निबध्यते । अपिशब्दात्तज्जेन प्रत्यवायेन न निबध्यते, बन्धहेतोः कर्मणस्तत्त्वज्ञानेनैव दाहात् । तथा च स्मृतिः 'न्यायागतधनस्तत्त्वज्ञाननिष्ठोऽतिथिप्रियः । श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि (हि) विमुच्यते' [या.स्मृ. ३।२०५] इति । (शां.) भाष्ये त्वयं श्लोकः सन्न्यासिपरत्वेनैव व्याख्यातः ॥ २२ ॥

**गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।**
**यज्ञायाऽऽचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥ २३ ॥**

**१ शां. भा.— 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' [ ४।२० ] इत्यनेन श्लोकेन यः प्रारब्धकर्मा सन् यदा निष्क्रियब्रह्मात्मदर्शनसम्पन्नः स्यात्तदा तस्याऽऽत्मनः कर्तृकर्मप्रयोजनाभावदर्शिनः कर्मपरित्यागे प्राप्ते कुतश्चिन्निमित्तात्तदसम्भवे सति पूर्ववत्तस्मिन्कर्मण्यभिप्रवृत्तस्यापि 'नैव किञ्चित्करोति सः' [ ४।२० ] इति कर्माभावः प्रदर्शितः । यस्यैवं कर्माभावो दर्शितस्तस्यैव— गतसङ्गस्य सर्वतो निवृत्तासक्तेर्मुक्तस्य निवृत्तधर्माधर्मादिबन्धनस्य, ज्ञानावस्थितचेतसो ज्ञान एवावस्थितं चेतो यस्य सोऽयं ज्ञानावस्थितचेताः, तस्य यज्ञाय यज्ञनिर्वृत्त्यर्थमाचरतो निर्वर्तयतः कर्म समग्रं— सहाग्रेण फलेन वर्तत इति समग्रं कर्म तत्समग्रं— प्रविलीयते विनश्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥**

२आ. शां. व्या— 'गतसङ्गस्य' इत्यादिश्लोकस्य व्यवहितेन सम्बन्धं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति— **त्यक्त्वेति** । अनेन श्लोकेन 'नैव किञ्चित्करोति सः' [ ४।२० ] इत्यत्र कर्माभावः प्रदर्शित इति सम्बन्धः । कस्य कर्माभावप्रदर्शनम् ? इत्याशङ्कयाऽऽह— **यः प्रारब्धेति** । प्रारब्धकर्मा सन्योऽवतिष्ठते तस्य कर्माभावः प्रदर्शितश्चेद्विरोधः स्यादित्याशङ्कयावस्थाविशेषे तत्प्रदर्शनात् मैवमित्याह— **यदेति** । ननु ज्ञानवतः क्रियाकारकफलाभावदर्शिनः कर्मपरित्यागध्रौव्यात् कर्माभाववचनमप्राप्तप्रतिषेधः स्यादित्याशङ्कयाऽऽह— **आत्मन** इति । लोकसङ्ग्रहादिनिमित्तं प्रागेवोक्तम् । अविद्यावस्थायामिवेति पूर्ववदित्युक्तम् । एवं वृत्तमनूद्योत्तरश्लोकमवतारयति— **यस्येति** । यथोक्तस्यापि विद्यावतो मुक्तस्य भगवत्प्रीत्यर्थं कर्मानुष्ठानोपलम्भात्ततो बन्धारम्भः सम्भाव्येतेत्याशङ्कयाऽऽह— **यज्ञायेति** । धर्माधर्मादीत्यादिशब्देन रागद्वेषादिसङ्ग्रहः, तस्य बन्धनत्वं करणव्युत्पत्त्या प्रतिपत्तव्यम् । यज्ञनिर्वृत्त्यर्थं यज्ञशब्दितस्य भगवतो विष्णोर्नारायणस्य प्रीतिसम्पत्त्यर्थमिति यावत् । ज्ञानमेव वाञ्छतो ज्ञानस्य प्रतिबन्धकं कर्म परिशङ्कितं परिहरति— **कर्मेति** । समग्रेणेत्यङ्गीकृत्य व्याचष्टे— **सहेत्यादिना** ॥ २३ ॥

---

१ **यज्ञायेति** जातावेकवचनम् । यज्ञा वक्ष्यमाणलक्षणाः— **इत्यभिनवगुप्तपादाः** । 'प्रविलीयते' इत्येतदेवं व्याचष्टे **वामनः—**

उक्तं लीयत इत्येव यदि स्यादिह केवलम् । बोध्येत कर्मणो नाशस्तावतैव न संशयः ॥
**प्र— वि—** पूर्वे तथाप्यत्र प्रयुञ्जानस्य तत्पदम् । भावो भगवतो नूनमयं भवितुमर्हति ॥
जिज्ञासुनाऽपि भगवत्प्रीतये कर्म यत्कृतम् । तन्नैव बन्धकमिति प्रागेव प्रतिपादितम् ॥
प्रकृतत्वाज्ज्ञानिनोऽत्र सगुणं यत्स सेवते । तत्तत्कर्म प्रकर्षेण विशेषेण च लीयते ॥
ननु नाशे प्रकर्षो वा विशेषो वाऽत्र कीदृशः ? । निर्गुणोपासकानामप्यशेषं कर्म नश्यति ॥
इति चेद्द्वादशेऽध्याये स्वयमत्रैव वक्ष्यति । क्लेशोऽधिकतरस्तेषां भवतीति यदूद्वहः ॥
ज्ञाने मोक्षे च तुल्येऽपि क्लिश्यन्त्यव्यक्तचिन्तकाः । सुखं सगुणनिष्ठास्तु कर्म प्लुष्यन्त्यशेषतः ॥
स्यात्केवलो निर्गुणचिन्तकानामनुप्लवः साधनवार एव । भक्तोत्तमानां तु हरिः सहायः सुखेन ते कर्म ततो दहन्ति ॥
चन्द्रज्योतिस्संज्ञितामेयचूर्णपूर्णा वर्तिर्दह्यते दारु चापि । दाहे चन्द्रज्योतिषः किन्तु दारुदाहाद्यद्भाति कोऽपि प्रकर्षः ॥
शङ्कः कैश्चित्क्लेशमाश्रित्य काष्ठैर्यत्नाद्दग्धो लीलयैवापरैः सः । तैलेनैवामोदयुक्तेन तेषां यद्वास्मिन्कर्मणि स्याद्विशेषः ॥
सगुणं भजतामेवमक्लेशत्वादिबन्धनः । अवधेयः सप्रकर्षो विशेषः कर्मणो लये ॥ इति । **—अविगीता ।**

**३ रा. भा.— आत्मविषयज्ञानावस्थितमनस्त्वेन निर्गततदितरसङ्गस्य तत एव निखिलपरिग्रहविनिर्मुक्तस्य उक्तलक्षणयज्ञादिकर्मनिर्वृत्तये वर्तमानस्य पुरुषस्य बन्धहेतुभूतं प्राचीनं कर्म समग्रं प्रविलीयते निश्शेषं क्षीयते ॥ २३ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ‘ त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् ’ [ ४।२० ] ‘ यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ’ [ ४।२१ ] इत्येतैः पूर्वं बुद्धिपूर्वः सङ्गपरित्यागादिरुक्तः । इदानीं तथाविधनियमवतोऽवस्थान्तरे यज्ञार्थद्रव्यार्जनादिव्यापृतस्यापि स्वरसत एव सङ्गाभावादिकं वदन्ननन्तस्यापि विरोधिकर्मणः कर्मयोगप्रभावान्निवृत्तिमाह— **गतसङ्गस्ये**तिश्लोकेन । पूर्वोक्तैर्बुद्धिपूर्वसङ्गत्यागादिभिः आत्मज्ञाने मनोऽवस्थितम् । अतो नेदानीं नियन्तव्यम् । ततश्च सङ्गोऽपि निरतिशयभोग्यस्यात्मनोऽनुसन्धानात्सवासनं स्वयमेव गतः । एवं सङ्गेऽपि निवृत्ते न स्वयं सर्वपरिग्रहास्त्याज्याः; किन्तु तैरयं मुक्तः । एवं जितसमस्तजेतव्यस्य यथावस्थितोपाये निष्प्रत्यूहं प्रवर्तमानस्य आत्मसाक्षात्कारतत्प्राप्तिविरोधि पूर्वकृतं पुण्यपापरूपं सर्वं कर्म विनश्यतीत्येतदखिलं दर्शयति— **आत्मविषये**ति । कर्मशब्दः प्रथमान्तः ‘ प्रविलीयते ’ इत्यनेनान्वितः । ‘ आचरतः ’ इत्यस्य तु कर्मविषयत्वं स्वरससिद्धम् । अन्यथा ‘ समग्रं प्रविलीयते ’ इत्येतदपि साकाङ्क्षं स्यात्, इत्येतदभिप्रेत्य— **यज्ञादिकर्मनिर्वृत्तये वर्तमानस्ये**त्याद्युक्तम् । **यज्ञाये**त्यनेन स्वकुक्षिभरणादिमात्रनिरासः । समग्रशब्दस्य उपसर्गस्य च अभिप्रायात् **निश्शेषमित्युक्तम्** । ‘सहाग्रेण फलेन वर्तते ’ इति [ शां. ] परव्याख्यानं अप्रसिद्धार्थत्वादर्थप्रसिद्धकथनरूपत्वाच्च हेयम् । धातोरश्लेषे कारणापत्तौ च प्रयोगात्तद्व्युदासाय क्षीयत इत्युक्तम् ॥ २३ ॥

**५ आ. मा. भा.— उपसंहरति— गतसङ्गस्येति । गतसङ्गस्य फलस्नेहरहितस्य मुक्तस्य शरीराद्यनभिमानिनः । ज्ञानावस्थितचेतसः परमेश्वरज्ञानिनः ॥ २३ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**—यदुक्तं कामादिवर्जनं तदेव ‘गतसङ्गस्य’ इत्यनेनोच्यते । ‘ त्यक्तसर्वपरिग्रहः ’ [ ४।२१ ] इत्येतत् ‘मुक्तस्य ’ इत्यनेन कर्मणीति नित्यतृप्त इति च ‘ ज्ञानावस्थितचेतसः ’ इत्यनेन । अतः पुनरुक्तिरित्यत आह— **उपसंहरतीति** । विक्षिप्तं पिण्डीकरोतीत्यर्थः । गतसङ्गस्येति विषयसापेक्षम्; अतस्तत्प्रदर्शनेन व्याख्याति— **गते**ति । मुक्तस्यैतत्साधके घटयति— **मुक्तस्ये**ति । अनेनाभिमानान्मुक्तस्येति वा, मुक्तसदृशस्येति वा व्याख्यातं भवति । ज्ञानस्य विषयसापेक्षत्वात्तं प्रदर्शयन् व्याचष्टे— **ज्ञाने**ति; आत्मज्ञानस्याप्युपलक्षणमेतत् ॥ २३ ॥

**७ ह. पै. भा.— गतसङ्गस्येति । गतसङ्गस्य फलसङ्कल्परहितस्य, ज्ञानावस्थितचेतसः परमात्मनि व्यवस्थितबुद्धेः, यज्ञायेश्वराराधनार्थमाचरतः कर्मानुष्ठातुस्तत्कर्म समग्रं प्रविलीयतेऽफलप्रदं भवेत्, अबद्धकं भवति ॥ २३ ॥**

**८ वे. ब्र. गि.**— ‘त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम् ’ [४।२० ] इति श्लोकोक्तमेव विवृणोति— **गते**ति । ज्ञानावस्थितचेतसः ज्ञाननिष्ठस्य, अत एव मुक्तस्य कर्तृत्वाद्यध्यासशून्यस्य, अत एव गतसङ्गस्य फलासङ्गरहितस्य, एवंविधस्य लोकसङ्ग्रहाद्यपेक्षया यज्ञादिनिर्वृत्त्यर्थमाचरतः कर्म यज्ञादिकं **समग्रं** सहाग्रेण फलेन विद्यत इति समग्रं प्रविलीयते नश्यति ॥ २३ ॥

**९ व० त० दी०— तथा चासावकर्मा योगी सर्वतो मुक्तोऽखण्डब्रह्मयाथात्म्यज्ञानेनाऽवस्थितचेताः यज्ञाय ब्रह्मणे ब्रह्मकर्माचरन् भवति तस्सर्वं कर्म प्रविलीयते अकर्मभावमापद्यते ॥ २३ ॥**

**१० पु. अ. त.**— ननु कृतं कर्म फलभोगाभावे कथं नश्यति ? इत्याशङ्कायामाह— **गतसङ्गस्ये**ति । गतसङ्गस्य त्यक्तलौकिकपरिग्रहादेः मुक्तस्य कर्मफलैर्मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ज्ञानेन भगवति सुस्थिरचित्तस्य, यज्ञाय विष्णवे भगवदर्पणबुद्ध्या कर्म आचरतः कुर्वतः समग्रं फलसहितं कर्म प्रविलीयते । ईश्वरप्राप्तिरूपे लीनं भवतीत्यर्थः । यद्वा— यज्ञाय लोकशिक्षणार्थं मदाज्ञयाऽग्रे यज्ञप्रवृत्त्यर्थमाचरतः समग्रं सफलं कर्म प्रविलीयते । यज्ञप्रवृत्तावेव लीनं भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

**११ नी० भा० दी०— ‘त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गम्’ [४।२०] इत्यादिना श्लोकत्रयेण विद्वान् कर्माणि कुर्वन्नपि न करोति, अतो न लिप्यते; लेपाभावाच्च न बध्यत इत्युक्तम्, तत्किं कर्मणां फलदानशक्तिप्रतिबन्धो वा ज्ञानेन क्रियते ? उत निरन्वयोच्छेद एव ? इत्याशङ्क्य आद्ये मुक्तस्यापि पुनः संसारप्रसक्तिं पश्यन् द्वितीयमभ्युपगच्छति— गतसङ्गस्येति । यतो विद्वान् गतसङ्गः कर्तृत्वाभिमानशून्योऽतो न करोतीत्युक्तम्; यतो मुक्तः फलकामनामुक्तः, अतो न लिप्यत इत्युक्तं; यतो यज्ञायैव यज्ञेश्वरप्रीत्यर्थमेवाचरति, न फलान्तरार्थं, प्राप्याभावात्;**

अतस्तामेवोत्पाद्य कृतार्थैः कर्मभिर्न बध्यत इत्युक्तम् । यतोऽयं ज्ञाने सम्यग्दर्शनेऽवस्थितचेताः प्रतिष्ठितप्रज्ञः, अत ईश्वरप्रीतिफलस्य ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिरूपस्यापि प्रागेव लाभात् अस्य गतसङ्गस्य मुक्तस्य यज्ञाय कर्माचरतो ज्ञानावस्थितस्य सर्वं कर्म क्रियमाणादिकं सर्वप्रकारेण निष्प्रयोजनं सत् समग्रं अग्रेण फलेन वासनया वा सह समग्रं, प्रकर्षेण निरन्वयं विलीयते नश्यति, अतो न कदाचिदपि प्रादुर्भवति । अयं च क्रियमाणकर्मप्रलयो विद्वद्दृष्ट्यैव स्वाभाविकस्य तेषां फलजननसामर्थ्यस्य वह्न्यौष्ण्यवदप्रत्याख्येयत्वात् । अत एव ज्ञानेन पूर्वकर्मणां दाह उत्तरेषामश्लेषश्च श्रूयते, न तूत्तरेषामपि दाहः । "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" [छां.उ. ५।२४।३] इति । "तं विदित्वा न कर्मणा लिप्यते पापकेन" [ बृ.उ. ४।४।२३ ] इति च । "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" इति । विदुषो धनस्येव कर्मणामप्यन्यत्र गमनदर्शनान्न तेषां वस्तुवृत्त्या प्रलयोऽस्तीति ध्येयम् ॥ २३ ॥

ज्ञानिना क्रियमाणस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वेन ज्ञानयज्ञसम्पादनम् ।

## ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
## ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २४ ॥

**१ शां. भा.—** कस्मात्पुनः कारणात् क्रियमाणं कर्म स्वकार्यारम्भमकुर्वत् समग्रं प्रविलीयत इत्युच्यते ? यतः— **ब्रह्मेति** । ब्रह्मार्पणं येन करणेन ब्रह्मविद्धविरग्नावर्पयति, तद्ब्रह्मैवेति पश्यति, तस्याऽऽत्मव्यतिरेकेणाभावं पश्यति । यथा शुक्तिकायां रजताभावं पश्यति तदुच्यते ब्रह्मैवार्पणमिति । यथा यद्रजतं तच्छुक्तिकैवेति । 'ब्रह्म,अर्पणम्' इत्यसमस्ते पदे यदर्पणबुद्ध्या गृह्यते लोके तदस्य ब्रह्मविदो ब्रह्मैवेत्यर्थः ।

**२ आ. शां. व्या.—** 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' [ ] इति स्मृतिमाश्रित्य शङ्कते— **कस्मा**दिति । समस्तस्य क्रियाकारकफलात्मकस्य द्वैतस्य ब्रह्ममात्रत्वेन बाधितत्वाद्ब्रह्मविदो ब्रह्ममात्रस्य कर्म प्रविलीयते सर्वमिति युक्तमित्याह— **उच्यत** इति । ब्रह्मविदो ब्रह्मैव सर्वं क्रियाकारकफलजातं द्वैतमित्यत्र हेतुत्वेनानन्तरश्लोकमवतारयति— **यत** इति । अर्पणशब्दस्य करणविषयत्वं दर्शयन्नर्पणं ब्रह्मेति पदद्वयपक्षे सामानाधिकरण्यं साधयति— **येने**ति । यद्रजतं सा शुक्तिरितिवद्बाधायामिदं

---

१ अत्राभिनवगुप्ताचार्याः कमप्यभिनवं गुप्तं चार्थमाविरबीभवन्त स व्याख्यान्तरालभ्यः पाण्डित्यमात्रागम्यश्चेति सहृदयप्रमोदायानूद्यते— "ब्रह्मण्यर्पणं तत एव प्रवृत्तस्य पुनस्तत्रैवानुप्रवेशनं यस्य तद्ब्रह्म समग्रं विश्वात्मकं यदेतद्धविस्तद्ब्रह्मणि परमबोधे प्रशान्तेऽग्नौ ब्रह्मणा येनकेनचित् कर्मणा हुतं तद्दीप्त्यभिवृद्धये समर्पितं इतीदृशं ब्रह्मकर्मैव समाधिर्यस्य योगिनः, तेन ब्रह्मैव गन्तव्यं ज्ञेयं नान्यत्किञ्चित्, अन्याभावात् । यदि वा— तदर्थेन यदर्थाक्षेपादेवं सम्बन्धः— यत्खलु ब्रह्मस्वरूपेण यजमानेन ब्रह्माग्नौ ब्रह्महविर्हुतं ब्रह्मणि ब्रह्मस्वरूपदेवतोद्देशेनार्पणं यस्य तदेवम्भूतं यद्ब्रह्मकर्म, तदेव समाधिः— आत्मस्वरूपलाभोपायत्वात्, तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना नान्यत्फलमवाप्यते, अपितु ब्रह्मैव इति 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते—' ( ४।११ ) इति निर्वाहितम् । मितस्वरूपा कृतमदात्मकयज्ञस्वभावा इति तादृशफलभागिन इत्यन्यत् । अपरिमितपरिपूर्णमदात्मकयज्ञस्वरूपवेदिनस्तु कथं परिमितफललवलाम्पट्यभागिनो भवेयुरिति तात्पर्यम् ॥ इत्यनेन श्लोकेन वक्ष्यमाणैश्च श्लोकैः परमं रहस्यमुपनिबद्धम् । तच्चास्माभिर्मितबुद्धिभिरपि यथाबुद्धि यथागुर्वाम्नायं च विवृतम् । मुख्यसम्प्रदायक्रममन्तरेण नैतन्नभश्चित्रमिव चित्तमुपारोहतीति न वयमुपालम्भनीयाः ॥ अत्र कैश्चिद्धविषोऽग्नेः करणानां च, स्रुगादीनां क्रियायाश्च ब्रह्मविशेषणत्वमित्युक्तम्, तदुपेक्ष्यमेव; तेषां रहस्यसम्प्रदायक्रमेऽक्षुण्णत्वात्" इति ।

**अन्ये**— 'ब्रह्मणा हुतं' इत्यनेन 'अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् । विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥' ( १८।१४ ) इत्युक्तानां पञ्चानामपि कर्महेतूनां ब्रह्ममयत्वं लक्ष्यत इत्याहुः । कारकेषु क्रियायां च ब्रह्मबुद्धिकरणमनेन विधीयते । ब्रह्मात्मकं कर्म यः समादधाति बुध्यते, स ब्रह्मकर्मसमाधिः— **इत्यपरार्कः** ( ३।५७ ) । अर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं स्रुक्स्रुवादि 'ऋ गतिप्रापणयोः' ( धा. पा. ९३६ ) 'करणे ल्युट्' ( अष्टा. ३।३।११७ ) 'अर्तिह्रीब्लीरी—' ( अष्टा. ७।१।३६ ) इत्यादीनां पुगागमः । **केचित्तु**— 'अर्पणं हवनक्रिया' इति व्याचक्षते । तन्न, 'हुतम्' इत्यनेन पौनरुक्त्यात्; करणे ब्रह्मबुद्ध्यनभिधाने न्यूनत्वप्रसङ्गाच्च । अतो भाष्यकाराद्युक्तमेव युक्तम् । अस्ति च तत्रोपष्टम्भकं 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ।' ( ९।१६ ) इति भगवद्वचनमेव लिङ्गम् । एतेन **नव्यानां** भगवत्पादोदितार्थस्य क्लिष्टत्वप्रतिपादनमपि पराहतम् । — **अविगीता** ।

सामानाधिकरण्यमित्याह— तस्येति । तत्र दृष्टान्तमाह— यथेति । उक्तेऽर्थे पदद्वयमवतारयति— तदुच्यत इति । उक्तमेवार्थं स्पष्टयति— यथा यदिति । समासशङ्कां व्यावर्तयति— ब्रह्मेति । पदद्वयपक्षे विवक्षितमर्थं कथयति— यदर्पणेति ।

१ शां. भा.— ब्रह्म हविस्तथा यद्धविर्बुद्ध्या गृह्यमाणं तद्ब्रह्मैवास्य । तथा 'ब्रह्माग्नौ' इति समस्तं पदम् । अग्निरपि ब्रह्मैव; यत्र हूयते ब्रह्मणा कर्त्रा, ब्रह्मैव कर्तेत्यर्थः । यत्तेन हुतं हवनक्रिया तद्ब्रह्मैव । यत्तेन गन्तव्यं फलं तदपि ब्रह्मैव । ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्मैव कर्म ब्रह्मकर्म तस्मिन्समाधिर्यस्य स ब्रह्मकर्मसमाधिस्तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्मैव गन्तव्यम् ।

२ आ. शां. व्या.— 'ब्रह्म हविः' इति पदद्वयमवतार्य व्याचष्टे— ब्रह्मेत्यादिना । यदर्पणबुद्ध्या गृह्यते तद्ब्रह्मविदो ब्रह्मैवेति यथोक्तं तथेहापीत्याह— तथेति । अस्येति षष्ठी ब्रह्मविदमधिकरोति । पूर्ववदसमासमाशङ्क्य व्यावर्तयन् पदान्तरमवतार्य व्याकरोति— तथेति । प्रागुक्तासमासवदिति व्यतिरेकः । तत्र विवक्षितमर्थमाह— अग्निरपीति । ब्रह्मणेति पदस्याभिमतमर्थमाह— ब्रह्मणेति । कर्त्रा हूयत इति सम्बन्धः । कर्ता ब्रह्मणः सकाशाद्व्यतिरिक्तो नास्तीत्येतदभिप्रेतमित्याह— ब्रह्मैवेति । 'हुतं' इत्यस्य विवक्षितमर्थमाह— यत्तेनेति । 'ब्रह्मैव तेन' इत्यादिभागं विभजते— ब्रह्मैवेत्यादिना । 'ब्रह्मकर्म' इत्याद्यवतार्य व्याकरोति— ब्रह्मेति । कर्मत्वं ब्रह्मणो ज्ञेयत्वात्प्राप्यत्वाच्च प्रतिपत्तव्यम् ।

१ शां. भा.— एवं लोकसङ्ग्रहं चिकीर्षुणाऽपि क्रियमाणं कर्म, परमार्थतोऽकर्म ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितत्वात् । एवं सति निवृत्तकर्मणोऽपि सर्वकर्मसन्न्यासिनः सम्यग्दर्शनस्तुत्यर्थं यज्ञत्वसम्पादनं ज्ञानस्य सुतरामुपपद्यते, यदर्पणाद्यधियज्ञे प्रसिद्धं तदस्याध्यात्मं ब्रह्मैव परमार्थदर्शिन इति । अन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वेऽर्पणादीनामेव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानमनर्थकं स्यात् । तस्माद्ब्रह्मैवेदं सर्वमित्यभिजानतो विदुषः सर्वकर्माभावः ।

२ आ. शां. व्या.— एवं ब्रह्मार्पणमन्त्रस्याक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यमाह— एवमिति । निवृत्तकर्माणं सन्न्यासिनं प्रति कथमस्य मन्त्रस्य प्रवृत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— निवृत्तेति । यथा बाह्ययज्ञानुष्ठानासमर्थस्याज्ञस्य सङ्कल्पात्मकयज्ञो दृष्टस्तथा ज्ञानस्य यज्ञत्वसम्पादनं स्तुत्यर्थं सुतरामुपपद्यते, तेन स्तुतिलाभात्कल्पनायाः स्वाधीनत्वाच्चेत्यर्थः । ज्ञानस्य यज्ञत्वसम्पादनमभिनयति— यदर्पणादिति । केन प्रमाणेनात्र यज्ञत्वसम्पादनमवगतं ? इत्याशङ्क्यार्पणादीनां विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानानुपपत्त्येत्याह— अन्यथेति । ज्ञानस्य यज्ञत्वे सम्पादिते फलितमाह— तस्मादिति ।

१ शां. भा.— कारकबुद्ध्यभावाच्च । नहि कारकबुद्धिरहितं यज्ञाख्यं कर्म दृष्टम् । सर्वमेवाग्निहोत्रादिकं कर्म शब्दसमर्पितदेवताविशेषसम्प्रदानादिकारकबुद्धिमत्कर्त्रभिमानफलाभिसन्धिमच्च दृष्टं; नोपमृदितक्रियाकारकफलभेदबुद्धिमत्, कर्तृत्वाभिमानफलाभिसन्धिरहितं वा । इदं तु ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादिकारकक्रियाफलभेदबुद्धि कर्मातोऽकर्मैव तत् ।

२ आ. शां. व्या.— "आत्मैवेदं सर्वं" [ नृ. उ. उ.७। छां. उ. ७ । २५ । २ ] इत्यात्मव्यतिरेकेण सर्वस्यावस्तुत्वं प्रतिपद्यमानस्य कर्माभावे हेत्वन्तरमाह— कारकेति । कारकबुद्धेस्तदभिमानस्याभावेऽपि किमिति कर्म न स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— न हीति । उक्तमेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रढयति— सर्वमेवेति । इन्द्रायेत्यादिना शब्देन समर्पितो देवताविशेषः सम्प्रदानकारकम्, आदिशब्दाद्व्रीह्यादिकरणकारकं, तद्विषयबुद्धिमत्कर्ताऽस्मीत्यभिमानपूर्वकं भोक्ष्ये फलमस्येति फलाभिसन्धिमच्च कर्म दृष्टमिति योजना । अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह— नेत्यादिना । उपमृदिता क्रियादिभेदविषया बुद्धिर्यस्य तत्कर्म, तथा कर्तृत्वाभिमानपूर्वको भोक्ष्ये फलमस्येति योऽभिसन्धिस्तेन रहितं च न कर्म दृष्टमित्यन्वयः । तथापि ब्रह्मविदो भासमानकर्माभावे किमायातं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— इदमिति । यदिदं ब्रह्मविदो दृश्यमानं कर्म, तदहमस्मि ब्रह्मेति बुद्ध्या निराकृतकारकादिभेदविषयबुद्धिमत्; अतश्च कर्मैव न भवति, तत्त्वज्ञाने सति व्यापकं कारकादि व्यावर्तमानं व्याप्यं कर्मापि व्यावर्तयति, तत्त्वविदः शरीरादिचेष्टा कर्माभासः कर्मव्यापकरहितत्वात्सुषुप्तचेष्टावदित्यर्थः ।

१ शां. भा.— तथा च दर्शितं— 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [ ४।१८ ] 'कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः' [ ४।२० ] 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' [ ३।२८ ] 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' [ ५।८ ] इत्यादिभिः । तथा च दर्शयंस्तत्र तत्र क्रियाकारकफलभेदबुद्ध्युपमर्दं

करोति । दृष्टा च काम्याग्निहोत्रादौ कामोपमर्देन काम्याग्निहोत्रादिहानिः । तथा मतिपूर्वकामतिपूर्वकादीनां कर्मणां कार्यविशेषस्याऽऽरम्भकत्वं दृष्टम्; तथेहापि ब्रह्मबुद्ध्युपमृदितार्पणादिकारकक्रियाफलभेदबुद्धेः बाह्यचेष्टामात्रेण कर्मापि विदुषोऽकर्म सम्पद्यते । अत उक्तं 'समग्रं प्रविलीयते' [ ४।२३ ] इति ।

**२ आ. शां. व्या.**—ज्ञानवतो दृश्यमानं कर्माकर्मैवेत्यत्र भगवदनुमतिमाह— **तथा चेति** । ब्रह्मविदो दृष्टं कर्म नास्तीत्युक्तेऽपि तत्कारणानुपमर्दात्पुनर्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **तथा च दर्शयन्निति** । अविद्वानिव विद्वानपि कर्मणि प्रवर्तमानो दृश्यते; तथापि तस्य कर्माकर्मैवेत्यत्र दृष्टान्तमाह— **दृष्टा चेति** । विद्वत्कर्मापि कर्मत्वाविशेषादितरकर्मवत्फलारम्भकमित्यपि शङ्का न युक्तेत्याह— **तथेति** । 'इदं कर्मैवं कर्तव्यमस्य च फलं भोक्तव्यं' इति मतिस्तत्पूर्वकाण्यतत्पूर्वकाणि च कर्माणि तेषामवान्तरभेदसङ्ग्रहार्थमादिपदम् । दार्ष्टान्तिकमाह— **तथेति** । सप्तम्या विद्वत्प्रकरणं परामृष्टम्; षष्ठ्यौ समानाधिकरणे। उक्तेऽर्थे पूर्ववाक्यमनुकूलयति— **अत इति** ।

**१ शां. भा.**—अत्र केचिदाहुः–यद्ब्रह्म तदर्पणादीनि । ब्रह्मैव किलार्पणादिना पञ्चविधेन कारकात्मना व्यवस्थितं सत्तदेव कर्म करोति । तत्र नार्पणादिबुद्धिर्निवर्त्यते, किन्त्वर्पणादिषु ब्रह्मबुद्धिराधीयते; यथा प्रतिमादौ विष्ण्वादिबुद्धिः, यथा वा नामादौ ब्रह्मबुद्धिः– इति । सत्यमेवमपि स्यात् यदि ज्ञानयज्ञस्तुत्यर्थं प्रकरणं न स्यात् । अत्र तु सम्यग्दर्शनं ज्ञानयज्ञशब्दितमनेकान्यज्ञशब्दितान्क्रियाविशेषानुपन्यस्य 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' [ ४।३३ ] इति ज्ञानं स्तौति । अत्र च समर्थमिदं वचनं 'ब्रह्मार्पणं' इत्यादि ज्ञानस्य यज्ञत्वसम्पादने, अन्यथा सर्वस्य ब्रह्मत्वेऽर्पणादीनामेव विशेषतो ब्रह्मत्वाभिधानमनर्थकं स्यात् । ये त्वर्पणादिषु प्रतिमायां विष्णुदृष्टिवद्ब्रह्मदृष्टिः क्षिप्यते, नामादिष्विव चेति ब्रुवते, न तेषां ब्रह्मविद्योक्तेह विवक्षिता स्यात्, अर्पणादिविषयत्वाज्ज्ञानस्य । न च दृष्टिसम्पादनज्ञानेन मोक्षफलं प्राप्यते, 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' इति चोच्यते ।

**२ आ. शां. व्या.**— ब्रह्मार्पणमन्त्रस्य व्याख्यानमुक्त्वा स्वयूथ्यव्याख्यानमनुवदति–**अत्रेति**। प्रसिद्धोद्देशेनाप्रसिद्धविधानस्य न्याय्यत्वादप्रसिद्धोद्देशेन प्रसिद्धविधानं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ब्रह्मैवेति** । किलेत्यस्मिन्व्याख्याने सिद्धान्तिनोऽसम्प्रतिपत्तिं सूचयति । कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानाधिकरणरूपेण पञ्चविधेन ब्रह्मैव व्यवस्थितं कर्म करोतीत्यङ्गीकारात्तदप्रसिद्ध्यभावात्तदनुवादेनार्पणादिष्वविरुद्धस्तद्दृष्टिविधिरित्यर्थः । दृष्टिविधिपक्षे सिद्धान्ताद्विशेषं दर्शयति— **तत्रेति** । अर्पणादिषु कर्तव्यां ब्रह्मबुद्धिं दृष्टान्ताभ्यां स्पष्टयति— **यथेत्यादिना** । दृष्टिविधाने विधेयदृष्टेर्मानसक्रियात्वेन सम्यग्ज्ञानत्वाभावात् प्रकरणभङ्गः स्यादित्यभिप्रेत्य परिहरति– **सत्यमेवमिति** । विधिर्दिष्टस्तद्दृष्टिस्तुतिपरमेव प्रकरणं,न ज्ञानस्तुतिपरमित्याशङ्क्य प्रकरणपर्यालोचनया ज्ञानस्तुतिरेवात्र प्रतिभातीति प्रतिपादयति— **अत्र त्विति** । किञ्च ब्रह्मार्पणमन्त्रस्यापि सम्यग्ज्ञानस्तुतौ सामर्थ्यं प्रतिभातीत्याह— **अत्र चेति** । नन्वर्पणादिषु ब्रह्मदृष्टिं कुर्वतामपि ब्रह्मविद्यैवात्र विवक्षितेति पक्षभेदासिद्धिरिति चेत्तत्राऽऽह— **ये त्विति**। यथा ब्रह्मदृष्ट्या नामादिकमुपास्यं,तथाऽर्पणादिषु ब्रह्मदृष्टिकरणे सत्यर्पणादिकमेव प्राधान्येन ज्ञेयमिति ब्रह्मविद्या यथोक्तेन वाक्येन विवक्षिता न स्यादित्यर्थः । किञ्च 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं' इति ब्रह्मप्राप्तिफलाभिधानादपि दृष्टिविधानमश्लिष्टमित्याह– **न चेति** । न चार्पणाद्यालम्बना दृष्टिर्ब्रह्म प्रापयति 'अप्रतीकालम्बनान्नयति' [ब्र.सू. ४।३।१५] इति न्यायविरोधादिति भावः ।

**१ शां. भा.**—विरुद्धं च सम्यग्दर्शनमन्तरेण मोक्षफलं प्राप्यत इति । प्रकृतविरोधश्च । सम्यग्दर्शनं च प्रकृतं 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [ ४।१८ ] इत्यत्रान्ते च सम्यग्दर्शनं तस्यैवोपसंहारात् । 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' [ ४।३३ ] 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्' [ ४।३९ ] इत्यादिना सम्यग्दर्शनस्तुतिमेव कुर्वन्नुपक्षीणोऽध्यायः । तत्राकस्मादर्पणादौ ब्रह्मदृष्टिरप्रकरणे प्रतिमायामिव विष्णुदृष्टिरुच्यत इत्यनुपपन्नम् । तस्माद्यथाव्याख्यातार्थ एवायं श्लोकः ॥ २४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—दृष्टिविधानेऽपि नियोगबलादेव स्वर्गवददृष्टो मोक्षो भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **विरुद्धं चेति** । ज्ञानादेव कैवल्यमुक्त्वा मार्गान्तरापवादिन्या श्रुत्या विरुद्धं मोक्षस्याविद्यानिवृत्तिलक्षणस्य दृष्टस्य नैयोगिकत्ववचनमित्यर्थः । दृष्टिनियोगान्मोक्षो भवतीत्येतत्प्रकरणविरुद्धं चेत्याह— **प्रकृतेति** । तदेव प्रपञ्चयति- **सम्यग्दर्शनं चेति** ।

मन्त्रे च सम्यग्दर्शनं प्रकृतमिति सम्बन्धः। तत्र हेतुः— तस्यैवेति। सम्यग्ज्ञानेनोपक्रम्य तेनैवोपसंहारेऽपि मध्ये किञ्चिदन्यदुक्तमिति प्रकरणस्यातद्विषयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— श्रेयानिति। प्रकरणे सम्यग्ज्ञानविषये सत्यनुपपन्नो दर्शनविधिरिति फलितमाह— तत्रेति। ब्रह्मार्पणमन्त्रे परकीयव्याख्यानासम्भवे स्वकीयव्याख्यानं व्यवस्थितमित्युपसंहरति- तस्मादिति २४

**३ रा. भा.—प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपानुसन्धानयुक्ततया कर्मणो ज्ञानाकारत्वमुक्तम्; इदानीं सर्वस्य सपरिकरस्य कर्मणः परब्रह्मभूतपरमपुरुषात्मकत्वानुसन्धानयुक्ततया ज्ञानाकारत्वमाह— ब्रह्मार्पणमिति हविर्विशेष्यते, अर्प्यतेऽनेनेत्यर्पणं स्रुगादि, तद्ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्म। ब्रह्म यस्य हविषोऽर्पणं तद्ब्रह्मार्पणं, ब्रह्म हविः स्वयं च ब्रह्मभूतं, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मभूतेऽग्नौ ब्रह्मणा कर्त्रा हुतमिति सर्वं कर्म ब्रह्मात्मकतया ब्रह्ममयमिति यः समाधत्ते, स ब्रह्मकर्मसमाधिः; तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्मैव गन्तव्यं, ब्रह्मात्मकतया ब्रह्ममयमात्मस्वरूपं गन्तव्यम्। मुमुक्षुणा क्रियमाणं कर्म परब्रह्मात्मकमेवेत्यनुसन्धानयुक्ततया ज्ञानाकारं साक्षादात्मावलोकनसाधनं, न ज्ञाननिष्ठाव्यवधानेनेत्यर्थः॥ २४॥**

४ वे. ता. चं.— ब्रह्मार्पणमिति श्लोकोऽपि प्रकारभेदेन कर्मणो ज्ञानाकारत्वोपपादक इति पूर्वेण सङ्गतिं दर्शयति— प्रकृतीति। सर्वस्य नित्यनैमित्तिकादिरूपस्य सपरिकरस्य स्रुक्स्रुवहविरादिविशिष्टस्येत्यर्थः। ब्रह्मशब्दः पुरुषोत्तम एव मुख्यवृत्त इति शारीरकभाष्यारम्भे प्रपञ्चितम्। अत्र च मुख्ये सम्भवति गौणत्वमन्याय्यम्; सर्वस्य च परमपुरुषात्मकत्वानुसन्धानं शास्त्रसिद्धम्। स्वयं च वक्ष्यति 'मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्' [ ९।१६] इतीत्यभिप्रायेण परब्रह्मभूतपरमपुरुषात्मकत्वानुसन्धानोक्तिः। अत्र ब्रह्मव्यतिरिक्तार्पणहविरादिमिथ्यात्वभावनं ब्रह्मण एव यज्ञत्वकल्पनादिकं च परोक्तं प्रत्यक्षादिविरोधप्रकृतासङ्गत्यादिभिर्निरसनीयम्। एकवाक्यत्वे सम्भवति वाक्यभेदायोगात्, 'ब्रह्मार्पणं' इत्यस्य व्यस्तपदत्वेन वाक्यभेदभ्रमव्युदासायाह— ब्रह्मार्पणमिति। हविर्विशेष्यत इति। ब्रह्मण्यर्पणं प्रक्षेपो यस्येति समासे व्यधिकरणबहुव्रीहिः स्यात्, 'ब्रह्माग्नौ हुतं' इत्यनेन पौनरुक्त्यं च; अतः समानाधिकरणबहुव्रीहिरयम्। अर्पणशब्दश्चात्र करणव्युत्पत्त्या स्रुगादिविषयः। अधिकरणादिव्युत्पत्तावपि पूर्वोक्तपौनरुक्त्यादिदोष इत्येतदभिप्रेत्याऽऽह— अर्प्यतेऽनेनेति। ब्रह्मकार्यत्वादिति हेतुः सर्वत्रानुषञ्जनीयः। ब्रह्मणि स्रुगादिदृष्टिविधिभ्रमव्युदासाय ब्रह्मकार्यत्वाद्ब्रह्म...स्वयं च ब्रह्मभूतं... ब्रह्मभूतेऽग्नावित्याद्युक्तम्। ब्रह्मणा हुतमित्यत्रार्पणहविरग्निशब्दवद्विशेष्यनिर्देशाभावात्, करणस्य च ब्रह्मार्पणमित्युक्तत्वात् पारिशेष्यात्कर्तरि तृतीयेति व्यञ्जनाय ब्रह्मणा कर्त्रा हुतमित्युक्तम्।

नन्वत्र पूर्वोत्तरार्धयोरन्वयो न दृश्यते; न च पूर्वार्धं पृथग्वाक्यम्, अपूर्णत्वात्; अत आह इतीत्यादि समाधत्त इत्यन्तम्। ब्रह्मात्मकतया ब्रह्ममयमिति तत्कार्यत्वेन, तच्छरीरतया वा तदात्मकत्वात्, तदितिव्यपदेशार्हमित्यर्थः। एतेन ब्रह्मकर्मसमाधिशब्दोऽपि व्याख्यात इत्याह स इति। ब्रह्मात्मके कर्मणि समाधिरनुसन्धानं यस्य स तथोक्तः; गत्यभावादिह व्यधिकरणबहुव्रीहिः। यद्वा समाधत्त इति समाधिशब्दार्थः; ब्रह्मरूपं कर्म समाधत्ते अनुसन्धत्ते; 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' इत्यत्रापि कर्मयोगसाक्षात्कार्यमात्मस्वरूपमत्र स्रुग्घविरग्न्यादिवत् ब्रह्मशब्देनोच्यत इत्याह- ब्रह्मात्मकतयेति। फलितं ज्ञानाकारत्वं वदन् वाक्यार्थमाह— मुमुक्षुणेति। आत्मावलोकनसाधनमित्यनेन 'ब्रह्म गन्तव्यं' इत्यस्यार्थो दर्शितः। साक्षाच्छब्देन न ज्ञाननिष्ठा इत्यादिना च एवकारार्थो विवृतः॥ २४॥

**५ आ. भा.— ज्ञानावस्थितचेतस्त्वं स्पष्टयति— ब्रह्मार्पणमिति। सर्वमेतद्ब्रह्मेत्युच्यते, तदधीनसत्ताप्रवृत्तिमत्त्वात्; न तु तत्स्वरूपत्वात्। उक्तं हि 'त्वदधीनं यतः सर्वमतः सर्वो भवानिति। वदन्ति मुनयः सर्वे न तु सर्वस्वरूपतः' इति पाद्मे। "सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्" [ऐ.उ. ५।३] इति च "एतं ह्येव बह्वृचः" [ऐ.आ.३।२।९] इत्यादि च। समाधिना सह ब्रह्मैव कर्म॥ २४॥**

६ ज. प्र. दी.— ननु कर्मस्वरूपं प्रतिज्ञाय सङ्क्षेपविस्तराभ्यां प्रतिपाद्योपसंहृतं किमिदं ब्रह्मार्पणमित्यनेनोच्यते? इत्यत आह- ज्ञानावस्थितेति। एतेन 'इति यो जानाति' इत्यध्याहारोऽत्र सूचितो भवति। अत्रार्पणादेः ब्रह्मस्वरूपत्वमुच्यत इत्यन्यथा प्रतीतिनिरासायाह— सर्वमिति। कुत एतदित्यत आह— उक्तं हीति। सर्वस्य भगवदधीनत्वे प्रमाणमाह- सर्वमिति। प्रज्ञा ब्रह्म नेत्रं नेतृ यस्य तत्तथोक्तम्। 'एतं हि' इत्यनेन सर्वान्तर्यामित्वमुच्यते ब्रह्मकर्म ब्रह्मविषयः समाधिर्यस्यासौ तथोक्त इति व्याख्यानं प्रक्रमविरुद्धमिति भावेनान्यथा व्याख्याति- समाधिनेति। समाधिरपि ब्रह्मेत्यर्थः॥२४॥

७ ह. पै. भा.— अयमपरो योगः-ब्रह्मेति । ब्रह्म परमात्माऽर्प्यते हूयतेऽनेनेति अर्पणं स्रुवादिस्तदेव ब्रह्म, तदेव हूयत इति हविश्चरुपुरोडाशादिकं, तथा ब्रह्मैवाग्निस्तत्र ब्रह्मणा हुतं प्रक्षिप्तं; यस्यैतत्सर्वं तेन पुरुषेण ब्रह्मैव गन्तव्यम् । कथम्भूतेन ? ब्रह्मकर्मसमाधिना ब्रह्मणा कर्माणि समाधिं प्रति पर्यवस्यते । अत्र श्लोकेऽविदुषोऽर्पणादिपञ्चके ब्रह्मदृष्टिः कर्तव्यतयोपदिश्यते । विदुषामात्मैवेदं सर्वमिति परमार्थरूपत्वं विद्यमान मुपदिश्यते ॥ २४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु क्रियमाणं कर्म कथं फलमजनयित्वैव नश्यति ? ब्रह्मज्ञानेन सकलक्रियाकारकस्वरूपोपमर्दादित्याह— ब्रह्मार्पणमिति । अर्प्यतेऽनेन हविरिति करणव्युत्पत्त्या अर्पणं जुह्वादिकं मन्त्राश्च; जुह्वादेः साधकतमत्वान्मन्त्राणां च प्रकाशकत्वात् । तथा अर्प्यतेऽस्यै देवतायै हविरित्यर्पणं सम्प्रदानं देवता । अर्प्यतेऽस्मै फलायेत्यर्पणं स्वर्गादिकम् । एवमर्प्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणं देशकालादि । तदेतत्सर्वमर्पणशब्दवाच्यं जुहूमन्त्रदेवतास्वर्गदेशकालादिकारकजातं ब्रह्मैव ज्ञानी पश्यति; न तु लोकवज्जुह्वादिरूपेण गृह्णाति, अधिष्ठानव्यतिरेकेणाध्यस्तस्याभावात्सर्वस्य च ब्रह्मण्यध्यस्तत्वादित्यर्थः । एवं हविः पुरोडाशादिकम्; तदपि ब्रह्मैव । 'ब्रह्म, अग्नौ' इति पदद्वयम् । यस्मिन्नग्नौ हविः प्रक्षिप्यते सोऽपि ब्रह्मैवेत्यर्थः । तथा येन कर्तृकारकेण कर्म क्रियते तदपि कारकम्; ब्रह्मणेति कर्तरि तृतीययाऽनूद्य प्रकृत्या ब्रह्मेति विधीयते । हुतं हवनम् । भावे निष्ठा । तदपि ब्रह्मैवेत्यनुषङ्गः । इत्थं ब्रह्मकर्मसमाधिना, ब्रह्मैव कर्म ब्रह्मकर्म तस्मिन्समाधिर्ज्ञानं यस्य तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना तेन पुरुषेण ब्रह्मैव गन्तव्यम्, न तुच्छं स्वर्गादिकमिति ज्ञानफलोक्तिः । अतो युक्तमेवोक्तम् 'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते' [ ४।२३ ] इति । ब्रह्मकर्मसमाधेः पुरुषस्य तत्त्वज्ञानोपमर्दितक्रियाकारकफलभेदबुद्धित्वेन तदीयकर्मणामकर्मत्वादिति 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [ ४।१८ ] इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः । अत्र 'ब्रह्मार्पणमित्यर्पणादिकारकाणां ब्रह्मातिरेकेणासत्त्वं नोच्यते, किन्तु नाम ब्रह्मेत्यादिवदर्पणादिषु ब्रह्मदृष्टिः परम्' इति व्याख्यानस्य भाष्य एव निरस्तत्वात्तदनुवर्तिनो माध्वरामानुजादयोऽपि भाष्याक्षरैरेव शिक्षणीया इति नास्माभिः प्रयत्यते ॥ २४ ॥

९ व० त० दी०— प्रविलयस्वरूपमाह- ब्रह्मार्पणमिति । भावाद्वैतं क्रियाद्वैतं द्रव्याद्वैतं उच्यते भगवता स्वमुखेन— 'अग्निहोत्रं तथा दर्शपूर्णमासः पशुस्तथा । चातुर्मास्यानि सोमश्च क्रमात्पञ्चात्मको हरिः ॥ तत्साधनं च स हरिः प्रयाजादिस्रुगादि यत् । प्राकृतं रूपमेतद्धि नित्यं काम्यं तु वैकृतम् ॥ ज्ञानिनस्तदभिव्यक्तौ कर्तुर्मोक्षः क्रमाद्भवेत्' इति निबन्धोक्तेः । तथाहि ज्ञानिनः सर्वं कर्म ब्रह्मार्पणं भवति । अर्पणं स्रुगादि ब्रह्म भवति, हविर्ब्रह्म, ब्रह्मणि अग्नौ ब्रह्मणा कर्त्रा हुतं ब्रह्मैव, यज्ञस्तत्र फलं ब्रह्मैव प्राप्तव्यम् । केन ? ब्रह्मैव कर्म तत्समाधिनेति । प्रकृतिनिविष्टं सच्चिदानन्दकं पुरुषाभिधं ब्रह्मैव यद्यप्यप्राकृतं सर्वं भवति तथापि न जानात्यज्ञस्तत्; विज्ञस्तु तदिदं ज्ञानयज्ञेन ब्रह्मोपासीताभेदभावात् । ननु ब्रह्मात्मैक्यस्य भेदात्यन्ताभावरूपत्वात् अंशत्वात् त्यागो भगवन्नियम्यत्वं च कथं ? इति चेत्, उच्यते-'ब्रह्मात्मैक्येऽप्यभेदोऽस्य किं भेदसहनक्षमः ? । किंवा तदक्षमः श्रुत्या सिद्ध्यत्येतद्विचार्यते' ॥

अत्र केचिदाहुः तदक्षम इति । स्वमते तु भेदसहनक्षम एव । कुतः ? सत्कार्यवादस्यैव श्रौतत्वेन सृष्टिपूर्वदशायामपि सर्वसत्त्वात् । तथाहि "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छां.उ.६।२।१] इति श्रुताविदमापुरोवर्त्तिनं प्रपञ्चं निर्दिश्य पूर्वकाले तस्य सद्रूपतामुक्त्वा ततो ब्रह्मरूपत्वं जगत्कारणत्वं च बोधयित्वा तस्याद्वितीयत्वं वक्ति । ततः" तद्धैक आहुः" [ छां. उ. ६।२।१ ] इत्यादिनाऽसत्कार्यवादमाशङ्क्य "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्" [ छां० उ० ६।२।२ ] इत्यादिना तन्निषेधति । एवं सति आकारकार्यत्वप्रभृतयो धर्मा यदि ब्रह्मणि पूर्वं न स्युस्तदाऽसत्कार्यवादनिरासिका सत्कार्यबोधिका च श्रुतिः पीड्येत । अत उभयसामञ्जस्यार्थं तत्तद्धर्मादिविशिष्टमेकमेव ब्रह्म कारणमिति मन्तव्यम् । तथा सति यथेदानीं कार्याणां तत्तदाकाराणां च परस्परं भेदः, कारणेन सह चाभेदः, कार्यत्वादिरूपेण भेदश्च लोके कटककुण्डलसुवर्णप्रभृतीनां दृश्यते तथा ब्रह्मजगतोरपीति मन्तव्यः ।

एवमंशांशिनोर्जीवब्रह्मणोरपि सुवर्णखण्डसुवर्णयोरिव सृष्टिप्राकट्याविर्भावतिरोभावाभ्यामेव तदुपपत्तिः; अन्यथाऽव्याकृतश्रुतिविरोधापत्तिः । पुरुषविधब्राह्मणे हि सृष्टिमुक्त्वाऽग्रे "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिति इद ९ रूप इति (नामाऽयमिद ९ रूप इति) तदिदमप्येतर्हि नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियतेऽसौ नामाऽयमिद ९ रूप इति" [ बृ. उ. १।४।७ ] इति । अत्र नामरूपव्याकरणे लौकिकमेवोदाहरणं

तत्साधनायाह । लोके च सिद्धमेव वस्तु नामरूपाभ्यां व्याक्रियते इति सृष्टिपूर्वदशायामपि तस्य सिद्धत्वमेव व्यक्तीभवतीति नासत्कार्यवादः प्रामाणिकः । भागवते तृतीयस्कन्धे [ १०।१२,१३ ] च 'विश्वं वै ब्रह्म तन्मात्रं संस्थितं विष्णुमायया। ईश्वरेण परिच्छिन्नं कालेनाव्यक्तमूर्तिना ॥ यथेदानीं तथाऽग्रे च पश्चादप्येतदीदृशम्' इति कालत्रये एकरूपामेव सर्वस्य स्थितिमाह । इदमेवाविरोधाध्यायेऽसद्व्यपदेशाधिकरणे व्यासचरणैरपि व्युत्पादितम् । "असद्वा इदमग्र आसीत्" [ तै. उ. २।७ ] इति श्रुतौ सृष्टिपूर्वदशायां यो जगतोऽसत्त्वेन व्यपदेशः सोऽव्याकृतत्वेन धर्मान्तरेण विद्यमानत्वेऽपि व्याकृतत्वेनाविद्यमानत्वात् "तदात्मानं स्वयमकुरुत" [ तै. उ. २।७ ] इति वाक्यशेषेण तथाऽवगमात्, 'इदं' इति प्रयोगात्, 'आसीत्' इति प्रयोगाच्च; अन्यथा तद्विरोधापत्तेः, नित्यस्य समवायस्य सम्बन्धस्य द्विनिष्ठत्वेन कार्याभावे तदभावापत्तेः; तन्नित्यताहानेश्च । असम्बद्धोत्पत्तौ जगद्दृष्टान्तेन घटपटादीनामपि कार्याणां नियतावधिकत्वहानेश्च ।

न च यत्र यत्प्रागभावस्तदेव कार्यं ततः करणादुत्पद्यत इति नियमात् न नियतावधिकत्वभङ्ग इति वाच्यम्; कारणावस्थातिरिक्तस्य प्रागभावस्यैवं वक्तुमशक्यत्वात्; कपालावस्थां पश्यत एवेह कपाले घटो भविष्यतीति प्रत्ययेन तथा निश्चयात्; तदवस्थाव्यङ्ग्यस्य तदतिरिक्तस्य प्रागभावस्यैवाङ्गीकारे गौरवाच्च । न च उत्पत्तेः पूर्वं कार्यस्य सत्त्वे कर्तृव्यापारबाधप्रसक्तिरिति शङ्क्यम्, कार्याभिव्यञ्जनार्थतया सार्थक्यात् तथा ब्रह्मवाक्याच्च । संवेष्टितपटप्रसारणादौ तथा निश्चयात् । न चैवमनुद्भूतसत्ताङ्गीकारेऽदृश्यप्रेतादिजनितदुःखवत् ततः कश्चिदर्थक्रियापत्तिरिति शङ्क्यम्, अनुद्भूतगन्धरूपादौ व्यभिचारात् । योगेनाकुञ्चनप्राणायामादिनियमने जीवनमात्रस्य नियमनत्यागे आकुञ्चनप्रसारणादिरूपकार्यस्य च दर्शनेन तथा निश्चयादिति ।

एवं स्थिते सत्कार्यवादे सृष्टिपूर्वदशायामपि जगज्जीवयोः सत्त्वात् "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" [ छां. उ. ६।२। १,२ ] इत्याद्युक्तोऽभेदः तद्भिन्नतया जगज्जीवप्रतीत्यभावे पर्यवस्यन् भेदसहनक्षममेवाभेदं साधयतीति सृष्टिदशायां जगद्ब्रह्मणोः कार्यकारणभावात् जगज्जीवयोरंशांशिभावाच्च औपचारिको भवन्नपि न वास्तवं तमभेदं निहन्ति । तेनेदानीमपि भेदसहिष्णुरेवाभेदः । एवं सति नानात्वदर्शनभेददर्शनयोः भेदनिन्दाश्रवणमप्यभेदविरुद्धभेददर्शन एव पर्यवस्यतीति बोध्यम् । "(यदा ह्येवैष ) य एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते" [ तै.उ. २।७ ] इति श्रुतौ 'कुरुते' इतिपदेन क्रियारब्धस्य एव भेदनिन्दनात् आरम्भस्य च असतः सत्तायामेव पर्यवसानात् अभेदविरुद्ध एव क्रियमाणे भेद एव पर्यवस्यतीत्यभेदाविरुद्धभेददर्शने तु न निन्द्यत्वलेशोऽपीति बोध्यम् । एवं च परममुक्तिदशायामपि "यथोदकं शुद्धे निषिक्तं (शुद्धमासिक्त) तादृगेव भवति एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !" इति काठकश्रुत्या [ ४।१५ ] आत्मनो ब्रह्मसाम्यश्रवणात् भिन्नप्रतीत्यभावस्वरूप एवाभेदः, न तु भेदाभावस्वरूप इति सिध्यति । अत एव मैत्रेयीब्राह्मणे "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्" [बृ.उ. ४।५।१५] इत्यादिना यदितरज्ञानश्रवणं तदपि द्वैतदृष्टिनिवृत्तावेव पर्यवस्यति, न तु द्वैताभावे । एतदग्रे द्वैतीयकमैत्रेयीब्राह्मणे "यद्वैतन्न पश्यति , पश्यन् वै तत् ( द्रष्टव्यं ) न पश्यति, न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो भवति ( विद्यते ) अविनाशित्वात्, न तु तद्द्वितीयमस्ति, (ततोऽन्यद्द्वितीयमस्ति) ततोऽन्यद्विभक्तं (यत्) पश्येत्" [बृ.उ. ४।३।२३] इत्यादिभिरन्यादर्शने पश्यत एव अदर्शनस्य द्वितीयत्वाभावस्य विभागाभावस्य अन्यत्वाभावस्य च हेतुतया श्रावणेन तथा निश्चयात् । अग्रे च "यत्र वाऽन्यदिव स्यात्" [बृ. उ. ४।३।३१] इत्यादिना वैलक्षण्यहेतुकमन्यदर्शनमनूद्य "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत् केन..." [बृ. उ.४।५।१५] इत्यादिना स्वस्य द्रष्टृविभागेन विज्ञातृविज्ञाने "तं केन विजानीयात्" [ सैवश्रु. ] इति, अनेन ज्ञानकरणाभावं हेतुत्वेन वक्ति इत्यतोऽपि तथा निश्चयात् । अन्यथा पूर्वब्राह्मण एव मैत्रेयीमोहनिवृत्त्या पुनर्द्वितीयं ब्राह्मणं न वदेत् । अतस्तत्र यः सन्दिग्धोऽर्थः तन्निश्चायनार्थमेव द्वितीयं ब्राह्मणमिति भेददर्शनाभावरूप एव अभेदः, न तु भेदाभावरूप इति भेदसहिष्णुरेवाभेदः ।

यत्तु "बहु स्यां" [छां.उ. ६।२।३]इति श्रुतौ सृष्ट्यारम्भे एकस्य बहुत्वश्रावणात् पूर्वं जगदाद्यभाव एव श्रुत्यभिमतः; न तु कार्यस्यापि सत्त्वम् । तथा सति "इदं सर्वमसृजत्" [बृ. उ. १।२।५] इति श्रुतिविरोधः, अतः सृष्टितः पूर्वमसत्त्वादभेदविरोध्येव स इत्यर्द्धवैनाशिकमतमेव साधीय इति तन्मन्दम् "तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्" [ छां. उ. ६।२।१ ] इत्याद्यनूद्य "कुतः खलु (सोम्यैमाः प्रजाः) सोम्यैवं स्यात्" [ छां. उ. ६।२।२ ] इति श्रुत्यैव तन्निषेधात् । न च तत्र कारणसत्ताया एव निषेधः, न तु कार्यसत्तायाः "कथमसतः सज्जायेत" इति

श्रुत्या तथा निश्चयादिति वाच्यम्; पूर्वं कार्यस्यासत्त्वे "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्" [ बृ. उ. १।४।७ ] इति श्रुतिविरोधापत्तेः। अत्र 'तर्हि' इत्यनेन सृष्टिपूर्वकालं लक्षीकृत्य इदमानिर्दिष्टस्य जगतस्तदानीमव्याकृतत्वमपि नानुवदेत्, स्वरूपस्यैवाभावात्। अतः "बहु स्यां" [ छां. उ. ६।२।३ ] इत्यत्रापि बहुत्वादेरव्याकृतत्वमेवोच्यते सतः, न त्वसतः; सत्ता सृजनमपि नामरूपव्याकरणमेव, अन्यथा प्रागिव सृष्टिदशायामपि व्यवहाराभावप्रसङ्गात्।

एवं सिद्धे सर्वदासत्त्वेऽद्वैतश्रुतिविरोधाय तदानीमपि परापरभावघटित एव ब्रह्मत्वेनैव रूपेणाविरोध इदानीमिवेति मन्तव्यम्। एतावान् परं विशेषः— यदिदानीमविद्यावलिप्तालपबुद्धिभिस्तन्न प्रतीयते, तदानीं तु करणग्रामलयादिति। एवं च परममुक्तावपि परापरभावघटितो भेदसहनक्षम एवाभेदः, ब्रह्मरूपस्यैव तथात्वात्। अत एव दशमस्कन्धे [ ८५।२३ ] भागवते यत्र भगवता श्रीवसुदेवं प्रति अखण्डब्रह्मज्ञानोपदेशः कृतस्तत्र वसुदेवोक्तमङ्गीकृत्य "अहं यूयमसावार्यः" इत्यनेन सर्वेषां तथात्वमुक्त्वा ब्रह्माण्डानन्त्यमारोपितज्ञानदृष्टिं च निवारयितुं "आत्मा ह्येकः स्वयञ्ज्योतिः" [भाग.१०।८५।२४] इत्यनेन सर्वत्रात्मैक्यनानात्वदृष्टेश्चौपाधिकत्वेन भ्रान्तत्वं निरूप्य "खं वायुर्ज्योतिरापो भूः" इति द्वितीये (श्लोके २६) खादिपञ्चमहाभूतदृष्टान्तेन नानात्वस्य वास्तवत्वमुपाधिव्यङ्ग्यत्वं च वदति; अन्यथा पूर्वश्लोक एव नानात्वदृष्टेर्गुणोपाधिकत्वेन भ्रान्तत्वे बोधिते तत एव नानात्वस्य निवृत्तत्वात् खादिपञ्चमहाभूतदृष्टान्तेन पुनर्नानात्वप्राप्तिं न स्थापयेत्। अतोऽखण्डब्रह्मवादेऽप्यंशादिनानात्वस्य विद्यमानत्वात् परापरभावादिभेदसहिष्णुरेवाभेदो भगवदभिमतो भातीति बोध्यम्।

किञ्च "इदं सर्वं यदयमात्मा" [ बृ. उ. २।४।६;४।५।७ ] इत्यन्तेन सर्वस्य ब्रह्मत्वे बोधिते कथं सर्वस्य ब्रह्मत्वं? इत्याकाङ्क्षायां दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तैरवान्तरसर्वग्रहणं दुन्दुभ्यादिशब्दग्रहणेनैव अवान्तरसर्वशब्दग्रहणवत् आत्मग्रहणेनैव तदभिन्नावान्तरसर्वग्रहणम्। अग्निधूमदृष्टान्तेन ब्रह्मणः सकाशाद्वेदादिसर्वोत्पत्तिं चोक्त्वा "स यथा सर्वासामपां समुद्र एकायनं" [बृ.उ. २।४।११]इत्यादिभिर्बहुदृष्टान्तैः सर्वाधारत्वं निरूपयति। यदि सृष्ट्यभावदशायां सर्वस्यैकरूप्यमेव स्यात्, तदा दुन्दुभिशब्दादीन् समुद्रादींश्च नानादृष्टान्तान्न वदेत्; दुन्दुभिशब्ददृष्टान्तेन सर्वस्य ब्रह्मरूपतया एकेनैव समुद्रदृष्टान्तेन ब्रह्मणः सर्वाधारत्वस्य च सिद्धेः। अतः सृष्ट्यभावदशायामपि नानात्वाविरुद्धमेव स्वरूपैक्यं "एवं वाऽरे (अयमात्मा) इदं महद्भूतं"[बृ. उ. २।४।१२] इत्यादिना प्रेत्यसंज्ञाभावकथनेन पूर्वसंज्ञानस्यैव बोधनात्। तच्च ज्ञानं भेदाविरुद्धसम्पदात्मकमभेदमेव बोधयतीति प्रागुपपादितं, अतो न कोऽपि संशयः। एवं सति तद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेश इत्यत्र ब्रह्मांशे जीवे ब्रह्मत्वव्यपदेश औपचारिकः, स च मुक्तावपि तुल्यः पूर्वोक्तसत्कारणतावादसिद्धस्य भेदस्यानपायादिति। एवं प्रलयदशायां जडस्यापि बोध्यम्। एवं ब्रह्मणो निरंशत्वेऽपि सांशत्वं विरुद्धधर्माश्रयत्वादुपपन्नं, एवं जगतो हविरादेश्च प्रकृतस्य ब्रह्मत्वं भावनीयं, तथात्वेऽपि कार्यत्वमपीति सर्वं सुस्थम्। अयमेव भावाद्वैतपदार्थः कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनं पटतन्तुवदिति निरूपितम्। अक्षरार्थस्तु भावमात्रस्य जगत्कारणेन सहैक्यमर्शनं पटतन्तुवदिति।

यद्यपि नैकविधं जगत्तथापि भगवत ईश्वराद्धूतं न ततोऽतिरिच्यते तद्योगमायात एव तत्सच्चिदानन्दांशप्रपञ्चरूपं सर्वं तत्त्वतः परिणतम्; यथोक्तं—'तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणामः, अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः' इति। कार्यं न विवर्तात्मकं, भूमितो घटपटादिकमिव; वस्तुतः पार्थिवं न ततोऽतिरिच्यते, प्रलयेऽव्याकृततया तदभिन्नरूपतावगमात्। एवमत्रापि कार्यदशायां सर्वं न ततोऽतिरिक्तं भाव्यम्। यद्यपि साङ्ख्ये कारणत्वं प्रकृतेरिति प्राकृतमेव घटादिजगदित्युक्तं तथाप्यत्र जगतः प्राकृतत्वमस्तु, नात्यन्तमसत्त्वं 'नाभावः (च) उपलब्धेः' [ ब्र. सू. २।२।२८ ]। वेदे हि प्रकृतेर्न पृथक्तया कारणत्वमुक्तं, इत्यतो मतान्तरेऽभ्युपेताया अपि प्रकृतेः स्वमते तदंशत्वात् कारणत्वमेव न मुख्यकारणमिति सङ्क्षेपः। तदिदमनेकविधब्रह्मोपासनायामभेदभावनायां भगवतः सच्चिदानन्दांशप्रपञ्चभूतं कार्यं कारणानन्यत्वेन भातं ब्रह्मवादिनां ज्ञानिनां ब्रह्मयज्ञ एवेति निरूपितम् ॥ २४ ॥

१० पु. अ. त.— ननु "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्नोति (ब्रह्माप्येति)" [बृ. उ. ४।४।६ तै. आ.२।२ नृ. उ.उ.५] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [ छां. उ. ३।१४।१ ] इति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्याह। कस्य कर्मणो ब्रह्मात्मकत्वमाह?— ब्रह्मार्पणमिति। अर्पणम्, अर्प्यते हूयतेऽनेन तदर्पणं सामग्रीस्रुक्स्रुवादिकं ब्रह्म, हविः घृतादिकं ब्रह्म, ब्रह्माग्नौ ब्रह्मात्मकोऽग्निस्तस्मिन्, ब्रह्मणा कर्त्रा हुतम्। एवं प्रकारेण कर्म ब्रह्म अतः समाधिना समाध्यवस्थया तेन ब्रह्मात्मकेन कर्मणा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यम्। अतो ब्रह्मात्मकत्वात्तत्र लीयत इत्यर्थः। अत एव श्रुतिरपि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति ब्रह्मात्मकत्वं सर्वस्याह ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— कुतो विदुषां कर्माणि प्रविलीयन्ते ? इत्याशङ्क्याह— ब्रह्मार्पणमिति । यतस्ते विद्वांसः सविकल्पसमाधौ सर्वं जगत्प्रत्यक्चितिशक्तिनिर्मितं पश्यन्ति । तथा च श्रुतिः "किं कारणम्" इत्युपक्रम्य "कालः स्वभावः" [ श्वे. उ. १।२ ] इति कालादीनि लोकदृष्ट्याऽनेकानि कारणान्युपक्षिप्य कारणं निर्णीय— "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्" [ श्वे.उ. १।३ ] इति समाधिना दर्शयति । तथा च समाधिना सर्वस्य ब्रह्मणि कल्पितत्वं पश्यतां तेषां यदर्पणं अर्पणसाधनं मन्त्रजुह्वादि तत् ब्रह्मैव । एवशब्दः सर्वत्रानुषञ्जनीयः । यदर्पणीयं हविस्तदपि ब्रह्मैव । यत् हुतं हवनक्रियाहुतं तर्पितं देवब्राह्मणादि वा तदपि ब्रह्मैव । यत् अग्नौ हुतं तदपि ब्रह्मण्येव हुतम्, अत्र ब्रह्मणीति पदमध्याहर्तव्यम् । यत् यजमानेन हुतं तद्ब्रह्मणैव हुतम् । यत्तेन कर्मणा गन्तव्यं प्राप्तव्यं फलं तदपि ब्रह्मैव । किं बहुना ? यत्किञ्चित्तस्य कर्म शयनासनादिकं तत्सर्वं ब्रह्मैव । तत्र कारणं समाधिना— समाधिजेनात्मसाक्षात्कारेण । यतः सर्वमस्य ब्रह्मात्मकं, ब्रह्म च प्रत्यगनन्यत्; अतः प्रदेयस्य फलस्याभावात् कर्माणि प्रविलीयन्ते, दाह्याभावाद्दहन इवेति भावः । यत्तु 'कर्मणि तदङ्गेषु च नामादिष्विव ब्रह्मदृष्टिरत्र विधीयते' इति व्याख्यानं तत् उपक्रमादिविरोधात् ब्रह्मविद्यायाः प्रकृतत्वाच्चासङ्गतमिति भाष्ये एव निरस्तम् । या हि ब्रह्मविदां कर्माङ्गेषु तात्त्विकी ब्रह्मदृष्टिः कीर्त्तिता सा स्थितप्रज्ञलक्षणवद्ब्रह्मविदामनुष्ठानायैव फलतो भवतीति न तत्र तस्यास्तात्पर्यं वर्णनीयमिति दिक् ॥ २४ ॥

दैवाद्या द्वादशापरे यज्ञाः [ २५—३० ]

## दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।
## ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥ २५ ॥

**१ शां. भा.**— तत्राधुना सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं सम्पाद्य तत्स्तुत्यर्थमन्येऽपि यज्ञा उपक्षिप्यन्ते— दैवमेवेत्यादिना । दैवमेव, देवा इज्यन्ते येन यज्ञेनासौ दैवो यज्ञस्तमेवापरे यज्ञं योगिनः कर्मिणः पर्युपासते, कुर्वन्तीत्यर्थः । ब्रह्माग्नौ "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [ तै. उ. २।१ ] "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [ बृ. उ.३।९।२८ ] "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरः" [ बृ. उ. ३।४।१ ] इत्यादिवचनोक्तमशनायापिपासादिसर्वसंसारधर्मवर्जितं "नेति नेति" [ बृ.उ.४।४।२२ ] इति निरस्ताशेषविशेषं ब्रह्मशब्देनोच्यते । ब्रह्म च तदग्निश्च सः होमाधिकरणत्वविवक्षया ब्रह्माग्निरतस्मिन् ब्रह्माग्नावपरेऽन्ये ब्रह्मविदो यज्ञं— यज्ञशब्दवाच्य आत्मा आत्मनामसु यज्ञशब्दस्य पाठात्— [ निरु. १४।११ ] तमात्मानं यज्ञं परमार्थतः परमेव ब्रह्म सन्तं बुद्ध्याद्युपाधिसंयुक्तमध्यस्तसर्वोपाधिधर्मकमाहुतिरूपं यज्ञेनैवाऽऽत्मनैवोक्तलक्षणेनोपजुह्वति प्रक्षिपन्ति, सोपाधिकस्याऽऽत्मनो निरुपाधिकेन परब्रह्मस्वरूपेणैव यद्दर्शनं, स तस्मिन्होमस्तं कुर्वन्ति, ब्रह्मात्मैकत्वदर्शननिष्ठाः सन्न्यासिन इत्यर्थः । सोऽयं सम्यग्दर्शनलक्षणो यज्ञो दैवयज्ञादिषु यज्ञेषूपक्षिप्यते 'ब्रह्मार्पणं' इत्यादिश्लोकैः प्रस्तुतः 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप !' [ ४।३३ ] इत्यादिना स्तुत्यर्थम् ॥ २५ ॥

---

१ "यज्ञोऽत्र आत्मा ज्ञेयः, "यज्ञ आत्मा भवति, यदेनं तन्वते" ( नि. १४।११ ) इति यास्कवचनात् ॥ **अभिनवगुप्ताचार्यास्त्वत्राहुः**— "अपरे दैवानि क्रीडनशीलानीन्द्रियाण्याश्रित्य स्थितो यो यज्ञो निजविषयग्रहणलक्षणस्तमेव परित उपासते— आमूलाद्विमृशन्तः स्वात्मलाभं लभन्ते । अत एव ते योगिनः— सर्वावस्थासु सततयोगयुक्तत्वात्, नित्ययोगे ह्यत्रायं मत्वर्थीयः । एनमेव च विषयग्रहणात्मकं यज्ञं यज्ञेनैव तेनैव लक्षणेनापरे पूरयितुमशक्ये ब्रह्माग्नौ जुह्वतीति कैश्चिद्व्याख्यातम् । मुनेस्तु पौर्वापर्याविरुद्धत्वाद्योऽर्थो हृदि स्थितस्तं प्रकाशयामः— केचिद्योगयुक्ताः सन्तो दैवं नानारूपेन्द्रादिदेवतोद्देशेनैव बाह्यद्रव्यमयं यज्ञमुपाचरन्ति, तं च क्रियमाणमेव यज्ञं कर्तव्यमिदमित्येव बुद्ध्या फलानपेक्षतया दुष्पूरे ब्रह्माग्नावर्पयन्तीति द्रव्ययज्ञा अपि परं ब्रह्म यान्ति । यतो वक्ष्यते— 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः' ( ४।३० ) इति । श्रुतिरपि— "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" ( ऋक्सं. ८।४।१९।६ ) इति ।

— अविगीता ।

२ आ. शां. व्या.— ज्ञानस्य यज्ञत्वं सम्पाद्य पूर्वश्लोके स्थिते सत्यधुना तस्यैव ज्ञानस्य स्तुत्यर्थं यज्ञान्तरनिर्देशार्थमुत्तरग्रन्थप्रवृत्तिरित्याह— **तत्रे**ति । सर्वस्य श्रेयस्साधनस्य मुख्यगौणवृत्तिभ्यां यज्ञत्वं दर्शयन्नादौ यज्ञद्वयमादर्शयति— **दैवमे**वेत्यादिना । दैवमेवेति प्रतीकमादाय दैवयज्ञं व्याचष्टे— **देवा** इति । सम्यग्ज्ञानाख्यं यज्ञं विभजते— **ब्रह्माग्नावि**ति । तत्र ब्रह्मशब्दार्थं श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति— **सत्यमि**ति । यदजडमनृतविपरीतमपरिच्छिन्नं ब्रह्म तस्य परमानन्दत्वेन परमपुरुषार्थत्वमाह— **विज्ञानमि**ति । तस्य ज्ञानाधिकरणत्वेन ज्ञानत्वमौपचारिकमित्याशङ्क्याऽऽह— **यत्साक्षादि**ति । जीवब्रह्मविभागे कथमपरिच्छिन्नत्वं ? इत्याशङ्क्य विशिनष्टि— य आत्मेति । परस्यैवाऽऽत्मत्वं सर्वस्माद्देहादेरव्याकृतादान्तरत्वेन साधयति— **सर्वान्तर** इति । विधिमुखं सर्वमेवोपनिषद्वाक्यं ब्रह्मविषयमादिशब्दार्थः । निषेधमुखं ब्रह्मविषयमुपनिषद्वाक्यमशेषमेवार्थतो निबध्नाति— **अशनाये**ति । ब्रह्मण्यग्निशब्दप्रयोगे निमित्तमाह— **स होमे**ति । बुद्ध्यारूढतया सर्वस्य दाहकत्वाद्विलयस्य वा हेतुत्वादिति द्रष्टव्यम् । यज्ञशब्दस्याऽऽत्मनि त्वम्पदार्थे प्रयोगे हेतुमाह— **आत्मनामस्वि**ति । आधाराधेयभावेन वास्तवभेदं ब्रह्मात्मनोर्व्यावर्तयति — **परमार्थत** इति । कथं तर्हि होमः ? न हि तस्यैव तत्र होमः सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह— **बुद्ध्या**दीति । उपाधिसंयोगफलं कथयति— **अध्यस्ते**ति । उपाध्यध्यासद्वारा तद्धर्माध्यासे प्राप्तमर्थं निर्दिशति— **आहुती**ति । इत्थम्भूतलक्षणां तृतीयामेव व्याकरोति – **उक्ते**ति । अशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितेन निर्विशेषेण स्वरूपेणेति यावत् । आत्मनो ब्रह्मणि होममेव प्रकटयति— **सोपाधिकस्ये**ति । अपर इत्यस्यार्थं स्फोरयति— **ब्रह्मे**ति । उक्तस्य ज्ञानयज्ञस्य दैवयज्ञादिषु ब्रह्मार्पणमित्यादिश्लोकैरुपक्षिप्यमाणत्वं दर्शयति— **सोऽयमि**ति । उपक्षेपप्रयोजनमाह— **श्रेयानि**ति ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.— एवं कर्मणो ज्ञानाकारतां प्रतिपाद्य कर्मयोगभेदानाह— दैवमिति । दैवं देवार्चनरूपं यज्ञमपरे कर्मयोगिनः पर्युपासते सेवन्ते, तत्रैव निष्ठां कुर्वन्तीत्यर्थः । अपरे ब्रह्माग्नौ यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति । यज्ञं यज्ञरूपं ब्रह्मात्मकं आज्यादिद्रव्यं, यज्ञेन यज्ञसाधनभूतेन स्रुगादिना जुह्वति । अत्र यज्ञशब्दो हविस्स्रुगादियज्ञसाधने वर्तते; ' ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ' [ ४ । २४ ] इति न्यायेन यागहोमयोर्निष्ठां कुर्वन्ति ॥ २५ ॥**

४ वे. ता. चं.— उक्तार्थसङ्गतिपूर्वकं ' दैवमेव ' इत्यादेः 'प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ' [४।३०] इत्यन्तस्य प्रघट्टकस्यार्थमाह— **एवं कर्मण** इति । देवसम्बन्धि दैवम्, तत्सम्बन्धित्वं च तदर्चनरूपत्वमिति **देवार्चनरूपमि**त्युक्तम् । ' दैवमेव ' इत्यवधारणेन ' अपरे ' इत्यादिना च विकल्पः सिद्धः; ततश्च देवसम्बन्धमात्रं साधारणं नात्र वाच्यम्, अतोऽर्चनशब्देन वक्ष्यमाणयागहोमादिभ्यो व्यावृत्तिः सूचिता । यागादेरपि देवार्चनत्वेऽपि तत्तद्देवतारूपादिसपर्यायां ह्यर्चनशब्दः प्रसिद्धः । ' कर्मयोगेन योगिनाम् ' [ ३।३ ] इत्युपक्रमवदत्रापि योगिशब्दः कर्मयोगनिष्ठविषय इति ज्ञापनाय **कर्मयोगिन** इत्युक्तम् । दैवस्य यज्ञत्वेन हविरत्र विधीयत इति भ्रमव्युदासाय निरन्तरानुष्ठानप्रयुक्तचरणपर्यायेण व्याख्याति— **सेवन्त** इति । ' सेवा भक्तिरुपास्तिः ' इति नैघण्टुकाः । अत्र सेवोपासनशब्दौ सेव्यं प्रति करणत्रयस्यानुकूलवृत्तिनैरन्तर्यपरौ; न तु ध्यानमात्रपरौ; भक्तिशब्दस्तु ध्यानस्य प्रीतिरूपतां वक्ति । ननु मन्वादिभिः ' देवताभ्यर्चनं चैव समिदाधानमेव च ' [ मनुः २।१७६ ] इति नित्यकर्मतया स्मरणाद्देवतार्चनरूपो यज्ञः सर्वेषामपि कर्मयोगिनामवश्यकर्तव्यः, स कथं विकल्प्यत इत्यत्राह— **तत्रैव निष्ठां कुर्वन्तीत्यर्थ** इति ।

ननु 'ब्रह्मार्पणं' इत्यत्र श्लोके कश्चित्कर्मयोगभेदोऽभिहितः; अर्पणहविरग्न्यादिविशेषनिर्देशेनावान्तरभेदप्रतीतेः । तत्र च ' तेन ' इति कर्ताऽपि निर्दिष्टः; तत्प्रतियोगिकोऽयमपरशब्द इति किं नाङ्गीक्रियते ? तदुच्यते— 'ब्रह्मार्पणं' इति श्लोको न कर्मयोगस्वरूपभेदविषयः; किन्तु सर्वेषामपि कर्मयोगानां ब्रह्मात्मकर्तृत्वानुसन्धानाख्यसाधारणगुणविषयः; तत्रैव ' ब्रह्मकर्मसमाधिना ' [४।२४] इति सामान्येनोक्तेः । अतोऽर्पणहविरादिग्रहणं तत्तत्कर्मयोगभेदापेक्षिततत्तत्कारकविशेषोपलक्षणार्थम् । अत एव निवृत्तिलक्षणयज्ञप्रसङ्गात् ' दैवमेवापरे ' इत्यादिभिः प्रवृत्तिलक्षणयज्ञोक्तिरिति परोक्तं परास्तम् । ' ब्रह्माग्नावपरे यज्ञम् ' इत्यत्र यज्ञस्वरूपस्य परमात्मादेर्वा साक्षाद्धोतव्यत्वहोमसाधनत्वानुपपत्तेर्यज्ञसाधनलक्षणया द्वितीयान्तयज्ञशब्दो हविर्विषयः; तृतीयान्तस्तु स्रुगादिविषय इत्याह— **अत्रे**ति । ननु ' ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ' इति पूर्वमेवोक्तम्, अत्रापि ' ब्रह्माग्नावपरे ' इत्युच्यते, अतोऽत्र ' यज्ञं यज्ञेन ' इत्यनयोरर्थोऽन्यथा वर्णनीयः, इतरथा पौनरुक्त्यप्रसङ्गः; सर्वकर्मयोगसाधारणस्यार्थस्य विशेषतया निर्देशोऽप्यनुपपन्न इत्यत्राह **ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति न्यायेने**ति। अत्र यज्ञशब्दाज्जुह्वतिशब्दाच्च यागहोमयोर्निष्ठाया एव विवक्षितत्वादवान्तरभेदत्वमपौनरुक्त्यं चोपपन्नमिति भावः । अत्राग्नित्वेन कल्पिते ब्रह्मणि यज्ञशब्दनिर्दिष्टं जीवमपूर्वं वा हविष्ट्वेन परिकल्प्य प्रक्षिपन्तीत्यादिपरव्याख्यानानि शब्दवृत्तिपरिक्लेशादेव निरस्तानि । कर्मप्रकरणाच्चात्र सर्वत्र मानसयज्ञत्वक्लृप्तिपक्षोऽप्ययुक्तः ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.— यज्ञभेदानाह–दैवमित्यादिना । दैवं भगवन्तम् , स एव तेषां यज्ञः । भगवदुपासनं यज्ञमिति क्रियाविशेषणम् । नान्यत्तेषामस्ति यतीनां केषाञ्चित् । यज्ञं भगवन्तम् । " यज्ञेन**

यज्ञम्" [ऋक्सं.८।४।१९।६ यजुस्सं.३१।१६] "यज्ञो विष्णुर्देवता" इत्यादिश्रुतिः। यज्ञेन प्रसिद्धेनैव यज्ञं प्रति जुह्वतीति सर्वत्र समम्। "तं यज्ञं" [ऋक्सं.८।४।१८।२ यजुस्सं. ३१।९] इत्यादौ। उक्तं च 'विष्णुं रुद्रेण पशुना ब्रह्मा ज्येष्ठेन सूनुना। अयजन्मानसे यज्ञे पितरं प्रपितामहः' इति॥ २५॥

६ ज. प्र. दी.— उत्तरप्रकरणप्रतिपाद्यं बुद्ध्यारोहार्थमाह— यज्ञेति। सामान्यतः कर्मस्वरूपमुक्तम्, तच्च यज्ञादिभेदभिन्नम्। तत्र 'नायं लोकोऽस्ति' [४।३१] इति वक्ष्यति, तदनुपपन्नम्, यत्याद्याश्रमविलोपप्रसङ्गादित्याद्याशङ्कानिरासार्थमिति शेषः। तत्र 'दैवं देवविषयं' इति व्याख्यानमसत्। 'द्रव्ययज्ञाः'[४।२८] इत्यस्य पुनरुक्तत्वादिति भावेनाह— दैवमिति। एवं तर्हि 'केचित् भगवन्तमुपासते' इत्युक्तं स्यात्। तथा च नेयं यज्ञोक्तिरित्यत आह— स एवेति। स इति परामृष्टं दर्शयति— भगवदिति। भगवदुपासनस्य यज्ञत्वमिह कथं लभ्यते? इत्यत आह— यज्ञमिति। भगवादित्यादिकं क्रियाविशेषणत्वप्रदर्शनार्थमेकमेव वाक्यम्। साधनं परित्यज्य धात्वर्थमात्रस्य विशेषणं क्रियाविशेषणम्। अवधारणार्थं दर्शयति— नान्यदिति। अन्यद्भगवदुपासनात्। अनेन एवशब्दो भिन्नक्रम इत्युक्तं भवति। दैवमेवोपासते नान्यदिति तु प्रकृतासङ्गतम्। केषाञ्चित्परमहंसानाम्। अन्येषां बाह्यकर्मणोऽपि भावात्। यद्वा 'केषाञ्चित्' इत्यस्यैव व्याख्यानं यतीनामिति। 'ब्रह्माग्नौ' इत्यस्य 'आत्मानमात्मनैव मनसा वा ब्रह्मणैकीभावयन्ति' इति व्याख्यानमसदिति भावेन यज्ञमित्येतद्व्याचष्टे— यज्ञमिति। भगवतो यज्ञशब्दार्थत्वं कुतः? इत्यत आह— यज्ञेनेति। 'यज्ञेन' इत्यस्यार्थमाह— यज्ञेनेति। एवशब्देनापव्याख्यानं निराकरोति। एवं चेद्यज्ञमित्यस्य कथमन्वयः? इत्यत आह— यज्ञमिति। एतद्व्याख्यानमन्यत्रातिदिशति— इति सर्वत्रेति। अतिप्रसङ्गनिवारणाय 'सर्वत्र' इत्युक्तं विवृणोति— तमिति। एवं तद्ध्यतो जातं तं पुरुषं यज्ञं भगवन्तं प्रति बर्हिषि प्रौक्षन्नित्यर्थः स्यात्। स च निर्मूल इत्यत आह— उक्तं चेति॥२५॥

७ ह. पै. भा.— इदानीं ब्रह्मोपासनप्रसङ्गेनोपासनान्तराणि सत्त्वशुद्ध्यर्थमविदुषामाह— दैवमिति। देवा इन्द्रादयस्तेषामिदं दैवं सोमयागादि। अपरे योगिनोऽनुष्ठानमन्तरेणापि दैवमेव यज्ञं ध्यानेन निष्पादयन्ति। सत्त्वशुद्ध्यर्थं ब्रह्मैवाग्निर्ब्रह्माग्निरूपेणोपास्यं ब्रह्माग्निस्तस्मिन्ब्रह्माग्नौ। अपरे तु यज्ञं परमात्मानं यज्ञेन सोमयागादिनोपजुह्वति ध्यानेन सम्पादयन्ति होममित्यर्थः॥ २५॥

८ वें. व्र. गि.— एवं कर्मबन्धनिवर्तकत्वेनात्मज्ञानं प्रशंसितम्। इदानीं मुख्ययज्ञत्वेन स्तोतुं यज्ञभेदानाह— दैवमिति। देवा इन्द्राग्न्यादय इज्यन्ते येन स दैवः। तमेव यज्ञं दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादिरूपम्, अपरे योगिनः कर्मिणः पर्युपासते नित्यं श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्ति। अथापरे तु तत्त्वज्ञाननिष्ठाः ब्रह्माग्नौ, ब्रह्म तत्पदार्थः, तस्मिन्नग्नौ यज्ञं प्रत्यगात्मानं त्वम्पदार्थं यज्ञेनैवात्मनैव उपजुह्वति प्रक्षिपन्ति। इत्थम्भावे तृतीया। सोपाधिकमात्मानं निरुपाधिकब्रह्मरूपेण पश्यन्तीत्यर्थः। यज्ञशब्दस्यात्मनामसु यास्केन पठितत्वादात्मनामत्वमवगम्यते। एवं जीवब्रह्माभेदज्ञानं यज्ञत्वेन निरूप्य तत्साधनयज्ञमध्ये पठ्यते 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप!' [४।३३] इति स्तोतुम्॥ २५॥

९ व० त० दी०— एवं तत्कर्मणो ब्रह्मभावज्ञानकारणतां प्रतिपाद्याधिकारिभेदेन प्रसङ्गादन्यानपि बहून् यज्ञानाह— दैवमेवापरे इति। तत्तद्देवाराधनात्मकं योगिनो योगकर्मिणः ब्रह्माग्नाविति ज्ञानिनो ब्रह्मवादिन उक्तप्रकारकं ब्रह्माग्नौ यज्ञं कर्म भावितेन ब्रह्मणा यज्ञेनोपजुह्वति प्रविलापयन्ति॥ २५॥

१० पु. अ. त.— ननु ब्रह्मात्मकत्वे सति ज्ञानाज्ञानकृतं कर्म कथं न ब्रह्मणि लीयतेऽग्निस्पर्शे दाहवत्? इत्याशङ्क्य सजातीयप्रचयसंवलित एवाग्निर्दाहसमर्थः, न तु विस्फुलिङ्गात्मक इति सर्वत्र ब्रह्मात्मकज्ञानाभावे तज्ज्ञानानुरूपमेवागाधजलनिमग्नस्य ग्रहणसामर्थ्ये पूर्णघटवत् फलं भवतीत्याह— दैवमित्यादिषड्भिः। अपरे योगिनः यत्किञ्चित्स्वरूपज्ञानेन कर्मफलेच्छया कर्मकर्त्तारः। यज्ञं कर्म दैवमेव ज्ञात्वा पर्युपासते परितः सर्वभावेन कुर्वन्ति। तेषां लौकिकदेहेन साधनात्मकभगवत्सेवायां सुखरूपं फलं भवतीत्यर्थः। अपरे तत्त्वज्ञानानुसारिणो ब्रह्माग्नौ अग्निं ब्रह्मस्वरूपं ज्ञात्वा तस्मिन् यज्ञं यज्ञात्मकं विष्णुं यज्ञेनैव यज्ञात्मकविष्णुरूपेण हविषा उपजुह्वति होमं कुर्वन्ति॥ २५॥

११ नी० भा० दी०— एवं सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं सम्पाद्य तत्स्तुत्यर्थं यज्ञान्तराण्युपक्षिपति— दैवमेवेत्यादिना। दैवं देवताप्रधानमेव दर्शपूर्णमासादियज्ञं, नान्यं; एके योगिनः कर्मयोगिनः पर्युपासते। अपरे तु ब्रह्मैव सत्यज्ञानानन्तानन्दात्मकमखण्डैकरसं वस्तु तदेव ज्ञातं सत् सर्वकर्मदग्धृत्वादग्निरिवाग्निर्ब्रह्माग्निस्तत्र यज्ञं जीवं— यज्ञशब्दस्यात्मनामसुपाठात्— सोपाधिं यज्ञेनैव आत्मनैव निरुपाधिकेन रूपेण जुह्वति, घटाकाशमिव महाकाशे उपाधिप्रहाणेन प्रविलापयन्ति सोऽयं ज्ञानयज्ञो मुख्यः॥ २५॥

**श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।**
**शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥**

**१ शां. भा.— श्रोत्रादीनीति ।** श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये योगिनः संयमाग्निषु– प्रतीन्द्रियं संयमो भिद्यत इति बहुवचनम्– संयमा एवाग्नयस्तेषु जुह्वति, इन्द्रियसंयममेव कुर्वन्तीत्यर्थः । शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति, इन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेष्विन्द्रियाग्निषु जुह्वति श्रोत्रादिभिरविरुद्धविषयग्रहणं होमं मन्यन्ते ॥ २६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सम्प्रति यज्ञद्वयमुपन्यस्यति– **श्रोत्रादीनीति** । बाह्यानां करणानां मनसि संयमस्यैकत्वात् कथं संयमाग्निष्विति बहुवचनं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **प्रतीन्द्रियमिति** । संयमानां प्रत्याहाराधिकरणत्वेन व्यवस्थितानां मनोरूपाणां होमाधारत्वादग्नित्वं व्यपदिशति— **संयमा** इति । विषयेभ्योऽन्तर्बाह्यानीन्द्रियाणि प्रत्याहरन्तीति संयमयज्ञं सङ्क्षिप्य दर्शयति— **इन्द्रियेति** । श्रोत्रादीन्द्रियाग्निषु शब्दादिविषयहोमस्य तत्तदिन्द्रियैस्तत्तद्विषयोपभोगलक्षणस्य सर्वसाधारणत्वमाशङ्क्य प्रतिषिद्धान्वर्जयित्वा रागद्वेषरहितो भूत्वा प्राप्तान्विषयाननुपभुञ्जते तैस्तैरिन्द्रियैरिति विवक्षितं होमं विशदयति— **श्रोत्रादिभिरिति** ॥ २६ ॥

**३ रा. भा.**— अन्ये श्रोत्रादीनामिन्द्रियाणां संयमने प्रयतन्ते । अन्ये योगिनः इन्द्रियाणां शब्दादिविषयप्रवणतानिवारणे प्रयतन्ते ॥ २६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'श्रोत्रादीनि' इत्यत्र संयमस्य साक्षादग्नित्वाभावाच्छ्रोत्रादेश्च होतव्यत्वाभावात्तात्पर्यमाह— **अन्य इति**; । संयमस्याग्नित्वं श्रोत्रादीनां निर्व्यापारत्वलक्षणभस्मसात्करणात् । नन्विन्द्रियनियमनमपि सर्वकर्मयोगिसाधारणं कथमत्र विशिष्योच्यते ? इत्यत्रोक्तं **संयमने प्रयतन्त** इति; एवमुत्तरत्रापि 'प्रयतन्ते' इत्यनयोस्तात्पर्यं ग्राह्यम् । तथा निष्ठाशब्देऽपि । अत्र प्रतीन्द्रियं संयमभेदात् 'संयमाग्निषु' इति बहुवचनम् । 'शब्दादीन्' इत्यत्र इन्द्रियेषु शब्दादिविषयान् समर्पयन्तीति भ्रमव्युदासायाह **इन्द्रियाणां शब्दादिविषयप्रवणतानिवारण** इति । इन्द्रियाणां नियमनं हि 'श्रोत्रादीनि' इत्यादिनोक्तम्; अत्र तु "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" [ कठो. १।३।१० ] इतिवद्विषयमनसोर्हि नियमनं क्रमेणोच्यते । विषयस्य नियमनं नाम दूरीकरणम्, तत्सन्निधिपरिहार इति यावत् । तत एवेन्द्रियाणां तत्प्रवणता निवर्तत इति भावः । कस्तर्हीन्द्रियाग्निषु शब्दादेर्होमो नाम ? उच्यते— होमेन हविषो विनाशः क्रियते, तद्वदत्र शब्दादेरिन्द्रियेषु विनाशो नाम तत्सम्बन्धविनाशो विवक्षित इति । यद्वा 'श्रोत्रादीनि' इत्यत्र विषयसन्निधिपरिहारो विवक्षितः; इह तु सन्निहितानामपि विषयाणामकिञ्चित्करत्वापादनमिति विभागः । **विषयप्रवणतानिवारण** इत्यनेनात्यन्तसमस्तविषयनिवृत्तेर्दुष्करत्वान्निषिद्धादिभ्योऽत्यन्तनिवारणं धर्माविरुद्धेष्वतिसङ्गनिवृत्तिश्च विवक्षिता ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.**—॥ २६ ॥

६ ज. प्र. दी. ॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.— श्रोत्रेति ।** श्रोत्रमादिर्येषां तानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, अन्ये ब्रह्मविदः संयमाग्निषु चित्तनिरोधाग्निषु जुह्वति ध्यानेन सम्पादयन्ति । अन्ये योगिनः शब्दादीन् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धादीन्विषयानिन्द्रियाग्निषु श्रोत्राद्यग्निषु जुह्वति ॥ २६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— तत्र वैदिकश्रेयस्साधनानि सर्वाण्यपि यज्ञत्वेन निरूपयन्निन्द्रियसंयमाख्यं यज्ञमाह— **श्रोत्रादीनीति** । अन्ये प्रत्याहारपराः श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि शब्दादिभ्यः स्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य संयमाग्निषु जुह्वति । धारणा ध्यानं समाधिरिति त्रयमेकविषयं संयमः । तदुक्तं योगपातञ्जले [ ३।४ ] 'त्रयमेकत्र संयमः' इति । तत्र धारणा नाम हृत्पुण्डरीकादौ मनसश्चिरकालस्थापनम् । तत एकत्र धृतस्य चित्तस्य ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहोऽन्तरान्तरान्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम् । विजातीयप्रत्ययानन्तरितः सजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः । स द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च । ध्येयाकारवृत्तिप्रतिभासे सम्प्रज्ञातः, तस्या अपि निरोधे चित्तनिरोधादसम्प्रज्ञातः । इति योगशास्त्रप्रक्रिया । एवं चोक्तलक्षणा ये धारणाध्यानसमाधिरूपाः संयमाः, त एवाग्नयः, तेष्विन्द्रियाणां हवनं नाम धारणादिसिद्ध्यर्थं तेषां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहारः । तस्मिन्हि सम्पद्यमाने विक्षेपाभावाच्चित्तधारणादिकं भवति । सोऽयं समाध्यवस्थायामखिलेन्द्रियवृत्तिनिरोधरूपः संयमयज्ञ उक्तः । इदानीं व्युत्थानावस्थायां रागद्वेषशून्यत्वेन विषयभोगो यः सोऽप्येको यज्ञ इत्याह— **शब्दादीनिति** । स्पष्टोऽर्थः ॥ २६ ॥

९ व०त०दी०—श्रोत्रादीनिति । अन्ये नैष्ठिकाः संयमरूपेष्वग्निषु प्रविलापयन्ति । अन्ये उपकुर्वाणाः ।।२६।।

१० पु. अ. त.— अन्ये योगिनः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि संयमाग्निषु जुह्वति । अयमर्थः—योगेन मत्प्राप्तीच्छया प्राप्तिप्रतिबन्धकानीन्द्रियाणि निरोधात्मकक्लेशाग्नौ भस्मीकुर्वन्ति । अन्ये भक्तियुक्तयोगिनः शब्दादीन् विषयान् मत्कथाश्रवणादिरूपान् इन्द्रियाग्निषु भगवत्साक्षात्कारसाधकतयाऽऽत्मभावेनेन्द्रियेषु जुह्वति ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— यज्ञान्तरमाह— श्रोत्रादीनिति । तत्र कश्चित् बाह्यमाभ्यन्तरं वा विशेषमुपादाय तत्र चेतसो नियमनं क्रियते । ते च संयमाः अनेकविषयत्वादनेके पृथक्फलाश्च । तथा च योगसूत्रकृता प्रोक्तं "भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्" [ पा. यो. ३।२ ] "चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्" [ पा.यो. ३।२७ ] " कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः" [ पा. यो. ३।३० ] इत्यादि । त एवाग्नय इन्द्रियेन्धनसंहारहेतुत्वात् ; तेषु संयमाग्निषु श्रोत्रादीनि जुह्वति प्रक्षिपन्ति । तत्र श्रोत्रं अनाहते ध्वनौ सन्नियम्य हंसोपनिषदुक्तरीत्या घण्टानादादीन् *दश नादाननुभवन्ति । न हि तत्र सन्नियते चेतसि शब्दान्तरग्रहणं तदा भवति, सोऽयं श्रोत्रस्य संयमाग्नौ होमो बोध्यः । एवमन्यत्रापि तद्द्वारा च निष्कलं तत्त्वं प्रतिपद्यन्ते । तथाऽन्ये विषयेभ्यः प्रत्याहृतकरणाः धारणाध्यानसमाध्यात्मकं मनसः संयमं एकत्र मूलाधाराद्यन्यतमचक्रे कर्तुमशक्ताः समनस्केन्द्रियेषु विषयवियोगाद्दग्धेन्धनानलवत्स्वयं विलीनेषु येषां समाधिबुद्धिस्तैरिन्द्रियेषु विषया एवोपसंहृताः, न त्विन्द्रियादीनि मनआदिषु पूर्वोक्तरीत्या उपसंहृतानि तानेतानिन्द्रियचिन्तकान् प्रकृत्योक्तं वायवीये—'दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः' इति ॥ २६ ॥

**सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।**
**आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते[1] ॥ २७ ॥**

**१ शां. भा.— किञ्च– सर्वाणीति । सर्वाणीन्द्रियकर्माणि इन्द्रियाणां कर्माणीन्द्रियकर्माणि, तथा प्राणकर्माणि प्राणो वायुराध्यात्मिकस्तत्कर्माण्याकुञ्चनप्रसारणादीनि तानि चापर आत्मसंयमयोगाग्नौ, आत्मनि संयम आत्मसंयमः, स एव योगाग्निस्तस्मिन्नात्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति; ज्ञानदीपिते स्नेहेनेव प्रदीपिते विवेकविज्ञानेनोज्ज्वलभावमापादिते प्रविलापयन्तीत्यर्थः ।। २७ ।।**

२ आ. शां. व्या.— यज्ञान्तरं कथयति—**किञ्चेति**। इन्द्रियाणां कर्माणि श्रवणवचनादीनि । आत्मनि संयमो धारणाध्यानसमाधिलक्षणः । सर्वमपि व्यापारं निरुध्याऽऽत्मनि चित्तसमाधानं कुर्वन्तीत्याह—**विवेकेति** ॥ २७ ॥

**३ रा. भा.— अन्ये ज्ञानदीपिते मनस्संयमयोगाग्नौ सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि च जुह्वति; मनस इन्द्रियप्राणकर्मप्रवणतानिवारणे प्रयतन्त इत्यर्थः ।। २७ ।।**

---

* चिनीति प्रथमः, चिञ्चिनीति द्वितीयः, घण्टानादस्तृतीयः, शङ्खनादश्चतुर्थः, पञ्चमस्तन्त्रीनादः, षष्ठस्तालनादः, सप्तमो वेणुनादः, अष्टमो मृदङ्गनादः, नवमो भेरीनादः, दशमो मेघनादः । नवमं परित्यज्य दशममेवाभ्यसेत् । 'प्रथमे चिञ्चिणीगात्रं द्वितीये गात्रभञ्जनम् । तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥ पञ्चमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् । सप्तमे गूढविज्ञानं परा वाचा तथाऽष्टमे ॥ अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथाऽमलम् । दशमे परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसन्निधौ ॥' [ इति हं. उ. २ ]

१ "अन्ये तु संयमाग्निष्विन्द्रियाणीति । संयमं मनस्तस्य येऽग्नयः प्रतिपन्नभावभावनारूपा अभिलाषप्लोषका विस्फुलिङ्गाः तेष्विन्द्रियाण्यर्पयन्ति, अत एव ते तपोयज्ञाः । इतरे ज्ञानपरिदीपितेषु फलदाहकेष्विन्द्रियाग्निषु विषयानर्पयन्ति, भेदवासनानिरासायैव भोगानभिलषन्तीत्युपनिषत् । तथाच मयैव लघ्व्यां प्रक्रियायामुक्तम्– 'न भोगं व्यतिरिक्तं हि भोक्तुस्त्वत्तो विभाव्यते । एष एव हि भोगो यत्तादात्म्यं भोक्तृभोग्ययोः ।' इति । स्पन्देऽपि — 'भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थितः ।' इति । ते च सर्वानिन्द्रियव्यापारान्, मानसान्, मुखनासिकानिर्गमनमूत्राद्यधोनयनादीन्वायवीयांश्च आत्मनो मनसश्च संयमहेतौ योगनाम्न्यैकाग्र्यवह्नौ सम्यग्ज्ञानपरिदीपिते पूरयितव्ये निवेशयन्ति, गृह्यमाणं विषयं सङ्कल्प्यमानं वा तदेकाग्रतयैव तत्परित्यक्तान्यव्यापारया बुद्ध्या गृह्णन्तीति तात्पर्यम् । तदुक्तं शिवोपनिषदि— 'भावे त्यक्ते निरुद्धा चेन्नैव भावान्तरं व्रजेत् । तदा तन्मध्यभावेन विकासं याति भावना ॥' इति । एवं योगयज्ञा व्याख्याताः ।" **इत्यभिनवगुप्ताचार्याः ।** —**अविगीता ।**

**४ वे. ता. चं.**— इन्द्रियार्थयोर्नियमने अभिहिते "अर्थेभ्यश्च परं मनः" [ कठो. १।३।१० ] इति क्रमेण मन एव नियन्तव्यतया वक्तव्यम् , अतोऽत्रात्मसंयमशब्देन मनोनियमनमुच्यत इति ज्ञापयति— **मनस्संयमयोगाग्नाविति** । मनस्संयम एव योगसाधनत्वादिना योगः ; मनस्संयमस्य वा योगः प्राप्त्यादिः ; तस्य ज्ञानदीपितत्वं देहातिरिक्तशुद्धात्मस्वरूपानुसन्धानमूलत्वम् । श्रोत्रादीनां शब्दादीनामिव चात्रापि होतव्यतयोक्तानामिन्द्रियकर्मणां प्राणकर्मणां च नियमनमुच्यते चेत्पौनरुक्त्यादिदोषः स्यादिति शङ्काव्युदासायाह— **मनस** इति । इन्द्रियकर्म दर्शनस्पर्शनादिकं, वचनादानादिकं च; प्राणकर्म उच्छ्वासनिश्श्वासादिकम् , यद्वा प्राणसंवादादिसिद्ध इन्द्रियव्यापारादिहेतुः सूक्ष्मो व्यापारविशेषः ; तेन वक्ष्यमाणप्राणायामाद्यवच्छेदः । अत्रापि प्रवणतानिवारणशब्दतात्पर्यं पूर्ववत् । श्रोत्रादीनां पूर्वमुपादानात् कर्मेन्द्रियमात्रनियमनपरो वायं श्लोकः२७

**५ आ. मा. भा.**—आत्मसंयमाख्योपायाग्नौ ॥ २७ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—आत्मसंयमेत्येतद्दुर्गमार्थत्वाद्याख्याति—**आत्मे**ति। आत्मनो मनसः। आत्मसंयमाख्योऽयमुपायः स एवाग्निः२७

**७ ह. पै. भा.**—इन्द्रियाणां कर्माणि प्रेक्षणादीनि, तथा प्राणकर्माण्युच्छ्वासादीनि, अपरे योगिन आत्मनोऽन्तःकरणस्य संयमः स एव योगः, स एवाग्निरात्मसंयमयोगाग्निः, तस्मिन् ज्ञानदीपिते विवेकज्ञानेन प्रज्वलिते जुह्वति । एवं होमं सम्पादयन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

**८ वे. ब्र. गि.**— एवं योगशास्त्ररीत्या लयपूर्वकसमाधिं ततो व्युत्थानं च यज्ञद्वयमुक्त्वा ब्रह्मवादिमतानुसारेण बाधपूर्वकसमाधिरूपं यज्ञान्तरमाह— **सर्वाणी**ति । द्विविधः समाधिः— लयपूर्वको बाधपूर्वकश्चेति । तत्रारम्भणाधिकरणन्यायेन पञ्चमहाभूतपञ्चतन्मात्राहङ्कारमहत्प्रकृतीनामुत्तरोत्तरस्वस्वकारणातिरेकेणासत्त्वं ज्ञात्वा प्रकृतेरपि चैतन्येऽध्यस्ततया तद्व्यतिरेकेणासत्त्वमनुसन्धाय चैतन्यमात्रानुचिन्तनं लयपूर्वकः समाधिः । एवं चिन्तनेऽपि महावाक्यार्थसाक्षात्काराभावेन अविद्याक्षयविरहात् पुनः प्रपञ्चोत्थितिरस्तीति सुषुप्तिवदयं सबीजः समाधिर्न मुख्यः । मुख्यस्तु तत्त्वमस्यादिमहावाक्यार्थसाक्षात्कारेणाविद्यानिवृत्तौ निश्शेषतत्कार्यनिवृत्तेर्निर्बीजो बाधपूर्वकः समाधिः । सोऽयमनेन श्लोकेनोच्यते । तथा हि— इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि । मनोबुद्ध्योरान्तरयोः कर्मणी सङ्कल्पाध्यवसायौ । प्राणादीनां कर्माणि— प्राणस्य बहिर्नयनम् , अपानस्याधो नयनम् , व्यानस्याकुञ्चनप्रसारणादि, समानस्य समनयनम् , उदानस्योर्ध्वनयनमित्यादीनि । अनेन ज्ञानकर्मेन्द्रियप्राणमनोबुद्धिरूपसप्तदशात्मकं लिङ्गशरीरमुक्तम् । तच्च सूक्ष्मभूतसमष्टिरूपं हिरण्यगर्भाख्यमिह विवक्षितमिति दर्शयितुं 'सर्वाणि' इति विशेषणम् । तदेतानि सर्वाण्यपीन्द्रियप्राणकर्माणि आत्मसंयमयोगाग्नौ, आत्मविषयकसंयमो धारणाध्यानसम्प्रज्ञातसमाधिरूपः, तत्परिपाकेण यो योगः निरोधापरपर्यायोऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्बाधपूर्वकः स एवाग्निः, तस्मिन् ज्ञानदीपिते, ज्ञानं ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारः, तेन अविद्यातत्कार्यनाशनेन स्नेहेन प्रदीप इव दीपिते अत्यन्तमुज्ज्वलिते लिङ्गशरीरमपरे जुह्वति प्रविलापयन्तीत्यर्थः । अत्र 'सर्वाणि' इति 'आत्म-' इति 'ज्ञानदीपिते' इति च विशेषणैरग्नावित्येकवचनेन च पूर्ववैलक्षण्यं सूचितमिति तदनुगुणमित्थं व्याख्यातमित्यनुसन्धेयम् ॥ २७ ॥

**९ व० त० दी०**— अपरे ध्याननिष्ठाः ज्ञानेन ध्येयविषयकेण । एवं त्रयो यज्ञकर्त्तारः मध्यमजघन्योत्तमा निरूपिताः ॥ २७ ॥

**१० पु. अ. त.**— अपरे योगिनः सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि इन्द्रियकृत्यान् । अकृत्वैव च पुनः प्राणकर्माणि पञ्चप्राणकृत्यान् क्षुत्पिपासादिना भोजनपानादीनकृत्वैव ज्ञानदीपिते ज्ञानेन मत्स्वरूपाप्तितापोन्मुखीकृते आत्मनो मत्प्राप्त्यर्थं यः संयमो नियमनं स एवाग्निः सर्वस्यापि स्वकरणरूपस्तस्मिन् जुह्वति ॥ २७ ॥

**११ नी० भा० दी०**— इतो विशिष्टं योगान्तरमाह— **सर्वाणी**ति । इन्द्रियाणां कर्माणि शब्दादिग्रहणानि, प्राणकर्माणि आकुञ्चनप्रसारणश्वासप्रश्वासादीनि, अपरे योगिनः आत्मनि बुद्धौ संयमः स एव योगोऽग्निश्च तस्मिन् ज्ञानेन देहेन्द्रियप्राणमनोव्यतिरिक्तात्मज्ञानेन दीपिते प्रकाशिते जुह्वति प्रविलापयन्ति । इन्द्रिययोगिनां हि सुप्ताविव प्राणोऽनुपसंहृत एवास्ते तत्सहचरस्य मनसोऽनुपसंहारात् । बुद्धियोगिनां तु मनसोऽप्युपसंहारात्तदायत्तस्य प्राणस्याऽप्युपसंहारो भवतीति विशेषः । एतेषामपि बुद्धौ बोद्धव्याभावात्पूर्ववल्लीनायां समाधिबुद्धिरस्ति, न त्वेतैर्बुद्धेरन्यत्वेन आत्मा ज्ञातः, नापि तस्मिन् बुद्धिरुपसंहृता, अत एवैतान् प्रकृत्योक्तं वायवीये—'बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः' इति । बौद्धा बुद्धौ लीनाः दशसहस्राणि मन्वन्तराणीत्यनुषङ्गात् ॥ २७ ॥

**द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे ।**
**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८ ॥**

**१ शां. भा.**— द्रव्येति । द्रव्ययज्ञास्तीर्थेषु द्रव्यविनियोगं यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति ये ते द्रव्ययज्ञाः, तपोयज्ञास्तपो यज्ञः येषां तपस्विनां ते तपोयज्ञाः, योगयज्ञाः प्राणायामप्रत्याहारादिलक्षणो योगो यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः । तथाऽपरे स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च, स्वाध्यायो यथाविधि ऋगाद्यभ्यासो यज्ञो येषां ते स्वाध्याययज्ञाः, ज्ञानयज्ञा ज्ञानं शास्त्रार्थपरिज्ञानं यज्ञो येषां ते ज्ञानयज्ञाः[1]; स्वाध्याययज्ञा ज्ञानयज्ञाश्च यतयो यतनशीलाः, संशितव्रताः सम्यक्शितानि तनूकृतानि तीक्ष्णीकृतानि व्रतानि येषां ते संशितव्रताः ॥ २८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यज्ञषट्कमवतारयति— **द्रव्येति** । तत्र द्रव्ययज्ञान्मुख्यानुपादाय विभजते— **तीर्थेष्विति** । तपस्विनः, यज्ञबुद्ध्या तपोऽनुतिष्ठन्तो नियमवन्त इत्यर्थः । 'प्रत्याहारात्' इत्यादिशब्देन यम-नियमासन-ध्यान-धारणासमाधयो गृह्यन्ते, यथाविधि प्राङ्मुखत्वपवित्रपाणित्वाद्यङ्गविधिमनतिक्रम्येति यावत् । व्रतानां तीक्ष्णीकरणमतिदृढत्वम् ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.**—केचित्कर्मयोगिनो द्रव्ययज्ञाः न्यायतो द्रव्याण्युपादाय देवतार्चने प्रयतन्ते; केचिच्च दानेषु, केचिच्च यागेषु, केचिच्च होमेषु, एते सर्वे द्रव्ययज्ञाः; केचित्तपोयज्ञाः कृच्छ्रचान्द्रायणोपवासादिषु निष्ठां कुर्वन्ति । योगयज्ञाश्चापरे पुण्यतीर्थपुण्यस्थानप्राप्तिषु निष्ठां कुर्वन्ति । इह योगशब्दः कर्मनिष्ठाभेदप्रकरणात्तद्विषयः । केचित्स्वाध्यायाभ्यासपराः, केचित्तदर्थज्ञानाभ्यासपराः, यतयो यतनशीलाः, संशितव्रताः दृढसङ्कल्पाः ॥ २८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— प्रत्येकं यज्ञशब्दप्रयोगाद्बहुविधकर्मयोगभेदनिष्ठा उच्यन्ते, तत एवापरशब्दोऽपि प्रत्येकमन्वितः । तत्र द्रव्यैर्यज्ञा येषां ते द्रव्ययज्ञाः । यद्वा द्रव्यात्मका यज्ञा येषामिति विग्रहः । द्रव्यशब्दसामर्थ्यात् तत्साध्ययज्ञविशेषाः सर्वे सङ्गृहीता इति देवतार्चनदानयागहोमाः पृथगुक्ताः । अतः 'द्रव्ययज्ञाः' इत्यादि बहुवचनमपि तत्तदवान्तरभेदविषयमिति भावः । ननु देवतार्चनयागादेः पूर्वमेवोक्तत्वान्निरर्थकं पुनर्वचनमिति चेत्, न; द्रव्यशब्दस्य साधारणत्वेन दानस्यापि सङ्ग्रहात्; पूर्वं च तस्यानुक्तत्वेनापौनरुक्त्यात् । तर्हि दानयज्ञा इति विशिष्य वक्तव्यम्, तदपि न, अर्चनदानयोगहोमयज्ञानां चतुर्णामपि तपोयज्ञादिभ्यो व्यावृत्तावान्तरसङ्ग्राहकसूचनार्थतया न्यायार्जितद्रव्यसाध्यत्वज्ञापनार्थतया च सामान्यशब्दोपयोगात् । तदेतदभिप्रेत्योक्तं **एते सर्वे द्रव्ययज्ञा** इति । यद्वा अर्चनादिस्वरूपस्य यज्ञत्वं प्रागुक्तम्; इह तु तदर्थद्रव्यार्जनादेरेवेत्यभिप्रायेण **न्यायत** इत्यादि **प्रयतन्त** इत्यन्तमुक्तम् ।

तपः शास्त्रीयो भोगसङ्कोचः; तदवान्तरभेदप्रदर्शनं **कृच्छ्रे**त्यादि । 'योगयज्ञाः' इत्यत्र योगः संयोगः प्राप्तिरित्यर्थः । सा चात्र पुण्यतीर्थाद्यभिगमनतन्निवासादिरूपा विवक्षितेत्यभिप्रायेणाह **पुण्यतीर्थे**ति । पुण्यस्थानशब्दोऽत्र देवतास्थानाश्रमजनपदविशेषादिसङ्ग्राहकः । नन्विह योगशब्दः साक्षाद्योगे कर्मयोगमात्रे वा किं न वर्तते ? इत्यत्राह **इहे**ति । कर्मनिष्ठाप्रकरणत्वात् साक्षाद्योगविषयत्वं न युक्तम्; तद्भेदप्रकरणत्वात् तत्सामान्यविषयत्वं चानुचितम्; तद्भेदेषु च पारिशेष्याद्योगशब्दसामर्थ्याच्च तीर्थादिप्राप्तिरेव ग्राह्या । सूचितं चैतत्सङ्ग्रहे परमाचार्यैः 'कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादिसेवनम्' [ गी.सं. २३] इति भावः । स्वाध्यायाभ्यासतदर्थज्ञानयोः पृथग्धर्मत्वेन पृथग्यज्ञत्वनिर्देशोपपत्तेः, द्वन्द्वस्य प्राधान्याच्च विभज्य निर्दिशति **केचित्स्वाध्यायाभ्यासपरा** इति स्वाध्यायसहपाठौचित्यादात्मज्ञानस्य च सर्वसाधारणत्वादर्थज्ञानस्यानुष्ठानेऽप्युपयोगात् **केचित्तदर्थज्ञानाभ्यासपरा** इत्युक्तम् । परशब्दोऽत्र साधारण्यव्यवच्छेदाय तन्निष्ठतामाह । यतिशब्दस्यात्राश्रमविशेषपरत्वानौचित्यात्सर्वकर्मयोगनिष्ठसाधारणविशेषपरत्वौचित्याच्च प्रकृतिप्रत्ययार्थविभागेन निर्वक्ति **यतनशीला** इति । सर्वप्रयोगानुगतः सर्वकर्मयोगनिष्ठसाधारणश्च सङ्कल्पोऽत्र व्रतशब्दार्थ इत्यभिप्रेत्य दृढसङ्कल्पा इत्युक्तम् । संशितत्वमत्राकुण्ठत्वम् । तच्च दृढत्वमेव ॥ २८ ॥

---

[1] "स्वाध्यायेन वेदेन श्रवणमननादिना यत्तदर्थज्ञानं, तदेव यज्ञो येषां ते," इति व्याख्यानं तु न युक्तम्, 'स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथाऽपरे । अथाऽपरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते ॥' ( म.भा. १२।१२।२४ ) इति स्वाध्याययज्ञानां ज्ञानयज्ञानां च पृथक्त्वदर्शनात् ।

— अविगीता ।

५ आ. मा. भा.— द्रव्यं जुह्वतीति द्रव्ययज्ञाः । तपः परमेश्वरार्पणबुद्ध्या तत्र जुह्वतीति तपोयज्ञा इत्यादि । इदं तपो हविः एतद्ब्रह्माग्नौ जुहोति, तत्पूजार्थमिति होमः । तदर्पण एव होमबुद्धिः ॥ २८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु द्रव्यं यज्ञो न भवति, तत्कथं बहुव्रीहिः ? तत्पुरुषत्वे च कथं पुरुषसामानाधिकरण्यं ? इत्यत आह— द्रव्यमिति । अनेन नायं यज्ञशब्दो भावार्थः, किन्तु कर्त्रर्थः । तथा च द्रव्यस्य यज्ञा याजका इत्यर्थ इत्युक्तं भवति । एतदाशङ्कापरिहारायैव तपोयज्ञा इत्येतदप्येवं व्याचष्टे तप इति । तत्र परमेश्वरे । 'योगयज्ञाः' इत्यादिकमप्येवमेव व्याख्येयमिति दर्शयति— इत्यादीति । तपसो होमः कथं ? इत्यत आह— इदमिति । तपश्चरणमेव तपोयज्ञत्वं किं न स्यात् ? इत्यत आह— तदर्पण एवेति । अनेनैव प्रकारेण यज्ञत्वसम्पादनं, नान्यथेत्यर्थः ॥ २८ ॥

७ ह. पै. भा.— द्रव्येति । द्रव्यादीनां हिरण्यगवादीनां दानमेव यज्ञो येषां ते द्रव्ययज्ञाः, दानमेव यज्ञमुपासत इत्यर्थः । अपरे तु तपोयज्ञाः, तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं, तदेव यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति । योगयज्ञाः, योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, स एव यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः; यज्ञबुद्ध्या चित्तवृत्तिनिरोधमेव कुर्वन्तीत्यर्थः । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः- यज्ञशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते— स्वाध्यायो वेदपाठः, स एव यज्ञो येषां ते तथा; ज्ञानं शास्त्रपरिज्ञानं, तदेव यज्ञो येषां ते ज्ञानयज्ञाः; यज्ञबुद्ध्या ज्ञानं कुर्वन्तीत्यर्थः । सर्व एव यतयो यतनशीलाः । संशितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते संशितव्रताः २८

८ वें. ब्र. गि.— एवं त्रिभिः श्लोकैः पञ्च यज्ञानुक्त्वा अधुनैकेन श्लोकेन षड्यज्ञानाह— द्रव्ययज्ञा इति । द्रव्यत्याग एव यज्ञो यज्ञबुद्ध्याऽनुष्ठेयो येषां ते द्रव्ययज्ञाः । एवं तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपाष्टाङ्गयुक्तः, स एव यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः । स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः— अत्र यज्ञशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः- स्वाध्याययज्ञा ज्ञानयज्ञाश्च; विधिवद्वेदाभ्यासनिष्ठास्तदर्थज्ञाननिष्ठाश्चेत्यर्थः । यज्ञान्तरमाह— यतय इति । यतयः संशितव्रताः, यतयः प्रयतनशीलाः सम्यक्शितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते संशितव्रताः; व्रतयज्ञा इत्यर्थः ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०— अन्ये च 'द्रव्ययज्ञाः' इति गृहिणो निरूपिताः, तपोयज्ञा वनस्थाश्च । योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । समाधिलक्षणो यज्ञो येषां ते च । स्वाध्याययज्ञा आत्मज्ञानयज्ञाश्चेत्येते यतयः संशितव्रता उक्ताः ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— द्रव्ययज्ञाः यज्ञनिष्क्रयद्रव्यदातारः । तपोयज्ञाः साधनाद्यभावेन यज्ञजमत्प्रीत्युत्पादनार्थं तप एव यज्ञबुद्ध्या कुर्वन्ति । योगयज्ञाः पूर्वोक्तवत् मत्प्रीत्यर्थं यज्ञबुद्ध्या अष्टाङ्गयोगकर्तारः । अपरे तथा पूर्वोक्तप्रकारेण स्वाध्यायं वेदाध्ययनमेव यज्ञबुद्ध्या कर्तारः । च पुनः ज्ञानमेव यज्ञत्वेन ज्ञातारः । ते कीदृशाः यतयः सर्वपरित्यागिनः । पुनः कीदृशाः ? संशितव्रताः सूक्ष्मीकृतकर्मणो भगवत्स्मरणमात्रैकपराः ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं यज्ञपञ्चकं श्लोकत्रयेणोक्तं, अथैकेनैव श्लोकेन पञ्चयज्ञानाह— द्रव्येति । द्रव्यसाध्यवापीकूपारामाः- तीर्थे बहिर्वेदिकादानं श्रौतयज्ञानां प्रागेव ग्रहणात्- त एव यज्ञा येषां ते द्रव्ययज्ञाः । तथा तपः कृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासादि तदेव यज्ञस्थानीयं येषां ते तपोयज्ञाः । तथा योगयज्ञाः सङ्कल्पत्यागपूर्वकं सन्ध्योपासनादिनिर्विकल्पसमाध्यन्तानां कर्मणामनुष्ठानं तृतीयाध्यायोक्तं योगः, स एव यज्ञो येषां ते योगयज्ञाः । यद्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपोऽष्टाङ्गोपेतो 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [ पा. यो. १।२ ] इति सूत्रितो योग एव यज्ञो येषां त इति । तथा स्वाध्याययज्ञाः नित्यं वेदाध्ययनरतास्ते स्वाध्याययज्ञाः; ज्ञानं स्वाध्यायार्थस्य पूर्वोत्तरमीमांसाविचारः, स एव यज्ञो येषां ते स्वाध्याययज्ञा ज्ञानयज्ञाश्चेति स्वाध्यायज्ञानयज्ञा इति समासः । यतयो यतनशीलाः संशितव्रताः सम्यक् शितं तीक्ष्णं व्रतं अहिंसादिकं येषां ते इति सर्वेषां विशेषणम् ॥ २८ ॥

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथाऽपरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति ।

उक्तयज्ञफलम् ।

**सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥**
**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।**
**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ! ॥ ३१ ॥**

१ **शां. भा.**—किञ्च—अपान इति। अपानेऽपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणं प्राणवृत्तिं, पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। प्राणेऽपानं तथाऽपरे जुह्वति, रेचकाख्यं च प्राणायामं कुर्वन्तीत्येतत्। प्राणापानगती मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमनं प्राणस्य गतिस्तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य गतिः, ते प्राणापानगती, एते रुद्ध्वा निरुध्य प्राणायामपरायणाः प्राणायामतत्पराः कुम्भकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः॥ २९॥ किञ्च—अपर इति। अपरे नियताहाराः नियतः परिमित आहारो येषां ते नियताहाराः सन्तः प्राणान्वायुभेदान्प्राणेष्वेव जुह्वति। यस्य यस्य वायोर्जयः क्रियत इतरान् वायुभेदांस्तस्मिंस्तस्मिञ्जुह्वति, ते तत्र प्रविष्टा इव भवन्ति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः यज्ञैर्यथोक्तैः क्षपितो नाशितः कल्मषो येषां ते यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥ ३० ॥ एवं यथोक्तान्यज्ञान्भिनिर्वर्त्य—यज्ञ इति। यज्ञशिष्टामृतभुजः,यज्ञानां शिष्टं यज्ञशिष्टं, यज्ञशिष्टं च तदमृतं च यज्ञशिष्टामृतं, तद्भुञ्जत इति यज्ञशिष्टामृतभुजः। यथोक्तान् यज्ञान् कृत्वा तच्छिष्टेन कालेन यथाविधि चोदितमन्नममृताख्यं भुञ्जते ये ते यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति गच्छन्ति ब्रह्म सनातनं चिरन्तनं मुमुक्षवश्चेत्; कालातिक्रमापेक्षयेति सामर्थ्याद्गम्यते। नायं लोकः सर्वप्राणिसाधारणोऽप्यस्ति यथोक्तानां यज्ञानामेकोऽपि यज्ञो यस्य नास्ति, सोऽयज्ञस्तस्य। कुतोऽन्योऽपि विशिष्टसाधनसाध्यः कुरुसत्तम ? ॥ ३१ ॥

२ **आ. शां. व्या.**—प्राणायामाख्यं यज्ञमुदाहरति—**किञ्चे**ति। प्राणायामपरायणाः सन्तो रेचकं पूरकं च कृत्वा कुम्भकं कुर्वन्तीत्याह—**प्राणे**ति॥ २९ ॥

प्राणापानयोर्गती श्वासप्रश्वासौ निरुध्य किं कुर्वन्ति? इत्यपेक्षायामाह— **किञ्चे**ति। प्राणापानगतिनिरोधरूपं कुम्भकं कृत्वा पुनःपुनर्वायुजयं कुर्वन्तीत्यर्थः। आहारस्य परिमितत्वं हितत्वमेध्यत्वोपलक्षणार्थम्। प्राणानां प्राणेषु होममेव विभजते—**यस्ये**ति। विजितेषु वायुभेदेष्वजितानां तेषां होमप्रकारं प्रकटयति— **ते तत्रे**ति। प्रकृतान्यज्ञानुपसंहरति—**सर्वेऽपी**ति॥ ३०॥ यथोक्तयज्ञनिर्वर्तनानन्तरं क्षीणे कल्मषे किं स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **एवमि**ति। यथोक्तानां यज्ञानां मध्ये केनचिदपि यज्ञेनाविशेषितस्य पुरुषस्य प्रत्यवायं दर्शयति— **नायमि**ति। कथं यथोक्तयज्ञानुष्ठायिनामवशिष्टेन कालेन विहितान्नभुजां ब्रह्मप्राप्तिः? इत्याशङ्क्य मुमुक्षुत्वे सति चित्तशुद्धिद्वारेत्याह— **मुमुक्षवश्चे**दिति। तत्किमिदानीं साक्षादेव मोक्षो विवक्षितः? तथा च गतिश्रुति-

१ "एवं द्रव्ययज्ञस्तपोयज्ञो योगयज्ञाश्चोक्तलक्षणाः। स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च ये ते सम्प्रति लक्ष्यन्ते— (चतुर्भिः) प्राणमुदीयमानं नादे प्रणवादिमात्रालयान्तमपानेऽस्तं याति स्वानन्दान्तःप्रवेशात्मनि जुह्वतीति पिण्डस्थैर्यात्मा स्वाध्यायः शिष्यात्मना च नयानयग्रहणाय केचिदस्तं यान्तमुदीयमाने संवेश्य तदेकीकारेणापवर्गनादात्मनि शिष्यात्मनि च शोधनबोधनप्रवेशनयोजनरूपे स्वाध्यायज्ञाने स्वपरानन्दनये प्रतिष्ठितमनसः। अत एव पूरकः प्रथममुक्तश्चरमं रेचकः। प्रथमेन च भागेन विषयभोगान्तर्मुखीकरणं, द्वितीयेन महाविदेहधारणाक्रमाद्विषयग्रहणाय विस्मरणं ध्वन्यते। अतश्च स्वाध्याययज्ञेभ्योऽन्ये ज्ञानयज्ञाः। एवमेवोक्तव्यापारपरिशीलनावेशपरिपूरितस्वात्मशिष्यात्ममनोरथा द्वे अप्येते गती निरुध्य, आहारं विषयभोगात्मकं नियम्य, प्राणान्सकलचित्तवृत्त्युदयान् प्राणेषु परनिरानन्दोल्लासेषु जुह्वति कुम्भकप्रशान्त्या। सर्वे चैते द्रव्ययज्ञात्प्रभृति ज्ञानयज्ञान्तं यज्ञस्य तत्त्वज्ञास्तेनैव च क्षपितकल्मषाः समूलोन्मूलितभेदवासनामयमहामोहा यज्ञेन शिष्टमाहृतं यज्ञाच्च निजकरणतर्पणरूपादवशिष्टं स्वात्मविश्रान्तिरूपं परानन्दं निरानन्दात्मकममृतमुपभुञ्जाना यथेच्छं संसृज्यन्ते ब्रह्मतयेति, तदुपरम्यते रहस्यस्फुटप्रकटनवाचालतायाः। अत्र बहुतरो रहस्यरसोऽन्तः सँल्लीनीकृतोऽपि निबिडतरभक्तिसेवासम्प्रसादितगुरुवचनसम्प्राप्तसम्प्रदायमहौषधसमीकृतधातूनां चर्वणादिविषयतां भूतार्थास्वादहेतुतां च प्रतिपद्यते। अत्र व्याख्यानान्तराणि टीकाकारैः प्रदर्शितानि, तान्यस्मद्गुरुपादनिरुक्तानि च स्वयमेव सचेतसः सम्प्रधार्यन्तामिति किमनेन हन्त! व्याख्यातृवचनदूषणाविनोदनेन?।" **इत्यभिनवगुप्तपादाः। —अविगीता।**

विरोधः स्यादित्याशङ्क्य गतिनिर्देशसामर्थ्यात् क्रममुक्तिरत्राभिप्रेतेत्याह— **कालातीति** । तृतीयं पादं व्याचष्टे— **नायमिति** । विवक्षितं कैमुतिकन्यायमाह— **कुत** इति । साधारणलोकाभावे पुनरसाधारणलोकप्राप्तिर्दूरनिरस्तेत्यर्थः । यथोक्तेऽर्थे बुद्धिसमाधानं कुरुकुलप्रधानस्यार्जुनस्यानायासलभ्यमिति वक्तुं कुरुसत्तमेत्युक्तम् ॥ ३१ ॥

**३ रा. भा.— अपरे कर्मयोगिनः प्राणायामेषु निष्ठां कुर्वन्ति; ते च त्रिविधाः पूरकरेचककुम्भकभेदेन; 'अपाने जुह्वति प्राणं' इति पूरकः, 'प्राणेऽपानं' इति रेचकः, 'प्राणापानगती रुद्ध्वा ... प्राणान् प्राणेषु जुह्वति' इति कुम्भकः, प्राणायामपरेषु त्रिष्वप्यनुषज्यते नियताहारा इति द्रव्ययज्ञप्रभृतिप्राणायामपर्यन्तेषु कर्मयोगभेदेषु स्वसमीहितेषु प्रवृत्ता एते सर्वे 'सह यज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा' [३।१०] इत्यभिहितमहायज्ञपूर्वकनित्यनैमित्तिककर्मरूपयज्ञविदः तन्निष्ठाः, तत एव क्षपितकल्मषाः यज्ञशिष्टामृतेन शरीरधारणं कुर्वन्त एव कर्मयोगे व्यापृताः सनातनं च ब्रह्म यान्ति । अयज्ञस्य महायज्ञादिपूर्वकनित्यनैमित्तिककर्मरहितस्य नायं लोकः, न प्राकृतलोकः, प्राकृतलोकसम्बन्धिधर्मार्थकामाख्यः पुरुषार्थः न सिध्यति । कुत इतोऽन्यो मोक्षाख्यः पुरुषार्थः? परमपुरुषार्थतया मोक्षस्य प्रस्तुतत्वात्तदितरपुरुषार्थः 'अयं लोकः' इति निर्दिश्यते; स हि प्राकृतः ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'प्राणायामपरायणाः' इत्यनेन वर्गत्रयस्य सामान्यसङ्ग्रहः । क्रियत इति व्यञ्जनाय **प्राणायामेषु निष्ठां कुर्वन्ती**ति पृथग्वाक्यं कृतम् । प्राणायामनिष्ठानामवान्तरभेदज्ञापनाय **पूरके**त्यादिना प्राणायामावान्तरभेदप्रदर्शनम् । तत्तद्भेदप्रतिपादकांशं विविनक्ति— **अपरे** इत्यादिना । ऊर्ध्वप्रवृत्तस्य प्राणस्य अधःप्रवेशनं हि पूरकः । ततश्च **अपाने जुह्व**तीत्येतदुपचारादुपपन्नम् । एवमधस्स्थितस्य वायोरूर्ध्वप्रवर्तनं हि रेचक इति **प्राणेऽपान**मित्युपचरितम् । वायोरूर्ध्वाधोगमननिवारणेनावस्थापनं कुम्भक इति **प्राणापानगती रुद्ध्वा** इत्यादेरभिप्रायः । प्राणान् प्राणवृत्तिभेदानित्यर्थः । आहारनियमस्तु दृष्टादृष्टोपकारद्वारा सर्वप्राणायामसाधारणतया विहित इत्याह— **प्राणायामपरेषु त्रिष्वपि** इति ॥ २९ ॥

किमेतेषामुच्चावचकर्मयोगभेदनिष्ठानां अवान्तरफलभेदोऽस्ति? किं प्राणायामनिष्ठानां यज्ञादिकं त्याज्यं? इति शङ्काद्वयं निराक्रियते— **सर्वेऽपी**ति श्लोकेन । **स्वसमीहितेष्वि**ति वचनादविशिष्टफलतया विकल्पे न्याय्ये तत्तत्सामर्थ्याद्यनुसारिणी स्वेच्छैव हि विशेषनियामिकेति सूचितम् । सामान्यस्य यज्ञशब्दस्य असङ्कोचप्रदर्शनाय **सहयज्ञै**रित्यादिकमुक्तम् । 'यज्ञक्षपितकल्मषाः' 'यज्ञशिष्टामृतभुजः' इत्याभ्यां 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' [३।१३] इत्यादिप्रागुक्तप्रत्यभिज्ञानात्तत्प्रकरणे च यज्ञशिष्टाशनस्य शरीरयात्रार्थत्वप्रपञ्चनात् तत्स्मरणायोक्तं **यज्ञशिष्टामृतेन शरीरधारणं कुर्वन्त एवे**ति । प्राणायामादिषु निष्ठावतामपि नित्यत्वादिना यज्ञादिकमवश्यकार्यमित्यपि सिद्धम् । एवकारेण नैवंविधशरीरधारणादिव्यापार आत्मावलोकनविरोधी, किन्तूपयुक्त इत्यभिप्रेतम् । **व्यापृता** इति— अन्यथा व्यापार एवाशक्य इति भावः । 'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यम्' [४।२४] इति पूर्वव्याख्याततुल्यार्थत्वादुपसंहारस्थं सनातनं ब्रह्म यान्तीत्येतदपि व्याख्यातम् ॥ ३० ॥

कर्मयोगावान्तरभेदनिष्ठत्वाभिमानेन सामान्यधर्मभूतनित्यनैमित्तिकादिपरित्यागिनः सकलपुरुषार्थानर्हतोच्यते **नायमि**त्यर्धेन । **अयज्ञस्ये**ति व्याख्येयं पदम् । 'नायं लोकः' इत्यत्रायमिति निर्देशाभिप्रेतं दर्शयति **न प्राकृतलोक** इति । लोकस्वरूपमात्रनिषेधभ्रमव्युदासायाह **प्राकृतलोकसम्बन्धीति** । 'अयं लोकः' इति प्रत्यक्षसिद्धभूलोकपरत्वौचित्यात् 'कुतोऽन्यः' इतीदं स्वर्गादिपरं किं न स्यात्? इत्याशङ्क्याह **परमपुरुषार्थतये**ति । अयज्ञस्य मोक्षाभावे प्रतिपादिते हि तदर्थं तदुपादानं स्यादिति भावः । मोक्षव्यतिरिक्तदृष्टानुश्रविकपुरुषार्थवर्गत्रयस्यायं लोक इति निर्देशहेतुभूतसाधारणोपाधिं प्रस्तुतपरमपुरुषार्थविरुद्धरूपत्वं च व्यञ्जयितुमाह— **स हि प्राकृत** इति । प्रकृतिपरिणामविशेषरूपत्वात् तत्संसृष्टस्य प्राप्यत्वाच्च प्राकृतत्वोक्तिः ॥ ३१ ॥

**५ आ. मा. भा.— अपरे प्राणायामपरायणाः प्राणमपाने जुह्वति अपानं च प्राणे । कुम्भकस्था एव भवन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥ नियताहारत्वेनैव प्राणशोषात्प्राणान् प्राणेषु जुह्वति । "यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः" [कठ. ३।१३] इत्यादिश्रुत्युक्तप्रकारेण वा । अन्यदपि ग्रन्थान्तरे सिद्धम् । 'यदस्याल्पाशनं तेन प्राणाः प्राणेषु वै हुताः' इति ॥ ३० ॥ ३१ ॥**

६ ज. प्र. दी.— 'अपाने जुह्वति' इत्येतत् पूरकरेचककुम्भकपरतया केचिद्व्याचक्षते, तदसत्; अध्याहारादिप्रसङ्गात् । पूरकरेचकयोः कुम्भकार्थत्वेन पृथक्प्राणायामत्वाभावाच्चेति भावेन कुम्भकमात्रपरतया योजयति— **अपर** इति । 'परायणाः' इत्यतः परं 'प्राणापानगती रुद्ध्वा' इति द्रष्टव्यम् । अभिप्रायमाह— **कुम्भकस्था एवे**ति । एवशब्देनापव्याख्यानं व्यावर्तयति ॥ २९ ॥ 'अपरे नियत—' इत्यत्र प्राणानां प्राणेषु कीदृशो होमः? नियताहारत्वस्य कथं तत्रोपयोगः? इत्यत आह—

नियतेति। प्राणशोषादिन्द्रियवृत्तीनां वृत्तिमत्स्विन्द्रियेषु सङ्कोचाज्जुह्वतीत्युच्यत इति शेषः। एवशब्देन श्रोत्रादीनीत्यतो भेदं दर्शयति। तत्र प्रत्याहारेणात्र नियताहारत्वेनेति। प्राणानित्यादिकं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे— **यच्छेदिति**। वाग्वाचं मनसि यच्छेत्। तन्नियतां ध्यायेत्, अवराणामिन्द्रियदेवतानां उत्तमेन्द्रियदेवतानियतत्वचिन्तनं प्रकारार्थः। वा प्राणानां प्राणेषु होम इति शेषः। अस्मिन्पक्षे नियताहार इति पृथक् यज्ञो ज्ञातव्यः। इदमेवास्तु व्याख्यानं श्रौतत्वात्किं पूर्वेणेत्यत आह— **अन्यदपीति** ॥ ३० ॥ ३१ ॥

**७ ह. पै. भा.— अपान इति। अपानेऽपानवायौ प्राणं जुह्वति, उपासनया प्राणहोमं सम्पादयन्तीत्यर्थः। प्राणाख्ये वायावपानं जुह्वति। यथाऽग्नौ घृतादिकं तथा होमं ध्यानेन सम्पादयन्ति। कथम्भूताः सन्तः? प्राणश्चापानश्च तयोर्गती प्राणापानगती रुद्ध्वा निरुद्ध्य प्राणायामपरायणाः प्राणायामः परमयनं स्थितिर्येषां ते प्राणायामपरायणाः ॥ २९ ॥ अपर इति। अपरे योगिनो नियतं सङ्कुचितं येषां भोजनं ते नियताहाराः; अनशनलक्षणे तपसि व्यवस्थिता इत्यर्थः। प्राणान्प्राणेषु जुह्वति, प्राणहोमं ध्यानेन सम्पादयन्तीत्यर्थः। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञोपासकाः ॥ ३० ॥ यज्ञेति। यज्ञस्य शिष्टं यज्ञशिष्टम्, यज्ञशिष्टमेवामृतं "यज्ञशिष्टं तथाऽमृतं" इति श्रुतेः। अतो यज्ञविदो यज्ञपरिश्रान्ताः सन्तः शरीरयात्रार्थं यद्भुञ्जते तद्यज्ञशिष्टामृतं भुञ्जाना यज्ञविशिष्टामृतभुज इत्यर्थः। यान्ति गच्छन्ति ब्रह्म सनातनं नित्यम्। अयज्ञस्य पुंसोऽयमपि लोको नास्ति, विशिष्टैर्निन्द्यमानत्वात्। कुतोऽन्यः परलोकोऽनेकसाधनसाध्ययज्ञादिसाध्यः? तस्माद्यज्ञः प्रयत्नतः कार्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥**

८ वं. ब्र. गि.— प्राणायामयज्ञमाह सार्धेन— **अपान इति**। अत्रेदं योगशास्त्रनिरूपितं प्राणायामस्वरूपं प्रथममवगन्तव्यम्- प्राणापानवृत्तिनिरोधः प्राणायामः; स च त्रिविधः- रेचकः पूरकः कुम्भकश्चेति। शरीरान्तर्गतस्य वायोर्बहिरुच्छ्वासेन निस्सरणे रेचकः, बहिस्स्थस्य वायोरन्तर्निश्वासेन प्रवेशने पूरकः, उच्छ्वासनिश्वासनिरोधेन निश्चलतयाऽवस्थाने कुम्भकः; स च द्विविधः— आन्तरकुम्भको बाह्यकुम्भकश्चेति; तत्र पूरकानन्तरं क्रियमाणः श्वासप्रश्वासनिरोधोऽन्तःकुम्भकः, रेचकानन्तरं क्रियमाणस्तु बहिःकुम्भक इति। सोऽयं त्रिविधोऽपि प्राणायामो देशकालसङ्ख्याधिक्येनाभ्यस्यमानो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञो भवति। यथा हि घनीभूतस्तूलपिण्डः प्रसार्यमाणो विरलावयवतया दीर्घः सूक्ष्मश्च भवति तद्वत्। तथा हि— स्वभावसिद्धे रेचके हृदयान्निर्गत्य नासाग्रसम्मुखे द्वादशांगुलपर्यन्ते श्वासः समाप्यते, तत एव च परावृत्य हृदयपर्यन्तं प्रविशतीति स्वाभाविकी प्राणापानयोर्गतिः। अभ्यासेन तु क्रमेण नाभेराधाराद्वा निर्गच्छन्नासिकान्तश्चतुर्विंशत्यंगुलपर्यन्ते षट्त्रिंशदंगुलपर्यन्ते वा देशे समाप्यते। एवं प्रवेशोऽपि तावानवगन्तव्यः। तत्र बाह्यदेशव्याप्तिः सूक्ष्मं तूलं धृत्वा तच्चालनेन निश्चेतव्या। अन्तस्तु पिपीलिकास्पर्शसदृशेन चेयं देशपरीक्षा। रेचककाले प्रणवस्यावृत्तयो दश विंशतिस्त्रिंशदित्यादिभिः कालपरीक्षा। अस्मिन्मासे प्रत्यहं दश रेचकाः, आगामिनि विंशतिः, तदुत्तरमासे तु त्रिंशदित्यादिभिः सङ्ख्यापरीक्षा। पूरकेऽप्येवमेव योज्यम्। कुम्भके तु यद्यपि देशव्याप्तिर्नावगम्यते, तथापि कालसङ्ख्याव्याप्तिरुक्तरीत्याऽवगन्तव्या।

एवं रेचकपूरककुम्भकभेदेनोक्तात् प्राणायामत्रयादन्योऽपि चतुर्थः प्राणायामोऽस्ति। सोऽपि कुम्भकाख्य एव। तत्र रेचकपूरकापेक्षस्तृतीयः कुम्भकः। चतुर्थस्तु तदनपेक्षस्तृतीयकुम्भकाभ्यासपाटवजन्मा धारणाख्ययोगाङ्गनिष्पादकः। अत्र निद्रातन्द्रादिदोषयुक्तानां रेचकादित्रयम्, तद्रहितानां तु चतुर्थ इति विवेकः। सोऽयं चतुर्विधः प्राणायामोऽत्र प्रतिपाद्यते।

**श्लोकस्यायमर्थः**– प्राणायामपरायणा अपरे नियताहाराः 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं प्रपूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्*' इत्यादिशास्त्रनियताहाराः सन्तः प्राणे उच्छ्वासाख्यप्राणवृत्तौ अपानं निश्वासाख्यामपानवृत्तिं जुह्वति प्रक्षिपन्ति; रेचकाख्यप्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा अपाने अपानवृत्तौ प्राणं तद्वृत्तिं जुह्वति; पूरकप्राणायामं कुर्वन्ति। एवं रेचकपूरकोक्त्यैव तदविनाभूतः प्राणापानोभयवृत्तिनिरोधरूपः कुम्भकाख्यस्तृतीयः प्राणायामोऽप्यर्थादुक्तो भवति। एतत्प्राणायामत्रयानुवादपूर्वकं चतुर्थं कुम्भकप्राणायाममाह— प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणेषु प्राणानपरे जुह्वति। पूरके प्राणगतेरुच्छ्वासस्य निरोधः, रेचके त्वपानगतेर्निश्वासस्य, कुम्भके तूभयगतिनिरोध इति क्रमेण त्रिष्वपि प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणेषु बाह्याभ्यन्तरकुम्भकाभ्यासनिगृहीतेषु प्राणान् ज्ञाने-

* वाग्भटोऽप्याहामुमेवार्थमष्टाङ्गहृदये [ सू. स्था. ८ । ४६ ] 'अन्नेन कुक्षेर्द्वावंशौ पानेनैकं प्रपूरयेत्। आश्रयं पवनादीनां चतुर्थमवशेषयेत्' इति ॥

न्द्रियकर्मेन्द्रियरूपान्जुह्वति। सर्वाण्यपि हीन्द्रियाणि प्राणाधीनानि प्राणशब्दवाच्यानि चेति वाजसनेयकादिषु प्रसिद्धम्। तथा च सारथिनिगृहीतरज्जुभिरिव रथाश्वानां कुम्भकनिगृहीतैः प्राणैस्तदधीनचेष्टानां सर्वेन्द्रियाणामपि निग्रहो भवति। सोऽयं निग्रहोऽत्र 'प्राणान्प्राणेषु जुह्वति' इत्यनेनोच्यते॥ २९॥

एवं दैवयज्ञादिप्राणायामान्तद्वादशविधयज्ञानां वेदने करणे च फलमकरणे दोषं चाह सार्धेन— सर्व इति। यज्ञान् विदन्ति जानन्ति लभन्त इति च यज्ञविदो यज्ञाभिज्ञास्तत्कर्तारश्च। त एते सर्वैरपि यज्ञैर्ज्ञातैरनुष्ठितैश्च क्षपितकल्मषाः क्षीणपापा भवन्ति। कर्तारस्तु न केवलं क्षीणपापाः, किन्तु यज्ञान्निर्वर्त्य तदवशिष्टममृताख्यमन्नं भुञ्जानाश्चित्तशुद्धिज्ञानद्वारा सनातनं ब्रह्म यान्ति मुच्यन्ते। यस्य तु पुनरेतेषु यज्ञेष्वेकोऽपि यज्ञो नास्ति, तस्यायज्ञस्य अयं सर्वप्राणिसाधारणोऽत्यल्पसुखदो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति, शिष्टगर्हितत्वात्; कुतोऽन्यः परलोकोऽनेकसाधनसाध्यः? तस्मादवश्यं यज्ञाः कर्तव्या इत्यर्थः॥ ३०॥ ३१॥

९ व० त० दी०— योगधारणवतामपि मध्ये केचित् प्राणायामपराः, केचिन्नियताहारा उत्तममध्यमा इति; तान्निरूपयति— अपानेति। अधोवृत्तिप्राणा ऊर्द्ध्ववृत्तिरिति पर्यायेण तद्रोधे तथाविधाः॥ २९॥ अपरे तु आहारतर्पणप्राणानेव (वृत्तीः) प्राणेषु विलापयन्ति इति संयताहाराः। अन्यथौदरीयसर्वभागपूरणे रोधो योगश्च न स्यात्। तदर्थं प्रारीप्सूनामाहारो नियन्तव्य एव। एते सर्वे यज्ञविदस्तेन च निष्कल्मषाः स्वाधिकारागतं यज्ञशिष्टममृतं च भुञ्जत इति तथा; ते सर्वे सनातनं नित्यं ब्रह्म साक्षात् परम्परया च यान्ति। तदकरणे दोषदर्शनेन व्यतिरेचयति– नायमिति। अयमल्पानन्दोऽपि लोको देहो वाऽयज्ञस्य न भवति, ततोऽन्यो दिव्यस्तु कुतः? इति कर्त्तव्यता बोधिता। अपरं च दर्शनप्रकारः प्रसङ्गादुक्तः। ब्रह्मज्ञानिनाऽपि सर्वसन्न्यासतो ब्रह्मयज्ञाभिधः क्रियते इति 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठति' [३।५] इति समर्थितम्॥ ३०॥ ३१॥

१० पु. अ. त.— अपरे योगिनोऽपानेऽधस्स्थे प्राणं ऊर्ध्वस्थं पूरकविधिना जुह्वति। तथा अपरे रेचकविधिना अपानं प्राणे। कुम्भकविधिना प्राणापानयोर्गतिनिरोधं कृत्वा प्राणायामपराः ईश्वरचिन्तननिष्ठा भवन्ति॥ २९॥ अपरे योगिनो नियताहाराः नियमितभोजनाः 'द्वौ भागौ पूरयेदन्नैस्तोयेनैकं च पूरयेत्। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्' इत्युक्तम्। तथाप्यन्तःकरणशुद्ध्यर्थं देहस्थितिमात्ररूपभगवत्प्रसादैकभोक्तारः प्राणान् लौकिकान् प्राणेष्वाधिदैविकेषु भगवदुपयोग्येषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते सार्द्धपञ्चश्लोकोक्ताः यज्ञविदः यज्ञस्वरूपज्ञाः। यज्ञक्षपितकल्मषाः स्वस्वाधिकारकृतस्वयज्ञेन दूरीकृतं मत्स्मरणप्रतिबन्धकात्मकं कल्मषं यैस्ते दूरीकृतकल्मषा भवन्तीति शेषः॥ ३०॥ एवं यज्ञैर्निष्कल्मषा भूत्वा मत्स्मरणादिना ब्रह्म प्राप्नुवन्तीत्याह— यज्ञशिष्टेति। यज्ञशिष्टामृतभुजः यज्ञे शिष्टमवशिष्टं यदमृतं मत्स्मरणरूपं तद्भुजस्तद्भोगकर्तारः सनातनं ब्रह्म अक्षरात्मकं यान्ति प्राप्नुवन्ति। अत एव 'यस्य स्मृत्या' इत्यादिना भगवत्स्मरणेनैव कर्मादीनां पूर्णत्वम्। एवं यज्ञकर्तृणामक्षरप्राप्तिमुक्त्वा तदकर्तृणां बाधकमाह— नायमिति। हे कुरुसत्तम सत्कुलोत्पन्न! अयज्ञस्य मद्विभूतिरूपमदाज्ञादिरूपयज्ञरहितस्यायं लोको नास्ति। अस्मिन्नपि लोके निन्दितः सन् तदा अन्यः अक्षरात्मकः कुतः प्राप्यः? इति शेषः॥ ३१॥

११ नी० भा० दी०— एकादशं यज्ञमाह— अपाने इति। अपरे अपाने अपानवृत्तौ जुह्वति प्रक्षिपन्ति प्राणं प्राणवृत्तिं पूरकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। तथा प्राणे चापानं प्रक्षिपन्ति–रेचकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः। प्राणापानगती रुद्ध्वा मुखनासिकाभ्यां वायोर्निर्गमनं प्राणस्य गतिः, तद्विपर्ययेणाधोगमनमपानस्य गतिः, ते प्राणापानगती; एते निरुद्ध्य प्राणायामपरायणाः प्राणायामतत्पराः कुम्भकाख्यं प्राणायामं कुर्वन्तीत्यर्थः॥ २९॥ द्वादशं यज्ञमाह— अपरे इति। नियतो निगृहीत आहारो विषयभोगो यैस्ते नियताहारा वैराग्यादिमन्तः। प्राणान्–अत्र समनस्कानीन्द्रियाणि प्राणशब्देन गृह्यन्ते, तान् प्राणेषु मनश्चित्ताहङ्कारेष्वन्तःकरणवृत्तिभेदेषु। बुद्धेः प्राग्गृहीतत्वादग्रहणम्। जुह्वति प्रविलापयन्ति। इन्द्रियाणि सङ्कल्पात्मके मनसि संहृत्य मनोऽपि स्मरणात्मके चित्ते संहृत्य तदपि अहङ्कारे संहरन्ति। स चाभिमानरूपोऽहङ्कारोऽभिमन्तव्याभावात्स्वयमेव दग्धेन्धनानलवद्विलीयते। तत्र येषां समाधिबुद्धिरस्ति ते आभिमानिका बुद्धियोगिभ्यः पूर्वोक्तेभ्यो निकृष्टाः; अत एव एतान् प्रकृत्योक्तं वायवीये—'सहस्रं त्वाभिमानिकाः' इति; सहस्रं मन्वन्तराणि इत्यनुषङ्गः। भौतिकस्तु योगोऽत्र नोक्तः, यदनुष्ठातॄन्प्रकृत्य तत्रैवोक्तं–'भौतिकास्तु शतं पूर्णं' इति। अत्रापि शतं मन्वन्तराणीत्यनुषञ्जनीयम्। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञलब्धारो यज्ञेन क्षपितं कल्मषं येषां ते तथाविधा भवन्ति। सर्वे यज्ञाः कल्मषक्षयायैव भवन्ति; न पुनः साक्षान्मोक्षायेत्यर्थः॥ ३०॥ सर्वेषामेतेषां मध्येऽन्यतममप्यनुष्ठातुमशक्तं प्रति प्राह– यज्ञेति। यज्ञाः पञ्चमहायज्ञाः; तेभ्यः शिष्टमवशिष्टमन्नममृताख्यं ये भुञ्जते, तेऽपि चित्तशुद्धिद्वारा सनातनं ब्रह्म

यान्ति प्राप्नुवन्ति । अयज्ञस्य पूर्वोक्तेषु द्वादशस्वन्यतमो वा नित्याः पञ्च वा यस्य यज्ञा न सन्ति, स अयज्ञः तस्य अयमपि लोको नास्ति, अन्यः परलोक आत्मलोको वा कुतो भवेत् ? न कुतश्चिदित्यर्थः ॥ ३१ ॥

**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।**
**कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥**

**१ शां. भा.— एवमिति । एवं यथोक्ता बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञा वितता विस्तीर्णा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे- वेदद्वारेणावगम्यमाना ब्रह्मणो मुखे वितता उच्यन्ते । तद्यथा "वाचि हि प्राणं जुहुमः" इत्यादयः । कर्मजान्कायिकवाचिकमानसकर्मोद्भवान्विद्धि, तान्सर्वाननात्मजान् । निर्व्यापारो ह्यात्मा । अत एवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसेऽशुभात् । न मद्व्यापारा इमे निर्व्यापारोऽहमुदासीन इत्येवं ज्ञात्वाऽस्मात् सम्यग्दर्शनान्मोक्ष्यसे संसारबन्धनादित्यर्थः ॥ ३२ ॥**

२ आ. शां. व्या.— उक्तानां यज्ञानां वेदमूलकत्वेनोत्प्रेक्षानिबन्धनत्वं निरस्यति— **एवमिति** । आत्मव्यापारसाध्यत्वमुक्तकर्मणामाशङ्क्य दूषयति— **कर्मजानिति** । आत्मनो निर्व्यापारत्वज्ञाने फलमाह— **एवमिति** । कथं यथोक्तानां यज्ञानां वेदस्य मुखे विस्तीर्णत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **वेदद्वारेणेति** । तेनावगम्यमानत्वमेवोदाहरति— **तद्यथेति** । "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांस **आहुः** " [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इत्युपक्रम्याध्ययनाद्याक्षिप्य हेत्वाकाङ्क्षायामुक्तं— **वाचि हीति** । ज्ञानशक्तिमद्विषये क्रियाशक्तिमदुपसंहारोऽत्र विवक्षितः " प्राणे वा वाचं यो ह्येव प्रभवः स एवाप्ययः " [ ] इति वाक्यमादिशब्दार्थः, ज्ञानशक्तिमतां क्रियाशक्तिमतां चान्योन्योत्पत्तिप्रलयत्वात्तदभावे नाध्ययनादिसिद्धिरित्यर्थः । कर्मणामात्मजन्यत्वाभावे हेतुमाह— **निर्व्यापारो हीति** । तस्य च निर्व्यापारत्वं फलवत्त्वाज्ज्ञातव्यमित्याह— **अत इति** । एवं ज्ञानमेव ज्ञापयन्नुक्तं व्यनक्ति— **नेत्यादिना** ॥ ३२ ॥

**३ रा. भा.— एवं हि बहुप्रकाराः कर्मयोगा ब्रह्मणो मुखे वितता आत्मयाथात्म्यावाप्तिसाधनतया स्थिताः, तानुक्तलक्षणानुक्तभेदान् कर्मयोगान् सर्वान् कर्मजान्विद्धि अहरहरनुष्ठीयमाननित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानजान् विद्धि; एवं ज्ञात्वा यथोक्तप्रकारेणानुष्ठाय मोक्ष्यसे ॥ ३२ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** एवं कर्मयोगावान्तरभेदानुपदिश्य तत्तद्भेदेऽपि साधारणानां नित्यनैमित्तिकानां अवश्यानुष्ठेयत्वं तत्परित्यागे प्रत्यवायश्चाभिहितः ; अस्यैवार्थस्योपसंहारः क्रियते **एवमिति** श्लोकेन । बहुप्रकारकर्मयोगभेदोपदेशानन्तरमेव ' एवं बहुविधा यज्ञाः ' इति वचनं प्रकृतविषयमेव भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाह **एवं हि बहुप्रकाराः कर्मयोगा** इति । ब्रह्मशब्दोऽत्र यथावस्थितात्मविषयः, वेदादिपरत्वे प्रकृतौचित्याभावात् । मुखशब्दश्चोपायविषयः । आहुश्च नैघण्टुकाः ' मुखं तु वदने मुख्ये ताम्रे द्वाराभ्युपाययोः ' इति । आत्मनः प्राप्त्युपाये कर्मयोगे अवान्तरभेदतया वितता इत्यर्थः । तदाह— **आत्मयाथात्म्येति** । **तानिति** निर्देशः प्रस्तुतसमस्ताकारपरामर्शी, **सर्वानिति** चाशेषावान्तरभेदसङ्ग्रह इत्यभिप्रायेण **उक्तलक्षणानुक्तभेदानित्युक्तम्** । उभाभ्यां पदाभ्यां एवंशब्दबहुविधशब्दयोरर्थोक्तिर्वा । अन्तर्भूतज्ञानतया ज्ञानाकारत्वमुक्तलक्षण-

---

१ 'बहुविधाः' इत्यत्र १ दैवयज्ञः, २ ज्ञानयज्ञः, ३ इन्द्रियसंयमाग्नियज्ञः, ४ इन्द्रियाग्नियज्ञः, ५ आत्मसंयमाग्नियज्ञः, ६ द्रव्ययज्ञः, ७ तपोयज्ञः, ८ योगयज्ञः, ९ स्वाध्यायज्ञानयज्ञः, १० संशितव्रतयज्ञः, ११ प्राणायामयज्ञः, १२ प्रत्याहारयज्ञश्चेति द्वादश यज्ञा **इत्येके** । स्वाध्याययज्ञज्ञानयज्ञयोः पृथक्त्वेन संशितव्रतयज्ञाभावेन च द्वादशे**त्यन्ये** । प्राणायामयज्ञे १ प्राणयज्ञः २ अपानयज्ञः ३ प्राणापानयज्ञश्चेति भेदत्रयस्वीकारेण संशितव्रतयज्ञत्यागेन च चतुर्दश, ते च जडद्रव्य-शरीर-वाक्-प्राण-बुद्धि-मिश्र- परमात्मसम्बन्धभेदेन सप्तविधा भवन्ती**त्यपरे** । संशितव्रतयज्ञेन सह सर्वे पञ्चदशे**तीतरे** । सर्वेऽप्येते पक्षाश्च- " षट्त्रिंशांश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आद्वादशम् । यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति ॥ **चतुर्दशान्ये** महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्रणयन्ति **सप्त** । आप्रानं तीर्थं क इह प्रवोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य ॥ सहस्रधा **पञ्चदशान्युक्था** यावद्द्यावापृथिवी तावदित्तत् । सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् ॥ " ( ऋक्सं. ८।६।१७ ) इति श्रुतौ निर्दिष्टा इत्यपि केषाञ्चिद्धारणा । एतेषां भेदानां प्रत्येकं लक्षणादिनिरूपणं च **ज्ञानदेवमधुसूदनादिभिः** प्रपञ्चितं, तत्तत एवावगन्तव्यम् । विस्तरभयान्नात्र प्रपञ्च्यते ।

— **अविगीता** ।

त्वम् । उक्तलक्षणानिति वदताऽध्यायार्थतयाऽऽरम्भनिर्दिष्टेषु कर्मयोगस्वरूपाभिधानमपि कृतं भवतीति सूचितम् । 'सर्वान् कर्मजान्विद्धि' इति पृथग्वचनात्प्राणायामादीनां प्राधान्यं नित्यनैमित्तिकादीनां तदर्थत्वं चाह अहरहरिति । अनेन तस्याकरणे सर्वानर्हतया यावत्फलमनुष्ठेयत्वं प्रतिदिवसं पापहरणेनोत्तरोत्तरसत्त्वोन्मेषहेतुत्वेनात्यन्तोपयुक्तत्वं च सूचितम् ॥ ३२ ॥

**५ आ. मा. भा.**—ब्रह्मणः परमात्मनो मुखे । 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च [ ९ । २४ ] इति वक्ष्यति । मानसिकवाचिककायिककर्मजा एव हि ते सर्वे । एवं ज्ञात्वा तानि कर्माणि कृत्वा विमोक्ष्यसे । युद्धं परित्यज्य यन्मोक्षार्थं करिष्यसि तदपि कर्म । अतो विहितं न त्याज्यमिति भावः ॥ ३२ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'ब्रह्मणो मुखे वितताः' इत्यस्य वेदप्रतिपादिता इति व्याख्यानमसत्, मुखशब्दवैयर्थ्यादित्यभिप्रायेणाह— **ब्रह्मण** इति । परमात्मनः सर्वयज्ञभोक्तृत्वं कुतो भगवत्सम्मतं? इत्यत आह— **अहं** हीति । उपासनादीनां कर्मजत्वाभावात् 'कर्मजान्विद्धि तान् सर्वान्' इत्ययुक्तमित्यत आह— **मानसिके**ति । अत्र विमोक्ष्यस इति स्यन्तान्मुचः कर्मकर्तरि लट् । तस्य प्रकृतोपयुक्ततयाऽर्थमाह— **एवमि**ति । एवं ज्ञात्वाऽपि यदि सर्वेऽपि यज्ञाः कर्मजा इति जानासि तर्हि तानि युद्धादीनि स्वविहितानि कर्माणि कृत्वैव विमोक्ष्यसे संसारादात्मानं मोक्तुमिच्छसि । सर्वेषां कर्मजत्वज्ञाने तवैव मोक्षार्थं युद्धादिकं कर्तव्यमितीच्छा भविष्यतीत्यर्थः । तत्कथमित्यत आह— **युद्धमि**ति । यद्येवमनेके यज्ञास्तर्हि किं कर्मात्मकेन युद्धेन ? उपासनादिनैवाहं कृती स्यामित्यर्जुनस्य हार्दं ज्ञात्वा भगवतेदमुक्तम् । **तस्यायं भावः**— मोक्षार्थं यदुपासनादिकं युद्धं परित्यज्य करिष्यसि तदपि कर्म । तथा च त्वया विहितातिक्रम एव कृतः स्यात् । न तु कर्मत्यागः । अत एवं जानतस्तव विहितयुद्धादिकं न त्याज्यमिति बुद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः । विमोक्ष्यस इति लृडन्तत्वपक्षेऽयमर्थः । किं सर्वयज्ञानां कर्मजत्वज्ञानमात्रेण मोक्षः ? तथा च 'कुरु कर्मैव' [ ४ । १५ ] इति विधानं व्यर्थमित्यत आह— **एवमि**ति । 'कर्मजान्विद्धि' इत्यनेन कथमर्जुनस्य शङ्कापरिहारः ? इत्यत आह— **युद्धमि**ति ॥ ३२ ॥

**७ ह. पै. भा.**— एवमिति । एवमुक्तप्रकारेण बहुविधा बहुप्रकारा यज्ञा वितता विस्तीर्णा ब्रह्मणः परमात्मनो मुख आस्ये । एते यज्ञाः परमात्मनः प्रत्यासन्नाराधनभूता इत्यर्थः । तांश्च यज्ञान् कर्मजान्वाङ्मनःकायकर्मात्मनः स्वरूपभूतात्मनः शुद्धकूटस्थरूपत्वात् ॥ ३२ ॥

**८ वे. ब्र. गि.**—अत्र वेद एव प्रमाणमित्याह—एवमिति । एवमुक्तरीत्या बहुविधा एते यज्ञा ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितता विस्तृताः । वेदेन साक्षाद्विहिता इत्यर्थः । तानि च वेदवाक्यानि विस्तरभिया नोदाह्रियन्ते । यस्मिन्मुखे वेदो जातस्तस्मिन्नेव मुखे वितता एते यज्ञाः; तथा च वेदवदेते विश्वसितव्या इत्यपि कश्चिदर्थो ध्वन्यते । एवं यज्ञानां प्रामाणिकत्वेनावश्यकर्तव्यत्वमुक्त्वा आत्मनस्तच्छ्लेषाभावं दर्शयति— कर्मजानिति । तान्सर्वान्यज्ञान् कर्मजान्विद्धि कायिकवाचिकमानसिककर्मजानेव जानीहि; न त्वात्मजान्, तस्यासङ्गोदासीनत्वात् "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [ बृ. उ. ४।३।१५ ] "असङ्गो न हि सज्जते" [बृ.उ.४।५।१५ ] इति श्रुतेः । एवमात्मानमकर्तारं ज्ञात्वा कर्मबन्धाद्विमुक्तो भविष्यसि ॥ ३२ ॥

**९ व० त० दी०**— एवं च वेदे प्रारम्भ एव बहुविधा यज्ञा विततः "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्" [ऋक्सं.८।६।१९।६ यजुस्सं.३१।१६] "यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः" "विश्वसृजो वै सत्रमासते" इत्यादौ कर्मजान् स्वक्रियानिर्वर्त्यान् वेदोक्तान् यज्ञपदवाच्यानवधारय; एवं ज्ञात्वा मोक्ष्यसे । " दुःखाभावः सुखं चेति पुरुषार्थद्वयं मतम् । मोक्षः कामस्तयोरङ्गं "[ ]इति वाक्यान्मोक्षस्तव भविष्यतीति भावः ॥ ३२ ॥

**१० पु. अ. त.**—नन्वेवं बहुप्रकारयज्ञस्वरूपोक्त्या मया किं कार्यं ? इत्याशङ्क्याह— **एवमिति** । एवं बहुविधाः पूर्वोक्तप्रकारेण बहुप्रकारा यज्ञा मदंशकाः ब्रह्मणो वेदस्य मुखे वितताः विसृताः, तान् सर्वान् कर्मजान् एतत्क्रियोत्पन्नान् विद्धि जानीहि । एवं तान् ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे मत्प्राप्तिप्रतिबन्धैर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । मया तव वेदायुक्तत्वाद्यज्ञादिकर्मसु आसक्त्यभावार्थमेवं बहुप्रकारका यज्ञा उक्ता इति भावः ॥ ३२ ॥

**११ नी० भा० दी०**—एवमिति । ब्रह्मणो वेदस्य मुखे द्वारे वेदद्वारेणैव वितता विस्तारिताः, गुरुभिरुपदिष्टा इत्यर्थः । कर्मजान् कायिकवाचिकमानसिककर्मजान्, न तु नैष्कर्म्यरूपान् । एवं ज्ञात्वाऽस्मादशुभात् मोक्ष्यसे तत्त्वज्ञानोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ॥ ३२ ॥

सर्वयज्ञेभ्यो ज्ञानयज्ञस्य वैशिष्ट्यम् ।

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप ! ।**
**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ ३३ ॥**

**१ शां. भा.**— 'ब्रह्मार्पणं' [४।२४] इत्यादिश्लोकेन सम्यग्दर्शनस्य यज्ञत्वं सम्पादितम्, यज्ञाश्चानेक उपदिष्टाः, तैः सिद्धपुरुषार्थप्रयोजनैर्ज्ञानं स्तूयते । कथम् ? श्रेयानिति । श्रेयान् द्रव्यमयाद्द्रव्यसाधनसाध्याद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञो हे परन्तप ! । द्रव्यमयो हि यज्ञः फलस्याऽऽरम्भकः, ज्ञानयज्ञो न फलारम्भकः, अतः श्रेयान्प्रशस्यतरः । कथं ? यतः सर्वं कर्म समस्तमखिलमप्रतिबद्धं पार्थ ! ज्ञाने मोक्षसाधने सर्वतः सम्प्लुतोदकस्थानीये परिसमाप्यतेऽन्तर्भवतीत्यर्थः । "यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्चित्प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद" [छां. उ. ४।१।४] इति श्रुतेः ॥ ३३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— कर्मयोगेऽनेकधाऽभिहिते सर्वस्य श्रेयस्साधनस्य कर्मात्मकत्वप्रतिपत्त्या केवलं ज्ञानमनाद्रियमाणमर्जुनमालक्ष्य वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरश्लोकस्य तात्पर्यमाह— **ब्रह्मेत्यादिना । सिद्धे**ति । सिद्धं पुरुषार्थभूतं पुरुषापेक्षितलक्षणं प्रयोजनं येषां यज्ञानां तैरनन्तरोपदिष्टैरिति यावत् । प्रश्नपूर्वकं स्तुतिप्रकारं प्रकटयति— **कथमि**त्यादिना । ज्ञानयज्ञस्य द्रव्ययज्ञात्प्रशस्यतरत्वे हेतुमाह— **सर्वमि**ति । द्रव्यसाधनसाध्यादित्युपलक्षणं स्वाध्यायादेरपि । ततोऽपि ज्ञानयज्ञस्य श्रेयस्त्वाविशेषाद्द्रव्यमयादियज्ञेभ्यो ज्ञानयज्ञस्य प्रशस्यतरत्वं प्रपञ्चयति— **द्रव्यमयो ही**ति, फलस्याभ्युदयस्येत्यर्थः । न फलारम्भको न कस्यचित्फलस्योत्पादकः, किन्तु नित्यसिद्धस्य मोक्षस्याभिव्यञ्जक इत्यर्थः । तस्य प्रशस्यतरत्वे हेत्वन्तरमाह— **यत** इति । समस्तं कर्मेत्यग्निहोत्रादिकमुच्यते । अखिलमविद्यमानं खिलं शेषोऽस्येत्यनल्पं महत्तरमिति यावत् । 'सर्वमखिलं' इति पदद्वयोपादानमसङ्कोचार्थम् । 'सर्वं कर्म ज्ञानेऽन्तर्भवति' इत्यत्र च्छान्दोग्यश्रुतिं प्रमाणयति— **यथे**ति । चतुरायके हि द्यूते कश्चिदायश्चतुरङ्कः सन्कृतशब्देनोच्यते तस्मै विजिताय कृताय तादर्थ्येनाधरेयास्तस्मादधस्ताद्भाविनस्त्रिद्व्येकाङ्कास्त्रेताद्वापरकलिनामानः संयन्त्यायाः सङ्गच्छन्ते; चतुरङ्के खल्वाये त्रिद्व्येकाङ्कानामायानामन्तर्भावो भवति, महासङ्ख्यायामवान्तरसङ्ख्यान्तर्भावावश्यम्भावात्; एवमेनं विद्यावन्तं पुरुषं सर्वं तदाभिमुख्येन समेति सङ्गच्छति । किं तत्सर्वं यद्विदुषि पुरुषेऽन्तर्भवति ? तदाह— **यत्किञ्चि**दिति । प्रजाः सर्वा यत्किमपि साधु कर्म कुर्वन्ति तत्सर्वमित्यर्थः । एनमभिसमेतीत्युक्तं तमेव विद्यावन्तं पुरुषं विशिनष्टि— **यस्तदि**ति । किं तदित्युक्तं तदेव विशदयति— **यत्स** इति । स रैक्वो यत्तत्त्वं वेद तत्तत्त्वं योऽन्योपि जानाति तमेनं सर्वं साधु कर्माभिसमेतीति योजना ॥ ३३ ॥

---

१ 'द्रव्ययज्ञात्केवलाज्ज्ञानदीपितो यज्ञः श्रेष्ठः । केवलता च मयटा सूचिता ।' इत्य**भिनवगुप्ता**चार्याः । 'क्रियमाणं कर्म सर्वमखिलं चापि सञ्चितम् । द्विविधस्यास्य भगवाञ्ज्ञाने लयमसूसुचत् ॥' इति सर्वाखिलपदयोः प्रयोजनमाह **वामनः** । वस्तुतस्तु— **सर्वशब्देन** कर्मणः शुभाशुभरूपसजातीयविजातीयभेदा लक्ष्यन्ते, अखिलपदेन च स्वगतभेदा इत्येव सुवचम् । न च कर्मणोऽमूर्तत्वात् स्वगतभेदाभावो वाच्यः, महापातकप्रायश्चित्तत्वेन महोपायवल्लघूपायाम्नानादिबलेन तत्सिद्धेः । एकस्या एव हि ब्रह्महत्याया निवर्तकत्वेन "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते" (तै. सं. ५।३।१२) इति महायाससाध्याश्वमेधवत् "ब्रह्महत्यां वा एते घ्नन्ति । ये ब्राह्मणास्त्रिसुपर्णं पठन्ति ।" (तै. आ. १०।४८) इति सुकरतरत्रिसुपर्णपाठस्याप्यविशेषेणाम्नानमश्वमेधानुष्ठानेन सर्वाऽपि ब्रह्महत्यैकपद एव निवर्तते, त्रिसुपर्णपाठेन तु तदेकदेश इत्यभ्युपगम एवोपपद्यते । अत एव महापातकनिवर्तनार्थमल्पव्रतानामावर्तनमावश्यकम् । अल्पपातकनिवर्तनार्थं महाव्रतानुष्ठाने तु तदेकदेशेनैव निश्शेषकल्मषप्लोषोऽवशिष्टेनाभ्युदयश्च सिद्ध्यतीति शास्त्रविदां मर्यादा । उक्तं च **पराशरस्मृति**व्याख्योपक्रमे **माधवाचार्यैः**—

'अमूर्तस्यापि पापस्य सन्ति भागा यथोचितम् । अन्यथैकेन पापेन दुःखं बहुविधं कुतः ? ॥
तथा महाव्रतस्यापि भागेनाल्पे विनाशिते । व्रतशेषविपाकेन स्मर्यते बहुलं सुखम् ॥' इति ॥

तदुक्तं ज्ञाने कर्मैकदेशसमाप्तिसम्भावनावारणायाखिलपदोपादानमिति । भाष्योदाहृता श्रुतिरप्यमुमेवार्थमुपस्करोतीति ध्येयम् । यस्यां सत्यां सम्पूर्णमिदमिति प्रमा सा समाप्तिः ।

**नव्यास्त्वत्र**— 'परमेश्वरस्वरूपज्ञानं सम्पाद्य तदनुरूपाचरणेन परमेश्वरप्राप्तिसम्पादनमार्गो ज्ञानयज्ञ इत्युच्यते' इति वदन्ति । तन्मन्दम्, परमेश्वरप्राप्तेस्तत्स्वरूपज्ञानानन्यत्वात् । न ह्यात्माऽन्यतः कुतश्चिल्लभ्यः, किन्तु नित्यप्राप्तोऽप्यज्ञानवशादप्राप्त इवावभासमानोऽसौ विस्मृतकण्ठचामीकरवज्ज्ञानमात्रप्राप्य इति न ज्ञानोर्ध्वं तत्प्राप्त्यर्थं किमपि कर्तव्यमवशिष्यत इति व्यक्तमेव वेदान्तविदाम् । एतेन 'न केवलं परमेश्वरस्वरूपज्ञानसम्पादनमेव ज्ञानयज्ञः, नापि तदीशप्राप्तिसाधनम्, किन्तु तज्ज्ञानानुरूपाचरणमेव ज्ञानयज्ञस्तदेव चेशप्राप्तिसाधनं' इत्याद्यपि निरस्तं ज्ञेयम् ।

— अविगीता ।

**३ रा. भा.—** अन्तर्गतज्ञानतया कर्मणो ज्ञानाकारत्वमुक्तम्; तत्रान्तर्गतज्ञाने कर्मणि ज्ञानांशस्यैव प्राधान्यमाह— **श्रेयानिति** । उभयाकारे कर्मणि द्रव्यमयादंशात् ज्ञानमयोंऽशः श्रेयान्; सर्वस्य कर्मणस्तदितरस्य चाखिलस्योपादेयस्य ज्ञाने परिसमाप्तेः । तदेवं सर्वैः साधनैः प्राप्यभूतं ज्ञानं कर्मान्तर्गतत्वेनाभ्यस्यते, तदेवाभ्यस्यमानं क्रमेण प्राप्यदशां प्रतिपद्यते ॥ ३३ ॥

**४ वे. ता. चं.—** 'श्रेयान्' इत्यादेराध्यायपरिसमाप्तेर्ज्ञानविषयस्यैकप्रघट्टकस्य सङ्गतिपूर्वकमर्थमाह— **अन्तर्गते**ति । अवान्तरभेदप्रतिपादनरूपावान्तरप्रकरणात् प्राचीनेन कर्मणो ज्ञानाकारत्वप्रतिपादकप्रघट्टकेनास्य साक्षात्सङ्गतिः ! ननु द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः श्रेयानिति निर्दिष्टे सत्यात्मसाक्षात्कारान्तरङ्गज्ञानयोगप्राधान्यं ग्रहीतुमुचितम्; 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' इत्यनेन कर्मफलस्य सर्वस्य ज्ञानेऽन्तर्भावश्च प्रतीयते; 'अपि चेदसि सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तमः' [४।३६] 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' [४।३७] योगसन्न्यस्तकर्माणम्' [४।४१] इत्यादिनिर्देशाश्चानन्तरभाविनः कर्मयोगविरोधिनः; 'न हि ज्ञानेन' [४।३८] इति श्लोकोऽपि कर्मयोगात् ज्ञानयोगस्य पावनत्वातिरेकपर इति प्रतीयते; 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति' [४।३९] इत्येतदपि ज्ञानयोगस्यान्तरङ्गतया शीघ्रकारित्वमितरस्य विलम्बितफलत्वं व्यनक्ति; 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' [४।३५] इति ज्ञानस्वरूपकथनमपि ज्ञानयोगत्वं द्रढयति; न हि कर्मयोगान्तर्गतेन आत्मज्ञानेनैव सर्वं साक्षात्क्रियते; 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च' [४।२८] इत्यत्र च द्रव्ययज्ञादेः पृथक्त्वेन ज्ञानयज्ञो निर्दिष्टः; अतो ज्ञानयोगप्रशंसाप्रकरणमिदमिति ग्राह्यमिति ।

अत्रोच्यते 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात्' इत्यत्र तावत् ज्ञानप्राधान्यमात्रान्न ज्ञानयोगविवक्षा वक्तुमुचिता, 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' [३।८] इत्यादिषु सर्वत्र तद्विपरीतकर्मप्राधान्यस्यैव प्रपञ्चितत्वात्, उत्तराध्यायेऽपि 'तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' [५।२] इत्यादेर्वक्ष्यमाणत्वात्, मध्ये तद्विरुद्धार्थप्रतिपादनायोगात्; अतोऽत्र ज्ञानयज्ञशब्दः कर्मयोगांशविषयः । 'स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च' [४।२८] इत्यत्र तु स्वाध्यायार्थाभ्यासरूपज्ञानयज्ञपरत्वमुक्तम्, आत्मयाथात्म्यमपि स्वाध्यायार्थ इति तस्य चास्य च नातिप्रकर्षः । 'तस्मादज्ञानसम्भूतं' [४।४२]इत्यध्यायोपसंहारश्लोके च ज्ञानासिना संशयं छित्वा 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ' [४।४२] इति युद्धोत्साहविधानेन कर्मयोगस्तदन्तर्गतज्ञानं च व्यक्तं प्रतीयते न हि ज्ञानयोगस्य श्रेयस्तया युद्धार्थमुत्तिष्ठेति सङ्गच्छते । 'सर्वं कर्म' इत्येतत्तु कर्मान्तर्गतज्ञानांशस्य प्राधान्यहेतुमात्रपरमेव, 'अपि चेदसि' [४।३६] 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' [४।३७] 'नहि ज्ञानेन सदृशम्' [४।३८] इत्यादेरपि न ज्ञानयोगैकान्त्यं, ज्ञानांशस्य पापनिवर्तकत्वरूपप्रशंसापरत्वात् । 'योगसन्न्यस्तकर्माणम्' [४।४१] इत्यत्रापि कर्मणः फलसङ्गादिराहित्यज्ञानाकारतापत्तिमात्रं विवक्षितम् । 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिम्' [४।२९] इति श्लोके तु कर्मयोगान्तर्गतज्ञानांशस्य साक्षात्काररूपपरिपाकावस्थोच्यते; 'तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति' [४।३८] 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' [४।३९] इत्यनन्तरमेव परिपाकावस्थाया विशदीकरणात् । एतेन 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यसि' [४।३५] इत्येतदपि निर्व्यूढम् ।

तदेतदखिलमभिप्रेत्याह— **उभयाकार** इति । कर्मणि कर्मयोग इत्यर्थः । अनुष्ठेयपरो वाऽत्र कर्मशब्दः । **द्रव्यमयादंशा**दिति । यज्ञशब्दोऽत्र यज्ञांशविषय इति भावः । सर्वाखिलशब्दयोर्विषयभेदादपौनरुक्त्यमाह **तदितरस्ये**ति । कर्मेतरत्किमन्यदिहोपादेयं ? कथं च कर्मणस्तस्य च ज्ञाने परिसमाप्तिः ? इत्यत्राह— **तदेवे**ति । **सर्वैः साधनै**रिति तदितरोपादेयप्रदर्शनम् । **प्राप्यभूत**मिति तत्र तत्परिसमाप्तिज्ञापनम् । कर्मणस्तत्र परिसमाप्तिं विवृणोति— **तदेवाभ्यस्यमान**मिति । अवधारणेन साध्यसाधनभावोऽवस्थाभेदमात्रनिबन्धन इत्यभिप्रेतम् । एतेन कर्मणः स्वान्तर्भूतज्ञाने परिसमाप्तिः । साक्षात्कारलक्षणसाध्यदशाविवक्षयेत्युक्तं भवति ॥ ३३ ॥

**५ आ. मा. भा.—** अखिलमुपासनाद्यङ्गयुक्तम् । ज्ञानफलमेवेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** 'सर्वं कर्म' इत्युक्तत्वात् अखिलमिति पुनरुक्तिरित्यत आह- **अखिलमि**ति । कर्मसमृद्ध्यार्थान्युपासनानि वेद एवोच्यन्ते । खिलं सशेषं न भवतीति अखिलमित्यर्थः । 'ज्ञाने परिसमाप्यते' इत्यस्य ज्ञाने जाते न कर्म कार्यमित्यन्यथाप्रतीतिनिवारणाय तात्पर्यमाह— **ज्ञाने**ति । परिसमाप्तिः सम्पूर्णता सफलता, सा च ज्ञाने सतीति सन्निधानाज्ज्ञानलक्षणेनैव फलेनेति भावः ॥ ३३ ॥

**७ ह. पै. भा.—** श्रेयानिति । ज्ञाननिर्वृत्तो यज्ञो ज्ञानयज्ञः । मनोनियमरूपत्वेन परमात्मसम्बोधस्य प्रत्यासन्नरूपत्वात् । सर्वं क्रियानुरूपमुपासनानुरूपं च । ज्ञाने परमात्मसम्बोधे परिसमाप्यते विलीयते, विलयनं गच्छतीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**८ वे. ब्र. गि.—** उक्तेषु यज्ञेषु को यज्ञः श्रेष्ठः? इत्याकाङ्क्षायामाह— **श्रेयानि**ति । अत्र द्रव्यमयाद्यज्ञादित्येतज्ज्ञानयज्ञातिरिक्तसर्वकर्मयज्ञोपलक्षणार्थम्, 'सर्वं कर्म इति' वाक्यशेषात् । कर्मयज्ञापेक्षया ज्ञानयज्ञः श्रेयान्प्रशस्ततरः; यस्मात् सर्वं अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकं श्रौतम्, अखिलं निरवशेषमौपासनादिकं स्मार्तं च कर्म । यद्वा सर्वमिति कर्मकाण्डोक्तमशेष-

मग्निहोत्राद्यात्मकम्, अखिलमित्युपासनाकाण्डोक्तमनवशेषमुपासनात्मकं च कर्म, ज्ञाने ब्रह्मात्मैक्यसाक्षात्कारे परिसमाप्यते अन्तर्भवति ज्ञानापेक्षितचित्तशुद्धिसम्पादनेन ज्ञाने पर्यवस्यति, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति" [बृ. उ. ४।४।२२] इत्यादिश्रुतेः। अतः प्राधान्याज्ज्ञानयज्ञ एव श्रेयानित्यर्थः। 'पार्थ!' इत्यनेनैव सम्बोधनसिद्धावपि 'परन्तप!' इत्यनेन यथा शत्रुसन्तापकतया त्वमखिलेष्वपि पार्थेषु मुख्यः, तथा ज्ञानयज्ञोऽपि संसाराख्यशत्रुसन्तापकतया सर्वयज्ञेषु मुख्य इति व्यज्यते ॥ ३३ ॥

९ व० त० दी०— सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो ब्रह्मात्मकत्वज्ञानयज्ञस्य श्रेष्ठतामाह— श्रेयानिति। साङ्ख्ययोगयोरेकार्थरूपो ब्रह्मात्मकत्वज्ञानयज्ञोऽन्यतः श्रेष्ठः यतस्तत्राखिलं फलसहितं सर्वं कर्म परिसमाप्यते अन्तर्भवति "सर्वं तदभिसमेति, यत्किञ्चित्प्रजाः साधु कुर्वन्ति (साध्वकुर्वत)" [छां. उ. ४।१।४] इति श्रुतेः॥ ३३ ॥

१० पु. अ. त.— ननु ममैतत्फलानभिलाषित्वादाज्ञया लोकसङ्ग्रहार्थं कर्त्तव्यानां तेषां ज्ञानेन किं फलं? इत्यत आह— श्रेयानिति। हे परन्तप ज्ञानयोग्य! ज्ञानाभावे भगवदीयस्य निषिद्धप्रकारेण स्वर्गादिफलकत्वेन क्रियमाणस्यानुचितत्वात् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः ज्ञानात्मको ज्ञानेन वा यज्ञः श्रेयान् स उत्तम इत्यर्थः। किञ्च द्रव्यमयो यज्ञः पूर्णत्वाभावादपि नोत्तमः, ज्ञानमयस्तु सम्पूर्णो भवतीत्याह— सर्वमिति। हे पार्थ! सर्वं कर्म ज्ञाने अखिलं पूर्णं परिसमाप्यते पूर्णं मत्समीपं भवतीत्यर्थः॥ ३३ ॥

११ नी० भा० दी०— यदर्थमेते यज्ञा उपन्यस्तास्तं ज्ञानयज्ञं स्तौति— श्रेयानिति। द्रव्यं बाह्यमाभ्यन्तरं च देहेन्द्रियादि तत्साध्यात् द्रव्यमयात् यज्ञात् ज्ञानयज्ञः निश्शेषवाङ्मनःकायप्रवृत्त्युपरमात्मकः श्रेयान् प्रशस्तवरः। ईयसुन्प्रत्ययेन तेषामपि प्रशस्ततरत्वं द्योत्यते। तत्र हेतुः सर्वमिति। कर्म कर्मफलं सर्वं अखिलं सर्वाङ्गोपसंहारयुक्तं ज्ञाने परिसमाप्यते अन्तर्भवति। "यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेवैनं सर्वं तदभिसमेति यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति यस्तद्वेद यत्स वेद" [छां. उ. ४।१।४] इति॥ ३३ ॥

ज्ञानप्राप्त्युपायस्तत्फलं च [ ३४—३९ ]

## तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
## उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ ३४ ॥

**१ शां. भा.— तदेतद्विशिष्टं ज्ञानं तर्हि केन प्राप्यते? इत्युच्यते— तद्विद्धीति। तद्विद्धि विजानीहि येन विधिना प्राप्यत इति। आचार्यानभिगम्य प्रणिपातेन— प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारस्तेन, 'कथं बन्धः? कथं मोक्षः? का विद्या? का चाविद्या?' इति परिप्रश्नेन,**

---

१ अभिनवगुप्तपादाः— "तव ज्ञानिनो निजा एव संवित्तिविषयानुगृहीता इन्द्रियविशेषाः तत्त्वं उप समीपे देक्ष्यन्ति प्रापयिष्यन्ति। तथा हि ते तत्त्वमेव दर्शयन्तीति तत्त्वदर्शिनः। उक्तं हि–'योग एव योगस्योपाध्यायः' '(यो.व्यासभाष्ये) ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' (यो.सू. १।४८) इति। अन्ये ज्ञानिनः पुरुषा इति व्याख्यायमाने भगवान्स्वयमुपदिष्टवांस्तदसत्यमित्युक्तं स्यात्' इत्याहुः॥ **हंसयोगिनस्तु श्लोकमिमम्**— शिष्या हि त्रिविधाः— प्रणिपतनपराः, परिप्रश्नपराः, सेवापराश्चेति। तत्र ये प्रणिपातनपराः 'शिष्यस्तेऽहम्' (गी. २।७) इति समुपक्रम्य उत्तरोत्तरजिज्ञासितार्थविशेषवैखरीझरीसमवगाढमानसाः परिमृदितसहजनितस्वार्थाग्रहदोषगन्धा असकृत्तदनुगुणाचार्यवर्यसमुपदिष्टार्थविशेषवेदिनोऽपि 'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव' (गी. १८।७३) इत्युपसंहृत्य स्वस्वभावस्वरूपसमुचितं स्वधर्ममनुतिष्ठन्ति, यथा तेषां प्रतिनिधिरर्जुनः। ये पुनरन्ये विदितान्यसर्वशास्त्रतत्त्वार्था अपि अनाम्नातप्रकृतयोगब्रह्मविद्यातत्त्वार्थाः परिप्रश्नपुरस्सरं महीयसो ब्रह्मविद्यानिष्ठादाचार्यात् प्रकृतविद्योपयोगि दिव्यं चक्षुः सम्प्राप्य ब्रह्मविद्यां समधिगम्यापि प्रवृत्तिपराशुद्धगत्याविष्टाः प्राकृतदेहसम्बद्धानां पुत्रादीनां दौरात्म्यं च सात्म्यमनुमन्वते, यथा तेषां प्रतिनिधिर्धृतराष्ट्रः। ये चापरे सकलब्रह्मविद्यातत्त्वार्थजिज्ञासवोऽपि स्वयमप्रयतमानसाः 'यमेवैष वृणुते' (कठो. १।२।२३) इत्यादिश्रुत्यानुगुण्येन 'मार्जारकिशोरी' न्यायेन च स्वस्मिन् स्वस्वभावस्वरूपानुरूपधर्मानुष्ठानेन शुद्धं ब्रह्म समुपासते, यथा तेषां प्रतिनिधिर्विदुरः; इत्यभिप्रायेण त्रिविधान् शिष्यधर्मान् तथाऽऽचार्यधर्मांश्च सँल्लक्ष्य विवृण्वते। आचार्यविशेषणप्रयोजनमाह **वामनः**—

शास्त्रज्ञा एव केचिद्विदलितविशयं तन्वतेऽद्वैतवादं पृष्टास्ते किन्तु साक्षादनुभवविषयं मूकभावं भजन्ते।
शास्त्रज्ञानं विनान्ये त्वनुभवमचलं बिभ्रतेऽपास्तबन्धाः किन्त्वन्तेवासिनां ते न विशयविसरं क्षोतुमद्धा क्षमन्ते॥
शास्त्राण्यधीत्यानुभवं भजन्तो ये ज्ञानिनस्तत्त्वदृशश्च सन्तः। गुरुत्वमर्हन्ति त एव साक्षादित्याह देवोऽत्र विशेषणाभ्याम्॥ **—अ. गी.**।

सेवया गुरुशुश्रूषया, एवमादिना प्रश्रयेणाऽऽवर्जिता आचार्या उपदेक्ष्यन्ति कथयिष्यन्ति ते ज्ञानं यथोक्तविशेषणं ज्ञानिनः ज्ञानवन्तोऽपि केचिद्यथावत्तत्त्वदर्शनशीलाः, अपरे न। अतो विशिनष्टि—तत्त्वदर्शिन इति। ये सम्यग्दर्शिनस्तैरुपदिष्टं ज्ञानं कार्यक्षमं भवति, नेतरदिति भगवतो मतम् ॥३४॥

२ आ. शां. व्या.— यद्येवं प्रशस्यतरमिदं ज्ञानं तर्हि केनोपायेन तत्प्राप्तिः? इति पृच्छति— तदेतदिति। ज्ञानप्राप्तौ प्रत्यासन्नमुपायमुपादिशति— उच्यत इति। तद्विज्ञानं गुरुभ्यो विद्धि, गुरवश्च प्रणिपातादिभिरुपायैरावर्जितचेतसो वदिष्यन्तीत्याह- तद्विद्धीति। उपदेष्टृत्वमुपदेशकर्तृत्वं परोक्षज्ञानमात्रेण न भवतीत्याह— उपदेक्ष्यन्तीति। 'तत्' इति प्रेप्सितं ज्ञानसाधनं गृह्यते, येन विधिनेति शेषदर्शनात्। यद्वा येनाऽऽचार्यावर्जनप्रकारेण तदुपदेशवशादपेक्षितं ज्ञानं लभ्यते तथा तज्ज्ञानमाचार्येभ्यो लभस्वेत्यर्थः। तदेव स्फुटयति— आचार्यानिति। एवमादिनेत्यादिशब्देन शमादयो गृह्यन्ते, एवमादिना विद्धीति पूर्वेण सम्बन्धः। उत्तरार्धं व्याचष्टे— प्रश्रयेणेति। प्रश्रयो भक्तिश्रद्धापूर्वको निरतिशयो नतिविशेषः, यथोक्तविशेषणं पूर्वोक्तेन प्रकारेण प्रशस्यतममित्यर्थः। विशेषणस्य पौनरुक्त्यपरिहारार्थमर्थभेदं कथयति— ज्ञानवन्तोऽपीति। 'ज्ञानिनः' इत्युक्त्वा पुनः 'तत्त्वदर्शिनः' इति ब्रुवतो भगवतोऽभिप्रायमाह— ये सम्यगिति। बहुवचनं चैतदाचार्यविषयं बहुभ्यः श्रोतव्यं बहुधा चेति सामान्यन्यायाभ्यनुज्ञानार्थं, न त्वात्मज्ञानमधिकृत्याऽऽचार्यबहुत्वं विवक्षितं, तस्य तत्त्वसाक्षात्कारवदाचार्यमात्रोपदेशादेवोदयसम्भवात् ॥ ३४ ॥

३ रा. भा.— तदात्मविषयं ज्ञानम् "अविनाशि तु तद्विद्धि" [ २।१७ ] इत्यारभ्य 'एषा तेऽभिहिता' [ २।३९ ] इत्यन्तेन मयोपदिष्टम्, मद्युक्तकर्मणि वर्तमानस्त्वं विपाकानुगुणं कालेकाले प्रणिपातपरिप्रश्नसेवादिभिर्विशदाकारं ज्ञानिभ्यो विद्धि, साक्षात्कृतात्मस्वरूपास्तु ज्ञानिनः प्रणिपातादिभिः सेविता ज्ञानबुभुत्सया परितः पृच्छतस्तवाशयमालक्ष्य ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति ॥ ३४ ॥

४ वे. ता. चं.— उपदिष्टमेव ज्ञानं तत्तद्विपाकदशायां प्रतिक्षणवैशद्याय पुनः पुनर्ज्ञानिभ्यः श्रोतव्यमित्युच्यते— 'तद्विद्धि' इति श्लोकेन। तदिति परोक्षवन्निर्देशः प्रकरणप्रारम्भोक्तप्रकारपरामर्शीति व्यञ्जनाय अविनाशि इत्यादि मयोपदिष्टमित्यन्तमुक्तम्। इतः पूर्वमनुपदिष्टस्य ज्ञानस्य कस्यचिच्छ्रोतव्यत्वं नात्रोच्यत इति भावः। तद्युक्तकर्मणि वर्तमानस्त्वमिति विपाकहेतुः। विपाकानुगुणं कालेकाल इति प्रश्नावसरः। अदृष्टद्वारा प्रणिपातादेर्विपाकानुगुण्यं वा विवक्षितम्। "गुरुमेवाभिगच्छेत्" [ मुं.उ. १।२।१२ ] इत्यादिविधिप्राप्तं चैतत्। प्रणिपातादेरितरेतरयोगो विवक्षित इति व्यञ्जनाय प्रणिपातपरिप्रश्नसेवाभिः इति द्वन्द्वसमासेन व्याख्या। 'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्' [ वि. पु. ६।६।२ ] इत्यादीनि शास्त्राणि कालेकाल इति वीप्सया द्योतितानि। विशदाकारमिति पुनः श्रवणस्य नैष्फल्यपरिहारः। ननु किमिदानीं भगवता ज्ञानमविशदमुपदिष्टं? किंवा बीभत्सुना अविशब्देन ज्ञातं, येनैतदुच्यते? इत्येतदपि विपाकानुगुणशब्देन परिहृतम्; विशदमेवोपदिष्टं भगवता, अवधानादिमांश्च अर्जुनः, तथाप्यनादिकर्मोपार्जितैरनन्तैः पापकवाटैरन्तःकरणरूपस्य तत्त्वज्ञानप्रसरद्वारस्योपरुद्धत्वादिदानीं नातिवैशद्यं जायते; 'ये तु त्वदङ्घ्रिसरसीरुहभक्तिहीनास्तेषाममीभिरपि नैव यथार्थबोधः। पित्तभ्रमञ्जनमनाप्नुषि जातु नेत्रे नैव प्रभाभिरपि शङ्खसितत्वबुद्धिः' [ वै. स्त. १६ ] इतिवत्, यथावस्थितकर्मयोगनिरस्तेषु पापेषु विशदज्ञानार्हावस्था स्यात्, तदा च पूर्वोपदिष्टस्य सामान्यतो ज्ञातस्यार्थस्य ज्ञातांशसंवादाय अज्ञातांशज्ञानाय विस्मृतप्रतिबोधनाय च पुनश्श्रवणं कार्यमिति। अयमर्थोऽनुगीतावृत्तान्तेन व्यक्तो भविष्यति। ज्ञानिनः, अहं वा, अन्यो वेति भावः।

'तत्त्वदर्शिनः' इति विशेषणं तेषामेतज्ज्ञानोपदेष्टृत्वाधिकारं सूचयतीति व्यञ्जनाय साक्षात्कृतात्मस्वरूपा इत्युक्तम्। तत्त्वदर्शिभिरपि 'नासंवत्सरवासिने प्रब्रूयात्, न विनयादिरहिताय च वक्तव्यम्' इत्यादिविधिप्रयुक्तविलम्बोऽनतिलङ्घनीय इत्याह— प्रणिपातादिभिरिति। "तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्" इत्युपक्रम्य "प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्" [मुं.उ.१।२।१३] इति श्रुतेर्विधिपरत्वं च तत्त्वदर्शित्वाज्जानन्तस्ते यथावदुपदेक्ष्यन्तीति भावः। प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातः प्रश्नपूर्वाङ्गभूतः प्रणामोपसङ्ग्रहादिर्विवक्षितः। परिप्रश्नः स्वबुद्धिमत्तातिरेकगूहनेनाजानत इव साक्षात्प्रष्टव्यानभिधानेन तदनुबन्धिविषयः प्रश्नः। प्रतिवादिवत्कुयुक्तिभिः प्रत्यवस्थानं न कर्तव्यमिति भावः। सेवा तु भक्तिश्चिरानुवर्तनं वा ॥ ३४ ॥

५ आ. मा. भा.—इदानीमपि ज्ञान्येव। तथाऽप्यभिभवान्मोहः। मा तूक्ता ॥ ३४ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'तद्विद्धि'इत्युक्तत्वात् इदानीमर्जुनो न ज्ञानीति प्रतीतिं निवारयति— इदानीमपीति। 'तद्विद्धि' इत्यधिकज्ञानार्थमुक्तमिति भावः। ज्ञानी चेत्तर्हि 'यज्ज्ञात्वा' [ ४।३५ ] इति तस्य मोहः कथमुच्यते? इत्यत आह— तथापीति। अभिभवात् ज्ञानस्य। अर्जुनस्य ज्ञानित्वे सिद्धे भवेदेतत्। तत्रैव किं प्रमाणं? इत्यत आह— मा त्विति ॥ ३४ ॥

७ ह. पै. भा.— एवम्भूतं परमात्मानं कथमहं जानीयाम्? इत्यत्राऽऽह— तदिति । तज्ज्ञानरूपं ब्रह्म विद्धि विजानीहि । प्रणिपातेन प्रकर्षेण नीचैर्दण्डवत्पतनं प्रणिपातो नमस्कारविशेषस्तेन । परिप्रश्नेन परितः सर्वतोऽवलोक्य गुरोश्चित्तप्रसादावगत्या प्रश्नस्तेन च । सेवयेच्छानुवर्तनेन । एवं सत्युपदेक्ष्यन्ति ते तव ज्ञानं परमार्थसम्बोधनस्वरूपं ब्रह्म ज्ञानिनो ज्ञानवन्तस्तत्त्वदर्शिनः साक्षात्कृतपरमार्थाः ॥ ३४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एतादृशज्ञानावाप्तावुपायः कः? इत्यत्राह— तदिति । तत् सर्वकर्मफलभूतं ज्ञानम्, आचार्यानभिगम्य तेषां प्रणिपातेन, प्रकर्षेण नीचैः पतनं प्रणिपातो दीर्घनमस्कारः । ततः परिप्रश्नेन, परितः सर्वतोऽवलोक्य गुरोः प्रसादावगत्या प्रश्नः 'कथं बन्धः, कथं मोक्षः, का विद्या, का चाविद्या?' इति । ततः सेवया उपदेशावसरानुवर्तनेन च प्राप्यत इति विद्धि । एवमावर्जिताः सन्तो ज्ञानिनः शास्त्रनिपुणाः तत्त्वदर्शिनः अपरोक्षानुभवसम्पन्नाश्चाचार्याः ते तुभ्यं ज्ञानं उपदेक्ष्यन्ति उपदेशेन सम्पादयिष्यन्ति । अनुभवनिष्ठैरेवोपदिष्टं कार्यक्षमम्, न तु केवलशास्त्रज्ञैरिति दर्शयितुं 'तत्त्वदर्शिनः' इति विशेषणम्; "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" [मुण्ड. १।२।१२] इति श्रुतेः । अत्र श्रोत्रियमधीतवेदं ब्रह्मनिष्ठं ब्रह्मसाक्षात्कारिणमिति हि व्याख्यातम् । 'तत्त्वदर्शिनः' इति बहुवचनं पूजायाम्, न त्वाचार्यबहुत्वाभिप्रायेण, एकस्मादेव तत्त्वदर्शिनो ज्ञानोदये सत्यन्याभिगमनवैयर्थ्यात् । उपदेक्ष्यन्तीति च स्वयमुपदिशत्येव भगवति पारोक्ष्यनिर्देशः ॥ ३४ ॥

९ व० त० दी०— तत्र साधनमाहुः— तद्विद्धीति । प्रथमं प्रणिपातेन कायिकेनामानित्वसाधनेन, ततश्च वाचिकेन महदुपसदनं गत्वा प्रणयकृतेन, परिप्रश्नेन आन्तरीयेण सेवनेन च । तेषां वा सेवनेनैतत्कृतेन त्वं तत्प्राप्नुहि इति पृथगेव मुख्यं साधनं 'स्यान्महत्सेवया' इति वाक्यात् । ततस्ते तुभ्यं उपदेशेन तज्ज्ञानं सम्पादयिष्यन्ति तत्त्वदर्शिनः ॥ ३४ ॥

१० पु. अ. त.— तज्ज्ञानं कथं स्यात्? इत्यत आह— तदिति । तज्ज्ञानं ज्ञानिनो मत्स्वरूपविदः प्रणिपातेन नम्रतया, परिप्रश्नेन जिज्ञासुतया प्रश्नेन, सेवया भगवद्बुद्ध्या, ते तव ज्ञानिनः मत्स्वरूपविदः तत्त्वदर्शिनः योग्यानामुपदेशदातारमहं प्रसन्नो भवामीति पश्यन्त्यतो ज्ञानमुपदेक्ष्यन्ति ॥ ३४ ॥

११ नी० भा० दी०— तद्विद्धीति । ज्ञानिनः ग्रन्थज्ञाः, तत्त्वदर्शिनः अनुभववन्तः । ज्ञानं ब्रह्म । स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ३४ ॥

**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव! ।**
**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥ ३५ ॥**

१ शां. भा.— तथा च सतीदमपि समर्थं वचनम्— यदिति । यज्ज्ञात्वा यज्ज्ञानं तैरुपदिष्टमधिगम्य प्राप्य पुनर्भूयो मोहमेवं यथेदानीं मोहं गतोऽसि पुनरेवं न यास्यसि हे पाण्डव ! किञ्च येन ज्ञानेन भूतान्यशेषेण ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि द्रक्ष्यसि साक्षादात्मनि प्रत्यगात्मनि मत्संस्थानीमानि भूतानीति, अथो अपि मयि वासुदेवे परमेश्वरे चेमानीति क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धं द्रक्ष्यसीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

२ आ. शां. व्या.— विशिष्टैराचार्यैरुपदिष्टे ज्ञाने कार्यक्षमे प्राप्ते सति समनन्तरवचनमपि योग्यविषयमर्थवद्भवतीत्याह— **तथा चेति** । अतस्तस्मिन्विशिष्टे ज्ञाने त्वदीयमोहापोहहेतौ निष्ठावता भवितव्यमिति शेषः । तत्र निष्ठाप्रतिष्ठायै तदेव ज्ञानं पुनर्विशिनष्टि— **येनेति** । यज्ज्ञात्वेत्युक्ते ज्ञाने ज्ञानायोगादित्याशङ्क्य प्राप्त्यर्थत्वमधिपूर्वस्य गमेरङ्गीकृत्य व्याकरोति— **अधिगम्येति** । इतश्चाऽऽचार्योपदेशलभ्ये ज्ञाने फलवति प्रतिष्ठावता भवितव्यमित्याह— **किञ्चेति** । जीवे चेश्वरे चोभयत्र भूतानां प्रतिष्ठितत्वप्रतिनिर्देशे भेदवादानुमतिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **क्षेत्रज्ञेति** । मूलप्रमाणाभावे कथं तदेकत्वदर्शनं स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वेति** ॥ ३५ ॥

३ रा. भा.— आत्मयाथात्म्यविषयस्य ज्ञानस्य साक्षात्काररूपस्य लक्षणमाह— यदिति । यज्ज्ञानं ज्ञात्वा पुनरेवं देहाद्यात्माभिमानरूपं तत्कृतं ममताद्यास्पदं च मोहं न यास्यसि, येन च देवमनुष्या-

द्याकारेणानुसंहितानि सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव द्रक्ष्यसि, यतस्तवान्येषां च भूतानां प्रकृतिवियुक्तानां ज्ञानैकाकारतया साम्यम्, प्रकृतिसंसर्गदोषविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपं सर्वं सममिति च वक्ष्यते 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' [ ५।१९ ] इति। अथो मयि सर्वभूतान्यशेषेण द्रक्ष्यसि, मत्स्वरूपसाम्यात् परिशुद्धस्य सर्वस्यात्मवस्तुनः ; 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः' [ १४।२ ] इति हि वक्ष्यते ; तथा "तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [ मुं. उ. ३।१।३ ] इत्येवमादिषु नामरूपविनिर्मुक्तस्यात्मवस्तुनः परस्वरूपसाम्यमवगम्यते; अतः प्रकृतिविनिर्मुक्तं सर्वमात्मवस्तु परस्परं समं सर्वेश्वरेण च समम् ॥ ३५ ॥

४ वे. ता. चं॰— कर्मान्तर्भूतस्यात्मयाथात्म्यज्ञानस्य विपाकानुगुणं कालेन वेदनीयस्य साक्षात्कारावस्थायाश्चिह्नं 'यज्ज्ञात्वा' इत्यनेन श्लोकेनोच्यत इत्याह— **आत्मयाथात्म्येति**। एवमित्यस्यार्थो— देहेत्यादिनोक्तः। 'अशेषेण' इत्यस्य तात्पर्यार्थमाह— **देवमनुष्येत्यादि**। तेन 'विद्याविनयसम्पन्ने' [ ५।१८ ] इत्यादि वक्ष्यमाणं स्मारितम्। भूतशब्देनाचित्संसृष्टक्षेत्रज्ञा विवक्षिताः। तेन देवाद्याकारानुसन्धाने हेतुर्दर्शितः। 'आत्मन्यथो मयि' इति सप्तम्योः सामानाधिकरण्यभ्रमव्युदासाय **स्वात्मन्येवेत्युक्तम्**। एवंविधस्य प्राकरणिकस्य स्वात्मविषयत्वात् 'अथो मयि' इत्यनेन पृथग्भावसूचनाद्वक्ष्यमाणसमदर्शित्वविपाकक्रमाच्च व्यधिकरणतैवोचितेति भावः। **सर्वाणि भूतानि स्वात्मन्येव द्रक्ष्यसि**— प्रकृतिसंसर्गेण विषमतया प्रतिपन्नानि भूतानि परिशुद्धतया ज्ञाते स्वात्मनि निदर्शनभूते स्थालीपुलाकादिन्यायेन द्रक्ष्यसीत्यर्थः। आधाराधेयभावाद्यर्थान्तरभ्रमव्युदासाय प्रकृतार्थे हेतुमाह— **यतस्तवेति**। **प्रकृतिवियुक्तानामिति**। औपाधिकवैषम्यनिगमावस्थायामिति भावः। 'पुमान्न देवो न नरः' [ वि. पु. २।१३।९८ ] 'नायं देवो न मर्त्यो वा' इत्याद्यनुसारेणाह— **ज्ञानैकाकारतयेति**। स्वात्मनि सर्वानुसन्धानहेतुतयोक्तं साम्यं परस्ताद्वक्ष्यमाणत्वादिहानुक्तमित्यभिप्रायेणाह— **प्रकृतिसंसर्गेति**। **अथो मयीत्यादि**— मन्निदर्शनेन स्वात्मानं परांश्च द्रक्ष्यसीत्यर्थः। अनीश्वराणां कर्मवश्यानां कथमीश्वरनिदर्शनेनानुसन्धानं? इत्यत्राह— **मत्स्वरूपसाम्यात्परिशुद्धस्येति**। हेतुतयोक्तं ईश्वरसाम्यमपि परस्ताद्वक्ष्यत इति नेहोक्तमित्याह— **इदमिति**। परिशुद्धात्मनः परमात्मसाम्ये श्रुतिरप्यस्तीत्याह— **तथेति**। पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः पुण्यपापविगमात्तत्कृतप्रकृतिसंसर्गतत्प्रयुक्तक्लेशादिरहितः। **नामरूपविनिर्मुक्तस्येति**पदेन "तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः" [ मुं. उ. ३।२।८ ] इति तत्रत्यं वाक्यान्तरमपि स्मारितम्। ईश्वरसाम्यस्य क्वाचित्कताशङ्कां निरस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धं हेतुं सङ्कलय्य दर्शयति— **अत** इति। एतेन श्रुत्यादिसिद्धमीश्वरसाम्यमपि जीवानां परस्परसाम्ये हेतुरित्यप्युक्तं भवति। एतेन क्षेत्रज्ञानां परस्परमीश्वरेण चैक्यमिहोच्यत इति वदन्तः प्रत्युक्ताः। ननु स्वात्मनि सर्वेश्वरे च सर्वेषामाधेयतया दर्शनमिह विधीयत इति प्रतीयते; मैवं स्वात्मनः सर्वाधारत्वायोगात्। परमात्मपर्यन्तत्वबुद्ध्योपपद्यत इति चेत्, न, जीवसमाधेः प्रकरणार्थत्वात्। अतः स्वात्मनि परेषां दर्शनं सर्वसमानाकारानुसन्धानम् ॥ ३५ ॥

५ आ. मा. भा.— येन ज्ञानेन मय्यात्मभूते सर्वभूतान्यथो तस्मादेव मोहनाशात्पश्यसि ॥ ३५ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'येन भूतानि' इत्यस्य येन मोहेन सर्वाणि भूतान्यात्मनि स्वस्मिन्नथो मयि च द्रक्ष्यसीत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— **येनेति**। आत्मभूते सर्वान्तर्यामिणि। द्रक्ष्यसीत्येतत्पश्यसीति व्याख्यातं; इदानीमपि ज्ञान्येवेति ज्ञापयितुम् ३५

७ ह. पै. भा.— तज्ज्ञानं विशिनष्टि— यदिति। यज्ज्ञानरूपं ब्रह्म ज्ञात्वा पुनः पश्चादेवं मोहं व्यामोहं न यास्यसि न गन्तासि, तज्ज्ञानमुपदेक्ष्यन्तीत्यर्थः। पुनरपि विशिनष्टि— येनेति। येन ज्ञानेन भूतानि कार्यकरणसङ्घातानि भूतानि अशेषेण द्रक्ष्यसि उपलक्षयिष्यसि। आत्मनि प्रत्यगात्मनि, मयीश्वरे वासुदेवात्मनि ॥ ३५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं सम्पादितस्य ज्ञानस्य फलमाह सार्धैस्त्रिभिः— यदिति। यत् ज्ञानं ज्ञात्वा 'पाकं पचति' इतिवदेकस्यैव धातोः सामान्यविवक्षया पुनः प्रयोगः ; प्राप्येति यावत्। एवं इदानीमिव मोहं बन्धुवधादिनिमित्तं भ्रमं न पुनर्यास्यसि। तत्र हेतुः— येन ज्ञानेन भूतानि भीष्मद्रोणादीनि अथो अपि च अशेषेण कार्त्स्न्येन सर्वं जगदपि आत्मनि त्वयि द्रक्ष्यसि 'मदविद्याकल्पितोऽयं भीष्मादिप्रपञ्चो मद्व्यतिरेकेण नास्ति' इत्युपलप्स्यसे। ननु परब्रह्मणि त्वयि खलु प्रपञ्चः कल्पितः; तत्राह— **मयीति**। मद्रूपे त्वदात्मनीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

९ व॰ त॰ दी॰— ज्ञाने फलमाह— यज्ज्ञात्वेति सार्धैस्त्रिभिः। यत्साङ्ख्ययोगयोरेकार्थरूपं सर्वं ब्रह्मात्मज्ञानं प्राप्य येन च भूतानि चिदंशभूताः आत्मनि पुरुषे चेतने मयि च द्रक्ष्यसि। "यदा भूतपृथग्भावमेकस्थं"

[ १३।३० ] इति वक्ष्यति चाग्रे । अशेषेणेति पदेन प्रकृतिकार्यं देहादिकमपि तत्कारणे च द्रक्ष्यसि । तमात्मानं वा मयि परब्रह्मणि मदंशभूतत्वात्समष्टिपुरुषस्य ॥ ३५ ॥

१० पु. अ. त.— एवमुपदिष्टज्ञानेन मोहो न भवत्येवेत्याह— यदिति । हे पाण्डव! यत् उपदिष्टज्ञानात्मकं मत्स्वरूपं ज्ञात्वा पुनरेवं भूयः प्रश्नादिरूपं ( मोहं ) न यास्यसि न प्राप्स्यसि । अथो एतदनन्तरं मोहाभावानन्तरं येन ज्ञानेन भूतानि कारणरूपाणि जीवात्मकानि च अशेषेण जगद्रूपेण आत्मनि मयि आत्मरूपे मयि द्रक्ष्यसि ॥ ३५ ॥

११ नी० भा० दी०— यज्ज्ञात्वेति । यत् चिन्मात्रस्वरूपं ब्रह्म ज्ञात्वा एवमिदानीमिव पुनर्मोहं न यास्यसि, अथो अपि च येन ज्ञानेन भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि आत्मनि मयि त्वम्पदलक्ष्यार्थादनन्यभूते परमेश्वरे द्रक्ष्यसि; नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेति प्रतीचोऽन्यस्य द्रष्टुर्निषेधात् । (शां.) भाष्ये तु साक्षादात्मनि मत्स्थानीमानीति द्रक्ष्यसि, अथो अपि मयि वासुदेवे परमेश्वरे चात्मनीति क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धं द्रक्ष्यसीत्यर्थ इति ॥ ३५ ॥

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।**
**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥**

**१ शां. भा.**— किञ्चैतस्य ज्ञानस्य माहात्म्यम्— अपीति । अपि चेदसि पापेभ्यः पापकृद्भ्यः सर्वेभ्योऽतिशयेन पापकृत्पापकृत्तमः सर्वं ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानमेव प्लवं कृत्वा वृजिनं वृजिनार्णवं पापं सन्तरिष्यसि । धर्मोऽपीह मुमुक्षोः पापमुच्यते ॥ ३६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानस्य प्रकारान्तरेण प्रशंसां प्रस्तौति— **किञ्चेति** । पापकारिभ्यः सर्वेभ्यः सकाशादतिशयेन पापकारित्वमेकस्मिन्नसम्भावितमपि ज्ञानमाहात्म्यप्रसिद्ध्यर्थमङ्गीकृत्य ब्रवीति— **अपि चेदिति** । ब्रह्मात्मैक्यज्ञानस्य सर्वपापनिवर्तकत्वेन माहात्म्यमिदानीं प्रकटयति— **सर्वमिति** । अधर्मे निवृत्तेऽपि धर्मप्रतिबन्धान्न ज्ञानवतोऽपि मोक्षः सम्भवतीत्याशङ्क्याऽऽह— **धर्मोऽपीति** । **इहे**त्यध्यात्मशास्त्रं गृह्यते ॥ ३६ ॥

**३ रा. भा.**— यद्यपि सर्वेभ्यः पापेभ्यः पापकृत्तमोऽसि । सर्वं पूर्वार्जितं वृजिनरूपं समुद्रमात्मविषयज्ञानरूपप्लवेनैव सन्तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं ज्ञानांशस्य प्राधान्यं विपाकानुगुणं कालेकाले वेदनीयत्वलक्षणं चोक्तम्, अथ तस्य विरोधिनिवर्तकत्वरूपं माहात्म्यमुच्यते— 'अपि चेत्' इतिश्लोकेन । चेच्छब्दपर्यायो यदिरपिश्च सहितौ यद्विषयौ तद्विषयावत्रापि चेदित्येताविति व्यञ्जनाय— **यद्यपीत्युक्तम्** । **पापकृत्तम**शब्दप्रतियोगित्वात्पापेभ्य इति शब्दः पापविशिष्टपुरुषविषयः, पापमात्रे वा; हेतौ पञ्चमी । ज्ञानप्लवेन सन्तरिष्यसीत्यनयोः सामर्थ्यात् **वृजिनरूपं समुद्रमिति** रूपितम् । समुद्रत्वानुगुणं सर्वशब्दोक्तमानन्त्यमनादिकालप्रवृत्तत्वेत्याद्यभिप्रायेणाह **पूर्वार्जितमिति** ॥ ३६ ॥

**५ आ. मा. भा.**— करणभूतं ज्ञानं स्तौति पुनः श्लोकत्रयेण ॥ ३६ ॥

१ प्लवतीति प्लवः 'प्लुङ् जलोपरिसर्पणे'(धा.पा. ९५८)पचाद्यच् । 'प्लवः काष्ठं करण्डवत्' इति **सज्जनः** । वृजिनं वर्जनीयम्, 'वृजी वर्जने' (धा. १०२९) 'वृजेः किच्च'(उ. २१४) इतीनच् । अत्र ज्ञाने प्लवत्वारोपः शाब्दः, वृजिनस्यार्णवत्वारोपस्त्वार्थः । 'न हि परधर्माः परत्र सम्भवन्ति' इति न्यायेन प्लवसन्तरणीयत्वस्यागाधसलिलाशयधर्मस्य वृजिनसम्बन्धित्वानुपपत्तेर्वृजिनस्य प्लवसन्तरणीयत्वं न साक्षात् सम्भवतीति तस्य तथात्वोपपत्त्यर्थमर्णवत्वेन निरूपणीयत्वादित्येकदेशविवर्तिरूपकम् । 'यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् । '(सा. द. १०।१०५ ) इति लक्षणात्, एवकारस्त्वसम्भावनाव्युदासार्थः । तथा च यद्यप्यत्र विषयितयोपात्तस्य प्लवस्य सागरतरणसमर्थत्वं लोकप्रत्यक्षात् 'तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् । ' ( र. वं. १।२ ) इति महाकविवचनाच्च न सम्भवति । तथापि विषयभूतज्ञानात्मतया तस्य वृजिनार्णवसन्तरणक्षमत्वं सूपपन्नमेव । प्लवः स्वायत्तसलिलसन्तरणसाधनत्वाद्विषयितयोपात्त इति 'परिणामः क्रियार्थश्चेद्विषयी विषयात्मना ।' (कु. नं. ६।२१) इतिलक्षितः परिणामालङ्कारो बोध्यः । 'दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन्वत्सपदं स्म यत्प्लवाः । ' इति भागवतमप्येव ( १०।१।५ ) सङ्गच्छते । परितः प्रसृतमपि कल्लोलमालाकुलं सलिलमस्पृष्ट्वैव यथा प्लवेन सन्तरति, तथाऽनुपलमुद्रेलत्क्रियमाणकर्मफलमस्पृष्ट्वैव ज्ञानेन तरतीति भावः । एतेन क्रियमाणस्याश्लेष उक्तः । सञ्चितस्य तु विनाशमुत्तरत्र वक्ष्यतीति ध्येयम् ।

—अविगीता ।

६ ज. प्र. दी.— 'येन' [४।३५] इति ज्ञानस्यैव निर्देश इति स्थापयन् 'अपि चेत्' इत्यादेः प्रतिपाद्यमाह—करणेति। येनेति करणतया निर्दिष्टमित्यर्थः। 'श्रेयान्'। [४।३३] इत्याद्यपेक्षया पुनरिति ॥ ३६ ॥

**७ ह. पै. भा.— आत्मनि च ज्ञानफलमाह— अपीति। अपि चेदसि भवसि सर्वेभ्यः पापकृद्भ्योऽतिशयेन पापकृत्पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव, प्लवतेऽनेनेति प्लवो जलतरणं, ज्ञानमेव प्लवो ज्ञानप्लवस्तेनैव वृजिनं पापं तरिष्यसि ॥ ३६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु पापप्रतिबन्धे जाग्रति कथमेवं दर्शनं स्यात्? तत्राह—अपीति। 'अपि चेत्' इत्यसम्भाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ। यद्यपि त्वय्यसम्भावितोऽयमर्थः, तथापि ज्ञानमाहात्म्यवर्णनायाभ्युपेत्योच्यते सर्वेभ्यः पापकृद्भ्योऽतिशयेन पापकृत्त्वमसि, तथापि सर्वं वृजिनं दुस्तरत्वेनार्णवसदृशं ज्ञानलक्षणप्लवेनैव सम्यगनायासेन तरिष्यसि ॥ ३६ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च अपि चेदिति। स्पष्टार्थः ॥ ३६ ॥

१० पु. अ. त.— तथा चायं भावः- भगवताऽग्रे पुष्टिमार्गरीत्योपदेशेन स्वानुभवः कारणीयस्तदुपदेशयोग्यार्थं सर्वत्र भगवद्भावात्मकज्ञानरूपः संस्कारः कर्त्तव्यः, स च साक्षात्स्वोपदेशेऽग्रे कार्यविलम्बः स्यादिति ज्ञानवाक्यानुसारेण स्वरूपपापार्थमुद्यतस्तद्भोगं विना किं ज्ञानेन स्यात्? इत्यत आह— अपीति। क्षत्रियाणां स्वयं धर्म एव; अपि चेत् यदि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृद्भ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः पापकृन्मुख्योऽसि, तथापि ज्ञानप्लवेनैव ज्ञानरूपोडुपेन तरणसाधनेन सर्वं वृजिनं पापं सर्वं पापं—सर्वपदेनार्णवरूपं- सन्तरिष्यसि सम्यक्प्रकारेणानायासेन तरिष्यसि पापविनिर्मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

११ नी० भा० दी०— अपि चेदिति। वृजिनं वृजिनार्णवम्। धर्मोऽपीह मुमुक्षोः पापमित्युच्यते ॥ ३६ ॥

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन!।**
**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥ ३७ ॥**

**१ शां. भा.— ज्ञानं कथं नाशयति पापं? इति सदृष्टान्तमुच्यते— यथेति। यथैधांसि काष्ठानि समिद्धः सम्यगिद्धो दीप्तोऽग्निर्भस्मसाद्भस्मीभावं कुरुते हेऽर्जुन! ज्ञानमेवाग्निर्ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा; निर्बीजीकरोतीत्यर्थः। न हि साक्षादेव ज्ञानाग्निः कर्माणीन्धनवद्भस्मीकर्तुं शक्नोति, तस्मात्सम्यग्दर्शनं सर्वकर्मणां निर्बीजत्वे कारणमित्यभिप्रायः। सामर्थ्याद्येन कर्मणा शरीरमारब्धं तत्प्रवृत्तफलत्वादुपभोगेनैव क्षीयते "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" [ छां. उ. ६।१४।१ ] अतो यान्यप्रवृत्तफलानि ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्कृतानि ज्ञानसहभावीनि चातीतानेकजन्मकृतानि च तान्येव सर्वाणि भस्मसात्कुरुते ॥ ३७ ॥**

२ आ. शां. व्या.— ज्ञाने सत्यपि धर्माधर्मयोरुपलम्भात् कुतस्ततो निवृत्तिः? इत्याशङ्क्य ज्ञानस्य धर्माधर्मनिवर्तकत्वं दृष्टान्तेन दर्शयितुमनन्तरश्लोकमवतारयति— ज्ञानमिति। योग्यायोग्यविभागेन निवर्तकत्वानिवर्तकत्वविभागमुदाहरति— यथेति। दृष्टान्तानुरूपं दार्ष्टान्तिकमाचष्टे— ज्ञानाग्निरिति। योग्यविषयेऽपि दाहकत्वमग्नेरप्रतिबन्धापेक्षयेति विवक्षित्वा विशिनष्टि— सम्यगिति। दार्ष्टान्तिकं व्याचष्टे— ज्ञानमेवेति। ननु ज्ञानं साक्षादेव कर्मदाहकं किमिति

---

१ अत्राह **वामनः**—

श्लोकद्वयेऽस्मिन्नाद्ये तु क्रियमाणेन पाप्मना। ज्ञानवान् दुस्तरेणापि न लिप्यत इतीरितम् ॥
ज्ञानाग्निना सञ्चितानां दाहश्चोक्तो द्वितीयके। प्रभावो द्विविधो द्वाभ्यां ज्ञानस्यैवं प्रदर्शितः ॥
केचिद्वदन्ति वृजिनं तरतीत्युदित्वा शङ्कामटङ्कयत चेतसि पङ्कजाक्षः।
तीर्णोऽपि नार्णव ऋणोति यथा विनाशं मन्वीत पापमपि कोऽप्यपटुस्तथेति ॥
अनवद्यमतः पद्यं द्वितीयमगदीदिदम्। ज्ञानाग्निनांहसां दाहो यत्र व्यक्तमुदीरितः ॥
एषोऽपि ह्यय एवार्थः किन्तूक्तत्वादावसङ्गतम्। समार्थयत सर्वज्ञः पश्चादिति विडम्बना ॥— इति।

भस्मसादिति 'अभिविधौ सम्पदा च' (अष्टा. ५।४।५३) इति कृयोगे सातिः। **नव्यास्त्वत्र** 'कर्माणीत्यस्य कर्मणां बन्धनमित्यर्थः' इत्याहुः। तदसत्, कर्मपदे लक्षणापत्तेः, एधोदृष्टान्तस्वारस्यभङ्गाच्च। —**अविगीता**।

नोच्यते ? निर्बीजीकरोति कर्मेति किमिति व्याख्यानम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**न हीति** । ज्ञानस्य स्वप्रमेयावरणाज्ञानापाकरणे सामर्थ्यस्य लोके दृष्टत्वादविक्रियब्रह्मात्मज्ञानमपि तदज्ञानं निवर्तयत्तज्जन्यकर्तृत्वभ्रमं कर्मबीजभूतं निवर्तयति, तन्निवृत्तौ च कर्माणि न स्थातुं पारयन्ति, न तु साक्षात्कर्मणां निवर्तकं ज्ञानमज्ञानस्यैव निवर्तकमिति व्याप्तेस्तदनिवृत्तौ पुनरपि कर्मोद्भवसम्भवादित्यर्थः । ज्ञानस्य साक्षात्कर्मनिवर्तकत्वाभावे फलितमाह— **तस्मादिति** । सम्यग्ज्ञानं मूलभूताज्ञाननिवर्तनेन कर्मनिवर्तकमिष्टं चेदारब्धफलस्यापि कर्मणो निवृत्तिप्रसङ्गाज्ज्ञानोदयसमकालमेव शरीरपातः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **सामर्थ्यादिति** । ज्ञानोदयसमसमयमेव देहापोहे तत्त्वदर्शिभिरुपदिष्टं ज्ञानं फलवदिति भगवदभिप्रायस्य बाधितत्वप्रसङ्गादाचार्यलाभान्यथानुपपत्त्या प्रवृत्तफलकर्मसम्पादकमज्ञानलेशं न नाशयति ज्ञानमित्यर्थः । कथं तर्हि प्रारब्धफलं कर्म नश्यति ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**येनेति**। तर्हि कथं 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्करोति' इत्युक्तं ? तत्राऽऽह— **अत इति**। ज्ञानादारब्धफलानां कर्मणां निवृत्त्यनुपपत्तेरनारब्धफलानि यानि कर्माणि पूर्वं ज्ञानोदयादस्मिन्नेव जन्मनि कृतानि, ज्ञानेन च सह वर्तमानानि प्राचीनेषु चानेकेषु जन्मस्वर्जितानि, तानि सर्वाणि ज्ञानं कारणनिवर्तनेन निवर्तयतीत्यर्थः ॥ ३७ ॥

**३ रा. भा.— सम्यक्प्रवृद्धोऽग्निरिन्धनसञ्चयमिवात्मयाथात्म्यज्ञानरूपोऽग्निर्जीवात्मगतमनादिकालप्रवृत्तानन्तकर्मसञ्चयं भस्मीकरोति ॥ ३७ ॥**

४ वे. ता. चं.— नन्वेकस्य कथमनादिकालप्रवृत्तानन्तपापनिवर्तकत्वम् ? 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' [ ब्र. वै. २६।७० ] इत्यादिवचनाच्च पापस्वरूपनिवर्तकत्वमनुपपन्नम्, केवलं विलम्बाय स्यादित्याशङ्क्योच्यते—'**यथैधांसीति**। समुद्रसन्तरणदृष्टान्तः पुनःप्रवेशाविरोधी; काष्ठभस्मसात्करणदृष्टान्तेन तु पुनः कार्यकरत्वप्रसङ्गोऽपि प्रतिषिद्धः। भस्मसात्कुरुते— भस्मीभूतानि कुरुते, अकार्यकराणि कुरुत इत्यर्थः। 'समिद्धः' इत्यत्र सर्वदहनयोग्यत्वायोपसर्गधात्वर्थयोर्व्यञ्जनं **सम्यक्प्रवृद्ध** इति । 'एधांसि' इति बहुवचनमेकस्यानेकनिवर्तकत्वाभिप्रायमिति दर्शयति— **इन्धनसञ्चयमिति** । 'सर्वकर्माणि' इतिवचनाद्विरोधित्वेन स्थितस्य सांसारिकपुण्यविशेषस्यापि निवर्तकत्वमवगतम् । नाभुक्तमित्यादित्वन्यपरम्, अन्यथा प्रायश्चित्तशास्त्राण्यपि कुप्येयुरिति भावः ॥ ३७ ॥

**५ आ. मा. भा.—॥ ३७ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३७ ॥

**७ ह. पै. भा.— ब्रह्मज्ञानस्य सकलवृजिनतरणत्वमाह— यथेति । यथाऽयं दृष्टान्तः । एधांसि काष्ठानि समिद्धो ज्वलितोऽग्निर्भस्मसात्सर्वं कुरुतेऽर्जुन ! तथा ज्ञानमेवाग्निः सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धरूपाणि भस्मसात्कुरुते ॥ ३७ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—'सन्तरिष्यसि' इत्युक्त्या समुद्रवत्स्थितस्यैव पापस्यातिलङ्घनमात्रं, न तु नाश इति मा मंस्था इत्याह—**यथेति** । एधांसि काष्ठानि शुष्काण्यार्द्राणि च सम्यगिद्धः प्रज्वलितोऽग्निर्यथा भस्मीभावं नयति, तथा ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि पापानि पुण्यानि च भस्मसात्कुरुते; तत्कारणाज्ञाननाशेन निर्बीजत्वं नयति; "तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैव हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" [ छां. उ. ५।२४।३ ] "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" [ मुण्ड. २।२।८ ] इत्यादिश्रुतेः । यद्यपि "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये" [ छां. उ. ६।१४।२ ] इति श्रुत्या 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' [ ब्र. सू. ४।१।१५ ] 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' [ ब्र. सू. ४।१।१३ ] इत्यादिब्रह्ममीमांसान्यायैश्च ज्ञानोत्पादकदेहारम्भकस्य प्रारब्धफलकर्मणो भोगेनैव तद्देहान्ते नाशः; सञ्चितागामिनां तु ज्ञानेन विनाश इति व्यवस्थापितम् । तथाप्युत्तरपूर्वाघयोरिव प्रारब्धकर्मणोऽपि मूलाज्ञाननाशेन निर्बीजस्यैव सतः "तस्य तावत्" इति श्रुत्यन्यथानुपपत्त्या दग्धपटन्यायेन भोगप्रदत्वस्य तत्र प्रतिपादनात्सर्वकर्मणां निर्बीजतापादनरूपं भस्मीकरणं न विरुध्यत इति ध्येयम् ॥ ३७ ॥

९ व० त० दी०— ननु महतो वृजिनतो ज्ञानस्य निर्बलत्वप्लुवत्वेनात्यल्पत्वादित्याशङ्क्य ज्ञानस्य प्रबलत्वमग्निदृष्टान्तद्वारा निरूपयति— **यथेति**। समिद्धोऽग्निर्ज्ञानं च प्रबलं भवति। सर्वकर्माणि स्वोत्पत्तिकाले सम्भूतानि लघूनि गुरूणि च । प्रारब्धकर्मणां तु स्वोत्पत्तिकालसम्भूतत्वाभावान्न दाहः, अन्यथा ज्ञानं न स्यात् । 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः' [ ब्र. सू. ४।१।१५ ] इति तत्त्वसूत्रात् ॥ ३७ ॥

१० पु. अ. त.-पापस्यार्णवत्वोक्त्या ज्ञानस्य प्लवत्वोक्त्या च तस्यानल्पत्वादगाधत्वादस्याल्पत्वात्तन्मध्यपातित्वात् कदाचिन्मज्जनसम्भावनापि स्यादित्यल्पस्वरूपस्य महद्वस्तुनिराकारणसामर्थ्यं दृष्टान्तमाह— **यथैधांसीति** । हे अर्जुन ! यथा अग्निः काष्ठेभ्यः स्वल्पतरोऽपि समिद्धः सन् सम्यक्प्रकारेण सन्धुक्षितः सन् एधांसि काष्ठानि भस्मसात्कुरुते, तथा ज्ञानाग्निः ज्ञानरूपोऽग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते भस्मरूपाण्यग्रेऽस्य फलभोगजननासमर्थानि कुरुते ॥ ३७ ॥

११ नी० भा० दी०— यथेति । एधांसि काष्ठानि । कर्माणि प्रारब्धादन्यानि ॥ ३७ ॥

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ॥ ३८ ॥**
**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥**

**१ शां. भा.**—यत एवमतः—न हीति । न हि ज्ञानेन सदृशं तुल्यं पवित्रं पावनं शुद्धिकरमिह विद्यते । तज्ज्ञानं स्वयमेव योगसंसिद्धो योगेन कर्मयोगेन समाधियोगेन च संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नः सन् मुमुक्षुः, कालेन महताऽऽत्मनि विन्दति; लभत इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— नन्वन्येनैव परिशुद्धिकरेण केनचिदश्वमेधादिना परमपुरुषार्थसिद्धेरलमात्मज्ञानेनेत्याशङ्क्याऽऽह— **यत** इति । पूर्वोक्तेन प्रकारेण ज्ञानमाहात्म्यं यतः सिद्धमतस्तेन ज्ञानेन तुल्यं परिशुद्धिकरं परमपुरुषार्थौपयिकमिह व्यवहारभूमौ नास्तीत्यर्थः । तत्पुनरात्मविषयं ज्ञानं सर्वेषां किमिति झटिति नोत्पद्यते ? तत्राऽऽह—**तज्ज्ञानं स्वयमि**ति । महता कालेन यथोक्तेन साधनेन योग्यतामापन्नस्तदधिकृतः स्वयं तदात्मनि ज्ञानं विन्दतीति योजना । सर्वेषां झटिति ज्ञानानुदयो योग्यतावैधुर्यादिति भावः ॥ ३८ ॥

**१ शां. भा.**—येनैकान्तेन ज्ञानप्राप्तिर्भवति स उपाय उपदिश्यते—श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् श्रद्धालुर्लभते ज्ञानम् । श्रद्धालुत्वेऽपि भवति कश्चिन्मन्दप्रस्थानः, अत आह— तत्परो गुरूपासनादावभियुक्तो ज्ञानलब्ध्युपाये श्रद्धावान् । तत्परोऽप्यजितेन्द्रियः स्यादित्यत आह— संयतेन्द्रियः संयतानि विषयेभ्यो निवर्तितानि यस्येन्द्रियाणि स संयतेन्द्रियः । य एवम्भूतः श्रद्धावांस्तत्परः संयतेन्द्रियश्च सोऽवश्यं ज्ञानं लभते । प्रणिपातादिस्तु बाह्योऽनैकान्तिकोऽपि भवति, मायावित्वादिसम्भवात् ; न तु तच्छ्रद्धावत्त्वादावित्येकान्ततो ज्ञानलब्ध्युपायः, किं पुनर्ज्ञानलाभात्स्यात् ? इत्युच्यते— ज्ञानं लब्ध्वा परां मोक्षाख्यां शान्तिमुपरतिमचिरेण क्षिप्रमेवाधिगच्छति । सम्यग्दर्शनात्क्षिप्रमेव मोक्षो भवतीति सर्वशास्त्रन्यायप्रसिद्धः सुनिश्चितोऽर्थः ॥ ३९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—कर्मयोगेन समाधियोगेन च सम्पन्नस्य ज्ञानोत्पत्तावन्तरङ्गं साधनमुपदिशति— **येने**ति । ज्ञानलाभप्रयोजनमाह— **ज्ञानमि**ति । न केवलं श्रद्धालुत्वमेवासहायं ज्ञानलाभे हेतुः, अपितु तात्पर्यमपीत्याह—**श्रद्धालुत्वेऽपी**ति । मन्दप्रस्थानत्वं तात्पर्यविधुरत्वम् । न च तस्योपदिष्टमपि ज्ञानमुत्पत्तुमीष्टे तेन तात्पर्यमपि तत्र कारणं भवतीत्याह— **अत आहे**ति । अभियुक्तो निष्ठावान् । उपासनादावित्यादिशब्देन श्रवणादि गृह्यते । न च श्रद्धा तात्पर्यं चेत्युभयमेव ज्ञानकारणं, किन्तु संयतेन्द्रियत्वमपि; तदभावे श्रद्धादेरकिञ्चित्करत्वादित्याशयेनाऽऽह— **श्रद्धावानि**ति । उक्तसाधनानां ज्ञानेन सहैकान्तिकत्वमाह— **य एवम्भूत** इति । 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' [ ४।३४ ] इत्यादौ प्रागेव प्रणिपातादेर्ज्ञानहेतोरुक्तत्वात्किमितीदानीं हेत्वन्तरमुच्यते? तत्राऽऽह— **प्रणिपातादिस्त्वि**ति । तद्धि बहिरङ्गमिदं पुनरन्तरङ्गं, न च तत्र ज्ञाने प्रतिनियमो मनस्यन्यथा कृत्वा बहिरन्यथाप्रदर्शनात्मनो मायावित्वस्य सम्भवाद्विप्रलम्भकत्वादेरपि सम्भावनोपनीतत्वादित्यर्थः । मायावित्वादेः श्रद्धावत्त्वतात्पर्यादावपि सम्भवादनैकान्तिकत्वमविशिष्टमित्याशङ्क्याऽऽह— **न त्वि**ति । न हि मायया विप्रलम्भेन वा श्रद्धातात्पर्यसंयमाभियोगतो निष्ठातुमर्हतीत्यर्थः । उत्तरार्धं प्रश्नपूर्वकमवतार्य व्याकरोति— **किं पुनरित्यादि**ना । सम्यग्ज्ञानादभ्यासादिसाधनानपेक्षान्मोक्षो भवतीत्यत्र प्रमाणमाह—**सम्यग्दर्शनादि**ति । शास्त्रशब्देन " तमेव विदित्वा " [श्वे.उ.३।८] 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' इत्यादि विवक्षितं, न्यायस्तु ज्ञानादज्ञाननिवृत्ते रज्ज्वादौ प्रसिद्धत्वादात्मज्ञानादपि निरपेक्षादज्ञानतत्कार्यप्रक्षयलक्षणो मोक्षः स्यादित्येवलक्षणः ॥ ३९ ॥

---

१ तज्ज्ञानं स्वयं स्वस्वरूपमेवेति **केचित्** । **नव्यास्तु**—'योगसंसिद्धः' इत्यत्र योगः कर्मयोगः संसिद्धो यस्येति बहुव्रीहिमाहुः, तदज्ञतामात्रम् । बहुव्रीहौ 'सप्तमीविशेषणे—' ( अष्टा. २।२।३५ ) इत्यनुशासनबलात् विशेषणस्य पूर्वं प्रयोज्यत्वेन 'संसिद्धयोगः' इतिरूपप्रसङ्गात् ।

२ कालेन विन्दति ज्ञानं योगसिद्ध इतीरितम् । ततो मन्वीत कौन्तेयो योगसिद्धिं विलम्बिताम् ॥
इति वक्तीह भगवानभ्यासे कृतनिश्चयः । अधिगच्छत्यञ्जसैव ज्ञानी शान्तिं परामिति ॥ इति **वामनः** । —**अविगीता** ।

**३ रा. भा.— यस्मादात्मज्ञानेन सदृशं पवित्रं शुद्धिकरमिह जगति वस्त्वन्तरं न विद्यते तस्मादात्मज्ञानं सर्वं पापं नाशयतीत्यर्थः; तत्तथाविधं ज्ञानं यथोपदेशमहरहरनुष्ठीयमानं ज्ञानाकारकर्मयोगेन संसिद्धः कालेन स्वात्मनि स्वयमेव लभते ॥ ३८ ॥ तदेव स्पष्टमाह । एवं उपदेशाज्ज्ञानं लब्ध्वा चोपदिष्टज्ञानवृद्धौ श्रद्धावांस्तत्परस्तत्रैव नियमितमनास्तदितरविषयात् संयतेन्द्रियोऽचिरेण कालेनोक्तलक्षणविपाकदशापन्नं ज्ञानं लभते, तथाविधं ज्ञानं लब्धा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति परं निर्वाणमाप्नोति ॥ ३९ ॥**

४ **वे. ता. चं.**—लोकदृष्टान्तेन दर्शितोऽर्थो वह्नेः पदार्थान्तरादृष्टदाहकत्ववत्पवित्रतमस्वभावत्वेनोपपाद्यते— **नहीत्यर्धेन**; तदाह— **यस्मा**दिति । **वस्त्वन्तर**मिति ज्ञानरहितकर्मपुण्यस्थानादिकम् , 'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः '[ या. स्मृ. ३।३४] इत्युक्तादीश्वरज्ञानादर्वाचीनेषु परिशुद्धात्मज्ञानतुल्यं पावनं नास्तीत्यर्थः । ननु इदानीं तथाविधज्ञानं कुर्यामिति साभिसन्धिकस्यापि तन्न जायते ; अतस्तस्य पुरुषव्यापाराविषयत्वादविधेयत्वमिति शङ्का परिह्रियते **तत्स्वय**मित्यर्धेन । तच्छब्देन विपाकावस्थं परामृश्यत इत्याह **तथाविध**मिति । **यथोपदेश**मिति शास्त्रीयत्वमविकलत्वं कालेकाले वेदनीयत्वं च सूचितम् । तथाविधज्ञानस्य संस्कारप्राचुर्याद्विरोधिपापनिवर्तनाच्च स्वयमागमे हेतुः 'योगसंसिद्धः' इत्यनेनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह **ज्ञानाकारकर्मयोगेन संसिद्ध** इति । पक्वकषायत्वलक्षणयोग्यतापन्न इत्यर्थः । स्वयंशब्देन तदानीमुपदेशनैरपेक्ष्यमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **स्वयमेवे**ति । ज्ञानस्वरूपस्य साक्षात्स्वप्रयत्नागोचरत्वेऽपि तन्मूलभूतोक्ताकारकर्मयोगद्वारा तस्य विधेयत्वमुपपद्यत इति भावः । अत्र 'आत्मनि' इति विषयसप्तमी; इदानीं तद्रहितेऽपीत्यभिप्रायेणाधिकरणार्थत्वं वा, स्वात्मसाक्षिकमिति वा विवक्षितम् ॥ ३८ ॥

पूर्वश्लोकार्धयोरनन्तरश्लोकार्धे व्युत्क्रमेण विवरणरूपे इत्यभिप्रायेणाह— **तदेव स्पष्टमाहे**ति । श्रद्धावत्त्वादिकं स्वयं ज्ञानलाभे हेतुः; 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च' [ ४।४० ] इति वक्ष्यमाणत्वादत्रापि ज्ञः श्रद्धावांश्चेति विवक्षितमिति ज्ञापनार्थं, तत्र दशाभेदव्यञ्जनार्थं, श्रद्धोत्पत्तिसिद्ध्यर्थं चोक्तम्— **उपदेशाज्ज्ञानं लब्ध्वे**ति । श्रद्धावान् त्वरमाणः; 'अश्रद्दधानः' इत्यत्र 'अत्वरमाणः' इति हि व्याख्यास्यति । तदेव परमुपादेयतयाऽभिसन्ध्यास्पदं यस्य स तत्परः । तदाह— **तत्रैव नियतमना** इति । 'अचिरेण' इत्येतदुत्तरवाक्यस्थमपि 'कालेन' इत्येतत्सूचितविलम्बशङ्कापरिहारार्थमपेक्षितत्वात् पूर्वार्धेऽप्यन्वेतव्यमित्यभिप्रायेण **अचिरेण कालेनोक्तलक्षणे**त्याद्युक्तम् । भक्तियोगव्यवहितः प्रारब्धकर्मावसानभावी च मोक्षः कथमचिरेणेत्युच्येतेति भावः । पूर्वं 'कालेन' इतिपदं द्वित्रदिनादिव्यवच्छेदार्थम् । 'अचिरेण' इति तु ज्ञानयोगदेहान्तरादिविलम्बनिषेधार्थमित्यविरोधः । शान्तिशब्दोऽत्रोपायस्य निश्शेषनिष्पन्नत्वान्न तदङ्गभूतशमविषय इति व्यञ्जनाय परं **निर्वाणमाप्नोती**त्युक्तम् । 'स शान्तिमाप्नोति न कामकामी' [ ७० ] 'स शान्तिमधिगच्छति' [ ७१ ] 'ब्रह्म निर्वाणमृच्छति' [ ७२ ] इति द्वितीयाध्यायान्तिमश्लोकत्रयेऽपि फलदशाविषये शान्तिनिर्वाणशब्दौ समानविषयौ । तत्र मध्यमश्लोकस्थं 'शान्तिमधिगच्छति' इत्येतदत्रापि प्रत्यभिज्ञातम् । तत्पूर्वोत्तरश्लोकस्मारणायात्र **आप्नोतिपदं निर्वाणपदं** चोक्तम् ॥ ३९ ॥

**५ आ. मा. भा.— तत्साधनं विरोधिफलं च तदुत्तरैरुक्त्वोपसंहरति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥**

६ **ज. प्र. दी.**— उत्तरस्य श्लोकत्रयस्य सङ्कीर्णार्थत्वादेकोक्त्यैव तात्पर्यमुक्त्वा तस्मादिति चतुर्थस्य प्रतिपाद्यमाह— **त**दिति । तस्य ज्ञानस्य साधनमन्तरङ्गं श्रद्धादिकम् । विरोध्यज्ञानादिकं ज्ञानस्य फलं परमशान्त्यादिकम् । विरोधिनः फलं विनाशादिकमिति ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

**७ ह. पै. भा.—यत एवमतः- ज्ञानेन तत्त्वावबोधेन सदृशं पवित्रं पावनमिह लोके न विद्यते । तज्ज्ञानं योगसंसिद्धो योगानुष्ठानेन संस्कृतान्तःकरणः कालेन परिपाकेणाऽऽत्मन्यन्तःकरणे विन्दति लभते स्वयमेव ॥ ३८ ॥ इदानीं ज्ञानप्राप्त्युपाय उच्यते- श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् श्रद्दधानः लभते प्राप्नोति । तत्परस्तदेव परं प्रधानं यस्य स तत्परो ज्ञाननिष्ठ इत्यर्थः । संयतेन्द्रियः संयतानि निरुद्धानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि येन स संयतेन्द्रियः । अनेनोपायेन ज्ञानप्राप्तौ किं लभते ? इत्यत्राऽऽह- ज्ञानमेकत्वावबोधं लब्ध्वा प्राप्य परां मोक्षलक्षणां शान्तिमचिरेणाल्पकालेनाधिगच्छति ॥ ३९ ॥**

८ **धं. ब्र. गि.**—ननु ज्ञानेनेव कर्मणाऽपि पापक्षयः श्रूयते "सर्वपाप्मानं तरति" [ बृ. उ. ४।४।२३ ] "तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते" इत्यादिश्रुतेः । अतः कर्मापेक्षया ज्ञानस्य को वाऽतिशयः ? तत्राह — **न ही**ति । हि यस्मात्कारणाज्ज्ञानं कर्ममूलभूताज्ञानविनाशनेन निर्बीजत्वरूपं कर्मभस्मीभावं सम्पादयति, न तु कर्मवदुपरिप्लवतयैव पापं मार्ष्टि,

यदाहुः—'कर्मणा कर्मनिर्हारो नैवात्यन्तिक इष्यते' इति, तस्मात् ज्ञानेन समूलपापनिवर्तकेन सदृशं पवित्रं पापशोधकं इह कर्मणां मध्ये न विद्यते । एतादृशं ज्ञानं किमिति न सर्वेषां झटित्युत्पद्यते ? इत्यत्राह सार्धेन— तदिति । तत् ज्ञानं योगसंसिद्धः पूर्वोक्तेन कर्मयोगेण योग्यतामापन्नः तत्परिपाचकेन कालेन स्वयमेवानायासेन स्वात्मनि विन्दति लभते; न तु कमयोगं विनेत्यर्थः । सत्यपि कर्मयोगे श्रद्धादिरहितस्य ज्ञानं नास्ति, तस्य ज्ञानान्तरङ्गसाधनत्वात्; अतस्तदावश्यिकमित्याह— श्रद्धावानिति । गुरूपदिष्टार्थे 'इदमित्थमेव' इत्यास्तिक्यबुद्धिः श्रद्धा, तद्वाञ्छ्रद्धालुः । एतादृशस्याप्यालस्ये वृथैव श्रद्धा भवति; अत आह— तत्पर इति; तदेकनिष्ठ इत्यर्थः । श्रद्धालुस्तत्परोऽपि प्रामादिकादिन्द्रियपारवश्यात् 'वायुर्नावमिवाम्भसि' [ २।६७ ] इत्युक्तन्यायेन ज्ञानाच्च्यवत इति संयतेन्द्रिय इत्युक्तम् । तादृशः पुरुषोऽवश्यं ज्ञानं लभते । तर्कि ज्ञानसाधनकर्मानुष्ठानानन्तरं ज्ञानस्येव मोक्षसाधनज्ञानलाभानन्तरं मोक्षस्य विलम्बोऽस्ति ? नेत्याह— ज्ञानमिति । ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति अविद्यातत्कार्यनिवृत्तिरूपां मुक्तिं अचिरेणाव्यवधानेनैव प्राप्नोति; न हि दीपोदयानन्तरमन्धकारनिवृत्तौ विलम्बोऽस्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

९ ब० त० दी०— तत्र हेतुमाह— नहीति । तपोध्यानादिषु मध्ये साङ्ख्ययोगैकार्थरूपज्ञानेन तुल्यं पवित्रं नास्ति; यतस्तत्साङ्ख्यनिष्पन्नमपि योगे संसिद्धे एव कालानुगुण्येनात्मनि प्राप्नोति । कश्चित्तु साङ्ख्यज्ञानमेकं प्राप्नोति । योगं प्रतिपक्षीकरोति । च तथाऽन्योऽपि । मदुक्तानुसारेण तु विशेष्यैकविषयस्य साङ्ख्यस्य विशिष्टविशेष्यविषयकस्य योगस्य चैकार्थरूपं ब्रह्मज्ञानं मदनुगृहीतः प्राप्नोतीति स्वयमुक्तम् ॥ ३८ ॥ तादृशज्ञानदाने गुरूणां परीक्ष्ये शिष्ये श्रद्धैवेति तामभिमुखीकरोति— श्रद्धावानिति । शान्तिं चित्तोपशमम् ॥ ३९ ॥

१० पु. अ. त.— एवं ज्ञानस्य प्रतिबन्धनिरासकत्वमुक्त्वा स्वप्रापकत्वमाह— न हीति । हीति निश्चयेन ज्ञानेन सदृशं इह साधनेषु पवित्रं न विद्यते । अतः योगसंसिद्धः कर्मयोगादिभिः सम्यक्प्रकारेण सिद्धो मत्तोषार्थं मदाज्ञया फलानभिलाषेण कृतकर्मयोगः तत् मत्स्वरूपात्मकं ज्ञानं कालेन अलौकिकेन तज्ज्ञानदानार्थमाविर्भूतेन आत्मनि स्वयं स्वात्मस्वरूपेण विन्दति जानातीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ तत्कालज्ञानं सूक्ष्मत्वान्न भवतीति निरन्तरं तत्परः सन् जितेन्द्रियस्तिष्ठेत्, तेन तत्प्राप्तिः स्यादित्याह— श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः पूर्वोक्तप्रकारकगुरुसेवादौ तत्परस्तन्निष्ठः गुरुनिष्ठो ज्ञाननिष्ठो वा संयतेन्द्रियः वशीकृतेन्द्रियः निवृत्तविषयो यः स ज्ञानं लभते प्राप्नोति । ततो ज्ञानं लब्ध्वा अचिरेण शीघ्रमेव परां शान्तिं मद्भक्तिं अधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ३९ ॥

११ नी० भा० दी०— न हीति । योगेन निष्कामकर्मानुष्ठानेन समाधियोगेन वा संसिद्धः संस्कृतो योग्यतामापन्नः । कालेनेति चिरप्रयत्नसाध्यत्वं ज्ञानस्योच्यते ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान् ज्ञानं लभते । श्रद्धावानपि मन्दप्रयत्नो मा भूदत आह— तत्पर इति । तत्परोऽप्यजितेन्द्रियो मा भूदत आह— संयतेन्द्रिय इति । परां शान्तिं विदेहकैवल्यं अचिरेण प्रारब्धकर्मसमाप्तौ सत्याम् ॥ ३९ ॥

संशयेनाधःपतनसम्भवात्तदकरणोपदेशः ।

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।**
**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥**

**१ शां. भा.**— अत्र संशयो न कर्तव्यः, पापिष्ठो हि संशयः; कथं ? इत्युच्यते— अज्ञश्चेति । अज्ञश्चानात्मज्ञोऽश्रद्दधानश्च गुरुवाक्यशास्त्रेष्वविश्वासवांश्च संशयात्मा च संशयचित्तश्च विनश्यति । अज्ञाश्रद्दधानौ यद्यपि विनश्यतस्तथापि न तथा यथा संशयात्मा; संशयात्मा तु पापिष्ठः सर्वेषाम् । कथं ? नायं साधारणोऽपि लोकोऽस्ति, तथा न परो लोकः; न सुखं, तत्रापि संशयोपपत्तेः; संशयात्मनः संशयचित्तस्य । तस्मात्संशयो न कर्तव्यः ॥ ४० ॥

१ कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः । [ भाग. १८।३५ ]

२ सम्यग्ज्ञानेऽधिकारी यः पूर्वश्लोके स कीर्तितः । श्लोकेऽस्मिन्नथ वर्ण्यन्ते ये ज्ञानेऽनधिकारिणः ॥...... अज्ञाः सर्वे ज्ञानहीनाः प्रसिद्धाः किन्त्वाचार्येणानुशिष्टोऽपि सम्यक् । यस्तत्त्वं नो वेत्ति सोऽत्राज्ञ इष्टः 'श्रुत्वाऽप्येनं वेद न—' ( २।२९ ) ति प्रदिष्टः ॥ इति वामनः ॥ अज्ञ इति अश्रद्दधान इति च संशयात्मन एव विशेषणे इति केचित् । अज्ञत्वादित्रयस्यान्योन्यनैरपेक्ष्येण नाशकत्वान्मनुष्येषु तेषामेकैकत्वेनावस्थानस्याकारितत्वाच्च तदयुक्तमित्यपरे । — अभिनीता ।

२ आ. शां. व्या.— उत्तरश्लोकस्य पातनिकां करोति— अत्रेति । यथोक्तसाधनवानुपदेशमपेक्ष्याचिरेण ब्रह्म साक्षात्करोति, साक्षात्कृतब्रह्मत्वेऽचिरेणैव मोक्षं प्राप्नोतीत्येषोऽर्थः सप्तम्या परामृश्यते । संशयस्याकर्तव्यत्वे हेतुमाह— पापिष्ठो हीति । उक्तं हेतुं प्रश्नपूर्वकमुत्तरश्लोकेन साधयति— कथमित्यादिना । अज्ञादश्रद्दधानाच्च संशयचित्तस्य विशेषमादर्शयति— नायमिति । द्वितीयविभागविभजनार्थं भूमिकां करोति— अज्ञेति । अज्ञादीनां मध्ये संशयात्मनो यत्पापिष्ठत्वं तत्प्रश्नद्वारा प्रकटयति— कथमिति । लोकद्वयस्य तत्प्रयुक्तसुखस्य चाभावे हेतुमाह— तत्रापीति । संशयचित्तस्य सर्वत्र संशयप्रवृत्तेर्दुर्निवारत्वादित्यर्थः । संशयस्यानर्थमूलत्वे स्थिते फलितमाह— तस्मादिति ॥ ४० ॥

**३ रा. भा.— अज्ञ एवमुपदेशलब्धज्ञानरहितः उपदिष्टज्ञानवृद्ध्युपाये चाश्रद्दधानः अत्वरमाणः उपदिष्टे च ज्ञाने संशयात्मा संशयमनाः विनश्यति नष्टो भवति । अस्मिन्नुपदिष्टे आत्मयाथात्म्यविषये ज्ञाने संशयात्मनोऽयमपि प्राकृतो लोको नास्ति, न च परः; धर्मार्थकामरूपपुरुषार्थाश्च न सिद्ध्यन्ति, कुतो मोक्षः ? इत्यर्थः, शास्त्रीयकर्मसिद्धिरूपत्वात् सर्वेषां पुरुषार्थानाम्, शास्त्रीयकर्मजन्यसिद्धेश्च देहातिरिक्तात्मनिश्चयपूर्वकत्वात् । अतः सुखलवभागित्वमात्मनि संशयात्मनो न सम्भवति ॥ ४० ॥**

४ वे. ता. चं.— उक्त एवार्थो व्यतिरेकेण स्थाप्यते 'अज्ञश्च' इति श्लोकेन । उपदेशलब्धज्ञानरहित इति— पूर्वकमनिर्देशौचित्यादश्रद्धाहेत्वाकाङ्क्षणात्, संशयदशासमभिव्याहाराच्च अज्ञशब्दोऽत्र शास्त्रजन्यज्ञाननिवृत्तिपर इति भावः । संशयस्य पृथगभिहितत्वात् 'अश्रद्दधानः' इत्येतन्न विश्वासनिषेधपरम्, किन्त्वाकाङ्क्षानिषेधपरम् । प्रकृष्टाकाङ्क्षैव हि त्वरेत्यभिप्रायेण अत्वरमाण इत्युक्तम् । संशयमना इति । संशय्यतेऽनेनेति संशयः, संशयकारणं संशयहेतुभूतमना इत्यर्थः; यद्वा संशये मनो यस्येति विग्रहः । नित्यस्यात्मनः पुरुषार्थशून्यत्वलक्षणस्य विनाशस्य पूर्वापरभावेन सन्तन्यमानस्य प्राचीनस्यैवानुवृत्तिप्रदर्शनाय प्रकृतिप्रत्ययार्थभेदविवक्षया नष्टो भवतीत्युक्तम् । 'विनष्टा वा प्रणष्टा वा' [ वा. रा. ५।१३।१५ ] इत्यादिषु प्रध्वंसव्यतिरिक्तविषये प्रयोगोऽप्यनेन सूचितः । 'विनश्यति' इत्यस्य विवरणमुत्तरार्धम् । 'अयमपि' इत्यनेनायंशब्देन निर्दिष्टक्षुद्रतासूचनम् । 'नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम !' [ ४।३१ ] इतिवदत्रापि लोकशब्दः पुरुषार्थविषयः । कैमुतिकन्यायप्रदर्शनार्थं च 'अयं लोकः' इत्युक्तम् । मोक्षप्रकरणत्वाच्चात्रायंशब्दपरशब्दयोर्न भौमदिव्यविषयत्वमुचितमित्यभिप्रायेणाह— धर्मार्थेति । मोक्षोपायभूतार्थे संशयात्मनः कथं पुरुषार्थान्तरासिद्धिः ? इत्यत्राह— शास्त्रीयेति । अस्तु तत्तच्छास्त्रैरेव तत्तत्सिद्धिः, किमनेन मोक्षोपयुक्तेन ? इत्यत्राह शास्त्रीयकर्मजन्यसिद्धेश्चेति । अयमभिप्रायः— नह्यायुर्वेदादिवत् केवलमैतद्देहान्तर्भाविफलसाधनं कर्म तत्तच्छास्त्रैः प्रतिपाद्यते, येन देहातिरिक्तात्मज्ञाननिरपेक्षता स्यात्; देहान्तरभाव्येव हि यज्ञादिसाध्यं स्वर्गादिकं फलं प्राचुर्येण प्रतिपाद्यते; अतो देहातिरिक्तात्मनिश्चयोऽत्यन्तापेक्षितः— इति । उभयविधपुरुषार्थराहित्योपसंहारपरं 'न सुखम्' इत्येतदिति व्यञ्जनायाह— अत इति । यद्वाऽनन्तसुखदुःखभोगरूपनिःश्रेयसनिरयपर्यन्तसंशयस्य मनस्तापहेतुत्वात्तदानीन्तनदुःखाभिप्रायेण 'न सुखम्' इत्युक्तम् । अथवा पुरुषार्थयोग्यताभिमानमूलसुखाभावोऽभिप्रेतः ॥ ४० ॥

**५ आ. मा. भा.—॥ ४० ॥**

**६ ज. प्र. दी.—॥ ४० ॥**

**७ ह. पै. भा.— इदानीं ज्ञानप्राप्तौ बाधकमाह— अज्ञश्चेति । अज्ञो ज्ञानप्राप्तेर्विमुखोऽश्रद्दधानः श्रद्धाशून्यश्च संशयात्मा— संशय इति पचाद्यच् । संशयः सर्वत्र सन्देहवानात्मा यस्य स संशयात्मा विनश्यति । ज्ञानलक्षणात्पुरुषार्थाद्भ्रश्यत इत्यर्थः । किं चान्यत्संशयात्मनस्तस्यायं सर्वसाधारणोऽपि लोको नास्ति । न च परः स्वर्गाख्यः । नाप्यस्यान्नपानादि किमपि सुखमस्तीति ॥ ४० ॥**

८ वे. ब्र. गि.— अत्र च संशयो न कर्तव्यः, तस्य सर्वानर्थमूलत्वादित्याह— अज्ञ इति । अज्ञः अनधीतशास्त्रतयाऽऽत्मज्ञानशून्यः; अश्रद्दधानस्तु गुरूपदिष्टार्थे 'इदमित्थं न भवति' इतिविपर्ययरूपनास्तिक्यबुद्धिमान्; संशयात्मा तु 'इदमेवं भवति न वा ?' इति सर्वत्र संशयाविष्टचित्तः । एते त्रयोऽपि भ्रष्टपुरुषार्थतया नश्यन्त्येव । संशयात्मा तु विनश्यति विशेषेण नश्यति । यतः संशयात्मनो नायं लोकोऽस्ति, न च परलोकः; ततो न किञ्चिदपि सुखमस्ति । अज्ञाश्रद्दधानयोरामुष्मिकमेव सुखं नास्ति, तयोर्भोजनाद्यैहिकसुखसत्त्वात् । संशयात्मनस्तु नोभयमपि । संशयस्य परस्परविरुद्धकोटिद्वयावलम्बित्वेन यदा संसारसुखाय प्रवृत्तिस्तदा मोक्षमार्गप्रवृत्तिस्तां प्रतिबध्नाति, यदा मोक्षाय प्रवृत्तिस्तदा संसारप्रवृत्तिस्तां निरुणद्धीति । एवमन्यत्रापि । तस्मात्संशयात्मा सर्वतः पापिष्ठ इत्यर्थः ॥ ४० ॥

९ व० त० दी०—'अश्रद्दधानस्तु नाधिकारी' इत्येतावति वक्तव्ये अन्यमप्यनधिकारिणमाह। अज्ञ उपदिष्टार्थानभिज्ञः अनधिकारी, तत्र च सत्यपि ज्ञानेऽश्रद्धावान्, तथा संशयानश्च विनश्यत्येवेत्यन्ते महाननधिकारी निर्दिष्टः; अनिश्चयात्तस्य महत्त्वमनधिकारे। तथा हि नायं लोकोऽस्तीति न च सुखं परलोकश्च। अतो निश्चयात्मिकैव बुद्धिरुचितेति भावः ॥ ४० ॥

१० पु. अ. त.— अत्र मदुक्तौ संशयो न कर्तव्य इत्याह—संशयात्मा 'भविष्यति न वा' इति सन्देहवान्, अज्ञः मूर्खः अनात्मज्ञः, अश्रद्दधानः गुरौ ज्ञानसाधनेषु च श्रद्धारहितो भूत्वा विनश्यति नष्टो भवति। चकारद्वयेन धर्मरहितः सन्तोषरहितश्च भवेदिति ज्ञाप्यते। किञ्च संशयात्मनः साधारणरीत्यापीह लोके परलोके च सुखं न स्यादित्याह—नायमिति। संशयात्मनः सन्देहवतः अयं लोकः पशुपुत्रादिरूपो न सिद्धो भवति, न परः; स्वर्गादिरूपसुखं ऐश्वर्यारोग्यादिरूपं न भवतीत्यर्थः ॥ ४० ॥

११ नी० भा० दी०— अज्ञ इति। अज्ञः सुखेन चिकित्सितुं शक्यः। अश्रद्दधानो यत्नेन। संशयात्मा त्वसाध्य एव। यतो मित्रादिष्वपि संशयं कुर्वतोऽस्यायं लोकोऽपि नास्ति, नापि परः, वेदवाक्येऽपि संशयात्। अत एव सर्वदा संशयाकुलत्वात्सुखमपि तस्य नास्ति। तस्मात्संशयो न कर्त्तव्यः ॥ ४० ॥

छिन्नसंशयस्य ज्ञानिनः कर्मबन्धनाभावः ।

**योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।**
**आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ॥ ४१ ॥**

**१ शां. भा.—कस्मात्? योगेति। योगसन्न्यस्तकर्माणं परमार्थदर्शनलक्षणेन योगेन सन्न्यस्तानि कर्माणि येन परमार्थदर्शिना धर्माधर्माख्यानि, तं योगसन्न्यस्तकर्माणम्। कथं योगसन्न्यस्तकर्मा? इत्याह—ज्ञानेनाऽऽत्मेश्वरैकत्वदर्शनलक्षणेन सञ्छिन्नः संशयो यस्य स ज्ञानसञ्छिन्नसंशयः य एवं योगसन्न्यस्तकर्मा, तमात्मवन्तमप्रमत्तं गुणचेष्टारूपेण दृष्टानि कर्माणि न निबध्नन्ति अनिष्टादिरूपं फलं नाऽऽरभन्ते हे धनञ्जय ! ॥ ४१ ॥**

२ आ. शां. व्या.— यद्यपि संशयः सर्वानर्थहेतुत्वात् कर्तव्यो न भवति, तथापि निवर्तकाभावे तदकरणमस्वाधीनमिति शङ्कते— **कस्मादिति**। श्रुतियुक्तिप्रयुक्तमैक्यज्ञानं तन्निवर्तकमित्युत्तरमाह— **ज्ञानेति**। संशयरहितस्यापि कर्माण्यनर्थहेतवो भवन्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **योगेति**। विषयपरवशस्य पुंसो योगायोगात्कुतो योगसन्न्यस्तकर्मत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मवन्तमिति**। परमार्थदर्शनतः संशयोच्छित्तौ तदुच्छेदकज्ञानमाहात्म्यादेव कर्मणां च निवृत्तावप्रमत्तस्य प्रातिभासिकानि कर्माणि बन्धहेतवो न भवन्तीत्याह— **न कर्माणीति**। कर्मयोगादेव कर्मसन्न्यासस्यानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽद्यं पादं विभजते— **परमार्थेति**। तत्र वैधसन्न्यासपक्षे परोक्षं, फलसन्न्यासपक्षे त्वपरोक्षमिति विवेकः। यथोक्तज्ञानेन सन्न्यस्तकर्मत्वमेव सति संशये न सिध्यति संशयवतस्तदयोगादिति शङ्कते— **कथमिति**। द्वितीयं पादं व्याकुर्वन्परिहरति— **आहेत्यादिना**। पाठक्रमादर्थक्रमस्य बलीयस्त्वादादौ द्वितीयं पादं व्याख्याय पश्चादाद्यं पादं व्याचक्षीतेत्याह— **य एवमिति**। सर्वमिदं प्रमादवतो विषयपरवशस्य न सिध्यतीत्यभिसन्धायाऽऽत्मवन्तं व्याकरोति— **अप्रमत्तमिति**। न कर्माणीत्यादिफलोक्तिं व्याचष्टे— **गुणचेष्टेति**। अनिष्टादीत्यादिशब्देनेष्टं मिश्रं च गृह्यते ॥ ४१ ॥

**३ रा. भा.—यथोपदिष्टयोगेन सन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानाकारतापन्नकर्माणं यथोपदिष्टेन चात्मज्ञानेनात्मनि सञ्छिन्नसंशयं, आत्मवन्तं मनस्विनं उपदिष्टार्थे दृढावस्थितमनसं बन्धहेतुभूतप्राचीनानन्तकर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥**

४ वे. ता. चं.—अध्यायप्रधानार्थ उपसंह्रियते— **योगसन्न्यस्तेति** श्लोकेन। **यथोपदिष्टयोगेनेति**— 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' [ ४।१८ ] इत्यादिनोपदिष्टबुद्धियोगेनेत्यर्थः। एतेनात्मावलोकनरूपयोगव्युदासः। **'सन्न्यस्तकर्माणं'** इत्यत्र कर्मस्वरूपत्यागभ्रमव्युदासाय **ज्ञानाकारतापन्नकर्माणमित्युक्तम्**। कर्तृत्वादित्यागगर्भज्ञानाकारतापत्त्या कर्माकारत्वतिरस्कारोऽत्र कर्मणः सन्न्यासशब्देनोपचर्यते। स्वरूपत्यागपरत्वे तु पूर्वापरादिविरोध इति भावः। ज्ञानयोगादिव्युदासाय **यथोपदिष्टेन चात्मज्ञानेनेत्युक्तम्**। आत्मनो देहातिरिक्तत्वादिसंशयो ह्यत्र निषिध्यत इति व्यञ्जनाय **आत्मनीत्युक्तम्**। 'आत्मवन्तम्'

इत्यत्रात्मशब्दः सम्बन्धविषयप्रत्ययसामर्थ्यात्प्रयोगप्रौढ्या च मनोविषय इत्यभिप्रायेण- **मनस्विन**मित्युक्तम् । अतिशयेन सम्बन्धोऽत्र मतुबर्थः; स चातिशयः केनाप्यविचाल्यत्वमिति द्योतनायोक्तम्- **उपदिष्टार्थे दृढावस्थितमनस**मिति। परमप्रयोजनोपसंहाररूपत्वव्यञ्जनाय **बन्धहेतुभूते**त्यादिकमुक्तम् ॥ ४१ ॥

५ आ. मा. भा.—॥ ४१ ॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ४१ ॥

**७ ह. पै. भा.— असंशयानं तु- योगसन्न्यस्तकर्माणं योगेन फलत्यागेन सन्न्यस्तानि त्यक्तानि कर्माणि येन तं, ज्ञानसञ्छिन्नसंशयं ज्ञानं परमात्मावबोधस्तेन सञ्छिन्नाः संशया यस्य तमात्मवन्तं जितेन्द्रियं कर्माणि बन्धकान्यपि न निबध्नन्ति । इष्टानिष्टानि शरीरेन्द्रियविषयप्रापकाणि न भवन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अध्यायार्थमुपसंहरति— योगेति । अतीताध्यायद्वयोक्तं कर्मज्ञानयोगप्रपञ्चनं चतुर्थाध्यायार्थः । तत्र 'योगसन्न्यस्तकर्माणं' इत्यनेन तृतीयाध्यायार्थप्रपञ्चोपसंहारो दर्शितः । योगेनेश्वराराधनार्थकर्मानुष्ठानलक्षणेन सन्न्यस्तानि भगवति समर्पितानि कर्माणि येन तं तथोक्तम् । 'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयं' इत्यनेन द्वितीयाध्यायार्थप्रपञ्चोपसंहारः । ज्ञानेन तत्त्वम्पदार्थैक्यविषयकेण कर्मयोगफलभूतेन सञ्छिन्नाः संशयाः "छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" [मुण्ड. २।२।८] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्ध्या येन तं तथोक्तम् । अत एव "आत्मलाभान्न परं विद्यते" [ आप. ध. १।२२।२ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धपरमपुरुषार्थलाभवत्त्वादात्मवन्तं मुक्तं कर्माणि न निबध्नन्ति ॥ ४१ ॥

९ ब० त० दी०— उभयोरेकार्थनिष्ठं स्तौति— योगेनोक्तरूपेण सिद्ध्यसिद्धिसमानचित्तवृत्तिकेन बाह्यतः क्रियानिष्ठमपि तेनाऽन्तस्सन्न्यस्तकर्माणं धीरं अन्तःकर्मसम्बन्धशून्यं साङ्ख्येन च सञ्छिन्नसंशयं आत्मानात्मनिश्चयात्मिकबुद्धिमन्तं अत एव केवलमात्मवन्तं, न तु केवलमनात्माभिमानवन्तं पुरुषं क्रियमाणानि तानि कर्माणि न निबध्नन्ति ?॥ ४१ ॥

१० पु. अ. त.— सन्देहरहितस्य भोगलोकादिप्रतिबन्धो न भवेदित्याह— **योगसन्न्यस्ते**ति । हे धनञ्जय ! कर्माणि नियतफलभोगकारणरूपाणि योगसन्न्यस्तकर्माणं भगवदात्मकयोगेन त्यक्तकर्मफलं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयं ज्ञानेन वा सञ्छिन्नः संशयो जीवस्वरूपादिरूपोऽस्य, तमात्मवन्तं-स्वस्येवार्थमात्मा भगवान् प्रकटीकृत इत्याह-(?) आत्मस्वरूपज्ञं न निबध्नन्ति । न बन्धकानि भवन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च- योगेति । योगेन कर्मण्यकर्मदर्शनात्मकेन सन्न्यस्तानि फलतः स्वरूपतो वा त्यक्तानि कर्माणि येन, तं योगसन्न्यस्तकर्माणं, ज्ञानेन सम्यग्दर्शनेन सम्यक् छिन्नाः संशयाः 'आत्मा देहोऽन्यो वा ? अन्योऽपि विभुरविभुर्वा ? विभुरपि कर्त्ताऽकर्त्ता वा ? अकर्त्ताप्येकोऽनेको वा ? एकोऽपि सगुणो निर्गुणो वा ?' इत्येवमादयः यस्य स ज्ञानसञ्छिन्नसंशयस्तं, आत्मवन्तं शमदमादिपरं कर्माणि कृतानि न निबध्नन्ति । हे धनञ्जय ! ॥ ४१ ॥

संशयनिरसनोपायः ।

## तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनाऽऽत्मनः ।
## छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ! ॥ ४२ ॥

**इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥**

---

१ 'ज्ञानासिना' इत्यत्र ज्ञानं परोक्षमेव ज्ञेयम्, संशयच्छेदफलदर्शनात् । अपरोक्षज्ञानस्य हि मोक्ष एव परमं फलं, न संशयच्छेदमात्रम् । न चापरोक्षज्ञानोदयादूर्ध्वं कर्मयोगानुष्ठानविधानं सङ्गच्छते, तस्य साधनरूपत्वात्; विगलिताहम्भावस्य विध्युद्देश्यत्वासम्भवाच्च । तथा चोक्तमेव भगवता—'तस्य कार्यं न विद्यते' [ ३।१७ ] इति ॥ किञ्च— नेदानीमर्जुनस्यापरोक्षज्ञानमस्ति, येन संशयच्छेदे तदुपयोग उपदिश्येत, 'उपदेक्ष्यन्ति—' ( ४।३४ ) इत्यादिनिर्देशात् । नापीदानीमेव झटिति तत्सम्पाद्य—

**१ शां. भा.—** यस्मात्कर्मयोगानुष्ठानादशुद्धिक्षयहेतुकज्ञानसञ्छिन्नसंशयो न निबध्यते कर्मभिर्ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वादेव, यस्माच्च ज्ञानकर्मानुष्ठानविषये संशयवान्विनश्यति— **तस्मादिति** । तस्मात्पापिष्ठमज्ञानसम्भूतमज्ञानादविवेकाज्जातं हृत्स्थं हृदि बुद्धौ स्थितं ज्ञानासिना शोकमोहादिदोषहरं सम्यग्दर्शनं ज्ञानं, तदेवासिः खड्गस्तेन ज्ञानासिनाऽऽत्मनः स्वस्य आत्मविषयत्वात्संशयस्य । नहि परस्य संशयः अपरेण छेत्तव्यतां प्राप्तः, येन स्वस्येति विशेष्येत । अत आत्मविषयोऽपि स्वस्यैव भवति । छित्त्वैनं संशयं स्वविनाशहेतुभूतं, योगं सम्यग्दर्शनोपायकर्मानुष्ठानमातिष्ठ कुर्वित्यर्थः । उत्तिष्ठ चेदानीं युद्धाय हे भारत ! इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये ब्रह्मयज्ञप्रशंसापरनामा ज्ञानकर्मसन्न्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** तस्मादित्यादिसमनन्तरश्लोकगततत्पदापेक्षितमर्थमाह— **यस्मादिति** । सतां कर्मणामस्मदादिषु फलारम्भकत्वोपलम्भाद्विदुष्यपि तेषां तद्भाव्यमनपबाधमित्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञानाग्नीति** । ननु सन्दिहानस्य तत्प्रतिबन्धान्न कर्मयोगानुष्ठानं; नापि तद्धेतुकं ज्ञानं; तत्रापि संशयावतारादित्याशङ्क्याऽऽह— **यस्माच्चेति** । श्लोकाक्षराणि व्याचष्टे— **तस्मादित्यादिना** । 'पापिष्ठं' इति संशयस्य सर्वानर्थमूलत्वेन त्याज्यत्वं सूच्यते । विवेकाग्रहप्रसूतत्वादपि तस्यावहेयत्वमविवेकस्यानर्थकरत्वप्रसिद्धेरित्याह— **अविवेकादिति** । न च तस्य चैतन्यवदात्मनिष्ठत्वादत्याज्यत्वं शङ्कितव्यमित्याह— **हृदीति** । शोकमोहाभ्यामभिभूतस्य पुंसो मनसि प्रादुर्भवतः संशयस्य प्रबलप्रतिबन्धकाभावे नैव प्रध्वंसः सिद्ध्येदित्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञानासिनेति** । स्वाश्रयस्य संशयस्य स्वाश्रयेणैव ज्ञानेन समुच्छेदसम्भवात्किमिति स्वस्येति विशेषणं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मविषयत्वादिति** । स्थाण्वादिविषयः संशयस्तद्विषयेण ज्ञानेन देवदत्तनिष्ठेन तन्निष्ठो व्यावर्त्यते; प्रकृते त्वात्मविषयस्तदाश्रयश्च संशयस्तथाविधेन ज्ञानेनापनीयते, तेन विशेषणमर्थवदित्यर्थः । तदेव प्रपञ्चयति— **न हीति** । आत्माश्रयत्वस्य प्रकृते संशये सिद्धत्वेनाविवक्षितत्वात्तद्विषयस्य तद्विषयेणैव तस्य तेन निवृत्तिर्विवक्षितेत्युपसंहरति— **अत इति** । संशयसमुच्छित्त्यनन्तरं कर्तव्यमुपदिशति— **छित्त्वैनमिति** । अग्निहोत्रादिकं कर्म भवदाज्ञया क्रमेण करिष्यामि युद्धात्पुनरुपरिरंसैवेत्याशङ्क्याऽऽह— **उत्तिष्ठेति** । भरतान्वये महति क्षत्रियवंशे प्रसूतस्य समुपस्थितसमरविमुखत्वमनुचितमिति मन्वानः सन्नाह— **भारतेति** । तदनेन योगस्य कृत्रिमत्वं भगवतोऽनीश्वरत्वं च निराकृत्य कर्मादावकर्मादिदर्शनादात्मनः सम्यग्ज्ञानात्प्रणिपातादेर्बहिरङ्गादन्तरङ्गाच्च श्रद्धादेरुद्भूतादशेषानर्थनिवृत्त्या ब्रह्मभावमभिदधता सर्वस्मादुत्कृष्टे तस्मिन्नसंशयानस्याधिकारादशेषदोषवन्तं संशयं हित्वोत्तमस्य ज्ञाननिष्ठापरस्य कर्मनिष्ठेति स्थापितम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.—** तस्मादनाद्यज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं आत्मविषयं संशयं मयोपदिष्टेनात्मज्ञानासिना छित्वा मयोपदिष्टं कर्मयोगमातिष्ठ; तदर्थमुत्तिष्ठ भारतेति ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

---

–संशयच्छेदः कर्तुं शक्यः, 'कालेन... विन्दति' (४।३८) इत्युक्तत्वात् । अतः सन्दर्भबलेनापि परोक्षत्वमेवास्य ज्ञानस्याभ्युपेयं भवति । एवं तत्रासित्वारोपोऽपि स्वरसतः सङ्गच्छते । ततश्चात्र शोकमोहादिहरसम्यग्दर्शनरूपेण परोक्षज्ञानेनाज्ञानसम्भूतं संशयं छित्वा अपरोक्षज्ञानसिद्ध्यर्थं 'तत्स्वयं—' (४।३८) इत्यादिना तत्साधनत्वेन निर्दिष्टं योगमातिष्ठेति वेदान्तप्रक्रियानुगुणे सन्दर्भानुसारिणि च निर्बाधे वाक्यार्थे सति, तत्प्रकाशनपरस्य भगवत्पादीयभाष्यस्य दुरुद्धरापद्रस्ततामाघोष्य 'त्वमादौ ज्ञानेन स्वकीयं संशयं छिन्धि, ततश्च ज्ञानप्राप्त्युपायमातिष्ठ' इति तदर्थमनूद्य चैवं कथनं हि पत्न्यां प्रथमं पुत्रमुत्पाद्यानन्तरमुद्वाहोद्योगमातिष्ठेति कथनवदतीवानुपपन्नमित्यादि प्रलपतां केषाञ्चन **नव्यगृह्यानां** लज्जाभाव एव परं शोभत इति तदुपेक्षणमेव वरं मन्यामहे ॥ यत्तु **नव्यैः**—'निष्कामबुद्धियोगेन कर्मानुष्ठानं कर्मणां बन्धकत्वनाशनेन मोक्षप्रतिबन्धनिवारकम्, ज्ञानं च हृत्स्थसंशयच्छेदनेन मोक्षप्रदमित्युभयोः फलभेदादेकाकि कर्म ज्ञानं वाऽनुपादाय ज्ञानकर्मसमुच्चयात्मकं कर्मयोगमाश्रित्य युद्ध्यस्वेत्युपदेशः' इतीदृशं किमप्युक्तम् । तदपि निस्सारम् । ज्ञानस्य कर्मनिरपेक्षतयैव मोक्षसाधकतायाः 'अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा' (ब्र. सू. ३।४।२५) इत्यादौ समर्थितत्वात्, इहापि— 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं—' (४।१९) 'ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम् ।' (४।४१) 'ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति—' (४।३९) इति केवलस्य ज्ञानस्यैव कर्मबन्धदाहादिमोक्षपर्यन्तसकलकार्यकारित्वदर्शनेन कर्मानुष्ठानप्रयोजनाभावात्, ज्ञानकर्मसमुच्चयासम्भवस्य भगवत्पादैस्तत्र तत्र भृशं समर्थितत्वाच्चेत्यास्तां तावत् । — **अविगीता** ।

४ वे. ता. चं.— एवं विस्तरेणोपपाद्योपसंहृतोऽर्थोऽर्जुनं प्रति कर्तव्यतया निगम्यते— **तस्मादि**तिश्लोकेन । संशयस्याज्ञानसम्भूतत्वं विशेषाग्रहस्य संशयहेतुत्वात् । हृत्स्थं हृदि शल्यमिवार्पितम्, यद्वा हृत्स्थमित्यान्तरमिति भावः । 'आत्मनः' इति षष्ठ्या विषयविषयित्वलक्षणसम्बन्धविशेषे पर्यवसानमत्र विवक्षितमिति द्योतनाय **आत्मविषयं संशय**मित्युक्तम् । यद्वा 'एनं संशयम्' इति निर्देशादात्मविषयत्वं सिद्धम्; 'आत्मनः' इत्यस्य तु 'ज्ञानासिना' इत्यनेनान्वयाय **आत्मज्ञानासिने**त्युक्तम् । काकाक्षिन्यायेन वोभयत्रान्वयः । **मये**त्यनेनोपदेष्टुः सर्वज्ञत्वकारुणिकत्वादिपौष्कल्यादाप्ततमत्वं विवक्षितम् । कर्मयोगोपदेशोपसंहारतया योगशब्दोऽत्र नेतरविषय इति ज्ञापनाय **मयोपदिष्टं कर्मयोगमि**त्युक्तम् । भरतकुलसम्भूतार्जुनस्य स्वधर्मभूतयुद्धार्थमुत्थानमेव कर्मयोगार्थमुत्थानमिति भारतशब्दाभिप्रायव्यञ्जनाय **तदर्थमुत्तिष्ठ भारते**त्युक्तम् । तेनैव मोक्षोपाययोग्यत्वाय योगिवंशप्रसूतत्वमप्यर्जुनस्य सूच्यते ॥ ४२ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

**५ आ. भा. भा.**—॥ ४२ ॥

**इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य श्रीभगवद्गीताभाष्यस्य टीकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

**७ ह. पै. भा.— अत उपसंहरति— तस्मादिति । यस्मात्सर्वानर्थहेतुः संशयस्तस्मादज्ञानसम्भूतमविद्याप्रभवं हृत्स्थं हृदि तिष्ठतीति हृत्स्थस्तं ज्ञानप्रतिपक्षतया ज्ञानावकाशं हृदयदेशमधिष्ठाय वर्तमानं ज्ञानमेवासिर्ज्ञानासिस्तेन च्छित्त्वा विनाश्यैनं पूर्वोक्तसंशयं योगं फलसङ्गरहितं कर्माऽऽतिष्ठ सेवस्व । उत्तिष्ठ योद्धा भव हे भारत ! इति ॥ ४२ ॥**

**इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवमध्यायार्थमुपसंहृत्य अर्जुनस्य तदनुष्ठेयताम्रुपदिशति— **तस्मादि**ति । यस्मात्कर्मज्ञानयोगी मुच्यते, यस्माच्च संशयः पापीयान्, तस्मादात्मनो यदज्ञानमविवेकस्तेन सम्भूतं हृदि स्थितमेनं शोकादिनिमित्तं संशयं ज्ञानासिना विवेकखड्गेन च्छित्त्वा योगं कर्मज्ञानरूपं आतिष्ठ आश्रय । तत्र च प्रथमं कर्मयोगमेव ज्ञानसिद्ध्यर्थमाचरेत्याह — **उत्तिष्ठे**ति । युद्धायोत्तिष्ठ । भारतेत्यनेन भरतवंशोद्भवस्य तव स्वविहितं युद्धानुष्ठानमेव 'सुखदुःखे समे कृत्वा' [ २ । ३८ ] इत्यादिप्रागुक्तरीत्या कर्मयोग इति दर्शितम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— तस्मात्त्वमपि साङ्ख्यबुद्ध्याऽनात्मभूतं संशयं छित्त्वोक्तं योगमातिष्ठ युद्धाय च स्वकर्मणे वद्युक्तो भव; तदापि निर्बन्धनतेति भावः ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— यतः संशयात्मा न पश्यति आत्मज्ञानवन्तं च कर्माणि न निबध्नन्ति तस्मादात्मज्ञानेन संशयं त्यजेत्याह— **तस्मादि**ति । हे भारत सत्कुलोत्पन्न ! संशयकरणायोग्य ! यस्मात् संशयेन नश्यति तस्मादात्मनः अज्ञानसम्भूतं आत्मस्वरूपाज्ञानोत्पन्नं हृत्स्थं हृदिस्थं एनं प्रत्यक्षमनुभूयमानं मद्वचनेष्वविश्वासात्मकं संशयं ज्ञानासिना ज्ञानात्मकखड्गेन छित्वा योगं मदात्मकं मत्प्राप्त्यर्थं आतिष्ठ कुरु, उत्तिष्ठ सावधानो भव ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— तस्मादिति । हृत्स्थं बुद्धिस्थं ज्ञानासिना ज्ञानखड्गेन योगं सम्यग्दर्शनोपायं निष्कामकर्म आतिष्ठ कुरु, उत्तिष्ठ युद्धायेति शेषः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नैलकण्ठीये भारतभावदीपे चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

# श्रीमद्भगवद्गीतायाश्चतुर्थाध्यायस्य माहात्म्यम् ४ ।

श्रीभगवानुवाच—
चतुर्थस्यापि माहात्म्यमाख्यास्याम्यधुना शृणु ।
बदरीत्वं समुत्सृज्य येन कन्ये दिवं गते ॥ १ ॥
श्रीरुवाच—
कथं कन्ये दिवं याते बदरीत्वं विसृज्य वै ।
ते के चाऽऽस्तां पुरा देव ! कथं प्राप्ते तु मुख्यताम् २
एतद्वेदितुमिच्छामि नाथ ! वक्तुं त्वमर्हसि ।
नहि देवानुतृप्यामि शृण्वती परमां कथाम् ॥ ३ ॥
श्रीभगवानुवाच—
अस्ति भागीरथीतीरे नाम्ना वाराणसी पुरी ।
भरतो नाम युक्तात्मा तत्र विश्वेश्वरालये ॥ ४ ॥
नित्यमात्मरतस्तुर्यं जपत्यध्यायमादरात् ।
तदभ्यासाददुष्टात्मा न द्वन्द्वैरभिभूयते ॥ ५ ॥
काले कदाचन क्रीडन्ययौ स नगराद्बहिः ।
उद्यानवर्तिनो देवान्दिदृक्षुः स तपोधनः ॥ ६ ॥
विशश्राम तयोर्मूले बदर्योर्न्यपतत्तले ।
उपधाय तयोरेकामन्यामालम्ब्य चाङ्घ्रिणा ॥ ७ ॥
तपस्विनि ततो याते बदर्यौ च तथा द्वयम् ।
शुष्कं निष्पत्रशाखं च दिवसैः पञ्चषैरभूत् ॥ ८ ॥
गृहे शुचिनि विप्राणां जज्ञाते कन्यके ततः ।
वर्धमानं तयोर्युग्मं सप्तभिः परिवत्सरैः ॥ ९ ॥
विहृत्य दूरदेशेभ्यो यतिमायान्तमैक्षत ।
गृहीत्वा चरणौ तस्य वचः सूनृतमब्रवीत् ॥ १० ॥
कन्यायुग्ममुवाच—
त्वत्प्रसादादेव मुने ! मोचितं द्वन्द्वमावयोः ।
उत्सृज्य बदरीभावं मानुष्यं प्रत्यपद्यत ॥ ११ ॥
श्रीभगवानुवाच—
एवमुक्तो मुनिस्ताभ्यां विस्मितः प्रत्युवाच सः ॥
मुनिरुवाच—
कदा वत्से युवां केन हेतुना मोचिते मया ।
युवयोर्बदरीत्वे च हेतुं नूनं न वेद्म्यहम् ॥ १२ ॥
श्रीभगवानुवाच—
ऊचतुः कन्यके तस्मै बादर्ये हेतुमात्मनः ।
आदौ विमोचने तस्माद्बुत्स्यजादपि कारणम् ॥१४॥
कन्यके ऊचतुः—
अस्ति गोदावरीतीरे तीर्थं पुण्यप्रदं नृणाम् ।
छिन्नपापमिति ख्यातं परां कोटिमवाप यत् ॥ १५ ॥
तत्र सत्यतपा नाम तपस्तेपे सुदारुणम् ।
ग्रीष्मे महति दीप्तानां मध्यगो जातवेदसाम् ॥ १६ ॥
वर्षासु जलधाराभिर्नित्यमासिक्तमूर्धजः ।
शिशिरे च वसन्नप्सु बिभ्रत्कण्टकितां तनुम् ॥ १७ ॥
विशुद्धः सततं काले तपस्तप्त्वा स संयमी ।
आत्मन्येव रतिं चक्रे परां प्राप्य सुनिर्वृतिम् ॥ १८ ॥
सदा फलानि बिभ्रत्सु सान्द्रच्छायेषु शाखिषु ।
निर्मत्सरेषु सत्त्वेषु बद्ध्वा प्रीतिं परामपि ॥ १९ ॥
तपःफलानुसन्धानवैदुष्येनोपपादिताम् ।
ब्रह्माऽऽख्येनं स्वयं गच्छन्नुपतस्थे तमन्वहम् ॥ २० ॥
तेन सङ्कोचहीनत्वाद्ब्रह्मण्युपगतेऽन्वहम् ।
तद्ध्यानानुगतव्यक्तेर्ववृधे तस्य तत्तपः ॥ २१ ॥
विमुक्तकल्पं मन्वानः समृद्धादात्मनः पदात् ।
अन्तरायशतं चक्रे ततो भीतः पुरन्दरः ॥
आहूयाप्सरसां मध्यादावां तुल्यं समादिशत् ॥२२॥
इन्द्र उवाच—
कुरुतं तत्तपोविघ्नं मनुष्याचरितं युवाम् ।
यो मां पदादवष्टभ्य स्वाराज्यं भोक्तुमिच्छति॥२३॥
कन्यके ऊचतुः—
इति सन्देशमापन्ने पुरस्ताच्च बिडौजसः ।
गोदावरीमगच्छाव स मुनिर्यत्र वर्तते ॥ २४ ॥
मृदङ्गैर्मन्द्रगम्भीरैर्वेणुभिः कलवादिभिः ।
अप्सरोभिः कलं गीतं तन्वतीभिः समन्वितम् ॥ २५ ॥
उद्वहन्त्यौ पृथुश्रोणीं घनपीनपयोधरे ।
स्मयस्मेरमुखाम्भोजे किञ्चिदाकुञ्चितालके ॥ २६ ॥
मणिकुण्डलघृष्टांसे पुण्डरीकोज्ज्वलेक्षणे ।
तनुमध्ये सुवृत्तोरू वहन्त्यौ च समे पदे ॥ २७ ॥
नृत्यन्त्यौ भोगिवस्यार्थे स्वरतालयानुगम् ।
दर्शयन्त्यौ स्वतः कृत्स्नां गतिं भावानुगामिनीम् ॥२८॥
मृदूपक्रमसुत्पन्नं मन्दं मन्दं विवर्धितम् ।
गर्जयामास दिक्चक्रं तत्तयोर्नृत्यमानयोः ॥ २९ ॥
ततो जहार वेगेन वायुर्वासः सुशीतलः ।
ईषदुच्छ्वसिते चैले दर्शयन्त्यौ पयोधरौ ॥ ३० ॥
उद्धर्षयन्ती कन्दर्पमुल्बणा गतिरावयोः ।
कोपमुत्पादयामास मुनेरविकृतात्मनः ॥ ३१ ॥
ततः शशाप कोपेन जलमुत्सृज्य पाणिना ।
बदरीत्वं प्रपद्येथां जाह्नवीरोधसीति नौ ॥ ३२ ॥
आवाभ्यां पारतन्त्र्येण यद्दुश्चरितमास्थितम् ।
तत्क्षमस्व विनम्राभ्यां मुनिः पश्चात्प्रसादितः ॥ ३३ ॥
ततः शापविमोक्षं नौ कल्पयामास पुण्यधीः ।
भरतागमनान्तोऽयमिति सत्यतया मुनिः ॥ ३४ ॥
मर्त्येषु जन्मलाभश्च स्मृतिश्चातीतजन्मनाम् ।
आवयोरन्तिकं गत्वा बदरीभूतयोस्ततः ॥ ३५ ॥
स्मरता तुर्यमध्यायं भवता निष्कृतिः कृता ।
तत्तावत्प्रणमावस्त्वां शापादेव न केवलात् ॥
घोरादपि च संसारात्त्वयैतेन विमोचिते ॥ ३६ ॥
श्रीभगवानुवाच—
एवमुक्तो मुनिस्ताभ्यामतिप्रीतमनास्ततः ।
पूजितस्ते समामन्त्र्य यथागतमसौ ययौ ॥
कन्ये चतुर्थमध्यायं जेपतुर्नित्यमादरात् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताचतुर्थाध्यायमहिमकथनं नाम चतुस्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ५ ]

**कर्मयोगस्य सौकर्यं शैघ्र्यं काश्चन तद्विधाः ।**
**ब्रह्मज्ञानप्रकारश्च पञ्चमाध्याय उच्यते ॥ ९ ॥**

श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

तृतीयचतुर्थाभ्यां यथांशं सङ्गतिप्रदर्शनपूर्वकमयं श्लोकः पञ्चमारम्भे व्याख्यातः । चतुर्थेऽध्याये कर्मयोगस्य ज्ञानाकारतापूर्वकस्वरूपभेदः ज्ञानांशस्य च प्राधान्यमुक्तम् । ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि कर्मयोगस्यान्तर्गतात्मज्ञानत्वादप्रमादत्वात्सुशकत्वान्निरपेक्षत्वाच्च ज्यायस्त्वं तृतीय एवोक्तम्; इदानीं कर्मयोगस्यात्मप्राप्तिसाधनत्वे ज्ञाननिष्ठायाः शैघ्र्यं, कर्मयोगान्तर्गताकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारं च प्रतिपाद्य तन्मूलं ज्ञानं च विशोध्यते इति । सौकर्यस्यात्रानुद्धरणं पूर्वोक्तानुवादताज्ञापनार्थम् । सौकर्यशब्देनात्र 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते' [ ५।३ ] इत्यस्य हेतुर्दर्शितः । शैघ्र्यं तु 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति' [ ५।६ ] इत्युक्तम् । अत्र विधाशब्दइति कर्तव्यतापरः; तथा खलु 'नैव किञ्चित्करोमि' [५।८] इत्यादेरधिष्ठिका—'यतः सौकर्याच्छैघ्र्याच्च कर्मयोग एव श्रेयानतस्तदपेक्षितं शृणु' [रा.भा. ५।८ ] इति । अकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारशब्दोऽप्येतत्परः । ब्रह्मशब्दोऽत्र ब्रह्मसमानाकारशुद्धात्मविषयः। ज्ञानशब्दश्चात्र समदर्शनरूपज्ञानविपाकविश्रान्तः। प्रकारशब्दस्तु तद्धेतुभूतप्रकारार्थः । अत एव हि 'येन प्रकारेणावस्थितस्य कर्मयोगिनः समदर्शनरूपो ज्ञानविपाको भवति तं प्रकारमुपदिशति' [रा.भा.५।२०] इत्युक्त्वा 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य' [५।२०] इत्यादिक्रमवतारितम् । षष्ठारम्भस्त्वेवं सङ्गमितः 'उक्तः कर्मयोगः सपरिकरः, इदानीं ज्ञानयोगकर्मयोगसाध्यात्मावलोकनरूपयोगाभ्यासविधिरुच्यते; तत्र कर्मयोगस्य निरपेक्षयोगसाधनत्वं द्रढयितुं ज्ञानाकारः कर्मयोगो योगशिरस्कोऽनूद्यते' [रा. भा. ६।१ ] इति । एतेन 'योगी युञ्जीत' [६।१०] इत्यतः पूर्वस्य ग्रन्थस्यानुवादरूपत्वात्सङ्ग्रहे नोपन्यास इति व्यञ्जितम् ।

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः

# सन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ५ ।

कर्मसन्न्यासकर्मयोगयोर्मध्ये कस्य प्राशस्त्यमित्यर्जुनस्य प्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच— सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण ! पुनर्योगं च शंससि ।**
**यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ १ ॥**

### १ शाङ्करभाष्यम् ।

'कर्मण्यकर्म यः पश्येत्' इत्यारभ्य 'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्' [ ४ । १८ ] 'ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं' [ ४।१९ ] 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्' [ ४।२१ ] यदृच्छालाभसन्तुष्टः' [ ४।२२ ] 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः'[ ४ । २४ ] 'कर्मजान्विद्धि तान्सर्वान्' [४।३२] 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ !' [४।३३] 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' [ ४ । ३७ ] 'योगसन्न्यस्तकर्माणं' [ ४ । ४१ ] इत्यन्तैर्वचनैः सर्वकर्मसन्न्यासमवोचद्भगवान्, 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ' [ ४।४२ ] इत्यनेन वचनेन योगं च कर्मानुष्ठानलक्षणमनुतिष्ठेत्युक्तवान् । तयोरुभयोश्च कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोः स्थितिगतिवत्परस्परविरोधादेकेन सह कर्तुमशक्यत्वात्कालभेदेन चानुष्ठानविधानाभावात्; अर्थादेतयोरन्यतरकर्तव्यताप्राप्तौ सत्यां यत्प्रशस्यतरमेतयोः कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोस्तत्कर्तव्यं, नेतरत्; इत्येवं मन्यमानः प्रशस्यतरबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच 'सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण !' इत्यादिना ।

### २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

पूर्वोत्तराध्याययोः सम्बन्धमभिदधानो वृत्तानुवादपूर्वकमर्जुनप्रश्नस्याभिप्रायं प्रदर्शयितुं प्रक्रमते— **कर्मणीत्या**दिना इत्यारभ्य कर्मण्यकर्मदर्शनमुक्त्वा तत्प्रशंसा प्रसारितेत्याह— **स युक्त** इति । ज्ञानवन्तं सर्वाणि कर्माणि लोकसङ्ग्रहार्थं कुर्वन्तं ज्ञानलक्षणेनाग्निना दग्धसर्वकर्माणं कर्मप्रयुक्तबन्धविधुरं विवेकवन्तो वदन्तीति ज्ञानवतो ज्ञानफलभूतं सन्न्यासं विवक्षन् विविदिषोः साधनरूपमपि सन्न्यासं भगवान्विवक्षितवानित्याह— **ज्ञानाग्नी**ति । 'निराशीः' [ ४।२१ ] इत्यारभ्य शरीरस्थितिमात्रकारणं कर्म शरीरस्थितावपि सङ्गरहितः सन्नाचरन्धर्माधर्मफलभागी न भवतीत्यपि पूर्वोत्तराभ्यामध्यायाभ्यां द्विविधं सन्न्यासं सूचितवानित्याह— **शारीर**मिति । 'यदृच्छा'–[४।२२] इत्यादावपि सन्न्यासः सूचितस्तद्धर्मकलापोपदेशादित्याह— **यदृच्छे**ति । ज्ञानस्य यज्ञत्वसम्पादनपूर्वकं प्रशंसावचनादपि कर्मसन्न्यासो दर्शितो ज्ञाननिष्ठस्येत्याह— **ब्रह्मार्पणमि**ति । ज्ञानयज्ञस्तुत्यर्थं नानाविधान्यज्ञानन्नूद्य तेषां देहादिव्यापारजन्यत्ववचनेनाऽऽत्मनो निर्व्यापारत्वविज्ञानफलाभिलाषादपि यथोक्तमात्मानं विविदिषोः सर्वकर्मसन्न्यासेऽधिकारो ध्वनित इत्याह— **कर्मजानि**ति । समस्तस्यैवावशेषवर्जितस्य कर्मणो ज्ञाने पर्यवसानाभिधानाच्च जिज्ञासोः सर्वकर्मसन्न्यासः सूचित इत्याह— **सर्वमि**ति । 'तद्विद्धि' [४।३४] इत्यादिना ज्ञानप्राप्त्युपायं प्रणिपातादि प्रदर्श्य प्राप्तेन ज्ञानेनातिशयमाहात्म्यवता सर्वकर्मणां निवृत्तिरेवेति वदता च ज्ञानार्थिनः सन्न्यासेऽधिकारो दर्शितो भगवतेत्याह— **ज्ञानाग्नि**रिति । ज्ञानेन समुच्छिन्नसंशयं तस्मादेव ज्ञानात्कर्माणि सन्न्यस्य व्यवस्थितमप्रमत्तं वशीकृतकार्यकरणसङ्घातवन्तं प्रातिभासिकानि कर्माणि न निबध्नन्तीत्यपि द्विविधः सन्न्यासो भगवतोक्त इत्याह— **योगे**ति । 'कर्मणि' [४।१८] इत्यारभ्य 'योगसन्न्यस्तकर्माणं'[ ४।४१] इत्यन्तैरुदाहृतैर्वचनैरुक्तं सन्न्यासमुपसंहरति— **इत्यन्तै**रिति । तर्हि कर्मसन्न्यासस्यैव जिज्ञासुना ज्ञानवता चाऽऽदरणीयत्वात् कर्मानुष्ठानमनादेयमापन्नमित्याशङ्क्योक्तमर्था-

१ कर्मणामिति षष्ठ्यन्तमुभयत्र सम्बद्ध्यते । कर्मणां सन्न्यासं, कर्मणां योगं चेत्यर्थः । एकं मुख्यम् , भगवच्छंसनेनैवोभयोरपि श्रेयस्त्वसिद्ध्याऽन्यतरश्रेयस्त्वप्रश्नानुपपत्तेः प्रश्नस्यास्य श्रेयस्त्वतारतम्यविषयत्वावसायात् । 'एके मुख्यान्यकेवलाः' (३।३।१६) इत्यमरः । 'एतेन एतयोर्यच्छ्रेयः' इत्यनेनैव सिद्धेऽन्यतरग्रहणे एकपदोपादानस्याधिक्यशङ्कापि छिन्नमूला ॥ एतयोः यत् मे मम श्रेयः, तद्ब्रूहीत्यपि सम्बन्धः । स्वकर्तव्यविषयकप्रश्नस्यैवात्र समुचितत्वात् , 'येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' [ ३।२ ] इति पूर्वप्रश्नाच्च । सुनिश्चितमिति श्रेयोविशेषणम् ; 'यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं' ( २।७ ) 'एकं वद निश्चित्य' (३।२) 'निश्चितं मतम्' (१८।६) इत्यादिदर्शनात् । पुनःपदस्वारस्यात्क्रियाविशेषणकल्पनमपि नानुपपन्नम् । —अविगीता ।

न्तरमनुवदति— छित्त्वैनमिति। कर्मतत्त्यागयोरुक्तयोरेकेनैव पुरुषेणानुष्ठेयत्वसम्भवान्न विरोधोऽस्तीत्याशङ्क्य युगपद्वा क्रमेण वाऽनुष्ठानं ? इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— उभयोश्चेति। द्वितीयं प्रत्याह— कालभेदेनेति। उक्तयोर्द्वयोरेकेन पुरुषेणानुष्ठेयत्वासम्भवे कथं कर्तव्यत्वसिद्धिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— अर्थादिति। द्वयोरुक्तयोरेकेन युगपत्क्रमाभ्यामनुष्ठानानुपपत्तेरित्यर्थः। अन्यतरस्य कर्तव्यत्वे कतरस्येति कुतो निर्णयः ? द्वयोः सन्निधानाविशेषादित्याशङ्क्याऽऽह— यत्प्रशस्यतरमिति। भगवता कर्मणां सन्न्यासो योगश्चोक्तः, न च तयोः समुच्चित्यानुष्ठानं; तेनान्यतरस्य श्रेष्ठस्यानुष्ठेयत्वे तद्बुभुत्सया प्रश्नोपपत्तिरित्युपसंहरति— इत्येवमिति।

१ शां. भा.— ननु चाऽऽत्मविदो ज्ञानयोगेन निष्ठां प्रतिपिपादयिषन् पूर्वोदाहृतैर्वचनैर्भगवान्सर्वकर्मसन्न्यासमवोचत्, नत्वनात्मज्ञस्य; अतश्च कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोर्भिन्नपुरुषविषयत्वात् अन्यतरस्य प्रशस्यतरत्वबुभुत्सया प्रश्नोऽनुपपन्नः। सत्यमेव त्वदभिप्रायेण प्रश्नो नोपपद्यते, प्रष्टुः स्वाभिप्रायेण पुनः प्रश्नो युज्यत एवेति वदामः। कथं ? पूर्वोदाहृतैर्वचनैर्भगवता कर्मसन्न्यासस्य कर्तव्यतया विवक्षितत्वात् प्राधान्यम्; अन्तरेण च कर्तारं तस्य कर्तव्यत्वासम्भवात्। अनात्मविदपि कर्ता पक्षे प्राप्तोऽनूद्यत एव, न पुनरात्मवित्कर्तृकत्वमेव सन्न्यासस्य विवक्षितमिति; एवं मन्वानस्यार्जुनस्य कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोरविद्वत्पुरुषकर्तृकत्वमप्यस्तीति पूर्वोक्तेन प्रकारेण तयोः परस्परविरोधादन्यतरस्य कर्तव्यत्वे प्राप्ते प्रशस्यतरं च कर्तव्यं, नेतरत्; इति प्रशस्यतरविविदिषया प्रश्नो नानुपपन्नः।

२ आ. शां. व्या.— नायं प्रष्टुरभिप्रायः, कर्मसन्न्यासकर्मयोगयोर्भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वस्योक्तत्वादेकस्मिन्पुरुषे प्राप्त्यभावादिति शङ्कते— नन्विति। चोद्यमङ्गीकृत्य परिहरति— सत्यमेवेति। कीदृशस्तर्हि प्रष्टुरभिप्रायो येन प्रश्नप्रवृत्तिः ? इति पृच्छति— कथमिति। एकस्मिन्पुरुषे कर्मतत्त्यागयोरस्ति प्राप्तिरिति प्रष्टुरभिप्रायं प्रतिनिर्देष्टुं प्रारभते— पूर्वोदाहृतैरिति। यथा "स्वर्गकामो यजेत" [ आप. श्रौ. १०।१।२।१ ] इति स्वर्गकामोद्देशेन यागो विधीयते, न तु तस्यैवाधिकारः, नान्यस्य इत्यपि प्रतिपाद्यते, वाक्यभेदप्रसङ्गात्; तथाऽनात्मवित्कर्ता सन्न्यासपक्षे प्राप्तोऽनूद्यते, न त्वात्मवित्कर्तृकत्वमेव सन्न्यासस्य नियम्यते, वैराग्यमात्रेणाज्ञस्यापि सन्न्यासविधिदर्शनात्। तस्मात्कर्मतत्त्यागयोरविद्वत्कर्तृकत्वमस्तीति मन्वानस्यार्जुनस्य प्रश्नः सम्भवतीति भावः। भवतु सन्न्यासस्य कर्तव्यत्वविवक्षा, तथापि कथं प्रशस्यतरबुभुत्सया प्रश्नप्रवृत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— प्राधान्यमिति। तथापि कथमेकस्मिन्पुरुषे तयोरप्राप्तावुक्ताभिप्रायेण प्रश्नवचनं प्रकल्प्यते ? तत्राऽऽह— अनात्मविदपीति। आत्मविदो विद्यासामर्थ्यात्कर्मत्यागध्रौव्यवदितरस्यापि सति वैराग्ये तत्त्यागस्याऽऽवश्यकत्वात्तत्र कर्ताऽसौ प्राप्तोऽत्रानूद्यते। तथाच कर्मतत्त्यागयोरेकस्मिन्नविदुषि प्राप्तेर्व्यक्तत्वादुक्ताभिप्रायेण प्रश्नप्रवृत्तिरविरुद्धेत्यर्थः। सन्न्यासस्याऽऽत्मवित्कर्तृत्वमेवात्र विवक्षितं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्य कर्त्रन्तरपर्युदासः सन्न्यासविधिश्चेत्यर्थभेदे वाक्यभेदप्रसङ्गान्मैवमित्याह— न पुनरिति। इतिशब्दो वाक्यभेदप्रसङ्गहेतुद्योतनार्थः। ततः किं ? इत्याशङ्क्य फलितमाह— एवमिति। कर्मानुष्ठानकर्मसन्न्यासयोरविद्वत्कर्तृकत्वमप्यस्तीत्येवं मन्वानस्यार्जुनस्य प्रशस्यतरविविदिषया प्रश्नो नानुपपन्न इति सम्बन्धः। तयोः समुच्चित्यानुष्ठानसम्भवे कथं प्रशस्यतरविविदिषा ? इत्याशङ्क्याऽऽह— पूर्वोक्तेनेति। उभयोश्चेत्यादावुक्तप्रकारेण कर्मतत्त्यागयोर्मिथो विरोधान्न समुच्चित्यानुष्ठानं सावकाशमित्यर्थः। भवतु तर्हि यस्य कस्यचिदन्यतरस्यानुष्ठेयत्वमिति कुत उक्ताभिप्रायेण प्रश्नप्रवृत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— अन्यतरस्येति। उभयप्राप्तौ समुच्चयानुपपत्तावन्यतरपरिग्रहे विशेषस्यान्वेष्यत्वादुक्ताभिप्रायेण प्रश्नोपपत्तिरित्यर्थः।

१ शां. भा.— प्रतिवचनवाक्यार्थनिरूपणेनापि प्रष्टुरभिप्राय एवमेवेति गम्यते। कथं ? 'सन्न्यासकर्मयोगौ निःश्रेयसकरौ, तयोस्तु...... कर्मयोगो विशिष्यते' [ ५।२ ] इति प्रतिवचनमेतन्निरूप्यं, किमनेनाऽऽत्मवित्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोः निःश्रेयस्करत्वं प्रयोजनमुक्त्वा तयोरेव कुतश्चिद्विशेषात्कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वमुच्यते? आहोस्विदनात्मवित्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोस्तदुभयमुच्यते ? इति। किञ्चातो यद्यात्मवित्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोर्निःश्रेयसकरत्वं, तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वमुच्यते। यदि वाऽनात्मवित्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोस्तदुभयमुच्यते ? इति। अत्रोच्यते— आत्मवित्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोरसम्भवात्तयोर्निःश्रेयसकरत्ववचनं तदीयाच्च कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानमित्येतदुभयमनुपपन्नम्। यद्यनात्मविदः कर्मसन्न्यासस्तत्प्रतिकूलश्च कर्मानुष्ठानलक्षणः कर्मयोगः सम्भवेतां, तदा तयोर्निःश्रेयसक-

रत्वोक्तिः कर्मयोगस्य च कर्मसन्न्यासाद्विशिष्टत्वाभिधानमित्येतदुभयमुपपद्यते। आत्मविदस्तु सन्न्यासकर्मयोगयोरसम्भवात्तयोर्निःश्रेयसकरत्वाभिधानं, कर्मसन्न्यासाच्च कर्मयोगो विशिष्यत इति चानुपपन्नम्। अत्राऽऽह–किमात्मविदः सन्न्यासकर्मयोगयोरप्यसम्भवः? आहोस्विदन्यतरस्यासम्भवः? यदा चान्यतरस्यासम्भवस्तदा किं कर्मसन्न्यासस्य? उत कर्मयोगस्य? इत्यसम्भवे कारणं च वक्तव्यमिति।

२ आ. शां. व्या.— इतश्चाविद्वत्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोः कतरः श्रेयान्? इति प्रष्टुरभिप्रायो भातीत्याह— **प्रतिवचने**ति। किं तत्प्रतिवचनं कथं वा तन्निरूपणं? इति पृच्छति— **कथमि**ति। तत्र प्रतिवचनं दर्शयति— **सन्न्यासे**ति। तन्निरूपणं कथयति— **एतदि**ति। **तदुभयमि**ति निःश्रेयसकरत्वं कर्मयोगस्य श्रेष्ठत्वं चेत्यर्थः। गुणदोषविभागविवेकार्थं पृच्छति— **किञ्चे**ति। अतोऽस्मिन्नाद्ये पक्षे किं दूषणं? अस्मिन्वा द्वितीये पक्षे किं फलं? इति प्रश्नार्थः। तत्र सिद्धान्ती प्रथमपक्षे दोषमादर्शयति— **अत्रेत्या**दिना। तदेवानुपपन्नत्वं व्यतिरेकद्वारा विवृणोति— **यदीत्या**दिना। निःश्रेयसकरत्वोक्तिरित्यत्र पारम्पर्येणेति द्रष्टव्यम्। विशिष्टत्वाभिधानमिति प्रतियोगिनोऽसहायत्वादस्य च शुद्धिद्वारा ज्ञानार्थत्वादित्यर्थः। आत्मज्ञस्य कर्मसन्न्यासकर्मयोगयोरसम्भवे दर्शिते चोदयति— **अत्राऽऽहे**ति। चोदयिता निर्धारणार्थं विमृशति— **किमित्या**दिना। अन्यतरासम्भवेऽपि सन्देहात्प्रश्नोऽवतरतीत्याह— **यदा** चेति। यस्य कस्यचिदन्यतरस्यासम्भवो भविष्यतीत्याशङ्क्य कारणमन्तरेणासम्भवो भवन्नतिप्रसङ्गी स्यादिति मन्वानः सन्नाह— **असम्भव** इति।

१ **शां. भा.**— अत्रोच्यते– आत्मविदो निवृत्तमिथ्याज्ञानत्वाद्विपर्ययज्ञानमूलस्य कर्मयोगस्यासम्भवः स्यात्। जन्मादिसर्वविक्रियारहितत्वेन निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेन यो वेत्ति तस्याऽऽत्मविदः सम्यग्दर्शनेनापास्तमिथ्याज्ञानस्य निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं सर्वकर्मसन्न्यासमुक्त्वा तद्विपरीतस्य मिथ्याज्ञानमूलकर्तृत्वाभिमानपुरस्सरस्य सक्रियात्मस्वरूपावस्थानरूपस्य कर्मयोगस्येह शास्त्रे तत्रतत्राऽऽत्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधादभावः प्रतिपाद्यते यस्मात्, तस्मादात्मविदो निवृत्तमिथ्याज्ञानस्य विपर्ययज्ञानमूलः कर्मयोगो न सम्भवतीति युक्तमुक्तं स्यात्। केषु केषु पुनरात्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेष्वात्मविदः कर्माभावः प्रतिपाद्यत इति। अत्रोच्यते–'अविनाशि तु तद्विद्धि' [२।१७] इति प्रकृत्य 'य एनं वेत्ति हन्तारं' [२।१९] 'वेदाविनाशिनं नित्यं' [२।२१] इत्यादौ तत्र तत्राऽऽत्मविदः कर्माभाव उच्यते।

२ आ. शां. व्या.— आत्मविदः सकारणं कर्मयोगासम्भवं सिद्धान्ती दर्शयति— **अत्रे**ति। सङ्ग्रहवाक्यं विवृण्वन्नात्मवित्त्वं विवृणोति— **जन्मादी**ति। तस्य यदुक्तं निवृत्तमिथ्याज्ञानत्वं तदिदानीं व्यनक्ति— **सम्यगि**ति। विपर्ययज्ञानमूलस्येत्यादिनोक्तं प्रपञ्चयति— **निष्क्रिये**ति। यथोक्तसन्न्यासमुक्त्वा ततो विपरीतस्य कर्मयोगस्याभावः प्रतिपाद्यत इति सम्बन्धः। वैपरीत्यं स्फोरयन्कर्मयोगमेव विशिनष्टि— **मिथ्याज्ञाने**ति। मिथ्या च तदज्ञानं चेत्यनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं तन्मूलोऽहङ्कर्ता इत्यात्मनि कर्तृत्वाभिमानस्तज्जन्यस्येति यावत्। यथोक्तं सन्न्यासमुक्त्वा यथोक्तकर्मयोगस्यासम्भवप्रतिपादने हेतुमाह— **सम्यग्ज्ञाने**ति। कुत्र तदभावप्रतिपादनं? तदाह— **इहे**ति। उक्तं हेतुं कृत्वाऽऽत्मज्ञस्य कर्मयोगासम्भवे फलितमाह— **यस्मादि**ति। इह शास्त्रे तत्र तत्रेत्यादावुक्तमेव व्यक्तीकर्तुं पृच्छति— **केषु केष्वि**ति। तानेव प्रदेशान्दर्शयति— **अत्रे**ति।

१ **शां. भा.**— ननु च कर्मयोगोऽप्यात्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु तत्र तत्र प्रतिपाद्यत एव; तद्यथा 'तस्माद्युध्यस्व भारत!' [२।१८] 'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य' [२।३१] 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इत्यादावतश्च कथमात्मविदः कर्मयोगस्यासम्भवः स्यात्? इति। अत्रोच्यते–सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानतत्कार्यविरोधात्, 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां' [३।३] इत्यनेन साङ्ख्यानामात्मतत्त्वविदामनात्मवित्कर्तृककर्मयोगनिष्ठातो निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणाया ज्ञानयोगनिष्ठायाः पृथक्करणात्, कृतकृत्यत्वेनाऽऽत्मविदः प्रयोजनान्तराभावात्, 'तस्य कार्यं न विद्यते' [३।१७] इति कर्तव्यान्तराभाववचनाच्च।

२ आ. शां. व्या.— आत्मस्वरूपनिरूपणप्रदेशेषु सन्न्यासप्रतिपादनादात्मविदः सन्न्यासो विवक्षितश्चेत्, तर्हि कर्मयोगोऽपि तस्य कस्मान्न भवति ? प्रकरणाविशेषादिति शङ्कते— **ननु** चेति। आत्मविद्याप्रकरणे कर्मयोगप्रतिपादनमुदाहरति— **तद्य**थेति। प्रकरणादात्मविदोऽपि कर्मयोगस्य सम्भवे फलितमाह— **अतश्चे**ति। आत्मज्ञानोपायत्वेनापि प्रकरणपाठसिद्धौ ज्ञानादूर्ध्वं न्यायविरुद्धं कर्म कल्पयितुमशक्यमिति परिहरति— **अत्रो**च्यत इति। सम्यग्ज्ञानमिथ्याज्ञानयोस्तत्कार्ययोश्च भ्रमनिवृत्तिभ्रमसद्भावयोर्मिथो विरोधात्कर्तृत्वादिभ्रममूलं कर्म सम्यग्ज्ञानादूर्ध्वं न सम्भवतीत्यर्थः। आत्मज्ञस्य कर्मयोगासम्भवे हेत्वन्तरमाह— **ज्ञानयोगेने**ति। इतश्चाऽऽत्मविदो ज्ञानादूर्ध्वं कर्मयोगो न युक्तिमानित्याह— **कृतकृत्यत्वेने**ति। 'ज्ञानवतो नास्ति कर्म' इत्यत्र कारणान्तरमाह— **तस्ये**ति।

**१ शां. भा.— 'न कर्मणामनारम्भात्' [३।४] 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' [५।६] इत्यादिना चाऽऽत्मज्ञानाङ्गत्वेन कर्मयोगस्य विधानात्, 'योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते' [६।३] इत्यनेन चोत्पन्नसम्यग्दर्शनस्य कर्मयोगाभाववचनात्, 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' [४।२१] इति च शरीरस्थितिकारणातिरिक्तस्य कर्मणो निवारणात् 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' [५।८] इत्यनेन च शरीरस्थितिमात्रप्रयुक्तेऽपि दर्शनश्रवणादिकर्मस्वात्मयाथात्म्यविदः 'करोमि' इति प्रत्ययस्य समाहितचेतस्तया सदाऽकर्तव्यत्वोपदेशात्, आत्मतत्त्वविदः सम्यग्दर्शनविरुद्धो मिथ्याज्ञानहेतुकः कर्मयोगः स्वप्नेऽपि न सम्भावयितुं शक्यते यस्मात्, तस्मादनात्मवित्कर्तृकयोरेव सन्न्यासकर्मयोगयोर्निःश्रेयसकरत्ववचनं; तदीयाच्च कर्मसन्न्यासात् पूर्वोक्तात्मवित्कर्तृकसर्वकर्मसन्न्यासविलक्षणात् सत्येव कर्तृत्वविज्ञाने कर्मैकदेशविषयायमनियमादिसहितत्वेन च दुरनुष्ठेयत्वात् सुकरत्वेन च कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानमित्येवं प्रतिवचनवाक्यार्थनिरूपणेनापि पूर्वोक्तः प्रष्टुरभिप्रायो निश्चीयत इति स्थितम्।**

२ आ. शां. व्या.— तर्हि ज्ञानवता कर्मयोगस्य हेयत्ववज्जिज्ञासुनाऽपि तस्य त्याज्यत्वं ज्ञानप्राप्त्या तस्यापि पुरुषार्थसिद्धेरित्याशङ्क्य जिज्ञासोरस्ति कर्मयोगापेक्षेत्याह— **न कर्मणामि**ति। स्वरूपोपकार्यङ्गमन्तरेणाङ्गिस्वरूपानिष्पत्तेर्ज्ञानार्थिना कर्मयोगस्य शुद्ध्यादिद्वारा ज्ञानहेतोरादेयत्वमित्यर्थः। तर्हि ज्ञानवताऽपि ज्ञानफलोपकारित्वेन कर्मयोगो मृग्यतामित्याशङ्क्याऽऽह— **योगारूढस्ये**ति। उत्पन्नसम्यग्ज्ञानस्य कर्माभावे शरीरस्थितिहेतोरपि कर्मणोऽसम्भवान्न तस्य शरीरस्थितिः, तदस्थितौ च कुतो जीवन्मुक्तिः ? तदभावे च कस्योपदेष्टृत्वं ? उपदेशाभावे च कुतो ज्ञानोदयः स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **शारीरमि**ति। विदुषोऽपि शरीरस्थितिरास्थिता चेत्तन्मात्रप्रयुक्तेषु दर्शनश्रवणादिषु कर्तृत्वाभिमानोऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **नैवे**ति। 'तत्त्ववित्' इत्यनेन च समाहितचेतस्तया करोमीतिप्रत्ययस्य सदैवाकर्तव्यत्वोपदेशादिति सम्बन्धः। यत्तु— विदुषः शरीरस्थितिनिमित्तकर्माभ्यनुज्ञाने तस्मिन्कर्तृत्वाभिमानोऽपि स्यादिति तत्राऽऽह— **शारीरे**ति। आत्मयाथात्म्यविदस्तेष्वपि 'नाहं करोमि' इति प्रत्ययस्य 'नैव किञ्चित्करोमि' [५।८] इत्यादावकर्तृत्वोपदेशान्न कर्तृत्वाभिमानसम्भावनेत्यर्थः। यथोक्तोपदेशानुसन्धानाभावे विदुषोऽपि 'करोमि' इति स्वाभाविकप्रत्ययद्वारा कर्मयोगः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मतत्त्वे**ति। यद्यपि विद्वान्यथोक्तमुपदेशं कदाचिन्नानुसन्धत्ते तथापि तत्त्वविद्याविरोधान्मिथ्याज्ञानं तन्निमित्तं कर्म वा तस्य सम्भावयितुमशक्यमित्यर्थः। आत्मवित्कर्तृकयोः सन्न्यासकर्मयोगयोरयोगात्तयोर्निःश्रेयसकरत्वमन्यतरस्य विशिष्टत्वमित्येतदयुक्तमिति सिद्धत्वात् द्वितीयं पक्षमङ्गीकरोति— **यस्मादित्या**दिना। तदीयाच्च कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वाभिधानमिति सम्बन्धः। ननु कर्मयोगेन शुद्धबुद्धेः सन्न्यासो जायमानस्तस्मादुत्कृष्यते, कथं तस्मात्कर्मयोगस्योत्कृष्टत्ववाचोयुक्तिर्युक्ता ? इति तत्राऽऽह— **पूर्वोक्ते**ति। वैलक्षण्यमेव स्पष्टयति— **सत्येवे**ति। स्वाश्रमविहितश्रवणादौ कर्तृत्वविज्ञाने सत्येव पूर्वाश्रमोपात्तकर्मैकदेशविषयसन्न्यासात् कर्मयोगस्य श्रेयस्त्ववचनं 'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तम्' [म.भा.१२।१७५।३७] इत्यादिस्मृतिविरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— **यमनियमादी**ति। * 'आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दम आर्जवम्। प्रीतिः प्रसादो माधुर्यमक्रोधश्च यमा दश ॥ दानमिज्या तपो ध्यानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहौ। व्रतोपवासौ मौनं च स्नानं च नियमा दश' इत्युक्तैर्यमनियमैरन्यैश्चाऽऽश्रमधर्मैर्विशिष्टत्वेनानुष्ठातुमशक्यत्वादुक्तसन्न्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्वोक्तिर्युक्तेत्यर्थः। 'न हि कश्चित्' [३।५] इति न्यायेन कर्मयोगस्येतरापेक्षया सुकरत्वाच्च तस्य विशिष्टत्ववचनं श्लिष्टमित्याह— **सुकरत्वेन चे**ति। प्रतिवचनवाक्यार्थालोचनात्सिद्ध-

---

* ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं(ध्यानं)सत्यमकल्कता। अहिंसास्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः ॥ स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः। नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ॥ [३।३१२;३१३] इति याज्ञवल्क्यः। एतद्भिन्नतरो मनोः पाठः [४।२०४ क्षे. १०; १२]

मर्थमुपसंहरति— इत्येवमिति । सन्न्यासकर्मयोगयोर्मिथो विरुद्धयोः समुच्चित्यानुष्ठातुमशक्ययोरन्यतरस्य कर्तव्यत्वे प्रशस्यतरस्य तद्भावात्तद्भावस्य चानिर्धारितत्वात्तन्निर्दिधारयिषया प्रश्नः स्यादिति प्रश्नवाक्यार्थपर्यालोचनया प्रष्टुरभिप्रायो यथा पूर्वमुपदिष्टस्तथा प्रतिवचनार्थनिरूपणेनापि तस्य निश्चितत्वात्प्रश्नोपपत्तिः सिद्धेत्यर्थः ।

१ शां. भा.—'ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते' [ ३।१ ] इत्यत्र ज्ञानकर्मणोः सहासम्भवे 'यच्छ्रेय एतयोस्तन्मे ब्रूहि' इत्येवं पृष्टोऽर्जुनेन भगवान्साङ्ख्यानां सन्न्यासिनां ज्ञानयोगेन निष्ठा, पुनः कर्मयोगेन योगिनां निष्ठा प्रोक्तेति निर्णयं चकार । 'न च सन्न्यसनादेव केवलात्सिद्धिं समधिगच्छति' [३।४] इति वचनाज्ज्ञानसहितस्य सिद्धिसाधनत्वमिष्टं,कर्मयोगस्य च विधानात् । ज्ञानरहितः सन्न्यासः श्रेयान्किंवा कर्मयोगः श्रेयान्?इत्येतयोर्विशेषबुभुत्सया अर्जुन उवाच-सन्न्यासमिति । सन्न्यासं परित्यागं कर्मणां शास्त्रीयाणामनुष्ठानविशेषाणां शंससि कथयसीत्येतत् , पुनर्योगं च तेषामेवानुष्ठानमवश्यकर्तव्यत्वं शंससि;अतो मे कतरच्छ्रेय इति संशयः किं कर्मानुष्ठानं श्रेयः, किंवा तद्धानं, इति प्रशस्यतरं चानुष्ठेयम् ? अतश्च यच्छ्रेयः प्रशस्यतरमेतयोः कर्मसन्न्यासकर्मानुष्ठानयोर्यदनुष्ठानाच्छ्रेयोवाप्तिर्मम स्यादिति मन्यसे, तदेकमन्यतरत्सहैकपुरुषानुष्ठेयत्वासम्भवान्मे ब्रूहि सुनिश्चितमभिप्रेतं तवेति ॥ १ ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु तृतीये यथोक्तप्रश्नस्य भगवता निर्णीतत्वान्नात्र प्रश्नप्रतिवचनयोः सावकाशत्वमित्याशङ्क्य विस्तरेणोक्तमेव सम्बन्धं पुनः सङ्क्षेपतो दर्शयति— ज्यायसी चेदिति । साङ्ख्ययोगयोर्भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वेन निर्णीतत्वान्न पुनः प्रश्नयोग्यत्वमित्यर्थः । इतोऽपि न तयोः प्रश्नविषयत्वमित्याह— न चेति । एवकारविशेषणाज्ज्ञानसहितसन्न्यासस्य सिद्धिसाधनत्वं भगवतोऽभिमतं 'छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठ' [ ४।४२ ] इति च कर्मयोगस्य विधानात्तस्यापि सिद्धिसाधनत्वमिष्टं, ततश्च निर्णीतत्वान्न प्रश्नस्तद्विषयः सिद्ध्यतीत्यर्थः । केनाभिप्रायेण तर्हि प्रश्नः स्यात्? इत्याशङ्क्य ज्ञानरहितसन्न्यासात्कर्मयोगस्य प्रशस्यतरत्वबुभुत्सयेत्याह— ज्ञानरहित इति । प्रष्टुरभिप्रायमेवं प्रदर्श्य प्रश्नोपपत्तिमुक्त्वा प्रश्नमुत्थापयति— सन्न्यासमिति । तर्हि द्वयं त्वयाऽनुष्ठेयमित्याशङ्क्य तदशक्तेरुक्तत्वात् । प्रशस्यतरस्यानुष्ठानार्थं 'तदिदं' इति निश्चित्य वक्तव्यमित्याह— यच्छ्रेय इति । काम्यानां प्रतिषिद्धानां च कर्मणां परित्यागो नयोच्यते, न सर्वेषामित्याशङ्क्य ' कर्मण्यकर्म ' [ ४।१८ ]इत्यादौ विशेषादर्शनान्नैवमित्याह— शास्त्रीयाणामिति । अस्तु तर्हि शास्त्रीयाशास्त्रीययोरशेषयोरपि कर्मणोस्त्यागः, नेत्याह— पुनरिति । तर्हि कर्मत्यागस्तद्योगश्चेत्युभयमाहर्तव्यमित्याशङ्क्य विरोधान्नैवमित्यभिप्रेत्याऽऽह— अत इति । द्वयोरेकेनानुष्ठानायोगस्योक्तत्वात्कर्तव्यत्वोक्तेश्च संशयो जायते, तमेव संशयं विशदयति— किं कर्मेति । प्रशस्यतरबुभुत्सा किमर्था ? इत्याशङ्क्याऽऽह— प्रशस्यतरं चेति । तस्यैवानुष्ठेयत्वे प्रश्नस्य सावकाशत्वमाह— अतश्चेति । तदेव प्रशस्यतरं विशिनष्टि— यदनुष्ठानादिति । तदेकमन्यतरन्मे ब्रूहीति सम्बन्धः । उभयोरुक्तत्वे सति किमित्येकं वक्तव्यमिति नियुज्यते ? तत्राऽऽह— सहेति । कर्मतत्त्यागयोर्मिथो विरोधादित्यर्थः ॥ १ ॥

३ रामानुजभाष्यम् ।

चतुर्थेऽध्याये कर्मयोगस्य ज्ञानाकारतापूर्वकस्वरूपभेदो ज्ञानांशस्य च प्राधान्यमुक्तम् ; ज्ञानयोगाधिकारिणोऽपि कर्मयोगस्यान्तर्गतात्मज्ञानत्वादप्रमादत्वात् सुकरत्वान्निरपेक्षत्वाच्च ज्यायस्त्वं तृतीय एवोक्तम्; इदानीं कर्मयोगस्यात्मप्राप्तिसाधनत्वे ज्ञाननिष्ठायाः शैघ्र्यं कर्मयोगान्तर्गताकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारं च प्रतिपाद्य तन्मूलं ज्ञानं च विशोध्यते—सन्न्यासमिति । कर्मणां सन्न्यासं ज्ञानयोगं पुनः कर्मयोगं च शंससि । एतदुक्तं भवति— द्वितीयेऽध्याये मुमुक्षोः प्रथमं कर्मयोग एव कार्यः; कर्मयोगेन मृदितान्तःकरणकषायस्य ज्ञानयोगेनात्मदर्शनं कार्यमिति प्रतिपाद्य पुनस्तृतीयचतुर्थयोर्ज्ञानयोगाधिकारदशामापन्नस्यापि कर्मनिष्ठैव ज्यायसी, सैव ज्ञाननिष्ठानिरपेक्षा आत्मप्राप्त्येकसाधनमिति कर्मनिष्ठां प्रशंससि; इति । तत्रैतयोर्ज्ञानयोगकर्मयोगयोरात्मप्राप्तिसाधनभावे यदेकं सौकर्याच्छैघ्र्याच्च श्रेयः श्रेष्ठमिति सुनिश्चितं, तन्मे ब्रूहि ॥ १ ॥

४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

अथ पञ्चमस्यांशतस्तृतीयचतुर्थाभ्यां सङ्गतिप्रदर्शनायोक्तानुक्तांशविवेकेन पञ्चमस्यानुक्तांशे तात्पर्यप्रदर्शनाय चाह— चतुर्थेऽध्याय इति । कर्मयोगस्य ज्ञानाकारतेत्यादिकं चतुर्थाध्यायप्रधानार्थोऽयमिति द्योतनार्थं, सङ्गतिप्रदेशप्रदर्श-

नार्थं च। तृतीय एवेति— कर्तव्यतोपदेशलक्षण एवेत्यर्थः। पञ्चमार्थमाह —इदानीमिति। अत्रैवं सङ्ग्रहश्लोकः— 'कर्मयोगस्य सौकर्यं शैघ्र्यं काश्चन तद्विधाः। ब्रह्मज्ञानप्रकारश्च पञ्चमाध्याय उच्यते' [ गी. सं. ९ ] इति। अत्र 'सौकर्यं शैघ्र्यं' इति सङ्गृहीतत्वेऽपि भाष्ये शैघ्र्यमात्रवचनं सौकर्यस्य तृतीयाध्यायोक्तस्यैवानुवादः पञ्चमे शैघ्र्योपयिकतया क्रियत इति ज्ञापनार्थम्; शैघ्र्यं तु तत्रानुक्तत्वादत्र साक्षात्प्रतिपाद्यम्। 'काश्चन तद्विधाः' 'ब्रह्मज्ञानप्रकारश्च' इत्युभयोर्व्याख्यानरूपेण कर्मयोगेत्यादिना तृतीयचतुर्थाभ्यामंशतः सङ्गतिरुक्ता भवति। ज्ञाननिष्ठाया इति पञ्चमी। तत्र प्रकारशब्देन विशोध्यत इति वचनाच्चानुक्तांशतात्पर्येणापौनरुक्त्यं दर्शितम्। तन्मूलं ज्ञानमिति विपाकदशापन्नज्ञानं विवक्षितम्।

अथ 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' [ ४।३४ ] इत्येतदनुसन्दधानोऽनुक्तमपेक्षितमंशं सञ्जिज्ञासुरुक्तमेवार्थं परिपृच्छन्नर्जुन उवाच 'सन्न्यासं' इति। सन्न्यासयोगशब्दावत्र प्रकृतवक्ष्यमाणसाङ्ख्ययोगविषयतया, नार्थान्तरपराविव्यभिप्रायेणाह— कर्मणां सन्न्यासं ज्ञानयोगमिति। कर्मणामित्येतदुभयान्वितम्। ननु कर्मयोगस्य त्याज्यत्वं क्वचिदपि नोक्तम्, प्रत्युत तस्यैवोपादेयतया प्रपञ्चितम्; न च ज्ञानयोगस्य प्रशंसा क्वापि कृता, येन 'सन्न्यासं... योगं च शंससि' इत्युच्यते; उभयोः प्रशंसने कृतेऽपि विकल्प इत्येव मन्तव्यं, न पुनरन्यतराधिक्यप्रश्नावकाश इत्यत्राह— एतदुक्तमिति। प्रतिपाद्येत्यन्तेन 'सन्न्यासं कर्मणाम्' इत्यस्याभिप्रायो विवृतः। कषायनिवृत्त्यर्थः कर्मयोगः, तन्निवृत्तौ कर्मयोगं परित्यज्य ज्ञानयोग उपादेयः; अतो ज्ञानयोग एवात्मदर्शने साक्षात्साधनमिति द्वितीये प्रतिपादितमिति भावः। पूर्वं सन्न्यस्तस्य पुनर्योगं शंससीति भ्रमव्युदासाय 'शंससि' इत्यनेन पुनःशब्दान्वयमाह— तृतीयचतुर्थयोरिति। 'द्वितीये' इत्येतत् 'तृतीयचतुर्थयोः' इत्येतच्च भाष्यकारैः स्वानुसन्धानेनोक्तम्, न पुनरर्जुनवाक्यानुकारः। अत्र मृदितकषायस्य कर्मयोगस्त्याज्यश्चेत्कथमुपादेयः, ज्ञानयोगस्य दर्शनसाधनत्वे कथमव्यवधानेन तत्सम्भव इति भावः। 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' [३।८] इति ज्यायस्त्वेन शंसनमित्यभिप्रायेणाह प्रशंससीति। तत्रेति द्वयोरप्यव्यवहितसाधनत्वे विवक्षिते इत्यर्थः। एतयोरित्यत्र निर्धारितान्यतरविषय एकशब्दः। तत्र सामान्याकारविवक्षया नपुंसकत्वं, श्रेयश्शब्दविशेषणतया वा। सौकर्याच्छैघ्र्याच्चेति फलस्यैकत्वात्तन्निबन्धनं श्रैष्ठ्यमिहायुक्तमिति भावः। श्रेयः सुनिश्चितमित्यन्वयः। श्रेयस्त्वेन सुनिश्चितमित्यर्थः। क्रियाविशेषणत्वं तु निरर्थकमित्यभिप्रायेणाह श्रेष्ठमिति। सुनिश्चितमिति श्रेयश्शब्दस्य फलादिष्वपि प्रयोगप्राचुर्यात्तद्व्युदासाय तारतम्यप्रश्नानुगुण्येन प्रकृतिप्रत्ययार्थव्यञ्जनाय श्रेष्ठशब्देन व्याख्यातम्। अत्रैकफलसाधनत्वाद्विकल्पे प्राप्ते सौकर्यादिगुणयोगाच्छ्रेयस्त्वोक्तिः॥ १॥

५ आनन्दतीर्थकृतं माध्वभाष्यम्।

**तृतीयाध्यायोक्तमेव कर्मयोगं प्रपञ्चयत्यनेनाध्यायेन 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' [ ४।२२ ] इत्यादिसन्न्यासं 'कुरु कर्मैव' [ ४।१५ ] इत्यादि कर्मयोगं च। नियमनादिना सकललोककर्षणात्कृष्णः। तथोक्तम्–'यतः कर्षसि देवेश! नियम्य सकलं जगत्। अतो वदन्ति मुनयः कृष्णं त्वां ब्रह्मवादिनः' इति महाकौर्मे। सन्न्यासशब्दार्थं भगवानेव वक्ष्यति। अयं प्रश्नाशयः– यदि सन्न्यासः श्रेयोऽधिकः स्यात्, तर्हि सन्न्यासस्येषद्विरोधि युद्धमिति॥ १॥**

६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका।

पूर्वसङ्गतत्वेनैतदध्यायप्रतिपादनमर्थमाह— तृतीयेति। कर्मयोगो नाम कर्माणि कृत्वा तेषां ब्रह्मात्मकत्वज्ञानमिति कश्चित्, तद्व्यावर्तयितुमेवशब्दः। फलकामनादित्यागेनेश्वरार्पणबुद्ध्या वर्णाश्रमविहितकर्मानुष्ठानमेव कर्मयोगोऽत्र प्रपञ्च्यते, तस्यैव पूर्वमुक्तत्वात्, नान्यः, तस्याप्रकृतत्वात्। द्व्यंशश्चायं कर्मयोगः, कामादिवर्जनमीश्वरार्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानं चेति। तत्राद्यं सन्न्यासशब्दोक्तम्, द्वितीयमुपचारेण कर्मयोगशब्दोक्तम्; तदभिप्रायेण योगसन्न्यासयोर्लक्षणं स्पष्टयतीत्यन्यत्रोक्तमिति— सन्न्यासमित्यादिना। कुत्रोक्तमर्जुनोऽनुवदति? इत्यत आह— यदृच्छेति। 'कर्मयोगं' इति वदता 'कर्मणां' इत्येतद्योगशब्देन सम्बध्यत इत्युक्तं भवति। तथा च 'कर्मणां सन्न्यासं त्यागं' इति व्याख्यानमसदिति सूचितम्। 'शंससि' इत्यनेनान्वयः। चतुर्थाध्यायोक्तस्यार्थस्यैतदध्यायोत्थानबीजत्वात्तृतीयाध्यायार्थप्रपञ्चनात्मकस्याप्यस्य चतुर्थानन्तर्यं युक्तमित्यप्यनेन ज्ञापितम्। कृष्णशब्दो वर्णविशेषमात्रवचन इति प्रतीतिनिरासायाह—नियमनादिनेति। 'नित्यनैमित्तिककाम्यनिषिद्धरूपसर्वकर्मत्यागः सन्न्यासशब्दार्थः' इति व्याख्यानं दूषयति— सन्न्यासेति। 'ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी' [ ५।३ ] इति सन्न्यासशब्दस्य भगवतैवान्यथा व्याख्यातत्वात्, तद्विरुद्धं परव्याख्यानमित्यर्थः। यदि सर्वकर्मपरित्यागो न सन्न्यासशब्दार्थः, किन्तु द्वेषादिवर्जनमेव; तर्हि तस्य योगेन विरोधाभावात्सन्न्यासयोगयोर्विरोधाभिप्रायेण श्रेयःप्रश्नोऽनुपपन्नः स्यादित्यत आह— अयमिति। अत्र श्रेय इति यथास्थितं गीतापदमनूद्य सन्न्यासपदानुगुण्येनाधिक इति व्याख्यातम्। नन्वेतत् 'घोरः' इति चोदितं 'श्रेयान्' इति च परिहृतं च, सत्यम्; अतएवात्रेषदित्युक्तमिति अतस्तत्त्यक्त्वा सन्न्यास एव कर्तव्ये किं वैगुण्यमङ्गीकृत्यापि विधीयते युद्धमित्याशयशेषः॥ १॥

७ श्रीमद्धनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम् ।

सन्न्यासकर्मयोगान्यतरश्रैष्ठ्यविविदिषयाऽर्जुन उवाच—सन्न्यासमिति । सकलकर्मसन्न्यासेन शमदमादिसाधनानुष्ठानेन ब्रह्म जिज्ञासमानस्य ब्रह्मावबोधः स्यादेव । तथा मुमुक्षोः सकलकाम्यप्रतिषिद्धकर्मसन्न्यासेन वासुदेवार्चनबुद्ध्या कर्माण्यनुतिष्ठतः सत्त्वशुद्धेर्नान्तरीयकत्वेन सम्बोधः स्यादेवेत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

चतुर्थेऽध्याये कर्मज्ञानयोगौ प्रपञ्चितौ; पञ्चमे तु सन्न्यासस्वरूपनिरूपणमुखेन तावेव प्रपञ्च्येते । तत्र 'शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्' [ ४।२१ ] इत्यादिना कर्मसन्न्यास उक्तः, पुनः 'योगमातिष्ठोत्तिष्ठ' [ ४।४२ ] इति कर्मयोगश्च ; तयोर्यत्प्रशस्यं तदेवानुष्ठेयमिति तद्बुभुत्सयाऽर्जुन उवाच ।

अयमत्रार्जुनस्याभिप्रायः— कर्मसन्न्यासकर्मयोगौ भवतोपदिष्टौ , तयोः किमेकपुरुषानुष्ठेयत्वं ? किंवा भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वम् ? नाद्यः; कर्मतत्त्यागयोः स्थितिगतिवत्परस्परविरुद्धत्वेन युगपदेकस्य तदनुष्ठानासम्भवात् । न च कालभेदेन तत्सम्भवति, विद्वदविद्वदवस्थाभेदेन विरक्त्यविरक्त्यवस्थाभेदेन वा सन्न्यासकर्मयोगयोरेकत्राविरोधादिति वाच्यम्; विद्वत्सन्न्यासस्य विद्योत्तरकालिकत्वेन ज्ञानाङ्गत्वाभावात् ; 'त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्' इत्यादिश्रुत्युक्तस्य ज्ञानार्थसन्न्यासस्यैवात्र विचार्यमाणत्वात्, विरक्तस्यैव कर्मयोगेऽप्यधिकारित्वेन सन्न्यासकर्मयोगयोर्विरक्त्यविरक्त्यवस्थाभेदव्यवस्थाया अप्ययोगात् । अत एकपुरुषानुष्ठेयत्वपक्षे युगपत्कालभेदेन वा तयोरनुष्ठानासम्भवादर्थादन्यतरकर्तव्यताप्राप्तौ यत्प्रशस्तं तदेव कर्तव्यमिति तदेकमेव मां प्रत्युपदेष्टुमुचितम्, न तु द्वयमपि । अत एव न द्वितीयः; कर्मसन्न्यासयोर्भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वे अन्यतरानुष्ठानाय मां प्रत्येकस्यैवोपदेष्टव्यत्वात् । तथा च पक्षद्वयेऽपि कर्मसन्न्यासयोर्मध्ये प्रशस्तमिदमेव त्वदनुष्ठेयमिति निश्चित्य वक्तव्यमिति ।

यद्यपि 'तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्' [ ३।२ ] इति प्रश्ने 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' [ ३।८ ] 'कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्' [ ४।१५ ] इत्यादिना कर्मैव प्रशस्तं मदनुष्ठेयमुक्तम्; तथापि तदुपरि पुनः पुनः कर्मसन्न्यासप्रशंसनान्ममेत्थं प्रतिभाति— कर्मयोग एव प्रथमं मया किमित्यनुष्ठेयः ? सन्न्यास एव कुतो नानुष्ठीयते ? इति । न च 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते । न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' [ ३।४ ] इत्यकर्मणश्चित्तशुद्धिहीनस्य वैराग्यासम्भवात् प्रथमं सन्न्यासो दूषित इति वाच्यम्; विरक्तस्यैव कर्मयोगेऽधिकारित्वेन वैराग्यासम्भवे प्रथमं कर्मयोगस्याप्यसिद्ध्या तदर्थमादौ वैराग्यस्यावश्यसम्पाद्यत्वे सति कर्मयोगवत्कर्मसन्न्यासस्यापि प्रथममविरोधात् । तस्मात् 'कुरु कर्मैव' [ ४।१५ ] इत्यादिपूर्वतनत्वदुपदेशेन मम न सम्यगध्यवसायो जात इति तदर्थमिदानीं वक्तव्यमिदमेव प्रशस्यमनुष्ठेयमिति ।

तदेतदभिप्रेत्य श्लोके सुनिश्चितमित्युक्तम् । सुष्ठु निश्चितं यथा तथा ब्रूहीत्यर्थः । 'सन्न्यासं पुनर्योगं च शंससि' इत्यनेन सन्न्यासकर्मयोगयोरेकपुरुषानुष्ठेयत्वपक्षे विरोधो दर्शितः । 'एकं ब्रूहि' इत्यनेन तयोर्भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वे मां प्रत्येकमेवोपदेष्टव्यमित्येतद्दर्शितम् । 'यच्छ्रेय एतयोः' इत्यनेन च पक्षद्वयेऽपि फलितः प्रश्नार्थो दर्शितः ॥ १ ॥

९ वल्लभाचार्यविरचिता तत्त्वदीपिका ।

साङ्ख्ययोगैकार्थमतं स्वकर्मकरणं बहिः । इत्यबुद्ध्वा निजश्रेयोनिश्चये पृच्छति क्षमम् ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच—सन्न्यासमिति । साङ्ख्यानामेव कर्मणां सन्न्यासं त्यागं कथयसि योगं च । तत्र कर्मणां पुनर्योगे सम्बन्धं वा कथयसि । नहि कर्मसन्न्यासः कर्मयोगश्चैकस्यैकदैव सम्भवतः, विरुद्धस्वरूपत्वात् । तस्मादेकं सुनिश्चितं मम श्रेयो वद ॥ १ ॥

१० श्रीपुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी ।

सन्न्यासं कर्मयोगं च श्रीकृष्णोक्तं धनञ्जयः ।
श्रुत्वा संशयमापन्नः पुनः प्रश्नं चकार ह ॥

अर्जुन उवाच— सन्न्यासमिति । हे कृष्ण सदानन्द आनन्दैकदानयोग्य! कर्मणां सन्न्यासं त्यागं 'न मां कर्माणि' [ ४ । १४ ] इत्यारभ्य 'कृत्वाऽपि न निबध्यते' [ ४ । २२ ] इत्यन्तं शंससि, पुनः 'योगमातिष्ठ' [ ४ । ४२ ] इत्यनेन योगं च शंससि । एतयोरुभयोर्मध्ये एकं सुनिश्चितं निर्धारितं ब्रूहि । च पुनरेतयोरुभयोः सकाशादेकमन्यतरच्छ्रेयः श्रेयोरूपं भक्तिरूपं भवेत्, तन्मे मम त्वदीयस्य सुनिश्चितं संशयरूपं ब्रूहि ॥ १ ॥

११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

तृतीयेऽध्याये 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा' [ ३।३ ] इति विभिन्नाधिकारिकं निष्ठाद्वयं प्रस्तुत्य 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' [ ३।४ ] इत्यादिना कर्मनिष्ठाया ज्ञाननिष्ठाङ्गत्वेन भूयसा निर्बन्धेनानुष्ठेयत्वमुक्तम् ।

'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [२।४७] इत्यादिना चतुर्थे तूत्पन्नसम्यग्दर्शनैः कृतमपि कर्माकृतमेव भवति ज्ञानेन कर्तृत्वादिबाधात्। अतस्तैर्वृथाचेष्टावत्कर्म वा कर्त्तव्यं सन्न्यासो वा कर्त्तव्य इत्यनास्थया प्रोक्तम्; अथेदानीं पञ्चमषष्ठयोरज्ञानिना ज्ञानार्थिना वैराग्योत्पत्तेः प्राक्कर्मैवानुष्ठेयम्; सम्पन्ने तु वैराग्ये दृष्टविक्षेपनिवृत्त्यर्थं कर्मसन्न्यासं कृत्वा ज्ञानोत्पत्त्यर्थं योगोऽनुष्ठेय इत्युच्यते। तत्र चतुर्थे[२१]'त्यक्तसर्वपरिग्रहः' इति सन्न्यासः, 'योगमातिष्ठ'[४।४२]इति कर्मयोगश्चैकं मां प्रति विहितः। न चैतयोः स्थितिगतिवद्युगपदेकेन मयाऽनुष्ठानं कर्तुं शक्यते, परस्परविरुद्धत्वादिति मन्वानोऽर्जुन उवाच— सन्न्यासमिति। हे कृष्ण पापकर्षण ! मे मह्यं ज्ञानार्थिने सन्न्यासं कर्मयोगं चेति द्वयं परस्परविरुद्धं कथं शंससि कथयसि ? पुनरित्यनेन प्रागपि त्वया वेदकर्त्रा इदं द्वयं विहितमस्तीति गम्यते। तथा च श्रुतिस्मृती भवतः "एव-(एत)-मेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति।" [ बृ. उ.४।४।२२ ] 'संसारमेवं निस्सारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया। प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमास्थिताः'* इति च। तथा "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [ बृ.उ. ४।४।२२ ] इति। 'महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः' [ मनुः २।२८ ] इति च। ब्राह्मी ब्रह्मदर्शनयोग्या, अत एतयो। श्रुतिविहितत्वेन प्रशस्तयोर्मध्ये एकं श्रेयः प्रशस्ततरं यत्तन्मे सुनिश्चितं ब्रूहीति प्रश्नः॥ १॥

सन्न्यासकर्मयोगयोर्मध्ये कर्मयोगस्य वैशिष्ट्यम्।

**श्रीभगवानुवाच— सन्न्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।**
**तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥ २॥**

---

* 'अङ्गिरा अप्याह' इत्यवतारितमिदं वचनं पराशरस्मृतिव्याख्यायां [ २।१९ ] माधवाचार्यैः।

१ निःश्रेयसकरौ मोक्षसाधनभूतौ। 'कृञो हेतुताच्छील्य —'( अष्टा. ३।२।२० ) इत्यादिना टः। तेनानात्मवित्कर्तृकावेव सन्न्यासकर्मयोगावत्र गृह्येते इति व्यक्तम्। आत्मविदो 'ज्ञानसमकालमुक्तस्य' ( प. सा. ८१ ) मोक्षसाधनरूपयोस्तयोः पुनरवलम्बनासम्भावात्। 'मुक्त्यर्थमनावश्यकत्वेऽपि किमप्यन्यद्बलवत् कारणमनुरुद्ध्य ज्ञानिनो निष्कामकर्मानुष्ठानावश्यकतासिद्धिर्न बाध्यते' इत्यादिर्नव्योक्तिस्तु, निरस्तकर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यभिमानस्य निलीननिखिलप्रपञ्चभ्रमस्य प्रारब्धवशेन चेष्टमानदेहस्य परमार्थदर्शिनो विधिविषयतासम्भवादुद्भ्रान्तजल्पितकल्पैव। तथाचोक्तं सर्वज्ञात्मचरणैः— 'समविषमसमुच्चयो न युक्तो, न हि जगदस्ति धियः प्रसूतिकाले। क नु बत विहितक्रियासमूहः ? कथमिव तत्र समुच्चयोपपत्तिः ?॥' ( सं. शा. ४।९ ) इति। प्रपञ्चितश्चायमर्थो भाष्यकारैस्तत्र तत्रेति नेह प्रतन्यते॥ किञ्चार्जुनस्य स्वानुष्ठेयविषयकोऽयं प्रश्नः। अर्जुनश्चानात्मविदेवेति दर्शितमेव। ततोऽपि तत्प्रतिवचनरूपस्यास्य वचसोऽनात्मवित्कर्तृकसन्न्यासकर्मयोगविषयत्वमवसीयते। तेन **नव्यानाम**तद्वचनोपष्टम्भेनात्मविदोऽपि कर्मयोगाश्रयणमेव श्रेय इति भगवतो मतोद्घोषणमसङ्गतमेव। यत्त्वत्र तैरुक्तम्–'अर्जुनस्यानात्मवित्त्वादेव तमुद्दिश्य कर्मयोगोपदेशः कृत इति कल्पनं प्रतारणामात्रमेव। भगवता ज्ञानविज्ञानयोः सम्यगुपदेशेन कृतार्थतां नीत्वा सम्यग्ज्ञानसम्पन्नेन तेनान्ते युद्धादिकर्मण एव कारितत्वाज्ज्ञानोत्तरमपि कर्मानुष्ठानस्यैव तदभिमतत्वसिद्धेर्निर्बाधत्वात्–' इति, तदप्यसारमेव। सकृद्गीताश्रवणमात्रेणार्जुनस्य सम्यग्ज्ञानसम्पन्नत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वात्। नहि श्रवणमात्रेण सर्वेषां सम्यग्बोधोदयो भवतीति नियमोऽभ्युपगन्तुं शक्यते, मननादिविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षविरोधाच्च। अस्ति चार्जुनस्य गीताश्रवणेनापि न सम्यग्ज्ञानमुदपद्यतेत्यत्र महाभारतीयमेवानुगीताप्रकरणं प्रमाणम्। तथा 'त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः। शास्त्रार्थं तत्त्वतो गन्तुं न समर्थः कदाचन॥' ( म. भा. १२।१९।३ ) इति युधिष्ठिरवचनमपि तस्यानात्मवित्त्वं तत्रासमर्थत्वं च व्यनक्ति गीताश्रवणोत्तरमपि। तस्माद्युक्तमेवार्जुनस्यानात्मवित्त्वादेव तस्मै कर्मोपदेशः कृत इति॥

ननु सन्न्यासकर्मयोगयोरुभयोरपि समाने निःश्रेयसकरत्वे कुतः कर्मयोगस्य वैशिष्ट्यमुक्तम् ? इति चेत्, सुकरत्वादिति ब्रूमः। तथा चोक्तम्–'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'–( ३।४० ) इत्यादि। दर्शितं च सन्न्यासस्य दुष्करत्वमप्यनुपदमेव–'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुम्' ( ५।६ ) इति॥ "योगेन विना सन्न्यासो न सम्भवतीति योगस्य विशेषः" **इत्यभिनवगुप्तपादाः** ] 'लोकसङ्ग्रहोपयुक्तत्वात्कर्मयोगो विशिष्टः' इति **नव्याः**। तदसत्, स्वयं सदाचारप्रवृत्तत्वे सति लोकानां सदाचारप्रवर्तनरूपस्य लोकसङ्ग्रहस्य सन्न्यासेऽपि समानत्वात्।

**वामनस्तु**–'काम्यत्यागेन फलतः सन्न्यासं साधयेद्गृही। यज्ञाद्येवं साधयितुं नैव शक्नोति मस्करी॥
सन्न्यासोऽन्तर्भवत्येवं कर्मयोगे स नेतरे। कर्मयोगस्य वैशिष्ट्यं न्यासादाह ततो हरिः॥' इत्यौहत।
तदपि नातीव सङ्गतम्, सन्न्यासिनाऽनुष्ठेये समाधौ सकलयज्ञफलान्तर्भावस्य 'क्षणमेकं क्रतुशतस्यापि' (अ.शि.३)इत्यादिश्रुतिसिद्धत्वात्।

१ शां. भा.— स्वाभिप्रायमाचक्षाणो निर्णयाय श्रीभगवानुवाच— सन्न्यासः कर्मणां परित्यागः, कर्मयोगश्च तेषामनुष्ठानं, तावुभावपि निःश्रेयसकरौ निःश्रेयसं मोक्षं कुर्वाते ज्ञानोत्पत्तिहेतुत्वेनोभौ यद्यपि निःश्रेयसकरौ तथापि तयोस्तु निःश्रेयसहेत्वोः कर्मसन्न्यासात् केवलात् कर्मयोगो विशिष्यत इति कर्मयोगं स्तौति ॥ २ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रश्नमेवमुत्थाप्य प्रतिवचनमुत्थापयति— **स्वाभिप्रायमि**ति । निर्णयाय तद्द्वारेण परस्य संशयनिवृत्त्यर्थमित्यर्थः । एवं प्रश्ने प्रवृत्ते कर्मयोगस्य सौकर्यमभिप्रेत्य प्रशस्यतरत्वमभिधित्सुर्भगवान्प्रतिवचनं किमुक्तवान् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सन्न्यास** इति । उभयोरपि तुल्यत्वशङ्कां वारयति— **तयोस्त्वि**ति । कथं तर्हि तयोरेव मोक्षोपायत्वं विवक्ष्यते ? तत्राऽऽह— **ज्ञानोत्पत्ती**ति । तर्हि द्वयोरपि प्रशस्यत्वमप्रशस्यत्वं वा तुल्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **उभावि**ति । ज्ञानसहायस्य कर्मसन्न्यासस्य कर्मयोगापेक्षया विशिष्टत्वविवक्षया विशिनष्टि— **केवलादि**ति ॥ २ ॥

३ रा. भा.— सन्न्यासो ज्ञानयोगः, कर्मयोगश्च ज्ञानयोगशक्तस्याप्युभौ निरपेक्षौ निःश्रेयसकरौ । तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् ज्ञानयोगात् कर्मयोग एव विशिष्यते ॥ २ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ सद्वारकत्वाभिधानस्य अधिकारिविशेषनियततया द्वयोरप्यव्यवहितसाधनत्वमुपपादयंस्तत एव मृदितकषायस्यापि सौकर्यशैघ्र्यसङ्गिनस्तस्यैव कर्तव्यतां च द्रढयन् भगवानुवाच— **सन्न्यास** इति । ज्ञानयोगाशक्तस्य कर्मयोगसापेक्षत्वात्तच्छक्तस्यैव निरपेक्षसाधनत्वोक्तिरुपपन्नेत्यभिप्रायेणाह— **ज्ञानयोगशक्तस्यापी**ति । 'उभौ निःश्रेयसकरा' इत्येतत्सामर्थ्यात् 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्' [ ५।४ ] इति वक्ष्यमाणानुसन्धानाच्च **निरपेक्षावि**त्युक्तम् । चकारेणाप्येतदेव व्यज्यते । अन्वाचयेतरेतरयोगसमाहारा हि पृथक्फलसाधनत्वप्रकरणविरुद्धाः । अतः पृथक्स्वातन्त्र्यगर्भः समुच्चय एवात्र चार्थः । तर्हि द्वावप्यनियमेन यथेच्छमुपादेयौ, कर्मयोगस्य तु किमर्थं प्रशंसा ? इति शङ्काव्युदासाय तुशब्दः । तदभिप्रायव्यञ्जनार्थमेवकारः ॥ २ ॥

५ आ. मा. भा.— नायं सन्न्यासो यत्याश्रमः । 'द्वन्द्वत्यागात्तु सन्न्यासान्मत्पूजैव गरीयसी' इति वचनात् । 'तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्' इति च । 'सन्न्यासस्तु तुरीयो यो निष्क्रियाख्यः सधर्मकः । न तस्मादुत्तमो धर्मो लोके कश्चन विद्यते ॥ तद्भक्तोऽपि हि यद्गच्छेत्तद्गृहस्थो न धार्मिकः । मद्भक्तिश्च विरक्तिस्तदधिकारो निगद्यते ॥ यदाधिकारो भवति ब्रह्मचार्यपि प्रव्रजेत्' इति नारदीये । "ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् .... .... यदहरेव विरजेत्" [जा.उ. ४ या.उ. १] इति च । 'सन्न्यासे तु तुरीये वै प्रीतिर्मम महीयसी । येषामत्राधिकारो न तेषां कर्मेति निश्चयः' इत्यादेश्च ब्राह्मे । अतो नात्राश्रमः सन्न्यास उक्तः ॥ २ ॥

६ ज. प्र. दी.— सन्न्यासमिति प्रश्नवाक्ये सन्न्यास इति परिहारवाक्ये च सन्न्यासयोगशब्दौ यतिगृहस्थाश्रमविषयावेव, तयोः सर्वकर्मत्यागात्तदनुष्ठानरूपत्वात् । ज्ञेय इति वचनं तु न सन्न्यासशब्दव्याख्यानपरम् । किन्तु यो द्वेषादिवर्जितो गृही सोऽपि सन्न्यासी ज्ञातव्य इति स्तुतिपरमेवेत्यत आह— **नायमि**ति । अयं परिहारवाक्यस्थः । प्रश्नवाक्यस्थस्य तात्पर्यनिर्णये तथाऽभ्युपगमात् । योगश्च न गृहस्थाश्रम इत्यपि द्रष्टव्यम् । कुतो न ? इति चेत्, अत्र तयोस्त्विति सन्न्यासात्कर्मयोगस्य विशिष्टत्ववचनात्, तस्य चास्मत्पक्ष एव सम्भवादन्यत्रासम्भवादिति भावः । कुतो भवत्पक्षे सम्भवः ? इत्यत आह— **द्वन्द्वे**ति । मत्पूजा मदर्पणबुद्ध्या कर्मानुष्ठानम् । आश्रमार्थत्वे कुतोऽसम्भवः ? इत्यत आह— **तानी**ति । तान्याधानादीनि । अत्यरेचयत् अत्यरिच्यत इतिवचनादिति वर्तते । न्यस्यतेऽस्मिन्सर्वमिति ब्रह्मैव न्यास इति कश्चित् । तदसत्, तपोऽपेक्षयोत्तमत्वाभिधानस्यासङ्गतत्वात् । उपायोपेयभावेन सङ्गतिरिति चेत्, तर्हि तत्सिद्धौ लोकत एवोत्तमत्वसिद्धेरभिधानवैयर्थ्यात् । गृहस्थाश्रमाद्यत्याश्रमस्योत्तमत्वमयुक्तम् । गृहस्थाश्रमो हि सर्वधर्मोपपन्नस्तत्समर्थे मध्यमे वयसि अनुष्ठेयो महाफलश्च; यत्याश्रमस्तु निष्क्रियश्चरमे वयसि गृहस्थधर्मानिविक्रैतैरन्धपङ्ग्वादिभिरनुष्ठेयोऽल्पफलश्चेति केचित्, तन्निरासार्थमाह— **सन्न्यासस्त्वि**ति । काम्यकर्मरहितत्वात् निष्क्रियाख्योऽपि सध-

—क्षत्रियस्यार्जुनस्य सन्न्यासाधिकाराभावेनानुष्ठेयतया प्राप्तः कर्मयोगोऽत्र विशिष्टतया स्तूयत इति **केचित्** । तत्र क्षत्रियस्य चतुर्थाश्रमाधिकाराभावसमर्थनं 'न हि क्षत्रियवैश्ययोः पारिव्राज्यप्रतिपत्तिरस्ति' [४।५।१५] इत्यादि बृहदारण्यकभाष्ये द्रष्टव्यम् । विद्वत्सन्न्यासस्तु क्षत्रियस्यापि सम्भवतीत्युपपादितमेव पुरस्तात् [ पृ. ३११ ] इत्यलं प्रसक्तानुप्रसक्त्या । —**अविगीता** ।

र्मकः। न केवलं सधर्मकः, किन्तु न तस्माद्यत्याश्रमानुष्ठेयाद्यति- भक्त्यापि यत्फलं प्राप्नुयान्न तत्सर्वैर्गृहस्थधर्मैरित्यर्थः। ब्रह्मच- र्यादेव ब्रह्मचर्यं विसृज्यैव विरजेत् विरक्तो भवेत् "तदहरेव प्रव्र- जेत्" [जा.उ.४या.उ.१] इति श्रुतिशेषः। कर्मेत्याश्रमान्तरम्। यदुक्तं 'नायं' इत्यादि तदुपसंहरति— अत इति। अत्र परिहारवाक्ये ॥ २ ॥

७ ह. पै. भा.—भगवानर्जुनस्याभिप्रायं विदितवानुवाच—सन्न्यास इति। सन्न्यासः कर्मयो- गश्चोभौ निःश्रेयसकरौ मोक्षकरावेव। तर्हि तयोः को विशेषः? इति चेत्, तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मत्यागात् कर्मयोगः श्रेयान्। कर्मणां ज्ञानफलकत्वेन विस्पष्टं विधानात् 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [ १८।४६ ] इति ॥ २ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अत्रोत्तरं सन्न्यास इति। अनेन श्लोकेन 'यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि' [ ५।१ ] इत्यस्य प्रथम- मुत्तरमुच्यते। सन्न्यासः कर्मयोगश्चेत्युभावपि ज्ञानहेतुत्वेन मोक्षहेतू। तयोर्मध्ये त्वादृशस्य मुमुक्षोरविदुषः प्रथमं कर्मसन्न्यासात्कर्मयोग एव विशिष्यते विशिष्टः प्रशस्तो भवति ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— इति प्रश्ने भगवानर्जुनं पुष्टिनिष्ठभक्तं तदोभयकोटिसंशयापन्नं योगसाङ्ख्यसारं ग्राहयन् पूर्वशिष्टां कर्मयोगस्थितिमुत्तरमाह—सन्न्यासः कर्मयोगश्चेति। हे अर्जुन! यद्यपि साङ्ख्यीयः सन्न्यासः कर्मयोग- श्चेत्युभौ मुख्यतः स्वतन्त्रतया पुरुषार्थसाधकौ, नात्राङ्गप्रधानभावः; एतयोरेकमप्यास्थितः परं श्रेयो मोक्षलक्षणं विन्दति। तथापि कर्मसन्न्यासात् कर्मणां त्यागात् सर्वस्यैव त्यागो बाह्यतः कर्मयोगो विशिष्यते,तत्त्वज्ञानिनोऽपि लोकानुग्रहार्थं कर्मकरणश्रवणात्। मनसैव त्यागः, न बाह्यतः। तत्रापि फलद इति भावः ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.—भगवानेतत्प्रश्नोत्तरमाह कृपया— सन्न्यास इति। सन्न्यासः कर्मणां त्यागः, कर्मयोगः कर्मानुष्ठा- नमेतावुभौ निःश्रेयसकरौ मोक्षापादकौ तयोरपि कर्मसन्न्या- सात् केवलं कर्मत्यागात्, मदाज्ञया फलानभिलाषेण मदर्पणधिया कर्मयोगः कर्मानुष्ठानं विशिष्यते, उत्तममि- त्यर्थः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०—अस्योत्तरं भगवानुवाच—सन्न्यास इति। निःश्रेयसकरौ ज्ञानोत्पत्तिहेतुतया। तथापि कर्मसन्न्यासादविरक्तकृतात् कर्मयोग एव विशिष्यते चित्तशुद्धिद्वारा वैराग्यादिहेतुत्वात् ॥ २ ॥

**ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।**
**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो! सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥**

**१ शां. भा.—कस्मात्? इत्याह— ज्ञेय इति। ज्ञेयो ज्ञातव्यः स कर्मयोगी नित्यसन्न्यासीति, यो न द्वेष्टि किञ्चिन्न काङ्क्षति दुःखसुखे तत्साधने, चैवंविधो यः कर्मणि वर्तमानोऽपि स नित्यसन्न्यासीति ज्ञातव्य इत्यर्थः। निर्द्वन्द्वो द्वन्द्ववर्जितो हि यस्मान्महाबाहो! सुखं बन्धादनायासेन प्रमुच्यते ॥ ३ ॥**

२ आ. शां. व्या.— कर्म हि बन्धकारणं प्रसिद्धं तत्कथं निःश्रेयसकरं स्यात्? इति शङ्कते—कस्मादिति। अकर्त्रात्म- विज्ञानात्प्रागपि सर्वदाऽसौ सन्न्यासी ज्ञेयः, यो रागद्वेषौ कचिदपि न करोतीत्याह— इत्याहेति। यथाऽननुष्ठीयमानानि कर्माणि सन्न्यासिनं न बध्नन्ति कृतानि च वैराग्येन्द्रियसंयमादिना निवर्तन्ते, तथैवानभिसंहितफलानि नित्यनैमित्तिकानि योगिन- मपि न बध्नन्ति निवर्तयन्ति च सञ्चितं दुरितमित्यभिप्रेत्या- ऽऽह— निर्द्वन्द्वो हीति। कर्मयोगिनो नित्यसन्न्यासित्वज्ञान- मन्यथाज्ञानत्वान्मिथ्याज्ञानमित्याशङ्क्याऽऽह—एवंविध इति। कर्मिणोऽपि रागद्वेषाभावेन सन्न्यासित्वं ज्ञातुमुचितमित्यर्थः। रागद्वेषरहितस्यानायासेन बन्धप्रध्वंससिद्धेश्च युक्तं तस्य सन्न्या- सित्वमित्याह— निर्द्वन्द्व इति ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.—कुतः? इत्यत्राह— ज्ञेय इति। यः कर्मयोगी तदन्तर्गतात्मानुभवतृप्तस्तद्व्यतिरिक्तं किमपि न काङ्क्षति, तत एव किमपि न द्वेष्टि, तत एव द्वन्द्वसहश्च; स नित्यसन्न्यासी। नित्यज्ञाननिष्ठ इति ज्ञेयः; स हि सुकरकर्मयोगनिष्ठतया सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥ ३ ॥**

४ वें. ता. चं.— द्वयोः श्रेयस्साधनत्वाविशेषे कर्मयोग एव विशिष्यत इति प्रतिज्ञामात्रम्; तत्र हेत्वाकाङ्क्षायां सौक- र्याख्यं हेतुमाहेत्याह कुत इत्यत्राहेति। 'ज्ञेयः' इति श्लोको 'नित्यसन्न्यासी' इत्येतावता ज्ञानयोगनिष्ठविषय इति न

मन्तव्यम्, 'कर्मयोगो विशिष्यते' [ ५।२ ] इति प्रतिज्ञाय ज्ञानयोगनिष्ठस्य सुखेन मोक्षोक्तेरसङ्गतत्वात्, 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' [ ५।६ ] इति वक्ष्यमाणविरोधाच्च। अतः कर्मयोगनिष्ठस्यैव प्रशंसेयमित्यभिप्रायेणाह — **यः कर्मयोगीति**। काङ्क्षाया बाह्यमात्रविषयत्वव्यञ्जनार्थं तद्धेयत्वार्थं च **तदन्तर्गतात्मानुभवतृप्त** इत्युक्तम्। काङ्क्षा हि प्रतिहन्यमाना द्वेषहेतुरित्यभिप्रायेण **तत एव किमपि न द्वेष्टीति** व्युत्क्रमेण व्याख्यातम्। द्वन्द्वस्वरूपनिवृत्तिव्युदासाय द्वन्द्वसहशब्दः। **तत एव द्वन्द्वसहश्चेति**— रागद्वेषवतो द्वन्द्वतितिक्षा न शक्येति भावः। नित्यसन्न्यासित्वे हिशब्दस्य हेतुपरत्वव्यञ्जनाय **स** **हीत्युक्तम्**। सुखशब्दोऽत्र सौकर्यपर इत्याह— **सुकरकर्मयोगनिष्ठतयेति** ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.— सन्न्यासशब्दार्थमाह— ज्ञेय इति। सन्न्यासस्य निश्श्रेयसकरत्वं ज्ञापयितुं तच्छब्दार्थं स्मारयति— ज्ञेय इति ॥ ३ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— 'ज्ञेयः' इत्यस्यापव्याख्यानं दूषयन् तात्पर्यमाह— **सन्न्यासेति**। अर्थान्तरस्याप्रतीतेरिति भावः। ननु 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' [४।२२] इत्यादिनोक्तं कामादिपरित्यागं 'सन्न्यासं कर्मणां' [ ५।१ ] इत्यनूद्यार्जुनस्य प्रश्न इत्युक्तम्। ततश्च जानात्येवासौ सन्न्यासशब्दार्थमिति न तं प्रति स वक्तव्यः। तथा च पूर्वपक्ष्युत्प्रेक्षित एवास्यार्थ इत्यत आह— **सन्न्यासस्येति**। 'सन्न्यासः कर्मयोगश्च निश्श्रेयसकरावुभौ' [५।२] इति यत्सन्न्यासस्य निश्श्रेयसकरत्वमुक्तं तदुपपादयितुं ज्ञातमपि सन्न्यासब्दार्थं स्मारयत्यनेन। द्वेषादिवर्जनं हि सन्न्यासः। तस्य च निश्श्रेयसकरत्वं श्रुत्यादिप्रसिद्धमेवेति। अतः सन्न्यासशब्दार्थकथन एव तात्पर्याभावान्नानुपपत्तिरित्यर्थः। ज्ञापकं चास्यार्थस्यास्तीत्याह— **ज्ञेय इतीति**। ज्ञेयः स्मर्तव्य इत्यनेनोक्तमित्यर्थः। योगस्य तु निश्श्रेयसकरत्वमुत्तरवाक्य एव सेत्स्यति ॥ ३ ॥

**७ ह. पै. भा.— कथं श्रेयान् ? इति चेत्— ज्ञेय इति। ज्ञेयो बोद्धव्यः स नित्यसन्न्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति। कथम् ? इति चेत्, कामक्रोधादयो द्वन्द्वास्तद्रहितो निर्द्वन्द्वः। हि यस्मान्महाबाहो ! सुखमक्लेशेन बन्धात्संसारात्प्रमुच्यते मुक्तो भवति। कर्मयोगी कृतसकलकर्मसन्न्यास एवेत्यभिप्रायः। रागद्वेषवियोगात् ॥ ३ ॥**

**८ वे. ब्र. गि.**— कर्मवैशिष्ट्यमत आह— **ज्ञेय इति**। सुखं बन्धात्प्रमुच्यत इति। 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' [ ५।६ ] इति वक्ष्यते। अतः सन्न्यासापेक्षया सुखेन बन्धमोचकत्वात्ततः प्रशस्तमित्यर्थः। किञ्च कर्मयोगे सन्न्यासस्यान्तर्भूतत्वादपि ततस्तस्य प्राशस्त्यमित्याह— **ज्ञेय इति**। यः परमेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं कर्म निष्फलत्वशङ्कया न द्वेष्टि; तथा न काङ्क्षति स्वर्गादिकम्। तत्र हेतुः— निर्द्वन्द्वः रागद्वेषशून्यः स नित्यसन्न्यासी ज्ञेयः कर्मणि प्रवृत्तोऽपि नित्यं सन्न्यासी कृतसन्न्यास एव ज्ञेयः। हि यस्मादेवं तस्मात्सुखेन मोचकत्वादन्तर्गर्भितसन्न्यासत्वाच्च कर्मयोगो विशिष्यत इति पूर्वेणान्वयः ॥ ३ ॥

**९ व० त० दी०**— योगमार्गरीत्या कर्मकार्यपि विवक्ष्यमाणलक्षणश्चेन्नित्यसन्न्यास्येवेत्याह— **ज्ञेय इति**। यो योगमार्गीयबुद्ध्या कर्मकर्त्ता निर्द्वन्द्वः लाभालाभादिजयाजयादिशून्यः। तदाह—न द्वेष्टि काम्यं कर्म, न च कर्ममात्रे फलं काङ्क्षति; किन्तु करोत्येव तथा, स द्वन्द्वसन्न्यसनान्नित्यसन्न्यासी भगवन्निष्ठतया करणाद्योग्यपि नित्यसन्न्यास्येवेति तत्कर्मबन्धात्प्रमुक्त एव सुखं यथा भवति तथा इति। अतो महाबाहुभ्यां तथैव तवोचितमिति भावः ॥ ३ ॥

**१० पु. अ. त.**— अथ श्रेयोरूपप्रश्नोत्तरमाह सर्वत्यागरूपम्— **ज्ञेय इति**। यः सन्न्यासी सर्वत्यागवान् सर्वं त्यक्त्वैतयोर्मध्ये नैकं कमपि द्वेष्टि, न चैकं कमप्याकाङ्क्षति, स नित्यं ज्ञेयो ज्ञातुं योग्यः। मदीयत्वेनेति शेषः। हे महाबाहो सर्वकरणसमर्थ ! हि निश्चयेन निर्द्वन्द्वः कर्मसन्न्यासयोगयोर्मदाज्ञातिरेकेण भिन्नज्ञानरहितो बन्धात् तत्फलजात्सुखं प्रमुच्यते। मोक्षे प्रकर्षः मदाज्ञाकरणेऽहं प्रसन्नो भवामीति भावः ॥ ३ ॥

**११ नी० भा० दी०**— ननु प्रत्यक्षः कर्मयोगिनां विक्षेपः, सन्न्यासिनां तु स नास्तीति कथमुच्यते कर्मयोगो विशिष्यते ? इत्याशङ्क्याह— **ज्ञेय इति**। यो रागद्वेषरहितः स कर्मसु स्वरूपतस्त्यक्तेष्वत्यक्तेषु वा नित्यं सन्न्यास्येव। एतेन साधनभूतयोः साङ्ख्ययोगयो रागद्वेषराहित्यकृतं साम्यमुक्तम्। फलभूतयोस्तु सर्वविकल्पराहित्यरूपसाम्यमनन्तरश्लोकाभ्यामुच्यते। तथापि चित्तस्वाभाव्यात् कदाचित्सन्न्यासिनो रागोदये पाताशङ्काऽस्ति, नेतरस्येति स एव श्रेयानिति भावः। यद्यप्येवं तथापि हि प्रसिद्धं, निर्द्वन्द्वो द्वन्द्वं सत्यानृतयोरात्मानात्मनोर्मिथुनं

परस्पराध्यासस्तद्रहितः साङ्ख्यः, रागाद्युदयहेतोरज्ञानस्यात्यन्तोच्छेदात्। सुखं कर्मकरणायासं विनाऽपि बन्धात् संसारात् केवलज्ञानेनैव मुच्यते, न कर्माण्यपेक्षते। यद्वा निर्द्वन्द्वः "द्वन्द्वं वै मिथुनं तस्माद्द्वन्द्वान्मिथुनं प्रजायते" [ ऐ.ब्रा.पं. ३खं.५० ] इति श्रुतेर्द्वन्द्वं स्त्रीपुंसयोर्मिथुनं तद्रहितः स्यादित्यागी सन्न्यासी अनायासेन मुच्यते, रागादिजयस्योभयत्र तुल्यत्वात्। अत्र च कुटुम्बभरणवैयग्र्याभावात्सुखं मुच्यत इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।**
**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥ ४ ॥**

१ **शां. भा.**— सन्न्यासकर्मयोगयोर्भिन्नपुरुषानुष्ठेययोर्विरुद्धयोः फलेऽपि विरोधो युक्तः, न तूभयोर्निःश्रेयसकरत्वमेवेति प्राप्त इदमुच्यते—**साङ्ख्ययोगाविति**। साङ्ख्ययोगौ पृथग्विरुद्धभिन्नफलौ बालाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः। पण्डितास्तु ज्ञानिन एकं फलमविरुद्धमिच्छन्ति। कथं ? एकमपि साङ्ख्ययोगयोः सम्यगास्थितः सम्यगनुष्ठितवानित्यर्थः। उभयोर्विन्दते फलमुभयोस्तदेव हि निःश्रेयसं फलमतो न फले विरोधोऽस्ति। ननु सन्न्यासकर्मयोगशब्देन प्रस्तुत्य साङ्ख्ययोगयोः फलैकत्वं कथमिहाप्रकृतं ब्रवीति ? नैष दोषः यद्यप्यर्जुनेन सन्न्यासं कर्मयोगं च केवलमभिप्रेत्य प्रश्नः कृतः; भगवांस्तु तदपरित्यागेनैव स्वाभिप्रेतं च विशेषं संयोज्य शब्दान्तरवाच्यतया प्रतिवचनं ददौ **साङ्ख्ययोगाविति**। तावेव सन्न्यासकर्मयोगौ ज्ञानतदुपायसमबुद्धित्वादिसंयुक्तौ साङ्ख्ययोगशब्दवाच्याविति भगवतो मतमतो नाप्रकृतप्रक्रियेति ॥ ४ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— यदुक्तं सन्न्यासकर्मयोगयोर्निःश्रेयसकरत्वं तदाक्षिपति— **सन्न्यासेति**। तत्रोत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति— **इति प्राप्त** इति। विवेकिनस्तर्हि कथं वदन्तीत्याकाङ्क्षायामाह— **एकमिति**। सङ्ख्यामात्मसमीक्षामर्हतीति साङ्ख्यः सन्न्यासः, योगस्तु कर्मयोगः, तावुभावपि पृथगित्यस्यार्थमाह— **विरुद्धेति**। शास्त्रार्थे विवेकशून्यत्वं बालत्वम्। उत्तरार्धमवतारयितुं भूमिकां करोति— **पण्डितास्त्विति**। ज्ञानिनो योगिनश्चेति शेषः। द्वयोरविरुद्धफलत्वमेव प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **कथमि**त्यादिना। एकं साधनमनुष्ठितवतो द्वयोरपि फलं भवतीति विरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— **उभयोरिति**। साङ्ख्ययोगयोः सन्न्यासकर्मानुष्ठानयोस्तत्त्वज्ञानद्वारा निःश्रेयसफलत्वान्न विरुद्धफलत्वशङ्केत्यर्थः। साङ्ख्ययोगयोरेकफलत्ववचनं प्रकरणाननुगुणमिति शङ्कते— **नन्विति**। अप्रकृतत्वमसिद्धमिति परिहरति— **नैष दोष** इति। 'सन्न्यासं कर्मणां' [ ५।१ ] इत्यादिना सन्न्यासं कर्मयोगं चाङ्गीकृत्य प्रश्ने 'सन्न्यासः कर्मयोगश्च' [ ५।२ ] इत्यादिना तथैव प्रतिवचने, कथं साङ्ख्ययोगयोरेकफलत्वमप्रकृतं न भवति इत्युच्यते ? तत्राऽऽह— **यद्यपीति**। प्रतिवचनमपि तदनुरूपमेव भगवता निरूपितमिति विशेषानुपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **भगवांस्त्विति**। तदपरित्यागेनेत्यत्र तत्पदेन प्रष्ट्रा प्रतिनिर्दिष्टौ कर्मसन्न्यासकर्मयोगावुच्येते। 'साङ्ख्ययोगौ' इति शब्दान्तरवाच्यतया तयोरेव सन्न्यासकर्मयोगयोरत्यागेन स्वाभिप्रेतं च विशेषं संयोज्य भगवान्प्रतिवचनं ददाविति योजना। यदुक्तं स्वाभिप्रेतं च विशेषं संयोज्येति तदेतद्व्यक्तीकरोति— **तावेवेति**। समबुद्धित्वादीत्यादिशब्देन ज्ञानोपायभूतः शमादिरादीयते। प्रकृतयोरेव सन्न्यासकर्मयोगयोरुपादाने फलितमाह— **अत** इति। 'साङ्ख्ययोगौ' इत्यादिश्लोकव्याख्यानसमाप्तिरितिशब्दार्थः ॥ ४ ॥

३ **रा. भा.**— ज्ञानयोगकर्मयोगयोरात्मप्राप्तिसाधनभावेऽन्योन्यनैरपेक्ष्यमाह—**साङ्ख्येति**। ज्ञानयोगकर्मयोगौ फलभेदात्पृथग्भूतौ ये प्रवदन्ति, ते बाला अनिष्पन्नज्ञानाः; न पण्डिताः अकृत्स्नविदः। कर्मयोगो ज्ञानयोगमेव साधयति; ज्ञानयोगस्त्वेक आत्मावलोकनं साधयतीति तयोः फलभेदेन पृथक्त्वं वदन्तो न पण्डिता इत्यर्थः। उभयोरात्मावलोकनैकफलयोरेकफलत्वेन एकमप्यास्थितस्तदेव फलं लभते ॥ ४ ॥

४ **वे. ता. चं.**— 'निःश्रेयसकरावुभौ' [ ५।२ ] इत्यभिप्रेतं विवृणोतीत्यभिप्रायेणाह— **ज्ञानयोगकर्मयोगयोरिति**। अत्र साङ्ख्ययोगशब्दौ न कापिलहैरण्यगर्भसिद्धान्तविषयौ, तयोरप्रस्तुतत्वात्, महाप्रकरणासङ्गतत्वात्, 'तयोस्तु कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' [ ५।२ ] 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' [ ५।६ ] इत्यादिपूर्वोत्तरविरोधात्। शारीरकसूत्रेषु च 'रचनानुपपत्तेश्च नानुमानं, प्रवृत्तेश्च' [ ब्र.सू. २।२।१;२ ] 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' [ ब्र. सू. २।१।३ ]

इत्यादिभिः सूत्रैस्तयोरपि सिद्धान्तयोः महर्षिणैवापाकरणात्, 'बहवः पुरुषा राजन् ( लोके ) साङ्ख्ययोगविचा-( रणे )-रिणः। नैत ( दि ) इच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह ॥ "समा-( सतस्तु )-सेन तु त-( य -)द्व्यासः पुरुषै-( कत्व ) कात्म्यमुक्तवान्' इति मोक्षधर्मे [म.भा. १२।३५०।२;७]-तयोर्विरुद्धांश वचनाच्च। अतः सङ्ख्यया बुद्धयाऽवधारणीयमात्मतत्त्वं साङ्ख्यम्, तदवधारणरूपं साङ्ख्यम्, योगश्चात्र कर्मयोग इत्यभिप्रायेण ज्ञानयोगकर्मयोगशब्दोपादानम्। 'पृथग्बालाः प्रवदन्ति' इति न स्वरूपपृथक्त्वं निषिध्यते, तस्य प्रामाणिकत्वात्। न च तत्समुच्चयविधानपरमिदम्, 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्' 'यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते' [५।५] 'सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः' इत्यादिभिः पृथगनुष्ठानस्यैव सिद्धत्वात्। अतः फलैक्यस्य 'एकमप्यास्थितः' इत्यादिना विधानात्, अत्र फलभेदकृतभेदनिषेधे तात्पर्यमित्याह **फलभेदात्पृथग्भूताविति**। अस्य वाक्यस्य पृथक्फलवादिनां निन्दारूपत्वात्, **ये प्रवदन्ति ते बाला** इति बालत्वस्योपादेयतया वचनव्यक्तिर्दर्शिता। उत्तरश्लोकेऽप्येकफलत्ववादिप्रशंसायां 'यः पश्यति' इत्यनूद्य 'स पश्यति' [५।५] इति हि विधीयते। बालशब्दस्यात्र मुख्यायोगादुपचरितमाह— **अनिष्पन्नज्ञाना** इति। अपक्वयौक्तिकज्ञानेष्वपक्वपर्यायशब्दोपचारः; बालसाम्याद्वा बालाः। 'न पण्डिताः' इत्यत्र अशास्त्रीयानुष्ठानपर्यन्तताज्ञानव्युदासायोक्तं **अकृत्स्नविद** इति। "तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" [बृ. उ. ३।५।१] इत्यादिप्रसिद्धं सदाचार्यप्रसादैकसमधिगम्यार्थविषयं ज्ञानमिह पाण्डित्यम्; अतो 'बालाः' इत्युक्तेऽपि तदभावोक्तिर्न पुनरुच्यत इति भावः। फलादिभेदभ्रमप्रकारं 'न पण्डिताः' इत्यस्यापि 'बालाः' इतिवद्विधिविषयत्वं च दर्शयति— **कर्मयोग** इति। **ज्ञानयोगमेवेति**— न तु कस्मिन्नप्यधिकारिणि साक्षादात्मावलोकनमित्यर्थः। ये तु 'ये बालास्त एवं वदन्ति, ये पण्डितास्ते तु न' इति वचनव्यक्तिमाहुः; तेषामप्ययमेवार्थः फलतोऽङ्गीकार्यः। उभयोः फलमेकेन कथं लभ्यं ? इत्यत्राह— **उभयोरिति**। निर्धारणे षष्ठी; एकशब्दश्चान्यतरपर्यायः; द्वयोरपि तुल्यफलत्वादन्यतरास्थानेऽपि तत्फलं सिद्ध्यतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.— सन्न्यासो हि ज्ञानान्तरङ्गत्वेनोक्तः 'न तस्य तत्त्वग्रहणाय' [भाग. ५।११।३] इत्यादौ। अतः कथं सोऽवम इत्यत आह— साङ्ख्ययोगाविति। उभयोरप्यन्तरङ्गत्वेनाविरोधः। "अग्निमुग्धो ह वै धूमतान्तः स्वं लोकं न प्रत्यभिजानाति"। 'मा वः पदव्यः पितरस्मदास्थिता या यज्ञशालासनधूमवर्त्मनाम्' इत्यादि काम्यकर्मविषयमिति भावः। ये त्वन्यथा वदन्ति ते बालाः ॥ ४ ॥**

६ ज. प्र. दी.— सन्न्यासं गृहीत्वा योगं त्यक्ष्यामीत्याशयेन द्वयोः श्रेयसि पृष्टे द्वावपि निःश्रेयसकरौ, तत्रापि सन्न्यासाद्योगो विशिष्टोऽतो न युद्धं त्वया त्याज्यमिति परिहारो जातः, किमर्थमिदानीं साङ्ख्ययोगावित्युच्यते ? इत्यत आह— **सन्न्यासो हीति**। हिशब्दो हेतौ। ज्ञानान्तरङ्गत्वेन ज्ञानोत्पत्तावत्यावश्यकत्वेन। 'न तस्य' इत्यत्र विषयवैराग्याभावे ज्ञानानुत्पत्तिवचनेन तत एव तदुत्पत्तिरिति लभ्यते। एवं कर्मयोगस्तु ज्ञानविरोधित्वेनोक्तः। 'अग्निमुग्धः' इत्यादावित्यपि ग्राह्यम्। अवमो योगात्। अनेन योगस्य निःश्रेयसकरत्वमप्याक्षिप्तम्। ननु साङ्ख्यं ज्ञानं, योगः कर्म, तयोः कथमत्र पृथक्त्वाभाव उच्यते ? कथं चानेनोक्ताक्षेपपरिहारः ? इत्यत आह— **उभयोरपीति**। न केवलं सन्न्यासस्य, किन्तु योगस्यापीत्युभयोरपि ज्ञानान्तरङ्गत्वान्नोक्तो विरोध इत्यर्थः। अनेन साङ्ख्ययोगौ पृथक्साध्यसाधनभावहीनाविति न पण्डिता मन्यन्त इत्येवं व्याख्यातं भवति। ननु श्रुतिपुराणाभ्यां कर्मणो ज्ञानविरोधित्वमुच्यत इत्युक्तम्, अतः कथमेवमभिधीयते ? इत्यत आह— **अग्नीति**। अग्न्युपलक्षिते कर्मणि मुग्धः श्रेयस्करमिति भ्रान्तः। धूमतान्तो होमधूमेन तान्तो ग्लानः। धूमता धूमादित्वमेवान्तःपर्यवसानमस्येति वा। स्वं लोकं स्वीयमाश्रयं परमात्मानम्। यज्ञशालासनेन धूमोपलक्षितमार्गवतां वः पदव्योऽस्मदाश्रिता नेत्यर्थः। नन्वकाम्यमपि नित्यं नैमित्तिकं च कर्म प्रत्यवायपरिहारार्थमेव, न ज्ञानान्तरङ्गमिति विद्वांस एव मन्यन्त इत्यत आह— **ये त्विति**। बाला अविवेकिनः ॥ ४ ॥

**७ ह. पै. भा.—इदानीं योगस्य सन्न्यासयोगत्वात्स्वरूपैक्येन फलैक्यं दर्शयितुमाह—साङ्ख्येति। साङ्ख्ययोगौ पृथग्भिन्नौ बाला मन्दाः प्रवदन्ति, न पण्डिता बुद्धिमन्तः। यस्मादेकमप्यास्थितः सेवमानः सम्यग्यावदुभयोः साङ्ख्ययोगयोः फलं विन्दते लभते ॥ ४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु कर्मणि प्रवृत्तः कथं सन्न्यासी ज्ञातव्यः कर्मतत्त्यागयोः स्वरूपविरोधात् ? तत्राह द्वाभ्याम्— **साङ्ख्येति**। बालाः अज्ञाः साङ्ख्ययोगौ सङ्ख्या सम्यगात्मबुद्धिः, तां वहतीति साङ्ख्यः सन्न्यासः, योगः पूर्वोक्तकर्मयोगः, तौ पृथग्विरुद्धफलौ प्रवदन्ति; न पण्डिता ज्ञानिनः। किं तर्हि तेषां मतम् ? तत्राह— **एकमपीति**। कर्मसन्न्यासयोर्मध्ये एकमप्यास्थितः स्वाधिकारानुगुण्येन यथाशास्त्रमनुष्ठितवान् उभयोः फलं ज्ञानद्वारा मोक्षरूपं विन्दते प्राप्नोति ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— ननु साङ्ख्ययोगयोरेक एवार्थः कथमुत्पाद्यते शास्त्रभेदात् ? इत्याशङ्क्य एकफलविषयत्वेनाभेदमुख्यैकार्थ्यमुपदिशति—साङ्ख्येति । साङ्ख्ये हि कर्मणां सन्न्यासः योगे चोपादानमिति भेदेऽपि स्वकर्मणि द्वन्द्वसन्न्यासपूर्वकं करणमर्थमेकमप्यास्थित उभयोः फलं विन्दतीति । यद्वा उभयोर्मध्ये एकमप्यास्थितः सम्यक् फलं विन्दतीति स्वातन्त्र्येण मीमांसितयोः परमपुरुषार्थसाधकत्वमुक्तम् । ऐकार्थ्येनोपादाने तथेति भगवन्मतम् । तदग्रे स्पष्टीभविष्यति ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— उभयोर्हेयोपादेयज्ञानिनो मत्स्वरूपाद्भिन्नज्ञानिनश्च मूर्खा इत्याह— साङ्ख्ययोगाविति । साङ्ख्ययोगौ पृथक् भिन्नतयाऽनुष्ठेयानुष्ठेयत्वेन मताविति बाला मूर्खाः प्रवदन्ति, न पण्डिताः ; ज्ञानिन इत्यर्थः । अयं भावः— साङ्ख्ययोगौ मत्कुण्डलात्मकौ तत्र हेयोपादेयज्ञानं मत्कुण्डलयोर्मदात्मकत्वात् भिन्नज्ञानं च ज्ञानमेवेति भावः । यतस्तथा ज्ञानमज्ञानमतः सम्यगास्थितो मत्स्वरूपपरो मदाज्ञया कुर्वन्नुभयोरप्येकं फलं मत्प्रसादरूपं विन्दते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

११ नी०भा०दी०—नन्वेकत्र पाताशङ्का, एकत्र कर्मश्रमः, तदनयोः पथोः कतरः श्रेयान् ? इत्याशङ्क्य द्वयोरपि फलतः साम्यमित्याह—साङ्ख्ययोगाविति। साङ्ख्यं 'समित्येकीभावे' [नि.पू.ष.१।३।१५]इति यास्कः। एकीभावेनात्मानन्यत्वेन ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुस्वरूपमनयेति सङ्ख्या स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चस्य निर्विकल्पे प्रत्यगात्मनि प्रविलापनेनोदिता चेतोवृत्तिः, तत्साधनभूतोऽयं साङ्ख्यः सन्न्यासः । स च दारादिबुद्ध्यन्तानां पदार्थानामात्मन्येकीभावेन न्यसनं त्यागः प्रविलापनम् । तथा योगोऽप्यग्निहोत्रसन्ध्योपासनादिनिर्विकल्पसमाध्यन्तमनुष्ठानम् । तत्र मुख्यस्य योगस्य लक्षणं 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [पा.यो.१।२]इति। वृत्तयश्च 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' [पा.यो. १।६] इति पञ्च । तत्र 'प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि' [पा.यो.१।७] तेषु प्रत्यक्षमिन्द्रियैः, तज्जा वृत्तिः शुक्त्यादिविषयं याथार्थ्येन ज्ञानम् । विपर्ययस्तु तत्रैव रजतादिविषयं भ्रान्तिरूपं ज्ञानम् । संशयोऽपि 'इयं शुक्तिर्वा रजतं वा' इत्यनिर्धारितान्यतरकोटिकं ज्ञानं, स विपर्यय एवान्तर्भवति। विकल्पस्तु 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यः'[पा.यो. १।९ ] यथा पुरुषस्य चैतन्यं वन्ध्यापुत्र इति । नहि पुरुषचैतन्यतत्सम्बन्धानां पृथक्त्वमस्ति, किन्तु चैतन्यमेव हि शब्दत्रयेणोच्यते । नापि वन्ध्यासुतस्य स्वरूपमस्त्यथापि शब्देनाभिलप्यते । सोऽयं विकल्पः शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यः । एकस्मिन्ननेकबुद्धिरसति च सद्बुद्धिरिति । निद्रास्मृती लोकप्रसिद्धे । एतासां निरोधेऽपि निर्विकल्पः प्रत्यगात्मैवावशिष्यते । तावेतौ फलभूतौ साङ्ख्ययोगौ । साधनभूतौ तावेव सन्न्यासकर्मयोगाख्यौ । तत्रान्त्ययोः साम्यं 'ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी' [५।३] इत्यनेन सूचितम् । आद्ययोस्त्वैक्यमत्रोच्यते । आस्थितः अनुतिष्ठन् फलं निर्विकल्पात्मनाऽवस्थितिरूपम् ॥ ४ ॥

**यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।**
**एकं साङ्ख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥ ५ ॥**

**१ शां. भा.**— एकस्यापि सम्यगनुष्ठानात् कथमुभयोः फलं विन्दते ? इत्युच्यते— यदिति । यत्साङ्ख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः सन्न्यासिभिः प्राप्यते स्थानं मोक्षाख्यं, तद्योगैरपि ज्ञानप्राप्त्युपायत्वेनेश्वरे समर्प्य कर्माण्यात्मनः फलमभिसन्धायानुतिष्ठन्ति ये ते योगिनः; तैरपि परमार्थज्ञानसन्न्यासप्राप्तिद्वारेण गम्यत इत्यभिप्रायः । अत एकं साङ्ख्यं योगं च यः पश्यति फलैकत्वात्स सम्यक्पश्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रश्नपूर्वकं श्लोकान्तरमवतारयति— **एकस्यापीति** । केचिदेव तयोरेकफलत्वं पश्यन्तीत्याशङ्क्य तेषामेव सम्यग्दर्शित्वं, नेतरेषामित्याह— **एकमिति** । तिष्ठत्यस्मिन्न च्यवते पुनरिति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह— **मोक्षाख्यमिति** । योगशब्दार्थमाह— **ज्ञानप्राप्तीति** । ये हि जिज्ञासवः सर्वाणि कर्माणि भगवत्प्रीत्यर्थत्वेन तेषां फलाभिलाषमकृत्वा ज्ञानप्राप्तौ बुद्धिशुद्धिद्वारेणोपायत्वेनानुतिष्ठन्ति तेऽत्र योगा विवक्ष्यन्ते । अच्प्रत्ययस्य मत्वर्थत्वं गृहीत्वोक्तं योगिन इति । सर्वोऽपि द्वैतप्रपञ्चः, न वस्तुभूतो मायाविलासत्वात्; आत्मा त्वविक्रियोऽद्वितीयो वस्तु सन्निति प्रयोजकज्ञानं परमार्थज्ञानम्; तत्पूर्वकसन्न्यासद्वारेण कर्मिभिरपि तदेव स्थानं प्राप्यमित्येकफलत्वं सन्न्यासकर्मयोगयोरविरुद्धमित्याह— **तैरपीति** । फलैकत्वे फलितमाह — **अत** इति ॥ ५ ॥

१ इह पूर्वत्र प्रपूर्वस्याप्नोतेः परत्र च गच्छतेः प्रयोगेण ज्ञाननिष्ठानामनायासेन साक्षान्मोक्षावाप्तिः, कर्मयोगिनां च परम्परयेति चितम् । अपिनाप्ययमेवार्थ उपस्कृत इति विभावनीयं सूक्ष्मदृग्भिः। —अविगीता ।

३ रा. भा.—एतदेव विवृणोति–यदिति । साङ्ख्यैः ज्ञाननिष्ठैः यदात्मावलोकनरूपं फलं प्राप्यते, तदेव कर्मयोगनिष्ठैरपि प्राप्यते । एवमेकफलत्वेनैकं वैकल्पिकं साङ्ख्यं योगं च यः पश्यति स पश्यति; स एव पण्डित इत्यर्थः ॥ ५ ॥

४ वे. ता. चं.—भिन्नफलत्वेन पृथक्त्वाभिधायिनां निन्दा कृता; अथैकफलत्वेन ऐक्याभिधायिनां प्रशंसनं क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— एतदेव विवृणोतीति । 'साङ्ख्यैः' इत्यत्र सिद्धान्तविशेषनिष्ठभ्रमव्युदासायाह– ज्ञाननिष्ठैरिति । साङ्ख्यमात्मज्ञानशास्त्रं तद्वेदिन इह साङ्ख्याः ; यद्वा सङ्ख्या बुद्धिर्ज्ञानयोगः, तन्निष्ठाः साङ्ख्याः ; अथवा साङ्ख्य आत्मा, तद्वेदिनोऽपि साङ्ख्याः । स्थानशब्दोऽत्र 'विन्दते फलम्' [ ५।४ ] इतिवत्फलविषयः, न तु देशविशेषविषयः, ज्ञानयोगादिमात्रप्राप्यदेशविशेषाभावात् । तच्च फलं पूर्वोत्तरानुवृत्तमात्मावलोकनमित्यभिप्रायेण यदात्मावलोकनरूपं फलमित्युक्तम् । अत्र 'यदेव साङ्ख्याः पश्यन्ति' इति यादवप्रकाशोक्तः पाठोऽप्रसिद्धत्वादनादृतः । 'योगैः' इत्येतल्लक्षणया वा प्रत्ययविशेषाद्वा तन्निष्ठविषयमिति व्यञ्जनाय कर्मयोगनिष्ठैरित्युक्तम् । अत्र साङ्ख्ययोगशब्दौ नोपायपरौ, बहुवचनानौचित्यादिति भावः । 'एकम्' इत्युक्ते एकशास्त्रार्थत्वादिभ्रमव्युदासायाह एवमेकफलत्वेनेति । अङ्गाङ्गिभावेतरेतरयोगरहितयोरुपाययोरेकफलत्वलक्षणं ह्यैक्यमनुष्ठाने विकल्पाय स्यात् । तथा च सूत्रं 'विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्' [ ब्र. सू. ३।३।५९ ] इति । तदाह— वैकल्पिकमिति । 'स पश्यति' इत्येतत् 'न पण्डिताः' [५।४] इत्येतत्प्रतिरूपं दर्शयति— स एव पण्डित इति ॥५॥

५ आ. मा. भा.—'एकमपि' [ ५।४ ] इत्यस्याभिप्रायमाह– यत्साङ्ख्यैरिति । योगिभिरपि ज्ञानद्वारा ज्ञानफलं प्राप्यत इत्यर्थः ॥ ५ ॥

६ ज. प्र. दी.— योगस्य ज्ञानसाधनत्वे प्रमिते भवेदेतत्, तदेव कथं ? इत्यत उक्तमेकमपीति, तदनुपपन्नम् ; उभयोर्मध्ये सम्यगेकमप्यास्थितः फलं विन्दत इति योजनायां द्वयोः साफल्यमात्रमुच्यते । एकमपि सम्यगास्थितः उभयोः फलं विन्दत इति पक्षे तु द्वयं किञ्चित्फलं प्रति स्वतन्त्रं साधनमुच्यते । पक्षद्वयेऽपि न प्रकृतोपयोग इत्यत आह— एकमपीति । एवमनुपयोगेऽपि भगवानेव स्ववाक्याभिप्रायमाह— स ग्राह्य इत्यर्थः । अनेनापि योगस्य ज्ञानसाधनत्वे किं प्रमाणमुक्तं ? इत्यतो व्याचष्टे— योगिभिरपीति । "तरति शोकमात्मवित्" [ छां. उ. ७।१।३ ] इत्यादिना यज्ज्ञानफलं मोक्षाख्यं प्रमितं तत्तावद्योगिभिरपि प्राप्यत इत्युच्यते "अपाम सोमम्" [ ऋक्. ८।४।११] इत्यादिना । तत्र विचार्यम्— किं द्वयमपि स्वतन्त्रमुक्तिसाधनम् ? उत समुच्चितम् ? अथवैकं साक्षान्मोक्षसाधनम् ? । अपरं तत्साधनत्वेनेति न प्रथमद्वितीयौ । "नान्यः पन्थाः" [ श्वे. उ. ६।१५ ] इत्यादिविरोधात् । तृतीयेऽपि चिन्त्यं किं कस्य साधनमिति । तत्र न तावज्ज्ञानं कर्मसाधनत्वेन मोक्षहेतुः, 'न किञ्चिदन्तराधाय' इत्यादिविरोधात् । अतः परिशेषाद्योगिभिरपि ज्ञानद्वारा ज्ञानफलं प्राप्यत इति सिद्ध्यति । तथा च योगस्य ज्ञानसाधनत्वं सिद्धमित्यर्थः । अत्र 'योगिभिः' इति वदता योगशब्दो धर्मिणामुपलक्षकोऽयं आद्यजन्तो वेति सूचितम् ॥ ५ ॥

७ ह. पै. भा.— यत्साङ्ख्यैर्ज्ञाननिष्ठैः प्राप्यते स्थानं मोक्षाख्यं तद्योगैः कर्मभिरपि गम्यते । अत एवाभिन्नं साङ्ख्यं योगं च यः पश्यति स पश्यति; सम्यग्दर्शीत्यर्थः ॥ ५ ॥

८ वे. ब्र. गि.—ननु कथमेकानुष्ठानादुभयोः फलं प्राप्नुयात् ? अत आह— यदिति । साङ्ख्यैः ज्ञाननिष्ठैः सन्यासिभिः यत्स्थानं मोक्षाख्यं प्राप्यते प्रकर्षेण साक्षादवाप्यते, तत् योगैर्योगिभिरपि । अर्श आदित्वादच्प्रत्ययः । सन्यासद्वारेणावाप्यते । अतः साङ्ख्यं सन्यासं कर्मयोगं च एकफलकत्वादेकं यः पश्यति, स एव सम्यक्पश्यति, नान्यः । तस्मात् कर्मिणः सन्यासित्वमुपपद्यत इति भावः ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— एतदेव स्फुटयति–यत्साङ्ख्यैरिति । यन्मुक्तिस्थानं साङ्ख्यनिष्ठैः प्राप्यते, तदेव योगैरित्यत्रार्श आदित्वेन मत्वर्थीयोऽच् । योगनिष्ठयाऽपि कर्म कुर्वद्भिरपि तत्प्राप्यते; स्वातन्त्र्येण फलदत्वात्तयोरेकविषयत्वात् । अतः साङ्ख्ययोगं चैकफलत्वेनैकं यः पश्यति स सम्यग्दर्शनः ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.—एकफलत्वमेव विवेचयति— यत्साङ्ख्यैरिति । यत्स्थानं मत्सामीप्यं साङ्ख्यैः साङ्ख्यनिष्ठैः प्राप्यते तत्स्थानं योगैरपि योगानुष्ठातृभिरपि गम्यते प्राप्यते । तथा चायं भावः– उभयोः कुण्डलरूपत्वाद्यथास्थितस्वरूपज्ञानेनोभयनिष्ठानामपि भगवन्मुखसामीप्यमेव भविष्यति, यतस्तयोरेकमेव स्थानम्, अतो यः साङ्ख्यं योगं चैकं कुण्डलात्मकं पश्यति स मां पश्यतीत्यर्थः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— योगैर्योगिभिः । अर्शआद्यच्प्रत्ययान्तोऽयं योगशब्दः । स्थानं मोक्षाख्यम् । एकमभिन्नम् । स्पष्टा योजना श्लोकद्वयस्य ॥ ५ ॥

कर्मयोगस्य वैशिष्ट्ये कारणान्तरम् ।

## सन्न्यासस्तु महाबाहो ! दुःखमाप्तुमयोगतः ।
## योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥ ६ ॥

---

१ ब्रह्म सन्न्यासम् ; पूर्वार्धेऽयोगत आप्तुं दुःखत्वेनोद्दिष्टस्य तस्यैवात्र प्रतिनिर्देश्यत्वेन प्रकृतत्वात् । अन्यमर्थं कल्पयतस्तु प्रकृतहानाप्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येयाताम्, वाक्यं च भिद्येत । न च ब्रह्मशब्दस्य सन्न्यासे गौणत्वात् विलम्बितप्रतिपत्तित्वं वाच्यम्, "न्यास इत्याहुर्मनीषिणो ब्रह्माणम्" (नारा.७९) इति श्रुत्या तस्य सन्न्यासपर्यायपदतावगमात्, पर्यायशब्दानां शक्यतावच्छेदकैक्यनियमाच्च गौणत्वाभावात्, पूर्वत्र स्वशब्दोपस्थापितस्यायोगतो दुरवापत्वेनोक्तस्य च सन्न्यासस्यैवात्र तत्प्रतियोगियोगयुक्ताधिगम्यत्वावच्छेदकतया झटिति प्रत्यभिज्ञायत्वाच्चोक्तदोषासम्भवात् ।

अथोद्देश्यप्रतिनिर्देश्यकत्ववति विषये तस्यैव पदस्य सर्वनाम्नो वा प्रयोगं विना दोषः । तथा हि–'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च ।' अत्र 'रक्त एवास्तमेति' इति यदि क्रियेत, तदा पदान्तरप्रतिपादितः स एवार्थोऽर्थान्तरतयेव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति' (का॰प्र. ७) इति काव्यमीमांसकसमयादत्र ब्रह्मशब्दस्य सन्न्यासार्थकत्वमयुक्तमिति चेत्– उक्तदोषस्य चमत्कारापकर्षकत्वेन रसालङ्कारप्रधानकाव्येष्वेवावश्यं परिहर्तव्यादत्रोपेक्षणेऽपि न क्षतिः । अन्यार्थकल्पने तु वाक्यभेदादिगुरुतरदोषप्रसङ्ग इति यथोक्तमेव युक्तम् । **अन्ये** तु–मुनिः सन्न्यासी भूत्वेति व्याचक्षते । तत्र " मुनिशब्द उत्तमाश्रमवचनोऽपि श्रूयते– 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थं' इत्यत्र" (३।३।४७) इति शारीरकभाष्यमनुसन्धेयम् ॥ अत्र 'साङ्ख्ययोगौ' (५।४) इत्यादि श्लोकत्रयविषयकं **वामनमतं** सङ्क्षिप्य सङ्गृह्यते—

मुमुक्षुणा कर्मयोगसन्न्यासौ द्वावपि क्रमात् । अनुष्ठेयाविति व्यक्तमसूसुचदिहाच्युतः ॥
कौन्तेयोऽशङ्कत ततः साङ्ख्ययोगौ यथा पृथक् । मोक्षं दातुं प्रभवतस्तथेमावपि नो कुतः ? ॥
ज्ञात्वेति हृद्गतं तस्य सर्वसाक्षी जगद्गुरुः । शङ्कामूलमपाकर्तुं श्लोकद्वयमुदैरिरत ॥ ××× 
नन्वत्र प्रक्रियाभेदे फलैक्यं साङ्ख्ययोगयोः । कथं स्यादिति चेत्तत्र सङ्क्षेपात्किञ्चिदुच्यते ॥
तत्त्वसङ्ख्या विचाराख्या जडाजडविवेकतः । प्रत्यगात्मावबोधान्ता यत्र तत्साङ्ख्यमुच्यते ॥
उद्वेल्लन्ति सहस्रशः सलिलधौ कल्लोलमालाः पृथक् किन्त्वेतासु न किञ्चनास्ति सलिलादन्यद्यथा तत्त्वतः ।
तत्त्वानि प्रकृतेर्जडानि विलसन्त्यात्मस्वरूपे तथा तद्भिन्नं तु न तत्र सारमिति सा साङ्ख्यानुभूतिः स्फुटा ॥
वेदान्तानुमतं साङ्ख्यमिदं व्यासादिवर्णितम् । प्राधान्यं प्रकृतेर्यत्र तदन्यन्नात्र सम्मतम् ॥
येषां चित्ते दृढीभूतः साङ्ख्यबोधोऽयमीदृशः । त्रयोदशे वक्ष्यतीह तेषां मुक्तिं स्वयं हरिः ॥
यदात्मतत्त्वमेतेन साङ्ख्यमार्गेण लभ्यते । चित्तवृत्तिनिरोधाख्या योगेनापि तदाप्यते ॥
तत्प्रक्रिया त्वनुपदं षष्ठेऽध्यायेऽत्र वक्ष्यते । एकेनापि द्वयोरेवमनयोः फलमाप्यते ॥ ×××
अन्योन्यनिरपेक्षत्वमुक्त्वैवं साङ्ख्ययोगयोः । सन्न्यासयोगौ न तथेत्युत्तरेणोक्तवान् विभुः ॥
प्रक्रान्तव्यतिरेकाभिव्यञ्जकेन 'तुना' भृशम् । स्पष्टीकृतोऽयमत्रार्थः सन्दर्भस्वरसानुगः ॥
तन्मोक्षं साधयेयातां साङ्ख्ययोगौ पृथक्परम् । सन्न्यासकर्मयोगौ न शक्तावित्याशयो हरेः ॥ ×××
त्यक्त्वाऽर्थमृजुमप्येनं साङ्ख्यं सन्न्यासमूचिरे । योगं च कर्मयोगं यन्नैव सङ्गच्छतेऽत्र तत् ॥
यस्मादिहोक्तं देवेन सुव्यक्तं साङ्ख्ययोगयोः । एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
एकेन कर्मणा मोक्षः सन्न्यासेनाथवा ततः । व्यक्तमभ्युपगन्तव्यो न चैतच्छ्रुतिसम्मतम् ॥
चेतः शुद्ध्यति नैव कर्मण ऋते न्यासादृते नामृतं न्यासश्चापि भवेत्स शुद्ध्यति यदा चेतस्तदैव स्थिरः ।
अन्योन्याश्रयतैवमस्ति नियता यत्कर्मसन्न्यासयोरेकेनैव कथं फलं तदुभयोः साध्यं पृथक्केनचित् ? ॥
अत्राहुस्ते कर्मणा चित्तशुद्धौ ज्ञानद्वारा मोक्षलाभो ध्रुवः स्यात् । सन्न्यासे च स्वीकृते कर्मणां प्रागाचीर्णानां तत्फलं तेन सार्द्धम् ॥
एवमप्यत्र सन्न्यासात्प्राक्कर्मस्वीकृतेः स्फुटम् । अन्योन्यनिरपेक्षत्वं तयोर्मोक्षे न सिद्ध्यति ॥
अस्मद्दर्शित एवार्थः सर्वथा तत्सुसङ्गतः । व्यर्थोऽन्यस्तत्र दोषास्तु नोक्ता विस्तरसाध्वसात् ॥ इति ।

अत्र च–'ननु प्रियतमत्वेन परमानन्दताऽऽत्मनि । विवेक्तुं शक्यतामेवं विना योगेन किं भवेत् ? ॥
यद्योगेन तदेवेति वदामो, ज्ञानसिद्धये । योगः प्रोक्तो, विवेकेन किं ज्ञानं नोपजायते ? ॥
यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते । इति स्मृतं फलकत्वं योगिनां च विवेकिनाम् ॥
असाध्यः कस्यचिद्योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः । इत्थं विचार्य मार्गौ द्वौ जगाद परमेश्वरः ॥'
(पं. द. १२।८०–८३) इत्यादि ब्रह्मानन्दीयमपि प्रतिपादनमनुसन्धेयम् ॥

**अभिनवगुप्तपादास्तु**–'तु शब्दोऽवधारणे भिन्नक्रमः । योगरहितस्य सन्न्यासमाप्तुं दुःखमेव' इत्याहुः । —**अविगीता** ।

१ शां. भा.— एवं तर्हि योगात्सन्न्यास एव विशिष्यते; कथं तर्हीदमुक्तं 'तयोस्तु कर्मसन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' [५।२] इति ? शृणु तत्र कारणम्— त्वया पृष्टं केवलं कर्मसन्न्यासं कर्मयोगं चाभिप्रेत्य तयोरन्यतरः कः श्रेयान् ? इति। तदनुरूपं प्रतिवचनं मयोक्तं कर्मसन्न्यासात्कर्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानमनपेक्ष्य। ज्ञानापेक्षस्तु सन्न्यासः साङ्ख्यमिति मयाऽभिप्रेतः। परमार्थयोगश्च स एव। यस्तु कर्मयोगो वैदिकः स तादर्थ्याद्योगः सन्न्यास इति चोपचर्यते। कथं तादर्थ्यं ? इत्युच्यते— सन्न्यासस्तु पारमार्थिको दुःखमाप्तुं प्राप्तुमयोगतो योगेन विना। योगयुक्तो वैदिकेन कर्मयोगेनेश्वरसमर्पितरूपेण फलनिरपेक्षेण युक्तो मुनिर्मननादीश्वरस्वरूपस्य मुनिः, ब्रह्म परमात्मज्ञानलक्षणत्वात्प्रकृतः सन्न्यासो ब्रह्मोच्यते "न्यास इति ब्रह्म ब्रह्मा हि परः" [म.ना.उ. ७८] इति श्रुतेः। ब्रह्म परमार्थसन्न्यासं परमात्मज्ञाननिष्ठालक्षणं नचिरेण क्षिप्रमेवाधिगच्छति प्राप्नोति, अतो मयोक्तं 'कर्मयोगो विशिष्यते' इति ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.— यदि यथोक्तज्ञानपूर्वकसन्न्यासद्वारा कर्मिणामपि श्रेयोवाप्तिरिष्टा, तर्हि सन्न्यासस्यैव श्रेयस्त्वं प्राप्तमिति चोदयति— **एवं तर्हीति**। सन्न्यासस्य श्रेष्ठत्वे कर्मयोगस्य प्रशस्ततत्ववचनमनुचितमित्याह— **कथं तर्हीति**। पूर्वोक्तमेवाभिप्रायं स्मारयन्परिहरति— **शृण्विति**। कर्मयोगस्य विशिष्टत्ववचनं तत्रेति परामृष्टम्। तदेव कारणं कथयति— **त्वयेत्यादिना**। केवलं विज्ञानरहितमिति यावत्। तयोरन्यतरः कः श्रेयानितीतिशब्दोऽध्याहर्तव्यः। त्वदीयं प्रश्नमनुसृत्य तदनुगुणं प्रतिवचनं ज्ञानमनपेक्ष्य तद्रहितात्केवलादेव सन्न्यासाद्योगस्य विशिष्टत्वमिति मयोक्तमित्याह— **तदनुरूपमिति**। ज्ञानापेक्षः सन्न्यासस्तर्हि कीदृक् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञानेति**। तर्हि कर्मयोगे कथं योगशब्दः सन्न्यासशब्दो वा प्रयुज्यते ? तत्राऽऽह— **यस्त्विति**। तादर्थ्यात् परमार्थज्ञानशेषत्वादिति यावत्। तदेव तादर्थ्यं प्रश्नपूर्वकं प्रसाधयति— **कथमित्यादिना**। कर्मानुष्ठानाभावे बुद्धिशुद्ध्यभावात् परमार्थसन्न्यासस्य सम्यग्ज्ञानात्मनो न प्राप्तिरिति व्यतिरेकमुपन्यस्यान्वयमुपन्यस्यति— **योगेति**। पारमार्थिकः सम्यग्ज्ञानात्मकः। सामग्र्यभावे कार्यप्राप्तिरयुक्तेति मत्वाऽऽह— **दुःखमिति**। योगयुक्तत्वं व्याचष्टे— **वैदिकेनेति**। ईश्वरस्वरूपस्य सविशेषस्येति शेषः। ब्रह्मेति व्याख्येयं पदमुपादाय व्याचष्टे— **प्रकृत इति**। तत्र ब्रह्मशब्दप्रयोगे हेतुमाह— **परमात्मेति**। लक्षणशब्दो गमकविषयः सन्न्यासे ब्रह्मशब्दप्रयोगे तैत्तिरीयकश्रुतिं प्रमाणयति— **न्यास इति**। कथं सन्न्यासे हिरण्यगर्भवाची ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते ? द्वयोरपि परत्वाविशेषादित्याह— **ब्रह्मा हीति**। ब्रह्मशब्दस्य सन्न्यासविषयत्वे फलितं वाक्यार्थमाह— **ब्रह्मेत्यादिना**। नद्याः स्रोतांसीव निम्नप्रवणानि कर्मभिरतितरां परिपक्वकषायस्य करणानि सर्वतो व्यावृत्तानि निरस्ताशेषविशेषकूटस्थप्रत्यगात्मान्वेषणप्रवणानि भवन्तीति कर्मयोगस्य परमार्थसन्न्यासप्राप्त्युपायत्वे फलितमाह— **अत इति** ॥ ६ ॥

३ रा. भा.— इयान् विशेष इत्याह— सन्न्यासः ज्ञानयोगस्तु अयोगतः कर्मयोगादृते प्राप्तुमशक्यः योगयुक्तः कर्मयोगयुक्तः स्वयमेव मुनिः आत्ममननशीलः सुखेन कर्मयोगं साधयित्वा नचिरेण अल्पेनैव कालेन ब्रह्माधिगच्छति आत्मानं प्राप्नोति। ज्ञानयोगयुक्तस्तु महता दुःखेन ज्ञानयोगं साधयति, दुःखसाध्यत्वाद्दुःखप्राप्यत्वादात्मानं चिरेण प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

४ वे. ता. चं.— ननु 'कर्मयोगो विशिष्यते' [५।२] इति वचनं, अत्र वैकल्पिकत्ववचनं च कथमुपपद्यते ? अत्यन्ततुल्यत्वे हि विकल्प इति शङ्कायां सौकर्यशैघ्र्याभ्यां वैशिष्ट्यम्, फलस्यात्यन्ततुल्यतया च विकल्पः; अधिकारिभेदप्रतिनियतत्वाच्च न दुष्करविलम्बितोपायनैरर्थक्यमित्यभिप्रायेण वैषम्यमुच्यत इत्याह— **इयान्विशेष इत्याहेति**। तुशब्दोऽन्योन्यवैषम्यपरः; 'अयोगतः' इत्यनेन कर्मयोगमन्तरेण ज्ञानयोगस्वरूपमेव न सिद्ध्यतीत्यभिप्रेतम्, तदाह— **कर्मयोगादृत इति**। 'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः' [वा. रा. ४।२८।८] इत्यादिवद्दुःखशब्दस्यात्र नपुंसकत्वम्। मुनिशब्दे प्रकृतापेक्षितप्रकृतिप्रत्ययार्थविवरणं **मननशील इति**। तत्राकर्तृत्वानुसन्धानप्रकरणबलान्मननस्यात्मविषयत्वोक्तिः, **स्वयमेव** ज्ञानयोगमन्तरेणेत्यर्थः। 'दुःखमाप्तुमयोगतः' इत्येतद्व्यतिरेकानुसन्धानात् **सुखेन कर्मयोगं साधयित्वेत्युक्तम्**। 'नचिरेण' इति नञः क्रियान्वये चिरेणाप्यधिगमो न स्यादिति भ्रमः स्यात्, तद्व्युदासाय **नचिरेणेत्युक्तम्**। नैकादिवत् नचिरेण इति समस्तप्रयोगः। ब्रह्मशब्दोऽत्र परिशुद्धात्मस्वरूपलक्षणकर्मयोगाव्यवहितफलविषय इति व्यञ्जनाय **आत्मानं प्राप्नोतीत्युक्तम्**। प्राप्तिरिह साक्षात्कारः। एवमव्यवहितात्मप्राप्तिसाधनत्वं वदता प्रकृतः सन्न्यासो ब्रह्मशब्देनोच्यत इति **शङ्करोक्तं** प्रत्युक्तम्। तद्व्यतिरेकेण पूर्वोक्तं पूरयति— **ज्ञानयोगयुक्त इति**। दुःखसाध्यत्वाद्विलम्बितफलो ज्ञानयोगः; कर्मयोगस्तु सुखसाध्यत्वादविलम्बितफल इति वैषम्यमनेन श्लोकेनोक्तं भवति ॥ ६ ॥

**६ आ. मा. भा.**— इतश्च सन्यासाद्योगो वर इत्याह— **सन्यासस्त्विति** । योगाभावे मोक्षादिफलं न भवति, अतः कामजयादिदुःखमेव तस्य, मोक्षाद्येव हि फलम् । अन्यत्तत्फलमल्पत्वादफलमेवेत्याशयः । तच्चोक्तम्—'विना मोक्षफलं यत्तु न तत्फलमुदीर्यते' इति पाद्मे । यत्तु महाफलयोग्यं तस्याल्पं फलमेव न भवति; यथा पद्मरागस्य तण्डुलमुष्टिः । महाफलश्च योगयुक्तश्चेत्सन्यास इत्याह— योगयुक्त इति । मुनिः सन्यासी । तच्चोक्तम्— 'स हि लोके मुनिर्नाम यः कामक्रोधवर्जितः' इति ॥६॥

**६ ज. प्र. दी.**— सन्यासस्त्वित्यस्य सङ्गतिमाह— **इतश्चेति** । ननु प्राक् सन्यासाद्योगस्य वरत्वे न कोऽपि हेतुरुक्तः, तत्कथमेवमुच्यते ? मैवम्; सन्यासस्य योगावरत्वे बाधकं परिहृतम् । साधकमिदानीमुच्यते । बाधकाभावसहितमेव साधकं वस्तुनो व्यवस्थापकम् । तस्मादितश्चेति युक्तम् । पूर्वं सन्यासस्य निश्श्रेयसकरत्वमुक्तम्, इदानीं कथं दुःखहेतुत्वमुच्यते ? किं वाऽनेन साधकमुक्तं? इत्यतो व्याचष्टे— **योगेति** । विष्णवर्पणबुद्धया करणाभावसन्यासमात्रेणेति शेषः । आदिपदेन ज्ञानं गृह्यते । तस्य केवलसन्यासिनः । योगाभावे सन्यासो निष्फल एवेत्येतन्न युज्यते, मोक्षाद्यभावेऽपि तात्कालिकापमानादिदुःखाभावादेर्भावादित्यत आह— **मोक्षादीति** । अत्र पुराणसम्मतिमाह— **तच्चेति** । ननु मोक्षफलाभावेऽपि धान्यादिनैव कृष्यादिकं सफलमित्युच्यते । तत्कथमेवमभिहितमित्यत उक्तं विवृणोति— **यत्त्विति** । महाफलं साधयितुं योग्यमित्यर्थः । मोक्षादिग्रहणं प्रकृतापेक्षयैव कृतमिति भावः । ननु सन्यासात् योगस्य वरत्वमनेन साधितं तत्किमुत्तरार्धेन? इत्यत आह—**महाफलश्चेति** । महत्फलं यस्मात्स तथोक्तः । योगाङ्गत्वेन ततोऽवरत्वं सन्यासस्य सिसाधयिषितम् । तच्चान्वयव्यतिरेकाभ्यां सिद्ध्यति । तत्र पूर्वार्धेन व्यतिरेकमुक्त्वाऽनेनान्वयमाचष्ट इत्यर्थः । ननु योगोऽप्येवमेवेति चेत्, सत्यम्; तथापि चरमभावित्वेन विशेषः । नन्वत्र सन्यासवाचकं न श्रूयते तत्कथमेवमुच्यते ? इत्यत आह— **मुनिरिति** । मुनिशब्दस्य कामवर्जनलक्षणसन्यासवचनत्वं कुतः ? इत्यत आह— **तच्चेति** ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.**—कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्ट इत्युक्तं, कथं विशिष्टः ? इत्यत्राऽऽह—**सन्यासस्त्विति** । सन्यासो ज्ञाननिष्ठा महाबाहोऽयोगिभिर्दुःखेन प्राप्यते; कर्मभिस्तु सुखेन सत्त्वशुद्धिद्वारेण प्राप्यते, अतः कर्मयोगो विशिष्यत इत्युक्तम् । यतः योगयुक्तो मुनिर्ज्ञानी ब्रह्म अचिरेणाधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं 'ज्ञेयः स नित्यसन्यासी' [५।३] इत्येतदुपपादितम्; इदानीं 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते' [५।३] इत्येतदुपपादयन् कर्मसन्यासयोरेकपुरुषानुष्ठेयत्वं भिन्नपुरुषानुष्ठेयत्वं वा? इति प्राक्पृष्टयोरुत्तरमाह —**सन्यास इति** । अयोगतः कर्मयोगं विना तु सन्यासः प्राप्तुं दुःखं दुःखहेतुः; अशक्य इति यावत् । कर्मानुष्ठानजन्यचित्तशुद्ध्यभावे सन्यासहेतुवैराग्याभावात् । यद्वा योगं विना कृतः सन्यासो दुःखमाप्तुमेव भवति, चित्तशुद्ध्यभावेन ज्ञाननिष्ठाया असम्भवात्, शोधके च कर्मण्यनधिकारात्; अतः कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वेन तस्य महत्सङ्कटमेव स्यादित्यर्थः । कर्मयोगयुक्तस्तु चित्तशुद्धिवैराग्यसम्पत्त्या मुनिः सन्यासी भूत्वा ब्रह्म सत्यज्ञानानन्दात्मकं अचिरेणाधिगच्छति साक्षात्करोति । अतः कर्मयोगं विना सन्यासस्य दुष्करत्वात्कथञ्चित्कृतस्यापि तस्यानर्थकरत्वेन फलवत्त्वाभावाच्च सुकरः शीघ्रफलदश्च कर्मयोगस्ततो विशिष्यत इत्यज्ञस्य मुमुक्षोः प्रथमं कर्मयोगं एवानुष्ठेयः, न तु सन्यासः; स तु वैराग्यतीव्रतायां स्वयमेव भविष्यतीति 'न कर्मणाम्' [३।४] इत्यस्यैवायं प्रपञ्चः ।

अत्र कर्मयोगस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां सन्यासहेतुत्वोक्त्या कर्मसन्यासयोरङ्गाङ्गिभावप्रदर्शनात् तयोरेकपुरुषानुष्ठेयत्वमुक्तं भवति । न च विरोधाद्युगपदेकस्य तदनुष्ठानासम्भव इति वाच्यम्; कालभेदेन तत्सम्भवात् । युज्यते खल्वविरक्तिदशायां कर्मयोगो विरक्तिदशायां सन्यासश्च । न च कर्मयोगस्यापि वैराग्याधिकारत्वाद्विरक्त्यविरक्त्यवस्थाभेदेन कर्मतत्त्यागव्यवस्था न युक्तेति वाच्यम्; कर्मयोगहेतुवैराग्यात् सन्यासहेतुवैराग्यस्य भिन्नत्वात् । तीव्रतरं हि वैराग्यं सन्यासहेतुः । यथाऽतितीव्रायां बुभुक्षायामुत्पन्नायां भोजनादन्यो व्यापारो न रोचते, भोजने च विलम्बो न सोढुं शक्यते; तथा संसारविरतावतितीव्रायामुत्पन्नायां सन्यासं विनाऽन्यन्न रोचते, सन्यासे च विलम्बो न सह्यते । तदेतादृशे तीव्रतरे वैराग्ये सन्यासः, तदभावे कर्मयोग इति व्यवस्थासम्भवान्न कोऽपि विरोधः ॥ ६ ॥

**९ व० त० दी०**— किञ्च साङ्ख्येऽभिप्रेतं कर्म—सन्यासं विनाऽपि योगेनेह हि सिद्धिर्भवति, न तु योगं विना सन्यासिनो भवतीत्याशयेनाह— सन्यासस्त्विति । हे महाबाहो ! कर्मसन्यासस्तु योगव्यतिरेकेणाप्तुं दुःखरूपः । समत्वं हि योगः तन्निष्ठया करणव्यतिरेकेण कस्य सन्यासः ? नह्यकृतस्य त्यागो युज्यते, सिद्धत्वात् । साङ्ख्यीयो मुनिरपि योगयुक्तोऽचिरेण ब्रह्माधिगच्छति; नान्यथेति मम मतम् ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— ननूभयोरेकफलत्वे उभयरूपता किं ? इत्याशङ्कायामाह— सन्न्यासस्त्विति । हे महाबाहो ! सन्न्यासस्तु अयोगतः योगं विना आप्तुं प्राप्तुं दुःखं, दुःखरूपमित्यर्थः । अत्रायं भावः—सन्न्यासस्य साङ्ख्यात्मकस्य विप्रयोगरूपत्वात्, योगस्य संयोगात्मकत्वात्, विप्रयोगस्य संयोगपूर्वत्वाद्योगं विना न तत्सिद्धिः स्यादत उभयरूपत्वेन कथनमित्यर्थः । किञ्च भगवतो रसरूपत्वाद्रसस्य च द्विरूपत्वादेकरूपत्वेनाकथनेऽपूर्ण एव स स्यादित्यर्थः । यतः संयोगं विना न द्वितीयसिद्धिरतो योगयुक्तः संयोगयुक्तो भूत्वा मुनिः विप्रयोगे मौनैकशरणो भूत्वा अचिरेण शीघ्रमेव ब्रह्म सर्वलीलाव्यापकमधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— नन्वेवं निर्विकल्पस्थानप्राप्तये द्वौ मार्गावुक्तौ स्यातां, तच्च "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [ श्वे.उ. ३।८+६।१५] इति श्रुतिविरुद्धमित्याशङ्क्याह— सन्न्यासस्त्विति । सन्न्यासो नैष्कर्म्यं अयोगतो योगं विना आप्तुं दुःखं हे महाबाहो ! । अयमर्थः— निर्विकल्पकसमाधिरपि "तत्त्वमसि" [छां.उ. ६।८।७–१४] इत्येतद्वाक्यार्थप्रतिपत्त्युपायभूत एव, न स्वतः पुरुषार्थ इति द्वितीयमार्गस्याभावान्नोदाहृतश्रुतिविरोधः । "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" [ बृ.उ. ४।४।२३ ] इति श्रुत्यैव शमादिवत्समाधेरप्यात्मदर्शनार्थत्वस्य दर्शितत्वात् । तथा च समाहितपदं वार्त्तिककारैर्व्याख्यातम् । "स्वातन्त्र्यं येषु कर्त्तुः स्यान्न करणाकरणं प्रति । तान्येव नु निषिद्धानि कर्माणीह शमादिभिः" । शमादिभिः शमादिश्रुत्या । "अस्वातन्त्र्यं तु येषु स्यात्करणाकरणं प्रति । समाहितोक्त्याथेदानीं तन्निरोधो विधीयते"— अस्वातन्त्र्यं गुरूपदेशापेक्षत्वं, येषु मानमेयव्यवहारनिरोधेषु । 'पिण्डीकृत्येन्द्रियग्रामं बुद्धावारोप्य निश्चलम् । विषयांस्तत्स्मृतीस्त्यक्त्वा तिष्ठेच्चिदनुरोधतः॥ एषोऽभ्युपायः सर्वत्र वेदान्तेषु प्रतिष्ठितः । तत्त्वमस्यादिवाक्यार्थज्ञानोत्पत्त्यर्थमादरात् ' इति । एवं व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाह— योगयुक्त इति । मुनिः सन्न्यासी न चिरेण शीघ्रमेव ब्रह्माधिगच्छति वाक्यश्रवणमात्रेण, न तु केवलसन्न्यासी । यथोक्तं ' न च सन्न्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति '[ ३।४ ] इति ॥ ६ ॥

सम्यग्दर्शनप्राप्त्यर्थं कर्म कुर्वतोऽपि योगिनः सकारणा कर्मालिप्तता ।

**योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः ।**
**सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ७ ॥**

**१ शां. भा.**— यदा पुनरयं सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायत्वेन— योगेन युक्तो योगयुक्तो विशुद्धात्मा विशुद्धसत्त्वो विजितात्मा विजितदेहो जितेन्द्रियश्च सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वेषां ब्रह्मादीनां स्तम्बपर्यन्तानां भूतानामात्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा, सम्यग्दर्शीत्यर्थः । स तत्रैवं वर्तमानो लोकसङ्ग्रहाय कर्म कुर्वन्नपि न लिप्यते, न कर्मभिर्बध्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु पारिव्राज्यं परिगृह्य श्रवणादिसाधनमसकृदनुतिष्ठतो लब्धसम्यग्बोधस्यापि यथापूर्वं कर्माण्युपलभ्यन्ते, तानि बन्धहेतवो भविष्यन्तीत्याशङ्क्य श्लोकान्तरमवतारयति— यदा पुनरिति । सम्यग्दर्शनप्राप्त्युपायत्वेन यदा पुनरेष पुरुषो योगयुक्तत्वादिविशेषणः सम्यग्दर्शी सम्पद्यते, तदा प्रातिभासिकीं वृत्तिमनुसृत्य कुर्वन्नपि न लिप्यत इति योजना । योगेन नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानेनेति यावत् । आदौ नित्याद्यनुष्ठानवतो रजस्तमोमलाभ्यामकलुषितं सत्त्वं सिद्ध्यतीत्याह— विशुद्धात्मेति । बुद्धिशुद्धौ कार्यकरणसङ्घातस्यापि स्वाधीनत्वं भवतीत्याह— विजितेति । तस्य यथोक्तविशेषणवतो जायते सम्यग्दर्शित्वमित्याह— सर्वभूतेति । सम्यग्दर्शिनस्तर्हि कर्मानुष्ठानं कुतस्त्यं ? तदनुष्ठाने वा कुतो बन्धविश्लेषसिद्धिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— स तत्रेति । सम्यग्दर्शनं समस्यार्थः ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**— कर्मयोगयुक्तस्तु शास्त्रीये परमपुरुषाराधनरूपे विशुद्धे कर्मणि वर्तमानः तेन विशुद्धमनाः । विजितात्मा स्वाभ्यस्ते कर्मणि व्यापृतमनस्त्वेन सुखेन विजितमनाः, तत एव जितेन्द्रियः । कर्तुरात्मनो याथात्म्यानुसन्धाननिष्ठतया सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वेषां देवादिभूतानामात्मभूत आत्मा यस्यासौ सर्वभूतात्मभूतात्मा; आत्मयाथात्म्यमनुसन्दधानस्य हि देवादीनां स्वस्य चैकाकार आत्मा; देवादिभेदानां प्रकृतिपरिणामविशेषरूपतयात्माकारत्वासम्भवात् । प्रकृतिवियुक्तः सर्वत्र देवादि-

देहेषु ज्ञानैकाकारतया समानाकार इति ' निर्दोषं हि समं ब्रह्म' [ ५।१९ ] इत्यनन्तरमेव वक्ष्यते । स एवम्भूतः कर्म कुर्वन्नपि अनात्मन्यात्माभिमानेन न लिप्यते न सम्बध्यते । अतोऽचिरेणात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**—कर्मयोगस्य सुखसाध्यत्वे शीघ्रफलाधिगमे च हेतुरुच्यते— 'योगयुक्तः' इति श्लोकेन । पूर्वावात्मशब्दौ मनोविषयौ, जितेन्द्रियसमभिव्याहारात् । 'योगयुक्तः' इत्यनेनैव सिद्धो विशुद्धमनस्त्वे हेतुः **शास्त्रीय** इत्यादिनोच्यते । विशुद्धिरत्र रजस्तमोनिवृत्तिस्तन्मूलरागद्वेषादिकषायनिवृत्तिश्च । प्राक्समर्थितं स्मारयति **स्वाभ्यस्ते कर्म**णीति । प्रधानस्य मनोनिग्रहस्य वक्तुमुचितत्वात्, ' विजितदेहः ' इति परव्याख्यानं मन्दमिति भावः । सर्वेन्द्रियकूटस्थे मनसि जिते बाह्यानीन्द्रियान्तराणि जितानि भवन्तीत्यभिप्रायेण **तत एवे**त्युक्तम् । सर्वभूतेत्याद्युपपादनाय **कर्तु**रित्युक्तम् । प्रथमस्य भूतशब्दस्यात्र देवादिदेहमात्रविषयतां, द्वितीयस्य क्रियात्मतां विग्रहं च दर्शयति **सर्वेषा**मिति । भिन्नानामैक्यं हि विरुद्धमित्यत्राह **आत्मयाथात्म्य**मिति । **अय**मभिप्रायः— सत्यं न स्वरूपैक्यं विधीयते, तस्य प्रत्यक्षानुमानागमपूर्वापरविरुद्धत्वात्, किन्त्वेकाकारत्वं, यथा सर्वस्मिन् गृहे वर्तमानो व्रीहिरयमेवेत्युक्ते तज्जातीयत्वमुक्तं भवति, तद्वदत्रापि सर्वस्मिन् देहे वर्तमानो 'अयमेवात्मा' इति प्रयोगेऽपि देहान्तरवर्तिनामस्य चात्मनः समानत्वमुक्तं भवति । ननु समानत्वमपि प्रत्यक्षादिविरुद्धम्, देवतिर्यग्ब्राह्मणक्षत्रियब्रह्मचारिगृहस्थपण्डितापण्डितशक्ताशक्तधनिकदरिद्रस्थविरतरुणादिनिरवधिकवैषम्यनिर्भरत्वादात्मनाम्; अन्यथा 'ब्राह्मणो यजेत' [ श. ब्रा. ५।१।६।२ ] इत्याद्यात्मपर्यन्तशास्त्रीयप्रयोगोऽपि भज्येतेत्यत्राह **देवादिभेदाना**मिति । अयं भावः— 'सत्यं देवादिवैषम्यं प्रामाणिकमेव, तत्तु न स्वरूपप्रयुक्तम्, तस्य कर्मोपाधिकप्रकृतिपरिणामभेदनिबन्धनत्वात्; शुद्धाकारविवक्षया तु समानत्वमिहोच्यते ' इति । साम्यस्यात्र विवक्षितत्वे संवादकमनन्तरमेव साम्याभिधानं दर्शयति **प्रकृतिवियुक्त** इति । ' कुर्वन्नपि न लिप्यते ' इत्यत्र न तावन्निषिद्धं कुर्वन्नपि न दुष्टो भवतीत्युच्यते, तथा सति बहुव्याकोपप्रसङ्गात्; न च कर्मयोगं कुर्वन्नपि तेनैव न लिप्यत इति, तथा च सति निष्फलप्रयासत्वेन तस्याननुष्ठानप्रसङ्गात् । अतोऽत्र न केवलं ज्ञानयोगनिष्ठः, अपितु कर्मयोगं कुर्वन्नप्यात्मसाक्षात्काराख्यफलविरोधिना केनचिन्न लिप्यत इत्येवार्थ इत्यभिप्रायेण **अनात्मन्यात्माभिमानेने**त्याद्युक्तम् । ' नैव किञ्चित्करोमि ' [ ५।८ ] इत्यादिकं ह्यनन्तरमुच्यत इति भावः । 'न लिप्यते' इत्यत्र सवासनं सम्बन्धनिषेधो विवक्षित इत्याह— **न सम्बध्यत** इति । प्रस्तुतार्थतया निगमयति— **अत** इति ॥ ७ ॥

**५ आ. मा. भा.— एतदेव प्रपञ्चयति— योगयुक्त इति । सर्वभूतात्मभूतः परमेश्वरः । यच्चाप्नोतीत्यादेः[1] । स आत्मभूतः स्वसमीपं प्रत्यादानादिकर्ता यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा ॥ ७ ॥**

६ ज. प्र. दी.—प्रकृतप्रमेयस्य समाप्तत्वादुत्तरस्य वैयर्थ्यमाशङ्क्याह—**एतदेवे**ति । योगयुक्तस्य सन्न्यासस्य महाफलत्वमेव । प्रपञ्चनं च ' यो न द्वेष्टि ' [ ५।३ ] इत्यत्रोक्तद्वेषादिवर्जनकारणोपन्यासेन 'ब्रह्माधिगच्छति' [ ५।६ ] इत्यत्रोक्तब्रह्मज्ञानावान्तरफलोपन्यासेन चेति ज्ञातव्यम् । ' सर्वभूतात्मभूतात्मा' इत्यनेन जीवस्य परमात्मस्वरूपत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह—**सर्वे**ति । सर्वभूतानामात्मभूतः कथं ? इत्यत उक्तं **यच्चे**ति । एतन्निर्वचनमाश्रित्य न स्वरूपत्वमित्यर्थः । स आत्मभूत इति सर्वभूतात्मभूत इत्युक्तस्यानुवादः । ' स्वसमीपं' इत्यादिद्वितीयात्मशब्दस्यार्थः । एवं जानन्नत्र विवक्षितः ॥ ७ ॥

**७ ह. पै. भा.— अतः-योगेति । योगयुक्तो विशुद्धात्मा प्राप्तसत्त्वशुद्धिर्विजितात्मा रागद्वेषाभ्यामनाकृष्यमाणो जितेन्द्रियः सर्वभूतात्मभूतात्मा सर्वेषु भूतेष्वात्मैकत्वदर्शी कर्माणि कुर्वन्नपि तत्फलैर्न लिप्यत न सम्बध्यते ॥ ७ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**—ननु 'योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्माधिगच्छति ' [ ५।६ ] इत्युक्तमयुक्तम्, कर्मणो बन्धहेतुत्वादित्यत आह— **योगे**ति । निष्कामतयेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं कर्म योगः, तेन युक्तः पुरुषः विशुद्धात्मा निर्मलान्तःकरणः, तथा विजितात्मा वशीकृतदेहः जितेन्द्रियश्च सन् । अनेन 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभतेऽर्जुन !' [१८।१५] इति वक्ष्यमाणत्रिविधकर्मलेपाभावः सूचितः । एतादृशस्य तत्त्वज्ञानमवश्यम्भावीत्याह— **सर्वभूतात्मभूतात्मा** सर्वेषां भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानामात्मभूत आत्मा यस्य स तथोक्तः, अद्वितीयात्मतत्त्वदर्शीति यावत् । एवम्भूतः **कुर्वन्नपि** लोकानुग्रहार्थं स्वाभाविकं वा कर्म **न लिप्यते** न बध्यते ।

यत्त्वत्र मधुसूदनसरस्वतीभिरुक्तम्—" सर्वभूतानामा-

---

१ यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तेनात्मेति निरुच्यते ॥ [ लिं. पु. पू. भा. ७०।९६ इति श्लोकोऽत्र लक्ष्यते ॥

त्मभूत आत्मा यस्येति भाष्यकारीयव्याख्याने 'सर्वभूतात्मा' इत्येतावतैवार्थलाभात् 'भूतात्मा' इत्यधिकम् । अतः सर्वात्मपदाभ्यां जडाजडे विवक्षित्वा सर्वभूत आत्मभूतश्चात्मा स्वरूपं यस्येति व्याख्यानं समञ्जसम् । चेतनाचेतनात्मकं सर्वमात्ममात्रं पश्यतीत्यर्थः'' इति, तदसत्; 'सर्वभूतात्मभूत'– इत्येतावतैवार्थलाभेन भवद्व्याख्यानेऽपि द्वितीयात्मपदवैयर्थ्यात् । चेतनाचेतनात्मकं सर्वमात्ममात्रं पश्यतीत्यर्थलाभायात्मपदं सार्थकमिति चेत्, सर्वभूतात्मभावापन्नस्वात्मदर्शित्वरूपार्थलाभाय भूतात्मपदमपि सार्थकमिति समानम् । वस्तुतस्तु भवद्व्याख्यान एवासामञ्जस्यम्; सर्वपदेनैव चेतनाचेतनलाभेन प्रथमात्मपदवैयर्थ्यात् 'सर्वात्मा'इति द्वन्द्वान्तश्रुतद्वितीयभूतपदेनैव 'सर्वभूत आत्मभूतः' इत्यर्थलाभेन प्रथमभूतपदवैयर्थ्याच्चेति न किञ्चिदेतत् । तस्माद्यथाभाष्यमेव व्याख्यानमनवद्यम् ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— स्वमतस्फोरणार्थं तद्योगिनं लक्षयति त्रिभिः । त्रिगुणातीतत्वात्तस्येतिभावेन योगयुक्त इति ॥ ७ ॥

१० पु. अ. त.— ननु ब्रह्मप्राप्तिरेवोत्तमा तदा भक्त्यैव तत्सिद्धिरिति नियतस्वफलभोगकारककर्मकरणं किम्प्रयोजनकं? इत्याशङ्क्याह— योगयुक्त इति । योगयुक्तो मत्संयोगात्मवान् । विशुद्धात्मा विशेषेण शुद्ध आत्मा अन्तःकरणं कामादिभावरहितं यस्य । विजितात्मा विजितो वशीकृत आत्मा भगवत्स्वरूपं येन । जितेन्द्रियः जितानि इन्द्रियाणि स्वभोगादिरूपाणि येन । सर्वभूतात्मा सर्वभूतात्मरूपो भगवान् स एवात्मा स्वरूपं यस्य, तादृशो मदाज्ञया लोकसङ्ग्रहार्थं कर्म कुर्वन्न लिप्यते तत्फलभोगेन न बध्यते ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०—योगेति । योगेन निर्विकल्पसमाधिना युक्तो योगयुक्तः, अत एव विशुद्धात्मा वृत्तिसारूप्यदोषेण हीन आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य । निर्विकल्पावस्थायां केवल एव चेतनोऽस्ति, नान्यदेत्युक्तम् । 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' । 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' [ पा.यो. १।३;४ ] इति । तदा वृत्त्यभावे इतरत्र वृत्तिकाले इति सौत्रपदद्वयार्थः । अत्र हेतुः– यतोऽयं विजितात्मा विजितचित्तो जितेन्द्रियश्च । एवं शुद्धस्त्वम्पदार्थ उक्तस्तस्य तत्पदार्थाभेदमाह— सर्वभूतात्मेति । सर्वेषां भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां वियदादीनां च चेतनाचेतनानामात्मभूतः उपादानत्वेन स्वरूपभूतः कनकमिव कुण्डलादीनां स्वरूपभूतं कारणानन्यत्वात्कार्यस्य, सर्वभूतात्मभूत आत्मा प्रत्यक्चेतनो यस्य स सर्वभूतात्मभूतात्मा । यत्तु 'सर्वेषां भूतानामात्मभूत आत्मा यस्य' इति भाष्यं सर्वभूतात्मेत्येतावतैवार्थलाभादात्मभूत इत्यधिकमिति दूषितं, स्वयं च सर्वभूत आत्मभूतश्चात्मा यस्येति विग्रहो दर्शितः ( मधुसूदनसरस्वतीभिः ) तत्र सङ्कोचे कारणाभावात्सर्वपदेनैव चिज्जडयोर्ग्रहे परस्याप्यात्मभूतेत्यधिकमेव सर्वभूतश्चेतनाचेतनप्रपञ्चभूत आत्मा यस्येति तत्रापीष्टार्थलाभात् । सर्वं च आत्मनश्च तद्भूत आत्मा यस्येति विगृह्य 'सर्वात्मभूतात्मा 'इत्येतावतैव सिद्धे प्रथमभूतपदस्य वैयर्थ्यं च । भाष्यमते ब्रह्मादीनां प्रत्यग्भूत आत्मा यस्येति श्रुत्यैव जीवेशाभेद उच्यते, परस्य तु उपादानत्वलिङ्गेन जडसाधारण्येन जीवस्य ब्रह्माभेदोऽवगम्यत इति विद्वद्भिरविनयः क्षन्तव्यः । यतोऽयं सर्वेषां प्रत्यगात्मा अतोऽहमिव सोऽपि कुर्वन्नपि न लिप्यते, असङ्गात्मज्ञानात् कर्त्रादेर्बाधितत्वाच्च । व्युत्थाने तत्प्रतीतावपि उत्खातदंष्ट्रोरगवद्बाधकत्वाच्चेत्यर्थः ॥ ७ ॥

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥ ८ ॥
प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ९ ॥

१ शां. भा.— न चासौ परमार्थतः करोत्यतः– नैव किञ्चित्करोमीति युक्तः समाहितः सन् मन्येत चिन्तयेत्, तत्त्वविदात्मनो याथात्म्यं तत्त्वं वेत्तीति तत्त्ववित्परमार्थदर्शीत्यर्थः । कदा कथं वा तत्त्वमवधारयन्मन्येत ? इत्युच्यते– मन्येतेति पूर्वेण सम्बन्धः । यस्यैवं तत्त्वविदः सर्वकार्यकरणचेष्टासु कर्मस्वकर्मैव पश्यतः सम्यग्दर्शिनस्तस्य सर्वकर्मसन्न्यास एवाधिकारः कर्मणोऽभावदर्शनात् । न हि मृगतृष्णिकायामुदकबुद्ध्या पानाय प्रवृत्त उदकाभावज्ञानेऽपि तत्रैव पानप्रयोजनाय प्रवर्तते ॥८॥९॥

**२ आ. शां. व्या.**— कर्माण्यङ्गीकृत्य तैरस्य विदुषो बन्धो नास्तीत्युक्तम्, इदानीं वस्तुतस्तस्य कर्माण्येव न सन्तीत्याह— **न चेति** । लोकदृष्ट्या विदुषोऽपि कर्माणि सन्तीत्याशङ्क्य स्वदृष्ट्या तदभावमभिप्रेत्याऽऽह— **नैवेति** । सार्धं समनन्तरश्लोकमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्थापयति— **कदेत्यादिना** । चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिवायुभेदैरन्तःकरणचतुष्टयेन च तत्तच्चेष्टानिर्वर्तनावस्थायां तत्तदर्थेषु सर्वा प्रवृत्तिरिन्द्रियाणामेवेत्यनुसन्दधानो नैव किञ्चित्करोमीति विद्वान्प्रतिपद्येतेत्यर्थः । यथोक्तस्य विदुषो विध्यभावेऽपि विद्यासामर्थ्यात्प्रतिपत्तिकर्मभूतं कर्मसन्न्यासं फलात्मकमभिलषति— **यस्येति** । अज्ञस्येव विदुषोऽपि कर्मसु प्रवृत्तिसम्भवात्कुतः सन्न्यासेऽधिकारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **न हीति** ॥ ८ ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.— यतः सौकर्याच्छैघ्र्याच्च कर्मयोग एव श्रेयान् , अतस्तदपेक्षितं शृणु— एवमात्मतत्त्ववित् श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि, वागादीनि च कर्मेन्द्रियाणि, प्राणाश्च स्वविषयेषु वर्तन्त इति धारयन् अनुसन्दधानो नाहं किञ्चित्करोमीति मन्येत; ज्ञानैकस्वभावस्य मम कर्ममूलेन्द्रियप्राणसम्बन्धकृतमीदृशं कर्तृत्वं न स्वरूपप्रयुक्तमिति मन्येतेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवमर्जुनस्य परिपृच्छतः साक्षात्प्रश्नस्योत्तरमुक्तम्, अथ तदाशयविदो भगवत आभिप्रायिकं वाक्यमुत्तरसङ्गत्यर्थं दर्शयति— **यत** इति । युक्तोऽत्र योगनिष्ठः; तत्त्ववित् तदन्तर्गतात्मतत्त्वविज्ञानवान् । तदाह— **एवमात्मतत्त्वविदिति** । 'पश्यन्, शृण्वन्, स्पृशन् , जिघ्रन् , अश्नन्' इति चक्षुश्श्रोत्रत्वग्घ्राणजिह्वाख्यज्ञानेन्द्रियव्यापाराः । 'गच्छन, प्रलपन्, विसृजन, गृह्णन्' इति पादादिकर्मेन्द्रियव्यापाराः । तत्र 'विसृजन्' इति पायूपस्थव्यापारसङ्ग्रहः । उक्तं च 'पायूपस्थे विसर्गार्थमिन्द्रिये तुल्यकर्मणी । विसर्गे च पुरीषस्य विसर्गे चाभिकामतः' इति । 'स्वपन् , श्वसन् , उन्मिषन निमिषन्' इति तु प्राणव्यापाराः । स्वापस्य तमोवृत्तित्वेऽपि प्राणाधीनत्वं सिद्धम् । 'उन्मिषन् , निमिषन्' इति तु व्यानाख्यप्राणव्यापारः । 'श्वसन्' इति तु प्राणसंज्ञकप्राणविशेषव्यापारः । 'गृह्णन्' इति पाणिव्यापारपरोऽपि अपानव्यापारस्यापि तन्त्रेण ग्राहकः । "तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत्स य एषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुः" [ ऐ.उ. ३।१० ] इति । एवं विभागज्ञापनाय— **श्रोत्रादीनि ज्ञानेन्द्रियाणि वागादीनि च कर्मेन्द्रियाणि प्राणाश्चेत्युक्तम्** । इन्द्रियशब्दोऽत्र सर्वेन्द्रियप्रवृत्त्यादिहेतुतया प्राणसंवादादिषु प्रसिद्धं मुख्यप्राणमजहल्लक्षणया लक्षयतीति तात्पर्यम् । 'इन्द्रियार्थेषु' इत्येतदपि तथैव लक्षकमिति व्यञ्जनाय **स्वविषयेष्वित्युक्तम्** । नन्विन्द्रियप्राणेष्वकर्तृषु कर्तृत्वाध्यासः स्वस्याकर्तृत्वबुद्धिश्च भ्रान्तिरेव स्यात्; आत्मन एव कर्तृत्वस्य 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इत्यादिभिः **स्था**पितत्वादित्यत्राह **ज्ञानैकस्वभावस्येति** । कर्मणां मिथ्यात्वानुसन्धानमिह परोक्तमयुक्तम् , 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्ते' इत्यस्याप्यननुसन्धेयत्वप्रसङ्गात् । मुक्तस्य स्वेच्छागृहीतेन्द्रियादिव्यवच्छेदायोपाधीनामप्यौपाधिकत्वव्यञ्जनाय च **कर्ममूल**शब्दः । **ईदृशमिति**— पुण्यपापरूपमित्यर्थः । अत्र 'तत्त्ववित्' इति निरुपाधिकस्वरूपपरत्वात् , 'कार्यकारण—' [ १३।२० ] इत्यादाविव न चिदचिद्व्यापारविभागोक्तिः ॥ ८ ॥ ९ ॥

**५ आ. मा. भा.—सन्न्यासं स्पष्टयति—पुनः श्लोकद्वयेन ॥ ८ ॥ ९ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— नैव किञ्चिदित्यादेः प्रतिपाद्यमाह— **सन्न्यासमिति** । 'ज्ञेयः' इत्यादिना 'विशुद्धात्मा' इत्यादिना च स्पष्टीकृतत्वात्— **पुनरिति** । स्पष्टत्वं च प्रागनुक्तसङ्कल्पत्यागस्याभिधानात् ॥ ८ ॥ ९ ॥

**७ ह. पै. भा.— यत एवमतः—आत्मनोऽकर्तृत्वान्नैव किञ्चिदहं करोमीति मन्येत तद्दर्शनादिषु कर्तृत्वस्याविद्यातः प्रतिभासे सत्यपि । पश्यन्रूपमालोचयन्, शृण्वञ्छब्दं शृण्वन्, जिघ्रन्गन्धानुपाददानः,अश्नन्नोदनान्भुञ्जानः,गच्छन्पद्भ्यां विहरन्,स्वपञ्छयानः, श्वसञ्छ्वासं विसृजन्नपि तथा—प्रलपन्प्रभाषमाणः, विसृजन्मूत्रपुरीषे विसृजन्, गृह्णन्हस्तेनोपाददानः, उन्मिषन्निमिषन्नुन्मीलन्निमीलन्नपि, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनीन्द्रियार्थेषु विषयाभिमुखं वर्तन्त इति धारयन्मन्यमानो नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्वविदिति पूर्वेण सम्बन्धः । तस्यैवं तत्त्वविदः सर्वकार्यकारणचेष्टासु कर्मस्वकर्मैव सम्पश्यतः सम्यग्दर्शिनः सर्वकर्मसन्न्यास एवाधिकारस्तत्तत्कर्मणोऽभावदर्शनात् । न हि मृगतृष्णिकायामुदकबुद्ध्या पानाय प्रवृत्तावुदकाभावज्ञानेऽपि तत्रैव पानप्रयोजनाय प्रवर्तन्ते ॥ ८ ॥ ९ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— कुर्वन्नपि न लिप्यते' [ ५।७ ] इत्युक्तम् ; कुतो न लिप्यते ? इत्यतः कर्तृत्वाभिमानाभावादित्याह द्वाभ्याम्— **नैवेति** । युक्तः समाहितः तत्त्ववित् 'नैव किञ्चित्करोमि' इति मन्येत मन्यते चिन्त-

यति, अतो न लिप्यत इति सम्बन्धः । तत्किं तत्त्ववित्किमपि न पश्यति न शृणोति येन न किञ्चित्करोमीत्यनुचिन्तयेत् ? अत आह— **पश्यन्निति** । चक्षुरादिज्ञानेन्द्रियैर्वागादिकर्मेन्द्रियैः प्राणादिवायुभेदैरन्तःकरणचतुष्टयेन च क्रियमाणेषु कर्मसु, इन्द्रियाण्येव इन्द्रियार्थेषु स्वस्वविषयेषु वर्तन्ते, न त्वहमिति धारयन्, नैव किञ्चित्करोमीति मन्येतेति योजना। अत्र दर्शनश्रवणस्पर्शनघ्राणाशनानि चक्षुश्श्रोत्रत्वग्घ्राणरसनानां पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः पश्यन् शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नित्युक्ताः । ‘ गच्छन्प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् ’इत्यनेन तु पञ्चकर्मेन्द्रियाणां व्यापारा उक्ताः । तत्र गतिः पादयोः, प्रलापो वाचः, विसर्गः पायूपस्थयोः, ग्रहणं हस्तयोरिति विवेकः । ‘श्वसन्’ इति प्राणादिपञ्चकव्यापारोपलक्षणम् । ‘ उन्मिषन्निमिषन् ’इति नागकूर्मादिवायुपञ्चकान्तरव्यापारोपलक्षणम् ; ‘ उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा । कृकरस्तु क्षुते [ कुकरः क्षुत्करो ] ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः’ [ यो. चू. उ. २५, २६ ] इति स्मृतेः । स्वपन्नित्यन्तःकरणचतुष्टयव्यापारोपलक्षणम् । एवमर्थक्रमवशात्पाठक्रमं भंक्त्वा व्याख्यातोऽयं श्लोकः ॥ ८ ॥९ ॥

९ व. त. दी.— ‘ कुर्वन्नपि न लिप्यते ’ इत्येतद्विरुद्धमित्याशङ्क्य सर्वेन्द्रियव्यापारसत्वेऽपि कर्तृत्त्वाद्यभिमानाभावेन निर्द्वन्द्वत्वान्न विरुद्धमित्याह— नैव किञ्चिदिति । मनस इन्द्रियाणां च व्यापाराः ‘उन्मिषन्निमिषन्नपि’ इत्यन्तं निर्दिष्टाः । स्वविषयेषु हीमानीन्द्रियाणि प्रवर्त्तन्ते, नाहमिति । साङ्ख्यवद्धारयन् न लिप्यते । तथा चोक्तं सूत्रकृता ‘ तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ ’ [ ब्र. सू. ४।१।१३ ] इति । कर्मभिर्न स बध्यते इति ॥८॥९॥

१० पु. अ. त.— ननु नियतफलस्य कर्मणः कृतस्य कथं न फलं ?इत्याशङ्क्याह— **नैव किञ्चिदित्यादित्रयेण** । तत्त्ववित् भगवदिङ्गितज्ञः युक्तः मद्भावयुक्तः सन् ‘नैव किञ्चित्करोमि अहं किञ्चिदपि न करोमि; किन्तु भगवदिच्छया तदाज्ञया यथा स कारयति तथा वारिवशात्तृणादिचलनवत्, कर्म किमपि मत्तो न भवति, न त्वहं करोमि’इति यो मन्येत स पापेन कर्मजफलेन न लिप्यते । एवंरूपस्य स्थितिमाह— **पश्यन्निति** । भावात्मकेन मनसा स्थिरीकृतालौकिकेन्द्रियैश्चक्षुःप्रभृतिभिः पश्यन् भगवत्स्वरूपदर्शनं कुर्वन्, शृण्वन् भगवत्कूजितवेण्वादिशब्दान्, स्पृशन् भगवच्चरणारविन्दस्पर्शं कुर्वन्, जिघ्रन् भगवन्मुखामोदाद्याघ्राणं कुर्वन्, [अश्नन् ...?] गच्छन् गोचारणादिलीलायां सङ्गे गच्छन्, स्वपन् लीलादिसमये नेत्रमुद्रणं कुर्वन्, श्वसन् विप्रयोगादिना श्वासविमोकं कुर्वन्, प्रलपन् तद्भावेन मत्तावस्थायां भ्रमरवद्गानं कुर्वन्, विसृजन् तदवस्थायामेव दूरे यच्छन्, गृह्णन् तदवस्थयैवालिङ्गनादि चरणेषु कुर्वन्, उन्मिषन् मत्तावस्थात्यागेन स्वरूपानुभवं कुर्वन्; निमिषन् तत्सुखानुभवेन नेत्रनिमीलनं कुर्वन्; इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेषु भगवदवयवेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥ ८ ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— न लिप्यत इत्येतदुपपादयति— नैवेति द्वाभ्याम् । तत्त्ववित् अहं नैव किञ्चित्करोमीति मन्येत मन्यते । तत्र हेतुः—इन्द्रियाणि उपलक्षणमिदं प्राणादेरपि । इन्द्रियादय इन्द्रियार्थेषु स्वेषु विषयेषु वर्त्तन्ते इति धारयन् निश्चिन्वन्; न त्वहं विषयेषु वर्त्ते इति मन्यते । धारयन्निति हेतौ शतृप्रत्ययः । अत्र दर्शनादयः पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणां व्यापाराः । गमनविसर्गप्रलपनग्रहणानि कर्मेन्द्रियाणाम् । तानि चानन्दस्योपलक्षणानि । श्वसन्निति प्राणस्य, स्वपन्निति बुद्धेः, उन्मेषणनिमेषणे कूर्माख्यप्राणस्येति विभागः । क्रमस्त्वविवक्षितः । एतानि कुर्वन्नप्यभिमानाभावान्न लिप्यते इत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।**
**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥**

**१ शां. भा.— यस्तु पुनरतत्त्ववित्प्रवृत्तश्च कर्मयोगे— ब्रह्मणीश्वर आधाय निक्षिप्य तदर्थं करोमीति भृत्य इव स्वाम्यर्थं सर्वाणि कर्माणि, मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः सर्वकर्माणि, लिप्यते न स पापेन न सम्बध्यते; पद्मपत्रमिवाम्भसोदकेन ॥ १० ॥**

२ आ. शां. व्या.— तर्हि विद्वानिवाविद्वानपि कर्मणि न प्रवर्तेत, पापोपहतिसम्भवादित्याशङ्क्याऽऽह— **यस्त्विति** । यथा भृत्यः स्वाम्यर्थं कर्माणि करोति, न स्वफलमपेक्षते, तथैव योऽविद्वान्मोक्षेऽपि सङ्गं त्यक्त्वा भगवदर्थमेव सर्वाणि कर्माणि करोति, न स कर्मणा बध्यते; न हि पद्मपत्रमम्भसा सम्बध्यते, तद्वदित्यर्थः ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— ब्रह्मशब्देन प्रकृतिरिहोच्यते । ‘ मम योनिर्महद्ब्रह्म ’ [ १४।३ ] इति हि वक्ष्यते । इन्द्रियाणां प्रकृतिपरिणामविशेषरूपत्वेन इन्द्रियाकारेणावस्थितायां प्रकृतौ ‘ पश्यञ्छृण्वन् ’ [ ५।८ ]**

इत्याद्युक्तप्रकारेण कर्म ब्रह्मण्याधाय फलसङ्गं त्यक्त्वा 'नैव किञ्चित्करोमि' [ ५।८ ] इति यः कर्माणि करोति,सः प्रकृतिसंसृष्टतया वर्तमानोऽपि प्रकृत्याऽऽत्माभिमानरूपेण बन्धहेतुना पापेन न लिप्यते। पद्मपत्रमिवाम्भसा यथा पद्मपत्रमम्भसा संसृष्टमपि न लिप्यते, तथा न लिप्यत इत्यर्थः ॥ १० ॥

**४ वे. ता. चं.**— नन्वेवं फलाभिसन्धिपूर्वकेऽपि कर्मणि क्रियमाणे 'नैव किञ्चित्करोमि' इति भावनया तत्करणेऽपि न दोषः स्यात्; यदि च परमार्थतः स्वस्यैव कर्तृत्वं किं तस्योपाधिकत्वानुसन्धानेन प्रयोजनम् ? तथानुसन्धानेऽपि प्रकृतिसंसर्ग एवैनं देहात्मभ्रमे निमज्जयेदिति शङ्का निराक्रियते 'ब्रह्मणि' इति श्लोकेन । न तावदत्र ब्रह्मशब्देन जीव उच्यते, तत्कर्तृत्वतिरस्कारप्रकरणत्वात् । नापि परं ब्रह्म, औपाधिकत्वप्रतिपादनप्रकरणे तदनपेक्षणात्, अनन्तरं च 'सर्वकर्माणि मनसा' [ ५।१३ ] इति श्लोकेन देहकर्तृत्वाभिसन्धानाभिधानात् । अतः पूर्वोक्तस्यार्थस्य आकाङ्क्षितफलनिर्देशपरत्वोपपत्तेः, ब्रह्मशब्दोऽत्रेन्द्रियाकारपरिणतप्रकृतिगोचरः । भवति हि प्रकृतिकार्येऽपि ब्रह्मशब्दप्रयोगः "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं जायते" [ मु.उ. १।१।९ ] इति । तदेतदखिलमभिप्रेत्याह— **ब्रह्मशब्देनेति** । ब्रह्मशब्दस्य प्रकृतौ प्रयोगं भगवद्गीतायामेवोदाहरति— **मम योनिरिति** । भवतु प्रकृतौ ब्रह्मशब्दः, प्रस्तुतस्य किमायातं ? इति शङ्कायां पूर्वश्लोकार्थन्यायाभ्यामुपबृंहितं वाक्यार्थमाह— **इन्द्रियाणामिति** । ननु बृहत्त्वगुणात्प्रयोगबलाच्च मूलप्रकृतिर्ब्रह्मशब्देनोच्यताम्; तत्र दर्शनश्रवणादिकर्तृत्वानुसन्धानमशक्यम्, मूलप्रकृतिरूपे तद्धेतुत्वाभावादिति शङ्कानिराकरणाय **अवस्थितायामित्यन्तमुक्तम्** । औपचारिकोऽपि कारणविषयः प्रयोगो द्रव्यैक्यात्कार्यमपि गोचरयेदिति भावः । **कर्माणीति** बहुवचनं पूर्वोक्तवैविध्यपरमिति प्रदर्शनायोक्तं **पश्यञ्शृण्वन्नित्याद्युक्तप्रकारेणेति** । 'यः करोति' इत्यात्मन्येव कर्तृत्वनिर्देशात्तदौपाधिकत्वस्मारणाय पूर्वोक्तमाकृष्टं **नैव किञ्चित्करोमीति** । पापशब्दोऽत्र देहात्मभ्रमविषयः'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा' [म.भा. १।७४।२७] इत्यादिषु चात्मान्यथाज्ञानस्य पापत्वं प्रसिद्धम्; आत्मनोऽकर्तृत्वानुसन्धानप्रकरणे तन्निवृत्तिरेव वक्तुमुचितेत्यभिप्रायेण **प्रकृत्यात्माभिमानरूपेणे**त्युक्तम् । **बन्धहेतुने**ति । तत्र पापलक्षणद्योतनम् । अलौकिकमनिष्टफलासाधारणकारणं हि पापम् । प्रयुक्तश्च पापशब्दोऽनेकेष्वर्थेषु, यथा "न सुकृतं न दुष्कृतं सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" [छां.उ.८।४।१] इति । ननु पद्मपत्रमम्भसा संस्पृष्टं कथमत्र दृष्टान्तः? इत्यत्राह— **यथेति** । न संसर्गमात्रनिषेधायात्र दृष्टान्तः, किन्तु यथा पद्मपत्रस्य जन्मस्थित्यादिकं सर्वमम्भस्येव, तथापि न तत्कार्यक्लेशादिः, तद्वत् प्रकृत्यधीनभोगस्थित्यादेरस्य तत्कार्यदेहात्मभ्रमादिर्न स्यादिति भावः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.**—सन्न्यासयोगयुक्त एव च कर्मणा न लिप्यत इत्याह— **ब्रह्मणीति** । साधननियमस्योपचारत्वव्यावृत्त्यर्थं पुनः पुनः फलकथनम् ॥ १० ॥

**६ ज. प्र. दी.**—ननु 'योगयुक्तः' [७।५]इत्यनेन यत्सन्न्यासयोगयुक्तस्य कर्मालेपलक्षणं फलमुक्तं,तदेव तस्य 'ब्रह्मण्याधाय' इति किमर्थं पुनरुच्यते ? इत्यत आह— **सन्न्यासेति** । प्रागुक्तस्यैव नियमोऽत्र क्रियते। सिद्धे सत्यारम्भस्य नियमार्थत्वादिति भावः । योगविवरणं च किञ्चिदधिकमिति चार्थः । ननु सन्न्यासस्त्वित्यनेनैव सन्न्यासयोगौ मिलिताविव फलं साधयत इति नियमोऽपि लब्ध एव; तत्किमर्थमिदं सन्न्यासयोगयुक्तस्य 'कुर्वन्नपि न लिप्यते' [ ५।७ ] 'लिप्यते न स पापेन' इति पुनः पुनः फलकथनं ? इत्यत आह— **साधनेति** । साधननियमस्येति तदुक्तेरित्यर्थः । सन्न्यासयोगौ मिलिताविव फलसाधनमिति नियमोक्तेरुपचारत्वमपि सम्भवति, लोकवत् । तन्निवृत्त्यर्थमित्यर्थः ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.**— यस्तु पुनरतत्त्ववित्प्रवृत्तश्च कर्मयोगे भवति— **कर्माणि ब्रह्मणीश्वर** आधाय तदर्थं करोमीति भृत्य इव स्वात्मार्थं मोक्षेऽपि फले सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः कर्माणि लिप्यते न स पापेन सम्बध्यते, पद्मपत्रमिवाम्भसोदकेन । केवलं सत्त्वशुद्धिफलमात्रमेव स्यात् ॥ १० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**—नन्वस्त्वेवं तत्त्वदर्शिनः कर्तृत्वाभिमानाभावात्कर्मभिरलिप्तता; योगयुक्तस्य तु कर्तृत्वाभिमानसत्त्वात् कर्मलेपो दुर्वार इत्यत आह —**ब्रह्मणीति** । ब्रह्मणि परमेश्वरे आधाय भृत्य इव 'स्वाम्यर्थमहमीश्वराय कर्म करोमि' इति बुद्ध्या समर्प्य मोक्षेऽपि फले सङ्गमभिलाषं त्यक्त्वा यः कर्माणि करोति, सः पापेन पापपुण्यात्मकेन कर्मणा न लिप्यते न बध्यते, यथा पद्मपत्रमुपरि प्रक्षिप्तेनाम्भसा न लिप्यते तद्वत् ॥ १० ॥

**९ व० त० दी०**— न चायं मुनिः केवलं साङ्ख्यमार्गीयः, कर्मसन्न्यासाभावात्; किन्तु योगमार्गीयस्तत्त्ववित् कर्मकरणादिति विवेचयति-**ब्रह्मणीति** । अत्र ब्रह्मपदं ब्रह्मप्रविषयबोधकं, तत्रैव च कर्माणि स्वेनैव

क्रियमाणानि अनुसन्धायेति क्रियाद्वैतभाव उक्तः । कर्मसु च सङ्गं फलाभिसन्धिं ममतां च त्यक्त्वा यो योगी करोति स तदधिगतः ब्रह्मवित् जीवन्मुक्तः पापेनाकरणप्रत्यवायेन नाश्लिष्टो भवति, पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥१०॥

१० पु. अ. त.— ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे सङ्गं आधाय संयोगावस्थायां स्थित्वा, सङ्गं त्यक्त्वा वा विप्रयोगावस्थायां स्थित्वा कर्माण्यपि यः करोति स तेन न लिप्यते । तत्र दृष्टान्तमाह— पद्मपत्रमिवेति । अम्भसा पद्मपत्रमिव । जले तिष्ठन्नपि तद्यथा न लिप्तं भवति तथेत्यर्थः ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— ब्रह्मणीति । यतो विद्वानसङ्गत्वात् कुर्वन्नपि न लिप्यते , तस्मादविद्वानपि ब्रह्मणि सर्वान्तर्यामिणि कर्माण्याधाय ' अयमेव कारयिता , न त्वहं कर्ता ' इति समर्प्य यः कर्माणि करोति स पापेन न लिप्यतेऽम्भसा पद्मपत्रमिव ॥ १० ॥

**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि ।**
**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— केवलं सत्त्वशुद्धिमात्रफलमेव तस्य कर्मणः स्यात् , यस्मात्— **कायेन** देहेन **मनसा बुद्ध्या** च **केवलैः** ममत्ववर्जितैरीश्वरायैव कर्म करोमि, न मम फलायेति ममत्वबुद्धिशून्यैरि**न्द्रियैरपि** । केवलशब्दः कायादिभिरपि प्रत्येकं सम्बध्यते सर्वव्यापारेषु ममतावर्जनाय । **योगिनः** कर्मिणः **कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वा** फलविषयम**आत्मशुद्धये**, सत्त्वशुद्धय इत्यर्थः । तस्मात्तत्रैव तवाधिकार इति कुरु कर्मैव ॥ ११ ॥

२ आ. शां. व्या.— अविदुषस्तर्हि कृतेन कर्मणा किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **केवलमिति** । अज्ञस्येश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म बुद्धिशुद्धिफलमित्यत्रैव हेतुमाह— **यस्मादिति** । **केवलशब्दस्य** प्रत्येकं सम्बन्धे प्रयोजनमाह— **सर्वव्यापारेष्विति** । कर्मणश्चित्तशुद्धिफलत्वे तादर्थ्येन कर्मानुष्ठानमेव तव कर्तव्यमिति यस्मादित्यस्यापेक्षितं वदन्फलितमाह— **तस्मादिति** ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.—कायमनोबुद्धीन्द्रियसाध्यं कर्म स्वर्गादिफलसङ्गं त्यक्त्वा योगिन आत्मविशुद्धये कुर्वन्ति आत्मगतप्राचीनकर्मबन्धविनाशाय कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवमुक्तार्थदृढीकरणाय शिष्टाचारसिद्धतोच्यते— **कायेने**तिश्लोकेन । बुद्धिरत्र कृत्यध्यवसायः । ' केवलैः ' इति कर्तृत्वाभिमानत्यागो विवक्षितः । अथवा ममत्वबुद्धिविषयतारहितैरित्यर्थः । तदा 'कायेन' इत्यादौ केवलेनेत्यादि परिणाम्यम् । यद्वा कायशब्देन कर्मेन्द्रियवर्गस्यापि लक्षणया सङ्ग्रहणात् ' केवलैरिन्द्रियैः ' इति ज्ञानेन्द्रियाण्युच्यन्ते ; तेषां च केवलत्वं वचनादानादिकर्मरहितत्वम् ; ततश्च ' धर्मः श्रुतो वा दृष्टो वा कथितो वा कृतोऽपि वा । अनुमोदितो वा राजेन्द्र ! नयतीन्द्रपदं नरम् ॥ [ म. भा. १४।९३।३१ ] इत्यादिकमपि सूचितं भवति । आत्मशुद्धेरत्रैव फलतया निर्देशात् , निष्फलप्रवृत्त्ययोगाच्च **स्वर्गादिफलसङ्ग**मित्युक्तम् । शुद्धिर्हि केनचिद्दूषितस्यापेक्षिता; स च दोषोऽत्र स्वतः शुद्धस्याप्यात्मनोऽनादिकालकृतमात्मतत्त्वसाक्षात्कारविरोधि कर्मेत्यभिप्रायेणाह— **आत्मगते**ति ॥ ११ ॥

**५ आ. मा. भा.— एवं चाचार इत्याह— कायेनेति ॥ ११ ॥**

६ **ज. प्र.** दी.—कायेनेत्यनेनापि सन्यासयोगयुक्तस्यात्मशुद्धिलक्षणः पापालेप उच्यत इत्यत आह— **एवं चेति** । उभयसमुच्चयरूप एवेत्यर्थः । अन्यत्र तात्पर्यान्न पुनरुक्तिरिति भावः । आचारकथनमपि नियमसमर्थनार्थमिति ज्ञातव्यम् ११

**७ ह. पै. भा.— केवलैर्ममत्ववर्जितैः 'ईश्वराय करोमि न कर्मफलाय' इति ममत्वबुद्धिशून्यैरिन्द्रियैः । केवलशब्दः कायादिभिरपि प्रत्येकमभिसम्बध्यते । सर्वव्यापारादिषु ममतावर्जिता योगिनः कर्माणि कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वा फलविषयमात्मशुद्धये सत्त्वशुद्धय इत्यर्थः । तस्मात्तत्रैवाधिकार इति कर्मैव कुरु ॥ ११ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अस्मिन्नर्थे शिष्टाचारं प्रमाणयति— कायेनेति । कायेन वचनादि, मनसा ध्यानं, बुद्ध्या तत्त्वनिश्चयः, इन्द्रियैः श्रवणकीर्तनादिकमित्येवंरूपं कर्म योगिनः कर्मिणः फलेच्छां त्यक्त्वा आत्मशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थं कुर्वन्ति । अत्र केवलैरित्येतत्कायमनोबुद्धीन्द्रियाणां चतुर्णामपि विशेषणम् । ईश्वरार्थमेवेदं कर्म क्रियते; न तु मत्फलार्थमित्येवंलक्षणं ममताशून्यत्वं केवलशब्दार्थः ॥ ११ ॥

९ व० त० दी०— अत्र सदाचारं प्रमाणयति– कायेनेति । कायेनाऽऽसनादिना, मनसा ध्यानादिना, बुद्ध्या तत्त्वनिश्चयादिना अभिनिवेशरहितैरिन्द्रियैः शुद्धं श्रवणदर्शनकीर्तनादिलक्षणं कर्म नारदादयः सङ्गं त्यक्त्वा आत्मनः शुद्धये समत्वाय कुर्वन्ति । अतो ये केवलं साङ्ख्यास्ते कर्मसन्न्यासं सिद्धान्ततयाऽभ्युपगच्छन्ति । ये च योगिनस्ते कर्मकरणमेवेति फलितम् ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.—नन्वेतत्सिद्धदशायामुक्तं, साधनदशायां तत्करणे कथं न लेपः स्यात्? इत्याशङ्क्याह— कायेनेति । कायेन देहेन भावस्वरूपरहितेन अधिष्ठानात्मकेन तादृशेनैव मनसा केवलैरिन्द्रियैराध्यात्मिकैर्बुद्ध्यापि तत्प्राप्तिरूपेच्छया आत्मशुद्धये भावस्वरूपप्राप्त्यर्थं योगिनः संयोगात्मकसाधनवन्तः सङ्गं कर्मफलं त्यक्त्वा कर्म भगवदिच्छया कर्तव्यात्मकत्वेन कुर्वन्ति । साधनदशायामपि भगवदिच्छां ज्ञात्वा फलाभावेन कृतं कर्म न बन्धकं भवतीति भावः ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०— कायेनेति । केवलैरिति विपरिणामेन सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । केवलेन कायेन 'अहमयं ब्राह्मणो युवा' इत्यात्माध्यासशून्येन , एवमन्यत्रापि । सङ्गं त्यक्त्वा देहादिभ्यो विविक्तेऽप्यात्मनि तार्किकादिवदहं करोमीत्यभिनिवेशं त्यक्त्वा योगिनः कर्म कुर्वन्ति, आत्मशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थम् । तस्मात्त्वयापि तत्रैवाधिकारोऽस्तीति तदेव त्वं कुरु ॥ ११ ॥

ईश्वरार्पणबुद्ध्या फलाभिलाषबुद्ध्या च कर्मकर्तुः फलम् ।

**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।**
**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥ १२ ॥**

**१ शां. भा.**— यस्माच्च–युक्तः 'ईश्वराय कर्माणि, न मम फलाय' इत्येवं समाहितः सन्कर्मफलं त्यक्त्वा परित्यज्य शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति नैष्ठिकीं निष्ठायां भवां सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसन्न्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेणेति वाक्यशेषः । यस्तु पुनरयुक्तोऽसमाहितः कामकारेण– करणं कारः कामस्य कारः कामकारः तेन कामकारेण कामप्रेरिततयेत्यर्थः । 'मम फलायेदं करोमि कर्म' इत्येवं फले सक्तो निबध्यते अतस्त्वं युक्तो भवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— इतश्च सङ्गं त्यक्त्वा कर्मानुष्ठानं त्वया कर्तव्यमित्याह— **यस्माच्चेति** । युक्तः सन्फलं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन्मोक्षाख्यां शान्तिं यस्मादाप्नोति, तस्माच्च त्वया सङ्गं त्यक्त्वा कर्म कर्तव्यमिति योजना । विपक्षे दोषमाह— **अयुक्त** इति । युक्तत्वं व्याकरोति— **ईश्वरायेति** । फलं परित्यज्य कर्म कुर्वन्निति शेषः । नैष्ठिकी शान्तिरित्येतदेव विशदयति— **सत्त्वेति** । द्वितीयमर्धं विभजते— **यस्त्विति** । असमाधाने दोषादर्जुनस्य नियोगं दर्शयति- **अतस्त्वमिति** १२

**३ रा. भा.**— युक्त आत्मव्यतिरिक्तफलेष्वचपलः आत्मैकप्रवणः कर्मफलं त्यक्त्वा केवलमात्मशुद्धये कर्मानुष्ठाय नैष्ठिकीं शान्तिमाप्नोति स्थिरामात्मानुभवरूपां निर्वृतिमाप्नोति । अयुक्तः आत्मव्यतिरिक्तफलेषु चपलः आत्मावलोकनविमुखः कामकारेण फले सक्तः कर्माणि कुर्वन् नित्यं कर्मभिर्बध्यते, नित्यसंसारी भवति । अतः फलसङ्गरहित इन्द्रियाकारेण परिणतायां प्रकृतौ कर्माणि सन्न्यस्य आत्मनो बन्धमोचनायैव कर्माणि कुर्वीतेत्युक्तं भवति ॥ १२ ॥

४ वे. ता. चं.—एकस्यैव कर्मणो बन्धहेतुत्वं मोक्षहेतुत्वं च फलसङ्गतदभावादिरूपसहकारिविशेषाद्युज्यत इतीममर्थं विशदयति—'युक्तः' इति श्लोकेन । अत्र युक्तशब्देन समाहितचेतस्त्वमुच्यते । तच्चात्र फलान्तरविरक्तिपूर्वकमात्मप्रावण्यमेवेति व्यञ्जनाय-**आत्मव्यतिरिक्तेत्याद्युक्तम्** । **कर्मफलं** त्यक्त्वेति वचनात्कर्मस्वरूपानुष्ठानं पूर्वोक्तमिहार्थसिद्धं दर्शितम् । **नैष्ठिकीं**

शान्तिमित्यनेन साक्षान्मोक्षप्रतीतिः स्यात्। तद्व्युदासायाह— स्थिरामिति। प्रकरणलब्धोऽयं विशेषः। निष्ठायां भवतीति नैष्ठिकी। 'कामकारेण' इति न स्वैराचारो विवक्षितः, तस्य दूरनिरस्तत्वात्। अतः कामकर्तृकं प्रेरणं कामकारः, तेन यथाभिमतफलसङ्गमात्रं विवक्षितमित्याह— कामकारेण फले सक्त इति। निबध्यत इत्यत्रोपसर्गेण नितरां बन्धो विवक्षित इति दर्शयति नित्यसंसारी भवतीति। वर्तमानव्यपदेशाद्वा तथा विवक्षा ॥ १२ ॥

५ आ. मा. भा.— पुनर्युक्त्यादिनियमनार्थं युक्तायुक्तफलमाह— युक्त इति। युक्तो योगयुक्तः॥ १२

६ ज. प्र. दी.— तथापि युक्त इत्येतत् पुनरुक्तमित्यत आह— पुनरिति। युक्तिर्योगः। आदिपदेन सन्न्यासः। युक्तायुक्तेत्युपलक्षणम्। सन्न्यास्यसन्न्यासीत्यपि ग्राह्यम्। प्राक् सन्न्यासयोगौ मिलिताविव फलं साधयतो नान्यतरपरित्यागेनान्यतर इति नियमज्ञापनार्थं तयोः फलमुक्तम्। इदानीं तु तावेव मोक्षसाधनम्, न तु तदुभयत्यागेनान्यदिति नियमज्ञापनाय योगसन्न्यासवतस्तदुभयाभाववतश्च मुक्तिसंसारविस्तारलक्षणं फलमाहेत्यर्थः। युक्तशब्दस्य सहितार्थनिवारणायार्थमाह— युक्त इति ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.— तस्माच्च— युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा युक्तः 'ईश्वराय कर्माणि, न कर्म फलाय' इत्येवं समाहितः सन्कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति नैष्ठिकीं निष्ठायां भवाम्। सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसन्न्यासज्ञाननिष्ठाक्रमेणेति वाक्यशेषः। यस्तु पुनरयुक्तोऽसमाहितः। कामेन करणं कामकारस्तेन कामकारेण कामप्रेरणयेत्यर्थः। 'मम फलायेदं करोमि कर्म' इत्येवं फले सक्तो निबध्यते, न मुक्तो भवेदित्यर्थः ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— कर्तृत्वाभिमानसाम्येऽप्येकेनैव कर्मणा कश्चिन्मुच्यते कश्चिद्बध्यत इत्येतद्वैषम्ये हेतुमाह— युक्त इति। युक्तः 'ईश्वरार्थमेवेदं कर्म, न मदर्थम्' इत्येवं समाहितः कर्मफलं त्यक्त्वा कर्म कुर्वन् ज्ञानद्वारा नैष्ठिकीमात्यन्तिकीं शान्तिं मोक्षाख्यामाप्नोति। अयुक्तः पूर्वोक्तायुक्तादन्यः फले सक्तः कामकारेण, कारः करणम्, कामप्रयुक्तकर्मानुष्ठानेनेति यावत्— निबध्यते ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— एवं च योगेन कर्मकरणे मोक्षं, विपरीते बन्धनं चाह— युक्त इति। शान्तिः फलं; तत्र च बन्धः ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— ननु साधनदशायां फलत्यागेन कर्मकरणं किम्प्रयोजनकं? इत्याशङ्क्याह— युक्त इति। युक्तो भगवद्भजनैकनिष्ठः सन् कर्मफलं त्यक्त्वा भगवदाज्ञारूपत्वेन कर्म करोति स नैष्ठिकीं भगवत्तोषरूपां शान्तिं भगवदाज्ञाकरणाभावं तापरहितभगवदाज्ञाकरणतोषरूपां प्राप्नोतीत्यर्थः। अतः साधनदशायामपि भगवदाज्ञात्वेन कर्मकरणमुत्तममिति भावः। अभगवदीयस्तु फलाशया कर्मकरणेन बद्धो भवतीत्याह— अयुक्त इति। अयुक्तः अभगवदीयः कामकारेण कामनया प्रवृत्तः फले सक्तः सन्निबध्यते नितरां बद्धो भवति। न भगवत्सम्बन्धं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च— युक्त इति। युक्तः 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' [ ५।१० ] इत्यादिना उक्तलक्षणः कर्मणां फलं त्यक्त्वा ईश्वरे समर्प्य शान्तिं कैवल्यं नैष्ठिकीं सत्त्वशुद्ध्यादिक्रमप्राप्तब्रह्मनिष्ठाफलभूतां प्राप्नोति। अयुक्तस्तद्विपरीतः कामकारेण स्वैरवृत्त्या फले सक्तः सन् नितरां बध्यते ॥ १२ ॥

अशुद्धचित्तस्याविदुषः सकाशाच्छुद्धचित्तस्य विदुषो वैशिष्ट्यम्।

**सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी।**
**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥ १३ ॥**

१ शां. भा.— यस्तु परमार्थदर्शी सः— सर्वाणि कर्माणि सर्वकर्माणि सन्न्यस्य परित्यज्य नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं च सर्वकर्माणि, तानि मनसा विवेकबुद्ध्या, कर्मादावकर्मसन्दर्शनेन सन्त्यज्येत्यर्थः। आस्ते तिष्ठति सुखं, त्यक्तवाङ्मनःकायचेष्टो निरायासः प्रसन्नचित्त आत्मनोऽन्यत्र निवृत्तबाह्यसर्वप्रयोजन इति सुखमास्त इत्युच्यते। वशी जितेन्द्रिय इत्यर्थः। क्व कथमास्ते?

इत्याह— नवद्वारे पुरे, सप्त शीर्षण्यान्यात्मन उपलब्धिद्वाराणि अर्वाग्द्वे मूत्रपुरीषविसर्गार्थे, तैर्द्वारैर्नवद्वारं पुरमुच्यते; शरीरं पुरमिव पुरमात्मैकस्वामिकं तदर्थप्रयोजनैश्चेन्द्रियमनोबुद्धिविषयैरनेकफलविज्ञानस्योत्पादकैः पौरैरिवाधिष्ठितं तस्मिन्नवद्वारे पुरे देही सर्वं कर्म सन्न्यस्याऽऽस्ते ।

२ आ॰ शां॰ व्या॰—- तर्हि फले सक्तिं त्यक्त्वा सर्वैरपि कर्म कर्तव्यमिति कर्मसन्न्यासस्य निरवकाशत्वमित्याशङ्क्य अविदुषः सकाशाद्विदुषो विशेषं दर्शयति— यस्त्विति । सर्वकर्मपरित्यागे प्राप्तं मरणं व्यावर्तयति— आस्त इति । वृत्तिं लभमानोऽपि शरीरतापेनाऽऽध्यात्मिकादिना तप्यमानस्तिष्ठतीति चेत् ,न, इत्याह—सुखमिति। कार्यकरणसङ्घातपारवश्यं पर्युदस्यति— वशीति । आसनस्यापेक्षितमधिकरणं निर्दिशति— नवेति । देहसम्बन्धाभिमानाभासवत्त्वमाह— देहीति । मनसा सर्वकर्मसन्न्यासेऽपि लोकसङ्ग्रहार्थं बहिः सर्वं कर्म कर्तव्यमिति प्राप्तं प्रत्याह— नैवेति । तान्येव सर्वाणि कर्माणि परित्याज्यानि विशिनष्टि—नित्यमिति । तेषां परित्यागे हेतुमाह—तानीति । यदुक्तं 'सुखमास्ते'[५।१३]इति तदुपपादयति—त्यक्त्वेति । जितेन्द्रियत्वं कायवशीकारस्याप्युपलक्षणम् । द्वे श्रोत्रे द्वे चक्षुषी द्वे नासिके वागेकेति सप्त शीर्षण्यानि शिरोगतानि शब्दाद्युपलब्धिद्वाराणि । अथापि कथं नवद्वारत्वं ? अधोगताभ्यां पायूपस्थाभ्यां सहेत्याह— अर्वागिति । शरीरस्य पुरसाम्यं स्वामिना पौरैश्चाधिष्ठितत्वेन दर्शयति— आत्मेत्यादिना । यद्यपि देहजीवनत्वाद्देहसम्बन्धाभिमानाभासवानवतिष्ठते, तथापि प्रवासीव परगेहे तत्पूजापरिभवादिभिरप्रहृष्यन्नविषीदन्व्यामोहादिरहितश्च तिष्ठतीति मत्वाऽऽह— तस्मिन्निति ।

१ शां॰ भा॰—किं विशेषणेन ? सर्वो हि देही सन्न्यास्यसन्न्यासी वा देह एवाऽऽस्ते, तत्रानर्थकं विशेषणमिति । उच्यते—यस्त्वज्ञो देही देहेन्द्रियसङ्घातमात्रात्मदर्शी स सर्वो गेहे भूमावासने वाऽऽस इति मन्यते । न हि देहमात्रात्मदर्शिनो गेह इव देह आस इति प्रत्ययः सम्भवति । देहादिसङ्घातव्यतिरिक्तात्मदर्शिनस्तु देह आस इति प्रत्यय उपपद्यते । परकर्मणां च परस्मिन्नात्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितानां विद्यया विवेकज्ञानेन मनसा सन्न्यास उपपद्यते । उत्पन्नविवेकज्ञानस्य सर्वकर्मसन्न्यासिनोऽपि गेह इव देह एव नवद्वारे पुर आसनं, प्रारब्धफलकर्मसंस्कारशेषानुवृत्त्या देह एव विशेषविज्ञानोत्पत्तेर्देह एवाऽऽस्त इत्यस्त्येव विशेषणफलं विद्वदविद्वत्प्रत्ययभेदापेक्षत्वात् ।

२ आ॰ शां॰ व्या॰—विशेषणमाक्षिपति—किमिति । तदनुपपत्तिमेवोपपादयति— सर्वो हीति । सर्वसाधारणे देहावस्थाने, सन्न्यस्य देहे तिष्ठति विद्वानिति विशेषणमकिञ्चित्करमिति फलितमाह— तत्रेति । विशेषणफलं दर्शयन्नुत्तरमाह — उच्यत इति । किमविवेकिनं प्रति विशेषणानर्थक्यं चोद्यते ? किंवा विवेकिनं प्रति ? इति विकल्प्याऽऽद्यमङ्गीकरोति— यस्त्विति । अज्ञत्वं देहित्वे हेतुः । तदेव देहित्वं स्फुटयति— देहेति । सङ्घातात्मदर्शिनोऽपि देहे स्थितिप्रतिभासः स्यादिति चेत्, नेत्याह— न हीति । द्वितीयं दूषयति— देहादीति । गृहादिषु देहस्यावस्थानेनाऽऽत्मावस्थानभ्रमव्यावृत्त्यर्थं देहे विद्वानास्त इति विशेषणमुपपद्यते, विवेकवतो देहेऽवस्थानप्रतिभाससम्भवादित्यर्थः । ननु विवेकिनो देहावस्थानप्रतिभानेऽपि वाङ्मनोदेहव्यापारात्मनां कर्मणां तस्मिन्प्रसङ्गाभावात्तत्त्यागेन कुतस्तस्य देहेऽवस्थानमुच्यते ? तत्राऽऽह— परकर्मणां चेति । ननु विवेकिनो दिगाद्यनवच्छिन्नबाह्याभ्यन्तराविक्रियब्रह्मात्मतां मन्यमानस्य कुतो देहेऽवस्थानमास्थातुं शक्यते ? तत्राऽऽह— उत्पन्नेति । तत्र हेतुमाह— प्रारब्धेति । यद्धि प्रारब्धफलं धर्माधर्मात्मकं कर्म तस्योपभुक्तस्य शेषादनुपभुक्ताद्देहादिसंस्कारोऽनुवर्तते, तदनुवृत्त्या च तत्रैव देहे विशेषविज्ञानमवस्थानविषयमुपपद्यते' अतो विवेकवतः सन्न्यासिनो देहेऽवस्थानव्यपदेशः सम्भवतीत्यर्थः । अविद्वत्प्रत्ययापेक्षया विशेषणासम्भवेऽपि विद्वत्प्रत्ययापेक्षया विशेषणमर्थवदित्युपसंहरति— देह एवेति। देहे स्वावस्थानविषयो विद्वत्प्रत्ययः, तदविषयश्चाविद्वत्प्रत्ययः, तयोरेवं भेदे विद्वत्प्रत्ययापेक्षत्वादुपपन्नं विशेषणमित्युक्तमेव हेतुं विशदयति— विद्वदिति ।

शां॰ भा॰— यद्यपि कार्यकरणकर्माण्यविद्ययाऽऽत्मन्यध्यारोपितानि सन्न्यस्याऽऽस्त इत्युक्तं, तथाप्यात्मसमवायि तु कर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—नैव कुर्वन्स्वयं न कार्यकरणानि कारयन्क्रियासु प्रवर्तयन् । किं ? यत्तत्कर्तृत्वं कारयितृत्वं च देहिनः स्वात्मसमवायि सत्सन्न्यासान्न भवति ? यथा गच्छतो गतिर्गमनव्यापारपरित्यागे न स्यात्तद्वत्, किंवा स्वत एवाऽऽत्मनो नास्ति? इति। अत्रोच्यते—नास्त्यात्मनः स्वतः कर्तृत्वं कारयितृत्वं च। उक्तं हि—'अविकार्योऽयमुच्यते' [२।२५] 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय! न करोति न लिप्यते' [१३।३१] इति। ''ध्यायतीव लेलायतीव'' [बृ. उ. ४।३।७] इति च श्रुतेः ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.—आरोपितकर्तृत्वाद्यभावेऽपि स्वगतकर्तृत्वादि दुर्वारमित्याशङ्कामनूद्य दूषयति— **यद्यपी**त्यादिना । क्रियासु प्रवर्तयन्नास्त इति पूर्वेण सम्बन्धः । पूर्वस्यापि शत्रुरेवमेव सम्बन्धः । कर्तृत्वं कारयितृत्वं चाऽऽत्मनो नेत्यत्र विचारयति— **किमि**ति । यत्कर्तृत्वं कारयितृत्वं च, तत्किं देहिनः स्वात्मसमवायि सदेव सन्न्यासान्न भवतीत्युच्यते ? यथा गच्छतो देवदत्तस्य स्वगतैव गतिस्तत्स्थित्या त्यागान्न भवति, अथवा स्वारस्येन कर्तृत्वं कारयितृत्वं चाऽऽत्मनो नास्तीति वक्तव्यम् ? आद्ये सक्रियत्वं, द्वितीये कूटस्थत्वमित्यर्थः । द्वितीयं पक्षमाश्रित्योत्तरमाह— **अत्रे**ति । उक्तेऽर्थे वाक्योपक्रममनुकूलयति —**उक्तं** हीति । तत्रैव वाक्यशेषमपि संवादयति—**शरीरस्थोऽपी**ति । स्मृत्युक्तेऽर्थे श्रुतिमपि दर्शयति— **ध्यायतीवे**ति । उपाधिगतैव सर्वा विक्रिया, नाऽऽत्मनि स्वतोऽस्तीत्यर्थः ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.—अथ देहाकारेण परिणतायां प्रकृतौ कर्तृत्वसन्न्यास उच्यते— आत्मनः प्राचीनकर्ममूलदेहसम्बन्धप्रयुक्तमिदं कर्मणां कर्तृत्वम्, न स्वरूपप्रयुक्तमिति विवेकविषयेण मनसा सर्वाणि कर्माणि नवद्वारे पुरे सन्न्यस्य देही स्वयं वशी देहाधिष्ठानप्रयत्नमकुर्वन् देहेनैव कारयन् सुखमास्ते ॥ १३ ॥**

४ वे. ता. चं.—'नैव किञ्चित्करोमि' इत्यादेः 'फले सक्तो निबध्यते'[५।१२]इत्यन्तस्य सङ्कलितार्थमुत्तरश्लोकसङ्गत्यर्थमाह— **अत** इति। अनन्तरश्लोकार्थमाह **अथे**ति । शरीराश्रितेन्द्रियप्राणेषु कर्तृत्वसन्न्यासाभिधानादनन्तरं तदाश्रये शरीर एव कर्तृत्वसन्न्यास उच्यत इति सङ्गतिः । शरीरे कर्तृत्वसन्न्यासं प्रति करणतयोक्तस्य मनसः करणीभावानुगुणव्यापारं दर्शयितुं **आत्मन** इत्याद्युक्तम् । नहि देवादिदेहसम्बन्धमात्रकृतं पुण्यपापकर्तृत्वं, तत्सम्बन्धमात्रस्याकर्मवश्येऽपि सद्भावात्; अतः **प्राचीनकर्ममूले**त्युक्तम् । मुख्यैः सप्तभिरर्वाक् द्वाभ्यां चात्र नवद्वारता "पुरमेकादशद्वारम्" [ कठो. २ । ५ । १ ] इति श्रुतौ तु नाभिब्रह्मरन्ध्राभ्यां सहैकादशद्वारतोक्तिः । **पुरे सन्न्यस्ये**ति— पुरस्य सन्न्यसनक्रियाधिकरणत्वेनान्वयः प्रकृतानुपयुक्त इति भावः । 'नवद्वारे पुरे' इति निर्देशःसावयवत्वनिरवयवत्वसच्छिद्रत्वनिश्छिद्रत्वपृथुत्वाणुत्वस्वतन्त्रत्वपरतन्त्रत्वनियन्तृत्वनियन्तव्यत्वादिभिर्देहात्मनो विवेकस्य प्रदर्शनार्थः। **स्वय**मिति—देहादिपारतन्त्र्यरहित इत्यर्थः; यद्वा परिशुद्धेन स्वेन रूपेणेति भावः। **वशी**— अभिमानबलात्काराद्यविषय इत्यर्थः । प्रयत्नाश्रयत्वशरीरस्पन्दनादिहेतुत्वयोरौपाधिकत्वात् 'नैव कुर्वन्' इत्याद्युक्तम् । **सुखमास्ते**— कर्तृत्वाभिमानप्रयुक्तक्लेशादिरहित आस्त इत्यर्थः । पुरमिव शरीरं, पौरानिवेन्द्रियाणि, सार्वभौममिव परमात्मानं, भृत्यमिव स्वात्मानं पश्यतो भवति हि स्वास्थ्यम् । देहात्मभ्रमे हि पुरादिष्वासीनोऽहमिति मन्यते; तन्निवृत्तौ च देह एव पुरस्थानीयो भवतीति भावः ॥ १३ ॥

**५ आ. मा. भा.— पुनः सन्न्यासशब्दार्थं स्पष्टयति– सर्वकर्माणी**ति । **मनसेति विशेषणादभिमानत्यागः ॥ १३ ॥**

६ ज. प्र. दी.—'सर्वकर्माणि' इत्यस्य स्वरूपेण कर्मत्यागोऽर्थ इति प्रतीतिनिवारणाय प्रतिपाद्यमाह—**पुनरि**ति । प्राक्कर्तृत्वाभिमानत्याग उक्तः, इदानीं तु कारयितृत्वाभिमानत्यागोऽपीति स्पष्टनम् । स्वरूपेण कर्मत्याग एवोच्यत इत्येतन्निराचष्टे— **मनसे**ति । अन्यथा तद्व्यर्थं स्यादिति भावः ॥ १३ ॥

**७ ह. पै. भा.—यस्तु परमार्थदर्शी स नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रतिषिद्धं च सर्वाणि कर्माणि तानि मनसा विवेकबुद्ध्याऽकर्मदर्शनेन सन्त्यजेदित्यर्थः । आस्ते तिष्ठति सुखमित्यर्थः । वाङ्मनःकायचेष्टानिरायासः प्रसन्नचित्त आत्मनोऽन्यत्र निवृत्तबाह्यसर्वप्रयोजन इति सुखमास्त इत्युच्यते । वशी जितेन्द्रिय इत्यर्थः । क्वाऽऽस्ते ? इत्यत्राऽऽह– नवद्वारे । सप्त शीर्षण्यान्यात्मन उपलब्धिद्वाराणि, अथो द्वे मूत्रपुरीषविसर्गार्थे इति तैर्द्वारैर्नवद्वारं पुरमुच्यते । शरीरं पुरमिव पुरमात्मैकस्वामिकं, तदर्थप्रयोजनैश्चेन्द्रियमनोबुद्धिविषयैरनेकफलविज्ञानोत्पादकैः पौरैरिवाधिष्ठिते देहे देही सर्वाणि सन्न्यस्याऽऽस्ते । किं विशेषणेन सर्वोऽपि देही सन्न्यस्य सन्न्यासीव देह एवाऽऽस्ते ? इति चेत्, उच्यते– यस्त्वज्ञो देहेन्द्रियसङ्घातमात्रात्मदर्शनः स सर्वोऽपि देहे भूमावासने वाऽऽस इति मन्यते । न हि देहमात्रात्मदर्शिनो गेह इव देह आस इति प्रत्यय उपपद्यते । परकर्मणां च परस्मिन्नात्मन्यविद्ययाऽध्यारोपितानां विद्यया विवेकज्ञानेन मनसा सन्न्यास उपपद्यते । उत्पन्नविवेकज्ञानस्य सर्वकर्मसन्न्यासिनोऽपि देह एव नवद्वार आसनं प्रवृत्तं प्रारब्धकर्मादिसंस्कारशेषानुवृत्त्या देह एव**

विशेषज्ञानोत्पत्तेर्देह एवाऽऽस्त इत्यस्त्येव विशेषणफलं, विद्वदविद्वत्प्रत्ययभेदापेक्षत्वात् । यद्यपि कर्माण्यविद्ययाऽध्यारोपितानि सन्न्यस्यतीत्युक्तं तथाप्यात्मसमवायिकर्तृत्वं कारयितृत्वं च स्यादित्याशङ्क्याऽऽह– **नैव कुर्वन्स्वयं न च कार्यकरणानि कारयन्क्रियासु न प्रवर्तयन्** । किं तत्कर्तृत्वं कारयितृत्वं च देहिनः स्वात्मसमवायि सत्सन्न्यासान्न भवति ? यथा गच्छतो गतिः; किंवा स्वत एवाऽऽत्मना नास्ति । अत्रोच्यते– नास्ति स्वात्मनः कर्तृत्वं कारयितृत्वं वा । उक्तं हि–' अविकार्योऽयमुच्यते' [ २।२५ ] इति ' शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते' [ १३।३१ ] इति । "ध्यायतीव लेलायतीव" [बृ.उ. ४।३।७] इति श्रुतेः ॥ १३ ॥

८ वें. व्र. गि.—एवं तावच्चित्तशुद्धिरहितस्य सन्न्यासात् कर्मयोगो विशिष्यत इत्येतत्प्रपञ्चितम्; इदानीं शुद्धचित्तस्य सन्न्यासः श्रेष्ठ इत्याह—**सर्वे**ति । वशी जितचित्तः सर्वकर्माणि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धरूपाणि सर्वाण्यपि कर्माणि मनसा 'कर्मण्यकर्म यः पश्येत् ' [ ४।१८ ] इति प्रागुक्तेनाकर्त्रात्मदर्शनेन सन्न्यस्य परित्यज्य सुखं जीवन्मुक्तिरूपं यथा भवति तथा आस्ते, विद्वत्सन्न्यासस्य जीवन्मुक्तिहेतुत्वात् । ननु सर्वोऽपि ज्ञानकर्मेन्द्रियैस्तत्तत्कर्माणि सर्वदा कुर्वन्नेवावतिष्ठते, शरीरं च प्रकृत्या चेष्टाश्रयः; तत्कथं नित्यं कुर्वद्रूपस्य सर्वकर्मसन्न्यासः स्यात् ' न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'[३।५] इत्युक्तेः । अत आह—**नवद्वारे पुर** इति । नेत्रे नासिके कर्णौ मुखं चेति सप्त शिरोगतानि द्वाराणि, अधो द्वे पायूपस्थरूपे, इत्येवं नव द्वाराणि यस्मिंस्तस्मिन् पुर इव पुरे "यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे" [ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे देहे प्रवासीव परगृहे तत्पूजापरिभवादिभिरहृष्यन्नविषीदन्नहङ्कारममकारशून्यः स्वयं नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते । एतदुक्तं भवति—देहेन्द्रियादिषु कर्म कुर्वाणेषु तत्तादात्म्याध्यासरूपाहङ्काराददहमेव करोमीत्यज्ञो मन्यते 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ' [३।२७ ] इत्युक्तेः । तदा पुत्रभार्यादिषु ममकारात्तेषु कुर्वत्स्वहमेतैः कारयामीति मूढः प्रतिपद्यते । ज्ञानी त्वहङ्कारममकाराभावान्न तथा प्रतिपद्यते; किन्तु ' इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु ' [ ५।९ ] इत्युक्तरीत्या निष्क्रियात्मरूप एवावतिष्ठते । तथा च देहेन्द्रियादिव्यापाराणां निष्क्रियात्मन्यविद्ययाऽध्यासितानां विद्यया बाध एव सर्वकर्मसन्न्यासो नामेति न कोऽपि दोषः । तदेतद्देहीत्यनेन सूचितम् । देहेन्द्रियाद्यतिरिक्तात्मदर्शीत्यर्थः ।

अन्यो हि देहैक्याध्यासाद्देह एव, न तु देही । यद्यप्यहं गेहीतिवदहं देहीत्येव सर्वस्य प्रतीतिः; न तु देहोऽहमिति; तथापि 'गौरोऽहं, कृशोऽहं, स्थूलोऽहं, गच्छामि' इत्यादिबहुतरप्रतीत्यनुरोधात् 'पूर्वपूर्वभ्रमोत्पन्नवासनाया बलेन तु । देहेन्द्रियादिसङ्घाते जायतेऽहम्मतिर्दृढा ' इत्यादिस्मृत्यनुरोधाच्च देहैक्याध्यासे सिद्धे देहीति प्रतीतिः ' प्रतिमाया देहः ' इतिवदुपचार इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— **अतो योगे मनसैव कर्मत्यागः** बाह्यतः कर्म करणं चाभिप्रेतम्, अन्यथा मिथ्याचार इति तत्त्वं स्पष्टयति— **सर्वकर्माणीति** । योगे समभूतेन मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं यथा भवति तथा स्वयं नैव कुर्वन्मनसा त्यागात् इन्द्रियैरपि न कारयन्निति साङ्ख्याद्भेदोऽपि सूचितः ॥ १३ ॥

१०पु. अ. त.— एवं भगवद्भक्तो भगवदाज्ञया कर्म कुर्वन् सुखमाप्नोति, अयुक्तस्तु फलाशया कर्म कुर्वन् बद्धो भवतीत्युक्तं, तत्र अभक्तस्य सर्वकर्मत्याग एवोत्तम इत्यर्जुनमनस्याभासं प्राप्य त्यागेऽपि भक्तानामेव सुखं, नेतरेषामित्याह—**सर्वकर्माणीति**। वशी भगवद्वशे स्थितः सर्वकर्माणि सन्न्यस्य त्यक्त्वा नवद्वारे पुरे श्रवणादिकरणसमर्थे देहे देही भगवदर्थं देहाभिमानवान् सुखमास्ते तिष्ठति । मनसा नैव कुर्वन् स्वार्थाहङ्काराभावान्न किञ्चित्कुर्वन् । न वा ममताभावादन्येभ्यः परोपकार उपदेशादिना कारयन् सुखमास्त इति भावः ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमविद्वान् फलासक्त्यनासक्तिवशात् कर्मभिर्बध्यते, न बध्यते चेत्युक्तम्, विद्वांस्तु तद्विपरीत इत्याह— **सर्वकर्माणीति** । वशी जितचित्तः समाधिस्थो योगी नवद्वारे— नवैव पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, षष्ठः प्राणस्तेनैव तत्प्रवर्त्यानां कर्मेन्द्रियाणां सङ्ग्रहः, बुद्ध्यहङ्कारचित्तानीति नव, एतानि द्वाराणीव पुरपतेर्जीवस्य भोगार्थं विषयप्रवेशस्थानानि यस्मिन्नवद्वारे शरीराख्ये पुरे विचित्रवासनाकल्पितानन्तविषयवति अनेकैः कर्मसचिवैरधिष्ठिते सुखदुःखादिनानापण्यवति मनसा सर्वद्वारोद्घाटनकुञ्चिकया सह सर्वाणि कर्माणि पुरपतिरिव राजकार्याणि सन्न्यस्य सुखं निर्विकल्पसंविन्मात्ररूपेणास्ते । कर्माणि क्षेत्रस्यैव धर्मो न त्वात्मन इति क्षेत्रे त्यक्तुं शक्यान्येव । तथा च श्रुतिः " शरीरे पाप्मनो हित्वा " [ तै. उ. २।९ ] इति । " यत्र सुहार्दः सुकृतो मदन्ते विहाय रोगं तन्वाः स्वायाम् " इति च देही सन् देहाभिमानकाले व्युत्थानेऽपीत्यर्थः ।

तदापि नैव कुर्वन्नास्ते, नापि कारयन्नास्ते ; राजेवामात्येषु निहितभारः समाधौ क्षेत्रेण सहात्मनः सम्बन्धाभावदर्शनात् । यद्वा— नवद्वाराणि चक्षुश्श्रोत्रनासाबिलद्वन्द्वानि षट् सप्तमं मुखं अधस्तने द्वे इति । अस्मिन्पक्षे इन्द्रियाणि परिचारिका बुद्धिरमात्योऽहङ्कारो युवराज इत्यादिकमूह्यम् । विदुषः कर्मसम्बन्ध एव नास्ति, दूरे तत्फलासक्त्यनासक्ती इति भावः ॥ १३ ॥

जगतो मायाकर्तृत्वादात्मनोऽकर्तृत्वमकारयितृत्वं च ।

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।**
**न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥ १४ ॥**

**१ शां. भा.**—किञ्च न कर्तृत्वमिति । न कर्तृत्वं स्वतः कुर्विति नापि कर्माणि रथघटप्रासादादीनीप्सिततमानि लोकस्य सृजत्युत्पादयति प्रभुरात्मा । नापि रथादि कृतवतस्तत्फलेन संयोगं न कर्मफलसंयोगम् । यदि किञ्चिदपि स्वतो न करोति न कारयति च देही, कस्तर्हि कुर्वन्कारयंश्च प्रवर्तते ? इत्युच्यते— स्वभावस्तु स्वो भावः स्वभावोऽविद्यालक्षणा प्रकृतिर्माया प्रवर्तते 'दैवी हि' [७।१४] इत्यादिना वक्ष्यमाणा ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—आत्मनो यदुक्तं कारयितृत्वं नास्तीति तत्प्रपञ्चयति— **नेत्यादिना** । यद्यपि लोकस्य कर्तृत्वं न सृजतीति नास्ति कारयितृत्वं तथापि रथशकटादीनि कुर्वन् भवति कर्तेत्याशङ्कयाऽऽह— **न कर्माणीति** । तथापि भोजयितृत्वेन विक्रियावत्त्वं दुष्परिहरमित्याशङ्कयाऽऽह— **न कर्मेति** । कस्य तर्हि प्रवर्तकत्वं ? तदाह—**स्वभावस्त्विति** । कुर्विति कर्तृत्वं लोकस्य न सृजत्यात्मेति सम्बन्धः । रथादीनां कर्मत्वं साधयति— **ईप्सितेति** । आत्मनो देहादिस्वामित्वेन प्रभुत्वं रथादि कृतवतो लोकस्य रथादिफलेन सम्बन्धमपि न सृजत्यात्मेत्यात्मनो भोजयितृत्वं प्रत्याचष्टे— **नापीति** । चतुर्थपादं शङ्कोत्तरत्वेनावतारयति— **यदीत्यादिना** । स्वभाववादस्तर्हीत्याशङ्क्य व्याकरोति— **अविद्यालक्षणेति** । प्रकृतेर्विद्याभाववत्त्वं व्युदसितुं मायेत्युक्तं, सा च सप्तमे वक्ष्यते तेन प्रधानविलक्षणेत्याह— **दैवी हीति** ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.**—साक्षादात्मनः स्वाभाविकरूपमाह—अस्य देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मना प्रकृतिसंसर्गेण वर्तमानस्य लोकस्य देवाद्यसाधारणं कर्तृत्वं तत्तदसाधारणानि कर्माणि तत्तत्कर्मजन्यदेवादिफलसंयोगं च अयं प्रभुरकर्मवश्यः स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थित आत्मा न सृजति नोत्पादयति । कस्तर्हि ? स्वभावस्तु प्रवर्तते स्वभावः प्रकृतिवासना; अनादिकालप्रवृत्तपूर्वपूर्वकर्मजनितदेवाद्याकारप्रकृतिसंसर्गकृततत्तदात्माभिमानजनितवासनाकृतमीदृशं कर्तृत्वादिकं सर्वं न स्वरूपप्रयुक्तमित्यर्थः ॥ १४ ॥

**४वे. ता. चं.**—एवमौपाधिकस्य स्वरूपस्योपाधिषु सन्न्यास उक्तः; अथ स्वस्मिन्ननुसन्धेयस्वाभाविकरूपमुच्यत इति सङ्गत्यभिप्रायेणाह— **साक्षादिति** । विचित्रजनविषयेण 'लोकस्य' इत्यनेनाभिप्रेतमुपाधिवैचित्र्यादिकं दर्शयितुं **अस्येत्याद्युक्तम्** । कर्तृत्वं प्रयत्नादिरूपम्, कर्माणि शरीरेन्द्रियादिचेष्टाः । यद्यात्मनां स्वाभाविकमिदं कर्तृत्वादिकं, तदा सर्वेषामेकरूपं तत् स्यात्; न च तथा दृश्यत इत्यभिप्रायेण **देवाद्यसाधारणं कर्तृत्वमित्याद्युक्तम्** । देवाद्यसाधारणं देवत्वादिजातिमत्पिण्डपरिग्रहदशाप्रतिनियतमित्यर्थः । फलसंयोगः फलानुभवः । प्रकरणवशात् प्रभुशब्दोऽत्र जीवविषय इति प्रदर्शनार्थं **अयं प्रभुरित्युक्तम्** । जीवे प्रभुशब्दाभिप्रेतमाह **अकर्मवश्यः स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थित इति** । अत्र हि प्रकरणे 'मयि सर्वाणि' [३।३०]इत्यादिना जीवस्य कर्तृत्वं परमात्मन्यध्यस्यते; अतोऽत्राकर्तृविषयः प्रभुशब्दो न परविषय इति भावः । 'न सृजति'इत्यत्र 'सृज विसर्गे' इति धातोस्त्यागार्थत्वे कर्तृत्वादिकं स्वीकरोतीति वाक्यार्थः स्यादिति तद्व्युदासायाह— **नोत्पादयतीति** । कारणान्तरादर्शनात् तस्यैव कर्तृत्वमित्याभिप्रायेण चतुर्थपादस्य शङ्कामाह **कस्तर्हीति** । सृजतीति शेषः । स्वभावशब्दं प्रकरणोपयुक्तविशेषे स्थापयितुं

१ — कर्माणीत्यत्र कर्तृत्वकर्मफलसंयोगसाहचर्यात् ' कर्तुरीप्सिततमं कर्म ' ( अष्टा. १।४।४९ ) इति वैयाकरणपरिभाषितमेव कर्माभिप्रेतं, न क्रियासामान्यमात्रमित्याहुः ॥ **नव्यास्त्वत्र** श्लोकद्वये साङ्ख्यदर्शनं मूलमिति मन्यन्ते । तदयुक्तम् , स्वभावशब्दस्य साङ्ख्यपरिभाषितप्रकृतिवाचकत्वाभावात् , गीतायाः श्रुतिमूलकत्वस्य सर्वसम्मतत्वात् , अत्रत्य प्रभुविभुविशेषणयोः साङ्ख्यसम्मते प्रतिशरीरं भिन्ने पुरुषेऽनुपपन्नत्वाच्च । — **अविगीता** ।

वाच्यं तावदाह प्रकृतीति । ननु चेतनस्यात्मनः कर्तृत्वादिकं नास्ति, अचेतनायास्तु वासनायाश्चेतनगुणमात्रभूतायाः कर्तृत्वादिकमिति कथमिदं ज्ञायते ? यद्यात्मनः स्वतश्शुद्धस्य न कर्तृत्वं, तर्हि तस्य वासनाऽपि कुतः समागता ? यदि न कुतश्चित्, तदा वासनैव स्वाभाविकीति तत्कृतकर्तृत्वादिकमपि स्वाभाविकं स्यात्; यदि कुतश्चिद्धेतोः, तदा तस्यापि स्वाभाविकत्वे पूर्वदोषः ;औपाधिकत्वे त्वकर्तुरात्मनस्तदागमोऽपि कुतः ? यदि वासनया, तर्ह्यन्योन्याश्रयणम्; यद्यन्यस्मात्कुतश्चित्, तत्रापि तथैवेत्यनवस्थेत्यादिचोद्यनिरसनाय तुशब्दः । तदाह— अनादिकालेति । बीजाङ्कुरन्यायादन्योन्याश्रयादिपरिहारः । वासनाहेतुवैचित्र्यसिद्ध्यर्थं देवाद्याकारेत्याद्युक्तम् । यथा तप्तायःपिण्डे वह्निसंसर्गाद्वह्नित्वबुद्धिः; तथाऽत्रेति दर्शयितुं संसर्गकृतशब्दः । वासनाकृतं, वासनाख्यविशेषहेतूपाधिकमित्यर्थः ॥ १४ ॥

५ आ. मा. भा.—न च करोति वस्तुत इत्याह—न कर्तृत्वमिति । प्रभुर्हि जीवो जडमपेक्ष्य॥१४॥

६ ज. प्र. दी.— ननु कर्तृत्वमित्येतत्प्रागुक्तान्न विशिष्यत इत्यत आह— न चेति । दर्शनादिकं कुर्वन्नेव नैव किञ्चित्करोमीति मन्यत इत्युक्तम् । तर्हि मिथ्या ज्ञानी प्रसज्येतेत्याशङ्कानिरासाय परमेश्वरप्रेरितः कुर्वन् कारयन् वस्तुतः स्वातन्त्र्येण न करोति न कारयति चेत्यनेनाहेत्यर्थः । अस्य जीवविषयत्वे प्रभुरित्येतदसम्भवीत्यत आह— प्रभुर्हीति । अनेन विभुरित्युपपादितप्रायम् ॥ १४ ॥

७ ह. पै. भा.—नेति । न कर्तृत्वं स्वतो न च कुर्वन्नापि कर्माणि रथप्रासादादीनीप्सिततमानि लोकस्य सृजत्युत्पादयति प्रभुरात्मा । नापि रथादि कृतवतस्तत्फलेन संयोगं कर्मसंयोगम् । यदि किञ्चिदपि स्वतो न करोति न कारयति च देही । कस्तर्हि कुर्वन्कारयंश्च प्रवर्तते ? इत्युच्यते- स्वभावस्तु स्वभावोऽविद्यालक्षणा प्रकृतिर्माया प्रवर्तते ॥ १४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'नैव कुर्वन्न कारयन्' [ ५।१३ ] इत्युक्तम् ; किमेतत्कर्तृत्वं कारयितृत्वं चात्मनि स्वाभाविकमेव सत्सर्वकर्मसन्न्यासान्नास्ति यथा स्वाभाविकी गतिरगच्छतः ? किंवा स्वत एवात्मनि नास्ति ? इति सन्देहापनोदायाह— नेति । प्रभुः पूर्वोक्तनवद्वारपुरस्वामी जीवात्मा लोकस्य लोक्यमानस्य देहादेः कर्तृत्वं न सृजति; त्वं कुर्विति नियोजनेन तस्य कारयिता न भवतीत्यर्थः । नापि लोकस्य कर्माणि ईप्सिततमानि घटादीनि स्वयं सृजति, कर्ताऽपि न भवतीत्यर्थः । नापि कर्म कुर्वतो लोकस्य तत्फलसम्बन्धं सृजति, भोजयिताऽपि न भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "ध्यायतीव लेलायतीव" [ बृ.उ. ४।३।७] इत्यादि । वक्ष्यते चात्रापि— 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते' [१३।३१] इत्यादि । यद्यात्मा स्वयं किञ्चिन्न कारयति, न करोति, कस्तर्हि कारयन्कुर्वन्प्रवर्तते ? तत्राह— स्वभावस्तु प्रवर्तते स्वभावो मायाविद्याप्रकृतिरूपः प्रवर्तते ॥१४ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः' [ ६।५ ] इत्युक्तत्वादात्मन एव निरोधे समत्वे सर्वं सेत्स्यतीति । अन्यथा कर्तृत्वाद्यहङ्कारादिना मिथ्याचरणमेव भविष्यति । तत्र च हेतुरात्मैव नान्यः ; सोऽपि प्राकृतस्वभावमय इति तन्निरोधं दृढयितुं सिद्धान्तमाह— न कर्तृत्वमिति । प्रभुरीश्वरः परमात्मा लोकस्य प्राकृतशरीराभिमानिनः नानायोनिबीजाशयस्वभावकृतिकस्य कर्तृत्वं कर्माणि तत्फलसंयोगं च न सृजति । किन्तु तादृशः स्वभावो लोकनिष्ठः स्वत एव प्रवर्तते । अन्यथा परमात्मनो वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गः ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— ननूपदेशादिना कारणे को दोषः ? इति चेत्तत्राह— न कर्तृत्वमिति । प्रभुः ईश्वरः लोकस्य कर्तृत्वं न सृजति, न कर्माणि सृजति, न वा कर्मफलसंयोगं सृजति । अतः स्वयमपि किमिति तथोपदिशेदिति भावः । नन्वीश्वरोत्पादनाभावे लोकः कथं प्रवर्तते ? इत्यत आह—स्वभावस्तु प्रवर्तत इति । जीवस्य स्वभावः प्रकृत्यात्मकः प्रवर्तते कर्तृत्वादिरूपेण ॥ १४ ॥

११ नी० भा० दी०— नन्वेवं भृत्यवत्कर्तृत्वं स्वामिवत्कारयितृत्वं वाऽस्य मास्तु, अयस्कान्तवदविकारस्यैव सतः कर्त्रादिधर्मकाहङ्कारादिप्रवर्त्तकत्वमस्त्वित्याशङ्क्याह— न कर्तृत्वमिति । कर्तृत्वमहङ्कारस्य । कर्माणि इन्द्रियाणां वचनादानादीनि श्रवणदर्शनादीनि च । लोकस्य लोक्यते प्रकाश्यते इति लोको जडवर्गः । प्रभुश्चिदात्मा सूर्य इवास्मदादीनां प्रकाशकोऽपि न कर्मादौ प्रवर्तकस्तद्वत् । अस्य कर्मफलसंयोगं वा न सृजति , किन्तु यो यादृक् यस्य स्वभावः स तथा प्रवर्तते । यथा सूर्येऽभ्युदिते कमलानां विकसनं कुमुदानामुन्मुद्रणं चेति, तद्वदेवमात्मनि प्रकाशमाने घटादयो न चेष्टन्ते, मनुष्यादयस्तु चेष्टन्ते । न त्वात्मा कस्यचित्प्रवर्त्तको निवर्तको वा । लोहायस्कान्तयोरिव सत्यानृतयोरात्मानात्मनोः सम्बन्धाभावादिति भावः ॥ १४ ॥

**नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।**
**अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥ १५ ॥**

१ **शां. भा.**— परमार्थतस्तु—नाऽऽदत्ते न च गृह्णाति भक्तस्यापि कस्यचित्पापं, न चैवाऽऽदत्ते सुकृतं भक्तैः प्रयुक्तं विभुः । किमर्थं तर्हि भक्तैः पूजादिलक्षणं यागदानहोमादिकं च सुकृतं प्रयुज्यते? इत्याह—अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं विवेकविज्ञानं तेन मुह्यन्ति 'करोमि कारयामि भोक्ष्ये भोजयामि' इत्येवं मोहं गच्छन्त्यविवेकिनः संसारिणो जन्तवः ॥ १५ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— कर्तृत्वभोक्तृत्वैश्वर्याण्यात्मनोऽविद्याकृतानीत्युक्तम्, इदानीमीश्वरे सन्न्यस्तसमस्तव्यापारस्य तदेकशरणस्य दुरितं सुकृतं वा तदनुग्रहार्थं भगवानादत्ते—मदेकशरणो मत्प्रीत्यर्थं कर्म कुर्वाणो दुष्कृताद्यपनोदनेनानुग्राह्यो मयेति प्रत्ययभाक्त्वादित्याशङ्क्य सोऽपि परमार्थतो नास्त्यास्ति, अविक्रियत्वादित्याह—**परमार्थत**स्त्विति । कथं तर्हि 'भक्तानामनुग्राह्यत्वमीश्वरस्यानुग्रहीतृत्वं' इति प्रसिद्धिः ? तत्राऽऽह—**अज्ञानेने**ति । पूर्वार्धगतान्यक्षराणि व्याख्यायाऽऽकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरार्धमवतार्य व्याचष्टे—**किमर्थमि**त्यादिना ॥ १५ ॥

३ **रा. भा.**— कस्यचित् स्वसम्बन्धितयाऽभिमतस्य पुत्रादेः पापं दुःखं नादत्ते नापनुदति, कस्यचित् प्रतिकूलतयाऽभिमतस्य सुकृतं सुखं च नादत्ते नापनुदति । यतोऽयं विभुः, न क्वाचित्कः । न देवादिदेहाद्यसाधारणदेशः । अतएव न कस्यचित्सम्बन्धी, न कस्यचित् प्रतिकूलश्च । सर्वमिदं वासनाकृतम् । एवंस्वभावस्य कथमियं विपरीतवासनोत्पद्यते ? अज्ञानेनावृतं ज्ञानं ज्ञानविरोधिना पूर्वपूर्वकर्मणा स्वफलानुभवयोग्यत्वाय अस्य ज्ञानमावृतं सङ्कुचितम्; तेन ज्ञानावरणरूपेण कर्मणा देवादिदेहसंयोगस्तत्तदात्माभिमानरूपमोहश्च जायते । ततश्च तथाविधात्माभिमानवासना, तदुचितकर्मवासना च; वासनातो विपरीतात्माभिमानः, कर्मारम्भश्चोपपद्यते ॥ १५ ॥

४ **वे. ता. चं.**—**आत्मनो**ऽकर्तृत्वादिकस्य वासनायाः कर्तृत्वादिकस्य च विवरणं 'नादत्ते' इति श्लोकस्यार्धद्वयम् । परगतपापसुकृतयोरादानप्रसङ्गाभावात्तत्प्रतिषेधोऽनुचितः; अतस्तत्कार्यं दुःखं सुखं च लक्ष्यते; तत्रापि **परगतसुखदुःखयोः** स्वस्मिन्नाकर्षणं न शक्यम्; अतस्तदपनयनमात्रं **विवक्षितमित्य**भिप्रायेणाह **कस्यचिदिति** । 'कस्यचित्' इत्यनेन सूचितमपनोदनहेतुविशेषं दर्शयितुं **स्वसम्बन्धितयाऽभिमतस्ये**त्याद्युक्तम् । 'आदत्ते' इत्यस्य करोत्याद्यर्थत्वानौचित्यादपहरणार्थत्वे च प्रयोगादपहरणनिषेधेनैव तुल्यतया करणनिषेधसिद्धेः **नापनुदती**ति व्याख्यातम् । **विभुरि**ति न परिमाणविशेषाद्यभिप्रायम्, जीवस्याणुतया श्रुत्यादिसिद्धेः । नापि प्रभुत्वपरम्, अत्रानुपयुक्तत्वात् । अतस्तत्तत्कर्मानुकूलसमस्तदेहानुप्रवेशयोग्यतामात्रं प्रतिनियतदेशराहित्यं विवक्षितम् । अतएव आगन्तुकेषु मित्रामित्रादिषु सम्बन्धित्वं प्रतिकूलत्वं च आगन्तुकानां तत्तद्देहानामेव, न स्वात्मन इति सिध्यति । तत एव चानुकूलप्रतिकूलपुरुषविषयदुःखाद्यपनयनमौपाधिकमित्यायातम् । तदेवं कार्याभावौपयिकहेत्वभावप्रतिपादनपरो विभुशब्द इत्यभिप्रायेणाह—**यतोऽयमि**ति । उत्तरार्धोत्थानाय शङ्कते—**एवंस्वभावस्ये**ति । **विपरीतवासना** स्वभावविरुद्धवासनेत्यर्थः । अत्रोत्तरम्—'अज्ञानेनावृतं ज्ञानम्' इति । 'अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते । यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप ! सर्वगा ॥ संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान् । तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता ॥ सर्वभूतेषु भूपाल ! तारतम्येन वर्तते' [ वि.पु. ६।८।६१–६३ ] इति भगवत्पराशरवचनमनुस्मरन्नाह **ज्ञानविरोधिने**ति । अत्र नञस्तदन्यतदभावार्थत्वमावरणानुपयुक्तमिति भावः । **स्वफले**त्यादि— नह्यसावसङ्कुचितज्ञानसंसारतापानुभवयोग्य इति भावः । अत्यन्तविलोपपरिहारायावरणशब्दोपचरितमाह— **सङ्कुचित**मिति । "नहि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" [बृ.उ.४।३।३०] इत्यादिश्रुतिसिद्धमनेन स्मारितम् । **देवादिदेहसंयोग** इति जन्तुशब्दाभिप्रेतोऽर्थः । स च मोहजनने कर्मणो द्वारम् । शङ्कोत्तरत्वमाह— **ततश्चे**ति । आत्मनि प्रतिषिद्धस्येष्टानिष्टाचरणस्यान्यहेतुतामाह— **वासनात** इति ॥ १५ ॥

५ **आ. मा. भा.**— ॥ १५ ॥

६ **ज. प्र. दी.**—॥ १५ ॥

७ **ह. पै. भा.**— परमार्थतस्तु— नादत्त इति । नाऽऽदत्ते न गृह्णाति भक्तस्यापि कस्यचित्पापं नैवाऽऽदत्ते च सुकृतं भक्तैः प्रयुक्तं विभुः । कथं तर्हि भक्तैः पूजालक्षणयागदानानि सुकृतं प्रयुज्यते ?

इत्यत्राऽऽह—अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति 'करोमि कारयामि भोक्ष्ये भोजयामि' इत्येवं मोहं गच्छन्त्यविवेकिनः संसारिणो जन्तवः ॥ १५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एतदेव विवृणोति — नादत्त इति। विभुः पूर्वश्लोकोक्तः प्रभुरात्मा कायवाङ्मनसानां मध्ये कस्यचित्कायस्य वाचो मनसो वा कर्मभूतं पापं नैवादत्ते परमार्थतो न गृह्णाति , तथा कस्यचित्सुकृतं च नादत्ते। कथं तर्हि पुण्यकृत्पापकृदयमिति लोकव्यवहारः ? तत्राह— अज्ञानेनेति। ज्ञानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरब्रह्मरूपाद्वितीयप्रत्यगात्मचैतन्यं, अज्ञानेन नीहारमायाप्रकृत्यविद्यापरपर्यायेण "न तं विदाथ य इदं जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव । नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशासश्चरन्ति" [ ऋक्सं. ८।३।१७।७ य. सं. १७।३१ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेन आवृतमाच्छादितम् । तेनावरणेन जन्तवः जननशीलाः संसारिणः मुह्यन्ति , अतस्मिंस्तदवभासरूपं मोहं गच्छन्ति । ततस्तन्मूलक एवोक्तव्यवहारः, तदनुवादिन्य एव च श्रुतिस्मृतयः पारमार्थिकाद्वैतवाक्यशेषभूता इति भावः ॥१५॥

९ व० त० दी०— यस्मादेवं तस्मान्नादत्ते न भजते पापं पुण्यं च कारयितृत्वं च तत्साधकतमविसर्जनादेवोपयुज्यते। 'बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान्' [ भाग. १०।८७।२]इत्यादिवाक्यात्तैर्भोगमोक्षोपायप्रवृत्तौ तदात्मैवेह हेतुरिति तत्त्वम् । अतः स्वभावकृतं सर्वम् । ननु तदंशभूता अपि एते आत्मनः कथं प्राकृतत्वभावेन सम्मुह्यन्ति ? स्वरूपाज्ञानादित्याह- अज्ञानेनेति । तत्र ज्ञानं स्वरूपविषयकं अज्ञानेनाविद्यायाः प्रथमपर्वस्वरूपाज्ञानेनावृतं ततोऽन्यपर्वभिः प्राणान्तःकरणेन्द्रियदेहाध्यासैः ; वस्तुतस्तु विचित्ररिरंसावतो भगवतो नित्या आज्ञाकारिण्यो द्वादशशक्तयो मुख्याः 'गिरा पुष्ट्या' इत्यादिना निरूपिता भागवते । तत्र मायाख्याया अंशद्वयं विद्याविद्येति । भगवदाज्ञयैव विद्यया आत्मनां स्वरूपगमकात्सत्त्वानुगुण्यात् अविद्यया च विपरीतस्वभावया कर्मजन्ममरणादिपर्यावर्तगम इतरानुगुण्यात् , अन्यथा स्वरूपवैचित्र्यं न स्यादित्यज्ञानेनावृतमात्मनां स्वरूपज्ञानम् । उक्तं च 'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव! शरीरिणाम् ॥ मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते' [भाग. ११।११।३] इति । 'पञ्चपर्वा त्वविद्येयं जीवगा मायया कृता' इति । अतस्तेन जन्तवो भवन्तो मुह्यन्ति । स्वयमेवात्मनि कर्तृत्वादिस्वभावं सृजन्ति, न परमात्मेति सिद्धान्तः ॥१५ ॥

१० पु. अ. त.— यतः प्रभुर्न सृजत्यतः कस्यचित् पापपुण्यादिकमङ्गीकृत्य फलं न ददातीत्याह—नादत्त इति। विभुः अनियम्यः स्वेच्छयैव सर्वफलदानसमर्थः कस्यचित् जीवस्य पापं पापरूपं कर्म न आदत्ते नाङ्गीकरोति, तदङ्गीकृत्य नरकादिफलं न ददातीत्यर्थः । सुकृतं च नैवाङ्गीकरोति, तदङ्गीकारेण स्वर्गादिसुखं न ददातीत्यर्थः । विभुत्वात् स्वक्रीडेच्छयैव यथासुखं करोतीति भावः । तर्हि "एष एव तं [ ह्येवैनं ] साधु कर्म कारयति" [ कौ. उ. ३।९ ] इत्यादिश्रुतिभ्य ईश्वर एव तत्तत्कर्म कारयित्वा सर्वेभ्यः फलं ददातीति कथमुच्यते? तत्राह— अज्ञानेनेति । अज्ञानेन प्रकृत्युत्पन्नेन ज्ञानं भगवत्स्वरूपात्मकं श्रुत्यर्थरूपं वा— तेन जन्तवः जीवा मुह्यन्ति मोहं प्राप्नुवन्ति, अन्यथा वदन्तीत्यर्थः। श्रुतौ तु पूर्वं तादृक्फलदानेच्छां निरूप्य पश्चात् कर्मकारणत्वमुच्यते, न तु कर्मफलत्वमागच्छति, किन्तु विचित्रेच्छात्वमेवायातीति ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु "एष ह्येव [ह्येवैनं] साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते, एष ह्येवासाधु [ एवैनमसाधु ] कर्म कारयति तं यमधो निनीषते ( यमन्वानुनेषति ) " [ कौ. उ. ३।९ ] इति श्रुत्या परमेश्वरे कारयितृत्वं बोध्यते, तत्कथमुच्यते 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' [ ५।१४ ] इति ? तत्राह — नादत्त इति । कस्यचित्कर्तुः पापं अयं नादत्ते, नापि सुकृतं; कारयितृत्वाभावात् । यतो विभुर्व्यापकः , निष्क्रिय इति यावत् । सक्रियो ह्यन्यं प्रवर्तयति , तदीयं पापं पुण्यं वा लभते ; अयं तु न तथा , किन्तु सूर्यवत् प्रकाशत एव ; न तु स्वप्रकाश्यानां कर्त्रादीनां कर्मणा सम्बध्यते इति भावः । कारयितृत्वमप्यस्य सत्तामात्रेण सूर्यवत् । यथा घटः प्रकाशते सविता प्रकाशयतीति नोदाहृतश्रुतिविरोधः । कथं तर्हि ईश्वराराधनार्थं कर्माणि कुर्वन्ति तदकरणाच्च बिभ्यति ? इत्याशङ्क्याह— अज्ञानेनेति। यथा हि महाराजस्य सार्वभौमस्याहं सर्वेश्वरो निवृत्तोऽस्मीति ज्ञानं अज्ञानेन सौषुप्तेनावृतं चेत्स तत्र विविधानि परचक्रादीनि महान्ति सङ्कटशतानि पश्यति, अहो अहं दीनोऽस्मि दुःख्यस्मीति च मुह्यति ; तद्वदेते जन्तवः स्वस्याहं ब्रह्मास्मीति प्रमाणेन ब्रह्मभावमजानन्त ईश्वरादात्मानं पृथङ्मन्यमाना ईशात्मनोः सेव्यसेवकभावं च पश्यन्तो मुह्यन्ति । तथा च श्रुतिः "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽसावन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्" [ बृ.उ. १।४।१० ] इति । "एष ह्येव" इति श्रुतिरपि भ्रान्तजनव्यवहारविषयैवेति भावः ॥ १५ ॥

ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तिस्तत्फलं च ।

**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।**
**तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥**

१ **शां. भा.— ज्ञानेनेति ।** ज्ञानेन तु येनाज्ञानेनाऽऽवृता मुह्यन्ति जन्तवस्तदज्ञानं येषां जन्तूनां विवेकज्ञानेनाऽऽत्मविषयेण नाशितमात्मनो भवति, तेषामादित्यवद्यथाऽऽदित्यः समस्तं रूपजातमवभासयति तद्वज्ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु सर्वं प्रकाशयति तत्परं परमार्थतत्त्वम् ॥ १६ ॥

२ **आ. शां. व्या.—** तर्हि सर्वेषामनाद्यज्ञानावृतज्ञानत्वात् व्यामोहापोहाभावाच्च कुतः संसारनिवृत्तिः ? इति तत्राऽऽह— **ज्ञानेनेति** । सर्वमिति पूर्णत्वमुच्यते । ज्ञेयस्यैव वस्तुनस्तत्परमिति विशेषणम् । तद्व्याचष्टे— **परमार्थतत्त्वमिति** ॥ १६ ॥

३ **रा. भा.—** 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि' [४।३६] 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा' [४।३७] 'नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम्' [४।३८] इति पूर्वोक्तं स्वकाले सङ्गमयति । एवं वर्तमानेषु सर्वेष्वात्मसु येषामात्मनामुक्तलक्षणेनात्मयाथात्म्योपदेशजनितेन आत्मविषयेण अहरहरभ्यासाधेयातिशयेन निरतिशयपवित्रेण ज्ञानेन तज्ज्ञानावरणमनादिकालप्रवृत्तानन्तकर्मसंशयरूपमज्ञानं नाशितम्, तेषां तत्स्वाभाविकं परं ज्ञानमपरिमितमसङ्कुचितमादित्यवत्सर्वं यथावस्थितं प्रकाशयति ।

४ **वे. ता. चं.—** एवं तृतीयाध्यायोक्ताकर्तृत्वानुसन्धानस्य प्रकारविशेषाः प्रतिपादिताः ; अथ चतुर्थाध्यायोक्तस्य ज्ञानविशेषस्य विशोधनं क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— **सर्वमिति** । **स्वकाले**—अकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारकथनादनन्तरं ज्ञानस्वरूपकथनावसर इत्यर्थः । यद्वा 'तद्विद्धि प्रणिपातेन' इत्यत्र 'उपदेक्ष्यन्ति' [४।३४] इति स्वेनैव निर्दिष्टे विपाककाल इत्यर्थः । **एवं वर्तमानेषु** मुह्यत्स्वपीत्यर्थः । यद्वा कर्मयोगनिष्ठेष्वित्यर्थः । अज्ञानेन ज्ञानमावृतं चेत्, कथं ज्ञानेन तस्य नाश इति शङ्कां व्यवच्छिन्दता तुशब्देन द्योतितं ज्ञानस्य विशेषं दर्शयितुं **उक्तलक्षणेनेत्यादि निरतिशयपवित्रेणेत्यन्तमुक्तम्** । आत्मनो ज्ञानेनेत्यन्वयः । **आत्मविषयेणेति**— 'आत्मनः' इति षष्ठ्या सम्बन्धसामान्यमात्रपरत्वं, कर्तृविषयत्वं चात्रानुपयुक्तमिति भावः । तच्छब्दपरामृष्टप्रकारमाह— **ज्ञानावरणमिति** । अज्ञानस्वरूपस्यातिगहनत्वसूचनार्थम्, निरतिशयपवित्रस्य ज्ञानभास्वतो निश्शेषाज्ञानतिमिरकुक्षिम्भरित्वप्रदर्शनार्थं च **अनादिकालेत्याद्युक्तम्** । उत्तरार्धगततच्छब्दार्थः **स्वाभाविकमिति** । सामानाधिकरण्यस्वारस्यात्परमिति ज्ञानविशेषणम् । तदर्थमाह **अपरिमितमसङ्कुचितमिति** । ज्ञानस्य परत्वं ह्यनवच्छिन्नविषयत्वम्; तत्र च हेतुः सङ्कोचाभाव इत्यभिप्रायः । **सर्वमिति** प्रकाशयतेरर्थसिद्धकर्मोक्तिः । अज्ञाननिवृत्तौ च ज्ञानस्य सर्वगोचरत्वं श्रौतमिति भावः । 'आदित्यवत्' इति दृष्टान्तसामर्थ्यसिद्धमाह **यथावस्थितमिति** । एतेन परमित्यत्र पदमिति विशेष्याध्याहारः । परमार्थतत्त्वमिति विवक्षा च परोक्ता निरस्ता ।

३ **रा. भा.—** तेषामिति विनष्टाज्ञानानां बहुत्वाभिधानादात्मस्वरूपबहुत्वम्; 'न त्वेवाहं जातु नासम्' [२।१२] इत्युपक्रमावगतमत्र स्पष्टतरमुक्तम् । न चेदं बहुत्वमुपाधिकृतं, विनष्टाज्ञानानामुपाधिगन्धाभावात् । 'तेषामादित्यवज्ज्ञानम्' इति व्यतिरेकनिर्देशात् ज्ञानस्य स्वरूपानुबन्धिधर्मत्वमुक्तम् ; आदित्यदृष्टान्तेन च ज्ञातृज्ञानयोः प्रभाप्रभावतोरिवावस्थानं च । तत एव संसारदशायां ज्ञानस्य कर्मणा सङ्कोचो मोक्षदशायां विकासश्चोपपन्नः ॥ १६ ॥

---

१—' ज्ञानेन त्वज्ञाने नाशिते ज्ञानस्य स्वपरप्रकाशकत्वं स्वतः सिद्धं—यथादित्यस्य तमसि नष्टे । विनिवर्तितायां हि शङ्कायाममृतममृतकार्यं स्वयमेव करोति' इत्य**भिनवगुप्तपादाः** । 'वृत्तिरूपज्ञानमत्र पूर्वार्धे यदुदीरितम् । उत्तरार्धोदितं यत्तु स्वरूपज्ञानमेव तत् ' इति **वामनः** । तत्र तत्र भगवत्पादानधिक्षिपन्नपि **माध्वो जयतीर्थो**ऽत्र वृत्तिरूपब्रह्मज्ञानविनाश्याविद्यावादित्वमङ्गीकरोतीति मर्मविदामतिरोहितमेव । तत्सर्वात्मना जितमद्वैतसिद्धान्तेनेति नात्राप्रकृतं प्रपञ्च्यते । —**अविगीता** ।

४.वे.ता.चं.— भेदव्यपदेशबलाददद्वैतमतस्योपक्रमविरोधः प्रागुक्तः, मध्येऽपि स एव तात्त्विको भेदः स्पष्टमुपदिश्यत इति तस्य तात्पर्यविषयत्वं दर्शयति—**तेषामिति**। **विनष्टाज्ञानानामिति**— नहीदं बहुत्वं भ्रान्तिसिद्धमुपाधिसिद्धं वा वक्तुं शक्यमिति भावः। सत्यमिथ्योपाधिकृतभेदवादिनो**भास्करशङ्कर**योर्मतमनूद्य परिहरति—**नचेदमिति**। मिथ्याभूतस्याज्ञानाख्योपादानस्य विनाशे तदुपात्तमिथ्याभूतान्तःकरणाद्युपाधेरपि निवृत्तेरिति **शङ्करं** प्रति हेत्वर्थः। इतरं प्रत्यज्ञानशब्दवाच्यस्य कर्मादेर्विनाशे तन्निमित्तशरीरान्तःकरणाद्युपाधिनिवृत्तिरित्यर्थः। **शङ्कर**मतदूषणप्रसङ्गे तदुक्तं ज्ञानमात्रात्मवादं दूषयितुं शुद्धदशायां ज्ञातृत्वमत्र सिद्धमिति दर्शयति तेषा**मिति**। सम्बन्धविषयतया षष्ठी व्यतिरेकगर्भेति **व्यतिरेकनिर्देशादि**त्युक्तम्। विनष्टोपाधीनामात्मनां धर्मतया निर्देशात्, ज्ञानस्य स्वरूपानुबन्धित्वसिद्धेरागन्तुकचैतन्यवादोऽपि निरस्तः। आदित्यशब्दोऽत्रादित्यप्रभापरः, प्रभाद्वारेणैवादित्यस्य प्रकाशकत्वात्; धर्मभूतज्ञाने च सैव दृष्टान्तो भवितुमर्हति, 'यथा न क्रियते ज्योत्स्ना मलप्रक्षालनान्मणेः। दोषप्रहाणान्न ज्ञानमात्मनः क्रियते तथा' [ वि. ध. १०४।५५] इत्यादिसाम्याच्च; तदेतदभिप्रेत्य तत्फलितमाह—**आदित्यदृष्टान्तेने**ति। ततः प्रस्तुतस्य किं? इत्यत्राह—**तत एवे**ति। यथा प्रभाया आवारकसन्निधौ सङ्कोचस्तन्निवृत्तौ पुनर्विकासश्च दृश्यते, तथा ज्ञानस्यापीति भावः। यद्वा तेषामादित्यवदवस्थितानां प्रभातुल्यं ज्ञानमित्यर्थः। प्रभायाः प्रदीपादित्याद्यपृथक्सिद्धतेजोद्रव्यविशेषत्वं, ज्ञानस्यात्मधर्मत्वेऽपि द्रव्यत्वं, सङ्कोचविकासयोगित्वादीनि च शारीरकभाष्ये प्रपञ्चितानि। एवं प्रभातुल्यद्रव्यत्वोपपादनेन प्रकृतमावृतत्वादिकं युज्यत इत्याह— **तत एवे**ति ॥ १६ ॥

**५ आ. मा. भा.— ज्ञानमेवाज्ञाननाशकमित्याह— ज्ञानेनेति। प्रथमज्ञानं परोक्षम् ॥ १६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ननु ज्ञानस्याज्ञाननाशकत्वमर्थप्रकाशकत्वं च प्रसिद्धमेव, तत्किमर्थमुच्यते? इत्यत आह—**ज्ञानमेवेति**। 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' [ ५।१५ ] इत्युक्तम्। एवं तर्हि तस्याविनाश एव स्यात्। तथा च न कदाचिद्ब्रह्मप्रकाशः। विनाशकान्तराङ्गीकारे च ज्ञानार्थयोः सन्यासयोगयोर्वैयर्थ्यमित्याशङ्क्य ज्ञानमेवाज्ञाननाशकम्, अतो नोक्तदोषः। किन्तु स्वरूपज्ञानमविद्ययाऽऽवृतम्, वृत्तिज्ञानं त्वविद्यां शिथिलयति। ब्रह्म प्रकाशयतीत्येतदनेनाहेत्यर्थः। अत्र केचित्-'यथैक एवादित्योऽन्धकारं नाशयति, भूमण्डलं च प्रकाशयति, तथैकमेव ज्ञानमज्ञानं निवर्तयति, परं च प्रकाशयति' इति व्याचक्षते; तदसदिति भावेनाह—**प्रथमे**ति। तृतीयान्तपदोक्तम्, द्वितीयमपरोक्षमिति शेषः। अन्यथा द्विर्ज्ञानग्रहणं व्यर्थं स्यादिति भावः ॥ १६ ॥

**७ ह. पै. भा.— ज्ञानेनेति। ज्ञानेन तु, येनाज्ञानेनाऽऽवृता मुह्यन्ति जन्तवस्तदज्ञानं येषां जन्तूनां विवेकज्ञानेनाऽऽत्मविषयेण नाशितमात्मनो भवति, तेषां जन्तूनामादित्यवत्। यथाऽऽदित्यः समस्तरूपादिजातमवभासयति तद्वज्ज्ञानं ज्ञेयं वस्तु सर्वं प्रकाशयति तत्परम् ॥ १६ ॥**

८ वे. ब्र. गि.— कथं तर्ह्यज्ञानमूढानां विमोक्षः? तत्राह —**ज्ञानेनेति**। तदज्ञानं तु आत्मनो ज्ञानेन गुरूपदिष्टवेदान्तमहावाक्यजन्येनाद्वितीयात्मविषयकेण नाशितं येषाम्। तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ तत्परं सत्यज्ञानानन्दाद्वितीयात्मकब्रह्मात्मतत्स्वरूपं निरतिशयं वस्तु प्रकाशयति; आदित्यवत्, यथाऽऽदित्यस्तमो निरस्य सर्वं वस्तुजातं प्रकाशयति तद्वत्। अत्र 'तेन मुह्यन्ति' [ ५।१५ ] 'ज्ञानेन नाशितम्' इत्यनेन भ्रमोपादानत्वं ज्ञाननिवर्त्यत्वं चाज्ञानस्य लक्षणमित्युक्तं भवति। आद्ये परिणाम्युपादानत्वस्य विवक्षितत्वान्न ब्रह्मण्यतिव्याप्तिः। द्वितीये च ज्ञानत्वेन साक्षाज्ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य विवक्षितत्वा[illegible]भावे अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ज्ञाननिवर्त्ये प्रपञ्चे च [illegible]द्वैतवज्रपञ्जरे विस्तरः।

[illegible]मानुजेनोक्तम्— " 'तेषामादित्यवज्ज्ञानं' इत[illegible]विनष्टाज्ञानानां बहुत्वाभिधानादात्मस्वरूपमुक्तम्" इति। तदसत्; 'देहभेदाभिप्रायेण बहुवचनम्' इति द्वितीयाध्यायभाष्योक्तभगवत्पादश्रीसूक्त्यैव दत्तोत्तरत्वात्, विनष्टाज्ञानानामपि "तस्य तावदेव चिरम्" [ छां. उ. ६।१४।२ ] इत्यादिश्रुत्या प्रारब्धवशेन देहानां सत्त्वात्, 'येषां नाशितमात्मनः' इत्येकवचनेनात्मैक्यस्य कण्ठरवेणोक्त्या येषां तेषामिति बहुवचनस्यानात्मबहुत्वविषयकतावगमाच्च; तेषामिति प्रत्यक्षप्रापितदेहानुवादेन प्रकाशयतीत्यंशे विधिपरस्यास्य भेदपरत्वासम्भवाच्च। एतादृशबहुवचनदर्शनेनैव स्वमते द्वैतं बहुमन्यमानेन त्वया 'नवद्वारे पुरे देही' [ ५।१३ ] 'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' [ २।१८ ] इत्यादावेकवचनदर्शनेन रोदितव्यम्, तदन्यथासिद्धिकरणे च बहुवचनस्यापि तथैवान्यथासिद्धिः सुकरेति तस्य परं प्रति बाधकत्वोपन्यासो जघन्य इति लज्जितव्यं वेत्यन्यतरावश्यम्भावाच्च।

यत्पुनरत्र **माध्वेनोक्तम्**— "अज्ञानमिह ज्ञानाभाव एव, न तु भावरूपम्" इति, यच्च **रामानुजेन**— "अनादिकालप्रवृत्तानन्तकर्मसञ्चयरूपमज्ञानम्" इति; तत्र माध्वं प्रत्येतद्वक्तव्यम्— 'पुंस्त्वादिवत्तस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' [ब्र. सू. २।३।३१ ] इत्यधिकरणे त्वयाऽपि भावरूपाज्ञानव्यवस्थापनादिह तन्निराकरणं परावशकुनार्थस्वनासाच्छेदन्यायमावहतीति। विस्तरस्तु **वज्रपञ्जरे** द्रष्टव्यः।

रामानुजं तु प्रत्येतद्वाच्यम्—स्मृतिपुराणादिष्वज्ञानं माया प्रकृतिरविद्येति पर्यायत्वेन प्रसिद्धस्याज्ञानशब्दस्य प्रसिद्धार्थं विहाय कर्मवाचित्वकल्पनमप्रामाणिकमन्याय्यम् । किञ्च आत्मावारकस्य कर्मणः सादित्वे तत्पूर्वमनावृतात्मतत्त्वसाक्षात्कारस्य ततः कर्मक्षयस्य चावश्यिकत्वेन 'अज्ञानेनावृतं ज्ञानं' [५।१५] इत्युक्तेरसङ्गतिः; तस्यानादित्वे तु आत्मावारकस्यानादेर्ज्ञाननिवर्त्यस्य मोहहेतोः कर्मेति परिभाषामात्रमित्यस्मदिष्टसिद्धिरिति ॥ १६ ॥

९ म० त० दी०—भगवत्प्रदत्तात्मविद्यावन्तस्तु न मुह्यन्तीत्याह—ज्ञानेनेति । येषां दयनीयानां साधनवतां वा आत्मज्ञानं यदक्षरात्मतत्त्वज्ञानेन नाशितं तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ आदित्यवत्परम् "ब्रह्मविदाप्नोति परं" [तै.उ.२।१] इत्यत्र श्रुतं प्रकाशयति स्वयमेवेति भगवत्प्रदत्तत्वाद्भगवद्रूपं तदिति स्वतन्त्रकर्तृत्वं तस्योक्तम् । अन्यथा करणत्वे कर्तृत्वोक्तिर्व्याहता स्यात् ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— येषां भगवता ज्ञानेनाज्ञानं नाशितं ते न मुह्यन्तीत्याह—ज्ञानेनेति । तु पुनः । आत्मज्ञानेन भगवत्सम्बन्धिज्ञानेन ज्ञानात्मकभगवद्रूपेण येषां दुर्लभानां कृपापात्राणां तत्पूर्वोक्तमज्ञानं नाशितं, तेषां तद्भगवदात्मकं ज्ञानं परं ब्रह्म प्रकाशयति, प्रकटयतीत्यर्थः । आदित्यवत्—यथा सूर्यस्तमो दूरीकृत्य स्वात्मसहितं सर्वं वस्तुमात्रं प्रकाशयति तथा १६

११ नी० भा० दी०— तदात्मन आवरकमज्ञानं येषां ज्ञानेन 'ब्रह्मास्मि' इति प्रमाणजेन नाशितं तेषां तज्ज्ञानं कर्तृ आदित्यवदादित्यो यथा कृत्स्नं दृश्यं प्रकाशयति तद्वत्परं परमार्थवस्तु प्रकाशयति । अज्ञानजानर्थनिवृत्त्यर्थं ज्ञानमेष्टव्यमिति भावः ॥ १६ ॥

**तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः ।**
**गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥**

**१ शां. भा.**— यत्परं ज्ञानं प्रकाशितम्–तस्मिन्गता बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धयः, तदात्मानः तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तदात्मानः, तन्निष्ठाः निष्ठाऽभिनिवेशस्तात्पर्यं सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य ब्रह्मण्येवावस्थानं येषां ते तन्निष्ठाः, तत्परायणाश्च तदेव परमयनं परा गतिर्येषां भवति ते तत्परायणाः, केवलात्मरतय इत्यर्थः । येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते गच्छन्त्येवंविधा अपुनरावृत्तिमपुनर्देहसम्बन्धं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः यथोक्तेन ज्ञानेन निर्धूतो नाशितः कल्मषः पापादिसंसारकारणदोषो येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः, यतय इत्यर्थः ॥ १७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— विदुषां विविदिषूणां चान्तरङ्गाणि विद्यापरिपाकसाधनान्युपदिदिक्षुरुत्तरश्लोकस्यापेक्षितं पूरयति—**यत्परमिति** । तस्मिन्परमार्थतत्त्वे परस्मिन्ब्रह्मणि बाह्यं विषयमपोह्य गता प्रवृत्ता श्रवणमनननिदिध्यासनैरसकृदनुष्ठितैर्बुद्धिः साक्षात्कारलक्षणा येषां ते तथेति प्रथमविशेषणं विभजते—**तस्मिन्निति** । तर्हि बोद्धा जीवो बोद्धव्यं ब्रह्मेति जीवब्रह्मभेदाभ्युपगमः, नेत्याह—**तदात्मान** इति । कल्पितं बोद्धृबोद्धव्यत्वं, वस्तुतस्तु न भेदोऽस्तीत्यङ्गीकृत्य व्याचष्टे—**तदेवेति** । ननु देहादावात्माभिमानमपनीय 'ब्रह्मण्येवाहमस्मि' इत्यवस्थानं तत्तदनुष्ठीयमानकर्मप्रतिबन्धान्न सिध्यतीत्याशङ्क्य विशेषणान्तरमादत्ते—**तन्निष्ठा** इति । तत्र निष्ठाशब्दार्थं दर्शयन्विवक्षितमर्थमाह—**निष्ठेत्या**दिना । तथापि पुरुषार्थान्तरापेक्षात्प्रतिबन्धात्कथं यथोक्तं ब्रह्मण्येवावस्थानं सेद्धुं पारयन्ति ? तत्राऽऽह—**तत्परायणाश्चेति** । यथोक्तानामधिकारिणां परमपुरुषार्थस्योक्तब्रह्मातिरेकात्नान्यत्राऽऽसक्तिरिति तात्पर्यार्थमाह—**केवलेति** । ननु यथोक्तविशेषणवतां वर्तमानदेहपातेऽपि देहान्तरपरिग्रहव्यग्रतया कुतो यथोक्ते ब्रह्मण्यवस्थानमास्थातुं शक्यते ? तत्राऽऽह—**येषामिति** । सति संसारकारणे दुरितादौ संसारप्रसरस्य दुर्वारत्वान्नापुनरावृत्तिसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह—**ज्ञानेति** । उक्तविशेषणसम्पत्त्या दर्शितफलशालित्वमाश्रमान्तरेष्वसम्भावितमिति मन्वानो विशिनष्टि—**यतय** इति ॥ १७ ॥

**३ रा. भा.**—तद्बुद्धयः तथाविधात्मदर्शनाध्यवसायाः, तदात्मानः तद्विषयमनसः, तन्निष्ठाः तदभ्यासनिरताः, तत्परायणाः तदेव परमयनं येषां ते परमप्रयोजनमिति मन्वानाः, एवमभ्यस्यमानेन ज्ञानेन

---

१—एतदनन्तरं अत्रैतदधिकं क्वचिद्दृश्यते "स्मरन्तोऽपि मुहुस्त्वेतत्स्पृशन्तोऽपि स्वकर्मणि । सक्ता अपि न सज्जन्ति पङ्के रविकरा इव ॥" इति ।　　　　—अविगीता ।

निर्धूतप्राचीनकल्मषाः तथाविधमात्मानमपुनरावृत्तिं गच्छन्ति। यदवस्थादात्मनः पुनरावृत्तिर्न विद्यते, स आत्मा अपुनरावृत्तिः स्वेन रूपेणावस्थितः, तमात्मानं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— आत्मानुभवसौधसोपानस्य ज्ञानस्यारोहणक्रमं दर्शयति— 'तद्बुद्धयः' इति श्लोकेन। तच्छब्देनात्र पूर्वप्रस्तुतस्वाभाविकात्मस्वरूपं पूर्वश्लोकोक्ततज्ज्ञानं वा परामृश्यत इत्यभिप्रायेण **तथाविधात्मदर्शनाध्यवसाया** इत्युक्तम्। 'तदात्मानः' इत्यनेन द्रष्टव्यत्वाध्यवसायादनन्तरो दर्शनार्थप्रवृत्तियोग उच्यत इत्यभिप्रायेण **तद्विषयमनस** इत्युक्तम्। **तन्निष्ठ**त्वं विषयान्तरवैमुख्यात्तत्परायणत्वे हेतुः। अयनशब्दोऽत्र कर्मणि ल्युडन्तः प्राप्यपरः। वाक्यार्थज्ञानादिमात्रव्यावृत्त्यर्थं **एवमभ्यस्यमानेने**त्युक्तम्। प्राप्तिप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तिर्हुपान्त्यपर्व। अतोऽन्तिमं प्राप्यमत्रापुनरावृत्तिशब्देन विवक्षितम्; स च यथावस्थित आत्मैवेत्यभिप्रायेण **तथाविधमात्मानमि**ति। अपुनरावृत्तिशब्दस्यात्रानुद्दिष्टावध्यन्तरपरामर्शसापेक्षसमासान्तरव्युदासेनात्मविशेषणत्वायाह **यदवस्थादि**ति। नन्वात्मन एव 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' [ ९।२१ ] इति पुनरावृत्तिरुच्यते; यदवस्थादिति चायुक्तं, मोक्षस्याप्यवस्थाविशेषत्वे नित्यत्वायोगात्पुनरावृत्तिप्रसङ्गादित्यत्राह **स्वेन रूपेणे**ति। औपाधिकसमस्ताकारनिवृत्तिरूपावस्थाविनाशकासम्भवात्परमते‌ऽपि प्रध्वंसरूपत्वादनिवर्त्येति भावः ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— अपरोक्षज्ञानाव्यवहितसाधनमाह— तद्बुद्धय इति ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— तद्बुद्धित्वादिकं यद्यपुनरावृत्तिसाधनत्वेनोच्यते, तदाऽपरोक्षज्ञानादेव मोक्ष इति गतः पक्षः। अथ तद्बुद्धयो ज्ञाननिर्धूतकल्मषा इति ज्ञानसाधनत्वेन। तदसत्, ज्ञानेनेति परोक्षज्ञानस्यापरोक्षज्ञानसाधनत्वेनोक्तत्वादित्यत आह— **अपरोक्षे**ति। सत्यम्, परोक्षज्ञानमपरोक्षज्ञानसाधनम्, किन्तु व्यवहितम्। न हि श्रवणमननानन्तरमेवापरोक्षज्ञानमुत्पद्यते। इदं त्वव्यवहितसाधनमाहेत्यर्थः ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— आत्मतत्त्वं यत्परं ज्ञानं प्रकाशितं तस्मिन्गता बुद्धिर्येषां ते तद्बुद्धयः। तदेव परं ब्रह्माऽऽत्मा येषां ते तदात्मानः। तन्निष्ठास्तस्मिन्निष्ठाऽभिनिवेशस्तात्पर्यं सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य ब्रह्मण्येवावस्थानं येषां ते तन्निष्ठाः। तत्परायणास्तदेव परमयनं परा गतिर्येषां भवति ते तत्परायणाः, केवलात्मरता इत्यर्थः। ते गच्छन्ति एवंविधा अपुनरावृत्तिं न पुनर्देहसम्बन्धम्। ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः यथोक्तज्ञानेन निर्धूतं नाशितं कल्मषं पापादिसंसारकारणदोषो येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः, यतय इत्यर्थः ॥ १७ ॥

८ वे. ब्र. गि.— 'ज्ञानेन तु तदज्ञानम्' [ ५।१६ ] इति पूर्वोक्तज्ञानोत्पत्तौ कारणं तत्फलं चाह— **तद्बुद्धय** इति। अत्र 'तद्बुद्धयः' इत्यादौ पूर्वपूर्वं प्रत्युत्तरोत्तरस्य हेतुत्वम्। तथा हि— तत्परायणाः। तच्छब्देन 'प्रकाशयति तत्परम्' [ ५।१६ ] इति पूर्वोक्तमात्मतत्त्वमुच्यते। तदेव परमयनं प्राप्यं येषां ते तत्परायणाः। सर्वतो विरक्ता इत्यर्थः। ततस्तन्निष्ठाः तस्मिन्नेवात्मतत्त्वे निष्ठा स्थितिर्येषां ते तन्निष्ठाः। अनेन सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकश्रवणमननपरिपाको दर्शितः। ततस्तदात्मानः तस्मिन्नेवात्मतत्त्वे आत्मा विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपं मनो येषां ते तदात्मान इति निदिध्यासनोक्तिः। ततस्तद्बुद्धयः तत्साक्षात्कारवन्तः सन्तः अपुनरावृत्तिं पुनर्देहसम्बन्धाभावरूपां मुक्तिं गच्छन्ति। अत्र हेतुः— ज्ञानेन निर्धूतं समूलमुन्मूलितं पुनर्देहकारणं कल्मषं पुण्यपापात्मकं कर्म येषां ते तथोक्ताः ॥ १७ ॥

९ व० त० दी०— य एतादृशज्ञानिनस्ते मुक्ता इत्याह— तद्बुद्धय इति। तत्प्रसादल्लब्धेन ज्ञानेन ब्रह्मस्वरूपविषयकेण निरस्तकल्मषा मुक्तिं यान्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— तत्प्रकाशात्फलं भवतीत्याह— तद्बुद्धय इति। तस्मिन् ईश्वरे बुद्धिर्येषां ते, तस्मिन् स एव वाऽऽत्मा येषाम्, तस्मिन्नेव निष्ठा भावो येषाम्, तस्मिन्नेव परायणाः तत्परास्तादृशाः, ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः निरस्ताज्ञानाः, अपुनरावृत्तिं मोक्षं गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— तद्बुद्धय इति। यत् परं ब्रह्म प्रशान्तं तत्रैव बुद्धिः "अस्ति ब्रह्म" [तै. उ. २।६।११] इति निश्चयो येषामापाततः श्रुत्यर्थविदां ते तद्बुद्धयः, तदेव आत्मा प्रत्यक्तत्त्वं येषां श्रवणमननात्मकविचारेण प्रमाणप्रमेयगतासम्भावनाविहीनानां ते तदात्मानः, तत्रैव निष्ठा विजातीयवृत्त्यनन्तरितसजातीयवृत्तिप्रवाहो येषां देहादावनात्मनि आत्मधीरूपविपरीतभावनारहितानां ते तन्निष्ठाः, तदेव परं अयनं अज्ञानरूपोपाधिनिरा-

सेन प्राप्यं येषामखण्डानन्दसमानां ते तत्परायणाः अपुनरावृत्तिं मोक्षं गच्छन्ति; यतः ज्ञानेन निर्धूतं कल्मषं मूलाज्ञानं संसारबीजभूतं येषां ते ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥ १७ ॥

ज्ञानिनां समदर्शित्वं जीवन्मुक्तित्वं च ।

**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।**
**शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥**

**१ शां. भा.**— येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते पण्डिताः कथं तत्त्वं पश्यन्ति ? इत्युच्यते–विद्याविनयसम्पन्ने विद्या च विनयश्च विद्याविनयौ, विनय उपशमः, ताभ्यां विद्याविनयाभ्यां सम्पन्नो विद्याविनयसम्पन्नो विद्वान्विनीतश्च यो ब्राह्मणस्तस्मिन्ब्राह्मणे, गवि, हस्तिनि, शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः विद्याविनयसम्पन्न उत्तमसंस्कारवति ब्राह्मणे सात्त्विके, मध्यमायां च राजस्यां गवि संस्कारहीनायामत्यन्तमेव केवलतामसे हस्त्यादौ च सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैस्तथा राजसैस्तथा तामसैश्च संस्कारैरत्यन्तमेवास्पृष्टं सममेकमविक्रियं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिताः– समदर्शिनः ॥ १८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यदपुनरावृत्तिसाधनं तत्त्वज्ञानं तदेव प्रश्नद्वारेण विवृणोति–**येषामि**त्यादिना। विद्या वेदार्थविज्ञानमित्यङ्गीकृत्य विनयं व्याचष्टे—**विनय** इति। उपशमो निरहङ्कारत्वमनौद्धत्यम्। पदार्थमेवमुक्त्वा वाक्यार्थं दर्शयति— **विद्वा-नि**ति । गवीत्याद्यनूद्य वाक्यार्थं कथयति— **विद्ये**ति। हस्त्यादौ 'पण्डिताः समदर्शिनः' इत्युत्तरत्र सम्बन्धः । तत्र तत्र प्राणिभेदेषु तत्तद्गुणैस्तत्तन्निमित्तसंस्कारैश्च संस्पृष्टत्वसम्भवान्न ब्रह्मणः समत्वमित्याशङ्क्याऽऽह-**सत्त्वादी**ति । तज्जैश्चेत्यत्र तच्छब्देन सत्त्वमेव गृह्यते । सात्त्विकसंस्कारैरिव राजससंस्कारैरपि सर्वथैवासंस्पृष्टं ब्रह्मेत्याह— **तथे**ति । राजसैरिव तामसैरपि संस्कारैर्ब्रह्मात्यन्तमेवास्पृष्टमित्याह— **तथा तामसैरि**ति । ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं कूटस्थत्वमसङ्गत्वं चोक्तेऽर्थे हेतुरिति मत्वा समशब्दार्थमाह–**समामि**ति। समदर्शित्वमेव पाण्डित्यं तद्व्याचष्टे— **ब्रह्मे**ति ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.**— विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गोहस्तिश्वपचादिषु अत्यन्तविषमाकारतया प्रतीयमानेषु चात्मसु पण्डिताः आत्मयाथात्म्यविदो ज्ञानैकाकारतया सर्वत्र समदर्शिनः; विषमाकारस्तु प्रकृतेः, नात्मनः । आत्मा तु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया सम इति पश्यन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— कीदृशोऽयमात्मसाक्षात्कारः ? इत्याकाङ्क्षायां 'येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि' [४।३५] इति प्रागुक्तं व्यनक्ति–'विद्याविनय–' इति श्लोकेन। 'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे' इति पदद्वयं न समानाधिकरणं, निर्विशेषणसमुदायसहप-

---

१— **अत्राभिनवगुप्ताचार्याः**– "यत एवं 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' ( ५।१४ ) इति, अतो ध्वस्ताज्ञानानामित्थं स्थितिरित्याह– विद्येति । तथा तेषां योगिनां ब्राह्मणेऽनीदृशी बुद्धिः– अस्य शुश्रूषादिनाऽहं पुण्यवान् भविष्यामीत्यादि , गवि न पावनीयमित्यादि, हस्तिनि नार्थादिधीः, शुनि नापकारितादिनिश्चयः, श्वपाके च न पापापवित्रादिधिषणा । अत एव समं पश्यन्तीति, न तु व्यवहरन्तीति । तदुक्तम्– 'चिद्धर्मा सर्वदेहेषु विशेषो नास्ति कुत्रचित् । अतश्च तन्मयं सर्वं भावयन् भवभिज्जनः ॥' अत्रापि भावयन्निति ज्ञानस्यैवेयं धारोक्ता " इत्याहुः। प्रपञ्चितं च **वामनेनापि**—

ब्रह्मैवेति यया धियाऽखिलमपि द्रष्टव्यमव्यग्रया तत्रोत्कृष्टनिकृष्टते अपि पृथग्ज्ञेये तथैव ध्रुवम् ।
पश्यन्तोऽपि समं तथोचितमतो वर्तन्त इत्यच्युतो व्याञ्जीद्धेदमनूद्य तत्र विदुषां दृष्टिं समां वर्णयन् ।
ब्रह्मैवेदं सर्वमिति दर्शनं ज्ञानमुच्यते । वर्तनं तत्र कर्मातस्तद्विधेयं यथोचितम् ॥
जानानो द्वारनवकं देह एक इति ध्रुवम् । नैव निक्षिपति ग्रासं मुखादन्यत्र कश्चन ॥
तद्वदेवात्मनिष्ठोऽपि सर्वत्र समदर्शनः । प्रवर्तते व्यवहृतौ तत्र तत्र यथोचितम् ॥
प्रासादेऽश्ममयीं सुरप्रतिकृतिं सोपानपङ्क्तिं तथा दृष्ट्वा मूर्तिपदे शिरो निदधतेऽन्यस्यां जनाः पादुके ।
पश्यन्तोऽपि बुधास्तथैव मुखजे ब्रह्मान्त्यजे चाद्वयं विप्रं वेश्मनि भोजयन्ति ददतेऽन्यस्मै तु फेलां बहिः ॥
लोकः कांस्यमयं पतद्ग्रहमयं कंसं च जानन्नपि ष्ठीवत्येव पतद्ग्रहे शिखरिणीमन्येन पापाति च ।
न व्यत्यस्यति जातु तद्वदखिलं ब्रह्मेति पश्यन्नपि प्राज्ञस्तत्र यथोचितं व्यवहरत्येतद्रहस्यं हरेः ॥ इति ।

एतेन– एतच्छ्लोकोपष्टम्भेन **चाण्डालादीनामस्पृश्यत्वं** न गीतासम्मतमिति प्रलपन्तः परास्ता इति ज्ञेयम् । **–अविगीता ।**

ठितत्वाद्विद्याविनयसम्पन्नविशेषणप्रतिशीर्षानुक्तेश्च। 'गवि हस्तिनि' इत्याकारवैषम्यं द्वाभ्यां दर्शितम्; श्वश्वपचशब्दाभ्यां वृत्त्या वैषम्यम्;तद्वत्पूर्वाभ्यामपि मिथो वैषम्यमेवाभिप्रेतम्;अतो 'ब्राह्मणे' इति ब्राह्मणत्वजात्याक्रान्तततामात्रं विवक्षितमिति दर्शयति-**केवलब्राह्मण** इति। सात्त्विकराजसतामसरूपानेकोदाहरणाभिप्रेतमाह-**अत्यन्तविषमे**ति। **आत्मस्त्वि**ति, शरीराणामन्योन्यवैषम्यनिषेधो दुश्शक इति भावः। अत्र समदर्शित्वोपयुक्तमूहापोहक्षमत्वं पण्डितत्वमिति दर्शयितुं **आत्मयाथात्म्यविद्** इत्युक्तम्। समं द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः। ननु प्रत्यक्षसिद्धं शरीरवैषम्यम्; शरीरिणामपि तत्तद्विशिष्टत्वात्तत्कृतज्ञानादिवैषम्यं च दुरपह्नवम्; अतोऽत्यन्तविषमेषु पदार्थत्वादिवत्स्थूलं सामान्यमकिञ्चित्करमित्यत्राह **विषमाकारस्त्वि**ति। 'प्रकृतेः' इति सम्बन्धसामान्ये षष्ठी। तेन साक्षात्प्रकृतिगतं देवत्वादिकं, तत्प्रयुक्तं सुखित्वादिकं च कथञ्चित्सम्बन्धमात्रात्—**प्रकृते**रित्युक्तम्। न शरीरगतं वैषम्यं प्रतिषिध्यते, किन्तु तदेवात्र प्रतिपाद्यते, न च तत्तच्छरीरविशिष्टत्वलक्षणं तन्मूलज्ञानसङ्कोचादिलक्षणं वा वैषम्यमपह्नूयते; अपितु तस्यौपाधिकत्वमुच्यते। न च शरीरादिविशिष्टत्वं विरोधि, स्वाभाविकस्वरूपसाम्यमात्रपरत्वात्। न चैतदत्यन्तस्थूलं, शुद्धानामात्मनां स्वरूपभेदस्य दुर्विवेचत्वात्स्फुटविशेषाकारान्तराभावादिति भावः। ननु तथापि ब्राह्मणादिषु पूज्यत्वादिसाम्यबुद्धौ अभोज्यान्नत्वादिदोषः स्मृतस्तत्राह—**आत्मा त्वि**ति ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.— परमेश्वरस्वरूपाणां सर्वत्र साम्यदर्शनं चापरोक्षज्ञानसाधनमित्याशयवानाह— विद्येति ॥ १८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— विद्याविनयेत्यादिप्रकृतानुपयुक्तमयुक्तं च कथमुच्यते? इत्यत आह—**परमेश्वरे**ति। सर्वत्र ब्राह्मणादिषु स्थितानां सर्वत्र गुणेषु दोषाभावेषु वा साम्यं तारतम्याभावः। तद्बुद्धित्वादिना सहास्य समुच्चयार्थश्चशब्दः। परमेश्वरविषयता 'निर्दोषं हि'[५।१९] इत्युत्तरवाक्यगम्या अपरोक्षज्ञानसाधनता च प्रकरणगम्येत्यत आशयवानित्युक्तम्। पण्डितशब्दस्तु परोक्षज्ञानवचनः, पाण्डित्यमागमज्ञानमिति वचनात् ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.— येषां ज्ञानेन नाशितमात्मनोऽज्ञानं ते पण्डिताः, कथं ते तत्त्वं पश्यन्ति ? इत्यत्रोच्यते-विद्येति। विद्याविनयसम्पन्न उत्तमसंस्कारवति ब्राह्मणे सात्त्विके, मध्यमायां राजस्यां गवि संस्कारहीनायाम्, अत्यन्तमेव केवलतामसे हस्त्यादौ सत्त्वादिगुणैस्तज्जैश्च संस्कारैस्तथा रजसा राजसैस्तमसा तामसैश्च संस्कारैरत्यन्तमेवास्पृष्टं सममेवाविक्रियं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिताः समदर्शिनः ॥ १८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ज्ञानस्य द्वे फले विदेहकैवल्यं जीवन्मुक्तिश्चेति; देहपातादनन्तरं विदेहमुक्तिः, ततः पूर्वं जीवन्मुक्तिः, तत्र विदेहमुक्तिः पूर्वमुक्ता, जीवन्मुक्तिमाह— विद्येति। विद्याविनयाभ्यां युक्ते ब्राह्मणे श्वपाके शुनां पाचके च कर्मवैषम्यम्। गवि हस्तिनि शुनि चेति जातिवैषम्यम्। एवं विषमेष्वपि समदर्शिनः सममेकरूपमविक्रियं ब्रह्मैव द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः पण्डिता ज्ञानिनः। यथा हि गङ्गोदके तडागे सुरायां मूत्रे च प्रतिबिम्बितस्य सूर्यस्य न तद्गुणदोषसम्बन्धः, तथा ब्रह्मणोऽपि सर्वगतस्य नोपाधिगुणदोषसम्बन्धः; इत्यनुसन्दधानाः सर्वत्र समदृष्ट्यैव रागद्वेषराहित्येन परमानन्दस्फूर्त्या जीवन्मुक्तिमनुभवन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— कीदृशास्ते ? इति जिज्ञासायां तेषां स्वरूपमाह-विद्येति। एतेषु विषमेषु गवादिष्वपि समं ब्रह्म द्रष्टुं शीलं येषां ते पण्डिता उक्तलक्षणाः ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.— तेषां लक्षणमाह— विद्येति। विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे, श्वपाके शुनो यः पचति तस्मिँश्च, गवि, हस्तिनि, शुनि च समदर्शिनः मदंशात्मज्ञानेन ते पण्डिता ज्ञानिनः, ज्ञेया इत्यर्थः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी० — एतेषां जगति दृष्टिमाह — विद्येति। उत्तमब्राह्मणे चण्डालादौ वा समं ब्रह्मैव सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च भासमानं द्रष्टुं शीलं येषां ते समदर्शिनः। यथोक्तं 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्। आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्'[वा.सु.२०]इति चराचरं जगद्ब्रह्मदृष्ट्यैव पश्यन्तीत्यर्थः॥१८॥

## इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
## निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥ १९ ॥

**१ शां. भा.— नन्वभोज्यान्नास्ते दोषवन्तः 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' [गौ.ध.सू.२।८।२०]इति स्मृतेर्न ते दोषवन्तः। कथम् ?। इहैव जीवद्भिरेव तैः समदर्शिभिः पण्डितैर्जितो वशीकृतः**

सर्गो जन्म, येषां साम्ये सर्वभूतेषु ब्रह्मणि समभावे स्थितं निश्चलीभूतं मनोऽन्तःकरणं निर्दोषम् । यद्यपि दोषवत्सु श्वपाकादिषु मूढैस्तद्दोषैर्दोषवदिव विभाव्यते तथापि तद्दोषैरस्पृष्टमिति निर्दोषं दोषवर्जितम् । हि यस्मान्नापि स्वगुणभेदभिन्नं निर्गुणत्वाच्चैतन्यस्य । वक्ष्यति च भगवानिच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वं [ १३।६ ] 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' [१३।३१] इति च ।

२ आ. शां. व्या.—सात्त्विकेषु राजसेषु तामसेषु च सत्त्वेषु समत्वदर्शनमनुचितमिति शङ्कते— **नन्विति** । सर्वत्र समदर्शिनस्तच्छब्देन परामृश्यन्ते, तेषां दोषवत्त्वादभोज्यान्नत्वमित्यत्र प्रमाणमाह— **समासमाभ्यामि**ति । समानामध्ययनादिभिः समानधर्मकाणां वस्त्रालङ्कारादिपूजया विषमे प्रतिपत्तिविशेषे क्रियमाणे सत्यसमानां चासमानधर्मकाणां कस्यचिदेकवेदत्वमपरस्य द्विवेदत्वमित्यादिधर्मवतां प्रागुक्तया पूजया समे प्रतिपत्तिविशेषे पूजयिता पुरुषविशेषं ज्ञात्वा प्रतिपत्तिमकुर्वन्धनाद्धर्माच्च हीयते, तेन सात्त्विके राजसतामसयोश्च समबुद्धिं कुर्वन्प्रत्यवैतीत्यर्थः । उत्तरत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति— **न ते दोषवन्त** इति । स्मृत्यवष्टम्भेन सर्वसत्त्वेषु समत्वदर्शिनां दोषवत्त्वमुक्तं कथं नास्तीति प्रतिज्ञामात्रेण सिध्यति? इति शङ्कते—**कथमि**ति। स्मृतेर्गतिमग्रे वदिष्यन्निर्दोषत्वं समत्वदर्शिनां विशदयति— **इहैवे**ति । सर्वेषां चेतनानां साम्ये प्रवणमनसां ब्रह्मलोकगमनमन्तरेणास्मिन्नेव देहे परिभूतजन्मनामशेषदोषराहित्ये हेतुमाह— **निर्दोषं ही**ति । वर्तमानो देहः सप्तम्या परिगृह्यते । तानेव समदर्शिनो विशिनष्टि— **येषामि**ति । ननु ब्रह्मणो निर्दोषत्वमसिद्धं, दोषवत्सु श्वपाकादिषु तद्दोषैर्दोषवत्त्वोपलम्भसम्भवात्तत्राऽऽह— **यद्यपी**ति । यस्मात्तन्निर्दोषं तस्मात्तस्मिन्ब्रह्मणि स्थितैर्निर्दोषैः सर्गो जित इति सम्बन्धः । ब्रह्मणो गुणभूयस्त्वादल्पीयान्दोषोऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **नापी**ति । चेतनस्य स्वगुणविशेषविशिष्टत्वमनिष्टं निर्गुणत्वश्रवणादित्ययुक्तं, इच्छादीनां परिशेषादात्मधर्मत्वस्य कैश्चिन्निश्चितत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **वक्ष्यति चे**ति । आत्मनो निर्गुणत्वे वाक्यशेषं प्रमाणयति— **अनादित्वादि**ति । चकारो वक्ष्यतीत्यनेन सम्बन्धार्थः ।

१ शां. भा.— नाप्यन्त्या विशेषा आत्मनो भेदकाः सन्ति, प्रतिशरीरं तेषां सत्त्वे प्रमाणानुपपत्तेः; अतः समं ब्रह्मैकं च, तस्माद्ब्रह्मण्येव ते स्थितास्तस्मान्न दोषगन्धमात्रमपि तान्स्पृशति, देहादिसङ्घातात्मदर्शनाभिमानाभावात् । देहादिसङ्घातात्मदर्शनाभिमानवद्विषयं तु तत्सूत्रं "समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः" इति पूजाविषयत्वविशेषणात् । दृश्यते हि 'ब्रह्मवित्षडङ्गविच्चतुर्वेदवित्' इति पूजादानादौ गुणविशेषसम्बन्धः; कारणं ब्रह्म तु सर्वगुणदोषसम्बन्धवर्जितमित्यतो ब्रह्मणि ते स्थिता इति युक्तम् । कर्मिविषयं च समासमाभ्यामित्यादि । इदं तु सर्वकर्मसन्न्यासिविषयं प्रस्तुतं 'सर्वकर्माणि मनसा' [ ५।१३ ] इत्यारभ्याऽऽध्यायपरिसमाप्तेः ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— गुणदोषवशादात्मनो भेदाभावेऽपि भेदोऽन्त्यविशेषेभ्यो भविष्यतीत्यतिप्रसङ्गादाशङ्क्य दूषयति— **नापी**ति । प्रतिशरीरमात्मभेदसिद्धौ तद्धेतुत्वेन तेषां सत्त्वं, तेषां च सत्त्वे प्रतिशरीरमात्मनो भेदसिद्धिरिति परस्पराश्रयत्वमभिप्रेत्य हेतुमाह— **प्रतिशरीरमि**ति । आत्मनो भेदकाभावे फलितमाह— **अत** इति । समत्वमेव व्याकरोति— **एकं चे**ति । ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेनैकत्वाज्जीवानां च भेदकाभावेनैकत्वस्योक्तत्वादेकलक्षणत्वादेकत्वं जीवब्रह्मणोरैक्यमित्याह— **तस्मादि**ति । जीवब्रह्मणोरेकत्वे जीवानां ब्रह्मवन्निर्दोषत्वं सिध्यतीत्याह— **तस्मान्ने**ति। तच्छब्दार्थमेव स्फोरयति— **देहादी**ति । यदि सर्वसत्त्वेषु समत्वदर्शनमदुष्टमिष्टं, तर्हि कथं गौतमसूत्रमित्याशङ्क्याऽऽह— **देहादिसङ्घाते**ति । सूत्रस्य यथोक्ताभिमानवद्विषयत्वे गमकमाह— **पूजे**ति । यदि चतुर्वेदानामेव सतां पूजया वैषम्यं, यदि वा चतुर्वेदानां षडङ्गविदां ब्रह्मविदां च पूजया साम्यं, तदा तेषामुक्तपूजाविषयाणां केषाञ्चिन्मनोविकारसम्भवे कर्ता प्रत्यवैतीत्यविद्वद्विषयत्वं सूत्रस्य प्रतिभातीत्यर्थः । तत्रैव चानुभवमनुकूलत्वेनोदाहरति— **दृश्यते ही**ति । देहादिसङ्घाताभिमानवतां गुणदोषसम्बन्धसम्भवात्तद्विषयं सूत्रमित्युक्तं, इदानीं ब्रह्मात्मदर्शनाभिमानवतां गुणदोषासम्बन्धान्न तद्विषयं सूत्रमित्यभिप्रेत्याऽऽह— **ब्रह्म त्वि**ति । इतश्च नेदं सूत्रं ब्रह्मविद्विषयमित्याह— **कर्मी**ति । तत्रैव पूजापरिभवसम्भवादित्यर्थः। ननु यत्र समत्वदर्शनं तत्रैव त्विदं सूत्रं, न तु कर्मिण्यकर्मिणि वेति विभागोऽस्ति, तत्राऽऽह — **इदं त्वि**ति । समत्वदर्शनस्य सन्न्यासिविषयत्वेन प्रस्तुतत्वे हेतुमाह— **सर्वकर्माणी**ति। आध्यायपरिसमाप्तेः 'सर्वकर्माणि' इत्यारभ्य तत्र तत्र सर्वकर्मसन्न्यासाभिधानात्तद्विषयमिदं समत्वदर्शनं गम्यते, तत्र तन्निरहङ्कारे निरवकाशं सूत्रमित्यर्थः ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— इहैव साधनानुष्ठानदशायामेव तैः सर्गो जितः संसारो जितः । येषामुक्तरीत्या सर्वेष्वात्मसु साम्ये स्थितं मनः निर्दोषं हि, समं ब्रह्म प्रकृतिसंसर्गदोषवियुक्तया सममात्मवस्तु हि

ब्रह्म। आत्मसाम्ये स्थिताश्चेद्ब्रह्मणि स्थिता एव ते; ब्रह्मणि स्थितिरेव हि संसारजयः; आत्मसु ज्ञानैकाकारतया साम्यमेवानुसन्दधाना मुक्ता एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.—इदं समदर्शित्वं न कालान्तरभाविफलसाधनमात्रं, किन्त्विदानीमेव निश्श्रेयसकल्पां क्लेशनिवृत्तिं दिशतीति समदर्शिनां प्रशंसा क्रियते—इहैवेति श्लोकेन। **साधनानुष्ठानदशायामेवे**ति—इहशब्दस्यात्र लोकपरत्वादपि स्वावस्थाविशेषपरत्वमेवोचितमिति भावः। **संसारो जित** इति—मुक्तप्रायास्त इत्यर्थः। सृष्ट्यादेरत्रानन्वयात्सर्गशब्दः सृज्यत इति व्युत्पत्त्याऽत्र संसारपरः। ब्राह्मणचण्डालादीनां स्पृश्यत्वादिसाम्यप्रसङ्गव्युदासाय **उक्तरीत्ये**त्युक्तम्। निरुपाधिकात्मस्वरूपं ज्ञानैकाकारतया सममिति पूर्वभाष्योक्तप्रकारेणेत्यर्थः। नन्वात्मन्येव स्थितिः संसारजयहेतुः, न तु तत्साम्ये; तत्राह—'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' इति। ब्रह्मत्वमेव विधेयम्, अन्यथा 'तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' इत्यनन्वयात्; समदर्शिनो ब्रह्मणि स्थिताः, समस्य ब्रह्मत्वात्— इति ह्यन्वयः स्यात्; ततश्चोक्तचोद्यपरिहार इत्यभिप्रायेणाह—**आत्मवस्त्वि**ति। ततः किं प्रकृतस्येत्यत्राह— **ब्रह्मणि स्थितिरि**ति। ब्रह्मशब्दोऽत्र शुद्धात्मनि ब्रह्मसाम्यात्। अत्र फलितं पिण्डितार्थमाह—**आत्मस्वि**ति १९

५ आ. मा. भा.— तदेव स्तौति— इहैवेति ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.—ननूत्तरवाक्ये साम्यदर्शनं मुक्तिसाधनमेवोच्यते, तत्कथमुच्यते अपरोक्षज्ञानसाधनमिति? प्राग्ज्ञानिनोऽपि जन्मान्तरसद्भाव उक्तः, तत्कथमिहैवेति तद्देह एव मुक्तिरुक्तेत्यत आह—तदेवेति। स्तुतावधिकोक्तिः सम्भवतीति भावः ॥ १९॥

७ ह. पै. भा.— नन्वभोज्यान्नास्ते दोषवन्तः, 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' [गौ.ध.सू.२।८।२०]इति स्मृतेर्न ते दोषवन्तः; कथम्?–इहेति। इहैव जीवद्भिः समदर्शिभिः पण्डितैर्जितो वशीकृतः सर्गो जन्म, येषां साम्ये सर्वभूतेषु ब्रह्मणः समभावे स्थितं मनोऽन्तःकरणं निर्दोषम्। यद्यपि दोषवत्सु श्वपाकादिषु मूढैस्तद्दोषवदिव विभाव्यते, तथापि तद्दोषैरस्पृष्टमिति निर्दोषं दोषवर्जितं हि यस्मान्नापि स्वगुणभेदाद्भिन्नं निर्गुणत्वाच्चैतन्यत्वस्य। वक्ष्यति भगवानिच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वं 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' [१३।३१]इति च। नाप्यन्त्या विशेषा आत्मनो भेदकाः सन्ति, प्रतिशरीरं तेषां सत्त्वे प्रमाणानुपपत्तेः। अतः समं च ब्रह्मैकं तस्माद्ब्रह्मण्येव ते स्थिताः, तस्मान्न दोषगन्धमात्रमपि तान्स्पृशति, देहादिसङ्घातात्मदर्शनाभिमानाभावात्तेषाम्। देहादिसङ्घातात्मदर्शनाभिमानवद्विषयं तु तत्सूत्रं 'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः' इति, पूजाविषयत्वेन विशेषणात्। दृश्यते हि ब्रह्मवित्षडङ्गविच्चतुर्वेदविदिति पूजादानादौ गुणविशेषसम्बन्धः। कारणं ब्रह्म तु सर्वगुणदोषवर्जितमित्यतो ब्रह्मणि ते स्थिता इति युक्तम्। कर्मिविषयं तु 'समासमाभ्यां' इत्यादि। इदं तु सर्वसन्न्यासविषयं प्रस्तुतं 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य' [५।१३] इत्यारभ्याध्यायपरिसमाप्तेः ॥ १९ ॥

८ वं. ब्र. गि.— ननु विषमेषु समदर्शनं धर्मशास्त्रनिषिद्धं कुर्वाणाः कथं पण्डिताः? तथा च गौतमः स्मरति—'समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः'[गौ.ध.सू.२।८।२०] इति। अस्यार्थः— समाय पूज्याय विषमप्रकारे पूजने कृते सति विषमायापूज्याय च समप्रकारे कृते सति स पूजक इहलोकात्परलोकाच्च हीयत इति। तत्राह—इहेति। इहैव जीवनदशायामेव तैः सर्गो जितः। सृज्यत इति सर्गः संसारप्रपञ्चोऽतिक्रान्तः। देहपातादूर्ध्वमतिक्रम्यत इति किमु वक्तव्यम्?। कैः? येषां मनः साम्ये समत्वे सर्वभूतेषु विषमेष्वपि वर्तमानस्य ब्रह्मणः समभावे स्थितं निश्चलम्। तत्र हेतुः— हि यस्मात् ब्रह्म सममेकं निर्दोषं च, तस्मात् ते समदर्शिनो ब्रह्मण्येव स्थिताः। अयं भावः— दुष्टत्वं हि द्वेधा भवति। अदुष्टस्यापि दुष्टसम्बन्धाद्यथा गङ्गोदकस्य मूत्रसम्बन्धात्, स्वत एव वा यथा मूत्रादेः। तत्र नाद्यः; यतः श्वपाकादिषु ब्रह्म तद्दोषेण दूष्यतीति मूढैर्विभाव्यमानमपि सर्वदोषासंस्पृष्टमेव, व्योमवदसङ्गत्वात् "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [बृ. उ. ४।३।१५–१६] इत्यादिश्रुतेः। अत एव नान्त्यः। तस्मान्निर्दोषब्रह्मरूपा यतयो जीवन्मुक्ता न दोषगन्धेनापि स्पृश्यन्ते। गौतमस्मृतिस्तु अविद्वद्गृहस्थविषयैव, 'तस्यान्नमभोज्यम्' इत्युपक्रमात् 'पूजातः' इति मध्ये निर्देशात् 'धर्माद्धीयते' इत्युपसंहाराच्चेति ॥ १९ ॥

९ ब० स० दी०— अतो यद्यत्समं तद्ब्रह्मरूपमिति मन्तव्यं; यदि मनोऽपि निरोधे समं स्यात्तदा ब्रह्मैव तादात्म्यात् 'सिद्ध्यसिद्ध्योः... समत्वं योगः' [२।४८] इत्युक्तत्वात्। तद्विषयके मनसि ते ब्रह्मतादात्म्यापन्ना

इत्याह इहैवेति। येषां साम्ये स्थितं मनस्तैः सर्गः प्रवाहमार्गो जितः। 'समदर्शिनः' इत्यस्यार्थं स्वयमेव विवृणोति निर्दोषं हि समं ब्रह्मेति। तस्मात्ते ब्रह्मणि स्थिता इत्यर्थो ज्ञातव्यः॥ १९॥

१० पु. अ. त.— य एतादृशास्त उत्तमा इत्याह–इहैवेति। येषां मनः साम्ये समभावे स्थितं तैरिहैव सर्गो जितः। अत्रायं भावः— भगवता स्वक्रीडार्थं जगदुत्पादितं, तत्र यस्य यादृशेच्छया यो भाव उत्पादितः स तथैव करोति। स योग्यो भवति नवेति किमर्थं विचारणीयम्? अतो येषां मनः साम्ये भगवत्क्रीडारूपे स्थितं, तैरिहैव अधिष्ठानात्मकदेह एव सर्गः संसारो मायारूपो जितः। यतो ब्रह्म समं स्वक्रीडार्थरूपेषु निर्दोषं तेषु दोषादिरहितं, तस्माद्येषां मनः साम्ये स्थितं ते ब्रह्मणि ब्रह्मभावे स्थिताः, अतस्तैः संसारो जित इत्यर्थः। यद्वा सर्गः स्वोत्पत्तिर्जिता वशीकृता सफलीकृतेत्यर्थः। भगवता स्वमेवार्थमुत्पादितास्तत्कृतमिति भावः। यद्वा येषां मनः संयोगवियोगयोः साम्येन स्थितं, तैरिहैव अधिकरणदेह एव सर्गः अलौकिकोऽग्रेभावी जितो वशीकृतः; सर्वथैवालौकिकदेहो भावरूपो वशे जातो यतोऽयं यदैवेच्छति तदैव भावप्राकट्यं भवतीति भावः। हीति युक्तमेव। यतो ब्रह्म भगवान् स्वस्थायिरसात्मकत्वात् समानाद्यवस्थासु। निर्दोषं यथा रासे। यतो ब्रह्म तादृशं तस्मात् ते ब्रह्मणि ब्रह्मभावे निरोधरूपे स्थिता इति भावः॥ १९॥

११ नी० भा० दी०— ननु "समासमाभ्यां विषमसमे पूजातः" [गौ.ध.सू. २।८।२०]इति तुल्यश्रुतशीलाय ब्राह्मणद्वयाय विषमां पूजां प्रयुक्तवतः, तथाऽतुल्यश्रुतशीलाय ब्राह्मणद्वयाय समां पूजां प्रयुक्तवतश्चाभोज्यान्नत्वं गौतमेन स्मर्यते, तत्कथं ब्राह्मणचण्डालयोः समदर्शित्वं युक्तं? इत्याशङ्क्याह— इहैवेति। येषां मनः सर्वभूतेषु साम्ये ब्रह्मभावे स्थितं निश्चलं,तैरिहैव जीवद्भिरेव सर्गो जन्म जितो वशीकृतः। हि यस्मान्निर्दोषं समं सर्वत्राविषमं ब्रह्मास्ति। यथा 'हिरण्मययोर्देवतातत्पीठयोः स्वर्णदृक्साम्यं पश्यति, पूजकस्तु आकारदृक् तारतम्यं पश्यति तद्वत्। पूजा स्मृतिभ्रान्तिकृततारतम्यविषया, साम्यदृष्टिस्तु तत्त्वविषयेति भावः। यस्मादेवं ते साम्यं पश्यन्ति तस्मात् ब्रह्मणि अखण्डैकरसे ते द्रष्टारः स्थिता एकीभावेन समाप्तिं गताः॥ १९॥

समदर्शित्वसिद्ध्यर्थं निर्द्वन्द्वत्वं, निस्सङ्गत्वं, कामादिदोषदर्शनं, तद्वेगनिवारणं, आत्मन्येव भोग्यताकल्पनं चेति पञ्चविधं क्रमशो ब्रह्मणि स्थितस्य लक्षणम्। [ २०।२४ ]

**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।**
**स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः॥ २०॥**
**बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।**
**स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते[2]॥ २१॥**

१ शां. भा.— यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्माऽऽत्मा तस्मात्– न प्रहृष्येन्न प्रहर्षं कुर्यात्प्रियमिष्टं प्राप्य लब्ध्वा, नोद्विजेत्प्राप्यैव चाप्रियमनिष्टं लब्ध्वा, देहमात्रात्मदर्शिनां हि प्रियाप्रियप्राप्ती हर्षविषाद-

---

१ — अत्र केचित्— बाह्यस्पर्शेषु विषयेषु यत्सुखं, तत् यः आत्मनि विन्दति; असक्तात्मा विषयासक्तिरहितो भूत्वा स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मयोगेन युक्त आत्मा बुद्धिर्यस्यैवंभूतः सन् सुखमक्षय्यमविनाशि अश्नुत इति व्याचक्षते। तथा च **वामनः—**

विषयविषयियोगे भासते भोगसौख्यं न तु परमपहन्तुं शक्यते दुःखयोगः।
ध्रुव इह स हि भोगानन्तरं तद्वियोगादत उदितविवेकः सज्जते नेन्द्रियार्थे॥
इत्थं विरक्तस्य भृशं मुमुक्षोर्भोगेषु दुःखं नियतं विमृश्य।
सासङ्क्ति बाह्येषु सुखेषु नैव ब्रह्मात्मयोगेन समन्विता धीः॥
परं यावत्स्वस्वरूपे सुखं स्वानुभवान्मनः। न विन्दति न तावत्तद्याति बुद्धेर्विधेयताम्॥
अतो वर्णितो ब्रह्मवित्पूर्वपक्षे दशा दीर्घया येन क्लृप्तो विचारः।
समेषां सुखानां प्रधानं निधानं स्वमात्मानमेकं स्फुटं मन्यते यः॥
दर्शयित्वा क्वचिद्बाह्यविषया यद्बहिर्मुखाः। दुःखं ददति तत्सौख्यमात्मन्येव विचारिते॥
बाह्येषु भाति विषयेषु सुखं यदेवं स्वात्मन्यशेषमिति सम्यगवैति यस्तान्।
आसङ्गमेष विषयेषु विहाय विष्वक् ब्रह्मात्मयोगयुतधीः स्थिरमेति सौख्यम्॥ इति। — **अविगीता।**

२ 'सुखमक्षय्यमश्नुते' इति नैलकण्ठीयः पाठः।

स्थाने, न केवलात्मदर्शिनः, तस्य प्रियाप्रियप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्च सर्वभूतेष्वेकः समो निर्दोष आत्मेति स्थिरा निर्विचिकित्सा बुद्धिर्यस्य स स्थिरबुद्धिरसम्मूढः सम्मोहवर्जितश्च स्यात् यथोक्तब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितोऽकर्मकृत्सर्वकर्मसन्न्यासीत्यर्थः ॥ २० ॥ किञ्च ब्रह्मणि स्थितः—बाह्यस्पर्शेषु बाह्याश्च ते स्पर्शाश्च बाह्यस्पर्शाः। स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयो विषयाः, तेषु बाह्यस्पर्शेष्वसक्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयमसक्तात्मा विषयेषु प्रीतिवर्जितः सन्विन्दति लभते आत्मनि यत्सुखं तद्विन्दतीत्येतत्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मणि योगः समाधिर्ब्रह्मयोगस्तेन ब्रह्मयोगेन युक्तः समाहितस्तस्मिन्व्यापृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते व्याप्नोति। तस्माद्बाह्यविषयप्रीतेः क्षणिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेदात्मन्यक्षयसुखार्थीत्यर्थः ॥ २१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—नन्विष्टानिष्टप्राप्तिभ्यां हर्षविषादौ विद्वानपि कुर्वन्निर्दोषे ब्रह्मणि कथं स्थितिं लभेत ? इत्याशङ्क्याऽऽकाङ्क्षितं पूरयन्नुत्तरश्लोकमुत्थापयति—**यस्मादि**ति। आत्मज्ञाननिष्ठावतो विदुषो हर्षविषादनिमित्ताभावान्न तावुचितावित्याह—**स्थिरबुद्धिरि**ति। ननु हर्षविषादनिमित्तत्वं प्रियाप्रिययोः सिद्धमिति कथं तत्प्राप्त्या हर्षोद्वेगौ न कर्तव्यौ इति नियुज्यते ? तत्राऽऽह—**देहे**ति। विदुषोऽपि प्रियाप्रियप्राप्तिसामर्थ्यादेव हर्षविषादौ दुर्वारावित्याशङ्क्याऽऽह—**न केवले**ति। अद्वितीयात्मदर्शनशीलस्य व्यतिरिक्तप्रियाप्रियप्राप्त्ययोगान्न तन्निमित्तौ हर्षविषादावित्यर्थः। इतोऽपि विदुषो हर्षविषादावसम्भावितावित्याह —**किञ्चे**ति। निर्दोषे ब्रह्मणि प्रागुक्ते दृढप्रतिपत्तिः सम्मोहेन हर्षादिहेतुना रहितो यथोक्ते सर्वदोषरहिते ब्रह्मण्यहमस्मीतिविद्यावानशेषदोषशून्ये तस्मिन्नेव ब्रह्मणि स्थितस्तदनुरोधात् कर्माण्यमृष्यमाणो नैव हर्षविषादभागी भवितुमलमित्यर्थः ॥२०॥ शब्दादिविषयप्रीतिप्रतिबन्धान्न कस्यचिदपि ब्रह्मणि स्थितिः सिध्येदित्याशङ्क्याऽऽह—**किञ्चे**ति। न केवलं पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मणि स्थितो हर्षविषादरहितः, किन्तु विधान्तरेणापीत्यर्थः। यावद्यावद्विषयेषु रागरूपमावरणं निवर्तते तावत्तावदात्मस्वरूपसुखमभिव्यक्तं भवतीत्याह—**बाह्ये**ति। न केवलमसक्तात्मा शमवशादेव सुखं विन्दते, किन्तु ब्रह्मसमाधिना समाहितान्तःकरणः सुखमनन्तं व्याप्नोतीत्याह—**स ब्रह्मे**ति। तत्र पूर्वार्धं व्याचष्टे—**बाह्याश्चे**ति। समाधानाधीनसम्यग्ज्ञानद्वारा निरतिशयसुखप्राप्तिमुत्तरार्धव्याख्यानेन कथयति—**ब्रह्मणीत्या**दिना। शब्दादिविषयविमुखस्यानन्तसुखाप्तिसम्भवात्तदर्थिना प्रयत्नेन विषयवैमुख्यं कर्तव्यमिति शिष्यशिक्षार्थमाह—**तस्मादि**ति ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.**— येन प्रकारेणावस्थितस्य कर्मयोगिनः समदर्शनरूपो ज्ञानविपाको भवति, तं प्रकारमुपदिशति—यादृशदेहस्थस्य यदवस्थस्य प्राचीनकर्मवासनया यत्प्रियं भवति, यच्चाप्रियं, तदुभयं प्राप्य हर्षोद्वेगौ न कुर्यात्। कथं ? स्थिरबुद्धिः स्थिरे आत्मनि बुद्धिर्यस्य स स्थिरबुद्धिः, असम्मूढः अस्थिरेण शरीरेण स्थिरमात्मानमेकीकृत्य मोहः सम्मोहस्तद्रहितः। तच्च कथम् ? ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः उपदेशेन ब्रह्मवित्सन् तस्मिन् ब्रह्मण्यभ्यासयुक्तः। एतदुक्तं भवति— तत्त्वविदामुपदेशेन आत्मयाथात्म्यविद्भूत्वा तत्रैव यतमानो देहात्माभिमानं परित्यज्य स्थिररूपात्मावलोकनप्रियानुभवे व्यवस्थितोऽस्थिरे प्राकृतप्रियाप्रिये प्राप्य हर्षोद्वेगौ न कुर्यात्—इति। एवमुक्तेन प्रकारेण बाह्यस्पर्शेषु आत्मव्यतिरिक्तविषयानुभवेषु, असक्तमनाः अन्तरात्मन्येव यः सुखं विन्दति लभते; स प्रकृत्यभ्यासं विहाय ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्माभ्यासयुक्तमनाः ब्रह्मानुभवरूपमक्षयं सुखं प्राप्नोति ॥२०॥२१॥

**४ वे. ता. चं.**—प्रियाप्रिये तदधीनहर्षोद्वेगौ च देहतदवस्थाद्युपाधिभेदनिबन्धनाविति व्यञ्जयितुं **यादृशदेहस्थयदवस्थस्ये**त्याद्युक्तम्। **यदवस्थस्ये**त्येतद्देहादिकृतज्ञानसङ्कोचाद्यवस्थाविषयं वा। प्रियाप्रियरूपकारणागमे तत्कार्यहर्षोद्वेगनिवृत्तिर्दुश्शकेत्यभिप्रायेणाह—**कथमि**ति। तत्रोत्तरं—**स्थिरबुद्धिरि**ति। समानाधिकरणसमासादप्युपयोगातिशयादत्र व्यधिकरणसमास उपपन्न इत्यभिप्रायेणाह— **स्थिरे आत्मनी**ति। 'असम्मूढः' इत्यत्र समित्युपसर्ग एकीकारपरः; एवंविधस्थिरबुद्धित्वासम्मूढत्वयोर्हेत्वाकाङ्क्षां दर्शयति—**तच्च कथमि**ति। स्थिरबुद्धित्वासम्मूढत्वे द्वे अपि सङ्कलय्य तदिति परामृश्यते। 'ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः' इति शब्दाभ्यां सिद्धमवान्तरदशाविशेषं विशदयति—**उपदेशेने**त्यादिना। **सन्नि**त्यनेनोपदेशजनितज्ञानमनूद्य विशिष्टं विज्ञानं विधीयते इति सूचितम्। उक्तमेवार्थं समदर्शित्वरूपज्ञानविपाकाभिलाषिणां अव्याकुलानुष्ठानपूर्वक्रमप्रदर्शनार्थं श्लोकस्थपदानां हेतुकार्यभावेन महावाक्यान्वयं दर्शयति—**एतदुक्तमि**ति। बाह्यकुदृष्ट्युपदेशनिवृत्त्यर्थम् **तत्त्वविदामि**त्युक्तम्। **भूत्वे**त्येतदप्यनुवादत्वसूचनार्थम् ॥ २० ॥ एवं हर्षोद्वेगावकुर्वतः समदर्शित्वप्रयुक्तं निरतिशयसुखं स्वयमापतती-

त्युच्यते—'बाह्य' इति श्लोकेन। 'सुखं विन्दति' इत्यस्य 'सुखमक्षयमश्नुते' इत्यतोऽभेदप्रदर्शनाय **लभत** इत्युक्तम्। अक्षयसुखप्रारम्भोऽयमिति भावः। **प्रकृत्यभ्यासं विहाये**त्यर्थलब्धोक्तिः प्रकृत्यभ्यासः पुनः पुनः प्राकृतशब्दादिभोग्यचिन्ता। 'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्' इत्युपदेशादिजन्यज्ञानमूलं सुखमुक्तम्। 'सुखमक्षयमश्नुते' इति तु साक्षात्कारानन्तरभावि नित्यं सुखमुच्यत इति विशेषं दर्शयितुं **ब्रह्मानुभवरूप**मित्युक्तम् ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.— सन्न्यासयोगज्ञानानि मिलित्वा प्रपञ्चयत्यध्यायशेषेण ॥ २० ॥ पुनर्योगस्याधिक्यं स्पष्टयति— बाह्यस्पर्शेष्विति। कामरहित आत्मनि यत्सुखं विन्दति, स एव ब्रह्मयोगयुक्तात्मा चेत्तदेवाक्षयं सुखं विन्दति। ब्रह्मविषयो योगो ब्रह्मयोगः ध्यानादियुक्तस्यैवात्मसुखमक्षयम्। अन्यथा नेत्यर्थः ॥ २१ ॥**

६ ज. प्र. दी.— अत्र कश्चिदाध्यायपरिसमाप्तेः ज्ञानिनः कर्माभावः प्रतिपाद्यत इत्याह, अपरस्तु ज्ञानस्वरूपं तत्सहकारिसाधनं च प्रतिपाद्यत इति। तदुभयमसत्। अप्रतीतेरिति भावेनाध्यायशेषप्रतिपाद्यमाह— **सन्न्यासे**ति। मिलित्वा मेलयित्वा शङ्कानुसारेणैव, न तु प्रकरणभेदेनेत्यर्थः। पुनरुक्तिपरिहारार्थं प्रपञ्चयतीत्युक्तम्। सन्न्यासस्यादौ ग्रहणेन 'न प्रहृष्येत्' इति सन्न्यासप्रपञ्चनमिति सूचितम् ॥ २० ॥ प्रकृतस्य सन्न्यासिन एवाक्षयसुखप्राप्तिरुच्यत इति परव्याख्यानमसदिति भावेनाह-**पुनरि**ति। 'सन्न्यासस्तु' [५।६]इत्यादिना प्रागुक्तत्वात्पुनरिति आधिक्यसन्न्यासात्। प्राग्योगाभावे सन्न्यासस्य वैयर्थ्यमुक्तम्। तदसत्। कामाद्युपद्रवक्षये स्वरूपसुखस्याविर्भावादित्याशङ्कानिराकरणात्स्पष्टनम्। नैतदत्र प्रतीयत इत्यतो व्याचष्टे— **कामे**ति। 'बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा' इत्यस्यार्थः **कामरहित** इति। आत्मस्वरूपस्यापि सुखस्य न निर्विशेषत्वमिति ज्ञापनायात्मनीत्युक्तम्। स एव कामरहित एव। तदेव आत्मसुखमेव। ब्रह्मणा योग इति प्रतीतिनिरासायाह— **ब्रह्मे**ति। कथमनेन सन्न्यासाद्योगस्याधिक्यं स्पष्टीकृतं? इत्यतो ब्रह्मयोगशब्दार्थं विवृण्वन् तात्पर्यमाह— **ध्यानादी**ति। ज्ञानद्वारेति शेषः। अक्षयं पुनस्तिरोभावरहितम्। अन्यथा सन्न्यासमात्रेण तिरोभावोपेतं त्वल्पत्वादफलमेवेत्युक्तमेव [ ५।६ ]। व्याख्यानान्तरे तु बहूनां पदानां वैयर्थ्यमिति भावः ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.— यस्मादेवं समं ब्रह्माऽऽत्मा तस्मात्—नेति। न प्रहृष्येत्प्रहर्षं न कुर्यात्प्रियमिष्टं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियमनिष्टं लब्ध्वा। देहमात्रात्मदर्शिनां हि प्रियाप्रियप्राप्ती हर्षविषादौ कुर्वाते, न केवलात्मदर्शिनः; तस्य प्रियाप्रियप्राप्त्यसम्भवात्। किञ्च सर्वभूतेष्वेकः समो निर्दोष आत्मेति स्थिरा निर्विचिकित्सा बुद्धिर्यस्य स स्थिरबुद्धिरसम्मूढः सम्मोहवर्जितश्च स्याद्यथोक्तब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः। अकर्मकृत्सर्वकर्मसन्न्यासीत्यर्थः ॥ २० ॥**

**किञ्च ब्रह्मणि स्थितः— बाह्यस्पर्शेषु बाह्याश्च ते स्पर्शाश्च। स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयो विषयास्तेषु बाह्यस्पर्शेष्वसक्त आत्माऽऽन्तःकरणं यस्य सोऽयमसक्तात्मा विषयेषु प्रीतिवर्जितः स विन्दति लभत आत्मनि यत्सुखं तद्विन्दतीत्येतत्। स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मणि योगः समाधिर्ब्रह्मयोगस्तेन युक्त आत्माऽऽन्तःकरणं यस्य स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते प्राप्नोति। तस्माद्बाह्यविषयेषु प्रीतौ क्षणिकायामिन्द्रियाणि निवर्तयेत् ॥ २१ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अथास्य ब्रह्मणि स्थितस्य स्थितप्रज्ञस्य लक्षणमाह पञ्चभिः—**ने**ति। प्रियमिष्टं प्राप्य न प्रहृष्यति, अप्रियमनिष्टं प्राप्य च नोद्विजति न विषीदति। जीवन्मुक्तस्य स्वाभाविकं चरितं मुमुक्षोः प्रयत्नपूर्वकमनुष्ठेयमिति दर्शयितुं न प्रहृष्येन्नोद्विजेदिति लिङ्प्रत्ययप्रयोगः। प्रहर्षोद्वेगाभावे हेतुमाह — **ब्रह्मणि स्थित** इति। निर्दोषे समे ब्रह्मण्येवाद्वितीयात्मरूपे स्थितः, नान्यत्र। अतस्तस्य द्वैतप्रतिभासाभावात्प्रियाप्रियप्राप्तिरस्तीति न तन्निमित्तहर्षोद्वेगप्रसक्तिरित्यर्थः। ब्रह्मणि स्थितौ हेतुः— स्थिरबुद्धिरित्यादि। अत्र ब्रह्मविदिति श्रवणप्रदर्शनम्, असम्मूढ इति सम्मोहराहित्योक्त्या असम्भावनाविपरीतभावनाख्यसम्मोहनिवर्तकमनननिदिध्यासनप्रदर्शनम्। ततः स्थिरबुद्धिरित्यात्मतत्त्वसाक्षात्कारः, ततो ब्रह्मणि स्थितिर्जीवन्मुक्तिरिति हेतुहेतुमद्भावो द्रष्टव्यः ॥ २० ॥

लक्षणान्तरमाह— **बाह्ये**ति। स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दादयो विषयाः, ते च बाह्याः, अनात्मधर्मत्वात्। तेष्वसक्तात्मा अनासक्तचित्तः सन् तृष्णाशून्यतया आत्मन्यन्तःकरण एव बाह्यविषयनिरपेक्षं यदुपशमसुखं तद्विन्दति सत्त्ववृत्त्या लभते; 'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्' इति स्मृतेः। न

केवलमुपशमसुखमेव लभते ; किन्त्वखण्डब्रह्मसुखमपीत्याह— स इति । स तृष्णाशल्यः तत्पदार्थभेदानुभवरूपेण । ब्रह्मयोगेन युक्तः समाहित आत्मा मनो यस्य तथाभूतः सन् अक्षयमनन्तं सुखं प्राप्नोति । अनेनाखण्डनिजात्मसुखनिष्ठत्वं जीवन्मुक्तस्य लक्षणम्, तदर्थिनो मुमुक्षोः साधकस्य बाह्यविषयप्रीतिपरित्यागः साधनमिति चोक्तं भवति ॥ २१ ॥

९ ब० त० दी०— तादृशस्य परमानन्दावाप्तिगमकं लक्षणमाह द्वाभ्यां— न प्रहृष्येदिति । यतः स्थिरबुद्धिः सम्मोहस्यासुरत्वात्तद्रहितश्च बाह्यविषयेष्वसक्तात्मा स योगी यदात्मनि सुखं सात्विकं विन्दति, स एवोपशमसुखी ब्रह्मणि योगेन युक्तस्तदैक्यं प्राप्त आत्मा यस्य तथाभूतः सन्नक्षयं ब्रह्मसुखमनुभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं साम्यस्थितस्य ब्रह्मभावापत्तिमुक्त्वा तद्भावापन्नस्य लक्षणमाह— न प्रहृष्येदिति । प्रियं प्राप्य संयोगेन न प्रहृष्येत् । यतः प्रकृष्टहर्षेणाग्रे मानोत्पत्त्या दोषः स्यात् । च पुनः अप्रियं विप्रयोगं प्राप्य नोद्विजेदुद्वेगं न प्राप्नुयात्, यतो भगवता विप्रयोगः परमसुखदानार्थं दत्तस्तत्रोद्वेगेऽग्रे न तत्प्राप्तिः स्यात् । एवमवस्थाद्वये स्थिरबुद्धिः स असम्मूढः ब्रह्मवित् मोहाभावेन ब्रह्मस्वरूपज्ञ इति भावः । ब्रह्मणि ब्रह्मभावे स्थितः स इत्यर्थः ॥ २० ॥ नन्वनेन शरीरेण कथं तद्भावप्राप्तिः ? इत्याशङ्क्याह— बाह्यस्पर्शेष्विति । बाह्यस्पर्शेषु लौकिकेन्द्रियविषयेष्वसक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य स आत्मनि भावात्मके स्वस्वरूपे यत्सुखं तद्विन्दति प्राप्नोतीत्यर्थः । योगी भावात्मकं सुखं तं जानाति । स ब्रह्मयोगे सद्भावात्मके युक्त आत्मा यस्य तादृशो भवति । अक्षयं तदास्यात्मकं सुखमश्नुते भुङ्क्त इत्यर्थः ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— न प्रहृष्येदिति । यस्मान्निर्दोषं समं ब्रह्म तस्मात् प्रियं पुत्रादिं प्राप्य न प्रहृष्येत् । अप्रियं शत्रुं दुःखदं प्राप्य नोद्विजेत् । बुद्धस्थितिर्बुद्धेनानुष्ठेयेति ज्ञापयितुमुभयत्र लिङ्प्रयोगः । स्थिरबुद्धिः प्रत्यगद्वैते श्रुतियुक्तिभ्यां स्थिरीकृतप्रज्ञः असम्मूढो ध्यानजसाक्षात्कारेण निर्गतमोहः अत एव ब्रह्मवित् ब्रह्मभावस्य लब्धा ब्रह्मभावं गत इत्यर्थः । ब्रह्मण्येव प्रत्यगद्वये व्युत्थानावस्थायामपि स्थितः सर्वं ब्रह्मेत्येव पश्यन्नित्यर्थः ॥ २० ॥

नन्वननुभूतात्मसुखेप्सया प्रसिद्धं बाह्यं सुखं त्यक्तुमशक्यमतो 'न प्रहृष्येत्'[५।२०]इत्यसङ्गतमत आह–बाह्येति । बहिर्भवाः बाह्याः स्पर्शा विषयेन्द्रियसम्बन्धास्तेषु । असक्तात्मा अनासक्तचित्तः सन्नात्मनि प्रत्यगद्वयानन्दे सुषुप्तिकाले स्थित्वा यत्सुखं विन्दति लभते स तदेव सुखम्, विधेयापेक्षं पुंस्त्वम् । कस्तत्सुखं (?) यो ब्रह्मयोगे ब्रह्मणि योगः समाधिस्तत्र युक्तो योजित आत्मा बुद्धिर्येन स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा ब्रह्मविदित्यर्थः । "ब्रह्मविद[वेद]ब्रह्मैव भवति"[मुं० उ. ३।२।९ ] इति श्रुतेः । ब्रह्मयोगयुक्तात्मा तदेव सुखं विन्दतीति वक्तव्ये ब्रह्मविदेव तत्सुखमिति तस्य सुखाभिन्नत्वविवक्षया इदमुक्तम् । ननूभयत्र एकमेव सुखं चेत्कः सुप्तसमाधिस्थयोर्विशेषः ? इत्याशङ्क्याह— सुखमिति । अक्षय्यं सुखं मोक्षस्तमश्नुते व्याप्नोति । द्वैतादर्शनस्य तुल्यत्वादुभयत्रैकमेव सुखं, तथापि योगी मूलाविद्याया नष्टत्वादक्षय्यं सुखमश्नुते,न सुप्तः, अविद्यानुच्छेदात् । तथा च मोक्षसुखस्य मुख्यस्याप्यनुभूतत्वात्तदर्थं बाह्यं सुखं सुत्यजमित्यर्थः ॥ २१ ॥

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधः ॥ २२ ॥

१ शां. भा.—इतश्च निवर्तयेत्–ये हि यस्मात्संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाता भोगा भुक्तयो दुःखयोनय एव ते, अविद्याकृतत्वात् । दृश्यन्ते ह्याध्यात्मिकादीनि दुःखानि तन्निमित्तान्येव । यथेह लोके तथा परलोकेऽपीति गम्यत एवशब्दात् । न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत् । न केवलं दुःखयोनय आद्यन्तवन्तश्चाऽऽदिर्विषयेन्द्रियसंयोगो भोगानामन्तश्च तद्वियोग एवात आद्यन्तवन्तोऽनित्या मध्यक्षणभावित्वादित्यर्थः । कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधो भोगेषु विवेक्यवगतपरमार्थतत्त्वः, अत्यन्तमूढानामेव हि विषयेषु रतिर्दृश्यते, यथा पशुप्रभृतीनाम् ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— तत्रैव हेत्वन्तरपरत्वेनोत्तरश्लोकमुदाहरति—इतश्चेति । विषयेभ्यः सकाशादिन्द्रियाणीति शेषः । वैराग्यार्थमेव वैषयिकाणि सुखानि दूषयति–ये हीति । ननु विषयेन्द्रियसम्प्रयोगसम्प्रसूतेषु भोगेषु जन्तूनामभिरुचिदर्शनात्कुतस्तेषां दुःखयोनित्वं? इत्याशङ्क्याविवेकिनां तेष्वासङ्गेऽपि न विवेकिनामित्याह— आद्यन्तवन्त इति । यस्मादाधिव्याधिजरामरणा-

दिसहितेभ्यः समागमनादिक्लेशरूपभागिभ्यश्च विषयेन्द्रियसम्बन्धेभ्यो भोगाः सुखलवानुभवा जायन्ते, तस्मात्ते दुःखहेतवो भवन्तीति योजना । अविद्याकार्यत्वाद्दुःखानां कुतो भोगजन्यत्वं ? इत्याशङ्क्य भोगानामविद्याप्रयुक्तत्वात्तन्निबन्धनत्वं दुःखानां युक्तमित्यभिप्रेत्याऽऽह— अविद्येति । भोगानां दुःखयोनित्वे मानमनुभवमुपन्यस्यति— दृश्यन्ते हीति । ऐहिकानां भोगानां दुःखनिमित्तत्वेऽपि नाऽऽमुष्मिकाणां तथात्वं, अनुभवाभावादित्याशङ्क्यावधारणसामर्थ्यसिद्धमर्थमाह— यथेति । पूर्वार्धस्याक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थमाह— नेत्यादिना । इतश्च विषयेभ्यः सकाशादिन्द्रियाणि निवर्तयितव्यानीत्याह— न केवलमिति । आद्यन्तवत्त्वे मध्यक्षणवर्तित्वेन क्षणभङ्गुरत्वादुपेक्षणीयत्वं भोगानां सिध्यति । अस्ति हि तेषां क्षणभङ्गुरत्वं, क्षणिकविषयाकारमनोवृत्तिव्यङ्ग्यत्वादिति मन्वानः सन्नाह— अत इति । बुद्धिपूर्वकारिणां विवेकवतां भोगेषूपेक्षोपलब्धेश्च तेषामाभासत्वं प्रतिभातीत्याह— न तेष्विति । प्रतीकोपादानमाद्यमिदं पुनर्व्याख्यानमिति न पुनरुक्तिः । ननु केषाञ्चिद्भोगेष्वभिरुचिरुपलभ्यते तत्राऽऽह— अत्यन्तेति ॥ २२॥

३ रा. भा.— प्राकृतस्य भोगस्य सुत्यजतामाह— विषयेन्द्रियस्पर्शजाः ये भोगा दुःखयोनयस्ते दुःखोदर्काः । आद्यन्तवन्तः अल्पकालवर्तिनो ह्युपलभ्यन्ते । न तेषु तद्याथात्म्यविद्रमते ॥ २२ ॥

४ वे. ता. चं.— अनादिकालं बाह्यस्पर्शरसिकस्य तत्परित्यागः कथम् ? इत्याकाङ्क्षायामार्जनरक्षणादिदोषदर्शनात्तत्रोपरमः शक्य इति 'ये हि' इत्यादिश्लोकेनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह प्राकृतस्येति । 'संस्पर्शजाः' इत्यनेनाभिप्रेतमौपाधिकत्वं व्यञ्जयति विषयेन्द्रियस्पर्शजा इति । स्पर्शोऽत्र सम्बन्धमात्रम् । एतेन सुखस्वरूपस्य क्षुद्रत्वमुक्तम् । 'दुःखयोनयः' इत्यत्र तत्पुरुषविवक्षां दर्शयितुं दुःखोदर्का इत्युक्तम् । संस्पर्शजत्वात्परलोकेऽपि दुःखयोनित्वं स्वध्यवसानमित्येवकाराभिप्रायः । न खलु हिरण्यगर्भभोगादभ्यधिकः प्राकृतभोगोऽस्ति ; सोऽपि स्वमानेन शतसंवत्सरपरिमिततया मानुषादिसम इति दर्शयितुं अल्पकालवर्तिन इत्युक्तम् । क्षणरुचिबुद्बुदादिष्विवावान्तरस्थितिकालवैषम्यम् , आद्यन्तवत्त्वविशिष्टमिति भावः । एवं 'संस्पर्शजाः' इत्यादिविशेषणत्रयेण अल्पत्वदुःखमिश्रत्वान्तवत्त्वानि दर्शितानि । प्रत्यक्षसिद्धेषु दोषेषु निपुणस्य किमुपदेशापेक्षयेति दर्शयितुं उपलभ्यन्त इत्युक्तम् । बुधशब्देनात्र पञ्चविधोपरमोपयुक्तविवेकज्ञानवत्त्वं विवक्षितमिति दर्शयितुं तद्याथात्म्यविदित्युक्तम् । न तेषु रमते , किन्तु क्रमादुपरमत इति भावः । सागरतरणराजसेवादिषु शरीरविनाशपर्यन्ता आर्जनदोषाः । सहस्रप्राकारपरिवृतगर्भगृहे निवेशितस्यापि रक्ष्यवस्तुनो राजदहनचोरमूषिकादयस्तन्निवारणक्लेशादयश्च रक्षणदोषाः । 'स्वर्गेऽपि पातभीतस्य क्षयिष्णोर्नास्ति निर्वृतिः' [ वि. पु. ६।५।५० ] इत्यादयः क्षयदोषाः । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' [ भाग. ९।१९।१४ म. भा. १।८५।१२ वि. पु. ४।१०।२२ ] 'अलाभे मत्तकाशिन्या दृष्टा तिर्यक्षु कामिता' इत्यादिवदुत्तरोत्तररागप्रबन्धानर्थहेतुत्वयोग्यविषयप्रवृत्त्यादयो भोगदोषाः । सर्वस्य चास्य प्रायशः परहिंसागर्भत्वात्तदधीना ऐहिकामुष्मिकदुःखसन्ततयो हिंसादोषाः । पञ्चविधाश्चैते दोषाः प्रत्यक्षादिसिद्धा इति तद्भावनावतां प्राकृतस्यानादिकालशीलितस्यापि सुत्यजत्वं सिद्धमिति भावः । उक्तं च तुष्टिप्रकरणे साङ्ख्यैरपि 'बाह्या विषयोपरमात्पञ्च' [ सां. का. ५० ] इति ॥ २२ ॥

५ आ. मा. भा.— सन्न्यासार्थं कामभोगं निन्दयति— येहीति ॥ २२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननूत्तरश्लोके सन्न्यासादिव्रितयान्तर्गतं न किञ्चिदुच्यत इत्यत आह— सन्न्यासार्थमिति । निन्दयतीति स्वार्थे णिच् । सन्न्यासार्थिनेति वा ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— ये हि संस्पर्शजा भोगाः, ये हि यस्मात्— संस्पर्शजा विषयेन्द्रियसंस्पर्शेभ्यो जाता भोगा भुक्तयो दुःखयोनय एव ते, अविद्याकृतत्वात् । दृश्यन्ते हि आध्यात्मिकानि दुःखानि तन्निमित्तान्येव । यथेह लोके तथा परलोकेऽपीति गम्यत एवशब्दात् । न संसारे सुखस्य गन्धमात्रमप्यस्तीति बुद्ध्वा विषयमृगतृष्णिकाया इन्द्रियाणि निवर्तयेत् । न केवलं दुःखयोनय आद्यन्तवन्तश्च, आदिर्विषयेन्द्रियसंयोगो भोगानामन्तश्च तद्वियोगभावोऽत आद्यन्तवन्तः । अनित्या मध्यक्षणभावित्वादित्यर्थः । कौन्तेय ! न तेषु रमते बुधो विवेक्यवगतपरमार्थतत्त्वः । अत्यन्तमूढानामेव विषयेषु रतिर्दृश्यते । यथा पशुप्रभृतीनाम् ॥ २२ ॥

८ वे. ब्र. गि.— विषयप्रीतिनिवृत्त्युपायमाह— ये हीति । संस्पर्शजाः विषयेन्द्रियसम्पर्कजाः ये इह वा परत्र वा भोगाः क्षुद्रसुखानुभवाः, ते सर्वेऽपि आद्यन्तवन्तः अस्थिराः । आदिः विषयेन्द्रियसम्पर्कः, अन्तस्तद्वियोगः । पूर्वं पश्चादप्यसन्तो मध्यैकक्षणमात्रवर्तिनः । तदाऽपि दुःखस्यैव योनयः कारणभूताः वर्तमानकालेऽपि रागद्वेषस्पर्धादिकरम्बितत्वात् । तदिदमुक्तं

विष्णुपुराणे—'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्। तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ' [ १।१७।६६ ] इति। अतो न तेषु बुधो विवेकी रमते । हि यस्मादेवं तस्मात् बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०— ननु सुखहेतुविषयाणामपि निवृत्तेः कथं श्रुतमात्रस्य मोक्षस्य ब्रह्मानन्दस्य पुरुषार्थता स्यात्? तत्राह-ये हीति। प्राकृतेन्द्रियजन्यानां विषयभोगानां आद्यन्तवत्त्वेन दुःखयोनित्वादपुरुषार्थत्वमनर्थत्वमर्थसिद्धं तेन तद्विपरीतत्वाद्ब्रह्मानन्दस्यैव पुरुषार्थत्वमिति विज्ञाय योगिनो बुधस्य तत्रैव प्रवृत्तिस्तदाह-न तेषु रमते बुध इति ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— ननु लौकिकरसभोगाभावेऽनुभवं विना कथमलौकिकरसज्ञानं स्यात्? तदभावे च कथं तदनुभवः स्यात्? इत्यत आह— ये हि संस्पर्शजा इति। संस्पर्शजा भोगा विषयसम्बन्धिनो लौकिकार्थे भोगास्ते दुःखयोनयो भगवत्सम्बन्धाभावक्लेशकारणभूताः; यत आद्यन्तवन्तः आदिमन्तः स्वभावेनैवोत्पन्नाः, न तु भगवदिच्छया । अन्तवन्तः स्वमनोरथपूर्त्यैव पूर्णाः। अतस्त एव तादृशा अतो हे कौन्तेय मद्भावानुभवयोग्य! हीति निश्चयेन। बुधः सर्वरसज्ञो भगवान् न रमते न रसदानं करोतीत्यर्थः। यतो भगवान् बुधः सर्वरसज्ञः, अतस्तदिच्छया तद्भोगानुभवः सिद्ध एव भविष्यतीति भावः ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु सुषुप्तितुल्यस्य मोक्षसुखस्यार्थे कः प्राप्तमेव बाह्यं दिव्यरूपान्नपानगीतवाद्यादिसुखं त्यजेत्? इत्याशङ्क्य बाह्यसुखमनित्यत्वान्निन्दति—ये हीति। संस्पर्शजा विषयसम्बन्धजाः। दुःखयोनित्वे हेतुः—आद्यन्तवन्त इति। जाते पुत्रे यत्सुखं तत्तस्मिन्नष्टे नश्यति, दुःखं च महत्प्रयच्छतीति तेषु भोगेषु बुधः परिपाकदर्शी न रमते ॥ २२ ॥

**शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।**
**कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥ २३ ॥**

**१ शां. भा.**— अयं च श्रेयोमार्गप्रतिपक्षी कष्टतमो दोषः सर्वानर्थप्राप्तिहेतुर्दुर्निवार्यश्चेति तत्परिहारे यत्नाधिक्यं कर्तव्यमित्याह भगवान्—शक्नोत्युत्सहत इहैव जीवन्नेव यः सोढुं प्रसहितुं प्राक्पूर्वं शरीरविमोक्षणादा मरणात्। मरणसीमाकरणं जीवतोऽवश्यम्भावी हि कामक्रोधोद्भवो वेगः, अनन्तनिमित्तवान्हि स इति, यावन्मरणं तावन्न विश्रम्भणीय इत्यर्थः । काम इन्द्रियगोचरप्राप्त इष्टे विषये श्रूयमाणे स्मर्यमाणे वाऽनुभूते सुखहेतौ या गर्धिस्तृष्णा स कामः, क्रोधश्चाऽऽत्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा यो द्वेषः स क्रोधः, तौ कामक्रोधावुद्भवो यस्य वेगस्य स कामक्रोधोद्भवो वेगः रोमाञ्चनहृष्टनेत्रवदनादिलिङ्गोऽन्तःकरणप्रक्षोभरूपः कामोद्भवो वेगः, गात्रप्रकम्पप्रस्वेदसंदष्टौष्ठपुटरक्तनेत्रादिलिङ्गः क्रोधोद्भवो वेगः, तं कामक्रोधोद्भवं वेगं य उत्सहते प्रसहते सोढुं प्रसहितुं स युक्तो योगी सुखी चेह लोके नरः ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.—उत्तरश्लोकस्य तात्पर्यमाह-**अयं चेति**। श्रेयोमार्गप्रतिपक्षत्वं कष्टतमत्वे हेतुस्तत्रैव हेत्वन्तरमाह—**सर्वेति**। प्रयत्नाधिक्यस्य कर्तव्यत्वे हेतुं सूचयति— **दुर्निवार्य** इति। प्रसिद्धं हि कामक्रोधोद्भवस्य वेगस्य दुर्निवारत्वं, येन मातरमपि चाधिरोहति, पितरमपि हन्ति, तमवश्यं परिहर्तव्यं दर्शयति— **शक्नोतीति** । यथोक्तं वेगं बहिरनर्थरूपेण परिणामात्प्रागेव देहान्तरुत्पन्नं यः सोढुं क्षमते तं स्तौति— **स युक्त इति**। मरणसीमाकरणस्य तात्पर्यमाह—**मरणेति** । प्रसिद्धो हिशब्दः। तत्र हेतुमाह—**अनन्तेति**। व्याध्युपहतानां वृद्धानां च कामादिवेगो न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह —**यावदिति**। कामक्रोधोद्भवं वेगं व्याख्यातुमादौ कामं मनोविकारविशेषत्वेन व्याचष्टे—**काम** इति। कथमस्य मनोविकारविशेषत्वं? तदाह—**इन्द्रियेति**। कामो गर्धिस्तृष्णेति पर्यायाः सन्तः शब्दा मनोविकारविशेषे पर्यवस्यन्तीत्यर्थः। क्रोधश्च मनोविकारविशेषस्तद्वदित्याह—**क्रोधश्चेति**। तमेव क्रोधं स्पष्टयति—**आत्मन** इति। एवं कामक्रोधौ व्याख्याय तयोरुत्कटत्वावस्थात्मनो वेगस्य ताभ्यामुत्पत्तिमुपन्यस्यति—**ताविति** । यथोक्तवेगावगमोपायमुपदिशति—**रोमाञ्चनहृष्टनेत्रे**त्यादिना। उभयविधवेगं यो जीवन्नेव सोढुं शक्नोति तं पुरुषधौरेयत्वेन स्तौति— **तमित्या**दिना ॥ २३ ॥

३ रा. भा.—शरीरविमोक्षणात् प्रागिहैव साधनानुष्ठानदशायामेव आत्मानुभवप्रीत्या कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं निरोद्धुं यः शक्नोति, स युक्तः आत्मानुभवायार्हः। स एव शरीरविमोक्षणोत्तरकालमात्मानुभवैकसुखः सम्पत्स्यते ॥ २३ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं बाह्यस्पर्शेष्वसक्तस्यात्मनि सुखं विन्दतः प्राकृतभोगेषु दोषदर्शिनः स्वरसवाहिनीं दशामनुवदंस्तथाभूतस्यात्मसाक्षात्कारे तदधीनसुखे च योग्यतामाह—'शक्नोति' इति। आशरीरपातात्कामक्रोधौ दुर्जयावित्यभिप्रायेणाह—**शरीरविमोक्षणात्प्रागिति**। साक्षात्कारदशायां कामक्रोधप्रसङ्गो न विद्यत इति तत्प्रसङ्गनिवारणदशाज्ञापनाय 'इहैव' इत्यनेन साधनानुष्ठानदशोच्यते। 'विन्दत्यात्मनि यः सुखम्' [५।२१] इति पूर्वोक्तहेतुं स्मारयति **आत्मानुभवप्रीत्येति**। वेगोऽत्र मनोवाक्कायानामतित्वरिता प्रवृत्तिः। तत्रानुचितविषयाभिध्याननीचचाटुनरपतिशुद्धान्तप्रवेशादयः कामजा वेगाः। परहिंसाद्युपायचिन्तनपरुषभाषणप्रहारादयः क्रोधजा वेगाः। 'सोढुम्' इत्यस्य तितिक्षार्थत्वव्युदासायोक्तं निरोद्धुमिति। **शक्नोति**, शक्तः सन्नुत्सहत इत्यर्थः। युक्तशब्दोऽत्र समाधिलाभपर इत्याह—**आत्मानुभवायार्ह** इति। 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' इत्यस्य शरीरानन्तरमेव फलप्राप्तौ तात्पर्यम्; अन्यथा तद्वचनस्य निष्फलत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रायेण **स एव शरीरविमोक्षोत्तरकालमित्युक्तम्**। 'सुखमक्षयमश्नुते' [५।२१] इत्याद्युक्तफलभूतभविष्यत्सुखयोगोऽत्रापि 'स सुखी' इति व्यपदिश्यत इत्यभिप्रायेणाह— **आत्मानुभवैकसुखः सम्पत्स्यत** इति ॥ २३ ॥

५ आ. मा. भा.— तत्परित्यागं प्रशंसति—शक्नोतीति। कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं शक्नोति। शरीरविमोक्षणात्प्राक्। यथा मनुष्यशरीरे सोढुं सुशकः तथा नान्यत्रेति भावः। ब्रह्मलोकादिस्तु जितकामानामेव भवति ॥ २३ ॥

६ ज. प्र. दी.—उत्तरश्लोकमप्यन्तर्भावयितुमाह—**तदिति**। कामभोगपरित्यागं सन्न्यासार्थमिति वर्तते। इहैव शरीरविमोक्षणात् प्रागिति प्रशंसायामनुपयुक्तमिति भावेन तद्विहायान्ययोजयति—**कामेति**। वेगं मनसोऽनवस्थानम्। एवं तर्हि'इहैव शरीरविमोक्षणात् प्राक्' इति किमर्थमुक्तं? इत्यतस्तदनूद्य तात्पर्यमाह—**शरीरेति**। इहैवेत्यनुवादे ग्राह्यं अस्मिन्नेव लोक इति। अत एवोक्तं मनुष्यशरीर इति। अतोऽत्रैव तत्सहनाय प्रयतितव्यमित्यभिप्रायशेषः। ननु ब्रह्मलोकादौ तत्सहनमत्यन्तसुशकम्, तत्कथमेवमुच्यते? इत्यत आह—**ब्रह्मेति**। तथा चान्योन्याश्रय इति भावः। अन्यत्रेति पश्वादिशरीरं व्युदस्तमिति हृदयम्। एतेनात्र वाक्यभेदः कार्य इति सूचितम्। शरीरविमोक्षणपर्यन्तं न सकृदिति कश्चित्। तदसत्, तथा सत्याशरीरविमोक्षणादिति स्यात्। इहैवेति च व्यर्थम् ॥ २३ ॥

७ ह. पै. भा.—अयं च श्रेयोमार्गपरिपन्थिकष्टतमो दोषो दुर्वारश्चातस्तत्परिहारे यत्नः कर्तव्य इत्याह भगवान्—शक्नोतीति। शक्नोत्युत्सहत इहैव जीवन्नेव यः सोढुं प्रसहितुं प्राक्पूर्वं शरीरविमोक्षणान्मरणात्। मरणसीमाकरणं जीवतोऽवश्यम्भावी हि कामक्रोधोद्भवो वेगोऽनन्तनिमित्तवान् हि स इति। यावन्मरणं तावत्स न विश्रम्भणीय इत्यर्थः। कामश्चेन्द्रियगोचरप्राप्त इष्टविषये दृश्यमाने श्रूयमाणे वाऽनुभूते सुखहेतौ या गर्धिस्तृष्णा स कामः। क्रोधश्चाऽऽत्मनः प्रतिकूलेषु दुःखहेतुषु दृश्यमानेषु श्रूयमाणेषु स्मर्यमाणेषु वा यो द्वेषः स क्रोधः। तौ कामक्रोधावुद्भवौ यस्य स कामक्रोधोद्भवः। रोमाञ्चप्रहृष्टवदननेत्रलिङ्गान्तःकरणप्रक्षोभरूपः कामोद्भवो वेगः। गात्रप्रकम्पप्रस्वेदसन्दष्टौष्ठपुटरक्तनेत्रादिलिङ्गः क्रोधोद्भवो वेगस्तं कामक्रोधोद्भवं वेगं यः प्रसहते सोढुं स युक्तो योगी सुखी चेह लोके नरः ॥ २३ ॥

८ वे. ब्र. गि.—तत्र च कामक्रोधवेगः श्रेयोमार्गस्य मुख्यो वैरी सर्वानर्थहेतुर्दुर्निवारोऽतिकष्ट इति मुमुक्षूणां महता यत्नेन तन्निवारणं कार्यमिति दर्शयितुं पुनराह—**शक्नोतीति**। कामक्रोधावुद्भवः कारणं यस्य तं तथोक्तं वेगमिव वेगम्। यथा हि नद्या वेगो वर्षास्वतिप्रबलः स्वसम्बन्धिनमनिच्छन्तमपि गर्ते पातयित्वा निमज्ज्याधो नयति; तथा कामक्रोधयोरपि वेगो मनोनेत्रादिक्षोभरूपो विषयाभिध्यानेन वर्षाकालस्थानीयेनातिप्रबलः स्वसम्बन्धिनमनिच्छन्तमपि विषयगर्ते निपात्य संसारार्णवे निमज्ज्याधो नरकं नयतीति वेगपदेन ध्वन्यते। एतच्च 'अथ केन प्रयुक्तोऽयम्' [३।३६] इत्यत्र भगवतैव स्पष्टमुक्तम्। तमेनं कामक्रोधवेगं इहैव बहिरिन्द्रियव्यापाररूपाङ्कुरे पातात्प्रागेव सेतुनेव नदीवेगं विषयदोषदर्शनाभ्यासजन्यवैराग्येण यः सोढुं स्वानुरूपकार्याजनकत्वेन अनर्थकं कर्तुं शक्नोति। तत्किं क्षणमात्रम्? नेत्याह— प्राक्शरीरविमोक्षणात्,

यावद्देहपातमित्यर्थः । स एव युक्तो योगी, स एव सुखी, स एव नरः । तदितरस्त्वाहारनिद्राभयमैथुनादिपशुधर्ममात्रनिरतत्वान्मनुष्याकारः पशुरेवेत्यर्थः ।

श्रीधराचार्यैस्तु 'प्राक्शरीरविमोक्षणात्' इत्यत्रान्यद्व्याख्यातम्—'यथा मरणादूर्ध्वं विलपन्तीभिर्युवतीभिरालिङ्ग्यमानोऽपि पुत्रादिभिर्दह्यमानोऽपि प्राणशून्यत्वात् कामक्रोधवेगं सहते, तथा मरणात्प्रागपि जीवन्नेव यः सहते स युक्तः' इति । भवेदेवं यद्यत्र मरणवज्जीवनेऽपि कामक्रोधानुत्पत्तिमात्रं विवक्षितं स्यात्; यथा वासिष्ठे—'प्राणे गते यथा देहः सुखदुःखं न विन्दति । तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रमे वसेत्' इति । इह तूभयोः कामक्रोधयोर्वेगसहनं विवक्षितम् । अतो न तदनुत्पत्तिदृष्टान्त इति यथाभाष्योक्त एवार्थः ॥ २३ ॥

९ व० त० दी०—अतो मोक्ष एव योगिनः पुरुषार्थः, तत्र सर्वप्रतिपक्षसहनेनैव तल्लाभ इत्याह—शक्नोतीहेति । शरीरत्यागात्प्रागेव कामक्रोधोद्भवं वेगं यः सोढुं शक्नोति, सोढ्वापि न मोक्षसाधनं त्यजति, स ज्ञातव्यो योगी युक्तो ब्रह्मानन्दवांश्च; अन्यथा तु गते शरीरे सिद्धमेवेति न पुरुषकारः स्यात् । एवमेवोक्तं वशिष्ठेन—'प्राणे गते यथा देही सुखं दुःखं न विन्दति । तथा चेत्प्राणयुक्तोऽपि स कैवल्याश्रयो भवेत्' इति ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.—तस्माल्लौकिकभोगत्याग एव तत्सम्बन्धप्रापक इत्याह—शक्नोतीति । यः शरीरविमोक्षणात् प्राक् अलौकिकदेहासिकालात् पूर्वं कामक्रोधोद्भवं वेगं कामोद्भवं स्वेच्छाजनितरसभावाभावजं क्रोधोद्भवमन्येषु तदिच्छापूर्तिदर्शनक्षोभजं सोढुं शक्नोति स इहैव अस्मिन्नेव शरीरे युक्तो भावात्मरूपयुक्तः स सुखी नरः मद्भक्तः स्यादित्यर्थः॥२३॥

११ नी० भा० दी०—कः पुनर्मुख्यः सुखीत्याह—शक्नोतीति । इहैव जीवत्येव देहे प्राक् शरीरविमोक्षणात् यावद्देहपातं मया कामक्रोधौ जिताविति विस्रम्भो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । श्रुते दृष्टे अनुमिते वा विषये यो गर्द्धस्तृष्णारूपोऽतृप्तिश्च स कामः । क्रोधस्तादृशे एव विषये द्वेषस्तौ कामक्रोधौ उद्भवो यस्य वेगस्य सरोमाञ्चहृष्टनेत्रवक्त्रलिङ्गोऽन्तःकरणप्रक्षोभरूपः कामोद्भवो वेगः । गात्रप्रकम्पप्रस्वेदसन्दष्टौष्ठपुटरक्तनेत्रादिलिङ्गः क्रोधोद्भवो वेगस्तं कामक्रोधोद्भवं वेगं सोढुं यः शक्नोति स एव युक्तो योगी मुख्यः सुखी च, नान्यः ॥ २३ ॥

**योऽन्तस्सुखोऽन्तरारामस्तथाऽन्तर्ज्योतिरेव यः ।**
**स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥ २४ ॥**

१ शां. भा.—कथम्भूतश्च ब्रह्मणि स्थितो ब्रह्म प्राप्नोति? इत्याह—योऽन्तस्सुखोऽन्तरात्मनि सुखं यस्य सोऽन्तस्सुखस्तथाऽन्तरेवाऽऽत्मन्याराम आक्रीडा यस्य सोऽन्तरारामस्तथैवान्तरात्मैव ज्योतिः प्रकाशो यस्य सोऽन्तर्ज्योतिरेव, य ईदृशः स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मणि निर्वृतिं मोक्षमिह जीवन्नेव ब्रह्मभूतः सन्नधिगच्छति प्राप्नोति ॥ २४ ॥

२ आ. शां. व्या.—ज्ञानस्यात्यन्तमन्तरङ्गमात्ममात्रनिरतत्वं दर्शयन्प्रकृतं ब्रह्मविदमेव विशिनष्टि—कथम्भूतश्चेति । यथाऽन्तरेव सुखं, न बाह्यैर्विषयैः; तथाऽन्तरेव ज्योतिः, न श्रोत्रादिभिः; अतो विषयान्तरविज्ञानरहित इत्याह—तथेति । यथोक्तविशेषणसमाधिमाञ्जीवन्नेव मुक्तिमधिगच्छतीत्याह—स योगीति । आत्मन्यन्तस्सुखमिति बाह्यविषयनिरपेक्षत्वं विवक्षितं, अन्तरारामत्वं च स्त्र्यादिविषयापेक्षामन्तरेण क्रीडाप्रयुक्तफलभाक्त्वमभिमतं, इन्द्रियादिजन्यप्रकाशशून्यत्वमात्मज्योतिष्ट्वमिष्टम् । यथोक्तविशेषणसम्पन्नः समाहितश्च जीवन्नेव ब्रह्मभावं प्राप्नोति ब्रह्मणि परिपूर्णे निर्वृतिं सर्वानर्थनिवृत्त्युपलक्षितां स्थितिं अनतिशयानन्दाविर्भावलक्षणां प्राप्नोतीत्याह—य ईदृश इति ॥ २४ ॥

३ रा. भा.—यो बाह्यविषयानुभवं सर्वं विहाय अन्तस्सुखः आत्मानुभवैकसुखोऽन्तरारामः आत्मैकाधीनः स्वगुणैरात्मैव सुखवर्धको यस्य स तथोक्तः, तथाऽन्तर्ज्योतिरात्मैकज्ञानो यो वर्तते, स ब्रह्मभूतो योगी ब्रह्मनिर्वाणमात्मानुभवसुखं प्राप्नोति ॥ २४ ॥

४ वे. ता. चं.—एवं परित्यक्तं प्राकृतं भोग्यभोगोपकरणादिकं सर्वमात्मनि तदेकरसिकत्वाय कल्पयन् 'विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्' [ ५ । २१ ] इत्युक्तमुपायदशास्थं प्रपञ्चयति—'योऽन्तस्सुखः' इति श्लोकेन । अन्तश्शब्दाभिप्रायं पूर्वोक्तं चानुसन्धायोक्तं यो बाह्यविषयानुभवं सर्वं विहायेति । अन्तश्शब्दोऽत्र बाह्यव्यतिरेकादात्मपरः । आत्मैवात्मन्येव वा सुखं यस्य सोऽन्तस्सुखः । तत्र फलितोक्तिः आत्मानुभवैकसुख इति । अवधारणस्याविशेषेण सर्वत्रान्वयादेकशब्दः । 'अन्तरा-

रामः' इत्यस्याभिप्रेतं वक्तुं पदार्थं तावदाह **आत्मैकोद्यान** इति। आरामो हि भोगस्थानभूतश्छायापल्लवपुष्पफलादिभिः स्वगुणैः सुखवर्धकः। तद्वदत्रापि स्वगुणैरपहतपाप्मत्वज्ञानानन्दादिभिः स्वविषयवादकरणसंवादकरणग्रन्थकरणादिक्रीडोत्थापकैरात्मैव सुखवर्धक इत्यारामशब्देनोपचर्यत इत्याह **स्वगुणै**रिति। एवं भोग्यं भोगस्थानं च **आत्मै**वेत्युक्तम्। अथ भोगोपकरणादिकमपि स एवेति अन्तर्ज्योतिश्शब्देनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह **आत्मैकज्ञानो यो वर्तत** इति। अन्येषां हि भोग्यानां स्वरूपादुपकरणस्य भिन्नत्वादुपकरणमपि हि तदर्थतया पृथक् ज्ञातव्यम्; अतस्तेषु तदेकज्ञानत्वं नास्तीति भावः; यद्वा प्रकाशकान्तरनैरपेक्ष्यं बाह्यं प्रकाशाभावमात्रं वाऽत्र विवक्षितम्। पूर्वं शरीरात्माभिमानाद्देवमनुष्यादिभूतोऽयम्; इदानीं तु तन्निवृत्त्या यथावस्थितासङ्कुचितज्ञानादिस्वरूपेणावस्थित इति ब्रह्मभूतशब्दाभिप्रायः। ब्रह्मैव निर्वाणमिति वा, ब्रह्मणि निर्वाणमिति वा, समासार्थमभिप्रयन्नत्र विवक्षितमाह **आत्मानुभवसुख**मिति। अत्र निर्वाणशब्दस्य परोक्तं शान्त्यर्थत्वं सुखप्रकरणानौचित्यान्मन्दमिति भावः॥२४॥

**५ आ. मा. भा.— ज्ञानिलक्षणं प्रपञ्चयत्युत्तरैः श्लोकैः। आरामः परदर्शनादिनिमित्तं सुखम्। अत्र तु परमात्मदर्शनादिनिमित्तं तत्। सुखं तूपद्रवक्षये व्यक्तम्। अत्र तु कामादिक्षये व्यक्तमात्मनः सुखम्; स्वयञ्ज्योतिष्ट्वाद्भगवतः। तद्व्यक्तेरन्तर्ज्योतिः। सर्वेषामन्तर्ज्योतिष्ट्वेऽपि व्यक्तेर्विशेषः।**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु योगिनो ब्रह्माधिगतिः प्रागुक्ता [ २।७० ] तत्किं पुनरुच्यते? इत्यत आह—**ज्ञानी**ति। द्वितीये कथितत्वात् प्रपञ्चयतीत्युक्तम्। यथा योगस्याधिक्यकथनं योगनिरूपणमेव। सन्यासार्थे निन्दास्तुती च सन्यासनिरूपणमेव, तथा ज्ञानिलक्षणकथनं च ज्ञाननिरूपणमिति। आरामशब्दार्थं तावदाह—**आराम** इति। इदानीमन्तरारामशब्दलब्धमर्थमाह—**अत्र त्वि**ति। तत्सुखम्। एवं तर्ह्यन्तस्सुख इत्यनेनैव गतार्थमेतदित्याशङ्क्य सुखशब्दस्य तावदर्थभेदमाह— **सुखं त्वि**ति। व्यक्तमात्मसुखमिति सम्बन्धः। तर्ह्यन्तस्सुख इति कथं? इत्यतस्तल्लब्धार्थमाह—**अत्र त्वि**ति। अनेनारामसुखशब्दार्थान्तर्गतयोः परोपद्रवक्षययोरन्तरित्येतत् सामर्थ्याद्विशेषणमित्युक्तं भवति। ज्योतिश्शब्दार्थं तावदाह—**स्वयमि**ति। ज्योतिष्ट्वमिति शेषः। यद्यपि ज्योतिश्शब्दः प्रकाशमात्रे प्रवर्तते, तथापि भगवत एव परानपेक्ष्य प्रकाशत्वात् मुख्ये च सम्प्रत्ययात् स एव ज्योतिरित्यर्थः। इदानीमन्तर्ज्योतिश्शब्दार्थमाह— **तद्व्यक्तेरि**ति। तस्य भगवतोऽन्तर्हृदये व्यक्तेरित्यर्थः। नन्वन्तर्ज्योतिर्यस्यासावन्तर्ज्योतिः। व्यक्तेरिति तु कथं लभ्यते? इत्यत आह— **सर्वेषामि**ति। शब्दतः प्राप्तमन्तर्ज्योतिष्ट्वं सर्वसाधारणम्। अत्र तु ज्ञानिनो विशेषणत्वेनोच्यते तत्सामर्थ्यादिदं लब्धमिति भावः। यद्वा तद्व्यक्तेरित्यध्याहारेण तात्पर्यमुक्तम्। अध्याहारस्येदानीं प्रयोजनमुच्यते। नन्वेवशब्दो यदि धर्मान्तरनिवृत्त्यर्थः तदाऽन्तस्सुखमित्यादि व्याहतम्।

**५ आ. मा. भा.— असम्प्रज्ञातसमाधीनां बाह्यादर्शनात्। दर्शनेऽप्यकिञ्चित्करत्वादेवशब्दः। उक्तं चैतत्—'दर्शनस्पर्शसम्भाषाद्यत्सुखं जायते नृणाम्। आरामः स तु विज्ञेयः सुखं कामक्षयोदितम्' इति नारदीये। 'स्वज्योतिष्ट्वान्महाविष्णोरन्तर्ज्योतिस्तु तत्स्थितः' इति च। अन्तस्सुखत्वादेः कारणमाह— ब्रह्मणि भूत इति॥ २४॥**

**६ ज. प्र. दी.**—अथ वस्त्वन्तरदर्शननिवृत्त्यर्थः। तदाऽसम्भवित्वमित्यत आह—**असम्प्रज्ञाते**ति। बाह्यं भगवतोऽन्यत्। दर्शनेऽप्यन्यदेति शेषः। अकिञ्चित्कराद्विक्षेपकरणाभावादित्यर्थः। एवशब्दः सम्भवदर्थ इति शेषः। एतेन लक्ष्यमेवेदं कथं लक्षणत्वेनोच्यत इति परिहृतम्; व्यवच्छेदप्रधानत्वात्। एवशब्दस्य सामर्थ्याज्ज्योतिषा सम्बन्ध इति। आरामसुखशब्दयोरुक्तार्थत्वं कुतः? इत्यत आह—**उक्तं चे**ति। न केवलं पुनरुक्तिबलादिति चार्थः। द्वन्द्वैकत्वादेकवचनम्। कामेत्युपद्रवोपलक्षणम्। उदितं व्यक्तम्। अन्तर्ज्योतिरित्यस्योक्तार्थत्वे प्रमाणमाह— **स्वे**ति। स स्थितो यस्मिन्निति तत्स्थितः। अन्तरेव ज्योतिर्दर्शनं यस्येत्येवं व्याख्यानेऽपि यद्यप्युक्तार्थो लभ्यते, तथाप्यार्थिकाच्छाब्दं वरमित्येवं व्याख्यातम्। ब्रह्मैव भूत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासाय ब्रह्मभूतशब्दस्य विग्रहं दर्शयन् प्रकृतसङ्गतिमाह—**अन्तरि**ति। ब्रह्मणि भूत इत्येवं विग्रहः, न तु ब्रह्मैव भूत इति; प्रमाणविरोधात्। ननु ब्रह्मणि भूतत्वं साधकधर्मः, तत्कथं ज्ञानिलक्षणत्वेनोच्यते? मैवं,यतोऽन्तस्सुखत्वादेः कारणत्वेनोच्यते। नन्वेवं सत्यर्थादिदं ज्ञानसाधनत्वेनोच्यते, तच्च 'तद्बुद्धयः' इत्यनेनैवोक्तम्। सत्यम्। तद्बुद्धित्वादिकं ब्रह्मणि भूतत्वं यस्य कारणं तद्वानेवंलक्षणक इत्येवं सङ्गतिसूचनार्थोऽयमनुवाद इति भावः। एवं च 'अधिगच्छति' इत्यस्य जानातीत्यर्थो ज्ञातव्यः॥ २४॥

**७ ह. पै. भा.**— कथम्भूतश्च ब्रह्मणि स्थितो ब्रह्म प्राप्नोति? इत्यत्राऽऽह भगवान्—य इति। योऽन्तस्सुखोऽन्तरात्मनि सुखं यस्य सोऽन्तस्सुखः। तथाऽन्तरेवाऽऽत्मन्यारामः क्रीडा यस्य सोऽन्तरारामः। तथाऽन्तरात्मैव ज्योतिः प्रकाशो यस्य सोऽन्तर्ज्योतिः। य ईदृशः स योगी निर्वाणं ब्रह्मनिर्वृतिमिह जीवन्नेव ब्रह्मभूतः सन्नधिगच्छति प्राप्नोति॥ २४॥

**८ वें. ब्र. गि.**— जीवन्मुक्तस्य लक्षणान्तरमाह— य इति। एवकारस्य त्रिष्वपि सम्बन्धः। अन्तस्सुखः अन्तरेव स्वात्मनि सुखं यस्य, न विषयेषु, सोऽन्तस्सुखः; अत एव अन्तरारामः, अन्तः स्वात्मन्येव आरामः क्रीडा, न बहिर्यस्य, सोऽन्तरारामः। सर्वसङ्गत्यागिनोऽपि यदृच्छोपनतकोकिलादिमधुरशब्दश्रवणमन्दपवनस्पन्दनसान्द्रचन्द्रिकापातकैतकामोदमेदुरमधुरशीतलगाङ्गोदकपानादिषु बहिरप्यारमणसम्भवात् कथमन्तरारामत्वम्? तत्राह— अन्तर्ज्योतिरिति। अन्तरेव स्वात्मनि ज्योतिर्दृष्टिर्न बहिर्यस्य, सोऽन्तर्ज्योतिः; समाधिकाले शब्दादिप्रतिभानाभावाद्व्युत्थानकाले तत्प्रतिभानेऽपि मिथ्यात्वनिश्चयिनस्तस्य 'न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी। नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव'॥ इति वासिष्ठोक्तरीत्या रतिकरत्वाभावान्नान्तरारामत्वविरोध इत्यर्थः। एवंविधो यः स योगी ब्रह्मनिर्वाणम् "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" [मुं. उ. ३।२।९] "स एव तदभवत्" [ ] इत्यादिश्रुतिशतप्रतिपन्नं ब्रह्मरूपं निर्वाणं मोक्षमधिगच्छति प्राप्नोति। तत्किं देवदत्त इव ग्राममप्राप्तमेव ब्रह्म प्राप्नोति? नेत्याह— **ब्रह्मभूत** इति। स्वयं ब्रह्मरूप एव सन्नज्ञानवशादप्राप्तमिव स्थितं ब्रह्म प्राप्नोति, "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" [बृ. उ. ४।४।६; तै. आ. २।२; नृ. उ. ५] इत्यादिश्रुतेः 'अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः' [१।४।२२] इति ब्रह्ममीमांसान्यायाच्च इति भावः॥ २४॥

**९ व० त० दी०**— न केवलं कामक्रोधवेगसहनमात्रेण मोक्षप्राप्तिः, अपितु— योऽन्तरिति। अन्तरात्मनि सुखादि यस्य स योगी ब्रह्मसुखं गतः जीवन्मुक्तः तस्य 'संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपञ्चस्य कर्हिचित्'॥ २४॥

**१० पु. अ. त.**— ननु सुखावलम्बनाभावे कथं बाह्यदुःखसहनं न स्यात्? इत्याशङ्क्याह— **योऽन्तस्सुख** इति। योऽन्तस्सुखः भावात्मकस्वरूपसुखवान्। अन्तरारामः अन्तरेव भावात्मकस्वरूप एव भगवद्रमणकारणवान्। तथा अन्तर्ज्योतिः संयोगरससुखसमत्वेनैव वियोगतासुखानुभववान्। स योगी मत्संयोगरसयुक्तो भूत्वा ब्रह्मभूतः अलौकिकस्वरूपः सन् ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मवत् भगवन्निर्वाणं लयं लीलात्मकतामधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः॥ २४॥

**११ नी० भा० दी०**— कोऽसौ योगी यो मुख्यः सुखीत्युक्तं? तत्राह— **य** इति। सुखं विषयसङ्गजा प्रीतिः, आरामः प्रीतिहेतुः स्त्र्यादिभिः सह क्रीडा, ज्योतिः क्रीडोपकरणानां प्रकाशः, तदेतत्त्रयं यस्यान्तरेव सोऽन्तस्सुखोऽन्तरारामोऽन्तर्ज्योतिश्च, न त्विन्द्रियद्वारकमिति एवशब्दार्थः। य एवम्भूतः स योगी, किमतो यद्येवं ब्रह्मनिर्वाणं गत्य प्राप्य परमानन्दं ब्रह्म इहैवाधिगच्छति यतो ब्रह्मभूतो जीवन्नेव ब्रह्मदर्शने ब्रह्मभावं गतः॥ २४॥

सम्यग्दर्शिनो मोक्षकारणस्य ज्ञानस्य साधनान्तरम्।

## लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
## छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥ २५॥

**१ शां. भा.**— किञ्च— लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षमृषयः सम्यग्दर्शिनः सन्न्यासिनः क्षीणकल्मषाः[1] क्षीणपापादिदोषाश्छिन्नद्वैधाश्छिन्नसंशया यतात्मानः संयतेन्द्रियाः सर्वभूतहिते रताः सर्वेषां भूतानां हित आनुकूल्ये रता अहिंसका इत्यर्थः॥ २५॥

**२ आ. शां. व्या.**— मुक्तिहेतोर्ज्ञानस्य साधनान्तरमाह— किञ्चेति। यज्ञादिनित्यकर्मानुष्ठानात् पापादिलक्षणं कल्मषं क्षीयते, ततश्च श्रवणाद्यावृत्तेः सम्यग्दर्शनं जायते, ततो मुक्तिरप्रयत्नेन भवतीत्याह— **लभन्त** इति। ज्ञानप्राप्त्युपायान्तरं दर्शयति— **छिन्नेति**। श्रवणादिना संशयनिरसनं कार्यकरणनियमनं च दयालुत्वेनाहिंसकत्वमित्येतदपि सम्यग्ज्ञानप्राप्तौ कारणमित्यर्थः। अक्षरव्याख्यानं स्पष्टत्वान्न व्याख्यायते॥ २५॥

**३ रा. भा.**— छिन्नद्वैधाः शीतोष्णादिद्वन्द्वैर्विमुक्ताः, यतात्मानः, आत्मन्येव नियमितमनसः, सर्वभूतहिते रताः आत्मवत्सर्वेषां भूतानां हितेष्वेव निरताः, ऋषयो द्रष्टार आत्मावलोकनपराः, य एवम्भूतास्ते क्षीणाशेषात्मप्राप्तिविरोधिकल्मषाः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते॥ २५॥

---

१— अत्र कल्मषपदेन सञ्चितं क्रियमाणं प्रारब्धं चेति त्रिविधं कर्मोच्यते, तस्य च निश्शेषं विनाशे ब्रह्मनिर्वाणप्राप्तिरिति। एतच्चोत्तरार्धगतविशेषणत्रयेण स्पष्टीकृतमिति— **केचित्**।

—अभिगीता।

४ वे. ता. चं.— समदर्शित्वरूपज्ञानविपाकसिद्ध्यर्थमनुष्ठानप्रकारो हि 'न प्रहृष्येत्' [ ५ । २० ] इत्यादिनोच्यते । तत्र हर्षोद्वेगविनिवृत्तिः, बाह्यविषयनिस्सङ्गत्वं, तदर्थदोषदर्शनं, कामक्रोधवेगनिवारणम्, आत्मन्येव सर्वविधभोग्यताकल्पनं च क्रमाच्छ्लोकपञ्चकेनोक्तम् । अथ प्रागुक्तद्वन्द्वसहत्वादिस्मारणपूर्वकं सर्वभूतहितेरतत्वं नाम समदर्शित्वेऽत्यन्तान्तरङ्गं साधनमुपदिश्यते 'लभन्ते' इति श्लोकेन । 'छिन्नद्वैधाः' इत्यनेन भेदस्वरूपनिषेधभ्रमव्युदासायाह **शीतोष्णादिद्वन्द्वैर्विमुक्ता** इति । द्वैधशब्दस्यात्र संशयाद्यर्थत्वं चानुचितमिति भावः । नियन्तव्येषु प्रधानं मन इहात्मशब्देनोच्यते । नियमनं च तस्योचितविषयव्यवस्थापनमित्यभिप्रायेण **आत्मन्येव नियमितमनस** इत्युक्तम् । 'श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चाप्यवधार्यताम् । आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' इति पञ्चमवेदद्रष्ट्रा परमर्षिणा निर्णीतोऽयमर्थ इति ज्ञापनाय **आत्मवदिति** दृष्टान्तः, **हितेष्वेवे**त्यवधारणं च । सर्वशब्दोऽत्र दृष्टान्तभूतं स्वात्मानमात्मान्तरं च सङ्गृह्णातीति भावः । एवमवस्थितस्य परिशुद्धान्योन्यसदृशात्मस्वरूपसाक्षात्कारवत्त्वमपिशब्देन विवक्षितमिति ज्ञापनायाह **द्रष्टार** इति । एवंविधसाक्षात्कारसिद्धावनिष्टनिवृत्तिरिष्टप्राप्तिसिद्धिश्च 'क्षीणकल्मषाः' ब्रह्मनिर्वाणं 'लभन्ते' इत्युभाभ्यामुच्यत इत्याह **य एवम्भूता** इति । 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते' [ ४ । ३८ ] इति ज्ञानस्य कल्मषनिवर्तकत्वं प्रागेवोक्तमिह स्मारितम् ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.— पापक्षयाच्चैतद्भवतीत्याह— लभन्त इति । क्षीणकल्मषा भूत्वा छिन्नद्वैधा यतात्मानः । द्वेधा भावो द्वैधम्, संशयो विपर्ययो वा । तच्चोक्तम्—'विपर्ययः संशयो वा यद्द्वैधं त्वकृतात्मनाम् । ज्ञानासिना तु तच्छित्त्वा मुक्तसङ्गः परिव्रजेत्' इति च । छिन्नद्वैधास्त एवायतात्मानः दीर्घमनसः, सर्वज्ञा इत्यर्थः । तत एव छिन्नद्वैधाः । तच्चोक्तम्— 'क्षीणपापा महाज्ञाना जायन्ते गतसंशयाः' इति । 'छिन्नद्वैधा यतात्मानः' इति वा ॥ २५ ॥**

६ अ. प्र. दी.— उत्तरश्लोके ज्ञानिनो ब्रह्मप्राप्तिः पुनः किमर्थमुच्यते ? इत्यत आह— **पापे**ति । ब्रह्मभूतत्वेन सहास्य समुच्चयार्थश्चशब्दः । एतदुक्तलक्षणं ज्ञानम् । अतो लभन्त इत्यस्योपलभन्त इत्यर्थः । कथं तर्हि ज्ञानिलक्षणप्रपञ्चार्थत्वं श्लोकत्रयस्योक्तं ? इति । उच्यते— ज्ञानप्रतिबन्धकपापक्षयाख्यमसाधारणं कारणं कार्यस्य लक्षणं भवत्येवेति । अत्र कार्यकारणभावो न प्रतीयत इत्यत आह— **क्षीणे**ति । भवन्ति ततो ब्रह्मोपलभन्त इत्यर्थः । छिन्नद्वैधशब्दार्थं ज्ञापयन् द्वैधशब्दं व्याचष्टे— **द्वैधे**ति । विषयापेक्षयाऽन्यप्रकारत्वं, अयथार्थत्वमिति यावत् । तेन च तद्वज्ज्ञानमुपलक्ष्यत इति भावेनाह— **संशय** इति । वाशब्दश्चार्थे । अत्रैव प्रमाणमाह— **तच्चे**ति । अकृतात्मनामशुद्धबुद्धीनाम् । छिन्नेत्यादेः समासत्वमभिप्रेत्य विग्रहमाह— **छिन्ने**ति । आयतशब्दस्य आत्मशब्दस्य चानेकार्थत्वात् आयतात्मान इत्येतद्व्याचष्टे— **दीर्घे**ति । अणुनो मनसः कथं दीर्घत्वमित्यत आह— **सर्वज्ञा** इति । बहुविषयत्वमुपलक्ष्यत इति भावः । श्रवणादिना विदितवेद्या इत्यर्थः । समासेनोक्तयोरप्यर्थयोर्बुद्ध्या विविक्तयोर्हेतुहेतुमद्भावोऽस्तीति भावेनाह— **तत एवे**ति । आयतात्मत्वादेव क्षीणकल्मषत्वायतात्मत्वछिन्नद्वैधत्वानां हेतुहेतुमद्भावे प्रमाणमाह— **तच्चे**ति । व्यस्ते एवैते पदे इत्याह— **छिन्ने**ति; नियतमनस इत्यर्थः ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्च—लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षमृषयः सम्यग्दर्शिनः सन्न्यासिनः । क्षीणकल्मषाः क्षीणपापादिदोषाः, छिन्नद्वैधाश्छिन्नसंशयाः, यतात्मानः संयतेन्द्रियाः, सर्वभूतहिते रताः सर्वेषां भूतानां हित आनुकूल्ये रताः, अहिंसका इत्यर्थः ॥ २५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं स्थितप्रज्ञस्य लक्षणान्युक्त्वा सम्प्रति ज्ञानसाधनान्याह— **लभन्त** इति । ऋषयः तत्त्वदर्शिनः ब्रह्मनिर्वाणं लभन्ते । 'ऋषी तत्त्वार्थदर्शने' इति धातुः । तत्त्वदर्शने हेतवः क्षीणकल्मषा इत्यादिनोच्यन्ते । छिन्नद्वैधाः छिन्नसंशयाः, संयतात्मानो जितेन्द्रियाः, सर्वभूतहिते रताः अहिंसकाः । श्रवणादिसाधनानां 'स्थिरबुद्धिरसम्मूढो ब्रह्मवित्' [ ५ । २० ] इत्यनेनैवोक्तत्वादत्र यथाश्रुतमेव व्याख्यातम् ॥ २५ ॥

९ व० त० दी०— तत्र सतामाचरणं प्रमाणयति— लभन्त इति । ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः सर्वज्ञा भूत्वा छिन्नसंशया यतात्मानो ब्रह्मानन्दं लभन्ते ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— ननु लीलात्मकता ऋषीणामपि दुर्लभा कथं केवलभाववतामेव सिद्ध्येत् ? इत्यत आह— **लभन्त** इति । क्षीणकल्मषा भगवल्लीलानुभवफलेतरफलानभिलाषिण ऋषयः फलदर्शिनोऽग्निकुमारादितुल्याः ब्रह्मनिर्वाणं लीलात्मकत्वं लभन्ते । कीदृशाः ? छिन्नद्वैधाश्छिन्नसंशयाः एतत्फलेतरफलाज्ञानिनः । पुनः कीदृशाः ? यतात्मानः केवलं भगवदर्थैकनिष्ठात्मवन्तः । पुनः कीदृशाः ? सर्वभूतहिते भगवति रता अनुरागिणो ये ते लीलात्मकतां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । यद्वा भिन्नतया सर्व एव लभन्ते ऋषयः; तत्र निदर्शनमग्निकुमाराः । छिन्नद्वैधाः श्रुतयो गोपीरूपाः । यतात्मानो वृन्दावने पक्ष्यादिरूपा मुनयः । सर्वभूतहिते रताः पुलिन्द्यः । एवं भाववन्तः सर्वेऽपि लभन्त इति भावः ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— लभन्त इति । ऋषयः सम्यग्दर्शिनः, छिन्नद्वैधाश्छिन्नसंशयाः, यतात्मानो जितचित्ताः ॥ २५ ॥

मोक्षार्थिभिः कामक्रोधरहितैः संयतचित्तैश्च भाव्यमित्युपदेशः ।

**कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।**
**अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥ २६ ॥**

रामानुजीयः पाठस्तु ' विजितात्मनाम् ' इति ।

**१ शां. भा.**— किञ्च- कामक्रोधवियुक्तानां, कामश्च क्रोधश्च कामक्रोधौ ताभ्यां वियुक्तानां, यतीनां सन्न्यासिनां यतचेतसां संयतान्तःकरणानामभित उभयतो जीवतां मृतानां च ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्तते; विदितात्मनां विदितो ज्ञात आत्मा येषां ते विदितात्मानस्तेषां विदितात्मनां सम्यग्दर्शिनामित्यर्थः ॥ २६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— पूर्वं कामक्रोधयोर्वेगः सोढव्यो दर्शितः, सम्प्रति तावेव त्याज्यावित्याह— **किञ्चेति** । ननु दर्शितविशेषणवतां मृतानामेव मोक्षः, न तु जीवतामिति चेन्नेत्याह— **अभित** इति । अस्मदादीनामपि तर्हि प्रभूतकामादिप्रभावविधुराणां किमिति मोक्षो न भवति ? इत्याशङ्क्य सम्यग्दर्शनवैशेष्याभावादित्याह— **विदितेति** । उक्तेऽर्थे श्लोकाक्षराणामन्वयमाचष्टे— **कामक्रोधेत्यादिना** ॥ २६ ॥

**३ रा. भा.**— उक्तलक्षणानां ब्रह्मात्यन्तसुलभमित्याह- कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतनशीलानां यतचेतसां नियमितमनसां विजितात्मनां विजितमनसां ब्रह्मनिर्वाणमभितो वर्तते, एवम्भूतानां हस्तस्थं ब्रह्मनिर्वाणमित्यर्थः ॥ २६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं षड्भिः श्लोकैः समदर्शित्वसाधककर्मानुष्ठानप्रकारमुपदिश्य तत्र शीघ्रप्रवृत्तिसिद्ध्यर्थं फलस्याविलम्बितत्वमनन्तरमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **उक्तलक्षणानामिति** । कामक्रोधवियुक्ततोक्तिः 'शक्नोति' [ ५।२३ ] इति श्लोकार्थानुवादः । क्रोधनिवृत्त्यैव सर्वभूतहितेरतत्वमिति सूचितम् । 'यतीनाम्' इत्यत्र रूढेरयुक्तत्वात् प्रकृतिप्रत्ययार्थवैशद्याय **यतनशीलानामित्युक्तम्** । तेन ' न प्रहृष्येत् ' इति श्लोकद्वयार्थोऽनुदितः । ' यतचेतसां' इत्येतदात्मन्येव सर्वाकारकल्पनानुवाद इति दर्शयितुं ' नियमितमनसां' इत्युक्तम् । 'विजितात्मनां' इत्यनेन दोषप्रदर्शनेनान्तःकरणावर्जनपरस्य ' ये हि ' [ ५। २२ ] इति श्लोकस्यार्थः सूचित इति प्रदर्शनाय **विजितमनसामित्युक्तम्** । एवं पुनरुक्तिपरिहाराज्ञानात्'विदितात्मनां' इति परैः पठितम् । 'अभितो...वर्तते' इत्यत्यन्तासन्नकालत्वं विवक्षितमिति दर्शयति— **एवम्भूतानामिति** । **हस्तस्थं**, न तु हस्तोद्धृतदण्डादिग्राह्यफलादिवद्व्यवहितलाभमिति भावः ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.**— सुलभं च तेषां ब्रह्मेत्याह- कामक्रोधेति । अभितः सर्वतः ॥ २६ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— यतीनां सर्वं ब्रह्मतयैव प्रतीयत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह— **सुलभं चेति** । न केवलं उक्तलक्षणा इति चार्थः । इदं चासाधारणधर्मत्वात् ज्ञानिलक्षणं भवत्येव । सौलभ्यवाचि किमप्यत्र न प्रतीयत इत्यतस्तदुपादाय व्याचष्टे— **अभित** इति; सर्वदेशकालेष्वित्यर्थः ॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.**— कामक्रोधवियुक्तानां, कामश्च क्रोधश्च तौ कामक्रोधौ ताभ्यां वियुक्तानाम् , यतचेतसां संयतान्तःकरणानाम्, अभित उभयतो जीवतां मृतानां च ब्रह्मनिर्वाणं मोक्षो वर्तते । विदितात्मनां विदितो ज्ञात आत्मा येषां ते विदितात्मानस्तेषां सम्यग्दर्शिनामित्यर्थः ॥ २६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— अध्यायार्थमुपसंहरति— **कामेति** । **कामक्रोधवियुक्तानामित्यनेन** 'यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति'[५।३] इति प्रागुक्तो निष्कामकर्मयोगः प्रदर्शितः । 'यतचेतसाम्' इत्यनेन तत्फलमन्तःकरणशुद्धिरुक्ता । ततो यतीनामिति तत्फलभूतः सन्न्यासः । ' विदितात्मनां ' इत्यनेन तत्फलं ज्ञानम् । तदनेन कर्मज्ञानयोरङ्गाङ्गिभावेन क्रमसमुच्चयप्रतिपादनरूपोऽध्यायार्थं उपसंहृतो भवति । 'अभितो ब्रह्मनिर्वाणं' इत्यनेन ज्ञाननिष्ठाफलमुक्तम् । अभितः उभयतो जीवतां मृतानां च जीवन्मुक्तिविदेहमुक्तिरूपं निर्वाणं वर्तत इत्यर्थः ॥ २६ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च- कामक्रोधवियुक्तानामिति । अभित उभयतः मृतानां जीवतां, न देहान्तर एव तेषां ब्रह्मानन्दः, अपितु जीवतामपि वर्त्तते इत्यर्थः ॥ २६ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च कामक्रोधवियुक्तानां पूर्वोक्तप्रकारेण कामक्रोधरहितानां यतीनां परमहंसानां भगवदर्थं सर्वपरित्यागेन स्थितानां वृन्दावनीयवृक्षादिवत् यतचेतसां भगवत्स्वरूपानुभवैकपरचित्तानां विदितात्मनां भगवत्स्वरूपज्ञानिनां अभितः सर्वजन्मसु सर्वदिक्षु वा ब्रह्मनिर्वाणं लीलात्मकत्वं वर्त्तते, अनुवर्तत इत्यर्थः। यथा वृन्दावने वृक्षेषु तन्मूलेषु परितश्च क्रीडति तथेति भावः ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०—किञ्च—कामेति। अभितो जीवतां मृतानां च। विदितात्मनां ज्ञातात्मतत्त्वानाम् ॥२६॥

सम्यग्दर्शनान्तरङ्गभूतस्य वक्ष्यमाणध्यानयोगस्य सङ्क्षेपेणोपक्रमः ।

**स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ।**
**प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ[1] ॥ २७ ॥**
**यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।**
**विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥**

**१ शां. भा.**— सम्यग्दर्शननिष्ठानां सन्न्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता कर्मयोगश्च ईश्वरार्पितसर्वभावेनेश्वरे ब्रह्मण्याधाय क्रियमाणः सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिसर्वकर्मसन्न्यासक्रमेण मोक्षायेति भगवान्पदे पदेऽब्रवीद्वक्ष्यति च । अथेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं विस्तरेण वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्थानीयाञ्श्लोकानुपदिशति स्म—स्पर्शान् शब्दादीन्कृत्वा बहिर्बाह्यान् श्रोत्रादिद्वारेणान्तर्बुद्धौ प्रवेशिताः शब्दादयो विषयास्तानचिन्तयतो बाह्या बहिरेव कृता भवन्ति। तानेवं बहिः कृत्वा चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः, कृत्वेत्यनुषज्यते । तथा प्राणापानौ नासाभ्यन्तरचारिणौ समौ कृत्वा ॥ २७ ॥

यतेन्द्रिय इति । यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्यतानि संयतानीन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च यस्य स यतेन्द्रियमनोबुद्धिः, मननान्मुनिः सन्न्यासी, मोक्षपरायण एवं देहसंस्थानो मोक्षपरायणो मोक्ष एव परमयनं परा गतिर्यस्य सोऽयं मोक्षपरायणो मुनिर्भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोधः, इच्छा च भयं च क्रोधश्चेच्छाभयक्रोधास्ते विगता यस्मात्स विगतेच्छाभयक्रोधः । य एवं वर्तते सदा सन्न्यासी मुक्त एव सः, न तस्य मोक्षोऽन्यः कर्तव्योऽस्ति ॥ २८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— वृत्तमनूद्योत्तरश्लोकत्रयस्य तात्पर्यार्थमाह— **सम्यग्दर्शने**ति । **ईश्वरार्पितसर्वभावेने**ति; भगवति परस्मिन्नीश्वरे समर्पितः सर्वेषां देहेन्द्रियमनसां भावश्चेष्टाविशेषः- न क्वचिदपि बहिस्तेषां व्यापारः- तेनेत्यर्थः । कर्मयोगस्य तत्फलस्य चाभिधानानन्तरमित्यथशब्दार्थः । स्वतो बाह्यानां विषयाणां कुतो बहिष्करणं ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**श्रोत्रा**दीति । तेषां बहिष्करणं कीदृक् ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**तानि**ति ॥ २७ ॥

विषयप्रावण्यं परित्यज्य चक्षुरपि भ्रुवोर्मध्ये विक्षेपपरिहारार्थं कृत्वा प्राणापानौ च नासाभ्यन्तरचरणशीलौ समौ न्यूनाधिकवर्जितौ कुम्भकेन निरुद्धौ कृत्वा करणानि सर्वाण्येवं संयम्य प्राणायामपरो भूत्वा किं कुर्यादित्यपेक्षायामाह— **यतेन्द्रिये**ति। इन्द्रियादिसंयमं कृत्वा मोक्षमेवापेक्षमाणो मननशीलः स्यादित्यर्थः । ज्ञानातिशयनिष्ठस्य सर्वदेच्छादिशून्यस्य सन्न्यासिनो मुक्तेरनायाससिद्धत्वान्न तस्य किञ्चिदपि कर्तव्यमस्तीत्याह— **विगते**ति । पूर्वार्धाक्षराणि व्याकरोति— **यतेत्या**दिना । द्वितीयार्धाक्षराणि व्याचष्टे— **विगतेत्या**दिना ॥ २८ ॥

---

१ — बाह्यस्पर्शान् बहिः कृत्वाऽनङ्गीकृत्य, भ्रुवोर्वामदक्षिणदृष्ट्योः क्रोधरागात्मिकयोरन्तरे तद्रहिते स्थानविशेषे चक्षुरुपलक्षितानि सर्वेन्द्रियाणि विधाय , प्राणापानौ धर्माधर्मौ चित्तवृत्त्यभ्यन्तरे साम्येनावस्थाप्यासीत । नसते कौटिल्येनासाम्येन क्रोधादिवशाद्व्यवहरतीति नासा चित्तवृत्तिः । एतदेव बाह्ये। इत्यभिनवगुप्तपादा व्याचक्रुः । नव्यास्तु— 'बाह्यान् स्पर्शान् बाह्यपदार्थैरिन्द्रियाणां सुखदुःखदसंयोगान्' इति व्याचक्षते, तत्र किं केन सङ्गतमिति त एव जानन्ति । — **अविगीता** ।

३ रा. भा.— उक्तं कर्मयोगं स्वलक्ष्यभूतयोगशिरस्कमुपसंहरति– बाह्यान् विषयस्पर्शान् बहिः कृत्वा बाह्येन्द्रियव्यापारं सर्वमुपसंहृत्य योगयोग्यासने ऋजुकाय उपविश्य चक्षुषी भ्रुवोरन्तरे नासाग्रे विन्यस्य नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ समौ कृत्वा उच्छ्वासनिश्श्वासौ समगती कृत्वा आत्मावलोकनादन्यत्र प्रवृत्त्यनर्हेन्द्रियमनोबुद्धिः तत एव विगतेच्छाभयक्रोधो मोक्षपरायणो मोक्षैकप्रयोजनो मुनिः आत्मावलोकनशीलो यः, सदा मुक्त एव सः, साध्यदशायामिव साधनदशायामपि मुक्त एव स इत्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

४ वे. ता. चं.— 'ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्षे सुसंस्कृते । आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते ' [गी.सं. २] इति सङ्ग्रहमनुसन्दधान उत्तरश्लोकानां सङ्गतिमाह— उक्तं कर्मयोगमिति । स्पर्शशब्दस्यात्रानुभवपरस्यानुभाव्यार्थज्ञापनाय विषयस्पर्शानित्युक्तम् । फलितमाह– बाह्येन्द्रियव्यापारं सर्वमुपसंहृत्येति । 'उपविश्यासने' [६।१२] इत्यादिवक्ष्यमाणानुसन्धानेन योगयोग्येत्याद्युक्तम् । 'चक्षुः' इत्येकवचनं करणाकारैक्यादिति दर्शयितुं चक्षुषी इत्युक्तम् । 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं' [६।१३] इति वक्ष्यमाणेन 'नासाग्रन्यस्तलोचनः' इत्यादिप्रकरणान्तरोक्त्या च 'भ्रुवोरन्तरे कृत्वा' इत्यस्यैकार्थ्यमाह नासाग्र इति । नासाभ्यन्तरसञ्चारमात्रस्य स्वतस्सिद्धस्य विधेयत्वायोगात्, 'समौ कृत्वा' इत्येतदेव विधेयमिति दर्शयितुं नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावित्यनुवादः । अपानस्य नासाभ्यन्तरसञ्चारव्यञ्जनाय उच्छ्वासनिश्श्वासावित्युक्तम् । एक एव हि वायुर्नासापुटेन निष्क्रामन् प्रविशंश्च प्राणोऽपान इति चोच्यते । वृत्तिस्थानादिसाम्यायोगात्तद्गतिसाम्योक्तिः । न दीर्घमुच्छ्वसन्नापि निश्श्वसन्नित्यर्थः । साक्षात्कारात्यन्ताव्यवहितपूर्वावस्थाविषयत्वायतशब्दस्य प्रवृत्त्यनर्हेत्यर्थ उक्तः । 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इत्यत्र प्रवृत्तिनिवारणम् ; 'यतेन्द्रियः' इत्यादौ तु तत्फलभूता प्रवृत्त्यनर्हतेत्यपुनरुक्तिरिति भावः । ज्ञानार्थधातौ निष्पन्नस्य मुनिशब्दस्य योगावस्थायां आत्मसाक्षात्काररूपज्ञानविशेषे तात्पर्यमाह आत्मावलोकनशील इति । अत्र वाचंयमत्वादप्यन्तरङ्गभूतोऽयमर्थ इति भावः । सदाशब्दाभिप्रेतं व्यनक्ति साध्यदशायामिवेति । मुक्त एव, मुक्तप्राय इत्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

५ आ. मा. भा.— ध्यानप्रकारमाह— स्पर्शानित्यादिना । बाह्यान्स्पर्शान्बहिः कृत्वा श्रोत्रादीनि योगेन नियम्येत्यर्थः । चक्षुर्भ्रुवोरन्तरं कृत्वा भ्रुवोर्मध्यमवलोकयन्नित्यर्थः । उक्तं च– 'नासाग्रे वा भ्रुवोर्मध्ये ध्यानी चक्षुर्निधापयेत्' इति । प्राणापानौ समौ कृत्वा कुम्भके स्थित्वेत्यर्थः ॥ २७॥२८ ॥

६ ज. प्र. दी.—ध्यायिनां मुक्तत्वं साक्षाच्चेत्प्रमाणविरोधः, ज्ञानद्वारा चेत्पुनरुक्तिरित्यतः श्लोकद्वयतात्पर्यमाह– ध्यानेति । मुक्त एव स इति स्तुतिरिति भावः । पदानां व्यवहितत्वादन्वयमाह– बाह्यानिति । स्पृश्यन्त इति स्पर्शाः शब्दाद्याः । स्पर्शा बाह्या एव तेषां किं बहिष्करणं ? इत्यत आह—श्रोत्रादीनीति । योगेन प्रत्याहारेण श्रोत्रादीनामनियमे पटुम्भ्यासादरप्रत्ययवशाच्छब्दाद्या आन्तरा इव भवन्ति । तन्नियमे तु बाह्या बहिष्कृताः स्युरिति भावः । कृत्वेत्यस्यानुवृत्त्या योजयति— चक्षुरिति । दुर्घटमेतदित्यत आह–भ्रुवोरिति । चक्षुर्वृत्तौ चक्षुश्शब्द इत्यर्थः । 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं' [६।१३] इति वक्ष्यमाणविरोध इत्यत आह—उक्तं चेति । न्यूनाधिकभावराहित्यं समीकरणमित्यन्यथाप्रतीतिनिरासायानूद्य व्याचष्टे—प्राणेति । कुम्भके प्राणायामे ततश्च समौ निर्विकारौ निश्चलावित्यर्थः । इतरस्समीकरणं कुम्भकार्थमेवेति भावः ॥ २७ ॥ २८ ॥

७ ह. पै. भा.— सम्यग्दर्शिनां सन्न्यासिनां सद्योमुक्तिरुक्ता, कर्मयोगश्चेश्वरार्पितसर्वभावेनेश्वरे ब्रह्मण्याधाय क्रियमाणः सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण सर्वकर्मसन्न्यासक्रमेण मोक्षायेति भगवान्पदे पदेऽब्रवीद्वक्ष्यति च । अथेदानीं सम्यग्दर्शनान्तरङ्गं ध्यानयोगं विस्तरेण वक्ष्यामीति तत्र सूत्रस्थानीयान् श्लोकानुपदिशति-स्पर्शानिति । स्पर्शान् शब्दादीन्कृत्वा बहिर्बाह्याञ्छ्रोत्रादिद्वारेणान्तरे बुद्धौ प्रवेशिताः शब्दादयो विषयास्तानचिन्तयतो बाह्या बहिरेव कृता भवन्ति । तानेवं बहिः कृत्वा चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः कृत्वेत्यनुषज्यते ॥ २७ ॥ यतेन्द्रियमनोबुद्धिः, यतानीन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च यस्य स यतेन्द्रियमनोबुद्धिः । मननान्मुनिः सन्न्यासी । मोक्षपरायणो मोक्ष एव परमयनं परा गतिर्यस्य स मोक्षपरायणो मुनिर्भवेत् । विगतेच्छाभयक्रोधः, इच्छा च भयं च क्रोधश्चेच्छाभयक्रोधाः, विगता इच्छाभयक्रोधा यस्य सः । य एवं वर्तते सन्न्यासी स सदा मुक्त एव । न तस्य मोक्षादन्यः कर्तव्योऽस्ति ॥ २८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथेदानीं ज्ञानसाधनं ध्यानयोगमुत्तराध्याये निरूपयिष्यन्नुपक्षिपति द्वाभ्याम्— स्पर्शानिति । बाह्या एव शब्दादयः स्पर्शाः, ते तु रागवशाच्छ्रोत्रादिद्वारा तत्तदाकारवृत्तिभिरन्तः प्रविशन्ति, तेषां वैराग्येण बहिर्निर्यातनं बहिष्कारः । अनेन योगाभ्यासेन प्रथमकारणं वैराग्यमुक्तम् । एवं स्पर्शान्बहिष्कृत्वा योगियोग्यासने ऋजुकाय उपविश्य चक्षुषी भ्रुवोरन्तरे, कृत्वेत्यनुषङ्गः । अत्यन्तं नेत्रयोर्निमीलने निद्रया मनो लीयेत, उन्मीलने च बहिः प्रसारणाद्विक्षेपः स्यात् । तदुभयदोषपरिहारायार्धनिमीलनेन नासाग्रे दृष्टिं विन्यस्य, तथा उच्छ्वासनिश्वासरूपेण नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानौ कुम्भकेनोर्ध्वाधोगतिनिरोधात् समौ कृत्वा । यद्वा प्राणो यथा बहिर्निर्याति यथा चापानोऽन्तर्न प्रविशति किन्तु नासामध्य एव द्वावपि यथा चरतः, तथा मन्दाभ्यामुच्छ्वासनिश्वासाभ्यां समौ कृत्वा । अनेनोपायेन यताः संयता इन्द्रियमनोबुद्धयो यस्य स तथा मोक्षपरायणः सर्वविषयविरक्तः, अत एव विगतेच्छाभयक्रोधः 'वीतरागभयक्रोधः' [२।५६] इत्यत्र व्याख्यातः । एवम्भूतो यो मुनिर्योगी स सर्वदा मुक्त एव । नास्य मोक्षार्थं किञ्चित् कर्तव्यमवशिष्यत इत्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०—'स योगी ब्रह्मनिर्वाणं'[५।२४] इत्यादौ प्रोक्तं तमेव योगं समासेन दर्शयन्नाह द्वाभ्याम्—स्पर्शानिति । 'ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम् । बहुजन्मविपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम् ॥ योगेन तु निषिद्धेन यदि देहः प्रसिद्धयति । तदा कल्पान्तपर्यन्तं भावनातस्तु तत्फलम् ' ॥ इति निबन्धे ईश्वरालम्बनस्यैव योगस्य भक्तिजनकत्वमिति । योगेश्वरालम्बनतायाः स्वरूपमाह—स्पर्शाः बाह्याः रूपरसादयो विषयाश्चिन्तिता एवान्तः प्रविशन्ति तांस्तच्चिन्तात्यागेन बहिरेव कृत्वा, ज्ञानप्रधानं चक्षुश्च भ्रुवोरन्तरे कृत्वा; अर्द्धोन्मीलितलोचनेन मन एकाग्रं कृत्वेत्यर्थः । तथोर्द्ध्वाधोगतिकौ प्राणापानौ च समौ कृत्वा कुम्भयित्वा प्राणायामाभिनयेन तदाह नासाभ्यन्तरचारिणाविति । एतेनोपायेन यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्योगफलं, न तत्र सिद्धिकामः स्यात् ;किन्तु मोक्षपरायणः मोक्षार्थं पर ईश्वरस्तदालम्बनो यः स सदा प्रपञ्च एवमुक्त एव, जीवन्मुक्त इत्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— ननु स्पर्शभावरूपा स्थितिरतिकठिना, अतः स्पर्शसंयोगेऽपि या प्राप्तिः स्यात् स्पर्शजबन्धाभावे न तथा भवेदित्यभिप्रायेणाह—स्पर्शानिति द्वयेन । बहिर्बाह्यान् स्पर्शान् कृत्वा बाह्याँल्लौकिकान् स्पर्शानिन्द्रियादिविषयभोगान् बहिः तेषूत्तमाद्यभावेन प्रारब्धकर्मभोगवत् । किञ्च पुनर्भ्रुवोः कालयमरूपयोरन्तरैव चक्षुः दृष्टिं कृत्वा कालयममध्ये मरणरूपोऽस्मीति दृष्ट्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ प्राणापानावूर्ध्वाधोगतिरूपौ संयोगविप्रयोगसुखानुभवाविव समौ कृत्वा मोक्षपरायणः विषयादित्यागपरो विगतेच्छाभयक्रोधो भूत्वा यतेन्द्रियमनोबुद्धिः सन् यः सदा मुनिर्मननशीलो भवति स स्पर्शादिभिर्मुक्त एव स्यादित्यर्थः ॥ २७ ॥ २८ ॥

११ नी०भा० दी०— एवं सम्यग्दर्शननिष्ठानां सद्यो मुक्तिरुक्ता, कर्मयोगश्च सङ्गफलत्यागेन ईश्वरप्रीत्यर्थमनुष्ठितः सत्त्वशुद्धिज्ञानप्राप्तिद्वारेण मोक्षाय भवतीत्यप्युक्तम्; अथेदानीं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गसाधनं ध्यानयोगं विस्तरेण वक्ष्यामीति तत्सूत्रभूतांस्त्रीन् श्लोकानुपदिशति— स्पर्शानिति । अत्रोत्तरार्धेन प्राणायाम उक्तः । 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इति प्रत्याहार उक्तः । 'भ्रुवोरन्तरे चक्षुः कृत्वा' इति धारणा उक्ता । 'विगतेच्छाभयक्रोधः' [ ५।२८ ] इति साधनभूताः फलभूताश्च द्विविधा यमा नियमाश्चोक्ताः । 'यतेन्द्रियः' इति वितर्काख्यः सम्प्रज्ञातः, 'यतमनाः' इति विचाराख्यः, 'यतबुद्धिः' इत्यानन्दास्मिताख्यौ, 'मोक्षपरायणः' इत्यसम्प्रज्ञात उक्तः, शेषेण योगफलमिति विभागः ।

पाठक्रममननुरुध्यार्थक्रमेणाक्षरार्थः स्पष्टीक्रियते— तत्र विगतेच्छो विगतभयो विगतक्रोध इति सम्बन्धः । यो हि इच्छावान् स इष्टसिद्ध्यर्थं हिंसानृतस्तेयस्त्रीपरिग्रहानिच्छेदतो विगतेच्छापदेन तद्विपर्ययान् 'अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः'[पा.यो.२।३०]इति सूत्रोक्तान्यमान् लक्षयति । तथा भयं स्वोच्छेदशङ्का, तया ह्युद्विग्नो न 'शौचसन्तोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः,'[पा.यो.२।३२] सूत्रोक्तान्नियमान् स्वीकर्तुमिच्छेदतः 'विगतभयः' इत्यनेन तेषां ग्रहणम् । तथा क्रोधाक्रान्तो मैत्र्यादीन् भावयितुमशक्तश्चित्तप्रसादनं कर्तुं न शक्नोति । तच्च 'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्' [पा यो. १।३३] इति सूत्रितम् । तत्र विगतक्रोधः शान्तप्रकृतित्वात्सुखितेषु मैत्री परस्येष्टेन ममैवेष्टमिदं जातं इति भावयेत् । तथा दुःखितेषु करुणां पुण्यवत्सु मुदितः पापवत्सूपेक्षां च भावयेत् । न चैतेन प्रसादनेन विना चित्तादर्शस्य नैर्मल्यं भवति । एवं साधनावस्थायां यमनियमचित्तप्रसादनानां सिद्ध्यर्थं विगतेच्छाभयक्रोधत्वमीप्सितम् । एवं फलावस्थायामपि तदीप्सितम् । तथाहि सम्प्रज्ञातसमाधिफलभूतायां मधुमत्यां योगभूमौ स्थितं योगिनं प्रति दिव्याः कामा उपतिष्ठन्ते; तत्रापि विगतेच्छत्व-

मिष्टम्। तथा हि 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' [पा.यो. ३।५१] इति सूत्रम्। स्थानिनो देवास्तैरुपनिमन्त्रणे 'इहास्यतां, इमे रम्यावसथाः, इमा रम्या रामाः, इमानि जरामरणहराणि रसायनानि, इमे वयं किङ्कराः,स्वपुण्यार्जितमिदं स्थानं त्वया भुज्यताम्' इति प्रार्थनायां क्रियमाणायां सङ्गो लिप्सा तत्र न कर्त्तव्या, नापि तल्लाभेनात्मनो महाभागत्वं देवप्रार्थ्यत्वं मत्वा गर्वोऽपि कर्त्तव्यस्तयोः सङ्गस्मययोर्भ्रंशहेतुत्वादिति सूत्रार्थः। तथा भयमपि द्विविधं योगान्तरायजं वितर्कजं च। तत्राद्यं— 'व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः। दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः' [पा.यो. १।३०;३१] इति सूत्राभ्यामुक्तम्। स्त्यानमकर्मण्यता, अविरतिर्वैराग्यम्, अङ्गमेजयत्वं कम्पवायुः, वितर्काहिंसादयस्तज्जं च भयं, आद्यस्य निवारणमीश्वरप्रणिधानेन। तथा च सूत्रितं 'ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽन्तरायाभावश्च' [पा. यो. १। २९.] इति तत ईश्वरप्रणिधानात्। द्वितीयस्य प्रतिपक्षभावनेन। तथा च सूत्रितम्- 'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्' [पा. यो. २। ३३] इति 'वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोह-(पूर्वका)-मूला मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्' [पा.यो. २। ३४] इति च। आदिपदादनृतस्तेयादयः। हिंसादयः प्रत्येकं कृतकारितानुमोदितभेदेन त्रिविधाः। तेऽपि प्रत्येकं लोभादिमूलकत्वेन त्रिविधाः। तेऽपि मृदुमध्यमाधिमात्रभेदेन प्रत्येकं त्रिविधाः। ते च मूलभूता वितर्कास्त्रयश्चत्वारः पञ्च अधिका वा त्रिस्त्रिगुणिता एकाशीतिरष्टोत्तरशतं पञ्चत्रिंशदधिकं शतं अधिका वा भवन्ति। शाखाप्रशाखाभेदेनानन्ताश्च। दुःखरूपं अज्ञानरूपं च अनन्तफलं येषां ते दुःखाज्ञानानन्तफला इत्यनया प्रतिपक्षभावनया ते निवर्त्तनीया इति।

एवं यमनियमचित्तप्रसादनप्रतिपक्षभावनैर्निरन्तरायं मृदुकृतचित्तो योगी विविक्ते देशे 'आसीनः सम्भवात्' [ब्र-सू. ४।१।७] इति न्यायेन स्थिरसुखमासनमभ्यासीत। तत्र देशासने श्रूयेते 'समे शुचौ शर्करवह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः। मनोनुकूले न तु चक्षुपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्' [श्वे.उ.२।१०]। "त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुद्ध्य। ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि" [श्वे.उ. २।८] इति। चक्षुरित्यत्र विसर्गलोपश्छान्दसः। त्रिरुन्नतं कटिवक्षःकन्धराप्रदेशेषून्नतम्। ततो जितासनः प्राणायाममभ्यसेत्। तत्र तेन हि मन्दगतौ प्राणे सति तदनुसारि मनोऽपि चाञ्चल्यं त्यजति। नो चेद्वायुविक्षेपेण विक्षिप्यते। तत्र प्राणजयप्रमाणम् —"प्राणान् प्रपीडयेह स युक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत" [श्वे.उ. २।९] इति।

श्रुत्युक्तमेव सङ्गृह्णाति। 'प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ' इति। प्राणापानौ समौ तुल्यौ ऊर्ध्वाधोगतिविच्छेदेन नासाभ्यन्तरचारिणौ कुम्भकेन कृत्वा ततो बाह्यान् बहिर्भवान् स्पर्शान् विषयसम्बन्धान् इन्द्रियद्वारा नित्यं अन्तर्बुद्धौ क्रियमाणान् योगीन्द्रियाणां प्रत्याहरणेन तान् बहिरेव कुर्यात्। ततो विषयेभ्यो व्यावृत्तेषु करणेषु स्वप्नकाले इवान्तर्मनोमात्रेणावतिष्ठते इत्यर्थः। इमं प्रत्याहारं कर्त्तुमशक्तस्याविरक्तस्य का गतिः? इत्यत आह—चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोरिति। चशब्दो वार्थे। चक्षुरेव वा भ्रुवोरन्तरे कुर्यात्, खेचरीं मुद्रामभ्यसेदित्यर्थः। सा चोक्ता योगसारे 'लम्बिकोर्ध्वस्थिते गर्त्ते जिह्वा व्यावृत्य धारयेत्। दृढासनश्चिरं तिष्ठेन्मुद्रैषा खेचरी मता। भ्रूमध्यदृष्टिरप्येषा महादेवेन कीर्तिता' इति। य एवं सर्वोऽपि बाह्ये विषये सूर्यादौ संयमो यथोक्तं प्रत्याहारमनुष्ठातुमशक्तान् प्रत्येवोपदिश्यत इति ज्ञेयम्॥ २७॥

यतेन्द्रियेति। यस्मिन् कस्मिंश्चित्स्थूले विषये सूर्ये तद्रश्मिषु वा विष्णुप्रतिमायां वाऽनाहतध्वनौ वाऽन्यत्र वा चक्षुराद्यन्यतमद्वारा मनो धारयेत्। तच्च मनस्तद्विषयाकारतां प्राप्तं तत्रैव स्थिराभ्यासेन विश्रान्तं स्वदेहमपि न पश्यति, सेयं महाविदेहा नाम धारणा। अस्यां सिद्धायामिन्द्रियगणः स्वं स्वं विषयं नतु गृह्णाति, सोऽयं बहिर्विषयप्रत्याहारः। पूर्वोक्तस्त्वान्तर इति भेदः। अत एव तयोस्तुल्यफलत्वं सूत्रितम्—'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्' (पा.यो. २।५२) इति, ततः अभ्यन्तरप्रत्याहारात्; तथा बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा तत्संयमात्प्रकाशावरणक्षय इति।

यदा चित्तं देहमविस्मृत्यैव हठेन पुरस्स्थितमूर्त्याद्याकारं क्रियते तदा सा चित्तस्य मूर्त्याकारतारूपा वृत्तिः कल्पिता। यदा तु निरवशेषेण देहं विस्मृत्य चेतः केवलं ध्येयाकारमात्रं भवति तदा सा महाविदेहा नाम धारणा, तस्या अपि फलं तदेव। तत्संयमात्तस्यां चेतसो निग्रहात् प्रकाशावरणक्षयो भवति, सोऽयं बाह्यविषयः समाधिः।

वितर्काख्यो द्विविधः,सवितर्कनिर्वितर्कभेदात्। तत्राद्यस्य लक्षणं सूत्रितम्—'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का' [पा.यो.१।४२] इति सवितर्का नाम समापत्तिः समाधिरित्यर्थः। यदा विष्णुप्रतिमादौ पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखेन च भावना प्रवर्त्तते तदा सवितर्का समापत्तिः। अस्मिन्नेवालम्बने पूर्वापरानुसन्धानेन शब्दार्थोल्लेखनमन्तरेण प्रवर्त्तते तदा निर्वितर्का नाम समापत्तिः। तथा च सूत्रम्—'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का'[पा.यो. १।४३]स्मृतेः शब्दार्थस्मरणस्य परिशुद्धौ वर्जने सति भावयितुः स्वरूपेण शून्या तदा 'अहमिदं भावयामि' इत्येवमाकारा वृत्तिरपि भावयितुर्नास्तीवेति भाति। यतोऽर्थमात्रनिर्भासा ध्येयार्थमात्रमस्यां भासते, न त्वन्यदिति सूत्रार्थः। अस्यां सिद्धायां योगी जितेन्द्रिय इत्युच्यते।

जितमना इति आभ्यन्तरप्रत्याहारपूर्वकं यदा मनःकल्पिते सूक्ष्मे विषये पूर्ववत् शब्दार्थोल्लेखपूर्वकं तद्वर्जं च मनसो भावना प्रवर्त्तते तदा ते उभे समापत्ती सविचारनिर्विचाराख्ये भवतः। तथा च सूत्रम् 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' [ पा.यो. १ । ४४ ] इति। अत्र सूक्ष्मविषयेति ग्रहणात्पूर्वस्यां स्थूलविषयत्वं गम्यते। एतयैव द्विविधवितर्कसमापत्त्यैव निर्विचारसमापत्तौ दृढायां योगी जितमना इत्युच्यते। यदा पुनश्चेतसो मूर्त्याकारतां परित्यज्य सत्त्वोद्रेकात् समष्टिमनोमयविषया 'अहमेवेदं सर्वोऽस्मि' इत्येवमाकारा भावना प्रवर्त्तते सोऽयं सानन्दः समाधिः। यदा तु तामपि भावनां परित्यज्य विषयवेदनमन्तरेण 'अस्मि' इत्येतावन्मात्राकारा भावना प्रवर्त्तते साऽस्मिता। अस्मिताहङ्कारयोर्भेदस्तु क्रमेण विषयवैमुख्यतदाभिमुख्यमात्रकृतः। यथैक एव पूर्वाभिमुखः पश्चिमाभिमुखश्चेति तद्वत्। अस्यामवस्थायां योगी बुद्धितो विविक्तस्य त्वम्पदार्थस्य साक्षात्कारात् जितबुद्धिरित्युच्यते तदेतदुक्तं यतेन्द्रियमनोबुद्धिरिति।

एतान्येव प्रसादनानि गुणपर्वाण्युच्यन्ते। तथा च सूत्रम्— 'विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि' [पा.यो. २।१९ ] इति। तत्र विशेषाः स्थूलभूतानि एकादशेन्द्रियाणि च। अविशेषाः पञ्चतन्मात्राणि अहङ्कारश्च। लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम्। अलिङ्गं प्रधानं, तत्र विशेषादविशेषं प्रविविक्षतो योगिनो दैनन्दिनलयाभ्यासात् समनस्कानीन्द्रियाणि लीयन्ते स लयः। बहिर्मुखान्येव वा भवन्ति स विक्षेपः। एवं अविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं विविक्षतोऽपि लयविक्षेपौ स्तः। लिङ्गमात्रात्परं पुरुषं प्रविविक्षतोऽपि तौ स्तः। तावेतौ लयविक्षेपौ हेयौ श्रूयेते। 'लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्। यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्' इति। एतेषु त्रिषु लीनेष्वाद्यः सुप्त एव। द्वितीयो विगलितदेहाहङ्कारत्वाद्विदेहसंज्ञः। तृतीयः प्रकृतिलय इति। एतयोः समाधिर्गौणः। अत एव सूत्रितम् 'भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्' [ पा. यो. १।१९ ) इति; भवप्रत्ययो जन्मान्तरहेतुरेषां समाधिर्भवति। यद्वा— जन्मान्तरे एतेषां जन्मनैव समाधिसिद्धिः पक्षिणामाकाशगमनसिद्धिवद्भवतीति सूत्रार्थः। सर्वथाऽपि तेषां सद्यो मुक्तिर्नास्तीति सिद्धम्।

यदा तु अस्मितामात्रस्यापि निर्विकल्पे चिन्मात्रे लयो भवति तदाऽयं विद्वान्कैवल्यं धर्ममेव समाध्याख्यमनुभवति, यमधिकृत्य श्रूयते "क्षणमेकं क्रतुशतस्य चतुस्सप्तत्या यत्फलं तदवाप्नोति"(अ.शि.३) इति। अयमेव मोक्षाख्यः परं अयनं प्राप्य स्थानं यस्य स मुनिर्मोक्षपरायण इत्युच्यते। यतोऽस्यामेवावस्थायां योगी जीवन्मुक्त इत्युच्यते। 'विगतेच्छाभयक्रोधः' इति पादः प्रागेव व्याख्यातः। य एवम्भूतः स सदा मुक्तः, बन्धप्रतीतिकालेऽपि स मुक्त एवास्ति अज्ञानमात्रव्यवधानान्मुक्तेः। एतेनाहङ्कारादेर्बन्धस्य कालत्रयेऽपि असत्त्वोक्त्या मिथ्यात्वं दर्शितम् ॥ २८ ॥

**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।**
**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ २९ ॥**

**इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सन्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥**

१ — भोक्तारं यज्ञतपसामित्यनेनेशतुष्टये। यज्ञैरिष्ट्वा तपस्तप्त्वा तं वेत्तीति जगौ हरिः॥ इति वामनः। अविगीता।

१ शां. भा.—एवं समाहितचित्तेन किं विज्ञेयं ? इत्युच्यते—**भोक्तारं** यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च, सर्वलोकमहेश्वरं सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं सर्वलोकमहेश्वरं, सुहृदं सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणम्। सर्वभूतानां हृदयेशयं सर्वकर्मफलाध्यक्षं सर्वप्रत्ययसाक्षिणं मां नारायणं ज्ञात्वा शान्तिं सर्वसंसारोपरतिमृच्छति प्राप्नोति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये प्रकृतिगर्भो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— अधिकारिणो यथोक्तस्य कर्तव्याभावे ज्ञातव्यमपि नास्तीत्याशङ्क्य परिहरति—**एवमित्यादिना** । प्रसिद्धं भोक्तारं व्यवच्छिनत्ति—**सर्वलोके**ति। 'ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इति न्यायेन सर्वफलदातृत्वं दर्शयति—**सुहृद**मिति । उक्तेश्वरज्ञाने फलं कथयति—**ज्ञात्वे**ति । यज्ञेषु तपस्सु च द्विधा भोक्तृत्वं व्यनक्ति — **कर्तृरूपेणे**ति । हिरण्यगर्भादिव्यवच्छेदार्थं विशिनष्टि—**महान्त**मिति । स्वपरिकरोपकारिणं राजानं व्यावर्तयति—**प्रत्युपकारे**ति । ईश्वरस्य ताटस्थ्यं व्युदस्यति—**सर्वभूताना**मिति । तर्हि तत्र तत्र व्यवस्थितकर्मतत्फलसंसर्गित्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वकर्मे**ति । न च तस्य बुद्धितद्वृत्तिसम्बन्धोऽपि वस्तुतोऽस्तीत्याह—**सर्वप्रत्यये**ति । यथोक्तेश्वरपरिज्ञानफलमभिदधाति— **मां नारायण**मिति । तदेवं कर्मयोगस्यामुख्यसन्न्यासापेक्षयाप्रशस्तत्वेऽपि ततो मुख्यसन्न्यासस्याऽऽधिक्यात्तद्वतो बुद्धिशुद्ध्यादियुक्तस्य कामक्रोधोद्भवं वेगमिहैव सोढुं शक्तस्य शमदमादिमतो योगाधिकृतस्य त्वम्पदार्थाभिज्ञस्य परमात्मानं प्रत्यक्त्वेन जानतो मुक्तिरिति सिद्धम् ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

३ रा. भा.—उक्तस्य नित्यनैमित्तिककर्मेतिकर्तव्यताकस्य कर्मयोगस्य योगशिरस्कस्य सुशकतामाह—**भोक्तारमिति** । यज्ञतपसां भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वभूतानां सुहृदं मां ज्ञात्वा शान्तिमृच्छति, कर्मयोगकरण एव सुखमृच्छति; सर्वलोकमहेश्वरं, सर्वेषां लोकेश्वराणामपीश्वरं "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" [ श्वे. उ. ६।७ ] इति हि श्रूयते । मां सर्वलोकमहेश्वरं सर्वसुहृदं ज्ञात्वा मदाराधनरूपः कर्मयोग इति सुखेन तत्र प्रवर्तत इत्यर्थः । सुहृदां आराधनाय हि सर्वे प्रयतन्ते २९

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये कर्मसन्न्यासयोगो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

४ वे. ता. चं.—अध्यायारम्भे 'सन्न्यासं कर्मणां कृष्ण!' [५।१]इत्यादिना वैषम्ये पृष्टे ज्ञानयोगस्य दुष्करत्वादिकं, कर्मयोगस्य सौकर्यं, शैघ्र्यं चोक्तम् ; ततश्च सेतिकर्तव्यताकसशिरस्ककर्मयोगो विशदीकृतः ; अथात्रोपसंहारेऽपि प्राक्प्रश्नोत्तरतया प्रक्रान्तसौकर्यादिकमेव प्रकारान्तरेण स्थिरीक्रियत इत्यभिप्रायेणाह—**उक्तस्ये**ति । अत्र कर्मयोगशब्देन 'दैवमेव' [ ४।२५ ] इत्याद्युक्तप्रातिस्विकप्रधानांशो गृहीतः । **नित्यनैमित्तिककर्मेतिकर्तव्यताकस्ये**त्यनेन सर्वकर्मयोगभेदनिष्ठानां ज्ञानयोगभक्तियोगनिष्ठानां चावर्जनीयः साधारणांशः । सुशकत्वमनिर्वेदेन प्रवृत्तिविषयत्वम् । शान्तिशब्दोऽत्र न भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षपरः, जीवोपासनप्रकरणत्वात् ; नापि कर्मयोगसाध्यफलपरः, ततोऽप्युपयुक्तस्य प्रसिद्धिस्वारस्यानुरोधिनः कर्माङ्गोपशमस्य वक्तुमुचितत्वात् ;'ज्ञात्वा' इत्यत्र 'अनुष्ठाय'इत्यध्याहारसापेक्षत्वप्रसङ्गात् ; अतः 'सुखं बन्धात्प्रमुच्यते' [ ५।३ ] इत्यादिनोक्तं मनःक्लेशशान्त्यादिरूपं सुखमत्र शान्तिशब्देन विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह—**कर्मयोगकरणक्षण एव सुखमृच्छती**ति । भगवत्समानाधिकरणतया सर्वलोकप्रतिसम्बन्धिकतया च महेश्वरशब्दस्यात्र न रूढिविशेषेण प्रवृत्तिरित्याह— **सर्वेषां लोकेश्वराणामपी**ति । सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरमित्येव तु समासार्थः । तत्र प्रमाणमाह—**तमीश्वराणा**मिति । श्रुतावपि महेश्वरशब्दः सप्रतिसम्बन्धिकत्वात्परमत्वविशेषणाच्च न रूढः ; तद्वदत्रापि । सर्वशब्दासङ्कोचान्महत्त्वविशेषणाच्च रुद्रादिलोकेश्वरान्तरव्यवच्छेद उक्तः । 'सर्वेश्वरेश्वरः कृष्णः' [ वि. ध. ७४।४४ ] इति हि स्मर्यते । कर्मयोगस्य दुःखरूपस्य अनुष्ठानदशायामेव कथं सुखं ? इति शङ्कां विशेषणत्रयेण व्युदस्यति **मामि**त्यादिना । महोदारसार्वभौमप्रियसखसेवायामिव कर्मयोगे सुखबुद्ध्यैव प्रवर्तत इति भावः। **मदाराधनरूपः कर्मयोग** इत्यनेन 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' इत्यस्यार्थो विवृतः । यज्ञास्तपांसि च कर्मयोगवर्गोप-

लक्षणमिति भावः। सौहार्दस्य प्रयोजनान्तरनिरपेक्षसमाराधनहेतुत्वे लोकदृष्टान्तमाह सुहृद इति । सर्वं इति न केवलं शास्त्रनिष्ठाः ; किन्तु पामरास्तिर्यञ्चोऽपि केचित् स्वेषु सौहार्दवन्तं पुरुषमिङ्गिताकारैरुपलक्ष्य तावन्मात्रेण सम्प्रीतास्तदनुवर्तनमतिप्रयत्नेन कुर्वन्तीत्यर्थः । पुरुषान्तरवदैश्वर्यमदगर्वमूलदौर्मुख्यादिवर्जनं चास्य सुहृत्त्वेन लभ्यते ॥ २९ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु भगवद्रामानुजविरचितश्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.— ध्येयमाह— भोक्तारमिति ॥ २९ ॥**

**इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**—भगवज्ज्ञानस्य शान्तिसाधनत्वं पुनः किमर्थमुच्यते ? इत्यत आह—**ध्येयमिति** । ततश्च ज्ञात्वेत्यस्य ध्यात्वेत्यर्थः। शान्तिसाधनज्ञानत्वमपि भोक्तृत्वादिवत् ध्येयविशेषणमेवेति भावः॥ २९ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादविरचितश्रीमद्भगवद्गीताभाष्यटीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.— एवं समाहितचित्तेन किञ्चिज्ज्ञेयमुच्यते— भोक्तारमिति । यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च भोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं सर्वलोकानां महान्तमीश्वरं सर्वलोकमहेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वभूतहृदयेशं सर्वकर्मफलाध्यक्षं सर्वप्रत्ययसाक्षिणं सकललोकबीजभूतं सदा शुद्धरूपमत्यन्तसुविमलं ज्योतिषां परमात्मानं नारायणं मां ज्ञात्वा शान्तिं संसारोपरतिमृच्छति प्राप्नोति ॥ २९ ॥**

**इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्याख्ये श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥**

**८ वे. ब्र. गि.**— एवं योगमुपदिश्य तत्फलमाह— भोक्तारमिति । मां ज्ञात्वा शान्तिं मोक्षं प्राप्नोतीति प्रथमं सम्बन्धः । तर्हि त्वां पश्यन्नपि नाहं मुक्तोऽस्मीत्याशङ्क्य विशिनष्टि— भोक्तारमित्यादिना । एवंरूपेणैव मम ज्ञानं मुक्तिहेतुरिति भावः। यज्ञतपसां भोक्तारम् । यो हि यस्य फलमनुभवति स तद्भोक्ता, यज्ञानां तपसां च भगवत्प्रीतिः फलम् ; ' तत्कुरुष्व मदर्पणम् ' [ ९।२७ ] इति हि वक्ष्यति । अतस्तत्प्रीत्यनुभवितृत्वात्तद्भोक्तारम् । नन्विन्द्रादयोऽपि तत्तद्यज्ञभोक्तारः; तद्वदेव किं त्वमपि कश्चिद्यज्ञभोक्ता ? नेत्याह— सर्वलोकमहेश्वरं इन्द्रादिसर्वनियन्तारम् । नन्वेतादृशपारम्यशाली कथमस्माभिः प्रीणनीयः ? तत्राह— सुहृदं सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणम् । ईदृशस्य हि प्रीणनमतिसुलभमतिसुखं च लोकानां भवति, सुहृदाराधनरूपत्वात् । एवंविधं मां ज्ञात्वा ध्यानयोगेन हृदि साक्षात्कृत्य मत्प्रसादप्राप्ततत्त्वज्ञानो मुच्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— ननु एवमिन्द्रियादिसंयममात्रेण कथं मुक्तः स्यात् ? इत्याशङ्क्य न तावन्मात्रेण, किन्तु भगवन्माहात्म्यज्ञानद्वारेणेत्याह— भोक्तारमिति । यज्ञतपसां भोक्तृत्वेन ज्ञातः कर्मकाण्डतात्पर्यभूतः सर्वलोकमहेश्वर इत्युपासनातात्पर्यभूतः सर्वभूतानामात्मा चेति ज्ञानकाण्डतात्पर्यभूत इति मां ज्ञात्वा शान्तिमुक्तां श्रोतव्यश्रुतविषयां कर्मफलान्निर्वेदरूपां प्राप्नोति ॥ २९ ॥

विकल्पकल्पनां त्यक्त्वा येनैवं साङ्ख्ययोगयोः । एकोऽर्थ उक्तः पार्थाय तं सर्वज्ञं हरिं नुमः ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— ननु कथमेतावन्मात्रेण स्पर्शादिमोक्षः स्यात् ? इत्याशङ्क्याह— भोक्तारमिति । यज्ञतपसां पुण्योपार्जिततापानां भोक्तारं तापोद्भूतरसभोक्तारं सर्वलोकमहेश्वरं स्वक्रीडार्थं जगत्कर्तारं सर्वभूतानां सुहृदं भक्तिमुक्तिस्वरूपरसादिदानेन । एतादृशं मां ज्ञात्वा लौकिकाच्छान्तिमृच्छति प्राप्नोति ॥ २९ ॥

सन्न्यासरूपकथनान्मनोवैकल्पिकं भ्रमम् । नाशयामास कौन्तेयप्रभव्याजान्नतोऽस्मि तम् ॥ ५ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायां गीतामृततरङ्गिण्यां पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं समाहितचित्तेन किं विज्ञेयं ? इत्युच्यते— भोक्तारमिति । सोपाधिकेन रूपेण यज्ञानां तपसां च कर्तृरूपेण देवतारूपेण च भोक्तारम् । तथा सर्वेषां भूतानां हिरण्यगर्भादीनामपि महान्तं व्यापकमीश्वरमीशितारमन्तर्यामिणम् । सुहृदं सर्वभूतानां प्राणिनां प्रत्युपकारनिरपेक्षतयोपकारिणं सर्वप्रत्ययसाक्षिणं नारायणं मां प्रत्यगभेदेन ज्ञात्वा साक्षात्कृत्य तद्भावं प्राप्य शान्तिमनुपाध्यवस्थां निरुपाख्यां कैवल्यसंज्ञां ऋच्छति प्राप्नोति । एवं च सोपाधिब्रह्मभावप्राप्तिपूर्वकैव निरुपाधिप्राप्तिरिति गम्यते । यथोक्तं वार्तिकसारे 'सोपाधिर्निरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते । सोपाधिकः स्यात्सर्वात्मा निरुपाख्योऽनुपाधिकः ॥ जक्षन् क्रीडन् रतिं प्राप्त इति सोपाधिकस्य तु । छान्दोग्ये सर्वकामाप्तिः सार्वात्म्यात्स्पष्टमीरिता ॥ अहमन्नं तथाऽन्नादः श्लोककार्यप्यहो अहम् । इति तत्त्वविदः सामगाने सर्वात्मता श्रुता ॥ अत्रापि चक्रदृष्टान्तात् सोपाधिस्तत्त्वविच्छ्रुतः । अपूर्वो न पराद्युक्त्या श्रोष्यते निरुपाधिकः' इति ॥ २९ ॥

इति श्रीमन्महाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये
भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशे पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः पञ्चमाध्यायस्य माहात्म्यम् ५।

श्रीभगवानुवाच—

पञ्चमस्याधुना देवि! माहात्म्यं लोकपूजितम्।
कथयामि समासेन सावधाना शृणु प्रिये॥१॥
पिङ्गलो नाम मद्रेषु पुरुकुत्सपुरे द्विजः।
अवदाते कुले जातो विश्रुते वेदवादिनाम्॥२॥
कुलोचितानि शास्त्राणि तथा वेदान्विसृज्य सः।
तौर्यत्रिके मतिं चक्रे वादयन्मुरजादिकम्॥३॥
कृतश्रमस्ततस्तत्र गीते नृत्ये च वादने।
परां प्रसिद्धिमासाद्य नृपसद्म विवेश सः॥४॥
समातस्थे स तेनासौ पुरा भूमिभुजा सह।
परदारानुपाहृत्य बुभुजेताननन्यधीः॥५॥
तत उत्सिक्तगर्वोऽयं सूचमानो निरङ्कुशः।
परच्छिद्राणि चामुष्मै विवक्ते स निरन्तरम्॥६॥
तस्याऽऽसीदरुणा नाम भार्या हीनकुलोद्भवा।
भ्रमत्यन्वेषयन्ती सा कामुकेन विहारिणी॥७॥
तमन्तरायं मन्वाना निशीथिन्यां निजालये।
निजघान शिरश्छित्वा निचखान महीतले॥८॥
वियोजितस्ततः प्राणैरुपेत्य यमसादनम्।
दुर्जयान्नरकान्भुक्त्वा गृध्रोऽभूद्विजने वने॥९॥
भगन्दरेण रोगेण साऽपि हित्वा वरां तनुम्।
उपेत्य नरकान्घोराञ्जज्ञे तत्र वने शुकी॥१०॥
कणानादातुकामां तां सञ्चरन्तीमितस्ततः।
विददार नखैस्तीक्ष्णैर्गृध्रो वैरमनुस्मरन्॥११॥
नृकपाले पयःपूर्णे निपतन्ती ततः शुकी।
अभिदुद्राव गृध्रोऽपि निजघ्ने स च जालिकैः॥१२॥
पत्नी वियोजिता प्राणैर्नृकपाले जले ततः।
तत्रैव निममज्जासावेत्य क्रूरतरः खगः॥१३॥
पितृलोकं प्रपेदाते नीतौ तौ यमकिङ्करैः।
प्राकृतं दुष्कृतं कर्म स्मरन्तौ भयभागिनौ॥१४॥
ततो यमः समालोक्य तयोः कर्म जुगुप्सितम्।
अकस्मादेव तत्स्नानान्मरणे दुष्कृतं गतम्॥१५॥
अनुजज्ञे ततो लोकमीप्सितं गन्तुमेतयोः।
महापातकसङ्घातैरपि दुर्धर्षतेजसौ॥१६॥
ततो विस्मयमापन्नौ स्मृत्वा तौ दुष्कृतं निजम्।
उपेत्य प्रणतौ भूत्वा वैवस्वतमपृच्छताम्॥१७॥

गृध्रशुक्यावूचतुः—

सञ्चितं दुष्कृतं पूर्वमावाभ्यामपि गर्हितम्।
लोकानामीप्सितानां तु को हेतुस्तद्वदस्व नौ॥१८॥

श्रीभगवानुवाच—

एवमुक्तस्ततस्ताभ्यामाह वैवस्वतो वचः॥१९॥

यम उवाच—

आसीद्गङ्गातटे नाम्ना बटुर्ब्रह्मविदुत्तमः।
एकाकी निर्ममः शान्तो वीतरागी विमत्सरः॥२०॥
गीतानां पञ्चमाध्यायमावर्तयति सर्वदा।
पापीयानपि यं श्रुत्वा बोधेद्ब्रह्म सनातनम्॥२१॥
तेन पुण्येन पूतात्मा तनुमुत्सृष्टवानसौ।
निर्मलीकृतदेहस्य गीताभिर्भावितात्मनः॥२२॥
तत्कपालजलं प्राप्य युवां यातौ पवित्रताम्।
तद्गच्छतं युवां लोकान्मनोरथपथे स्थितान्॥
गीतानां पञ्चमाध्यायमाहात्म्येन पवित्रितौ॥२३॥

श्रीभगवानुवाच—

एवं तौ बोधितौ तेन मुदितौ समवर्तिना।
व्योमयानं समारुह्य जग्मतुर्वैष्णवं पदम्॥२४॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीतापञ्चमाध्यायमाहात्म्यकथनं नाम पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः १७५॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

## श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ६ ]

**योगाभ्यासविधिर्योगी चतुर्धा योगसाधनम् ।**
**योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते ॥ १० ॥**

श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

ननु अत्र पञ्चार्थाः संगृहीताः, भाष्ये तु कथमेकः ? इत्थं— 'स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान्' [ ५।२२ ] इत्यादिना पञ्चमे प्रस्तुतो योगाभ्यासविधिरेवात्र प्रपञ्च्यत इति तत्प्रधानोऽयमध्यायः; तदनुबन्धाः प्रसङ्गादन्ये प्रतिपाद्यन्त इति । एतेनाध्यायान्तरेष्वप्यनेकानुबन्ध एकैकार्थः प्रधानतम इति सूचितम् । तद्यथा— अधिकारी, तन्मोहशमनं, कर्मयोगकर्तव्यत्वं, तदवान्तरभेदः, तदन्तर्गतज्ञानविपाकः, योगाभ्यासविधिः, प्रतिबुद्धप्राधान्यं, त्रिविधाधिकारवेद्योपायदेयविभागः, सप्रकारो भक्तियोगः, गुणविभूत्यानन्त्यम्, वैश्वरूप्यदर्शनोपायः, भक्त्यारोहक्रमः, विशुद्धक्षेत्रज्ञविज्ञानं, त्रैगुण्यविशोधनं, पुरुषोत्तमवैलक्षण्यं, शास्त्रवश्यत्वं, शास्त्रीयविवेचनं, सारोद्धारः— इति । अतोऽत्र योगाभ्यासविध्यनुबन्धत्वेन योगे चातुर्विध्यादिप्रदर्शनम् । **योगी चतुर्धा** 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' [ ६।२९ ] इत्यादिश्लोकचतुष्टयोदितसमदर्शनचातुर्विध्यात् । तत्र ह्येवं भाष्यम्— 'अथ योगविपाकदशा चतुष्प्रकारोच्यते' इति । एवं तत्र समदर्शनविपाकक्रमोऽभिप्रेतः आत्मनां ज्ञानत्वानन्दत्वादिभिरन्योन्यसाम्यदर्शनं, शुद्धावस्थायामपहतपाप्मत्वादिभिरीश्वरेण साम्यदर्शनं, परित्यक्तप्राकृतभेदानां असङ्कुचितज्ञानैकाकारतया ईश्वरेण तदपृथक्सिद्धविशेषणत्वादिभिरन्योन्यं च साम्यदर्शनम्, औपाधिकैः पुत्रादिभिरसम्बन्धसाम्यदर्शनं चेति । **योगसाधनम्**—अभ्यासवैराग्यादिकम् । **योगसिद्धिः**—योगभ्रष्टस्यापि प्रत्यवायविरहः, पुण्यलोकाद्यवाप्तिः, विच्छिन्नप्रतिसन्धानाद्यनुरूपविशिष्टकुलोत्पत्तिः, अभिक्रमनाशाभावेन क्रमाच्छेषपूरणेनापवर्गाविनाभावः—इत्येवंरूपा । **स्वयोगस्य पारम्यं** वक्तुर्भगवतो वासुदेवस्य भजनरूपो योगोऽत्र स्वयोगः; तस्य पारम्यं स्वापेक्षयोत्कृष्टराहित्यम् । एतच्च मध्यमषट्कप्रतिपाद्यमपि तत्प्रस्तावनारूपेण 'योगिनामपि सर्वेषाम्' [ ६।४७ ] इति प्रथमषट्कान्तिमश्लोकेन दर्शितम् । तथाहि तत्र भाष्यं 'तदेवं परविद्याङ्गभूतं प्रजापतिवाक्योदितं प्रत्यगात्मनो दर्शनमुक्तम्, अथ परविद्यां प्रस्तौति' [ रा. भा. ६ । ४७ ] इति ॥ १० ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

# ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ६ ।

ध्यानयोगाधिकारहेतुभूतस्य निष्कामकर्मयोगस्य प्रशंसा ।

**श्रीभगवानुवाच—अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।**
**स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥ १ ॥**

१ शाङ्करभाष्यम् ।

अतीतानन्तराध्यायान्ते ध्यानयोगस्य सम्यग्दर्शनं प्रत्यन्तरङ्गस्य सूत्रभूताः श्लोकाः 'स्पर्शान्कृत्वा बहिः' [५।२७] इत्यादय उपदिष्टाः, तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते । तत्र ध्यानयोगस्य बहिरङ्गं कर्मेति यावद्ध्यानयोगारोहणासमर्थस्तावद्गृहस्थेनाधिकृतेन कर्तव्यं कर्मेत्यतस्तत्स्तौति— अनाश्रित इति । ननु किमर्थं ध्यानयोगारोहणसीमाकरणं यावताऽनुष्ठेयमेव विहितं कर्म यावज्जीवम् ? न; 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' [ ३।३ ] इति विशेषणात्; आरूढस्य च शमेनैव सम्बन्धकरणात् । आरुरुक्षोरारूढस्य च शमः कर्म चोभयं कर्तव्यत्वेनाभिप्रेतं चेत्स्यात्तदा आरुरुक्षोः आरूढस्य च इति शमकर्मविषयभेदेन विशेषणं विभागकरणं चानर्थकं स्यात् ।

२ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

ध्यानयोगप्रस्तावानन्तरं तद्योग्यताहेतुकर्मणः स्तुतिं भगवानुक्तवानित्याह—**श्रीभगवानि**ति । पूर्वोत्तराध्याययोः सङ्गतिमभिदधानो वृत्तमनूद्याध्यायान्तरमवतारयति—**अतीते**ति । सम्यग्दर्शनप्रकरणे ध्यानयोगस्य प्रसङ्गाभावं व्युदस्यति—**सम्यगि**ति । सङ्ग्रहविवरणयोरतीतानन्तराध्याययोर्युक्तं हेतुहेतुमत्त्वमिति भावः । अध्यायसम्बन्धमभिधाय 'अनाश्रितः कर्मफलं' इत्यादिश्लोकद्वयस्य तात्पर्यमाह—**तत्रे**ति । कर्मयोगस्य सन्न्यासहेतोर्मर्यादां दर्शयितुं साङ्गं च योगं विचारयितुमध्याये प्रवृत्ते सतीति सप्तम्यर्थः । सन्न्यासिना कर्तव्यं कर्मेत्येवं प्रतिभासं व्युदस्यति—**गृहस्थेने**ति । कर्तव्यत्वं स्तुतियोग्यत्वमतश्शब्दार्थः । समुच्चयवादी सीमाकरणमाक्षिपति—**नन्वि**ति । यावज्जीवश्रुतिवशाद्ध्यानारोहणसामर्थ्ये सत्यपि कर्मानुष्ठानस्य दुर्वारत्वादिति हेतुमाह— **यावते**ति । भार्यावियोगादिप्रतिबन्धाद्यावज्जीवश्रुतिचोदितकर्माननुष्ठानवद्वैराग्यप्रतिबन्धादपि तदननुष्ठानसम्भवाद्भगवतो विशेषणवचनाच्च न यावज्जीवं कर्मानुष्ठानप्रसक्तिरिति परिहरति— **नाऽऽरुरुक्षोरि**ति । उक्तमेवार्थं व्यतिरेकद्वारेण विवृणोति— **आरुरुक्षोरित्यादिना** । आरोढुमिच्छतीत्यारुरुक्षुरित्यत्राऽऽरोहणेच्छा विशेषणमारोहणं कृतवानित्यारूढ इत्यत्र पुनरिच्छाविषयभूतमारोहणं विशेषणमेवं शमकर्मविषययोर्भेदेन विशेषणं मर्यादाकरणानङ्गीकरणे विरुद्धमापद्येत, तयोरेव विभागकरणं च भागवतं सीमानङ्गीकारे न युज्येतेत्यर्थः ।

**१ शां. भा.—तत्राऽऽश्रमिणां कश्चिद्योगमारुरुक्षुर्भवति, आरूढश्च कश्चित्; अन्ये नारुरुक्षवः, न चाऽऽरूढाः, तानपेक्ष्य 'आरुरुक्षोः आरूढस्य च' इति विशेषणं विभागकरणं चोपपद्यत एवेति चेत्, न; 'तस्यैव' इति वचनात्; पुनर्योगग्रहणाच्च 'योगारूढस्य' इति । य आसीत्पूर्वं योगमारु-**

---

१ न **निरग्नि**रिति— "अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः" (तै. सं. ५।२।९) इति श्रुतौ यथाऽन्येषां पशुत्वेऽपि पशुशब्दस्य प्रशस्तपशुलक्षणया 'अपशवः' इति नञर्थान्वयोपपत्तिः, तथा फलतृष्णादिमतोऽशुद्धचेतसो निरग्नेरक्रियस्य सन्न्यासित्वेऽपि फलतृष्णारहितत्वेन विशुद्धचित्तत्वेन यत्प्राशस्त्यं, तद्विशिष्टे सन्न्यासिपदस्य लक्षणया 'न सन्न्यासी' इत्यादि नञर्थान्वयोपपत्तिरिति मन्वानाः 'न निरग्निर्न चाक्रियः सन्न्यासी योगी चेति मन्तव्यः, किन्तु साग्निः सक्रियश्च निष्कामकर्मानुष्ठायी सन्न्यासी योगी चेति मन्तव्य इति स्तूयते' इत्याहुः ॥ 'स सन्न्यासी च योगी च' इति न कर्मयोगिनः स्तुतिः, किन्तु ध्यानाधिकारिविशेषणभूतकामादिवर्जनकर्मयोगयोरुक्तिः, इत्यन्ये । निरग्निः—अग्न्युपास्तिसहायत्वेन "योषा वाव गौतमाग्निः" (छां. ५।८।१) इति श्रुत्या च अग्निशब्दोदितभार्यापरित्यागी । अक्रियः—विहितकर्मपरित्यागी । भार्यापरित्यागमात्रेण न सन्न्यासी, क्रियापरित्यागमात्रेण च न योगी; किन्तु सभार्योऽपि सक्रियोऽपि उक्तरूपकर्मकृत् सन्न्यासी योगी च इत्यपि केचित् । —**अविगीता** ।

रुरुक्षुस्तस्यैवाऽऽरूढस्य शम एव कर्तव्यं कारणं योगफलं प्रत्युच्यत इति । अतो न यावज्जीवं कर्तव्यत्वप्राप्तिः कस्यचिदपि कर्मणः, योगविभ्रष्टवचनाच्च ।

२ आ. शां. व्या.— विशेषणविभागकरणयोरन्यथोपपत्तिमाशङ्कते— तत्रेति । व्यवहारभूमिः सप्तम्यर्थः । षष्ठी निर्धारणे । भवत्वधिकारिणां त्रैविध्यं तथापि प्रकृते विशेषणादौ किमायातं ? इत्याशङ्क्य तृतीयापेक्षया तदुपपत्तिरित्याह— तानपेक्ष्येति । आरुरुक्षोरारूढस्य च भेदे तस्यैवेति प्रकृतपरामर्शानुपपत्तिरिति दूषयति — न; तस्येति । यद्यनारुरुक्षुं पुरुषमपेक्ष्याऽऽरुरुक्षोरिति विशेषणं, तस्य च कर्मारोहणकारणमनारूढं च पुरुषमपेक्ष्याऽऽरूढस्येति विशेषणं, तस्य च शमः सन्न्यासो योगफलप्राप्तौ कारणमिति विशेषणविभागकरणयोरुपपत्तिः, तदाऽऽरुरुक्षोरारूढस्य च भिन्नत्वात्प्रकृतपरामर्शिनस्तच्छब्दस्यानुपपत्तेर्न युक्तमित्थं विशेषणाद्युपपादनमित्यर्थः । किञ्च योगमारुरुक्षोस्तदारोहणे कारणं कर्मेत्युक्त्वा, पुनर्योगारूढस्येति योगशब्दप्रयोगाद्यो योगं पूर्वमारुरुक्षुरासीत्तस्यैवापेक्षितं, योगमारूढस्य तत्फलप्राप्तौ कर्मसन्न्यासः शमशब्दवाच्यो हेतुत्वेन कर्तव्य इति वचनादारुरुक्षोरारूढस्य चाभिन्नत्वप्रत्यभिज्ञानान्न तयोर्भिन्नत्वं शङ्कितुं शक्यमित्याह— पुनरिति । यत्तु यावज्जीवश्रुतिविरोधाद्योगारोहणसीमाकरणं कर्मणोऽनुचितमिति तत्राऽऽह— अत इति । पूर्वोक्तरीत्या कर्मतत्त्यागयोर्विभागोपपत्तौ श्रुतेरन्यविषयत्वाद्योगमारूढस्य मुमुक्षोर्जिज्ञासमानस्य नित्यनैमित्तिककर्मस्वपि परित्यागसिद्धिरित्यर्थः । इतश्च यावज्जीवं कर्म कर्तव्यं न भवतीत्याह— योगेति । सन्न्यासिनो योगभ्रष्टस्य विनाशाशङ्कावचनान्न यावज्जीवं कर्म कर्तव्यं प्रतिभातीत्यर्थः ।

१ शां. भा.— गृहस्थस्य चेत्कर्मिणो योगो विहितः षष्ठेऽध्याये, स योगविभ्रष्टोऽपि कर्मगतिं कर्मफलं प्राप्नोतीति तस्य नाशाशङ्काऽनुपपन्ना स्यात् । अवश्यं हि कृतं कर्म काम्यं नित्यं वा मोक्षस्य नित्यत्वादनारभ्यत्वे स्वं फलमारभत एव । नित्यस्य च कर्मणो वेदप्रमाणावबुद्धत्वात्फलेन भवितव्यमित्यवोचाम; अन्यथा वेदस्यानर्थार्थत्वप्रसङ्गादिति ।

२ आ. शां. व्या.— ननु योगभ्रष्टशब्देन गृहस्थस्यैवाभिधानात्तस्यैवास्मिन्नध्याये योगविधानाद्योगारोहणयोग्यत्वे सत्यपि यावज्जीवं कर्म कर्तव्यमिति नेत्याह— गृहस्थस्येति । तेनापि मुमुक्षुणा कृतस्य कर्मणो मोक्षातिरिक्तफलानारम्भकत्वाद्योगभ्रष्टोऽसौ छिन्नाभ्रमिव नश्यतीति शङ्का सावकाशेत्याशङ्क्याऽऽह— अवश्यं हीति । अपौरुषेयान्निर्दोषाद्वेदात्फलदायिनी कर्मणः स्वाभाविकी शक्तिरवगता । ब्रह्मभावस्य च स्वतस्सिद्धत्वान्न कर्मफलत्वं, अतो मोक्षातिरिक्तस्यैव फलस्य कर्माऽऽरम्भकमिति कर्मिणि योगभ्रष्टेऽपि कर्मगतिं गच्छतीति निरवकाशा शङ्केत्यर्थः । ननु मुमुक्षुणा काम्यप्रतिषिद्धयोरकरणात्कृतयोश्च नित्यनैमित्तिकयोरफलत्वात्कथं तदीयस्य कर्मणो नियमेन फलारम्भकत्वं ? तत्राऽऽह— नित्यस्य चेति । चकारेण नैमित्तिकं कर्मानुकृष्यते । वेदप्रमाणकत्वेऽपि नित्यनैमित्तिकयोरफलत्वे दोषमाह— अन्यथेति । इति कर्मणोऽनुष्ठितस्य फलारम्भकत्वध्रौव्याद्गृहस्थो योगभ्रष्टोऽपि कर्मगतिं गच्छतीति न तस्य नाशाशङ्केति शेषः ।

१ शां. भा.— न च कर्मणि सत्युभयविभ्रष्टवचनमर्थवत्, कर्मणो विभ्रंशकारणानुपपत्तेः । कर्म कृतमीश्वरे सन्न्यस्येत्यतः कर्तरि कर्म फलं नाऽऽरभत इति चेत्, न; ईश्वरे सन्न्यासस्याधिकतरफलहेतुत्वोपपत्तेः । मोक्षायैवेति चेत्, स्वकर्मणां कृतानामीश्वरे न्यासो मोक्षायैव, न फलान्तराय योगसहितः योगाच्च विभ्रष्ट इत्यतस्तं प्रति नाशाशङ्का युक्तैवेति चेत्, न; 'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः' [ ६।१० ] 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' [ ६।१४ ] इति कर्मसन्न्यासविधानात् । न चात्र ध्यानकाले स्त्रीसहायत्वाशङ्का, येनैकाकित्वं विधीयते । न च गृहस्थस्य 'निराशीरपरिग्रहः' [ ६।१० ] इत्यादिवचनमनुकूलम्, उभयविभ्रष्टप्रश्नानुपपत्तेश्च । 'अनाश्रितः' इत्यनेन कर्मिण एव सन्न्यासित्वं योगित्वं चोक्तं, प्रतिषिद्धं च निरग्नेरक्रियस्य च सन्न्यासित्वं योगित्वं चेति चेत्, न; ध्यानयोगं प्रति बहिरङ्गस्य सतः कर्मणः फलाकाङ्क्षासन्न्यासस्तुतिपरत्वात् ।

२ आ. शां. व्या.— इतोऽपि गृहस्थो योगभ्रष्टशब्दवाच्यो न भवतीत्याह— न चेति । 'ज्ञानं कर्म च' इत्युभयं ततो विभ्रष्टोऽयं नश्यतीति वचनं गृहस्थे कर्मणि सति नार्थवद्भवितुमलं, तस्य कर्मनिष्ठस्य कर्मणो विभ्रंशे हेत्वभावात्तत्फलस्याऽऽवश्यकत्वादित्यर्थः । कृतस्य कर्मणो मुमुक्षुणा भगवति समर्पणात् कर्तरि फलानारम्भकत्वादस्ति विभ्रंशकारणमिति शङ्कते— कर्मेति । राजाराधनबुद्ध्या धनधान्यादिसमर्पणस्याधिकफलहेतुत्वोपलम्भादीश्वरे समर्पणे न भ्रंशकारणमिति दूषयति— नेत्यादिना । अधिकफलहेतुत्वेऽपि मोक्षहेतुत्वमिष्यतामिति शङ्कते— मोक्षायेति । तदेव चोद्यं विवृणोति— स्वक-

र्मणामिति । सहकारिसामर्थ्यात्तस्य फलान्तरं प्रत्युपायत्वासिद्धिरिति हेतुं सूचयति— **योगेति** । ध्यानसहितस्य सन्न्यासस्य मोक्षौपयिकत्वे कुतो योगभ्रष्टमधिकृत्य नाशाशङ्का ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **योगाच्चेति** । सहकार्यभावे सामग्र्याभावात्फलानुपपत्तेर्युक्ता नाशाशङ्केत्यर्थः । ध्यानसहितमीश्वरे कर्मसमर्पणं मोक्षाय इत्यत्र प्रमाणाभावाद्गृहस्थो योगभ्रष्टशब्दवाच्यो न भवतीति दूषयति— **नेति** । गृहस्थस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यत्वाभावे हेत्वन्तरमाह— **एकाकीति** । न खल्वेतानि विशेषणानि गृहस्थसमवायीनि सम्भवन्ति, तेन तस्य ध्यानयोगविध्यभावात्; न तं प्रति योगभ्रष्टशब्दवचनमुचितमित्यर्थः । एकाकित्ववचनं गृहस्थस्यापि ध्यानकाले स्त्रीसहायत्वाभावाभिप्रायेण भविष्यतीत्याशङ्क्याग्निहोत्रादिवद्ध्यानस्य पत्नीसाध्यत्वाभावादप्राप्तप्रतिषेधान्नैवमित्याह— **न चात्रेति** । विशेषणान्तरपर्यालोचनयाऽपि नायमेकाकिशब्दो गृहस्थपरो भवितुमर्हतीत्याह— **न चेति** । किञ्च गृहस्थस्यैवैकाकित्वादि विवक्षित्वा ध्यानयोगविधौ तं प्रति उभयभ्रष्टप्रश्नो नोपपद्यत इत्याह— **उभयेति** । न हि गृहस्थं प्रति उभयस्माज्ज्ञानात्कर्मणश्च विभ्रष्टत्वमुपेत्य प्रष्टुं युज्यते, तस्य ज्ञानाद्भ्रंशेऽपि कर्मणस्तदभावात्, अनुष्ठीयमानकर्मभ्रंशेऽपि प्रागनुष्ठितकर्मवशात्फलप्रतिलम्भात्, अतो यथोक्तप्रश्नालोचनया न गृहस्थं प्रति ध्यानविधानोपपत्तिरित्यर्थः । ननु भगवता सन्न्यासस्य प्रतिषिद्धत्वाद्गृहस्थस्यैव योगविधानात्तस्यैव योगभ्रष्टशब्दवाच्यत्वमिति शङ्कते— **अनाश्रित इत्यनेनेति** । भगवद्वाक्यं न प्रतिषेधपरमिति परिहरति— **न; ध्यानेति** ।

१ शां. भा.— न केवलं निरग्निरक्रिय एव सन्न्यासी योगी च; किं तर्हि कर्म्यपि कर्मफलासङ्गं सन्न्यस्य कर्मयोगमनुतिष्ठन् सत्त्वशुद्ध्यर्थं स सन्न्यासी च योगी च भवतीति स्तूयते ?। न चैकेन वाक्येन कर्मफलासङ्गसन्न्यासस्तुतिश्चतुर्थाश्रमप्रतिषेधश्चोपपद्यते । न च प्रसिद्धं निरग्नेरक्रियस्य परमार्थसन्न्यासिनः श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासयोगशास्त्रेषु विहितं सन्न्यासित्वं योगित्वं च प्रतिषेधति भगवान् । स्ववचनविरोधाच्च 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य... ...नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते' [ ५।१३ ] 'मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् । अनिकेतः स्थिरमतिः' [१२।१९] 'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः' [ २।७१ ] 'सर्वारम्भपरित्यागी' [ १२।१६ ] इति च तत्र तत्र भगवता स्ववचनानि दर्शितानि, तैर्विरुध्येत चतुर्थाश्रमप्रतिषेधः । तस्मान्मुनेर्योगमारुरुक्षोः प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्याग्निहोत्रादि कर्म फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानं ध्यानयोगारोहणसाधनत्वं सत्त्वशुद्धिद्वारेण प्रतिपद्यत इति । 'स सन्न्यासी च योगी च' इति स्तूयते- अनाश्रित इति । अनाश्रितो नाऽऽश्रितोऽनाश्रितः; किं ? कर्मफलं कर्मणः फलं कर्मफलं, यत्तदनाश्रितः; कर्मफलतृष्णारहित इत्यर्थः । यो हि कर्मफलतृष्णावान्स कर्मफलमाश्रितो भवति, अयं तु तद्विपरीतोऽतोऽनाश्रितः कर्मफलम् । एवम्भूतः सन्कार्यं कर्तव्यं नित्यं काम्यविपरीतमग्निहोत्रादिकं कर्म करोति निर्वर्तयति । यः कश्चित् ईदृशः कर्मी स कर्म्यन्तरेभ्यो विशिष्यत इत्येवमर्थमाह- स सन्न्यासी च योगी चेति । सन्न्यासः परित्यागः स यस्यास्ति स सन्न्यासी च, योगी च-योगश्चित्तसमाधानं, स यस्यास्ति स योगी इत्येवं गुणसम्पन्नोऽयं मन्तव्यः; न केवलं निरग्निरक्रिय एव सन्न्यासी योगी चेति मन्तव्यः । निर्गता अग्नयः कर्माङ्गभूता यस्मात्स निरग्निः, अक्रियश्चानग्निसाधना अप्यविद्यमानाः क्रियास्तपोदानादिका यस्यासावक्रियः ॥ १ ॥

२ आ. शां. व्या.— स्तुतिपरत्वमेव स्फोरयति— **न केवलमिति** । सत्त्वशुद्ध्यर्थमनुतिष्ठन्निति सम्बन्धः । वाक्यस्योभयपरत्वमाशङ्क्य वाक्यभेदप्रसङ्गान्नैवमित्याह— **न चेति** । इतोऽपि भगवतः सन्न्यासाश्रमप्रतिषेधोऽभिप्रेतो न भवतीत्याह- **न च प्रसिद्धमिति** । तस्य प्रसिद्धं सन्न्यासित्वं योगित्वं चेति सम्बन्धः । प्रसिद्धत्वमेव व्याकरोति- **श्रुतीति** । इतोऽपि सन्न्यासाश्रमं भगवान्न प्रतिषेधतीत्याह— **स्ववचनेति** । विरोधमेव साधयति— **सर्वकर्माणीत्यादिना** । अनाश्रित इत्यादिवाक्यस्य यथाश्रुतार्थत्वानुपपत्तेः स्तुतिपरत्वमुपपादितमुपसंहरति— **तस्मादिति** । कर्मफलसन्न्यासित्वमत्र मुनिशब्दार्थः । स्तुतिपरं वाक्यमक्षरयोजनार्थमुदाहरति— **अनाश्रित इति** । कर्मफलेऽभिलाषो नास्तीत्येतावता कथं तदनाश्रितत्ववाचो युक्तिः ? इत्याशङ्क्य व्यतिरेकमुखेन विशदयति— **यो हीति** । कार्यमित्यादि व्याकरोति— **एवम्भूतः सन्निति** । कथं कर्मिणः सन्न्यासित्वं योगित्वं च ? कर्मित्वविरोधात् इत्याशङ्क्याऽऽह— **ईदृश इति** । स्तुतेरत्र विवक्षितत्वान्नानुपपत्तिश्चोदनीयेति मन्वानः सन्नाह— **इत्येवमिति** । न निरग्निरित्यादेरर्थमाह— **न केवलमिति** । अग्नयो गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनप्रभृतयः । नन्वनग्नित्वे सिद्धमक्रियत्वं, अग्निसाध्यत्वात्क्रियाणाम्; तथा च न निरग्निरित्येतावतैवापेक्षितसिद्धेर्नचाक्रिय इत्यनर्थकमर्थपुनरुक्तेरिति तत्राऽऽह— **अनग्नीति** ॥१॥

## ३ रामानुजभाष्यम् ।

उक्तः कर्मयोगः सपरिकरः, इदानीं ज्ञानयोगकर्मयोगसाध्यात्मावलोकनरूपयोगाभ्यासविधिरुच्यते; तत्र कर्मयोगस्य निरपेक्षयोगसाधनत्वं द्रढयितुं ज्ञानाकारः कर्मयोगो योगशिरस्कोऽनूद्यते; कर्मफलं स्वर्गादिकमनाश्रितः कार्यं-कर्मानुष्ठानमेव कार्यं, सर्वात्मनाऽस्मत्सुहृद्भूतपरमपुरुषाराधनरूपतया कर्मैव मम प्रयोजनं, न तत्साध्यं किञ्चिदिति यः कर्म करोति; स सन्न्यासी च ज्ञानयोगनिष्ठश्च; योगी च कर्मयोगनिष्ठश्च; आत्मावलोकनरूपयोगसाधनभूतोभयनिष्ठ इत्यर्थः । न निरग्निर्न चाक्रियः न चोदितयज्ञादिकर्मस्वप्रवृत्तः, न च केवलज्ञाननिष्ठः; तस्य हि ज्ञाननिष्ठैव, कर्मयोगनिष्ठस्य तूभयमस्तीत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

## ४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

षष्ठाध्यायोपक्रमस्य पूर्वोक्तार्थानुवादरूपतां दर्शयितुं पूर्वेणाविच्छिन्नानुसन्धानार्थमध्यायसङ्गतिवचनात् पूर्वमेव व्याख्येयोपादानम्; वृत्तवर्तिष्यमाणाभिधानमुखेन सङ्गतिं दर्शयति– **उक्त** इति । कर्मयोग उक्तः, तत्साध्यतयोपक्षिप्तः समाधिलक्षणो योग एवात्र सानुबन्धः प्रतिपाद्यत इति सङ्गतिः। **योगाभ्यासविधिरुच्यत** इति– 'योगाभ्यासविधिर्योगी चतुर्धा योगसाधनम्। योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते' [गी.सं. १०] इति सङ्ग्रहश्लोके प्रथमं योगाभ्यासविधेरुपादानादन्येषां च तदर्थत्वात् स एवाध्यायप्रधानार्थतया संगृहीत इति भावः । 'अनाश्रितः' इत्यादीनां 'समबुद्धिर्विशिष्यते' [६।९] इत्यन्तानां **नवानां** श्लोकानां प्रागुक्तानधिकार्थत्वान्निष्प्रयोजनत्वमाशङ्क्याह—**तत्रे**ति । अभ्यासो हि तात्पर्यलिङ्गम्, अव्यवहितनिर्देशश्च नैरपेक्ष्यं सूचयेदिति भावः। **ज्ञानाकारो योगशिरस्क** इति पदाभ्यां साधनस्य प्रागुक्तमन्तर्गतात्मज्ञानत्वादिलक्षणं पौष्कल्यं, साध्यस्यात्मावलोकनस्याव्यवहितत्वं चाभिप्रेतम्। 'अनाश्रितः' इतिश्लोके पूर्वार्धेन ज्ञानाकारकर्मयोगानुवादः, उत्तरार्धेन नैरपेक्ष्यदृढीकरणम्। 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' [५।२९] इत्यव्यवहितपूर्वश्लोकालोचनया **सर्वात्मनाऽस्मत्सुहृद्भूते**त्यादिकमुक्तम् । ततश्च 'कर्मफलमनाश्रितः' इत्युक्ते निष्फलप्रवृत्तिः स्यादिति शङ्कायां कर्मस्वरूपफलत्वस्य वक्तुमुचितत्वात् कार्यशब्दः प्रयोजनविषय इति दर्शयितुं-**कर्मानुष्ठानमेव कार्य**मिति वचनव्यक्तिर्दर्शिता । कार्यशब्दस्य चोदितविषयत्वे मन्दप्रयोजनत्वं स्यादिति भावः । ननु कर्मयोगनिष्ठमनूद्य तस्यैव ज्ञानयोगनिष्ठत्वं कर्मयोगनिष्ठत्वं च विधातुमयुक्तम्, प्रथमे विरोधात्; द्वितीये तूद्देश्योपादेयविभागाभावपौनरुक्त्यनिष्प्रयोजनत्वेभ्य इति शङ्कायामाह— **आत्मावलोकने**ति । पृथक्साधनभूतोभयसाध्यं फलमनेन लब्धमित्युभयनिष्ठत्वमुपचाराद्युच्यते; ततश्च कर्मयोगस्य निरपेक्षसाधनत्वं विवक्षितमिति भावः । यद्वा कर्मयोगांशभूतज्ञानक्रियाभेदेन परिहार इति भावः । अग्निशब्दस्यात्राग्निसम्बन्धि कर्मलक्षकत्वव्यञ्जनाय यज्ञादिशब्दः । लक्ष्यार्थानां सङ्ग्राहकं चोदितत्वम् । 'निरग्निः' इत्यनेनैव कर्मनिवृत्तेरुक्तत्वादक्रियशब्दः क्रियानिवृत्तिमुखेन क्रियाव्यतिरिक्तनिष्ठत्वलक्षकः; व्यतिरिक्तश्चात्रासन्नो ज्ञानयोग इति दर्शयितुं **केवलज्ञाननिष्ठ** इत्युक्तम्; यद्वा 'न निरग्निर्न चाक्रियः' इत्युभाभ्यां श्रौतस्मार्तक्रियाविशेषनिषेधकाभ्यां फलितमाह **न चोदिते**त्यादि । तदभिप्रेतमाह– **न च केवलज्ञाननिष्ठ** इति। 'अनग्निरनिकेतः स्यात्' [ मनुः ६ । २५, ६ । ४३] 'त्यक्त्वा द्रव्याग्निसाध्यानि कर्माणि' इत्यादिप्रतिपादितसन्न्यासाश्रमव्यवच्छेद इहासङ्गत इति भावः ॥ १ ॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं माध्वभाष्यम् ।

ॐ ज्ञानान्तरङ्गं समाधियोगमाहानेनाध्यायेन । विवक्षितं सन्न्यासमाह योगेन सह— **अनाश्रित** इति । चतुर्थाश्रमिणोऽप्यग्निः क्रिया चोक्ता 'दैवमेव' [४।२५] इत्यादौ । 'अग्निर्ब्रह्म च तत्पूजा क्रिया न्यासाश्रमे स्मृता' इति च । तस्मान्निरग्निरक्रियः सन्न्यासी योगी च न भवत्येव ॥ १ ॥

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

श्रीवेङ्कटेशाय नमः । सङ्गतिं सूचयन्नेतदध्यायप्रतिपाद्यमर्थमाह— **ज्ञानान्तरङ्ग**मिति । 'योगे त्विमां शृणु' [ २ । ३९ ] इति प्रतिज्ञाय द्वितीयषट्के वक्ष्यमाणं भगवज्ज्ञानं प्रति कर्मयोगस्य बहिरङ्गत्वात्स प्राधान्येनातीते ग्रन्थे प्रतिपादितः। तत्साध्यत्वाज्ज्ञानान्तरङ्गत्वाच्चावसरप्राप्तं समाधियोगमाहानेन षष्ठाध्यायेनेत्यर्थः। आसनादीनामङ्गानां वक्ष्यमाणत्वेऽपि तेषां समाध्यर्थत्वात् प्राधान्येन समाधियोगस्य ग्रहणम्। पञ्चमान्तोक्तस्य प्रपञ्चोऽयमित्यदोषः । 'गृहस्थस्यापि स्तुत्यर्थमुपचरितं सन्न्यासित्वं योगित्वं चाद्येन श्लोकेनोच्यते' इति परकीयतात्पर्यकथनमसदिति भावेनाह— **विवक्षितमि**ति । समाधियोगं विधातुं तत्राधिकारिणं ज्ञापयिष्यन् साङ्ख्याद्यभिमततदधिकारिनिरासाय तद्विशेषणं प्राग्विवक्षितं, कामादि-

वर्जनलक्षणं सन्न्यासमीश्वराराधनस्वकर्मानुष्ठानलक्षणेन योगेन सहाहेत्यर्थः । यदि हि सन्न्यासो यत्याश्रमोऽत्र विवक्षितः स्यात्, योगश्च कश्चिद्गृहस्थासम्भवी स्यात्, तदोपचारेण तत्स्तुतिरियम् । न चैवमिति भावः । न केवलं निरग्निरक्रियश्चतुर्थाश्रमी सन्न्यासी योगी च, किन्त्वनाश्रित इत्याद्युक्तो गृहस्थोऽपीति (शां.) परकीयां योजनां निराकरोति—**चतुर्थे**ति । अत्रैव स्पष्टं वाक्यान्तरं पठति—**अग्निरि**ति । चस्त्वर्थः । अतो न परकीया योजना युक्तेति शेषः । तर्हि कथं ? इत्यत आह— **तस्मादि**ति, परकृतयोजनाया निरस्तत्वात् । ननु निरग्नेरक्रियस्य चतुर्थाश्रमिणोऽपि सन्न्यासित्वायोगित्वाच कथं न निरग्निरित्याद्युक्तं इत्यतो वाह—**चतुर्थाश्रमिणोऽपी**त्यादि । न भवत्येवेति युक्तमिति शेषः । अनग्नित्वादिप्रवादश्च बाह्याग्न्याद्यभावनिबन्धन इति भावः ॥ १ ॥

## ७ श्रीहनुमद्विरचितं पैशाचभाष्यम् ।

**अतीताध्यायान्ते योगस्य सम्यग्दर्शनं प्रत्यन्तरङ्गस्य ध्यानस्य सूत्रभूताः श्लोकाः ' स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यान् ' [ ५।२७ ] इत्यादय उपदिष्टाः, तेषां वृत्तिस्थानीयोऽयं षष्ठोऽध्याय आरभ्यते— अनाश्रितः कर्मफलमित्यादि । स सन्न्यासी चानाश्रितो नाऽऽश्रितः कर्मफलं, तृष्णया न प्रयुज्यत इत्यर्थः । कार्यं कर्म कर्तव्यं नित्यं कर्माग्निहोत्रादि करोति यः स सन्न्यासी च योगी च, योगाङ्गत्वेन कर्मानुष्ठानात् । न केवलमनग्निरक्रिय एव परमार्थसन्न्यासी योगी चेति मन्तव्यः ॥ १ ॥**

## ८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

पञ्चमेऽध्याये सन्न्यासनिरूपणमुखेन ज्ञानयोगः सपरिकरः प्रपञ्चितः, षष्ठे तु ध्यानयोगाख्यसाधननिरूपणमुखेन स एव ज्ञानयोगः प्रपञ्च्यते । तत्र तावत् ' आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्' [ ६।३ ] इति 'योगसाधनत्वेन कर्म विधातुं प्रथमं कर्मयोगिनं द्वाभ्यां स्तुवन् भगवानाह—**अनाश्रित** इति । कर्मणां फलमनाश्रितः अनपेक्षमाणः फलाभिसन्धिरहितः सन् कार्यं कर्तव्यतया शास्त्रविहितमग्निहोत्रादिकर्म यः करोति, स एव सन्न्यासी च योगी च भवति । सन्न्यासो हि त्यागः, चित्तविक्षेपाभावश्च योगः, तादृभावस्य विद्यते फलत्यागात्फलतृष्णारूपचित्तविक्षेपाभावाच । न तु निरग्निः न चाक्रियः सन्न्यासी योगी चेति मन्तव्यः । अत्र ' अक्रियः' इत्यनेन क्रियासामान्याभावोक्तौ तेनैव सर्वकर्मसन्न्यासलाभान्निरग्निपदं व्यर्थं स्यादित्यग्निपदेन कर्माण्युपलक्ष्य निरग्निरिति सन्न्यासी, क्रियापदेन चित्तवृत्तिमुपलक्ष्य अक्रिय इति निरुद्धचित्तवृत्तिर्योगी च कथ्यते । तेन निरग्निः सन्न्यासी न मन्तव्यः, अक्रियश्च योगी न मन्तव्य इति यथासङ्ख्यमुभयव्यतिरेको द्रष्टव्यः ॥१॥

## ९ वल्लभीया तत्त्वदीपिका ।

**उक्तोभयैकार्थसिद्धिरात्मसंयमधर्मतः । भवत्येवमिदं वक्तुं पार्थायाह हरिः पुनः ॥ १ ॥**

**श्रीभगवानुवाच—अनाश्रित इति । साङ्ख्ययोगयोरेकार्थतां तस्मै कर्मयोगे दर्शयति । यः कर्मफलमनाश्रितः कर्तव्यत्वात्कार्यं कर्म अग्निहोत्रादिकं करोति तदोभयोरेकार्थरूपसिद्धिः फलत्यागात्साङ्ख्यस्य कर्मकरणाच योगस्यैकार्थ्यमुपदिष्टं भवति । तदाह–स सन्न्यासी स योगी चेति । नह्यग्निहोत्रादिसकलकर्मरहितः सन्न्यासी मे मतः । न चानग्निसाध्यपूर्त्तकर्मरहितोऽपि तथा । अनेनात्मसंयमयोगेन कर्मणां कर्त्ताऽभिमतो लक्षितः ॥ १ ॥**

## १० श्रीपुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

कृत्वाऽपि सर्वसन्न्यासं जडवच्चरणादिह ।
न भक्तिं प्राप्नुयात्तस्माद्ध्यानयोगमुवाच ह ॥

पूर्वाध्याये सन्न्यासमुक्त्वाऽध्यायान्ते इच्छादिविहीनो विषयमोक्षेच्छुर्विषयभोक्तृत्वात्तेभ्यो विमुक्तो भवेदित्युक्तम्; ततस्तद्विमुक्तिरेव न फलं, किन्तु तद्विमुक्त्या भगवद्ध्यानेन भगवदावेशः फलमिति ध्यानस्वरूपमाह भगवान्—अनाश्रित इति । कर्मफलं स्वर्गादिरूपमनाश्रितः कार्यं कर्म भगवदुक्तत्वादवश्यकर्तव्यं कर्म सेवादिरूपं यः करोति स सन्न्यासी त्यागवान् च पुनर्योगी च, भवतीति शेषः । न निरग्निः न गार्हपत्यादित्यागवान् सन्न्यासी । न च अक्रियः न सेवादिरहितो योगी भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

## ११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

**पूर्वाध्यायान्ते सूत्रितं ध्यानयोगं विवरीतुमिच्छंस्तत्राधिकारहेतुत्वात् कर्मयोगं तावत्स्तौति द्वाभ्यां— अनाश्रित इति । यः कर्मणां फलमनाश्रितोऽनपेक्षमाणः कार्यमवश्यकर्त्तव्यं नित्यं कर्म करोति स एव फलसङ्कल्पत्यागात् सन्न्यासी च योगी च भवति । न तु निरग्निर्यो विधितः श्रौतस्मार्त्तकर्मत्यागी स एव सन्न्यासी, नापि अक्रियस्त्यक्तवाङ्मनःकायक्रिय एव वा योगीति ॥ १ ॥**

**यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ! ।**
**न ह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ! ॥ २ ॥**

१ **शां. भा.**— ननु च निरग्नेरक्रियस्यैव श्रुतिस्मृतियोगशास्त्रेषु सन्न्यासित्वं योगित्वं च प्रसिद्धम्, कथमिह साग्नेः सक्रियस्य च सन्न्यासित्वं योगित्वं चाप्रसिद्धमुच्यते ? इति । नैष दोषः, कयाचिद्गुणवृत्त्योभयस्य सम्पिपादयिषितत्वात् । तत्कथं ? कर्मफलसङ्कल्पसन्न्यासात्सन्न्यासित्वं योगाङ्गत्वेन च कर्मानुष्ठानात् कर्मफलसङ्कल्पस्य वा चित्तविक्षेपहेतोः परित्यागाद्योगित्वं चेति गौणमुभयं; न पुनर्मुख्यं सन्न्यासित्वं योगित्वं चाभिप्रेतमित्येतमर्थं दर्शयितुमाह— **यमिति** ।

२ **आ. शां. व्या.**— उत्तरश्लोकस्य तात्पर्यं दर्शयितुं व्यावर्त्यामाशङ्कां दर्शयति— **ननु चेति** । 'प्रसिद्धिं परित्यज्याप्रसिद्धिरुपादीयमाना प्रसिद्धिविरुद्धा' इति चोद्यं दूषयति **नैष दोष** इति । उभयस्य साग्नौ सक्रिये च सन्न्यासित्वस्य योगित्वस्य चेत्यर्थः । गुणवृत्त्योभयसम्पादनं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **तत्कथमित्यादिना** । सम्भवति मुख्ये सन्न्यासित्वादौ किमिति गौणमुभयमभीष्टं ? इत्याशङ्क्य मुख्यस्य कर्मिण्यसम्भवाद्गौणमेव स्तुतिसिद्ध्यर्थं तदिष्टमित्यभिप्रेत्याऽऽह— **न पुनरिति** । चित्तव्याकुलत्वहेतुकामनात्यागाच्चित्तसमाधानसिद्धेर्योगित्वं कर्मिणोऽपि युक्तं, सन्न्यासित्वं तु तस्य विरुद्धमिति शङ्कमानं प्रयुक्तेऽर्थे श्लोकमवतारयति— **इत्येतमिति** ।

१ **शां. भा.**— यं सर्वकर्मतत्फलपरित्यागलक्षणं परमार्थसन्न्यासमिति प्राहुः श्रुतिस्मृतिविदः, योगं कर्मानुष्ठानलक्षणं तं परमार्थसन्न्यासं विद्धि जानीहि हे पाण्डव ! । कर्मयोगस्य प्रवृत्तिलक्षणस्य तद्विपरीतेन निवृत्तिलक्षणेन परमार्थसन्न्यासेन कीदृशं सामान्यमङ्गीकृत्य तद्भाव उच्यते ? इत्यपेक्षायामिदमुच्यते- अस्ति हि परमार्थसन्न्यासेन सादृश्यं कर्तृद्वारकं कर्मयोगस्य । यो हि परमार्थसन्न्यासी स त्यक्तसर्वकर्मसाधनतया सर्वकर्मतत्फलविषयं सङ्कल्पं प्रवृत्तिहेतुकामकारणं सन्न्यस्यति । अयमपि कर्मयोगी कर्म कुर्वाण एव फलविषयं सङ्कल्पं सन्न्यस्यतीत्येतमर्थं दर्शयन्नाह- न हि यस्मादसन्न्यस्तसङ्कल्पोऽसन्न्यस्तोऽपरित्यक्तः फलविषयः सङ्कल्पोऽभिसन्धिर्येन सोऽसन्न्यस्तसङ्कल्पः कश्चन कश्चिदपि कर्मी योगी समाधानवान् भवति, न सम्भवतीत्यर्थः; फलसङ्कल्पस्य चित्तविक्षेपहेतुत्वात् । तस्माद्यः कश्चन कर्मी सन्न्यस्तफलसङ्कल्पो भवेत्स योगी समाधानवानविक्षिप्तचित्तो भवेत्; चित्तविक्षेपहेतोः फलसङ्कल्पस्य सन्न्यस्तत्वादित्यभिप्रायः । एवं परमार्थसन्न्यासकर्मयोगयोः कर्तृद्वारकं सन्न्याससामान्यमपेक्ष्य 'यं सन्न्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव !' इति कर्मयोगस्य स्तुत्यर्थं सन्न्यासत्वमुक्तम् २

२ **आ. शां. व्या.**—परमार्थसन्न्यासं प्राहुरिति सम्बन्धः । इतीत्थं सन्न्यासस्य प्रामाणिकाभ्युपगतत्वादितीतिशब्दो योज्यः । योगं फलतृष्णां परित्यज्य समाहितचेतस्तयेति शेषः । यदुक्तं सन्न्यासित्वं योगित्वं च गृहस्थस्य गौणमिति, तदुत्तरार्धयोजनया प्रकटयितुमुत्तरार्धमुत्थापयति— **कर्मयोगस्येति** । कर्मयोगस्य परमार्थसन्न्यासेन कर्तृद्वारकं साम्यमुक्तं व्यक्तीकरोति—**यो हीति**। त्यक्तानि सर्वाणि कर्माणि साधनानि च येन स तथोक्तस्तस्य भावस्तत्ता,तया सर्वकर्मविषयं तत्फलविषयं च सङ्कल्पं त्यजतीत्यर्थः। सङ्कल्पत्यागे तत्कार्यकामत्यागस्तत्त्यागे तज्जन्यप्रवृत्तित्यागश्च सिध्यतीत्यभिसन्धाय विशिनष्टि— **प्रवृत्तीति** । कर्मिण्यपि यथोक्तसङ्कल्पसन्न्यासित्वमस्तीत्याह— **अयमपीति** । तदपरित्यागे व्याकुलचेतस्तया कर्मानुष्ठानस्यैव दुश्शकत्वादित्यर्थः। उक्तमेव साम्यं व्यक्तीकुर्वन्व्यतिरेकं दर्शयति— **इत्येतमिति**। फलसङ्कल्पापरित्यागे किमिति समाधानवत्त्वाभावः ? तत्राऽऽह- **फलेति** । व्यतिरेकमुखेनोक्तमर्थमन्वयमुखेनोपसंहरति—**तस्मादिति** । हिशब्दार्थस्य यस्मादित्युक्तस्य तस्मादित्यनेन सम्बन्धः । कर्मिणं प्रति यथोक्तविधौ हेतुहेतुमद्भावमभिप्रेत्य द्वितीयविधौ हेतुमाह— **चित्तविक्षेपेति** । पूर्वश्लोके पूर्वोत्तरार्धाभ्यामुक्तमनुवदति । **एवमिति** ॥ २ ॥

१ इह इतिशब्दस्य कर्मत्वाभिधायिनो द्वितीययोक्तेऽपि कर्मत्वे सहप्रयोगः--'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायस्य प्रायिकत्वाश्रयणात्, समानार्थयोः सहप्रयुक्तयोः क्वचित् सम्भूयार्थबोधकत्वाश्रयणाच्च ज्ञेयः ॥ **केचित्त्वत्र** 'कश्च न' इति छित्त्वा असन्न्यस्तसङ्कल्पः कश्च योगी जन्मादिदुःखयोगी न भवतीति न हि, किन्तु भवत्येवेति व्याचक्षते। तत्सन्दर्भविरोधात् क्लिष्टत्वाच्चोपेक्ष्यम् । **-अविगीता**।

३ रा. भा.—उक्तलक्षणकर्मयोगे ज्ञानमप्यस्तीत्याह—यं सन्न्यास इति—ज्ञानयोग इति आत्मयाथात्म्यज्ञानमिति प्राहुस्तं कर्मयोगमेव विद्धि । तदुपपादयति—नह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चनेति । आत्मयाथात्म्यानुसन्धानेन अनात्मनि प्रकृतावात्मसङ्कल्पः सन्न्यस्तः परित्यक्तो येन स सन्न्यस्तसङ्कल्पः अनेवम्भूतो यः सोऽसन्न्यस्तसङ्कल्पः, नह्युक्तेषु कर्मयोगिष्वनेवम्भूतः कश्चन कर्मयोगी भवति 'यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः' [ ४।१९ ] इति ह्युक्तम् ॥ २ ॥

४ वे. ता. चं.— सन्न्यासमनूद्य योगत्वे विधीयमाने ज्ञानयोगे कर्मयोगसद्भावप्रतिपादनभ्रमः स्यात्, तच्च 'नह्यसन्न्यस्त'-इत्युपपादनविरुद्धम्, अत्रानुपयुक्तं चेत्यभिप्रायेणाह—उक्तलक्षणेति । योगोद्देशेन सन्न्यासत्वविधिपरं वाक्यमित्यर्थः । सन्न्यासशब्दस्याभिप्रेतं वक्तुं प्राकरणिकं वाच्यं तावदाह—ज्ञानयोग इति । अत्र तदभिप्रेतमाह— आत्मयाथात्म्यज्ञानमिति । समुदायवाचकशब्दस्तदंशेऽपि प्रयुज्यत इति भावः । तं कर्मयोगमेव विद्धीति— कर्मयोगान्तर्गतमेव विद्धीत्यर्थः । आत्मयाथात्म्येत्यादेरयमभिप्रायः— सङ्कल्पशब्दो न तावदत्र कुर्यामिति सङ्कल्पविषयः, तदभावे कर्मकरणस्यैव अशक्यत्वात् । नापि फलाभिसन्धिविषयः, तथात्वेऽपि कर्मयोगे ज्ञानयोगान्तर्भावप्रतिज्ञाया उपपादकत्वासिद्धेः । अतएव 'सङ्कल्पमूलः कामो हि यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः'[मनु. २।३] इत्यादिस्मृतिपठितः कामस्य कर्मणां च हेतुः सङ्कल्पोऽत्र न विवक्षितः । तस्मादेकीकृत्य कल्पोऽत्र सङ्कल्पः । स चात्र देहात्मगोचरः । तत्परित्यागश्च तत्त्वज्ञानात् । एवं सत्येव 'नहि' इत्यादेरुक्तोपपादकत्वमुपपद्येत— इति । 'कश्चन'इति निर्देशः प्रागुक्तकर्मयोगनिष्ठवैविध्यसूचक इत्यभिप्रायेण उक्तेषु कर्मयोगिष्वित्युक्तम् । सिद्धो ह्यत्रोपपादको भवति, तत्सिद्धिरत्र कुतः? इत्याकाङ्क्षायां हिशब्दाभिप्रेतमाह यस्येति ॥ २ ॥

५ आ. मा. भा.—सन्न्यासोऽपि योगान्तर्भूत इत्याह—यं सन्न्यासमिति । कामसङ्कल्पाद्यपरित्यागे कथमुपायवान्स्यात् इत्याशयः ॥ २ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु सन्न्यासयोगौ भिन्नलक्षणौ, तत्कथं तयोरैक्यमुच्यते ? इत्यत आह—सन्न्यासोऽपीति । सन्न्यासी च योगी चेत्युक्त्या प्राप्तात्यन्तभेदशङ्कानिवृत्त्यर्थमिति शेषः । अमुख्ययोगापेक्षया पृथगुक्तोऽपीत्यपेरर्थः । योगशब्देन मुख्योऽत्राभिहितः । अतएव वक्ष्यत्युपायवानिति, अन्तर्भूतत्वादैक्योक्तिरित्यर्थः । सन्न्यासस्य योगान्तर्भूतत्वमुपपाद्यते— न हीति । तदसत्, सङ्कल्पत्यागमात्रस्यासन्न्यासत्वात् । ईश्वराराधनाय स्वकर्मकरणमात्रं योगः, तस्य सन्न्यासाभावेऽप्युपपत्तेरित्यत आह— कामेति । सङ्कल्पशब्दस्य कामाद्युपलक्षणत्वाद्योगशब्दस्य ज्ञानोपायरूपमुख्ययोगार्थत्वान्नानुपपत्तिरिति भावः २

७ ह. पै. भा.— कर्मकरणात्कर्मयोगित्वं तावत्सिद्धं, सन्न्यासित्वं तु साग्नौ सक्रिये नैव सिद्धं लोक इति तत्सम्पादयति भगवान्—यमिति । यं सन्न्यासमिति प्राहुर्लौकिका योगं कर्मयोगं तं विद्धि विजानीहि पाण्डव ! । अस्ति हि तस्मिन्निरग्निनाऽक्रियेण परमार्थसन्न्यासिना साम्यम् । किं तत् ? इत्यत्राऽऽह— परमार्थसन्न्यासी भूतभविष्यद्वर्तमानेषु सर्वविषयसङ्कल्पं सन्न्यस्यति । अयं च कर्मी नह्यसन्न्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति, कर्मी च स उच्यते । कश्चन कश्चिदपि सन्न्यासी नोच्यते ॥ २ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु निरग्नेरक्रियस्यैव श्रुतिस्मृतियोगशास्त्रेषु सन्न्यासित्वं योगित्वं च प्रसिद्धम्; तत्कथमिह साग्नेः सक्रियस्य च सन्न्यासित्वं योगित्वं चोच्यते ? कथं च 'न निरग्निः—' [६।१] इति तयोस्तन्निषिध्यत इत्याशङ्क्याह— यमिति । हे पाण्डव ! यं सन्न्यासं "न्यास एवात्यरेचयत्" [म. ना. उ.७८] इति प्राहुः, तं निष्कामकर्मानुष्ठानाख्यं योगमेव जानीहि । कुतः ? इत्यत आह— न हीति । असन्न्यस्तसङ्कल्पः अपरित्यक्तफलाभिसन्धिः कश्चिदपि योगी न भवति । किन्तु सर्वोऽपि योगी त्यक्तफलसङ्कल्प एव । हि यस्मादेवं तस्मात्फलत्यागसाम्यात्तृष्णारूपचित्तवृत्तिनिरोधसाम्याच्च गौण्या वृत्त्या कर्म्येव सन्न्यासी योगी चेति स्तूयते, 'अब्रह्मदत्तं ब्रह्मदत्त इत्याह; ते वयं मन्यामहे ब्रह्मदत्तसदृशोऽयमिति' इति महाभाष्योक्तन्यायात् । 'न निरग्निर्न चाक्रियः' [६।१] इति च निरग्नेरक्रियस्य च न वस्तुतः सन्न्यासित्वं योगित्वं च प्रतिषिध्यते; किन्तु 'अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गोऽश्वाः'[तै.सं.५।२।९] इतिवत्प्रशंसामात्रपरमिति न कश्चिद्विरोध इति भावः ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— कुत इत्यपेक्षायां साङ्ख्ययोगविषययोस्त्यागात्यागयोरेवैकार्थतां सम्पादयन्नाह— यं सन्न्यासमिति । ऋषयो यं सन्न्यासं प्राहुस्त्यागविधया तं योगमेव विद्धि, यत्रत्यकर्मसु फलसङ्कल्पत्यागस्य निरूप्यमाणत्वात् । तथाहि— नहीति । असन्न्यस्तसङ्कल्पः योगी न भवति । तादृशकर्मकर्त्ता चेद्योग्येव न । तथा चेद्योग्येवेति भावः ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— ननु कथमुक्तत्यागवान् योगी न भवेत् ? इत्याशङ्क्याह— यं सन्न्यासमिति । यं सन्न्यासमिति प्राहुः प्रकर्षेण सर्वात्मभावरूपेण आहुस्तत्स्वरूपविदो भक्ताः, तेऽधुनाऽधिकाराभावान्नोच्यन्ते, अग्रे वाच्याः, तं हे पाण्डव ! योगं योगरूपं विद्धि जानीहि। 'पाण्डव!' इतिसम्बोधनेन ज्ञानयोग्यता निरूपिता । तस्मिन् सन्न्यासे विप्रयोगरसानुभवरूपे स्वाकाङ्क्षितफलत्यागो भवत्यतः संयोगसिद्धिः । अस्मिंस्तदभावान्न तत्सिद्धिरित्याह— न हीति । असन्न्यस्तसङ्कल्पः न त्यक्तो मानसो नियमः स्वसुखानुभवरूपो येन तादृशः कश्चन भावादिमानपि योगी न भवति । हीति युक्तश्चायमर्थः । यतः स्वसुखानुभवेच्छोः प्रभुसुखानुभवेच्छा नोदेति परस्परमुभयोः स्थितिरेकत्र न सम्भवति, अतः स्वसुखानुभवरूपमानसनिश्चयत्यागवान् योगी भवतीति भावः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— केन साम्येनायं सन्न्यासी योगी चेति स्तूयते ? अत आह— यमिति। यो हि त्यक्तसर्वसङ्कल्पः स सन्न्यासी, तादृशश्च ध्यानयोगी; अतो न तयोर्भेदः । "निस्सङ्कल्पस्तटस्थस्तिष्ठेदेतन्मोक्षलक्षणम् " [ ६।१९ ] इति मैत्रायणीयोपनिषच्छ्रुतस्य मोक्षलक्षणस्य निस्सङ्कल्पत्वस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् । अतोऽयमपि कर्मयोगी फलसङ्कल्पत्यागान्निस्सङ्कल्पत्वसाम्यात् सन्न्यासी योगी च भवतीति स्तूयत इत्यर्थः। योगाधिकारसिद्धये निष्कामकर्माण्यनुष्ठेयानीति श्लोकद्वयतात्पर्यार्थः ॥ २ ॥

निष्कामकर्मैव ध्यानयोगस्य साधनम् ।

**आरुरुक्षोर्मुनेर्[1]योगं कर्म कारणमुच्यते ।**
**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥ ३ ॥**

**१ शां. भा.–ध्यानयोगस्य फलनिरपेक्षः कर्मयोगो बहिरङ्गं साधनमिति तं सन्न्यासत्वेन स्तुत्वाऽधुना कर्मयोगस्य ध्यानयोगसाधनत्वं दर्शयति–आरुरुक्षोरिति। आरुरुक्षोरारोढुमिच्छतोऽनारूढस्य, ध्यानयोगेऽवस्थातुमशक्तस्यैवेत्यर्थः। कस्याऽऽरुरुक्षोः ? मुनेः, कर्मफलसन्न्यासिन इत्यर्थः। किमारुरुक्षोः ? योगम् , कर्म कारणं साधनमुच्यते। योगारूढस्य पुनस्तस्यैव शम उपशमः सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिः कारणं योगारूढत्वस्य साधनमुच्यत इत्यर्थः। यावद्यावत्कर्मभ्य उपरमते तावत्तावन्निरायासस्य जितेन्द्रियस्य चित्तं समाधीयते। तथा सति स झटिति योगारूढो भवति । तथा चोक्तं व्यासेन–"नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः [ म. भा. १२।१७५।३७ ] इति ॥ ३ ॥**

---

१ **मुनेरि**ति भाविनीं वृत्तिमाश्रित्य निर्देशः। आङ्पूर्वस्य रुहेः प्रयोगेण योगस्य सोपानश्रेण्यारोढव्यवलभ्यादिवत् साधनपरम्पराप्राप्यत्वं सूच्यते। अत्र प्रकृतकर्मप्रतियोगित्वाच्छमस्तदुपरम एव ज्ञेयः। **वामन**स्तु शमः समाधिरित्यभिप्रेत्याह—

यावज्जडे स्मरति चित्स्फुरणं मुनीन्द्रस्तावत्स्मृतिर्भवति साऽस्य समाधिरेव ।
तद्विस्मृतौ तु चिरसंस्कृतिरुल्लसन्ती जाड्यभ्रमावरणमाशु भृशं तनोति ॥
योगारूढस्यापि तस्मान्मुक्तावावश्यको यतः । स समाधिस्ततोऽत्रापि शमशब्देन वर्णितः– इति ॥

अत्र **नव्याः**–'यः कर्मयोगारूढो भवितुमिच्छति तस्य मुनेः कर्म शमस्य कारणं साधनम्, योगारूढस्य च शमः– कर्मकारणमिति स्वयं व्याख्याय, पूर्वतरश्लोके कर्मफलमनाश्रित्य कार्यं कर्म कुर्वाण एव पुरुषः परमार्थयोगी, नाकुर्वाण इति भगवतोपदिष्टत्वादिह स एव योगारूढस्य कर्मत्यागं विदधातीति महदन्याय्यम् '। इत्यादिना महता शब्दाडम्बरेण प्राचां व्याख्यानं दूषयन्ति; तद्व्यामोहमात्रम्। तथा हि– न खल्वस्य श्लोकस्य तदुक्तोऽर्थ उपपन्नः कर्मणः शमकारणत्वस्य शमस्य कर्मकारणत्वस्य चासम्भवात्। प्रसिद्धे एव हि कामकर्मणी स्थितिगतिवन्मिथो विरुद्धस्वभावे। किञ्चात्र शमकारणं कर्म सकामम् , उत निष्काममभ्युपेयते ? नाद्यः, 'शान्तिमाप्नोति न कामकामी'(२।७०)इत्यादिविरोधात्। नापि द्वितीयः, निष्कामकर्मानुष्ठानेन शमलाभः, स च निष्कामकर्मानुष्ठानसाधनमित्यन्योन्याश्रयापत्तेः। आरुरुक्ष्वारूढावस्थाभेदेन तत्परिहारोपपादनं तु सिद्धसाधनतातादवस्थ्यात्तुषावघाततुल्यमेवेति ॥ तथा प्राच्यव्याख्यानेष्वारोपितं दूषणमप्यसङ्गतमेव, पूर्वतरश्लोके योगारूढमुद्दिश्य कर्मविधानाभावेनात्र तद्विरोधासम्भवात्। न हि तत्र योगिनमुद्दिश्य कर्म विधीयते, किन्तु फलनिरपेक्षं कर्म कुर्वाणोऽधिकारी योगीति स्तूयत इति व्यक्तमेव भाष्यादौ। युक्तं च तत्, योगारोहणसाधनत्वेन फलनिरपेक्षस्य कर्मणो विधित्सितत्वात्, 'यद्विधीयते तत्स्तूयते' इति न्यायादिति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ एवमन्यान्यपि कानिचिद्दूषणानि तैरत्रोद्भावितानि दृश्यन्ते, परं तानि सुतरामसाराणीति विस्तरसाध्वसादुपेक्ष्यन्ते।–**अविगीता** ।

२ आ. शां. व्या.—परमार्थसंन्यासस्य कर्मयोगान्तर्भावे कर्मयोगस्यैव सदा कर्तव्यत्वमापद्येत, तेनेतरस्यापि कृतत्वसिद्धेरित्याशङ्कोक्तानुवादपूर्वकमुत्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **ध्यानयोगस्ये**ति। भाविन्या वृत्त्या मुनेर्योगमारोढुमिच्छोरिष्यमाणस्य योगारोहणस्य कर्म हेतुश्चेदपेक्षितं, योगमारूढस्यापि तत्फलप्राप्तौ तदेव कारणं भविष्यति, तस्य कारणत्वे क्लृप्तशक्तित्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **योगारूढस्ये**ति। अनारूढस्येत्येतस्यैवार्थं स्फुटयति—**ध्याने**ति। मुनित्वं कर्मफलसंन्यासिन्यौपचारिकमित्याह— **कर्मफले**ति। साधनं चित्तशुद्धिद्वारा ध्यानयोगप्राप्तीच्छायामिति शेषः। तस्येति प्रकृतस्य कर्मिणो ग्रहणम्। एवकारो भिन्नक्रमः शमशब्देन सम्बध्यते। कस्यान्ययोगव्यवच्छेदेन शमो हेतुः? इति तत्राऽऽह—**योगारूढत्वस्ये**ति। सर्वव्यापारोपरमरूपोपशमस्य योगारूढत्वे कारणत्वं विवृणोति—**यावद्यावदि**ति। सर्वकर्मनिवृत्तावायासाभावाद्वशीकृतेन्द्रियग्रामस्य चित्तसमाधाने योगारूढत्वं सिध्यतीत्यर्थः। सर्वकर्मोपरमस्य पुरुषार्थसाधनत्वे पौराणिकीं सम्मतिमाह—**तथा चे**ति। एकता सर्वेषु भूतेषु वस्तुनो द्वैताभावोपलक्षितत्वमिति प्रतिपत्तिः। समता तेष्वेवौपाधिकविशेषेऽपि स्वतो निर्विशेषत्वधीः, सत्यता तेषामेव हितवचनम्, शीलं स्वभावसम्पत्तिः, स्थितिः स्थैर्यम्, दण्डनिधानमहिंसनम्, आर्जवमवक्रत्वम्, क्रियाभ्यः सर्वाभ्यः सकाशादुपरतिश्चेत्येतदुक्तं सर्वं यथा यादृशमेतादृशं नान्यद्ब्राह्मणस्य वित्तं पुमर्थसाधनमस्ति तस्मादेतदेवास्य निरतिशयं पुरुषार्थसाधनमित्यर्थः॥ ३॥

**३ रा. भा.— कर्मयोग एवाप्रमादेन योगं साधयतीत्याह— योगमात्मावलोकनं प्राप्तुमिच्छोर्मुमुक्षोः कर्मयोग एव कारणमुच्यते। तस्यैव योगारूढस्य प्रतिष्ठितयोगस्यैव शमः कर्मनिवृत्तिः कारणमुच्यते। यावदात्मावलोकनरूपमोक्षप्राप्तिस्तावत् कर्म कार्यमित्यर्थः॥ ३॥**

४ वे. ता. चं.—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इत्यत्र विशेषविधिः शेषनिषेधपर इत्यभिप्रायेणाह— **कर्मयोग एवे**ति। कर्मयोगमात्रसाध्यो हि योगः, न परमात्मावलोकनमित्यभिप्रायेणाह—**आत्मावलोकनमि**ति। आमोक्षाद्यत्किञ्चित्कर्म कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह—**मुमुक्षोरि**ति। आत्मावलोकनस्यात्र मोक्षकल्पतया मोक्षशब्दोपचारः। 'योगारूढस्य' इति युक्तावस्थाविषयत्वभ्रमव्युदासाय **प्रतिष्ठितयोगस्ये**त्युक्तम्। 'कर्म कारणं' इत्युक्तकर्मप्रतियोगिकः शमस्तन्निवृत्तिरेवात्र भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेण **शमः कर्मनिवृत्ति**रित्युक्तम्। एतेन 'मुनिरत्र परिव्राजकः शमश्च पारिव्रज्यारूपः' इति परोक्तं निरस्तम्। ननु प्रतिष्ठितयोगस्य किं कारणापेक्षया न ह्यन्यदस्य कार्यमस्तीति शङ्कायां 'योगारूढस्य' इत्यादिना कर्मनिवृत्तिविधानं ततः पूर्वमनिवृत्त्यभिप्रायमिति दर्शयति—**यावदि**ति॥ ३॥

**५ आ. मा. भा.— कियत्कालं कर्म कर्त्तव्यं? इत्यत आह— आरुरुक्षोर्मुनेरि**ति**। योगमारुरुक्षोरुपायसम्पूर्तिमिच्छोः। योगमारूढस्य सम्पूर्णोपायस्य, अपरोक्षज्ञानिन इत्यर्थः। कारणं परमसुखकारणम्। अपरोक्षज्ञानिनोऽपि समाध्यादि फलमुक्तम् [पृ.१९९-२००]। तस्य सर्वोपशमेन समाधिरेव कारणं प्राधान्येनेत्यर्थः। तथापि यदा भोक्तव्योपरमस्तदैव सम्यगसम्प्रज्ञातसमाधिर्जायते, अन्यदा तु भगवच्चरितादौ स्थितिः। तच्चोक्तम्–'ये त्वां पश्यन्ति भगवंस्त एव सुखिनः परम्। तेषामेव तु संक्रम्य समाधिर्जायते नृणाम्॥ भोक्तव्यकर्मण्यक्षीणे जपेन कथयाऽपि वा। वर्तयन्ति महात्मानस्तद्भक्तास्तत्परायणाः' इति॥ ३॥**

६ ज. प्र. दी.— नन्वेवं समाधियोगस्याधिकारिणि निरूपिते तं प्रति समाधिरभिधेयः, आरुरुक्षोरित्यादि किमर्थमुच्यते? इत्यत आह—**कियदि**ति। समाधियोगाधिकारत्वेनोक्तं कर्म किं सकृदनुष्ठेयं उताफलप्राप्तेः? इति प्रश्नार्थः। ननु योगो नाम नाश्वादिरिवारोढव्यः, तत्कथमुच्यते योगमारुरुक्षोर्योगारूढस्येति? तत्राह—**योगमि**ति। उपरिभवनसादृश्यादुपचार इत्यर्थः। उपायः समाधिरेव। समाधेः फलपरिमाणाद्यवच्छेदाभावात् कीदृशी सम्पूर्णता? इत्यत आह–**अपरोक्षे**ति। साधनस्य हि पूर्णता साध्याय पर्याप्तत्वम्। अतो यावताऽपरोक्षज्ञानं सम्पद्यते तावत्त्वं सम्पूर्णत्वमिति भावः। ननु योगमारुरुक्षोः कर्म कारणं सन्निधानाद्योगारोहस्येति लभ्यते। कारणत्वाच्च तत्पर्यन्तं कर्तव्यमिति; कार्यापेक्षया नियतपूर्वक्षणभावित्वात्कारणस्य। योगारूढस्य तु शमः किं प्रति कारणं? ज्ञानस्य तत एव सिद्धेरित्यत आह—**कारणमि**ति। परमसुखं मुक्तिगतम्। नन्वयं प्रश्नो 'यदा ते मोहकलिलं' [२।५२] इति परिहृतः। मैवम्। तत्र ज्ञानार्थिनाऽत्र तु योगारोहार्थिनेति भेदात्, तयोश्च साध्यसाधनयोः पृथक्त्वात्। 'अपरोक्षज्ञानिनः' इति चानतिविप्रकर्षेणोक्तत्वात्। तथोक्तं–'ऐहिकमप्रस्तुतप्रतिबन्धः' [ब्र.सू.३।४।५१] इति। अथवा योगारूढस्यापि कर्तव्यं वक्तुं प्रश्नोत्तरानुवादोऽयमिति। नन्वपरोक्षज्ञानिनोऽनाधेयातिशयस्य कथं शमः परमसुखकारणमुच्यते? इत्यत आह–**अपरोक्षे**ति। उक्तं समर्थितं द्वितीये। 'समाध्यादि' इत्यनेन शमशब्दार्थः समाधिरिति सूचितम्। तत्किं तस्यान्यत्कर्तव्यमेव नास्ति? इत्यत आह—**तस्ये**ति। सर्वोपशमेन सर्वविषयोपरतिलक्षणेनेति समाधौ शमशब्दं समर्थयितुमुक्तम्।

कारणं सुखाभिवृद्धेः। तदविरोधेनान्यत्कार्यमिति भावः। यदि ज्ञानिनः समाधिरानन्दवृद्धेः कारणं तर्हि तमेव कुतो न कुर्युः ? कुतश्च व्याख्यानादौ प्रवर्तन्ते ? इत्यत आह—तथापीति। भोक्तव्योपरमः प्रतिबन्धकप्रारब्धकर्मोपरमः। अन्यदा सम्यक् समाधिप्रतिबन्धककर्मानुपरमकाले। अत्रागमसम्मतिमाह—तद्वेति। परं केवलम्। तेषामेव सम्यगेव समाधिश्च जायत इति योजना। वर्तयन्ति वर्तन्ते कालं नयन्तीति वा ॥ ३ ॥

७ ह्. पै. भा.— ध्यानयोगस्य बहिरङ्गं कर्मेति यावद्ध्यानयोगारोहणसमर्थस्तावद्गृहस्थेनाधिकृतेन कर्म कर्तव्यमतः स्तौति भगवान्। ननु किमर्थं ध्यानयोगारोहणसीमाकरणं ? यतोऽनुष्ठेयमेव विहितं कर्म यावज्जीवं; नैतत्— आरुरुक्षोरिति। योगमारुरुक्षोरारोढुमिच्छोर्मुनेः कर्म कारणं साध्यसाधनमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव कर्मणः शम उपशमः सर्वकर्मभ्यो निवृत्तिः कारणं योगारूढस्य साधनमुच्यते इत्यर्थः। 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' इति विशेषणादारूढस्य च शमेनैव सम्बन्धकरणात्। आरुरुक्षोरारूढस्य च शमः कर्म चोभयं कर्तव्यत्वेनाभिप्रेतं चेत्पुनस्तदारुरुक्षोरारूढस्य चेति विशेषणं विभागकरणं चोपपद्यत एवेति चेत्, न; तस्यैवेति वचनात्पुनर्योगग्रहणाच्च। योगारूढस्येति, य आसीत्पूर्वमेवाऽऽरुरुक्षुस्तस्यैवाऽऽरूढस्य शम एव कर्तव्यं कारणं योगफलं प्रत्युच्यत इति। अतो न यावज्जीवे कर्तव्यत्वप्राप्तिस्तस्यापि कर्मणः, योगभ्रष्टादिवचनाच्च। गृहस्थस्य चेत्कर्मयोगो विहितः षष्ठेऽध्याये स योगभ्रष्टः कर्मगतिं कर्मफलं प्राप्नोतीति तस्य नाशाशङ्काऽनुपपन्ना स्यात्। अवश्यं कृतं कर्म काम्यं नित्यं वा मोक्षस्य नित्यत्वादनारभ्यत्वेन स्वं फलमारभते। एवं नित्यस्य च कर्मणो वेदप्रमाणावबुद्धत्वात्फलेन भवितव्यमित्यवोचाम, अन्यथा वेदस्याऽऽनर्थक्यप्रसङ्गादिति।

न च कर्मणि सत्युभयभ्रष्टवचनमर्थवत्कर्मणो विभ्रंशकरत्वानुपपत्तेः। कर्म कृतमीश्वरे सन्न्यस्यत्यतः कर्तरि कर्मफलं नाऽऽरभत इति चेत्, न; ईश्वरे सन्न्यासस्याधिकारफलहेतुत्वोपपत्तेः। मोक्षायैवेति चेत्स्वकर्मणां कृतानामीश्वरे सन्न्यासो मोक्षायैव, न फलान्तराय योगसहितो योगाच्च भ्रष्ट इत्यतस्तं प्रति नाशाशङ्का युक्तैवेति चेत्, न; 'एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः'[६।१०]'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' [६।१४]इति च गृहस्थवानप्रस्थयोः कर्मसन्न्यासविधानात्। न चात्र ध्यानकाले स्त्रीसहायाशङ्का येनैकाकित्वं विधीयते। न च 'गृहस्थस्य निराशीरपरिग्रहः' [६।१०] इति वचनमनुकूलम्। 'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्स्पृहः' [२।७१] 'सर्वारम्भपरित्यागी' [१४।२५] 'नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च। शीलं स्थितिर्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः' [म.भा.१२।१७५।३७] इति तत्र तत्र वचनानि दर्शितानि, तैर्विरुध्यते चतुर्थाश्रमप्रतिषेधः। तस्मान्मुनेर्योगमारुरुक्षोः प्रपन्नगार्हस्थ्यस्याग्निहोत्रादिफलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानं ध्यानयोगारोहणसाधनत्वेन सत्त्वशुद्धिद्वारेण प्रतिपद्यत इति सन्न्यासी च योगी चेति स्तूयते ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं कर्मयोगं स्तुत्वा तस्य ध्यानयोगसाधनत्वमाह— आरुरुक्षोरिति। योगं ध्यानयोगं आरुरुक्षोः आरोढुमिच्छोः मुनेर्भविष्यतः निष्कामतयेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितं कर्म चित्तशुद्धिद्वारा योगारोहणे कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव पूर्वं कर्मिण एव सतः शमः सर्वकर्मसन्न्यासः चित्तशुद्धिवैराग्यातिशयसम्पत्स्यमाने ज्ञानोदये कारणमुच्यते ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— तत्र योगेऽपि साङ्ख्यवत्कर्तव्यव्यवस्थामाह— आरुरुक्षोरिति। योगमात्मसंयमनं पदमारुरुक्षोरधिकारिणस्तत्रादृशस्योक्तरीत्या कर्म स्वधर्मकरणं तदारोहे कारणमुच्यते। तस्यैव योगारूढस्य सतः सर्वतः संयतचेतसः शमः समस्तसङ्कल्पपरित्यागस्तद्दार्ढ्ये कारणं स्थूणाखननवन्मतं योगारूढतया सिद्धत्वात् ॥३॥

१० पु. अ. त.— नद्य स्वसुखानुभवसङ्कल्पत्यागः सिद्धस्य भवति, साधनदशापन्नस्य किं कर्तव्यं ? इत्यत आह—आरुरुक्षोरिति। योगं आरुरुक्षोः संयोगरसप्राप्तीच्छोर्मुनेर्मननशीलस्य कारणं कर्म सेवात्मकमनुकारणरूपमुच्यते कथ्यत इत्यर्थः; तस्यैव सेवादिकरणेन योगारूढस्य संयोगरसव्याप्तमनसः शमः अनुकरणादिकृतिरहितभावनाप्रवणस्थितिः कारणमुच्यते कथ्यते; तत्प्राप्त्यर्थमिति शेषः ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— तत्र कर्मानुष्ठानस्यावधिमाह— आरुरुक्षोरिति । यावद्धि योगं यमनियमाद्यष्टाङ्गोपेतमत्यौत्कण्ठ्यादारोढुमिच्छति तावत्कर्माण्यनुतिष्ठेत्, तस्यारुरुक्षोर्मुनेरारुरुक्षाकारणं तीव्रवैराग्योत्पादनद्वारा कर्म भवति । तस्यैव योगारूढस्य योगाङ्गानुष्ठाने प्रवृत्तस्य विक्षेपासहस्य योगारोहे कर्मणां शमः सन्न्यासः कारणमुच्यते । न हि कर्मसु व्यापृतोऽनन्यचित्ततया योगमनुष्ठातुमीष्टे ॥ ३ ॥

योगारूढत्वस्य सहेतुकः कालः ।

**यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते[1] ।**
**सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥ ४ ॥**

**१ शां. भा.**— अथेदानीं कदा योगारूढो भवति ? इत्युच्यते– यदा समाधीयमानचित्तो योगी हीन्द्रियार्थेषु-इन्द्रियाणामर्थाः शब्दादयस्तेष्विन्द्रियार्थेषु, कर्मसु च नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धेषु प्रयोजनाभावबुद्ध्या नानुषज्जते अनुषङ्गं कर्तव्यताबुद्धिं न करोतीत्यर्थः । सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी सर्वान्सङ्कल्पानिहामुत्रार्थकामहेतून् सन्न्यसितुं शीलमस्येति सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढः प्राप्तयोग इत्येतत्तदा तस्मिन् काल उच्यते । 'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी' इति वचनात्सर्वांश्च कामान् सर्वाणि च कर्माणि सन्न्यसेदित्यर्थः। सङ्कल्पमूला हि सर्वे कामाः 'सङ्कल्पमूलः कामो वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः' [ मनुः २।३ ] 'काम ! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्त्वं हि जायसे । न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि तेन मे न भविष्यसि' [ म. भा. १२।१७७।२५ ] इत्यादिस्मृतेः । सर्वकामपरित्यागे च सर्वकर्मसन्न्यासः सिद्धो भवति "स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते"[ बृ.उ. ४।४।५ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः, 'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' [ मनुः २।४ ] इत्यादिस्मृतिभ्यश्च, न्यायाच्च– न हि सर्वसङ्कल्पसन्न्यासे कश्चित्स्पन्दितुमपि शक्तः । तस्मात्सर्वसङ्कल्पसन्न्यासीति वचनात्सर्वान्कामान्सर्वाणि कर्माणि च त्याजयति भगवान् ॥ ४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—-योगप्राप्तौ कारणकथनानन्तरं तत्प्राप्तिकालं दर्शयितुं श्लोकान्तरमवतारयति—**अथेति** । समाधानावस्था यदेत्युच्यते । अत एवोक्तं 'समाधीयमानचित्तो योगी' इति। शब्दादिषु कर्मसु चानुषङ्गस्य योगारोहणप्रतिबन्धकत्वात्तदभावस्य तदुपायत्वं प्रसिद्धमिति द्योतयितुं हीत्युक्तम्। सर्वेषामपि सङ्कल्पानां योगारोहणप्रतिबन्धकत्वमभिप्रेत्य 'सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी' इत्यत्र विवक्षितमर्थमाह— **सर्वानिति** । सर्वसङ्कल्पसन्न्यासेऽपि सर्वेषां कामानां कर्मणां च प्रतिबन्धकत्वसम्भवे कुतो योगप्राप्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वेति** । सर्वसङ्कल्पपरित्यागे यथोक्तविध्यनुष्ठानमयत्नसिद्धमिति मन्वानः सन्नाह—**सङ्कल्पेति** । मूलोन्मूलने च तत्कार्यानिवृत्तिरयत्नलभ्येति भावः। तत्र प्रमाणमाह—-**सङ्कल्पमूल** इति । तत्रान्वयव्यतिरेकावभिप्रेत्योक्तमुपपादयति— **कामेति** । सर्वसङ्कल्पाभावे कामाभाववत्कर्माभावस्य सिद्धत्वेऽपि कर्मणां कामकार्यत्वात्तन्निवृत्तिप्रयुक्तामपि निवृत्तिमुपन्यस्यति— **सर्वकामेति** । यदुक्तं कर्मणां कामकार्यत्वं, तत्र श्रुतिस्मृती प्रमाणयति— **स यथेति** । स पुरुषः स्वरूपमजानन्यत्फलकामो भवति तत्साधनमनुष्ठेयतया बुद्धौ धारयतीति तत्क्रतुर्भवति, यच्चानुष्ठेयतया गृह्णाति, तदेव कर्म बहिरपि करोतीति कामाधीनं कर्मोक्तमिति श्रुत्यर्थः। कामजन्यं कर्मेत्यन्वयव्यतिरेकसिद्धमिति द्योतयितुं स्मृतौ हिशब्दः। न्यायमेव दर्शयति— **न हि सर्वसङ्कल्पेति** । स्वापादावदर्शनादित्यर्थः । नित्यनैमित्तिककर्मानुष्ठानं दूरनिरस्तमिति वक्तुमपिशब्दः । श्रुतिस्मृतिन्यायसिद्धमर्थमुपसंहरति— **तस्मादिति** ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.**— कदा प्रतिष्ठितयोगो भवति ? इत्यत्राह–यदाऽयं योगी त्वात्मैकानुभवस्वभावतया इन्द्रियार्थेषु आत्मव्यतिरिक्तप्राकृतविषयेषु तत्सम्बन्धिषु च कर्मसु नानुषज्जते न सङ्गमर्हति; तदा

---

१ **अनुषज्जत** इति । 'षस्ज गतौ' (भ्वा. २०२ उ.प.) सकारस्य श्चुत्वेन शकारे तस्य 'झलां जश् झशि' (अष्टा. ८।४।५३) इति जश्त्वेन जकारः । सम्यक् शुक्तौ रजतप्रत्ययवदद्वैते ब्रह्मणि कल्पन्त इति सङ्कल्पा विपरीतप्रत्यया इत्याहुः । सङ्कल्पः काम्यबुद्धिरूपा फलाशा इति **नव्याः** । तन्न, 'सङ्कल्पमूलः कामः–' (मनुः २।३) इति स्मृत्या सङ्कल्पस्य काममूलत्वावगमात् । 'सङ्कल्पप्रभवान् कामान्' [ ६।२४ ] इति वक्ष्यमाणेनाप्युक्तार्थस्यैव भगवत्सम्मतत्वसिद्धेश्च । **—अविगीता ।**

हि सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढ इत्युच्यते; तस्मादारुरुक्षोर्विषयानुभवार्हतया तदननुषङ्गाभ्यासरूपः कर्मयोग एव योगनिष्पत्तिकारणम्। अतो विषयाननुषङ्गाभ्यासरूपं कर्मयोगमेवारुरुक्षुः कुर्यात् ४

४ वे. ता. चं.— सङ्गमयति—कदेति। अयं योगी त्विति। यावदात्मावलोकनं कर्मयोगे वर्तमान इति भावः। अर्थसिद्धं हेतुमाह आत्मैकानुभवस्वभावतयेति। अनित्यत्वहेयत्वादिसूचनाय प्राकृतशब्दः। कर्मस्विति– न चोदितकर्ममात्रविषयम्, तस्य स्वारसिकसङ्गास्पदत्वाभावेन निषेधायोगात्। नापि परोक्तप्रक्रिययाऽग्निहोत्रादिनित्यनैमित्तिकविषयम्, वैदिकस्य तत्र निस्सङ्गत्वायोगात्। अतः'यो हि यदिच्छति, तस्य तस्मिंस्तत्साधने वा कार्यताबुद्धिः' इति न्यायादिन्द्रियार्थेषु सङ्गिनां तदुपायभूतेषु विहितेषु निषिद्धेष्वनुभयेषु च कर्मसु यथासम्भवं सङ्गः स्यादिति तन्निषेध एवोचित इत्यभिप्रायेण– तत्सम्बन्धिषु च कर्मस्वित्युक्तम्। सङ्गं त्यजति निवर्तयतीत्यादिषु प्रयोगेषु जायमानस्य सङ्गस्य बलान्निवर्तनं प्रतीयते; अत्र तु नानुषज्जत इत्युक्तम्। सङ्गः स्वयमेव न जायत इत्यर्थः। ततः फलितमाह न सङ्गमर्हतीति। हिशब्दस्य वाक्यार्थान्वयौचित्यात् तदा हीत्युक्तम्। तदा ह्यसौ सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढो भवति; न तु सङ्गकाल इति भावः। व्याख्यातश्लोकद्वयतात्पर्यार्थमाह– तस्मादिति। इष्टकारणत्वोपदेशो हि तत्र प्रवृत्त्यर्थ इति तात्पर्येणाह– अत इति ॥४॥

५ आ. मा. भा.— योगारूढस्य लक्षणमाह— यदेति। सम्यगननुषङ्गस्तस्यैव भवति। उक्तं च– 'स्वतो दोषलयो दृष्ट्वा त्वितरेषां प्रयत्नतः' इति ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— स्फुटमपि तात्पर्यं मन्दानुजिघृक्षयाऽऽह– योगेति। अपरोक्षज्ञानं तु योगारोहस्य कार्यं सति प्रतिबन्धे विलम्बत इति न लक्षणम्। नन्विदं साधकेऽपि विद्यते,'वशे हि यस्येन्द्रियाणि' [ २।६१ ] इत्यादेः, अतोऽतिव्यापकमित्यत आह— सम्यगिति। प्रयत्नं विनेत्यर्थः। तस्यैव योगारूढस्यैव। अत्र प्रमाणमाह— उक्तं चेति। परमात्मानं दृष्ट्वा त्वाप्यत इति शेषः। मुख्य एव चाननुषङ्गोऽत्र विवक्षित इति भावः ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— अथ तद्योगी कदा योगारूढो भवति? इत्युच्यते– यदा हीति। यदा समाधानचित्तो योगी हि यस्मादिन्द्रियार्थेष्विन्द्रियाणामर्थाः शब्दादयस्तेष्विन्द्रियार्थेषु कर्मसु नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धेषु प्रयोजनाभावबुद्ध्या नानुषज्जते, अनुषङ्गं कर्तव्यताबुद्धिं न करोतीत्यर्थः। सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी सर्वान्सङ्कल्पानिहामुत्रार्थकामहेतून्सन्न्यसितुं शीलं यस्य स सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगारूढः प्राप्तयोग इत्येतत्। तदा तस्मिन्काल उच्यते सर्वसङ्कल्पसन्न्यासीति। भगवद्वचनात्सर्वान्कामान्सर्वाणि कर्माणि च सन्न्यसेदित्यर्थः। सङ्कल्पमूला हि सर्वे कामाः। 'सङ्कल्पमूलाः ( लः ) कामा ( मो ) वै यज्ञाः सङ्कल्पसम्भवाः' [ मनुः २।३ ] ॥ 'काम! जानामि ते मूलं सङ्कल्पात्किल जायसे। न त्वां सङ्कल्पयिष्यामि समूलो विनशिष्यसि (न भविष्यसि)' [ म.भा. १२।१७७।२५ ] ॥ इति स्मृतेः सर्वसङ्कल्पपरित्यागे सर्वकर्मपरित्यागः सिद्धो भवति। "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते "[ बृ. उ. ४।४।५ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः। 'यद्यद्धि कुरुते कर्म तत्तत्कामस्य चेष्टितम्' [मनुः२।४] इति स्मृतिभ्यश्च, न्यायाच्च– सर्वसङ्कल्पसन्न्यासे नहि कश्चित् स्पन्दितुमपि शक्तः। तस्मात् सर्वसङ्कल्पसन्न्यासवचनात् सर्वान्कामान्सर्वाणि च कर्माणि त्याजयति च भगवान् ॥ ४ ॥

८ वे. ब्र. गि.— कदा योगारूढो भवतीत्यत्राह— यदेति। इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु च तत्साधनेषु लौकिकवैदिकेषु यदा नानुषज्जते कर्तव्यतानुबन्धं न करोति। तत्र हेतुः— सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी; 'इदमहं करिष्ये' इति चित्तवृत्तिविशेषः सङ्कल्पः। सर्वशब्देन सङ्कल्पहेतोः कामस्य परिग्रहः। निखिलकामसङ्कल्पत्यागशीलो दृढवैराग्य इत्यर्थः। यदा एवम्भूतो भवति तदा 'योगारूढः' इत्युच्यते ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— कदैवं योगारूढ इत्यपेक्षायामाह— यदा हीति। स्वक्रियानिर्वर्त्येष्वपि कर्मसु नानुषज्जते ४

१० पु. अ. त.— स योगारूढः कथं ज्ञातव्यः? इत्यत आह— यदा हीति। यदा इन्द्रियार्थेषु रूपादिषु उत्कटतापनिवृत्त्यर्थं स्वप्रादिप्राप्तेषु हीति निश्चयेन पुरुषार्थरूपेण नानुषज्जते नाऽऽसक्तो भवति। न कर्मसु तत्साधककृतिरूपेषु अनुषज्जते नाऽऽसक्तो भवति। सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी मनोनिश्रयात्मकस्वभोगेच्छादित्यागवान् यो नासक्तो भवेत्तदा योगारूढः संयोगभावे प्रतिष्ठित उच्यते कथ्यत इत्यर्थः॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु योगपदेन मुख्यया वृत्त्या निर्बीजः समाधिरुच्यते, तमारूढस्य कर्मणां त्यागः स्वतः सिद्धत्वादविधेय इत्याशङ्क्य प्रकृते योगारूढपदस्यार्थमाह— यदा हीति । इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु रमणीयेषु कर्मसु च तत्प्राप्तिसाधनेषु तद्दर्शनमनु न सज्जते वैराग्यदार्ढ्यात्सक्तो न भवति । नापि मनसा 'इदं मे भूयात्, एतदर्थमहमिदं कर्म कुर्यां' इति सङ्कल्पयति । तादृशश्च सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी यदा भवति तदा योगारूढ इत्युच्यते । यथा तीव्रबुभुक्षयोपेतोऽन्यत्र नीरागो व्यासङ्गान्तरं त्यक्त्वा भोजनारूढ एव भवति तथा तीव्रारुरुक्षावान् सर्वत्र वीतरागस्त्यक्तसर्वकर्मा योगारूढ एव भवति; तावत्कर्माणि कर्तव्यानि ततःपरं त्याज्यानीत्यर्थः ॥ ४ ॥

योगारूढत्वस्य मनोनिग्रह एव साधनं लक्षणं च [ ५–९ ]

**उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नाऽऽत्मानमवसादयेत् ।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ५ ॥**

१ शां. भा.— यदैवं योगारूढस्तदा तेनाऽऽत्माऽऽत्मनोद्धृतो भवति संसारादनर्थजातात्, अतः उद्धरेत्संसारसागरे निमग्नमात्मनाऽऽत्मानं तत उत्–ऊर्ध्वं हरेदुद्धरेत्; योगारूढतामापादयेदित्यर्थः । नाऽऽत्मानमवसादयेन्नाधो नयेन्नाधो गमयेत् । आत्मैव हि यस्मादात्मनो बन्धुः, न ह्यन्यः कश्चिद्बन्धुर्यः संसारमुक्तये भवति । बन्धुरपि तावन्मोक्षं प्रति प्रतिकूल एव, स्नेहादिबन्धनायतनत्वात् । तस्माद्युक्तमवधारणं 'आत्मनैव ह्यात्मनो बन्धुः' इति । आत्मैव रिपुः शत्रुर्योऽन्योऽपकारी बाह्यः शत्रुः सोऽप्यात्मप्रयुक्त एवेति युक्तमेवावधारणं 'आत्मैव रिपुरात्मनः' इति ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.—योगारूढस्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यदैवमिति** । योगारोहस्य दृष्टादृष्टोपायैरवश्यकर्तव्यतायै मुक्तिहेतुत्वं तद्विपर्ययस्याधःपतनहेतुत्वं च दर्शयति— **अत** इति । तत्र हेतुमाह— **आत्मैव हीति** । उद्धरणापेक्षामात्मनः सूचयति— **संसारेति** । संसारादूर्ध्वं हरणं कीदृक् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **योगारूढतामिति** । योगप्राप्तावनास्था तु न कर्तव्येत्याह— **नाऽऽत्मानमिति** । योगप्राप्त्युपायश्चेन्नानुष्ठीयते, तदा योगाभावे संसारपरिहारासम्भवादात्माऽधो नीतः स्यादित्यर्थः । नन्वात्मानं संसारे निमग्नं तदीयो बन्धुस्तस्मादुद्धरिष्यति, नेत्याह— **आत्मैव हीति** । कुतोऽवधारणं ? अन्यस्यापि प्रसिद्धस्य बन्धोः सम्भवात्तत्राऽऽह— **न हीति** । अन्यो बन्धुः सन्नपि संसारमुक्तये न भवतीत्येतदुपपादयति— **बन्धुरपीति** । स्नेहादीत्यादिशब्दात्तदनुगुणप्रवृत्तिविषयत्वं गृह्यते । आत्मातिरिक्तस्यापि शत्रोरपकारिणः सुप्रसिद्धत्वादवधारणमनुचितमित्याशङ्क्याऽऽह— **योऽन्य** इति ॥ ५ ॥

१ अत्र आत्मना बुद्ध्या आत्मानं मन उद्धरेदिति मन्वानो **वामन** आह—
बुद्धेरधीनं हि मनः किरीटिन् ! शक्ता च सैकैव नियन्तुमेतत् । विवेकमारोहति धीर्न यावत्तावन्मनो मज्जति वासनाब्धौ ॥
मग्नं मनो यद्यपि वासनाब्धौ धीनिघ्न एवास्य गुणस्तथापि । धियः स्वभावः स्वसुखाभिलाषः स्वत्त्वावसानं च चिदात्मरूपे ॥
यत्र भाति सुखं तत्र प्रवर्तयति धीर्मनः । यत्र दुःखं ततस्तूर्णं निवर्तयति सैव तत् ॥
विषयेभ्यः पृथक् सौख्यं क्वचिन्नास्तीति जानती । तद्वासनाप्रवाहे धीर्मनः पातयति ध्रुवम् ॥
सत्सङ्गाद्विषयान्दुःखमयाञ्जानाति सा यदा । परमार्थे सुखं मत्वा तदा भक्तौ प्रवर्तते ॥
प्रत्याहृतं ततो बुद्ध्या विषयेभ्यो भृशं मनः । विहाय तांश्चिन्तयति ब्रह्मावगमसाधनम् ॥
विना ब्रह्मानुभूतिं नो लीयेद्विषयवासना । तथापि रक्षति मनस्तत्पाताद्धीर्विवेकिनी ॥
दृष्ट्वाऽन्नं परिविष्टमिष्टमशितुं चेतः समुत्कण्ठते यद्यप्यत्र बुभुक्षितस्य, तदपि क्ष्वेडान्वितं जानती ।
तन्नात्तुं धिषणा ददाति, विषयेष्वाभीलमेवं मुहुः पश्यन्ती तरसा निवर्तयति सा तद्वासनाया मनः ॥
प्रीतिं दधाना परमार्थवर्त्मनि प्रज्ञा यदा मङ्क्षु मनो नियच्छति । तदा प्रपञ्चे दुरुदर्कसङ्कटे पुनर्निपातोऽस्य न जातु जायते ॥
बुद्ध्योद्धरेन्मन इति तस्मादत्राब्रवीद्धरिः । आत्मशब्दोऽभिधत्तेऽसौ मनोबुद्धी उभे अपि ॥ इति ॥
अत्र–'आत्मा चित्ते धृतौ यत्ने धिषणायां कलेवरे । परमात्मनि जीवेऽर्के हुताशनसमीरयोः ॥ २७० ॥ स्वभावे–' इति हैमोऽनुसन्धेयः ।
—अविगीता ।

३ रा. भा.— तदेवाह—उद्धरेदिति। आत्मना मनसा विषयाननुषक्तेन मनसा आत्मानमुद्धरेत् । तद्विपरीतेन मनसा आत्मानं नावसादयेत् । आत्मैव मन एव ह्यात्मनो बन्धुस्तदेवात्मनो रिपुः ॥५॥

४ वे. ता. चं.— श्लोकद्वयाभिप्रेतमर्थं विवृणोतीत्याह— तदेवाहेति । 'आत्मना' इत्यस्य करणार्थत्वौचित्यात् मनसेत्युक्तम् । विषयाननुषक्तेन तद्विपरीतेनेत्युभयं क्रियाद्वयसामर्थ्यात् पूर्वोत्तरानुसन्धानाच्चोक्तम् । उद्धरेत्— योगारूढतापादनेन संसारसमुद्रादुत्तारयेत् ;न पुनरधो नयेदित्यर्थः। आत्मोद्धरणात्मावसादयोर्द्वयोरपि मनसो हेतुत्वं प्रपञ्च्यते— आत्मैवेति । अन्ये बन्धवोऽपवर्गविरोधित्वादबन्धवः । अन्ये च रिपव आत्मप्रवृत्तिमूला इत्यवधारणाभिप्रायः ॥ ५ ॥

५ आ. मा. भा.— स च योगारोहः प्रयत्नेन कर्तव्य इत्याह— उद्धरेदित्यादिना ॥ ५ ॥

६ ज. प्र. दी.— नन्वेवं विद्वदुपयुक्तमुक्त्वा समाधियोगे विधेये किमर्थमात्मोद्धारकर्तव्यतोच्यते ? इत्यतोऽनया वाचोभङ्ग्या योग एव विधीयत इत्याह— स चेति । तस्याधिकार्यादिकमुक्तं स एव च योग इति वक्तव्ये यदाऽऽरोहग्रहणं कृतं तेन तावत्पर्यन्तं योगः कर्तव्यः, न मध्य एव त्याज्य इति ज्ञापितम् । प्रयत्नेनाभियोगेन ॥ ५ ॥

७ ह. पै. भा.— यदैवं योगारूढस्तदाऽऽत्माऽऽत्मनोद्धृतो भवति संसारादनर्थप्रदादयम्– उद्धरेदिति । उद्धरेत्संसारसागरे निमग्नमात्मानमात्मना तत ऊर्ध्वं हरेद्योगारूढतामापादयेदित्यर्थः । नाऽऽत्मानमवसादयेन्नाधो नयेत् । आत्मैव हि यस्मादात्मनो बन्धुः संसारमुक्तये भवति । बन्धुरपि तावन्मोक्षं प्रति प्रतिकूल एव, स्नेहनिबन्धनायतनत्वात् । तस्माद्युक्तमवधारणमात्मैव ह्यात्मनो बन्धुरिति । आत्मैव रिपुः शत्रुर्योऽन्योऽपकारी बाह्यः शत्रुः सोऽप्यात्मनि युक्त एवेति युक्तमवधारणमात्मैव रिपुरात्मन इत्युक्तम् ॥ ५ ॥

८ वें. व्र. गि.— अथास्य योगारूढत्वस्य मन एव मुख्यसाधनमित्याह त्रिभिः— उद्धरेदिति । आत्मना मनसा आत्मानं जीवमुद्धरेदिति प्रथमं सम्बन्धः । कः पुनरात्मनोऽनर्थः प्राप्तो यतः स उद्धर्तव्यः ? इत्याशङ्क्य 'उद्धरेत्' इतिपदसूचितमनर्थं दर्शयितुमाह– नात्मानमवसादयेत्; संसारसागरपतितमात्मानमधोऽधः पातनेन न विनाशयेदित्यर्थः । तर्हि तत्र मनः किं करिष्यतीत्यत्राह— आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुः । हि यस्मान्मन एव जीवस्य हितकारी बन्धुः, न ह्यन्यः कश्चिद्बन्धुः संसारमुक्तये भवति ; लौकिकस्य बन्धोरपि स्नेहानुबन्धेन बन्धहेतुत्वात् । अतो मन एव जीवस्य योगारूढत्वसम्पादनेन तारकमिति भावः। नन्वेवं तर्हि तारकं मनः सर्वेषामप्यस्त्येवेति सर्वेऽपि संसारात् किमिति नोत्तरेयुः ? तत्राह— आत्मैव रिपुरात्मनः । न सर्वमपि मनः सर्वस्य मित्रम्; किन्तु कस्यचित्किञ्चिन्मित्रं कस्यचित्किञ्चिदमित्रम् । अतो न सर्वेषामप्युत्तरणमित्यर्थः । बाह्यस्यापि रिपोरात्मप्रयुक्तत्वादात्मैव रिपुरित्यवधारणम्, जितमनसो बहिश्शत्रुप्रसक्तेरभावादिति ध्येयम् ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— अतो विषयेष्वननुषञ्जनं कर्म कृत्वैवात्मानमात्मना स्वेनोद्धरेन्नावसादयेच्च । परोपदेशस्य प्रवर्तकत्वमेव नान्यदित्याशयेनात्मनाऽऽत्मानमुद्धरेदित्युक्तम् । तथाहि आत्मैव कर्त्रैव, न परो बन्ध्वादिर्भवति । उक्तं च भागवते [५।५।१८]–'गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात्......न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्' । इति ॥५॥

१० पु. अ. त.— ननु कर्मसु भगवल्लीलानुकरणरूपेषु मनोहरणैकस्वभावेषु कथमासक्तिर्न स्यात् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—उद्धरेदिति । आत्मना पुरुषोत्तमरूपेण आत्मानं जीवं कर्मभ्य उद्धरेत्, आत्मानं न अवसादयेत्, तत्रैवासक्तियुक्तं न कुर्यात् । हि युक्तश्चायमर्थः । आत्मनो जीवस्य आत्मैव जीव एव बन्धुः हितकृत् । आत्मनो जीवस्य आत्मैव स एव रिपुः शत्रुः; अत आत्मना आत्मानमुद्धरेद्बन्धुभावेन, न रिपुभावेन अवसादयेत् ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०—उद्धरेदिति । एवं क्रमेण कर्मद्वारा चित्तशुद्धिं सम्पाद्य योगारूढोऽभ्यासवैराग्यबलेनात्मानमुद्धरेत् । हि यस्मादात्मैवात्मनो बन्धुः, न पुत्रादय उद्धर्तुं क्षमाः । आत्मैव रिपुरात्मनः, न त्वन्ये शत्रवः संसारे मज्जयितुमेनं क्षमा इत्यर्थः ॥ ५ ॥

**बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः ।**
**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत् ॥ ६ ॥**

१ शां. भा.— आत्मैव बन्धुः आत्मैव रिपुरात्मन इत्युक्तं; तत्र किंलक्षण आत्मनो बन्धुः ? किंलक्षणो वाऽऽत्मनो रिपुः ? इत्युच्यते– बन्धुरिति। बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य तस्याऽऽत्मनः स आत्मा बन्धुर्येनाऽऽत्मनाऽऽत्मैव जितः, आत्मा कार्यकरणसङ्घातो येन वशीकृतः, जितेन्द्रिय इत्यर्थः। अनात्मनस्त्वजितात्मनस्तु शत्रुत्वे शत्रुभावे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्; यथाऽनात्मा शत्रुरात्मनोऽपकारी, तथाऽऽत्माऽऽत्मनोऽपकारे वर्तेतेत्यर्थः ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.— उक्तमनूद्य प्रश्नपूर्वकं श्लोकान्तरमवतारयति— आत्मैवेत्यादिना। एकस्यैवाऽऽत्मनो मिथो विरुद्धं बन्धुत्वं रिपुत्वं च लक्षणभेदमन्तरेणायुक्तमिति चोदिते, वशीकृतसङ्घातस्याऽऽत्मानं प्रति बन्धुत्वं, इतरस्य शत्रुत्वं इत्यविरोधं दर्शयति— बन्धुरित्यादिना। वशीकृतसङ्घातस्य विक्षेपाभावादात्मनि समाधानसम्भवादुपपन्नमात्मानं प्रति बन्धुत्वमिति साधयति– तस्येति। अवशीकृतसङ्घातस्य पुनर्विक्षेपोपपत्तेरात्मनि समाधानायोगादात्मानं प्रति शत्रुभावे प्रसिद्धशत्रुवदात्मैव शत्रुत्वेन वर्तेतेत्युत्तरार्धं व्याकरोति— अनात्मन इति। दृष्टान्तं व्याचष्टे— यथेति। उक्तदृष्टान्तवशादवशीकृतसङ्घातः स्वस्य हितानाचरणादात्मानं प्रति शत्रुरेवेति दार्ष्टान्तिकमाह— तथेति ॥ ६ ॥

३ रा. भा.— येन पुरुषेण स्वेनैव स्वमनो विषयेभ्यो विजितं, तन्मनस्तस्य बन्धुः। अनात्मनोऽजितमनसः स्वकीयमेव मनः स्वस्य शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत; स्वनिश्श्रेयसविपरीते वर्तेतेत्यर्थः। यथोक्तं भगवता पराशरेणापि 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः (स्मृतम्)' ॥ [ वि.पु. ६।७।२८ मैत्रा. उ.४।३।११ ब्र. बिं. २] इति ॥ ६ ॥

४ वे. ता. चं.— एकस्यैवैकं प्रति बन्धुत्वं रिपुत्वं च व्याहतमिति शङ्का परिह्रियते— बन्धुरात्मेति श्लोकेन। स्वेनैवेति स्वात्मनेत्यर्थः। मनसो विजयो नाम विषयेभ्यो व्यावर्तनमित्यभिप्रायेणोक्तं— विषयेभ्यो विजितमिति। बन्धुत्वोपपादनं हि मनसो विजयेनोक्तम्। शत्रुत्वोपपादनमपि हि तदभावेनेत्यभिप्रायेणोक्तं अनात्मनोऽजितमनस इति। 'आत्मैव' इत्येवकाराभिप्रेतमाह— स्वकीयमेव मन इति। स्वशेषभूतमेव हि विरोधि सञ्जातमिति भावः। शत्रुशब्दयोः पुनरुक्तिभ्रमव्युदासायान्वयमाह– शत्रुवच्छत्रुत्वे वर्तेतेति। सम्प्रतिपन्नो बाह्यशत्रुरिह दृष्टान्तितः। शत्रुकृत्यमिह शत्रुत्वं विवक्षितमित्याह— स्वनिश्श्रेयसविपरीत इति। नन्वत्रात्मनेत्यादीनां मनोविषयत्वं कथम् ? कार्यकरणसङ्घातविषयत्वं हि परैः (शं.)उक्तम्; ऐकरूप्येण सर्वेषामात्मशब्दानां स्वात्मविषयत्वं किं न स्यात्? कथं च मनसो जयादिः विषयव्यावर्तनादिरूपः ? इति शङ्कायां कर्मकर्त्रादिभेदव्यपदेशौचित्यात् पूर्वोत्तरानुसन्धानाच्च सिद्धमेवार्थं संवादेन द्रढयति– यथोक्तमिति ॥ ६ ॥

५ आ. मा. भा.— कस्य बन्धुरात्मा ? इत्याह– बन्धुरात्मेति। आत्मा मनः, आत्मनो जीवस्य। आत्मना मनसा आत्मानं जीवम्। आत्मैव मनः, आत्मना बुद्ध्या जीवेनैव वा। स हि बुद्ध्या विजयति। उक्तं च–'मनः परं कारणमामनन्ति' 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः' [मैत्रा.४।३।११।ब्र.बिं. २] 'उद्धरेन्मनसा जीवं न जीवमवसादयेत्। जीवस्य बन्धुः शत्रुश्च मन एव न संशयः'। 'जीवेन बुद्ध्या हि यदा मनो जितं तदा बन्धुः शत्रुरन्यत्र चास्य। ततो जयेद्बुद्धिबलो नरस्तद्देवे च भक्त्या मधुकैटभारौ'॥ इत्यादि ब्रह्मवैवर्ते। अनात्मनोऽजितात्मनः पुरुषस्य, अजितमनस्कस्य सदपि मनोऽनुपकारीत्यनात्मा। सन्नपि भृत्यो न यस्य भृत्यपदे वर्तते स ह्यभृत्यः तस्यात्मन एव शत्रुवच्छत्रुत्वे वर्तते ॥ ६ ॥

६ ज. प्र. दी.—'आत्मैव हि'[६।५]इत्युक्तमेव उत्तरश्लोके किमिति कथ्यते ? इति मन्दाशङ्कानिरासार्थमाह—कस्येति। किंविशेषणश्चेत्यपि ग्राह्यम्। तस्यैव तमेव प्रति बन्धुत्वं रिपुत्वं च विरुद्धम्, तद्विशेषणभेदेन व्यवस्थाप्यम्। तथा च किंविशेषणस्यात्मनः किंविशेषणो वाऽऽत्मा बन्धू रिपुश्च ? इत्यर्थं इति पृच्छायामिति शेषः। 'आत्मा आत्मनः' इति पदद्वयम्। आत्मशब्दस्यानेकार्थत्वाद्व्याचष्टे— आत्मेति। नन्वाद्यश्लोके स्वपर्याय एवात्मशब्दः प्रकृतः, तदुपपादकद्वितीये कथमन्योऽर्थः ? इत्यत आह— आत्मनेति। अनयैव रीत्याऽऽद्यश्लोकोत्तरार्धगतात्मशब्दव्याख्यानं द्रष्टव्यम्। 'येनात्मैवात्मना जितः' इत्यत्रात्मशब्दौ व्याचष्टे— आत्मैवेति। एवशब्दोपादानं व्याख्येयविवेकार्थम्। जीवेनैव इत्यवधारणं प्राधान्यज्ञापनार्थम्। यदाऽऽत्मशब्दो जीवे तदा कर्तरि तृतीया, यदा बुद्धौ तदा करण इति ज्ञापयन्नुपपादयति— स हीति। विजयति विजयते; मन इति शेषः। 'स्वेनैव' [रा.भा.] इत्यादिव्याख्याननिरासार्थमुक्तेऽर्थे प्रमाणान्याह— उक्तं चेति। अनात्मन इति

नञ्समासो बहुव्रीहिर्वा स्यात्। नाद्यः, आत्मन आत्मान्यत्वानुपपत्तेः, आत्मान्तरादन्यत्वस्य च प्रकृतेऽनुपयोगात्। न द्वितीयः, आत्मशब्दस्य जीववाचित्वे वा मनोवाचित्वे वा संसारिणि तदभावस्यासम्भवादित्यत आह— **अनात्मन** इति। बहुव्रीहिपरिग्रहसूचनाय पुरुषस्येत्यन्यपदार्थो दर्शितः। अनात्मशब्दार्थं दर्शयितुमाह— **अजितेति**। नन्वविद्यमान आत्मा यस्यासावनात्मा, तत्कथमुच्यतेऽजितात्मन इति ? तत्राह— **सदपीति**। विद्यमानमपि मनोऽजितमनुपकारीति। अविद्यमानसादृश्यादविद्यमानतामुपचर्य अजितात्मा अनात्मोक्त इत्यर्थः। गौणप्रयोगे किं प्रयोजनं ? इति चेत्, न; रूढोपचारे प्रयोजनानपेक्षणात्, इति भावेनाह— **सन्नपीति**। मूलपदे सेवादौ। पदानां व्यवहितत्वादनात्मन इत्यर्थं व्याचष्टे— **तस्येति**। तस्याजितमनस्कस्य बन्धुरेवेत्येवार्थः। शत्रुवत्प्रसिद्धशत्रुरिव शत्रुत्वेऽपकारित्वे ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.**— तत्र किंलक्षण आत्मनो बन्धुः किंलक्षणो वा रिपुरात्मनः ? इत्यत्रोच्यते— **बन्धुरिति**। बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्याऽऽत्मा तस्याऽऽत्मनो बन्धुः। येनाऽऽत्मैवाऽऽत्मना जितः—आत्मा कार्यकरणसङ्घातः, कार्यं शरीरं, करणानीन्द्रियाणि—येन स्वीकृतः, जितेन्द्रिय इत्यर्थः। अनात्मनस्तु शत्रुभावे वर्तेताऽऽत्मैव शत्रुवत्। यथा शत्रुरात्मनोऽपकारी तथाऽऽत्माऽऽत्मनोऽपकारे वर्ततेत्यर्थः ॥६॥

**८ वें. व्र. गि.**— कीदृशं मनस्तावदात्मनो मित्रं कीदृशं वाऽप्यमित्रम् ? तत्राह— **बन्धुरिति**। येनात्मना जीवेन य आत्मा जितः यन्मनो विषयप्रावण्यविनिवर्तनेन स्ववशीकृतम्; तस्यात्मनो जीवस्य स एवात्मा मनो बन्धुः। अनात्मनः अजितमनसो जीवस्य स एवात्मा मनः बाह्यलौकिकशत्रुवत्स्वयमपि शत्रुत्वे शत्रुभावे वर्तते। तथा च स्मृतिः— "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्" [ वि० पु० ६।७।२८ मैत्रा. उ. ४।३।११अ, बिं.२] इतीति भावः ॥ ६ ॥

**९ व० त० दी०**— किम्भूतस्यैवात्मा बन्धुरात्मा रिपुश्च इत्यपेक्षायामाह— **बन्धुरिति**। आत्मा कार्यकरणसङ्घाताभिमानिरूपः। आत्मना विविक्तधिया ॥ ६ ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु कथं स एव बन्धुः ? कथं वा स एव शत्रुः ? अत आह— **बन्धुरिति**। येन आत्मना भावस्वरूपेण आत्मा जितः वशीकृतः, अधिकरणादिदेहकृतिभ्यो भावरूपे स्थापित इत्यर्थः। तस्य आत्मन आत्मैव बन्धुर्हितकृद्भवतीत्यर्थः। स्वस्य दास्यार्थे प्रकटितस्य तदुचितकरणैकभावप्रयुक्तसन्तोषेण बन्धुस्तद्भावस्वरूप एव स्वाधिदैविकस्वरूपेण भवतीति भावः। तु पुनः। अनात्मनो भावस्वरूपरहितस्य आत्मैव शत्रुवत् शत्रुत्वे तद्भावप्रतिबन्धके वर्तेत। तथा चायमर्थः—भावरहितकेवलकर्मासक्तस्वदास्यार्थप्रकटितप्रयोजनरहितस्वस्य स्वरूपानर्थक्यकृतिरोषेणाधिदैविक आत्मा अत्र कर्मसु सेवादिषु तदावेशप्रतिबन्धको भवेत् ॥ ६ ॥

**११ नी० भा० दी०**— आत्मा मनः, आत्मना मनसा। अनात्मनोऽजितचेतसः, आत्मा मन एव शत्रुः ॥६॥

**जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥ ७ ॥**

रामानुजीयः पाठस्तु 'मानावमानयोः' इति।

**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥**
**सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।**
**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥ ९ ॥**

**१ शां. भा.**—**जितात्मन इति**। जितात्मनः कार्यकरणादिसङ्घात आत्मा जितो येन स जितात्मा; तस्य जितात्मनः। प्रशान्तस्य प्रसन्नान्तःकरणस्य सतः सन्न्यासिनः, परमात्मा समाहितः साक्षादात्मभावेन वर्तत इत्यर्थः। किञ्च शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानेऽपमाने च, मानापमानयोः पूजापरिभवयोः ॥ ७ ॥

---

१ 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' इति योगारूढस्य बाह्यं लक्षणमिति **वामनः**। —अविगीता।

२ आ. शां. व्या.—कथं संयतकार्यकरणस्य बन्धुरात्मा इति ? तत्राऽऽह— **जितात्मन** इति । जितकार्यकरणसङ्घातस्य प्रकर्षेणोपरतबाह्याभ्यन्तरकरणस्य परमात्मा विक्षेपेण पुनः पुनरनभिभूयमानो निरन्तरं चित्ते प्रथत इत्यर्थः । जितात्मानं सन्न्यस्तसमस्तकर्माणमधिकारिणं प्रदर्श्य योगाङ्गानि दर्शयति— **शीतेति** । समः स्यादित्यध्याहारः । पूर्वार्धं व्याचष्टे— **जितेत्यादिना** । न केवलं तस्य परमात्मा साक्षादात्मभावेन वर्तते ; किन्तु शीतोष्णादिभिरपि नासौ चाल्यते, तत्त्वज्ञानात्, इत्युत्तरार्धं विभजते— **किञ्चेति** । तेषु समः स्यादिति सम्बन्धः ॥ ७ ॥

**१ शां. भा.— ज्ञानेति । ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं, विज्ञानं तु शास्त्रतो ज्ञातानां तथैव स्वानुभवकरणं, ताभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां तृप्तः सञ्जातालम्प्रत्यय आत्माऽन्तःकरणं यस्य स ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थोऽप्रकम्प्यो भवतीत्यर्थः । विजितेन्द्रियश्च । य ईदृशो युक्तः समाहित इति स उच्यते कथ्यते । स योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनो लोष्टाश्मकाञ्चनानि समानि यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥**

२ आ. शां. व्या.—चित्तसमाधानमेव विशिष्टं फलं चेदिष्टं, तर्हि कथम्भूतः समाहितो व्यवह्रियते ? तत्राऽऽह— **ज्ञानेति** । परोक्षापरोक्षाभ्यां ज्ञानविज्ञानाभ्यां सञ्जातोऽलम्प्रत्ययो यस्मिन्नन्तःकरणे सोऽविक्रियो हर्षविषादकामक्रोधादिरहितो योगी युक्तः समाहित इति व्यवहारभागी भवतीति पादत्रयव्याख्यानेन दर्शयति— **ज्ञानमित्यादिना** । स च योगी परमहंसपरिव्राजकः सर्वत्रोपेक्षाबुद्धिरनतिशयवैराग्यभागीति कथयति— **स योगीति** ॥ ८ ॥

**१ शां. भा.— किञ्च— ‘ सुहृत् ’ इत्यादिश्लोकार्धमेकं पदम् । सुहृदिति प्रत्युपकारमनपेक्ष्योपकर्ता, मित्रं स्नेहवान् , अरिः शत्रुः, उदासीनो न कस्यचित्पक्षं भजते, मध्यस्थो यो विरुद्धयोरुभयोर्हितैषी, द्वेष्य आत्मनोऽप्रियः, बन्धुः सम्बन्धी इत्येतेषु, साधुषु शास्त्रानुवर्तिषु, अपि च पापेषु प्रतिषिद्धकारिषु, सर्वेष्वेतेषु समबुद्धिः ‘कः ? किं कर्म ?’ इत्यव्यापृतबुद्धिरित्यर्थः, विशिष्यते । ‘विमुच्यते’ इति वा पाठान्तरम् । योगारूढानां सर्वेषामयमुत्तम इत्यर्थः ॥ ९ ॥**

२ आ. शां. व्या.—योगारूढस्य प्रशस्तत्वमभ्युपेत्य योगस्याङ्गान्तरं दर्शयति— **किञ्चेति** । ‘ पदच्छेदः पदार्थोक्तिः’ इति व्याख्यानाङ्गं सम्पादयति— **सुहृदितीति** । अरिर्नाम परोक्षमपकारकः, प्रत्यक्षमप्रियो द्वेष्य इति विभागः । समबुद्धिरिति व्याचष्टे— **कः किमिति** । प्रथमो हि प्रश्नो जातिगोत्रादिविषयः, द्वितीयो व्यापारविषयः । उक्तप्रकारेणाव्यापृतबुद्धेः सर्वोत्कर्षो वा सर्वपापविमोक्षो वा सिध्यतीत्याह— **विशिष्यत** इति । पाठद्वयेऽपि सिद्धमर्थं सङ्गृह्य कथयति— **योगारूढानामिति** ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.— योगारम्भयोग्यावस्थोच्यते— जितात्मन इति । शीतोष्णसुखदुःखेषु मानावमानयोश्च जितात्मनः जितमनसो विकाररहितमनसः, प्रशान्तस्य मनसि परमात्मा समाहितः सम्यगाहितः स्वरूपेणावस्थितः । प्रत्यगात्माऽत्र परमात्मेत्युच्यते, तस्यैव प्रकृतत्वात् । तस्यापि पूर्वपूर्वावस्थापेक्षया परमात्मत्वात्; आत्मा परं समाहित इति वाऽन्वयः ॥ ७ ॥**

४ वे. ता. चं.— प्रतिष्ठितयोगत्वावस्था तदारोहणोपायश्चोक्तौ; अथ योगप्रक्रियां वक्तुं तदारम्भदशा ज्ञाप्यत इत्याह— **योगारम्भेति** । सप्तम्याः ‘समाहितः’ इत्यनेन अन्वयभ्रमव्युदासायान्वयं पदार्थांश्च व्यञ्जयति— **शीतोष्णेति** । एतेन ‘मानावमानयोः समस्य’ इति परोक्ताध्याहारोऽनपेक्षित इति दर्शितम् । शीतोष्णादिषु द्वन्द्वेष्वनुभूयमानेषु कथं मनसो विजयः? इत्यत्राह— **विकाररहितमनस** इति । विकारश्च हर्षोद्रेकादिरूपः प्रागुक्तः । ‘प्रशान्तस्य’ इत्येतद्बाह्येन्द्रियव्यापारनिवृत्तिपरम्, मनोविकारनिवृत्तेरुक्तत्वात्; असन्निहितफलाभिसन्ध्यादिराहित्यपरं वा । ‘समाहितः ’ इत्यस्याकाङ्क्षितं प्रकृतमुचितं चाधिकरणमाह— **मनसीति** । **सम्यगाहित** इति— विशदानुसन्धानयोग्यो जात इत्यर्थः । जीवात्मप्रकरणे परमात्मा कथमुच्यते इत्यत्राह **स्वरूपेणेति** । **अत्रेति** प्रकरणौचित्यसूचनम् । तदेव दर्शयति— **तस्यैवेति** । एवकारेण प्रासङ्गिको हि पूर्वं परमात्मप्रसङ्ग इति ज्ञापितम् । अपरस्य जीवस्य परमात्मशब्दविषयत्वं कथं ? इत्यत्राह — **तस्यापीति** । तथापि परमात्मशब्दस्य प्रसिद्धार्थः परित्यक्तः स्यात्, परत्वं च सङ्कुचितम्, परमशब्दनिर्वचनं च न घटते; परो मा अस्मादिति हि तत् । नच पूर्वपूर्वावस्थापेक्षया परो मा अस्मादित्यन्वयः सिध्यतीत्यरुचेरन्वयान्तरमाह— **आत्मा परमिति** । अत्र चाधिकं केवलमिति वा परशब्दार्थः ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**—ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा—आत्मस्वरूपविषयेण ज्ञानेन, तस्य च प्रकृतिविसजातीयाकारविषयेण विज्ञानेन च तृप्तमनाः। कूटस्थः देवाद्यवस्थास्वनुवर्तमानः सर्वसाधारणज्ञानैकाकारात्मनि स्थितः, तत एव विजितेन्द्रियः, समलोष्टाश्मकाञ्चनः प्रकृतिविविक्तस्वरूपनिष्ठतया प्राकृतवस्तुविशेषेषु भोग्यत्वाभावाल्लोष्टाश्मकाञ्चनेषु समप्रयोजनो यः कर्मयोगी स युक्त इत्युच्यते—आत्मावलोकनरूपयोगाभ्यासार्ह इत्युच्यते ॥ ८ ॥

**४ वे. ता. चं.**—इन्द्रियविजयो द्वन्द्वसहत्वं चोक्तम्; अथ तयोर्हेतुरुच्यते—'ज्ञान'- इति श्लोकेन। ज्ञानविज्ञानशब्दयोः पौनरुक्त्यव्युदासायोपसर्गद्योतितं विषयविशेषं व्यञ्जयति **आत्मस्वरूपे**त्यादिना। पारलौकिकसमस्तकर्मापेक्षितदेहादिव्यतिरिक्तत्वधीरिह **ज्ञानम्**। मोक्षाधिकारिणो विशेषतोऽपेक्षितनित्यत्वनिरतिशयानन्दत्वादिधीस्तु **विज्ञानं**, न पुनरुपासनरूपज्ञानम्। तत्सामग्रीपरत्वाद्वाक्यस्येति भावः। कूटे तिष्ठतीति कूटस्थः। कूटशब्दश्च परिशुद्धात्मन्यौपचारिकः। कूटस्य ह्यागन्तुकविनश्वरायःपिण्डादिसंश्लेषविश्लेषरूपावस्थाप्रवाहे वर्तमानेऽपि स्वस्वरूपे न शैथिल्यादिरूपो विकारः, तद्वदत्रापि देवादिशरीरसंश्लेषविश्लेषरूपावस्थाप्रवाहेऽपि 'न जायते म्रियते' [ २।२० ]इत्यादिनोक्तप्रकारेण निर्विकारत्वं सिद्धमिति कूटशब्देनोपचारो युज्यत इत्यभिप्रायेणाह— **देवादी**ति। शिखरपर्यायकूटविवक्षया वोपचारः। कूटस्थ इव वा साधारणतयानुसन्धानादसौ कूटस्थ इत्यभिप्रायेणाह— **देवाद्यवस्थास्वि**ति। देवशब्दोऽत्र भावप्रधानः। अनुवर्तमानत्वात् सर्वसाधारणत्वमित्यपौनरुक्त्यम्। यद्वा सर्वात्मसाधारणेत्यर्थः। पूर्वश्लोकोक्तजितेन्द्रियत्वादौ हेतुरयमुक्त इत्याह— **तत एवे**ति। स्वरूपकार्यकारणादिभिरत्यन्तविषमाणां लोष्टादीनां समत्वं कथमिति शङ्कानिराकरणाय **प्रकृती**त्यादि**समप्रयोजन** इत्यन्तमुक्तम्। लोष्टाश्मभेदवदश्मकाञ्चनादिभेदेऽपीत्यनेकदृष्टान्ताभिप्रायः। अत्रोद्देश्योपादेयांशौ विभजते— **य** इत्यादिना। युक्तशब्द एवात्र योग्यपर्यायः; प्रकरणवशात्तु योगाभ्यासविषयत्वं सिद्धम्। यद्वा प्रकृतिप्रत्यययोरर्थभेदविवक्षया **योगाभ्यासार्ह** इत्युक्तम् ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.**— तथा च वयोविशेषानङ्गीकारेण स्वहितैषिणः सुहृदः, सवयसो हितैषिणो मित्राणि, अरयो निमित्ततोऽनर्थेच्छवः, उभयहेत्वभावात् उभयरहिता उदासीनाः, जन्मत एवोभयरहिता मध्यस्थाः, जन्मत एवानिष्टेच्छवो द्वेष्याः, जन्मत एव हितैषिणो बन्धवः, साधवो धर्मशीलाः, पापाः पापशीलाः, आत्मैकप्रयोजनतया सुहृन्मित्रादिभिः प्रयोजनाभावाद्विरोधाभावाच्च तेषु समबुद्धिर्योगाभ्यासार्हत्वे विशिष्यते ॥ ९ ॥

**४ वे. ता. चं.** —'समलोष्टाश्मकाञ्चनः' [ ६।८ ] इति अचेतनेषूक्त एवार्थश्चेतनविषयतया प्रपञ्च्यत इत्यभिप्रायेणाह— **तथा चे**ति। यद्वा सुहृदादिषु समबुद्धित्वस्य दुष्करतरत्वादत्र 'विशिष्यते' इत्युक्तेश्च समदर्शित्वातिशयोऽत्र विवक्षितः; तथाच अपिचेत्यर्थः; सुहृन्मित्रबन्धुशब्दानां अरिद्वेष्यशब्दयोरुदासीनमध्यशब्दयोश्च पौनरुक्त्यमपाकर्तुं तत्तत्पदव्याख्या। बन्धुशब्दस्तावत्पित्रादिषु प्रसिद्धः, मित्रशब्दश्च सवयस्सु, अतः पारिशेष्यात्सुहृच्छब्दस्तदुभयव्यतिरिक्तविषय इत्यभिप्रायेणाह— **वयोविशेषानङ्गीकारेणे**ति। **सवयस** इत्यनेन मित्राणां क्रीडादिरूपप्रियैषित्वमप्यस्तीति सूचितम्। बन्धुशब्दासक्तेर्द्वेष्यशब्दस्तावत्सहजशत्रुविषयः प्राप्तः, ततोऽत्रापि पारिशेष्यादरिशब्दं कृत्रिमशत्रुविषयमाह— **अरयो निमित्ततोऽनर्थेच्छव** इति। मध्यस्थशब्दोऽपि द्वेष्यबन्धुशब्दासक्तेर्हेतुतो हिताहितप्रवृत्तियोग्येषु प्रयोगाभावाच्च जन्मत एवोभयरहितविषय उचितः। ततः परिशेषादौदासीन्यस्य प्रवृत्तिप्रतिसम्बन्धिकत्वेन तत्स्मारकत्वात्कारणागमे हिताहितप्रवृत्तियोग्यास्तदभावमात्रेण तद्रहिता उदासीना इत्यभिप्रायेणाह—**उभये**ति। उभयं हितैषित्वमहितैषित्वं च जन्मतः सम्बन्धिनो बन्धव इत्येतावन्मात्रस्य दुर्योधनादिष्वतिव्याप्तेः **जन्मत एव हितैषिणो बन्धव** इत्युक्तम्। एवं स्वप्रतिसम्बन्धिनः पुरुषा उक्ताः; अथ साधारण्येन श्लाघ्यत्वनिन्द्यत्वाद्याश्रयाः पुरुषाः साधुपापशब्दाभ्यामभिधीयन्त इत्यभिप्रायेणाह— **साधव** इति। वाक्यार्थमाह— **आत्मैके**ति। सुहृदादिभिः प्रयोजनाभावादितरैर्विरोधाभावाच्चेत्यर्थः। ननु युक्तं नाम सुहृदादिषु समबुद्धित्वम्; न तु साधुषु पापेषु च योगिनां समं प्रायोजनम्, सत्सङ्गमादेरसत्परित्यागादेश्च ज्ञानवृद्धिहेतुत्वेन तेषामवश्यापेक्षितत्वात्। उच्यते— नेदानीमुपजीवकदशापन्नो योगी निर्दिश्यते; किन्तु श्रुतसकलश्रोतव्यः कृतसकलकर्तव्यः साक्षात्कारात्यन्तयोग्यदशापन्नः; तथाविधस्य च तस्य साधुभिः पापैश्च प्रयोजनाभावः समः; केवलं योगोपयुक्तरहस्यस्थानादेरेवोपादेयत्वादिति भावः। योगाभ्यासार्हदशा हि प्रागप्युक्ता; इयं तु तत्र काष्ठाप्राप्तावस्थेति 'विशिष्यते' इत्यस्य भावः। तदाह— **योगाभ्यासार्हत्वे विशिष्यते** इति। अत्र 'विमुच्यते' इति परैः (शं.) पठितात्पाठविकल्पादयमेव पाठ उचित इति भावः ॥ ९ ॥

**५ आ. मा. भा.**— जितात्मनः फलमाह— **जितात्मन इति**। जितात्मा हि प्रशान्तो भवति। न तस्य मनः प्रायो विषयेषु गच्छति। तदा च परमात्मा सम्यगाहितः हृदि सन्निहितो भवति, अप-

रोक्षज्ञानी भवतीत्यर्थः। अपरोक्षज्ञानिनो लक्षणं स्पष्टयति—शीतोष्णेत्यादिना। शीतोष्णादिषु कूटस्थः ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा विजितेन्द्रिय इति कूटस्थत्वे हेतुः। विज्ञानं विशेषज्ञानं अपरोक्षज्ञानं वा। तच्चोक्तं—'सामान्यैर्ये त्वविज्ञेया विशेषा मम गोचराः। देवादीनां तु तज्ज्ञानं विज्ञानमिति कीर्तितम्' ॥ इति। 'श्रवणान्मननाच्चैव यज्ज्ञानमुपजायते। तज्ज्ञानं दर्शनं विष्णोर्विज्ञानं शम्भुरब्रवीत् ॥ विज्ञानं ज्ञानमङ्गादेर्विशिष्टं दर्शनं तथा' इत्यादि। कूटस्थो निर्विकारः, कूटवत्स्थित इति व्युत्पत्तेः। कूटमाकाशः 'कूटं खं विदलं व्योम सन्धिराकाश उच्यते'। इत्यभिधानात्। योगी योगं कुर्वन्। युक्तो योगसम्पूर्णः। एवम्भूतो योगानुष्ठाता योगसम्पूर्ण उच्यत इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—योगो विहितः, तत्किं जितात्मन इत्यनेन? इत्यत आह—**जितात्मन** इति। उपकारी हि बन्धुरुच्यते। तत्र जितं मनः कमुपकारं करोति येन बन्धुः स्यात्? आत्मोद्धारं करोतीति चेत्, स एव च कः? इत्याशङ्क्येति शेषः। जितात्मनः फले वक्तव्ये प्रशान्तस्येत्यनुवादः किमर्थः? इत्यत आह—**जितात्मा हीति**। वाक्यभेदेनेदमेव फलकथनमिति भावः। ननु जितात्मत्वमेव प्रशान्तत्वं, तत्कथं तत्फलं स्यात्? इत्यत आह—**नेति**। तस्य जितात्मनः स्वत एवेति शेषः। तर्हि निराकाङ्क्षत्वादुत्तरं वाक्यं व्यर्थमित्यतः परमफलं दर्शयितुं तदिति भावेन न्यूनमध्याहारेण पूरयन्व्याचष्टे—**तदा चेति**। प्रशान्तत्वे सति परमात्मा सर्वेषां हृदि सन्निहित एव, तत्कुतः प्रशान्तस्य विशेषः? इत्यतः सम्यक्पदसूचितार्थं विवृणोति—**अपरोक्षेति**। योगारूढ इत्यर्थः। 'यदा हि' [६।५] इति योगारूढस्य लक्षणमुक्तं, तत्किमर्थं पुनरुच्यते? इत्यत आह—**अपरोक्षेति**। सार्धश्लोकद्वयग्रहणायादिपदं, अत्र सप्तम्या अन्वयो न दृश्यतेऽत आह—**शीतेति**। अत्र भास्करोऽन्वयमपश्यन् 'परमात्मा समाहितः' इति सम्प्रदायागतं पाठं विसृज्य 'परात्मसु समा मतिः' इति पाठान्तरं प्रकल्प्य 'समा मतिः' इति तु आवर्त्य सप्तम्या अन्वयमुक्त्वा पूर्वपाठेऽन्वयाभाव इत्यवादीत्; तदनेन नापहसितं भवति। कृत्रिमेऽपि पाठे 'सुहृत्' इत्यादिकं 'आत्मौपम्येन' [६।३२] इत्यादिकं च पुनरुक्तं स्यात्। ननु यः शीतोष्णादिषु कूटस्थः, तस्य ज्ञानविज्ञानतृप्तमनस्त्वं विजितेन्द्रियत्वं चार्थात्सिद्धमेव, तत्किमर्थं पुनरुच्यते? इत्यत आह—**ज्ञानेति**। प्रत्येकमन्वयादेकवचनम्। ननु शिल्पादिविषया बुद्धिर्विज्ञानम्, 'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' [अमरः १।५।६] इत्यभिधानात्; तत्कथं विज्ञानेन तृप्तात्माऽयं स्यात्? इत्यत आह—**विज्ञानमिति**। अनेन सामान्यज्ञानं परोक्षज्ञानं वा ज्ञानमिति सूचितम्। कुत एतत्? इत्यत आह—**तच्चेति**। प्रसिद्धाभिधानार्थोऽप्यङ्गीक्रियत इति चशब्दः। सामान्यैः साधारणैः पुरुषैः। सामान्यविषयं तु ज्ञानमित्यपि द्रष्टव्यम्। तदेव ज्ञानमिति सम्बन्धः। अङ्गादेर्व्याकरणादेः शिल्पस्य च। विशिष्टं दर्शनं वैष्णवशास्त्रम्। कूटस्थशब्दो नित्यादिपर्यायः, तेन कथमन्वयः सप्तम्याः? इत्यत आह—**कूटस्थ** इति। तत्कथं? इत्यत आह—**कूटवदिति**। 'सुपि स्थः' [अष्टा. ३।२।४] कूटशब्दोऽनृतवाद्यादिवाची, तत्परिग्रहे निर्विकारत्वं न लभ्यत इत्यत आह—**कूटमिति**। एतैः शब्दैराकाश उच्यत इत्यर्थः। 'युक्तो योगी' इति पुनरुक्तिरिति मन्दाशङ्कानिरासार्थमाह—**योगीति**। इनेरस्त्यर्थत्वात् कुर्वन्नित्युक्तम्। निष्ठाया भूतार्थत्वात् सम्पूर्ण इति। वक्ष्यमाणान्वयापेक्षया क्रमोल्लङ्घनम्। तर्हि विरुद्धार्थयोः कथं सामानाधिकरण्यं? इत्यत आह—**एवम्भूत** इति। 'धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः' इति ह्युक्तम् ॥ ७ ॥ ८ ॥

**९ आ. मा. भा.**— स एव च सर्वस्माद्विशिष्यते। साधुपापादिषु समबुद्धिः जीवचितः। परमात्मनः सर्वस्य तन्निमित्तकत्वस्य च सर्वत्रैकरूप्येण चिद्रूपा एव हि जीवाः। विशेषस्त्वन्तःकरणकृतः। सर्वेषां साधुत्वादिकं सर्वमीश्वरकृतमेव। स्वतो न किञ्चिदपि।

**६ ज. प्र. दी.**— मध्ये लक्ष्यस्योक्तत्वात् 'सुहृत्' इत्यादिकं न योगारूढलक्षणमिति प्रतीतिनिरासायाह— **स एवेति**। साधुपापादिषु समबुद्धिश्च स योगारूढ एवेति न, किन्तु सर्वस्मादयोगिवर्गाद्विशिष्यत इत्येतदुक्तं पृथगन्वय इति भावः। साधुत्वं धर्मित्वम्, पापत्वं पापवत्त्वं च नियतं, न तु सुहृत्त्वादिवदव्यवस्थितमित्यतः सुहृदादिष्वित्यनुक्त्वा 'साधुपापादिषु' इत्युक्तम्। समबुद्धित्वं नाम पूजादिसाम्यमित्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह— **जीवचित** इति। 'एष चेतनया युक्तो जीव इत्यभिधीयते' इति चेतनाचेतनपिण्डे जीवशब्दप्रयोगात् चित इत्युक्तम्। सुहृदादिचैतन्यस्य तथा सर्वत्र सुहृदादिषु स्थितस्य परमात्मनः, एवं सर्वत्र सुहृदादिषु स्थितस्य सुहृत्त्वादेः परमात्मनिमित्तकत्वस्य चैकरूप्येण कारणेन तद्दर्शी समबुद्धिरित्यर्थः। तत्राद्यं प्रकारं विवृणोति— **चिद्रूपा एवेति**। मनुष्येषु यदेकं एकं प्रति सुहृदित्यादि, तत् न जीवस्वभावान्तर्गतं; किन्तु चिद्रूपत्वादिकमेवेत्यर्थः। तर्हि सुहृत्त्वादिधर्मः किमात्मकः? इत्यत आह— **विशेषस्त्विति**। अन्तःकरणोपादानको बाह्यधर्मः। एतदुक्तं भवति— मुक्ताववशिष्यमाणं यज्जीवरूपं तत् 'त्रिविधा जीवसङ्घाः' इत्यादिप्रमाणाद्विषममेव; किन्तु देहेन्द्रियान्तःकरणधर्मैर्यद्वैषम्यं तत्तत्स्वरूप एवारोप्य विषमबुद्धित्वं योगारूढस्य नास्तीति द्वितीयः प्रकारः स्फुटः। तृतीयं विवृणोति— **सर्वेषामिति**। स्वतः स्वातन्त्र्येण।

**५ आ. मा. भा.**— उक्तं चैतत्सर्वम्– ‘स्वतः सर्वेऽपि चिद्रूपाः सर्वदोषविवर्जिताः । जीवास्तेषां तु ये दोषास्त उपाधिकृता मताः ॥ सर्वे चेश्वरतस्तेषां न किञ्चित्स्वत एव तु । समा एवं ह्यतः सर्वे वैषम्यं भ्रान्तिसम्भवम् ॥ एवं समानजीवास्तु विशेषो देवतादिषु । स्वाभाविकस्तु नियमादत एव सनातनाः ॥ असुरादेस्तथा दोषा नित्याः स्वाभाविका अपि । गुणदोषौ मानवानां नित्यौ स्वाभाविकौ मतौ ॥ गुणैकमात्ररूपास्तु देवा एव सदा मताः’ । इति ब्राह्मे । न तु साधुपापादीनां पूजादिसाम्यम् , तत्र दोषस्मृतेः ; ‘समानां विषमा पूजा विषमाणां समा तथा । क्रियते येन देवोऽपि स्वपदाद्भ्रश्यते पुमान्’ ॥ इति ब्राह्मे ।

**६ ज. प्र. दी.**—अत्र प्रमाणमाह— **उक्तं चे**ति । स्वतः स्वरूपेण । दोषैररित्वादिभिः । एवं सुहृत्त्वादिगुणैरित्यपि ग्राह्यम् । आगन्तुकधर्मा न स्वरूपान्तर्गता इत्यर्थः । किं तर्हि ? इत्यत आह—**तेषां त्वि**ति । दोषा गुणाश्च । उपाधिरन्तःकरणादिः । सर्वं सुहृत्त्वादिकम् । अतएव प्रकारद्वयेन यदनात्मधर्मानात्मस्वन्तर्भाव्य वैषम्यम् , यच्च क्वचित् परमेश्वरानधीनरूपत्वं तद्भ्रान्तिप्रतीतम् । योगे प्रवर्तमानं प्रति यत्सुहृत्त्वादिकं तत् मनुष्येष्वेव स्वरूपवैषम्यकारणं न भवति । न तु देवादिष्वित्युक्तस्यापवादमाह—**एवमि**ति । तुशब्दोऽवधारणे। अवधारणार्थं विवृणोति—**विशेष** इति । विशेषो योगिनं प्रति सुहृत्त्वादिः । तदेव प्रपञ्चयति—**असुरादे**रिति । तथाशब्दो वक्ष्यमाणसमुच्चये। दोषा योगिनं प्रति अरित्वाद्याः । तथा चोक्तम् ‘विद्ध्येनमिह वैरिणम्’ [ ३।३७ ] इति । गुणदोषौ सुहृत्त्वारित्वादी अनागन्तुकौ । गुणैः सुहृत्त्वादिभिरेकमात्रं गुणैकमात्रम्। तथा च श्रुतिः “यथा ह वै बहवः पशवः” [ बृ. उ. १।४।१० ] इत्यादिका । ‘सुहृत्’ इत्यादिश्लोकस्य प्रतीत एवार्थः किं न स्यात् ? इत्यत आह—**न त्वि**ति । सर्वशब्दपर्यायस्य समशब्दस्यैव सर्वनामसंज्ञा , न साधारणार्थस्य; समे देशे यजति इति ।

**५ आ. मा. भा.**— ‘वित्तं बन्धुर्वयः कर्म विद्या चैव तु ( भवति ) पञ्चमी । एतानि मान्यस्थानानि गरीयो ह्युत्तरो–( यद्यदु )त्तरम्’ ॥ [ २।१३६ ] इति मानवे । ‘गुणानुसारिणीं पूजां समां दृष्टिं च यो नरः । सर्वभूतेषु कुरुते तस्य विष्णुः प्रसीदति ॥ वैषम्यमुत्तमत्वं तु ददाति नरसञ्चयात् । पूजाया विषमा दृष्टिः समा साम्यं विदुःखजम्’ ॥ इति ब्रह्मवैवर्ते । सुहृदादिषु शास्त्रोक्तपूजादिकृतिः । अन्यूनानधिका या साऽपि समता । तदप्याहुः– ‘यथा सुहृत्सु कर्तव्यं पितृशत्रुसुतेषु च । तथा करोति पूजादि समबुद्धिः स उच्यते’ ॥ इति गारुडे । प्रत्युपकारानिरपेक्षयोपकारकृत्सुहृत् । क्लेशस्थानं निरूप्य यो रक्षां करोति स मित्रम् । अरिर्वधादिकर्ता । कर्तव्ये उपकारे अपकारे च य उदास्ते स उदासीनः । कर्तव्यमुभयमपि यः करोति स मध्यमः । अवासितकृद्द्वेष्यः । आह चतत्–‘द्वेष्योऽवासितकृत्कार्यमात्रकारी तु मध्यमः । प्रियकृत्प्रियो निरूप्यापि क्लेशं यः परिरक्षति ॥ स मित्रमुपकारं तु अनपेक्ष्योपकारकृत् । यस्ततः स सुहृत्प्रोक्तः शत्रुश्चापि वधादिकृत्’ ॥ इति ॥ ९ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—तथा न केवलं समपूजायां दोषः, किन्तु विषमपूजाविधानं चास्तीत्याह—**वित्तमि**ति । बन्धुरिति बन्धुत्वम् । मान्यानि च तानि स्थानानि च । वित्तादिशब्दैः तद्वन्त उपलक्ष्यन्ते । दृष्टिरेवोक्तप्रकारत्रयेण समा कार्या , पूजा तु विषमैवेत्यत्र प्रमाणान्तरमाह— **गुणे**ति । या विषमा पूजा सा वैषम्यम् । तस्यैव व्याख्यानमुत्तमत्वम् । साम्यं ददाति विदुःखत्वनिमित्तम् । समबुद्धित्वं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे— **सुहृदादिष्वि**ति । एतन्न योगारूढविषयमिति तत्रैव नोक्तम् । न हि योगारूढो लौकिकेष्वरिष्वपकारं करोति यः । सुहृन्मित्रशब्दयोररिद्वेष्यशब्दयोरुदासीनमध्यस्थशब्दयोश्चार्थभेदो न प्रतीयते, अत आह—**प्रत्युपकारे**ति । निरपेक्षयाऽनपेक्षया अवासितमप्रियं , तत उपक्रियमाणात् ॥ ९ ॥

**७ ह. पै. भा.**— जितात्मनः प्रशान्तस्य कार्यकरणसङ्घात आत्मा जितो येन स जितात्मा तस्य जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः साक्षादात्मभावेन वर्तत इत्यर्थः । किञ्च शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोः समस्य ॥ ७ ॥ ज्ञानेति । ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानं, विज्ञानं विशेषतो ज्ञानं स्वानुभवकरणं, ताभ्यां तृप्तात्मा कूटस्थोऽप्रकम्प्यो भवतीत्यर्थः । विजितेन्द्रियश्चेदशो युक्तः समाहितः स उच्यते समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ ८ ॥ किञ्च–श्लोकार्धमेकं पदम् । सुहृदिति प्रत्युपकारमन-

पेक्ष्योपकर्ता, मित्रं स्नेहवान्, अरिः शत्रुः, उदासीनो न कस्यचित्पक्षं भजते, मध्यस्थो विरुद्धयोरुभयोर्हितैषी, द्वेष्य आत्मनोऽप्रियः, बन्धुः सम्बन्धी इत्येतेषु, साधुषु शास्त्रार्थानुवर्तिषु, अपि च पापेषु प्रतिषिद्धकारिषु सर्वेष्वेतेषु समबुद्धिः' कः किं कर्म ?' इत्यव्यापृतबुद्धिरित्यर्थः । विशिष्यते योगारूढानां सर्वेषां युक्ततम इत्यर्थः ॥ ९ ॥

८ वें. व्र. गि.— जितात्मनो बन्धुत्वं विवृणोति— जितात्मन इति । शीतोष्णसुखदुःखेषु पूजापरिभवयोश्च जितात्मनो जितमनसः; अत एव प्रशान्तस्य रागादिशून्यतया निर्विकारस्य, एवम्भूतस्यैव परं केवलं आत्मा समाहितो योगारूढो भवति । यद्वा 'परमात्मा' इत्येकं पदम् । परमेश्वर एतादृशस्य समाधिविषयो भवतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

अथ योगारूढस्य लक्षणमाह द्वाभ्याम् — ज्ञानेति । ज्ञानमौपदेशिकम्, विज्ञानमपरोक्षानुभवः; ताभ्यां तृप्तः सञ्जातालम्प्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य स तथोक्तः; ततः कूटस्थः विषयसन्निधावपि निर्विकारः; तत एव विजितानि रागद्वेषपूर्वकाद्विषयग्रहणाद्व्यावर्तितानीन्द्रियाणि येन सः; तत एव च हेयोपादेयबुद्धिशून्यत्वेन समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि मृत्खण्डपाषाणस्वर्णानि यस्य सः योगी युक्तो योगारूढ इत्युच्यते ॥ ८ ॥

प्रत्युपकारमनपेक्ष्य स्नेहसम्बन्धं च विनैवोपकर्ता सुहृत् । मित्रं स्नेहेनोपकारी । निष्कारणमपकारकृदरिः । विवदमानयोरुभयोरप्युपेक्षक उदासीनः । उभयोरपि हितैषी मध्यस्थः । उपकारिण्यप्यपकर्ता द्वेष्यः । शरीरसम्बन्धी बन्धुः । धर्मशीलाः साधवः । पापशीलाः पापाः । एतेषु सुहृदादिषु चकारादन्येष्वपि समबुद्धिः 'कः कीदृशः?' इत्यव्यापृतबुद्धिः; एवँल्लक्षणो योगारूढः सर्वेभ्योऽपि योगिभ्यो विशिष्यते विशिष्टो भवति ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— जितात्मनो बन्धुत्वं स्फुटयति— जितात्मन इति । कालधर्मेषु शीतोष्णादिषु सत्स्वपि तस्य परं केवलमात्मा समाहितो भवतीति परमात्माऽन्तर्यामीव समाधिगतो भवति ॥ ७ ॥ योगारूढस्य स्वरूपं श्रैष्ठ्यं चोपपादयति द्वाभ्यां— ज्ञानविज्ञानेति । ज्ञानमौपदेशिकं, विज्ञानमपरोक्षानुभवः, ताभ्यां तृप्त आत्मा यस्य कूटे स्थितोऽपि युक्त इत्युच्यते, स योगी सुहृदादिषु तद्विपरीतेषु च समबुद्धिरधिकतरो भवतीति विशिष्यते ॥ ८ ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— ननु बन्धुत्वे कथं हितकृद्भवेत् ? इत्यत आह— जितात्मन इति । जितात्मनः वशीकृतभावात्मनः । शीतोष्णसुखदुःखेषु संयोगविप्रयोगेषु प्रशान्तस्य संयोगे स्वसौभाग्यादिमदरहितस्य विप्रयोगे क्लेशेन प्रिये दोषारोपरहितस्य । तथा भगवतः सकाशान्मानापमानयोः समस्य । परमात्मा पुरुषोत्तमः समाहितस्तदर्थं दास्यदाने सावधानस्तिष्ठति । तद्धृदय एव समाहितस्तिष्ठतीति भावः ॥ ७ ॥ ननु परमात्मा हृदयस्थोऽस्तीति कथं ज्ञातव्यः ? इत्याकाङ्क्षायामाह— ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मेति । ज्ञाने शास्त्ररीत्या भगवत्स्वरूपज्ञाने विज्ञाने भावात्मकत्वरूपानुभवे तृप्तः संशयकोटिरहित आत्मा अन्तःकरणं यस्य, कूटस्थः निर्विकारः भगवच्चरणस्वरूपैकनिष्ठः, विजितेन्द्रियः स्वभोगेच्छारहितः, युक्तो योगारूढ इत्युच्यते । समलोष्टाश्मकाञ्चनः मृत्पाषाणसुवर्णेषु समो भगवदीयभावरूपवान् योगी मत्संयोगवानुच्यते, मयेति शेषः । अत्रायं भावः— मृत्तिकायां भगवदङ्गसौगन्ध्यस्मरणेन सेवौपायिकशरीरासितापभाववान्, पाषाणे भगवद्विप्रयोगजडतास्मरणेन स्वस्य तदभावतापात्तत्र स्निग्धभाववान्, सौवर्णे चालौकिककान्तिदर्शनेन रसभाववांस्तथोच्यत इति भावः ॥८॥ किञ्च एतत्त्रितय एव न समः, किन्तु सर्वत्रैव समबुद्धिरुत्तम इत्याह— सुहृदिति । सुहृत् सर्वहितोपदेशकृत् । मित्रं स्नेहपरवशः, अरिः स्वस्मिन् शत्रुबुद्धिमान्, उदासीनो निरपेक्षः, मध्यस्थो विवदमानयोः सदसद्वाक्यविचारकः, द्वेष्यः सद्भावहीनः, बन्धुः सम्बन्धी, एतेषु साधुषु सदाचारेषु । अपि च किं पुनः? पापेषु धर्मविरोधिषु समबुद्धिः भगवद्विप्रयोगेन भगवदात्मबुद्धिस्तेषु वा तद्विप्रयोगेन तथाभावदर्शी विशिष्यते ; योगयुक्तेषूत्तम इत्यर्थः । अत्रायं भावः— भगवद्विप्रयोगे तत्सौहार्दस्मरणेनायं सर्वेषु सौहार्दधर्मवान्, तथैव च मित्रधर्मवान्, तदहितेषु अरिबुद्धिमान्, तत्तदुःखेन सर्वत्रौदासीन्यधर्मवान्, विप्रयोगावस्थायां तदनुकरणेन मध्यस्थधर्मवान्, तथैव तत्क्लेशेन द्वेषधर्मवान्, तत्सम्बन्धस्मरणेन बन्धुधर्मवान्, तदर्थं सदाचारवान्, तत्तापातिशयेन पापरूपवान् जडत्वधर्मेण; एवं यः समबुद्धिः स विशिष्ट इत्यर्थः ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— मनसो जये फलमाह— जितात्मन इति । शीतोष्णादिषु प्राप्तेषु जितात्मनो निर्विकारचित्तस्यात्मा चित्तं परमुत्कर्षेण समाहितः समाधिं प्राप्तो भवति । अतः समाधिसिद्ध्यर्थं मनो जेतव्यमेवेत्यर्थः ॥ ७ ॥ समाधिसिद्धेरपि किं फलं ? अत आह— ज्ञानेति । ज्ञानं शास्त्रोपदेशजा बुद्धिः, विज्ञानं शास्त्रार्थध्यानजः प्रमारूपोऽनुभवः, ताभ्यां तृप्तः सञ्जातालम्प्रत्यय आत्मा चित्तं यस्य स ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा । यतस्तृप्तात्माऽतः कूटस्थोऽप्रकम्प्यः संसारतापानास्कन्दितो भवतीति समाधिफलम् । अस्य लोकप्रसिद्धं

लक्षणमाह–विजितेन्द्रिय इति । समलोष्टाश्मकाञ्चन इत्येवंविधो योगी स युक्तः प्राप्तयोग इत्युच्यते विद्वद्भिः ॥ ८ ॥ समत्वमेव स्तौति— सुहृदिति । सुहृत् प्रत्युपकारमनपेक्ष्योपकर्त्ता, मित्रं स्नेहवान्, अरिः शत्रुः, उदासीन उभयत्र पक्षपातशून्यः, मध्यस्थ उभयहितैषी, द्वेष्य आत्मनोऽप्रियः, बन्धुः सम्बन्धी, तेषु; साधुषु पुण्यकृत्सु, पापेषु पापाचारेषु कस्य किं कर्मेत्यनालोचयन् तेषु सर्वेषु यः समबुद्धिः स विशिष्यते ॥ ९ ॥

सम्प्रज्ञातसमाधेः साङ्गानि बाह्यान्तरुपकरणानि ।

**योगी[1] युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः ।**
**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥ १० ॥**
**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः[2] ।**
**नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ ११ ॥**

* 'चेलाजिन—' इति रामानुजीयः पाठः ।

**तत्रैकाग्रं[3] मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः ।**
**उपविश्याऽऽसने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥ १२ ॥**
**समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।**

रामानुजीयः पाठस्तु 'स्थिरम्' इति ।

**सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥ १३ ॥**
**प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।**
**मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥ १४ ॥**
**युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी नियतमानसः ।**
**शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥ १५ ॥**

---

१ **नव्यास्तु**–'अथास्य योगस्य सिद्धये किं साधनमिति निरूपयन्ति' इतीमं श्लोकमवतारयन्ति; तदत्रोक्तस्य पातञ्जलयोगस्य तदभिमतकर्मयोगसाधनत्वाभावात्प्रामादिकमेव । योगी कर्मयोगीति व्याख्यानमपि तथाभूतम् । उक्तहेतोरेवेति नाधिकं प्रपञ्च्यते ।

२ आत्मन इति परासनव्यावृत्त्यर्थम्, तस्याशुचित्वात् । तथा चोक्तम्–'आत्मशय्यासनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः । शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु ॥' ( बौ.ध.सू. १।२।६१ ) इति । परासनेऽवस्थितेः परेच्छाधीनत्वेन विक्षेपसम्भवात्तद्व्युदास इत्यन्ये ।

३ अत्र-आत्मविशुद्धये बुद्धिशुद्ध्यर्थमित्यर्थमभिप्रेत्याह **वामनः**—

कीदृगिष्टो भगवतो योगोऽत्रेति विचारिते । बुद्धिशुद्ध्यर्थतोक्तेः स्यात्सगुणध्यानमेव सः ॥
यदि वाच्यः कर्मयोगस्तत्र स्यर्त्विक्परिग्रहात् । न जात्वेकाकिता तद्वदपरिग्रहता घटेत् ॥
हठयोगोऽपि नो वाच्यो न हिनस्ति स वासनाम् । प्रत्युतास्मिन्देहकेऽपि स्नेहमेवाभिवर्द्धयेत् ॥
भोगमूलमयं देहोऽजरोऽरोगश्च जीवतु । इतीच्छन्तो मुहुर्मृत्युं वञ्चयन्ति हि योगिनः ॥
देहप्रीतिं त्यजेद्बुद्धिः सा तस्याः शुद्धिरुत्तमा । तत्सिद्धिस्तु भवत्यत्र ध्यानाद्विष्णोरनारतम् ॥
आत्मस्वरूपयोगोऽपि नैव धीशुद्धिहेतुकः । शुद्धायामेव बुद्धौ स्यादात्मनः स्फुरणं यतः ॥
तदत्र सगुणध्यानयोग एव विवक्षितः । बुद्धिशुद्ध्या शनैः सिद्धा स्याद्योगारूढता ततः—इति ।

'एकाग्रं मनः कृत्वा' इत्यनेन प्राणायामः सूच्यत इत्यपि तदाशयः । आसने आस्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या पूर्वोक्ते चैलादिरूपे, आस्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या च स्वस्तिकपद्मादिरूपे शारीरे बन्धविशेषे च । उभयत्र 'करणाधिकरणयोश्च' ( अष्टा. ३।३।११७ ) इति ल्युट् । —अविगीता ।

* 'चेलं वस्त्रं, चैलं मृदुवस्त्रं' इति शब्दार्थचिन्तामणिः । 'चेलं चेलोऽधमे त्रिषु । नपुंसकं तु वसने' इति विश्वः ।

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।**
**न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ! ॥ १६ ॥**
**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।**
**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ १७ ॥**

१ **शां. भा.**— अत एवमुत्तमफलप्राप्तये– योगी ध्यायी युञ्जीत समादध्यात् सततं सर्वदाऽऽत्मानमन्तःकरणं रहस्येकान्ते गिरिगुहादौ स्थितः सन्नेकाक्यसहायः । ‘रहसि स्थितः, एकाकी’ चेति विशेषणात्सन्न्यासं कृत्वेत्यर्थः । यतचित्तात्मा–चित्तमन्तःकरणमात्मा देहश्च संयतौ यस्य स यतचित्तात्मा, निराशीर्वीततृष्णोऽपरिग्रहश्च, परिग्रहरहित इत्यर्थः । सन्न्यासित्वेऽपि त्यक्तसर्वपरिग्रहः सन् युञ्जीतेत्यर्थः ॥ १० ॥

२ **आ. शां. व्या.**— यथोक्तविशेषणवतो योगारूढेषूत्तमत्वे योगानुष्ठाने प्रयतितव्यमित्यङ्गाभिधानानन्तरं प्रधानमभिदधाति–**अत एवमिति** । आदरनैरन्तर्यदीर्घकालत्वं विशेषणत्रयं योगस्य सूचयति— **सततमिति** । तस्यैव पञ्चाङ्गान्युपन्यस्यति— **रहसीत्यादिना** । ‘सर्वदा’ इत्यादरदीर्घकालयोरुपलक्षणम् । प्रत्यगात्मानं व्यावर्तयति— **अन्तःकरणमिति** । गिरिगुहादावित्यादिशब्देन योगप्रतिबन्धकदुर्जनादिविधुरो देशो गृह्यते । विशेषणद्वयस्य तात्पर्यमाह— **रहसीति** । योगं युञ्जानस्य सन्न्यासिनो विशेषणान्तराणि दर्शयति— **यतेति** । सति सन्न्यासित्वे किमित्यपरिग्रहग्रहणं ? अर्थपुनरुक्तेः, इत्याशङ्क्य कौपीनाच्छादनादिष्वपि सक्तिनिवृत्त्यर्थमित्याह— **सन्न्यासित्वेऽपीति** ॥ १० ॥

१ **शां. भा.**— अथेदानीं योगं युञ्जत आसनाहारविहारादीनां योगसाधनत्वेन नियमो वक्तव्यः प्राप्तयोगलक्षणं तत्फलादि चेत्यत आरभ्यते; तत्राऽऽसनमेव तावत्प्रथममुच्यते– शुचाविति । शुचौ शुद्धे विविक्ते स्वभावतः संस्कारतो वा देशे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरमचलमात्मन आसनं नात्युच्छ्रितं नातीवोच्छ्रितं नाप्यतिनीचं; तच्च चैलाजिनकुशोत्तरं चैलमजिनं कुशाश्चोत्तरे यस्मिन्नासने तदासनं चैलाजिनकुशोत्तरम् । पाठक्रमाद्विपरीतोऽत्र क्रमश्चैलादीनाम् ॥ ११ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— योगं योगाङ्गानि चोपदिश्योत्तरसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह—**अथेति** । योगस्वरूपकातिपयतदङ्गप्रदर्शनानन्तर्यमथशब्दार्थः । ‘विहारादीनां’ इत्यादिशब्देन यथोक्तासनादिगतावान्तरभेदग्रहणम् । ‘तत्फलादि च’ इत्यादिशब्देन योगफलसम्यग्ज्ञानं च तत्फलं कैवल्यं, ततो भ्रष्टस्याऽऽत्यन्तिकाविनष्टत्वमित्यादि गृह्यते । एवं समुदायतात्पर्ये दर्शिते किमासीनः शयानस्तिष्ठन्गच्छन्कुर्वन्वा युञ्जीत ? इत्यपेक्षायामनन्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **तत्रेति** । निर्धारणे सप्तमी । प्रथमं योगानुष्ठानस्य प्रधानं ‘आसीनः सम्भवात्’ [ब्र.सू. ४।१।७] इति न्यायादिति यावत् । विविक्तत्वं द्वेधा विभजते–**स्वभावत इति** । आसनस्यास्थैर्ये तत्रोपविश्य योगमनुतिष्ठतः समाधानायोगाद्योगासिद्धिरित्यभिसन्धाय विशिनष्टि— **अचलमिति** । आस्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तिमनुश्रित्याऽऽह–**आसनमिति** । ‘आत्मनः’ इति परकीयासनव्युदासार्थम् । पतनभयपरिहारार्थं नात्युच्चमित्युक्तं, नाप्यतिनीचमिति भूतलपाषाणादिसंश्लेषे वातक्षोभाग्निमान्द्यादिसम्भावितदोषनिरासार्थं चैलं वस्त्रम्, अजिनं चर्म पशूनां, तच्च मृगस्य, कुशा दर्भास्ते चोत्तरे यस्मिन्नुपरिष्टादारभ्य तत्तथोक्तम् । प्रथमं चैलं ततोऽजिनं ततश्च कुशा इति प्रतिपन्नपाठक्रममतिक्रम्याऽऽदौ कुशास्ततोऽजिनं ततश्चैलमिति क्रमं विवक्षित्वाऽऽह— **विपरीतोऽत्रेति** ॥ ११ ॥

१ **शां. भा.**— प्रतिष्ठाप्य किम् ? तत्र तस्मिन्नासन उपविश्य योगं युञ्ज्यात् । कथं ? सर्वविषयेभ्य उपसंहृत्यैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः– चित्तं चेन्द्रियाणि च चित्तेन्द्रियाणि, तेषां क्रियाः संयता यस्य स यतचित्तेन्द्रियक्रियः । स किमर्थं योगं युञ्ज्यात् ? इत्याह–आत्मविशुद्धयेऽन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थमित्येतत् ॥ १२ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— यथोक्तमासनं सम्पाद्य किं कर्तव्यं ? इति प्रश्नपूर्वकं कर्तव्यं तन्निर्दिशति— **प्रतिष्ठाप्येति** । योगं युञ्जानस्येति कर्तव्यताकलापं पृच्छति— **कथमिति** । सर्वेभ्यो विषयेभ्यः सकाशात्प्रत्यावृत्य मनसो यदेकस्मिन्नेव ध्येये विषये समाधानं, यच्चित्तस्येन्द्रियाणां च बाह्यक्रियाणां संयमनं तदुभयं कृत्वा योगमनुतिष्ठेदित्याह— **सर्वेति** । आसने यथोक्ते स्थित्वा यथोक्तया रीत्या योगानुष्ठानस्य प्रश्नपूर्वकं फलमाह— **स किमर्थमित्यादिना** ॥ १२ ॥

**१ शां. भा.**— बाह्यमासनमुक्तं, अधुना शरीरधारणं कथं ? इत्युच्यते– समं कायशिरोग्रीवं, कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं तत्समं धारयन्नचलं च। समं धारयतश्चलनं सम्भवत्यतो विशिनष्टि– अचलमिति। स्थिरः स्थिरो भूत्वेत्यर्थः। स्वं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य सम्यक्प्रेक्षणं दर्शनं कृत्वेवेति इवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः। न हि स्वनासिकाग्रसम्प्रेक्षणमिह विधित्सितम्। किं तर्हि ? चक्षुषोर्दृष्टिसन्निपातः। स चान्तःकरणसमाधानापेक्षो विवक्षितः। स्वनासिकाग्रसम्प्रेक्षणमेव चेद्विवक्षितं, मनस्तत्रैव समाधीयेत, नाऽऽत्मनि। आत्मनि हि मनसः समाधानं वक्ष्यति 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' [ ६।२५ ] इति। तस्मादिवशब्दलोपेनाक्ष्णोर्दृष्टिसन्निपात एव 'सम्प्रेक्ष्य' इत्युच्यते। दिशश्चानवलोकयन्, दिशां चावलोकनमन्तराऽकुर्वन्नित्येतत् ॥ १३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उक्तमनूद्यानन्तरश्लोकस्य पुनरुक्तमर्थमाह— **बाह्यमिति**। समत्वमृजुत्वम्। कायः शरीरमध्यम्। अचलमिति विशेषणमवतार्य तस्य तात्पर्यमाह— **सममिति**। कार्यकरणयोर्विषयपारवश्यशून्यत्वमचलत्वं स्थैर्यम्। किमितीवशब्दलोपोऽत्र कल्प्यते ? स्वनासिकाग्रसम्प्रेक्षणमेव योगाङ्गत्वेनात्र विधित्सितं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **न हीति**। तर्हि किमत्र विवक्षितं ? इति प्रश्नपूर्वकमाह— **किं तर्हीति**। दृष्टिसन्निपातो दृष्टेश्चक्षुषो रूपादिविषयप्रवृत्तिराहित्यम्। कथमसावनायासेन सिध्यति ? तत्राऽऽह— **स चेति**। समाधानस्य प्राधान्येनात्र विवक्षितत्वाद्दृष्टेर्बहिर्विषयत्वेन तद्भङ्गप्रसङ्गात्तस्या विषयेभ्यो व्यावृत्त्याऽन्तरेव सन्निपातो विवक्षितो भातीत्यर्थः। तथापि कथं स्वनासाग्रसम्प्रेक्षणमत्र श्रुतमविवक्षितं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **स्वनासिकेति**। तत्रैव मनस्समाधाने का हानिः? इत्याशङ्क्य वाक्यशेषविरोधात्, मैवमित्याह— **आत्मनि हीति**। किं तर्हि 'सम्प्रेक्ष्य' इत्यादौ विवक्षितं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मादिति**। दक्षिणेतरचक्षुषोर्या दृष्टिस्तस्या बाह्याद्विषयाद्वैमुख्येनान्तरेव सन्निपतनमत्र स्वकीयं नासिकाग्रं नासिकान्तं सम्प्रेक्ष्येति विवक्षितमित्यर्थः। तत्रैवोत्तरमपि विशेषणमनुकूलमित्याह— **दिशश्चेति**। 'अनवलोकयन्नासीत' इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। अन्तराऽन्तरा दिशामवलोकनमपि योगप्रतिबन्धकमिति तत्प्रतिषेधः ॥ १३ ॥

**१ शां. भा.**— किञ्च–प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण शान्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयं प्रशान्तात्मा विगतभीर्विगतभयः, ब्रह्मचारिव्रते स्थितो ब्रह्मचारिणो व्रतं ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषाभिक्षान्नभुक्त्यादि तस्मिन्स्थितः, तदनुष्ठाता भवेदित्यर्थः। किञ्च मनः संयम्य मनसो वृत्तीरुपसंहृत्येत्येतत्। मच्चित्तः, मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सोऽयं मच्चित्तो युक्तः समाहितः सन्नासीतोपविशेत्। मत्परोऽहं परो यस्य सोऽयं मत्परः। भवति कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तः, न तु स्त्रियमेव परत्वेन गृह्णाति; किं तर्हि ? राजानं महादेवं वा, अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— योगं युञ्जानस्य विशेषणान्तराणि दर्शयति— **किञ्चेति**। अन्तःकरणस्य प्रशान्ती रागद्वेषादिदोषराहित्यं, तस्याश्च प्रकर्षो रागादिहेतोरपि निवृत्तिः। विगतभयत्वं सर्वकर्मपरित्यागे शास्त्रीयनिश्चयवशान्निस्सन्दिग्धबुद्धित्वम्। भिक्षाभुक्त्यादीत्यादिशब्देन त्रिषवणस्नानशौचाचमनादि गृह्यते। विशेषणान्तरमाह— **किञ्चेति**। उपसंहृत्य योगनिष्ठो भवेदिति शेषः। मनोवृत्त्युपसंहारे ध्यानमपि न सिध्येत्। तस्य तद्वृत्त्यावृत्तिरूपत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **मच्चित्त इति**। विषयान्तरविषयमनोवृत्त्युपसंहारेणाऽऽत्मन्येव तन्नियमनान्न ध्यानानुपपत्तिरित्यर्थः। मच्चित्तत्वेनैव मत्परत्वस्य सिद्धत्वान्मत्पर इति पृथग्विशेषणमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह— **भवतीति**। अन्तःकरणशुद्धिर्योगस्यावान्तरफलम् ॥ १४ ॥

**१ शां. भा.**— अथेदानीं योगफलमुच्यते— युञ्जन्समाधानं कुर्वन्नेवं यथोक्तेन विधानेन सदाऽऽत्मानं सर्वदा योगी नियतमानसो नियतं संयतं मानसं मनो यस्य सोऽयं नियतमानसः; शान्तिमुपरतिं निर्वाणपरमां निर्वाणं मोक्षस्तत्परमा निष्ठा यस्याः शान्तेः सा निर्वाणपरमा, तां निर्वाणपरमां मत्संस्थां मदधीनामधिगच्छति प्राप्नोति ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सम्प्रति परमफलकथनपरत्वेनानन्तरश्लोकमादत्ते— **अथेति**। योगस्वरूपं तदङ्गमासनद्वयं तत्कर्तृविशेषणमित्यस्यार्थस्य प्रकथनानन्तरमित्यथशब्दार्थः। आत्मानं युञ्जन्निति सम्बन्धः। आत्मशब्दो मनोविषयः। यथोक्तो विधिरासनादिः। उक्तविशेषणत्रयद्योतनार्थं 'सदा' इत्युक्तम्। योगी ध्यायी, सन्न्यासीत्यर्थः। मनस्संयमस्य योगं प्रत्यसाधारणत्वं दर्शयति— **नियतेति**। शान्तिशब्दितोपरतेः सर्वसंसारनिवृत्तिपर्यवसायित्वं मत्वा विशिनष्टि— **निर्वाणेति**। यथोक्ताया मुक्तेर्ब्रह्मस्वरूपावस्थानादनर्थान्तरत्वमाह— **मत्संस्थामिति**। मदधीनां मदात्मिकामित्यर्थः ॥ १५ ॥

१ शां. भा.— इदानीं योगिन आहारादिनियम उच्यते– नात्यश्नत आत्मसम्मितमन्नपरिमाणमतीत्याश्नतोऽत्यश्नतो न योगोऽस्ति, न चैकान्तमनश्नतो योगोऽस्ति " यदु ह वा आत्मसम्मितमन्नं तदवति, तन्न हिनस्ति, यद्भूयो हिनस्ति तद्यत्कनीयोऽन्नं न तदवति " [ श. ब्रा. ९।२।१।२ ] इति श्रुतेः । तस्माद्योगी नाऽऽत्मसम्मितादन्नादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयात् । अथवा योगिनो योगशास्त्रे परिपठितादन्नपरिमाणादतिमात्रमश्नतो योगो नास्ति । उक्तं हि–' अर्धं सव्यञ्जनान्नस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ' इत्यादि परिमाणम् । तथा न चातिस्वप्नशीलस्य योगो भवति, नैव चातिमात्रं जाग्रतो योगो भवति चार्जुन ! ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.—'आहारादि'–इत्यादिशब्देन विहारजागरितादि चोच्यते । आत्मसम्मितमन्नपरिमाणमष्टग्रासादि । आहारनियमे शतपथश्रुतिं प्रमाणयति—यदु ह वा इति । तदन्नं भुज्यमानं यदु ह वा इति प्रसिद्ध्याऽनूदितमवति अनुष्ठानयोग्यतामापाद्यानुष्ठानद्वारेण भोक्तारं रक्षति, न पुनस्तदन्नमस्यानर्थाय भवतीत्यर्थः । यत्पुनरात्मसम्मिताद्भूयोऽधिकतरं शास्त्रमतिक्रम्य भुज्यते तदाऽऽत्मानं हिनस्ति भोक्तुरनर्थाय भवति । यच्चान्नं कनीयोऽल्पतरं शास्त्रनिश्चयाभावाद्यते तदन्नमनुष्ठानयोग्यतादिद्वारा न रक्षितुं क्षमते । तस्मादत्यधिकमत्यल्पं चान्नं योगमारुरुक्षता त्याज्यमित्यर्थः । श्रुतिसिद्धमर्थं निगमयति— तस्मादिति । नेत्यादेर्व्याख्यानान्तरमाह— अथवेति । किं तदन्नपरिमाणं योगशास्त्रोक्तं, यदधिकं न्यूनं वाऽभ्यवहरतो योगानुपपत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह—उक्तं हीति । 'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु । वायोः सञ्चरणार्थाय चतुर्थमवशेषयेत्' इति वाक्यमादिशब्दार्थः । यथाऽत्यन्तमश्नतोऽनश्नतश्च योगो न सम्भवति, तथाऽत्यन्तं स्वपतो जाग्रतश्च न योगः सम्भवतीत्याह— तथेति ॥ १६ ॥

१ शां. भा.—कथं पुनर्योगो भवति ? इत्युच्यते— युक्ताहारविहारस्य, आह्रियत इत्याहारोऽन्नं, विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणौ यस्य स युक्ताहारविहारस्तस्य; तथा युक्तचेष्टस्य युक्ता नियता चेष्टा यस्य कर्मसु तस्य, तथा युक्तस्वप्नावबोधस्य युक्तौ स्वप्नश्चावबोधश्च तौ नियतकालौ यस्य तस्य युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो योगो भवति दुःखहा दुःखानि सर्वाणि हन्तीति दुःखहा, सर्वसंसारदुःखक्षयकृद्योगो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— आहारनिद्रादिनियमविरहिणो योगव्यतिरेकमुक्त्वा तन्नियमवतो योगान्वयमन्वाचष्टे— कथं पुनरित्यादिना । अन्नस्य नियतत्वं'अर्धमशनस्य' इत्यादि, विहारस्य नियतत्वं 'योजनान्न परं गच्छेत्' इत्यादि, कर्मसु चेष्टाया नियतत्वं वाङ्नियमादि, रात्रौ प्रथमतो दशघटिकापरिमिते काले जागरणं, मध्यतः स्वपनं, पुनरपि दशघटिकापरिमिते जागरणम्, इति स्वप्नावबोधयोर्नियतकालत्वम् । एवं प्रयतमानस्य योगिनो भवतो योगस्य फलमाह– दुःखहेति । सर्वाणीत्याध्यात्मिकादिभेदभिन्नानीत्यर्थः । यथोक्तयोगमन्तरेणापि स्वप्नादौ दुःखनिवृत्तिरस्तीति विशिनष्टि— सर्वेति । विशुद्धविज्ञानद्वारेति शेषः ॥ १७ ॥

३ रा. भा.—योगी उक्तप्रकारकर्मयोगनिष्ठः, सततं अहरहर्योगकाले, आत्मानं युञ्जीत आत्मानं युक्तं कुर्वीत, स्वदर्शननिष्ठं कुर्वीतेत्यर्थः । रहसि जनवर्जिते निश्शब्दे देशे स्थितः, एकाकी तत्रापि न सद्वितीयः, यतचित्तात्मा यतचित्तमनस्कः, निराशीः आत्मव्यतिरिक्ते कृत्स्ने वस्तुनि निरपेक्षः, अपरिग्रहः तद्व्यतिरिक्ते कस्मिंश्चिदपि ममतारहितः ॥ १० ॥

४ वे. ता. चं.—अथाध्यायप्रधानार्थभूतयोगाभ्यासविधिरुच्यते- योगी युञ्जीत इत्यादिना । 'युञ्जीत' इति साक्षात्काररूपस्य योगस्य विधीयमानत्वात् 'योगी' इत्यनेन कर्मयोगनिष्ठत्वानुवादः क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— उक्तप्रकारेति । 'सततं' इत्येतन्न सर्वकालविषयम् , तथा योगशास्त्रैः अनभिहितत्वात् , अशक्यत्वाच्च । अतः प्रतिदिवसं योगयोग्यतया विहितसत्त्वोत्तरकालसामस्त्यपरमित्यभिप्रायेणाह अहरहर्योगकाल इति । 'युञ्जीत' इत्यत्र विवक्षितमर्थं वक्तुं प्रकृतिप्रत्ययार्थभेदं दर्शयति— युक्तं कुर्वीतेति । तत्र 'युज समाधौ' इति प्रकृत्यंशस्य विवक्षितं व्यनक्ति— स्वदर्शनेति । आत्माऽत्र मनः, स्वात्मा वा । जनवर्जितेऽपि देशे बाह्यदेशस्थितानां शब्दस्यागमे सति मनस्समाधानं न स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमुक्तं निश्शब्द इति । 'रहसि' इति विजनदेशाभिधानेऽपि पुनः 'एकाकी' इति पदं रहस्याहार्यासन्नशिष्यसब्रह्मचार्यादिसन्निधिपरित्यागार्थमित्यभिप्रायेणाह तत्रापि न सद्वितीय इति । यद्वा रहश्शब्देन जनवर्जनद्वारा निश्शब्दत्वं लक्ष्यते । एकाकिशब्देन तु जनवर्जनमेवोच्यत इति भावः । व्युत्थानकालेऽपि एकाकित्वमने-

नोच्यत इत्येके। ततोऽप्यस्यार्थस्यात्यन्तोपकारित्वादेवं योजना। एतेन 'रहसि स्थितः एकाकी च इति विशेषणात् सन्यासं कृत्वेत्यर्थः' इति **शङ्करोक्तं** प्रत्युक्तम्। आत्मशब्देन मनसोऽभिधानेऽपि तस्यैव चिन्तारूपवृत्त्यपेक्षया तद्विशिष्टापेक्षया वा चित्तशब्द इत्यभिप्रायेणाह— **यतचित्तमनस्क** इति। आशीश्शब्दस्यानेकार्थत्वादिह निषेध्यविशेषव्यक्त्यर्थमुक्तं **निरपेक्ष** इति। अपरिग्रहशब्देन बुद्ध्या स्वीकारपर्यायः, परिग्रहोऽत्र निषिध्यत इत्यभिप्रायेणाह- **ममतारहित** इति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— शुचौ देशे अशुचिभिः पुरुषैरनधिष्ठिते अपरिगृहीते च, अशुचिभिर्वस्तुभिरसंस्पृष्टे च पवित्रभूते देशे, दार्वादिनिर्मितं नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरमासनं प्रतिष्ठाप्य तस्मिन् मनःप्रसादकरे सापाश्रय उपविश्य योगैकाग्रमव्याकुलं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः सर्वात्मनोपसंहृतचित्तेन्द्रियक्रिय आत्मविशुद्धये बन्धनिवृत्तये योगं युञ्ज्यात् आत्मावलोकनं कुर्वीत ॥११॥१२॥**

**४ वे. ता. चं.**— बाह्योपकरणनियममाह— **शुचौ देश** इत्यादिना। शुचिशब्दः सङ्कोचकाभावात्संसर्गजं स्वाभाविकं चाशुचित्वं निवर्तयतीत्यभिप्रायेणाह **अशुचिभिरि**ति। अशुचयः पुरुषाः पाषण्डिपतितादयः। **अनधिष्ठिते अपरिगृहीते** चेति अधिष्ठानं परकीयेषु निर्वाहकत्वादिरूपेण संसर्गः, परिग्रहः स्वकीयत्वाभिमानः, तदुभयवर्जिते। शुचिशब्दः शास्त्रान्तरोक्तं शोधकत्वमपि लक्षयतीत्यभिप्रायेणोक्तं **पवित्रभूत** इति। च्विप्रत्ययरहितप्रयोगात् स्वतश्शुद्धिरुक्ता, 'नात्युच्छ्रितं नातिनीचं' इत्यादिदृष्टसौकर्यार्थम्। स्थिरत्वे हेतुर्दार्वादिनिर्मितत्वम्; तस्य कठिनत्वान्मृदुत्वार्थं चेलम्, तत्रापि निस्तरङ्गत्वार्थं शुद्ध्यर्थं चाजिनम्, सर्वस्योपरि शुद्ध्यर्थं सत्वोन्मेषार्थं च कुशाः। 'कुशाजिनचेलोत्तरम्' इति कश्चिद्भाष्यपाठः; तथासत्युत्तरोत्तरमार्दवसिद्ध्यर्थमुक्तमिति मन्तव्यम्। 'विपरीतोऽत्र क्रमश्चेलादीनाम्' इति च **शाङ्करम्**। केचित्त्वव्यवस्थितक्रमत्वमूचुः। **प्रतिष्ठाप्य** दृढं स्थापयित्वा। तत्रासन उपविश्येत्यन्वयव्यक्त्यर्थं **तस्मिन्नि**त्यादिकमुक्तम्। उक्तानां शुचिदेशादीनां दृष्टादृष्टद्वारा योगोपयोगं दर्शयितुं **मनःप्रसादकर** इत्युक्तम्। **सापाश्रय उपविश्येति**— अन्यथा पाश्चात्यधारणप्रयत्नः समाधिविरोधी स्यादिति भावः। उपविश्य, न तु तिष्ठञ्छयानो वा। तथा च सूत्रम् 'आसीनः सम्भवात्' [ ब्र. सू. ४।१।७ ] इति। स्थानशयनयोश्च आयासनिद्रादिप्रसङ्गेन योगो न सम्भवेत्। 'तत्रैकाग्रं' इत्यन्वयभ्रमव्युदासाय **योगैकाग्र**मित्युक्तम्। विरुद्धान्यवृत्तेरेतद्वृत्तिप्रधानत्वमिहैकाग्रत्वम्। 'अव्याकुलमेकाग्रम्' इति केषुचिद्भाष्यकोषेषु पाठः; आत्मावलोकनोन्मुखं कृत्वेत्यर्थः। सार्वभौमो हि चित्तस्य वृत्तिनिरोधो योगतया योगशास्त्रेऽभिहित इत्यभिप्रायेण— **सर्वात्मनोपसंहृतचित्तेन्द्रियक्रिय** इत्युक्तम्। चित्तमिह चिन्तावृत्तिः, इन्द्रियाणि च बाह्यानि 'एकाग्रं मनः कृत्वा' इति वचनात् बाह्यविषयेभ्य एवायमुपसंहारः; अन्यथाऽऽत्मावलोकनमपि न स्यात्। एतेन 'मनसो निश्शेषवृत्तिविलयो योगः' इति वदन्तो निरस्ताः। शुद्धान्तःकरणस्य साक्षात्कारसाध्या ह्यात्मविशुद्धिर्मोक्ष एवेत्यभिप्रायेण **बन्धनिवृत्तय** इत्युक्तम्। 'अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनयः' [वि. पु. ६।७।७७] इति कर्मबन्धो ह्यात्मनामशुद्धिरुच्यते। 'योगं युञ्जीत' इत्येतत् 'ओदनपाकं पचति' इतिवदित्यभिप्रायेण **आत्मावलोकनं कुर्वीते**त्युक्तम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.— कायशिरोग्रीवं, समम्, अचलं, सापाश्रयतय स्थिरं धारयन्, दिशश्चानवलोकयन्, स्वं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य, प्रशान्तात्मा अत्यन्तनिर्वृतमनाः विगतभीर्ब्रह्मचर्ययुक्तो मनः संयम्य मच्चित्तो युक्तोऽवहितो मत्पर आसीत मामेव चिन्तयन्नासीत ॥ १३ ॥ १४ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवं शुचिदेशासनादिरूपं बाह्यं योगोपकरणं मनसश्चैकाग्र्यमुक्तम्, अथान्तरान्तरतमयोः कायमनसोः क्रमात्कर्तव्यनियमविशेषा उच्यन्ते—'समं' इत्यादिश्लोकद्वयेन। 'कायशिरोग्रीवं' इति द्वन्द्वैकवद्भावः; तत एव नपुंसकता। अत्र सिद्धापर-(मध्यापर-) नामा शरीरस्य मध्यप्रदेशः कायशब्देन विवक्षितः। 'समं, अचलं, स्थिरम्' इति धारणक्रियाविशेषणानि; 'समं' इत्यत्रार्जवं विवक्षितम्; अचलशब्देन निष्कम्पत्वेऽभिहितेऽपि स्थिरमित्येतदङ्गकम्पकरश्रमहेतुभूतपश्चाद्धारणप्रयत्ननिवृत्तिहेत्वभिप्रायमिति दर्शयितुं **सापाश्रयतया स्थिरमि**त्युक्तम्। अनेनाचलत्वस्य चिरानुवर्तनयोग्यत्वमुक्तं भवति। बाह्येभ्यो व्यावर्तनं नासिकाग्रे स्थापनं चेति क्रमप्रदर्शनाय 'दिशश्चानवलोकयन्' 'स्वं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य' इति व्युत्क्रमेणोक्तम्। यद्वा शतुरत्र हेत्वर्थत्वाद्दिक्छब्दोपलक्षितबाह्यसकलपदार्थावलोकननिवृत्त्यर्थं योगारम्भक्षणे स्वनासिकाग्रप्रेक्षणमिति भावः। भोग्येतरानुपयुक्तविषयनिरीक्षणमपि निवर्तनीयमित्यभिप्रायेण **दिशश्चे**त्युक्तम्। निमीलनेनापि बाह्यानवलोकनसिद्धौ स्वनासिकाग्रावेक्षणं निद्रादिनिवृत्त्यर्थम्। 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं' इत्येतावत्यभिहिते परनासिकाग्रप्रेक्षणमपि शङ्क्येतेति तद्व्यवच्छेदार्थमुक्तं 'स्वम्' इति। मनस्यन्तर्मुखे नासाग्रसम्प्रेक्षणस्यासम्भवाच्चक्षुषो दृष्टिसन्निपातमात्रमिह विवक्षितम्। अतः सम्प्रेक्ष्येत्यत्र 'इवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः' इति **शाङ्करम्**। नायनस्य तेजसः स्वच्छन्दवृत्त्या नासाग्रसन्निपातमात्रमिह विवक्षितम्,

'मनः संयम्य' इति संयमस्याभिधानात् प्रशान्तात्मशब्दोऽयं योगोपयुक्तमनस्सन्तोषपर इत्यभिप्रायेण **अत्यन्तनिर्वृतमना** इत्युक्तम् । 'ब्रह्मचारिव्रते स्थितः' इत्यनेन ब्रह्मचर्याश्रमप्रतीतिः शङ्करोक्तप्रक्रियया वा ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषाभिक्षाचर्यादिधीः स्यादिति तद्व्यवच्छेदायाह **ब्रह्मचर्ययुक्त** इति । ब्रह्मचर्यं च स्तनवति पिशितपिण्डे भोग्यताधीगर्भस्मरणालोकनालापादिरहितत्वमत्र विवक्षितम् । स्मरन्ति च— 'ब्रह्मचर्यं च योषित्सु भोग्यताबुद्धिवर्जनम्' इत्यादि । तथा 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् । सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च । एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः । विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्' [ अ. पु. ३७२ । १० । ११ ] इति । युक्तशब्दस्य पूर्वोत्तरप्रतिपन्नात्मावलोकनाभिधानादपि तदुपयुक्तावधानविषयत्वमत्रोचितमित्यभिप्रायेण **अवहित** इत्युक्तम् । मच्चित्तशब्दो भगवति चित्तस्यानुप्रवेशपरः । मत्परशब्दस्तु तदेकचित्तत्वपरः, तदनुवृत्तिपरो वेत्यपौनरुक्त्यमाह—**मामेवेति** । यद्वा स्त्र्यादौ भोग्यचिन्ता, राजादौ च महति परधीर्लोके विभक्ता, मयि तु तदुभयमित्यपुनरुक्तिः ॥ १३-१४ ॥

**३ रा. भा.— एवं मयि परस्मिन् ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे मनसः शुभाश्रये सदा आत्मानं मनो युञ्जन् नियतमानसः मत्स्पर्शपवित्रीकृतमानसतया निश्चलमानसो मत्संस्थां निर्वाणपरमां शान्तिमधिगच्छति निर्वाणकाष्ठारूपां मत्संस्थां मयि संस्थितां शान्तिमधिगच्छति ॥ १५ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— जीवात्मयोगप्रकरणे 'मच्चित्तो मत्परः' [ ६ । १४ ] इति परमात्मचिन्तनं किमर्थं विधीयते? इत्यत्रोच्यते— 'युञ्जन्नेवम्' इति । एवमित्यनुवादे 'मच्चित्तः, मत्परः' इत्युक्तमच्छब्दाभिप्रेतं परत्वादिकं विवृण्वन्नाह— **एवं मयीति** । **परस्मिन् ब्रह्मणी**त्यनेन सर्वकारणत्वेन सर्वात्मत्वादिकं विवक्षितम् । तथात्वेऽपि समस्तवैलक्षण्येन तद्गतदोषासंस्पर्शो देवताविशेषनिष्कर्षश्च **पुरुषोत्तम**शब्दाभिप्रेतः । उक्ताकारविशिष्टत्वाच्च मनसः शुभाश्रयत्वम् । एतेन शुभाश्रयप्रकरणान्तरोक्तदिव्यमङ्गलविग्रहविशिष्टत्वमप्यभिप्रेतम् । तत्रात्मशब्दः प्रकृतानुवादपरतया मनोविषयः । 'युञ्जन्' इत्यस्य प्रयोजनं नियतमानसत्वम्, तच्च निश्चलमानसत्वम् । तदुत्पत्तौ हेतोरव्यान्तरव्यापारोऽयमित्यभिप्रायेणाह— **मत्स्पर्शेति** । 'मत्संस्थाम्' इत्यादिपरमप्रयोजनम् । 'निर्वाणपरमाम्' इत्यत्र निर्वाणं परमं यस्या इति समासे विशेषणव्यत्यासास्वारस्यम् । निर्वाणहेतुशान्तेश्च 'नियतमानसः' इत्यनेन सिद्धत्वात् पुनरुक्तिश्च स्यात्; परमशब्दश्चास्वरसः, अतो निर्वाणस्य परमामिति **समासः**; परमशब्दश्च परमावस्थाविषय इत्यभिप्रायेणाह— **निर्वाणकाष्ठेति** । परमात्मनि संस्थिता च शान्तिरशनायादिषड्ऊर्मिराहित्यरूपा । यद्वा **मयि संस्थितां शान्ति**मित्येतदेव 'शुभाश्रये स्थितिम्' इत्यन्तेन विवृतम् ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.— एवमात्मयोगमारभमाणस्य मनोनैर्मल्यहेतुभूतां मनसो भगवति शुभाश्रये स्थितिमभिधायान्यदपि योगोपकरणमाह— नात्यश्नत इति । अत्यशनानशने योगविरोधिनी, अतिविहाराविहारौ च, तथाऽतिमात्रस्वप्नजागर्ये; तथा चात्यायासानायासौ । मिताहारविहारस्य मितायासस्य मितस्वप्नावबोधस्य सकलदुःखहा बन्धनाशनो योगः सम्पन्नो भवति ॥ १६ ॥ १७ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— उचितदेशप्रभृति परमात्मचिन्तनपर्यन्तं ह्यत्र योगोपकरणमेव; अतः **अन्यदपीत्युक्तम्** । योगोपकरणं योगोपकारकम् । अत्यशनादेर्योगविरोधित्वं 'नात्यश्नतः' इति श्लोकस्यार्थः । मिताहारादेस्तु योगोपयुक्तत्वं 'युक्ताहार'— इति श्लोकेनोच्यत इति व्यतिरेकतोऽन्वयतश्च एक एवार्थः स्थिरीक्रियत इति विभागमभिप्रेत्याह— **अत्यशनेति** । 'युक्ताहार'- इति श्लोके विहारायासयोरपि उक्तत्वात् पूर्वत्रापि हि तावभिप्रेताविति दर्शयितुं **अतिविहाराविहारावत्यायासानायासावि**त्युक्तम् । 'जाग्रतः' इत्यत्राप्यतिरनुषञ्जनीयः । पूर्वश्लोकोक्तातिशब्दप्रतियोगिकत्वाद्युक्तशब्दो मितपर इत्यभिप्रायेण **मिताहारे**त्यादिकमुक्तम् । श्रूयते हि "यद्वात्मसम्मितमन्नं तदवति, तन्न हिनस्ति, तद्यत्कनीयो न तदवति" इति । स्मरन्ति च 'उदरस्यार्धमन्नस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्' इति । अतो न्यूनाधिकादिसमस्तदोषराहित्यं युक्तशब्देनाभिप्रेतम् । द्वन्द्वात्पूर्वमपि परमिव प्रत्येकमन्वेतव्यम् । विहारशब्दः सञ्चारपरः; तन्द्रीपरिहारार्थविनोदपरो वा । पारिशेष्यादौचित्याच्च चेष्टाशब्दार्थोऽत्र श्रमहेतुरायासः । दुःखशब्दासङ्कोचाद्योगसामर्थ्याच्च **सकलेति** विशेषितम् । तत्फलितमाह **बन्धनाशन** इति । एवंविधस्य योगो दुःखहा भवतीत्यन्वये योगस्य पूर्वसिद्धताभ्रमः स्यात्; तद्व्युदासाय **सम्पन्नो भवती**त्युक्तम् ॥ १६ ॥ १७ ॥

**५ आ. भा. भा.— समाधियोगप्रकारमाह— योगं युञ्जीतेत्यादिना इति । युञ्जीत समाधियोगयुक्तं कुर्यात् । आत्मानं मनः ॥ १० ॥ ११ ॥ योगं समाधियोगं युञ्ज्यात् ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥**

निर्वाणपरमां शरीरत्यागोत्तरकालीनाम् ॥ १५ ॥ अनशनादिनिषेधोऽशक्तस्य । उक्तं हि 'निद्राशनभयश्वासचेष्टातन्द्रादिवर्जनम् । कृत्वाऽनिमीलिताक्षस्तु शक्तो ध्यायन्प्रसीदति ( प्रसिध्यति ) ॥' इति नारदीये ॥ १६ ॥ युक्ताहारविहारस्य सोपायाहारादेः । यावता श्रमाद्यभावो भवति तावदाहारादेरित्यर्थः ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.—ननु 'उद्धरेत्' [ ६।५ ] इत्यनेनैव योगो विहितः, तत्किं पुनर्विधीयते ? इत्यत आह—**समाधीति** । प्रकारकथनाय विध्यनुवाद इत्यर्थः । 'युञ्जीत' इति योगमात्रमुच्यते, तत्कथं समाधीत्युक्तं ? इत्यत आह—**युञ्जीतेति** । सामान्यशब्दोऽपि प्रकरणाद्विशेषेऽवतिष्ठते इत्यर्थः । आत्मशब्दस्यात्र विवक्षितमर्थमाह—**आत्मानमिति** ॥१०॥ ११ ॥ उपविश्यासन इत्यत्रापि योगशब्द एवमेव व्याख्येय इत्याह—**योगमिति** । स्थानविवेकार्थं युञ्ज्यादित्युक्तम्; कुर्यादिति यावत् ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ ननु शान्तिर्निर्वाणमिति मोक्षपर्यायौ, तत्कथं शान्तेर्निर्वाणपरमत्वं ? इत्यत आह—**निर्वाणेति** । न जीवन्मुक्तिमात्रमित्यर्थः । उपशान्तेर्योगकारणत्वात् योगफलत्वमनुपपन्नम् ॥ १५ ॥ 'न चैकान्तमनश्नतः...जाग्रतो नैव च' इति युञ्जानस्यानशनजागरणनिषेधः क्रियते स सर्वविषय इति प्रतीतिनिरासायार्थमाह—**अनशनादिति** । कुतः ? इत्यतः शक्तस्य तद्विधानादित्याह— **उक्तं हीति** । आमीलिताक्ष ईषन्मीलिताक्षः शक्तस्त्विति सम्बन्धः । आहारादीनां केन युक्तत्वं ? इत्यत आह—**युक्तेति** । उपायः समाधिः । समाधिर्हि धात्वर्थः । तद्वत्ता च प्रत्ययार्थः । अतः सोपायेत्युक्तम् । आहारादेः सोपायत्वं नाम कीदृशं ? इत्यत आह —**यावतेति** । आदिपदेनेन्द्रियोत्सेकालस्यादेः सङ्ग्रहः । उपायेन साहित्यं नाम तदविरोधित्वम् । तच्चैवम्भूतमित्यर्थः ॥ १६ ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— अत एवायमुक्तफलप्राप्तये–योगी स्वाध्यायी युञ्जीत समादध्यात् सततमात्मानमन्तःकरणम् । रहसि स्थित एकान्ते गिरिगुहादौ स्थितः सन् । एकाक्यसहायः । एकाकीति विशेषणात् सन्न्यासं कृत्वेत्यर्थः । यतचित्तात्मा, निराशीर्वितृष्णः, अपरिग्रहश्च परिग्रहरहितः । सन्न्यासित्वेऽपि त्यक्तसर्वपरिग्रहः सन्युञ्जीतेत्यर्थः ॥ १० ॥ अथेदानीं योगं युञ्जानस्याऽऽहारादीनां योगसाधनत्वेन नियमो वक्तव्यः । प्राप्तयोगस्य लक्षणं फलं चेत्यादि वक्तव्यमित्येतदारभ्यते । तत्राऽऽसनमेव तावत्प्रथममुच्यते— **शुचाविति** । शुचौ विविक्ते स्वभावतः संस्कारतो वा देशे स्थाने प्रतिष्ठाप्य स्थिरमचलमात्मन आसनं नात्युच्छ्रितं नातिनीचं; तच्च चैलाजिनकुशोत्तरं चैलमजिनं कुशाश्चोत्तरा यस्मिन्नासने तदासनं चैलाजिनकुशोत्तरम् । विपरीतक्रमः ॥ ११ ॥

चैलाजिनकुशोत्तरं प्रतिष्ठाप्य किम् ? तत्र तस्मिन्नासन उपविश्य योगं युञ्ज्यात् । कथं ? सर्वविषयेभ्य उपसंहृत्यैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । स किमर्थं योगं युञ्ज्यात् ? इत्यत्राऽऽह– आत्मविशुद्धये अन्तःकरणस्य विशुद्ध्यर्थमित्येतत् ॥१२॥ बाह्यमासनमुक्तमधुना शरीरधारणमुच्यते– **समं कायशिरोग्रीवमिति** । कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं तत्समं धारयन् । अचलं समं धारयतोऽपि चलनं भवतीत्यतो विशिनष्टि—अचलमिति । स्थिरः स्थिरो भूत्वेत्यर्थः । सम्प्रेक्ष्य सम्यक्प्रेक्षणं सन्दर्शनं कृत्वेवेतीवशब्दो लुप्तो द्रष्टव्यः । स्वनासिकाग्रसम्प्रेक्षणमिह न विधीयते, किं तर्हि ? चक्षुषोर्दृष्टिसन्निपातः । स चान्तःकरणसमाधानापेक्षो विवक्षितः, सम्प्रेक्षणमेव चेद्विवक्षितं तर्हि मनस्तत्रैव समाधीयेत; आत्मनि हि मनस्समाधानं वक्ष्यति– 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' [ ६।२५ ] इति; तस्मादिवशब्दलोपस्तेनाक्ष्णोर्दृष्टिपात एव सम्प्रेक्ष्येत्युच्यते । दिशश्चानवलोकयन् दिशां नावलोकनं कुर्वन्नित्येतत् ॥ १३ ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीर्विगतभयो ब्रह्मचारिव्रते स्थितो ब्रह्मचारिणां व्रतं ब्रह्मचर्यगुरुशुश्रूषणभिक्षाभुक्त्यादि तस्मिन्स्थितः, तदनुष्ठाता भवेदित्यर्थः । किञ्च मनः संयम्य मनसो वृत्तिमुपसंहृत्य मच्चित्तो मयि परमेश्वरे चित्तं यस्य सोऽयं मच्चित्तः । युक्तः समाहितः सन्नासीतोपविशेत् । मत्परः कश्चिद्रागी स्त्रीचित्तोऽपि न स्त्रियमेव परत्वेन गृह्णाति, किं तर्हि राजानं महादेवं वा ।

अयं तु मच्चित्तो मत्परश्च ॥ १४ ॥ अथेदानीं योगफलमुच्यते— युञ्जन्निति । युञ्जन्मनस्समाधानं कुर्वन्नेवं यथोक्तेन प्रकारेण योगी नियतमानसो नियतं संयतं मानसं यस्य स शान्तिमुपरतिं निर्वाणपरमां निर्वाणं मोक्षः परमा निष्ठा यस्याः शान्तेस्तां निर्वाणपरमां मत्संस्थां मदधीनामधिगच्छति प्राप्नोति ॥ १५ ॥ योगिन आहारादिनियम उच्यते— नेति । नात्यश्नतः आत्मसम्मितमन्नमतीत्याश्नतः । "अत्याशनादतीपानाद्यच्च उग्रात्प्रतिग्रहात्" [ म.ना. ५।२ ] इति श्रुतेः । तस्माद्योगी नाऽऽत्मसम्मितादधिकं न्यूनं वाऽश्नीयात् । अथवा योगिनो योगशास्त्रपरिमितादन्नपरिमाणादतिमात्रमश्नतो योगो नास्तीत्युक्तम् । 'अर्धमन्नस्य सव्यञ्जनस्य तृतीयमुदकस्य तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्' इत्यादि परिमाणम् । तथा न चातिस्वप्नशीलस्य योगो भवति चार्जुन ! ॥ १६ ॥ कथं पुनर्योगो भवति ? इत्युच्यते— युक्तेति । युक्ताहारविहारस्य, आह्रियत इत्याहारोऽन्नं, विहरणं विहारः पादक्रमः, तौ युक्तौ नियतपरिमाणावाहारविहारौ यस्य, तथा नियता चेष्टा यस्य कर्मसु, युक्तस्वप्नावबोधस्य योगिनो योगो भवति दुःखहा; सर्वसंसारदुःखक्षयकृद्योगो भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

८ वें. ब्र. गि.—इत्थं योगमारुरुक्षोः कर्मानुष्ठानं योगारूढस्य सर्वकर्मसन्न्यासं तत्साधनं तल्लक्षणं चोक्त्वा इदानीं योगाङ्गानि निरूपयत्यष्टभिः— रहसि एकान्ते गिरिगुहादौ स्थितः । तत्रापि न सद्वितीयः; किं त्वेकाकी । स्मर्यते हि— "एको भिक्षुर्यथोक्तः स्याद्द्वौ चैव मिथुनं भवेत् [स्मृतम् ] । त्रयो ग्रामः समाख्यात ऊर्ध्वं तु नगरायते ॥ नगरं हि न कर्तव्यं ग्रामो वा मिथुनं तथा । [एतत्त्रयं प्रकुर्वाणः स्वधर्माच्च्यवते यतिः] राजवार्ता हि तेषां स्याद्भिक्षी वार्ता परस्परम्" ॥ [ना.प.उ. ३।५६-५८ ] इति । एकाकिनोऽप्यसंयतचित्तस्य मनोविक्षेपान्नगरमेव भवति; अतो यतचित्तात्मा यतौ संयतौ योगप्रतिबन्धकव्यापारशून्यौ चित्तदेहौ यस्य स तथोक्तः । तत्र हेतुः— निराशीः वितृष्णः अत एव अपरिग्रहः शास्त्रनिषिद्धेन योगविरोधिना परिग्रहेण रहितः । एवंविधो योगी योगारूढः सततमात्मानं चित्तं युञ्जीत, समाहितं कुर्यादित्यर्थः ।

अत्रेयं योगशास्त्रप्रक्रिया प्रथमं तावदवगन्तव्या— 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' [पा.यो. १।२] । तस्याष्टावङ्गानि यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभेदात् । तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि यमाः । तपस्सन्तोषास्तिक्यदानेश्वरपूजनसिद्धान्तश्रवणह्रीमतिजपव्रतानि नियमाः । स्वस्तिकपद्मासनादीन्यासनानि । प्राणवृत्तिनिरोधः प्राणायामः । इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः । सबाह्येन्द्रियस्य मनस एकत्र चिरमवस्थापनं धारणा । ध्येयाकारवृत्तिप्रवाहोऽन्तरान्तरान्याकारप्रत्ययव्यवहितो ध्यानम् । सर्वथा विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहः समाधिः । स तु चित्तभूमिभेदेन द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्चेति । चित्तस्य हि पञ्च भूमयो भवन्ति— क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति । तत्र विषयासक्तं चित्तं क्षिप्तम् , निद्रातन्द्रादिग्रस्तं मूढम् , सर्वदा विषयासक्तमपि कदाचिद्ध्याननिष्ठं क्षिप्ताद्विशिष्टतया विक्षिप्तम् , तत्र क्षिप्तमूढयोः समाधिशङ्कैव नास्ति । विक्षिप्ते तु चेतसि कदाचिद्भवन्नपि समाधिर्विक्षेपप्राधान्यात्तीव्रपवनविक्षिप्तप्रदीपवत्स्वयमेव नश्यति । एकाग्रं त्वेकविषयकधारावाहिकवृत्तिसमर्थं सत्त्वोद्रेकेण तमोगुणकृतनिद्रातन्द्रादिरूपलयाभावाद्रजोगुणकृतचाञ्चल्यरूपविक्षेपाभावाच्चैकविषयकधारावाहिकवृत्तिरिति शुद्धे सत्त्वे भवति चित्तमेकाग्रम् । अस्यां भूमौ सम्प्रज्ञातः समाधिः । तत्र ध्येयाकारवृत्तिरपि भासते । तस्यापि निरोधे निरुद्धं चित्तमसम्प्रज्ञातसमाधिभूमिः । अयमेव सर्वतो विरक्तस्य योगिनः समाधिफलमपि सुखमनपेक्षमाणस्य दृढभूमिरात्मतत्त्वसाक्षात्कारहेतुः ।

तदेतदष्टश्लोक्याऽत्र निरूप्यते, तत्र तावत् 'नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति—' इति श्लोकद्वयेन दशविधयमान्तर्गतं मिताहारित्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रतिपाद्यते— 'पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु । वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्' ॥ इत्यादियोगशास्त्रोक्तपरिमाणादधिकं न्यूनं वा भुञ्जानस्य योगो न सम्पद्यते । तत्र हेतुमुत्तरार्धेनाह— न चेति । अत्याशिनो ह्यतिनिद्रा स्यात्, अत्यन्तमनश्नतश्चातिजागरः, तदुभयमपि योगप्रतिबन्धकम् । अतः हे अर्जुन ! सावधानो भवेति सम्बोधनाभिप्रायः । एवं व्यतिरेकमुखेणाहारनियमस्य योगाङ्गत्वमुक्त्वा अन्वयमुखेनापि तदाह— युक्तेति । युक्ताहारविहारस्य—आहारोऽभ्यवहारः, विहारः पादक्रमः, युक्तौ नियतपरिमाणावाहारविहारौ यस्य तथोक्तस्य, अत एव युक्तस्वप्नावबोधस्य नियतनिद्राजागरस्य, तथा अन्येष्वपि विहितेषु तपस्स्वाध्यायव्रतजपादिषु कर्मसु युक्तचेष्टस्य युक्ता नियतकाला चेष्टा व्यापारो यस्य तथोक्तस्यैव ब्रह्मविद्याद्वारा सर्वदुःख-

---

१ आहारस्य च द्वौ भागौ तृतीयमुदकस्य च । वायोः सञ्चारणार्थाय चतुर्थमवधारयेत् ॥ इति सन्यासोपनिषदि । [ ५९ ]

निवृत्तिहेतुर्योगो भवति । अत्राहारस्य नियतत्वम् ‘ पूरयेद-शनेनार्धम्—’ इति प्रागुक्तम् । निद्राजागरयोस्तु ‘रात्रेर्भागत्रयं कृत्वा प्रबुद्धः प्रथमान्तयोः । प्रस्वपन्मध्यमे भागे योगयोग्यः प्रजायते ’ इत्यादिस्मृतिप्रसिद्धम् । विहारस्य तु ‘ योजनान्न परं गच्छेत् ’ इत्यादि । तपस्स्वाध्यायादीनां तु ‘ शनैर्विद्या शनैस्तपः’ इत्यादि द्रष्टव्यम्। एवं ‘ब्रह्मचारिव्रते स्थितः’ इत्यनेन ब्रह्मचर्यम्, ‘प्रशान्तात्मा’ इत्यनेन अहिंसासत्यास्तेयक्षमार्जवानि,यतचित्तात्मा इत्यनेन बहिरङ्गतः शौचम्, ‘अपरिग्रहः’ इत्यपरिग्रहः, ‘स्थितः’ इति धृतिः, ‘विगतभीः’ इत्यनेन शास्त्रीयनिश्चयदार्ढ्याद्विगता भीः सर्वसङ्गत्यागपूर्वकयोगप्रवृत्तिविषयकयुक्तत्वायुक्तत्वाशङ्का यस्येत्यर्थकेन आस्तिक्यम्, ‘युक्तचेष्टस्य कर्मसु’ इत्यनेन तपस्स्वाध्यायव्रतजपाः, ‘निराशीः’ इति सन्तोषः, तदाक्षिप्ततया तदुपलक्षिताश्चान्ये यमनियमाः प्रदर्शिताः ।

अथ क्रमप्राप्तमासनमाह— **शुचौ देश** इति । शुचौ देशे स्वभावतः संस्कारतो वा परिशुद्धे स्थाने नात्युच्छ्रितं नातीवोन्नतं, नाप्यतिनीचं, चैलाजिनकुशोत्तरम्,- चैलं वस्त्रम्, अजिनं व्याघ्रचर्म, चैलाजिने कुशेभ्य उत्तरे यस्मिंस्तत्तथोक्तम् । कुशानामुपरि चर्म, तदुपरि चैलमास्तीर्येत्यर्थः । एवम्भूतं स्थिरमचलं आत्मनः स्वस्यासनं प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा । ‘आत्मनः’ इति परासनव्यावृत्तिः ; ‘आसनं शयनं वस्त्रं जायाऽपत्यं कमण्डलुः । आत्मनः शुचिरेतानि परेषां न कदाचन’* इति स्मरणात् ।

एवमासनमुपदिश्य तदनन्तरानुष्ठेयाः प्राणायामप्रत्याहारधारणाः प्रदर्शयति— **तत्रैकाग्रमिति** । तत्र तस्मिन्नासने उपविश्य । अत्र पद्मस्वस्तिकादिविशेषानादरेण केवलमुपविश्येति सामान्योक्त्या ‘ येन केन प्रकारेण सुखं धैर्यं च जायते। तत्सुखासनमित्युक्तम् ’ इति शास्त्रोक्तं सुखासनमेव विवक्षितमुपगम्यते । श्रूयते हि—“ विविक्तदेशे च सुखासनस्थः ” [कै. उ. ५] इति । सूत्रितं च पतञ्जलिना— ‘स्थिरसुखमासनम्’ [पा. यो.२।४६] इति । यतचित्तेन्द्रियक्रियः, चित्तं मनः, इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि, क्रिया चेष्टात्मकः प्राणः, यता नियमिताश्चित्तेन्द्रियक्रिया येन स तथोक्तः । अत्र यतक्रिय इति प्राणसंयमनोक्त्या ‘अपाने जुह्वति प्राणम् ’ [४।२९] इति प्राङ्निरूपितः प्राणायामः प्रदर्शितः । यतेन्द्रियत्वयतचित्तत्वोक्त्या च ‘श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति’ [४।२६] इति प्रागुक्ते प्रत्याहारधारणे दर्शिते । चित्तेन्द्रिययोः क्रियेति व्याख्याने ‘ यतचित्तेन्द्रियः ’ इत्येतावतैव चारितार्थ्यात्क्रियापदं व्यर्थं स्यात् । अत एवं व्याख्यातम् ।

‘एकाग्रं मनः कृत्वा’ इत्यनेन धारणानन्तरभाविनी ध्यानाख्या चतुर्थी भूमिर्दर्शिता । एकाग्रं कृत्वा आत्मविशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थं योगं ध्यानं युञ्ज्यात्कुर्वीत । तत्र चित्तैकाग्र्ये कारणं देहधारणमाह— **सममिति** । कायो देहमध्यभागः । स च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं मूलाधारादारभ्य मूर्धपर्यन्तं सममवक्रम् अचलमकम्पं धारयन्, किञ्च अन्तरान्तरा दिशोऽनवलोकयन्, स्वं स्वीयं नासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्येवेति इवशब्दलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । न ह्यत्र नासाग्रसम्प्रेक्षणं विवक्षितम् , तथा सति मनसस्तत्रैव समाधिप्रसङ्गात् । अतो नासाग्रप्रेक्षक इव स्थित इति । एवं मनः संयम्य विषयाकारवृत्तिशून्यं कृत्वा मच्चित्त आसीतेति ध्यानविधिः । मदिति ध्येयस्वरूपसौलभ्योक्तिः । मयि पुरतः स्थिते मदनकोटिसुन्दरे मणिकिरीटकुण्डलवलयहारकेयूरमुद्रिकालङ्कृते माङ्गल्यवपुषि मरकतोपलश्यामले मन्दस्मितरुचिरबिम्बाधरे मधुरालापिनि महनीयचरिताद्भुते वासुदेवे चित्तं यस्य स मच्चित्तः सन्, युक्तो ध्यानयोगी भूत्वा आसीत उपविशेत् । त्वां पश्यन्तः सर्वेऽपि त्वच्चित्ता भवन्ति ; तदेव किं तव ध्यानम् ? नेत्याह— **मत्पर** इति । अहमेव पर इष्टः परमपुरुषार्थो यस्य स मत्परः । एवं भगवदेकाकारचित्तवृत्तिरूपध्यानात्मकसम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठस्य फलमाह— **युञ्जन्निति**। एवं रहोवस्थानादिपूर्वोक्तनियमेन सदा आत्मानं मनो युञ्जन् समाहितं कुर्वन् योगी नियतमानसः नियतं समाध्यभ्यासातिशयेन निरुद्धं मानसं येन स तथोक्तः सन् शान्ति सर्ववृत्त्युपरमरूपां निर्वाणपरमां तत्त्वसाक्षात्कारद्वारा मोक्षपर्यवसायिनीं मत्संस्थां मत्स्वरूपपरमानन्दरूपां निष्ठामधिगच्छति । न त्वन्तर्धानाकाशगमनादिसिद्धिफलान्यधिगच्छति, सर्वतो विरक्तस्य मुमुक्षोस्तदपेक्षाविरहात् । अत एवोद्दालको देवैरामन्त्रितोऽपि तानवज्ञाय निर्विकल्पकसमाधिमेव चकारेति वासिष्ठे श्रूयते । योगसूत्रकृता पतञ्जलिनाऽपि भूतभौतिकात्मविषयकसम्प्रज्ञातसमाधिमन्तर्धानादितुच्छफलहेतुं बहुधा प्रपञ्च्य तेषामपवर्गोपयोग्यात्मसमाधिविरोधित्वेन हेयत्वं सूत्रितम् ‘ ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः’ [ पा. यो. ३।३६] इति । **सेयमष्टश्लोकी यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारादिक्रमेण पाठक्रमं भंक्त्वाऽस्माभिर्व्याख्याता** ॥ १०—१७ ॥

९ व० त० दी०— एवं योगारूढस्य स्वरूपमुक्त्वाऽऽरुरुक्षोः साङ्गं योगं विदधतः सिद्धिमाह-‘योगी’ इत्यादिना ‘ मत्संस्थामधिगच्छति ’ [ १५ ] इत्यन्तेन । योगी युञ्जानो रहसि स्थितः आत्मानं सततं युञ्जीत ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्मेति । मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविस्त्वात् अविद्यादिपञ्चक्लेशभयरहितः । सबीजयोगिनस्तस्य सम्प्रज्ञातसमाधिप्रकारमाह- मनः संयम्य मच्चित्त इति । मनश्च तादृशं संयतं

* बौधायनधर्मसूत्रे [ १ । ५ । ६१ ।] त्वयं पाठः— ‘आत्मशय्यासनं वस्त्रं जायापत्यं कमण्डलुः । शुचीन्यात्मन एतानि परेषामशुचीनि तु’ ॥ इति भिन्नतया वर्तते ।

वासुदेवाधिष्ठितं चित्तरूपेण परिणमते इति तच्चित्तं तदधिष्ठातरि मयि यस्य स इति युक्तस्य भक्तिसम्बन्धित्वमुक्तम् । तदाह—युक्तः सन्मत्पर आसीत ॥ १४ ॥ एवं सदा योगी युक्तः सिद्धः स मयि संस्थां लयं मोक्षादक्षरतादात्म्यरूपादपि परमं प्रवेशं प्राप्नोति ॥ १५ ॥ तमेव परावृत्त्या द्रढयति— नात्यश्नत इति स्पष्टम् । किन्तु युक्ताहारविहारस्य योगो दुःखहा भवति ॥ १६ ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.—एवं योगारूढस्वरूपमुक्त्वा तस्य भावस्वरूपसिद्ध्यर्थं योगसाधनप्रकारमाह 'योगी' इत्यारभ्य 'स योगी परमो मतः' [६।३२] इत्यन्तम् । योगी योगारूढः, आत्मानं भावात्मकं रूपं, रहसि एकान्ते भगवच्चिन्तनस्थाने स्थितः सन् समाहितः सन् सततं युञ्जीत भगवति युक्तं कुर्यात् । एकाकी सङ्गदोषरहितः । यतचित्तात्मा यतं वशीकृतं स्वभोगादिरहितं चित्तं भावरूपमात्मा देहेऽधिकरणात्मको येन । निराशीर्निर्गता मोक्षाद्याऽऽकाङ्क्षा यस्य । अपरिग्रहः संसर्गदुःखज्ञानेन त्यक्तपरिग्रहः सर्वापेक्षारहितः । एवं युक्तचित्तः सन् मद्ध्यानं कुर्यादित्यर्थः ॥ १० ॥ ससामग्रीकं ध्यानस्वरूपमाह—शुचाविति चतुष्टयेन । शुचौ देशे भावात्मकवृन्दावनादौ, आत्मनो भगवतः स्थिरमासनं भावरूपं, नात्युच्छ्रितं हृदयाद्बहिः केवलक्रीडायामेव स्थितम्, नातिनीचं भावरहितानुकरणात्मकम् । कीदृशं? चैलाजिनकुशोत्तरं चैलं वस्त्रं भावरूपं, 'स्वैरुत्तरीयैः कुचकुङ्कुमाङ्कितैः' [भाग.१०।३२।१३] इति न्यायेन' अजिनं अधिकरणदेहस्थहृदयकमलात्मकं, चैलाजिने कुशेभ्यः श्रीगोवर्धनादिस्थिततृणादिरूपेभ्य उत्तरे यस्मिन् । पूर्वं भावरूपतृणानि, तदुपरि हृदयात्मकं, तदुपरि भावात्मकं वस्त्रमेवं प्रतिष्ठाप्य ॥ ११ ॥ तत्र भगवत्स्वरूपे एकाग्रं केवलदास्यभावेऽनन्यतया स्थितं मनः कृत्वा । यताः शान्ताश्चित्तेन्द्रियक्रिया यस्य । चित्तक्रियाः स्वभोगचाञ्चल्यादयः, इन्द्रियक्रियाः स्वतापनिवृत्त्यर्थं दर्शनाद्यभिलाषाः, तादृशो भूत्वा आसने उपविश्य आत्मशुद्ध्यर्थं भावस्वरूपसिद्ध्यर्थं योगं भगवत्संयोगं युञ्ज्यात् अभ्यसेत् ॥ १२ ॥ समं कायशिरोग्रीवं, कायश्च शिरश्च ग्रीवा च कायशिरोग्रीवम् । कायपदेन चरणमारभ्य सर्वोऽपि देहः । भक्तिमार्गानुसारेण शिरः सत्यलोकात्मकम्, ग्रीवा मुक्तिस्थानम् । समं यथास्थितरूपमचलं धारयन् ध्यानं कुर्वन् । स्थितः सन् स्वनासिकाग्रं सम्प्रेक्ष्य अर्धनिमीलितनेत्रो भावस्थः दिशश्चानवलोकयन् दिग्भावज्ञानशून्यः सर्वत्र भगवद्दर्शनवान् ॥ १३ ॥ प्रशान्तात्मा भक्तिरसाभिनिविष्टचित्तः, विगतभीः, ब्रह्मचारी श्रुत्यादिदुरापचरणरेणुभगवत्प्राप्तिसन्देहरहितः । ब्रह्मचारिव्रते स्थितः भगवदर्थेन्द्रियनिग्रहवान् । तादृशः सन् मनः संयम्य सर्वतः आकृष्य वशे कृत्वा मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य । मत्परः अहमेव परः पुरुषार्थरूपो यस्य । एतादृशो भूत्वा युक्तः मद्योगस्थ आसीत तिष्ठेत् ॥ १४ ॥

एवं योगाभ्यासकर्तुः फलमाह— युञ्जन्निति । एवं सदा निरन्तरं नियतमानसः दास्यैकपरचित्तः; आत्मानं युञ्जन्नपि, युक्तं कुर्वन्, योगी मयि योगवान्, निर्वाणपरमां मोक्षाधिकां मत्संस्थां मत्स्वरूपपरसात्मिकां शान्तिं वियोगक्लेशादिरहितभावमधिगच्छति प्राप्नोति । १५ । एवं योगफलमुक्त्वा तस्य स्थित्यर्थमाहारादिकमाह— नात्यश्नतस्त्विति । अति अश्नतः अधिकभोक्तुर्देहपुष्ट्यर्थं भुञ्जानस्य न च । एकान्तं सर्वथा अभुञ्जानस्य भगवत्स्वरूपमज्ञात्वा उपवासं कुर्वतः, अतिस्वप्नशीलस्य निद्राशीलस्य सर्वविस्मरणैकस्वभावस्य, जाग्रतश्च न चैव योगो मत्संयोगोऽस्ति ॥ १६ ॥ यत एतादृशस्य योगो न भवतीत्यतो यथा योगसिद्धिः स्यात्तथोपायमाह—युक्ताहारेति । युक्त आहारो विहारश्च यस्य भगवत्सेवार्थदेहपोषार्थं प्रसादं भुञ्जानस्य, भगवत्सेवार्थानुकरणात्मककर्मसु प्रातरारभ्य स्नानपाकादिरूपेषु नियुक्ता भगवदर्थैकरूपा चेष्टा यस्य, युक्तौ स्वप्नावबोधौ भगवद्विश्रामोत्तरक्षणे सेवायां देहालस्यनिवारणार्थं स्वापः, सेवासामग्रीसम्पादनादिष्ववबोधः, एतादृशौ तौ यस्य । तस्य योगो भावात्मको मत्सङ्गात्मको दुःखहा तद्भावाभावतापादिहर्ता भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

११ नी. भा. दी.— योगीति । योगी योगाभ्यासपरो रहसि एकान्ते स्थितः सन् आत्मानं बुद्धिं युञ्जीत समादध्यात् । सततमिति नैरन्तर्यमुक्तम् । निराशीर्योगसिद्धेरन्यदप्रार्थयानः, तदेकनिष्ठ इति यावत् । तेन सत्कार उक्तः । एकाकी असहायः, सन्न्यासीत्यर्थः । यतौ स्थिरीकृतौ चित्तं मन आत्मा सेन्द्रियं शरीरं येन स यतचित्तात्मा । तथा अपरिग्रहः एकाकित्वेऽपि कथापुस्तकादिबहुपरिग्रहशून्यः ॥ १० ॥

'योगं युञ्जीत' इत्युक्तं तत्कथं ? इत्याकाङ्क्षायां तदङ्गान्यासनादीन्याह— शुचौ देशे इत्यादिना । शुचौ स्वभावतः संस्कारतो वा पुण्ये देशे स्थाने प्रतिष्ठाप्य सुस्थितं कृत्वा स्थिरं निश्चलं आस्तेऽस्मिन्नित्यासनं स्थण्डिलं 'निश्चलं' इत्यनेन मृन्मयमेव स्थण्डिलं, न तु काष्ठमयं पीठम् । 'आत्मनः' इति परासनव्यावृत्त्यर्थम् । नात्युच्छ्रितं नात्युच्चं नातिनीचं चैलाजिनकुशा उत्तरे उपर्युपरि यस्य तच्चैलाजिनकुशोत्तरम् । अजिनादुपरि चैलं, कुशेभ्य उपरि अजिनं, स्थण्डिलस्योपरि कुशा इत्यर्थः ॥ ११ ॥

प्रतिष्ठाप्य किं कुर्यात् ? इति तत्राह— तत्रेति । तत्रासने पद्मस्वस्तिकाद्यन्यतमेनासनेनोपविश्य । यताः निगृहीताश्चित्तस्य क्रिया विषयाणां स्मरणानि, इन्द्रियक्रियास्तेषां ग्रहणं, येनासौ यतचित्तेन्द्रियक्रियः । अत एव मनो बाह्याभ्यन्तरविषयानुपरक्ततया एकं ध्येयमेव प्रत्यक्तत्वमग्रे यस्य स्फुरति, नान्यत् ;

तदेकाग्रं वृत्त्यन्तरानन्तरितब्रह्मैकाकारवृत्तिप्रवाहि कृत्वा आत्मविशुद्धये चित्तशुद्ध्यर्थं योगं वृत्तिप्रवाहस्यापि निरोधं युञ्ज्यादनुतिष्ठेच्चित्तस्य स्थैर्यतापादनेन ॥ १२ ॥

'आसन उपविश्य' इत्युक्तं तत्कथं ? इत्यत आह—सममिति । कायः शरीरमध्यं, शिरो ग्रीवा च कायशिरोग्रीवं समं मूलाधारमारभ्य मूर्धान्तं अवक्रं अचलं निष्कम्पं धारयन् स्थिरो भूत्वा । 'सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं' इति नासिकाग्रावेक्षणं न विधीयते, किन्तु निमीलने लयभयमुन्मीलने विक्षेपभयम्, अतो दिशोऽपि रूयादिविक्षेपकविषयदर्शनभयादनवलोकयन्नर्धोन्मीलितनेत्र आसीतेति उत्तरेणान्वयः ॥ १३ ॥

एवमासने उपविष्टेन यत्कर्तव्यं तदाह—प्रशान्तात्मेति । योगयुक्तो योगी ब्रह्मचारिव्रते भैक्षचर्यायां स्थितः, सन्न्यासीत्यर्थः । मच्चित्तो मयि परमे चित्तं यस्य स एवम्भूतो मय्येव मनः संयम्य मत्पर आसीत, स प्रशान्तात्मा भूत्वा विगतभीर्भवतीति योजना । भवति हि कश्चिदात्मनोऽन्यमीश्वरं मत्वा तच्चित्तस्त-मेवाराध्यत्वेनाभिगतस्तत्रैव च मनसः संयमं करोति, न तु स तत्परस्तमेव परमपुरुषार्थतया प्राप्यत्वेन मन्यते; किन्तु तत्प्रीत्याऽन्यदेव फलं कामयते । अयं तु मच्चित्तो मय्येव मनः संयम्य मत्परो मामेव सर्वान्तरं प्रत्यगद्वयं कामयत इति । यतो मत्परोऽत एव प्रशान्तात्मा प्रकर्षेण बाह्याभ्यन्तरविषयत्यागेन समाधिसुखास्वाद-त्यागेन च शान्त उपरत आत्मा चित्तं यस्य सोऽस्मितामात्रावशेषो विगतभीर्भवति । इयमेवावस्था सत्त्वपुरुषान्य-ताख्यातिरिति ब्रह्मसाक्षात्कार इति च विकल्प्यते । सर्वथा तस्यां सिद्धायां पुरुषः परमपुरुषार्थभाग्भवति ॥ १४॥

अस्याः फलमाह—युञ्जन्निति । एवमनेन प्रकारेण सदा निरन्तरं दीर्घकालं चात्मानं मनो युञ्जन् समादधानो योगी, नियतं ख्यातिफलादपि निगृहीतं मानसं येन स नियतमानसः, शान्तिं परमवैरा-ग्यबलात् ख्यातिमपि निरुध्य निर्विकल्पपदं निर्वाणं मोक्षस्तदेव परमा निष्ठा यस्याः शान्तेस्तां, मत्संस्थां मय्येव संस्था एकीभावेनावस्थानं समाप्तिर्वा यस्यास्तामधिगच्छति प्राप्नोति । ख्यातिफलं च सूत्रकृता दर्शितं 'प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः' [ पा. यो. ४।२९ ] इति 'तत्परं पुरु-षख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्' [ पा. यो. १।१६ ] इति 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च' [ पा.यो.३।४९ ] इति सूत्रत्रयेण । प्रसङ्ख्याने ध्याने अकुसीदस्य वणिज इव फलानिच्छोः सर्वथा विवेकख्यातिरेव भवति, तस्याश्च फलं धर्ममेघः समाधिः, स च प्रागेव व्याख्यातः । तद्वैराग्यं परं परसंज्ञं पुरुष-ख्यातेः फलम् । तस्य लक्षणं गुणेषु दिव्यादिव्यविषयेषु वैतृष्ण्यम् । एतस्यैव हि नान्तरीयकं फलं कैवल्यमिति योगा वदन्ति । तृतीयसूत्रोक्तं फलं सार्वज्ञ्यादिकं त्वभिप्रेत्य श्रूयते—"कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" [ मुं.उ.१।१।३ ]इति "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः" [बृ.उ.४।४।२२ ] इत्यादिकम् ॥ १५॥

एवं योगाभ्यासनिष्ठस्याहारादिनियममाह द्वाभ्यां—नात्यश्नत इति । एकान्तमतिशयेन जाग्रत इत्यत्राप्य-तिशब्दो योज्यः ॥ १६ ॥ युक्ताः परिमिता आहारादयो यस्य स तथा ॥ १७ ॥

सिद्धयोगिनोऽसम्प्रज्ञातसमाधेः सदृष्टान्तावस्था ।

**यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।**
**निस्स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥**
**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता ।**
**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥ १९ ॥**

१ **शां. भा.**— अथाधुना कदा युक्तो भवति ? इत्युच्यते— यदा विनियतं चित्तं विशेषेण नियतं संयतमेकाग्रतामापन्नं चित्तं हित्वा बाह्यार्थचिन्ता आत्मन्येव केवलेऽवतिष्ठते, स्वात्मनि स्थितिं

१ 'निस्पृहः सर्वकामेभ्यः' इत्येतत् कस्याप्युपभोगस्येच्छा न तिष्ठति इति व्याचकुर्नव्याः । तन्न, कामशब्दस्योपभोगा-र्थत्वे मानाभावात्, 'कामोपभोगपरमाः' (१६।११) इत्यनेन कामोपभोगयोर्भेदस्यैवात्र प्रतीयमानत्वाच्च ।
—अविगीता ।

लभत इत्यर्थः । निस्स्पृहः सर्वकामेभ्यो निर्गता दृष्टादृष्टविषयेभ्यः स्पृहा तृष्णा यस्य योगिनः स युक्तः समाहितः इत्युच्यते, तदा तस्मिन्काले ॥१८॥ तस्य योगिनः समाहितं यच्चित्तं तस्योपमोच्यते— यथा दीपः प्रदीपो निवातस्थो निवाते वातवर्जिते देशे स्थितो नेङ्गते न चलति सोपमा— उपमीयतेऽनयेत्युपमा योगज्ञैश्चित्तप्रचारदर्शिभिः स्मृता चिन्तिता । योगिनो यतचित्तस्य संयतान्तःकरणस्य युञ्जतो योगमनुतिष्ठत आत्मनः समाधिमनुतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— सफलस्य साङ्गस्य योगस्योक्त्यनन्तरं 'यदा हि' [६।४] इत्यादावुक्तकालानुवादेन युक्तं लक्षयितुमनन्तरश्लोकप्रवृत्तिं दर्शयति—**अथाधुनेति** । विशेषेण संयतत्वमेव सङ्क्षिपति— **एकाग्रतामिति** । 'आत्मन्येव' इत्येवकारार्थं कथयति— **हित्वेति** । केवलत्वमद्वितीयत्वम् । तस्याऽऽत्मस्थितिं विवृणोति— **स्वात्मनीति** । चित्तस्य हि कल्पितस्याऽऽत्मैव तत्त्वं, तत्पुनरन्यतः सर्वतो निवारितमधिष्ठाने निमग्नं तिष्ठतीति भावः । तस्यामवस्थायां सर्वेभ्यो विषयेभ्यो व्यावृत्ततृष्णो युक्तो व्यवह्रियेत इत्याह—**निस्स्पृह** इति ॥१८॥ उपमा योगिनश्चित्तस्थैर्यस्योदाहरणमित्यर्थः । उपमाशब्दस्य प्रदीपविषयत्वसिद्ध्यर्थं करणव्युत्पत्तिं दर्शयति — **उपमीयत** इति । योगिनो यथोक्तविशेषणवतश्चित्तस्थैर्यस्येति शेषः ॥१९॥

**३ रा. भा.—** यदा प्रयोजनविषयं चित्तमात्मन्येव विनियतं विशेषेण नियतं निरतिशयप्रयोजनतया तत्रैव नियतं निश्चलमवतिष्ठते, तदा सर्वकामेभ्यो निस्स्पृहः सन् युक्त इत्युच्यते योगार्ह इत्युच्यते ॥ १८ ॥ निवातस्थो दीपो यथा नेङ्गते न चलति, अचलः सप्रभस्तिष्ठति; यतचित्तस्य निवृत्तसकलेतरमनोवृत्तेर्योगिनः आत्मनि योगं युञ्जतः आत्मस्वरूपस्य सोपमा; निवातस्थतया निश्चलसप्रभदीपवन्निवृत्तसकलेतरमनोवृत्तितया निश्चलो ज्ञानप्रभ आत्मा तिष्ठतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.—एवं परिकरोक्तिसमनन्तरं योगदशां प्रदर्शयितुं ततः पूर्वां प्रागुक्तैव योगयोग्यदशा परामृश्यते—**'यदा विनियतं'** इति श्लोकेन । 'आत्मन्येव' इत्येवकारव्यवच्छेद्यक्षुद्रप्रयोजनान्तरज्ञापनाय सामान्यतः **प्रयोजनविषयमित्युक्तम्** । प्रयोजनान्तरेषु सत्सु क्वचित् विशेषेण नियतत्वे को **हेतुः** ? इत्यत्राह **निरतिशयेति** । ' युक्तः ' इत्येतावतोऽत्र विधेयत्वात् 'निस्स्पृहः' इत्यस्याप्युद्देश्यकोट्यनुप्रवेशाय **निस्स्पृहः सन्नि**त्युक्तम्; सर्वकामेभ्यो निर्गता स्पृहा यस्य स तथोक्तः, सर्वकामेषु निस्स्पृह इत्यर्थः ॥ १८ ॥ अथ योगदशा लक्ष्यते— 'यथा' इत्यादिना । दीपस्याचलत्वे हेतुर्निवातस्थत्वम् । इङ्गतेश्चेष्टार्थत्वे विवक्षिते दीपे तदनन्वयात्साधारण्यसिद्ध्यर्थमाह—**न चलतीति** । निश्चलत्वे पर्वतादिनिदर्शनसद्भावेऽपि दीपदृष्टान्ताभिप्रेतमर्थं दर्शयितुमाह **अचलः सप्रभस्तिष्ठतीति** । 'यतचित्तस्य' इत्यनेन चिन्तारूपवृत्तिनियमनवचनमुपलक्षणमित्याह **निवृत्तेति** । मनोमात्रपर्यायो वाऽत्र चित्तशब्दः । इतरशब्देनात्मविषयवृत्तिरस्तीति सूचितम् । अन्यथा ' युञ्जतो योगम्' इत्येतद्व्याहन्येतेत्यभिप्रायेणाह—**आत्मनि योगं युञ्जत** इति; आत्मनि विषये साक्षात्कारं कुर्वत इत्यर्थः । ' नेङ्गते ' इति न शरीरस्य निष्कम्पत्वमुदाह्रियते, ' समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरम्' [६।१३] इति तस्योक्तत्वात्, ध्यानदशासाधारणत्वेन समाधिदशाविशेषकत्वानुपपत्तेश्च । नापीन्द्रियाणां निष्कम्पत्वम्, 'योगिनः सोपमा' इत्यन्वयायोगात् । नाप्यात्मस्वरूपस्य निश्चलत्वम्, अवस्थान्तरेऽपि तत्सिद्धेः । अतः स्वयम्प्रकाशज्ञानप्रभानिरस्तसमस्तवृत्त्यन्तरपरिशुद्धात्मस्वरूपप्रदर्शनार्थोऽयं दृष्टान्त इति सूचयितुं ' योगिनः ' इत्युक्तेऽपि पुनरपि 'आत्मनः' इत्युक्तमित्यभिप्रायेण **आत्मस्वरूपस्य सोपमेत्युक्तम्** । 'योगिनः आत्मनः' इति व्यधिकरणे षष्ठ्यौ । ननु **'सोपमा'** इत्यत्र उपमाशब्द उपमितिपरो वा ? दृष्टान्तपरो वा ? उभयथाऽपि न सम्भवति; यथेति निर्दिष्टप्रकारपरामर्शित्वादत्र तच्छब्दस्य उपमाशब्दस्य च तत्समानाधिकरणत्वात् ' सप्रभस्तिष्ठति ' इत्येतच्च कथं दार्ष्टान्तिके निर्वाह्यम् ? अयोगिनामप्यात्मस्वरूपस्य चलत्वप्रतीत्यभावात् किमर्थं च निश्चलत्वोपदेशः ? इत्यत्राह— **निवातस्थतयेति** । **अयमभिप्रायः**—उपमेति दृष्टान्तगतं साधर्म्यमत्र निर्दिश्यते । तस्मात् 'यथा' इत्यनेन 'सोपमा' इत्यस्यान्वय उपपन्नः । प्रभायाश्च प्रतिधर्मोऽत्र ज्ञानम् । आत्मनो निश्चलत्वं चात्र स्वप्रभाभूतज्ञानस्य विविधप्रसरणनिवृत्तिः । सा च बाह्यविषयेषु मनोवृत्तेरेवाभावात् संसारदशायां च ज्ञानस्येन्द्रियद्वारैव प्रसरणादिति । ' स्मृता ' समाधिदशासन्दर्शिभिर्योगिभिरिति शेषः ॥ १९ ॥

**५ आ. मा. भा.—** आत्मनि भवति ॥ १८ ॥ आत्मनो भगवद्विषयं योगम् ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'आत्मन्येवावतिष्ठते' इत्यत्र स्वस्मिन्नेवेति प्रतीतिनिरासायाह— **आत्मनीति** । अन्यथा ज्ञात्वा मामित्यादिविरोधः ॥ १८ ॥ 'युञ्जतो योगमात्मनः' इत्यत्रात्मशब्दस्य षष्ठ्याश्च विवक्षितमर्थमाह— **आत्मन** इति । 'योगिन आत्मनः' इति अन्वयनिरासाय योगमित्युक्तम्, अन्यथा वैयर्थ्यात् ॥ १९ ॥

७ ह. पै. भा.— अथाधुना कदा युक्तो भवति ? इत्यत्रोच्यते—यदा विनियतमिति । यदा विनियतं विशेषेण नियतं संयतमेकाग्रतामापन्नं चित्तं हित्वा बाह्यं आत्मन्येव केवलमवतिष्ठते स्वात्मनि स्थितिं लभत इत्यर्थः । निस्पृहः सर्वकामेभ्यो निर्गता स्पृहा दृष्टादृष्टविषयेभ्यस्तृष्णा यस्य योगिनः स युक्तः समाहित इत्युच्यते तदा ॥ १८ ॥

योगिनः समाहितस्योपमोच्यते— यथेति । यथा दीपो निवातस्थः निवाते वातवर्जिते देशे स्थितो नेङ्गते न चलति, सोपमा उपमीयतेऽनयेत्युपमा स्मृता योगज्ञैश्चित्तप्रकारदर्शिभिश्चिन्तिता । योगिनो यतचित्तस्य संयतान्तःकरणस्य युञ्जतो योगं समाधिमनुतिष्ठत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमेकाग्रभूमौ सम्प्रज्ञातसमाधिमुक्त्वा निरुद्धभूमावसम्प्रज्ञातसमाधिं वक्तुमुपक्रमते— यदेति । यदा यस्मिन्काले विनियतं विशेषेण नियतं सर्वशून्यतामापादितं चित्तं विरजस्तमस्कतयाऽतिस्वच्छत्वेन सर्वविषयाकारग्रहणसमर्थमपि सर्वतो निरुद्धवृत्तिकत्वादात्मन्येव प्रत्यक्चित्यवतिष्ठते आत्मैकाकारतया निश्चलं भवति, तदा सर्ववृत्तिनिरोधकाले युक्तः समाहित इत्युच्यते । अस्यासम्प्रज्ञातसमाधेः साधनमाह— निस्स्पृहः सर्वकामेभ्य इति । यद्यपि यमादीनि योगसाधनान्युक्तानि, तथापि वैराग्यमेवाष्टाङ्गयोगप्रवर्तकमन्तरङ्गं योगसाधनम् । तद्धि द्विविधम्— अपरं परं चेति । अपरमपि चतुर्विधम्— यतमानं व्यतिरेक एकेन्द्रियत्वं वशीकारश्चेति । तत्र सारासारविवेकोद्योगो यतमानवैराग्यम्, विवेकाभ्यासेनैतावन्तो दोषाः पक्वा एतावन्तोऽवशिष्टा इति विवेचनं व्यतिरेकवैराग्यम्, दृष्टानुश्रविकविषयप्रवृत्तेर्दुःखात्मत्वबोधेन तां परित्यज्य मनस औत्सुक्यमात्रेणावस्थापनमेकेन्द्रियवैराग्यम्; वितृष्णत्वं वशीकारवैराग्यम् । तदिदमपरं वैराग्यमष्टाङ्गयोगप्रवर्तकत्वेन सम्प्रज्ञातस्यान्तरङ्गम्; असम्प्रज्ञातस्य तु बहिरङ्गम् । तत्रान्तरङ्गं तु परवैराग्यं सकलप्रपञ्चव्यवहारवैतृष्ण्यरूपमिति योगशास्त्रमर्यादा । तदेतत्परवैराग्यमिह 'निस्स्पृहः' इत्यनेनोच्यते । सर्वकामेभ्यः, सर्वव्यवहारेभ्य इत्यर्थः ॥ १८ ॥ आत्मैकाकारतया स्थितस्य चित्तस्योपमानमाह—यथेति । यतचित्तस्य निरुद्धचित्तवृत्तेः योगमसम्प्रज्ञातसमाधिरूपं युञ्जतः अनुतिष्ठतः योगिनः य आत्मा अन्तःकरणं तस्य सा उपमा दृष्टान्तः स्मृता योगज्ञैरिति शेषः । काऽसौ ? यथा दीपो निवातस्थ इति । निवातदेशस्थितः प्रदीपो यथा चलनहेत्वभावान्नेङ्गते न चलति, सोपमा । निश्चलतया सत्त्वोद्रेकेण प्रकाशकतया च स्थितस्य चित्तस्य निश्चलः प्रदीपो दृष्टान्त इत्यर्थः ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— कदा सिद्धयोगी पुरुषो भवतीत्यपेक्षायां निर्बीजयोगमसम्प्रज्ञातसमाधिमाह— यदेति । आत्मन्येव चित्तं विनियतं संयतं तिष्ठति यस्य सोऽपि योगकाले सम्प्राप्ते तेभ्यो योगैश्वर्यादिसिद्धिरूपेभ्योऽशेषकामेभ्यो निस्स्पृहो भवेत्, तदा युक्तः सिद्धयोगी दृढतरयोगीत्युच्यतेऽसम्प्रज्ञातसमाधिनिष्ठः ॥ १८ ॥

आत्मैक्याकारतयाऽवस्थितचित्तस्योपमानमाह— यथेति । निर्गतो वातो यस्मिंस्तत्र देशे स्थितो यथा दीपो नेङ्गते सोपमा निदर्शनं यतचित्तस्य ज्ञेयम् ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं प्रवृत्तस्य भगवद्योगसिद्धिः कदा स्यात् ? इत्याकाङ्क्षायामाह— यदेति । यदा यस्मिन् समये भगवत्सम्बन्धलक्षणभद्रकाले विनियतं वशीभूतं चित्तमात्मन्येव भावात्मकस्वरूप एव अवतिष्ठते स्थिरं भवति सर्वकामेभ्यो लौकिकेभ्यो निस्स्पृहो विगतेच्छो भवति तदा युक्त इत्युच्यते । सिद्धयोग उच्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥ विनियतचित्तः कीदृग्विधः स्यात् ? इत्याकाङ्क्षायामाह—यथेति । यथा दीपो वायुरहितप्रदेशस्थितो नेङ्गते न चलति, यतचित्तस्यात्मनो भगवति योगं युञ्जतो भावयतो योगिनः सा उपमा स्मृता । अत्र दीपदृष्टान्तस्यायं भावः—दीपस्य तापरूपत्वाद्वायोश्च शैत्यधर्मत्वात् तद्रहितदेशे तस्य नाशार्थं चाञ्चल्यं न भवति, तथा भगवद्विप्रयोगतापनिवर्तकधर्मभावेन योगं युञ्जतो मनश्चञ्चलं न भवति ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— निर्वाणपरमां शान्तिं प्राप्तस्य लक्षणान्याह— यदेत्यादिभिः षड्भिः । विनियतं विशेषेण एकाग्रताभूमेरपि निरुद्धमात्मनि प्रत्यगात्मन्येवावतिष्ठते, न त्वस्मितादिरूपेण उद्रिच्यते, तदा योगी सर्वेभ्यो जाग्रत्स्वप्नसबीजसमाधिषूपस्थितेभ्यः—ल्यब्लोपे पञ्चमी—सार्वात्म्यप्राप्त्यैव तान् प्राप्य तेषु निस्स्पृहो भवति, तदा युक्तो निर्विकल्पक इत्युच्यते ॥ १८ ॥ एकाग्रतावस्थायां योगिचित्तस्योपमामाह— यथेति । नेङ्गते न चलति तद्वत् । यतं च तच्चित्तं च यतचित्तं तस्य एकाग्रतां प्राप्तं चित्तं निवातप्रदीपवन्न चलतीत्यर्थः । आत्मनो योगं समाधिं युञ्जतोऽनुतिष्ठतः ॥ १९ ॥

असम्प्रज्ञातसमाधेः सलक्षणं विवरणं, अवश्यकर्तव्यत्वं च ।

**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।**
**यत्र चैवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥ २० ॥**
**सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।**
**वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥ २१ ॥**
**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।**
**यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते ॥ २२ ॥**
**तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसञ्ज्ञितम् ।**
**स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥ २३ ॥**
**सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः ।**
**मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः ॥ २४ ॥**
**शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।**
**आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २५ ॥**

**१ शां. भा.— एवं योगाभ्यासबलादेकाग्रीभूतं निवातप्रदीपकल्पं सत्– यत्र यस्मिन्काल उपरमते चित्तमुपरतिं गच्छति निरुद्धं सर्वतो निवारितप्रचारं योगसेवया योगानुष्ठानेन, यत्र चैव यस्मिंश्च काल आत्मना समाधिपरिशुद्धेनान्तःकरणेनाऽऽत्मानं परं चैतन्यं सर्वतो ज्योतिस्स्वरूपं पश्यन्नुपलभमानः स्व एवाऽऽत्मनि तुष्यति तुष्टिं भजते ॥ २० ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— द्विविधः समाधिः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च । ध्येयैकाकारसत्त्ववृत्तिभेदेन कथञ्चिज्ज्ञायमाना सम्प्रज्ञातसमाधिः, कथमपि पृथगज्ञायमाना सैव सत्त्ववृत्तिरसम्प्रज्ञातसमाधिः, तत्र सामान्येन समाधिलक्षणमभिधायासम्प्रज्ञातस्य समाधेरधुना लक्षणं विवक्षन्नाह— **एवमिति** । काले समाध्युपलक्षिते । एवकारः 'तुष्यति' इत्यनेन सम्बध्यते । चकारस्य सम्बन्धमाह— **यस्मिंश्चेति** । कालस्तु पूर्ववत् कर्मकारकत्वेन निर्दिष्टमात्मानं तत्पदार्थत्वेन व्याचष्टे— **परमिति** । 'आत्मनि' इत्यस्य त्वम्पदार्थविषयत्वमाह— **स्व एवेति** । परमात्मानं प्रतीच्येव तद्भावेनापरोक्षीकुर्वन्नतुष्टिहेत्वभावात्तुष्यत्येवेत्यर्थः । तस्मिन्काले योगसिद्धिर्भवतीति शेषः ॥ २० ॥

---

१ न विचाल्यते–विशेषेण न चाल्यते; अपितु संस्कारमात्रेणैवास्य प्रथमक्षणमात्रमेव चलनं कारुण्यादिवशात्, न तु मूढतया– **इत्यभिनवगुप्तपादाः** ॥ **गुरुणा** बृहस्पतिना । स हि 'न स्वर्गो नापवर्गो वा नैवात्मा पारलौकिकः ।' इत्यादिलोकायतमतमुपदिश्यासुरान्स्वधर्मतश्चालयामासेति प्रसिद्धं पुराणेषु । अयं योगी तु न तेनापि दुःखेनापि चाल्यते ॥ अथवा **गुरुणा** देशिकेन । योगाभ्यासिनं नवशिष्यं गुरुर्योगकलया समये समाधेर्व्युत्थापयति, परमयं न तेन प्रयत्नेन व्युत्थापयितुं शक्यते इति समाधेर्दृढत्वमुच्यते ।

२ **अनिर्विण्णेति**–' विद ' विचारणे ( धा. पा. रुधा. १३ ) निर्पूर्वात् कर्तरि क्तः । 'रदाभ्यां–'( अष्टा. ८।२।४२ ) इत्यादिना निष्ठातस्य पूर्वस्य दस्य च नः । ' निर्विण्णस्योपसङ्ख्यानम् ' ( अष्टा. ८।४।२९ ) इति परस्य ष्टुत्वेन च पूर्वस्य णत्वम् ॥ अनिर्विण्णो विष्णुः, ' अनिर्विण्णः स्थविष्ठो भूः ' ( वि. स. ना. ६० ) ' अनिर्विण्णः सदामर्षी ' ( वि. स. ना. १०८ ) इति सहस्रनामसु पाठात् । तस्मिंश्चेतो यस्य तेन इति **केचित्** । निर्विण्णं संसारे विरक्तं चेतो यस्य तेनेति वा ( ६।२० ) । तथा चोक्तम्–'यदारम्भेषु निर्विण्णो विरक्तः संयतेन्द्रियः । अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः' [भाग. ११।२०।१८] इति ।

३ शनैः शनैः मनसैव, न व्यापारोपरमेण, धृतिं गृहीत्वा क्रमात्क्रममभिलाषदुःखं प्रतनूकृत्य किञ्चिदपि विषयाणां त्यागग्रहणादिकं न चिन्तयेत्, **यत्त्वन्यैर्व्याख्यातम्**–न किञ्चिदपि चिन्तयेदिति, तन्नास्मभ्यं रुचितम्; शून्यवादप्रसङ्गात् । न च विषयव्युपरममात्रमेव प्राप्तमित्युच्यते–**इत्यभिनवगुप्ताचार्याः** । उपरमेदिति अन्तर्भावितण्यर्थम् । ' उपाच्च ' ( १।३।८४ ) इति परस्मैपदम्

**—अविगीता ।**

१ शां. भा.— किञ्च— सुखमात्यन्तिकमत्यन्तमेव भवतीत्यात्यन्तिकं, अनन्तमित्यर्थः। यत्तद्बुद्धिग्राह्यं बुद्ध्यैवेन्द्रियनिरपेक्षया गृह्यत इति बुद्धिग्राह्यं, अतीन्द्रियमिन्द्रियगोचरातीतं, अविषयजनितमित्यर्थः, वेत्ति तदीदृशं सुखमनुभवति यत्र यस्मिन् काले, न चैव अयं विद्वानात्मस्वरूपे स्थितः तस्मान्नैव चलति तत्त्वतस्तत्त्वस्वरूपान्न प्रच्यवत इत्यर्थः॥२१॥ किञ्च- यं लब्ध्वा यमात्मलाभं लब्ध्वा प्राप्य चापरमन्यल्लाभान्तरं ततोऽधिकमस्तीति न मन्यते न चिन्तयति। किञ्च यस्मिन्नात्मतत्त्वे स्थितो दुःखेन शस्त्रनिपातादिलक्षणेन गुरुणा महताऽपि न विचाल्यते ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— योगसिद्धिकालं प्रकारान्तरेण प्रकटयति- **किञ्चे**ति। बुद्धिशब्दः स्वानुभवविषयः। इन्द्रियनिरपेक्षस्वानुभवगम्यत्वोक्तेरतीन्द्रियमिति पुनरुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **अविषये**ति। पदच्छेदः— न **चे**त्यादि। अपेक्षितपूरणं—**आत्मस्वरूप** इति। तस्मात्तत्त्वत इति सम्बन्धः। नैवेत्येवकारसम्बन्धोक्तिः। चकारः सप्तम्या सम्बन्धनीयः। यत्रेति पूर्ववत्सम्बन्धः ॥ २१ ॥ प्रकारान्तरेण प्रकृतं योगं विशिनष्टि— **किञ्चे**ति। 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' [आप.ध.सू. १।२२।२ ] इति स्मृत्या व्याचष्टे **यमात्मलाभमि**ति। लाभान्तरं पुरुषार्थभूतम्, ततस्तस्मादात्मलाभादिति यावत्। 'तं विद्यात्' इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। 'यस्मिन्' इत्याद्यवतारयति **किञ्चे**ति। अपरिपक्वयोगो यथा दर्शितेन दुःखेन प्रच्याव्यते, नैवं विचाल्यते यस्मिन्स्थितो योगी, तं योगं विद्यादिति पूर्ववत् ॥ २२ ॥

१ शां. भा.— 'यत्रोपरमते' [ ६।२० ] इत्याद्यारभ्य यावद्भिर्विशेषणैर्विशिष्ट आत्मावस्थाविशेषो योग उक्तः— तं विद्याद्विजानीयाद्दुःखसंयोगवियोगं दुःखैः संयोगो दुःखसंयोगस्तेन वियोगो दुःखसंयोगवियोगस्तं दुःखसंयोगवियोगं 'योगः' इत्येव संज्ञितं विपरीतलक्षणेन विद्याद्विजानीयादित्यर्थः। योगफलमुपसंहृत्य पुनरन्वारम्भेण योगस्य कर्तव्यतोच्यते निश्चयानिर्वेदयोर्योगसाधनत्वविधानार्थम्— स यथोक्तफलो योगो निश्चयेनाध्यवसायेन योक्तव्योऽनिर्विण्णचेतसा न निर्विण्णमनिर्विण्णम्; किं तत् ? चेतः, तेन निर्वेदरहितेन चेतसा, चित्तेनेत्यर्थः॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'तं विद्यात्' इत्याद्यपेक्षितं पूरयन्नवतारयति— **यत्रे**ति। 'तं' इत्यात्मावस्थाविशेषं परामृशति। दुःखसंयोगस्य वियोगो वियोगसंज्ञितो युज्यते, स कथं योगसंज्ञितः स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह **विपरीते**ति। इयं हि योगावस्था समुत्खातनिखिलदुःखभेदेति दुःखसंयोगाभावो योगसंज्ञामर्हतीत्यर्थः। उपसंहृते योगफले किमिति पुनर्योगस्य कर्तव्यत्वमुच्यते? तत्राऽऽह **योगफलमि**ति। प्रकारान्तरेण योगस्य कर्तव्यत्वोपदेशारम्भोऽत्रान्वारम्भः। योगं युञ्जानस्तत्क्षणादुक्तां संसिद्धिमलभमानः संशयानो निवर्तेतेति तन्निवृत्त्यर्थं पुनः कर्तव्यत्वोपदेशोऽर्थवानिति मत्वाऽऽह **निश्चये**ति। तयोः साधनत्वविधानमेवाक्षरयोजनया साधयति **स यथे**ति । इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यतीत्यध्यवसायः। योक्तव्यः कर्तव्यः ॥ २३ ॥

१ शां. भा.— किञ्च— सङ्कल्पप्रभवान्सङ्कल्पः प्रभवो येषां कामानां ते सङ्कल्पप्रभवाः कामास्तांस्त्यक्त्वा परित्यज्य सर्वानशेषतो निर्लेपेन। किञ्च मनसैव विवेकयुक्तेनेन्द्रियग्राममिन्द्रियसमुदायं विनियम्य नियमनं कृत्वा समन्ततः समन्तात् ॥ २४ ॥ शनैः शनैर्न सहसोपरमेदुपरतिं कुर्यात्। कया ? बुद्ध्या। किंविशिष्टया ? धृतिगृहीतया धृत्या धैर्येण गृहीतया, धैर्येण युक्तयेत्यर्थः। आत्मसंस्थमात्मनि संस्थितं 'आत्मैव सर्वं, न ततोऽन्यत्किञ्चिदस्ति' इत्येवमात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्। एष योगस्य परमो विधिः ॥ २५ ॥

२ आ. शां. व्या.—इतश्च योगस्य कर्तव्यत्वमिति प्रतिजानीते **किञ्चे**ति। केन क्रमेण कर्तव्यत्वं? इत्यपेक्षायामाह **सङ्कल्पे**ति। सङ्कल्पः शोभनाध्यासः। 'सर्वान्' इत्युक्त्वा पुनः 'अशेषतः' इति पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **निर्लेपेने**ति। यथा शेषो न भवति तथा। सर्वेषां कामानां शोभनाध्यासाधीनानां त्यागस्य योगानुष्ठानशेषत्ववद्विवेकयुक्तेन मनसा करणसमुदायस्य सर्वतो नियमनमपि तत्र शेषत्वेन कर्तव्यमित्याह **किञ्चे**ति। कामत्यागद्वारेणेन्द्रियाणि प्रत्याहृत्य किं कुर्यात्? इति शङ्कितारं प्रत्याह **शनैः शनै**रिति। सहसा विषयेभ्यः सकाशादुपरमे मनसो न स्वास्थ्यं सम्भवतीत्यभिप्रेत्याऽऽह **न सहसे**ति। तत्र साधनं धैर्ययुक्ता बुद्धिरित्याह **कये**त्यादिना। भूम्यादिरव्याकृतपर्यन्ताः प्रकृतीरष्ट पूर्वपूर्वत्र धारणं कृत्वोत्तरोत्तरक्रमेण प्रविलापयेदिति भावः। अव्यक्तमात्मनि प्रविलाप्याऽऽत्ममात्रनिष्ठं मनो विधाय चिन्त-

यितव्याभावादतिस्वस्थो भवेदित्याह **आत्मेति** । तत्र संस्थितिमेव मनसो विवृणोति **आत्मैवेति** । योगविधिमुपक्रम्य किमिदमुक्तं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **एष** इति । यन्मनसो नैश्चल्यमिति शेषः ॥ २४ ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.— योगसेवया हेतुना सर्वत्र निरुद्धं चित्तं यत्र योगे उपरमते अतिशयितसुखमिदमेवेति रमते, यत्र च योगे आत्मना मनसा आत्मानं पश्यन् अन्यनिरपेक्षमात्मन्येव तुष्यति, यत्तदतीन्द्रियमात्मबुद्ध्येकग्राह्यमात्यन्तिकं सुखम्, यत्र च योगे वेत्ति अनुभवति, यत्र च योगे स्थितः सुखातिरेकेण तत्त्वतस्तद्भावान्न चलति, यं योगं लब्ध्वा योगाद्विरतस्तमेव काङ्क्षमाणो नापरं लाभं मन्यते, यस्मिंश्च योगे स्थितोऽविरतोऽपि गुणवत्पुत्रवियोगादिना गुरुणाऽपि दुःखेन न विचाल्यते तं दुःखसंयोगवियोगं दुःखसंयोगप्रत्यनीकाकारं योगशब्दाभिधेयं ज्ञानं विद्यात्; स एवंरूपो योग इत्यारम्भदशायां निश्चयेनानिर्विण्णचेतसा हृष्टचेतसा योगो योक्तव्यः ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥**

**४ वे. ता. चं.**—पुनरपि योगदशैव आदरातिरेकाय निरतिशयपुरुषार्थत्वप्रतिपादनेन प्रपञ्च्यते— 'यत्र' इत्यादिभिः । 'निरुद्धं' इत्यत्र परिगृहीतत्वविनष्टत्वादिभ्रमव्युदासाय — **योगसेवया हेतुना सर्वत्र निरुद्ध**मित्युक्तम् । सर्वतो निरुद्धमित्युक्ते प्रवृत्तस्य निवारणमात्रं प्रतीयेत; 'सर्वत्र' इत्युक्ते तूत्तरोत्तरप्रवृत्त्यनुदयोऽपि सिध्यतीति सप्तमीनिर्देशः । 'योगसेवया निरुद्धं यत्रोपरमते' इत्युक्ते योगस्य पृथगुपादानात्, यच्छब्दार्थस्य योगाद्व्यतिरेकः प्रतीयेतेति तद्व्युदासाय 'योगसंज्ञितम्' इति वक्ष्यमाणान्वयेन **यत्र योग** इत्युक्तम्।'यत्र यस्मिन् काले' इति परोक्तमयुक्तम्, उपरितनयच्छब्दभिन्नार्थत्वप्रसङ्गात्, प्रतिनिर्देशस्थयोगशब्दानन्वयाच्चेति भावः । 'यत्रोपरमते' इत्यत्र यतो विच्छिद्यत इति भ्रमापाकरणायाह **अतिशयितेति** । यत्र सिद्धेऽन्यत्र उपरमत इत्यध्याहारेण योजना न युक्ता; तथा सति 'निरुद्धं' इत्यनेन पुनरुक्तिश्च स्यात् । उपसर्गाणां च नानार्थत्वादयमेवातिशयितार्थ उपपन्नः । आसक्तिप्रतिपादनद्वारा तात्पर्येण वायमर्थः सिध्यतीति भावः । यत्र चैवेत्येवकारस्य यथाक्रमान्वये प्रयोजनाभावात् उचितान्वयप्रदर्शनाय—**आत्मन्येव तुष्यती**त्युक्तम् । **अन्यनिरपेक्ष**मित्यवधारणतोषशब्दाभ्यां अर्थसिद्धोक्तिः । यद्वा 'आत्मानं पश्यंस्तुष्यति' इत्येतावतैव विवक्षितसिद्धौ पुनरात्मनीति निर्देशः तदन्यव्युदासार्थ इत्यभिप्रायः । आत्मनि परमात्मानमिति योजना तु जीवयोगविषयत्वादिहासङ्गता । अतीन्द्रियमित्युक्तत्वात्, परिशेषात्, औचित्याच्च 'बुद्धिग्राह्यम्' इत्यत्र बुद्धिं विशिनष्टि—**आत्मबुद्ध्येके**ति।**आत्यन्तिकं** पुनर्दुःखसम्भेदरहितमित्यर्थः । यदेवंविधं सुखं तद्यत्र वेत्तीत्यन्वयः । यद्वा यत्तदिति पिण्डितं प्रसिद्ध्यतिशयार्थं तदित्येवार्थः । केचित्तु यत्तच्छब्दान्वयप्रकारमजानन्तः 'सुखमात्यन्तिकं यत्र' इति पठन्ति 'वेत्ति यत्र' इति यत्रशब्दः पूर्वोत्तरवाक्यसाधारणतया मध्ये प्रयुक्तः । वेत्तीत्यस्यापवर्गदशानुभाव्यसुखप्रतिसन्धानपरत्वव्युदासाय योगरूपापारोक्ष्याभिप्रायेण **अनुभवती**त्युक्तम् । 'आत्मनि तुष्यति' इति पूर्वमितरसुखनिरपेक्षत्वपरम्। 'सुखमात्यन्तिकम्' इत्यादिकं तु स्वरूपसुखानुभवपरमित्यपौनरुक्त्यम्। **सुखातिरेकेणे**ति उक्त एवाचलनहेतुरुचित इति भावः । प्रामाणिकार्थान्न चलतीति वा, सम्यक् चलतीति वा, निर्वहणं मन्दम् । योगदशायां च सुखातिरेकेण स्वरसतस्तदवस्थयैव चिरतरावस्थानाभिधानमुचितमपेक्षितं चेत्यभिप्रायेण 'तत्त्वतः' इत्यस्य **तद्भावादिति** प्रतिपदमुक्तम् । इतरविषयनिरोधनैरपेक्ष्ये 'यत्र' इति श्लोकेनोक्ते । तत आत्मस्वरूपसुखानुभवस्तस्य स्वरसवाहितया दुर्विच्छेदत्वं च 'सुखम्' इति श्लोकेनाभिहिते।

अथ 'यं लब्ध्वा' इति श्लोकेन योगविरतिकालेष्वपि तस्यैवाभिलाषपदत्वाद्बाह्यसुखाभिलाषेण दुःखेन चानास्कन्दनमुच्यत इति विभागज्ञापनाभिप्रायेण **योगाद्विरत** इत्यादिकमुक्तम् । योगदशायां तु लाभान्तरप्रतिसन्धानमेव नास्तीति भावः । 'गुरुणापि' इत्युक्तगौरवव्यञ्जनाय **गुणवत्पुत्रवियोगादिने**त्युक्तम् ।'पुत्रजन्मविपत्तिभ्यां न परं सुखदुःखयोः' इति ह्याहुः । **न विचाल्यते** योगप्रतिकूलमवसादं न गच्छतीत्यर्थः । दुःखसंयोगस्य वियोगस्तस्यासम्बन्धः, अभाव इत्यर्थः । स च भावान्तरमिति ज्ञापनायाह—**दुःखसंयोगप्रत्यनीकाकार**मिति । दुःखसंयोगस्य वियोगो यत्रेति व्यधिकरणबहुव्रीहौ फलितोक्तिरियम् । अथवा, वियोगशब्दोऽत्र वियुज्यतेऽनेनेति करणार्थघञन्तो वियोगहेतुपर इतिभावः । निर्विण्णचेतसेति पदच्छेदे संसारे तापत्रयेष्वेवेत्यध्याहारः स्यात्; तत्तु सप्रयोजने योजनान्तरे सम्भवति न युक्तम्; तस्मादनिर्विण्णचेतसेति पदच्छेदः । निश्चयशब्दोऽपि तेनैव हेतुसमर्पणेनान्वितः; न तु 'योक्तव्यः' इत्यनेन निरर्थकान्वयप्रसङ्गात् । अनिर्विण्णत्वहेतुश्च निश्चयः पूर्वोक्तनिरतिशयपुरुषार्थत्वेनैव स्यात्; तदेतदखिलमभिसन्धायाह—**स एव**मिति । **एवंरूपो** निरतिशयपुरुषार्थरूप इत्यर्थः । 'योक्तव्यः' इत्युक्तत्वात् आरम्भोपकारकत्वद्योतनाय **आरम्भदशाया**मित्युक्तम् । मनसा क्रियमाणस्तु समाधानं च कामयेत् । अनिर्वेदं मुनिर्गच्छन् कुर्यादेवात्मनो हितम्' ॥ इति ह्युच्यते। अतो विरक्त्युपयुक्तो निर्वेदोऽन्यः; अयं त्वन्यादृश इति **हृष्टचेतसे**त्युक्तम् । **योक्तव्यः** कर्तव्य इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥ ॥ २२ ॥ २३ ॥

**३ रा. भा.**— स्पर्शजाः सङ्कल्पजाश्चेति द्विविधाः कामाः, स्पर्शजाः शीतोष्णादयः, सङ्कल्पजाः पुत्रपौत्रक्षेत्रादयः, तत्र सङ्कल्पप्रभवाः स्वरूपेणैव त्यक्तुं शक्याः, तान्सर्वान्मनसैव तदनन्वयानुसन्धानेन त्यक्त्वा स्पर्शजेष्ववर्जनीयेषु तन्निमित्तहर्षोद्वेगौ त्यक्त्वा समन्ततः सर्वस्माद्विषयात् सर्वमिन्द्रियग्रामं विनियम्य शनैः शनैर्धृतिगृहीतया विवेकविषयया बुद्ध्या सर्वस्मादात्मव्यतिरिक्तादुपरम्य आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथ ममकारपरित्यागादिकं प्राग्विप्रकीर्णोक्तमखिलमिदानीं सुखग्रहणायेह सौकर्यप्रदर्शनाय च सङ्कलय्य योगदशापर्यन्ततया स्मार्यते 'सङ्कल्प-' इत्यादिभिः श्लोकैः। 'सङ्कल्पप्रभवान् सर्वान् कामांस्त्यक्त्वा' इत्येतावतैव सिद्धौ पुनः 'अशेषतः' इति पदं निश्शेषत्यागानर्हाणां विषयाणां सूचकम्। न चोत्तरवाक्ये तदन्वयः, ग्रामशब्देन पर्यासत्वात्। अतः प्रयुक्तपदवैयर्थ्यपरिहाराय 'अशेषतश्च कामांस्त्यक्त्वा' इति चकाराभावेऽपि योज्यम्। अपि च सङ्कल्पप्रभवत्वेन विशेषणमेव असङ्कल्पप्रभवकामसूचकमित्यभिप्रायेण विभजते— **स्पर्शजा** इति। 'मनसैव' इति पदं मध्यस्थितत्वादपेक्षितत्वाच्च काकाक्षिन्यायेन पूर्वोत्तरान्वितमिति दर्शयितुं **तान् सर्वान् मनसैवे**त्यादिकमुक्तम्। कामत्यागकरणस्य मनसोऽवान्तरव्यापारतदनन्वयानुसन्धानम्; कर्मोपाधिकशरीरान्विता हि पुत्रादयः, न त्वात्मस्वरूपान्विता इत्यनुसन्धानेनेत्यर्थः। 'न प्रहृष्येत्' [ ५।२० ] इत्यादिभिः प्रागेवोक्तं स्मारयति **स्पर्शजेष्वि**त्यादिना। 'समन्ततः' इत्यत्र पदच्छेदादिभ्रमव्युदासायाह— **सर्वस्माद्विषयादि**ति। प्रक्रान्तादशिथिलत्वरूपाया धृतेर्हेतुमाह **विवेकविषययेति**। **उपरम्य** बाह्यालाभार्थं मानसमुद्योगं वारयित्वेत्यर्थः। उपरम्येति व्याख्यानमङ्गत्वद्योतनाय। **किञ्चिदपी**ति आत्मव्यतिरिक्तमनुकूलप्रतिकूलोदासीनं सर्वमित्यर्थः॥ २४॥ २५॥

**५ आ. मा. भा.**— आत्मना मनसा आत्मनि देहे आत्मानं भगवन्तं पश्यन् ॥ २० ॥ तत्त्वतो भगवद्रूपत्वात् ॥ २१ ॥ २२ ॥ दुःखसंयोगो येन वियुज्यते स दुःखसंयोगवियोगः। न केवलमुत्पन्नं दुःखं विनाशयति। उत्पत्तिमेव निवारयतीति दर्शयति संयोगशब्देन। निश्चयेन योक्तव्यः, योक्तव्य एव बुभूषुणेत्यर्थः ॥ २३ ॥ सर्वान्सर्वविषयान् अशेषतः। एकविषयोऽपि कामः स्वल्पः कादाचित्कोऽपि न कर्तव्य इत्यर्थः। मनसैव नियन्तुं शक्यते नान्येनेत्येवशब्दः ॥ २४ ॥ बुद्धेः कारणत्वं मनोनिग्रहे आत्मरमणे च ॥ २५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'यत्र चैवात्मना' इत्यत्र पदत्रयं व्याख्याति— **आत्मनेति**। अन्वयापेक्षया व्युत्क्रमः। पश्यन्निति स्थानविवेकार्थमुक्तम् ॥ २० ॥ तत्त्वतस्तद्भावात् ब्रह्मत्वादिति प्रमाणविरुद्धं व्याख्यानं व्यावर्तयितुमाह— **तत्त्वत** इति ॥ २१ ॥ ॥२२॥ ननु दुःखसम्बन्धस्य वियोगो ध्वंसः स कथं योगः स्यात्? इत्यत आह— **दुःखेति**। करणेऽपि घञः स्मरणात्। एवं तर्हि दुःखवियोगमित्येव वक्तव्यम्, किं संयोगशब्देन? इत्यत आह— **न केवलमिति**। वियोगशब्दो निवारणे वर्तत इति भावः। एतच्च पदाधिक्यादेव लभ्यते, नान्यथा। ननु 'स निश्चयेन योक्तव्यः' इति पुनर्विधानं किमर्थं? निश्चयेनेत्यादिविशेषविधानार्थमिति चेत्, न; महाफले सन्देहात् प्रवृत्त्यभावेन 'निश्चयेन' इत्यस्य वैयर्थ्यादित्यत आह— **निश्चयेनेति**। अयोगव्यवच्छेदे निश्चयशब्द इत्यर्थः। कुत्रायोगो व्यवच्छिद्यत इत्यत उक्तं **बुभूषुणेति**; मुमुक्षुणेत्यर्थः ॥२३॥ 'सर्वानशेषतः' इत्येतयोस्तात्पर्यमाह— **सर्वानिति**। कामः स्वल्पः कादाचित्कोऽपीति मूलपाठः। नन्विन्द्रियग्रामनियमनमेवावश्यकं, न तु करणनियमः कथमुच्यते मनसैवेन्द्रियग्राममिति? तत्राह— **मनसैवेति**। स्वरूपकथनमेतदिति भावः। इति ज्ञापयितुमिति शेषः ॥ २४ ॥ 'शनैःशनैरुपरमेद्बुद्ध्या' इति बुद्धेरपीन्द्रियग्रामनियमने कारणत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात् कथमेतदित्यत आह— **बुद्धेरिति**। अनेनोपरमेदित्यस्यार्थद्वयमुक्तं भवति ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— एवं योगाभ्यासबलादेकाग्रीभूतं निवातप्रदीप इव यत्र यस्मिन्काल उपरमते चित्तमुपरतिं गच्छति। निरुद्धं सर्वतो निवारितप्रचारम्। योगसेवया योगानुष्ठानेन। यत्र चैव यस्मिंश्च काल आत्मनाऽऽत्मानं परं चैतन्यं ज्योतिस्स्वरूपं पश्यन्नुपलभमानः स्व एवाऽऽत्मनि तुष्यति तुष्टिं भजते ॥ २० ॥ किञ्च— सुखमात्यन्तिकमत्यन्तमेव भवतीत्यात्यन्तिकं, अत्यन्तमित्यर्थः। यत्तद्बुद्ध्यैवेन्द्रियनिरपेक्षया गृह्यत इति बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियमिन्द्रियगोचरातीतं तदविषयजनितमित्यर्थः। वेत्ति तादृशं सुखमनुभवति यत्र यस्मिन्काले, न चैवायं विद्वानात्मस्वरूपे स्थितस्तस्माच्चलति तत्त्वत-

स्तत्त्वस्वरूपात्प्रच्यवत इत्यर्थः ॥ २१ ॥ किञ्च— यमात्मानं लब्ध्वा प्राप्यापरं लाभं न मन्यते लाभान्तरं न मन्यते न चिन्तयति । किञ्च यस्मिन्नात्मैकत्वे स्थितो दुःखेन शस्त्रपातादिलक्षणेन गुरुणाऽपि गरीयसाऽपि न विचाल्यते ॥ २२ ॥ यत्रोपरमत इत्यारभ्य यावद्भिर्विशेषणैर्विशिष्ट आत्मावस्थाविशेष उक्तः—तमिति । तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगम्, दुःखेन संयोगो दुःखसंयोगस्तेनासंयोगो दुःखसंयोगवियोगस्तं दुःखसंयोगवियोगं योग इत्येव संज्ञितं विपरीतं विद्यादित्यर्थः । योगफलमुपसंहृत्य पुनरन्वारम्भेण कर्तव्यतोच्यते निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानार्थम् । स यथोक्तफलो योगो निश्चयेनाध्यवसायेन योक्तव्यः । अनिर्विण्णचेतसा न निर्विण्णमनिर्विण्णम्; किं तत् ? चेतः,तेन निर्वेदरहितेन चित्तेनेत्यर्थः॥२३॥ किञ्च—सङ्कल्पः प्रभवो येषां कामानां ते सङ्कल्पप्रभवाः कामास्तांस्त्यक्त्वा परित्यज्य सर्वानशेषतो निःशेषं निर्लेपम् । किञ्च मनसैव विवेकयुक्तेन,इन्द्रियग्राममिन्द्रियसमुदायं विनियम्य नियतं कृत्वा समन्ततः समन्तात् ॥२४॥ शनैः शनैर्न सहसोपरमेदुपरतिं कुर्यात् । केन ? बुद्ध्या धृतिगृहीतया, धैर्ययुक्तयेत्यर्थः । आत्मसंस्थमात्मनि स्थितमात्मैव सर्वं न ततोऽन्यत्किञ्चिदस्तीत्येवमात्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् । एष योगस्य परमोऽवधिः ॥ २५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं सामान्येनोक्तमसम्प्रज्ञातसमाधिं विवृणोति सार्धत्रयेण— यत्रेति, सतिसप्तमी । यत्र यस्मिन्नन्तःकरणपरिणामे योगसेवया योगाभ्यासपाटवेन जाते सति चित्तं निरुद्धं सदुपरमते निरिन्धनाग्निवत्तप्तशिलोपरिक्षिप्तजलवच्चोपशाम्यति । निर्वृत्तिकतया सत्त्ववृत्तिनिरोधरूपेण परिणतं भवतीति यावत् । यत्र च यस्मिंश्च परिणामे सति आत्मना रजस्तमोनभिभूतशुद्धसत्त्वमात्ररूपेणान्तःकरणेन आत्मानं प्रत्यक्चैतन्यमखण्डानन्दघनं पश्यन्नुपलभमानः तत्रैवात्मनि तुष्यति, तमन्तःकरणपरिणामं योगं विद्यादिति चतुर्थश्लोकेनान्वयः ॥ २० ॥

आत्मन्येव तोषे हेतुमाह—सुखमिति । यत्र यस्मिन्नन्तःकरणपरिणामविशेषे सति अतीन्द्रियं वाङ्मनसादीनीन्द्रियाण्यतिक्रान्तम् "यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह" [ तै. उ. २ । ४; २ । ९ ] इत्यादिश्रुतेः, अत एव आत्यन्तिकमनन्तनिरतिशयम्, बुद्धिग्राह्यं "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया"[कठो. ३।१२] इत्यादिश्रुत्युक्तसूक्ष्मत्वाग्र्यत्वाख्यनिस्तमोरजस्कभावापत्तिशुद्धसत्त्ववाहितोपपन्नया बुद्ध्या ग्राह्यं सुखं यो वेत्ति, यत्र च स्थितोऽयं विद्वान् तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति, तं योगं विद्यादिति । 'अत्र अतीन्द्रियं' इति विषयसुखव्यावृत्तिः । बुद्धिग्राह्यमिति सुषुप्तिसुखव्यावृत्तिः; सुषुप्तौ बुद्धेर्लीनत्वात्, । समाधौ तु निर्वृत्तिकायास्तस्याः सत्त्वात् । उक्तं हि गौडपादैः [३।३५]—'लीयते हि सुषुप्तौ तन्निगृहीतं न लीयते' इति ॥ २१ ॥

'यत्र स्थितो न चलति' [ ६ । २१ ] इत्येतदुपपादयति—यमिति । यं च निरतिशयात्मसुखव्यञ्जकनिर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषं लब्ध्वा अपरं लाभं ततोऽधिकं न मन्यते "आत्मलाभान्न परं विद्यते" [ आप. ध. सू. १।२२।२ ] इति श्रुतेः । अतो न विषयभोगवासनया समाधेर्विचलनम् । नापि शीतवातमशकाद्युपद्रवनिवारणार्थं तदित्याह— यस्मिन् परमात्मसुखमये निर्वृत्तिकचित्तावस्थाविशेषे स्थितो योगी गुरुणा शस्त्रनिपातादिनिमित्तेन महताऽपि दुःखेन न विचाल्यते ; किमुत क्षुद्रेणेत्यर्थः । एवं 'यत्रोपरमते' [ ६।२० ] इत्यारभ्य बहुभिर्विशेषणैर्यश्चित्तावस्थाविशेष उक्तः, तं चित्तवृत्तिनिरोधं चित्तवृत्तिमयसर्वदुःखविरोधित्वेन दुःखवियोगमेव सन्तं योगसंज्ञितं वियोगशब्दार्हमपि विरोधिलक्षणया योगशब्दवाच्यं विद्याज्जानीयात् । न तु योगशब्दानुरोधात्कञ्चित्सम्बन्धं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । तथा च पतञ्जलिसूत्रम्— 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः । [ पा. यो. १ । २ ] इति

यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मादवश्यमभ्यसनीय इत्याह—स इति । स यथोक्तफलो योगो निश्चयेन शास्त्राचार्योपदेशयोः सत्यत्वाध्यवसायेन योक्तव्यः अभ्यसनीयः । तथा अनिर्विण्णचेतसा । 'एतावताऽपि कालेन योगो न सिद्धः, किमतः परं कष्टम्' इत्यनुतापो निर्वेदः, तद्रहितेन चेतसा 'इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यति, किं त्वरया' ? इत्येवं धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः ॥ २२ ॥ २३ ॥

अथास्य योगस्याभ्यासप्रकारमाह— सङ्कल्पेति । कामाः स्रक्चन्दनवनिताद्यभिलाषाः; ते च सङ्कल्पप्रभवाः । अशोभनेषु विषयेषु शोभनत्वाध्यासः सङ्कल्पः । स हि सम्यक्कामान् कल्पयति । तथा च स्मृतिः- 'काम ! जानामि ते मूलं सङ्कल्पाज्जायसे किल' [म. भा. १२।१७७।२५ ] इति; तानेतान्सङ्कल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा शुनकवान्तपायस इव विषयदोषदर्शनेन परित्यज्य । 'सर्वान्' इत्यनेन स्रक्चन्दनादिष्विव ब्रह्मलोकादिष्वणिमाद्यष्टैश्वर्येषु च कामास्त्याज्या इत्युक्तम् । उपवासव्रतिना कस्मिंश्चिद्दिवसे त्यक्तोऽप्यन्नकामः पुनरुदेति तथा मा भूदित्यशेषत इत्युक्तम् । निर्लेपतयेत्यर्थः । एवं कामांस्त्यक्त्वा अत एव कामपूर्वकत्वादिन्द्रियप्रवृत्तेस्तदभावे सति विवेकयुक्तेन मनसैव इन्द्रियग्राममिन्द्रियसमुदायं समन्ततः

समन्ताद्विनियम्य उपरमेदित्युत्तरेणान्वयः। 'समन्ततः' इत्यनेन देवतादर्शनादेरपि नियन्तव्यतोच्यते ॥ २४ ॥

'उपरमेत्' इत्युक्तम्, तत्रोपरतिः कथं केन कर्तव्या ? तत्राह— **शनैरिति** । धृतिगृहीतया, अवश्यं मम योगः सेत्स्यतीति धैर्यं धृतिः, तद्युक्तया बुद्ध्या कर्तव्यतानिश्चयात्मिकया शनैः शनैः शास्त्राचार्योपदिष्टभूमिकाजयक्रमेण उपरमेत् मनोनिरोधरूपमुपरमं कुर्यात्, न तु सहसेत्यर्थः ।

**भूमिकाजयक्रमश्चेत्थम्**— चतस्रो भूमिकाः वाग्भूमिर्मनोभूमिरहङ्कारभूमिर्महत्तत्त्वभूमिश्चेति । एतासां क्रमेण जयो भूमिकाजयः, तत्र वागादिसर्वेन्द्रियव्यापारनिरोधेन मनोवृत्तिमात्रशेषतयाऽवस्थानं वाग्भूमिजयः,जाते ह्यस्मिन्प्रथमभूमिजये गवाश्वादेरिव स्वाभाविक एव वाङ्नियमः सम्पद्यते, ततः सङ्कल्पविकल्पादिसकलमनोव्यापारत्यागेनाहङ्कारमात्रतया स्थितिरूपो द्वितीयो मनोभूमिजयः, जाते ह्यस्मिन्बालमुग्धादेरिव स्वाभाविकमेव निर्मनस्कत्वं भवति । ततः 'अहमेतस्य पुत्रः' 'अहमेतस्य पिता' इत्येवं व्यक्तमभिमन्यमानत्वरूपविशेषाहङ्कारव्यापारत्यागेन 'अस्मि' इत्येतावन्मात्रमभिमन्यमानरूपसामान्याहङ्काराख्यमहत्तत्त्वमात्रतयाऽवस्थानरूपस्तृतीयोऽहङ्कारभूमिजयः । जाते ह्यस्मिन्यथा स्वल्पां तन्द्रीं प्राप्नुवतो विशेषाहङ्कारः स्वत एव सङ्कुचति तथा स्वत एव तत्सङ्कोचः सम्पद्यते । तदनन्तरं 'अस्मि' इत्येतावन्मात्राभिमानरूपसामान्याहङ्कारव्यापारस्यापि त्यागेन निरुपाधिकचिन्मात्रतयाऽवस्थानरूपश्चतुर्थो महत्तत्त्वभूमिजयः। जाते ह्यस्मिन्निरुपाधिकः शुद्ध आत्मा त्वम्पदलक्ष्यः साक्षात्क्रियते । तमेनं भूमिकाचतुष्टयजयं कठवल्लीश्रुतिराचष्टे—'यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि' [ ३ । १३ ] इति । एवं भूमिजयक्रममभिप्रेत्य शनैः शनैरुपरमेदित्युक्तम् । विस्तरस्तु योगभाष्यगौडपादीयजीवन्मुक्तिप्रकरणादिषु द्रष्टव्यः ।

एवं क्रमेण मनो निरुध्य किं कुर्यात् ? अत आह—**आत्मसंस्थमिति**। आत्मनि निरुपाधिके त्वम्पदलक्ष्ये प्रत्यक्चैतन्ये संस्था समाप्तिर्यस्य तदात्मसंस्थं सर्वाकारवृत्तिरहितं मनः कृत्वा किञ्चिदपि अनात्मानमात्मानं वा न चिन्तयेत् न वृत्त्या विषयीकुर्यात् । अनात्माकारवृत्तौ हि व्युत्थानमेव स्यात्, न समाधिः । आत्माकारवृत्तौ तु सम्प्रज्ञातसमाधिः स्यात्। अतश्चासम्प्रज्ञातसमाधिस्थैर्याय कामपि मनोवृत्तिं नोत्पादयेदित्यर्थः। यद्येवं तर्हि कथमात्मसाक्षात्कार इति चेत्, न; तस्यात्मचैतन्यरूपत्वेन वृत्तिरूपत्वाभावात् । तर्हि तस्य स्वतः सर्वदापि सिद्धत्वेन योगाभ्यासवैयर्थ्यमिति चेत्, न; अनात्मवृत्तिनिश्शेषीकरणाय निवृत्तिरूपनिरोधसमाधेरभ्यसनीयत्वात्। उक्तं हि श्रेयोमार्गे—'आत्मानात्माकारं स्वभावतोऽवस्थितं यदा चित्तम् । आत्मैकाकारतया तिरस्कृतानात्मदृष्टि विदधीत' इति ।

तथा हि समिदाज्याहुतिभिरुत्तरोत्तरं वृद्ध्या प्रज्वलन्नग्निः समिदादिक्षये प्रथमक्षणे किञ्चिच्छाम्यति, द्वितीयादिक्षणेषु ततस्ततोऽपि शाम्यति; तथा अनात्मविषयसङ्कल्पविकल्पादिनानावृत्तिभिरभिवर्धमानं मनो निरोधवशादुत्तरोत्तरं प्रशाम्यति । सेयं प्रशान्तवाहितेति योगशास्त्रे व्यवह्रियते । अनया चानात्मवृत्तिजाले निश्शेषीकृते सति मेघाच्छादनापगमे सूर्यप्रकाश इव स्वत एवात्मप्रकाशो न तु वृत्तिमपेक्षते । "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" [ कठो. ३ । १२ ] 'यत्र चैवात्मनाऽऽत्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति'[६।२०]'आत्मैकाकारतया—' इत्यादिकमप्यनात्मवृत्तिनिरोधे सत्यात्मप्रकाशस्य स्वत एव भावात्तन्निरोधमात्राभिप्रायेणात्मनि बुद्धिदृश्यत्वादिव्यवहाररूपमिति अद्वैतवज्रपञ्जरे प्रपञ्चः ॥ २५ ॥

९ व० त० दी०— तमेव योगं स्वरूपतः फलतश्च लक्षयति— **यत्रेति** सार्धैस्त्रिभिः । यत्र यस्मिन् काले योगतन्त्रसेवया निरुद्धं चित्तमुपरमते सर्वत इति स्वरूपलक्षणमुक्तम् । तथाच पातञ्जलसूत्रम् [ १।२ ] 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इति ।। २० ॥ आत्मसुखप्राप्तिलक्षणेन फलेन तमेव लक्षयति— **यत्रेति** । सुखमात्यन्तिकं इति च आत्मरूपया बुद्ध्या ज्ञानेन ग्राह्यं, इतरेन्द्रियाग्राह्यत्वात्, सुखमात्मरूपं निर्दिष्टम्, तत्त्वतः आत्मस्वरूपात्सुखात्मत्वाद्धि न चलति ।। २१ ।। तदेव विशिनष्टि— **यं लब्ध्वेति** । एतेनेष्टप्राप्त्यनिष्टनिवृत्तिफलको योगः समन्वितः 'तं विद्यात्......योगसंज्ञितं' दुःखसंयोगेन वियोग एव योग इति विरुद्धलक्षणया उच्यते । यस्मादेवं महाफलो योगस्तस्मात्स एव यत्नतोऽभ्यसनीयः इत्याह—सार्धेन । स निश्चयेनेति यत्नेन ।।२२।।२३।।२४।।२५।।

१० पु. अ. त.— यस्मिन् योगे मनश्चञ्चलं न भवति, स कीदृशो योगः ? इत्यपेक्षायामाह—**यत्रेति** सार्धैस्त्रिभिः । यत्र यस्यामवस्थायां योगसेवया भावात्मकसंयोगरूपभगवत्सेवया स्वभोगादिभ्यो निरुद्धं चित्तमुपरमते संयोगावस्थाभावरूपसमीपे रमते । यत्र चावस्थाविशेषे विविधभावस्फूर्तावात्मना भावरूपेणाऽऽत्मानं भावरूपं पश्यन् आत्मन्येव भावरूप एव तुष्यति, 'तं योगसंज्ञितं विद्यात्' इति तुर्ये [ २३ ] श्लोकत्रयस्याऽन्वयः ॥ २० ॥ तेषामुत्पत्तिप्रकारमाह—**सुखमिति**। यत्र अवस्थाविशेषे तथाभूतसेवानुभवजाताग्रिमविविधमनोरथरूपे आत्यन्तिकमतिशयितं जीवभावप्राप्तिफलात्मकं सुखं बुद्धिग्राह्यं भावात्मकस्वरूपात्मबुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियं लौकिकेन्द्रियसम्बन्धाविषयं यत् तद्वेत्ति । च पुनः अयं पुञ्जीवः यत्रावस्थायां तत्त्वतो भावात्मकदास्यफले रसकोटिस्फूर्तिरहितभावेन स्थितो नैव चलति 'तं विद्यात्' [ २३ ] इत्यग्रिमश्लोकेनैव सम्बन्धः ॥ २१ ॥ ननु तत्र स्थितस्य चलनाभावः कथं ? इत्यपेक्षायामाह— **यं लब्ध्वेति** । यं सुखं लब्ध्वा

ततोऽधिकमपरं लाभं न मन्यते, तत उत्तमत्वाभावात् । यस्मिन् स्थितो गुरुणाऽपि दुःखेन अधिकरणात्मकविप्रयोगादिना न विचाल्यते ॥ २२ ॥ तं योगसंज्ञितं मद्योगसंज्ञात्मकं विद्यात् जानीयात् । कीदृशं तं ? दुःखसंयोगवियोगं दुःखात्मको यः संयोगो लौकिकोऽधिकरणदेहस्थो वा तस्य वियोगरूपम् । यतोऽयं योगः फलसाधकोऽतः स कार्य इत्याह सार्द्धेन—स इति । स पूर्वोक्तः फलसाधकरूपो योगो निश्चयेन गुरूपदिष्टेन अनिर्विण्णेन दुःखज्ञानजप्रपत्तिशैथिल्येन हितेन मनसा योक्तव्यः, कर्तव्य इत्यर्थः॥ २३ ॥ किञ्च सङ्कल्पप्रभवान् स्वभोगार्थकस्वमनोनिश्चयजान् कामान् स्वरमणेच्छादिरूपान् सर्वान् भावानन्तरमपि स्वेङ्गितज्ञरूपान् अशेषतः फलाभावज्ञाने त्यक्त्वा मनसैवेन्द्रियग्रामं नियम्य भगवदंशात्मकलावण्यादिरसान् पश्यन् मनसैव स्वार्थभोगरूपेणैव ततः विषयेभ्यो विनियम्य वशे संस्थाप्य योगो योक्तव्य इत्यर्थः ॥२४॥ ननु कथमिन्द्रियग्रामं विनियच्छेदित्यपेक्षयामाह— शनैः शनैरिति । धृतिगृहीतया वियोगतापादिदुःखसहनशीलधैर्यगृहीतया बुद्ध्या मनः आत्मसंस्थं भावात्मकस्थितं कृत्वा शनैःशनैरुपरमेत् स्वभोगरूपेभ्य उपशमयेत् । कथमुपरतिर्भवेदित्यत आह— न किञ्चिदपि चिन्तयेदिति । भावात्मकस्वरूपातिरिक्तं किञ्चिदपि न चिन्तयेन्न भावयेत् ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— यत्रेति । एवं चित्तमेकाग्रीभूतं सत् योगसेवया निरुद्धं यत्र यस्यामवस्थायामुपरमते विलीनं भवति, यत्र वा आत्मना चित्तेनात्मानं निर्विकल्पं पश्यन्नात्मनि तुष्यति, न बाह्यार्थे तुष्टिं भजते ॥ २० ॥ किञ्च— सुखमिति । आत्यन्तिकमनन्तं यत्सुखं तत्केवलं बुद्धिग्राह्यं सौषुप्तसुखवद्यतोऽतीन्द्रियमिन्द्रियागोचरं यत्र सुखे स्थितोऽयं न वेत्ति वेद्याभावान्न किञ्चिदनुभवति, नापि तत्त्वतश्चलति । बुद्धितादात्म्याध्यासकाले चलतीवेति भाति, परन्तु तत्त्वतो न चलति । तथा च श्रुतिः "ध्यायतीव लेलायतीव" [ बृ. उ. ४।३।७ ] इतीवशब्दं प्रयुञ्जाना ध्यानादेरतात्त्विकत्वं दर्शयति । बुद्धौ ध्यायन्त्यां ध्यायतीवेति लेलायन्त्यां लेलायतीवेति श्रुत्यर्थः । यद्वा तत् सुखं यत्रायं न चैव वेत्ति किमपि नैवानुभवति । यत्रेत्यादि भिन्नं वाक्यम् ॥२१ ॥ दुःखेन शस्त्रपातादिलक्षणेन गुरुणा महता ॥ २२ ॥ तमिति । 'यत्रोपरमते चित्तं' [ ६।२० ] इत्यादिना उक्तलक्षणं तं दुःखसंयोगस्याप्यन्तःकरणसम्बन्धस्य वियोगमेव सन्तं विरुद्धलक्षणया योगसंज्ञितं विद्यात् । योगफलमुपसंहृत्य पुनर्निश्चयानिर्वेदयोः साधनत्वविधानपूर्वकं तमेव ' शतकृत्वोऽपि पथ्यं वदितव्यं' इति न्यायेन विधत्ते— स इत्यादिना । स योगो निश्चयेनाध्यवसायेनानिर्विण्णं निर्वेदरहितं चेतो यस्य तेन, योक्तव्योऽभ्यसनीयः । यद्वा " शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति" [ बृ. उ. ४।४।२३ ] इति श्रुतिविहितं श्रुत्यन्तरदृष्टं 'श्रद्धावित्त-' पदोपेतं शमादिषट्कमत्र क्रमतो विधीयते । तत्र निश्चयेनेति-गुरुवेदवाक्यादौ फलावश्यम्भावनिश्चयलक्षणा श्रद्धाऽत्र निश्चयपदेन गृह्यते; तथा 'निर्विण्णचेतसा' इति वैराग्येण द्वन्द्वसहिष्णुत्वलक्षणा तितिक्षा विधीयते इति ज्ञेयम् ॥ २३ ॥ अथ शमदमोपरमसमाधानानि क्रमेण श्लोकद्वयेन विधत्ते— सङ्कल्पेति । सङ्कल्पः 'इदं मे भूयात्' इति चेतोवृत्तिस्ततः प्रभव उद्भवो येषां तान् कामान् काम्यमानान् विषयानशेषतो वासनोच्छेदपूर्वकं सङ्कल्पनिरोधेन त्यक्त्वा । एतेनान्तरिन्द्रियनिग्रहलक्षणः शम उक्तः । बाह्येन्द्रियनिग्रहलक्षणं दममाह— मनसैवेति । विषयदोषदर्शिना मनसैव सर्वतः सर्वप्रकारेण श्रोत्रादिकमिन्द्रियग्रामं समन्ततः सर्वेभ्यो विषयेभ्यो विनियम्य उपरमेदित्युत्तरेणान्वयः ॥२४॥ शनैः शनैरिति । भूमिकाजयक्रमेण दिव्यादिव्यविषयेभ्य उपरमेत् व्यावृत्तो भवेत् । कथं ? धृतिगृहीतया बुद्ध्येति । धृतिः 'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी' [ १८।३३ ] इत्युक्तलक्षणा; तया गृहीतया वशीकृतया बुद्ध्या उपरमेत् । तथा एवमुपरतं मनः आत्मनि स्वरूपे संस्था स्थितिर्यस्य, न तु दृश्ये द्रष्टरि वा, तत्तथा; आत्मैकाकारमेकाग्रमित्यर्थः । 'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्' [ पा. यो. ४।२३ ] 'सर्वार्थतैकार्थतयोः क्षयोदयौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः' [ पा. यो. ३।११ ] इति सूत्रितमैकाग्र्यं प्रापयेत् । सूत्रार्थस्तु अहमिदं पश्यामीत्यनुभवे हि द्रष्टा दृश्यं दर्शनं च भासते, तत्र दर्शनभानमप्रत्याख्येयमतो द्रष्टरि दृश्ये चोपरक्तं चित्तं सर्वार्थमिति । न तु दर्शनोपरक्तताऽपि सर्वार्थतायां गणिता, तदभावे चित्तस्य नाशापत्तेः । द्रष्टृदृश्योपरागाभावे तु एकार्थं तदुच्यते, यथा स्वप्ने; तत्र हि दृश्यं नास्तीति पामराणामपि प्रसिद्धम् । द्रष्टाऽपि नास्ति, तदा इन्द्रियाणामभावात् "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्ता" [ कठो. ३।४ ] इति श्रुत्यैव भोक्तृत्वस्येन्द्रियसन्नियोगशिष्टत्वात् । किन्तु द्रष्टृदृश्यवासनावासितं चित्रपटसदृशमेकं मन एवास्ति, तच्च स्वयञ्ज्योतिषा पुरुषेण भास्यमानं जाग्रद्वत्स्वप्नेऽपि द्रष्टृदृश्योपरागं प्रकाशयति, तद्वासनावासितत्वात् । एवं सति यदा सर्वार्थतायाः क्षय एकार्थताया उदयश्च, तदा चित्तस्यैकाग्रतारूपः परिणामो भवतीति । तदेवं 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा' इति सम्प्रज्ञातसमाधिरुक्तः । तत्रापि पूर्वाभ्यासवशाच्चित्तस्य द्रष्टृदृश्योपरागो वासनामयो भातीति तन्निवारणेन

असम्प्रज्ञातसमाधिमाह— न किञ्चिदपि चिन्तयेदिति । ध्यातृध्यानध्येयविभागमपि न स्मरेत्, किन्तु अखण्डैक-रससंविदात्मना सुषुप्तवत्तिष्ठेदित्यर्थः ॥ २५ ॥

मनोनियमनोपायः ।

**यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।**

'निश्चलति' इति ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानामृततरङ्गिणीपाठः ।

**ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ २६ ॥**

**१ शां. भा.— तत्रैवात्मसंस्थं मनः कर्तुं प्रवृत्तो योगी—यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ताच्छब्दादेर्निश्चरति निर्गच्छति स्वभावदोषान्मनश्चञ्चलमत्यर्थं चलं अत एवास्थिरं, ततस्ततस्तस्मात्तस्माच्छब्दादेर्निमित्तान्नियम्य तत्तन्निमित्तं याथात्म्यनिरूपणेनाऽऽभासीकृत्य वैराग्यभावनया चैतन्मन आत्मन्येव वशं नयेदात्मवश्यतामापादयेत् । एवं योगाभ्यासबलाद्योगिन आत्मन्येव प्रशाम्यति मनः ॥ २६ ॥**

२ आ. शां. व्या.— ननु मनसः शब्दादिनिमित्तानुरोधेन रागद्वेषवशादत्यन्तचञ्चलस्यास्थिरस्य तत्र तत्र स्वभावेन प्रवृत्तस्य कुतो नैश्चल्यं नैश्चिन्त्यं च ? इति तत्राह— **तत्रे**ति । योगप्रारम्भः सप्तम्यर्थः । एवशब्देन मनसैवेत्यादिरुक्तप्रकारो गृह्यते । स्वाभाविको दोषो मिथ्याज्ञानाधीनो रागादिः । शब्दादेर्मनसो नियमनं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तत्तन्निमित्त**मिति । याथात्म्यनिरूपणं क्षयिष्णुत्वदुःखसम्मिश्रत्वाद्यालोचनं तेन तत्र तत्र वैराग्यभावनया तत्तदाभासीकृत्य ततस्ततो नियम्यैतन्मन इति सम्बन्धः । मनोवशीकरणेनोपशमे किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **एव**मिति । योगाभ्यासो विषयविवेकद्वारा मनोनिग्रहाद्यावृत्तिः । प्रशान्तमात्मन्येव प्रलीनमिति यावत् ॥ २६ ॥

**३ रा. भा.—चलस्वभावतयाऽऽत्मन्यस्थिरं मनः यतो यतो विषयप्रावण्यहेतोर्बहिर्निश्चरति, ततस्ततो यत्नेन मनो नियम्यात्मन्येव अतिशयितसुखभावनया वशं नयेत् ॥ २६ ॥**

४ वे. ता. चं.— पूर्वोक्तमेव दुर्ग्रहत्वद्योतनाय अवधानविधानाय च प्रपञ्चयति— **यतो यत** इति । 'चञ्चलं अस्थिरम्' इत्यनयोः पौनरुक्त्यनिराशायोक्तं **चलस्वभावतयात्मन्यस्थिर**मिति । सामान्यविशेषविषयत्वादपुनरुक्तिः । 'चञ्चलम्' इति स्वभावातिरिक्तहेतुनिवृत्तिपरं वा । यतो यतो निश्चरति येन येनेन्द्रियद्वारेण निश्चरतीत्यर्थः । यद्वा यं यं विषयमभिमुखीकृत्वेत्यर्थः । प्रयोजनतया वा हेतौ पञ्चमी । तद्व्यञ्जनायाह **विषयप्रावण्यहेतो**रिति । विषयसम्बन्धार्थमित्यर्थः । विषयप्रावण्यस्य हेतोरिति वा । सम्भवन्ति ह्यतर्कितोपनता विषयसन्निधानतत्कीर्तनादयो विषयप्रावण्यहेतवः । सुखभावनया वशीकरणं शक्यमित्युच्यते **अतिशयितसुखभावनये**ति ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.— यतो यतो यत्र यत्र 'यतो यतो धावति' [ भाग. १०।१।४२ ] इत्यादिप्रयोगात् । आत्मन्येव वशं नयेत्, आत्मविषय एव वशीकुर्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— यतो यतः श्रोत्रादेरिति प्रतीतिनिरासायाह— **यत** इति । शब्दादावित्यर्थः । कुतः सप्तम्यर्थे तसिर्लभ्यते ? इत्यत आह— **यत** इति । तथा चोक्तं 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानं' [वार्ति.] इति । अन्यथा द्वारमात्रनियमे स्मरणस्य को निवारयिता ? षष्ठ्या ह्यत्र भाव्यं, सप्तमी तु कथं ? इत्यत आह— **आत्मनी**ति ॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.— तत्रैवाऽऽत्मसंस्थं मनः कृत्वा प्रवृत्तो योगी— यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ताच्छब्दादेर्निश्चरति निर्गच्छति स्वभावदोषादेतन्मनश्चञ्चलमत एवास्थिरं ततस्ततस्तस्मात्तस्माच्छब्दादेर्निमित्तान्नियम्यैतन्निमित्तयाथात्म्यनिरूपणेनाभावीकृत्य वैराग्यभावनया वाऽऽत्मन्येव वशं नयेत् । तथा सति आत्मन्येव प्रशाम्यति ॥ २६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— नन्वात्मसंस्थं मनः कर्तुं प्रवृत्तस्य योगिनो यदि मनः कदाचिच्चञ्चलस्वभावत्वाद्विषयौन्मुख्येन बहिर्निर्गच्छेत्, तदा किं कर्तव्यम्? अत आह— यत इति। चित्तविक्षेपकरूपरसादिविषयमध्ये यतो यतो यस्माद्यस्मान्निमित्ताद्रूपरसादितः चञ्चलं विक्षेपाभिमुखं सत् मनः निश्चलति निर्गच्छति समाधिविरोधिनीं विक्षेपटसिद्धरपादयति, तथा

चित्तलयहेतुनिद्राशेषबह्वशनश्रमादिमध्ये यतो यतो निमित्तात् अस्थिरं लयाभिमुखं सत् मनः निश्चलति समाधिविरोधिनीं निद्राख्यलयवृत्तिमुत्पादयति,ततस्ततः विक्षेपनिमित्ताल्लयनिमित्ताच्च एतन्मनः नियम्य निर्वृत्तिकं कृत्वा आत्मन्येवानन्दघने वशं नयेत्; यथा न विक्षिप्येत, यथा वा न लीयेत, तथा निरुन्ध्यादित्यर्थः । तदेतद्गौडपादीयतद्विवरणयोः प्रपञ्चितं विस्तरभयान्न लिख्यते ॥ २६ ॥

९ व० त० दी०— सङ्कल्पेति । आत्मन्येव वशं नयेत् प्रत्याहारेण स्थिरं कुर्यादिति निर्बीजत्वमुक्तम् ॥ २६ ॥

१० पु. अ. त.— शनैरित्युक्तेः स्वरूपमाह— यत इति । मनो यतो यतः स्वभावतश्चञ्चलं अस्थिरं यं यं प्रति निश्चलति ततस्ततो नियम्य वशीकृत्य एतन्मन आत्मन्येव भावात्मके भगवत्येव वशं नयेत् प्रापयेत् । अत्रायं भावः— पूर्वं यत्र स्थितं मनस्ततोऽन्यत्र वैशिष्ट्यबुद्ध्या ततो निर्गत्याऽपगच्छति । तत्राऽपि स्वचाञ्चल्यधर्मेण न स्थिरीभविष्यति तस्माद्भगवत्स्वरूपतोऽन्यत्रोत्तमत्वाभावान्नाग्रे चलिष्यत्यतोऽन्यतो वशीकृत्य भगवति स्थापयेत् ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— 'शनैः शनैः' [ ६।२५ ] इत्येतं श्लोकं व्याचष्टे— यतो यत इति त्रिभिः । यतो यतो हेतोर्यं यं विषयं ग्रहीतुं मनो निश्चरति बहिर्गच्छति ततस्ततस्तत्र तत्र दोषदर्शनेन ततस्ततो विषयात् एतन्मनो नियम्य प्रत्याहृत्य आत्मनि स्वरूपे एव वशं नयेत् पर्यवस्थापयेत् । एतेन पूर्वार्धं व्याख्यातम् ॥ २६ ॥

सिद्धयोगस्य योगिनः सम्प्रज्ञातसमाधिरूपफलप्राप्तिः ।

**प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम् ।**
**उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥ २७ ॥**
**युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषः ।**
'एवं युञ्जन्' इति रामानुजमाध्वसम्मतः पाठः ।
**सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥**

**१ शां. भा.**— प्रशान्तमनसं प्रशान्तं मनो यस्य स प्रशान्तमनास्तं प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमं निरतिशयमुपैत्युपगच्छति । शान्तरजसं प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसमित्यर्थः । ब्रह्मभूतं जीवन्मुक्तं 'ब्रह्मैव सर्वं' इत्येवं निश्चयवन्तं ब्रह्मभूतम् । अकल्मषमधर्मादिवर्जितम् ॥ २७ ॥

युञ्जन्निति । युञ्जन्नेवं यथोक्तेन क्रमेण योगी योगान्तरायवर्जितः सदाऽऽत्मानम् विगतकल्मषो विगतपापः सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मणा परेण संस्पर्शो यस्य तद्ब्रह्मसंस्पर्शं सुखमत्यन्तमन्तमतीत्य वर्तत इत्यत्यन्तमुत्कृष्टं निरतिशयमश्नुते व्याप्नोति ॥ २८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— मनस्तद्वृत्त्योरभावे स्वरूपभूतसुखाविर्भावस्य स्वापादौ प्रसिद्धिं द्योतयितुं हिशब्दः । मोहादिक्लेशप्रतिबन्धाद्योगिनि यथोक्तसुखाप्राप्तिमाशङ्क्य मनोविलयमुपेत्य परिहरति– **शान्तेति** । तस्यास्मदादिविलक्षणत्वमाह **ब्रह्मभूतमिति** । अस्मदादेरपि स्वतो ब्रह्मभूतत्वेन तुल्यं जीवन्मुक्तत्वमित्याशङ्क्याऽऽह– **ब्रह्मैवेति** । धर्माधर्मप्रतिबन्धाद्युक्ता यथोक्तसुखप्राप्तिरित्याशङ्क्योक्तम्– **अकल्मषमिति** ॥ २७ ॥ उत्तमं सुखं योगिनो भवतीत्युक्तं, तदेव स्फुटयति— **युञ्जन्निति** । क्रमो यथोक्तो 'मनसैवेन्द्रियग्रामं' [ ६।२४ ] इत्यादिः । योगान्तरायो रागद्वेषादिः । सदाऽऽत्मानं युञ्जन्निति सम्बन्धः । पापपदमुपलक्षणं पुण्यस्यापि । संस्पर्शस्तादात्म्यमैकरस्यम् । उत्कर्षो विषयासंस्पर्शः ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.**— प्रशान्तमनसं आत्मनि निश्चलमनसमात्मन्यस्तमनसम्, तत एव हेतोर्दग्धाशेषकल्मषम्, तत एव शान्तरजसं विनष्टरजोगुणम्, तत एव ब्रह्मभूतं स्वस्वरूपेणावस्थितमेनं योगिनं

---

१ अत्र 'योगी कर्मयोगी' इति व्याख्याय 'पातञ्जलयोगोऽपि कर्मयोगसाधनत्वेनोक्त इति तदभ्यासपरोऽपि पुरुषः कर्मयोग्येवेष्टः' इति तदुपपादयन्ति **नव्याः** । तन्न, पातञ्जलयोगस्य कर्मयोगसाधनतायाः क्वाप्यनुक्तत्वात्, प्रत्युत 'समाधिभावनार्थः' ( पा. यो. सू. २।२ ) इति सूत्रेण वैपरीत्यस्यैव गम्यमानत्वात्, समाधिसिद्धेश्च कर्मनिवर्तकत्वस्य 'ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः' ( पा. यो. सू. ४।३० ) इति सूत्रसिद्धत्वात्, अस्यार्थस्य 'आरुरुक्षोर्मुनेः'–( ६।३ ) इत्यादिनाऽत्रापि ज्ञापितत्वाच्च । — **अविगीता** ।

आत्मानुभवरूपमुत्तमं सुखमुपैति । हीति हेतौ । उत्तमसुखरूपमात्मस्वरूपमुपैतीत्यर्थः ( उत्तमस्वरूपत्वादात्मस्वरूपस्येत्यर्थः ) ॥ २७ ॥ एवमिति । एवमुक्तप्रकारेणात्मानं युञ्जन् तेनैव विगतप्राचीनसमस्तकल्मषो ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मानुभवरूपं सुखमत्यन्तमपरिमितं सुखेनानायासेन सदाऽश्नुते ॥ २८ ॥

४ वे. ता. चं.— आत्मनि वशीकरणोपायः प्रागुक्तः, अनन्तरं च तदेवाह प्रशान्तमनसं इति श्लोकेन । तत्र विप्रकीर्णावस्थितानां पदानामन्वयक्रममर्थं च दर्शयति प्रशान्तमनसमित्यादिना । 'योगिनम्, अकल्मषं, शान्तरजसं, शान्तमनसं ब्रह्मभूतमेनम्' इति हेतुकार्यभावेनान्वयक्रमः । स्वविषययोगस्य स्वकल्मषनिवर्तकत्वं पञ्चगव्यप्राशनादेरिव परसङ्कल्पायत्तम् । ब्रह्मभूतमिति देहात्मभ्रमादिप्रयुक्तक्लेशादिदशारूपाब्रह्मत्वव्यवच्छेदार्थम् । तदाह—स्वस्वरूपेणावस्थितमिति । अणोरपि हि जीवस्य "स चानन्त्याय कल्पते" [ श्वे. उ. ५।९ ] इति श्रुतेर्धर्मतो बृहत्त्वमस्त्येव । उत्तमशब्देन वैषयिकसुखव्यवच्छेदो विवक्षित इति व्यञ्जनाय आत्मानुभवरूपमित्युक्तम् । 'ब्रह्मसंस्पर्शम्' [६।२८] इति ह्यनन्तरमुच्यते । निरतिशयसुखत्वादुःखसम्भेदविरहादुत्तमत्वम् । पूर्वश्लोकोक्तमनोवशीकरणे वैतच्छ्लोकोक्तसुखोपागमे वा हेतुपरो हिशब्द इत्याह हीति । हेताविति, हेतुस्वरूपं विशदयति उत्तमेति॥२७॥एवं योगप्रभावादाविर्भवतः सुखस्यात्मानुभवरूपत्वं साक्षात्कारात्पश्चान्निरतिशयत्वमनिवर्तनीयत्वमनायाससाध्यत्वं चोच्यते—'एवं युञ्जन्' इति । एवंशब्देन 'योगी युञ्जीत'[६।१०] इत्यारभ्योक्तः प्रकारः परामृश्यत इत्यभिप्रायेण उक्तप्रकारेणेत्युक्तम् । संस्पर्शशब्दोऽनुभवलक्षकः बुद्ध्या सह सम्बन्धपरो वेत्याभिप्रायेण ब्रह्मानुभवरूपमित्युक्तम् । 'एवं युञ्जन्' इत्यनेनैव सर्वस्योक्तत्वात्तत्र च नियतकाले सदाशब्दान्वयायोगात्सुखस्य चाविनाशित्ववचनस्यापेक्षितत्वात् सदाऽश्नुत इत्यन्वयः । ततश्चात्यन्तशब्दोऽपि सावधिकत्वरूपाभिवृत्तिद्वारा निरतिशयत्वपर इत्यभिप्रायेण अपरिमितमित्युक्तम् । 'सुखेन सुखमश्नुते' इति सुखसाधनसुखान्तराभावात् सुखेनेत्यनायासत्वं विवक्षितम् ॥ २८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २७ ॥ पूर्वश्लोकोक्तं प्रपञ्चयति— एवं युञ्जन्निति ॥ २८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २७ ॥ 'प्रशान्तमनसं' इत्युक्तमेव पुनः कस्मादुच्यत इत्यत आह— पूर्वेति ॥ २८ ॥

७ ह. पै. भा.— प्रशान्तं मनो यस्य स प्रशान्तमनास्तं प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमं निरतिशयमुपैत्युपगच्छति । शान्तरजसं प्रक्षीणमोहादिक्लेशरजसमित्यर्थः । ब्रह्मभूतं जीवन्मुक्तं 'ब्रह्मैव सर्वं' इत्येव सर्वनिश्चयं ब्रह्मभूतम् । अकल्मषमधर्मवर्जितम् ॥ २७॥ युञ्जन्नेवं यथोक्तेन क्रमेण सदाऽऽत्मानं योगी विगतकल्मषो विगतपापः सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥ २८ ॥

८ वें. व्र. गि.— एवं योगाभ्यासक्रममुपदिश्य तत्फलमाह— प्रशान्तेति । प्रकर्षेण शान्तमनसं वृत्तिशून्यतया निर्मनस्कम् । तत्र हेतुगर्भविशेषणद्वयम्— शान्तरजसमकल्मषमिति । शान्तं रजो यस्य तं विक्षेपशून्यम्, तथा न विद्यते कल्मषं लयहेतुस्तमो यस्य तमकल्मषं लयशून्यम्, ब्रह्मभूतं प्रत्यगभिन्नब्रह्मभावं प्राप्तमेनं योगिनं उत्तमं निरतिशयं सुखमुपैति प्राप्नोति । हिशब्देन 'सुखमात्यन्तिकं यत्तत्—'[६।२१] इति प्रागुक्तप्रसिद्धिर्द्योत्यते ॥२७ ॥ उक्तमेवार्थमुपपादयति— युञ्जन्निति । एवं 'सङ्कल्पप्रभवान्कामान्'[६।२४]इत्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण आत्मानं मनः सदा युञ्जन्योगी विगतकल्मषः संसारहेतुपुण्यपापरहितः सुखेन अनायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं ब्रह्मसम्बन्धि,अवैषयिकमिति यावत् । अत्यन्तम्, अन्तस्त्रिविधपरिच्छेदः तमतिक्रान्तमपरिच्छिन्नं सुखमश्नुते प्राप्नोति ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०— ततश्च योगसुखाप्तिरित्याह—प्रशान्तमनसमिति । प्रशान्तं मनो यस्य, यतः शान्तं रजो विक्षेपकं यस्य तमकल्मषं ब्रह्मभावापन्नं योगिनं उत्तमं सुखं ब्रह्मभूतमुपैति प्राप्नोति ॥ २७ ॥

ततश्च कृतार्थो भवतीत्याह— युञ्जन्निति । एवमनेन प्रकारेण सर्वदाऽऽत्मानं मनो वा ब्रह्मणि युञ्जन् एकाकी कुर्वन् वशीकुर्वन् विशेषेण सर्वात्मना गतं कल्मषं यस्य स योगी सुखेनानायासेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखं च ब्रह्मण आत्मलक्षणस्याक्षरस्य संस्पर्शः अत्यन्तभेदनिवर्तकः साक्षात्कारो यत्र तत्सर्वोत्तमं लोकोत्तरं वा सुखमश्नुते भुङ्क्ते । अत्र 'अश भोजने' इत्यस्य धातोः परस्मैपदत्वेऽपि आत्मगामिफलार्थकत्वेनात्मनेपदं ज्ञेयम् । "सोऽश्नुते सर्वान् कामान्" [ तै. उ. २।१ ] इति श्रुतावपि तथैव । तथा च लोकोत्तरसुखभोगेन तस्य योगिनो जीवन्मुक्तत्वं सूचितम् ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— एवम्भावात्मके भगवति मनस्स्थैर्ये यत्फलं स्यात्तदाह— प्रशान्तमनसमिति । प्रशान्तमनसं भगवति स्थिरमनसमेनं योगिनं शान्तरजसं विक्षेपदोषरहितमुत्तमं सुखं ब्रह्मभूतं भगवद्रसात्मकमकल्मषं स्वभोगादि-

सुखदोषरहितमुपैति ॥ २७ ॥ एवं सुखाप्तौ किं स्यात् ? इत्यत आह— युञ्जन्निति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सदा भगवति आत्मानं भावात्मकं युञ्जन् योगी विगतकल्मषः स्यात् । ततः प्राप्तेनानेन सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शं भगवच्चरणारविन्दसंवाहनादिसेवारूपमत्यन्तं सुखं दास्यात्मकमश्नुते; भुङ्क्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमात्मवशे मनसि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याह— प्रशान्तेति । हि यस्मात् एनं प्रशान्तमनसं प्रकर्षेण उपरतचेतसं योगिनं एकाग्रताभूमौ उत्तमं सुखं सम्प्रज्ञातसमाधिफलभूतं उपैति । भौतिकानां बाह्यानां मानोरथिकानामान्तराणां च विषयाणां त्यागात् शान्तरजसं प्रक्षीणमोहादिक्लेशम् । ब्रह्मभूतं सद्वस्तुरूपम् । अकल्मषं धर्माधर्मवर्जितम् । यथोक्तं योगभाष्ये 'यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, कर्मबन्धनानि श्लथयति; निरोधमभिमुखीकरोति, क्षिणोति च क्लेशान्, स सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते' [ १।१ ] इति । एतेन 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा ' [ ६।२५ ] इति व्याख्यातम् ॥ २७ ॥ अस्य फलमाह— युञ्जन्निति । एवमनेन प्रकारेण योगी आत्मानं मनो युञ्जन् समादधानः विगतकल्मषो निरस्ताविद्यादिक्लेशः सुखेन अनायासेन ब्रह्मसंस्पर्शं निर्विशेषं ब्रह्मणा ऐक्यं त्रिविधोपाधिप्रविलयात् अश्नुते प्राप्नोति । कीदृशं ब्रह्मसंस्पर्शम् ? अत्यन्तं अन्तो द्रष्टृदृश्यभावेन परिच्छेदस्तमतिक्रान्तं निर्विशेषं सुखं परमानन्दैकरूपम् । एतेन न किञ्चिदपि चिन्तयेदिति चतुर्थपादो व्याख्यातः ॥ २८ ॥

**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।**
**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥**
**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥ ३० ॥**

**१ शां. भा.**— इदानीं योगस्य यत्फलं ब्रह्मैकत्वदर्शनं सर्वसंसारविच्छेदकारणं तत्प्रदर्श्यते— सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु स्थितं स्वमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि च सर्वभूतान्यात्मन्येकतां गतानीक्षते पश्यति योगयुक्तात्मा समाहितान्तःकरणः सर्वत्रसमदर्शनः सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषमेषु सर्वभूतेषु समं निर्विषयं ब्रह्मात्मैकत्वविशेषं दर्शनं ज्ञानं यस्य स सर्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— योगमनुतिष्ठतो ब्रह्मभूतस्य सर्वानर्थनिवृत्तिनिरतिशयसुखप्राप्तिलक्षणो द्विविधो मोक्षो हेतुना केन स्यात् ? इति शङ्कमानं प्रत्याह— **इदानीमिति** । स्वमात्मानमीक्षत इति सम्बन्धः । सर्वभूतान्यपि तद्विशेषणत्वेन पश्यति चेत्, न; शुद्धवस्तुज्ञानमिति नाविद्यानिवृत्तिरित्याशङ्क्याह **सर्वभूतानीति** । उक्ते दर्शने चित्तसमाधानमुपायं दर्शयति— **योगेति** । विषयेषूपाधिषु तदनुरोधाद्विषममेव दर्शनं तदुपदर्शितदर्शनप्रतिबन्धकं प्रत्युदस्यति— **सर्वत्रेति** ॥ २९ ॥

**१ शां. भा.**— एतस्याऽऽत्मैकत्वदर्शनस्य फलमुच्यते— य इति । यो मां पश्यति वासुदेवं सर्वस्याऽऽत्मानं सर्वत्र सर्वेषु भूतेषु सर्वं च ब्रह्मादिभूतजातं मयि सर्वात्मनि पश्यति; तस्यैवमात्मैकत्वदर्शिनोऽहमीश्वरो न प्रणश्यामि न परोक्षतां गमिष्यामि । स च मे न प्रणश्यति— स च विद्वान् मे मम वासुदेवस्य न प्रणश्यति न परोक्षीभवति; तस्य च मम चैकात्मकत्वात् । स्वात्मा हि नामाऽऽत्मनः प्रिय एव भवति । यस्माच्चाहमेव सर्वात्मैकत्वदर्शी ॥ ३० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उक्तस्यैकत्वज्ञानस्य फलविकल्पत्वशङ्कां शिथिययति— **एतस्येति** । तत्रैकत्वदर्शनमनुवदति— **यो मामिति** । तत्फलमिदानीमुपन्यस्यति— **तस्येति** । ज्ञानानुवादभागं विभजते— **यो मामिति** । तत्फलोक्तिभागं व्याचष्टे **तस्यैवमिति** । अनेकत्वदर्शिनोऽपीश्वरो नित्यत्वान्न प्रणश्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **नेति** । अहं परमानन्दो न तं प्रति परोक्षीभवामीत्यर्थः । स चेत्यादि व्याचष्टे— **विद्वानिति** । विद्वानिवाविद्वानपीश्वरस्य न नश्यतीत्याशङ्क्योक्तं **नेत्यादिना** । अविदुषश्च स्वरूपेण सतोऽपि व्यवहितत्वादविद्याया नष्टप्रायतेत्यर्थः । ईश्वरस्य विदुषश्च परस्परमपरोक्षत्वे हेतुमाह— **तस्य चेति** । आत्मैकत्वेऽपि कथं मिथोऽपरोक्षत्वं तत्राऽऽह— **स्वात्मेति** । विद्वदीश्वरयोरेकत्वानुवादेन विद्याफलं विवृणोति— **यस्माच्चेति** । तस्मादेकत्वदर्शनार्थं प्रयतितव्यमिति शेषः ॥ ३० ॥

**३ रा. भा.—** अथ योगविपाकदशा चतुष्प्रकारोच्यते—स्वात्मनः परेषां च भूतानां प्रकृतिवियुक्तस्वरूपाणां ज्ञानैकाकारतया साम्याद्वैषम्यस्य च प्रकृतिगतत्वाद्योगयुक्तात्मा प्रकृतिवियुक्तेष्वात्मसु सर्वत्र ज्ञानैकाकारतया समदर्शनः सर्वभूतस्थं स्वात्मानं सर्वभूतानि च स्वात्मनीक्षते । सर्वभूतसमानाकारं स्वात्मानं स्वात्मसमानाकाराणि च सर्वभूतानि पश्यतीत्यर्थः । एकस्मिन्नात्मनि दृष्टे सर्वस्यात्मवस्तुनस्तत्साम्यात्सर्वभूतमात्मवस्तु दृष्टं भवतीत्यर्थः, 'सर्वत्रसमदर्शनः' इति वचनात् । 'योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन' [ ६।३३ ] इत्यनुभाषणाच्च, 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' [ ५।१९ ] इति वचनाच्च ॥ २९ ॥

**४ वे. ता. चं.—** एवं योगाभ्यासविधिः प्रपञ्चितः; 'आत्मलाभसुखं यावत्तावद्ध्यानमुदाहृतम्' इत्याद्युक्तं फलपर्यन्तत्वं चोक्तम् । अथ चतुर्धा योगी प्रतिपाद्यत इति चतुर्णां श्लोकानामर्थमाह—**अथे**ति । समदर्शित्वरूपयोगविपाकस्य पर्वक्रमेण तारतम्याच्चतुष्प्रकारत्वम् । अत्र प्रथमदशोच्यते— 'सर्वभूतस्थम्' इति श्लोकेन । समदर्शनत्वोपपत्तये स्वरूपतः साम्यं प्रकारवैषम्यस्य चौपाधिकत्वं दर्शयति **स्वात्मन** इत्यादिना **गतत्वा**दित्यन्तेन । भूतशब्दोऽत्राचिद्विशिष्टचेतनवाचकोऽपि 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्' इत्यादिष्विव चेतनांशपरः । **योगयुक्तात्मा** योगविनियुक्तमनाः; यद्वा योगसमधिगतात्मस्वरूप इत्यर्थः । योगयुक्तात्मत्वं समदर्शनत्वे हेतुः । समदर्शनत्वस्यैव प्रतियोगिविशेषनिर्देशेन प्रपञ्चनं **सर्वभूतस्थ**मित्यादि । आत्मशब्दस्यात्रात्मसामान्यविषयत्वपरमात्मविषयत्वव्यावर्तनेन स्वपर्यायत्वद्योतनाय **स्वात्म**शब्दः । नन्वन्योन्याधाराधेयभावः कथमुपपद्यते ? कथं चाणोः स्वात्मनः सर्वभूतस्थत्वं ? विप्रकीर्णदेशावस्थितानां च सर्वभूतानां कथमेकदेशस्थिते स्वात्मनि स्थितिः ? अतोऽयमात्मशब्दः परमात्मविषयः स्यादिति तत्राह— **सर्वभूतसमानाकार**मिति ।

नन्वसौ स्वात्ममात्रानुसन्धानरूपे योगे प्रवृत्तः कथं स्वगतसाम्यप्रतियोगितया स्वप्रतियोगिकसाम्याश्रयतया च स्वव्यतिरिक्तात्मवर्गमीक्षेत?इत्यत्राह—**एकस्मिन्नि**ति । एकजातीयेषु पदार्थेष्वेकव्यक्तिदर्शनेनैव स्थालीपुलाकन्यायात्तज्जातीयं सर्वमपि तथात्वेनानुसंहितं हि भवतीति भावः । 'सर्वभूतस्थम्' इत्यादेःसाम्यमेव विवक्षितमिति दर्शयितुमेतद्ग्रन्थैकदेशं पूर्वोत्तरप्रकरणग्रन्थं चोदाहरति—**सर्वत्रे**ति । अयमभिप्रायः—'सर्वत्र समदर्शनः' इति सर्वेषामात्मनां परस्परसाम्यदर्शनमुच्यते, तदेव 'सर्वभूतस्थं' इति प्रपञ्च्यते। अत एव च बाह्यभूतेष्वात्मतत्त्वस्य, तस्मिंश्च तेषां स्थितिदर्शनमिहासङ्गतम् । न चेदं परमात्मयोगप्रकरणम्; येन तथाविधपरमात्मानुसन्धानमुपदिश्येत । न च जीवात्मयोगोपयुक्तं परमात्मध्यानमिदमुच्यते, समाधिदशाभेदविषयत्वात् । न च जीवानां परमात्मनश्च साम्यमिहोच्यते, तस्यापि 'यो माम्' [ ६।३०;३१ ] इति विशेषनिर्देशायुक्ते श्लोकद्वये प्रतिपादयितुमुचितत्वात्; **अस्य** परमात्मविषयत्वे 'यो माम्' इति श्लोकद्वयेन मात्रया पौनरुक्त्यं च स्यात् । 'योऽयं योगः'[६।३३] इत्येतदनुवादे च साम्यमात्रमेवोच्यते, न तु परस्पराधाराधेयभावः । प्रागपि 'विद्याविनय'–[ ५।१८ ] इत्यादौ साम्यमात्रमेवोक्तम् । अतोऽत्र जीवानां परस्परसाम्यमेव विवक्षितमिति ॥ २९ ॥

**३ रा. भा.—** यो मामिति । ततो विपाकदशामापन्नो मम साधर्म्यमुपागतः "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [ मुं. उ. ३।१।३ ] इत्युच्यमानं सर्वस्यात्मवस्तुनो विधूतपुण्यपापस्य स्वरूपेणावस्थितस्य मत्साम्यं पश्यन् यः सर्वत्रात्मवस्तुनि मां पश्यति, सर्वमात्मवस्तु च मयि पश्यति; अन्योन्यसाम्यादन्यतरदर्शनेन अन्यतरदपीदृशमिति पश्यति, तस्य स्वात्मस्वरूपं पश्यतोऽहं तत्साम्यान्न प्रणश्यामि नादर्शनमुपयामि; ममापि मां पश्यतो मत्साम्यात् स्वात्मानं मत्सममवलोकयन् स नादर्शनमुपयाति ॥ ३० ॥

**४ वे.ता. चं.—** एवं देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषरूपभेदनिरसनेन ज्ञानद्रव्यतयैकरूपत्वानुसन्धानमुक्तम्; अथ तस्यैव देवादिभेदहेतुभूतपुण्यपापतारतम्यविधूननेन परमात्मना परमसाम्यानुसन्धानमुच्यते— **यो मां** इति । अस्यापि श्लोकस्य साम्यविषयत्वे हेतुः प्रागेवोक्तः । **ततोऽपि विपाकदशापन्नः**, प्रथमदशातोऽधिकां विपाकदशां प्राप्त इत्यर्थः । जीवात्मनां परमात्मनश्च साधर्म्यं वक्ष्यमाणं स्मारयति— **मम साधर्म्य**मिति । **उपागतः** बुद्ध्या प्राप्त इत्यर्थः । नह्यसाविदानीं मुक्तः, पुण्यपापविधूननेन साम्यप्रतिपादनाय "निरञ्जनः" इति श्रुतिरुपात्ता । "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मुं.उ. ३।१।३] इति हि सा; 'यो मां पश्यति' इत्यनुवादः तत्सिद्धौ हि भवति । सा कुतः? इति शङ्कायां साम्यं तावदुपात्तश्रुत्यादिसिद्धम् । तदनुसन्धानं च विहितम्; ततश्च तदनुवादोऽप्युपपन्न इति ज्ञापनाय **मत्साम्यं पश्यन् यः सर्वत्रात्मवस्तुनि मां पश्यती**त्यवान्तरवचनव्यक्तिभेदो दर्शितः । परमात्मनः सर्वव्यापितया सर्वेषां परमात्मनिष्ठतया च प्रतीतिर्ह्यत्र स्वरसतो जायते; तच्चात्र प्रकर-

णादिवशादनुचितम् । ततश्च साम्यदर्शनमेव विवक्षितमिति वाच्यम्; तदप्ययुक्तम्, स्वात्मानुसन्धानस्वरूपयोगविपाके परमात्मनोऽन्येषां च स्फुरणाभावादिति पूर्ववच्छङ्कायामाह— अन्योन्येति । अन्यतरदर्शनेनान्यतरदपीति— एकव्यक्तिदर्शनेन व्यक्त्यन्तरमपीत्यर्थः ।

'तस्याहं' इत्यादौ न तावत्प्रध्वंसनिषेधः क्रियते, नित्यतया बहुप्रमाणप्रतिपादितयोर्जीवेश्वरयोरिदानीमनित्यत्वशङ्काभावात्, 'तस्य न प्रणश्यामि' इत्यादिपरस्परप्रतियोगिनिर्देशानुपपत्तेश्च । न हि किञ्चिदपि वस्तु किञ्चित्प्रत्यनष्टं किञ्चित्प्रति च नष्टं भवति । अतोऽसावदर्शनविषय एवात्र नाशशब्दः । नशिधातोश्च अदर्शनार्थत्वं धातुपाठपठितम् । ततश्च न प्रणश्यामीति कोऽर्थः ? नाशदर्शनमुपयामीति, तदेतद्दर्शयति— तस्येत्यादिना । तादृशत्वानुसन्धानस्याभावो निषिध्यत इति भावः । 'स च मे न प्रणश्यति' इत्येतद्दृष्टान्तार्थं, साम्यस्य सर्वज्ञबुद्धिविषयतया प्रामाणिकत्वार्थं, पूर्ववच्छङ्कापरिहारार्थं चेत्यभिप्रायेणाह— ममापीति । सर्वसाक्षात्कारिणोऽपि मम स्वरूपानुसन्धानांशेऽपि तत्साम्यात्तत्स्वरूपमप्यनुसंहितं भवति हीत्यर्थः । स इत्यनेन तदवस्थस्य मुक्तप्रायत्वं विवक्षितमिति व्यञ्जयितुमाह— मत्साम्यात्स्वात्मानं मत्सममवलोकयन्निति ॥ ३० ॥

**५ आ. मा. भा.— ध्येयमाह— सर्वभूतस्थमिति । सर्वभूतस्थमात्मानं परमेश्वरम्, सर्वभूतानि चात्मनि परमेश्वरे, तं च परमेश्वरं चतुर्मुखब्रह्मतृणादावैश्वर्यादिना साम्येन पश्यति । तच्चोक्तम्— 'आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् । अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि'[ भाग. ३।२४।४६ ] इति । 'समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्' इति च ॥ २९ ॥ फलमाह— यो मामिति । तस्याहं न प्रणश्यामीति सर्वदा योगक्षेमवहः स्यामित्यर्थः । स च मे न प्रणश्यति सर्वदा मद्भक्तो भवति । सत्यपि स्वामिन्यरक्षत्यनाथः, एवं भृत्येऽप्यभजत्यभृत्य इति हि प्रसिद्धिः । उक्तं च 'सर्वदा सर्वभूतेषु समं मां यः प्रपश्यति । अचला तस्य भक्तिः स्याद्योगक्षेमं वहाम्यहम्' ( .... वहोऽस्म्यहम् ) इति गारुडे ॥ ३० ॥**

६ ज. प्र. दी.— एवं युञ्जन्निति । योगप्रकरणस्य फलकथनेनोपसंहृतत्वात्किमुत्तरेण ? इत्यत आह— ध्येयमिति । ननु 'मच्चित्तो युक्तः'[ ६।१४ ] इत्यादिना ध्येयमुक्तमेव, सत्यम्; तथाप्युत्तमाधिकारिणां ध्येयमनेनोच्यत इत्यदोषः । आत्मानं स्वात्मानमित्यादिप्रतीतिपराकरणार्थमाह— सर्वेति । कुतोऽयमर्थ इत्यतः पुराणसमाख्यानादित्याह— तच्चेति । 'सर्वत्र समदर्शनः' इत्यस्योक्तार्थतां गीतासम्मत्योपपादयति— सममिति ॥ २९ ॥ किञ्चैतदर्थानुवादेन फलप्रतिपादकं, उत्तरवाक्यमप्यस्य भगवद्विषयत्वं ज्ञापयतीति भावेनाह— फलमिति । अस्य ध्यानविशेषस्येति शेषः । ननु भगवांस्तद्ध्यायी च सर्वान्प्रति नित्यौ तत्कथमेतत् ? इत्यत आह— तस्येति । कथमयमर्थो लभ्यते ? इत्यत आह— सत्यपीति । अविद्यमाननाथोऽयमिति भृत्ये प्रसिद्धिः; एवं सत्यपि भृत्येऽभजत्यविद्यमानभृत्योऽयमिति स्वामिनि प्रसिद्धिः । एतदुक्तं भवति- विद्यमानस्यापि स्वयोग्यव्यापाराकरणसादृश्यादुपचारेणाविद्यमानता । प्रकृते तु तथात्वाभावात् 'न प्रणश्यामि' इत्यादिरूढोपचारश्चायम् । अतो न प्रयोजनान्वेषणमिति । अत्र पुराणसम्मतिमाह— उक्तं चेति ॥ ३० ॥

**७ ह. पै. भा.— इदानीं योगसाफल्यं ब्रह्मैकत्वदर्शनं प्रदर्श्यते— सर्वभूतस्थं सर्वेषु भूतेषु स्थितं स्वात्मानं सर्वभूतानि च ब्रह्मादीन्यात्मैकतां गतानीक्षते पश्यति योगयुक्तात्मा समाहितान्तःकरणः सर्वत्रसमदर्शनः ॥ २९ ॥ तस्यैकात्मकत्वदर्शनस्य फलमुच्यते— यो मामिति । यो मां वासुदेवं सर्वत्र सर्वभूतेषु सर्वं च ब्रह्मादिभूतजातं मयि सर्वात्मनि पश्यति तस्यैवमात्मैकत्वदर्शिनोऽहमीश्वरो न प्रणश्यामि न परोक्षतां गमिष्यामि । स च मे न प्रणश्यति न परोक्षीभवति; तस्य च मम चैकात्मकत्वात् । स्वात्मा हि नामाऽऽत्मनः प्रकाश एव भवति । यस्माच्चाहमेव सर्वैकात्मकत्वदर्शीत्येतत् ॥ ३० ॥**

८ वें. व्र. गि.— ननु कथं योगादात्यन्तिकसुखप्राप्तिः तस्यास्तत्त्वमस्यादिवेदान्तमहावाक्यार्थज्ञानैकफलत्वात् ? इत्याशङ्क्य, तद्द्वारकमेव योगस्य तत्फलकत्वमिति दर्शयन्प्रथमं शुद्धत्वम्पदार्थज्ञानहेतुत्वमाह— सर्वभूतेति । योगयुक्तात्मा योगेन युक्तः समाहितोऽतिनिर्मलीकृत आत्मा मनो यस्य स तथोक्तः स्वमात्मानं आविद्यिकदेहादिपरिच्छेदशून्यतया सर्वभूतस्थं सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तशरीरेषु तिष्ठत्यधिष्ठानतयेति तथोक्तम् ; तथा सर्वभूतानि च ब्रह्मादीनि स्वात्मनि अध्यस्ततया पश्यति । अत्र हेतुः— सर्वत्र समदर्शनः सर्वत्र प्रपञ्चे समं निर्विशेषं ब्रह्मैव पश्यतीति तथोक्तः । अनेन स्वात्मकल्पितब्रह्मादिस्थावरान्तजगदनुस्यूतकेवलचिन्मात्ररूपशुद्धत्वम्पदार्थज्ञानं प्रदर्शितम् ॥ २९ ॥ अथ शुद्धतत्पदार्थज्ञानं दर्शयति— योमामिति । यो योगी मामीश्वरं तत्पदार्थं मायिकदेहादिपरिच्छेदशून्यतया सर्वत्र प्रपञ्चे सद्रूपेणानुस्यूतं पश्यति, तथा सर्वं

च प्रपञ्चजातं मय्यारोपितं पश्यति, तस्य ब्रह्माद्वैतदर्शिनः अहं न प्रणश्यामि ईश्वरः कश्चिन्मद्भिन्नोऽस्तीति परोक्षज्ञानविषयो न भवामि; स एवाहमिति यावत्। स च मे न प्रणश्यति मद्भिन्नः कश्चित्स जीव इति मदीयपरोक्षज्ञानविषयो न भवति। अहमेव स इति यावत्। तदेतद्भगवानेवाग्रे स्पष्टीकरिष्यति— 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'[७।१८]'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' [७।१७] इति। तथा च द्वयोरप्येकात्मत्वादात्मातिरिक्तस्य च प्रियपदार्थस्याभावात्स्वार्थहितवर्तित्वमनुक्तसिद्धमिति भावः। तदेतद्भगवता (शं.) भाष्यकारेणोक्तम्— 'द्वयोरात्मैकत्वात् स्वात्मा हि नामात्मनः प्रिय एव भवति' इति ॥ ३० ॥

९ व० त० दी०— एतादृशस्य योगिनो ब्रह्मसुखाविर्भावे वामदेववत्सर्वात्मभावो भवतीत्याह। गुह्यः असम्प्रज्ञातसमाधिर्द्विविधः अक्षरब्रह्मविषयको भगवद्विषयकश्च, तत्र पूर्वस्य फलमाह भगवान्— सर्वभूतस्थमिति। सर्वभूतस्थितमात्मानं पश्यति, सर्वभूतानि च स्वात्मनि अवस्थानेन कार्यकारणवस्त्वैक्यमर्शनेन वा पश्यति; तथा चानन्दांशाविर्भावे भगवदात्मकत्वेन तस्य व्यापकत्वं प्रकटीभवतीत्यर्थः। द्वितीयस्याह— ततोऽपि गुह्यतरम्। वासुदेवं मां योगजधर्मेण पश्यति सर्वभूतानि स्वं च मय्यवस्थानेनाभेदेन च पश्यति "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं" [छां.उ.अ.६खं.८-१६]'वासुदेवः सर्वं'[७।१९]'अखंडं कृष्णवत्सर्वं'"स आत्मा तत्त्वमसि"[छां.उ.अ.६खं.८-१६] 'योऽसौ सोऽहं,योऽहं सोऽसौ' इति श्रुतिस्मृतिवाक्यात्। तत्राभेदोपासना तामसी, काचित्तान्त्रिकीत्यग्रे वक्ष्यति 'एकत्वेन पृथक्त्वेन' [९।१५] इत्यादौ। अतस्ततो विभिद्याह— तस्याहं न प्रणश्यामीति, नादृश्यो भवामीत्याह। स ममादृश्यो न भवति आनन्दाविर्भावरूपेण चतुर्भुजादिरूपो भूत्वा प्रत्यक्षं कृपादृष्ट्या तमनुगृह्णामीत्यर्थः ॥ २९ ॥ ३० ॥

१० पु. अ. त.— ब्रह्मसंस्पर्शसुखं स्पष्टयति— सर्वभूतस्थमिति। योगयुक्तात्मा भगवत्संयोगयुक्त आत्मा सर्वत्र संयोगविप्रयोगभावे समदर्शन आत्मानं भगवन्तं सर्वभूतस्थं विप्रयोगावस्थायां च पुनरात्मनि भगवत्स्वरूपे संयोगावस्थायां सर्वभूतानि सेवास्थितानि ईक्षते पश्यतीत्यर्थः। एतेन भगवत्स्वरूपज्ञानात्मसुखमुक्तमिति भावः॥ २९ ॥ एवं स्वरूपज्ञानफलमाह— यो मामिति। यः सर्वत्र जीवेषु वियोगावस्थायां मां पश्यति, संयोगावस्थायां मयि सर्वं पश्यति, तस्याहं न प्रणश्यामि न कदाचिदपि वियुक्तो भवामि। स च मे भक्तः न प्रणश्यति न वियुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

११ नी० भा० दी०— द्विविधस्यापि योगस्य फलमाह— सर्वेति। 'सोपाधिर्निरुपाधिश्च द्वेधा ब्रह्मविदुच्यते। सोपाधिकः स्यात्सर्वात्मा निरुपाख्योऽनुपाधिकः' इति वार्तिकोक्तरीत्या सम्प्रज्ञाते आत्मनः सार्वात्म्यमनुभवन्योगी सर्वेषु भूतेषु उपादानतया स्थितं आत्मानं ईक्षते पश्यति। तथा असम्प्रज्ञाते सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानि आत्मन्येकतां गतानि रज्ज्वामिवाध्यस्तसर्पदण्डधारादीनि तद्वत्पश्यति। योगयुक्तात्मा योगेन समाहितचित्तः। अस्यैव व्युत्थानावस्थामाह— सर्वत्रेति। सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विषमेषु भूतेषु समं निर्विशेषं ब्रह्मात्मैकत्वविषयं दर्शनं यस्य स सर्वत्रसमदर्शनः। तथा च श्रुतयः "यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।" [ई. उ. ६] "सर्वस्यात्मा भवति।" [मैत्री. उ. ७।२] "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मेमे कितवा उत।" "इदं सर्वं यदयमात्मा" [बृ. उ. ४।५।७] इत्यादय एतमर्थं प्रतिपादयन्ति। यत्तु 'यो योगयुक्तात्मा यो वा सर्वत्र समदर्शनः स आत्मानमीक्षत इति योगिसमदर्शिनावात्मेक्षणाधिकारिणावुक्तौ। यथा हि चित्तवृत्तिनिरोधः साक्षिसाक्षात्कारहेतुस्तथा जडविवेकेन सर्वानुस्यूतचैतन्यपृथक्करणमपि नावश्यं योग एवापेक्षितः' [मधुसू.] इति; तन्न। "समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति।" [बृ.उ.४।४।२३]" ततस्तु तं पश्यति (ते) निष्कलं ध्यायमानः" [मुं. उ. ३।१।८] इत्यादिश्रुतिभिः समाधिध्यानापरपर्याययोगायैवात्मदर्शनहेतुत्वप्रतिपादनात् "तत्कारणं साङ्ख्ययोगाभिपन्नं (-धिगम्यं)"[श्वे. उ. ६।१३] "विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्" [कठो. ६।१८] इति लिङ्गाच्च ज्ञानयोगयोः समुच्चयावगमात्। न च श्रौतं यौक्तिकविवेकमात्राज्जडाजडयोर्देहात्मनोः पृथक्करणं सम्भवति; सोपाधिकभ्रमस्य उपाधिनिवृत्तिमन्तरेण निवृत्त्यसम्भवात्। आदर्शाद्यनिवृत्तावपि प्रतिबिम्बादिभ्रमनिवृत्त्यापत्तेः। अतएवाधिष्ठानज्ञानदार्ढ्ये सति तत्र कल्पितस्य चित्तस्य तद्दृश्यस्य चादर्शनमनायासेनैवोपपद्यत इति निरस्तम्। योगं विनाऽधिष्ठानज्ञानस्यैवासम्भवात्। यदाह दक्षः 'स्वसंवेद्यं (स्वयं वेद्यं) हि तद्ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं (मैथुनं) यथा। अयोगी नैव जानाति जात्यन्धो हि यथा घटम्' [द. स्मृ. ७।२४] इति। यत्तूक्तं भगवत्पूज्यपादैः 'ब्रह्मविदः कुत्रापि योगापेक्षां न व्युत्पादयाम्बभूवुः' इति। तत् 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' [ब्र. सू. १।१।१]

इत्यत्राथशब्दसूचितमुमुक्षुविशेषणीभूतसाधनचतुष्टयान्तर्गतं शमाद्युपेतसमाधिमद्दष्ट्रोक्तमिति न दोषः ।'द्वौ क्रमौ'इति वसिष्ठवाक्यतात्पर्यं तु परस्परनिरपेक्षमार्गद्वयोपगमे " नान्यः पन्थाः " [ श्वे. ६।१५ ] इति श्रुतिबाधापत्त्या प्रतिपत्तिक्रमभेदमात्रपरतया प्रागेव वर्णितमिति दिक् । किञ्च योगप्रकारेण योगानपेक्षमार्गान्तरप्रतिपादनमसङ्गतम्। न च तत्सूचकोऽत्र कश्चिच्छब्दो वर्त्तते सम्भवति वा, उक्तयुक्तेः;अतो 'यो वा समदर्शनः' इति वापदाध्याहारोऽप्यसङ्गत इति दिक् ।।२९ ।। अस्यात्मैकत्वदर्शनस्यापि फलमाह– यो मामिति । सर्वत्रास्मच्छब्दः प्रत्यगात्मपरः। यो योगी आत्मानं सर्वत्र पश्यति, सर्वं चात्मनि पश्यति, तस्य योगिनः ज्ञात आत्मा न प्रणश्यति अदर्शनं न गच्छति, ज्ञात आत्मा न पुनस्तिरोभवति । सकृन्नष्टस्य मूलाज्ञानस्य बीजाभावेन पुनरुदयासम्भवादित्यर्थः । ननु कार्यकारणसङ्घाताभिमानिना शुक्तिरूप्यवद्ब्रह्मण्यध्यस्तेन तदभिमानत्यागपूर्वकं ज्ञातं स्वाधिष्ठानभूतं ब्रह्म मा तिरोधायि, बुद्धेस्तत्त्वपक्षपातित्वात् ; ब्रह्मदृष्ट्या तु मुक्तजीवस्य निरन्वयोच्छेदो भवतीत्याशङ्कयाह— स च मे न प्रणश्यतीति । स च विद्वान्मे मम न प्रणश्यति न तिरोभवति, मदभिन्नत्वात् । भवेदेतदेवं– यदि जीवो मयि अध्यस्तो वा मम विकारो वा भवेत् तदा निरन्वयोच्छेदं प्राप्नुयात् । अहमेव तु सः, " तत्त्वमसि " [ छा. उ. ६।८ —१६ ] " अहं ब्रह्मास्मि " [ बृ. उ. १।४।१० ] " अयमात्मा ब्रह्म " [ बृ. उ. २।५।१९ ] इत्यादिशास्त्रात् । तस्माद्युक्तमुक्तं स च मे न प्रणश्यतीति ।। ३० ।।

जीवन्मुक्तस्य योगिनः सलक्षणं श्रेष्ठत्वम् ।

**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।। ३१ ।।**
**आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ! ।**
**सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ।। ३२ ।।**

**१ शां. भा.**— यस्माच्चाहमेव सर्वात्मैकत्वदर्शी इत्येतत्पूर्वश्लोकार्थं सम्यग्दर्शनमनूद्य तत्फलं मोक्षोऽभिधीयते–सर्वेति । सर्वथा सर्वप्रकारैर्वर्तमानोऽपि सम्यग्दर्शी योगी मयि वैष्णवे परमे पदे वर्तते, नित्यमुक्त एव सः; न मोक्षं प्रति केनचित्प्रतिबध्यत इत्यर्थः ।।३१।। किञ्चान्यत्–आत्मौपम्येनाऽऽत्मा स्वयमेवोपमीयतेऽनयेत्युपमा, तस्या उपमाया भाव औपम्यं, तेनाऽऽत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतेषु समं तुल्यं पश्यति योऽर्जुन! । स च किं समं पश्यति ? इत्युच्यते– यथा मम सुखमिष्टं तथा सर्वप्राणिनां सुखमनुकूलम् । वाशब्दश्चार्थे । यदि वा यच्च दुःखं मम प्रतिकूलमनिष्टं यथा, तथा सर्वप्राणिनां दुःखमनिष्टं प्रतिकूलमित्येवमात्मौपम्येन सुखदुःखे अनुकूलप्रतिकूले तुल्यतया सर्वभूतेषु समं पश्यति न कस्यचित्प्रतिकूलमाचरति, अहिंसक इत्यर्थः । य एवमहिंसकः सम्यग्दर्शननिष्ठः स योगी परम उत्कृष्टो मतोऽभिप्रेतः सर्वयोगिनां मध्ये ।। ३२ ।।

**२ आ. शां. व्या.**— पूर्वार्धेनानूद्योत्तरार्धेन फलविधिरिति मत्वाऽऽह **इत्येत**दिति । रागादिरहितस्य यमनियमादिसंस्कारवतः स्वैरप्रवृत्त्यसम्भवेऽपि तामङ्गीकृत्य ज्ञानं स्तौति–**सर्वथे**ति । प्रतिभासतोऽपि यथेष्टचेष्टाङ्गीकारे कुतो ज्ञानवतो नित्यमुक्तत्वं ? प्रातीतिकदुराचारप्रतिबन्धादित्याशङ्क्याऽऽह–**न मोक्षमि**ति ।। ३१ ।। स्वैराचरणस्याप्रतिबन्धकत्वकथनात् परपीडनस्य योगिनः सम्यग्दर्शनं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वप्रसक्तावुक्तं—**किञ्चे**ति । अन्यदपि किञ्चिदुच्यते परमयोगिनो निर्देशद्वारा योगमाहात्म्यमित्यर्थः । **उपमैवौपम्य**मात्मा च तदौपम्यं च तेन सर्वभूतेषु यः समं पश्यतीत्युक्ते तदेव समदर्शनं प्रश्नपूर्वकं विवृणोति—**किमि**त्यादिना । विकल्पार्थत्वं वारयति–**वाशब्द** इति । उपदर्शितसमदर्शनफलमभिलषति **न कस्यचि**दिति । किमपेक्षया तस्य परमत्वं ? तत्राऽऽह—**सर्वे**ति ।। ३२ ।।

**३ रा. भा.**— ततोऽपि विपाकदशामाह– सर्वेति । योगदशायां सर्वभूतस्थितं मामसङ्कुचितज्ञानैकाकारतया एकत्वमास्थितः प्राकृतभेदपरित्यागेन सुदृढं यो भजते, स योगी व्युत्थानकालेऽपि

**यथातथा वर्तमानः स्वात्मानं सर्वभूतानि च पश्यन् मयि वर्तते मामेव पश्यति, स्वात्मनि सर्वभूतेषु च सर्वदा मत्साम्यमेव पश्यतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥**

**४ वे. ता. चं.**—तृतीयां विपाकदशामाहेत्याह—**तत** इति। अकर्मवश्यत्वाकारेणेश्वरसाम्यदर्शनं पूर्वश्लोकोक्तम्, 'सर्वभूतस्थितं' इत्यनेन तु कर्मरूपाविद्यावेष्टनविधुरत्वात् असङ्कुचितज्ञानाकारतया साम्यानुसन्धानम्, तत्संस्कारप्रभावेन च व्युत्थानकालेऽपि स्वरसतस्तथाविधानुसन्धानानुवृत्तिश्चेत्येतदुच्यते । 'यो भजति ... स सर्वथा वर्तमानोऽपि' इत्यनेन कालभेदः सिद्धः, न च समाधिदशायामेव यथातथा वर्तमानत्वमुपपद्यते । सर्वभूतस्थितेन परमात्मनैकत्वानुसन्धानं नाम स्वस्यापि सर्वभूतस्थितत्वेन तदेकप्रकारत्वानुसन्धानं तच्चाणोरात्मनः स्वरूपेण न सम्भवति । धर्मतश्च परिशुद्धात्मनो व्याप्तिः "वालाग्र-" इत्यारभ्य " स चानन्त्याय कल्पते" [ श्वे- उ. ५।९ ] इति श्रुतिसिद्धा । सूत्रञ्च 'प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति' [ ब्र. सू. ४।४।१५ ] इति, अतोऽत्रापि तथैव साम्यं विवक्षितमिति दर्शयितुं **असंकुचितज्ञानकारतयैकत्वमास्थित** इत्युक्तम्। **प्राकृतभेदपरित्यागेन**— कर्मोपाधिकप्रकृतिविशेषसंसर्गकृतज्ञानतारतम्यरूपभेदपरित्यागेनेत्यर्थः । अनेनैकत्वोक्तेः स्वरूपभेदनिरासार्थत्वं परिहृतम्। सर्वात्मनां ब्रह्मापृथक्सिद्धत्वविवक्षयाऽप्येकत्वोक्तिश्च घटते। आस्थितशब्दस्य तात्पर्यार्थः **सुदृढमि**ति । ततश्च व्युत्थानकालेऽपि तथाविधानुसन्धानप्रवाहहेतुभूतसंस्कारप्राबल्यं सूचितम् । 'मां भजति' मत्समात्मावलोकनमपि हि मद्भजनमित्यभिप्रायः । 'सर्वथा' इत्यस्य लौकिकक्रियाव्यापृतोऽपीत्यभिप्रायः । 'मयि वर्तते' इत्यस्य परमात्मनि स्थितिर्नार्थः, तस्य योग्ययोगिसाधारणत्वात् । अतो वृत्तिरत्र बुद्धिवृत्तिरित्यभिप्रायेणाह **मामेव पश्यती**ति । जीवदर्शनमात्रेण कथं परमात्मदर्शनं ? इत्यत्राह— **स्वात्मनी**ति । व्युत्थानकाले स्वात्मसाक्षात्काराभावेऽपि विशदपरोक्षानुसन्धाने परेषामपि तथात्वसिद्धेः फलितत्वोक्तिरियम् ॥ ३१ ॥

**३ रा. भा.— ततोऽपि काष्ठामाह—आत्मेति । स्वात्मनश्चान्येषां चात्मनामसङ्कुचितज्ञानैकाकारतयौपम्येन स्वात्मनि चान्येषु च सर्वत्र वर्तमानं पुत्रजन्मादिरूपं सुखं तन्मरणादिरूपं च दुःखमसम्बन्धसाम्यात्समं यः पश्यति, परपुत्रजन्ममरणादिसमं स्वपुत्रजन्ममरणादिकं यः पश्यतीत्यर्थः । स योगी परमो मतः परमयोगकाष्ठां गतो मतः ॥ ३२ ॥**

**४ वे. ता. चं.**—प्रबलदुःखहेत्वागमेऽपि निर्विकारत्वापादिकां योगविपाककाष्ठाभूतां कर्मज्ञानतारतम्यप्रयुक्तसुखदुःखतारतम्यनिवृत्त्यनुसन्धानरूपां चतुर्थीं दशामाहेत्याह— **ततोऽपि काष्ठामाहे**ति । 'आत्मौपम्येन' इत्यस्य न पश्यतिनाऽन्वयः, सममित्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । अतः सर्वत्रात्मौपम्येनेत्यन्वयः। उपमाशब्दस्तुल्यवचनः । तस्य भाव औपम्यं सर्वेषामात्मनां पूर्वोक्तेन देहविलक्षणत्वादिसाम्येनेत्यर्थः । 'सर्वत्र' इत्येतदेव काकाक्षिन्यायेन 'समं पश्यति' इत्यत्राप्यन्वितम् । सर्वेषामत्यन्तविषमतया उपलक्ष्यमाणसुखदुःखान्वयसाम्यभ्रमव्युदासेन व्यतिरेकसाम्यानुसन्धानं दर्शयति—**असम्बन्धसाम्यादि**ति । परेष्वसम्बन्धानुसन्धानस्य निष्प्रयोजनत्वादिहाभिप्रेतमाह— **परे**ति। परपुत्रजन्मादेः स्वात्मनि स्वपुत्रजन्मादेश्च परेषु यथा न सम्बन्धः तथा स्वात्मन्यपीत्युक्तं भवति । परमशब्दाभिप्रेतमाह **परमयोगकाष्ठां गतो मत** इति । जीवात्मयोगकाष्ठेयम् , परमात्मयोगस्य परस्ताद्वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ३२ ॥

**५ आ. मा. भा.— एतदेव स्पष्टयति— सर्वभूतस्थितमिति । एकत्वमास्थितः सर्वत्र एक एवेश्वर इति स्थितः सर्वप्रकारेण वर्तमानोऽपि मय्येव वर्तते । एवमपरोक्षं पश्यतो ज्ञानफलं नियतमित्यर्थः । तथापि प्रायो नाधर्मं करोति; कुर्वतस्तु महच्चेद्दुःखसूचकं भवतीत्युक्तं पुरस्तात् । आह च 'कदाचिदपि नाधर्मे बुद्धिर्विष्णुदृशां भवेत् । प्रमादात्तु कृतं पापं स्वल्पं भस्मीभविष्यति ॥ आदिराजैस्तथा देवैर्ऋषिभिः क्रियते कियत् । बाहुल्यात्कर्मणस्तेषां दुःखसूचकमेव तत् ' इति ॥ ३१ ॥ साम्यं प्रकारान्तरेण व्याचष्टे आत्मौपम्येनेति ॥ ३२ ॥**

प्र. टी.—'यो मां' [ ३० ] इत्युक्तमेव पुनः किमाह- **एतदेवे**ति । 'एकत्वमास्थितः' इत्यस्यार्थमाह— **एकत्व**मिति । 'मयि वा मद्विकारे वा वर्तमानोऽपि' इत्यपव्याख्याननिरासार्थमाह— **सर्वे**ति । न्यायेन वाऽन्यायेन वेत्यर्थः । अपव्याख्याने थाल्प्रत्ययो न युक्त इति भावः । भगवन्तं भजतो धर्माचरणं सर्वथाऽप्यकिञ्चित्करमिति प्रतीतिनिरासायाह— **एवमि**ति । अधर्माचरणेऽपीति शेषः । ज्ञानफलं मोक्षः । आनन्दह्रासादिकं तु विद्यत एवेति भावः । ननु ज्ञानिनो मोक्ष एवापेक्षितः, सोऽधर्माचरणेऽपि न प्रतिबध्यते चेत् , तत्किमधर्मं करोति ? इत्यत आह— **तथापी**ति । सर्वथाऽप्यकरणे सर्वथा वर्तमानोऽपीत्युक्तमयुक्तमित्यत उक्तम्— **प्राय** इति । एतेन 'नहीदृशस्य यथेष्टचेष्टता सम्भवति' इति परकीयमस्मद्व्याख्यानदूषणमपि निरस्तं भवति, प्रारब्धवशेन कदाचित्तथाभावदर्शनात् । कुतो न

करोति ? इत्यत आह—**कुर्वतास्त्वि**ति। अत्र प्रमाणमाह—**आह चे**ति। कियन्महदिति शेषः। कर्मणः प्रारब्धस्य बाहुल्यात् प्राबल्यात्। लोके प्रवृत्तिकर्मणो बाहुल्येन चित्तविक्षेपादिति वा ॥ ३१ ॥ 'सर्वत्र समदर्शनः' [ ६।२९ ] इत्यस्यान्यथाव्याख्यानमितोऽप्यसदिति भावेनाह—**साम्यमि**ति। साम्यदर्शनम्। समदर्शन इत्युक्ते किं गोगवयादिवद्भवति सम्यग्दर्शनमित्याकाङ्क्षायामेकत्वमास्थित इति स्वयमेव व्याख्यातम्। इदानीं तु भगवदनुवर्तिविषयतयाऽपि व्याचष्ट इत्यर्थः ॥ ३२॥

**७ ह. पै. भा.— पूर्वश्लोकार्थं सम्यग्दर्शनमनूद्य तत्फलं मोक्षोऽभिधीयते— सर्वभूतस्थितमित्यादिना। सर्वथा सर्वप्रकारैर्वर्तमानोऽपि सम्यग्दर्शी योगी मयि विष्णौ परदैवते वर्तते नित्ययुक्त एव सः। न मोक्षं प्रति केनचित्प्रतिषिध्यत इत्यर्थः ॥ ३१ ॥ किञ्च— आत्मा स्वयमेवोपमा तद्भाव आत्मौपम्यं, तेनाऽऽत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतेषु समं तुल्यं पश्यति योऽर्जुन ! । किं पश्यति? इत्यत्रोच्यते— यथा मम सुखमिष्टं तथा प्राणिनां सुखमनुकूलम्। वाशब्दश्चार्थे। यदि वा यथा च दुःखं मम प्रतिकूलमनिष्टं तथा सर्वप्राणिनामनिष्टं प्रतिकूलमित्येवं स्वौपम्येन सुखदुःखे चानुकूलप्रतिकूले तुल्यतया सर्वभूतेषु समं पश्यति, न कस्यचित्प्रतिकूलमाचरति, अहिंसक इत्यर्थः। एवमहिंसकः सम्यग्दर्शननिष्ठः स योगी परम उत्कृष्टो मतोऽभिमतः; चिन्तित इत्यर्थः ॥ ३२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—एवं शुद्धतत्पदार्थज्ञानमुक्त्वा वाक्यार्थज्ञानं दर्शयति— **सर्वभूतस्थित**मिति। सर्वभूतेष्वधिष्ठानतया स्थितं मामीश्वरं तत्पदलक्ष्यं त्वम्पदलक्ष्येणैकत्वमास्थितो यो भजति 'अहं ब्रह्मास्मि' इति प्रतिपद्यते, स योगी मयि नित्यमुक्तस्वरूपे वर्तते जीवन्मुक्तः कृतकृत्यो भवति। न तस्मिन्विधिनिषेधशास्त्रं प्रभवतीत्याह— **सर्वथा वर्तमानो**ऽपीति। लोकानुग्रहार्थं कर्म कुर्वन्नकुर्वन्नन्यथा कुर्वन्वा न हीयते; यदाह— 'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः' इति ॥ ३१ ॥ एवमुत्पन्नतत्त्वज्ञानो योगी द्विविधः- परमोऽपरमश्चेति। तत्र परमं योगिनं दर्शयति— **आत्मौपम्येने**ति। तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणां युगपदभ्यासात् दृष्टदुःखनिवृत्तिपूर्वकजीवन्मुक्तिसुखमनुभवन् प्रारब्धवशात् समाधेर्व्युत्थाने आत्मौपम्येन आत्मदृष्टान्तेन सर्वत्र प्राणिजाते सुखं वा यदि वा दुःखं समं यः पश्यति, स्वस्यानिष्टं यथा न सम्पादयति तथा परस्यापि द्वेषशून्यत्वात्; एवं स्वस्येव परस्यापीष्टं यः सम्पादयति, रागशून्यत्वात्। स योगी परमो मतः। अर्थादेतदन्यो योगी केवलतत्त्वज्ञानमात्रवान् मनोनाशवासनाक्षयरहितो जीवन्मुक्तिसुखमजानन् विक्षिप्तचित्ततया दृष्टदुःखमनुभवन् देहपाते कैवल्यभाग्यपरम इत्युक्तं भवति। तस्मात्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाणामभ्यासोऽवश्यं विधेय इत्यभिप्रायः। तदभ्यासप्रकारस्तु वासिष्ठजीवन्मुक्तिप्रकरणादिषु प्रपञ्चितः सङ्ग्रहेण प्रदर्श्यते—'इदं सर्वं द्वैतजातमद्वितीयचिदानन्दाद्वयात्मनि कल्पितम्,आत्मैवैकः परमार्थः, स एवाहम्' इति ज्ञानं तत्त्वज्ञानम्। प्रदीपज्वालासन्तानवद्वृत्तिसन्तानरूपेण निरन्तरं परिणममानस्य मनसो वृत्तिरूपपरिणामत्यागेन निरोधाकारपरिणामो मनोनाशः पूर्वापरपरामर्शं विना सहसोत्पद्यमानस्य क्रोधादिवृत्तिविशेषस्य हेतुश्चित्तगतः संस्कारो वासना, पूर्वपूर्वाभ्यासेन चित्ते वास्यमानत्वात्; तस्य क्षयो नाम विवेकजन्यचित्तप्रशमवासनादार्ढ्येन बाह्यनिमित्ते सत्यपि क्रोधाद्यनुत्पत्तिः। एते च तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयाः परस्परं कार्यकारणभावापन्नाः। तथाहि— तत्त्वज्ञाने सति मिथ्याभूते जगति शशशृङ्गादाविव प्रयोजनाभावेन धीवृत्त्यनुदयान्निरिन्धनाग्निरिव मनो नश्यति। नष्टे च मनसि संस्कारोद्बोधकस्य बाह्यनिमित्तस्याप्रतीतौ वासना क्षीयते। क्षीणायां च वासनायां हेत्वभावेन क्रोधादिवृत्त्यनुदयान्मनो नश्यति। नष्टे च मनसि शमदमादिसम्पत्त्या ज्ञानमुदेति। एवमुत्पन्ने तत्त्वज्ञाने रागद्वेषादिरूपवासना क्षीयते। क्षीणायां च वासनायां प्रतिबन्धाभावात्तत्त्वज्ञानोदय इति परस्परं कार्यकारणभावो ज्ञेयः। अत एते त्रयोऽपि युगपदभ्यस्ता एव फलदाः, न त्वेकैकशोऽभ्यस्ताः, शाकसूपौदनानां मिलितानामेव भोजननिर्वाहकत्ववन्मिलितानामेवैषां फलनिर्वाहकत्वात्। स चाभ्यासश्चिरमनुष्ठेयः, 'जन्मान्तरशताभ्यस्ता राम ! संसारसन्ततिः। सा चिराभ्यासयोगेन न विना क्षीयते क्वचित्' इत्युक्तेः। अत्र चाभ्यासे प्रयोजनानुसारेण गुणप्रधानभावोऽस्ति। मुमुक्षोर्हि पुरुषस्य विदेहमुक्तिर्जीवन्मुक्तिरिति द्वे प्रयोजने। तत्र विदेहमुक्त्यर्थिनस्तत्त्वज्ञानं प्रधानं, मनोनाशवासनाक्षयावुपसर्जनम्; जीवन्मुक्त्यर्थिनस्तु मनोनाशवासनाक्षयौ प्रधानं, तत्त्वज्ञानमुपसर्जनमिति विवेकः। तत्र तत्त्वज्ञानस्य श्रवणमनननिदिध्यासनान्युपायः प्रसिद्धः। मनोनाशस्य तु योगाभ्यासः, स तु निरूपितः। वासनाक्षयस्य तु प्रतिकूलवासनोत्पादनम्। द्विविधा हि वासना—मलिना शुद्धा चेति। मलिनाऽपि द्वेधा बाह्याभ्यन्तरभेदात्। बाह्यविषयिका बाह्या, सा च लोकशास्त्रदेहवासनादिभेदाद्बहुविधा। आभ्यन्तरा तु कामक्रोधाद्यासुरसम्पद्रूपा मानसी। शुद्धवासना तु दैवी सम्पत्तिः। तत्र शुद्धवासनया मलिनवासना क्षपणीया। विस्तरस्त्वाकरे द्रष्टव्यः। तदेतदभिप्रेत्य स योगी परमो मत इत्युक्तम् ॥ ३२ ॥

९ व० त० दी०— यश्चैवमेकत्वमास्थितोऽपि मां वासुदेवं भजति सेवते मत्प्रवणं चेतः करोति, स योगी मयि मदाधारो भवति। मत्किङ्करः शुक इव उद्धव इव भवतीत्यर्थः। 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति वाक्यात् ॥ ३१ ॥ अतः स एवंविधो योगी परमो मत इत्याह—आत्मौपम्येनेति। स्वसादृश्येन सर्वत्र समं दुःखादिकं पश्यन् भवति स परमो योगी मतः ॥ ३२ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च यः सर्वभूतस्थितं सर्वजीवेषु रसभोगार्थं वाऽलौकिकेषु निरोधार्थं स्थितं एकत्वं भगवदीयत्वेन सजातीयत्वमास्थितं मां भजति, स योगी उच्यते। अथवा सर्वथा तेषु दास्यादिभावशिक्षणार्थं वर्त्तमानो यः स मयि च वर्तते मत्स्वरूपे तिष्ठतीत्यर्थः॥३१॥ननु सर्वत्र कथमेकात्मत्वेन वर्तते? इत्यत आह—आत्मौपम्येनेति। आत्मौपम्येन स्वसादृश्येन यथा स्वस्य कृपया संयोगरसाप्तौ सुखं वियोगरसाप्तौ दुःखं तथा सर्वत्र सर्वजीवेषु सुखं यदि वा दुःखं समं यः पश्यति स योगी मम परम उत्कृष्टो मतोऽभिमत इत्यर्थः। अत्रायं भावः— योऽलौकिकसुखदुःखाभिनिविष्टेष्वपि जीवेषु यथा स्वस्य तदंशलेशज्ञानेन सुखदुःखरसानुभवो भवति तथैव सर्वेषामप्यस्ति एवं यस्य सर्वत्रालौकिकस्फूर्तिः स्यात्, स उत्तम इति भावः॥३२॥

११ नी० भा० दी०— यस्मात्सर्वात्मैकत्वदर्शी अहमेवातो नास्य मोक्षः प्रतिबध्यत इत्याह— सर्वभूतेति। सर्वोपादानतया सर्वेषु भूतेषु सत्तारूपेण स्फुरणरूपेण च स्थितं मां परमात्मानमेकत्वं जीवब्रह्मणोरैक्यमास्थितः सन् भजति, निर्विकल्पेन समाधिना सेवते, स योगी व्युत्थानदशायां प्रारब्धकर्मवशात् बाधितानुवृत्त्या देहमारूढः सर्वथा सर्वप्रकारेण याज्ञवल्क्यादिवत्कर्मत्यागेन वा, वसिष्ठजनकादिवद्विहितकर्मणा वा दत्तात्रेयादिवन्निषिद्धकर्मणा वा वर्तमानोऽपि व्यवहरन्नपि मय्येव वर्त्तते, न मत्तश्च्युतो भवति। यतो "देवेभ्योऽपि नास्य भयम्' इति श्रूयते; "तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशत आत्मा ह्येषां स भवति" [ बृ. उ. १।४।१० ] इति च। नेत्यव्ययमप्यर्थे, देवा अपि तस्य ब्रह्मविदः अभूत्यै अनैश्वर्याय न ईशते न समर्था भवन्ति, यतोऽयमेषामात्मेति श्रुत्यर्थः। स न पुनः संसारी पूर्ववद्भवतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥ यद्यपि निषिद्धकर्मणाऽप्यात्मविन्न बध्यते, तथापि शीलवानेव योगी श्रेष्ठ इत्याह— आत्मौपम्येनेति। यथा स्वस्य सुखमिष्टं दुःखमनिष्टं तद्वत्परस्यापीति बुद्ध्या योऽन्यस्मै दुःखं न प्रयच्छति; सोऽहिंसकः परमयोगी मत इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

भगवतोक्तयोगं चित्तचाञ्चल्याद्दुस्साध्यं मन्यमानस्यार्जुनस्योपायान्तरबुभुत्सया प्रश्नः।

**अर्जुन उवाच—योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन! ।**
**एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ॥ ३३ ॥**
**चञ्चलं हि मनः कृष्ण! प्रमाथि बलवद्दृढम् ।**
**तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥ ३४ ॥**

**१ शां. भा.**— एतस्य यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनलक्षणस्य योगस्य दुःखसम्पाद्यतामालक्ष्य शुश्रूषुर्ध्रुवं तत्प्राप्त्युपायं अर्जुन उवाच— य इति। योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन समत्वेन हे मधुसूदन! एतस्य योगस्याहं न पश्यामि नोपलभे चञ्चलत्वान्मनसः-किं? स्थिरामचलां स्थितिम् ॥ ३३ ॥ प्रसिद्धमेतत्— चञ्चलमिति। चञ्चलं हि मनः कृष्ण!। कृष्णोते कृषतेर्विलेखनार्थस्य रूपम्। भक्तजनपापादिदोषाकर्षणात्कृष्णः,तस्य सम्बुद्धिः हे कृष्ण!। हि यस्मान्मनश्चञ्चलं; न केवलमत्यर्थं चञ्चलं, प्रमाथि च प्रमथनशीलं, प्रमथ्नाति शरीरमिन्द्रियाणि च विक्षिपति परवशीकरोति। किञ्च बलवत् न केनचिन्नियन्तुं शक्यम्, दुर्निवारत्वात्। किञ्च दृढं तन्तुनागवदच्छेद्यं, तस्यैवम्भूतस्य

१ योऽयमिति परोक्षप्रत्यक्षवाचकाभ्यामेवं सूच्यते— भगवदभिहितानन्तरोपायपरम्परया स्फुटमपि प्रत्यक्षनिर्दिष्टमपि ब्रह्म, मनसश्चाञ्चल्यदौरात्म्यात्सुदूरीक्रियत इति—इत्यभिनवगुप्तपादाः। साम्येन योगः सर्वत्रात्मनः समत्वदर्शनलक्षणयोगः, योऽयमनुपदमेव 'सर्वभूतस्थमात्मानं' (६।२९) इत्यादिनोक्त इत्यर्थः। 'साम्यबुद्ध्या प्राप्यो योगः कर्मयोगः' इति नव्याः। तन्न, अत्र चित्तस्थैर्यस्यैव प्रकृतत्वात्, साम्यशब्दस्य समत्वबुद्ध्येति व्याख्याने मानाभावाच्च। —अविगीता।

मनसोऽहं निग्रहं निरोधं मन्ये वायोरिव । यथा वायोर्दुष्करो निग्रहस्ततोऽपि मनसो दुष्करं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

२ आ. शां. व्या.—मनश्चञ्चलमस्थिरमित्युपश्रुत्य निर्विशेषे चित्तस्थैर्यं दुःशकमिति मन्वानस्तदुपायबुभुत्सया पृच्छतीति प्रश्नमुत्थापयति— **एतस्येति** । तत्प्राप्त्युपायं शुश्रूषुरिति सम्बन्धः । मनसश्चञ्चलत्वेऽपि तन्निग्रहद्वारा योगस्थैर्यं सम्पाद्यतामित्याशङ्क्याऽऽह **प्रसिद्धमिति** ॥ ३३ ॥ कृष्णपदपरिनिष्पत्तिप्रकारं सूचयति— **कृष्णेतीति** । कथं कर्षकत्वमाप्तकामस्य भगवतः सम्भवति ? इत्याशङ्क्याऽऽह **भक्तेति** । ऐहिकामुष्मिकसर्वसम्पदामाकर्षणशीलत्वाच्चेति द्रष्टव्यम् । प्रमथ्नाति क्षोभयति । तदेव क्षोभकत्वं प्रकटयति— **विक्षिपतीति** । दुर्निवारत्वमभिप्रेताद्विषयादाकष्टुमशक्यत्वं विशेषणान्तरमाह— **किञ्चेति** । अच्छेद्यत्वं विशेषणान्तरमाह— **किञ्च दृढमिति** । तन्तुनागो वरुणपाशशब्दितो जलचारी पदार्थोऽत्यन्तदृढतया छेत्तुमशक्यत्वेन प्रसिद्धो विवक्षितः । वायोरिवेत्युक्तं व्यनक्ति— **यथेति** ॥ ३४ ॥

**३ रा. भा.**—योऽयं देवमनुष्यादिभेदेन इति जीवेश्वरभेदेन चात्यन्तभिन्नतयैतावन्तं कालमनुभूतेषु सर्वेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया परस्परसाम्येन अकर्मवश्यतया च ईश्वरसाम्येन सर्वत्र समदर्शनरूपो योगस्त्वया प्रोक्तः, एतस्य योगस्य स्थिरां स्थितिं न पश्यामि, मनसश्चञ्चलत्वात् । तथा ह्यनवरताभ्यस्तविषयेष्वपि स्वत एव चञ्चलं पुरुषेणैकत्रावस्थापयितुमशक्यं मनः पुरुषं बलात्प्रमथ्य दृढमन्यत्र चरति; तस्य स्वाभ्यस्तविषयेष्वपि चञ्चलस्वभावस्य मनसस्तद्विपरीताकारात्मनि स्थापयितुं निग्रहं प्रतिकूलगतेर्महावातस्य व्यजनादिनेव सुदुष्करमहं मन्ये । मनोनिग्रहोपायो वक्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं ज्ञानैकाकारतया निर्दोषतया ब्रह्मतद्गुणसम्बन्धेनेतरासम्बन्धेन च साम्यं श्लोकचतुष्टयेनोक्तम्, अत्र श्लोकद्वयेन साम्यानुसन्धानोक्तिस्तृतीयचतुर्थश्लोकाभ्यां तु दृढतरदृढतमसाम्यानुसन्धानफलपर्वद्वयोक्तिरित्येके । योगाभ्यासविधिश्चतुर्धा योगी चोक्तः । अथ प्रागुक्तमेव योगसाधनं विशदं ज्ञातुं पुनरर्जुन उवाच— **'योऽयमिति** । **देवे**त्यारभ्य **अनुभूते**ष्वित्यन्तमनाद्युपचितसुदृढविपरीतवासनया साम्यानुसन्धानस्याशक्यत्वप्रदर्शनार्थम् । परस्परवैषम्यं **देवमनुष्यादिभेदेनेति** । जीवेश्वरभेदेन कर्मवश्यत्वाकर्मवश्यत्वादिभेदेनेत्यर्थः । **अत्यन्तभिन्नतयेति**— नह्यत्र खण्डमुण्डादिवत् भेदकधर्ममात्रं; किन्तु विरुद्धस्वभावत्वमेव हि दृश्यत इति भावः । **एतावन्तं कालमिति** । 'कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे' [अष्टा. २।३।५] द्वितीया । **अकर्मवश्यतया चेश्वरसाम्येनेति**,चःसाम्यद्वयसमुच्चयार्थः। अकर्मवश्यतया चेश्वरसाम्येन चेति कश्चित्पाठः । तदा पूर्वश्चकार ईश्वरसाम्येऽपि ज्ञानैकाकारत्वसङ्ग्रहार्थः । द्वितीयस्तु पूर्ववत् । ज्ञानपुरुषार्थवैषम्ययोः कर्मवैषम्यफलत्वात् अकर्मवश्यतयेत्यनेनैव तयोरपि निवृत्तिसङ्ग्रहः फलित इति तयोरनुपादानम् । **त्वया प्रोक्तः** स्वतः सर्वज्ञेन त्वयैव ह्येतदनुसन्धातुं प्रवक्तुं च शक्यमिति भावः । 'अहं न पश्यामि' इति अनादिभेदानुसन्धानवानजितचित्तश्चाहं न पश्यामीति भावः । **स्थिरां स्थितिं** चिरानुवृत्तिमित्यर्थः । ' मधुसूदन ! ' रजस्तमोमयप्रबलविरोधिनिरसनशीलस्त्वमेव मनोनिग्रहोपायमुपदिशेति भावः । 'चञ्चलं हि मनः' इत्युत्तरवाक्यानुसन्धानेन **मनस** इत्यध्याहृतम् ।

हीति निपातस्य यादवप्रकाशोक्तादचिद्विशेषणार्थत्वादपि स्फुटमुचितं चात्र हेत्वर्थत्वमाह— **तथा हीति** । हेतुभूतं च चलत्वं सम्प्रतिपन्नस्थले प्रदर्शनीयम्। अतश्चलस्वभावत्वमत्र चञ्चलशब्दार्थ इति दर्शयितुं **अनवरते**त्यादिकम् । चञ्चलत्वफलमाह— **पुरुषेणेति** । प्रमाथि प्रमथनशीलम् । **प्रमथ्य** व्याकुलीकृत्येत्यर्थः । बलवच्छब्दः प्रमथनक्रियाविशेषणं वा बलवत्त्वात्प्रमाथीति हेतुपरो वेत्यभिप्रायेण **बलात्प्रमथ्ये**त्युक्तम् । वैपरीत्ये दार्ढ्यमित्याह **दृढमन्यत्रेति** । 'तस्य' इति परामर्शाभिप्रेतमाह **स्वाभ्यस्तेति** । **तद्विपरीताकारे**ति अनभ्यस्तपूर्व इत्यर्थः । **स्थापयितुं** स्थापनार्थम् । दार्ष्टान्तिके मनसि प्रदर्शितस्य चञ्चलत्वादेः दृष्टान्ते विवक्षितत्वप्रदर्शनाय **प्रतिकूले**त्यादिकमुक्तम् । मनोनिग्रहोपायदुर्बलत्वज्ञापनाय वायोर्मन्दैर्निग्रहासम्भावनार्थं च **व्यजनादिनेवे**त्युक्तम् । एवं दुष्करत्ववचनं न प्रतिक्षेपार्थम् । किन्तूपायपरिप्रश्नार्थमित्याह **मन** इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— एतस्य योगस्य स्थिरां स्थितिं न पश्यामि; मनसश्चञ्चलत्वात् ॥ ३३ ॥ उक्तं च— 'मनसश्चञ्चलत्वाद्धि स्थितिर्योगस्य वै स्थिरा । विनाऽभ्यासान्न शक्या स्याद्वैराग्याद्वा न संशयः' इति व्यासयोगे ॥ ३४ ॥

६ ज. प्र. दी.—साम्यस्य योगस्य च प्रकृतत्वात् एतस्येति कस्य परामर्शः ? इति न ज्ञायते, अतस्तत्प्रदर्शनाय व्यवहितानां पदानामन्वयमाह—एतस्येति। योगस्य प्राधान्येन साम्यस्य तु तृतीययाऽप्राधान्येन प्रकृतत्वादिति भावः। चञ्चलत्वादित्यस्यान्यो धर्मी न प्रतीयतेऽतो योग एव सम्बध्यते। तथा च साध्याविशिष्टतेत्यत आह—मनस इति। एतच्चोत्तरवाक्यादवगम्यत इति भावः ॥ ३३ ॥ अत्रागमं चाह—उक्तं चेति। एतेन 'असंशयं' [ ६।३५ ] इति परिहारवाक्यमपि व्याख्यातम् ॥ ३४ ॥

**७ ह. पै. भा.—सर्वयोगिनामेतस्य यथोक्तस्य समदर्शनलक्षणस्य योगस्य दुस्सम्पादतामालक्ष्य शुश्रूषुस्तत्प्राप्त्युपायमर्जुन उवाच—योऽयमिति। योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन, एतस्य योगस्याहं न पश्यामि नोपलभे चञ्चलत्वान्मनसः स्थितिं स्थिरामचञ्चलाम् ॥ ३३ ॥ प्रसिद्धमेतत्—चञ्चलमिति। कृष्णेति कर्षतेर्विलेखनार्थस्य। योगिभक्तजनपापादिदोषकर्षणात्कृष्ण। न केवलमत्यर्थं चञ्चलं मनः, प्रमाथि च प्रमथनशीलं प्रमथ्नाति शरीरमिन्द्रियाणि च विक्षिपति नरं वशीकरोति। किञ्च बलवन्न केनाचिन्नियन्तुं शक्यम्। किञ्च दृढं तन्तुनागवत्। तस्यैवम्भूतस्य मनसोऽहं निग्रहं निरोधं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्। यथा वायोर्दुष्करो निग्रहस्तथा दुष्करं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तमेनमुपदिष्टं योगमाक्षिपन्नर्जुन उवाच—योऽयमिति। हे मधुसूदन ! साम्येन मनसो लयविक्षेपशून्यत्वेनात्मैकाकारतयाऽवस्थानरूपेण योऽयं त्वया योगः प्रोक्तः, एतस्य योगस्य स्थिरां दीर्घकालावस्थायिनीं स्थितिं विद्यमानतां न पश्यामि न सम्भावयामि। कस्मात् ? मनसश्चञ्चलत्वात् ॥ ३३ ॥ एतदेवोपपादयति—चञ्चलमिति। मनोनिग्रहो हि योगः। स त्वत्यन्तासम्भावित एव। तथा हि— न तावन्मनसः स्वतो निग्रहः सम्भवति, हि यस्मात् चञ्चलं स्वभावचपलम्; नापि परतः। परोऽपि हि किं देहेन्द्रियादिः किंवा आत्मा ? नाद्यः, यतः प्रमाथि देहेन्द्रियाणि प्रमथितुं क्षोभयितुं शीलमस्येति प्रमाथि; अतो न देहेन्द्रियनिग्राह्यं मनः। नान्त्यः, यतो बलवत् आत्मापेक्षयाऽपि बलिष्ठम्; निर्विकारमात्मानं विकारीकृत्य पशुमिव नासिकाप्रोतमितस्ततः समाकर्षतो मनस एवात्मापेक्षया बलिष्ठत्वात्; अत एव श्रुतिः— "समानः सन्नुभौ लोकावनुसञ्चरति ध्यायतीव लेलायतीव" [ बृ. उ. ४।३।७ ] इति। ततो नात्मनाऽपि निग्राह्यमित्यर्थः। ननु स्वतः परतो वाऽपि दुर्निग्रहस्य मनसो मत्तवनगजस्येव मदापायात्कालेन निग्रहो भविष्यति; नेत्याह— दृढमिति। प्रतिक्षणप्रवर्धमानविषयवासनासहस्रानुविद्धतयोपचीयमानमनेककोटिजन्मभिरपि न कृशं भवतीत्यर्थः। अतो महाकाशे दोधूयमानस्य वायोश्चेलाञ्चल इव मनसोऽपि निग्रहं निरोधनं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यं मन्ये ॥ ३४ ॥

९ व० त० दी०—उक्तलक्षणयोगस्यासम्भवं मन्वानोऽर्जुन उवाच द्वाभ्यां—योऽयं योग इति। निरोधः चित्तस्य येन साम्येनोक्तः तदेव दुष्करतरं, यतः चञ्चलं मन इति। हीत्याग्नीध्रसौभरिप्रभृतीनां तथानाशस्य दृष्टत्वात् प्रसिद्धिरुक्ता। यथाऽऽकाशे दोधूयमानस्य वायोर्घटादिषु निरोधो दुष्करस्तद्वत् ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

१० पु. अ. त.—उक्तभावसिद्ध्यर्थं साधनमर्जुनः पृच्छति— अर्जुन उवाच योऽयं योग इति। हे मधुसूदन दुष्टनिराकरणसमर्थ ! अयं योगस्त्वया साम्येन सुखदुःखसाम्येन स्वसाम्येन सर्वेषु प्रोक्तः। एतस्य योगस्याऽहं अभिमानयुक्तत्वान्मनसश्चञ्चलत्वात् स्थितिं स्थिरां निश्चलां न पश्यामि ॥ ३३ ॥

मनसश्चाञ्चल्यमेवाह—चञ्चलं हीति। हे कृष्ण सदानन्द ! मनो हीति निश्चयेन, चञ्चलं स्वभावत एव चपलम्, अन्यथा सदानन्दोक्तौ कथं पुनः प्रश्नार्थमहमुद्युक्तः ? इति कृष्णेति सम्बोधनेन ज्ञापितम्। किञ्च प्रमाथि प्रकर्षेण मथनशीलं इन्द्रियक्षोभकम्। किञ्च बलवत्, अतिप्रबलं ज्ञानादिवचनासाध्यम्। किञ्च दृढं स्वविषयानुरागाऽत्यागस्वभावम्। तस्य मनसो निग्रहं वशीकरणं आकाशे दोधूयमानस्य स्वसुखार्थं तापनिवारणाय गृहादिषु वायोरिव निरोधनं सुदुष्करं सर्वथा कर्तुमशक्यमहं मन्ये। यद्वा वायोः प्राणवायोर्गच्छतो निरोधमशक्यं मन्य इति भावः ॥ ३४ ॥

११ नी० भा० दी०— साम्ययोगमशक्यं मन्वान उपायान्तरबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच— योऽयमिति। योऽयं योगस्त्वया साम्येन प्रोक्तोऽहिंसाप्राधान्येन सन्न्यासपूर्वकतया वर्णितः हे मधुसूदन ! तस्य योगस्य सर्ववृत्तिनिरोधरूपस्य स्थिरां स्थितिं न पश्यामि; मनसश्चञ्चलत्वादिति शेषः ॥ ३३ ॥ एतदेवोपपादयति— चञ्चलं हीति। प्रमाथि बहुदस्युवदेकस्य प्रमथनशीलम् ॥ ३४ ॥

मनोनिग्रहोपायपूर्विका योगसिद्धेः शक्यता।

**श्रीभगवानुवाच—असंशयं महाबाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।**
**अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥ ३५ ॥**

**असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।**
**वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः॥ ३६॥**

**१ शां. भा.— श्रीभगवानुवाच—एवमेतद्यथा ब्रवीषि—असंशयमिति। असंशयं नास्ति संशयः 'मनो दुर्निग्रहं चलं' इत्यत्र हे महाबाहो!। किन्त्वभ्यासेन तु—अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्याञ्चित्समानप्रत्ययावृत्तिश्चित्तस्य। वैराग्येण, वैराग्यं नाम दृष्टादृष्टेष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासाद्वैतृष्ण्यं; तेन च वैराग्येण गृह्यते विक्षेपरूपः प्रचारश्चित्तस्य, एवं तन्मनो गृह्यते निगृह्यते, निरुध्यत इत्यर्थः॥ ३५॥ यः पुनरसंयतात्मा, तेन—असंयतात्मनाऽभ्यासवैराग्याभ्यामसंयत आत्माऽन्तःकरणं यस्य सोऽयमसंयतात्मा, तेनासंयतात्मना योगो दुष्प्रापो दुःखेन प्राप्यत इति मे मतिः। यस्तु पुनर्वश्यात्माऽभ्यासवैराग्याभ्यां वश्यत्वमापादित आत्मा मनो यस्य सोऽयं वश्यात्मा, तेन वश्यात्मना तु यतता भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता शक्योऽवाप्तुं योगः, उपायतो यथोक्तादुपायात्॥ ३६॥**

२ आ. शां. व्या.—प्रश्नमङ्गीकृत्य प्रतिवचनमुत्थापयति—**श्रीभगवानि**ति। कुत्र संशयराहित्यं? तत्राऽऽह—**मन** इति। कथं तर्हि मनोनिरोधो भवति? तत्राऽऽह—**किन्त्वि**ति। अभ्यासस्वरूपं सामान्येन निदर्शयति—**अभ्यासो नामे**ति। कस्याञ्चिच्चित्तभूमावित्यविशेषितो ध्येयो विषयो निर्दिश्यते, समानप्रत्ययावृत्तिर्विजातीयप्रत्ययानन्तरितेति शेषः, चित्तस्येति षष्ठी प्रत्ययस्य तद्विकारत्वद्योतनार्था। वैराग्यस्वरूपं निरूपयति—**वैराग्यमि**ति। तेषु वैतृष्ण्यं वैराग्यं नामेति सम्बन्धः। तत्र हेतुं सूचयति—**दोषे**ति। विषयेषु तृष्णाविषयेषु दोषदर्शनमभ्यस्यते तेन वैतृष्ण्यं जायते। निगृह्यमाणं निर्दिशति—**विक्षेपे**ति। तस्मिन्गृहीते निरुद्धे मनोनिरोधेऽस्य किं स्यात्? इत्यपेक्षायामाह **एवमि**ति। अभ्यासहेतुकवैराग्यद्वारा चित्तप्रचारनिरोधे निरुद्धवृत्तिकं मनो विषयविमुखमन्तर्निष्ठं भवतीत्यर्थः॥ ३५॥ संयतात्मनो योगप्राप्तिः सुलभेत्युक्त्वा व्यतिरेकं दर्शयति—**यः पुनरि**ति। व्यतिरेकोपन्यासपरं पूर्वार्धमनूद्य व्याकरोति—**असंयते**ति। पूर्वोक्तान्वयव्याख्यानपरमुत्तरार्धं व्याचष्टे—**यस्त्वि**त्यादिना। अन्तःकरणस्य स्ववशत्वे सिद्धेऽपि वैराग्यादावास्थावता भवितव्यमित्याह—**यतते**ति। उपायो वैराग्यादिपूर्वको मनोनिरोधः॥ ३६॥

**३ रा. भा.— असंशयमिति। चलस्वभावतया मनो दुर्निग्रहमेवेत्यत्र न संशयः, तथाप्यात्मनो गुणाकरत्वाभ्यासजनिताभिमुख्येनात्मव्यतिरिक्तेषु विषयेष्वपि दोषाकरत्वदर्शनजनितवैतृष्ण्येन च कथञ्चिद्गृह्यते; असंयतात्मना अजितमनसा महताऽपि बलेन योगो दुष्प्राप एव, उपायतस्तु वश्यात्मना पूर्वोक्तेन मदाराधनरूपेणान्तर्गतज्ञानेन कर्मणा जितमनसा यतमानेनायमेव समदर्शनरूपो योगोऽवाप्तुं शक्यः॥ ३५॥ ३६॥**

४ वे. ता. चं.—अथार्जुनेन कण्ठोक्तमनुवदन् बुभुत्सितमुपायं श्लोकद्वयेनाह भगवान्। तत्र 'दुर्निग्रहं' 'चलम्' इति पदद्वयमर्जुनोक्तप्रतिज्ञाहेत्वनुवादरूपमाह **चलस्वभावतये**ति। 'असंशयं' इत्येतत्सत्यमितिवदर्धाङ्गीकारपरम्। तुशब्दाभिप्रेतं विशेषं दर्शयति **तथापी**ति। अनुकूलतयाऽभ्यासो हि तत्र प्रावण्यहेतुः स्यादित्यभ्यासविशेषं तत्फलं च व्यनक्ति **आत्मन** इति। नित्यत्वज्ञानत्वानन्दत्वाकर्मवश्यत्वामलत्वादयोऽत्र गुणाः। कथञ्चिदित्यवधानार्थम्। एवं मनसो ग्रहणोपाय उक्तः; ततश्च 'एतस्याहं न पश्यामि' [ ६।३३ ] इत्युक्तमर्थं विषयविशेषे व्यवस्थापयति—**असंयत**—इति श्लोकेन। मनोनिग्रहप्रकरणत्वात् असंयतवश्यशब्दसमभिव्याहारसामर्थ्याच्चात्र आत्मशब्दो मनोविषयः। महाबाहुशब्दसम्बुद्धिसूचितमाह **महतापि बलेने**ति। 'उपायेन तु यच्छक्यं न तच्छक्यं पराक्रमैः' [ पं. तं. ] इति भावः। 'मे मतिः' इत्यनेन निस्सन्देहत्वं विवक्षितमित्याह **दुष्प्राप एवे**ति। **उपायतस्तु वश्यात्मने**ति व्याख्येयान्वयप्रदर्शनम्। तद्व्याख्यानं **पूर्वे**त्यादि। उक्तलक्षणं कर्ममात्रं मनोनिग्रहोपायः; अभ्यासवैराग्ये तु तस्यैवाङ्गतयोक्ते इति भावः; यतमानेन योगमभ्यस्यतेत्यर्थः॥ ३५॥ ३६॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ३५॥ न च कदाचित्स्वयमेव मनो नियम्यते। 'शुभेच्छारहितानां च द्वेषिणां च रमापतौ। नास्तिकानां च वै पुंसां तदा मुक्तिर्न युज्यते' इति निषेधाद्ब्राह्मे॥ ३६॥**

६ ज. प्र. दी.—संयतेति श्लोको व्यर्थ इव प्रतीयते तन्निवर्त्यामाशङ्कां सूचयन् तात्पर्यमाह—न चेति । यथा मत्तमातङ्गः स्वयमेव श्रान्तः शान्तो भवति तथा विषयैस्तुष्टं मनः कदाचित्स्वयमेव नियतं भवति, किमभ्यासादिना ? इत्येतन्नैवेत्यर्थः । कुतः ? इत्यत आह—शुभेति । सदेति पूर्वेण सम्बन्धः । अनेनात्र शुभेच्छादिकमप्युपलक्षितमिति सूचितम् । मुक्तिबीजत्वान्मनोनियमनस्य मुक्तिरित्युक्तम् ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

७ ह. पै. भा.—श्रीभगवानुवाच—असंशयमिति, असंशयं नास्ति संशयो मनो दुर्निग्रहं चलमित्यत्र । किन्त्वभ्यासेन, अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्याश्चित्समानप्रत्ययावृत्तिः । वैराग्यं दृष्टादृष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासाद्वैतृष्ण्यं तेन वैराग्येण च गृह्यते विक्षेपरूपप्रकारश्चित्तस्य । एवं तन्मनो गृह्यते निरुद्ध्यत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ यः पुनरसंयतात्मा तेन—अभ्यासवैराग्याभ्यामसंयतान्तःकरणोऽसंयतात्मा तेनासंयतात्मना योगो दुष्प्रापो दुःखसम्प्राप्य इति मे मतिः । यस्तु पुनर्वश्यात्मा तेन वश्यात्मनाऽभ्यासवैराग्याभ्यां वश्यत्वमुपपादित आत्मा मनो यस्य सोऽयं तेन वश्यात्मना तु यतता भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता शक्योऽवाप्तुं योगः, उपायतो यथोक्तादुपायात् ॥ ३६ ॥

८ वें. व्र. गि.— एनमाक्षेपं परिहरन् भगवानुवाच—असंशयमिति । सम्यग्ज्ञातं मनश्चेष्टितम्, मनो निग्रहीतुं शक्ष्यसीति सन्तोषेण सम्बोधयति—महाबाहो ! महान्तौ साक्षान्महादेवेन सर्वलोकेश्वरेश्वरेण सह कृताहवौ बाहू यस्येति निरतिशयमुत्कर्षं सूचयति । तत्र मनोनिग्रहं दुष्करं वदता वक्तव्यम्—किं चक्षुरादीनां तत्तद्गोलकमात्रोपरोधरूपो यथा हठेन निग्रहस्तथा मनसोऽपि हठनिग्रहो दुष्करः? इति; किंवा क्रमेण निग्रहो दुष्करः? इति। आद्यमङ्गीकरोति-असंशयमिति । चलं मनो दुर्निग्रहमित्यसंशयं नास्ति संशयोऽत्र, सत्यमेवैतद्ब्रवीषीत्यर्थः । अन्त्यस्त्वसम्भवीत्याह—अभ्यासेन त्विति । प्रत्यगात्माकारप्रत्ययावृत्तिरूपेणाभ्यासेन वैराग्येण च दृष्टादृष्टभोगेषु दोषदर्शनाभ्यासजन्यवैतृष्ण्यरूपेण मनो गृह्यते निगृह्यते ।

तदेतत्पतञ्जलिना सूत्रितम्—'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'[ पा. यो. १।१२]इति । यथा हि तीव्रवेगोपेतं नद्याः प्रवाहं सेतुबन्धेन निरुध्य कुल्याप्रणयनेन क्षेत्राभिमुखं तिर्यक्प्रवाहान्तरमुत्पाद्यते, तथा वैराग्येण चित्तनद्या विषयप्रवाहं निवार्य ध्यानाभ्यासेन प्रशान्तवाहिता सम्पाद्यत इति क्रमनिग्रहः सुकर इत्यर्थः । एवं च समाध्यभ्यासवैराग्ययोर्द्वारभेदात्समुच्चयः, व्रीहियवादिवदेकद्वारकत्वाभावादिति तत्सूचनाय वैराग्येण चेति चकारः । यद्वा वासिष्ठाद्युक्तानां मनोजयोपायान्तराणां समुच्चयार्थश्चकारः । तथा हि तत्रोक्तम्—'अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च । वासनायाः परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥ एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल। सतीषु युक्तिष्वेतासु हठान्नियमयन्ति ये । चेतस्ते दीपमुत्सृज्य विनिघ्नन्ति तमोऽञ्जनैः ' इति ।

तत्राध्यात्मविद्या तावद्दृश्यस्य मिथ्यात्वं दृग्वस्तुनश्च परमार्थसत्यपरमानन्दप्रकाशत्वं बोधयति । तथा च सति मनः स्वगोचरेषु दृश्येषु मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवति च परमार्थसत्यपरमानन्दरूपे दृग्वस्तुनि स्वप्रकाशत्वेन स्वागोचरत्वं बुद्ध्वा निरिन्धनाग्निवत्स्वयमेवोपशाम्यति । यस्तु बोधितमपि तत्त्वं न सम्यग्बुध्यते यो वा विस्मरति, तयोः साधुसङ्गम एवोपायः । साधवो हि पुनः पुनर्बोधयन्ति स्मारयन्ति च । यस्तु विद्यामदादिदुर्वासनया पीड्यमानो न साधूननुवर्तितुमुत्सहते, तस्य पूर्वोक्तविवेकवासनापरित्यागप्राणायामावुपायः । प्राणस्पन्दनवासनयोश्चित्तप्रेरकत्वेन तयोर्निरोधे चित्तशान्तिसम्भवात् । तदुक्तम्—'द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने । एकस्मिन्नेतयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः' इति ॥ ३५ ॥ अभ्यासवैराग्याभ्यां निगृह्यत इत्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रढयति—असंयतात्मनेति। अभ्यासवैराग्याभ्यामसंयत आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन योगश्चित्तवृत्तिनिरोधो दुष्प्रापः प्राप्तुमशक्य इति मे मतिः । वश्यो वशवर्ती आत्मा चित्तं यस्य तेन तु पुरुषेण यतता भूयोऽपि प्रयत्नं कुर्वता उपायत उक्तरूपादुपायात् योगोऽवाप्तुं शक्यः । असंयतात्मपदेन "यच्छेद्वाङ्मनसी" [कठो. ३।१३] इत्यादिश्रुत्युक्तपूर्वपूर्वभूमिदार्ढ्यराहित्यमुच्यते। वश्यात्मपदेन तत्साहित्यमिति विद्यारण्यस्वामिभिर्व्याख्यातम् ॥ ३६ ॥

९ व० त० दी०—एवं तदुक्तमङ्गीकृत्य तन्निग्रहोपायं श्रीभगवानुवाच—असंशयमिति । तथाप्यभ्यासवैराग्याभ्यां निग्रहो भवति ॥ ३५ ॥ एवं मनसो निरोधे साम्येन स योगो घटते, नान्यथेत्याह—असंयतात्मन इति । स्पष्टमेतत् ॥ ३६ ॥

१० पु. अ. त.—एवमर्जुनोक्तचञ्चलत्वादिकमङ्गीकृत्य तन्निग्रहसाधनमाह भगवान्—श्रीभगवानुवाच-असंशयमिति। हे महाबाहो क्रियाशक्तिसमर्थ ! मनो दुर्निग्रहं चञ्चलं यद्वदसि तदसंशयं निस्सन्दिग्धं तादृशमेवास्तु । तु पुनस्तथापि कौन्तेय मदुक्तिविश्वसनैकयोग्य भक्तपुत्र ! अभ्यासेन 'यतो यतो निश्चलति'[२६]इति पूर्वोक्तप्रकारेणाऽन्यत्र हीनत्वज्ञानपूर्वकमप्युत्तमज्ञानेन चाञ्चल्यानुसरणप्रकारेण गृह्यते । च पुनः । तथा ज्ञानेन मत्सम्बन्धातिरिक्तेषु वैराग्येण गृह्यते

वशीक्रियत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥ अथ यो मनश्चञ्चलमिति ज्ञात्वाऽभ्यासवैराग्ययोर्यत्ननिरपेक्षः, स नाप्नोतीत्याह— **असंयतात्मनेति** । असंयतात्मना उक्तप्रकारेणाभ्यासवैराग्याभ्यामसंयतः अवशीकृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य तेन योगो मत्संयोगात्मको दुष्प्रापः दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यः । वश्यात्मना तु अभ्यासवैराग्यवशीकृतयत्नेन यतता मत्संयोगार्थं यत्नं कुर्वता उपायतोऽवाप्तुं शक्य इति मे मतिः । अत्र स्वमतित्वकथनेन मदुक्तिविश्वासपूर्वकं यो यतेत, तस्याऽवश्यं मया संयोगः फलदानं कर्तुं मनोनिग्रहः करणीय इति व्यञ्जितम् ॥ ३६ ॥

११ नी० भा० दी०— मनसो दुर्ग्रहत्वमभ्युपेत्य भगवानुवाच— असंशयमिति । यद्यप्येवं तथाप्यभ्यासवैराग्याभ्यां समुच्चिताभ्यां दुर्निग्रहमपि मनो निगृह्यते । तत्र अभ्यासो नाम कस्याञ्चिच्चित्तभूमौ समानप्रत्ययावृत्तिः। वैराग्यं तु दृष्टादृष्टेष्टभोगेषु ससाधनेषु दोषदर्शनेन वैतृष्ण्यम् । तत्र यथा कैदारिकः केदारेषु कुल्याजलं सञ्चारयन्नेकस्य द्वारं पिधायापरस्योद्घाटयति, तद्वद्वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, अभ्यासेन कल्याणस्रोत उद्घाटयत इति द्वयोरप्यावश्यकत्वम् । तथा च सूत्रम्— '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**' [ पा. यो. १।१२ ] इति ॥ ३५ ॥ असंयतात्मना अजितचित्तेन, वश्यात्मना जितचित्तेन, उपायतोऽभ्यासवैराग्यरूपात् ॥ ३६ ॥

मनसो दुर्निग्रहत्वाद्योगासिद्धावन्तरायं पश्यतोऽर्जुनस्य प्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच— अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः ।***
**अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण ! गच्छति ॥ ३७ ॥**
**कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ।**
**अप्रतिष्ठो महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ॥ ३८ ॥**
**एतन्मे संशयं कृष्ण ! च्छेत्तुमर्हस्यशेषतः ।**
'एवं' इति रामानुजतत्त्वदीपिकाकारसम्मतः पाठः । 'एतं' 'एवं' इत्यप्यन्यत्र ।
**त्वदन्यः संशयस्यास्य च्छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३९ ॥**

**१ शां. भा.**— तत्र योगाभ्यासाङ्गीकरणेन परलोकेहलोकप्राप्तिनिमित्तानि कर्माणि सन्न्यस्तानि योगसिद्धिफलं च मोक्षसाधनं सम्यग्दर्शनं न प्राप्तम्, इति योगी योगमार्गान्मरणकाले चलितचित्त इति तस्य नाशमाशङ्क्यार्जुन उवाच— अयतिरप्रयत्नवान्योगमार्गे श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या चोपेतः, योगादन्तकालेऽपि चलितं मानसं मनो यस्य स चलितमानसो भ्रष्टस्मृतिः सोऽप्राप्य योगसंसिद्धिं योगफलं सम्यग्दर्शनं कां गतिं हे कृष्ण गच्छति ? ॥ ३७ ॥ कच्चिदिति । कच्चित्किं न, उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाद्योगमार्गाच्च विभ्रष्टः सञ्छिन्नाभ्रमिव नश्यति ? किं वा न नश्यति अप्रतिष्ठो निराश्रयो हे महाबाहो ! विमूढः सन्ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ? ॥ ३८ ॥ एतदिति । एतन्मे मम संशयं कृष्ण ! च्छेत्तुमपनेतुमर्हस्यशेषतः । त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः ऋषिर्देवो वा छेत्ता नाशयिता संशयस्यास्य न हि यस्मादुपपद्यते न सम्भवति, अतस्त्वमेव च्छेत्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— प्रश्नान्तमुत्थापयति— **तत्रे**त्यादिना । मनोनिरोधस्य दुःखसाध्यत्वमाशङ्क्य परिहृते सति प्रष्टा पुनरवकाशं प्रतिलभ्योवाचेति सम्बन्धः । लोकद्वयप्रापककर्मसम्भवे कुतो योगिनो नाशाशङ्का ? इत्याशङ्क्याह— **योगाभ्यासे**ति । तथापि योगानुष्ठानपरिपाकपरिप्रापितसम्यग्दर्शनसामर्थ्यात् मोक्षोपपत्तौ कुतस्तस्य नाशाशङ्का ? इति चेत् , मैवं; अनेका-

*— 'मानसः' एतदनन्तरं 'लिप्समानः सतां मार्गं प्रमूढो ब्रह्मणः पथि । अनेकचित्तो विभ्रान्तो (ऽविश्रान्तो) मोहस्यैव वशं गतः' ॥ इत्यधिकः श्लोकोऽभिनवगुप्तटीकाग्रन्थे ।

१ अत्र संपूर्वाच्छीङः 'एरच्' ( अष्टा. ३।३।५६ ) इत्यचि निष्पन्नः संशयशब्दः कुशेशयवत्क्लीबे द्रष्टव्यः । एतदिति द्वितीयान्तं स्वीकृत्य एतत् प्रति यो मे संशयः तमिति केचिद्व्याचक्षते । अन्ये तु 'एतं' इत्येव पठन्ति ।

न्तरायवत्त्वाद्योगस्येह जन्मनि प्रायेण संसिद्धेरसिद्धिरित्यभिसन्धायाऽऽह— **योगसिद्धी**ति । अभ्युदयनिःश्रेयसबहिर्भावो नाशो योगमार्गे तत्फलस्य सम्यग्दर्शनस्यादर्शनादिति शेषः । तर्हि ततो बहिर्मुखत्वमेवाऽऽत्यन्तिकं संवृत्तमित्याशङ्क्याऽऽह—**श्रद्धये**ति । तर्हि योगमार्गमाश्रयते? नेत्याह— **योगादि**ति । मरणकाले व्याकुलेन्द्रियस्य ज्ञानसाधनानुष्ठानावकाशाभावादुक्तं ततश्चलितमानसत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **भ्रष्टे**ति । गम्यत इति गतिः पुरुषार्थः, सामान्यप्रश्नमन्तर्भाव्य विशेषप्रश्नो द्रष्टव्यः ॥ ३७ ॥

प्रश्नमेव विवृणोति— **कच्चिदि**ति । प्रशस्तप्रश्नार्थत्वं कच्चिदित्यस्याङ्गीकृत्य व्याचष्टे— **किमि**ति । उभयविभ्रष्टत्वं स्पष्टयति— **कर्मे**त्यादिना । वायुना छिन्नं विशकलितमभ्रं यथा नश्यति तद्वदित्याह— **छिन्ने**ति । नाशाशङ्कानिमित्तमाह— **निराश्रय** इति । कर्ममार्गरूपावष्टम्भाभावेऽपि ज्ञानमार्गावष्टम्भस्तस्य भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **विमूढः सन्नि**ति । नहि कर्मिणं प्रतीयमाशङ्का, फलाभिलाषं त्यक्त्वेश्वरे समर्प्यासमर्प्य वा कर्माणि कुर्वतो निरुपचारेण तद्भ्रंशवचनासम्भवात् ; सर्वकर्मसंन्यासिनस्तु विहितानां त्यागाज्ज्ञानोपायाच्च विच्युतेरनर्थप्राप्तिशङ्का युक्तेति भावः ॥ ३८ ॥

यथोपदर्शितसंशयापाकरणार्थमर्जुनो भगवन्तं प्रेरयन्नाह— **एतदि**ति । मत्तोऽन्यः कश्चिदृषिर्वा देवो वा त्वदीयं संशयं छेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **त्वदन्य** इति । अन्यस्य संशयच्छेत्तुरभावे फलितमाह—**अत** इति ॥ ३९ ॥

**३ रा. भा.— अथ 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' [ २।४० ] इत्यादावेव श्रुतं योगमाहात्म्यं यथावच्छ्रोतुमर्जुनः पृच्छति । अन्तर्गतात्मज्ञानतया योगशिरस्कतया च हि कर्मयोगस्य माहात्म्यं तत्रोदितम्, तच्च योगमाहात्म्यमेव । श्रद्धया योगे प्रवृत्तो दृढतराभ्यासरूपयत्नवैकल्येन योगसंसिद्धिमप्राप्य योगाच्चलितमानसः कां गतिं गच्छति ? उभयविभ्रष्टोऽयं छिन्नाभ्रमिव कच्चिन्न नश्यति ? यथा मेघशकलः पूर्वस्मान्महतो मेघाच्छिन्नः परं बृहन्तं मेघमप्राप्य मध्ये विनष्टो भवति, तथैव कच्चिन्न नश्यति ? । कथमुभयविभ्रष्टता ? अप्रतिष्ठो विमूढो ब्रह्मणः पथीति, यथावस्थितं स्वर्गादिसाधनभूतकर्मफलाभिसन्धिरहितस्यास्य पुरुषस्य स्वफलसाधनत्वेन प्रतिष्ठा न भवतीत्यप्रतिष्ठः, प्रक्रान्ते ब्रह्मणः पथि विमूढः तस्मात्पथः प्रच्युतः, अत उभयविभ्रष्टतया किमयं नश्यत्येव ? उत न नश्यति ? तमेनं संशयमशेषतः छेत्तुमर्हसि, स्वतः प्रत्यक्षेण युगपत्सर्वं सर्वदा स्वत एव पश्यतस्त्वत्तोऽन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवं प्रागुक्तमेव योगसाधनं यथावच्छ्रुतम्, अथ प्रागुक्तमेव योगमाहात्म्यं श्रोतव्यं सर्वप्रकारान्वितं प्रपञ्चेन श्रोतुं पृच्छतीत्याह— **अथे**ति । योगमाहात्म्यशब्देन सङ्ग्रहश्लोकस्थयोगसिद्धिशब्दो व्याख्यातः । सिद्धिकारणं हि माहात्म्यम्; सिद्धिश्चात्र शिथिलस्यापि योगस्य चिरतरमनेकपुण्यलोकावाप्तिः पुनर्योगयोग्ययोगिकुलसम्भवः तद्द्वारा पुनर्योगपौष्कल्यं, ततश्चापवर्ग इत्येवंरूपा । एषा च सिद्धिः अनितरसाधारणेन माहात्म्येन । ननु 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' [ २।४० ] इत्यादौ कर्मयोगस्य माहात्म्यमुक्तम्; अत्र तु तत्फलभूतस्यात्मावलोकनरूपयोगस्य; अतः कथं श्रुतमित्युक्तम् ; तत्राह **अन्तर्गते**ति । ततः किमित्यत्राह **तच्चे**ति । योगाङ्कुरभूतात्मज्ञानगर्भतया पुष्कलयोगस्वरूपसाधनतया च हि कर्मयोगस्य माहात्म्यं तत्रोदितम्, ततश्च योगोपाधिके तदङ्गभूतकर्मयोगमाहात्म्येऽभिहिते अङ्गीभूतयोगमाहात्म्यमेवोक्तं भवतीति भावः । 'अयतिः'इत्यादिपदानामर्थौचित्यात् क्रमभेदेन अन्वयो दर्शितः । तत्र प्रवृत्तस्य हि ततश्चलितत्वं वाच्यम्, नतु तत्र श्रद्धोपेतमात्रस्येति; अतः श्रद्धया तत्कार्यलक्षणेत्यभिप्रायेण **योगे प्रवृत्त** इत्युक्तम् । उपेतशब्द एव चात्र श्रद्धाकृतयोगाधिगमपर इत्यभिप्रायः । **योगसंसिद्धिमप्राप्य** योगसिद्धेः पूर्वमेवेत्यर्थः । **योगाच्चलितमानसः** पुष्कलयोगं कर्तुमननुगुणचित्त इत्यर्थः । कामभोगमोक्षनिरयेषु कतमामित्यर्थः । 'कां गतिं गच्छति' इति सामान्यनिर्दिष्टमेव 'कच्चित्' इत्यादिना विवृतम् ।

दृष्टान्तेऽप्युभयभ्रष्टत्वप्रकारं दर्शयति **यथे**ति । उभयभ्रष्टताविवरणरूपत्वात् 'विमूढो ब्रह्मणः पथि' इत्येकस्याभिधानाच्च पारिशेष्यादप्रतिष्ठपदं सांसारिकफलसाधनकर्मभ्रंशाभिप्रायमित्याह **यथावस्थित**मिति । कर्मस्वरूपानुष्ठानप्रयासादौ न किञ्चिन्न्यूनम्, अभिसन्धिवैषम्यात्तु निष्फलं संवृत्तमित्यभिप्रायः । 'विमूढो ब्रह्मणः पथि' इति ब्रह्मपथे अज्ञानं न विवक्षितम्; ज्ञात्वोपक्रम्य निवृत्तं प्रति पृच्छ्यमानत्वात् । अतो विमोहकार्ययोगनिवृत्तिरत्र विमूढशब्देन लक्ष्यत इत्यभिप्रायेण **प्रक्रान्त** इत्यादि **प्रच्युत** इत्यन्तमुक्तम् । **ब्रह्मणः पथि** ब्रह्मप्राप्त्युपायभूते योग इत्यर्थः । 'एतं मे संशयम्' इति निर्दिश्यमानस्य संशयस्यार्थसिद्धं शिरोन्तरमाह **किमयं नश्यत्येवे**ति । अर्हसि सर्वज्ञत्वकारुणिकत्वप्रियसखत्वादियुक्तस्त्वं योग्योऽसीत्यर्थः ।

कृष्णशब्देन त्वच्छब्देन चाभिप्रेतमाह– **स्वत** इति । करणाधीनम्, अविशदानुमानादिप्रायं, क्रमभावि, कतिपयविषयं, कादाचित्कमपि हि त्वदन्येषां ज्ञानमिति भावः । एतेन 'यो वेत्ति युगपत्सर्वं प्रत्यक्षेण सदा स्वतः । तं प्रणम्य हरिं शास्त्रं न्यायतत्त्वं प्रचक्ष्महे' [ न्या. त. ] इति तु भगवन्नाथमुनिमिश्राणां वचनमनुसंहितम् । **न ह्युपपद्यत** इति युक्तिविरोधोऽभिप्रेतः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

५ आ. मा. भा.—अयतिरप्रयत्नः ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

६ ज. प्र. दी.—अचतुर्थाश्रमीति प्रतीतिनिरासायाह—अयतिरिति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥

७ ह. पै. भा.— तत्र योगाभ्यासाङ्गीकारेण परलोकेहलोकप्राप्तिनिमित्तानि कर्माणि सन्न्यस्तानि। योगस्य फलं च मोक्षसाधनं सम्यग्दर्शनं न प्राप्तमिति योगी योगमार्गान्मरणकाले चलितचित्त इति तस्य नाशमाशङ्क्याऽऽहार्जुनः-अयतिरिति। अप्रयत्नवान्योगमार्गे श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या चोपेतो योगादन्तकाले चलितं मानसं मनो यस्य स चलितमानसो नष्टस्मृतिरप्राप्य योगसंसिद्धिं योगफलं सम्यग्दर्शनं कां गतिं कृष्ण! गच्छति? ॥ ३७ ॥ कच्चिदुभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाद्योगमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव न नश्यति?। किञ्चाप्रतिष्ठो निराश्रयो हे महाबाहो! विमूढो ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ॥ ३८ ॥ एतन्मे संशयं कृष्ण! च्छेत्तुमर्हसि अशेषतः। त्वदन्यस्त्वत्तोऽन्यः ऋषिर्वा देवो वा छेत्ता नाशयिता संशयस्यास्य न हि यस्मादुपपद्यते, नास्तीत्यर्थः ॥ ३९ ॥

८ वें. ब्र. गि.—योगाभ्यासपरतया सर्वकर्माणि सन्न्यस्तवतो योगफलं च तत्त्वज्ञानमप्राप्नुवतः का गतिः? इति अर्जुन उवाच— अयतिरिति। नन्वयं प्रश्नः किं योगारुरुक्षुं प्रति, किंवा योगारूढं प्रति? नाद्यः; 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते' [ ६।३ ] इत्युक्तरीत्या तस्य कर्मित्वेन कर्मब्रह्मोभयभ्रष्टत्वपरस्योभयविभ्रष्टपदस्य तस्मिन्ननन्वयात्। नान्त्यः; योगारूढस्य सम्यग्दर्शित्वेन तस्मिन् 'अप्राप्य योगसंसिद्धिम्' इत्यस्यानुपपत्तेः। न च योगाभ्यासमारभ्य वैराग्यमान्द्यान्मध्ये विषयप्रवणं प्रत्ययं प्रश्न इति वाच्यम्; पापिष्ठे तस्मिन् 'नहि कल्याणकृत्कश्चित्' [ ६।४० ] इत्यस्यायोगात्।

न च 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति' [ २।४० ] इति प्रागुक्तं कर्मयोगमाहात्म्यं यथावच्छ्रोतुमर्जुनः पृच्छति' इति रामानुजव्याख्यानं युक्तम्; तस्मिन्पक्षे ज्ञानफलालाभेऽपि कर्मफललाभसम्भवेनोभयभ्रष्टत्वासम्भवात्। न च तस्य कर्मसत्त्वेऽपि स्वर्गादिफलाभिसन्धिरहितं तं प्रति तस्य फलजनकत्वाभावादुभयभ्रष्टत्वोक्तिर्युक्तेति वाच्यम्; फलाभिसन्धित्यागेनेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठितस्य कर्मणः फलार्थानुष्ठितादपि कर्मणोऽतिशयेनामुष्मिकसुखजनकत्वावश्यम्भावेन उभयभ्रष्टत्वस्य सुतरामसङ्गतेः। तस्मादत्र वक्तव्यं किंविषयकोऽयं प्रश्न इति। अत्रोच्यते— तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तविचारशून्यविषयकोऽयं प्रश्नः। तथा हि— 'स योगी परमो मतः' [ ६।३२ ] इति श्लोके उत्पन्नतत्त्वज्ञान उत्पन्नजीवन्मुक्तिः परमो योगी, उत्पन्नतत्त्वज्ञानोऽनुत्पन्नजीवन्मुक्तिरपरमो योगीति स्थितम्। तेन तयोरुभयोरपि जीवन्मुक्तिसदसद्भावमात्रभेदेऽपि ज्ञानेनाज्ञानविनाशाद्विदेहमुक्तिरविवादेति न तद्गतिविषये काऽप्याशङ्काऽस्ति। यस्तु नित्यानित्यविवेकादिक्रमेण विविदिषासन्न्यासी वेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनानि कुर्वन्मध्ये विपद्यते; स पुनर्ज्ञानपरिपाकशून्यत्वान्न मोक्षसुखमनुभवति, नापि स्वर्गादिकम्, सर्वकर्मसन्न्यासात्। अत एतादृशो योगभ्रष्टः कां गतिं गच्छतीति प्रश्नाभिप्रायः।

अक्षरार्थस्तु— श्रद्धया गुरुवेदान्तविश्वासेनोपेतः। श्रद्धापदं च स्वसमानाधिकरणशान्तिदान्त्याद्युपलक्षणम्। साधनचतुष्टयसम्पन्न एव प्रथमं गुरुमुपसृत्य श्रवणादीनि कुर्वन् अयतिः अदृढाभ्यासप्रयत्नः योगसंसिद्धिं योगस्तत्त्वज्ञानं तस्य संसिद्धिमुदयमप्राप्य अतत्त्वज्ञान एव मृतः सन् अन्त्यकालेऽपि योगाच्चलितमानसः मरणव्याकुलमनस्कतया नष्टस्मृतिः। अनेन गत्यन्तरासम्भवो दर्शितः। एवंविधः कां गतिं गच्छति? ॥ ३७ ॥

एतदेव संशयबीजविवरणेनोपपादयति— कच्चिदिति। उभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाज्ज्ञानमार्गाच्च विभ्रष्टः कच्चित्किं न नश्यति? उभयभ्रष्टत्वमेव दर्शयति— अप्रतिष्ठः सर्वकर्मसन्न्यासित्वात्कर्मरूपाश्रयरहितः प्रक्रान्ते ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ज्ञाने विमूढः, अत उभयभ्रष्टत्वाच्छिन्नाभ्रमिव— यथा हि वायुना च्छिन्नं विशकलितं पूर्वस्मान्मेघाद्भ्रष्टमुत्तरमेघं चाप्राप्तमभ्रं वृष्टययोग्यं सदन्तराल एव नश्यति, तथा योगभ्रष्टोऽपि पूर्वस्मात्कर्ममार्गाद्विच्छिन्न उत्तरं च ज्ञानमार्गमप्राप्तोऽन्तराल एव कर्मज्ञानफलायोग्यः किं नश्यति, किंवा मोक्षसाधनशमादिसम्पन्नत्वाच्छास्त्रगर्हितकर्मशून्यत्वाच्च न नश्यतीति संशय इति भावः ॥ ३८ ॥ अयं च योगभ्रष्टगतिविषयस्त्वयैव निरसनीयो नान्येनेति प्रार्थयते—एतदिति। स्पष्टोऽर्थः ॥ ३९ ॥

९ व० त० दी०—उभयरहितो योगशीलश्च किं फलमाप्नोति? इति सन्दिहानोऽर्जुन उवाच— अयतिरिति। न यतिरसन्न्यासी अभ्यासयत्नरहितो वा कां गतिं फलं प्राप्नोति?। हे कृष्ण! कर्षकेत्यन्वर्थसम्बोधनं साभिप्रायम् ॥ ३७ ॥ स्वाभिप्रायं निवेदयति— कच्चिदिति। उभाभ्यामैहिकपारलौकिकसुखभोगाभ्यां विभ्रष्टस्तु न भवति कच्चित्? इति प्रश्नः। ब्रह्ममार्गभूते योगे अप्रतिष्ठो यतः ॥ ३८ ॥ अत एतत्सन्देहनिवारकोऽपि त्वमेवेति कथयन्नाह— एतन्मे इति। स्पष्टम् ॥ ३९ ॥

१० पु. अ. त.—अथ भवदुक्तिविश्वासेन केवलं श्रद्धया अभ्यासवैराग्यरहितो यत्नं कुर्वन् पश्चात्सिद्धिं प्राप्नोति न वा ? इति प्रश्नं विज्ञापयत्यर्जुनः—अर्जुन उवाच—अयतिरिति । श्रद्धया भवदुक्तिश्रद्धामात्रत उपेतो भगवत्संयोगात्मकयोगार्थे प्रवृत्तः अयतिः अभ्यासवैराग्ययोः शिथिलप्रयत्नः स्वरूपज्ञानाभावाद्योगाच्चलितमानसो भवति । ततो योगसिद्धिमपि न प्राप्नुयात् तदाह–योगसंसिद्धिमप्राप्य कृष्ण सदानन्द ! त्वदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य सिद्धिरेवोचितेति विज्ञाप्य कां गतिं गच्छतीति पृष्टवान् ॥ ३७ ॥

स्वबुद्धिपरिकल्पितसंदेहविनिवृत्त्यर्थं स्वबुद्धिसन्देहमेव विवृणोति— कच्चिदिति । पूर्वप्रवृत्तकर्मादित्यागेन योगमार्गे अप्रतिष्ठो निराश्रयः । अभ्यासाभावेन स्वरूपाज्ञानात् ब्रह्मणः पथि भगवत्प्राप्त्येकयत्नमार्गे विमूढो वैराग्याभावात् । हे महाबाहो सर्वकृपाकरणसमर्थ ! एवमुभयविभ्रष्टः सन् छिन्नाभ्रमिव यथा छिन्नमभ्रं पूर्वाभ्रादिद्युक्तमभ्रान्तरामिलितं सन्मध्य एव विनश्यति तथा पूर्वधर्मत्यागेन स्वधर्मोपार्जितमोक्षफलरहितो भगवन्मार्गस्वरूपाज्ञानात् स्वरूपसंयोगरहितो जीवस्वरूपाप्तिभावरहितः कच्चिन्नो नश्यति ? ॥ ३८ ॥ हे कृष्ण दास्येन सदानन्ददानसमर्थ ! एतन्मे संशयं मन्मनोगतसंशयम् । स तु न नश्यत्येव त्वदुक्तिविश्वासात्, परं मत्संशयमशेषतः सोपपत्तिकाज्ञारूपवाक्यैश्छेत्तुं दूरीकर्तुमर्हसि । नन्वन्यत्र गुर्वादिषु भक्तेषु च विज्ञाप्य संशयं दूरीकुर्वित्यत आह— त्वदन्य इति । अस्य मद्गतस्य त्वदेकवाक्यैकनिष्ठस्य मम संशयस्य छेत्ता त्वदन्यः त्वां विना हि निश्चयेन अन्यो नोपपद्यते ॥ ३९ ॥

११ नी० भा० दी०— मनसो दुर्निग्रहत्वाद्योगसिद्धौ विघ्नं पश्यन्नर्जुन उवाच— हे कृष्ण ! योगात्कर्मयोगाच्चलितमानसस्त्यक्तकर्मा सन्न्यासीत्यर्थः । श्रद्धयोपेतो योगमार्गं प्रविष्टोऽपि अयतिः आयुषोऽल्पत्वाद्वा वैराग्यदौर्बल्याद्वा अल्पप्रयत्नः । 'अलवणा यवागूः' इतिवदत्राल्पार्थे नञ् । स कदाचित् योगसंसिद्धिं योगफलं सम्यक् दर्शनमप्राप्य मृतश्चेत् कां गतिं गच्छति ? ॥ ३७ ॥ कच्चिदिति । कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः कर्ममार्गाद्योगमार्गाच्च विभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव(यथा छिन्नमभ्रं) पूर्वमपरं वा मेघसङ्गमप्राप्य मध्ये एव नश्यति तद्वत् अप्रतिष्ठो निराश्रयः हे महाबाहो ! विमूढो ब्रह्मणः पथि ब्रह्मप्राप्तिमार्गे ॥ ३८ ॥ एतत् एतम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ३९ ॥

सुकृतस्य सुकृतं फलम् ।

**श्रीभगवानुवाच— पार्थ ! नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते ।**
**न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति ॥ ४० ॥**

**१ शां. भा.— पार्थेति । हे पार्थ ! नैवेह लोके नामुत्र परस्मिन्वा लोके विनाशस्तस्य विद्यते नास्ति । नाशो नाम पूर्वस्माद्धीनजन्मप्राप्तिः, स तस्य योगभ्रष्टस्य नास्ति । न– हि यस्मात्कारणात् कल्याणकृच्छुभकृत्कश्चिद्दुर्गतिं कुत्सितां गतिं हे तात!–तनोत्यात्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तात उच्यते, पितैव पुत्र इति पुत्रोऽपि तात उच्यते, शिष्योऽपि पुत्रवदिति अपुत्रोऽपि तात उच्यते– गच्छति ॥ ४० ॥**

२ आ. शां. व्या. — योगिनो नाशाशङ्कां परिहरन्नुत्तरमाह— श्रीभगवानिति । यदुक्तमुभयभ्रष्टो योगी नश्यतीति तत्राऽऽह— पार्थेति । तत्र हेतुमाह— न हीति । योगिनो मार्गद्वयाद्विभ्रष्टस्यैहिको नाशः शिष्टगर्हालक्षणो न भवतीति श्रद्धादेः सद्भावात् ; तथापि कथमामुष्मिकनाशशून्यत्वं ? इत्याशङ्क्य तद्रूपनिरूपणपूर्वकं तदभावं प्रतिजानीते— नाशो नामेति । तत्र हेतुभागं विभजते— न हीत्यादिना । उभयभ्रष्टस्यापि श्रद्धेन्द्रियसंयमादेः सामिकृतश्रवणादेश्च भावादुपपन्नं शुभकृत्त्वम् । 'तात !' इति कथं पुत्रस्थानीयः शिष्यः सम्बोध्यते ? पितुरेव तातशब्दत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— तनोतीति । तेन पुत्रस्थानीयस्य शिष्यस्य ' तात ! ' इति सम्बोधनमविरुद्धमित्यर्थः । न गच्छति कुत्सितां गतिं, कल्याणकारित्वादिति नाशाभावः ॥ ४० ॥

**३ रा. भा.— श्रद्धया योगे प्रक्रान्तस्य तस्मात्प्रच्युतस्येह चामुत्र च विनाशो न विद्यते प्राकृतस्वर्गादिभोगानुभवे ब्रह्मानुभवे चाभिलषितानवाप्तिरूपः प्रत्यवायाख्यानिष्टावाप्तिरूपश्च विनाशो न विद्यत इत्यर्थः । नहि निरतिशयकल्याणरूपयोगकृत्कश्चित्कालत्रयेऽपि दुर्गतिं गच्छति ॥ ४० ॥**

४ वे. ता. चं.—अथोभयपुरुषार्थान्वयमुखेन उभयविभ्रष्टतां परिहरति — पार्थेति । 'तस्य' इत्यनेन परामृष्टमाकारद्वयमाह– श्रद्धयेति । इहामुत्रशब्दयोर्भूलोकस्वर्गलोकादिपरत्वं परिहृत्यात्र विवक्षितमाह—प्राकृतेति । यथा मुमुक्षोः पुण्यमपि पापकोटौ निक्षिप्यते, तथा तस्य स्वर्गादिकमपीहशब्दनिर्देशार्हं प्रकरणसङ्गतं चेति भावः । विनाशशब्दः 'प्रत्यवायो न विद्यते' [२।४०] इति प्रागुक्तमप्यत्र सर्वं सङ्गृह्णातीत्याह प्रत्यवायाख्येति । कल्याणशब्दस्यात्र प्रस्तुतविशेषपर्यवसानव्यञ्जना-

याह निरतिशयेति । 'गच्छति' इत्यनवच्छिन्नवर्तमाननिर्देशात् कालत्रयेऽपीत्युक्तम् । अनेककालोपचितानन्तपुण्यसाध्यत्वेन प्रागपि दुष्कृताभावः; इदानीं च निरतिशयकल्याणरूपयोगप्रवृत्तिः परस्तादपि पुण्यलोकावाप्तियोगसिद्ध्यपवर्गप्रभृतिरिति, कालत्रयेऽपि दुर्गत्यसम्भवः । दुर्गतिर्निरयोऽनिष्टमात्रं वा; हिर्हेतौ प्रसिद्धौ वा । नहि योगे प्रक्रान्तस्य कस्यचित् कस्मिंश्चित्काले दुर्गतिप्राप्तिः कुतश्चित्प्रमाणात्सिद्धेति भावः ॥ ४० ॥

५ आ. मा. भा.—॥ ४० ॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ४० ॥

७ ह. पै. भा.—श्रीभगवानुवाच- पार्थेति । पार्थ ! नैवेह लोके नामुत्र परस्मिँल्लोके वा विनाशस्तस्य विद्यते नास्ति । नाशो नाम पूर्वस्माद्धीनजन्मप्राप्तिः, स योगभ्रष्टे नास्तीति । न हि यस्मात् कल्याणकृच्छुभकृत्कश्चिद्दुर्गतिंकुत्सितां गतिं हे तात- तारयिताऽऽत्मानं पुत्ररूपेणेति पिता तात उच्यते, पितेव पुत्र इति पुत्रोऽपि तात उच्यते-(शिष्योऽपि पुत्र उच्यते)-गच्छति प्राप्नोति ॥ ४० ॥

८ वें. ब्र. गि.—अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच— योगभ्रष्टो नश्यतीत्यत्र कोऽयं संशयः ? किमनिष्टावाप्तिः ? किं वेष्टविघातः ? अनिष्टावाप्तिरपि किमिह लोके किंवा परलोके ? नोभयत्रापीत्याह— पार्थेति । तस्य यथाशास्त्रमनुष्ठितसर्वकर्मसन्न्यासस्य सर्वतो विरक्तस्य श्रवणादि कुर्वतो मध्ये मृतस्य योगभ्रष्टस्य इह अमुत्र च विनाशोऽनिष्टावाप्तिः न विद्यत एव। इहानिष्टं नामोभयभ्रष्टोऽयमिति शिष्टजनगर्हारूपम् ; अमुत्रानिष्टं तु नरकपातः; तदुभयमपि नास्ति । तत्र हेतुः— न हीति। हि यस्मात् कल्याणकृच्छास्त्रविहितकारी कश्चिदपि दुर्गतिमकीर्त्ति निरयरूपां वा न गच्छति । किन्तु वक्तव्यं निरतिशयकल्याणकृदयं दुर्गतिं न गच्छतीति?। तातेति सवात्सल्यसम्बोधनम् ॥ ४० ॥

९ व० त० दी०— अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच— पार्थेति सार्द्धैश्चतुर्भिः । इहामुत्र च तस्य न विनाशः । अत्रोपपत्तिमाह— न हीति । कल्याणकृदयं, न त्वकल्याणकर्मकृत् । अन्यथाऽनिष्टफलं स्यादेव ॥ ४० ॥

१० पु. अ. त.—एवं निश्चयात्मकमर्जुनस्य संशयवाक्यं श्रुत्वा भगवांस्तमाह— श्रीभगवानुवाच— पार्थेति। हे पार्थ तथासंशयानर्ह ! इह लोके पूर्वत्यक्तकर्मानुकरणविहितधर्मभक्त्यादौ, अमुत्र लोके परदास्यादिरूपे तस्य मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तस्य विनाशः विशेषेण नाशो मददर्शनं न विद्यते। श्रद्धया मदुक्तिविश्वासप्रवृत्तौ कथं नाशः स्यात् ? यतोऽसाधारण्येनोत्तमकृतिप्रवृत्तस्य नाशो न भवतीत्याह— नहीति। भक्तत्वात्स्वबालकत्वेन तातेति सम्बोध्योपदिष्टम् । कल्याणकृत् धर्मादिबुद्ध्या फलेच्छासाधारण्येन शुभकृत् हीति निश्चयेन दुर्गतिं न गच्छति । तत्र श्रद्धयाऽत्र प्रवृत्तः कथं नश्येदित्यर्थः ॥ ४० ॥

११ नी० भा० दी०— अत्रोत्तरं भगवानुवाच- पार्थेति । हे तात! इति वात्सल्यात्सम्बोधयति । तस्येह विनाशो नीचयोनिप्राप्तिः, अमुत्र विनाशो नरकप्राप्तिः, तदुभयमपि न जायते । हि यतः कल्याणकृच्छुभकृत् दुर्गतिं नैव प्राप्नोति ॥ ४० ॥

योगभ्रष्टस्य विनाशाभावादुत्तमगतिप्रतिपादनम् । [ ४१—४९ ]

## प्राप्य पुण्यकृतां* लोकानुषित्वा शाश्वतीः[1] समाः ।
## शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

---

१ शाश्वतस्य विष्णोः समाः— वैष्णवानि त्रीणि वर्षाणि इत्यभिनवगुप्ताचार्याः । श्रीमताम् 'ऋचः सामानि यजूंषि सा हि श्रीरमृता सताम्' ( तै. ब्रा. १।२।१ ) इति श्रुतेर्वेदविद्यासम्पन्नानाम् । अथवा श्रीर्ब्रह्मविद्या, तत्सम्पन्नानाम् । यत्तु— योगभ्रष्टः कर्मयोगात् भ्रष्टः, श्रीमतां कुले जन्मनोऽन्येषामिष्टत्वासम्भवात्—इति नव्याः । तदसङ्गतम्, तैः स्वीकृतस्यापरोक्षज्ञानोत्तरं मोक्षार्थमनपेक्षितत्वेऽपि लोकसङ्ग्रहार्थं कर्मानुतिष्ठतः कर्मयोगिनः पुनर्जन्मासम्भवात् । पुनर्जन्मापि तस्य कल्प्यते चेत्, सर्वथा नमोऽस्तु पामरप्रतारणैकफलाय तादृशाय तेषामपरोक्षज्ञानाय । श्रीमतां कुले जन्म तु न योगिनोऽभीष्टमिति भवति, किन्तु तद्योगाभ्यासमुकृतप्रभावेणावशस्यैवेति न किञ्चिदनुपपन्नम् । अत्र—

त्यक्त्वा ये योगयोग्यां पुनरपि विषयान्सङ्गदोषाज्जुषन्ते येऽभ्यस्यन्तश्च योगं विगलितवयसो मध्य एव म्रियन्ते ।
योगभ्रष्टा द्विधा ते, व्यकथि भगवता पूर्वसंस्कारशेषात्तेषामत्र क्रमेणान्यजनुरपि कुले श्रीमतां धीमतां च ॥

इति वामनाशयः । —अविगीता ।

*'पुण्यकृताँल्लोकान्' इति व० त० दी० अपपाठः ।

**१ शां. भा.— किं त्वस्य भवति ?– प्राप्येति ।** योगमार्गे प्रवृत्तः सन्न्यासी सामर्थ्यात्प्राप्य गत्वा पुण्यकृतामश्वमेधादियाजिनां लोकान् तत्र चोषित्वा वासमनुभूय शाश्वतीर्नित्याः समाः संवत्सरान्, तद्भोगक्षये शुचीनां यथोक्तकारिणां श्रीमतां विभूतिमतां गेहे गृहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** योगभ्रष्टस्य लोकद्वयेऽपि नाशाभावे किं भवति ? इति पृच्छति— **किं त्विति** । तत्र श्लोकेनोत्तरमाह— **प्राप्येति**। कथं सन्न्यासीति विशेष्यते ? तत्राऽऽह— **सामर्थ्यादि**ति । कर्मणि व्यापृतस्य कर्मिणो योगमार्गप्रवृत्त्यनुपपत्तेस्तत्प्रवृत्तावपि फलाभिलाषविकलस्येश्वरे समर्पितसर्वकर्मणस्तद्भ्रंशाशङ्कानवकाशादित्यर्थः । समानां नित्यत्वं मानुषसमाविलक्षणत्वम्। वैराग्याभावविवक्षया विभूतिमतां गृहे जन्मेति विशेष्यते ॥ ४१ ॥

**३ रा. भा.— कथमयं भविष्यति ? इत्यत्राह– प्राप्येति ।** यज्जातीयभोगाभिकाङ्क्षया योगात्प्रच्युतोऽयमतिपुण्यकृतां प्राप्यान् लोकान् प्राप्य तज्जातीयानतिकल्याणान् भोगान् ज्ञानोपाययोगमाहात्म्यादेव भुञ्जानो यावत्तद्भोगतृष्णावसानं शाश्वतीः समास्तत्रोषित्वा तस्मिन् भोगे वितृष्णः शुचीनां श्रीमतां योगोपक्रमयोग्यानां कुले योगोपक्रमे भ्रष्टो योगमाहात्म्याज्जायते ॥ ४१ ॥

**४ वे. ता. चं.— अथवेति** । उभयभ्रष्टतापरिहारायोक्तमुभयान्वयं प्रपञ्चयति—'प्राप्य' इत्यादिना 'परां गतिम्' [६।४५ इत्यन्तेन । योगभ्रंशहेतुं पुण्यकृल्लोकप्राप्तिकृतातिशयितप्राकृतपुरुषार्थयोगे कर्माख्यसाधनरहितत्वेऽपि योगमाहात्म्यस्यैव साधनत्वं भोगावसानहेतुं वैतृष्ण्यमुत्पाद्य पुनर्योगमाहात्म्यस्यैव योगारम्भयोग्यकुलोद्भवहेतुत्वं च प्रदर्शयति— **यज्जातीयेति** । सर्वेषां मात्रया पुण्यकृत्त्वसद्भावेऽपि केषुचित्पुण्यकृच्छब्दप्रयोगस्तेषां अतिशयितपुण्यकृत्त्वनिबन्धन इत्याह– **अतिपुण्यकृतामिति** । तज्जातीयत्वेऽपि ततोऽतिशयितत्वाय **अतिकल्याणानि**त्युक्तम् । दृश्यते ह्येकजातीयेष्वपि रूपरसगन्धादिषु भूलोकेऽपि तारतम्यम् । एवं दिव्यादिव्यभेदः। यदि पुराकृतैः पुण्यैः पुण्यलोकावाप्तिः, पापैरपि पुराकृतैः पापलोकप्राप्तिः स्यादित्यत्राह— **योगमाहात्म्यादेवे**ति । धर्मार्थसम्पादितद्रव्यस्य भोगार्थविनियोगवदिति भावः । नह्यसौ पुण्यक्षयादिव योगमाहात्म्यक्षयान्निवर्तते, तस्याक्षयत्वादिति दर्शयितुं **याव**दित्यादिकमुक्तम्। विषमविपाकसमयकर्ममूलसत्त्वोन्मेषकृतविवेकोदयवशात् निरन्तरभोगप्रकर्षादिवशाच्च वैतृष्ण्यसम्भवः सौभरिप्रभृतिवृत्तान्तेषु भाव्यः । शुचित्वं श्रीमत्त्वं च अदृष्टद्वारा दृष्टद्वारा च योगोपकारकमित्याह—**योगोपक्रमयोग्याना**मिति। योगभ्रष्टस्य स्वान्वयाद्योगोपक्रमानुगुणस्वभावानामित्यर्थः। 'अथवा योगिनामेव कुले' [ ६।४२ ] इति इतोऽप्यतिशयितजन्मनो वक्ष्यमाणत्वात् 'शुचीनाम्' इत्यादिविशेषणविशेषसामर्थ्याच्च **योगोपक्रमे भ्रष्ट** इत्युक्तम् ॥ ४१ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ४१ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४१ ॥

**७ ह. पै. भा.— किं तस्य भवति ?** योगमार्गे प्रवृत्तः सन्न्यासी सामर्थ्यात्प्राप्य गत्वा पुण्यकृतामग्निष्टोमादियाजिनां लोकान्, तत्र चोषित्वा वासमनुभूय शाश्वतीर्नित्याः समाः संवत्सरान्, तद्भोगक्षये शुचीनां यथोक्तकारिणां श्रीमतां गेहे विभूतिमतां गृहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—**तर्हि कीदृशी तस्य गतिः ? तत्राह— **प्राप्येति** । द्विविधो योगभ्रष्टः—एकः प्रारब्धोपचितभोगवासनः, एकस्तु दृढवैराग्यः । तत्राद्यः पुण्यकृतामश्वमेधादिकारिणां लोकान्स्वर्गविशेषान्प्राप्य भोगान्भुञ्जानः यावत्तद्भोगतृष्णावसानं शाश्वतीः समाः ब्रह्ममानेन ब्रह्मसंवत्सरान् तत्र उषित्वा ततः शुचीनां परिशुद्धानां ज्ञानयोग्यानां श्रीमतां धनिनां महाराजचक्रवर्तिनां गेहे कुले भोगवासनाशेषसद्भावात् जनकादिवत् योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ ४१ ॥

**९ व० त० दी०—** किन्तु पुण्यकृताँल्लोकान् प्राप्य यावत् कल्याणकर्मफलभोगेन शाश्वतीः समा वर्षाणुषित्वा मध्ये भ्रंशात्पूर्वकृतादेव हेतोरिह योगभ्रष्टोऽभिजायते, परं श्रीमतां शुचीनां सदाचाराणां गेहे जन्मवान् भवति; अशुभस्याकृतत्वात्तत्फलभाक् न भवति इति भावः ॥ ४१ ॥

**१० पु. अ. त.—**एवं नाशाभावमुक्त्वा तस्य गतिस्वरूपमाह—**प्राप्येति** । स योगभ्रष्टः स्वरूपाज्ञानादभ्यासवैराग्याभावादभ्यस्यमानमार्गाद्भ्रष्टः पुण्यकृतां यज्ञादिकारिणां लोकान् श्रद्धामात्रप्रवृत्तिसाधनेन तत्फलभोगविचिकित्साजनितपूर्वप्रवृत्तमार्गस्वरूपज्ञानार्थं प्राप्य तत्र शाश्वतीः समाः बहून् संवत्सरान् उषित्वा स्थित्वा, तत्फलभोगं कृत्वा, तत्र विचिकित्सयाऽभावकेन मनसा पूर्वश्रद्धासाधनेनैव भवति । जन्मप्रार्थनया शुचीनां कापट्यादिदोषरहितानां श्रीमतां भगवच्छोभायुक्तानां भक्तानां गृहेऽभिजायते जन्म प्राप्नोति । उपसर्गेण सरतिपूर्वकं प्राप्तिर्ज्ञापिता ॥ ४१ ॥

११ नी० भा० दी०— इहामुत्र च तस्य महत्त्वमेवास्तीत्याह– प्राप्येति । उषित्वा वासं कृत्वा शाश्वतीः समाः नित्यान् वत्सरान् योगभ्रष्टो रागी चेदल्पकालाभ्यस्तयोगश्चेत् श्रीमतां गेहे जायते । तत्रापि श्रीमानधो गच्छतीत्याशङ्क्य शुचीनामित्युक्तम् । शुचयो हि सत्कार्येष्वेव श्रियमुपयुञ्जानाः पूर्वापेक्षया महत्तरं स्थानमासादयन्तीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।**
**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥ ४२ ॥**

१ शां. भा.— अथेति । अथवा (योगी) श्रीमतां कुलादन्यस्मिन् योगिनामेव दरिद्राणां कुले भवति जायते धीमतां बुद्धिमताम् । एतद्धि जन्म यद्दरिद्राणां योगिनां कुले दुर्लभतरं दुःखलभ्यतरं पूर्वमपेक्ष्य लोके जन्म यदीदृशं यथोक्तविशेषणे कुले ॥ ४२ ॥

२ आ. शां. व्या.— श्रद्धावैराग्यादिकल्याणाधिक्ये पक्षान्तरमाह— **अथवेति**। 'योगिनां' इति कर्मिणां ग्रहणं मा भूदिति विशिनष्टि— **धीमतामिति**। ब्रह्मविद्यावतां शुचीनां दरिद्राणां कुले जन्म दुर्लभादपि दुर्लभं प्रमादकारणाभावादित्याह— **एतद्धीति**। किमपेक्ष्यास्य जन्मनो दु;खलभ्यादपि दुःखलभ्यतरत्वं? तदाह— **पूर्वमिति**। यद्यपि विभूतिमतामपि शुचीनां गृहे जन्म दुःखलभ्यं तथापि तदपेक्षयेदं जन्म दुःखलभ्यतरं यदीदृशं शुचीनां दरिद्राणां विद्यावतामिति विशेषणोपेते कुले लोके जन्म वक्ष्यमाण(-लक्षण-)मित्यर्थः ॥ ४२ ॥

३ रा. भा.— अथवेति । परिपक्वयोगश्चलितश्चेत् योगिनां धीमतां योगं कुर्वतां स्वयमेव योगोपदेष्टृणां [ योगोपदेशक्षमाणां ] कुले भवति; तदेतदुभयविधं योगयोग्यानां योगिनां च कुले जन्म लोके प्राकृतानां दुर्लभतरम् । एतत्तु योगमाहात्म्यकृतम् ॥ ४२ ॥

४ वे. ता. चं.— 'अथवा' इति व्यवस्थितविकल्पार्थम् । अतिशयितजन्मनिर्देशोऽतिशयितहेतुसाकाङ्क्ष इति दर्शयितुं **परिपक्वयोगश्चलितश्चेदि**त्युक्तम् । 'योगिनां कुले' इति कस्यचिद्योगिनः सन्ताने प्रसूतिर्नोच्यते; तावन्मात्रस्यात्यन्तयोगोपकारकत्वाभावात् ; किन्तूपदेशार्हत्वाय योगिनां सतामेव पुत्रादित्वेन जायत इति दर्शयितुं **योगं कुर्वतामिति** वर्तमाननिर्देशः । 'शुचीनां श्रीमताम्' इत्यन्यस्मादुपदेष्टुर्योगाधिगमं प्रत्यानुगुण्यमात्रमुक्तम्; इह तु 'धीमताम्' इति वचनात्तेषामेवोपदेष्टृत्वयोग्यतोच्यत इत्याह— **स्वयमेवेति** । 'पशुर्मनुष्यः पक्षी वा ये च वैष्णवसंश्रयाः । तेनैव ते प्रयास्यन्ति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ तव दास्यसुखैकसङ्गिनां भवनेष्वस्त्वपि कीटजन्म मे । इतरावसथेषु मा स्मभूदपि मे जन्म चतुर्मुखात्मना'[स्तो.र. ५५] इत्यादिप्रतिपादितवैभवयुक्ते महत्त्वम् । पूर्वश्लोकस्थगेहशब्दतुल्यार्थत्वादत्रापि कुलशब्दो गृहवाची । **एतदुभयविधमिति**, साधारणस्येदृशमित्यनुवादस्य उभयान्वयित्वमेव ह्युचितमिति भावः । प्रकृतिमात्रदर्शिजनविषयेण लोकशब्देन मुमुक्षुव्यतिरिक्तविवक्षामाह– **प्राकृतानामिति** । दुर्लभतरं कथं लभ्येतेत्यत्र ईदृशशब्दाभिप्रेतमाह— **एतत्त्विति** ॥ ४२ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४२ ॥

७ ह. पै. भा.— अथवा श्रीमतां कुलादन्यस्मिन्योगिनामेव दरिद्राणां कुले महति जायते ताम् । एतद्धि जन्म दरिद्राणां योगिनां कुले दुर्लभतरं पूर्वमपेक्ष्य लोके जन्म यदीदृशं यथो षणे कुले ॥ ४२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं प्रारब्धोपचितभोगवासनस्य योगभ्रष्टमृतस्य गतिमुक्त्वा दृढवैराग्यस्य तस्य गतिमाह— **अथेति**। दृढवैराग्यस्तु भोगवासनाविरहात् पुण्यकृतां लोकानप्राप्यैव योगिनामेव दरिद्राणां ब्राह्मणानाम्–न तु श्रीमतां राज्ञाम्– कुले भवति धीमतां ब्रह्मविद्यावताम् योग्यानां ज्ञानिनां च कुले जन्म प्रसिद्धम् ॥ ४२ ॥

९ व० त० दी०— अथवाऽऽरब्धच्युतस्य जन्म पुनः साधनार्थं संस्कारतो योगिनामेव कुले भवति । किम्भूतानां ? योगबुद्धिमतां यदीदृशं जन्म तदेतल्लोके दुर्लभतरम् । अत्र च पूर्वं 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' [ ६ । ४१ ] इति भरतस्य इव जन्मोक्तम् ; तस्य पूर्वसंस्कारानुगतयोगं साधयितुमित्युक्तं तत्र प्रय-

त्नाद्यतमानस्यैव भूयो योगसिद्धेः । ' अथवा ' इत्यत्र तु प्रयत्नव्यतिरेकेण रूढयोगानां गृहे जन्मिनोऽस्य जडभरतस्य ब्रह्मसुतस्येव योगसिद्ध्या कृतार्थत्वमित्यवसेयम् ॥ ४२ ॥

१० पु. अ. त.—पक्षान्तरमाह— अथवा धीमतां स्वरूपज्ञानवतां कुले भवति जन्म प्राप्नोति। धीमत्त्वोक्त्या तत्कुलप्रसूतिमात्रेण ज्ञानोत्पत्तिर्व्यञ्जिता । जन्म विशिनष्टि— एतदिति । हीति निश्चयेनैतदुर्लभतरं यल्लोके ईदृशं भगवत्स्वरूपज्ञानात्मकं जन्म ॥ ४२ ॥

११ नी ० भा० दी०— स योगी विरक्तश्चिराभ्यस्तयोगो वा चेत्तस्य गतिमाह— अथवेति ॥ ४२ ॥

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन! ॥ ४३ ॥
पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः ।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते ॥ ४४ ॥

**१ शां. भा.— यस्माच्च– तत्र योगिनां कुले तं बुद्धिसंयोगं बुद्ध्या संयोगं लभते पौर्वदैहिकं पूर्वस्मिन्देहे भवं पौर्वदैहिकम् । यतते च प्रयत्नं करोति ततस्तस्मात्पूर्वकृतात्संस्काराद्भूयो बहुतरं संसिद्धौ संसिद्धिनिमित्तं हे कुरुनन्दन ! ॥ ४३ ॥**

२ आ. शां. व्या.—यदुत्तमतरं जन्मोक्तं तस्योत्तमत्वे हेत्वन्तरमाह–**यस्मादि**ति। बुद्ध्येत्यात्मविषययेति शेषः। पूर्वस्मिन्देहे भवं तत्रानुष्ठितसाधनविशेषयुक्तमित्यर्थः । तर्हि यथोक्तजन्मनि साधनानुष्ठानमन्तरेणैव बुद्धिसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**यतते** चेति । प्रयत्नः श्रवणाद्यनुष्ठानविषयः ॥ ४३ ॥

**१ शां. भा.— कथं पूर्वदेहबुद्धिसंयोगः? इति तदुच्यते– पूर्वेति । यः पूर्वजन्मनि कृतोऽभ्यासः स पूर्वाभ्यासः, तेनैव बलवता ह्रियते संसिद्धौ हि यस्मादवशोऽपि स योगभ्रष्टः, तेन न कृतं चेद्योगाभ्याससंस्काराद्बलवत्तरमधर्मादिलक्षणं कर्म तदा योगाभ्यासजनितेन संस्कारेण ह्रियते । अधर्मश्चेद्बलवत्तरः कृतः, तेन योगजोऽपि संस्कारोऽभिभूयत एव । तत्क्षये तु योगजः संस्कारः स्वयमेव कार्यमारभते; न दीर्घकालस्थस्यापि विनाशस्तस्यास्तीत्यर्थः । अतः जिज्ञासुरपि योगस्य स्वरूपं ज्ञातुमिच्छन्नपि योगमार्गे प्रवृत्तः सन्न्यासी योगभ्रष्टः, सामर्थ्यात्सोऽपि शब्दब्रह्म वेदोक्तकर्मानुष्ठानफलमतिवर्ततेऽपाकरिष्यति; किमुत बुद्ध्वा यो योगं तन्निष्ठोऽभ्यासं कुर्यात् ? ॥ ४४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— यदि पूर्वसंस्कारोऽस्येच्छामुपनयन्न प्रवर्तयति, तथा च प्रवृत्तिरनिच्छया स्यादित्याशङ्क्याऽऽह– **पूर्वे**ति । स हि योगभ्रष्टः समनन्तरजन्मकृतसंस्कारवशादुत्तरस्मिञ्जन्मनि अनिच्छन्नपि योगं प्रत्येवाऽऽकृष्टो भवतीत्यर्थः । तत्र कैमुतिकन्यायं सूचयति —**जिज्ञासुरि**ति । पूर्वार्धं विभजते— **यः पूर्वे**ति। तस्मान्नेच्छया तस्य प्रवृत्तिरिति शेषः । योगभ्रष्टस्याधर्मादिप्रतिबन्धेऽपि तर्हि पूर्वाभ्यासवशाद्बुद्धिसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह– **नेत्यादिना** । यदि योगभ्रष्टेन योगाभ्यासजनितसंस्कारप्राबल्यात्प्रबलमधर्मप्रभेदरूपं कर्म न कृतं स्यात्तदा तेन संस्कारेण वशीकृतः सन्निच्छादिरहितोऽपि बुद्धिसम्बन्धभाग्भवतीत्यर्थः । विपक्षे योगसंस्कारस्याभिभूतत्वान्न कार्यारम्भकत्वमित्याह— **अधर्मश्चेदि**ति । योगजसंस्कारस्याधर्माभिभूतस्य कार्यमकृत्वैवाभिभावकप्राबल्ये प्रणाशः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तत्क्षये त्वि**ति। कालव्यवधानान्निवृत्तिं शङ्कित्वोक्तं—**ने**ति। तृणजलायुकादृष्टान्तश्रुत्या संस्कारस्य दीर्घतायाः समधिगतत्वादिति भावः । कैमुतिकन्यायोक्तिपरमुत्तरार्धं विभजते— **जिज्ञासुरपी**त्यादिना । अत्रापि सन्न्यासीति विशेषणं पूर्ववदवधेयमित्याह— **सामर्थ्यादि**ति । न हि कर्मी कर्ममार्गे प्रवृत्तस्ततो भ्रष्टः शङ्कितुं शक्यते, अतः सन्न्यासी पूर्वोक्तैर्विशेषणैर्विशिष्टो योगभ्रष्टोऽभीष्टः सोऽपि वैदिकं कर्म तत्फलं चातिवर्तते, किमुत योगं बुद्ध्वा तन्निष्ठः सदाऽऽभ्यासं कुर्वन्कर्म तत्फलं चातिवर्तते इति वक्तव्यमिति योजना । योगनिष्ठस्य कर्मतत्फलातिवर्तनं ततोऽधिकफलावाप्तिर्विवक्ष्यते ॥ ४४ ॥

**३ रा. भा.**—तत्र जन्मनि तमेव पौर्वदैहिकं योगविषयं बुद्धिसंयोगं लभते। ततः सुप्तप्रबुद्धवद्भूयः संसिद्धौ यतते। यथा नान्तरायहतो भवति, तथा यतते। तेन पूर्वाभ्यासेन पूर्वेण योगविषयेणाभ्यासेन स योगभ्रष्टो ह्यवशोऽपि योग एव ह्रियते। प्रसिद्धं ह्येतद्योगमाहात्म्यमित्यर्थः। अप्रवृत्तयोगो योगे जिज्ञासुरपि ततश्चलितमानसः पुनरपि तामेव जिज्ञासां प्राप्य कर्मयोगादिकं योगमनुष्ठाय शब्दब्रह्मातिवर्तते। शब्दब्रह्म देवमनुष्यपृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गादिशब्दाभिलापयोग्यं ब्रह्म प्रकृतिः। प्रकृतिबन्धाद्विमुक्तो देवमनुष्यादिशब्दाभिलापानर्हं ज्ञानानन्दैकतानमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४३ ॥ ४४ ॥

**४ वे. ता. चं.**—ततः किमायातमपवर्गस्य, पूर्वदेहारब्धस्य योगस्य शिथिलत्वात्; योगिकुलजन्ममात्रस्य च मोक्षहेतुत्वाभावादित्यत्रोत्तरं **तत्र त**मिति। तत्रशब्दस्य सप्तमीसाम्याद्देहविषयत्वभ्रमव्युदासाय पूर्वोक्तवाक्यार्थेन अन्वयमाह—**तत्र जन्मनी**त्यादि। पूर्वदेहे संस्कारहेतुबुद्धेरपि सद्भावात्तद्व्यवच्छेदाय 'तम्' इत्युक्तमित्याह—**योगविषय**मिति। **ततः** बुद्धिसंयोगादित्यर्थः। जन्मान्तरे समस्तसंस्कारतिरोधानस्य दृश्यमानत्वात् कथमिदमुपपद्यते? इति शङ्कायां पुण्यकृतां तथाविधः संस्कारभ्रंशो नास्तीति प्रदर्शनाय **सुप्तप्रबुद्धवदि**ति दृष्टान्त उक्तः। 'संसिद्धौ' इत्यत्रोपसर्गाभिप्रेतमाह— **यथे**ति ॥ ४३ ॥

तेनेत्यस्यार्थो **योगविषयेणे**ति। 'तेनैव' इत्यवधारणफलितमाह—**योग एव ह्रियत** इति। हिशब्दार्थमाह **प्रसिद्ध**मिति। प्रसिद्धिश्चादिभरतविदुरभीष्मादिवृत्तान्तेषु द्रष्टव्या। पार्थकुरुनन्दनशब्दाभ्यामुभयकुलशुद्ध्यादिसूचकाभ्यामर्जुनस्यापि शुचीनां श्रीमतामित्याद्यन्वयः सूचितः।

'जिज्ञासुः' इत्यादिप्रकरणवशाद्वासनया विच्छिन्नघटकत्वप्रदर्शनार्थमित्याह— **अप्रवृत्ते**ति। 'जिज्ञासुरपि' इति सन्नन्तापिशब्दयोः सामर्थ्यात्—**अप्रवृत्तयोग** इत्युक्तम्। यद्यपि 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' [ अष्टा. २।३।६९ ] इति कर्मणि षष्ठीनिषेधः; तथाप्यत्र सम्बन्धसामान्यविवक्षया 'योगस्य' इति षष्ठी। योगिनश्चलितस्य योगः, प्रक्रान्तयोगस्य चलितस्य तत्प्रक्रमः, योगमारुरुक्षोश्चलितस्यारुरुक्षेति तत्तदवस्थानुरूपं प्रति समाधानमिति भावः। **कर्मयोगादिकं**, कर्मयोगज्ञानयोगावित्यर्थः। यद्वा, कर्मयोग उपक्रमो यस्यात्मसाक्षात्काररूपस्य योगस्य स तथोक्तः। ब्रह्मशब्दोऽत्र न परब्रह्मविषयः, तस्यातिवर्तनीयत्वानुपपत्तेः, 'शब्दब्रह्म' इति विशेषणायोगाच्च। अत एव न जीवविषयः, नापि वेदविषयः, तस्याप्यनिवर्तनीयत्वानिरूपणात्। नापि लक्षणया वेदप्रतिपाद्यकर्मविषयः, तत्फलविषयो वा, तत्रापि वेदे ब्रह्मशब्दस्य गौणः प्रयोगः, तदस्य परस्ताल्लक्षणा, उपनिषदंशात्सङ्कोच इति बहुदोषप्रसङ्गात्। नापि शब्दजन्यं ज्ञानमात्रं शब्दब्रह्म, योगं जिज्ञासोस्तदतिवृत्तेर्विरुद्धत्वात्। 'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्' [ वि.पु. ६।६२ ] इत्यादिप्रकोपप्रसङ्गाच्च। योगमारुरुक्षुः पुरुषः शब्दश्रवणजनितज्ञानमात्रवतः पुरुषादधिकः 'ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः। कृतबुद्धिषु कर्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः' [ मनुः १।९७ ] इतिवदिति चेत्—तदपि न, अध्याहाराद्यापातात्, अप्रस्तुताभिधानप्रसङ्गात्, पूर्वोत्तरवाक्यानन्वयाच्च। अतः प्रकृतावपि ब्रह्मशब्दप्रयोगस्यात्रापि प्राचुर्यादतिवर्तनीयत्वौचित्याच्च ब्रह्मशब्दोऽत्र प्रकृतिविषयः। तस्या एव भोग्यभोगोपकरणभोगस्थानाख्यपरिणामप्रदर्शनाय 'शब्दब्रह्म' इति व्यपदेशः। ''सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरः। नामानि कृत्वा'' [ तै.आ. ३।१२।७ ] इत्यादिश्रुतेः। विभक्तरूपा हि प्रकृतिर्देवादिशब्दाभिलप्या। तदेतदखिलमभिप्रेत्य **देवमनुष्येत्यादिक**मुक्तम्। प्रकृत्यतिवर्तनशब्दार्थं फलितं च दर्शयति **प्रकृतिसम्बन्धादि**ति। **देवमनुष्येत्या**दिना 'पुमान्न देवो न नरः' [ वि. पु. २।१३।९८ ] इत्यादिकं स्मारितम्। **ज्ञानानन्दैकतान**मित्यनेन च 'नाहं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा। ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः' [ पां. रा. ] इत्यादिकम् ॥ ४४ ॥

**५ आ. मा. भा.**—॥ ४३ ॥ योगस्य जिज्ञासुरपि। ज्ञातव्यो मया योग इति यस्यातीवेच्छा, सोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्तते। परं ब्रह्म प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—॥ ४३ ॥ उप्रत्यययोगे 'न लोकाव्यय—' [अष्टा. २।३।६९] इति षष्ठीनिषेधात् योगस्य स्वरूपमित्यध्याहृत्य कश्चिद्व्याख्यातवान्। भ्रमो वृथैव, 'नञा निर्दिष्टमनित्यम्' इत्यस्यानित्यत्वात्। अतः कात्यायनो 'द्विषः शतुर्वा वचनं' [अष्टा. २।३।६९ वार्तिकं ] इत्याद्यवोचदित्यभिप्रेत्याह—**योगस्ये**ति। 'ब्रह्मजिज्ञासा' [ ब्र.सू. १।१।१ ] इत्यादाविव विचारार्थताशङ्कानिरासाय व्याचष्टे—**ज्ञातव्य** इति। अतीवेत्युप्रत्ययस्यार्थः। 'सनाशंसभिक्ष उः' अष्टा. ३।२।१६८ ] इति तच्छीलादौ तस्य विहितत्वात्, इच्छार्थे बाधकाभावादिति भावः। 'शब्दब्रह्मातिवर्तते' इत्येतद्वेदोक्तकर्मकारिभ्योऽतिरिच्यत इति कश्चिद्व्याचष्टे, तदसत्। 'ततो याति परां गतिम्' [ १६।२२ ] इत्यस्यार्थस्य परामर्शादिति भावेनाह—**शब्दे**ति। शब्दब्रह्मशब्देन वैदिकविधिनिषेधावत्रोच्येते। तदतिवर्तनं परब्रह्मप्राप्तस्यैवेत्यत एवमुक्तम् ॥ ४४ ॥

७ ह. पै. भा.— यस्माच्च तत्र योगिनां कुले तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकं पूर्वदेहभवं पौर्वदेहिकं बुद्धिसंयोगं लभते । यतते च यत्नं करोति च ततस्तस्मात्पूर्वकृतात्संस्काराद्भूयो बहुतरं संसिद्धौ संसिद्धिनिमित्तं कुरुनन्दन!॥ ४३ ॥ पूर्वजन्मनि कृतोऽभ्यासस्तेन पूर्वाभ्यासेन बलवता तेनैव ह्रियते हि यस्मात्प्राप्यते बुद्धिसंयोगं प्रत्यवशोऽपि स योगभ्रष्टः। किञ्च जिज्ञासुर्योगस्य ज्ञातुमिच्छया योगमार्गे प्रवृत्तः सन्न्यासी सामर्थ्यात् सोऽपि शब्दब्रह्म वेदोक्तं केवलं कर्मानुष्ठातुमतिवर्तते । योगजिज्ञासाऽपि केवलात्कर्मणो गुरुतरेत्यभिप्रायः । किमुत बुद्ध्वा योगनिष्ठाभ्यासं कुर्वन्? ॥ ४४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं योगभ्रष्टस्यानिष्टावाप्तिं निरस्य इष्टविघातं निराह—तत्रेति । तत्र द्विप्रकारेऽपि जन्मनि पूर्वदेहे भवं पौर्वदेहिकं तं सर्वकर्मसन्न्यासगुरूपसदनश्रवणमनननिदिध्यासनानां मध्ये यावत्पर्यन्तमनुष्ठितं तावत्पर्यन्तं ब्रह्मात्मैक्यविषयया बुद्धया संयोगं—तत्साधनकलापमिति यावत्—लभते सुप्तप्रबुद्ध इव प्राप्नोति । ततः तल्लाभानन्तरं संसिद्धौ मोक्षनिमित्तं भूयः अधिकं लब्धाया भूमेरग्रिमां भूमिं सम्पादयितुं यतते प्रयत्नं करोति च, यावन्मोक्षभूमिकाः सम्पादयतीत्यर्थः । हे कुरुनन्दन ! तवापि शुचीनां श्रीमतां कुले योगभ्रष्टजन्म जातमिति पूर्ववासनावशादनायासेनैव ज्ञानलाभो भविष्यतीति सूचयितुं महानुभावस्य कुरोः कीर्तनम् ।

अयमर्थः सर्वोऽपि वासिष्ठे प्रदर्शितः—'श्रीरामः— एकामथ द्वितीयां वा तृतीयां भूमिकामुत । आरूढस्य मृतस्याथ कीदृशी भगवन्गतिः' ॥ [ यो.वा.नि. पू. १२६।४ ] पूर्वं हि सप्त भूमयो व्याख्याताः । तत्र नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वकादिहामुत्रार्थभोगवैराग्याच्छमदमतितिक्षासर्वकर्मसन्न्यासादिपुरस्सरं मुमुक्षा शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिका; साधनचतुष्टयसम्पदिति यावत् । ततो गुरुमुपसृत्य वेदान्तवाक्यविचारणात्मिका द्वितीया भूमिका; श्रवणमननसम्पदिति यावत् । ततः श्रवणमननपरिनिष्पन्नस्य तत्त्वज्ञानस्य निर्विचिकित्सतारूपा तनुमानसी नाम तृतीया भूमिका; निदिध्यासनसम्पदिति यावत्। चतुर्थी भूमिका तु तत्त्वसाक्षात्कार एव । पञ्चमषष्ठसप्तमभूमयस्तु जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदा इति प्राग्व्याख्यातम् । तत्र चतुर्थीं भूमिं प्राप्तस्य मृतस्य जीवन्मुक्त्यभावेऽपि विदेहकैवल्यं प्रति नास्त्येव संशयः । तदुत्तरभूमित्रयं प्राप्तो जीवन्मुक्तः किमुत विदेहमुक्त इति नास्त्येव भूमिकाचतुष्टये शङ्का । साधनभूमिकात्रये तु कर्मत्यागादज्ञानाच्च भवति शङ्केति तत्रैव प्रश्नः । 'श्रीवसिष्ठः—योगभूमिकयोः क्रान्तजीवितस्य शरीरिणः । भूमिकांशानुसारेण क्षीयते पूर्वदुष्कृतम् ॥ ततः सुरविमानेषु लोकपालपुरेषु च । मेरुपर्वतकुञ्जेषु रमते रमणीसखः ॥ ततः सुकृतसम्भारे दुष्कृते च पुरा कृते । भोगक्षयात्परिक्षीणे जायन्ते योगिनो भुवि ॥ शुचीनां श्रीमतां गेहे गुप्ते गुणवतां सताम् । जनित्वा योगमेवैते सेवन्ते योगवासनाः ॥ तत्र प्राग्भावनाभ्यस्तयोगभूमिक्रमं बुधाः । दृष्ट्वा परिपतन्त्युच्चैरुत्तरं भूमिकात्रयम् ' [यो. वा. नि. पु. १२६।४७–४९] इति

अत्र प्रागुपचितभोगवासनाप्राबल्यादल्पकालाभ्यस्तवैराग्यवासनादौर्बल्येन प्राणोत्क्रान्तिसमये प्रादुर्भूतभोगस्पृहः सर्वकर्मसन्न्यासी यः स एवोक्तः । यस्तु वैराग्यवासनाप्राबल्यात् प्रकृष्टपुण्यकृतपरमेश्वरप्रसादवशेन प्राणोत्क्रान्तिसमयेऽनुद्भूतभोगस्पृहः सन्न्यासी भोगव्यवधानं विनैव ब्राह्मणानामेव ब्रह्मविदां सर्वप्रमादकारणशून्ये कुले समुत्पन्नः; तस्य प्राक्तनसंस्काराभिव्यक्तेरनायासेनैव सम्भवान्नास्ति पूर्वस्येव मोक्षं प्रत्याशङ्केति वसिष्ठेनोक्तम् । भगवता तु परमकारुणिकेन 'अथवा' इति पक्षान्तरमुक्तम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ४३ ॥

ननु यः पुण्यकृतां लोकानप्राप्य योगिनां कुले जातः, तस्याव्यवहितप्राग्भवीयज्ञानसंस्कारोद्बोधाद्बुद्धिसंयोगलाभेन तत्प्रयत्नो भवतु; यस्तु पुण्यकृल्लोकान्प्राप्य श्रीमतां कुले जातः, तस्य बहुविधविषयभोगव्यवधानेनोत्पन्नस्य भोगवासनाप्राबल्यात् कथमतिव्यवहितज्ञानसंस्कारोद्बोधतत्प्रयत्नसम्भवः? इत्याशङ्क्य अनेकजन्मव्यवहितोऽपि ज्ञानसंस्कारः सर्वविरोध्युपमर्दनेन स्वकार्यं करोत्येवेत्याह—पूर्वाभ्यासेनेति।

अतिचिरव्यवहितजन्मोपचितेनापि तेनैव पूर्वाभ्यासेनज्ञानसंस्कारेणेति यावत्—अवशोऽपि भोगवासनानिष्ठतया अनिच्छन्नपि ह्रियते अकस्मादेव भोगवासनाभ्यो व्युत्थाप्य मोक्षसाधनोन्मुखीक्रियते । अल्पकालाभ्यस्ताया अपि ज्ञानवासनायाः परमार्थसद्वस्तुविषयकत्वेनावस्तुविषयकभोगवासनातः प्राबल्यात्तस्य । यथा त्वमेव युद्धार्थं प्रवृत्तो ज्ञानप्रयत्नशून्योऽपि पूर्वसंस्कारप्राबल्यादकस्मादेव रणभूमौ ज्ञानोन्मुखो बभूविथेति भावः ।

उक्तमर्थं कैमुतिकन्यायेन द्रढयितुमाह—जिज्ञासुरिति । योगस्य मोक्षोपायभूतज्ञानस्य विषयं जिज्ञासुरपि; प्रथमभूमिकायां स्थित इति यावत् । सोऽपि तस्यामेव भूमिकायां मृतो योगभ्रष्टः परजन्मनि शब्दब्रह्म वेदं कर्मप्रतिपादकं अतिवर्तते अतिक्रामति; कर्माधिकारातिक्रमेण ज्ञानाधिकारी भवतीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

९ व० त० दी०— ततः किं तत्राह— तत्र तमिति । यतत इति प्रयत्न उक्तः ॥ ४३ ॥ पूर्वदेहकृताभ्यासेनावशोऽपि कुतश्चिदन्तरायादनिच्छन्नपि ह्रियते विषयेभ्यः परावृत्य योगनिष्ठः क्रियते । किञ्च कैमुत्येन द्रढयति— जिज्ञासुरपीति । यः कश्चिद्योगस्य जिज्ञासावानपि भवति सोऽपि शब्दब्रह्मातिवर्त्तते शब्दब्रह्म-

तिक्राम्यति परमहंस इव सम्पूजितो भवति। किमुत तन्निष्ठः शब्दब्रह्मातिलङ्घनो भवतीति वक्तव्यम् ? । यद्वा शब्दब्रह्मातिवर्त्ततेऽर्थात्परं ब्रह्म शब्दब्रह्मतात्पर्यभूतं पारोक्ष्येण जानाति तत्प्रभावेणेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

१० पु. अ. त.— तादृशजन्मानन्तरं किं स्यात् ? इत्यत आह—तत्र तमिति। तत्र तस्मिन् जन्मद्वयेऽपि तं पौर्वदेहिकं भगवत्कृपालब्धजीवभावानन्तरप्राप्तं प्रथमदेहसम्बन्धिनं बुद्धिसंयोगं भगवत्सेवार्थप्रकटितज्ञानरूपं भगवदीयकुलजन्ममात्रेण लभते। च पुनः तं लब्ध्वा भूयः संसिद्धौ सम्यक् सिद्ध्यर्थं तथा भगवत्प्राप्त्यर्थं यतते यत्नं करोति। कुरुनन्दनेतिसम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥ ४३ ॥

ननु भूयोऽपि यत्ने पूर्ववदेव चेत्स्यात्तदा किं जन्मना यत्नेन चेत्याशङ्क्याह—पूर्वाभ्यासेनेति। तेनैव पूर्वाभ्यासेन श्रद्धामयेन अवशोऽपि तादृक्कुलजन्मप्राप्त्या कुलरीत्यापि अन्यभावेभ्यो ह्रियते परावर्त्तते; भगवत्संयोगरसनिष्ठः क्रियत इति भावः। ननु पूर्वप्रवृत्त्या श्रद्धायुक्तया चेन्न सिद्धिरभूत् तदा कथमिदानीं तेनैव साधनेन सिद्धिर्भविष्यति ? इत्याशङ्क्याह—जिज्ञासुरपीति। योगस्य स्वरूपजिज्ञासुरेव शब्दब्रह्म नामरूपात्मकं विप्रयोगसामयिकजीवनहेतुरूपमतिवर्त्तते अतिक्रामति। परमक्लेशाविर्भावेन गुणगानादित्यागेन लौकिकदेहत्यागेनालौकिकदेहमाप्नोतीति भावः। तथा चायमर्थः—पूर्वश्रद्धया प्रवृत्तस्तु योगजिज्ञासया न प्रवृत्तः, किन्तु साधारण्येन वाक्यश्रद्धयैव प्रवृत्तौ तेन सिद्धिरभूत्। अधुना तूत्तमकुलजन्माप्त्या तत्स्वरूपं कुरुते अतः प्राप्स्यतीति ॥ ४४ ॥

११ नी० भा० दी०— तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि पौर्वदेहिकं पूर्वदेहप्राप्तं बुद्धिसंयोगम्। यावति च योगभूमिः पूर्वजन्मनि जिता तत्र च यावान्बुद्धिलाभो जातस्तावन्तं बुद्धिसंयोगं पूर्वाभ्यासादल्पेनैवाभ्यासेन लभते, तस्मादपि भूयस्यां बह्व्यां संसिद्धौ— ऊर्ध्वभूमिलाभार्थमित्यर्थः-यतते यत्नं करोति ॥ ४३ ॥ कुतो यततेऽशिक्षितोऽपि ? इत्यत आह– पूर्वेति। अवशोऽपि प्रह्लादादिवत्पित्रादिभिरन्यथानीयमानोऽपि तेनैव पूर्वाभ्यासेन बलवता ह्रियते योगप्रवणः क्रियते। यतो योगस्य जिज्ञासुर्ज्ञानमात्रमिच्छन्यो भवति, सोऽपि शब्दब्रह्म कर्मकाण्डं वेदमप्यतिक्रम्य वर्त्तते, किं पुनः पित्राद्याज्ञाम्। इत्थं पूर्वाभ्यासबलं यन्महान्तमपि पित्रादियत्नं वृथा करोतीत्यर्थः॥ ४४ ॥

**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।**
**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥ ४५ ॥**

**१ शां. भा.— कुतश्च योगित्वं श्रेयः ? इति– प्रयत्नादिति। प्रयत्नाद्यतमानोऽधिकतरं यतमान इत्यर्थः। तत्र योगी विद्वान्संशुद्धकिल्बिषो विशुद्धकिल्बिषः संशुद्धपापोऽनेकजन्मसंसिद्धः अनेकेषु जन्मसु किञ्चित्किञ्चित्संस्कारजातमुपचित्य तेनोपचितेनानेकजन्मकृतेन संसिद्धोऽनेकजन्मसंसिद्धः, ततो लब्धसम्यग्दर्शनः सन्याति परां प्रकृष्टां गतिम् ॥ ४५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— योगनिष्ठत्वे हेत्वन्तरं वक्तुमुत्तरश्लोकमवतारयति— कुतश्चेति। मृदुप्रयत्नोऽपि क्रमेण मोक्ष्यते चेदधिकप्रयत्नस्य क्लेशहेतोरकिञ्चित्करत्वमित्याशङ्क्य हेत्वन्तरमेव प्रकटयति— प्रयत्नादिति। तत्र योगविषये प्रयत्नातिरेके सतीत्यर्थः। ततः सञ्चितसंस्कारसमुदायादिति यावत्। समुत्पन्नसम्यग्दर्शनवशात्प्रकृष्टा गतिः सन्न्यासिना लभ्यते, तेन शीघ्रं मुक्तिमिच्छन्नधिकप्रयत्नो भवेत्;अल्पप्रयत्नस्तु चिरेणैव मुक्तिभागीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

**३ रा. भा.— प्रयत्नादिति। यत एवं योगमाहात्म्यं, ततोऽनेकजन्मार्जितपुण्यसञ्चयैः संशुद्धसंसिद्धकिल्बिषः संसिद्धः सञ्जातः प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी चलितोऽपि पुनः परां गतिं यात्येव ॥ ४५ ॥**

४ वे. ता. चं.—तदेवं योगभ्रष्टस्य पुनः संसिद्धौ यत्नपर्यन्तमुक्तम्; अथ तत एव तस्यात्मप्राप्तिलक्षणपरमपुरुषार्थयोगोऽभिधीयते—'प्रयत्नात्' इति। 'ततः' इति पदं यथास्थानान्वये प्रयोजनाभावात्प्रकृतहेतुपरमाह यत इति। अनेकजन्मसंसिद्धः अनेकैर्जन्मभिः सम्यग्योगयोग्यो जात इत्यर्थः। तत्र हेतुः संशुद्धकिल्बिषत्वम्। 'प्रयत्नाद्यतमानस्तु' 'इन्द्रियनियमनादिप्रयत्नेन योगे यतमानः' इत्यपुनरुक्तिः। अथवाऽधिकं यतमान इत्यर्थः। तुशब्दद्योतितं पूर्वोक्तं व्यञ्जयितुं चलितोऽपीत्युक्तम्। चलितोऽपि पुनरिति वा ततः शब्दव्याख्या। 'परां गतिम्'इति योग एव वा तत्साध्यात्मप्राप्त्यादिर्वोच्यते ॥४५॥

**५ आ. मा. भा.— नैकजन्मनीत्याह— प्रयत्नादिति। जिज्ञासुर्ज्ञात्वा प्रयत्नं करोति। एवमनेकजन्मभिः संसिद्धोऽपरोक्षज्ञानी भूत्वा परां गतिं याति। आह च– 'अतीव श्रद्धया युक्तो**

जिज्ञासुर्विष्णुतत्परः । ज्ञात्वा ध्यात्वा तथा दृष्ट्वा जन्मभिर्बहुभिः पुमान् ॥ विशेन्नारायणं देवं नान्यथा तु कथञ्चन' इति नारदीये ॥ ४५ ॥

६ ज. प्र. दी.—योगजिज्ञासामात्रेण परब्रह्मप्राप्तिश्चेत् योगानुष्ठानवैयर्थ्यं स्यादित्यत एतदेवाशङ्क्य भगवतैवोत्तरं दत्तमित्याह—नैकेति । न योगजिज्ञासामात्रेणेत्यभिप्रायः । अत्र योगजिज्ञासोरपरामर्शात् कथं तद्विषयमेतदित्यतोऽध्याहारेण व्याचष्टे—जिज्ञासुरिति । ज्ञात्वा योगमिति शेषः । यतनानन्तरमनेकजन्मसंसिद्ध इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह—एवमिति । योगे सम्पूर्णे संसिद्धेर्विलम्बे कारणाभावादिति भावः । व्याख्यातार्थे पुराणसम्मतिमाह—आह चेति ॥ ४५ ॥

७ ह. पै. भा.— अतश्च योगित्वं श्रेय इति प्रतिपादयति-प्रयत्नादिति । प्रयत्नादधिकं प्रयतमान इत्यर्थः । ततो योगी विद्वान्संशुद्धकिल्बिषः संशुद्धपापोऽनेकेषु जन्मसु किञ्चित्किञ्चित्संशुद्धसंस्कारजातमुपचित्य तेनोपचितेन संस्कारेणानेकजन्मकृतेन संसिद्धोऽनेकजन्मसंसिद्धः । ततो लब्धसम्यग्दर्शनः सन्न्यासी याति परां प्रकृष्टां गतिम् ॥ ४५ ॥

८ वें. ब्र. गि.—यद्येवं प्रथमभूमिकायां मृतोऽप्यन्यजन्मनि ज्ञानी भूत्वा मुच्यते, तदा किमु वक्तव्यं द्वितीयायां तृतीयायां वा भूमौ मृतोऽन्यजन्मनि ज्ञानी भूत्वा विमुच्यत इतीत्यमुमर्थमाह-प्रयत्नादिति । योगी पूर्वकृतादपि प्रयत्नादधिकमधिकं यतमानः संशुद्धकिल्बिषः तेनैव योगप्रयत्नपुण्येन विधूतज्ञानप्रतिबन्धकपापराशिः अनेकेषु जन्मसूपचितेन योगसंस्कारेण सम्यग्ज्ञानी भूत्वा ततः परां प्रकृष्टां गतिं मुक्तिं यातीति किमु वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४५ ॥

९ व० त० दी०— अयं चायतिरेव निर्दिष्टः । प्रयत्नान्मानसव्यापाराद्यतमानस्तु योगी भ्रंशाभावात् संशुद्धकिल्बिषोऽनेकजन्मसंसिद्धः अनेकजन्मसु तत्त्वज्ञानवान् सन् ततोऽन्तिमजन्मनि सिद्धज्ञानतः परां गतिमक्षरं मत्स्वरूपं याति । यद्वाऽनेकजन्मविपाकेन भक्तिमान् भवति । ततो भक्तितः परां गतिं भगवद्धाम वैकुण्ठाख्यं याति । एवमेवोक्तं निबन्धे ' ईश्वरालम्बनं योगो जनयित्वा तु तादृशम् । बहुजन्मविपाकेन भक्तिं जनयति ध्रुवम् ' इति ॥ ४५ ॥

१० पु. अ. त.—एतादृशकुलजन्माभावेऽपि यत्नवान् प्राप्नुयात्; तत्र तादृक्कुलोत्पन्नप्राप्तौ किं वक्तव्यं ? इत्याह—प्रयत्नादिति । यः सामान्यो न तु तादृशजन्मवानेव प्रयत्नाद्यतमानः संशुद्धकिल्बिषः तद्भावज्ञानप्रतिबन्धपापरहितो योगी योगस्वरूपज्ञानवान् भवति । तु पुनः । अनेकजन्मसंसिद्धः अनेकजन्मभिर्यतमानः सन् सिद्धः प्राप्तयोगरूपो भवति । ततः परां गतिं दास्यरूपां याति प्राप्नोतीत्यर्थः । यतो मत्संयोगात्मको योग उत्तमस्तस्मात्त्वं योगी भवेति ॥ ४५ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं योगभ्रष्टगतिमुक्त्वा यो विषयैर्ह्रियमाणोऽपि प्रयत्नेन योगमेवाभ्यसितुं प्रवर्त्तते तस्य गतमाह- प्रयत्नादिति । प्रयत्नात् प्रकृष्टात् हठात् वायुनिरोधादिरूपात् खेचर्यादिमुद्राविशेषाभ्यासाद्यो यतमानः संशुद्धकिल्बिषो निष्पापो भवति । यदाह मनुः–'प्राणायामैर्दहे-(दोषान्)-देनः'[मनुः ६।७२]इति । हठयोगानां सर्वेषां पापनिवृत्त्युपयोगित्वं, न तत्त्वसाक्षात्कारे साक्षात्साधनत्वमित्यर्थः । अत एव सः अनेकैर्जन्मभिः संसिद्धः प्राप्तयोगो भूत्वा ततः परां गतिं मोक्षं याति । एतेन ' चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः ' [ ५।२७ ] इति पञ्चमान्ते यत्सूत्रितं तद्व्याख्यातम् ॥ ४५ ॥

अध्यायार्थभूतस्य योगस्य सर्वतपश्श्रैष्ठ्याद्योगिनोऽपि सर्वतश्श्रैष्ठ्यम् ।

**तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी[1] तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ ४६ ॥**

---

१ नव्यास्तु- पार्थस्य युद्धे प्रवर्तितत्वादत्र ' त्वं ध्यानयोगी भव ' इति तं प्रत्युपदेशो न सम्भवति, तस्मात् 'योगी भव ' इत्यस्य ' कर्मयोगी भव ' इत्यर्थः कर्तव्यो भवतीत्याहुः । तदयुक्तम्, गीतायां तदानीं सद्य एवानुष्ठेयानामुपदिष्टत्वाभावात् । न हि ' तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ' । ( ४।३४ ) इत्यादिषूपदिष्टानि प्रणिपातादीनि तदात्व एव विधेयानीति वक्तुं युक्तम्, न चार्जुनेन विहितानीति प्रसिद्धमेवेति किमपराद्धं ध्यानयोगेनेत्यलमसारवचोविचारेण । —अविगीता ।

१ शां. भा.— यस्मादेवं तस्मात्– तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि, ज्ञानमत्र शास्त्रपाण्डित्यं, तद्वद्भ्योऽपि मतो ज्ञातोऽधिकः श्रेष्ठ इति; कर्मिभ्योऽग्निहोत्रादि कर्म तद्वद्भ्योऽधिको योगी विशिष्टः यस्मात्तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ ४६ ॥

२ आ. शां. व्या.— सम्यग्ज्ञानद्वारा मोक्षहेतुत्वं योगस्योक्तमनूद्य योगिनः सर्वाधिकत्वमाह– यस्मादिति। योगस्य सर्वस्मादुत्कर्षादवश्यकर्तव्यत्वाय योगिनः सर्वाधिक्यं साधयति—तपस्विभ्य इति। योगिनो ज्ञानिनश्च पर्यायत्वात् कथं तस्य ज्ञानिभ्योऽधिकत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह—ज्ञानमिति। योगिनः सर्वाधिकत्वे फलितमाह— तस्मादिति ॥ ४६ ॥

३ रा. भा.— अतिशयितपुरुषार्थनिष्ठतया योगिनः सर्वस्मादाधिक्यमाह— तपस्विभ्य इति। केवलतपोभिर्यः पुरुषार्थः साध्यते, आत्मज्ञानव्यतिरिक्तैर्ज्ञानैश्च यः, यश्च केवलैरश्वमेधादिभिः कर्मभिः, तेभ्यः सर्वेभ्योऽधिकपुरुषार्थसाधनत्वाद्योगस्य तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्यः कर्मिभ्यश्चाधिको योगी, तस्माद्योगी भवार्जुन !॥ ४६ ॥

४ वे. ता. चं.— एवंविधं योगस्य माहात्म्यं तपःप्रभृतिषु न कस्यचिदप्यस्ति; अतस्तपस्विप्रभृतिभ्यो योगी समधिक इति योगं योगिनं च प्रशंसन् जीवात्मयोगोपदेशमुपसंहरतीत्यभिप्रायेणाह–अतिशयितेति। योगिनोऽपि तपोज्ञानकर्मणां सद्भावात्तद्व्यवच्छेदाय केवलादिशब्दः। आत्मज्ञानव्यतिरिक्तैर्ज्ञानैरिति— सन्ति हि तत्तद्योगशास्त्रोक्तानि औपनिषदानि च दैवतान्तरचन्द्रसूर्यादिग्रहप्राणेन्द्रियविषयाणि ज्ञानानि। तपश्शब्दार्थात् कर्मशब्दार्थस्य वैषम्यं दर्शयितुं अश्वमेधाद्युपादानम्। तपःप्रभृतीनां योगस्य च फलद्वारा तारतम्यमिह विवक्षितमिति दर्शयितुं पुरुषार्थाभिधानम् ॥ ४६ ॥

५ आ. मा. भा.— ज्ञानिभ्यो योगज्ञानिभ्यः। तपस्विभ्यः कृच्छ्रादिचारिभ्यः। उक्तं च— 'कृच्छ्रादेरपि यज्ञादेर्ध्यानयोगो विशिष्यते। तत्रापि शेषश्रीब्रह्मशिवादिध्यानतो हरेः॥ ध्यानं कोटिगुणं प्रोक्तमधिकं वा मुमुक्षुणाम्' इति गारुडे। 'अज्ञात्वा ध्यायिनो ध्यानाज्ज्ञानमेव विशिष्यते। ज्ञात्वा ध्यानं ज्ञानमात्राद्ध्यानादपि तु दर्शनम् ॥ दर्शनादपि भक्तेश्च न किञ्चित्साधनाधिकम्' इति च नारदीये॥ ४६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु ज्ञानं योगस्य फलं तत्कथं ज्ञानिभ्योऽप्यधिको मतः ? इत्यत आह— ज्ञानिभ्य इति। यद्यपि 'ज्ञानतपसा पूताः' [ ४।१० ] इति ज्ञानमपि तपस्तथापि तदतिरिक्तमेवात्र विवक्षितमित्याह— तपस्विभ्य इति। ब्रह्मज्ञानादाधिक्यस्यासम्भवाद्योगज्ञानाधिक्यस्य पृथगुक्तत्वादिति भावः। अतएव पूर्वं तद्व्याख्यातम्। उक्तार्थमुपपादयन् श्लोकद्वयार्थं पुराणवाक्येनाह— उक्तं चेति। मुमुक्षूणां एतेन सर्वेषामपि योगिनां मध्ये यो मां भजते स युक्ततरो मतः। तत्रापि मद्गतेनान्तरात्मना यो भजते स युक्ततमो मत इति व्याख्यातं भवति। 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' इत्येतद्योगज्ञानविषयमेव, न तद्ब्रह्मज्ञानविषयमित्येतत्पुराणवाक्येन स्थापयति— अज्ञात्वेति। योगमिति शेषः। साधनाधिकं साधनेष्वधिकम् ॥ ४६ ॥

७ ह. पै. भा.— यस्मादेवं तस्मात् तपस्विभ्योऽधिको योगी। ज्ञानमत्र शास्त्रपाण्डित्यं, तद्वज्ज्ञानिभ्योऽपि मतो ज्ञानिभ्योऽधिक इति कर्मिभ्योऽग्निहोत्रादिकर्मिभ्यस्तद्वत्तेभ्योऽधिको योगी। तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ ४६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथेदानीमध्यायार्थभूतं योगं सप्रशंसमुपसंहरति— तपस्विभ्य इति। 'स योगी परमो मतः' [६।३२] इति पूर्वोक्तस्तत्त्वज्ञानमनोनाशवासनाक्षयसम्पन्नो योगी तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादितपोनिष्ठेभ्यः अधिक उत्तमः, 'मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः। तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते' इत्यादिस्मृतिभिर्योगस्य सर्वतपःश्रैष्ठ्योक्तेः। तथा कर्मिभ्यः अश्वमेधादिकृद्भ्यः अधिकः 'प्राप्य पुण्यकृतां लोकान्' [ ६।४१ ] इत्यश्वमेधादिफलानां योगभ्रष्टं प्रति नान्तरीयिकत्वोक्त्या योगस्य तदाधिक्याधिगमात् " विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणा यान्ति नाविद्वांसस्तपस्विनः" इति श्रुत्या तपःकर्मफलातिशयितसद्साध्यपुरुषार्थहेतुत्वप्रदर्शनाच्च। तथा ज्ञानिभ्योऽप्यधिकः सत्यपि तत्त्वसाक्षात्कारे मनोनाशवासनाक्षयवतः 'स योगी परमो मतः' [ ६। ३२ ] इति प्राक्पारम्योक्तेः। यस्मादेवं तस्मात्त्वमुक्तरूपो योगी भव हे अर्जुन! परिशुद्धेति सम्बोधनार्थः ॥ ४६ ॥

९ श० त० दी०— यस्मादेवं तस्मात् तपस्विभ्य इति कायक्लेशतपस्विभ्यः साङ्ख्यज्ञानिभ्यश्च केवलकर्मकारिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्धेतोरर्जुन ! त्वं योगी भव मनोरोधयोगवान्भव। तत्रापि न तुभ्यं योगोऽयं बाह्य उच्यते किन्त्वनिषिद्धः श्रीवासुदेवे स्वचित्तनिरोधनादिति भक्तिरूप उच्यत इत्याह ॥ ४६ ॥

१० पु. अ. त.—योगस्य सर्वाधिकत्वं प्रतिपादयन्नेवाह—तपस्विभ्य इति । तपस्विभ्यः योगस्वरूपाज्ञाने तदभिलाषाभावेन केवलक्लेशसहनशीलेभ्यो योगी अधिकः । किञ्च ज्ञानिभ्यः ज्ञानेन सन्न्यासादिधर्मयुक्तेभ्योऽपि योगी अधिको मतः मेऽभिमतः । ज्ञानी च पुनः कर्मिभ्यो यज्ञनित्यादिनिष्ठेभ्यो योगी अधिको मतः । तस्मात् हे अर्जुन मत्स्नेहैकयोग्य ! त्वं योगी भव युक्तो योगनिष्ठो भवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं योगिनं स्तौति—तपस्विभ्य इति । तपस्विनोऽत्र कृच्छ्रचान्द्रायणमासोपवासादिकर्त्तारः, ज्ञानिनश्च शास्त्रीयपाण्डित्यवन्तः, कर्मिणोऽग्निहोत्राद्यनुष्ठातारः, तेभ्यः सर्वेभ्यो योगी यतोऽधिको मतः तस्माद्योगी भवार्जुन ! ॥ ४६ ॥

उपासनाकाण्डोपक्रमपूर्वकः कर्मकाण्डोपसंहारः ।

**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।**
**श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ ४७ ॥**

**इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ध्यानयोगो नाम षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥**

१ शां. भा.— योगिनामिति । योगिनामपि सर्वेषां रुद्रादित्यादिध्यानपराणां मध्ये मद्गतेन मयि वासुदेवे समाहितेनान्तरात्मनाऽन्तःकरणेन श्रद्धावाञ्छ्रद्दधानः सन्भजते सेवते यो मां, स मे मम युक्ततमोऽतिशयेन युक्तो मतोऽभिप्रेत इति ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवत्पादकृतौ श्रीमद्गीताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.—नन्वादित्यो विराडात्मा सूत्रं कारणमक्षरमित्येतेषामुपासका भूयांसो योगिनो गम्यन्ते, तेषां कतमः श्रेयानिष्यते ? तत्राह—योगिनामिति । यो भगवन्तं सगुणं निर्गुणं वा यथोक्तेन चेतसा श्रद्दधानः सन्ननवरतमनुसन्धत्ते स युक्तानां मध्येऽतिशयेन युक्तः श्रेयानीश्वरस्याभिप्रेतः, न हि तदीयोऽभिप्रायोऽन्यथा भवितुमर्हतीत्यर्थः । तदनेनाध्यायेन कर्मयोगस्य सन्न्यासहेतोर्मर्यादां दर्शयता साङ्गं च योगं विवृण्वता मनोनिग्रहोपायोपदेशेन योगभ्रष्टस्याऽऽत्यन्तिकनाशशङ्कावकाशं शिथिलयता त्वम्पदार्थाभिज्ञस्य ज्ञाननिष्ठत्वोक्त्या वाक्यार्थज्ञानान्मुक्तिरिति साधितम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

३ रा. भा.— तदेवं परविद्याङ्गभूतं प्रजापतिवाक्योदितं प्रत्यगात्मदर्शनमुक्तम्; अथ परविद्यां प्रस्तौति— योगिनामिति । 'योगिनाम्' इति पञ्चम्यर्थे षष्ठी । 'सर्वभूतस्थमात्मानम्' [६।२९] इत्यादिना चतुर्विधा योगिनः प्रतिपादिताः; तेष्वनन्तर्गतत्वाद्वक्ष्यमाणस्य योगिनो न निर्धारणे षष्ठी सम्भवति । 'अपि सर्वेषाम्' इति सर्वशब्दनिर्दिष्टास्तपस्विप्रभृतयः । तत्राप्युक्तेन न्यायेन पञ्चम्यर्थो ग्रहीतव्यः ।

४ वे. ता. चं.—एवं सर्वस्मादाधिक्ये जीवात्मयोगिनः प्रतिपादिते ततः परमपुरुषार्थो नास्तीति श्रोता चरितार्थबुद्धिः स्यादिति शङ्कमानो भूमविद्यायामिव स्वयमेव ततोऽप्यतिशयितपुरुषार्थसाधकं तदङ्गिनः स्वविषयभक्तियोगं मध्यमषट्केन प्रतिपादयितुं स्वयमेव प्रस्तौतीत्याह— **तदेवमिति**। उक्तैः प्रमाणतर्कैरुपपादितप्रकारेणेत्यर्थः । सङ्गत्यर्थं प्रथमषट्कस्य मध्यमषट्कशेषत्वमाह— **परविद्याङ्गभूतमिति** । तत्र प्रमाणद्योतनं— **प्रजापतिवाक्योदितमिति**। प्रागेवेदं प्रपञ्चितम्। एतेन परिशुद्धप्रत्यगात्मदर्शनमात्रस्य परमयोगत्वादिकं वदन्तोऽन्तिमयुगवेदान्तिप्रभृतयो निरस्ताः। **परविद्यां**— परां विद्यामित्यर्थः । "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" [ मुं. उ. १।१।५ ] इत्यादिवत्। यद्वा, परमात्मनो विद्यामित्यर्थः। **प्रस्तौति**— प्रस्तावमात्रमिदं; प्रपञ्चो ह्यनन्तरं भविष्यतीति भावः।

'तपस्विभ्योऽधिकः' [ ६।४६ ] इत्यादिप्रकरणादत्रापि 'योगिभ्यः' इत्यर्थोऽभिप्रेत इति मन्वान आह — **योगिनामिति**। **पञ्चम्यर्थे षष्ठीति**— सम्बन्धसामान्यषष्ठ्याः सम्बन्धविशेषे विवक्षावशात्पर्यवसानमिति भावः। नन्वेवं किमर्थं परिक्लिश्यते? निर्धारणे षष्ठ्यत्र सम्भवति। तथाहि— प्रागुक्तेषु चतुर्षु योगेषु 'सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः' [ ६।३१ ] इति योगी कश्चिदुक्तः, अत्रापि 'श्रद्धावान् भजते यो माम्' इति स एव प्रत्यभिज्ञायते; अतस्तन्निर्धारणेन 'युक्ततमः' इति प्रशंसाऽत्र क्रियते। 'युक्ततमः' इत्यत्र प्रत्ययश्च निर्धारणार्थत्वसूचकः;तस्मान्नासौ पञ्चम्यर्थे षष्ठीति तत्राह— **सर्वभूतस्थमिति**। एतेन पूर्वश्लोके 'योगी' इत्येकवचननिर्देशेऽप्यत्र बहुवचनेन नानुवादस्य विषयोऽपि दर्शितः, ततः किमित्यत्राह— **तेष्विति**। **अयमभिप्रायः**— परमात्मोपासको हि योगी मध्यमषट्केन वक्ष्यते; तस्य च प्रस्तावोऽत्र क्रियते; नचासौ प्रागुक्तः; 'सर्वभूतस्थितं यो माम्' [ ६।३१ ] इत्यादेश्च साम्यानुसन्धानविषयत्वं प्रागेव प्रतिपादितं, ततो न तस्यात्र प्रत्यभिज्ञा; किञ्च 'आत्मौपम्येन' [ ६।३२ ] इति श्लोके 'सर्वभूतस्थितम्' इत्याद्युक्तयोगिनोऽपि परतरो योगी प्रागुक्तः; ततश्च 'सर्वभूतस्थितम्' इत्यादिनोक्तयोगिनोऽत्र सर्वस्मादाधिक्यप्रतिपादने पूर्वेण विरोधः स्यात्;अतोऽस्य योगिनस्तेष्वन्यतमत्वायोगान्न निर्धारणे षष्ठीयम्; तदिदमुक्तं **तेष्वनन्तर्गतत्वादिति**। ननु पूर्वोक्तान्वक्ष्यमाणं च योगिनं सामान्येन संगृह्य तेष्वन्यतमस्य वक्ष्यमाणस्य निर्धारणं किं न स्यात्? मैवं, प्रतिपन्नेषु केषुचित्प्रतिपन्न एव हि कश्चिन्निर्धार्यः, अन्यथाऽतिशयविधानार्थमनुवादायोगात्। नच वक्ष्यमाणो योगी श्रोतुरर्जुनस्य इतः पूर्वं प्रतिपन्नः, इदमपि **वक्ष्यमाणस्येति**पदेन सूचितम्। अतः प्रागुक्तेभ्यो योगिभ्योऽधिकस्य वक्ष्यमाणस्य योगिनः प्रस्ताव एवायं भवितुमर्हति; ततश्च पञ्चम्यर्थत्वे विवक्षणीये न निर्धारणे षष्ठी सम्भवतीति 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इति सामानाधिकरण्येन योजनायामपिशब्दस्य मन्दप्रयोजनत्वं स्यात्, योगिनां हि प्रशंसा तदा सूचिता स्यात्, सा च प्रागेव प्रतिपन्नत्वादत्र न सूचनमपेक्षते। समुद्रादपि विपुलोऽयमित्यादिव्यवहारेष्विव विपरीतप्रतीतिश्च स्यात्;अपिशब्दस्य समुच्चयार्थत्वं प्रसिद्धिप्रकर्षवदत्रापि सम्भवदपरित्याज्यम्; 'योगिनामपि' इत्यनेनैव गतार्थत्वेन सर्वशब्दश्च नात्यन्तापेक्षितः; यदि चापेः समुच्चयार्थत्वं सर्वशब्दस्य च समुच्चेतव्यार्थान्तरपरत्वं सम्भवति, अतस्तदेवोपादातुमुचितम्। सम्भवन्ति चात्र सर्वशब्दार्थतया तपस्विप्रभृतयः प्रसक्ताः; ते च न योगिशब्देन संगृहीताः; मुख्ये सम्भवति च तेन तल्लक्षणा न युक्ता। योगिभ्यो न्यूनानामपि तेषामुपादानं दृष्टान्तार्थतयाऽत्यन्तोचितमेव। योगिनां तपस्विप्रभृतीनां च समुच्चयोऽवरत्वसाम्यप्रतिपादनौपयिकत्वादत्यन्तापेक्षितः। तदेतत्सर्वमभिप्रयन्नाह— **अपि सर्वेषामिति**। **उक्तेन न्यायेनेति**। प्रकरणवशात्तेष्वनन्तर्गतत्वादन्तर्भावयितुमशक्यत्वाच्चेति भावः।

**३ रा. भा.— योगिभ्योऽपि सर्वेभ्यो वक्ष्यमाणो योगी युक्ततमः। तदपेक्षया अवरत्वे तपस्विप्रभृतीनां योगिनां च न कश्चिद्विशेष इत्यर्थः, मेर्वपेक्षया सर्षपाणामिव। यद्यपि सर्षपेष्वन्योन्यन्यूनाधिकभावो विद्यते, तथापि मेर्वपेक्षया अवरत्वनिर्देशः समानः।**

४ वे. ता. चं.— तपस्व्यादिसङ्ग्रहाभिप्रायं वक्तुं फलितमन्वयमाह— **योगिभ्य इति**। **युक्ततम इति**— अधिक इत्यर्थः। यद्वा योगिनां तपस्विप्रभृतीनां च यथास्वमुपाययुक्तत्वात्तेभ्यः सर्वेभ्योऽयमतिशयितोपाययुक्त इत्यर्थः। अथवा, योग्यतम इत्यर्थः। एतदखिलमभिप्रेत्य 'श्रेष्ठतमः' इति वक्ष्यति। योगिभ्योऽपि न्यूनतमास्तपस्विप्रभृतयः किमर्थमत्र संगृह्यन्त इत्यत्र दृष्टान्तार्थतां विशदयति **तदपेक्षयेति**। लौकिकोदाहरणेन द्रढयति **मेर्वपेक्षयेति**। नन्ववरत्वे न कश्चिद्विशेष इत्ययुक्तम्; तथासति तपस्विप्रभृतीनां योगिनां चात्यन्तसमत्वप्रसङ्गात्; अस्ति च विशेषो मेर्वपेक्षयापि सर्षपाणां मात्रया न्यूनाधिकभावेनावरत्वावरतरत्वरूपः; तत्राह— **यद्यपीति**। नेदानीं मिथस्तारतम्यं निषिध्यते; किन्तु मिथस्तारतम्यवतामप्यत्यन्तातिशयितापेक्षया न्यूनत्वमात्रमविशिष्टं तावतैव चावरत्वव्यवहारोऽप्यविशिष्टो जायत इति भावः।

**३ रा. भा.— मत्प्रियत्वातिरेकेणानन्यसाधारणस्वभावतया मद्गतेन अन्तरात्मना मनसा—**

---

१ 'यत्र नान्यद्विजानाति नान्यच्छृणोति च। नान्यत्पश्यति तस्मिन्वै स भूमा प्रोच्यते श्रुतौ॥ यो भूमा सोऽमृतः प्रोक्तः सुखं नाल्पे' इति सकलसांसारिकव्यवहाराभावोपलक्षितं तत्त्वं भूमशब्देनोच्यते। तद्विद्यायाम्, ब्रह्मविद्यायामित्यर्थः।

बाह्याभ्यन्तरसकलवृत्तिविशेषाश्रयभूतं मनो ह्यन्तरात्मा, अत्यर्थं मत्प्रियत्वेन मया विना स्वधारणालाभान्मद्गतेन मनसा—श्रद्धावान् अत्यर्थमत्प्रियत्वेन क्षणमात्रविश्लेषासहतया मत्प्राप्तिप्रवृत्तौ त्वरावान् यो मां भजते, मां विचित्रानन्तभोग्यभोक्तृवर्गभोगोपकरणभोगस्थानपरिपूर्णनिखिलजगदुदयविभवलयलीलं अस्पृष्टाशेषदोषानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृत्यसङ्ख्येयकल्याणगुणगणनिधिं, स्वाभिमतानुरूपैकरूपाचिन्त्यदिव्याद्भुतनित्यनिरवद्यनिरतिशयौज्ज्वल्यसौन्दर्यसौगन्ध्यसौकुमार्यलावण्ययौवनाद्यनन्तगुणनिधिदिव्यरूपं, वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावं, अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदार्यैश्वर्यमहोदधिम्, अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यं प्रणतार्तिहरम्, आश्रितवात्सल्यैकजलधिम्, अखिलमनुजनयनविषयतां गतम्, अजहत्स्वस्वभावं, वसुदेवगृहेऽवतीर्णं, अनवधिकातिशयतेजसा निखिलं जगद्भासयन्तं, आत्मकान्त्या विश्वमाप्याययन्तं भजते सेवते; उपास्त इत्यर्थः। स मे युक्ततमो मतः स सर्वेभ्यः श्रेष्ठतम इति सर्वं सर्वदा यथावस्थितं स्वत एव साक्षात्कुर्वन् अहं मन्ये ॥ ४७ ॥

## इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

४ वे. ता. चं.— **मत्प्रियत्वातिरेकेणे**ति—अहं प्रियः प्रीतिविषयो यस्य स मत्प्रियः, तस्य भावस्तत्त्वं भक्त्यतिरेकेणेत्यर्थः। **अनन्यसाधारणस्वभावतये**ति—स्वाभिमतभोग्यमेव हि धारकमिति भावः। बाह्येन्द्रियशरीराद्यपेक्षयाऽत्र मनसोऽन्तरात्मशब्दवाच्यत्वम्। भक्तिकाष्ठादशायां श्रद्धाशब्दस्येच्छादिमात्रविषयत्वमनुचितम्; अत इच्छाकार्यत्वराविषयतामिच्छायाश्च त्वराहेतुं तीव्रदशापत्तिं दर्शयति—**अत्यर्थे**त्यादिना। भजनीयतया निर्दिष्टस्य श्रुतिस्मृत्यादिशतैः, वक्ष्यमाणषट्कद्वयेन चोक्तानुपासनोपयुक्ताकारान्मामित्यनेन विवक्षितान् दर्शयति **विचित्रे**त्यादिना **आप्याययन्त**मित्यन्तेन। तत्रापि 'वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावम्' इत्यन्तानि विशेषणानि परत्वौपयिकानि। ततः पराणि तु सौलभ्यौपयिकानीति विवेकः। तदुभयाभिधानं च अतिसुलभस्य तृणादेः, अतिदुर्लभस्य मेर्वादेश्चान्यतरवैकल्येनानुपादेयत्वात्। कारणवाक्यस्थानां सद्ब्रह्मात्मादिसामान्यशब्दानामनन्यथासिद्धविशेषोपस्थापकनारायणपदार्थपर्यवसानमभिप्रयन् 'जन्माद्यस्य यतः' [ ब्र. सू. १।१।२ ] इति सूत्रनिरूपितार्थेन "यतो वा इमानि" [ तै. उ. ३।१ ] इत्यादिवाक्येन प्रतिपादितं जिज्ञास्यस्य ब्रह्मणो लक्षणं दर्शयिष्यमाणजगत्कारणत्ववैश्वरूप्यादिवैभवे धनञ्जयसारथौ दर्शयति—**विचित्रे**ति। कारणत्वमुखेन लीलाविभूतियोगः प्रतिपादितः; अथ कारणत्वशङ्कितदोषवत्त्वगुणवैकल्यशङ्कानिवृत्त्यर्थं शोधकवाक्यादिसिद्धमुभयलिङ्गत्वं दर्शयति—**अस्पृष्टे**ति। **अस्पृष्टाशेषदोषे**त्यस्य गुणविशेषणत्वे दोषसामानाधिकरण्याभावो विवक्षितः; गुणिविशेषणत्वे दोषात्यन्ताभावः।

अथ शुभाश्रयाप्राकृतविग्रहविशिष्टत्वप्रतिपादनमुखेन दिव्याभरणायुधमहिषीपरिजनस्थानादियोगमुपलक्षयन् नित्यविभूतियोगं सूचयति—**स्वाभिमते**ति। एवमुभयविभूतियोगादुभयलिङ्गत्वाच्च फलितं केवलपरत्वे वाङ्मनसापरिच्छेद्यतयोपासनायोग्यत्वमपि सूचयितुं परत्वातिशयमाह—**वाङ्मनसे**ति। स्वरूपमीश्वरत्वादिकम्; आनन्दत्वादिकं वा। स्वभावस्तु निरूपितस्वरूपविशेषका धर्माः। उक्तं परत्वमेव स्वरूपम्, वक्ष्यमाणं सौलभ्यं तु स्वभाव इत्येके। अवतारसौलभ्यहेतूनाह—**अपारे**त्यादिना। प्रत्येकमेषां महोदधिं 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः'[ ९।३२ ] 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम' [वा.रा.६।१८।३३ ]'सर्वलोकशरण्याय'[वा.रा. ६।१७।१७ ]' 'यदि वा रावणः स्वयम्' [ वा. रा. ६। १८।३४ ] इत्यादिभिः सिद्धं दर्शयति—**अनालोचिते**ति। विशेषाः जातिगुणवृत्तविद्यादिरूपाः। उक्ताः कारुण्यादिगुणाः एवंविधशरण्यत्वे हेतवः। शरण्यशब्देनाभिगमनीयत्वमुक्तम्; तत्फलभूतविरोधिनिरसनशीलतामाह—**प्रणतार्तिहर**मिति। सर्वसाधारणतया गुणान्तरैः सह निर्दिष्टमपि वात्सल्यगुणं भूयोऽपि विशेषसम्बन्धानुसन्धानाय, विशेषतोऽवतारेषु कार्यकरत्वज्ञापनाय, सापराधानामभीतये, ज्ञानादिरहितदशायामपि स्वयमेव रक्षक इति प्रदर्शनाय, तत्प्रतिबन्धकभूतपरमात्मवैमुख्यनिवृत्तये च पृथगनुसन्धत्ते **आश्रितवात्सल्यैकजलधि**मिति। उक्तकारुण्यादिगुणगणफलितं प्रकृतावतारस्यावतारान्तराद्वैलक्षण्यमाह—**अखिले**ति। 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा' [ ४।६ ] इत्यादिना पूर्वोक्तं स्मारयति **अजहदि**ति। अवतारविशेषमाश्रितो हि मामित्याहेत्यभिप्रायेणाह—**वसुदेवे**ति। तेजःकान्तिरूपावतारविग्रहगुणविशेषाभ्यां अवतारदशायामेव परत्वसौलभ्यव्यञ्जकाभ्यां उपासकचित्ताकर्षणमभिप्रेत्याह **अनवधिके**ति। अत्रापि भास्वरत्वं तेजः, तत एवानभिभवनीयत्वमपि सिद्धम्। कान्तिस्तु रामणीयकं; लावण्यापरपर्यायचन्द्रिकाकल्पा प्रभा वा। अतएव हि **आप्याययन्त**मित्युक्तम्। एतेन 'विश्वमाप्याययन् कान्त्या' [ सा. सं. २।७० ] स्मारितम्।

'भजते' इत्यस्य विवक्षितं वक्तुं धातुपाठपठितमर्थं तावत्

दर्शयति सेवत इति । 'सेवा भक्तिरुपास्तिः' इति नैघण्टुकप्रसिद्धिमाश्रित्य विवक्षिते श्रुतिप्रसिद्धे स्थापयति उपास्त इत्यर्थ इति । 'योगिनामपि सर्वेषाम्' इत्युक्तं वर्गद्वयं सङ्कलय्य सर्वेभ्य इत्युक्तम् । 'मे मतः' इत्यत्रास्मच्छब्दाभिप्रेतमाह— सर्वमित्यादिना । अत्रापि 'यो वेत्ति युगपत्' [न्या. त.] इत्यादिकमनुसंहितम् ॥ ४७ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु भगवद्रामानुजविरचित-
श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

५ आ. मा. भा.—॥ ४७ ॥ ६ ज. प्र. दी. ॥ ४७ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थ- भगवत्पादाचार्य- विरचितस्य गीताभाष्यस्य टीकायां
जयतीर्थमुनिविरचितायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

७ ह. पै. भा.— योगिनामपि सर्वेषां रुद्रादित्यादिपराणां मद्गतेन वासुदेवे मयि समागतेनान्तरात्मनाऽन्तःकरणेन च श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमोऽतिशयेन युक्तो मतोऽभिमेत इति ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीता-
व्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमध्यायार्थमुपसंहृत्य सम्प्रति प्रथममध्यमषट्कयोः सङ्गतिप्रदर्शनाय मध्यमषट्कप्रतिपाद्यमर्थमुपक्षिपति— योगिनामिति । अत्र भक्तियोगस्य ज्ञानयोगादपि श्रैष्ठ्यं न विवक्षितम्, भक्तेर्ज्ञानरूपत्वे कर्मरूपत्वे वा 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी'[६।४६] इति योगस्य ज्ञानकर्माधिक्यप्रतिपादकपूर्ववाक्येन 'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [७।१८] इत्याद्युत्तरवाक्यैश्च विरोधात्, 'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' [१८।५५] 'यस्य देवे परा भक्तिः' [ ] इत्यादिना ज्ञानसाधनत्वेनोक्ताया भक्तेः फलत्वेन प्रधानभूताज्ज्ञानादाधिक्यायोगाच्च । किंतु देवतान्तरभक्तियोगापेक्षया भगवद्भक्तियोगस्य श्रैष्ठ्यमुच्यते, 'योगिनामपि सर्वेषां वसुरुद्रादित्यपराणाम्'[शं.]इति भाष्योक्तेः। एतेन 'योगिनामिति पञ्चम्यर्थे षष्ठी, भगवद्भक्तियोगस्य पूर्वोक्तयोगेष्वनन्तर्गतत्वेन निर्धारणे षष्ठ्यसम्भवात् । तथा च सर्वेभ्योऽपि योगिभ्यो वक्ष्यमाणो भक्तियोगी युक्ततमो मत इत्यर्थः' इति रामानुजव्याख्यानं प्रत्युक्तम्; योगशब्दस्य देवताभजनयोगपरत्वेन निर्धारण एव षष्ठ्युपपत्त्या विभक्तिविपरिणामस्यायुक्तत्वात् । एवं चायमर्थः— यो मां भजते स सर्वेषां योगिनां देवताभक्तानां मध्ये युक्ततमः श्रेष्ठो योगीति मे मम परमेश्वरस्य मतो निश्चितः । राजानं भजते भृत्यः, तद्वदेव किं तव भजनम्? तत्राह— मद्गतेनान्तरात्मना मयि प्रेमासक्तेन मनसेत्यर्थः । भृत्यस्य हि स्वभार्यायां मनो राज्ञि भजनम्, न तु राजासक्तमनसा राजभजनम् । क्वचिद्दानमानादिना राजसत्कृतो भृत्यस्तद्गतेनैवान्तरात्मना तं भजते; ततस्तत्साधारणं व्यावर्तयितुं श्रद्धावानिति । श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणप्रसिद्धमदीयपरमेश्वरत्व–परमकारुणिकत्व–प्रणतपालकत्वादिविषयकसत्यत्वविश्वासः श्रद्धा, तद्वानित्यर्थः । अतस्त्वमप्येवंविधो मद्भक्तो भवेत्यर्थः । अत्र 'श्रद्धावान्भजते यो मां' इत्यनेन तत्पदार्थभूतो भगवांस्तद्भक्तिश्च मध्यमषट्कप्रतिपाद्यार्थः प्रदर्शितः। तेन कर्मतत्संन्यासप्रतिपादनमुखेन सोपपत्तिकत्वम्पदार्थनिरूपणपरस्य तस्य प्रथमषट्कस्य भगवद्भक्तिनिष्ठाप्रतिपादनद्वारा तत्पदार्थनिरूपणप्रवृत्तेन मध्यमषट्केन सङ्गतिरिति दर्शितं भवति ॥ ४७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीम-
द्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने
भगवद्गीताव्याख्याने षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

९ व० त० दी०— योगिनामपि सर्वेषां मध्ये मत्पुष्टिभक्तिपरायणः श्रेष्ठः । यन्निरुद्धं मय्येव चित्तं फलादौ च समं योगेऽपेक्षितं युक्तं तथाभूतेनान्तरात्मना श्रद्धावान् श्रीमदाचार्यवर्योपदेशवाक्येष्वास्तिक्यबुद्धिमान् सन् मां वासुदेवं भजते सेवते यः स मे युक्ततमो मतः । अतो योगफलितशरणभक्तिमान् भवेति गूढाभिसन्धिः ।

अतएवोक्तमाचार्यरत्नैः—'साङ्ख्ययोगौ निरूप्यादौ मोहमुत्सार्य फाल्गुने । भक्तिपीयूषपातारं कृतवानिति संग्रहः ॥ उक्तमध्यायषट्केऽपि स्वधर्मकरणं मतम् । विवेकेन च धैर्येण साङ्ख्ये योगे च भक्तितः ॥' सूत्रवदिदमुक्तम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— योगिनोऽपि बहुविधा इति तन्मध्ये दास्यधर्मेण भजनवानुत्तम इत्याह— **योगिनामपीति** । सर्वेषामपि योगिनां मध्ये योगिनस्त्रिविधाः; योगाभ्यासेन भगवद्ध्याननिष्ठाः, भक्तियोगेन साधनसेवनपराः, रसात्मकस्वसंयोगभावनिष्ठाः,तन्मध्ये मद्गतेन अन्तरात्मना भावात्मकस्वरूपेण मम स्वशक्तिसंयोगेच्छारूपयोगेन मदर्थं श्रद्धावान् प्रेमयुक्तो यो मां भजते स मे मम युक्ततमः अत्यन्तं युक्तः प्रियो मतोऽभिमत इत्यर्थः । अतस्तथाभावेन त्वं योगी भवेति भावः ॥ ४७ ॥

दास्यात्मकस्वयोगेन भक्तिमार्गभ्रमं हि यः । नाशयामास पार्थस्य स मे कृष्णः प्रसीदतु ॥ १ ॥

इति श्रीगीतामृततरङ्गिण्यां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०—समाप्तः कर्मप्रधानस्त्वम्पदार्थविवेकः । अतः परमुपासनाप्राधान्येन तत्पदार्थं निरूपयितुकामस्तदुपासनं महाफलत्वेन स्तौति–योगिनामिति । 'दैवमेवापरे यज्ञं' [४।२५] इत्यादिना चतुर्थाध्यायप्रोक्ता द्वादश योगास्तद्वतां योगिनां सर्वेषां मध्ये यो मद्गतेन मयि वासुदेवे समर्पितेनान्तरात्मना चित्तेन श्रद्धावान् सन् मां भजते स मे मम युक्ततमोऽतिशयेन युक्तः श्लाघ्यो मतोऽभिप्रेतः । तस्मान्मद्भक्तो भवेति भावः ॥ ४७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतायां नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशे षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

( श्लोकानामादितः समष्ट्यङ्काः २८० )

इति प्रथमषट्कम् ।

---

## श्रीमद्भगवद्गीतायाः षष्ठाध्यायस्य माहात्म्यम् ६ ।

श्रीशिव उवाच—

षष्ठाध्यायस्य माहात्म्यं प्रवक्ष्यामि वरानने ! ।
यदाकर्णयतां नृणां मुक्तिः करतले स्थिता ॥ १ ॥
अस्ति गोदावरीतीरे प्रतिष्ठानं पुरं महत् ।
पिप्पलेशाभिधानोऽहं यत्रास्मि स्मेरलोचने ! ॥ २ ॥
यत्र गोदावरीवारिशीकरैरेव शीतलैः ।
हंसाः पक्षपुटोद्गीर्णैर्हरन्ति यमिनां श्रमम् ॥ ३ ॥
स्फुरत्पद्मावलीकोशपरागसुरभीकृतम् ।
श्लाघ्यं गोदावरीतोयं येन ते निर्जरा नराः ॥ ४ ॥
धिक्सुधामोषधीनाथबिम्बक्षयविधायिनीम् ।
महाराष्ट्रवधूनां च मज्जन्तीनां मुनीश्वराः ॥ ५ ॥
स्पृशन्ति यत्र वक्त्राणि फुल्लपङ्कजशङ्कया ।
यत्र खेलन्महाराष्ट्रीक्वणत्कङ्कणदन्तुराः ॥ ६ ॥
हरन्ति ध्वनयोऽलीनां मनांस्यपि तपस्विनाम् ।
अत्युच्चसौधशिखरविहारिवनितामुखम् ॥ ७ ॥
पश्यन्ननुदिनं यत्र क्षीयते मृगलाञ्छनः ।
[illegible]च्चसौधवलभीमहामणिमरीचिभिः ॥ ८ ॥
[illegible]रे मुनिगन्धर्वैर्दूर्वाचन्दनचञ्चलैः ।
[illegible]ानानां पताकानां समीरणैः ॥ ९ ॥
गतश्रमा रवेर्याने भवन्ति रथवाजिनः ।
राशीकृतैर्मलयजैरसङ्ख्यैर्वणिजां गणैः ॥ १० ॥
यस्मिन्नुपलशेषोऽसौ लक्ष्यते मलयाचलः ।
पुञ्जीकृतानि दृश्यन्ते यत्र मुक्ताफलान्यपि ॥ ११ ॥
नगरीदेवताहास्यस्तवका इव सर्वतः ।
तत्र जानश्रुतिर्नाम्ना मेदिनीवल्लभोऽभवत् ॥ १२ ॥
यस्मिन्नुद्धरति क्षोणीं शेषोऽयं मणिसन्निभाम् ।
अपि प्रतापमार्तण्डमण्डलीकृततेजसि ॥ १३ ॥
नित्यमध्वरधूमेन श्यामलाः कल्पशाखिनः ।
असाधारणदातृत्वं पश्यन्त इव लज्जया ॥ १४ ॥
यदध्वरपुरोडाशचर्वणास्वादलम्पटाः ।
न तत्यजुः सुपर्वाणः प्रतिष्ठानपुरं पराक् ॥ १५ ॥
यस्य दानाम्बुधाराभिः प्रतापज्योतिषाऽनिशम् ।
मखधूमैश्च सम्पुष्टा ववृषुः समये घनाः ॥ १६ ॥
अपि कामं स्वल्पमात्रं न पदं प्रापुरीतयः ।
नीतयः प्रसरन्ति स्म यस्मिञ्छासति मेदिनीम् ॥ १७ ॥
वापीकूपतडागानां छद्मना योऽनुवासरम् ।
हृदयस्थानि मेदिन्या निधानानि व्यलोकयत् ॥ १८ ॥
पाण्डुराभिः पताकाभिः प्रासादो यस्य राजते ।
वियद्गङ्गातरङ्गौघैर्हिमाद्रिरिव सानुमान् ॥ १९ ॥
दानैस्तपोभिर्यज्ञैश्च प्रजानां पालनेन च ।
तुष्टाः स्वर्गौकसस्तस्मै वरं दातुं समागमन् ॥ २० ॥
ततोऽन्तरिक्षमार्गेण धुन्वानाः पक्षसंहतीः ।
मृणालधवला देवि ! देवहंसा विनिर्गताः ॥ २१ ॥
त्वरया गच्छतां तेषामन्योन्यं तत्र भाषिणाम् ।
भद्राश्च प्रमुखा द्वित्राः पुरस्तान्निर्ययुर्जवात् ॥ २२ ॥
पाश्चात्यहंसा ऊचुस्तान्पुरस्ताद्गच्छतो जवात् ।

पाश्चात्यहंसा ऊचुः—
कथं वेगेन निर्याता भवन्तः पुरतः स्थिताः।
सर्वैर्मिलित्वा गन्तव्यमस्मिन्नध्वनि दुर्गमे ॥ २३ ॥
प्रकाशमानं पुरतस्तेजःपुञ्जं न पश्यथ।
जानश्रुतेर्महीभर्तुः पुण्यमूर्तेरतिस्फुटम् ॥ २४ ॥
श्रीशिव उवाच—
निशम्येति वचः सम्यक्पाश्चात्यानां पुरस्स्थिताः।
हंसा हसित्वा सावज्ञमूचुर्वचनमुच्चकैः ॥ २५ ॥
पुरस्स्थितहंसा ऊचुः—
रैक्वाभिधस्य दुर्धर्षतेजसो ब्रह्मवादिनः।
किन्तु जानश्रुतेरस्य राज्ञस्तीव्रतरं महः ॥ २६ ॥
श्रीशिव उवाच—
इति शुश्राव हंसानां गिरो जानश्रुतिर्नृपः।
अत्युच्चसौधभवनादवरुह्य सुखं स्थितः ॥ २७ ॥
ततः सारथिमाहूय भूपालो विस्मयान्वितः।
सन्दिदेश महात्माऽसौ रैक्व आनीयतामिति ॥२८॥
ततोऽवधार्य भूपालवचः पीयूषसोदरम्।
निर्जगाम महो नाम्ना सारथिः प्रथयन्मुदा ॥२९॥
यत्र वाराणसी नाम नगरी मुक्तिदायिनी।
यत्र विश्वेश्वरो नृणामुपदेष्टा जगत्पतिः ॥ ३० ॥
ततो गयाभिधे क्षेत्रे यत्र देवो गदाधरः।
उद्धर्तुमखिलाँल्लोकान्वसत्युत्फुल्ललोचनः ॥ ३१ ॥
ततो गौरीगुरोः पार्श्वे सर्वैस्तीर्थैरनेकधा।
पर्यटन्गतवान्यत्र केदारः पापदारणः ॥ ३२ ॥
यमालोक्य सकृन्मर्त्या मुक्ताः स्युर्नात्र संशयः।
महापातकनिर्मुक्ता भुक्त्वा भोगान्यथेप्सितान्॥३३
ततो गौडेषु निर्यातो यत्राऽऽस्ते पुरुषोत्तमः।
यस्याऽऽलोकनमात्रेण नराः स्वर्लोकगामिनः॥३४॥
ततो द्वारावतीमागान्नगरीं मुक्तिदायिनीम्।
यत्रास्ति गोमतीतीरे रुक्मिणीवल्लभो हरिः ॥३५॥
स्नात्वा तु गोमतीतीर्थे पञ्चकृष्णान्विलोक्य वै।
मर्त्यो मुक्तिमवाप्नोति भुक्त्वा भोगान्यथेप्सितान्॥
ततः समुद्रमासाद्य सोमनाथं विलोक्य च।
भुक्तिमुक्तिप्रदं देवं ततो निरगमत्सुधीः ॥ ३७ ॥
ततोऽवन्तीपुरीं प्राप्तो भुक्तिमुक्तिप्रदायिनीम्।
यत्रोमया सुखं क्रीडन्महाकालोऽस्ति शङ्करः॥३८॥
अथोङ्कारं समासाद्य शर्मदं नर्मदातटे।
भुक्तिमुक्तिप्रदातारं त्वरया निर्गतस्ततः ॥ ३९ ॥
अश्वमेधकरं नाम्ना नगरं पर्यटंस्ततः।
यत्र शार्ङ्गधरः साक्षादास्ते लक्ष्मीपतिः स्वयम्॥४०॥
ततो विष्णुगयां प्राप्तः कुण्डं लोणारसंज्ञितम्।
यत्र स्नात्वा च पीत्वा च मुच्यते बन्धनान्नरः॥४१॥
ततः कोल्हापुरं नाम गतो रुद्रगयां प्रति।
आस्ते भगवती यत्र लक्ष्मीर्भक्तिप्रदायिनी ॥४२॥
पञ्चनद्यां नरः स्नात्वा महालक्ष्मीं विलोक्य च।
भुक्त्वा भोगान्यथाकामं भक्तिं च प्रतिपद्यते॥४३॥
ततोऽमलगिरिं नाम नगरीं प्रतिपद्य च।
नन्दिकेश्वरमारुह्य सोमनाथोऽस्ति यत्र तु ॥४४॥
दृष्ट्वा चतुर्भुजं देवं वरदानोद्यतं शिवम्।
सोमनाथं नृणां मुक्तिर्भवत्येव न संशयः ॥ ४५ ॥
तुङ्गभद्रानदीतीरे दृष्ट्वा हरिहरं ततः।
युगे युगे भुजा यस्य पतन्त्यवनिमण्डले ॥ ४६ ॥
यद्विलोक्य नराः सर्वे रम्यं हारिहरं वपुः।
भुक्त्वा भोगान्यथाकामं मुच्यन्ते बन्धनान्नराः॥४७॥
स्वर्गे कल्पशतं स्थित्वा मुक्तसंसारबन्धनाः।
ततः स्वामिनमालोक्य लोकानां स्वामिनं विभुम्॥
यमालोक्य न पश्यन्ति निरयं जातुचिन्नराः।
स्वर्गे कल्पशतं स्थित्वा मुक्तसंसारवासनाः॥४९॥
मुक्तिं च प्रतिपद्यन्ते नात्र कार्या विचारणा।
ततः श्रीशैलमासाद्य सिद्धगन्धर्वसेवितम् ॥ ५० ॥
गिरिजावल्लभो यत्र मल्लिनाथोऽभिधानतः।
उद्धर्तुमखिलाँल्लोकान्संसाराम्भोधिमध्यतः ॥५१॥
काले काले परं ज्योतिर्यः सन्दर्शयते स्वयम्।
अवलोकयतां नृणां यमनुस्मरतामपि ॥ ५२ ॥
दूरे तिष्ठन्ति सन्त्रस्ता दूरे निरययातनाः।
स्वर्गलोके सुखं भुक्त्वा मुक्तसंसारयातनाः ॥५३॥
मुक्तिं च प्रतिपद्यन्ते मानवा नात्र संशयः।
रामोऽपि सानुजः सार्धं जानक्याऽपि ततो गतः ५४
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च मुच्यते नरकाद्ध्रुवम्।
कल्पकोटिशतं भुक्त्वा स्वर्गलोके सुखं नराः ५५
मुक्तसंसारवर्त्मानो मुक्तिं यान्ति न संशयः।
ततो निवृत्त आयातः पश्यन्भीमरथीतटे ॥ ५६ ॥
द्विभुजं विट्ठलं विष्णुं भुक्तिमुक्तिप्रदायकम्।
यत्र भीमरथीतीरे बिन्दुमाधवसंज्ञितः ॥ ५७ ॥
हरिः स वर्ततेऽद्यापि भुक्तिमुक्तिप्रदो नृणाम्।
यत्र गोदावरीजन्मस्थानं ब्रह्मगिरिर्महान् ॥ ५८ ॥
गौतमालयमासाद्य यत्राऽऽस्ते त्र्यम्बकेश्वरः।
अरुणावरुणामध्ये यत्र गोदावरी नदी ॥ ५९ ॥
तत्र स्नात्वा च पीत्वा च ब्रह्महत्या विलीयते।
असङ्ख्यतीर्थसम्पन्नं दृष्ट्वा ब्रह्मगिरिं नराः ॥ ६० ॥
मुक्तिमेव प्रपद्यन्ते मुक्ताः संसारदुःखतः।
गौतम्युभयतीरस्थतीर्थान्वेषणकौतुकी ॥ ६१ ॥
ततो जगाम सूतस्तु मथुरां पापनाशिनीम्।
यत्र स्वायम्भुवं देवं भजन्ति सुरमानवाः ॥ ६२ ॥
आद्यं भगवतः स्थानं महन्मुक्तिप्रदायकम्।
त्रैलोक्येशजनिस्थानं विख्यातं वेदशास्त्रयोः ॥६३॥
नानादेवगणैर्जुष्टं द्विजर्षिगणसेवितम्।
कालिन्दीकूलसंशोभि ह्यर्धचन्द्रप्रभाकृति ॥ ६४ ॥

सर्वतीर्थनिवासैकपूर्णमानन्दसुन्दरम् ।
गोवर्धनगिरिप्रख्यं पुण्यद्रुमलतावृतम् ॥ ६५ ॥
द्विषड्वनं महापुण्यं विश्रान्तिश्रुतिसारभृत् ।
ततः काश्मीरनगरमपश्यत्प्रत्ययगुत्तरम् ॥ ६६ ॥
दृष्ट्वा धर्मधुरं क्षेत्रं कुरुक्षेत्रं समन्ततः ।
यत्राभ्रंलिहगेहानां पङ्क्तयः शङ्खपाण्डुराः ॥ ६७ ॥
ता जाता धूर्जटेः स्पष्टमट्टहासदृशा इव ।
भाति प्रासादमालानां सुवर्णकलशैर्वृतम् ६८ ॥
स्वस्सिन्धोः पतितानीव हेमपद्मानि मारुतैः ।
यत्र प्रासादशिखरे नीलपट्टपताकिकाः ॥ ६९ ॥
शैवालावलयो भान्ति स्वस्सिन्धोर्लतिका इव ।
यत्र काश्मीरमाश्रित्य नित्यं वसति भारती ॥ ७० ॥
नो चेद्युगपदेवेदं कथं लिखति वाङ्मयम् ।
विश्राम्यन्त्याः सरस्वत्याश्चिरं यत्र मदालसाः ७१
मृणालचञ्चवो हंसा वाहनानि चरन्त्यमी ।
कलाविशेषं प्राहिता यत्र बोद्धुं विरिञ्चिना ॥ ७२ ॥
तारा इव विराजन्ते हंसा याताः समन्ततः ।
स्थलपद्मानि दृश्यन्ते करस्पर्शसुखानि च ॥ ७३
शयनाय नितम्बिन्या यस्मिन्दानववैरिणः ।
उपन्यासैर्द्विजातीनां यत्र न श्रूयते स्फुटम् ॥ ७४ ॥
मूकोऽपि निर्जरो वाचापदकल्लोलडम्बरः ।
यदीयाध्वरधूमेन व्याप्तं गगनमण्डलम् ॥ ७५ ॥
अपि च क्षालितं मेघैः कालिमानं न मुञ्चति ।
गलितायाः सुधायास्तु यत्राध्वरमहार्चिषा ॥७६॥
लाञ्छितं छद्मना स्थानं दृश्यते तुहिनत्विषि ।
जन्माभ्यासवशादेव पठन्ति बटवः स्वयम् ॥७७॥
यत्रोपाध्यायसान्निध्यमाश्रित्य सकलाः कलाः ।
यत्र ब्राह्मणपत्नीनां कपोलफलकं मुहुः ॥ ७८ ॥
स्पृशन्समीरणो मन्दं वाति शापभयादिव ।
यत्र ब्राह्मणपत्नीनां कङ्कणध्वनिहुङ्कृतिः ॥ ७९ ॥
लुम्पत्यनुदिनं भ्राम्यद्भ्रमरावलिगुञ्जितम् ।
माणिक्येश्वरनामाऽसौ यत्र शीतांशुशेखरः ॥८०॥
वसत्यनुदिनं देवो वरदानाय देहिनाम् ।
अर्चितो भूपतीञ्जित्वा मणिकेश उदाहृतः ॥ ८१ ॥
माणिक्येश्वर इत्याख्यां तदाप्रभृति यो दधौ ।
राज्ञा काश्मीरदेवेन दिग्जयोत्सवकारिणा ॥ ८२ ॥
असौ सुपूजितो यस्मान्माणिक्यैर्भूरिभूतिभिः ।
संसेवमानं तद्द्वारि छायां शकटिकोपरि ॥ ८३ ॥
कण्डूयमानमङ्गानि यन्ता रैक्वमपश्यत ।
राज्ञाऽपि कथितैस्तैस्तैश्चिह्नैः परिचितं जवात् ॥
प्रणतः सारथी रैक्वं सम्प्रणम्याभ्यभाषत ॥ ८४ ॥

सारथिरुवाच—
कस्मिन्ब्रह्मन्किंनामाऽसि स्वच्छन्दोऽसि निरन्तरम् ।
किमर्थमत्र विश्रान्तः किञ्च कर्तुं चिकीर्षसि ॥८५॥
श्रीशिव उवाच—
इत्याकर्ण्य च तद्वाक्यं परमानन्दनिर्भरः ।
स्मृत्वा सारथिमित्यूचे वयं पूर्णमनोरथाः ॥ ८६ ॥
परं केनापि बहुना परिचर्याविधायिना ।
भवितव्यं मनोवृत्तिं जानताऽस्माकमेव हि ॥ ८७॥
हृदयस्थितमादाय रैक्वाभिप्रायमादरात् ।
शनैर्निरगमद्यन्ता यत्राऽऽस्ते वसुधाधिपः ॥८८ ॥
ततः प्रणम्य भूपालं यथावृत्तं न्यवेदयत् ।
बद्धाञ्जलिपुटो हृष्टः सारथिः स्वामिदर्शनात् ॥८९॥
ततो निशम्य तद्वाक्यं विस्मयस्मेरलोचनः ।
श्रद्धालुरभवद्भूयो रैक्वसम्भावनाविधौ ॥ ९० ॥
आदायाश्वतरीयुग्मयुतां शकटिकामगात् ।
मुक्ताहारदुकूलानि सहस्रं च गवां नृपः ॥ ९१ ॥
गतोऽसौ तत्र यत्राऽऽस्ते योगी काश्मीरमण्डले ।
तन्निवेद्य पुरो राजा दण्डवत्पतितो भुवि ॥ ९२ ॥
नम्राय परया भक्त्या रैक्वो राज्ञे चुकोप ह ।
रे शूद्र ! मामकं वृत्तं न जानासि दुरीश्वर ! ॥९३॥
गृहाण शकटीमेतामुत्थायाश्वतरीयुताम् ।
वस्त्राणि मुक्ताहारांश्च गाश्च दोग्ध्रीरपि स्वयम् ९४
इत्थमाज्ञप्तवान्भूयो रैक्वोऽस्य भयमादधे ।
ततः शापभयाद्राजा तत्पदाम्बुरुहद्वयम् ॥
गृह्णन्भक्त्या प्रसीदेति ब्रह्मन्नित्यूचिवान्स्वयम् ॥९५॥
राजोवाच—
भगवंस्तव माहात्म्यमेतदत्यद्भुतं कुतः ।
प्रसन्नीभूय भगवन्व्याख्याहि मम तत्त्वतः ॥ ९६ ॥
रैक्व उवाच—
गीतानां षष्ठमध्यायं जपामि प्रत्यहं नृप ! ।
तेनैव तेजोराशिर्मे सुराणामपि दुस्सहः ॥ ९७ ॥
श्रीशिव उवाच—
गीतानां षष्ठमध्यायं रैक्वादभ्यस्य यत्नतः ।
जानश्रुतिर्महीपालो मुक्तिमाप ततः सुधीः ॥ ९८ ॥
रैक्वोऽपि सुखमालेभे माणिक्येश्वरसन्निधौ ।
गीतानां षष्ठमध्यायं जपन्मोक्षप्रदायकम् ॥ ९९ ॥
मरालवेषमास्थाय वरदानार्थमागताः ।
दिवौकसोऽपि निर्जग्मुः स्वैरं विस्मयकारिताः १००
इममध्यायमप्येकं यो जपेत्सततं नरः ।
सोऽपि तत्पदवीमेति विष्णोरेव न संशयः ॥१११॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताषष्ठाध्याय-
माहात्म्यकथनं नाम षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमषट्कश्लोकानामादिवर्णानुक्रमः ।


| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अकीर्तिं चापि भूतानि | २ | ३४ | १६० |
| अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयं | २ | २४ | १३६ |
| अजोऽपि सन्नव्ययात्मा | ४ | ६ | ३६६ |
| अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च | ४ | ४० | ४४९ |
| अत्र शूरा महेष्वासाः | १ | ४ | ३१ |
| अथ केन प्रयुक्तोऽयं | ३ | ३६ | ३३७ |
| अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं | २ | ३३ | १६० |
| अथ चैनं नित्यजातं | २ | २६ | १४५ |
| अथवा योगिनामेव | ६ | ४२ | ५८३ |
| अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा | १ | २० | ४१ |
| अधर्माभिभवात्कृष्ण | १ | ४१ | ५३ |
| अनन्तविजयं राजा | १ | १६ | ३९ |
| अनाश्रितः कर्मफलं | ६ | १ | ५२१ |
| अन्तवन्त इमे देहाः | २ | १८ | ११३ |
| अन्नाद्भवन्ति भूतानि | ३ | १४ | २९५ |
| अन्ये च बहवः शूराः | १ | ९ | ३३ |
| अपरे नियताहाराः | ४ | ३० | ४३१ |
| अपरं(अवरं)भवतो जन्म | ४ | ४ | ३६० |
| अपर्याप्तं तदस्माकं | १ | १० | ३५ |
| अपाने जुह्वति प्राणं | ४ | २९ | ४३१ |
| अपि चेदसि पापेभ्यः | ४ | ३६ | ४४४ |
| अयतिःश्रद्धयोपेतः | ६ | ३७ | ५७७ |
| अयनेषु च सर्वेषु | १ | ११ | ३५ |
| अवाच्यवादांश्च बहून् | २ | ३६ | १६२ |
| अविनाशि तु तद्विद्धि | २ | १७ | १०९ |
| अव्यक्तादीनि भूतानि | २ | २८ | १४९ |
| अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयं | २ | २५ | १३६ |
| अशोच्यानन्वशोचस्त्वं | २ | ११ | ७३ |
| असंयतात्मना योगः | ६ | ३६ | ५७५ |
| असंशयं महाबाहो | ६ | ३५ | ५७४ |
| अस्माकं तु विशिष्टा ये | १ | ७ | ३३ |
| अहो बत महत्पापं | १ | ४५ | ५५ |
| **आ** | | | |
| आचार्याः पितरः पुत्राः | १ | ३४ | ५० |
| आत्मौपम्येन सर्वत्र | ६ | ३२ | ५६९ |
| आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं | २ | ७० | २३९ |
| आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं | ६ | ३ | ५२८ |
| आवृतं ज्ञानमेतेन | ३ | ३९ | ३४२ |
| आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं | २ | २९ | १५१ |
| **इ** | | | |
| इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे | ३ | ३४ | ३३३ |
| इन्द्रियाणां हि चरतां | २ | ६७ | २३४ |
| इन्द्रियाणि पराण्याहुः | ३ | ४२ | ३४७ |
| इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः | ३ | ४० | ३४५ |
| इमं विवस्वते योगं | ४ | १ | ३५६ |
| इष्टान्भोगान् हि वो देवाः | ३ | १२ | २९१ |
| इहैव तैर्जितः सर्गः | ५ | १९ | ४९६ |
| **उ** | | | |
| उत्सन्नकुलधर्माणां | १ | ४४ | ५५ |
| उत्सीदेयुरिमे लोकाः | ३ | २४ | ३१६ |
| उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं | ६ | ५ | ५३३ |
| **ए** | | | |
| एतन्मे संशयं कृष्ण | ६ | ३९ | ५७७ |
| एतान्न हन्तुमिच्छामि | १ | ३५ | ५० |
| एवमुक्तो हृषीकेशः | १ | २४ | ४४ |
| एवमुक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये | १ | ४७ | ५६ |
| एवमुक्त्वा हृषीकेशं | २ | ९ | ७१ |
| एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म | ४ | १५ | ३९२ |
| एवं परम्पराप्राप्तं | ४ | २ | ३६६ |
| एवं प्रवर्तितं चक्रं | ३ | १६ | २९५ |
| एवं बहुविधा यज्ञाः | ४ | ३२ | ४३६ |
| एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा | ३ | ४३ | ३५१ |
| एषा तेऽभिहिता साङ्ख्ये | २ | ३९ | १६७ |
| एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ | २ | ७२ | २४३ |
| **क** | | | |
| कच्चिन्नोभयविभ्रष्टः | ६ | ३८ | ५७७ |
| कथं न ज्ञेयमस्माभिः | १ | ३९ | ५२ |
| कथं भीष्ममहं सङ्ख्ये | २ | ४ | ६४ |
| कर्मजं बुद्धियुक्ता हि | २ | ५१ | २०५ |
| कर्मणैव हि संसिद्धिं | ३ | २० | ३१० |
| कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं | ४ | १७ | ३९५ |
| कर्मण्यकर्म यः पश्येत् | ४ | १८ | ३९७ |
| कर्मण्येवाधिकारस्ते | २ | ४७ | १९० |
| कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि | ३ | १५ | २८९ |
| कर्मेन्द्रियाणि संयम्य | ३ | ६ | २८० |
| काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं | ४ | १२ | ३८३ |
| काम एष क्रोध एषः | ३ | ३७ | ३३ |
| कामक्रोधवियुक्तानां | ५ | २६ | ५१० |
| कामात्मानः स्वर्गपराः | २ | ४३ | १७७ |
| कायेन मनसा बुद्ध्या | ५ | ११ | ४८१ |
| कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः | २ | ७ | ६७ |
| काश्यश्च परमेष्वासः | १ | १७ | ३९ |
| किं कर्म किमकर्मेति | ४ | १६ | ३९४ |
| कुतस्त्वा कश्मलमिदं | २ | २ | ६१ |
| कुलक्षये प्रणश्यन्ति | १ | ४० | ५३ |
| कृपया परयाऽऽविष्टः | १ | २७ | ४५ |
| क्रोधाद्भवति सम्मोहः | २ | ६३ | २२७ |
| क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ | २ | ३ | ६१ |
| **ग** | | | |
| गतसङ्गस्य मुक्तस्य | ४ | २३ | ४१५ |
| गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् | १ | २९ | ४६ |
| गुरूनहत्वाहिमहानुभावान् | २ | ५ | ६४ |
| **च** | | | |
| चञ्चलं हि मनः कृष्ण | ६ | ३४ | ५७२ |
| चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं | ४ | १३ | ३८५ |
| **ज** | | | |
| जन्म कर्म च मे दिव्यं | ४ | ९ | ३७४ |
| जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः | २ | २७ | १४६ |
| जितात्मनः प्रशान्तस्य | ६ | ७ | ५३६ |
| ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा | ६ | ८ | ५३६ |
| ज्ञानेन तु तदज्ञानं | ५ | १६ | ४९१ |
| ज्ञेयः स नित्यसन्न्यासी | ५ | ३ | ४६६ |
| ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते | ३ | १ | २६८ |
| **त** | | | |
| ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च | १ | १३ | ३६ |
| ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते | १ | १४ | ३६ |
| तत्त्ववित्तु महाबाहो | ३ | २८ | ३१९ |
| तत्र तं बुद्धिसंयोगं | ६ | ४३ | ५८४ |
| तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः | १ | २६ | ४५ |
| तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा | ६ | १२ | ५४२ |
| तद्बुद्धयस्तदात्मानः | ५ | १७ | ४९३ |
| तद्विद्धि प्रणिपातेन | ४ | ३४ | ४४० |
| तपस्विभ्योऽधिको योगी | ६ | ४६ | ५८८ |
| तमुवाच हृषीकेशः | २ | १० | ७१ |
| तस्मादसक्तः सततं | ३ | १९ | ३०९ |
| तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ | ३ | ४१ | ३४५ |
| तस्मादज्ञानसम्भूतं | ४ | ४२ | ४५२ |
| तस्माद्यस्य महाबाहो | २ | ६८ | २३४ |
| तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं | १ | ३७ | ५० |
| तस्य सञ्जनयन् हर्षं | १ | १२ | ३६ |
| तं तथा कृपयाऽऽविष्टं | २ | १ | ६१ |
| तं विद्याद्दुःखसंयोग- | ६ | २३ | ५५५ |
| तानि सर्वाणि संयम्य | २ | ६१ | २२४ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|---|
| तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः | १ | २७ | ४९ |
| त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं | ४ | २० | ४०८ |
| त्रैगुण्यविषया वेदाः | २ | ४५ | १८३ |
| **द** | | | |
| दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः | २ | ५६ | २१७ |
| दूरेण ह्यवरं कर्म | २ | ४९ | १९६ |
| दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं | १ | २ | २८ |
| दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण | १ | २८ | ४५ |
| देवान् भावयताऽनेन | ३ | ११ | २८८ |
| देही नित्यमवध्योऽयं | २ | ३० | १५५ |
| देहिनोऽस्मिन् यथा देहे | २ | १३ | ९० |
| दैवमेवापरे यज्ञं | ४ | २५ | ४२४ |
| दोषैरेतैः कुलघ्नानां | १ | ४३ | ५५ |
| द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञाः | ४ | २८ | ४३० |
| द्रुपदो द्रौपदेयाश्च | १ | १८ | ३९ |
| **ध** | | | |
| धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे | १ | १ | २५ |
| धूमेनाव्रियते वह्निः | ३ | ३८ | ३४२ |
| धृष्टकेतुश्चेकितानः | १ | ५ | ३१ |
| ध्यायतो विषयान्पुंसः | २ | ६२ | २२६ |
| **न** | | | |
| न कर्तृत्वं न कर्माणि | ५ | १४ | ४८७ |
| न कर्मणामनारम्भात् | ३ | ४ | २७३ |
| न काङ्क्षे विजयं कृष्ण | १ | ३२ | ४९ |
| न च शक्नोम्यवस्थातुं | १ | ३० | ४६ |
| न च श्रेयोऽनु पश्यामि | १ | ३१ | ४९ |
| न चैतद्विद्मः कतरन्नः | २ | ६ | ६७ |
| न जायते म्रियते वा | २ | २० | ११९ |
| न त्वेवाहं जातु नासं | २ | १२ | ८३ |
| न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य | ५ | २० | ४९९ |
| न बुद्धिभेदं जनयेत् | ३ | २६ | ३१९ |
| न मां कर्माणि लिम्पन्ति | ४ | १४ | ३८९ |
| न मे पार्थास्ति कर्तव्यं | ३ | २२ | ३१५ |
| न हि कश्चित्क्षणमपि | ३ | ५ | २७८ |
| न हि प्रपश्यामि ममापनु- | २ | ८ | ६७ |
| न हि ज्ञानेन सदृशं | ४ | ३८ | ४४७ |
| नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति | ६ | १६ | ५४३ |
| नादत्ते कस्यचित्पापं | ५ | १५ | ४८९ |
| नासतो विद्यते भावः | २ | १६ | १०२ |
| नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य | २ | ६६ | २३२ |
| निमित्तानि च पश्यामि | १ | ३० | ४६ |
| नियतं कुरु कर्म त्वं | ३ | ८ | २८३ |
| निराशीर्यतचित्तात्मा | ४ | २१ | ४०९ |
| निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः | १ | ३६ | ५० |
| नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति | २ | ४० | १७१ |
| नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि | २ | २३ | १३६ |
| नैव किञ्चित्करोमीति | ५ | ८ | ४७७ |
| नैव तस्य कृतेनार्थः | ३ | १८ | ३०३ |
| **प** | | | |
| परित्राणाय साधूनां | ४ | ८ | ३७२ |
| पश्यैतां पाण्डुपुत्राणां | १ | ३ | २८ |
| पाञ्चजन्यं हृषीकेशः | १ | १५ | ३९ |
| पार्थ नैवेह नामुत्र | ६ | ४० | ५८० |
| पूर्वाभ्यासेन तेनैव | ६ | ४४ | ५८४ |
| प्रकृतेः क्रियमाणानि | ३ | २७ | ३१९ |
| प्रकृतेर्गुणसंमूढाः | ३ | २९ | ३२३ |
| प्रजहाति यदा कामान् | २ | ५५ | २१४ |
| प्रयत्नाद्यतमानस्तु | ६ | ४५ | ५८७ |
| प्रलपन्विसृजन्गृह्णन् | ५ | ९ | ४७७ |
| प्रशान्तमनसं ह्येनं | ६ | २७ | ५६३ |
| प्रशान्तात्मा विगतभीः | ६ | १४ | ५४२ |
| प्रसादे सर्वदुःखानां | २ | ६५ | २२९ |
| प्राप्य पुण्यकृतां लोकान् | ६ | ४१ | ५८१ |
| **ब** | | | |
| बन्धुरात्माऽऽत्मनस्तस्य | ६ | ६ | ५३४ |
| बहूनि मे व्यतीतानि | ४ | ५ | ३६४ |
| बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा | ५ | २१ | ४९९ |
| बुद्धियुक्तो जहातीह | २ | ५० | १९९ |
| ब्रह्मण्याधाय कर्माणि | ५ | १० | ४७९ |
| ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः | ४ | २४ | ४१७ |
| **भ** | | | |
| भयाद्रणादुपरतं | २ | ३५ | १६२ |
| भवान् भीष्मश्च कर्णश्च | १ | ८ | ३३ |
| भीष्मद्रोणप्रमुखतः | १ | २५ | ४४ |
| भोक्तारं यज्ञतपसां | ५ | २९ | ५१९ |
| भोगैश्वर्यप्रसक्तानां | २ | ४४ | १७७ |
| **म** | | | |
| मयि सर्वाणि कर्माणि | ३ | ३० | ३२५ |
| मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय | २ | १४ | ९६ |
| **य** | | | |
| य एनं वेत्ति हन्तारं | २ | १९ | ११९ |
| यज्ञशिष्टामृतभुजः | ४ | ३१ | ४३२ |
| यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः | ३ | १३ | २९१ |
| यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र | ३ | ९ | २८५ |
| यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहं | ४ | ३५ | ४४२ |
| यततो ह्यपि कौन्तेय | २ | ६० | २२४ |
| यतेन्द्रियमनोबुद्धिः | ५ | २८ | ५११ |
| यतो यतो निश्चरति | ६ | २६ | ५६२ |
| यत्रोपरमते चित्तं | ६ | २० | ५५५ |
| यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं | ५ | ५ | ४७० |
| यथा दीपो निवातस्थः | ६ | १९ | ५५२ |
| यथैधांसि समिद्धोऽग्निः | ४ | ३७ | ४४५ |
| यदा ते मोहकलिलं | २ | ५२ | २०७ |
| यदा यदा हि धर्मस्य | ४ | ७ | ३७२ |
| यदा विनियतं चित्तं | ६ | १८ | ५५२ |
| यदा संहरते चायं | २ | ५८ | २१९ |
| यदा हि नेन्द्रियार्थेषु | ६ | ४ | ५३१ |
| यदि मामप्रतीकारं | १ | ४६ | ५५ |
| यदि ह्यहं न वर्तेयं (य) | ३ | २३ | ३१६ |
| यदृच्छया चोपपन्नं | २ | ३२ | १५६ |
| यदृच्छालाभसन्तुष्टः | ४ | २२ | ४१३ |
| यद्यदाचरति श्रेष्ठः | ३ | २१ | ३१० |
| यद्यप्येते न पश्यन्ति | १ | ३८ | ५२ |
| यं लब्ध्वा चापरं लाभं | ६ | २२ | ५५५ |
| यं सन्यासमिति प्राहुः | ६ | २ | ५२६ |
| यं हि न व्यथयन्त्येते | २ | १५ | १०० |
| यः सर्वत्रानभिस्नेहः | २ | ५७ | २१९ |
| यस्त्वात्मरतिरेव स्यात् | ३ | १७ | ३०३ |
| यस्त्विन्द्रियाणि मनसा | ३ | ७ | २८० |
| यस्य सर्वे समारम्भाः | ४ | १९ | ४०६ |
| या निशा सर्वभूतानां | २ | ६९ | २३६ |
| यामिमां पुष्पितां वाचं | २ | ४२ | १७७ |
| यावदेतान्निरीक्षेऽहं | १ | २२ | ४१ |
| यावानर्थ उदपाने | २ | ४६ | १८३ |
| युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा | ५ | १२ | ४८२ |
| युक्ताहारविहारस्य | ६ | १७ | ५४३ |
| युञ्जन्नेवं सदाऽऽत्मानं | ६ | १५ | ५४२ |
| ” ” | ६ | २८ | ५६३ |
| युधामन्युश्च विक्रान्तः | १ | ६ | ३१ |
| ये त्वेतदभ्यसूयन्तः | ३ | ३२ | ३२८ |
| ये मे मतमिदं नित्यं | ३ | ३१ | ३२८ |
| ये यथा मां प्रपद्यन्ते | ४ | ११ | ३७९ |
| येषामर्थे काङ्क्षितं नः | १ | ३३ | ४९ |
| ये हि संस्पर्शजा भोगाः | ५ | २२ | ५०२ |
| योगयुक्तो विशुद्धात्मा | ५ | ७ | ४७५ |
| योगसन्यस्तकर्माणं | ४ | ४१ | ४५१ |
| योगस्थः कुरु कर्माणि | २ | ४८ | १९५ |
| योगिनामपि सर्वेषां | ६ | ४७ | ५९० |
| योगी युञ्जीत सततं | ६ | १० | ५४२ |
| योत्स्यमानानवेक्षेऽहं | १ | २३ | ४१ |
| योऽन्तःसुखोऽन्तरारामः | ५ | २४ | ५०६ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|---|
| यो मां पश्यति सर्वत्र | ६ | ३० | ५६५ |
| योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः | ६ | ३३ | ५७२ |
| **र** | | | |
| रागद्वेषवियुक्तैस्तु | २ | ६४ | २२९ |
| **ल** | | | |
| लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणं | ५ | २५ | ५०८ |
| लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा | ३ | ३ | २६९ |
| **व** | | | |
| वासांसि जीर्णानि यथा | २ | २२ | १३४ |
| विद्याविनयसम्पन्ने | ५ | १८ | ४९५ |
| विषया विनिवर्तन्ते | २ | ५९ | २२१ |
| विहाय कामान्यः सर्वान् | २ | ७१ | २४२ |
| वीतरागभयक्रोधाः | ४ | १० | ३७७ |
| वेदाविनाशिनं नित्यं | २ | २१ | १२८ |
| वेपथुश्च शरीरे मे | १ | २९ | ४६ |
| व्यवसायात्मिका बुद्धिः | २ | ४१ | १७३ |
| व्यामिश्रेणैव वाक्येन | ३ | २ | २६७ |
| **श** | | | |
| शक्नोतीहैव यः सोढुं | ५ | २३ | ५०४ |
| शनैःशनैरुपरमेत् | ६ | २५ | ५५५ |
| शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य | ६ | ११ | ५४२ |
| श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं | ४ | ३९ | ४४७ |
| श्रुतिविप्रतिपन्ना ते | २ | ५३ | २०७ |
| श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् | ४ | ३३ | ४३८ |
| श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः | ३ | ३५ | ३३५ |
| श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये | ४ | २६ | ४२७ |
| श्वशुरान्सुहृदश्चैव | १ | २६ | ४५ |
| **स** | | | |
| स एवायं मया तेऽद्य | ४ | ३ | ३५६ |
| सक्ताः कर्मण्यविद्वांसः | ३ | २५ | ३१८ |
| स घोषो धार्तराष्ट्राणां | १ | १९ | ३९ |
| सङ्करो नरकायैव | १ | ४२ | ५३ |
| सङ्कल्पप्रभवान्कामान् | ६ | २४ | ५५५ |
| सदृशं चेष्टते स्वस्याः | ३ | ३३ | ३३१ |
| सन्यासस्तु महाबाहो | ५ | ६ | ४७२ |
| सन्यासः कर्मयोगश्च | ५ | २ | ४६४ |
| सन्यासं कर्मणां कृष्ण | ५ | १ | ४५७ |
| समं कायशिरोग्रीवं | ६ | १३ | ५४२ |
| सर्वकर्माणि मनसा | ५ | १३ | ४८३ |
| सर्वभूतस्थमात्मानं | ६ | २९ | ५६५ |
| सर्वभूतस्थितं यो मां | ६ | ३१ | ५६९ |
| सर्वाणीन्द्रियकर्माणि | ४ | २७ | ४२८ |
| सह यज्ञाः (ज्ञैः) प्रजाःसृष्ट्वा | ३ | १० | २८८ |
| साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः | ५ | ४ | ४६८ |
| सीदन्ति मम गात्राणि | १ | २८ | ४५ |
| सुखदुःखे समे कृत्वा | २ | ३८ | १६५ |
| सुखमात्यन्तिकं यत्तत् | ६ | २१ | ५५५ |
| सुहृन्मित्रार्युदासीन- | ६ | ९ | ५३६ |
| सेनयोरुभयोर्मध्ये | १ | २१ | ४१ |
| स्थितप्रज्ञस्य का भाषा | २ | ५४ | २११ |
| स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान् | ५ | २७ | ५११ |
| स्वधर्ममपि चावेक्ष्य | २ | ३१ | १५६ |
| **ह** | | | |
| हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं | २ | ३७ | १६४ |
| हृषीकेशं तदा वाक्यं | १ | २१ | ४१ |


इति गीताश्लोकानामादिवर्णानुक्रमणिका ।

**गीताश्लोकपादानां पदानां चादिवर्णानुक्रमकोशः**
**मुद्रिष्यमाण उपसंहारे द्रष्टव्यः ।**


पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—

**'गुजराती' प्रिन्टिंग प्रेस**

लासुनबिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट, मुंबई नं. १

# श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकासमलंकृता ।

[ प्रथमो गुच्छः ]

यदिदं प्रत्यक्षमेव अत्रभवद्भिर्वेदान्तशास्त्रपारावारपारीणैः भवदवदाव-
दाहजासह्यतृष्णाशनज्ञानामृतपिपासुभिश्च गुणमात्रैकग्राहिभिः
शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेतायाः श्रीमद्भगवद्गीतायाः

## प्रथमं षट्कं

पाणिपाथोजगतमालोच्यते ।

तथैवैतद्गुणगणानुगुणमन्तरमन्तरेण सम्प्रति मुद्र्यते

## मध्यमं षट्कम् ।

एतस्मिन्नपि व्याख्योपव्याख्याप्रणेतृभिः स्वस्वमतपुष्ट्यर्थं श्रुतिस्मृति-
पुराणेतिहासग्रन्थेभ्यः समुद्धृतानां प्रमाणवचसां मूलस्थलानि
प्रचुरतरप्रयत्नैरन्विष्यान्विष्य प्रकरणाध्यायश्लोकाद्यङ्कैर्निवे-
शितानि विराजन्ते तदल्पीयसैवावसरेण श्रीमद्भ्यो
भवद्भ्यो वितरितुं प्रयतामहे । ततः परं तथैव

## अन्तिमं षट्कमपि ।

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथमषट्कम् | .... .... ... | मूल्यम् | रू. ८ |
| मध्यमषट्कम् | .... ....(प्रायः) | ,, | रू. ५ |
| तृतीयषट्कम् | .... .... ,, | ,, | रू. ७ |

श्रीमद्भगवद्गीता अष्टटीकोपेता । द्वितीयो गुच्छः मूल्यम् रू. १०

उपलब्धिस्थानम्-

'गुजराती' प्रिन्टिंग प्रेस

सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट, मुंबई नं. १

# "केसरी"-पुस्तक-परीक्षण

## श्रीमद्भगवद्गीता

[ शांकरभाष्याद्येकादशटीकोपेतः प्रथमो गुच्छः–प्रथमषट्कम् ]

गुजराथी प्रिंटिंग प्रेस, सासून बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट, मुंबई

पृष्ठसंख्या ६०० किं. ८ रुपये.

गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसमधून प्रसिद्ध होणाऱ्या अकरा टीकांच्या प्रथम गुच्छांतली ही पहिली षडध्यायी प्रसिद्ध होऊन आमच्याकडे अभिप्रायार्थ आली आहे. गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसचे आद्य प्रवर्तक श्रीयुत इच्छारामभाई देसाई यांनीं १९१२ सालीं ७ टीकांचा प्रथम गुच्छ व ८ टीकांचा द्वितीय गुच्छ अशा दोन गुच्छांत मिळून भगवद्गीता ग्रंथ पंधरा संस्कृत टीकांसह छापून प्रसिद्ध केला. गेल्या २२ वर्षांत या दोन गुच्छांतला पहिला ७ टीकांचा गुच्छ खपून गेल्यामुळें त्याची सांप्रत दुसरी आवृत्ति प्रसिद्ध करण्यांत आली आहे. ही आवृत्ति प्रसिद्ध करतांना पूर्वीच्या ७ टीकांत आणखी चार नव्या टीकांची भर घालून यांत एकंदर ११ टीका ग्रथित केल्या आहेत.

### अकरा टीका

गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसच्या या दोन गुच्छांत मिळून आतां एकंदर १९ टीका प्रसिद्ध होत आहेत. अशा रीतीनें यांत अद्वैत, केवलाद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आणि एतद्भिन्न अशा इतर सांप्रदायांच्याहि टीकांचा समावेश झाला असल्यामुळें यांत सर्व सांप्रदायिक मतें एकत्र पाहावयास सांपडून मतामतांची तुलना करण्याची उत्तम सोय झाली आहे.

प्रथमगुच्छांतील या प्रथम षडध्यायींत ज्या अकरा टीका संग्रहीत केल्या आहेत त्यांचा क्रम पुढीलप्रमाणें आहे—१ शांकरभाष्य, २ आनंदगिरिकृत-व्याख्या, ३ रामानुजभाष्य, ४ वेंकटनाथविरचित-तात्पर्यचंद्रिका, ५ आनन्दतीर्थ (माध्व)भाष्य, ६ जयतीर्थरचित-प्रमेयदीपिका, ७ हनुमत्कृत-पैशाचभाष्य, ८ वेंकटनाथकृत-ब्रह्मानंदगिर्याख्य व्याख्यान, ९ वल्लभलालविरचित-तत्त्वदीपिका, १० पुरुषोत्तमजीप्रकाशितामृततरंगिणी, ११ नीलकंठकृत-भारतभावदीपाख्या टीका.

या अकरा पैकीं नं. २, ४ व ६ या टीका अनुक्रमें शंकर, रामानुज व माध्व या भाष्यांचें केवळ विवरणरूप आहेत; ह्मणून त्यांना स्वतंत्र टीकेचें महत्त्व देतां येत नाहीं. या तीन टीका वगळल्यास इतर ज्या ८ टीका राहतात त्यांत (१) शांकर भाष्य, (३) रामानुजभाष्य व (५) माध्वभाष्य हीं तीन भाष्यें प्रमुख तीन सांप्रदायांचे आधारस्तंभ आहेत. नं. ९ व १० या दोन टीका वल्लभ सांप्रदायानुयायी आहेत. नं. ७ चें पैशाचभाष्य व नं. ८ चें ब्रह्मानंदगिर्याख्यान हीं दोन्ही शांकरमतानुयायी आहेत; पण केवळ शांकरभाष्याचा विस्तारच यांत नसून स्वतंत्र बुद्धीनें रचलेल्या त्या टीका आहेत. शेवटची नीलकंठ चतुर्धर यांची भारतभावटीका तर महाभारताच्या वाचकांच्या सुपरिचयाचीच आहे. ही टीकाहि शांकरमतानुयायी असली तरी स्वतंत्र

विचाराची व अभ्यसनीय अशी टीका आहे. यांतल्या नं. १, २, ३, ५, ६, १० व ११ अशा सात टीका पूर्वीच्या आवृत्तींत समाविष्ट केल्या गेल्या होत्या. आतां नं. ४ ची तात्पर्यचंद्रिका, नं. ७ चें पैशाचभाष्य आणि नं. ८ चें वेंकटनाथांचें व्याख्यान व नं. ९ ची तत्त्वदीपिका टीका एवढ्या चार नव्या टीका वाचकांच्या समोर प्रथमच येत आहेत.

## खडखडीत व महत्त्वाची टीका

या नव्या टीकांपैकीं वेंकटनाथांचें ब्रह्मगिर्याख्यान हेंच खरें महत्त्वाचें आहे. यांत शंकराचार्यांच्या अद्वैतमताचें समर्थन असून रामानुजभाष्य व माध्वभाष्य यांचें ठिकठिकाणीं खंडन केलें आहे. या खंडनाची भाषाहि अगदीं सडेतोड व कठोर अशी आहे. उदाहरणार्थ, अध्याय ५ श्लो. १६ वरील व्याख्यान पाहा. या श्लोकांत 'येषां, तेषां' असे अनेकवचनी प्रयोग आहेत त्यावरून रामानुज व माध्वभाष्यांत अद्वैत मतावर टीका केली आहे; त्या टीकेला वेंकटनाथांनीं खडखडीत जबाब देऊन 'नवद्वारे पुरे देही' (५–१३) व 'नित्यस्योक्ताः शरीरिणः' (२–१८) या श्लोकांचा अर्थ करतांना 'कां रडला ?' असा जबाब विचारला आहे. परंतु वेंकटनाथ हा टीकाकार केवळ अंधश्रद्ध सांप्रदायिक नाहीं. ज्या ठिकाणीं रामानुजांचें मत त्याला ग्राह्य वाटलें तेथें 'यद्रामानुजैरुक्तं तद्युक्तं' (६–३७ ते ३९) असें प्रांजलपणें कबूल केलें आहे. अ. ५–२५ यांत 'सर्वभूतहिते रताः' याचा अर्थ 'अहिंसकाः' असा करतांना त्याचप्रमाणें 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२।४७) या ठिकाणीं 'न ज्ञाननिष्ठायां' असा निषेध करतांना वेंकटनाथांच्या मनावरदेखील शांकरभाष्याचें दडपण पडलेलें दिसतें. तथापि 'ऋषयः' याचा अर्थ शांकरभाष्याप्रमाणें 'संन्यासिनः' असा न करतां त्यांनीं 'तत्त्वदर्शिनः' असाच केला आहे. पण यापेक्षां स्पष्ट भेद तीन ते सहा अध्यायांतील अनेक श्लोकांच्या विवरणांत स्पष्टपणें दिसून येतो. उदाहरणार्थ, अ. ५ श्लो. ६ यांतील 'ब्रह्म' शब्दाचा अर्थ शांकरभाष्यांत 'संन्यास' असा केला आहे. परंतु वेंकटनाथांनीं आपल्या व्याख्यानांत 'ब्रह्म सत्यज्ञानानन्दात्मकं' असें यथार्थ विवरण केलें आहे. दुसऱ्या अध्यायांतील श्लोक ४५ यांतील 'आत्मवान्' शब्दाचा अर्थ शांकरभाष्याप्रमाणें 'अप्रमत्तः' असा न करतां 'सर्वकामनात्यागेन भगवन्तमेवाराधयन् धृतप्रतिज्ञो भव' असा वेगळा केला आहे. त्याशिवाय 'कर्मयोग' श्रेष्ठ कसा, तो सुकर कसा, याचेंहि त्यांनीं ठिकठिकाणीं केलेलें स्पष्टीकरण वाचनीय आहे. एकंदरींत वेंकटनाथांची टीका ही या नव्या आवृत्तींत मोठीच उपयुक्त भर पडलेली आहे.

याशिवाय पूर्वीच्या आवृत्तींत नसलेली अशी आणखी अनेक प्रकारची सुधारणा या नव्या आवृत्तींत केलेली आढळेल. त्यांतल्या कांहींचा नामनिर्देश येथें करतों.

( १ ) गीतेंतील अनेक पाठभेदांचा उल्लेख जागोजाग केला आहेच. पण त्याशिवाय उपनिषदांत पाठभेद नाहींत अशी जी समजूत आहे ती चुकीची असल्यामुळें जेथें जेथें उपनिषदांतील वचनें देण्याचा प्रसंग आला तेथें तेथें उपनिषदांतील पाठांत भिन्नता असल्यास ते पाठभेदहि कंसांत दाखविले आहेत.

( २ ) भाष्यकारांनीं व टीकाकारांनीं गीतेंतील वचनांच्या समर्थनार्थ अनेक ठिकाणीं श्रुतींतील वाक्यें दिलीं आहेत व कांहीं ठिकाणीं 'श्रूयते च' असें मोघम ह्मटलें आहे. हीं श्रुतींतील वचनें कोणतीं व तीं कोणत्या श्रुतींत कोठें आहेत तें शोधून काढून त्यांचा स्पष्ट निर्देश या आवृत्तींत केला आहे. हें काम अतिशय परिश्रमाचें आहे. वचन पाहतांच तें कोठें असेल तें ध्यानांत आणून शोधून काढण्याला समग्र श्रुति करतलामलकवत् पाहिजेत. पण हें गाढ विद्वत्तेचें व किचकट कामहि धूपकरशास्त्री व साधलेशास्त्री यांनीं अत्यंत मेहनतीनें व कसोशीनें केलें आहे.

( ३ ) जेथें जेथें नवें प्रकरण सुरू झालें तेथें तेथें श्लोकांच्या डोक्यावर नव्या प्रकरणाचा नामनिर्देश केला आहे. (अध्याय ६ श्लोक २३ येथें एक प्रकरण संपून 'संकल्पप्रभवान्कामान्' येथपासून निराळें प्रकरण सुरू होतें; परंतु या पुस्तकांत श्लोक २० ते २५ एकत्रच दिले आहेत, तें चिंत्य आहे.)

( ४ ) कित्येक ठिकाणीं धूपकरशास्त्री यांनीं विवादात्मक विषयाचें विवरण करण्यास्तव, क्वचित्स्थळीं भिन्नार्थदर्शनार्थ, आणि कांहीं ठिकाणीं नवीन मतांचे खंडनार्थ स्वतःची 'अविगीता' ह्मणून वेगळी टिप्पणी जोडली आहे. (परंतु या 'अविगीते' नें वादस्थळें कमी होण्याच्याऐवजीं तीं वाढण्याचाच संभव आहे. यास्तव ही टिप्पणी जोडण्याचा खटाटोप न केलेलाच बरा.) यांत कित्येक ठिकाणीं ज्ञानेश्वरांची भावार्थदीपिका आणि वामन पंडितांची यथार्थदीपिका यांतील प्रासादिक वचनांचें संस्कृतीकरण करून तें संस्कृत पंडितांच्या नजरेस आणलें आहे, ही गोष्ट प्रशंसनीय आहे. मराठींतील भावार्थदीपिका व यथार्थदीपिका यांची योग्यता कोणत्याहि संस्कृत विवरणापेक्षां कमी नाहीं, हें या उताऱ्यांवरून सिद्ध होतें. असे उतारे हल्लीं दिले आहेत त्यांहून अधिक दिल्यास 'अधिकस्याधिकं फलम्'.

## एका श्लोकांत अध्यायाचें सार

( ५ ) प्रत्येक अध्यायाच्या प्रारंभीं 'यामुनमुनि' प्रणीत गीतार्थसंग्रहाचा एकेक श्लोक सटीक दिला आहे. अध्यायाचें तात्पर्य समजण्याच्या दृष्टीनें हे श्लोक मोठे मार्मिक व सूचक आहेत. त्यांचा परिचय वाचकांस व्हावा ह्मणून या षडध्यायींतील सहा श्लोक पुढें उद्धृत करतों—

अस्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मधियाकुलम् । पार्थं प्रपन्नमुद्दिश्य शास्त्रावतरणं कृतम् १
नित्यात्मासंगकर्मेहागोचरा सांख्ययोगधीः । द्वितीये स्थितधीलक्षा प्रोक्ता तन्मोहशान्तये २
असक्त्या लोकरक्षायै गुणेष्वारोप्य कर्तृताम् । सर्वेश्वरे वा न्यस्योक्ता तृतीये कर्मकार्यता ३
प्रसंगात्स्वस्वभावोक्तिः कर्मणोऽकर्मताऽस्य च । भेदा ज्ञानस्य माहात्म्यं चतुर्थाध्याय उच्यते ४
कर्मयोगस्य सौकर्यं शैघ्र्यं काश्चन तद्विधाः । ब्रह्मज्ञानप्रकारश्च पंचमाध्याय उच्यते ५
योगाभ्यासविधिर्योगी चतुर्धा योगसाधनम् । योगसिद्धिः स्वयोगस्य पारम्यं षष्ठ उच्यते ६

यामुनमुनि हे रामानुजाचार्यांच्या सांप्रदायांतील असल्यानें त्यांनीं गीतेचें तात्पर्य भक्तिपर लावलेलें आहे. तथापि पहिल्या षडध्यायींत कर्मयोगाचें प्रतिपादन केलें असून,

तें संन्यास मार्गाहून भिन्न व स्वतंत्रपणें मोक्षप्रद आहे असेंच तात्पर्य त्यांनीं आपल्या गीतासंग्रहांत दिलें आहे.

## पुराणोक्त माहात्म्य नको

गीतेच्या प्रारंभीं वराहोक्त गीतामाहात्म्य दिलें आहे तें नेहमींच्या सांप्रदायास अनुसरूनच आहे; परंतु प्रत्येक अध्यायाच्या अखेरीस पद्मपुराणांतील गीतामाहात्म्याचा एकेक अध्याय जो दिला आहे तो श्रद्धाळू वाचकांना प्रिय वाटला तरी जे वाचक गीताग्रंथ हा तत्त्वज्ञानाचा ग्रंथ आहे ह्मणूनच त्याची खरी योग्यता जाणतात त्यांना असलें पुराणोक्त माहात्म्य कर्णकटु लागतें. गीतेंत आत्मज्ञानाची एवढी महती वर्णन केली आहे असें एकीकडे सांगत असतां त्या गीतेंतला एकेक अध्याय कोणीतरी एकानें वाचला व तेवढ्या एका अध्यायाच्या पठनानें तो उत्तम लोकाप्रत गेला; असल्या पुराणोक्त कथा त्या तत्त्वज्ञानाच्या ग्रंथाला जोडणें समुचित नव्हे, असें आमचें मत आहे. अर्थ न समजतां केवळ पठनाचें माहात्म्य जर सांगावयाचें तर १९ टीका छापण्याची दगदग कशासाठीं करावयाची ? यास्तव आह्मांस असें वाटतें कीं, गीता हा तत्त्वज्ञानाचा ग्रंथ आहे व त्याची खरी योग्यता त्याचा अर्थ समजून तदनुरूप आचरण करण्यांतच आहे; यास्तव असलें माहात्म्य त्या ग्रंथांत असूं नये; पुराणांतच तें आहे तें ठीक आहे.

शेवटीं गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसच्या मालकांना एवढीच विनंति करावयाची कीं, त्यांनीं इतक्या टीका जमवून त्या टीकांसह गीताग्रंथ प्रकाशित करण्याची एवढी खर्चाची जोखीम स्वशिरावर घेतलीच आहे व तिचें चीज वाचकवर्गाकडून होतच आहे. पण या गुच्छाच्या उपयुक्ततेंत भर टाकण्यासाठीं त्यांनीं तीनहि षट्कें समाप्त झाल्यानंतर चवथ्या उपसंहारात्मक खंडांत गीतेंतील प्रत्येक चरणाच्या आरंभींच्या अक्षरानुक्रमानें श्लोकांची सूची द्यावी व गीतेंतील प्रत्येक शब्दाची त्याच्या अर्थासह सूची द्यावी. तसेंच गीतेंतील वचनांना सदृश अशीं उपनिषदांतील सर्व वचनें एकत्र द्यावीं आणि भारती युद्धाचा कालनिर्णय, प्रस्तुतच्या गीतेचा कालनिर्णय, गीतेंतील तत्त्वज्ञानाची आधुनिक तत्वज्ञानाशीं तुलना इत्यादि प्रकरणांचा समावेश त्यांत करावा. या चौथ्या खंडाचा उपयोग आधुनिक विद्वानांना विशेष होणार आहे व त्या उपसंहारामुळें पहिले तीन खंड वाचण्याची जिज्ञासा आधुनिक विद्वानांत वाढणार आहे.

असो. गीताग्रंथाचें अशा प्रकारचें सर्वांगपरिपूर्ण असें मुद्रण करण्याचें जोखमीचें काम स्वशिरावर घेतल्याबद्दल गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसच्या मालकांचे आणि हें कार्य इतक्या दक्षतेनें करीत असल्याबद्दल धूपकर व साधले या शास्त्रिद्वयाचें पुनः एकदां अभिनंदन करून हें अल्प परीक्षण समाप्त करतों.

शुक्रवार<br>ता. २० डिसेंबर १९३५ — केसरी-पुणें.

# ग्रंथ आणि ग्रंथकार

## नवीन ग्रंथाचा परिचय

## एकादशटीकोपेता श्रीमद्भगवद्गीता ।

भाग १. अ. १–६

[ प्रकाशक–गुजराथी प्रिंटिंग प्रेस सासून बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, फोर्ट–मुंबई. संपादक–शास्त्री गजानन शंभु साधले. किंमत ८ रुपये ]

कांहीं वर्षांमागें येथील गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसनें सांप्रदायिक व स्वतंत्र अशा सुमारें १९ भाष्यटीकांसह श्रीमद्भगवद्गीतेची एक आवृत्ति प्रकाशित केली होती. श्रीमद्भगवद्गीतेवर शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ ( हनुमत् ) या चार आचार्यांचीं भाष्यें प्रसिद्ध आहेत. त्यांचा बोध होण्याकरितां प्रत्येक ( यापैकीं तीन ) भाष्यावर योग्य अधिकाराच्या सांप्रदायिक विद्वानांची टीका असून आपापल्या पंथानुसार स्वतंत्रपणें लिहिलेल्या बऱ्याच टीका उपलब्ध आहेत. शंकराचार्यांच्या भाष्याचा अनुवाद आनंदागिरीनें केला असून रामानुजांच्या भाष्याचें स्पष्टीकरण वेदान्त-देशिकाचार्य वेंकटनाथानें केलें आहे. मध्वाचार्यांचें भाष्य जयतीर्थानें उलगडलें आहे. तर वल्लभाचार्यांच्या भाष्याचा खुलासा पुरुषोत्तमजीनें केला आहे.* याशिवाय महा-भारताचा टीकाकार नीलकंठ, हनुमान् , वेंकटनाथ प्रभृतींच्या शंकराचार्यानुसारी केवलाद्वैतपर टीका आहेत. या सर्व टीकांबरोबर रामानुजांच्या पूर्वी होऊन गेलेल्या यामुनाचार्यांचा गीतार्थसंग्रह आणि ( त्यावर ) महादेशिकाचार्य वेंकटनाथ यांची गीतार्थसंग्रहरक्षा अशा दोन टीका जोडून गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसनें एकूण तेरा टीकांसह श्रीमद्भगवद्गीतेच्या पहिल्या सहा अध्यायांची ही नवी आवृत्ति प्रसिद्ध केली आहे. परंतु यामुनाचार्यांचा गीतार्थसंग्रह व त्याची रक्षा यांचा मजकूर फार थोडा असल्यानें चार भाष्यें, त्यावरील ( तीन टीका आणि ब्रह्मानन्दगिर्या-ख्यानादि स्वतंत्र टीका मिळून ) चार टीका आणि नीलकंठादि उपरिनि-र्दिष्ट तिघा स्वतंत्र टीकाकारांच्या कृती मिळून अकरा टीकांना पुस्तकाच्या नांवांत प्रकाशकांनीं प्राधान्य दिलें आहे. १९०८ सालीं या पुस्तकाची जी प्रथमावृत्ति निघाली होती, तिच्यांत रामानुजांच्या भाष्यावरील टीका, हनुमत्पैशाचभाष्य, वेंकटनाथाचें ब्रह्मानंदगिर्याख्यान (व तत्त्वदीपिका) यांचा समावेश नव्हता. सदर आवृत्तीच्या दुसऱ्या भागांत मधुसूदन, केशवकाश्मीरि भट्टाचार्य ( निंबार्कमतानुयायी ), श्रीधर, शंकरानंद

* तत्त्वदीपिका व अमृततरंगिणी या दोन्ही स्वतंत्र टीका वल्लभ सांप्रदायी आहेत.

वगैरेंच्या आणखी ८ टीकांचा अंतर्भाव झालेला आहे, पण त्यांतहि वेंकटनाथ, हनुमान यांना स्थान मिळूं शकलें नव्हतें, तें या नव्या आवृत्तींत देऊन एक प्रकारें जास्त परिपूर्ण आणि विस्तृत स्वरूपाचें काम गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसनें केलेलें आहे. असलीं विशाल वाङ्मयकार्यें किती अवकाशानें घडून येतात, याचा अंदाज पहिली आवृत्ति १९०८ सालीं निघाली होती, इकडे लक्ष दिल्यास करतां येईल. सव्वीस वर्षें उलटून गेल्यावर गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसला या कामाकडे नजर टाकण्याची वेळ आली. यावरून अशा वाङ्मयकार्यांतील आर्थिक साहसाची कल्पना होऊं शकेल. इतकीं वर्षें छापखान्याची व्यवस्था एकहाती व एकधोरणी रहावी हें देखील छापखान्यांच्या इतिहासांत भाग्याचें लक्षण म्हणावें लागतें. गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसचे संस्थापक मालक कै. वा. इच्छाराम देसाई यांनीं संस्कृत शास्त्रीय ग्रंथ झीज सोसून प्रकाशांत आणण्याचा पाया घातला. त्याप्रमाणें अनेक टीकांसहित महाभारत छापण्याच्या कामालाहि सदर प्रेसच्या मालकांनीं हात घालून ठेविला आहे. त्यापैकींच जास्तींत जास्त टीकाभाष्यें गीतार्थाच्या जिज्ञासूला एकत्र पहातां येतील अशा योजनेचें हें प्रकाशन आहे. मुंबईतील दुसऱ्या छापखान्यांनीं अनेक टीकांसहित भगवद्गीता छापल्याचीं उदाहरणें आहेत, परंतु त्या टीका एकाच संप्रदायाच्या आहेत. गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसनें सगळे भाष्यकार त्यांच्या अनुवादकांसह एका ठिकाणीं आणून सोडल्यामुळें तुलनात्मक दृष्टीनें अभ्यास करणारांची उत्कृष्ट सोय झाली आहे. आतां प्रसिद्ध झालेल्या नव्या आवृत्तीचा आणखी एक विशेष म्हणजे मराठी कवि वामन पंडित यांच्या यथार्थदीपिकेंतून ( आणि ज्ञानेश्वर महाराजांचे भावार्थदीपिकेंतून ) दुर्बोध अर्थाचें विशदीकरण टीपांच्या रूपानें संस्कृतामधून दिलेलें आहे, हा होय. पूर्वीच्या आवृत्तीहून यावेळची छपाई, बांधणी, अधिक सुबक असून कागद जास्त टिकाऊ व स्वच्छ वापरलेला आहे. सर्व भाष्यें व टीका यांचें गीतार्थ आकलन होण्यासाठीं एकत्र अवलोकन केलें म्हणजे साहजिकच गीतेच्या माहात्म्याचा चमत्कार मनावर ठसल्याशिवाय रहात नाहीं. गुजराथी प्रिंटिंग प्रेसच्या मालकांनीं हा चमत्कार लोकांना सुलभ व्हावा म्हणून केलेल्या प्रकाशनाच्या कामगिरीबद्दल ते धन्यवादास पात्र आहेत. सुपररॉयल आकाराचीं ६०० पानें, भिन्न भिन्न भाष्य टीका बिनचूक रहाण्याकरितां घ्यावे लागलेले परिश्रम वगैरे बाबीकडे लक्ष दिल्यास या भागाची किंमत ८ रुपये भारी म्हणतां येत नाहीं. प्रारंभीं प्रथम षट्काचा अध्यायवार विषयानुक्रम आणि शेवटीं वर्णानुक्रमसूची दिलेली आहे. शिवाय पद्मपुराणांतील माहात्म्य जोडलेलें आहे.

ता. २० सप्टेंबर  
सन १९३५

**नवाकाळ—मुंबई**

[काशीस्थ-श्रीराजेश्वरशास्त्रिणां सम्मतिः]

## श्रीशांकरभाष्याद्येकादशटीकोपेता भगवद्गीता ।

श्रीगुरुः शरणम् ।

सम्पूर्णेऽपि हि भूलोके साक्षाद्भगवतोदितम् ।
उपदेशं न पश्यामो धर्मेष्वन्येषु केष्वपि ॥ १ ॥
ईश्वरप्रेरितैरेव कैश्चिदागत्य निर्मिताः ।
धर्मोपदेशाः खैस्तादिमतेष्वेवंविधा स्थितिः ॥ २ ॥
धन्यं हि भारतं वर्षं यत्र श्रीभगवान् स्वयम् ।
उपदेष्टि सुहृद्भूत्वा नरं विषमवर्तिनम् ॥ ३ ॥
अपौरुषेयवेदान्तवचसां महिमाऽद्भुतः ।
यान्येव श्रीभगवता गीतानि सुहृदे स्वयम् ॥ ४ ॥
सेयं भगवती गीता हरिभक्तिमतां नृणाम् ।
एकैव किल पर्याप्ता वेदने ज्ञानधर्मयोः ॥ ५ ॥
इयं हि नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।
न चाशुश्रूषवे वाच्या न चेशं योऽभ्यसूयति ॥ ६ ॥
अधिकारिविशेषस्य ह्येवंविधिबलादियम् ।
श्रीसद्गुरुं प्रपन्नानां दोग्धि धर्मामृतं बहु ॥ ७ ॥
अतोऽस्याः सम्प्रदायस्य सिद्ध्यै भाष्याण्यचीक्लपन् ।
भगवत्पादपूर्वा हि पूर्वाचार्याः कृपालवः ॥ ८ ॥
विद्वद्भिरैरचिताष्टीका अपि लसन्ति ताः ।
गीताया हृद्गतं यासां साहाय्याज्ज्ञायते बहु ॥ ९ ॥
तानि भाष्याणि ताष्टीका एकत्र स्थापिता यदि ।
चित्रा सभैषा भवति ब्रह्मविद्भिर्यपूरिता ॥ १० ॥
तत्र तादात्म्यमापाद्य तदालापांस्तु भक्तितः ।
शृण्वतां पुण्यजनुषां भुक्तिर्मुक्तिः करास्थिता ॥ ११ ॥
इत्यालोच्याभिनन्दामष्टीकासङ्ग्रहमुद्रणम् ।
'गुजराती' यन्त्रशालाधिपैः सम्यक् प्रवर्तितम् ॥ १२ ॥
संशोधनादिकार्येषु टिप्पणीकल्पनेषु च ।
वाक्यस्थलविनिर्देशे भूरिभूरिकृतश्रमाः ॥ १३ ॥
अनन्तशास्त्रिणो धूपकरोपाह्वास्तथैव च ।
गजाननबुधेन्द्राश्च धन्या इति हि मन्महे ॥ १४ ॥

लिपिरियं ( काशीस्थ ) श्रीराजेश्वरशास्त्रिणो द्राविडस्य ।

पुरुषोत्तममासवदि ३० भौमे सं. १९९३

श्रीर्जयति ।

निर्णयसागर प्रेस, मुंबई २
ता. ७।४।३६

गुजरातीमुद्रणालयः ( सासुनबिल्डिंग, कोट, मुंबई. )

एतत्संस्थाधिपतिभिरचिरादेव स्वमुद्रितमेकादशटीकोपेतं श्रीमद्भगवद्गीतापुस्तकमस्मत्सविधेऽभिप्रायप्रकटनाय प्रेषितम् । तदर्थं तेषामुपकृतिभारमुल्लिख्य किञ्चिदिव लेखनीं व्यापारयामः । अस्मिन् पुस्तके शाङ्कर–रामानुज–माध्व–वाल्लभसंज्ञकानां चतुर्णामपि मतानां पुरस्कारं कुर्वतीनां बह्वीनां टीकानां संग्रहः कृतस्तेन सर्वमतानुयायिनां तुलनात्मकपद्धत्या गीताभ्यसनस्य सुगतिर्निर्मितैव । अविगीताख्यायां पृष्ठपादटिप्पणिकायां च क्वचित्क्वचित् भावार्थदीपिकायथार्थदीपिकादिप्राकृतटीकानामपि मतान्तरानिवेशाः कृताः । क्वचित्स्वबुद्ध्यनुसारेणानभिप्रेतमतस्य खण्डनमपि सूचितम् । अभिनवटीकासु वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यं व्याख्यानं बहुव्युत्पादकं सुबोधं च वर्तते । भाष्याद्युद्धृतवचनानां मूलस्थाननिर्देशश्च बहुशो विहितः, एषोऽस्मिन् ग्रन्थे विशेषः संशोधकानां विदुषां प्रमोदावहः । प्रथमषडध्यायात्मकोऽयं प्रथमो भागः प्रकटीकृतः । द्वितीया तृतीया च षडध्यायी एवमेव मुद्रयित्वा प्रकाश्यमाना विंशत्यारूप्यकैर्विदुषामुपयोगाय प्रकटीकरिष्यत इति आघोषणपत्राज्ज्ञायते । संप्रति गतेषु पञ्चविंशत्यां वर्षेषु भगवद्गीतावाचनस्य प्रचारो महाराष्ट्रादिदेशेष्वधिकोऽभवत् । अस्मिन्समये प्राचीनानां विविधमतानां ज्ञानेन तत्त्वनिर्णयो निष्कलङ्को भवेज्जिज्ञासूनाम् । तस्मादेतादृशदुर्लभग्रन्थस्य सुवाच्यं सुबोधं च मुद्रणं महता द्रव्यव्ययेन कृत्वाऽभ्यासकानामुपर्युपकृतिभार एव कृतो गुजरातीमुद्रणालयाध्यक्षैः श्रीमद्भिः नटवरलालप्रभृतिभिः । प्रत्यध्यायं पुराणोक्तं गीतामाहात्म्यमपि योजितं,तद्यद्यपि न सर्वेषां तथापि श्रद्धालूनां प्रमोदावहमेव भवेदित्यस्ति सम्भवः। ग्राहकाश्चैतद्ग्रन्थस्य सङ्ग्रहेणोत्तेजनं कृत्वा गुजरातीमुद्रणालयाध्यक्षाणां प्रयत्नं सफलयेयुरिति परमेश्वरं प्रार्थयामः । एवमेव च सद्ग्रन्थाविष्काराय स भगवांस्तेभ्य आयुरारोग्यधनानि प्रयच्छतादित्याशास्ते—

पणशीकरोपाह्वविद्वद्वरलक्ष्मणतनुजन्मा

**वासुदेवशर्मा ।**

# THE BHAGAVAD-GITA

## WITH

## ELEVEN COMMENTARIES

First Collection

( 1 ) Shankaracharya's *Adwaita Bhashya;* ( 2 ) Anandagiri's *Vyakhya;* ( 3 ) Ramanuja's *Vishishta adwaita Bhashya,* ( 4 ) Deshika's *Tatparya chandrika;* ( 5 ) Madhava's *Dwaita Bhashya,* (6) Jayatirtha's *Prameya deepika;* (7) Hanumat's *Paishacha Bhashya;* (8) Venkatnatha's *Brahmanandagiri;* ( 9 ) Vallabha's *Tattva-deepika.* ( 10 ) Purushotama's *Amrita tarangini;* ( 11 ) Nilakantha's *Bhava-deepa,* and last Yamuna muni's *Artha-sangraha* with Deshika's Raksha and *Gita Mahatmya* of each Adhyaya

## VOL II

( Seventh to twelfth Adhyayas )

New Edition ( 2ND )

Critically Edited and Thoroughly Revised by
SHASTRI GAJANANA SHAMBHU SADHALE

**BOMBAY**
**THE "GUJARATI" PRINTING PRESS**
Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort
**1936**

*This book Can be had from:—*

**The Gujarati Printing Press**

Sassoon Building, Elphinstone Circle

Fort, BOMBAY

( All rights reserved by the Publishers )

CONTENTS

| *Commentators:—* | *Commentaries:—* |
|---|---|
| General Gita Mahatmya (2) | From Varaha-puran etc., |
| 1 SHANKARACHARYA ... | ... Adwaita BHASHYA |
| 2 Ananda-giri... ... ... | ... ...Bhashya Vyakhya |
| 3 RAMANUJA ... ... | Vishishtadwaita BHASHYA |
| 4 Vedant-deshika ... ... | ... Tatparya-Chandrika |
| 5 MADHAVA ... ... | ... Dwaita BHASHYA |
| 6 Jayatirtha ... ... ... | ... ... Prameya-Deepika |
| 7 Hauuman ... ... ... | ... Paishacha BHASHYA |
| 8 Venkatanatha ... ... | ... ... Brahmananda giri |
| 9 Vallabha ... ... ... | ... ... Tattva deepika |
| 10 Purushotama ... ... | ... ... Amrita-tarangini |
| 11 Nilakantha... ... ... | ... ... Bhava-deepa |
| 12 Yamuna-muni ... ... | ... ... Artha sanghraha |
| 13 Deshika ... ... ... | ... ... ... Raksha |
| 14 Mahatmya at the end of each Adhyaya | From Padmapuran |
| 15 Dhupakara Shashtri ... ... | ... Avigita Notes |

*This Book is Printed and Published*

by

Natverlal Itchharam Desai B. A.

at

**The Gujarati Printing Press**

Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort, BOMBAY

ॐ

# श्रीमद्भगवद्गीता

## शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता

[ प्रथमो गुच्छः ]

द्वितीयषट्कम्

( ७-१२ )

द्वितीयावृत्तिः

संशोधनकर्ता

‘ साधले ’ इत्युपाह्व—शम्भुजनुर्गजाननशर्मा

प्रकाशकः

‘ गुजराती ’ प्रिन्टिंग प्रेस

सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल,

कोट, मुंबई

वैक्रमाब्दः १९९२ ] खिस्ताब्दः १९३६ [ शाकाब्दः १८५८

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्:—
" गुजराती " प्रिन्टिंग प्रेस,
सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन् सर्कल, कोट-मुंबई

[ ग्रन्थस्यास्य पुनर्मुद्रणादयः सर्वेऽप्यधिकाराः राजशासनपद्धमनुसृत्य स्वायत्तीकृताः सन्ति। ]

## व्याख्योपव्याख्याकार-व्याख्या-नामानि ।

| | भाष्यकाराष्टीकाकाराश्च | (संप्रदायः) | भाष्याणि टीकाश्च |
|---|---|---|---|
| | ( श्रीगीतामाहात्म्ये, न्यासादि च ) | | |
| १ | श्रीमच्छङ्कराचार्याः | (अद्वैतः) | भाष्यम् |
| २ | आनन्दगिरिः | ,, | शां. भाष्यव्याख्या |
| ३ | श्रीमद्रामानुजाचार्याः | (विशिष्टाद्वैतः) | भाष्यम् |
| ४ | वेदान्तदेशिकाचार्यवेंकटनाथः | ,, | रा. भा. तात्पर्यचंद्रिका |
| ५ | श्रीमदानन्दतीर्थाः | ( द्वैतः ) | ( माध्व- )भाष्यम् |
| ६ | जयतीर्थः | ,, | प्रमेयदीपिका |
| ७ | श्रीमद्धनुमान् | (अद्वैतः) | पैशाचभाष्यम् |
| ८ | श्रीवेंकटनाथः | ,, | ब्रह्मानंदगिर्याख्यानम् |
| ९ | श्रीमद्वल्लभाचार्याः | (शुद्धाद्वैतः) | तत्त्वदीपिका |
| १० | पुरुषोत्तमजी | ,, | अमृततरङ्गिणी |
| ११ | नीलकण्ठः | (अद्वैतः) | भारतभावदीपः |
| १२ | यामुनमुनिः | (विशिष्टाद्वैतः) | गीतार्थसङ्ग्रहः |
| १३ | महादेशिकाचार्यो वेंकटनाथः | | गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा |
| १४ | श्रीपाद्मपुराणोक्त गीतामाहात्म्यम् | | ( प्रत्यध्यायम् ) |
| १५ | अनंताख्या धूपकरशास्त्रिणः | | अविगीता ( टिप्पन्यः ) |

मुद्रक व प्रकाशक—
नटवरलाल इच्छाराम देसाई बी. ए.
" गुजराती " प्रिन्टिंग प्रेस,
सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन् सर्कल, कोट-मुंबई.

# निवेदनम् ।

प्रागुपक्रान्तप्रकाशनस्य श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्योपव्याख्यानां प्रथमगुच्छस्यानेन द्वितीयषट्केनेदानीं तत्रभवतो विश्वविख्यातगुणविसरान् सङ्ख्यावदग्रेसरान् सहृदयानुपतिष्ठामहे ।

अत्र च व्याख्यानसङ्ख्या— तन्निवेशनक्रम— वर्णवैचित्र्यादि प्रकाशितपूर्वप्रथमषट्कवदेव व्यवस्थापितमिति न तद्विषये विशेषतः किमपि वक्तव्यं विद्यते । किन्तु एतच्छोधनावसरे लब्धायाः प्रायशः शुद्धायाः कस्याश्चिन्मध्वभाष्यमातृकायाः साहाय्येन मुद्रणालयस्थपण्डितैरस्मिन् षट्के तद्भाष्यं विशेषतः संशोधितमिति; भगवद्गीताया अपि काश्मीरकपाठानुसारि किमपि पुस्तकमासादितम्, यत्र भूयांस एव प्रायोऽदृष्टपूर्वाः पाठभेदा दरीदृश्यन्ते । तेषां च युक्तायुक्तविवेचनपूर्वकं यथास्थानमत्र प्रदर्शनं प्राज्ञप्रार्थितमपि, प्रथमषट्केऽनारब्धस्य तस्य मध्य एवोपक्रमो न युक्त इत्युपसंहार एवानुष्ठेयत्वेन निर्द्धारितमिति च जानीमः ।

एवमिहोदाहृतवचसामाकरस्थाननिर्देशोऽपि प्रायः साकल्येन सम्पादितो मुद्रणालयप्रधानपण्डितैः साधलेशास्त्रिमहोदयैः स्वयं निर्मीयमाणस्यापूर्वस्योपनिषद्वाक्यकोशस्य साहाय्येनेति मन्यामहे निदर्शनमेवैतदेकं तस्योपयोगितायाः ।

अस्माकमविगीताऽपि साक्षात्कृतप्रथमषट्कैर्गुणैकपक्षपातिभिरनेकैर्मनीषिभिरभिनन्दिता तेषामेवाशिषा कमपि प्रकर्षं पोपुषीत्यस्मिन् षट्के । यद्यपि तस्यामुपक्रान्तो महाराष्ट्रीयभक्तप्रवरप्रणीतव्याख्यागतविशेषांशानुवाद आधिक्येन विधेय इति सप्रशंसमन्वशिषन्विशेषविदः, तथापि ज्ञानदेवविरचिताया भावार्थदीपिकायाः प्रथमद्वितीयषट्कयोः संस्कृतभाषायां पद्यमयोऽनुवादः कैश्चिद्विहितः प्रकाशितश्चेति श्रुतत्वात्तृतीयषट्क एव यथाशक्ति यियतिषमाणा वयमिह प्रायस्तद्विषय उदासिष्महि । वामनीयाया यथार्थदीपिकायाः सङ्ग्रहे तु गृहीत एव यावच्छक्यमसौ नियोगः, किन्तु वामनीयस्य वाग्जालस्यातीव विस्तृतत्वादाम्रेडितमेदुरत्वाच्च तत्सारांशमात्रोद्धार एव व्यधायि यत्नः । तत्रापि द्वादशाध्यायगतानां पञ्चषश्लोकानां स्वसिद्धान्तानुसारि विवरणं श्रुतिकल्पलताख्यायां भागवतीयवेदस्तुतिव्याख्यायां वामनेनैव प्रसङ्गात्संस्कृतभाषायां विहितं किञ्चित्सङ्क्षिप्य सरलीकृत्य चात्रोद्धृतम् । मन्यामहे तद्वामनप्रतिपादितार्थस्य साकल्येनानुवादेऽस्मदीयं प्रयासं तुलयितुं समालोचिततद्वाग्जालानां सहृदयानां महत्साहाय्यमाधास्यतीति । 'अथैतदप्यशक्तोऽसि—' ( १२।११ ) 'श्रेयो हि—' ( १२।१२ ) इत्येवमादिषु द्वित्रस्थलेषु तु वामनीयविवरणस्यानुवादमावश्यकमपि विधातुं विविधप्रत्यूहपराहतोद्यमा नाशक्नवामेति मर्षणीयमेतदागो महाभागाः । यत्तु क्वचित्केषाञ्चित्प्रतिपादितमविगीतायां प्रतिक्षिप्यते, तत्र न व्यक्तिविद्वेषो न वा मतविशेषाभिनिवेशो निदानम्; किन्तु मूलविरोधः प्रबलप्रमाणान्तरविरोध एव वेति विश्वसिमो नास्मभ्यमसूयिष्यन्ति दोषज्ञा इति ।

या चास्माभिरस्मिन् गुच्छे गुम्फिता ब्रह्मानन्दगिरिटीका, तस्या अस्मदुपलब्धमातृकायां दशमाध्याय एकविंशाद्येकादशश्लोकानां टीका न दृश्यते, तद्यदि तस्याष्टीकाया मातृकान्तरं केषाञ्चित्सन्निधौ विद्येत, तर्हि शोधनार्थं तत्प्रदानेनानुग्राह्या वयमिति साञ्जलिबन्धमभ्यर्थयामः ।

यानि च गुणदोषविशेषविद्भिर्निर्मत्सरैर्विचक्षणवरैरस्मदीयं गीताव्याख्यागुच्छमवलोक्य प्रीतान्तरैः प्रेषितानि प्रशंसापत्राण्यस्मत्सन्निधिमुपसासद्यन्ते, तानि सादरमुपसंहार एव सञ्जिघृक्षामहे ।

शुद्धिपत्रं तु ग्रन्थान्ते पृथगेव प्रकाशयिष्यत इति निवेदितपूर्वस्यापि स्मारणमत्र सामयिकं मन्यामहे ।

अन्ततश्च प्रियतनयवियोगविहस्तेष्वस्मासु महतीमर्थहानिं सहित्वाऽपि बहून्यहानि मुद्रणालयकार्यं निरुद्धयावसरप्रदातॄणां धैर्यौदार्यादिगुणमण्डितानां सौभ्रात्रभूषितानां 'गुजराती' मुद्रणालयाधिपतीनां परमुपकारभारं शिरसा धारयमाणा एव सानुकम्पापाङ्गपातापास्तदोषाणामत्रभवतां मनीषिणामाशिषमाशासानास्तृतीयमपि षट्कं परिष्कर्तुमुद्युञ्जमहे ।

श्रीविद्याविहारमन्दिरम्, माशैलः, गोवा
१८९८ दीपावली

विद्वद्विधेयः—
धूपकरोपाह्वः—अनन्तयज्ञेश्वरशर्मा ।

# THE BHAGAVAD-GITA with ELEVEN COMMENTARIES

## ( First Collection ) Vol. I (1 to 6 chapters)

Critically Edited & Thoroughly Revised Second Edition by
SHASTRI GAJANANA SHAMBHU SADHALE

and Published by The Proprietors of the Gujarati Printing Press, Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort at Bombay 1935, Price Rs. 8/-

We most heartily congratulate the proprietors of the Gujarati Printing Press on this *second edition* of their 'First Collection' of valuable and rare commentaries on the most popular Vedantic work, the Bhagavad-gītā, which is rightly regarded as the guiding star of a Hindu's spiritual and moral life. They have as a matter of fact, concentrated their energies on this enterprise and have so far given us about 19 neatly printed and carefully edited commentaries of high literary and philosophical value, in the two Gucchas together. The abovementioned second edition of the first Guccha contains the Bhāshyas of the four great Āchāryas representing the principal schools of the Vedanta, together with a lucid commentary on each of them. It also contains the Paiśācha Bhāsya ascribed to Hanumat by Tradition, and the Brahmānandagiri, a highly learned commentary of the Śaṅkara school composed by Veṅkatanātha, as also the Bhārata-bhava-deepa of Nilakantha At the end of each chapter, the learned 'Vidyālamkāra' Dhupakar Shastri of Goa has added his brief notes (called Avigita), which contain on the one hand, a criticism of few points of discussion raised by the old and new commentators including the Gitārahasya of the late Lokamanya Tilaka, and on the other, a Sanskrit rendering of some interesting portions of the older Marāthi commentaries written by Jñāneśvara and Vāmana Pandit.

The editor of the work, Pandit Gajanana Shastri Sadhale has devoted utmost care and patience to his task, as will be evident from the numberless references occurring in the different commentaries, which are traced by him to their original sources. This was a very difficult task, but we are glad to note, that it has been executed with great success by the learned editor. The edition indeed offers great facilities for a comparative and critical study of the exegetical material connected with the Bhagvad-gita, and we strongly recommend it to all lovers of the Gitā. We earnestly hope that the remaining parts of it will soon be out, not excluding the one, in which the publishers propose to give 'the different kinds of proper indexes' without which the work is bound to remain incomplete. p. p. 127–128.

The JOURNAL OF
THE UNIVERSITY OF BOMBAY,
Arts and Law No. 7
Vol. IV Nov. 1935 Part III

H. D. VELANKAR, M. A.
Professor of Sanskrit. The Wilson College,
BOMBAY.

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमगुच्छे

## द्वितीयषट्कस्य विषयानुक्रमः


| विषयाः | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|
| **सप्तमोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः ७ ] | | १ |
| तत्त्वज्ञानोपक्रमे शिष्यस्याभिमुखीकरणम् ... | १ | ३ |
| भगवत्तत्त्वज्ञानस्य दौर्लभ्यम् ... ... ... | ३ | १० |
| पराऽपरा चेतीशस्य प्रकृतिद्वयं तत्कार्यं च ... | ४ | ११ |
| भगवतोऽद्वैतस्वरूपम् ... ... ... ... | ७ | १८ |
| मन्दधियां भजनोपयोगि विभूतिलक्षणं ब्रह्मस्वरूपम् | ८ | २० |
| एवम्भूतविभूतिलक्षणलक्षितस्यापि भगवत्स्वरूपस्याज्ञानकारणं मायाविनो भगवतो दुस्तरतरा माया, तत्तरणोपायश्च ... ... ... | १३ | २८ |
| भगवद्भक्तानां चतुर्विधत्वम् ... ... ... | १६ | ३५ |
| आर्तादिभक्तेभ्यो ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यम् ... ... | १७ | ३९ |
| आर्तादिस्वभक्तत्रयोत्कर्षं प्रतिपादयितुमितरेषां सकामानां देवतान्तरभजने हेतुः ... ... | २० | ४५ |
| अन्यदेवताभक्तानां मौढ्यं भगवद्भक्तानां च वैशिष्ट्यम् ... ... ... ... ... | २३ | ४९ |
| भगवद्भजनाधिकारित्वकथनपूर्विकोत्तराध्यायसङ्गतिः ... ... ... ... | २८ | ५८ |
| सप्तमाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... ... | | ६३ |
| **अष्टमोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [अध्यायः८] | | ६९ |
| अर्जुनस्य सप्त प्रश्नाः ... ... ... | १ | ६६ |
| अर्जुनकृतसप्तप्रश्नोत्तराणि ... ... | ३ | ६९ |
| म्रियमाणस्यान्तकालीना या मतिः सैव तद्गतिः | ६ | ७९ |
| अन्तकालीनभगवत्स्मरणपूर्वकास्तत्प्राप्तिप्रकाराः | ८ | ८३ |
| ॐकारब्रह्मोपासनं सफलस्तत्प्रकारश्च ... | ११ | ९० |
| भगवत्प्राप्तेः सुलभमुपायान्तरम् ... ... | १४ | ९६ |
| सहेतुका पुनरावृत्त्यपुनरावृत्तिनो लोकाः ... | १६ | १०० |
| अनावृत्तिस्थानं तत्प्राप्त्युपायश्च ... ... | २० | १०७ |
| मृतस्य देवयानपितृयाणापरनामकौ अर्चिरादिमार्गौ | २३ | ११२ |
| देवयानपितृयाणमार्गेण गन्तॄणां फलम् ... | २६ | १२० |
| अष्टमाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... ... | | १२९ |
| **नवमोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः ९ ] | | १२६ |
| उक्तानुक्तज्ञानप्रशंसा ... ... ... ... | १ | १२७ |
| अद्वैतप्रपञ्चमिथ्यात्वमद्वैतब्रह्मतत्त्वज्ञानं च ... | ४ | १३६ |
| ब्रह्मणोऽसङ्गस्वभावत्वे दृष्टान्तः, दृश्यप्रपञ्चस्य मायामात्रत्वं च ... ... ... ... | ६ | १४१ |
| परमात्मनो मायोपाधिकं जगत्स्रष्टृत्वम् ... | ८ | १४६ |
| अज्ञानां सुज्ञानां च सहेतुकं स्वभाववैचित्र्यम् ... | ११ | १५२ |
| महात्मनां प्रेमभक्तिभजनप्रकाराः ... ... | १४ | १५९ |
| बहुधाभजनहेतुभूतं भगवतः सर्वात्मकत्वम् ... | १६ | १६२ |
| उक्तस्वरूपाज्ञानिनां सकामानां केवलकर्मठानां च दुर्निवारं यातायातत्वम् ... ... ... | २० | १६९ |
| निष्कामानामनन्यभक्तानां भगवद्भजनमेव सर्वसिद्धिकरम् ... ... ... ... | २२ | १७२ |
| भगवद्रूपान्यदेवतानभिज्ञानिनां तत्तद्भक्तानामधःपतनम् ... ... ... ... ... | २३ | १७५ |
| भगवदाराधनस्यातिसौकर्यं तदनुष्ठानस्य च फलम् | २६ | १८० |
| भगवतः सर्वसमत्वं भक्तेर्माहात्म्यं च ... ... | २९ | १८५ |
| भगवद्भजनस्य स्त्रीणामस्पृश्यानां च सर्वेषामप्यधिकारः ... ... ... | ३२,३३ | १९३ |
| भक्तेः स्वरूपं, तस्याः सुलभप्रकारः फलं च ... | ३४ | १९६ |
| नवमाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... ... | | २०० |

| विषयाः | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|
| **दशमोऽध्यायः।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः १० ] | | २०२ |
| भगवतो निरतिशयं वात्सल्यं दुर्विज्ञेयं तत्त्वं च ... | १ | २०३ |
| प्राणिकर्मानुरूपोत्पत्स्यमानानि भगवत्कार्याणि तज्ज्ञानफलं च ... ... ... ... | ४ | २१० |
| भगवद्भक्तानां प्रेमोपासनास्वरूपं तत्फलं च ... | ८ | २१८ |
| भगवद्विभूतीर्विस्तरेण शुश्रूषोरर्जुनस्य प्रश्नः ... | १२ | २२४ |
| प्रष्टुरर्जुनस्य चित्तैकाग्र्यार्थं भगवदुक्तिः ... | १९ | २३३ |
| पारमेश्वरं पारमार्थिकं ध्येयस्वरूपम् ... ... | २० | २३४ |
| उक्तस्वरूपध्यानाशक्तेभ्यः सुध्येयाः काश्चिद्भगवद्विभूतयः ... ... ... ... ... | २१ | २३७ |
| भगवद्विभूतीनामनन्तत्वम् ... ... ... | ४० | २५९ |
| भगवतः सामस्त्येन व्यापकत्वम् ... ... | ४२ | २६१ |
| दशमाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... ... | | २६३ |
| **एकादशोऽध्यायः।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः [ अध्यायः ११ ] | | २६६ |
| विश्वरूपदर्शनाभिलाषिणोऽर्जुनस्य प्रश्नः ... | १ | २६७ |
| अर्जुनप्रार्थितस्य विश्वरूपं दर्शयिष्यतो भगवतः स्वात्मरूपानुक्रमः, तद्दर्शनक्षमं तस्मै दिव्यचक्षुःप्रदानं च ... ... ... ... ... | ५ | २७४ |
| भगवताऽर्जुनाय दर्शितस्य स्वैश्वरस्य विश्वरूपस्य वर्णनं तद्दर्शनेनार्जुनस्य विस्मयाकुलितत्वं च | ९ | २७८ |
| भगवद्दर्शितस्यार्जुनदृष्टस्य विश्वरूपस्य वर्णनम् ... | १५ | २८४ |
| भगवतो विश्वरूपस्य व्यापकत्वं लोकभयङ्करत्वं च ... ... ... ... ... | २० | २९३ |
| लोकानामर्जुनस्य च भयहेतुत्वकथनम् ... ... | २३ | २९७ |
| भयङ्कररूपधारणस्य भगवद्धेतुः ... ... ... | ३२ | ३०६ |
| विश्वरूपदर्शनेनातिभीतेनार्जुनेन कृता भगवत्स्तुतिपूर्विका प्रार्थना ... ... ... ... | ३६ | ३१४ |
| भयाकुलस्यार्जुनस्याश्वासनं पूर्वरूपप्रदर्शनं च ... | ४७ | ३२९ |
| अर्जुनस्य स्वास्थ्यम् ... ... ... ... | ५१ | ३३४ |
| भगवद्विश्वरूपदर्शनस्य दुर्लभत्वं तत्प्राप्त्युपायश्च | ५२ | ३३६ |
| एकादशाध्यायस्य माहात्म्यम्... ... ... | | ३४१ |
| **द्वादशोऽध्यायः।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ... ... | | ३४५ |
| सगुणनिर्गुणब्रह्मनिष्ठयोर्द्वयोर्मध्ये का श्रेष्ठा का च कर्तव्येत्यर्जुनप्रश्नः ... ... ... | १ | ३४६ |
| सगुणब्रह्मनिष्ठायाः सुकरत्वात्सौलभ्यं प्राशस्त्यं च | २ | ३५२ |
| निर्गुणब्रह्मनिष्ठाया दुष्करत्वाद्दौर्लभ्यं श्रेष्ठत्वं च... | ३ | ३५३ |
| सगुणब्रह्मोपासकानामविलम्बेन मोक्षसिद्धिः ... | ६ | ३६२ |
| सगुणनिर्गुणोपासनायाः सुकरं शीघ्रफलप्रदं चोपायचतुष्टयं भक्तप्रेमातिरेकश्च ... ... | ८ | ३६६ |
| **धर्म्यामृतम्**—अर्थात् [ तद्विष्णोः परमं पदमभीप्सूनां कृते भगवतोक्ता जीवन्मुक्तधर्माः ] | १३ | ३७४ |
| धर्म्यामृतानुष्ठानस्य फलश्रुतिः ... ... ... | २० | ३८५ |
| द्वादशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... ... | | ३८८ |
| श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयषट्कश्लोकानामादिवर्णानुक्रमः ... ... ... ... ... | | ३०९ |


इति श्रीभगवद्गीता-द्वितीयषट्क-विषयानुक्रमः ।

—:o:—

[ प्रथमगुच्छे द्वितीयं षट्कम् ]

शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता

# श्री म द्भ ग व द्गी ता

## उपासनाकाण्डम्

[ अध्यायाः ७ — १२ ]

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ७ ]

**स्वयाथात्म्यं प्रकृत्यास्य तिरोधिः शरणागतिः ।**
**भक्तभेदः प्रबुद्धस्य श्रैष्ठ्यं सप्तम उच्यते ॥ ११ ॥**

**श्रीमद्वेङ्कटनाथप्रणीता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।**

तत्र भाष्यं–' सप्तमे तावदुपास्यभूतपरमपुरुषस्वरूपयाथात्म्यं, प्रकृत्या तत्तिरोधानं, तन्निवृत्तये भगवत्प्रपत्तिः, उपासकविधाभेदः, ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यं चोच्यते ' [रा. भा.७।१] इति । तत्र प्रकृतिशब्देन ' मम माया दुरत्यया' [७।१४] इति मायाशब्दो व्याख्यातः। 'गुणमयी'[७।१४] इति विशेषणात्सैव हि विवक्षितेति गम्यते; श्रुतावपि "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः " [ श्वे. उ.४।९] इति प्रस्तुतयोर्मायातद्वतोः "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" [ श्वे. उ.४।१० ] इति स्वयमेव विवरणाच्च । अतो विचित्रसृष्ट्युपकरणवस्तुत्वात् प्रकृताविह मायाशब्दप्रयोग इति भावः। अष्टमारम्भसङ्गतौ चैतच्छ्लोकार्थः स्पष्टमभिहितः-'सप्तमे परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्योपास्यत्वं, निखिलचेतनावस्तुशेषित्वं, कारणत्वम्, आधारत्वं, सर्वशरीरितया सर्वप्रकारत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वं, सर्वनियन्तृत्वं, सर्वैश्च कल्याणगुणगणैस्तस्यै परतरत्वं, सत्त्वरजस्तमोमयैर्देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन चावस्थितैर्भावैरनादिकालप्रवृत्तदुष्कृतप्रवाहहेतुकैस्तस्य तिरोधानमत्युत्कृष्टसुकृतहेतुकभगवत्प्रपत्त्या च तन्निवर्तनं, सुकृततारतम्येन च प्रतिपत्तिवैशेष्यादैश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवत्प्राप्त्यपेक्षया च उपासकभेदं, भगवन्तं प्रेप्सोर्नित्ययुक्ततया एकभक्तितया च अत्यर्थपरमपुरुषप्रियत्वेन च श्रैष्ठ्यं, दुर्लभत्वं च प्रतिपाद्य एषां त्रयाणां ज्ञातव्योपादेयभेदांश्च प्रास्तौषीत्' [ रा. भा. ८।१ ] इति ॥ ११ ॥

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीवेदव्यासप्रणीता महाभारतान्तर्गता

# श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता ।

[ प्रथमगुच्छे द्वितीयं षट्कम् ]

## उपासनाकाण्डम् ।

### ज्ञानविज्ञानयोगाख्यः सप्तमोऽध्यायः ७ ।

तत्त्वज्ञानोपक्रमे शिष्यस्याभिमुखीकरणम् ।

श्रीभगवानुवाच— मय्यासक्तमनाः पार्थ! योगं युञ्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

१ शाङ्करभाष्यम् ।

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' [६।४७] इति प्रश्नबीजमुपन्यस्य स्वयमेव 'ईदृशं मदीयं तत्त्वं, एवं मद्गतान्तरात्मा स्यात्' इत्येतद्विवक्षुः श्रीभगवानुवाच— मयीति । मयि वक्ष्यमाणविशेषणे परमेश्वर आसक्तं मनो यस्य स मय्यासक्तमनाः, हे पार्थ ! योगं युञ्जन्मनस्समाधानं कुर्वन्, मदाश्रयोऽहमेव परमेश्वर आश्रयो यस्य स मदाश्रयः । यो हि कश्चित्पुरुषार्थेन केनचिदर्थी भवति स तत्साधनं कर्माग्निहोत्रादि तपो दानं वा किञ्चिदाश्रयं प्रतिपद्यते, अयं तु योगी मामेवाऽऽश्रयं प्रतिपद्यते हित्वाऽन्यत्साधनान्तरं मय्येवाऽऽसक्तमना भवति । यस्त्वमेवम्भूतः सन्नसंशयं समग्रं समस्तं विभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिगुणसम्पन्नं मां यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि संशयमन्तरेण 'एवमेव भगवान्' इति तच्छृणूच्यमानं मया ॥ १ ॥

---

१ अत्र नव्याः—'योगं युञ्जन् कर्मयोगमाचरन्' इति विवृण्वते । तदसङ्गतम् ; धात्वर्थाननुगमात् । 'योगी युञ्जीत सततं' [ ६ । १० ] इत्यादिना पूर्वाध्याये मनस्समाधानरूपस्य पातञ्जलयोगस्यैवोपक्रान्तत्वात्, 'मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः' [ ६ । १४ ] इत्येतत्समानविषये तस्यैव प्रकृतत्वात्, 'युञ्जन्नेवं' [ ६ । १५ ] इत्यत्र तैरपि पातञ्जलयोगस्यैव स्वीकृतत्वाच्च । —अविगीता ।

## २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

कर्मसन्न्यासात्मकसाधनप्रधानं त्वम्पदार्थप्रधानं च प्रथमषट्कं व्याख्याय मध्यमषट्कमुपास्यनिष्ठं तत्पदार्थनिष्ठं व्याख्यातुमारभमाणः समनन्तराध्यायमवतारयति– **योगिना**मिति । अतीताध्यायान्ते 'मद्गतेनान्तरात्मना यो भजते मां' [६-४७]इति प्रश्नबीजं प्रदर्श्य कीदृशं भगवतस्तत्त्वं? कथं वा तद्गतान्तरात्मा स्यात्? इत्यर्जुनस्य प्रश्नद्वये जाते, स्वयमेव भगवान् पृष्टमेतद्वक्तुमिच्छन् उक्तवानित्यर्थः । परमेश्वरस्य वक्ष्यमाणविशेषणत्वं सकलजगदायतनत्वादिनानाविधविभूतिभागित्वं, तत्राऽऽसक्तिर्मनसो विषयान्तरपरिहाण्या तन्निष्ठत्वम् । मनसो भगवत्येवाऽऽसक्तौ हेतुमाह— **योग**मिति । विषयान्तरपरिहारे हि गोचरमालोच्यमाने भगवत्येव प्रतिष्ठितं भवतीत्यर्थः । तथापि स्वाश्रये पुरुषो मनः स्थापयति, नान्यत्रेत्याशङ्क्याऽऽह— **मदाश्रय** इति । योगिनो यदीश्वराश्रयत्वेन तस्मिन्नेवाऽऽसक्तमनस्त्वमुपन्यस्तं तदुपपादयति– **यो हीति** । ईश्वराख्याश्रयस्य प्रतिपत्तिमेव प्रकटयति— **हित्वे**ति । अस्तु योगिनस्त्वदाश्रयप्रतिपत्त्या मनसस्त्वय्येवाऽऽसक्तिः, तथापि मम किमायातमित्याशङ्क्य द्वितीयार्धं व्याचष्टे— **यस्त्वमेव**मिति । एवम्भूतो यथोक्तध्याननिष्ठपुरुषवदेव मय्यासक्तमना यस्त्वं, स त्वं तथाविधः सन् असंशयमविद्यमानः संशयो यत्र ज्ञाने तद्यथा स्यात्तथा मां समग्रं ज्ञास्यसीति सम्बन्धः । समग्रमित्यस्यार्थमाह– **समस्त**मिति । विभूतिर्नानाविधैश्वर्योपायसम्पत्तिः, बलं शरीरगतं सामर्थ्यम्, शक्तिर्मनोगतं प्रागल्भ्यम्, ऐश्वर्यमीशितव्यविषयमीशनसामर्थ्यम् । आदिशब्देन ज्ञानेच्छादयो गृह्यन्ते । असंशयमिति पदस्य क्रियाविशेषणत्वं विशदयन् क्रियापदेन सम्बन्धं कथयति— **संशय**मिति । विना संशयं भगवत्तत्त्वपरिज्ञानमेव स्फोरयति— **एवमे**वेति । भगवत्तत्त्वे ज्ञातव्ये कथं मम ज्ञानमुपदेक्ष्यति? न हि त्वामृते तदुपदेष्टा कश्चिदस्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **तच्छृण्वि**ति ॥ १ ॥

## ३ श्रीमद्रामानुजभाष्यम् ।

**प्रथमेनाध्यायषट्केन परमप्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो निरवद्यस्य निखिलजगदेककारणस्य सर्वज्ञस्य सर्वभूतस्य सत्यसङ्कल्पस्य महाविभूतेः श्रीमतो नारायणस्य प्राप्त्युपायभूतं तदुपासनं वक्तुं तदङ्गभूतमात्मज्ञानपूर्वककर्मानुष्ठानसाध्यं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनमुक्तम् । इदानीं मध्यमेन षट्केन परब्रह्मभूतपरमपुरुषस्वरूपं तदुपासनं च भक्तिशब्दवाच्यमुच्यते । तदेतदुत्तरत्र 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् । स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [१८।४६] इत्यारभ्य 'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' ॥ [१८।५३;५४] इति सङ्क्षिप्य वक्ष्यते ।**

## ४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

षट्कसङ्गतिमाह— **प्रथमेने**ति । **परमे**त्यादिना **वक्तु**मित्यन्तेन द्वितीयषट्कार्थ उक्तः । ततः परं प्रथमषट्कार्थः । प्रथमेनाध्यायषट्केनोक्तमित्यन्वयः । 'मामुपेत्य' [८।१६] इत्यादीनामर्थं दर्शयति— **परमप्राप्यभूतस्ये**ति । तेन परिशुद्धजीवमात्रव्यावर्तनम् । परमप्राप्यत्वे हेतुः परब्रह्मत्वादिकम् । 'परं ब्रह्म परं धाम' [१०।१२] इत्यादिकं वक्ष्यति । पुरुषोत्तमत्वप्रकरणादीनामर्थो निरवद्यत्वम् । एतेनाचिद्गता विकारादयः चिद्गताः क्लेशादयश्च परिहृताः । 'अहं सर्वस्य प्रभवः' [१०।८] इत्यादेरर्थमाह— **निखिले**ति । चिदचिदात्मकं सर्वं जगत्प्रति निमित्तोपादानभूतस्येत्यर्थः । एवं परमप्राप्यस्यैव कारणत्वप्रतिपादनाद्व्योमातीतमतन्निरस्तम् । निमित्तोपादानत्वोपयुक्तं 'मत्तः परतरम्' [७।७] इत्याद्यभिप्रेतं सर्वज्ञत्वादिकम् । **सर्वभूतस्य**— सर्वान्तर्यामितया सर्वशरीरकस्येत्यर्थः । 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' [११।४०] इति हि वक्ष्यति । 'भूमिरापः' [७।४] इत्यादिना विभूत्यध्यायादिना (१०) च वक्ष्यमाणं महाविभूतित्वं नारायणशब्दनिर्वचनमपि **परमप्राप्यभूतस्य महाविभूते**रित्यादिना सूचितम् । एतदुक्तं भवति – 'परत्वान्निरवद्यत्वात्पितृत्वाद्धितवेदनात् । अन्तरात्मतया दोषप्रतिक्षेपक्षमत्वतः । भोगलीलार्थनिस्सीमविभूतिद्वययोगतः । श्रीमत्वादप्युपास्योऽयं प्राप्यो नारायणः परः ॥' इति । **प्राप्त्युपायभूतं तदुपासन**मिति– परमात्मोपासनमेव तत्क्रतुन्यायात्तत्प्राप्त्युपायः; जीवज्ञानं कर्मानुष्ठानं च तन्निवर्तकत्वेन परम्परयोपाय इति भावः । अङ्गप्राप्त्रोर्वचनानन्तरमङ्गिप्राप्ययोः प्रतिपादनमिति सङ्गत्यभिप्रायेणाह— **इदानी**मिति । पूर्वोक्तात्परिशुद्धात्मनो व्यावृत्तिं वक्ष्यमाणवैभवसङ्ग्रहं चाभिप्रेत्याह— **परब्रह्मभूतपरमपुरुषस्वरूपमि**ति—एतेन तत्त्वपरेषु सामान्यब्रह्मशब्दस्य विशेषे स्थितिर्दर्शिता, अथ मोक्षोपायपरेषु वेदान्तवाक्येषु वेदनोपासनादिशब्दानां विशेषपर्यवसानमाह— **तदुपासनं च भक्तिशब्दवाच्यमि**ति । एवं वाक्यद्वयेन षट्कद्वयसङ्ग्रहश्लोकावप्यर्थाद्व्याख्यातौ । तथाहि 'ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्ष्ये सुसंस्कृते । आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते । मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये । ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्यो

भक्तियोगः प्रकीर्तितः' [गी. सं. २।३] इति । **आत्मज्ञानपूर्वके**त्यनेन सुसंस्कृतशब्दो व्याख्यातः। बुद्धिविशेषसंस्कृतत्वं हि प्रागेवोपपादितम्। 'योगलक्षे आत्मानुभूतिसिद्धयर्थे'इत्यत्र योगो विषयान्तरेभ्यश्चित्तवृत्तिनिरोधः; तज्जन्यसाक्षात्कारस्त्विहात्मानुभूतिशब्देनोच्यत इत्यपौनरुक्त्यमित्यभिप्रायेण **याथात्म्यदर्शन**मित्युक्तम्। तत्त्वयाथात्म्यशब्दविवरणं **परब्रह्मभूते**त्यादि। तत्त्वशब्दोऽत्र स्वरूपपरः। याथात्म्यं यथावस्थितः प्रकारः। भक्तेः कर्मानुष्ठानसाध्यात्मदर्शनहेतुकत्वं अष्टादशे वक्ष्यत इत्याह **तदेतदि**ति। ननु "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति"[श्वे.उ.३।८; ६।१५] इत्यादिबलाद्वेदनमात्रेण मोक्षः प्रतीयते; अस्तु वा 'उपासीत' इति बलादुपासनरूपेण वेदनेन मोक्षः, तथापि न भक्त्या मोक्ष इति क्वचिदपि श्रुतम्।

**३ रा. भा.— उपासनं तु भक्तिरूपापन्नमेव परमप्राप्त्युपायभूतमिति वेदान्तवाक्यसिद्धम्। "तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति" [ श्वे. उ. ३।८+यजुस्सं. ३१।१८ ] "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" [नृ. पू.ता. १०।६+तै. आ. ३।१।३] इत्यादिनाऽभिहितं वेदनम्; "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" [ बृ. उ. २।४।५+४।५।६ ] "आत्मानमेव लोकमुपासीत" [बृ. उ. १।४।१५ ] "सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" [ छां. उ. ७।२६।२ ] "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" [ मुं. उ. २।२।८]इत्यादिभिरैकार्थ्यात्स्मृतिसन्तानरूपं दर्शनसमानाकारं ध्यानोपासनशब्दवाच्यमित्यवगम्यते।**

**४ वे. ता.चं.**— कर्मसमुच्चयश्च श्रुतिसिद्धो दुस्त्यजः; परमपुरुषविषयस्यैवोपासनस्य मोक्षसाधनत्वमित्यपि दुर्वचम्, रुद्रेन्द्राद्युपासनस्यापि मोक्षसाधनत्वेनाथर्वशिरःप्रतर्दनविद्यादिषु श्रुतेरित्याद्याशङ्क्याऽऽह— **उपासनं त्विति**। उपासनमेव, न तु ज्ञानमात्रमित्येका प्रतिज्ञा; तत्रापि भक्तिरूपापन्नं, नोपासनमात्रमिति द्वितीया; एवंविधमुपासनमेव, न तु कर्मसमुच्चितमिति तृतीया; तच्च परविषयमेवेति चतुर्थी। एषा तु **परमप्राप्त्युपायभूत**मित्यनेन तत्क्रतुन्यायात्सूचिता। **वेदान्तवाक्यसिद्धमिति**— एतच्चतुष्टयमपि वेदान्तवाक्यैरेव सिद्धम्, न तु कल्प्यम्; नाप्युपबृंहणसापेक्षमिति भावः। तत्र प्रथमां प्रतिज्ञां समर्थयते— **तमेवे**त्यादिना **अवगम्यत** इत्यन्तेन। "श्रोतव्यो मन्तव्यः" [ बृ. उ. २।४।५ ] इत्येतयोस्तु रागप्राप्तश्रवणमननानुवादरूपत्वात्तत्परित्यागेन, "द्रष्टव्यः......निदिध्यासितव्यः" इति विध्यंश उपात्तः। ध्यानोपासनशब्दयोरत्रैकार्थ्यं दर्शयितुमुभयविशिष्टवाक्योपादानम्। "द्रष्टव्यः......निदिध्यासितव्यः" इत्यनयोर्भिन्नार्थत्वप्रसिद्धेरेकवाक्यस्थयोरेकार्थत्वं पौनरुक्त्यादिदोषाच्च दर्शनं ध्यानं च पृथगेव विहितमिति शङ्कायां तयोरपि सामान्यविशेषन्यायविशेषैकार्थ्यमेवेति दर्शयितुं स्मृतिमात्रं दर्शनमात्रं च पृथक्सर्वग्रन्थिमोक्षहेतुतया वदतोरत एवैकार्थविषययोर्वाक्ययोरुपादानम्। एतदुक्तं भवति— समानप्रकरणपठितविशेषे सामान्यशब्दानां पर्यवसानं न्यायसिद्धम्; अतोऽत्र वेदनादिसामान्यशब्दानां ध्यानोपासनशब्दवाच्ये विशेषे पर्यवसानमभ्युपेयम्; ध्यानं च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्ततिरूपमिति "ध्रुवा स्मृतिः" [छां.उ.७।२६।२] इत्यादिसिद्धम्; सा च ध्रुवा स्मृतिः सर्वग्रन्थिविप्रमोक्षहेतुतया विहिता; दर्शनं च तद्धेतुतया विहितम्; न चेदुपायद्वयं, गुरुलघुतारतम्यात् फलस्य चाविशिष्टत्वाल्लघौ सति नियमेन गुरोरपरिग्रहेणानुपायत्वप्रसङ्गात्; न च द्वारद्वारिभावः, एकस्मिन्वाक्ये विशिष्टैकविधिसम्भवे पृथग्विधेः परिग्रहायोगात्; न च दर्शने स्मृतिशब्देनोपचारे कश्चिद्गुणः; अतो ध्रुवा स्मृतिरेव दर्शनशब्देन विशेषिता; स्मृतेश्च दर्शनसमानत्वं नाम विशदतमतया दर्शनसमानाकारत्वमेव। भवति च स्मृतेर्भावनाप्रकर्षाद्दर्शनसमानाकारता भीरुकामुकादिषु। यथा 'वृक्षे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम्। गृहीतधनुषं रामं पाशहस्तमिवान्तकम्' [ वा.रा.३।१४।१५] इत्यादि। तथा 'लीनेव प्रतिबिम्बितेव' [ मा. मा. अं. ५] इत्यादि। एवं च स्मृतिदर्शनशब्दयोरैकार्थ्ये सिद्धे "द्रष्टव्यः ... निदिध्यासितव्यः" इत्यनयोरेकवाक्यस्थयोरपि सामान्यविशेषरूपेणैकार्थ्यमेवेति।

**३ रा. भा.— पुनश्च "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" [ मुं. उ. ३।२।३ ] इति विशेषणात् परेणात्मना वरणीयताहेतुभूतं स्मर्यमाणविषयस्यात्यर्थप्रियत्वेन स्वयमप्यत्यर्थप्रियरूपं स्मृतिसन्तानमेवोपासनशब्दवाच्यमिति हि निश्चीयते। तदेव हि भक्तिरित्युच्यते, 'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' [ लैङ्गे उ. खं. ] इत्यादिवचनात्।**

४ वे. ता. चं.— अथ द्वितीयां प्रतिज्ञामुपपादयितुमाह— पुनश्चेति । एतदुक्तं भवति 'नायमात्मा' इत्यादिना केवलश्रवणमनननिदिध्यासननिषेधः, अत्यन्तनिषेधे त्वनेकप्रमाणविरोधात् । "यमेवैषः" इत्यादिनापि वरणीयत्वहेतुभूतस्वक्रियासाध्यो गुणविशेषो विधीयते, ईश्वरस्वाच्छन्द्यमात्राभिधाने वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषप्रसङ्गाच्छास्त्रानर्थक्याच्च । तथा सिद्धगुणाभिधानेऽपि शास्त्रानर्थक्यमेव, विधेयान्तराभावात् । स च वरणीयताहेतुः साध्यो गुणो भक्तिरेव । प्रियतम एव हि वरणीयो भवति । परमात्मविषयप्रीतिमानेव च परमात्मना वरणीयः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' [७।१७] इति स्ववचनादिभिस्तथावगतेः— इति । तस्याश्च प्रीतेः स्वयमपि स्वादुतमत्वमुपायान्तरेष्वदृष्टपूर्वं दर्शयति स्मर्यमाणेत्यादिना । 'तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युताऽस्तु सदा त्वयि' [वि. पु.१।२०।१८] इत्यारभ्य ,'या प्रीतिरविवेकानाम्' [वि. पु. १।२०।१९] 'क्व नाकपृष्ठगमनं पुनरावृत्तिलक्षणम् । क्व जपो वासुदेवेति मुक्तिबीजमनुत्तमम्' [वि. पु. २।६।४४] इत्यादिभिर्भगवद्भक्तेः स्वादुतमत्वं सिद्धम् । स्मृतिः सन्तन्यते यत्रेति वा, स्मृतेः सन्तानो यत्रेति वा; स्मृतिसन्तानशब्देन प्रकृतं वेदनं विशेष्यते इति नपुंसकत्वोपपत्तिः । पुँल्लिङ्गतया वा पठितव्यम् । अस्त्वेवं तथापि भक्तेर्मोक्षोपायत्वं कथमित्यत्राह— तदेव हीति । महनीयविषये प्रीतिरेव हि भक्तिरिति भावः । तत्र प्रमाणमाह— स्नेहेति । महनीयविषये स्नेहपूर्वमनुध्यानमिति भाव्यम् , अन्यथा स्नेहपूर्वस्वप्रियतमानुध्यानस्यापि भक्तित्वप्रसङ्गात् । एवं भक्तिरूपत्वानभ्युपगमे श्रुतिस्मृत्योः परस्परविरोधः ।

३ रा. भा.— अतः "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" [नृ. पू. उ.१।६] "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [श्वे. उ.३।८+६।१५ तै. आ. ३।१।३] 'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप !॥' [११।५३,५४] इत्यनयोरेकार्थत्वं सिद्धं भवति । तत्र सप्तमे तावदुपास्यभूतपरमपुरुषस्वरूपयाथात्म्यं, प्रकृत्या तत्तिरोधानं, तन्निवृत्तये भगवत्प्रपत्तिः, उपासकविधाभेदः, ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यं चोच्यते ।

४ वे. ता. चं.— अभ्युपगमे तदुपबृंहणीयत्वोपबृंहणत्वाभ्यां परस्परानुकूल्यमित्यभिप्रायेणाह— अत इति । वेदनशब्दनिर्दिष्टस्य मुक्त्युपायस्य भक्तिरूपत्वादित्यर्थः । परमपुरुषव्यतिरिक्तोपायनिषेधमुखेन तज्ज्ञानव्यतिरिक्तोपायनिषेधः श्रुतौ सिद्धः । तद्भक्तिव्यतिरिक्तोपायनिषेधः स्मृतौ । तदेतद्भक्तिवेदनशब्दयोरैकार्थ्ये हि घटते । अन्यथा तु मिथो व्याघात इति । एवं प्रतिज्ञाद्वयं कण्ठोक्त्योपपादितम्; अन्यत्प्रतिज्ञाद्वयं त्वर्थतः स्थापितम् । तथा हि— वेदनव्यतिरिक्तनिषेधात्समुच्चयपक्षो निरस्तः । कर्मापेक्षणं त्वङ्गतयेति तत्तद्वाक्यार्थनिरूपणेन सिद्धं भवति । श्वेताश्वतरपुरुषसूक्तवाक्यविषययोरेकविषयतयोपादानात्सर्वशाखागतपुरुषसूक्तवाक्यैकार्थ्यं सर्वोपनिषदां दर्शितम् । तत्रच "महान् प्रभुर्वै पुरुषः सत्त्वस्यैष प्रवर्तकः" [श्वे.उ.३।१२] इत्यादिबलात्पुरुषविषयत्वमेव व्यक्तम् । शिवादिशब्दास्तु शुद्धिगुणयोगादिना परमपुरुष एव मुख्याः । अथर्वशिरःप्रतर्दनविद्यादिष्वपि रुद्रेन्द्राद्यन्तर्यामिपरमपुरुषोपासनमेव विधेयमिति स्थापितं शारीरके । तत्रेति— मध्यमषट्क इत्यर्थः । उपास्यभूतेत्यनेन प्रकृतसङ्गतिः सूचिता । उपास्यभूतः परमपुरुषो हि षष्ठाध्यायान्तिमश्लोके 'माम्' [६ । ४७] इति प्रसक्तः । एतेन 'स्वयाथात्म्यं प्रकृत्यास्य तिरोधिः शरणागतिः । भक्तभेदः प्रबुद्धस्य श्रैष्ठ्यं सप्तम उच्यते' [गी. सं. ११] इति सङ्ग्रहश्लोकोऽपि व्याख्यातः ॥

३ रा. भा.— मयीति । मय्याभिमुख्येन आसक्तमनाः मत्प्रियत्वातिरेकेण मत्स्वरूपेण गुणैश्च चेष्टितेन मद्विभूत्या विश्लेषे सति तत्क्षणादेव विशीर्यमाणस्वभावतया मयि सुगाढं बद्धमना मदाश्रयः तथा स्वयं च मया विना विशीर्यमाणतया मदाश्रयो मदेकाधारः मद्योगं युञ्जन् योक्तुं प्रवृत्तो योगविषयभूतं मामसंशयं निस्संशयं समग्रं सकलं यथा ज्ञास्यसि येन ज्ञानेनोक्तेन ज्ञास्यसि, तज्ज्ञानमवहितमनाः शृणु ॥ १ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ भजनीयतया 'माम्' [६।४७] इति प्रस्तुतं स्वात्मानं भजननिर्वृत्तये यथावस्थितमुपदिशामीति भगवानुवाच मय्यासक्तमना इति । 'आसक्तः' इत्यत्रोपासनार्थमाभिमुख्यमुपसर्गविवक्षितमित्याह— आभिमुख्येनेति । तदेव सहेतुकं प्रपञ्चयति— मत्प्रियत्वेत्यादिना । अहं प्रियः प्रीतिविषयो यस्य स मत्प्रियस्तस्य भावस्तत्त्वम् । यद्वा— मम प्रियत्वातिरेकेण मत्प्रियत्वातिरेकेणेत्यर्थः । मद्विभूतिशब्देनात्र भगवदसाधारणपरिजनपरिबर्हभूषणादीनि गृह्यन्ते,नतु विभूतिमात्रम् ; कदाचिदपि तद्विश्लेषायोगात् । यद्वा, विभूतित्वेनानुभवो विभूत्या विश्लेषः । स्वरूपादिभिरपि हि

विश्लेषो यथाभिलषितानुभवाभाव एव । **विशीर्यमाणस्वरूपतये**ति कार्याक्षमत्वलक्षणशैथिल्येनेत्यर्थः । तेन चात्र मनो विशेष्यते । पौनरुक्त्यप्रसङ्गं परिहर्तुं **स्वयं** चेत्युक्तम् । 'मदाश्रयः' इत्यत्र 'अब्भक्षः' इत्यादाविवावधारणं विवक्षितमिति दर्शयति **मदेकाधार** इति; मदनुभवैकधारक इत्यर्थः । योगोपकारकं भजनीयविषयतत्त्वज्ञानमिहोच्यते, न तु योगस्य साक्षादनुष्ठानमित्यभिप्रायेण 'युञ्जन्' इति शत्रभिप्रेतमाह **योक्तुं प्रवृत्त** इति । प्रारब्धापरिसमाप्तिरूपवर्तमाने प्रारम्भोऽत्र विवक्षित इति भावः । योगात्पूर्वमेव तत्त्वतो ज्ञातव्यत्वार्थं **योगविषयभूत**मित्युक्तम् । 'असंशयं समग्रम्' इत्युभयं क्रियाविशेषणम् । समग्रशब्दो निस्संशयत्वाय सर्वप्रकारविशिष्टत्वपर इति दर्शयितुं **सकल**पदम् ; विशेषदर्शनेन हि संशयनिवृत्तिः । 'तच्छृणु' इति प्रतिनिर्देशवशादुत्तरश्लोकालोचनया उक्तिश्रवणयोरेकविषयत्वसिद्धेश्चात्र 'यथा' इतिशब्दो ज्ञानपर इत्यभिप्रायेण **येन ज्ञानेनोक्तेन ज्ञास्यसी**त्युक्तम् । उक्तेन वक्ष्यमाणवाक्यप्रतिपाद्येनेत्यर्थः । श्रूयमाणविषयस्यादृष्टचरत्वाच्छ्रोतुरवधानकरणं प्रथमश्लोकप्रयोजनमिति दर्शयति— **अवहितमना** इति ॥ १ ॥

### ५ माध्वभाष्यम् ।

**श्रीमद्वरदराजाय नमः ॥ ॐ ॥ साधनं प्राधान्येनोक्तमतीतैरध्यायैः, उत्तरैस्तु षड्भिर्भगवन्माहात्म्यं प्राधान्येनाह— मयी**ति । आसक्तमना अतीव स्नेहयुक्तमनाः । मदाश्रयः भगवानेव सर्वं मया कारयति, स एव मे शरणम्, तस्मिन्नेवाहं स्थित इति स्थितः । असंशयं समग्रमिति क्रियाविशेषणम् ॥ १ ॥

### ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

ज्ञानसाधनादन्यदुत्तराध्यायप्रतिपाद्यं वक्तुं 'योगे त्विमां शृणु' [ २।३९ ] इति प्रतिज्ञातमसमाप्य कथमर्थान्तरमुच्यते ? इत्याशङ्कां तावत्परिहरति- **साधन**मिति । ज्ञानस्येति शेषः । तत्र तत्र भगवन्महिम्नोऽपि वर्णितत्वेन प्राधान्येनेत्युक्तम् । प्राचुर्येणेत्यर्थः । 'उक्तं' इत्यनेन प्रतिज्ञातसमाप्तिं सूचयति । तच्च प्रतिज्ञान्तरकरणादवगम्यते । इदानीमुत्तरग्रन्थप्रतिपाद्यमाह— **उत्तरै**स्त्विति । अध्यायैरिति वर्तते । अनेन ज्ञानविज्ञानशब्दौ ज्ञेयभगवन्माहात्म्यपराविति सूचितम् । अत्रापि क्वचित्साधनस्योक्तत्वात् 'प्राधान्येन' इत्युक्तम् । सङ्गतिस्तु प्रथमश्लोक एवोक्ता, अनेन द्विविधेन योगेन यज्ज्ञातव्यं तच्छृण्वित्युक्तत्वात् । 'आसक्तमनाः सम्बद्धमनाः' इति प्रतीतिनिरासायाह- **आसक्ते**ति । 'अतीव' इत्याद्योऽर्थः सम्बन्धमात्रस्य योगानङ्गत्वादिति भावः । भगवदाश्रयत्वं सर्वसाधारणं कथं योगिनो विशेषणम् ? इत्यत आह— **मदाश्रय** इति । शरणं रक्षकः । इति स्थित इति जानन्निति यावत् । 'असंशयं समग्रं' इत्युभयं भगवद्विशेषणत्वेन **भास्करो** व्याख्यातवान् 'संशयरहितं समग्रं कृत्स्नं मां' इति । अपरस्तु ( शां. ) समग्रमित्येव 'समग्रं समस्तं विभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिगुणसम्पन्नं मां ... संशयमन्तरेण' इति; तन्निरासार्थमाह— **असंशय**मिति तव समग्रं यथा भवति तथेत्यर्थः; न हि भगवतः संशयराहित्यमिदानीं वक्तव्यम् । न च भगवान्समग्रोऽन्येन केनचिच्छक्यो ज्ञातुम्, 'स्वयमेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं' [ १०।१५ ] इति वक्ष्यमाणत्वादिति भावः ॥ १ ॥

### ७ हनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम् ।

'योगिनां' [ ६।४७ ] इत्यादिश्लोकेन प्रश्नबीजमुपन्यस्य स्वयमेव 'ईदृशं मदीयं तत्त्वं, मद्गतान्तरात्मा स्यात्' इत्येतद्विवक्षुर्भगवानुवाच— **मय्यासक्तमनाः पार्थे**त्यादि । मयि वक्ष्यमाणविशेषणे परमेश्वर आसक्तं मनो यस्य स मय्यासक्तमनाः पार्थ ! योगं युञ्जन्मनस्समाधानं कुर्वन्मदाश्रयोऽहमेव परमेश्वर आश्रयो यस्य स मदाश्रयः । योगी पुरुषार्थेन केनचिदर्थी तत्साधनं कर्माग्निहोत्रादि तपो दानं वा किञ्चिदाश्रयं प्रतिपद्यते । अयं तु योगी मामेकमाश्रयं प्रतिपद्यते हित्वाऽन्यत्साधनान्तरं मय्येवाऽऽसक्तमना भवति । यस्त्वेवम्भूतः सोऽसंशयं समग्रं समस्तविभूतिबलशक्त्यैश्वर्यादिगुणसम्पन्नं मां यथा यत्प्रकारेणैवमेवायं भगवानिति ज्ञास्यसि तच्छृणवथ वक्ष्यमाणं मया ॥ १ ॥

### ८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

तदेवं प्रथमे षट्के त्वम्पदार्थो निरूपितः, ततोऽत्र मध्यमषट्केऽस्मिंस्तत्पदार्थो निरूप्यते; तत्र तावत्पूर्वाध्यायान्ते 'श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' [ ६।४७ ] इत्युक्तम्, तदेव भगवद्भजनं व्याख्यातुं सप्तमाध्याय आरभ्यते । तत्र कीदृशं तव स्वरूपं यस्य भजनमुपदिश्यते ? इत्येवमर्जुनप्रश्नमाशङ्क्योत्तरं श्रीभगवानुवाच- **मयि** इति । मयि परमेश्वरे आसक्तं क्षणमात्रमपि मद्विश्लेषे सद्य एव विशीर्यमाणस्वभावतया सुगाढबद्धं मनो यस्य स तथोक्तः, अतएव मदाश्रयो मदेकशरणो भूत्वा योगं पूर्वाध्यायोक्तं युञ्जन्नभ्यस्यन्सन् योगविषयं मां समग्रं सर्वभूतिबलैश्वर्यादिसम्पन्नं असंशयं यथा भवति तथा येन ज्ञानेनोक्तेन ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥ १ ॥

### ९ श्रीवल्लभाचार्याविष्कृता तत्त्वदीपिका ।

पूर्वत्रात्माधिगमनं साङ्ख्ययोगकृतेः फलम् । अथातो महिमज्ञानपूर्वकं भक्तिरुच्यते ॥ १ ॥
माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः । स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्तया मुक्तिर्न चान्यथा ॥ २ ॥
धात्वर्थ उत्तमा सेवा स्नेहोऽर्थो प्रत्ययस्य च । प्रकृतिप्रत्ययार्थात्मा निबन्धे भक्तिरुच्यते ॥ ३ ॥
माहात्म्यविज्ञानमत्र वासुदेवस्य योगिनाम् । अन्ते सिद्धिकरं नान्यदिति तस्योद्यमः पुनः ॥ ४ ॥
पुरुषोत्तममाहात्म्यविज्ञानं साङ्गमुत्तमम् । प्रयाणकाले सर्वस्य भक्तस्य स्मरतः फलम् ॥ ५ ॥
प्रथमं योगधर्मेण महिमज्ञानमुत्तमम् । ततः प्रपत्तिर्ज्ञानं च ज्ञानिनः श्रेष्ठता यतः ॥ ६ ॥
ईश्वरज्ञानवान् श्रेष्ठो नात्मविज्ञानवान् परम् । यतः स्वात्मज्ञानवद्भिरीश्वरः सेव्यतेऽनिशम् ॥ ७ ॥

तत्र कीदृशमाहात्म्योऽहं यस्य सेवा कर्त्तव्या ? इत्यपराधनिवृत्त्यर्थं स्वमहिमानं निरूपयिष्यन् स्वयं श्रीभगवानुवाच– मय्यासक्तमना इति । हे पार्थ ! मयि परमात्मानि भगवति सर्वधर्माश्रये निरतिशयालौकिकलीले परमनियन्तरि करुणाशीले आसक्तचित्तः योगमुक्तलक्षणं समभ्यसन् मदाश्रयो मत्प्रपन्नः सन् निस्संशयं समग्रं निरतिशयालौकिकगुणपूर्णं निरुपधिमहिमानं यथा येन प्रकारेण ज्ञास्यसि तच्छृणु । सूत्रवृत्तिवदिदम् ॥ १ ॥

### १० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

भगवद्योगयुक्तात्मा युक्तो रूपप्रबोधने ।
अतः पार्थाय श्रीकृष्णः स्वरूपज्ञानमुक्तवान् ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' [६।४७] इति योगसहितस्वभजनकर्तुरुत्तमत्वं स्वाभिमतत्वमुक्तं, तत्र स्वरूपाज्ञाने भजनं न भवेत्, तज्ज्ञानं च योगज्ञानोत्तरभावीति योगस्वरूपमुक्त्वा अथ भजनार्थं स्वरूपज्ञानमाह— श्रीभगवानुवाच — **मय्यासक्तमना** इति । हे पार्थ एतच्छ्रवणयोग्य ! मदाश्रयः मदर्थमेवाऽनन्यशरणः सन् मत्क्रीडार्थं संयोगार्थमाश्रयं कृत्वा योगं युञ्जन् दास्याभ्यासं कुर्वन् असंशयं संशयरहितं यथा स्यात्तथा समग्रं संयोगात्मकं सर्वरससहितं मां यथा ज्ञास्यसि तदिदमग्रे वक्ष्यमाणं ज्ञानस्वरूपं मय्यासक्तमनाः मयि आसक्तं स्वापेक्षारहितं मत्सुखाभिलाषिमनाः शृणु ॥ १ ॥

### ११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

पूर्वाध्यायान्ते ' यो मां भजते स मे युक्ततमो मतः ' [ ६।४७ ] इत्युक्तम् ; तत्र कीदृशं पूर्वोक्तनिष्कामकर्मयोगापेक्षया विलक्षणं तव भजनं ? केन वा गुणेन पूर्वयोगापेक्षया तस्य युक्ततमत्वं ? इत्येतामर्जुनस्याशङ्कां स्वयमेव परिहरन् भगवानुवाच— मयीति । कश्चिद्राजाश्रयो धनमानासक्तमना भवति । अयं तु मदाश्रयेण मामेव परमपुरुषार्थभूतं प्राप्तुमिच्छन्नित्यर्थः । ईदृशो योगं युञ्जन् समाधिमनुतिष्ठन् । त्वम्पदार्थविवेककाले यद्यपि सार्वज्ञमस्ति 'सर्वभूतस्थमात्मानं' [६।२९] इत्यादिवचनात्; तथापि स्वस्मादन्य ईश्वरोऽस्ति न वेति पातञ्जलकापिलयोस्तार्किकमीमांसकयोर्वा सेश्वरानीश्वरयोर्मतभेदात्संशयः कारणाज्ञानाच्चासमग्रं तत्सार्वज्ञमिति मत्वा आह— असंशयं समग्रमिति । मां तत्पदार्थमीश्वरं यथा ज्ञास्यसि तत् तं प्रकारं शृणु । अत्र वक्ष्यमाणरीत्या ' सर्वं ब्रह्म वासुदेवात्मकं ' इति भजने वैलक्षण्यं कारणज्ञातृत्वमस्य योगिनः पूर्वयोग्यपेक्षयाऽऽधिक्यमिति भावः ॥ १ ॥

## ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
## यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ २ ॥

---

१ अत्र ज्ञानविज्ञानाज्ञानान्येवं लक्षयति **ज्ञानदेवः**—

तीरलग्ना तरिरिव कुण्ठीभवति शेमुषी । परावृत्तपदो दूराद्विचारश्चापसर्पति ॥
तर्कोऽपि नैवोत्सहते यत्र तज्ज्ञानमर्जुन ! । प्रपञ्चोऽन्यस्तु विज्ञानमज्ञानं तत्र सत्यधीः ॥

कौर्मेऽपि— यया स देवो भगवान् विद्यया वेद्यते परः । साक्षाद्देवो महादेवस्तज्ज्ञानमिति कीर्तितम् ॥
चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः । विज्ञानमिति तद्विद्यायेन धर्मो विवर्द्धते ॥ इति ।

[ ब्र.सं. उ. खं. १५।३६ : ३२ ]

**नव्यास्तु**–'सृष्टावनेकविधा ये बहवो विनाशिनः पदार्था विद्यन्ते, तेषु सर्वेष्वेक एवेश्वरो व्यापकत्वेन स्थित इत्यवबोधो ज्ञानम्; एकान्नित्यादीश्वराद्विविधविनाशिपदार्थोद्भवप्रकारबोधश्च विज्ञानं' इति ज्ञानविज्ञाने लक्षयन्ति । तदसङ्गतम्; उक्तलक्षणद्वयस्याप्य–

**१ शां० भा०— तच्च मद्विषयम्—ज्ञानं ते तुभ्यमहं सविज्ञानं विज्ञानसहितं स्वानुभवसंयुक्तमिदं वक्ष्यामि कथयिष्याम्यशेषतः कार्त्स्न्येन । तज्ज्ञानं विवक्षितं स्तौति श्रोतुरभिमुखीकरणाय, यज्ज्ञात्वा यज्ज्ञानं ज्ञात्वा नेह भूयः पुनरन्यज्ज्ञातव्यं पुरुषार्थसाधनमवशिष्यते नावशिष्टं भवतीति । मत्तत्त्वज्ञो यः स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः । अतो विशिष्टफलत्वाद्दुर्लभतरं ज्ञानम् ॥ २ ॥**

२ **आ. शां. व्या.**—'ज्ञास्यसि'[७।१] इत्युक्त्या परोक्षज्ञानशङ्कायां तन्निवृत्त्यर्थं तदुक्तिप्रकारमेव विवृणोति— **तच्चेति** । इदमपरोक्षं ज्ञानं चैतन्यम् । तस्य सविज्ञानस्य प्रतिलम्भे किं स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यज्ज्ञात्वेति** । इदमा चैतन्यस्य परोक्षत्वं व्यावर्त्यते । तदेव सविज्ञानमिति विशेषणेन स्फुटयति । अनवशेषेण तद्वेदनफलोपन्यासेन श्रोतारं तच्छ्रवणप्रवणं करोति— **तज्ज्ञानमिति** । एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुतिं [छां. उ. ६ । ३ । ४] आश्रित्योत्तरार्धतात्पर्यमाह— **यज्ज्ञात्वेति** । भगवत्तत्त्वज्ञानस्य विशिष्टफलत्वमुक्त्वा फलितमाह— **अत इति** ॥ २ ॥

**३ रा. भा.—अहं ते मद्विषयमिदं ज्ञानं विज्ञानेन सहाशेषतो वक्ष्यामि; विज्ञानं हि विविक्ताकारविषयं ज्ञानम् । यथाऽहं मद्व्यतिरिक्तात्समस्तचिदचिद्वस्तुजातान्निखिलहेयप्रत्यनीकतया नानाविधानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणानन्तमहाविभूतितया च विविक्तः, तेन विविक्तविषयज्ञानेन सह मत्स्वरूपविषयज्ञानं वक्ष्यामि । किं बहुना ? यत् ज्ञानं ज्ञात्वा मयि पुनरन्यत् ज्ञातव्यं नावशिष्यते ॥ २ ॥**

४ **वे.ता.चं.**—'तच्छृणु' इत्युक्तमर्थं पुनः सावधानत्वातिशयसम्पादनायाहमपि सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्वक्ष्यामीति वदन् 'असंशयं समग्रं माम्' [७।१] इत्युक्तमर्थं किञ्चिद्विशदयति—'ज्ञानं तेऽहम्' इति श्लोकेन । ज्ञानविज्ञानशब्दयोः पौनरुक्त्यव्युदासाय उपसर्गसिद्धं विशेषं दर्शयति— **विज्ञानं विविक्ताकारविषयं ज्ञानमिति** । अत्र ज्ञानविज्ञानशब्दाभ्यां तज्जनकवाक्यलक्षणा । श्रोतव्यत्ववक्तव्यत्वे वा तज्जनकवाक्यद्वारा तत्रोपचरिते । **ज्ञानं ज्ञात्वेति**— ओदनपाकं पचतीतिवत् । एतेन विज्ञानशब्दस्यात्र निदिध्यासनविषयत्वं परोक्तं प्रत्युक्तम् । अर्थस्थितिपरिज्ञानं ह्यत्र 'यज्ज्ञात्वा' इत्यादिनाऽपि व्यज्यते । अतः स्वरूपनिरूपकनिरूपितस्वरूपविशेषकधर्मविषयतया ज्ञानविज्ञानशब्दयोरपुनरुक्तिः । उभयलिङ्गतयोभयविभूतिविशिष्टतया च वक्ष्यमाणं विविक्तत्वं दर्शयति— **यथाऽहमिति** । अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणश्चानन्तमहाविभूतिश्चेति पृथग्बहुव्रीहिभ्याम् 'ज्ञानं तु विज्ञानगुणोपपन्नं कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम्' इत्यत्रापि विज्ञानशब्देनैतदेव विवक्षितम्, अतिशयित विषयज्ञानस्यान्यानादरहेतुत्वात् । 'अशेषतः' इत्येतस्यैव विवरणे ज्ञानप्रशंसारूपं चोत्तरार्धं व्याख्याति— **किं बहुनेति** । 'इह भूयः' इत्यस्यार्थो **मयि पुनरिति** । अवश्यज्ञातव्यसमस्ताकारविशिष्टमिहोपदिशामीत्युक्तं भवति ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.— इदं मद्विषयं ज्ञानम् । विज्ञानं विशेषज्ञानम् ॥ २ ॥**

६ **ज. प्र. दी.**— ननु ज्ञानं वक्ष्यते, न तूक्तं, तत्कथमिदं इति परामर्श इत्यत आह— **इदमिति** । मामिति स्वस्य प्रकृतत्वात् तत्सम्बन्धित्वेन ज्ञानमपि प्रकृतमिति भावः । सविज्ञानं स्वानुभवसंयुक्तं ( शां. भा. ) इत्येतदपाकर्तुं विज्ञानपदार्थमाह— **विज्ञानमिति** । अस्यैव वक्ष्यमाणत्वादपरस्य तदभावादिति भावः ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.—तच्च मद्विषयं ज्ञानं ते तुभ्यमहं सविज्ञानं विज्ञानसहितं स्वानुभवयुक्तमिदं वक्ष्याम्यशेषतः । तज्ज्ञानं विवक्षितं स्तौति श्रोतुरभिमुखीकरणाय । यज्ज्ञात्वा यज्ज्ञानं ज्ञात्वा नेह भूयः पुनर्ज्ञातव्यमवशिष्यते; तत्त्वज्ञो यः स सर्वज्ञो भवतीत्यर्थः । ततो विशिष्टफलत्वाद्दुर्लभं ज्ञानम् ॥ २ ॥**

८ **वें. ब्र. गि.**—एतदेव श्रोतुरभिमुखीकरणाय स्तुवन्नाह द्वाभ्याम्— **ज्ञानमिति** । सविज्ञानमपरोक्षानुभवसहितं इदं ज्ञानं शास्त्रसिद्धं ते तुभ्यमशेषतः साकल्येन अहं वक्ष्यामि, यज्ज्ञानं ज्ञात्वा स्थितस्य इह भूयः पुनः अन्यज्ज्ञातव्यं किमपि नावशिष्यते "सर्वमिदं विज्ञातं भवति" [मुं. उ. १।१।३] इति ब्रह्मस्वरूपाभिज्ञस्य सर्वज्ञतया ज्ञातव्यार्थाभावात्तत एव कृतार्थो भविष्यसीति भावः ॥ २ ॥

---

—परोक्षानुभूतिलक्ष्यत्वात् । तथा च वक्ष्यति—'यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा' [१३।३०] इति । 'अशेषतः' इति पदप्रयोजनमाह **वामनः**—

सविज्ञाने सति ज्ञाने मुच्यन्ते गतकल्मषाः । तथापि तेषां ज्ञातव्ये विशेषः कोऽपि शिष्यते ॥
यदशेषं जगदिदं सगुणा मूर्तिरैश्वरी । इति ते नावगच्छन्ति नूनं निर्गुणचिन्तकाः ॥
अशेषतः पदेनात्र रहस्यं तदपि प्रभुः । वक्ष्यामीति व्यञ्जयित्वा स्फुटमाहोत्तरत्र तत् ॥ इत्यादि ।—**अविगीता** ।

९ व० त० दी०— वक्ष्यमाणं स्तौति— **ज्ञानमिति**। माहात्म्यविषयकं ज्ञानं, विज्ञानं विविधतया चिदचिद्रूपतया च तत्तद्विभूतिधर्मरूपतयाऽवान्तरविशेषैश्च यथार्थज्ञानं तेन सहितं **अशेषतो** वक्ष्यामि। यद्याथात्म्यं ज्ञात्वा भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्टं न भवति ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— ननु योगस्वरूपनिरूपणे पूर्वमपि स्वरूपज्ञानमुक्तमेव, पुनरेतज्ज्ञानं किंरूपं? इत्याशङ्क्याह— **ज्ञानं तेऽहमिति**। अहं पुरुषोत्तमः ते तव त्वदर्थं ज्ञानं शास्त्रोक्तप्रकारेण मत्स्वरूपविषयं, अशेषतः सम्पूर्णं लीलादिसहितं वक्ष्यामि। कीदृशं तत्? सविज्ञानं स्वरूपानुभवसहितम्। अनुभवस्वरूपमेवाह— **इदमिति**, अनुभूयमानस्वस्वरूपात्मकम्। एतज्ज्ञानान्तरं पुनरन्यज्ज्ञेयं नास्तीत्याह— **यदिति**। यत् स्वस्वरूपानुभवसहितं **स्वस्वरूपं** ज्ञात्वा इह अस्मिन् मद्भक्तिमार्गे भरतखण्डे अस्मिन्मनुष्यजन्मनि वा ज्ञातव्यं न अवशिष्यते। एतज्ज्ञानेनैव दास्यानुभवो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवाह— **ज्ञानमिति**। ज्ञानं शुद्धप्रज्ञानघनं ब्रह्म। "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [ तै. उ. २।१ ] "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" [ बृ. उ. ३।९।२८ ] इति श्रुतेः। **ते** तुभ्यमहं वक्ष्यामि **अशेषतः** साधनकलापसहितम्। किं वचनमात्रजेन परोक्षज्ञानेन? शब्दस्य स्वविषये परोक्षज्ञानजनकत्वनियमादित्याशङ्क्याह— सविज्ञानं अनुभवसहितं 'दशमस्त्वमसि' [उ. सा. प. प्र.१८।१७२,१७६] इत्यादौ शब्दादप्यपरोक्षज्ञानोत्पत्तिदर्शनात्। "कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्" [ मुं. उ. १।१।३ ] इत्येकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञां श्रौतीमेव वर्णयति— **यज्ज्ञात्वेति**। जगत्कारणाधिष्ठानस्य ज्ञानरूपस्य ब्रह्मणो ज्ञाने संशयोच्छेदात् सर्वस्यात्ममात्रत्वेन ज्ञातव्यानवशेषो युक्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

भगवत्तत्त्वज्ञानस्य दौर्लभ्यम्।

## मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
## यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः[1] ॥ ३ ॥

**१ शां० भा०— कथं? इत्युच्यते— मनुष्याणां मध्ये सहस्रेष्वनेकेषु कश्चिद्यतति प्रयत्नं करोति सिद्धये सिद्ध्यर्थम्। तेषां यततामपि सिद्धानां— सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते तेषां— कश्चिदेव हि मां वेत्ति, तत्त्वतो यथावत् ॥ ३ ॥**

२ आ.शां. व्या.— ज्ञानस्य दुर्लभत्वं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **कथमित्यादिना**। सहस्रशब्दस्य *बहुवाचकत्वमुपेत्य व्याकरोति— **अनेकेष्विति**। सिद्धये सत्त्वशुद्धिद्वारा ज्ञानोत्पत्त्यर्थमित्यर्थः। सिद्ध्यर्थं यतमानानां कथं सिद्धत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सिद्धा एवेति**। सर्वेषामेव तेषां ज्ञानोदयात्तस्य सुलभत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **तेषामिति** ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.— वक्ष्यमाणस्य ज्ञानस्य दुष्प्रापतामाह— मनुष्याणामिति। मनुष्याः शास्त्राधिकारयोग्याः, तेषां सहस्रेषु कश्चिदेव सिद्धिपर्यन्तं यतते, सिद्धिपर्यन्तं यतमानानां सहस्रेषु कश्चिदेव मां विदित्वा मत्तः सिद्धये यतते, मद्विदां सहस्रेषु कश्चिदेव तत्त्वतो यथावस्थितं मां वेत्ति। न कश्चिदित्यभिप्रायः। 'स महात्मा सुदुर्लभः' [७।१९] 'मां तु वेद न कश्चन' [७।२६] इति हि वक्ष्यते ॥ ३ ॥**

४ वे. ता. चं.— पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रशंसा क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— **वक्ष्यमाणस्येति**। मनुष्यशब्दोऽत्र न जातिविशेषाभिप्रायः, देवादीनामप्यधिकारस्य शारीरके समर्थितत्वात्। अतः सिद्ध्यर्थयतनयोग्यमात्राभिप्राय इति दर्शयति **शास्त्राधिकारयोग्या** इति। सिद्ध्यर्थयतनमात्रं प्रायेण सर्वसाधारणम्, अतः 'सिद्धये' इत्यस्य 'कश्चित्' इत्युक्तविशेषान्वयाय **सिद्धिपर्यन्तमित्युक्तम्**। 'मां वेत्ति' इत्युक्तवेदनस्य तदधीनसिद्धिपर्यन्तयतनार्थत्वं 'यततामपि सिद्धानाम्'

---

१ 'तत्त्वतः' इति ल्यब्लोपे पञ्चमी, मामित्यर्थान्तरसंक्रमितवाच्यम्। तथा च कश्चित्— ईश्वरप्रसादभाजनीभूतः तत्त्वं ज्ञात्वा ततो विश्वविलासात्मना भासमानं सर्वं सगुणं ब्रह्मैवेत्यपरोक्षतयाऽनुभवतीति भावः। तथा च **वामनः**—

चित्तशुद्धिमृते ज्ञानं यथा कोऽपि न विन्दते। तत्त्वज्ञानं विना तद्वन्न वेत्ति सगुणं विभुम् ॥
कर्मयोगेन संशुद्धे चित्ते बोधोदये स्थिरे। जगत्समग्रं सगुणं ब्रह्मैवेत्यनुभूयते ॥
भावेनानेन भगवान्वक्ति मां वेत्ति तत्त्वतः। इति ज्ञानादपि श्रैष्ठ्यं भक्तियोगस्य सूचयन् ॥ **—अविगीता।**

* शतं दशसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम् ( म. भा. १।२१७।८ ) इति दर्शनादित्यर्थः।

इत्यनुवादेनाभिप्रेतमित्याह **मां विदित्वा मत्तः सिद्धये यतत** इति। प्राप्यस्यैव प्रापकत्वादिकमिह तत्त्वम्। 'तत्त्वतः' इति विशिष्टं वेदनं सामान्यतोऽपि वेदनमात्रे सत्येव हि भवति; अतो 'यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति' 'मद्विधेषु कश्चिन्मां तत्त्वतो वेत्ति' इति वाक्यद्वयं विवक्षितमित्यभिप्रायेण **सिद्धिपर्यन्तं यतमानानामि**त्यादिवाक्यभेदः। 'कश्चिन्मां वेत्ति' इत्यत्र कश्चिदेव वेत्ति, न द्वाविति विवक्षा व्यासभीष्माद्यनेकदर्शनादयुक्ता। कश्चिद्वेत्त्येवेति विवक्षा चात्र निरर्थका दौर्लभ्यवचनविरुद्धा च; अतोऽर्थस्वभावाद्वक्ष्यमाणसंवादाच्च फलितं दुर्लभत्वाभिप्रायं दर्शयति- **न कश्चिदि**ति ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.— दौर्लभ्यं ज्ञानस्याह— मनुष्याणामिति ॥ ३ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ननु ज्ञानादिवचनं प्रतिज्ञाय यत्किञ्चित्कथमुच्यते? इत्यत आह— **दौर्लभ्यमि**ति। श्रोतुरादरजननार्थमिति शेषः। ज्ञानस्य दौर्लभ्ये, विज्ञानस्य तत्सुतराम् ॥ ३ ॥

**७ ह. पै. भा.—कथमित्यत्रोच्यते—मनुष्याणां मध्ये सहस्रेष्वनेकेषु कश्चिद्यतति सिद्धये सिद्ध्यर्थम्। तेषां यततामपि सिद्धानां-सिद्धा एव हि ते ये मोक्षाय यतन्ते-तेषां कश्चिदेव मां वेत्ति तत्त्वतो यथावत् ॥ ३ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— न केवलं विशिष्टफलकत्वादेव ज्ञानस्य माहात्म्यम्, किन्त्वतिदुर्लभत्वादपीत्याह— असङ्ख्येषु हि जीवसङ्घेषु मनुष्यातिरिक्तानां श्रेयसि प्रवृत्तेरेवाभावान्मनुष्यत्वमेव प्रथमं तावद्दुर्लभम्। सत्यपि मनुष्यत्वे न सर्वोऽपि ज्ञानाय प्रवर्तते; किन्तु सहस्रेषु कश्चिदेव महासुकृती। सहस्रपदमानन्त्यपरम्, 'विश्वं शतं सहस्रं च (शतं दशसहस्रं तु) सर्वमक्षयवाचकम्' [म. भा. १।२१७।८] इति महाभारतवचनात्। अतस्तत्त्वज्ञानसाधनानुष्ठायी दुर्लभतरः। सत्यप्यनुष्ठातरि तत्सहस्रेषु कश्चिदेव मां वेत्तीति सिद्धो ज्ञानी दुर्लभतमः। सत्यपि सिद्धे तत्सहस्रेषु कश्चिदेव मां तत्त्वतो वेत्ति; 'स महात्मा सुदुर्लभः' [७।१९] 'मां तु वेद न कश्चन' [७।२६] इति हि वक्ष्यति। अतो निरतिशयं ज्ञानमाहात्म्यमीदृशमहं वक्ष्यामि, सावधानो भवेति भावः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— यतः मनुष्याणामिति। आत्मतत्त्वज्ञानाय कश्चिद्यतति। तादृशानामपि मध्ये मां भगवन्तं परमात्मानं सर्वधर्माश्रयमीश्वरं तत्त्वतः निरतिशयमहिमत्वतः कश्चिदेव व्यासवामदेवशुकादिर्वेत्ति, न सर्वः। अतस्तन्मदीयं ज्ञानं ते वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— ज्ञातव्यं कुतो नावशिष्यते? इत्यत आह— **मनुष्याणामि**ति। पूर्वं तु भगवत्सन्निधानान्निस्सृतानां जीवानां मध्ये मनुष्यत्वं प्राप्तानामेव भजनाधिकारस्तत्प्राप्तिश्च दास्यदानानुग्रहैकसाध्या, तत्प्राप्त्यनन्तरं च भावार्थं समर्पितस्य देहस्य तदाप्त्यर्थं लीलया प्राकट्यमतिदुर्लभं, तत्रापि भावसेवया प्रीतेन भगवदुक्तस्वस्वरूपज्ञानमतिदुर्लभम्। एतत्सर्वसिद्धिर्यज्ज्ञानेन भवति, तज्ज्ञाने न किञ्चिदवशिष्यते; तदाह— मनुष्याणां सहस्रेषु भजनौपयिकप्राप्तदेहानां सहस्रेषु असङ्ख्यातेषु कश्चित् दुर्लभो मदनुग्रहैकरूपः सिद्धये मत्सिद्धिस्वरूपनिमित्तं या सिद्धिर्द्वितीयस्कन्धे [अ. १] उक्ता तदर्थं यतति यत्नवान् भवति। यततामपि यत्नं कुर्वतामपि सिद्धानां मध्ये कश्चित् स्वरमणेच्छादिभावरहितस्तत्स्वरूपात्मकधामरममाणं मां तत्त्वतस्तदनुग्रहैकलभ्यत्वेन वेत्ति जानाति। यत एतज्ज्ञानमतिदुर्लभम्। यज्ज्ञानान्तरं न किञ्चिदवशिष्यते तन्मया त्वदर्थमुच्यत इति भावः ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव ज्ञानं दौर्लभ्यप्रदर्शनेन स्तौति-मनुष्याणामिति। यततां यतमानानाम् ॥ ३ ॥

पराऽपरा चेतीशस्य प्रकृतिद्वयं तत्कार्यं च।

**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।**
**अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥**
**[1]अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।**
**जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥**

---

१ **अपरेयमिति**- प्रत्यक्षेण या संसारावस्थायां सर्वजनपरिदृश्यमाना, सा चैकैव सती प्रकाराष्टकेन भिद्यत इति एकप्रकृत्यारब्धत्वादेकमेव विश्वमिति प्रकृतिवादेऽप्यद्वैतं प्रदर्शितम्। इत्य**भिनवगुप्तपादाः**। -**अविगीता**।

**१ शां. भा.**—श्रोतारं प्ररोचनेनाभिमुखीकृत्याऽऽह–भूमिरिति । भूमिः पृथिवीतन्मात्रमुच्यते, न स्थूला 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इति वचनात् । तथाऽबादयोऽपि तन्मात्राण्येवोच्यन्ते । आपः, अनलः, वायुः, खं, मन इति मनसः कारणमहङ्कारो गृह्यते । बुद्धिरित्यहङ्कारकारणं महत्तत्त्वम् । अहङ्कार इत्यविद्यासंयुक्तमव्यक्तम् । यथा विषसंयुक्तमन्नं विषमुच्यते एवमहङ्कारवासनावदव्यक्तं मूलकारणमहङ्कार इत्युच्यते प्रवर्तकत्वादहङ्कारस्य । अहङ्कार एव हि सर्वस्य प्रवृत्तिबीजं दृष्टं लोके । इतीयं यथोक्ता प्रकृतिर्मे ममैश्वरी मायाशक्तिरष्टधा भिन्ना भेदमागता ॥ ४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—ज्ञानार्थं प्रयत्नस्य तद्द्वारा ज्ञानलाभस्य तदुभयद्वारेण मुक्तेश्च दुर्लभत्वाभिधानस्य श्रोतृप्ररोचनं फलमिति मत्वाऽऽह—**श्रोतार**मिति । आत्मनः सर्वात्मकत्वेन परिपूर्णत्वमवतारयन्नादावपरां प्रकृतिमुपन्यस्यति—**आहे**ति । भूमिशब्दस्य व्यवहारयोग्यस्थूलपृथिवीविषयत्वं व्यावर्तयति—**भूमिरिती**ति । तत्र हेतुमाह—**भिन्ने**ति । प्रकृतिसमभिव्याहाराद्गन्धतन्मात्रं स्थूलपृथिवीप्रकृतिरुत्तरविकारो भूमिरित्युच्यते, न विशेष इत्यर्थः । भूमिशब्दवदबादिशब्दानामपि सूक्ष्मभूतविषयत्वमाह–**तथे**ति । तेषामपि प्रकृतिसमानाधिकृतत्वाविशेषात्तन्मात्राणां पूर्वपूर्वप्रकृतीनामुत्तरोत्तरविकाराणां न विशेषत्वसिद्धिरित्यर्थः । मनश्शब्दस्य सङ्कल्पविकल्पात्मककरणविषयत्वमाशङ्क्याऽऽह—**मन इती**ति । न खल्वहङ्काराभावे सङ्कल्पविकल्पयोरसम्भवात्तदात्मकं मनः सम्भवतीत्यर्थः । 'निश्चयलक्षणा बुद्धिः' इत्यभ्युपगमाद्बुद्धिशब्दस्य निश्चयात्मककरणाविषयत्वमाशङ्क्याऽऽह– **बुद्धिरिती**ति । न हि हिरण्यगर्भसमष्टिबुद्धिरूपमन्तरेण व्यष्टिबुद्धिः सिद्ध्यतीत्यर्थः । अहङ्कारस्याभिमानविशेषात्मकत्वेनान्तःकरणप्रभेदत्वं व्यावर्तयति– **अहङ्कार** इति । अविद्यासंयुक्तमित्यविद्यात्मकमित्यर्थः । कथं मूलकारणस्याहङ्कारशब्दत्वमित्याशङ्क्योक्तमर्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—**यथे**त्यादिना । मूलकारणस्याहङ्कारशब्दत्वे हेतुमाह—**प्रवर्तक**त्वादिति । तस्य प्रवर्तकत्वं प्रपञ्चयति—**अहङ्कार एवे**ति । सत्येवाहङ्कारे ममकारो भवति, तयोश्च भावे सर्वा प्रवृत्तिरिति प्रसिद्धमित्यर्थः । उक्तां प्रकृतिमुपसंहरति— **इतीय**मिति । इयमित्यपरोक्षा साक्षिदृश्येति यावत् । ऐश्वरी तदाश्रया तदैश्वर्योपाधिभूता । प्रक्रियते महदाद्याकारेणेति प्रकृतिस्त्रिगुणं जगदुपादानं प्रधानमिति मतं व्युदस्यति— **माये**ति । तस्यास्तत्तत्कार्याकारेण परिणामयोग्यत्वं द्योतयति— **शक्ति**रिति । **अष्टधे**ति, अष्टभिः प्रकारैरिति यावत् ॥ ४ ॥

**१ शां. भा.**—अपरेति । अपरा न परा निकृष्टाऽशुद्धाऽनर्थकरी संसारबन्धनात्मिकेयम् । इतोऽस्या यथोक्तायास्त्वन्यां विशुद्धां प्रकृतिं ममाऽऽत्मभूतां विद्धि मे परां प्रकृष्टां जीवभूतां क्षेत्रज्ञलक्षणां प्राणधारणनिमित्तभूतां हे महाबाहो ! यया प्रकृत्येदं धार्यते जगदन्तःप्रविष्टया ॥ ५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— अचेतनवर्गमेकीकर्तुं प्रकृतेरष्टधा परिणाममभिधाय विकारावच्छिन्नकार्यकल्पं चेतनवर्गमेकीकर्तुं पुरुषस्य चैतन्यस्याविद्याशक्त्यवच्छिन्नस्यापि प्रकृतित्वमुक्तां प्रकृतिमनूद्य दर्शयति—**अपरे**ति । निकृष्टत्वं स्पष्टयति—**अनर्थकरी**ति । अनर्थकरत्वमेव स्फोरयति—**संसारे**ति । कथञ्चिदप्यनन्यत्वव्यावृत्त्यर्थस्तुशब्दः । अन्यामत्यन्तविलक्षणामिति यावत् । अन्यत्वमेव स्पष्टयति—**विशुद्धा**मिति । प्रकृतिशब्दस्यान्यप्रयुक्तस्यार्थान्तरमाह— **ममे**ति । प्रकृष्टत्वमेव भोक्तृत्वेन स्पष्टयति— **जीवभूता**मिति । प्रकृत्यन्तरादस्याः प्रकृतेरवान्तरविशेषमाह— **यये**ति । न हि जीवरहितं जगद्धारयितुं शक्यमित्याशयेनाऽऽह— **अन्तरि**ति ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.**—अस्य विचित्रानन्तभोग्यभोगोपकरणभोगस्थानरूपेण अवस्थितस्य जगतः प्रकृतिरियं गन्धादिगुणकपृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशादिरूपेण मनःप्रभृतीन्द्रियरूपेण महदहङ्काररूपेण चाष्टधा भिन्ना मदीयेति विद्धि ॥ ४ ॥ इयं ममापरा प्रकृतिः; इतस्त्वन्यां इतोऽचेतनायाश्चेतनभोग्यभूतायाः प्रकृतेर्विसजातीयाकारां जीवभूतां परां तस्या भोक्तृत्वेन प्रधानभूतां चेतनरूपां मदीयां प्रकृतिं विद्धि; ययेदमचेतनं कृत्स्नं जगद्धार्यते ॥ ५ ॥

**४ वे. ता. चं.**- अथ 'भूमिः' इत्यादिना 'नत्वहं तेषु ते मयि' [ ७।१२] इत्यन्तेन स्वयाथात्म्यमुपदिश्यते । तत्र प्रथमं कार्यकारणरूपाचिद्विलक्षणत्वं तच्छेषत्वादिमुखेन दर्शयति । भूम्यादीनां प्रकृतिकार्याणामत्र प्रकृतित्वेन उच्यमानत्वाद्व्यष्टिसृष्ट्यपेक्षया प्रकृतित्वमिह विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— **अस्ये**ति । केचिदाहुः– 'अष्टौ प्रकृतयः' [ गर्भो. ३ ] इति श्रुतेरिह भूम्यादिशब्दैस्तन्मात्राणि गृह्यन्ते; मनश्शब्देन मनसः कारणभूतोऽहङ्कारः; अहङ्कारशब्देन त्वहङ्कारवासनास्पदं अव्यक्तं मूलकारणमिति । एवं समस्तपदमुख्यार्थभङ्क्तेशाद्व्यष्ट्यपेक्षया प्रकृतित्वं वरमिति भावः । यद्वा, प्रकृतिशब्देन मूलप्रकृतिरेवोच्यते; द्रव्यैक्यात्सैवाष्टधाऽवस्थितेत्युच्यते; एषा हि पूर्वमेका, पश्चादष्टधा परिणता । अत्र स्वोपदेश

प्रवृत्तस्य प्रकृतेरष्टविधत्वोपदेशो न सङ्गतः; नच स्वकीयत्वात् तत्सङ्गतिः, तथात्वेनेतः प्रागनुपदिष्टत्वात् । अतः प्रत्यक्षादिसिद्धपृथिव्याद्याकारपरिणता प्रकृतिरिहानूद्यते; स्वस्य तद्विलक्षणत्वतच्छेषित्वतन्नियामकत्वादिसिद्ध्यर्थं 'मे' इति तस्याः स्वकीयत्वं विधीयत इत्यभिप्रायेणोक्तं- **मदीयेति** । 'विद्धि' इति पृथिव्यादीनामितरेतरवैषम्यार्थं, भोग्यत्वसिध्यर्थमनुक्तानां तन्मात्राणां कार्यविशेषप्रदर्शनार्थं च **गन्धादिगुणके**त्युक्तम् । एतेन भूतोक्तिस्तन्मात्रोपलक्षणार्थेत्यपि दर्शितम् । तदभिप्रायेण **आकाशादी**त्यादिशब्दोऽपि पठ्यते । तन्मात्राणां भूतानामप्यनतिविप्रकर्षात्सङ्ख्यानिवेशः । मनश्शब्दः करणभूतेन्द्रियवर्गोपलक्षणार्थ इति दर्शयितुं **मनःप्रभृतीन्द्रियरूपेणे**त्युक्तम् । बुद्ध्यहङ्कारशब्दयोरत्र ज्ञानगर्वाद्यर्थान्तरभ्रमव्युदासाय तत्त्वविशेषविषयत्वं ज्ञापयति **महदहङ्काररूपेणे**ति । एवं समष्टिव्यष्टितत्त्वमखिलमुक्तं भवति । अत्र सम्बन्धसामान्यविहितापि षष्ठी स्वस्वामिलक्षणसम्बन्धविशेषपर्यवसिता ॥ ४ ॥ एवमचिद्विलक्षणत्वं प्रतिपादितम् ; अतथाभूताज्जीवादपि विलक्षणत्वं प्रतिपाद्यते '**अपरेयम्**' इति श्लोकेन । अपरा अनुत्कृष्टा अप्रधानभूतेत्यर्थः । तुशब्दोऽत्यन्तवैलक्षण्यपरः । 'इतः पराम्' इत्येतावतैव स्वरूपभेदे सुवचेऽप्यन्यशब्दो वैजात्यदृढीकरणार्थ इत्यभिप्रायेण **अचेतनाया** इत्यादिकमुक्तम् । "भोक्ता भोग्यम्" [ श्वे.उ.१।१२ ] इत्यादिश्रुत्यनुसारेण भोक्तृत्वभोग्यत्वाभ्यां परत्वापरत्वे दर्शिते । 'इदं जगत्' इति प्रमाणसिद्धनिर्देशासङ्कोचात्— **कृत्स्न**मित्युक्तम् । तत्र 'इदम्' इति पराक्त्वनिर्देशेन सूचितमचेतनत्वम् । इदं च धारणं जागरादिषु सङ्कल्पत इति प्रत्यक्षादिसिद्धम्; अन्यदाऽपि स्वरूपतो धारणमिति ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.—** प्रतिज्ञातं ज्ञानमाह– महतोऽहङ्कार एवान्तर्भावः ॥ ४ ॥ अपराऽनुत्तमा । वक्ष्यमाणामपेक्ष्य जीवभूता श्रीः जीवानां प्राणधारिणी चिद्रूपभूता सर्वदा सती "एतन्मह-[इदं मह-] द्भूतम्" [ बृ. उ. २।४।१२ ] इति श्रुतेः । जगाद च 'प्रकृती द्वे तु देवस्य जडा चैवाजडा तथा । अव्यक्ताख्या जडा सा च सृष्ट्या भिन्नाऽष्टधा पुनः ॥ महान्बुद्धिर्मनश्चैव पञ्चभूतानि चेति ह । अवरा सा जडा श्रीश्च परेयं धार्यते तथा ॥ चिद्रूपा सा त्वनन्ता च अनादिनिधना परा । यत्समं तु प्रियं किञ्चिन्नास्ति विष्णोर्महात्मनः ॥ नारायणस्य महिषी माता सा ब्रह्मणोऽपि हि । ताभ्यामिदं जगत्सर्वं हरिः सृजति भूतराड् ॥' इति नारदीये ॥ ५ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** मनुष्याणामितिवदुत्तरमप्यन्यार्थमिति प्रतीतिनिरासार्थं प्रतिज्ञातयोरुभयोः किमादावुच्यते ? इत्यपेक्षायां चाह— **प्रतिज्ञातमिति** । असङ्गतिपरिहाराया-नन्यार्थताज्ञापनाय च ज्ञानस्य प्राथम्ये हेतुसूचनाय च प्रतिज्ञातमित्युक्तम् । प्रतिज्ञातत्वेन सङ्गतं प्रतिज्ञातमेव । न तु तदर्थं प्राथम्येन प्रतिज्ञातम् । 'रसोऽहं' इत्यतः प्राक्तनग्रन्थसङ्ग्रहायादिपदम् । महत्तत्त्वमत्र नोपात्तं, तत्किं नास्त्येव ? इत्यत आह—**महत** इति । अहङ्कारेऽहङ्कारशब्दार्थेऽन्तर्भावः । कार्यवाचिनाऽहङ्कारशब्देन कारणस्य महतोऽप्युपलक्षणमेव, न त्वभाव इत्यर्थः ॥ ४ ॥ अपरशब्दस्यानेकार्थत्वात् विवक्षितमर्थमाह— **अपरे**ति । अनुत्तमत्वस्य सापेक्षत्वात् किमपेक्ष्येत्यत आह— **वक्ष्यमाणामि**ति । सन्निधानादिति भावः । जीवलक्षणां जीवत्वं प्राप्तमिति व्याख्याननिरासार्थमाह— **जीवभूते**ति । कथं सा जीवभूता ? इत्यत आह— **जीवानामि**ति । प्राणधारिणीत्येवोक्ते स्वप्राणधारिणीतिप्रतीतिः स्यात्, तन्निरासार्थमुक्तं **जीवानामि**ति । सर्वजीवदेहेषु स्थित्वा तदीयान्प्राणांस्तत्र धारयतीत्यर्थः । स्वप्राणधारिणी कुतो न स्यात् ? इत्यत आह— **चिद्रूपे**ति । ज्ञानात्मकविग्रहवती । यद्वा 'जीव प्राणधारणे' इत्यतो जीवशब्दस्य यौगिकार्थमुक्त्वा गौणीं वृत्तिमाश्रित्यार्थान्तरमनेनोक्तम् । भूतशब्दस्य सर्वदासत्त्ववाचित्वे प्रयोगं दर्शयति— **एतदि**ति । प्रकृतिमपेक्ष्य श्रियः परत्वोपपादनार्थमेतत् 'भूमिः' इत्यादेरभिमतमर्थं पुराणवाक्येन स्थापयति— **जगाद** चेति । देवस्यैव । सृज्यत इति सृष्टिः कार्यं, कार्यरूपेणेत्यर्थः । अनेन भूम्यादिशब्दैः पञ्चतन्मात्राण्येवोच्यन्ते, न स्थूलानि भूतानि । मन इति तत्कारणमहङ्कारः, बुद्धिरिति महत्तत्त्वम्, अहङ्कार इत्यविद्यासंयुक्तमव्यक्तं, 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' इति वचनादिति व्याख्यानं निरस्तम् । कार्यरूपेणाष्टधा भिन्नेति व्याख्यानसम्भवेन प्रसिद्धार्थपरित्यागायोगान्महत्यहङ्कारस्यान्तर्भाव इत्येवेति सम्बन्धः । जडेत्यवरत्वोपपादनम् । 'श्रीः परा' इत्यस्योपपादनमियं धार्यते तयेत्यादि । अनन्ता देशतः गुणतश्च । परा मुख्या । अनादिनिधना, नतव्यक्तवद्विक्रियावती ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.—** श्रोतारं प्ररोचनेनाभिमुखीकृत्याऽऽह–भूमिर्गन्धतन्मात्रं, आपो रसतन्मात्रं, अनलो रूपतन्मात्रं, वायुः स्पर्शतन्मात्रं, खं शब्दतन्मात्रम् । मन इति मनसः कारणमहङ्कारो बुद्धिर्महान्बुद्धिरित्यहङ्कारो महानहङ्कारोऽव्यक्तमहङ्कार इत्यविद्यासंयुक्तमित्यव्यक्तम् । ननु प्रसिद्धं भूम्यादिशब्दैर्महाभूतानां ग्रहणं युक्तम् । मनश्शब्देनापीन्द्रियस्य बुद्ध्यहङ्कारशब्दाभ्यामध्यवसायवृत्तेरभिमानवृत्तेश्च ग्रहणम् । नैवमुपपद्यते प्रकृतिरिति च वक्ष्यमाणत्वात् । इतीयं मे ममेश्वरस्य शक्ति-

भूताऽविद्यात्मिका भिन्ना विभक्ता प्रकृतिः कारणमष्टप्रकारम् ॥ ४ ॥ अपरा निकृष्टाऽशुद्धा बन्धात्मिकेत्यर्थः । इयं यथोक्ता । इतोऽस्या अन्यामान्तरामान्तरभूतां मे ममेश्वरस्य परां प्रकृष्टां जीवभूतामात्मभूतां महाबाहो ! ययेदं धार्यतेऽन्तःप्रविष्टया जगत् ॥ ५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं श्रोतारमभिमुखीकृत्य प्रथमं तावत् सर्वाद्वैतलक्षणं ब्रह्मस्वरूपमुपदेष्टुकामः स्थावरजङ्गमरूपस्य सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य स्वमायात्मकत्वं दर्शयति सार्धद्वयेन— भूमिरिति । पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमनोबुद्ध्यहङ्कारभेदेन मम प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिकानिर्वचनीयमायाशक्तिः अष्टधा भिन्ना । अत्र पृथिव्यादिपञ्चमहाभूतवाचकैर्भूम्यादिशब्दैर्महाभूतसूक्ष्मावस्थारूपपञ्चतन्मात्राणां अहङ्कारशब्देन तत्कार्येन्द्रियदशकस्य बुद्धिशब्देन तत्कारणमहत्तत्त्वस्य चोपलक्षणम् । अतो मूलप्रकृतिमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रपञ्चमहाभूतज्ञानकर्मेन्द्रियमनोरूपेण साङ्ख्याभिमतानाम्, मायापरिणामावीक्षणसङ्कल्पात्मकावेव बुद्ध्यहङ्कारौ अपञ्चीकृतपञ्चमहाभूतान्येव पञ्चतन्मात्राणीति संज्ञाभेदमात्रेण सिद्धान्ताभिमतानां च चतुर्विंशतितत्त्वानामष्टस्वेवान्तर्भाव इति चतुर्विंशतिभेदभिन्नाया अपि प्रकृतेरत्रैवान्तर्भावविवक्षया अष्टधा भिन्नेत्युक्तिरिति न कश्चिद्विरोधः ।

अपरेयमिति । अष्टधोक्ता या मम प्रकृतिः सेयमपरा निकृष्टा, जडत्वाद्बन्धरूपत्वाच्च । इतः सकाशादन्यां मे मम प्रकृतिं जीवभूतां परां चेतनत्वेन प्रकृष्टां विद्धि जानीहि, यया जीवाख्यपरप्रकृत्या स्वकर्मद्वारेण इदं जगद्धार्यते; यद्वा नामरूपविभागेनेदं जगन्निर्वाह्यत इत्यर्थः । 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" [ छां. उ. ६।३।२ ] इति श्रुतेः ॥ ४ ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— तथाविधं स्वमहिमज्ञानं ब्रह्मवादानुसारेण स्वयमेवोपदिशति— भूमिरित्यादिना । तत्रादौ सर्वधर्माश्रयं पुरुषोत्तमापरपर्यायं ब्रह्मैव परं स्वेच्छया सर्वं भवतीति श्रूयते; भूमिवत् दुग्धवच्च अतएव 'क्षीरवद्धि' इति सूत्रे व्यवस्थापितम् 'आत्मकृतेः परिणामात्' [ब्र. सू.१।४।२६] इत्येवं श्रुत्यर्थं व्याख्यायाभिन्ननिमित्तोपादानकारणं तद्ब्रह्मेति भाष्ये निगदितं च । भागवतेऽपि [ १०।१०।३०,३१ ] 'त्वमेव कालो भगवान्विष्णुरव्यय ईश्वरः । त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजस्सत्त्वतमोमयी॥' इति । परापरप्रकृतिरूपेण स्वात्मनाऽसाधारणसृष्ट्यादिकार्यकरणमाहात्म्यं ज्ञापयितुं स्वस्य प्रकृतिद्वयं तावदाह द्वाभ्यां— भूमिराप इति । मे निरतिशयानन्तमहिम्नः सम्बन्धिनी सदंशभूताऽप्यजा प्रकृतिरित्यष्टधा भिन्ना भूम्यादिरूपेण परिणताऽष्टविधा, तत्र पञ्चधा स्थूलभावमिता, पञ्चमहाभूतानि स्पष्टान्येव । मनो बुद्धिरहङ्कारश्चेत्यनिरुद्धप्रद्युम्नसङ्कर्षणाधिष्ठानभूता सूक्ष्मा । चित्तं च स्वाभेदाभिप्रायेण नोक्तं दृश्यमानत्वात्, स्वस्य भागवतं वा; तत्र, प्राकृतमिति नोक्तम् । इयं च प्रकृतिः सदंशभूताऽचिदित्युच्यते चित्सम्बन्धे सर्वकार्यकरणक्षमा, नान्यथेत्यपरा इयम् ॥ ४ ॥

अपरेति इतस्त्वन्यामजडां चित्स्वरूपां परां भोक्तृत्वेन प्रधानभूतां पुरुषत्वेन निर्दिष्टामत्र जीवभूतां मे प्रकृतिं चिदंशभूतां विद्धि । अत्र जीवः पूर्वमविद्यया क्रियत इत्युक्तम् । तथा सति जीवीभूतामिति स्यात्पुत्रोभून इतिवत् । जीवत्वं च नाविद्याकृतं, किन्तु भगवता सहजेच्छया कृतं, विभागस्याविद्याकृतत्वे मानाभावात् । 'सच्चिदानन्दरूपो हि भगवान्पुरुषोत्तमः । एककोटिनिविष्टश्चिद्रूपश्चाक्षरतः परः ॥' तस्य माया द्विविधेति पूर्वं निरूपितम् । तत्र चिद्रूपस्य या माया सा व्यामोहिका स्वपुरुषं व्यामोहयित्वा जीवतामापादयति । जीवतीति जीवः केवलप्राणधारणप्रयत्नवान्, तृतीयस्कन्धे [ अ. ३० ] मायया जीवतापन्नतया तथानिरूपणात् । स हि मायया व्यामोहितः व्याकुलः सन् सदानन्दकृतसृष्टौ यः सूत्रात्मक आसन्यो दशविधप्राणरूपस्तमवलम्ब्य तिष्ठति तदा जीव इत्युच्यते । 'जीव प्राणधारणे' इति धातोः कर्त्तरि अन्प्रत्ययः । बोधरूपोऽप्ययं आनन्दरूपस्य पृथग्भूतत्वादानन्दार्थं तया व्यामोहितस्तत्सम्बन्धादानन्दो भविष्यतीति बुद्ध्या तया सम्पद्यते ।

अयं च विभागः "बहु स्यां प्रजायेय" [ छां. उ. ६।२।३ ] इतीच्छया । इच्छाऽपि तस्य सर्वभवनसमर्था स्वरूपमेव धर्मरूपेणाभवत् इच्छारूपेणापि भवति । तत्र सदंशस्य क्रियारूपा शक्तिः, चिदंशस्य व्यामोहिका माया, आनन्दरूपस्य जगत्कारणभूता, एतत्त्रितयरूपा शक्तिः सच्चिदानन्दरूपस्य भावः, नत्वतलादिवाच्यः, तथा भगवतो भावस्वरूपादेव निर्मितत्वात् । न च सर्वदा भवतीति शङ्कनीयम्, आपादकहेतुभूतकालस्य अभावात् । जाते पुनः काले तस्यैव नियामकत्वात् । न सर्वदा भविष्यति पूर्वमेव जातत्वात् । तत्सङ्गे इच्छादीनामपि जातत्वादिच्छादयस्तदंशभूतांस्तान्सदैकरूपान् स्थापयन्ति । तथा च तस्या अंशं प्रतिगृह्णाति स भगवान् । इच्छारूपः स एव कामः "सोऽकामयत" [ बृ. उ. १।२।४,६,७ ] इत्युक्तः । तया कृत्वा भेदरूपया सच्चिदानन्दधर्माः स्वयं भिद्यमानाः स्वाश्रयमपि भिन्दन्ति, तदा स भगवान् सर्वतः पाणिपादान्तो भवति साका-

रतां चापद्यते; भिन्नोऽपि तथामिलितोऽभिन्न इवाखण्डो भवति, तदपेक्षया कार्यरूपस्याल्पत्वात्। तानि त्रीण्यपि रूपाणि पूर्णशब्देनोच्यन्ते। अत एव सद्रूपस्य कार्ये प्रत्येकपर्यवसायित्वम्। 'प्रजायेय' इतीच्छयोत्कर्षापकर्षरूपेण जातः, तत्र आनन्द उत्कृष्टः, तदेतरौ तं सेवमानौ जातौ, ततश्च तयोर्धर्मौ ज्ञानक्रिये भगवच्छक्तिरूपे ज्ञाते तदा स आनन्दज्ञानक्रियाशक्तिमान् जातः, तदा चिदंशस्य शक्तिः आनन्दे गतत्वात् ज्ञानधर्मस्य तं व्यामोहयति तदा तस्य जीवत्वम्। सदंशस्तु क्रियाशक्तेर्गतत्वादव्यक्ततामापद्यते। पश्चान्मूलभूतक्रियांशाभिर्यथायथं अभिव्यज्यते। पश्चात्तस्यां तत्कृतधर्मे वा तिरोहिते स्वयमपि तिरोभवति, तदा तस्यां मूलेच्छया जातः शब्दोऽभिव्यक्तस्तिष्ठति,. जीवभगवद्बुद्धिषु जीवे भगवति च। एवं चिद्रूपोऽपि ज्ञानशक्त्यंशभूतैर्ज्ञानैरभिव्यज्यते तिरोभवति च। प्रयत्नस्तु तस्यापराधीन इति स जीवग्रहणार्थं सर्वदा तिष्ठति। स चेद्भगवांस्तस्मै तां पूर्णां ज्ञानशक्तिं प्रयच्छेत् तदा तां व्यामोहिकां मायां त्यजति, प्रयत्नं च स्वरूपे चावतिष्ठति अपराधीनश्च भवति। जगत्कर्तृत्वं तु न भवति तस्य सा मायाशक्तिर्न भवति, यतः आनन्दस्यैवोत्कृष्टत्वात्। हीनता तु आपाततो वर्तते, आनन्देन सह मिलितस्त्वानन्दोऽपि भवति। स चेत्स्वधर्मेण संगृह्णीयात्। यथोक्तं विष्णुपुराणे [ ६।७।६१ ] 'विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा। अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥' इति। इयं प्रक्रिया सर्वश्रुतिवाक्यानुरोधेन श्रुतार्थापत्तिसिद्धा सर्वत्रैवोपयुज्यते; अन्यथा प्रक्रियावाक्यानि बाधते इति श्रीमदाचार्योक्तपदव्याख्या। जीवभूतो भगवदंशः ययेदं जगत् शरीरं जडं सदसन्मिश्रितं विराड्रूपं धार्यते तां मे परां प्रकृतिं विद्धि॥ ९॥

१० पु. अ. त.— एवं सावधानतया श्रोतव्यत्वेनार्जुनं बोधयित्वा पूर्वप्रतिज्ञातस्वस्वरूपज्ञानार्थं स्वस्य सर्वकर्तृत्वं सर्वस्वरूपत्वं चाह— भूमिराप इत्यादिभिः। भूमिः, आपः, अनलः, वायुः, खम्, एवं पञ्च महाभूतानि। मनः सङ्कल्पादिसाधनम्, बुद्धिर्ज्ञानात्मिका, अहङ्कारोऽभिमानादिरूपः, इति। अनेन प्रकारेण इयं मे अष्टधा प्रकृतिर्माया भिन्ना विभागं प्राप्ता। लौकिककार्यार्थमिति भावः॥ ४॥

तदेवाह— अपरेति। इयं अपरा, नीचेत्यर्थः। तु पुनः। हे महाबाहो क्रियासमर्थ एतज्ज्ञानयोग्य! इतः सकाशादन्यां परामुत्कृष्टां जीवभूतां मे प्रकृतिं विद्धि जानीहि। परत्वमेवाह— ययेदमिति। यया इदं परिदृश्यमानं जगद्धार्यते ध्रियते पोष्यते च। अत्रायं भावः— भगवान् स्वक्रीडार्थं जगत् सृजति; तत्र प्रकृत्या स्वशक्त्या क्रीडाधिकरणभूतजगत्सृष्टिं विधाय तद्भोगार्थं क्रीडार्थकया स्वशक्त्या तद्रूपजीवसृष्टिं कृतवान्;तया इदं पूर्वकृतं भोगादिरूपेण धार्यते। तस्माल्लौकिकसृष्टौ जीवरूपेण भगवान् भोगं कुर्वन् क्रीडतीति ज्ञानेन तस्यां बन्धो न स्यात्। एतत्स्वरूपज्ञानादसानुकरणज्ञानं स्यादिति भावः। यद्वा या पूर्वमष्टधोक्ता सा अपरा प्रकृतिः शक्तिः, क्रीडार्थं शक्त्यंशभूतेति भावः। संयोगविलासे अनेकधा रसोत्पत्त्यर्थमाविर्भूतेत्यर्थः। अतएव भिन्ना तद्विलासेच्छया जाता। इतः सकाशादन्या विप्रयोगे तदन्वेषणार्थं पुनर्दास्यरससिद्ध्यर्थमाविर्भूता जीवभूता दास्यरूपा या मच्छक्तिस्तां परां केवलमदंशामुत्कृष्टां जानीहि। उत्कृष्टरूपतामेवाह— यया इदं जडात्मकं जगद्धार्यते जीवप्राकट्यानन्तरं तद्भावेन सर्वं क्रीडौपयिकत्वेन पोष्यत इति भावः॥ ५॥

११ नी० भा० दी०— एवमेकविज्ञानात् सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदुपपत्तये सर्वस्य जडाजडप्रपञ्चस्य ज्ञानात्मकब्रह्मप्रभवत्वमाह त्रिभिः— भूमिरिति। अत्र भूम्यादिपदैस्तत्तत्कारणान्येव गृह्यन्ते, प्रकृतिरित्यधिकारात्, स्थूलभूम्यादेश्च विकृतिमात्रत्वात्। तथा च भूमिरिति गन्धतन्मात्रम्, आप इति रसतन्मात्रम्, अनल इति रूपतन्मात्रम्, वायुरिति स्पर्शतन्मात्रम्, खमिति शब्दतन्मात्रम्, मन इति तत्कारणमहङ्कारः, बुद्धिरिति समष्टिबुद्धिर्महत्तत्त्वम्। अहङ्कारोत्यनयेत्यहङ्कारो मूलप्रकृतिः। करणे घञो दुर्लभत्वेऽप्यगत्या बाहुलकात्तद्बोध्यम्। इयं मे मत्तोऽभिन्नाऽपृथक्सिद्धा शुक्तिशकलादिव रजतं अष्टधा अष्टप्रकारा प्रकृतिर्जडप्रपञ्चोपादानभूता। यद्वा नात्राव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्राण्येवाष्टौ साङ्ख्याभिमता एव प्रकृतयो ग्राह्या इति नियमोऽस्ति। "मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति" [ बृ.उ.३।५।३] इति मनस इन्द्रियान्तरप्रकृतित्वश्रवणेन सन्तु नवापि प्रकृतयः। तथा चैवं योज्यम्— इयं मे मदभिन्ना प्रकृतिरव्याकृताख्या भूम्यादिभेदेनाष्टधेति मूलप्रकृतेरत्र भूम्यादिभिः सह पाठाज्जन्यत्वमवगम्यते, न साङ्ख्यानामिवाजन्यत्वम्। 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम!' इति। 'अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले प्रविलीयते' [ वि. पु. ] इति च। तस्या अपि प्रभवप्रलययोः स्मरणात्॥ ४॥

एवं क्षेत्रात्मिकां प्रकृतिमुक्त्वा क्षेत्रज्ञात्मिकां तामाह— अपरेयमिति । इयं प्रागुक्ता साऽपरा अश्रेष्ठा, जडत्वात् । इतस्तु विलक्षणामन्यां परां चेतनत्वेन मदनन्यत्वादुत्कृष्टां मे मत्सम्बन्धिनीं प्रकृतिं जीवभूतां प्राणधारणनिमित्तभूतां क्षेत्रज्ञाख्यां विद्धि जानीहि । हे महाबाहो ! यया प्रकृत्याऽन्तःप्रविष्टयेदं जगत्स्थावरजङ्गमशरीरात्मकं धार्यते ॥५॥

**एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय[1] ।**
**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥**

**१ शां. भा.**—एतदिति । एतद्योनीनि, एते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे प्रकृती योनी येषां भूतानां तान्येतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्येवमुपधारय जानीहि । यस्मान्मम प्रकृतिः योनिः कारणं सर्वभूतानाम्, अतोऽहं कृत्स्नस्य समस्तस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिः प्रलयो विनाशस्तथा प्रकृतिद्वयद्वारेणाहं सर्वज्ञ ईश्वरो जगतः कारणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उक्तप्रकृतिद्वये कार्यलिङ्गकमनुमानं प्रमाणयति— **एतद्योनीनी**ति । प्रकृतिद्वयस्य जगत्कारणत्वे कथमीश्वरस्य तदुपगतं ? इत्याशङ्कयाऽऽह— **अहमि**ति । 'एतद्योनीनि' इत्युक्ते समनन्तरप्रकृतजीवभूतप्रकृतौ एतच्छब्दस्याव्यवधानात्प्रवृत्तिमाशङ्क्य व्याकरोति— **एते** इति । सर्वाणि चेतनाचेतनानि जनिमन्तीत्यर्थः । सर्वभूतकारणत्वेन प्रकृतिद्वयमङ्गीकृतं चेत्कथमहमित्याद्युक्तं ? इत्याशङ्कयाऽऽह— **यस्मा**दिति । मम प्रकृती परमेश्वरस्योपाधितया स्थिते इत्यर्थः । तर्हि प्रकृतिद्वयं कारणमीश्वरश्चेति जगतोऽनेकविधकारणाङ्गीकरणं स्यादित्याशङ्कयाऽऽह— **प्रकृती**ति । अपरप्रकृतेरचेतनत्वात् परप्रकृतेश्चेतनत्वेऽपि किञ्चिज्ज्ञत्वादीश्वरस्यैव सर्वज्ञस्य सर्वकारणत्वं युक्तमित्याह— **सर्वज्ञ** इति ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.**— एतच्चेतनाचेतनसमष्टिरूपमदीयप्रकृतिद्वययोनीनि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तान्युच्चावचभावेनावस्थितानि चिदचिन्मिश्राणि मदीयानि सर्वाणि भूतानीत्युपधारय । मदीयप्रकृतिद्वययोनीनि हि तानि मदीयान्येव । तथा प्रकृतिद्वययोनित्वेन कृत्स्नस्य जगतः तयोर्द्वयोरपि मद्योनित्वेन मदीयत्वेन च कृत्स्नस्य जगतोऽहमेव प्रभवः, अहमेव च प्रलयः, अहमेव च शेषीत्युपधारय । तयाश्चिदचित्समष्टिभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोरपि परमपुरुषयोनित्वं श्रुतिस्मृतिसिद्धम् । "महानव्यक्ते विलीयते, अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि विलीयते, तमः परे देव एकीभवति" [ सु. उ. २ ] 'विष्णोः स्वरूपात्परतोदिते द्वे रूपे प्रधानं पुरुषश्च विप्र !' [ वि. पु. १।२।२४ ] 'प्रकृतिर्या मयाऽऽख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी । पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयेते परमात्मनि । परमात्मा च सर्वेषामाधारः परमेश्वरः । विष्णुनामा स वेदेषु वेदान्तेषु च गीयते ॥' [ वि. पु. ६।४।३८—३९ ] इत्यादिका हि श्रुतिस्मृतयः ॥ ६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं समष्टिदशोक्ता, 'एतद्योनीनि' इत्यर्धेन तु व्यष्टिरुच्यते । 'अहं कृत्स्नस्य' इति तु समष्टिव्यष्ट्योः सङ्कलितयोः कार्यत्वादिकथनम् 'सर्वाणि भूतानि' इति चिदचिन्मयकार्यनिर्देशात् । एतच्छब्दः प्रस्तुतप्रकारप्रकृतिपुरुषपरामर्शी; न तु प्रकृतिमात्रपर इति दर्शयति—**एतच्चेतने**त्यादिना । एतेन स्वरूपतो निर्विकारस्यापि चेतनस्य देवादिशरीरेन्द्रियतदधीनज्ञानक्रियाभोगादिविशिष्टवेषापेक्षया तत्पूर्वाचित्कल्पावस्थस्य प्रकृतित्वमुपपन्नमिति सूचितम् । व्याख्येये मदीयानीत्येतन्न दृश्यते; तत्कथमत्र निर्दिश्यत इत्यत्राह— **मदीयप्रकृतिद्वययोनीनी**ति । शब्दाप्रयोगेऽपि वाक्यार्थसिद्धाविति शब्दः स्वकीयत्वपरामर्शार्थ इति भावः । भगवदभिप्रायस्थवचनरूपत्वादत्र मदीयशब्दोक्तिः । **तथे**त्यस्य तथा सतीत्यर्थः । तस्यैव विवरणं **प्रकृतिद्वये**त्यादि । पूर्वोक्तशेषित्वादिसमुच्चयार्थो वा तथाशब्दः । प्रभवप्रलयशब्दावत्रोत्पत्तिलयस्थानपरौ । ननु "अजामेकां" [श्वे. उ. ४।५] "नित्यो नित्यानां" [श्वे. उ. ६।१३] 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' [ १३। १९ ] इत्यादिषु सत्सु कार्यविषये कृत्स्नशब्देन प्रकृतिद्वयस्यापि सङ्ग्रहः कथमवगम्यते ? इत्यत्राह—**चिदचित्समष्टी**ति । प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मनि प्रलयश्रुतिबलात्तयोस्तस्मादुत्पत्तिरपि श्रुतिसिद्धैव स्यादित्यभिप्रायेणोपादत्ते—**महानि**ति । प्रकृतिपुरुषयोः परमात्मनि लयो नाम क्षीरे नीरस्येव विभागानर्हः संश्लेषविशेषः । तेन द्रव्यस्वरूपस्य नित्यत्वात् 'अजां'

---

१ 'उपधारय अभ्यासाहिताद्युभवक्रमेणात्मसमीपे कुरु ' इत्यभिनवगुप्ताचार्याः । —अविगीता ।

इत्यादेरविरोधः । उक्तार्थे स्मृतिमुदाहरति—**विष्णोरिति**। परतोदिते परत उदित इत्यर्थः। आर्षः सन्धिभेदः; यद्वा, स्मृतिरपीयं प्रलयपरैव, तत्प्रकरणस्थत्वात् । 'दो अवखण्डने' इत्यत्र दिते इति निष्ठान्तं पदम्; पृथग्भूते इत्यर्थः । तेन प्रलयदशायामपि प्रधानपुरुषेश्वराणां मिथः स्वरूपभेदोऽस्त्येवेत्युक्तं भवति। अदिते वा इति पदच्छेदः; अपृथग्भूते इत्यर्थः । तेन विभागानर्हः संश्लेष उक्तो भवति; प्रलयप्रकरणस्थत्वादत्रापि पूर्वोत्तरोपादीयमानस्मृतिसमानार्थत्वाभिप्रायाच्च । स्वाभिमतार्थे स्फुटार्थवचनमुदाहरति—**प्रकृतिरिति** ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.**— न केवलं ते जगत्प्रकृती मद्वशे इत्येतावन्मदैश्वर्यमित्याह— अहमिति । प्रभवादेः सत्ताप्रतीत्यादेः कारणत्वात्तद्भोक्तृत्वाच्च प्रभव इत्यादि। तथा च श्रुतिः "सर्वकामः सर्वकर्मा सर्वगन्धो सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः" [ छां. उ. ३।१४।२ ] इति । आह च—'स्रष्टा पाता च संहर्ता नियन्ता च प्रकाशिता । यतः सर्वस्य तेनाहं सर्वोऽस्मीत्यृषिभिः स्तुतः ॥ सुखरूपस्य भोक्तृत्वान्न तु सर्वस्वरूपतः । आगमिष्यत्सुखं चापि तच्चास्त्येव सदाऽपि तु ॥ तथाप्यचिन्त्यशक्तित्वाज्जातं सुखमतीव च । ' इति नारदीये ॥ ६ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— नन्वत्रापरपरनिरूपणपूर्वकं भगवतो यत्परतरत्वं वक्तुमभिप्रेतं तत्र शरीरेन्द्रियविषयलक्षणाख्यकार्यस्य जीवानां च तयोरेवान्तर्भाव इति दर्शयितुं 'एतद्योनीनि' इत्युक्तम् ; इदानीमहं परतर इति वक्तव्यं, इदं तु किमर्थमुच्यते ? इत्यत आह— **न केवलमिति** । पूर्वं वाक्यभेदेन प्रकृत्योरवरत्वं परत्वं 'मे' इति स्ववशत्वं चोक्त्वा 'ययेदं धार्यते जगत्' 'एतद्योनीनि' इति जगदाधारत्वकारणत्वे कथिते तत्र 'प्रकृती एव भगवद्वशे, जगज्जन्मस्थितिलयास्तु प्रकृत्यधीना एव, न भगवदधीनाः' इति प्रतीतं, तन्निरासार्थमेतदित्यर्थः । 'जगत्प्रतिममैश्वर्यं' इत्येतावत् प्रकृतिद्वारकमुपचरितमिति यावत् । प्रकृत्योः कारणत्वादिकं मदायत्तमिति भावः । जगद्धर्मयोः प्रभवप्रलययोः साक्षाद्भगवदैक्यमुच्यत इति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **प्रभवादेरिति** । यथा पुत्रादिप्रभवो रिपुप्रलयश्चोपलब्धः सुखहेतुरित्युपलब्धः पित्रादेस्तद्भोक्तृत्वं, तथा तद्भोक्तृत्वात् ।

भगवतः सर्वभोक्तृत्वं कुतः ? इत्यत आह— **तथा चेति** । 'सर्वकामः' इत्यादेर्द्विरुक्तत्वात् एकं भोगविषयमिति ज्ञायते । काम्यन्त इति कामा द्रव्याणि । गन्धरसशब्दौ गुणान्तरस्याप्युपलक्षकौ । सर्वमिदमभि अभितः आत्तो धृतः, स्थित इत्यर्थः । न विद्यते वाक्यमनुग्रहमन्तरेण यस्यासाववाक्यः । न विद्यते आदरः आश्चर्यबुद्धिर्यस्यासौ नादरः, अवाक्यश्चासौ नादरश्चेत्यवाक्यनादरः । कारणत्वादिनैवैक्यव्यपदेश इत्येतत्कुतः ? इत्यत आह— **आह चेति** । सुखरूपस्य सुखकारणस्य। ननु 'स्रष्टा पाता' इत्यादिकमयुक्तं कादाचित्कक्रियावेशे विकारित्वप्रसङ्गात् । भोगेन यद्भाव्यं सुखं तस्य पूर्वमभावेनापूर्णत्वप्रसङ्गाच्चेत्यत आह— **आगमिष्यदिति** । यद्भोगेनागमिष्यत्सुखं तच्च सदाऽप्यस्त्येव । क्रियाश्च शक्तिरूपेण चेति चार्थः । तर्हि कथं भोगेन जातमित्युच्यते ? इति भावेन पृच्छति— **अपि त्विति** । उत्तरमाह— **तथापीति** । सदा सद्भावेऽपि यद्यपि 'प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः, प्रलीयतेऽस्मिन्निति प्रलयः ?' इति शक्यते व्याख्यातुं तथापि महिमातिशयलाभायैवं व्याख्यातम् । एतेन 'यस्मान्मम प्रकृती योनी सर्वभूतानां ततोऽहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' [शां.] इति व्याख्यानमपहसितं भवति ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.**—एषा परापरत्वेन विभक्ता प्रकृतिर्योनिः कारणं येषां तान्येतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारयावगच्छ । अतः परं प्रकृतिरूपेण स्थितोऽहं विश्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिस्थानं प्रलयस्तथा ॥ ६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— ननु चेतनाचेतनप्रपञ्चस्य कथं प्रकृत्यात्मकत्वं येन 'भिन्ना प्रकृतिरष्टधा' 'जीवभूतां प्रकृतिं विद्धि' इति ब्रूषे? तत्राह— **एतद्योनीनीति**। एषा प्रकृतिर्योनिरुपादानकारणं येषां तान्येतद्योनीनि सर्वाणि चेतनाचेतनात्मकानि भूतानीत्युपधारय अवगच्छ । मृदुपादानकस्य घटादेर्मृदात्मकत्ववत्प्रकृत्युपादानकस्य चिदचित्प्रपञ्चस्यापि प्रकृत्याख्यमायात्मकत्वमस्त्येवेत्यर्थः । तदनेन 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' [ गौ. का. १।१७ ] इत्यादिश्रुत्युक्तमखिलस्यापि द्वैतप्रपञ्चस्य मायापरिणामत्वादैन्द्रजालिकपदार्थजातस्यैव मिथ्यात्वं प्रदर्शितम् । अथ "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" [ छां. उ. ३।१४।१ ] इति श्रुत्युक्तमद्वैतसिद्ध्यौपयिकं द्वैतप्रपञ्चमिथ्यात्वं दर्शयति— **अहमिति** । प्रभवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिकारणम् । प्रलीयतेऽस्मिन्निति प्रलयो नाशकारणम् । तथाशब्देन 'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इत्यग्रिमश्लोकोत्तरार्धगतस्थितिकारणत्वनिर्देशः । यद्धि यत्रोत्पद्य स्थित्वा प्रलीयते, तत्ततोऽभिन्नसत्ताकं प्रतिपद्यत इति ब्रह्मण्युत्पत्तिस्थितिलयवतः प्रपञ्चस्य ब्रह्माभिन्नस्य मिथ्यात्वमित्यर्थः ॥ ६ ॥

**९ व० त० दी०**— अनयोरेव प्रकृतित्वं निर्वचनेन ज्ञापयन् स्वस्य तद्द्वाराऽसाधारणकार्यकारणत्वमाह— एतद्योनीनीति । यत एव प्रकृष्टा कृतिरित्यत एतद्योनी एते एव जनिके येषां तानि स्थावरजङ्गमात्मकान्युपधारय बुद्ध्यस्व । तत्र जडा प्रकृतिर्देहादिरूपेण परिणमते; चेतना तु मदंशभूता भोक्तृत्वेन क्षेत्रज्ञरूपेण तत्राविश्य व्यामोहिकया तां धारयति इति ते यतो मत्तः कारणभूतात् प्रयोजकाद्वा सम्भूते मद्रूपे; अतोऽहमेव जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा; घटपटादेर्भूरिव । प्रकृतिपुरुषद्वारा कारणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

**१० पु. अ. त.**— एतज्ज्ञानेन किं स्यादित्यत आह— एतदिति । सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि एतद्योनीनि एते प्रकृती योनी कारणरूपे येषां तथा तदुपधारय, उप समीपे हृदये पोषय । एतद्योनिज्ञानेन मत्क्रीडौपयिकत्वं सर्वेषु भविष्यतीति भावः । यतस्तद्योनीनि सर्वाणि, ते च मदंशे, अतः कृत्स्नस्य सम्पूर्णस्य जगतोऽहं प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिस्थानं, मूलकारणमित्यर्थः । तथा प्रकर्षेण लीयते अनेनेति लयस्थानं प्रलयकर्ताऽप्यहमेवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

**११ नी० भा० दी०**— एतदिति । एतेऽपरापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपे प्रकृती योनिरुत्पत्तिलयस्थानं येषां भूतानां तान्येतद्योनीनि भूतानि चतुर्विधानीत्येतदुपधारय सम्यग्जानीहि । किं पातञ्जलानामिव एते प्रकृती ईश्वरादन्ये ? इत्याशङ्क्याह— अहमिति । कृत्स्नस्य स्वस्वप्रकृतिसहितस्य जगतो जडाजडरूपस्य प्रभवः प्रभवत्यस्मादिति प्रभव उत्पत्तिकारणम्, तथा प्रलीयतेऽस्मिन्निति प्रलयः लयस्थानं च । अतस्ते उभे अपि प्रकृती मत्तो नातिरिच्येते ॥ ६ ॥

भगवतोऽद्वैतस्वरूपम् ।

## मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय ! ।
## मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे [1]मणिगणा इव ॥ ७ ॥

**१ शां. भा.**— यतस्तस्मात्— मत्तः परमेश्वरात् परतरमन्यत्कारणान्तरं किञ्चिन्नास्ति न विद्यते, अहमेव जगत्कारणमित्यर्थः । हे धनञ्जय ! यस्मादेवं तस्मान्मयि परमेश्वरे सर्वाणि भूतानि सर्वमिदं जगत् प्रोतमनुस्यूतमनुगतमनुविद्धं, ग्रथितमित्यर्थः । दीर्घतन्तुषु पटवत्, सूत्रे च मणिगणा इव ॥ ७ ॥

---

१ अत्र सामान्याभिधायिनावपि सूत्रमणिशब्दौ दार्ष्टान्तिकबलात् सुवर्णमयत्वरूपं विशेषमुपस्थापयत इति मन्वानो **वामनः**—

अनेके मणयस्तेषामेकं सूत्रं प्रतिश्रयः । सुवर्णमेव तत्सर्वं न भेदस्तत्र कश्चन ॥
मणयस्ते च तत्सूत्रं रुक्ममेव यथा तथा । महदादीनि चेशोऽहं सर्वं ब्रह्मैव केवलम् ॥
महदादीनि मणयः सूत्रमीशोऽहमर्जुन ! । प्रोतानि विश्वरचनारूपेण मयि तान्यलम् ॥
हारो मणीनां घटते न सूत्रेण विना यथा । मया विना विश्वसंस्था न तथा महदादिभिः ॥ इति युक्तियुक्तं— विवेचयति ॥

**ज्ञानेशोपि**— सुवर्णतन्तावूयन्ते सुवर्णमणयो यथा । मया धृतं जगत्सर्वं सबाह्याभ्यन्तरं तथा ॥ इत्यमुमेवाशयं व्यनक्ति ।
**अन्ये तु**— आधारोऽसि यदि त्वमस्य जगतश्चाधेयभूतं जगद्दृश्येथास्त्वमिदं च तर्हि नियतं स्यादालोचनागोचरम् ।
मञ्जूषादि हि दृश्यते ननु तदाधेयं क्वचिद्भूषणं तद्वैषम्यमिह स्फुटं खलु जगद्दृश्यं, त्वमक्षातिगः ॥

आधारता ते घटते कथं तदित्याक्षिपेत्पार्थ ! इतीह मत्वा ।
दृष्टान्तमन्यं किल शिष्टमान्यं जगाद देवो जगदेकनाथः ॥
आधारभूतमपि सूत्रमदृश्यमेव संदृश्यते मणिगणश्च तदाश्रितोऽपि ।
तद्वज्जगत्यनुगतोऽस्मि न च प्रतीये मय्योतमेतदखिलं तु जगच्चकास्ति ॥ इति परिष्कुर्वते ।

—अविगीता ।

२ आ. शां. व्या.— प्रधानात्परतोऽक्षरात्पुरुषवत्परमात्मनोऽपि परादन्यत्परं स्यादित्याशङ्क्य प्रकृतिद्वयद्वारा सर्वकारणत्वमीश्वरस्योक्तमुपजीव्य परिहरति—**यतस्तस्मा**दिति। 'नान्यदस्ति परतरं' इत्यत्र हेतुमाह— **मयी**ति। परतरशब्दार्थमाह— **अन्य**दिति। स्वातन्त्र्यव्यावृत्त्यर्थमन्तरशब्दः। निषेधफलं कथयति— **अहमेवे**ति। सर्वजगत्कारणत्वेन सिद्धमर्थं द्वितीयार्धव्याख्यानेन विशदयति— **यस्मा**दिति। अतो दीर्घेषु तिर्यक्षु च पटघटितेषु तन्तुषु पटस्यावगतिरवगम्यते, तद्वन्मय्येवानुगतं जगदित्याह— **दीर्घे**ति। यथा च मणयः सूत्रेऽनुस्यूतास्तेनैव ध्रियन्ते, तदभावे विप्रकीर्यन्ते, तथा मयैवाऽऽत्मभूतेन सर्वं व्याप्तं ततो निष्कृष्टं विनष्टमेव स्यादिति श्लोकोक्तं दृष्टान्तमाह— **सूत्र** इति॥ ७॥

**३ रा. भा.— यथा सर्वकारणस्यापि प्रकृतिद्वयस्य कारणत्वेन सर्वाचेतनवस्तुशेषिणश्चेतनस्यापि शेषित्वेन कारणतया शेषितया चाहं परतरः, तथा ज्ञानशक्तिबलादिगुणयोगेन चाहमेव परतरः। मत्तोऽन्यत् मद्व्यतिरिक्तं ज्ञानबलादिगुणान्तरयोगि किञ्चिदपि परतरं नास्ति। सर्वमिदं चिदचिद्वस्तुजातं कार्यावस्थं कारणावस्थं च मच्छरीरभूतं सूत्रे मणिगणवदात्मतयाऽवस्थिते मयि प्रोतमाश्रितम्। "यस्य पृथिवी शरीरम्" [ बृ. उ. ३।७।३] "यस्यात्मा शरीरम्" [ श. ब्रा. १४। ५।६।५।३० ] "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" [ सु. उ. ७ ] इत्यात्मशरीरभावेनावस्थानं च जगद्ब्रह्मणोरन्तर्यामिब्राह्मणादिषु सिद्धम्॥ ७॥**

४ वे. ता. चं.—'मत्तः परतरम्' इत्यत्र पूर्वोक्तस्यैवार्थस्य व्यतिरेकेण दृढीकरणमात्रपरत्वे मन्दप्रयोजनत्वम्; अहं परतर इत्येवंरूपेण पूर्वमनुक्तेश्च तद्व्यतिरेकनिषेधोऽपि नातीवोचितः। अतोऽनुपदिष्टापूर्वार्थपरत्वमेव शब्दस्य सम्भवदपरित्याज्यमित्यभिप्रायेणाह— **यथे**ति। पूर्वश्लोकस्थतथाशब्दोऽत्रानुषक्तः; ततश्चानन्तमहाविभूतियोगोऽनन्तगुणयोगे दृष्टान्तित इत्यभिप्रायेणाह— **तथा ज्ञानशक्ती**ति। **शेषित्वेने**त्यन्तमर्थस्थितिप्रदर्शनम्; **कारणतया शेषितया चे**ति परतरत्वप्रकारकथनमित्यपुनरुक्तिः। नन्वहमेवेत्यवधारणमशक्यम्, स्वस्मात्परतरनिषेधेऽपि समनिषेधाप्रतीतेरित्यत्राह—**मत्तोऽन्यदि**ति। **मद्व्यतिरिक्त**मिति। अयमभिप्रायः— 'मत्तः' इति पञ्चमी 'न परतरं' इत्यनेनान्विता, तथा सत्यन्यशब्दानन्वयप्रसङ्गात्; अतो 'मत्तोऽन्यत्परतरं नास्ति' इत्यन्वये अहमेव परतर इति फलितम्; ततश्च समाभ्यधिकदरिद्रत्वमुक्तं भवति—इति। **ज्ञानबलादिगुणान्तरयोगि किञ्चिदपी**त्यनेन ब्रह्मेशानादयोऽधिकारिणः परिशुद्धात्मानश्च क्रोडीकृताः। एवं 'भूमिरापः' [ ७।४ ]इत्यादिना निरपेक्षप्रकृतिपरिणामवादः, केवलचेतनसन्निधिमात्रपरिणामित्वं, प्रकृतिपुरुषयोरीश्वरं प्रत्यशेषत्ववादश्च निरस्तः। 'मत्तः परतरम्' इत्यनेन तु त्रिमूर्त्यैक्यसाम्योत्तीर्णव्यक्त्यन्तरप्रवाहेश्वरपक्षाः प्रतिक्षिप्ताः।

अथ पूर्वोक्तसर्वोपादानत्वप्रसक्तसविकारत्वपरिहारार्थं पृथक्सिद्धप्रकृतिपुरुषादिवादनिरासार्थं च सर्वाधारत्वमुखेन सर्वशरीरित्वमुच्यते 'मयि' इत्यर्धेन। 'सर्वमिदम्' इत्यनेन सर्वावस्थसमस्तचिदचिद्वस्तुसंग्रह इत्यभिप्रायेणोक्तं-**चिदचिद्वस्तुजात**मित्यादि। सूत्रमणिगणदृष्टान्तसामर्थ्यात् 'प्रोतम्' इत्यनेन चानुप्रवेशाश्रयाश्रयि भावप्रतीतेः। शरीरलक्षणमपि सूचितमित्यभिप्रायेण— **मच्छरीरभूत**मित्यादिकमुक्तम्। एकस्यैव सर्वाधारत्वमनुप्रविष्टस्य गूढत्वमाधेयभूतप्रकृत्याद्यधीनस्थितिविरहश्च सूत्रदृष्टान्तसिद्धः। प्रोतशब्देन सूत्रवद्बहिर्व्याप्त्यभावप्रतीतिव्युदासायाह— **आश्रित**मिति। अत्र सुबालोपनिषद्वाक्योपादानमन्तर्यामिणो नारायणत्वव्यक्त्यर्थमन्तर्यामिब्राह्मणानुक्ततत्त्वान्तरसङ्ग्रहार्थं च॥ ७॥

**५ आ. मा. भा.— अहमेव परतरः, मत्तोऽन्यत्परतरं न किञ्चिदपि॥ ७॥**

६ ज. प्र. दी.— नन्वपरं परं च तत्त्वमुक्त्वा परतरोऽहमिति वक्तव्यं, 'मत्तः' इति किमुच्यते? इत्यतस्तात्पर्यमाह— **अहमेवे**ति। परापरप्रकृत्योः स्वाधीनत्वोक्त्यैव स्वस्य परतरत्वमुक्तप्रायम्। किं त्वपरतत्त्वं यथाऽनेकं भूम्यादिभेदेन, तथा च परतत्त्वं 'मुक्तस्तु स्यात्पराभासः' इति वचनात्। तथा परतरमपि किमनेकमुत त्वमेक एव? इति जिज्ञासायामहमेव परतर इत्यनेनोच्यत इत्यर्थः। कथमनेनेदं लभ्यते? भगवत्प्रतियोगिकाधिक्यवन्निषेधस्यात्र प्रतीतेरित्यतो योजयति— **मत्त** इति। अन्यथा तरपोऽन्यशब्दस्य च वैयर्थ्यादिति भावः॥ ७॥

**७ ह. पै. भा.— मत्तः परमेश्वरात्परतरमन्यत्किञ्चिन्नास्ति धनञ्जय!। मयि सर्वाधारे सर्वमिदं प्रोतं स्यूतं सूत्रे मणिगणा इव॥ ७॥**

८ वें. ब्र. गि.— यदर्थं प्रपञ्चमिथ्यात्वं दर्शितं तदाह— **मत्त** इति। यस्मादेवमखिलमपि जगन्मिथ्याभूतं तस्मात् मत्तः सर्वाधिष्ठानभूतात्परब्रह्मणः अन्यत्किञ्चिदपि परतरं परमार्थसत्यत्वेन श्रेष्ठं वस्तु नास्तीति शुद्धाद्वैतलक्षणब्रह्मस्वरूपोपदेशः। उत्तरार्धं तु पूर्वश्लोकेनैव संयोज्य तत्रैव व्याख्यातम्॥ ७॥

९ व० त० दी०— यस्मादेवं तस्मादेव माहात्म्यं पूर्वं ज्ञातव्यं मत्तः परतरं नान्यदिति । अहमेव पर इत्यर्थः । किञ्चेदं सर्वं प्रोतमाश्रितं मयि तत्र यद्यत्स्वरूपमान्तरं बहिरिदं युष्मदाद्युपलभ्यमानत्वात्सत्त्वं जगत् मत्स्वरूपेणेदं, नत्वविद्याकल्पितम् । तत्र दृष्टान्तः—' सूत्रे मणिगणा इव ' इत्यात्मशरीरभावेनावस्थानमुक्तं "यस्य पृथिवी शरीरं" [ बृ. उ. ३।७।३ ] "यस्यात्मा शरीरं" [श. प. ब्रा. १४।५।६।५।३०] " य एषः [ ह्येषः ] सर्वभूतान्तरात्मा" [ मुं. उ. २।१।४ ] इत्यादौ प्रसिद्धं विज्ञेयम् ।। ७ ।।

१० पु. अ. त.— यत उत्पत्तिप्रलयकारणमहमेवातो हे धनञ्जय मद्विभूतिरूप ! एतज्ज्ञानयोग्य ! मत्तः परतरं श्रेष्ठं जगत् जगति वा किञ्चित् अहं स इति भेदेनापि अन्यन्नास्ति, एवमुत्पत्तिप्रलयकारणेन स्वत उत्तमत्वाभावमन्यस्योक्त्वा स्थितिहेतुत्वेनाऽपि तथा त्वमेवेति स्वस्य स्थितिहेतुत्वमाह— मयीति । इदं सर्वं जगत् मयि प्रोतं ग्रथितं, मदाश्रयत्वेन तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र दृष्टान्तमाह सूत्रे प्रोता मणिगणा इव । अत्रायं भावः— मणिगणाः क्रीडास्थजीवाधिदैविकरूपा यथा मयि तिष्ठन्ति तथेदं जगदप्याधिदैविकं मयि तिष्ठतीति भावः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानं प्रकृतमात्मनो जगदुपादानत्वेनोपपाद्य तत एवात्मनो निर्विकारत्वहाने प्राप्ते आह— मत्त इति । कारणान्मृदादेः परं पृथग्भूतं घटादिव्यवहारे तयोर्भेदानुभवात् । परतरं तु गवाश्वादि, मृदनुपादानकत्वात् । एवं ब्रह्मणः परतरं तदनुपादानकं किञ्चिदपि नास्ति हे धनञ्जय ! एवं प्रपञ्चे ब्रह्माव्यतिरेकं प्रदर्श्य ब्रह्मणि प्रपञ्चव्यतिरेकं सदृष्टान्तमाह— मयीति । मयि सद्रूपेण स्फुरणरूपेण च सूत्रवत्सर्वत्रानुस्यूते । यदिदं सर्वं मणिगणवत्परस्परव्यावृत्तं तत्प्रोतम् । ' तेन व्यावृत्तेभ्योऽनुवृत्तं भिन्नम् ' इति न्यायेन प्रपञ्चातीतोऽहमतो न मम विकारित्वमित्यर्थः ।। ७ ।।

मन्दधियां भजनोपयोगिविभूतिलक्षणं ब्रह्मस्वरूपम् ।

**रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः ।**
**प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु ॥ ८ ॥**
**पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च तेजश्चास्मि विभावसौ ।**
**जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥**
**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनम् ।**
**बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥**
**बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम् ।**
**धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥ ११ ॥**

---

१ नन्वीश्वरस्य बीजत्वे विनाशिताऽपि प्रसक्तैव, लोके सत्यंकुरे बीजविनाशस्यावश्यम्भावित्वदर्शनात् । तत्कथं बीजत्वविरुद्धं सनातनत्वमुच्यते ? इति चेत्— शङ्केयं बुद्धिविधुरानेव भ्रामयति, न तु भगवद्विभूतिभूतबुद्धिमतः । ते हि बीजत्वेऽपि यथा नित्यत्वं न च्यवते, तथा खगमयूखमरीचिकादृष्टान्तेनोपपादयेयुरेव वाक्यार्थम् । यथा ह्यन्वहं बोभुवत्यपि मृगतृडम्भसमुद्भवे तद्बीजभूतो दिवाकरकरनिकरो न कदाचित विशीर्यते, तथा सहस्रशः सम्भवत्स्वपि भूतेषु तद्बीजभूत ईश्वरो न मात्रयापि परिहीयत इति । एतेन सद्रूपादीश्वरादुद्भतानां भूतानां सत्त्वशङ्कापि गर्भस्रावं स्रोष्यतीति गूढाभिसन्धिरनुपदमेवागासीद्भगवान् ' बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि ' इति **वानमः** परिष्करोति ।

२ बलं सकलवस्तुधारणसमर्थमूर्जोरूपम् । काम इच्छा संविन्मात्ररूपा, यस्या घटपटादिभिर्धर्मस्रूपैर्नास्ति विरोधः । इच्छा हि सर्वत्र भगवच्छक्तितया अनुयायिनी न क्वचिद्विरुद्धयते, धर्मैः स्वागन्तुकैर्घटपटादिभिर्भिद्यत इति तदुपासकतया शुद्धसंवित्स्वभावत्वं ज्ञानिनः । उक्तं च **शिवोपनिषदि**— इच्छायामथवा ज्ञाने जाते चित्तं निवेशयेत् ' इति । जात एव, न बाह्यप्रसृतं इत्यर्थः । एवं व्याख्यानं त्यक्त्वा ये ' परस्परानुपघातकं त्रिवर्गं सेवेत ' ( वा. कामसू. १।२।२ ) इत्याशयेन व्याचक्षते, ते सम्प्रदायक्रममजानाना भगवद्रहस्यं च व्याचक्षाणा नमस्कार्या एव ॥ सत्त्वादीनि मन्मयानि, नत्वहं तन्मयः । अत एव च भगवन्मयः सर्वं भगवद्भावेन संवेदयते, न तु नानाविधपदार्थज्ञाननिष्ठो भगवत्तत्त्वं प्रतिपद्यत इति सकलमानसावर्जक एष क्रमः **इत्यभिनवगुप्ताचार्याः** ।

—**अविगीता** ।

**ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।**
**मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ॥ १२ ॥**

**१ शां. भा.— केन केन धर्मेण विशिष्टे त्वयि सर्वमिदं प्रोतं? इत्युच्यते— रस इति। रसोऽहं अपां यः सारः स रसस्तस्मिन्रसभूते मय्यापः प्रोता इत्यर्थः। एवं सर्वत्र। यथाऽहमप्सु रस एवं प्रभाऽस्मि शशिसूर्ययोः। प्रणव ओङ्कारः सर्ववेदेषु, तस्मिन्प्रणवभूते मयि सर्वे वेदाः प्रोताः। तथा खे आकाशे शब्दः सारभूतस्तस्मिन्मयि खं प्रोतम्। तथा पौरुषं पुरुषस्य भावो यतः पुम्बुद्धिर्नृषु तस्मिन् मयि पुरुषाः प्रोताः ॥ ८ ॥**

२ आ. शां. व्या.— अबादीनां रसादिषु प्रोतत्वप्रतीतेस्त्वय्येव सर्वं प्रोतमित्ययुक्तमिति मत्वा पृच्छति— **केने**ति। तत्रोत्तरमुत्तरग्रन्थेन दर्शयति— **उच्यत** इति। सारो मधुरो हेतुरिति यावत्। रसोऽहमिति कथं? तत्राऽऽह— **तस्मिन्नि**ति। अप्सु यो रसः सारस्तस्मिन्मयि मधुररसे कारणभूते प्रोता आप इतिवदुत्तरत्र सर्वत्र व्याख्यानं कर्तव्यमित्याह— **एवमि**ति। उक्तमर्थं दृष्टान्तं कृत्वा प्रभाऽस्मीत्यादि व्याचष्टे— **यथे**ति। चन्द्रादित्ययोर्या प्रभा तद्भूते मयि तौ प्रोताविन्यर्थः। तत्र वाक्यार्थं कथयति— **तस्मिन्नि**ति। प्रणवभूते तस्मिन्वेदानां प्रोतत्ववदाकाशे यः सारभूतः शब्दस्तद्रूपे परमेश्वरे प्रोतमाकाशमित्याह— **तथे**ति। पौरुषं नृष्विति भागं पूर्ववद्विभजते— **तथेत्या**दिना। पुरुषत्वमेव विशदयति— **यत** इति। पुंस्त्वसामान्यात्मके परस्मिन्नीश्वरे प्रोतास्तद्विशेषास्तदुपादानत्वेन तत्स्वभावत्वादित्यर्थः ॥ ८ ॥

**१ शां. भा.— पुण्य इति। पुण्यः सुरभिर्गन्धः पृथिव्यां चाहं, तस्मिन्मयि गन्धभूते पृथिवी प्रोता। पुण्यत्वं गन्धस्य स्वभावत एव पृथिव्यां दर्शितं, अबादिषु रसादेः पुण्यत्वोपलक्षणार्थम्। अपुण्यत्वं तु गन्धादीनामविद्याधर्माद्यपेक्षं संसारिणां भूतविशेषसंसर्गनिमित्तं भवति। तेजो दीप्तिश्चास्मि विभावसावग्नौ। तथा जीवनं सर्वभूतेषु, येन जीवन्ति सर्वाणि भूतानि तज्जीवनम्। तपश्चास्मि तपस्विषु तस्मिंस्तपसि मयि तपस्विनः प्रोताः ॥ ९ ॥**

२ आ. शां. व्या.— 'मयि सर्वमिदं प्रोतं' [७।७] इत्यस्यैव परिमाणार्थं प्रकारान्तरमाह— **पुण्य** इति। पृथिव्यां पुण्यशब्दितो यः सुरभिर्गन्धः सोऽहमस्मीत्यत्र वाक्यार्थं कथयति— **तस्मिन्नि**ति। कथं पृथिव्यां गन्धस्य पुण्यत्वं? तत्राऽऽह— **पुण्यत्वमि**ति। यत्तु पृथिव्यां गन्धस्य स्वाभाविकं पुण्यत्वं दर्शितं, तदबादिषु रसादेरपि स्वाभाविकपुण्यत्वस्योपलक्षणार्थमित्याह— **पृथिव्यामि**ति। प्रथमोत्पन्नाः पञ्चापि गुणाः पुण्या एव सिद्धादिभिरेव भोग्यत्वादिति भावः। कथं तर्हि गन्धादीनामपुण्यत्वप्रतिभानं? तत्राऽऽह— **अपुण्यत्वं त्वि**ति। तदेव स्फुटयति— **संसारिणामि**ति। गन्धादयः स्वकार्यैर्भूतैः सह परिणममानाः प्राणिनां पापादिवशादपुण्याः सम्पद्यन्त इत्यर्थः। यच्चाग्नेस्तेजस्तद्भूते मयि प्रोतोऽग्निरित्याह— **तेज** इति। जीवनभूते च मयि सर्वाणि प्रोतानीत्याह— **तथे**ति। जीवनशब्दार्थमाह— **येने**ति। येन अन्नरसेनामृताख्येनेत्यर्थः। 'तपश्चास्मि' इत्यादेस्तात्पर्यार्थमाह— **तस्मिन्नि**ति। चित्तैकाग्र्यमनाशकादि वा तपस्तदात्मनीश्वरे प्रोतास्तपस्विनो विशेषणाभावे विशिष्टस्य वस्तुनोऽभावादित्यर्थः ॥ ९ ॥

**१ शां. भा.— बीजमिति। बीजं प्ररोहकारणं मां विद्धि सर्वभूतानां हे पार्थ! सनातनं चिरन्तनम्। किञ्च बुद्धिर्विवेकशक्तिरन्तःकरणस्य बुद्धिमतां विवेकशक्तिमतामस्मि। तेजः प्रागल्भ्यं तद्वतां तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥**

२ आ. शां. व्या.— ननु सर्वाणि भूतानि स्वकारणे प्रोतानि, कथं तेषां त्वयि प्रोतत्वं? तत्राऽऽह— **बीजमि**ति। बीजान्तरापेक्षयाऽनवस्थां वारयति— **सनातनमि**ति। चैतन्यस्याभिव्यञ्जकं तत्त्वनिश्चयसामर्थ्यं बुद्धिः, तद्वतां या बुद्धिस्तद्भूते मयि सर्वे बुद्धिमन्तः प्रोता भवन्तीत्याह— **किञ्चे**ति। प्रागल्भ्यवतां यत्प्रागल्भ्यं तद्भूते मयि तद्वन्तः प्रोता इत्याह— **तेज** इति। तद्धि प्रागल्भ्यं यत्पराभिभवसामर्थ्यं परैश्चाप्रधृष्यत्वम् ॥ १० ॥

**१ शां. भा.— बलमिति। बलं सामर्थ्यमोजो बलवतामहम्। तच्च बलं कामरागविवर्जितं— कामश्च रागश्च कामरागौ, कामस्तृष्णाऽसन्निकृष्टेषु विषयेषु, रागो रञ्जना प्राप्तेषु विषयेषु, ताभ्यां**

कामरागाभ्यां विवर्जितं देहादिधारणमात्रार्थं बलमहमस्मि; न तु यत्संसारिणां तृष्णारागकारणम्। किञ्च धर्माविरुद्धो धर्मेण शास्त्रार्थेनाविरुद्धो यः प्राणिषु भूतेषु कामः, यथा देहधारणमात्राद्यर्थोऽशनपानादिविषयः स कामोऽस्मि हे भरतर्षभ ! ॥ ११ ॥

२ आ. शां. व्या.— यच्च बलवतां बलं तद्भूते मयि तेषां प्रोतत्वमित्याह — **बलमिति** । कामक्रोधादिपूर्वकस्यापि बलस्यानुमतिं वारयति — **तच्चेति** । कामरागयोरेकार्थत्वमाशङ्क्यार्थभेदमावेदयति— **कामस्तृष्णेत्यादिना** । विशेषणसामर्थ्यसिद्धं व्यावर्त्यं दर्शयति— **न त्विति** । शास्त्रार्थाविरुद्धकामभूते मयि तथाविधकामवतां भूतानां प्रोतत्वं विवक्षित्वाऽऽह— **किञ्चेति** । धर्माविरुद्धं काममुदाहरति— **यथेति** ॥ ११ ॥

१ शां. भा.— किञ्च— ये चैव सात्त्विकाः सत्त्वनिर्वृत्ता भावाः पदार्थाः, राजसा रजोनिर्वृत्तास्तामसास्तमोनिर्वृत्ताश्च, ये केचित्प्राणिनां स्वकर्मवशाज्जायन्ते भावास्तान्मत्त एव जायमानानित्येवं विद्धि समस्तानेव । एवं यद्यपि ते मत्तो जायन्ते, तथापि न त्वहं तेषु तदधीनस्तद्वशः, यथा संसारिणः । ते पुनर्मयि मद्वशा मदधीनाः ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— चिदानन्दयोरभिव्यञ्जकानां भावानामीश्वरात्मत्वाभिधानादन्येषामतदात्वप्राप्तावुक्तं— **किञ्चेति** । प्राणिनां त्रैविध्ये हेतुं दर्शयन्वाक्यार्थमाह— **ये केचिदिति** । तर्हि पितुरिव पुत्राधीनत्वं त्वत्तो जायमानात्तदधीनत्वं तवापि स्यादिति विक्रियावत्त्वदूष्यत्वप्रसक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **यद्यपीति** । मम परमार्थत्वात्तेषां कल्पितत्वान्न तद्गुणदोषौ मयि स्यातामित्यर्थः । तेषामपि तद्वदेव स्वतन्त्रतासम्भवात्किमिति कल्पितत्वं? इत्याशङ्क्याह— **ते पुनरिति** । त्रिविधानां भावानां न स्वातन्त्र्यमीश्वरकार्यत्वेन तदधीनत्वात्, तथा च कल्पितस्याधिष्ठानसत्ताप्रतीतिभ्यामेव तद्वत्त्वात्तन्मात्रत्वसिद्धिरित्यर्थः॥१२॥

३ रा. भा.— अतः सर्वस्य परमपुरुषशरीरत्वेनात्मभूतपरमपुरुषप्रकारत्वात् सर्वप्रकारः परमपुरुष एवावस्थित इति सर्वैः शब्दैः तस्यैवाभिधानमिति तत्तत्सामानाधिकरण्येनाह— रसोऽहमिति चतुर्भिः एते सर्वे विलक्षणा भावा मत्त एवोत्पन्नाः, मच्छेषभूताः, मच्छरीरतया मय्येवावस्थिताः, अतस्तत्प्रकारोऽहमेवावस्थितः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं 'भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादिना भेदश्रुत्यर्थ उपबृंहितः, 'मयि सर्वम्' [ ७।७ ] इति तु घटकश्रुत्यर्थः; अथ तदुभयनिर्वाहिताभेदश्रुत्यर्थोपबृंहणं क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— **अत** इति । केचित् 'मयि सर्वमिदम्' इत्यस्य रसादिधर्मविशिष्टे मयि प्रोतमित्यर्थः, तद्विवरणं 'रसोऽहम्' इत्यादि इति व्याचख्युः, तत्परिहारायाह— **सर्वस्य परमपुरुषशरीरत्वेनेति** । परोक्ते त्वाधाराधेयभाववैपरीत्यादिदोष इति भावः । प्रकारवाचिशब्दानां प्रकारिणि पर्यवसानस्वाभाव्यं जातिगुणादिशब्देष्वपि सामान्यतः सिद्धमिति दर्शयितुं प्रकारत्वोपादानम् । **अभिधानं** मुख्यवृत्त्या बोधनम् । यद्यपि रसादिशब्दा लोके निष्कर्षकाः प्रयुज्यन्ते, व्यधिकरणतया चात्राबादिद्रव्योपादानम्; तथापि रसादीनां परमात्मशरीरभूतद्रव्यप्रकारत्वेन परमात्मनः प्रकारित्वाद्रसादिशब्दानां चात्र तत्समानाधिकरणतया प्रयोगात्तत्र निष्कर्षकत्वं नास्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । द्रव्योपादानं तु तत्रतत्र द्रव्ये प्रधानभूतरसगन्धादिप्रकारीभूतोऽहमिति ज्ञापनार्थम् । द्रव्यप्रकाराणां च तत्प्रकारत्वं 'काठिन्यवान् ( न्येन ) यो बिभर्ति' [ वि. पु. १।१४।२८ ] इत्यादिषु प्रयुक्तमिति भावः । रसस्य पृथिव्यां वृत्तौ सत्यामप्यपां रूपादिगुणान्तरसद्भावेऽपि 'रसोऽहमप्सु' इति विशिष्योपादानं तेजस्तत्त्वादब्रूपपरिणामस्य पूर्वतत्त्वानुत्पन्नरसप्रधानत्वात् । अन्यत्र च 'आत्तगन्धा तदा (ततो) भूमिः प्रलयत्वाय कल्पते' [ वि. पु. ६।४।१४ ]इत्यादिना च पृथिव्यादीनां गन्धरसाद्यधीनत्वमुक्तम् । एवमुत्तरत्रापि प्राधान्यतो विशेषनिर्देशे यथोचितं भाव्यम् । **प्रभा** स्वाश्रयातिरिक्तप्रसारितेजोद्रव्यविशेषः । प्रभयैव चन्द्रसूर्यौ जगदुपकारहेतुभूताविति तौ तत्प्रधानौ । सर्वेषां वेदानां बीजत्वादिना तेषु **प्रणवः** प्रधानभूतः । **पौरुषं** पुरुषस्य भावः, यतः पुरुषबुद्धिरित्येके; सन्तानपरम्पराहेतुभूतं रेत इत्यपरे, यद्वा पौरुषं सामर्थ्यं, कर्तृत्वशक्तिरित्यर्थः; तयैव हि कर्तुरात्मनः कारकान्तरेभ्यः प्राधान्यम् । नृषु जीवेष्वित्यर्थः । यद्वा पौरुषं पुंस्त्वम्;स्त्रीनपुंसकव्यावृत्तः सत्त्वादिस्वभावविशेषः । नृशब्दश्च पुरुषपर्यायः । पुण्यो गन्धः तुलस्यादिगन्धः; सुरभिगन्धमात्रं वा; तद्योगेन हि पृथिवी सत्त्वोन्मेषस्य सुखस्य वा हेतुर्भवति । विभावसुरत्राग्निः । तत्र च तेजो दाहकत्वशक्तिः । भूतशब्देनात्र शरीरिणो गृह्यन्ते । सर्वशब्देनात्र ब्रह्मशर्वादीनामपि सङ्ग्रहः । तेषु जीवनं प्राणनम्, प्राणस्थितिहेतुर्वा । येन सर्वाणि भूतानि जीवन्ति, भूतेषूपजीवनीयं वा रूपम् ।

सर्वभूतानां सनातनं बीजं प्रकृतितत्त्वम् । अथवा प्रधानधर्मनिर्देशप्रकरणत्वाद्बीजशब्दोऽत्रोपादानत्वाख्यस्वभावपरः । सर्वेषां परिणामिद्रव्याणां स्वकार्यपरिणामसामर्थ्यमित्यर्थः । अथवा बीजं प्ररोहकारणं जङ्गमस्थावरभूतानां तत्तदुपादानद्रव्यम् । बुद्धिः अध्य-

वसायः, ज्ञानमात्रं वा । तेजस्विनः प्रतापशीलाः, तेषां तेजः अनभिभवनीयत्वं, पराभिभवसामर्थ्यं वा । तेजोऽभिमान इति केचित्; प्रागल्भ्यमित्यपरे । बलं धारणादिशक्तिः। कामरागवशात् स्वकार्ये प्रवृत्तस्य बलस्य परपीडादिहेतुत्वाद्धर्मोपयुक्तशरीरादिधारणमात्रादिविषयत्वाय 'कामरागविवर्जितम्' इत्युक्तम् । काम इच्छायाः काष्ठा प्राप्तदशा । राग इच्छा । यद्वा कामशब्दः काम्यपरः, तद्विषयो रागः कामरागः; भूतेषु देवमनुष्यादिरूपेणावस्थितेषु जन्तुषु । धर्माविरुद्धः कामः स्वदारप्रीत्यादिः ।

अथ 'रसोऽहम्' इत्यादिसामानाधिकरण्यं सहेतुकमुपपादयति— **एत** इति । न चायं तदधीनसामर्थ्यप्रदर्शनार्थो 'राजा राष्ट्रम्' इत्यादिवदारोपः, मुख्यसम्भवे वृत्त्यन्तरायोगादिति भावः । **एत** इत्यनेनेश्वरव्यतिरिक्तैरशक्यक्रियत्वमभिप्रेतम् । **सर्वे** इत्यनेन ब्रह्मरुद्रादिभिरन्यैश्च क्रियमाणानामपि ब्रह्मादिशरीरपरमात्माधीनसृष्टत्वम् 'अहं कृत्स्नस्य' [७।६] इति पूर्वोक्तं स्मारितम् । वक्ष्यमाणराजसतामसेभ्यो वैलक्षण्यार्थमुक्तं **विलक्षणा** इति । 'मत्त एव पृथग्विधाः' [१०।५] इति च वक्ष्यते । एतेन 'न विलक्षणत्वादस्य' [ब्र. सू. २।१।४] इत्यधिकरणार्थोऽपि स्मारितः । **मत्त एवोत्पन्ना** इत्यादि तत्तद्वस्त्वनुरूपं यथासम्भवं सामानाधिकरण्यहेतुः । गुणजातिशरीरेष्वनुगतः सामानाधिकरण्यहेतुरपृथक्सिद्धिरिति प्रदर्शनायोक्तं **मय्येवावस्थिता** इति ॥ ८॥९॥१०॥११ ॥

**३ रा. भा.— किं विशिष्याभिधीयते ? सात्त्विका राजसास्तामसाश्च जगति देहत्वेनेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन तत्तद्धेतुत्वेन चावस्थिता ये भावाः, तान् सर्वान् मत्त एवोत्पन्नान् विद्धि; ते मच्छरीरतया मय्येवावस्थिता इति च । नत्वहं तेषु नाहं कदाचिदपि तदायत्तस्थितिः, अन्यत्रात्मायत्तस्थितित्वेऽपि शरीरस्य शरीरेणात्मनः स्थितावप्युपकारो विद्यते; मम तु तैर्न कश्चित्तथाविध उपकारः, केवललीलैव प्रयोजनमित्यर्थः ॥ १२ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'रसोऽहम्' [७।८] इत्यादेः प्रदर्शनार्थत्वं 'ये च' इत्यस्योपसंहारतां च दर्शयति— **किं विशिष्येति** । **तत्तद्धेतुत्वेनेति** समष्टिदशाया अपि सङ्ग्रहः । अयं च देहत्वादिविभागोऽनुभूयमानप्रकारानुवादियच्छब्दाभिप्रेतः । सात्त्विकतादिकं देहादिषु प्रत्येकमन्वितम् । अपि च 'प्रहर्षः प्रीतिरानन्दः सुखं संशान्तचित्तता' इत्यादयः सात्त्विका भावाः । 'अतुष्टिः परितापश्च क्रोधो मोहस्तथा क्षमा' इत्यादयो राजसाः । 'अविविक्तस्तथा मोहः प्रमादः स्वप्नतन्द्रिता' इत्यादयस्तामसाः । एते चान्यत्र प्रपञ्चिता इहाभिप्रेताः । 'मत्त एव' इत्यवधारणेन निमित्तोपादानैक्यं सात्त्विकत्वादिना वैचित्र्यशक्तितत्तदुचितानेकनिमित्तत्वादिप्रतिक्षेपश्च कृतः । कारणत्वेन सह सामानाधिकरण्यनिबन्धननियमनगर्भं शरीरत्वेन तादधीन्यमपि सप्तम्या विवक्षितमिति दर्शयितुं **मच्छरीरतया मय्येवावस्थिता** इत्युक्तम् । 'नत्वहं तेषु' इत्यत्र व्याप्तिप्रतिक्षेपभ्रमनिरासायाह **नाहमिति** । किमर्थमिदमप्रसक्तं प्रतिषिध्यत इत्याशङ्क्याह **अन्यत्रेति** । तुशब्दोऽत्र शङ्कानिवृत्त्यर्थः । सर्वोपकारनिषेधे तदुत्पादनादिवैयर्थ्यपरिहाराय **तथाविध** इत्युक्तम् । अभिप्रेतमुपकारान्तरमहंशब्दाभिप्रेतपरिपूर्णत्वमुखेन दर्शयति **केवलेति** ॥ १२॥

**५ आ. मा. भा.— इदं ज्ञानम् । रसोऽहमित्यादिविज्ञानम् । अबादयोऽपि तत एव । तथापि रसादिस्वभावानां साराणां च स्वभावत्वे सारत्वे च विशेषतोऽपि स एव नियामकः, न त्वबादिनियमानुबद्धो रसादिस्तत्सारत्वादिश्चेति दर्शयति अप्सु रस इत्यादिविशेषशब्दैः । भोगश्च विशेषतो रसादेरिति च उपासनार्थं च ।**

६ ज. प्र. दी.– 'भूमिः' [७।४] इत्यादिनेत्यत्रावधेरनुक्तेः 'रसोऽहं' इत्याद्यपि ज्ञानप्रकरणमिति प्रतीतिः स्यात्, तन्निरासाय तत्समाप्तिमाह— **इदमिति** । एतावता ग्रन्थेन ज्ञानं निरूपितमित्यर्थः । कुतोऽत्र ज्ञानप्रकरणस्य समाप्तिः ? इत्यत आह— **रसोऽहमिति** । इतिशब्दाद्यभावेऽपि प्रकरणान्तरारम्भ एव समाप्तिं गमयिष्यति । अलौकिकमाहात्म्यप्रतिपादनादस्य विज्ञानप्रकरणत्वं ज्ञायत इति भावः । 'प्रभवादेः' इत्युक्तन्यायेनैव 'रसोऽहं' इत्यादेरपि व्याख्यानं सिद्धम् । रसादीनां सत्तादिकारणत्वाद्भोक्तृत्वाच्च भगवान् रसादिरिति । नन्वबादयो धर्मिणो भगवदधीनास्तद्भोग्याश्चेत्यङ्गीक्रियते,न वा ? । नेति पक्षे 'अहं कृत्स्नस्य' [७।६] इत्युक्तविरोधः । आद्ये तु 'अप्सु रसः' इत्यादेर्धर्मिभ्यो निष्कृष्य धर्माणां ग्रहणस्यानुपपत्तिरित्यतः प्रथमं पक्षं तावदङ्गीकरोति— **अबादयोऽपीति** । धर्मिणोऽपि तदधीना एव तद्भोग्याश्चेव । ननु तत्रोक्तो दोष इत्यतः कारणत्वे तावद्विशेषशब्दोपादाने प्रयोजनमाह **तथापीति** । यद्यपि धर्मिणोऽपि भगवदधीना एव, तथापि धर्मिभ्यो निष्कृष्य धर्माणामुपादानं युज्यत इति शेषः । कथं ? इत्यत आह— **रसादीति** । रसादयश्च ते स्वभावा अबादीनामनागन्तुकधर्माश्चेति रसादिस्वभावास्तेषां साराणामबादिधर्मेषु सङ्ख्यादिषु श्रेष्ठानां च तेषामेवाबादिस्वभावभूतानां तद्धर्मेषु श्रेष्ठानां च रसादीनामिति यावत् । स्वभावत्वेऽबादीनामिति शेषः । सारत्वेऽबादिधर्मेष्विति शेषः । रसादित्वे चेति चार्थः । स भगवानेव । विशेषतोऽपीत्यस्य

व्यावर्त्यं—न त्विति । अनुवद्धोऽनुषङ्गसिद्धः । तत्सारत्वादिश्चेति । तस्य रसादेरबादिधर्मेषु सारत्वमबादिस्वभावत्वं रसत्वादिकं चेत्यर्थः । यथा लोके कुविन्दादिः पटादिद्रव्येष्वेव व्यापारवाननुभूयते, न तु तदीयेषु गन्धरसादिषु गुणेषु तद्धर्मेषु च गन्धत्वादिषु पृथग्व्यापारवान्, किन्तु ते पटादिजन्मानुषङ्गिजन्मान एव । न तथा भगवान् । अपित्वबादेर्धर्मेषु रसादिषु तद्धर्मेषु च स्वभावत्वादिषु पृथक् प्रयत्नवान्; नत्वबादिनियमानुषङ्गिसत्तादिकास्त इति दर्शयितुं विशेषशब्दा उपात्ता इत्यर्थः । भोगपक्षेऽपि प्रयोजनमाह—भोगश्चेति । अबादिभोगादप्यतिशयेन रसादेर्भोगः परमेश्वरस्येति दर्शयति, विशेषशब्दैरिति सम्बन्धः । 'रसोऽहं' इत्याद्यभेदोक्तेरर्थान्तरं सूचयन् तत्रापि विशेषशब्दोपादाने प्रयोजनमाह—उपासनार्थं चेति । विशेषतः रसादेरिति वर्तते । अर्थवशाद्रसादेरिति सप्तमीत्वेन विपरिणम्यते । रसादयः परमेश्वरोपासने प्रतिमात्वेनात्र विवक्षिताः । प्रतिमायां चाभेदोक्तिः प्रसिद्धा । प्रतिमात्वमबादीनां समानम् । "योऽप्सु तिष्ठन्" [ बृ. उ. ७।३।४] इत्यादेः । अतः किं विशेषशब्दग्रहणेनेति चेत् अबादिभ्यो विशेषतः रसादिषु भगवदुपासनार्थं तदुपपत्तिरिति ।

८ आ. मा. भा.—उक्तं च गीताकल्पे 'रसादीनां रसादित्वे स्वभावत्वे तथैव च । सारत्वे सर्वधर्मेषु विशेषेणापि कारणम् ॥ सारभोक्ता च सर्वत्र यतोऽतो जगदीश्वरः । रसादिमानिनां देहे स सर्वत्र व्यवस्थितः ॥ अबादयः पार्षदाश्च ध्येयः स ज्ञानिनां हरिः । रसादिसम्पत्त्या अन्येषां वासुदेवो जगत्पतिः' इति । 'स्वभावो जीव एव च' । 'सर्वस्वभावो नियतस्तेनैव किमुतापरम्' । 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' इति च । 'धर्माविरुद्धः' 'कामरागविवर्जितम्' इत्याद्युपासनार्थम् । उक्तं च गीताकल्पे 'धर्माविरुद्धकामेऽसावुपास्यः काममिच्छता । विहीने कामरागादेर्बले च बलमिच्छता ॥ ध्यातस्तत्र त्वनिच्छद्भिर्ज्ञानमेव ददाति च' इत्यादि, पुण्यो गन्ध इति भोगापेक्षया । तथा हि श्रुतिः—" पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान् पापं गच्छति" [ बृ. उ. १।५।२० ] " ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके " [ कठो. ३।१ ] इत्यादिका । ऋतं च पुण्यम् । ' ऋतं सत्यं तथा धर्मः सुकृतं चाभिधीयते ' इत्यभिधानात् । ' ऋतं तु मानसो धर्मः सत्यं स्यात्सम्प्रयोगगः ' इति च । नच "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " [ श्वे.उ. ४।६ मुं.३।१।१ ऋक् २।३।१७।५ ] 'अन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान् ' इत्यादिविरोधि, स्थूलानशनोक्तेः । आह च सूक्ष्माशनम् । प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छारीरादात्मनः ।

९ ज. प्र. दी.—उक्तेऽर्थत्रये प्रमाणमाह—उक्तं चेति । तथा चशब्दः अन्योन्यसमुच्चये । एवशब्दस्येश्वर इत्यनेन सम्बन्धः । सर्वत्राबादिषु । ईश्वरो रसादिकं जगदित्युच्यत इत्यर्थः । अबादयोऽबाद्यभिमानिनः । ज्ञानिनां ज्ञानार्थिनां सम्पत्त्यै प्राप्त्यै अन्येषां रसार्थिनाम् । अबादय इति रसादीति च पादयोः सप्तनवाक्षरत्वेऽपि " न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति " [ ऐ. ब्रा. १ । ६ ] इति वचनाददोषः । स्वभावस्य भगवदधीनत्वमलौकिकमित्यतस्तत्रान्यान्यपि वाक्यानि पठति—स्वभाव इति । अस्त्वेवं धर्मिभ्यो निष्कृष्य धर्माणामुपादानम्, धर्माणां विशेषणोपादानं तु किमर्थमित्यत आह—धर्मेति । आदिपदेन ' पुण्यो गन्धः ' इत्यस्य ग्रहणम् । कामादिषु विशिष्टेष्वेव भगवानुपास्यः, न धर्मविरुद्धेष्वशुचिष्विति ज्ञापनाय कामादीनां धर्माणां धर्माविरुद्धत्वादिविशेषणोपादानमित्यर्थः । अत्र प्रमाणमाह—उक्तं चेति । कामं पुरुषार्थम् । कामरागादेः कामरागादिना । अनिच्छद्भिः कामादिकम् । गन्धस्य विशेषणोपादाने प्रयोजनान्तरमाह—पुण्य इति । पुण्यगन्धस्यैव भगवतो भोगो न दुर्गन्धस्यैति ज्ञापयितुमत्र विशेषणोपादानमित्यर्थः । ननु दुर्गन्धं भगवाननुभवति, न वा ? नेति पक्षे सार्वज्ञ्याभावः, आद्ये कथं भोगाभावः ? उच्यते—अनुभूयमाना अपि दुर्गन्धादयो न फलहेतव इत्यभिप्रायः । सुगन्धस्तु सुखहेतुरित्युपपादितम् ।

शुचिवस्त्वेव भगवतो भोग्यमित्यत्र प्रमाणमाह—तथा हीति । अमुमुपासकम् । कुतः ? तस्य देवत्वात् । तथापि कुतः ? न ह वै देवमात्रस्य पुण्यभोगनियमे देवोत्तमस्य सुतरां तत्सिद्धिः; । 'ऋतं' [ कठो. ३।१ ] इति श्रुतिः कथं प्रकृतोपयोगिनी ? इत्यत आह—ऋतं चेति । कुतः? इत्यतः सामान्यविशेषाभिधानादित्याह—ऋतमिति । प्रयोगगः शब्दजन्यः । तथा च श्रुतावृतशब्दः पुण्यफलस्योपलक्षक इति भावः । स्यादिदं व्याख्यानं यदि भगवतो विषयभोगो युक्तः स्यात्, न चैवम्; तदङ्गीकारे श्रुत्यादिविरोधात् । " ऋतं पिबन्तौ " इति चात एव छत्रिन्यायेनोपचरितमित्यत आह—न चेति । कुतो नेत्यत आह—स्थूलेति । श्रुत्यादिषु स्थूलस्य जीवभोग्यस्य विषयस्याभोगोक्तेः, सूक्ष्मभोगस्य चाङ्गीकारादिति भावः । सूक्ष्माशने प्रमिते भवेदियं व्यवस्था । तदेव कुतः ? इत्यत आह—आह चेति । गन्धादिषु यो जीवेन्द्रियागोचरः सारभागस्तस्य भोगम् । परमेश्वरोऽस्माच्छारीरादात्मनो जीवादतिशयेन विलक्षणभोग एव भवति । अवतारेषु स्थूलमपि भुङ्क्ते इतीवशब्दः ।

५ आ. मा. भा.— न चात्र जीव उच्यते, शारीरादात्मन इति भेदाभिधानात् । स्वप्ना-दिश्च शारीर एव 'शारीरस्तु त्रिधा भिन्नो जाग्रदादिष्ववस्थितेः' इति वचनाद्गारुडे । अस्मा-दिति त्वीश्वरव्यावृत्त्यर्थम् । 'शारीरौ तावुभौ ज्ञेयौ जीवश्चेश्वरसंज्ञितः । अनादिबन्धनस्त्वेको नित्य-मुक्तस्तथाऽपरः' इति वचनान्नारदीये भेदश्रुतेश्च । सति गत्यन्तरे पुरुषभेद एव कल्प्यो नत्ववस्था-भेदः । आह च-'प्रविविक्तभुग्यतो ह्यस्माच्छारीरात्पुरुषोत्तमः । अतोऽभोक्ता च भोक्ता च स्थूला-भोगात्स एव तु' इति गीताकल्पे । न त्वहं तेष्विति तदनाधारत्वमुच्यते । उक्तं च-'तदाश्रितं जगत्सर्वं नासौ कुत्रचिदाश्रितः' इति गीताकल्पे ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

६ अ. प्र. दी.— ननु प्रविविक्ताहारतरोऽयं जीव एवे-त्यत आह— न चेति । न हि जीवो जीवादेव विलक्षणाहार इति युज्यत इत्यर्थः । ननु शारीराज्जागरावस्थाज्जीवात्स्वप्नसुषु-प्त्यवस्थः स एव प्रविविक्ताहार इत्यवस्थाभेदोपाधिकं जीवस्य भेदमङ्गीकृत्य व्याख्यास्यामीत्यत आह— स्वप्नादिश्चेति । 'स्वपो नन्' [ अष्टा. ३।३।९१ ] इति स्वप्नशब्दः कर्तरि । स्वप्नः सुषुप्तश्च शारीर एव, न केवलं जाग्रत् ; तथाच त्र्यवस्थस्यापि शारीरशब्देन गृहीतत्वात् न ततो भेदः स्वप्नसुषुप्तयोरित्यर्थः । अवस्थात्रयवतोऽपि शारीरत्वं कुतः ? इत्यत आह— शारीर स्त्विति । जाग्रदादिष्ववस्थासु । अस्तु त्र्यवस्थोऽपि शारीरः; तथाप्यस्मादिति विशेषणेनात्र शारीरादिति जाग्रदवस्थो गृह्यते । तस्माच्च स्वप्नाद्यवस्थस्य भेदोक्तिरुक्तविधया सम्भवति । भवत्पक्षेऽपि शारीरादिति जीवे सिद्धेऽस्मादिति विशेषणं व्यर्थं स्यादिति तत्राह— अस्मादिति । नैतद्विशेषणसार्थक्यायेश्वरं परित्यज्य जीवोऽत्र ग्राह्यः, शारीरादित्येवोक्तावीश्वरस्यापि प्राप्तावीश्वरादेवेश्वरस्य भेदानुपपत्तेः । तद्व्यावृत्त्यर्थं जीवमात्र-परिग्रहाय विशेषणमिति सार्थक्योपपत्तेरित्यर्थः । भवेदेवं, यदि शारीरत्वमीश्वरस्यापि स्यात्, तदेव कुतः ? इत्यत आह— शारीराविति । नन्वेवं पक्षद्वयेऽप्युपपत्तावीश्वर एवा-त्रोच्यते, न जीवः, इति कुतः? विनिगमनमित्यत आह- भेदेति । चो हेतौ । भेदश्रुतेः; स्वाभाविकभेदरूपे गत्यन्तरे सम्भवति पुरु-षभेद एवार्थतया ग्राह्यः, न त्ववस्थोपाधिको भेदः । 'मुख्यामु-ख्ययोर्मुख्ये सम्प्रत्ययात्' अतो युक्तं विनिगमनम् । न केवल-मुक्तव्यवस्था न्यायप्राप्ता, किन्त्वागमसिद्धा चेत्याह— आह चेति । अभोक्ता च भोक्ता चेत्येतयोर्व्युत्क्रमेणान्वयः । 'सर्व-भूतस्थमात्मानं' [ ६ । २९ ] इत्युक्तत्वात् । 'न त्वहं तेषु' [ ७।१२ ] इति कथमुच्यते ? इत्यत आह— न त्वहमिति । तदनाधारत्वं तदुपजीवनेन स्थित्यभावः । कुत एतत् ? इत्यत आह— उक्तं चेति । न केवलं मुक्तविरोधादिति चार्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.—रसो माधुर्यमहमप्सु कौन्तेय ! प्रभा प्रकाशोऽस्म्यहं भवामि शशिसूर्ययोः । प्रणव ओङ्कारः सर्ववेदेषु । शब्दः ख आकाशे । पौरुषं पुंस्त्वं पुम्बुद्धिर्नृषु पुरुषेषु ॥ ८ ॥ पुण्यो गन्धः सुरभिः पृथिव्यां च । तेजो दीप्तिश्चास्मि विभावसौ वह्नौ । जीवनं प्राणः सर्वभूतेषु । तपश्च स्वधर्मश्चास्मि तपस्विषु ॥ ९ ॥ बीजं प्ररोहणसमर्थं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ ! सनातनं चिरन्तनम् । बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि । तेजः प्रागल्भ्यं तेजस्विनामहम् ॥ १० ॥ कामरागविवर्जितम्- कामश्च रागश्च ताभ्यां विवर्जितम् । कामो दृश्यमानेषु तृष्णा, स्मर्यमाणेषु राग इति विशेषः । धर्माविरुद्धो भूतेषु प्राणिषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ! ॥ ११ ॥ य इति । ये चैव सात्त्विकाः सत्त्वगुणनिर्वृत्ता भावाः प्राणिनो राजसा रजोगुणनिर्वृत्तास्तामसास्तमोगुणनिर्वृत्ताश्च एते मत्त एवेश्वराज्जातास्तान्विद्धि । यद्यप्येवं न त्वहं तेषु तद्वशोऽहं न भवामि, ते मयि मद्वशा इत्यर्थः ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.—एवं भजनीयब्रह्मस्वरूपनिरूपणं प्रस्तुत्य 'भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादिभिश्चतुर्भिर्निर्विशेषाद्वैतलक्षणं ब्रह्म-स्वरूपमुक्तम्; तत्तु वेदान्तैकसमधिगम्यं, न मन्दबुद्धिभिर्गोच-रयितुं शक्यमिति तदीयभजनोपयोगिविभूतिलक्षणं ब्रह्मस्वरूपं दर्शयति पञ्चभिः—रस इति । रसो मधुरस्तन्मात्ररूपः सर्वा-सामपां सारः "महे रणाय चक्षसे । यो वः शिवतमो रसः" [ऋक्सं. ७।६।५।१+यजुस्सं.३६।१४] इत्यादिश्रुतिषु ब्रह्मसा-क्षात्कारसाधनत्वेन प्रतिपादितः, सोऽयमप्सु रसोऽहमस्मि । रसरूपां विभूतिं मद्रूपत्वेन ध्यायेदित्यर्थः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभाऽस्मि, चन्द्रसूर्यप्रभाविभूतिं मद्रूपत्वेन ध्यायेत् । एवमग्रे-ऽपि व्याख्येयम् । सर्वेषु वेदेष्वनुस्यूतः प्रणवोऽस्मि, 'तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक्' [छां.उ.२।२३।३]इति श्रुतेः । खे आकाशे शब्दस्तन्मात्ररूपो-ऽस्मि । नृषु पौरुषमुद्यमोऽस्मि । उद्यमो हि पुरुषेषु विभूतिः ॥ ८ ॥ पृथिव्यां पुण्यः सुरभिर्गन्धोऽस्मि । चकारो रसादी-नामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः । विभावसावग्नौ यत्तेजो दुस्सहा

दीप्तिस्तदस्मि । चकाराद्वायौ पुण्यः स्पर्शोऽप्यहमस्मि । सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु जीवनं प्राणधारणमायुरहमस्मि । तपस्विषु क्षुत्पिपासादिद्वन्द्वसहनसामर्थ्यरूपं यत्तपस्तदहमस्मि । तपश्चेति चकाराच्चित्तैकाग्र्यरूपमान्तरं जिह्वोपस्थादिनिग्रहलक्षणं बाह्यं च तपः समुच्चीयते ॥ ९ ॥

सनातनं चिरन्तनं यत्सर्वभूतानां बीजं कारणं तन्मां विद्धि, मद्रूपेण तद्भजस्व । बुद्धिमतां बुद्धिर्विवेकशक्तिरस्मि । तेजस्विनां तेजः प्रागल्भ्यं पराभिभवनसामर्थ्यं परैश्चानभिभाव्यत्वम्, तदहमस्मि ॥ १० ॥

कामरागविवर्जितम्—अप्राप्तवस्त्वभिलाषः कामः, रागस्तु प्राप्तेऽपि वस्तुनि पुनस्तदधिकप्राप्तितृष्णा ताभ्यां विरहितं बलवतां यद्बलमस्ति स्वधर्मानुष्ठानसामर्थ्यरूपं सात्त्विकं बलं तदहमस्मि । बलवतां चेति चकार एवकारार्थः । स च भिन्नक्रमः । कामरागविवर्जितमेव बलं मद्रूपत्वेन ध्येयम्, न तु तत्सहितमित्यर्थः । धर्माविरुद्धो यः कामः पत्नीपुत्रवित्तादिविषयः, सोऽहमस्मि ॥ ११ ॥

किमेवं विशेषगणनेन ? सर्वमपि जगन्मदधीनोत्पत्तिस्थितिनाशम्, अतो मदात्मकमेवेति सकलमपि मद्रूपतया ध्येयमित्याह— ये चैवेति । ये भावाः पदार्थाश्चेतनाचेतनात्मकाः सात्त्विकाः, ये च राजसाः, ये च तामसाः, तान् सर्वानपि मत्त एव जातानिति विद्धि । 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत्'[७।६,७] इति प्रागुक्तम्; अतः सर्वं मद्रूपत्वेन चिन्तयेत्यर्थः । ननु सात्त्विकभावेषु त्वद्रूपत्वचिन्तनं युक्तम् ; राजसतामसेषु तु कथं तद्युज्यते, तेषां निकृष्टत्वेन तद्रूपतया चिन्त्यमानस्य तवापि तत्प्रसङ्गात् ? अत आह— न त्वहं तेषु, ते मयि, तेष्वहं न वर्ते, तदधीनो न भवामि; ते तु मयि मदधीनाः सन्तो मयि वर्तन्ते । अतः सर्वोत्कृष्टस्य मम सर्वरूपत्वचिन्तनेऽपि न निष्कर्षः । सर्वरूपत्वचिन्तनं हि सर्वेस्मिन्मदृष्टिर्भृत्य इव राजदृष्टिः । न हि तया राज्ञो निष्कर्षो भवति, किन्तु भृत्यस्यैवोत्कर्षः । अत एव 'मनो ब्रह्म' [छां.उ.३।१८।१] इत्यादिप्रतीकोपासनविधिः 'ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात्' [ब्र. सू. ४।१।५] इति न्यायश्च । अन्यथा तद्विरोधः स्यादिति भावः ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— नन्वेकस्य भगवतः कारणत्वमुपादानत्वेन निमित्तत्वादिना वा ? तत्रापि तन्मुख्यं गौणं वा ? इति चेत्, उच्यते— तस्य मुख्यमेव सर्वकारणत्वं सर्वरूपत्वात्सर्वशक्तित्वात्सहकारिनिरपेक्षत्वाच्च कामधेन्वादिवत् । उक्तं हि श्रीभागवते [ ६।४।३० ] 'यस्मिन्यतो येन च यस्य यस्मै यद्यो यथा कुरुते कार्यते वा (च)। परावरेषां परमं प्राक्प्रसिद्धं तद्ब्रह्म (तद्ब्रह्म) तद्धेतुरनन्यदेकम्' इत्यादि । "एकोऽहं बहु स्याम्" "स आत्मानं स्वयमकुरुत" "सद्दैतावानास" 'सर्वनामा स च विश्वरूपः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिषु मुख्यमेवास्य कारणत्वं सर्वमुक्तम् । तथैव स्वविभूतिमहिमविज्ञानं स्पष्टयति सङ्क्षेपेण चतुर्भिः 'रसोऽहमप्सु' इत्यारभ्य 'कामोऽस्मि' [ ७।११ ] इत्यन्तम् । तत्र सप्तविधोऽहं सन् प्रकृतिकार्ये गुणरूपनामात्मना स्थितः चित्प्रकृतिकार्येऽपि तथैवेत्याशयेनाह रसोऽहमिति । अप्सु रसत्वेन स्थितोऽस्मि । प्रभेति रूपभेदः । प्रणवो नामात्मा कः शब्दो गुणः खे । नृषु मानुषेषु पौरुषं वीर्यम् । यतः सर्वगुणानां सम्मिश्रं रूपं सप्तमोऽप्येको भेदो मध्ये निरूपितः, मिश्रितत्वात् ॥ ८ ॥

पुण्य इति । सुरभिर्गन्धः पृथिव्यां, तेजश्चास्मि विभावसौ । स्पष्टमेव । सर्वभूतेषु जीवनं प्राणनं, तपः कायशोषनम् ॥ ९ ॥ सर्वभूतानां जीवानां सनातनं यद्बीजं कारणभूतं चैतन्यं तन्मां विद्धि सम्मिश्ररूपमेकं निरूपितम् । बुद्धिमतां तेषां मध्ये या बुद्धिश्चिदात्मिका साऽहमस्मि । तेजस्विनां च तेषां मध्ये तेजोऽस्मि, अहमात्मकमित्यर्थः ॥ १० ॥ बलमिति । क्रियाशक्तिरूपं; तदपि न प्रवृत्त्यात्मकमित्याह— कामरागविवर्जितमिति । तथैव कामोऽस्मि, स च लोके धर्माविरोधीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह—धर्माविरुद्ध इति । एते सप्तसप्त तत्तद्रूपभेदा निरूपिताः ॥ ११ ॥

मत्तः परतरं नान्यदिति प्रागुक्तं स्पष्टयति भगवानेकेन—ये चैवेति । प्राकृता अप्येते मत्त एव मत्सत्प्रकृतिगुणकार्यत्वात् मम च प्रकृत्यादिकारणत्वेन मुख्यकर्तृत्वं उपादानगोचरापरोक्षज्ञानचिकीर्षाकृतिमत्त्वात् । एवमपि तेष्वहं न वर्ते, जीववत्तदायत्तो न भवामीत्यर्थः । नशब्दोऽत्रापि सम्बध्यते । तेऽपि मयि न; किन्तु मदुपादेयप्रकृतावेव ते वर्तन्ते । अहं तु मूलरूपेण तत्कर्त्तैवेत्यर्थः । अथवा ते मयि इति परम्परया तेषां मदाश्रितत्वात् ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.—आधिदैविकरूपेण जगतः स्थितिं स्वस्मिन्नाह— रसोऽहमिति पञ्चभिः । हे कौन्तेय मद्भक्त एतज्ज्ञानयोग्य ! अहमप्सु जलेषु रसरूपः । जले शैत्याद्याह्लादकानन्दादिगुणो मद्रूपस्यरसांशसम्बन्धादाविर्भवतीत्यर्थः । तथा शशिसूर्ययोः प्रभा प्रकाशकतेजोरूपोऽस्मि; मद्रूपस्यसंयोगविप्रयोगानन्दरूपतेजस्सम्बन्धेनोभयोस्तद्रूपानन्दप्रकाशकत्वं भवतीति भावः । सर्ववेदेषु शब्दरसात्मके प्रणवे च ओङ्कारत्रिरूपाक्षररूपोऽस्मि, शक्तिद्वयसहितपुरुषरूपोऽस्मि, तत्सम्बन्धेनैव वेदशब्देषु रसरूपता, अत एव श्रुतीनां भावोत्पत्तिः । खे आकाशे शब्दरूपोऽस्मि । अत्रायं भावः— आकाशस्व-

रूपात्मकभगवद्वेणुसम्बन्धेन शब्देष्वानन्दरूपत्वं भवति । नृषु मनुष्येषु पौरुषांशत्वम् , पुरुषांशानामेव भजनयोग्यतेति तत्सम्बन्धेनैव सर्वमनुष्याणामुत्तमत्वमुच्यत इति भावः ॥ ८ ॥

च पुनः पृथिव्यां पुण्यो गन्धोऽस्मि, येन गन्धेन पुलिन्द्यादिषु भगवद्रसोत्पत्तिः स्यात्; स पुण्यरूपो गन्धस्तत्सम्बन्धेन पृथिव्या गन्धवत्त्वं, तद्वत्त्वेनात्रत्यामोदेनाऽऽह्लादकवृन्दावनाधारत्वादिकं चेति भावः । तथा विभावसौ अग्नौ यत्तेजस्तापकत्वं कान्तिस्तदहमस्मि । अत्रायं भावः— विप्रयोगतापरूपाग्नेर्मर्मांशसम्बन्धेनाग्नौ तापस्तेन सर्वपरिपाकं कृत्वा सर्वस्यान्नादेर्मद्भोग्यतासम्पादकत्वं भवतीति भावः । सर्वभूतेषु जीवनं प्राणधारणम्; अन्यथा भगवद्वियुक्तानां तेषां तदाधारतां विना कथं स्थितिः स्यात्? । तपस्विषु तापप्रयत्नवत्सु तपःक्लेशानन्दरूपोऽस्मि । अन्यथा तदभावे सुखादित्यागेन दुःखे को वा प्रवर्तते ? ॥ ९ ॥

किञ्च बीजमिति । हे पार्थ मत्कृपाश्रय ! सर्वभूतानां सनातनं नित्यं बीजं मां विद्धि । अत्रायं भावः— पुरुषोत्तमलीलास्थजीवास्तदात्मका एव, तदंशा एवात्र प्रकटीकृताः, अन्यथा लीलोपयोगिनो न भवेयुः; तेन तद्बीजजाता एतेऽपि सेवायोग्या इति सर्वेषां बीजं मां विद्धि, तज्ज्ञानं स्वरूपज्ञानप्रयोजकमिति भावः । तथैव बुद्धिमतां मत्स्वरूपज्ञानकुशलप्रयत्नवतां बुद्धिः कौशलमस्मि । तेजस्विनां दुराधर्षिणां तेजो दुराधर्षता अहमस्मि ॥ १० ॥

किञ्च बलवतां मद्वशीकरणलक्षणवतां बलं वशीकरणलक्षणमहम् । चकारेण तद्रूपोऽपि । कीदृशं बलं ? कामरागविवर्जितं वशीकृते मयि स्वाभिलाषत्वं स्वरञ्जनादिवर्जनम् , किन्तु मदभिलाषादिभावः । तथा हे भरतर्षभ सत्कुलोत्पन्न ! तथा कामभावयोग्य ! धर्माविरुद्धः धर्मेण अविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि । अत्रायं भावः— लौकिककामस्तु धर्मविरुद्धोऽस्ति, यतोऽयं रसः स्वाऽविवाहितायामेव भवति प्रकटः सर्वधर्मविरुद्ध एव । अलौकिकस्तु रसात्मको धर्मरूप इति भावः ॥ ११ ॥

किञ्च— ये चैवेति । ये च पुनः सात्त्विका एव भावा मत्सम्बन्धिदर्शनेन रोमाञ्चादयः, राजसात्मकविक्षेपादयः, च पुनस्तामसा विप्रयोगस्वरूपस्मरणे मूर्छाभ्रमादयस्ते सर्व एव । इति अमुना प्रकारेण तान् मत्त एव विद्धि जानीहि । तेषु तत्सामर्थ्येन अहं तत्प्रकारेण न प्रकटो भवामि, किन्तु ते मयि प्रकटीभवन्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः— एते गुणा रसार्थं मया प्रकटिताः स्वरसात्मकगुणसाफल्याय मत्सम्बन्धेन स्वयमुद्बुद्धरसाः सन्तः सेवां कुर्वन्तीति ते मयि सन्ति, नत्वहं जीववत्तेषूत्पन्नेषु रसयुक्तो भवामीति भावः॥१२॥

११ नी० भा० दी०— नन्वेवं प्रपञ्चपरमात्मनोर्मणिसूत्रवदुपादानोपादेयभावोऽपि न स्यात्, न ह्युपादानं चानुवृत्तं चेति घटते, मृद्घटादावदर्शनादित्याशङ्क्य स्वप्नमायेन्द्रजालरज्जूरगतुल्यत्वं प्रपञ्चस्योपपाद्योभयमप्यविरुद्धमित्युपदिष्टं चेदयमकस्मादुद्विग्नो भविष्यतीति मत्वा दृष्टान्तान्तरैरेवानुवृत्तिं व्यावृत्तिं चिज्जडयोर्दर्शयति— रस इति । " यथा रसोऽप्सु एकमल्पपरमाणुमपरित्यज्यानुस्यूतो दृश्यतेऽतो रसरूपे मयि आपः प्रोताः एवं प्रभायां चन्द्रादयः प्रोताः, प्रणवे सर्वे वेदाः प्रोताः " । " तद्यथा शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णान्येवमोङ्कारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा " [ छां. उ. २।२३।३ ] इति वाङ्मात्रे प्रणवानुस्यूतिश्रवणात् । सन्तृण्णानि संग्रथितानि । एवमाकाशे शब्दः सारभूतस्तस्मिन्मयि खं प्रोतम् । सर्वपुरुषेषु सारं पौरुषं शौर्यधैर्यादिरूपं तत्र पुरुषाः प्रोताः । एवमग्रेऽपि द्रष्टव्यम् ॥ ८ ॥

पुण्य इति । रसादिष्वपि द्रष्टव्यं अपुण्यस्य सर्वस्याविद्यामात्रविलसितत्वात् । विभावसौ वह्नौ तेजः दहनशक्तिः । जीवन्त्यनेनेति जीवनमन्नं विराजं तत्र हि सर्वाणि भूतानि प्रोतानि । अन्ये तु जीवनमायुरिति व्याचक्षते । तपश्चेति-तपो धर्मस्तद्रूपे मयि तपस्विनः प्रोताः ॥ ९ ॥ बीजं कारणम् सर्वभूतानां पिण्डब्रह्माण्डात्मकानां बीजे मयि पिण्डादिकं प्रोतं, कनके कुण्डलादिवत् । सनातनं नित्यं बीजान्तरादनुत्पन्नम् । बुद्धिरूपे मयि बुद्धिमन्तः प्रोताः । तेजः प्रागल्भ्यं तद्रूपे मयि प्रगल्भाः प्रोताः ॥ १० ॥ बलरूपे मयि बलवन्तः प्रोताः; कामरागविवर्जितं कामस्तृष्णा, रागो रञ्जना, तौ हि अविद्यकौ अतो निरविद्यस्य बलं तद्वर्जितं एवं धर्माविरुद्धकामरूपे मयि ईदृशाः कामवन्तः प्रोताः ॥ ११ ॥

सात्त्विका धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यादयः, राजसा लोभप्रवृत्त्यादयः, तामसा निद्रालस्यादयः तान्सर्वान्मत्त एव रसतन्मात्रादिरूपात्सूत्रात्मनो निर्गतानिति विद्धि । नन्वेवं तव सर्वजगदात्मनो विकारित्वापत्त्या कौटस्थ्यहानिरित्याशङ्क्याह— न त्वहं तेषु ते मयीति । येष्वबादयः प्रोतास्तेषु सूत्रावयवभूतेषु रसादिष्वनृतजडरूपेष्वबाधितात्मचिन्मात्ररूपो घटशरावोदञ्चनादाविव मृन्नास्ति । अनृतस्यास्य सत्तास्फुरणे एव स्वकीये प्रयच्छामि, न त्वनृतात्मा भवामीत्यर्थः । ते तु मय्येवाध्यस्ता मदनन्याः, यथा रज्ज्वामध्यस्ताः सर्पादयो रज्ज्वनन्याः ' तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ' [ ब्र. सू. २ । १ । १४ ] इति न्यायात् । अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः । न खल्वनन्यत्वमित्यभेदं ब्रूमः, किन्तु भेदं निषेधामः । कुतः ? आरम्भणशब्दात् । "वाचाऽऽरम्भणं

विकारो नामधेयं" [छां. ६।१।४] इति विकारस्य वागालम्बनत्वेन स्वप्नमायेन्द्रजालिकविषयसाम्यश्रुतेः। न ह्यात्मनो विचित्रप्रपञ्चात्मत्वे 'ते मयि' इत्यंशाविरोधेऽपि, 'न त्वहं तेषु' इत्यंशे विरोधपरिहारो युज्यते, कार्यस्य कारणात्मकत्वावश्यम्भावात् । तस्माद्विवर्त्तवादाश्रयेणैव ब्रह्मणो जगदुपादानत्वकूटस्थत्वे निर्व्वहत इति साधूक्तं 'न त्वहं तेषु ते मयि' इति ॥ १२ ॥

एवम्भूतविभूतिलक्षणलक्षितस्यापि भगवत्स्वरूपस्याज्ञानकारणं
मायाविनो भगवतो दुस्तरतरा माया, तत्तरणोपायश्च ।

**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।**
**मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ १३ ॥**
**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ १४ ॥**

**१ शां. भा.**— एवम्भूतमपि परमेश्वरं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वभूतात्मानं निर्गुणं संसारदोषबीजप्रदाहकारणं मां नाभिजानाति जगदित्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान्, तच्च किंनिमित्तं जगतोऽज्ञानं ? इत्युच्यते—त्रिभिर्गुणमयैर्गुणविकारै रागद्वेषमोहादिप्रकारैर्भावैः पदार्थैरेभिर्यथोक्तैः सर्वमिदं प्राणिजातं जगन्मोहितमविवेकतामापादितं सन्नाभिजानाति मामेभ्यो यथोक्तेभ्यो गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तं विलक्षणं चाव्ययं व्ययरहितं जन्मादिसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः ॥ १३ ॥ कथं पुनर्दैवीमेतां त्रिगुणात्मिकां वैष्णवीं मायामतिक्रामन्ति ? इत्युच्यते— दैवी देवस्य ममेश्वरस्य विष्णोः स्वभूता यस्मादेषा यथोक्ता गुणमयी मम माया दुरत्यया दुःखेनात्ययोऽतिक्रमणं यस्याः सा दुरत्यया । तत्रैवं सति सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेव मायाविनं स्वात्मभूतं सर्वात्मना ये प्रपद्यन्ते ते मायामेतां सर्वभूतमोहिनीं तरन्त्यतिक्रामन्ति, संसारबन्धनान्मुच्यन्त इत्यर्थः ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सतीश्वरस्य स्वातन्त्र्ये नित्यशुद्धत्वादौ च कुतो जगतस्तदात्मकस्य संसारित्वं ? इत्याशङ्क्य तदज्ञानादित्याह—**एवम्भूतमपी**ति । यद्यप्रपञ्चोऽविक्रियश्च त्वं, कस्मात्त्वामात्मभूतं स्वयम्प्रकाशं सर्वो जनस्तथा न जानातीति मत्वा शङ्कते— **तच्चे**ति । श्लोकेनोत्तरमाह— **उच्यत** इति । एभ्यः परमित्यप्रपञ्चत्वमुच्यते । **अव्यय**मिति सर्वविक्रियाराहित्यम् ॥ १३ ॥ यथोक्तानादिसिद्धमायापारवश्यपरिवर्जनायोगाज्जगतो न कदाचिदपि तत्त्वबोधसमुदयसम्भावनेत्याशङ्कते—**कथं पुन**रिति । भगवदेकशरणतया तत्त्वज्ञानद्वारेण मायातिक्रमः सम्भवतीति परिहरति—**उच्यत** इति । कथं दुरत्ययत्वेन तदत्ययः स्यात् ? इति तत्राऽऽह— **मामेवे**ति । प्रधानस्येव स्वातन्त्र्यं मायाया व्युदस्यति– **देवस्ये**ति । स्वातन्त्र्ये मायात्वानुपपत्तिं हिशब्दद्योतितां हेतूकरोति— **यस्मा**दिति । अनुभवसिद्धा सा नाकस्मादपलापमर्हतीत्याह—

---

१ देवः क्रीडाकरः तत्र भवा दैवी; क्रीडा ममेयमित्यर्थः। तेन सत्त्वादीनां वस्तुतः संविन्मात्रपरब्रह्मानतिरिक्ततायामपि यत्तदरिक्तभावगमनं, तदेव गुणत्वं भोक्तृ तत्र पारतन्त्र्यं भोग्यत्वं, तच्च भेदात्मकं रूपं संसारिभिरनिर्वाच्यतया तान्प्रति मायारूपम् । अतो ये परमार्थब्रह्मप्रकाशविदस्ते तदनतिरिक्तं विश्वं पश्यन्तो गुणानां सत्त्वादीनां गुणतालक्षणां भेदावभासस्वभावां मायामतितरन्तीति 'मामेव' इत्येवकारस्याशयः। **इत्यभिनवगुप्तपादाः** ॥ बन्धनसाधनीभूतरज्ज्वभिधायिना गुणपदेन मायाया बन्धकत्वं ध्वन्यते इति **वामनाशयः**। 'तच्छक्तिर्माया जडसामान्यात्' ( भ. मी. ८६ ) इति **शाण्डिल्यः** । मायाया दुरतिक्रमत्वे वराहपुराणीयं सोमशर्मोपाख्यानं ( अ. १२५ ) योगवासिष्ठोक्तो गाधिवृत्तान्तश्च ( उपश. प्र. ४४ – ९० ) अनुसन्धेयः॥ 'अदुरत्यया' इति वा छेदः। तथा च सर्वमिदं जगद्यदि त्वां नाभिजानाति, तर्ह्यहमपि कथं जानीयामिति माखित्सिष्ठाः। हि यतः एषा यथोक्तरूपा सर्वस्य जगतो मोहिन्यपि माया मम अदुरत्यया अन्यैर्दूरीकर्तुमशक्यत्वेऽपि मया लीलयैवापसारयितुं शक्या, अतो ये मामेव प्रपद्यन्ते त एतां मायां तरन्तीत्यर्थः। आह च ब्रह्मा— येषां स एव भगवान्दययेदनन्तः सर्वात्मनाश्रितपदो यदि निर्व्यलीकम्। ते दुस्तरामतितरन्ति च देवमायां नैषां ममाहमिति धीः श्वशृगालभक्ष्ये ॥' इति । ( भाग. २।७।४२ ) अत्र तरतेः प्रयोगेण सूचितं मायायाः सरित्सादृश्यं **ज्ञानदेवेन** सम्यक्प्रपञ्चितं तत्रैव द्रष्टव्यं सहृदयैः । **–अविगीता ।**

एषेति । जगतस्तत्त्वप्रतिपत्तिप्रतिबन्धभूता गुणाः सत्त्वादयः । ममेति प्रागुक्तमेव मायायाः सम्बन्धमनूद्य विधित्सितं दुरत्ययत्वं विभजते दुःखेनेति । मामेवेत्यादि व्याचष्टे— तत्रेति। तस्मिन्मायारूपे यथोक्तरीत्या दुरत्यये सतीति यावत्। 'मामेव' इत्येवकारेण मायाया वेद्यकोटिनिवेशाभावो विवक्ष्यते । सर्वात्मना कर्मानुष्ठानादिव्यग्रतामन्तरेणेत्यर्थः । मायातिक्रमे मोहातिक्रमो भवतितीति मत्वा विशिनष्टि— सर्वेति । मायातत्प्रयुक्तमोहयोरतिक्रमेऽपि कथं पुरुषार्थसिद्धिः ? इत्याशङ्कयाऽऽह— संसारेति ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.— तदेवं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगन्मदीयं कालेकाले मत्त एवोत्पद्यते, मयि च प्रलीयते, मय्येवावस्थितं, मच्छरीरभूतं, मदात्मकं चेत्यहमेव कार्यावस्थायां कारणावस्थायां च सर्वशरीरतया सर्वप्रकारोऽवस्थितः । अतः कारणत्वेन शेषित्वेन च ज्ञानाद्यसङ्ख्येयकल्याणगुणगणैश्चाहमेव सर्वैः प्रकारैः परतरः, मत्तोऽन्यत्केनापि कल्याणगुणगणेन परतरं न विद्यते । एवम्भूतं मामेभ्यः त्रिभ्यः सात्त्विकराजसतामसगुणमयेभ्यो भावेभ्यः परं मदसाधारणैः कल्याणगुणगणैः तत्तद्भोग्यताप्रकारैश्च परमुत्कृष्टतमं अव्ययं सदैकरूपमपि तैरेव त्रिभिर्गुणमयैर्निहीनतरैः क्षणध्वंसिभिः पूर्वकर्मानुगुणदेहेन्द्रियभोग्यत्वेनावस्थितैः पदार्थैर्मोहितं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनाऽवस्थितमिदं जगन्नाभिजानाति ॥ १३ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** एवं स्वयाथात्म्यमुपदिष्टम्; अथ 'त्रिभिः' इत्यादिना प्रकृत्यास्य तिरोधिमुपदिशति 'अत्र माम्' इत्यनेन । 'भूमिरापोऽनलः' [ ७।४ ] इत्यारभ्योक्तं यथावस्थितस्वरूपं गुणमयभावेभ्यः परत्वप्रदर्शनायानूदितमिति दर्शयितुमाह **तदेव**मिति । उत्पत्तिप्रलययोरविरोधं सर्वेषु कल्पेषु तस्यैव कारणत्वं चाभिप्रेत्योक्तं **काले काल** इति । 'त्रिभिर्गुणमयैरेभिः' इति पदत्रयेण दुःखमिश्रत्वनश्वरत्वसातिशयत्वादीनि विवक्षितानि । रजस्तमोमिश्रत्वाद्दुःखमिश्रत्वम् । सुखदुःखमोहात्मका हि त्रयो गुणाः । कार्यत्वादनित्यत्वमिन्द्रियपरिच्छिन्नत्वात्क्षुद्रत्वमिति भावः । 'मामेभ्यः परमव्ययम्' इति तु त्रिभिर्निखिलदुःखप्रत्यनीकस्वरूपत्वनिरतिशयानन्दत्वनित्यत्वान्यभिप्रेतानीति दर्शयति **एवम्भूत**मिति । कारणत्वेन पितृत्वाद्भिस्तैर्षिणं, शेषित्वेन शेषभूतानामुज्जीवनमप्यात्मलाभं मन्वानं, सर्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वादिभिरनिष्टनिवर्तनेष्टप्रापणयोरन्यनिरपेक्षं चेति **एवम्भूत**शब्दाभिप्रायः । दुःखमिश्रत्वादिविशिष्टतया प्रस्तुता एव भावाः 'एभ्यः' इत्यवधित्वेन परामृश्यन्त इति प्रदर्शनाय **त्रिभ्य** इत्यादिकमुक्तम् । 'एभ्यः परम्' इत्यत्र "तमसः परस्तात्" [ य. सं. ३१।१८ ] इत्यादिष्विव देशादिविवक्षाव्युदासायोत्कृष्टत्वोक्तिः । **तत्तद्भोग्यताप्रकारैश्चे**ति समुद्रे गोष्पदमस्तीतिवत् । श्रूयते हि "यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितम्" [छां. उ. ८।१।३] इति । शब्दस्पर्शादिरूपेण प्राकृता भावा भोग्याः । परमात्मा तु ज्ञानशक्त्यादिगुणगणैः स्वरूपसमवेतैः शब्दादिविसजातीयानुकूल्यप्रकारैरप्राकृतैश्च शब्दादिभिः प्राकृतैश्च तैरेव स्वपर्यन्तताबोधादप्राकृतकल्पैः प्रत्येकं भोग्यतायामनवधिकातिशयपरत्वविशिष्ट इति भावः । एवं निर्दिष्टभोग्यतमस्वरूपस्याविकारित्वेन कालावच्छेदव्युदासपरोऽव्ययशब्द इत्यभिप्रायेणाह **सदैकरूप**मिति । **तैरेवे**ति, उक्तदोषत्रययुक्तैरेवेत्यर्थः । **त्रिभिरि**ति— गुणाः परस्परन्यूनाधिकाभावेन अवस्थिता अप्यविनाभूताः । ततश्च गुणत्रयमयानां भावानां दुःखमिश्रत्वमवर्जनीयमिति भावः । **निहीनतरै**रिति कर्मानुरूपगुणत्रयमयभोगास्तत्कर्मानुरूप्येण क्षुद्रा इति भावः । **क्षणध्वंसिभि**रिति कर्मावसाने क्षणान्तरं स्थातुं न प्रभवन्तीति भावः । ननु सत्त्वेन कथं मोहः? इत्थं— यथा विषसम्पृक्तेऽप्यन्ने मधुनिषेको मन्दस्य भोजनाभिलाषमुत्पादयति; तथा तत्तत्कर्मानुरूपानर्थपर्यवसितसुखलवहेतुत्वेन युक्तं सत्त्वस्यैव मोहहेतुत्वमिति । सर्वशब्दोऽत्र देवजात्यनुप्रविष्टब्रह्मरुद्रादेः सङ्ग्रहपरः । इदंशब्दोऽनुभूयमानभोक्तृवर्गवैचित्र्याभिप्रायः । जगच्छब्दश्चाचिद्विशिष्टचेतनवाचीत्यभिप्रायेण **देवे**त्यादिकमुक्तम् । 'ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा । विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः' [ वि. पु. ५।३०।१७ ] इत्यादिकमत्रानुन्धेयम् ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.— कथं स्वत एवानवधिकातिशयानन्दे नित्ये सदैकरूपे लौकिकवस्तुभोग्यताप्रकारैश्चोत्कृष्टतमे त्वयि स्थितेऽप्यत्यन्तनिहीनेषु गुणमयेष्वस्थिरेषु भावेषु सर्वस्य भोक्तृवर्गस्य भोग्यत्वबुद्धिरुपजायते ? इत्यत्राह— दैवीति । ममैषा गुणमयी सत्त्वरजस्तमोमयी माया यस्माद्दैवी देवेन क्रीडाप्रवृत्तेन मयैव निर्मिता, तस्मात्सर्वैर्दुरत्यया दुरतिक्रमा । अस्या मायाशब्दवाच्यत्वमासुरराक्षसास्त्रादीनामिव विचित्रकार्यकरत्वेन ।**

४ वे. ता. चं.— उक्तायामर्थस्थितौ मोह एवायं न घटत इति शङ्कायां 'दैवी' इत्यादिकमवतारयति— **कथ**मिति । **सर्वस्येति** सत्त्वोत्तरतया तत्त्वज्ञानप्रच्युतिरहिताया देवजातेरिति भावः। उत्कृष्टापकृष्टसन्निधावुत्कृष्टग्रहणशीलता **भोक्तृवर्ग**स्येत्यनेन सूचिता । हिशब्दोऽत्र दुरतिक्रमत्वहेत्वर्थः । देवेन निर्मिता दैवीति तद्धितार्थः। 'दिवु क्रीडा–' इत्यादिधातौ देवशब्दनिष्पत्तिः, एतेन 'देवात्मशक्तिम्' [श्वे. उ. १।३ ] इति श्रुतिसूचनम् । 'दैवी मम' इति शब्दाभ्यां मायाप्रवर्तकस्य देवस्य मायिनश्च कृष्णस्य भेदभ्रमव्युदासाय **ममैवे**त्युक्तम् । नहि स्वच्छन्देनाघटितघटनासमर्थेनेश्वरेण लीलार्थं प्रवर्तिता माया अनीश्वरैः सर्वभूतैरपि लङ्घितुं शक्यत इति **सर्वै**रित्यस्य भावः । अत्ययशब्दस्यात्र नाशार्थत्वव्युदासायाह— **दुरतिक्रमे**ति । दुःखेनातिक्रमणीया भगवत्प्रपत्तिरहितैर्लङ्घयितुमशक्यैव । मायाशब्दस्य पराभिमतमर्थं दूषयिष्यन् स्वाभिमतमर्थं तावदाह **अस्या** इति । सत्येष्वेवासुरराक्षसास्त्रादिषु मायाशब्दप्रयोगो न मिथ्यात्वनिबन्धन इति भावः ।

**३ रा. भा.—यथाच—'ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमुत्तमम् । आजगाम समाज्ञप्तं ज्वालामालि सुदर्शनम् । तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना । बालस्य रक्षता देहमेकैकश्येन ( एकैकांशेन ) सूदितम्' [वि. पु. १।१९।१९,२०] इत्यादौ । अतो मायाशब्दो न मिथ्यार्थवाची । ऐन्द्रजालिकादिष्वपि केनचिन्मन्त्रौषधादिना मिथ्यार्थविषयायाः पारमार्थिक्या एव बुद्धेरुत्पादकत्वेन मायावीति प्रयोगः । तथा मन्त्रौषधादिरेव च तत्र माया, सर्वप्रयोगेष्वनुगतस्यैकस्यैव शब्दार्थत्वात् । तत्र मिथ्यार्थेषु मायाशब्दप्रयोगो मायाकार्यबुद्धिविषयत्वेनौपचारिकः, मञ्चाः क्रोशन्तीतिवत् । एषा गुणमयी पारमार्थिकी भगवन्मायैव "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्"[श्वे.उ.४।१०] इत्यादिष्वभिधीयते । अस्याः कार्यं भगवत्स्वरूपतिरोधानं स्वस्वरूपभोग्यत्वबुद्धिश्च । अतो भगवन्मायया मोहितं सर्वं जगद्भगवन्तमनवधिकातिशयानन्दस्वरूपं नाभिजानाति । मायाविमोचनोपायमाह— मामेवेति । मामेव सत्यसङ्कल्पं परमकारुणिकमनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यं ये शरणं प्रपद्यन्ते, त एतां मदीयां गुणमयीं मायां तरन्ति, मायामुत्सृज्य मामेवोपासत इत्यर्थः ॥ १४ ॥**

४ वे. ता. चं.— **यथा चे**ति 'तेन मायासहस्रम्' इत्यत्र न मिथ्यार्थविषयत्वमुत्प्रेक्षितुमपि शक्यम्, मिथ्याभूतस्य शस्त्रनिषूदनीयत्वाभावादिति भावः । आदिशब्देन 'मायया सततं वेत्ति प्राणिनां च शुभाशुभम्' 'देवमायेव निर्मिता' इत्यादिप्रयोगसङ्ग्रहः । अपिच दण्डनीतौ सामाद्युपायचतुष्टयादन्ये मायोपेक्षेन्द्रजालरूपा अमुख्यास्त्रय उपाया उपदिष्टाः; तत्र माया अन्यथाभूतस्य वस्तुनोऽन्यथाकरणशक्तिः। इन्द्रजालं तु तथाप्रतिभासनशक्तिरिति विभागः । तस्मात्सत्यविषय एव मायाशब्द इत्यभिप्रायेणाह— **अत** इति । मायाशब्दप्रयोगस्य सत्यविषयत्वादित्यर्थः । ननु मिथ्याभूतार्थप्रदर्शकेषु तत्सम्बन्धान्मायाविशब्दः प्रयुज्यते, अतो मायाशब्दो मिथ्यार्थेऽपि प्रयुक्त इत्यत्राह **ऐन्द्रजालिके**ति । असत्यत्ववदसत्योत्पादकत्वमपि न मायाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति दर्शयितुं **पारमार्थिक्या एवे**त्युक्तम्। भ्रान्तिज्ञानमपि स्वरूपतः सत्यम्; आरोपितस्तु विषयो मिथ्येत्युच्यते । तथाप्यन्ततो मिथ्यार्थसम्बन्धो निमित्तमित्यत्राह **तथे**ति । मन्त्रौषधादेर्मिथ्यार्थस्य च सन्निधाने किं विशेषनियामकं ? इत्यत्राह **सर्वे**ति । न ह्येकशक्त्यैव निर्वाहे सम्भवत्यनेकशक्तिकल्पना युक्तेति भावः । मिथ्याभूतेष्वेवार्थेषु मायेयमिति प्रयोगो भवति, तत्र च विचित्रकार्यकरत्वाभावान्मिथ्यात्वमेव निमित्तमाश्रयणीयमित्यत्राह **तत्रे**ति । अयं भावः— यत्र सम्बन्धाद्गुणयोगाद्वा प्रयोगो दुर्निर्वहः, तत्र हि शक्त्यन्तरकल्पनागौरवं सह्यम्; सम्भवति चात्र परम्परया सम्बन्धः, मायाकार्यज्ञानविषयत्वात् । न मिथ्यात्वे प्रवृत्तिनिमित्ततया स्वीकृतेऽस्त्रादिषु तत्सम्बन्धगन्धः । मिथ्यार्थस्य च गुणाभावादेव तद्गुणयोगो दूरनिरस्तः । अपिच मिथ्याभूतेषु शुक्तिकारजतादिषु तत्प्रयोगाभावान्मिथ्यात्वविशेषे निष्कृष्यमाणे अस्मदुक्त एव विशेषेऽन्तर्भवतीति । 'त्वं हि लोकगतिर्देव ! न त्वां केचित्प्रजानते । ऋते मायां विशालाक्षीं तव पूर्वपरिग्रहाम्' 'योगनिद्रा महामाया' इत्यादिष्वपि भगवतो विचित्रकार्यविशेषोपयोगितया वा प्रकृतितत्त्वाभिमानिदेवतात्वादिरूपेण वा मायेत्युक्तम् । अतो युक्तं विचित्रकार्यकरत्वमेव मायाशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमिति । श्रुतावपि विचित्रसृष्ट्युपादाने प्रकृतौ सत्यायामेव मायाशब्दः प्रयुक्त इत्याह— **एषे**ति । महेश्वरशब्दस्यात्र रुद्रविषयत्वभ्रमव्युदासाय भगवच्छब्दः । श्वेताश्वतरोपनिषदपि पुरुषसूक्तप्रत्यभिज्ञानमहापुरुषशब्दसत्त्वप्रवर्तकत्वादिभिर्भगवद्विषयतयैव प्रतीयते । महेश्वरशिवादिशब्दास्तु तस्मिन्नवयवशक्त्या गुणयोगेन वा प्रवृत्ताः, रुद्रस्यान्यत्र कार्यत्वकर्मवश्यत्वसम्प्रतिपत्तेरिति भावः । "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्"[श्वे.उ.४।१०] इति न तत्र प्रकृत्यनुवादेन मायात्वं विधीयते; किन्तु मायाशब्दार्थानुवादेन प्रकृतित्वमिति वाक्यस्वारस्यावगतम् । पूर्वत्र "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" [ श्वे.उ. ४।९ ] इत्यभिहिते केयं मायेत्याकाङ्क्षायां प्रवृत्तत्वादिति भावः । अस्मिन्प्रकरणे मायाशब्दप्रयोगनिदानमत्रोपयुक्तं विचित्रकार्यं दर्शयति **अस्या** इति ।

तदेतदखिलमभिप्रेत्य भगवद्यामुनमुनिभिरुक्तं 'स्वयाथात्म्यं प्रकृत्याऽस्य तिरोधिः शरणागतिः' [गी. सं. ११] इति। चोद्यपरिहारतां दर्शयन्नुपसंहरति— **अत** इति। 'प्रकृत्यास्य तिरोधिः शरणागतिः' इति संग्रहश्लोके तन्निवृत्त्यर्थमित्यध्याहर्तव्यमिति दर्शयन्ननन्तरग्रन्थमवतारयति— **मायाविमोच-नेति**। यच्छासनादलङ्घनीयं निगलनं, तन्निवृत्तिरपि तेनैव कार्या, नत्वन्येनेति 'मामेव' इत्यवधारणाभिप्रायं व्यञ्जयति **सत्यसङ्कल्प**मिति। नहि बन्धविषय एव हि सङ्कल्पः सत्यः; अपितु मोक्षविषयोऽपीति स एव प्रपदनीय इति भावः। शक्तस्यापि निर्घृणस्य प्रपत्त्या न किञ्चित्प्रयोजनमित्यत उक्तं **परमकारुणिक**मिति। कारुणिकस्यापि लोकवत्परिग्राह्यापरिग्राह्यविभागे किमस्यासह्यापराधशालिनो जनस्य तत्प्रपत्त्या इत्यत्रोक्तम् **अनालोचि**तेत्यादि। वायसशाखामृगविभीषणद्रौपदीप्रभृतिषु चैतत्स्पष्टम्। 'यदि वा रावणः स्वयम्' [वा. रा. ६।१८।३४] इति च तदुक्तिः। 'एताम्' इत्यस्याभिप्रेतमाह— **मदीयां गुणमयी**मिति। अपीति शेषः। उपासनप्रकरणत्वाद्वक्ष्यमाणार्तादिचतुष्टयसाधारणत्वाच्चोपासनाङ्गभूता प्रपत्तिरत्रोच्यत इत्यभिप्रायेणाह **मायामुत्सृज्ये**ति ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— तर्हि कथमेवं न ज्ञायते? इत्यत आह— **त्रिभिरिति**। तादात्म्यार्थे मयट्। तच्चोक्तम् 'तादात्म्यार्थे विकारार्थे प्राचुर्यार्थे मयट् त्रिधा' इति। न हि गुणकार्यभूता माया। 'गुणमयी' [७।१४] इति च वक्ष्यति। सिद्धं च कार्यस्यापि तादात्म्यम्, 'तादात्म्यं कार्यधर्मादेः संयोगो भिन्नवस्तुनोः' इत्यादि व्यासयोगे। भावैः पदार्थैः। सर्वे भावा दृश्यमाना गुणमया एत एवेति दर्शयति— **एभिरिति**। ज्ञानिव्यावृत्त्यर्थं 'इदं' इति। गुणमयदेहादिकं दृष्ट्वेश्वरदेहेऽपि तादृश इति मायामोहित इत्यर्थः। जगाद च व्यासयोगे 'गौणान्ब्रह्मादिदेहादीन्दृष्ट्वा विष्णोरपीदृशः। देहादिरिति मन्वानो मोहितोऽज्ञो जनो भृशम्' इति। एभ्यो गुणमयेभ्यः, 'गुणेभ्यश्च परं' [१४।१९] इति वक्ष्यमाणत्वात्। "केवलो निर्गुणश्च" [श्वे. उ. ६।११] इत्यादिश्रुतिभ्यश्च त्रैगुण्यवर्जितमिति चोक्तम् ॥ १३ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ननु विज्ञाननिरूपणं प्रारभ्य 'त्रिभिः' इत्यादिकं किमर्थमुच्यते? इत्यत आह— **तर्ही**ति। 'ये चैव' [७।१२] इति। विज्ञाननिरूपणोपसंहारवाक्ये सत्त्वादिगुणनिर्वृत्तानां भगवान्कारणमाश्रयश्च तदनाश्रयश्चेत्युक्तम्। [पृ.२७१] तेनैव गुणातीत इति चोक्तप्रायम्। तस्यायमाक्षेपः। एवं गुणातीततया, सगुणश्च ज्ञायस इति शेषः। एवमनुपलम्भविपरीतोपलम्भाभ्यामुक्तमसदिति भावः। विकारार्थतानिरासार्थमाह— **तादात्म्ये**ति। मयटस्तादात्म्यार्थत्वं कुतः? इत्यत आह— **तच्चे**ति। तादात्म्ये प्रयोगं दर्शयितुमुपोद्घातमाह— **न ही**ति। कार्यभूतेत्युपलक्षणम्। गुणप्राचुर्यादिकमपि तस्यां न सम्भवति। ततः किं? इत्यत आह— **गुणे**ति। 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया' [७।१४] इति मायाया गुणमयीत्वमुच्यते। न च तत्र विकाराद्यर्थता सम्भवति, ततः परिशेषतः तादात्म्यार्थता ग्राह्येत्यर्थः। अस्तु मयटस्तादात्म्ये शक्तिः। अत्र विकारार्थतां परित्यज्य तद्ग्रहणे को हेतुः? इति चेत्, उच्यते— विकारार्थताग्रहणे 'मामेभ्यः परं' इत्यत्र गुणकार्येभ्य एव भगवतः परत्वमुक्तं स्यात्, न तु गुणेभ्यः। अतस्तत्सङ्ग्रहाय तादात्म्यार्थताग्रहणम्। एवं तर्हि गुणेभ्य एव परत्वमुक्तं स्यात्, न तु गुणकार्येभ्योऽपीति समानमित्यत आह— **सिद्धं चे**ति। सिद्धं प्रमितम्। ततश्च 'गुणात्मकैः' इत्युक्ते गुणानां तत्कार्याणां चोपादाने सति उभयपरत्वमुक्तं भवति— **कार्यधर्मादेरि**ति। कार्यद्रव्यस्योपादानेन गुणक्रियाजातिपूर्वाणां धर्माणां गुण्यादिभिरित्यर्थः। भावशब्दस्यानेकार्थत्वात्तस्य विवक्षितमर्थमाह— **भावैरि**ति। एवं सति सर्वपरत्वलाभादिति भावः। नन्वेवमप्येभिरिति पुरोवर्तिनामेव ग्रहणात् न सर्वपरत्वसिद्धिरित्यत आह— **सर्व** इति। प्रमितपरामर्शोऽयं न पुरोवर्तिमात्रस्येति भावः। जगन्मोहितमित्यलं किमिदमित्यनेनेत्यत आह— **ज्ञानी**ति। व्यवहारपतितमित्यर्थः। ननु भगवद्विषयस्य सगुणत्वमोहस्य कथं गुणात्मकाः पदार्थाः कारणं? इत्यत आह— **गुणमये**ति। देहत्वादिहेतुनेति शेषः। मायेति गुणमयानां ग्रहणम्। मोहितो जनः। अत्र प्रमाणमाह— **जगाद चे**ति। आदिपदेनेन्द्रियादिग्रहणम्। यदर्थं तादात्म्यार्थग्रहणं कृतं तदाह— **एभ्य** इति। ननु भगवतो गुणातीतत्वे प्रमिते तदर्थोऽयं श्रमः सफलः स्यात्। तदेव कुतः? इत्यत आह— **गुणेभ्यश्चे**ति ॥ १३ ॥

**५ आ. मा. भा.**— कथमनादिकाले मोहानत्ययो बहूनामित्यत आह— **दैवीति**। अयमाशयः— माया ह्येषा मोहिका, सा च सृष्ट्यादिक्रीडादिमद्देवसम्बन्धित्वादतिशक्तेर्दुरत्यया। तथा हि देवताशब्दार्थे पठन्ति 'दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमदमोदस्वप्नकान्तिगतिषु' [धा. पा. दि. १] इति। कथं? दैवी, मदीयत्वात्। अहं हि देव इति। अब्रवीच्च 'श्रीभूदुर्गेति या भिन्ना महामाया तु वैष्णवी। तच्छक्त्यनन्तांशहीनाऽथापि तस्याश्रयात्प्रभोः॥ अनन्तब्रह्मरुद्रादेर्नास्याः शक्तिकलाऽपि हि। तेषां दुरत्ययाऽप्येषा विना विष्णुप्रसादतः' इति च व्यासयोगे। तर्हि न कथञ्चिदत्येतुं

शक्यते ? इत्यत आह— मामेवेति । अन्यत्सर्वं परित्यज्य मामेव ये प्रपद्यन्ते, गुर्वादिवन्दनं च मय्येव समर्पयन्ति, स एव च तत्र स्थित्वा गुर्वादिर्भवतीत्यादि पश्यन्ति । आह च नारदीये— 'मत्सम्पत्त्या तु गुर्वादीन् भजन्ते मध्यमा नराः । मदुपाश्रितया तांश्च सर्वभूतानि चोत्तमाः' इति । 'आचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनङ्क्ति' इति च ॥ १४ ॥

६ ज. प्र. दी.— उपायाभावानुमानाभासाभ्यामनुपलम्भो विपरीतोपलम्भश्चेत्युक्तम्, अतः किमुत्तरेण वाक्येनेत्यत आह— कथमिति । भगवान्गुणमयविग्रह इत्ययं न मोहः, बाधकप्रत्ययाभावात् । ज्ञानिनां सम्यक्प्रत्ययो बाधक इत्युक्तमिति चेत्, न; बहुतरज्ञानविरोधेन कतिपयज्ञानानामेव यथार्थत्वापत्तेः । ननूत्तरकाले बाधकप्रत्ययो भविष्यति चेत्, न; अनादौ काले जातस्योत्तरत्राप्यसम्भवादिति भावः । ननु बाधकप्रत्ययाभावाद्यथार्थ एवायं प्रत्यय इति शङ्कायां किमेतदसङ्गतमुच्यते ? इत्यत आह— अयमिति । 'एषा' इत्यनुवादेन 'मोहिका' इति व्याख्यातं, मोहितमिति धात्वर्थमात्रं परामृश्य योग्यप्रत्ययसम्बन्धेन व्याख्यानात् । गुणमयी तदभिमानिनी दुर्गा, या हि तमोगुणेनैवंविधं मोहं जनयति । अनुमानं तु निमित्तमात्रम् । ततः किम् ? इत्यत आह— सा चेति । सा च दुरत्यया, तत्कृतमोहं कोऽपि नात्येतुं शक्नोति, न कस्यापि बाधकप्रत्ययो भवति । कुतो दुरत्यया ? इत्यतोऽतिशक्तेरिति हेतुरध्याहृत्योक्तः । कुतोऽतिशक्तित्वम् ? इत्यतो 'दैवी' इत्येतद्धेतुगर्भमिति व्याख्यातम्, देवसम्बन्धित्वादिति । सम्बन्धित्वं परमप्रियत्वम् । स च देवस्यातिशक्तित्वे तत्सम्बन्धिन्यास्तत्स्यात्, तदेव कुतः ? इत्यतो देवशब्दार्थो निरुक्तः । सृष्ट्यादीति । सृष्ट्यादिश्च सा क्रीडा च प्रथमादिपदेन स्थित्यादेः सङ्ग्रहः, द्वितीयेन विजिगीषादेः । क्रीडादिमत्त्वेनातिशक्तिर्न सिध्यतीति क्रीडा व्याख्याता । देवशब्दस्य क्रीडादिमत्त्वमर्थः । कुतः? इत्यत आह— तथा हीति । देवशब्दे या प्रकृतिस्तदर्थमित्यर्थः । प्रत्ययस्तु इगुपधलक्षणस्य कस्य बाधकः पचाद्यच् । 'दैवी' इत्यनेन निराकाङ्क्षत्वान्ममेति व्यर्थमित्यत आह— कथमिति । तस्यैव व्याख्यार्थमेतदिति भावः । त्वदीयत्वेऽपि कथं दैवीत्यतः शेषं पूरयति— अहं हीति । आशयवर्णनसमाप्ताविति शब्दः । अत्र प्रमाणमाह— अब्रवीच्चेति । उत्तरस्य प्रकृतोपयोगितया सङ्गतिमाह— तर्हीति । यदि न केवलमनुमानं, किन्तु भगवतोपोद्बलिता माया मोहहेतुस्तर्हीत्यर्थः । ततश्च ज्ञानिव्यावृत्त्यर्थं यदिदमित्युक्तं तदसदिति भावः । ननु मायात्ययोपायस्यासम्भवनाशङ्कायां तदुपाय एव वक्तव्यः, न तूपायान्तरप्रतिषेधः । अतोऽनुपपन्नमवधारणमित्यत आह— अन्यदिति । स्वप्रतिपत्ताविलम्भावसूचक एवैवशब्दो नोपायान्तरप्रतिषेधपर इत्यर्थः । एवं तर्हि गुर्वादिवन्दनाभावः प्राप्त इत्यतोऽभिप्रायमाह— गुर्वादीति । भागवता एत इत्यादिबुद्ध्या वन्दनादि कुर्वन्तीति यावत् । एतन्मध्यमभक्तानां चरित्रमुक्तम्, उत्तमानां त्वाह— स एवेति । भगवानेव तत्र गुर्वादिषु । द्वयं प्रमाणेनोपपादयति आह चेति । अहं च सा सम्पत्तिश्च मदुपाश्रितया मत्प्रतिमात्वेन । चैत्यं चित्स्थम् । स्वगतिं स्वज्ञानम् । व्यनङ्क्ति व्यञ्जयसि ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.— त्रिभिरिति । त्रिभिर्गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोमयैर्भावैः प्राणिभिरेभिः सर्वमिदं जगद्वर्तते । मम मायया मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यो गुणेभ्यः परं कारणत्वेन स्थितमव्ययम् ॥१३॥**

**दैवीति । देवस्य ममेश्वरस्य विष्णोः स्वभावभूता दैव्यप्राकृता । हि यस्मादेषा गुणमयी गुणात्मिका मम माया दुरत्यया दुस्तरा, तस्मान्मामेव ये प्रपद्यन्ते शरणं गच्छन्ति मायामेतां तरन्ति ते ॥१४॥**

८ वें. ब्र. गि.— कथमेवंविधमेव त्वामयं जनो न जानाति ? तत्राह— त्रिभिरिति । गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोगुणाधिकारैः, अत एव त्रिभिः त्रिविधैः एभिः पूर्वोक्तैर्भावैः पदार्थैः सर्वमिदं जगत् मोहितमविवेकं प्रापितम्; अत एव एभ्यो गुणमयेभ्यः परं एषां कल्पनाधिष्ठानम्, अत एवाव्ययं सर्वविकारशून्यं च मां नाभिजानाति । अहो दौर्भाग्यमविवेकिलोकस्येत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

यदि सर्वमपि जगत्त्रैगुण्यमोहितम्, तर्हि मोहरहितः कश्चिदपि नास्तीति जगदनिर्मोक्ष एव भविता; तत्राह— दैवीति । ये मामेव प्रपद्यन्ते त एतां मायां तरन्तीति प्रथममन्वयः । प्रपत्तिरत्र ज्ञानम्, गत्यर्थानां ज्ञानार्थकत्वात् ज्ञानस्यैव मायाख्याविद्यानिवर्तकत्वेन तत्तरणहेतुत्वाच्च । न चाविद्यातिरिक्तेयं मायेति युक्तम्; "माया चाविद्या च स्वयमेव भवति" [नृ. उ. ता. ९] "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" [श्वे. उ. ४।१०] 'अविद्या प्रकृतिर्माया तमोऽज्ञानमजानृतम् । प्रधानं च जडं विद्धि क्षयिष्णु त्रिगुणात्मकम् । अचेतनमसत्त्वैव तथा सर्वाशुभास्पदम्' इत्यादिश्रुतिस्मृतिवचनैर्मायाविद्ययोरभेदावगमात् ।

एतेन 'मायाशब्दोऽत्र विचित्रशक्तिपरः, न मिथ्याज्ञानपरः' इति माध्वरामानुजोक्तं निरस्तम्; विचित्रप्रासादादिनिर्मातरि विचित्रशक्तिमति मायाविशब्दप्रयोगाभावात्, "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः" [गौ.का.१।१७] इति श्रुतावपारमार्थिकवस्तुन्येव मायाशब्दस्य प्रयोगदर्शनाच्च; माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद ! '[१२।३९।४५] इति महाभारतेऽप्यर्थक्रियाकारिणि मिथ्यार्थ एव मायाशब्दप्रयोगाच्च; "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" [श्वे. उ.१।१०] इति ज्ञान-

निवर्त्यत्वेन श्रुत्युक्तमायाया मिथ्यात्वावश्यम्भावाच्च; ऐन्द्रजालिकेषु गजतुरगादिषु मिथ्याभूतेष्वेव लोके मायाशब्दव्यवहाराच्च । न च 'मञ्चाः क्रोशन्ति ' इतिवदयमौपचारिको व्यवहार इति युक्तम्; मुख्ये सम्भवति निर्निमित्तौपचारिकत्वकल्पनस्यान्याय्यत्वात् । 'ततो भगवता तस्य रक्षार्थं चक्रमुत्तमम्। आजगाम समाज्ञप्तं ज्वालामालि सुदर्शनम् । तेन मायासहस्रं तच्छम्बरस्याशुगामिना । बालस्य रक्षता देहमेकैकं तत्र सूदितम् ' [ वि.पु.१।१९।१९,२०] इत्यत्रापि मायापदं मिथ्यार्थवाचकमेवेत्यास्तां तावत् ।

'मामेव प्रपद्यन्ते' इत्येवकारेण द्वितीयज्ञेयनिषेधादद्वितीयात्मज्ञानं दर्शितम् । निरस्तसमस्तभेदं निरुपाधिकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तप्रत्यगभिन्नब्रह्मचैतन्यं ये प्रपद्यन्ते जानन्ति साक्षात्कुर्वन्ति, ते एतां 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरिदं जगन्मोहितम्' [ ७।१३ ] इति प्रागुक्तत्रिगुणात्मिकामखिलानर्थहेतुं मायामतितरन्त्यतिक्रामन्ति, नाशयन्तीति यावत्; 'सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ' [ ४।३६ ] ' बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ' [ २।५२ ] इति तरतेर्नाशार्थकत्वेन प्रयोगदर्शनात्, " सर्वं पाप्मानं तरति"[बृ.उ.४।४।२३]"तरति ब्रह्महत्याम्" "तरति शोकमात्मवित् " [ छां. उ. ७।१।३ ] इत्यादिश्रुतिप्रयोगाच्च; "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" [श्वे.उ.१।१०] इति विनाशस्यैव श्रवणाच्च । स्यादेतत्, किमाश्रयेयं माया ? किंविषया ? किंप्रमाणिका ? कीदृग्रूपा ? किमधीना ? इति पञ्चप्रश्नानां क्रमेणोत्तराण्याह पूर्वार्धेन दैवीति " एको देवः सर्वभूतेषु गूढः " [ श्वे. उ. ६।११ ]इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धे स्वयं द्योतनवति देवे स्वप्रकाशचैतन्ये तदाश्रयतया तद्विषयतया च कल्पितेत्यर्थः । अनेन स्वप्रकाशचिन्मात्रमेवाज्ञानस्याश्रयो विषयश्चेति प्रथमप्रश्नद्वयस्योत्तरम् । उक्तं च सङ्क्षेपशारीरके—
'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचितिरेव केवला । पूर्वसिद्धतमसस्तु पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः' ॥ इति ।

'देवस्येयम्' इति सम्बन्धसामान्यव्याख्याने 'मम माया' इत्यनेनैव तत्सिद्धेः 'दैवी' इति पदं व्यर्थं स्यात् । 'दैवी अलौकिकी, अत्यद्भुतेत्यर्थः'इति व्याख्याने तु 'अहमज्ञः' इत्यज्ञानस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वादलौकिकत्वानुपपत्तिः । अत्यद्भुतत्वस्य च दैवीशब्दार्थत्वमसिद्धम् । 'देवेन मया क्रीडार्थं निर्मिता दैवी' इति रामानुजव्याख्याने ' मम माया ' इत्येतद्व्यर्थम्, 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' [ १३।१९ ] इति भगवद्वचनविरोधश्चेति यथोक्त एव दैवीपदस्यार्थः ।

अथ अज्ञाने किं प्रमाणं इति तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—एषेति । 'अहमज्ञः' 'मामन्यं च न जानामि ' इति सर्वप्रत्यक्षसिद्धेत्यर्थः । हिशब्देन तत्प्रसिद्धिर्द्योत्यते । न च चिन्मात्राश्रयस्याज्ञानस्याहमर्थानाश्रयत्वात् 'अहमज्ञः' इति प्रत्यक्षं कथं प्रमाणं स्यादिति वाच्यम्; दग्धृत्वानाश्रयस्याप्ययसो वह्निप्रत्यासत्तेः 'अयो दहति ' इतिवत् अज्ञानानाश्रयस्याप्यहमर्थस्य चैतन्यतादात्म्याध्यासात् 'अहमस्मि' इति प्रत्यक्षप्रतीत्यविरोधादिति वज्रपञ्जरे प्रपञ्चः । कीदृग्रूपेति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह--गुणमयीति। सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयात्मिका,अत एव दुरत्यया त्रिगुणरज्जुरिवातिदृढत्वेनाभेद्यबन्धनत्वादत्येतुमशक्या; ज्ञानं विनाऽनुच्छेद्येति यावत् । 'किमधीना' इति पञ्चमप्रश्नस्योत्तरम्–मम मायेति । मम परमेश्वरस्य वशवर्तिनीत्यर्थः; 'यत्कारणं विश्वमिदं च माया आज्ञाकरी तस्य' इति भागवतोक्तेः । अतो मदधीनां मायां मत्प्रपन्ना एव तरन्ति । 'तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' [१०।११] इति हि वक्ष्यते ।

ननु सत्यमेवेदं ब्रह्मतत्त्वज्ञानादज्ञाननिवृत्तिरिति, तदेव तु दुर्लभम्, 'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम् ... श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित्' [ २।२९ ] इति स्वयैवात्मज्ञानस्य जगत्यसम्भवोक्तेः; अतो जगदनिर्मोक्षतादवस्थ्यमित्याशङ्कायामप्येतदेवोत्तरं भगवतः परमकारुणिकस्यावर्तनीयम्—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' इति। मामेवेति प्रदर्शनीयस्वरूपस्य शृङ्गग्राहिकया निर्देशः । मामग्रतोऽवस्थितं, अखिलजनविलोचनासेचनकं, अतिवेलसौन्दर्यं, अभिनवजलधरश्यामलं, आश्रितवात्सल्यजलधिं, अतिमानुषविचित्रचरित्रं, अखिललोकशरण्यं, अनवरतप्रसादसुमुखं, अरविन्दपलाशलोचनं, अखण्डभक्त्या ये प्रपद्यन्ते शरणमुपगच्छन्ति त एतां मायां तरन्ति, मायया नाभिभूयन्ते। मायैव तु तेभ्यो भयेनापसर्पति वारवनितेव क्रोधनतपोधनात् । तेषां चातिसुलभं तत्त्वज्ञानम्, 'तेषामेवानुकम्पार्थम्' [१०।११] इति वक्ष्यमाणत्वात्। अत एतादृशं मत्प्रपदनं मायातरणार्थिभिरखिलैरपि कर्तव्यमिति भगवतोऽभिप्रायः ॥ १४ ॥

१ ब० त० दी०—परमेतदसंस्पृष्टं मां वेदान्तवेद्यं न जगद्वेदेह गुणतन्त्रत्वादित्याह–त्रिभिरिति । भावैस्त्रिभिः पदार्थैः । त्रित्वं गुणमयत्वाभिप्रायेण । मोहितं जगदिदमावृतं एभ्यस्त्रिगुणात्मकेभ्यो भावेभ्यो मूलभूतगुणेभ्यो वा परमव्ययं विनाशरहितं मां न जानाति । प्रकृतेर्गुणा एव बन्धकाः । सत्त्वरजस्तमोमयैः भावैः सर्वं जगन्मोहितं, मम मायागुणा एव हि परिणता अपि स्वरूपावरणे विक्षेपे च हेत्वन्तरभूताः भगवज्ज्ञानसाधनप्रतिकूलाः प्रत्युत बन्धरूपाः जीवेऽविद्याकृताध्यासदार्ढ्यैककारणभूताश्च 'सर्वाध्यासनिवृत्तौ हि सर्वथा न भवेद्यथा । सा च विद्योदये सा च न शब्दात्सुविचारितात् ॥ मर्यादाभङ्ग एव स्यात्प्रमाणानां तथा सति । गजानुमानं नैव स्यात्साङ्कर्यं वा तथा भवेत् ॥ दशमस्त्वमसीत्यादौ देहादिविषयत्वतः । शब्दस्य साहचर्येण चक्षुषैव भवेन्मतिः ॥ स्मारकत्वमतो वाक्ये सङ्ख्याज्ञानं पुरा यतः । अध्यासस्यानिवृत्तत्वान्न विविक्तात्मदर्शनम् ॥ मनसा शक्यते कर्तुं नान्यथा सर्वदा

भवेत् । प्रत्यक्षेणापि विज्ञानं मायया ज्ञानकाशया ।। स्वप्नप्रबोधरीत्या हि किमु शाब्दं निवारयेत् । सर्वज्ञत्वं सर्वभावज्ञानं चापाततः फलम् ।। सर्वो न ब्रह्म सर्वं तु वामदेवस्तथा जगौ । अवयुज्यागर्भवासात्सूर्याद्यनुवदन्मुहुः ।। ज्ञानदुर्बलवाक्यत्वात्पाषण्डवचनं मतम् । सत्ये युगेऽतिमहतां भवत्येतन्न चान्यथा ।। स्वप्नो जागरणं चैव यथा ह्यन्योन्यवैरिणौ । विद्याविद्ये तथा स्यातां न तु सर्वात्मना लयः । इदमेव विनिश्चित्य श्रीकृष्णोऽर्जुनमाह वै' ।। मामेवेति । एवकारेण सर्वेषामनुपायत्वमाह, ज्ञानादीनां सर्वेषां भगवदधीनत्वात् । 'विश्वासं सर्वतस्त्यक्त्वा कृष्णमेव भजेद्बुधः' इति श्रीमदाचार्योक्तानुसारेण प्रपत्तिमार्गरीत्या ये भजन्ते मां पुरुषोत्तममेव ते मायां तरन्ति । इयं च दैवी माया प्रकृते, नासुरी; अन्यस्याज्ञानविशेषेण स्वकृतिसाध्येन च बाधितत्वनियमात्, अतएव दुरत्यया । यद्वा धात्वन्वर्था दैवी गुणमयी च । ममेति मदधीनभक्तहितकारिण्येषा भवतीति एतां मायां त एव जगति स्थिता मदीया निर्गुणात्मकास्तीर्णा इत्यर्थः ।। १३ ।। १४ ।।

१० पु. अ. त.—एवं लीलया रसार्थं प्रकटितान् गुणान् मयि दृष्ट्वा सर्वे मोहं प्राप्य मां न जानन्तीत्याह—त्रिभिरिति । एभिः परिदृश्यमानैर्मत्सम्बन्धेन स्नेहलीलारसतः प्रकटभूतैस्त्रिभिः सात्त्विकादिभिर्गुणमयैर्मद्गुणात्मकैर्भावैर्भावनात्मकैरिदं परिदृश्यमानमधिकरणात्मकमाध्यात्मिकं जगत् मामेभ्यः पूर्वोक्तभावेभ्यः परमुत्कृष्टं केवलं रसात्मकमत एवाव्ययं विप्रयोगादिभावेषु न्यूनतादिरहितं नाभिजानाति ।। १३ ।। नन्वेवं चेदस्माभिः कथं ज्ञातव्य इत्याकाङ्क्षायामाह—दैवीति । एषा मम गुणमयी मद्गुणात्मिका दैवी केषुचिद्भाग्यवत्सु रसदानेच्छया प्रकटीकृतक्रीडात्मिका माया अलौकिकसामर्थ्येनान्यथाभावोत्पादनसमर्था । अतएव दुरत्यया दुःखेनापि जेतुमशक्या । एतादृशीमपि ये मामेव केवलमनन्यभावेन पुरुषोत्तमं प्रपद्यन्ते प्रपन्ना भवन्ति ते एतां मायां मोहनात्मिकां तरन्ति । मां जानन्तीत्यर्थः । 'मामेव ये' इत्यत्रैवकारेण 'माम्' इत्येकवचनेन च भावात्मकतया केवलं पुरुषोत्तमत्वेन स्वभजनं दास्यभावेनोक्तं, न तु लीलादिसहितदर्शनेन स्वरमणेच्छादिकतया । एतेन त्वमपि तथा प्रपन्नो भवेत्युक्तम् ।। १४ ।।

११ नी० भा० दी०—कथं तर्हि स्थूलसूक्ष्मप्रपञ्चबाधेन जना आत्मानं नावगच्छन्ति ? इत्याशङ्क्याह—त्रिभिरिति । एभिः पूर्वोक्तैस्त्रिभिस्त्रिविधैर्भावैः प्रकाशप्रवृत्तिनियमाद्यैर्गुणमयैः सत्त्वरजस्तमोगुणविकारैरिदं चराचरं प्राणिजातं जगच्छब्दवाच्यं मोहितं सद्भ्यो गुणेभ्यः परं मां न जानाति । यथा रज्ज्वां सर्पभ्रमेण व्याकुलः सर्पात्परां रज्जुं न जानाति, तद्वत् । परत्वे हेतुः—अव्ययम् । एते भावाः परिणामित्वात् व्ययवन्तः, अहं तु तद्विपरीतः साक्षी इत्यव्ययः ।। १३ ।।

देवस्य जीवरूपेण लीलया क्रीडतो मम सम्बन्धिनीयं दैवी, हि प्रसिद्धा, पिण्डब्रह्माण्डरूपेण विततैषा मम चिन्मात्रस्य माया मामहं न जानामीति साक्षिप्रत्यक्षत्वेनापलापानर्होऽनृतस्य प्रपञ्चस्येन्द्रजालादेरिव प्रकाशिका, गुणमयी सत्त्वरजस्तमोगुणमयी दुरत्यया दुरतिक्रमा, ये मामेव सर्वभूतस्थं भगवन्तं वासुदेवं प्रपद्यन्ते विषयीकुर्वन्ति त एवैतां मायां तरन्ति । अधिष्ठानज्ञानेनैव समूलस्य भ्रमस्योच्छेदो भवति, न तु ज्ञानान्तरेण वा वृत्तिनिरोधेन वेत्यर्थः । अयमर्थः— जीवेश्वरविभागशून्ये शुद्धचिन्मात्रे कल्पितो मायादर्पणश्चित्प्रतिबिम्बरूपं जीवं वशीकृत्य बिम्बचैतन्यमनुरुध्य प्रचलति, अयस्कान्तमनुरुध्येव लोहशलाका, इदमेव ईश्वराधीनत्वं । मायायाः ईश्वरस्य च मायाद्वारा सर्वस्रष्टृत्वमपि । तथा च श्रुतिः "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" [श्वे. उ. ४।९] इति । तथा चैकैव माया जीवेश्वरयोरुपाधिर्दर्पण इव बिम्बप्रतिबिम्बयोः । बिम्बप्रतिबिम्बभावानाक्रान्तमुभयानुस्यूतं शुद्धचिन्मात्रमन्यत्तृतीयं मुक्तप्राप्यम् । जीवेश्वरौ चोपाधिपक्षपातदशायामल्पज्ञत्वसर्वज्ञत्ववशास्यत्वशासितृत्वादिभावं भजेते । तावेव तदभावे उपाधिप्रचारदर्शिनावुदासीनबोधरूपतया जीवसाक्षीश्वरसाक्षीति शब्दाभ्यां व्यवह्रियेते । एवं च जीव ईश्वराराधनावाप्तप्रत्यक्तत्त्वज्ञानेन मायायां नष्टायां तत्कार्यस्यापि नाशेन साक्ष्याभावात्साक्षित्वमपि परित्यज्य बिम्बप्रतिबिम्बानुस्यूतं शुद्धं तृतीयं चैतन्यं प्राप्नोतीति तदिदमुक्तं—दैवी मायेति । 'मम माया' इति चैकस्या एव जीवेश्वरसम्बन्धित्वं जीवस्येश्वरभजनेन मायातरणमिति च ।।१४।।

**न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः ।**
**माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः ।। १५ ।।**

भगवद्भक्तानां चतुर्विधत्वम् ।

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ! ।**
**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! ॥ १६ ॥**

**१ शां. भा.**— यदि त्वां प्रपन्ना मायामेतां तरन्ति, कस्मात्त्वामेव सर्वे न प्रपद्यन्ते ? इत्युच्यते— न मामिति । न मां परमेश्वरं दुष्कृतिनः पापकारिणो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमा नराणां मध्येऽधमा निकृष्टास्ते च माययाऽपहृतज्ञानाः सम्मुषितज्ञाना आसुरं भावं हिंसानृतादिलक्षणमाश्रिताः ॥ १५ ॥

ये पुनर्नरोत्तमाः पुण्यकर्माणः— चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा भजन्ते सेवन्ते मां जनाः सुकृतिनः पुण्यकर्माणो हेऽर्जुन ! । आर्त आर्तिपरिगृहीतस्तस्करव्याघ्ररोगादिनाऽभिभूत आपन्नः, जिज्ञासुर्भगवत्तत्त्वं ज्ञातुमिच्छति यः, अर्थार्थी धनकामः, ज्ञानी विष्णोस्तत्त्वविच्च हे भरतर्षभ ! ॥ १६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— भगवन्निष्ठाया मायातिक्रमहेतुत्वे तदेकनिष्ठत्वमेव सर्वेषामुचितमिति पृच्छति— **यदीति** । पापकारित्वेनाविवेकभूयस्तया हिंसानृतादिभूयस्त्वाद्भूयसां जन्तूनां न भगवन्निष्ठत्वसिद्धिरित्याह— **उच्यत** इति । मौढ्यं पापकारित्वे हेतुरत एव निष्कर्षः । सम्मुषितमिव तिरस्कृतं ज्ञानं स्वरूपचैतन्यमेषामिति ते तथा ॥ १५ ॥

तेषां तर्हि तन्निष्ठता सुकरेति तत्राऽऽह— **ये पुनरिति** । ते भजन्ते भगवन्तमिति शेषः । ये त्वां भजन्ते ते किं सर्वे मायां तरन्ति ? नैव, प्रार्थनावैचित्र्यादित्याह— **चतुर्विधा** इति । आपन्नस्तन्निवृत्तिमिच्छन्निति शेषः— **तत्त्वविदिति** । शब्दज्ञानवानात्मतत्त्वसाक्षात्कारमात्रार्थी मुमुक्षुरित्यर्थः ॥ १६ ॥

**३ रा. भा.**— किमिति भगवदुपासनापादिनीं भगवत्प्रपत्तिं सर्वे न कुर्वते ? इत्यत्राह— न मामिति । दुष्कृतिनः पापकर्माणो मां न प्रपद्यन्ते । दुष्कृततारतम्येन ते चतुर्विधा भवन्ति—मूढाः, नराधमाः, माययाऽऽपहृतज्ञानाः, आसुरं भावमाश्रिताः—इति । मूढाः— विपरीतज्ञानाः पूर्वोक्तप्रकारेण मत्स्वरूपापरिज्ञानात् प्राकृतेष्वेव विषयेषु सक्ताः पूर्वोक्तप्रकारेण भगवच्छेषतैकरसमात्मानं भोग्यजातं च स्वशेषतया मन्यमानाः; नराधमाः सामान्येन ज्ञातेऽपि मत्स्वरूपे मदौन्मुख्यानर्हाः, माययाऽपहृतज्ञानाः—मद्विषयं मदैश्वर्यविषयं च ज्ञानं प्रस्तुतं येषां तदसम्भावनापादिनीभिः कूट-

---

१ आर्तस्य पापनिवृत्त्यर्थम्, जिज्ञासोश्चित्तशुद्ध्यर्थम्, अर्थार्थिनोऽर्थसिद्ध्यर्थम, ज्ञानिनो लोकसंग्रहार्थं च भगवद्भजनमावश्यकमिति **केचित्** । आर्तजिज्ञास्वर्थार्थिज्ञानिनः क्रमेणार्तरौद्रधन्यशुक्लाख्यचरमकालीनचिन्तावन्तो बोध्या **इत्यन्ये** । ताश्चोक्ताः **भविष्योत्तरपुराणे**—

राज्योपभोगशयनासनसाधनेषु स्त्रीगन्धमाल्यमणिवस्त्रविभूषणेषु ।
इच्छाभिलाषमतिमात्रमुदेति मोहाद्ध्यानं तदार्तमिति सम्प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥
संच्छेदनैर्दहनताडनपीडनैश्च गात्रप्रहारदमनैर्विनिकृन्तनैश्च ।
यस्येह राग उपयाति न चानुकम्पा ध्यानं तु रौद्रमिति तत्प्रवदन्ति सन्तः ॥
सूत्रार्थमार्गणमहाव्रतभावनानि निर्बन्धमोक्षगमनागतिहेतुचिन्ता ।
पञ्चेन्द्रियाद्युपशमश्च दया च भूते ध्यानं तु धन्यमिति तत्प्रवदन्ति सन्तः ॥
यस्येन्द्रियाणि विषयैर्न विचर्चितानि सङ्कल्पनाशनविकल्पविकासयोगैः ।
तत्त्वैकनिष्ठधृतियोगभृतान्तरात्मा ध्यानं तु शुक्लमिति तत्प्रवदन्ति सिद्धाः ॥ इति ।

एतत्फलविशेषोऽपि तत्रैव—

आर्ते तिर्यगधोगतिश्च नियता ध्याने च रौद्रे सदा धन्ये देवगतिः शुभं फलमथो शुक्ले च जन्मक्षयः ।
तस्माज्जन्मरुजापहे हिततरे संसारनिर्वाहके ध्याने श्वेततरे रजःप्रमथने कुर्यात्प्रयत्नं बुधः ॥ इति ।

अत्र च तुल्यवदभिधानेनार्तादिभक्तेषु न कश्चिदपि गौणमुख्यभाव इति प्राप्ते भक्तिमीमांसायां भगवाञ्छाण्डिल्योऽमीमांसत—'गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात्साहचर्यम्' ( २।२।१६ ) इति । आर्तादयस्त्रयो गौणा ज्ञान्येव परमभक्तः । तेन सहार्तादीनामभिधानं तु स्तुत्यर्थमेव, यथा राजसमभिव्याहारेणामात्यानामित्यर्थः । उक्तं चान्यत्र—

'चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि मे श्रुतम् । तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठा ये चैवानन्यदेवताः ॥ ३४ ॥—

**युक्तिभिरपहृतं, ते तथोक्ताः; आसुरं भावमाश्रिताः— मद्विषयं मदैश्वर्यविषयं च ज्ञानं सुदृढमुपपन्नं येषां द्वेषायैव भवति, त आसुरं भावमाश्रिताः । उत्तरोत्तराः पापिष्ठतमाः ॥ १५ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'ये प्रपद्यन्ते' [ ७।१४ ] इतिविशेषनिर्देशप्रतिक्षेपाभिप्रायेणाशङ्कते-**किमितीति** । सुकृतित्वदुष्कृतित्वभेदः साक्षाच्छङ्कोत्तरम्; तत्तारतम्यकथनं त्वत्यन्तहेयात्यन्तोपादेयाकारभेदज्ञापनार्थमित्यभिप्रायेणाह **दुष्कृतिन** इति। उत्तरश्लोकस्थचतुर्विधपदमत्रापि चतुर्विधपुरुषनिर्देशवशादाकृष्य दर्शितम् । मूढत्वादिविशेषणानामेकस्मिन्नेव समुच्चयः किं न स्यात् ? इति शङ्काव्युदासाय पदचतुष्टयव्याख्या मूढत्वापहृतज्ञानत्वयोर्मध्ये काचिदवस्था नराधमशब्देन विवक्षितेत्यभिप्रायेणाह—**सामान्येनेति**। उपनिषदर्थनिश्चयाभावेऽपि सर्वलोकप्रसिद्धेतिहासपुराणादिभिः सामान्यज्ञानम् । सुमेरुप्रभृतिष्विव सुलभत्वापरिज्ञानादौन्मुख्यानर्हत्वम् । उत्पन्नस्यैव हि ज्ञानस्यापहारः; स हि विचित्रमोहजनकतया मायाशब्दवाच्याभिः कुदृष्टिबाह्यप्रसूतकूटयुक्तिभिरेवेत्यभिप्रायेणाह **मद्विषयमिति** । 'आसुरं भावमाश्रिताः' इत्येतदनपहृतज्ञानविषयमित्याह **सुदृढमुपपन्नमिति** । निपुणतमप्रतिपादितप्रक्रियया प्रमाणतर्कैरबाध्यत्वेन निश्चितमित्यर्थः। असुरसम्बन्धी भाव आसुरो भावः; असुरा हि भगवन्तमतिशयितशक्तिं जानन्त एव द्वेषमाचरन्ति । वक्ष्यते चासुरप्रकृतीनां भावः षोडशे । 'द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च । विष्णुभक्तिपरो देवो विपरीतस्तथाऽऽसुरः' ॥ [ वि. ध. १०९।७४ ] इति न्यायाचायमासुरो भावो भगवति द्वेष एवेत्यभिप्रायेण **द्वेषायैव भवतीत्युक्तम्**। एषामुत्तरोत्तरेषां ज्ञानांशेनातिशयादुत्कृष्टतमत्वभ्रमः स्यादिति तन्निरासायाह—**उत्तरोत्तरा** इति । 'विदुषोऽतिक्रमे दण्डभूयस्त्वम्' [गौ. ध.२।१२।६] इति न्यायेन ज्ञानप्रकर्ष एवात्र पापिष्ठतमत्वे हेतुः; ज्ञानातिशयेऽपि वैमुख्यं च प्राचीनपापातिशयादेवेति भावः ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.— सुकृतिनः-पुण्यकर्माणो मां शरणमुपगम्य मामेव भजन्ते; ते च सुकृततारतम्येन चतुर्विधाः; सुकृतगरीयस्त्वेन प्रतिपत्तिवैशेष्यादुत्तरोत्तराधिकतमा भवन्ति । आर्तः-प्रतिष्ठाहीनः, भ्रष्टैश्वर्यः पुनस्तत्प्राप्तिकामः । अर्थार्थी अप्राप्तैश्वर्यतया ऐश्वर्यकामः । तयोर्मुखभेदमात्रम्; ऐश्वर्यविषयतयैक्यादेक एवाधिकारः; जिज्ञासुः-प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपावाप्तीच्छुः; ज्ञानमेवास्य स्वरूपमिति जिज्ञासुरित्युक्तम् । ज्ञानी च-'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्' [७।५] इत्यादिनाऽभिहितभगवच्छेषतैकरसात्मस्वरूपवित्; प्रकृतिवियुक्तकेवलात्मन्यपर्यवस्यन् भगवन्तं प्रेप्सुः भगवन्तमेव परमप्राप्यं मन्वानः ॥ १६ ॥**

---

—अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् । ये च शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ॥ ३५ ॥
सर्वे च्यवनधर्मास्ते प्रतिबुद्धस्तु श्रेष्ठभाक् । '( म. भा. १२. ३४१. ३४-३६ ) इति ।

वामनस्त्विमं श्लोकं—

मन्वते केऽपि भगवान्मुक्तिमेव प्रयच्छति । न तु कामानतः सेव्यः स कथं कामकामिभिः ॥
अन्ये वदन्ति सर्वत्र समे ब्रह्मणि किं वृथा । विष्णावभिनिवेशेन द्वैतपातकहेतुना ॥
परे त्वाहुः सति ज्ञाने किमर्थं भजनं विभोः । त्रिविधानप्यमूनत्र वैकुण्ठः कुण्ठयन्नगौ ॥

इत्यवतार्य व्याख्यानशेष उक्तमाक्षेपत्रयं भगवन्मुखेनैव समाधत्ते—

दाताऽस्मि सत्यमपवर्गपदस्य किन्तु कामानपि प्रवितराम्यभिलाषुकाय ।
शक्नोति दातुममृतं य इह प्रकामं किं काञ्जिकं स परिपाययितुं न शक्तः ? ॥
शक्तस्तु यः कुञ्जलमेव दातुं लभ्या सुधा जातु यथा न तस्मात् ।
तथाऽमरेभ्योऽवमकामदेभ्यो नैवापवर्गोऽपि कदाप्यवाप्यः ॥
मत्परैस्तु विनायासं प्राप्यते कामकाञ्जिकम् । मोक्षामृतप्रदात्रा च मया परिचयोऽधिकः ॥
अथ मोक्षसुधाऽप्येभिर्लभ्यते तत्स्पृहोद्भवे । मत्त एव, हिता भक्तिर्ममैवातोऽर्थिनामपि ॥
ब्रह्मैवाखिलमपि चेत्कुतो न मुक्त्यै सेव्यन्तेऽन्त्यजखरविट्चरादयोऽपि ।
उत्कृष्टो यदि तु भवत्युपाधिरिष्टः सेव्यस्तत्कथमिव नेश्वरोऽहमेव ॥
उपाधिभेदात्परमावमत्वमुपासकैः स्वीकृतमद्वयेऽपि ।
सर्वोत्तमं मां भजतां न तस्मात् द्वैतान्धतामिस्रनिपातभीतिः ॥
ज्ञानिनस्त्वात्मभूतं मां साक्षात्कृत्यापि निर्गुणम् । निर्निमित्तं भजन्त्येव सगुणं द्रुतचेतसः ॥
चतुर्विधा अपि जना भजन्त इति वादिना । एवं निरस्ता हरिणा त्रिविधाः पूर्वपक्षिणः ॥ इति।

— अविगीता ।

४ वे. ता. चं.— 'चतुर्विधा भजन्ते' इत्यत्र भजनपर्यवसिता प्रपत्तिर्विधित्सिता; पूर्वश्लोके तन्निषेधादत्र तद्विधानस्यैवोचितत्वादित्यभिप्रायेण **शरणमुपगम्येत्**युक्तम्। सुकृतित्वाविशेषे कथमधिकारिभेद इत्यत्रोक्तं **सुकृततारतम्येने**ति। तारतम्यं विवृणोति **सुकृतगरीयस्त्वेने**ति। विश्वासादेः साधारणत्वेऽपि प्रपत्तेर्वैशिष्ट्यं फलेच्छाभेदात्। आर्तशब्दोऽत्रार्तिमूलपूर्वस्थितिशैथिल्यपर इत्यभिप्रायेणाह **प्रतिष्ठाहीन** इति। आर्तस्य हि परभजनमार्तिनिवृत्त्यर्थमेवेत्यभिप्रायेणाह **भ्रष्टैश्वर्यः पुनस्तत्प्राप्तिकाम** इति। पाठक्रमादप्यर्थक्रमस्य प्रबलत्वाज्जिज्ञासोः प्रागेवार्थार्थिन उपादानम्। आर्तात्तस्य विशेषं दर्शयति **अप्राप्ते**ति। अर्थशब्दोऽत्रार्थनीयभोगविशेषपरः। फलद्वारा ह्यधिकारिभेदोऽभिधीयते; फलं चार्तस्यार्थार्थिनश्चैश्वर्यमेकमेव। यदा पुनस्तदवान्तरभेदेन भेदक्लृप्तिः तदा भेदान्तरमपि वक्तुं शक्यमित्यत्राह **तयो**रिति। प्रसिद्धेनावान्तरभेदेन विशेषव्यपदेशमात्रमिति भावः। जिज्ञासुशब्देन ज्ञानार्थिमात्रं किं न गृह्यते। भगवन्तमेव वा जिज्ञासुः भक्तिश्रद्धारहितः कुतूहलमात्रेण भगवन्तं जिज्ञासमानो वा, यथैकतमे द्वितितादयः[1] 'यूयं जिज्ञासवो भक्ताः' इति। 'आरोग्यं भास्करादिच्छेच्छ्रियमिच्छेद्धुताशनात्। ईश्वराज्ज्ञानमन्विच्छेन्मोक्षमिच्छेज्जनार्दनात्'॥ [म. पु. ७७।४९] इत्युक्ताधिकारिचतुष्टये चात्र प्रत्यभिज्ञायमाने जिज्ञासुरपि स एव भवितुमर्हति; तत्राह **प्रकृती**ति। भगवन्तं जिज्ञासोरन्ततो भगवानेव प्राप्यतयाऽभिमत इति न पुरुषार्थभेदः; तद्भेदाच्चात्राधिकारिभेदः प्रतिपाद्यते। 'आर्तः, अर्थार्थी' इति बाह्यपुरुषार्थाभिलाषिणो निर्दिष्टाः। भगवदर्थी च 'ज्ञानी' इति; जीवात्मस्वरूपं चाधिकानन्दस्वरूपं प्राप्यं चान्यत्र प्रसिद्धम्; अत्रापि परस्तादधिकारिभेदः समर्थयिष्यते; अतः परिशेषादात्मार्थिविषयोऽयं जिज्ञासुशब्द इति भावः। ज्ञानार्थिवाचके जिज्ञासुशब्दे कथमात्मार्थित्वं व्याक्रियते? इत्यत्राह— **ज्ञानमेवे**ति। ज्ञानमिह शुद्धात्मानुभवरूपं विवक्षितमिति भावः। ज्ञानिनोऽधिकार्यन्तरत्वानुगुणान् वक्ष्यमाणान् विशेषाननुसन्धाय विशिष्टज्ञानत्वं दर्शयति **इतस्त्वन्यामि**त्यादिना। **केवलात्मन्यपर्यवस्यन्ती**ति— नगरं प्रविविक्षोरध्वगस्य च्छायातरुमूलस्वापवदात्मानुभवविलम्ब इति भावः। अत्र जिज्ञासोर्वक्तव्यं सर्वमष्टमे प्रपञ्चयिष्यामः। विशिष्टज्ञानफलभूतं पुरुषार्थान्तरपरिग्रहमाह **भगवन्तं प्रेप्सु**रिति। तत्र हेतुमाह— **भगवन्त**मिति। **भगवन्तमेवे**त्यात्मानुभवविलम्बाक्षमत्वमभिप्रेतम्॥ १६॥

**५ आ. मा. भा.— तर्हि सर्वेऽपि किमिति नात्याययन्नित्यत आह— न मामिति। दुष्कृतित्वान्मूढाः, अत एव नराधमाः। अपहृतज्ञानत्वाच्च मूढाः, अत एवासुरं भावमाश्रिताः। स च वक्ष्यते 'प्रवृत्तिं निवृत्तिं च' [१६।७] इत्यादिना। अपहारोऽभिभवः। उक्तं चैतद्व्यासयोगे 'ज्ञानं स्वभावो जीवानां मायया ह्यभिभूयते' इति। असुषु रता असुराः, तच्चोक्तं नारदीये— 'ज्ञानप्रधाना देवास्तु असुरास्तु रता असौ' इति॥ १५॥ १६॥**

६ ज. प्र. दी.— उत्तरवाक्यं प्रकृतानुपयुक्तमित्यत आह— **तर्ही**ति। यदि त्वत्प्रतिपत्तिर्मायातरणोपायस्तर्हीत्यर्थः। त्वां प्रपद्येति शेषः। तथा च 'मामेव' [७।१४] इत्युक्तमसदिति भावः। दुष्कृतित्वादीनां प्रयोजनान्तराभावात् हेतुत्वेनान्वये स्थिते किं ते पञ्चापि साक्षाद्भगवत्प्रतिपत्तिहेतवः? किं वा हेतुहेतुमद्भावेन? इत्यपेक्षायामाह— **दुष्कृतित्वादि**ति। मूढाः मिथ्याज्ञानिनः, विपर्ययस्याधर्मकार्यत्वप्रसिद्धेः। अत एव मूढत्वादेव। देवानामुत्तममध्यममनुष्याणां च केवलमिथ्याज्ञानित्वाभावात्। अधिष्ठानयाथात्म्याज्ञानस्य विपर्ययहेतुत्वप्रसिद्धेरपहृतज्ञानत्वाच्च मूढाः। अत एव नराधमत्वादेव। जीवत्रैविध्यविवक्षायां नराधमानामसुरेष्वन्तर्भावस्य प्रसिद्धत्वात्, आसुरभावाश्रयणान्न मां प्रपद्यन्त इत्यर्थः। नन्वासुरो भावो हि हिंसानृतादिलक्षणोऽन्यैर्व्याख्यातः (शं.) तद्रहिताश्च क्षपणकादयो न भगवन्तं प्रपद्यन्ते, तत्कथमस्य हेतुत्वमित्यत आह— **स चे**ति। एतेषामन्यतमः सर्वेष्वप्यस्तीति भावः। ननु मुक्तौ योग्यानामयोग्यानां च भगवन्तमप्रतिपद्यमानानां एते धर्मा वक्तव्याः, तत्र मुक्तियोग्यानां सम्यग्ज्ञानस्वभावात्, तत्कथमपहृतज्ञानत्वं इत्यत आह— **अपहार** इति। आगमवाक्यमपि सज्जीवविषयं मुक्तियोग्यानामसुरभावाश्रयणप्रवृत्त्याद्यज्ञानेनोक्तम्। प्रकारान्तरेण घटयितुमाह— **असुष्वि**ति। इन्द्रियेषु तत्प्रीणन एव रताः। '**असौ**' इति जातावेकवचनम्। पदसन्धेर्विवक्षाधीनत्वादसन्धिर्न दोषः। त्रिभिरित्यत्र भगवतो गौणविग्रहत्वज्ञानस्य कारणमुक्तम्। अत्र तु स्वदोषादेव न मां प्रपद्यन्ते। न तु मत्प्रपत्तेर्मायातरणोपायत्वाभावादित्यतो महान्भेदः॥ १५॥ १६॥

**७ ह. प. भा.— न मामिति। न मां दुष्कृतिनः पापकर्माणो मूढाः प्रपद्यन्ते न शरणं गच्छन्ति। नराधमा मायया मदीययाऽपहृतज्ञाना अपहृतं तिरोहितं ज्ञानं येषां तेऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः॥ १५॥ चतुर्विधेति। चतुर्विधाश्चतुष्प्रकारा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन! आर्तो दुःखी, ज्ञातुमिच्छुर्जिज्ञासुः, अर्थार्थी, ज्ञानी आत्मवित्। भरतर्षभ!॥ १६॥**

८ वें. ब्र. गि.— यद्येवं तर्हि किमिति सर्वेऽपि त्वां न प्रपद्यन्ते? पापप्रतिबन्धादित्याह— **न मामि**ति। मां दुष्कृतिनो न प्रपद्यन्त इति प्रथमं सम्बन्धः। तत्र पापतारतम्यात् चतुर्विधा दुष्कृतिनः— मूढा नराधमा मायापहृतज्ञाना आसुराश्च। तत्र मूढः सर्वात्मना मत्स्वरूपज्ञानशून्यः। नराधमस्तु सत्यपि मत्स्वरूपज्ञाने मदौन्मुख्यशून्यः। मायापहृत-

---

१ यथैकतद्वितितादयः यथैकतद्वित्रादयश्चेत्यन्यत्र। तदेतच्चिन्त्यम्।

ज्ञानस्तु सत्यपि मत्स्वरूपज्ञाने कूटयुक्तिविरचितासम्भावनाग्रस्तचित्तः। आसुरस्तु सुदृढज्ञातमत्स्वरूपोऽपि द्वेषरूषितः। एते चोत्तरोत्तरं पापिष्ठाः॥१५॥ नन्वेवं निखिलमपि जगन्मूढादिभेदभिन्नमेवेति त्वद्भजनमेव दुर्लभम्; अतो जगदनिर्मोक्षस्तदवस्थ इति चेत्, न; दुष्कृतिलोकस्य तदसम्भवेऽपि सुकृतिनां तत्सम्भवादित्याह—**चतुर्विधा** इति। सुकृतिनो जना मां भजन्ते। ते चार्तादिभेदेन चतुर्विधाः। तत्राद्यः शत्रुव्याध्याद्युपद्रवग्रस्तः, यथा गजेन्द्रद्रौपद्यादिः। जिज्ञासुरात्मज्ञानार्थी, यथा मैथिलजनकश्रुतदेवादिः। अर्थार्थी त्विह परत्र वा भोगैश्वर्यकामः, यथेह सुदामा, परत्र तु ध्रुवः। ज्ञानी तु भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारी, यथा सनकादिः, तस्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यद्वैतप्रतिभासत्वेऽपि यावद्विदेहमुक्ति प्रारब्धानुवृत्तद्वैतव्यवहारत्वाद्भजनमविरुद्धम्। कृतकृत्यत्वेऽपि 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः' [१।७।१०] 'सङ्क्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः' इति भागवतोक्तरीत्या भजनोपपत्तिः। 'ज्ञानी च' इति चकारेण निष्कामप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्येवान्तर्भावः सूचितः। तेन 'चतुर्विधाः' इत्यस्याविरोधः। न च तथापि ज्ञानशून्यस्य केवलप्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यनन्तर्भावाच्चातुर्विध्यानुपपत्तिरिति वाच्यम्। तस्य ज्ञानकामत्वे जिज्ञासावेवान्तर्भावात्। 'न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः' [१०।१६।३७] इति भागवतोक्तरीत्या ज्ञानानपेक्षित्वे तु 'तेषामेवानुकम्पार्थम्' [१०।११] इति भगवदुपनीयमानज्ञानयोगत्वावश्यम्भावेन ज्ञानिन्येवान्तर्भावाच्च न चातुर्विध्यानुपपत्तिः। एवं च सकामनिष्कामभेदेन द्विविधे भक्तराशौ सकामानां सर्वेषामप्यार्तादिष्वेवान्तर्भावान्निष्कामभक्तद्वयस्याप्युक्तरीत्या ज्ञानिन्येवान्तर्भावात्साधु भगवतोक्तं 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इति ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— किमिति तर्हि सर्वे त्वामेव न प्रपद्यन्ते ? मायातारकत्वादित्याह— न मां दुष्कृतिन इति। सत्यं तेषां दुष्कृतिरेव प्रतिबन्धिका। आसुरं भावमाश्रिता इति कायमनोदोषा उक्ताः। मायावादमार्गेऽभिनिवेशाद्वा आसुरं भावं वक्ष्यमाणमाश्रिताः, अतएव माययाऽपहृतो विवेकस्तत्त्वनिश्चयो येषां ते तथा, 'तत्त्वतो विमुखो भवेत्' इति मोहवाक्यात्। अतएव च नराधमा मां न प्रपद्यन्ते, भगवन्मूर्त्तिद्वेषिणः प्रत्युत भवन्तीत्यग्रे वक्ष्यति भगवान्॥ १५॥ सुकृतिनस्तु भजन्त्येवेत्याह—चतुर्विधा इति। सुकृतिरेव तत्र प्रवर्तिकेति सुकृतिन इत्युक्तम्। ते च सेवकाः सुकृतिनस्त एव तारतम्येन चतुर्विधाः स्थूलरीत्येति। तदाह— आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी चेति। यदार्त्यादिनाऽपि भगवत्सम्बन्धित्वं ते सुकृतिनो ज्ञेयाः, यथा गजेन्द्रशौनकध्रुवशुकादयः; एतेन तेषामार्त्यादिना भजने पूर्वसुकृतिरेव हेतुरिति गम्यते। यत्र च भजनं दृश्यते सुकृतिश्च हेतुर्न भवति ते च गोप्यादयः पुष्टिमार्गीया भक्ताः। यद्यपि ते कामाद्युपाधिकाः स्नेहवन्तस्तथापि तत्रालौकिकभगवत्स्वरूपात्मकतद्वत्वान्न स्नेहस्य प्राकृतत्वं, न च जन्मान्तरीयसुकृतिसाध्यः स इति वाच्यम्, तथागमकवाक्याभावात्; प्रत्युत सर्वकृतिनिषेधवाक्यसत्त्वाच्च। तथाहि 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः। अव्रतातप्ततपसो मत्सङ्गात् (सत्सङ्गात्) मामुपागताः' [भाग. ११।१२।७] इत्यादि पूर्वजन्मन्यपि स्नेहार्थं साधनकरणाभावादित्याशयः। किञ्च स्वस्य साक्षात्कृतस्य सर्वफलभूतस्य प्रमेयबलेन स्वसङ्गस्य प्राशस्त्यमप्युक्तं; साधकतमत्वं च 'व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यः' [भाग. ११।१२।६] इत्यत्र इत्थं च स्वरूपानुग्रहेतरसाधनासाध्यस्वप्राप्तिरुक्ता 'केवलेनैव भावेन गोप्यो गावः खगा नगाः' [भाग. ११।१२।८] इत्यादिना दृढीकृता च। तद्विषयास्ते उभयदृष्टादृष्टसाधनरहिताः साधनफलात्मकभगवत्स्वरूपानुग्रहबलेनैवालौकिककामस्नेहवन्त इति तेषामेतेषु चतुर्विधेषु चकारेण समावेशः, परप्रतिपादितः (मधुसूदनसरस्वतीभिः प्रतिपादितः) न घटत इति वयं अवोचाम। इदं तु 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' [११।५४] इत्यादौ सिद्धमिति न प्रतन्यते ॥ १६ ॥

१० पु.अ.त.—नन्वेवं सति कथं न सर्वे प्रपन्ना भवन्ति ? इत्याह—**न मामिति**। मां दुष्कृतिनो दुष्टकर्मकर्त्तारः पापाः मूढाः पशुवद्विवेकरहिताः नराधमाः नरेषु अधमाः केवलं वैचित्र्यार्थं जगत्पूरणार्थं सृष्टाः मां न प्रपद्यन्ते। ननूपदेशादिना कथं न पापकर्मादित्यागेन प्रपद्यन्ते ? इत्यत आह—**माययेति**। मायया अपहृतं गुरूपदेशादिजनितं ज्ञानं येषाम्। मायेतिपदेन ज्ञाननाशनसामर्थ्यमुक्तम्। अत एव देवीपुराणे 'ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा। बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति, [मा.पु.७८।४२ सप्तश. १।५५] इत्युक्तम्। ननु भगवत्प्रपत्तीच्छूनां कथं न भगवान् रक्षतीत्यत आह—आसुरं भावमाश्रिताः मद्विरोध्यासुरसङ्गेन तद्भावं प्राप्ताः अतो मया न रक्ष्यन्त इति भावः। एतेन दुस्सङ्गराहित्येन प्रपत्तिः कार्येत्युपदिष्टम्। अतएव दुस्सङ्गनिषेधः श्रीभागवते 'न तथाऽस्य भवेन्मोहः'[३।३१।३५] 'सङ्गस्तेष्वपि ते प्रार्थ्यः' [३।२५।२४] इत्यादिभिरुक्तः ॥ १५ ॥ एवं दुष्टकर्मकर्त्तारो न भजन्तीत्युक्तं, तर्हि के भजन्ति ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**चतुर्विधा** इति। हे अर्जुन ! सावधानतया श्रोतव्यत्वेन सम्बोध्य ! सुकृतिनः पूर्वजन्मसञ्चितपुण्यराशयो जनाः मां भजन्ति। अन्यथा भजने प्रवृत्तिरेव न स्यात्। अतएव 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' इति श्रीभागवते

[ ? ] उक्तम्। ते च चतुर्विधाः। चतुर्विधत्वं प्रकटयति— आर्त इति। आर्तः संसारक्लेशादियुक्तः, तन्निवृत्त्यर्थं धर्मरूपेण मां भजति। जिज्ञासुः कामात्मकमत्स्वरूपज्ञानेच्छुः, कामरूपेण मां भजति। अर्थार्थी मत्सेवौपयिकसाधनसम्पत्त्यर्थरूपेण मां भजति। च पुनः। ज्ञानी शास्त्रार्थज्ञानवान् मोक्षरूपेण मां भजति। भरतर्षभ! इति सम्बोधनं सत्कुलोत्पन्नानामेव भजनप्रवृत्तिर्भवतीति ज्ञापनार्थम् ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०—कुतस्तर्हि सर्वे त्वां प्रपद्य मायां न तरन्तीत्याशङ्कयाह– न मामिति। यतो दुष्कृतिनोऽतश्चित्तशुद्ध्यभावान्मूढाः आत्मानात्मविवेकहीनाः, अत एव नराधमा मां न प्रपद्यन्ते। कुतो दुष्कृतिनः? यतो माययाऽपहृतं तिरस्कृतं ज्ञानमखण्डसंविद्रूपं ब्रह्म येषां ते अपहृतज्ञानाः। एतेन मायाया आवरणशक्तिरुक्ता। किञ्च आसुरं असुराणां विरोचनादीनां भावं चित्ताभिप्रायं "आत्मैवेह महय्यः" [ छां. उ. ८।८।४ ] इत्यादिना श्रुतं देहेन्द्रियसङ्घात एव सम्यक् सन्तर्पणीय इत्येवंविधमाश्रिताः। एतेन मायाया विक्षेपशक्तिरुक्ता। तदेवं मायया स्वरूपानन्दमावृत्य देहात्मभ्रमे जनिते सति तदभिमानाद्देहादिपुष्ट्यर्थं दुष्कृतं कुर्वन्ति, तेन च मूढाः सन्तो नराधमा मां न प्रपद्यन्ते। सर्वानर्थमूलं मायैवेत्यर्थः ॥ १५ ॥

ये तु सत्यपि देहाद्यध्यासे मत्तो बिभ्यति मत्प्रीत्यर्थं सुकृतमेवाचरन्ति तेऽपि चतुर्विधा न केवलं सर्वे मदेककामा इत्याशयेनाह— चतुर्विधा इति। आर्तः पीडितः पीडापरिहारार्थी, जिज्ञासुः स्वाज्ञाननाशार्थी, अर्थार्थी धनाद्यर्थी, ज्ञानी चेति चतुर्विधा मां भजन्ते ॥ १६ ॥

आर्तादिभक्तेभ्यो ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यम्।

**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥ १७ ॥**

**१ शां. भा.— तेषामिति। तेषां चतुर्णां मध्ये ज्ञानी तत्त्ववित्तत्त्ववित्त्वान्नित्ययुक्तो भवति, एकभक्तिश्च, अन्यस्य भजनीयस्यादर्शनात्, अतः स एकभक्तिर्विशिष्यते विशेषमाधिक्यमापद्यते, अतिरिच्यत इत्यर्थः। प्रियो हि यस्मादहमात्मा ज्ञानिनोऽतस्तस्याहमत्यर्थं प्रियः। प्रसिद्धं हि लोके 'आत्मा प्रियो भवति' इति। तस्माज्ज्ञानिन आत्मत्वाद्वासुदेवः प्रियो भवतीत्यर्थः। स च ज्ञानी मम वासुदेवस्याऽऽत्मैवेति ममात्यर्थं प्रियः ॥ १७ ॥**

**२ आ.शां. व्या.**—चतुर्विधानां तेषां सुकृतिनां भगवदभिमुखानां तुल्यत्वमाशङ्क्याऽऽह—**तेषामिति**। तस्य विशिष्यमाणत्वे हेतुमाह— **प्रियो हीति**। नित्ययुक्तत्वं भगवत्यात्मनि समाहितचेतस्त्वम्। असारे संसारे भगवानेव सारः, 'सोऽहमस्मि' [छां.उ.४।११।१] इत्येकस्मिन्नद्वितीये स्वस्मादत्यन्तमभिन्ने भगवति भक्तिः स्नेहविशेषोऽस्येत्येकभक्तिः। तस्याऽऽधिक्ये हेतुं विवृणोति— **प्रियो हीत्यादिना**। भगवतो ज्ञानिनश्च परस्परं प्रेमास्पदत्वे प्रसिद्धिं प्रमाणयति— **प्रसिद्धं हीति**। आत्मनो ज्ञानिनं प्रति प्रियत्वेऽपि भगवतो वासुदेवस्य कथं तं प्रति प्रियत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मादिति**। अहं ज्ञानिनो निरुपाधिकप्रेमास्पदं परमपुरुषार्थत्वेनाऽऽत्मत्वेन च गृहीतत्वादित्यर्थः। ज्ञानिनोऽपि भगवन्तं प्रति प्रियत्वं प्रकटयति— **स चेति** ॥ १७ ॥

**३ रा. भा.— तेषां ज्ञानी विशिष्यते; कुतः? नित्ययुक्त एकभक्तिरिति च; ज्ञानिनो हि मदेकप्राप्यस्य मया योगो नित्यः; इतरयोस्तु यावत्स्वाभिलषितप्राप्ति मया योगः। तथा ज्ञानिनो मय्येकस्मिन्नेव भक्तिः, इतरयोस्तु स्वाभिलषिते तत्साधनत्वेन मयि च अतः स एव विशिष्यते। किञ्च– प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्– अत्रार्थशब्दोऽभिधेयवचनः। ज्ञानिनोऽहं यथा प्रियः, तथा मया सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽप्यभिधातुं न शक्यत इत्यर्थः, प्रियत्वस्येयत्तारहितत्वात्। यथा ज्ञानि-**

१ अर्थमतिक्रम्य अत्यर्थम्, प्रयोजनं विनैव ज्ञानिनोऽहं प्रिय इत्यर्थः। उक्तंच– 'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ (भाग. १।७।१०) इति। सिद्धान्तितं च पराभक्तेर्निष्कामत्वं दैवीमीमांसादर्शने– 'अकाम्या सा निरोधरूपत्वात्'। (र. पा. २६) इति। —अविगीता।

**नामग्रेसरस्य प्रह्लादस्य 'स त्वासक्तमतिः कृष्णे दश्यमानो महोरगैः । न विवेदात्मनो गात्रं तत्स्मृत्याह्लादसंस्थितः' [ वि. पु. १।१७।३९ ] इति; तथैव सोऽपि मम प्रियः ॥ १७ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवं भक्तभेद उक्तः; तत्र प्रबुद्धस्य श्रैष्ठ्यं दर्शयति— **तेषामिति** । इममेवार्थं परस्तादपि वक्ष्यति— 'चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते श्रुताः। तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः॥ अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम् । ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः ॥ सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्'[म.भा.१२।३४१।३३-३५] इति । तेषामिति निर्धारणे षष्ठी । विशिष्यते श्रेष्ठतम इत्यर्थः । किं प्रशंसामात्रार्थमिदं? इति शङ्कते **कुत** इति । वैशिष्ट्यहेतुपरं विशेषणद्वयमित्याह **नित्ययुक्तः एकभक्तिरिति** चेति । **ज्ञानिनो** हीत्यादि– प्रापकस्य तस्यैव प्राप्यत्वात्फलदशायामपि । योगोऽनुवृत्त इत्यर्थः । आर्तस्यार्थार्थिनश्चैकाधिकारित्वनिर्णयादितरयोरिति द्विवचनम् । एतेनात्मार्थिनः फलदशायां परमात्मनो भोग्यतयाऽनुसन्धानं नास्तीति सिद्धम् । एकस्मिन् भक्तिर्यस्य स एकभक्तिरिति व्यधिकरणबहुव्रीहिः । एकशब्दाभिप्रेतमुपास्यफलयोरभेदं दर्शयितुं **एकस्मिन्नेवे**त्यवधारणम् । 'प्रियो हि' इत्यादिना हेत्वन्तरमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **किञ्चे**ति । अतिशयितकाष्ठां वक्तुमाह— **अर्थशब्दोऽभिधेयवचन** इति । **अत्यर्थ**मत्यभिधेयम्; अभिधेयातिक्रमणं चात्राभिधेयान्तराद्वैलक्षण्यम्; तच्चाभिधातुमशक्यतेत्यभिप्रायेणाह **ज्ञानिनोऽह**मिति । 'अभिधातुमशक्यं' इत्यस्येश्वरवचनत्वात्तेनाप्यशक्यमिति फलितमित्यभिप्रायेणोक्तं **मये**त्यादिना । ननु सर्वज्ञेन यदज्ञातं तदसदेव स्यात्, यत्र चासावशक्तः, तत्र चास्यानीश्वरत्वं स्यादित्यत्राह– **प्रियत्वस्ये**ति; गगनकुसुमादिवदसत्त्वनिबन्धनमज्ञानं न दोषाय; अन्यथा भ्रान्तत्वप्रसङ्गात् । इयत्ताया अभावादेव तद्वाचकः शब्दोऽपि नास्तीति तदप्रयोगोऽपि नाशक्तिहेतुरिति भावः । हिशब्दद्योतितां प्रसिद्धिमुदाहरति— **यथे**ति । **ज्ञानिनामग्रेसरस्ये**त्यनेन जन्मसिद्धनिरतिशयज्ञानवत्त्वं बाधकवचनादिभिर्बिभीषिकासहस्रैश्चाकम्पितत्वं विवक्षितम् । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः' [ म. भा. ५।७०।५ ] इति कृष्णशब्देनात्र निर्वृतिहेतुत्वादिकं विवक्षितम् । प्रवाहानादिकृष्णावतारकृतकालियमर्दनसूचनं वा; भक्तदुःखानां कर्षणाद्वा कृष्णः; तीव्रदुःखहेतुसद्भावेऽपि दुःखानुभवाभावो निरतिशयप्रीत्यन्तरमत्ततयेति भावः । आत्मज्ञानमपि तदानीं नास्ति, किं पुनर्गृहादिकलत्रशरीरज्ञानमित्यात्मनो गात्रमित्यस्य भावः । 'स च मम प्रियः' इत्यत्राप्यत्यर्थशब्दः समुच्चयसामर्थ्यादर्थस्वभावाच्चानुषक्त इत्यभिप्रायेणाह– **तथैवे**ति । यथाऽहं त्रिविधपरिच्छेदरहित-निरतिशयानन्दस्वरूपोऽनन्तगुणविभूति-र्ज्ञानिनः प्रियस्तथाऽयमेक एव ज्ञानी मम निरतिशयप्रीतिविषय इत्युक्तं भवति । 'स च मम प्रियः' इत्यत्र निरतिशयप्रीतिं कुर्वतोऽपि महोदारस्येश्वरस्यापि तत्प्रीत्युपाधिकप्रीतिकरणादतृप्तिः सूचितेति केचिदाचार्याः ॥ १७ ॥

**५ आ. मा. भा.— एकस्मिन्नेव भक्तिरित्येकभक्तिः । तच्चोक्तं गारुडे— 'मय्येव भक्तिर्नान्यत्र एकभक्तिः स उच्यते' इति ॥ १७ ॥**

६ ज. प्र. दी.— एका भक्तिर्यस्येति विग्रहे भक्तिशब्दस्य प्रियादित्वात्तस्मिन्परतः पूर्वपदस्य पुंवद्भावो न सिध्यतीत्यालोच्याह— **एकस्मिन्नेवे**ति । 'अस्य' इत्यध्याहार्यम् । तथापि वैयधिकरण्यात् बहुव्रीहिर्न सिद्ध्यतीति चेत्, न; आगमसिद्धत्वाच्चेत्याह— **तच्चे**ति । यस्येत्युपस्कर्तव्यम् ॥ १७ ॥

**७ ह. पै. भा.— तेषां मध्ये ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते श्रेयान् । प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमतिशयेनाहं, स च मम प्रियः ॥ १७ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— **एतेषां मध्ये कः श्रेष्ठः? इत्याह– तेषा**मिति । तेषां पूर्वोक्तानां सर्वेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठः। तत्र नित्ययुक्तत्वादयश्चत्वारो हेतवः । नित्ययुक्तः सदा मन्निष्ठः। अनेनार्तादिभ्यो विशिष्टत्वमुक्तम् । तेषां त्रयाणामपि स्वार्थसिद्धिपर्यन्तमेव मन्निष्ठत्वात्समयान्तरेष्वपि तेषां क्वचिन्मन्निष्ठासत्त्वेऽपि विक्षेपबाहुल्येन विच्छेदान्न सर्वदा मन्निष्ठेत्यर्थः। अथ सर्वतो विरक्तस्य जिज्ञासोः सत्प्रेमभक्तस्य सदा भगवन्निष्ठाऽस्तीत्येकभक्तिरिति विशेषणम् । एकस्मिन्मय्येव भक्तिरनुरक्तिर्यस्य स तथोक्तः । जिज्ञासोस्तु स्वाभिलषिते ज्ञाने तत्साधनत्वेन मयि चानुरक्तिरिति न तस्यैकभक्तित्वमित्यर्थः । निष्कामप्रेमभक्तस्यैकभक्तित्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह— **प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमिति । अर्थशब्दोऽभिधेयवचनः ।** ज्ञानिनोऽहं यथा प्रियः तथा मया सर्वज्ञेन सर्वशक्तिनाऽप्यभिधातुं न शक्यत इत्यर्थः । हिः प्रसिद्धौ । प्रसिद्धं ह्येतल्लोके वेदे चात्मैव सर्वस्य निरुपाधिकप्रेमविषय इति । श्रुतिरप्याह— "न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवति आत्मनस्तु कामाय ......सर्वं (इदं) प्रियं भवति" [बृ.उ. २।४।५+४।५।६] इत्यादिः । ज्ञानिनश्चात्मैवाहम्, "तदात्मानमेवावैदहं ब्रह्मास्मि" [बृ. उ. १।४।१०] इति स्वात्मत्वेनैव तेन प्रतिपन्नत्वात् । तथा स च ज्ञानी ममात्यर्थं प्रियः, मदात्मत्वेन स्वात्मदर्शिनस्तस्यापि मया स्वात्मत्वेनैव प्रतिपन्नत्वात् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' [४।११] इति हि मम स्थितिरित्यर्थः ॥ १७ ॥

९ व० त० टी०— एतेषां मध्ये मुमुक्षुः मम ज्ञानी श्रेष्ठो मत इत्याह—तेषां ज्ञानीति। नित्यं योग उक्तलक्षणस्तद्वान् नित्ययुक्तः। तादृशश्च मदीयमहिमज्ञानवान् तथा मय्येव पुरुषोत्तमे परमात्मनि विभावेकस्मिन् एका निरपेक्षा भक्तिर्यस्य। इतरेषां तु स्वाभिलषिते तत्साधकत्वेन वा मयि वेत्यत एव स विशिष्टो भवति। न केवलं स विशिष्टः, किन्तु प्रियः परस्परमित्याह— प्रियो हीति। अहं ज्ञानिनोऽत्यर्थं प्रियः प्रेमविषयः, स च ममेति भजनात् 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति निबन्धवाक्यात्। सर्वेषां ममताविषयाणां मध्ये स्वात्मा प्रियः, आनन्दरूपत्वात्; स चात्मा परमानन्दपरमात्मांशत्वादित्यर्थः। परमात्मनि प्रियत्वम्॥ १७॥

१० पु. अ. त.— एवं चतुर्विधानुक्त्वैतेषु ज्ञानी मोक्षार्थं भजनकर्ता उत्तम इत्याह—तेषामिति। तेषां पूर्वोक्तचतुर्विधानां मध्ये ज्ञानी नित्ययुक्तः, नित्यं मया युक्त इत्यर्थः। एतेभ्यश्चतुर्विधेभ्योऽपि एकभक्तिरनन्यत्वेनैकान्तभजनकृत् दासवत् स विशिष्यते, उत्तमत्वेनेत्यर्थः। तस्य विशेष्यधर्ममाह—प्रिय इति। हीति निश्चयेन, ज्ञानिनः सकाशात् अत्यर्थं सर्वभावे अहमेव तस्य प्रियः। अतएव श्रीभागवते भगवद्वाक्यं 'मदन्यत्ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' इति॥ १७॥

११ नी० भा० टी०— किं सर्वेऽपि समा एते सुकृतिनः? इति साधारण्येन विशेषणादत आह— तेषामिति। तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते, यतो नित्ययुक्तः। आर्तादयो हि कामिनः कामपूर्तौ न मद्भजने युक्ता भवन्ति, अयं तु नित्ययुक्त एकभक्तिश्चैकभावेन भजनं करोति। तथा हि आर्ता रोगिणः सूर्यं भजन्ते, जिज्ञासवः सरस्वतीं, अर्थार्थिनः कुबेरादीन्, इति तेषां तत्तत्कामार्थित्वेनानेकभक्तित्वं दृश्यते। तस्य नित्ययुक्तत्वे एकभक्तित्वे च हेतुः- हि यतः ज्ञानिनोऽहमत्यर्थं प्रियः आत्मत्वादेव; आत्मा च प्रियः निरुपाधिप्रेमगोचरत्वात्; "तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरं यदयमात्मा" [बृ. उ. १।४।८] इति श्रुतेश्च। स च ज्ञानी मम प्रियो भक्तानां दुर्लभत्वादिति भावः॥ १७॥

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**
**आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्॥ १८॥**

१ शां. भा.— न तर्ह्यार्तादयस्त्रयो वासुदेवस्य प्रियाः, न; किं तर्हि? उदारा इति। उदारा उत्कृष्टाः सर्व एवैते, त्रयोऽपि मम प्रिया एवेत्यर्थः। न हि कश्चिन्मद्भक्तो मम वासुदेवस्याप्रियो भवति, ज्ञानी त्वत्यर्थं प्रियो भवतीति विशेषः। तत्कस्मात्? इत्याह—ज्ञानी त्वात्मैव, नान्यो मत्त इति मे मम मतं निश्चयः। आस्थित आरोढुं प्रवृत्तः स ज्ञानी हि यस्मादहमेव भगवान्वासु-

---

१ उदारा उत्कृष्टाः 'भवानग्रे रथोदारः' (म. भा. उद्यो. १६५।१९) 'तथा हि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्'। (कु. सं. ५।३६) इत्यादिषु तथार्थदर्शनात्॥

युक्तात्मा—ज्ञातेऽप्यात्मनि तत्तत्त्वे येन चेतो न योजितम्। प्राक्संस्कारपदात्तस्य देहे भात्यात्मता ध्रुवम्॥
आत्मज्ञोऽपि न तस्मात्स वक्तुमात्मेति युज्यते। हन्ति देहात्मतां योगाद्युक्तात्मालोच्यतेऽत्र सः॥

अत्र तुर्यपादे **वामनः**—

एवशब्दस्यायमर्थो न मोक्षस्यापि लिप्सया। भजत्येकान्तभक्तो मां कामानां तत्र का कथा॥
मिथ्यारूपो यथा बन्धो मिथ्या मोक्षस्तथैव सः। सत्ये मय्यनुरक्तस्य कथं मत्तः प्रियो भवेत्॥
प्रेयान् मोक्षस्तदर्थं च प्रियो यस्य श्रियः पतिः। तं भक्तं मन्वते मूढा भक्तो मुक्तेः स नो हरेः॥
लोकेषु या स्वोदरपूर्तये कृता सेवोदरस्यैव, न साऽवनीपतेः।
हेतुं पुरस्कृत्य कृता तथेह या सा जातु भक्तिर्न भवेद्रमापतेः॥
तस्मान्न मुक्तिमपि वाञ्छति विद्वरिष्ठो मामेव केवलमखण्डरसं प्रपन्नः।
मत्तो न काचिदपरा गतिरुत्तमेति युक्तात्मनोऽस्य सुदृढा भवति प्रतीतिः॥ इति।

अत्र— न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनाऽन्यत्॥ (११।१४।१४)
इति भागवतमप्यनुसन्धेयम्। —अविगीता।

देवो नान्योऽस्मीत्येवं युक्तात्मा समाहितचित्तः सन्मामेव परं ब्रह्म गन्तव्यमनुत्तमां गतिं गन्तुं प्रवृत्त इत्यर्थः ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— ज्ञानी चेदत्यर्थमीश्वरस्य प्रियो भवति, तर्हि विशेषणसामर्थ्यादितरेषामप्रियत्वं प्राप्तमिति शङ्कते— न तर्हीति । तेषां भगवन्तं प्रति प्रियत्वमत्र विवक्षितमित्याह— नेति । 'अत्यर्थं' इति विशेषणस्य तर्हि किं प्रजोजनं ? इति पृच्छति— किं तर्हीति । सर्वेषां भगवदभिमुखत्वादुत्कर्षेऽपि ज्ञानिनि तदतिरेकमङ्गीकृत्य विशेषणमित्याह— उदारा इति । किं तत्र प्रमाणं ? इत्याशङ्क्येश्वरज्ञानमित्याह— मे मतमिति । 'ज्ञानी त्वात्मैव' इत्यत्र हेतुमाह— आस्थित इति । सर्वशब्दस्य ज्ञानिव्यतिरिक्तविषयत्वमाह— त्रयोऽपीति । ज्ञानिव्यतिरिक्तानां भगवदभिमुखत्वेऽपि ज्ञानाभावापराधान्न भगवत्प्रीतिविषयतेत्याशङ्क्याऽऽह— न हीति । कस्तर्हि ज्ञानवति विशेषः ? तत्राऽऽह— ज्ञानी त्विति । तमेव विशेषं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— तत्कस्मादित्यादिना । सर्वमात्मानं पश्यतोऽपि तस्य तव कथं यथोक्तो निश्चयः स्यात् ? इत्याशङ्क्य 'आस्थितः' इत्येतद्व्याकरोति— आरोढुमिति । आरोहे हेतुं सूचयति— स ज्ञानीति । आरोढुं प्रवृत्तत्वमेव स्फुटयति— मामेवेति ॥ १८॥

३ रा. भा.— सर्व एवैते मामेवोपासत इत्युदारा वदान्याः । ये मत्तो यत्किञ्चिदपि गृह्णन्ति, ते हि मम सर्वस्वदायिनः; ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं तदायत्तात्मधारणोऽहमिति मन्ये । कस्मादेवम् ? यस्मादयं मया विनाऽऽत्मधारणासम्भावनया मामेवानुत्तमं प्राप्यमास्थितः; अतस्तेन विना ममाप्यात्मधारणं न सम्भवति; ततो ममाप्यात्मा हि सः ॥ १८ ॥

४ वे. ता. चं.— 'तेषाम्' [७।१७] इति श्लोकस्यार्थ एव 'उदाराः' इत्यनेनापि दृढीक्रियते । ज्ञानिनोऽत्यर्थप्रियत्ववचनादन्येषामपि किञ्चित्प्रियत्वं फलितम्; तदेव 'उदाराः सर्वे' इति पादेन विशदीकृतम् । तदेकोपायत्वस्य साधारण्यं मामेवोपासत इत्यनेन दर्शितम् । उदारशब्दस्यात्र मन्दप्रयोजनोत्कर्षमात्रपरत्वव्युदासाय प्रसिद्ध्यनुरोधेनाह— वदान्या इति । अर्थित्वेनावस्थितानां कथं वदान्यत्वं ? इत्यत्राह— ये मत्त इति । सकलफलप्रदत्वलक्षणं परमौदार्यमेव हि मम सर्वस्वम् ; तच्च प्रतिग्रहीतृसापेक्षं तदभावे कथं स्यादित्युक्तं भवति । 'मतम्' इति नपुंसकत्वान्न ज्ञानीत्यनेनान्वयः; 'मतः' इति परोक्तपाठस्त्वप्रसिद्धः; तस्मादितिशब्दोऽध्याहृतः । अयमर्थः— त्वय्यन्तसिद्धान्तो भवतु वा मा वा; कृष्णसिद्धान्तस्त्वयमिति भावः । आत्मशब्दस्यात्र बहुप्रमाणविरुद्धत्वान्न तादात्म्यादिविषयत्वम्; तथा सति व्यतिरेकनिर्देशबाधश्च । अतस्तदभिप्रतमाह— तदायत्तेति । शरीरं प्रति धारको ह्यात्मा । प्रियत्वातिशयप्रतिपादनाय सावधारणोऽयमात्मत्वारोपः । अस्मिन्नभिमानमात्रसारे भवत्सिद्धान्ते किं प्रमाणमभिमतं ? इत्याकाङ्क्षायाम् 'आस्थितः' इत्यादिकमुच्यत इत्याह— कस्मादेवमिति । हिर्हेतौ । 'युक्तात्मा' इत्याशंसायां क्तः; परमात्मयोगाशंसाविशिष्ट एव आत्मा यस्य सोऽत्र युक्तात्मा; तदेतदभिप्रेत्योक्तं— मया विनाऽऽत्मधारणासम्भावनयेति । मदनुसन्धानाभावे सति अर्थान्तरानुसन्धानप्रवृत्तेरसमर्थस्वभावतयेत्यर्थः । मामेवेति अयुक्तदशायामसत्त्वमेव हि स्यादिति भावः । मामेव उपायभूतमेव, न तु फलान्तरलवमित्यर्थः । प्राप्यमिति— गतिशब्दोऽत्र गन्तव्यपरः । अस्त्वेवं तदायत्तधारणो यथाप्रमाणं ज्ञानी, ततः किमायातं भगवतस्तदायत्तधारणत्वस्य ? इत्यत्राह अतस्तेन विनेति । सहृदयानां मदभिप्रायविदां चैतद्व्यक्तमित्यभिप्रायः । तथा हि 'न तस्यान्यः प्रियतरः प्रतिबुद्धैर्महात्मभिः । विद्यते त्रिषु लोकेषु ततोऽस्म्येकान्तितां गतः । नारदैतद्धि ते सत्यं वचनं समुदाहृतम् । नास्य भक्तैः प्रियतरो लोके कश्चन विद्यते' इति । ततो ममात्मा हि स इति— आधारत्वादिविशेषो ह्यात्मलक्षणमिति भावः । ऐश्वर्यादिकामाः सर्व एव मत्स्वरूपस्यातिशयहेतवः । ज्ञानी तु मम स्वरूपसत्ताहेतुरिति स्वभक्तस्तुतिपरः श्लोकः ॥ १८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १८ ॥

७ ह. पै. भा.— उदारा इति । उदारा उत्कृष्टाः सर्व एवैत आर्तादयः । ज्ञानी त्वात्माऽहमेवेत्यभिप्रायः । आस्थितः सम्प्राप्तः स हि ज्ञानी युक्तात्मैकाग्रचित्तो मामेवानुत्तमां गतिम् ॥ १८ ॥

८ वे. ब्र. गि.— तत्किमार्तादयस्तव न प्रियास्त्वन्मायां न तरन्ति ? नेत्याह— उदारा इति । एते आर्तादयो मद्भक्ताः सर्वेऽप्युदारा महान्त एव, पूर्वजन्मकृतसुकृतपुञ्जत्वात् । अन्यथा हि मां न भजेयुरेव, आर्तस्य जिज्ञासोरर्थार्थिनश्च मद्विमुखस्य क्षुद्रदेवताभक्तस्यापि बहुलमुपलम्भात् । अतो मम प्रिया एव ते सर्वेऽपि । न हि कश्चिन्मद्भक्तो ममाप्रियोऽस्ति, न वा मां प्रपन्नेषु कश्चिदमुक्तो भवतीति भावः । कथं तर्हि ज्ञानी विशिष्यत इत्युक्तम् ? तत्राह— ज्ञानी त्विति । तुशब्दोऽप्यर्थे । प्रियत्वनिश्चययुक्तत्वैकभक्तित्वरूपपूर्वोक्तवैलक्षण्यार्थस्तत्राप्यर्थः । प्रियत्वं तावदाह— आत्मैवेति । आर्तादयो मदीयाः, ज्ञानी त्वात्मैवेत्यर्थः । एतच्च न यत्किञ्चिन्मतानुवादः, किन्तु मत्सिद्धान्त इत्याह— मे मतमिति । मे मम

सर्वज्ञस्य सर्वगुरोर्निश्चय इत्यर्थः । एवमात्मत्वेन ज्ञानिनोऽतिशयमुक्त्वा नित्ययुक्तत्वैकभक्तित्वाभ्यामपि तमाह— आस्थित इति । हि यस्मात्स ज्ञानी युक्तात्मा सदा मयि समाहितचित्तः पूर्वोक्तो नित्ययुक्तः तथा मां परमेश्वरमेव अनुत्तमां सर्वोत्कृष्टां गतिं प्राप्तव्यफलमास्थितः आश्रितवान् मदन्यत् किमपि फलं न मन्यते ; मदेकभक्तिरित्यर्थः ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— तर्हि किमितरे त्वद्भक्तास्त्रिविधाः संसृताः ? इति, नहि नहीत्याह–उदाराः सर्व इति । एते मद्भक्ताः सर्व एवोदारा देवान्तरोपासकेभ्यो महान्तो वदान्याश्च, मत्तो यत्किञ्चित् गृह्णन्ति मम सर्वसमर्पकाः प्रथमं, अन्यथा फलसिद्धिर्न स्यात् । परं व्यावहारिकरीत्या तद्भजनं प्राकृतमिति न तत्र प्रियत्वमुक्तम् । संसृतिरपि प्राकृतानामिव न भविष्यति, यथा कथञ्चिद्भजनात् । उक्तं च भागवते [ १।५।१७ ] ‘ त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं’ इत्युपक्रम्य ‘ यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वाऽर्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ’ इत्यादिना ‘ कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च । नित्यं हरौ विदधते यान्ति तन्मयतां हि ते ’ [ भाग. १०।२९।१५ ] इति चान्ते तन्मयत्वफलमननादुदारास्ते । यथाकथञ्चित्कार्यापेक्षयापि भगवत्सम्बन्धिभावे प्रवृत्तिरुचिततरेति सङ्क्षेपः । मम महिमतत्त्वज्ञानी पुनरात्मैवेति मे मतम् । ब्रह्मवादानुरोधि भगवन्मतं वा आस्थितः आश्रितः मामेवानुत्तमां गतिं मुक्तिफलभूतामास्थितश्च मे मतः । तत्रात्मत्वं मन्ये । तदधीन इत्यर्थसिद्धम् । तत उत्तमः ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.—नन्वेषु चतुर्विधेषु ज्ञानी उत्तम उक्तस्ततोऽपि भक्तस्तदा पूर्वोक्तानां किं फलं ? इत्यपेक्षायामाह—उदारा इति । एते सर्व एव स्वार्थपरित्यागेन मदर्थधर्मादित्रयभजनकर्तारः उदाराः मोक्षाधिकारिणः । तु पुनः ज्ञानी आत्मैव मदात्मक एव, मुक्त एवेत्यर्थ इति मे मतम् । हीति निश्चयेन । अनन्यमनसा सर्वत्यागेन, अनुत्तमां न विद्यते उत्तमा यस्यास्तादृशीं गतिं प्राप्य स्थानं ज्ञात्वा मामेवास्थितः स युक्तात्मा मत्संयोगयुक्तो दास्यादिभावेनेत्यर्थः । स उत्तम इति भावः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०—उदारा इति । सर्वेऽप्येते उदारा उत्कृष्टा एव । ज्ञानी तु ममात्मैवेति मम मतं निश्चितम्, हि यतः स युक्तात्मा ‘अहमेव भगवान्वासुदेवः’ इत्यभेदेन मयि समाहितचित्तो मामेवानुत्तमां श्रेष्ठां गतिमास्थितः। न तु मत्तोऽन्यदारोग्यादिकं कामयानो मद्भक्तिं करोति । किं तर्हि ? मत्प्राप्त्यर्थमेव मां भजत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

**बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।**
**वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥**

**१ शां. भा.— ज्ञानी पुनरपि स्तूयते— बहूनामिति । बहूनां जन्मनां ज्ञानार्थसंस्काराश्रयाणामन्ते समाप्तौ ज्ञानवान्प्राप्तपरिपाकज्ञानो मां वासुदेवं प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्षतः प्रपद्यते । कथं ? वासुदेवः सर्वमिति । य एवं सर्वात्मानं मां प्रतिपद्यते स महात्मा न तत्समोऽन्योऽस्त्यधिको वा; अतः सुदुर्लभो ‘मनुष्याणां सहस्रेषु’ [७–३] इत्युक्तम् ॥ १९ ॥**

२ आ. शां. व्या.— उत्तरश्लोकस्य गतार्थत्वं परिहरति—**ज्ञानीति**। ज्ञानार्थसंस्कारो वासना तत्तज्जन्मनि पुण्यकर्मानुष्ठानजनिता बुद्धिशुद्धिस्तदाश्रयाणां तद्वतामनन्तानां जन्मनामिति यावत् । ज्ञानवत्त्वं प्राक्तनेष्वपि जन्मसु सम्भावितमित्याशङ्क्याऽऽह– **प्राप्तेति**। ज्ञानवतो भगवत्प्रतिपत्तिं प्रश्नद्वारा विवृणोति— **कथमिति**। यथोक्तज्ञानस्य तद्वतश्च दुर्लभत्वं सूचयति—**य एव मिति** । महत्सर्वोत्कृष्टमात्मशब्दितं वैभवमस्येति महात्मा । महात्मत्वे फलितमाह— **अत** इति । तत्र वाक्योपक्रमानुकूल्यं कथयति—**मनुष्याणामिति** ॥ १९ ॥

**३ रा. भा.— नाल्पसङ्ख्यासङ्ख्यातानां पुण्यजन्मनां फलमिदं, यन्मच्छेषतैकरसात्मयाथात्म्यज्ञानपूर्वकं मत्प्रपदनम् ; अपि तु बहूनां जन्मनां पुण्यजन्मनामन्ते अवसाने वासुदेवशेषतैकरसोऽहं तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिश्च; स चासङ्ख्येयैः कल्याणगुणगणैः परतर इति ज्ञानवान्भूत्वा वासुदेव एव मम परमप्राप्यं प्रापकं चान्यदपि यन्मनोरथवर्ति स एव मम तत्सर्वमिति मां यः प्रपद्यते मामुपास्ते; स महात्मा महामनाः सुदुर्लभः दुर्लभतरो लोके ।**

४ वे. ता. चं.— पुनरप्युक्तज्ञानवत्त्वस्यानेकजन्मसाध्यपुण्यफलत्वेन दुर्लभतरतया ज्ञानिनः श्रैष्ठ्यं दर्शयति— 'बहूनाम्' इति श्लोकेन। 'ये जन्मकोटिभिः सिद्धास्तेषामन्तेऽत्र संस्थितिः' इति भगवच्छास्त्रं 'जन्मान्तरसहस्रेषु' [पां. गी. ४ ]इत्यादिकां स्मृतिं चानुसन्दधान आह— नाल्पेति। 'बहूनां जन्मनाम्' इत्यत्र न तावद्बहुजन्मसद्भावमात्रं विवक्षितम्, तस्यात्रानुपयुक्तत्वात्। न च बहुजन्ममात्रस्य ज्ञानहेतुत्वमुच्यते; सर्वेषामयत्नतो ज्ञानित्वप्रसङ्गात्; अतः पुण्यजन्मनां इति विशेषितम्। ईदृशज्ञानवत्त्वमेवम्भूतविशिष्टप्रपत्तौ हेतुरिति दर्शयितुं, ज्ञानवतोऽनेकजन्मभ्रमव्युदासाय च ज्ञानवान् भूत्वेत्युक्तम्। 'वासुदेवः सर्वम्' इति सामानाधिकरण्यस्य बाधाध्यासतादात्म्यादिविषयत्वायोगाच्छरीरशरीरिभावादिनिर्वाहादपि प्रकरणविशेषसिद्धस्यार्थस्य ग्राह्यतरत्वात् परमप्राप्यमित्यादिकमुक्तम्। लौकिकं धारकादिकमभिप्रेत्याह अन्यदपीत्यादि। 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' [ना. हृ. १० ] 'माता पिता भ्राता निवासः शरणं सुहृद्गतिर्नारायणः' इत्यादिकमपीहाभिप्रे...। प्रपत्तेरत्रोपासनाङ्गत्वादाह मामुपास्त इति। ज्ञानिनोऽपि स्वरूपमहत्त्वं प्रमाणविरुद्धम्; पङ्क्तिपावनत्वादिमाहात्म्यं सदपि प्रकृतेऽनपेक्षितम्; तस्माज्ज्ञानविशेषाधीनमाहात्म्यमिह विवक्षितमित्याह महात्मना इति। फलान्तरपरस्यापि भगवदुपासकस्य दुर्लभत्वात्तद्व्यवच्छेदाय सुशब्द इति दर्शयितुं दुर्लभतर इत्युक्तम्।

**३ रा. भा.— 'वासुदेवः सर्वमिति' अस्यायमेवार्थः 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्' [ ७।१७ ] 'आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्' [ ७।१८ ] इति प्रक्रमात्। ज्ञानवांश्चायमुक्तलक्षण एव, अस्यैव पूर्वोक्तज्ञानित्वात्; 'भूमिरापः' इत्यारभ्य 'अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूताम्' [ ७।४,५ ] इति हि चेतनाचेतनस्य प्रकृतिद्वयस्य परमपुरुषशेषतैकरसतोक्ता, 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा। मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय!' [ ७।६,७ ] इत्यारभ्य 'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि' [ ७।१२ ] इति प्रकृतिद्वयस्य कार्यकारणोभयावस्थस्य परमपुरुषायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं परमपुरुषस्य च सर्वैः प्रकारैः सर्वस्मात्परतरत्वमुक्तम्; अतः स एवात्र ज्ञानीत्युच्यते ॥ १९ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'वासुदेवः सर्वम्' इति सामानाधिकरण्यस्य पराभिमतमर्थं प्रतिक्षिपन् स्वोक्तं द्रढयति वासुदेव इति। अत्र ह्युपक्रमः प्राप्यभेदनिबन्धनाधिकारिभेदपरः। प्रकरणविरुद्धप्रकरणानुपयुक्तो वाऽर्थः प्रकरणविशेषसिद्धोपयुक्ततमार्थे जागरूकेऽनादरणीय इति भावः। 'ज्ञानवान्' इत्यत्रापि निर्विशेषादिज्ञानजीवमात्रज्ञानादिव्युदासायाह ज्ञानवांश्चायमिति। उक्तलक्षणः वासुदेवशेषतैकरसस्वात्मवेदीत्यर्थः। उक्तलक्षणत्वे हेतुमाह— अस्यैव पूर्वोक्तज्ञानित्वादिति 'ज्ञानी च भरतर्षभ!' [ ७।१६ ] इति पूर्वोक्ते ज्ञानिनि कथमुक्तलक्षणत्वं? इत्यत्राह भूमिराप इत्यारभ्येति। यद्वा पूर्वोक्तज्ञानित्वादित्येकभक्तित्वादिकं विवक्षितम्; 'भूमिरापः' इत्यादिना हेत्वन्तरोक्तिः। कार्यकारणोभयावस्थस्येति— कार्यत्वकारणत्वरूपोभयावस्थाविशिष्टस्येत्यर्थः। स्वरूपस्थित्यादितादधीन्यं 'मयि सर्वं' [ ७।७ ] 'रसोऽहम्' [७।८] इत्यादिषु व्यक्तम्। उक्तलक्षणत्वं निगमयति— अत इति। स एवेति— 'वासुदेवशेषतैकरसोऽहम्' इत्यादिनोक्तलक्षण एवेत्यर्थः ॥ १९ ॥

**५ आ. मा. भा.— बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्भवति। तच्चोक्तं ब्राह्मे— 'बहुभिर्जन्मभिर्ज्ञात्वा ततो मां प्रतिपद्यते' इति ॥ १९ ॥**

६ ज. प्र. दी.—'बहूनां जन्मनां' इत्यत्र ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं भगवत्प्रतिपत्तौ बहुजन्मव्यवधानमुच्यत इति निरासार्थमाह— बहूनामिति। प्रतीतमेव किं न स्यात्? इत्यत आह— तच्चेति। ततस्तदैव ॥ १९ ॥

**७ ह. पै. भा.— बहूनामिति। बहूनां जन्मनामन्तेऽवसाने ज्ञानवान्मां प्रपद्यते वासुदेवः सर्वमिति प्रतिपद्यमानः। स च महात्मा सुदुर्लभः ॥ १९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च आर्तादयो बहवः सन्ति, ज्ञानी त्वतिदुर्लभ इति ततोऽपि तस्य श्रैष्ठ्यमित्यभिप्रायेणाह— बहूनामिति। 'जन्मनां' इति बहुवचनेनैव बहुत्वे सिद्धे 'बहूनां' इति विशेषणेन कपिञ्जलाधिकरणन्यायसिद्धत्रित्वव्युदासः। अनेकशतसहस्राणां जन्मनां किञ्चित्किञ्चित्पुण्योपचयहेतूनामन्ते चरमे जन्मनि तत्सुकृतविपाकरूपे 'वासुदेवः सर्वमिति ज्ञानवान्मां प्रपद्यते' "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [छां. उ. ३।१४।१] "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" [नृ. उ. उ. ७] "आत्मैवेदं सर्वम्" [छां. उ. ७।२५।२] 'सकलमहमिदं च वासुदेवः' इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतप्रसिद्धसर्वात्मदृष्टिलक्षणभजनरूपप्रपत्तिं करोति। अतः स महात्मा अपरिच्छिन्नदृष्टिः सुदुर्लभः। अतो नार्तादिसाधारणो ज्ञानीत्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

९ ब० त० दी०— एवम्भूतोऽतिदुर्लभ इत्याह-बहूनामिति । आत्मज्ञानं तु कदाचिदेकजन्मन्यपि सिद्धं भवति, भगवज्ज्ञानं तु न तथेति ततोऽपि प्रपत्तिभक्तिरतिदुर्लभा; सा चेद्भवति स महादुर्लभः । यो बहूनां जन्मनामन्ते चरमजन्मनि पूर्वसुकृतसञ्चयेन यत्सन्तुष्टभगवता दत्तं स्वज्ञानं तद्वान् भवति, स दुर्लभः। तादृशोऽपि मां पुरुषोत्तमं परमात्मानं प्रपन्नो विज्ञानवानतिदुर्लभः; यतो ज्ञानमपि तस्य नात्मैकविषयकं, किन्तु भगवत्सर्वविषयकं तदाह– वासुदेवः सर्वमिति । 'कृष्ण एवाखण्डं(ण्डः)सर्वं' इत्यभेदज्ञानवान् । तथैतदुक्तं निबन्धे–'अखण्डाद्वैतभाने तु सर्वं ब्रह्मैव नान्यथा । ज्ञानाद्विकल्पबुद्धिस्तु बाध्यते न स्वरूपतः ॥ भिन्नत्वं नैव युज्येत ब्रह्मोपादानतः क्वचित् । वाचारम्भणमात्रत्वाद्भेदः केनोपजायते'– इति । अतएव महात्माऽपरिच्छिन्नात्मा एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानवान् स सुदुर्लभः 'सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने !' इति श्रीभागवते षष्ठस्कन्धे (?) रुद्रोक्तेः ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— ये पूर्वोक्तास्ते कथं मोक्षमनुभवन्ति ? इत्याकाङ्क्षायामाह— बहूनामिति । बहूनां जन्मनां धर्मादित्रययुक्तानामन्ते अन्तिमजन्मनि ज्ञानवान् भवति । ततो मां प्रपद्यते, मुक्तो भवतीत्यर्थः । यस्तु भक्त उक्तः स तु दुर्लभ इत्याह— वासुदेव इति । सर्वमैहिकं पारलौकिकं च वासुदेवः, स महात्मा महान् मदर्थमेव अहमेव वा आत्मा तादृशः स दुर्लभोऽप्राप्य इत्यर्थः । यद्वा दुःखेन क्लेशेन भगवानिव लभ्य इति भावः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च 'वासुदेवः सर्वं' इति ज्ञानवान् यो बहूनां जन्मनामन्ते चरमजन्मनि मां प्रपद्यते सम्यग्दर्शनेनापरोक्षीकरोति स महात्मा ब्रह्मभूतः सुदुर्लभ इति योजना ॥ १९ ॥

आर्तादिस्वभक्तत्रयोत्कर्षं प्रतिपादयितुमितरेषां सकामानां देवतान्तरभजने हेतुः ।

**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः ।**
**तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥ २० ॥**

१ शां. भा.— 'आत्मैव सर्वं वासुदेवः' इत्येवमप्रतिपत्तौ कारणमुच्यते– कामैस्तैस्तैः पुत्रपशुस्वर्गादिविषयैर्हृतज्ञाना अपहृतविवेकविज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः प्राप्नुवन्ति वासुदेवादात्मनोऽन्या देवताः । तं तं नियमं देवताराधने प्रसिद्धो यो यो नियमस्तं तमास्थायाऽऽश्रित्य प्रकृत्या स्वभावेन जन्मान्तरार्जितसंस्कारविशेषेण नियता नियमिताः, स्वयाऽऽत्मीयया ॥ २० ॥

२ आ. शां. व्या.— किमिति तर्हि सर्वेषां प्रत्यग्भूते भगवति यथोक्तज्ञानं नोदेति ? इत्याशङ्क्य 'न मां' [ ७।१५ ] इत्यत्रोक्तं हृदि निधाय ज्ञानानुदये हेत्वन्तरमाह– आत्मैवेति । कामैर्नानाविधैरपहृतविवेकविज्ञानस्य देवतान्तरनिष्ठत्वमेव प्रत्यग्भूतपरदेवताप्रतिपत्त्यभावे कारणमित्याह— कामैरिति । देवतान्तरनिष्ठत्वे हेतुमाह— तं तमिति । प्रसिद्धो नियमो जपोपवासप्रदक्षिणानमस्कारादिः । नियमविशेषाश्रयणे कारणमाह— प्रकृत्येति ॥ २० ॥

३ रा. भा.— तस्य ज्ञानिनो दुर्लभत्वमेवोपपादयति— कामैरिति । सर्व एव हि लौकिकाः पुरुषाः स्वया प्रकृत्या वासनया गुणमयभावविषयया नियताः नित्यान्विताः तैस्तैः स्ववासनानुरूपैर्गुणमयैरेव कामैरिच्छाविषयभूतैः हृतमत्स्वरूपविषयज्ञानाः तत्तत्कामसिद्ध्यर्थमन्यदेवताः मद्व्यतिरिक्ताः केवलेन्द्रादिदेवताः तं तं नियममास्थाय तत्तद्देवताविशेषमात्रप्रीणनायासाधारणं नियममास्थाय प्रपद्यन्ते, ता एवाश्रित्यार्चयन्ते, न मत्स्वरूपमभिजानन्ति ॥ २० ॥

४ वे. ता. चं.— 'कामैस्तैस्तैः' इत्यादेः 'सर्गे यान्ति परन्तप !' [ ७।२७ ] इत्यन्तस्य प्रकृतसङ्गतिमाह— तस्येति । देवतान्तरफलान्तरसङ्गादिकं प्रतिबन्धकमिति भावः । बहुवचनासङ्कोचं 'सर्वभूतानि सम्मोहम्' [ ७।२७ ] इति वक्ष्यमाणं चानुसन्धायोक्तं सर्व एव हीति । स्वयेति प्राचीनस्वकीयानुभवजनितया प्रत्यात्मनियतया तदेकनिष्ठफलप्रसाधिकयेत्यर्थः ।

१ ये पुनः स्वेन स्वेनोत्तमादिकामनास्वभावेन विचित्रेण परिच्छिन्नमनसस्ते कामनापहृतचेतसस्तत्समुचितामेव ममैवान्तरतनुं देवताविशेषमुपासते; अतो मत्त एव कामफलमुपाददते । किन्तु तस्यान्तोऽस्ति, निजयैव वासनया परिमितीकृतत्वात् । अत एवेन्द्रादिभावनातात्पर्येण यागादि कुर्वन्तस्तथाविधमेव फलमुपाददते, मत्प्राप्तिपरास्तु मामेव–इत्यभिनवगुप्तपादाः । –अविगीता ।

वासनाया नियतविषयेच्छाजनकत्वायोक्तं **गुणमयभावविषयये**ति। एतेन स्वभावपर्यायः प्रकृतिशब्दोऽत्र 'कामैस्तैस्तैः' इत्यादिसमभिव्याहारात् तत्तदिच्छाहेतुभूतसहजवासनाविषय इत्यपि निर्व्यूढम्। नियतत्वं नामादृष्टव्यभिचारः सम्बन्ध इत्यभिप्रायेणोक्तं **नित्यान्विता** इति। वीप्साभिप्रेतमाह **स्ववासनानुरूपै**रिति। 'लभते च ततः कामान्' [७।२२] इत्यनन्तराभिधीयमानैकार्थ्यात् कामशब्दोऽत्र कर्मणि व्युत्पन्नः। 'हृतज्ञानाः' इत्यत्र ज्ञानशब्देन पूर्वप्रसक्तमेव ज्ञानं विवक्षितमिति प्रदर्शयितुं **हृतमत्स्वरूपविषयज्ञाना** इत्युक्तम्। तदेव चान्यदेवताभजनकारणम्। फलकारणयोः स्वरूपेण निर्दिष्टयोरपि साध्यसाधनभावोऽर्थसिद्ध इति दर्शयितुं **तत्तत्कामसिद्ध्यर्थमि**त्युक्तम्। तैस्तैस्तत्तद्देवताभिर्दातुं शक्यैरित्यर्थः। इन्द्रादिदेवतानामपि भगवत्पर्यन्तानुसन्धाने तत्तद्विशेषणविशिष्टस्य भगवत एव तत्तद्देवतात्वादन्यदेवतात्वं तथाविधानुसन्धानराहित्यनिबन्धनमिति ज्ञापनायोक्तं **मद्व्यतिरिक्ताः केवलेन्द्रादिदेवता** इति। एतेन 'कामैस्तैस्तैः' इत्यादिकमितरभक्तत्रयविषयमिति परोक्तं निरस्तम्। तत्तत्कामार्थमपि निपुणैर्भगवानेव प्रपदनीयः, अत एव हि सङ्गृहीतं 'ऐकान्त्यं भगवत्येषां समानमधिकारिणाम्'[ गी.सं. २८] इति। अन्यथा 'तृषितो जाह्नवीतीरे कूपं खनति दुर्मतिः' इति भावः। **तं तं नियम**मिति— नियमोऽत्र सङ्कल्पविशेषादिः। 'श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति' [७।२१] इति वक्ष्यमाणवशादत्रापि प्रपत्तेरर्चनाङ्गत्वं दर्शयति— **ता एवाश्रित्यार्च्यन्त** इति। विश्वासगर्भफलप्रदत्ववरणपूर्वकं तत्तत्कर्मभिः प्रीणयन्तीत्यर्थः। प्रपत्तिस्वरूपसामर्थ्यादवधारणसिद्धिः। 'तदेकोपायता याञ्चा' इति हि तल्लक्षणम्॥ २०॥

**५ आ. मा. भा.— प्रकृत्या स्वभावेन। 'स्वभावः प्रकृतिश्चैव संस्कारो वासनेति च' इत्यभिधानात्॥ २०॥**

६ ज. प्र. दी.— ननु मूलप्रकृतेः सर्वत्रैकत्वात्कथं स्वयेति प्रातिस्विकत्वमुच्यते? इत्यत आह— प्रकृत्येति। स्वभाव एवेत्येवशब्दसम्बन्धः॥ २०॥

**७ ह. पै. भा.— कामैर्बहुविधैरपहृतज्ञानाः प्रपद्यन्त आश्रयन्तेऽन्यदेवता मद्व्यतिरिक्ताः। तं तं नियमं व्रतमास्थायाऽऽश्रित्य प्रकृत्या स्वभावेन नियता वशीकृताः स्वयाऽऽत्मीयया॥ २०॥**

८ व. ब्र. गि.— तदेवं 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते' [७।१७] इत्यनेन प्रतिज्ञातमार्तादिभक्तत्रयापेक्षया ज्ञानिभक्तस्योत्कर्षं व्याख्याय सम्प्रति 'उदाराः सर्व एवैते' [७।१८] इत्यनेन प्रतिज्ञातं देवतान्तरभक्तापेक्षया आर्तादिस्वभक्तत्रयस्योत्कर्षं प्रतिपादयितुं प्रथमं तावत्तेषां स्वभजनत्यागेन देवतान्तरभजने हेतुमाह— **कामै**रिति। स्वया स्वकीयया प्रकृत्या पूर्वाभ्यासवासनया नियता वशीकृताः, अत एव तैस्तैर्नियमैर्मोहनस्तम्भनाकर्षणवशीकरणमारणोच्चाटनादिविषयैर्भगवत्सेवया लब्धुमशक्यत्वेनाभिमतैः कामैरभिलाषैर्हृतज्ञाना अपहृतविवेकाः। भगवद्विमुखाः सन्त इति यावत्। अन्यदेवताः भूतप्रेतयक्षादिक्षुद्रदेवताः प्रपद्यन्ते। किं कृत्वा? तं तं नियमं जपोपवासादिरूपं तत्तद्देवताराधने प्रसिद्धं व्रतविशेषमास्थायाश्रित्य॥ २०॥

९ व० त० दी०— तदेवमलौकिकमहिमानं मां यथाकथञ्चिदपि ये प्रपद्यन्ते ते सिद्धिं प्राप्यान्ते तरन्ति अनावृतवस्तुमहिम्नस्तथात्वादित्युक्तम्। ये तु मां न प्रपद्यन्ते ते आसुरमार्गीया अन्यदेवता एव प्रपद्यन्ते। प्राकृतकामाद्यर्थं ते मायामोहिताः संसरन्तीत्याह— कामैरिति सार्धैस्त्रिभिः। स्वया प्रकृत्या राजसतामसस्वभावेन नियता बद्धा मदीयया (स्वनिष्ठया मायया) वा बद्धाः॥ २०॥

१० पु. अ. त.— स कथं दुर्लभः? इत्यत आह— **कामै**रिति। तैस्तैः कामैः पूर्वोक्तैः 'आर्तः' [७।१६] इत्यादित्रिरूपैर्हृतज्ञानाः सन्तोऽन्यदेवताः क्षुद्राः शिवादयो भूतप्रेतादयश्च स्वया प्रकृत्या कृत्वा तं तं नियमं देवताराधने उपवासादिलक्षणमास्थाय प्रपद्यन्ते। अत्रायमर्थः— कामनार्थं मत्सेवायां प्रवृत्ताः, न तु मोक्षार्थं भक्त्यर्थं वा; अहं तु मोक्षभक्त्यननुरूपं कामितफलं न ददामि, तत्फलमननुभूय तैः कामैः हृतं मत्स्वरूपज्ञानं येषां तादृशाः सन्तः स्वया प्रकृत्या नियताः प्रकृत्यंशत्वाच्छीघ्रं तत्फलदा अन्यदेवता भजन्ति। अतएव 'यो यदंशः स तं भजेत्' इत्युक्तम्॥ २०॥

११ नी० भा० दी०— अन्ये तु तैस्तैः कामैः पुत्रपश्वादिविषयैर्हृतज्ञानाः हृतं दूरीकृतं ज्ञानं विवेको येषां ते अन्यदेवताः 'अहमेतस्या आराधनेनेदं फलमवाप्नवानि' इति भेदबुद्ध्या प्रपद्यन्ते इन्द्रादीन्। तं तं नियमं चतुर्दश्युपवासादिकमास्थाय स्वया प्रकृत्या वक्ष्यमाणविधया दैव्या आसुर्या वा नियताः निगृहीताः॥ २०॥

**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति ।**
**तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥**

'तस्य तस्याचलां भक्तिं' इति वें. ब्र. गि. सम्मतः पाठः ।

**स तया श्रद्धया युक्तस्तस्या राधनमीहते ।**
**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान्हि तान् ॥ २२ ॥**

**१ शां. भा.—** तेषां च कामिनाम्– यो यः कामी यां यां देवतातनुं श्रद्धया संयुक्तो भक्तश्च सन्नर्चितुं पूजयितुमिच्छति, तस्य तस्य कामिनोऽचलां स्थिरां श्रद्धां तामेव विदधामि स्थिरीकरोमि, ययैव पूर्वं प्रवृत्तः स्वभावतो यो यो यां यां देवतातनुं श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति— स तयेति । स तया मद्विहितया श्रद्धया युक्तः संस्तस्या देवतातन्वाः राधनमाराधनमीहते चेष्टते । लभते च ततस्तस्या आराधिताया देवतातन्वाः कामानीप्सितान्मयैव परमेश्वरेण सर्वज्ञेन कर्मफलविभागज्ञतया विहितान् निर्मितांस्तान्, हि यस्मात्ते भगवता विहिताः कामास्तस्मात्तानवश्यं लभत इत्यर्थः । 'हितान्' इति पदच्छेदे हितत्वं कामानामुपचरितं कल्प्यं, न हि कामा हिताः कस्यचित् ॥२१॥२२॥

**२ आ. शां. व्या.—** तत्तद्देवताप्रसादात् कामिनामपि सर्वेश्वरे सर्वात्मके वासुदेवे क्रमेण भक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह– **तेषां चेति**। स्वभावतो जन्मान्तरीयसंस्कारवशादित्यर्थः। भगवद्विहितया स्थिरया श्रद्धया संस्काराधीनया देवताविशेषमाराधयतोऽपि भगवदनुग्रहादेव फलप्राप्तिरित्याह— **यो यो यां यामिति** ॥ २१ ॥ ईहते निर्वर्तयतीत्यर्थः । आराधितदेवताप्रसादात्फलप्राप्तौ किमीश्वरेण ? इत्याशङ्क्य तस्य सर्वज्ञस्य कर्मफलविभागाभिज्ञस्य तत्तद्देवताधिष्ठातृत्वात्तस्यैव फलदातृत्वमित्याह— **सर्वज्ञेनेति** । "एको बहूनां यो विदधाति कामान्" [ कठो. ५।१३] इत्यादिश्रुतिमाश्रित्य 'हि तान्' इति पदद्वयं व्याचष्टे— **यस्मादिति** । 'हितान्' इत्येकं पदमिति पक्षं प्रत्याह— **हितानिति** । मुख्यत्वसम्भवे किमित्यौपचारिकत्वमित्याशङ्क्याह— **न हीति** ॥ २२ ॥

**३ रा. भा.—** ता अपि देवता मदीयास्तनवः 'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद, यस्यादित्यः शरीरम्' [ बृ. उ. ३।७।९ ] इत्यादिश्रुतिभिः प्रतिपादिताः । मदीयास्तनव इत्यजानन्नपि यो यो यां यां मदीयामादित्यादिकां तनुं भक्तः श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति; तस्य तस्याजानतोऽपि 'मत्तनुविषयैषा श्रद्धा' इत्यहमनुसन्धाय तामेवाचलां निर्विघ्नां विदधाम्यहम् ॥ २१ ॥

**४ वे. ता. चं.—** एवं देवतान्तरफलान्तरसक्ता अपि तत्तदाराधनतत्फलयोः शैथिल्ये सति 'अलाभे मत्तकाशिन्या दृष्टा तिर्यक्षु कामिता' [म. भा. ] इति न्यायेन अनर्थहेतुषु निषिद्धेषूपायेषु निमज्जेयुरिति भयात्परमकारुणिकोऽहमेव तत्तदाराधनहेतुश्रद्धाविघ्नशान्तिं तत्फलं च प्रयच्छामीति श्लोकद्वयेनाह—**यो य** इति। एक एवेश्वरो रामकृष्णाद्यवतारवदादित्यादिविग्रहभाक्; न तु चेतनान्तरमस्तीति कुदृष्टिमतनिरासायाह– **ता अपीति** । **अयमभिप्रायः**— पूर्वश्लोके 'प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः' [७।२० ] इति निर्देशं न तावदीश्वरासाधारणविग्रहविशेषविषयस्तद्विशिष्टेश्वरविषयो वा भवितुमर्हति, तत्रान्यदेवतात्वव्यपदेशायोगाद्रामकृष्णादिवदेव । ततश्च चेतनान्तरविषयत्वमवश्याभ्युपगमनीयम् । 'देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि' [७।२३] इति च पृथग्वक्ष्यते । अतोऽत्र तनुशब्दः पूर्वोत्तरपरामर्शवशाच्चेतनविशेषविषयः, इति सर्वासां चेतनविशेषरूपदेवतानामीश्वरशरीरत्वप्रदर्शनार्थं श्रुतिमुदाहरति **य आदित्य** इति । नात्र तनुत्वेन भजनं विवक्षितम्। तथा सति प्रतर्दनविद्यादिष्विव परमात्मोपासनत्वप्रसङ्गात् ।'न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेन' [ ९।२४ ] इति वक्ष्यमाणत्वाच्चेत्यभिप्रायेणाह—**मदीयास्तनव इति** । **अजानन्नपीति** । तर्हि तनुत्वेनात्र निर्देशोऽनुपपन्नो निरर्थकश्च, 'यां यां देवतां' इत्येव हि वक्तव्यमित्यत्राह– **तस्य तस्येति** । यथा नरपतेरात्मस्वरूपमजानतोऽपि राजशरीरप्रसाधनादिकं कर्तुरन्ततो राजात्मनैव फलमिति न्यायसूचनादुपपन्नोऽत्र तनुशब्द इति भावः। जातायाः श्रद्धाया अचलत्वं नाम प्रतिबन्धकराहित्येनाफललाभाय निरन्तरसन्तन्यमानत्वमित्यभिप्रायेणोक्तं **निर्विघ्नामिति** ॥ २१ ॥

---

१ अत्र 'यो यो यां यां भक्तः' इत्येतावतैवोक्तार्थसिद्धौ तनुपर्यन्तनिर्देशात् प्रकृताया भक्तेस्तन्वात्मविषयत्वे तात्पर्यमुन्नीयते, तेन परा भक्तिः प्रादुर्भावात्मविषयाऽपि भवतीति सिद्धान्तितं भक्तिमीमांसायां 'तद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा' ( शांडि. भ. सू. ३।१।२० ) इति सूत्रेण ।

३ रा. भा.—स तया निर्विघ्नया श्रद्धया युक्तस्तस्य इन्द्रादेराराधनं प्रतीहते चेष्टते । ततो मत्तनुभूतेन्द्रादिदेवताराधनात्तानेव हि स्वाभिलषितान् कामान् मयैव विहिताँल्लभते । यद्यप्याराधनकाले आराध्येन्द्रादयो मदीयास्तनवः, तत एव तदर्चनं च मदाराधनमिति न जानाति, तथापि तस्य वस्तुतो मदाराधनत्वादाराधकाभिलषितमहमेव विदधामि ॥ २२ ॥

४ वे. ता. चं.—'स तया' इति श्लोकेऽपि पूर्ववद्वीप्सा भाव्या । 'तया' इत्यस्य प्रस्तुतोपयुक्ताकारपरामर्शित्वज्ञापनाय निर्विघ्नयेत्युक्तम् । स्त्रीलिङ्गेन देवताशब्देन तनुशब्देन च पूर्वनिर्देशेऽपि 'तस्य' इति पुंल्लिङ्गेन प्रतिनिर्देशो बुद्धिस्थतत्तद्देवपरः । 'देवान्देवयजो यान्ति' [ ७।२३ ] इति ह्यनन्तरमुच्यत इत्यभिप्रायेण तस्येन्द्रादेरित्युक्तम् । यद्यपि 'तस्याः' इति पदच्छेदः शक्यः, तथापि 'राधनं' इत्यस्योपसर्गरहितस्य आराधने प्रसिद्ध्यभावात्तदनादरः । यद्वा, फलितोक्तिरियं; 'राधनं' इत्येव पदच्छेदः । तत इति व्याख्येयनिर्देशः । तद्व्याख्यानं मत्तनुभूतेन्द्रादिदेवताराधनादिति । अयमभिप्रायः—'ततः' इत्यस्येन्द्रादिपरत्वं मन्दम्, 'मयैव विहितान्' इति स्वस्यैव फलदातृत्ववचनात् । ततस्तन्निमित्तमेवालापेक्षितम् । अतः 'तस्याराधनमीहते' इति प्रधानतया प्रस्तुतपरामर्श एवायमिति । 'हि तान्'इत्यत्र हीत्यव्ययम् । सर्वत्र च तच्छब्दनिर्देशात्'कामान्' इत्यत्रापि 'तान्' इति विशेषणमुचितम् ; भगवतः समस्ताभिलषितदायित्वसूचनादपेक्षितं च । हितत्ववचनं च प्रकरणविरुद्धम् । 'अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्' [ ७।२३ ] इति तन्निन्दाप्रवृत्तत्वादित्यभिप्रायेणोक्तं तानेव हि स्वाभिलषितानिति । त्वद्विषयज्ञानहीनस्य त्वया फलदानं कथं ? इत्यत्र 'मयैव' इत्यवधारणाभिप्रेतमाह यद्यपीति । एतदप्यत्र स्मारितं—यद्यपीत्यवधारणार्थमाह—मदाराधनत्वादिति 'अहं हि सर्वयज्ञानां' [ ९।२४ ] इत्येतदत्र भाव्यम् । "इष्टापूर्तं बहुधा जातं जायमानं, विश्वं बिभर्ति भुवनस्य नाभिः" [ म. ना. १।६ ] इति च श्रुतिः ॥ २२ ॥

५ आ. मा. भा.—यां यां ब्रह्मादिरूपां तनुम् । उक्तं च नारदीये 'अन्तो ब्रह्मादिभक्तानां मद्भक्तानामनन्तता' इति । 'मुक्तश्च कां गतिं गच्छेन्मोक्षश्चैव किमात्मकः'[म.भा.१२।३४।३]इत्यादेः परिहारसन्दर्भाच्च मोक्षधर्मेषु । 'अवतारे महाविष्णोर्भक्तः कुत्र च मुच्यते' इत्यादेश्च ब्रह्मवैवर्ते॥२१॥२२॥

६ ज. प्र. दी.—रामकृष्णादिरूपां भगवत्तनुमिति प्रतीतिनिरासायाह— यां यामिति । कुत एतत् ? 'अन्तवत्तु फलं तेषां' [ ७।२३ ] इति तद्भक्तानामन्तवत्फलवचनात् । तस्य च ब्रह्मादिग्रहणे सम्भवाद्भगवद्ग्रहणे चासम्भवादिति भावेनाह—उक्तं चेति । फलस्येति शेषः । गम्यत इति गतिः, इत्यादेः प्रश्नस्य परिहाररूपवाक्यसन्दर्भाच्च । बहुत्वादनुदाहरणमिति भावः । अनन्तफलत्वं मूलरूपभक्तानामस्तु, अवतारतनुभक्तानामन्तवत्फलाङ्गीकारे को विरोधः ? इत्यत आह—अवतार इति । कुत्र चावतारे ॥ २१ ॥२२ ॥

७ ह. पै. भा.—यो यो भक्तः यां यां तनुं देवताविग्रहं श्रद्धयाऽर्चितुमिच्छति तस्य तस्याचलां निश्चलां श्रद्धां तामेव तद्विषयां विदधामि करोम्यहम् ॥ २१ ॥ स तया विहितया श्रद्धया युक्तस्तद्देवताविशेषस्याऽऽराधनमीहते करोति । लभते च तत आराधनात्कामानीप्सितान्मयैव विहितान्हितान् मयैव दत्ताननुकूलान् ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तर्हि तत्तद्देवताप्रसादात्तेषां त्वय्येव भक्तिर्न किं भविष्यति? नेत्याह— यो य इति । यो यः कामी यां यां तनुं देवतामूर्तिम् । अनेन तनुभेदमात्रं, न तनुमद्भेदः, तनुनिबन्धन एवान्यदेवताव्यवहार इति सूचितम् । श्रद्धया जन्मान्तरवासनाप्रजातविश्वासेन युक्तः सन् अर्चितुमर्चयितुमिच्छति । चौरादिकस्यार्चतेर्णिजभावपक्षे रूपमिदम् । तस्य तस्य कामिनस्तामेव तनुं प्रति पूर्ववासनाप्राप्तां भक्तिं अचलां स्थिरां विदधामि अहमन्तर्यामी न तु मद्भक्तिमित्यर्थः। तामेव भक्तिमिति व्याख्याने यच्छब्दानन्वयः स्यादिति प्रतिशब्दाध्याहारेण व्याख्यातम् । यद्वा यामर्चितुमिच्छति, तां तद्विषयां भक्तिमित्यर्थः ॥ २१ ॥

ततः किम् ? तत्राह— स तयेति । स कामी तया श्रद्धया युक्तः सन् तस्या देवतामूर्तेः राधनं पूजनमीहते कर्तुमिच्छति । अनुपसर्गस्यापि राधतेः पूजार्थकत्वात् 'राधनं' इति प्रयोगो युक्तः । ततः तस्या देवतामूर्तेः सकाशात् कामानिष्टार्थांश्च लभते । न चैवं मम सर्वकर्मफलप्रदत्वहानिः । हि यस्मात् मयैव विहितान् तान्कामान् लभते, 'फलमत उपपत्तेः' [ब्र. सू. ३।२।३८] इति न्यायादिति भावः ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०—ता अपि देवता मदीयाः शरीरभूताः "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं" [बृ.उ. ३।७।९] इत्यादिश्रुतिभिस्तथाप्रतिपादनात्। तदज्ञानेनैव यो यो यां यां इति तस्याजानतोऽपि मच्छरीरभूतविषयकैषा श्रद्धेत्यहमोकोऽनुसन्धाय तां श्रद्धामेवाचलां विदधामि ॥ २१ ॥ ततश्च स तयेति। ततो मदङ्गभूतादुपास्यदेवात् लभते कामान् मयैवाज्ञिना विहितान्निर्मितान् प्राप्नोति। यद्यप्याराधन-कालेऽपि मामेवमवयविनमविजानंस्तामेव भजते स भक्तस्तथापि वस्तुतो मदाराधनत्वात् मन्निर्मितमेव फलं तल्लभते। यथा शरीरं पुरुषदत्तं वस्तुत आत्मदत्तमित्यात्मभजनस्यैव मुख्यत्वं युक्तं; शाखिमूलसेचनवदिति भावः ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.—अतोऽहमपि तान् स्वरूपरसदानायोग्यांस्तद्देवताभजने दृढान् करोमीत्याह—यो य इति। यो यो भक्तो यां यां तनुं यां यां देवतामूर्तिं श्रद्धया स्वकामसिद्ध्यर्थं शुद्धान्तःकरणेन अर्चितुमिच्छति, तस्य भक्तस्य तामेव श्रद्धामचलां शास्त्रज्ञानादिना वा चालयितुमयोग्यामहमेव विदधामि करोमि, पोषयामि चेत्यर्थः ॥ २१ ॥ ततः स मत्कृतश्रद्धया तस्याऽऽराधनं करोतीत्याह—स तयेति। स तया मत्कृतया श्रद्धया युक्तस्तस्या मूर्तेराराधनमीहते करोति। ततः श्रद्धातः स्वशुद्धान्तःकरणतस्तान् कामान् स्वमनोरथरूपान् मयैव विहितान् निर्मितान्–अन्यथा मदाज्ञां विना देवादीनां न सामर्थ्यम्–अतो मयैव निश्चयेन विहिताँल्लभते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०—किञ्च यो यो भक्तः सात्त्विको राजसस्तामसो वा यां यां तनुं तादृशीमेव देवादिरूपां यक्षरक्षोरूपां भूतप्रेतरूपां वा मूर्तिं श्रद्धया तादृश्यैवार्चितुमिच्छति, तस्य तस्य भक्तस्य तामेव श्रद्धां सात्त्विकीं राजसीं तामसीं वाऽहं सर्वेश्वरोऽचलां विदधामि ॥ २१ ॥ ततश्च स तया श्रद्धया युक्तः सन् तस्या मूर्तेराराधनं ससाधनं वशीकरणमीहते इच्छति। ततश्च कामान्विषयान् लभते मयैव विहितानाज्ञापितान् हितान् ईप्सितान्। एतेन सर्वासां देवतानां स्वाज्ञावशवर्तित्वं दर्शितम् ॥ २२ ॥

अन्यदेवताभक्तानां मौढ्यं भगवद्भक्तानां च वैशिष्ट्यम्।

**अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।**
**देवान्देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥ २३ ॥**

**१ शां.भा.—** यस्मादन्तवत्साधनव्यापारा अविवेकिनः कामिनश्च तेऽतः—अन्तवद्विनाशि तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसामल्पप्रज्ञानाम्। देवान्देवयजो यान्ति देवान्यजन्तीति देवयजस्ते देवान्यान्ति। मद्भक्ता यान्ति मामपि। एवं समानेऽप्यायासे मामेव न प्रपद्यन्तेऽनन्तफलाय, अहो खलु कष्टं वर्तत इत्यनुक्रोशं दर्शयति भगवान् ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.—प्रेक्षापूर्वकारिणि कामानां हितत्वाभावे हेतुमाह—यस्मादिति। किञ्च ये कामिनस्ते न विवेकिनस्ततश्चाविवेकपूर्वकत्वात्कामानां कुतो हितत्वाशङ्का? इत्याह—अविवेकिन इति। कामानामनन्तफलत्वेन हितत्वमाशङ्क्याऽऽह—अत इति। तेषामविवेकपूर्वकत्वमतश्शब्दार्थः। तुशब्दोऽवधारणार्थः। कामफलस्य विनाशित्वे किमिति कामनिष्ठत्वं जन्तूनां? इत्याशङ्क्य प्रज्ञामान्द्यादित्याह—अल्पेति। किं तर्हि साधनमनन्तफलाय? इत्याशङ्क्य भगवद्भक्तिरित्याह–मद्भक्ता इति। अक्षरार्थमुक्त्वा श्लोकस्य तात्पर्यार्थमाह—एवमिति। देवताप्राप्तौ चेति शेषः। 'मामेव'[७।१४]इत्यादौ देवताविशेषं प्रपद्यन्तेऽन्तवत्फलायेति वक्तव्यम्। उक्तवैपरीत्ये कारणमविवेकातिरिक्तं नास्तीत्यभिप्रेत्याऽऽह–अहोखल्विति ॥ २३ ॥

**३ रा. भा.—** तेषामल्पमेधसां अल्पबुद्धीनामिन्द्रादिमात्रयाजिनां तदाराधनफलमल्पं अन्तवच्च भवति। कुतः? देवान् देवयजो यान्ति यत इन्द्रादीन् देवान् तद्याजिनो यान्ति। इन्द्रादयो हि परिच्छिन्नभोगाः परिमितकालवर्तिनश्च; ततस्तत्सायुज्यं प्राप्ताः तैः सह प्रच्यवन्ते। मद्भक्ता अपि तेषामेव कर्मणां मदाराधनरूपतां ज्ञात्वा परिच्छिन्नफलसङ्गं त्यक्त्वा मत्प्रीणनैकप्रयोजनाः मामेव प्राप्नुवन्ति, न च पुनर्निवर्तन्ते; 'मामुपेत्य तु कौन्तेय! पुनर्जन्म न विद्यते' [८।१६] इति हि वक्ष्यते ॥ २३ ॥

४ वे. ता. चं.- यदि भवत्प्रसादात्तेषामपि फलसिद्धिस्तर्हि तत्र को विशेषो भवदुपासकेभ्यः ? इत्यत्रोत्तरम्—'अन्तवत्तु' इत्यादि । पूर्वार्धे सम्भवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदभ्रमनिरासाय **तेषामल्पमेधसा**मिति सामानाधिकरण्यं दर्शितम् । तेषामिति फलाल्पत्वहेतुपरामर्श इत्याह **इन्द्रादिमात्रयाजिना**मिति । तत्र हेतुरल्पबुद्धित्वम् । अल्पेष्विन्द्रादिषु तदधीनफलेषु च मेधा बुद्धिर्येषां तेऽल्पमेधसः । अल्पगोचरत्वादल्पा मेधा येषामिति वा । अल्पमेधस्त्वादेव तत्फलस्याप्यल्पत्वं सिद्धमिति कृत्वा **अल्पमन्तवच्च भवती**त्युक्तम् । 'देवान् देवयजः' इत्यत्र देवशब्दो गोबलीवर्दन्यायान्मच्छब्दोक्तभगवद्व्यतिरिक्तदेवपरः । अथवा, मनुष्यादिसहपठितकर्मवश्यदेवजातिविशेषपर इत्यभिप्रायेण **इन्द्रादीन् देवांस्तद्याजिन** इत्युक्तम् । कथमिन्द्रादिप्राप्तिः फलस्याल्पास्थिरत्वहेतुः ? इत्यत्राह—**इन्द्रादयोऽपि हीति** । अस्तु तेषामल्पभोगत्वमस्थिरत्वं च; ततः किं तदुपासकस्य भगवत्प्रसादाधीनफललाभस्येत्यत्राह **तत** इति । केवलेन्द्रादियाजिनां तत्तदभिलषितं तत्सायुज्यादिकमेव हि भगवान् प्रयच्छति; सायुज्यं च समानभोगत्वमेव; तत इन्द्रादिभोगस्य परिमितस्वरूपत्वात्परिमितकालवर्तित्वाच्च तत्समानस्तदुपासकभोगोऽपि तथाविध एव भवेदिति भावः । 'माम्' इति निर्दिष्टभगवत्स्वरूपस्य निरतिशयानन्दमयत्वात्तत्साधर्म्यमागतस्यापि निरतिशयभोगत्वं सिद्धम् । सूत्रं च 'भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च' [ ब्र. सू. ४।४।२१ ] इति । तन्नित्यत्वाच्च तदुपासकभोगस्यापि नित्यत्वं दर्शयति **न च पुनर्निवर्तन्त** इति । अत्राभिप्रेतं वक्ष्यमाणवचनेन विशदयति **मामुपेत्ये**ति । अत्रापि सूत्रम्—'अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्' [ब्र. सू. ४।४।२२ ] इति । 'मद्भक्ता यान्ति मामपि' इत्यत्र भगवति फलान्तरार्थिनामपि मोक्षे विश्रमो नारायणार्यैरुक्तः—'तथा देवतान्तरभक्तानां अपेक्षितार्थलाभ एव फलम् ; भगवद्भक्तानां तु न तावन्मात्रं फलम्; किन्तु स्वभावप्राप्तादनभिसंहितादपि पापपरिक्षयात् सत्त्वाधिक्योन्मीलनेन शुद्धेषु धर्मेषु श्रद्धोत्पत्त्या शनैश्शनैर्ज्ञानवैराग्यादिलाभद्वारेण पूर्वोक्तभक्तिविशेषलाभाच्चिरतरेणापि कालेन भगवत्प्राप्तिर्भविष्यतीति नित्यफलत्वमित्यभिप्रायः'–इति । इदं च **शाण्डिल्यसंहितायाम**पि भागवतापचारसङ्ग्रहे प्रोक्तं–'भगवन्तं समुद्दिश्य तदेकशरणा नराः । कदाचिन्न च हीयन्ते काम्यकर्मरता अपि ' ॥ इति ॥ २३ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २३ ॥

७ ह. पै. भा.— अन्तवत्तु अन्तो विनाशो विद्यते यस्य तदन्तवत्फलं तु तेषां देवतान्तरपूजकानामल्पमेधसामल्पबुद्धीनाम् । देवानभिपतान्देवान्यजन्तीति देवयजो यान्ति गच्छन्ति । मयि भक्ता मद्भक्ता यान्ति मामपि तस्मादनन्तपूजाफलम् ॥ २३ ॥

८ वें. ब्र. गि — तर्हि त्वत्त एव सर्वेषामपि फलप्राप्त्यविशेषे त्वद्भक्तानामार्तादीनामन्यदेवताभक्तेभ्यः कथमतिशयः? तत्राह— अन्तवदिति । तेषां तु अन्यदेवताभक्तानां महत्तमपि तत्फलं अन्तवद्विनाशवद्भवति । तत्र हेतुः— अल्पमेधसां अल्पेषु परिच्छिन्नेषु क्षुद्रदैवतेषु मेधा बुद्धिर्येषां ते तथोक्ताः । एतदेव दर्शयति -- देवान्देवयज इति । देवान्यजन्ति भजन्तीति देवयजः, ते देवानन्तवत एव यान्ति । इन्द्रादयो हि परिच्छिन्नभोगाः परिमितकालवर्तिनश्च । अतस्तान् प्राप्ता अपि तैः सहैव च्यवन्ते । मद्भक्तास्त्वार्तादयो मामनन्तं प्राप्नुवन्ति; मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते' [ ८।१६ ] इति हि वक्ष्यति । 'मामपि' इत्यपिशब्दः कामसमुच्चयार्थः । तथा चायं भावः— यथा हि घर्मशान्तये गङ्गामवगाहमानः स्वामीप्सितां तापशान्तिमनभीप्सितं पावनत्वमपि लभते । तत्कस्य हेतोः ? अवगाह्यगङ्गाजलस्वाभाव्यात् ; तथा आर्तिपरिहारादिकामनया मां भजन्तः स्वाभीष्टान्कामान् मद्भजनमाहात्म्यप्रयुक्तमपुनरावृत्तिलक्षणं मत्प्राप्तिरूपं मोक्षमपि प्राप्नुवन्ति । अतो मद्भक्तानामन्यदेवताभक्तानां च महदन्तरम् । तस्मात्साधूक्तम् 'उदाराः सर्व एवैते [ ७।१८ ] इति ॥ २३ ॥

९ व० त० दी०— अतो भावभेदात्फलभेद इत्याह– अन्तवदिति । तुशब्दो भेदं सूचयति । यतोऽल्पमेधसां इन्द्रादिमात्राङ्ग्याजिनां शाखाफलपत्रान्यतमसेचकानामिव तेषां फलमल्पमन्तवद्विनाशि च भवति; वदति च 'देवान्देवयजो यान्ति' इत्यादौ तत्तद्देवसायुज्यं चाप्यप्राप्यमेवेति । यागे तु श्रौते देवानां भगवदङ्गभूतत्वज्ञानपूर्वकमाराधनमिति न विरोधः । भक्तौ तु केवलं तदङ्गिन एवाराधने सर्वाराधनं भवतीति भावेन मूलरूपत्वादिति ज्ञेयम् ! किंबहुना ? यो यं भजते श्रद्धया तं तमेवैतीत्यभिप्रायेण मद्भक्ता यान्ति मामपीत्युक्तम् ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.— तर्हि त्वन्निर्मितफलाप्त्या चोत्तमत्वमेव तत्फलस्य कथं न ? इत्यत आह— अन्तवत्त्विति । तु पुनः मन्निर्मितमपि फलं तेषामल्पमतिमतां भक्तिं विहाय कामपरत्वात् अन्तवत् विनाशयुक्तं भवतीत्यर्थः । तच्छब्देन तद्बुद्ध्यनुसारेण मया तत्फलं विधीयत इति व्यज्यते । ननु देवा अपि त्वदंशास्तद्भजने कथं नोत्तमफलम् ? इत्यत आह— देवा-

निति । देवयजः पूर्वोक्तप्रकारेण स्वकामितफलाप्त्यर्थं देवभजनकर्त्तारः । अथवा देवत्वेन तद्भजनकर्त्तारः, न तु मदंशत्वेन स्फुरितसन्मानाः, अतो देवान् यान्ति मत्सायुज्यकामाभावे प्राप्नुवन्ति । कामनायां तु तदेव प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । अन्यदेवेषु देवत्वेन भजनकर्त्तारस्तत्सायुज्यमेव प्राप्नुवन्ति । कामनायां तु तदपि न प्राप्नुवन्त्यतः कामनयाऽपि मद्भजनमुत्तममित्याह— मद्भक्ता इति । मद्भक्ताः मद्भजनकर्तारो मामपि यान्ति । कामनयाऽपि प्रवृत्ताः पूर्वोक्तप्रकारेण । मामपि प्राप्नुवन्ति । अतएव 'उदाराः सर्व एवैते' [७।१८] इति पूर्वमुक्तम् । अतोऽग्रे तेषां मोक्षः। अक्षरसायुज्यमपि प्राप्नुवन्ति । अतएव हरिवंशे ' अपत्यं द्रविणं दारा हारा हर्म्यं हया गजाः । सुखानि स्वर्गमोक्षौ च न दूरे हरिभक्तितः '॥इति। इदमेवापिशब्देन व्यज्यते ॥ २३ ॥

११ नी० भा० दी०— अल्पमेधसां " अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोति अन्यन्मनुतेऽन्यद्विजानाति तदल्पम्" [छां. उ. ७।२४।१] इति श्रुतेः । द्वैतमल्पं तत्रैव मेधा येषां ते, बाह्यार्थाभिलाषिणामित्यर्थः । तेषां तत्फलमन्तवत् । सर्वस्य बाह्यार्थस्यान्तवत्त्वादेव । तुशब्दोऽभेदेनेश्वरे भक्तेभ्यो विभेदार्थः । यतो देवयजो देवान्यजन्ते इति देवयजस्ते देवानन्तयुक्तानेव यान्ति । एवं यक्षरक्षोभक्ता यक्षादीनेव यान्ति, भूतप्रेतभक्ताश्च भूतादीनेवेत्यपि द्रष्टव्यम् । मद्भक्तास्तु मामेवानन्तं यान्ति, अतस्तेऽनन्तफलभाज इत्यर्थः ॥ २३ ॥

**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः ।**
**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥ २४ ॥**

**१ शां. भा.— किन्निमित्तं मामेव न प्रपद्यन्ते ? इत्युच्यते—अव्यक्तमप्रकाशं व्यक्तिमापन्नं प्रकाशं गतमिदानीं मन्यन्ते मां नित्यप्रसिद्धमीश्वरमपि सन्तमबुद्धयोऽविवेकिनः परं भावं परमात्मस्वरूपमजानन्तोऽविवेकिनो ममाव्ययं व्ययरहितमनुत्तमं निरतिशयं मदीयं भावमजानन्तो मन्यन्त इत्यर्थः ॥ २४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— भगवद्भजनस्योत्तमफलत्वेऽपि प्राणिनां प्रायेण तन्निष्ठत्वाभावे प्रश्नपूर्वकं निमित्तं निवेदयति— **किन्निमित्तमि**त्यादिना । अप्रकाशं शरीरग्रहणात्पूर्वमिति शेषः । **इदानीं** लीलाविग्रहपरिग्रहावस्थायामित्यर्थः । प्रकाशस्य तर्हि कादाचित्कत्वं भगवति प्राप्तं ? नेत्याह—**नित्ये**ति । कथं तर्हि भगवन्तमागन्तुकप्रकाशं मन्यन्ते ? तत्राबुद्धय इत्युत्तरं तद्विवृणोति— **पर**मिति । ' परमनुत्तमम् ' इति विशेषणद्वयं सोपाधिकनिरुपाधिकभावार्थम् ॥ २४ ॥

**३ रा. भा.— इतरे तु सर्वसमाश्रयणीयत्वाय मम मनुष्यादिष्ववतारमप्यकिञ्चित्करं कुर्वन्तीत्याह— सर्वैः कर्मभिराराध्योऽहं सर्वेश्वरो वाङ्मनसापरिच्छेद्यस्वरूपस्वभावः परमकारुण्यादाश्रितवात्सल्याच्च सर्वसमाश्रयणीयत्वायाजहत्स्वभाव एव वसुदेवसूनुरवतीर्ण इति ममैवं परं भावमव्ययमनुत्तममजानन्तः प्राकृतराजसूनुसमानं इतःपूर्वमनभिव्यक्तमिदानीं कर्मवशाज्जन्मविशेषं प्राप्य व्यक्तिमापन्नं प्राप्तं मामबुद्धयो मन्यन्ते; अतो मां नाश्रयन्ते; न कर्मभिराराधयन्ति च ॥ २४ ॥**

४ वे. ता. चं.– ननु फलान्तरदेवतान्तरवासनया हि त्वद्विषयज्ञानप्रतिबन्ध उक्तः; त्वत्साक्षात्काराभावे हि तदुपपत्तिः; त्वयि कारुण्यादिगुणप्रेरिते सर्वसमाश्रयणीयत्वायावतारवशादशेषजननयनगोचरे कथं त्वत्परित्याग इत्यत्रोत्तरम्—'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्' इत्यभिप्रायेणाह– **इतरे त्वि**ति । इतरे चतुर्विधसुकृतिभ्योऽन्ये । 'परं भावम् ' इत्यनेनाभिप्रेतं निरतिशयपरत्वसौलभ्यरूपं स्वभावं दर्शयति **सर्वैः कर्मभि**रित्यादिना **अवतीर्ण** इत्यन्तेन । **अजहत्स्वभाव** इत्यव्ययशब्दाभिप्रेतोक्तिः । अस्मादुत्तमं नास्तीत्यनुत्तमम्, अनवधिकातिशयमित्यर्थः । अत्र 'अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम्' इत्येतत्सामर्थ्यादवतारविषयत्वम् ; तत्रापि 'माम्' इत्यस्यौचित्यादवतारविशेषविषयत्वं च सिद्धमित्यभिप्रेत्योक्तं **वसुदेवसूनुरवतीर्ण** इति, **प्राकृतराजसूनुसमान**मिति च । इदं सर्वावतारोपलक्षणतया विशेषोदाहरणमात्रं वा । ' अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नम् ' इत्यनयो-

१ ननु सर्वगते भगवत्त्वे किमिति देवतान्तरोपासकानां मितं फलम् ? उच्यते-**अव्यक्त**मिति । ते खल्वल्पबुद्धित्वान्मत्स्वरूपपारमार्थिकमविद्यमानव्यक्तिकं न प्रत्यभिजानते, अपि तु निजकामनासमुचिताकारविशिष्टज्ञानस्वभावां व्यक्तिमेवापन्नं विदन्ति, नान्यथा । अत एव न नाम्न्याकारे वा कश्चिद्ग्रहः, किन्तु सिद्धान्तोऽयमत्र-यः कामनापरिहारेण यत्किञ्चिद्देवतारूपमालम्बते, तस्य तच्छुद्धमुक्तभावे पर्यवस्यति; विपर्ययात्तु विपर्ययः —**इत्यभिनवगुप्तपादाः** । —**अविगीता** ।

र्थान्तरभ्रमव्युदासायाह प्राकृतेत्यादि । मन्दमतिबोद्धव्यतया निन्यमानोऽर्थोऽत्रायमेव भवितुमर्हतीति भावः । इतः पूर्वमनभिव्यक्तत्वमिदानीमवताराद्व्यक्तत्वमपि प्रमाणसिद्धम् ; तत्कथमत्र प्रतिक्षिप्यत इत्यत्रोक्तं **कर्मवशाज्जन्मविशेषं प्राप्येति** । उत्सर्गापवादादिनयात्सङ्कोच इति भावः । 'अबुद्धयः' इत्यनेन परमात्मतदवतारादिविषयश्रवणमननादिराहित्यं वैलक्षण्यज्ञापकलिङ्गदर्शनेऽपि तदूहशक्तिवैकल्यं च विवक्षितम् । फलितमाह—**अत** इत्यादि । आश्रयणमत्र प्रपत्तिपूर्वकभजनं, तदभावाच्च तदङ्गतया वर्णाश्रमादिधर्मान् स्तुतिनमस्कारादींश्च न कुर्वत इत्याह—**न कर्मभिरि**ति ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.**—को विशेषस्तवान्येभ्यः ? इत्यत आह—**अव्यक्तमिति** । कार्यदेहादिवर्जितम् । तद्वानिव प्रतीयस इत्यत आह—**व्यक्तिमापन्नमिति** । कार्यदेहाद्यापन्नम् । तच्चोक्तम्—"सदसतः परम्" "न तस्य कार्यम्" "अपाणिपादः"[ श्वे.उ. ३।१९ ]'आनन्ददेहं पुरुषं मन्यन्ते गौणदैहिकम्' इत्यादौ । भावं याथार्थ्यम् । तथाऽब्रवीत्—'याथातथ्यमजानन्तः परं तस्य विमोहिताः' इत्यादि ॥ २४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—'अव्यक्तं' इति श्लोकस्य प्रकृतेन साक्षात्सङ्गत्यभावात् तं सङ्गमयितुमाह—**क** इति । अन्येभ्यो ब्रह्मादिभ्यः । येन तान् प्राप्तानामन्तवत्फलत्वेऽपि त्वां प्राप्तानामनन्तफलतेति शङ्काशेषः । कथमनेनोक्तशङ्कापरिहारः ? इत्यत आह—**कार्येति** । अनेन यथाश्रुतं पदं पठित्वा व्याख्यातम् । वस्तुतः 'अव्यक्तं मां' इत्यनुवादादव्यक्तोऽहमिति यत्सिद्धं तस्येदं व्याख्यानमिति ज्ञातव्यम् । इदानीमुत्तरस्य सङ्गतिमाह—**तद्वा**निति । कार्यदेहादिमान् इवेति मृदूक्तिः, वस्तुतस्त्वेवेति । अतो न तद्वर्जित इति शेषः । प्रकृतोपयोगितया व्याचष्टे—**कार्येति** । भगवतः कार्यदेहादिवर्जितत्वं तद्वत्ताप्रतीतिश्चाज्ञानमूलेत्येतत्कुतः येन वाक्यद्वयमुक्तार्थं स्यात् ? इत्यतोऽर्थद्वये क्रमेण प्रमाणान्याह—**तच्चे**ति । कार्यात्कारणाच्च । इदमपरं रूपं, परं तु रूपमजानन्त इति प्रतीतिनिरासार्थमाह—**भावमिति** । याथार्थ्यं प्रमाणाव्यभिचरितस्वरूपम् । अत एव परम् । कुतोऽयमर्थः ? समाख्यानादित्याह—**तथेति** । यद्यप्ययमर्थः 'त्रिभिः' [ ७।१३ ] इत्यत्रोक्तस्तथापि प्रसङ्गात् पुनरुक्त इत्यदोषः ॥ २४ ॥

**७ ह. पै. भा.**—किन्निमित्तं भगवन्तं विहाय देवतान्तरं यजन्ति ? इत्यर्जुनवचनमाशङ्क्याह—**अव्यक्तमिति** । अव्यक्तमविद्यमानव्यक्तिभावमिमं संसारिपुरुषवद्व्यक्तिमापन्नं प्राप्तं मन्यन्ते जानन्ति मामबुद्धयोऽविवेकिनो लौकिका जनाः । मम परं प्रकृष्टं परमात्मभावमजानन्तोऽचिन्तयन्तोऽव्ययमविनाशिनमनुत्तमं निरुत्तमम् । अतो तं मां विहाय देवतान्तरं पूजयन्ति ॥ २४ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**—एवं च समाने प्रयासे महति च फलविशेषे सति मामनादृत्य देवान्तरं भजन्ति ; अहो जगन्मौढ्यमिति सानुक्रोशमनुशोचन्निव भगवानाह—**अव्यक्तमिति** । इतः पूर्वमनभिव्यक्तमिदानीं कर्मवशाद्वसुदेवगृहे जन्मविशेषं प्राप्य व्यक्तिमापन्नं मां इतरजीवसाधारणं जना मन्यन्ते । तत्र हेतुः—अबुद्धयः विवेकशून्याः । इदमेव विवृणोति—**परं भावमिति** । परं जगत्कारणभूतमनुत्तमं सर्वोत्कृष्टतमं अव्ययं नित्यं मम भावं स्वरूपमजानानाः सन्तः जीवानुसारिकार्यदर्शनाज्जीवमेव कञ्चिन्मन्यन्ते । अतो मामीश्वरं विहाय देवतान्तराण्येव भजन्ते । ततश्चान्तवत्फलं यान्तीत्यर्थः । तदेतद्वक्ष्यति—'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' [ ९।११ ] इति ॥ २४ ॥

**९ व० त० दी०**—मद्भजने देवान्तरभजने च तेषां मत्स्वरूपमाहात्म्याज्ञानमेव हेतुरित्याह—अव्यक्तमिति । यतोऽक्षरमैश्वर्यं अप्रकटं वा व्यक्तिरहितं वा मानुषलोके स्वेच्छया स्वगताशेषालौकिकसौन्दर्यं दुर्विभाव्यं व्यक्तिमापन्नं निराकारं मन्यन्ते वा मानयन्ति प्राकृतं व्यक्तिमापन्नं वा मन्यन्तेऽबुद्धयोऽतः तथा मानने हेतुः मम सदानन्दमात्रस्याचिन्त्यैश्वर्यस्य परं भावमंशांशिभावेनावस्थितिभावमानन्दमात्रत्वलक्षणं वाऽजानन्त इति ॥ २४ ॥

**१० पु. अ. त.**—तर्हि कथं न सर्वे त्वामेव भजन्ति ? इत्यत आह—**अव्यक्तमिति** । अबुद्धयः कामहृतज्ञाना अव्यक्तं न विद्यते व्यक्तो लौकिकवत् प्रकटो व्यवहारो यस्य, व्यक्तिर्जात्यादिर्वा यस्य, तादृशं पुरुषोत्तमं व्यक्तिमापन्नं मनुष्यादिभावेन जगति प्रकटं लौकिकत्वेन अन्यदेवसमं मनुष्यादिसमं वा मन्यन्ते । कुतः ? इत्याकाङ्क्षायामाह—**परमिति** । मम पुरुषोत्तमस्य अव्ययं नाशरहितं लीलात्मकं केषुचित् । भाग्यवत्सु प्रकटीभूय तद्रसपोषार्थं तत्समानाकारेण लीलारूपमजानन्तः । किञ्च अनुत्तमं न विद्यते उत्तमो यस्मात्तादृशं परं भावं पुरुषोत्तमात्मकमजानन्तो मां तथा मन्यन्ते । अतः स्वकामितफलक्षिप्रप्रसादार्थमन्यदेवता एव भजन्ति, न तु मामित्यर्थः ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं तर्हि कुतस्त्वामेव सर्वे न प्रतिपद्यन्ते ? इत्याशङ्क्याज्ञानादित्याह— अव्यक्तमिति। अव्यक्तं सर्वोपाधिशून्यत्वेनास्पष्टमपि वासुदेवशरीरेण व्यक्तिमापन्नं अस्मदादिवच्छरीराभिमानिनं मामबुद्धयो मन्यन्ते। यतो मम परं भावं परत्वमुत्कृष्टत्वमजानन्तः। उत्कृष्टत्वमेव विशिनष्टि-अव्ययं न व्येतीत्यव्ययमविनाशिनं अनुत्तमं यस्मादन्यदुत्कृष्टं च नास्ति, निरतिशयमखण्डैश्वर्यरूपमित्यर्थः ॥ २४ ॥

**नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।**
**मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥**

**१ शां. भा.**— तदीयमज्ञानं किंनिमित्तं ? इत्युच्यते- नाहं प्रकाशः सर्वस्य लोकस्य, केषाञ्चिदेव मद्भक्तानां प्रकाशोऽहमित्यभिप्रायः। योगमायासमावृतो योगो गुणानां युक्तिर्घटनं सैव माया योगमाया, अथवा भगवतश्चित्तसमाधानं योगः तत्कृता माया योगमाया, तया योगमायया समावृतः, सञ्छन्न इत्यर्थः। अत एव मूढो लोकोऽयं नाभिजानाति मामजमव्ययम् ॥ २५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— अविवेकरूपमज्ञानं भगवन्निष्ठाप्रतिबन्धकमुक्तं, तस्मिन्नपि निमित्तं प्रश्नपूर्वकमनाद्यज्ञानमुपन्यस्यति— **तदीयमज्ञानमि**त्यादिना। 'त्रिभिर्गुणमयैः' [७।१३] इत्यनौपाधिकरूपस्याप्रतिपत्तौ कारणमुक्तं, अत्र तु सोपाधिकस्यापीति विशेषं गृहीत्वा व्याचष्टे— **नाहमि**ति। तर्हि भगवद्भक्तिरनुपयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **केषाञ्चिदि**ति। 'सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशोऽहं' इत्यत्र हेतुमाह- **योगे**ति। अनाद्यनिर्वाच्याज्ञानाच्छन्नत्वादेव मद्विषये लोकस्य मौढ्यं, ततश्च मदीयस्वरूपविवेकाभावान्मन्निष्ठत्वराहित्यमित्याह— **अत एवे**ति ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.**— कुत एवं न प्रकाशते ? इत्यत्राह- क्षेत्रज्ञासाधारणमनुष्यत्वादिसंस्थानयोगाख्यमायया समावृतोऽहं न सर्वस्य प्रकाशः। मयि मनुष्यत्वादिसंस्थानदर्शनमात्रेण मूढोऽयं लोको मामतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्याग्नितेजसमुपलभ्यमानमपि अजमव्ययं निखिलजगदेककारणं सर्वेश्वरं मां सर्वसमाश्रयणीयत्वाय मनुष्वत्वसंस्थानमास्थितं नाभिजानाति ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— यदि त्वमप्रतिहतसङ्कल्पः साभिसन्धिकं सर्वसमाश्रयणीयत्वायावतीर्णः, तर्हि कथं तत्फलासिद्धिरित्यभिप्रायेण शङ्कते **कुत** इति। मायाशब्दस्तावद्विचित्र(शिष्ट)सृष्टिकरार्थवाचितया प्रागेव प्रपञ्चितः; त्रिगुणात्मिकया मायया समावृतत्वं तु प्रागवस्थावतारावस्थयोः साधारणम्; असाधारणश्चावरणहेतुरत्र सम्भवे वक्तुमुचितः; सङ्कल्पादिश्च साधारणः योगशब्दोऽपि सम्बन्धे प्रचुरप्रयोगत्वात्तदर्थः प्राप्तः; तत्सम्बन्धी चार्थसिद्धः; स चात्रौचित्यात्प्रदेशान्तरेषु प्रसिद्धत्वाच्च मनुष्यादिसंस्थानवेषभाषादिरेव; तेनैवेन्द्रजालमायाव्यवच्छेदोऽपि सिद्ध इत्यभिप्रायेणाह **मनुष्यत्वादी**ति। प्रकाशः परस्वभावेनेति शेषः। तर्हि तवैवायं दोष इत्यत्रोत्तरं **मूढोऽय**मित्यादि। अधिगम्यत्वायापादितं मनुष्यत्वादिकं दुर्मतीनां परित्यागहेतुरभूत्, नच पारमेश्वरस्वभावो मायया सर्वस्तिरोहितः; लोकोत्तरकर्मतेजःप्रभृतीनां प्रकाशनात्। किन्त्वयं मन्दो लोको यत्किञ्चित्साधर्म्याद्घनावृते मयूखमालिनि खद्योतभावमवगच्छतीत्यभिप्रायेणाह— **मयी**ति। मूढः मयि मनुष्यत्वादिभ्रमविशिष्ट इत्यर्थः। 'माम्' इति तदानीन्तनोपलभ्यमानाकारनिर्देशसामर्थ्यात्प्रदेशान्तरोक्तत्वाच्च **अतिवाय्विन्द्रकर्माण**मित्याद्युक्तम्। परावस्थस्याज्ञानं सर्वेषां प्राप्तमेव हि; इह तु 'परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्' [७।२४] इति मनुष्यत्वे परत्वस्याज्ञानमुच्यते; तत्र प्रतिषेध्यस्य ज्ञानस्य प्रसङ्गार्थं लिङ्गोक्तिरियम्। निरतिशयदीप्तियुक्तत्वमपि जगत्कारणपरमपुरुषासाधारणधर्मतया वेदान्तेषु निर्णीतम्। अतिवाय्विन्द्रकर्मत्वं च सर्वनियन्तृत्वलिङ्गम्। 'अजम्' इत्यनेन फलितमाह **निखिलजगदेककारण**मिति। 'अव्ययम्' इत्यनेन लब्धमाह **सर्वेश्वर**मिति। स्वरूपतो धर्मतश्च निर्विकारत्वं हि तस्याव्ययत्वम्; एतेन 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्' [४।६] इति प्रागुक्तसूचनं वा। अजमव्ययं नाभिजानाति, किन्तु पुरुषान्तरवत्कर्माधीनजन्मानं ज्ञानसङ्कोचादिमन्तं जानातीति शेषः ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— अज्ञानं च मदिच्छयेत्याह— **नाहमि**ति। योगेन सामर्थ्योपायेन मायया च। मयैव मूढो नाभिजानाति। तथाहि पाद्मे-'आत्मनः प्रावृतिं चैव लोकचित्तस्य बन्धनम्। स्वसामर्थ्येन देव्या च कुरुते स महेश्वरः' इति च ॥ २५ ॥

६ अ. प्र. दी.— तथापि'नाहं प्रकाशः' इति पुनरुक्तिरित्यतस्तात्पर्यमाह-अज्ञानं चेति। येनाज्ञानेन मामन्यथा मन्यन्ते, तदज्ञानं च मदिच्छाधीनमेव, न स्वतन्त्रं; येन तया निन्दया मम खेदः स्यादिति भावः।'योग एव माया'इति व्याख्यानं(शं.)असदिति भावेनाह-योगेनेति। सामर्थ्यमेवोपायः। 'युज्यते येन योगोऽसावुपायः शक्तिरेव च' इति वचनाद्योगशब्दस्योभयार्थत्वेन द्वन्द्वैकवद्भावः किं न स्यात्? इति चेत्, न; मायया चेत्यस्य वैयर्थ्यापत्तेः, तस्या अप्युपायविशेषत्वात्। अत एवोपायार्थत्वं गृहीत्वा सामर्थ्येति तद्याख्यानं कृतम्। इदं तात्पर्यं श्लोके न प्रतीयत इत्यत आह— मयैवेति। उक्तार्थस्थापनाय पुराणसम्मतिमाह— तथेति ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.— नाहमिति। नाहं प्रकाशः सर्वस्य लोकस्य। केषाञ्चिदेव मद्भक्तानां प्रकाशोऽहमित्यभिप्रायः। गुणैर्योग एव माया, योगमायासमावृतो मूढोऽप्यविवेकी लोको नाभिजानाति मामजमव्ययमुत्पत्तिविनाशरहितम् ॥ २५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु जन्मप्रभृत्यतिमानुषात्यद्भुतविविधदिव्यचरित्रशालिनि त्वयि कथमितरजीवसाधारण्यबुद्धिः स्यात्? एकैकमपि हि त्वच्चरित्रमप्राकृतदिव्यपुरुषत्वं तवावेदयतीत्याशङ्क्याह— नाहमिति। अहं सर्वस्य लोकस्य न प्रकाशः स्वेन रूपेण प्रकटो न भवामि। 'सर्वस्य' इति वचनात्केषाञ्चिन्मद्भक्तानामेव प्रकटो भवामीति दर्शितम्। तत्र हेतुः— योगमायासमावृत इति। योगो ध्यानं भगवत्सङ्कल्पः, तद्वशवर्तिनी माया योगमाया, तया मद्भक्तेतरो मां न जानात्विति सङ्कल्पाधीनया मायया; यद्वा योगो गुणानां युक्तिर्घटना, सैव माया तया समावृतः। अतो मूढो मायया अयं चतुर्विधभक्तविलक्षणो लोकः सत्यपि ज्ञानकारणे मामजमव्ययमनाद्यन्तं परमेश्वरं नाभिजानाति, किन्तु लोकसाधारणमेव मन्यते ॥ २५ ॥

९ व० त० दी०— कुत एवं न प्रकाशस इत्यत्राह— नाहमिति। नाहं प्रकाशः सर्वस्य संसृतस्य किन्तु स्वभक्तानामेव, यतोऽहं योगमायासमावृतः अंशांशिभावावस्थित्यादिसर्वभवनरूपा योगशक्तिरेवान्येषां व्यामोहिका माया तया सम्यगासमन्तादावृतः। 'वृञ् वरणे' इतिधातोः लोको वा योगमायासमावृतो न जानाति ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— ननु मनुष्या विवेकादिसहिताः कथं न त्वां जानन्ति?इत्यत आह—नाहमिति। अहं सर्वस्य साधारणस्य प्रकाशः प्रकटो न भवामि, किन्तु कस्यचिद्भक्तस्यैव। तत्र हेतुमाह —योगमायासमावृत इति। योगार्थमेव या माया अन्तरङ्गा दासीभूता शक्तिस्तया आवृतो रसार्थमाच्छन्नः। अतो मूढो भक्त्यालोचनादिज्ञानशून्योऽयं परिदृश्यमानो मां पश्यन्नपि स्वरूपज्ञानरहितो लोको बहिर्दृष्टिर्मामजं जन्मरहितं लीलया प्रकटमव्ययं नित्यं नाभिजानाति अभितः सर्वभावेन न जानाति ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— कुतस्त्वद्विषयमज्ञानं लोकस्य ? इत्यत आह— नाहमिति। हे योग योगिन्! अर्श आद्यच्प्रत्ययान्तोऽयं योगशब्दः। अहं तत्पदार्थः सर्वस्य योगिनस्त्वम्पदार्थमात्राभिज्ञस्य न प्रकाशोऽस्मि। तत्र हेतुः। मायासमावृत इति। (शां.) भाष्ये तु योगो युक्तिर्गुणानां घटनं सैव योगमाया चित्तसमाधिर्वा योगो भगवतस्तत्कृता मायेति भगवत्सङ्कल्पवशवर्तिनी मायेत्यर्थः। उत्तरार्धः स्पष्टार्थः ॥ २५ ॥

## वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन !।
## भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥ २६ ॥

**१ शां. भा.— यया योगमायया समावृतं मां लोको नाभिजानाति, नासौ योगमाया मदीया सती ममेश्वरस्य मायाविनो ज्ञानं प्रतिबध्नाति, यथाऽन्यस्यापि मायाविनो माया ज्ञानं तद्वत्; यत एवमतः—अहं तु वेद जाने समतीतानि समतिक्रान्तानि भूतानि तथा वर्तमानानि च अर्जुन! भविष्याणि च भूतानि वेदाहम्, मां तु वेद न कश्चन, मद्भक्तं मच्छरणमेकं मुक्त्वा मत्तत्त्ववेदनाभावादेव न मां भजते ॥ २६ ॥**

२ आ. शां. व्या.— मायया भगवानावृतश्चेत्तस्यापि लोकस्येव ज्ञानप्रतिबन्धः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— ययेति । न हीयं माया मायाविनो विज्ञानं प्रतिबध्नाति, मायात्वात्, लौकिकमायावत्, अथवा नेश्वरो मायाप्रतिबद्धज्ञानो मायावित्वात्, लौकिकमायाविवदित्यर्थः । भगवतो मायाप्रतिबद्धज्ञानत्वाभावे सर्वज्ञत्वमप्रतिबद्धं सिद्धमित्याह—यत इति । लोकस्य मायाप्रतिबद्धविज्ञानत्वादेव भगवदाभिमुख्यशून्यत्वमित्याह—मां त्विति । कालत्रयपरिच्छिन्नापरिच्छिन्नसमस्तवस्तुपरिज्ञाने प्रतिबन्धो नेश्वरस्यास्तीति द्योतनार्थस्तुशब्दः । 'मां तु' इति लोकस्य भगवत्तत्त्वविज्ञानप्रतिबन्धं द्योतयति । तर्हि त्वद्भक्तिर्विफलेत्याशङ्क्याऽऽह— मद्भक्तमिति । तर्हि सर्वोऽपि त्वद्भक्तिद्वारा त्वां ज्ञास्यतीत्याह— मत्तत्त्वेति । विवेकवतो मद्भजनं, न तु विवेकशून्यस्य सर्वस्यापीत्यर्थः ॥ २६ ॥

**३ श. भा.— अतीतानि वर्तमानान्यनागतानि च सर्वाणि भूतान्यहं वेद जानामि । मां तु वेद न कश्चन—मयाऽनुसन्धीयमानेषु कालत्रयवर्तिषु भूतेषु मामेवंविधं वासुदेवं सर्वसमाश्रयणीयतयाऽवतीर्णं विदित्वा मामेव समाश्रयन्न कश्चिदुपलभ्यत इत्यर्थः । अतो ज्ञानी सुदुर्लभ एव ॥ २६ ॥**

४ वे. ता. चं.— अयं लोको नाभिजानातीत्येतावता वर्तमानमात्रपरत्वं नाशङ्कनीयं; किन्तु त्रैकाल्यवर्तीन्यपि भूतानि न जानन्तीत्युच्यते 'वेदाहं' इत्यादिना । अत्र 'अतीतानि' इति पृथङ्निर्दिष्टत्वात् भूतानि इत्येतत्क्षेत्रज्ञपरम् । स्वस्य सर्वज्ञत्वमत्र किमर्थमुच्यते? इत्यत्राह मयेति । तद्वेदनफलं हि तदेकसमाश्रयणमिति दर्शयितुं मामेव समाश्रयन्नित्युक्तम् । परमप्रकृतेन सङ्गमयति— अत इति ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.— न मां माया बध्नातीत्याह— वेदेति । न कश्चनातिसमर्थोऽपि स्वसामर्थ्यात् ॥ २६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— अकस्मात्स्वस्य सार्वज्ञं किमित्युच्यते? इत्यत आह— नेति । यवनिकायुभयभागवर्तिनोः परस्पराज्ञानवत्तत्रापि भूतविषये ज्ञानं न स्यादिति शङ्कानिरासार्थमिति शेषः । तथापि 'मां तु वेद न कश्चन' इति पुनरुक्तमित्यत आह— न कश्चनेति । असमर्थो लोको न जानातु, अतिसमर्थस्तु ब्रह्मादिर्ज्ञास्यतीति शङ्कानिरासार्थमेतदुक्तम् । कश्चनेति विशेषणादिति भावः । तर्हि 'ज्ञानी च भरतर्षभ!' [ ७।१६ ] इत्यादिविरोध इत्यत उक्तम्— स्वेति ॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.— वेदेति । वेद जानाम्यहं समतीतान्यतिक्रान्तानि वर्तमानानि चार्जुन! । भविष्याणि भावीनि च भूतानि पदार्थान्मां तु वेद विजानाति न कश्चन न कोऽपीति ॥ २६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— 'मायावृतः' इत्येतदेवोपपादयति— वेदाहमिति । अतीतानि वर्तमानान्यनागतानि चेति कालत्रयवर्तीनि स्थावरजङ्गमात्मकानि सर्वाणि भूतान्यहं वेद जानामि । मां तु कश्चिदपि न वेद न जानाति । प्रसिद्धं ह्येतल्लोके मायाव्यैन्द्रजालिको लोकान्मोहयंस्तान्सर्वान्स्वयं जानाति लोकैस्तु स्वयं न ज्ञात इति । तथा सर्वजगन्मोहको महामायाव्यहमपीत्यर्थः ॥ २६ ॥

**९ व० त० दी०— सर्वोत्तमं मत्स्वरूपं अजानन्त इत्युक्तं तदेव स्वसर्वोत्तमत्वं परत्वमनावृतज्ञानादिशक्तिमत्त्वेन दर्शयन्नन्येषामज्ञानमाह— वेदाहमिति । अतीतानि वर्त्तमानान्यनागतानि च सर्वाणि भूतानि जानामि । मां तु कश्चन न जानाति । मयाऽनुसन्धीयमानेषु कालत्रयवर्त्तिषु मामेवंविधमहिमानं वासुदेवं सर्वमुक्त्यर्थमवतीर्णं ज्ञात्वा मामेव प्रपद्यमानो न कश्चिदुपलभ्यत इत्यर्थः । अतो भगवन्मार्गीयो ज्ञानी दुर्लभ एव ॥ २६ ॥**

१० पु. अ. त.— ननु यांस्त्वं स्वसेवार्थं प्रकटीकृतान् पुनः स्वकीयत्वेन न जानासि तदा माया तान् व्यामोहयति? उतान्यथा वा? इत्याशङ्क्याह— वेदाहमिति । अहं समतीतानि सेवामकृत्वा नष्टानि वर्त्तमानानि साम्प्रतं सेवां कुर्वाणानि भविष्याणि सेवार्थं प्रकटानि यानि भूतानि मत्सत्तया प्रकटानि स्थावरजङ्गमानि त्रिकालवर्तीनि मदीयत्वेन वेद जानामि । तु पुन. मज्ज्ञानानन्तरमपि कश्चन त्रिकालवर्तिषु मां प्रभुत्वेन न वेद । न जानातीत्यर्थः ॥ २६ ॥

**११ नी० भा० दी०— ननु त्वदभिन्नं लोकं त्वन्माया मोहयति चेत्त्वां कुतो न मोहयति ? इत्यत आह— वेदाहमिति । सत्यं, सत्यपि लोकस्य मम चाभेदे औपाधिकभेदस्य सत्त्वादुपाधिधर्माभिमानित्वाल्लोको मूढः । तदभावाच्चाहं सर्वज्ञ इति विशेषः । अक्षरार्थः स्पष्टः ॥ २६ ॥**

**इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत ! ।**
**सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ! ॥ २७ ॥**

**१ शां० भा०—** केन पुनर्मत्तत्त्ववेदनप्रतिबन्धेन प्रतिबद्धानि सन्ति जायमानानि सर्वभूतानि मां न विदन्तीत्यपेक्षायामिदमाह—इच्छाद्वेषसमुत्थेन, इच्छा च द्वेषश्चेच्छाद्वेषौ, ताभ्यां समुत्तिष्ठतीतीच्छाद्वेषसमुत्थस्तेनेच्छाद्वेषसमुत्थेन । केनेति विशेषापेक्षायामिदमाह— द्वन्द्वमोहेन द्वन्द्वनिमित्तो मोहो द्वन्द्वमोहस्तावेवेच्छाद्वेषौ शीतोष्णवत्परस्परविरुद्धौ सुखदुःखतद्धेतुविषयौ यथाकालं सर्वभूतैः सम्बध्यमानौ द्वन्द्वशब्देनाभिधीयेते । तत्र यदेच्छाद्वेषौ सुखदुःखतद्धेतुसम्प्राप्त्या लब्धात्मकौ भवतस्तदा तौ सर्वभूतानां प्रज्ञायाः स्ववशापादनद्वारेण परमार्थात्मतत्त्वविषयज्ञानोत्पत्तिप्रतिबन्धकारणं मोहं जनयतः । न हीच्छाद्वेषदोषवशीकृतचित्तस्य यथाभूतार्थविषयज्ञानमुत्पद्यते बहिरपि; किमु वक्तव्यं ताभ्यामाविष्टबुद्धेः सम्मूढस्य प्रत्यगात्मनि बहुप्रतिबन्धे ज्ञानं नोत्पद्यते ? इति । अतस्तेनेच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत भरतान्वयज ! सर्वभूतानि सम्मोहितानि सन्ति सम्मोहं सम्मूढतां सर्गे जन्मन्युत्पत्तिकाल इत्येतद्यान्ति गच्छन्ति हे परन्तप ! । मोहवशान्येव सर्वभूतानि जायमानानि जायन्त इत्यभिप्रायः । यत एवमतस्तेन द्वन्द्वमोहेन प्रतिबद्धप्रज्ञानानि सर्वभूतानि सम्मोहितानि मामात्मभूतं न जानन्ति; अत एवाऽऽत्मभावेन मां न भजन्ते ॥ २७ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** भगवत्तत्त्वविज्ञानप्रतिबन्धकं मूलाज्ञानातिरेकं प्रश्नद्वारेणोदाहरति **केने**त्यादिना । पुनश्शब्दात्प्रतिबन्धकान्तरविवक्षा गम्यते । अपरोक्षमवान्तरप्रतिबन्धकमिदमागृह्यते । विशेषमाकाङ्क्षापूर्वकं निक्षिपति— **केनेति विशेषापेक्षायामिति** । द्वन्द्वशब्देन गृहीतयोरपीच्छाद्वेषयोर्ग्रहणं द्वन्द्वशब्दार्थोपलक्षणार्थमित्यभिप्रेत्याऽऽह— **तावेवेति** । तयोरपर्यायमेकत्रानुपपत्तिं गृहीत्वा विशिनष्टि — **यथाकालमिति** । न च तयोरनधिकरणं किञ्चिदपि भूतं संसारमण्डले सम्भवतीत्याह—**सर्वभूतैरिति** । तथापि कथं तयोर्मोहहेतुत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—**तत्रेति** । तयोराश्रयः सप्तम्यर्थः । उक्तमेवार्थं कैमुतिकन्यायेन प्रपञ्चयति— **न हीति** । पूर्वभागानुवादपूर्वकमुत्तरभागेन फलितमाह— **अत इति** । प्रत्यगात्मन्यहङ्कारादिप्रतिबन्धप्रभावतो ज्ञानोत्पत्तेरसम्भवोऽतश्शब्दार्थः । कुलप्रसूत्यभिमानेन स्वरूपशक्त्या च युक्तस्यैव यथोक्तप्रतिबन्धविघातसामर्थ्यमिति द्योतनार्थं भारत परन्तप ! इति सम्बोधनद्वयम् । तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धे प्रकृतमवान्तरकारणमुपसंहरति— **मोहेति** । जायमानभूतानां मोहपरतन्त्रत्वे फलितमाह— **यत इति** । भगवत्तत्त्ववेदनाभावे तन्निष्ठत्ववैधुर्यं फलतीत्याह— **अत एवेति** ॥ २७॥

**३ रा. भा.—** तथा हि—इच्छाद्वेषाभ्यां समुत्थितेन शीतोष्णादिद्वन्द्वाख्येन मोहेन सर्वभूतानि सर्गे जन्मकाल एव सम्मोहं यान्ति । एतदुक्तं भवति—गुणमयेषु सुखदुःखादिद्वन्द्वेषु पूर्वपूर्वजन्मनि यद्विषयाविच्छाद्वेषौ रागद्वेषावभ्यस्तौ; तद्वासनया पुनरपि जन्मकाल एव तदेव द्वन्द्वाख्यमिच्छाद्वेषविषयत्वेन समुपस्थितं भूतानां मोहनं भवति; तेन मोहेन सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति; तद्विषयेच्छाद्वेषस्वभावानि भवन्ति, न मत्संश्लेषवियोगसुखदुःखस्वभावानि । ज्ञानी तु मत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्वभावः; न तत्स्वभावं किमपि भूतं जायते इति ॥ २७ ॥

**४ वे. ता. चं—** एवं ज्ञानिनो दौर्लभ्याय कालत्रयवर्तिसर्वभूतसाधारणं भगवदज्ञानकारणं ‘इच्छा’ इति श्लोकेनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **तथाहीति** । पदार्थमन्वयार्थं च दर्शयति **इच्छाद्वेषाभ्यामिति** । इच्छाद्वेषाभ्यां समुत्तिष्ठतीति इच्छाद्वेषसमुत्थः । ननु जन्मकाल एवेच्छाद्वेषौ कारणाभावान्न सम्भवतः; सम्भवन्तौ वा भगवद्विषयौ किं न स्याताम् ? न चेच्छाद्वेषमात्रेण शीतोष्णादेरुत्थानं, तस्य च हेमन्तघर्मादिस्वकारणाधीनत्वात्; द्वन्द्वस्य च कथं मोहशब्दार्थता? मोहेन मोहं यान्तीत्यात्माश्रयादिप्रसङ्गः । इच्छाद्वेषावेव द्वन्द्वशब्देन गृह्येते; अतो द्वन्द्वनिमित्तो मोहो द्वन्द्वमोह इत्यादि परव्याख्यानं च पुनरुक्त्या-

---

१ अत्र इच्छाद्वेषसमुत्थेनेत्येतत् ‘इन्द्रियाणामिच्छाद्वेषाभ्यामुद्भवता’ इति व्याचक्रुर्नव्याः । तदयुक्तम्, इच्छाद्वेषयोरिन्द्रियधर्मत्वाभावात् । प्रसिद्धं हि तयोरन्तःकरणधर्मत्वम् । ‘सर्गोऽस्यां सृष्टौ’ इति विवरणमसङ्गतमेव, सर्गशब्दस्योत्पत्तावेव रूढत्वात् । **—अविगीता ।**

दिदुस्स्थम्। एतेन 'सुखं मे भूयात्' 'दुःखं मा भूत्' इत्यभिनिवेशो द्वन्द्वमोह इत्यपि मन्दमुक्तमित्यादिकमाशङ्क्याह-**एतदुक्तं भवतीति**। जन्मान्तरवासनाख्यं कारणमस्ति; वासनायाश्च स्वकारणस्वभावविषयत्वादिच्छाद्वेषयोर्न भगवत्संश्लेषविश्लेषविषयत्वप्रसङ्गः। उत्थानं चेच्छाद्वेषविषयतया स्फुरणमेव। मोहशब्दस्य करणे व्युत्पत्त्या द्वन्द्वे प्रयोगः। मोहकारणस्य मोहजनने च नात्माश्रयादिरिति भावः। अभोग्ये भोग्यतावुद्धिः अद्वेष्ये च द्वेष्यताबुद्धिरिह सम्मोह इत्यभिप्रायेणाह- **तद्विषयेति**। एवंविधसम्मोहवशादिच्छाद्वेषयोः साक्षात्प्राप्तविषयपरित्यागं दर्शयति- **न मत्संश्लेषेति**। उचितविषयेच्छाद्वेषशालिनं सुदुर्लभं ज्ञानिनं तद्व्यतिरेकप्रकाशनाय दर्शयति **ज्ञानी त्विति**। 'ज्ञानी तु परमैकान्ती तदायत्तात्मजीवनः। तत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्तदेकधीः'[गी. सं. २७] इति सङ्ग्रहः। तद्व्यतिरेकमेव भूतानां जन्मसिद्धं दर्शयति— **न तदिति** ॥ २७ ॥

**५ आ. मा. भा.— द्वन्द्वमोहेन सुखदुःखादिविषयमोहेन इच्छाद्वेषयोः प्रवृद्धयोर्न हि किञ्चिज्ज्ञातुं शक्यम्। कारणान्तरमेतत्। सर्गे सर्गकाले आरभ्यैव शरीरे हि सतीच्छादयः। पूर्वं त्वज्ञानमात्रम् ॥ २७ ॥**

६ ज. प्र. दी.—इच्छाद्वेषौ द्वन्द्वम्, तज्जन्यो मोहो द्वन्द्वमोहः, तेनेति कश्चित् [शं.] तदसदिति भावेनाह—**द्वन्द्वेति**। अन्यथा इच्छाद्वेषसमुत्थेन मोहेनेत्येव स्यादिति भावः। व्याख्यानव्याख्येयभावश्चागतिका गतिः। द्वन्द्वमोहस्येच्छाद्वेषसमुत्थत्वं कथं? इत्यत आह—**इच्छेति**। किञ्चित्सुखादिकं हेयत्वादिनेति शेषः। ननु 'नाहं प्रकाशः' [७।२५] इति भगवतो 'दैवी ह्येषा' [७।१४] इति तदधीनायाः गुणमय्या मायायाश्च मोहकत्वमुक्तं, तत्कथं भगवद्विषयसम्मोहस्येच्छाद्वेषसमुत्थो द्वन्द्वमोहः कारणमुच्यते? इत्यत आह— **कारणान्तरमिति**। इच्छाद्वेषसमुत्थद्वन्द्वमोहलक्षणमेतद्भगवद्विषयस्य सम्मोहस्यावान्तरकारणमुच्यत इत्यर्थः। कुत एतदित्यतः तत्सूचकं पदं पठति— **सर्ग** इति। सर्गः क्रिया, कथं तस्याधिकरणत्वं? इत्यतो लक्षणामाश्रित्य व्याचष्टे— **सर्गेति**। तदुत्तरकालं किं तत्र कारणं? इत्यतः पुनर्लक्षणाश्रयणेनाह- **आरभ्येति**। सर्गकालमिति सम्बन्धः। कथमनेनावान्तरकारणत्वं ज्ञायते? इत्यतः सावधारणमेतदित्युक्तमेवेति। उक्तमुपपादयन्नाह— **शरीर** इति। आदिपदेन द्वेषस्य द्वन्द्वानां च ग्रहणम्। अतः सर्गकालमारभ्यैवैतत्कारणमिति सिद्धम्। एतावता कथमवान्तरकारणत्वसिद्धिः? इत्यत आह— **पूर्वं त्विति**। सर्गात्पूर्वं त्विच्छादिना विना ज्ञानमस्त्येव भगवदिच्छाद्यधीनमत एतदवान्तरं कारणमिति सिद्धमित्यर्थः ॥ २७ ॥

**७ ह. पै. भा — इच्छेति। इच्छाद्वेषसमुत्थेन प्रकाशितेन द्वन्द्वमोहेन 'सुखं मे स्यात्' 'दुःखं मे मा भूत्' इत्येवमर्थरूपेण द्वन्द्वमोहेन सर्वाणि भूतानि सम्मोहं भ्रमं सर्गे सृष्टौ यान्ति परन्तप! ॥ २७ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— मायावद्द्वन्द्वमोहोऽपि भगवत्तत्त्वज्ञानप्रतिबन्धक इत्याह— **इच्छाद्वेषेति**। इच्छाद्वेषाभ्यामनुकूलप्रतिकूलविषयाभ्यां समुत्थितेन शीतोष्णादिद्वन्द्वाख्यमोहेन सर्वभूतानि सर्गे जन्मकाल एव सम्मोहं यान्ति। **अयमर्थः**— गुणमयेषु सुखदुःखादिद्वन्द्वेषु पूर्वजन्मनि यद्विषयाविच्छाद्वेषावभ्यस्तौ तद्वासनया पुनरपि जन्मकाल एव तदेव द्वन्द्वाख्यमिच्छाद्वेषविषयत्वेन समुत्थितं भूतानां मोहनं भवति। तेन मोहेन सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति तद्विषयेच्छाद्वेषस्वभावान्येव भवन्ति, न तु मत्संश्लेषवियोगसुखदुःखस्वभावानि। अतो न मां प्रपद्यन्त इति ॥ २७ ॥

**९ व० त० दी०— किञ्चायं मोहो नेदानीन्तनः, किन्तु सृष्ट्यर्थः प्राक्तन एवेत्याह-इच्छेति। इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे व्यवस्थितौ ईशकृतौ (प्राकृतौ) रागद्वेषौ, तयोः पापहेतुभूतयोः समुत्पत्तिर्येन तथाभूतेन द्वन्द्वनिमित्तेन मोहेन हेतुना सर्वभूतानि क्षरपदवाच्यानि संसृतानि सर्गे एव सम्मोहं जन्ममरणपर्यावर्त्तं कारणभूतं भगवत्स्वरूपाज्ञानमयं प्राप्नुवन्ति गुणप्रवाहमध्ये पतिता भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥**

१० पु. अ. त.— तर्हि त्वज्ज्ञाने तान् माया कथं मोहयति? इत्यत आह— **इच्छेति**। सर्गे सृष्टावुत्पत्त्यनन्तरम्, इच्छा स्वेष्टवस्तुषु, द्वेषस्तद्विपरीतवस्तुषु, ताभ्यां सम्यक् प्रकारेणोत्थितो यो द्वन्द्वमोहः सुखदुःखरूपस्तेन हे भारत भक्तवंशज! सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति प्राप्नुवन्ति। भारतेति सम्बोधनेन भरतवत् कस्यचिदेव भक्तस्य न मोहो भवतीति व्यञ्जितम्। अत्रायं भावः— मत्क्रीडार्थं सेवार्थं वा ये सृष्टास्तैर्मत्संयोगवियोगसुखदुःखविचार एव कर्तव्यः, न तु स्वस्वविचारकाणां भगवत्कार्यानुपयुक्तत्वान्माया मोहयतीति भावः ॥ २७ ॥

**११ नी० भा० दी०— केन पुनर्निमित्तेनातीतादीनि भूतानि न जानन्ति? इत्याशङ्क्याह— इच्छेति। इच्छा रागः द्वेषस्ताभ्यां समुदिथतो द्वन्द्वमोहः शोभनाशोभनसत्यासत्यनित्यानित्यात्मानात्मसु विपर्ययः अशो-**

भने शोभनबुद्धिः शोभने वा अशोभनबुद्धिरित्येवं रूपस्तेन । हे भारत भरतान्वय ! सर्वभूतानि सर्गे सृष्टिविषये मोहं अविवेकं यान्ति हे परन्तप ! । अयं भावः-यो हि सृष्टेरुपादानं स्वरूपं च तत्त्वतो जानाति स ब्रह्मवित् सर्वज्ञत्वादतीतादीन् जानाति, सृष्टौ च सर्वेषां मोहोऽस्ति, अशोभने रूपादौ शोभनाध्यासात्, असत्ये प्रपञ्चे सत्यत्वाध्यासात्, सत्ये चात्मनोऽसङ्गत्वेऽसत्यत्वाध्यासात्, अनित्ये स्वर्गादौ नित्यत्वाध्यासात्, अनात्मनि देहादावात्माध्यासात्; अतो विपर्ययेण सृष्टिज्ञानं प्रतिबद्धं, तेन च सार्वज्ञं न जायतेऽस्मदादीनामिति ॥ २७ ॥

भगवद्भजनाधिकारित्वकथनपूर्विकोत्तराध्यायसङ्गतिः ।

**येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।**
**ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥ २८ ॥**

**१ शां. भा.—** के पुनरनेन द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ताः सन्तस्त्वां विदित्वा यथाशास्त्रमात्मभावेन भजन्ते ? इत्यपेक्षितमर्थं दर्शयितुमुच्यते— येषां तु पुनरन्तगतं समाप्तप्रायं क्षीणं पापं जनानां पुण्यकर्मणां पुण्यं कर्म येषां सत्त्वशुद्धिकारणं विद्यते ते पुण्यकर्माणस्तेषां पुण्यकर्मणां ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता यथोक्तेन द्वन्द्वमोहेन निर्मुक्ता भजन्ते मां परमात्मानं दृढव्रताः 'एवमेव परमार्थतत्त्वं, नान्यथा' इत्येवं सर्वपरित्यागव्रतेन निश्चितविज्ञाना दृढव्रता उच्यन्ते ॥ २८ ॥

२ आ. शां. व्या.—यदि सर्वाणि भूतानि जन्म प्रतिपद्यमानानि सम्मूढानि सन्ति भगवत्तत्त्वपरिज्ञानशून्यानि भगवद्भजनपराङ्मुखानि, तर्हि शास्त्रानुरोधेन भगवद्भजनमुच्यमानमधिकार्यभावादनर्थकमापद्येतेति शङ्कते— **के पुनरिति**। अनेकेषु जन्मसु सुकृतवशादपाकृतदुरितानां द्वन्द्वप्रयुक्तमोहविरहिणां ब्रह्मचर्यादिनियमवतां भगवद्भजनाधिकारित्वान्न शास्त्रविरोधोऽस्तीति परिहरति— **उच्यत इति** । तुशब्दद्योत्यमर्थमाह— **पुनरिति** । उक्तार्थमात्रसिद्ध्यर्थं '**समाप्तप्रायं**' इत्युक्तम् । प्रकृतोपयोगं पुण्यस्य कर्मणो दर्शयितुं विशिनष्टि— **सत्त्वेति** । उभयविधशुद्धेर्द्वन्द्वनिमित्तमोहनिवृत्तिफलमाह- **ते द्वन्द्वेति** । मोहनिवृत्तेर्भगवन्निष्ठापर्यन्तत्वमाह — **भजन्त इति** । तेषां नानापरिग्रहवतां भगवद्भजनप्रतिहतिमाशङ्क्याऽऽह— **दृढेति** ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.—** येषां त्वनेकजन्मार्जितेनोत्कृष्टपुण्यसञ्चयेन गुणमयं द्वन्द्वेच्छाद्वेषहेतुभूतं मदौन्मुख्यविरोधि चानादिकालप्रवृत्तं पापमन्तगतं क्षीणं; ते पूर्वोक्तेन सुकृततारतम्येन मां शरणमनुप्रपद्य गुणमयान्मोहाद्विनिर्मुक्ताः जरामरणमोक्षाय, प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपदर्शनाय महते चैश्वर्याय, मत्प्राप्तये च दृढव्रताः दृढसङ्कल्पाः मामेव भजन्ते ॥ २८ ॥

**४ वे. ता. चं.—** यद्येवं सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति; तर्हि भगवदुपासनं कदाचिदपि कस्यचिदपि न स्यात् ; अतः 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [ ७।१६ ] इत्यादिनोक्तं चानुपपन्नं स्यादित्यत्रोत्तरं **येषां त्वित्यादि** । 'पुण्यकर्मणाम्' इत्येतत्पापनिवृत्तिहेतुपरम् । तथा च श्रुतिः "धर्मेण पापमपनुदति" [ म. ना. उ. १६।१ ] इति । जनशब्दश्च जननवति वर्तमानत्वात् पुण्यप्रचयहेतुभूतानेकजन्मसूचनपर इत्यभिप्रायेणोक्तम्— **अनेकजन्मार्जितेनोत्कृष्टपुण्यसञ्चयेनेति** । भगवज्ज्ञानप्रतिबन्धकपापनिवर्तकत्वाच्च उत्कृष्टत्वं फलितम् । गुणमयशब्देन सुखदुःखरूपभगवत्संश्लेषविश्लेषाख्यद्वन्द्वव्यवच्छेदः । 'द्वन्द्वमोहविनिर्मुक्ता मां भजन्ते' इति फलद्वयदर्शनात्प्रतिबन्धकेऽपि पापे द्वन्द्वेच्छाद्वेषहेतुभूतं मदौन्मुख्यविरोधि चेति भेदो दर्शितः । अनेकजन्मार्जितोत्कृष्टपुण्यनाश्यत्वायोक्तं **अनादिकालप्रवृत्तमिति** । उपासनारम्भे पापस्य द्वन्द्वमोहस्य च निरशेषविनष्टत्वाभावादन्तर्गतशब्देनाल्पावशिष्टत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेणोक्तं —**क्षीणमिति** । 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' [ ७।१४ ] 'चतुर्विधा भजन्ते मां' इत्यादिकं च प्रागुक्तमनन्तराभिधीयमानं च 'जरामरणमोक्षाय' [ ७।२९ ]इत्यादिकमनुसन्दधान आह **पूर्वोक्तेनेति** । न चात्र द्वन्द्वमोहविनिर्मुक्तत्ववचनादैश्वर्यार्थिनां प्रसङ्गानुपपत्तिः, तेषामपि क्षुद्रतरद्वन्द्वनिरोधस्यावश्यापेक्षितत्वात् । व्रतशब्दः सङ्कल्पविशेषेषु मुख्यः; तत्सम्बन्धादेव क्रियाविशेषेषु तत्प्रयोग इत्यभिप्रायेण **दृढसङ्कल्पा** इत्युक्तम् । दृढव्रतशब्देन देवतान्तरपरित्यागादिनियमोऽपि यथाप्रमाणं सूचित इत्यभिप्रायेण **मामेव भजन्त** इत्युक्तम् । 'मां भजन्ते' इत्यनेनैव भजनाङ्गव्रतादेरपि सिद्धत्वात् **मत्प्राप्तये चे**त्यन्तेन दृढसङ्कल्पत्वं स्वाभिमतफलविषयतया वा व्याख्यातम् ॥ २८ ॥

५ आ. मा. भा.— विपरीताश्च केचित्सन्तीत्याह— येषामिति ॥ २८ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'चतुर्विधाः' [ ७।१६ ] इत्यनेन गतार्थमुत्तरं वाक्यमित्यत आह— विपरीताश्चेति । त्वत्प्रपत्तेर्मायाकरणाकारणत्वात् स्वदोषाद्वा त्वां न प्रपद्यन्त इत्यत्र कथं निर्णयः? इत्यतस्तदुक्तम् । सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति चेत्, कुतो मुक्तिमार्ग इत्याशङ्कयाऽत्र द्वन्द्वमोहरहिताश्च केचित्सन्तीत्याहेत्यर्थः ॥ २८ ॥

७ ह. पै. भा.— येषामिति । येषां त्वन्तगतं पापं दुष्कृतं जनानां पुण्यकर्मणां ते पुण्यकर्माणो द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता द्वन्द्वभ्रमरहिता भजन्ते सेवन्ते मां दृढव्रता दृढसङ्कल्पाः ॥ २८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— यदि सर्वभूतानि द्वन्द्वमोहग्रस्तानि न त्वां भजन्ति कथं तर्हि 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [ ७।१६ ] इत्युक्तं? इत्याशङ्कां परिहरन्नध्यायार्थमुपसंहरति— येषामिति। येषां त्वनेकजन्मकृतसुकृतपुञ्जानां जनानां तत्पुण्यमहिम्ना पापं मज्ज्ञानप्रतिबन्धकमन्तं गतं नष्टम् , ते द्वन्द्वमोहेन प्रागुक्तेन निर्मुक्ताः; अत एव दृढमचलं व्रतं नियमो येषां ते तथोक्ताः; भगवानेव भजनीयः स चैवंरूप एवेति निश्चयवन्त इत्यर्थः । मां भजन्ते । एतादृशा एव 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [ ७।१६] इत्यत्रोक्ताः, अत एव सुकृतिन इति तत्रोक्तम् । अतः 'सर्वभूतानि सम्मोहं यान्ति' [ ७।२७ ] इत्युत्सर्गः, 'तेषु सुकृतिनो भजन्ति' इत्यपवाद इत्यविरोधोऽध्यायार्थोपसंहारश्च ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०— येषां त्विति । सुकृतिनां जनानां पापमात्रं नष्टं पापरूपं प्रतिबन्धकं वा ते मां दृढव्रताः सन्तो भजन्ते । मां भजन्तो दृश्यन्त इत्यर्थः ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— ननु ये मोहयुक्तास्तन्मध्ये तत्सङ्गिन एव केचन पूर्वमभजन्तः पश्चात् त्वद्भजनप्रवृत्ताः कथं भवन्ति ? इत्यत आह— येषामिति । येषां दुर्लभानां भाग्यवतां पुण्यकर्मणां मद्दर्शनादिना पुण्याचरणशीलानां महत्सु विनयादियुक्तानाम् । तु पुनः जनादिक्लेशयुक्तानां पापं मत्स्वरूपज्ञानप्रतिबन्धकं अन्तभावं गतं प्राप्तं, नष्टमिति यावत् । ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः स्वसुखदुःखादिमोहनिर्मुक्ताः दृढव्रताः दृढसङ्कल्पाः मदेकनिष्ठाः मां भजन्ते । अत्रायं भावः— पूर्वजन्मकृतं यत्किञ्चित् पुण्यकर्म, तेन जन्मान्तरे प्रवृद्धमाने वाऽनेकजन्मनि वयसः परिपाके पुण्योपचितमरणभयेन तन्निवृत्त्यर्थं मद्भजनप्रवृत्ता भवन्ति । अतएव 'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' [पां. गी. ४० ]इति भागवतैरुक्तम् ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— केषां तर्हि सार्वज्ञ्यं भवति ? इत्याशङ्कयाह— येषां त्विति द्वाभ्याम् । येषां पुनर्जनानां पुण्यकर्मणां पापं अन्तगतं अन्तं नाशं प्राप्तम् -'द्वितीयाश्रिता०' [अष्टा. २।१।२४] इति समासः— ते द्वन्द्वमोह उक्तलक्षणस्तेन निर्मुक्ताः सन्तः प्रथमं दृढव्रताः शमदमादिदार्ढ्यभाजो भूत्वा मां भजन्ते ॥ २८ ॥

## जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये ।
## ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम् ॥ २९ ॥

१ शां. भा.— ते किमर्थं भजन्ते ? इत्युच्यते— जरामरणमोक्षाय जरामरणयोर्मोक्षार्थं मां परमेश्वरमाश्रित्य मत्समाहितचित्ताः सन्तो यतन्ति प्रयतन्ति प्रयतन्ते ये, ते यद्ब्रह्म परं तद्विदुः कृत्स्नं समस्तं अध्यात्मं प्रत्यगात्मविषयं वस्तु तद्विदुः, कर्म चाखिलं समस्तं विदुः ॥ २९ ॥

२ आ. शां. व्या.— यथोक्तानामधिकारिणां भगवद्भजनफलं प्रश्नद्वारा दर्शयति— ते किमर्थमिति । जरामरणादिलक्षणो यो बन्धस्तद्विश्लेषार्थं भगवद्भजनमित्यर्थः । सम्प्रति सगुणस्य सप्रपञ्चस्य मध्यमानुग्रहार्थं ध्येयत्वमाह— मामाश्रित्येति । जरादिसंसारनिवृत्त्यर्थं निर्गुणं निष्प्रपञ्चं मामुत्तमाधिकारिणो जानन्तीत्युक्तं 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' [ ७।१४ ] इत्यादावित्याह— जरेति । मध्यमानधिकारिणः प्रत्याह— मामिति । परमेश्वराश्रयणं नाम विषयविमुखत्वेन भगवदेकनिष्ठत्वमित्याह— मत्समाहितेति । प्रयतनं भगवन्निष्ठासिद्ध्यर्थं बहिरङ्गाणां यज्ञादीनामन्तरङ्गाणां च श्रवणादीनामनुष्ठानम् । प्रागुक्तं जगदुपादानं परं ब्रह्म । कथं ब्रह्म विदुः ? इत्यपेक्षायां समस्ताध्यात्मवस्तुत्वेन सकलकर्मत्वेन च तद्विदुरित्याह— कृत्स्नमिति ॥ २९ ॥

३ रा. भा.— अत्र तेषां त्रयाणां भगवन्तं भजमानानां ज्ञातव्यविशेषानुपादेयांश्च प्रस्तौति—जरामरणेति। जरामरणमोक्षाय प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपदर्शनाय मामाश्रित्य ये यतन्ते; ते तद्ब्रह्म विदुः, अध्यात्मं च कृत्स्नं विदुः, कर्म चाखिलं विदुः ॥ २९ ॥

४ वे. ता. चं.— अथाष्टमाध्याये प्रपञ्चयिष्यमाणस्यार्थस्य प्रस्तावः श्लोकद्वयेन क्रियत इत्याह— अत्रेति । 'जरामरणमोक्षाय ' इत्येतावतो निर्देशात् प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपदर्शनायेत्युक्तम् । यतनमत्राराधनरूपं विवक्षितम् । एषां ब्रह्माध्यात्मकर्मादीनां सप्तानां प्रश्नपूर्वकं प्रपञ्चो भविष्यति । अत्र 'विदुः' इति सिद्धवन्निर्देशो वर्तमानापदेशोऽपि विद्धयर्थः ॥ २९ ॥

५ आ. मा. भा.— ' जरामरणमोक्षाय ' इत्यन्यकामव्यावृत्त्यर्थं, मोक्षे सक्तिस्तुत्यर्थं वा, न विधिः 'मुमुक्षोरमुमुक्षुस्तु वरो ह्येकान्तभक्तिभाक्' इति इतरस्तुतेर्नारदीये । नात्यन्तिकमिति च । 'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्राविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ॥ अनिमित्ता भगवति भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी । जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा' [ ३।२५।३२-३३ ] इति लक्षणाच्च भागवते। आह च 'सर्वे वेदास्तु देवार्था देवा नारायणार्थकाः। नारायणस्तु मोक्षार्थो मोक्षो नान्यार्थ इष्यते ॥ एवं मध्यमभक्तानामेकान्तानां न कस्यचित् । अर्थे नारायणो देवः सर्वमन्यत्तदर्थकम्' इति गीताकल्पे। "त एव च विदुः"। "यमेवैष वृणुते" [ कठो. २।२२+मुंडो. ३।३ ] इति श्रुतेः ॥ २९ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'मां भजन्ते' [७।१८] इत्युक्तानुवादेन फलमुच्यते। तत्र 'जरामरणमोक्षाय' इत्यनुक्तस्यानुवादासम्भवादप्राप्तत्वेन विध्यर्थं, मद्भजनं च जरामरणमोक्षोद्देशेन कार्यमित्येवं प्रतीतिनिरासार्थमाह— जरेति । लक्षणया स्वर्गादिकामनिवृत्तिरर्थोऽस्येति तथोक्तम्। मोक्षविषयासक्तिरन्यसक्तेः प्रशस्तेति तत्स्तुत्यर्थं वा सर्वथा न विधिः। कुतः? इत्यत आह— मुमुक्षोरिति । इतरस्यामुमुक्षोर्भक्तस्य । न हि प्रशस्ते सत्यप्रशस्तं नियन्तुं युक्तमिति भावः । इति चेतरस्तुतेरिति सम्बन्धः। प्रकारभेदात्पृथगुक्तिः। इतश्च न मोक्षकामविधिरित्याह— देवानामिति। सत्त्व एवैकमनसः शुद्धसात्त्विकस्य पुंसो देवानामिन्द्रियाणां, गुणलिङ्गानां गन्धाद्युपलब्धिलक्षणगुणानुमेयानाम्, तथा वचनादिक्रियानुमेयानां च, आनुश्राविककर्मणां वैदिकानुष्ठान कारणानाम्। या भगवत्यनिमित्ता फलोद्देशरहिता केवलं स्वाभाविकी निरवधिकस्नेहरूपस्वभावनिर्वृत्ता वृत्तिः सा भक्तिः,सा च सकामभक्त्या जातायाः सिद्धेर्मुक्तेरपि गरीयसी। या सा कामनाभावेऽपि कोशं लिङ्गशरीरं स्वभावादेव जरयत्यनलवदित्यनिमित्तत्वस्य भक्तिलक्षणत्वेनोक्तत्वाच्चेत्यर्थः। न हि लक्षणवैकल्यं विधेयमिति भावः। आह च स्पष्टमेतदन्यत्र। देवार्थाः देवप्रतिपत्त्यर्थाः । प्रतिपन्ना देवा नारायणज्ञानार्थाः। मोक्षार्थे ज्ञातव्यः। नान्यार्थः परः पुरुषार्थः। मध्यमभक्तानां चित्तवृत्तिः। एकान्तानां नियतानामुत्तमभक्तानां न कस्यचिदर्थे स एव परमपुरुषार्थः। ननु 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' [७।१४] इत्युक्तत्वात् 'ते ब्रह्म तद्विदुः'इति पुनरुक्तमित्यत आह— त एवेति। अन्योपायनिवृत्त्यर्थमेतदित्यर्थः। स्यादेवं व्याख्यानम्, यदि भगवद्भजनेन विना ज्ञानस्यान्योपायाभावः प्रमितः स्यात्। स एव कुतः ? इत्यत आह— यमिति। भक्तमेव च वृणुत इति च प्रसिद्धम् ॥ २९ ॥

७ह. पै. भा.— जरेति। जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति प्रयतन्ते ये ते ब्रह्म तद्विदुर्विजानन्ति कृत्स्नमध्यात्ममध्यात्मभूतं प्रत्यगात्मभूतं कर्म चाखिलं समस्तम् ॥ २९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथास्य फलं निरूपयन्नेवोत्तराध्यायसङ्गतिप्रदर्शनाय तत्प्रतिपाद्यमर्थमुपक्षिपति द्वाभ्याम्— जरामरणेति । जरामरणादिसर्वदुःखनिरासाय तदेकहेतुं मामीश्वरं वासुदेवमाश्रित्य ये यतन्ति भजन्ति, ते अन्तःकरणशुद्ध्या तद्ब्रह्म निर्गुणं तत्पदलक्ष्यं विदुर्जानन्ति; तथा अध्यात्ममात्मानं देहमधिकृत्य वर्तमानं कृत्स्नं कार्यकरणसङ्घातसहितं त्वम्पदलक्ष्यं च विदुः;तथा तत्त्वम्पदार्थैक्यज्ञानसाधनं यज्ञदानतपश्श्रवणमननादि सकलं कर्म च विदुः अनुष्ठितवन्तो भवन्तीति यावत् ॥ २९ ॥

९ व० त० दी०— एवं पूर्वोक्तेषु चतुर्षु भजमानेषु ज्ञानिभक्तानामुत्कर्ष उक्तः,आर्त्तार्थार्थिनस्तु भगवतः सकाशात्फलं प्राप्य पश्चान्मुमुक्षवो भूत्वा जिज्ञासवो भवन्ति, तेषां ज्ञानिनां च फलं वदंस्तत्साधनीभूतज्ञानविशेषोपादे-

यानर्जुनस्य तज्जिज्ञासोत्पादनार्थं भगवान्प्रस्तौति द्वाभ्यां— जरामरणमोक्षायेति । जरामरणतो मोक्षो हि ब्रह्मात्मज्ञान एवेति तदर्थं मुमुक्षवो मामाश्रित्य प्रपद्य यतन्ति यतयो ये आत्मतत्त्वजिज्ञासवस्ते ब्रह्म परमं तदक्षरं विदुरध्यात्मं आत्माधिगतं स्वभावं च विदुरखिलं कर्म च ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.— एवं भजनप्रवृत्ता मां जानन्तीत्याह—**जरामरणेति**। जरामरणयोः भगवद्भजनप्रतिबन्धकभगवद्विस्मरणरूपयोर्मोक्षाय निवारणार्थं मामाश्रित्य अनन्यैकचित्तेन ये यतन्ति, भजनार्थं यत्नं कुर्वन्ति, भजन्ति वा, ते तत् परं ब्रह्म पुरुषोत्तमात्मकं विदुः जानन्ति । कृत्स्नं पूर्णमध्यात्मं भजनौपयिकं साधनरूपं विदुः । च पुनः, कर्म सेवारूपं तत्साधनात्मकमखिलं भावादियुक्तं जानन्तीत्यर्थः ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०—**ततश्च जरामरणयोः प्रवाहादात्मनो मोक्षाय मामाश्रित्य मयि समाहितचेतसो भूत्वा ये यतन्ति यतन्ते ज्ञानलाभाय वेदान्तश्रवणादौ, ते तत् सर्ववेदान्तप्रसिद्धं कृत्स्नं ब्रह्म विदुः**। विराडाद्युपासका ह्यकृत्स्नब्रह्मविदः, सूत्रकारणयोर्निष्कलस्य चाज्ञानात् । श्रीगोपालबालोपासकास्तु तत्पदलक्ष्यकृत्स्नब्रह्मविदोऽतस्तेऽध्यात्मादिकं कार्त्स्न्येन जानन्ति, सर्वविदो भवन्तीत्यर्थः। अनेन 'यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यत् ज्ञातव्यमवशिष्यते' [७।२] इत्येकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा या पूर्वं कृता तस्या उपसंहारो दर्शितः। अध्यात्मं आत्मनि शरीरे स्थितं प्रत्यगात्मविषयं वस्तु शुद्धं त्वम्पदार्थमित्यर्थः। कर्म च तत्त्वम्पदार्थज्ञानयोः साधनं श्रवणादिकं सर्वं विदुः॥ २९॥

**साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः ।**
**प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः ॥ ३० ॥**

**इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि**
**श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे ज्ञानविज्ञानयोगोनाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥**

**१ शां. भा.— साधीति । साधिभूताधिदैवमधिभूतं चाधिदैवं चाधिभूताधिदैवं, सहाधिभूताधिदैवेन वर्तत इति साधिभूताधिदैवं च मां ये विदुः, साधियज्ञं च सहाधियज्ञेन साधियज्ञं ये विदुः, प्रयाणकालेऽपि च मरणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः समाहितचित्ता इति ॥ ३० ॥**

**इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— न केवलं भगवन्निष्ठानां सर्वाध्यात्मकर्मात्मकब्रह्मवित्त्वमेव, किन्त्वधिभूतादिसहितं तद्वेदित्वमपि सिध्यतीत्याह— **साधिभूतेति** । अध्यात्मं कर्माधिभूतमधिदैवमधियज्ञश्चेति पञ्चकमेतद्ब्रह्म ये विदुस्तेषां यथोक्तज्ञानवतां समाहितचेतसामापदवस्थायामपि भगवत्तत्त्वज्ञानमप्रतिहतं तिष्ठतीत्याह— **प्रयाणेति** । 'अपि च' इति निपाताभ्यां तस्यामवस्थायां करणग्रामस्य व्यग्रतया ज्ञानासम्भवेऽपि समाहितचित्तानामुक्तज्ञानवतां भगवत्तत्त्वज्ञानमयत्नलभ्यमिति द्योत्यते । तदनेन सप्तमेनोत्तममधिकारिणं प्रति ज्ञेयं निरूपयता, तदर्थमेव सर्वात्मकत्वादिकमुपदिशता, प्रकृतिद्वयद्वारेण सर्वकारणत्वादिति च **वदता, तत्पदवाच्यं तल्लक्ष्यं** चोपक्षिप्तम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

---

१ 'यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति' ( छां. ३।१४।१ ) इति श्रुतेः 'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।' ( ८।५ ) इति वक्ष्यमाणाच्चान्तकाले भगवद्भाव आवश्यकोऽपि भृशं दुर्लभ एव । चरमसमये सर्वेषामपि व्यामोहप्राप्तेर्नियतत्वात् । तदुक्तमभियुक्तैः– 'कृष्ण ! त्वदीयपदपङ्कजपञ्जरान्तमद्यैव मे विशतु मानसराजहंसः। प्राणप्रयाणसमये कफवातपित्तैः कण्ठावरोधनविधौ स्मरणं कुतस्ते ?॥ (मुकुन्दमाला ३३ )इति । अत्रोक्तप्रकारेण विदितवन्तस्तु तदापि युक्तचेतसः असम्भ्रान्तमनसः सन्तो मां विदन्तीत्यर्थः । उक्तं च– 'नोत्तमश्लोकवार्तानां जुषतां तत्कथामृतम् । स्यात्सम्भ्रमोऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजम्॥ (भाग. १।१८।४ ) इति ।

—**अविगीता** ।

**३ रा. भा.**— अत्र य इति पुनर्निर्देशात्पूर्वनिर्दिष्टेभ्योऽन्ये अधिकारिणो ज्ञायन्ते, साधिभूतं साधिदैवं मामैश्वर्यार्थिनो ये विदुः— इत्येतदनुवादस्वरूपमप्यप्राप्तार्थत्वात्तद्विधायकमेव; तथा साधियज्ञमित्यपि त्रयाणामधिकारिणामविशेषेण विधीयते, अर्थस्वाभाव्यात् । त्रयाणां हि नित्यनैमित्तिकरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानमवर्जनीयम् । ते च प्रयाणकालेऽपि स्वप्राप्यानुगुणं मां विदुः । ते चेति चकारात् पूर्वे जरामरणमोक्षाय यतमानाश्च प्रयाणकालेऽपि विदुरिति समुच्चीयन्ते; अनेन ज्ञानिनोऽप्यर्थस्वाभाव्यात् साधियज्ञं मां विदुः; प्रयाणकालेऽपि स्वप्राप्यानुगुणं मां विदुरित्युक्तं भवति ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'साधिभूत–' इति श्लोकस्यैश्वर्यार्थिविषयत्वं वक्तुमधिकारिणो भेदमात्रज्ञापकं तावद्दर्शयति— **अत्रे**ति । पूर्वाधिकारिविषयत्वे 'साधियज्ञं च ते विदुः' इति हि वक्तव्यम्; न चैवं शिष्टाः पठन्ति । न चात्र यच्छब्दावृत्तेः प्रयोजनमस्तीति भावः । प्रश्नोत्तरवशाच्चाधिकारिभेदः सेत्स्यति । एवं सामान्येन ज्ञातमधिकारिभेदमधिभूतादिसामर्थ्याद्विशिनष्टि **ऐश्वर्यार्थिन** इति । 'जरामरणमोक्षाय' [ ७।२९ ] इत्यादाविव अत्रापि यच्छब्दवशादनुवादत्वं प्रतीतमिति तत्प्रतिक्षिपति **इत्येत**दित्यादिना । "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" [ श. ब्रा. २।५। १।११ ] इत्यादिवदिति भावः । अस्य च विधित्वं प्रश्नादिवशाच्च फलिष्यति । नह्यत्रगते प्रश्नाद्यवकाशः । 'साधियज्ञम्' इत्यस्यैकस्मिन्नधिकारिणि निर्दिष्टस्याप्यर्थस्वाभाव्यान्त्रिष्वप्यन्वयं दर्शयति— **तथे**ति । **अर्थस्वाभाव्या**दिति सर्वाधिकारिसाधारणतया प्रमाणसिद्धयज्ञाख्यपदार्थस्वाभाव्यादित्यर्थः । एतदेव दर्शयति— **त्रयाणां ही**ति । अन्यथा 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' इत्यादिक्रमेण कर्मानर्हत्वादिप्रसङ्ग इत्यभिप्रायेणाह **अवर्जनीय**मिति । अपि चेत्येकान्वयार्थत्वे प्रयोजनाभावात् पृथक्त्वे सप्रयोजनतया अन्वयसम्भवाच्च विभज्याह— **ते चे**ति । अन्तिमप्रत्ययस्यैकस्यैव वक्ष्यमाणं विषयविशेषेण प्राप्यानुगुणाकारत्वं युक्तचेतश्शब्देन विवक्षितमित्याह— **स्वप्राप्यानुगुण**मिति । चकारस्य पृथगन्वयेन लब्धमाह **ते चे**ति । **चकारा**दिति यद्वृत्तप्रतियोगिकत्वात्तद्वृत्तमैश्वर्यार्थिविषयमेव । चकारात्तु पूर्वश्लोकोक्तानां समुच्चयः । तेषामपि ह्यन्तिमप्रत्यये विशेषो वक्ष्यत इति भावः । 'त्रयाणाम्' इत्यादिकमयुक्तं, ज्ञानिनामत्र प्रसङ्गाभावादित्यत्राह— **अने**नेति । यज्ञान्तिमप्रत्ययमात्रयोरधिकारित्रयसाधारण्यसिद्धेरिति भावः ॥ ३० ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ३० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ३० ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितगीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **साधीति** । साधिभूताधिदैवमधिभूताधिदैवैः सहितं साधियज्ञं यज्ञसहितं च ये विदुर्विजानन्ति प्रयाणकाले मरणकाले चापि मां ते विदुर्विजानन्ति युक्तचेतस इति ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्ये श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— न चैवंविधानां मद्भक्तानामन्त्यकाले मद्विस्मरणशङ्केत्याह— **साधिभूतेति** । अधिभूतादिशब्दानुत्तराध्याये भगवानेव व्याख्यास्यति । अधिभूतेन अधिदैवेन अधियज्ञेन च सहितं मां ये विदुश्चिन्तयन्ति ते युक्तचेतसः सर्वदा मयि समाहितचित्ताः सन्तः तत्संस्कारपाटवात् प्रयाणकाले मरणसमये । 'अपि च' इत्यनेन सकलकरणव्याकुलीभावाज्ज्ञानोदयानर्हत्वमुच्यते । तादृशेऽप्यन्तकाले मां सर्वात्मानं विदुः । मदाकारैव चित्तवृत्तिर्मत्कृपया तेषां भवतीति न योगभ्रंशशङ्केत्यर्थः ॥ ३० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— साधिभूतेति। अत्र 'ये' इति पुनर्निर्देशात्पूर्वनिर्दिष्टेभ्योऽन्ये जिज्ञासव उक्ता इत्यवसीयते। ये च मां (साधिभूतं) साधिदैवं साधियज्ञमिति विशेषसहितं विदुरिति। किञ्च भगवत्तत्त्वजिज्ञासवः प्राणानां प्रयाणकालेऽपि ते च मां तथाभूतमात्मानं विदुः। किम्भूतास्ते? युक्तचेतस इति योगसिद्धिरन्ते सूचिता॥ ३०॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

१० पु. अ. त.— एवं ज्ञानस्य फलमाह—साधिभूताधिदैवमिति। साधिभूताधिदैवम्, अधिभूतेन अधिकरणात्मकेन अधिदैवेन मूलरूपेण सह अधियज्ञेन अंशात्मककर्मरूपेण च सहितं ये मां विदुस्ते युक्तचेतसः युक्तं तन्निष्ठं चेतो येषां तादृशा भवन्ति, मां प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। च पुनः प्रयाणकाले मरणसमयेऽपि प्रमादिरहितास्ते मां विदुः जानन्ति, मरणकाले स्वज्ञानोक्त्या 'अन्ते या मतिः सा गतिः' [ ] इति वाक्योक्तरीत्या प्राप्नुवन्तीति व्यञ्जितम्॥ ३०॥

भक्तानामेव श्रीकृष्णज्ञानविज्ञानयोग्यता। अतोऽत्र ज्ञानविज्ञानयोगं हरिरुवाच हि॥ ७॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

११ नी० भा० दी०— एवं तत्पदार्थविवेकं सद्योमुक्तिहेतुं समाप्य तत्प्राप्त्युपासनानि क्रममुक्तिफलानि विस्तरेण वक्तुकामः सङ्क्षेपेण सूत्रयति— साधिभूतेति। अधिभूतं च अधिदैवं च ताभ्यां सहितं साधिभूताधिदैवं तथाऽधियज्ञेन सहितं साधियज्ञं च मां ये विदुः उपासते ते युक्तचेतसः। यतो नित्यं समाहितचित्तास्ततो मां प्रयाणकालेऽपि सर्वजनव्यामोहके विदुरेव। भावनादार्ढ्यान्मरणकालेऽपि तस्य ज्ञानस्य प्रमोषो न भवत्यतो भगवति नैरन्तर्येण दृढा भावना कर्त्तव्येति भावः। अधिभूतादिपदार्थं तु भगवानेव व्याख्यास्यतीति नोक्तवन्तो वयम्॥ ३०॥

इति श्रीमहाभारते नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशे सप्तमोऽध्यायः॥ ७॥

---

## श्रीमद्भगवद्गीतायाः सप्तमाध्यायस्य माहात्म्यम्॥ ७॥

श्रीशिव उवाच—
अपर्णे! वर्णयिष्यामि सप्तमाध्यायगौरवम्।
यदाकर्ण्य सुधापूरपूर्तिर्भवति कर्णयोः॥ १॥
अस्ति पाटलिपुत्राख्यं दुर्गमुत्तुङ्गगोपुरम्।
तत्राभूद्ब्राह्मणो नाम शङ्कुकर्णो दयार्णवः॥ २॥
वैश्यवृत्तिं समासाद्य धनमर्जितवान्बहु।
पितॄन्न तर्पयामास पूजयामास नो सुरान्॥ ३॥
पार्थिवान्भोजयाञ्चक्रे धनार्जनपरायणः।
तुरीयपाणिग्रहणमङ्गलार्थं गृहान्तरम्॥ ४॥
तनुजैर्बन्धुभिः सार्धं सम्प्रतस्थे कदाचन।
रजन्यामर्धकल्पायां निद्रालोस्तस्य दोस्तलम्॥ ५॥
दशति स्म समागत्य दन्दशूकः कुतश्चन।
स दष्टमात्रोऽसाध्यात्मा मणिमन्त्रौषधादिभिः॥ ६॥
क्षणैः कतिपयैरेव गतासुरभवत्ततः।
पिचुमन्ददलैर्नालैरवगुण्ठितविग्रहः॥ ७॥
तमारोप्य तरुस्कन्धे सूनवो गृहमाययुः।
ततः कालेन बहुना प्रेतो जातः सरीसृपः॥ ८॥
तद्वासनानिबद्धात्मा पूर्ववृत्तमनुस्मरन्।
वञ्चयित्वा सुतानेतान्पूरयामि गृहाद्बहिः॥ ९॥
आत्मनः कोटिसङ्ख्याकं यत्राऽऽस्ते स्थापितं वसु
ततो नारायणबलिं श्रद्धया परयाऽन्विताः॥ १०॥
कृतवन्तः परेतस्य सूनवो हि द्विजन्मनः।
एकदा स्वप्नमागत्य पीडितः सर्पजन्मना॥ ११॥
अभाषयन्मनोवृत्तिं पुत्राणामग्रतः पिता।
ततस्ते प्रातरुत्थाय परं विस्मयमागताः॥ १२॥
इतरेतरमाख्याय पश्यन्तस्ते निरङ्कुशाः।
एकस्तत्र पितृस्नेहादुद्धर्तुमपि वाञ्छति॥ १३॥
अन्यो द्रविणलोभेन निहन्तुं सर्पमीहते।
इतरस्तु पितृस्नेहरसमोहितमानसः॥ १४॥

चिरादहिमयो न स्याच्छोचन्नोदिति केवलम् ।
मध्यमस्तु ततः पुत्रो वञ्चयित्वा सहोदरौ ॥ १५ ॥
केनापि च्छद्मनोत्थाय जगाम निजमालयम् ।
ततः शनैः समाहूय गृहिणीं गुणशालिनीम् ॥ १६ ॥
कुद्दालहस्तो निरगाद्यत्राऽऽस्ते पन्नगः पिता ।
तेनाविदितवित्तेन चिह्नैर्निश्चित्य तत्त्वतः ॥ १७ ॥
स्थानमागत्य तं हन्तुं वल्मीकं लोभबुद्धितः ।
भार्ययोत्सार्यते मृत्स्ना स्वयं तेन च खन्यते ॥ १८ ॥
निखन्यमानादत्युग्रो वल्मीकादहिरुत्थितः
ततो गरलगण्डूषैर्निर्गतैरतिदुस्तरैः ॥
दिशः कवलयाञ्चक्रे फणी फूत्कारमारुतैः ॥ १९ ॥

अहिरुवाच—

कस्त्वं किमर्थमायातः कथं वा खन्यते बिलम् ।
केन वा प्रहितो मूढ ! तदाख्याहि ममाग्रतः ॥ २० ॥

पुत्र उवाच—

पुत्रस्तेऽहं शिवो नाम हेमग्रहणकौतुकी ।
आगतो रात्रिलब्धस्य स्वप्नस्य तु सुविस्मितः ॥२१॥

श्रीशिव उवाच—

इत्थमाकर्ण्य पुत्रस्य गिरं लोकविगर्हिताम् ।
वक्तुमारभत स्पष्टं हसन्नुच्चैः फणी तदा ॥ २२ ॥

अहिरुवाच—

यदि पुत्रोऽसि मे तूर्णं मामुन्मोचय बन्धनात् ।
निक्षेपार्थाय सञ्जातं पन्नगं पूर्वजन्मनः ॥ २३ ॥

पुत्र उवाच—

पितः ! कथं ते मुक्तिः स्यादित्याचक्ष्व ममाग्रतः ।
परित्यक्त्वाऽखिलं लोकमागतोऽहं यथा निशि ॥२४॥

पितोवाच—

न तीर्थानि न दानानि न तपांसि न चाध्वराः ।
मामुन्मोचयितुं पुत्र ! प्रभवन्ति च सर्वथा ॥ २५ ॥
गीतानां सप्तमाध्यायमन्तरेण सुधामयम् ।
जन्तोर्जरामृत्युदुःखनिराकरणकारणम् ॥ २६ ॥
सप्तमाध्यायिनं विप्रं मदीये श्राद्धवासरे ।
भोजय श्रद्धया पुत्र ! तेन मुक्तिर्न संशयः ॥ २७ ॥
अन्यानपि द्विजान्वत्स ! वेदविद्याविशारदान् ।
सम्भोजय यथाशक्ति परमश्रद्धयाऽन्वितः ॥ २८ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्याकर्ण्य पितुर्वाक्यमुरगत्वमुपेयुषः ।
ते सर्वे सूनवोऽकुर्वन्यथाऽऽदिष्टं ततोऽधिकम् ॥२९॥
शङ्कुकर्णस्ततः श्रीमानुत्सृज्य तनुमौरगीम् ।
कृत्वा तु पुत्रसाद्द्रव्यं दिव्यदेहमुपाददौ ॥ ३० ॥
विभज्य दत्तं यत्पित्रा द्रव्यं तत्कोटिसङ्ख्यया ।
तेन ते सूनवः सर्वे मुमुदुः साधुवृत्तयः ॥ ३१ ॥
वापीकूपसरोयज्ञदेवप्रासादहेतवे ।
अन्नशालां ततोऽकुर्वन्पुत्रास्ते धर्मबुद्धयः ॥ ३२ ॥
सप्तमाध्यायजपतो मुक्तिभाजोऽभवंस्ततः ।
षष्ठमिष्टतम ज्ञात्वा निर्वाणार्पितहृष्ययः ॥ ३३ ॥
एतत्ते सप्तमाध्यायमाहात्म्यं कथितं शिवे ! ।
यस्य श्रवणमात्रेण मुच्यते सर्वपातकैः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीतासप्तमाध्यायमाहात्म्यकथनं नाम सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ८ ]

**ऐश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवच्छरणार्थिनाम् ।**
**वेद्योपादेयभावानामष्टमे भेद उच्यते ॥ १२ ॥**

श्रीमद्यामुनमुनये नमः

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकवेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

ऐश्वर्यमत्रेन्द्रप्रजापतिपशुपतिभोगेभ्योऽतिशयितभोगः; अक्षरयाथात्म्यं विविक्तात्मस्वरूपम्; वेद्यास्तु 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' [८।३] इत्यादिनोक्ताः शुद्धात्मस्वरूपप्रभृतयः; उपादेयास्तु तत्तदिष्टफलानुरूपपरमपुरुषचिन्तनान्तिमप्रत्ययगतिचिन्तनादयः । त एव भावाः पदार्थाः, तेषां भेदः तत्तदधिकारानुरूपो विशेषः ॥ १२ ॥

नमः श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय ।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः

# तारकब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः* ।

अर्जुनस्य सप्त प्रश्नाः ।

**अर्जुन उवाच–किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम ! ।**
**अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥ १ ॥**
**अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ! ।**
**प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥ २ ॥**

१ श्रीशाङ्करं भाष्यम् ।

'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं' [ ७।२९ ] इत्यादिना भगवताऽर्जुनस्य प्रश्नबीजान्युपदिष्टानि, अतस्तत्प्रश्नार्थमर्जुन उवाच ॥ १ ॥ २ ॥

२ आनन्दगिरिकृतं शाङ्करभाष्यव्याख्यानम् ।

सप्तमाध्यायान्ते 'येषां त्वन्तगतं पापं' [ ७।२८ ] इत्यादिना येषां ब्रह्मादीनामनुसन्धानमुक्तं, यच्च प्रयाणकाले भगवतः स्मरणं दर्शितं, तदिदं जिज्ञासमानः सन्पृच्छतीति प्रश्नसमुदायमवतारयति—**ते ब्रह्मेति** । प्रश्नबीजानि तद्विषयभूतानि ब्रह्मादीनि वस्तूनीति यावत् । बुभुत्सितविषयप्रतिलम्भानन्तरं तेषां प्रश्नद्वारा निर्णयार्थमित्याह—**अत** इति । यदुक्तं 'ते ब्रह्म तद्विदुः' इति, तत्किं सोपाधिकं निरुपाधिकं वा? ब्रह्मशब्दस्योभयत्रापि सम्भवादिति मत्वाऽऽह—**किं तदिति** । यच्चोक्तं 'कृत्स्नमध्यात्मं' [ ७।२९ ] इति तत्राऽऽत्मानं देहमधिकृत्य तस्मिन्नधिष्ठाने तिष्ठतीत्यध्यात्मशब्देन श्रोत्रादिकरणग्रामो वा, प्रत्यग्भूतं ब्रह्मैव वा विवक्षितं? इत्याह—**किमध्यात्ममिति** । "विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च" [ तै. उ. २।५।१ ] इति श्रुतौ कर्मणो द्वैविध्यनिर्धारणात् 'कर्म चाखिलं'[ ७।२९ ]इत्यत्र कीदृक्कर्म गृहीतं? इति पृच्छति—**किमिति** । क्षराक्षराभ्यां कार्यकारणाभ्यामतीतस्य भगवतो न किञ्चिदवेद्यमस्तीति सूचयति—**पुरुषोत्तमेति** । 'साधिभूताधिदैवं'[ ७।३० ] इत्यत्र 'अधिभूतशब्देन पृथिव्यादिषु भूतेषु वर्तमानं किञ्चिदेव गृह्यते, किंवा समस्तमेव कार्यं?' इति निर्दिधारयिषया पृच्छति–**अधिभूतमिति** । अधिदैवमिति च 'दैवतविषयमनुध्यानं वा दैवतेष्वादित्यमण्डलादिषु वर्तमानं चैतन्यं वा जिघृक्षितं?' इति प्रश्नान्तरं प्रस्तौति— **अधिदैवमिति** । 'साधियज्ञं च' इत्यत्राधियज्ञशब्देन यज्ञमधिगतो विज्ञानात्मा वा ? परदेवता वा ? इति प्रश्नान्तरं प्रकरोति— **अधियज्ञ इति** । स च कथं केन प्रकारेण ब्रह्मत्वेन चिन्तनीयः ? किं तादात्म्येन ? किंवाऽत्यन्ताभेदेन ? इत्याह— **कथमिति** । सर्वथाऽपि स किमस्मिन्देहे वर्तते ? ततो बहिर्वा ? देहे चेत्स कोऽत्र बुद्ध्यादिस्तद्व्यतिरिक्तो

---

* अस्याध्यायस्य धारणायोगः अक्षरपरब्रह्मयोगः महापुरुषयोगः ब्रह्माक्षरनिर्देशः इत्यादीनि नामान्तराणि दृश्यन्ते।

१ किं तद्ब्रह्मेति– अत्र **वामनः**—

विदुर्ब्रह्माथ तत्कृत्स्नमिति चावोचदच्युतः । सप्तमान्ते द्विधा तस्मादत्र पार्थोऽपि पृच्छति ॥
किं ब्रह्म ? किं तदिति च त्रेयः प्रश्नो द्विधा बुधैः । कीदृग्ब्रह्म ? कथं कृत्स्नं तच्चेत्यस्याशयः स्फुटः ॥
अनुरूपं वासुदेवो दास्यत्युत्तरमस्य च । ब्रह्माक्षरं च परमं चेति स्पष्टतरं द्विधा ॥
प्रश्नबीजानुरूपोऽयमुत्तरानुगुणः पुनः । सिद्धो व्याकरणेनार्थः कुतोऽनाद्रियते वृथा ? ॥

× × × ×

साधियज्ञं विदुर्ये मामित्येतावति कीर्तिते । स्थितिं देहेऽधियज्ञस्य प्रतीयायार्जुनः कथम् ? ॥
ति चेदपरोक्षोऽयं संवाद उभयोरतः । हस्तास्यनेत्रचेष्टाभिर्विशेषः शक्य ऊहितुम् ॥
प्रायोऽत्र पूर्वाध्यायान्ते 'साधियज्ञं' पदं वदन् । निर्दिदेशार्जुनतनुं तर्जन्या गदपूर्वजः ॥
शङ्कां बलवतीं पार्थः सूचयन्विस्मितस्ततः । देहेऽत्र कः कथं चेति पाप्रच्छीति विशेषतः ॥ इति ॥

अत्र सप्त प्रश्नाः । तत्र षष्ठो द्विरूपः, सप्तमस्त्रिरूप इति दश प्रश्नाः सम्पद्यन्त इति **केचित्** । — **अविगीता** ।

वा ? इति जिज्ञासया ब्रूते— **कोऽत्रेति** । 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' इति न प्रश्नभेदकः(दः)। कथमिति तु प्रकारभेदविवक्षयेति द्रष्टव्यम् । यत्तु समाहितचित्तानामुक्तं तत्प्रयाणकालेऽपि भगवदनुसन्धानं सिद्ध्यतीति तदयुक्तमुत्क्रमणदशायां करणग्रामवैयग्र्यात् चित्तसमाधानानुपपत्तेरित्यभिप्रेत्याऽऽह— **प्रयाणेति** ॥ १ ॥ २ ॥

## ३ रामानुजाचार्यप्रणीतं भाष्यम् ।

**सप्तमे परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्योपास्यत्वं, निखिलचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वं, कारणत्वम् , आधारत्वम् ,सर्वशरीरतया सर्वप्रकारत्वेन सर्वशब्दवाच्यत्वं,सर्वनियन्तृत्वं, सर्वैश्च कल्याणगुणगणैरेकाश्रयत्वं तस्यैव परतरत्वं च, सत्त्वरजस्तमोमयैर्देहेन्द्रियत्वेन भोग्यत्वेन चावस्थितभावैरनादिकालप्रवृत्तदुष्कृतप्रवाहहेतुकैस्तस्य तिरोधानम्, अत्युत्कृष्टसुकृतहेतुकभगवत्प्रपत्त्या च तन्निवर्तनं, सुकृततारतम्येन च प्रतिपत्तिवैशेष्यादैश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवत्प्राप्त्यपेक्षयोपासकभेदं, भगवन्तं प्रेप्सोर्नित्ययुक्ततयैकभक्तितया चात्यर्थपरमपुरुषप्रियत्वेन श्रैष्ठ्यं, दुर्लभत्वं च प्रतिपाद्य एषां त्रयाणां ज्ञातव्योपादेयभेदांश्च प्रास्तौषीत् ।**

## ४ श्रीवेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

सङ्गतिदर्शनायाह— **सप्तम** इति । **परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्योपास्यत्वमि**ति— 'मय्यासक्तमनाः' [ ७।१ ] इत्यादेरर्थः; तत्रैव ह्युपासनं प्रस्तुतम् । तच्छेषतया चान्यत्सर्वमिहोच्यते । तस्यैव प्रपञ्चनम् 'अहं सर्वस्य प्रभवः' [ १०।८ ] 'वासुदेवः सर्वं' [ ७।१९ ] 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [ ७।१६ ] इत्यादिभिः परस्तात्क्रियत इति भावः । **परस्ये**त्यादिभिरुपहितब्रह्मव्योमातीतादिपक्षप्रतिक्षेपः । ब्रह्मशब्दस्य विशेषशब्दसमभिव्याहाराद्देवतान्तरव्यावृत्तिः । वासुदेवशब्देनात्रावतारविशेषो वा विवक्षितः । **निखिले**त्यादिभिरुपास्यत्वपरब्रह्मत्वोपयुक्ताकारकथनम् । **निखिलचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वमि**ति 'भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादेः श्लोकद्वयस्यार्थः । निखिलशब्देन कार्यकारणादिरूपावस्थासङ्ग्रहात् कार्यभूतब्रह्मरुद्रादेरपि क्रोडीकारः । कारणत्वम् 'एतद्योनीनि' [ ७।६ ] इति श्लोकस्यार्थः । 'मत्तः परतरं नान्यत्' [ ७।७ ] इत्युक्तस्य परत्वस्य 'मामेभ्यः परम्' [ ७।१३ ] इत्यत्रोपयुक्ततया तत्रैवोदाहर्तुमत्र तदतिक्रमेण 'मयि सर्वम्' [ ७।७ ] इत्याद्युक्ताधारत्वोपादानम् । 'रसोऽहम्' [ ७।८ ] इत्यादिसामानाधिकरण्यफलितं सर्वशब्दवाच्यत्वम् । तत्र हेतुराधारत्वादिविशेषसिद्धं सर्वशरीरकत्वम् । एवं शेषित्वाद्यनुवादेन वक्ष्यमाणतत्तदधिकारिप्राप्यवस्तुविशेषसामानाधिकरण्यस्यापि शरीरात्मभावहेतुकत्वं दर्शितम् । 'मत्त एवेति तान्विद्धि' [ ७।१२ ] इत्यादिषु प्रवृत्तितादधीन्यस्यापि विवक्षितत्वात्सिद्धं सर्वनियन्तृत्वम् । **सर्वश्चे**त्यनेनानिर्दिष्टानामन्येषां च आभिप्रायिकाणां सङ्ग्रहः । **तस्यैवे**त्यवधारणेन 'नान्यत्किञ्चिदस्ति' [ ७।७ ] इत्यस्यार्थ उक्तः । 'त्रिभिर्गुणमयैः' [ ७।१३ ] इति श्लोकस्य सार्धस्यार्थः **सत्त्वे**त्यादिनोक्तः । 'मामेव' [ ७।१४ ] इत्याद्युक्तप्रपत्तेः सुकृतविशेषहेतुकत्वम् । 'जनाः सुकृतिनः' [ ७।१६ ] इत्यनेन दर्शितमाह **अत्युत्कृष्टसुकृते**ति । 'न मां दुष्कृतिनः' [ ७।१५ ] इत्यादेः पूर्वोक्ततिरोधानप्रकारविशेषकथनरूपत्वात्सुकृतिप्रशंसाशेषत्वाच्च तदर्थोऽत्र पृथङ्नोपात्तः । 'चतुर्विधाः' [ ७।१६ ] इत्यादिकं **सुकृततारतम्येने**त्यादिनाऽनुसंहितम् । उपासकभेदं चेत्यन्वयः । 'तेषां ज्ञानी' [ ७।१७ ] इत्यादेः श्लोकद्वयस्यार्थो **भगवन्त**मित्यादिनोक्तः । 'बहूनां जन्मनाम्' [ ७।१९ ] इत्यादिना 'सर्गे यान्ति परन्तप !' [ ७।२७ ] इत्यन्तेन सिद्धमाह **दुर्लभत्व**मिति । 'येषां तु' [ ७।२८ ] इत्यादेरध्यायशेषस्य अर्थमाह— **एषां त्रयाणामि**ति । ज्ञातव्यमिह सिद्धरूपं विवक्षितम् । **उपादेयं** अनुष्ठेयम् । एतेन 'स्वयाथात्म्यम्' [ गी. सं. ११ ] इत्यादिसङ्ग्रहश्लोकस्यार्थोऽपि प्रपञ्चितः । अयं त्वष्टमस्य सङ्ग्रहः 'ऐश्वर्याक्षरयाथात्म्यभगवच्चरणार्थिनाम् । वेद्योपादेयभावानामष्टमे भेद उच्यते' [गी. सं. १२] इति । अत्र भेदोक्तेरध्यायार्थत्वात्स्वरूपप्रस्तावः प्रागेव कृत इति दर्शितम् ।

**३ रा. भा.— इदानीमष्टमे प्रस्तुतान् ज्ञातव्योपादेयभेदान् विविनक्ति— किं तदिति । जरामरणमोक्षाय भगवन्तमाश्रित्य यतमानानां ज्ञातव्यतयोक्तं तद्ब्रह्माध्यात्मं च कर्म च किमिति वक्तव्यम् ? ऐश्वर्यार्थिनां ज्ञातव्यमधिभूतमधिदैवं च किं ? त्रयाणां ज्ञातव्योऽधियज्ञशब्दनिर्दिष्टश्च कः ? तस्य चाधियज्ञभावः कथं ? प्रयाणकाले चैभिस्त्रिभिर्नियतात्मभिः कथं ज्ञेयोऽसि ? ॥ १ ॥ २ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— प्रस्तुतप्रपञ्चनमिति सङ्गतिमाह— **इदानी**मिति । जीवस्वरूपादिज्ञातव्यस्योपासनाद्यनुष्ठेयस्य च भेदजिज्ञासयाऽर्जुन उवाच— **किं तदिति** । 'आर्तो जिज्ञासुः' [ ७।१६ ] इत्यादिना प्रागेवाधिकारित्रयस्योक्तत्वात् 'जरामरणमोक्षाय' [ ७।२९ ] इत्यादिषु यच्छब्दावृत्तिसामर्थ्यादर्थस्वभावाच्चाधिकारिभेदस्तेषां ज्ञातव्योपादेयवस्तुप्रतिनियमश्चार्जुनेन ज्ञातः;

तत्रैव विशेषबुभुत्सयाऽत्र प्रश्नः । वक्ष्यते च विशेषः । ततश्च 'किं तद्ब्रह्म' इत्यर्थमक्षरयाथात्म्यार्थिविषयम्, अधिभूते च इत्यर्थमैश्वर्यार्थिविषयम्; 'अधियज्ञः' इति श्लोकस्तु अर्थस्वभावात् त्रयाणां साधारण इति विविनक्ति— **जरामरणे**ति । कथमिति प्रकारप्रश्ने **अधियज्ञभाव** इत्यर्थलब्धम् । 'अत्र' इत्येतच्छब्दः शास्त्रसन्निध्युपाधिकः; तच्चोत्तरग्रन्थे व्याख्यास्यति—'अत्र इन्द्रादौ मम देहभूते' इति । 'अस्मिन्' इतीदंशब्दस्तु स्वप्रत्यक्षसन्निध्युपाधिकः; प्रत्यक्षा हीन्द्रादयोऽपि प्रष्टुरर्जुनस्य । एतच्छब्देदंशब्दयोश्चैकस्मिन्वाक्ये सामानाधिकरण्येन प्रयोगो दृश्यते—'स एष द्वाभ्यां दर्शनीभ्यां विराड्भ्यामनयोर्द्विविशयोर्द्विवचनयोरयं पुरुषः प्रतिष्ठितः' इत्यादौ । यद्वा 'अत्र' इति यज्ञस्वरूपपरामर्शः; नियतात्मत्वं त्रयाणामपेक्षितम्; अत्र बहुवचनमधिकारित्रयपरमित्यभिप्रायेणोक्तम्— **एभिस्त्रिभि**रिति ॥ १ ॥ २ ॥

## ५ माध्वभाष्यम् ।

**नमः श्रीमते कृष्णाय । ॐ मरणकालकर्त्तव्यगत्याद्यस्मिन्नध्याय उपदिशति ॥ १ ॥ २ ॥**

## ६ जयतीर्थविरचिता प्रमेयदीपिका ।

अध्यायस्यावान्तरप्रतिपाद्यमर्थमाह— **मरणे**ति । गम्यत इति गतिः । आदिपदेन मार्गादिकम् । मरणकालकर्तव्यं च गतिश्च ते आदी यस्य तत्तथोक्तम् । कर्तव्यस्मरणविषयत्वगम्यत्वादिरूपो भगवन्महिमैव वर्ण्यत इति षट्कान्तर्भावसिद्धिः । उक्तव्याख्यानपूर्वकमिति चोपस्कर्तव्यम्, तेनानन्तर्यलक्षणाऽपि सङ्गतिः सिद्धा, तत्प्रसङ्गेनैव मरणकालकर्तव्याद्युपदेशात् ॥ १ ॥ २ ॥

## ७ हनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम् !

**'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं' [ ७।२९ ] इत्यादिना भगवताऽर्जुनस्य प्रश्नबीजान्युपक्षिप्तान्यतस्तत्प्रश्नाथमर्जुन उवाच— किं तद्ब्रह्मेत्यादिना ॥ १॥ २ ॥**

## ८ श्रीवेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

एवं सप्तमेऽध्याये तत्पदार्थस्य भगवतो नारायणस्य परब्रह्मणो भजनमुपदिष्टम्; तदेवाष्टमे प्रपञ्च्यते । तत्र तावत्पूर्वाध्यायान्ते 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' [७।२९]इत्यादिनोपक्षिप्तब्रह्माध्यात्मादिसप्तपदार्थनिरूपणरूपोऽयमध्याय इति सप्तमाष्टमयोः सङ्गतिं दर्शयन्नेवार्जुनप्रश्नमवतारयति द्वाभ्याम्— किं तद्ब्रह्मेति । 'ते ब्रह्म तद्विदुः' इति यदुक्तं तद्ब्रह्म किं सविशेषं निर्विशेषं वा, उभयत्रापि ब्रह्मपदप्रयोगात् १ । एवं किमध्यात्मम्? आत्मानं देहमधिकृत्य तिष्ठतीत्यध्यात्मशब्दवाच्यस्य जीवस्य चक्षुरादीन्द्रियग्रामस्य च सर्वविदितत्वेन तद्वेदनस्य भगवद्भजनफलत्वोक्त्यनुपपत्तेरिहाध्यात्मशब्दवाच्यं वस्तु किमित्यर्थः २ । एवं किं कर्म ? कृषिवाणिज्यादिलौकिकवेदनस्य भजनफलत्वायोगात् 'अखिलं कर्म विदुः' इति वदता कीदृशं कर्म विवक्षितमित्यर्थः । श्रोत्रादिकं प्रत्यक्चैतन्यं वाऽध्यात्मम् ? यज्ञो वाऽन्यद्वा कर्म ? इति३। मधुसूदनसरस्वतीव्याख्याने तु'कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्' इति प्रागुक्तत्वात्प्रश्नानवकाश एव स्यात् । न हि 'कृत्स्नमध्यात्ममखिलं कर्म' इति वदन्तं प्रति किं श्रोत्रादिकमध्यात्मं किं वा जीवः ? इत्यादिप्रश्नोऽवतरति । **अधिभूतमि**ति । अधिभूताधिदैवादियज्ञसहितभगवच्चिन्तकानामन्त्यकाले भगवत्स्मरणमुक्तम्, तत्राधिभूताधिशब्दवाच्यं किमित्यर्थः ४।५। अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्निति। अधियज्ञः कः, कथं च तस्याधियज्ञत्वम् ? स चाधियज्ञः कुत्र तिष्ठति ? किं बाह्यदशे किं वा देह एवास्मिन्नित्यर्थः ६। **प्रयाणकाल** इति । मरणकाले सकलेन्द्रियक्षोभेण मनस्समाधानाभावात्कथं तदा नियतात्मभिः समाहितचित्तैर्ज्ञेयोऽसि ? अतस्तदानीं त्वज्ज्ञानमघटमानमिव प्रतिभाति; तदपि वक्तव्यमित्यर्थः ७ ॥ १ ॥ २ ॥

## ९ श्रीवल्लभाचार्यविरचिता तत्त्वदीपिका ।

ब्रह्मकर्मादिकं प्राज्ञैर्विज्ञेयं नास्मदादिभिः । इति जिज्ञासया पार्थः सन्दिहानोऽथ पृच्छति ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच--किं तद्ब्रह्मेति द्वाभ्याम् । पूर्वेषां यत् ज्ञेयतयोक्तं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं कर्म वा किमिति वक्तव्यम् ? । अग्रिमाणां च ज्ञेयमधिभूतमधिदैवं च किम् ? ॥ १ ॥ अधियज्ञश्च कः ? स चाधियज्ञोऽत्र देहे कथं ज्ञेयः ? । प्रयाणकाले चैभिर्नियतात्मभिः कथं ज्ञेयोऽसि ? ॥ २ ॥

## १० पुरुषोत्तमजीविरचिताऽमृततरङ्गिणी ।

पूर्वोक्तब्रह्मकर्मादिरूपजिज्ञासुरर्जुनः ॥
पृष्टवान् स्पष्टमेतस्य कृष्ण उत्तरमुक्तवान् ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते भगवता 'ते ब्रह्म'[७।२९]इत्यादिना समपदार्थज्ञानमुक्तं भक्तानाम्, तत्स्वरूपजिज्ञासुरर्जुनः प्रभुं विज्ञापयामास— **अर्जुन उवाच किं तद्ब्रह्मेति** द्वयेन । हे पुरुषोत्तम ! तद्ब्रह्म यदुक्तं तत्किम्? अध्यात्मं किं? कर्म किं? च पुनः अधिभूतं किं प्रोक्तं ? च पुनः अधिदैवं किमुच्यते ? अधियज्ञः यज्ञाधिष्ठाता फलदाता कः ? । अत्र उक्तप्रकारेषु कथं केन

प्रकारेण नियतात्मभिरनन्यैकपरचित्तैर्ज्ञेयोऽसि ? । हे मधुसूदन सर्वानिष्टनिवर्तक ! अस्मिन् देहे प्रयाणकाले अन्तकाले कथं केन प्रकारेण ज्ञेयोऽसि । अत्रायं भावः-पुरुषोत्तमेति सम्बोधनेन त्वमेव पुरुषोत्तमः त्वत्तः पराभावात् । कथं तद्ब्रह्मेत्युक्तम् ? आधिदैविकं तु त्वत्स्वरूपमेव, अतस्त्वत्तोऽन्याधिदैवं किम् ? अध्यात्मादयस्तु हीना एव, तेषां ज्ञानं किं प्रयोजनकम् ? सेवा च कथं कार्या ? इत्यादिव्यञ्जितम् । मधुसूदनेति सम्बोधनेन त्वदीयानां मरणादिभयाभावे तत्समये त्वं कथं स्वज्ञानमुक्तवानिति ज्ञापितमिति भावः १ ॥ २ ॥

११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

पूर्वस्मिन्नध्याये मायोपहितं ब्रह्म जगत्कारणमुक्तं, तच्च उत्तमानामनुपाधिब्रह्मप्रतिपत्तावुपलक्षणं, मध्यमानामुपास्यं चेति मत्वा प्रतिपत्तव्यं ब्रह्म, तद्विषय एकः, उपासनाविषयाश्च षट् , एवं सप्त प्रश्नविषयाः,'ते ब्रह्म तद्विदुः' [ ७।२९ ] इत्यध्यायान्ते सार्धश्लोकेन भगवता सूत्रिताः तद्वृत्तिरूपोऽयमध्याय आरभ्यते; तत्र सूत्रितानां ब्रह्मादिशब्दानामर्थं बुभुत्सुरर्जुन उवाच ' किं तत्कृत्स्नं ब्रह्म ' इति प्रथमः प्रश्नः । शेषः स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ १ ॥ 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र कः' इति स्वरूपप्रश्नः, कथं ज्ञेय इति पदापकर्षेण तत्तदुपासनाप्रकारप्रश्नश्चेति द्वयं मिलित्वा एक एव प्रश्नः । शेषं स्पष्टम् ॥ २ ॥

अर्जुनकृतसप्तप्रश्नोत्तराणि ।

**श्रीभगवानुवाच—अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।**
**भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥ ३ ॥**

**१ शां. भा.**— एषां प्रश्नानां यथाक्रमं निर्णयाय श्रीभगवानुवाच- अक्षरमिति । अक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं पर आत्मा "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि"[बृ.उ.३।८।९] इति श्रुतेः । ओंकारस्य च "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म"[८।१३] इति परेण विशेषणादग्रहणम् । परममिति च निरतिशये ब्रह्मण्यक्षर उपपन्नतरं विशेषणम् । तस्यैव परस्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वभावः । स्वो भावः स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते, आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तं परमार्थब्रह्मावसानं वस्तु स्वभावोऽध्यात्ममुच्यतेऽध्यात्मशब्देनाभिधीयते । भूतभावोद्भवकरः, भूतानां भावो भूतभावस्तस्योद्भवो भूतभावोद्भवस्तं करोतीति भूतभावोद्भवकरः, भूतवस्तूत्पत्तिकर इत्यर्थः । विसर्गो विसर्जनं देवतोद्देशेन चरुपुरोडाशादेर्द्रव्यस्य परित्यागः, स एष विसर्गलक्षणो यज्ञः कर्मसंज्ञितः कर्मशब्दित इत्येतत् । एतस्माद्धि बीजभूताद्वृष्ट्यादिक्रमेण स्थावरजङ्गमानि भूतान्युद्भवन्ति ॥ ३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— व्याख्यातप्रश्नसप्तकस्य प्रतिवचनं भागवतमवतारयति— **एषामिति** । क्रमेण कृतानां प्रश्नानां क्रमेणैव प्रतिवचने प्रष्टुरभीष्टप्रतिपत्तिसौकर्यं सिध्यतीति बुध्यमानो विशिनष्टि— **यथाक्रममिति** । तत्र प्रश्नत्रयं निर्णेतुं

१ निर्विकारमद्वैततत्त्वोपबृंहितं कर्मातीतं भावातीतं बुद्ध्यतीतं पदमक्षरं ब्रह्मोच्यते । तस्य च प्रकृतिस्वरूपः स्वभावोऽध्यात्ममित्युच्यते, अतश्च ब्रह्मप्रकृतिरेवाध्यात्मं सैव च स्वस्वभावरूपा निगद्यते । ब्रह्मणः स्वभावरूपा प्रकृतिस्तावदेव स्वप्रकृतित्वं गोपायति, यावत् विकारं न प्राप्नोति । सर्वेषु भूतेषु सर्वासु चावस्थासु या तस्या एकरसावस्था विद्यते, सैव तस्याः स्वभावस्य स्थायित्वस्य साम्यत्वस्य वा रक्षिका निगद्यते । साम्यावस्थातो या तस्या एव विरुद्धावस्था, सैव विकृतिशब्दवाच्या द्वितीयावस्थोच्यते । अतो हि भूतभावोद्भवकरी तस्याः प्रकृतित्वं हापयन्ती भूतसृष्टिकृत् याऽवस्था भवति, सैव तु कर्मोत्पत्तेः कारणतां व्रजति । सैव च ब्रह्मस्वभावस्य विसर्गावस्थाऽप्युच्यते । तथा च यदाद्वैतसत्तायां द्वैतभावोत्पत्तिर्भवति, साम्यावस्थापन्ना प्रकृतिर्विषमावस्थामाश्रयति, यदा च त्रिगुणविकारेण तरङ्गायिता प्रकृतिर्महत्तत्त्वादिरूपेण परिणतिमारभमाणा भवति, सैव भूतभावोद्भवकरी अवस्थोच्यते । अस्यामेवावस्थायां कर्मणः समुत्पत्तिर्भवतीति तात्पर्यम्— इति **कर्ममीमांसादर्शन**-(३।२३-२५)-प्रदर्शिता प्रक्रियाऽत्रानुसन्धानमर्हति ॥ **वामनस्तु**—

देवोऽक्षरपदेनात्र प्रतिषिद्ध्य क्षरं जडम् । अविद्यावरणं भेत्तुं व्यतिरेकमबूबुधत् ॥
उक्त्वा परमशब्देनान्वयं विक्षेपशातनम् । किं तत् ब्रह्मेति पृच्छाया द्विधोत्तरमदात्स्फुटम् ॥

इति महता प्रबन्धेन वर्णयति, तद्विस्तरभयान्नानूद्यते । — अविगीता

भगवद्वचनमुदाहरति— अक्षरमिति। किं तद्ब्रह्मेति प्रश्नस्य प्रतिवचनम्—**अक्षरं ब्रह्म परममि**ति। तत्राक्षरशब्दस्य निरुपाधिके परस्मिन्नात्मन्यविनाशित्वव्याप्तिमत्त्वसम्बन्धात्प्रवृत्तिं व्युत्पादयति— **अक्षरमि**त्यादिना। कथं पुनरक्षरशब्दस्य यथोक्ते परमात्मनि वृद्धप्रयोगमन्तरेण व्युत्पत्त्या प्रवृत्तिराश्रीयते? व्युत्पत्तेरर्थान्तरेऽपि सम्भवात्, इत्याशङ्क्य द्यावापृथिव्यादिविषयनिरङ्कुशप्रशासनस्य परस्मादन्यस्मिन्नसम्भवात्तथाविधप्रशासनकर्तृत्वेन श्रुतमक्षरं ब्रह्मैवेत्याह— **एतस्ये**ति। 'रूढिर्योगमपहरति' इति न्यायादोङ्कारे वर्णसमुदायात्मन्यक्षरशब्दस्य रूढ्या प्रवृत्तिराश्रयितुमुचितेत्याशङ्क्याऽऽह—**ओङ्कारस्ये**ति। प्रतिवचनोपक्रमे प्रक्रान्तमोङ्काराख्यमक्षरमेवोत्तरत्र विशेषितं भविष्यतीत्याशङ्क्य परमविशेषणविरोधान्न तस्य प्रक्रमः सम्भवतीत्याह— **परममिति चे**ति। 'किमध्यात्मं' इति प्रश्नस्योत्तरं 'स्वभावोऽध्यात्मं' इत्यादि। तद्व्याचष्टे—**तस्यैवे**ति। स्वकीयो भावः स्वभावः श्रोत्रादिकरणग्रामः, स चाऽऽत्मनि देहेऽहम्प्रत्ययवेद्यो वर्तत इत्यमुं प्रतिभासं व्यावर्त्य स्वभावपदं गृह्णाति— **स्वभाव** इति। एवं विग्रहपरिग्रहे 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' इत्यस्यायमर्थो निष्पन्नो भवतीत्यनुवादपूर्वकं कथयति— **स्वभाव** इति। तस्यैव परस्येत्यादिनोक्तं न विस्मर्तव्यमिति विशिनष्टि— **परमार्थे**ति। परमेव हि ब्रह्म देहादौ प्रविश्य प्रत्यगात्मभावमनुभवति "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" [तै. उ. २।६।१] इति श्रुतेरित्यर्थः। 'किं कर्म' इति प्रश्नस्योत्तरमुपादत्ते— **भूते**ति। भूतान्येव भावास्तेषामुद्भवः समुत्पत्तिस्तां करोतीति व्युत्पत्तिं सिद्धवत्कृत्य विधान्तरेण व्युत्पादयति— **भूतानामि**ति। भावः सद्भावो वस्तुभाव एत एव भूतवस्तूत्पत्तिकर इति वक्ष्यति। वैदिकं कर्मात्रोक्तविशेषणं कर्मशब्दितमिति विसर्गशब्दार्थं दर्शयन्विशदयति— **विसर्ग** इत्यादिना। कथं पुनर्यथोक्तस्य यज्ञस्य सर्वेषु भूतेषु सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुत्वेन तदुद्भवकरत्वमित्याशङ्क्य 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः' [मनुः ३।७६] इत्यादिस्मृतिमनुसृत्याऽऽह—**एतस्माद्धी**ति ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.— तद्ब्रह्मेति निर्दिष्टं परममक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञं समष्टिरूपम्। तथा च श्रुतिः— "अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि विलीयते" [सुबालो. २] इत्यादिका। परममक्षरं प्रकृतिविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपम्। स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते— स्वभावः प्रकृतिः। अनात्मभूतमात्मनि सम्बध्यमानं भूतसूक्ष्मतद्वासनादिकं पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञातव्यतयोदितम्। तदुभयं प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः— भूतभावः मनुष्यादिभावः, तदुद्भवकरो यो विसर्गः "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" [छां. उ. ५।३।३+५।९।१] इति श्रुतिसिद्धो योषित्सम्बन्धजः स कर्मसंज्ञितः। तच्चाखिलं सानुबन्धं उद्वेजनीयतया परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञातव्यम्। परिहरणीयता चानन्तरमेव वक्ष्यते 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' [८।११] इति ॥ ३ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' इत्यत्र उद्देश्योपादेयान्यथाभावनिरासायाह— **तद्ब्रह्मेति निर्दिष्ट**मिति। ब्रह्मशब्दोऽत्र परमात्मसाधर्म्यादुपचारवृत्त्येति भावः। अक्षरःशब्दस्य निर्वचनं प्रतिपाद्यं च दर्शयति **न क्षरती**त्यादिना। क्षेत्रज्ञसमष्टौ श्रौतं प्रयोगं दर्शयति **तथा चे**ति। लयोऽत्र संश्लेषविशेषः। अथवा श्रुतावक्षरशब्देन उन्मग्नचेतनांशः प्रकृत्यवस्थाविशेष एव अभिधीयत इति साक्षात्प्रलयार्थत्वेऽपि न विरोधः। तथापि शब्दप्रवृत्तिद्वारभूतचिदंशे तात्पर्यात्तदुदाहरणम्। 'परममक्षरम्' इत्यत्र विशेषणाभिप्रेतमाह— **प्रकृतिविनिर्मुक्तमात्मस्वरूप**मिति। स्वभावशब्दार्थः **प्रकृति**रिति। नियतसम्बद्धमिति यावत्। किं तदित्याकाङ्क्षायां अध्यात्मशब्दानुसारेणाह— **अनात्मे**ति। आत्मन्यधिवसनात् सम्बध्यमानमित्यध्यात्मशब्दनिर्वचनम्। तत एव सिद्धमनात्मत्वम्। **तद्वासनादिकं** तत्संसर्गोपाधिकाज्ञानकर्मवासनादिकम्। भूतसूक्ष्मादेर्ज्ञातव्यत्वे श्रुतिं दर्शयति— **पञ्चाग्निविद्याया**मिति। "वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्युपक्रम्य "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्युक्त्वा "तद्य इत्थं विदुः" [छां. उ. ५।१०।१] इत्यच्छन्दोपलक्षितपञ्चभूतसूक्ष्मवेद्यत्वं ह्युक्तमिति भावः। ननूपायकर्तृभूतेदानीन्तनात्मस्वरूपपरित्यागेन परिशुद्धात्मस्वरूपकथनं मुमुक्षोः क्वोपयुक्तं? भूतसूक्ष्मादिकथनं च किमर्थं? इत्यत्राह **तदुभय**मिति। यथाक्रममन्वयः। अत्र पञ्चमाहुतेर्विवक्षितत्वाद्योनिजभूतविषयोऽयं भूतशब्द इत्यभिप्रायेणाह— **भूतभावो मनुष्यादिभाव** इति। मनुष्यत्वादिविशिष्टशरीरयोग इत्यर्थः। विशिष्टस्य विसर्गस्य ज्ञातव्यत्वे तस्य मनुष्यादिभावहेतुत्वे च श्रुतिं दर्शयति— **पञ्चम्या**मिति। अत्र मूत्रमरुन्मलादिविसर्गव्यवच्छेदार्थमुक्तं **भूतभावोद्भवकर** इति। तदेव दर्शयति— **योषित्सम्बन्धज** इति। विसर्गविशेषणसामर्थ्यादेतत्सिद्धम्। एवं कर्मसंज्ञितरेतोविसर्गज्ञानस्य सप्रयोजनतामाह— **तच्चाखिल**मिति। अत्र कर्माभिप्रायेण नपुंसकनिर्देशः। **अखिलं** मनुष्यत्वमृगत्वादिजातिभेदहेतुतयाऽनेकप्रकारम्। **सानुबन्धं** हेतुभूतैः कर्मभिः फलभूतैश्च गर्भवासादिभिः सहितमित्यर्थः। पञ्चाग्निविद्यायामुदितसर्वावस्थानुयायित्वदुस्त्यजत्वजन्मादिदुःखकरत्वादेः फलितत्वाज्जुगुप्सनीयतारूपा भयावहत्वरूपा चोद्वेजनीयता युक्ता। परिहरणीयता तु कुतः सिद्ध्येत्? इत्यत्राह **परिहरणीयता चे**ति ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.**—परममक्षरं ब्रह्म। वेदादिशङ्काव्यावृत्त्यर्थमेतत्। आत्मन्यधि यत्तदध्यात्मम्। आत्माधिकारे यत्तदिति वा। तथा हि—जैवः स्वभावः। स्वाख्यो भावः स्वभाव इति व्युत्पत्त्या जीवो वा स्वभावः; सर्वदा अस्त्येव एकप्रकारेणेति भावः। अन्तःकरणादिव्यावृत्त्यर्थो भावशब्दः। न ह्येकप्रकारेण स्थितिरन्तःकरणादेः, विकारित्वात्। स्वशब्द ईश्वरव्यावृत्त्यर्थः। भूतानां जीवानां भावानां जडपदार्थानां चोद्भवकरीश्वरक्रिया विसर्गः; विशेषेण सर्जनं विसर्ग इत्यर्थः ॥ ३ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—ननु पूर्वाध्याये[२९]'ते ब्रह्म' इति निर्विशेषणमेवोपक्षिप्तम्, अतएवात्र 'किं तद्ब्रह्म' इति तथैव पृष्टम्। उत्तरे तु कस्मात् 'अक्षरं परमं ब्रह्म' इति सविशेषणमुपादीयते? इत्यत आह—**परममिति**। अक्षरस्यैव परमत्वविशेषणम्, न ब्रह्मण इत्यर्थः। तर्हि 'अक्षरं' इत्येवालं, किं विशेषणेन? इत्यत आह—**वेदेति**। आदिपदेन प्रकृतिर्गृह्यते, तयोरपि ब्रह्माक्षरशब्दवाच्यत्वात् प्रसक्तिः।'स्वभावोऽध्यात्मं'[ ८।३ ]इति शब्दद्वयस्यैकविषयत्वसिद्धयेऽध्यात्मशब्दं तावत् द्वेधा व्याचष्टे—**आत्मनीति**। आत्मानं जीवमधिकृत्य तदुपकारित्वेन वर्तमानं वस्त्वित्यर्थः। आत्माधिकार इति ग्रन्थविशेषस्य संज्ञा, यत्प्रतिपाद्यं तदध्यात्ममिति वेत्यर्थः। अत्राध्यात्मशब्दं प्रथमान्तं गृहीत्वा प्रथमं व्याख्यानम्। सप्तम्यन्तमुपादाय द्वितीयं आत्मशब्दं देहविषयमादाय व्याख्याने परमेश्वरप्रसक्तेर्न तथा व्याख्यातम्

एवं तर्हि स्वभावः इत्युभयस्य कथमुत्तरं? इत्यतस्तावत्तद्व्याख्यानं प्रतिजानीते—**तथा हीति**। तत्राद्योत्तरत्वेनादौ व्याचष्टे—**जैव** इति। जीवस्यायं जैवोऽन्तःकरणादिर्देहपर्यन्तः पदार्थः स्वभावः, स्वस्य भाव इति व्युत्पत्त्या। 'ते ब्रह्म तद्विदुः'[ ७।२९ ] इति जीवानां प्रकृतत्वात् स्वशब्दो जीववाची, तथा चात्मन्यधि यत् तदित्येवं व्याख्याताध्यात्मशब्दार्थप्रश्नस्येदमुत्तरं भवतीति भावः। इदानीं द्वितीयोत्तरत्वेन व्याख्याति—**स्वाख्य** इति। पूर्ववदत्रापि स्वशब्दो जीववाची, तथा चात्माधिकार इति व्याख्याताध्यात्मशब्दार्थप्रश्नस्येदमुत्तरं भवतीत्याशयः। ननु जैववाचित्वे भावशब्दः सार्थकः, षष्ठ्याः साकाङ्क्षत्वात्; जीववाचित्वे तु तस्य पदार्थत्वाव्यभिचारात्। स्वशब्देनैवालं, किंभावशब्देन? इत्यतो भावशब्दं तावदन्यथा व्याचष्टे—**सर्वदेति**। यद्यपि भवनकर्ता भावः, तथापि विशेषानुपादाने मुख्यस्य ग्राह्यत्वात्सर्वदेत्यादि सिध्यति, तथापि तस्य किं प्रयोजनम्? इत्यत आह—**अन्तःकरणादीति**। स्वशब्दमात्रोपादाने तस्यात्मीयेऽपि प्रयोगादन्तःकरणादिकमपि प्रसज्येत, तथा च द्वितीयस्येदमुत्तरं स्यात्। आत्मैव ह्यात्माधिकारे प्रतिपाद्यो वक्तव्यः, नान्तःकरणादिकम्, अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थो भावशब्दः प्रयुक्तः। कथं तेन तद्व्यावृत्तिः? इत्यत आह—**न हीति**। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" [ छां. उ. ६।५।४ ] इत्यादेरिति भावः। तथा चान्तःकरणादौ व्यावृत्ते स्वशब्द आत्मार्थतया व्याख्यातो भवतीति हृदयम्।

एवं तर्हि भाव इत्येवास्तु, किं स्वशब्देन? इत्यत आह—**स्वशब्द** इति। ईश्वरोऽपि हि सर्वदैकप्रकारेणास्त्येव, अतो भाव इत्येवोक्ते तत्प्रसक्तौ पूर्ववत् द्वितीयोत्तरत्वासम्भवे तद्व्यावृत्त्यर्थः स्वशब्दः। न हि ईश्वरो जीवानां स्वः, भेदप्रमाणविरोधात्। अत एवेश्वरस्वभावो जीव इति व्याख्यानमपास्तम्। नन्वेवमपि स्वशब्दस्यात्मीयार्थत्वादीश्वरप्रसक्तिः; मैवम्, 'द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिः प्रधानतः' इति वचनात्तस्यात्मीयत्वाभावात् षष्ठ्यन्तात्खल्वयं छः। सकलकार्योत्पत्तिनिमित्तभूतो देवतोद्देशेन च पुरोडाशादिद्रव्यपरित्यागस्तज्जन्यमपूर्वमिति यावदिति व्याख्यानमसत्। तस्याध्यात्मपदेनैव गृहीतत्वादिति भावेन भूतभावेत्यादिकं व्याख्याति—**भूतानामिति**। उद्भवकरी च सेश्वरक्रिया चेति विग्रहः। ईश्वरक्रियाग्रहणं कर्मशब्दे नैकार्थ्यप्रतिपत्त्यर्थम्। एवंलक्षणो यो विसर्गः स कर्मसंज्ञितः, न तु कुलालादिसम्बन्धीत्यर्थः। ननु विसर्गशब्दस्त्यागार्थस्तत्कथमेवं व्याख्यानं? इत्यत आह—**विशेषेणेति** ॥ ३ ॥

**७ ह. पै. भा.**—एषां प्रश्नानां निर्णयार्थं भगवानुवाच—अक्षरमिति। अक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं परमात्मरूपं तद्ब्रह्मेत्युच्यते। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" [ बृ. उ. ३।८।९ ] इत्येषा श्रुतिः। तस्यैवास्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मस्वभावोऽध्यात्ममुच्यते; आत्मानं देहमधिकृत्य प्रत्यगात्मतया प्रवृत्तमध्यात्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः। भूतानां प्राणिनां भावो भूतभावस्तस्योद्भवमुत्पत्तिं करोतीति भूतभावोद्भवकरः, विसर्गो यागः, देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागरूपत्वात्; स यागः कर्मसंज्ञितस्तस्य भूतभावोद्भवकरत्वम्। 'अग्नौ प्रास्ताऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते' [ मनुः ३।७६ ] इत्यादिस्मृतेः ॥ ३ ॥

**८ वे. ब्र. गि.**—एवं सप्तप्रश्नानां क्रमेणोत्तराणि श्रीभगवानुवाच—अक्षरमिति। न क्षरति न विनश्यतीति वा, अश्नुते सर्वं व्याप्नोतीति वा अक्षरम्। तदेवात्र ब्रह्म विवक्षितम्। सविशेषब्रह्मणस्तेन रूपेणाविनाशित्वव्यापित्वयोरभावात्तद्व्यावृत्तिः। अथ तस्यापि स्वरूपेण नित्यत्वव्यापित्वसत्त्वात्। प्रणवे चाक्षरशब्दस्य रूढत्वेन योगाद्रूढेर्बलीयस्त्वात्सविशेषं ब्रह्म

प्रणवो वाऽत्राक्षरमिति शङ्का स्यात्; तां वारयितुं 'परम' इति विशेषणम्। पारम्यं च निरतिशयमहत्त्वरूपम्। तच्चेह सङ्कोचकाभावन्यायेन त्रिविधपरिच्छेदराहित्य एव पर्यवस्यन्निर्विशेषमेव ब्रह्म गमयति। तथा च "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यम्"[ मुं. उ. १।१।६ ] "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति अस्थूलमनण्वह्रस्वम्"[ बृ. उ. ३।८।८ ]'अक्षरमम्बरान्तधृतेः" [ ब्र. सू. १।३।१० ] इत्यादिश्रुतिन्यायप्रसिद्धं निर्विशेषाद्वैतचिदानन्दरूपं परं ब्रह्मैवाक्षरमिति भावः ?। एवं 'किं तद्ब्रह्म' इत्यस्योत्तरमुक्त्वा 'किमध्यात्मम्' इत्यस्योत्तरमाह-स्वभावोऽध्यात्ममिति। यत् 'अक्षरं ब्रह्म' इत्युक्तं तस्य स्वभावः स्वरूपम्। 'स्वरूपं च स्वभावश्च' इत्यमरः [ १।७।३८ ] त्वम्पदलक्ष्यं निष्कृष्टाहङ्कारशुद्धजीवचैतन्यमिति यावत्। तदेव आत्मानं देहमधिकृत्य वर्तमानत्वादत्राध्यात्ममित्युच्यते। "तत्त्वमसि" [ छां. उ. ६।८।७ ] "अहं ब्रह्मास्मि" [ बृ.उ. १।४।१० ] "अयमात्मा ब्रह्म" [ बृ. उ. २।५।१९ ] "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" [ बृ. उ. ३।७।२३ ] इत्यादिश्रुतिशतप्रसिद्धः तद्वेदनस्य च भगवदनुग्रहायत्तचित्तशुद्धिसमधिगम्यत्वेन भगवद्भजनफलत्वोपपत्तेश्चेति भावः २। 'किं कर्म' इति तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह— भूतेति। भूतानां प्राणिनां भावमुत्पत्तिमुद्भवं वृद्धिं च करोतीति तथोक्तो यो विसर्गः त्यागो यागहोमदानात्मकः, स इह कर्मसंज्ञितः,कर्मशब्देनोक्त इत्यर्थः। देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो यागः, स एव प्रक्षेपान्तो होमः, परस्वत्वापादनपर्यन्तः स्वत्वत्यागो दानमिति सर्वत्र विसर्गशब्दवाच्यस्त्यागोऽनुगतः। तस्य च भूतभावोद्भवकरत्वम् 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [ मनुः ३।७६ ] इति स्मृतिसिद्धम्। अतो यागहोमदानात्मकं वैदिकं कर्मैवात्र कर्मशब्देन विवक्षितम्, न तु लौकिकं कृष्यादिकमित्यर्थः ३।

यत्त्वत्र रामानुजव्याख्यानम्— 'अक्षरं क्षेत्रज्ञः स एव ब्रह्मेत्युच्यते। स्वभावः प्रकृतिः; सैवाध्यात्मम्, आत्मसम्बन्धितया वर्तमानत्वात्। तयोश्च प्राप्यतया त्याज्यतया च मुमुक्षुज्ञेयत्वात्। भूतभावो मनुष्यादिभावः, तदुद्भवकरो यो विसर्गः "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" [ छां. उ. ५।३।३ ] इति श्रुतिसिद्धो योषित्सम्बन्धजः, स कर्मसंज्ञितः। स चोद्वेजनीयतया परिहरणीयतया च मुमुक्षुभिर्ज्ञेयः, इति। तन्न; 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' 'इति परत्वेन विशेषितस्याक्षरस्य क्षेत्रज्ञत्वायोगात्। न च प्रकृतिविनिर्मुक्तस्वरूपत्वेन तस्यापि पारम्यमिति युक्तम्; असंकुचितपारम्ये सम्भवति सङ्कुचितवैवक्षिकपारम्यग्रहणानौचित्यात् वैवक्षिकस्य पारम्यस्य सर्वत्र सुलभत्वेन व्यावर्त्यासिद्ध्या विशेषणस्यैव वैयर्थ्यापाताच्च। 'स्वभावोऽध्यात्मं' इत्यत्र स्वभावशब्दस्त्रिगुणात्मकप्रकृतिवाचक इत्यशब्दार्थव्याख्यानम्। न हि 'स्वभावशब्दः प्रकृतिपर्यायः' इत्येतावता वेदान्त्यभिमतत्रिगुणप्रकृतिः स्वभावशब्दार्थो भवति; तथा सति 'प्रत्ययमवधिं कृत्वोपादीयमानं शब्दरूपं प्रकृतिः' इति शाब्दिकाभिमतायाः 'दर्शपूर्णमासाविष्टीनां प्रकृतिः'इति मीमांसकमताया अपि प्रकृतेः स्वभावशब्दार्थत्वापातात्। अध्यात्मशब्दसमभिव्याहृतस्वभावशब्दस्य आत्मस्वभावभूतप्रकृतिवाचित्वं भविष्यतीति चेत्, न; प्रकृतेरात्मस्वभावतासिद्धेः; अन्यथा तत्परिहरणायोगात्, 'न हि स्वभावो भावानां व्यावर्त्यौष्ण्यवद्रवेः' इत्युक्तेः। विसर्गशब्दस्य स्त्रीपुरुषसम्बन्धजन्यरेतोविसर्गरूपत्वे तस्य भूतोत्पत्तिमात्रहेतुत्वेन तद्वृद्धिहेतुत्वाभावात् 'भूतभावोद्भवकरः' इति विशेषणासङ्गतिः। 'भूतभावस्य मनुष्यभवनस्योद्भवनमुत्पत्तिः' इति व्याख्याने भावशब्दवैयर्थ्यम्। अस्माकं तु भाव उत्पत्तिरुद्भवो वृद्धिः; तदुभयकरत्वमपि "अन्नाद्भूतानि जायन्ते जातान्यन्नेन वर्धन्ते" [ तै. उ. २।२।१ ] इत्यन्ने प्रसिद्धम्। 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः' इत्यादिशास्त्रादन्नद्वारा होमादिषु च प्रमितमिति न कश्चिद्दोष इत्यतो यथोक्त एव श्लोकार्थः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०—प्रश्नक्रमेणोत्तरमाह श्रीभगवान्–अक्षरमिति त्रिभिः। अत्र 'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्। ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते' इति भागवतपद्ये [ १।२।११ ] ब्रह्माक्षरोऽव्यक्तोऽगणितानन्दकः यः परमात्मा सत्त्वदर्शनीयाङ्गः प्रकटानन्दांशः भगवान् पुरुषोत्तमो दर्शनीयाङ्गो निर्गुणः सदानन्द इत्युपपादितम्। यत् ब्रह्मेति निर्दिष्टं परमं प्रधानं उत्कृष्टमक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं क्षेत्रज्ञं समष्टिव्यष्टिमूलं कूटस्थं गणितानन्दकमध्यात्मरूपं भगवतोऽभिन्नमपि पृथगुच्यते भगवद्धामत्वादित्यग्रे वक्ष्यते। यथा च सात्वततंत्रे–'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः। प्रथमं महतः स्रष्टृ द्वितीयं खण्डसंस्थितम्॥ तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यते' इति प्रथमं अक्षरं, द्वितीयं समष्टिरूपं, तृतीयं व्यष्टिजीवरूपमिति बोध्यम्। अध्यात्मं आत्मनि अधिगम्यमान षोडशकलं सूक्ष्मं सेन्द्रियमनोरूपं स्वभावः। भूतेति– भूतानां पञ्चानां भावो भौतिकं शरीरं तस्योद्भवकरो (भावेन वासनया उद्भवकरो) विसर्गः 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठति (ते)' इति "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" [ छां. उ. ५।३।३ ] इति श्रुतिप्रतिपादितः कर्मपदस्यार्थः विशेषेण सर्जनस्वभावत्वात् इति पूर्वेषां वेद्यं निर्णीतम् ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— एतत्प्रश्नोत्तरं साभिप्रायज्ञानार्थं श्रीभगवानुवाच— अक्षरमिति त्रयेण। न क्षरति न चलतीत्यक्षरं सदैकरसरूपं पुरुषोत्तमचरणात्मकं भक्तहृदयादचलं गृहात्मकं वा स्थिरं तत्। परमं परः पुरुषोत्तमो मीयत अस्मिन्निति परमं ब्रह्म बृहत् व्यापकं च। स्वभावः स्वस्य भगवतो दास्यादिसेवासिद्ध्यर्थं जीवरूपेण भवनम्। अध्यात्मम्,

आत्मानमविकृतं सेवायोग्यं देहमधिकृत्य तदनुभवे वर्त्तमानो जीवभावोऽध्यात्मशब्देनोच्यत इत्यर्थः । भूतानां जीवानां भावस्य भगवद्रसरूपस्योद्भवकरः प्रकटकारको यो विसर्गो भगवदर्थद्रव्यादिविनियोगेन सेवारूपः स कर्मसंज्ञितः क्रियारूपः कर्मशब्दवाच्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— क्रमेणैषां प्रश्नानामुत्तरमाह–अक्षरमित्यादिभिस्त्रिभिः । तत्र 'किं तद्ब्रह्म' इत्यस्योत्तरं 'अक्षरं परमं ब्रह्म' इति । यत् परममक्षरं तद्ब्रह्मेति योजना, अक्षरशब्दस्य वर्णेषु रूढत्वात्, "ओमित्येतदक्षरम्" [छां. उ. १।१।४।१] इत्यादिश्रुतौ "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" [८।१३ अ. ना. २१] इति स्मृतौ च दर्शनेनात्रापि प्रणवस्याक्षरशब्देन ग्रहणे प्रसक्ते परममिति विशेषणं, प्रणवस्य परब्रह्मत्वासम्भवात्; अतश्च "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" [बृ. उ. ३।८।८] इति श्रुतिप्रसिद्धमखण्डैकरसं वस्तु अक्षरशब्दितं तद्ब्रह्मेति प्राञ्चः । यद्वा अक्षरशब्देन जीवः, 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' [१५।१६] 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [१५।१७] इति गीतासु । "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" [श्वे. उ. १।१०] इति श्रुतौ च कूटस्थपदेनामृतपदेन च विशेषितस्याक्षरपदस्य जीववाचित्वदर्शनात् 'अमृतोऽक्षरं' इत्यपेक्षिते । उत्वाभावश्छान्दसः । यथा चाक्षरं जीवाख्यं परमं ब्रह्म, परममिति विशेषणेन सोपाधिकस्य पूर्वाध्यायोक्तस्य व्यावृत्तिः । नहि जीवस्य सोपाधिकस्य ब्रह्मभावः सम्भवति, व्यावर्त्तकोपाधौ मायादर्पणे जाग्रति तयोरभेदायोगात् । 'किं तद्ब्रह्म' इति प्रश्ने 'परमं' इति विशेषणाभावेऽपि 'ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नं' [७।२९] इति प्रश्नोत्थापके सूत्रे परमत्ववाचिना कृत्स्नपदेन ब्रह्मणो विशेषितत्वादुत्तरेऽपि ब्रह्मण एव 'परमं' इति विशेषणं युज्यत एव; प्रश्नेऽपि तच्छब्देन कृत्स्नत्वस्यैव ग्रहात् । ततश्च 'किं तत् कृत्स्नं ब्रह्म' [८।१] इति प्रश्ने यदक्षरं जीवाख्यं तदेवापेतोपाधिसम्बन्धं सत् कृत्स्नं ब्रह्मेति 'तत्त्वमसि' इति महावाक्यार्थः प्रतीचो ब्रह्मभावः प्रतिपादितो भवतीति हृद्यम् । तथा स्वोऽनागन्तुको भावः स्वरूपं स्वभावः शुद्धस्त्वम्पदार्थः, सोऽध्यात्ममुच्यते । भाष्ये तु तस्यैव पदस्य ब्रह्मणः प्रतिदेहं प्रत्यगात्मभावः स्वो भावः स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते अध्यात्मशब्देनाभिधीयत इति । विसर्गो देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मको यागः स कर्मसंज्ञितः । तमेव विशिनष्टि— भूतेति । भूतानां भावः सात्त्विकादिः स्वभाव उद्भवश्च तयोः करणाद्भूतभावोद्भवकरः । तथा हि 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' [ ] इति कर्मानुसारित्वं भावस्य स्मर्यते । तथा उद्भवोऽपि कर्मत एव स्मर्यते । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः' [मनुः ३।७६] इति ॥ ३ ॥

**अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।**
**अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतांवर ! ॥ ४ ॥**

**१ शां. भा.— अधिभूतमिति । अधिभूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवतीति । कोऽसौ ? क्षरः क्षरतीति क्षरो विनाशी भावः, यत्किञ्चिज्जनिमद्वस्त्वित्यर्थः । पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति, पुरि शयनाद्वा**

---

१ देहभृतामिति पदं देहलीदीपन्यायेन देह इत्यनेन वरेत्यनेन च सम्बद्ध्यत इति केचित् । अर्जुन ! त्वमेव प्राणिनामुत्तमोऽसि, न त्वत्तोऽन्यः । अहो ते महाभाग्यम् ! पृच्छसि त्वं स्वैरं विगताशङ्कं शङ्कापनोदाय, न मनागप्युदेति ममामर्षः, जायते च मम परमामोदः, समादधे च परमप्रीत्या, भागधेयमिदमसाधारणम् । अतोऽहं ब्रवीमि— 'देहभृतां वर !' इति इत्युपन्यासदर्पणम् । अत्र **वामनः**—

प्रीतस्तरां तव वसामि यथाऽत्र देहे देहेषु नैवमितरेष्वधियज्ञरूपः ।
श्रेष्ठोऽसि देहिषु ततस्त्वमिति स्वभक्तं देवो नुनाव किल देहभृतां वरेति ॥ इत्याशयं विशदयति ।

**नव्यास्तु**– 'कोऽत्र देहेऽस्मिन्' इत्यत्र 'अस्मिन् देहेऽधिदेहः कः ?' इत्यधिकं प्रश्नमेकं कल्पयित्वाऽत्र 'यमधियज्ञं सर्वयज्ञाधिपतिमाहुः, असावहमेवास्मिन् देहेऽधिदेहोऽस्मि' इति व्याख्याय, 'अत्राधियज्ञपदं भगवता न व्याख्यातम्, यज्ञविषयस्य प्राक् तृतीये चतुर्थे चाध्याये सविस्तरं वर्णितत्वात्' इत्यादि वदन्ति । तन्न युक्तम्, श्रुतार्थपरित्यागादश्रुतार्थकल्पनाक्लेशाच्च । श्रूयते ह्यत्र विस्पष्टमेव 'अधियज्ञोऽहमेव' इत्यधियज्ञपदव्याख्यानम्, न चात्र प्रश्नवाक्ये वा पठ्यतेऽधिदेहशब्दोऽपीति किमनुक्तोपालम्भविमर्शेन ?

—**अविगीता** ।

पुरुषः, आदित्यान्तर्गतो हिरण्यगर्भः, सर्वप्राणिकरणानामनुग्राहकः सोऽधिदैवतम् । अधियज्ञः सर्वयज्ञाभिमानिनी देवता विष्ण्वाख्या "यज्ञो वै विष्णुः" [ तै. सं. १।७।४ ] इति श्रुतेः । स हि विष्णुरहमेव, अत्रास्मिन्देहे यो यज्ञस्तस्याहमधियज्ञः; यज्ञो हि देहनिर्वर्त्यत्वेन देहसमवायीति देहाधिकरणो भवति, देहभृतां वर ! ॥ ४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—सम्प्रति प्रश्नत्रयस्योत्तरमाह—**अधिभूतमिति** । 'अधिभूतं च किं प्रोक्तं' [ ८।१ ] इत्यस्य प्रतिवचनं 'अधिभूतं क्षरो भावः' इति, तत्राधिभूतपदमनूद्य वाच्यमर्थं कथयति—**अधिभूतमित्यादिना** । तस्य निर्देशमन्तरेण निर्ज्ञातुमशक्यत्वात्प्रश्नद्वारा तन्निर्दिशति—**कोऽसाविति** । कार्यमात्रमत्र सङ्गृहीतमिति वक्तुमुक्तमेव व्यनक्ति—**यत्किञ्चिदिति** । 'अधिदैवं किं' इति प्रश्ने 'पुरुषश्च' इत्यादि प्रतिवचनं, तत्र पुरुषशब्दमनूद्य मुख्यमर्थं तस्योपन्यस्यति—**पुरुष इति** । तस्यैव सम्भावितमर्थान्तरमाह—**पुरि शयनाद्वेति** । वैराजं देहमासाद्याऽऽदित्यमण्डलादिषु देवतेष्वन्तरवस्थितो लिङ्गात्मा व्यष्टिकरणानुग्राहकोऽत्र पुरुषशब्दार्थः, स चाधिदैवतमिति स्फुटयति—**आदित्येति** । 'अधियज्ञः कथं' [ ८।२ ] इत्यादिप्रश्नं परिहरन्नधियज्ञशब्दार्थमाह—**अधियज्ञ इति** । कथमुक्तायां देवतायामधियज्ञशब्दः स्यात् ? इत्याशङ्क्य श्रुतिमनुसरन्नाह—**यज्ञो वा इति** । परैव देवताऽधियज्ञशब्देनोच्यते । सा च ब्रह्मणः सकाशादत्यन्ताभेदेन प्रतिपत्तव्येत्याह—**स हि विष्णुरिति** । शास्त्रीयव्यवहारभूमिरत्रेत्युक्ता । देहसामानाधिकरण्याद्वा 'अत्र' इत्यस्य व्याख्यानम्—**अस्मिन्निति** । किमधियज्ञो बहिरन्तर्वा देहात् ? इति सन्देहो मा भूदित्याह—**देह इति** । ननु यज्ञस्य देहाधिकरणत्वाभावात्कथं तथाविधयज्ञाभिमानिदेवतात्वं भगवता विवक्ष्यते ? तत्राऽऽह—**यज्ञो हीति** । एतेन तस्य बुद्ध्यादिव्यतिरिक्तत्वमुक्तमवधेयम् । न हि परा देवता दर्शितरीत्याऽधियज्ञशब्दिता बुद्ध्यादिष्वन्तर्भावमनुभवितुमलम् । देहान्बिभ्रतीति देहभृतः सर्वे प्राणिनस्तेषामेष वरः श्रेष्ठः । युक्तं हि भगवता साक्षादेव प्रतिक्षणं संवादं विदधानस्यार्जुनस्य सर्वेभ्यः श्रैष्ठ्यम् ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.**—**अधिभूतमिति** । ऐश्वर्यार्थिनां ज्ञातव्यतया निर्दिष्टमधिभूतं क्षरो भावः वियदादिभूतेषु वर्तमानस्तत्परिणामविशेषः क्षरणस्वभावो विलक्षणः शब्दस्पर्शादिः साश्रयः । विलक्षणाः साश्रयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ऐश्वर्यार्थिभिः प्राप्यास्तैरनुसन्धेयाः । पुरुषश्चाधिदैवतम्— अधिदैवतशब्दनिर्दिष्टः पुरुषः । अधिदैवतं दैवतोपरि वर्तमान इन्द्रप्रजापतिप्रभृतिकृत्स्नदैवतोपरि वर्तमान इन्द्रप्रजापतिप्रभृतीनां भोग्यजाताद्विलक्षणशब्दादेर्भोक्ता पुरुषः ।

**४ वे. ता. चं.**—ऐश्वर्यार्थिनां ज्ञातव्यतया निर्दिष्टमित्येतदधिदैवतेऽप्यनुषञ्जनीयम्, अधिभूतक्षरशब्दनिर्वचनानुरोधेन व्याख्याति **वियदादीति** । भूतशब्दस्यात्र जन्तुविषयत्वव्यवच्छेदाय वियदादिशब्दः । शब्दाद्यवस्थातद्वतोर्भोग्ययोर्द्वयोरपि क्षरशब्देन सङ्ग्रहणाय **क्षरणस्वभाव** इति निर्वचनम् । नश्वर इत्यर्थः । **विलक्षण** इति 'इन्द्रप्रजापतिप्रभृतीनां भोग्यजातात्' इति वक्ष्यमाणमत्रापि द्रष्टव्यम् । एवंविधं च वैलक्षण्यं स्वासाधारणभक्तियोगप्रसन्नपरमात्मसङ्कल्पविशेषप्रसूतभोगरूपत्वात् । अस्य ज्ञातव्यता हेतुं दर्शयति—**विलक्षणा** इति । 'क्षरो भावः' इत्येकवचनं जात्यभिप्रायमिति भावः । **प्राप्या**-प्राप्यत्वादित्यर्थः । अधिदैवतशब्दे रूढिभ्रमव्युदासायाह—**अधिदैवतशब्दनिर्दिष्ट** इति । तन्निरुक्तिः **दैवतोपरिवर्तमानमिति** । दैवतोपरीति सम्बन्धसामान्यषष्ठ्या समासः । दैवतशब्दस्यात्र सर्वेश्वरात् सङ्कोचं देवतान्तरेष्वभिव्याप्तिं चाह—**इन्द्रेति** । उपरि वर्तमानत्वमिह न केवलं देशाद्यपेक्षया; किन्तु भोगप्रकर्षादपीत्यभिप्रायेणेत्याह—**इन्द्रेत्यादि पुरुष** इत्यन्तम् ।

**३ रा. भा.**—सा च भोक्तृत्वावस्था ऐश्वर्यार्थिभिः प्राप्यतयाऽनुसन्धेया । अधियज्ञोऽहमेव अधियज्ञशब्दनिर्दिष्टोऽहमेव । अधियज्ञः यज्ञैराराध्यतया वर्तमानः । अत्र इन्द्रादौ मम देहभूते आत्मतयाऽवस्थितोऽहमेव यज्ञैराराध्य इति महायज्ञादिनित्यनैमित्तिकानुष्ठानवेलायां त्रयाणामधिकारिणामनुसन्धेयमेतत् ॥ ४ ॥

**४ वे. ता. चं.**—ननु पुरुषान्तरमिहाविवक्षितम्; स्वात्मस्वरूपपुरुषानुसन्धानमधिकार्यन्तरस्यापि समानम्; ततोऽत्र को विशेषः ? इत्यत्राह—**सा चेति** । न परिशुद्धस्वरूपमिहानुसन्धेयं, न चाशुद्धेऽपि हेयत्वमिह भाव्यम् । पुरुषशब्दनिर्देशश्चात्र भावप्रधान इति भावः । **अहमेवेति** क इति प्रश्नस्योत्तरम् । कथमिति प्रश्नस्योत्तरत्वं तदभिप्रेतं विवृणोति—**अधियज्ञ** इति । यज्ञे सम्बध्यमानोऽधियज्ञः । तत्र च सर्वेश्वरस्याराध्यतया सम्बन्ध इत्याह—**यज्ञैराराध्यतया वर्तमान** इति । इन्द्रादयो हि तत्र च आराध्याः श्रुताः; तत्कथमहमेवेत्युच्यत इत्यत्रोत्तरम् 'अत्र देहे' इत्यनेन विवक्षितमिति दर्शयति—**अत्रे**-

न्द्रादाविति । 'अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे' इतीश्वरेणाभिधीयमानत्वात्तद्देहविषयत्वं प्रतीतम् । स चेश्वरदेहः 'यज देवपूजायाम्' [१।१०२७] इति याज्यदेवतापेक्षयज्ञप्रसङ्गादिन्द्रादिरेवेत्यभिप्रायेणोक्तम्— इन्द्रादाविति । 'यां यां तनुम्' [७।२१] इति प्रागुक्तं स्मारयति— मम देहभृत इति । कर्मणा ह्यचिद्द्रव्यं कस्यचिद्देहो भवति ; न तथाऽत्र देहत्वं कादाचित्कमिति ज्ञापनाय देहभृत इति प्रयोगः । देहभृतकेवलेन्द्रादिव्यवच्छेदार्थं अहमेवेत्यवधारणम् । पूर्वनिर्दिष्टब्रह्माध्यात्मकर्माधिभूताधिदैववन्न तत्त्वान्तरमिति ज्ञापनार्थं वा । "विष्णुः सर्वा देवताः" इति च श्रुतिः । एतेन 'कथम्' इति प्रश्नस्याप्युत्तरं दत्तम् । तत्तद्विशिष्टस्याराध्यत्वात् । 'देहभृतां वर!' इत्यनेनाध्यात्मचिन्तानुगुणसत्त्वोत्तरदेहेन्द्रियादिमत्त्वं, स्वस्यालौकिकेन्द्रादिदेहवत्त्वे निदर्शनं चाभिप्रेतम् । एवंविधाधियज्ञविज्ञानमनुष्ठानानुप्रविष्टम् ; न तु तदुपकारकमात्रम् ; न चैश्वर्यार्थिमात्रविषयमिति दर्शयति— इति महायज्ञेति । अकरणनिमित्तानर्हतादिपरिहाराय त्रयाणामवश्यकर्तव्यताद्योतनाय नित्यनैमित्तिकोक्तिः ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.— भूतानि सशरीरान् जीवानधिकृत्य यत्तदधिभूतम् । क्षरो भावो विनाशिकार्यपदार्थः । अव्यक्तान्तर्भावेऽपि तस्याप्यन्यथाभावाख्यो विनाशोऽस्त्येव । तच्चोक्तम्— 'अव्यक्तं परमे व्योम्नि निष्क्रिये सम्प्रलीयते' इति । 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम!' इति च । 'विकारोऽव्यक्तजन्म हि' इति च स्कान्दे । पुरि शयनात्पुरुषो जीवः, स च सङ्कर्षणो ब्रह्मा वा । स सर्वदेवानधिकृत्य तत्पतिरित्यधिदैवतम्, देवाधिकारस्थ इति वा ।**

६ ज. प्र. दी.—परिहारं सङ्गमयितुमधिभूतशब्दार्थं तावदाह— भूतानीति । अधिकृत्य तदुपकारित्वेन यद्वर्तते 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' [१५।१६] इति वक्ष्यमाणं क्षरं व्यावर्तयितुं व्याचष्टे— क्षर इति । क्षरशब्दव्याख्या विनाशीति । भावशब्दस्यार्थद्वयं कार्य इति, पदार्थ इति । भवत्युत्पद्यत इति भावः । उत्पत्तिमान्पदार्थो नाशवान् पदार्थ इति प्रत्येकमुत्तरम् । सर्वभूतानामध्यात्मत्वान्न ग्रहणम् । नन्वव्यक्तमपि सशरीरान् जीवानधिकृत्य वर्तत इति तस्याप्यधिभूतेऽन्तर्भावोऽस्त्येव, न चैतद्विनाशि कार्यं वा, 'नासतः' [२।१६] इत्युक्तत्वात् । ततोऽव्यापकमुत्तरमित्यत आह— अव्यक्तेति । अव्यक्तस्याधिभूतान्तर्भावेऽपि नाव्यापकमुत्तरमिति शेषः । कुतः ? इत्यत आह— तस्यापीति । अन्यथाभावो वैषम्यपरित्यागेन साम्यावस्थापत्तिः । यत इति शेषः । तथा विक्रियालक्षणं जन्म चेलपि ग्राह्यम् । उभयत्र क्रमेण प्रमाणान्याह— तच्चेति । व्योम्नि व्याप्ते प्रलये प्रचुरव्यापाराभावात् निष्क्रिये । ननु पुरुषः परमात्मा स ब्रह्माधियज्ञशब्दाभ्यामुक्त इत्यत आह— पुरो त । शरीरे "अधिकरणे शेतेः" [अष्टा. ३।२।१५] इति डः । 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च' इत्यादिना साधुः । तथाप्यध्यात्मशब्देन गतार्थतेत्यत आह— स चेति । सर्वजीवाभिमानित्वादिति भावः। तस्याधिदैवत्वं कथं ? इत्यतो द्वेधाऽऽह— स इति । अधिकृत्य वर्तत इत्यस्यैव विवरणं— पतिरिति । देवाधिकारस्थस्तत्प्रकरणेषु मुख्यतः प्रतिपाद्यः । सर्वदेवतासङ्ग्रहार्थं वा द्वितीयं व्याख्यानम् । अक्षरार्थस्तु पूर्ववत् ।

**५ आ. मा. भा.— सर्वयज्ञभोक्तृत्वादेरधियज्ञः । अन्योऽधियज्ञोऽन्यादिः प्रसिद्ध इति देह इति विशेषणम् । 'भोक्तारं यज्ञतपसां' [५।२९] । 'त्रैविद्या मां' [९।२०] । 'ये त्वन्यदेवताभक्ताः' [९।२३] "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने....गार्गि ददतो मनुष्याः प्रशंसन्ति यजमानं देवाः" [बृ.उ.३।८।९] इत्यादेः। 'कुतो ह्यस्य ध्रुवः स्वर्गः कुतो नैश्श्रेयसं पदम्' [म. भा. १२।३२४।१२] इत्यादिपरिहारश्च मोक्षधर्मे । भगवांश्चेत्तद्भोक्तृत्वादेरधियज्ञत्वं सिद्धमिति कथमित्यस्य परिहारः पृथङ्नोक्तः ? । सर्वप्राणिदेहस्थरूपेण साधियज्ञः ।**

६ ज.प्र. दी.—अधियज्ञः कथं ? [८।२] इत्यस्योत्तरं भगवताऽनुक्तं भाष्यकृदाह— सर्वेति । आदिपदेन तत्प्रवर्तकत्वादिना । अध्यात्मशब्दवदधियज्ञशब्देऽव्ययीभावः । किन्तु अधिगतो यज्ञमिति प्रादिसमासः । अधिष्ठितो यज्ञोऽनेनेति बहुव्रीहिर्वा । 'अधियज्ञः कः' इति प्रश्ने तत्परिहारे च देह इत्यस्य प्रयोजनमाह— अन्य इति । अन्यो भगवतः इति सिद्धार्थतापरिहारार्थं प्रश्नवाक्ये देह इति विशेषणं प्रयुक्तं कर्तृभोक्तृफलदातॄणां हि प्रेरकत्वेन वर्तमान इति । अतः परिहारवाक्येऽपि यथाप्रश्नं तदुपात्तमिति वाक्यशेषः । भगवतः सर्वयज्ञभोक्तृत्वं कुतो येनैवमुत्तरमध्याहियते ? इत्यत आह— भोक्तारमिति । त्रैविद्यानुष्ठितयज्ञभोक्तृत्वाभावात्सर्वेत्यनुपपन्नमित्यत आह— त्रैविद्या इति । प्रवर्तकत्वे श्रुतिमाह— एतस्येति । यज्ञफलदातृत्वादौ प्रमाणमाह— कुतो हीति । ध्रुवश्चिरन्तनः । निश्श्रेयसे मुक्तौ भवं पदं सुखम् । इत्यादेः प्रश्नस्य । नन्वेष परिहारो भगवतैवं कुतो नोक्तः ? इत्यत आह— भगवांश्चेदिति । चेच्छब्दो यदाशब्दार्थे । अधियज्ञोऽहमिति यदाधियज्ञत्वेन भगवानुक्तः

तदा तस्य सर्वयज्ञभोक्तृत्वादेरधियज्ञत्वमर्जुनस्य सिद्धमेव, भोक्तारमित्यादेरर्थस्य तेन श्रुतत्वात्, अन्यत्वपक्ष एव कथमिति पृष्टत्वात्। एवमालोच्य भगवता कथमित्यस्य प्रश्नस्य परिहारोऽधियज्ञोऽहमित्यतः पृथक् नोक्तः। अस्माभिस्तु मन्दान्बोधयितुमुक्त इति भावः। ननु यद्यधियज्ञः स्वयमेव, तर्हि कथं 'साधियज्ञं मां' इति प्रागवोचत्? इत्यत आह–**सर्वे**ति। रूपविशेषापेक्षया साहित्यमुक्तमिति भावः। अनेन परिहारवाक्यस्थस्य देह इति विशेषणस्य प्रयोजनान्तरं चोक्तं भवति।

**५ आ. मा. भा.**— अत्रेति स्वदेहनिवृत्त्यर्थम्। न हि तत्रेश्वरस्य नियन्तृत्वं पृथगस्ति। नात्रोक्तं ब्रह्म भगवतोऽन्यत् 'ते ब्रह्म' [ ७।२९ ] इत्युक्त्वा 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः' [७।३० ] इति परामर्शात्, तस्यैव च प्रश्नात्। 'साधियज्ञं'इति भेदप्रतीतेस्तन्निवृत्त्यर्थं 'अधियज्ञोऽहं' इत्युक्तम्। मामित्यभेदप्रसिद्धेरक्षरमित्येवोक्तम्। आह च गीताकल्पे–'देहस्थविष्णुरूपाणि अधियज्ञ इतीरितः। कर्मेश्वरस्य सृष्ट्यर्थं तच्चापीच्छाद्यमुच्यते॥ अधिभूतं जडं प्रोक्तमध्यात्मं जीव उच्यते। हिरण्यगर्भोऽधिदैवं देवः सङ्कर्षणोऽपि वा॥ ब्रह्म नारायणो देवः सर्वदेवेश्वरेश्वरः' इति। 'यथा प्रतीतं वा सर्वमत्र नैव विरुध्यते' इति। स्कान्दे च– 'आत्माभिमानाधिकारस्थितमध्यात्ममुच्यते। देहाद्बाह्यं विनाऽतीव बाह्यत्वादधिदैवतम्॥ देवाधिकारगं सर्वं महाभूताधिकारगम्। तत्कारणं तथा कार्यमधिभूतं तदन्तिकात्' इति। महाकौर्मे च–'अध्यात्मं देहपर्यन्तं केवलात्मोपकारकम्। सदेहजीवभूतानि यत्तेषामुपकारकृत्॥ अधिभूतं तु मायान्तं देवानामधिदैवतम्' इति॥ ४॥

**६ ज. प्र. दी.**— अत्रेति देहविशेषणं किमर्थं? इत्यत आह—**अत्रे**ति। इह लौकिके देह इत्यर्थः। कुत ईश्वरदेहो व्यावर्तनीयः? इत्यत आह—**न ही**ति। तत्र स्वदेहे। पृथक् पृथग्भावेन। यथाऽधियज्ञोऽहमेवेत्युक्तं न तथा ब्रह्माहमिति। अतो भगवतोऽन्यदेवेदं ब्रह्म, परममिति तु स्वरूपकथनम्। न तु विशेषणमिति शङ्का निवारयति—**नात्रे**ति। पूर्वाध्याये 'ते ब्रह्म तद्विदुः' [ ७।२९ ] इत्युक्त्वा कथम्भूतं ब्रह्मेत्याकाङ्क्षायां साधिभूताधिदैवं साधियज्ञं च ब्रह्मेति वक्तव्ये मामिति ब्रह्मणः परामर्शात्। तत्रास्तु भगवानेव ब्रह्म, अत्र तु कुतः? इत्यत आह—**तस्यैवे**ति; पृष्टस्यैव वक्तव्यत्वात्। तर्हि अधियज्ञस्य ब्रह्मणश्च भगवत्त्वादेकत्राहमेवेत्युक्तिः, अपरत्र तदनुक्तिः किंनिबन्धना? इत्यत आह-**साधियज्ञमि**ति। शेषं **तात्पर्यनिर्णये**। एतेनापव्याख्यानमपि निरस्तम्। द्वादशादौ च विस्तरेण आगमसम्मत्योक्तं स्थापयति–**आह चे**ति। यानि देहस्थविष्णुरूपाणि सोऽधियज्ञ इतीरितः। तदपीच्छाप्रयत्नाद्यमेव, न तु परिणामरूपम्। जडं देहाद्बाह्यम्। न केवलमेषां पदानामेतावन्मात्रार्थत्वं; किन्तु यथाप्रतीतं प्रतीतिमनतिक्रम्य शब्दशक्त्या यावत्प्रतीतं प्रमाणाविरुद्धं च तदत्र व्याख्यायमानं वक्तुरभिप्रायं न व्यभिचरतीत्यर्थः। किञ्चिद्व्यवहितत्वात् मध्येऽपीति शब्दः। एतदेव वाक्यान्तरेण स्पष्टयति—**स्कान्दे चे**ति। आत्मनोऽभिमानस्य विषयः आत्माधिकारस्थं तत्र प्रतिपाद्यं देहाद्बाह्यं विनेति। सामर्थ्यादात्माभिमानस्थेन सम्बध्यते। तत्र युक्तिः अतीव बाह्यत्वात्। अत्यभिमानविषयत्वाभावात्। महाभूताधिकारगं महाभूतम्। कार्यकारणग्रहणहेतुः। तदन्तिकात्तत्तादात्म्यात् देवानामुपकारकृत्॥ ४॥

**७ ह. पै. भा.**— अधिभूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवतीति। तदेव दर्शयति— क्षरो भावः क्षरति विनश्यतीति क्षरो भावो वस्तु, विनाशि वस्त्वित्यर्थः। पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति, पुरि शयनाद्वाऽऽदित्यान्तर्गतो हिरण्यगर्भः सर्वप्राणिकरणानुग्राहकः;स एवम्भूतः पुरुषोऽधिदैवतमित्युच्यते। अधियज्ञः सर्वयज्ञाभिमानिनी देवता विष्ण्वाख्या "यज्ञो वै विष्णुः" [ तै. सं. १।७।४ ] इति श्रुतेः। अत्र देहे कर्ममये शरीरे देहभृतां वर!॥ ४॥

**८ वें. ब्र. गि.**— 'अधिभूतं किम्' इति चतुर्थप्रश्नस्योत्तरमाह— अधिभूतमिति। क्षरति विनश्यतीति क्षरो विनश्वरो भावः पदार्थो देहादिः। स एवात्र भूतं प्राणिजातमधिकृत्य भवतीत्यधिभूतम्। पुरुषश्चाधिदैवतमिति पञ्चमस्योत्तरम्। पुरुषो हिरण्यगर्भः, "आत्मैवेदमग्र आसीत्...... पुरुषः" [ बृ. उ. १।४।१७ ] 'स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते। आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत' इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धः सर्वभूताधिपतिर्भगवदंशः। स एवात्र दैवतान्यादित्यादीन्यधिष्ठाय चक्षुरादीन्यनुगृह्णातीत्यधिदैवतमित्युच्यते४।५।अधियज्ञोऽहमिति षष्ठस्योत्तरम्। अत्र अस्मिन्देहेऽन्तर्यामित्वेन स्थितोऽहमेव यज्ञादिप्रवर्तकत्वाद्यज्ञमधिकृत्य तिष्ठन्नधियज्ञः। अनेनैव कथमधियज्ञत्वं क वाऽधियज्ञस्तिष्ठतीत्येतत्प्राक्पृष्टं द्वयमप्युत्तरितम्। 'देहभृतां वर!' इति सम्बोधयन् पराधीनस्वप्रवृत्तिनिवृत्त्यन्वयव्यतिरेकाभ्यामन्तर्यामी देहभृन्मात्रेण ज्ञातुं शक्यते; तेषु श्रेष्ठस्य तव तद्बोधने किमु वक्तव्यम्? इति सूचयति॥ ४॥

९ व० त० दी०—अभिमाणामाह– अधिभूतमिति । पूर्वनिर्दिष्टमधिभूतं क्षरो भावः भूताधिकृतः क्षरणस्वभावो भौतिकः पदार्थः युष्मदादिविराडन्तः; किञ्च पुरुषो जीवोऽत्रात्मा सर्वत्रास्त्यधिदैवतं ( सर्वेषामधिदैवतं ) सर्वसाधारणं शब्दादिभोक्तृ चेति सूर्याद्या अधिदेवताश्चकारेण संगृह्यन्ते । सा भोक्तृत्वावस्था पुरुषान्तर्यामिज्ञानिभिः( पुरुषोत्तमज्ञानिभिः ) सर्वत्रैकरूपतया–( सर्वाधिगम्यतया )ऽनुसन्धेया । अधियज्ञोऽहमिति–यस्त्वया पृष्टः कोऽधियज्ञ इति स चाहं यज्ञाधिष्ठातावयवी यज्ञैश्चाराध्यः परमात्मरूपः । 'देहेऽस्मिन्कथं?'इत्यस्योत्तरमाह–अत्र देहे समस्तभूतशरीरे तदन्तर्यामितया स्थितः; यथोक्तं भागवते–' आध्यात्मिकस्तु यः प्रोक्तः सोऽसावेवाधिदैविकः । यस्तत्रोभयविच्छेदः स स्मृतो ह्याधिभौतिकः । एकमेकतराभावे यदि नोपलभामहे । त्रितयं तत्र यो वेद स आत्मा [स्वाश्रयाश्रयः] स्वाश्रयः परः ॥ [ भाग. २।१०।९ ] इति । हे देहभृतां वर ! यथा देहभृतः केचन विज्ञाः ( लिप्ताः ) केचनाऽविज्ञाः ( अलिप्ताः ) तथाऽहमभिज्ञः ( अलिप्तः ) साक्षी त्वं चापि तेषु वरो जिज्ञासुः देहभृत्त्वादिति तं स्तौति ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.—एवं ब्रह्माध्यात्मकर्मोत्तराण्युक्त्वाऽधिभूताद्युत्तराण्याह—अधिभूतमिति । क्षरो भावो विनश्वरो देहो भगवद्विप्रयोगतापाधिक्येन नाशभावयुक्तोऽधिभूतं जीवमात्रमधिकृत्य भवतीति अधिभूतं दास्यार्थमाविर्भावितस्वांशे विप्रयोगतापार्थं प्रकटीक्रियत इति तथोच्यत इति भावः । च पुनः । पुरुषो मम जीवहृदि पुरुषत्वेन रसात्मको भावः स अधिदैवः, तं क्रीडात्मकभावमधिकृत्य भवतीति सर्वमूलरूप इति तथोच्यत इति भावः । किञ्च हे देहभृतां वर मत्सेवौपयिकसामर्थ्ययुक्त ! अत्र जगति देहे देहनिमित्तं सेवौपयिकोपचयार्थं अधियज्ञः यज्ञादिकर्मात्मकस्तत्प्रवर्तकश्चेत्यर्थः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०—क्षरो भावो जनिमद्वस्तु कर्मफलभूतं तत्साधनभूतं च तदधिभूतमित्युच्यते । अधिदैवतं पुरुषः सर्वासु पूर्षु वसतीति सर्वकरणानुग्राहकः सकलदेवतात्मा हिरण्यगर्भः । अधियज्ञो यज्ञाभिमानी विष्णुरन्तर्यामी सोऽहमेव देह्यस्मि । अत्रास्मिन्देहे देहभृतां वर ! ॥ ४ ॥

**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥**

**१ शां. भा.— अन्तकाल इति । अन्तकाले च मरणकाले मामेव परमेश्वरं विष्णुं स्मरन्मुक्त्वा परित्यज्य कलेवरं शरीरं यः प्रयाति गच्छति, स मद्भावं वैष्णवं तत्त्वं याति; नास्ति न विद्यतेऽत्रास्मिन्नर्थे संशयो याति वा न वेति ॥ ५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— यत्तु 'प्रयाणकाले च' इत्यादि चोदितं तत्राऽऽह— अन्तकाले चेति । 'मामेव' इत्यवधारणेनाध्यात्मादिविशिष्टत्वेन स्मरणं व्यावर्त्यते । विशिष्टस्मरणे हि चित्तविक्षेपान्न प्रधानस्मरणमपि स्यात् । नच मरणकाले कार्यकरणपारवश्याद्भगवदनुस्मरणासिद्धिः सर्वदैव नैरन्तर्येणाऽऽदरधिया भगवति समर्पितचेतसस्तत्कालेऽपि कार्यकरणजातमगणयतो भगवदनुसन्धानसिद्धेः, शरीरं तस्मिन्नहम्ममाभिमानाभावादिति यावत् । 'प्रयाति' इत्यत्र प्रकृतशरीरमपादानम् । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति " [ मुं.उ. ३।२।९ ] इत्यादिश्रुतिमाश्रित्याऽऽह— नास्तीति । व्यासेध्यं संशयमेवाभिनयति— याति वेति ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.— इदमपि त्रयाणां साधारणम् । अन्तकाले च मामेव स्मरन् कलेवरं त्यक्त्वा यः प्रयाति, स मद्भावं याति मम यो भावः स्वभावः तं याति । तदानीं यथा मामनुसन्धत्ते, तथाविधाकारो भवतीत्यर्थः; यथा आदिभरतादयस्तदानीं स्मर्यमाणमृगसजातीयाकाराः सम्भूताः ॥ ५ ॥**

---

१ अत्राभिनवगुप्तपादाः— न केवलं स्वस्थावस्थायाम् , यावदन्तकालेऽपीति । मामेवेति व्यवच्छिन्नसकलोपाधिकम् ।— इत्याहुः । कले शुक्रे मधुराव्यक्तध्वनौ वा वरं श्रेष्ठं कलेवरम् । ' हलदन्तात ' — ( अष्टा. ६।३।९ ) इत्यलुक् ॥ मा लक्ष्मीः तयासहितं अं माम् । लक्ष्मीमनोहरं सगुणसुन्दरं वैकुण्ठपतिमित्यर्थः । विश्वपाशब्दवदाकारान्तो माशब्दो बोध्यः । 'अकारो ब्रह्मविष्ण्वीशकमठेष्वङ्गने रणे । ' इति रत्नकोशः । सगुणोपासकानामेवान्तिमस्मरणापेक्षा भगवत्सायुज्यप्राप्तिश्च, न निर्गुणज्ञानवताम् , इत्यन्यत्र प्रपञ्चितमेवेति नात्र विस्तार्यते ।
— अविगीता

४ वे. ता. चं.— 'प्रयाणकाले' [ ८।२ ] इत्यस्य प्रश्नस्य सङ्ग्रहेणोत्तरं 'अन्तकाले' इति श्लोकः । अतो न ज्ञानिमात्रविषय इत्यभिप्रायेणाह— **इदमपीति** । अधियज्ञपदार्थस्वाभाव्याद्वक्ष्यमाणप्रकाराच्चेति भावः । अन्वयं दर्शयति— **अन्तकाले चेति** । 'मद्भावं याति' इत्यत्र श्रुत्यादिविरुद्धतादात्म्यावाप्तिभ्रमव्युदासायाह **मम यो भाव** इति । नन्वीश्वरस्वभावप्राप्तावस्यापि कृशोदरीनीडनिहितकीटस्य तज्जातीयत्ववदीश्वरान्तरत्वप्रसङ्गः, त्रयाणामधिकारिणां गुणाष्टकरूपेश्वरस्वभावप्राप्त्यविशेषेऽधिकारिभेदश्च न स्यादित्यत आह— **तदानीमिति** । तत्तदनुसन्धेयाकारविशेषसाम्यप्राप्तिर्विवक्षिता । साम्यं च स्वरूपभेदकवैधर्म्ये स्थिते सत्येवेति न कश्चिद्दोष इति भावः । एवं प्रश्नाः प्रत्युक्ताः । 'नास्त्यत्र संशयः' इत्यनेन अभिप्रेतां प्रयोजकप्रसिद्धिं दर्शयति— **यथाऽऽदिभरतादय** इति । एतेनोदाहरणेनापि तादात्म्यभ्रमो निरस्तः; न ह्यादिभरतस्य स्मर्यमाणमृगेण तादात्म्यम्ः अपितु तत्समानाकारमृगशरीरपरिग्रह एवेति तत्रैव प्रसिद्धम् । तदानीं देहवियोगकाल इत्यर्थः ॥५॥

५ आ. मा. भा.— मद्भावं मयि सत्तां निर्दुःखनिरतिशयानन्दात्मिकाम् । तच्चोक्तम्— 'मुक्तानां च (तु) गतिर्ब्रह्म क्षेत्रज्ञ इति कल्पितः' [ म. भा. ५।३३४।४१ ] इति मोक्षधर्मे ॥ ५ ॥

६ ज. प्र. दी.—मद्भावमित्यस्य मदात्मकत्वमित्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह—**मद्भावमिति** । न तु भगवति स्थितिः सर्वदाऽस्ति, सा कथं फलं? इत्यतो विशिनष्टि—**निर्दुःखेति** । क्वचित्पाठः 'मद्भावं मद्वद्भावं' इति । तत्र भगवत्प्रतिबिम्बानां जीवानां तत्सादृश्यं सदाऽस्ति, तत्कथं प्राप्यमुच्यते? इत्यत उक्तं **निर्दुःखेति** । अत्र 'आत्मकं' इति पाठः, अभिव्यक्तमिति शेषः । प्रतीत एवार्थः किं न स्यात ? इति चेत्, न; मुक्तानां भगवदाश्रितत्वेन तद्भावायोगात् । तदपि कुतः ? इत्यत आह— **तच्चेति** । क्षेत्रज्ञः परमात्मा गतिरिति समर्थितः ॥ ५ ॥

७ ह. पै. भा.– अन्तकाल इति । अन्तकाले मरणकाले च मामेव विष्ण्वाख्यं स्मरन्मुक्त्वा परित्यज्य कलेवरं शरीरं यः प्रयाति म्रियते स मद्भावं विष्णुभावं वैष्णव पदं यातीत्यत्र संशयो नास्ति ॥५॥

८ वें. ब्र. गि.— सप्तमप्रश्नस्योत्तरमाह— अन्तकाले मां स्मरन्कलेवरं मुक्त्वा यः प्रयाति स मद्भावं यातीति प्रथमं सम्बन्धः । नन्वन्तकाले सकलेन्द्रियतत्क्षोभात्स्वत्स्मरणं दुर्लभमिति प्रागेवोक्तम्; अत आह— **अन्तकाले चेति** । चकारादितरकालेष्वपि । तथा च निरन्तरमदनुचिन्तनाभ्यासवासनैव मरणकालविवशकरणकायस्यापि स्मरणकारणं भवतीति न तद्दौर्घट्यमिति भावः । एतच्च 'तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर' [ ८।७ ] इत्यनुपदमेव वक्ष्यति । 'मामेव' इत्येवकारेण च 'साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञं च ये विदुः प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः' [ ७।३० ] इत्यन्तकालीनभगवदनुसन्धानहेतुत्वेन प्रागुक्तात् साधिभूताधिदैवभगवद्भजनपक्षात् पक्षान्तरं दर्शितम् । अधिभूतादिनियामकत्वांशपरित्यागेन केवलं मामेवानुचिन्तयन्नित्यर्थः । मामिति चानुचिन्तनीयमूर्तिस्वरूपस्य श्लङ्ग्याहिकया प्रदर्शनमिति प्रागेव व्याख्यातमनुसन्धेयम् । मां स्मरन्कलेवरं मुञ्चतीत्येतावतैव निर्वाहे कलेवरं मुक्त्वा यः प्रयातीत्यनेनेयं शङ्का निरस्ता । अत्र ह्येवं शङ्का भवति— भरतस्य ह्यन्तकाले मृगस्मरणेनैव शरीरं त्यजतो मृगसमानाकारतैव जाता, न तु स्मर्यमाणमृगैक्यम्; तथा भगवत्स्मरणेन तनुं त्यजतोऽपि भगवत्समानाकारतैव, न तु भगवदैक्यमिति । सेयं 'यः प्रयाति' इत्यनेन निरस्यते । 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः' [ ८।२४ ] इत्यादिवक्ष्यमाणदेवयानमार्गेण प्रयाति पितृयाणमार्गतोऽनावृत्तिलक्षणेन प्रकर्षेण यातीत्यर्थः । तथा च मत्समानाकारो भूत्वा देवयानेन ब्रह्मलोकाख्यं वैकुण्ठं प्राप्य दिव्यभोगाननुभूय तदन्ते लब्धविज्ञानो मद्भावापत्तिरूपं परब्रह्मैक्यलक्षणं मोक्षं प्राप्नोतीति भावः । एवं च भरतस्येव किं तत्समानाकारतामात्रं किंवा तदैक्यमिति संशयो न कर्तव्य इत्याह— **नास्त्यत्र संशय** इति ७ ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— 'प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि' इत्यस्योत्तरमाह– अन्तकाल इति । एवकारोऽन्यव्यवच्छेदार्थकः । मन्त्रोपासनाद्यस्पृष्टं पूर्णानन्दं मां लीलापुरुषोत्तममेव स्मरन् यो भक्तिमान् योगी प्रयाति प्रयाणं करोति स मद्भावं यातीति नास्त्यत्र संशयः ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि ? इत्यस्योत्तरमाह— **अन्तकाल इति** । अन्तकाले एतद्देहावसानसमये वा अन्तरूपस्य अन्तिमजन्मनो देहस्य काले नाशसमये प्राप्ते सति मामेव स्मरन् यः प्रयाति देहं मुञ्चति, स कलेवरं मृतदेहं भजनायोग्यं मुक्त्वा मद्भावं सेवौपयिकस्वरूपं याति प्राप्नोति । अत्रार्थे संशयो नास्ति न वर्त्तते । अतः सन्देहो न कर्त्तव्य इत्यर्थः । चकारेण शुद्धावस्थादिकं न विचारणीयमिति ज्ञापितम् । एवकारेण कामनयाऽन्यत् किञ्चिदपि फलत्वेन न स्मरणीयमिति ज्ञापितम् ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— अत्र षट्प्रश्नोत्तरेषु प्रथमे जीवस्य ब्रह्मभावः उक्तः, तं जानतां प्रयाणमेव नास्ति "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवनीयन्ते" [ नृ.उ.ता. ५, बृ.उ. ३।२।११ ] "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" [बृ.उ.४।४।६]

इति श्रुतेः; द्वितीये शुद्धसत्त्वम्पदार्थ उक्तः, तज्ज्ञानस्यापि वस्तुतन्त्रविषयत्वान्न तत्र भावनापेक्षाऽस्तीति न भावनाफलभूतकाले तत्प्रत्ययोऽपेक्ष्यते; तृतीयचतुर्थयोस्तु कर्म तत्साधनभूतं च जन्यं वस्तूक्तं, तत्रापि न भावनापेक्षाऽस्ति; अन्तकाले प्रबलेनैव कर्मणा चित्तस्यावरोधात्तत्साधनफलभूतस्यैव स्मरणावश्यम्भावेन तत्र भावनाया वैयर्थ्यात्। परिशेषादन्त्ययोरेव कार्यकारणब्रह्मणोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरन्यतरस्य भावना सुदृढा चेदन्तकाले तत्प्रत्ययोऽवश्यम्भावीति तयोरन्यतरं रूपं परमात्मानं स्मरन् यः कलेवरं मुक्त्वाऽर्चिरादिमार्गेण प्रयाति, स ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा क्रमेण मद्भावं मोक्षं यातीत्याह— अन्तकाले चेति। स्पष्टा योजना, नास्त्यत्र संशय इति सोपाधिकब्रह्मोपासितं प्रकृत्य "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका ॥ तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" [ छां. उ. ८।६।६ + कठो. ६।१६ ] इति तदुपासकस्य गतिपूर्वकस्यामृतत्वस्य श्रवणात्। यस्तु शुद्धत्वम्पदार्थरूपमध्यात्मवस्तुमात्रं वेद, असौ ब्रह्मात्मैक्यज्ञानाभावात् "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" इत्येतद्वाक्यविषयो न भवति किन्तु "शतं चैका च" इत्येतस्यैव विषयः। ननु तस्यानुपासकत्वात्कथमेतदिति चेत्, न; 'न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात ! गच्छति'[६।२४] इति न्यायेन तस्योभयभ्रष्टत्वासम्भवात्। कठवल्लीषु निष्कलप्रत्यगात्मविदं केवलयोगिनं प्रकृत्य "शतं चैका च" इत्याम्नानाच्च। "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः। ते ब्रह्म लोकेषु ( तु ) परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे ॥" [मुं. उ. ३।२।६ ] इति श्रुतेर्निश्चितार्थानां शोधितत्वम्पदार्थानामेव क्रममुक्तिरवगम्यते, न चात्र 'सुनिश्चितार्थाः' इत्यनेन ब्रह्मात्मैक्यनिश्चयवन्तो ग्रहीतुं शक्याः, तेषां गत्यभावस्य प्रोक्तत्वात्; नाप्युपासकाः असम्भवात्। उपासना हि नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः, यथा शालग्रामे विष्णुबुद्धिः; एवं सूत्रविराडन्तर्यामिष्वात्मबुद्धिरिति न तद्वन्तः सुनिश्चितार्था इति वक्तुं शक्यम्। तस्मादध्यात्मविदां ब्रह्मात्मैक्यानवगमादनुपासकत्वेनान्त्यप्रत्ययाभावेऽप्यर्चिरादिगतिप्राप्तिरस्तीति सर्वमनवद्यम् ॥ ५ ॥

म्रियमाणस्यान्तकालीना या मतिः सैव तद्गतिः।

**यं यं वाऽपि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
**तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ ६ ॥**
**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः॥ ७ ॥**

---

१ अत्राभिनवगुप्तपादाः— कथं चास्वस्थावस्थायां विनिवृत्तसकलेन्द्रियचेष्टस्य भगवान् स्मृतिपथमुपेयादित्युपायमप्युपदिशति— सर्वावस्थासु व्यावहारिकीष्वपि यस्य भगवत्तत्त्वं न हृदयादपयाति, तस्य भगवत्येव सकलकर्मन्यासिनः सततभगवन्मयस्यावश्यं स्वयमेव भगवत्तत्त्वं स्मृतिविषयतां यातीति। सदा तद्भावभावितत्वं चात्र हेतुः। अत एवाह— येनैव वस्तुना सदा भावितान्तःकरणभावस्तदेव मरणसमये स्मर्यते, तद्भाव एव च प्राप्यते, इति सर्वथा मत्परम एव मत्प्रेप्सुः स्यादित्यत्र तात्पर्यम्; न तु यदेवान्ते स्मर्यते, तत्त्वमेवावाप्यत इति। एवं हि सति ज्ञानिनोऽपि यावच्छरीरभाविधातुदोषविकलिताचित्तवृत्तेर्जडतां प्राप्तस्य तामसस्येव गतिः स्यात्। न चाभ्युपगमोऽत्र युक्तः, प्रमाणभूतश्रुतिविरोधात्। अस्ति हि— 'तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन्देहम्। ज्ञानसमकालमुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥' (परमार्थसारे ८१) इति, 'तनुं त्यजतु वा काश्यां श्वपचस्य गृहेऽथ वा। ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगतज्वरः ॥' इति। तस्मादेवं विध्यनुवादौ—सदा येन भावितमन्तःकरणं तदेवान्ते प्रयाणानन्तरं प्राप्यते। तच्च स्मर्यते नवेति नात्र निर्बन्धः। अन्वाचयश्चायमपिशब्देन सूचितः। यं यं वापीत्यत्र स्मरणस्यासर्वथाभावं वाशब्दः स्फुटयति। सदा च मत्परमो जनः सर्वथा स्यादिति तात्पर्यं मुनिरेव प्रकटयतीति प्रतिपादयांबभूवुः ॥ अन्तिमस्मरणस्य स्मर्यमाणपदार्थसजातीयाकारतापादकत्वादिकं कथमिति चेत्, कस्यचित् पदार्थस्य स्मरणेन मनसि वासनापरनामा कश्चित्संस्कारो जायते। तत्संस्कारसंस्कृतेन मनसा पुरुषरेतोद्वारा योषिद्गर्भं प्रविशतो जीवस्य संस्कारजनकस्मृतिविषयपदार्थाकारसजातीयाकारानुगुणसन्निवेशवान् देह उत्पद्यते, इति सविस्तरमुपवर्णितमुपन्यासदर्पणे।

अत्राहुरभिनवगुप्तपादाः— इत्थमत्र पदसङ्गतिः— सदा यं यं भावं स्मरन् कलेवरं त्यजति, अन्तेऽपि वा स्मरन्— वाग्रहणादस्मरन्वा, तं तमेवैति। यतोऽसौ सदा मद्भावेन भावितः। अन्ये तु कलेवरं त्यजति सति अन्ते कलेवरत्यागक्षणे बन्धुपुत्रादिप्रमात्रन्तरागोचरे श्वासायासहिक्कागद्गदादिचेष्टाचरमभाविनि क्षणे शरीरदार्ढ्यबन्धप्रतनूभावाद्देहकृतसुखदुःखमोहबन्धे कालांशे देहत्यज-

**१ शां. भा.**—न मद्विषय एवायं नियमः, किं तर्हि ?—यं यं वाऽपि यं यं भावं देवताविशेषं स्मरंश्चिन्तयंस्त्यजति परित्यजत्यन्तेऽन्तकाले प्राणवियोगकाले कलेवरं शरीरं, तं तमेव स्मृतं भावमेवैति, नान्यं; कौन्तेय ! सदा सर्वदा तद्भावभावितस्तस्मिन्भावस्तद्भावः स भावितः स्मर्यमाणतयाऽभ्यस्तो येन स तद्भावभावितः सन् ॥ ६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—अन्तकाले भगवन्तमनुध्यायतो भगवत्प्राप्तिनियमवदन्यमपि तत्काले देवादिविशेषं ध्यायतो देहं त्यजतस्तत्प्राप्तिरवश्यम्भाविनीति दर्शयति—**नेत्यादिना** । कथं पुनरन्तकाले परवशस्य नियतविषयस्मृतिर्भवितुमुत्सहते ? तत्राऽऽह—**सदेति** । देवादिविशेषस्तस्मिन्निति सप्तम्यर्थः । भावो भावना वासना, स भावो भावितः सम्पादितो येन पुंसा स तथाविधः सन्यं यं भावं स्मरति तं तमेव देहत्यागादूर्ध्वं गच्छतीति सम्बन्धः ॥ ६ ॥

**१ शां. भा.**—यस्मादेवमन्त्या भावना देहान्तरप्राप्तौ कारणम्—तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर यथाशास्त्रं युध्य युद्धं च स्वधर्मं कुरु। मयि वासुदेवेऽर्पिते मनोबुद्धी यस्य तव स त्वं मय्यर्पितमनोबुद्धिः सन्मामेव यथास्मृतमेष्यस्यागमिष्यसि, असंशयो न संशयोऽत्र विद्यते ॥ ७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—सततभावना प्रतिनियतफलप्राप्तिनिमित्तान्त्यप्रत्ययहेतुरित्यङ्गीकृत्यानन्तरश्लोकमवतारयति—**यस्मादिति** । विशेषणत्रयवतो भगवदनुस्मरणस्य भगवत्प्राप्तिहेतुत्वं तस्मादित्युच्यते । सर्वेषु कालेष्वादरनैरन्तर्याभ्यां सहेति यावत् । भगवदनुस्मरणे विशेषणत्रयसाहित्यं यथाशास्त्रमिति द्योत्यते । भगवदनुसन्धानं कर्तव्यमुक्त्वा तेन सह स्वधर्ममपि 'कुरु युद्धं' इत्युपदिशता भगवता समुच्चयो ज्ञानकर्मणोरङ्गीकृतो भातीत्याशङ्क्याऽऽह—**मयीति** । मनोबुद्धिगोचरं क्रियाकारकफलजातं सकलमपि ब्रह्मैवेति भावयन्युध्यस्वेति ब्रुवता क्रियादिकलापस्य ब्रह्मातिरिक्तस्याभावाभिलापान्नात्र समुच्चयो विवक्षित इत्यर्थः । उक्तरीत्या स्वधर्ममनुवर्तमानस्य प्रयोजनमाह—**मामेवेति** । उक्तसाधनवशात्फलप्राप्तौ प्रतिबन्धाभावं सूचयति—**असंशय इति** ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**—स्मर्तुः स्वविषयसजातीयाकारतापादनमन्त्यप्रत्ययस्य स्वभाव इति सुस्पष्टमाह—अन्ते अन्तकाले। यं यं वाऽपि भावं स्मरन् कलेवरं त्यजति, तं तं भावमेव मरणानन्तरमेति। अन्त्यप्रत्ययश्च पूर्वभावितविषय एव जायते ॥ ६ ॥

**४ वे. ता. चं.**—न केवलमीश्वरविषयान्तिमप्रत्ययस्वभावोऽयमिति मन्तव्यम्, किन्तु सर्वसाधारणमिदमत्राप्युक्तमिति प्रयोजकाकारो 'यं यम्' इति श्लोकेनोच्यत इत्याह—**स्मर्तुरिति** । अन्तशब्दः पूर्वश्लोकाभिहितान्तकालपरः । तस्य चान्तिमप्रत्ययप्रभावज्ञापनाय 'स्मरन्' इत्यनेनान्वय इति दर्शयति—**अन्ते अन्तकाले** इति। वीप्सया 'वापि' इत्यनेन च

—नशब्दवाच्ये यदेव स्मरति, तदेव प्रथमसंविदनुगृहीतमस्य रूपं सम्पद्यते । तादृशि च काले स्मरणस्य कारणं सदा तद्भावभावितत्वमिति त्यजतीति सप्तमी योज्येति प्राक्तन एवार्थः । नन्वेवमन्तकाले किं प्रयोजनं तत्स्मरणेन ? । क एवमाह प्रयोजनमिति ? किं वस्तुवृत्तोपनतमेव तद्भवति तस्मिन्नन्त्ये क्षणे ? । ननु पुत्रकलत्रबन्धुमृतेः शिशिरोदकपानादेर्वान्त्ये क्षणे दृष्टं स्मरणमिति तद्भावापत्तिः स्यात्। मैवम्, नहि सोऽन्त्यः क्षणः स्फुटदेहावस्थानात्। न ह्यसावन्त्यः क्षणोऽस्मद्विवक्षितो भवादृशैर्लक्ष्यते । तत्र त्वन्त्ये क्षणे येनैव रूपेण भवितव्यं, तत्संस्कारस्य दूरवर्तिनोऽपि 'देशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यम्' इति न्यायेन प्रबोधेन भाव्यम्, तद्वशात्तत्स्मरणं, तत्स्मृत्या तद्भावप्राप्तिः । कस्यचित्तु देहस्य स्वस्थावस्थायामपि तदेव काकतालीयवशाद्व्यज्यते—यथा मृगादेः पुराणे वर्णनं तत्कृतं तु मृगत्वम् । अत एव 'प्रयाणकालेऽपि च मां' इत्यादावपि चेति ग्रहणम् । ये हि सदा भगवन्तं भावयन्ति एवं भूत्वा भविष्याम इति, तेषां 'तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी' इति न्यायेन तस्यामलक्ष्यायामन्तर्दशायां संस्कारापहस्तनेन संस्कारकृते तत्तत्त्वस्मरणे देहसद्भावक्षणकृते च तस्य स्मरणेऽनन्तरं देहविनिपातलक्षण एव कालसंस्कारनिवृत्तेस्तदिदमित्यादिवेद्यविभागानवभासात्संविन्मात्रसत्तत्त्वपरमेश्वरस्वभावतैव भवतीति **श्रीमदभिनवगुप्तगुरूणां** सन्मतमित्यलं बहुना— इति ॥

'युद्धयच' 'युध सम्प्रहारे' (धा. पा. दि. १०६७) अनुदात्तेत्त्वलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वात् परस्मैपदम् । **केचित्** 'असंशयः' इत्यस्यावृत्त्या असंशयः स्मर, असंशयो युध्यस्व, असंशयो मामेष्यसि इत्यन्वयमाहुः । तत्रासंशय इत्यर्जुनविशेषणम् ।

**नव्यास्तु**— भगवद्भक्तेनापि स्वधर्मप्राप्तानि सर्वकर्माणि निष्कामबुद्ध्यानुष्ठेयान्येवेति गीताशास्त्रसिद्धान्तः । स एव च 'मामनुस्मर युध्य च' इतिशब्दैः स्पष्टीकृत इति वदन्ति । तदसत्, अत्र भगवदनुस्मरणस्यैव विधेयत्वात् । 'युध्य च' इति तु प्राप्तयुद्धानुवादमात्रं, न युद्धविधानम् । सन्दर्भस्वरसात्, युद्धस्य विधेयत्वाभ्युपगमे तस्य सर्वेषु कालेषु केनापि कर्तुमशक्यत्वेन शास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गाच्च ।

—**अविगीता** ।

स्मर्तव्यविषयनियमो नीचोत्तमविषयवैषम्याभावश्च दर्शितः। 'तं तम्' इति वीप्सया त्वसङ्कीर्णतत्तत्प्राप्तिः। अवधारणेन प्रबलपुण्यान्तरेणापि तस्या दुर्वारत्वं च विवक्षितम्। भावशब्दोऽत्र स्वभावपरः। धर्मिप्रत्ययस्तु नान्तरीयकः। भावशब्दस्यात्र पदार्थपरत्वे प्रस्तुतभावशब्दवैरूप्यम्, 'तं तमेति' इति साजात्यलक्षणा च। 'तं तमेवैति' इत्यत्र यत्र क्वचन जन्मनि सर्वसाधारणतज्जातियोगमात्रव्युदासायोक्तं **मरणानन्तरमिति** । नह्यादिभरतमृगत्वे जन्मान्तरव्यवधानं 'सदा तद्भावभावितः' इत्यनेनान्तिमस्मृतिहेतुर्विवक्षित इत्याह— **अन्तिमप्रत्ययश्चेति** । तद्भावभावितः तद्भावनावासित इत्यर्थः, तस्मिन् भावो भावितो येनेति वा तद्भावभावितः ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.— यस्मात् पूर्वकालाभ्यस्तविषय एवान्त्यप्रत्ययो जायते, तस्मात्सर्वेषु कालेषु आ प्रायणादहरहर्मामनुस्मर। अहरहरनुस्मृतिकरं युद्धादिकं वर्णाश्रमानुबन्धि श्रुतिस्मृतिचोदितं नित्यनैमित्तिकं च कर्म कुरु। (एवं) एतदुपायेन मय्यर्पितमनोबुद्धिः अन्तकाले च मामेव स्मरन् यथाभिलषितप्रकारं मां प्राप्स्यसि; नात्र संशयः ॥ ७ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवमन्तिमप्रत्ययाधीने फले अन्तिमप्रत्यये चानवरतभावनाधीने भवताऽपि तथाविधभावना तदनुग्राहकं कर्म च कर्तव्यमित्युच्यते 'तस्मात्' इति श्लोकेन। 'सर्वेषु कालेषु' इत्यनेन "स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते" [छां. उ. ८।१५।१] "प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायति" [प्रश्नो. ५।१] इत्यादिः श्रुतिश्चानुस्मृतेत्यभिप्रायेण **आप्रायणादित्युक्तम्**। सूत्रं च 'आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्' [ब्र. सू. ४।१।१२] इति। प्रतिमासं प्रतिपक्षमनुस्मरणेऽप्याप्रायणादिति वक्तुं शक्यमिति तद्व्युदासाभिप्रायेण बहुवचनमित्याह **अहरहरिति**। 'तं पूर्वापररात्रेषु युञ्जानः' इत्यादिविहितैकाग्रतानुरूपसात्त्विककालेष्वित्युक्तं भवति। तथा च सूत्रं— 'यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्' [ब्र. सू. ४।१।११] इति। 'युध्य च' इति विहितस्य युद्धस्य अत्र 'फलवत्सन्निधावफलं, तदङ्गम्' इत्यादिन्यायादनुस्मृत्यङ्गत्वं सिद्धम्; तच्च युद्धमत्र प्रस्तुतत्वादुपलक्षणतयोक्तम्; ततश्च प्रमाणसिद्धं यथास्ववर्णाश्रमकर्मावश्यं कर्तव्यमित्युक्तं भवतीत्यभिप्रायेणाह **अहरहरनुस्मृतिकरं युद्धादिकमिति**। **वर्णाश्रमानुबन्धीत्युपलक्ष्य सङ्ग्राहकाकारः**। **चोदितमित्यनेन** शमादिविधिश्चोदितव्यतिरिक्तविषयत्वं सूचितम्। नित्यनैमित्तिकशब्देन फलाभिसन्धिपूर्वकर्मव्युदासः। 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' इत्यस्य उक्तार्थानुवादरूपत्वं दर्शयति— **एवमिति**। **उपायेन** कर्मादिरूपेणेत्यर्थः। अनुस्मरणमेवात्र मनसोऽर्पणम्; बुद्धेरर्पणं तु फलप्रदत्वाध्यवसायः। प्रकरणसिद्धावान्तरव्यापारकथनं **अन्तकाले च मामेव स्मरन्निति**। यद्वा, अत्रोपायेनेति कर्मानुगृहीतानुस्मृतिरेवोच्यते; तत्फलं मय्यर्पितमनोबुद्धिः' इति। तस्यैवार्थः— **अन्तकाले च मामेव स्मरन्निति**। पूर्वोत्तरानुवृत्ताधिकारित्वयसाधारण्याद्याह— **यथाभिलषितप्रकारं मामिति**। 'निस्संशयेषु सर्वेषु नित्यं वसति वै हरिः। ससंशयान् हेतुबलान्नाध्यावसति माधवः' [म. भा. १२।३४९।७१] इत्यादिवत् 'असंशयः' इत्यस्यार्जुनविशेषणत्वेऽपि फलितमाह— **नात्र संशय इति**। 'अ मा नो ना प्रतिषेधे' इति वचनादकारो वाऽत्र पृथगनुसन्धेयः। "एतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्सास्ति" [छां. उ. ३।१४।४] इत्यादिकमत्रानुसन्धेयम् ॥ ७ ॥

**५ आ. मा. भा.— स्मरन्पुरुषस्त्यजतीति भिन्नकालीनत्वेऽप्यविरोध इति मन्दमतेः शङ्का मा भूदित्यन्त इति विशेषणम्, सुमतेनैव शङ्कावकाशः। 'स्मरंस्त्यजति' इत्येककालीनत्वप्रतीतेः।**

६ ज. प्र. दी.— ननु कलेवरत्यागस्यान्ताव्यभिचारादन्त इति व्यर्थमित्यत आह— **स्मरन्निति**। नान्त इत्येतत्कलेवरं त्यजतीत्यस्य विशेषणं येन व्यर्थं स्यात्, किन्तु अन्ते स्मरन्निति स्मरणस्यैव; तत्रापि किं प्रयोजनं? इति चेत्, उच्यते 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' [अष्टा. ३।२।१२६] इति लक्षणेऽपि शतुर्विधानात्। 'स्मरन्पुरुषः कलेवरं त्यजति' इति स्मरणकलेवरत्यागयोर्भिन्नकालत्वेऽपि न कश्चिच्छब्दविरोध इति मन्दमतेः शङ्का स्यात्, सा मा भूदित्येवमर्थमन्त इति स्मरणस्य विशेषणमुपात्तम्, तेनात्र स्मरणकलेवरत्यागयोरेककालत्वसिद्धिरिति। 'मन्दमतेः' इत्यस्य कृत्यमाह— **सुमतेरिति**। कुतः? इत्यत आह— **स्मरन्निति**। 'लटः शतृशानचौ' [अष्टा. ३।२।१२४] इति लडादेशत्वेनापि शतुर्विधानमस्ति, स च लडिति वर्तमाने पुनर्लड्ग्रहणसामर्थ्यात्क्वचित् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि भवति, लक्षणे विहिताच्च लडादेशो बलीयान्। तत्र क्रियाया इत्युपपदसापेक्षत्वात् अस्यानपेक्षत्वात्। "अप्रथमासमानाधिकरणे" इत्यस्यातिप्रसक्तिपरिहारमात्रार्थत्वात्। तथा च बलवतो ग्राह्यत्वे 'स्मरंस्त्यजति' इत्यस्य स्मरति च त्यजति चेत्यर्थः स्यात्। एवं चान्त इत्यनुक्तेऽपि स्मरणत्यागयोरेककालीनत्वप्रतीतेः सुमतेनैव शङ्कावकाश इति भावः।

**५ आ. मा. भा.— दुर्मतेर्दुःखान्न स्मरंस्त्यजतीति शङ्का। 'त्यजन्देहं न कश्चित्तु मोहमाप्नोत्यसंशयम्' इति स्कान्दे। "तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति"**

[ बृ. उ. ४।४।२ ] इति हि श्रुतिः । 'सदा तद्भावभावितः' इत्यन्तकालस्मरणोपायमाह—भावोऽन्तर्गतं मनः, तथाभिधानात् । भावितत्वं अतिवासितत्वम् । 'भावना त्वतिवासना' इत्यभिधानात् ॥६॥७॥

६ ज. प्र. दी.— ननु दुर्मतिरपि शाब्दं न्यायं जानात्येव, अन्यथा शास्त्रे नाधिक्रियेत; केवलमध्यात्मविषये न प्रवीणः,तत्कथं तस्याप्येषा शङ्का स्यात् ? ततश्च तं प्रत्यपि अन्त इत्येतत् व्यर्थमित्यत आह– दुर्मतेरिति । दुर्मतेर्भविष्यति शङ्का भिन्नकालत्वविषया । कुतः ? मरणकाले महद्दुःखं जायते, दुःखस्य च संस्कारविलोपहेतुत्वं प्रसिद्धम्, अतो दुःखात्कारणात् मूर्छितो, न स्मरंस्त्यजति । कलेवरत्यागसमये स्मरणमसम्भवीति यावत् । एतामनुपपत्तिं पश्यन् बलवन्तमपि लडादेशं विहाय लक्षणार्थमेव हि मन्यत इति भावः । ननु सुमतेरप्येवं शङ्का स्यादेव, कथं चेयं शङ्का तत्त्वप्रतीतिरेवेति चेत्, न; अज्ञानिन एव देहाभिमानिनो देहत्यागमात्मत्यागमिव मन्यमानस्य मरणकाले दुःखं भवति, तदपि मरणक्षणात्पूर्वमेव; ज्ञानी तु सर्वदा देहं हेयमेव मन्यमानो न मनागपि दुःखायते, किन्तु विशिष्टमेव तस्योत्क्रमणमात्यध्यात्मशास्त्रमनुसन्दधानस्य सुमतेः शङ्कानवकाशात् । किं तदध्यात्मशास्त्रं ? इत्यत आह— त्यजन्निति । कश्चिद्विद्वान् । अविद्वानपि तत्काले तस्येति मरणवैशिष्ट्यमात्रपरम्, न त्वन्त इत्येतत् स्मरणविशेषणं चेत् तदा ' सदा तद्भावभावितः ' [ ८।६ ] इत्यनेनैव गतार्थं स्यात्, अन्यथा तद्व्यर्थं भवेदित्यत आह— सदेति । अन्तकालस्मरणमेव तत्प्राप्तिसाधनम् । न च तदकस्माद्भवति, अतः तदुपायत्वेन सदा तद्भावभावितत्वमुच्यत इत्यर्थः । कथमित्यतो यथाऽयं तदुपायः स्यात् तथा व्याचष्टे— भाव इति । तथाऽभिधानादिति स्याद्भावोऽन्तर्गतं मन इत्येवरूपादभिधानादित्यर्थः । वासितत्वं संस्कृतत्वम् । तस्मिन् भावस्तद्भावस्तेन भावित इति मनोधर्मेणात्मोपचर्यते ॥ ६ ॥७॥

७ ह. पै. भा.—यं यमिति । य यं वाऽपि स्मरन्भावं पदार्थं तेन भावेन भावितः ॥ ६ ॥ तस्मात्सर्वेषु कालेष्विति । स्पष्टोऽर्थः ॥ ७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— न केवलं मां स्मरन्मद्रूपो भवतीति नियमः; किं तर्हि ? यं यमिति । अन्तकाले यं यं वाऽपि भावं देवताविशेषमन्यमपि वा यं कञ्चिद्भावं स्मरन्कलेवरं त्यजति, तं तमेव स्मर्यमाणं भावमाप्नोति, नान्यम् । ननु कथमन्तकाले भावविशेषस्मरणं ? विवशत्वात् ;तत्राह— सदा तद्भावभावितः, तस्य भावो भावना अनुचिन्तनम्, तेन भावितो वासितचित्तः; यद्वा तद्भावो भावितः सम्पादितो येन स तथोक्तः, भावितत‌द्भाव इत्यर्थः । आहिताग्न्यादेराकृतिगणत्वाद्भावितपदस्य परनिपातः ॥ ६ ॥ यस्मादेवं पूर्वाभ्यस्त एवान्त्यभावना भवति, तस्मान्मद्विषयकान्त्यभावनोत्पत्त्यर्थं सर्वेष्वपि कालेषु मदनुचिन्तनपरो भवेत्याह— तस्मादिति । अनुस्मरेति । निरन्तरमदनुचिन्तनवासनैव अन्त्यकालविवशस्यापि स्मरणकारणमित्यर्थः । न चैवं भगवदनुचिन्तनैकव्यापृतोऽहमिति स्वधर्मं त्यक्तुमर्हसि; वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानपरिनिष्ठितस्यैव निरन्तरमदनुस्मरणलाभादित्यभिप्रेत्याह— युध्य चेति । युध्यस्व चेत्यर्थः । चकारोऽनुस्मरणसमुच्चयार्थः । मदनुस्मरणसहितमेव युद्धादिकर्म कुर्वित्यर्थः । एतदेवाह— मयीति । मयि परमेश्वरे अर्पिते मनोबुद्धी सङ्कल्पाध्यवसायरूपे येन स तथा । परमेश्वरप्रीत्यर्थमेवेदं कर्म करिष्ये इति बुद्ध्या युध्यस्वेत्यर्थः । एवं कुर्वन्नन्त्यकाले मदनुस्मरणान्मामेव प्राप्स्यसि । नास्त्यत्र संशयः ७

९ व० त० दी०— न केवलं मां स्मरन्मद्भावं यातीति नियमः-यं यमिति । अन्तेऽन्तकाले तमेव भावं स्मर्तुः स्वविषयजातीयाकारत्वसम्पादकं भावं स्वरूपमेति, भरतवत् ॥ ६ ॥ यत एवं तस्मात्त्वमपि सर्वकालेषु मामनुस्मर 'श्रीकृष्णः शरणं मम' इति । एवं योगेन स्वकर्मकरणमपि तव श्रेय इत्याह–युद्धय चेति । तथा मय्यर्पितमनोबुद्धिरत्र 'मनोबुद्धिः' इत्युक्त्या सङ्कल्पव्यवसायावपि मय्येव विधेयाविति द्योतनाय । एवं च मामेव प्राप्स्यसि नाक्षरादिकमत्र न संशयः ॥ ७ ॥

१० पु. अ. त.—अन्यास्मरणे हेतुमाह—यं यमिति । हे कौन्तेय तत्स्मरणायोग्य ! यं यं देवतान्तरमपि वा स्वमनोभिलषितजीवस्वरूपं स्मरन् अन्ते कलेवरं त्यजति स तमेव तत्सारूप्यमेति प्राप्नोतीत्यर्थः । अपीति निश्चयार्थे वा । अत एव भरतस्य अन्ते मृगस्मरणे मृगशरीराप्तिः, अयमेवार्थोऽपिशब्देन द्योतितः । यतोऽन्तकाले यत्स्मरणेन म्रियते तमेव प्राप्नोत्यतः साधारण्येनापि मत्स्मरणेन मरणे मत्प्राप्तौ न सन्देह इत्यर्थः । नन्वन्ते वैकल्ये देवतान्तरस्मरणं स्वाभिलषितस्मरणं वा कथं स्यात् ? इत्यत आह— सदा तद्भावभावितः निरन्तरं तद्भावेन भावितो यो भवति स तमेवान्ते स्मरति ॥ ६ ॥ अतः सदा त्वं मद्भावयुक्तो भवेत्याह— तस्मादिति । तस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् सर्वेषु कालेषु लौकिकवैदिकक्रियायोग्येषु मय्यर्पितं मनश्चाञ्चल्यदोषनिवारणार्थं, बुद्धिरन्यत्र व्यवसायदोषनिवारणार्थं येन तादृशः सन् मामनुस्मर चिन्तय । अनुस्मरणेन मया कृपया सर्वदा त्वं स्मर्यसे तस्मात्सर्वदा मत्स्मरणं फलरूपं भविष्यतीति भावो व्यञ्जितः । युद्धय च युध्यस्व सद्भावनया मदाज्ञया युद्धमपि कुर्वित्यर्थः । एवमनुस्मरणेन असंशयः सन्देहरहितः सन् मामेव एष्यसीत्यर्थः । असंशयः अत्र च सन्देहो नास्तीति भावः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— न केवलं कार्यकारणब्रह्मणोरेव भावनान्त्यप्रत्ययवशात्तद्भावप्राप्तिहेतुः, अपितु कीटस्य जीवत एव भावनाबलाद्भाव्यवस्तुभावप्राप्तिर्दृश्यते, नन्दिकेश्वरस्य च स्मर्यते; स हि महादेवं भावयंस्तत्सारूप्यं देहान्तरं विनैव प्राप्त इति योगशास्त्रेऽपि प्रसिद्धम्। तत्र किमु वक्तव्यमन्तप्रत्ययवशाद्देहान्तरे भाव्यभावप्राप्तिरस्तीति मत्वा तमेवार्थमन्यत्रापि दर्शयति— यं यमिति। तद्भावभावितः भाव्याकारवासनया रञ्जित इत्यर्थः॥ ६॥

यस्मादेवं तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर अन्तकाले मत्स्मृत्या मद्भावप्राप्त्यर्थम्। युध्य चेति चकारात्कर्मोपास्त्योः समुच्चयोऽवगम्यते। ज्ञानकर्मसमुच्चयकर्त्तरीव तदुभयानुष्ठातर्येकस्मिन्नेवाधिकारिणि कर्तृत्वाकर्तृत्वप्रत्ययकृतविरोधाभावात् मयि अर्पिते मदेकनिष्ठतां नीते मनोबुद्धी येन स मय्यर्पितमनोबुद्धिस्त्वं असंशयं मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि। अन्तकाले स्मरणेनेति शेषः॥ ७॥

अन्तकालीनभगवत्स्मरणपूर्वका तत्प्राप्तिप्रकाराः।

**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।**
**परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्॥ ८॥**
**कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।**
**सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥ ९॥**
**प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।**
**भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥ १०॥**

**१ शां. भा.**— किञ्च— अभ्यासयोगयुक्तेन मयि चित्तसमर्पणविषयभूत एकस्मिंस्तुल्यप्रत्ययावृत्तिलक्षणो विलक्षणप्रत्ययानन्तरितोऽभ्यासः, स चासौ योगस्तेन युक्तं तत्रैव व्यापृतं योगिनश्चेतस्तेन चेतसा नान्यगामिना नान्यत्र विषयान्तरे गन्तुं शीलमस्येति नान्यगामि तेन नान्यगामिना, परमं निरतिशयं पुरुषं दिव्यं दिवि सूर्यमण्डले भवं याति गच्छति हे पार्थ! अनुचिन्तयन् शास्त्राचार्योपदेशमनुध्यायन्नित्येतत्॥ ८॥

**२ आ. शां व्या.**— इतश्च पूर्वश्लोकोक्तार्थानुष्ठायी भगवन्तमन्तकाले प्राप्नोतीत्याह— **किञ्चेति**। अभ्यासं विभजते— **मयीति**। न हि चित्तसमर्पणस्य विषयभूतं भगवतोऽर्थान्तरं वस्तु सदस्तीति मन्वानो विशिनष्टि— **चित्तेति**। अन्तरालकालेऽपि विजातीयप्रत्ययेषु विच्छिद्य विच्छिद्य जायमानेष्वपि सजातीयप्रत्ययावृत्तिरयोगिनोऽपि स्यादित्याशङ्क्याऽऽह- **विलक्षणेति**। अभ्यासाख्येन योगेन युक्तत्वं चेतसो विवृणोति— **तत्रैवेति**। तृतीयया परामृष्टोऽभ्यासयोगः सप्तम्याऽपि परामृश्यते। ननु(तु) प्राकृतानां चेतस्तथेत्याशङ्क्य विशिनष्टि— **योगिन** इति। तच्चेचेतो विषयान्तरं परामृशेन्न तर्हि परमपुरुषार्थप्राप्तिहेतुः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **नान्यगामिनेति**। ग्रामादिकं विषयान्तरपारवश्यमभ्यनुज्ञातुं ताच्छील्यप्रत्ययस्तेन तात्पर्यादपरामृष्टार्थान्तरेण परमपुरुषनिष्ठेनेत्यर्थः। तदेव पुरुषस्य निरतिशयत्वं यदपरामृष्टाखिलानर्थत्वमनतिशयानन्दत्वं च। तच्च

---

१ आदित्यवर्णत्वं वासुदेवतत्त्वस्य परिच्छेदकम्। आकृतिकल्पनादिविभ्रान्तिमयमोहतमसोऽतीतत्वाद्रवित्वेनोपमानम्— इत्य**भिनवगुप्तपादाः**॥ तमसः अज्ञानात् परस्तात्, गुरुशास्त्रोपदेशरहितैर्मूढैरनुभवितुमशक्य इत्यर्थः— इति **सायणः**। यः अनुस्मरेत् स तं पुरुषमुपैतीत्युत्तरेणान्वयः। अत्रोप**न्यासदर्पणम्**— योगो द्विविधः— राजयोगो हठयोगश्चेति। कर्मतज्जन्यचित्तशुद्धिद्वारा श्रवणमननध्यानज्ञानादिरूपो राजयोगः; हठयोगस्तु तदशक्तस्य मोक्षेच्छावतः ईषच्छ्रवणादिसहकृतः रेचकपूरककुम्भकाख्यै रुपायैर्निरुध्य वायुं तस्य मूलाधाराद्ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं तत्तच्चक्रप्रापणक्रमेण सुषुम्नानाडीपथेन नयनपूर्वकं ब्रह्मरन्ध्राद्विनिष्क्रमणरूपः। तत्र राजयोगवतां 'बहूनां जन्मनामन्ते' (७।१९) इत्युक्तरीत्या कालविलम्बेन ब्रह्मप्राप्तिः, तज्जन्यं सुखं च परमं महत्। हठयोगवतां तु वायुजयवत्त्वेन स्वच्छन्दोत्क्रमणसिद्ध्यर्हतया शीघ्रं ब्रह्मप्राप्तिः, परं तज्जन्यं सुखमल्पम्। तत्र मोक्षार्थं ये राजयोगमुक्तरूपमनुतिष्ठन्ति, तेषामन्तिमस्मरणेन मोक्षप्राप्तिक्रम उक्तः। ये तु हठयोगमनुतिष्ठन्ति, तेषामन्तिमस्मरणेन मोक्षप्राप्तिक्रमं शृणु इति। एतेन— अन्तकाले कर्तव्यं दिव्यस्य परमपुरुषस्यानुचिन्तनमपि परमेश्वरार्पणबुद्ध्या यावज्जन्म निष्कामकर्मानुष्ठानपराः कर्मयोगिनः कथं कुर्वन्ति तद्वर्णयतीति वदन्तो **नव्याः** परास्ता एवेति नास्माभिः पृथक्प्रयत्यते।— **अविगीता**।

प्रागेव व्याख्यातं नेह व्याख्यानमपेक्षते। "यश्चासावादित्ये" [ तै. उ. २।८।१;३।१०।४ ] इत्यादिश्रुतिमनुसृत्याह—**दिवी**ति। तत्र विशेषतोऽभिव्यक्तिरेव भवनम्। पूर्वोक्तेन चेतसा यथोक्तं पुरुषमनुचिन्तयन्याति तमेवेति सम्बन्धः। अनुचिन्तयन्नित्यत्रानुशब्दार्थं व्याचष्टे—**शास्त्रे**ति। चिन्तयन्निति व्याकरोति—**ध्यायन्नि**ति ॥ ८ ॥

**१ शां. भा.— किंविशिष्टं च पुरुषं याति? इत्युच्यते- कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं, पुराणं चिरन्तनं, अनुशासितारं सर्वस्य जगतः प्रशासितारं, अणोः सूक्ष्मादप्यणीयांसं सूक्ष्मतरं अनुस्मरेदनुचिन्तयेद्यः कश्चित्, सर्वस्य कर्मफलजातस्य धातारं विधातारं विचित्रतया प्राणिभ्यो विभक्तारं विभज्य दातारमचिन्त्यरूपं नास्य रूपं नियतं विद्यमानमपि केनचिच्चिन्तयितुं शक्यत इत्यचिन्त्यरूपः, तमादित्यवर्णमादित्यस्येव नित्यचैतन्यप्रकाशो वर्णो यस्य तमादित्यवर्णं तमसः परस्तादज्ञानलक्षणान्मोहान्धकारात्परं तं 'अनुचिन्तयन्' यातीति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ ९ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— पुरुषमनुचिन्तयन्निति सम्बन्धः। चकारात्कया वा नाड्योत्क्रामन्नित्यनुकृष्यते। तत्र ध्यानद्वारा प्राप्यस्य पुरुषस्य विशेषणानि दर्शयति—**उच्यत** इति। क्रान्तदर्शित्वमतीतादेरशेषस्य वस्तुनो दर्शनशीलत्वम्, तेन निष्पन्नमर्थमाह— **सर्वज्ञमि**ति। चिरन्तनमादिमतः सर्वस्य कारणत्वादनादिमित्यर्थः। सूक्ष्ममाकाशादि, ततः सूक्ष्मतरं तदुपादानत्वादित्यर्थः। यो यथोक्तमनुचिन्तयेत्स तमेवानुचिन्तयन्यातीति पूर्वेणैव सम्बन्ध इति योजना। ननु विशिष्टजात्यादिमतो यथोक्तमनुचिन्तनं फलवद्भवति, न त्वस्मदादीनामित्याशङ्क्याऽऽह— **यः कश्चिदि**ति। 'फलमत उपपत्तेः' [ब्र. सू. ३।२।३८] इति न्यायेनाऽऽह— **सर्वस्ये**ति। "एतदप्रमेयं ध्रुवम्" [बृ. उ. ४।४।२०] इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह—**अचिन्त्यरूपमि**ति। न हि परस्य किञ्चिदपि रूपं वस्तुतोऽस्ति; 'अरूपवदेवहि' [ब्र. सू. ३।२।१४] इति न्यायात्कल्पितमपि नास्मदादिभिः शक्यते चिन्तयितुमित्याह— **नास्ये**ति। मूलकारणादज्ञानात्तत्कार्याच्च परस्तादुपरिष्टाद्व्यवस्थितं परमार्थतोऽज्ञानतत्कार्यास्पृष्टमित्याह— **तमस** इति ॥ ९ ॥

**१ शां. भा.—किञ्च–प्रयाणकाले मरणकाले मनसाऽचलेन चलनवर्जितेन भक्त्या युक्तो भजनं भक्तिस्तया युक्तो योगबलेन चैव योगस्य बलं योगबलं तेन समाधिजसंस्कारप्रचयजनितचित्तस्थैर्यलक्षणं योगबलं तेन च युक्त इत्यर्थः। पूर्वं हृदयपुण्डरीके वशीकृत्य चित्तं तत ऊर्ध्वगामिन्या नाड्या भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य स्थापयित्वा सम्यगप्रमत्तः सन्, स एवं बुद्धिमान्योगी 'कविं पुराणं' (८।९) इत्यादिलक्षणं तं परं ( परतरं ) पुरुषमुपैति, प्रतिपद्यते दिव्यं द्योतनात्मकम् ॥ १० ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— इतश्च भगवदनुस्मरणं सफलत्वादनुष्ठेयमित्याह—**किञ्चे**ति। कदा तदनुस्मरणे प्रयत्नातिरेकोऽभ्यर्थ्यते? तत्राऽऽह—**प्रयाणकाल** इति। कथं तदनुस्मरणं? इत्युपकरणकलापमपेक्षमाणं प्रत्याह— **मनसे**ति। योऽनुस्मरेत्स किमुपैति? तत्राऽऽह— **स तमि**ति। मरणकाले क्लेशबाहुल्येऽपि प्राचीनाभ्यासप्रसादासादितबुद्धिवैभवो भगवन्तमनुस्मरन् यथास्मृतमेव देहाभिमाननिर्गमानन्तरमुपगच्छतीत्यर्थः। भगवदनुस्मरणस्य साधनं 'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' [बृ. उ. ४।४।१९] ...पदिष्टमाचष्टे— **मनसे**ति। तस्य चञ्चलत्वान्न स्थैर्य... ...नि, तत्कथं तेन तदनुस्मरणं? इत्याशङ्क्याऽऽह— ...। ईश्वरानुस्मरणे प्रयत्नेन प्रवर्तितं विषयविमुखं ...स्मन्नेवानुस्मरणयोग्ये पौनःपुन्येन प्रवृत्त्या निश्चलीकृतं ततश्चलनविकलं तेनेति व्याचष्टे— **चलने**ति। सम्प्रत्यनुस्मरणाधिकारिणं विशिनष्टि— **भक्त्ये**ति। परमेश्वरे परेण प्रेम्णा सहितो विषयान्तरविमुखोऽनुस्मर्तेत्यर्थः। योगबलमेव स्फोरयति— **समाधिजे**ति। योगः समाधिश्चित्तस्य विषयान्तरवृत्तिनिरोधेन परस्मिन्नेव स्थापनं, तस्य बलं संस्कारप्रचयो ध्येयैकाग्र्यकरणं, तेन तत्रैव स्थैर्यमित्यर्थः। चकारसूचितमन्वाचष्टे— **तेन चे**ति।

यत्तु कया नाड्योत्क्रामन्यातीति तत्राऽऽह— **पूर्वमि**ति। चित्तं हि स्वभावतो विषयेषु व्यापृतं तेभ्यो विमुखीकृत्य हृदये पुण्डरीकाकारे परमात्मस्थाने यत्नतः स्थापनीयम् "अथ यदिदमस्मिन्" [छां. उ. ८।१।१] इत्यादिश्रुतेः। तत्र चित्तं वशीकृत्याऽऽदावनन्तरं कर्तव्यमुपदिशति— **तत** इति। इडापिङ्गले दक्षिणोत्तरे नाड्यौ हृदयान्निस्सृते निरुध्य तस्मादेव हृदयाग्रादूर्ध्वगमनशीलया सुषुम्नया नाड्या हार्दं प्राणमानीय कण्ठावलम्बितस्तनसदृशं मांसखण्डं प्रापय्य तेनाध्वना भ्रुवोर्मध्ये तमावेश्याप्रमादवान्ब्रह्मरन्ध्राद्विनिष्क्रम्य 'कविं पुराणं' इत्यादिविशेषणं परमपुरुषमुपगच्छतीत्यर्थः। भूमिजयक्रमेणेत्यत्र भूम्यादीनां पञ्चानां भूतानां जयो वशीकरणं तस्यतस्य भूतस्य स्वाधीनचेष्टावैशिष्ट्यं तद्द्वारेणेत्येतदुच्यते। 'स तं' इत्यादि व्याचष्टे— **स एवमि**ति ॥ १० ॥

३ रा. भा.— एवं सामान्येन सर्वत्र स्वभाप्यावाप्तिरन्त्यप्रत्ययाधीनेत्युक्त्वा तदर्थं त्रयाणामुपासनप्रकारभेदं वक्तुमुपक्रमते; तत्रैश्वर्यार्थिनामुपासनप्रकारं यथोपासनमन्त्यप्रत्ययप्रकारं चाह— अभ्यासेति। अहरहरभ्यासयोगाभ्यां युक्ततया नान्यगामिना चेतसा अन्तकाले परमं पुरुषं दिव्यं मां वक्ष्यमाणप्रकारं चिन्तयन् मामेव याति आदिभरतमृगत्वप्राप्तिवदैश्वर्यविशिष्टतया मत्समानाकारो भवति। अभ्यासः नित्यनैमित्तिकाविरुद्धेषु सर्वेषु कालेषु मनसोपास्यसंशीलनम्। योगस्त्वहरहर्योगकालेऽनुष्ठीयमानं यथोक्तलक्षणमुपासनम् ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— अन्तिमप्रत्ययप्रसङ्गात्तद्धेतुतया 'अनुस्मर' [८।७] इत्युपासनं प्रस्तुतम्; तत्प्रकारभेदोऽनन्तरप्रघट्टकार्थ इत्यभिप्रायेणाह एवमिति। गतिभेदोऽपि वक्ष्यमाणोऽनेनोपलक्षणीयः। 'अभ्यास-' इत्यादिश्लोकत्रयार्थमाह तत्रेति। योगशब्दस्य सम्बन्धमात्रपरत्वे नैरर्थक्यादत्र ध्यानपरत्वं वक्तुं युक्तं, तत्पुरुषाच्च द्वन्द्वस्योभयपदार्थप्रधानत्वात्परिग्राह्यत्वमस्तीति तदाह –अभ्यासयोगाभ्यामिति। 'नान्यगामिना' इत्येतन्नैकादिशब्दवत्, अनन्यगामिनेत्यर्थः। अन्यत्र विषयान्तरे गन्तुं शीलं नास्येति नान्यगामि। अभ्यासयोगशब्देन प्राचीनचिन्तनस्योक्तत्वात्, 'अनुचिन्तयन्' इत्येतदन्तिमस्मृतिपरमिति प्रदर्शनाय अन्तकाल इत्युक्तम्। चिन्तनस्य ध्यानस्य च पुरुष एवात्र कर्म; स च परमशब्देन विशेषितत्वादीश्वर एवेत्यभिप्रायेण मामित्यादि पदद्वयम्। 'दिव्यम्' इत्यस्य सूर्यमण्डले स्थितमिति शङ्करोक्तं निर्मूलम्, 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' [८।९] इति वक्ष्यमाणविरुद्धं चेत्यभिप्रायेणाह— वक्ष्यमाणप्रकारमिति। अनन्तरश्लोकद्वयेनेति शेषः। कथमैश्वर्यार्थिनोऽनपेक्षितपरमपुरुषप्राप्तिः फलतयोच्यते? इत्यत्राह— आदिभरतेति। अन्तकाले स्मर्यमाणभोगप्रदानोपयुक्ताकारविशिष्टपरमपुरुषसमानैश्वर्यप्राप्तिरिह परमपुरुषप्राप्तिः। तत्साम्यापत्तिरेव हि तत्प्राप्तितया 'यं यम्' [८।६] इति श्लोकेनोदाहृतेति भावः। 'आरम्भणसंशीलनं पुनः पुनरभ्यासः' इति वाक्यकारवचनानुरोधेनाभ्यासशब्दार्थमाह— अभ्यास इति। पुनःपुनरिति वचनान्मध्येऽवश्यम्भाविभिः कैश्चिद्व्यवधानं सूचितमित्यभिप्रायेणोक्तं नित्यनैमित्तिकाविरुद्धेष्विति। सर्वेषु कालेष्विति न केवलं योगकाले, तदातनस्य शीलनस्य योगशब्देनोपात्तत्वादिति भावः। आरम्भणमालम्बनम्; तच्चात्रोपास्यशब्देन व्याख्यातम्। योगशब्देनात्राङ्गिस्वरूपमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह— योगस्त्विति। यथोक्तमिति अत्यर्थप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नमित्यर्थः ॥ ८ ॥

३ रा. भा.— कविं सर्वज्ञं, पुराणं पुरातनम्, अनुशासितारं विश्वस्य प्रशासितारम्, अणोरणीयांसं जीवादपि सूक्ष्मतरं, सर्वस्य धातारं सर्वस्य स्रष्टारम्, अचिन्त्यरूपं सकलेतरविसजातीयस्वरूपम्, आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् अप्राकृतस्वासाधारणदिव्यरूपं, तमेवम्भूतमहरहरभ्यस्यमानभक्तियुक्तयोगबलेनारूढसंस्कारतया अचलेन मनसा प्रयाणकाले भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य संस्थाप्य, तत्र भ्रूमध्ये दिव्यं पुरुषं योऽनुस्मरेत्, स तमेवोपैति तद्भावं याति; तत्समानैश्वर्यो भवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥ १० ॥

४ वे. ता. चं.— क्रान्तदर्शी हि कविरित्युच्यते; अत्र तु कविशब्दः ईश्वरविषयत्वात् सर्वदर्शित्वपर इत्यभिप्रायेणाह— सर्वज्ञमिति। पुराणशब्देनानादित्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेणोक्तं पुरातनमिति। अनुपूर्वः शासिर्विविच्य ज्ञापनार्थ इत्येतावन्मात्रपरत्वव्युदासाय विश्वस्य प्रशासितारमित्युक्तम्। ईश्वरस्य सतोऽनुशासनमाज्ञापनमेवेति भावः। अनुशासनं कस्येत्याकाङ्क्षायां 'सर्वस्य धातारम्' इत्यत्र सर्वस्येति पदमाकर्षणीयम्, विशेषनिर्देशाभावाद्वा सर्वविषयत्वमित्यभिप्रायेण— विश्वस्येत्युक्तम्। "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः' [बृ. उ. ३।८।९] इत्यादिकमत्र भाव्यम्। " अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्' [य. आ. ३।३] इत्यादिषु प्रशासनसहपठितान्तःप्रवेशौपयिकसूक्ष्मतरत्वमत्र 'अणोरणीयांसम्' इत्युच्यत इत्यभिप्रायेणोक्तं–सूक्ष्मतरमिति। "धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार" "सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" [ऋक्सं. ८।८।४८।३ तै. ना. १।३८] इत्यादिषु धातृशब्दस्य स्रष्टरि प्रयोगाद्धातूनां चानेकार्थगर्भत्वात् सर्वस्य स्रष्टारमित्युक्तम्। 'विष्णुना विधृते भूमी' 'सर्वाधारं धाम विष्णुसंज्ञम्' इत्युक्तं सर्वाधारत्वं सर्वस्रष्टुरेवेति फलितोक्तिर्वा।

उक्तप्रकारस्येश्वरस्वरूपस्य सामान्यतो दृष्टैस्तर्कैरसम्भवनीयतां केचिदभिमन्येरन्निति तन्निरासपरम्। 'अचिन्त्यरूपम्' इतिपदमित्यभिप्रायेणाह सकलेतरविसजातीयस्वरूपमिति। वर्णयोगस्य स्वरूपेणाघटनात् प्रमाणसिद्धविलक्षणविग्रहद्वारा तद्योगमाह अप्राकृतेति। 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" [य. तै. ब्रा. ३।१२।९।७] "यस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति" "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [मुं. उ. २।२।१०] "(तं)तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः' [बृ.उ. ४।४।१६] इत्यादिषु निरतिशयदीप्तियोगः सिद्धः। "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" [य. सं. ३१।१८ श्वे. उ. ३।८] इति श्रुतिखण्डस्यात्र निबन्धः

"तम आसीत्"[ ऋक्सं. ८।७।१७।३ यजुः ३।७।९]"तमसस्तन्महिनाजायतैकं " [ यजुः ३।४।९ ] " यदा तमः "[श्वे. उ. ४।१८ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरोपलक्षणार्थः । तेन 'तमसः' इति सर्वकारणभूततमोद्रव्यविवक्षा । 'तमसः परस्तात्' इत्यनेन फलितमप्राकृतत्वम् ; तत एव चाकर्माधीनत्वं, नित्यत्वं, निरवयत्वमित्यादि सूचितम् । एतच्छ्लोकच्छायश्च मानवः श्लोकः— 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसम–[ णोरपि ]–णीयसाम् । रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्या ( त्तं )–त्तु पुरुषं परम्'–[ मनुः १२। १२२ ] इति । अनुकूलानां हितरमणीयत्वाद्याकारेण हिरण्यवर्णत्वरुक्माभत्वादिव्यपदेशः । प्रतिकूलदुष्प्रेक्षत्वप्रकाशातिरेकादिविवक्षया आदित्यवर्णत्वाद्युक्तिः । 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' [ ११।१२ ] इत्यादि च वक्ष्यति । एतेनादित्यशब्दस्य नित्यचैतन्यप्रकाशपरत्वं, तमश्शब्दस्य चाज्ञानविषयत्वं परोक्तं (शं.) निरस्तम् ।

श्लोकद्वयस्यान्वयं दर्शयति— **तमेवम्भूतमि**त्यादिना । भक्त्या युक्तो योगबलेन' इति पृथङ्निर्देशात् परोक्तप्राणजयबलादिपृथगर्थताप्रतीतिः स्यादिति तदपाकरणाय विशिष्टैकार्थतां दर्शयितुं **भक्तियुक्तयोगबलेने**त्युक्तम् । मनसोऽचलत्वे हेतुरिदम् ; तस्य चावान्तरव्यापारः योग्यपर्याययुक्तशब्देन विवक्षित इत्याह **आरूढसंस्कारतये**ति । 'आवेश्य' इत्यनेन योगप्रकरणेषूक्तं निश्चलावस्थापनं विवक्षितमित्याह **संस्थाप्ये**ति । अत्र पुरुषध्यानस्यापि भ्रूमध्यमेव देशः देशान्तरानभिधानाद्योगप्रकरणान्तरेषूपदेशाच्च तत्सिद्धेरिति विभाव्योक्तं **तत्र भ्रूमध्य** इति । तमेवम्भूतं दिव्यं पुरुषम् इत्यन्वयः । 'तं तमेवैति' [ ८।६ इत्यवधारणदर्शनात् 'स तं परं पुरुषम्' इत्यत्रापि 'तं' इतीतरव्यवच्छेदपरमित्यभिप्रायेणाह **स तमेवोपैती**ति । 'यः प्रयाति स मद्भावं याति' [ ८।५ ] इति प्रक्रान्तप्रकार एवात्र विवक्षित इति दर्शयति **तद्भावं याती**ति । भावप्रधानोऽत्र निर्देश इति भावः । तत्र तादात्म्यादिभ्रमं व्युदस्यति **तत्समानैश्वर्यो भवतीत्यर्थ** इति । परमसाम्यापत्तिव्यवच्छेदाय समानैश्वर्य इत्युक्तम् । एतेन 'कविम्' इत्यादिभिः सर्वज्ञत्वादयो गुणाः ऐश्वर्यप्रदत्वार्थमनुसन्धेयतयोक्ताः, न तु प्राप्यत्वार्थमिति फलितम् । एवमन्तिमकालस्मर्तव्यतया निर्दिष्ट एवाकारः प्रागपि ध्येयतयोक्त इति मन्तव्यम् । एवमुत्तरत्रापि ॥ ९ ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.— सदा तद्भावभावितत्वं स्पष्टयति— अभ्यासेति । अभ्यास एव योगोऽभ्यासयोगः । दिव्यं पुरुषं पुरिशयं पूर्णं च "स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किञ्चनानावृतं नैनेन किञ्चनासंवृतम्" [ बृ. उ. २।५।१८ ] इति श्रुतेः । दिव्यं सृष्ट्यादिक्रीडायुक्तम् । दिवु क्रीडा–[ धा. पा. ४।१ ] इति धातोः ॥ ८ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— कुतोऽयमर्थः ? इत्यत उत्तरत्रैवमेव व्याख्यानादिति भावेनाह— **सदे**ति । द्वन्द्वादिशङ्काव्युदासार्थमाह— **अभ्यास एवे**ति । अभ्यासातिरिक्तस्य योगस्य प्रकृतोपयोगिनोऽभावादिति भावः । 'पुरुषश्चाधिदैवतम्' [८।४ ] इति प्रकृतो हिरण्यगर्भोऽत्रोच्यत इति प्रतीतिनिरासार्थमाह **दिव्यमि**ति । दिव्यत्वेन विशेषणात् ईश्वर एवायमित्यर्थः । 'पॄ पालनपूरणयोः' [ धा. पा. ३।४ ] इत्यतः 'विदिपूरोश्च' इति कुषन्प्रत्ययविधानात् पूर्णं चेति सिध्यति । सर्वासु पूर्षु वर्तमान इति स्वरूपानुवादेन पुरुष इति विधेयम् । तस्य व्याख्यानं पुरिशय इत्यादि । आवरणमन्तर्व्याप्तिः । संवरणं बहिराच्छादनम् । ननु दिवि भवो दिव्यः, स च सूर्यमण्डलस्थत्वाद्धिरण्यगर्भोऽपि भवतीति कश्चित् (शं.) अत आह— **दिव्यमि**ति । औणादिको यक्प्रत्ययः । परममिति विशेषणादिति भावः ॥ ८ ॥

**५ आ. मा. भा.— ध्येयमाह— कविमिति । कविं सर्वज्ञम् " यः सर्वज्ञः " [ मुं. उ. १।९ ] इति श्रुतेः । 'त्वं कविः सर्ववेदनात्' इति च ब्राह्मे । धातारं धारणपोषणकर्तारम् , 'डुधाञ् धारणपोषणयोः [ धा. पा. ३।१० ] इति धातोः । " धाता विधाता परमोत सन्दृक्" इति च श्रुतिः । 'ब्रह्मा स्थाणुः' इत्यारभ्य 'तस्य प्रसादादिच्छन्ति ( ते तत्प्रसादाद्गच्छन्ति ) तदादिष्टफलां गतिम्' [ म. भा. १२।३३४।३५-३९ ] इति च मोक्षधर्मे । तमसोऽव्यक्तात्परतः स्थितम् । "तमसः परस्तादित्यव्यक्तं वै तमः परस्ताद्धि सततः" इति पिप्पलादशाखायाम् "मृत्युर्वाव तमो मृत्युर्वा" "मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्" [ बृ. उ. १।३।२८ ] इति श्रुतेः ॥ ९ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— उत्तरश्लोकगतविशेषणबलाच्च परमात्मैवायमिति भावेन तत्तात्पर्यमाह— **ध्येयमि**ति । आह विशिनष्टीत्यर्थः । ननु कवित्वमन्येषामप्यस्ति, तत्कथं भगवतो विशेषणं ? इत्यत आह— **कविमि**ति । परमेश्वरस्य सार्वज्ञे प्रमिते भवेदिदं व्याख्यानम्, तदेव कुतः ? इत्यत आह— **य** इति । सर्वज्ञः कविशब्दार्थ इत्येतत्कुतः ? इत्यत आह— **त्वमि**ति । अन्येषां तु 'सर्वे विमोहितधियः' इत्यादिना सार्वज्ञाभावः प्रमितः । ननु धाता विरिञ्चोऽपि प्रसिद्धः, तत्कथमेतद्भगवतो

विशेषणं ? इत्यत आह— धातारमिति। कुतोऽयमर्थः। इत्यत आह— द्रुधाञिति। तृचः कर्तृवाचित्वं प्रसिद्धमेव। परमेश्वरस्य धातृत्वसद्भावे किं प्रमाणं ? इत्यत आह– धातेति। विधाता कर्ता। परमा सन्दृक् परमज्ञानरूपः। 'सर्वस्य धातारं' इत्येतत् भगवत एव, नान्येषामित्यत्र प्रमाणमाह— ब्रह्मेति। तेन भगवताऽऽदिष्टं दत्तं फलं सुखं यस्यां सा तथोक्ता। मोक्षधर्मे कथितमिति शेषः। तमसः परस्तादित्येतत् आदित्यादिसाधारणं इत्यतो द्वेधा सप्रमाणकं व्याचष्टे— तमस इति। स्थितमिति शेषोक्तिः। अप्राकृतविग्रहमित्यर्थः ॥ ९ ॥

५ आ. मा. भा.— वायुजयादियोगयुक्तानां मृतिकाले कर्तव्यमाह विशेषतः— प्रयाणकाल इति। वायुजयादिरहितानामपि ज्ञानभक्तिवैराग्यादिसम्पूर्णानां भवत्येव मुक्तिः। तद्रुतां त्वीषज्ज्ञानाद्यसम्पूर्णानामपि निपुणानां तद्बलात्कथञ्चिद्भवतीति विशेषः। उक्तं च भागवते [ ३।५।४५,४६। ] 'पानेन ते देव कथासुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये। वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाऽञ्जसा त्वापुरकुण्ठधिष्ण्यम् ॥ तथाऽपरे त्वात्मसमाधियोगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम्। त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते' इति। 'ये तु तद्भाविता लोका ( के, ह्ये ) एकान्तित्वं समाश्रिताः। एतदभ्यधिकं तेषां तत्तेजः प्रविशन्त्युत' [ म. भा. १२।३३४।४४ ] इति च मोक्षधर्मे। 'सम्पूर्णानां भवेन्मोक्षो विरक्तिज्ञानभक्तिभिः। नियमेन तथापीरजयादियुतयोगिनाम् ॥ वश्यत्वान्मनसस्त्वीषत्पूर्वमप्याप्यते ध्रुवम्' इति च व्यासयोगे ॥ १० ॥

६ ज. प्र. दी.— उत्तरश्लोकोक्तं सर्वं सर्वोचिकमिषुसाधारणमिति प्रतीतिनिरासार्थमाह— वायुजयादीति। साधका द्विविधाः, भक्त्यादिप्रधाना वायुजयादिप्रधानाश्चेत्यतो विशेषणं विशेषत इति। अनेन भक्त्यादीनां साधारण्यमाह। ननु च 'अनुस्मरेद्यः स तं परं पुरुषमुपैति'[श्लो.९-१०]इत्यन्वयादेकस्य वाक्यस्य कथं भिन्नविषयत्वम्? उच्यते-एकस्मिन्नपि वाक्ये योगबलेनैव 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य' इत्येतन्न सर्वविषयमित्येतावन्मात्रमत्र प्रतिपाद्यते। यथा "प्रातरुत्थाय" इति श्रुतौ 'न भृशं वदेत्' इत्यादिकं किञ्चित्साधारणं किञ्चिदसाधारणम्। कुतोऽस्यासाधारण्यं कल्प्यते? इत्यत आह— वायुजयादीति। अतो न तत्सर्वसाधारणमिति शेषः। तर्हि को विशेषोऽन्येषां, येन वायुजयादिक्लेशमधिकमनुभवन्ति ? इत्यत आह— तद्रुतां त्विति। निपुणानां, वायुजयादौ। कथञ्चिदल्पेत्यर्थः। किञ्चिच्छीघ्रं चेत्यपि ग्राह्यम्। अत्र प्रमाणान्याह– उक्तमिति। यथा यथार्थं बोधम्। धिष्ण्यं मन्दिरम्। इन्द्रियं त्वां विशन्त्येव, न तु त इवाञ्जसा। तद्भावितास्तेन भगवता वासिताः। एतन्मुक्तिलक्षणं फलम्। तेजो नारायणाख्यम्। ईरः समीरः। ध्रुवं ब्रह्माप्यते तैः ॥ १० ॥

७ ह. पै. भा.— अभ्यासयोगयुक्तेनेति अभ्यस्यत इत्यभ्यासः, अभ्यासश्चासौ योगश्चेत्यभ्यासयोगः, तेन युक्तेनाभ्यासयोगयुक्तेन परमं श्रेष्ठतमं दिव्यमप्राकृतं पार्थ! अनुचिन्तयन्याति तं नान्यगतिमित्यर्थः ॥ ८ ॥ कविं क्रान्तदर्शिनं सर्वज्ञं पुराणं पुरातनमनुशासितारं सर्वप्राणिनां स्वधर्मस्थितिनिमित्तमणोरणीयांसं सूक्ष्मादपि सूक्ष्मतरमनुस्मरेद्यः सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमचिन्त्यं रूपं यस्य तमादित्यवर्णं प्रकाशरूपं तमसः परस्तात्परतो वर्तमानम् ॥ ९ ॥ प्रयाणकाले मनसाऽचलेन चलनवर्जितेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव योगस्य बलं योगबलं तेन भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य व्यवस्थाप्य सम्यग्यथाशास्त्रं स तं परं ब्रह्म पुरुषमात्मानं दिव्यमुपैति ॥ १०

८ वें. ब्र. गि.— एवं सप्तप्रश्नानामुत्तरमुक्त्वा इदानीमन्तकालीनभगवत्स्मरणकारणीभूतान् भगवदुपासनभेदान् वक्तुमारभते— अभ्यासेति। अभ्यासश्च योगश्चेत्यभ्यासयोगौ। नित्यनैमित्तिकाविरुद्धकालेषु मनसोपास्यसंशीलनं अभ्यासः, योगस्त्वहरहर्योगकालेऽनुष्ठीयमानं यथोक्तलक्षणमुपासनम्, ताभ्यां युक्तेन, अत एव हेतोर्नान्यगामिना, अन्यं विषयं गन्तुं शीलमस्येत्यन्यगामि, तन्न भवतीति नान्यगामि। 'गमिकर्मीकृतनकनीवृत्ता' इतिवन्न समासः। तेन चेतसा परम निरतिशयम्, अत एव दिव्यमप्राकृतं पुरुषमनुचिन्तयन् तमेव याति प्राप्नोति ॥ ८ ॥

अनुचिन्तनीयः पुरुषः कीदृशः? तत्राह— कविमिति। कविं सर्वज्ञं पुराणमनादिं अनुशासितारं निखिलजगन्नियन्तारं, अणोः सूक्ष्मात्परमाण्वादेरपि अणीयांसं सूक्ष्मतरं दुर्विज्ञेयं, सर्वस्य धातारं पोषकं, अचिन्त्यमपरिमितमहिमतया चिन्तयितुमशक्यं रूपं यस्य तं तथोक्तम्, आदित्यस्येव सकलजगद्भासको वर्णः प्रकाशो यस्य तम्, सर्वजगद्भासकमित्यर्थः।

तमसः अज्ञानान्धकारात्परस्ताद्वर्तमानं प्रकाशरूपत्वेन तन्निवर्तकम्, एवम्भूतं योऽनुस्मरेच्चिन्तयेत् स तं पुरुषं यातीति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ९ ॥

एवमुपासीनस्यान्तकालीनभगवदनुस्मरणपूर्वकं तत्प्राप्तिप्रकारं दर्शयति— प्रयाणकाल इति । एवमहरहरभ्यस्यमानया भक्त्या भजनेन युक्तः तस्यैव भक्तियोगस्य यद्बलं चिरकालाभ्यासजनितचित्तस्थैर्यलक्षणं तेन युक्तः, तत एव हेतोः प्रयाणकाले मरणकाले च अचलेन परमपुरुषैकाग्रेण चेतसा तं पुरुषमनुस्मरेदिति पूर्वस्मादनुषङ्गः । स चैवमनुस्मरन् तं दिव्यं परं पुरुषमुपैति । कीदृशो भूत्वा ? भ्रुवोर्मध्ये सम्यक्प्राणमावेश्य, प्रथमं हृत्पुण्डरीके स्वात्मानं वशीकृत्य तत उर्ध्वगामिन्या सुषुम्णनाड्या गुरूपदिष्टवर्त्मना भूमिजयक्रमेण भ्रूमध्यगते आज्ञाचक्रे तं स्थापयित्वा ततो ब्रह्मरन्ध्राद् उत्क्रम्य पुरुषमुपैति । "अन्तरेण तालुके । य एष स्तन इवावलम्बते, सेन्द्रयोनिः । यत्रासौ केशान्तो विवर्तते । व्यपोह्य शीर्षकपाले" [ तै. उ. १।६।१ ] "शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" [कठो. ६।१६ छां. उ. ८।६।६] इत्यादिश्रुत्यर्थोऽत्रानुसन्धेयः ॥ १० ॥

९ व० त० दी०— एवं सप्तप्रश्नानामुत्तरं निरूप्य प्रयाणकाले योगिनां ज्ञानिनां भक्तानां च तत्तत्स्वरूपप्राप्त्यात्मकं फलमाह–अभ्यासयोगेति । नान्यगामिना विषयाद्यगामिना–( अक्षराद्यगामिना )–ऽनुचिन्तयन्परमं पुरुषं नारायणं दिव्यं सूर्यस्थं याति तमेव विशिनष्टि–कविमिति । यो योगी सर्गमर्यादाधिदेवं परमात्मानं अणोरणीयांसं समनुस्मरेत् अणोर्जीवादप्यणुतरम् 'अण्वीं जीवकलां ध्यायेत् ' इति वाक्यात् । आदित्यवर्णं स्वप्रकाशस्वरूपं तदन्तर्वर्त्तिरूपं वायुरूपं पुरुषसूक्तप्रतिपाद्यस्वरूपं वा तमसः प्रकृतेः परस्तात्परतरम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

ध्यानप्रकारं कालं चाह– प्रयाणकाल इति । भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्येति । स तं परं पुरुषमुपैति तत्समाकारः सामीप्यरूपमाप्नोति ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.—अथ तव तु मत्प्राप्तिर्निस्सन्दिग्धा साक्षान्मयोपदिष्टत्वात् किन्तु मदाज्ञाव्यतिरेकेणापि येऽनन्यभावेन स्मरन्ति तेऽपि मां प्राप्नुवन्तीत्याह— अभ्यासेति । हे पार्थ मद्भक्त ! अभ्यासो भगवत्सङ्गानुशीलनं, स एव योग उपायः, तद्युक्तेन नान्यगामिना अन्यत्रोत्तमत्वज्ञानजचाञ्चल्यदोषरहितेन चेतसा दिव्यं क्रीडात्मकं परमं पुरुषं पुरुषोत्तमभावं निर्जितचेतसा अनुचिन्तयन् भगवत्कृतस्मरणानन्तरं चिन्तयन् स्मरन् हे पार्थ ! तमेव याति प्राप्नोतीत्यर्थः । पार्थेति सम्बोधनेन पृथासम्बन्धान्मत्कृतस्मरणानन्तरस्मरणेन यथा त्वं मामाप्नोषीति बोध्यते ॥ ८ ॥

चिन्तनीयस्वरूपधर्मानाह द्वाभ्याम्– कविमिति । कविं शब्दार्थरसिकं स्वगुणानुवर्णनश्रवणानन्दसंसूचितानुग्रहम्, पुराणं अनादिसिद्धं सर्वदैकरसम्, अनुशासितारं भावादिधर्मनियन्तारम्, अणोरणीयांसं अणोः सूक्ष्मात् अणीयांसं सूक्ष्मम् । अयं भावः– सूक्ष्माज्जीवात् सूक्ष्मं जीवभावनयोग्यस्वरूपप्राकट्येन तद्धृदि बहिस्तद्दृष्ट्यादिस्थितियोग्यम् । सर्वस्य स्वक्रीडायोग्यस्य भावादिरूपाक्षरादिरूपपदार्थस्य धातारं पोषकम् । अचिन्त्यरूपं अलौकिकक्रीडाद्यपरिमेयमहिमानम् । आदित्यवर्णं रसात्मकतापतेजसा सर्वप्रकाशकम् । तमसः परस्तात् प्रकृतेः परस्ताद्वर्त्तमानम् । अत्रायं भावः— भावात्मकप्राप्तभक्तस्वरूपं प्रकटितलीलास्वरूपात् सर्वदा रसात्मकत्वेन वर्तमानमेवं पुरुषं पुरुषोत्तमम् ॥ ९ ॥

प्रयाणकाले अन्तकाले मनसा निश्चलेन मनसा सर्वकामरहितेन च पुनः योगबलेनैव संयोगात्मकभावेनैव भ्रुवोर्मध्ये भाग्यस्थाने सन्तं विद्यमानं योऽनुस्मरेद्भगवत्कृतस्मरणानन्तरं स्वार्थप्रकटज्ञानेन स्मरेत्, स तस्मिन्नेव प्राणमावेश्य सम्यक् भावात्मकस्वरूपप्राप्त्या परं पुरुषं पुरुषोत्तमं दिव्यं क्रीडात्मकं उपैति समीपे दास्येन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव श्लोकत्रयेण विवृणोति— अभ्यासेति । अभ्यासयोगयुक्तेन 'तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः'[पा.यो.सू. १।१३ ] इति सूत्रितोऽभ्यासः, तत्र ध्येये वस्तुनि चित्तस्य स्थिरीकरणार्थो यत्नः, स च विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणरूपः, सोऽत्राभ्यासः । तत्र भाव्यो विषयः सिद्धः विष्णुप्रतिमादिर्विराडादिर्वा । असिद्धस्तु मानसप्रतिमादिः, तत्रासिद्धे मनसः प्रतिमाकारतासम्पादने तत्र स्थैर्यसम्पादने ते विषयभेदाद्द्विगुणो यत्नः कर्त्तव्यो भवति । सिद्धे तु चित्तस्थिरीकरणार्थं एक एव यत्नः ।

तत्र यथा स्वतः स्वच्छः स्फटिको जपाकुसुमोपरागाल्लोहितः स्फटिक इति तत्र लौहित्याध्यासः, तत्प्राबल्यात्तत्रैव स्फटिकधीप्रमोषे पद्मरागत्वाध्यासः, पद्मरागेऽपि चान्द्रिकाया मिन्द्रनीलत्वाध्यासः, तत्रैव तदानीमेव किञ्चिद्दूरस्थे निहीनोपलत्वाध्यास इत्युत्तरोत्तराध्यासक्रमेण शुद्ध एक एव स्फटिकः पञ्चविधो भवति; एवं स्वतःशुद्धं चैतन्यं, मायोपरागात्तदेवेश्वरः; मायाप्राबल्ये तस्यैवेश्वरत्वांशप्रमोषे तत्रैव सूत्रात्माध्यासः, सूत्रेऽप्यज्ञानदार्ढ्याद्विराडध्यासः, तत एव विराडेकदेशेषु शरीरादिषु आत्मत्वभ्रमः ।

तत्र यथा घटान्तर्गतः प्रदीपो घटमात्रं भासयति, घटच्छिद्रात् बहिर्गतः किञ्चित्स्वप्रभया संसृष्टं विषयमवभासयति, सर्वात्मना घटाद्बहिर्गतस्तु कृत्स्नं भवनोदरवर्त्तिपदार्थजातं प्रकाशयति; तद्वद्देहान्तर्गता चितिर्देहमात्रं भासयति, देहच्छिद्राच्चक्षुरादेर्बहिर्गता सती तत्सन्निकृष्टं कञ्चिद्विषयं रूपादिकमवभासयति, सर्वात्मना गुरूक्तयुक्त्या देहकृतपरिच्छेदाभिमाने त्यक्ते स्वपरिच्छिन्ना सती कृत्स्नं विराडात्मानमवभासयति । यथोक्तं बाह्यग्रन्थेष्वपि-'मणिहुतवहतारासोमसूर्यादयोऽपि क्षितिविषयमिहाल्पं बाह्यमुद्योतयन्ति । सहजलयसमुत्थं द्योतयेज्ज्योतिरन्तस्त्रिभुवनमपि सूक्ष्मस्थूलभेदक्रमेण' इति । सहजलयसमुत्थं सहजः स्वाभाविको देहकृतपरिच्छेदाभिमानः, तस्य लयमात्रादेव उत्थितं क्रमेण सङ्कल्पक्रमेण सदीक्षणमात्राभिनिर्वृत्तत्वात्सर्वस्य प्राक्सङ्कल्पादसत्त्वात् । तथा च श्रुतिः-" स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" [ छां. उ. ८।२।१ ] इति । 'दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः' [ न्या. द. ४।२।२ ] इत्यक्षपादसूत्राच्च । दोषा रागादयः ।

तदेवं प्रकाशमाने विराजि 'अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति मन्यते सोऽस्य परमो लोकः' इति शास्त्रप्रामाण्यादुपासकेन गृहीतोऽहङ्कारो यद्यपि वस्तुतत्त्वापेक्षया भ्रान्तिरूपस्तथापि स्वाभाविकाद्देहाहङ्कारात्सत्यरूपः । यथा स्फटिके हीनोपलत्वग्रहापेक्षया इन्द्रनीलत्वग्रहस्तद्वत् । यथा च स्फटिके प्रणिधीयमानं चक्षुरुत्तरोत्तरपाटवविवृद्धाविन्द्रनीलत्वं बाधित्वा पद्मरागत्वं, तद्बाधेन लोहितस्फटिकत्वं, तद्बाधेन शुद्धत्वं चावगच्छति । एवं गुरूक्तयुक्त्या प्रत्यगात्मनि प्रणिधीयमानं मनोऽस्य बाह्यंबाह्यं रूपमपोह्य आन्तरेआन्तरे अवतिष्ठते । चरमं विशुद्धं रूपं प्राप्य तु स्वयमेव विलीयते । यथोक्तम्—'येन त्यजसि तत्त्यज' [ म. भा. १२।३२९।४०+३३१।४४ ] इति । येन मनसा त्यजसि विराडादिभावं तदपि मनस्त्यजेत्यर्थः ।

तदेवं व्यवहारापेक्षया सिद्धेषु विराट्सूत्रान्तर्यामिषु मनसः स्थिरीकरणार्थो यत्नोऽभ्यासस्तत्फलभूतो योगः । समाधिर्ध्येयवस्तुन्येव चेतसः स्थैर्यं, तेन गुणेन युक्तं यच्चेतस्तेन । नान्यगामिना अनन्यगामिना नैकधेतिवत्समासः । तेन चेतसा परमं सर्वोत्कृष्टं पुरुषं निरस्ताशेषदोषम् "यत्सर्वेषां पुरस्तात्सर्वान्पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः" [ बृ. उ. १।४।१ ] इति निर्वचनात् । दिव्यं द्योतमानमनुचिन्तयन्नहमेव भगवान्सर्वात्मा वासुदेव इति सततमाचार्योपदेशमनुध्यायन् तमेव नदीसमुद्रन्यायेन याति हे पार्थ ! । तथा च श्रुतिः-"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान् पुण्यपापे विधूय (नामरूपाद्विमुक्तः) परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्"[ मुं. उ. ३।२।८ ] इति परात्सूत्रात्परं अन्तर्यामिणम् ॥ ८ ॥

तदेवमुपासनायाः स्वरूपमुक्त्वा उपास्यस्य स्वरूपमाह— कविमिति । कविं क्रान्तदर्शिनं, सर्वज्ञं, पुराणं चिरन्तनं, अनुशासितारं जगतोऽन्तर्यामिणं, अणोः सूक्ष्मादप्याकाशादेरणीयांसं सूक्ष्मतरं, योऽनुस्मरेत् अनुचिन्तयेत् । सर्वस्य कर्मफलस्य धातारं विभागेन प्रदातारम् । अचिन्त्यरूपं नास्य रूपं विद्यमानमपि केनचिच्चिन्तयितुं शक्यम् । आदित्यवर्णं आदित्यस्येव नित्यप्रकाशरूपो वर्णो दीप्यमानता यस्य तं आदित्यवर्णं, सर्वजगदवभासकमित्यर्थः । तमसो देहेन्द्रियादावनात्मन्यात्माभिमानरूपाविद्यातः परस्तात् पराचीनं; सति देहाभिमाने न प्रकाशते, योगयुक्त्या त्यक्ते तु तस्मिन् स्वयमेव प्रकाशत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

उपासनायाः फलमाह— प्रयाणेति । प्रयाणकाले मनसाऽचलेन वृत्त्यन्तरवर्जितेन । भक्त्या भगवति वासुदेवे आराध्यत्वबुद्ध्या युक्तः, योगबलेन योगो मनःप्राणेन्द्रियक्रियानिरोधः हृदयपुण्डरीके तेषां वशीकरणमित्यर्थः । तस्यैव बलेन च युक्तो भूमिकाजयक्रमेण प्रागेव मूलाधारादिब्रह्मरन्ध्रान्तस्थानेष्वारोहावरोहक्रमेण सञ्चारितपवनोऽन्तकाले भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे प्राणं आवेश्य सुषुम्नया नाड्या मूलाधारादुत्थापनपूर्वकं सम्यक् निवेश्य स्थापयित्वा । स्थापनप्रयोजनं तु अन्यविस्मरणपूर्वकं दिव्यपुरुषचिन्तनं, तच्च भ्रूमध्यादुपर्युन्नीयमाने वायौ मनो मूर्च्छामापद्यत इति तस्यामवस्थायां न भवतीत्यन्त्यप्रत्ययस्तत्रैव सम्पाद्यः । ततोऽर्चिरादिमार्गपर्वणा अमानवस्य पुरुषस्य स्थानविशेषप्रापकस्य प्राप्यस्थानस्य च तस्मिन्नेव स्मरणं कर्त्तव्यम् । तद्वासनावासितं मनो भ्रूमध्याद्योगिना ऊर्ध्वया नाड्या उत्क्षिप्ते प्राणे मुक्तेषुवद्ब्रह्माण्डखर्परं भित्त्वा प्रचलिते सति लब्धवृत्तिकं भूत्वा पूर्वसंस्कारप्राबल्याद्योगमाहात्म्याच्च दिव्योपाध्युपेतमर्चिरादिपर्वदेवताभिरभिपूज्यमानमुत्तरोत्तरं स्थानं प्रत्यतिवाह्यमानममानवेन च पुरुषेण सङ्गच्छमानं, तेन च यथाभिलषितं स्थानं प्रापितमात्मानं पश्यति । तदिदमुक्तं 'भ्रुवोर्मध्ये सम्यक् प्राणमावेश्य' इति । स एवं कृत्वा योगी 'कविं पुराणं' इत्युक्तलक्षणं परं पुरुषं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वस्य भूतजातस्य जनयितारं नारायणादिशब्दप्रतिपाद्यमुपैति समीपे प्राप्नोति ; तल्लोकं प्राप्नो-

तीत्यर्थः । न हि पौराणिकानामिव वैदिकानां मते ब्रह्मविष्णुरुद्रलोकानामुपर्युपरि कल्पनाऽस्ति, किं तर्हि सर्वे हिरण्यगर्भलोकाख्ये सत्यलोक एवान्तर्भवन्ति। "परा हि सोपासनकर्मोर्जितिर्हिरण्यगर्भप्राप्यता" इति बृहदारण्यके तद्भाष्यादौ च स्पष्टम् ॥ १० ॥

ओङ्कारब्रह्मोपासनं सफलः तत्प्रकारश्च ।

**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः * ।**
**‡ यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— (योगमार्गानुगमनेनैव ब्रह्मविद्यामन्तरेणापि ब्रह्म प्राप्यत इत्येवं प्राप्ते इदमुच्यते।) पुनरपि वक्ष्यमाणेनोपायेन प्रतिपित्सितस्य ब्रह्मणो वेदविद्वदनादिविशेषणविशेष्यस्याभिधानं करोति भगवान्- यदिति । यदक्षरं न क्षरतीत्यक्षरमविनाशि वेदविदो वेदार्थज्ञा वदन्ति "(तद्वा) एतद्वैतदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति" [बृ.उ. ३।८।८] इति श्रुतेः। सर्वविशेषनिवर्तकत्वेनाभिवदन्ति "अस्थूलमनणु" इत्यादि । किञ्च विशन्ति प्रविशन्ति सम्यग्दर्शनप्राप्तौ सत्यां यद्यतयो यतनशीलाः सन्न्यासिनो वीतरागा विगतो रागो येभ्यस्ते वीतरागाः। यच्चाक्षरमिच्छतः-'ज्ञातुं' इति वाक्यशेषः-ब्रह्मचर्यं गुरौ चरन्ति आचरन्ति, तत्ते पदं तदक्षराख्यं पदं पदनीयं ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण-सङ्ग्रहः सङ्क्षेपस्तेन-सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये कथयिष्यामि ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— येनकेनचिन्मन्त्रादिना ध्यानकाले भगवदनुस्मरणे प्राप्ते सत्यभिधानेन नियन्तुं स्मर्तव्यत्वेन प्रकृतपरमपुरुषस्य त्रैविद्यवृद्धप्रसिद्धया प्रामाणिकत्वमाह— **पुनरपीति**। उपायो वक्ष्यमाण ओङ्कारः। अविषये प्रतीचि ब्रह्मणि वेदार्थविदामपि कथं वचनं ? इत्याशङ्क्याविषयत्वमत्यक्त्वैवेति मत्वा श्रुतिमुदाहरति— **तद्वा** इति। तथापि तस्मिन्नविषये सर्वविशेषशून्ये वचनमनुचितमित्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वेति** । न केवलं विद्वदनुभवसिद्धं यथोक्तं ब्रह्म, किन्तु मुक्तोपसृप्यतया मुक्तानामपि सिद्धमित्याह— **किञ्चेति** । केषां पुनः सन्न्यासित्वं ? तदाह— **वीतरागा** इति। ज्ञानार्थं ब्रह्मचर्यविधानादपि ब्रह्म ज्ञेयत्वेन प्रसिद्धमित्याह-**यच्चेति**। कथं तर्हि यथोक्तं ब्रह्म मम ज्ञातुं शक्यं ? इत्याकुलितचेतसमर्जुनं प्रत्याह— **तत्ते पदमिति** ॥११॥

**३ रा. भा.**— अथ कैवल्यार्थिनां स्मरणप्रकारमाह— यदक्षरमिति । यदक्षरमस्थूलत्वादिगुणकं वेदविदो वदन्ति, वीतरागाश्च यतयो यदक्षरं विशन्ति, यदक्षरं प्राप्तुमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति, तत्ते पदं सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये— पद्यते गम्यते चेतसेति पदम्; तत् निखिलवेदान्तवेद्यं मत्स्वरूपमक्षरं यथोपास्यं, तथा सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथ मन्दप्रयोजनोक्तपरव्याख्यातिक्षेपाय 'यदक्षरम्' इत्यादिश्लोकत्रयस्यार्थमाह— **अथेति**। स्मरणशब्दोऽत्रोपासनस्यान्तिमप्रत्ययस्य च सङ्ग्राहकः, उभयोरपि स्मृतिविशेषत्वात्। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्" [यजुः- का. ३।५९।७] इत्युक्तप्रमाणान्तरागोचरत्वपरेण 'वेदविदो वदन्ति' इत्यनेन सूचितवेदोक्तप्रकारकथनम्- **अस्थूलत्वादि**

---

* विशेषेण निश्शेषेण इतो गतो रागो येषां ते वीतरागाः । ‡ श्रीमद्भगवद्गीतायाः श्रुतिमूलकत्वं प्रतिपादयत्ययं श्लोकः । तथाच श्रुतिः— "यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ।" [कठो. २।१५] इति ।

१ सम्यग्गृह्यते निधीयतेऽनेनेति सङ्ग्रह उपायस्तेनोपायेनैतत्पदमभिधास्ये- उपायमत्र सतताभ्यासाय वक्ष्ये इत्यभिनवगुप्ताचार्याः। **वामनस्तु**—

पद्यते प्राप्यतेऽनेनेत्युपायः पदसंज्ञितः । सम्यग्ग्रहश्च प्राणानां सङ्ग्रहः प्राणसंयमः ॥
भित्त्वा योगेन चक्राणि क्रमात्प्राणं समुन्नयेत् । भ्रूमध्यचक्रपर्यन्तमेतावत्पूर्वमीरितम् ॥
वक्ष्यत्यग्रे ब्रह्मरन्ध्रं भित्त्वा यानविधिं विधुः । तस्मात्सङ्ग्रहशब्देन ज्ञेयोऽत्र प्राणसङ्ग्रहः ॥

—इति व्याख्यायान्यमतमेवं दूषयति—

यत्तु सङ्क्षेपत इति व्याख्यानं तदसाम्प्रतम् । अत्र देवेन सङ्क्षेपः सर्वत्रैवाश्रितो यतः ॥
किञ्चानुक्त्वाऽपि सङ्क्षेपाद्वक्ष्य इत्यब्जलोचनः । सङ्क्षेपाद्वक्ति चेदत्र शेषिष्यति किमर्जुनः ? ॥ इति — **अविगीता** ।

गुणकमिति। "अस्थूलमनण्वह्रस्वम्" [बृ.उ. ३।८।८] इत्यादिश्रुतिरिह विवक्षिता। ब्रह्मचर्यं ऊर्ध्वरेतस्त्वादिकम्। यद्वा "अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत् ...अथ यत्सत्रायणमित्याचक्षते ... अथ यन्मौनमित्याचक्षते... अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तत्" [ छां. उ. ८।५।१,२,३ ] इति श्रुतेः ब्रह्मप्राप्त्यर्था या काचिदपि चर्या ब्रह्मचर्यम्। वीतरागा यतय एव " यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति " [ कठो. २।१५ ] इत्यत्रापि कर्तारः। एतेन फलोपाययोः प्रदर्शनम्। पदशब्दस्यात्र रूढार्थानुपपत्तेरुपपन्नं योगमाह— पद्यत इति। अत्र पदशब्देन ज्ञानविषयत्वमुखेन उपास्यत्वादिकमभिप्रेतमित्याह— गम्यते चेतसेति। यत्तच्छब्दाभिप्रेतां प्रसिद्धिमाह— तन्निखिलेति। अक्षरशब्दस्यात्र विकारादिदोषरहितपरमात्मविषयत्वात् मत्स्वरूपमित्युक्तम्। स्वासाधारणं रूपमित्यर्थः। अक्षररूपपरमात्मोपासनमलाक्षरस्वरूपजीवात्मप्राप्त्यर्थम् ॥ ११ ॥

५ आ. मा. भा.— तदेव ध्येयं प्रपञ्चयति— यदक्षरमित्यादिना। प्राप्यते मुमुक्षुभिरिति पदम्। पद गतौ [४।६३] इति धातोः। "तद्विष्णोः परमं पदम्" [ ऋक्सं. १।२।६।५+कठो. ३।९ ] इति श्रुतेश्च। 'गीयसे पदमित्येव मुनिभिः पद्यसे यतः' इति वचनान्नारदीये ॥ ११ ॥

६ ज. प्र. दी.— क्रममुक्त्यर्थं ओङ्कारोपासनमुच्यत इत्यन्यथाव्याख्यानमपाकर्तुमाह— तदेवेति। वायुजययुतानां मरणकाले कर्तव्यमेव, 'मामनुस्मरन्' [ ८।१३ ] इत्यादिविरोधादिति भावः। ननु पदत्वं शब्दस्यैवोंकारस्य सम्भवति, न विष्णोरित्यत आह— प्राप्यत इति। कर्मण्यकारप्रत्ययः। पदं स्वरूपमिति प्रयोगप्रदर्शनम् ॥ ११ ॥

७ ह. पै. भा.— यदिति। अक्षरं न क्षरतीत्यक्षरम् "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि" [बृ. उ. ३।८।९] इति श्रुतेः। वेदविदो वदन्ति। विशन्ति प्रविशन्ति। ब्रह्मचर्यं ब्रह्मचारिव्रतं चरन्त्यनुतिष्ठन्ति। सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये ॥ ११ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं 'अभ्यासयोगयुक्तेन' [ ८।८ ] इत्यादिभिस्त्रिभिरेकमुपासनमुक्तम्। इदानीम् "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि— ओमित्येतत्" [ १।२।१५ ] इति कठवल्ल्युक्तमोङ्कारब्रह्मोपासनं वक्तुं प्रतिजानीते— यदक्षरमिति। वेदविदो यदक्षरं वदन्ति "एतद्वै तदक्षरं गार्गि" [ बृ. उ. ३।८।८ ] "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" [ मुं. उ. १।१।५ ] इत्यादिभिः। न केवलं वाचा वदन्ति, किन्तु मुक्ताः स्वप्राप्यतयाऽनुभवन्ति चेत्याह— विशन्तीति। वीतरागा निस्स्पृहा यतयः यदक्षरं विशन्ति स्वरूपतया प्रविशन्ति। न केवलं ज्ञानिभिरनुभूतम्, किन्तु जिज्ञासूनामपि सर्वः प्रयासस्तदर्थ एवेत्याह— यदिच्छन्त इति। ज्ञातुमिति शेषः। यज्ज्ञातुमिच्छन्तः साधकाः गुरुकुलवासादिरूपं ब्रह्मचर्यमाचरन्ति। 'ब्रह्मचर्यं' इति गृहस्थवानप्रस्थधर्माणां यागदानतपसामप्युपलक्षणम्, "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुत्या ब्रह्मचारिधर्माणामिव गृहस्थादिधर्माणामपि विविदिषासाधनत्वेन विधानात्। एवं वेदानुवचनयज्ञदानतपोभिर्जिज्ञासितव्यं वीतरागैर्यतिभिः प्रवेष्टव्यमखिलवेदरहस्यं कथमहं विजानीयामित्याकुलो मा भूः, अहं खलु ज्ञापयामीत्यभिप्रायेणाह— तत्ते पदमिति। तदक्षराख्यं पद्यते गम्यत इति पदं ब्रह्म ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेण प्रवक्ष्ये यथा तव बोधो भवति तथा प्रकर्षेण वक्ष्ये ॥ ११ ॥

९ व० त० दी०— इयं त्वधियज्ञप्राप्तिरुक्तयोगिनस्त्रिधोक्ता, अक्षरब्रह्मात्मचिन्तकानां ज्ञानिनां तु स एव च लभ्यो भवतीति प्रतिजानंस्तदुपासकानाह— यदक्षरमिति। वेदविदो ब्राह्मणाः "एतद्वै तदक्षरं गार्गि" इत्यभिवदन्ति [ बृ. उ. ३।८।८ ]। प्रायो वेदविदां वादोऽक्षरपर्यवसायीति गम्यते। यतयो वीतरागाः परमहंसाः यत् विशन्ति एकत्वमाप्नुवन्तीति सन्न्यासिनां प्राप्यतयोक्तम्। 'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति' इति ब्रह्मचारिणां तदक्षरस्वरूपं मत्पदरूपत्वात्पदम् 'चैद्ये च सात्त्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे' इति वाक्यात् 'अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्य हि' इति निबन्धाचरणरूपमेतत् ते सङ्ग्रहेण प्रवक्ष्ये तेषां गम्यमिति वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.— ननु भक्तियुक्ता अपि तदेव प्राप्नुवन्ति, योगयुक्ता अपि च, तदा तयोः को विशेषः? इत्याकाङ्क्षायां तयोः प्राप्यरूपमाह— यदक्षरमिति। वेदविदो वेदान्तज्ञा यदक्षरं वदन्ति, यत् वीतरागा विरागिणो यतयः सर्वत्यागादिप्रयत्नवन्तो विशन्ति यत्रैक्यं प्राप्नुवन्ति, यदिच्छन्तो यत्स्वरूपज्ञानेन प्राप्तीच्छवः ब्रह्मचर्यमिन्द्रियनिग्रहं गुरुकुले चरन्ति, तत्पदं तेषां प्राप्यं ते तुभ्यं सङ्ग्रहेण सङ्क्षेपेण ज्ञानार्थं प्रवक्ष्ये कथयिष्यामीत्यर्थः ॥ ११ ॥

११ नीं०भा०दी०— 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य' [१०] इत्युक्तं तत्किं कृत्वा कर्तव्यं? तत्कृत्वा च किं कर्तव्यं? इत्येतद्द्वयं वदिष्यंस्तत्र प्रतीकत्वेन चिन्त्यं प्रणवं तावद्वाच्यवाचकयोरभेदविवक्षया स्तौति— यदिति। यदक्षरं प्रण-

वाच्यं वाचकं वेदविदो वेदादौ वदन्ति। यद्वा यदक्षरं ब्रह्म तद्वाच्यं– "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" [बृ.उ.३।८।८] इत्येवंलक्षणं वा वेदविद उपनिषद्विदो वदन्ति, यच्च यतयो विशन्ति ब्रह्मप्रतीकत्वेन शरणीकुर्वन्ति; पक्षे सम्यग्दर्शने सति सरित्सागरन्यायेन यत्प्रविशन्ति यतयः । यदक्षरमिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्तीति पक्षद्वयेऽपि समानम्। तत्ते पदं वर्णत्रयात्मकं पदनीयं वा स्थानं विष्णोः परमं पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये। अयं च वाच्यवाचकयोरभेदः श्रुतिच्छायया गम्यते "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" [कठो. २।१४] इति सर्वधर्मातीतं ब्रह्म प्रकृत्य "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्"[कठो.२।१५] इत्योङ्कारेणोपसंहारात् तत्फलं च प्रतीकभावात् ओङ्कारं प्रतीकत्वेन प्रकल्प्य तद्द्वारा शुद्धं शबलं वा ब्रह्म प्रतिपत्तव्यम् । तथा च श्रुत्यन्तरे "एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" इत्युपक्रम्य "तस्मात् ( एवं ) विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" [प्रश्नो. ५।२] इति दृष्टम्। आयतनं शालग्रामवत् प्रतीकं तेन ॥ ११ ॥

**सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ।**
**मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥ १२ ॥**
**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ १३ ॥**

१ शां. भा.— "स यो ह वैतद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति। तस्मै सहोवाच, एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" [५।१;२] इत्युपक्रम्य "यः पुनरेतं (एतत्) त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत"[प्रश्नो. ५।५] इत्यादिना वचनेन "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" इति चोपक्रम्य "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" [कठो. २।१४,१५] इत्यादिभिश्च वचनैः परस्य ब्रह्मणो वाचकरूपेण प्रतिमावत्प्रतीकरूपेण(वा) च परब्रह्मप्रतिपत्तिसाधनत्वेन मन्दमध्यमबुद्धीनां विवक्षितस्योङ्कारस्योपासनं कालान्तरे मुक्तिफलमुक्तं यत्, तदेवेहापि "कविं पुराणमनुशासितारम्" [८।९] "यदक्षरं वेदविदो वदन्ति" [८।११] इति चोपन्यस्तस्य परस्य ब्रह्मणः पूर्वोक्तरूपेण प्रतिपत्त्युपायभूतस्योङ्कारस्य कालान्तरमुक्तिफलमुपासनं योगधारणासहितं वक्तव्यं, प्रसक्तानुप्रसक्तं च यत्किञ्चिदित्येवमर्थं उत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते–सर्वेति।

२ आ. शां. व्या.— वक्ष्यमाणेनोपायेनेत्युक्तं व्यक्तीकुर्वन्नोङ्कारद्वारा ब्रह्मोपासनं श्रुत्युक्तमनुक्रामति–स यो हेति। सत्यकामेनाभिध्यानफलं जिज्ञासुना 'भगवन्' इति पिप्पलादः सम्बोध्याभिमुखी क्रियते। निपातौ तु प्रसिद्धमर्थमेव द्योतयन्तावभिध्यानस्य फलवत्त्वेन कर्तव्यत्वमावेदयतः। मनुष्येषु मध्ये स योऽधिकृतो मनुष्यस्तत्प्रसिद्धमभिध्यानं यथा सिध्यति तथा सर्ववेदसारभूतमोङ्कारमाभिमुख्येन ध्यायीत । तच्चाभिध्यानं 'आप्रायणात्' [ब्र.सू. ४।१।१२] इति न्यायेन मरणान्तमनुष्ठेयम् । स चैवमनुतिष्ठन्प्रकृतेनाभिध्यानेन लोकानां जेतव्यानां बहुत्वात्कतमं लोकं जयतीति प्रश्नं पृष्टवते सत्यकामाय पिप्पलादनामा किलाऽऽचार्यः प्रतिवचनं प्रोवाच। तत्र प्रथममभिध्येयमोङ्कारं परापरब्रह्मत्वेन महीकरोति— एतद्वा इति।

१ अत्र केचित्– ईश्वरप्रणिधानेन संसारहेतोः स्वात्मगोचराज्ञानस्य स्वात्मगोचरमुत्तमयोगमन्तरेण निवृत्त्ययोगात् तस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वं न सम्भवति, किन्तु अन्तरायोन्मूलनद्वारा योगसम्पादकत्वमेव । तथा च सूत्रम्– 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' (पा. यो. २. ४५) इति। तस्मादविरोधाय–'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् आत्मनो योगधारणामास्थितः'– इति व्याख्येयम्– इति वदन्ति। अन्ये पुनः— निरतिशयशक्तिमदीश्वरप्रणिधानमुत्कर्षकाष्ठामुपगतं विनैव योगादि कर्म मोक्षहेतुः। तथाच भक्तिमीमांसासूत्रम्–'उत्क्रान्तिः स्मृतिवाक्यशेषाच्च' (शां. भ. सू. २. २. २६) इति। परभक्तौ उत्क्रान्तिः क्रमसुल्लङ्घ्य ऊर्ध्वगमनम्। कुतः? स्मृतिवाक्यशेषात्– स्मृतयो गीतायाः तासां वाक्यशेषैः परभक्तावेवोत्क्रान्तिः स्मर्यते इति तदर्थः। तस्माद्यथावस्थितमेव युक्तमित्याहुः।

—अविगीता।

त्रिमात्रेणाकारोकारमकारात्मकेनेति यावत्। 'योऽभिध्यायी(सः) तमेव यथाभिध्यानं पुरुषमधिगच्छति' इत्यादिवचनेनोपासनमोङ्कारस्योक्तमित्यर्थः । प्रश्नश्रुतिवत्कठवल्ली च तत्रैवार्थे प्रवृत्तेत्याह— **अन्यत्रे**ति । अव्यवधानेनोपनिषदां व्यवधानेन च कर्मश्रुतीनां परस्मिन्नात्मनि पर्यवसानं दर्शयति— **सर्व** इति । तपसामपि सर्वेषां चित्तशुद्धिद्वारा तत्रैव पर्यवसानमित्याह– **तपांसी**ति। तस्यैव च ज्ञानार्थमष्टाङ्गं ब्रह्मचर्यं तत्र तत्र विहितमित्याह— **यदिच्छन्त** इति । तस्य पदनीयस्य ब्रह्मणः सङ्क्षेपेण कथनमोङ्कारद्वारकमिति कथयति— **ओमित्येतदि**ति। उदाहृतवचनानां तात्पर्यं दर्शयति— **परस्ये**ति । तस्य वाचकरूपेण वा तस्यैव प्रतीकरूपेण वा विवक्षितस्योङ्कारस्योपासनं यथोक्तैर्वचनैरुक्तमिति सम्बन्धः । ननु परस्मिन्ब्रह्मणि "तत्त्वमसि"[छां. उ. ६।८-१६ ] आदिवाक्यादेव प्रतिपत्तिरधिकारिणो भविष्यति किमित्युपासनमोङ्कारस्योपन्यस्यते? तत्राऽऽह— **परे**ति। यद्यपि विशिष्टस्याधिकारिणो विनैवोपासनमुपनिषद्भ्यो ब्रह्मणि प्रतिपत्तिरुत्पद्यते, तथापि मन्दानां मध्यमानां च तद्धीहेतुत्वेनोङ्कारो विवक्षितस्तच्चोपासनं ब्रह्मदृष्ट्या श्रुतिभिरुपदिष्टमित्यर्थः । तस्य क्रममुक्तिफलत्वादनुष्ठेयत्वं सूचयति— **कालान्तर** इति । भवत्वेवं श्रुतीनां प्रवृत्तिस्तावता प्रकृते किमायातं ? इत्याशङ्क्याऽऽह —**उक्तं यदि**ति । तदेवेहापि वक्तव्यमित्युत्तरेण सम्बन्धः । उपासनमेवोपास्योपन्यासद्वारा स्फोरयति— **कवि-मित्या**दिना । पूर्वोक्तरूपेणेत्यभिधानत्वेन प्रतीकत्वेन चेत्यर्थः। श्रौतस्योपासनस्यानूद्यमानस्य सोपस्करत्वं सङ्गिरते— **योगे**ति। तर्हि कथम् 'अनन्यचेताः सततम्' [ ८। १४ ] इत्यादि वक्ष्यते ? तत्राऽऽह— **प्रसक्ते**ति। ओङ्कारोपासनं प्रसक्तं, तदनन्तरं तत्फलमनुप्रसक्तं, तद्द्वारा चापुनरावृत्त्यादि वक्तव्यकोटिनिविष्टमित्यर्थः । उक्तेऽर्थे समनन्तरग्रन्थमुत्थापयति— **इत्येवमर्थ** इति ।

**१ शां. भा.— सर्वद्वाराणि सर्वाणि च तानि द्वाराणि च सर्वद्वाराण्युपलब्धौ, तानि सर्वाणि संयम्य संयमनं कृत्वा मनो हृदि हृदयपुण्डरीके निरुध्य निरोधं कृत्वा निष्प्रचारमापाद्य तत्र वशीकृतेन मनसा हृदयादूर्ध्वगामिन्या नाड्योर्ध्वमारुह्य मूर्धन्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितः प्रवृत्तो योगधारणां धारयितुम् ॥ १२ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— श्रोत्रादीनां कुत्र द्वारत्वं ? तत्राऽऽह— **उपलब्धावि**ति । तेषां संयमनं विषयेषु प्रवृत्तानां दोषदर्शनद्वारा तेभ्यो वैमुख्यापादनम् । कोऽयं मनसो हृदये निरोधः ? तत्राऽऽह— **निष्प्रचारमि**ति । मनसो विषयाकारवृत्तिं निरुध्य हृदि वशीकृतस्य कार्यं दर्शयति— **तत्रे**ति । ऊर्ध्वमित्यत्रापि हृदयादिति सम्बध्यते । सर्वाण्युपलब्धिद्वाराणि श्रोत्रादीनि सन्निरुध्य वायुमपि सर्वतो निगृह्य हृदयमानीय ततो निर्गतया सुषुम्नया कण्ठभ्रूमध्यललाटक्रमेण प्राणं मूर्धन्याधाय योगधारणामारूढो ब्रह्म व्याहरन्मां च तदर्थमनुस्मरन्परमां गतिं यातीति सम्बन्धः ॥ १ ॥

**१ शां. भा.— तत्रैव च धारयन्– ओमिति ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ब्रह्मणोऽभिधानभूतमोङ्कारं व्याहरन्नुच्चारयंस्तदर्थभूतं मामीश्वरमनुस्मरन्ननुचिन्तयन् यः प्रयाति म्रियते स त्यजन्परित्यजन्देहं शरीरं, 'त्यजन्देहं' इति प्रयाणविशेषणार्थं, देहत्यागेन प्रयाणमात्मनः, न स्वरूपनाशेनेत्यर्थः । स एवं त्यजन्याति गच्छति परमां प्रकृष्टां गतिम् ॥ १३ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— यथोक्तयोगधारणार्थं प्रवृत्तो मूर्धनि प्राणमाधाय धारयन्किं कुर्यात् ? इत्याशङ्क्यानन्तरश्लोकमवतारयति— **तत्रैवे**ति । एकं च तदक्षरं चेत्येकाक्षरमोमित्येवंरूपं तत्कथं ब्रह्मेति विशिष्यते? तत्राऽऽह— **ब्रह्मण** इति । यः प्रयातीति मरणमुक्त्वा त्यजन्देहमिति ब्रुवता पुनरुक्तिराश्रिता स्यादित्याशङ्क्य विशेषणार्थं विवृणोति— **देहे**ति । एवमोङ्कारं उच्चारयन्नर्थं चाभिध्यायन्ध्याननिष्ठः स पुमानित्यर्थः । 'परमां' इति गतिविशेषणं क्रममुक्तिविवक्षया द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.— सर्वद्वाराणीति । सर्वाणि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि ज्ञानद्वारभूतानि संयम्य स्वव्यापारेभ्यो विनिवर्त्य हृदयकमलनिविष्टे मय्यक्षरे मनो निरुध्य योगाख्यां धारणामास्थितः मय्येव निश्चलां स्थितिमास्थितः ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म मद्वाचकं व्याहरन् वाच्यं मामनुस्मरन् आत्मनः प्राणं मूर्ध्न्याधाय देहं त्यजन् यः प्रयाति, स याति परमां गतिं प्रकृतिवियुक्तं मत्समानाकारमपुनरावृत्तिमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः । 'यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति । अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्' [ ८।२०,२१ ] इत्यनन्तरमेव वक्ष्यते ॥ १२ ॥ १३ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— 'सर्वद्वाराणि संयम्य' इत्यत्र नवद्वारप्रतीतिनिरासाय प्रत्याहारविषयताद्योतनाय चाह **सर्वाणि श्रोत्रादीनी**ति। द्वारानुबन्धरहितस्पर्शनादीन्द्रियाणां कथं द्वारशब्दार्थतेत्यत्रोक्तं **ज्ञानद्वारभूतानी**ति। संयमनमत्र शब्दादि-

विषयौन्मुख्यनिवर्तनमित्यभिप्रायेणाह **स्वव्यापारेभ्यो विनिवर्त्येति** । 'मनो हृदि निरुध्य च' इत्यत्र हृन्मात्रस्य ध्येयतानुपपन्नेत्यत्रोक्तं **हृदयकमलनिविष्टे मय्यक्षर** इति । हृच्छब्दोऽत्र तत्रत्यपुरुषलक्षकः; अन्यथा 'मामनुस्मरन्' इत्यनन्तरोक्तिर्न घटेतेति भावः । अर्थक्रमेण बलवता दुर्बलस्य पाठक्रमस्य बाधमभिप्रेत्य 'मनो हृदि निरुध्य' इत्यस्यानन्तरन् 'आस्थितो योगधारणाम्' इत्यादिकं व्याख्यातम् । प्रत्याहारानन्तरपठितधारणाव्यवच्छेदायाह **योगाख्यां धारणामिति** । षष्ठी समासात्समानाधिकरणसमासस्य ग्राह्यत्वं निषादस्थपतिन्यायसिद्धम् । 'स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्' [ पू. मी. ६।१।५१ ] इति । धारणाशब्दाधिक्याभिप्रेतमाह **मय्येव निश्चलां स्थितिमिति** । प्रणवस्य ब्रह्मप्रतिपादकत्वात् 'ब्रह्म' इति व्यपदेश इत्यभिप्रायेण **मद्वाचकमि**त्युक्तम् । मन्त्रस्यार्थविशेषप्रकाशनमुखेनोपकारकत्वमप्यत्र ब्रह्मशब्देन प्रतिपादनाद्विवक्षितमित्यभिप्रायेण **वाच्यं मामनुस्मरन्नि**त्युक्तम् । प्रणवस्य भगवद्वाचकत्वं योगाङ्गत्वादिकं च श्रुतिस्मृत्यादिसिद्धम् । यथा कठवल्ल्यां [ २।१५ ] "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्" इति ।

अत्र नाम्ना नामिनो निर्देशः । तथा "प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्"[मुं.उ. २।२।४]इति । तथा "आत्मानमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासा-(द्देवं पश्येन्निगू-) त्पश्येद्ब्रह्माभिगूढवत्"[ ध्यानबिंदू. २२ ] इति । तथा "ओमित्येवं ध्यायथात्मानम्" [ मुं. उ. २।२६ ] इति । तथा "यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनि-[-र्मुच्यत ]-र्मुक्त एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम् । स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" [ प्रश्नो. ५।५ ] इति । तथा "वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः । स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे ॥ स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्" [ श्वे. उ. १।१३;१४ ] इति । अत्रैव श्लोके 'विष्णुं पश्येद्धृदि स्थितम्' [ शं. स्मृ. ७।१६ ] इति योगयाज्ञवल्क्यपाठः । तथा 'कांस्यघण्टानिनादस्तु यथा लीयति शान्तये । ओङ्कारस्तु तथा योज्यः शान्तये शान्तिमिच्छता । यस्मिन् स लीयते शब्दस्तत्परं ब्रह्म गीयते' [ ] इति । तथा 'ओं खं ब्रह्म खं पुराणम्'[बृ.उ.५।१।१]इति । "ओमित्येतदक्षरमादौ ... ब्रह्मास्य पादाश्चत्वारो वेदाश्चतुष्पादिदमक्षरं [ परं ब्रह्म ] "पूर्वाऽस्य मात्रा पृथिव्यकारः" इत्यारभ्य "प्रथमा रक्तपीता महद्ब्रह्मदैवत्या, द्वितीया विद्युमती कृष्णा विष्णुदैवत्या, तृतीया शुभाशुभा शुक्ला रुद्रदैवत्या, याऽवसानेऽस्य चतुर्थ्यर्धमात्रा सा विद्युमती सर्ववर्णा पुरुषदैवत्या" [ अ. शिखो. १ ] इति च । अत्र अर्धमात्राधिदैवतभूतः पुरुष एवावतीर्णावस्थो द्वितीयमात्रादैवत्वेन विष्णुरिति चोक्तः । तथा "ओमिति ब्रह्म ओमितीदं सर्वम्" [ तै. उ. १।८।१ ] इति, "ओङ्कार एवेदं सर्वम्" [ छां. उ. २।२३।३ ] इति । तथा "हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः । हृदि त्वमसि यो नित्यं तिस्रो मात्राः परस्तु सः । तस्योत्तरतः शिरो दक्षिणतः पादो य उत्तरतः स ओङ्कार य ओङ्कारः, स प्रणवो यः प्रणवः स सर्वव्यापी, यः सर्वव्यापी सोऽनन्तः, योऽनन्तस्तत्तारं, यत्तारं तत्सूक्ष्मं, यत्सूक्ष्मं तच्छुक्लं, यच्छुक्लं तद्वैद्युतं, यद्वैद्युतं तत्परं ब्रह्म" [ अ. शिर उ. ३ ] इति । अत्र प्रकरणादिवशात् प्रतर्दनविद्यावदन्तरितं शासनमनुसन्धेयम् ।

मुमुक्षोरुत्क्रमणप्रकरणे च प्रणवः श्रूयते "अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामति, अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते, स ओमिति वा होद्वामीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति, एतद्वै खलु लोकस्य द्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् । तदेष श्लोकः— शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" [ छां. उ. ८।६।५ ] इति । महाभारते च महेश्वरवचनम् 'ओमित्येवं सदा विप्राः पठध्वं ध्यात केशवम्' [ह.वं.वि.प. १३३।१०] इति । आह च भगवान्याज्ञवल्क्यः—'देवतायाः परायाश्च ह्यालम्बः प्रणवः स्मृतः । कश्चिदाराधनाकामो विष्णोर्भक्त्या करोति वै ॥ तदाराधनसान्निध्ये प्रतिमां व्यञ्जिकां यथा । धातुद्रव्यादिपाषाणैः कृत्वा भावं निवेशयेत् ॥ श्रद्धाभक्त्यादराद्यैश्च तस्य देवः प्रसीदति । ओङ्कारेण तथा चात्मा ह्युपास्ते स प्रसीदति । [ ] 'सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च ॥ मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् । ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् । यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ य एतं प्रणवेनाद्यमक्षरं प्रतिपद्यते । ततोऽक्षरेण वेदेन वेद्यं ब्रह्माधिगच्छति ॥ एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो निरामयः । तस्योङ्कारः स्मृतं नाम तेनाहूतः प्रसीदति ॥ तस्मादोमिति पूर्वं तु कृत्वा युञ्जीत तत्परः । ब्रह्मोङ्कारविधानेन तत्त्वेन प्रतिपद्यते' इति । अत्र 'सर्वद्वाराणि' इत्यादिश्लोकयोर्भगवद्वाक्यतया प्रसिद्धयोरुदाहरणात् 'माम्' इति निर्देशस्तद्विषयः । पुनश्चात्र हैरण्यगर्भादिसिद्धान्तेषु प्रणवार्थे प्रपञ्च्यान्तेऽप्याह— 'त्रिरात्मा त्रिस्वभावश्च तथा त्रिव्यूह एव च । पञ्चरात्रे तथा ह्येष भगवद्वाचकः स्मृतः । बलं वीर्यं तथा तेजस्त्रिरात्मेति च संज्ञितः । ज्ञानैश्वर्ये तथा शक्तिस्त्रिस्वभाव इति स्मृतः ॥ सङ्कर्षणोऽथ प्रद्युम्नो ह्यनिरुद्धस्तथैव च । त्रिव्यूह इति निर्दिष्ट ओङ्कारो विष्णुरव्ययः ॥ भगवद्वाचकः प्रोक्तः प्रकृतेर्वाचकस्तथा । व्यक्ताव्यक्तो वासुदेवः प्रभवः प्रलयस्तथा'॥ इति । यच्चात्र हैरण्यगर्भकापिलावा-

न्तरतपस्सनत्कुमारब्रह्मिष्ठपाशुपताख्येषु सिद्धान्तेष्वर्थभेदवर्णनं, तदपि तत्तदर्थविशेषान्तरितपरमपुरुषपर्यवसानमभिप्रेत्येति मन्तव्यम्। अत एव हि विष्णुप्रतिपादकतयाऽन्तकाले स्मर्तव्यत्वेनोपसंह्रियते— 'ओङ्कारं विपुलमचिन्त्यमप्रमेयं सूक्ष्माख्यं ध्रुवमचरं च यत्पुराणम्। तद्विष्णोः पदमपि पद्मजप्रसूतं देहान्ते मम मनसि स्थितिं करोतु' इति। प्रणवेनैवात्र भगवदर्चनमुच्यते—'तल्लिङ्गैरर्चयेन्मन्त्रैः सर्वान् देवान् समाहितः। नमस्कारेण पुष्पाणि विन्यसेत्तु यथाक्रमम्॥ आवाहनादिकं कर्म यत्र सूक्तं मया त्विह। तत्सर्वं प्रणवेनैव कर्तव्यं चक्रपाणये॥ दद्यात्पुरुषसूक्तेन यः पुष्पाण्यप एव वा। अर्चितं स्याज्जगदिदं तेन सर्वं चराचरम्॥ विष्णुर्ब्रह्मा च रुद्रश्च विष्णुरेव दिवाकरः। तस्मात्पूज्यतमं नान्यमहं मन्ये जनार्दनात्' इति। तथा परमपुरुषसाक्षात्कारकारणतया चात्र प्रणवोपासनप्रकार उच्यते। 'ओम्भूर्भुवस्सुवर्महर्जनस्तपस्सत्यम्' इति वैदिकम्। 'एतदुच्चार्य वै ब्रह्म परे व्योम्नि नियोजयेत्। हृदयेऽग्निश्च वायुश्च जीवो यः समुदाहृतः॥ ओङ्कारं पद्मनाले तु उद्धृत्योपरि योजयेत्। आप्राणाच्छून्यभूतात्तु चेतोङ्गं जीवसंज्ञितम्॥ जायते तु यतस्तस्मात्पुनस्तत्र निवेशयेत्। घण्टाशब्दवदोङ्कारमुपासीत समाहितः॥ पुरुषं निर्मलं शुभ्रं पश्येद्वै नात्र संशयः' इति। योगानुशासनसूत्रं च 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' [ ब्र. सू. १।२४ ] 'तस्य वाचकः प्रणवः' [ ब्र. सू. १।२७ ] इति। अतः प्रणवस्य भगवद्वाचकत्वं समाध्युत्क्रमणाद्यवस्थासु तेनैव भगवदनुस्मरणं च सिद्धम्।

"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिस्सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति" [ छां. उ. ८।६।६ ] "ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्वा सूर्यमण्डलम्। ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्" [ या. स्मृ. ३।१६७ ] इत्यादिश्रुतिस्मृत्यनुसारान्मुमुक्षोरुत्क्रमणौपयिकमिदं मूर्ध्नि प्राणाधानम्। **त्यजन् यः प्रयातीति,** त्यक्त्वा यः प्रयातीत्यर्थः। आत्मार्थिनो ह्यात्मा गन्तव्यः; तत्रापुनरावृत्तित्वमात्रात्परमगतित्वोक्तिरित्यभिप्रायेणाह—**प्रकृतीति।** ईदृशस्यात्मनः परमगतिशब्देन व्यपदेशो न केवलं प्रकरणवशात; किन्त्वस्मिन्नेवाध्याये तद्विषय एवार्थं प्रयोगोऽप्यस्तीत्याह— **यः स सर्वेष्विति** ॥ १२ ॥ १३ ॥

**५ आ. मा. भा.— ब्रह्मनाडीं विना यद्यन्यत्र गच्छति, तर्हि विना मोक्षं स्थानान्तरं प्राप्नोतीति सर्वद्वाराणि संयम्य 'निर्गच्छंश्चक्षुषा सूर्यं दिशः श्रोत्रेण चैव हि' इत्यादिवचनात् व्यासयोगे, मोक्षधर्मे च। हृदि नारायणे। 'ह्रियते त्वया जगद्यस्माद्धृदित्येवं प्रभाषसे' इति पाद्मे। नहि मूर्धनि प्राणे स्थिते हृदि मनसः स्थितिः सम्भवति। 'यत्र प्राणो मनस्तत्र तत्र जीवः परस्तथा' इति व्यासयोगे। योगधारणामास्थितः योगभरण एवाभियुक्त इत्यर्थः॥ १२ ॥ १३ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु 'मनो निरुध्य' इत्यनेनैव सर्वेन्द्रियसंयमनं लब्धम्, तत्किं पुनरुच्यते? मैवम्; वायुसञ्चरणद्वाराणां नाडीनामत्र ग्रहणात्। तन्नियमनं किमर्थं? इत्यत आह—**ब्रह्मेति।** इति हेतौ। इत्युक्तमिति शेषः। अत्र प्रमाणमाह—**निर्गच्छन्निति।** सूर्यं गच्छति। मोक्षधर्मे चायमेवार्थ उक्त इति शेषः। हृदीत्यस्य प्रसिद्धार्थतानिरासार्थमाह—**हृदीति।** हरतेः "क्विप् च" [ अष्टा. ३।२।७६ ] इति क्विप् प्रसिद्धार्थ एव किं न स्यात्? इत्यत आह—**नहीति।** कुतो न सम्भवति? इत्यत आह—**यत्रेति।** आदौ हृदि निरुध्येत्यध्याहारो दोषः। मरणवेलायामखण्डस्मृतिर्वक्तव्या, तत्कथं धारणोच्यते? इत्यत आह—**योगेति** ॥ १२ ॥ १३ ॥

**७ इ. पै. भा.— सर्वेति। सर्वद्वाराणि नव द्वाराणि संयम्य सम्यग्वशीकृत्य। हृदि हृत्पुण्डरीके। मूर्ध्न्याधायाऽऽत्मनः प्राणमास्थितः प्रवृत्तो योगधारणां योगाभ्यासं धारयितुं तत्रैव धारयेत्॥ १२ ॥ ओमित्येकाक्षरं प्रधानाक्षरमित्यर्थः। ब्रह्म ब्रह्मप्राप्तिहेतुत्वाद्व्याहरन्नुच्चारयन्मामनुस्मरन्प्रयाति म्रियते त्यजन्देहं परमां गतिं याति॥ १३ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**—तदेवाह द्वाभ्याम्—**सर्वद्वाराणीति।** सर्वद्वाराणि चक्षुरादिबाह्येन्द्रियाणि संयम्य स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य। एवमपि मनसो विषयचिन्तापरत्वे बाह्येन्द्रियनिरोधो निरर्थक इत्यत आह—**मन इति।** अभ्यासवैराग्याभ्यां षष्ठे प्रागुक्ताभ्यां मनो हृदयदेशे निरुध्य निर्वृत्तिकतामापाद्य, एवं बहिरन्तरुपलब्धिद्वाराणि सर्वाणि निरुध्य क्रियाद्वारं प्राणमपि सर्वतो निगृह्य भूमिजयक्रमेण मूर्ध्नि भ्रूमध्ये निधाय तदुपरि गुरूपदेशैकसमधिगम्यां योगधारणां आत्मविषयकसमाधिस्थैर्यरूपामास्थित आश्रितः ओमिति यदेकमक्षरं तद्ब्रह्म ब्रह्मवाचकत्वात्प्रतिमादिवद्ब्रह्मप्रतीकत्वाच— तद्व्याहरन्नुच्चरन् तद्वाच्यं च मामनुस्मरन् मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यजन् यः प्रयाति प्रकर्षेणाचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं गच्छति, स तत्र भोगान्ते लब्धविज्ञानः परमां गतिं मुक्तिं प्राप्नोति॥ १२ ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— तत्प्राप्तौ साङ्गमुपायमाह— सर्वद्वाराणीति द्वाभ्याम्। ब्रह्मवादे ममैव नामरूपात्मकत्वादिति योगी मां ॐ इत्येकाक्षररूपमनुस्मरन् तथा व्याहरन्नन्तकाले परमामेतां पदत्वेन निर्दिष्टां गतिं याति।१२।१३॥

१० पु. अ. त.— प्रतिज्ञातस्वरूपमाह द्वाभ्याम्— सर्वद्वाराणीति । सर्वाणि इन्द्रियद्वाराणि संयम्य वशीकृत्य लौकिकविषयान्मनोनिरुन्धनं कृत्वा मनश्च विकल्पादिधर्मत्यागेन हृदि निरुद्ध्य मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये भाग्यस्थाने प्राणमाधाय आत्मनो योगधारणामास्थित आश्रितः सन् ॥ १२ ॥

ओमिति । एकाक्षरं शक्तिद्वयसम्बद्धपुरुषवद्वर्णत्रयात्मकमेकं यदक्षरं ब्रह्मवाचकत्वात्तत्सरूपत्वाद्वा ब्रह्मात्मकं व्याहरन्नुच्चारयन् मामेवंरूपं प्रकटमनुस्मरन् यो देहं त्यजन् प्रयाति प्रकर्षेण भावात्मतया गच्छति स परमां परो मीयते यया,यत्र वा, तां गतिं अक्षरात्मिकां याति, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— भ्रुवोर्मध्ये कथं प्राणमावेशयेत् ? इत्यत आह— सर्वेति । सर्वाणि शब्दादिविषयग्रहणद्वाराणीन्द्रियाणि संयम्य निगृह्य, तथा हृदि मनोऽपि निरुध्य तेषां कञ्चुकभूतं प्राणं मूर्द्धन्यनाड्या सुषुम्नाख्यया मूर्ध्नि भ्रुवोर्मध्ये आधाय । कथम् ? योगधारणां योगशास्त्रोक्तां धारणां मनसो देशविशेषनिबन्धिनीमास्थितः अनुतिष्ठन् सन् ॥१२॥ मूर्ध्नि प्राणमाधाय किं कुर्यात् ? अत आह— ओमिति । ओङ्काररूपं एकाक्षरं एकं च तदक्षरं च वर्णो ब्रह्म च तद्व्याहरन् उच्चरन् , मां च ब्रह्मभूतं अनुस्मरन् , यो हि देवदत्तं स्मृत्वा तन्नाम व्याहरति तस्मै देवदत्तोऽभिमुखो भवति, एवं ब्रह्मणो नामोच्चारणेन सन्निहिततरं व्यापकं ब्रह्म साधकस्य सन्निधीयते । सन्निहिते च ब्रह्मणि यो देहं त्यजन् म्रियमाणः प्रयाति ऊर्ध्वनाड्या उत्क्रामति , स परमां गतिं सन्निकृष्टब्रह्मरूपां याति ब्रह्मैव प्रकृत्य श्रूयते "एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पदेषोऽस्य ( परमो लोक एषोऽस्य ) परम आनन्दः" [ बृ. उ. ४।३।३२ ] इति । तामेव गतिं शुद्धं ब्रह्मैव प्राप्नोति ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा ॥ १३ ॥

भगवत्प्राप्तेः सुलभमुपायान्तरम् ।

**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।**
**तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥**

**१ शां. भा.— किञ्च– अनन्यचेता नान्यविषये चेतो यस्य सोऽयमनन्यचेता योगी सततं सर्वदा यो मां परमेश्वरं स्मरति नित्यशः । 'सततं' इति नैरन्तर्यमुच्यते । 'नित्यशः' इति दीर्घकालत्वमुच्यते, न षण्मासं संवत्सरं वा । किं तर्हि ? यावज्जीवं नैरन्तर्येण यो मां स्मरतीत्यर्थः । तस्य योगिनोऽहं सुलभः सुखेन लभ्यः, हे पार्थ ! नित्ययुक्तस्य सदा समाहितचित्तस्य योगिनः । यत एवमतोऽनन्यचेताः सन्मयि सदा समाहितो भवेत् ॥ १४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— ननु वायुनिरोधविधुराणामुदीरितया रीत्या स्वेच्छाप्रयुक्तोत्क्रमणासम्भवाद्दुर्लभा परमा गतिरापतेदिति तत्राऽऽह— **किञ्चेति** । इतश्च भगवदनुस्मरणे प्रयतितव्यमित्यर्थः । 'सततं नित्यशः' इति विशेषणयोरपुनरुक्तत्वमाह– **सततमि**त्यादिना । उक्तमेवापौनरुक्त्यं व्यक्तीकरोति— **नेत्यादिना** । जितासुरिच्छया देहं त्यजति, तदितरस्तु कर्मक्षयेणैवेति विशेषं विवक्षयन्नाह— **यत** इति । अनन्यचेतसं समाहितचेतसं प्रतीश्वरस्य सौलभ्यमेवमित्युच्यते ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.— एवमैश्वर्यार्थिनः कैवल्यार्थिनश्च स्वप्राप्यानुगुणो भगवदुपासनप्रकार उक्तः; अथ ज्ञानिनो भगवदुपासनप्रकारं प्राप्तिप्रकारं चाह— अनन्यचेता इति । नित्यशः मामुद्योगप्रभृति सततं**

---

१ अत्रैवं वदन्त्य**भिनवगुप्तपादाः**— नन्वत्र मुनेः परब्रह्माद्वैतपदोपक्षेपविरोधी उत्क्रान्तौ भरः, तथा चोक्तम्– 'व्यापिन्यां शिवसत्तायामुत्क्रान्तिर्नाम निष्फला । अव्यापिनि शिवे नाम नोत्क्रान्तिः शिवदायिनी' इति । यदि वा सतताभ्यासोऽपि यैर्न कृतस्तथापि कुतश्चित्स्वतन्त्रेश्वरेच्छादेर्निमित्तादन्त्य एव क्षणे यदा तादृग्भावो जायते, तदाऽयमुत्क्रान्तिलक्षण उपायः संस्कारान्तरप्रतिबन्धक उक्तः । अत एव 'यदक्षरं' इत्यादिना 'अभिधास्ये' इत्यन्तेन प्रतिज्ञा कृता क्षणमात्रस्यापि भगवदनुचिन्तनमयस्य सकलसंस्कारविध्वंसनलक्षणामद्भुतवृत्तिं प्रतिपादयितुम् । यदाहु**राचार्याः**— 'निमेषमपि यद्येकं क्षीणदोषे करिष्यसि । पदं चित्ते तदा शम्भोः किं न सम्पादयिष्यसि ? ॥' इति । अत एव प्रयाणकाले स्मरणेन विनाखण्डेनेति येषां शङ्का, तान् वीतशङ्कान् कर्तुमुक्तं 'अनन्यचेताः सततं' इति । अन्यत्र फलादौ साध्ये यस्य न चेत इत्यर्थः ॥ तस्याहं सुलभ इति– तस्य न क्वचित् किञ्चित् प्रयाणकालौचित्यपर्येषणम् , तीर्थसेवा, उत्तरायणम् , आयतनसंश्रयः, सत्त्वविशुद्धिः, सच्चित्तकत्वम् , विषुवदादिपुण्यकालः, दिनम् , अकृत्रिमपवित्रभूपरिग्रहः, स्नेहमलहीनदेहता, शुद्धवस्त्रादिग्रहः, इत्यादिः क्लेशोऽभ्यर्थनीय इत्यर्थः— इति । योगिनः कर्मयोगरतस्येति व्याख्यानं तु दुराग्रहमूलकमेव, सन्दर्भस्वरसविरोधात् ।
—**अविगीता** ।

सर्वकालं अनन्यचेता यः स्मरति अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मत्स्मृत्या विना आत्मधारणमलभमानो निरतिशयप्रियं मां यः स्मरति, तस्य नित्ययुक्तस्य नित्ययोगं काङ्क्षमाणस्य योगिनोऽहं सुलभः अहमेव प्राप्यः न मद्भाव ऐश्वर्यादिकः सुप्रापश्च । तद्वियोगमसहमानोऽहमेव तं वृणे । मत्प्राप्त्यनुगुणोपासनविपाकं तद्विरोधिनिरसनमत्यर्थमत्प्रियत्वादिकं चाहमेव ददामीत्यर्थः । "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" [ मुं. उ. ३।२।३ ] इति हि श्रूयते । वक्ष्यते च 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥ तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' ॥ [ १०।१०,११ ] इति ॥ १४ ॥

४ वे. ता. चं.— सङ्गत्यर्थमनुवदति— **एवमिति** । अध्यायारम्भगतप्रश्नोत्तरयोस्तत्प्रसङ्गके पूर्वाध्यायान्ते चायं क्रमो न विवक्षितः, अधियज्ञान्तिमप्रत्यययोः साधारण्येन प्रतिपादने तात्पर्यात् । इह तु प्रतिनियतार्थोपदेशरूपत्वादुत्तरोत्तरं उत्कृष्टताप्रदर्शनायैश्वर्याक्षरयाथात्म्यं भगवच्चरणार्थिनः क्रमेणोक्तमिति भावः । अत्र च **एवम्** इति निर्देशात् **स्वप्राप्त्यनुगुणं** इति निर्देशाच्च प्रकरणस्याधिकारित्रयविषयत्वव्यवस्थापकहेतवः प्रदर्शिताः । तथाहि— एवमत्र कश्चिच्छङ्केत— ननु 'ते ब्रह्म तद्विदुः' [ ७।२९ ] 'किं तद्ब्रह्म' [ ८।१ ] 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' [८।३ ] इति ब्रह्मशब्दस्य साक्षाद्ब्रह्मविषयत्वे को बाधः ? तस्यैव च सर्वात्मत्वादध्यात्मशब्देनापि तद्गतं सर्वं ग्रहीतुमुचितम्; 'भूतभावोद्भवकरो विसर्गः' [८।३] इत्यपि जगत्सृष्टिग्रहणं युक्तं, देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागो वा; स चात्र निवृत्तिलक्षणो यज्ञः; 'अधिभूतं क्षरो भावः' [ ८।४] इति च अधिभवतीति व्युत्पत्तेः प्राणिजातम् । पुरुषश्च अधिदैवतमिति परब्रह्मावस्थाविशेषः, समष्टिपुरुषादिर्वा; अधियज्ञः सर्वयज्ञाभिमानिनी विष्ण्वाख्या देवता, 'यज्ञो वै विष्णुः' [ श. ब्रा. १।३।१ ] इति श्रुतेः; 'अन्तकाले च' [ ८।५ ] इत्यादि श्लोकत्रयमपि मुमुक्षोरेवान्तिमप्रत्ययमधिकृत्योक्तम्; प्रश्नप्रतिवचनश्लोकानां पूर्वाध्याये प्रस्तुताधिकारित्रयज्ञातव्योपादेयपरत्वेऽप्युपरितनाः श्लोकाः प्रधानतया सुदुर्लभत्वेन निर्दिष्टज्ञानिपरा युक्ताः, अन्यथा 'मामेव स्मरन्' [ ८।५ ] 'मामेवैष्यसि' [ ८।७ ] इत्यादेर्बाधात्; अत एव 'प्रयाणकाले च कथम्' [ ८।२ ] 'अन्तकाले च माम्' [८।५] इति श्लोकयोरधिकारित्रयपरत्वेऽपि तद्विवरणेऽत्र तदैकार्थ्यं ग्राह्यमित्यपि निरस्तम् । तत्रापि चाधिकारित्रयपरत्वं न प्रतीयते, नचैश्वर्यार्थिनः परमपुरुषविषयान्तिमप्रत्ययसापेक्षतायां प्रमाणं पश्यामः; एवमुत्तरेष्वपि श्लोकेष्वेक एवाधिकारी, तद्वेद्यं चैकमेव पुनः पुनरनूद्य विशेषतो विशदीक्रियते; नच पुनरुक्तिदोषः, अभ्यासस्य ज्ञानिप्राधान्यलिङ्गत्वात्; 'संसिद्धिं परमां गताः' [ ८।१५ ] 'स याति परमां गतिं'[८।१३] 'तमाहुः परमां गतिम्'[८।२१] इत्यमीषामैकार्थ्यं च प्रतीतं त्वपरित्याज्यम्; न च परमगन्तव्यातिरिक्ता परमसंसिद्धिः । 'तमाहुः परमां गतिम्' [ ८।२१ ] इति परोक्षनिर्देशश्च 'पुरुषः स परः पार्थ !' [ ८।२२ ] इतिवत्स्यात्; 'परमं पुरुषं दिव्यं' [ ८।८ ] 'स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यं' [८।१०] 'पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' [ ८।२२ ] इत्यमीषां भिन्नार्थत्वकल्पनं चायुक्तम्; परैरपि च सर्वैः प्रायश एवमैककण्ठ्येन व्याख्यातम्— इति । अत्रैवं परिहारक्रमः— 'अधियज्ञोऽहमेव' इतिवत् 'अहमेव ब्रह्म' इत्यनुक्तेरध्यात्मादिवदत्र ब्रह्मशब्दार्थस्याप्यर्थान्तरत्वं तावत्प्रतीतम्, नच ब्रह्मशब्दादक्षरशब्दस्य परमात्मनि रूढ्यतिशयः, येन ततस्तद्व्याख्यानं स्यात् । 'एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्' [ १२।१ ] इत्यादिषु च परमात्मनोऽन्यदेवोपास्यत्वमक्षरशब्देन प्रतीयते; 'द्वे रूपे ब्रह्मणस्तस्य मूर्तं चामूर्तमेव च । क्षराक्षरस्वरूपे ते सर्वभूतेषु च स्थिते ॥ अक्षरं तत्परं ब्रह्म क्षरं सर्वमिदं जगत्' [ वि. पु. १।२२।५५;५६ ] इत्यादिषु चाक्षरपरब्रह्मशब्दौ परिशुद्धात्मविषयौ शारीरकभाष्ये समर्थितौ; अतोऽत्र 'किं तद्ब्रह्म' [ ८।१ ] इत्युक्तेऽहमेव ब्रह्मेत्यव्याख्यानात्स्वेतरविषयब्रह्मशब्दः, परमशब्दविशेषिताक्षरशब्दानुगुण्याच्च प्रकृतेरीश्वराच्चान्यस्मिन्परिशुद्धात्मन्युपचाराद्वर्तते; पश्चाच्चायमेव 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' [८।२१] इति वक्ष्यते; न चासौ श्लोकः परमात्मपर इति शङ्कनीयम्, 'ये चाप्यक्षरमव्यक्तं' [१२।१] 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं' [ १२।३ ] 'क्षरश्चाक्षर एव च' [ १५।१६ ] इत्यादिष्विवात्रापि अक्षरशब्दस्य भगवद्व्यतिरिक्तविषयत्वप्रतीतेः; संसिद्धिशब्दश्च परमगतिशब्दनिर्दिष्टप्राप्यविलक्षणां समीचीनां सिद्धिं स्वरसत उपसर्गशक्त्या व्यनक्ति, अतएव स्वभावादिशब्दा अधिकारित्रयज्ञातव्योपादेयवस्तुविशेषपरा उक्ताः । एवं स्ववाक्यपर्यालोचनया पूर्वाध्यायप्रकृतपरामर्शेन च प्रश्नप्रतिवचनवाक्यानामधिकारित्रयविषयत्वे सिद्धे तदनन्तराणामपि ग्रन्थानां यथासम्भवं सर्वविषयत्वं युक्तम् । प्रक्रान्ते चाधिकारित्रये यद्वृत्तत्रयेणानूद्यमाने कैवल्यभगवत्प्राप्तिकामयोरनन्तरं स्पष्टमभिधानात् 'अभ्यास'- [ ८।८ ] इत्यादिकं परिशेषादैश्वर्यार्थिविषयम्; यच्चैश्वर्यार्थिनां परमपुरुषविषयान्तिमप्रत्ययसापेक्षतायां प्रमाणं नास्तीति; तदपि न, श्रीमद्भागवते पुराणे ध्रुवचरिते तद्दृष्टेः— 'भक्तिं हरौ भगवति प्रवहन् *' इत्यादिना । अतो

* भक्तिं मुहुः प्रवहतां त्वयि मे प्रसङ्गो भूयादनन्त ! महताममलाशयानाम् । येनाञ्जसोल्बणमुरुव्यसनं भवाब्धिं नेष्ये भवद्गुणकथामृतपानमत्तः ॥ [ ४।९।११ ] इति तु भागवते ।

यथोक्त एवार्थः । यद्यपि ब्रह्मपुरुषपरगत्यादिशब्दैरिह सर्वत्र परमात्मभजनतत्प्राप्त्यादिरेव प्रतीयते; तथापि तावतैवाधिकारिविषयत्वं वक्तुं न युज्यते, पूर्वत्र प्रयाणकाले भ्रूमध्ये प्राणावेशस्य तत्रैव परमात्मध्यानस्य च विहितत्वात् ,अनन्तरं च हृदि ध्यानस्य मूर्ध्नि प्राणावेशस्य च तत्काल एव विधानात् ; तदिदं द्वयं परस्परविरुद्धं किं कालभेदाद्व्यवस्थाप्येताधिकारिभेदाद्वा?; तत्र न तावत्कालभेदः श्रुतः; प्रत्युत कालैक्यमेव श्रूयते; अतः परिशेषात्सिद्धोऽधिकारिभेदः । किञ्च " शतं चैका च" [ छां. उ. ८।६।६ ] इत्यादिभिर्मूर्धन्यनाड्या निष्क्रमणं मोक्षहेतुः, अन्याभिर्निष्क्रमणं फलान्तरहेतुरित्यवगते प्रयाणकाले भ्रूमध्ये मूर्ध्नि च प्राणावेशस्योत्क्रमणशेषतया तत्तद्देशगतनाड्योत्क्रमणे प्रतीते सिद्धस्तदधिकारिभेदः । पूर्वत्र चाध्याये 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [ ७।१६ ] इत्यादावयमधिकारिभेदः प्रस्तुतः; तदन्ते च 'जरामरणमोक्षाय' [ ७।२९ ] 'साधिभूताधिदैवं माम्' [ ७।३० ] इति श्लोकयोर्यच्छब्दात्त्रयाधिकारिभेदप्रतीतिर्भाष्ये प्रतिपादिता; सा चात्रापि स्फुटा 'अणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः' [ ८।९ ] 'यः प्रयाति त्यजन् देहं' [ ८।१३ ] 'यो मां स्मरति नित्यशः' इति । एतदखिलमभिप्रेत्योक्तं **एवमैश्वर्यार्थिन** इत्यादि ।

उक्तश्चास्याधिकारी 'अनन्यचेताः' इत्युच्यत इति परोक्तं निराकुर्वन् 'अनन्यचेताः' इति श्लोकस्यार्थमाह— **अथे**ति । 'नित्यशः' इत्यनेनात्मानुभवादिफलान्तरव्यवधाननैरपेक्ष्यं विवक्षितमित्याह— **उद्योगप्रभृती**ति । अन्यथा 'सततम्' इत्यनेन पुनरुक्तिः सङ्कोचक्लेशो वा स्यादित्यभिप्रायेणाह— **सततं सर्वकाल**मिति । अनन्यचेतश्शब्देनाभिप्रेतं स्मृतेर्भक्तिरूपापन्नत्वं दर्शयति— **अत्यर्थे**ति । अनन्यचेतस्त्वादेव च स्मरणस्याच्छिद्रत्वम् । उत्कण्ठनेऽपि च स्मरतिः प्रयुज्यते— 'भ्रातरौ स्मरतां वीरौ' [ वा रा. २।१३ ] इत्यादिषु । 'नित्ययुक्तस्य योगिनः' इत्युक्तानुवादः फलस्याव्यवहितत्वद्योतनाय । अत्र अहंशब्देनेश्वरस्य प्रत्यगर्थोऽभिप्रेतः । तेन तद्विशेषणभूताक्षरादिफलप्राप्तिव्यवच्छेदो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह— **अहमेवे**ति । तदेव विवृणोति— **न मद्भाव** इति । भगवत्प्राप्तेः फलान्तरेभ्योऽतिशयितफलत्वात्तत्प्राप्तौ प्रयासातिरेकसम्भावनाव्यवच्छेदाय सुलभपदमित्यभिप्रायेणाह— **सुप्रापश्चे**ति । अकृच्छ्रेण प्राप्य इत्यर्थः । 'ईषद्दुस्सुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्' [ अष्टा. ३।३।१२६ ] इत्यनुशिष्यते । आश्रितवत्सलस्येश्वरस्य सौलभ्यं रागप्राप्तमित्याह— **तद्वियोग**मिति । उक्तस्यातिवादमात्रत्वशङ्काव्युदासाय श्रुतिमूलतामाह— **यमेवे**ति । अत्र वरणशब्देन किमुच्यते ? न तावच्छेषत्वशरीरत्वाद्याकारेण स्वीकारः, तस्य नित्यसिद्धत्वात् ; न च तद्विपरीतः, विरुद्धत्वादेव; नच प्राप्तिप्रदानं, 'तेन लभ्यः' इत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् ; नचान्योऽत्र प्रकारः, असम्भवादित्यत्राह— **मत्प्राप्त्यनुगुणे**ति । विपाकोऽत्र ध्रुवानुस्मृतिरूपत्वदर्शनसमानाधिकारत्वादिरूपः । तद्विरोधिनो दुष्कृतरजस्तमोरागद्वेषमोहादयः । **अत्यर्थमत्प्रियत्वं** निरतिशयभक्तित्वम् । आदिशब्देन परमपदपर्यन्तासत्तिपर्यन्तं यन्मध्येऽपेक्षितं तत्सर्वं विवक्षितम् । **अहमेवे**ति परमकारुणिकस्य ममैवायं भर इत्यभिप्रायः । 'तस्याहं सुलभः' इत्यादेरुक्तार्थपरत्वस्थिरीकरणायास्यैवार्थस्य वक्ष्यमाणं विस्तरमुदाहृतश्रुत्युपबृंहणरूपं दर्शयति— **वक्ष्यते चे**ति ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.— नित्ययुक्तस्य नित्योपायवतः । योगिनः परिपूर्णयोगस्य ॥ १४ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— नित्ययुक्तस्य योगिन इत्येतयोरेकार्थतानिरासार्थमाह— **नित्येति** । नित्योपायवत्त्वेन सम्पूर्णयोगस्येत्यर्थः ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.— अनन्येति । अनन्यचेता यो मां स्मरति नित्यशः । सुलभः सुखेन लभ्यः । नित्ययुक्तस्य नित्यं युक्तो नित्ययुक्तस्तस्य योगिनः ॥ १४ ॥**

**८ वें. व्र. गि.**— ये पुनर्वायुनिरोधवैधुर्येण भ्रूमध्ये प्राणमावेश्य मूर्धन्यया नाड्या देहं त्यक्तुं स्वेच्छया न शक्नुवन्ति किन्तु परवशतयैव देहं त्यजन्ति, तेषां नोक्तमुपासनद्वयमुपयोगाय भवतीति निखिलसुलभमन्यदुपासनमाह परमकारुणिकः श्रीभगवान्— **अनन्ये**ति । यः सततं मां स्मरति तस्याहं सुलभ इति प्रथमं सम्बन्धः । स्ववशतया परवशतया वा देहं त्यजत इति तच्छब्दार्थः । तथा च सततं मदनुचिन्तनमेव मत्प्राप्तिहेतुः; मूर्धन्यया स्वेच्छया वा प्राणोत्क्रमणं भवतु, न तत्राभिनिवेश इति भावः । 'तस्य सुलभः' इत्यत्र 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' [ अष्टा. २।३।६९ ] इत्यादिना कर्तरि षष्ठीप्रतिषेधेऽपि सम्बन्धसामान्यविवक्षया षष्ठ्युपपत्तिः । ननु चक्षुरादिभिस्तत्तद्विषयग्रहणकाले तत्तदनुचिन्तनस्यैव प्राप्तेः कथं सन्ततं त्वदनुचिन्तनं घटेत ? तत्राह— **अनन्यचेता** इति । अन्यविषयकचेतोरहितः, चेतसो मदेकनिष्ठत्वमेव सन्ततमदनुचिन्तनम् , तच्च बाह्येन्द्रियाणां तत्तद्विषयान्तरसम्बन्धेऽपि न क्षतमिति न तद्दौर्घट्यमित्यर्थः । एतादृशं सन्ततचिन्तनं नैकवर्षं वा षण्मासं वा, किन्तु यावज्जीवमित्याह— **नित्यश** इति । प्रत्यहं यो मां स्मरत्यनुचिन्तयति, तस्य नित्ययुक्तस्य मद्विषयकप्रेमभरितत्वेन क्षणमात्रमपि मदनुचिन्तनं विनाऽऽत्मधारणमलभमानस्य योगिनः अहं सुप्रापः । तद्वियोगमसहमानोऽहमेव तं वृणे "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" [ कठो. २।२२+मुं. उ. ३।२।३ ] इति श्रुतेः । 'तेषां सततयुक्तानाम्' [ १०।१० ] इत्यादिवक्ष्यमाणत्वाच्चेति भावः । **पार्थे**ति सम्बोधयंस्तवाहमतिसुलभो मा भैषीरिति सूचयति ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— एवं परमात्मचिन्तकानां त्रिधा प्राप्तिमुक्त्वा स्वचिन्तकस्य भक्तस्य स्वप्राप्तिमाह– अनन्येति । नान्यस्मिन्पुत्रदारादिके (किन्तु अक्षरादिके स्वरूपे) चेतो यस्य तथा मां भगवन्तं लीलापुरुषोत्तमं नित्यशः स्मरति सततं तस्य नित्ययुक्तस्य मदनुरक्तस्य योगिनो मत्सम्बन्धतो बाऽहं निरुपममहिमा वासुदेवः पुरुषोत्तमो भगवान्सुलभोऽस्मि ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— एवं योगयुक्तानां स्वांशाक्षरात्मकगतिस्वरूपमुक्त्वा भक्तियुक्तस्य स्वप्राप्तिमाह— अनन्य इति । सततं निरन्तरमव्यवच्छिन्नतया न अन्यस्मिँल्लौकिकालौकिकविषये चेतो यस्य, तादृशो यो मां नित्यशः प्रत्यहं स्मरति तस्य नित्ययुक्तस्य मम नित्यं सम्मतस्य योगिनः सकाशादहं सुलभः सुखेन लभ्यः प्राप्यः । पार्थेति सम्बोधनेन यथा त्वन्मातृस्मरणबलेन तव सुलभो जातस्तथेति व्यञ्जितम् ॥ १४ ॥

११ नी० भा० दी०— इयं मतिरतीव दुर्लभेति मा मंस्था इत्याह– अनन्येति । नास्ति अन्यत्र चेतो यस्यासौ अनन्यचेता इत्यनेन स्मरणे आदर उच्यते । सततमिति नैरन्तर्यम् । 'यो मां स्मरति नित्यशः' इति दीर्घकालत्वं यावज्जीवं स्मरतीत्यर्थः । तस्याहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य नित्ये योगिनामावश्यके युक्ताहारविहारादौ यमनियमादौ च युक्तस्यावहितस्य योगिनः योगमनुतिष्ठतः ॥ १४ ॥

**मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।**
**नाऽऽप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥ १५ ॥**

**१ शां. भा.— तव सौलभ्येन किं स्यात् ? इत्युच्यते, शृणु तन्मम सौलभ्येन यद्भवति–मामिति । मामुपेत्य मामीश्वरमुपेत्य मद्भावमापद्य पुनर्जन्म पुनरुत्पत्तिं न प्राप्नुवन्ति । किंविशिष्टं पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति ? तद्विशेषणमाह— दुःखालयं दुःखानामाध्यात्मिकादीनामालयमाश्रयं, आलीयन्ते यस्मिन्दुःखानीति दुःखालयं जन्म । न केवलं दुःखालयं अशाश्वतमनवस्थितस्वरूपं च नाऽऽप्नुवन्तीदृशं पुनर्जन्म महात्मानो यतयः संसिद्धिं मोक्षाख्यां परमां प्रकृष्टां गताः प्राप्ताः । ये पुनर्मां न प्राप्नुवन्ति ते पुनरावर्तन्ते ॥ १५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— किं त्वां प्राप्तास्त्वय्येवावतिष्ठन्ते किंवा पुनरावर्तन्ते चन्द्रलोकादिव ? इति सन्देहात्पृच्छति— **तवेति** । तत्रोत्तरश्लोकेन निश्चयं दर्शयति— **उच्यत** इति । ईश्वरोपगमनं न सामीप्यमात्रमिति व्याचष्टे— **मद्भावमिति** । पुनर्जन्मनोऽनिष्टत्वं प्रश्नद्वारा स्पष्टयति— **किमित्यादिना** । महात्मत्वं प्रकृष्टसत्त्ववैशिष्ट्यम् । यतयस्तस्मिन्नेवेश्वरे समुत्पन्नसम्यग्दर्शिनो भूत्वेति शेषः । भगवन्तमुपगतानामपुनरावृत्तौ ततो विमुखानामनुपजातसम्यग्धियां पुनरावृत्तिरर्थसिद्धेत्याह— **ये पुनरिति** ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.— अतः परमध्यायशेषेण ज्ञानिनः कैवल्यार्थिनश्चापुनरावृत्तिमैश्वर्यार्थिनः पुनरावृत्तिं चाह– मामिति । मां प्राप्य पुनर्निखिलदुःखालयमस्थिरं जन्म न प्राप्नुवन्ति । यत एते महात्मानो महामनसः, यथावस्थितमत्स्वरूपज्ञाना अत्यर्थं मत्प्रियत्वेन मया विना आत्मधारणमलभमाना मय्यासक्तमनसो मदाश्रया मामुपास्य परमसंसिद्धिरूपं मां प्राप्ताः ॥ १५ ॥**

---

१ महान् आत्मा मनः, बुद्धिः, ज्ञानं, अनुभावः, येषां ते महात्मानः । 'कलेवरे प्रयत्ने च स्वभावे परमात्मनि । स्वान्ते धृतौ मनीषायामात्मानं कवयो विदुः ॥' (६२) इति **शाश्वतः** । महान्तश्च त आत्मानश्च ते महात्मानः । पुनर्जन्मन दुःखानां चालयं पुनर्जन्मदुःखालयमित्येकं वा पदम् । अत्र **वामनः**—

सामीप्यबोधकेनात्रोपशब्देन रमापतिः । मोक्षं सगुणसामीप्याद्व्याप्तिरूपमसूसुचत् ॥
निर्गुणं चाङ्गिणाऽन्त्येन 'संसिद्धिं परमां गताः' । इत्यनेन जगौ व्यक्तं मोक्षं कैवल्यलक्षणम् ॥
अथ ते न पुनर्जन्म प्राप्नुवन्तीति कीर्तयन् । श्रेष्ठत्वं हठयोगिभ्यो द्वयेषामप्युपस्फुटत् ॥
दूरत्वं वाथ सामीप्यं निर्गुणे नैव विद्यते । ज्ञेयः सगुण एवात्रास्मदोद्दिष्टो हरिस्ततः ॥
सगुणं निर्गुणं वापि ये प्राप्ताः परमेश्वरम् । महात्मानो हि ते तेषां चेतो भूमात्मतां गतम् ॥

इति निरूपयति । —अविगीता ।

**४ वे. ता. चं.**— इतः पूर्वं त्रयाणामधिकारिणां केचन वेद्योपादेयभेदाः प्रतिपादिताः ; अतः परमधिकारौपयिकतयाऽवश्यवेद्यस्य फलस्य स्थिरास्थिरत्वलक्षणविशेषं दर्शयतीत्याह— **अतः परमिति** । अत्र ज्ञानिनस्तावदपुनरावृत्तिरुच्यते 'मामुपेत्य' इति श्लोकेन । दुःखानन्त्यस्य सर्वप्रमाणासिद्धत्वाद्दुःखशब्दस्य निर्विशेषणस्य सङ्कोचायोगात् — **निखिलेत्युक्तम्** । जन्मनश्चाशाश्वतशब्दनिर्दिष्टमस्थिरत्वं जन्माविनाभूतदेहभोगाद्यस्थिरत्वरूपमिह विवक्षितम् , जन्मशब्दो वाऽत्र जनिमच्छरीरपरः। 'महात्मानः' इति स्तुतिमात्रादपि माहात्म्यस्यात्र संसिद्धिहेतुत्वमुचितमित्यभिप्रायेणाह— **यत** इति । महामनस्त्वं ज्ञानिनां प्राक्प्रपञ्चितमिहानूदितं दर्शयति **यथावस्थिते**त्यादिना । अभिलषितस्य फलस्य सिद्धिव्यपदेशौचित्यात् परमशब्दस्वारस्याच्च **परमसंसिद्धिरूपं मा**मित्युक्तम् । **परमसंसिद्धिरूपं** परमपुरुषार्थरूपमित्यर्थः । समीचीना सिद्धिः संसिद्धिः ॥१५॥

**५ आ. मा. भा.— तत्प्राप्तिं स्तौति— मामिति । परमां सिद्धिं गता इति हि तत्र हेतुः ॥ १५॥**

**६ ज. प्र. दी.**— 'स याति परमां गतिम्' [ ८।१३ ] 'तस्याहं सुलभः' [ ८।१४ ] इति द्वेधावचनात् परमगतिभगवल्लाभश्च पृथगिति न मन्तव्यम् , भगवत्प्राप्तेरेवोत्तरत्र स्तुतेः, अन्यथोभयस्तुतिप्रसङ्गादित्यभिप्रायेणाह— **तत्प्राप्तिमिति** । तर्हि कथं 'मामुपेत्य' इत्युक्त्वा 'संसिद्धिं परमां गताः' इति पृथगुक्तिः ? इत्यत आह— **परमामिति** । ये मामुपेतास्ते परमां सिद्धिं मोक्षलक्षणां हि गताः । न च मुक्तानां निर्बीजं जन्म सम्भवतीत्येवं तत्र स्वयम्प्राप्तानां जन्माभावे हेतुरयमुच्यते । न तु भगवत्प्राप्तेरन्या परमसंसिद्धिप्राप्तिरित्यर्थः ॥ १५ ॥

**७ ह. पै. भा.— मामिति । संसिद्धिं परमां मोक्षम् ॥ १५ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— तव सौलभ्येन किं स्यादिति चेदाकर्णयेत्याह— **मामुपेत्येति** । मां प्राप्य दुःखानामाध्यात्मिकादीनामालयमाश्रयभूतम् , तथाप्यशाश्वतमस्थिरं पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति, यतस्ते महात्मानः परमां संसिद्धिं मुक्तिं गताः ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— स्वप्राप्तावपुनरावृत्तिं सदाचारेण दर्शयति— मामिति । परमपुरुषं अन्तर्यामिणमक्षरं परं पुरुषोत्तमं मां प्राप्य पुनर्जन्म न प्राप्नुवन्ति महात्मानः; किन्तु परमां सिद्धिं मुक्तिं निर्गुणां गताः ॥ १५ ॥

**१० पु. अ. त.**— नन्वेवमेव तत्तद्देवोपासकास्तत्तत्सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति तत्तच्छास्त्रेषु निगद्यत इति भवत्प्राप्तौ को विशेषः ? इत्याकाङ्क्षायां स्वप्राप्तेर्विशेषमाह— **मामुपेत्येति** । महात्मानो महात्मका भक्ता परमां संसिद्धिं भावरूपां गताः सन्तो मामेकं पुरुषोत्तममुपेत्य समीपे प्राप्य पुनः दुःखालयं संसारात्मकं अशाश्वतमनित्यं लौकिकं जन्म न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— त्वल्लाभेऽपि किं स्यात् ? अत आह—मामिति । मामुपेत्य पुनर्द्वितीयवारं जन्म नाप्नुवन्ति । यज्जन्म दुःखानामालयभूतं मूढदृष्ट्या किञ्चित्सुखालयत्वेऽपि अशाश्वतं नश्वरं, तुच्छमित्यर्थः। के नाप्नुवन्ति ? महात्मानो योगेन जितचित्ताः ; अत एव परमां संसिद्धिं मोक्षं गताः । अगता अपि प्रत्यासन्नत्वाद्गता एव । तथा ब्रह्मलोकगतान् प्रकृत्य स्मर्यते 'ब्रह्मणा सह ते सर्वे सम्प्राप्ते प्रतिसञ्चरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्' इति । प्रतिसञ्चरे ब्राह्मे प्रलये । परस्य चतुर्मुखस्य अन्ते नाशे ॥ १५॥

सहेतुका पुनरावृत्त्यपुनरावृत्तिनो लोकाः ।

## आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ! ।

भवनाल्लोकाः इति वें. ब्र. गि.– पु. अ. त. सम्मतः पाठः ।

## मामुपेत्य तु कौन्तेय ! पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

---

१ **आब्रह्मेति**–ब्रह्मलोकप्राप्तानामपि पुनरावृत्तिरस्तीति सर्वैर्व्याख्यातम् । एतदभ्युपगमे च तदुपरितनलोकगतिर्मुक्तिरित्यभिहितं स्यात्, तच्च न हृदयङ्गममिति संशयमहामोहकलुषीकृतान्तर्दशामस्माकं प्रतिभातीयमागमाधिगता व्याख्यावर्तिः–आब्रह्म यावद्ब्रह्मपदं प्राप्तं, तावद्यस्मात्कस्माच्चित्तिर्यगूर्ध्वाधस्ताद्भुवनात्पुनरावर्तन्ते चक्रवत्स्थानान्तरमविरतं भ्राम्यन्तो विपरिवर्तन्त इत्यभिनवगुप्तपादाः । **हंसयोगी** तु— अत्र भगवता पूर्वार्धेन ज्ञानभक्तिकर्मनिष्ठानां निवृत्तानां प्रवृत्तानां चाधिकारिणामविशेषेणाशुद्धसत्वरूपत्वात्तत्पथयोरपि पुनरावृत्तिहेतुत्वमभिहितम् । उत्तरार्द्धेन तु शुद्धदृष्ट्या योगेन शरणागत्यपरपर्यायेण शुद्धं ब्रह्म ये समुपासते, न तेषां परप्रेप्सूनां मुक्तानां भूतपूर्वसंसारमण्डलप्रवेशो भवतीत्युपदिष्टमिति मन्यते ॥ लोका जनाः स्वर्गादयश्च । पुनरावर्तन्ते पुनरावर्तयन्ति चेति पुनरावर्तिनः। आब्रह्मभुवनादिति 'आसत्यलोकादा पातालात्' इत्यादिवदभिविधावाङ् ॥ अत्र **वामनः**—

१ शां. भा.— किं पुनस्त्वत्तोऽन्यत्प्राप्ताः पुनरावर्तन्ते ? इत्युच्यते— आ ब्रह्मभुवनात् भवन्ति अस्मिन्भूतानीति भुवनं ब्रह्मभुवनं, ब्रह्मलोक इत्यर्थः। आब्रह्मभुवनात् सह ब्रह्मभुवनेन लोकाः सर्वे पुनरावर्तिनः पुनरावर्तनस्वभावाः, हेऽर्जुन ! मामेकमुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म ! पुनरुत्पत्तिर्न विद्यते ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— " अपाम सोममम्रुता अभूम " [ ऋक्सं. ६।४।११ ] इति श्रुतेः स्वर्गादिगतानामपि समानैवानावृत्तिरित्याशङ्कते— **किं पुनरिति**। अर्थवादश्रुतौ कर्मिणाममृतत्वस्याऽऽपेक्षिकत्वं विवक्षित्वा परिहरति— **उच्यत इति**। एतेन भूरादिलोकचतुष्टयं प्रविष्टानां पुनरावृत्तावपि जनादिलोकत्रयं प्राप्तानामपुनरावृत्तिरिति विभागोक्तिरप्रामाणिकत्वादवहेयेत्यवधेयम्। तर्हि तद्वदेवेश्वरं प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिः शङ्क्यते ? नेत्याह— **मामिति**। यावत्सम्पातश्रुतिवदीश्वरं प्राप्तानां निवृत्ताविद्यानां पुनरावृत्तिरप्रामाणिकीत्यर्थः। यस्य स्वाभाविकी वंशप्रयुक्ता च शुद्धिस्तस्यैवोक्तेऽर्थे बुद्धिरुदेतीति मत्वा सम्बुद्धिद्वयम् ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— ऐश्वर्यगतिं प्राप्तानां भगवन्तं प्राप्तानां च पुनरावृत्तावपुनरावृत्तौ च हेतुमनन्तरमाह— **आब्रह्मेति**। ब्रह्मलोकपर्यन्ता ब्रह्माण्डोदरवर्तिनः सर्वे लोका भोगैश्वर्यालयाः पुनरावर्तिनः विनाशिनः; अत ऐश्वर्यगतिं प्राप्तानां प्राप्यस्थानविनाशाद्विनाशित्वमवर्जनीयम्; मां सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं निखिलजगदुत्पत्तिस्थितिलयलीलं परमकारुणिकं सदैकरूपं प्राप्तानां विनाशप्रसङ्गाभावात्तेषां पुनर्जन्म न विद्यते ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— अप्रसक्तस्य प्रतिषेधायोगात् प्रतिषेध्यस्य प्रसङ्गिनश्च आसन्नवर्तिन उपादातुमुचितत्वान्नश्वरफलभूतैश्वर्यार्थिनां जन्ममात्रं तन्निषेधमुखेन सूचितम्; अतस्तत्रापि हेतुरेव केवलं वक्तव्य इत्यभिप्रायेणाह— **ऐश्वर्यगतिमिति**। ' मामुपेत्य तु ' इति भगवतः प्रतियोगीकरणादाङोऽभिविधिपरत्वाभिप्रायेणाह **ब्रह्मलोकेति**। प्रकृत्याख्यभगवन्मायामहोदधौ ब्रह्माण्डैरपि यदा बुद्बुदायितं, तदा कैव कथा तदन्तर्वर्तिनां लोकानामित्यभिप्रायेण **ब्रह्माण्डोदरवर्तिन** इत्युक्तम्। तेन परमाकाशव्यवच्छेदसिद्धिश्च। ऐश्वर्यानित्यताप्रतिपादनपरत्वायोक्तं **भोगैश्वर्यालया** इति। भुवनशब्दसमभिव्याहृतस्य लोकशब्दस्य जनविषयत्वायोगाल्लोकस्य गमनाभावेन पुनरावृत्तेरप्यभावात्, पुनरावृत्तिशब्देन प्रवाहतोऽपि विनाशमात्रं लक्ष्यत इत्याह **विनाशिन** इति। पुनरावृत्तिशब्दस्याजहल्लक्षणावृत्तेस्तल्लोकगतपुरुषपुनरावृत्तिरेव वा द्वारम्। फलितमाह **अत** इति। ' माम् ' इत्यत्र तुशब्देन द्योतितानपुनरावृत्तिहेतुविशेषान् दर्शयति **मां सर्वज्ञमित्यादिना**। असर्वज्ञमसत्यसङ्कल्पं कार्यकोटिघटितं ( तमनिर्गुणं ) निर्घृणं रजस्तमोमूलरागद्वेषादिनानाविकारशालिनं कञ्चन क्षुद्रदैवतं प्राप्तानां हि तदन्येन तेनैव वा पुनरावृत्तिः स्यादिति विशेषणानां तात्पर्यम् ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— महामेरुस्थब्रह्मसदनमारभ्य न पुनरावृत्तिः। तच्चोक्तं नारायणगोपालकल्पे 'आ मेरुब्रह्मसदनादा जनान्न जनिर्भुवि। तथाप्यभावः सर्वत्र प्राप्यैव वसुदेवजम्' इति ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ' आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः ' इति सत्यलोकसहितानां पुनरावृत्तिरुच्यत इत्येतदपव्याख्यानमिति भावेनाह— **महामेरुस्थेति**। परतः स्थितानाम्। एवं जनलोकमारभ्येत्यपि ग्राह्यम्। कुत एतत् ? इत्यतः श्लोकमागमेनैव व्याचष्टे— **तच्चेति**। पृथिवीसम्बन्धिनां तदसम्बन्धिनां लोकानां ग्रहणायोभयोपादानम्। परतः स्थितानाम्। यद्यपीति शेषः। अभावो जनेः लभ्यत इति शेषः। अनेनैव व्याख्यातं भवति। महामेरुस्थब्रह्मसदनं जनलोकं चारभ्य न पुनरावृत्तिः।

---

—सालोक्याद्यपि ये प्राप्तास्तेषां नास्ति जनुः पुनः। इति चेदापवृद्वास्स्थौ कथं जन्मत्रयं हरेः ?॥
अत्रोच्यते स्तो वैकुण्ठे मुक्तामुक्तपदे पृथक्। भक्तो मुक्तस्थलगतो ज्ञानी नावर्तते क्वचित् ॥
आत्मज्ञानविहीनोऽपि सगुणध्यानतत्परः। अन्तकाले स्मरन्देवं यो जहाति कलेवरम् ॥
ज्ञानाग्न्यदग्धसंसारबीजप्रकृतिमानसौ। अन्त्यस्मृत्याप्ततद्भावोऽप्येत्य मुक्तस्थलं खलु ॥
जयश्च विजयः शापात्तत्रस्थावेव विच्युतौ। भेदस्फुरणयुक्तत्वात्पातः सम्भाव्यते ततः ॥
आत्मानमथ वैकुण्ठं वैकुण्ठाधिपतिं च यः। अनन्यं पश्यति ज्ञानी स नैवावर्तते पुनः ॥
इति प्रतिपादयति। — अविगीता।

अतो मामुपेत्य पुनर्जन्मेति किमुच्यते ? इति चेत्, सत्यम्; आ ब्रह्मभुवनात् एवमाजनावार्वाग्भवा एव लोकाः पुनरावर्तिनः। परे न पुनरावर्तिन इति यावत्। तथापि नोक्तमयुक्तम्, यतस्तेषु लोकेषु स्थितं मामुपेत्यावस्थितस्य पुनर्जन्म न विद्यत इति। अन्यथा मामुपेत्य पुनर्जन्मेत्युक्तत्वात् उत्तरार्धवैयर्थ्यं च॥१६॥

**७ ह. पै. भा.—॥ १६ ॥**

८ वे. ब्र. गि.—एतदेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां द्रढयन्नाह—**आ ब्रह्मेति**। तत्र पूर्वार्धेन व्यतिरेक उच्यते। भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भवनं लोकः। अभिविधावाकारः। ब्रह्मलोकेन सह सर्वेऽपि लोकाः पुनरावर्तनस्वभावाः। 'ब्रह्मभुवनात्' इति पाठे तु भुवनशब्दस्य लोकवाचित्वं प्रसिद्धम्। एवं व्यतिरेकमुक्त्वाऽन्वयमाह—**मामुपेत्य** त्विति। तु-शब्दो लोकान्तरवैलक्षण्यार्थः। मामेकमुपेत्य तु वर्तमानानां पुनर्जन्म नास्ति। यद्यपि "ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते" [छां.उ. ८।१५।१] 'अनावृत्तिः शब्दात्' [ब्र.सू. ४।४।२२] इति श्रुतिसूत्रयोर्ब्रह्मलोकं गतानामनावृत्तिरुच्यते; तथापि क्रममुक्तिफलाभिरुपासनाभिर्ये ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामेव तत्रोत्पन्नज्ञानानां ब्रह्मणा सह मोक्षभागित्वादनावृत्तिरित्येतत्परे श्रुतिसूत्रे, न तु पञ्चाग्निविद्यादिभिरतत्क्रतवोऽपि ये ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामनावृत्तिरस्ति, किन्तु पुनर्जन्मैवेत्यभिप्रायः। अर्जुनेति सम्बोध्यापि पुनः कौन्तेयेति सम्बोधनेन पितृष्वसृपुत्रतयाऽवश्यानुग्राह्यत्वप्रदर्शनेन प्रतारणाशङ्कामपनुदन्नुक्तार्थस्य विस्रम्भणीयतां सूचयति॥ १६॥

९ व० त० दी०— अनेवम्भूतानामभक्तानां संसारे पुनरावृत्तिं वदन् स्वप्राप्तानां तदभावमाह—आब्रह्मेत्यादिना। हे अर्जुन! अन्ये लोकाः ब्रह्मभुवनमभिव्याप्य निर्दिष्टा जनाः सर्वे एवेह पुनरावर्तनशीलाः सन्ति "धर्मस्य ह्यनिमित्तस्य विपाकः परमेष्ठ्यसौ" इत्यपि वचनात्। मामुपेत्य तु तथाभूतं पुनर्जन्म तेषां न विद्यते, नैष्कर्म्यगम्यत्वात्। निश्चयार्थं पुनः कथनम्॥ १६॥

१० पु. अ. त.—अथान्येषां पुनर्जन्म भवतीत्यर्थः—**आब्रह्मेति**। आब्रह्मभुवनात् ब्रह्मभुवनमभिव्याप्य सर्वे लोकाः पुनरावर्तिनः सर्वे पुनर्जन्मभाजो भवन्ति। मां तु उपेत्य कौन्तेय परमस्निग्ध! परं जन्म न विद्यते, न स्यादित्यर्थः। तुशब्देन मन्मार्गे प्रवृत्तस्य अत एव शङ्का न भवतीति ज्ञापितम्॥ १६॥

११ नी० भा० दी०— त्वद्लाभेऽपि किं स्यात्? **अत आह— आब्रह्मेति**। **आब्रह्मभुवनात्**, ब्रह्मलोकमभिव्याप्य ब्रह्मलोकेन सहैवेत्यर्थः। लोकाः पुनरावर्तिनः पुनरावृत्तिस्वभावाः। हे अर्जुन! शेषं स्पष्टम्। अत्रेयं व्यवस्था— ये क्रममुक्तिफलाभिर्दहरादिविद्याभिर्ब्रह्मलोकं गतास्ते तत्रैव ज्ञानं प्राप्य ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते। ये तु पञ्चाग्निविद्याभिर्ब्रह्मलोकं गतास्तेऽनुपासितपरमेश्वराः पुनरावर्तन्त इति॥ १६॥

## सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः।
## रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥ १७॥

---

१ अत्र युगशब्दो दैवयुगपरो ज्ञेयः। तथा च **मनुः** [१।६८—७२]—

ब्राह्मस्य तु क्षपाहस्य यत्प्रमाणं समासतः। एकैकशो युगानां तु क्रमशस्तान्निबोधत॥
चत्वार्याहुः सहस्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्। तस्य तावच्छती सन्ध्या सन्ध्यांशश्च तथाविधः॥
इतरेषु ससन्ध्येषु ससन्ध्यांशेषु च त्रिषु। एकापायेन वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च॥
यदेतत्परिसङ्ख्यातमादावेव चतुर्युगम्। एतद्द्वादशसाहस्रं देवानां युगमुच्यते॥
दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसङ्ख्यया। ब्राह्ममेकमहर्ज्ञेयं तावतीं रात्रिमेव च॥

**महाभारतेऽपि** (१२।२३१।२९)—

एतां द्वादशसाहस्रीं युगाख्यां कवयो विदुः। सहस्रपरिवर्तं तद्ब्राह्मं दिवसमुच्यते॥ इति॥

ब्राह्ममहः रात्रिं च ये जानन्ति, तेऽहोरात्रज्ञा इति स्तुतिरियम्। स्तुत्या च ब्राह्ममहोरात्रं ज्ञातव्यमिति विधिः परिकल्प्यत' इति **कुल्लूकभट्टः**।

ये ज्ञानिनो निर्गुणमेव तत्त्वं भजन्ति ये वा सगुणं परेशम्। तेषां द्वयेषामपि सद्य एव मुक्तिर्न चावर्तनमित्यवादि॥
अपक्वबोधा अथ भक्तियोगमनाश्रिता ये हठयोगसक्ताः। षट्चक्रभेदक्रममुक्तदेहा नावर्तनं तेऽपि पुनर्भजन्ते॥
अपक्वबोधा इति नापवर्गं योगात्प्रयाता इति नोर्ध्वं च। विन्दन्ति ते, किन्तु पदं विधातुः सम्प्राप्य तिष्ठन्त्यमृतत्वकामाः॥—

**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।**
**रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥**
**भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।**
**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥ १९ ॥**

१ **शां. भा.**—ब्रह्मलोकसहिता लोकाः कस्मात्पुनरावर्तिनः ? कालपरिच्छिन्नत्वात्, कथम् ? **सहस्रेति** । सहस्रयुगपर्यन्तं सहस्रं युगानि पर्यन्तः पर्यवसानं यस्याह्नस्तदहः सहस्रयुगपर्यन्तं ब्रह्मणः प्रजापतेर्विराजो विदुः, रात्रिमपि युगसहस्रान्तामहःपरिमाणामेव । के विदुः ? इत्याह— तेऽहोरात्रविदः कालसङ्ख्याविदो जना इत्यर्थः । यत एवं कालपरिच्छिन्नास्तेऽतः पुनरावर्तिनो लोकाः ॥ १७ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— ब्रह्मलोकसहितानां लोकानां पुनरावृत्तौ हेतुं प्रश्नद्वारा दर्शयति— **ब्रह्मेति** । उक्तमेव हेतुमाकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरश्लोकेन साधयति— **कथमित्यादिना**। यथोक्ताहोरात्रावयवमासर्त्वयनसंवत्सरावयवशतसङ्ख्यायुरवच्छिन्नत्वात्प्रजापतेस्तदन्तर्वर्तिनामपि लोकानां यथायोग्यकालपरिच्छिन्नत्वेन पुनरावृत्तिरित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे— **सहस्रेत्यादिना** । अक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थमाह— **यत** इति ॥ १७ ॥

१ **शां. भा.**—प्रजापतेरहनि यद्भवति रात्रौ च, तदुच्यते— अव्यक्ताद्व्यक्तं प्रजापतेः स्वापावस्था, तस्माद्व्यक्तात् व्यक्तयो व्यज्यन्त इति व्यक्तयः स्थावरजङ्गमलक्षणाः सर्वाः प्रजाः प्रभवन्त्यभिव्यज्यन्ते अह्न आगमोऽहरागमस्तस्मिन्नहरागमे काले ब्रह्मणः प्रबोधकाले; तथा रात्र्यागमे ब्रह्मणः स्वापकाले प्रलीयन्ते सर्वा व्यक्तयस्तत्रैव पूर्वोक्तेऽव्यक्तसंज्ञके ॥ १८ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— यत्प्रजापतेरहस्तद्युगसहस्रपरिमितं या च तस्य रात्रिः साऽपि तथेति कालविदामभिप्रायमनुसृत्य ब्राह्मस्याहोरात्रस्य कालपरिमाणं दर्शयित्वा तत्रैव विभज्य कार्यं कथयति— **प्रजापतेरिति** । अव्यक्तमव्याकृतमिति शङ्कां वारयति— **अव्यक्तमित्यादिना** । जातिप्रतियोगिभूता व्यक्तीर्व्यावर्तयति— **स्थावरेति** । असदुत्पत्तिप्रसक्तिं प्रत्यादिशति— **अभिव्यज्यन्त** इति । पूर्वोक्तमव्यक्तसंज्ञकं स्वापावस्थं ब्रह्म प्रजापतिशब्दितं तस्मिन्निति यावत् ॥ १८ ॥

---

– परार्द्धद्वयान्ते विधात्रा सहैषां विमुक्तिः प्रदिष्टाऽत उत्कण्ठितास्ते ।
दिनानि क्षपाश्चातिदीर्घा विरिञ्चेश्चिरस्य प्रसङ्ख्यान्ति मोक्षप्रतीक्षाः ॥
आवर्तनं न पुनरस्ति तथापि तेऽमी कालप्रवाहपतिता न सुखं लभन्ते ।
ये ज्ञानिनः सगुणभक्तिपराश्च ते तु सद्यः सुखेन परमं पदमाप्नुवन्ति ॥
ज्ञानादृते नैव मोक्षस्तद्विहायाल्पबुद्धयः । हठयोगरता ये ते मुषिता एव केवलम् ॥
आयातां वरितुं वर्यो ददाति प्रतिवेशिने । भविता दुहिता याऽस्याः सा मे पत्नी भवेदिति ॥
सद्यो लभ्यं तथा ज्ञानान्मोक्षं त्यक्त्वा हठे रताः । गणयन्ति ब्रह्मलोके कालं ते मोक्षकाङ्क्षिणः ॥
ये पूर्वमुक्ता हठयोगसक्ताः परामृशत्तांस्त इतीह देवः । पूर्वानुसन्धानमिदं विहाय व्याख्यातमन्यैस्तु किमप्ययुक्तम् ॥
–तच्छब्देन परामर्शः पूर्वोक्तस्यैव युज्यते । ये प्रागकीर्तिता ज्ञेयाः कथं वा के न्वितीह ते ॥ इति **वामनाशयः** ।

१ **वामनः** श्लोकमिममेवमवतारयति—
ब्रह्मलोकमुपेता ये गणयन्ति स्वयम्भुवः । ते दिनानि त्रियामाश्चेत्युक्तमेतर्हि यत्स्फुटम् ॥
तत्कथं घटते ? न स्तस्तत्र ह्यस्तोदयौ रवेः । शङ्कामिमामपाकर्तुं जगाद जगतां गुरुः ॥ इति ।

अत्र **नव्या** अव्यक्तशब्देन साङ्ख्यशास्त्रोक्ता प्रकृतिरुच्यत इति मन्यन्ते । तदयुक्तम्, इह प्रजापतेर्जाग्रत्सुषुप्त्यवस्थयोरेव प्रकृतत्वात् । किञ्च—न साङ्ख्यैः पुरुषस्य प्रकृतेः परत्वं स्वीक्रियते; अत्र तु 'परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्–' (८।२०) इत्यस्मादव्यक्तात् अव्यक्तपुरुषस्य परत्वमुच्यत इति न साङ्ख्याभिमता प्रकृतिरिहोद्दिष्टेति व्यक्तं विशेषविदाम् ।

२ भूतानां ग्रामः समुदायः । 'ग्रसु अदने' (धा. ६३०) 'ग्रसेरा च' (उ.सू. १।१४८) इत्यौणादिको मन्, धातोराकारश्च। 'शब्दादिपूर्वो वृन्देऽपि ग्रामः' (३।३।१४०) इत्यमरः । **अन्ये** तु– 'ग्राम आमन्त्रणे' (धा.पा. १८९३) अस्माद्व्युत्पादयन्ति ॥ अवशः अशब्दवाच्यस्य भगवतो वश इति **केचित्** । —**अविगीता** ।

**१ शां. भा.**— अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशदोषपरिहारार्थं बन्धमोक्षशास्त्रप्रवृत्तिसाफल्यप्रदर्शनार्थं अविद्यादिक्लेशमूलकर्माशयवशाच्चावशो भूतग्रामो भूत्वा भूत्वा प्रलीयत इत्यतः संसारे वैराग्यप्रदर्शनार्थं चेदमाह— **भूतग्राम** इति । भूतग्रामो भूतसमुदायः स्थावरजङ्गमलक्षणो यः पूर्वस्मिन् कल्प आसीत्स एवायं, नान्यः; भूत्वा भूत्वाऽहरागमे, प्रलीयते पुनः पुना रात्र्यागमेऽह्नः क्षयेऽवशोऽस्वतन्त्र एव पार्थ ! प्रभवति अवश एवाहरागमे ॥ १९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ननु प्रबोधकाले ब्रह्मणो यो भूतग्रामो भूत्वा तस्यैव स्वापकाले विलीयते तस्मादन्यो भूयो ब्रह्मणोऽहरागमे भूत्वा पुना रात्र्यागमे परवशो विनश्यति, तदेवं प्रत्यवान्तरकल्पं भूतग्रामविभागो भवेदित्याशङ्कयानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **अकृते**ति । प्रतिकल्पं प्राणिनिकायस्य भिन्नत्वे सत्यकृताभ्यागमादिदोषप्रसङ्गात्तत्परिहारार्थं भूतग्रामस्य प्रतिकल्पमैक्यमास्थेयमित्यर्थः । यदि स्थावरजङ्गमलक्षणस्य प्राणिवर्गस्य प्रतिकल्पमन्यथात्वं, तदैकस्य बन्धमोक्षान्वयिनोऽभावात्काण्डद्वयात्मनो बन्धमोक्षार्थस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरफला प्रसज्येतातस्तत्साफल्यार्थमपि प्रतिकल्पं प्राणिवर्गस्य नवीनत्वानुपपत्तिरित्याह— **बन्धे**ति । कथं पुनर्भूतसमुदायोऽस्वतन्त्रः सन्नवशो भूत्वा प्रविलीयते ? तत्राह— **अविद्यादी**ति । आदिशब्देनास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा गृह्यन्ते । यथोक्तं क्लेशपञ्चकं मूलं प्रतिलभ्य धर्माधर्मात्मककर्मराशिरुद्भवति तद्वशादेवास्वतन्त्रो भूतसमुदायो जन्मविनाशावनुभवतीत्यर्थः । प्राणिनिकायस्य जन्मनाशाभ्यासोक्तेरर्थमाह— **इत्यत** इति । संसारे विपरिवर्तमानानां प्राणिनामस्वातन्त्र्यादवशानामेव जन्ममरणप्रबन्धादलमनेन संसारेणेति वैतृष्ण्यं तस्मिन्प्रदर्शनीयं तदर्थं चेदं भूतानामहोरात्रमावृत्तिवचनमित्यर्थः । समनन्तरवाक्यमिदमा परामृश्यते । रात्र्यागमे प्रलयमनुभवतोऽहरागमे च प्रभवं प्रतिपद्यमानस्य प्राणिवर्गस्य तुल्यं पारवश्यमित्याशयवानाह— **अह्न** इति ॥ १९ ॥

**३ रा. भा.**— ब्रह्मलोकपर्यन्तानां लोकानां तदन्तर्वर्तिनां च परमपुरुषसङ्कल्पकृतामुत्पत्तिविनाशकालव्यवस्थामाह— **सहस्रयुगे**ति । ये मनुष्यादिचतुर्मुखान्तानां मत्सङ्कल्पकृताहोरात्रव्यवस्थाविदो जनाः, ते ब्रह्मणश्चतुर्मुखस्य यदहः, तच्चतुर्युगसहस्रावसानं विदुः, रात्रिं च तथारूपाम् । तत्र ब्रह्मणोऽहरागमसमये त्रैलोक्यान्तर्वर्तिन्यो देहेन्द्रियभोग्यभोगस्थानरूपा व्यक्तयश्चतुर्मुखदेहावस्थादव्यक्तात् प्रभवन्ति । तत्रैवाव्यक्तावस्थाविशेषे चतुर्मुखदेहे रात्र्यागमसमये प्रलीयन्ते । स एवायं कर्मवश्यो भूतग्रामोऽहरागमे भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयते । पुनरप्यहरागमे प्रभवति । तथा वर्षशतावसानरूपयुगसहस्रान्ते ब्रह्मलोकपर्यन्ता लोकाः ब्रह्मा च "पृथिव्यप्सु प्रलीयते आपस्तेजसि प्रलीयन्ते" [ सुबालो. २ ] इत्यादिक्रमेण अव्यक्ताक्षरतमःपर्यन्तं मय्येव प्रलीयन्ते । एवं मद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य कालव्यवस्थया मत्त उत्पत्तेर्मयि प्रलयाच्चोत्पत्तिविनाशयोगित्वमवर्जनीयमित्यैश्वर्यगतिं प्राप्तानां पुनरावृत्तिरपरिहार्या । मामुपेतानां तु न पुनरावृत्तिप्रसङ्गः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'सहस्र–' इत्यादिश्लोकत्रयस्य पिण्डितार्थमाह— **ब्रह्मलोकपर्यन्ताना**मिति । हिरण्यगर्भादिस्वातन्त्र्यसिद्धसत्यलोकादिस्थैर्यशङ्काव्युदासायाह **परमपुरुषसङ्कल्पकृता**मिति । ईश्वरस्वातन्त्र्यमेव ह्यन्यूनानतिरिक्तदिनरात्र्यादिविचित्रव्यवस्थायां कारणम् । तथा चोच्यते 'कालस्य च हि मृत्योश्च' [ म.भा.५।६८।१३ ] 'कालचक्रं जगच्चक्रं' [ म. भा. ५। ६८।१२ ] इत्यादिभिः । एवमेवोक्तमन्यत्र 'ततो युगसहस्रान्ते संहरिष्ये जगत्पुनः । कृत्वा मत्स्थानि भूतानि चराणि स्थावराणि च' इत्यादि । यत्तु मानवे 'तद्वै युगसहस्रं तु ( तद्वै युगसहस्रांतं ) ब्राह्मं पुण्यमहर्विदुः । रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः' [ १।७३ ] इति ; तत्र य इत्येव पाठाद्यथाक्रममन्वयः । इह तु 'सहस्र–' इतिश्लोके 'यत्' इत्यस्याहश्शब्देनैव ह्यन्वयो घटते ; ततश्च 'ते' इत्यस्य 'ये' इति पदमपेक्षितम् ; तत्रापि 'ये विदुस्तेऽहोरात्रविदो जनाः' इत्यन्वये प्रसङ्गरहिताहोरात्रवेदिव्युत्पादनरूपं स्तुतिपरं वाक्यं प्रस्तुतासङ्गतं स्यात् ; ततश्च 'येऽहोरात्रविदो जनास्त एवं विदुः' इत्यन्वयः । एवं कालव्यवस्थायां प्रामाणिकत्वप्रतिपादनपरोऽत्र स्वीकार्य इत्यभिप्रायेणाह **ये मनुष्यादी**ति । अनूद्यमानमहोरात्रवेदित्वं यथाप्रसिद्धि सर्वविषयमेव भवितुमर्हति, तेन चतुर्मुखस्यापि मनुष्यादितुल्यता द्योतिता स्यादित्यभिप्रायेण **मनुष्यादी**त्यादिकमुक्तम् । ब्रह्मशब्दस्यात्र परमात्मविषयत्वभ्रमव्युदासाय **चतुर्मुख**शब्दः । तस्यैव हि सहस्रयुगप्रतिनियताहोरजनीविभागः प्रसिद्ध इति भावः । 'सविशेषणौ विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतः' इति न्यायात् 'येऽहोरात्रविदो जनाः' इत्यहोरात्रवेदितांशस्यानूदितत्वाच्च सहस्रयुगपर्यन्तता वेदनमेवात्र विधेयमित्यभिप्रायेण **तच्चतुर्युगसहस्रावसानं विदु**रित्यु-

क्तम् । सहस्रयुगानि पर्यन्तं यस्य तत्सहस्रयुगपर्यन्तम् । युगशब्दश्चात्र प्रमाणान्तरानुसाराच्चतुर्युगपरः ।

अस्त्वेवं चतुर्मुखस्याहोरात्रव्यवस्था; ततः किं प्रस्तुतस्य ? इत्यत्रोत्तरम्— 'अव्यक्तात्' इति श्लोकः । तस्यार्थमाह— **तत्रेति** । **अयमभिप्रायः**— अत्र व्यक्तिशब्दस्तावन्न महदादिविषयः, चतुर्मुखात्प्रागेव तदुत्पत्तेः । अतश्चतुर्मुखसृज्यमात्रविषय एवासौ । व्यज्यन्त इति व्यक्तयः । तत्रापि सत्यलोकादेः प्रतिकल्पं प्रलयाभावात् त्रैलोक्यान्तर्वर्तिदेहेन्द्रियादिवस्तुमात्रविषयत्वमेव स्वीकार्यम् । तेषां चोत्पत्तिः ब्रह्मशरीरादेव । ततश्चात्राव्यक्तशब्दोऽपि न मूलाव्यक्तविषयः; अपितु तदुपादानकब्रह्मशरीरपरः । शरीरे चाव्यक्तशब्दप्रयोगः सूत्रेऽप्युपपादितः 'सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात्' [ब्र. सू. १।४।२] इति ।

एवंविधसृष्टिप्रलयकारणविशेषं तदनुच्छेदाच्च सृष्टिप्रलयसन्तानानुच्छेदं अकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गपरिहारमुक्तस्यार्थस्य सर्वेष्वपि कल्पेषु अभिव्याप्तिं यथापूर्वकल्पनं च 'भूतग्रामः' इति श्लोकः प्रतिपादयतीत्यभिप्रायेणाह— **स एवायमिति** । भूतशब्दोऽत्राचिद्विशिष्टक्षेत्रज्ञपरः । सृज्यत्वसंहार्यत्वहेतुभूतमवशत्वं कर्मनिबन्धनमेव हीत्यभिप्रायेण **कर्मवश्य** इत्युक्तम् । 'अहरागमे' इति पदं 'भूत्वा' इत्यत्रापि अनुवर्तनीयमित्यभिप्रायेण **अहरागमे भूत्वेत्यन्वय** उक्तः । इदं च नैमित्तिकप्रलयप्रतिपादनं श्रुत्यादिप्रसिद्धप्राकृतप्रलयस्याप्युपलक्षणम् । तथा सति [ तेन ] सत्यलोकविनाशसिद्धिः; 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' [ ८।१६ ] इति ह्युपक्रान्तमित्यभिप्रायेणाह— **तथेति** । यद्वा रात्र्यागमशब्द एव ब्रह्मणोऽन्तिमरात्र्यागममपि शक्त्या संगृह्णातीति भावः । तदेतत्सूचितं **वर्षशतावसानरूपयुगसहस्रान्त** इति । तथा चान्यत्र स्मर्यते— 'निजेन तस्य मानेन आयुर्वर्षशतं स्मृतम्' इति । एवमहरागमशब्दोऽपि प्रथममहः संगृह्णाति । पृथिव्यादितत्त्वानामेव विलये तदारब्धानां ब्रह्मलोकब्रह्मशरीरब्रह्माण्डादीनां का कथेत्यभिप्रायेण— **पृथिवीत्यादि**श्रुतिरुदाहृता । तमोवस्थाचिद्द्रव्यस्यैकीभावो हि परस्मिन्नेव देवे श्रूयते । अत्रापि 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः' [ ७।६ ] इत्यादिकं ह्युच्यत इत्यभिप्रायेण **मय्येवे**त्युक्तम् । एवं "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" [ श्वे. उ. ६।१८ ] "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" [ महो. १।१ ] इति क्रमेण पुनर्ब्रह्मादिसृष्टिः, पुनश्च तत्प्रलय इत्यादिकमपि भाव्यम् । ईदृशसृष्टिप्रलयप्रतिपादनस्य प्रकृतोपयोगं दर्शयति— **एवमिति** । सर्वेषु सृष्टिप्रलयप्रकरणेष्विदमेव तात्पर्यं भाव्यम् । **मद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्येत्य**नेन 'अहं कृत्स्नस्य' [ ७।६ ] इति प्रागुक्तं स्मारितम् । उक्तं च मोक्षधर्मेऽपि 'नित्यं हि (च) नास्ति जगति भूतं स्थावरजङ्गमम् । ऋते तमेकं पुरुषं वासुदेवं सनातनम्' [ म. भा. १२।३३९।३२ ] इति ॥१७॥१८॥१९॥

**५ आ. मा. भा.— मां प्राप्य न पुनरावृत्तिरिति स्थापयितुं अव्यक्ताख्यात्मसामर्थ्यं दर्शयितुं प्रलयादि दर्शयति— सहस्रयुगेत्यादिना । सहस्रशब्दोऽत्रानेकवाची । ब्रह्मपरम् । " सा विश्वरूपस्य रजनी " इति श्रुतिः । द्विपरार्धप्रलय एवात्र विवक्षितः । ' अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः ' [ ८ । १८ ] इत्युक्तेः । उक्तं च महाकौर्मे ' अनेकयुगपर्यन्तं महाविष्णोस्तथा निशा । रात्र्यादौ लीयते सर्वमहरादौ तु जायते ' इति च । ' यः स सर्वेषु भूतेषु ' [ ८।२० ] इति वाक्यशेषाच्च ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥**

६ ज. प्र. दी.— उत्तरप्रकरणस्यासङ्गतिमाशङ्क्याह— **मां प्राप्येति** । अवस्थितानामिति शेषः । प्रतिज्ञामात्रेण हि तदुक्तं अव्यक्तसामर्थ्यस्यात्र कथनात् कथमात्मेत्युच्यते ? इत्यत उक्तम्— **अव्यक्ताख्येति** । **प्रलयादीति**, तत्कारणत्वमात्मनः । सृष्टिप्रलययोरिदम्पूर्वत्वाभावज्ञापनाय गीतामुल्लङ्घ्योक्तम् । अत्र सहस्रशब्दो दशशतवाचीतिप्रतीतिनिरासायाह— **सहस्रेति** । बहुशब्दपर्यायोऽयं, न तु प्रसिद्धार्थः । विरिञ्चाहोरात्रयोः प्रसिद्धस्य सहस्रचतुर्युगपर्यन्तत्वात् कथमेतत् ? इत्यत आह— **ब्रह्मेति** । तथा च द्विपरार्धप्रलयस्यादिसृष्टेश्चात्र विवक्षितत्वात् उक्तं युक्तम् । ननु परस्य ब्रह्मणो नित्यत्वादहोरात्रे न स्तः । तत्कथं तत्परमेतत् ? इत्यत आह— **सेति** । सा निर्व्यापारावस्था परिपूर्णरूपस्यापि हरेः रजनीत्यर्थः । अनेनाहरपि सिद्धम् । भवेदेतद्यद्यत्र द्विपरार्धप्रलयस्यादिसृष्टेश्च विवक्षेत्यत्र प्रमाणं स्यादित्यत आह— **द्विपरार्धेति** । एवमादिसृष्टिश्चेत्यपि ग्राह्यम् । न ह्यवान्तरसृष्टिप्रलययोः सर्वकार्योत्पत्तिविनाशाविति भावः । आगमान्तरसम्मतेश्चैवमित्याह— **उक्तं चेति** । इतोऽप्येवमित्याह — **य इति** । न ह्यवान्तरप्रलये सर्वेषामाकाशादीनां भूतानां नाशः, नापि विरिञ्चस्य पञ्चभूतनाशेऽपि अविनाशित्वमिति भावः ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥

**७ ह. पै. भा.— सहस्रेति । सहस्रयुगपर्यन्तं युगसहस्रप्रमाणं ब्रह्मणो यदहस्तद्युगसहस्रप्रमाणं विदुः । ब्रह्मणो रात्रिमपि युगसहस्रान्तामहोरात्रविदो जना ज्ञानिन एवं विदुः ॥ १७ ॥ अव्यक्तात्प्रकृतेर्व्यक्तयो महदाद्याः प्रभवन्ति अहनि अह्नि सञ्जायन्ते । रात्र्यागमे रात्रौ प्रलीयन्ते लयं गच्छन्ति तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके प्रकृतौ ॥ १८ ॥ भूतग्रामो भूतसमूहः भूत्वा भूत्वा प्रलीयत उत्पद्योत्पद्य विनश्यति । अवशः परवशः । प्रभवत्युत्पद्यते । अहरागमोऽह्न आगमः ॥ १९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—'आ ब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' इत्येतदुपपादयितुं तेषां कालपरिच्छिन्नत्वप्रदर्शनाय ब्रह्मणोऽहोरात्रपरिमाणं तावदाह—सहस्रेति। ये मनुष्यादिचतुर्मुखान्तानामहोरात्रपरिमाणविदो जनाः ते सहस्रयुगपर्यन्तम्, सहस्रं च तानि युगानि च सहस्रयुगानि तानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत्तथोक्तम्, एवंविधं ब्रह्मणो यदहः प्रसिद्धं 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' [भाग. १२।४।२] इति तद्विदुः। तथा ब्रह्मणो रात्रिमपि युगसहस्रपर्यन्तां तावतीमेव ते विदुः। एवं च यथोक्तैरहोरात्रैः पक्षमासादिगणनया पूर्णं वर्षशतं प्रजापतेः परमायुरिति कालपरिच्छिन्नत्वेन ब्रह्मलोकस्यानित्यत्वात्ततः पुनरावृत्तिर्युक्तैवेति भावः ॥ १७ ॥

ये पुनर्ब्रह्मलोकादर्वाञ्चो लोकास्तेषां तदहर्मात्रपरिच्छिन्नत्वात्तेभ्यः परावृत्तिः कैमुतिकन्यायसिद्धेत्यभिप्रायेणाह—अव्यक्तादिति। अत्र दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोरेवोच्यमानत्वात्तयोश्चाकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्दो नाव्याकृतावस्थापरः। तथा च 'अव्यक्तात्प्रकृतेर्व्यक्तयो महदाद्याः प्रभवन्ति' इति पैशाचभाष्यमयुक्तम्। किन्तु 'ब्रह्मणः स्वापावस्थैवात्राव्यक्तम्' इति भगवत्पादभाष्यार्थ एव युक्तः। अहरागमे ब्रह्मणः प्रबोधसमये अव्यक्तात्स्वापावस्थापन्नात्प्रजापतेः व्यज्यन्त इति व्यक्तयो भोग्यभोगस्थानदेहेन्द्रियरूपाः प्रादुर्भवन्ति। तथा रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले ता व्यक्तयः तत्रैव यत्राविर्भूतास्तत्रैवाव्यक्तसंज्ञिते स्वापावस्थे चतुर्मुखे लीयन्ते तिरोभवन्ति ॥ १८ ॥

ननु यदि सर्वा अपि व्यक्तयो रात्र्यागमे प्रलीयन्ते, तर्ह्यनायासेनैव सर्वेषामपि संसारक्लेशनाशात्किं मोक्षार्थप्रयासेन? इत्याशङ्क्याह—भूतग्राम इति। यः पूर्वस्मिन्कल्पे प्रलीनो भूतग्रामः प्राणिसमुदायः, स एवायमस्मिन्कल्पे अहरागमे भूत्वा भूत्वा उत्पद्योत्पद्य रात्र्यागमे प्रलीयते; पुनरप्यहरागमे कर्मतन्त्रः प्रभवति। अतोऽनवरतजन्ममरणसंसारघटीयन्त्रपरिभ्रान्तानां कदाचित्प्रलीनतामात्रान्न मोक्षशङ्केति भावः। अत्र 'भूतग्रामः स एवायं' इत्येतावतैव निर्वाहेऽपि जन्ममरणप्रवाहदुःखाद्युविद्धतया संसारवैराग्योत्पत्त्यर्थं भूत्वेत्यादिकमुक्तम् ॥ १९ ॥

९ व०त०दी०—ननु कथमेवमुच्यते 'आब्रह्मभुवनात्' इति? सत्यं, ब्रह्मणोऽपि कालप्रमितत्वादित्याह—सहस्रमिति। अत्र चतुःपदं योजनीयं 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इति वाक्यात्। तथा चैवं मानेन ब्रह्मणो द्विपरार्द्धपर्यंते लय इत्युक्तम् ॥ १७ ॥ परं समष्टिभूतस्याह। पुनरागमे व्यष्टिभूतानां व्यक्तिप्रभवो नैमित्तिकश्च रात्र्यागमे लयस्तमाह—अव्यक्ताद्व्यक्तय इति। अक्षरात्मकात्तत उद्भूतात् परमेष्ठिपुरुषात् समष्टिमूलभूतात्तत्प्रकृत्यन्वितात् दैवेच्छया निराकाराणां चेतनानां जीवानां ब्रह्मण्यनुशयितानां व्यक्तयो व्यष्टयो देहाद्या योनयो लोकाश्च प्रभवन्ति आविर्भवन्ति। तिरोभावात्मकं लयमाह। रात्र्यागमे तथाभूते तस्मिन्नेवाव्यक्तसंज्ञके प्रलीयन्ते तिरोभवन्ति ॥ १८ ॥ उत्पत्तिः प्रलयश्चापि तेषामेव व्यष्टीनां, न त्वन्येषां नूतनानां मुक्तानां वेति निरूपयति—भूतग्राम इति। यः पूर्वोक्तः स एवायं अवशः प्रकृतिगुणाधीनः ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.—ननु ब्रह्मलोकगतास्तेन सह मुच्यन्ते 'ब्रह्मणा सह मुच्यन्ते' इत्यादिभ्यस्तेऽपि पुनरावृत्तिरहिता भवन्त्येवेत्याशङ्क्य तेषां तदभावमाह—सहस्रेति। सहस्रयुगपर्यन्तं चतुर्युगसहस्रं पर्यन्तोऽवसानं यस्य तत् ब्रह्मणो यदहर्दिनं तद्ये विदुर्जानन्ति, युगसहस्रान्तां चतुर्युगसहस्रं अन्तो यस्यास्तादृशीं रात्रिं ये विदुस्ते अहोरात्रविदः। तत्र कालगणने मनुष्याणां यद्वर्षं तद्देवानामहोरात्रः, तादृगहोरात्रगणितद्वादशवर्षसहस्रेण चतुर्युगं तच्च तद् ब्रह्मणो दिनं तावत्येव रात्रिस्तद्गणनक्रमेण वर्षशतं तत् ब्रह्मणः परमायुरित्युच्यते; तदवसाने तत्सहितमुक्तानामक्षरप्राप्तिः परम्परया भवति ॥ १७ ॥ पुनस्तत्प्रकटसमये तत्सहितानामागमनमित्याह—अव्यक्तादिति। अव्यक्तादक्षराद्भगवच्चरणरूपात् व्यक्तयः स्थावरजङ्गमादयः सर्वाः देवादिकीटतृणादयः अहरागमे ब्रह्मदिनोद्गमे प्रभवन्ति उत्पद्यन्ते। तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके अक्षरे रात्र्यागमे रात्र्युद्गमे प्रलीयन्ते लीना भवन्तीति तद्विदो जनास्तत्र प्रविशन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥ तत्र प्रलीनाश्च पुनरुत्पद्यन्त इत्याह—भूतग्राम इति। स एव पूर्वोक्त एवायं परिदृश्यमानो मत्सम्बन्धरहितो भूतग्रामश्चराचरसमूहो भूत्वा भूत्वा उत्पद्योत्पद्य रात्र्यागमे दिवसावसाने अवशः परवशः सन् प्रलीयते। हे पार्थेति सावधानः शृण्वित्यर्थः। तथैव अहरागमे दिनागमेऽवश एव प्रभवति उत्पद्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०—आवृत्तिभाजां कालपरिच्छेदमाह—सहस्रेति। युगशब्दोऽत्र चतुर्युगपर्यायः 'चतुर्युगसहस्रं तु ब्रह्मणो दिनमुच्यते' इति पुराणान्तरदर्शनात्; सहस्रं चतुर्युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य चतुर्युगसहस्रं ब्रह्मणो दिनम्। रात्रिरपि तावतीत्याह—रात्रिमिति। अत्रापि चतुर्युगसहस्राणां अन्ते भवति तां चतुर्युगसहस्रान्तां, ते प्रसिद्धा अहोरात्रविदो जना विदुः ॥ १७ ॥ किं ब्रह्मणोऽह्नि जायेते किं वा रात्रौ? इत्यत आह—अव्यक्तादिति। अत्र दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोः प्रकृतत्वादव्यक्तशब्देन नाव्याकृतं वियदादिकारणमिह ग्राह्यं, तदाकाशादीनां सत्त्वात्। किं तर्हि प्रजापतेः स्वापावस्थैवेहाव्यक्तशब्दार्थः? अयं भावः—प्रजापतेः स्वापकाले

तत्कल्पितो स्थावरजङ्गमप्रपञ्चः सर्वोऽपि तदीयेऽज्ञानेऽव्याकृताख्ये लीयते रात्र्यागमे । तथा दिवसागमे पुनस्तत एव यथापूर्वमाविर्भवति । एवं दृष्टिसृष्टिन्यायेनास्मत्कल्पितोऽप्ययं वियदादिप्रपञ्चोऽस्मत्सुषुप्तौ लीयते, अस्मत्प्रबोधे यथापूर्वं प्रादुर्भवतीति ॥ १८ ॥ कृतहानाकृताभ्यागमदोषापनुत्तये बन्धमोक्षशास्त्रप्रवृत्तिसाफल्याय च अविद्यादिवशादवशोऽयं भूतग्रामः पुनः पुनर्भूत्वा पुनः पुनः प्रलीयत इत्याह वैराग्योत्पादनार्थं— भूतग्राम इति । अहरागमे भूत्वा भूत्वा रात्र्यागमे प्रलीयत इति योजना । स एव भूत्वा प्रलीयते, नान्योऽभिनवो भवतीत्यर्थः । कुतः ? यतोऽवशः अविद्याकामकर्माधीनतः, तस्मात्सर्वानर्थबीजभूताया अविद्याया विद्यया उच्छेदे जन्ममरणप्रवाहविच्छेदायावश्यं यतितव्यमित्यर्थः ॥ १९ ॥

अनावृत्तिस्थानं तत्प्राप्त्युपायश्च [ २०-२२ ]

**परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।**
**यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥**
**अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।**
**यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ २१ ॥**

**१ शां. भा.**— यदुपन्यस्तमक्षरं तस्य प्राप्त्युपायो निर्दिष्टः 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' [८।१३ ] इत्यादिना, अथेदानीमक्षरस्यैव स्वरूपनिर्दिदिक्षयेदमुच्यतेऽनेन योगमार्गेणेदं गन्तव्यमिति— परो व्यतिरिक्तो भिन्नः । कुतः ? तस्मात्पूर्वोक्तात् । तुशब्दोऽक्षरस्य विवक्षितस्याव्यक्ताद्वैलक्षण्यविशेषणार्थः । भावोऽक्षराख्यं परं ब्रह्म; व्यतिरिक्तत्वे सत्यपि सालक्षण्यप्रसङ्गोऽस्तीति तद्विनिवृत्त्यर्थमाह— अन्य इति । अन्यो विलक्षणः, स चाव्यक्तोऽनिन्द्रियगोचरः । 'परस्तस्मात्' इत्युक्तं, कस्मात्पुनः परः ? पूर्वोक्ताद्भूतग्रामबीजभूतादविद्यालक्षणादव्यक्तात् । अन्यो विलक्षणो भाव इत्यभिप्रायः । सनातनश्चिरन्तनः, यः स भावः सर्वेषु भूतेषु ब्रह्मादिषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥

**२ आ. शां. व्या.**—'अक्षरं ब्रह्म परमं' [ ८।३ ] इत्युपक्रम्य तदनुपयुक्तं किमिदमन्यदुक्तं ? इत्याशङ्क्य वृत्तमनूद्यानन्तरग्रन्थसङ्गतिमाह— **यदुपन्यस्तमिति** । अक्षरस्वरूपे निर्दिदिक्षिते तस्मिन्पूर्वोक्तयोगमार्गस्य कथमुपयोगः स्यात् ? इत्याशङ्क्य तत्प्राप्त्युपायत्वेनेत्याह— **अनेनेति** । गन्तव्यमिति योगमार्गोक्तिरुपयुक्तेति शेषः । पूर्वोक्तादव्यक्तादिति सम्बन्धः । परशब्दस्य व्यतिरिक्तविषयत्वे तुशब्देन वैलक्षण्यमुक्त्वा पुनरन्यशब्दप्रयोगात्पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याऽऽह— व्यतिरिक्तत्व इति । तुना द्योतितं वैलक्षण्यमन्यशब्देन प्रकटितम् । यतो भिन्नेष्वपि भावभेदेषु सालक्षण्यमालक्ष्यते, ततश्चाव्यक्ताद्भिन्नत्वेऽपि ब्रह्मणस्तेन सादृश्यमाशङ्क्यते तन्निवृत्त्यर्थमन्यपदमित्यर्थः । यद्वा परशब्दस्य प्रकृष्टवाचिनो भावविशेषणार्थत्वे पुनरुक्तिशङ्कैव नास्तीति द्रष्टव्यम् । अनादिभावस्याक्षरस्याविनाशित्वमर्थसिद्धं समर्थयते— **यः स भाव** इति । सर्वं हि विनश्यद्विकारजातं पुरुषान्तं विनश्यति, स तु विनाशहेत्वभावान्न विनष्टुमर्हतीत्यर्थः ॥ २० ॥

**१ शां. भा.**—अव्यक्त इति । योऽसावव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमेवाक्षरसंज्ञकमव्यक्तं भावमाहुः परमां प्रकृष्टां गतिम् । यं भावं प्राप्य गत्वा न निवर्तन्ते संसाराय, तद्धाम स्थानं परमं प्रकृष्टं मम विष्णोः परमं पदमित्यर्थः ॥ २१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यथोक्तेऽव्यक्ते भावे श्रुतिसम्मतिमाह— **अव्यक्त** इति । तस्य परमगतित्वं साधयति— **यं प्राप्येति** । योऽसावव्यक्तो भावोऽत्र दर्शितः सः "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" [ मुं. उ. १।२।१३ ] इत्यादिश्रुतावक्षर इत्युक्तस्तं चाक्षरं भावं परमां गतिं "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" [ कठो. ३।११ ] इत्याद्याः श्रुतयो वदन्तीत्याह— **योऽसाविति** । परमपुरुषस्य परमगतित्वमुक्तं व्यनक्ति— **यं भावमिति** । "तद्विष्णोः परमं पदम्" [ ऋक्सं. १।२।६।५ कठो. ३।९ ] इति श्रुतिमत्र संवादयति— **तद्धामेति** ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.**— अथ कैवल्यं प्राप्तानामपि पुनरावृत्तिर्न विद्यत इत्याह— **पर इति** । तस्मादव्यक्तात् अचेतनप्रकृतिरूपात्पुरुषार्थतया परः उत्कृष्टो भावोऽन्यो ज्ञानैकाकारतया तस्माद्विसजातीयोऽव्यक्त

केनचित्प्रमाणेन न व्यज्यत इत्यव्यक्तः स्वसंवेद्यस्वासाधारणाकार इत्यर्थः । सनातनः उत्पत्तिविनाशानर्हतया नित्यः, यः सर्वेषु वियदादिषु भूतेषु सकारणेषु सकार्येषु विनश्यत्सु तत्रतत्र स्थितोऽपि न विनश्यति सोऽव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते' [ १२ । ३ ] 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' [ १५।१६ ] इत्यादिषु; तं वेदविदः परमां गतिमाहुः। अयमेव 'यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्' [ ८।१३ ] इत्यत्र परमगतिशब्दनिर्दिष्टोऽक्षरः प्रकृतिसंसर्गवियुक्तस्वरूपेणावस्थित आत्मेत्यर्थः। यमेवम्भूतं स्वरूपेणावस्थितं प्राप्य न निवर्तन्ते, तन्मम परमं धाम परं नियमनस्थानम् ; अचेतनप्रकृतिरेकं नियमनस्थानम् ; तत्संसृष्टरूपा जीवप्रकृतिर्द्वितीयं नियमनस्थानम् ; अचित्संसर्गवियुक्तं स्वरूपेणावस्थितं मुक्तस्वरूपं परमं नियमनस्थानमित्यर्थः। तच्चापुनरावृत्तिरूपम् । अथवा प्रकाशवाची धामशब्दः; प्रकाशश्चेह ज्ञानमभिप्रेतम् ; प्रकृतिसंसृष्टात् परिच्छिन्नज्ञानरूपादात्मनोऽपरिच्छिन्नज्ञानरूपतया मुक्तस्वरूपं परं धाम ॥ २० ॥ २१ ॥

४ वे. ता. चं.— 'परः' इत्यादिश्लोकद्वयस्यार्थमाह— **अथे**ति । **अयमभिप्रायः**— भगवन्तं प्राप्तानां पुनरावृत्तिः प्रागेवोक्ता; अव्यक्तात्परत्वेन निर्दिष्टोऽक्षरश्च जीव एव भवितुमर्हति, 'अपरेयमितस्त्वन्याम्' [ ७।५ ] इत्यादिप्रत्यभिज्ञानात् ; वक्ष्यमाणया च कैवल्यार्थिनामवरोहाभावादपुनरावृत्तिः । अत एव तत्परमेवेदं श्लोकद्वयम्— इति। अव्यक्तस्यैव पूर्वप्रकृतत्वात्, अत्रापि 'अव्यक्तात्' इत्येव परभेदः। तस्य चापेक्षया परशब्दान्यशब्दाभ्यामप्यन्वयः । तत्र च पौनरुक्त्यव्युदासायोत्कृष्टत्वाभिधानमुखेन पुरुषार्थरूपत्वपरः परशब्दः । तत एव च स्वरूपभेदस्य सिद्धत्वादन्यशब्दः प्रकारान्यत्वपरः । अतः स च प्रकारभेदश्चेतनत्वरूप एव प्रमाणसिद्ध इत्यभिप्रायेणाह— **तस्मा**दिति । भावशब्दोऽत्र पदार्थमात्रवाची । 'व्यक्तः' इति पदच्छेदो न युक्तः, 'अव्यक्तोऽक्षरः' इत्यत्रैवाभिधानात् ; दुर्ग्रहे च जीवे व्यक्तशब्दप्रयोगानुपपत्तेरित्यभिप्रायेणाह— **केनचि**दिति । ननु जीवस्याव्यक्तत्वमयुक्तं, प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथासम्भवं तद्व्यक्तेः, अन्यथा खपुष्पत्वप्रसङ्गादित्यत्राह— **स्वसंवेद्ये**ति । प्रमाणान्तराणि हि साधारण्येन तत्प्रतिपादकानीति भावः । नित्यत्वे द्वितीयाध्यायोक्तहेतुस्मरणं **उत्पत्तिविनाशानर्हतये**ति । भूतशब्दोऽत्र महाभूतपरः, तद्विनाशेऽप्यात्मस्थितवचनेन नित्यत्वस्यानायासादलभात् । तत्र सर्वशब्दाभिप्रायवशादेव सकारणत्वं सकार्यत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायेणाह **वियदा**दिष्विति । प्रसक्तो हि नाशो जीवे निषेध्यः;प्रसङ्गश्चात्र नश्यत्पदार्थानुप्रवेशवशात् ; यथा तिलेषु दह्यमानेषु तदनुप्रविष्टं तैलमपि दह्यते; ततश्च सर्वेषु भूतेषु नश्यत्स्ववत्यस्यैव सामर्थ्यलब्धमुक्तं **तत्र तत्र स्थितोऽपी**ति 'यः स सर्वेषु' [ ८।२० ] इत्यत्र 'सः' इत्यस्य प्रयोजनमान्द्यादुत्तरत्रापेक्षितत्वाच्च **सोऽव्यक्तोऽक्षर** इत्यन्वय उक्तः ; यद्वाऽयमध्याहारः । उक्त इत्यस्य कुत्रेत्याकाङ्क्षायामाह **ये त्वि**ति । अनयोः प्रकरणयोरक्षरशब्दस्य जीवविषयत्वं तत्रैव व्यक्तम् 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [१५।१७] इत्यादिभेदव्यपदेशात् । अतोऽत्राप्यध्याये 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' [ ८।३ ] 'अव्यक्तोऽक्षरः' इत्यक्षरशब्दाभ्यां परिशुद्धजीव एव व्यपदिश्यते । 'ये तु' [ १२।३ ] इत्यत्राक्षराव्यक्तशब्दयोर्द्वयोरपि प्रयोगादत्रापि 'अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः' इति तदुभयनिर्देशाच्च तत्प्रत्यभिज्ञासिद्धेरिति भावः । ननु कथं वक्ष्यमाणप्रकरणस्थमत्र 'उक्तः' इत्यनेनान्विततयोपादीयते ? इत्थं तत्तत्प्रकरणोपबृंहणीयश्रुत्यभिप्रायेण तदुपादानात्, 'निहताः पूर्वमेव' [ ११।३३ ] इतिवत्स्वसङ्कल्पारोहाद्वेति । 'आहुः' इत्यत्र कर्त्रपेक्षायां 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' [ ८।११ ] इति प्रसक्तमुचितं च कर्तृविशेषमाकृष्याह— **तं वेदविद** इति । 'स याति परमां गतिम्' [ ८।१३ ] इति सामान्यनिर्देश एतेन विशेषित इति दर्शयति— **अयमेव यः प्रयाती**त्यादिना । यद्वा अत्र 'तमाहुः परमां गतिम्' इति निर्देशः 'स याति परमां गतिम्' इति पूर्वोक्तप्रत्यभिज्ञापनार्थ इति भावः । तत्राक्षरपरमगतिशब्दयोः प्रयोगयोग्यतां दर्शयति— **प्रकृती**ति । अनिवृत्तिहेतुत्वेनायमर्थ उक्त इत्यभिप्रायेण **एवम्भूतं स्वरूपेणावस्थित**मित्युक्तम् । 'तद्धाम परमं मम' इति सम्बन्धमात्रविधानस्य प्रागेव सिद्धेः स्थानस्य च स्थानिसापेक्षत्वनियमात् "य आत्मनि तिष्ठन्" [ श. प. ब्रा. १४।६।५।३० ] इत्याद्युक्तमधिष्ठेयं स्थानपर्यायं धामशब्देन विवक्षितमित्याह **नियमनस्थान**मिति । अत्र किमपरं नियमनस्थानं यद्व्यवच्छेदाय परमशब्दः ? इत्यत्राह **अचेतने**ति । अत्र परमधामत्वव्यपदेशात्परिशुद्धात्मविषयत्वं सिद्धम् ; ततश्चाशुद्धो जीवोऽप्यपर एव विवक्षित इत्याह **तत्संसृष्टे**ति । यदि मुक्तोऽपि परमात्मपरतन्त्रः ; तर्हि स्वतन्त्रेण परमात्मना पुनरपि संसारगर्ते प्रक्षिप्येतेत्यत्राह **तच्चे**ति । **अयं भावः**— अविद्यादिर्हि संसारकारणम् , न तु पारतन्त्र्यं; अविद्यादेश्च प्रक्षयादीश्वरकारुण्यादीनां च स्वाभाविकत्वान्न मुक्तस्य संसारगन्ध इत्यर्थः । यद्वा न केवलं भगवत्प्राप्तिरेव अपुनरावृत्तिरूपा, किन्तु परिशुद्धजीवप्राप्तिरपि अवरोहणाभावात्तथेति भावः । 'नियमनस्थानं' इत्यस्याश्रितविशेषणोपादानारुचेराह **अथ वे**ति। अस्तु धामशब्दस्तेजःपर्यायः प्रकाशवाची, तस्य कथमत्रान्वयः ? इत्यत्राह **प्रकाशश्चे**ति । विशेषणफलितं दर्शयति— **प्रकृति-**

संसृष्टादिति। प्रकाशपक्षे—तत् परमं धाम, मम–मच्छेषभूतम्— इति वाक्यार्थः। यद्यपि 'अपरेयम्' [७।५] इत्यादिना प्रागेव स्वशेषत्वमुक्तम्; तथापि समष्टिचेतनमात्रविषयत्वं तत्र प्रतीयते; इह तु मुक्तस्यापि स्वशेषत्वमुच्यत इत्यपौनरुक्त्यम् ॥ २० ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.— अव्यक्तो भगवान् 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' इति 'मामुपेत्य' [८।१५] इत्यस्य परामर्शात्। 'अव्यक्तं परमं विष्णुं' इति प्रयोगाच्च गारुडे। धाम स्वरूपं तेजस्स्वरूपं 'तेजस्स्वरूपं च गृहं प्राज्ञैर्धामेति गीयते' इत्यभिधानात् ॥ २० ॥ २१ ॥**

६ ज. प्र. दी.—इदानीमव्यक्ताख्यात्मेति यदुक्तं तत्साधयितुमाह– **अव्यक्त** इति। 'मामुपेत्य'[८।१५;१६]इत्युक्तार्थस्य 'यं प्राप्य न निवर्तन्ते' इत्यव्यक्तविषयतया परामर्शात्। न केवलमव्यक्तशब्दो युक्तिबलात् भगवति नीयते। किन्तु वाचकस्य तस्येत्याह— **अव्यक्तमिति**। कथं तर्हि भगवता व्यक्तस्य स्वस्थानत्वमुच्यते ? इत्यत आह— **धामेति** ॥ २० ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.—पर इति। पर उत्कृष्टः। तस्माद्भूतग्रामात्। भावः पदार्थः। व्यक्तो नित्यसिद्धः। अव्यक्तात्प्रकृतेः। सनातनो नित्यः। यो भावः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥ २० ॥**

**अव्यक्तः प्रत्यक्षादिप्रमाणागोचरः, अक्षर इत्युक्तस्तमव्यक्तमाहुः। यं भावं प्राप्य न निवर्तन्ते संसारं नावतरन्ति तत्परमं धाम मम ॥ २१ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं 'आ ब्रह्मभवनाल्लोकाः'[८।१६] इत्येतदुपपादितम्; इदानीं 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' [८।१६] इत्येतदुपपादयति द्वाभ्याम्— **पर** इति। तस्माद्भूतग्रामबीजाद्धिरण्यगर्भाख्यादव्यक्तात्पर उत्कृष्टः, स्वाध्यस्तहिरण्यगर्भादिसकलप्रपञ्चसत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन तदधिष्ठानतया ततः श्रेष्ठ इति यावत्। तदधिष्ठानत्वादेव ततोऽन्यः अव्यक्तः अस्पष्टस्वरूपश्च, सर्वथा ज्ञातेऽज्ञाते वा वस्तुन्यध्यासायोगात्। एवं सर्वादिभूतहिरण्यगर्भाधिष्ठानत्वादेव सनातनश्चिरन्तनः, एवम्भूतो यो भावः पदार्थः सर्वेषु स्वाध्यस्तेषु हिरण्यगर्भादिभूतेषु नश्यत्स्वपि न विनश्यति ॥ २० ॥

नन्वस्त्वेवमव्यक्तभावस्याविनाशित्वम्; 'मामुपेत्य पुनर्जन्म न विद्यते' [८।१६] इति त्वां प्राप्तस्यापुनरावृत्तौ किमायातम् ? अत आह— **अव्यक्त** इति। यो भावः पूर्वश्लोकेन 'अव्यक्तः' इति 'अक्षरः' इति चोक्तः, तं भावं परमामपुनरावर्तिनीं गतिं गम्यं पुरुषार्थमाहुः श्रुतिस्मृतयः "पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः" [कठो. १।३।११] इत्यादिश्रवणात्। यं भावं प्राप्य न निवर्तन्ते, तन्मम परममुत्कृष्टं धाम स्वरूपम्। 'राहोः शिरः' इतिवत्। 'मम धाम' इति भेदकल्पनया षष्ठी। तद्धामेति च विधेयप्राधान्यान्नपुंसकनिर्देशः ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— व्यक्तिसम्बन्धाद्व्यक्तसंज्ञको जीव आब्रह्मपर्यन्त उक्तः। तस्मात्क्षरादन्योऽव्यक्तः व्यक्तिरहितः परो गुणातीतश्च सनातनः व्यक्तिमत्सु सर्वेषु नश्यत्सु न नश्यति अनुच्छित्तिधर्मत्वात् ॥ २० ॥

तथापि सोऽव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः। न चाव्यक्तशब्देन जीवः प्रकृतिर्वाऽभिधेया, 'यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते' इत्युक्तत्वात् जीवादौ तथात्वासम्भवात्; तथा सति नित्यमुक्तत्वापत्त्या शास्त्रसाधनादिवैफल्यापत्तेश्च। अतएव ज्ञानमार्गीयाणां तत्प्राप्तिरेव मुक्तिरिति तदाह— तमाहुः परमां गतिमिति। मम पुरुषोत्तमस्याधिष्ठानभूतं च तदित्याह– परमं मम धामेति वैकुण्ठभुवनं तेजश्च प्रकाशात्मकम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्। ते तु ब्रह्महृदं नीता मग्नाः कृष्णेन चोद्धृताः ॥ ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं' इत्यादिवाक्यात् ततो भूतप्रकृतिवियुक्तात्मा गुणातिगो द्युभ्वाद्यायतनोऽनन्तरूपोऽगणितानन्दः सर्वधर्माश्रयः पुरुषप्रकृतिको ब्रह्मपदवाच्योऽक्षरोऽध्यात्मरूपं पुरुषोत्तमस्य धाम 'तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्। विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः ॥' इति वाक्यात्। सोऽयं ससाधनज्ञानलभ्यः; अहं तु न तथाऽहैतुकभक्तिलभ्यत्वादित्याह ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं तेषां पुनरुद्गममुक्त्वा स्वप्राप्तौ तदभावाय स्वस्थानस्वरूपमाह— **परस्तस्मादिति**। तुशब्देन पूर्वस्य परत्वं व्यावर्त्तयति तस्मात्पूर्वोत्पत्तिकारणात्मकादन्यो भावः अव्यक्तः, तस्यापि मूलभूत इत्यर्थः। अव्यक्तात्सनातनः अनादिसिद्धः परः, सर्वोत्तम इत्यर्थः। तत्स्वरूपमाह— यः सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु सत्सु न विनश्यति न विकारमाप्नोतीत्यर्थः ॥ २० ॥ एवमव्यक्तपरस्वरूपमुक्त्वा ज्ञानार्थं विशिनष्टि— **अव्यक्त** इति। अव्यक्तः अप्रकटः ज्ञातुमशक्यो यो भावः स अक्षरः, न क्षरति न चलति मच्चरणांशरूप इत्युक्तः, तमक्षरं वेदादिविदः परमां परस्य अक्ष-

मेयां गतिमाहुः। ननु ते तस्य परमगतित्वं कुतो वदन्ति। इत्याशङ्क्याह– यं प्राप्य न निवर्तन्ते इति। यत्स्थानं प्राप्य न निवर्तन्ते पुनर्जन्मानो न भवन्ति, अतस्तथा वदन्तीत्यर्थः। तथात्वं तस्य स्वसम्बन्धादित्याह— तदिति। तदक्षरात्मकं मम परममुत्कृष्टं धाम गृहमित्यर्थः। मद्गृहत्वात् पुनरावृत्तिर्न भवतीति भावः॥ २१॥

११ नी० भा० दी०— एवं ब्रह्मभुवनान्तानामावृत्तिं व्याख्याय यत्प्राप्तानामावृत्तिर्नास्ति 'तदक्षरं परमं ब्रह्म' इत्युपक्रान्तं वस्तु लक्षयति— परस्तस्मादिति त्रिभिः। परस्तस्माद्व्यक्तात् भूतग्रामबीजभूतादविद्यालक्षणादनृतात् अन्योऽत्यन्तविलक्षणो भावः सत्ता। तुशब्दात्पराभिमतं सत्तासामान्यं वारयति, तस्य सामान्यादिभ्यो व्यावृत्तत्वात्, अस्य च सर्वानुगतत्वात्। सनातनो नित्यैकरूपः। उपाधिमान् हि उपाधिविक्रियया नित्यं विक्रियत इव भाति, अयं त्वनुपाधित्वान्नित्यैकरूप एव; यः स भावः सर्वेषु भूतेषु वियदादिषु नश्यत्सु न विनश्यति केवलसत्तारूपत्वात्। एतेन तस्य कालत्रयाबाध्यत्वं नित्यत्वं चोक्तम्॥ २०॥

अव्यक्तो न व्यज्यत इति दृश्यत्वं निरस्तम्। अक्षरोऽश्नुते व्याप्नोतीति त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वमुक्तम्। तं भावं परमां गतिं, ब्रह्मलोकान्ता गतिरपरमा, कार्यत्वात्। इयं तु परमा कार्यकारणातीतत्वात् आहुः, "एषाऽस्य परमा गतिः" [बृ. उ. ४।३।३२] इत्यादयः श्रुतयः। यं भावं प्राप्य न निवर्त्तन्ते पुनः संसारे न पतन्ति तदिति विधेयापेक्षं क्लीबत्वम्। स एव मम विष्णोः परमं उपाध्यस्पृष्टं धाम प्रकाशः "तद्विष्णोः परमं पदम्" [ऋक्सं. १।२।६।५ कठो. ३।९] इति श्रुतिप्रसिद्धं निष्कलं ब्रह्म॥ २१॥

**पुरुषः स परः पार्थ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।**
**यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्॥ २२॥**

**१ शा. भा.— तल्लब्धेरुपाय उच्यते— पुरुष इति पुरि शयनात्पूर्णत्वाद्वा, स परः पार्थ! परो निरतिशयो यस्मात्पुरुषान्न परं किञ्चित्स भक्त्या लभ्यस्तु ज्ञानलक्षणयाऽनन्ययाऽऽत्मविषयया। यस्य पुरुषस्यान्तःस्थानि मध्यस्थानि कार्यभूतानि भूतानि। कार्यं हि कारणस्यान्तर्वर्ति भवति। येन पुरुषेण सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तमाकाशेनेव घटादि॥ २२॥**

---

१ अत्रैवं सन्दर्भशुद्धिं दर्शयति **वामनः**—

अस्मिन्मुक्तिप्रकरणे प्रसङ्गादितरा अपि। गतीराह हरिर्विद्युस्तास्वावृत्तिं ध्रुवामिति॥
आवर्तिन्योऽन्यगतयो मुक्तिस्त्वावृत्तिवर्जिता। निर्गुणा सगुणा चेति प्रसिद्धा द्विविधा च सा॥
नैव ज्ञानादृते मुक्तिर्भक्तानां सा गुणान्विता। निर्गुणोपासकानां तु भवेत्कैवल्यलक्षणा॥
न कोऽपि भेदः कैवल्यमुक्तौ यद्यपि विद्यते। सद्यः क्रमाच्चेति भेदौ तत्प्राप्तौ स्तस्तथाप्युभौ॥
सद्यः शरीरपातान्ते मुच्यन्ते ज्ञानयोगिनः। हठयोगं श्रयन्तस्तु क्रमात्कालेन भूयसा॥
श्रमेऽथ तेषामनुवर्ण्यमाने चेतश्चकम्पे कपिकेतनस्य। अतः स्वसौलभ्य 'मनन्यचेता' इत्याह देवो भजतां दयालुः॥
भूत्वाऽपि सुलभो दत्ते भक्तेभ्यः सुखमक्षयम्। इत्यसूसुचदव्यग्रो 'मामुपेत्ये' ति माधवः॥
येषां क्लेशप्रसङ्गादकथि सुलभता स्वस्य भक्तोत्तमेभ्यो लब्ध्वा ते ब्रह्मलोकं तदुपरि समये मुक्तिमप्याप्नुवन्ति।
तस्माच्छ्रेयस्त्वमेषामितिमतिमुदितामुल्लुनन्निन्द्रसूनो 'राब्रह्मे' त्यादिनोचे भवभयमभवो ब्रह्मलोकङ्गतानाम्॥
अन्ये च्यवन्तु हठयोगपरास्तु तत्र स्थित्वाऽऽप्नुवन्ति विधिना सह मोक्षमेव।
तज्ज्ञानिभिः सुसमता विकलैव तेषामित्यर्जुनो मनसि मंस्यत इत्यथाग्रे॥
'सहस्रयुगपर्यन्त' मिति लोके विधेः प्रभुः। मोक्षप्रतीक्षया तेषां वासं चिरतरं जगौ॥
पत्काङ्क्षिणः पुण्यरथेन तूर्णं सद्यश्च यातेषु यथेष्टदेशम्। मुक्तेष्वरं ज्ञानिषु ते तथैव चित्ते व्यथन्ते हठयोगनिष्ठाः॥
सूर्योदयास्तरहिते ब्रह्मलोके कथं विदुः?। कालमित्यवदद्व्यक्त 'मव्यक्ता' दित्यथाब्जदृक्॥
नक्तंदिवं विधेः शश्वत्प्राप्नुवन्प्रलयोदयौ। 'भूतग्रामः' स इत्याह तत्प्रवाहस्य नित्यताम्॥
नश्वरो भूतसङ्घोऽसौ 'परो' ऽव्यक्त' स्त्वनश्वरः। इत्यूचेऽथ प्रसङ्गेन नित्यत्वं परमात्मनः॥
प्रसक्तानुप्रसक्त्याऽत्र भक्त्या लभ्यत्वमस्य च। उक्त्वाऽनुसन्दधात्यग्रे प्रयाणं हठयोगिनाम्—इति॥—

२ आ. शां व्या.— नन्वव्यक्तादतिरिक्तस्य तद्विलक्षणस्य परमपुरुषस्य प्राप्तौ कश्चिदसाधारणो हेतुरेषितव्यः, यस्मिन्प्रेक्षापूर्वकारी तत्प्रेप्सया प्रवृत्तो निर्वृणोति, तत्राह— **तल्लब्धेरि**ति। परस्य पुरुषस्य सर्वकारणत्वं सर्वव्यापकत्वं च विशेषणद्वयमुदाहरति— **यस्ये**ति। निरतिशयत्वं विशदयति— **यस्मादि**ति। तुशब्दोऽवधारणार्थः। भक्तिर्भजनं, सेवा प्रदक्षिणप्रणामादिलक्षणा, तां व्यावर्तयति— **ज्ञाने**ति। उक्ताया भक्तेर्विषयतो वैशिष्ट्यमाह— **अनन्यये**ति। कोऽसौ पुरुषो यद्विषया भक्तिस्तत्प्राप्तौ पर्याप्ता? इत्याशङ्क्योत्तरार्धं व्याचष्टे— **यस्ये**ति। कथम्भूतानां तदन्तस्स्थत्वं? तत्राऽऽह— **कार्यं** **ही**ति। "स पर्यगात्" [ ई.उ. ८ ] इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह— **येने**ति ॥ २२ ॥

**३ रा. भा.— ज्ञानिनः प्राप्यं तु तस्मादत्यन्तविभक्तमित्याह— पुरुष इति 'मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय! । मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' [ ७।७ ] 'मामेभ्यः परमव्ययम्' [ ७।१३ ] इत्यादिना निर्दिष्टस्य यस्य अन्तस्स्थानि सर्वाणि भूतानि, येन च परेण पुरुषेण सर्वमिदं ततं, स परः पुरुषः 'अनन्यचेताः सततम्' [ ८।१४ ] इत्यनन्यया भक्त्या लभ्यः ॥ २२ ॥**

४ वे. ता. चं.—'पुरुषः सः' इति श्लोके तुशब्देनार्थान्तरद्योतनात् 'अनन्यया भक्त्या' इत्यस्य सामर्थ्यात्पुरुषशब्दस्य परमात्मनि पुरिशयत्वपूर्णत्वपूर्वसद्भावपुरुदानादिभिर्निमित्तैः "सहस्रशीर्षा पुरुषः" [ऋक्सं.८।४।१७।८ यजुस्सं.३१।१] इत्यादिप्रयोगप्राचुर्यात्परशब्देन विशेषणाच्च पूर्वोक्तात्फलादधिकफलोपदेशार्थोऽयं श्लोक इत्यभिप्रायेणाह— **ज्ञानिन** इति। **विभक्तं** विवेचकैरिति शेषः। विलक्षणमिति वाऽर्थः। गगनाद्यन्तस्थितावपि गगनादेः परत्वाभावात्तत्सिद्ध्यर्थं 'यस्य' इत्यादिप्रसिद्धवन्निर्देशोऽत्र पूर्वोक्तपरत्वपर इति दर्शयति— **मत्त** इति। अनुवादपुरोवादयोरैकार्थ्यमिति भावः। "यस्मात्परं नापरम्" इत्यारभ्य "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्" [ श्वे. उ. ३।९ ] इति श्रुतिस्मारणाय **येन च परेण पुरुषेणे**त्युक्तम्। भक्तेरनन्यत्वं कीदृशं? इत्यत्राह— **अनन्यचेता** इति ॥ २२ ॥

**५ आ. मा. भा.— परमसाधनमाह— पुरुष इति ॥ २२ ॥**

६ ज. प्र. दी.—'भक्त्या युक्तः' [ ८।१० ] इति भक्तेर्भगवत्प्राप्तिसाधनत्वस्योक्तत्वात् पुनरुक्तमुत्तरं वाक्यमित्यत आह— **परमे**ति। अन्यैः साधनैः सहोक्तत्वेन तत्साम्यशङ्कायां साधनेषु भक्तेः परमत्वमनेनाह। तच्च पुनर्वचनेनैव द्योत्यमिति भावः ॥ २२ ॥

**७ ह. पै. भा.—पुरुष इति। यस्यान्तस्स्थानि भूतानि, अन्तस्तिष्ठन्तीत्यन्तस्स्थानि। येनाव्यक्तेनेदं सर्वं ततं व्याप्तम् ॥ २२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—तत्प्राप्तौ च 'अनन्यचेताः सततम्' [ ८।१४ ] इति प्रागुक्त एवोपाय इत्याह— **पुरुष** इति। यस्य पुरुषस्य अन्तस्स्थानि भूतानि, कार्याणां कारणान्तर्वर्तित्वात्; अत एव येन सर्वमिदं जगत् ततं व्याप्तम्, अतः स परो निरतिशयः पुरुषोऽहमनन्यया विषयान्तरवर्जनेन स्वैकतानया प्रेमलक्षणया भक्त्या लभ्यः, नान्यथेत्यर्थः। यद्वा न विद्यतेऽन्यद्वस्तु यस्यां सा अनन्या ब्रह्माद्वैतगोचरा, तया भक्त्या ज्ञानलक्षणया लभ्य इति (शां.) भाष्योक्त एवार्थोऽत्र द्रष्टव्यः॥२२॥

**९ व० त० दी०—पुरुषः स पर इति। अनेनाक्षरात्परस्य स्वस्य पूर्णानन्दस्य निर्हेतुकभक्तिलभ्यत्वमुक्तम्। तेन न ज्ञानमार्गीयाणां पुरुषोत्तमप्राप्तिरिति सिद्धम्। परस्य लक्षणमाह— यस्यान्तस्स्थानि भूतानि इति साक्षराणि। एतच्च स्पष्टं मृद्भक्षणप्रसङ्गे श्रीगोकुलेश्वरे 'येन सर्वमिदं ततं' [ १८।४६ ]इति माहात्म्यं परिच्छिन्नमेव व्यापकमिति दामोदर-**

---

--पुरं शरीरम्, तस्मिन् शेते पुरुषः। 'नवद्वारं पुरं पुण्यमेतैर्भावैः समन्वितम्। व्याप्य शेते महात्मा यत्तस्मात्पुरुष उच्यते॥ (१२।२१०।३७) इति भारते ॥ यद्वा- 'अस्ते' र्व्यस्ताक्षरयोगात् आसीत्पुरा पूर्वमेवेति विग्रहं कृत्वा व्युत्पादितः पुरुषः। 'पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्' इति श्रुतेः॥ पुरुषु भूरिषु उत्कर्षशालिषु सत्त्वेषु सीदतीति वा, पुरूणि भुवनानि संहारसमयेऽस्यति अन्तं करोति वा, पूर्णत्वात्पूरणाद्वा सदनाद्वा पुरुषः। 'पूरणात्सदनाच्चैव ततोऽसौ पुरुषोत्तमः।'(५।७०।११) इति पञ्चमवेदे॥ सर्वस्मात्पुरा सदनात् सर्वपापस्य सादनाद्वा पुरुषः। 'स यत्पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्तस्मात्पुरुषः।' 'स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयः' इति श्रुतेः। इति भगवत्पादीये विष्णुसहस्रनामभाष्ये॥ वैयाकरणास्तु 'पुर अग्रगमने' (धा. तु. ६६) अस्मात् 'पुरः कुषन्' (उ. ५२३) इत्यौणादिकेन व्युत्पादयन्ति॥ पुरु बहु सनोमिति वा। 'षणु दाने' (धा. पा. तना. २) अस्मात् 'अन्येष्वपि दृश्यते' (अष्टा. ३।२।१०१) इति डः। इति केचित्॥ अनन्यतालक्षणमुक्तं नारदेन—'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता' (भ. सू. १०) इति। —अविर्गीता।

लीलायां इदं सर्वं 'अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदवत्तदुक्तं' इत्यादिसूत्रभाष्ये [ब्र.सू.३।३।३३]प्रपञ्चितम्। यत्तु (रामानुजाचार्यैः) कैश्चिदुक्तं 'भूम्यादिप्रकृतिर्जीवभूता च भगवतो धाम' इति तद्युक्तमुक्तम्। तस्माज्जीवभूतस्य च तद्धामत्वं श्रूयतेऽपि "यस्य पृथिवी शरीरं" [बृ.उ.३।७।३] "यस्यात्मा शरीरं" [श.ब्रा.१४।६।७।५] इति। न त्वक्षरत्वं तदा(सदा)जीवभूतस्य सम्भवति ज्ञानोत्तरं तत्त्वसिद्धेः। तस्माज्जीवातीतः सर्वकारणकारणभूतोऽक्षरोऽपि पृथगित्यवोचाम। यत उक्तं भागवते तृतीये[३९–४१] 'आण्डकोशो बहिरयं पञ्चाशत्कोटिविस्तृतः। दशोत्तराधिकैर्यत्र प्रविष्टः परमाणुवत्। लक्ष्यतेऽन्तर्गताश्चान्ये कोटिशो ह्यण्डराशयः॥ तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम्। विष्णोर्धाम परं साक्षात् पुरुषस्य महात्मनः॥'इति तस्याक्षरस्यांशः पुरुषस्तु समष्टिव्यष्ट्यभिमानी वैराजः, स जीवलोके जीवभूत इति व्यपदिश्यते। पुरुषोत्तमस्तु एतत्त्रितयान्य इति स्वयमेव वक्ष्यति। स च सर्वसाधनफलात्मजीवलोकोत्तररसानन्दस्वरूपो "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन" [कठो. २।२२] किन्तु "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" [कठो. २।२२] इति श्रुतेः स्वानुगृहीतभक्तिलभ्य इति प्रतिभाति। तथैवाग्रे प्रदर्शयिष्यामः॥ २२॥

१० पु. अ. त.— ननु यद्धामगता न निवर्तन्ते स त्वं कथं प्राप्यः? इत्याकाङ्क्षायामाह— **पुरुष** इति। हे पार्थ मद्भक्त! सोऽहं परः पुरुषोत्तमः अनन्यया ऐहिकपारलौकिकयोर्मच्छरणैकरूपया मदितरज्ञानरहितया भक्त्या स्नेहेन लभ्यः प्राप्यः। स कीदृशः? इत्यत आह— **यस्येति**। यस्य अन्तःस्थानि भूतानि चराचराणि रमणकारणात्मकानि यस्य मध्ये स्वरूपे तिष्ठन्ति; येन इदं परिदृश्यमानं सर्वं जगत् ततं व्याप्तम्। अत्रायं भावः-लौकिकाः सर्वे क्रीडोपयुक्ता न भवन्ति, आचरणस्थितत्वात्; अतस्ते ज्ञानादिना मद्धाम प्राप्य लीनास्तत्रैव मुक्ता भवन्तीत्यर्थः। येन क्रीडार्थमाविर्भूतेन तदधिष्ठानत्वादिदं मयि जगत् व्याप्तं सत् ततं विस्तृतं विभातीति भावः॥ २२॥

११ नी० भा० दी०— एवं ज्ञेयं प्रत्यगभिन्नं ब्रह्मोक्त्वा जगत्कारणमुपासनीयमितोऽन्यदित्याह— **पुरुष** इति। तुशब्दः पूर्ववैलक्षण्यद्योतनार्थः। हे पार्थ! योऽयं भक्त्या आराधनेन उपासनेनेति यावत्। कीदृश्या? अनन्यया, नास्त्यन्यो यस्यां सा तया; उपास्योपासकभेदमन्तरेण अहंग्रहरूपयेत्यर्थः। तया भक्त्या यो लभ्यः स परः पूर्वोक्तादव्यावृत्ताननुगतादक्षरादन्यः कारणात्मेति यावत्। लभ्यत्वादेवास्यान्यत्वमपि, न ह्यात्मा च लभ्यश्चेति युज्यते। अस्य कारणत्वमेवाह— यस्येति। यस्य पुरुषस्यान्तःस्थानि बीजे द्रुम इव सर्वाणि वियदादीनि स्थावरजङ्गमानि च; येन च इदं सर्वं ततं व्याप्तमुपादानत्वात्, स भक्त्या लभ्यत इति योजना॥ २२॥

मृतस्य देवयानपितृयाणापरनामकौ अर्चिरादिमार्गौ।

## यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।
## प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ॥ २३॥

---

१ **वामन**स्तत्र-अत्र 'यत्र' पदेनाध्वा योगिनां व्यपदिश्यते। मार्गं कालं च वक्ष्यामीत्यर्थस्तेन प्रतीयते॥
अग्रेतने श्लोकयुग्मे 'तत्र' शब्देन चोभयोः। परामर्शात्तत्र मार्गे काले चेत्यवसीयते॥
अग्निर्ज्योतिरनावृत्तौ धूमश्चावृत्तिवर्त्मनि। मार्गाभिमानिनोऽन्ये तु ज्ञेयाः कालाभिमानिनः॥
व्याख्यातारोऽविदित्वैतन्मुह्यन्त्यत्र वृथेतरे। कालं प्रतिज्ञाय कथं वह्न्यादीनब्रवीदिति॥
इति व्याख्याति। तथा—
मन्यन्ते केचिदत्रोक्ता योगिनः कर्मयोगिनः। धूमादिमार्गः श्रुतिभिस्तेषामेवोदितो यतः॥
तदयुक्तं; यतः षष्ठे 'प्राप्य पुण्यकृता' मिति। आवृत्तिमविशेषेणासूसुचत्कर्मयोगिनाम्॥
आवृत्तिर्दक्षिणे यद्वदयने तद्वदुत्तरे। कर्मिणां चेद्विशेषः कः केशवेनात्र कीर्तितः?॥
उत्तरेऽपुनरावृत्तिरज्ञानामपि कर्मिणाम्। यदि स्यादयने वाम्यस्तदभावोऽपरे भवेत्॥
मर्त्यो विषेण म्रियतेऽमृतेन तथाऽमरो जातु न मृत्युमेति। गुणः क इत्थं वदताममृतस्य विषस्य वोक्तो भवति प्रसिद्धः?॥
ये हि ब्रह्मविदो ब्रह्म भावमत्रैव ते गताः। उत्तरायणयानेन तेषां किमधिकं भवेत्?॥
ये कर्मयोगिनस्तेषामावृत्तिर्नियता पुनः। किं दक्षिणायनेनैषां भविष्यत्यधिकं ततः?॥
अपक्वज्ञानिनस्तस्माद्धठयोगावलम्बिनः। ये तेऽत्र योगिनो ज्ञेया अन्येऽर्थास्तु न सङ्गताः॥
इति प्रतिपादयति। तेन 'योगिनः कर्मयोगिनः' इति नव्यव्याख्यानमपि पराहतम्। —**अविगीता**।

**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम् ।**
**तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ २४ ॥**

१ शां. भा.— प्रकृतानां योगिनां प्रणवावेशितब्रह्मबुद्धीनां कालान्तरमुक्तिभाजां ब्रह्मप्रतिपत्तय उत्तरो मार्गो वक्तव्य इति 'यत्र काले' इत्यादि विवक्षितार्थसमर्पणार्थमुच्यते— आवृत्तिमार्गोपन्यास इतरमार्गस्तुत्यर्थः— यत्रेति । यत्र काले प्रयाता इति व्यवहितेन सम्बन्धः । यत्र यस्मिन् काले त्वनावृ-

---

१ अत्राग्निर्ज्योतिरित्येतदग्निसम्बन्धि तद्रूपं वा ज्योतिरिति देवतैक्यपरत्वेन व्याख्येयम् । अग्रिमश्लोक एतत्प्रतियोगितयैकस्यैव धूमस्योक्तत्वात्; मूलभूतायां श्रुतौ 'तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षात् यान्षण्मासानुदङ्ङादित्य एति' (बृ. ६।२।१५) इत्यर्चिर्मात्रस्य श्रुतत्वात्, 'क्रमात्ते सम्भवन्त्यर्चिरहः शुक्लं तथोत्तरम् । अयनं देवलोकं च सवितारं सवैद्युतम् ॥' (याज्ञस्मृ. ३।१९३) इति समानविषयस्मृत्यन्तरसंवादात्, 'अर्चिरादिना तत्प्रतीतेः' (ब्र. सू. ४।३।१) इति सूत्रेऽप्यर्चिरादित्वदर्शनाच्चेत्याहुः ॥

अथ यदनयोर्देवयानपितृयाणाख्ययोरध्वनोरहरादयो देवता एवातिवाहिक्य उच्यन्ते, न काला इति निर्णीतमुत्तरमीमांसायाम् 'आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात्' (४।३।४) इत्यादिना, तत् 'अर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षात् यान्षडुदङ्ङेति मासांस्तान्' (छां. ४।१५।५) इत्यादिश्रुतिविषयकमेव । 'वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थत्वात्सूत्राणाम्' (शारी. भा. १।१।२) अत्र त्वाकरे महाभारते भीष्मस्योत्क्रान्तावुत्तरायणप्रवृत्तिप्रतीक्षादर्शनात्काला एवैत इत्यभ्युपगन्तव्यम् । तथा च (भीष्मः कथं महात्मा सन्संस्थाता दक्षिणायने ? ॥' इति वदत्सु हंसेषु—) 'तानब्रवीच्छान्तनवो नाहं गन्ता कथञ्चन । दक्षिणावर्त आदित्ये एतन्मे मनसि स्थितम् ॥ १०४ ॥ गमिष्यामि स्वकं स्थानमासीद्यन्मे पुरातनम् । उदगायन आदित्ये हंसाः सत्यं ब्रवीमि वः ॥ १०५ ॥ धारयिष्याम्यहं प्राणानुत्तरायणकाङ्क्षया ।' (भी. प. ११९।१०६) 'दिशं वैश्रवणाक्रान्तां यदा गन्ता दिवाकरः ॥ नूनं सप्ताश्वयुक्तेन रथेनोत्तमतेजसा । विमोक्ष्येऽहं तदा प्राणान्सुहृदः सुप्रियानिव ॥' [६।१२०।९३] इति । 'आगन्तव्यं च भवता समये मम पार्थिव ! । विनिवृत्ते दिनकरे प्रवृत्ते चोत्तरायणे ॥' (१३।१६७।१४) 'स निर्ययौ गजपुराद्याजकैः परिवारितः । दृष्ट्वा निवृत्तमादित्यं प्रवृत्तं चोत्तरायणम् ॥' (१३।१६८।६) 'दिष्ट्या प्राप्तोऽसि कौरव्य ! सहामात्यो युधिष्ठिर ! । परिवृत्तो हि भगवान् सहस्रांशुर्दिवाकरः ॥ २६ ॥ माघोऽयं समनुप्राप्तो मासः सौम्यो युधिष्ठिर ! । त्रिभागशेषः पक्षोऽयं शुक्लो भवितुमर्हति' ॥ (१३।१६८।२८) इति च दक्षिणायने सश्वेतवाहनेन शिखण्डिना शितशरशतैः शताङ्गान्निपातितोऽपि शान्तनव औत्तरायणं प्राणानदीधरदिति तत्र तत्रोपवर्ण्यते भारते । नोपपद्येत ह्येतत्कालनैरपेक्ष्यकल्पने इति ॥ अत्रोच्यते— देवता एवात्राप्यहरादयो न कालाः; गीतायाः श्रुतिमूलकत्वात्, श्रौतयोरेव देवयानपितृयाणयोरत्र प्रत्यभिज्ञानात्, वेदान्तसूत्राणां गीतावाक्यकुसुमग्रथनेऽपि प्रवृत्तिदर्शनाच्च विषयभेदकल्पनस्य सर्वथानौचित्यात् । न च भीष्मस्य कालप्रतीक्षाविरोधः, तस्य स्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थत्वात् । तथा चोक्तं तेनैव—

'ऐश्वर्यभूतः प्राणानामुत्सर्गो हि यतो मम । तस्मात्प्राणान्धारयिष्ये मुमूर्षुरुदगायने ॥

यश्च दत्तो वरो मह्यं पित्रा तेन महात्मना । 'छन्दतो' मृत्युरित्येवं तस्य चास्तु वरस्तथा ॥ (६।११९।१०७-८) इति ।

भागवतेऽपि—

'धर्मं प्रवदतस्तस्य स कालः प्रत्युपस्थितः । यो योगिनश्छन्दमृत्योर्वाञ्छितस्तूत्तरायणः' ॥ (१।९।२९) इति तत्प्रतीक्षायाश्छन्दमृत्युतामूलत्वं सूचितम् । अन्यत्र च देशकालनिरपेक्षता स्पष्टतयोक्ता— 'यदा जिहासुरिममङ्ग ! लोकं काले च देशे च मनो न सज्जयेत्—' (२।२।१५) इति । अत एवाहुः श्रीशङ्करभगवत्पादा अपि शारीरभाष्ये— 'भीष्मस्य प्रतिपालनमाचारप्रतिपालनार्थं पितृप्रसादलब्धस्वच्छन्दमृत्युताख्यापनार्थं च' (४।२।२०) इति । 'अज्ञानामुत्तरायणे दैवान्मरणं चेत् प्रशस्तम् , इत्यभिज्ञाभिवचनरूपाचारपरिपालनार्थं भीष्मस्य प्रतीक्षा' इति रत्नप्रभा । अतोऽहरादीनां देवतात्वे न काऽप्यनुपपत्तिः ॥

किञ्च— महाभारत एव भीष्मपतनात्पञ्चम एव दिने रणमूर्धनि योगधारणयोत्क्रान्तस्य द्रोणस्य ब्रह्मलोकप्राप्तिरुपवर्णिता— 'द्रोणोऽपि शस्त्राण्युत्सृज्य परमं साङ्ख्यमास्थितः ॥ ४९ ॥ दिवमाक्रामदाचार्यः साक्षात्सद्भिर्दुराक्रमम् ॥ ५३ ॥ वयमेव तदाद्राक्ष्म पञ्च मानुषयोनयः ॥ ५६ ॥ योगयुक्तं महात्मानं गच्छन्तमपरां गतिम् ॥ ५७ ॥ अन्ये तु सर्वे नापश्यन् भारद्वाजस्य धीमतः ॥ ५८ ॥ महिमानं महाराज ! योगयुक्तस्य गच्छतः । ब्रह्मलोकं महद्दिव्यं देवगुह्यं हि तत्परम् ॥ ५९ ॥ नापश्यन् गच्छमानं हि तं सार्धमृषिपुङ्गवैः । आचार्यं योगमास्थाय ब्रह्मलोकमरिन्दमम् ॥' (७।१९२।६०) इति । सा चोत्तरायणकाल एव प्रयातस्य ब्रह्मलोकप्राप्त्यभ्युगमे न सङ्गच्छेत । तस्मादत्रापि देवता एवाहरादयो न काला इति सुस्थमेव सर्वम् ॥ — अविगीता ।

त्तिमपुनर्जन्म आवृत्तिं तद्विपरीतां चैव। 'योगिनः' इति योगिनः कर्मिणश्चोच्यन्ते। कर्मिणस्तु गुणतः 'कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] इति विशेषणाद्योगिनः। यत्र काले प्रयाता मृता योगिनोऽनावृत्तिं यान्ति, यत्र काले च प्रयाता आवृत्तिं यान्ति, तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु ज्ञानायत्ता परमपुरुषप्राप्तिरुक्ता, न च ज्ञानं मार्गमपेक्ष्य फलाय कल्पते, विदुषो गत्युत्क्रान्तिनिषेधश्रुतेः ; तथा च मार्गोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्य सगुणशरणानां तदुपदेशोऽर्थवानित्यभिप्रेत्याऽऽह-- **प्रकृतानामिति**। वक्तव्य इति यत्र काल इत्याद्युच्यत इति सम्बन्धः। स चेद्वक्तव्यस्तर्हि किमित्यध्यात्मादिभावेन सविशेषं ब्रह्म ध्यायतां फलाप्तये मूर्धन्यनाडीसम्बद्धे देवयाने पथ्युपास्यत्वाय वक्तव्ये कालो निर्दिश्यते ? तत्राऽऽह— **विवक्षितेति**। सोऽर्थो मार्गस्तदुक्तिशेषत्वेन कालोक्तिरित्यर्थः। पितृयाणमार्गोपन्यासस्तर्हि किमिति क्रियते ? तत्राऽऽह— **आवृत्तीति**। मार्गान्तरस्याऽऽवृत्तिफलत्वादस्य चानावृत्तिफलत्वात्तदपेक्षया महीयानयमिति स्तुतिर्विवक्षितेति भावः। 'योगिनः' इति ध्यायिनां कर्मिणां च तन्त्रेणाभिधानमित्याह— **योगिन इति**। कथं कर्मिषु योगिशब्दो वर्तताम् ? इत्याशङ्क्यानुष्ठानगुणयोगादित्याह—**कर्मिणस्त्विति**। गुणतो योगिन इति सम्बन्धः। तत्रैव वाक्योपक्रमस्याऽऽनुकूल्यमाह-- **कर्मयोगेनेति**। अवशिष्टान्यक्षराणि व्याचक्षाणो वाक्यार्थमाह— **यत्रेति**। योगिनो ध्यायिनोऽत्र विवक्षिता आवृत्तावधिकृता योगिनः कर्मिण इति विभागः॥२३॥

१ शां. भा.— तं कालमाह--अग्निरिति। अग्निः कालाभिमानिनी देवता, तथा ज्योतिर्देवतैव कालाभिमानिनी। अथवाऽग्निज्योतिषी यथाश्रुते एव देवते। भूयसा तु निर्देशो यत्र काले तं कालमित्याम्रवणवत्। तथाऽहर्देवताऽहरभिमानिनी, शुक्लः शुक्लपक्षदेवता, षण्मासा उत्तरायणं तत्रापि 'देवतैव मार्गभूता' इति स्थितोऽन्यत्र[ब्र.सू.भा. ४।३।४]अयं न्यायः। तत्र तस्मिन्मार्गे प्रयाता मृता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो ब्रह्मोपासनपरा जनाः। क्रमेणेति वाक्यशेषः। न हि सद्योमुक्तिभाजां सम्यग्दर्शननिष्ठानां गतिरागतिर्वा क्वचिदस्ति "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" [बृ.उ.४।४।६] इति श्रुतेः, ब्रह्मसँलीनप्राणा एव ते; ब्रह्ममया ब्रह्मभूता एव ते। क्रमेण तु गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः॥२४॥

२ आ. शां. व्या.— कालप्राधान्येन मार्गद्वयोपन्यासमुपक्रम्य तमेव प्रधानीकृत्य देवयानं पन्थानमवतारयति-- **तं कालमिति**। यथोपक्रमं व्याख्याय यथाश्रुतं व्याख्याति-- **अथवेति**। कथं तर्हि देवतानामतिनेत्रीणां ग्रहणे कालप्राधान्येन निर्देशः श्लिष्यते ? तत्राऽऽह-- **भूयसां त्विति**। मार्गद्वयेऽपि कालाद्यभिमानिन्यो देवताः कालशब्देनोच्यन्ते, कालाभिमानिनीनां भूयस्त्वात्कालशब्देन सर्वासां देवतानामुपलक्ष्यत्वं विवक्षित्वा कालकथनमित्यर्थः। यथाऽऽम्राणां भूयस्त्वाद्विद्यमानेष्वपि द्रुमान्तरेषु आम्रैरेव वनं निर्दिश्यते तद्वदित्युदाहरणमाह— **आम्रेति**। ननु मार्गचिह्नानां भोगभूमीनां वा तत्तच्छब्दैरुपादानसम्भवे किमिति देवताग्रहणं ? इत्याशङ्क्य 'आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात्' [ब्र. सू. ४।३।४] इति न्यायेनोत्तरमाह— **इति स्थित इति**। तेषामग्न्यादीनां समीपमिति सामीप्ये तत्रेति सप्तमी। ब्रह्म कार्योपाधिकं परं वा ब्रह्म परम्परया मुक्त्यालम्बनमत एव क्रमेणेत्युक्तम्। निर्गुणमप्रपञ्चं ब्रह्मास्मीति विद्यावतो व्यवच्छिनत्ति-- **ब्रह्मोपासनेति**। ननु ब्रह्मशब्दस्य मुख्यार्थत्वार्थं परब्रह्मविदामेवेयं गतिरुच्यते, न बादर्यधिकरणविरोधादित्याह— **नहीति**॥ २४ ॥

३ रा. भा.— अथात्मयाथात्म्यविदः परमपुरुषनिष्ठस्य च साधारणीमर्चिरादिकां गतिमाह; द्वयोरप्यर्चिरादिका गतिः श्रुतौ श्रुता, सा चापुनरावृत्तिलक्षणा; तथा पञ्चाग्निविद्यायां "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहः" [ छां. उ. ५।१०।१ ] इत्यादौ अर्चिरादिकया गत्यागतस्य परब्रह्मप्राप्तिरपुनरावृत्तिश्चाम्नाता "स एतान् ब्रह्म गमयति .... एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" [ छां. उ. ४।१५।६ ] इति।

न च प्रजापतिवाक्यादौ श्रुतपरविद्याङ्गभूतात्मप्राप्तिविषयेयं 'तद्य इत्थं विदुः' इति गतिश्रुतिः, 'ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते' इति पराविद्यायाः पृथक्श्रुतिवैयर्थ्यात्; पञ्चाग्निविद्यायां च "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति" [ छां. उ. ५।९।१ ], रमणीयचरणाः .... कपूयचरणाः' [ छां. उ. ५।१०।७ ] इति पुण्यपापहेतुको मनुष्यादिभावोऽपामेव भूतान्तरसंसृष्टानाम्; आत्मनस्तु तत्परिष्वङ्गमात्रमिति चिदचितोर्विवेकमभिधाय "तद्य इत्थं विदुः ...... तेऽर्चिष-

मभिसम्भवन्ति " [ छां. उ. ५।१०।१ ] " इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते " [ छां. उ. ३।१।५।६ ] इति विविक्ते चिदाचिद्वस्तुनी त्याज्यतया प्राप्यतया च तद्य इत्थं विदुस्तेऽर्चिरादिना गच्छन्ति, न च पुनरावर्तन्त इत्युक्तमिति गम्यते ।

**४ वे. ता. चं.**— 'यत्र काले तु' इत्यादेः 'योगयुक्तो भवार्जुन!' [८।२७] इत्यन्तस्य तात्पर्यमाह— **अथे**ति। अत्र धूमादिमार्गकथनं हेयत्वार्थम्; अर्चिरादिमार्गोपदेशस्तु तदनुसन्धानार्थ एवेति तत्रैव तात्पर्यमिति भावः। ननु परमपुरुषार्थनिष्ठस्यैव ह्यर्चिरादिगतिः, तत्कथमत्र साधारण्यमुच्यते? इत्यत्राह— **द्वयोरपी**ति। आत्मनिष्ठस्याप्यपुनरावृत्तेः पूर्वोक्तत्वात्तस्याप्यर्चिरादिकैव गतिरिति दर्शयितुमाह— **सा चे**ति। साधारण्यापुनरावृत्त्योः श्रुतिमेव दर्शयति— **यथे**ति। अङ्गिफलमेवाङ्गेऽपि व्यपदिश्यत इत्याशङ्क्य परिहरति— **नचे**ति। हेतुमाह— **ये चे**ति। यद्यप्यङ्गिफलमेवाङ्गेऽपि निर्देष्टुं युक्तम्, तथाप्यङ्गिना सहाङ्गस्य तुल्यवत्पृथङ्निर्दिष्टस्य तत्फलनिर्देशो न युक्त इति भावः। एतेन प्रथमषट्कोदितप्रत्यगात्मवेदनादत्रत्याक्षरयाथात्म्यानुसन्धानस्य भेदोऽपि दर्शितः। 'तद्य इत्थं विदुः' इत्यस्य प्रत्यगात्मनिष्ठविषयत्वं कथं? इत्यत्राह— **पञ्चाग्निविद्यायां चे**ति। " आपः पुरुषवचसो भवन्ति " [ छां. उ. ५।९।१४ ] इति त्रिवृत्कृतानामभिधीयमानत्वाद्भूतान्तरसंसर्गसिद्धिः। **अपामेवे**त्यात्मस्वरूपपरिणामव्युदासायोक्तम्। एवंविधशरीरसम्बन्धमात्रस्याप्यौपाधिकत्वप्रदर्शनायाह **पुण्यपापहेतुक** इति। " रमणीयचरणा रमणीयां योनिं...कपूयचरणाः कपूयां योनिम्' इत्यादिवचनान्न केवलाचिद्विषयमिदं प्रकरणम्। "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते" इत्युक्तयद्वृत्तद्वयस्य " तेऽर्चिषम्" इत्येकेन तद्वृत्तेन प्रतिनिर्देशादुभयोर्गतिरविशिष्टेति ज्ञापनाय "तद्य इत्थं विदुः" "तेऽर्चिषम्" इति व्यवहितमुपात्तम्। इत्थंशब्दानूदितं प्रस्तुताकारविशेषं दर्शयति— **विविक्ते** इति।

**३ रा. भा.**— आत्मयाथात्म्यविदः परमपुरुषनिष्ठस्य च, " स एनान् ब्रह्म गमयति " [ छां. उ. ४।१५।६ ] इति ब्रह्मप्राप्तिवचनादचिद्वियुक्तमात्मवस्तु ब्रह्मात्मकतया ब्रह्मशेषतैकरसमित्यनुसन्धेयं, तत्क्रतुन्यायाच्च। परशेषतैकरसत्वं च " य आत्मनि तिष्ठन् ... यस्यात्मा शरीरम् " [ श. प. ब्रा. मा. १४।६।५।३० ] इत्यादिश्रुतिसिद्धम्।

**४ वे. ता. चं.**— ननु 'तत्पुरुषोऽमानवः स एनान् ब्रह्म गमयति' [छां. उ. ४।१५।६] इत्यर्चिरादिना गतस्य ब्रह्मप्राप्तिः श्रूयते; तत्कथं केवलात्मोपासकस्य ब्रह्मप्रापकार्चिरादिगतिप्राप्तिः? इत्यत्राह— **आत्मयाथात्म्ये**ति। अयं पञ्चाग्निविद्यानिष्ठो न केवलात्मोपासकः; अपितु ब्रह्मात्मकस्वात्मानुसन्धायीति भावः। अन्यथा तत्क्रतुन्यायविरोध इत्यभिप्रायेणाह— **तत्क्रतुन्यायाच्चे**ति। चकार इतरेतरयोगे। यथावस्थितात्मानुसन्धानस्य परशेषतैकरसत्वानुसन्धानरूपत्वे प्रमाणमाह— **य आत्मनी**ति। आदिशब्देन "पतिं विश्वस्य" [तै. ना. ६।११।३] "करणाधिपाधिपः" [श्वे. उ. ६।९] इत्यादिवाक्यशतं गृह्यते। अत्र शारीरकभाष्यादिविरोधो मन्दैराशङ्कितः; इह तावच्छ्रुतिसूत्रभाष्यादिष्वन्यत्र च पञ्चाग्निविदः परमात्मात्मकस्वात्मानुसन्धातृत्वमर्चिरादिगतिश्चाविशेषेणोच्यते। तस्याश्च ब्रह्मगमयितृत्वस्य श्रुत्यादिष्विह च 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः' इति सिद्धत्वात् पञ्चाग्निविदोऽपि परमात्मप्राप्तिरस्त्येवेति स्वीकर्तव्यम्। तत्र प्राप्तौ ज्ञानिनां परमात्मात्मकस्वात्मानुसन्धानस्य स्वविशिष्टो भोग्यः; अक्षरयाथात्म्यनिष्ठानां तु स्वस्वरूपमेव पूर्वं भोग्यम्; वस्वादिपदप्राप्तिपूर्वकब्रह्मप्राप्तिसाधनमधुविद्यादिन्यायादन्ततो ब्रह्मप्राप्तिः; ईदृशपर्वक्रमप्रतिनियमश्च प्राचीनापेक्षाभेदात्; स च प्राचीनकर्मविशेषात् 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [ ७।१६ ] इति प्रागेव दर्शितः।

न चात्र जिज्ञासोरन्य एवात्मयाथात्म्यविदिति भाष्यते, जिज्ञासुवेद्यतयोक्तस्वभावविसर्गयोरत्र च पञ्चाग्निविद्योदाहरणात्; मध्ये च कैवल्यार्थिन एव मूर्धन्यनाड्या निष्क्रमणमनावृत्तिश्चोक्ता; आत्मयाथात्म्याक्षरयाथात्म्यशब्दयोश्चात्र न भिन्नार्थत्वम्; तस्योपासने किञ्चिदस्ति विशेषः; अक्षरयाथात्म्यविदः—परमात्मशरीरभूतस्वात्मोपासकाः, ज्ञानिनस्तु स्वात्मशरीरकपरमात्मोपासका इत्ययमेव विशेषः "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये" [छां. उ. ५।१०।१] इति विभागनिर्देशाभिप्रेत इति भाष्यादिषूक्तः। सारे तु 'उभयेऽपि हि परिपूर्णं ब्रह्मोपासते मुखभेदेन; स्वात्मशरीरकं ब्रह्म केचन, ब्रह्मात्मकस्वात्मानमितरे' [वे. सा. ४।३।१४] इति। अत एव सप्तमे प्रक्रान्तो जिज्ञासुः परमात्मप्राप्तिकामज्ञानिव्यतिरिक्तत्वात् अब्रह्मात्मकस्वात्मानुसन्धायीति न भ्रमितव्यम्। तस्य चोदारकोटिमात्रे निवेशः स्वात्मानुभवविलम्बिविमुखज्ञानिव्यतिरेकात्।

अर्चिरादिगतिनिषेधस्तु ब्रह्मात्मकस्वात्मानुसन्धानरहितस्वात्मोपासनविषयः। इदमपि भाष्यादिषु व्यक्तमेवोक्तं 'तस्मादचिन्मिश्रं केवलं वा चिद्वस्तु ब्रह्मदृष्ट्या तद्वियोगेन च य उपासते न तान्नयति; अपितु परं ब्रह्मोपासीनान् आत्मानं च प्रकृतिवियुक्तं ब्रह्मात्मकमुपासीनानातिवाहिको गुणो नयति, [ब्र. सू. भा. ४।३।१५] इत्यादिभिः। यत्पुनरुच्यते— 'ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः। सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्' [म. भा. १२।३४१।३९] इति; तत्रापि आत्ममात्रानुभवसुखस्य स्थिरत्वादेव च्यवनधर्मत्वमुच्यते; न

तावता पुनः संसारप्रसङ्गः, 'इन्द्रलोकात्परिभ्रष्टो मम लोकपरायणः । प्रमुक्तः सर्वसंसारैर्मम लोकं च गच्छति' [वा. पु. १३९।९८] ''प्रच्युतो वा एषोऽस्माल्लोकादसतो देवलोकम्'' [यजुः ६।१।१।५] इत्यादिष्विवोत्तरोत्तरातिशयितपदप्राप्तावपि पूर्वपदभ्रंशमात्राच्च्यवनधर्मत्ववाचो युक्तेरविरोधात्, परिमितसुखानुभवविलम्बनेन तदानीं निरतिशयसुखानुभवाऽऽक्रष्टत्वेनापि निन्दोपपत्तेश्च। उपासनदशानुभूते परमात्मनि फलदशायां किञ्चित्कालमनुभवविच्छेदाद्वा प्राप्तभ्रंशलक्षणं च्यवनधर्मत्वम्। 'प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक्' [म. भा. १२।३४१।३५] इति चाव्यवहितमोक्षभाक्त्वं प्रतिबुद्धस्योच्यते ; न तावतान्यस्य मोक्षाभावः, 'भुक्त्वा च भोगान्विपुलांस्त्वमन्ते मत्प्रसादतः । ममानुस्मरणं प्राप्य मम लोकमवाप्स्यसि' [वि. पु. ५।१९।२६] इतिवदविरोधात्।

यथा च मुमुक्षोरेव कस्यचिन्मध्ये ब्रह्मकायनिषेवणसुखमुच्यते; तथात्रापि स्थानविशेषे स्वात्मानुभवविलम्बः । यथा च 'अथवा नेच्छते तत्र ब्रह्मकायनिषेवणम्। उत्क्रामति च मार्गस्थः शीतीभूतो निरामयः' इत्यादिना ब्रह्मकायनिषेवणसङ्गात् मुक्तस्य देवयानेन मार्गेण परमाकाशगमनमुच्यते; तद्वदिहापि स्वात्मानुभवस्थानात्प्रच्युतस्य परमव्योमाधिरोहः स्यात् ; अर्चिरादिगतिश्चास्यावान्तरफलानुभवात्पश्चाद्वा, गतिमध्ये वा। दक्षिणायनमृतस्य चन्द्रमसः सायुज्यवद्विश्रममात्ररूपोऽयमवान्तरफलानुभव इत्युभयथापि न विरोधः। एतेन पश्चादेवास्याप्रतीकालम्बनत्वमित्यपि निरस्तं, मधुविद्यावदेव प्रथममपि तदुपपत्तेः। स्मरन्ति च स्वात्मानुभवस्थानं मुक्तिस्थानादर्वाचीनं 'योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्तोषकारिणाम् । एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः' [वि. पु. १।६।३८] इति । अमृतस्थानवर्तिनां च मुक्तत्वव्यपदेशो जरामरणादिविरहात्पुनर्जन्महेतुभूतपुण्यपापविगमाच्च ।

अस्ति च परित्यक्तस्थूलदेहानामपि तत्तदुपासनाविशेषाधीनमपवर्गादर्वाचीनं फलम्। तच्च प्रकृतिलयादिशब्देन साङ्ख्याः पठन्ति 'धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद्भवत्यधर्मेण। ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः ॥ वैराग्यात्प्रकृतिलयः संसारो भवति राजसाद्रागात्। ऐश्वर्यादविघातो विपर्ययात्तद्विपर्यासः'॥ [सां.स.का. ४४।४५] इति । 'विपर्ययादिष्यते बन्धः' इत्यत्र च वाचस्पतिना व्याख्यातं—'विपर्ययात्— अतत्त्वज्ञानात्' इष्यते बन्धः; स च त्रिविधः प्राकृतिको, वैकृतिको, दाक्षायणिकश्चेति । तत्र प्रकृतावात्मज्ञानाद्ये प्रकृतिमुपासते; तेषां प्राकृतिको बन्धः । यः पुराणे प्रकृतिलयान् प्रकृत्योच्यते— 'पूर्णं वर्षसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः' इति। वैकारिको बन्धः तेषाम् ; ये विकारानेव भूतेन्द्रियाहङ्कारबुद्धीरुपासते पुरुषबुद्ध्या ; तान् प्रतीदमुच्यते; यथा— 'दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः। भौतिकास्तु शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः ॥ बौद्धा दश सहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । ते खल्वमी विदेहा येषां वैकृतिको बन्धः ॥' इति ।

एवमव्यक्तादितत्त्वचिन्तकानामिव प्रत्यगात्मतत्त्वचिन्तकानामपि तदुचितदेशकालं ततोऽनिश्चितमतिशयितं फलमुपपद्यते। अत एव भूमविद्यायां प्रत्यगात्ममात्रोपासकस्याप्यतिवादित्वमुक्तम्। ब्रह्मात्मकस्वात्मानुसन्धाने तु ब्रह्मप्राप्तौ विश्रमादपुनरावृत्तिरिति विशेषः । अत एवाक्षरानुभवस्यान्तवत्त्वे तदर्थिनां कथमैश्वर्याधिकारणोऽधिकार्यन्तरत्वमित्यपि निरस्तम्, बाह्यान्तरभोक्तृव्यविभागादावृत्त्यनावृत्तियोग्यताभेदाच्च तद्भेदोपपत्तेः । विलम्बाक्षमाणां पुनरियं निष्ठा— 'सर्वधर्मांश्च सन्त्यज्य सर्वलोकांश्च साक्षरान् । लोकविक्रान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभो ॥' इति । 'कैवल्यं भगवन्तं च मन्त्रोऽयं साधयिष्यति' [वृ. हा. स्मृ. ३।४०] इत्यादिष्वपि कैवल्यशब्देनात्ममात्रानुभवसुखं तदपेक्षिभिः प्राप्यमुच्यते । एतच्चान्तरायकोटिनिविष्टत्वादादितः सावधाना ज्ञानिनः परिहरन्ति । केचित्तु ब्रह्मानुभववैमुख्येन नित्यमात्मानुभवसुखमिच्छन्ति ; न तत्र भाष्यकारादिसम्प्रदायं प्रमाणं युक्तिं वा पश्यामः, निश्शेषकर्मक्षये स्वाभाविकरूपाविर्भावेन ब्रह्मानुभवावश्यम्भावात्, कर्मशेषयोगे तु संसारप्रसङ्गाच्च जरामरणादिहेतुभूतसर्वकर्मविनाशादसंसारः; तावन्मात्रेण च मुक्तत्वव्यपदेशः । ब्रह्मानुभवप्रतिबन्धककर्मणस्त्वविनाशात्तदुभयाभाव इति चेत्— अस्त्वेवम्, एतत्कर्म परस्तादपि न नङ्क्ष्यतीत्यत्र न नियामकमस्ति— इत्येषा दिक् ॥— परप्राप्त्यादिरहितनित्यकैवल्यकल्पना । सूत्रभाष्यश्रुतिस्मृत्याद्य बाधेन न सिध्यति । 'अतोऽधिकारिभेदेन ह्यवस्थाभेदमाश्रिताः। अन्यामपि गतिं प्राज्ञः प्रतीचीं प्रत्यपादयन्॥ तत्रावृत्तिपरप्राप्तिवैरूप्यादेरयोगतः । अस्मदुक्तं श्रुतिस्मृत्योरनपायं रसायनम् ॥'

**३ रा. भा.**— अत्र कालशब्दो मार्गस्याहःप्रभृतिसंवत्सरान्तकालाभिमानिदेवताभूयस्तया मार्गोपलक्षणार्थः । यस्मिन्मार्गे प्रयाता योगिनोऽनावृत्तिं, पुण्यकर्माणश्चावृत्तिं यान्ति, तं मार्गं वक्ष्यामीत्यर्थः । 'अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्' इति संवत्सरादीनां प्रदर्शनम् ॥ २३ ॥ २४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— ननु— अर्चिरादिगतिमाहेति कथमुच्यते? 'यत्र काले' इति कालविशेषो ह्युपक्रम्यत इत्यत्राह **अत्र कालशब्द** इति । शारीरके दक्षिणायनादिमृतस्यापि मोक्ष उक्तः "अतश्चायनेऽपि हि दक्षिणे" [ब्र. सू. ४।२।२०] इति । अत्र च 'शुक्लकृष्णे गती ह्येते' [८।२६] इत्यनन्तरमेवोच्यते; अन्यथा 'अग्निर्ज्योतिः' इत्यादिना च विरुध्येत; 'नैते सृती पार्थ ! जानन्' [८।२७] इति च मार्गवाचिना शब्देनोपसंहियत इति भावः । **यत्र काले प्रयाता** इति व्यवहितेन सम्बन्धं दर्शयन् योगिनामावृत्तिः कथमिति च शङ्कां परिहरन् 'यत्र काले' इति श्लोकस्य वाक्यार्थमाह— **यस्मिन्निति** । अत्र योगिनः

ज्ञानिनः, पुण्यकर्मसम्बन्धिनश्च । 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' [अष्टा. १।२।६४] । यद्वा पुण्यकर्माण इत्यध्याहृतम् । ''तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरम्' [छां.उ. ५।१०।१;२] इत्यादिश्रुत्यनुसारेणोक्तं **संवत्सरादीनां प्रदर्शन**मिति । एतद्वैशद्यमर्चिरादिपादे । तत्रैवं सङ्गृहीतं वरदगुरुभिः 'अर्चिरहस्सितपक्षानुदगयनाब्दमरुदर्केन्दून् । अपि वैद्युतवरुणेन्द्रप्रजापतीनातिवाहिकानाहुः' [त. सा. १०२] इति । 'अग्निर्ज्योतिः' इति अग्निरूपज्योतिरित्यर्थः । तेन देवयानपथमपर्वस्थार्चिर्विवक्षा । अत एवाग्निज्योतिषोर्भिन्नदेवतात्वं कालाभिमानिदेवतात्वं च वदन्तः प्रत्युक्ताः ॥ २३ ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.— यत्कालाद्यभिमानिदेवता गता आवृत्त्यनावृत्ती गच्छन्ति ता आह— यत्रेत्यादिना । काल इत्युपलक्षणं अग्न्यादेरपि, वक्ष्यमाणत्वात् ॥ २३ ॥ ज्योतिरर्चिः । ''तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति''[ बृ.उ. ६।२।१५] इति हि श्रुतिः । तथा च नारदीये—'अग्निं प्राप्य ततश्चार्चिस्ततश्चाप्यहरादिकम्' इति । अभिमानिदेवताश्चाग्न्यादयः । कथमन्यथा 'अह्न आपूर्यमाणपक्षं'[ छा. उ. ५।१।१ ] इति युज्यते ? । 'दिवादिदेवताभिस्तु पूजितो ब्रह्म याति हि' इति ब्राह्मे । मासाभिमानिभ्यो अयनाभिमानी च पृथक् । तच्चोक्तं गारुडे—'पूजितस्त्वयनेनासौ मासैः परिवृतेन हि' इति । अहरभिजिता शुक्लं पौर्णमास्यायनं विषुवा सह; तच्चोक्तं ब्रह्मवैवर्ते— 'साह्ना मध्यन्दिनेनाथ शुक्लेन च सपूर्णिमा । सविषुवा चायनेनासौ पूजितः केशवं व्रजेत्' ॥ इति ॥ २४ ॥**

६ ज. प्र. दी.— यस्मिन् काले मृताः आवृत्त्यनावृत्ती यान्ति तत्प्रतिपादनार्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— **यदि**ति । याश्च ताः कालाभिमानिन्यश्चेति विग्रहः । देवता गता इति तदधिष्ठितमार्गाभ्यां गता इत्यर्थः, काल इत्युक्तत्वात् । कथमादिपदप्रक्षेपेण व्याख्यानं ? इत्यत आह— **काल** इति । कुतः ? इत्यत आह— **अग्न्यादे**रिति । अग्निर्ज्योतिर्धूमानाम् ॥ २३ ॥

ज्योतिश्शब्दस्यानेकार्थत्वाद्विवक्षितमर्थमाह— **ज्योति**रिति । अभिसम्भवन्ति प्राप्नुवन्ति । श्रुतिपुराणयोरह्नः प्रागर्चिषः प्राप्तेरुक्तेस्तत्समाख्यानादित्यर्थः । प्रातीतिक एवार्थः किं न स्यात् ? कुतोऽभिमानिदेवताग्रहणम् ? इत्यत आह— **अभिमानी**ति । आदिशब्दसमर्थनेन सह समुच्चयार्थश्चशब्दः । अन्यथा मरणकालपरिग्रहे इति श्रुतिः । उपलक्षणमेतत् 'अहः शुक्लः' इति गीताऽपि । अहोरात्रव्यतिरिक्तपक्षाभावादिति भावः । समाख्यानाच्चैवमित्याह— **दिवादी**ति । किञ्च 'षण्मासा उत्तरायणम्' 'षण्मासा दक्षिणायनम्' [ ८।२५ ] इत्येदपि अभिमानिदेवतां गमयति । मासातिरिक्तायनाभावादभिमानिनां तु पृथक्त्वेन पृथगुक्तिसम्भवादिति भावेनाह— **मासे**ति । अनेन षण्मासा एवायनमिति व्याख्यानं च निरस्तं भवति, पुराणविरोधात् । अत्रानुक्तमपि किञ्चिदध्याहरति— **अह**रिति । सहस्थितं यातीत्यप्यत्र द्रष्टव्यमिति भावः । एतदप्यभिमानिदेवतापरिग्रहसमर्थनार्थम् । प्राधान्यादेरविवक्षितत्वात् साह्नेत्युक्तम् । सपूर्णिमासपूर्णिमेन 'सुपां सुलुक्' [ अष्टा. ७।१।३९ ] इत्यादेः । विषुशब्दस्योवङ्यणादेशविकल्पश्छान्दसः ॥ २४ ॥

**७ ह. पै. भा.— यत्रेति । यत्र काले त्वनावृत्तिमपुनरागमनं, आवृत्तिं पुनरागमनं च यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ ! ॥ २३ ॥ अग्निर्ज्योतिः । अहर्दिवा । शुक्लः पूर्वपक्षः । षण्मासा उत्तरायणाख्याः । तस्मिन्मार्गे प्रयाताः शरीरं त्यक्त्वा गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्माणम् । ब्रह्मविदो हिरण्यगर्भोपासकाः । अग्निर्ज्योतिर्ब्रह्मलोकाभिमुखस्याऽऽतिवाहकदेवतोच्यते । अहरित्यहरभिमानिनी देवता । असावातिवाहिक्यग्नेः परमतिवहति । शुक्लपक्षाभिमानिनी देवता साऽहः ( ऽह्नः ) परमतिवहति । उत्तरायणाभिमानिनी देवता सा शुक्लपक्षात्परमतिवहति । उत्तरायणमेव योगिनं ब्रह्म प्रापयति ॥ २४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं परमेश्वरोपासकास्तं प्राप्य न निवर्तन्त इत्युक्तम् । तत्र केन मार्गेण तत्प्राप्तिरित्याकाङ्क्षायां देवयानमार्गं वक्तुं प्रतिजानीते— **यत्रे**ति । पितृयाणमार्गस्तु देवयानस्तुत्यर्थमुक्तः । हे भरतर्षभ ! यस्मिन्काले प्रयाता योगिन उपासकाः कर्मिणश्च क्रमेण अनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति, तं कालं वक्ष्यामीत्यन्वयः । अत्र च कालशब्दो न मुख्यार्थः; अग्निज्योतिर्धूमपदानां गतिस्मृतिपदयोश्चानुपपत्तेः, 'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे' इति ब्रह्ममीमांसासूत्रे [ब्र. सू. ४।२।२०] दक्षिणायने रात्रौ वा मृतस्योपासकस्यानावृत्तिलक्षणसगुणब्रह्मप्राप्तिः उत्तरायणादिमरणप्राशस्त्यप्रसिद्धेरनुपासकविषयत्वात् भीष्मकृतोत्तरायणप्रतीक्षणस्य च लोकसङ्ग्रहमात्रार्थत्वादिति व्यवस्थापिततया अहश्शुक्लोत्तरायणशब्दानामविवक्षितार्थत्वेन कालशब्दस्यामुख्यार्थत्वप्राप्तेश्च । किन्तु कालाभिमानिदेवतापरः । तथा चायमर्थः— यस्मिन्काले कालाभिमानिदेवतोपलक्षिते

मार्गे प्रयाता अनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति, तं कालं कालाभिमानिदेवतोपलक्षितं मार्गं वक्ष्यामीति । अग्निज्योतिषोः कालाभिमानित्वाभावेऽपि अहरादिशब्दोक्तकालाभिमानिदेवतानां मार्गद्वयेऽपि भूयस्त्वादाम्रवणमितिवदग्निहोत्रमितिवच्च काल इत्येकदेशेनाप्युपलक्षणं मार्गस्याविरुद्धम् । अन्यथा प्रातरग्निदेवताया अभावात्तत्प्रख्याधिकरणव्यवस्थापितमग्निहोत्रपदस्य नामधेयत्वं न स्यादिति ध्येयम् । यस्मिन्मार्गे प्रयाता अनावृत्तिं यान्तीत्यत्र क्रममुक्तिफलकब्रह्मोपासका इति विशेषणीयम्, 'आ ब्रह्मभवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनः' [ ८।१६ ] इति देवयानमार्गप्रयातानामपि पञ्चाग्निविद्यादिमतामब्रह्मक्रतूनां पुनरावृत्तिकथनात् ॥ २३ ॥

तत्रोपासकानामनावृत्तिमार्गमाह— अग्निरिति । अग्निज्योतिश्शब्दाभ्याम् "तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति" * इति श्रुत्युक्तार्चिरभिमानिनी देवता लक्ष्यते, अहरिति दिवसाभिमानिनी, शुक्ल इति शुक्लपक्षाभिमानिनी, षण्मासावुत्तरायणमित्युत्तरायणरूपषण्मासाभिमानिनी 'आतिवाहिकस्तल्लिङ्गात्' [ ब्र. सू. ४।३।४ ] इति न्यायात् । ब्रह्मलोकाभिमुखानुपासकान्प्रथमर्चिरभिमानिनी देवता अहर्देवतापर्यन्तमतिवहति गृहीत्वा गच्छति; सा च शुक्लपक्षदेवतापर्यन्तं, साप्युत्तरायणदेवतापर्यन्तमिति भावः । उत्तरायणमित्येतच्च संवत्सरादितदनन्तरातिवाहिकदेवतान्तराणामप्युपलक्षणम् । तथा च श्रुतिः— "तेऽर्चिरभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्षड्डुदङ्ङेति मासांस्तान्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते" इति । एवंविधो यो देवयानमार्गः, तत्र प्रयाता ब्रह्मविदः सगुणब्रह्मोपासका जनाः ब्रह्म सगुणं गच्छन्ति, निर्गुणब्रह्मविदां "न तत्र ( तस्य ) प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवनीयन्ते" [ नृ. उ. ता, ५ ] "अत्र ब्रह्म समश्नुते" [ बृ. उ. ४।४।७ कठो. ६।१४ ] इति ज्ञानसमकालमुक्तानां गत्यागत्यसम्भवादिति निर्णयः ॥ २४ ॥

९ व० त० दी०— अथ कदा केन मार्गेण गता नावर्त्तन्ते ? केन वा गताश्चावर्त्तन्ते ? इत्यपेक्षायामाह– यत्रेति । अत्र कालशब्दोऽपि चाहःप्रभृतिसंवत्सरान्तकालाभिमानिदेवताभिरातिवाहिकीभिर्द्वारा मार्गोपलक्षणार्थः । तथा चायमर्थः–कालाभिमानिदेवोपलक्षिते यत्र काले मार्गे च प्रयाताः प्राणतो वियोगिनो वा सन्तो भगवन्महिमज्ञानिनः भक्ता अर्थार्थिनश्च यथाक्रममनावृत्तिमावृत्तिं च यान्ति तं वक्ष्यामि । यद्यप्यग्निज्योतिषोः कालाभिमानित्वं स्वतो न सम्भवति तथापि सायम्प्रातः कालाभिमानित्वेन तथोक्तिः सम्भवति । अतएव मंत्रे–"अग्निश्च मामन्युश्च"[म.ना.३१।३]इति रात्रौ "सूर्यश्च मामन्युश्च" इति दिवा निरूप्यते ।।२३।। तत्रानावृत्तिमार्गमाह–अग्निरिति। निष्कामानामग्निहोत्रिणां अग्निरित्यादिसंवत्सरदेवलोकाधिदेवतानामुपलक्षणार्थं निष्कामाग्निहोत्रगम्यतदीयज्योतिःकाले शुक्ले उत्तरायणे प्रयाता मृताः मार्गे वा तत्र प्रयाता ब्रह्माक्षरं भगवन्महिमभूतं क्रममुक्तिप्रकारेण गच्छन्ति । श्रीपुरुषोत्तमतत्त्वज्ञानिनस्तु तदा सद्योमुक्तिप्रकारेण प्रयाता भगवन्तमुपासीना भवन्तीति द्वितीयस्कन्धे निरूप्यते 'यादृशी भावना यस्य तादृशं तस्य तत्फलम् । हरिरेकाक्षरतया भावुकानामिदं फलम् ।। हरिं रसात्मकतया भावुकानां परं फलम् । तल्लीलामध्यपातित्वं तत्समीपनिवासतः"।। एते तु ब्रह्म तदक्षरं प्राप्नुवंति, तथा च श्रुतौ "तेऽर्चिषमभिसंविशन्ति । अर्चिषोऽहरह्नापूर्यमाणपक्षं आपूर्यमाणपक्षवान् षण्मासानुदगादित्यं प्रैति मासेभ्यो देवलोकं" इत्यादि ।। २४ ।।

१० पु. अ. त.— नन्वितो गता य आवर्तन्ते निवर्तन्ते वा ये तेऽत्र कथं ज्ञेयाः? इत्याशङ्क्याह— यत्रेति । यत्र काले यस्मिन् काले प्रयाता योगिनः अनावृत्तिं यान्ति प्राप्नुवन्ति; च पुनः यस्मिन् काले प्रयाता आवृत्तिमेव प्राप्नुवन्ति, हे भरतर्षभ ज्ञानयोग्यकुलोत्पन्न ! तं कालं वक्ष्यामि, कथयामीत्यर्थः ॥ २३ ॥ तत्र पूर्वमनावृत्तिज्ञापककालस्वरूपमाह— अग्निरिति । अग्निर्ज्योतिः। तापयुक्तज्योतिर्युक्तः अहः दिवसः। शुक्लः शुक्लपक्षः। षण्मासा उत्तरायणं प्राप्य भवन्ति । तत्र तस्मिन् काले प्रयाता ब्रह्मविदो जना भक्ताः । ब्रह्म भगवत्स्वरूपमनावृत्त्यात्मकं गच्छन्ति। अत्रायं भावः-आयुर्भोगपूर्णतया कालवशेनोत्तरायणादिविशिष्टकालमृताः सर्व एव न तत् प्राप्नुवन्ति; किन्तु भगवद्भक्ता भीष्मवत् तत्काल आगते भगवन्निष्ठैकतया ये प्राणांस्त्यक्त्वा यातास्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एतज्ज्ञापनायैव ब्रह्मविद इत्युक्तम् । एतदेव तज्ज्ञापकमित्यर्थः ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— पूर्वोक्तानामोङ्कारद्वारा सगुणब्रह्मविदां क्रममुक्तिभाजां ब्रह्मप्रतिपत्तये उत्तरो मार्गो वक्तव्य इत्यत आह— यत्रेति । आवृत्तिमार्गोपन्यासोऽनावृत्तिमार्गस्तुत्यर्थः । योगिन इति, योगिनः कर्मिणश्चोच्यन्ते तेषां यथायोगं मार्गद्वयविभागः । शेषं स्पष्टम् ॥ २३ ॥ तत्रोपासकानां देवयानं पन्थानमाह—

*कुत्रत्येयं श्रुतिरिति सम्यङ्न ज्ञायते । अत्र छान्दोग्ये [ ६।१५।५;६×५।१०।१;२ ] बृहदारण्यके च [ ६।२।१५ ] इमा रामानुजभाष्योदाहृताः श्रुतयश्चानुसन्धेयाः ।

अग्निरिति । अग्निर्ज्योतिरित्यर्चिरभिमानिनी देवता लक्ष्यते । एवं अहरित्यहरभिमानिनी । एवं शुक्लपक्षस्य षण्मासससम्मितोत्तरायणस्य चाभिमानिन्यौ देवते एव । एतच्चान्यासामप्युपलक्षणम् । तत्र प्रयाता उत्क्रान्ता ब्रह्म कार्यं ब्रह्म तद्द्वारा परं च गच्छन्ति ब्रह्मविदो ब्रह्मोपासका जनाः ॥ २४ ॥

**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।**
**तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ २५ ॥**

**१ शां. भा.—**धूम इति । धूमो रात्रिर्धूमाभिमानिनी रात्र्यभिमानिनी च देवता । तथा कृष्णः कृष्णपक्षदेवता । षण्मासा दक्षिणायनमिति च पूर्ववद्देवतैव । तत्र चन्द्रमसि भवं चान्द्रमसं ज्योतिः फलमिष्टादिकारी योगी कर्मी प्राप्य भुक्त्वा तत्क्षयान्निवर्तते ॥ २५ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** प्रकृतं देवयानं पन्थानं स्तोतुं पितृयाणमुपन्यस्यति—**धूम इति**। अत्रापि मार्गचिह्नानि भोगभूमीश्च व्यवच्छिद्याऽऽतिवाहिकदेवताविषयत्वं धूमादिपदानां विभजते—**धूमेत्यादिना**। तत्रेति सप्तमी पूर्ववदेव सामीप्यार्था। इष्टादीत्यादिशब्देन पूर्तदत्ते गृह्येते। 'कृतात्ययेऽनुशयवान्' [ब्र. सू. ३।१।८] इति न्यायं सूचयति—**तत्क्षयादिति** ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.—** एतच्च धूमादिमार्गस्थपितृलोकादेः प्रदर्शनम् । अत्र योगिशब्दः पुण्यकर्मसम्बन्धिविषयः ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.—** **पितृलोकादे**रित्यादिशब्देन आकाशचन्द्रग्रहणम्। योगिनो धूमादिमार्गः पुनरावृत्तिश्च कथमुच्यते ? इत्यत्राह **अत्र योगिशब्द इति** । अत्र योगशब्द उपायमात्रवाची; यद्वा सम्बन्धमात्रवाची; धूमादिसामर्थ्यात्तु पुण्यकर्मस्वरूपसम्बन्धिविशेषसिद्धिरिति भावः। "अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" [ छां. उ. ५।१०।३ ] इत्यादिका श्रुतिरत्रोपबृंहिता ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ २५ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.—**धूमो रात्रिश्चन्द्रलोकाभिमुखस्य कर्मिणः स्वर्गं प्रापयति साऽतिवाहिकी देवतोच्यते । धूमो धूमाभिमानिनी देवता । रात्री रात्र्यभिमानिनी देवता, साऽप्यातिवाहिकी धूमात्परमतिवहति । तथा कृष्णपक्षाभिमानिनी देवता रात्रेः परमतिवहति । षण्मासा दक्षिणायनमातिवाहिकी देवता कृष्णपक्षात्परमतिवहति, गृहीत्वा गच्छतीत्यर्थः । तत्र प्रयाताः कृष्णकर्माणः । चन्द्रमस इदं चान्द्रमसं ज्योतिः कर्मणा योगी प्राप्य निवर्तते, पुनः शरीरान्तरं मनुष्यलोके गृह्णातीत्यर्थः ॥ २५ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** अनावृत्तिमार्गमुक्त्वा तत्स्तुत्यर्थं पितृयाणाख्यमावृत्तिमार्गमाह- **धूम इति**। अत्रापि पूर्ववद्धूमरात्रिकृष्णदक्षिणायनशब्दाः तत्तदभिमान्यातिवाहिकदेवतापराः । पूर्ववदेव ' दक्षिणायनं ' इत्येतत्तदनन्तरपितृयाणमार्गातिवाहिकदेवतान्तरोपलक्षणम्। तथा च श्रुतिः—"ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिं रात्रेरपक्षीयमाणपक्षमपक्षीयमाणपक्षाद्यान् ( अपरपक्षमपरपक्षान् ) षड्दक्षिणैति मासांस्तान्नैते संवत्सरमभिप्राप्नुवन्ति। मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाशमाकाशाच्चन्द्रमसमेष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति, तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" [ छां. उ. ५ । १०।३–५ ] इति । एवंविधे तत्र पितृयाणपथे प्रयातो योगी इष्टापूर्तादिकृत्कर्मयोगी चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गं प्राप्य तत्र यावत्सम्पातमुषित्वा निवर्तते " अथैनं ( अथेमं ) आकाशमेवाभिनिष्पद्यन्ते आकाशाद्वायुं वायोर्वृष्टिं वृष्टेः पृथिवीं, ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, पुनः पुरुषाग्नौ हूयन्ते अथ योषाग्नौ ततो जायन्ते" [ बृ. उ. ६।२।१६ ] इति श्रुत्युक्तक्रमेण निवर्तत इत्यर्थः । तस्मादावृत्तिमार्गादनावृत्तिमार्ग एव श्रेयानिति भावः॥ २५॥

९ व० त० दी०— आवृत्तिमार्गमाह सकामाग्निहोत्रिणाम् । रात्रौ कृष्णे दक्षिणायने मृतः । धूम इत्यादि धूममार्गपितृलोकादेः प्रदर्शनम् । अत्रापि श्रुतिः–"ते धूममभिसंविशन्ति" इत्यादिः, तेन भगवदर्पणात्मककर्मरूपनिवृत्त्या सात्त्विकया भगवदुपासनात् क्रममुक्तिः सात्त्विकी । काम्यकर्मभिः पुनर्भवहेतुभिश्चन्द्रलोकं प्राप्य

१ अत्र पूर्वश्लोकतः 'प्रयाताः' इति पदमेकवचनान्तत्वेन विपरिणम्यानुवर्तते। —अविगीता।

सुखभोगानन्तरमावृत्ती राजसी। निषिद्धकर्मभिस्तु नरकभोगानन्तरमावृत्तिस्तामसी। क्षुद्रकर्मणां तु जन्तूनामत्रैव पुनः पुनर्जन्मवतामुत्क्रान्तिगत्या गतय इत्यवगन्तव्यम्॥ २५॥

१० पु. अ. त.—आवृत्तिकालरूपमाह—धूम इति। धूमस्तापरूपाभ्यात्मकप्रतिबन्धरूपः, रात्रिर्निशा, कृष्णः पक्षः; एवं षण्मासा दक्षिणायनम्। तत्र योगी सकामः प्रयातः सन् चान्द्रमसं स्वर्गादिसुखं शीतलात्मकं प्राप्य सुखभोगं कृत्वा निवर्तते, पुनर्जन्म प्राप्नोतीत्यर्थः॥ २५॥

११ नी० भा० दी०—एतेन च धूमो रात्रिरित्येषोऽपि धूमादिमार्गः कर्मिणामपक्वयोगिनां च उचित आवृत्तिफलश्च व्याख्यातः॥ २५॥

देवयानपितृयाणमार्गेण गन्तॄणां फलम्।

**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।**
**एकया यात्यनावृत्तिमन्ययाऽऽवर्तते पुनः॥ २६॥**

**१ शां. भा.—शुक्लेति। शुक्लकृष्णे शुक्ला च कृष्णा च शुक्लकृष्णे; ज्ञानप्रकाशकत्वाच्छुक्ला, तदभावात्कृष्णा। एते शुक्लकृष्णे हि गती जगत इत्यधिकृतानां ज्ञानकर्मणोः, न जगतः सर्वस्यैवैते गती सम्भवतः। शाश्वते नित्ये, संसारस्य नित्यत्वात्, मते अभिप्रेते। तत्रैकया शुक्लया यात्यनावृत्तिं, अन्ययेतरयाऽऽवर्तते पुनर्भूयः॥ २६॥**

२ आ. शां. व्या.—आरोहावरोहयोरभ्यासवाचिना पुनश्शब्देन संसारस्यानादित्वं सूच्यते, रात्र्यादौ मृतानां ब्रह्मविदामब्रह्मप्राप्तिशङ्कानिवृत्त्यर्थमभिमानिदेवताग्रहणाय मार्गयोर्नित्यत्वमाह—**शुक्लेति**। ज्ञानप्रकाशकत्वात् विद्याप्राप्यत्वात् अर्चिरादिप्रकाशोपलक्षितत्वाच्च। शुक्ला देवयानाख्या गतिः, तदभावाज्ज्ञानप्रकाशकत्वाभावात् धूमाद्यप्रकाशोपलक्षितत्वादविद्याप्राप्यत्वाच्च कृष्णा पितृयाणलक्षणा गतिः, तयोर्गत्योः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धयर्थो हिशब्दः। जगच्छब्दस्य ज्ञानकर्माधिकृतविषयत्वेन सङ्कोचे हेतुमाह—**न जगत** इति। अन्यथा ज्ञानकर्मोपदेशानर्थक्यादित्यर्थः। तयोर्नित्यत्वे हेतुमाह—**संसारस्येति**। मार्गयोर्यावत्संसारभावित्वे फलितमाह—**तत्रेति**। क्रममुक्तिरनावृत्तिः। भूयो भोक्तव्यकर्मक्षये शेषकर्मवशादित्यर्थः॥ २६॥

**३ रा. भा.—शुक्ला गतिः अर्चिरादिका, कृष्णा च धूमादिका। शुक्लयाऽनावृत्तिं याति, कृष्णया तु पुनरावर्तते। एते शुक्लकृष्णे गती ज्ञानिनां विविधानां पुण्यकर्मणां च श्रुतौ शाश्वते मते। "तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति" [ छां. उ. ५।१०।१ ] 'अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसम्भवन्ति" [ छां. उ. ५।१०।३ ] इति॥ २६॥**

४ वे. ता. चं.—उक्तमार्गद्वये श्रुतिप्रसिद्धिः प्रदर्श्यते—'शुक्लकृष्णे' इति श्लोकेन। अत्र शुक्लपक्षकृष्णपक्षान्वयाद्वा, शुद्ध्यशुद्धिविवक्षया वा अभिमन्तृस्वरूपस्याभिमन्तव्ये आरोपादेर्वा, गत्योः शुक्लकृष्णशब्दोपचारः। अत्राधिकृतवर्गद्वयविषय-

---

१ अत्रापि 'प्रयाताः' इति पदं 'प्रयातः' इत्येकवचनत्वेन विपरिणम्यानुवर्तते। अत्र **वामनः**—

'मते' इतिपदेनात्र योगीशः शुक्लकृष्णयोः। स्वसम्मतत्वमुभयोरपि गत्योरवोचत॥
सद्यो मुक्तिकरीत्याद्या, परा त्वावृत्तिमत्यपि। जन्मन्यनन्तरे तूर्णं मुक्तिदेति प्रशस्यते॥
'अन्ययावर्तत' इति पर्याप्ते यत् 'पुनः' पदम्। प्रायुङ्क्त तेन भगवानिममर्थममीमनत्॥
पुनः स यात्यनावृत्तिमिति ज्ञेयोऽन्वयोऽन्यथा। व्यर्थमेव प्रयुक्तं स्याद्गोविन्देन पुनः पदम्॥
योगभ्रष्टोद्भवः षष्ठे श्रेष्ठत्वेन यथोदितः। तथावृत्तावपि पुनर्मुक्तिदेयं गतिः स्तुता॥
कर्मयोगपराणां तु या वृत्तिस्तत्र तत्र ताम्। अजगर्हद्द्वितीये प्राग्गर्हयिष्यति चाग्रिमे॥

इति प्रत्यपीपदत्। तत्र 'यामिमां—' ( ४२ ) इत्यादीनि द्वितीयाध्यायगतानि, 'गतागतं कामकामा लभन्ते' ( २१ ) इत्यादीनि च नवमाध्यायगतानि वचांस्यनुसन्धेयानि॥ मते इति 'मन ज्ञाने' ( धा. पा. ११७६ ), अस्मात् 'मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' ( अष्टा. ३।२।१८८ ) इति क्तः। —अविगीता।

जगच्छब्दाभिप्रेतप्रदर्शनं ज्ञानिनां विविधानां पुण्यकर्मणां चेति । "इष्टापूर्तं दत्तमित्युपासते" इत्युक्ततत्तत्कर्मनिष्ठभेदाभिप्रायेण विविधशब्दः । हिशब्देन श्रुतिप्रसिद्धिर्द्योतितेति श्रुताविप्युक्तम् । शाश्वतत्वं प्रवाहरूपेणानाद्यनन्तत्वं व्यवस्थितत्वम् ॥ २६ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २६ ॥

७ ह. पै. भा.—शुक्ला च कृष्णा च शुक्लकृष्णे । गती मार्गौ । ज्ञानप्रकाशयुक्तस्य योगिनः शुक्लपक्षो गतिः । ज्ञानप्रकाशरहितस्य कर्मिणः कृष्णपक्षो गतिः । 'जगतः' इति योगिनः कर्मिणश्चोच्यन्ते । शाश्वते नित्ये, प्रवाहनित्यत्वात् । एकया यात्यनावृत्तिमपुनरावृत्तिं ब्रह्मलोकस्थितिम्, अन्ययाऽऽवर्तते पुनरागच्छति मनुष्यलोके । 'तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म' [ ८।२४ ] इत्यत्र परमेव कथं न गृह्यते ? तत्र परस्मिन्ब्रह्मणि प्रयाणनिषेधात् । "अथाकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति । अत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" [ बृ. उ. ४।४।६ ] इति श्रुतेः । "तद्धैतत् ( तद्वैतत् ) पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदे, अहं मनुरभवं सूर्यश्च" [ बृ. उ. १।४।१० ] इति ॥ २६ ॥

८ वें. व्र. गि.— एतदेव श्रेयस्त्वं प्रदर्शयति— शुक्लकृष्णे इति । अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्लपक्षाणां प्रकाशकत्वादर्चिरादिगतिः शुक्ला, धूमरात्रिकृष्णपक्षाणां तमोमयत्वाद्धूमादिगतिः कृष्णा । यद्वा ज्ञानप्रकाशवत्त्वाच्छुक्ला, तद्राहित्यात्कृष्णा । शुक्ला च कृष्णा च शुक्लकृष्णे, ते एते गती मार्गौ जगतः ज्ञानकर्माधिकारिणो लोकस्य शाश्वते नित्ये मते, जगतः प्रवाहनित्यत्वात् । हिशब्दः पूर्वोक्तश्रुत्यादिप्रसिद्धिद्योतकः । तयोरेकया शुक्लया अनावृत्तिं याति कश्चित्; अन्यया कृष्णया तु पुनरावर्तते ॥ २६ ॥

९ व० त० दी०— उक्तं मार्गद्वयमुपसंहरति— शुक्लकृष्णे इति । शुक्लाऽर्चिरादिगतिः, कृष्णा च धूमादिगतिः । उभयोः प्रकाशतमोमयत्वाद्भेदः ॥ २६ ॥

१० पु. अ. त.—एवं कालस्वरूपद्वयमुक्त्वोपसंहरति— शुक्ल इति । शुक्लकृष्णे पूर्वोक्ता शुक्ला, इतरा कृष्णा; एते गती ज्ञानप्रकाशकगमनात्मके जगतस्तत्तदधिकारिणः शाश्वते सनातने अनादी मते, मन्मत इत्यर्थः । एकया पूर्वोक्तया अनावृत्तिं याति, अन्यया कृष्णया पुनः वर्तते आवर्त्तते । अनेन प्रकारेण गमनादिना स्वरूपमत्रैव ज्ञेयमित्यर्थः ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— उक्तौ मार्गावुपसंहरति— शुक्लेति । शुक्ला ज्ञानहेतुत्वादर्चिरादिगतिः, तदभावात्कृष्णा धूमादिगतिः । एकया शुक्लया, अन्यया कृष्णया ॥ २६ ॥

## नैते सृती पार्थ ! जानन्योगी मुह्यति कश्चन ।
## तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ! ॥ २७ ॥

---

१ तस्मादिति— सर्वे ये काला अभ्यन्तरास्तद्विषयं योगमभ्यस्येः । अस्मद्गुरवस्त्वाहुः— सर्वानुग्राहकतया मध्ये आभ्यन्तरकालकृतमुत्क्रान्तिभेदमभिधाय प्रकृतमेव बाह्यकालविषयं मुख्यप्रमेयमुपसंहृतम्— इत्यभिनवगुप्ताचार्याः । हंसयोगी तु— हे पार्थ ! योगी शुद्धगत्या तदनुरूपयोगब्रह्मविद्यानिष्ठः, कश्चन कोऽपि एते सृती निवृत्तिप्रवृत्तिरूपे उत्तरायणदक्षिणायनगती जानन् साक्षात्परप्राप्त्यनुपायस्वरूपे इति विजानन् सन् न मुह्यति तद्गतिद्वयविषयकं मोहं न प्राप्नोति, तस्मात्— सुकृतदुष्कृतफलोन्मेषनिमेषस्वरूपकालकल्पितगत्योः सर्वथा बन्धहेतुत्वात्, हे अर्जुन ! सर्वेषु कालेषु तदुपपादितस्वरूपेषु, योगयुक्तः योगब्रह्मविद्यानिष्ठो विद्यया स्वहार्देश्वरं परप्राप्तिविरोधिसर्वकर्मबलध्वंसिनं वासुदेवं समुपासीनः, भव 'सर्वं ब्रह्मस्वभावजम्' इत्यादिशुद्धयोगिब्रह्मविद्यामहावाक्यमनुसन्दधानो भवेत्यर्थ इत्यत्राभाषिष्ट । तन्मते हि प्रवृत्तिगतिः, निवृत्तिगतिः, शुद्धगतिरिति तिस्रो गतयः । तत्र प्राकृतदृष्ट्या ज्ञानसङ्कल्पकर्मस्वरूपसंसारव्यवसायिभिर्ये वर्णाश्रमनियतधर्माः स्वर्गादिकामनयाऽनुष्ठीयन्ते, ते प्रवृत्तिगतिगोचराः । ये पुनस्तैरेव निश्शेषसुदूरनिस्सारितप्राकृतधर्मगन्धैरात्मदृष्ट्याऽऽत्मस्वरूपावरूपा धर्मास्तादृशसंसारनिविवर्तयिषयाऽनुष्ठीयन्ते, ते निवृत्तिगतिगोचराः । ये च शुद्धदृष्ट्या 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'सर्वमावश्यकम्' 'सर्वं ब्रह्मस्वभावजम्' इति योगव्यवसायेन समनुष्ठेया ब्रह्मसामीप्यलक्षणपरप्राप्तिकामनया भवन्ति, ते शुद्धगतिगोचराः । तत्र निवृत्तिपथगा अग्न्यादिमार्गेण ब्रह्मलोकं, प्रवृत्तिपथगाश्च धूमादिमार्गेण स्वर्गादिलोकं प्राप्य, पुनरावर्तन्ते भूतपूर्वं संसारमण्डलम्, योगब्रह्मविद्यानिष्ठाश्च दैवीप्रकृतिभाविता ये महात्मानो न तेषां पुनरावृत्तिशङ्का, तदुक्तं 'मामुपेत्य' ( ८।१६ ) इत्यादिनेत्यास्तां दर्शनान्तरदर्शनेन ॥ — अविगीता ।

**१ शां. भा.— नैते इति । नैते यथोक्ते सृती मार्गौ पार्थ ! जानन् 'संसारायैकाऽन्या मोक्षाय च' इति योगी न मुह्यति कश्चन कश्चिदपि । तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तः समाहितो भवार्जुन ! ॥ २७ ॥**

२ आ. शां. व्या.— गतेरुपास्यत्वाय तद्विज्ञानं स्तौति— **नैते** इति । योगस्य मोहापोहकत्वे फलितमाह— **तस्मा**दिति । ज्ञानप्रकारमनुवदति— **संसारायेति** । मोक्षाय क्रममुक्त्यर्थमित्यर्थः । योगी ध्याननिष्ठो गतिमपि ध्यायन्नैव मुह्यति, केवलं कर्म दक्षिणमार्गप्रापकं कर्तव्यत्वेन प्रत्येतीत्यर्थः । योगस्यापुनरावृत्तिफलत्वे नित्यकर्तव्यत्वं सिद्धमित्युपसंहरति— **तस्मादिति** ॥ २७ ॥

**३ रा. भा.— नैत इति । एतौ मार्गौ जानन् योगी प्रयाणकाले कश्चन न मुह्यति; अपितु स्वेनैव देवयानेन पथा याति । तस्मादहरहरर्चिरादिगतिचिन्तनाख्ययोगयुक्तो भव ॥ २७ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'नैते सृती' इति श्लोकेन यद्यपि मार्गचिन्तनमप्युपासनवत्परमपुरुषप्रीत्यर्थमेव; तथापि मार्गज्ञानं हि गन्तुरव्याकुलगमनार्थमिति लोके सिद्धम्; अत्रापि तथोपकारः सम्भवन्न परित्याज्यः; तत्प्रसादादेव हि तत्सिद्धिरपीत्यभिप्रायेणाह **एतावि**ति । **कश्चने**ति कश्चिदपीत्यर्थः । **न मुह्यति** 'तत्प्रकाशितद्वारः' [ ब्र. सू. ४।२।१७ ] इत्यादिप्रकारेण स्पष्टमार्गो भवतीत्यर्थः । मार्गद्वयज्ञानं हेयमार्गप्रहाणार्थमित्यभिप्रायेणाह **अपि त्वि**ति । गतिज्ञानस्य फलमुपदिश्य तस्मादिति हेतुतया परामृश्य साक्षाद्योगविधानस्यासङ्गतत्वाद्योगशब्दोऽत्र ध्यानमात्रविषयः । तच्च ध्यानं प्रस्तुतगतिचिन्तनरूपमेव भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाह— **तस्मादि**ति ॥ २७ ॥

**५ आ. मा. भा.— एते सृती सोपाये ज्ञात्वाऽनुष्ठाय न मुह्यति । तच्चाह स्कान्दे — 'सृती ज्ञात्वा च सोपाये अनुष्ठाय च साधनम् । न कश्चिन्मोहमाप्नोति न चान्या तत्र वै गतिः' इति ॥ २७ ॥**

६ ज. प्र. दी.— 'नैते सृती पार्थ !' इति मार्गज्ञानमात्रेण मोहाभावोऽभिधीयत इति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **एते** इति । अनुष्ठायोपायमिति शेषः । कुत एतत् ? योगीत्युक्तत्वात् पुराणसंवादाच्चेत्याह— **तच्चे**ति । मोहो भगवद्विस्मृतिरूपः । अन्या भगवत्प्राप्तेः । भाष्ये पुराणे चानुष्ठायेत्याकारस्थाने क्वचिदीकारो लेखकदोषेण पतितः । मूलपुस्तकेष्वदर्शनात् ॥ २७ ॥

**७ ह. पं. भा.— नैते सृती मार्गौ जानन्नवगच्छन्योग्युपासकः कश्चन कोऽपि मुह्यति, क्रमात् अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकमुत धूमादिमार्गेण पितृलोकमेति ॥ २७ ॥**

८ वं. ब्र. गि.— अथेदानीमुक्तार्थज्ञानप्रशंसापूर्वकमध्यायार्थमुपसंहरति— **नैत** इति । एते शुक्लकृष्णे सृती मार्गौ जानन् संसारमोक्षफलकत्वेनावगच्छन् । कश्चिदपि न मुह्यति धूमादिमार्गप्रापककर्मनिष्ठां न करोति, किन्तु योगी देवयानमार्गप्रापकपरमेश्वरभजनपरिनिष्ठित एव भवति । यस्मादेवं तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भव शुक्लगतिप्रापकपरमेश्वरभजनपरिनिष्ठितो भव । अर्जुनत्वेन परिशुद्धस्वभावस्य तव शुक्लगत्यनुबन्धिनी योगनिष्ठैव युक्तेति सूचयितुं 'पार्थ' इत्युक्त्वाऽपि पुनः 'अर्जुन' इति सम्बोधितम् । 'योगयुक्तो भव' इत्यध्यायार्थोपसंहारः ॥ २७ ॥

**९ व० त० दी०— मार्गज्ञानफलं दर्शयन् योगे उक्तरूपे निवेशयति— नैत इति । योगी कश्चन न मुह्यति तस्मात्किंबहुना ? त्वं सर्वेषु कालेषु योगी भव; न प्राणप्रयाणकाल एव योगस्य सर्वदापेक्षणादिति भावः ॥ २७ ॥**

१० पु. अ. त.— एतज्ज्ञानफलं वदन्नुपसंहरति— **नैते** इति । एते सृती मार्गौ हे पार्थ मद्भक्त ! जानन् कश्चन योगी मत्सम्बन्धियोगं विना केवलयोगी भूत्वा न मुह्यति न मोहं प्राप्नोति । सकामो भूत्वा केवलयोगायासक्तो न भवतीत्यर्थः । यत एतज्ज्ञानिनो मोहो न भवति, तस्मात् मदुक्तज्ञानयुक्तः सर्वत्र मोहरहितः सर्वेषु कालेषु लौकिकालौकिकेषु पूर्वोक्तेषु वा अर्जुन मोक्षजातीयनामयुक्त ! योगयुक्तो मद्योगयुक्तो भवेत्यर्थः ॥ २७ ॥

**११ नी० भा० दी०— एते सृती मार्गौ आवृत्त्यनावृत्तिफले जानन् योगी न मुह्यति । योगभ्रष्टोऽयतिरल्पप्रयत्नश्च योगी न भवति कश्चन कोऽपि, यस्मादेवं तस्मात् । सर्वेष्वित्यादि स्पष्टम् ॥ २७ ॥**

**वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।**
**अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाऽऽद्यम् ॥ २८ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे तारकब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१ **शां. भा.**—शृणु योगस्य माहात्म्यम्—**वेदेष्विति** । वेदेषु सम्यगधीतेषु यज्ञेषु च साद्गुण्येनानुतिष्ठितेषु तपस्सु च सुतप्तेषु दानेषु च सम्यग्दत्तेषु, यदेतेषु पुण्यफलं पुण्यस्य फलं पुण्यफलं प्रदिष्टं शास्त्रेण, अत्येत्यतीत्य गच्छति तत्सर्वं फलजातम्, इदं विदित्वा सप्तप्रश्ननिर्णयद्वारेणोक्तं अर्थं सम्यगवधार्यानुष्ठाय योगी परं प्रकृष्टमैश्वरं स्थानमुपैति च प्रतिपद्यते, आद्यमादौ भवं, कारणं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये ब्रह्माक्षरनिर्देशो नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— श्रद्धावृद्धयर्थं योगं स्तौति—**शृण्विति** । पवित्रपाणिप्राङ्मुखत्वादिसाहित्यमध्ययनस्य सम्यक्त्वम्, अङ्गोपाङ्गोपेतत्वमनुष्ठानस्य साद्गुण्यम्, तपसां सुतप्तत्वं मनोबुद्धयादैकाग्र्यपूर्वकत्वम्, दानस्य च सम्यक्त्वं देशकालपात्रानुगुणत्वम्, 'इदं विदित्वा' इत्यत्रेदंशब्दार्थमेव स्फुटयति— **सप्तेति** । यद्यपि 'किं तद्ब्रह्म' [८।१] इत्यादौ 'अधियज्ञः कथं कोऽत्र' [८।१] इत्यत्र प्रश्नद्वयं प्रतिभासानुसारेण कैश्चिदुक्तं तथापि प्रतिवचनालोचनायां द्वित्वप्रतीत्यभावात्प्रकारभेदविवक्षया चशब्दद्वयस्य प्रतिनियतत्वान्न सप्तेति विरुध्यते । न चेदं वेदनमापातिकं, किन्त्वनुष्ठानपर्यन्तमित्याह—**सम्यगिति** । प्रकृतो ध्याननिष्ठो योगीत्युच्यते । ऐश्वरं विष्णोः परमं पदं; तदेव तिष्ठत्यस्मिन्नशेषमिति स्थानं योगानुष्ठानादशेषफलातिशायिमोक्षलक्षणं फलं क्रमेण लब्धुं शक्यमिति भावः । तदनेन सप्तप्रश्नप्रतिवचनेन योगमार्गं दर्शयता ध्येयत्वेन तत्पदार्थो व्याख्यातः ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

३ **रा. भा.**— अथाध्यायद्वयोदितशास्त्रार्थवेदनफलमाह— **वेदेष्विति** । ऋग्यजुस्सामाथर्वरूपवेदाभ्यासयज्ञतपोदानप्रभृतिषु सर्वेषु पुण्येषु यत्फलं निर्दिष्टम्, इदमध्यायद्वयोदितं भगवन्माहात्म्यं विदित्वा तत्सर्वमत्येति एतद्वेदनसुखातिरेकेण तत्सर्वं तृणवन्मन्यते । योगी ज्ञानी च भूत्वा ज्ञानिनः प्राप्यं परमाद्यं स्थानमुपैति ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्रामानुजाचार्यविरचिते भाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

४ **वे. ता. चं.**—'इदं विदित्वा' इति सामान्यतो निर्देशादविशेषाच्चैकप्रकरणभूताध्यायद्वयार्थो गृह्यत इत्यभिप्रायेणाह— **अथेति** ।'वेदेषु' इत्यपि यज्ञादिवत्फलकारणतयोपादानम्, न तु प्रतिपादकतया; तदा यज्ञादिफलव्यतिरिक्तविषयतया सङ्कोचनीयत्वापातात् । वेदाभ्यासस्य च दुरितक्षयादिफलप्रदत्वं श्रुत्यादिसिद्धम् । यज्ञादिफलानां प्रतिपादकतयोपादाने च प्रस्तुताध्यायद्वयार्थस्यापि वेदार्थत्वात्ततोऽपि सङ्कोचः स्यात् । तदेतत्सर्वमभिप्रेत्य— **वेदाभ्यासेत्युक्तम्** । 'दाने च' इति चकारस्यानुक्तसमुच्चायकत्वप्रदर्शनाय **प्रभृतिशब्दः** । 'पुण्यफलम्' इत्यत्र पुण्यशब्देन फलविशेषणतया यज्ञादीनामेव सामान्यतो निर्देशः फलस्य श्लाघ्यताप्रदर्शनार्थं इत्यभिप्रायेण यज्ञादिविशेष्यतया **पुण्येष्वित्युक्तम्** । **अध्यायद्वयोदितं भगवन्माहात्म्यमिति**— सप्तमारम्भे हि भगवन्माहात्म्यं प्रक्रान्तम्; तदनुबन्धादन्यत्सर्वमुक्तमिति भावः ।'परं स्थानमुपैति' इति योगा-

---

१ अत्येति अभिभवति, सर्वकर्मसंस्काराणां भगवत्स्मृत्या विफलीकरणात् । सर्वकर्मपरिक्षये चासौ सुखेनैव विन्दति परं शिवम्—**इत्यभिनवगुप्तपादाः** । अत्र 'पर'मिति कैवल्यलक्षणो निर्गुणमोक्षोऽव्यक्तासक्तचित्तज्ञानिप्राप्य उक्तः । 'स्थानमुपैति चाद्यं' इति तु वासुदेवः सर्वमिति मन्वानानां भक्तोत्तमानां वैकुण्ठप्राप्तिरूपः सगुणमोक्षः । निर्गुणे सामीप्यासम्भवेनोपोपसर्गवैयर्थ्यापत्तेः, आद्यशब्दस्वारस्यभङ्गाच्च । आद्यपदेन हि सर्वादावभिव्यक्तं सगुणमेव लक्ष्यते । तथा स्थानपदमपि सगुण एव सङ्गच्छते । एवं द्विविधमोक्षाभ्युपगमे चकारोऽपि सूपपद्यत इति **वामनाशयः** । — **अविगीता** ।

नुष्ठानसाध्यस्य साक्षात्फलस्य पृथगुच्यमानत्वात्तद्विषयत्वे पौनरुक्त्यादधिकपुण्यफलप्राप्तिविवक्षायां लक्षितलक्षणापातात् । संसारनिवृत्तिमात्रपरत्वेऽपि पुण्यफलशब्देन पापफलस्यापि लक्षयितव्यत्वात् 'तत्सर्वमत्येति' इत्येतत्तद्विवेकमूलविरक्त्यभिप्रायम्। अतिशयितफलवेदनं हि 'मनःप्रीतिरनायासात्' इत्यादिन्यायेन फलान्तरवैतृष्ण्यहेतुरित्यभिप्रायेणाह- **एतद्वेदनेति** । भगवन्माहात्म्यज्ञानस्य परस्थानप्राप्तिहेतुत्वे प्रागुक्तज्ञानविशेषरूपद्वारप्रदर्शनं 'योगी' इत्यनेन क्रियत इत्यभिप्रायेण- **ज्ञानी च** भूत्वेत्युक्तम् । परत्वं देशकालयोगादिभिः, "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" [ यजुस्सं. ३१।१८ श्वे. उ. ३।८] "तदक्षरे परमे व्योमन्" [ तै. ना. ६।१।२ ] 'दिव्यं स्थानमजरं चाप्रमेयम्' [ म. भा.१५५।२७] 'एते वै निरयास्तात ! स्थानस्य परमात्मनः' [म. भा.१२।१९६।३१ ] इत्यादेः । आद्यमनादिमित्यर्थः । 'आदौ भवं, कारणं ब्रह्म' इति [ शां. भा.] परोक्तं तु स्थानशब्दवैयर्थ्यादयुक्तम् ॥ २८ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २८ ॥

**॥ इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते गीताभाष्येऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥**

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितगीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

**७ ह. पै. भा.— शृणु योगस्य माहात्म्यम्— वेदेष्विति । वेदेषु सम्यगधीतेषु, यज्ञेषु यथावदनुष्ठितेषु, तपस्सु चान्द्रायणादिषु तप्तेषु, दानेषु च यत्पुण्याख्यं फलमुपदिष्टं, अत्येत्यतिवर्तते तत्सर्वमिदं विदित्वा सप्तप्रश्ननिर्णयद्वारेणोक्तमर्थजातं योगी परं प्रकृष्टं स्थानमुपैति प्राप्नोति चाऽऽद्यमादौ भवं परं ब्रह्मेत्यर्थः ॥ २८ ॥**

**इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— उपसंहृतस्याध्यायार्थस्य वेदने फलमाह— **वेदेष्विति** । वेदानुवचनयज्ञतपोदानेषु विधिवदनुष्ठितेषु यत्कर्मफलमनुष्ठानफलं शास्त्रैरुपदिष्टम्, तत्सर्वमपीदमष्टमाध्यायप्रतिपाद्यं योगरहस्यं विदित्वा अनुष्ठानपर्यन्तमवधार्य अत्येति अतिक्रामति वेदानुवचनाद्यसाध्यं तत्फलातिशयितं च फलं सगुणेश्वरप्राप्तिरूपं लभत इत्यर्थः । वक्ष्यति हि-'नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया । शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' [ ११।५३;५४ ] इति । उक्तं चात्रापि— 'पुरुषः स परः पार्थ ! भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' [ ८ । २२ ] इति । सोऽयं अर्थोऽत्येतिनाऽत्र विवक्षितः । न केवलमेतावन्मात्रं फलम् । किन्तु सगुणद्वारा निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरपीत्याह—**योगीति** । योगी ज्ञानी भूत्वा परं निरतिशयमाद्यं स्थानं 'तद्धाम परमं मम' [ ८।२१ ] इत्युक्तं परं ब्रह्म चोपैतीति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशंकराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्यानेऽष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०—एवं मनस्समाधानार्थं वैराग्यार्थं महापुरुषचिन्तनयोग उक्तः, तत्फलमाह— **वेदेष्विति** । सर्ववेदादिषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टमैहिकमथ पारलौकिकं अन्नाद्यपशुपुत्रस्वाराज्यादिरूपं तदप्यत्येति । तत्र वैराग्ये जाते तदतिक्राम्यति, न पुनर्वाञ्छति योगी तत्सर्वमिदं अष्टमाध्याये अष्टप्रश्नार्थनिर्णयेनोक्तं सत्त्वं विदित्वा विज्ञाय परमुत्कृष्टमाद्यं जगन्मूलभूतं स्थानं भगवद्धाम प्राप्नोति ॥ २८ ॥

चतुर्विधानां भगवद्योगिनां तत्पृथक् फलम् । यथाधिकारमत्रोक्तं भगवद्योगवेदिना ॥ १ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— एवमष्टप्रश्नोत्तरमुक्त्वैतज्ज्ञानयुक्तयोगिनः सर्वकालप्राप्तिमुक्त्वोपसंहरति— **वेदेष्विति** । वेदेषु अध्ययनादिभिः, यज्ञेषु यज्ञानुष्ठानादिभिः, तपस्सु परमसन्तापेन क्लेशसहनादिभिः, दानेषु तुलापुरुषादिभिर्यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्, उक्तमिति यावत्, तत्सर्वं फलमिदं समस्ताध्यायार्थं विदित्वा अभ्येति प्राप्नोति ततोऽधिकमपि योगी मद्योगयुक्तः मन् परं मत्सेवारूपं आद्यं सकलकारणरूपं मच्चरणात्मकम् (स्थानं) उपैति मत्समीपे प्राप्नोतीति भावः ॥ २८ ॥

भक्तैः शुद्धात्मभक्त्यैव संयोगः पुरुषोत्तमे ।
प्राप्यते कृष्णदेवेन तदुक्तमिह चाष्टमे ॥ १ ॥
महापुरुषसंयोगो जीवानां तु यथा भवेत् ।
कृपया कृष्णदेवेन पार्थायोक्तं तदष्टमे ॥ २ ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यामष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० टी०—पुनः श्रद्धाभिवृद्धये योगं स्तौति— वेदेष्विति। वेदेषु सम्यगधीतेषु, यज्ञेषु तपस्सु च सम्यगनुष्ठितेषु, दानेषु च सम्यग्दत्तेषु, यत्पुण्यं तत्फलं चेति पुण्यफलं सर्वेषु समुच्चितेषु यत्प्रदिष्टं शास्त्रेषु तत्सर्वं योगी अत्येति अतिक्रामति; कार्यब्रह्मलोकं प्राप्नोतीत्यर्थः। किं कृत्वा? इदं पूर्वोक्तमुपासनं विदित्वा ज्ञात्वाऽनुष्ठाय च। ततश्च किं? इत्यत आह—यत्स्थानं निर्विशेषं ब्रह्म उपैति प्राप्नोति च, क्रमेणेत्यर्थः। आद्यं, न तु केनचिन्निर्मितम्। तदनेनाध्यायेन ध्येयस्तत्पदार्थो व्याख्यातः; अग्रिमेऽध्याये ज्ञेयं ब्रह्म व्याख्यास्यति॥ २८॥

इति श्रीमहाभारते नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशेऽष्टमोऽध्यायः॥ ८॥

# श्रीमद्भगवद्गीताया अष्टमाध्यायस्य माहात्म्यम्।

श्रीशिव उवाच—
अष्टमाध्यायमाहात्म्यं शृणु वक्ष्यामि पार्वति!।
यस्य श्रवणमात्रेण परां मुदमवाप्स्यसि॥ १॥
आमर्दकं पुरं नाम्ना विश्रुतं दक्षिणापथे।
द्विजन्मा भावशर्मेति तत्राऽऽसीद्गणिकापतिः॥ २॥
खादन्मांसं पिबन्सीधुं चोरयन्साधुसम्पदः।
रममाणः परस्त्रीभिराखेटककुतूहली॥ ३॥
अत्यवाहयदत्युग्रो गरीयांसं मनोरथम्।
स कदाचित्पानगोष्ठ्यां तालीफलसुधारसम्॥ ४॥
निपीय कण्ठपर्यन्तमजीर्णेनातिपीडितः।
मृतः कालेन पापात्मा जातस्तालीतरुर्महान्॥ ५॥
तस्य च्छायामुपाश्रित्य निबिडामतिशीतलाम्।
अभूतां दम्पती कौचिद्ब्रह्मराक्षसतां गतौ॥ ६॥
श्रीदेव्युवाच—
किञ्जातीयौ किमात्मानौ किंवृत्तावित्युदीरय।
कर्मणा केन वा देव! ब्रह्मराक्षसता तयोः॥ ७॥
श्रीशिव उवाच—
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः सर्वशास्त्रार्थकोविदः।
सदाचारोऽभवत्कश्चिद्द्विजो नाम कुशीबलः॥ ८॥
जाया तु तस्य कुमतिनामधेया दुराशया।
स सभार्यो महादानान्याददानोऽतिलोभवान्॥ ९॥
महिषीं कालपुरुषं हयादीननुवासरम्।
अप्रयच्छन्द्विजातिभ्यो दानलब्धां वराटिकाम्॥ १०॥
कालेन दम्पती वृत्तौ ब्रह्मराक्षसरूपिणौ।
पर्यटन्तौ महीचक्रं क्षुत्तृषाकुलविग्रहौ॥ ११॥
विशश्रमतुरागत्य मूलं तालतरोस्ततः।
कथमेतन्महादुःखमावयोरुपगच्छति॥ १२॥
कथं वा जायते मुक्तिर्ब्रह्मराक्षसयोनितः।
इति पृष्टो गृहिण्याऽसौ ब्राह्मणः समभाषत॥ १३॥
ब्रह्मविद्योपदेशेन विनाऽध्यात्मविचारणम्।
विना कर्मविधिज्ञानात्कथं मुच्येत सङ्कटात्॥ १४॥
भार्योवाच—
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम!।
एतावदुक्ते तत्पत्न्या यदाश्चर्यमभूच्छृणु॥ १५॥
अष्टमाध्यायश्लोकार्धश्रवणात्स तरुस्तदा।
विहाय तालरूपं तद्बभूव दिव्यरूपवान्॥ १६॥
सद्यो ज्ञानविधूतात्मा विमुक्तः पापकञ्चुकात्।
तन्माहात्म्याद्विनिर्मुक्तौ दम्पती तौ बभूवतुः॥ १७॥
किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम!।
एतावदेव उक्तं च दैवान्निरगमन्मुखात्॥ १८॥
ततोऽन्तरिक्षादायातं क्वणत्किङ्किणिकं शुभम्।
दिवि दिव्याङ्गनावक्त्रचन्द्रमण्डलमण्डितम्॥ १९॥
अप्सरोवदनाम्भोजभ्राम्यद्भ्रमरसङ्कुलम्।
निर्मथ्यमानदुग्धाब्धिवेलाडिण्डिमपाण्डुरैः॥ २०॥
गङ्गातरङ्गसुभगैश्चामरैरुपशोभितम्।
गायद्गन्धर्वसुभगं नृत्यत्सुरवधूशतम्॥ २१॥
दिव्यं विमानमारूढौ दम्पती जग्मतुर्दिवम्।
अत्रायं वृत्तमखिलमेतद्विस्मयकारकम्॥ २२॥
ततो लिलेख मेधावी श्लोकार्धमिदमादरात्।
ययौ वाराणसीं नाम नगरीं मुक्तिदायिनीम्॥ २३॥
आराधयितुमन्विच्छन्देवदेवं जनार्दनम्।
स तत्र कर्तुमारेभे तपः परमुदारधीः॥ २४॥
अत्रान्तरे जगन्नाथो देवदेवो जनार्दनः।
पृष्टो दुग्धाब्धिसुतया संयोज्य करपङ्कजम्॥
निद्रापथं विहायैव स्थीयते कथमित्युत॥ २५॥
श्रीभगवानुवाच—
काश्यां भागीरथीतीरे तपस्यतितरां द्विजः।
भावशर्माऽतिमेधावी मद्भक्तिरसपूरितः॥ २६॥
जपन्गीताष्टमाध्यायश्लोकार्धं नियतेन्द्रियः।
सन्तुष्टवानहं देवि! तदीयतपसा भृशम्॥ २७॥
चिरं विचारयन्नेव तत्तपस्सदृशं फलम्।
दातुमुत्कण्ठितमना वर्तेय साम्प्रतं प्रिये!॥ २८॥
पार्वत्युवाच—
हरिः प्रसन्नभूतोऽपि चिन्तां प्राप यदि प्रभो!।
भावशर्मा हरेर्भक्तः किं प्राप तत्फलं पुनः॥ २९॥
श्रीमहादेव उवाच—
ततः प्रसादमासाद्य प्रसन्नस्य मुरद्विषः।
सुखमात्यन्तिकं प्राप भावशर्मा द्विजोत्तमः॥ ३०॥
लेभिरे पदवीं सर्वे तदीया अपि वंशजाः।
तत्कर्मवशतो ये वै सम्प्राप्ता यातनां पुरा॥ ३१॥
एतदेवाष्टमाध्यायमाहात्म्यं किञ्चिदेव ते।
कथितं मृगशावाक्षि! द्रष्टव्यं तु सदैव च॥ ३२॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताष्टमाध्यायमाहात्म्यकथनं नामाष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ ८॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ९ ]

**स्वमाहात्म्यं मनुष्यत्वे परत्वं च महात्मनाम् ।**
**विशेषो नवमे योगो भक्तिरूपः प्रकीर्तितः ॥ १३ ॥**

## श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

स्वमाहात्म्यं 'मया ततमिदं सर्वम्' [ ९।४ ] इत्यादिभिः शोधितम् । 'अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् । परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् '॥ [ ९।११ ] ' इति परत्वस्य मनुष्यदशायामपि अव्ययत्वमुक्तम्; प्रस्तुतावतारविवक्षया मनुष्यावस्थत्वोक्तिः; तन्मुखेन सर्वेष्वप्यवतारेषु अव्ययः परमो भाव उपलिलक्षयिषितः । उक्तं च श्रीवत्सचिह्नमिश्रैः 'परो वा व्यूहो वा विभव उत वार्चावतरणो भवन् वान्तर्यामीवर वरद यो यो भवसि वै । स स त्वं सन्नैशान्वरगुणगणान् बिभ्रदखिलान् भजद्भ्यो भास्येवं सततमितरेभ्यस्त्वितरथा' [ व. स्त. १८ ] इति । 'महात्मानस्तु मां पार्थ !' [ ९।१३ ] इत्यादिना महात्मनां विशेषो विशोधितः । अत्र भक्तिरूपस्य योगस्यैव प्राधान्यं भाष्योक्तम्—'उपासकभेदनिबन्धना विशेषाः प्रतिपादिताः; इदानीमुपास्यस्य परमपुरुषस्य माहात्म्यं, ज्ञानिनां विशेषं च विशोध्य भक्तिरूपस्योपासनस्य स्वरूपमुच्यते' [ रा. भा. ९।१ ] इति ॥ १३ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः

श्रीमद्भगवद्गीतायाः

# राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ।

उक्तानुक्तज्ञानप्रशंसा ।

**श्रीभगवानुवाच— इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे ।**
**ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥**

१ श्रीशाङ्करभाष्यम् ।

अष्टमे नाडीद्वारेण धारणायोगः सगुण उक्तः, तस्य च फलमग्न्यर्चिरादिक्रमेण कालान्तरे ब्रह्मप्राप्तिलक्षणमेवानावृत्तिरूपं निर्दिष्टम् , तत्र 'अनेनैव प्रकारेण मोक्षप्राप्तिफलमधिगम्यते, नान्यथा' इति तदाशङ्काव्याविवृत्सया **भगवानुवाच— इदमिति** । इदं ब्रह्मज्ञानं वक्ष्यमाणमुक्तं च पूर्वेष्वध्यायेषु, तत् बुद्धौ सन्निधीकृत्येदमित्याह । तुशब्दो विशेषनिर्धारणार्थः । इदमेव सम्यग्ज्ञानं साक्षान्मोक्षप्राप्तिसाधनं 'वासुदेवः सर्वमिति' [ ७।१९ ] "आत्मैवेदं सर्वम्" [ छां. उ. ७।२५।२ ] "एकमेवाद्वितीयम्" [ छां. उ. ६।२।१ ]इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः; नान्यत् "अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" [ छां. उ. ७।२५।२ ] इत्यादिश्रुतिभ्यश्च । ते तुभ्यं गुह्यतमं गोप्यतमं प्रवक्ष्यामि कथयिष्याम्यनसूयवेऽसूयारहिताय । किं तत् ? ज्ञानं, किंविशिष्टं ? विज्ञानसहितमनुभवयुक्तम् ; यज्ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य मोक्ष्यसेऽशुभात्संसारबन्धनात् ॥ १ ॥

---

१ अनसूयवे— मयोपदिश्यमाने मते वृथा दोषारोपणमकुर्वते । उक्तंच प्राक्- 'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः । श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तः' ( ३।३१ ) इति । एतेनासूयकायोपदेशनिषेधोऽपि ध्वन्यते । तथा च स्मर्यते— 'विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिष्टेऽस्मि रक्ष माम् । असूयकाय मां मादास्तथा स्यां वीर्यवत्तमा ॥' [ मनुः २।११४ ] इति ॥ 'असूया तु दोषारोपो गुणेष्वपि'। ( १।७।२४ ) इत्यमरः । गौतमधर्मसूत्रव्याख्यायां मिताक्षरायां त्वनसूयालक्षणमेवं सङ्गृहीतम्— 'यो धर्ममर्थं कामं च लभते मोक्षमेव च । न द्विष्यात्तं सदा प्राज्ञः साऽनसूया स्मृता बुधैः ॥' ( १।८।२४ ) इति । अत्रिस्मृतावपि— 'न गुणान् गुणिनो हन्ति स्तौति चान्यान् गुणानपि । न हसेच्चान्यदोषांश्च साऽनसूया प्रकीर्तिता ॥ ( २।१ ) इति । अत्र **वामनः—**

वदन्तः सर्वकर्तारमीशं स्वयमनुष्ठितम् । मय्यारोप्य वृथा पापं मूढा गच्छन्त्यसूयुताम् ॥
पापपुण्ये कारयति प्रकृतिर्वासनामयी । न तु प्रभुरिति प्रोक्तमध्यायेऽत्रैव पञ्चमे ॥ ( १४–१९ )
जिष्णो ! तदनुसन्धाय न स्तः सकरुणे समे । मयि वैषम्यनैर्घृण्ये इति निर्द्धारितं त्वया ॥
अतो रहस्यमप्येतत्कथयामीति सूचयन् । अनसूयुपदेनात्र विशिनष्ट्यर्जुनं विभुः ॥

— इति स्वयं व्याख्याय व्याख्यान्तरं दूषयति—

दोषं मुहुर्बोधयतीत्यनारोपयते मयि । इति व्याचक्षते केचिदनसूयव इत्यदः ॥
तन्न युक्तं, यतः पीत्वा पीयूषं कोऽभिलाषुकः ? । दोषमारोपयेच्छश्वत्तद्दातरि सचेतनः ॥ इति ॥

अशुभात् शुभादिति च छेदः । 'शुभाशुभफलैरेव मोक्ष्यसे—' ( ९।२८ ) इति वक्ष्यमाणत्वात् ॥ **वामनस्तूत्तरार्धमेवमवतारयति—**

उपदेष्टव्यमथ किमवशिष्टमिहाष्टमे । उक्तं ननूपसन्नाय यद्वक्तव्यं तदञ्जसा ॥—

## २ आनन्दगिरिकृतं शाङ्करभाष्यव्याख्यानम् ।

अतीतेनाऽऽगामिनोऽध्यायस्यागतार्थत्वं वक्तुं वृत्तमनुवदति— **अष्टम** इति । नाडी सुषुम्नाख्या । धारणाख्येनाङ्गेन युक्तो योगो धारणायोगः । सगुणः सर्वद्वारसंयमनादिर्गुणस्तेन सहित इत्यर्थः । तत्फलोक्त्यर्थमनन्तराध्यायारम्भमाशङ्क्याऽऽह-- **तस्य चे**ति । 'अग्निरर्चिः' इत्यादिनोपलक्षितेन क्रमवता देवयानेन पथेति यावत् । ज्ञानानन्तरमेव यथोक्तफललाभादलमनेन मार्गेणेत्याशङ्क्याऽऽह— **कालान्तर** इति । अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मप्राप्तौ मुक्तेर्मार्गायत्तत्वात् "न तस्य" [ बृ. उ. ४।४।६ नृ. उ. ता. ५] इत्यादिश्रुतिविरोधः स्यादित्याशयेन शङ्कते— **तत्रे**ति । वृत्तोऽर्थः सप्तम्यर्थः । उक्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थमनन्तराध्यायमुत्थापयति— **तदाशङ्के**ति । सम्प्रयुक्तत्वेनापरोक्षत्वाभावेऽपि पूर्वोत्तरग्रन्थालोचनया बुद्धिसन्निधानादिदंशब्देन ब्रह्मज्ञानं गृहीतमित्याह— **तद्बुद्धावि**ति । प्रकृताद्वयाज्ज्ञानस्य वैशिष्ट्यावद्योती तुशब्द इत्याह— **तुशब्द** इति । निपातार्थमेव स्फुटयति— **इदमेवे**ति । तस्मिन्नर्थे संवादकत्वेन श्रुतिस्मृती दर्शयति— **वासुदेव** इति । अद्वैतज्ञानवद्द्वैतज्ञानमपि केषाञ्चिन्मोक्षहेतुरित्याशङ्क्याऽऽह— **नान्यदि**ति । द्वैतज्ञानं मोक्षाय न क्षममित्यत्र श्रुतिमुदाहरति— **अथे**ति । अविद्याप्रकरणोपक्रमार्थोऽथशब्दः । अतोऽद्वैतादन्यथा भिन्नत्वेनेत्यर्थः । विदुस्तत्त्वमिति शेषः । द्वैतस्य दुर्निरूपत्वेन कल्पितत्वात्तज्ज्ञानं रज्जुसर्पादिज्ञानतुल्यत्वान्न क्षेमप्राप्तिहेतुरिति चकारार्थः । असूया गुणेषु दोषाविष्करणं, तद्रहिताय ज्ञानाधिकृतायेत्यर्थः । ज्ञानं ब्रह्मचैतन्यं तद्विषयं वा प्रमाणज्ञानं तस्य तेनैव विशेषितत्वानुपपत्तिमाशङ्क्य व्याकरोति— **अनुभवे**ति । विज्ञानमनुभवः साक्षात्कारस्तेन सहितमित्यर्थः । उक्तज्ञानं प्राप्तस्य किं स्यात् ?इत्याशङ्क्याऽऽह– **यज्ज्ञानमि**ति ॥१॥

## ३ रामानुजाचार्यप्रणीतं भाष्यम् ।

उपासकभेदनिबन्धना विशेषाः प्रतिपादिताः; इदानीमुपास्यस्य परमपुरुषस्य माहात्म्यं, ज्ञानिनां च विशेषं विशोध्य भक्तिरूपस्योपासनस्य स्वरूपमुच्यते । इदं तु ते गुह्यतमं, भक्तिरूपमुपासनाख्यं ज्ञानं विज्ञानसहितं उपासनगतविशेषज्ञानसहितम्, अनसूयवे ते प्रवक्ष्यामि । मद्विषयं सकलेतरविसजातीयमपरिमितप्रकारं माहात्म्यं श्रुत्वा एवमेव सम्भवतीति मन्वानाय ते प्रवक्ष्यामीत्यर्थः। यज्ज्ञानं (वक्ष्यमाणं) अनुष्ठानपर्यन्तं ज्ञात्वा मत्प्राप्तिविरोधिनः सर्वस्मादशुभान्मोक्ष्यसे ॥ १ ॥

## ४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

'स्वमाहात्म्यं मनुष्यत्वे परत्वं च महात्मनाम् । विशेषो नवमे योगो भक्तिरूपः प्रकीर्तितः' [गी. सं. १३] इति सङ्ग्रहश्लोकमपि व्याकुर्वंस्तदनुसारेणाष्टमनवमयोः सङ्गतिं च दर्शयति— **उपासके**त्यादिना । विशेषाः ज्ञातव्योपादेयभेदाः । परमपुरुषमाहात्म्यस्य ज्ञानिनां विशेषस्य च प्रागेव प्रकृतत्वात्तत्प्रभावविशोधनमत्रोपासनतत्फलानुप्रविष्टतया क्रियते; अध्यायप्रधानार्थस्तूपासनस्वरूपनिष्कर्षप्रधानार्थत्वेन इत्यभिप्रायेण **विशोध्ये**ति विच्छिद्य, **भक्तिरूपस्ये**त्यादि पृथगुक्तम् । भजनोपासनशब्दयोरस्मिन्नेवाध्याये प्रकरणान्तरेषु च समानविषयतयैव प्रयोगवशाच्छ्रुतिसिद्धोपासनस्यैवात्र भक्तिशब्देन विशेषणं कृतमित्य-

---

—द्वैतं निरस्तमद्वैततत्त्वं समवधारितम् । इतोऽपि किं गुह्यतमं ? यदिदानीं विवक्षति ॥
इत्याशङ्कां तुदन्नाह देवो ज्ञानं तदेव ते । कथयामि सविज्ञानं येनाविद्या विलीयते— इति ॥

तदानुगुण्येनैवं व्याख्याति च—

यज्ज्ञानं विविधं तदेव विबुधैर्विज्ञानमुक्तं यथा ब्रह्मैवाद्वयमन्वयेन सकलं माया तु भानास्पदम् ।
ब्रह्मैवेदमशेषमित्यवधृतं बुद्ध्या यया सापि धीर्मायैवास्तसमस्तधर्मनिवहे वृत्त्यन्वयासम्भवात् ॥

अथ मायाऽपि सा ब्रह्म नान्यत्किञ्चिदितीह यः । प्रत्ययः सोऽपि मायायाः कोऽपि धर्म उदाहृतः॥
निर्गुणोपासकेभ्यस्तत्सर्वधर्मविवर्जितम् । रोचते केवलं ब्रह्म बालेभ्य इव फाणितम् ॥
भक्तास्तु मायारचनामपीमां मत्वा स्वरूपं सगुणं मुरारेः ।
प्रीत्या भजन्ते सुधियः सितायास्तदर्थिनः किं प्रतिमास्त्यजन्ति ? ॥

सङ्गृह्य प्रतिमाः सिताविरचिता यद्वल्लिताकामुका नेत्राभ्यामवलोकयन्ति ललितं रूपं, रसं जिह्वया ।
निश्शङ्कं रसयन्ति न्वैवमखिलं मायाविलासं बुधाः पश्यन्ति स्फुटमेव तत्र भगवद्रूपं प्रतीयन्ति च ॥
मायाविलासोऽपि ततो न हेयः सेव्यस्तु मत्वा भगवत्स्वरूपम् । यदीदृशं ज्ञानमनेकरूपं विज्ञानमुक्तं हरिणा तदत्र ॥

ब्रह्मात्मत्वमनिश्चित्य व्यतिरेकमथान्वयम् । अज्ञात्वा शाब्दबोधेन नैवाविद्या विनश्यति ॥
विज्ञानसहितं ज्ञानमतो वक्ष्यामि ते यतः। अविद्याया मोक्ष्यसीति देवो वक्त्यत्र जिष्णवे ॥ इति ।-अविगीता

भिप्रायेण भक्तिरूपस्योपासनस्येत्युक्तम् । अत्र 'इदं तु ते गुह्यतमम्' इति ज्ञानस्योपक्रान्तत्वात्, 'मन्मना भव' [९।३४] इति चोपसंह्रियमाणत्वात्, मध्ये च बहुशो भजनस्यैवाभ्यस्यमानत्वात्, प्रत्यक्षरूपत्वनिरतिशयप्रियत्वकीर्तनीययतननमस्काररूपत्वादीनां चापूर्वाणां भक्तिस्वरूपानुप्रवेशिनां प्रकाराणां प्रतिपाद्यमानत्वात्, स्वरूपतः साध्यतया निरतिशयफलप्रतिपादनात्, 'राजविद्या' इत्यादिना प्रशंसारूपार्थवाददर्शनाच्चात्रोपक्रमोपसंहारादितात्पर्यलिङ्गैः भक्तिस्वरूपनिष्कर्षेऽध्यायस्य तात्पर्यम्; तदन्विततयाऽन्यदत्रोच्यत इत्यभिप्रायः । 'इदं तु ते' इत्यत्र वक्ष्यमाणमेव बुद्धिस्थतया 'इदम्' इति निर्दिष्टम् । "एष तु वा अतिवदति" [छां. उ. ७।१६।१] इति प्राणविदपेक्षया सत्यविदोऽधिकत्ववत्, तुशब्देन कर्मयोगज्ञानयोगाभ्यामप्यस्याधिक्यं विवक्षितम् । तयोर्हि गुह्यत्वं, गुह्यतरत्वं च । इदं तु गुह्यतमम् । इदं च शुश्रूषातिशयोत्थापनार्थं, गोपनाधिक्यशिक्षणार्थं चोक्तम् ।

उपबृंहणीयवेदान्तवाक्येष्विवात्रापि ज्ञानशब्दस्य वक्ष्यमाणविशेषपर्यवसानप्रदर्शनाय **भक्तिरूपमुपासनाख्यमित्युक्तम्**। **उपासनगतविशेषज्ञानसहितमिति** पूर्वोक्तविज्ञानादत्रत्यविज्ञानस्य भेदः; तद्ध्युपास्यादिविशेषज्ञानम्, उपासनगतविशेषः, उपासनप्रकारः । प्रस्तुतौपयिकमनसूयुत्वप्रकारं दर्शयति **मद्विषय**मिति । गुणेषु दोषाविष्करणचित्तवृत्तिविशेषो ह्यसूया; तद्विपर्ययश्च गुणेषु गुणाध्यवसाय एव हीति भावः । एतेनोपदेशयोग्यायोग्यविभागेन शिष्यशिक्षणं कृतम् । स्मरन्ति च विद्याया वचनम् 'असूयकाय मां मादाः' [मनुः २।११४] इत्यादि । वक्ष्यति च 'इदं ते नातपस्काय' इत्यारभ्य 'न च मां योऽभ्यसूयति' [१८।६७] इति । प्रवक्ष्यामि कृत्स्नं लघु व्यक्तं च वक्ष्यामीत्यर्थः । **यज्ज्ञानमनुष्ठानपर्यन्तं ज्ञात्वे**ति नह्यनुष्ठेयज्ञानमात्रादनुष्ठानफलम्; अत उपासनस्वरूपं ज्ञात्वा तदनुष्ठानद्वारा मोक्ष्यस इत्युच्यत इति भावः । कर्मादिभिर्हि भक्त्युत्पत्त्यादिविरोधिपापनिरसनम्; भक्त्या तु भगवत्प्राप्तिविरोधिसमस्तपापनिरसनं हि प्रमाणसिद्धमित्यभिप्रायेण— **मत्प्राप्तिविरोधिनः सर्वस्मादशुभा**दित्युक्तम् । अशुभशब्दस्यात्र स्वर्गाद्यपरपर्यायव्यामोहननिरयहेतुभूतपुण्यशब्दाभिलप्यपापविषयत्वमपि **सर्वस्मा**दित्यनेन विवक्षितम् ॥ १ ॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं माध्वभाष्यम् ।

**श्रीरङ्गनाथाय नमः ॥ ॐम् ॥ सप्तमाध्यायोक्तं स्पष्टयत्यस्मिन्नध्याये ॥ १ ॥**

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

पूर्वसङ्गतत्वेनाध्यायार्थमाह— **सप्तमे**ति । भगवन्माहात्म्यमिति शेषः । पदार्थज्ञानपूर्वकं वाक्यार्थज्ञानमिति सप्तमोक्तपदार्थानष्टमे व्याख्याय नवमे तद्वाक्यार्थं स्पष्टीकरोतीत्यर्थः ॥ १ ॥

## ७ श्रीहनुमद्विरचितं पैशाचभाष्यम् ।

**सप्तप्रश्ननिर्णयानन्तरमर्जुनाय सम्प्रत्यष्टममप्यर्थमुपदेष्टुं भगवानुवाच— इदं तु त इति । इदं वक्ष्यमाणं तत्र गुह्यतमं रहस्यतमं प्रवक्ष्यामि । अनसूयवे । गुणेषु दोषाविष्करणमसूया । ज्ञानमवबोधं विज्ञानसहितमनुभवयुक्तम् । यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥ १ ॥**

## ८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

अष्टमेऽध्याये भगवतः परब्रह्मणो वासुदेवस्य भजनमुपदिष्टम्, नवमे तु ब्रह्मतत्त्वज्ञानमुपदिश्यते, तत्र तावदुपदेक्ष्यमाणं ज्ञानं प्रशंसंस्त्रिभिः श्रीभगवानुवाच— **इद**मिति । इदं ज्ञानं प्रवक्ष्यामीति प्रथममन्वयः । इदमिति पूर्वाध्यायेषूक्तमग्रे वक्ष्यमाणमिदानीं चोच्यमानं सर्वप्रकारमपि ब्रह्मतत्त्वज्ञानं बुद्धावाकलय्य निर्दिश्यते । तुशब्दः पूर्वोक्ताद्भजनादस्य वैलक्षण्यार्थः । तदेव वैलक्षण्यमाह— **गुह्यतम**मिति । गुह्यतमं गोपनीयतमम्, अतिरहस्यमित्यर्थः । कर्मकाण्डोक्तो धर्मो गुह्यः, उपासनाकाण्डोक्तं भजनं गुह्यतरम्, ज्ञानकाण्डोक्तं ज्ञानं गुह्यतममिति तमप्प्रत्ययेन दर्शितम् । एतदेवाह— **विज्ञानसहित**मिति । विज्ञानमपरोक्षानुभवः, तेन सहितम् । न ह्यतीन्द्रिये धर्म इव ब्रह्मापरोक्षानुभवे स्वरूपतः फलतो वा कस्यचित्संशयोऽस्ति, साक्षिप्रत्यक्षसिद्धत्वात् ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तेः सार्वजनीनत्वेन दृष्टफलकत्वाच्च; धर्मस्तु नैवम् । अत एव श्रुतिः— "को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति" इति । ततो गुह्याद्धर्माज्ज्ञानस्यातिशय इत्यर्थः । हेत्वन्तरेणापि ततोऽतिशयमाह— **यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभा**दिति । यज्ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य । 'पाकं पचति' इतिवत्सामान्यविवक्षया प्रयुक्तस्यैव पुनः प्रयोगः । अशुभात्संसारबन्धात् मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि । धर्मस्तु संसारहेतुत्वान्न तन्मोचक इति ततोऽस्यातिशय इत्यर्थः । अनेनैव भजनादपि ज्ञानस्यातिशयो दर्शितः; तस्य चित्तशुद्धिद्वारा ज्ञानमुत्पाद्यैव मोचकत्वेन साक्षात्संसारनिवर्तकत्वाभावात् । एवं गुह्याद्धर्माद्गुह्यतराद्ध्यानाच्चातिशयित्वेन गुह्यतममपि ज्ञानं ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि । 'ते' इत्यनेन भक्तिसख्यादिभिस्त्वमिवान्यो न मत्प्रीतिविषयोऽस्तीति सूचितम् । शिष्यगुणसम्पत्तिविचारेऽपि त्वमेवोपदेशार्ह इत्याह— **अनसूयव** इति । गुणेषु दोषदृष्टिरसूया तद्रहिताय;

पुनः पुनः स्वमाहात्म्यमेवोपदिशतीति परमकारुणिके मयि दोषबुद्धिमकृत्वा 'इदमित्थमेव' इति मन्वानायेत्यर्थः। एतच्च आर्जवसंयमादिशिष्यगुणान्तराणामपि स्वसमनियतानामुप-लक्षणम् ॥ १ ॥

### ९ श्रीवल्लभाचार्यविरचिता तत्त्वदीपिका ।

**नवमे स्वाक्षरैश्वर्यज्ञानं सद्भक्तिगर्भितम् । प्राह विज्ञानसहितं महापतितपावनः ॥ १ ॥**

एवं तावत्पूर्वत्र स्वमहिमानं सर्वोत्तममुक्त्वा स्वस्य योगनिष्पन्नज्ञानिभक्त्यैकलभ्यत्वं सूचितं; इदानीं स्वाक्षरैश्वर्यमहिमज्ञानद्वारा स्वभक्तेरसाधारणमाहात्म्यं महापतितपावनत्वं प्रदर्शयिष्यन् श्रीभगवानुवाच इदं त्विति । तुः पूर्वव्यावृत्त्यर्थः । तत्तु गुह्यं चतुर्विधोपासकभेदनिबन्धनविशेषरूपं, इदं तु गुह्यतमं भजनीयभक्तिमाहात्म्यनिबन्धनरूपमिति ते तुभ्यं अनसूयवे पुनः पुनः सकलेतरविजातीयं मद्विषयकमपरिमितगुणमाहात्म्यं श्रुत्वैवमेव सम्भवतीति मन्वानाय ज्ञानं स्वमाहात्म्यविषयकं विज्ञानं भक्तिगतविशेषज्ञानसहितं प्रकर्षेण वक्ष्यामि; यत् ज्ञात्वाऽशुभान्मोहान्मोक्ष्यसे ॥ १ ॥

### १० श्रीपुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी ।

प्रोवाच कृष्णः कृपया नवमे पाण्डवं प्रति ।
राजविद्या राजगुह्यं योगं स्वैश्वर्यबोधकम् ॥ १ ॥

एवं पूर्वाध्याये स्वस्वरूपं भक्त्यैकलभ्यमुक्त्वा भक्तिस्वरूपज्ञानमाह कृष्णः कृपया— इदं त्विति । इदं तु गुह्यतममत्यन्तं गुप्तं भगवद्विषयकभक्त्यात्मकं ज्ञानं विज्ञानसहितमनुभवसहितं भक्तिप्रतिफलनरूपं अनसूयवे प्रतिक्षणमुत्तरोत्तरमतिकाठिन्यभक्त्यैकलभ्यस्वरूपकथनेऽपि दोषरहितश्रवणैकपरचित्ताय ते तुभ्यं प्रवक्ष्यामि, प्रकर्षेण स्वरूपज्ञानसहितं कथयिष्यामीत्यर्थः । यज्ज्ञात्वा यत्स्वरूपं ज्ञात्वा अशुभात् स्वरूपाज्ञानात्मकसंसारात् मोहाद्वा मोक्ष्यसे, मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः । तुशब्देन सर्वेषामकथनीयत्वं ज्ञापितम् । ते इति कथनेन कृपया वक्ष्यामीति व्यञ्जितम् ॥ १ ॥

### ११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

नी० भा० दी०— पूर्वाध्याये 'किं तद्ब्रह्म' [ ८।१ ] इत्यादिसप्तप्रश्न्यां 'अक्षरं ब्रह्म परमं' [ ८।३ ] इत्यादिना सङ्क्षिप्य व्याख्यातायां तज्ज्ञानस्य पृथक्प्रयोजनाकाङ्क्षायां कर्मविद आधिभौतिकं धूमादिमार्गप्राप्यं स्थानमिति निरूपणेन प्राप्यप्रापकादिविभागो दर्शितः ,तेन कर्माधिभूते व्याख्याते । तथा सूत्रान्तर्यामिणोरुपासकस्यार्चिरादिमार्गेण क्रममुक्तिस्थानप्राप्तिरित्युक्तं, तेनाधिदैवाधियज्ञौ व्याख्यातौ । 'ओमित्येकाक्षरं' [ ८।१३ ] इत्यादिना 'अन्तकाले कथं ज्ञेयोऽसि' इत्यस्योत्तरं व्याख्यातम् । तदेवं ध्येयब्रह्मविद्या साङ्गा निरूपिता । परिशिष्टमाद्यं ज्ञेयब्रह्मविषयं प्रश्नद्वयं 'किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं' इति, तद्विवरणाय नवमोऽध्याय आरभ्यते । न केवलमर्चिरादिगतिप्राप्या कालान्तर एव मुक्तिरस्ति, किन्त्विहैव सद्योमुक्तिरस्तीति विशेषं वक्तुं श्रीभगवानुवाच— इदं तु ते इति । इदं वक्ष्यमाणं तु पूर्वस्माद्ध्येयाद्विलक्षणं ज्ञेयं ते तुभ्यं गुह्यतममतिगोप्यं प्रवक्ष्यामि । अनसूयवे असूया गुणेषु दोषाविष्करणं, तद्रहिताय । ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रस्वरूपं ब्रह्म विज्ञानेनानुभवेन सहितं, न तु केवलं पारोक्ष्येण । यत् ज्ञानं ज्ञात्वा साक्षात्कृत्य अशुभात्संसारान्मोक्ष्यसे । अत्र यत्सप्तमादौ 'ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः' [ ७।२ ] इति प्रतिज्ञातं, यस्य च विज्ञानाय शाखाचन्द्रन्यायेनोपलक्षणीभूतं जगत्कारणं ब्रह्म तत्रैव निरूपितम् , यद्विज्ञानेऽधिकारसम्पत्त्यर्थं तस्यैव सगुणस्योपासनमुक्तं; तदिह सर्वशेषीभूतं ब्रह्म वक्तव्यमिति तथैव प्रतिजानीते— वचनमात्रेणैवात्रापरोक्षं ज्ञानं जायत इति । तच्च तत्रैव व्युत्पादितं न विस्मर्तव्यम् ॥ १ ॥

## राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।
## प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥ २ ॥

---

१ **राजविद्येति**– राजते सर्वविद्यामध्ये दीप्यते या । इहैव ह्युच्यते–'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्–' ( १०।३२ ) इति । राज्ञां जनकादीनामत्राधिकारः । तेषां रहस्यम् , अतिगुप्तत्वात् , क्षत्रियसुलभेन वीरभावेनाविकम्पत्वात्– **इत्यभिनवगुप्ताचार्याः** ।

अत्र —प्रत्यक्षं यदिदं स्थास्नु चरिष्णु च तदच्युतः । साकार इति यज्ज्ञानं प्रत्यक्षावगमं हि तत् ॥

–इति व्याख्याय महता संरम्भेण मतान्तरमेवं दूषयति **वामनः**—

**१ शां. भा.— तच्च— राजविद्या विद्यानां राजा, दीप्त्यतिशयवत्त्वात् । दीप्यते हीयमतिशयेन ब्रह्मविद्या सर्वविद्यानाम् । तथा राजगुह्यं गुह्यानां राजा । पवित्रं पावनमिदमुत्तमं सर्वेषां पावनानां शुद्धिकारणमिदं ब्रह्मज्ञानमुत्कृष्टतमम् । अनेकजन्मसहस्रसाञ्चितमपि धर्माधर्मादि समूलं कर्म क्षणमात्रादेव भस्मीकरोति यतोऽतः किं तस्य पावनत्वं वक्तव्यम् ? किञ्च प्रत्यक्षावगमं प्रत्यक्षेण सुखादेरिवावगमो यस्य तत्प्रत्यक्षावगमम् । अनेकगुणवतोऽपि धर्मविरुद्धत्वं दृष्टं, न तथाऽऽत्मज्ञानं धर्मविरोधि; किन्तु धर्म्यं धर्मादनपेतम् । एवमपि स्याद्दुस्सम्पाद्यमित्यत आह सुसुखं कर्तुं यथा रत्नविवेकविज्ञानम् । तत्राल्पायासानां अन्येषां कर्मणां सुखसम्पाद्यानामल्पफलत्वं दुष्कराणां च महाफलत्वं दृष्टमिति, इदं तु सुखसम्पाद्यत्वात् फलक्षयात् व्येतीति प्राप्तमत आह— अव्ययमिति । नास्य फलतः कर्मवत् व्ययोऽस्तीत्यव्ययम् , अतः श्रद्धेयमात्मज्ञानम् ॥ २ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**—तदाभिमुख्यसिद्धये तज्ज्ञानं स्तौति- **तच्चेति** । ब्रह्मविद्या विद्यानां राजा श्रेष्ठा, इत्यत्र हेतुमाह— **दीप्तीति** । कुतो ब्रह्मविद्याया विद्यान्तरेभ्यो दीप्त्यतिशयवत्त्वं ? तदाह—**दीप्यते हीति** । दृश्यते हि विद्वदन्तरेभ्यो लोके पूजातिरेको ब्रह्मविदामिति भावः । उत्कृष्टतमं शुद्धिकारणं ब्रह्मज्ञानमित्येतदुपपादयति-- **अनेकेति** । तत्र च श्रुतिस्मृती प्रमाणयितव्ये । न शास्त्रैकगम्यमिदं ज्ञानं, किन्तु प्रत्यक्षप्रमेयमित्याह— **किञ्चेति** । प्रत्यक्षमवगमो मानमस्मिन्निति तथा, यद्वा गम्यत इत्यवगमः फलं, प्रत्यक्षोऽवगमोऽस्येति दृष्टफलत्वं ज्ञानस्योच्यते । धर्म्यमित्येतद्व्याकरोति—**अनपेत**-

---

प्रत्यक्षेऽवगमो यस्य स्याज्जडप्रतिषेधतः । मिथ्याफणौ गुणस्येव तदिष्टमिह केवलम् ॥
व्याचक्षीरन्निति प्राज्ञाः केऽपि चेत्तान्निवारयन् । विशेषयत्युच्यमानमत्र **धर्म्यमिति** प्रभुः ॥
मायातीतं निर्गुणं हि नैर्धर्म्यज्ञानमीरितम् । विश्वेशयोर्धर्मवत्त्वात्तज्ज्ञानस्यापि धर्म्यता ॥
धर्म्यं पुण्यमिति व्याख्या त्वविवेकनिबन्धना । ज्ञानवह्निः पुण्यपापे यस्माद्दन्दग्ध्युभे अपि ॥
न चात्र कीर्त्यते कर्म, ज्ञानप्रकरणं त्विदम् । पार्थेनाप्यभ्युपगतमेतदेकादशादिमे ॥
न धर्मः कर्मरूपोऽत्र वाच्यः पुण्यफलस्ततः । नाप्यन्यत्सगुणज्ञानाज्ज्ञानं धर्म्यं कथञ्चन ॥
अतः प्रत्यक्षमखिलं सगुणं रूपमीशितुः । इति प्रतीयते येन तज्ज्ञानं धर्म्यमुच्यते ॥
इदं हि निर्गुणज्ञानशिरोभूषणमुत्तमम् । न हेयांशोऽत्र कृष्णादिरूपवत्पश्यतां जगत् ॥ इति ।

श्लोकशेषं चैवं निगमयति—

ज्ञानं पवित्रं तत्रापि सगुणज्ञानमु**त्तमम्** । मायांशस्यापि हेयत्वं यस्मादत्र न विद्यते ॥
तन्तुरूपः पटो यद्वन्मृत्सारूपो घटोऽपि च । ब्रह्मरूपं तथा विश्वं ज्ञानेनानेन भासते ॥
सन्नात्मा तन्तुवन्मिथ्या प्रपञ्चः पटरूपवत् । नैवं भेदोऽत्र किन्त्वेकः सेव्यः सर्वत्र चिन्मयः ॥
श्रुत्वैवमस्य श्रेष्ठत्वमबिभेदर्जुनो हृदि । साधनं दुष्करतरं ध्रुवं स्यादिति चिन्तयन् ॥
अतो मन्दं स्मयन्नाह **सुसुखं कर्तु**मित्यजः । अकृच्छ्रेणैव सगुणं प्रत्यक्षं ज्ञायते खलु ॥
विना प्रयासैरुत्कृष्टसाधनैश्च विनैव हि । ब्रह्म भाति जगद्रूपं धर्म्यं ज्ञानमतः सुखम् ॥ ××
प्रत्यक्षमेव चेद्धर्म्यं ज्ञानं तत्तर्हि नश्वरम् । इत्याशङ्कां नुदन्नाह देवो**ऽव्यय**मिति स्फुटम् ॥
यन्न नश्यत्यव्ययं तदिदं नश्यत्युदेति च । कथं तदस्याव्ययत्वमिति चेद्युक्तिरुच्यते ॥

पूर्वेऽह्नि या सैव यथाऽद्य भाति मरीचिका, दृश्यमिदं तथैव ।
हरेस्तिरोभूतमपि स्वरूपं प्रादुर्भवत्येव पुनः स्वकाले ॥
रासप्रसङ्गे प्रथमक्षपायां गोपाङ्गनादर्पमपाकरिष्णुः ।
हरिस्तिरोधाय यथाऽऽविरासीत् विश्वं विलीयैवमुदेति भूयः ॥
अतोऽव्ययत्वं ध्रुवमस्य सिद्धं विश्वात्मकस्येश्वरविग्रहस्य ।
इदं प्रकृत्याव्ययमित्यशङ्कं पार्थोऽपि वक्ष्यत्यत एव चाग्रे ( ११।४ ॥

ज्ञानमेव भवेज्ज्ञेयं ज्ञाताऽपि तदसंशयम् । व्यपेतायामविद्यायां सर्वमेवाव्ययं ध्रुवम् ॥ इत्यादि ॥

**केचित्तु**- तृतीयषट्के वक्ष्यमाणं ज्ञानं ब्रह्मविद्या । ‘ स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठाम् ’ ( मु. १।१।२ ) ‘प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ’ ( मु. १। २। १३ ) इत्यादिनिर्देशात् । अस्मिन् षट्के उच्यमाना तु तदवरा भगवदुपास्ती राजविद्येति कल्पनयाऽत्रत्यं राजविद्यापदं सङ्गमयन्ति । **— अविगीता** ।

पुरुषो दृश्यते " [ छां. उ. १।७।५ ] इति च " अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः" [ म. ना. उ.१५।५] इति च। 'त्वं मनस्त्वं चन्द्रमास्त्वं चक्षुरादित्यः' इत्यादेश्च मोक्षधर्मे। [ म.भा. १२।३३८। ९८-१०० ] " स प्रत्यक्षः प्रति इति हि सोऽक्षेष्वक्षवान् भवति य एवं विद्वान्प्रत्यक्षं वेद " इति सामवेदे बाभ्रव्यशाखायाम् । धर्मो भगवान् तद्विषयं धर्म्यम् । सर्वं जगद्धत्त इति धर्मः । ' पृथिवी धर्ममूर्धनि' इति च प्रयोगान्मोक्षधर्मे । 'भारभृत्कथितो योगी' [ म.भा. १३।१४९।१०६ ] इति च । "भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति" [तै.आ.३।१४] इति च श्रुतिः । "धर्मो वा इदमग्र आसीन्न पृथिवी न वायुर्नाकाशो न ब्रह्मा न रुद्रो न देवा न ऋषयः सोऽध्यायत्" इति च सामवेदशाखायाम् ॥ २ ॥

६ ज. प्र. दी.— राज्ञामश्वपतिजनकादीनां विद्या राजविद्येति कश्चित्, तदसत्; ब्राह्मणादीनामनधिकारप्रसङ्गादिति भावेनाह— राजेति । राजेव राजा, राजा चासौ विद्या चेति राजविद्येत्यर्थः । प्रत्यक्षेणावगमो यस्येति ( शां. ) व्याख्यानमसत् । भगवन्माहात्म्यस्य शास्त्रैकसमधिगम्यत्वात् ' अद्वैतोद्धारस्य प्रमाणविरुद्धत्वादिति भावेनाह— प्रत्यक्षमिति । शास्त्रैकवेद्यं ब्रह्म कथं प्रत्यक्षं ? इत्यत आह— अक्षेष्विति । प्रत्यक्षः परमात्मा । प्रादिसमासोऽयं, नाव्ययीभाव इति ज्ञापनाय नपुंसके प्रकृतेऽपि पुँल्लिङ्गनिर्देशः, अन्यथा षष्ठी न श्रूयेत । परमात्मनोऽक्षेषु स्थितत्वे किं मानं? इत्यत आह— तथा चेति । प्राण इति प्राणाभिमानिनी देवतोच्यते, प्राणादन्तरो भिन्नः । अङ्गुष्ठेति कर्मेन्द्रियाधिष्ठातृत्वमुच्यते । मन इत्यादेर्मनआदिस्थ इत्यर्थः । प्रत्यक्षशब्दस्यायमर्थ इत्यत्र श्रुतिमाह— स इति । प्रतिस्थितः । अक्षवान् प्रशस्तेन्द्रियः । यो विद्वानेवं प्रत्यक्षशब्दार्थं वेद । धर्मादनपेतं धर्म्यमिति निर्वचनेऽपि न प्रसिद्धधर्माविरुद्धत्वमर्थः, निवृत्तधर्मस्य ब्रह्मज्ञानाविरुद्धतायाः प्रसिद्धत्वात् । प्रवृत्तिलक्षणस्य तु तद्विरुद्धत्वादिति भावेनाह— धर्म इति । तस्मादनपेतमित्यर्थस्तद्विषयमिति । कथं भगवान् धर्मः ? इत्यत आह— सर्वमिति । धृञो मन्प्रत्यय औणादिकः । धारके धर्मशब्दप्रवृत्तिः कुतः ? इत्यत आह— पृथिवीति । पर्वतोपरीत्यर्थः । भगवतः सर्वधारकत्वे किं मानं? इत्यत आह— भारभृदिति । सर्वत्र स्थितो भगवान् सर्वेण ध्रियते, स कथं सर्वस्य धारकः ? इत्यत आह— भर्तेति । भर्ता सन्नेव भ्रियमाणो न स्वकीयस्थित्यै । धर्मशब्दस्य भगवद्वाचित्वं कुतः ? इत्यत आह— धर्मो वा इति । इदमग्रे अस्याग्रे । अत्र पुण्यं धर्मः किं न स्यात् ? इति शङ्कानिरासार्थं सोऽध्यायदिति वाक्यशेषोदाहरणम् ॥ २ ॥

७ ह. पै. भा.— विद्यानां राजा राजविद्येयं ब्रह्मविद्या । राजगुह्यं विवस्वदादिभी राजभी रक्षितत्वात् । पवित्रं पावनं, प्रत्यक्षावगमं स्वानुभवं, धर्म्यं धर्मादनपेतं, सुसुखं कर्तुं सुखेनानुष्ठेयम्, अव्ययमविनाशि ॥ २ ॥

८ वें. ब्र. गि.— प्रकारान्तरेण विज्ञानं स्तौति— राजविद्येति । विद्यानां राजा राजविद्या सर्वविद्यासु श्रेष्ठम् । वक्ष्यति हि—'अध्यात्मविद्या विद्यानाम् '[ १०।३२ ]इति । तथा गुह्यानां गोप्यानां राजा राजगुह्यं सर्वगोप्यश्रेष्ठम् । उक्तं हि- ' श्रुत्वाऽप्येनं वेद न चैव कश्चित् ' [ २।२९ ] इति । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः । यद्वा राज्ञां विद्या राज्ञां गुह्यम् । राजानो हि विस्तीर्णातिगम्भीरमनसः, महामनसामेवेयं विद्या, तेषामेव गोप्या; गोपनकुशलानामिदं गोप्यमित्यर्थः । अथवा मन्विक्ष्वाकुजनकप्रभृतिमहाराजपरिपालितत्वाद्राजगुह्यमित्युक्तिः । किञ्च इदं ज्ञानमुत्तमं पवित्रं पावनम् । प्रायश्चित्तैर्हि प्रतिपदोक्तैस्तत्तदेव पापं निवर्तते, न सर्वमपि । न हि ब्रह्महत्याप्रायश्चित्तेन सुरापानपापं निवर्तते, निवृत्तमपि पापं न सर्वथा निवृत्तिमधिगच्छति; सूक्ष्मरूपेण स्वकारणे सत्त्वात् । यदाह— ' कर्मणा कर्मनिर्हारो नवात्यन्तिक इष्यते ' [ भाग. ६।१।११ ] इति । ज्ञानं त्वनेकजन्मसहस्रसञ्चितमखिलमपि पापं स्थूलसूक्ष्मरूपं तत्कारणमज्ञानं च सद्य एव भस्मीकरोति । उक्तं हि— ' न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ' [ ४।३८ ] इति । अतः सर्वोत्तमं पावनमित्यर्थः । किञ्च प्रत्यक्षावगमम्, अवगम्यतेऽनेनेत्यवगमो मानम्, अवगम्यत इत्यवगमः फलं च । प्रत्यक्षमवगमो मानं फलं च यस्य तत्प्रत्यक्षावगमम्, स्वरूपतः फलतश्च प्रत्यक्षमिति पूर्वश्लोके व्याख्यातोऽयमर्थः । तर्हि किं दुस्सम्पादम् ? नेत्याह— सुसुखं कर्तुमिति । सद्गुरूपदेशात्सुखेन कर्तुं सम्पादयितुं शक्यम्, न चैवमनायाससाध्यमिति स्वल्पफलम् । अत्र ' राजविद्या राजगुह्यं ' इत्यनेन ज्ञानस्य भजनादतिशयः, अवशिष्टेन तु कर्मतोऽतिशयः प्रदर्शित इति ध्येयम् ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च राजविद्येति । इदं ज्ञानं खलु राज्ञां महामनसां विद्या गुह्यं च मन्त्ररूपं विद्यानां राजा गुह्यं च इति वा । राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परत्वम् । पावनसम्बन्धित्वात् पवित्रम् । प्रत्यक्षेति अवगम्यत

इत्यवगमो विषयो यस्य ज्ञानस्य सोऽहं प्रत्यक्षतामुपगतो भवामीत्यर्थः, भक्त्यावृतत्वात्। अथापि धर्म्यं निःश्रेयसलक्षणाद्धर्मादनपेतम् 'अनिच्छतो गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते' इति वाक्यात्। कर्तुं च सुसुखं न कर्मान्तरवद्दुष्करम्॥ २॥

१० पु. अ. त.— गुह्यतमत्वज्ञापनायोच्यमानस्य सर्वोत्तमत्वमाह— राजविद्येति। इदमुच्यमानं राजविद्या विद्यानां राजा, ब्रह्मविद्यात्मकमित्यर्थः। राजगुह्यं गुह्यानां गोप्यानां राजा, विद्यासु मुख्यत्वात्; गोप्येषु मुख्यत्वात् कस्यापि न वक्तव्यमिति भावः। पवित्रं, परमपावनमित्यर्थः। उत्तमं सर्वोत्कृष्टम्। प्रत्यक्षावगमं साक्षात्फलात्मकं, दृष्टफलरूपमित्यर्थः। धर्म्यं धर्मोत्पादकं, कर्तुं सुसुखं सुखेन कर्तुं योग्यम्, अव्ययं अविनाशि। यद्वा— अव्ययं कर्तुं स्वसुखं सुसुखं परमसुखमित्यर्थः॥ २॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव स्तौति— राजविद्येति। विद्यानां राजा इति राजविद्या अध्यात्मविद्या, गुह्यानां राजा इति राजगुह्यम्। 'राजदन्तादिषु परम्' [ अष्टा. २।२।३१ ] इत्युपसर्जनस्य परनिपातः। पवित्रं पावनं उत्तमं पूर्वापरदुरितनाशाश्लेषहेतुत्वात् प्रायश्चित्ताद्यपेक्षया श्रेष्ठम्। प्रत्यक्षावगमं प्रत्यक्षं नित्यापरोक्षं यत्प्रत्यगात्मवस्तु, तदेव याथात्म्येनावगम्यतेऽनेनेति प्रत्यक्षावगमम्। प्रत्यक्षेण सुखादिवत्तदवगमो यस्येति वा। अस्मिन्पक्षे विज्ञानसहितमिति विशेषणस्य श्लोकान्तरस्थत्वान्न तेन पौनरुक्त्यदोषः। तर्ह्यपूर्वत्वाभावान्निष्फलं स्यादत आह— धर्म्यं धर्मादनपेतम्। तथा हि क्षणमपि प्रत्यगात्माकारवृत्तौ सत्यां श्रूयते "क्षणमेकं क्रतुशतस्य (अपि) चतुरस्त्वन्त्या यत्फलं तदवाप्नोति" [ अ. शिखो. ३ ] इति। तर्हि दुस्साध्यं स्यात्, नेत्याह— सुसुखं कर्तुमिति। कर्तुं सम्पादयितुं आविष्कर्तुं सुसुखं अनायाससाध्यं, अज्ञानापनयमात्रसिद्धत्वात्। तर्हि आशुविनाशिफलं इति चेत्; अव्ययं वस्तुमात्रविषयत्वादनन्तफलं, न तु कर्मफलवन्नश्यति॥ २॥

**अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।**
**अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि॥ ३॥**

१ शां. भा.— ये पुनः— अश्रद्दधानाः श्रद्धाविरहिता आत्मज्ञानस्य धर्मस्यास्य स्वरूपे तत्फले च नास्तिकाः पापकारिणोऽसुराणामुपनिषदं देहमात्रात्मदर्शनमेव प्रतिपन्नाः, असुतृपः पापाः पुरुषाः परन्तप!

---

१ सुखसाध्यमिदं ज्ञानं यदिदानीं विवक्षितम्। कथं तर्हि जनाः सर्वे वर्तन्ते मृत्युवर्त्मनि?॥
ये न जानन्ति शास्त्राणि सन्तु ते, ये तु तद्विदः। मृत्योर्मुखे कथं तेऽपि निपतन्ति पुनः पुनः?॥
कौन्तेयस्येत्थमाकूतं विदित्वा विष्टरश्रवाः। कथा स्वयं स्वघातं ते कुर्वते तदिहागदत्॥
अस्य ज्ञानस्य धर्माख्यं प्राप्तिमार्गमदुर्गमम्। येन श्रद्दधते तेषां न दुरापं कथं त्विदम्?॥
कल्पद्रुमूलसरणिं विदितामप्युपेक्ष्य ये। अन्यतो यान्ति तैः प्राप्यः कथं वा स सुरद्रुमः?॥
उपेक्षन्ते तथा धर्मं ज्ञानस्याश्रद्धयाऽस्य ये। ते मामप्राप्य शास्त्रज्ञा अपि भ्राम्यन्ति संसृतौ॥
प्राप्य स्थानं किमप्यस्मात्प्रत्यावृत्तिनिवर्तनम्। तत्कुतो वाश्रद्दधाना निवर्तन्तेऽत्र पूरुषाः?॥
मृत्युसंसारमार्गे ते वर्तन्ते प्रागपि ध्रुवम्। निवर्तन्ते कथं नाम? कुत्र गत्वाऽथ तत्पुनः?॥
सन्देहस्यापि भगवानस्येह वदतां वरः। अश्रद्दधाना इत्यत्र समाधानमदीध्वनत्॥
यैर्हि ज्ञानमिदं प्राप्तं पीतं पीयूषमेव तैः। प्रत्यावृत्तिः कुतस्तेषां मृत्युसंसारवर्त्मनि?॥
येऽस्य ज्ञानस्योपलब्ध्यै गीताभागवतादिषु। मार्गाः प्रोक्तास्तान्विदित्वाऽप्यश्रद्धां तत्र बिभ्रति॥
ते तु प्राप्यापि पीयूषप्रपाद्वारमपावृतम्। निवर्तन्ते हतधियः सुधाऽत्र न भवेदिति॥
लभ्या यत्र सुधा तदेत्य सदनं मत्वाऽथ सौवीरकं स्यात्तत्रेत्यपसृत्य गेहमपरं गत्वारनालं पुनः।
पर्याप्तं प्रपिबन्ति दैवमुषिता अश्रद्दधानास्तथा ज्ञानस्यास्य पथो निवृत्य विदिताद्यध्वान्भजन्ते ऽपरान्॥
युद्धान्निवृत्तोऽपि ममोपदेशं श्रुत्वाऽधुना तापयितुं परांस्त्वम्।
समुद्यतोऽस्यर्जुन! तन्मदीये नाश्रद्दधानोऽसि वचःप्रपञ्चे॥
श्रद्धास्यसि ज्ञानपथेऽपि तस्मादस्मिन्निति व्यानगतल्पमर्थम्॥
आमन्त्रयन्नत्र परंतपेति पुरन्दरस्यात्मजमब्जनाभः॥
इति व्याचष्टेऽत्र **वामनः**। धर्मस्येति पदं 'धर्म्यस्य' इति पठित्वा धर्मशब्दवाच्यभगवद्विषयस्येति विवृण्वतेऽपरे **–अविगीता**।

अप्राप्य मां परमेश्वरं, मत्प्राप्तौ नैवाऽऽशङ्केति मत्प्राप्तिमार्गसाधनभेदभक्तिमात्रमप्यप्राप्येत्यर्थः। निवर्तन्ते निश्चयेनाऽऽवर्तन्ते। क्व? मृत्युसंसारवर्त्मनि मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारस्तस्य वर्त्म नरकतिर्यगादिप्राप्तिमार्गस्तस्मिन्नेव वर्तन्त इत्यर्थः ॥ ३ ॥

२ आ० शां. व्या.— आत्मज्ञानाख्ये धर्मे श्रद्धावतां तन्निष्ठानां परमपदप्राप्तिमुक्त्वा ततो विमुखानां संसारप्राप्तिमाह— **ये पुनरिति**। आत्मज्ञानतत्फलयोर्नास्तिकानेव विशिनष्टि— **पापेति**। उक्तानामात्मम्भरीणां भगवत्प्राप्तिसम्भावनाभावात् 'अप्राप्य मां' इत्यप्रसक्तप्रतिषेधः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **मत्प्राप्ताविति** ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.— अस्योपासनाख्यस्य धर्मस्य निरतिशयप्रियमद्विषयतया स्वयं निरतिशयप्रियरूपस्य परमनिःश्रेयसस्वरूपमत्प्राप्तिसाधनस्याव्ययस्योपादानयोग्यदशां प्राप्य अश्रद्दधानाः विश्वासपूर्वकत्वराहिताः पुरुषाः मामप्राप्य मृत्युरूपे संसारवर्त्मनि नितरां वर्तन्ते; अहो महदिदमाश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥**

४ वे. ता. चं.— उक्तप्रकारश्रद्धेयज्ञानानुष्ठानाभावे मोक्षो न सिद्ध्यतीति दर्शयन् स्वरूपतः फलतश्च निरतिशयसुखरूपस्य सर्वैरनुष्ठानाभावे हेतुं च वदन् "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [यजुस्सं. ३१।१८श्वे. उ. ३।८] इत्यादिकमुपबृंहयति 'अश्रद्धानाः' इति श्लोकेन। 'अस्य' इति पूर्वोक्तसर्वाकारपरामर्श इत्याह **निरतिशयेत्या**दिना। धर्मस्येति सम्बन्धसामान्यविषयायाः षष्ठ्याः फलितान्वयप्रदर्शनायाह **उपादानयोग्यदशां प्राप्येति**। यद्वा श्रद्धानिषेधस्तत्प्रसङ्गे सति हीत्यभिप्रायः। कारणनिवृत्तेः कार्यानुष्ठाननिवृत्तिपर्यन्तत्वप्रदर्शनायोक्तं **विश्वासपूर्वकत्वराराहिता** इति। **मृत्युरूप** इति बाधकस्वरूप इत्यर्थः, अथवा मरणगर्भत्वादेव मृत्युरूपता। 'निवर्तन्ते' इत्यत्र प्रतिनिवृत्तिविवक्षायामवधिसाकाङ्क्षत्वादत्र च तन्निर्देशाभावात्, 'मामप्राप्य' इति पृथङ्निर्दिष्टत्वेन परमपुरुषस्याप्यवधित्वकल्पनायोगात्, 'संसारवर्त्मनि' इति सप्तम्याः स्वरसत आधेयसाकाङ्क्षत्वात्, उपसर्गाणां चानेकार्थत्वात् **नितरां वर्तन्त** इत्युक्तम्। स्वरूपतः फलतश्च निरतिशयपुरुषार्थं सुकरं चोपासनं ज्ञात्वाऽपि परित्यज्य पुरुषाः पुरुषार्थतारतम्यविदोऽपि निरतिशयापुरुषार्थमयं संसारमादरेण सेवन्त इति विस्मयाविद्धस्येश्वरस्य इदं वचनमित्यभिप्रायेणाह **अहो** इति। आश्चर्यतमो दुष्कर्मप्रभाव इत्यभिप्रायेणाह **महदिदमाश्चर्यमिति**। अश्रद्धाहेतव आन्तरशत्रवोऽपि त्वया निराकार्या इति 'परन्तप!' इति सम्बुद्धेर्भावः ॥ ३ ॥

**५ आ० मा. भा.— ॥ ३ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३ ॥

**७ ह. पै. भा.— अश्रद्दधानाः श्रद्धारहिताः पुरुषा धर्मस्यास्य ज्ञानलक्षणस्यानुष्ठानेऽश्रद्दधाना इति सम्बन्धः। अप्राप्य मां परमात्मानं निवर्तन्ते प्रत्यागच्छन्ति मृत्युयुक्तसंसार एव वर्त्म तत्र मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥ ३ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— यद्येवं सुसम्पादमक्षयफलं च ज्ञानम्, तर्हि किमिति न सर्वोऽपि तत्र प्रवर्तते? तत्राह— **अश्रद्धाना इति**। अस्य ज्ञानाख्यधर्मस्य स्वरूपे अश्रद्दधानाः श्रद्धारहिताः। यद्वा धर्मस्येति कर्मणि षष्ठी। इमं धर्ममश्रद्धाना आस्तिक्येनास्वीकुर्वन्तः मामप्राप्य मृत्युरूपे मृत्युयुक्ते वा संसारमार्गे निवर्तन्ते नितरां वर्तन्ते तत्रैव परिभ्रमन्ति, अहो आश्चर्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— अस्य ज्ञानस्य मध्ये धर्मस्य भजनलक्षणस्य, पाठान्तरे तु धर्मस्य तत्सहितज्ञानस्य वा श्रद्धारहिताः पुरुषा ये ते मां पुरुषोत्तममप्राप्य मृत्युरूपे संसारे नितरां वर्तन्ते ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं पूर्वं 'ते प्रवक्ष्यामि' [९।१] इत्यनेन श्रद्धानाय तुभ्यं कथयामीति प्रतिज्ञाय एतदश्रद्दधानाः संसारं प्राप्नुवन्तीति कथनेनैतस्योत्तमत्वं प्रतिपादयति— **अश्रद्दधाना इति**। हे परन्तप! मत्प्रसादात्मकोत्कृष्टतपोयुक्त! इदं ज्ञानं मद्वाक्यरूपमश्रद्दधानाः पुरुषाः योगज्ञा अपि अस्य धर्मस्य फलरूपं मां अप्राप्य मृत्युयुक्ते संसारमार्गे निवर्तन्ते परिभ्रमन्ति "जायस्व म्रियस्व" [छां.उ. ५।१०।८] इति तृतीयमार्गाभिनिविष्टा भवन्तीत्यर्थः। 'अश्रद्दधानाः' इति कथनेन श्रद्धामात्रेणापि संसाराभावो व्यञ्जितः ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— तर्हि कुत एतज्ज्ञानं सर्वे न सम्पादयन्तीत्याह— अश्रद्दधाना इति। स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ३ ॥

अद्वैतप्रपञ्चमिथ्यात्वमद्वैतब्रह्मतत्त्वज्ञानं च।

**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।**
**मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः॥ ४॥**
**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।**
**भूतभृन्न च भूतस्थो ममाऽऽत्मा भूतभावनः॥ ५॥**

१ शां. भा.— स्तुत्याऽर्जुनमभिमुखीकृत्याऽऽह— मयेति। मया मम यः परो भावस्तेन ततं व्याप्तं सर्वमिदं जगत्, अव्यक्तमूर्तिना न व्यक्ता मूर्तिः स्वरूपं यस्य मम सोऽहमव्यक्तमूर्तिः, तेन मयाऽव्यक्तमूर्तिना, करणागोचरस्वरूपेणेत्यर्थः। तस्मिन्मय्यव्यक्तमूर्तौ स्थितानि मत्स्थानि सर्वभूतानि ब्रह्मादीनि

---

१ मया आततमिति वा। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम्॥'(ऋ क्सं. १।२।७) इति श्रुतेः। आततं व्याप्तं समवायिकारणतया तन्तुभिरिव पटः। मा परमात्मनो माया, तया वा। 'देव्या यया ततमिदं जगदात्मशक्त्या निश्शेषदेवगणशक्तिसमूहमूर्त्या।'(दु. सप्त. ४।२) इत्युक्तेः। अस्मिन्पक्षे मूर्तिशब्दस्य पुंस्त्वं ज्ञेयम्। अव्यक्तमूर्तिना इति पुरः स्थितचतुर्भुजाद्याकारविशिष्टव्यक्तमूर्तिव्यावृत्त्यर्थमिति केचित्।

अत्र **वामनेन** विवक्षितं सविज्ञानं 'ज्ञानमेवापरोक्षेणोपदिशति द्वाभ्यां' इत्युपक्रम्य 'पश्य' इत्युत्तरश्लोकस्थं पदं च १ मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना पश्य, २ मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्य, ३ न चाहं तेष्ववस्थितः पश्य, ४ न च मत्स्थानि भूतानि पश्य, ५ मे ऐश्वरं योगं पश्य, इति पञ्चधा योजयित्वा आद्येन सपादपद्येन ज्ञानं, शेषेण पादत्रयेण च विज्ञानं विव्रियत इति महता संरम्भेण प्रपञ्चितम्। तत्सन्दर्भस्यातिविस्तृतत्वात्तेनैव स्वीयायां **श्रुतिकल्पलतायाम**नूदितस्तत्सङ्क्षेप एवात्र सङ्गृह्यते— **मत्स्थानि सर्वभूतानि** जीवदृष्ट्या, किरणकदम्बस्थानि यथाऽम्बूनि मृगदृष्ट्या। अत एव **न चाहं तेष्ववस्थितः**, न हि किरणकदम्बोऽम्बुष्ववस्थितः; तदभावात्। अन्यथा त्वपरिच्छिन्ने यदा सत्यत्वेन भूतानीत्युच्यते, तदा असङ्गेऽपि नभोवत्तेषु व्यापकत्वस्य दुर्वारत्वात् न चाहं तेष्वित्ययघटनाज्जगन्मिथ्येति भावः सूचितः। अतएव नच किरणेष्वम्ब्वस्ति, मिथ्यात्वादित्याह— **न च मत्स्थानि भूतानी**ति। भोः पार्थ! तव दृष्टिमङ्गीकृत्य मत्स्थानि सर्वभूतानीत्युक्तम्, नाहं तेष्ववस्थित इति तु मद्दृष्ट्या। न च तानि मृषाम्बुसदृशानि मय्यम्बुत्वेन वर्तन्ते; यतस्तेष्वहमस्मीति मया वक्तव्यम्, तस्मात्त्वमधुना निवृत्तायामविद्यायां मम युक्तिचातुर्यं पश्येत्याह— **पश्य मे योगमैश्वर**मिति। यस्मान्मम दृष्ट्यैवम्, तव दृष्ट्या तु सन्त्येव; ततो मत्स्थानि केवलं तानि न सन्तीति वक्तुं न शक्यते। अनादितया तव दृष्ट्या सत्यत्वेन दृश्यत्वादित्याह— '**भूतभृन्न च भूतस्थः**' इति। भूतभृदेवाहं— तव दृष्ट्या यथा विद्यमानत्वेन दृश्यन्ते, तथा तान्यहं धारयामीति कृत्वा भूतभृदहम्। 'इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे' (ऋ. सं. ८।७।११) इत्यन्तश्श्रुतेः। वस्तुतस्तदभावान्न च भूतस्थः। तानि तव दृष्ट्या धारयामि, अतः केवलं न धारयामीति वक्तुमशक्यत्वात्, भूतभृत्त्वमङ्गीकृत्य न च भूतस्थ इत्युच्यते, यथाश्रुत्या केवलं 'न दधे' इति वक्तुमशक्यत्वात् 'यदि वा न' इत्युच्यते। तस्माज्जगत्तत्त्वमेवैतादृशम्, न्यायाम्नायसिद्धत्वात्। ननु तर्हि किमित्येवं रूपं विश्वं त्वया सृज्यते? इति चेत्, अनादितया मदुपाधेः सहजः **स्वभाव एवे**त्थमिति वदन् मिथ्यात्वं स्फुटयति— '**ममात्मा भूतभावनः**' इति। ममात्मा मच्चिच्छक्तिसृष्टः भूतभावनः भूतानि भावयति कल्पयतीति तथा। "असतोऽधि मनः सृजत" ( ) इति श्रुतेः॥

**अत्रेदं तत्त्वम्**— ब्रह्मणो निर्धर्मकत्वात् स्वस्मिन् भूतानि सन्ति, वा न सन्तीत्युभयं वृत्तिरूपं ज्ञानं वक्तुं न शक्यते। तस्मान्मायाशबलितेन ज्ञानेन तदुभयं चिन्त्यम्। तत्र माया द्विविधा— त्रिगुणाविद्या, सत्त्वैकमात्रा शुद्धविद्या चेति। अविद्यादृष्ट्या भूतानि सन्तीति प्रतीतिः, विद्यादृष्ट्या न सन्तीति। तत्रार्जुनस्याद्या दृष्टिस्तत्प्रतीत्या मत्स्थानीत्युक्तम्। तथाप्यविद्यादृष्टेर्भ्रमरूपत्वात् यानि सन्तीति प्रतीयन्ते, तेषां दृग्भ्रमरूपमात्रत्वात् 'न त्वहं तेषु' इत्युक्तम्। वस्तुतस्तत्त्वदृष्ट्या 'न च तानि मयि' इत्युक्त्या जीवपरमेश्वरयोरविद्याविद्याख्यदृष्टिद्वयप्रतीतिरुक्ता। तत्र दृष्टिद्वयप्रकाशकं यत्तत्त्वमधिष्ठानम्, तदुभयत्र सममिति निगूढाभिप्रायः। तस्माज्जगन्मरीच्यम्बुवदिति सिद्धम्॥ (श्रु. क. अ. २४) इति॥

**अयमाशयः**— मत्स्थानि सर्वभूतानि गुणे फणिवत्। गुणाविद्यावतां दृष्ट्या। न चाहं तेष्ववस्थितः— न हि गुणदृष्ट्या गुणः सर्पे विद्यते, सर्पाभावात्। ननु मत्स्थानीत्यङ्गीकृत्य कथं न चाहं तेष्ववस्थित इत्युच्यते? तत्राह— न च मत्स्थानि भूतानीति। वस्तुतो भूतानि मत्स्थानि चेत्, तेषु नाहमिति वक्तुमयोग्यं स्यात्। यत्तु सन्तीत्युच्यते, तच्छुक्तौ रजतवत्। तस्माद्भूतानि ब्रह्माण्डविग्रहादिचतुर्मुखादिर्लीलारूपाणि मयि सन्त्यपि न सन्त्येवेति युक्तम्। तदसत्यत्वं बोधयितुमेवमुपदिश्य, एतज्जगदिति धिया मा पश्य, किन्तु मद्युक्तिचातुर्यमित्येव पश्येत्याह— पश्य मे योगमैश्वरमिति। मिथ्या कार्यकारणरूपा काचिदीश्वरशक्तिर्गुणे फणिरिव ब्रह्मणि जगदाकारेण भातीत्यलं विस्तरैरिति। (श्रु. क. १९) — **अविर्गीता**।

स्तम्बपर्यन्तानि। न हि निरात्मकं किञ्चिद्भूतं व्यवहारायावकल्पते, अतो मत्स्थानि मयाऽऽत्मनाऽऽत्मवत्त्वेन स्थितानि, अतो मयि स्थितानीत्युच्यन्ते। तेषां भूतानामहमेवाऽऽत्मेत्यतस्तेषु स्थित इति मूढबुद्धीनामवभासतेऽतो ब्रवीमि न चाहं तेषु भूतेष्ववस्थितः, मूर्तवत्संश्लेषाभावेनाऽऽकाशस्याप्यन्तरतमो ह्यहम्। न ह्यसंसर्गि वस्तु क्वचिदाधेयभावेनावस्थितं भवति ॥ ४ ॥

२ आ. शां. व्या.— स्तुतिनिन्दाभ्यां ज्ञाननिष्ठां महीकृत्य ज्ञानं व्याख्यातुमारभते— **स्तुत्येति**। सोपाधिकस्य व्याप्त्यसम्भवमभिप्रेत्य विशिनष्टि— **ममेति**। अनवच्छिन्नस्य भगवद्रूपस्य निरुपाधिकत्वमेव साधयति— **करणेति**। व्याप्यव्यापकत्वेन जगतो भगवतश्च परिच्छेदमाशङ्क्याऽऽह— **तस्मिन्निति**। तथापि भगवतो भूतानां चाऽऽधाराधेयत्वेन भेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **न हीति**। निरात्मकस्य व्यवहारानर्हत्वे फलितमाह— **अत इति**। ईश्वरस्य भूतात्मत्वे तेषु स्थितिः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तेषामिति**। तस्य तेषु स्थित्यभावं व्यवस्थापयति— **मूर्तवदिति**। संश्लेषाभावेऽपि किमिति नाऽऽधेयत्वं ? अत आह— **नहीति** ॥ ४ ॥

१ शां. भा.— अत एवासंसर्गित्वान्मम— न च मत्स्थानि भूतानि ब्रह्मादीनि। पश्य मे योगं युक्तिं घटनं मे ममैश्वरमीश्वरस्येममैश्वरं योगं, आत्मनो याथात्म्यमित्यर्थः। तथा च श्रुतिरसंसर्गित्वादसङ्गतां दर्शयति "असङ्गो न हि सज्जते" [ बृ. उ. ३।९।२६ ] इति। इदं चाऽऽश्चर्यमन्यत्पश्य भूतभृत्, असङ्गोऽपि सन्भूतानि बिभर्ति, न च भूतस्थः, यथोक्तेन न्यायेन दर्शितत्वाद्भूतस्थत्वानुपपत्तेः। कथं पुनरुच्यतेऽसौ ममाऽऽत्मेति ? विभज्य देहादिसङ्घातं तस्मिन्नहङ्कारमध्यारोप्य लोकबुद्धिमनुसरन्व्यपदिशति ममाऽऽत्मेति, न पुनरात्मन आत्माऽन्य इति लोकवदजानन्। तथा भूतभावनो भूतानि भावयत्युत्पादयति वर्धयतीति वा भूतभावनः ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— परमेश्वरस्य भूतेषु स्थित्यभावेऽपि भूतानां तत्र स्थितिरास्थितेति कुतोऽसङ्गत्वं ? तत्राऽऽह— **अत एवेति**। 'न च' इत्यत्र चकारोऽवधारणार्थः। भूतानामीश्वरे नैव स्थितिरित्यत्र हेतुमाह— **पश्येति**। आत्मनोऽसङ्गत्वं स्वरूपमित्यत्र प्रमाणमाह— **तथा चेति**। असङ्गश्चेदीश्वरस्तर्हि कथं 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' [ ९।४ ] इत्युक्तं ? कथं च तथोक्त्वा 'न च मत्स्थानि' इति तद्विरुद्धमुदीरितं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **इदं चेति**। तर्हि भूतसम्बन्धः स्यादिति, नेत्याह— **न चेति**। यथोक्तेन न्यायेनासङ्गत्वेनेति यावत्। असङ्गतया वस्तुतो भूतासम्बन्धेऽपि कल्पनया तदविरोधान्न मिथोविरोधोऽस्तीति भावः। आत्मनः सकाशादात्मनोऽन्यत्वायोगात्कुतः सम्बन्धोक्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **असाविति**। **विभज्येति**। यथा लोको वस्तुतत्त्वमजानन्भेदमारोप्य ममायमिति सम्बन्धमनुभवति, न तथेह सम्बन्धव्यपदेश आत्मनि स्वतो भेदाभावात्; अतो भेदेऽसत्येव लोके सम्बन्धबुद्धिदर्शनमनुसरन्भगवानात्मनो देहादिसङ्घातं विभज्याहङ्कारं तस्मिन्नारोप्यासौ ममाऽऽत्मेति भेदं व्यपदिशति। तथा च सङ्घातस्य ममेति व्यपदेशात्ततो निकृष्टस्य स्वरूपस्याऽऽत्मशब्देन निर्देशान्न भूतस्थोऽसावित्यर्थः। पूर्वोक्तासङ्गत्वाङ्गीकारेणैवाऽऽत्मा भूतानि भावयतीत्याह— **तथेति** ॥ ५ ॥

३ रा. भा.— शृणु तावत्प्राप्यभूतस्य ममाचिन्त्यमहिमानं इदं चेतनाचेतनात्मकं कृत्स्नं जगत्, अव्यक्तमूर्तिना अप्रकाशितस्वरूपेण मया अन्तर्यामिणा ततं, अस्य जगतो धारणार्थं नियमनार्थं च शेषित्वेन व्याप्तमित्यर्थः। यथाऽन्तर्यामिब्राह्मणे "यः पृथिव्यां तिष्ठन्.... यं पृथिवी न वेद" [ बृ. उ. ३।७।३ ] "य आत्मनि तिष्ठन्... यमात्मा न वेद" [ श. प. ब्रा. १४।६।५।३० ] इति चेतनाचेतनवस्तुजातैरदृष्टेनान्तर्यामिणा तत्रतत्र व्याप्तिरुक्ता। ततो मत्स्थानि सर्वभूतानि सर्वाणि भूतानि मय्यन्तर्यामिणि स्थितानि। तत्रैव ब्राह्मणे "यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति" [ बृ. उ. ३।७।३ ] "यस्यात्मा शरीरं... य आत्मानमन्तरो यमयति" [ श. प. ब्रा. १४।६।५।३० ] इति शरीरत्वेन नियम्यत्वप्रतिपादनात्तदायत्ते स्थितिनियमने प्रतिपादिते, इति शेषित्वं च। न चाहं तेष्ववस्थितः, अहं तु न तदायत्तस्थितिः, मत्स्थितौ तैर्न कश्चिदुपकार इत्यर्थः। न च मत्स्थानि भूतानि, न घटादीनां जलादेरिव मम धारकत्वम्। कथम् ? मत्सङ्कल्पेन। पश्य ममैश्वरं योगम्— अन्यत्र कुत्रचिदसम्भावनीयं मदसाधारण-

**माश्चर्यं योगं पश्य । कोऽसौ योगः ? भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः सर्वेषां भूतानां भर्ताऽहं, न च तैः कश्चिदपि ममोपकारः । ममात्मैव भूतभावनः मम मनोमयः सङ्कल्प एव भूतानां भावयिता धारयिता नियन्ता च ॥ ४ ॥ ५ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवमध्यायप्रधानार्थस्य प्रापकस्य माहात्म्यमुक्तम्; अथ प्राप्यमाहात्म्यद्वाराऽपि तदेव स्थिरीक्रियत इत्यभिप्रायेणाह **शृणु ताव**दिति । 'इदं सर्वम्' इति निर्देशः प्रमाणसिद्धसमस्तवस्तुपर इत्यभिप्रायेण **इदं चेतनाचेतनात्मक**मित्युक्तम् । 'अव्यक्तमूर्तिना' इत्यस्य विग्रहविषयत्वेऽत्रानुपयोगात्स्वरूपविषयोऽयमौपचारिकः प्रयोग इति दर्शयितुं **अप्रकाशितस्वरूपेणे**त्युक्तम् । आकाशवत्सन्निधिमात्ररूपव्याप्तिव्युदासाय बहुप्रमाणसिद्धो व्याप्तिप्रकारः 'मया' इत्यनेनाभिप्रेत इत्याह **अन्तर्यामिणे**ति । उक्तप्रकाराया व्याप्तेः प्रयोजनं तन्निदानं च दर्शयति **अस्ये**ति । अत्र धारणमनन्तरग्रन्थसिद्धम्; अत एव नियमनमप्यर्थसिद्धम् । धारणं हि प्रशासनाधीनं श्रूयते । शेषित्वं तु प्रागुक्तं, शरीरित्वेनार्थसिद्धं च । अप्रकाशितस्वरूपत्वेन नियामकत्वेन च सर्वव्याप्तिं श्रुतौ दर्शयति **यथे**ति । पृथिव्युदाहरणं तत्प्रकरणोक्तसर्वाचेतनोपलक्षणार्थम् । उक्तप्रकारव्यापकत्ववशात् 'मत्स्थानि' इत्यनेन जगतः पृथक्सिद्धता निरस्यत इत्यभिप्रायेणाह **तत** इति । श्रीविश्वरूपादिषु विग्रहाश्रितत्वमपि सर्वस्योच्यते ; अत्र तु स्वरूपनिष्ठतेत्यपौनरुक्त्याय— **मय्यन्तर्यामिणी**त्युक्तम् । अनयोर्धारणनियमनयोरपि व्याप्त्या सहाधीततामाह— **तत्रैवे**ति । **स्थितिनियमने**- स्थितिप्रवृत्ती इत्यर्थः । शरीरशरीरित्ववचनात् धृतिः शेषित्वं च तत्रार्थसिद्धे इत्यभिप्रायेणाह **शेषित्वं चे**ति । 'मया ततमिदं सर्वम्' इत्यभिधायैव 'न चाहं तेष्ववस्थितः' इति वचनं व्याहतम्, "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिश्रुतिविरुद्धं चेत्यत्राह **अहं त्वि**ति । 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' इति प्रस्तुतप्रकारा स्थितिरत्र निषिध्यते । "स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः" इत्यत्र "स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नि" [छां. उ. ७।२४।१] इति हि श्रूयत इति भावः । उक्तं विवृणोति **मत्स्थिततावि**ति । **न कश्चि**दिति स्वरूपतः सङ्कल्पाद्दृष्टादिना वेति भावः ।

'मत्स्थानि' 'न च मत्स्थानि' इत्येतद्व्याहतमित्यत्राह— **न घटादीना**मिति । मूर्तं हि मूर्तान्तरं पतनप्रतिघातिना संयोगेन धारयति; न तथाऽत्रेति भावः । लोकदृष्टविपरीतं न सम्भवतीत्यभिप्रायेण शङ्कते **कथ**मिति । शरीरशरीरिणोरिव सम्भवमभिप्रेत्याह **मत्सङ्कल्पेने**ति । स्वेच्छाधीनधारकत्वं हि विहितम् । अस्वतन्त्रतया धारकत्वं तु निषिध्यत इत्यविरोध इति भावः । 'ऐश्वरम्' इत्यनेनानन्यसाधारणत्वं फलितम् । 'पश्य' इत्यनेन चाश्चर्यता द्योतितेत्यभिप्रायेणाह **अन्यत्रे**ति । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' [अमरः ३।३।२२] इति पाठात्सङ्कल्परूपं ध्यानमिह योगः, युज्यमानस्वभावादिर्वा । 'पश्य मे योगम्' इत्युक्ते योगस्वरूपमेवानन्तरं वक्तव्यमिति तदाकाङ्क्षां दर्शयति **कोऽसावि**ति । 'भूतभृन्न च भूतस्थः' इत्यत्रार्थौचित्यादहमित्येव विशेष्यम् । अथवा 'भूतभावनः' इतिवत् 'ममात्मा' इति निर्दिष्टसङ्कल्पविशेषणत्वेऽपि फलितकथनं **सर्वेषां भूतानां भर्ताऽह**मित्यादि । 'आत्मा' इति विशेषनिर्देशः परिसङ्ख्यानयात्तदतिरिक्तसहकारिव्यवच्छेदार्थ इत्यभिप्रायेणाह **ममात्मैवे**ति । 'ममात्मा' इति व्यधिकरणनिर्देशस्वारस्यसिद्धमात्मशब्दार्थमाह **मम मनोमयः सङ्कल्प** इति । एतेन देहादिसङ्घातेऽहङ्कारमध्यारोप्य लोकबुद्ध्यनुसारेण 'ममात्मा' इति व्यपदेश इति **शङ्करोक्तं** प्रत्युक्तम् । सङ्कल्प एव मनःकार्यतयाऽन्यत्र प्रसिद्धो मनःप्रतिपादकेनात्मशब्देनात्र व्यपदिष्टः । यद्वा आत्मशब्दोऽत्र सङ्कल्परूपमनःपर एव, 'मनसैव जगत्सृष्टिं' [वि. पु. ५।२२।१९] 'मनोऽकुरुत (आत्मन्वी) स्यामिति' [बृ. उ. १।२।१] इत्यादेः । तदर्थज्ञापनाय तु मनोमयशब्दः । धारणनियमनयोरेव प्रकृतत्वात्, अनन्तरश्लोके च निर्दिश्यमानत्वात्, सृष्टेश्च ततोऽप्यनन्तरं वक्ष्यमाणत्वादत्र 'भूतभावनः' इत्येतत्सत्तातादधीन्यनियमनाद्युपलक्षणमित्यभिप्रायेणाह **धारयिता नियन्ता चे**ति । अथवा 'भूतभृन्न च भूतस्थः' इत्यस्यैवायमर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.— प्रत्यक्षावगमशब्देनापरोक्षज्ञानसाधनत्वमुक्तम् । तज्ज्ञानाद्याह— मयेति । तर्हि किमिति न दृश्यते ? इत्यत आह— अव्यक्तमूर्तिनेति ॥ ४ ॥**

६ ज. प्र. दी.— एवं तर्हि पुनरुक्तिः स्यात्, ब्रह्मविषयं ज्ञानमित्यस्य ब्रह्मावगम्यते विषयीक्रियतेऽनेन ज्ञानेनेत्यस्य च भेदाभावादित्यत आह— **प्रत्यक्षे**ति । नावगमशब्देन विषयीकरणमुच्यते, किन्तु अवगतिसाधनत्वम् । न चाज्ञानस्य तद्विरुद्धम्, परोक्षज्ञानस्यापरोक्षज्ञानसाधनत्वोपपत्तेरिति भावः । 'ज्ञानं विज्ञानसहितं प्रवक्ष्यामि' इति प्रतिज्ञाय 'यज्ज्ञात्वा' [९।१] इत्यादिना तत्प्रशंसादिकमुक्तम् । अतः 'मया ततं' इत्यादिकमपि किं तथाभूतमेव किञ्चिदुत प्रतिज्ञातमुच्यते ? इति शङ्कायामाह— **तदि**ति । प्रतिज्ञातमित्यर्थः । यस्यापरोक्षज्ञानसाधनत्वमुक्तं तदिति वा । कृत्स्नाध्यायप्रतिपाद्योक्तिरियम् । विशेषणवैयर्थ्यमाशङ्क्याह— **तर्ही**ति । सर्वव्यापी चेदित्यर्थः । न दृश्यते सर्वत्रेति शेषः ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.— मत्स्थत्वेऽपि यथा पृथिव्यां स्पृष्ट्वा स्थितानि न तथा मयीत्याह— न चेति । 'न दृश्यश्चक्षुषा चासौ न स्पृश्यः स्पर्शनेन च' [म.भा. १२।३३९।२१] इति हि मोक्षधर्मे । 'संज्ञासंज्ञः'**

[म. भा. १२।३३८।४७] इति च। ममात्मा देह एव भूतभावनः। 'महाविभूतेर्माहात्म्यशरीर-' इति हि मोक्षधर्मे [म. भा. १२।३३८।१७४-७५]॥ ५॥

६ ज. प्र. दी.—'मत्स्थानि सर्वभूतानि' [९।४] इत्युक्त्वा पुनः कथं 'न च मत्स्थानि' इति व्याहतमुच्यते? इत्यत आह— मत्स्थत्वेऽपीति। स्पृष्टेति। स्पर्शनेन्द्रियेण तां ज्ञात्वाऽन्योन्यधर्मसंक्रान्तिमासाद्य चेत्यर्थः। परमेश्वरस्य स्पर्शनाद्यवेद्यत्वे प्रमाणमाह— नेति। संज्ञया शब्देनैव संज्ञा सम्यग् ज्ञानं यस्यासौ तथोक्तः। मत्स्थानीत्यादेरुक्तत्वात् भूतभृदित्यादिकं पुनरुक्तमित्यत आह— ममेति। प्राग्भूताधारत्वादिकं स्वस्योक्तम्, अत्र पुनरव्यक्तमूर्तिनेति मूर्तावुक्तायां साऽस्मदादीनामिव भिन्नेति भ्रान्तिनिरासार्थं स्वलक्षणं स्वदेहस्योच्यत इत्यर्थः। भूतभावनत्वस्याधिकस्योक्तेश्च न पुनरुक्तिरिति भावेनोक्तम्— भूतेति। स्यादिदं व्याख्यानं यदि भगवद्देहस्येदं भवेत्। तदेव कुतः? इत्यत आह— महाविभूतेरिति। माहात्म्यमेव शरीरं यस्यासौ तथोक्तः॥ ५॥

७ ह. पै. भा.— मया ततं व्याप्तमिदं सर्वं जगत्। अव्यक्ता मूर्तिर्यस्य सोऽव्यक्तमूर्तिस्तेन मयेश्वरेणेन्द्रियागोचरस्वरूपेणेत्यर्थः। मत्स्थानि सर्वभूतानि सर्वप्राणिनः। न चाहं तेषु भूतेषु व्यवस्थितः॥ ४॥ न च मत्स्थानि भूतानि मयि तिष्ठन्तीति मत्स्थानि। न चेमानि भूतानि मत्स्थानि। "असङ्गो न हि सज्जते" [बृ. उ. ३।९।२६] इति श्रुतेः। पश्याऽऽलोकय मे योगमैश्वरमीश्वरसम्बन्धिनम्। भूतानि बिभर्तीति भूतभृत्। न च भूतस्थो न च भूतेषु तिष्ठति। ममेश्वरस्याऽऽत्मा भूतभावनो भूतान्युत्पादयतीति भूतभावनः॥ ५॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवमुपदेक्ष्यमाणस्य ज्ञानस्यान्वयव्यतिरेकमुखेण स्तुत्याऽर्जुनमभिमुखीकृत्य सम्प्रत्यद्वैतब्रह्मज्ञानमुपदिदिक्षुः प्रथमं द्वैतप्रपञ्चमिथ्यात्वमुपपादयति सार्धेन— मयेति। इदं सर्वं चेतनाचेतनात्मकं जगत् मया ततं व्याप्तम्। ननु परिच्छिन्नत्वेनोपलभ्यमानस्य तव कथं जगद्व्याप्तिः? इत्याशङ्क्य, नानेन रूपेण मम व्याप्तिः, किन्त्वतीन्द्रियसच्चिद्रूपेणेत्याह— अव्यक्तमूर्तिनेति। अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्तिः स्वरूपं यस्य स तथोक्तस्तेन। कीदृशी तव जगद्व्याप्तिरित्यत आह– मत्स्थानीति। चराचरात्मकानि सर्वभूतानि मयि तिष्ठन्तीति मत्स्थानि। न चाहं तेष्ववस्थितः। चकारस्तुशब्दार्थे। अहं तु तेषु भूतेषु नावस्थितः, "स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति, स्वे महिम्नि" [छां. उ. ७।२४।१] इत्यादिश्रुतिभिर्ब्रह्मणो निराधारत्वश्रवणात् "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" [सर्वो. ४] इत्यादिना च सर्वाधिष्ठानत्वेन सर्वव्याप्तिपरत्वात्। तथा च जगदधिष्ठानत्वरूपैव जगद्व्याप्तिः, न तु तदधिष्ठानकत्वरूपेत्यर्थः। अस्त्वेवं प्रपञ्चमिथ्यात्वे किमायातम्? तत्राह— न च मत्स्थानीति। मत्स्थान्यपि च भूतानि न मत्स्थानि। तथा च शुक्तिरजतादेरिव प्रपञ्चस्य प्रतिपन्नोपाधावभावप्रतियोगित्वरूपं मिथ्यात्वं सिध्यतीति भावः। ननु कथमिदं युज्यते, मत्स्थानि न च मत्स्थानीति प्रतियोगितद्भावयोरेकत्र विरोधात्? अत आह— 'पश्य मे योगमैश्वरम्' इति। मे ममासाधारणं, ऐश्वरं ईश्वरस्य मम वशे स्थितं योगमघटितघटनोपायम्, मायामिति यावत्। उक्तं हि– 'योगमायासमावृतः' [७।२५] इति। तथा च मदीययोगमायावैभवस्यावितर्क्यत्वान्न विरोधशङ्कावकाशः। अद्यतनीष्वपि खल्वैन्द्रजालिकमायासु परस्परविरुद्धान्याश्चर्याणि बहुलमुपलभ्यन्ते; न हि तत्र विरोधचोद्यमवतरतीति भावः। यद्वा 'मत्स्थानि' 'न च मत्स्थानि' इत्युक्त्योः प्रपञ्चतदभावयोरेकाधिकरणत्वविरोधशङ्कायां 'पश्य मे योगमैश्वरं' इति वदता भगवता प्रपञ्चस्य मायिकत्वात्पारमार्थिकेन तदत्यन्ताभावेन सह तस्य न विरोधः, समानसत्ताकयोरेव प्रतियोगितदभावयोः सामानाधिकरण्यविरोधादिति दर्शितम्।

एवं द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमुपदिश्याद्वितीयब्रह्मतत्त्वज्ञानमुपदिशति— भूतभृदिति। भूतानि चराचरात्मकानि भावयत्युद्भावयतीति भूतभावनः, तथा भूतानि बिभर्ति पोषयतीति भूतभृत्, भूतभावनो भूतभृच्चापि सन्ममात्मा न भूतस्थः परमार्थतो न भूतसम्बन्धी, भूतानां कल्पितत्वात्। न हि कल्पितेन रजतत्वेन शुक्तेर्वस्तुतः सम्बन्धोऽस्ति। तथा च शुक्तावारोपितस्य रजतत्वस्य वास्तवारजतात्मकशुक्तित्वाविघातकत्ववद्ब्रह्मण्यारोपितस्य द्वैतप्रपञ्चस्य वास्तवाद्वैतस्वरूपब्रह्मतत्त्वाविरोधित्वान्निष्प्रत्यूहमद्वितीयब्रह्मतत्त्वमिति भावः।

यत्त्वत्र रामानुजव्याख्यानम्— 'इदं सर्वं जगन्मयाऽन्तर्यामिणा व्याप्तम्, 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अन्तरः' [बृ. उ. ३।७।३] इत्यादिश्रुतेः। अतो मत्स्थानि मदधीनानि सर्वभूतानि, अहं तु न तदधीनः। 'न च मत्स्थानि भूतानि' इति स्वाधारकत्वनिषेधः, स्वसङ्कल्पाधीनानीत्यर्थः' इति, तन्न; मत्स्थानि सर्वभूतानीति जगदधिष्ठानत्वपरम्, वाक्यशेषानुरोधेन 'मया ततं' [९।४] इत्यस्याधिष्ठानतया जगद्व्याप्तिपरत्वस्यैव वक्तव्यत्वात्। न हि 'मत्स्थानि' इत्यस्य मदधीनानीत्यर्थः, तथा सति 'न च मत्स्थानि' इति तद्वि-

षेधायोगात्। न चात्र स्वाधारकत्वरूपं मत्स्थत्वं निषिध्यत इति युक्तम्; पूर्वत्र स्वाधीनत्वरूपं मत्स्थत्वम्, अत्र स्वाधारकत्वरूपमिति वैरूप्यापातात्। न ह्येकरूपार्थे सम्भवति वैरूप्यं न्याय्यम्। "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" इत्यादिश्रुतिरपि ब्रह्मणो न पृथिव्याद्यधिष्ठानकत्वपरा, "स्वे महिम्नि" [छां.उ. ७।२४।१] इत्यादिप्रागुक्तश्रुतिविरोधात्। किन्तु पृथिव्याद्यधिष्ठानतया तदन्वयित्वमात्रपरेत्यतो यथोक्त एवार्थः॥ ४॥ ५॥

९ ब० त० दी०— एवं ज्ञानं प्रस्तुत्याऽर्जुनमभिमुखीकृत्य स्वस्य महिमज्ञानं पूर्वमुपदिशति-मयेति। अव्यक्तोऽक्षरोऽविरुद्धधर्मप्रकृतिपुरुषात्मकः स्वेच्छया पृथग्भासि(वि)तोऽपि महिमरूपः कालात्मा च स बहिर्मर्यादामार्गाधिदैवतं अध्यात्मस्वरूपं तन्मूर्त्तिना मयाऽन्तर्यामिणा च तदिदं सर्वं चेतनाचेतनात्मकं जगत्प्राकृतं ततम्। 'अन्तश्चिदन्तर्यामितदङ्गिरूपोऽक्षरश्चाव्यक्तपदवाच्यः' इति स्थितमाकरे। स चान्तर्यामी चाहं अन्तर्यामिब्राह्मणे "यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिवी यं न वेद य आत्मनि तिष्ठन्यमात्मा न वेद" [बृ. उ. ३।७।३] इत्यादि निरूपितम्॥ ४॥ तेन भूतानि पञ्चमहाभूतानि प्राणिजातानि च नामरूपज्ञानकर्मात्मकानि मत्स्थानि अस्ति-भाति-प्रियत्वेन रूपेण नाम्ना च प्रकाशमाने मय्येवाक्षरे सर्वान्तर्यामिस्वरूपे उपादाने स्थितानि। द्वितीयपक्षे मत्स्थानि भूतानि मदायत्तस्थितिकानीत्यर्थः। अहं तु न तदायत्तस्थितिरित्याह 'नचाहं तेषु' [९।४] इति। एवम्भूतो ममाखिलधर्माश्रयस्य मूलभूतस्य क्षराक्षरातीतस्य स्वैश्वर्यमहिमेति बोधयति 'न च मत्स्थानि' इति। निर्लेपतया विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वमाह। वस्तुतो न च मत्स्थानि नहि घटादीनामिव जलाद्यवलेपकत्वं (जलावधारकत्वं) मयि मदाधारशक्त्या तत्स्थितिरपि नान्यथेत्यचिन्त्यैश्वर्ययोगोऽयं ममेत्याह 'पश्य मे योगमैश्वरं' इति। तथाहि मे मनोमयसङ्कल्प एव सर्वं कर्तुं शक्तोऽलौकिकयोगः स एवान्यव्यामोहको मायापदव्यपदिश्यमानोऽपि क्वचित् स च ममात्माऽक्षरस्वरूपोऽध्यात्मधर्माख्यो भूतानां भावयिता नियन्ता च तमेतं पश्य मम विरुद्धधर्माश्रयमालोचय। स किम्भूतः? भूतभृन्न च भूतस्थ इति। न तत्सजातीयः, अपितु भूम्याद्यन्तर्वर्त्ती पालक उद्भावकश्च॥५॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपं च स्तुत्वा ज्ञानमेवाह द्वाभ्याम्— मयेति। अव्यक्तातिरिक्तेषु लौकिकेन्द्रियागोचरा स्वक्रियेच्छैकदृश्या मूर्तिः स्वरूपं यस्य। वक्ष्यति चाग्रे 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' [११।८] 'भक्त्या त्वनन्यया' [११।५४] इत्यादि। एतादृशेन मया इदं जगत् सर्वं जडजङ्गमात्मकमातृणस्तम्बान्तं ततं व्याप्तं, मत्क्रीडार्थं मदात्मकं मया सृष्टमित्यर्थः। यद्वा अव्यक्तमूर्तिना मया व्याप्तमिदं सर्वं जगत् अस्तीति शेषः। अयं भावः— आतृणस्तम्बान्तं सर्ववस्तुषु तत्तत्स्वरूपोऽहमेवास्मि, अव्यक्तत्वात्तथा सर्वैर्न ज्ञायते; एवं चेत्सर्वेषु भूतेषु तद्रूपः प्रविष्टो भवानाधिदैविकन्यायेन भविष्यतीत्यत आह— मत्स्थानीति। मत्स्वरूपस्थानि सर्वाणि सन्ति, सर्वाधारत्वात्। क्रीडेच्छया पृथक् तत्तद्रूपं प्रकटयामीति भावः। अपरिच्छिन्नत्वात् प्रकटमपि जगन्मय्येव तिष्ठति। तेषु न च अहम्। तेषु परिच्छिन्नतया न तिष्ठामीत्यर्थः॥ ४॥ 'मत्स्थानि सर्वभूतानि' [९।४] इत्युक्त्या भगवतस्ते भिन्ना भविष्यन्तीति ज्ञानेन व्यापकत्वे भ्रमो मा भवत्वित्यत आह— न च मत्स्थानीति। च पुनः। तानि भूतानि जातान्यपि भिन्नतया मत्स्थानि न, किन्तु मदात्मकान्येवेत्यर्थः। ननु तर्हि कथं भेदप्रतीतिः? इत्यत आह— पश्य मे योगमैश्वरमिति। मे ऐश्वरं कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थत्वरूपं क्रीडात्मकं योगं पश्य। अयमर्थः— मया क्रीडार्थमभेदेऽपि भेदो बोध्यते। एतदेव विशदयति— भूतभृदिति। भूतानि आधारत्वेन धारयति स्वरसार्थं पोषयतीति भूतभृत्। भूतानि पालयति तथा भावप्रति स्वभावभावितानि करोतीति भूतभावनः। एतादृशोऽपि सन् ममात्मा मदात्मस्वरूपं भूतस्थो न भवति। अयं भावः— तेषु क्रीडां कुर्वन्नपि यथा ते क्रीडार्थं सृष्टास्तत्र स्थिताः स्वाभिमानेन भिन्नतया तिष्ठन्ति तथाऽहं न तिष्ठामि॥ ५॥

११ नी० भा० दी०— एवं स्तुत्याऽभिमुखीकृत्य यद्वक्तव्यं तदाह— मयेति। मया इदं सर्वं जगत् ततं व्याप्तं, उपादानत्वात् कनकेनेव कुण्डलादीनि। ननु प्रागेवैतदुक्तं 'अहं सर्वस्य (कृत्स्नस्य) जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' [७।६] इति। तथा च 'राजविद्या' [९।२] इत्यादिस्तुतिरस्थाने एव कृता स्यात्, वक्तव्यविशेषाभावादिति चेत्; अत्र ब्रूमः यथा "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति" [तै. उ. ३।१] इति। ज्ञेयस्य ब्रह्मणो लक्षणं जगज्जन्मादिहेतुत्वमुक्त्वा तस्यानुगममन्नादिशब्दशब्दितेषु विराडादिषु दर्शयति। "अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" [तै. उ. ३।२] "प्राणाद्ध्येव" [तै. उ. ३।३] इत्यादिना। तस्य निर्णयवाक्यं तु "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" [तै. उ. ३।६] इति "सैषा भार्गवी वारुणी विद्या" [तै. उ. ३।६] इति, तत्रैव विद्यायाः पर्यवसानाभिधानात्; एवमिहापि सप्तमे 'भूमिरापोऽनलो वायुः' [७।४] इत्यादिना सर्वभूता-

त्मकस्य विराजो जगज्जन्मादिहेतुत्वं प्रदर्श्य पश्चात् 'अहं सर्वस्य (कृत्स्नस्य) जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' [ ७।६ ] इत्यनेन मायाशबलेऽपि तत्प्रदर्श्येदानीं शुद्धे प्रत्यगात्मन्येव तद्दर्शयति स्थूलारुन्धतीन्यायेन प्रतिपत्तिसौकर्यार्थमिति गम्यते, 'राजविद्या' [ ९।२ ] इत्यादिना स्तुतत्वात्। यथा कश्चिद्दुर्लक्ष्यां सूक्ष्मामरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां तारामरुन्धतीति ग्राहयति प्रतिपद्यते चानेनैव क्रमेण प्रतिपत्ता, एवमिहापि कार्यकारणप्रतिपत्तिद्वारा अकार्यकारणस्य शुद्धस्य प्रतिपत्तिर्युक्ता, अत एव भगवान् भाष्यकारो(शं.) 'मया ततमिदं सर्वं' इत्यत्र 'मया मम यः परो भावस्तेन ततं व्याप्तं' इति व्याचख्यौ। न तु 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः' [ १०।८ ] इत्यत्र मम यः परो भावः स सर्वस्य जगतः प्रभव इति। स च भगवतः कारणात्मनः परो भावः परमानन्द एव तेनैव चेदं ततम्। "आनन्दाद्ध्येव" [ तै. उ. ३।६ ] इत्युदाहृतश्रुतेस्तस्यैव जगदुपादानत्वेन तदीयसत्तास्फूर्तिभ्यां जगतो व्याप्तत्वात्। अत एव 'अव्यक्तमूर्तिना' इति विशेषणम्। मायाशबलं हि कारणं बुद्धिग्राह्यत्वात्करणगोचरः; शुद्धं तु बुद्धेः परत्वात्करणागोचर इति। किम्भूताकारेणानन्दः परिणमते ? इत्यत आह— मत्स्थानीति। मयि प्रत्यगानन्दे रज्ज्वां स्रक्सर्पदण्डधारादय इव सर्वभूतानि स्थितान्यतो मत्स्थानीत्युपचारादुच्यन्ते अधिष्ठानाध्यस्तयोर्वास्तवसम्बन्धायोगात्। एतदेवाह— न चेति। न चाहं परमान्दस्तेषु भूतेष्ववस्थितोऽस्मि, घटादाविव मृत्; अपरिणामित्वादेव ॥ ४ ॥ एवमभ्युपगतमानन्दस्य जगद्विवर्ताधिष्ठानत्वं तदप्यपवदति— न च मत्स्थानीति। अयं भावः- 'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम्। अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते' इति वार्तिकोक्तेरज्ञानमेव जगत्कारणं तच्च तुच्छं, अहं चासङ्गः। ततश्च तुच्छतरेण तत्कार्येण भूतसङ्घेन न मामसङ्गस्याधाराधेयभावसम्बन्धोऽनिर्वचनीयोऽप्यस्ति। आवृतं हि रज्ज्वादिकमनिर्वचनीयेन सर्पादिना सम्बध्यते। अहं तु सर्वदाऽनावृतः साक्षिरूपत्वात्तत्सम्बन्धाशून्य इति 'न च मत्स्थानि भूतानि' इत्युक्तमिति। ननु साक्षिणस्तव ब्राह्मणो युवा सुखी चेति प्रतीत्यैव भूतसम्बन्धानुभवात् कथं 'न च मत्स्थानि' इत्युक्तिरित्याशङ्क्याह— पश्य मे योगमैश्वरमिति। मे मम भूतैः सह योगं युक्तिघटनां पश्य, ऐश्वरं ईश्वरेण मायाविना निर्मितं गगने गन्धर्वनगरमिव। अत एव मम कारणशरीरस्यात्मा प्रत्यगानन्दो भूतभृदपि भूतस्थो न चकारोऽप्यर्थेऽभिन्नक्रमश्च। खमिव गन्धर्वनगरभृदपि तत्स्थं न, तस्य तदाकारेण परिणामासम्भवात्। एवंरूपोऽपि परानन्दरूपो ममात्मा स भूतभावनः भूतानां वृद्धिकरः। "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" [ बृ. उ. ४।३।३२ ] "को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" [ तै. उ. २।७ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः; आकाशे अव्याकृताख्ये स्वाधिष्ठानभूत आनन्दोऽनुस्यूतो न स्यात्तर्हि प्राणापानक्रियां कश्चिदपि न कुर्यात्, कारणगतं जाड्यं कार्येऽपि स्यात्, आकाशे आनन्दानुबन्धे तु कारणस्य चेतनत्वात्कार्यमपि चेतनावत्स्यादिति श्रुत्यर्थः। बृहदारण्यकेऽपि [ ३। ८। ७ ] "यदूर्ध्वं गार्गि दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति" इति मायाविनि सर्वस्योतप्रोतत्वमुक्त्वा "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति" [ ७।८।७ ] इति। अस्योत्तरम् "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्गि आकाश ओतश्च प्रोतश्च" [ बृ. उ. ३।८।११ ] इति अस्थूलादिलक्षणस्याकाशाधारत्वमुक्तम्। तस्माद्युक्तमुक्तमाकाशशरीरेण भगवता कारणोपाधिनिष्कृष्टचिन्मात्राभिप्रायेण— ममात्मा भूतभावन इति ॥ ५ ॥

ब्रह्मणोऽसङ्गस्वभावत्वे दृष्टान्तः, दृश्यप्रपञ्चस्य मायामात्रत्वं च।

**यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।**
**तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥ ६ ॥**

---

१ वामनस्तु श्लोकमिमम्—

मत्स्थानि सर्वभूतानि पश्येत्याज्ञापयत्ययम्। अभेदश्च ममानेन तरङ्गस्येव सिन्धुना ॥
तथापि सर्वभूतानि द्रष्टुं शक्तोऽस्मि नात्मनि। नह्नि सर्वाणि यादांसि बिभर्त्यूर्मिरुदन्वतः ॥
जानामि यावत्प्रत्येमि तावदेवाथ शिष्यते। यद्भूयिष्ठं कथं नाम तद्द्रष्टव्यं मयाऽऽत्मनि ? ॥
शङ्काकुलमिति ज्ञात्वा भगवान्मघवत्सुतम्। दृष्टान्तेन स्पष्टयति भूतानामात्मनि स्थितिम् ॥

—इत्यवतार्य व्याचष्टे—

**१ शां. भा.**— यथोक्तेन श्लोकद्वयेनोक्तमर्थं दृष्टान्तेनोपपादयन्नाह— **यथेति**। यथा लोक आकाशस्थित आकाशे स्थितो नित्यं सदा वायुः सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगो महान्परिमाणतस्तथाऽऽकाशवत् सर्वगते मय्यसंश्लेषेणैव स्थितानीत्येवमुपधारय विजानीहि ॥ ६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सृष्टिस्थितिसंहाराणामसङ्गात्माधारत्वं 'मया ततमिदं' [९।४] इत्यादिश्लोकद्वयेनोक्तोऽर्थस्तं दृष्टान्तेनोपपादयन्नादौ दृष्टान्तमाहेति योजना। सदेत्युत्पत्तिस्थितिसंहारकालो गृह्यते। आकाशादेर्महतोऽन्याधारत्वं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **महानिति**। यथा सर्वगामित्वात्परिमाणतो महान्वायुराकाशे सदा तिष्ठति, तथाऽऽकाशादीनि महान्त्यपि सर्वाणि भूतान्याकाशकल्पे पूर्णे प्रतीच्यसङ्गे परस्मिन्नात्मनि संश्लेषमन्तरेण स्थितानीत्यर्थः ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.**— सर्वस्यास्य स्वसङ्कल्पायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वे निदर्शनमाह— यथा आकाशे अनालम्बने महान् वायुः स्थितः सर्वत्र गच्छति; स तु वायुर्निरालम्बनो मदायत्तस्थितिरित्यवश्याभ्युपगमनीयो मयैव धृत इति विज्ञायते; एवमेव सर्वाणि भूतानि तैरदृष्टे मयि स्थितानि मयैव धृतानीत्युपधारय; यथाऽऽहुर्वेदविदः— 'मेघोदयः सागरसन्निवृत्तिरिन्दोर्विभागः स्फुरितानि वायोः। विद्युद्विभङ्गो गतिरुष्णरश्मेर्विष्णोर्विचित्राः प्रभवन्ति मायाः' ॥ इति; विष्णोरनन्यसाधारणानि महाश्चर्याणीत्यर्थः। श्रुतिरपि "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" [बृ. उ. ३।८।९] "भीषाऽस्माद्वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः, भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च" [तै. उ. २।८।१ नृ. पू. २।४] इत्यादिका ॥ ६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'यथाकाशस्थितः' इति श्लोके स्वस्मिन् सर्वभूतस्थितेराकाशे वायुस्थितिर्दृष्टान्त इति केचिदाहुः, तदयुक्तम्, आकाशस्य वाय्वपेक्षया नियमनधारणयोरभावात्तथाविधस्थितेरिह प्रकृतत्वेन तन्निदर्शनार्थत्वस्यैवौचित्याच्चेत्यभिप्रायेणाह **सर्वस्येति**। 'आकाशस्थितः सर्वत्रगः' इत्याभ्यामीश्वरैकधार्यत्वं तदेकप्रेर्यत्वं च विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **यथाकाशेऽनालम्बन** इति। महत्त्वं चान्याशक्यत्वायोक्तम्। अभिप्रेतं निदर्शनप्रकारं विशदयति **स त्विति**। यथा निरालम्बने विहायसि विहङ्गमशरीरादेश्चेतनविशेषाधिष्ठेयत्वं, एवमेव वाय्वादेरपीति भावः। **तैरदृष्ट** इत्यनेन अनुपलम्भबाधनिरासाय पूर्वोक्तश्रुत्यादिसिद्धायोग्यत्वप्रदर्शनम्। ईश्वरानुमानमनभ्युपगच्छतां कथमिदं निदर्शनमित्यत्राह **यथाऽऽहुर्वेदविद** इति। आगममूलसम्भावनातर्कपरमिति भावः। **वेदविद** इत्यनेनाधीयमानवेदोपबृंहणरूपता द्योतिता। अस्मदाद्यगोचरोपादानोपकरणसम्प्रदानादिकानां तत्क्षणादेव सकलदिङ्मुखव्यापिनां धाराधराणामुत्पत्तिः, सकलभुवनाप्लावनलम्पटस्यैव जलनिधेरम्बरालम्बिनां तरङ्गाणां वेलातले निवृत्तिः, प्रतिनियतकलावृद्धिक्षयशृङ्गोन्नमनादिरूपश्चन्द्रमसो विभागः, अशङ्कितागमानामनियतदिग्विशेषाणां तृणगिरितरुषण्डलुण्टाकानां चण्डमारुतादीनां विस्फूर्तयः, प्रशान्तदहनमिहिरहिमकरादिमहसि प्रावृषि निशीथेऽप्यविदितपूर्वोत्तरक्षणानां क्षणरुचीनां विभङ्गः, निरालम्बने विहायसि महीयसो मिहिरमण्डलस्य प्रतिनियतदिनरजनिमासायनसंवत्सरादिदेशिकः सञ्चारः, एवंविधान्यन्यानि च परिवेषोपरागेन्द्रचापकरकास्तनिताशनिभूकम्पप्रभञ्जनभ्रमणादयोऽत्यद्भुतप्रकाराः सर्वे सर्वव्यापिनः सर्वशक्तेर्विष्णोरेव विचित्रसृष्टिशक्तिमूला भवितुमर्हन्तीति श्लोकार्थः। मायाशब्दस्य मिथ्यार्थत्वनिरसनायाह **विष्णोरिति**। सम्बन्धसामान्यस्य नियाम्यत्वधार्यत्वादिविशेषपर्यवसानाय 'यथाहुर्वेदविदः' इत्यनेनाभिप्रेतं विवृणोति— **श्रुतिरपीति**। प्रशासनमत्र सङ्कल्पविशेषः; **भीषेति**— भयादित्यर्थः ॥ ६ ॥

— आकाशे स्थित एव नित्यमनिलः सर्वत्रगस्तत्र यश्चाञ्चल्येन महत्त्वमेति स जनैः स्पर्शेन विज्ञायते।
स्थैर्यान्नृच्छति न प्रतीतिविषयं किन्त्वस्त्यसौ खे यथा भूतान्यात्मनि विद्धि फाल्गुन ! तथा बुद्ध्या प्रतीतान्यपि ॥
सर्वत्रगो व्योम्नि यथा प्रतीतः प्रतीतवत्तिष्ठति मातरिश्वा।
भूतानि जानीहि तथाऽऽत्मनि त्वं पार्थप्रतीतानि समं प्रतीतैः ॥ इत्यादि।

ज्ञानदेवोऽन्यथा भावमाह—

यावन्नभो मरुदपि स्थित एव तावान् किन्तु प्रतीतिमयते यदि चाल्यमानः।
नैवान्यथा पृथगसाविह तद्वदेव भात्येव भूतनिवहो मयि कल्प्यमानः ॥
अकल्पनायां तु न किञ्चनेह सर्वत्र शुद्धोऽस्म्यहमेक एव।
भूतानि सन्त्यत्र न सन्ति वेति तत्कल्पनाकल्पनयोर्विलासः ॥
लुप्यते कल्पनालोपे भाति कल्पनया समम्। कल्पनामूलमज्ञानं न चेत्तस्य कथं कथा? ॥ इति।

'आकाशः स्थितः' इति छित्त्वा नित्यं स्थितः महान् आकाशः सर्वत्रगो महान् वायुश्च यथासंश्लिष्टावेवाधाराधेयभावेन वर्तेते, तथाऽहं भूतानि च विना संश्लेषमाधाराधेयभावेन वर्तामहे। इति व्याख्यातं कैश्चित्। तत्राकाशस्थित इति 'खर्परे शरि वा—' (वार्ति.) इति विसर्गलोपो द्रष्टव्यः ॥ —अविगीता।

५ आ. मा. भा.— मत्स्थानि न च मत्स्थानीत्यत्र दृष्टान्तमाह— यथाऽऽकाशस्थित इति। न ह्याकाशस्थितो वायुः स्पर्शाद्याप्नोति ॥ ६ ॥

६ अ. प्र. दी.— एकमेकत्राश्रितमित्यत्रासम्भावनाभावात्, किं दृष्टान्तोक्त्या ? इत्यत आह— मत्स्थानीति । तत्र स्थितत्वेऽप्यन्योन्यधर्मासंक्रान्त्यादावित्यर्थः । तदत्र न प्रतीयत इत्यतो व्याचष्टे— न हीति । स्पर्शादीति तद्धर्मोपलक्षणम् ॥ ६ ॥

७ ह. पै. भा.— यथाऽयं दृष्टान्त आकाशस्थितोऽचलो नित्यं सर्वकालं वायुः सर्वत्रगो महान् महापरिमाणः सर्वभूताधारत्वेन तथा तद्वत्सर्वाणि भूतानि मत्स्थानि मयि स्थितानीत्युपधारयावगच्छ ॥ ६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— न केवलं द्वैतप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वादेव ब्रह्मणः पारमार्थिकतत्सम्बन्धाभावः, किन्त्वसङ्गस्वभावत्वादपीत्याह— यथाकाशेति । यथा ह्यवकाशं विनाऽवस्थानायोगान्नित्यमाकाशे स्थितो वायुः सर्वगतो महानपि नाकाशेन संश्लिष्यते निरवयवत्वेन संश्लेषायोगात्, तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थान्यपि असङ्गस्वभावेन मया न संश्लिष्यन्त इत्युपधारय निर्धारय । तथा च श्रुतिः—"असङ्गो ह्ययं पुरुषः"[बृ.उ.४।३।१५]"असङ्गो न हि सज्जते"[बृ. उ. ३।९।२६] इति ॥ ६ ॥

९ व० त० दी०— असंश्लिष्टयोरप्याधाराधेयभावं दृष्टान्तेनाह–यथाकाशस्थित इति। अवकाशं विनाऽवस्थानानुपपत्तेर्नित्यमाकाशाधारो वा वायुरभ्युपेयते, स च नाकाशेन संश्लिष्यते, निरवयवत्वेन संश्लेषायोगात्; तथा सर्वभूतानि मयि जानीहि। वस्तुतस्तु महाभूतान्यपि सर्वाणि मदाधारशक्त्यैवोपष्टब्धानि। मयैव विधृतान्याकाशादीनि। अक्षरमूर्तिना मयैव सर्वं विधृतमित्यर्थः। तथा च श्रूयते 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि [ द्यावापृथिवी ] सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ... द्यावापृथिव्यौ विधृते ( अव–) तिष्ठतः' [ बृ. उ. ३।८।९ ] इत्यादि ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— तर्हि भवतो व्यापकत्वाज्जीवस्याणुत्वादव्यापकत्वाच्च मत्स्थानीत्याधाराधेयभावः। कथं? इत्यत आह सदृष्टान्तम्— यथेति । यथा सर्वगो महानपि वायुर्नित्यमाकाशस्थितो भवति आकाशेन च न स्पृश्यते । नित्यपदेनाकाश एव सर्वत्र गतियुक्तो भवतीति व्यञ्जितम् । तथा सर्वाणि भूतानि सर्वत्रगतियुक्तानि मत्क्रीडेच्छयैव मत्स्थानीत्युपधारय जानीहि । उप समीपे मत्समीपे धारय पश्येत्यर्थः ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— श्लोकद्वयोक्तेऽर्थे दृष्टान्तमाह— यथेति । यथा लोके आकाशे स्थितो नित्यं सदा वायुः सर्वत्रगः परिमाणतश्च महान् तथा सर्वाणि भूतानि सर्वगते मयि असंश्लेषेणैव स्थितानीत्येवमुपधारयेति प्राञ्चः । 'किं तद्ब्रह्म' [ ८।१ ] इति प्रश्नस्योत्तरमुक्तं 'अक्षरं परमं ब्रह्म' [ ८।३ ] इति अक्षरसंज्ञं शुद्धसत्त्वपदार्थ एव निरुपाधिकं ब्रह्मेत्युक्तम्; तत्र निरुपाधिकं ब्रह्म श्लोकद्वयेन व्याख्यातम्; इदानीं तस्याक्षराख्येन जीवेनाभेदं सदृष्टान्तमाह— यथेति । वायुः सूत्रात्मा । "वायुर्वै गौतम तत्सूत्रम्" [ बृ. उ. ३।७।२ ] इति श्रुतेः । सर्वत्रग इति समष्टिलिङ्गत्वात्तस्य सर्वगतत्वम्। महानिति बाह्यवायुव्यावृत्त्यर्थम्। स यथा आकाशस्थितः अव्याकृताकाशे स्वकारणे स्थितः। नित्यमिति कालत्रयेऽपि तस्याकाशसम्बन्ध उक्तः । सर्वाणि भूतानि उपाधिनिष्कृष्टत्वम्पदार्थरूपी चेतनवर्गः। बहुत्वं लोकाभिप्रायेण । यथा कार्यं सर्वमुत्पत्तेः प्राक् नाशादूर्ध्वं मध्ये च स्वकारण एवाभेदेन तिष्ठति, एवं सर्वोऽपि जीववर्ग उपाध्युत्पत्तेः प्राक् तन्नाशादूर्ध्वं मध्ये वा घटाकाशो महाकाशादिव परस्माद्ब्रह्मणः कालत्रयेऽपि नातिरिच्यत इत्यर्थः। एतेन जीवब्रह्माभेदकथनेन 'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' [ ८।३ ] इति यत्प्रागुक्तं ब्रह्मैव जीव इति तद्विवृतम् ॥ ६ ॥

**सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।**
**कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥ ७ ॥**

---

१ अत्र वामनः—
'अप्राप्य मां निवर्तन्ते' ( ९।३ ) इति प्रागाह यद्धरिः । ततः सिद्ध्यति तं प्राप्य नावर्तन्त इति स्फुटम् ॥
किन्त्विदं लीयते सर्वं सोपाधि प्रलये परे । यथा सूर्ये पल्वलस्थं पाथः सप्रतिबिम्बकम् ॥ —

**१ शां. भा.**— एवं वायुराकाश इव मयि स्थितानि सर्वभूतानि स्थितिकाले तानि; सर्वेति। सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामपरां निकृष्टां यान्ति मामिकां मदीयां कल्पक्षये प्रलयकाले। पुनर्भूयस्तानि भूतान्युत्पत्तिकाले कल्पादौ विसृजाम्युत्पादयाम्यहं पूर्ववत् ॥ ७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— आकाशे वाय्वादिस्थितिवदाकाशादीनि भूतानि स्थितिकाले परमेश्वरे स्थितानि चेत्तर्हि प्रलयकाले ततोऽन्यत्र तिष्ठेयुरित्याशङ्क्याऽऽह— **एवमिति**। प्रकृतिशब्दस्य स्वभाववचनत्वं व्यावर्तयति— **त्रिगुणात्मिकामिति**। सा च 'अपरेयं' [ ७।५ ] इति प्रागेव सूचितेत्याह— **अपरामिति**। तस्याश्चेश्वराधीनत्वेनास्वातन्त्र्यमाह— **मदीयामिति**। प्रलयकाले भूतानि यथोक्तां प्रकृतिं यान्ति चेदुत्पत्तिकालेऽपि ततस्तेषामुत्पत्तेरीश्वराधीनत्वं भूतसृष्टेर्न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **पुनरिति** ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**— सकलेतरनिरपेक्षस्य भगवतः सङ्कल्पात्सर्वेषां स्थितिः प्रवृत्तिश्चोक्ता; तथा तत्सङ्कल्पादेव सर्वेषामुत्पत्तिप्रलयावपीत्याह— स्थावरजङ्गमात्मकानि सर्वाणि भूतानि, मामिकां मच्छरीरभूतां, प्रकृतिं तमश्शब्दवाच्यां नामरूपविभागानर्हां, कल्पक्षये चतुर्मुखावसानसमये मत्सङ्कल्पाद्यान्ति; तान्येव भूतानि कल्पादौ पुनर्विसृजाम्यहम्; यथाह मनुः [ १।५ ] 'आसीदिदं तमोभूतं' 'सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात्' [ मनु:१।८ ] इति। श्रुतिरपि "यस्याव्यक्तं शरीरम्" [ सु. उ. ७ ] "अव्यक्तमक्षरे विलीयते। अक्षरं तमसि विलीयते" [ सु. उ. २ ] "तमः परे देव एकी भवति" [ सु. उ. २ ] इत्यादिका, "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतम्" [ ऋक्सं. ८।७।१७।३ ] इति च ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अप्रस्तुतसृष्टिप्रलयाभिधानस्य सङ्गतिमाह— **सकलेति**। प्रवृत्तिश्चेत्यर्थसिद्धोक्तिः; 'मामिकाम्' इत्यनेन शेषत्वं सिद्धम्; तच्च शरीरतयेत्यत्रावगतं 'यस्य तमः शरीरम्' [ बृ. उ. ३।७।१३ ] इति; अतो **मच्छरीरभूतामित्युक्तम्**। सर्वभूतशब्देन समस्तकार्यावस्थासङ्ग्रहात्— **तमश्शब्दवाच्यामित्युक्तम्**। "तमः ... एकीभवति" [सु.उ.२] इत्युक्त-

— उपाधिभिः सहोदेति कल्पादौ च पुनस्ततः। प्राप्याप्येवं परं जीवा निवर्तन्तेऽत्र ते पुनः ॥
निवर्तेरन्नेवमेव तं प्राप्य ज्ञानिनोऽप्यतः। उभयेषां समानो हि ब्रह्मणि प्रलये लयः ॥
प्राप्य चेन्न निवर्तन्ते मुक्तिरज्ञानिनामपि। प्राप्याप्यथ निवर्तन्ते निवृत्तिर्ज्ञानिनामपि ॥
अतो विप्रतिषिद्धेयं वासुदेवस्य वागिति। पूर्वपक्षं पङ्कजाक्षः समूलं क्षपयत्यथ ॥

इत्यवतार्य व्याचष्टे—
मदीयां प्रकृतिं पार्थ! प्रलयोदयकारिणीम्। प्रलये यान्ति भूतानि निवर्तन्ते ततः पुनः ॥
मामप्राप्य मदीयां ये प्रलये प्रकृतिं गताः। उत्पद्यन्ते त एवात्र बीजादिव महीरुहाः ॥
प्रकृतौ लीयमानानां जडदेहाभिमानिता। भूतशब्देन जीवानामज्ञानां सम्यगीरिता ॥
यैरात्मा प्रत्यभिज्ञायि मिथ्यामानि जडांशकः। न ते भूतेषु गण्यन्ते प्रकृतिं नाप्नुवन्ति च ॥
जीवोपाधिः प्रसिद्धा धीः क्षयात्प्रागेव सा यदि। लीना ब्रह्मणि तन्नैति चिदंशो जीवतां पुनः ॥
सायं मयूखेषु मरीचिकेव स्यान्निर्गुणे सा प्रकृतिर्विलीना।
लीना न तस्यां यदुपाधयस्ते न सृष्टिकाले पुनरुद्भवन्ति ॥
घटभेदाद्दृते तोये प्रतिबिम्बं कुतो रवेः ?। अविद्यालयनिर्मूल उपाधिः प्रकृतौ कुतः ?॥
अविद्या विद्यते येषां धीस्तेषां प्रकृतौ क्षये। लीयतेऽतस्तदुदये जीवभावः पुनर्भवेत् ॥
अथ क्रमान्मुक्तिभाजो मुच्यन्ते ब्रह्मणा सह। तथाप्यविद्या प्रागेव निवृत्तैषामशेषतः ॥
जीवोपाधिर्ब्रह्मणोऽन्ते परे ब्रह्मणि लीयते। ज्ञानिनामपि तत्रैव तथा न प्रकृतौ क्वचित् ॥
अज्ञानिनोऽवशिष्टा ये प्रकृतिं प्राप्नुवन्ति ते। सर्वभूतपदेनात्र त एवोक्ताश्च चक्रिणा ॥
कल्पक्षयपदेनेह महाप्रलय उच्यते। दिनान्तो न विधेस्तत्र त्रैलोक्यस्यैव लोपनात् ॥
दिनान्ते सर्वभूतानि न लीयन्ते स्वयम्भुवः। उक्तौ च प्रागष्टमेऽत्र दिनकल्पलयोदयौ ॥ इति ॥

तानीत्यनेन तत्सजातीयान्यपि लक्ष्यन्ते। लोके मुष्टिपरिमितं व्रीहिं प्रदर्श्य कोशे वर्तमानः सर्वोऽपि व्रीहिरयमेवेति साजात्यादभेदव्यपदेशदर्शनात्। इति **केचित्**।

कल्पस्यादौ सुबहुला यस्मात्संस्थाश्चतुर्दश। कल्पयामास वै ब्रह्मा तस्मात्कल्पो निरुच्यते ॥ (१।७।७४) इति कल्पनिरुक्ति-**ब्रह्माण्डपुराणे** प्रकृतिस्वरूपं चोक्तं दैवीमीमांसायाम्— 'अनाद्यनन्ताध्यात्मिकी सृष्टिः। प्रकृतेस्तथात्वम्' ( २।२–३ ) इति। अनन्तब्रह्माण्डमयी आध्यात्मिकी सृष्टिरनाद्यनन्ता, तथा तत्कारणस्वरूपा प्रकृतिरप्यनाद्यनन्तेत्यर्थः। — **अविगीता**।

प्रदर्शनं नामरूपविभागानर्हामिति। सर्वभूतशब्दात्, 'प्रकृतिं यान्ति' इति वचनाच्च प्राकृतप्रलय एवात्र विवक्षित इत्याह **चतुर्मुखावसानसमय** इति। कल्पक्षये– अन्तिमब्रह्मदिवसावसान इत्यर्थः। कल्पानां क्षय इति वा विवक्षितम्। ब्रह्मायुःपरो वाऽत्र कल्पशब्दः, 'संहर्ता च स्वयं प्रभुः' [वि.पु. १।२।६४] 'मनसैव जगत्सृष्टिं संहारं च करोति यः' [वि. पु. ६।२२।१५] इत्याद्युक्तेः, अत्रैव 'पुनस्तानि विसृजामि' इति वचनाच्च। मदीयां प्रकृतिं यापयामीत्यभिप्रायः। तदाह— **मत्सङ्कल्पाद्यान्तीति**। तानि– तत्सजातीयानीत्यर्थः; तदभिप्रायेण **तान्येवेत्युक्तम्**। 'यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव' [वि. पु. १।५।६५] इतिवत्। यथा कुन्तीशरीरात्तवोत्पत्तिस्त्वयाऽनुपलब्धाप्याप्तवाक्याद्दृढप्रतिपन्ना, तथा मच्छरीरात्प्रपञ्चस्योत्पत्तिं ममैव वाक्यादभ्युपगच्छेति 'कौन्तेय' इत्यस्य भावः। 'मच्छरीरभूतां...तमश्शब्दवाच्याम्' इति स्वोक्तमर्थं भेषजायमानयत्किञ्चनोक्तेर्मनोर्वचनेन संवादयति— **यथाहेति**। 'आसीदिदम्' इत्यादिकायां सप्तश्लोक्यां नारायणस्यैव परमकारणत्वं ब्रह्मादेरशेषस्य तद्विसृष्टत्वं च सुव्यक्तमुक्तमनुसन्धेयम्। कारणावस्थस्याप्यचिद्द्रव्यस्य परमात्मशरीरतयाऽत्यन्तभिन्नत्वे तमश्शब्दवाच्यत्वादौ च मनोरुपबृंहणीयां श्रुतिं दर्शयति— **श्रुतिरपीति** ॥ ७ ॥

**५ आ. मा. भा.— ज्ञानप्रदर्शनार्थं प्रलयादि प्रपञ्चयति– सर्वभूतानीत्यादिना ॥ ७ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— यथा 'मया ततम्' [ ९।४ ] इत्याद्युक्तोपपादनार्थान्युत्तरवाक्यानि, न तथा सर्वभूतानीत्यादि; किन्तु स्वतन्त्रमेव ज्ञानप्रतिपादकमिति भावेनाह— **ज्ञानेति**। प्रलयादीति तत्कारणत्वम्, 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य' [ ९।८ ] इति वचनात् ॥ ७ ॥

**७ ह. पै. भा. — सर्वेति। सर्वभूतानि कौन्तेय! मामिकां प्रकृतिं प्रसवधर्मिणीं यान्ति गच्छन्ति, तत्र लीयन्त इत्यर्थः। कल्पक्षये कल्प्यते सृज्यत इति कल्पो महदादिप्रपञ्चस्तस्य क्षयो महाप्रलयस्तत्र। पुनस्तानि भूतानि कल्पान्तरादौ विसृजामि ॥ ७ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— एवम् "एकमेवाद्वितीयं (ब्रह्म)" [छां. उ.६।२।१–२] "नेह नानास्ति किञ्चन" [बृ. उ. ४।४।१९+कठो. ४।११] "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [बृ. उ. ४।३।१५] इत्यनुसारेण निर्विशेषाद्वितीयब्रह्मतत्त्वमुपदिश्य, सम्प्रति 'मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः' [गौ. का. १।१७] इति श्रुत्यनुसारेण तदुपदेक्ष्यन्प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वं तावदाह— **सर्वभूतानीति**। सर्वभूतानि कल्पक्षये प्रलयकाले मामिकां मच्छक्तिं प्रकृतिमुपादानभूतां त्रिगुणात्मिकामनिर्वचनीयां मायां यान्ति, तत्रैव सूक्ष्मरूपेण लीयन्ते। तथा च मृत्तिकायामुत्पद्य तत्र लीयमानस्य घटस्य मृत्तिकामात्रत्ववन्मायायामुत्पद्य तत्र लीयमानः प्रपञ्चोऽपि मायामात्ररूप एवेत्यर्थः। नन्वेवं मायाया एव जगत्कारणत्वं स्यात्, न तवेत्यत आह— **पुनस्तानीति**। तानि प्रकृतौ निलीनानि भूतानि कल्पादौ सर्गकाले पुनरहं विसृजामि विभागेन सृजामि ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— तदेवमसङ्गस्यैव योगैश्वर्यशक्त्या (मायया) स्थितिप्रवृत्तिहेतुत्वमुक्तम्, सर्गप्रलयहेतुत्वं चाह– सर्वेति। स्थावरजङ्गमात्मकानि वियदादीनि च कल्पक्षये शतं कल्पा ब्रह्मणो वर्षात्मकास्तेषां क्षयेऽवान्तरे च प्रातिलोम्येन मामिकां मत्क्रियाशक्त्यंशां त्रिगुणां मच्छायाभूतां मदधीनां प्रकृतिं पृथग्भूततत्त्वस्वरूपां तमश्शब्दश्रुतां नामरूपविभागानर्हां यान्ति तत्र प्रलीयन्ते। पुनः कल्पादौ विसृजामि तान्यहमक्षरात्मा प्रकृतिपुरुषद्वारा। मम न तैर्लेपः प्रकृतिगतत्वात्तेषामिति भावः ॥ ७ ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु भगवद्गतानां भवति स्थितानां नाशः कथं? इत्याशङ्क्याह— **सर्वभूतानीति**। हे कौन्तेय कृपैकपात्र! कल्पक्षये कल्पसमाप्तौ सर्वभूतानि मामिकां प्रकृतिं स्वरतीच्छारूपां यान्ति। पुनस्तानि कल्पादौ प्रपञ्चक्रीडेच्छया अहं विसृजामि विशेषेण नीचोच्चप्रकारेण वैचित्र्यार्थं सृजामि ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— नन्वेवमुपाधिरहितस्यैव ब्रह्मणि लयश्चेदुपाधेः का गतिः? इत्याशङ्क्याह— सर्वेति। सर्वाणि भूतानि स्थावरजङ्गमशरीराणि मामिकां मम मायाविनः प्रकृतिं त्रिगुणात्मिकामपरां सूक्ष्मभूम्याद्यात्मिकां यान्ति प्रविशन्ति। कदा यान्ति? कल्पक्षये। पुनश्च तान्येव भूतानि प्रकृतौ सुप्ताविव संस्कारात्मना स्थितानि एकतां गतानि कल्पादौ विसृजामि विविधरूपेण सृजाम्यहं कारणात्मा मायावी ॥ ७ ॥

परमात्मनो मायोपाधिकं जगत्स्रष्टृत्वम् ।

**प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।**
**भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ८ ॥**

**१ शां. भा.**— एवमविद्यालक्षणाम्— प्रकृतिं स्वां स्वीयामवष्टभ्य आश्रित्य वशीकृत्य–विसृजामि पुनः पुनः प्रकृतितो जातं भूतग्रामं भूतसमुदायमिमं वर्तमानं कृत्स्नं समग्रमवशमस्वतन्त्रमविद्यादिदोषैः परवशीकृतं प्रकृतेर्वशात्स्वभाववशात् ॥ ८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तर्हि कीदृशी प्रकृतिः ? सा च कथं सृष्टावुपयुक्ता ? इत्याशङ्कयाऽऽह— **एवमिति** । संसारस्यानादित्वद्योतनार्थं पुनः पुनरित्युक्तम् । भूतसमुदायस्याविद्यास्मितादिदोषपरवशत्वे हेतुमाह— **स्वभाववशादिति** ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.**— **प्रकृतिमिति** । स्वकीयां विचित्रपरिणामिनीं प्रकृतिमवष्टभ्याष्टधा परिणमय्येमं चतुर्विधं देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मकं भूतग्रामं मदीयाया मोहिन्या गुणमय्याः प्रकृतेर्वशादवशं पुनः पुनः काले-काले विसृजामि ॥ ८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'विसृजामि' इत्युक्तायाः समष्टिव्यष्टिरूपायाः सृष्टेः प्रकारः प्रदर्श्यते— 'प्रकृतिं स्वाम्' इति श्लोकेन । "विकारजननीमज्ञामष्टरूपामजां ध्रुवाम् । ध्यायतेऽध्यासिता तेन तन्यते प्रेर्यते पुनः ॥ सूयते पुरुषार्थं च तेनैवाधिष्ठितं जगत् । गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी" [मन्त्रिको. ३-५] इत्यादिश्रुत्यनुसारेणास्य श्लोकस्यार्थमाह **स्वकीयामिति** । उपादानद्रव्यस्य कर्त्रविष्टम्भो ह्यधिष्ठानम् , तच्चाभिमतकार्यविशेषानुगुणमध्यमावस्थाप्रापणमेवेत्यभिप्रायेणोक्तम् **अष्टधा परिणमय्येति** । 'भूमिरापः' [७।४] इत्यादिना प्रागुक्तमष्टविधत्वम् । एवमर्थसिद्धः समष्टिसृष्टिप्रकार उक्तः; भूतग्रामशब्दोऽत्र देवतादिजात्यवच्छिन्नव्यष्टिजीवस्तोमपरः, अचेतनपरत्वे 'प्रकृतेर्वशादवशम्' इत्यनेनानन्वयात् । तस्य चतुर्विधस्य सावान्तरभेदस्य सङ्ग्रहार्थः कृत्स्नशब्दः । एवंविधकार्यत्वे प्रकृतिपरवशत्वे च योग्यताप्रदर्शनार्थम् 'इमम्' इति निर्देश इत्यभिप्रायेणोक्त**मिमं चतुर्विध**मित्यादि । चातुर्विध्यमेव विवृणोति— **देवेति** । 'प्रकृतेर्वशात्' इत्यनेनाभिप्रेतः 'प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' [९।१२] इत्यत्र च कण्ठोक्तोऽवशत्वहेतुः **मोहिन्या** इत्युक्तः । तत्रापि हेतुर्गुणमयत्वं 'त्रिभिर्गुणमयैः' [७।१३] इत्यादिनोक्तम् । 'पुनः पुनः' इत्यनेन तदुत्पत्तिप्रलयोचितद्विपरार्धसहस्रयुगादिप्रतिनियतानाद्यनन्तप्रवाहकालावच्छेदकविशेषो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह— **काले काल** इति । **विसृजामि**— विविधं सृजामि, विचित्रनामरूपदेशकालभोगादियुक्तं करोमीत्यर्थः ॥ ८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— प्रकृत्यवष्टम्भस्तु यथा कश्चित्समर्थोऽपि पादेन गन्तुं लीलया दण्डमवष्टभ्य गच्छति । 'सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं त्वं ज्ञातुमर्हसि' [म. भा. १२।३३९।४६] इति 'सर्वभूतगुणैर्युक्तं दैवं मां ज्ञातुमर्हसि' इति च मोक्षधर्मे । 'विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् । प्रधानविनियोगस्थः परं ब्रह्माधिगच्छति' इति च । 'न कुत्रचिच्छक्तिरनन्तरूपा विहन्यते तस्य महेश्वरस्य ।

---

१ प्रकरोतीति प्रकृतिः जगतः साक्षाद्धेतुः । इदमत्र बोध्यम्– प्रकृतेरव्यक्तावस्थायां परमात्मनो ब्रह्मेति संज्ञा भवति, व्यक्तावस्थायां चेश्वर इति । स एव च प्रकृतिरिति च व्यपदिश्यते । यथा द्विजबालस्यानयनप्रसङ्गे 'ततस्तेजः प्रज्वलितमपश्यत तदाम्बरे । सर्वलोकं समाविश्य स्थितं पुरुषविग्रहम् ॥' (ह. वं. २।११३।२५) इत्युपवर्णितमैश्वरं रूपमुद्दिश्य भगवतैवोक्तम्— 'प्रकृतिः सा मम परा व्यक्ताव्यक्ता सनातनी । यां प्रविश्य भवन्तीह मुक्ता योगविदुत्तमाः ॥ (ह. वं. २।११४।१०) इति । इयं च शुद्धसत्त्वात्मिका 'तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्' (भाग. १।३।३) इत्युक्तेः । इदमेव च रूपमाश्रित्य जगत् सृज्यते । तदुक्तम्— 'एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम् । यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः ॥' (भाग. १।३।५) इति । तदेतदभिसन्धायोक्तं प्रकृतिं स्वामवष्टभ्येति । शुद्धसत्त्वात्मिकां स्वोपाधिभूतां मायाख्यां प्रकृतिमाश्रित्य, अविद्यास्मिताभिनिवेशरागद्वेषात्मिकायाः प्रकरोत्यनयेति प्रकृतेर्वशात्– भावप्रधानो निर्देशः— वशत्वात् भूतग्रामं विसृजामीत्यर्थः । विपूर्वस्य सृजेः प्रयोगेण च प्रलये प्रकृतौ लीन एव भूतग्रामः पुनः पुनरुत्सृज्यते, नतु नूतन उत्पद्यत इति ध्वन्यते । तथा च संसारस्यानादित्वात् देवमनुष्याद्युत्पत्तेश्च प्राक्कर्मसापेक्षत्वात् नाकृताभ्यागमप्रसङ्गः, न चेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापत्तिरिति । अत्र वैषम्यनैर्घृण्याधिकरणं (ब्र. सू. २।१।३४-३६) अनुसन्धेयम् । — **अविगीता ।**

तथापि मायामधिरुह्य देवः प्रवर्तते सृष्टिविलापनेषु' इति ऋग्वेदखिलेषु । 'मय्यनन्तगुणेऽनन्ते गुणतोऽनन्तविग्रहे' इति भागवते [ ६ । ४ । २८ ] "अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्मेति [बृहद्बृहत्या] बृंहति बृंहयति" इति चाथर्वणे [ अथर्वशिर उप. ४ ] "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" [ श्वे. उ. ६ । ८ ] इति च । "विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि"। [ ऋक्सं. १।२।२४।१ ] "न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमं तमाप" [ ऋक्सं. ५।६। २४।२ ] इत्यादेश्च । प्रकृतेर्वशादवशम् । "त्वमेवैतत्सर्जने सर्वकर्मण्यनन्तशक्तोऽपि स्वमाययैव । मायावशं चावशं लोकमेतत्तस्मात्स्रक्ष्यस्यत्सि पासीश विष्णो" इति गौतमखिलेषु ॥ ८ ॥

६ ज. प्र. दी.— तद्विकलस्य भगवतो न सामर्थ्यमिति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **प्रकृतीति** । तथा लीलयैव, न तु केवलस्य सामर्थ्याभावादिति शेषः । कुत एतत् ? भगवतः सर्वसामर्थ्यसम्पूर्णस्य प्रमितत्वादित्याह— **सर्वेति** । सर्ववस्तुसामर्थ्यैः । एवंभूतवत् पारतन्त्र्याद्युपेतं किन्तु दैवं देवोत्तमम् । पञ्चमहाभूतानि महदहङ्कारौ च सप्त सूक्ष्माणि । 'सर्वज्ञता तृप्तिः' इत्युक्तप्रकारेण षडङ्गम् । प्रधानस्य मूलप्रकृतेर्विनियोगः कार्येषु यो व्यापारस्तत्स्थस्तज्ज्ञानी । मायामधिरुह्य प्रकृतिमवष्टभ्य । कं कः प्रवोचं प्रावोचत् । प्रकृतेर्वशाद्विसृजामीत्याविद्यकमेवेश्वरस्य कर्तृत्वं ; वस्तुतस्तु निष्क्रियत्वमित्युच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायान्यथाऽन्वयमाह— **प्रकृतेरिति** । कुत एतदित्यतः पूर्वोक्तार्थसहितेत्यत्र प्रमाणमाह— **त्वमेवेति** । एतत्सर्जने एतस्य लोकस्य सृष्ट्याम् । अन्यस्मिन्नपि पालनादौ सर्वकर्मणि । तस्मान्मायावशत्वादेवावशम्, एतदेतं स्रक्ष्यसि सृजसि ॥ ८ ॥

**७ ह. पै. भा.— प्रकृतिमिति । प्रकृतिं स्वामवष्टभ्याऽऽश्रित्य विसृजामि पुनः पुनर्भूयो भूयः । अवशं परवशं प्रकृतेर्वशात्प्राधान्यात् ॥ ८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— नन्वसङ्गस्य तव कथं स्रष्टृत्वम् ? तत्राह— प्रकृतिमिति । स्वां स्वीयां स्वाधीनां प्रकृतिमनिर्वचनीयमायाशक्तिमवष्टभ्याधिष्ठाय तस्या एव प्रकृतेर्वशादवशं प्रकृतिपरतन्त्रम्, प्रकृतिनिलीनमित्यर्थः । कृत्स्नमिमं भूतग्रामं चेतनाचेतनसमुदायं पुनः पुनर्विसृजामि । मायोपाधिकं जगत्स्रष्टृत्वं, न वास्तवासङ्गत्वविरोधीति भावः ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— विसर्जनप्रकारमाह— प्रकृतिमिति । भगवतो मम सदंशभूतेयं प्रकृतिर्योगशक्तिः गुणैर्मोहयतीति मायेत्युच्यते । प्रकृष्टा कृतिर्यया साऽष्टधा परिणममाना स्वाधीना तामवष्टभ्य पुरुषरूपः सन् भार्यामिवोपादाय प्रेक्षयाऽभ्युपेत्य अथवा इमं प्रलीनं सर्वभूतग्रामं वियदादिकं कृत्स्नं भूतं चतुर्विधं च पुनः पुनस्तत्तत्प्रजापतिद्वारा च विसृजामि । प्रकृत्या विसर्जनात्तद्वशादवशम् । अनेन मयैव स्वेच्छया कृतोऽयं प्रकृतिद्वारात्मविभागः; नान्येन कृत इति सूच्यते । प्राचीनकर्मनिमित्ततत्तत्स्वभावोऽपि प्राकृत एवेति कारणमेव प्रकृतिरुक्ता ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— ननु त्वयि लीनानामानन्दनिमग्नानां पुनः सृष्टौ किं तात्पर्यं ? इत्याशङ्क्याह— **प्रकृतिमिति** । स्वां प्रकृतिं असाधारणीं रमणात्मिकामवष्टभ्याधिष्ठाय रमणभावमङ्गीकृत्य पुनःपुनः वारंवारं मम क्रीडायोग्यं मद्दर्शनयोग्यं च भूतग्रामं चतुर्विधं कृत्स्नं पूर्णं अवशं मदिच्छाधीनं प्रकृतेर्वशात् क्रीडात्मकस्वरूपवशात् सृजामि । अन्यथा सृष्टानां पूर्वोक्तदूषणं स्यात् स्वक्रीडार्थं सृष्टानामत्राप्यानन्दरूपतैवेति भावः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवाह— प्रकृतिमिति । एवमविद्यालक्षणां स्वां प्रकृतिमवष्टभ्य आश्रित्य तां विना केवलस्य स्रष्टृत्वासम्भवात् इमं भूतग्रामं पुनःपुनर्विविधं सृजामि । किम्भूतं ? प्रकृतेर्वशात् स्वभाववशात् अवशं रागद्वेषाद्यधीनम् ॥ ८ ॥

## न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! ।
## उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥ ९ ॥

**१ शां. भा.**— तर्हि तस्य ते परमेश्वरस्य भूतग्रामं इमं विषमं विदधतस्तन्निमित्ताभ्यां धर्माधर्माभ्यां सम्बन्धः स्यादितीदमाह भगवान्— **नचेति** । न च मामीशं तानि भूतग्रामस्य विषमविसर्गनिमित्तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ! । तत्र कर्मणामसम्बद्धत्वे कारणमाह— उदासीनवदासीनं यथोदासीन उपे-

क्षकः कश्चित्तद्वदासीनं, आत्मनोऽविक्रियत्वादसक्तं फलासङ्गरहितमभिमानवर्जितमहं करोमीति तेषु कर्मसु। अतोऽन्यस्यापि कर्तृत्वाभिमानाभावः फलासङ्गाभावश्चासम्बन्धकारणं, अन्यथा कर्मभिर्बध्यते मूढः कोशकारवदित्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यदि प्राकृतं भूतग्रामं स्वभावादविद्यादितन्त्रं विषमं विदधासि तर्हि तव विषमसृष्टिप्रयुक्तं धर्मादिमत्त्वमित्यनीश्वरत्वापत्तिरिति शङ्कते— **तर्हीति**। तत्रेति सप्तम्या परमेश्वरो निरुच्यते ईश्वरस्य फलासङ्गाभावात्कर्तृत्वाभिमानाभावाच्च कर्मासम्बन्धवदीश्वरादन्यस्यापि तदुभयाभावो धर्माद्यसम्बन्धे कारणमित्याह— **अतोऽन्यस्येति**। यदि कर्मसु कर्तृत्वाभिमानो वा कस्यचित्फलासङ्गो वा स्यात्तत्राऽऽह— **अन्यथेति** ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.**— एवं तर्हि विषमसृष्ट्यादीनि कर्माणि नैर्घृण्याद्यापादनेन भगवन्तं बध्नन्तीत्यत्राह— **नचेति**। न च तानि विषमसृष्ट्यादीनि कर्माणि मां निबध्नन्ति मयि नैर्घृण्यादिकं नापादयन्ति, यतः क्षेत्रज्ञानां पूर्वकृतान्येव कर्माणि देवादिविषमभावहेतवः; अहं तु तत्र वैषम्ये असक्तः तत्रोदासीनवदासीनः; यथाऽऽह सूत्रकारः— 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्' 'न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात्' [ब्र. सू. २।१।३४;३५] इति ॥ ९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'न च मां तानि कर्माणि' इत्येतन्न पुण्यपापरूपकर्मविषयम्, तस्याप्रस्तुतत्वेन 'तानि' इति परामर्शायोगात्; सृष्टिसंहारादेश्च प्रसक्तत्वात्तत्परामर्श एवोचितः; तस्य दोषरूपत्वमपि सृज्यदेवादिवैषम्यादिना द्योतितमिति तन्निरासार्थोऽयं श्लोक इत्यभिप्रायेणाह— **एवं तर्हीति**। **सृष्ट्यादीनी**त्यादिशब्देन स्थितिसंहारनिग्रहानुग्रहादिसङ्ग्रहः। **नैर्घृण्यादी**त्यादिशब्देन पक्षपातित्वाव्यवस्थितत्वादि सङ्गृह्यते। 'निबध्नन्ति' इति न संसाररूपो बन्ध उच्यते, जगत्सृष्ट्यादेः संसारहेतुत्वाश्रवणात्, परोक्तधर्माधर्मसम्बन्धशङ्काप्रसङ्गाभावात्, दौर्जन्ये सत्यपीश्वरस्य नियामकाभावात्; अतो नैर्घृण्यादिरूपदोषानुबन्ध एवात्र शङ्कितः प्रतिषिध्यत इत्याह **मयीति**। चः शङ्कानिवृत्त्यर्थः। सृष्टिवैषम्ये प्रयोजकमभिप्रेतमाह **यत** इति। 'स्वशक्त्या वस्तु वस्तुतां' [वि. पु. १।४।५२] 'कर्मभिर्भाविताः पूर्वैः' [वि. पु. १।५।२६] 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः। प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः' [वि. ध. १०४।२३।३६] 'वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्' [मनुः १२।९] 'अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते। यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता नृप! सर्वगा॥ संसारतापानखिलानवाप्नोत्यतिसन्ततान्। तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता॥ सर्वभूतेषु भूपाल! तारतम्येन [वर्तते] लक्ष्यते [वि. पु. ६।७।६१–६३] इत्यादिभिः सिद्धोऽयमर्थः। 'तेषु कर्मस्वसक्तम्' इत्युक्ते सति अकर्तृत्वादिभ्रमः स्यादिति तन्निरासायोक्तं **तत्र वैषम्य इति**। **असक्तः** प्रयोजकत्वरूपसम्बन्धरहित इत्यर्थः। असक्तत्वे दृष्टान्त उच्यते **उदासीनवदासीन** इति। यथा कस्मिंश्चित्कर्मणि उदासीनस्तत्र प्रयोजकत्वरूपसम्बन्धरहितः, तथा कर्ताऽप्यसौ तस्मिन्नंशे। यद्वा उदासीनवदासीन इत्यर्थः। तेन कर्मानुष्ठानदशायामीश्वरस्य वैषम्यादुदासीनत्वमेवोच्यते। विषमसृष्टेः कर्मसापेक्षत्वे जीवानां तत्कर्मप्रवाहाणां च अनादितया प्रलयकालेऽपि तत्सद्भावे सूत्रद्वयं दर्शयति— **वैषम्येति** ॥ ९ ॥

**५ आ. मा. भा.**— उदासीनवत्, नतूदासीनः। तदर्थमाह— **असक्तमिति**। "अवाक्यनादरः" [छां. उ. ३।१४।२] इति श्रुतिः। 'द्रव्यं कर्म च कालश्च स्वभावो जीव एव च। यदनुग्रहतः सन्ति न सन्ति यदुपेक्षया' इति भागवते [२।१०।१२] यस्यासक्त्यैव सर्वकर्मशक्तिः कुतस्तस्य सर्वकर्मबन्धः? इति भावः। "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" [बृ. उ. ४।४।२३] इति हि श्रुतिः। यः कर्माणि नियामयति कथं च तं कर्म बध्नाति? ॥ ९ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— स्वतः कर्तृत्वे कथमुदासीनत्वमुच्यते? इति चेत्, न; वतिना तस्य निषिद्धत्वादिति भावेनाह— **उदासीनव**दिति। अनुदासीनत्वेऽपि वतिर्व्यर्थः स्यात्, अन्यस्य तदर्थस्याभावादित्यत आह— **तदर्थमिति**। वत्यर्थं सादृश्यं स्वयमेव विवृणोतीत्यर्थः। परमेश्वरस्य कर्मसु सक्त्यभावे प्रमाणमाह— **अवाक्येति**। सर्वथोदासीन एव किं न स्यात्? इति चेत्, न; तथा सति प्रकृत्यादीनामसत्त्वप्रसङ्गादिति भावेनाह— **द्रव्यमिति**। यदीश्वरस्य स्वतः कर्तृत्वं ॰ र्यन्तदा 'उदासीनं' इत्येतत्, '**न** तु मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति' इत्यत्र कथं हेतुः स्यात्? इत्यत आह— **यस्येति**। असक्त्या अनादरेणानायासेनेति यावत्। भगवतोऽपि कर्मबन्धोऽस्तीति केषाञ्चित्प्रलापः, यथा 'विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे' [भ. नी. श. ९२] इत्यादि; तन्निरासाय श्रुत्युपपत्ती प्राह— **न कर्मणेति**। नियामयति नियच्छति ॥ ९ ॥

**७ इ. पै. भा.**— किञ्चान्यत्— **नचेति** । न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति नेति प्रकृतेन सम्बन्धः । हे धनञ्जय ! जगदुत्पत्तिस्थापनसंहारकर्माणि बन्धहेतवो न भवन्तीत्यर्थः । कुत इत्यत्राह— उदासीन उपेक्षकस्तद्वदासीनमपक्षपातेनाऽऽसीनमसक्तं फलसङ्गरहितं तेषु सृष्टिस्थितिसंहारेषु कर्मसु । अतोऽवगम्यते फलासङ्गरहितं कर्माणि न निबध्नन्तीति ॥ ९ ॥

**८ वें. ब. गि.**— एवं प्रपञ्चस्य मायामात्रत्वमुक्त्वा पारमार्थिकमसङ्गोदासीनाद्वितीयब्रह्मतत्त्वमुपदिशति-**नचेति**। मां पारमार्थिकाद्वैतस्वरूपं तानि मायामात्रप्रपञ्चसृष्ट्यादीनि कर्माणि न निबध्नन्ति पारमार्थिकाद्वैतस्वरूपप्रच्यावनेन सद्वितीयस्वरूपं न कुर्वन्ति । न हि स्वाप्निकप्रपञ्चस्य स्रष्टा स्वप्नदृक्तत्प्रपञ्चो भवति, न वा इन्द्रजालमयकरितुरगादिसम्पन्नः प्रभुर्भवतीति भावः । 'धनञ्जय !' इत्यनेन धर्मपुत्रराजसूये बहुशत्रुजयेन धनमाहृतवतस्तव मोहादिशत्रुविजयेनेदं अद्वैतज्ञानमाहर्तुमुचितमिति व्यज्यते । 'न निबध्नन्ति' इत्यत्र हेत्वन्तरमाह— **उदासीनवदिति** । स्वार्थे वतिप्रत्ययः । यद्वा यथा द्वयोर्विवदमानयोस्तदुपेक्षकः कश्चित्तदीयजयपराजयासंसर्गी तत्कृतहर्षविषादाभ्यामस्पृष्टो निर्विकार आस्ते, तद्वदासीनमित्यर्थः । अत एव निर्विकारत्वात्तेषु कर्मसु सृष्ट्यादिष्वसक्तम् 'अहं करोमि' इत्यभिमानरूपसङ्गरहितं मां न निबध्नन्ति । अतोऽन्यमपि कर्तृत्वाभिमानफलसङ्गरहितं कर्माणि न निबध्नन्तीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

**९ व० त० दी०**— नचैवं विषमकर्मकरणे मम नैर्घृण्यादिबन्धोऽसक्तत्वादित्याह— **न च मामिति** । असाधारणमहिमत्वद्योतकानि न मां बध्नन्ति नैर्घृण्यादिबन्धं नापादयन्ति, यतो जीवात्मनां प्राकृतानि कर्माणि तानि च देवादिभावहेतूनि । अहं तु तेषु कर्मसु प्रकृतौ च **उदासीनवदिति** 'माया परैत्यभिमुखे च विलज्जमाना' इत्यादिवाक्यात् । वैषम्यनैर्घृण्यं च सक्तस्य कर्मिणो भवति, न चासक्तस्य । यथाऽऽह सूत्रकारः— 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति' 'न कर्माविभागादिति चेत्, न; अनादित्वात्' [ ब्र.सू. २।१।३४,३५ ] इति ॥ ९ ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु रमणात्मकशक्तिवशसृष्टानि तानि त्वां वशीकृत्य प्रपञ्चरमण एवं कथं न स्थापयन्ति ? इत्याशङ्क्याह— **न च मामिति** । हे धनञ्जय लौकिकपरवशैकचित्त ! तानि भूतानि उदासीनवत् आसीनं तेषु, परमकृपया कृतार्थीकरणार्थं तेषु तिष्ठन्तं मां न निबध्नन्ति न वशीकुर्वन्ति । च पुनः कर्माणि क्रीडात्मकानि च मां न वशीकुर्वन्ति । कुतः ? तेषु कर्मसु क्रीडात्मकेष्वपि असक्तमनासक्तम्, आत्मारामत्वात् शक्तिषु रसदानार्थं क्रीडाकरणात् । एतदेवोक्तं 'वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः । रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया' [ भाग. ८।५।५ ] इति ॥ ९ ॥

**११ नी० भा० दी०**— ननु विषमां सृष्टिं कुर्वतस्तव वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामत आह— **न चेति** । तानि विषमसृष्टिरूपाणि कर्माणि मां न निबध्नन्ति, तत्र हेतुः— **उदासीनवदासीनमिति** । यथा पर्जन्यो बीजविशेषेषु रागं केषुचिद्द्वेषं चाकृत्वा उदासीनः सन् वर्षति, एवमीश्वरोऽपि पुण्यवत्सु रागं पापिषु द्वेषं चाकुर्वन् जगत्सृजति । तत्तदसाधारणकर्मबीजवशात्ते ते विभिन्नं फलं प्राप्नुवन्तीति नेश्वरवैषम्यादित्यर्थः ॥ ९ ॥

## मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।
## हेतुनाऽनेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्तते ॥ १० ॥

**१ शां. भा.**— तत्र 'भूतग्राममिमं विसृजामि' [ ९।८ ] 'उदासीनवदासीनं' [ ९।९ ] इति च विरुद्धमुच्यत इति तत्परिहारार्थमाह— **मयेति** । मया सर्वतो दृशिमात्रस्वरूपेणाविक्रियात्मनाऽध्यक्षेण मया मम माया त्रिगुणात्मिकाऽविद्यालक्षणा प्रकृतिः सूयत उत्पादयति सचराचरं जगत् । तथा च मन्त्रवर्णः— "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" [ श्वे. उ. ६।११ ] इति ।

**२ आ. शां. व्या.**— ईश्वरे स्रष्टृत्वमौदासीन्यं च विरुद्धमिति शङ्कते— **तत्रेति** । पूर्वग्रन्थः सप्तम्यर्थः, विरोधपरिहारार्थमुत्तरश्लोकमवतारयति— **तदिति** । तृतीयाद्वयं समानाधिकरणमित्यभ्युपेत्य व्याचष्टे- **मयेत्यादिना** । प्रकृतिशब्दार्थमाह— **ममेति** । तस्या अपि ज्ञानत्वं व्यावर्तयति— **त्रिगुणेति** । पराभिप्रेतं प्रधानं व्युदस्यति— **अविद्येति** । साक्षित्वे प्रमाणमाह— **तथा चेति** । मूर्तित्रयात्मना भेदं वारयति— **एक** इति । अखण्डं जाड्यं प्रत्याह— **देव** इति । आदित्य-

वत्ताटस्थ्यं प्रत्यादिशति– **सर्वभूतेष्वि**ति । किमिति तर्हि सर्वैर्नोपलभ्यते ? तत्राऽऽह— **गूढ** इति । बुद्ध्यादिवत्परिच्छिन्नत्वं व्यवच्छिनत्ति– **सर्वव्यापी**ति । तर्हि नभोवदनात्मत्वम् ? नेत्याह— **सर्वभूते**ति । तर्हि तत्र तत्र कर्म तत्फलसम्बन्धित्वं स्यात्तत्राऽऽह— **कर्मे**ति । सर्वाधिष्ठानत्वमाह— **सर्वे**ति । सर्वेषु भूतेषु सत्तास्फूर्तिप्रदत्वेन सन्निधिर्वासोऽत्रोच्यते । न केवलं कर्मणामेवायमध्यक्षः, अपि तु तद्वतामपीत्याह **साक्षी**ति । दर्शनकर्तृत्वशङ्कां शातयति **चेते**ति । अद्वितीयत्वं केवलत्वम् । धर्माधर्मादिराहित्यमाह– **निर्गुण** इति । किं बहुना ? सर्वविशेषशून्य इति चकारार्थः ।

**१ शां. भा.—** हेतुना निमित्तेनानेनाध्यक्षत्वेन कौन्तेय ! जगत्सचराचरं व्यक्ताव्यक्तात्मकं विपरिवर्तते सर्वावस्थासु । दृशिकर्मत्वापत्तिनिमित्ता हि जगतः सर्वा प्रवृत्तिः 'अहमिदं भोक्ष्ये, पश्यामीदं, शृणोमीदं, सुखमनुभवामि, दुःखमनुभवामि, तदर्थमिदं करिष्यामि, एतदर्थमिदं करिष्ये, इदं ज्ञास्यामि' इत्याद्याऽवगतिनिष्ठाऽवगत्यवसानैव ।

**२ आ. शां. व्या.—** उदासीनस्यापीश्वरस्य साक्षित्वमात्रं निमित्तीकृत्य जगदेतत्पौनःपुन्येन सर्गसंहारावनुभवतीत्याह— **हेतुने**ति । कार्यवत्कारणस्यापि साक्ष्यधीना प्रवृत्तिरिति वक्तुं 'व्यक्ताव्यक्तात्मकं' इत्युक्तम् । 'सर्वावस्थासु' इत्यनेन सृष्टिस्थितिसंहारावस्था गृह्यन्ते । तथापि जगतः सर्गादिभ्यो भिन्ना प्रवृत्तिः स्वाभाविकी, नेश्वरायत्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **दृशी**ति । न हि दृशिव्याप्यत्वं विना जडवर्गस्य काऽपि प्रवृत्तिरिति हिशब्दार्थः । तामेव प्रवृत्तिमुदाहरति— **अहमित्या**दिना । भोगस्य विषयोपलम्भाभावेऽसम्भवान्नानाविधं विषयोपलब्धिं दर्शयति— **पश्यामी**ति । भोगफलमिदानीं कथयति— **सुखमि**ति । विहितप्रतिषिद्धाचरणनिमित्तं सुखं दुःखं चेत्याह— **तदर्थमि**ति । न च विमर्शपूर्वकं विज्ञानं विनाऽनुष्ठानमित्याह— **इदमि**ति । इत्याद्या प्रवृत्तिरिति सम्बन्धः । सा च प्रवृत्तिः सर्वा दृक्कर्मत्वमुररीकृत्यैवेत्युक्तं निगमयति— **अवगती**ति । तत्रैव च प्रवृत्तेरवसानमित्याह— **अवगत्यवसाने**ति ।

**१ शां. भा.—** "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" [ऋक्सं. ८।७।१७।७ तै. ब्रा. २।८।९] इत्यादयश्च मन्त्रा एतमर्थं दर्शयन्ति । ततश्चैकस्य देवस्य सर्वाध्यक्षभूतचैतन्यमात्रस्य परमार्थतः सर्वभोगानभिसम्बन्धिनोऽन्यस्य चेतनान्तरस्याभावे भोक्तुरन्यस्याभावात् । 'किन्निमित्तेयं सृष्टिः ?' इत्यत्र प्रश्नप्रतिवचने अनुपपन्ने "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः" [ऋक्सं. ८।७।१७।८ तै. ब्रा. २।८।९] इत्यादिमन्त्रवर्णेभ्यः । दर्शितं च भगवता 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः'[५।१५] इति ॥१०॥

**२ आ. शां. व्या.—** परस्याध्यक्षत्वमात्रेण जगच्चेष्टेत्यत्र प्रमाणमाह— **यो अस्ये**ति । अस्य जगतो योऽध्यक्षो निर्विकारः स परमे प्रकृष्टे हार्दे व्योम्नि स्थितः, दुर्विज्ञेय इत्यर्थः। ईश्वरस्य साक्षित्वमात्रेण स्रष्टृत्वे स्थिते फलितमाह **ततश्चे**ति । किन्निमित्ता परस्येयं सृष्टिः ? न तावद्भोगार्था, परस्य परमार्थतो भोगासम्बन्धित्वात्, तस्य सर्वसाक्षिभूतचैतन्यमात्रत्वात्; न चान्यो भोक्ता, चेतनान्तराभावात्, ईश्वरस्यैकत्वात्, अचेतनस्याभोक्तृत्वात्; न च स्रष्टुरपवर्गार्था, तद्विरोधित्वात्; न चैवं प्रश्नो वा तदनुरूपं प्रतिवचनं वा युक्तं, परस्य मायानिबन्धने सर्गे तस्यानवकाशत्वादित्यर्थः । परस्याऽऽत्मनो दुर्विज्ञेयत्वे श्रुतिमुदाहरति— **को अद्धे**ति । तस्मिन्प्रवक्ताऽपि संसारमण्डले नास्तीत्याह— **क इहे**ति । जगतः सृष्टिकर्तृत्वेन परस्य ज्ञेयत्वमाशङ्क्य कूटस्थत्वात्ततो न सृष्टिर्जातेत्याह– **कुत** इति । न हीयं विविधा सृष्टिरन्यस्मादपि कस्माच्चिदुपपद्यतेऽन्यस्य वस्तुनोऽभावादित्याह– **कुत** इति । कथं तर्हि सृष्टिरित्याशङ्क्याज्ञानाधीनेत्याह— **दर्शितं चे**ति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.—** तस्मात् क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणं मदीया प्रकृतिः सत्यसङ्कल्पेन मयाऽध्यक्षेणेक्षिता सचराचरं जगत्सूयते; अनेन क्षेत्रज्ञकर्मानुगुणमदीक्षणेन हेतुना जगद्विपरिवर्तत इति मत्स्वाम्यं सत्यसङ्कल्पत्वं नैर्घृण्यादिदोषरहितत्वमित्येवमादिकं मम वसुदेवसूनोरैश्वरं योगं पश्य; यथाह श्रुतिः— "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' [श्वे. उ. ४।९, १०] इति ॥ १० ॥

**४ वे. ता. चं.—** यदि कर्मानुगुणा विषमसृष्टिः, तर्हि प्रकृतिरेव परिणामशीला तदनुगुणं परिणमतां, किं त्वया ? इत्यत्रोच्यते— **मयाऽध्यक्षेणे**ति । 'सर्वभूतानि' इत्युपक्रान्तस्वसङ्कल्पाधीनसृष्टिप्रलयोपसंहारताद्योतनायाह **तस्मा**दिति । 'मयाध्यक्षेण' इति पदद्वयाभिप्रेतं श्रौतमर्थमाह— **सत्यसङ्कल्पेन...ईक्षिता** इति । "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः" [श्वे. उ. ६।११] "योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" [ऋग्वे. ८।७।१७।७] "ध्यायतेऽध्यासिता तेन" [मन्त्रिको. ३।५]

इत्यादिकमत्र भाव्यम् । अधिकमश्नुत इति अध्यक्ष इति केचित् । जगच्छब्दस्तत्राप्यन्वेतव्यः । पूर्वार्धगतसचराचरशब्द उत्तरत्रापीत्यभिप्रायेण **सचराचरं जगदि**त्युक्तम् । 'सूयते' इत्यनेन 'सूयते पुरुषार्थं च' [मन्त्रिको. ३।५] इत्यादिश्रुतिः स्मारिता । पूर्वार्धे सृष्टिहेतुतयोक्तमेवोत्तरत्रापि संहारहेतुतया 'अनेन हेतुना' इति परामर्शार्हम्; न पुनः प्रधानतयोपस्थापितापि सृष्टिः, तस्याः प्रलयादिकं तस्य हेतुत्वादित्यभिप्रायेणाह **इत्यनेने**ति । तेनाध्यक्षशब्दस्यात्र अधिक्रियाया 'निर्विकारचैतन्यपरतां'* वदन्तः प्रत्युक्ताः । कर्मवशाज्जीवहेतुभूतं प्रपञ्चं प्रति कथं तव स्वाम्यं, कथं च कारुणिकस्यापि कर्मपरतन्त्रतया दुःखमुत्पादयितुः सत्यसङ्कल्पता? इत्यत्राह— **मत्स्वाम्य**मिति । 'पश्य मे योगम्' [९।५] इत्युपक्रान्तनिर्वहणरूपताप्रदर्शनाय **ममे**त्यादिकम् । 'अवजानन्ति माम्' [ ८ । ११ ] इत्यनन्तरश्लोकस्थास्मच्छब्दानुसन्धानवशात् 'मे' इत्येतन्निरतिशयसौलभ्यसंछादितेश्वरभावमवतारमभिप्रैतीति **वसुदेवसूनो**रित्युक्तम् । एतेन 'मनुष्यत्वे परत्वं च' [ गी. सं. १३ ] इति सङ्ग्रहश्लोकांशोऽनुसंहितः । युज्यत इति व्युत्पत्त्या स्वाम्यादेरत्र योगशब्दार्थतोक्ता । प्रकृतेरीश्वराधीनपरिणामत्वे जीवानां कर्मानुगुणप्रकृतिवशत्वे च श्रुतिमुदाहरति **यथाहे**ति ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.**— उदासीनवदिति चेत्त्वयमेव प्रकृतिः सूयत इत्यत आह— **मयेति** । प्रकृतिसूतिद्रष्टा कर्ता अहमेवेत्यर्थः । तथा च श्रुतिः "यतः प्रसूता जगतः प्रसूती तोयेन जीवान्व्यससर्ज भूम्याम्" [म. ना. उ. १।४] ॥ इति ॥ १० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— कथं तर्ह्यहं केवलं द्रष्टैव, प्रकृतिरेव चराचरं सूयत इत्युत्तरवाक्यमित्यतस्तन्निवर्त्याशङ्कां प्रदर्श्य व्याचष्टे— **उदासीनव**दिति । भगवतोदासीनसादृश्यं स्वयमेव व्याख्यातम्, तदज्ञात्वा क्रियाभाव एवोक्त इति मत्वा शङ्कितम् । पुरा 'प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि' [९।८] इत्युक्तम्; इदानीं तु 'उदासीनवत्'[२।९]इति निष्क्रियत्वमुच्यते । एवं तर्हि प्रकृतिरेव सूयते, त्वयि तु तत्सन्निधानात्कर्तृत्वोपचारमात्रमित्यापन्नमिति तन्निवृत्त्यर्थमिदं वाक्यम् । तत्र 'अध्यक्षेण' इत्यनेनं प्रकृतिसूतेर्द्रष्टाऽहमेवेत्युच्यते । तृतीयया च तत्प्रयोजककर्ता चाहमेव, न तु तस्याः स्वातन्त्र्यमिति दर्शनपूर्वकत्वात्प्रयोजकत्वस्य तदुक्तिः, अन्यथा तृतीया व्यर्था स्यादिति भावः । प्रकृतिप्रयोजकत्वं परमेश्वरस्य कुतः? इत्यत आह— **यत** इति । प्रसूता सृष्टावभिमुखीभूता प्रसूती प्रसूतिः तोयेन कर्मणा व्यससर्ज विससर्ज । बहुलग्रहणात् ॥१०॥

**७ ह. पै. भा.**— आत्मन उदासीनत्वं दर्शयितुमाह— **मयेति** । मयाऽध्यक्षेण साक्षिणा प्रकृतिः सूयते सचराचरं स्थावरजङ्गमभूतसहितम् । हेतुना निमित्तमात्रेणानेनेश्वरेण जगद्विपरिवर्तते-सन्त्यज्यते, सम्प्रवर्तते, संह्रियते वेत्यर्थः ॥ १० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— ननु 'भूतग्रामं विसृजामि' [ ९।८ ] 'उदासीनवदासीनम्' [ ९।९ ] इति च परस्परविरुद्धमित्याशङ्क्य परिहरति— **मयेति** । मया निर्विकारचिन्मात्ररूपेण अध्यक्षेण नियन्त्रा भासकेनावभासिता प्रकृतिःसचराचरं जगत्सूयते जनयति, ऐन्द्रजालिकाधिष्ठितेव माया गजतुरगादिकम् । न त्वहं प्रकृतिभासनमन्तरेण व्यापारान्तरं करोमि । अनेनाध्यक्षत्वरूपहेतुना जगद्विपरिवर्तते पुनः पुनर्जायते । अतो भासकत्वमात्रेण विसृजामीत्युक्तिः । तावता चादित्यादेरिव कर्तृत्वाभावादुदासीनमित्युक्तिरिति न विरोधः। तदुक्तम्— 'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते' इति श्रुतिस्मृतयोऽप्यत्र सहस्रमुदाहार्याः ॥ १० ॥

**९ ब. त. दी.**— परं प्रकृतिरपि न स्वतः कार्यकारणक्षमाऽचेतनत्वात्, मयाऽध्यक्षेणाधिष्ठात्रा निमित्तभूतेन पुरुषरूपेण तु सहिता सा चेद्गर्भीकृतेति यावत् । सचराचरं जगत्सूयते जनयति पत्नीवत् । तत्रापि पूर्वसर्गा-(कर्मा-)नुगुणमात्मनां चेतनानां जन्म नित्यपरिच्छिन्नानां तद्धर्मैः समागम इति व्यपदिश्यते तदनुगुण एव सहयोगः स्वान्तस्स्थान्प्रकृतौ जनयामीति प्रवृत्तेच्छया अनेनैव हेतुना जगद्विपरिवर्तते विनिमितं वर्तते । विनिमयो हि द्विविधो व्यवहारश्चिदचिद्रूपः, तदात्मकमित्यैश्वरं योगं पश्येति भावः । तथा च श्रुतिः— "सच्च त्यच्चाभवत्" [ तै. उ. २।६।१ ] "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः । मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् । तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्" [ श्वे. उ. ४।९;१० ] इति । एतेन स्थावरजङ्गमात्मकस्य सर्वस्य जगतो भगवदिच्छामायाजातत्वात्प्राकृतत्वं सत्यत्वं भगवत्कार्यत्वं चोक्तम् । अतएवोक्तं

---

* 'अविक्रियदृशिमात्रपरतां' 'दृशिमात्रपरतां' चेत्यपि पाठौ ।

निबन्धे 'प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्' इत्यादि । मायया द्वारभूतया स्त्रीस्थानापन्नयेत्यर्थः । एतेनाचेतनायाश्चेतनाधिष्ठिततया सर्वकार्यकरणक्षमत्वसूचनेन स्वमाहात्म्यमुक्तम् ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— ननूदासीनस्तेषु त्वं चेत्तदा प्रकृतिवशोत्पन्ना जीवाः कथं क्रीडायोग्या भवन्ति ? कथं वा त्वं कर्ता ? इत्याशङ्क्याह— **मयेति**। मया परिदृश्यमानेन अध्यक्षेण अधिष्ठात्रा सकलकर्त्रा क्रीडाधिष्ठिता सती प्रकृतिः सचराचरं जडजीवसहितं जगत् सूयते जनयति । अनेन क्रीडात्मकेन हेतुना कारणेन जगत् विशेषेण परिवर्त्तते जायते च। अतो योग्या भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— ननु 'विसृजामि... उदासीनवदासीनं' [श्लो. ८-९] इति परस्परविरुद्धमुच्यते ? इत्याशङ्क्याह— मयेति । मया कूटस्थेन अध्यक्षेण अयस्कान्तकल्पेन प्रवर्त्तकेन प्रकृतिश्चराचरं जगत् सूयते उत्पादयति । अनेन अध्यक्षत्वेनैव हेतुना हे कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्त्तते जन्माद्यवस्थासु भ्रमति । अयस्कान्तवदहमुदासीनश्च सृष्टिप्रवर्त्तकश्च भवामीति भावः । तथा च मन्त्रवर्णः "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" [श्वे. उ. ६।११] इति एकस्यैव देवस्य सर्वाध्यक्षत्वं साक्षित्वं च प्रतिपादयति ॥ १० ॥

अज्ञानां सुज्ञानां च सहेतुकं स्वभाववैचित्र्यम् ।

**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।**
**परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— एवं मां नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं सर्वज्ञं सर्वजन्तूनामात्मानमपि सन्तम्— **अवजानन्तीति**। अवजानन्त्यवज्ञां परिभवं कुर्वन्ति मां मूढा अविवेकिनो मानुषीं मनुष्यसम्बन्धिनीं तनुं देहमाश्रितं मनुष्यदेहेन व्यवहरन्तमित्येतत् । परं प्रकृष्टं भावं परमात्मतत्त्वमाकाशकल्पमाकाशादप्यन्तरतममजानन्तो मम, भूतमहेश्वरं सर्वभूतानां महान्तमीश्वरं स्वमात्मानम् । ततश्च तस्य ममावज्ञाभावनेनाऽऽहता वराकास्ते ॥ ११ ॥

२ आ. शां. व्या.— सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासो नित्यमुक्तश्चेत्त्वं तर्हि किमिति त्वामेवाऽऽत्मत्वेन भेदेन वा सर्वे न भजन्ते ? तत्राऽऽह **एवमिति** । विपर्यस्तबुद्धित्वं भगवदवज्ञायां कारणमित्याह— **मूढा** इति । भगवतो मनुष्यदेहसम्बन्धात्तस्मिन्विपर्यासः सम्भवतीत्याह— **मानुषीमिति** । अस्मदादिवद्देहतादात्म्याभिमानं भगवतो व्यावर्तयति— **मनुष्येति** । भगवन्तमवजानतामविवेकमूलाज्ञानं हेतुमाह— **परमिति** । ईश्वरावज्ञानात्किं भवति ? इत्यपेक्षायां तदवज्ञानप्रतिबद्धबुद्धयः शोच्या भवन्तीत्याह— **ततश्चेति** । भगवदज्ञानादेव हेतोरवजानन्तस्ते जन्तवो वराकाः शोच्याः सर्वपुरुषार्थबाह्याः स्युरिति सम्बन्धः । तत्र हेतुं सूचयति— **तस्येति** । प्रकृतस्य भगवतोऽवज्ञानमनादरणं निन्दनं वा तस्य भावनं पौनःपुन्यं तेनाऽऽहतास्तज्जनितदुरितप्रभावात्प्रतिबद्धबुद्धय इत्यर्थः ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— एवं मां भूतमहेश्वरं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं निखिलजगदेककारणं परमकारुणिकतया सर्वसमाश्रयणीयत्वाय मानुषीं तनुमाश्रितं स्वकृतैः पापकर्मभिर्मूढा अवजानन्ति प्राकृतमनुष्यसमं मन्यन्ते, भूतमहेश्वरस्य ममापारकारुण्यौदार्यसौशील्यवात्सल्यादिनिबन्धनं मनुष्यत्वसमाश्रयणलक्षणमिमं परं भावमजानन्तो मनुष्यत्वसमाश्रयणमात्रेण मामितरसजातीयं मत्वा तिरस्कुर्वन्तीत्यर्थः ॥ ११ ॥

४ वे. ता. चं.— महात्मनां विशेषं वक्तुं मूढानां स्वभाव उच्यते 'अवजानन्ति' इति श्लोकद्वयेन । प्रकृतसङ्गत्यर्थमेवंशब्दः । 'भूतमहेश्वरम्' इत्यस्य भावविशेषणत्वायोगाव्यवहितेनापि 'माम्' इत्यनेनान्वयः । भूतमहेश्वरादिशब्देनाभिप्रेतप्रदर्शनं **सर्वज्ञ**मित्यादि । **मानुषीं** मनुष्यसम्बन्धिनीम् ; मनुष्यसजातीयसन्निवेशवतीमित्यर्थः । यथा हिरण्मयमृण्मयघटयोर्द्रव्यवैजात्येऽपि संस्थानसाम्यं, तद्वदत्रापि । इदं च मत्स्यादितन्वाश्रयणस्याप्युपलक्षणम् । मौढ्यस्यापीश्वराधीनत्वेन तद्दोषव्युदासाय **स्वकृतैः पापकर्मभि**रित्युक्तम् । अवज्ञाकारणं दर्शयति **प्राकृतेति** । 'परं भावमजानन्तः' इत्यनेन भ्रमहेतोर्भेदाग्रहस्य कथनम् ; 'मानुषीं तनुमाश्रितम्' इति तु सादृश्यस्य; ताभ्यां प्राकृतमनुष्यसजातीयताभ्रमः; ततश्च यथाकथञ्चित्प्रतीयमानोत्कर्षापह्नवेन निकर्षापादनरूपावज्ञा; तदेतदखिलं विशदयति **भूतमहेश्वरस्येति** । **मनुष्यत्वसमाश्रयणलक्षण**मिति अजहत्स्वस्वभावस्य अनितरसाधारणमेवंविधमनुष्यत्वाश्रयणमपि वस्तुतः परत्वानुप्रविष्टमिति भावः ११

५ आ. मा. भा.— तर्हि केचित्कथं त्वामवजानन्ति का च तेषां गतिः ? इत्यत आह— अवजानन्तीत्यादिना । मानुषीं तनुं, मूढानां मानुषवत्प्रतीतां तनुं, न तु मनुष्यरूपाम् । उक्तं च मोक्षधर्मे 'यत्किञ्चिदिह लोकेऽस्मिन्देहबद्धं विशाम्पते ! । सर्वं पञ्चभिराविष्टं भूतैरीश्वरबुद्धिजैः ॥ ईश्वरो हि जगत्स्रष्टा प्रभुर्नारायणो विराट् । भूतान्तरात्मा वरदः सगुणो निर्गुणोऽपि च ॥ भूतप्रलयमव्यक्तं शुश्रूषु-(शृणुष्व)– नृपसत्तम !'[ म. भा. १२।३४७।११–१३ ] इति । अवतारप्रसङ्गे चैतदुक्तम् । अतो नावताराः पृथक् शङ्क्याः । 'रूपाण्यनेकान्यसृजत्प्रादुर्भावभवाय सः । वाराहं नारसिंहं च वामनं मानुषं तथा' [ म. भा. १२।३४९।३७ ] इति । तत्रैव प्रथमसर्गकाल एवावताररूपविभक्त्युक्तेः । अतो न तेषां मानुषत्वादिर्विना भ्रान्तिम् । भूतं महदीश्वरं चेति भूतमहेश्वरम् । तथा हि (सामवेदे) बाभ्रव्यशाखायाम्–"अनाद्यनन्तं परिपूर्णरूपमीशं वराणामपि देववीर्यम्" इति । "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितम्" [बृ.उ.२।४।१०]इति च । 'ब्रह्मपुरोहित ब्रह्मकायिक राजिक महाराजिक–' इति च मोक्षधर्मे [म.भा.१२।३३८ नाम ४०-४३]॥११॥

६ ज. प्र. दी.— उत्तरवाक्यस्य सङ्गत्यप्रतीतेस्तामाह— तर्हीति । यदि त्वमेव जगतः सृष्टिस्थितिसंहाराणां कर्ता, केचिदवज्ञानात् तेषां चानर्थाभावादुक्तमसदिति शङ्काभिप्रायः । 'मानुषीं तनुमाश्रितं' इत्येतदन्यथाप्रतीतिनिरासाय व्याचष्टे— मानुषीमिति । भ्रान्त्यनुवाद एवायमिति भावः । कुतो न ? इत्यत आह— उक्तं चेति । चो हेतौ । शरीराणि हि भौतिकानि भवन्ति । भूतानि चेश्वरस्य बुद्धिजानि, तत्कथं तानि बध्नीयुरित्यर्थः। अत्रैव 'ईश्वरो हि' इत्यादिनाऽन्ये हेतवोऽभिधीयन्ते । विराट् नित्याभिव्यक्तरूपः । वरदो मोक्षप्रदः।सगुणः स्वातन्त्र्यादिगुणवान् । भूतानि प्रलीयन्ते यस्मिंस्तदव्यक्तम्, तदभिमानिनी देवता तस्य शुश्रूषुः । लिङ्गव्यत्ययश्छान्दसः । अस्त्वेतन्मूलरूपविषयम्, अवतारस्य तु कृष्णस्य मानुषत्वं भवत्वित्यत आह— अवतारेति । 'यत्तद्दृदशिवान् ब्रह्मा रूपं हयशिरोधरम्' [ म. भा. १२। ]इति हयग्रीवावतारप्रसङ्गे । अस्तु हयग्रीवस्यैवम् । कृष्णस्तु मानुषशरीर एव किं न स्यात्? इति चेत्, न; युक्तिसाम्यात् विशेषप्रमाणाच्चेत्याह— रूपाणीति । असृजद्व्यभजत् । प्रादुर्भावभवायोत्तरत्र । स नारायणः । मानुषं कृष्णादिकम् । तत्रैव मोक्षधर्म एव, प्रथमसर्गकाल एव, मानुषादिजात्युत्पत्तेः प्रागेवेत्यर्थः । उपसंहरति— अत इति । तेषामवताराणाम् । उत्तरपदविरोधश्चान्यथेति भावेन तद्व्याचष्टे— भूतमिति । भूतं सर्वदा विद्यमानमिति कालानन्त्यमाचष्टे– महदिति देशानन्त्यम्, ईश्वरमिति गुणानन्त्यम् । भावं याथार्थ्यमिति व्याख्यानापेक्षया नपुंसकम् । अत्र श्रुतिं पठति— तथा हीति । ईशं वराणामितीश्वरम् । षष्ठ्याः परनिपातः । देवाः वीर्यं पुत्रा यस्यासौ तथोक्तः । 'महतो भूतस्य' इति देशकालानन्त्यमुच्यते । वराणां देवानामीशत्वे ब्रह्मेति मोक्षधर्मवाक्यं प्रमाणं पुरोहितादिदेवनिकायास्त्वदधीना इत्यर्थः । ब्रह्मेति द्विरुक्तिरादरार्था ॥ ११ ॥

७ ह. पै. भा.— अवजानन्ति मां मूढा अज्ञा मानुषीं मनुष्योचितां तनुं शरीरमाश्रितमधिष्ठितं परं प्रकृष्टं भावमनुभावमजानन्तोऽनवगच्छन्तो ममेश्वरस्य भूतमहेश्वरं भूतानि प्राणिनस्तेषां महान्तमीश्वरम् ॥ ११ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमसङ्गोदासीनस्वभावं अद्वितीयचिदानन्दैकघनं अखिलभूतान्तरात्मभूतं मत्स्वरूपं न कोऽपि द्रष्टुं शक्नोतीति तत्सुलभोपायत्वेन सर्वलोकसंश्रयणीयत्वाय दिव्यमङ्गलविग्रहेण वसुदेवगृहेऽवतीर्णमपि मां न लोका जानन्तीत्यहो दौर्भाग्यमित्याह— अवजानन्तीति । सर्वेषां ब्रह्मादिस्थावरान्तानां भूतानां महान्तमीश्वरं नियन्तारम्, सर्वान्तरात्मभूतमिति यावत् । परं निरतिशयं मम भावमात्मानम् 'भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा' [ ९।५ ] इत्याद्युपदिष्टमजानन्तः तत्सुलभोपायत्वेन सर्वसमाश्रयणीयत्वाय मानुषीं तनुमाश्रितं मां अतिमानुषैकैकचरितावगन्तव्यपरमेश्वरभावं मूढा अवजानन्ति, न जानन्ति नाद्रियन्ते निन्दन्ति चेत्यज्ञानानादरनिन्दात्रयमपि 'अवजानन्ति' इत्यनेन विवक्षितम् । 'मूढाः' इत्यनेन चाविवेकिवाचिना भगवन्तमजानन्तो ज्ञात्वाऽपि नाद्रियमाणा निन्दन्तश्चेति त्रिविधा अप्युत्तरोत्तरपापिष्ठा मूढाः संगृह्यन्ते ॥ ११ ॥

९ व० श० दी०— नन्वेवंविधमहिमानं त्वां किमिति केचिन्नाद्रियन्ते ? इत्यत्राह द्वाभ्यां– अवजानन्तीति । मां सर्वभूतनियन्तारं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं अचिन्त्यमहिमानं योगेश्वरेश्वरं निखिलजगदेककारणं परमकारुणिकतया सर्वेषामाश्रयणीयत्वाय मानुषीं तनुमाश्रितं मनुष्यत्वसमाश्रयणेन इतरसमजातीयं मत्वा मूढा आसुरादयो जनास्तिरस्कुर्वन्ति इत्यर्थः । तत्र हेतुः परं भावं अचिन्त्यमाहात्म्यस्वरूपमानन्दमात्रलक्षणं तत्त्वमजानन्त इति । अत्र तु तनुं स्वरूपात्मिकामानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपां मानुषाकारामाश्रितमित्येव व्याख्येयम्; अन्यथा

भेदः स्यात् । वस्तुतस्तत्र देहदेहिविभाग एव नास्ति, एक एव 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा । निर्दोषपूर्णविग्रह आत्मतन्त्रो निश्चेतनात्मकशरीरगुणैर्विहीनः' इति स्मर्यते । तथाविधाकार एव प्राकृताकाररहित इति श्रौतानुभवश्च "आवृत्तचक्षुः" [ कठो. ४।१ ] "आत्मानमैक्षत" "आनन्दं ब्रह्मणो रूपं" इत्यत्र सर्वं निरूपितं श्रीमद्विद्वन्मण्डनभाष्यकृद्भिस्तत एव सर्वमवसेयम् ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.— नन्विदं स्वरूपं सर्वाधिष्ठातृ सर्वे कथं न जानन्ति? इत्यत आह— अवजानन्तीति द्वयेन । मूढा असुराः केवलमिच्छयैव सृष्टाः, मम भूतमहेश्वरं सर्वाधिष्ठातृ सर्वाधिदैविकरूपं परं भावं पुरुषोत्तमात्मकं अजानन्तो मानुषीं तनुं मायिनं स्वाज्ञानेन मां ज्ञात्वा अवजानन्ति अवमन्यन्ते । अत्रायं भावः— पुरुषोत्तमोऽयं येन स्वरूपेण वदति तदेव स्वरूपं ब्रह्मरूपमानन्दमयम्, तमेव मानुषीं तनुमाश्रितं जानन्ति अज्ञत्वात् ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०— एवम्भूतं मां सन्तं मूढाः अवजानन्ति यतो मानुषीं तनुमाश्रितं मनुष्यदेहेन व्यवहरन्तम् । मम परं प्रकृष्टं भावं तत्त्वं अजानन्तः भूतानां महेश्वरं मामवजानन्तीति सम्बन्धः ॥ ११ ॥

## मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।
## राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥

१ शां. भा.— कथम् ? **मोघाशा** इति । मोघाशा मोघा वृथाऽऽशा आशिषो येषां ते मोघाशाः । तथा मोघकर्माणो यानि चाग्निहोत्रादीनि तैरनुष्ठीयमानानि कर्माणि, तानि च तेषां भगवत्परिभवात्स्वात्मभूतस्य चावज्ञानान्मोघान्येव निष्फलानि कर्माणि भवन्तीति मोघकर्माणः । तथा मोघज्ञाना निष्फलज्ञानाः, ज्ञानमपि तेषां निष्फलमेव स्यात् । विचेतसो विगतविवेकाश्च ते भवन्तीत्यभिप्रायः। किञ्च ते भवन्ति राक्षसीं रक्षसां प्रकृतिं स्वभावमासुरीमसुराणां च प्रकृतिं मोहिनीं मोहकरीं देहात्मवादिनीं श्रिता आश्रिताः 'छिन्धि भिन्धि पिब खाद परस्वमपहर' इत्येवंवदनशीलाः क्रूरकर्माणो भवन्तीत्यर्थः । "असुर्या नाम ते लोकाः" [ ईशो. ३ ] इति श्रुतेः ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवन्तमवजानतां प्रश्नपूर्वकं शोच्यत्वं विशदयति— **कथमिति** । भगवन्निन्दापराणां न काचिदपि प्रार्थनाऽर्थवतीत्याह— **वृथेति** । ननु भगवन्तं निन्दन्तोऽपि नित्यं नैमित्तिकं वा कर्मानुतिष्ठन्ति, तदनुष्ठानाच्च तेषां प्रार्थनाः सार्था भविष्यन्तीति नेत्याह— **तथेति** । परिभवस्तिरस्करणम् । अवज्ञानमनादरणम् । तेषामपि शास्त्रार्थज्ञानवतां तद्द्वारा प्रार्थनार्थवत्त्वमित्याशङ्कयाऽऽह— **तथा मोघेति** । तथापि यौक्तिकविवेकवशात्तत्प्रार्थनासाफल्यमित्याशङ्कयाऽऽह— **विचेतस** इति । न केवलमुक्तविशेषणवत्त्वमेव तेषां किन्तु वर्तमानदेहपातादनन्तरं तत्तदतिक्रूरयोनिप्राप्तिश्च निश्चितेत्याह— **किञ्चेति** । मोहकरीमिति प्रकृतिद्वयेऽपि तुल्यं विशेषणम् । 'छिन्धि भिन्धि पिब खाद' इति प्राणिहिंसारूपो रक्षसां स्वभावः; असुराणां स्वभावस्तु 'न देहि न जुहुधि परस्वमपहर' इत्यादिरूपः । मोहो मिथ्याज्ञानम् । उक्तमेव स्फुटयति— **छिन्धीति** । ॥ १२ ॥

३ रा. भा.— मम मनुष्यत्वे परमकारुण्यादिपरत्वतिरोधानकरीं राक्षसीमासुरीं च मोहिनीं प्रकृतिमाश्रिताः, मोघाशाः मोघवाञ्छिताः निष्फलवाञ्छिताः, मोघकर्माणः मोघारम्भाः, मोघज्ञानाः सर्वेषु मदीयेषु चराचरेष्वर्थेषु मयि च विपरीतज्ञानतया निष्फलज्ञानाः, विचेतसः—तथा सर्वत्र विगतयाथात्म्यज्ञानाः, मां सर्वेश्वरमितरसमं मत्वा मयि यत्कर्तुमिच्छन्ति, यदुद्दिश्यारम्भान् कुर्वते, तत्सर्वं मोघं भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

४ वे. ता. चं.— 'मोघाशाः' इति श्लोकेन प्रस्तुतस्य हेतुफले प्रतिपाद्येते । मोहिनीप्रकृत्याश्रयणं हि मोघाशत्वादौ हेतुरिति पूर्वमुत्तरार्धव्याख्या । राक्षसीं रक्षस्सम्बन्धिनीं तामसीं, आसुरीमसुरसम्बन्धिनीं राजसीं क्रोधलोभादिमयीमित्यर्थः; प्रकृतिं–स्वभावमित्यर्थः । 'यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः । भूतान् प्रेतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः' [ १७।४ ] 'मन्ये त्वां राक्षसं क्रूरमथवा तामसात्मकम् । यस्मात्क्षिपसि गोविन्द पाण्डवं च धनञ्जयम्' इत्यादिष्विवेति द्रष्टव्यम् । 'मोहिनीम्' इत्यनेन भगवत्परत्वतिरोधानादिकमभिप्रेतम् । 'मोघाशाः' इति समासांशद्वयार्थकथनं **मोघवाञ्छिता निष्फलवाञ्छिता** इति । फलपर्यन्तकर्मस्वरूपासिद्ध्यभिप्रायेण **मोघारम्भा** इत्युक्तम् । उपक्रम-

प्रभृति निष्फलप्रवृत्तय इत्यर्थः । ज्ञानस्य मोघत्वं हि स्वाधीनप्रवृत्त्यभिमतफलराहित्यम् । तच्चायथार्थत्वनिबन्धनम् । तस्य चात्र विषयविशेषनिर्देशाभावाद्यथासम्भवं सर्वविषयत्वमुचितमित्यभिप्रायेणाह **सर्वेष्विति** । वैपरीत्यं च अस्वतन्त्रे स्वतन्त्रत्वम् , अन्यदीये स्वकीयत्वम् , अजडे नित्ये जडत्वानित्यत्वादिकम् , अस्थिरे स्थिरत्वमित्यादिकं द्रष्टव्यम् । 'मोघज्ञानाः' इति ज्ञानविशेषस्य विहितत्वात्तत एव तत्कारणस्य च निषेद्धुमशक्यत्वात् 'विचेतसः' इति निषेधस्तदतिरिक्तज्ञानपर इत्यभिप्रायेणाह **सर्वत्र विगतयाथात्म्यज्ञाना** इति । ननु मोघाशत्वादिकमसिद्धं, स्वर्गफलाद्यभिलषितसिद्धेः, तदुपायभूतयागादिषु यथार्थज्ञानाच्चेत्यत्राह **मामिति** । अत्र यथार्थज्ञानाभावान्मोघज्ञानत्वम् , तत एव मोघाशत्वमोघारम्भत्वे इति क्रमः ॥१२॥

**५ आ. मा. भा.**— तेषां फलमाह— **मोघाशा** इति । वृथाशाः, भगवद्द्वेषिभिराशासितं न किञ्चिदाप्यते । यज्ञादिकर्माणि च वृथैव तेषां, ज्ञानं च । केनापि ब्रह्मरुद्रादिभक्त्याद्युपायेन न कश्चित् पुरुषार्थ आमुष्मिकस्तैराप्यत इत्यर्थः । वक्ष्यति च 'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्' [ १६ । १९ ] इत्यादि । मोक्षधर्मे च [म. भा. १२।३४६।६,७] 'कर्मणा मनसा वाचा यो द्विष्याद्विष्णुमव्ययम् । मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः ॥ यो द्विष्याद्विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम् । कथं स न भवेद्द्वेष्य आलोकान्तस्य (आत्मा लोकस्य) कस्यचित्' इति । ''सर्वोत्कृष्टे ज्ञानभक्ती हि यस्य नारायणे पुष्करविष्टराद्ये । सर्वावमे द्वेषयुतश्च तस्मिन्भ्रूणानन्तघ्नोऽस्य समो न चैव'' इति सामवेदे शाण्डिल्यशाखायाम् । 'द्वेषाच्चैद्यादयो नृपाः' [भाग.७।१।३०] 'वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः । ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमीयुरनुरक्तधियः पुनः किम्?' [ ११।५।४८ ] इति भागवते । भक्तप्रियत्वज्ञापनार्थं नित्यध्यानस्तुत्यर्थं च, स्वभक्तस्य कदाचिच्छापबलात् द्वेषिणोऽपि भक्तिफलमेव भगवान्ददातीति ।

**६ ज. प्र. दी.**— किञ्च तेषां फलमित्यस्य परिहारो न दृश्यते अत आह— **तेषामिति** । अनर्थत्वप्रदर्शनाय व्याचष्टे— **वृथेति** । सम्पदादिप्राप्तिदर्शनात्कथमित्यत आह— **भगवदिति** । युद्धादिकर्मणां साफल्यदर्शनात्कथं मोघकर्माणः ? इत्यत आह— **यज्ञादीति** । ज्ञानं तत्त्वविषयं तेषां नास्त्येव, अतः कथं तस्य मोघत्वमुच्यते ? इत्यत आह— **ज्ञानं चेति** । ज्ञानं च तेषां वृथैवेत्यस्य केनापीत्यर्थं इति सम्बन्धः । अनेन ज्ञानपदमुपलक्षणमिति चोक्तं भवति । न केवलं पुरुषार्थानवाप्तिः, अपितु दुःखावाप्तिश्चेति भावेन तत्र प्रमाणान्याह— **वक्ष्यति चेति** । आ सम्यक् लोकान्तस्य चण्डालादेः । पुष्करविष्टराद्ये पद्मासनस्य पितरि । भ्रूणानन्तघ्नोऽनन्तभ्रूणघ्नः । यद्येवं, कथं तर्हि भागवतादौ भगवद्द्वेषस्य मोक्षसाधनत्ववचनम् ? इत्यत आह— **द्वेषादिति** । तद्गतिं गता इति सम्बन्धः । वैरेण ध्यायन्तः यदीयगत्यादिभिराकृतधियः आकृष्टबुद्धयः । ये पूर्वं भक्ताः शिशुपालादयस्तद्विषये भवत्वेषा गतिः, न तु पौण्ड्रशाल्वादिविषये, अत आह— **नित्येति** । भक्तप्रियत्वज्ञापनार्थमित्युक्तं विवृणोति— **स्वभक्तस्येति** । इति भक्तप्रियत्वज्ञापनार्थमिति योजना ।

**५ आ. मा. भा.**— भक्ता एव हि ते पूर्वं शिशुपालादयः शापबलात् द्वेषिणः । तत्प्रश्नपूर्वं पार्षदत्वशापादिकथनाच्चैतज्ज्ञायते । अन्यथा किमिति तदप्रस्तुतमुच्यते ? । भगवतः साम्यकथनं तु द्वेषिणामपि द्वेषमनिरूप्य पूर्वतनभक्तिफलमेव ददातीति ज्ञापयितुम् । 'न मे भक्तः प्रणश्यति' [ ९।३१ ] इति वक्ष्यति । न च 'भावो हि भवकारणं' इत्यादिविरोधः । द्वेषभाविनां द्वेष एव भवतीति हि युक्तम् । अन्यथा गुरुद्वेषिणामपि गुरुत्वं भवतीत्यनिष्टमापद्येत । न चाकृतधीत्वे विशेषः, तेषामेव हिरण्यकशिप्वादीनां पापप्रतीतेः । 'हिरण्यकशिपुश्चापि भगवन्निन्दया तमः । विविक्षुरत्यगात्सूनोः प्रह्लादस्यानुभावतः' [ भाग. ४।२१।४७ ] इति । 'यदनिन्दत्पिता मह्यं ( मे त्वां )' इत्यारभ्य 'तस्मात्पिता मे पूयेत दुरन्ताद्दुस्तरादघात्' [ भाग. ७।१०।१५–१७ ] इति प्रह्लादेन भगवतो वरयाचनाच्च । बहुषु ग्रन्थेषु च निषेधः । कुत्रचिदेव तदुक्तिरिति विशेषः । यस्मिंस्तदुच्यते तत्रैव निषेध उक्तः ।

**६ ज. प्र. दी.**— स्यादेतत् , यदि तेषां स्वतो भक्तत्वं शापबलादेव द्वेषित्वमित्येतत्प्रमितं स्यात् ; तदेव कुतः ? इत्यत आह— **भक्ता एव हीति** । प्रसिद्धमेवैतत् भागवतादावित्यर्थः । कुतो वचनानामर्थान्तरकल्पनेति चेत्, 'यो द्विष्यात्' इत्याद्युदाहृतवाक्याविरोधात् । हेत्वन्तरं चाह— **तत्प्रश्नेति** । 'अहो अत्यद्भुतं ह्येतद्दुर्लभैकान्तिनामपि । वासुदेवे भगवति गति-

श्चैद्यस्य विद्विषः' [ भाग. ७।१।१५ ] इति युधिष्ठिरेण द्वेषिणः कथं मुक्तिर्जातेत्येवंरूपे तद्विषये प्रश्ने कृते सति नारदेन 'मातृष्वसेयो वश्चैद्यो दन्तवक्त्रश्च पाण्डव ! । पार्षदप्रवरौ विष्णोर्विप्रशापात्पदच्युतौ ' [ भाग. ७।१।३२ ] इति तदुत्तरत्वेन पूर्वपार्षदत्वादिकं कथ्यते । ततोऽपि द्वेषो न मोक्षसाधनमित्येतत्ज्ञायते । कथमित्यत आह— **अन्यथे**ति । यदि द्वेषो मोक्षसाधनं स्यात्तदा किमत्राद्भुतम् ? यतो द्वेषोऽप्येको मुक्तिमार्ग इत्युत्तरं वक्तव्यम् । पूर्वपार्षदत्वादिकं त्वप्रस्तुतमनुपयुक्तं न वक्तव्यं स्यादित्यर्थः । ननु नारदेन 'निन्दनस्तवसत्कारन्यक्कारार्थं [ भाग. ७।१।२२ ] इत्यादिना भगवतो निन्दादौ साम्यमपि तदुत्तरत्वेन कथ्यते, यदि स्तुतेरिव निन्दाया न मोक्षसाधनत्वं स्यात्तदा तदनुपयुक्तं न वक्तव्यमिति सत्प्रतिपक्षार्थापत्तिरित्यतोऽस्यान्यथोपपत्तिमाह— **भगवत** इति । साम्यं निर्विकारत्वम् । भक्तानामपराधं भगवान्न गणयतीत्येतत्कुतः ? इत्यत आह— **ने**ति । द्वेषस्य मुक्तिसाधनत्वाभावे 'भावो यथा कथञ्चिच्चिन्तनं, भवस्य मोक्षस्य कारणम्' इत्यादिवचनविरोधः स्यादित्यत आह— **न चे**ति । कुतो नेत्यत आह— **द्वेषे**ति । हि यस्मादेतद्वचनमिति युक्तं घटनोपेतं तस्मादित्यर्थः । यथोक्तम् 'यादृशी भावना ज्ञेया सिद्धिर्भवति तादृशी' [ ] इति । प्रतीत एवार्थः किं न स्यात् ? इत्यत आह— **अन्यथे**ति । भगवद्द्वेषिणो मुक्तिभाजः तदाकृतधीत्वात्, भगवद्भक्तवत् ; इत्यनुमानविरोध इत्यत आह— **नचे**ति । उभयोराकृतधीत्वे सति फलेऽप्यविशेष इति च नेत्यर्थः । कुतः ? इत्यतः कालातीतत्वादित्याह— **तेषामे**वेति । आकृतधीनामेव । विविक्षुर्वक्ष्यतीति सम्भावनाविषयः । आशङ्कायामचेतनेषूपसङ्ख्यानात् । मह्यं मम । ननु वचनत्वाविशेषात् 'यो द्विष्यात्' इत्यादिभिः ' द्वेषाच्चैद्यादयः' इत्यादीनां कथं बाधनं ? इत्यत आह— **बह्वि**ति । निषेधो द्वेषस्य मुक्तिसाधनतायाः । न केवलं बहुत्वाबहुत्वरूपोऽनयोर्विशेषः । किन्तु स्वव्याहतत्वास्वव्याहतत्वरूपोऽपीत्याह— **यस्मिन्नि**ति । भागवतादौ ग्रन्थे 'भगवन्निन्दया' इत्यादिर्निषेधः ।

**५ आ. मा. भा.— महातात्पर्यविरोधश्चोक्तः पुरस्तात् । अयुक्तिमद्भ्यो युक्तिमन्त्येव बलवन्ति वाक्यानि । युक्तयश्चोक्ता अन्येषाम् । न चैषां काचिद्गतिः । साम्येऽपि वाक्ययोर्लोकानुकूलाननुकूलयोर्लोकानुकूलमेव बलवत् । लोकानुकूलं भक्तप्रियत्वं च नेतरत् । उक्तं च तेषां पूर्वं भक्तत्वम् । 'मन्ये सुरान्भागवतांस्त्र्यधीशे संरम्भमार्गाभिनिविष्टचित्तान् ' [ भाग. ३।१।२४ ] इत्यादि । अतो न भगवद्द्वेषिणां काचिद्गतिरिति सिद्धम् । द्वेषकारणमाह— राक्षसीमिति ॥ १२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— भगवद्गुणोत्कर्ष एव सर्ववेदानां यन्महातात्पर्यं तद्विरोधो द्वेषान्मुक्तिवाचिनाम् , इतरेषां तु तदानुकूल्यमिति च विशेष इति भावेनाह— **महातात्पर्ये**ति । उक्तः उक्तप्रायः । इतोऽपि बाध्यबाधकभावो युक्त इति भावेन व्याप्तिं तावदाह— **अयुक्तिमद्भ्य** इति । सप्तम्यर्थे मतुप् । ततः किमित्यत आह— **युक्तयश्चे**ति । महातात्पर्यविरोधश्चेत्यपेक्षया । अन्येषामनुकूलाः । 'अव्ययं विबुधश्रेष्ठम्' 'पुष्करविष्टराद्ये' इति । सावकाशत्वनिरवकाशत्वविशेषाच्चैवमित्याह— **न चे**ति । इतरेषां तूक्तैवेति शेषः । इतश्च बाध्यबाधकभावो युक्त इत्यभिप्रेत्य व्याप्तिं तावदाह— **साम्येऽपी**ति । गुणान्तरेण साम्येऽपीति कैमुत्यार्थं लोकानुकूलशब्देन लोकदृष्टव्याप्तिकानुमानानुकूलत्वमुच्यते । ततः किमित्यत आह— **लोके**ति । इतरद्द्वेषिप्रियत्वं भगवत्प्रीत्यैव मोक्ष इति तु प्रसिद्धमेव । शिशुपालादीनां पूर्वभक्तत्वं प्रसिद्धमित्युक्तम् , तत्कथमिति चेत् , पार्षदत्वात् , वचनाच्चेत्याह— **उक्तं चे**ति । त्रयाणां लोकानामधीशे । संरम्भेण मार्गमात्रेणाभिनिविष्टचित्तान् । उपसंहरति— **अत** इति । गतिः सद्गतिः । स्वमौढ्यादेव मामवजानन्ति । न महोषात्तेषां च महाननर्थ इति सर्वं समाहितम् । राक्षसीमित्यादि तु किमर्थं ? इत्यत आह— **द्वेषे**ति । मौढ्यान्मिथ्याज्ञानं भवतु, प्रज्वलनात्मको द्वेषस्तु कुतः ? इत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थमिति शेषः । अन्येषामविद्यमानं मौढ्यमेव तेषां कुतः ? इत्याशङ्कानिरासार्थमिति वा । अत्र कारणमिति मूलकारणम् १२

**७ ह. पै. भा.— कथम्भूतास्तेऽजानन्त इत्यत्राऽऽह— मोघाशा इति । मोघा आशा येषां ते मोघाशाः, मोघप्रार्थना मृगतृष्णाजलपिपासुवत् । मोघानि कर्माणि येषां ते मोघकर्माणो मृगतृष्णोदकपानार्थगन्तृवत् । मोघं ज्ञानं येषां ते मोघज्ञाना मृगतृष्णाजलज्ञातृवत् । विचेतसो विगतविवेकाः । रक्षसामियं राक्षसी प्रकृतिस्तामसी । असुराणामियमासुरी प्रकृती राजसी । राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एतेषां क्रमेण फलान्याह— **मोघाशा** इति । विगतं चेतो विवेकलक्षणं येषां ते विचेतसः पूर्वोक्तास्त्रिविधा मूढाः । ते च क्रमान्मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना भवन्ति । तत्र भगवदज्ञानिनो मोघाशाः मोघा व्यर्था आशा निरतिशयपुरुषार्थेच्छा येषां ते मोघाशाः, मोक्षोपायज्ञानशून्यत्वान्नित्यसंसारमग्ना इत्यर्थः । 'मोघकर्माणः' इति ज्ञात्वाऽप्यनादरिणां फलोक्तिः । मोघानि कर्माणि स्वर्गाद्यर्थान्यग्निहोत्रादीनि येषां ते तथोक्ताः । अज्ञानिनां

हि ज्ञानाभावान्मोक्षाशैव व्यर्था भवति, न तु स्वर्गाशा। ततश्च तेषां वैदिकानि स्वर्गाद्यर्थान्यग्निहोत्रादीनि फलन्ति। ज्ञात्वाऽप्यनाद्रियमाणानां तु पापिष्ठानां न तान्यपि फलन्तीत्यर्थः। 'मोघज्ञानाः' इति निन्दतां फलोक्तिः। मोघानि ज्ञानानि ऐहिकामुष्मिकसकलेष्टसाधनतागोचराणि येषां ते तथोक्ताः। भगवदनादरिणां हि आमुष्मिकफलाभावेऽप्यैहिकं किञ्चित्फलमस्ति; भगवन्निन्दकानां महापापिष्ठानामैहिकमामुष्मिकं वा न किञ्चिदपि फलमस्तीत्यतः सर्वपुरुषार्थबाह्या एव ते वराका इत्यर्थः। न केवलमिष्टप्राप्त्यभावमात्रमेतेषाम्, किन्त्वनिष्टप्राप्तिरित्याह— राक्षसीमिति। अविहितहिंसाहेतुद्वेषप्रधाना तामसी राक्षसप्रकृतिः, आसुरी तु शास्त्रानभ्यनुज्ञातविषयभोगहेतुरागप्रधाना राजसी प्रकृतिः, मोहिनी तु शास्त्रीयज्ञानभ्रंशहेतुः प्रकृतिः। तत्र भगवदज्ञानिनां मोहिनी प्रकृतिः, तदनादरिणामासुरी प्रकृतिः, तन्निन्दकानां तु राक्षसी प्रकृतिरिति विवेकः। एवं प्रकृतीनामवान्तरतारतम्ये सत्यपि निरयप्रापकत्वांशे विशेषाभावात्तदाश्रितास्त्रयोऽप्येते नरकगामिन इत्यर्थः॥ १२॥

९ व० त० दी०——न केवलमजानन्त इत्येव वक्तव्यं सर्वस्य तथात्वात्। किञ्च ते मोघाशाः परमार्थतो मोघे स्वर्गादौ देवतायां च ईश्वरं विना कर्मैव फलदमिति मोघा वा आशा येषां ते, अतएव मोघकर्माणः मोघमेव च ज्ञानमासुरं मायावादादिशास्त्रोपदेशजन्यं येषां तत एव विक्षिप्तचेतसः। सर्वत्र हेतुः राक्षसीमासुरीं चेति। मम मनुष्यानुकरणे परमकारुण्यादिपरत्वभावनिरोधकरीं प्रकृतिं स्वभावरूपां शब्दादिविषयैकपरां राजसीमासुरीं मायेत्यसुरा इति श्रूयमाणां श्रिताः राक्षसीं तामसीं शिश्नोदरभरणैकस्वभावरूपां तथा मोहिनीं सात्विकराजसीं मानुषीं प्रकृतिं संश्रिता इत्यासुराद्यो मामवजानन्ति॥ १२॥

१० पु. अ. त.— तेषां मूढत्वं विशदयति— मोघाशा इति। मोघाशाः मोघं निष्फलं असमर्पितान्नं केवलं देहपोषार्थं अश्नन्ति भक्षयन्तीति तथा। मोघं निष्फलमेव भगवत्सेवातिरिक्तकर्मकर्त्तारः। मोघज्ञानाः मोघं निष्फलं मोहकशास्त्रोक्तभगवत्स्वरूपज्ञानातिरिक्तज्ञानयुक्ताः। विचेतसः अव्यवस्थितमनसः। राक्षसीं स्वदेहपोषणरूपाम्। च पुनः। आसुरीं परोपद्रवकरणरूपां मोहिनीं मद्विस्मारिकां प्रकृतिमेव मायामेव स्वभावमाश्रिताः। अतएव मां मानुषीं तनुमाश्रितं ज्ञात्वा अवमन्यन्त इति पूर्वेणान्वयः॥ १२॥

११ नी० भा० दी०— मदवज्ञानाच्च ते मोघाशाः वृथैव आशा आशिषो येषां ते मोघाशाः, तथा मोघकर्माणः निष्फलोद्योगाः। मोघज्ञानाः निष्फलज्ञानाः, यतो विचेतसः निर्विवेकाः, यतो राक्षसीं आसुरीं च रजस्तमःप्रधानां मोहिनीं मोहकरीं प्रकृतिं श्रिताः 'छिन्धि भिन्धि पिब खाद परस्वमपहर' इत्येवंशीलाः क्रूरकर्माणो भवन्तीत्यर्थः॥ १२॥

## महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
## भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥ १३॥

**१ शां. भा.**— ये पुनः श्रद्दधाना भगवद्भक्तिलक्षणे मोक्षमार्गे प्रवृत्ताः— महात्मानस्त्वक्षुद्रचित्ता मामीश्वरं पार्थ! दैवीं देवानां प्रकृतिं शमदमदयाश्रद्धादिलक्षणामाश्रिताः सन्तो भजन्ति सेवन्तेऽनन्यमनसोऽनन्यचित्ता ज्ञात्वा भूतादिं भूतानां वियदादीनां प्राणिनां चाऽऽदिं कारणमव्ययम्॥ १३॥

**२ आ. शां. व्या.**— के पुनर्भगवन्तं भजन्ते? तानाह— **ये पुनरिति**। महान्प्रकृष्टो यज्ञादिभिः शोधित आत्मा सत्त्वं येषामिति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह— **अक्षुद्रेति**। तुशब्दोऽवधारणे। प्रकृतिं विशिनष्टि— **शमेति**। अनन्यस्मिन्प्रत्यग्भूते मयि परस्मिन्नेव मनो येषामिति व्युत्पत्त्या व्याकरोति— **अनन्यचित्ता** इति। अज्ञाते सेवानुपपत्तेः शास्त्रोपपत्तिभ्यामादौ ज्ञात्वा ततः सेवेतेत्याह— **ज्ञात्वेति**। अव्ययमविनाशिनम्॥ १३॥

**३ रा. भा.**— ये तु स्वकृतैः पुण्यसञ्चयैः मां शरणमुपगम्य विध्वस्तसमस्तपापबन्धा दैवीं प्रकृतिमाश्रिता महात्मानस्ते, भूतादिमव्ययं वाङ्मनसागोचरनामकर्मस्वरूपं परमकारुणिकतया साधुपरित्राणाय

---

१ 'भजन्त्यनन्यमनसः' इत्यारभ्य 'ये भजन्ति तु' (९।२९) इत्येतत्पर्यन्तस्यान्तराले या गौणभक्तयः श्रुतास्ताः परभक्त्यङ्गानि भवन्ति, परभक्तिसन्दंशात् इति भक्तिमीमांसासिद्धान्तः। तथा च **शाण्डिल्यसूत्रम्**— 'अन्तराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च काण्डत्वात्' (२।२।३) इति। —अविगीता।

मनुष्यत्वेनावतीर्णं मां ज्ञात्वाऽनन्यमनसो मां भजन्ते; मत्प्रियत्वातिरेकेण मद्भजनेन विना मनसश्चात्मनश्च बाह्यकरणानां च धारणमलभमाना मद्भजनैकप्रयोजना भजन्ते ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— एवमवज्ञाप्रवृत्तमूढभूयिष्ठे लोके निष्फलस्तवावतार इति शङ्कायामवतारसाफल्यकारिणां महात्मनां वृत्तकथनव्याजेन भक्तिं प्रसञ्जयति— महात्मानस्त्विति। महात्मशब्देन तुशब्देन च सिद्धं भजनौपयिकमतिशयं दर्शयन् उद्देश्योपादेयांशं च विभजते ये त्विति। 'जनाः सुकृतिनः' [७।१६] 'मामेव ये प्रपद्यन्ते' [७।१४] इत्यादि प्रागुक्तं प्रतिसन्धापयति स्वकृतैः पुण्यसञ्चयैर्मां शरणमुपगम्येति। दैवीं सात्त्विकीम्। 'भूतादिं' इत्यनेनाशक्योपादानपरत्वं विवक्षितमित्याह वाङ्मनसेति। 'माम्' इत्यनेनावतारपर्यवसितं सौलभ्यं सहेतुकमाह परमकारुणिकतयेति। अवतारस्य दयादिमूलकत्वेन कर्ममूलत्वाभावाज्ज्ञानसङ्कोचाद्यभावोऽव्ययशब्देनोच्यते। अनन्यमनस्त्वं सहेतुकं विवृणोति मत्प्रियत्वेति। अतोऽप्यार्ताद्यधिकार्यन्तरव्यवच्छेदार्थत्वादनन्यप्रयोजनत्वविवक्षाऽत्रोचिता मत्प्रियत्वेति। पार्थशब्देनेन्द्रसूनुस्त्वमपि दैवप्रकृतिरिति सूचितम् ॥ १३ ॥

५ आ. मा. भा.— नेतरे द्विषन्तीति दर्शयितुं देवानाह— महात्मान इति ॥ १३ ॥

६ ज प्र. दी.— ननु कुतोऽयं विवेकः? इत्याकाङ्क्षायां राक्षसादिभ्य इतरे न द्विषन्तीत्येतावदेव वक्तव्यम्। भजन्तीत्यादि तु व्यर्थं इत्यत आह— नेतर इति। सत्यमेतत्; तथापि देवानां स्वरूपकथनार्थमेतत्। तच्च द्वेषाभावोपपादनार्थमिति भावः। देवा नित्युत्तमजीवोपलक्षणम् ॥ १३ ॥

७ ह्. पै. भा.— महात्मानोऽक्षुद्रान्तःकरणा मामीश्वरं पार्थ! देवानामियं दैवी सात्त्विकी तामाश्रिता भजन्ति सेवन्ते। अनन्यमनसः न विद्यत ईश्वरादन्यत्र मनो येषां तेऽनन्यमनसः, ज्ञात्वाऽवगत्य भूतादिं मां सकलभूतान्तःकरणमव्ययं विनाशरहितम् ॥ १३ ॥

८वें. ब्र. गि.— हन्तैवं तर्हि निमग्नमेव किं निखिलमपि जगत्? नेत्याह— महात्मान इति। महाननेकजन्मकृतसुकृतशतक्षालितमलतयाऽधिक आत्मा मनो येषां ते तथोक्ताः, अत एव दैवीं सात्त्विकीं प्रकृतिम् 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' [१६।१] इत्यादिवक्ष्यमाणामाश्रिताः भूतादिं जगत्कारणं अव्ययं त्रिविधपरिच्छेदशून्यं परं ब्रह्मैव लोकानुग्रहार्थं मनुष्यत्वेनावतीर्णं मां ज्ञात्वा अनन्यमनसो भजन्ति। अत्रापि 'महात्मानः' इति बहुवचनात्तेषु त्रैविध्यं सूचितम्। तत्र 'परं ब्रह्मैवायं वासुदेवः' इति ये ज्ञात्वा बहु मन्यन्ते ते महात्मानो दुर्लभाः 'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्' इत्यनेनोक्ताः। ये तु तथा ज्ञात्वा भगवति प्रेमलक्षणां भक्तिं कुर्वते, ते दुर्लभतराः 'भजन्ति' इत्यनेनोक्ताः। ये तु 'वासुदेवः सर्वं' इत्यद्वैतज्ञानसम्पन्नाः 'स महात्मा सुदुर्लभः' [७।१९] इति प्रागुक्ताः, ते दुर्लभतमाः 'अनन्यमनसः' इत्यनेनोक्ताः। न विद्यतेऽन्यद्यस्मात्तदनन्यमद्वैतम्, तन्मनसस्तद्बुद्धय इत्यर्थः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— महात्मान इति। महात्मानस्तु मां भजन्ते। एते भगवदीया देवाः प्रतीयन्ते 'सात्त्विका भगवद्भक्ता ये मुक्तावधिकारिणः। भवान्तसम्भवा दैवास्तेषामर्थे निरूप्यते' इति भगवन्मुखोक्त्याशयात्। तथाहि 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः' इति 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः [१६।१] इत्यादिना वक्ष्यमाणां दैवस्वभावरूपां समन्तात् श्रिताः दैवाः जन्मजन्मान्तरकृतानेकसुकृतसञ्चयैर्मां शरणमुपागम्य विध्वस्तपापा अन्तिमजन्मनि सम्भूता महात्मशब्देनोच्यन्तेऽतएव मुक्तावधिकारिणः येषां सत्त्वसंशुद्धिरिति सात्त्विका मां भजन्ति, न कदाचिदवजानन्ति सर्वभूतादिमव्ययं सर्वकारणभूतमविकृतमानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिं ज्ञात्वा भगवन्मार्गीयाचार्यचरणोपदेशानुसारेण भजन्ति पुरुषोत्तमं मामेव। नान्यस्मिन्नक्षरादौ मनो येषामित्यनन्यभावेन भजनमुक्तम् ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— एवमासुराणां स्वाज्ञानमुक्त्वा देवानां स्वज्ञानमाह— महात्मानस्त्विति। हे पार्थ! भक्तस्वरूपश्रवणैकयोग्य! महात्मानस्तु महान् अहमेव आत्मा येषां ते महात्मानः। तुशब्दः प्रकरणान्तरज्ञापनाय। तदेवाह— दैवीं क्रीडात्मिकां देवरूपां वा प्रकृतिं स्वभावं आश्रिताः। अनन्यमनसः न विद्यते अन्यत्र मद्व्यतिरिक्ते मनो येषां ते मां भूतादिं सकलजगत्कारणं अव्ययं नित्यं यथार्थरूपं ज्ञात्वा भजन्ति ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— तथा ये महात्मानः अक्षुद्रचित्तास्तु पूर्वेभ्योऽत्यन्तं विलक्षणाः मां भजन्ति, यतो दैवीं प्रकृतिं सत्त्वप्रधानां आश्रिताः अनन्यमनसः एकाग्रचेतसः। किं गतानुगतिकतया दम्भेन वा भजन्ति? न; किं तर्हि? मां भूतादिं सर्वभूतकारणं अव्ययं ज्ञात्वा मत्वा भजन्ति ॥ १३ ॥

महात्मनां प्रेम-भक्ति-भजन-प्रकाराः ।

**सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।**
**नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ १४ ॥**

**१ शां. भा.**— कथम् ? सततं सर्वदा भगवन्तं ब्रह्मस्वरूपं मां कीर्तयन्तो यतन्तश्चेन्द्रियोपसंहारशमदमदयाहिंसादिलक्षणैर्धर्मैः प्रयतन्तश्च, दृढव्रता दृढं स्थिरमचाश्चल्यं व्रतं येषां ते दृढव्रताः, नमस्यन्तश्च मां हृदयेशयमात्मानं भक्त्या नित्ययुक्ताः सन्त उपासते सेवन्ते ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— भजनप्रकारं पृच्छति— **कथमि**ति । तत्प्रकारमाह— **सतत**मिति । सर्वदेति श्रवणावस्था गृह्यते । कीर्तनं वेदान्तश्रवणं प्रणवजपश्च । व्रतं ब्रह्मचर्यादि । नमस्यन्तो मां प्रति चेतसा प्रह्वीभवन्तो भक्त्या परेण प्रेम्णा नित्ययुक्ताः सदासंयुक्ताः ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.**— अत्यर्थं मत्प्रियत्वेन मत्कीर्तनयतननमस्कारैर्विना क्षणाणुमात्रेऽप्यात्मधारणमलभमानाः मद्गुणविशेषवाचीनि मन्नामानि स्मृत्वा पुलकाञ्चितसर्वाङ्गा हर्षगद्गदकण्ठा नारायणकृष्णवासुदेवेत्येवमादीनि सततं कीर्तयन्तः तथैव यतन्तः मत्कर्मस्वर्चनादिकेषु वन्दनस्तवनकरणादिकेषु तदुपकारकेषु भवननन्दनवनकरणादिकेषु च दृढसङ्कल्पा यतमानाः, भक्तिभारावनमितमनोबुद्ध्यभिमानपदद्वयकरद्वयशिरोभिरष्टाङ्गैरचिन्तितपांसुकर्दमशर्करादिके धरातले दण्डवत्प्रणिपतन्तः, सततं मां नित्ययुक्ताः नित्ययोगं आकाङ्क्षमाणा आत्मवन्तो मद्दास्यव्यवसायिन उपासते ॥ १४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— भजन्तीत्युपासनं प्रसक्तम्; अथ तदेव कीर्तनयतननमस्कारेषु प्रेरयित्र्याऽत्यर्थप्रियत्वलक्षणावस्थया विशेष्यते— **सतत**मिति । कीर्तनादीनां त्रयाणां वाङ्मनःकायकर्मरूपतां तेषामेव प्रकरणान्तरेषु सिद्धं प्रकारं 'सततं' इत्यस्य च कीर्तनयतननमस्कारनित्ययुक्तत्वोपासनेष्वविशेषेणान्वयमाह **अत्यर्थे**ति । अत्यर्थमत्प्रियत्वं भक्त्येत्यस्यार्थः । क्षणे महापृथिव्यादिवत्कल्पितेऽप्यस्य चरमावयवतया कल्पितोंऽशः **क्षणाणुमात्रेऽपी**त्युक्तः । नाम्नां स्वादुत्वातिशयसिद्ध्यर्थं **मद्गुणविशेषवाचीनी**त्युक्तम् । नामकीर्तनं चेष्टितादिकीर्तनस्योपलक्षणम् । गुणानुसन्धानाभावेऽपि स्वरूपतः प्रीतिजननाय पुनः **मन्नामानी**ति व्यपदेशः । **पुलकाञ्चितसर्वाङ्गा** इत्यादिकं तत्तत्प्रदेशोक्तशब्दोपादानम्; यथा 'तन्नामस्मरणोद्भूतपुलकश्चेदिपुङ्गवः' इति । **हर्षगद्गदकण्ठा** इत्यनेन 'स्वरनेत्राङ्गविक्रिया' इत्यादिभक्तिलक्षणग्रन्थस्मारणम् । 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः' [ म. भा. ५।७०।५] इति कृष्णशब्दोऽपि पुरुषार्थहेतुत्वप्रतिपादनमुखेन परव्यूहादिसमस्तावस्थासाधारण इति ज्ञापनाय व्यापकयोर्मध्ये पठितः । अवतारान्तरेष्वपि कृष्णशब्दः प्रयुज्यते । 'उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना' [म.ना.४।५] इति । यद्वा **नारायणे**ति परत्वानुसन्धानम्, **कृष्णवासुदेवे**ति तु अवतारविशेषपरतया सौलभ्यानुसन्धानम् । 'यज्ञेशाच्युत गोविन्द माधवानन्त केशव । कृष्ण विष्णो हृषीकेशेत्याह राजा स केवलम्' 'नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः' 'कमलनयन वासुदेव विष्णो धरणिधराच्युत शङ्खचक्रपाणे' [ वि. पु. ३।७।३३ ] 'एतावतालमघनिर्हरणाय पुंसां' [ भाग. ६।३।२४ ] 'सङ्कीर्त्य नारायणशब्दमात्रम्' [ पां. गी. १९ ] इत्यादिषु सर्वत्र सङ्कीर्तनप्रभावः प्रसिद्धः । रहसि जन्मसन्निधौ च व्रीडादिराहित्यमपि सततशब्देन व्यञ्जितम् । **तथैव** सततं भक्त्येत्यर्थः । **मत्कर्म**स्वित्यादिकं कर्मभक्तियोगसाधारणयतनविषयप्रदर्शनम् । तत्कर्मयतने दृढसङ्कल्पत्वं महत्यामापदि, सम्पदि चान्याश्रयणपरिहारार्थम् । **भक्तिभारे**त्यादिकं प्रणामस्य रागप्राप्तत्वकथनम् । 'मनोबुद्ध्यभिमानेन सह न्यस्य धरातले । कूर्मवच्चतुरः पादाञ्छिरस्तत्रैव पञ्चमम्' [ सा. सं. ६।१८७ ]इत्युक्तोऽष्टाङ्गप्रणामः । 'नित्ययुक्ताः' इति आशंसायां क्त इत्याह **नित्ययोगमाकाङ्क्षमाणा** इति । काङ्क्षमाणशब्दश्चानश्प्रत्ययान्तः, 'ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्' [ अष्टा. ३।२।१२९ ] इत्यनुशासनात् । 'दासभूताः' [ पं. रा.] इत्याद्युक्तस्वरूपानुरूपेण नित्ययोगं विशिनष्टि— **आत्मवन्तो मद्दास्यव्यवसायिन** इति ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.**— सततं सर्वकालं कीर्तयन्तो भाषमाणा यतन्तो यतमानाः, दृढव्रताः दृढं व्रतं येषां ते दृढव्रताः, नमस्यन्तो नमस्कारं कुर्वन्तो मामीश्वरं भक्त्या प्रीत्या नित्ययुक्ता उपासते सेवन्त इत्यर्थः १४

८ वें. ब्र. गि.— तत्र 'भजन्ति' [ ९।१३ ] इत्यनेनोक्तं भजनप्रकारमाह–सततमिति । भक्त्या प्रेमलक्षणया सततं मामुपासत इति प्रथममन्वयः। त्रिविधमुपासनं मानसिकं वाचिकं कायिकं चेति । तत्र मानसिकं दर्शयति–नित्ययुक्ता इति । तैलधारावदविच्छेदस्वरूपेण चित्तस्य ध्येयैकाकारतापत्तिर्नित्ययोगः; तद्वन्तो नित्ययुक्ताः । एवं ध्येय एव परिनिष्ठितस्य चित्तस्य विक्षेपेण बहिर्व्युत्थाने सति कायिकमुपासनमाह— नमस्यन्त इति । नमस्काररूपकायिकोपासनपरिश्रान्तानां वाचिकोपासनमाह— कीर्तयन्त इति । भक्त्येत्येतन्नमस्कारकीर्तनयोरपि द्रष्टव्यम् । भगवन्नामसङ्कीर्तनरूपवाचिकोपासनानन्तरं यतन्तः विक्षिप्तस्य चित्तस्य पुनर्भगवन्मूर्त्येकाकारतापादने यतमानाः । अत्र हेतुः— दृढव्रताः दृढमविचाल्यं व्रतं भगवद्भजनैकान्त्यरूपं येषां ते तथोक्ताः सन्तस्त्रिकरण्योपासते ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— सततमित्यादि । अयमर्थः— सच्चिदानन्दा द्विविधाः स्वरूपात्मका धर्मात्मकाश्च । एवं द्विविधा अपि आधिदैविकाध्यात्मिकाधिभौतिकभेदेन त्रिविधाः । तत्र स्वरूपात्मकाधिदैविकसच्चिदानन्दरूपो भगवान्पुरुषोत्तमः, आध्यात्मिकं तद्रूपमक्षरं द्वितीयः पुरुषः, आधिभौतिकं तद्रूपं क्षरं प्रथमपुरुषः । धर्मात्मकाधिदैविकसच्चिदानन्दरूपो वैकुण्ठादिपरिकरः । तादृशाधिभौतिकसदंशात्मकान्यष्टाविंशतितत्त्वानि । तादृशाधिभौतिकचिदंशभूतं तत्त्वनिष्ठं ज्ञानम् । तादृशाधिभौतिकचिदंशभूतं तत्त्वनिष्ठं सुखम् । एवमेव यथातथान्तरतिरोभावो ज्ञेयः । एवं सति स्वरूपात्मकस्याधिदैविकाध्यात्मिकानन्दस्येषत्तिरोभावो दुःखाभावः स एव मोक्ष इति लोकैरुच्यते । वैदिकसाधनस्य यज्ञादेस्तदेव फलं स्वरूपात्मकस्यैकानन्दस्यैव सर्वथोद्भवः सुखमित्यर्थः । एवं लोकेऽपि धर्मात्मकतत्त्वाधिष्ठानकाधिभौतिकानन्दस्येषत्तिरोभावो लौकिकदुःखाभावः सर्वथोद्गमो लौकिकसुखमित्यादि बोध्यम् । तेषां भजनप्रकारमाह द्वाभ्यां बाह्याभ्यन्तरभेदतः । निरन्तरं कीर्तयन्त इति वाचिकं कीर्त्तनमुक्तम् । यतन्त इति श्रवणेऽर्चने च यत्नं कुर्वन्त इति श्रवणार्चनभक्तिर्निरूपिता । श्रवणं ज्ञानपूर्वं वा निरूपितम् । दृढानि एकादशीजन्माष्टमीरामनवमीवामनद्वादशीनृसिंहजयन्तीसंज्ञकानि व्रतानि येषां ते दृढव्रताः, इति स्मरणमुक्तम् । नमस्यन्त इति वन्दनम् । भक्त्या चरणसेवया मां पुरुषोत्तमं सर्वत्र उपासते दास्यभावेन भजन्ते । नित्ययुक्ता इति योगसिद्धरीत्या कर्मकरणप्रकारः स्मारितः ॥ १४ ॥

१० पु. अ त.— ते च द्विविधाः, भक्ता ज्ञानिनश्च, तत्र प्रथमं भक्तानां भजनप्रकारमाह— सततमिति । सततं निरन्तरं मां कीर्तयन्तः लीलास्वरूपज्ञानेन श्रीभागवतोक्तप्रकारेण गुणगानं कुर्वन्तः,सर्वत्र मदुत्कर्षं कथयन्तः । यतन्तश्च कीर्तने यत्नादिकं कुर्वाणाः, इन्द्रियनिग्रहं वा कुर्वन्तः । चकारेण श्रवणादिकं ज्ञाप्यते । पुनः कीदृशाः ? दृढव्रताः दृढं ऐहिकपारलौकिकयोर्मदेकनिष्ठं मोहशास्त्राद्यपरिभूतं व्रतं निश्चयो येषां तादृशाः । किञ्च नमस्यन्तश्च 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्यादिना परमकाष्ठापन्नवस्तुरूपनमस्कारं कुर्वन्तः स्वदैन्याविर्भावपूर्वकं, चकारेण नृत्यादिकमपि कुर्वन्तः । पुनः कीदृशाः ? । नित्ययुक्ताः सावधानाः मदेकपरचित्ताः। भक्त्या स्नेहेन, न तु विहितत्वेन, मामुपासते सेवन्त इत्यर्थः ॥ १४ ॥

११ नीं० भा० दी०— भजनस्वरूपमाह— सततमिति । यतन्तः इन्द्रियोपसंहारशमदमादिषु प्रयतमानाः दृढान्यहिंसादीनि व्रतानि येषां ते दृढव्रताः । नमस्यन्तश्च मां हृदयेशयं प्रतिमादिरूपं वा । भक्त्या नित्ययुक्ताः नित्यमवहिताः सन्त उपासते ॥ १४ ॥

## ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।
## एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

**१ शां. भा.**— ते केन केन प्रकारेणोपासते ? इत्युच्यते— ज्ञानयज्ञेनेति । ज्ञानयज्ञेन ज्ञानमेव भगवद्विषयं यज्ञस्तेन ज्ञानयज्ञेन यजन्तः पूजयन्तो मामीश्वरं चाप्यन्येऽन्यामुपासनां परित्यज्योपासते । तच्च ज्ञानमेकत्वेन 'एकमेव परं ब्रह्म' इति परमार्थदर्शनेन यजन्त उपासते । केचिच्च पृथक्त्वेन 'आदित्यचन्द्रादिभेदेन स एव भगवान्विष्णुः आदित्यादिरूपेण अवस्थितः' इत्युपासते । केचित् "बहुधाऽवस्थित एव भगवान्सर्वतोमुखो विश्वतोमुखो विश्वरूपः" इति तं विश्वतोमुखं सर्वतोमुखं बहुधा बहुप्रकारेणोपासते ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उपासनप्रकारभेदप्रतिपित्सया पृच्छति— **ते केनेति** । तत्प्रकारभेदोदीरणार्थं श्लोकमवतारयति– **उच्यत** इति । इज्यते पूज्यते परमेश्वरोऽनेनेति प्रकृते ज्ञाने यज्ञशब्दः । ईश्वरं चेति चकारोऽवधारणे । देवतान्तरध्यानत्यागमपिशब्दसूचितं दर्शयति— **अन्यामिति** । अन्ये ब्रह्मनिष्ठा इति यावत् । ज्ञानयज्ञमेव विभजते— **तच्चेति** । उत्तमाधिकारिणामुपासनमुक्त्वा मध्यमानामधिकारिणामुपासनप्रकारमाह— **केचिच्चेति** । तेषामेव प्रकारान्तरेणोपासनमुदीरयति– **केचिदि**ति । बहुप्रकारेणाग्न्यादित्यादिरूपेणेति यावत् ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.**— अन्येऽपि महात्मानः पूर्वोक्तैः कीर्तनादिभिः ज्ञानाख्येन यज्ञेन च यजन्तो मामुपासते । कथं ? बहुधा पृथक्त्वेन जगदाकारेण विश्वतोमुखं विश्वप्रकारमवस्थितं मामेकत्वेनोपासते । एतदुक्तं भवति— भगवान् वासुदेव एव नामरूपविभागानर्हातिसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरः सन् सत्यसङ्कल्पो विविधविभक्तनामरूपस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरः स्यामिति सङ्कल्प्य स एक एव देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावराख्यविचित्रजगच्छरीरोऽवतिष्ठत इत्यनुसन्दधानाश्च मामुपासते— इति ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'भजन्त्यनन्यमनसः' इत्यनन्यमनस्त्वेन प्रथममुपासनं विशेषितम् ; ततश्च कीर्तनादिभिरन्तरङ्गैः । अथ वेद्याकारविशेषप्रदर्शनेनापि तदेव विशेष्यते 'ज्ञानयज्ञेन' इत्यादिना 'सदसच्चाहमर्जुन !' [ ९।१९ ] इत्यन्तेन । चकारः पूर्वोक्तकीर्तनादिसमुच्चयार्थः । अपिस्तु 'अन्ये' इत्यनेनान्वितः। अन्यथा नैरर्थक्यादित्यभिप्रायेणाह **अन्येऽपीति** । अन्यशब्दोऽत्र पूर्णोपासकपरः । यज्ञेन यजन्तः यज्ञेन प्रीणयन्त इत्यर्थः । 'बहुधा' 'पृथक्त्वेन' इत्यनेन समष्टिव्यष्टितदवान्तररूपसमस्तसङ्ग्रह इत्याह **जगदाकारेणेति** । विश्वतोमुखशब्दस्यात्र समभिव्याहारानुगुणं विवक्षितमाह **विश्वप्रकारमिति** । नन्वेकत्वेन पृथक्त्वेन चोपासत इत्यन्वयः किं नोच्यते ? कथं चैकस्यैव सतो बहुत्वेनावस्थानम् ? तथाच सविकारत्वसंसारित्वादिदोषाश्च स्युः ; बहुधावस्थितस्यैकत्वेनोपासितुर्दृष्टिविधिवद्भ्रान्तिश्च स्यादित्यत्राह **एतदुक्तमिति** । एतेन परोक्तप्रक्रिययोपासनविधात्रयपरत्वं भेदाभेदादिवर्णनं च प्रत्युक्तम् । **भगवानि**त्यनेन सृष्ट्याद्यौपयिकगुणप्रपञ्चप्रदर्शनम् । वासुदेवशब्दे प्रथमांशेन सर्वसामानाधिकरण्यव्यपदेशनिदानसर्वशरीरकत्वपर्यवसितव्याप्तिविशेषः, द्वितीयांशेन सृष्टिप्रयोजनं क्रीडादिरेवेत्युच्यते । द्वाभ्यां च पदाभ्यां अनन्योपासकैकान्तिजनशीलितमन्त्रविशेषोऽपि स्मारितः । पृथिव्यादिबहुत्वमात्रस्य प्रत्यक्षादिसिद्धत्वादेकस्यैव सतो बहुत्वं हि शास्त्रवेद्यम् ; ततश्च तथाभूतैकत्व एवात्र वाक्यतात्पर्यम् ; तच्चैकस्य सर्वशरीरकत्वेन निर्व्यूढमिति न कश्चिद्दोषः ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— 'सर्वत्र एक एव नारायणः स्थितः' इत्येकत्वेन, पृथक्त्वेन सर्वतो वैलक्षण्येन । बहुधा हि तस्य रूपं 'आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो नीलमथोऽर्जुनं' इति सनत्सुजाते [ म. भा. ५।४४।२६ ] 'दैवमेवापरे' [ ४।२५ ] इत्युक्तप्रकारेण बहवो वा बहुधा ॥ १५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— एकत्वेनाद्वैतभावनयेति व्याख्यानमसत्, मिथ्याभावनात्वादिति भावेनाह **सर्वत्रेति** । सर्वत्र स्थितो नारायण एक एवेति योजना । पृथक्त्वेनादित्यचन्द्रादिरूपेणेत्यसदिति ( शं. ) भावेनाह— **पृथक्त्वेनेति** । अपरस्तु पृथक्त्वेनेत्येतत्सम्यग्व्याख्याय बहुधेत्येतदादित्यादिरूपेणेति व्याख्यातवानत आह— **बहुधेति** । कथमित्यत आगमेनैव दर्शयति— **शुक्लमिवेति** । इवशब्दोऽप्यर्थः । प्रकारान्तरेण व्याख्याति— **दैवमेवेति** ॥ १५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ज्ञानयज्ञेन ज्ञानमेवेश्वरविषयं यज्ञस्तेन यज्ञेन च । अन्येऽपरे जन्तवो यजन्तः पूजयन्तो मामीश्वरमुपासते सेवन्ते । एकत्वेनैकमेव परं ब्रह्मेति । पृथक्त्वेनेन्द्रमित्रवरुणादित्यादिरूपेण । बहुधा बहुप्रकारैर्व्यवस्थितं तथा विश्वरूपेण विश्वतोमुखं तथा विश्वरूपधरं विश्वतोमुखम् ॥ १५ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवम् 'भजन्ति' [ ९।१३ ] इत्यनेनोक्तः प्रेमभक्तिभजनप्रकारः प्रदर्शितः, इदानीं 'अनन्यमनसः' [ ९।१३ ] इत्यनेनोक्तमद्वैतज्ञानरूपं भजनप्रकारं दर्शयति— **ज्ञानयज्ञेनेति** । 'वासुदेवः सर्वं' [ ७।१९ ] इति सर्वात्मकत्वदर्शनं ज्ञानम्, तदेव यज्ञः, तेन ज्ञानयज्ञेन मां यजन्तः ज्ञानपूजां कुर्वन्त उपासते अनुसन्दधते । ज्ञाने यज्ञत्वनिरूपणं तु 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' [ ३३ ] इति चतुर्थाध्यायोक्तश्रैष्ठ्यस्मारणायेति ध्येयम् । 'अपि च' इत्यनेन पूर्वश्लोकोक्तभजनस्य ज्ञानयज्ञाङ्गत्वादङ्गाङ्गिभावकृतसमुच्चयो दर्शितः । ज्ञानयज्ञे प्रकारभेदानाह— **एकत्वेनेति** । 'ब्रह्मैवाहं' इत्यैक्यानुसन्धानरूप एको ज्ञानयज्ञः; तथा पृथक्त्वेन आदित्यचन्द्रादिरूपेण 'भगवानेक एव बहुधा स्थितः' इत्यनुसन्धानरूपो द्वितीयो ज्ञानयज्ञः, तथा 'विश्वतोमुखं विश्वरूपम्, सर्वात्मको भगवान्' इत्यनुसन्धानरूपस्तृतीयो ज्ञानयज्ञः । एतेषां च वस्तुतः स्वरूपभेदाभावेऽपि मुखभेदमात्राद्भेदः ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च ज्ञानयज्ञेन चेति । भक्त्योपासते इति पूर्वमुक्तम् । ज्ञानयज्ञेन चोपासते इत्यधुनोच्यते । अत्र यज्ञपदेन 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः' [ ४।२४ ] इति पूर्वोक्तप्रकारः स्मारित इति गम्यते । तेन च मामक्षरस्वरूपमुपासते । तत्रापि प्रकारभेदः । केचिदेकत्वेन 'सोऽस्मि' इत्यात्माभेदभावनया तान्त्रिकाः । 'आत्मानं परमं ध्यायेत्' इत्यादिवाक्यात् । केचित्पृथक्त्वेन राजसतान्त्रिका भेदभावनया दासोऽस्मीति रूपया मां स्वामिनमुपासते । केचित्तु बहुधा शिवशक्तिसूर्यगणेशादिरूपेण । यद्वा ब्रह्मवादिनः बहुधा घटपटादिजगदाकारेणाविकृतमेव सन्तमेवं विश्वतोमुखं विश्वप्रकारत्वेनावस्थितं सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतोक्षिशिरोमुखं मामुपासते ।। १५ ।।

१० मु. अ. त.— एवं भक्तानां भजनप्रकारमुक्त्वा ज्ञानिनामाह— ज्ञानयज्ञेनेति । अन्ये ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन चापि ज्ञानात्मकयजनप्रकारेण चापि यजन्तो हृद्येव मां पूजयन्त उपासते भजन्त इत्यर्थः। अपिशब्देन चकारेण च पूर्वोक्तभजनापेक्षया हीनत्वं व्यज्यते । ज्ञानभजने बहवः प्रकाराः सन्ति, तानाह— एकत्वेन 'सोऽहं ब्रह्मास्मि' [ ] इति प्रकारेण पृथक्त्वेन योगेन शरणागमनरीत्या बहुधा सर्वत्र तद्रूपेण विश्वतोमुखं सर्वात्मकं माम् , एवमनेकप्रकारेण मामुपासते भजन्त इत्यर्थः ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— ज्ञानयज्ञेन निर्विकल्पसमाधिना पातञ्जलाः । एकत्वेन 'अहमेव भगवान्वासुदेवः' इत्यभेदेनौपनिषदाः । पृथक्त्वेन 'अयमीश्वरो मम स्वामी' इति बुद्ध्या प्राकृताः । अन्ये पुनर्बहुधा बहुप्रकारं 'विश्वतोमुखं सर्वैर्द्वारैर्यत्किञ्चिद्दृष्टं तद्भगवत्स्वरूपमेव, यच्छ्रुतं तन्नामैव, यद्दत्तं भुक्तं वा तत्तदर्पितमेव' इत्येवं विश्वतोमुखं यथा स्यात्तथा मामुपासते ॥ १५ ॥

बहुधाभजनहेतुभूतं भगवतः सर्वात्मकत्वम् ।

**अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाऽहमहमौषधम् ।**
**मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥ १६ ॥**

१ शां. भा.— यदि बहुभिः प्रकारैरुपासते, कथं त्वामेवोपासते ? इत्यत आह— अहं क्रतुरिति । अहं क्रतुः श्रौतकर्मभेदोऽहमेव । अहं यज्ञः स्मार्तः । किञ्च स्वधाऽन्नमहं, पितृभ्यो यद्दीयते । अहमौषधं, सर्वप्राणिभिर्यदद्यते तदौषधशब्दवाच्यम् (शब्दितं) व्रीहियवादिसाधारणम् । अथवा 'स्वधा' इति सर्वप्राणिसाधारणमन्नं, 'औषधं' इति व्याध्युपशमार्थं भेषजम् । मन्त्रोऽहं, येन पितृभ्यो देवताभ्यश्च हविर्दीयते । अहमेवाऽऽज्यं हविश्च । अहमग्निः, यस्मिन्हूयते हविः सोऽग्निरहमेव । अहं हुतं हवनकर्म च ।। १६ ।।

---

१ क्रतुर्यज्ञविकृतिरूप उक्थ्यादिः, 'तं यथा समुद्रं स्रोत्या एवं सर्वे यज्ञक्रतवोऽपि यन्ति' 'ये च पुरस्ताद्ये चोपरिष्टाद्यज्ञक्रतवस्ते सर्वेऽग्निष्टोममपियन्ति' (ऐ. ब्रा. ३।४।३ ) इति श्रवणात् , 'तस्यैतस्य यज्ञक्रतोश्चत्वार ऋत्विजः' (तै. ब्रा. २।३।६ ) इत्यादि दर्शनाच्च । 'यूपसहितो यज्ञः क्रतुः' इति विष्णुसहस्रनामभाष्ये भगवत्पादाचार्याः । 'स क्रतुं कुर्वीत' ( छां. ३।१४।१ )- इत्यत्र तु क्रतुर्निश्चयोऽध्यवसायः— एवमेव, नान्यथेत्यविचलः प्रत्यय इति त एव । असोमा यज्ञाः, ससोमाः क्रतव इति भागवतव्याख्यायां ( ३।१३।३८ ) श्रीधरः । 'पञ्च महायज्ञाः, औपासनादयः सप्त, पाकयज्ञाः श्रौताग्निहोत्रादयः सप्त हविर्यज्ञाश्च यज्ञपदेनोपात्ताः । अग्निष्टोमादयः सप्त सोमसंस्थाः क्रतवः' इति विष्णुसहस्रनामव्याख्याने पराशरभट्टाचार्यः । क्रियत इति क्रतुः कर्मसामान्यं वा, 'यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्' ( ऋ सं. २।६।७ ) इत्यादौ दर्शनात् । प्रज्ञा वा, 'क्रतुः । असुः । धीः' ( निघं. ३।९ ) इति तन्नामसु पाठात् ॥ ओषधिप्रभवमौषधम् अन्नम् 'ओषधीभ्योऽन्नम्' ( तै. २।१ ) इति श्रुतेः । ओषे दाहके जाठराग्नौ धीयते प्रक्षिप्यत इत्यौषधमिति केचित् ॥ एवशब्दः पूर्वत्र परत्र च सम्बध्यते । एकैकज्ञानमपि भगवदुपासनमिति सूचयितुं प्रत्येकमहंशब्दः । अत्र कारककलापव्यासभेदोद्रेकि कर्म कथमभिन्नं भगवत्पदं प्रापयतीत्युच्यते ? इति मन्वाना अभिनवगुप्ताचार्याः— एकस्यैव निर्भागस्य ब्रह्मतत्त्वस्य परिकल्पितसाधनाधीनं कर्म पुनरेकत्वं निर्वर्तयति, क्रियायाः सर्वकारकात्मसाक्षात्कारेणावस्थाने भगवत्पदप्राप्तिं प्रत्यविदूरत्वात् । उक्तं च— 'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी । बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥' इति । मयाप्युक्तम्— 'उपक्रमे यैव बुद्धिर्भावाभावानुयायिनी । उपसंहृतिकाले सा भावाभावानुयायिनी ॥' इति । तत्र तत्र वितत्य विचारितचरमेतदितीहोपरम्यते । इत्याहुः ।

— अविगीता ।

२ आ. शां. व्या.— भगवदेकविषयमुपासनं तर्हि न सिद्ध्यतीति शङ्कते— यदीति । प्रकारभेदमादाय ध्यायन्तोऽपि भगवन्तमेव ध्यायन्ति तस्य सर्वात्मकत्वादित्याह— अत आहेति । क्रतुयज्ञशब्दयोरपौनरुक्त्यं दर्शयन्व्याचष्टे— श्रौत इति । क्रियाकारकफलजातं भगवदतिरिक्तं नास्तीति समुदायार्थः ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— तथा हि विश्वशरीरोऽहमेवावस्थित इत्याह— अहमिति । अहं क्रतुः अहं ज्योतिष्टोमादिकः क्रतुः, अहमेव यज्ञो महायज्ञः, अहमेव पितृगणपुष्टिदा स्वधा, औषधं हविश्चाहमेव, अहमेव च मन्त्रः; अहमेव चाज्यम्, प्रदर्शनार्थमिदम्, सोमादिकं च हविरहमेवेत्यर्थः । अहमाहवनीयादिकोऽग्निः, होमश्चाहमेव ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— यद्यपि परव्यूहादिरूपेणैकत्वपृथक्त्वे वक्तुं शक्ये, तथापि अनन्तरग्रन्थानुसारादुक्त एवार्थ इत्यभिप्रायेण 'अहं क्रतुः' इत्यादिश्लोकचतुष्टयस्य प्रकृतसङ्गतमर्थं चाह तथाहीति । ज्योतिष्टोमादिक इत्यनेन महायज्ञ इत्यनेन च विषयविशेषप्रदर्शनात् क्रतुयज्ञशब्दयोः पौनरुक्त्यपरिहारः । शारीरमानसश्रौतस्मार्तादिविभागस्तु न प्रसिद्ध्यनुसारीति भावः । महायज्ञः ब्रह्मयज्ञादिः पञ्चविधः । अविशेषादेवकारः सर्वत्रान्वेतव्यः । क्रतुतदवयवादिप्रसङ्गात् स्वधाशब्दसहपाठादाज्यस्य च पृथगुक्तत्वादोषधिविकारहविर्विशेषविषयोऽयमौषधशब्द इत्याह औषधं हविश्चाहमेवेति । एतेन स्वधौषधशब्दयोरन्नभेषजादिपरत्वव्याख्या प्रत्युक्ता । 'विशेषविधिः शेषनिषेधार्थः' इति शङ्कां परिहरति प्रदर्शनार्थमिति । एवमुत्तरेष्वपि पितामहादिकथनं प्रपितामहादिप्रदर्शनार्थं ग्राह्यम् । अत्राग्निशब्दस्य प्रकरणविशेषाद्भूततृतीयादिमात्रविषयत्वं न युज्यत इत्यभिप्रायेणाह— अहमाहवनीयादिकोऽग्निरिति । हविषां प्रागुक्तत्वादत्र हुतशब्दो भावार्थ इत्याह— होमश्चेति ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— प्रतिज्ञातं विज्ञानमाह— अहं क्रतुरित्यादिना । क्रतवोऽग्निष्टोमादयः । यज्ञो देवतामुद्दिश्य द्रव्यपरित्यागः । 'उद्दिश्य देवान्द्रव्याणां त्यागो यज्ञ इतीरितः' इत्यभिधानात् ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'विश्वतोमुखं इत्युक्तं सर्वात्मकत्वं प्रपञ्चयत्युत्तरेण' इत्यन्यथा व्याख्याननिरासार्थमाह— प्रतिज्ञातमिति । अन्यथा प्रतिज्ञातानुक्तिप्रसङ्ग इति भावः । व्याख्यानं तु 'रसोऽहमप्सु' [ ७।८ ] इत्यादेरिव द्रष्टव्यम् । 'क्रतवः' इति क्रतुयज्ञशब्दयोरर्थभेदमाह । सामान्यविशेषभावेन भेद इत्यर्थः ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.— कथमेकस्यैव भगवतो बहुविधत्ववचनं? इत्याशङ्क्याऽऽत्मनो बहुविधत्वं दर्शयितुमाह— अहमिति । अहं क्रतुः सोमयागप्रभेदोऽग्निष्टोमादिः । अहं यज्ञोऽहरहः क्रियमाणो देवयज्ञादिः । अहं स्वधा पितृपूजात्मको यज्ञः स्वधेत्युच्यते पितृयज्ञादिः । अहमौषधं यच्चाध्यादिनिवृत्त्यर्थमुपयुज्यते तदौषधं हरीतक्यादि । मन्त्रोऽहं येन देवेभ्यो हविर्दीयते यजुरादिः स मन्त्रः । अहमेवाऽऽज्यं घृतम् । अहमग्निः, यत्र हविर्हूयते स आहवनीयादिः । अहं हुतं होमस्तदप्यहम् ॥ १६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— विश्वरूपत्वमेव प्रपञ्चयति चतुर्भिः— अहमिति । सर्वस्वरूपोऽहमिति वक्तव्ये तत्तदेकदेशकथनं वैश्वानरद्वादशकपालेऽष्टाकपालत्वादिकीर्तनवदवयुत्यानुवादः । क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः, यज्ञस्तु स्मार्तो वैश्वदेवादिर्महायज्ञत्वेन श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धः, स्वधा पित्र्यं श्राद्धम्, औषधमोषधिभवमन्नं भेषजं वा, मन्त्रो याज्यापुरोनुवाक्यादिः । आज्यं सर्वं हविरुपलक्षणमिदम्, अग्निराहवनीयादिः, हुतं होमः, एतत् सर्वमहमेव ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— अन्त्यपक्षमेव ज्ञानं सिद्धं विवृणोति— अहमिति चतुर्भिश्चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थम् । अत्र स्वस्य सर्वरूपत्वात् 'सर्वोऽहं' इति वक्तव्यत्वेऽपि यत्तदेकदेशरूपेण कथनं तद्वैश्वानरद्वादशकपालादिवदवयुत्त्यानुवादेन । तत्पदप्रयोजनं तु तत्तद्रूपं भजतां तेन रूपेण फलदानं वैश्वानरद्वादशकपालाष्टादशकपालादिकानां तथैव सिद्धत्वादिति तत्तद्रूपत्वं ज्ञात्वा मां भजतां मत्त एव सर्वं फलं इति बोधयितुमाह— क्रतुरिति । क्रतुः श्रौतकर्मसु सङ्कल्पः अहं ब्रह्मैव । यज्ञः श्रौतः सोमादिरहम् । स्वधा पितृभ्यो दीयमानमन्नं नान्दीमुखादौ । औषधं व्रीह्यादिकमन्नं ब्रह्म । मन्त्रो गायत्र्यादिः, आथर्वणश्च ब्रह्मकर्मरूपोऽहं याज्यापुरोनुवाक्यादिरूपश्च । आज्यं घृतं सर्वहव्योपलक्षणमेतत् । अग्निस्त्रेतादिरूपोऽहं पञ्चाग्निविद्यासिद्धश्च । हुतं हविःप्रक्षेपोऽहं ब्रह्म । तदुपासनत्वेन ब्रह्मत्वं बोधयितुं प्रत्येकमहं शब्दः ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेकमेव त्वां बहुधा ये भजन्ति ते च ज्ञानिन एव, तेषामज्ञाने ज्ञाने कथं प्रवेशः ? इत्याशङ्क्य तत्तदात्मकं मां ज्ञात्वैव भजन्तीति ज्ञापनाय स्वस्य सर्वात्मत्वं प्रकटयति— **क्रतुरित्यादिचतुर्भिः** । क्रतुः यज्ञाधिष्ठात्री देवता अहम्, आधिदैविकरूपस्तत्फलदातेत्यर्थः । यज्ञो धर्मात्मकोऽग्निहोत्रादिर्यज्ञात्मकोऽहम् । स्वधा पित्रर्थे श्राद्धादि-पितृयज्ञरूपोऽहम् । औषधं सकलरोगनिवर्तनात्मकभैषज्य-रूपोऽन्नरूपो वा अहम् । मन्त्रः ऋगादिरहम् । आज्यं होम-द्रव्यं हविः । अग्निराहवनीयादिः । हुतं होमः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— इदमेवोपासनं विवृणोति— अहमिति । क्रतुः सङ्कल्पो देवताध्यानरूपः । यज्ञः श्रौतः स्मार्त्तश्च देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः । स्वधा पितॄणामन्नम् । औषधं मनुष्याणामन्नम् । मन्त्रो येन दीयते सः । आज्यं हविः । अग्निः । हुतं प्रक्षेपक्रिया । इदं सर्वं यस्मादहमेवातस्तेषां विश्वतोमुखमुपासनं युक्ततरमित्यर्थः ॥ १६ ॥

## पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः ।
## वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥

**१ शां. भा.— किञ्च पिता जनयिता अहमस्य जगतः, माता जनयित्री, धाता कर्मफलस्य प्राणिभ्यो विधाता, पितामहः पितुः पिता, वेद्यं वेदितव्यं, पवित्रं पावनं, ओङ्कारश्च, ऋक्साम यजुरेव च ॥ १७ ॥**

२ आ. शां. व्या.— इतश्च भगवतः सर्वात्मकत्वमनुमन्तव्यमित्याह— **किञ्चेति** । पवित्रं पूयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या परिशुद्धिकारणं पुण्यं कर्मेत्याह— **पावनमिति** । वेदितव्ये ब्रह्मणि वेदनसाधनमोङ्कारस्तत्र प्रमाणमृगादि । चकारादथर्वाङ्गिरसो गृह्यन्ते ॥ १७ ॥

**३ रा. भा.— अस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य जगतः तत्रतत्र पितृत्वेन, मातृत्वेन, धातृत्वेन, पितामहत्वेन च वर्तमानोऽहमेव । अत्र धातृशब्दो मातृपितृव्यतिरिक्ते उत्पत्तिप्रयोजके चेतनविशेषे वर्तते । यत्किञ्चिद्वेदवेद्यं पवित्रं पावनं, तदहमेव । वेदकश्च वेदबीजभूतः प्रणवोऽहमेव । ऋक्सामयजुरात्मको वेदश्चाहमेव ॥ १७ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'पिताऽहमस्य' इत्यादौ न स्वस्वरूपेण पितृत्वादिकमिहोच्यते ; अपितु पितृत्वादिरूपेण प्रतिपन्नानां स्वान्तर्यामिकत्वम् । तथा सति हि प्रकृतसङ्गतिरित्यभिप्रायेणाह **अस्येति** । स्थावरेष्वपि तानि तानि कारणानीश्वरशरीराणीति तत्रापि तस्य पितृत्वादिव्यवहारः । धातृशब्दो हि स्रष्टृचेतनविशेषपरतया प्रसिद्धः; ततश्चात्र पौनरुक्त्यमित्याशङ्क्याह **अत्रेति** । गोबलीवर्दन्यायादिति भावः । एकस्यैव सर्वपितृत्वाद्यभावात् प्रतिनियतप्रदर्शनाय **तत्रतत्रेत्युक्तम्** । **अत्रेति**— पित्रादिसमभिव्याहृतत्वादित्यर्थः । रुद्रेन्द्रादिसहपाठे हि चतुर्मुखपरतेति भावः । धात्वर्थभूतधारणाद्द्वारोत्पत्तिप्रयोजकत्वम् । वेद्यत्वमात्रस्य सर्वसाधारण्यात् वेद्यपवित्रशब्दयोर्विशेषणविशेष्यभावेन अन्वयः सम्भवन्प्रतीयमानो बाधकाभावान्न त्याज्य इत्यभिप्रायेणाह **यत्किञ्चिदिति** । वेदनस्यानन्तरमभिधीयमानत्वात् पवित्रत्वसामर्थ्याच्च **वेदवेद्यमित्युक्तम्** । नपुंसकनिर्देशाद्विशेषकाभावाच्च अनुक्तसमस्तवेदवेद्यसङ्ग्रहविषयोऽयमिति ज्ञापनाय **यत्किञ्चिच्छब्दः** । सङ्कोचकसंज्ञापरत्वव्युदासाय **पावनमित्युक्तम्** । सम्प्रति सम्बन्धिनिर्देशमध्यपाताद्वेद्यप्रतिसम्बन्धिनिर्देशरूपत्वज्ञापनाय **वेदकश्चेत्युक्तम्** । ऋक्सामयजुषां पृथगभिधानेऽपि तदनुप्रविष्टस्य प्रणवस्य पृथगुक्तिः किमभिप्रायेत्यत्राह **वेदबीजभूत** इति ॥ १७ ॥

**५ आ. भा. भा. ॥ १७ ॥**

६ ज. प्र. दी. ॥ १७ ॥

**७ ह. पै. भा.— पिता जनकोऽहमस्य जगतः । माता चाहं धाता दाता कर्मफलस्य प्राणिभ्यः, पितामहः पितुः पिता, वेद्यं वेदितव्यम् ; पवित्रं पावनम् ; ओंकारः "ओमिति ब्रह्म" [ तै. उ- १।८।१ ] इति श्रुतेः । ऋङ्मन्त्रविशेषः । साम मन्त्रविशेषः । एवं यजुर्मन्त्रविशेषः ॥ १७ ॥**

---

१ मिमीत इति माता । 'माङ् माने' ( धा. पा. जु. ६ ) तृच् ( अष्टा. ३।१।१३३ ) चकारेणाथर्वणस्यापि सङ्ग्रहः । 'अहं यजूंषि सामानि ऋचश्चाथर्वणानि च ।' ( ह. वं. २।११४।१९ ) 'पञ्चकल्पमथर्वाणं कृत्याभिः परिबृंहितम् । कल्पयन्ति हि मां विप्रा अथर्वाणविदस्तथा ॥ ( म. भा. १२।३४२।९९ ) इत्यादिदर्शनात् । —**अविगीता** ।

८ वें. ब्र. गि.— धाता पोषयिता । वेद्यं वेदितव्यं वस्तु । पूयतेऽनेनेति पवित्रं पावनं गङ्गादि । ऋगादयो वेदाः । एवकारः 'अहमेव' इत्यवधारणार्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ १७ ॥

९ ब० त० दी०— किञ्च ब्रह्मयज्ञे जगतो यजमानस्य पिताऽस्मि जनकः सोऽहम् । माता चाहम् । धाताऽन्वाधाता । यजमानश्चाहं ब्रह्मैव, 'ब्रह्मणा हुतं' [ ४।२४ ] इति पूर्वसूत्रितत्वात् । पितामहश्चाहं स्मार्ते श्राद्धे त्रयाणामुपदेशात् । तत्र वेद्यं यज्ञरूपं चाहमेव । पवित्रं शोधनं प्रायश्चित्तादिरूपमहम् । ॐकार इति मन्त्राणामाद्युच्चार्यमाणः प्रणवाख्योऽहम् । तत्र ऋक्साम यजुरेव च– ऋक् पादबद्धं वाक्यं, साम गीतियुक्तं वाक्यं, यजुः पादगीतिभ्यां रहितं वाक्यम् । चकारोऽथर्वाङ्गिरसां समुच्चायकः त्रयः सोऽहमेव ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च । अस्य जगतो मदात्मकस्य अहमेव पिता उत्पादकः । माता योनिः । धाता कर्मफलदाता । पितामहो ब्रह्मा । वेद्यं सर्वज्ञानादिसाधनैर्वेद्यवस्तु । पवित्रं पावनम् । ॐकारः अक्षरात्मकब्रह्मबीजम् , ऋगादिः वेदत्रयात्मा ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— धाता कर्मफलानां विकर्ता, वेद्यं वेदितव्यं ब्रह्म, पवित्रं पावनं तप आदिकम् ॥ १७ ॥

**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।**
**प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥ १८ ॥**

**१ शां. भा.**— किञ्च— गतिः कर्मफलं, भर्ता पोष्टा, प्रभुः स्वामी, साक्षी प्राणिनां कृताकृतस्य, निवासो यस्मिन्प्राणिनो निवसन्ति, शरणमार्तानां मत्प्रपन्नानामार्तिहरः, सुहृत्प्रत्युपकारानपेक्षः सन्नुपकारी, प्रभव उत्पत्तिर्जगतः, प्रलयः प्रलीयते यस्मिन्निति, तथा स्थानं तिष्ठत्यस्मिन्निति, निधानं निक्षेपः कालान्तरोपभोग्यं प्राणिनां, बीजं प्ररोहकारणं प्ररोहधर्मिणाम् , अव्ययं यावत्संसारभावित्वादव्ययम् । नह्यबीजं किञ्चित्प्ररोहति । नित्यं च प्ररोहदर्शनाद्बीजसन्ततिर्न व्येतीति गम्यते ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवतः सर्वात्मकत्वे हेत्वन्तरमाह– **किञ्चेति** । गम्यत इति प्रकृतिविलयान्तं कर्मफलं गतिरित्याह— **कर्मेति** । पोष्टा कर्मफलस्य प्रदाता । कार्यकरणप्रपञ्चस्याधिष्ठानमित्याह- **निवास** इति । शीर्यते दुःखमस्मिन्निति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह— **शरणमिति** । प्रभवत्यस्माज्जगदिति व्युत्पत्तिमादायोक्तम्— **उत्पत्तिरिति** । कारणस्य कथमव्ययत्वमित्याशङ्क्याऽऽह-- **यावदिति** । कारणमन्तरेणापि कार्यं कदाचिदुदेष्यति, किं कारणेन ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **न हीति** । मा भूतर्हि संसारदशायामेव कदाचित्कार्योत्पत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **नित्यं चेति** । कारणव्यक्तेर्नाशमङ्गीकृत्य तदन्यतमव्यक्तिशून्यत्वं पूर्वकालस्य नास्तीति सिद्धवत्कृत्य विशिनष्टि— **बीजेति** ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.**— गम्यत इति गतिः, तत्रतत्र प्राप्यस्थानमित्यर्थः । भर्ता धारयिता, प्रभुः शासिता, साक्षी साक्षाद्द्रष्टा, निवासः वासस्थानं वेश्मादि, शरणं इष्टस्य प्रापकतयाऽनिष्टस्य निवारणतया च समाश्रयणीयश्चेतनः स चाहमेव; सुहृत् हितैषी, प्रभवप्रलयस्थानं यस्यकस्यचिदुत्पत्तिप्रलययोर्यत् स्थानं तदहमेव; निधानं निधीयत इति निधानम् , उत्पाद्यमुपसंहार्यं चाहमेवेत्यर्थः । अव्ययं बीजं तत्रतत्र व्ययरहितं यत्कारणं, तदहमेव ॥ १८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— गतिशब्दस्याव्ययप्रायन्यायेन द्रव्यपरत्वौचित्यात्तत्र भावार्थपरत्वमित्यभिप्रायेण स्थानपरत्वमाह– **गम्यत इतीति** । सर्वजनसाधारणेषु अर्थेषु निर्दिश्यमानेषु तन्मध्ये स्त्रीविशेषमात्रप्रतिसम्बन्धिपदार्थो न वक्तुमुचितः, धारणार्थत्वं च बिभर्तिधातोः प्रसिद्धमित्यभिप्रायेणाह **भर्ता धारयितेति** । प्रभुशब्दस्यात्र प्रभूततामात्रपरत्वे 'जगतः' इत्यनेनान्वयो न स्यादित्यभिप्रायेणाह **शासितेति** । **साक्षाद्द्रष्टेति**— 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' [ अष्टा.५।२।९१ ] इति हि साक्षिशब्दोऽनुशिष्यते । **वासस्थानमिति**–अत्र भावादिपरत्वानौचित्यादधिकरणार्थोऽयं घञिति भावः । गतिशब्देन पौनरुक्त्यनिरासायोक्तं **वेश्मादीति** । गतिशब्दस्तु स्वर्गपृथिव्यादिगन्तव्यदेशपर उक्तः, तत्तद्देशानुभाव्यभोग्यपरो वा ।

शरणशब्दस्यात्र निवासशब्दनिर्दिष्टगृहाद्यचेतनपरत्वव्युदासायाह **इष्टस्येति**। इष्टप्राप्त्यनिष्टनिवारणयोर्यथेच्छं प्रत्येकसमुदायाभ्यामन्वयः। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' [अमरः ३।३।५२] इति पाठादत्र रक्षितृपरः शरणशब्दः। **हितैषीति**—'शोभनहृदययुक्तो हि सुहृत्, शोभनत्वं च हृदयस्य हितगोचरत्वमिति भावः। **यस्यकस्यचिदिति**—न केवलं ब्रह्मादेरव्यक्तादेर्वा यदुत्पत्तिप्रलयस्थानमित्यभिप्रायः। 'प्रभवः' इति व्यस्तं परोक्तं पाठान्तरमप्रसिद्धेरनार्जवाच्चानादृतम्। 'प्रभवप्रलयस्थानम्' इति प्रसक्तत्वात् तत्र यत्प्रभवति, यच्च प्रलीयते, तदत्र निधानशब्देन विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **निधीयते इति निधानमिति**। कर्मार्थोऽयं ल्युट्प्रत्ययः। एतेन निधानशब्दस्य प्रलयस्थानविशेषणत्वेन अव्याकृतपरत्वयोजना निरस्ता। 'प्रभवप्रलयस्थानं' इत्यस्योपादानविवक्षायां बीजशब्दः कारणमात्रपरः तस्योपादानपरत्वविवक्षायां बीजाधारक्षित्यादिदेशपरः पूर्वं इत्यभिप्रायेणाह **तत्रतत्रेति** ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.—** गम्यते मुमुक्षुभिरिति गतिः। तथा हि सामवेदे वासिष्ठशाखायाम् "अथ कस्मादुच्यते गतिरिति ब्रह्मैव गतिरिति तद्धि गम्यते पापविमुक्तैः" इति। साक्षादीक्षत इति साक्षी। तथाहि बाष्कलशाखायाम् "स साक्षादिदमद्राक्षीद्यदद्राक्षीत्तत्साक्षिणः साक्षित्वम्" इति। शरणमाश्रयः संसारभीतस्य। 'परं परायणं' इत्याद्युक्तम्। "नारायणं महाज्ञेयं विश्वात्मानं परायणम्" [म.ना.उ.९।३] इति च। संहारकाले प्रकृत्या जगदत्र निधीयत इति निधानम्। तथा हि ऋग्वेदखिलेषु "अपश्यमप्यये मायया विश्वकर्मण्यदो जगन्निहितं शुभ्रचक्षुः" इति ॥ १८ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** गतिः कर्मफलमिति व्याख्यानं (शं.) अपाकर्तुमाह—**गम्यते** इति। शरणमित्यतो भेदार्थमुक्तं मुमुक्षुभिरिति। अत एव गम्यत इत्यस्यावगम्यत इत्यर्थः। कुत एतत्? इत्यत आह—**तथा हीति**। किमुच्यत इत्यपि प्रश्नोऽध्याहार्यः। साक्षीत्यौदासीन्यं प्रतीयते, अत आह—**साक्षादिति**। कुत एतदित्यत आह—**तथा हीति**। यदद्राक्षीत्साक्षात्तत्साक्षिणः परमेश्वरस्य साक्षित्वं साक्षिशब्दप्रवृत्तिनिमित्तम्। तदुक्तम् 'साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्' [अष्टा. ५।२।९१] इति। निवासशब्दागतार्थतया शरणशब्दार्थमाह—**शरणमिति**। संसारभीतस्येति मुक्तोपलक्षणम्। विष्णोर्मुक्ताश्रयत्वे प्रमाणमाह—**परमिति**। परायणं मुक्तानामाश्रयः। तथापि निधानमिति पुनरुक्तिरित्यत आह—**संहारेति**। सर्वभूतानि 'प्रकृतिं यान्ति' [९।७] इत्युक्तत्वात् कथं भगवति निधीयत इत्यत उक्तं **प्रकृत्येति**। प्रथमं प्रकृतिं यान्ति पश्चात्तत्र निधीयन्त इत्यर्थः। तत्कुतः? इत्यत आह—**तथा हीति**। विश्वकर्मणीश्वरे शुभ्रचक्षुः शुद्धदृष्टिरहम् ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.—** गतिरिति। गतिः कर्मफलम्। भर्ता पोष्टा। प्रभुः स्वामी। साक्षी प्राणिनां शुभाशुभस्य कर्मणः। निवासो यस्मिन्प्राणिनो निवसन्ति। शरणं प्राणिनामार्तिहरम्। सुहृत्प्रत्युपकारानपेक्ष उपकारी। किञ्च प्रभव उत्पत्तिस्थानं जगतः। प्रलयो यस्मिन्प्रलीयते सोऽहम्। जगत्तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानमहम्। निधानं जगतो यत्कालान्तरोपभोगाय निधीयते तदहमिति। बीजं जगतः प्ररोहणसमर्थमव्ययं बीजमिति सम्बन्धः ॥ १८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** गम्यत इति गतिः प्राप्यं वस्तु। भर्ता भरणकृत्। प्रभुः शासिता। साक्षी शुभाशुभद्रष्टा। निवासो वासस्थानम्। शरणं शीर्यतेऽस्मिन्दुःखमित्यापन्नार्तिहृत्। सुहृत् प्रत्युपकारानपेक्षोपकारकृत्। प्रभव उत्पत्तिः। प्रलयो नाशः। स्थानं स्थितिः। निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं प्रलयाधिष्ठानम्। बीजमुत्पत्तिस्थानम्। न व्येति तिष्ठत्यस्मादित्यव्ययं स्थित्यधिष्ठानम्। 'अहमेव' इति पूर्वेणान्वयः ॥ १८ ॥

**९ व० स०दी०—** किञ्च गतिः प्राप्यलोकादिरूपा ब्रह्मैव, तेन गन्तव्यमिति पूर्वसूत्रितत्वात्। भर्ता पोषकश्चाहम्। प्रभुः फलदश्च साक्षी कृताकृतावेक्षकत्वेन ब्रह्मरूपश्चाहम्। निवासो यागभूमिरहम्। 'शरणं गृहरक्षित्रोः' [अमरः ३।३।५२] इति कोशात् यज्ञशाला चाहम्। सुहृत् यजमानस्य बन्धुवर्गः। प्रभवः फलस्योत्पादको देवतारूपः। प्रलयः पापानां नाशकश्च। स्थानं देशस्तीर्थक्षेत्रादिरूपः। निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति यूपचमसादिपात्रमहं ब्रह्मैव। बीजं यवादि। अव्ययं पशुजातम्। नचाव्ययपदेन कथं पशुबोध इति वाच्यम्; अव्येतीत्यव्ययं इति व्युत्पत्त्याऽजादिबोधात् "गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः" [ऋक्सं. ८।४।१८।५ यजुस्सं. ३१।८] इति श्रुतेश्च। अथवा ब्रह्मयज्ञे हि पूर्वमनुक्तत्वादालभनस्येत्यभिप्रायेण तथैव तदुक्तम्। अव्ययं बीजं अपूर्वाख्यमहमेव ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.— गतिर्मोक्षादिफलरूपः। भर्ता पोषकः। प्रभुः समर्थः सर्वनियन्ता। साक्षी द्रष्टेत्यर्थः। निवासः स्थानं सर्वदेहस्वरूपात्मक इति। शरणं अभयदाता मृत्युप्रभृतिभय रक्षकः। सुहृत् अप्रार्थितहितकर्ता। प्रभवः प्रकर्षेण भवत्यस्मादिति जगत्स्रष्टा। प्रलयः प्रकर्षेण लीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम्। स्थानं तिष्ठत्यस्मिन्निति स्थानं सकलाधारः। निधानं निधीयते स्थाप्यतेऽनेनेति निधानं, रक्षक इत्यर्थः। अव्ययं बीजम्, अविनाशि बीजं मूलकारणमित्यर्थः॥ १८॥

११ नी० भा० दी०— गतिर्मुक्तप्राप्यं स्थानम्। भर्ता कर्मफलदानेन पोषकः। प्रभुः। अन्तर्यामी। साक्षी कृताकृतावेक्षकः। निवसन्त्यस्मिन्निति निवास आश्रयो यजमानादिः। शरणं रक्षकः। सुहृदुपकारमनपेक्ष्य उपकर्ता। प्रभव उत्पत्तिस्थानम्। प्रलयो लयस्थानम्। स्थानं स्थितिस्थानम्। निधानं कर्मफलसमर्पणस्थानं कालान्तरे फलप्रसवार्थम्। बीजं प्ररोहकरणं प्ररोहधर्मिणाम्। अव्ययं यावत्संसारभावित्वात्॥ १८॥

## तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
## अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन!॥ १९॥

**१ शां. भा.**— किञ्च— तपाम्यहमादित्यो भूत्वा कैश्चिद्रश्मिभिरुल्बणैः अहं वर्षं कैश्चिद्रश्मिभिरुत्सृजामि, उत्सृज्य पुनर्निगृह्णामि कैश्चिद्रश्मिभिरष्टभिर्मासैः, पुनरुत्सृजामि प्रावृषि। अमृतं चैव देवानां, मृत्युश्च मर्त्यानाम्। सत् यस्य यत्सम्बन्धितया विद्यमानं तत्, तद्विपरीतमसच्चैवाहमर्जुन!। न पुनरत्यन्तमेवासद्भगवान्, स्वयं कार्यकारणे वा सदसती। ये पूर्वोक्तैरनुवृत्तिप्रकारैरेकत्वपृथक्त्वादिविज्ञानैर्यज्ञैर्मां पूजयन्त उपासते ज्ञानविदस्ते यथाविज्ञानं मामेव प्राप्नुवन्ति॥ १९॥

२ आ. शां. व्या.— इतश्च सर्वात्मत्वे भगवतो न विवदितव्यमित्याह— **किञ्चेति**। 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' [ मनुः ३।७६ ] इति स्मृतिमवष्टभ्य व्याचष्टे— **कैश्चिदिति**। वर्षोत्सर्गनिग्रहावेकस्यैकस्मिन्काले विरुद्धावित्याशङ्क्याऽऽह— **अष्टभिरिति**। ऋतुभेदेन वर्षस्य निग्रहोत्सर्गावेककर्तृकावविरुद्धावित्यर्थः। यस्य कारणस्य सम्बन्धित्वेन यत्कार्यमभिव्यज्यते तदिह सदित्युच्यते, कारणसम्बन्धेनानभिव्यक्तं कारणमेवानभिव्यक्तनामरूपमसदिति व्यवह्रियते तदेतदाह— **सदिति**। शून्यवादं व्युदस्यति— **न पुनरिति**। भगवतोऽत्यन्तासत्त्वे कार्यकारणकल्पना निरधिष्ठाना न तिष्ठतीत्यर्थः। तर्हि यथाश्रुतं कार्यस्य सत्त्वं कारणस्य चासत्त्वमास्थेयमित्याशङ्क्य वाशब्देन निषेधति— **कार्येति**। नहि कार्यस्याऽऽत्यन्तिकं सत्त्वं वाचारम्भणश्रुतेः [ छां. उ. ६।१।४–६+६।४।१–४ ]। नापीतरस्याऽऽत्यन्तिकमसत्त्वं "कुतस्तु खलु" [ छां. उ. ६।२।२] इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः। उक्तैर्ज्ञानयज्ञैर्भगवदभिनिविष्टबुद्धीनां किं फलं इत्याशङ्क्य सद्यो वा क्रमेण वा मुक्तिरित्याह— **ये इति**॥ १९॥

**३ रा. भा.**— अग्न्यादित्यादिरूपेणाहमेव तपामि; ग्रीष्मादावहमेव वर्षं निगृह्णामि; तथा वर्षास्वपि चाहमेवोत्सृजामि। अमृतं चैव मृत्युश्च— येन जीवति लोको येन च म्रियते, तदुभयमप्यहमेव। किमत्र बहुनोक्तेन? सदसच्चाप्यहमेव— सद्यद्वर्तते, असद्यदतीतमनागतं च, सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्तत्प्रकारोऽहमेवावस्थित इत्यर्थः। एवं बहुधा पृथक्त्वेन विभक्तनामरूपावस्थितकृत्स्नजगच्छरीरतया तत्प्रकारोऽहमेवावस्थित इत्येकत्वज्ञानेनानुसन्दधानाश्च मामुपासते त एव महात्मानः॥ १९॥

४ वे. ता. चं.— एवं 'प्राधान्यतः' [ १०।१९ ] इति वक्ष्यमाणप्रकारेण लोके तत्तच्छब्दवाच्यतया प्रसिद्धानां प्रकृष्टपदार्थानां सत्तायाः स्वाधीनत्वप्रदर्शनम्; अथ प्रवृत्तितादधीन्यमनेनोच्यते 'तपामि' इति। स्वरूपतस्तापहेतुत्वाभावाद्विशिष्टं तद्दर्शयति **अग्न्यादित्यादीति**। आदिशब्देन अग्न्यादितसद्रव्यविवक्षा। एककर्तृकयोर्विरुद्धयोः कालादिभेदेन व्यवस्थेत्यभिप्रायेणाह **ग्रीष्मादाविति वर्षास्विति च**। अत्र पर्जन्यादिरूपेणेति भाव्यम्। एवं रश्मिविशेषोऽपि ग्राह्यः। 'अहं क्रतुः' [ ९।१६ ] इत्युपक्रम्य एतावताधियज्ञाधिप्रजाधिवेदाध्यात्माधिदैवतविवक्षेति केचित्। अथ साधकबाधकरूपेण संगृह्योच्यते 'अमृतं चैव मृत्युश्च' इति। मृतिकारणाभिधायिमृत्युशब्दसहप्रयोगात् मृतिप्रतिबन्धकमात्रविषयोऽयममृतशब्दः; सुधापरत्वे तु विशेषण सह पठितव्यम्; अमृतसहपाठाच्च मृत्युशब्दस्य वैवस्वतादिपरत्वमयुक्तमित्यभिप्रायेणाह— **येनेति**। त्रैकाल्यवर्तिसर्वसङ्ग्रहेण उपसंहारपरतां दर्शयति **किमत्रेति**। अत्र सच्छब्दवदसच्छब्दोऽपि भावान्तराभाववादाद्वस्तुविशेषपरः, अन्यथा अहमिति सामानाधिकरण्यायोगादित्यभिप्रायेणाह **सद्यद्वर्तते यदतीतमनागतं चेति**। असच्छब्दोऽत्र वर्तमानान्यविषयः। ननु प्रकरणान्तरेष्विव चेतनाचेतनादिविषयत्वमनयोः किं नोच्यते? इत्यत्राह **सर्वावस्थेति**। सर्वस्य भगवदात्मकत्वं

हि प्रकृतम् ; त्रैकालिकसमस्तसङ्ग्रहौचित्याय वर्तमानत्वादिविवक्षायामपि चिदचितोर्न त्यागः; तयोरेव तत्तदवस्थाविशेषविशिष्टस्वरूपविषयत्वात् । अथवा सर्वैत्यादिकम् , 'अहं क्रतुः' [ ९।१६ ] इत्याद्युक्तकृत्स्नवाक्यार्थैकथनमनुध्येयम् । सर्वता दर्शीन्यवचनं प्रकृतेनोपासनेन सङ्गमयति एवं बहुधेत्यादिना । विशिष्टैकत्वमिह विवक्षितम् ; न पुनः प्रलयदशापन्नमविभक्तत्वलक्षणम् । प्रस्तुतज्ञानयज्ञत्वस्मारणाय ज्ञानेनानुसन्दधाना इत्युक्तम् ॥ १९ ॥

५ आ. मा. भा.— सत्कार्यमसत्कारणम् । 'सदभिव्यक्तरूपत्वात्कार्यमित्युच्यते बुधैः। असदव्यक्तरूपत्वात्कारणं चापि शब्दितम्' इत्यभिधानम्। 'असच्च सच्चैव च यद्विश्वं सदसतः परम्' इति च भारते ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.—असतो नियाम्यत्वानुपपत्तेः 'सदसच्चाहं' इत्युक्तमित्यत आह— सदिति । कार्यं सदित्युच्यते । अभिव्यक्तिरूपत्वादित्यनेन सदेर्गत्यर्थस्य क्विपि कर्मणि रूपमेतदित्युच्यते । कारणमप्यव्यक्तरूपत्वादेव असच्छब्दितम् । कार्यकारणयोः सदसच्छब्दप्रयोगं च दर्शयति— असच्चेति । तस्मात्सदसतोर्विश्वस्माद्ब्रह्म परम् ॥ १९ ॥

७ ह्. पै. भा.— तपाम्यादित्यो भूत्वा कैश्चिद्रश्मिभिरष्टौ मासान्वर्षं निगृह्णामि । पुनश्च कैश्चिद्रश्मिभिश्चतुरो मासानुत्सृजाम्यहम् । अमृतमेवाहं देवानाम् । मृत्युश्च मर्त्यानाम् । यस्य यत्सम्बन्धितया विद्यमानं तत्स-(त्त)- द्विपरीतमसन्न पुनरत्यन्तमेवासत्कार्यकारणे सदसती ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— आदित्यात्मना अहमेव तपामि तापं करोमि निदाघे । तदानीं चाहमेव वर्षं निगृह्णामि । वर्षासु च वर्षमहमेवोत्सृजामि । येन लोको जीवति तदमृतम्, येन म्रियते स मृत्युः, तदुभयमप्यहमेव। किमत्र बहुनोक्तेन ? सदसच्चाहम्, यद्वर्तते तत्सत्, यदतीतमनागतं च तदसत्, सर्वमपि वस्तुजातमहमेव । तस्मात्सर्वात्मकतया मदुपासनं युक्तमेवेति भावः ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— अतः परं सृष्ट्यादिद्वारा सृष्ट्यादिसम्पादकत्वं "पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" [ छां. उ. ५।३।३ ] इति श्रुतिप्रामाण्यात्क्रममुक्तिद्वारत्वं च स्वस्यैवाह तपामीति । तापनेन किं भवतीति तत्राह । वर्षं निगृह्णाम्यष्टसु मासेषु । उत्सृजामि च चतुर्षु सूर्यात्मना वृष्टिं करोमि । तद्द्वारान्नजननात् सृष्ट्यादिसम्पादकोऽहं यज्ञोपयोगित्वार्थं तथैतदुपास्यमुक्तम् । अमृतं जीवनम् । मृत्युः वर्षादेर्मृत्युस्तन्निग्रहणाद्वाहमित्यात्मप्रभवप्रलयावपि ब्रह्मवादेनाह । अन्यत्किं वाच्यं हेऽर्जुन शुद्धस्वरूप ! तस्मिन् शुद्धस्वरूपे ब्रह्मयज्ञे सदसदप्यहं लोकप्रतीत्याभावमपि सर्वं ब्रह्मैवाहमिति पूर्वोक्तं विवृतं 'यदात्मकः प्रपञ्चोऽयं स एव हि पिता हरिः। जनको भगवान्स्वामी माता प्रकृतिरुत्तमा ॥ इति भावेन ब्रह्मैव सर्वरूपमुदीरितम् । यज्ञादिरूपं निबन्धे ब्रह्मवादानुरोधतः' ॥ तदेवं प्रसङ्गान्महात्मनां भक्तानां सात्त्विकानां वृत्तिरुक्ता । ततो द्विविधानां ज्ञानमार्गीयाणां राजसानां तामसानां च वृत्तिमुक्त्वाऽन्ते ब्रह्मवादिनां वृत्तिः सिद्धान्तिता ; अधुना तेषामेव विशेषं दर्शयितुं वेदार्थानभिज्ञानां काम्यकर्मकारिणां स्थितिं दर्शयन् गतिमाह ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— तपामि रसास्वादनार्थं सर्वेषां तापं करोमि । यदा तपामि तदा वर्षं रसात्मकं निगृह्णामि आकर्षामि स्वस्मिन् स्थापयामि । च पुनः तद्दानसमये पुनरुत्सृजामि । अमृतं जीवनमक्षयम् । मृत्युश्च मृत्युरूपः । सत् स्थूलं परिदृश्यमानम् । असत् सूक्ष्ममदृश्यम् । हे अर्जुन ! एतत्सर्वं पूर्वोक्तमहमेवेत्यर्थः । एवं बहुधा मामुपासत इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— अहं तपामि आदित्यो भूत्वा । अहं वर्षं वृष्टिः तां निगृह्णामि अष्टसु मासेषु कैश्चिद्रश्मिभिः, उत्सृजामि च चतुर्षु मासेषु कैश्चिदिति । अमृतं जीवनम् । मृत्युर्मरणम् । अमृतं देवान्नं वा, सत् साधु, असत् असाधु, एतत्सर्वमहमेव । अतस्तेषां विश्वतोमुखं मम भजनं कुर्वतां सर्वरूपेणाहमनुग्रहं करोमीति भावः ॥ १९ ॥

उक्तस्वरूपाज्ञानिनां सकामानां केवलकर्मठानां च दुर्निवारं यातायातत्वम् ।

**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।**
**ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥ २० ॥**
**ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।**
**एवं हि त्रैधर्म्यमनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥**

'एवं त्रयीधर्मं' इति शङ्कराचार्य–मधुसूदन–धनपतिसूरीतरटीकाकारसम्मतः पाठः ।

**१ शां. भा.— ये पुनरज्ञाः कामकामाः— त्रैविद्या ऋग्यजुस्सामविदो मां वस्वादिदेवरूपिणं सोमपाः सोमं पिबन्तीति सोमपाः, तेनैव सोमपानेन पूतपापाः शुद्धकिल्बिषाः, यज्ञैरग्निष्टोमादिभिरिष्ट्वा पूजयित्वा स्वर्गतिं स्वर्गगमनं स्वरेव गतिः स्वर्गतिस्तां प्रार्थयन्ते । ते च पुण्यं**

---

१ नन्वेवं यदि बाह्ययागादिनापि ब्रह्मप्राप्तिः, तर्ह्यग्निष्टोमादिष्वपि किमन्यो याज्यः ? । अभ्युपगमे भेदवादः; वासुदेव एवेति चेत्, कथं नापवर्गस्तैः ? तदर्थमुच्यते इत्यवतारयन्ति श्लोकमिमम**भिनवगुप्तपादाः** । त्र्यवयवा विद्या त्रिविद्या । तामधीते वेत्ति वा त्रैविद्यः । न तु तिस्रो विद्या अधीत इत्यण्प्रत्ययनिमित्तः 'तद्धितार्थ–' ( अष्टा. २।१।५१ ) इत्यादिना समासः । 'अत एवाण्प्रत्ययस्य लुगभावः' इति महाभाष्ये ( अष्टा. ४।१।८८) ॥ पूतं पवित्रं पापं येषां ते पूतपापाः । इदमत्र बोध्यम्– द्विविधं हि पापं सुकृतात्मकं दुष्कृतात्मकं च । सुकृतात्मकं यज्ञादि, दुष्कृतात्मकं च ब्रह्महत्यादि । यज्ञादि हि सुकृतमुन्नमय्य स्वर्गादिलोकान् प्रापय्य पातयति, ब्रह्महत्यादि त्वधः पातयत्येवेति विशेषेऽपि पातयितृत्वसाम्यादुभयमपि पातकमेव । अत एव च श्रुतौ पुण्यमपि पाप्मेत्युच्यत इति दर्शितमेव प्राक् ( ४।२१ ) । तत्र यज्ञादिरूपं सुकृतं पातनसाम्येऽपि प्रथममुन्नमयतीति पुण्यमुच्यते; यथा चन्द्रिकासाम्येऽपि मुखतः प्रकाशः पक्षः शुक्लपक्षः, वस्तुगत्या तु संसारप्रवाहोपरमपरिपन्थित्वात्तदपि पापमेव । अस्ति च तत्र हिंसारूपं प्रत्यक्षमेव दुष्कृतम् । न च यागीयहिंसाया वैधत्वान्न पापत्वमिति वाच्यम्; विधेः सकामपरत्वात्, हिंसायाश्च स्वरूपत एव पापत्वात् । तथा चोक्तं **सात्वततन्त्रे**— यज्ञे पशोरालभने नैव दोषोऽस्ति यद्वचः । अपि प्रवृत्ती रागिणां निवृत्तिस्तु गरीयसी ॥ ( ८।११ ) इति, 'मयापि ह्यागमे हिंसा विहिता या विधानतः । सापि कामुकलोकानां कामिता फलसिद्धये ॥ ( ९।४३ ) इति च । दृश्यते च यज्ञीयहिंसाया अपि दुरुदर्कत्वम् 'भो भो प्रजापते ! राजन् ! पशून् पश्य त्वयाऽध्वरे । संज्ञापिताञ्जीवसङ्घान्निर्घृणेन सहस्रशः ॥ एते त्वां सम्प्रतीक्षन्ते स्मरन्तो वैशसं तव । सम्परेतमयःकूटैश्छिन्दन्त्युत्थितमन्यवः'॥ ( भाग. ४।२५।७–८ ) 'ये तु नैवंविदोऽशान्ता मूढाः पण्डितमानिनः । यजन्त्यविरतं देवान् पशून्हत्वा सुखेच्छया ॥ कामभोगावसाने तं नेच्छेत्स्यन्ति विनिश्चितम् ।' (सा. तं. ९।५०) इत्यादौ । अतः स्वरूपतः पापमेव यज्ञादि, किन्तु वैधत्वेन प्रत्यवायजनकत्वात् उत्तमगतिप्रदत्वाच्च तत्पूतत्वेन विशिष्यते । परमार्थतः पुण्यं तु ज्ञानमेव, तदुक्तं 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रं' [४।३८] इति । तदेतदभिसन्धायाह **ज्ञानदेवः**—

य एवं दीक्षिताः सोमपीथिनो यज्ञरूपिणः । तैरर्जितं पुण्यसंज्ञं पापमेवेत्यवेहि भोः ॥
वेदत्रयं विदित्वाऽथ यज्ञैरिष्ट्वा परश्शतैः । इष्टं विहाय मां मूढा वृणते त्रिदशालयम् ॥
कल्पद्रुमतले स्थित्वा नक्तकेन प्रसेविकाम् । सङ्ग्रथ्य भिक्षितुं यान्ति हतभाग्या यथाऽन्यतः ॥
मामिष्ट्वा शतशो यज्ञैस्तथेच्छन्ति त्रिविष्टपम् । पुण्यमेतत्कथं ? पार्थ ! पापमेव न किन्त्विदम् ? ॥
पुण्यात्मकेन दुरितेन दिवं प्रयान्ति पापात्मकेन च नरा नरके पतन्ति ॥
विन्दन्ति येन तु परं सुखमद्वयं मां पुण्यं पृथातनय ! विद्धि तदेव शुद्धम् ॥ इति

२ स्वर्गे कृतस्यापि कर्मणः फलाभावात् इहाचीर्णे पुण्ये क्षीणे स्वर्गाच्च्यवन्त एव, न तु साधनसौलभ्येऽपि तत्र कथमपि पुण्यमुपचेतुं शक्नुवन्ति । तदुक्तम्— 'इह कर्म कृतं लोकैर्भोक्तव्यं शुभरूपकम् । तत्र कर्म कृतं लोकैस्तदेव फलहीनकम् ॥' ( मुद्र. पु. १।१८।५३ ) इति ॥ अत एव 'कृतस्य कर्मणस्तत्र भुज्यते यत्फलं दिवि । न चान्यत्क्रियते कर्ममूलच्छेदेन भुज्यते ॥' (म. भा. ३।२६१।२८ ) इति वर्ण्यते । 'विशन्ति' इत्यनेन च बलवद्भिः सुभटैः प्रेरिताः कुन्ताः शत्रुशरीरमिवानिच्छन्तोऽपि देवदूतनोदिताः सहसा प्रविशन्तीति तत्पारवश्यं व्यज्यते । उक्तं चैतद्ययातिना— 'तत्र स्थितं मां देवसुखेषु सक्तं कालेऽतीते महति ततोऽतिमात्रम् । दूतो देवानामब्रवीदुग्ररूपो ध्वंसेत्युच्चैस्त्रिःप्लुतेन स्वरेण ॥ एतावन्मे विदितं राजसिंह ! ततो भ्रष्टोऽहं नन्दनात्क्षीणपुण्यः ।' (म.भा.१।८१।२०) इति ॥ अत्र 'इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः । नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति ॥' (मुं.१।२।१०) इति श्रुतिः स्मर्तव्या ॥ 'त्रयीधर्मं' इत्यपि पाठः । –**अविगीता** ।

पुण्यफलमासाद्य सम्प्राप्य सुरेन्द्रलोकं शतक्रतोः स्थानमश्नन्ति भुञ्जते दिव्यान्दिवि भवानप्राकृतान् देवभोगान् देवानां भोगास्तान् ॥ २० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— भगवद्भक्तानामपि निष्कामानामेव मुक्तिरिति दर्शयितुं सकामानां पुंसां संसारमवतारयति— **ये पुनरि**ति । तिस्रो विद्या अधीयते विदन्तीति वा त्रैविद्या वेदविदस्तदाह— **ऋगि**ति । वस्वादीत्यादिशब्देन **सवनद्वये**शानादित्या रुद्राश्च गृह्यन्ते । शुद्धकिल्बिषा निरस्तपापा इति यावत् ॥ २० ॥

**१ शां. भा.— ते तमिति । ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं विस्तीर्णं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकमिमं विशन्त्याविशन्ति । एवं हि यथोक्तेन प्रकारेण त्रैधर्म्यं केवलं वैदिकं कर्मानुप्रपन्ना गतागतं गतं चाऽऽगतं च गतागतं गमनागमनं कामकामाः कामान्कामयन्त इति कामकामा लभन्ते गतागतमेव, न तु स्वातन्त्र्यं क्वचिल्लभन्त इत्यर्थः ॥ २१ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— तर्हि स्वर्गप्राप्तिरपि भगवत्प्राप्तितुल्येत्याशङ्क्याऽऽह— **ते तमि**ति । पुण्ये स्वर्गप्राप्तिहेताविति यावत् । प्रसिद्धयर्थो हिशब्दः । त्रयाणां हौत्रादीनां वेदत्रयविहितानां धर्माणां समाहारस्त्रिधर्मं तदेव त्रैधर्म्यं तदनुप्रपन्नास्तदनुगता इति यावत् । कामकामानां गमनागमनद्वारा कामितफलाप्तिश्चेदिष्टमेव चेष्टितमित्याशङ्क्याऽऽह— **गते**ति ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.— एवं महात्मनां ज्ञानिनां भगवदनुभवैकभोगानां वृत्तमुक्त्वा तेषामेव विशेषं दर्शयितुमज्ञानां कामकामानां वृत्तमाह— त्रैविद्या इति । ऋग्यजुस्सामरूपास्तिस्रो विद्यास्त्रिविद्यम् ; केवलं त्रिविद्यनिष्ठास्त्रैविद्याः, न तु त्रय्यन्तनिष्ठाः; त्रय्यन्तनिष्ठा हि महात्मानः पूर्वोक्तप्रकारेण निखिलवेदवेद्यं मामेव ज्ञात्वाऽतिमात्रमद्भक्तिकारितकीर्तनादिभिर्ज्ञानयज्ञेन च मदेकप्राप्या मामेवोपासते । त्रैविद्यास्तु वेदप्रतिपाद्यकेवलेन्द्रादियागविशिष्टसोमान् पिबन्तः पूतपापाः स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिपापात्पूतास्तैः केवलेन्द्रादिदैवत्यतयाऽनुसंहितैर्यज्ञैर्वस्तुतस्तद्रूपं मामिष्ट्वा तथावस्थितं मामजानन्तः स्वर्गगतिं प्रार्थयन्ते; ते पुण्यं दुःखासम्भिन्नं सुरेन्द्रलोकं प्राप्य तत्रतत्र दिव्यान् देवभोगानश्नन्ति; ते तं विशालं स्वर्गलोकं भुक्त्वा तदनुभवहेतुभूते पुण्ये क्षीणे पुनरपि मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रय्यन्तसिद्धज्ञानविधुराः काम्यस्वर्गादिकामाः केवलं त्रयीधर्ममनुप्रपन्नाः गतागतं लभन्ते अल्पास्थिरस्वर्गादीननुभूय पुनः पुनर्निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ २० ॥ २१ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— 'सदसच्चाहमर्जुन!' इत्यस्यानन्तरं 'त्रैविद्याः' इत्यादिकमसङ्गतमिति शङ्कायां पूर्वोत्तरानुवृत्तप्रघट्टकार्थं प्रदर्शयन् सङ्गतिमाह— **एवं महात्मना**मिति । **महात्मनां ज्ञानिनां भगवदनुभवैकभोगाना**मिति त्रिभिः 'महात्मानस्तु' 'ज्ञात्वा' 'अनन्यमनसः' [ ९।१३ ] इति प्रागुक्तस्मारणम् । 'अवजानन्ति' [ ९।११ ] इत्याद्यपेक्षया 'महात्मानस्तु' इत्यादेः विशेषकथनरूपत्वेऽपि भजनकीर्तनादेर्भक्तस्वरूपनिरूपकतया **वृत्तमुक्त्वे**त्युक्तम् । एवं निरूपितस्वरूपाणां तेषां निरतिशयफलसौकर्यादिकमभिधास्यमानं विशेषो भवितुमर्हतीति **तेषामेव विशेषं दर्शयितु**मित्युक्तम् । **अज्ञाना**मित्यनेन 'परं भावमजानन्तः' [ ९।११ ] इति प्रागुक्ता एवात्र फल्गुफलयोगादिभिः प्रपञ्च्यन्त इति सूचितम् । 'त्रैविद्याः' इत्यत्र सङ्ख्याविशेषप्रसिद्ध्या 'त्रयीधर्मम्' इति वक्ष्यमाणानुसन्धानाच्च विद्यां विशिंषन् समासार्थं चाह **ऋग्यजु**रिति । तिस्रो विद्याः समाहृता इति द्रष्टव्यम् । द्विगुसमासत्वात् त्रिविद्यमित्येकवद्भावनपुंसकत्वे । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' इत्यस्य 'पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः' इत्यपवादः । 'तदधीते तद्वेद' [अष्टा. ४।२।५९ ] इत्यण्प्रत्ययविवक्षयाऽऽह **त्रिविद्यनिष्ठा** इति । सर्ववेदविषयत्वे विरोधात्कर्ममात्रविषयत्वज्ञापनाय **केवल**शब्दः । तदेव विशदयति **न तु त्रय्यन्तनिष्ठा** इति । विषयव्यवस्थापनाय पूर्वोक्तानां महात्मनामपि वेदैकदेशभूतोपनिषन्निष्ठत्वं सर्वस्यापि वेदस्य तत्तद्द्वारा भगवत्परत्वस्वीकारं च वदन्, यथावस्थितज्ञानाधीनपुरुषार्थविशेषाभिलाषतदुपायनिष्ठतामात्रेण विशेषात्सिद्धान्तान्तरनिष्ठत्वभ्रमं च व्युदस्यन्, केवलत्रयीनिष्ठवृत्तव्याख्यानावसरे तद्व्यवच्छेद्यमखिलं दर्शयति **त्रय्यन्तनिष्ठा हीति** । एतेन प्रकरणान्तरेषु 'चतुर्थी विद्या' इति मोक्षसाधनभूता त्रय्यन्तविद्यैवोच्यते इति दर्शितम् । यथाऽऽह जनकाय याज्ञवल्क्यः— 'एषा तेऽऽन्वीक्षिकी विद्या चतुर्थी साम्परायिकी' [ म. भा. १२।३१८।४७ ] इति 'चतुर्थी राजशार्दूल ! विद्यैषा साम्परायिकी' [ म. भा. १२।३१८।३५ ] इति च ।

**वेदप्रतिपाद्येति**— कर्मभागमात्रप्रतिपाद्येत्यर्थः । महात्मनामपि विद्याङ्गकर्मगतसोमपानसद्भावात्तद्व्यवच्छेदायोक्तं **केवलेन्द्रादियागशिष्टेति** । अयज्ञशिष्टसोमपानस्याधर्मत्वाद्यागशिष्टत्वोक्तिः । 'स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते' इत्यनन्तरमभिधानात्तत्प्रतिबन्धकपापनिरासकत्वमात्रमेवात्र सोमपानस्येत्यभिप्रायेण **स्वर्गादिप्राप्तिविरोधिपापात्पूता** इत्युक्तम् । स्वर्गशब्दोपलक्षणार्थत्वज्ञापनायादिशब्दः । पापस्य पूतत्वं नाम निरस्तत्वम्; तदेव हि पुरुषस्य पूतत्वमित्यभिप्रायेण **पापात्पूता** इति निर्देशः। पापान्मुक्ता इत्यर्थः। स्वर्गाद्यर्थिनां तत्त्वतो भगवज्ज्ञानाभावस्य साक्षाद्भगवद्याजिनां भगवत्प्राप्तेः केवलेन्द्रादियागानामपि वस्तुतः परमपुरुषाराधनरूपत्वस्य तज्ज्ञानाभावाच्च तेषां वैकल्यस्य 'ये त्वन्यदेवताभक्ताः' [ ९।२३ ] इत्यादिश्लोकत्रयेण वक्ष्यमाणत्वात्, 'यज्ञैर्मामिष्ट्वा' इत्येतत्परमपुरुषस्य स्वानुसन्धानमात्रमूलं वचः ; न पुनर्यजमानानुसन्धानमूलमिति ज्ञापनायोक्तं **तैरित्यादि अजानन्त** इत्यन्तम् । **अनुष्ठानस्य** फलकामनापूर्वकत्वेऽपि यज्ञानन्तरमेव हि फलं देहीति देवतां प्रति प्रार्थनम् ; अतः 'इष्ट्वा' 'प्रार्थयन्ते' इति क्रमोपपत्तिः । पुण्यक्रियातज्जन्यादृष्टयोर्लोकसामानाधिकरण्यायोगात् सुरेन्द्रलोकस्य फलमात्ररूपस्य पावनत्वेनाश्रुतत्वात् प्रभूतदुःखासम्भिन्नत्वस्य च श्रुतत्वात्पुण्यप्रतिक्षेप्यपापकार्यदुःखनिवृत्तिपरोऽयं पुण्यशब्द इत्यभिप्रायेणोक्तं **दुःखासम्भिन्नमिति** । पुण्यसाध्यसुखमयत्वलक्षणायां वा दुःखनिवृत्तिरर्थसिद्धा । पुण्यसाध्यत्वलक्षणायां त्वर्थतः पुनरुक्तिः स्यात् । 'सुरेन्द्रलोकं प्राप्य' इत्युक्तेऽपि पुनः 'दिवि' इति निर्देशो विचित्रभोगाश्रयतत्तदवान्तरप्रदेशविशेषविषयो भवितुमर्हतीति **तत्रतत्रे**त्युक्तम् । **दिव्यानिति** मोहनत्वाय भौमभोगवैलक्षण्यकथनम् । दिव्यान् दिवि भवान्; देवभोगान् देवानां भोग्यानित्यर्थः । देवभोग्यपशुपुरोडाशादिभौमव्यवच्छेदार्थं च **दिव्य**शब्दः । देवा हि स्वरूपतः कालतश्च परिमितान् स्वभोगान् स्वयाजिभ्यः संविभजन्ते । अश्नन्ति भुञ्जते, अनुभवन्तीत्यर्थः।

**भुक्त्वेति** ह्यनूद्यते । 'विशालम्' इत्यनेन भौमभोगापेक्षया पृथुत्वसूचनम् । **स्वर्गलोकं भुक्त्वेति** स्वर्गलोकसम्भवान् भोगाननुभूयेत्यर्थः । नहि स्वर्गानुभवाद्बन्धकपुण्यान्तरक्षयः ; कर्मशेषेण विशिष्टजात्यादिप्राप्तिः श्रूयत इत्यभिप्रायेणोक्तं **तदनुभवहेतुभूत** इति । एतेन 'स्वर्गेऽपि पातभीतस्य' [ वि. पु. ६।५।५० ] इत्यादि दर्शितम् । मर्त्यशब्देन भूलोकेऽप्यस्थिरत्वं द्योतितम् । एवंशब्दाभिप्रेतेन प्रकारेण त्रयीशब्दस्य तत्र सङ्कोचं, कामकामत्वे हेतुं च दर्शयति **एवं त्रय्यन्तसिद्धज्ञानविधुरा** इति । अनुवादोऽयं स्वरूपतो मोक्षानुगुणस्यापि धर्मस्य प्रकारविशेषात्पुनरावृत्तिहेतुत्वमिति ज्ञापनार्थः । पूर्वः कामशब्दः कर्मणि व्युत्पन्न इत्याह **काम्यस्वर्गादिकामा** इति । मोक्षस्यापि फलतया काम्यमानत्वात्ततोऽत्र सङ्कोचाय स्वर्गादिशब्दः । केवलशब्देन त्रय्यन्तसिद्धस्वाङ्गिभूतपरमधर्मराहित्योक्तिः । गतं चागतं च गतागतं, तदेव लभन्ते । नहि गमनागमनमात्रं दोष इत्यत्राह **अल्पेति** । अनुभवदशायामप्यल्पत्वात् , 'यथा पशुरेवं स देवानाम्' [ बृ. उ. १।४।१० ] इति प्रक्रिययाऽतिशयितब्रह्मादिसुखानुसन्धानेन दुःखत्वम् ; तस्य चास्थिरत्वानुसन्धानाद्दुःखतरत्वम् ; तत्प्रध्वंसागमे तु दुःखतमत्वम् ; घटीयन्त्रन्यायेन पुनरावृत्त्यधीनगर्भवासव्याधिनिरयादिसम्भवं तु दुःखं वक्तुमपि दुस्सहम् ; तच्चासङ्ख्यातप्रवाहमिति भावः ॥ २० ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.**— तथापि मद्भजनमेवान्यदेवताभजनाद्वरमिति दर्शयति— **त्रैविद्या इत्यादिना** ॥ २० ॥ २१ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'सदसच्चाहमर्जुन !' [ ९।१६ ] इति विज्ञानस्योपसंहृतत्वादुत्तरस्यासङ्गतिमाशङ्क्याह— **तथापीति** । 'अहं क्रतुः' [ ९।१६ ] इत्यादिना सर्वक्रत्वादिभोक्तृत्वं यदुक्तं भगवतस्तत्सदसदिति वक्ष्यामीति गूढाभिसन्धिना यदि सर्वत्र भोक्ता भगवान् , तर्हि किं भागवतानां त्रैविद्यानां च फलसाम्यमेव ? इति पृष्टस्येदमुत्तरमित्याशयः । तथापि सर्वत्र भगवतो भोक्तृत्वेऽपि मद्भजनं भागवतैरनुष्ठितम् , देवतेति पित्राद्युपलक्षणम्; त्रैविद्याद्यनुष्ठिताद्वरमुत्कृष्टफलम् । इत्यादिना श्लोकत्रयेण ॥ २० ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **त्रैविद्या इति** । त्रैविद्या ऋग्यजुस्सामविदो मां सर्वेश्वरं सोमपाः सोमयाजिनः पूतपापाः क्षालितकल्मषा यज्ञैरग्निष्टोमादिभिरिष्ट्वाऽऽराध्य स्वर्गतिं स्वर्गलोकप्राप्तिं प्रार्थयन्त आशासते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति भुञ्जते दिव्यानप्राकृतान्देवभोगान् ॥ २० ॥

**त इति** । ते स्वर्गिणो विशालं विस्तीर्णम्। क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं यथोक्तेन प्रकारेण त्रयीधर्ममृग्यजुस्सामवेदोक्तधर्ममनुप्रपन्ना आश्रिता गतागतं गमनागमनं विषयान्कामान्कामयन्त इति कामकामा लभन्ते प्राप्नुवन्ति ॥ २१ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवम् 'सततं कीर्तयन्तो माम्' [ १४ ] 'ज्ञानयज्ञेन' इति श्लोकद्वयेन [ १५ ] सप्रकारं भगवदुपासनान्युक्तानि, तेषु केनापि प्रकारेण भगवन्तमनुपासीनानां केवलकाम्यकर्मानुष्ठायिनां जन्ममृत्युप्रवाहो दुर्निवार इत्याह द्वाभ्याम्— **त्रैविद्या इति** । ऋग्यजुस्सामवेदाख्यास्तिस्रो विद्या जानन्तीति त्रैविद्याः । 'त्रयीधर्ममनु-

प्रपन्नाः' इति हि वक्ष्यति । केवलं त्रयीनिष्ठाः, न तु त्रय्यन्तनिष्ठा इत्यर्थः । यज्ञैरग्निष्टोमादिभिः सवनत्रये वसुरुद्रादित्यरूपं मामिष्ट्वा तद्रूपेणावस्थितं मामजानन्तोऽपि वस्तुतो मां पूजयित्वा अभिषुत्य हुत्वा सोमं पिबन्तः, तत एव पूतपापाः शोधितस्वर्गविरोधिकल्मषाः सन्तः स्वर्गतिं ये प्रार्थयन्ते, न तु सत्त्वशुद्धिम् ; ते पुण्यं दुःखासम्भिन्नं सुरेन्द्रलोकं प्राप्य, तत्र दिवि दिव्यानमानुषान्देवभोगानश्नन्ति भुञ्जते ॥ २० ॥

ततश्च ते तं काम्यपुण्यफलं विशालं विस्तीर्णं स्वर्गलोकं भुक्त्वा, तद्भोगजनके पुण्ये क्षीणे सति तद्देहनाशात्पुनर्देहग्रहणाय मर्त्यलोकं विशन्ति, पुनर्गर्भवासादियातना अनुभवन्तीत्यर्थः । एवं त्रयीधर्मं वेदत्रयोक्तं काम्यं कर्मैवानुप्रपन्नाः पुनः पुनः कुर्वाणाः, न तु त्रय्यन्तसिद्धज्ञानधर्मनिष्ठा इत्यर्थः । कामकामाः स्वर्गकामाः गतागतं जन्ममृत्युप्रवाहरूपयातायातं लभन्ते ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— त्रैविद्या इति । त्रिगुणात्मकत्रिवेदविद्यायां निष्णाताः, तथा च त्रिगुणकर्मकारिणः तथाविधैरेव यज्ञैस्तत्तद्देवताविशेषं समाराध्य वस्तुतस्तत्राहमेवेति मामित्युक्तम् । स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते । स्वर्गतिमित्युपलक्षणं कर्मानुगुणलोकानाम् । तथाहि निबन्धे– 'सात्त्विकः सात्त्विकं कर्म यथा श्रुतिपरः कृती । स्वर्गलोकस्तस्य सिद्ध्येद्विमानैस्त्रीभिरावृतः ॥ पुण्यस्य तु तिरोधाने पतत्यर्वाक्शिरास्ततः । पुण्यशेषं समादाय समीचीनेषु जायते ॥ राजसं कर्म कुर्वाणो मेर्वादिसुखभाग्भवेत् । तामसं कर्म कुर्वाणोऽधोलोके सुखभाग्भवेत् ॥ राजसं सात्त्विकं कुर्वन् दैत्यसर्गेषु जायते । राजसं कर्म कुर्वाणश्चन्द्रलोके सुखी भवेत् ॥ वृष्टिद्वाराऽन्नरूपः सन् रेतोयोनिषु जायते । तामसं कर्म कुर्वाणो यक्षलोके सुखी भवेत् ॥ तामसः सात्त्विकं कुर्वन् पितृलोके महीयते । राजसं कर्म कुर्वाणो भूतादिसुखमाप्नुयात् ॥ तामसं कर्म कुर्वाणः सर्पादिसुखभाग्भवेत् । सर्वेषां पुनरावृत्तिस्तथा कर्म पुनर्भवः' इति । तदाह–'क्षीणे पुण्ये' इति । न तु क्षीणे लोके "तद्यथेह कर्मजितो [ चितो ] लोकः क्षीयत एवमेव अमुत्र पुण्यजितो [ चितो ] लोकः क्षीयते" [ छां. उ. ८।१।६ ] इति श्रुतिस्तूपचारमात्रम् । एवं त्रयीधर्मपराः कामकामा गतागतमवाप्नुवन्ति जन्ममरणपर्यावर्त्तमनुभवन्तो गुणप्रवाहमार्गे पतिता भवन्तीत्यर्थः । अयं जायस्व म्रियस्वेति तृतीयो दुष्टोऽधर्म - ( गुण - ) प्रवाहमार्ग उक्तः, तत्र अधर्मप्रवाहमार्गे जीवा नाङ्गीकृताः केनापि स्वरूपेण; किन्तु माययेति सिद्धान्तः ॥ २० ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं बहुप्रकारकं यत्स्वस्वरूपमुक्तं तदज्ञात्वा ये यज्ञादिकमन्यथा कुर्वन्ति सकामास्ते जन्ममरणात्मके संसारे तिष्ठन्तीत्याह द्वाभ्याम्— त्रैविद्या इति । त्रैविद्याः वेदत्रयीनिरूपितकर्मकर्त्तारः । सोमपाः यज्ञशेषामृतपातारः । पूतपापाः कर्मिणां पापसम्भवाद्विधूतकल्मषाः । यज्ञैरेव वा विधूतकल्मषाः । मां यज्ञैरिष्ट्वा मदाज्ञारूपत्वेन भक्तिप्रतिबन्धनिवर्तकत्वमज्ञात्वा तत्स्वरूपं चाज्ञात्वा स्वर्गतिं इन्द्रादिलोकं प्रार्थयन्ते ॥ २० ॥ ते पुण्यात्मकं सुरेन्द्रलोकमासाद्य प्राप्य दिवि स्वर्गे स्वर्गलोकं विशालं सकलविषयभोगयोग्यं भुक्त्वा भोगेन पुण्ये क्षीणे सति मर्त्यलोकं विशन्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एवं प्रकारेण त्रयीधर्ममिष्टं परित्यज्य कामकामाः सन्तोऽनुप्रपन्नाः गतागतं जन्ममरणात्मकप्रवाहं लभन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— ये पुनरुक्तेषु प्रकारेष्वन्यतमेनापि मां न भजन्ते ते केवलकर्मठाः कां गतिं प्राप्नुवन्तीति शृणु— त्रैविद्या इति । तिस्रः ऋग्यजुस्सामरूपाः विद्या येषां ते त्रिविद्याः, त एव त्रैविद्याः । सोमपाः सोमपायिनो याज्ञिकाः यज्ञैर्मामिष्ट्वा स्वर्गतिं फलं प्रार्थयन्ते दिव्यान् अप्राकृतान् सङ्कल्पमात्रोपनतान् दुःखासम्भिन्नान् ॥ २० ॥ त्रयी वेदत्रयी तस्यामुक्तं धर्मं त्रयीधर्मं काम्ययज्ञं कामकामाः विषयकामुकाः गतागतं यातायातं सातत्येन लभन्ते । तथा च श्रुतिः–"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति" [ मुं. उ. १।२।७ ] इति । अष्टादशेति— षोडशर्त्विजः यजमानः पत्नी चेति द्वौ ॥ २१ ॥

निष्कामानामनन्यभक्तानां भगवद्भजनमेव सर्वसिद्धिकरम् ।

**[1]अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।**
**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ २२ ॥**

---

१ अनन्या इति । अनन्यतालक्षणमाह देवर्षिः—'अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता' (ना. भ. सू. १० ) इति।—अविगीता।

**१ शां. भा.**— ये पुनर्निष्कामाः सम्यग्दर्शिनः— अनन्या अपृथग्भूताः परं देवं नारायणमात्मत्वेन गताः सन्तश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः सन्यासिनः पर्युपासते, तेषां परमार्थदर्शिनां नित्याभियुक्तानां सतताभियोगिनां योगक्षेमं-योगोऽप्राप्तस्य प्रापणं, क्षेमस्तद्रक्षणं, तदुभयं वहामि प्रापयाम्यहम्। 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं' [७।१८] 'स च मम प्रियः' [७।१७] यस्मात्, तस्मात्ते ममाऽऽत्मभूताः प्रियाश्चेति।

**२ आ. शां. व्या.**— फलमनभिसन्धाय त्वामेवाऽऽराधयतां सम्यग्दर्शननिष्ठानामत्यन्तनिष्कामानां कथं योगक्षेमौ स्यातामित्याशङ्क्याऽऽह— **ये पुनरि**ति। 'तेषां योगक्षेमं वहामि' इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। येभ्योऽन्यो न विद्यत इति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह— **अपृथगि**ति। कार्यस्येव कारणे तादात्म्यं व्यावर्तयति— **परमि**ति। अहमेव वासुदेवः सर्वात्मा, न मत्तोऽन्यत्किञ्चिदस्तीति ज्ञात्वा तमेव प्रत्यञ्चं सदा ध्यायन्त इत्याह— **चिन्तयन्त** इति। प्राकृतान्व्यावर्त्य मुख्यानधिकारिणो निर्दिशति— **सन्यासिन** इति। पर्युपासते परितः सर्वतोऽनवच्छिन्नतया पश्यन्तीत्यर्थः। नित्याभियुक्तानां नित्यमनवरतमादरेण ध्याने व्यापृतानामित्याह— **सतते**ति। योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमम्। तत्रापुनरुक्तमर्थमाह— **योग** इति। किमर्थं परमार्थदर्शिनां योगक्षेमं वहसि? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ज्ञानी त्वि**ति। अतस्तेषां योगक्षेमं वहामीति सम्बन्धः।

**१ शां. भा.**— नन्वन्येषामपि भक्तानां योगक्षेमं वहत्येव भगवान्, सत्यमेवं वहत्येवः किन्तु अयं विशेषः— अन्ये ये भक्तास्ते स्वात्मार्थं स्वयमपि योगक्षेममीहन्ते, अनन्यदर्शिनस्तु नाऽऽत्मार्थं योगक्षेममीहन्ते; न हि ते जीविते मरणे वाऽऽत्मनो गृद्धिं कुर्वन्ति, केवलमेव भगवच्छरणास्ते; अतो भगवानेव तेषां योगक्षेमं वहति— इति ॥ २२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सम्यग्दर्शननिष्ठानामेव योगक्षेमं वहति भगवानिति विशेषणममृष्यमाणः शङ्कते— **नन्वि**ति। अन्येषामपि भक्तानां भगवान्योगक्षेमं वहतीत्येतदङ्गीकरोति— **सत्यमि**ति। तर्हि भक्तेषु ज्ञानिषु च विशेषो नास्तीति पृच्छति— **किन्त्वि**ति। तत्र विशेषं प्रतिज्ञाय विवृणोति— **अयमि**त्यादिना। योगक्षेममुद्दिश्य स्वयमीहन्ते चेष्टां कुर्वन्तीति यावत्। आत्मविदां स्वार्थे योगक्षेममुद्दिश्य चेष्टाभावं स्पष्टयति— **न ही**ति। गृद्धिरपेक्षा कामना, तामित्येतत्। ज्ञानिनां तर्हि सर्वत्रानास्थेत्याशङ्क्याऽऽह— **केवलमि**ति। तेषां तदेकशरणत्वे फलितमाह— **अत** इति। इतिशब्दो विशेषशब्देन सम्बध्यते॥२२॥

**३ रा. भा.**— महात्मानस्तु निरतिशयप्रियरूपं मच्चिन्तनं कृत्वा मामनवधिकातिशयानन्दं प्राप्य न पुनरावर्तन्त इति तेषां विशेषं दर्शयति— **अनन्या** इति। अनन्याः अनन्यप्रयोजनाः, मच्चिन्तनेन विनाऽऽत्मधारणलाभान्मच्चिन्तनैकप्रयोजनाः मां चिन्तयन्तो ये महात्मानो जनाः पर्युपासते सर्वकल्याणगुणान्वितं सर्वविभूतियुक्तं मां परित उपासते अन्यूनमुपासते, तेषां नित्याभियुक्तानां मयि नित्याभियोगं काङ्क्षमाणानामहं मत्प्राप्तिलक्षणं योगं अपुनरावृत्तिरूपं क्षेमं च वहामि ॥ २२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उपायस्यापि सुखरूपतया फलस्य च नित्यनिर्दोषनिरतिशयानन्दतया महात्मनां विशेषोऽभिधीयत इत्याह **महात्मानस्त्वि**ति। अनन्यत्वविशेषणवशाच्चिन्तनस्य निरतिशयसुखरूपत्वसिद्धिः। 'मां' इत्यादिना योगक्षेमशब्दविवक्षितमुक्तम्। यद्यपि 'ये त्वन्यदेवताभक्ताः' [९।२३] इति वक्ष्यमाणावेक्षणेनान्यदेवताप्रतीतिः, तथापि प्रकृतकाम्यव्यवच्छेदार्थत्वादुपायसहचरं ततोऽन्यत्फलं व्यवच्छेत्तुं **अनन्य**शब्दः। अत एवैकत्वानुसन्धानपरत्वं चायुक्तमिति दर्शयति **अनन्यप्रयोजना** इति। तत्र हेतुमाह **मच्चिन्तनेन विने**ति। 'अनन्याश्चिन्तयन्तः' इति समभिव्याहारसामर्थ्याच्चिन्तनादन्यस्य निषेधसिद्धिः। निर्विशेषणस्य जनशब्दस्याकृतिगणतुल्ये जने प्रयोगात्तद्व्यवच्छेदाय प्रकरणसिद्धमुक्तं **ये महात्मानो जना** इति। ये महात्मानो जानन्ति तेषामेव हि जननसाफल्यमिति भावः। 'पर्युपासते' इत्यत्र प्रयुक्तस्य परीत्यस्योपसर्गस्य नैरर्थक्यायोगात्तदर्थं परित इति विवक्षिते तस्यैव प्रमाणान्तरसिद्धविशेषं दर्शयति **सर्वकल्याणे**ति। प्रतीकोपासनव्यवच्छेदार्थमिदमुक्तमित्यभिप्रायेणाह **अन्यूनमि**ति। अखण्डितगुणविभूतिकमित्यर्थः। अत्र 'अहं' इत्यनेन परमोदारत्वसौशील्यादिगुणविवक्षा। नहि मोक्षकाङ्क्षिणामानुषङ्गिकभोग-( प्राधान्येऽ )-प्रदानेऽपि मोक्षानुपयुक्तशरीरयात्रादिरूपौ योगक्षेमौ दातव्यावित्यभिप्रायेणाह **मत्प्राप्ती**ति। अलब्धलाभो योगः; लब्धरक्षणं क्षेमः। समाहारार्थत्वादेकवद्भावः। वहामि ददामीत्यर्थः ॥ २२ ॥

५ आ. मा. भा.— अनन्याः अन्यदचिन्तयित्वा । तथा हि गौतमखिलेषु—“सर्वं परित्यज्य मनोगतं यद्विना देवं केवलं शुद्धमाद्यम् । ये चिन्तयन्तीह तमेव धीरा अनन्यास्ते देवमेवाविशन्ति” इति । ‘कामं कालेन महता एकान्तित्वात्समाहितैः । शक्यो द्रष्टुं स भगवान्प्रभासन्दृश्यमण्डलः’ इति मोक्षधर्मे [ म. भा. १२।३६६।२४।९५ ] । नित्यमभितः सर्वतो युक्तानाम् ॥ २२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ‘अद्वैतज्ञानिनोऽनन्याः’ इति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **अनन्या** इति । अविद्यमानमन्यद्येषां ते अनन्याः । तच्च ‘अनन्याश्चिन्तयन्तो मां’ इति प्रसङ्गाच्चिन्तनीयमिति लब्धे अन्यदचिन्तयित्वेति सिध्यति । प्रतीत एवार्थः किं न स्यात् ? इत्यत आह— **तथा** हीति । ‘देवमेव विशन्ति’ इत्यनेन ‘योगक्षेमं वहाम्यहं’ इत्युक्तार्थं भवति । अत्रैव काममित्यागमान्तरम् । प्रभया सन्दृश्यं मण्डलं स्वरूपं यस्यासौ तथोक्तः। दर्शनस्य योगक्षेमसाधनत्वं प्रसिद्धमेव । ‘नित्याभियुक्तानां’ इत्यस्यापवादविषयाणामित्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— **नित्यमि**ति । सर्वतः सर्वस्मिन्देशे । शरीरेन्द्रियमनोभिर्वा युक्तानां भगवति सेवोद्युक्तानाम् ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— न विद्यते मत्त ईश्वरादन्य उपास्यो येषां तेऽनन्याश्चिन्तयन्तो ये नराः पर्युपासते तेषां मयीश्वरे नित्याभियुक्तानां योगश्च क्षेमश्च योगक्षेमं वहामि बिभर्म्यहम् ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— मद्भक्तास्तु न तथेत्याह— **अनन्या** इति । **अनन्याश्चिन्तयन्त** इति द्वैताद्वैतभक्तानामुभयेषामपि प्रागुक्तानां निर्देशः, तत्र द्वैतभक्तपक्षेऽयमर्थः— न विद्यते मदन्यो भजनीयः प्राप्यः काङ्क्षणीयश्च पुरुषार्थो येषां ते अनन्याः मच्चिन्तनेन विना आत्मधारणालाभान्मां निरन्तरं चिन्तयन्तः सन्तो ये जनाः परितः सर्वदा उपासते, नित्याभियुक्तानामनवरतमनिष्ठानां तेषाम् । योगक्षेममिति द्वन्द्वैकवद्भावः । मत्प्राप्त्यपुनरावृत्तिरूपमामुष्मिकं योगक्षेमं शरीरयात्राद्यर्थधनादिलाभतत्परिपालनरूपमैहिकं योगक्षेमं च तैरप्रार्थितमप्यहमेव वहामि प्रापयामि; ऋणमिव तदीययोगक्षेमभारमहं बिभर्मीति वा, ‘ऋणं प्रवृद्धमिव मे हृदयान्नापसर्पति’ इत्युक्तेः । यथा हि मद्भक्ता मां विना क्षणमप्यात्मधारणं न लभन्ते, तथाऽहमपि तान्विना क्षणमप्यात्मधारणमलभमानस्तदीयसकलयोगक्षेमनिर्वाहको भवामि, ‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्’ [ ४।११ ] इति मम स्वाभाव्यादिति भावः ।

अद्वैतभक्तपक्षे तु— न विद्यतेऽन्यो भेददृष्टिविषयो येषां तेऽनन्याः ‘वासुदेवः सर्वं’ [ ७।१९ ] इति सर्वाद्वैतदर्शिनः स्वात्मानमेव मां चिन्तयन्तो ये जनाः सफलजन्मानः पर्युपासते सदाऽनुसन्दधते, तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेममहं वहामि, ‘ज्ञानी त्वात्मैव’ [ ७।१८ ] इति प्रागुक्तत्वेन तदीययोगक्षेमौ मदीयावेव भवत इत्यर्थः। यद्यपि सर्वेषामपि योगक्षेममखिलरक्षको भगवानेव वहति, तथाप्येतेषां प्रयत्नमुत्पाद्य तद्द्वारा वहति । ज्ञानिनां तु तमनुत्पाद्य स्वयमेव वहतीत्येतत् ‘अहं’ इत्यनेन सूचितम् ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०— मद्भक्तास्तु मदनुग्रहेण कृतार्था भवन्तीत्याह– अनन्या इति । अत्रेदमाकूतम्— भगवता मार्गत्रयं स्वत उद्भावितम्, मनसा वाचा स्वरूपेण चेति; तत्र स्वप्राप्त्यर्थं मार्गद्वयं प्रकटितं मर्यादारूपं पुष्टिरूपं च; तत्र येषां जीवानां दैवानां मर्यादायामङ्गीकारस्तेषां साधनक्रमेणैव भगवत्प्राप्तिः । यथाऽऽसुरावेशिनामपि मुक्तिं ददत्स्वरूपं दृष्टवतो मुचुकुन्दस्य दोषवर्णनपूर्वकं तद्रहिताग्रिमान्तिमजन्मनि स्वप्राप्तिकथनम् । येषां च पुष्टिभक्तिमार्गे तेषां केवलानुग्रहेणैव न साधनापेक्षयेति निश्चयः, यथा व्रजादिस्थितानाम् । तत्र तत्राङ्गीकारे चेच्छैव हेतुः स्वतन्त्रेच्छत्वान्नान्यनियम्यता । तथाच साधनवाक्यान्यत्र मर्यादामार्गपराणि । तत्राङ्गीकृतानां तथैव प्रवृत्तिः फलं च । पुष्टिमार्गे त्वङ्गीकृतानां ‘तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ।। यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।। सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।।’ [ भाग. ११।२०।३१-३३ ] इति भगवद्वाक्यैर्ज्ञानादिसाधनरहितानामेव भक्तिकथनम् । मद्भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वेनेतरसकलसाधनासाध्यसाधकत्वोक्तेश्च; नेतरसाधनसापेक्षता भक्तौ । ‘भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगं’ इति वाक्येऽपि मुक्तिसाधनपूर्णानामपि भगवद्दाने भक्तिप्राप्तिरदाने चाप्राप्तिरिति निरूपणादप्यनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं भक्तौ निश्चीयते । उक्तमार्गद्वये चाङ्गीकारोऽनुग्रहेणैवेति न मर्यादामार्गेऽपि भक्तेः साधनबलैकसाध्यत्वम् । अन्यथा जायस्व म्रियस्वेति तृतीयमार्गे एवाङ्गीकारं कथं न कुर्यात् ? । पुष्टौ साधनानां व्यभिचारादेव न हेतुत्वं, मर्यादायां न तथेति इदमग्रे स्पष्टीभविष्यति । ये जना मदीया अनन्या भावनान्तररहिताः ( साधनान्तररहिताः ) भावनान्तरया देवा-

न्तरविषया फलान्तरविषया मार्गान्तरविषया च तद्रहिताः मदनुग्रहैकलभ्यभक्तिमन्तः मां पुरुषोत्तममेव चिन्तयन्तः मर्यादापुष्टिमार्गीयाः मदुक्तमार्गेण मामुपासते सेवन्ते तेषां नित्यमेवाभितो युक्तानां सम्बद्धानां योगक्षेममिति। योगं इह लोके सेवोपयोगार्थं धनधान्यवस्त्रादिलाभं, क्षेमं चामुत्रात्यन्तिकं श्रेयो मोक्षलक्षणं वहामि साधयामि ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— अथ ये पूर्वोक्तसर्वस्वरूपं मदंशबलयुक्तं ज्ञात्वा सर्वं परित्यज्य मां भजन्ति, तेषां सर्वमहमेव करोमि, त उत्तमा इति तत्स्वरूपमाह— अनन्या इति। अनन्याः न विद्यते अन्यो लौकिकालौकिकादिषु प्रार्थ्यत्वेन येषां, वा मत्सेवनातिरिक्तं फलं येषां ते तथाभूताः सन्तो मामेकं चिन्तयन्तः सर्वतो मनोनिरोधेन मां स्मरन्तो ये दुर्लभा जनाः जन्मभाजो मत्सेवार्थकजन्मज्ञानवन्तः पर्युपासते परितः सर्वात्मभावेन सेवन्त इत्यर्थः। तेषां नित्याभियुक्तानां नित्यस्वरूपस्य मम सेवनपराणां मम नित्यमभियुक्तानां सम्मतानां योगं सेवार्थधनादिसम्पत्तिलाभं सेवने मद्योगं वा, क्षेमं तत्पालनं भक्त्युन्मुखीकरणात्मकं मद्भावरूपं वा अहं पुरुषोत्तमः वहामि पालयामीत्यर्थः। वहनोक्त्या तदशक्तौ स्वशक्त्याविर्भावेन तत्करोमीति व्यञ्जितम् ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं कर्मिणामावृत्तिं फलं चोक्त्वा भक्तानामपि मद्भजनेनैव सर्वसिद्धिरित्याह— अनन्या इति। नास्ति अन्य उपास्यो येषां, अहमेव भगवान्वासुदेव इति अभेदेन चिन्तयन्त इत्यर्थः। ये जनाः पर्युपासते परितः साकल्येन कार्त्स्न्येनाद्वैतदृष्ट्येत्यर्थः। उपासते तेषां नित्याभियुक्तानां सतताभियोगिनाम्। योगः अप्राप्तस्य अन्नादेर्योगभूमिकाया वा प्रापणम्। क्षेमः तस्यैव प्राप्तस्य संरक्षणं, तत् द्वयं अहमेव वहामि निर्वहामि। तैरन्नाद्यर्थं वा योगभूमिषूर्ध्वोर्ध्वभूमिलाभार्थं वा चिन्ता न कर्त्तव्येत्यर्थः। अनन्यचेतसां तेषां मदभिन्नत्वात्सर्वं सेत्स्यतीत्यर्थः। तथा चोक्तम्—'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ ७।१८ ] इति ॥ २२ ॥

भगवद्रूपान्यदेवतानभिज्ञानिनां तत्तद्भक्तानामधःपतनम्।

## येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः।
## तेऽपि मामेव कौन्तेय ! यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ २३ ॥

१ शां. भा.— नन्वन्या अपि देवतास्त्वमेव चेत्, तद्भक्ताश्च त्वामेव भजन्ते, सत्यमेव— ये इति। येऽप्यन्यदेवताभक्ता अन्यासु देवतासु भक्ता अन्यदेवताभक्ताः सन्तो यजन्ते पूजयन्ते श्रद्धया-

---

१ अत्राभिनवगुप्तपादाः— येऽपि च नामधेयान्तरैरुपासते, तेऽपि मामेवोपासते। नहि ब्रह्मव्यतिरेकि किञ्चिदुपास्यमस्ति। किन्त्वविधिनेति विशेषः। अविधिरन्यो विधिः। नानाप्रकारैर्विधिभिरहमेव परब्रह्मसत्तास्वभावो याज्य इति। न तु यथाऽन्यैर्दर्शनान्तरदूषणसमुपार्जितमहापातकमलीमसैर्व्याख्यातम्— अविधिना दुष्टविधिनेति। एवं हि सति मामेव यजन्ते, सर्वयज्ञानां चाहमेव भोक्तेति दृश्यमानमेतदसमञ्जसीभवेदित्यलं कल्मषकलिलैः सार्कं सँल्लापेन ॥ अस्मद्गुरवस्तु निरूपयन्ति— अन्या स्वात्मव्यतिरिक्ता भेदवादनयेन ब्रह्मस्वभावहीनैव काचिद्देवतेति गृहीत्वा तामेव यजन्ते, तेऽपि वस्तुतो मामेव स्वात्मरूपं यजन्ते, किन्त्वविधिना— दुष्टेन विधिना, भेदग्रहणरूपेणेति ॥ अत एवाह— न तु मां स्वात्मानं तत्त्वेन देवतारूपतया भोक्तृत्वेन जानन्ति, अतः च्यवन्ते मद्रूपात्। किं ? देवव्रतत्वेन देवान् यान्तीत्यादि। एतदेव च्यवनमिति यावत् ॥ ये तु मत्स्वरूपमभेदेन विदुः, ते देवभूतपितृयागादिनापि मामेव यजन्ति; ते च मद्याजिनो मामेव गच्छन्तीत्युपसंहरिष्यति ( २५ )। ननु द्रव्यत्यागार्थमुद्दिष्टा देवतोच्यते, तत्कथमनुद्दिश्य स्वात्मतत्त्वस्य याज्यत्वम् ? 'आदित्यश्चरुः प्रायणीयः' ( ऐ. ब्रा. १।२।५ ) इति विधिशेषभूतदेवतोद्देशात्मकविध्यन्तरप्रभावितो ह्यसावुद्देश्यः, न च स्वात्मविषयो विधिरस्तीत्यभिप्रायेणाह— अविधिपूर्वकं मामिति। स्वात्मव्यतिरिक्तायां देवतायामस्त्यपेक्ष्यो विधिः, अप्राप्तप्रापणरूपत्वात्। स्वात्मा तु परमेश्वरो न विधिपूर्वकः, विधिपरिप्राप्यत्वाभावात्। न हि त्वदनुद्देशेन किञ्चित्प्रवर्तते। तेन विधिपरिप्रापितेन्द्रादिदेवतोद्देशेषु सर्वेषु स स्वात्मा विश्वावभासनस्वभावः तदुद्देश्यदेवतावभासभित्तिस्थानीयतयैवाहमहमिकतया सततमवभासमानः स्रक्सूत्रकल्पः सततोद्दिष्ट इति युक्तिसिद्धमेतत्— मामेव यजन्तीति अविधिपूर्वकत्वात् मुख्यभूतमत्प्राप्तिफलस्य तान्प्रति कर्त्रभिप्रायत्वं नास्ति। अपितु परिमितदक्षिणास्थानीयेन्द्रपदादिमात्रप्राप्त्यैव याजकवच्चरितार्थत्वमेतेषामिति प्रथयितुं परस्मैपदम् ॥ एवं य उक्तक्रमेण वेत्ति, तस्येन्द्रादिदेवतायागोऽपि परमेश्वरयाग इति— वदन्ति ॥ ॥ एतेन 'तेऽपि यद्यपि विधिपूर्वकं न, तथापि पर्यायतः मामेव यजन्ति' इत्यादि नव्यव्याख्यानं निरस्तप्रायमिति न पृथक्प्रपञ्च्यते। —अविगीता।

ऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विता अनुगताः, तेऽपि मामेव कौन्तेय! यजन्त्यविधिपूर्वकं, अविधिरज्ञानं, तत्पूर्वकम्; अज्ञानपूर्वकं यजन्त इत्यर्थः॥ २३॥

२ आ. शां. व्या.— तत्तद्देवतात्मना परस्यैवाऽऽत्मनः स्थित्यभ्युपगमाद्देवतान्तरपराणामपि भगवच्छरणत्वाविशेषात् तदेकनिष्ठत्वमकिञ्चित्करमिति मन्वानः शङ्कते— नन्विति। उक्तमङ्गीकृत्य परिहरति— सत्यमित्यादिना। देवतान्तरयाजिनां भगवद्याजिभ्यो विशेषमाह— अविधीति। तद्व्याकरोति—अविधिरिति॥ २३॥

३ रा. भा.— ये त्विन्द्रादिदेवताभक्ताः केवलत्रयीनिष्ठाः श्रद्धयाऽन्विताः इन्द्रादीन् यजन्ते, तेऽपि पूर्वोक्तेन न्यायेन सर्वस्य मच्छरीरतया मदात्मकत्वेनेन्द्रादिशब्दानां च मद्वाचित्वाद्वस्तुतो मामेव यजन्ते; अपित्वविधिपूर्वकं यजन्ते; इन्द्रादीनां देवतानां कर्मस्वाराध्यतया अन्वयं यथा वेदान्तवाक्यानि "चतुर्होतारो यत्र सम्पदं गच्छन्ति देवैः" [तै. आ.४] इत्यादीनि विदधति; न तत्पूर्वकं यजन्ते। वेदान्तवाक्यजातं हि परमपुरुषशरीरतयाऽवस्थितानामिन्द्रादीनामाराध्यत्वं विदधदात्मभूतस्य परमपुरुषस्यैव साक्षादाराध्यत्वं विदधाति। चतुर्होतारः अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनि कर्माणि कुर्वाणा यत्र परमात्मन्यात्मतयाऽवस्थिते सत्येव तच्छरीरभूतैरिन्द्रादिदेवैः, सम्पदं गच्छन्ति– इन्द्रादिदेवानामाराधनान्येतानि कर्माणि मद्विषयाणीति मां सम्पदं गच्छन्तीत्यर्थः॥ २३॥

४ वे. ता. चं.— सर्वासामपि देवतानां भगवच्छरीरत्वात् 'त्रैविद्या माम्' [२०] इत्युक्तप्रकारेण वस्तुतः स्वसमाराधनमिति जानन् भवान् किं न केवलकर्मिणामपि मोक्षरूपयोगक्षेमं प्रयच्छतीत्यत्रोत्तरमुच्यते 'ये तु' इत्यादिश्लोकद्वयेन। तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः। 'अन्यदेवताभक्ताः' इत्येतत्समभिव्याहारफलितम् इन्द्रादीनिति। पूर्वोक्तेन न्यायेनेति— 'मयि सर्वमिदं प्रोतं' [७।७] इत्यादावस्मिन्नप्यध्याये 'मया ततमिदं सर्वम्' [९।४] इत्यादौ चेति भावः। 'मामेव यजन्ति' इत्यन्तं शङ्कितानुवादरूपम्; शेषं तु विधेयरूपमित्यभिप्रायेणाह अपित्विति। विधिः स्वज्ञानद्वारा यस्य पूर्वं कारणं, तद्विधिपूर्वम्; तदन्यदविधिपूर्वकम्। कथमविधिपूर्वकत्वं विहितानामित्यत्राह इन्द्रादीनामिति। तत्पूर्वकमिति–तथाविधविध्यनुसन्धानपूर्वकमित्यर्थः। यथा विदधतीत्युक्तं विवृणोति वेदान्तेति। इन्द्रादीनामाराध्यत्वमात्रं कर्मभागे प्रतिपादितम्; तेषामेव यथावस्थितं स्वरूपं वेदान्तेष्विति न विरोधः। साक्षादिति निरुपाधिकमित्यर्थः, प्रधानतयेति वा। हविरुद्देश्यपरमपुरुषविशेषणतयेन्द्रादीनामुद्देश्यानुप्रवेशः; यथा प्रतर्दनविद्यादिषूपास्यानुप्रवेश इति भावः। 'चतुर्होतारः' इति उपात्तवाक्यस्य कथं प्रस्तुतार्थता? तत्राह चतुर्होतार इति। उपलक्षणतामभिप्रेत्योक्तं अग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादीनीति। "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" [यजुः ३।१०।१२] इत्यादिप्रसिद्धः यत्रशब्दार्थ उच्यते परमात्मनीत्यादिना। "यस्यादित्यः शरीरम्" [बृ. उ. ३।७।९] इत्यादिवाक्यानुसन्धानेन तच्छरीरभूतैरित्यादिकमुक्तम्। कर्मणां देवैः साध्या सम्पत् तदाराधनत्वरूपोऽतिशय एव; स चान्ततः फलसाधनत्वप्रकारे पर्यवसित इत्यभिप्रायेणाह इन्द्रादिदेवतानामित्यादि॥ २३॥

५ आ. मा. भा.— तर्हि 'अहं क्रतुः' [९।१६] इत्यादि असत्यमित्यत आह— येऽपीति॥ २३॥

६ ज. प्र. दी.— उक्तप्रश्नस्योत्तरं जातं, तत्किमुत्तरेणेत्यतः प्रश्नाभिसन्ध्युद्घाटनस्येदमुत्तरमित्याह–तर्हीति। भगवद्योगनिमित्तं हि फलं, स चेत्सर्वत्र समस्तदा सर्वेषां फलसाम्येन भाव्यम्। तदभावश्चेत्तर्हि 'अहं क्रतुः' [९।१६] इत्युक्तं सर्वत्र भगवतो भोक्तृत्वमप्यसत्यमित्यर्थः॥ २३॥

७ ह. पै. भा.— ये पुरुषा अन्यदेवताभक्ता अन्यस्यां देवतायां भक्ता यजन्ते तेऽपि मां परमेश्वरमेव पूजयन्ति, अविधिपूर्वकमज्ञानपूर्वकमिति॥ २३॥

८ वें. ब्र. गि.— नन्विन्द्रादियाजिनोऽपि त्वद्भक्ता एव, त्वद्व्यतिरेकेण वस्तुतो देवतान्तरस्याभावात्; अतः कथं ते गतागतं लभेरन्? अत आह— येऽपीति। मद्भक्ता इव देवतान्तरभक्ता अपि ये श्रद्धयाऽन्विताः सन्तः अन्यदेवता यजन्ते, तेऽपि मद्व्यतिरेकेण वस्तुतो देवतान्तराभावान्मामेव यजन्तीति सत्यमेव। किन्त्वविधिपूर्वकं यजन्ति। अविधिरज्ञानं तत्पूर्वकं सर्वात्मकत्वेन मामज्ञात्वा इन्द्रादीन्मद्भिन्नतया परिकल्प्य यजन्तीत्यर्थः॥ २३॥

९ ब० त० दी०— ननु ब्रह्मवादे तव सर्वात्मत्वाद्देवान्तरभजनेऽपि त्वद्भजनमेव भवति, तर्हि किमिति ते गतागतं लभन्ते? इति चेत्तत्राह— येऽपीति। अन्यदेवताभक्ताः 'रविर्विनायकश्चण्डी ईशो विष्णुस्तु पञ्चमः।

अनुक्रमेण पूज्यन्ते व्युत्क्रमे तु महद्भयम् ' इति श्रीमत्या प्रोक्तपञ्चायतनपूजापरा अपि श्रद्धया युक्ताः सन्तः पूजयन्ति तेऽपि रव्यादिषु मामेव ब्रह्म ध्यात्वा यजन्ति । यद्वा त्वर्थेऽपीति केचित् । तेऽपि मामेवेति । उक्तन्यायेन सर्वस्य मदङ्गभूतया मदात्मकत्वेनेन्द्रादिशब्दानां मद्वाच्यत्वाद्वस्तुतो मामेव यजन्ते । अपित्वविधिपूर्वकं तेषामात्मभूतमधिष्ठानताज्ञानपूर्वकं यजनं वेदे विहितम्; इतरथा त्वविहितमित्यविधिपूर्वकं ते यजन्ते ततो गतागतं लभन्त इति भावः। अथवा 'मूलं विष्णुर्हि देवानां' [भाग.१०।४।३९] इति वाक्यात् मूलभतं परित्यज्य शाखापत्रादौ सेचनवद्यजनमविहितमित्यनन्यत्वदार्ढ्यायैवमुच्यते। वेदवाक्यं हि "चतुर्होतारो यत्र सम्पदं गच्छन्ति देवैः" इतिरूपे मदात्मकविषयाणि देवाराधनानि स्पष्टमुक्तानीति युक्तमुक्तम्–'अविधिपूर्वकं ते यजन्ते' इति ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.– नन्वन्यदेवभजनकर्त्तारोऽपि त्वदंशत्वात् त्वद्भजनमेव कुर्वन्तीति कथं न तेषु त्वत्कृपा ? तद्भजनं च कथं भोग एव क्षीयते ? इत्यत आह— येऽपीति। येऽपि श्रद्धयाऽन्विताः श्रद्धायुक्तास्तदासक्तत्वधर्मयुक्ता अन्यदेवता यज्ञादिसाधनैस्तदधिष्ठातृरूपेण मदंशाज्ञानेन भजन्ति तेषु मदंशत्वात् मामेव भजन्ति, परन्तु मत्स्वरूपाज्ञानादविधिपूर्वकं भजन्ति, अतस्तेषां तद्भजनानुरूपं क्षयिष्ण्वेव फलं भवति; अहं च न कृपां करोमीत्यर्थः। अत एव स्मृतिष्वविधिकरणनिषेधः 'विधिहीनं भावदुष्टं कृतमश्रद्धया च यत्। तद्धरन्त्यसुरास्तस्य मूढस्याऽकृतात्मनः' इति ॥ २३ ॥

११ नी० भा० टी०— अविधिपूर्वकं विधिरभेदबुद्धिस्तद्राहित्यादविधिपूर्वकत्वं तदीयभजनस्य ॥ २३ ॥

**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।**
**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥ २४ ॥**

**१ शां. भा.— कस्मात्तेऽविधिपूर्वकं यजन्ते ? इत्युच्यते यस्मात्— अहमिति। अहं हि सर्वयज्ञानां श्रौतानां स्मार्तानां च सर्वेषां यज्ञानां देवतात्मत्वेन भोक्ता च प्रभुरेव च। मत्स्वामिको हि यज्ञः 'अधियज्ञोऽहमेवात्र' [८।४] इति ह्युक्तम्। तथा न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेन यथावत्। अतश्चाविधिपूर्वकमिष्ट्वा यागफलाच्च्यवन्ति प्रच्यवन्ते ते ॥ २४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— ननु वस्वादितयेन्द्रादिज्ञानपूर्वकमेव तद्भक्तास्तद्याजिनो भवन्तीति कथमविधिपूर्वकं तेषां यजनं ? इति शङ्कते— **कस्मादिति**। देवतान्तरयाजिनां यजनमविधिपूर्वकमित्यत्र हेत्वर्थत्वेन श्लोकमुत्थापयति— **उच्यते** इति। सर्वेषां द्विविधानां यज्ञानां वस्वादिदेवतात्वेनाहमेव भोक्ता स्वेनान्तर्यामिरूपेण प्रभुश्चाहमेवेति प्रसिद्धमेतदिति हिशब्दः। 'प्रभुरेव च' इत्युक्तं विवृणोति— **मत्स्वामिको हीति**। तत्र पूर्वाध्यायगतवाक्यं प्रमाणयति— **अधियज्ञोऽहमिति**। तथापि देवतान्तरयाजिनां यजनमविधिपूर्वकमिति कुतः सिद्धं ? तत्राऽऽह— **तथेति**। ममैव यज्ञेषु भोक्तृत्वे प्रभुत्वे च सतीति यावत्। तयोर्भोक्तृप्रभ्वोर्भावस्तत्त्वं तेन भोक्तृत्वेन प्रभुत्वेन च मां यथावद्यतो न जानन्त्यतो भोक्तृत्वादिना ममाज्ञानान्मय्यनर्पितकर्माणश्च्यवन्ते कर्मफलादित्याह— **अतश्चेति** ॥ २४ ॥

**३ रा. भा.— अतस्त्रैविद्या इन्द्रादिशरीरस्य परमपुरुषस्याराधनान्येतानि कर्माणि; आराध्यश्च स एवेति न जानन्ति ते च परिमितफलभागिनश्च्यवनस्वभावाश्च भवन्ति; तदाह– अहं हीति। प्रभुरेव च— तत्रतत्र फलप्रदाता चाहमेवेत्यर्थः ॥ २४ ॥**

४ वे. ता. च.— अविधिपूर्वकत्वविवरणरूपतां, तथाविधस्यात्यन्तनैष्फल्यशङ्कापरिहाररूपतां च 'अहं हि' इति श्लोकस्य दर्शयति **अत** इति। सर्वशब्देनेन्द्राद्युद्देशेन क्रियमाणानामित्यभिप्रेतम्। **आराध्यश्चेति** भोक्तृशब्दाभिप्रेतोक्तिः। 'च्यवन्ति' इत्यनेन कुतश्चिदिति सिद्धम्, तच्च तत्तत्कर्मसाध्यमस्थिरं फलमेवेति 'यान्ति' इत्यनन्तरश्लोकवशाद्वाक्यान्तराच्च लब्धम्; तदाह **परिमितेत्यादिना**। फलस्य परिमितत्वं देशतः कालतः स्वरूपतश्च। अतस्तद्भागिनां च्यवनस्वभावता। प्रभुशब्दस्यात्र 'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी' [९।१८] इत्यादिष्विव शास्तृत्वादिविवक्षाव्युदासाय योग्यमर्थमाह **तत्रतत्रेति**। सूत्रं च– 'फलमत उपपत्तेः' [ब्र. सू. ३।२।३८] इति। यथेन्द्राद्याराधनतया प्रयोगेऽपि तत्रतत्र फलप्रदोऽहम्, न तथा मदाराधनत्वेऽन्यः फलप्रद इत्येवकारार्थः ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.— कारणमाह विधिपूर्वकत्वे— अहं हीति ॥ २४ ॥**

६ ज. प्र. दी.—'अहं क्रतुः' [ ९।१६ ] इत्यादिनोक्तत्वादहं हीति पुनरुक्तिरित्यत आह— कारणमिति । त्रैविद्यादिकृतानां यज्ञानां भगवांश्चेद्भोक्ता कथं तदविधिपूर्वकत्वं ? इति शङ्कायामिति शेषः ॥ २४ ॥

**७ ह. पै. भा.— अहं वासुदेवः सर्वेषां यज्ञानां भोक्ता च प्रभुः स्वाम्येव च। न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेन परमार्थतः। अतः कारणाच्च्यवन्ति च्यवन्ते फलाद्भ्रश्यन्ति ते यज्विनः॥ २४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एतदेव विवृणोति— अहमिति । श्रौतस्मार्तरूपाणां सर्वेषामपि यज्ञानां तत्तद्देवतारूपेण अहमेव भोक्ता च प्रभुः फलदाता च। अनेन सर्वदेवतात्मकत्वमुक्तम्। अथाविधिपूर्वकमित्येतदुपपादयति— न त्विति । मां तत्त्वेन तत्तद्यज्ञभोक्तृफलदातृदेवतारूपत्वेन न जानन्ति। अतस्ते महताऽऽयासेनेष्ट्वापि च्यवन्ति च्यवन्ते। अनेन सर्वदेवतात्मकं मां विज्ञाय यजन्तो न च्यवन्त इति दर्शितम् ॥ २४ ॥

९ व० त० दी०— एतदेव विवृणोति— अहं हीति । मदङ्गभूतेषु मे शरीरतयाऽवस्थितेषु तेष्विन्द्रादिदेवेष्वात्मतयाऽवस्थितोऽहमेव सर्वयज्ञानां भोक्ता प्रभुः फलदाता । चकाराद्यज्ञादिरूपस्तत्साधनादिरूपश्च। न हि स्वहस्तादिकृतं नात्मकृतं भवतीति केनाप्युपलभ्यते पत्रादिनिष्ठकृतिर्न मूलभूतकृतेति च; परं तथा तत्त्वेन मूलत्वेन तु मां नाभिजानन्ति कर्मजडाः अतोऽन्तवत्फलभोगादपि पुनश्च्यवन्ति। स्वर्गादितः अन्यभावाच्च्यवन्ति पुनः पतन्तीत्यर्थः। ततो भावभेद एव फलभेदे हेतुरुक्तः ॥ २४ ॥

१० पु. अ. त.— विधिहीनरूपमाह— अहमिति । हि निश्चयेन सर्वयज्ञानां भोक्ता तदधिष्ठातृदेवानां मदंशत्वात्तद्रूपेण अहं भोक्ता । चकारेण तद्रूपोऽपि । प्रभुरेव च, फलदाता चेत्यर्थः। एवकारेण द्वितीयचकारेण च सर्वप्रभुत्वेन भोक्तृत्वेऽपि मदेकांशप्रीणनमेव भवति,न तु सर्वप्रभुमत्प्रीतिरिति ज्ञापितम्। एतादृशं मां तु पुनस्तत्त्वेन मूलरूपेण न अभितः सर्वप्रकारेण जानन्ति 'यावान् यश्चास्मि ( तत्त्वतः ) यादृशः' [ १८।५५ ] इति। अतस्ते च्यवन्ति पर्यावर्तन्ते । मत्तो वा च्यवन्ति भ्रश्यन्ति। अत्रायं भावः—भगवदंशदेवताभजनत्वेन यज्ञादिना वा यत्फलं भवति तन्महाप्रभुभजनेन भवति 'मूलनिषेकः शाखायामपि' इति न्यायेन प्रभुभजने तेऽपि प्रसीदन्ति, तद्भजने त एव प्रसीदन्ति तदंशप्राकट्यं च भवेत्। अत एव युधिष्ठिरेण श्रीभागवते ' क्रतुराजेन गोविन्द ! राजसूयेन पावनीः । यक्ष्ये विभूतीर्भवतस्तत्सम्पादय नः प्रभो ! ' [ १०।७१।३ ] इति विज्ञापितम् । तेन भगवदिच्छया भगवद्भजनं कुर्वता तदिच्छां ज्ञात्वा तदंशप्राकट्यं चेत्तदा तद्धेत्वैव कार्यमन्यथा न कार्यमेतद्ज्ञानात्तत्त्वज्ञानाभावः ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— हि यतः सर्वयज्ञानामहमेव सर्वदेवतारूपेण भोक्ता प्रभुः फलदाता च। एवं सति ते मां प्रत्यगभिन्नं तत्त्वेन याथातथ्येन न जानन्ति अतश्च्यवन्ति ज्ञाननिष्ठामलब्ध्वा संसारगर्ते पतन्ति॥ २४ ॥

## यान्ति देवव्रता देवान्पितॄन्यान्ति पितृव्रताः।
## भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥ २५॥

**१ शां. भा.— येऽप्यन्यदेवताभक्तिमत्त्वेनाविधिपूर्वकं यजन्ते, तेषामपि यागफलमवश्यम्भावि। कथम् ? यान्ति गच्छन्ति, देवव्रता देवेषु व्रतं नियमो भक्तिश्च येषां ते देवव्रता देवान्यान्ति। पितॄनग्निष्वात्तादीन्यान्ति पितृव्रताः श्राद्धादिक्रियापराः पितृभक्ताः। भूतानि विनायकमातृगणचतुर्भगिन्यादीनि यान्ति भूतेज्या भूतानां पूजकाः। यान्ति मद्याजिनो मद्यजनशीला वैष्णवा मामेव। समानेऽप्यायासे मामेव न भजन्तेऽज्ञानात्, तेन तेऽल्पफलभाजो भवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— यद्यन्यदेवताभक्ता भगवत्तत्त्वाज्ञानात्कर्मफलाच्च्यवन्ते तर्हि तेषां देवतान्तरयजनमकिञ्चित्करमित्याशङ्क्याह— येऽपीति। देवतान्तरयाजिनामनावृत्तिफलाभावेऽपि तत्तद्देवतायागानुरूपफलप्राप्तिध्रौव्यान्न तदकिञ्चित्करमित्यर्थः। देवतान्तरयाजिनामावश्यकं तत्फलमाशङ्कापूर्वकमुदाहरति— कथमित्यादिना । नियमो बल्युपहारप्रदक्षिणप्रह्वीभावादिरित्यर्थः। देवतान्तराराधनस्यान्तवत्फलमुक्त्वा भगवदाराधनस्यानन्तफलत्वमाह— यान्तीति । भगवदाराधनस्यानन्तफलत्वे देवतान्तराराधनं त्यक्त्वा भगवदाराधनमेव युक्तं, आयाससाम्यात्फलातिरेकाच्चेत्याशङ्क्याऽऽह— समानेऽपीति। अज्ञानाधीनत्वेन देवतान्तराराधनवतां फलतो न्यूनतां दर्शयति— तेनेति ॥ २५ ॥

३ रा. भा.— अहो महदिदं वैचित्र्यं, यदेकस्मिन्नेव कर्मणि वर्तमानाः सङ्कल्पमात्रभेदेन केचिदत्यल्पफलभागिनः च्यवनस्वभावाश्च भवन्ति; केचनानवधिकातिशयानन्दपरमपुरुषप्राप्तिरूपफलभागिनोऽपुनरावर्तिनश्च भवन्तीत्याह— यान्तीति । व्रतशब्दः सङ्कल्पवाची; देवव्रताः दर्शपूर्णमासादिभिः कर्मभिः 'इन्द्रादीन्यजामहे' इति इन्द्रादियजनसङ्कल्पाः ये, त इन्द्रादीन् देवान्यान्ति; ये च पितृयज्ञादिभिः 'पितॄन् यजामहे' इति पितृयजनसङ्कल्पाः, ते पितॄन् यान्ति; ये च 'यक्षरक्षःपिशाचादीनि भूतानि यजामहे' इति भूतयजनसङ्कल्पाः, ते भूतानि यान्ति; ये तु तैरेव यज्ञैः 'देवपितृभूतशरीरकं परमात्मानं भगवन्तं वासुदेवं यजामहे' इति मां यजन्ते, ते मद्याजिनो मामेव यान्ति । देवादिव्रताः देवादीन् प्राप्य तैः सह परिमितं भोगं भुक्त्वा तेषां विनाशकाले तैः सह विनष्टा भवन्ति; मद्याजिनस्तु मामनादिनिधनं सर्वज्ञं सत्यसङ्कल्पं अनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणमहोदधिं अनवधिकातिशयानन्दं प्राप्य न पुनर्निवर्तन्त इत्यर्थः ॥ २५ ॥

४ वे. ता. चं.— एकस्यैव कर्मणः कथं भोगमोक्षविरुद्धफलसाधनत्वं ? इत्यत्र सङ्कल्पाख्यसहकारिवैचित्र्यात्तदुपपत्तिरिति प्राप्यवैषम्यं 'यान्ति' इति श्लोकेन प्रदर्श्यत इत्यभिप्रायेणाह अहो महदिति । सङ्कल्पभेदाद्विचित्रफलसाधनत्वं ज्योतिष्टोमादिष्वपि सिद्धम् । व्रतशब्दः सङ्कल्पवाचीति अत्र सङ्कल्पविशेषाद्धि फलभेद इति भावः । 'देवव्रताः' इत्यादौ यजनं 'भूतेज्याः' इत्यत्र व्रतं चापेक्षया मेलितम् । भूतशब्दस्यात्र प्राणिमात्रादिपरत्वव्युदासेन राजसतामसयाज्यवर्गप्रदर्शनाय यक्षेत्यादिकम् । न देवयजनपितृयजनादिवत् क्रियास्वरूपभेदोऽत्रेति ज्ञापनाय तैरेवेत्युक्तम् । वाक्यान्तरविहितदेवयजनाद्यनुवादेन फलविशेषोऽत्र प्रदर्श्यते, न तु ज्योतिष्टोमादिवाक्यवत्फलार्थोपायविधानं क्रियत इति ज्ञापनाय यत्तच्छब्दविन्यासेन व्याख्यातम् । देवेषु व्रतं येषां ते देवव्रताः ; भूतानुद्दिश्येज्या येषां ते भूतेज्याः । तत्तत्प्राप्यभेदवचनं तत्तत्समानदेशकालसमानभोगत्वार्थमिति दर्शयति देवादिव्रता इति । अनादिनिधनमित्यनेन प्राप्यानित्यत्वनिबन्धनायाः पुनरावृत्तेः प्रतिक्षेपः ; सर्वज्ञमित्यनेन विरोध्यज्ञाननिमित्तायाः; सत्यसङ्कल्पमित्यनेन त्वशक्तिमूलाया भगवत्स्वातन्त्र्यशङ्कितायाश्च । 'भक्तान्नावर्तयेयम्' इत्यपि सङ्कल्पोऽस्य सत्य इति भावः । स्वरूपतश्च परिमितत्वप्रयुक्तभोगाल्पत्वव्युदासाय अनवधिकेत्यादि विशेषणद्वयम् । एतेनान्यवैतृष्ण्यहेतुतया स्वेच्छोपाधिकपुनरावृत्तिव्युदासः ॥ २५ ॥

५ आ. मा. भा.— फलं विविच्याह— यान्तीति ॥ २५ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'ते पुण्यमासाद्य' [ ९।२० ] इति 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' [ ९।२२ ] इति च फलभेदस्योक्तत्वात्किं यान्तीत्यादिनेत्यत आह— फलमिति । तस्यैवायं प्रपञ्च इति भावः ॥ २५ ॥

७ ह. पै. भा.— देवेषु व्रतं येषां ते देवव्रता देवान्यान्तीति प्रकृतेन सम्बन्धः । पितॄनग्निष्वात्तादिबर्हिषदादीन् । पितृव्रताः पितृषु व्रतं यज्ञो येषां ते पितृव्रताः । भूतानि भद्रकालीप्रभृतीनि यान्ति । भूतेष्विज्या येषां ते भूतेज्याः । मद्याजिनो मां परमेश्वरं यष्टुं शीलं येषां ते मद्याजिनः, तेऽपि मां यान्तीति सम्बन्धः ॥ २५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अहो महदिदं वैचित्र्यं, यदेकस्मिन्नेव कर्मणि वर्तमानाः सङ्कल्पभेदमात्रेण केचिदल्पसुखभोगिनः प्रच्यवन्ते, केचित्तु निरतिशयसुखभोगिनो न पुनरावर्तन्त इत्याह— यान्तीति । देवानामिन्द्रादीनां सम्बन्धि व्रतम् 'अनेनेन्द्रं यक्ष्ये' इति सङ्कल्परूपं येषां ते देवव्रताः देवानिन्द्रादीन्यान्ति । एवं पितृव्रताः श्राद्धादिभिरग्निष्वात्तादिपितृयजनसङ्कल्पाः पितॄन्यान्ति । तथा भूतेज्याः यक्षरक्षःपिशाचादिभूतयजनसङ्कल्पाः भूतानि यान्ति । तैरेव यज्ञैर्देवपितृभूतात्मकं भगवन्तं वासुदेवं यक्ष्यामह इति सङ्कल्प्य मत्प्रीत्यर्थं यजन्तो मद्याजिनः, तेऽपि मामक्षयमनवधिकानन्दरूपं यान्ति । तथा च सर्वकर्मभिरप्यहमेवानन्तफलदो यष्टव्य इति भावः ॥ २९ ॥

९ व० त० दी०— तथाहि यान्ति देवव्रता इति । व्रतः सङ्कल्पः मानसं कर्मेति यावत्, स एव भावपदवाच्यः । दर्शपौर्णमासादिभिः कर्मभिरिन्द्रादीन् देवान् यजाम इति कृतसङ्कल्पाः देवान् यान्ति तत्तत्सायुज्यं गच्छन्ति । एवं सङ्कल्पः सर्वत्र । पितृव्रता राजसभावाः । भूतेज्यास्तामसभाववन्तः भूतानि यक्षरक्षःपिशाचादिकाः ।

तैरेव यज्ञैः ये देवपितृभूताधिष्ठानकं परमात्मानं श्रीवासुदेवं यजाम इति सङ्कल्पेन विशुद्धसत्त्वभावा निर्गुणभावाश्च मां यजन्ते ते मत्सायुज्यं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— ननु त्वदंशाज्ञाने यजनकर्त्तारश्च्यवन्ति, येषां तु त्वदंशज्ञानेन तद्देवयजनकर्तृत्वं तेषां किं फलं? इत्यत आह— यान्तीति । देवव्रताः इन्द्रादिषु मदंशज्ञानेन तद्रूपेषु सनियमाः । देवान् तानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति । पितृव्रताः श्राद्धादित्रिविधिभिः पितृयाजकाः पितॄन् यान्ति प्राप्नुवन्ति । भूतेज्याः विनायककुदुर्गादिपूजकाः भूतानि तान्येव यान्ति । अत्रायमर्थः— तत्तद्देवान् प्राप्य तत्सङ्गेन परम्परया मां प्राप्नुवन्ति । मद्याजिनः कर्मादिभिस्तदाधिदैविकरूपं मद्यजनकर्त्तारोऽपि मां प्राप्नुवन्ति । ते परम्परया मां प्राप्नुवन्ति । एते साक्षादिति विशेषः । अपिशब्देन कर्माङ्गत्वेन भजनेऽपि शुक्त्यात्मकस्वप्राप्तिरूपविशेषो व्यञ्जितः ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्वे भक्ता यथाभजनं प्राप्नुवन्ति स्वाराध्यसान्निध्यमित्याह— यान्तीति । भूतार्थमिज्या येषां ते भूतेज्याः ॥ २५ ॥

भगवदाराधनस्यातिसौकर्यं तदनुष्ठानस्य च फलम् ।

***पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥**

**१ शां. भा.—** न केवलं मद्भक्तानामनावृत्तिलक्षणमनन्तफलं, सुखाराधनश्चाहं; कथम्? **पत्रमिति** । पत्रं पुष्पं फलं तोयमुदकं यो मे मह्यं भक्त्या प्रयच्छति, तदहं पत्रादि भक्त्योपहृतं भक्तिपूर्वकं प्रापितं भक्त्युपहृतमश्नामि गृह्णामि प्रयतात्मनः शुद्धबुद्धेः ॥ २६ ॥

२ आ. शां. व्या.— अनन्तफलत्वाद्भगवदाराधनमेव कर्तव्यमित्युक्तम्, सुकरत्वाच्च तथेत्याह— **न केवलमिति** । भगवदाराधनस्य सुकरत्वमेव प्रश्नपूर्वकं प्रपञ्चयति— **कथमित्यादिना** । यद्धि पुष्पादिकं भक्तिपूर्वकं मदर्थमर्पितं तेनायं शुद्धचेतास्तपस्वी मामाराधयतीत्यहमत्रधारयामीत्याह— **पत्रमित्यादिना** ॥ २६ ॥

**३ रा. भा.—** मद्याजिनामयमपि विशेषोऽस्तीत्याह— **पत्रमिति** । सर्वसुलभं पत्रं वा पुष्पं वा फलं वा तोयं वा यो भक्त्या मे प्रयच्छति अत्यर्थमत्प्रियत्वेन तत्प्रदानेन विनाऽऽत्मधारणमलभमानतया तदेकप्रयोजनो यो मे पत्रादिकं ददाति, तस्य प्रयतात्मनः तत्प्रदानैकप्रयोजनत्वरूपशुद्धियुक्तमनसः, तत् तथाविधभक्त्युपहृतं अह सर्वेश्वरो निखिलजगदुदयविभवलयलीलोऽवाप्तसमस्तकामः सत्यसङ्कल्पोऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणः स्वाभाविकानवधिकातिशयानन्दस्वानुभवे वर्तमानोऽपि, मनोरथपथदूरवर्तिप्रियं प्राप्येवाश्नामि; यथोक्तं मोक्षधर्मे—'याः क्रियाः सम्प्रयुक्ताः स्युरेकान्तगतबुद्धिभिः । ताः सर्वाः शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति वै स्वयम्' [ म. भा. १२।३४०।६४ ] इति ॥ २६ ॥

**४ वे. ता. चं.—** समानेऽप्यायासे प्राप्यवैषम्यमुक्तम्, अथोपायवैषम्यमुच्यत इत्याह **मद्याजिनामिति** । मद्यजनशीलानामित्यर्थः । **अयमपीति** उपास्यसौलभ्यातिशयप्रयुक्तोपायसौकर्यरूप इत्यर्थः । पत्रपुष्पफलानां प्रायशो हेतुकार्यभावात् क्रमविन्यासः । तस्य तत्तत्कालानुरूपं यथासम्भवं किमपि लभ्यमिति भावः । पत्रादीनां समासाकरणादसमुच्चयाच्च परस्परनैरपेक्ष्यं सूचितम्; तद्द्योतनाय **पत्रं** वेत्यादिविकल्पकरणम् । एकैकेन तुष्यति भगवानिति द्युच्यते । 'अन्यत्पूर्णादपां कुम्भादन्यत्पादावनेज-(सेच)-नात् । अन्यत्कुशलसम्प्रश्ना-(न्नैवेक्ष्यति)-न्न चेच्छति जनार्दनः' [ म. भा. ५।८७।१३ ] इति सर्वाभावेऽपि तोयं लभ्यमित्यभिप्रायेण तस्य पश्चादुक्तिः । नह्येतद्वित्तव्ययादिसाध्यतया दरिद्रादीनां दुर्लभमित्यभिप्रायेण **सर्वसुलभमित्युक्तम्** । अन्यत्र चाहुः— 'पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु । भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे मुक्त्यै किमर्थं क्रियते न यत्नः' [ गा.पु. पू. २१९।३४ ना. पु. ६२।१९ ] इति । य इति सामान्यनिर्देशेन सापराध-

* उक्तं च महाभारतेऽप्यन्यत्र—'पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु । भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे मुक्त्यै कथं न क्रियते प्रयत्नः' इति । 'अरण्ये सन्ति पत्राणि नद्यां स्वादूदकानि च । सन्ति पादौ च हस्तौ च कथं नाराध्यते हरिः' इत्यन्यत्रापि ।

निरपराधजडाजडादिविभागमपि न पश्यामीत्यभिप्रेतम्। वक्ष्यति हि–'येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्याः' [९।३२] इत्यादि।

**भक्त्येति**। **भक्त्ये**त्यनेन दृष्टादृष्टप्रत्यवायपरिहारफलान्तरहेतुत्वव्यवच्छेदः; तद्व्यञ्जयति **अत्यर्थे**ति। प्रयतात्मशब्दं व्याख्याति **तत्प्रदाने**ति।'तस्य ताम्रतलौ तात! चरणौ सुप्रतिष्ठितौ। सुजातमृदुरक्ताभिरङ्गुलीभिरलङ्कृतौ। प्रयत्नेन मया मूर्ध्ना गृहीत्वा ह्यभिनन्दितौ' इत्यादिष्विव प्रयोजनान्तररागरूपाशुद्धिविरहः प्रयतत्वमित्यर्थः। पुण्येष्वपि फलाभिसन्धिरेव हि मनसोऽशुद्धिः। तदप्याहुः—'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः। प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः' [म. भा. १।१।२७५] इति। 'भक्त्युपहृतम्' इति पुनः कीर्तनं भगवदादरणीयत्वे हेतुरयमेवेति ज्ञापनार्थम्। तथाच स्वयमेवाह 'अण्वप्युपहृतं भक्तैर्मम भोगाय जायते। भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे भोगाय जायते' [पं. रा.] इति। फलाभिलाषिणामपि काचिद्भक्तिरस्तीति तद्व्युदासाय तच्छब्द इत्यभिप्रायेण **तथाविधभक्त्युपहृत**मित्युक्तम्। पत्रादिक्षुद्रद्रव्यपरिग्रहपरिपन्थिनः प्रकारा अहंशब्देन विवक्षिता इति दर्शयितुं **सर्वेश्वर** इत्यादिकम्। अपिशब्दः प्रत्येकमन्वेतव्यः। **सर्वेश्वर** इति यथेन्द्रादयः स्वशक्तिवृद्धये हविरादिकं गृह्णन्ति; न हि तथाऽहं, सर्वगोचरसदातननियमनशक्तिशालित्वादिति भावः।

**निखिलजगदुदयविभवलयलील** इति न हि मल्लीलोपकरणाद्बहिर्भूतं पत्रादिकं मह्यं दीयत इति भावः। **अवाप्तसमस्तकाम** इति न हि मे अनवाप्तमवाप्तव्यमस्तीत्यभिप्रायः। **सत्यसङ्कल्प** इति न हि ममाशक्यं किञ्चिदन्येनोपहृतं स्वीक्रियत इति भावः। **अनवधिके**त्यादि गुणतः स्वरूपतश्च निरतिशयानन्दतृप्तस्य मे कियदिदं पत्रादिकं? इति तात्पर्यम्। **स्वाभाविक**शब्देन हेतुनैरपेक्ष्यं, **वर्तमान**शब्देन चानिवर्त्यत्वं विवक्षितम्। 'परिपूर्णोऽपि भगवान् भक्तैर्यत्किञ्चिदीरितम्। सापेक्षवत्तदादत्ते तेन प्रीतो ददात्यलम्' [म. भा. १२।३५।६४] इत्यस्यार्थमभिप्रयन्नाह **मनोरथे**ति। 'अश्नामि' इत्युपभोगमात्रलक्षणा; तेन निवेद्याभावे पत्रादिकमपि निवेद्यं स्यादिति व्यज्यते। फलान्तरार्थिजनसमर्पितानां 'तत्सर्वं वेदवेद्यस्य (कृत्स्नं तु तस्य देवस्य) चरणावुपतिष्ठते' [म.भा. १२।३४३।६३] इति भगवत्पादोपसर्पणमुक्त्वा परमैकान्तिजनदत्तानां भगवताऽत्यादरेण शिरसा प्रतिग्रहो मोक्षधर्मेऽभिहित इत्याह **यथोक्त**मिति ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.— दुर्बलैस्त्वं पूजयितुमशक्यो महत्त्वादित्याशङ्क्याह— पत्रमिति। न त्वविहितपत्रादे, तस्यापराधत्वोक्तेर्वाराहादौ। भक्त्यैवाहं तृप्य इति भावः। 'भक्तप्रियं सकललोकनमस्कृतं च' इति भारते। 'एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः। एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्रात्मदर्शनम्' [भाग. ७।७।५५] ॥ २६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— पत्रमित्यस्य सङ्गत्यप्रतीतेराह– **दुर्बलैरि**ति। अतस्तद्भजनस्य महाफलत्वेऽपि तद्विहायाल्पानां देवानां भजनमल्पफलमपि सुशकत्वात्करोमीति प्रासङ्गिकशङ्काशेषः। साधनानादरस्योक्तत्वाद्यत्किञ्चित्पत्रादिकमिति न मन्तव्यमित्याह — **न त्वि**ति। तत्किमपि भगवते समर्पणीयमेवेति नियमोऽत्राभिप्रेत इत्यत आह— **भक्त्यैवे**ति। कुतः? इत्यत आह— **भक्ते**ति। स्वार्थः स्वार्थसाधनोपायः॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.— भक्त्या प्रयच्छति ददाति तदहं भक्त्या दत्तमश्नामि भुञ्जे। प्रयतात्मनः प्रयतः शुद्ध आत्मा यस्य तस्य। प्रयतात्मनो भक्तस्य सम्बन्धि पत्रादिद्रव्यं मम प्रीतये भवतीत्यर्थः॥ २६॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— न केवलं मद्भक्तेरनन्तफलकत्वमात्रम्, किन्त्वतिसौलभ्यं चेत्याह– **पत्रमिति**। पत्रपुष्पफलतोयानि हि नेन्द्रादियजनार्थपश्वाज्यसोमादिवद्बहुवित्तव्ययायाससाध्यानि किन्त्वतिसुलभानि, यदाहुः— 'अरण्ये सन्ति पत्राणि नद्यां स्वादूदकानि च। सन्ति पादौ च हस्तौ च कथं नाराध्यते हरिः' इति। तत्रापि 'पत्रं पुष्पं' इति पृथक्पृथग्ग्रहणात् पत्रपुष्पादिष्वेककं वाऽलमिति दर्शितम्। एवमनायाससाध्यं यत्किञ्चिदपि वस्तु यः कश्चन नरो भक्त्या मह्यमखिललोकेश्वराय प्रयच्छति। अनेन सामुद्रजलैरिव समुद्रतर्पणं मदीयैरेव पत्रादिभिर्ममार्हणमिति सौलभ्यातिशयो दर्शितः। प्रयतात्मनः शुद्धचित्तस्य तत्पत्रपुष्पादिकं अहमखण्डनिजानन्दपरिपूर्णोऽश्नामि भुञ्जे। कथं निजानन्दपरिपूर्णस्यातितुच्छपत्राशनम्? तत्राह— **भक्त्युपहृतमिति**। भक्तिरेकस्मिन्नपि दिने पत्राद्यनर्पणे सति सद्यः प्राणविश्लेषपर्यन्तः प्रेमविशेषः। तयोपहृतमहमपि तदनभक्षणमात्रमप्यात्मानं धारयितुमशक्त एव सन्नश्नामि। भक्तिरेव मत्स्वीकारे कारणम्, न वस्तुसौन्दर्यम्, सुदामोपहृतपृथुकतण्डुलाशिनो मम भक्तिरसैकग्राहित्वस्वाभाव्यादिति भावः। उक्तं हि **वायवीयसंहितायाम्**— 'परिपूर्णस्य नित्यस्य मम किं क्रियते नरैः। किन्तु सर्वात्मना देवि! मया भावो हि गृह्यते' इति॥ २६ ॥

**९ व० त० दी०— तदेवं स्वभक्तानां स्वप्राप्तिप्रकारं उक्त्वाऽधुना स्वभक्तेः सर्वोत्तमत्वमनायासत्वेनेतरविलक्षणत्वं च दर्शयति— पत्रं पुष्पमिति। विवृत्तमेतद्भागवतसुबोधिन्यां इति नात्र प्रपञ्च्यते। न हि महाविभूतेः**

परमात्मनो मम क्षुद्रदेवतानामिव बहूपचाराडम्बरेण परितोषः 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्युक्तत्वात् किन्तु भक्तमात्रेण समर्पितं पत्रादिमात्रमपि विदुरस्येव तस्य भक्तस्य प्रयतचित्तस्य मत्सम्बद्धात्मन आत्मनिवेदिनो वा भक्त्याऽर्पितं विश्वासदार्ढ्यार्थं चाश्नामि। अयं तेभ्यो विशेषो दर्शितः। स्वल्पोपचारमात्रेणैव भक्त्या बहुप्रतोषलाभ इति 'अनश्नन्भगवान्वेदे भक्तावशनधर्मवान्' इति वाक्यात् ॥ २६ ॥

१० पु. अ. त.— भक्तेषु विशेषमाह— **पत्रमिति**। पत्रं तुलस्यादीनां प्रियरूपम्। पुष्पं अलङ्कारात्मकम्। फलं सामग्रीरूपम्। तोयं सामग्रीभेदरूपम्। यो मे मम भक्त्या स्नेहेन, न तु विहितत्वेन, प्रयच्छति प्रकर्षेण भावात्मकतया समर्पयति, तत् पूर्वोक्तं सर्वं भक्त्युपहृतं स्नेहेन समर्पितं प्रयतात्मनः मदेकपरतया वशीकृतचेतसः अहं पुरुषोत्तमः अश्नामि भुनज्मीत्यर्थः। अनायासप्राप्त्यर्थं पत्रादिकमुक्तम्। अशनोक्त्या तदङ्गीकारेणाग्रे स्वभोगयोग्यसर्वसामग्रीसम्पादनं व्यज्यते। अत एव सुदामार्थं स्वसम्पद्दाने पृथुकभुक्तिमङ्गीकृतवान् ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— मद्भक्तिरतिसुकरा, देवतान्तरभक्तिस्तु बहुवित्तव्ययायाससाध्येत्याशयेनाह— **पत्रमिति**। भक्तिरेव केवलं ममापेक्षिता, नान्यदिति भावः। भक्त्युपहृतं भक्त्या समर्पितम् ॥ २६ ॥

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥ २७ ॥**

[* यत्करोमि यदश्नामि यज्जुहोमि ददामि यत्।
यत्तपस्यामि भगवंस्तत्करोमि त्वदर्पणम् ॥]

**१ शां. भा.**— यत एवमतः— **यत्करोषि**, स्वतः प्राप्तं **यदश्नासि**, यच्च **जुहोषि** हवनं निर्वर्तयसि श्रौतं स्मार्तं वा, **यद्ददासि** प्रयच्छसि ब्राह्मणादिभ्यो हिरण्यान्नाज्यादि, **यत्तपस्यसि** तपश्चरसि **कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणं** मत्समर्पणम् ॥ २७ ॥

२ आ. शां. व्या.— तदाराधनस्य सुकरत्वे तदेवाऽऽवश्यकमित्याह— **यत** इति। स्वतः शास्त्रादृते प्राप्तं गमनादीति यावत्। यदश्नासि यं कञ्चिद्भोगं भुङ्क्षे। हवनस्य स्वतस्त्वं वारयति— **श्रौतमिति**। मत्समर्पणं तत्सर्वं मह्यं समर्पयेत्यर्थः ॥ २७ ॥

१ देवतान्तरयाजिनो यतो मितमनोरथाः फलं लघयन्ति, अतस्त्वं सर्वं प्रागुक्तोपदेशक्रमेण मदर्पणं मन्मयेन भावनं कुरु। एष एव च सन्न्यासयोग इति विस्तीर्णं विस्पष्टप्रायं पुरस्तादेव— इत्य**भिनवगुप्ताचार्याः**। अर्प्यत इत्यर्पणम्, 'ऋ गतिप्रापणयोः (धा. भ्वा. ९३६) 'अर्तिह्रीव्लि—' (अष्टा. ७।३।३६) इत्यादिना पुक्। मयि अर्पणं मदर्पणम्। मयि अर्पणं यस्य तन्मदर्पणमिति वा ॥ मदर्थं पत्रपुष्पादिसम्पादनप्रयासोऽपि मास्तु, आत्मार्थमन्योद्देशेन च यत्क्रियते यदद्यते यद्धूयते यद्दीयते यत्तप्यते तस्य तस्य अन्ते मय्यर्पणे कृते तन्मदाराधनं सम्पद्यते। तेनाहं तृप्यामि, किमुत मदर्थमेव कृत्वा मय्यर्पणे कृते? 'ब्रह्मण्याधाय' (५।१०) इत्यत्र समर्प्य करणमुक्तम्, अत्र तु कृतस्य समर्पणमुच्यत इत्यु**पन्यासदर्पणे**।

अत्र **नव्याः**— 'भगवद्भक्तेनापि कृष्णार्पणबुद्ध्या सर्वाणि कर्माण्यपि कर्तव्यानि, न त्याज्यानीत्यनेन व्यक्तम्' इत्याहुः। तदसङ्गतम्, अत्र कृतानां कर्मणां भगवदर्पणमात्रस्य विधेयत्वात्। कर्मणामपि विधेयताभ्युपगमे तु वाक्यभेदापत्तिः, कर्मत्यागनिषेधाङ्गीकारे च लक्षणाप्रसङ्गः। न च सा विधौ युक्ता, 'न विधौ परः शब्दार्थः' इति न्यायात् ॥ इदं चात्र प्रष्टव्यास्ते— कानि कर्माण्यत्र विधेयत्वेन भवतामभिमतानि? शास्त्रीयाणि? स्वाभाविकानि वा?। आद्येऽपि विहितानि प्रतिषिद्धानि वा? इति। न तावदन्त्यः, प्रतिषिद्धानां भक्तैरप्यननुष्ठेयतायाः सर्वसम्मतत्वात्, इहापि 'शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' (१६।२४) इति विहितानामेवानुष्ठेयत्वस्य व्यक्तमुक्तत्वाच्च। नाप्याद्यः, विहितानामशुभफलासम्भवेन 'अशुभफलैः मोक्ष्यसे' इत्यग्रिमोक्तिवैयर्थ्यापत्तेः, स्वतः प्राप्ताशनसमभिव्याहारविरोधात्, पृथक् पृथगुक्तिस्वारस्यभङ्गाच्च। न च द्वितीयः, स्वाभाविकानां स्वतःप्राप्तत्वेन यावच्छरीरमनुवर्तित्वेन च विधिविषयतासम्भवात्। उक्तं चात्रैव— 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' (३।५) इति। विधिर्हि प्रयोजनवन्तमप्राप्तमर्थं विधत्त इति मीमांसकानां घण्टाघोषः। अतो मृगतृष्णिकानुधावनमेवेदं ज्ञानोत्तरकर्मवादिनामित्यन्ये।

—**अविगीता**।

* [ ] इति चिह्नाङ्कितं श्लोकमर्जुनस्योत्तरत्वेन केचिदत्र पठन्ति।

३ रा. भा.— यस्मात् ज्ञानिनां महात्मनां वाङ्मनसागोचरोऽयं विशेषः, तस्मात्त्वं च ज्ञानी भूत्वोक्तलक्षणभक्तिभारावनमितात्मात्मीयः कीर्तनयतनार्चनप्रणामादिकं सततं कुर्वाणो लौकिकं वैदिकं च नित्यनैमित्तिकं कर्म चेत्थं कुर्वित्याह— यदिति । यत् देहयात्राशेषभूतं लौकिकं कर्म करोषि, यच्च देहधारणायाश्नासि, यच्च वैदिकं होमदानतपःप्रभृति नित्यनैमित्तिकं कर्म करोषि, तत्सर्वं मदर्पणं कुरुष्व । अर्प्यत इत्यर्पणम् ; सर्वस्य लौकिकस्य वैदिकस्य च कर्मणः कर्तृत्वं, भोक्तृत्वं, आराध्यत्वं च यथा मयि समर्पितं भवति तथा कुरु । एतदुक्तं भवति— यागदानादिषु आराध्यतया प्रतीयमानानां देवादीनां कर्मकर्तुर्भोक्तुस्तव च मदीयतया मत्सङ्कल्पायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितया च मय्येव परमशेषिणि परमकर्तरि त्वां च कर्तारं भोक्तारमाराधकमाराध्यं च देवताजातम्, आराधनं च क्रियाजातं, सर्वं समर्पय; तव मन्नियाम्यतापूर्वकमच्छेषतैकरसतामाराध्यादेश्चैतत्स्वभावकगर्भतामत्यर्थप्रीतियुक्तोऽनुसन्धत्स्व— इति ॥ २७॥

४ वे. ता. चं.— उक्तार्थफलितपरतया उत्तरश्लोकस्य सङ्गतिमाह—यस्मादिति । महात्मनां विशेष उक्तः; अथ तत्परिगृहीतं भक्तियोगं वक्तुं तदङ्गभूत बुद्धिविशेषमनुशास्तीत्यभिप्रायेण इत्थं कुर्वित्युक्तम् । 'यत्करोषि' इति श्लोकेन स्वभावार्थशास्त्रप्राप्तसर्वकर्मसमर्पणविषयमन्त्रविशेषोऽपि स्मारितः । इममेव च श्लोकं 'यत्करोमि' इत्युपक्रम्य 'भगवन्' इति सम्बुद्ध्या 'त्वदर्पणम्' इत्युक्तं मन्त्रमेव केचिदनुसन्दधते । तत्र 'यत्करोषि' इत्येतद्गोबलीवर्दन्यायात्संकुचितं स्वभावप्राप्तविषयमित्याह यद्देहेति । 'अश्नासि' इत्येतदर्थप्राप्तवर्गोपलक्षणमित्यभिप्रायेणाह यच्च देहधारणायाश्नासीति । 'यज्जुहोषि' इत्यादेः शास्त्रप्राप्तसमस्तोपलक्षणत्वमुपलक्षणीयसङ्ग्राहकाकारं च दर्शयति यच्च वैदिकमिति । अत्र यच्छब्दाः सर्वे क्रियाविशेषाः । अर्पणशब्दस्य भाववाचित्वे व्यधिकरणबहुव्रीहिक्लेशात्तत्पुरुषत्वौपयिककर्मप्रत्ययान्ततां व्युत्पादयति अर्प्यत इत्यर्पणमिति । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' [ अष्टा. ३।३।११३ ] इति कर्मणि ल्युट् । मय्यर्पितं कुरुष्वेति शब्दार्थः । अन्यत्र स्थितस्य स्थायिनः ततोऽन्यस्मिन्निवेशनं हि समर्पणम् ; तच्चात्र क्षणिके कर्मणि कथं ? इत्यत्राह सर्वस्येति । ननु जीवस्यैव कर्तृत्वं भोक्तृत्वं च 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इत्यधिकरणे स्थापितम् ; इन्द्रादीनां चाराध्यत्वं श्रुतम् ; तथा च देवताभेदो मीमांसितः; अतन्निष्ठस्य तन्निष्ठत्वानुसन्धाने भ्रान्तिरेव स्यात्, तत्कथमीश्वरे तत्समर्पणं ? इत्यत्राह एतदुक्तमिति । परमकर्तरीति— 'परात्तु तच्छ्रुतेः' [ ब्र. सू. २।३।४१ ] इत्यधिकरणार्थः स्मारितः । कर्तारं भोक्तारमाराधकमिति क्रियायास्तत्फलस्य तत्प्रदातॄणां चेति शेषः । परमकर्तृत्वात्कर्तृत्वसमर्पणम् ; परमशेषित्वादाराध्यत्वादिसमर्पणम् । कर्तृत्वादौ त्वयि समर्पिते साक्षात्कर्तर्याराध्यविशेषणभूतेन्द्रादौ च किमनुसन्धेयं? इति शङ्कायां समर्पणं शिक्षयति तवेति । भक्तिप्रकरणात्प्रीतियुक्तत्वोक्तिः ॥ २७ ॥

५ आ. मा. भा.— अतो यत्करोषि ॥ २७॥

६ ज. प्र. दी.—आत्मनो गोविन्दस्याराधनानादरस्य पूर्वमेवोक्तत्वात्तदर्थमुत्तरमित्यत आह— अत इति । सामान्यमुक्त्वा विशेषे निगमनमेतदिति भावः ॥ २७ ॥

७ ह. पै भा.— यत्करोषि यल्लौकिकं वैदिकं वा कर्म करोषि, यदश्नास्योदनादि भुङ्क्षे, यदाज्यादि जुहोषि देवतार्थं, यद्धिरण्यादिकं ददासि, यत्कृच्छ्रचान्द्रायणादिकं तपश्चरसि, तत्सर्वं कौन्तेय! कुरुष्व मदर्पणं मदाराधनम् ॥ २७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च मद्भजनार्थपत्रपुष्पादीन्यारामादिभ्यः समाहृत्य तेषां मदर्पणं सम्पाद्यमिति नायमपि क्लेशः प्रसज्जते; किन्तु स्वभावतः शास्त्रतो वाऽवश्यम्भाविनां कर्मणां मदर्पणेनैव मद्भजनसिद्धिरित्यतिसौलभ्यं दर्शयन्नाह— यत्करोषीति । यद्देहयात्रार्थं गमनागमनादि लौकिकं कर्म करोषि यच्च देहधारणायाश्नासि, यच्च वैदिकं होमदानतपःप्रभृतिकं नित्यनैमित्तिकं कर्म करोषि, तत्सर्वं मदर्पणं कुरुष्व । अर्प्यत इत्यर्पणम् ॥ २७ ॥

९ व० त० दी०— तस्मात्त्वमपि भगवत्सेवायामुक्तलक्षणयोगभावाराधनरतात्मा मदर्पितमेव लौकिकं, वैदिकं नित्यं नैमित्तिकं कर्म कुरु, ततो निर्बन्धपूर्वकं मत्प्राप्तिरित्याह द्वाभ्याम्– यत्करोषीति । यदिति लौकिकं धनं वसनादिसञ्चयनं अश्नासि च यदन्नं लौकिकं होमदानतपःप्रभृतिनित्यनैमित्तिकभेदेन वैदिकं च यत्कर्म करोषि तन्मदर्पणं यथा भवति तथा कुरु । ततश्च सर्वदोषनिवृत्तिः । 'असमर्पितवस्तूनां तस्माद्वर्जनमाचरेत्।

निवेदिभिः समर्प्यैव सर्वं कुर्यादिति स्थितिः ॥ न मतं देवदेवस्य सामिभुक्तसमर्पणम् । तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम् ॥ दत्तापहरवचनं तथा च सकलं हरेः । न ग्राह्यमिति वाक्यं हि भिन्नमार्गपरं मतम् ॥ सेवकानां यथा लोके व्यवहारः प्रसिद्ध्यति । तथा कार्यं समर्प्यैव सर्वेषां ब्रह्मता ततः ' ॥ इति भगवन्मुखोक्त-भक्तिमार्गसिद्धान्तः ॥ २७ ॥

१० पु. अ. त.— यतोऽहं भक्त्युपहृतमङ्गीकरोम्यतः पूर्वकृतानां कुर्वतां च कर्मणां फलभोगरूपप्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं तत्सर्वं मदर्पितं कुर्वित्याह— यत्करोषीति । यत् लौकिकं वैदिकं करोषि, यदश्नासि भुङ्क्षे, यज्जुहोषि होमं करोषि, यद्ददासि दानं करोषि, तत्सर्वं मदर्पणं मत्समर्पितं कुरुष्व । देहादिधर्मान् विवाहपुत्रोत्पत्त्यर्थकामादीन् निद्राजागरणमूत्र-पुरीषादिकाँस्तानपि भगवत्सेवाद्यर्थंप्रतिबन्धाभावार्थविचारेण कुर्यात्, न तु स्वसुखेच्छया । तथा भोजनादिकमपि तत्र प्रसा-दजपुष्ट्या सेवार्थबलाप्त्यर्थम् । होमश्च तद्वियोगजदुःखास्ये (दुःखमुखे) । दानं च तदीयत्वेन द्रव्यशुद्धया भगवद्विनियोग-प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थम् । तपश्च भगवतः कारुण्योदयार्थम् । एवमेतत्सर्वं भगवत्समर्पितं भवति ॥ २७ ॥

११ नी० भा० दी०— अतः सर्वं मदर्पणं कुर्वित्याह— यदिति । यत्करोषि गमनादिकं तद्भगवत एव प्रद-क्षिणादिक करोमीति मत्प्रीत्यर्थमेव तदर्पणं कुर्विति । एवं वचनादिष्वपि नामकीर्तनादिदृष्ट्या ऊह्यम् ॥ २७ ॥

## शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः ।
## सन्न्यासयोगयुक्तात्मा[1] विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥ २८ ॥

**१ शां. भा.— एवं कुर्वतस्तव यद्भवति तच्छृणु— शुभेति । शुभाशुभफलैः शुभाशुभे इष्टानिष्ट-फले येषां तानि शुभाशुभफलानि कर्माणि तैः शुभाशुभफलैः । कर्मबन्धनैः कर्माण्येव बन्धनानि तैः कर्मबन्धनैः एवं मत्समर्पणं कुर्वन्मोक्ष्यसे । सोऽयं सन्न्यासयोगो नाम, सन्न्यासश्चासौ मत्समर्पणतया कर्म-त्वाद्योगश्चासाविति, तेन सन्न्यासयोगेन युक्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य तव स त्वं सन्न्यासयोगयुक्तात्मा सन्विमुक्तः कर्मबन्धनैर्जीवन्नेव, पतिते चास्मिन् शरीरे मामुपैष्यस्यागमिष्यसि ॥ २८ ॥**

२ आ. शां. व्या.— किमतो भवति ? तदाह— एव-मिति । भगवदर्पणबुद्ध्या सर्वकर्म कुर्वतो जीवन्मुक्तस्य प्रार-ब्धकर्मावसाने विदेहकैवल्यमावश्यकमित्याह— शुभेत्या-दिना । भगवदर्पणकरणान्मुक्तिः सन्न्यासयोगाच्चेति साधनद्वय-शङ्कां शातयति— सोऽयमिति ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.— एवं सन्न्यासाख्ययोगयुक्तमनाः आत्मानं मच्छेषतामनियाम्यतैकरसं कर्म च सर्वं मदा-राधनमनुसन्दधानो लौकिकं वैदिकं च कर्म कुर्वन् शुभाशुभफलैरनन्तैः प्राचीनकर्माख्यैर्बन्धनैर्मत्प्राप्ति-विरोधिभिः सर्वैर्मोक्ष्यसे; तैर्विमुक्तो मामेवोपैष्यसि ॥ २८ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'सन्न्यासयोगयुक्तात्मा' इत्ययं फल-विधानार्थः पूर्वश्लोकार्थानुवादः; न तु ज्ञानकर्मयोगादिपर इत्य-भिप्रायेणान्वयमाह— एवं सन्न्यासाख्येति । योगशब्दो-ऽत्रानुसन्धानपरः । तदेव प्रकृतसमर्पणानुवादिना सन्न्यासशब्देन विशेष्यते । आत्मानमित्यादि तद्विवरणम् । लौकिकमि-त्यादि स्वभावार्थप्राप्तयोः सामान्यरूपम् । शुभाशुभफलैः, अनुकूलप्रतिकूलफलैरित्यर्थः । अनन्तैरिति बहुवचनाभिप्रेत-कथनम् । समर्पणबुद्ध्या क्रियमाणस्य बन्धकत्वाभावात्तद्व्यवच्छे-दाय प्राचीनशब्दः । अभिमतगतिनिवृत्तिहेतुर्हि बन्धनमित्य-भिप्रायेण मत्प्राप्तिविरोधिभिरित्युक्तम् ; तेनोपायविरोधि-व्यवच्छेदश्च । एतेनैव शुभफलस्यापि कर्मणोऽतिशयितफलप्रति-बन्धकत्वात् हेयत्वं निर्व्यूढम् । 'मामुपैष्यसि' इत्येतत्साम-र्थ्यात् सर्वैरित्युक्तम् । 'मोक्ष्यसे' इत्युक्त एवार्थो 'विमुक्तः' इत्यनूद्यत इत्यपौनरुक्त्याभिप्रायेणाह तैर्विमुक्त इति । अत्र विमुक्तिशब्दस्य जीवन्मुक्तिपरत्वं वदन्तस्तदसम्भवादेव निरसनीयाः । कर्तृत्वफलप्रदत्वादिवत्फलत्वमपि स्वस्यैवेत्यभि-प्रायेण मामेवोपैष्यसीत्युक्तम् । यद्वा क्रमेण प्राप्त्या विलम्ब-व्यवच्छेदार्थं एवकारः । 'मामेवैष्यसि' [ ९।३४ ] इति च वक्ष्यते ॥ २८ ॥

---

1 युक्तः योजितः शोधितश्चेति केचित् । अत्र मोक्ष्यसे, विमुक्तो मामुपैष्यसीति च जीवन्मुक्तिविदेहकैवल्ये क्रमादुक्ते इत्याहुः —अचिगीता ।

५ आ. मा. भा.— ॥ २८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २८ ॥

७ ह. पै. भा.— एवं मदर्पणानुष्ठाने सति शुभाशुभफलैः पुण्यपापफलैर्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसि कर्माण्येव बन्धनानि तैः कर्मबन्धनैः। सन्न्यासयोगयुक्तात्मा सन्न्यास एव योगस्तेन युक्तात्मा, त्यक्तफलासङ्ग इत्यर्थः। कर्मबन्धनैर्विमुक्तो मां नित्यमुक्तं वासुदेवमुपैष्यसि प्राप्स्यसि ॥ २८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं कुर्वतस्तव यत्फलं भवति तच्छृणु— शुभाशुभेति। एवमुक्तप्रकारेण सन्न्यासयोगयुक्तात्मा, भगवति सर्वकर्मसमर्पणं सन्न्यासः, स एव चित्तशोधकत्वाद्योगः तेन युक्तः शोधित आत्मा चित्तं यस्य स तथोक्तः सन् शुभे इष्टानिष्टे फले येषां तैः कर्मलक्षणबन्धनैर्विमोक्ष्यसे कर्मणां भगवदर्पितत्वेन तव तत्सम्बन्धाभावात्तैश्च विमुक्तो मामुपैष्यसि। ज्ञानद्वारा मद्भावापत्तिरूपं मोक्षं प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥

९ व० त० दी०— एवं च मर्यादायामनुगृहीतस्य तव या फलसिद्धिस्तामवधेहि— शुभेति। एवं सति सन्न्यासस्त्यागो भजनार्थः फलादिविषयको 'मनसैवानुद्रष्टव्यं' इति वा योगस्तदभिन्न एकार्थकश्चेतसः समत्वं तेन युक्त आत्मा यस्य तथाविधस्त्वं कर्मबन्धनैरिष्टानिष्टफलैः मुक्तो भविष्यसि मुक्तिसिद्धिर्भविता। जगति स्थितोऽपि त्वं मत्सेवको योगी संसारधर्माऽलिप्त एव मां पुरुषोत्तमं समुपैष्यसि सेवोपयोगिस्वरूपेण व्यापिवैकुण्ठे। मत्समीपे स्थास्यसीति भावः ॥ २८ ॥

१० पु अ. त.— एवं मत्समर्पितेषु तत्कृतबन्धो न भविष्यतीत्याह— शुभाशुभफलैरिति। एवं मत्समर्पणेन शुभाशुभफलैः— शुभानि शुभपुत्रादीनि, अशुभानि क्लेशदारिद्र्यादीनि यानि कर्मजानि फलानि तैर्मोक्ष्यसे मुक्तो भविष्यसीत्यर्थः। तानि फलानि मत्सेवौपयिकान्येव भविष्यन्तीति भावः। ततः सन्न्यासयोगयुक्तात्मा सन्न्यासः कर्मणां मत्समर्पणं तेन यो योगो मद्भक्त्यात्मकस्तेन युक्त आत्मा अन्तःकरणं यस्य तादृशः सन् कर्मबन्धनैर्विमुक्तो मामुपैष्यसि प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं कुर्वतः फलमाह— शुभाशुभेति। शुभाशुभफलैः इष्टानिष्टफलैः कर्मरूपैर्बन्धनैः एवं कुर्वन् त्वं मोक्ष्यसे भगवद्गुणबुद्ध्या यत्किञ्चित्कर्म कुर्वतः कर्मलेपो नास्तीत्यर्थः। अयमेवोक्तलक्षणः कर्मफलसन्न्यासरूपो मार्गस्तत्र युक्तात्मा समाहितचित्तः सन् विमुक्तः कर्मबन्धनैर्विमुक्तः सन् मां सर्वेषां प्रत्यगात्मानं उपैष्यसि ॥ २८ ॥

भगवतः सर्वसमत्वं भक्तेर्माहात्म्यं च।

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥ २९ ॥**

१ शां. भा.— रागद्वेषवांस्तर्हि भगवान् यतो भक्ताननुगृह्णाति नेतरानिति, तन्न— समस्तुल्योऽहं सर्वभूतेषु। न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः अग्निवदहं— दूरस्थानां यथा अग्निः शीतं नापनयति, समीपमुपसर्पतामपनयति, तथाऽहं भक्ताननुगृह्णामि, नेतरान्। ये भजन्ति तु मामीश्वरं भक्त्या मयि ते स्वभावत एव, न मम रागनिमित्तं मयि वर्तन्ते। तेषु चाप्यहं स्वभावत एव वर्ते, नेतरेषु। नैतावता तेषु द्वेषो मम ॥ २९ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवतो रागद्वेषवत्त्वेनानीश्वरत्वमाशङ्क्य परिहरति— रागेत्यादिना। तर्हि भगवद्भजनमकिञ्चित्करमित्याशङ्क्याऽऽह— अग्निवदिति। तत्प्रपञ्चयति— यथेति। भक्तानभक्तांश्चानुगृह्णतोऽननुगृह्णतश्च भगवतो न कथं रागादिमत्त्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— ये भजन्तीति। ये वर्णाश्रमादिधर्मैर्मां भजन्ति, ते तेनैव भजनेनाचिन्त्यमाहात्म्येन परिशुद्धबुद्धयो मयि मत्समीपे वर्तन्ते, मदभिव्यक्तियोग्यचित्ता भवन्ति। तुशब्दोऽस्य विशेषस्य द्योतनार्थः। तेषु च समीपे तेषामहमपि स्वभावतो वर्तमानस्तदनुग्रहपरो भवामि। यथा व्यापकमपि सवित्रं तेजः स्वच्छे दर्पणादौ प्रतिफलति तथा परमेश्वरोऽवर्जनीयतया भक्तिनिरस्तसमस्तकलुषसत्त्वेषु पुरुषेषु सन्निधत्ते 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिता मां भजन्ति' [ ९।१३ ] इत्युक्तत्वादित्यर्थः ॥ २९ ॥

**३ रा. भा.**— ममेमं परममतिलोकं स्वभावं शृणु— **सम** इति । देवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरात्मनाऽवस्थितेषु जातितश्चाकारतः स्वभावतो ज्ञानतश्चात्यन्तोत्कृष्टापकृष्टरूपेण वर्तमानेषु सर्वेषु भूतेषु समाश्रयणीयत्वेन समोऽहम्; अयं जात्याकारस्वभावज्ञानादिभिर्निकृष्ट इति समाश्रयणे न मे द्वेष्योऽस्ति उद्वेजनीयतया न त्याज्योऽस्ति; तथा समाश्रितत्वातिरेकेण जात्यादिभिरत्यन्तोत्कृष्टोऽयमिति तद्युक्ततया समाश्रयणे न कंश्चित्प्रियोऽस्ति न सङ्ग्राह्योऽस्ति; अपित्वत्यर्थमत्प्रियत्वेन मद्भजनेन विनाऽऽत्मधारणालाभान्मद्भजनैकप्रयोजना ये मां भजन्ते ते जात्यादिभिरुत्कृष्टा अपकृष्टा वा मत्समानगुणवद्यथासुखं मय्येव वर्तन्ते; अहमपि तेषु मदुत्कृष्टेष्विव वर्ते ॥ २९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— दुर्लभसुलभोत्कृष्टापकृष्टादिद्रव्यतारतम्यादर्शनेन स्वीकारः 'पत्रम्' [ ९।२६ ] इति श्लोकेन प्रोक्तः तेन सौलभ्यमुक्तं भवति, 'यत्करोषि' [ ९।२७ ] इत्यादिना क्रियमाणस्य सर्वस्य बुद्धिविशेषमात्रेण तदाराधनत्वसम्पत्त्या तदेव दृढीकृतम्; अथ भक्तियोगाधिकारिप्रशंसनपरे 'समोऽहम्' इति श्लोके तु जात्याकारादितारतम्यानादरेण भक्तैः स्वस्यैकरस्यमुच्यते । तेन सौशील्यमुक्तं भवति । कंसादिनिग्रहादक्रूराद्यनुग्रहात् 'तत्कुरुष्व मदर्पणम्' [ ९।२७ ] 'मामुपैष्यसि' [ ९।२८ ] इत्याद्युक्तेश्च जाता रागद्वेषशङ्का प्रतिक्षेप्येत्याभिप्रायेणाह— **ममे**ति । अहंशब्दोऽत्र स्वेतरव्यवच्छेदपर इत्यभिप्रायेण **अतिलोक**मित्युक्तम् । 'समोऽहम्' इत्यस्य प्रतिशिरोभूतं वैषम्यं सर्वशब्देन विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **देवे**ति । **जातितः** देवत्वमनुष्यत्वब्राह्मणत्वक्षत्रियत्वादेः; **आकारतः** अभिरूपस्त्रीत्वपुंस्त्वसमविषमाङ्गत्वादेः । वक्ष्यति हि 'येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्राः' [ ९।३२ ] इति । 'स्वभावतः' इत्यनेन सात्त्विकराजसत्वादिकं विवक्षितम् । देवादीनां भगवत्समाश्रयणं 'तदुपर्यपि बादरायणः सम्भवात्' [ ब्र. सू. १।३।२६ ] इत्यधिकरणे समर्थितम्; तिरश्चामपि गजेन्द्रवानरेन्द्रादिषु पुण्याधिक्यनिबन्धनज्ञानविशेषवत्सु प्रथितम् । तस्मात्तिर्यगधिकरणाविरोधः । स्थावरेष्वपि शापादिजातेषु क्वचिज्ज्ञानं महर्षयः कथयन्ति । ततश्च मनोवृत्तिरूपं समाश्रयणं तत्रापि सम्भवेदेव । 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' इत्यस्य प्रतिषेधस्य प्रसङ्गसाकाङ्क्षत्वात् जात्यादिभिर्निकर्षोत्कर्षौ प्रतिषेध्यप्रसञ्जकतयोक्तावित्याह **अय**मिति । तद्द्वेष्यत्वप्रियत्वे हि त्याज्यात्याज्यत्वसङ्ग्राह्यत्वार्थे इति तन्निषेधात्तन्निषेधः फलित इत्यभिप्रायेणोक्तम् **उद्वेजनीयतया न त्याज्योऽस्ती**ति, **न सङ्ग्राह्योऽस्ती**ति च । समाश्रयणाधीनप्रियत्वप्रतिषेधभयात् **समाश्रितत्वातिरेके**णेत्युक्तम् । यदि, न प्रियत्वहेतुतया प्रसिद्धाज्जात्यादिभिरुत्कर्षात्प्रियत्वम्, कुतस्तर्हि ? यदि न कुतश्चित्, 'स च मम प्रियः' इत्यादिविरोध इति शङ्कानिराकरणार्थस्तुशब्द इत्यभिप्रायेणाह **अपि त्वि**ति । 'भक्त्या भजन्ति' इत्यनयोः पौनरुक्त्यपरिहारायान्वयमाह **अत्यर्थे**ति । 'ये' इत्येतदुत्कर्षापकर्षानियमाभिप्रायमित्याह **ते जात्यादिभि**रिति । तुल्यानामिवान्योन्यमैकरस्यमिह 'मयि' इत्यादिना विवक्षितमित्यभिप्रायेणोक्तं **मत्समानगुणवद्यथासुख**मिति । ननु स्वामित्वेन त्वामनुसन्धाय भजतां कथं त्वयि समानगुणवद्वृत्तिरित्यस्योत्तरं 'तेषु चाप्यहम्' इत्यनेनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह **अहमपी**ति । सौशील्यातिरेकतो मत्तोऽप्युत्कृष्टानिवाहं 'शिरसा देवः प्रतिगृह्णाति' [ म. भा. १२।३४३।६४ ] इत्युक्तप्रक्रियया सम्भावयामि; ततश्च ते मत्परमेश्वरत्वाद्यनुसन्धाननिबन्धनसाध्वसविधुराः सुखं मां सेवन्त इति भावः । अहं च ते चान्योन्यं पित्रादिष्विव न्यस्तभरा इति पिण्डितार्थः । स्वजातिप्रतिनियतधर्मैर्भजनान्नापकृष्टजातिनिर्देशविरोधः ॥ २९ ॥

**५ आ. मा. भा.**— तर्हि स्नेहादिमत्त्वादल्पभक्तस्यापि कस्यचिद्बहुफलं ददासि, विपरीतस्यापि कस्यचिद्विपरीतमित्यत आह— **समोऽहमि**ति । तर्हि न भक्तिप्रयोजनमित्यत आह— **ये भजन्ती**ति । **मयि ते तेषु चाप्यह**मिति, मम ते वशाः तेषामहं वश इति । उक्तं च पैङ्गिखिलेषु— "ये वै भजन्ते परमं पुमांसं तेषां वशः स तु ते मद्वशाश्च" इति । तद्वशा एव ते सर्वदा, तथापि बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वकत्वेन भेदः, उद्धवादिवच्छिशुपालादिवच्च । तच्चोक्तं तत्रैव— "अबुद्धिपूर्वाद्यो वशस्तस्य ध्यानात्पुनर्वशो भवते बुद्धिपूर्वम्" इति ॥ २९ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— भक्तप्रियत्वमुक्त्वा तद्विरुद्धं सर्वत्र साम्यं कथमुच्यते ? इत्यत आह **तर्ही**ति । यदि त्वं भक्तप्रियः तदा द्वेष्योऽप्रियश्च स्याः, ततश्च भक्तेषु द्वेषिषु यथासङ्ख्यं स्नेहद्वेषवत्त्वादल्पभक्तस्यापि कस्यचिद्बहुफलं सुखरूपं ददासि, विपरीतस्याल्पद्वेषिणोऽपि कस्यचिद्बहुफलं दुःखरूपं ददासीत्यायापद्यते, राजादिषु तथा दर्शनात्, तथा च वैषम्यनैर्घृण्ये तवेति शङ्कार्थः, पूर्वार्धेनैव शङ्कायाः परिहृतत्वात्किमुत्तरार्धेनेत्यत आह— **तर्ही**ति । अहं हि सर्वभूतेषु समः, न वैषम्यादिमान्; यतो मे तदीयं द्वेषमपेक्ष्याधिकं द्वेष्यो नास्ति, तदीयां भक्तिमपेक्ष्याधिकं प्रियश्च नास्तीति भगवतोक्तेऽपि विपरीतमर्थं

गृहीत्वा शङ्कते। यदि ते प्रियो नास्ति तर्हि न भक्तिः प्रयोजनं फलस्य। तथा चोक्तविरोध इति भावः। 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' इत्येतत्र फलं स्वभावसिद्धत्वादित्यत आह– मयीति। इत्यस्येत्यर्थ इति योजना। कुत एतत्? इत्यत आह– उक्तं चेति। मम ते वशा इत्येतदपि तादृगेव, भजनाभावेऽपि तद्वशत्वस्वाभाव्यादित्यत आह तदिति। यद्यपीति शेषः। अत्र दृष्टान्तं प्रमाणं चाह– उद्धवादिवदिति। अबुद्धिपूर्वं यो वशः सः॥ २९॥

७ ह. पै. भा.— समस्तुल्यचित्तोऽहं वासुदेवः सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु मम द्वेष्यो नास्तीति प्रकृतेन सम्बन्धः। न प्रियः प्रियोऽपि नास्तीति। ये तु मां भजन्ति सेवन्ते मामीश्वरं भक्त्या प्रीत्या मयीश्वरे ते निवसन्ति, अहमपि तेषु वसामि॥ २९॥

८ वे. ब्र. गि.— ननु यदि भक्तानेवानुगृह्णासि, नाभक्तान्, तदा तवापि रागद्वेषकृतं वैषम्यं स्यात्; नेत्याह— सम इति। सर्वप्राणिष्वप्यहं तुल्यः। तेषु मम द्वेषविषयः प्रीतिविषयो वा कश्चिदपि नास्ति। कथं तर्हि भक्ताभक्तयोः फलवैषम्यम्? तत्राह— ये भजन्तीति। ये तु सर्वकर्मसमर्पणरूपया भक्त्या मां भजन्तीति मद्भजनपरिशुद्धान्तःकरणतया मदाकारैकवृत्तयो मयि वर्तन्ते, अहमप्यतिशुद्धे तदीयचित्ते प्रतिफलितस्तेषु वर्ते। चकारोऽवधारणार्थः। त एव मयि, तेष्वेवाहमित्यर्थः। स्वच्छद्रव्यस्यायं स्वभावो येन सम्बध्यते तदाकारं गृह्णातीति; स्वच्छद्रव्यसम्बन्धिवस्तुनश्चायं स्वभावो यत्तत्र प्रतिफलतीति। तथा अस्वच्छद्रव्यस्याप्येष स्वभावो यत्स्वसम्बन्धिद्रव्यस्याकारं न गृह्णातीति; अस्वच्छद्रव्यसम्बन्धिवस्तुनोऽप्ययं स्वभावो यत्तत्र न प्रतिफलतीति। तथा च यथा सर्वत्र प्रसृतः सौरालोकः स्वच्छे दर्पणादावेवाभिव्यज्यते न त्वस्वच्छे घटादौ, न हि तावता दर्पणे स रज्यति, न वा घटं द्वेष्टि; तथा सर्वत्र समोऽपि स्वच्छे भक्तचित्तेऽभिव्यज्यमानोऽस्वच्छे चाभक्तचित्तेऽनभिव्यज्यमानोऽहं न रज्यामि, कुत्रचिन्न वा द्वेष्मि कञ्चित्; वस्तुस्वभावमर्यादया जायमानस्य कार्यस्यापर्यनुयोज्यत्वात्। यथा चाग्निः स्वसेवया शीताद्यपनयन्न वैषम्यवान्, यथा वा कल्पवृक्षस्तथाऽहमिति भावः। एवं (शां.) भाष्योक्तः श्लोकार्थः प्रतिपादितः। अथान्योऽप्यर्थः प्रदर्श्यते— सर्वभूतेषु देवतिर्यङ्मनुष्यादिषु जात्याकारस्वभावज्ञानैरत्यन्तोत्कर्षापकर्षरूपेण वर्तमानेषु समाश्रयणीयत्वांशे समोऽहम्। तथा च समाश्रयणविषये जात्यादिभिरयं निकृष्ट इति न मे कश्चिद्द्वेष्यो हेयोऽस्ति, न वा जात्यादिभिरुत्कृष्टोऽयमिति कश्चित्प्रिय उपादेयोऽस्ति; किन्तूत्कृष्टा अपकृष्टा वा ये मां भक्त्या भजन्ति ते मयि वर्तन्ते अहमपि तेषु तुल्यवद्वर्ते॥ २९॥

९ व० त० दी०— ननु यदि भक्तेभ्य एव मुक्तिं ददासि नाभक्तेभ्यस्तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतवैषम्यम्? नहि नहीत्याह— समोऽहमिति। सर्वभूतेषु उच्चनीचेषु सम एव वर्तेऽहं न तु विषमः। 'समोऽस्मि मित्रे च रिपौ' इति वाक्यात्। एवं सत्यपि मां भक्त्या ये भजन्ति ते तु मयि मदाधाराः, अहं चापि तेषु तदाधारोऽस्मि, इदं च भक्तिमाहात्म्यमेव ममाप्यस्वतन्त्रत्वमापादयति। तथा चोक्तं भागवते [९।४।६३–६८] भगवतैव–'साधवो हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम्। अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज!॥ वशे (वशी) कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा'॥ इत्यादिना च। नच पुनरपि दोषतादवस्थ्यं कल्पतरुस्वभावत्वात्। नहि कल्पतर्वादावनाश्रितानां कामाद्यसिद्ध्या वैषम्यं वक्तुमुचितं तथा भगवत्यपीति बोध्यम्॥ २९॥

१० पु. अ. त.— एवं कर्मसमर्पणेन तद्बन्धनिवृत्त्युक्त्या असमर्पकाणां च बन्ध एव पर्यवसितस्तेन स्ववैषम्यमाशङ्कमानमाह— समोऽहमिति। अहं सर्वभूतेषु समः। न मे द्वेष्यः कोऽपि। न प्रियः। अत्रायं भावः–स्वक्रीडार्थं सर्वभूतानि मया सृष्टानि, अतस्तेषु सर्वेष्वहं समः; ये क्रीडार्थकत्वमज्ञात्वाऽन्यथाकर्मादिकर्तारो मयि विषमत्वं कुर्वन्ति, अतस्तेषां स्वात्मदोषेणैव बन्धादिकं भवति; ये तु मां भक्त्या स्नेहेन क्रीडारूपं ज्ञात्वा भजन्ति ते स्वभजनात्मकधर्मेण मयि तिष्ठन्ति, तेष्वहं तत्कृतितुष्टस्तिष्ठामि, तेन न वैषम्यमिति भावः॥ २९॥

११ नी० भा० दी०— यतो भक्तानेवानुगृह्णाति, नेतरान्, इत्यतो रागद्वेषवान्भगवानित्यत आह— समोऽहमिति। यथाऽग्निः रागादिशून्योऽपि समीपस्थानामेव शीतं नाशयति, न दूरस्थानां; तद्वत्सर्वत्र समोऽप्यहं शरणागतानामेव बन्धं नाशयामि, नान्येषामित्यर्थः। अतो मम न रागद्वेषाविति भावः। मयि ते तेषु चाप्यहं– भक्ता अनन्यशरणतया मय्येव वर्तन्ते, अहमपि तेष्वेव वर्ते। अभक्तचित्तानां रागाद्याक्रान्तत्वेन तत्र मम विशेषतोऽभिव्यक्तिर्नास्तीति भावः॥ २९॥

**अपि चेत्[1]सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।**
**साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३० ॥**

१ **शां. भा.**— शृणु मद्भक्तेर्माहात्म्यम्— **अपि चेदिति** । अपि चेद्यद्यपि सुष्ठु दुराचारोऽतीव कुत्सिताचारोऽपि भजते मामनन्यभागनन्यभक्तिः सन् , साधुरेव सम्यग्वृत्त एव स मन्तव्यो ज्ञातव्यः; सम्यक् यथावत् व्यवसितो हि सः, यस्मात्साधुनिश्चयः सः ॥ ३० ॥

२ **आ. शां. व्या.**— प्रकृतां भगवद्भक्तिं स्तुवन्पापीयसामपि तत्राधिकारोऽस्तीति सूचयति— **शृण्विति** । सम्यग्वृत्त एव भगवद्भक्तो ज्ञातव्य इत्यत्र हेतुमाह— **सम्यगिति** ॥ ३० ॥

३ **रा. भा.**— तत्रापि— तत्रतत्र जातिविशेषे जातानां यः समाचार उपादेयः परिहरणीयश्च; तस्मादतिवृत्तोऽप्युक्तप्रकारेण मामनन्यभाक् भजनैकप्रयोजनो भजते चेत् साधुरेव सः वैष्णवाग्रेसर एव स मन्तव्यः बहुमन्तव्यः, पूर्वोक्तैः सम इत्यर्थः । कुत एतत् ? सम्यग्व्यवसितो हि सः, यतोऽस्य व्यवसायः सुसमीचीनः; भगवान् निखिलजगदेककारणभूतः परं ब्रह्म नारायणश्चराचरपतिरस्मत्स्वामी मम गुरुर्मम सुहृत् मम परमं भोग्यमिति सर्वैर्दुष्प्रापोऽयं व्यवसायस्तेन कृतः, तत्कार्यं चानन्यप्रयोजनं निरन्तरं भजनं तस्यास्ति, अतः साधुरेव बहुमन्तव्यश्च; अस्मिन् व्यवसाये तत्कार्ये चोक्तप्रकारभजने सम्पन्ने सति तस्याचारव्यतिक्रमः स्वल्पवैकल्यमिति न तावताऽनादरणीयः, अपितु बहुमन्तव्य एवेत्यर्थः ॥ ३० ॥

४ **वे. ता. चं.**— एवं समाश्रयणस्वीकारे जात्याद्यपकर्षोऽकिञ्चित्कर इत्युक्तम् ; तत्र चोपरि वृत्तापकर्षोऽप्यकिञ्चित्कर इत्युच्यते 'अपि चेत् ' इति श्लोकेनेत्यभिप्रयेणाह **तत्रापीति** । ब्राह्मणाद्याचारः शूद्रादेरधर्मः, शूद्राद्याचारश्च ब्राह्मणादेः; एवं ब्राह्मणस्य निषिद्धं मधुमांसादिकं शूद्रस्य न निषिध्यते ; शूद्रस्य निषिद्धं च कपिलाक्षीरादिकं ब्राह्मणस्य प्रशस्तम् ; अतः स्वजातिनियमाद्यपेक्षया दुराचारत्वं दोष इत्यभिप्रायेणाह **तत्र तत्रेति** । विहिताकरणं निषिद्धकरणं चेत्युभयमपि दुराचार इति ज्ञापनाय **उपादेयः परिहरणीयश्चे**त्युक्तम् । अत्र 'चेत्' इत्यस्य नैरर्थक्यादिपरिहाराय दुराचारोऽपि भजेत चेदित्यन्वयः प्रदर्शितः । **उक्तप्रकारेणे**ति— सततकीर्तनादिनेत्यर्थः । प्रकरणविशेषतोऽनन्यभागित्यस्यार्थो **भजनैकप्रयोजन** इति । तेनैव देवदेवतान्तरभजनप्रसङ्गो दूरनिरस्तः । यथोच्यते— ' ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः । प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यस्मात्परिमितं फलम् ' [ म. भा. १२।३४१।३६ ] इति । ननु ' आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ' [ म.भा. १३।१४९।१३७ ] 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः ' [ वा. स्मृ. ६।३ ] ' सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' [ द. स्मृ. २।२२ ] इत्यादिषु सत्सु दुराचारस्य केनाकारेण साधुत्वमित्यत्राह— **वैष्णवाग्रेसर** इति । अन.

---

१ दुष्टः आचारो यस्य स दुराचारः, सु अत्यन्तं दुराचारः सुदुराचारः । 'स्वत्यतीव च निर्भरे' (अ. को. ३।४।२) । अन्यं देवं अन्यत्प्रयोजनं च न भजत इत्यनन्यभाक् । सुप्युपपदे ' भजो ण्विः ' ( अष्टा. ३।२।६२ ) । दुराचारोऽपि मद्भक्तश्चेत्साधुरित्येके । मद्भक्तो दुराचारश्चेदपि साधुरित्यपरे । तदविमृष्टविधेयांशतापत्तेः, 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' इत्यग्रिमोक्तिस्वारस्यभङ्गप्रसङ्गाच्च नातीव हृद्यम् ॥ नन्वेवं दुराचारस्यापि साधुत्वे 'आचारः परमो धर्मः सर्वेषामिति निश्चितम् । हीनाचारपरीतात्मा प्रेत्य चेह च नश्यति ॥ नैनं तपांसि न ब्रह्म नाग्निहोत्रं न दक्षिणा । हीनाचारमितो हीनं तारयन्ति कथञ्चन ॥ ( व. ध. सू. ६।१—२ ) 'सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते । आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः ॥ ( म. भा. १३।१४९।१३७ ) इत्यादीनि परश्शतानि शास्त्राणि दत्तजलाञ्जलीनि भवेयुः, भक्तैरपि 'अहिंसासत्यशौचदयास्तिक्यतादिचारित्राणि परिपालनीयानि ' ( ना. भ. सू. ७८ ) इत्यनुशासनं च विशस्तितं स्यादिति चेत्, सत्यमेव । किन्तु नात्र दुराचारस्य साधुत्वेन मन्तव्यता विधीयते, अपि तु दुराचारोऽप्यचिरादेव भक्तिमहिम्ना समूलकाषं कषितदुर्वासनावेशः साधुतामाप्नोत्येवेति निश्चयात् सेत्स्यन्त्यपि तस्य साधुता सिद्धवद्व्यपदिश्यत इति ज्ञेयम् । तथा च 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' ( ९।३१ ) इति समनन्तरमेव गीतमपि सङ्गच्छते । दृश्यते चैवं निश्चितत्वेनाध्यवसितानामर्थानां सिद्धवन्मननमनेकत्र । यथा द्रोणोऽर्जुनं कृत्रिमभासशिरश्छेदने नियुज्य 'तस्मिन् कर्मणि संसिद्धे पर्यष्वजत पाण्डवम् । मेने च द्रुपदं सङ्ख्ये सानुबन्धं पराजितम् ' ॥ ( म. भा. १।१८७।२२ ) 'क्रुद्धमाधिरथिं दृष्ट्वा पुत्रास्तव विशांपते ! । भीमसेनममन्यन्त वैश्वानरमुखे हुतम् ॥ ( म. भा. ७।३२।६ ) इत्यादौ ॥ भगवद्भजनस्य समूलदुरितविनाशकत्वं च ' केचित्केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः' ॥ ( भाग.६।१।१५ ) इत्यादौ द्रष्टव्यम् । —अविगीता ।

न्यभजनं वैष्णवाग्रेसरत्वे प्रयोजकम् । ननु 'साधवः क्षीणदोषाः स्युः सच्छब्दः साधुवाचकः । तेषामाचरणं यत्तु सदाचारः स उच्यते' [ वि. पु. ३।११।३ ] इति भगवत्पराशरवचनात् क्षीणपापानां च कृष्णभक्तिस्मरणात्साधुशब्दोऽत्र कथं वैष्णवाग्रेसरपर उक्तः ? आचारशून्यस्य शिष्टापरिग्रहादसाधुत्वमेवेत्यत्रोत्तरं 'मन्तव्यः' इत्युच्यत इति दर्शयति **बहुमन्तव्य** इति । अर्थसिद्धबोद्धव्यतामात्रकथनं निरर्थकम् ; सम्पूर्वस्य मनिधातोश्च बहुमतिरर्थः उपसर्गार्थाश्च धातुलीना इति भावः । अपरिग्रहे सति खल्वसाधुत्वशङ्का, न तु सोऽस्तीत्याह— **पूर्वोक्तैः सम** इति । "विष्णुरेव भूत्वा" [ यजुः २।१।३।१६ ] इत्यादौ साम्येऽप्येवकारः प्रयुज्यत इति भावः । पूर्वोक्तैर्महात्मभिरित्यर्थः ।

ननु स्वाचारदुराचारयोः पुष्कलविकलोपाययोर्न तावदुपायतः साम्यम् ; तत एव न फलतोऽपीति शङ्कायां 'सम्यक्' इत्यादिकमवतारयति— **कुत एत**दिति । **यत** इति— हिर्हेताविति भावः । व्यवसायस्य समीचीनतां प्राधान्यतोऽप्यवसेयविषयविशेषेण विशदयति— **भगवा**निति । भगवान्-उभयलिङ्गकः । **निखिलजगदेककारणभूत** इत्यनेन ब्रह्मत्वसाधकं श्रौतं लक्षणमुक्तम् ; तेन 'ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्' [ ९।१३ ] इति पूर्वोक्तं च स्मारितम् । सामान्यशब्दस्य विशेषे पर्यवसानं 'नारायणपरं ब्रह्म' [म.ना.९।४+तै.ना.६।११] इत्यादितत्त्वनिर्णायकवाक्यं चाभिप्रेत्य **परं ब्रह्म नारायण** इत्युक्तम्। 'चराचरपतिः' "पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम्" [ तै.ना. ६।११] "पतिं पतीनाम्" [ श्वे. उ. ६।७ ] इत्यादि द्रष्टव्यम् । एवं परत्वव्यवसायः, अथ सौलभ्याध्यवसायः **अस्मत्स्वामी**ति । नह्यहं तद्विभूतेर्बहिर्भूतः; स्वशेषभूतं मामसौ स्वयमेव लब्धुमुपक्रान्त इति भावः । एवं पदद्वयेन सांसिद्धिकः सम्बन्धो दर्शितः । अत्यन्तमूर्खस्य मम सम्यग्ज्ञानप्रदायी महोपकारकोऽयमित्यभिप्रायेण **मम गुरु**रित्युक्तम् । अनन्तमहापराधशालिनि मय्यपि शोभनहृदयोऽयमित्यभिप्रायेण **मम सुहृ**दित्युक्तम् । अतिक्षुद्रदुःखमिश्रनश्वरसुखकणसङ्गिनो मे निरतिशयनिर्दोषनित्यसुखसागरं स्वात्मानं प्रकाशितवानित्यभिप्रायेण **मम परं भोग्य**मित्युक्तम् । गुरुत्वसुहृत्त्वे प्रापकत्वार्थे; भोग्यत्वं तु प्राप्यत्वार्थम् । **सर्वैर्दुष्प्राप** इत्याचारबहुलेष्वपि तादृशो व्यवसायो न दृश्यते; **आकर**ऽपि शिलाशकलमनुपादेयम् ; अवकरेऽपि रत्नमादरणीयमिति भावः । 'बहूनां जन्मनामन्ते' [ ७।१९ ] इति ह्येवंविधो व्यवसाय उक्तः । स्मरन्ति च **श्रीपौष्करे**— 'ये जन्मकोटिभिः सिद्धाः' 'अनेकसंसारचिते चिते पापसमुच्चये' 'नास्ते क्षीणे जायमानेऽत्र संस्थितिः' इति । श्रीशुकं प्रति जनकश्चाह 'ज्ञानं च व्यवसायश्च द्वौ परप्रतिपादकौ । व्यवसायादृते ब्रह्म नासादयति तत्परम्' [ म. भा. १२। ३२६ । ४० ] इति । व्यवसायमात्रेण कथं भजमानैः समानत्वं ? इत्यत्राह— **तत्कार्यं चे**ति । 'भजते माम्' इत्यत्र व्यवसायोऽन्तर्गतः, व्यवसित इत्यत्राप्यर्थाद्भजनम् ; अनन्यभजनमूलबहुमन्तव्यत्वहेतुतया हि व्यवसायोऽयमुक्त इति भावः । अविकलानुष्ठायिवद्विकलानुष्ठायी कथं बहुमन्तव्यः ? इत्यत्राह— **अस्मिंश्च**ेति । तादृशे पुरुषे स्वल्पवैकल्यनिमित्तोऽनादर एव महापराधः स्यादिति भावः । 'स्मृतः सम्भाषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम !' 'स च पूज्यो यथा ह्यहम्' [ गा. पू. २१९ ] इत्यादिप्रमाणसूचनाभिप्रायेण निगमयति **अपितु बहुमन्तव्य एवे**ति ॥ ३० ॥

**५ आ. मा. भा.— न भवत्येव प्रायस्तद्भक्तः सुदुराचारस्तथापि बहुपुण्येन यदि कथञ्चिद्भवति तर्हि साधुरेव स मन्तव्यः ॥ ३० ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— 'अपि चेत्' इत्यादिना भक्तेः प्रशंसा क्रियते । तत्र विष्णुभक्तेः सुदुराचारेणैकत्र समावेशप्रतीतौ यथावद्व्याचष्टे— **न भवत्येवे**ति ॥ ३० ॥

**७ ह. पै. भा.— सुदुराचारोऽपि मामीश्वरं भजते चेदन्यं न भजतीत्यनन्यभाक् साधुरेव धार्मिक एव स मन्तव्यो बोद्धव्यः । हि यस्मादर्थे । सम्यक्शोभनं व्यवसितो निश्चितस्तस्माद्धार्मिक एव स मन्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ३० ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— ननु दुर्वृत्तसुवृत्तयोस्त्वद्भक्तिसाम्येऽपि साधुत्वासाधुत्ववैषम्यसत्त्वात्कथमुच्यते 'ये भजन्ति...मयि ते तेषु चाप्यहम्' [ ९।२९ ] इति तेषां तुल्यवद्वृत्तिः ? तत्राह— **अपी**ति । श्रुतिस्मृत्यादिष्वनुपदिष्टप्रायश्चित्तोऽतिपापिष्ठः सुदुराचारः, अत एव पापापनोदकत्वेन भजनीयस्यान्यस्याभावादनन्यभाक् ; एवंविधोऽपि मां भजते चेत् स साधुरेव, न पापिष्ठः; मद्भजनेनैव तस्य कृतप्रायश्चित्तत्वात् । तथा स मन्तव्यः सर्वैर्बहुमन्तव्यः, संव्यवहार्य इति यावत् । हि यस्मात् स दुराचारः सम्यग्व्यवसितः 'भगवान्वासुदेव एव मम शरणम्' इति शोभनमध्यवसायं कृतवान् । अत्र साधुरेवेत्येवकारेण 'प्रायश्चित्तैरपैत्येनो यदज्ञानकृतं भवेत् । कामतो व्यवहार्यस्तु वचनादिह जायते' [ या. स्मृ. ३।२२६ ] इति स्मृतेर्ज्ञानकृतस्थले प्रायश्चित्तैर्लौकव्यवहार्यत्वमात्रम् , न तु पापक्षयः । द्वे हि पापस्य शक्ती— नरकोत्पादिका व्यवहारनिरोधिका चेति । तत्रेतरशक्त्यविनाशेऽपि व्यवहार्यत्वनिरोधकशक्तेर्विनाश इति विज्ञानेश्वराद्युक्तार्थस्य भगवद्भजनरूपप्रायश्चित्ते सम्बन्धो नास्तीति दर्शितम् ॥ ३० ॥

९ व० त० दी०— तत्र भक्तिमत्त्वं नाधिकार-( रि )-विशेषणं, अन्यत्रापि दर्शनात्; इत्यभिप्रायेण 'अपि-चेत्' इति भगवान् महापतितपावनत्वं च स्वस्य दर्शयति। सुदुराचारः अनाचार्येऽपि चेन्मां भजते स साधुरेव सर्वैर्मन्तव्यः। महापतितोऽपि चेन्मामनन्यभाक् नान्यदेवं भजते सेवते च। सेवा च तत्प्रवणचेतोरूपा 'मानसी सा परा मता' इत्युक्ता, तद्भाववान् सः साधुर्वैष्णवाग्रगण्य एव मन्तव्यः 'विप्रात् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम्' इति [ ७।९।१० ] भागवतवचनात्। कुत एवं तत्राह—हि यतः सम्यग्व्यवसितः स माहात्म्यं ज्ञात्वाऽज्ञात्वा वा भगवति चित्तप्रावण्यकरणे निश्चितः ( निरतः ) ॥ ३० ॥

१० पु. अ. त.— ननु ये त्वां भजन्ति तेषु चेत्त्वं तिष्ठसि, कथं तदा ते विषयाद्यभिभूता भवन्ति? इत्यत आह— अपीति। चेत् सुदुराचारोऽपि, अनन्यभाक् मां भजते स साधुरेव मन्तव्यः। अत्रायं भावः— विषयादिमहापापौघाचरणशीलस्तन्निवृत्तिनिमित्तान्यदेवभजनप्रायश्चित्तादिधर्माद्युपायज्ञानेन अन्यभजनरहितस्तत्त्यागाशक्तस्त्यक्तुकामः स्वदैन्याविर्भावेन यो मां भजते स साधुरेव मान्यः। त्वयेति शेषः। 'अपि चेत्' इत्यनेन तादृशाचारस्यानन्यभजनत्वे दुर्लभत्वं ज्ञापितम्। कुतः? इत्यत आह—सम्यग्व्यवसितः स पूर्वोक्तः सम्यगध्यवसायं निश्चयं यतः कृतवान्; यन्मम महापातकनिवारकः श्रीकृष्णं विना नान्य इति। हीति निश्चयार्थम्। अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥

११ नी० भा० दी०— भक्तेर्माहात्म्यमाह— अपि चेदिति। अत्यन्तपापिष्ठोऽपि मां यद्यनन्यचेताः सन् भजते, तथापि स साधुरेव मन्तव्यः। हि यतः स सम्यग्व्यवसितः सम्यग्वृत्तः ॥ ३० ॥

**क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।**
**कौन्तेय! प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥ ३१ ॥**

१ **शां. भा.**— उत्सृज्य च बाह्यां दुराचारतामन्तस्सम्यग्व्यवसायसामर्थ्यात्— **क्षिप्रं** शीघ्रं **भवति धर्मात्मा** धर्मचित्त एव। **शश्वन्**नित्यं **शान्तिं** चोपशमं **निगच्छति** प्राप्नोति। शृणु परमार्थं **कौन्तेय! प्रतिजानीहि** निश्चितां प्रतिज्ञां कुरु, **न मे** मम **भक्तो** मयि समर्पितान्तरात्मा मद्भक्तो **न प्रणश्यती**ति ॥ ३१ ॥

२ आ. शां. व्या.— हेत्वर्थमेव प्रपञ्चयति— उत्सृज्येति। भगवन्तं भजमानस्य कथं दुराचारता परित्यक्ता भवति? इत्याशङ्क्याऽऽह— **क्षिप्रमिति**। सति दुराचारे कथं धर्मचित्तत्वं? तदाह—**शश्वदिति**। उपशमो दुराचारादुपरमः। किमिति त्वद्भक्तस्य दुराचारादुपरतिरुच्यते? दुराचारोपहतचेतस्तया किमित्यसौ न नश्यति? इत्याशङ्क्याऽऽह— **शृण्वि**ति॥३१॥

---

१ **निगच्छतीति**- निपूर्वस्य गच्छतेः प्राप्त्यर्थे प्रयोगो दृश्यतेऽन्यत्रापि—'वीणावादनतत्त्वज्ञः श्रुतिजातिविशारदः। तालज्ञश्चाप्रयासेन मोक्षमार्गं निगच्छति॥' (याज्ञ.स्मृ.३।११५) इत्यादौ॥ अत्रेदं बोध्यम्— भगवान् स्वप्रतिज्ञामुल्लङ्घ्यापि भक्तप्रतिज्ञापालनमेव बहु मन्यते। तथा हि 'अयुध्यमानः सङ्ग्रामे न्यस्तशस्त्रोऽहम्—' ( म. भा. ५।७६ ) इति प्रतिज्ञायापि भीष्मप्रतिज्ञापालनार्थं 'क्षुरान्तमुद्यम्य भुजेन चक्रं रथादवप्लुत्य विसृज्य वाहान्। संकम्पयन् गां चरणैर्महात्मा वेगेन कृष्णः प्रससार भीष्मम्॥ ( म. भा. ६।५९।८९ ) इति श्रूयते। कीर्तितं च भीष्मेणापि 'स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिकर्तुमवप्लुतो रथस्थः। धृतरथचरणोऽभ्ययाच्चलद्गुर्हरिरिव हन्तुमिभं गतोत्तरीयः॥' (भाग. १।९।३७ ) इति॥ अत एवं स्वप्रतिज्ञां त्यजता विधिनिषेधातीतेन चात्मना प्रतिज्ञाते न तथा केऽपि विश्वसेयुरित्याशङ्क्य प्रतिज्ञातव्यार्थस्य निस्सन्दिग्धतां ख्यापयितुं 'तां न देवा न गन्धर्वा नासुरोरगराक्षसाः। उत्सहन्तेऽन्यथा कर्तुं प्रतिज्ञां सव्यसाचिनः॥' (म.भा.७।७९।१४) इति पिप्रथयिषमाणयशसं, भक्तोत्तमं सत्यप्रतिज्ञमर्जुनमेव प्रेरयति— त्वमेव प्रतिज्ञां कुर्विति। कौन्तेयेत्यनेन च मातामहकुलं गतेन त्वया प्राक् ब्राह्मणाग्रे 'अहं प्रजां वां भगवन्नक्षिष्ये दीनयोरिह। अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः॥' ( भाग. १०।८९।३० ) इति यत् प्रतिज्ञातं तदतिदुष्करमपि यथा मया पारितं; तथैवेदानीमपि पारयितुं कृतपरिकर एवास्मि, मा भैषीरिति निगूढं सूचयतीति विभावनीयम्॥

**वामन**स्तु कौन्तेयेत्यामन्त्रणस्यैवं भावमाह—

कुन्त्यां परेण जनितोऽसि तथापि भक्त्या मामीश्वरं गमितवानसि सारथित्वम्।
दुर्योधनस्तु नचिराद्धृतराष्ट्रजोऽपि पश्य प्रणाशमुपयास्यति भक्तिबाह्यः॥ इति।

भक्तानामपि भोगैकनाश्यप्रारब्धफलानुभवरूपो नाशोऽस्त्येव, अतो न नश्यतीत्यनुक्त्वा न प्रणश्यतीत्युक्तमित्युपन्यासदर्पणे।
— **अविगीता**।

३ रा. भा.— ननु "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" [कठो. २।२३] इत्यादिश्रुतेः आचारव्यतिक्रम उत्तरोत्तरभजनोत्पत्तिप्रवाहं निरुणद्धीत्यत्राह— क्षिप्रमिति । मत्प्रियत्वकारितानन्यप्रयोजनमद्भजनेन विधूतपापतयैव समूलोन्मूलितरजस्तमोगुणः क्षिप्रं धर्मात्मा भवति क्षिप्रमेव विरोधिरहितसपरिकरमद्भजनैकमना भवति; एवंरूपभजनेनैव हि 'धर्मस्यास्य परन्तप!' [९।३] इत्युपक्रमे धर्मशब्दोदितां शश्वच्छान्तिं निगच्छति शाश्वतीमपुनरावर्तिनीं मत्प्राप्तिविरोध्याचारनिवृत्तिं गच्छति; कौन्तेय! त्वमेवास्मिन्नर्थे प्रतिज्ञां कुरु मद्भक्तावुपक्रान्तो विरोध्याचारमिश्रोऽपि न नश्यति; अपितु मद्भक्तिमाहात्म्येन सर्वं विरोधिजातं नाशयित्वा शाश्वतीं विरोधिनिवृत्तिमधिगम्य क्षिप्रं परिपूर्णभक्तिर्भवति— इति ॥ ३१ ॥

४ वे. ता. चं.— अस्त्वन्येषां बहुमन्तव्यः, स्वस्य तु कार्यासिद्धिरिति शङ्कापूर्वकमनन्तरश्लोकमवतारयति— **ननु नाविरत** इति । न केवलं प्राप्तिमात्रनिषेधः श्रुतौ; अपितु प्रज्ञानस्यापि निषेधोऽभिप्रेत इत्यभिप्रायेणोक्तम् **उत्तरोत्तरभजनोत्पत्तिप्रवाहं निरुणद्धी**ति । तथाचोच्यते— 'पापं प्रज्ञां नाशयति क्रियमाणं पुनः पुनः । नष्टप्रज्ञः पापमेव पुनरारभते द्विज! (नरः)' [म. भा. ५।३५।६१;६२] इति । प्रतिबन्धकरजस्तमोमूलभूतपापनिरासाय ह्याचारः; तस्मिंश्च पापे मद्भजनेन विनिवृत्ते सति नोपासनप्रतिबन्ध इत्यभिप्रायेणाह **मत्प्रियत्वे**ति । विकल्पस्य विलम्बशङ्काप्रतिक्षेपार्थः क्षिप्रशब्दः । धर्मशब्दोऽत्र प्रकरणादनन्यभजनपरः । आत्मशब्दश्च तत्करणभूतमनोविषयः । 'अनन्यमनसः' [९।१३] 'मन्मना भव' [९।३४] इति हि पूर्वापरम्; भजनमेव कथं भजनोत्पत्तिप्रतिबन्धकनिवर्तकमिति चेत्, तन्न, परिपूर्णभजनस्य साध्यत्वात्; भक्त्युपक्रमस्य च हेतुत्वात् तदेतदाह— **क्षिप्रमेवे**त्यादिना ।

नन्वत्र धर्मशब्दो वर्णाश्रमधर्ममात्रपरः किं न स्यात्? इत्यत्राह **एवं रूपे**ति । सामान्यशब्दस्य प्राकरणिकविशेषविषयत्वमेव न्याय्यम्; प्रयुक्तश्चायमेव शब्दः प्रक्रमे भजनरूपविशेषविषयतयेति भावः । अस्तु भजनप्रभावात्पापनिवृत्तिः; तथापि परितापरहितबुद्धिपूर्वानुवृत्तदुराचारसन्तानः कथं न प्रतिबन्धक इत्यत्रोत्तरं **शश्वच्छान्तिं निगच्छती**ति । **मत्प्राप्तिविरोध्याचारनिवृत्ति**मिति प्रकरणविशेषतः शान्तिशब्दार्थः । 'प्रतिजानीहि' इत्यत्र ज्ञानमात्रविधावुपसर्गस्य नैरर्थक्यात् "वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्" ऋक्सं. ५।४।२१।१] इत्यादिष्वगत्या नैरर्थक्यस्वीकारादत्र च ज्ञानविधेः प्रयोजनाभावात्, प्रतीयमानप्रतिज्ञार्थस्यात्यन्तनिर्णीतत्वस्थापकतयाऽपेक्षितत्वाच्चाह **कौन्तेय त्वमेवास्मिन्नर्थे प्रतिज्ञां कुर्वि**ति । 'प्रतिजानामि' इति स्वप्रतिज्ञानादपि 'प्रतिजानीहि' इति श्रोतुरेव प्रतिज्ञाविधानमत्यन्तस्थैर्याभिप्रायमिति व्यञ्जनायोक्तं **त्वमेवे**ति । 'न मे भक्तः प्रणश्यति' इत्ययं प्रतिज्ञाविषय इति ज्ञापनाय **अस्मिन्नर्थे** इत्युक्तम् । परिपूर्णोपासकस्य नाशप्रसङ्गाभावात् 'अपि चेत्सुदुराचारः' [९।३०] इत्युक्तविषयत्वाच्चाह **मद्भक्तावुपक्रान्तो विरोध्याचारमिश्रोऽपी**ति । उपक्रान्तभक्तिरपि हि भक्त इत्युच्यते । भक्तस्य नाशनिषेधः 'शश्वत्' इत्याद्युक्ततत्प्रतिकूलनाशमुखेन परिपूर्तिपर्यवसित इत्यभिप्रायेणाह **अपित्वि**ति । अत्रोपरिचरादिवृत्तान्तो ग्राह्यः । यथोपरिचरो भगवद्धर्ममास्थितः कदाचिद्देवानामृषीणां च विवादेऽपि पिष्टपश्वादि भगवदादिमहर्षिविरुद्धमनृतमभिधाय निपतितः क्षिप्रं भगवतोद्धृतः [म.भा.१२।३३७]; यथा च 'उपमानमशेषाणां साधूनां यः सदाऽभवत्' [वि. पु. १।१६।१५] इति प्रसिद्धः प्रह्लादः कदाचिद्भगवन्तं प्रतियोद्धुं प्रवृत्तः शीघ्रं प्रत्यबुध्यत; यथा च पापिष्ठः क्षत्रबन्धुर्भगवन्नामप्रभावादनन्तरजन्मनि जातिं स्मरन् जातनिर्वेदो भगवन्तं शरणमुपसङ्क्रम्य व्यमुच्यत [वि. ध. अ. ९७] । इतिशब्दस्य 'अस्मिन्नर्थे' इत्यनेनान्वयः ॥ ३१ ॥

५ आ. मा. भा.— कुतः? क्षिप्रं भवति धर्मात्मा । देवदेवांशादिष्वेव च तद्भवति । उक्तं च सामवेदे शाण्डिल्यशाखायाम्— "नाविरतो दुश्चरितान्नाभक्तो नासमाहितः । सम्यग्भक्तो भवेत् कश्चिद्वासुदेवेऽमलाशयः ॥ देवर्षयस्तदंशाश्च भवन्ति क्व च ज्ञानतः" इति । अतोऽन्यः कश्चिद्भवति चेत् दाम्भिकत्वेन सोऽनुमेयः । साधारणपापानां सत्सङ्गान्महत्यपि कथञ्चिद्भक्तिर्भवति । साधारणभक्तिर्वेतरेषाम् ।

६ ज. प्र. दी.— बहुपुण्येन स्वयोग्यादधिकेनार्जितेन 'सम्यग्व्यवसितो हि सः' [९।३०] इति हेतोरुक्तत्वात् 'क्षिप्रं' इत्यादि व्यर्थमित्यत आह— **कुत** इति । सम्यग्व्यवसायवत्त्वेऽपि सुदुराचारः कुतः साधुर्मन्तव्य इति शङ्कार्थः । सम्यग्व्यवसायवत्त्वात्क्षिप्रं भवति धर्मचित्तः । यदेतद्भक्तेः सुदुराचारेण सहैकत्र कचिदवस्थानमङ्गीकृतं तदपि न मनुष्यविषयमित्याह— **देवे**ति । देवाश्चन्द्रादयः, तदंशाः सुग्रीवादयः । आदिपदेन विश्वामित्रादीनामृषीणां ग्रहणम् । एतच्च देवदेवांशादिष्वेव विषयेषु भवतीति योजना । कुतः? इत्यत आह— **उक्तं चे**ति । दुश्चरितादविरतो यः कश्चित्सोऽमलाशयो भूत्वा वासुदेवे सम्य-

ग्भक्तो न भवेत् , तथाऽभक्तः श्रवणकीर्तनादिभक्तिलिङ्गरहितः, एवमसमाहितो विषयविक्षिप्तमनाश्च । देवादयश्च क्वचिदेवम्भूता अपि सम्यग्भक्ता भवन्ति । कुतः? ज्ञानतः सम्यग्व्यवसायत्वात्। ननु देवादिभ्योऽन्योऽपि सुदुराचारस्तद्भक्तो दृश्यते, शङ्खचक्राङ्कितबाहुमूलत्वादिलिङ्गवत्त्वात् । कथमेतत् ? इत्यत आह— अतोऽन्य इति। भवति चेत्सुदुराचारोऽपि भक्तिलिङ्गवानिति शेषः। मा भूत्सुदुराचारो भक्तः, मध्यमदुराचारस्तु तथाविधः कथं ? इत्यत आह— **साधारणे**ति । **महती**ति । वक्ष्यमाणसाधारणभक्तिव्यवच्छेदार्थं सुदुराचाराणामपि भगवत्प्रेम्णोऽनुभवसिद्धत्वात्कथं दाम्भिकत्वानुमानं ? इत्यत आह— **साधारणे**ति । अल्पेत्यर्थः । प्रेमानुभवाभावेऽनुमानमुक्तम् । महाभक्त्यभावविषयं वेति भावः ।

**५ आ. मा. भा.—‘स शठमतिरुपयाति योऽर्थतृष्णां तमधमचेष्टमवेहि नास्य भक्तिम्’ इति श्रीविष्णुपुराणे [३।७।३०] ‘सा श्रद्दधानस्य विवर्धमाना विरक्तिमन्यत्र करोति पुंसः’ इति च । ‘वेदास्त्वधीता (वेदाः स्वधीताः) मम लोकनाथ ! तप्तं तपो नानृतमुक्तपूर्वम् । पूजां गुरूणां सततं करोमि परस्य गुह्यं न च भिन्नपूर्वम् ॥ गुप्तानि चत्वारि यथागमं (यथं) मे शत्रौ च मित्रे च समोऽस्मि नित्यम्। तं चापि (चादि-) देवं शरणं (सततं) प्रपन्नमेकान्तभावेन भजा-(वृणो)-म्यजस्रम् ॥ एतैरुपायैः (एभिर्विशेषैः) परिशुद्धसत्त्वः कस्मान्न पश्येयमनन्तमेन-(ईश-)म्’ इति मोक्षधर्मे [म. भा. १२।३३५।३,४,५] । आचारस्य ज्ञानसाधनत्वोक्तेश्च; ज्ञानाभावे सम्यग्भक्त्यभावात् । तथा हि गौतमखिलेषु—“विना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्तिं विना च तत्” इति । ‘भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैतत्त्रिकमेककालम्’ इति च भागवते [११।२।४२]॥ ३१ ॥**

**६ ज. प्र. दी.—** सुदुराचारोऽपि भक्तिलिङ्गवान्महाभक्त एवास्तु, किं दाम्भिकत्वादिकल्पनया ? इत्यत आह— **स** इति । शठमतिः दम्भबुद्धिः । महाभक्तेर्दुराचारोपशमहेतुत्वोक्तेश्च न तयोरेकत्र समावेश इत्याह— **से**ति, हरिभक्तिः । इतश्चैवमित्याह— **वेदा** इति। मम मया । परस्य गुह्यं न च भिन्नपूर्वं पिशुनत्वं नाचरितम् । उपस्थमुदरं पाणिर्वागिति चत्वारि । मे मया । एकान्तभावेन नियतमनसा । सत्त्वमन्तःकरणम् । कारणसामग्र्यां सत्यां कार्यानुदयो ह्याश्चर्यहेतुः । नन्वाचारस्य ज्ञानसाधनत्वोक्त्या दुराचाराणां ज्ञानाभावः सिध्यतु, महाभक्त्यभावस्तु कुतः? इत्यत आह— **ज्ञाने**ति । कुत एतत् ? इत्यत आह— **तथा ही**ति । भक्तिज्ञानयोरविनाभूतत्वाच्च तदभावे तदभावसिद्धिरित्याह— **भक्तिरि**ति ॥ ३१ ॥

**७ ह. पै. भा.— क्षिप्रं शीघ्रं भवति जायते धर्मात्मा धर्मस्वरूपः शश्वन्नित्यां शान्तिं मोक्षलक्षणां निगच्छति प्राप्नोति ॥ ३१ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.—** न केवलं मद्भजनाद्दुराचारस्य पापक्षयमात्रम्, किन्तु ज्ञानद्वारा मोक्षश्चेत्याह— **क्षिप्रमि**ति । मद्भजनक्षीणपापः सुदुराचारः तन्महिम्ना क्षिप्रं शीघ्रमेव धर्मात्मा ‘धर्मस्यास्य परन्तप !’ [९।३] इत्यध्यायोपक्रमोक्तज्ञानरूपधर्मे आत्मा चित्तं यस्य स धर्मात्मा ज्ञानी भवति । ततः शश्वच्छान्तिं शाश्वतिकीमविद्यानिवृत्तिरूपां शान्तिं मुक्तिं निगच्छति प्राप्नोति । यद्यस्मिन्नर्थे कुमीमांसकाः केचित्पापिष्ठा विप्रतिपद्येरन् , तन्निरासाय भेरीवादनपूर्वकं त्वमेव तेषां पुरतः प्रतिज्ञां कुर्विति कुपित इवाह भगवान्भक्तवत्सलः— **कौन्तेये**ति । मे मम वासुदेवस्य भक्तो दुराचारोऽपि न प्रणश्यति, किन्तु कृतार्थ एव भवतीति सावज्ञं सगर्वं च प्रतिजानीहि; निदर्शयस्व चाजामिलादीनित्यर्थः ॥ ३१ ॥

**९ व० त० दी०—** ननु नीचजातिमान्सम्यग्व्यवसायमात्रेण कथं साधुर्मन्तव्यस्तत्राह— **क्षिप्रमि**ति । सत्यमुक्तं नीचजातिस्तत्र विरोधिनीति परं तदुत्तरभजनमहिम्ना निर्मूलमुन्मूलितजातिपापः सन् धर्मात्मा भवति एवं स्वरूपभजनेन शश्वच्छान्तिमपुनरावर्त्तिनीं मत्प्राप्तिं विरुद्धाचारनिवृत्तिं याति हे कौन्तेय ! त्वमस्मिन्नर्थे मे प्रतिज्ञां जानीहि । ‘न मे भक्तः प्रणश्यति’ इति त्वं वा सभायां गत्वा प्रतिज्ञां कुरु, न मे भगवतो भक्तो दोषैः पराभूतो भवाम्बुधौ निमज्जति, किन्तु परां गतिं याति । अनेनातितामसानां राजसानां महापतितानां च स्वसम्बद्धानां च पावने निरोधने च स्वसमर्थत्वं स्वस्य कृपालोः पुरुषोत्तमस्य दर्शितम् । अतएव— ‘सर्वोद्धारप्रयत्नात्मा कृष्णः प्रादुर्बभूव ह’ इति निरूपितं निबन्धे; ‘ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः । तेषामुद्धारकः कृष्णः पुरुषोत्तम एव हि’ इति च ॥ ३१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रवृत्तस्य दुराचारादिकं नश्यतीत्याह— क्षिप्रमिति। क्षिप्रं शीघ्रं धर्मात्मा मत्सेवनयोग्यो भवति, ततः शश्वच्छान्तिं शाश्वतीं शान्तिं मद्रूपां नितरां भावात्मरूपेण गच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः। तस्मात् हे कौन्तेय मत्कृपापात्र! तथा दुराचरणशीलेऽपि मद्भक्ते निर्दोषभावेन साधुत्वं मत्वा मद्भक्ते दोषदृष्टिषु प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु; यन्मे भक्तो दुराचारादिदोषैर्न प्रणश्यति; दोषा एव नश्यन्तीत्यर्थः। एवं मद्भक्ताधिक्यवर्णनेनाहं तुष्टो भविष्यामीति भावः॥ ३१॥

११ नी० भा० दी०— सम्यग्व्यवसितत्वादेव क्षिप्रं शीघ्रं धर्मात्मा भवति, शान्तिं च शश्वत् निगच्छति प्राप्नोति। हे कौन्तेय! त्वमेव मदाज्ञया प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु, मे मम भगवतो हरेर्भक्तो न नश्यतीति॥३१॥

भगवद्भजनस्य स्त्रीणामस्पृश्यानां च सर्वेषामप्यधिकारः।

**मां हि पार्थ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः[1]।**
**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥ ३२॥**
**किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या[2] भक्ता राजर्षयस्तथा।**
**अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥ ३३॥**

---

१ पापयोनयः पशुपक्षिसरीसृपादयः, स्त्रिय इत्यज्ञाः, वैश्या इति कृष्यादिकर्मान्तररताः, शूद्रा इति कात्स्न्र्येन वैदिकक्रियानधिकृताः परतन्त्रवृत्तयश्च, तेऽपि मदाश्रिता मामेव यजन्ते। गजेन्द्रमोक्षणादीनि हि चरितानि परमकारुणिकस्य भगवतः सहस्रशः श्रूयन्ते। किमङ्ग पुनरेतद्विपरीतवृत्तयः? ॥ केचिदाचक्षते-द्विजराजन्यप्रशंसापरमेतद्वाक्यम्, न तु स्त्र्यादिष्वपवर्गप्राप्तितात्पर्येणेति। ते भगवतः सर्वानुग्राहिणीं शक्तिं मितविषयतया खण्डयन्तः, तथा परमेश्वरस्य परमकृपालुत्वमसहमानाः, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः' (९।२९) 'अपि चेत्सुदुराचारः' । (९।३०) इत्यादीन्यन्यानि चैवंप्रकारस्फुटार्थप्रतिपादकानि वाक्यानि विरोधयन्तो निरतिशययुक्तिप्रपञ्चसाधिताद्वैतभगवत्तत्त्वं भेदभङ्गं बलादेवानयन्तोऽन्यांश्चागमविरोधानचेतयमानाः कथमिदं? कथमिदं? इति पर्यनुयुज्यमाना यदि परमन्तर्गर्भीकृतजात्यादिमहाग्रहगृहीताविष्टान्तःकरणा मात्सर्यावहित्थलज्जाजिह्मीकृतवाङ्मुखदृष्टयः समग्रस्य जनस्यासत्प्रलापिन इति हास्यरसविषयभावमात्मन्यारोपयन्ति। यत्पूर्वैव व्याख्या सर्वस्य करोति शिवम्—इत्याहुरत्राभिनवगुप्तपादाः॥ पापेन योनिर्येषाम्, पापा वा योनिर्येषां ते पापयोनयः। पापेन स्त्रीत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं च प्राप्ता ये तेऽपि भगवन्तं अनन्यभावेनाश्रित्य मोक्षमाप्नुवन्ति। सति चैवं स्वभावादेव याः स्त्रियो ये च वैश्यादयस्ते भगवदाश्रयेण परां गतिमाप्नुवन्तीति किं वाच्यम्? इति केचित्॥

अत्र प्रथमोऽपिशब्दो विशेषमभिधत्ते। तथा हि— कर्मकाण्डे पात्रापात्रविचारो भवति, योगेऽप्यधिकारिभेदव्यवस्थाऽस्ति, ज्ञानकाण्डेऽपि साधनचतुष्टयादिविचारापेक्षाऽस्त्येव। परमिह भक्तिमार्गे तु नापेक्षाऽस्ति कीदृशस्याप्यधिकारस्येति काण्डत्रयेऽप्युपासनाकाण्डस्यालौकिको महिमाऽविस्मरणीय एवेति दर्शयितुमपिशब्दः समुपन्यस्तः। यथा दैवीमीमांसादर्शने एतत्समानविषये—'अन्त्यजोऽप्यधिकारी तत्र साम्यात्' (१।३६) इति सूत्रे। एतेन भगवद्भक्तो यः कोऽपि मानवो भगवद्भावभावुकश्चेत्स आश्वेव भगवत्कृपापात्रं भवितुमर्हति; सर्वे भक्ताश्च भगवतः समाना एव, न तत्र जातिवर्णावस्थादि भेदविचारणा भवतीति तद्व्याख्यातारः। सूत्रितश्चायमर्थो देवर्षिणा—'नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः। 'यतस्तदीयाः' (ना. सू. ७२-७३) इति। शाण्डिल्येनापि—'आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात्सामान्यवत्' (भ. मी. २।२।२३) इति। निन्दितचाण्डालादियोनिपर्यन्तं भक्तावधिक्रियते, वेदाध्ययनाधिकाराभावेऽपि स्त्रीशूद्रवदितिहासपुराणाद्युपदेशपारम्पर्येण तज्ज्ञानसम्भवात्; सामान्यधर्मवत्। 'अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।' (मनुः १२।६३) इत्यादिसामान्यधर्म यथा चाण्डालादीनामप्यधिकारः, तथैव भक्तावपीत्यर्थः। अत्र विस्तरो ज्ञानदेवीये द्रष्टव्यः।

२ 'पुण्याः' इत्यस्य पुण्यहेतुकोत्तमजन्मवन्त इत्यर्थः, पापयोनय इत्यस्य प्रतिनिर्देशात्। अत्र पुण्या ब्राह्मणा इतिवत् पुमांस इत्यनुक्त्वा स्त्रीणां पुण्यसहस्रेणापि न पुंस्त्वप्राप्तिरित्युक्तं भवतीति माध्वाः प्रतिपादयन्ति। राजर्षय उक्ता ब्रह्माण्डपुराणे—'मानवे चैव ये वंशे ऐलवंशे च ये नृपाः। ये च ऐक्ष्वाकनाभागा ज्ञेया राजर्षयस्तु ते॥ ऋषन्ति रञ्जनाद्यस्मात्प्रजा राजर्षयस्ततः', (पू. भा. ३३।९६) इति। ऋषन्तीति 'ऋषी गतौ' (धा. पा. तु. ७) अस्मात् 'इगुपधात्कित्' (उ. ४।१२०) इतीन्॥ तथा च त्वमपि राजर्षिरेवासीति मदाश्रयणे निश्चितैव तव परमगतिप्राप्तिः, अतो निस्सन्देहं मां भजस्वेति भावः॥—अविगीता।

**१ शां. भा.— किञ्च— मां हीति ।** मां हि यस्मात्पार्थ ! व्यपाश्रित्य मामाश्रयत्वेन गृहीत्वा येऽपि स्युर्भवेयुः पापयोनयः पापा योनिर्येषां ते पापयोनयः पापजन्मानः । के ते ? इत्याह— स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति गच्छन्ति परां गतिं प्रकृष्टां गतिम् ॥ ३२ ॥

**किं पुनरिति ।** किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः पुण्ययोनयो भक्ता राजर्षयस्तथा राजानश्च ते ऋषयश्चेति राजर्षयः । यत एवमतोऽनित्यं क्षणभङ्गुरमसुखं च सुखवर्जितमिमं लोकं मनुष्यलोकं प्राप्य पुरुषार्थसाधनं दुर्लभं मनुष्यत्वं लब्ध्वा भजस्व सेवस्व माम् ॥ ३३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— इतश्च भगवद्भक्तिर्विधातव्येत्याह— **किञ्चेति** । 'न मे भक्तः प्रणश्यति' [ ९।३१ ] इत्यत्र हेतुमाचक्षाणो भक्त्यधिकारे जातिनियमो नास्तीत्याह— **मां हीति** ॥ ३२ ॥ यदि पापयोनिः पापाचारश्च त्वद्भक्त्या परां गतिं गच्छति, तर्हि किमुत्तमजातिनिमित्तेन सन्यासादिना ? किं वा सद्वृत्तेन? इत्याशङ्क्याऽऽह— **किं पुनरिति** । उत्तमजातिमतां ब्राह्मणादीनामतिशयेन परा गतिर्यतो लभ्यतेऽतो भगवद्भजनं तैरेकान्तेन विधातव्यमित्याह— **यत** इति । मनुष्यदेहातिरिक्तेषु पश्वादिदेहेषु भगवद्भजनयोग्यताभावात्प्राप्ते मनुष्यत्वे तद्भजने प्रयतितव्यमित्याह— **दुर्लभमिति** ॥ ३३ ॥

**३ रा. भा.**— स्त्रियो वैश्याः शूद्राश्च पापयोनयोऽपि मां व्यपाश्रित्य परां गतिं यान्ति; किं पुनः पुण्ययोनयो ब्राह्मणा राजर्षयश्च मद्भक्तिमास्थिताः ? अतस्त्वं राजर्षिरस्थिरं तापत्रयाभिहततया असुखं चेमं लोकं प्राप्य वर्तमानो मां भजस्व ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'अपिचेत्सुदुराचारः' [ ९।३० ] इत्यागन्तुकपापोक्तिः; अथ जन्मत एव पापिष्ठानां जात्याद्यपकर्षेऽपि स्वसमाश्रयणमात्रेण फलसिद्धिं प्राक्प्रस्तुतां प्रपञ्च्य तत एव जात्याद्युत्कर्षे भक्तिपौष्कल्ये च कैमुतिकन्यायमुक्त्वा जात्यादिभिरुत्कृष्टस्त्वं फले निस्सन्देह उपायमातिष्ठेत्युच्यते— 'मां हि' इत्यादिश्लोकद्वयेन । स्त्रीवैश्यशूद्राणां परगतिविरोधितया शङ्किताकारानुवादार्थः पापयोनिशब्दः । तत्र ये पापयोनयोऽपि स्युरित्यन्वयः । त्रैवर्णिकस्य विद्यादिमतोऽपि वैश्यस्य शूद्रादिभिः सह पापयोनित्वेन परिगणनं सत्रानधिकारित्वात् । ऋत्विज एव हि सर्वे सत्रेषु यजमानाः, आर्त्विज्यं च ब्राह्मणस्य, स च सत्राधिकाररूप उत्कर्षः "तस्माद्राजपेययाज्यार्त्विजीनः" इति क्षत्रियस्यापि श्रुतः । पापयोनिशब्दप्रतिशिरस्त्वात्पुण्यशब्दोऽत्र पुण्ययोनित्वपरः प्रदर्शितः । 'किं पुनः' इत्यादिकैमुतिकन्यायादनायासत्ववचनम् । राजर्षिप्रदर्शनमर्जुनस्य फलसिद्धिप्रतिपादनार्थमित्यभिप्रायेणाह **अतस्त्वमिति** । राजर्षिशब्देन सामर्थ्यं व्यञ्जितम् ; **अस्थिरमित्यादिना** त्वर्थित्वम् । अनित्यशब्दस्य 'सततविक्रिया' इत्युक्तप्रकारेण क्षरणस्वभावविषयत्वज्ञापनायास्थिरशब्दः । असुखशब्दस्यात्र पर्युदासवृत्त्या दुःखपरतां सांसारिकसुखस्यापि दुःखकोटिनिवेशात् सुखराहित्यपरत्वं चाभिप्रेत्याह **तापत्रयेति** । 'इमम्' इत्यनेन अतिक्षुद्रत्वं निर्दिष्टम् । 'प्राप्य' इत्यस्यानुवादरूपताज्ञापनाय **प्राप्य वर्तमान** इत्युक्तम् । एवमनित्यत्वासुखत्वक्षुद्रत्वानुदर्शनाद्भजनवैमुख्यनिवृत्तिर्भवतीत्यभिप्रायः ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

**७ ह. पै. भा.**— मां हि यस्मात्पार्थ ! व्यपाश्रित्य येऽपि स्युर्भवेयुः पापयोनयः पापिष्ठजन्मानः स्त्रियो वैश्याश्च शूद्राश्च तेऽपि यान्ति परां गतिं मोक्षम् ॥ ३२ ॥

किं पुनर्वक्तव्यं ब्राह्मणाः पुण्या धर्मात्मानो भक्ता ईश्वरं प्रपन्ना राजर्षयः परां गतिं यान्तीत्यत्र किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः । तस्मादनित्यमसुखं सुखरहितं लोकं पुरुषार्थसाधनमिमं मानुषं प्राप्याधिगम्य भजस्व सेवस्व मामीश्वरम् ॥ ३३ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— किञ्च तिष्ठतु दुराचारगोष्ठी; अतिनिकृष्टास्तिर्यगादयोऽपि मामाश्रित्य विमुक्ताः ; पश्य मे भक्तिमाहात्म्यमित्याह— **मां हीति** । पापा योनिर्येषां ते पापयोनयः पापजन्मानस्तिर्यङ्निषादादयः येऽपि स्युर्भवन्ति; तथा वेदाध्ययनादिशून्यत्वादतिनिकृष्टाः स्त्रियः वैश्याः कृषिमात्रपराः शूद्राश्च ये स्युः, तेऽपि मामाश्रित्य परां गतिं मुक्तिं यान्ति । हिः प्रसिद्धौ । प्रसिद्धं हि रामायणादिषु जटायुर्गुहशबर्यादीनां मदुपाश्रयेण दिव्यगतिभाक्त्वमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

एवं भक्तिवैभवमुपवर्ण्य अर्जुनं प्रति तदनुष्ठानमुपदिशति— **किं पुनरिति** । यदैवं पापजन्मानोऽपि मामाश्रित्य मुक्ताः, तदा पुण्याः पुण्ययोनयः सुकृतिनश्च ब्राह्मणाः तथा राजर्षयोऽपि मम भक्ताः परां गतिं यान्तीति किं पुनर्वक्तव्यम् ?

अतस्त्वं च राजर्षिः अनित्यमसुखमिमं मनुष्यलोकं प्राप्य वर्तमानो मां भजस्व । 'अनित्यं' इत्यनेन क्षणभंगुरत्वार्थकेन भजने विलम्बो वारितः; 'असुखं' इत्यनेन च सुखराहित्यार्थकेन भजनादन्यः पुरुषार्थो नास्तीति दर्शितम् । 'इमं लोकं प्राप्य भजस्व' इत्यनेन अनित्यत्वासुखत्वदुष्टस्याप्यस्य लोकस्य परमपुरुषार्थसाधनानुकूलत्वरूपोऽयमेको गुणः । ततस्तत्साधनं कर्तव्यम्, अन्यथा मानुष्यं जन्मैव व्यर्थं स्यादिति सूचितम् ॥ ३३ ॥

९ व० त० दी०— सर्वोद्धारकत्वमेवाह– मां हीति । तथाहि पापयोनयः पूतनाद्याः स्त्रिय इति 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः' [ ११।१२।७] नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि । न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः' [ १०।२३।४२ ] इति भागवतवाक्यैः सर्वसाधनरहिततया प्रतिपाद्यमाना 'केवलेनैव भावेन गोप्यः' [ भाग. ११।१२।७ ] इति लौकिके सति भावमात्रवत्यः प्रसिद्धाः स्त्रियो व्रजपुरवनिताः वैश्यास्तुलाधारादयो भारते ख्याताः, नन्दादयो वा व्रजवासिन एव प्रसिद्धा एव, शूद्रामुत्पन्नाः शूद्रा विदुरादयश्च, ये वा पापयोनयः हीनजातयो हूणयवनशबरादयः पुलिन्द्यश्च मां पुरुषोत्तमं वात्सल्यजलधिं करुणावरुणालयं महापतितपावनमशरणशरणागतव्रजपालकं येन केनचिद्भावेनाश्रित्य साक्षात्कृतस्य मे आश्रयमात्रेण परां गतिं यान्ति । अत्र याताश्च केचिद्यान्तीति भावेन वर्तमान उक्तः ॥ ३२ ॥

यद्येवं निरसाधना अधिकारसम्भावनाया अविषया अप्येते परां गतिं यान्ति तदा किं पुनर्वक्तव्यं वेदोक्तसाधनवत्तया पुण्याः ब्राह्मणाः राजर्षय उत्तमक्षत्रियाश्च परां गतिं यान्तीति ? परमुत्तमयोनीनां सकलसाधनवतां ब्राह्मणादीनां मदाश्रयभक्तावुत्तमाधिकार एव विरोधी जायत इति वैमुख्यकारकः अहम्भावेन विप्रमाथुराणामिव ते तथा न भजन्तो दृश्यन्ते; भजन्तस्तु विरला नारदश्रुतदेवसुदासबहुलाश्वादय इति निगूढाशयेन पुष्टिपुरुषोत्तमेन पार्थे भजनं स्वधर्मवद्विहितमित्युपदिश्यते । 'मां भजस्व' इति पुरुषोत्तमैकभजनं विहितं स्वधर्मत्वात्, 'यो यदंशः स तं भजेत्' इति विधानवाक्यात् 'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिपः । स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्यः क्वापि कदाचन' इत्याचार्योक्तेश्च । तदेव वैराग्यपूर्वकं द्रढयति– अनित्यमिति । इमं लोकं देहं वाऽनित्यं विनश्वरमसुखं च प्राप्य प्रकर्षेण सर्वकार्यसाधकमवगत्य भजस्व भजनगर्भितं स्वधर्मं कुर्विति भावः ॥ ३३ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं भक्ते हीनाधिकारित्वं स्यादित्यत आह— मां हीति । हे पार्थ ! मातृसम्बन्धेनोत्पन्नभक्तिरूप ! हीति निश्चयेन मां व्यपाश्रित्य विशेषेण आश्रित्य संसेव्य ये पापयोनयोऽपि स्युः नीचयोनयः अन्त्यजादयो म्लेच्छादयश्च, स्त्रियः परतन्त्रैकयोनयः, वैश्याः केवलं कृष्यादिपरा उदरम्भराः, तथा शूद्राः शोकेन द्रवीभूता अनुपदेश्याः तेऽपि परां गतिं मोक्षं सायुज्यं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तत्र 'ये' इतिपदेन स्वसेवार्थोत्पादितातिरिक्ता इति ज्ञापितम् ॥ ३२ ॥ यत्र हीनाधिकारिणः परमां गतिं प्राप्नुवन्ति, तत्रोत्तमाधिकारिणां किं वक्तव्यं ? इत्याह— किं पुनरिति । पुण्याः वेदोक्तमत्स्वरूपज्ञानार्थं पूर्वं वेदाध्ययनकारिणो ब्राह्मणाः, तथा पुण्यधर्मादिकरणेन प्रजाप्रतिपालकाः राजर्षयः राजानः क्षत्रिया भूत्वा ऋषयः ब्रह्मकर्मनिष्ठा उत्तमाधिकारिणो भक्ताः सन्तः परां गतिं प्राप्नुवन्तीति किं पुनर्वक्तव्यम् ? । तेषां तु साक्षाद्भजनौपयिकत्वमेव भवतीति भावः । एतेन उत्तमाधिकारिणां तु भवत्येव यत्र हीनाधिकारिणामपि भवतीत्यनेन 'अधिकं तत्रानुप्रविष्टं, न तु तद्धानिः' इत्ययं न्यायः प्रदर्शितः । एतेनोत्तमानामेतदभावे हीनत्वमेवेति व्यञ्जितम् । यत उत्तमाधिकारिणामावश्यकमतस्तव क्षत्रियत्वात् स्वधर्मनिष्ठत्वात् भक्तपुत्रत्वाच्चोत्तमाधिकारित्वेनावश्यं कर्त्तव्यमित्याह— अनित्यमिति । इमं लोकमधिकरणं देहं प्राप्य अनित्यं असुखं संसारं त्यक्त्वा ज्ञात्वा वेति शेषः; मां भजस्व ॥ ३३ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च हे पार्थ ! हि प्रसिद्धं मां व्यपाश्रित्य आश्रित्य येऽत्यन्तं पापयोनयः स्त्र्यादयस्तेऽपि परां गतिं यान्ति ॥ ३२ ॥ ब्राह्मणादयः पुनः पुण्याः मदाश्रयेण परां गतिं यान्तीत्यत्र किं चित्रं ? अतस्त्वं इमं मर्त्यलोकं अनित्यं नश्वरं असुखं सुखलेशहीनं प्राप्य मां परमात्मानं भजस्व । लोकान्तरे भजनं न भविष्यतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" [ केनो. १३ ] इति ॥ ३३ ॥

भक्तेः स्वरूपं, तस्याः सुलभप्रकारः, फलं च ।

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ३४ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

**१ शां. भा.**— कथम्? मयि वासुदेवे मनो यस्य तव स त्वं मन्मना भव, तथा मद्भक्तो भव, मद्याजी मद्यजनशीलो भव, मामेव च नमस्कुरु, मामेवेश्वरमेष्यस्यागमिष्यसि युक्त्वा समाधाय चित्तम्। एवमात्मानं मां—अहं हि सर्वेषां भूतानामात्मा परा च गतिः परमयनं तं मामेवम्भूत—एष्यसीत्यतीतेन पदेन सम्बन्धः। मत्परायणः सन्नित्यर्थः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—भगवद्भक्तेरित्थम्भावं पृच्छति—**कथ-मिति**। ईश्वरभजन इतिकर्तव्यतां दर्शयति— **मन्मना** इति। एवं भगवन्तं भजमानस्य मम किं स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **मामेवेति**। समाधाय भगवत्येवेति शेषः। एवमात्मानमित्येतद्विवृणोति— **अहं हीति**। अहमेव परमयनं तवेति मत्परायणस्तथाभूतः सन्मामेवाऽऽत्मानमेष्यसीति सम्बन्धः। तदेवमध्यमानां ध्येयं निरूप्य नवमेनाधमानामाराध्याभिधानमुखेन निजेन पारमार्थिकेन रूपेण प्रत्यक्त्वेन ज्ञानं परमेश्वरस्य परमाराधनमित्यभिदधता सोपाधिकं तत्पदवाच्यं निरुपाधिकं च तत्पदलक्ष्यं व्याख्यातम् ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.**— भक्तिस्वरूपमाह—**मन्मना इति**। मन्मना भव—मयि सर्वेश्वरेश्वरे निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकताने सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्पे निखिलजगदेककारणे परस्मिन् ब्रह्मणि पुरुषोत्तमे पुण्डरीकदलामलायतकरुणेक्षणे स्वच्छनीलजीमूतसङ्काशे युगपदुदितदिनकरसहस्रसदृशतेजसि लावण्यामृतमहोदधौ उदारपीवरचतुर्बाहौ अत्युज्ज्वलपीताम्बरे अमलकिरीटमकरकुण्डलहारकेयूरकटकभूषिते अपारकारुण्यसौशील्यसौन्दर्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यवात्सल्यजलधावनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्ये सर्वस्वामिनि तैलधारावदविच्छेदेन निविष्टमना भव।

**४ वे. ता. चं.**—'भजस्व'[९।३३] इत्युक्तभक्तिस्वरूपनिष्कर्षोऽनन्तरं क्रियत इति सङ्गतिं दर्शयति—**भक्तिस्वरूपमाहेति**। सामान्येन सर्वासु परविद्यासूपास्यतया तदुपयुक्ततया च प्रमाणशतैः प्रतिपादिताः स्वरूपरूपगुणादयोऽत्रास्मच्छब्देन विवक्षिता इत्यभिप्रायेणाह— **मयीति**। "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं" [श्वे. उ. ६।७] "न तस्येशे कश्चन" [तै. ना. ११९] इत्यादेरर्थमाह—**सर्वेश्वरेश्वर** इति। न ह्यसमर्थसेवया किञ्चिल्लभ्यते; नच ब्रह्माण्डान्तरादेरनीश्वरा ब्रह्मेशादयोऽपि मोक्षदानशक्ता इति भावः। 'क्षेत्रज्ञस्येश्वरज्ञानाद्विशुद्धिः परमा मता' [या. स्मृ. ३।३४] इति ह्युच्यते। हेयास्पदस्य गुणरहितस्य च भजनीयत्वाभावादितरव्यावृत्त्यर्थं सगुणनिर्गुणश्रुतीनां विषयव्यवस्थयोभयलिङ्गत्वमाह—**निखिलेति**। समस्तानिष्टनिवर्तकत्वादनन्तभोग्यमयत्वाच्चायमेवोपास्य इति भावः। अनन्तमङ्गलगुणोपलक्षकतया ध्येयलक्षणजगत्कारणत्वमोक्षप्रदत्वौपयिकं गुणद्वयं **सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्प** इत्युक्तम्। "यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" [मुं. उ. ११९] इति, "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" [छां. उ. ८।१।५] इति च अनिष्टनिवृत्त्यादौ चान्याज्ञातं सहकारिसापेक्षत्वं च नास्तीति भावः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्युपक्रम्य "तद्विजिज्ञासस्व" [तै. उ. ३।१।१] "कारणं तु ध्येयः" [अ. शिखो. ३] इत्याद्यभिप्रायेण— **निखिलजगदेककारण** इत्युक्तम्। निखिलशब्देनाव्यक्तादेर्ब्रह्मरुद्रादेश्च सङ्ग्रहः। व्योमातीतनिर्गुणवादादिनिराकरणं, सामान्यविशेषशब्दयोरैकरस्यं चाभिप्रेत्य **परस्मिन् ब्रह्मणि पुरुषोत्तम** इत्युक्तम्। अनेन सर्वात्मकत्वं सर्वविलक्षणत्वं चाविरुद्धमुपदर्शितं भवति। नारायणानुवाकपुरुषसूक्तादिकं च स्मारितम्। एतावता विशिष्टं स्वरूपमुक्तम्;

---

१ इह पूर्वश्लोके 'भजस्व मां' इति भगवत्या महामायाया भजनं विधायात्राविरहस्यं पञ्चधा तदुपासनं तत्फलं चोक्तमिति तत्सम्प्रदायविन्मुखादेव ज्ञेयम्।

—अविगीता।

अथ सर्वशाखादिपठितपुरुषसूक्तादिसिद्धं शुभाश्रयप्रकरणप्रपञ्चितं च विग्रहतद्गुणादिकमुच्यते। 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' [ छां. उ. १।६।७ ] इत्याद्युक्तपरत्वचिह्नमाह— **पुण्डरीकदलामलायताक्ष** इति। **स्वच्छे**त्यादिना "नीलतोयदमध्यस्था" [ तै. ना. ११।१२] इत्यादिकमनुसंहितम्। स्वच्छत्वं मणिमुकुरसलिलकाचादिवद्व्यवहितप्रकाशप्रतिबिम्बादियोग्यः प्रसादविशेषः। 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' [ ११।१२ ] इत्यादि वक्ष्यमाणं "तमेव भान्तम्" [ मुं. उ. २।२।१० ] इत्यादिश्रुतिं चाभिप्रेत्योक्तं— **युगप**दित्यादि। श्रुत्यादिप्रसिद्धं बहूनामुदारत्वमौर्जित्यमभिमतफलप्रदत्वं च। यत्र रूपान्तरं न विशिष्टं, तत्र वक्तुर्वसुदेवनन्दनस्य रूपं विवक्षितम्; तच्च सर्वावतारोपलक्षणम्। चतुर्भुजत्वं भगवतः कृष्णस्य पररूपस्य सांसिद्धिकम्; द्विभुजत्वं सहस्रभुजत्वादिकं चाहार्यमित्याशयेनोक्तं— **चतुर्बाहावि**ति। अथवापि चतुर्भुजत्वं—' भुजैश्चतुर्भिः समुपेतमेतद्रूपं विशिष्टं दिवि संस्थितं च। भूमौ गतं पूजयताप्रमेयं सदा हि तस्मिन्निवसामि देवाः!' इत्यादिकमिह भाव्यम्। दिव्याम्बरयोगमाह— **अत्युज्ज्वलिते**ति। मूर्धादिपादान्तदिव्यावयवगतसमस्ताभरणवर्गोपलक्षणतया किरीटाद्युक्तिः। 'ध्येयः सदा' इत्युपक्रम्य 'केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी' [ भ. उ. पु.आ. ह.१५५ ] इत्यादिकमिह द्रष्टव्यम्। मकरशब्दो मकराकारकुण्डलपरः। तेजःप्राचुर्यं प्रतिकूलैर्दुष्प्रेक्षत्वं चाभिप्रेत्य **युगपदि**त्यादिकमुक्तम्।

**लावण्ये**त्यादिना तु तस्यैवानुकूलभोग्यत्वाकर्षकत्वादिकमभिप्रेतम्। चक्षुरानन्दजनकस्तेजोविशेषो हि लावण्यम्। तत इदमुच्यते— 'लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात्पुनः। मनोभिरनुजग्मुश्च कृष्णं प्रीतिसमन्विताः॥ अतृप्तमनसामेवं तेषां केशवदर्शने। क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः॥ अमृतस्येव नातृप्यन् प्रेक्षमाणा जनार्दनम्' [म.भा.२।२।२६–२८] 'नहि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात्। नरः शक्नोत्यपाकृष्टुमतिक्रामति राघवे' [वा.रा. २।१७।१३] इति। **अपारे**त्यादिना सौलभ्योपयोगिनोऽमिताः सुन्दरत्वादिमिश्राः समाश्रयणीयत्वेऽत्यन्तापेक्षिताः स्वरूपरूपयोर्गुणा उक्ताः। 'सर्वलोकशरण्याय' [वा.रा.६।१७।१७] 'सुदुष्टो वाऽप्यदुष्टो वा' [वा.रा.६।१८।९] 'विभीषणो वा सुग्रीव! यदि वा रावणः स्वयम्' [वा. रा. ६। १८।३४] इत्यादिकमनुसन्धाय कारुण्यादिफलितमाह— **अनालोचिते**ति। आश्रितसंरक्षणं स्वलाभं मत्वा प्रवर्तत इत्यभिप्रायेणोक्तं— **सर्वस्वामिनी**ति। 'कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्' [ म. भा. २।३८।२३ ] इत्युक्तम्। "निदिध्यासितव्यः" [ बृ. उ. २।४।५; ४।५।६ ] "ध्यायथ" [ मुं. उ. २।२।६ ] "ध्रुवा स्मृतिः" [ छां. उ. ७।२६।२ ] "आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" [ ब्र. सू. ४।१।१ ] इत्याद्यनुसन्धानेन मनश्शब्दस्यात्र ध्यानाख्यमनोवृत्तिविशेषविषयतामाह— **तैलधारे**ति। 'मय्येव मन आधत्स्व' [ १२।८] इत्युच्यत इति। अत्र 'मामेवैष्यसि' इति साध्यगतावधारणात्साधनेऽप्यवधारणं विवक्षितमिति गम्यते। तेन चानन्यमनस्त्वादिकं सिद्धम्। ततश्च तैलधारादिवदविच्छेदोऽपि फलित इति भावः।

**३ रा. भा.— तदेव विशिनष्टि— मद्भक्तः अत्यर्थमत्प्रियत्वेन युक्तो मन्मना भवेत्यर्थः। पुनरपि विशिनष्टि— मद्याजी— अनवधिकातिशयप्रियमदनुभवकारितमद्यजनपरो भव। यजनं नाम परिपूर्णशेषवृत्तिः। औपचारिकसांस्पर्शिकाभ्यवहारिकादिसकलभोगप्रदानरूपो हि यागः। यथा मदनुभवजनितनिरवधिकातिशयप्रीतिकारितमद्यजनपरो भवसि, तथा मन्मना भवेत्युक्तं भवति।**

**४ वे. ता. चं.**— "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" [ कठो. १।२।२२ ] इति श्रुत्युपबृंहणतामभिप्रेत्याह **तदेवे**ति। भक्तेरपि ज्ञानविशेषरूपत्वाद्विशेषकत्वमुपपद्यत इत्यभिप्रायेणाह **अत्यर्थे**ति। स्वतन्त्रार्थान्तरविधानशङ्कानिरासायाह **पुनरपी**ति। भक्तिस्वरूपविशेषनिष्कर्षपरत्वात्तदसाधारणशास्त्रविशेषप्रतिपादितपूजाविशेषपरोऽयं यजनशब्द इत्यभिप्रायेणाह— **यजनं नामे**ति। शेषवृत्तिः कैङ्कर्यम्। इदं च 'पत्रं पुष्पम्' [ ९।२६ ] इत्यादिना प्रदर्शितस्य भगवच्छास्त्रप्रपञ्चितस्य सङ्ग्रहशासनम्। अतोऽत्र यजिर्दर्शपूर्णमासादिविषय इति न भ्रमितव्यम्। 'यज देवपूजायाम्' [ धा. पा. १।१०२७ ] इत्येव च पठ्यते। 'देवतामुद्दिश्य द्रव्यत्यागो यागः' इति चाहुः। अग्निहोत्रादिव्यतिरिक्तेष्वपि पञ्चमहायज्ञादिषु यजिर्निरूढः। अन्यत्रापि 'कृष्णो वाक्यैरिज्यते सम्मृशानैः' [ म. भा. १३।१८।६ ] इत्यादयः प्रयोगाः। अतोऽत्र भगवच्छास्त्रादिप्रपञ्चितविषयोऽयं यजिरित्यभिप्रायेणाह— **औपचारिके**ति। औपचारिकाः नीराजनादयः; सांस्पर्शिकाः स्रक्चन्दनादयः; आदिशब्देन सान्दृष्टिकदीपादिग्रहणम्। 'मद्याजी' इत्यनेन बाह्यक्रियापरेण मन्मनस्त्वं कथं विशेष्यत इत्यत्राह— **यथे**ति।

**३ रा. भा.— पुनरपि तदेव विशिनष्टि— मां नमस्कुरु अनवधिकातिशयप्रियमदनुभवकारितात्यर्थप्रियाशेषशेषवृत्तावपर्यवस्यन् मय्यन्तरात्मन्यतिमात्रप्रह्वीभावव्यवसायं कुरु। मत्परायणः अहमेव परमयनं यस्यासौ मत्परायणः मया विनाऽऽत्मधारणासम्भावनया मदाश्रय इत्यर्थः। एवमात्मानं युक्त्वा मत्परायणस्त्वमेवमनवधिकातिशयप्रीत्या मदनुभवसमर्थं मनः प्राप्य मामेवैष्यसि। आत्मशब्दो ह्यत्र मनोविषयः। एवंरूपेण मनसा मां ध्यात्वा मामनुभूय मामिष्ट्वा मां नमस्कृत्य मत्परायणो मामेव प्राप्स्यसीत्यर्थः।**

४ वे. ता. चं.— पुनरपीत्याद्यपि पूर्ववत्। पूर्वोक्ताद-धिकरूपत्वं दर्शयितुम्—अपर्यवस्यन्नित्यन्तमुक्तम्। अत्यर्थ-शब्देन दास्यस्य स्वरूपप्राप्तता विवक्षिता। अतिमात्रशब्देन तस्य निरतिशयभोगरूपत्वं सूचितम्। त्रिविधप्रतिसङ्ग्रहाय नम-धातुस्वरूपनिरूपणेन प्रह्वीभावशब्दः।'प्रेक्षावतः प्रवृत्तिर्या प्रह्वी-भावात्मिका परा। उत्कृष्टं परमुद्दिश्य तन्नमः परिगीयते' [अहिर्बु. सं. ५२।१०] इति हि नमश्शब्दो विवृतः। ज्ञानविशेषकत्व-व्यक्त्यर्थं व्यवसायशब्दः। 'परायणः' इत्यत्र परशब्दविशेषण-सामर्थ्यादवधारणं विवक्षितमित्यभिप्रायेण अहमेवेत्युक्तम्। फलितमाह—मया विनेति। एषैव भक्तेः परमा काष्ठा प्राप्तेरव्यवहितपूर्वभाविनीति फलाभिलाषज्ञापनार्थो मत्परायण-शब्द इत्यभिप्रायः। एवंशब्दानूदितमाकारमाह—अनवधिके-त्यादिना। 'आत्मानं' 'युक्त्वा' इति पदयोरत्रोचितार्थप्रदर्शनं मनः प्राप्येति। युजिरत्र योगार्थः समाध्यर्थो वा। 'मन्मना भव' इत्युक्तार्थपरत्वं 'एवमात्मानम्' इत्यनुवादेन प्रतीयत इत्यभिप्रायेणाह— आत्मशब्दो हीति। मनसोऽत्र निर्देशो ध्यानाधिकरणत्वेनेति प्रदर्शयन् श्लोकस्य पिण्डितार्थमाह—एवं रूपेणेति। निरतिशयप्रीतिमितेत्यर्थः। ध्यानादिकं मद्भक्त इति विशेषणाद्भोगरूपमित्यभिप्रायेण मामनुभूयेत्युक्तम्।

३ रा. भा.— तदेवं लौकिकानि शरीरधारणार्थानि वैदिकानि च नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि मत्प्रीतये मच्छेषतैकरसो मयैव कारित इति कुर्वन् सततं मत्कीर्तनयतननमस्कारादिकान् प्रीत्या कुर्वाणो मन्नियाम्यं निखिलजगन्मच्छेषतैकरसमिति चानुसन्दधानोऽत्यर्थप्रियमद्गुणगणं चानुसन्धायाहरहरुक्तलक्षणमिदमुपासनमुपाददानो मामेव प्राप्स्यसि॥ ३४॥

इति श्रीभगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये नवमोऽध्यायः॥ ९॥

४ वे. ता. चं.— अथ सुखग्रहणाध्यायप्रधानार्थभूतसाङ्गो-पाङ्गफलशिरस्कभक्तिस्वरूपं सङ्क्षेपेण निष्कृष्य वदन्नुपसंहरति—तदेवमिति। तत् तस्मादित्यर्थः। तव दुःखबहुलसंसारसागर-पतितत्वात्, मम च परत्वसौलभ्यादियुक्तस्य समस्तदुःख-सागरोत्तरणसांयात्रिकत्वात्, उपायस्य चात्यन्तसुकरत्वादिगुण-युक्तत्वादित्यर्थः। एवमिति पूर्वग्रन्थैरुक्तप्रकारेणेत्यर्थः। लौकिकानीत्यादि कुर्वन्नित्यन्तं 'यत्करोषि' इत्यादेरर्थः; मन्नियाम्यमित्यादिकं 'मया ततम्' [९।४] इत्यादेरभि-प्रेतकथनम्; अत्यर्थप्रियमद्गुणगणमिति 'समोऽहम्' [९।२९] 'पत्रं पुष्पम्' [९।२६] इत्यादेरर्थः। गुणानुसन्धानाद्भक्तेः पुरुषसाध्यत्वं युज्यत इत्यभिप्रायेणाह— मद्गुणगणं चानु-सन्धायाहरहरुक्तलक्षणमिदमुपासनमुपाददान इति। 'इति मत्वा भजन्ते माम्' [१०।८] इत्यादिकमत्रानुसंहितम्। अहरहरित्यादिकं 'मन्मनाः' इत्यादेर्विवक्षितम्। आप्रयाण-त्वसिद्ध्यर्थम् अहरहरित्याद्युक्तम्। उक्तलक्षणमिति—अनन्यप्रयोजननमस्कारादिप्रेरकमदेकधारकत्वदशापर्यन्तनिरति-शयप्रीतिरूपमित्यर्थः॥ ३४॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु
श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३४॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३४॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये नवमोऽध्यायः॥ ९॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यगीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां
प्रमेयदीपिकायां नवमोऽध्यायः॥ ९॥

७ ह. पै. भा.— मन्मना मयि मनो यस्य स मन्मना भव जायस्व। मयि भक्तिर्यस्य स मद्भक्तः। मां यष्टुं शीलं यस्येति स मद्याजी भवेति सम्बन्धः। मामीश्वरं नमस्कुरु वन्दस्व। एवं मन्मना भूत्वा मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि। युक्त्वा समाधाय। एवमुक्तेन प्रकारेणाऽऽत्मानम्। मत्परायणः अहमेव वासुदेवः परमयनमाश्रयो यस्य स मत्पराणणः। एवमात्मानं युक्त्वा मत्परायणश्च भूत्वा मामेवैष्यसीति सम्बन्धः॥ ३४॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीता-
व्याख्याने नवमोऽध्यायः॥ ९॥

८ वें. ब्र. गि.— अथेदानीं भजनप्रकारमेव सुलभयन्नध्यायार्थमुपसंहरति— **मन्मना** इति । सर्वविषयेभ्यः परावर्त्य मय्येव निवेशितं मनो यस्य स मन्मना भव । यद्येतत्कर्तुं न शक्नोषि, तदा विषयान्तरव्यासङ्गिमना अपि भूत्वा मय्यतिमात्रप्रेमलक्षणभक्तियुक्तो भव । यदि चैतदप्यशक्यं तदा मद्याजी बहिर्मत्पूजापरो भव । अथ पूजार्थद्रव्यसम्पादनालस्येनेदमप्यशक्यम्, तदा मां नमस्कुरु । मत्प्रणामसुकृतापाकृतदुरितप्रतिबन्धस्य तव सुखेनैव मद्यजनमद्भक्तिमन्मनस्कत्वानि सम्पत्स्यन्ते । एवं मत्परायणो मदेकशरणः सन् मामेवात्मानं प्रत्यगात्मस्वरूपं युक्त्वा ध्यात्वा समाधाय, ब्रह्माद्वैतं विज्ञायेति यावत् । तदेवैष्यसि कण्ठचामीकरन्यायेनाज्ञाननिवृत्त्या प्राप्तमेव प्राप्स्यसीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— इदं मुख्यं भजनस्वरूपमाह— मन्मना इति । मय्येव श्रीपुरुषोत्तमे नीलव्योममूर्त्तिमति सर्वज्ञे सर्वशक्तिमति परमानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिके निखिलालौकिकगुणगणेऽचिन्त्ये सर्ववेदान्तवेद्ये स्वेच्छया स्वगताशेषसौन्दर्यमाविर्भाव्य भुवि प्रादुर्भूते कृशतरजनपोषके स्वसर्वस्व मिति सर्वात्मभावेनाविच्छेदेन निर्मिषमना एव भव । अनेन स्मरणरूपमुक्तसाङ्ख्ययोगतात्पर्यभूतं भजन-( मनन )-मुक्तम्; तेन ( सयोग )-ज्ञानकाण्डार्थसिद्धिः; मद्भक्त इति भजनं पुरुषोत्तमस्वरूपसेवानिष्ठो भव इत्युपासनाकाण्डार्थसिद्धिः, मद्याजीति कर्मकाण्डार्थसिद्धिश्च सूचिता । मानसं कायिकं च भजनमुक्तम् । मामेव नमस्कुर्विति तस्यानन्यभावेन तवास्मीति साष्टाङ्गप्रणामपूर्वकं प्रपत्तिः स्वाहङ्कारादिदोषत्यागपूर्वकं तदीयत्वानुसन्धानगर्भा प्रदर्शिता । एवकारस्य सर्वत्रानुषङ्गो ज्ञेयः । तेन 'नान्यं देवं नमस्कुर्यान्नान्यं देवं निरीक्षयेत्' इति विधीयते । अन्यभजनादिरूपस्यास्यैव सर्वधर्मपदवाच्यस्य परित्यागोऽन्ते वक्ष्यते 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' [ १८।६६ ] इत्यादिना । इयमेव भगवदनुग्रहात्मकपोषणभक्तिसरणिः । भगवदाश्रयमात्रस्य मुख्यता यतः, तथा च तादृशसेवकानामहमेव सर्वसाधनरूपः फलरूपश्चेत्याह— मामेवैष्यसीति । परिदृश्यमानं पुरुषोत्तमं मामेव प्राप्स्यसि मद्भक्त्या प्राप्योऽहमेव फलमित्यर्थः । इदं च सर्वं सेवाफलग्रन्थे समुपपादितं श्रीमदाचार्यैः— 'अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगि देहो वा वैकुण्ठादिषु तत्समीपवर्त्ती' इत्यादि च । अयमेतन्मार्गीयः परः पुरुषार्थः सूचितः । तत्र च पुनरप्येवमात्मानं युक्त्वा योगेन समाधाय मत्परायण एव भविष्यसीति मार्गान्तराद्वैलक्षण्यमुक्तम् । फलभूतत्वादेतन्मार्गस्य मर्यादापुष्टिपुरुषोत्तमसम्बन्धित्वाच्चेति दिक् ॥ ३४ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त. — भजने प्रकारमाह— **मन्मना** इति । मय्येव मनो यस्य तादृशो भूत्वा मद्भक्तो मयि स्नेहयुक्तश्च सन् मद्याजी मत्पूजकः परिचर्याकरणशीलो मां नमस्कुरु । मनोनिवेशनेन मनोभजनमुक्तम् । पूजनेन कायिकम् । नमनोक्त्या वाचिकम् । ततः कायवाङ्मनोभिर्भजनं कुर्वित्युक्तम् । एवं मत्परायणः सन् आत्मानं मयि युक्त्वा युक्तं कृत्वा अवश्यं मामेव पुरुषोत्तमं एष्यसि प्राप्स्यसि । एवकारेणाक्षरांशादिप्राप्तिर्निवारिता ॥ ३४ ॥

एवं स्वभक्तिमाहात्म्यं भजनार्थं ससाधनम् ॥
प्रोवाच नवमेऽध्याये श्रीकृष्णो ह्यर्जुनाय तु ॥ ९ ॥

इति श्रीभगवद्गीताटीकायाममृततरङ्गिण्यां नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— भजनप्रकारं दर्शयति— मन्मना इति । मय्येव मनो यस्य, न पुत्रादौ, स मन्मनाः । ममैव भक्तः, न राजादेर्धनाद्यर्थं, स मद्भक्तः । मद्याजी मदर्थमेव यजते, न स्वर्गाद्यर्थं, स मद्याजी; तादृशो भव । मामेव नमस्कुरु शरणं व्रज, न त्वन्यान् । एवमनेन प्रकारेण युक्त्वा योगं कृत्वा मामेवात्मानं सर्वान्तरं एष्यसि प्राप्स्यसि अभेदेन घटाकाश इव महाकाशम् । यतो मत्परायणः अहमेव सर्वोपाधिशून्यश्चिदात्मा परं सर्वोत्कृष्टं अयनं प्राप्यं यस्य स मत्परायणः । तथा च श्रूयते—"यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय । तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्" [ मुं. उ. ३।२।८ ] इति ॥ ३४ ॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशे नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

# श्रीमद्भगवद्गीताया नवमाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

श्रीमहादेव उवाच—
अतः परं प्रवक्ष्यामि नवमाध्यायमादरात् ।
संशृणुष्व स्थिरीभूय तुहिनाचलकन्यके ! ॥ १ ॥
अस्ति माहिष्मती नाम नगरी नर्मदातटे ।
तत्राऽऽसीन्माधवो नाम द्विजन्मा स शिवद्विजः ॥२॥
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः काले कालेऽतिथिप्रियः ।
अर्जयित्वा बहुधनं विद्ययैव विशुद्धधीः ॥ ३ ॥
महान्तमध्वरं कर्तुं समारेभे कदाचन ।
आलम्भनार्थमानीतश्छागः पूजितविग्रहः ॥
वाचमूचे हसन्नुच्चैर्जगद्विस्मयकारकः ॥ ४ ॥
छाग उवाच—
किमेतैर्बहुभिर्यागैर्विधिवद्विहितैरपि ।
विनश्वरफलैर्जन्मजरामरणहेतुभिः ॥
एतावत्यपि मे विप्र ! दशेयं दृश्यतामिति ॥ ५ ॥
श्रीशिव उवाच—
छागस्यैवं वचोऽतीवकुतूहलपरं जनाः ।
निशम्य विस्मयं याताः क्रतुमण्डपवासिनः ॥ ६ ॥
ततो बद्धाञ्जलिपुटो द्विजातिः स्तिमितेक्षणः ।
प्रणम्य श्रद्दधानस्तमपृच्छच्छागमादरात् ॥ ७ ॥
द्विज उवाच—
किञ्जातीयः किमात्मा त्वं किंवृत्त इति मे वद ।
केन वा कर्मणाऽवाप्तं छागत्वमिति पृच्छतः ॥ ८ ॥
छाग उवाच—
आसं पुरा द्विजातीनामन्वये चातिनिर्मले ।
आहर्ता क्रतुसङ्घानां वेदविद्याविशारदः ॥ ९ ॥
एकदा मम गेहिन्या पुत्ररोगप्रशान्तये ।
छागः प्रयाचितो मत्तश्चण्डिकाभक्तिनम्रया ॥ १० ॥
ततो निहन्यमानस्य चण्डिकामण्डपस्थले ।
छागस्य जननी मां तु शशाप ब्रह्मवादिनी ॥ ११ ॥
अशास्त्रीयाध्वना पाप ! मत्सुतं यज्जिघांससि ।
द्विजात्यधम ! तेन त्वमजायोनिमवाप्स्यसि ॥ १२ ॥
ततोऽहं प्रेत्य कालेन छागोऽभूवं द्विजोत्तम ! ।
निस्तीर्य चानेकविधा योनिसम्पातयातनाः ॥
जातिस्मरत्वमप्यस्ति पशुयोनिमुपेयुषः ॥ १३ ॥
विप्र उवाच—
त्वदीयजन्मशुश्रूषाकुतूहलरसोन्मुखम् ।
मनः सर्वान्द्विजानेतानपि नः कथयाखिलम् ॥ १४ ॥
छाग उवाच—
कदाचिन्मर्कटोऽभूवमाहितुण्डिकशिक्षया ।
क्रीडद्भिर्वीक्षितो डिम्भैर्नृत्यन्प्रतिगृहाङ्गणे ॥ १५ ॥
उदारानात्मनो दारान्विलोक्य तनयानपि ।
क्रियापराङ्मुखो जातस्त्यक्तनर्तनसम्भ्रमः ॥ १६ ॥
ततो वर्तुलदण्डैश्च दुस्सहैराहितुण्डिकः ।
मामुच्चैस्ताडयाञ्चक्रे रुषा लोहितलोचनः ॥ १७ ॥
ततोऽहं मूर्छितोऽभूवं क्षरत्क्षतजसन्ततिः ।
अजिघ्रन्नन्नमुदकमगमं कालधर्मताम् ॥ १८ ॥
ततोऽहमासञ्छुनकः परिभ्राम्यन्गृहे गृहे ।
कुक्षिम्भरिरहं मार्गे त्यक्तोच्छिष्टान्नभक्षकः ॥ १९ ॥
कदाचिदाविशं श्वा सन्नात्मवेश्ममहानसम् ।
बुभुक्षितो भक्षयितुं स्थालीस्थापितमोदनम् ॥ २० ॥
जिघ्रन्भूमितलं पश्यन्दिशो दश शनैर्भयात् ।
शङ्कमानो जनं स्वान्ते पार्श्वे च विलिहन्नपि ॥ २१ ॥
ततः कदाचिदागत्य वीक्षितस्तनुजैर्निजैः ।
जायया च जरत्याऽहं ताडितो लगुडादिभिः ॥ २२ ॥
ततो भग्नकटीयन्त्रो बहु शोणितमुद्वमन् ।
निर्जगाम बहिर्गेहात्कथञ्चिन्मूर्छयाऽऽकुलः ॥ २३ ॥
अङ्गेषु पूतिगन्धेषु क्रिमिगर्भेषु कालतः ।
ततः कदाचिदायातः प्रेत्य शौण्डिकसद्मनि ॥ २४ ॥
अश्वोऽभवमहं विद्धस्ततः कालक्रमादिह ।
कदाचित्त्वत्वरे तेन समानीतो जनाकुले ॥ २५ ॥
विक्रयाय जरालीढपतयालुरदावलिः ।
जायया द्वारकायात्रां कर्तुमुद्यतया सकृत् ॥ २६ ॥
मौल्येनाल्पीयसा क्रेतुं तुरङ्गं चेष्टमानया ।
जगृहेऽहं तया दाम्नि ह्यल्पेन वसुना जरन् ॥ २७ ॥
गन्तुं चाऽऽरभ्यत द्वित्रैः पुत्रैरारुह्य मां समम् ।
शनैः शनैः सरस्तीरे मग्नोऽहं गुरुकर्दमे ॥ २८ ॥
तत्राहं कुण्ठितग्रीवमपतं कर्दमान्तरे ।
ताड्यमानो मुहुः पुत्रैर्लगुडोपलपाणिभिः ॥ २९ ॥
उत्थाप्यमानो बहुधा प्राणान्मोचितवानहम् ।
ततो निश्चित्य मां तत्र मृतं भग्नोद्यमाः सुताः ॥ ३० ॥
आकृष्य मातरं दीनां प्रावृत्य निर्ययुर्गृहम् ।
ततः सम्प्रेत्य बहुना कालेन छागतां गतः ॥
निस्तीर्णानेकहीनोच्चयोनिसम्पातयातनः ॥ ३१ ॥
द्विज उवाच—
किमनेन महाछाग दुःखजातेन नित्यशः ।
यथावदञ्जसा मह्यं सुखमात्यन्तिकं भवेत् ॥ ३२ ॥
छाग उवाच—
आश्चर्यं कथयिष्यामि पुनरन्यदपि द्विज ! ।
स्वस्थमापृच्छमानस्य तवास्ति यदि कौतुकम् ॥ ३३ ॥
अस्ति नाम्ना कुरुक्षेत्रं नगरं मोक्षदायकम् ।
सूर्यवंशोऽभवत्तत्र चन्द्रशर्मा महीपतिः ॥ ३४ ॥

सूर्योपरागसमये श्रद्धया परयाऽन्वितः ।
दानं स कालपुरुषं दातुं समुपचक्रमे ॥ ३५ ॥
समाहूय द्विजन्मानं वेदवेदाङ्गपारगम् ।
स्नातुं पुण्योदकैः पुण्यो ययौ सार्धं पुरोधसा ॥
अथोच्चैः कालपुरुषो वाचमूचे हसन्निव ॥ ३६ ॥

कालपुरुष उवाच—

अन्ये नैव प्रगृह्णन्ति क्षेत्रेऽत्राण्वपि किञ्चन ।
सूर्योपरागसमये कुरुक्षेत्राभिधे स्थले ॥ ३७ ॥
दानं च कालपुरुषं जिघृक्षसि कथं द्विज ! ।
ज्ञात्वाऽपि निश्चितं सर्वमेतत्पातककारकम् ॥
प्रवर्तसे कथं कर्तुं धनलोभान्धया धिया ॥ ३८ ॥

छाग उवाच—

इत्थमाकर्ण्य तद्वाक्यं जगद्विस्मयकारकम् ।
किमनेन महादानभयेनेत्यवदद्द्विजः ॥ ३९ ॥
एवंविधमहादानपातकागाधवारिधिम् ।
जानामि तरितुं सम्यगुपायमहमेव हि ॥ ४० ॥
ततः स्नात्वा महीपालः परिधाय च वाससी ।
शुचिः प्रसन्नहृदयः सितमाल्यानुलेपनः ॥ ४१ ॥
अवलम्ब्य कराम्भोजं पार्श्ववर्तिपुरोधसः ।
समाययौ सेव्यमानः स तत्कालोचितैर्जनैः ॥ ४२ ॥
समागत्य च भूपालः प्रादात्तत्कालपूरुषम् ।
यथोचितेन विधिना तस्मै भक्त्या द्विजन्मने ॥ ४३ ॥
निर्भिद्य कालपुरुषहृदयं निर्दयोदयः ।
पापात्मा निर्ययौ कश्चिच्चाण्डालो रक्तलोचनः ॥ ४४ ॥
किञ्चित्प्रापितकालश्च परनिन्दारसोत्सवे ।
निन्दा चाण्डालिका देहात्पार्श्वमागाद्द्विजन्मनः ॥ ४५ ॥
एतच्चाण्डालयुगलं निर्गत्यारुणलोचनम् ।
ततः सञ्चरितुं चक्रे प्रसह्याङ्के द्विजन्मनः ॥ ४६ ॥
गीतानां नवमाध्यायं जपन्तं च हृदि स्थितम् ।
कम्पमानं द्विजं किञ्चित्तूष्णीं पश्यति भूपतौ ॥ ४७ ॥
अन्तर्निद्राणगोविन्दं कम्पमानमिवाम्बुधिम् ।
मरुदान्दोलनैर्विद्वान्द्विजन्माऽऽप स्वसंश्रयम् ॥ ४८ ॥
ततो गीताक्षरोद्भूतैर्वैष्णवैः परिपीडितम् ।
पलायमानं चाण्डालयुगलं निष्फलोद्यमम् ॥ ४९ ॥
तन्निश्चक्राम वेगेन द्विजातेः पार्श्ववर्ति यत् ।
शरीरे वर्तमानं च परनिन्दारसोत्सवम् ॥ ५० ॥
इत्थं कलितवृत्तान्तः प्रत्यक्षं क्षितिवल्लभः ।
पर्यपृच्छद्द्विजन्मानं विस्मयस्मेरलोचनः ॥ ५१ ॥

राजोवाच—

कथमापदियं घोरा निस्तीर्णा महती त्वया ।
कं मन्त्रं जपता विप्र ! कं वा संस्मरता सुरम् ॥ ५२ ॥
कः पुमान्का च योषित्सा कथमेतावुपस्थितौ ।
कथं च शान्तिमापन्नावित्युदीरय मे द्विज ! ॥ ५३ ॥

द्विज उवाच—

चाण्डालमूर्तिमासाद्य मूर्तं किल्बिषमुल्बणम् ।
योषिन्मूर्तिमयी निन्दा द्वयमेतद्वैम्यहम् ॥ ५४ ॥
गीतानां नवमाध्यायमन्त्रमाला मया स्मृता ।
तन्माहात्म्यमिदं सर्वं त्वमवेहि महीपते ! ॥ ५५ ॥

छाग उवाच—

गीतानां नवमाध्यायं जपामि प्रत्यहं द्विज ! ।
निस्तीर्णाश्चाऽऽपदस्तेन कुप्रतिग्रहसम्भवाः ॥ ५६ ॥

श्रीशिव उवाच—

अभ्यस्य नवमाध्यायं राजा तस्माद्द्विजन्मनः ।
तावुभावपि लेभाते परां निर्वृतिमुत्तमाम् ॥ ५७ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीतानवमाध्यायमाहात्म्यकथनं नाम नवसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

——:०:——

श्रीमते रामानुजाय नमः

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १० ]

**स्वकल्याणगुणानन्त्यकृत्स्नस्वाधीनतामतिः ।**
**भक्त्युत्पत्तिविवृद्ध्यर्था विस्तीर्णा दशमोदिता ॥ १४ ॥**

श्रीमद्यामुनमुनये नमः ।

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा.

अत्र नवमसङ्गतिपूर्वकं भाष्यं—'भक्तियोगः सपरिकर उक्तः; इदानीं भक्त्युत्पत्तये तद्विवृद्धये च भगवतो निरंकुशैश्वर्यादिकल्याणगुणानन्त्यं वक्तुं कृत्स्नस्य जगतस्तच्छरीरतया तदात्मकत्वेन तत्प्रवर्त्यत्वं च प्रपञ्च्यते' [ रा. भा. १०।१ ] इति । एकादशारम्भे च भाषितम्—'एवं भक्तियोगनिष्पत्तये तद्वृद्धये च सकलेतरविलक्षणेन स्वाभाविकेन भगवदसाधारणेन कल्याणगुणगणेन सह भगवतः सर्वात्मकत्वं, तत एव तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकस्य वस्तुजातस्य तच्छरीरतया तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं चोक्तम् । तमेतं भगवदसाधारणं स्वभावं कृत्स्नस्य तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितां च भगवत्सकाशादुपश्रुत्य एवमेवेति निश्चित्य तथाभूतं भगवन्तं साक्षात्कर्तुकामोऽर्जुन उवाच' [ रा. भा. ११।१ ] इति ॥ १४ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

श्रीमद्भगवद्गीतायाः

# विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ।

भगवतो निरतिशयं वात्सल्यं दुर्विज्ञेयं तत्त्वं च ।

**श्रीभगवानुवाच—भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः ।**
**यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया ॥ १ ॥**

### १ श्रीशाङ्करभाष्यम् ।

सप्तमेऽध्याये भगवतस्तत्त्वं विभूतयश्च प्रकाशिताः, नवमे च; अथेदानीं येषु येषु भावेषु चिन्त्यो भगवांस्ते ते भावा वक्तव्याः । तत्त्वं च भगवतो वक्तव्यमुक्तमपि दुर्विज्ञेयत्वात्, इत्यतः श्रीभगवानुवाच—भूय एवेति । भूय एव भूयः पुनर्हे महाबाहो ! शृणु मे मदीयं परमं प्रकृष्टं निरतिशयवस्तुनः प्रकाशकं वचो वाक्यं, यत्परमं ते तुभ्यं प्रीयमाणाय, मद्वचनात्प्रीयसे त्वमतीवामृतमिव पिबंस्ततो वक्ष्यामि हितकाम्यया हितेच्छया ॥ १ ॥

### २ आनन्दगिरिकृतं शाङ्करभाष्यव्याख्यानम् ।

अध्यायद्वये सिद्धमर्थं सङ्क्षेपतोऽनुभाषते—**सप्तम** इति । तत्त्वं सोपाधिकं निरुपाधिकं च, विभूतयः सविशेषनिर्विशेषरूपप्रतिपत्त्युपयोगिन्यः । उत्तराध्यायस्याध्यायद्वयेन सम्बन्धं वदन्नध्यायान्तरमवतारयति—**अथे**ति । वक्तव्याः सविशेषध्याने निर्विशेषप्रतिपत्तौ च विशेषत्वेनेति शेषः । ननु सविशेषं निर्विशेषं च भगवतो रूपं प्रागेव तत्र तत्रोक्तं, तत्किमिति पुनरुच्यते ? तत्राऽऽह—**उक्तमपी**ति । यद्यपि तत्र तत्र तत्त्वमुक्तं तथापि पुनर्वक्तव्यं दुर्विज्ञेयत्वादिति यतो मन्यतेऽत इति योजना ? प्रकृष्टत्वं वचसः स्पष्टयति—**निरतिशये**ति । तदेव वचो विशिनष्टि **यत्परम**मिति । सकृदुक्तेरर्थसिद्धेरसकृदुक्तिरनर्थिकेत्याशङ्क्याऽऽह—**प्रीयमाणाये**ति । ततो वक्ष्यामि तुभ्यमिति पूर्वेण सम्बन्धः । हितं दुर्विज्ञेयं तत्त्वज्ञानम् ॥ १ ॥

### ३ रामानुजभाष्यम् ।

भक्तियोगः सपरिकर उक्तः, इदानीं भक्त्युत्पत्तये तद्विवृद्धये च भगवतो निरङ्कुशैश्वर्यादिकल्याणगुणगणानन्त्यं, कृत्स्नस्य जगतस्तच्छरीरतया तदात्मकत्वेन तत्प्रवर्त्यत्वं च प्रपञ्च्यते—भूय इति । मम माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीयमाणाय ते मद्भक्त्युत्पत्तिविवृद्धिरूपहितकामनया भूयो मन्माहात्म्यप्रपञ्चविषयमेव परमं वचो यद्वक्ष्यामि तदवहितमनाः शृणु ॥ १ ॥

---

१ एवकारोऽपि शब्दसमानार्थः । भूय एव भूयोऽपीत्यर्थः । परा मा सम्पत् येन तत्परमम्, सम्पत्प्रदं, यथार्थानुभवसाधनं, मोक्षप्रदं चेत्यर्थः । अत्र **वामनः**—

यथाऽत्र पित्तज्वरपीडितानां सिता नितान्तं मधुराऽपि तिक्ता ।
दुरन्तपापोपहतान्तरेभ्यो न रोचतेऽजस्य तथा परत्वम् ॥
यदि त्वमप्यर्जुन ! तादृशः स्या न तर्हि गुह्यं कथयेयमेतत् ।
त्वां प्रीयमाणं तु विलोक्य भूयो वदाम्यपृष्टोऽपि हिताय तुष्टः ॥
उल्लाघमालोक्य चिराय बालं स्वाद्वन्नमश्नन्तमयाचितोऽपि ।
पिता हितार्थी प्रददाति भूयोऽप्यन्नं हि रस्यं स्वयमेव तस्मै ॥ इति ।

यत्तु **नव्यैः**—कर्मयोगसिद्ध्यर्थं यः परमेश्वरस्य व्यक्तरूपोपासनाख्यो राजमार्गः पूर्वाध्याये उक्तः स एवास्मिन्नध्यायेऽपि प्रकृतः—इत्याद्युक्तम्; तन्न मनोरमम्, उपासनायाः कर्मयोगस्य च साध्यसाधनभावाभावात्, विभूतीनामीशस्य सोपाधिकरूपत्वेन व्यक्तरूपत्वोक्तेरयुक्तत्वाच्चेत्याहुः ।

—**अविगीता** ।

## ४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

दशमसङ्गतिं वक्तुं नवमार्थं सप्तमप्रभृत्यध्यायत्रयार्थं वा सङ्गृह्याह— **भक्तियोग** इति । 'स्वकल्याणगुणानन्त्यं कृत्स्न-स्वाधीनतामतिः। भक्त्युत्पत्तिविवृद्ध्यर्था विस्तीर्णा दशमोदिता' [ गी. सं. १४ ] इति सङ्ग्रहश्लोकं व्याकुर्वन् सङ्गतिमाह— **इदानीमिति** । पूर्वत्र सपरिकरभक्तियोगस्वरूपप्रपञ्चनपरतया स्वकल्याणगुणादेः सङ्क्षेपेण कथनम् ; इह तु तत्प्रपञ्चनमित्यव-सरप्राप्तिरपौनरुक्त्यं च 'विस्तीर्णा' इत्यनेन विवक्षितमिति दर्श-यितुं **इदानीं प्रपञ्च्यत** इति पदद्वयम् । अर्जुनस्य वक्ष्यमाणार्थ-श्रवणयोग्यत्वं तस्यार्थस्य च परमहितसाधनत्वादिकं च वदन् सोपच्छन्दनं सावधानयति 'भूय एव' इति श्लोकेन । प्रश्नम-न्तरेणापि स्वयमेव प्रतिपादने हेतुः 'प्रीयमाणाय' इत्यनेनो-च्यत इत्यभिप्रयंस्तादृशप्रीतेर्विषयं दर्शयति **मम माहात्म्यं श्रुत्वेति** । बाहुशालिनां हि परोत्कर्षकथनमसूयावहम् ; भव-तस्तु शिशुपालादिव्याकुले जगति भाग्यवशादीदृशी प्रीतिः सञ्जातेति 'महाबाहो !' 'प्रीयमाणाय' इत्यनयोर्भावः । यद्वा बाहुबलाद्यथा ते बाह्यशत्रुविजयः, तथा मद्विषयप्रीतिबलादा-न्तरशत्रवोऽपि त्वया जिता इति भावः । प्रकरणादर्थस्वभावाच्च हितं विशिनष्टि— **मद्भक्त्युत्पत्तिविवृद्धिरूपेति** । 'सर्व-पापैः प्रमुच्यते' [ १०।३ ] 'सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते' [ १०।७ ] इति हि वक्ष्यत इति भावः । उक्तमात्रस्य पुन-रभिधाने प्रयोजनाभावात् 'भूय एव' इत्यनेन प्रक्रान्तगुणतमानु-बन्ध्यर्थप्रपञ्चनरूपत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेण— **भूयो मन्मा-हात्म्यप्रपञ्चनविषयमेवेत्युक्तम्** । एतेनैव वचसः परमत्वे हेतुरपि दर्शितः । शृण्वत एवार्जुनस्य पुनः 'शृणु' इति विधानं विशिष्टश्रवणार्थमित्यभिप्रायेणाह— **तदवहितमना** इति । पूर्वमनसूयवे दोषनिवृत्त्या गहनमात्रमुक्तम् ; इदानीमुच्यमाने प्रीयमाणाय गुणसम्पत्त्यातिगहनमुच्यते;अतस्त्वयाऽत्यन्ताव-हितेन भवितव्यमिति भावः ॥ १ ॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

ॐम् । उपासनार्थं विभूतीः विशेषणकारणत्वं च केषाञ्चिदनेनाध्यायेनाह—प्रीयमाणाय श्रुत्वा सन्तोषं प्राप्नुवते ॥ १ ॥

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

प्रकृतसङ्गतत्वेनाध्यायप्रतिपाद्यं दर्शयति— **उपासनार्थ-मिति**। षष्ठे ध्यानमुक्तं तन्नवमान्ते 'मन्मना भव' इति स्मारितं, तच्च ध्येयसापेक्षं, विशिष्टाधिकारिणां च भगवद्विभूतय उपास्या अतस्ता आहानेन दशमाध्यायेन । तत्रादौ केषाञ्चिद्बुद्ध्यादीनां महर्ष्यादीनां च विशेषकारणत्वमपि भगवत आहेत्यर्थः । विभूतिशब्दार्थस्तात्पर्यनिर्णयेऽभिहितः । तदुक्तेर्भूयस्त्वात्प्रथम-मुपादानम् । अत एवैकवाक्यता । ननु विभूतयः 'रसोऽहं' [ ७।८ ] इत्यादिनोक्ता एव; सत्यम्, अत एव 'विस्तरेणात्मनः' [ १०।१८ ] इति वक्ष्यति; विशेषकारणत्वं नाम सामर्थ्या-तिशयोपेततया निर्माणम्। प्राक् 'शोकसंविग्नमानसः' [१।४७] इत्युक्तम्, तद्विरुद्धं कथं 'प्रीयमाणाय' इत्युच्यत इत्यतो व्याचष्टे— **प्रीयमाणायेति** । पूर्वं बन्धुस्नेहाच्छोक उक्तः, इदानीं भगवद्वचनश्रवणनिमित्तात्सन्तोषप्राप्तिः श्रोतृत्वसम्पत्प्र-तिपादनायोच्यत इति न विरोध इति भावः ॥ १ ॥

## ७ श्रीमद्धनुमद्विरचितं पैशाचभाष्यम् ।

एवमर्जुनाय विज्ञानसहितं ज्ञानं साक्षान्मोक्षसाधनमुपदिश्येदानीं येषु भावेषु चिन्तनीयो भगवांस्ते भावा भगवत्तत्त्वं च प्रागुक्तमपि दुर्विज्ञानत्वात्पुनर्वक्तव्यमिति कृत्वा भगवानुवाच— **भूय एवेति**। भूय एव भूयोऽपि महाबाहो! शृणु आकर्णय मे मम परमं श्रेष्ठं वचनं, यद्वचस्ते तुभ्यं प्रीयमाणाय तर्प्यमाणाय वक्ष्याम्यभिधास्यामि हितकाम्यया हितेच्छया ॥ १ ॥

## ८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

नवमेऽध्याये ब्रह्मतत्त्वज्ञानं तदन्तरङ्गसाधनभगवद्भक्ति-वैभवं चोपदिष्टम्। दशमे तु तद्बहिरङ्गसाधनभूता भगव-द्विभूतय उपदिश्यन्ते। यद्यपि सप्तमे 'रसोऽहमप्सु' [ ७।८ ] इत्यादिना विभूतयो वर्णिताः, नवमे च 'अहं क्रतुरहं यज्ञः' [ ९।१६ ] इत्यादिनोक्ताः; तथापि ता एवात्र प्रपञ्च्यन्ते-तत्र तावत्त्वदीयश्रवणादरपरतन्त्रस्त्वदपृष्टमपि तत्त्वमहं वच्मीति स्वौत्सुक्याविष्करणेनार्जुनमभिमुखीकुर्वाणः, श्रीभ-गवानुवाच— **भूय एवेति**। महाबाहो ! सर्वलोकेश्वरेश्वरेण साक्षान्महादेवेन परब्रह्मणा सह कृताहवतया महान्तौ श्रेष्ठौ बाहू यस्येति सबहुमानं सम्बोधनम्। प्रीयमाणाय अमृते-नेव मद्वचनेन प्रीतिं प्रतिपद्यमानाय ते तुभ्यं हितकाम्यया हितेच्छया यद्वक्ष्यामि, तन्मे परमं प्रकृष्टं वचः भूय एव पुनरपि शृणु ॥ १ ॥

९ श्रीवल्लभाचार्याविष्कृता तत्त्वदीपिका ।

अथोक्तभक्तिवृद्ध्यर्थं स्वयोगप्रभवं हरिः । भूय एवाहानुपृष्टो विभूतिं चापि केशवः ॥ १ ॥
सच्चिदानन्दसम्भूतं जगदेतत्सदा-(मदा)-त्मकम् । इति सर्वात्मदृष्ट्यर्थं सर्वस्याह विभूतिताम् ॥ २ ॥
पूर्णस्य तत्पूर्णमदः पूर्णमेवावशिष्यते । इति श्रुत्यांशिनो विष्णोस्तथात्वे नास्त्यपूर्णता ॥ ३ ॥
समुद्रस्येव पूर्णस्य कोटिब्रह्माण्डदेहिनः । सर्वा विभूतयस्तस्य मुख्या एवात्र कीर्त्तिताः ॥ ४ ॥

तथाहि श्रीभगवानुवाच– भूय एवेति । स्वधर्मानुष्ठानार्थं विद्यमानौ महान्तौ बाहू यस्य हे महाबाहो! भूयस्तन्मे वचः शृणु, यत्तेऽहं वक्ष्यामि हितकाम्यया । किम्भूताय ? मन्माहात्म्यं श्रुत्वा प्रीयमाणाय । वचश्च किम्भूतं ? परमं मद्योगवैभवज्ञापनविषयकम् ॥ १ ॥

१० श्रीपुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी ।

नवमे भक्तिरूपं यदुक्तं तत्सिद्धये हरिः ।
स्वविभूतिस्वरूपं च कृपया दशमेऽब्रवीत् ॥ १ ॥

पूर्वाध्याये सर्वकर्मसमर्पणमुक्तं, ततश्च भक्तिकरणमाज्ञप्तम्, तच्च स्वरूपाज्ञानेन कृतमप्यकृतप्रायमिति स्वरूपज्ञानार्थं स्वस्वरूपं स्वविभूतिरूपं वदन् पार्थं श्रवणार्थं सावधानतया सम्मुखीकुर्वन् प्रतिजानीते— श्रीभगवानुवाच भूय एवेति । हे महाबाहो ! भजनौपयिककृपाशक्तिमन् ! भूय एव पुनरपि मम वचनश्रवणेन प्रीयमाणाय परमानन्दं प्राप्नुवते ते हितकाम्यया यदहं वक्ष्यामि तत् परमं परो मीयते ज्ञायतेऽनेनेति परमार्थरूपमुत्कृष्टं मे वचः शृणु । 'प्रीयमाणाय' इति पदेनान्येभ्योऽवक्तव्यत्वं गोप्यत्वं च ज्ञापितम् । 'हितकाम्यया' इतिपदेन परमकृपा दर्शिता ॥ १ ॥

११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

सप्तमे त्वम्पदवाच्योऽर्थो निरूपितः, तदुपासनाच्च क्रममुक्तिरित्यष्टमे प्रोक्तं, नवमे तत्पदलक्ष्यार्थ उक्तः, तत्प्राप्तये च विश्वतोमुखं सर्वत्र भगवद्भावभावनात्मकं भगवद्भजनमुक्तम्, तद्रागद्वेषकलुषितमनसामशक्यमिति मन्वानो भगवांस्तत्सिद्धये स्वविभूतीः केषुचिदेव पदार्थेषु भगवद्बुद्धिविधानार्थास्तावद्दर्शयति दशमे; तत्फलभूतं विश्वतोमुखस्योपासनं, तेन च विश्वरूपदर्शनमेकादशे, द्वादशे पुनस्तत्पदलक्ष्यस्याव्यक्तस्योपासनं तदुपासकलक्षणानि चोक्त्वा उपासनाकाण्डं तत्पदार्थशोधनार्थं समापयिष्यति; तत्र वात्सल्यात्स्वयमेव श्रीभगवानुवाच— भूय एवेति । हे महाबाहो ! भूयः प्रागुक्तमपि पुनर्मे परमं निरतिशयवस्तुनः प्रकाशकं वचः शृणु । प्रीयमाणाय अमृतपानादिवन्मद्वचनात्प्रीतिमनुभवते वक्ष्यामि हितकाम्यया तव हितेच्छया ॥ १ ॥

## न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः ।
## अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥ २ ॥

१ शां. भा.— किमर्थमहं वक्ष्यामीत्यत आह— न मे इति । न मे विदुर्न जानन्ति सुरगणा ब्रह्मादयः । किं ते न विदुः ? मम प्रभवं प्रभावं प्रभुशक्त्यतिशयम्, अथवा प्रभवं प्रभवनमुत्पत्तिम् । नापि महर्षयो भृग्वादयो विदुः । कस्मात्ते न विदुः ? इत्युच्यते— अहमादिः कारणं हि यस्माद्देवानां महर्षीणां च, सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ २ ॥

२ आ. शां. व्या.— कश्चिदन्योऽपि परमं वचो मह्यं वक्ष्यति, तेन च मम तत्त्वज्ञानं भविष्यति, अतो भगवद्वचनमकिञ्चित्करमिति शङ्कित्वा परिहरति— किमर्थमित्यादिना। इन्द्रादयो भृग्वादयश्च भगवत्प्रभावं न विदन्तीत्यत्र प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह— कस्मादिति । निमित्तत्वेनोपादानत्वेन च यतो देवादीनां भगवानेव हेतुरतस्तद्विकारास्ते न तस्य प्रभावं विदुरित्यर्थः ॥ २ ॥

---

१ महर्षयः— 'गत्यर्थादृषतेर्धातोर्नामनिष्पत्तिरुच्यते । यस्मादृषन्ति सत्त्वेन महत्तस्मान्महर्षयः ॥' (ब्रह्मां. पू. ६।७१ इति निरुक्ताः ।

प्रभवं विदुरीशस्य शास्त्रदृष्ट्या सुरादयः । न तद्विवक्षितमिहेत्यादित्वं हेतुमूचिवान् ॥ इति वामनः ।

सर्वशः सर्वैः प्रकारैः । न विदुरिति सम्बन्धः । जानन्तोऽपि केचित्कैश्चिदेव प्रकारैर्जानन्ति, न सर्वैः प्रकारैः कोऽपि जानाति, अतोऽहमेव वक्ष्यामीत्यर्थः इत्यन्ये । — अविगीता ।

**३ रा. भा.**—सुरगणा महर्षयश्चातीन्द्रियार्थदर्शिनोऽधिकतरज्ञाना अपि मे प्रभवं प्रभावं न विदुः मम नामकर्मस्वरूपस्वभावादिकं न जानन्ति; यतस्तेषां देवानां महर्षीणां च सर्वशोऽहमादिः तेषां स्वरूपस्य ज्ञानशक्त्यादेश्चाहमेवादिः; तेषां देवत्वदेवर्षित्वादिहेतुभूतपुण्यानुगुणं मया दत्तं ज्ञानं परिमितम्; अतस्ते परिमितज्ञाना मत्स्वरूपादिकं यथावन्न जानन्ति ॥ २ ॥

**४ वे. ता. चं.**— वक्ष्यमाणस्य ज्ञानस्यातिदुर्लभत्वमादरणीयतरत्वायोच्यते– 'न मे विदुः' इति श्लोकेन । 'सुरगणाः' 'महर्षयः' इत्याभ्यां प्रतिषेधौपयिकप्रतिषेध्यसम्भावनास्थलप्रदर्शनमित्यभिप्रायेणोक्तं **अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽधिकतरज्ञाना अपीति** । प्रभावगोचरवेदनमत्र निषिध्यते; न तु प्रभावः; विशिष्टनिषेधे गौरवात्, कर्माधीनोत्पत्तेरभावादेव तद्वेदनस्य निषेद्धुमयुक्तत्वात्, अनन्तरं च 'यो माम्' [१०।३] इति प्रभावज्ञानमेवोच्यते, न तु जन्मज्ञानम्, 'अजम्' इत्येव वचनात्; अत एवावताररहस्यविषयत्वमपि नात्रान्वितम्, प्रपञ्चितं च तत्प्रागेव; इह त्वन्यत्प्रपञ्च्यते; ततश्चात्र देवर्षिभिरप्यवेद्यः ईश्वरे विद्यमानश्च प्रभवः— प्रकर्षेण सत्ता प्रभाव एव भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेण **प्रभावमित्युक्तम्** । प्रभावं विविच्याह— **मम नामेति** । जन्मविषयत्वे हेतुरनन्वित इत्यभिप्रायेण **यत** इत्यनेन हिशब्दस्य हेतुपरता दर्शिता । 'सर्वशः' इति न देवादीनां कार्त्स्न्यमात्रं विवक्षितं, तस्य बहुवचनासङ्कोचादपि सिद्धेः; अतस्तदभिप्रेतं व्यञ्जयति– **तेषां स्वरूपस्येत्यादिना** । कथमसौ प्रभावापरिज्ञानहेतुरिति शङ्कायामभिप्रेतं हेतुत्वप्रकारं विशदयति— **तेषां देवत्वेति** । वैषम्यनैर्घृण्यपरिहाराय परिमितत्वसिद्धये च पुण्यानुगुणत्वकथनम् । "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् । कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनाय । अथा को वेद यत आबभूव । इयं विसृष्टिर्यत आबभूव । यदि वा दधे यदि वा न" । "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् । सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद" [ ऋक्सं. ८।७।१७ तै. ब्रा. २।८।९।७६ ] इत्यादिश्रुत्यभिप्रायेणाह— **अत** इति । 'यन्न देवा न मुनयो न चाहं न च शङ्करः । जानन्ति परमेशस्य तद्विष्णोः परमं पदम्' [ वि. पु. १।९।५३ ] इत्यादिस्मृतिश्च द्रष्टव्या ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.**–प्रभवं प्रभावं, मदीयां जगदुत्पत्तिं वा । तद्वशत्वात्तस्येत्युच्यते । यद्यस्ति तर्हि देवादयोऽपि जानन्ति, सर्वज्ञत्वात्; अतो नास्तीति भावः । 'अहमादिर्हि' इति तूत्पत्तिरपि यस्य वशा, कुतस्तस्य जनिरिति ज्ञापनार्थम् । 'अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयः' [ ७।६ ] इति चोक्तम् । उक्तं चैतत्सर्वमन्यत्रापि । "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः । अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आ बभूव" [ऋक्सं. ८।७।१७।६+ तै. ब्रा. २।८९ ] इति "न तत्प्रभावमृषयश्च देवा विदुः कुतोऽन्येऽल्पधृतिप्रमाणाः" इति ऋग्वेदखिलेषु । अन्यस्त्वर्थो 'यो मामजं' [ १०।३ ] इति वाक्यादेव ज्ञायते ।। २ ।।

**६ ज. प्र. दी.**— प्रभवशब्दः केनचित्सामर्थ्यमात्रवाचित्वेन व्याख्यातः, अन्येन तु भगवदुत्पत्तिवाचित्वेन, तदुभयमङ्गीकुर्वन्नधिकमपि विवक्षुराह– **प्रभवमिति** । मदीयामुत्पत्तिमिति सम्बन्धः । जगदुत्पत्तिर्मे इति कथं विशेष्यते? इत्यत आह— **तदिति** । जगदुत्पत्तिरिति वर्तते । एवं तर्हि भगवत्प्रभाववज्जगदुपत्तिवच्च भगवदुत्पत्तिरस्त्येव, किन्तु दुर्ज्ञानेत्यापन्नमित्यत आह– **यदीति** । भगवदुत्पत्तिरिति शेषः । सर्वज्ञत्वात् सामान्यत इति शेषः । ततः परं न च सामान्यतोऽपि जानन्तीत्यध्याहारः । अतः सर्वथाऽनुपलम्भात् । प्रभावादिकं तु विशेषत एव न जानन्ति, न तु सामान्यतोऽपीति भावः । ननु भगवदुत्पत्तेरभावश्चेदत्राभिप्रेतस्तदा 'अहमादिर्हि' इति हेतुवचनं न सङ्गच्छते । अत्र हि देवादयोऽर्वाक्तना मया सृष्टाः कथं पूर्वतनीमुत्पत्तिं जानीयुः? इति प्रतीयत इत्यत आह— **अहमिति** । अपिशब्दोऽध्याहृतेन सर्वस्येत्यनेन सम्बध्यते । कुतः? जनकात् । नन्वत्र सर्वस्याप्युत्पत्तिर्भगवदधीनेति नोच्यते किन्तु देवादीनामेव, तत्कथमनेन कारणाभावः सिध्यति? इति चेत्, न; देवादिशब्दस्योपलक्षणार्थत्वात् । तत्कुत इत्यत आह— **अहमिति** । उक्तमर्थत्रयमुपपादयति— **उक्तं चेति** । इयं विसृष्टिर्विविधा जगत्सृष्टिः कुतः कारणादाजातेति कः पुरुषः कुतः प्रमाणादद्धा वेद? कश्चेह लोके प्रावोचत्? न कोऽपि कुतश्चित् । यतो देवा अस्येश्वरस्य विसर्जनेन निष्प्रभा अर्वाचीनाः । सर्वथाऽप्यज्ञाने तदभावः स्यादित्यत उक्तं, अथान्यत् यतो यस्मात् इयमा बभूव स कः प्रजापतिर्भगवानद्धा वेदेत्यर्थः । न तत्प्रभावमित्यत्राद्धेति द्रष्टव्यम् । अत एव व्युत्क्रमः । प्रमाणं प्रमा । अन्यस्त्वर्थो भगवतो जन्माभावः ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **न मे विदुरिति** । न मे विदुर्विजानन्ति सुरगणाः प्रभवमुत्पत्तिं न महर्षयः । ममोत्पत्तिं सुरगणा महर्षयश्च न जानन्तीत्यर्थः । अहमादिः कारणं हि यस्माद्देवानां महर्षीणां च सर्वशः

सर्वेषाम् । यस्माद्देवानां सर्वेषां महर्षीणां चाहमादिः कारणं तस्माद्देवा महर्षयश्च ममोत्पत्तिं न जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च मन्माहात्म्यस्य मां विनाऽन्यो न वक्ताऽस्ति, तदनभिज्ञत्वात्; अतोऽहमेव त्वदपृष्टमपि त्वयि स्नेहाद्वक्ष्यामीत्याह— न मे इति । अधिकतरज्ञानाः सुरगणाः तत्त्वार्थदर्शिनो महर्षयश्च मे मम प्रभवं प्रभावं नानाविभूतिभिराविर्भावं वा न विदुर्न जानन्ति; अन्येषां का कथा ? इति भावः । हि यस्माद्देवानां महर्षीणां च सर्वशः स्वस्वज्ञानशक्त्यादिभिः सर्वप्रकारैः अहमादिः कारणम् । अतस्ते मदधीनपरिमितज्ञानशक्तित्वान्न मां यथावज्जानन्तीत्यहमेव तुभ्यं वक्ष्यामीत्यर्थः ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— उक्तस्यापि पुनः परमतया कथने दुर्विज्ञेयत्वं हेतुमाह— न मे विदुरिति । प्रभवं योगवैभवं जन्मादिकं वा महर्षयः अतीन्द्रियार्थदर्शिनोऽपि हि यतस्तेषामादिरहं इत्यतो न विदुः अर्वाचीनाः, नहि जन्यो जनकस्यादिं जानाति ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— अथ स्वकृपां विना अस्योक्तस्वस्वरूपस्यातिदुर्ज्ञेयत्वेन दुर्लभत्वमाह— न मे इति । मे मम प्रभवं प्रकृष्टं भवं जन्म— प्रादुर्भावमिति यावत्— सुरगणा ब्रह्मेन्द्रादयो महर्षयो भृग्वादयो न विदुः न जानन्ति । अहं देवानां ब्रह्मादीनां सर्वशः सर्वप्रकारैः आधिदैविकत्वेन देवत्वेन च आदिर्मूलभूतः । च पुनस्तथैव महर्षीणाम् । हीति निश्चयेन सन्देहाभावार्थं देवत्वात् ऋषित्वात् स्वमूलभूतत्वेन ज्ञानमावश्यकं, तथापि भूभारहरणार्थं स्वरक्षार्थं धर्मरक्षार्थं प्रादुर्भावं जानन्ति; परं यदर्थं यद्रूपश्च प्रादुर्भावस्तं मत्कृपां विना न जानन्तीति भावः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— दुर्ज्ञेयत्वाच्च मत्स्वरूपस्याहं त्वां ब्रवीमीत्याह— न मे इति । प्रभवं प्रकृष्टं भवं ऐश्वर्यं वियदादिसृष्टिसामर्थ्यं न विदुः । तत्र हेतुः—अहमिति । अयं भावः—देहोत्पत्त्यनन्तरं हि देवादीनां बुद्ध्यादिलाभः, न चार्वाचीनैर्बुद्ध्यादिभिः स्वोत्पत्तिप्राक्कालीनोऽर्थः परिच्छेत्तुं शक्यत इति पदार्थः स्पष्टः ॥ २ ॥

**यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।**
**असम्मूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च— यो मामजमनादिं च— यस्मादहमादिर्देवानां महर्षीणां च, न ममान्य आदिर्विद्यते; अतोऽहमजोऽनादिश्च, अनादित्वमजत्वे हेतुः । तं मामजमनादिं च यो वेत्ति विजानाति लोकमहेश्वरं लोकानां महान्तमीश्वरं तुरीयमज्ञानतत्कार्यवर्जितं असम्मूढः सम्मोहवर्जितः स मर्त्येषु मनुष्येषु सर्वपापैः सर्वैः पापैर्मतिपूर्वामतिपूर्वकृतैः प्रमुच्यते प्रमोक्ष्यते ॥ ३ ॥

---

१ अत्र वामनः—

देवाद्याः प्रभवं न मे विदुरिति प्रोक्तं पुरा यत्ततो जन्मास्तीत्यवसीयते भगवतो न ज्ञायते यत्परैः ।
प्राहाजत्वमिहात्मनश्च तदिदं क्लिष्टं न वाक्यं कथं ? शङ्कातङ्कमनादिनामनुवदन्देवो निरस्यत्यमुम् ॥
प्रलये ब्रह्मणि परे नेशत्वमवशिष्यते । शुद्धसत्त्वस्योदये तु तत्पुनः प्रतिभासते ॥
स एव तस्य प्रभवोऽजत्वं सङ्गच्छते कथम् ? । इति चेत्तत्साधयितुमनादिं चेत्यवोचत ॥
ब्रह्मण्युदेति प्रथमं माया, तच्छबलस्ततः । ईशः प्रकाशते, जन्म तदस्येति न साम्प्रतम् ॥
प्रतिसर्गोद्भवं यस्मादाविर्भावः परेशितुः । एवमेव ततोऽनादिरुपाधिरयमुत्तमः ॥
लयो ब्रह्मण्युपाधेर्यो न समाधिरसौ यतः । प्रत्यग्वृत्तेः स्वात्मबोधप्रत्ययो नात्र विद्यते ॥
न तमोलीनतोपाधेरतो नास्य सुषुप्तिता । न समाधिर्न निद्रेत्थं सावस्था परमात्मनः ॥
साधर्म्यात्तूभयोः किञ्चिद्योगनिद्रेति तां जगुः । जागर्त्युपाधिर्भूयोऽस्या लीयते यश्चिदात्मनि ॥
पूर्वस्य नाशेनान्यस्योपाधेः स्यादुद्भवो यदि । वाच्यं स्याज्जन्म, तस्य स्तः केवलं तु लयोदयौ ॥
अतो ह्यनादिरेवासौ तस्मादीशोऽपि तादृशः । अनादित्वे च निर्बाधमजत्वमपि सिद्ध्यति ॥

इत्यादिनानादिपदमजत्वं हेतुदर्शनपरतया व्याख्यातवान् । —अविगीता ।

२ आ. शां. व्या.— इतश्च कश्चिदेव भगवत्प्रभावं वेत्तीत्याह— किञ्चेति । कोऽसौ प्रभावो भगवतो यं बहवो न विदुः ? इत्यपेक्षायां पारमार्थिकं प्रभावं तद्धीफलं च कथयति— यो मामिति । पदद्वयापौनरुक्त्यमाह— अनादित्वमिति ॥ ३॥

३ रा. भा.— तदेतद्देवाद्यचिन्त्यस्वरूपयाथात्म्यविषयज्ञानं भक्त्युत्पत्तिविरोधिपापविमोचनोपायमाह— य इति । न जायत इत्यजः; अनेन विकारिद्रव्यादचेतनात्तत्संसृष्टात्संसारिचेतनाच्च विसजातीयत्वमुक्तम्; संसारिचेतनस्य हि कर्मकृताचित्संसर्गो जन्म । ' अनादिम् ' इत्यनेन पदेनादिमतोऽजान्मुक्तात्मनो विसजातीयत्वमुक्तम् । मुक्तात्मनो ह्यजत्वमादिमत् , तस्य हेयसम्बन्धस्य पूर्ववृत्तत्वात्तदर्हतास्ति, अतोऽनादिमित्यनेन तदनर्हतया तत्प्रत्यनीकतोच्यते; " निरवद्यम् " [ श्वे. उ. ६।१९ ] इत्यादिश्रुत्या च । एवं हेयसम्बन्धप्रत्यनीकस्वरूपतया तदनर्हं मां लोकमहेश्वरं लोकेश्वराणामपीश्वरं मर्त्येष्वसम्मूढो यो वेत्ति; इतरसजातीयतयैकीकृत्य मोहः सम्मोहः, तद्रहितोऽसम्मूढः, स मद्भक्त्युत्पत्तिविरोधिभिः सर्वैः पापैः प्रमुच्यते ।

४ वे. ता. चं.— देवादिभिरप्यवेदनीयत्वकथनस्य वक्ष्यमाणोपयोगं व्यञ्जयन् ' यो माम् ' इतिश्लोकाभिप्रेतमाह— तदेतदिति । 'यो वेत्ति' इत्यनुवादरूपत्वप्रतीतावप्यर्थतः फलानुवादेनोपायविधाने तात्पर्यमित्यभिप्रायेण उपायमाहेत्युक्तम् । अजशब्दस्य व्यवच्छेद्यप्रदर्शनाय व्युत्पत्तिं तावदाह न जायत इत्यज इति । विशेषणसामर्थ्यफलितां तदुचिताद्यवच्छेद्याद्यावृत्तिमाह अनेनेति । विकारिद्रव्यात्तत्संसृष्टादित्युभाभ्यां व्यवच्छेदयोग्यत्वं दर्शितम् । " अजो नित्यः शाश्वतः" [ कठो १।२।१८ ] इत्यादिभिर्नित्यस्य जीवस्य कथमचित्संसर्गमात्रेणाजशब्दव्यवच्छेद्यत्वमित्यत्राह संसारिचेतनस्येति । ईश्वरस्यापि सर्वशरीरतया तत्तदचित्संसर्गस्य विद्यमानत्वात्तद्व्युदासाय कर्मकृतेत्युक्तम् । मुक्तस्यापि स्वरूपानादित्वमस्ति; ततः कथं व्यवच्छेद्यत्वमित्यत्राह मुक्तात्मनो ह्यजत्वमादिमदिति । अजत्ववेषेणानादित्वमिह विवक्षितम् । स्वरूपानादित्वविवक्षायां तु पौनरुक्त्यमिति भावः । मुक्तदशायामचित्संसर्गो नास्ति, प्राचीनसंसर्गविवक्षायां बद्धादेर्व्यवच्छेदः स्यात् ; अतस्तदानीन्तनस्वरूपाद्व्यावृत्तिः कथमुक्ता स्यादित्यत्राह— तस्येति । सहकारिसन्निधौ कुर्वत्स्वभावत्वं सहकार्यभावप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वमपि हि योग्यतेत्यभिप्रायः । कालविशेषावच्छेदरहितनिरवद्यत्वविधायकश्रुत्या च अयमर्थसिद्ध इत्याह— निरवद्यमिति । अन्वयार्थमाह— एवमिति । देवैर्महर्षिभिश्च दुर्लभं ज्ञानं मन्दप्रज्ञेषु मर्त्येषु भाग्यवशात्कस्यचिज्जायत इति निर्धारणार्थत्वमुचितम् । उत्तरार्धे च फलनिर्देशेनासम्मूढमर्त्यशब्दयोः समुचितान्वयो नास्ति, 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' [ १५।१९ ] इति च वक्ष्यमाणच्छायाऽत्र युक्तेत्यभिप्रायेण मर्त्येष्वसम्मूढो यो वेत्तीत्युक्तम् । असम्मूढशब्दार्थं वक्तुमुपसर्गाभिप्रेतमर्थं व्यञ्जयति— इतरेति । 'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः । सोऽविकम्प्येन योगेन युज्यते नात्र संशयः' [ १०।७ ] इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वादत्रापि तदुपयुक्तपापविमोक्ष एवाभिप्रेत इत्यभिप्रायेण मद्भक्त्युत्पत्तिविरोधिभिरित्युक्तम् ।

३ रा. भा.— एतदुक्तं भवति— लोके मनुष्याणां राजा इतरमनुष्यसजातीयः, केनचित्कर्मणा तदाधिपत्यं प्राप्तः; तथा देवानामधिपतिरपि; तथा ब्रह्माण्डाधिपतिरपीतरसंसारिसजातीयः, तस्यापि भावनात्रयान्तर्गतत्वात् " यो ब्रह्माणं विदधाति " [ श्वे. उ. ६।१८] इति श्रुतेश्च । तथाऽन्येऽपि ये केचनाणिमाद्यैश्वर्यं प्राप्ताः । अयं तु लोकमहेश्वरः— कार्यकारणावस्थादचेतनाद्बद्धान्मुक्ताच्च चेतनादीशितव्यात् सर्वस्मान्निखिलहेयप्रत्यनीकानवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणैकतानतया नियमनैकस्वभावतया च विसजातीय इतीतरसजातीयतामोहरहितो यो मां वेत्ति, स सर्वैः पापैः प्रमुच्यते— इति ॥ ३ ॥

४ वे. ता. चं.— लोकमहेश्वरे परस्मिन् प्रतिपन्ने चाप्रतिपन्ने च न सम्मोहप्रसङ्गः; येन तन्निषेधः स्यात् , कथं च ब्रह्मरुद्रसनकादिषु जीवत्सु परमपुरुषस्यैव लोकमहेश्वरत्वम् ? कथं वा बद्धमुक्तविलक्षणत्वेऽपि नित्यसूरिवर्गाद्व्यवच्छेदः ? इत्यादिशङ्कायां सम्मोहोदयतदभावप्रकारौ विवृणोति— एतदुक्तमिति । तत्तदधिपतीनामपि लोके तत्तत्सजातीयत्वदर्शनादत्रापि सामान्यतोऽवगते शङ्कावकाशः । मनुष्यदेवाधिपतिप्रभृतिवद्दण्डाधिपतिप्रभृतेरपि कर्मविशेषमूलपरिमितदेशकालविषयभगवत्सङ्कल्पाधीनैश्वर्ययोगितया भगवत एवोत्तरावधिरहितमैश्वर्यम् । लोकमहेश्वरशब्देन सर्वगोचरैश्वर्यस्य विवक्षितत्वादेव नित्यानामपि व्यवच्छेदसिद्धिरिति भावः । सजातीयस्य कथमधिकत्वसिद्धिरित्यत्रोक्तं केनचित्कर्मणेति । कथं ब्रह्माण्डाधिपतेस्तदधीनस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभिरितरसंसारिभिः साजात्यमित्यत्राह तस्यापीति । कर्मभावनाब्रह्मभावनोभयभावनेति भावनात्रयम् । तेषामपि भावनात्रययोगादिकं भगवत्पराशरशौनकादिभिः प्रपञ्चितम्; यथा हिरण्यगर्भादीनुपक्रम्य 'अशुद्धास्ते समस्तास्तु देवाद्याः कर्मयोनयः' [ वि. पु. ६।७।७ ] इति; ' आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनित-

संसारवशवर्तिनः। यतस्ततो न ते ध्याने ध्यानिनामुपकारकाः' इति। प्रतिबुद्धैरनुपास्यत्वं भगवदधीनत्वं च पञ्चम एव वेदे सुव्यक्तं 'ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः। प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यस्मात्परिमितं फलम्' [म. भा. १२। ३४१।३६] 'एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ। तदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारकौ' [म. भा. १२।३४१।१९] इत्यादिभिः। भावनात्रयान्वयेन सह हिरण्यगर्भस्य कार्यत्वादिसमुच्चयार्थः चशब्दः। सनकसनत्कुमाररुद्रादिब्रह्मकुमारवर्गमभिप्रेत्याह **तथान्येऽपीति**। **अणिमादीति** 'अणिमा महिमा च तथा लघिमा गरिमा वशित्वमैश्वर्यम्। प्राप्तिः प्राकाम्यं चेत्यष्टैश्वर्याणि योगयुक्तस्य' [ ] तानि च कर्माधीनभगवत्सङ्कल्पाधीनान्येव। रौद्रस्याणिमाद्यैश्वर्यस्य क्वचिद् कृत्रिमत्वोक्तिरपि जन्मप्रभृतिसिद्धतामाह; अन्यथा 'महादेवः सर्व-(यज्ञे)-मेधे महात्मा हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव' [म. भा. १२।२०।१२] इत्यादिभिर्विरोधात्। लोकशब्दो लोक्यत इति व्युत्पत्त्या सर्वसङ्ग्राहक इत्यभिप्रायेणाह **कार्येति**। **निखिलेत्यादिकं** महच्छब्दस्याभिप्रेतविवरणम्; **नियमनैकस्वभावतयेति** ईश्वरशब्दस्य ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.—** अनश्चैश्वर्यिता आदिश्च सर्वस्येत्यनादिः। अजत्वेन सिद्धेरितरस्य ॥ ३ ॥

**६ ज. प्र. दी.**– अजशब्दागतार्थतयाऽनादिशब्दं व्याचष्टे– **अन** इति। सर्वस्येत्युभयशेषः। अन्तर्णीतण्यर्थादनतेः पचाद्यच्। न विद्यते आदिकारणमस्येत्यनादिरिति अन्ये, तदसत्; आर्थिकपुनरुक्तेरपरिहारादित्याह— **अजत्वेनेति**। इतरस्य कारणराहित्यस्य। अजत्वे हेतुरयमुच्यत इति चेत्, मैवम्; तज्ज्ञापकविभक्त्याद्यभावात्। गत्यन्तराभावे हि गमनिकैषा। चेष्टकत्वं प्रागनुक्तं कथमनूद्यते? इति चेत्, न; प्रभावे सर्वस्यान्तर्भावात् ॥ ३ ॥

**७ ह. पै. भा.— यो मामिति**। यो मां परमेश्वरं जन्मरहितं च वेत्ति विजानाति लोकमहेश्वरं लोकानां महान्तमीश्वरं, असम्मूढः सम्मोहरहितः स मर्त्येषु मनुष्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** महाफलत्वादपि मत्प्रभावज्ञानमतिदुर्लभमित्यतो मदुपदेशमवहितः शृण्वित्यभिप्रायेणाह— **यो मामिति**। सर्वकारणत्वादेवानादिं कारणरहितम्, अत एव अजं जन्मशून्यं लोकानां महान्तमीश्वरं च मां यो वेत्ति, स मर्त्येषु मरणधर्मसु संसारिषु मध्ये असम्मूढः संसारहेत्वज्ञानरूपसम्मोहवर्जितः सन् सर्वपापैः प्रकर्षेण निरन्वयनाशरूपेण मुच्यते मुक्तो भवति ॥ ३ ॥

**९ व० त० दी०—** अत एव मन्त्रद्रष्टृभिरप्यनुलभ्यमानप्रभवत्वादहमज एव श्रौतानुभवगम्यः, अन्यत्तु गुणप्रकृतिवियदादि जायते एवमतः "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" [तै. उ. २।१] इत्यादिश्रुतेः। तत्संसृष्टा जीवाश्च "हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्" [ऋक्सं.८।७।३।१ यजुस्सं.२३।१] इत्यादिश्रुतेः। अनादिरप्यहमेव मुक्तात्मा अजो भवामि। यद्यपि नचाऽनादिरित्येतदर्थमुक्तमनादिरिति अन्यथा एकार्थवाचकत्वे पृथङ्निरूपणं न कृतं स्यात्। अतएवाधस्ताज्जाता गुणसंसृष्टाः सर्वे ये लोकास्तेषां महानीश्वरो नियन्ताऽहं इत्येवम्भूतं मां मर्त्येष्वसम्मूढो यो वेत्ति मर्त्येषु स्वेच्छया सर्वोद्धारार्थे वर्त्तमानं वा मां सजातीयविजातीयविलक्षणं वेत्ति स सर्वपापैः संसारहेतुभूतैः भक्त्युत्पत्तिविरोधिभिः प्रमुच्यते इति तथा ज्ञानं तवास्तु इति भावः ॥ ३ ॥

**१० पु. अ. त.—** एवं स्वकृपां विना स्वाज्ञानात् देवानां देवत्वमपि जातं व्यर्थमेवेत्युक्त्वा स्वकृपया ज्ञानेन मनुष्याणामप्युत्तमत्वं भवतीत्याह— **यो मामजमिति**। यो मां मनुष्येषु च अजं जन्मादिदोषरहितम्, अनादिं लीलादिभिर्नित्यमेवम्भूतमेव लोकमहेश्वरं लोकानां परमेश्वरं कर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थम्, असम्मूढः प्रमादरहितः सन् जानाति; स सर्वपापैः मद्भक्तिप्रतिबन्धरूपैः प्रमुच्यते प्रकर्षेण मुच्यते; मनुष्यभावरहितो देवरूपो भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

**११ नी० भा० दी०—** कस्तर्हि त्वां वेत्ति? इत्यत आह— **य इति**। यः असम्मूढः स मां वेत्ति, स एव च सर्वपापैः प्रमुच्यत इति सम्बन्धः। जडाजडयोर्बुद्ध्यात्ममनोरेकीभावेनान्योन्याध्यासलक्षणेन मूढः, सम्मूढस्तद्विपरीतोऽसम्मूढस्तत्त्वज्ञानेन बाधिताध्यासः, स एवात्मवित्त्वादितरस्य जनिमनुभवन् मां प्रत्यगात्मानं लोकमहेश्वरमनादिं आदिः कारणं तच्छून्यमत एवाजमजातं वेत्ति स सर्वैः कृतैः क्रियमाणैर्वा पापैः प्रमुच्यते मर्त्येषु मध्ये ॥ ३ ॥

प्राणिकर्मानुरूपोत्पत्स्यमानानि भगवत्कार्याणि तज्ज्ञानफलं च ।

**बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः क्षमा सत्यं दमः शमः ।**
**सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥ ४ ॥**
**अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।**
**भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥ ५ ॥**

१ **शां. भा.**— इतश्चाहं महेश्वरो लोकानाम्— बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्माद्यर्थावबोधनसामर्थ्यम्, तद्वन्तं बुद्धिमानिति हि वदन्ति । ज्ञानमात्मादिपदार्थानामवबोधः । असम्मोहः प्रत्युपपन्नेषु बोद्धव्येषु विवेकपूर्विका प्रवृत्तिः । क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वाऽविकृतचित्तता । सत्यम्, यथादृष्टस्य यथाश्रुतस्य चाऽऽत्मानुभवस्य परबुद्धिसङ्क्रान्तये तथैवोच्चार्यमाणा वाक्सत्यमुच्यते । दमो बाह्येन्द्रियोपशमः। शमोऽन्तःकरणस्य उपशमः । सुखमाह्लादः । दुःखं सन्तापः । भव उद्भवः, अभावस्तद्विपर्ययः । भयं च त्रासः, अभयमेव च तद्विपरीतम् ( तदभावः ) ॥ ४ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— भगवतो लोकमहेश्वरत्वे हेत्वन्तरमाह— **इतश्चे**ति । मुमुक्षुभिराराध्यत्वसिद्धये बन्धमोक्षसाधनं पुरस्कृत्याशेषजगत्प्रकृत्यधिष्ठातृत्वलक्षणं सोपाधिकं भगवत्प्रभावमभिधत्ते— **बुद्धिरि**ति । सूक्ष्मादीत्यादिशब्देन सूक्ष्मतरः सूक्ष्मतमश्चार्थो गृह्यते । उक्तं सामर्थ्यं बुद्धिरित्यस्मिन्नर्थे प्रसिद्धिं प्रमाणयति— **तद्वन्तमि**ति । आत्मादीति तदवबोधवन्तं हि ज्ञानिनं वदन्ति । अन्तःकरणस्योपशमो विषयेभ्यो व्यावृत्तिरिति शेषः ॥ ४ ॥

१ **शां. भा.**— अहिंसेति । अहिंसाऽपीडा प्राणिनाम् । समता समचित्तता । तुष्टिः सन्तोषः पर्याप्तबुद्धिर्लाभेषु । तप इन्द्रियसंयमपूर्वकं शरीरपीडनम् । दानं यथाशक्ति संविभागः । यशो धर्मनिमित्ता कीर्तिः । अयशस्त्वधर्मनिमित्ताऽकीर्तिः । भवन्ति भावा यथोक्ता बुद्ध्यादयो भूतानां प्राणिनां मत्त एवेश्वरात्पृथग्विधा नानाविधाः स्वकर्मानुरूपेण ॥ ५ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— **यथाशक्ती**ति । पात्रे श्रद्धया स्वशक्तिमनतिक्रम्यार्थानां देशकालानुगुण्येन प्रतिपादनमित्यर्थः । उक्तानां बुद्ध्यादीनां साश्रयाणामीश्वरादुत्पत्तिं प्रतिजानीते— **भवन्ती**ति । नानाविधत्वे हेतुमाह— **स्वकर्मे**ति । कथञ्चिदपि तेषामात्मातिरेकेणाभावान्मत्त एवेत्युक्तम् ॥ ५ ॥

३ **रा. भा.**— एवं स्वस्वभावानुसन्धानेन भक्त्युत्पत्तिविरोधिपापनिरसनम्, विरोधिनिरसनादेवार्थतो भक्त्युत्पत्तिं च प्रतिपाद्य स्वैश्वर्यस्वकल्याणगुणगणप्रपञ्चानुसन्धानेन भक्तिविवृद्धिप्रकारमाह— बुद्धिरिति । बुद्धिः मनसो निरूपणसामर्थ्यम्, ज्ञानं चिदचिद्वस्तुविशेषविषयो निश्चयः, असम्मोहः पूर्वगृहीताद्रजतादेर्विसजातीये शुक्तिकादिवस्तुनि सजातीयताबुद्धिनिवृत्तिः, क्षमा मनोविकारहेतौ सत्यप्यविकृत-

---

१ **वामनः**—

श्रेयो मम स्यान्मास्त्वन्यदिति यो निश्चयोऽचलः । सा बुद्धिरीश्वरादेव मुमुक्षान्ता भवेत्क्रमात् ॥
उत्पन्नायां मुमुक्षायां जिज्ञासाऽत्र प्रवर्तते । इष्टं ततो ज्ञानमपि प्रसादादीशितुर्भवेत् ॥
अपेक्षितो ह्यसम्मोहो रक्षणायास्य चान्यथा । अनात्मभावप्रत्ययस्तमपि भाति जडं पृथक् ॥
आत्माज्ञानं भवेन्मोहः सम्मोहो द्वैतविभ्रमः । स ह्यात्माज्ञानमूलोऽपि तस्मादपि भयङ्करः ॥
रज्ज्वज्ञानं यथा मोहः सम्मोहो भुजगभ्रमः । स रज्ज्वज्ञानमूलोऽपि भयकम्पाद्यनर्थकृत् ॥
तदभावस्त्वसम्मोहः प्रपञ्चश्चिति तन्मयः । येनावभासतेऽभिन्नः पटे तन्तुरिवान्वयात् ॥
सिद्ध्यत्ययत्नतः सोऽपि तथा क्षान्त्यादयः परे । रजस्तमोऽनुपहता भावा भगवतः शुभाः ॥
पूर्वार्द्धे भगवानेवमुक्त्वा स्वभजने फलम् । फलानि कर्मणामाहोत्तरार्द्धेन गुणात्मनाम् ॥ इत्याह ।

चकारेणाबुद्ध्यादयोऽपि गृह्यन्त इत्यन्ये । —अविगीता ।

मनस्त्वम् , सत्यं यथादृष्टविषयं भूतहितरूपं वचनम् । तदनुगुणा मनोवृत्तिरिहाभिप्रेता, मनोवृत्तिप्रकरणात् । दमः बाह्यकरणानामनर्थविषयेभ्यो नियमनम् , शमः अन्तःकरणस्य तथा नियमनम् । सुखं आत्मानुकूलानुभवः, दुःखं प्रतिकूलानुभवः, भवः भवनम् , अनुकूलानुभवहेतुकं मनसो भवनम् ; अभावः प्रतिकूलानुभवहेतुको मनसोऽवसादः, भयम् आगामिनो दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखम् , तन्निवृत्तिः अभयम् ।

**४ वे. ता. चं.**— 'भक्त्युत्पत्तिविवृद्धयर्था '[गी. सं. १४] इत्यत्र विवक्षितं विवृण्वन्नुक्तेन तत्फलितेन च वक्ष्यमाणप्रकरणस्य च सङ्गतिमाह— **एव**मिति। बुद्धिज्ञानशब्दयोः पौनरुक्त्यपरिहाराय 'बुद्धिमस्त्वाज्जानाति ' इति प्रयोगानुसारेण शक्तिलक्षणया बुध्यतेऽनयेति तद्व्युत्पत्त्या वा हेतुकार्यपरतया व्याख्याति **बुद्धिर्मनसो निरूपणसामर्थ्यमिति** । असम्मोहासक्त्या तद्धेतुभूतं ज्ञानमिह विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **ज्ञानं चिदचिद्वस्तुविशेषविषयो निश्चय** इति। बुद्धिज्ञानशब्दयोरध्यवसायमोक्षधीविषयत्वेन व्याख्यानं शब्दद्वयसङ्कोचादिप्रसङ्गादनादृतम्। विजातीये सजातीयताबुद्धिः सम्मोहः; तदुदाहरति— **पूर्वे**ति । **पूर्वगृहीतात्** , आपणादिनिष्ठतयाऽनुभूतादित्यर्थः। इदं च स्मर्यमाणाध्यासोदाहरणम् । न कोपाख्यविकाराभावमात्रेण सुषुप्त्यादिषु क्षमाशब्दः, अपितु कोपहेतुषु सत्सु तदभावे तत्प्रयोग इत्यभिप्रायेणाह **मनोविकारे**ति । क्रोधहेतावाक्रोशताडनादौ सत्यपीत्यर्थः।

ननु कथं हेतौ सति तत्कार्यनिवृत्तिः? तथात्वे तस्य हेतुत्वमेव हीयेत; उच्यते— नह्यवश्यं हेतौ सति कार्येण भवितव्यमिति नियमः; अपितु प्रतिबन्धकरहितायां सामग्र्यां सत्याम् ; अन्यथा प्रत्येकं हेतूनां प्रतिबद्धानां च तत्तत्कार्यजनकत्वे कार्यस्य सदातनत्वसार्वत्रिकत्वप्रसङ्गात्, नित्यविभोश्च कारणस्य सद्भावात्; तर्हि कः क्षमाया विस्मयः? इति चेद्यथा मणिमन्त्रादिभिः स्फोटसामग्री स्तभ्यते तथा प्रबलविवेकाख्यप्रतिबन्धकेन कोपसामग्र्या दुर्निवारायाः स्तम्भनादिति भावः । वस्तुसत्यत्वस्य यथार्थदर्शनमप्यपेक्षितम्, तथापि यथादृष्टवचनमात्रे वक्तुर्नापराधः, भ्रमस्य दैवागतत्वादित्यभिप्रायेण **यथादृष्टविषय**मित्येतावदुक्तम्। परमार्थत्वेऽपि परानर्थहेतोः 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्' इत्यादिभिः सत्यत्वप्रतिक्षेपात् **भूतहितरूपे**ति विशेषितम्। भावशब्दस्य मनोवृत्तौ प्रसिद्धिप्रकर्षबलमग्र्यप्रायनयं चाभिप्रेत्य सत्यशब्दस्यात्र लाक्षणिकत्वमाह **तदनुगुणे**ति। शमदमशब्दयोरेकैकस्योभयनियमनाभिधानसामर्थ्येऽपि पौनरुक्त्यपरिहाराय विषयभेदे वक्तव्ये नियमनक्रमेण दमशमयोर्बाह्यान्तरकरणविषयत्वोक्तिः। शास्त्रीयेभ्यो नियमनस्य निषिद्धत्वात् **अनर्थविषयेभ्य** इत्युक्तम्। **तथे**ति अनर्थविषयेभ्य एव।

अनुकूलत्वमात्रं प्रतिकूलत्वमात्रमेव च सुखदुःखयोर्लक्षणम् ; तथापि मनोवृत्तिरूपत्वसिद्ध्यर्थमनुभवशब्दः । सुखदुःखभयाभयमभ्यपतितत्वात् 'भवोऽभावः' इत्यत्रापि परस्परविरुद्धार्थविषयत्वं सम्भवदपरित्याज्यम् ; ततश्च भावाभावशब्दयोः प्रत्ययभेदमात्रमेव, न त्वर्थभेदः; तत्र चाभाव इत्येव पदच्छेदः; तयोरपि मनोवृत्तिरूपत्वं वक्तव्यम् ; प्रस्तुतयोरेव च सुखदुःखयोस्तद्धेतुत्वमुचितम् ; अत एव 'भवो भव्यता, भावोऽभिप्रायः' इत्यादि परव्याख्यानं मन्दम् ; तदेतदखिलमभिप्रेत्याह **अनुकूले**ति । **भवनमिति** उद्धर्षोऽत्र विवक्षितः अवसादप्रतियोगित्वात्। अनवसादानुद्धर्षौ हि सहोक्तौ वाक्यकारेण 'तल्लब्धिर्विवेकविमोकाभ्यासक्रियाकल्याणानवसादानुद्धर्षेभ्यः' [बो. वृ.] इति। सुखदुःखशब्दाभ्यां पौनरुक्त्यव्युदासाय भयाभयशब्दयोस्तद्विशेषविषयतां दर्शयति— **आगामिन** इति। आगामिप्रत्यवायोत्प्रेक्षा भयमिति लक्षणेऽपि तस्यैव ज्ञानविशेषस्य प्रतिकूलरूपत्वाद्दुःखत्वम् ; नह्यन्यो दुःखाख्यो गुणोऽस्मद्दर्शने।

**३ रा. भा.**— अहिंसा परदुःखाहेतुत्वम् , समता आत्मनि सुहृत्सु विपक्षेषु चार्थानर्थयोः सममतित्वम् , तुष्टिः सर्वेष्वात्मसु दृष्टेषु तोषस्वभावत्वम् , तपः शास्त्रीयो भोगसङ्कोचरूपः कायक्लेशः, दानं स्वकीयभोग्यानां परस्मै प्रतिपादनम् , यशः गुणवत्ताप्रथा, अयशः नैर्गुण्यप्रथा— एतच्चोभयं तदनुगुणमनोवृत्तिद्वयं मन्तव्यम् , तत्प्रकरणात् ; तपोदाने च तथा; एवमाद्याः सर्वेषां भूतानां भावाः प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतवो मनोवृत्तयो मत्त एव मत्सङ्कल्पायत्ता भवन्ति ॥ ४ ॥ ५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— **परदुःखाहेतुत्व**मित्यत्र दुःखशब्देनाहितं विवक्षितम्, चिकित्सादौ हितरूपदुःखकरणस्य हिंसात्वाभावात्, प्रपञ्चितं चैतत्प्रागेव। अभयाहिंसयोरभावरूपयोरपि भावान्तरत्ववेषेण मनोवृत्तिरूपत्वं भाव्यम्। समत्वप्रकारेषु बहुषु सत्स्वपि हिंसानिषेधप्रसङ्गाद्धिंसाविषयभूतशत्रुस्मृतिर्जाता; ततश्च द्वेषाद्यभावेन शत्रुमित्रादिसाम्यं प्रदेशान्तरप्रपञ्चितमिह विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **आत्मनी**ति। 'न चलति निजवर्णधर्मतो यः सममतिरात्मसुहृद्विपक्षपक्षे। न हरति नच हन्ति किञ्चिदुच्चैः सितमनसं तमवेहि विष्णुभक्तम् [वि. पु. ३।७।२०] इति भगवत्पराशरवचनमिह तत्तत्पदैः स्मारितम्। **अर्थानर्थयो**रिति— आत्मार्थपरार्थयोरात्मानर्थपरानर्थयोश्चेत्यादि भाव्यम्।

तुष्टेः समतासहपाठात् शत्रूणां समृद्धिमतामपि सङ्ग्रहाय सर्वशब्दः। सर्वत्र सन्तोष एव ह्यात्मनः स्वारसिकः प्राप्तः, प्रातिकूल्यभावनाद्युपाध्यधीनं हि वैरादिकमित्यभिप्रायेण **सन्तो-**

**षस्वभावत्व**मित्युक्तम्। इदं च मैत्र्यादिषु चतुर्षु मुदिताख्यचित्तपरिकर्म। बाह्यागमादिमूलक्लेशस्य तपस्त्वव्यवच्छेदायोक्तं **शास्त्रीय** इति। शास्त्रीयस्यैव भोगसङ्कोचस्य व्याध्यादिवशादक्लेशात्मकत्वे तपस्त्वं नास्तीति व्यञ्जनाय **कायक्लेश** इत्युक्तम्। दाने परकीयानां स्वकीयानामपि हेयभूतानां व्यवच्छेदाय **स्वकीयभोग्याना**मित्युक्तम्। **परस्मै प्रतिपादनं** परस्वत्वापादनमित्यर्थः। अयशश्शब्दे नञो विरोधिपरत्वं प्रयोगप्रकर्षसिद्धमाह— **नैर्गुण्यप्रथे**ति। सदोषत्वप्रथेत्यर्थः। प्रथात्वमात्रमुभयसाधारणम्; अतो गुणवत्त्वनैर्गुण्याभ्यां विशेषणम्। **एतच्चे**त्यादिकं पूर्ववत्। सिंहावलोकितकेनाह— **तपोदाने च तथे**ति मनोवृत्तिविशेषावित्यर्थः। उक्तमात्रव्युदासायोपलक्षणतामभिप्रेत्याह **एवमाद्या** इति। अभिप्रायेऽपि भावशब्दप्रयोगादत्र भावशब्दस्य मनोवृत्तिविषयता। सर्वेषां कर्तृकरणादीनां प्रवृत्तेः स्वाधीनत्वेऽपि मनोवृत्त्युदाहरणं प्राकरणिकभक्तिरूपमनोवृत्तेरपि स्वसङ्कल्पमूलत्वज्ञापनार्थम्। प्रवृत्तिनिवृत्त्योः स्वाधीनत्वे कैमुत्यार्थमाह **प्रवृत्तिनिवृत्तिहेतव** इति। 'मत्त एव' इत्यत्र परोक्तसन्निधिमात्रादिव्युदासाय पञ्चम्यवगतं हेतुत्वं व्यापारमुखेनेत्याह **मत्सङ्कल्पे**ति। पृथग्विधानां परस्परविरुद्धानामप्यहमेको हेतुरित्येवकाराभिप्रायः ॥ ४ ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.— तत्प्रथयति— बुद्धिरित्यादिना। कार्याकार्यविनिश्चयो बुद्धिः। ज्ञानं प्रतीतिः। 'ज्ञानं प्रतीतिर्बुद्धिस्तु कार्याकार्यविनिश्चयः' इति ह्यभिधानम्। दम इन्द्रियनिग्रहः। शमः परमात्मनि निष्ठा। 'शमो मन्निष्ठता बुद्धेर्दम इन्द्रियनिग्रहः' [ ११।१७।३६ ] इति भागवते ॥ ४ ॥**

**तुष्टिरलम्बुद्धिः। 'अलम्बुद्धिस्तथा तुष्टिः' इत्यभिधानात् ॥ ५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— तर्ह्यादिमित्यनेन बुद्धिरित्यादिकं गतार्थमित्यत आह— **तदि**ति। सर्वादित्वं बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरमिति गौतमवचनात्। बुद्धिर्ज्ञानमिति पुनरुक्तिरित्यत आह— **कार्ये**ति। कुत एतदित्यत आह— **ज्ञानमि**ति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं शास्त्रमित्यसत्, अध्यात्मिकधर्मप्रसङ्गात्। दमो बाह्येन्द्रियोपशमः, शमोऽन्तःकरणस्योपशम इति कश्चित् (शं.) तदसत्, एकेनैव शब्देन सिद्धत्वात्, किन्तु दमः क्रियासु विनयः, शमो बाह्यान्तःकरणसंयम इत्यपरः, तदप्यसदिति भावेनाह— **दम** इति। कुत इत्यत आह— **शम** इति ॥ ४ ॥ सुखशब्दागतार्थतया तुष्टिशब्दं सप्रमाणकं व्याचष्टे— **तुष्टिरि**ति ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.— बुद्धिः सूक्ष्मावबोधसामर्थ्यम्, ज्ञानं पदार्थावबोधः, असम्मोह उपस्थितप्रतिपत्तिसामर्थ्यम्, क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वाऽविकृतचित्तता, सत्यं यथादृष्टश्रुतार्थप्रतिपादनम्, दमः कर्मेन्द्रियोपरतिः, शमोऽन्तःकरणोपरतिः, सुखमाह्लादः, दुःखं तापः, भव उद्भवः, अभावस्तद्विपर्ययः, भयं त्रासः, अभयं तद्विपर्ययः ॥ ४ ॥ अहिंसाऽपीडा प्राणिनाम्, समता समचित्तता, तुष्टिः सन्तोषः, तप इन्द्रियनिग्रहपूर्वकः कायक्लेशः, दानं यथाशक्ति संविभागः, यशो धर्मनिमित्ता कीर्तिः, अयशोऽधर्मनिमित्ताऽकीर्तिः। भवन्ति जायन्ते। भावाः पदार्थाः। भूतानां प्राणिनाम्। मत्तः परमेश्वरात्। एवावधारणे। नान्येभ्य इत्यभिप्रायः। पृथग्विधाः पृथक्प्रकाराः ॥ ५ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— एवमर्जुनमभिमुखीकृत्य प्रथमम् 'न मे विदुः सुरगणाः प्रभवम्' [१०।२] इत्यनेनोक्तं स्वप्रभावमुपदिशति त्रिभिः— **बुद्धिरिति**। बुद्धिरन्तःकरणस्य सूक्ष्मार्थविवेकसामर्थ्यम्, तद्वन्तं हि बुद्धिमानिति वदन्ति। ज्ञानं पदार्थावबोधः। असम्मोहः प्रत्युत्पन्नेषु बोद्धव्येष्वव्याकुलतया मनःप्रवृत्तिः। क्षमा सहिष्णुत्वम्। सत्यं यथार्थभाषणम्। दमो बाह्येन्द्रियनिग्रहः। सुखदुःखे प्रसिद्धे। भवाभावावुत्पत्त्यनुत्पत्ती। भयाभये प्रसिद्धे। एते मत्त एव भवन्तीत्युत्तरेणान्वयः ॥४॥ किञ्च, अहिंसा परपीडानिवृत्तिः। समता रागद्वेषराहित्यम्। तुष्टिर्यदृच्छालाभसन्तोषः। तपः कायेन्द्रियशोषणम्। दानं स्वकीयधनादेः सत्पात्रे समर्पणम्। यशोयशसी कीर्त्यपकीर्ती। एते भूतानां प्राणिनां बुद्ध्यादयः पृथग्विधा नानाविधा भावाः कार्यविशेषा मत्त एव परमेश्वराद्भवन्ति। अतः किमिति वर्णनीयो मम प्रभावः इत्यर्थः ॥ ५ ॥

**९ व० त० दी०— किञ्च अचिन्त्यैश्वर्ययोगकल्याणगुणान्मत्त एव बुद्धिर्ज्ञानं च भवति। ज्ञानमित्युपलक्षणं सर्वस्य सदसद्गुणसर्गस्य 'मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते' [ १०।८ ] इति वाक्यात्। तथाहि बुद्धिरित्यादि। बुद्धिः तत्त्वतोऽध्यवसायरूपा, ज्ञानमुपदेशजन्यम्, 'असम्मूढः' [ १०।३ ] इत्यत्रोक्तोऽसम्मोहोऽपि मत्त एव भवति। क्षमा सहिष्णुता; सत्यं प्रमाणेनावबुद्धस्यार्थस्य तथैव भाषणम्, दमो बाह्येन्द्रियाणां स्वविषयेभ्यो निवृत्तिः, शमोऽन्तःकरणस्य, सुखमात्मानुकूलानुभवः, दुःखं तद्विपरीतं च मत्त एव भवति। मार्गत्रयाधिष्ठाताऽहं यथामार्गानुसरणं**

तत्तदधिकृताय तथैव दुःखं सुखं प्रयच्छामीति भावः । एवं भवः उद्भवः, अभावस्तद्विपरीतः, भयमभयं च दानं यशः अयशश्चेति विंशद्भावास्तत्तन्मार्गरतानां प्राणिनां यथासर्गं पृथग्विधा मत्त एव भवन्ति 'रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः' इति निबन्धोक्तेः । अनेन स्वस्य मुख्यं कर्तृत्वं सर्वकारणत्वं चोक्तम् । प्रकृत्यादेस्तु करणत्वमेव, न कारणत्वं साधकतमत्त्वादिति स्वयोगमहिमोक्तः ॥ ४ ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— एवं ये जानन्ति तेषामन्येषामजानतां च सर्वेश्वरत्वात् मत्त एव नानाविधा भावास्तत्तज्ज्ञानानुरूपा भवन्तीत्याह द्वयेन— **बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह इति** । बुद्धिः धर्मज्ञानकौशलं, ज्ञानं स्वरूपात्मकम्, असम्मोहो मायाविलासेषु, क्षमा दुष्टादिकृतिसहिष्णुता, सत्यं आपदादिष्वपि यथार्थभाषणं, दम इन्द्रियनिग्रहः, शमः परमानन्दाप्तिरूपा शान्तिः, सुखं मद्भावानन्दरूपं, दुःखं आनन्दतिरोधानात्मकं, भवः संसारात्मकः, अभावो नाशः, भयं मृत्युकालादीनाम् । चकारेण यमयातनादयः । अभयं मच्चरणाप्त्या कालादिभयाभावः ॥ ४ ॥ अहिंसा दयात्मिका, समता सर्वत्र मद्भावः, तुष्टिः सदा मद्भावसन्तोषः, तपो मदर्थक्लेशसहनं, दानं मदुपदेशादीनां, यशो मत्सेवकत्वेन सत्कीर्तिः, अयशो दुष्टत्वादिलक्षणात्मिकाऽपकीर्तिः । भूतानां एते भावाः पृथग्विधाः भिन्नाः मत्कृपाविशिष्टमज्ज्ञानवतां बुद्ध्यादयः सर्वे भवन्ति । अन्येषामयशस्सहितदुःखादिचतुष्टया भावा भवन्तीति भावः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— मम महेश्वरत्वादेव मत्तो बुद्ध्यादयो भवन्तीत्याह— बुद्धिरिति । बुद्धिः अन्तःकरणस्य सूक्ष्मार्थावबोधने सामर्थ्यम् । ज्ञानं आत्मानात्मादिपदार्थावबोधः । असम्मोहः प्रत्युत्पन्नेषु बोद्धव्येष्वव्याकुलतया विवेकपूर्विका प्रतिपत्तिः । क्षमा आक्रुष्टस्य ताडितस्य वा अविकृतचित्तता । सत्यं प्रमाणेनावगतस्यार्थस्य यथार्थत्वेन भाषणम् । दमो बाह्येन्द्रियनियमः । शमो मनोनिग्रहः । सुखमाह्लादः । दुःखं तापः । भव उत्पत्तिः । भावः सत्ता, अभावस्तद्विपर्ययः । भयं त्रासः, अभयमेव च तद्विपरीतम् ॥ ४ ॥ अहिंसा प्राणिनामपीडा, समता मित्रामित्रादौ समचित्तता, तुष्टिः सन्तोषो लब्धे पर्याप्तबुद्धिः, तप इन्द्रियसंयमपूर्वकं शरीरपीडनम्, दानं यथाशक्ति संविभागः, यशो धर्मनिमित्ता कीर्त्तिः, अयशोऽधर्मनिमित्ता अकीर्त्तिः, एते बुद्ध्यादयो विंशतिर्भावा मत्त एव प्राणिनां भवन्ति, पृथग्विधाः प्रत्येकं नानाप्रकाराः । तत उत्तमगुणलाभायाहमेव त्वया शरणीकरणीय इति भावः ॥ ५ ॥

## महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
## मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥ ६ ॥

१ **महर्षय** इति— 'यस्मादृषन्ति ते धीरा महान्तः सर्वतो गुणैः । तस्मान्महर्षयः प्रोक्ता बुद्धेः परमदर्शिना ॥' इति ब्रह्माण्डे ( पू. भा. २२।८९ ) महर्षिपदनिर्वचनम् । अत्र 'पूर्वे' इति ऋषीणां विशेषणम् । तथा च सर्गादावुत्पन्ना एव गृह्यन्ते, न तु प्रतिमन्वन्तरमुत्पद्यमानेष्वन्यतमा इति भावः । ते चोक्ता ब्रह्माण्डपुराणे— 'तेषां सप्तर्षयः पूर्वमासन्ये तान्निबोधत । भृग्वङ्गिरा मरीचिश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः । अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च सप्त स्वायम्भुवेऽन्तरे ॥' ( पू. भा. १३।१०३ ) इति । भृग्वङ्गिरा इत्येकं नाम । एत एव पूर्वे सप्त महर्षयः प्रसिद्धाः । अत एव 'अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिः'–( ऋ. सं. १।१।१।२) इति मन्त्रभाष्ये स्कन्दस्वामिनाऽपि 'पूर्वेभिरस्मत्तः पूर्वकालैर्भृग्वङ्गिरःप्रभृतिभिः' इत्युक्तम् । भारते चान्यत्र 'स्वायम्भुवाद्या मनवो भृग्वाद्या ऋषयस्तथा ।'(१३।१४।२८०) इत्येत एव निर्दिष्टाः । एवं 'भृग्वाद्याश्च मुनीश्वराः' (शि. पु. ज्ञा. सं. १६।६१) 'भृग्वादयश्च ये सप्त जज्ञिरे च महर्षयः ।' ( ब्रह्मां. पू. १३।८३ ) इत्यादिष्वेतेषामेव ग्रहणम् । 'महर्षीणां भृगुरहं' ( १०।२५ ) इति वक्ष्यमाणमपि महर्षिषु भृगोः प्राथम्यं सूचयदमुमेवार्थमुपस्करोति । तेन मध्वोक्तं मरीच्यादीनां ग्रहणं प्रत्युक्तम् । 'वर्तमानमन्वन्तरीया एव सप्तर्षयोऽत्र ग्राह्याः' इत्यादि **नव्यजल्पितं** तु 'पूर्वे' इति विशेषणविरुद्धम् । अन्ये **नव्याः** ऋग्वेदमन्त्रद्रष्टृत्वेन प्रसिद्धानां भरद्वाजः कश्यपो गौतमोऽत्रिर्विश्वामित्रो जमदग्निर्वसिष्ठः ( सर्वानु. ७।२।१३ ) इत्येतेषामेवात्र ग्रहणं युक्तमित्याहुः । 'गुणैर्गरिष्ठाः सकलैः पूर्वेषामपि पूर्वजाः । कश्यपाद्याः प्रसिद्धा ये ज्ञानवृद्धा महर्षिषु ॥' इति वदतो **ज्ञानदेव**स्याप्येतदेवानुमतमित्यनुमीयते, 'कश्यपोऽत्रिर्वसिष्ठश्च भरद्वाजोऽथ गौतमः । विश्वामित्रो जमदग्निः–' ( म. भा. १३ । ९३ । २१ ) इति तेषामेव कश्यपादित्वेन परिगणनात् । नत्वेतदपि रमणीयम्, एतेषां पूर्वत्वाभावात् मानसत्वाभावाच्च । अतो यथोक्तमेव ज्यायः ॥

चत्वारो मनवः सावर्णाः । सहोत्पन्नानां तेषां 'सावर्णा मनवश्चान्ये भविष्या ब्रह्मणः सुताः । मेरुसावर्णितस्ते वै चत्वारो दिव्यदृष्टयः ॥' ( ब्रह्मां. उ. १।२३ ) 'सावर्णा मनवो ये च चत्वारस्तु महर्षिजाः' । ( ब्रह्मां. उ. १।९३ ) इत्यादिपुराणेषु चतुर्णामेव पृथक् प्रसिद्धत्वात् मानसत्वाच्च । तथा च तदुत्पत्तिर्ब्रह्माण्डपुराणे— 'दक्षस्य कन्या धर्मिष्ठा सुव्रता नाम विश्रुता । सर्वकन्यावरिष्ठा तु ज्येष्ठा या वीरिणीसुता ॥ गृहीत्वा तां पिता कन्यां जगाम ब्रह्मणोऽन्तिके । वैराजस्थमुपासीनं धर्मेण च भवेन च ॥ भवधर्म—

१ शां. भा.— किञ्च — महर्षयः सप्त भृग्वादयः पूर्वेऽतीतकालसम्बन्धिनः चत्वारो मनवस्तथा सावर्णा इति प्रसिद्धाः। ते च मद्भावा मद्गतभावना वैष्णवेन सामर्थ्येनोपेताः, मानसा मनसैवोत्पादिता मया जाता उत्पन्नाः, येषां मनूनां महर्षीणां च सृष्टिर्लोक इमाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः प्रजाः ॥ ६ ॥

—समीपस्थं दक्षं ब्रह्माभ्यभाषत। दक्ष ! कन्या तवेयं वै जनयिष्यति सुव्रतान् ॥ चतुरो वै मनून् पुत्रान् चातुर्वर्ण्यकराञ्छुभान्। ब्रह्मणो वचनं श्रुत्वा दक्षो धर्मो भवस्तथा ॥ तां कन्यां मनसा जग्मुस्त्रयस्ते ब्रह्मणा सह। सत्याभिध्यायिनां तेषां सद्यः कन्या व्यजायत ॥ सदृशान् रूपतस्तेषां चतुरो वै कुमारकान्'। ( उ. भा. १।३९–४४ ) इति। एतेषां भाविमनुत्वेऽपि पूर्वमेव चाक्षुषमन्वन्तरान्ते जातत्वादत्र भूतत्वेन निर्देशो न विरुध्यते। तदुक्तं ब्रह्माण्ड एव–'महानुभावास्ते पूर्वं जज्ञिरे चाक्षुषेऽन्तरे।' ( उ. भा. १।२६ ) इति, 'एवं ते समयं कृत्वा सर्वेषां जगृहुः सुतान्। चाक्षुषस्यान्तरेऽतीते प्राप्ते वैवस्वतस्य ह'। ( उ. भा. १।५० ) इति च। एतेनैतेषामुत्पत्तेः 'इमं विवस्वते योगं' ( ४।१ ) इत्यादिनावगतगीताप्राथमिकोपदेशसमसामयिकत्वादेवेह ग्रहणमिति केषाञ्चिदूहो नातीवासङ्गत इत्यन्यदेतत् ॥

**ज्ञानदेवस्तु**— 'चतुर्दशसु चत्वारो मुख्याश्च मनवोऽपि ये। स्वायम्भुवाद्यास्ते जाताः सृष्ट्यर्थं मनसो मम ॥' इति वदंश्चतुर्दशमनुष्वाद्यानां स्वायम्भुवस्वारोचिषोत्तमतामसानामेवात्र ग्रहणमभिप्रैति। तन्न विचारसहम्, एतेषामेव मुख्यत्वे मानाभावात्, मानसत्वाभावाच्च। 'विभागः प्राधान्यं च प्राथमिकत्वादेव' इति मध्वोक्तमपि प्राथम्यस्य चतुर्ष्वेव पर्यवसाने मानाभावात्तथाविधमेव। किञ्च तैर्भगवदवतार इति तामसं विहाय पञ्चमो रैवतश्चतुर्षु गण्यते। तत्र यज्ञयतीर्थेन तामसस्य भगवदवतारत्वे भागवतप्रमाणमुपन्यस्तम्, तन्नोक्तार्थसाधकम्। यतस्तत्र स्वायम्भुवे मन्वन्तरे यज्ञ इव, स्वारोचिषे विभुरिव, औत्तमे सत्यसेन इव, तामसे मनोरन्य एव हर्याख्यो भगवदवतार उपवर्ण्यते–'तत्रापि जज्ञे भगवान् हरिण्यां हरिमेधसः। हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात् ॥ ( भाग. ८।१।३० ) इति। एवमन्यदपि तदीयमत्रत्यं प्रतिपादनं चिन्त्यमेवेति नाप्रकृतं प्रपञ्च्यते।

**केचिदर्वाञ्चस्तु**— चत्वार एव मनवः प्राचीनाः, तथा हि ऋग्वेदे–'यथा मनौ सांवरणौ' (६।४।१८)'यथा मनौ विवस्वति' ( ६।४।२० ) 'सावर्णेर्देवाः प्रतिरन्त्वायुः' ( ८।२।२ ) इति त्रयाणामेव निर्देशो दृश्यते। स्वायम्भुवोऽपि–'मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत्' ( ३।४।२ ) इति निरुक्ते व्यक्तमुक्तः, 'यद्वै किञ्च मनुरवदत्तद्भेषजम्' ( तै. सं. २।२।६ ) इति यजुर्वेदे निर्दिष्टश्च। एत एव श्रुत्यनुसारिण्यां गीतायां गृहीताः; चतुर्दशमनुकल्पना तु पौराणिक्येवेति वदन्ति ॥ चत्वारो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रभेदेन चतुर्विधा मनवो ज्ञानाधिका देवाः, 'मनवो बोधवैशेष्याद्देवा ब्रह्मादयः स्मृताः। विप्रादिवर्णभेदेन चत्वारो बहवोऽपि ते ॥' इत्युक्तेरिति माध्वाः ॥ पूर्वे इति मनुविशेषणम्, मनवो मन्त्राः, ते चोङ्कारवषट्कारव्याहृतिसावित्रीरूपाः, ऋग्यजुस्सामाथर्वाणो वा इति **केचित्** ॥ **अपरे** तु 'पूर्वे चत्वारः' इति पृथग्वाक्यं कल्पयित्वा 'अथ धातुश्च मनस आविर्भूताः कुमारकाः। चत्वारः पञ्चवर्षीया ज्वलन्तो ब्रह्मतेजसा ॥ सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः। सनत्कुमारो भगवांश्चतुर्थो ज्ञानिनां वरः ॥' ( ब्र. वै. १।८।१२—१३ ) इत्युक्ताः सनकादयोऽत्र ग्राह्याः। ते हि 'सनन्दनादयो ये च पूर्वं सृष्टास्तु वेधसा।' ( वि. पु. १।७।६ ) 'मानसा मे सुता युष्मत्पूर्वजाः सनकादयः।' ( भाग. ३।१५।१२ ) 'पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।' ( भाग. ७।१।३७ ) इत्यादिपुराणेषु पूर्वजत्वेन प्रसिद्धाश्चत्वारो मानसाश्चेति प्रतिपादयन्ति। न च 'तान्बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः !। तन्नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ॥' ( भाग. ३।१२।५ ) इत्यादौ तेषां सृष्टिपराङ्मुखताश्रवणात् 'येषां लोक इमाः प्रजाः' इति न सङ्गच्छत इति वाच्यम्, तेषामपि विद्यया सन्ततिभूतानां प्रजानां विद्यमानत्वात्। तथा चोक्तं मौद्गले— 'सहजस्य धरस्तत्र सनकः सम्बभौ सुतः। समयोगधरो दक्ष ! प्रतापी च सनन्दनः ॥ ज्ञानयोगमयो योगी सनातन इति स्मृतः। कर्मयोगस्वरूपः सनत्कुमारः स आबभौ ॥ तान् दृष्ट्वा हर्षसंयुक्त उवाच जगदीश्वरः। स्मृत्वा सृजत संसृष्टिं गणेशं तैः कृतं तथा ॥ नानाविधं योगमार्गं ससृजुस्ते महौजसः।' ( २।२।१५–१८ ) इति ॥ अत्र चत्वारो 'देवर्षिर्नारदस्तथा। असितो देवलो व्यासः' ( १०।१३ ) इति वक्ष्यमाणा अपि ग्रहीतुं शक्यन्त इति **नव्यैकदेशिनः**, तदसारम्; तेषां मानसत्वाभावात्, तत्र त्रय एवोद्दिश्यन्त इत्यस्माभिः साधयिष्यमाणत्वाच्च। 'मूलगोत्राणि चत्वारि समुत्पन्नानि पार्थिव !। अङ्गिराः कश्यपश्चैव वसिष्ठो भृगुरेव च ॥' ( म. भा. १२।२९६।१७ ) इत्युक्ता मूलगोत्रप्रवर्तका ऋषय एवात्र विवक्षिताः, 'पूर्वे' इति विशेषणस्वारस्यात्सङ्ख्याबलाच्चेत्यपि त एव। तत्तुच्छमेव, एतेषां प्रायः सप्तमहर्ष्यन्तर्गतत्वेन पृथग्ग्रहणायोगात् ॥ **नव्यास्तु** चत्वारः पूर्वे ऋषयो वासुदेवादिचतुर्व्यूहा ग्राह्या इत्याहुः। तदतीवासङ्गतम्; चतुर्व्यूहान्तर्गतेन वासुदेवेनैव ते चतुर्व्यूहा मत्तो जाता इति वक्तुमशक्यत्वात्। त्रय एव हि सङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धाख्या वासुदेवादन्ये व्यूहाः। न च परब्रह्मणो वासुदेवस्य जन्मास्ति, नापि व्यूहचतुष्टयस्यार्षित्वं क्वापि प्रसिद्धमिति किं वा प्रलापपरामर्शप्रपञ्चेन ? ॥

अत्र सप्तर्षय इन्द्रियाणि, 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे' ( शु. य. वा. सं. ३४।५५ ) 'तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥' ( अथ. सं. १०।२६।९ ) इत्यादिमन्त्रेषु तथार्थदर्शनात्। 'सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी' ( नि. १२।३७।१ ) इति यास्कः। पूर्वे—

**२ आ. शां. व्या.**— न केवलं भगवतः सर्वप्रकृतित्वमेव, किन्तु सर्वज्ञत्वसर्वेश्वरत्वरूपमधिष्ठातृत्वमपीत्याह— **किञ्चेति**। आद्या भृग्वादयो वसिष्ठान्ताः सर्वज्ञा विद्यासम्प्रदायप्रवर्तकाः। तथेति मनूनामपि पूर्वत्वेनाऽऽद्यत्वमनुकृष्यते। के ते मनवः? तत्राऽऽह— **सावर्णा इतीति**। प्रसिद्धाः पुराणेषु, प्रजानां पालकाः, स्वयमीश्वराश्चेति शेषः। महर्षीणां मनूनां च तुल्यं विशेषणं— **ते चेति**। मयि सर्वज्ञे सर्वेश्वरे गता भावना येषां ते तथा। भावनाफलमाह— **वैष्णवेनेति**। वैष्णव्या शक्त्याऽधिष्ठितत्वेन ज्ञानैश्वर्यवन्त इत्यर्थः। तेषां जन्मनो वैशिष्ट्यमाचष्टे— **मानसा** इति। मन्वादीनेव विशिनष्टि— **येषामिति**। विद्यया जन्मना च सन्ततिभूता मन्वादीनामस्मिँल्लोके सर्वाः प्रजा इत्यर्थः॥ ६॥

**३ रा. भा.— सर्वस्य भूतजातस्य सृष्टिस्थित्योः प्रवर्तयितारश्च मत्सङ्कल्पायत्तप्रवृत्तय इत्याह— महर्षय इति। पूर्वे सप्त महर्षयः अतीतमन्वन्तरे ये भृग्वादयः सप्त महर्षयो नित्यसृष्टिप्रवर्तनाय ब्रह्मणो मनसः सम्भवाः, नित्यस्थितिप्रवर्तनाय ये च सावर्णिका नाम चत्वारो मनवः स्थिताः, येषां सन्तानमये लोके जाता इमाः सर्वाः प्रजाः प्रतिक्षणमाप्रलयादपत्यानामुत्पादकाः पालकाश्च भवन्ति; ते भृग्वादयो मनवश्च मद्भावाः मम यो भावः स एव येषां भावः ते मद्भावाः मन्मते स्थिताः, मत्सङ्कल्पानुवर्तिन इत्यर्थः ६**

**४ वे. ता. चं.**— सृष्टिस्थितिहेतुतया प्रसिद्धेषु महत्स्वपि हेतुभूतेषु स्वतन्त्रत्वशङ्का न कार्या, अन्यसङ्कल्पप्रसूतेष्वपि मत्सङ्कल्पमूलत्वमनुसन्धेयमित्यस्योदाहरणतया 'महर्षयः' इत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाह **सर्वस्येति**। 'येषां लोक इमाः प्रजाः' इत्येतदभिप्रेतकथनं **सर्वस्य भूतजातस्येत्यादि**। **सृष्टिस्थित्योरिति** महर्षिषु मनुषु च क्रमादन्वेतव्यम्। सप्तर्षीणां पूर्वत्वविशेषणविवक्षितमाह **अतीतमन्वन्तर** इति। **भृग्वादय** इति— 'महर्षीणां भृगुरहम्' [ १०।२५ ] इति तत्प्रधानत्वं हि वक्ष्यते— 'सप्त ब्रह्माण इत्येते पुराणे निश्चयं गताः' [ म. भा. १२।२०८।५ ] इत्यादिस्मारणाय सप्तशब्दः। आर्षेयवरणे वरणीयानां गोत्राणां प्रवर्तयितार इत्यभिप्रायेणाह **नित्यसृष्टिप्रवर्तनायेति**। **ब्रह्मणो मनसः सम्भवा** इति। सौबाले [ १ ]- "स मानसान् सप्त पुत्रानसृजत्" इत्यादि। नैमित्तिकसृष्ट्यादिव्यवच्छेदाय नित्यशब्दः। ननु ब्रह्मदिवसे चतुर्दश मनवः क्रमादधिकुर्वन्ति, एकस्मिन् मन्वन्तरे एक एव; तत्कथं चत्वार इत्यत्राह **ये च सावर्णिका नामेति**। 'ब्रह्मसावर्णो, रुद्रसावर्णो, धर्मसावर्णो, दक्षसावर्णः' इति दक्षस्य दुहितरि तैश्चतुर्भिर्मानसा जनिताः। 'मद्भावाः' इत्येतावदत्र विधेयम्; अन्यत्सर्वं पुराणादिप्रसिद्धमनूद्यते इति ज्ञापनाय यच्छब्दः। **सन्तानमय** इति। 'जनो लोकः प्रोक्तः' इति पाठाल्लोकोऽत्र सन्तानः। **येषां... लोके जाताः**— यत्पुत्रपौत्रादिभ्यो जाता इत्यर्थः। 'इमाः' इति निर्देशः कालान्तरवर्तिनित्यसृष्टेरपि सङ्ग्राहकः, न तु व्युदासकः; ईश्वरस्य तत्राप्यापरोक्ष्यादित्यभिप्रायेणाह **प्रतिक्षणमाप्रलयादिति**। **उत्पादकाः पालकाश्चेति** महर्षीणां मनूनां च यथाक्रमं निर्देशः। 'उत्पादिकाः' इत्यादिस्त्रीलिङ्गपाठे तु तत्तत्प्रजाभिर्यथासम्भवमन्वयः। **मम यो भावः स एव येषां भाव** इति भावसामानाधिकरण्ये फलितोक्तिरियम्, मध्यमपदलोपी वा समासः। राज्ञो भाव एव किङ्करस्य भाव इतिवदभिप्रायसाम्यापेक्षयाऽयं व्यपदेश इति दर्शयति **मन्मते स्थिता** इति। स्वाच्छन्द्यादभिप्रायसाम्यं भृत्यादिवद्बुद्धिपूर्वानुवर्तनमात्रं च व्युदस्यति— **मत्सङ्कल्पानुवर्तिन** इति॥ ६॥

**५ आ. मा. भा.— पूर्वे सप्तर्षयः– 'मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः। वसिष्ठश्च महातेजाः' इति मोक्षधर्मोक्ताः [ म. भा. १२।३३५।२८ ]। ते हि सर्वपुराणेषु उच्यन्ते। चत्वारः प्रथमाः स्वायम्भुवाद्याः तेषां हीमाः प्रजाः– नहि भविष्यतामिमाः प्रजा इति युक्तं– विभागः प्राधान्यं च प्राथमिकत्वादेव भवति। गौतमखिलेषु चोक्तम्–'स्वायम्भुवं रोचिषं च रैवतं च तथोत्तमम्। वेद यः स प्रजावान्' इति। पूर्वेभ्यो ह्युत्तरा जायन्त इत्येषां प्राधान्यम्। अजातेषु च ज्यैष्ठ्यम्।**

**६ ज. प्र. दी.**— महर्षयः सप्त भृग्वादय इति शङ्करः, तदसत्; पूर्वे इति विशेषणेन प्रथममन्वन्तरस्थानामेव ग्रहणस्योचितत्वात् मोक्षधर्मसंवादाच्चेति भावेनाह– **पूर्वे** इति। इतोऽपि मरीच्यादय एवेत्याह— **ते हीति**। निरुपपदेन सप्तर्षिशब्देनेति शेषः। 'पूर्वे' इत्यस्योत्तरत्र सम्बन्धेऽपि एतत्सिद्धमिति भावेनानेकप्रमाणोपन्यासः। ब्रह्मसावर्ण्यो रुद्रसावर्ण्यो दक्षसा-

---

—चत्वारश्च व्यष्टिमनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्याः, 'चतुरश्चापरान् पुत्रान्देहात्पूर्वं महानृषिः। ते वै पितॄणां पितरः श्रूयन्ते राजसत्तम!॥' (म. भा. १२।३११।८) इत्यत्र तथोक्तत्वादित्यादिराध्यात्मिकोऽप्यर्थोऽनुसन्धेयः॥ वस्तुतस्तु– व्यतीपातस्योत्पत्तावष्टादशभुजपुरुषत्वावधारणात् व्यतीपातव्रते 'काञ्चनाब्जे प्रतिष्ठाप्य हैममष्टभुजं नरं' इत्यत्राष्टपदेनाष्टादशसङ्ख्यैव, सहस्रनामफलश्रुतौ 'षोडशार्धानि नामानि' इत्यत्र षोडशार्द्धपदेन तदधिकसहस्रसङ्ख्येव चात्र चत्वार इति पदेन चतुर्दशसङ्ख्यैवोपलक्ष्यते। दृश्यते च दशशतसहस्रादिसङ्ख्योत्तरवर्तिलघुसङ्ख्यानिर्देशमात्रेण लोकेऽपि भूयान् व्यवहारः। अतः सर्वत्र प्रसिद्धानां चतुर्दशमनूनामेवाऽपि ग्रहणमिति सरलः पन्था इत्यलमतिप्रसङ्गेन॥

—अविगीता।

वर्ण्यो धर्मसावर्ण्य इति भविष्यन्तश्चत्वारो मनव इत्यन्ये, तदसदिति भावेनाह— **चत्वार** इति। स्वायम्भुवस्वारोचिषरैवतोत्तमाः। प्रथमातिक्रमे कारणाभावादिति भावः। किञ्च 'येषां लोक इमाः प्रजाः' इति विशेषणमेष्वेव सम्भवति, नेतरेष्वतोऽप्येवमित्याह— **तेषां** हीति। इमा वर्तमानाः प्रजा अपत्यानि। ननु चतुर्दशमनवस्तेषु चतुर्णां यत्पृथक्करणं तत्र कारणेन भाव्यम्। अस्ति च तत्परोक्तेषु संज्ञासाम्यम्; न तु स्वायम्भुवादिषु; अतः कथमेतत्? इत्यत आह— **विभाग** इति। प्राधान्यादेवेति शेषः; संज्ञासाम्यस्याप्रयोजकत्वात्। अन्यथा मेरुसावर्णेरपि ग्रहणप्रसङ्गादिति भावः। अस्त्वेवं प्राधान्यं च परोक्तानामेवेत्यत आह— **प्राधान्यं** चेति। स्वायम्भुवादीनामिति शेषः। किञ्च श्रुतौ स्वायम्भुवादीनामेव पृथक्करणात्त एवात्रेत्याह— **गौतमे**ति। पृथक्करणे न फलमिति शेषः। प्राथमिकत्वादेव प्राधान्यं भवतीत्युक्तं तत्कथं? इत्यत आह— **पूर्वेभ्यो** हीति। तत्सन्ततावित्यर्थः। तेषां पूर्वेषां उत्तरान्प्रति। तत्सन्ततावजातान् प्रति प्रथमानां कथं प्राधान्यं? इत्यत आह— **अजातेष्वि**ति। विषयसप्तमीयम्। ज्यैष्ठ्यं प्रथमानां प्राधान्यमित्यर्थः। इदमुक्तं भवति— प्रधानगुणभावौ हि सति सम्बन्धे भवति। अयुगपद्भाविषु चैतेषु प्रथमानामेव प्राधान्यं, उत्तरेषगुणत्वमुक्तविधया सम्भवति। न त्वन्यथा कथमपीति।

**५ आ. मा. भा.**— तामसस्य भगवदवतारत्वादनुक्तिः। तच्च भागवते प्रसिद्धम्। मानसत्वं च सर्वेषां मनूनामुक्तं भागवते (?) 'ततो मनून्ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान्' [ ] इति। अन्यपुत्रत्वं त्वपरित्यज्यापि शरीरं तद्भवति। प्रमाणं चोभयविधवाक्यान्यथाऽनुपपत्तिरेव। पूर्वे इति विशेषणाच्चैतत्सिद्धिः। मत्तो भावो येषां ते मद्भावाः। ये ते ब्रह्मणो मानसा जातास्ते मत्त एव जाता इति भावः॥ ६॥

**६ ज. प्र. दी.**— प्रथमाश्चेद्गृह्यन्ते तदा चतुर्थस्तामसो गीताभिप्रेततया कुतो न व्याख्यायते? इत्यत आह— **तामसस्ये**ति। अनुक्तिरव्याख्यानं भगवति च 'मद्भावा मानसा जाताः' इति विशेषणासम्भवादिति भावः। तामसस्य भगवदवतारत्वं कुतः? इत्यत आह— **तच्चे**ति। 'चतुर्थ उत्तमभ्राता मनुर्नाम्ना च तामसः'। [भाग. ८।१।२७] हरिरित्याहृतो येन गजेन्द्रो मोचितो ग्रहात्' [भाग. ८।१।३०] इत्यादिना। ननु यदि विशेषणासम्भवात्प्रथमप्राप्तातिक्रमेण तत्सम्भवतां ग्रहणम्। तर्हि 'मानसा जाताः' इति विशेषणासम्भवादेतान्परित्यज्य ब्रह्मसावर्ण्यादय एव ग्राह्यास्तेषु तत्सम्भवादिति **भास्करः**; तत्राह— **मानसत्वं** चेति। चतुर्णां दक्षदुहितरि किल भावो युगपदासीदित्येवंविधं मानसत्वं न सर्वेषामिति चेत्, न; अत्रार्थे तद्विलोत्पत्तेरस्मरणात्। ननु ब्रह्मपुत्राः सन्तु मानसाः, न तु तदा ते मनवः, किन्तु मच्छरीरं परित्यज्य प्रियव्रतादिपुत्रा जातास्तदैव, अतो मनुषु मानसत्वमसम्भाव्यमित्यत आह— **अन्ये**ति। तन्मानसं शरीरं अपरित्यज्य स्थितानामप्यन्यपुत्रत्वं सम्भवतीति योजना। द्वितीये शरीरे जाते तत्पूर्वशरीरेणैक्यमापद्यत इति सम्प्रदायविदः। किमत्र प्रमाणं? इत्यत आह— **प्रमाणं** चेति। मनूनामेव ब्रह्ममानसपुत्रत्ववाक्यं प्रियव्रतादिपुत्रत्ववाक्यं चेत्युभयविधवाक्यम्। उपचारत्वकल्पना क्लिष्टैव। किञ्च 'पूर्वे' इति विशेषणं पूर्वेणैव सम्बध्यते, परेणैव वोभाभ्यामपीति त्रयः पक्षाः, पक्षत्रयेऽपि चत्वारो मनवः प्रथमा एवेति सिध्यति; आद्ये सप्तर्षीणां प्रथमत्वेन तत्साहचर्यात्, द्वितीयतृतीययोर्वचनादेवेति भावेनाह— **पूर्व** इति। मयि भावो येषामिति व्याख्यानं प्रकृतासङ्गतं कारणत्वस्यात्र प्रकृतत्वादिति भावेनाह— **मत्त** इति। भावो जन्म। ननु 'मानसा जाताः' इत्यनेन भगवतस्तत्कारणत्वमुच्यते, नैवम्; 'ततो मनून्' इति वचनस्य सत्वेन ब्रह्मणो मानसा जाता इति व्याख्येयत्वात्, तर्हि कथं न व्याहतिः? इत्यत आह— **ये त** इति। मत्त एव ब्रह्मान्तर्यामिणः। ब्रह्मा तु द्वारमात्रमिति भावः॥ ६॥

**७ ह. पै. भा.**— **महर्षय** इति। किञ्च महर्षयो भृग्वादयः। पूर्वे पूर्वकालसम्बन्धिनः चत्वारो मनवः सावर्णिकादयः। मत्तः सद्भावो येषां ते मद्भावा मच्छक्त्यात्मानः। मनसि भवा मानसाः। येषां महर्षीणां मनूनां च सृष्टिजा लोक इमाः प्रजाः स्थावरजङ्गमलक्षणाः॥ ६॥

**८ वें. ब्र. गि.**— किञ्च सप्त महर्षयः, तेभ्योऽपि पूर्वे प्रथमाश्चत्वारः सनकसनन्दनसनातनसनत्कुमाराः, तथा स्वायम्भुवाद्याश्चतुर्दश *मनवश्च, मद्भावाः मम विष्णोर्भावः स्वभावो ज्ञानैश्वर्यशक्तिरूपो येषां ते मद्भावाः मद्विभूतय इति यावत्। ते च मानसा जाताः हिरण्यगर्भात्मनो मम मनसः सङ्कल्पात्मकादुत्पन्नाः, न तु योनिजाः, अतः सर्वप्राणिश्रेष्ठाः। येषां सप्तर्षीणां सनकादीनां मनूनां च पुत्रपौत्रशिष्यप्रशिष्यादिमयेऽस्मिँल्लोके इमाः सर्वाः प्रजा जायन्ते॥ ६॥

**९ व० त० दी०**— एवं जातस्य गुणसर्गस्य हेतुरहमज एक इत्युक्त्वा 'अहमादिर्हि देवानां' [१०.२] इति व्याचष्टे— **महर्षय** इति। गुणसंसर्गिण एते पूर्वे भृग्वादयः 'सप्त ब्रह्माण्ड इत्येते पुराणे निश्चयं गताः'

---

* १ स्वायम्भुवः, २ स्वारोचिषः, ३ उत्तमः, ४ तामसः, ५ रैवतः, ६ चाक्षुषः, ७ वैवस्वतः, ८ सावर्णिः, ९ दक्षसावर्णिः, १० ब्रह्मसावर्णिः, ११ धर्मसावर्णिः, १२ रुद्रसावर्णिः, १३ देवसावर्णिः, १४ इन्द्रसावर्णिः, इति नामधेयाश्चतुर्दश मनवो विख्याताः।

[ म. भा. १२।२०८।५ ] इत्यादिपुराणप्रसिद्धाः । मानसाः तथा चतुर्दशसु मनुषु पूर्वे प्रथमाश्चत्वारो मनवः स्वायम्भुवस्वारोचिषोत्तमतामसाख्या इत्येते नित्यसर्गप्रवर्त्तनार्था मद्भावा जाताः, मत्त एवेत्यनुवर्त्तनीयम् । एतेन कारणभूतसर्वर्षिमनुदेवानामादिभूततयाऽनादित्वं स्वस्योक्तम् । एतेषां तु बुद्ध्यादिवन्न प्राकृतभावत्वमेव, किन्तु मद्भावत्वमिति । तदाह– मद्भावा इति । मम भावः सामर्थ्यं तेजोभावो वा येषु ते तथा, एते मानसा भावाश्चेतनाः मत् मत्तो जाता इति वा, अथवा बुद्ध्यादयो येषां लोक इमाः प्रजास्ते महर्षिमन्वादयश्चेत्येते सर्वे भावा मत् मत्तो मानसा जाताः 'इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरिः' इति भगवन्मुखोक्तेः "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" [ तै. उ. २।६।१ ] इति "असतोऽधिमनो यस्य मनः प्रजापतिमसृजत, प्रजापतिः प्रजा असृजत, तद्वा इदं मय्येव परमं प्रतिष्ठितम्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, मनसो वशे सर्वमिदं बभूव,कामस्तदग्रे समवर्त्तताधी:" इत्यादिश्रुतेश्च ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— ननु कृष्यादिप्रयुक्तधर्माचरणादिभिः सर्वेषां तत्तत्फलरूपा भावा भवन्ति, तत्कथं भवत एव? इत्याकाङ्क्षायामाह- महर्षय इति । महर्षयः सप्त भृग्वादयः, ततः पूर्वे अन्ये चत्वारो महर्षयः, तथा स्वायम्भुवादयो मनवः, हिरण्यगर्भात्मनो मम मानसा मद्भावा मदीयोऽनुभावो मत्क्रीडार्थरूपो येषु तादृशा जाताः । येषां लोके इमाः प्रजास्तदुक्तप्रवर्तमाना भवन्तीत्यर्थः । अतोऽपि मत्त एव भवन्तीति भावः ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेव शिष्टाचारप्रदर्शनेन द्रढयति— महर्षय इति । सप्त भृग्वाद्याश्चत्वारः सनकादयश्च पूर्वे प्रसिद्धा महर्षय इति सम्बन्धः । तथा मनवश्चतुर्दश प्रसिद्धाः । ते सर्वे मानसा हिरण्यगर्भरूपस्य मम मनस एवोद्भूता अयोनिजा जाता उत्पन्नाः । इमाः प्रजाश्चतुर्विधाः अयं लोकश्च तदाधारभूतः, तदुभयं येषां यत्सम्बन्धि सन्ततिर्येषां सन्ततिरित्यर्थः । यद्वा येषामिति षष्ठी पञ्चम्यर्थे । येभ्य इमाः प्रजा अयं लोकश्च जाता इत्यर्थः । तेऽपि मद्भावा मय्येव भावो मनो येषां ते । प्रसिद्धमहिमानोऽप्येते, यतो मामेवोपासतेऽतस्त्वमपि मामुपास्वेति भावः ॥ ६ ॥

**एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।**
**सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ॥ ७ ॥**

**१ शां. भा.**— **एतामिति** । एतां यथोक्तां विभूतिं विस्तारं योगं च युक्तिं चाऽऽत्मनो घटनमथवा योगैश्वर्यसामर्थ्यं सर्वज्ञत्वं योगजं योग उच्यते । मम मदीयं योगं यो वेत्ति तत्त्वतस्तत्त्वेन, यथावदित्येतत् । सोऽविकम्पेनाप्रचलितेन योगेन सम्यग्दर्शनस्थैर्यलक्षणेन युज्यते सम्बध्यते । नात्र संशयो नास्मिन्नर्थे संशयोऽस्ति ॥ ७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सोपाधिकं प्रभावं भगवतो दर्शयित्वा तज्ज्ञानफलमाह— **एतामिति** । बुद्ध्याद्युपादानत्वेन विविधा भूतिर्भवनं वैभवं सर्वात्मकत्वं, तदाह— **विस्तारमिति** । ईश्वरस्य तत्तदर्थसम्पादनसामर्थ्यं योगः तदाह— **आत्मन** इति । योगस्तत्फलमैश्वर्यं सर्वज्ञत्वं सर्वेश्वरत्वं च मदीयं शक्तिज्ञानलेशमाश्रित्य मन्वादयो भृग्वादयश्चेशते जानते च तदाह— **अथवेति** । यथा तौ विभूतियोगौ तथा वेदनस्य निरङ्कुशत्वं दर्शयति— **यथावदिति** । सोपाधिकं ज्ञानं निरुपाधिकज्ञाने द्वारमित्याह— **सोऽविकम्पेनेति** । उक्तेऽर्थे प्रतिबन्धाभावमाह— **नास्मिन्निति** ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**— विभूतिः ऐश्वर्यम् , एतां सर्वस्य मदायत्तोत्पत्तिस्थितिप्रवृत्तिरूपां विभूतिं, मम हेयप्रत्यनीककल्याणगुणरूपं योगं च यस्तत्त्वतो वेत्ति, सोऽविकम्प्येन अप्रकम्प्येन भक्तियोगेन युज्यते । नात्र संशयः; मद्विभूतिविषयं कल्याणगुणविषयं च ज्ञानं भक्तियोगवर्धनमिति स्वयमेव द्रक्ष्यसीत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**—'एतां विभूतिं योगं च' इति—पूर्वोक्तार्थस्य बुद्धिस्थक्रमेणानुवादः । 'स्वकल्याण' [ गी. सं. १४ ] इत्यादिसंग्रहश्लोके त्वयमेवार्थो यथाक्रममुक्तः; तदनुसारेण पदार्थवाक्यार्थावाह **विभूतिरैश्वर्यमित्यादिना** । **सर्वस्य मदायत्तोत्पत्तिस्थितिप्रवृत्तितारूपां विभूतिमिति** तन्निरूप्यत्वात्तत्सामानाधिकरण्यम् । उत्पत्तिस्थित्योरपि सङ्कल्पा-

धीनत्वान्नियमनविषयत्वम्। प्रवृत्तिरिह स्वकार्यार्थव्यापारः, स्पन्दादेरसार्वत्रिकत्वात्। 'विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्' [ अमरः १।१।३८ ] इति नैघण्टुकाः। विभुशब्दश्च नियन्तरि प्रयुक्तचरः। अतो विभवनमिह नियमनमेव वक्ति, तस्य भावार्थतास्वारस्यात् अनपवादाच्च। वस्त्वन्तरसामानाधिकरण्यवद्विभूतिशब्देषु तु नियन्तव्यविषयता वक्ष्यते। युज्यत इति व्युत्पत्त्या उभयलिङ्गत्वमिह योग उक्तः। ईश्वरेऽनीश्वरस्वभावभूतपारतन्त्र्यदुःखाज्ञानाद्यारोपमनीश्वरे चेश्वराधीनस्वातन्त्र्यादेः स्वतस्सिद्धत्वाद्यारोपं च परित्यज्येति 'तत्त्वतः' इत्यस्य भावः। 'अविकम्प्येन' इत्यत्र स्वतः कम्पराहित्यमात्रव्युदासेन बाधकशतैरप्यविचाल्यत्वं च दर्शयितुम्—अप्रकम्प्येनेत्युक्तम्। पूर्वापरपरामर्शादुपासकान्वितयोगशब्दस्य योगविशेषनिष्ठतामाह—भक्तियोगेनेति। शास्त्रसिद्धस्याप्यर्थस्य साक्षात्कारे सत्येव ह्यत्यन्तवैशद्यमित्यभिप्रायेण 'नात्र संशयः' इत्यस्याशयं विशदयति—मद्विभूतीति॥ ७॥

५ आ. गि. भा.—॥ ७॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ७॥

७ ह. पै. भा.—एतामिति। एतां विभूतिं विस्तारं योगं च विभूतिहेतुभूतं मदीयं यो वेत्ति तत्त्वतो यथावत्, सोऽविकम्पेन योगेन समाधिना युज्यते॥ ७॥

८ वें. ब्र. गि.—एवमुक्तस्य भगवत्प्रभावस्य ज्ञाने फलमाह—एतामिति। एताम् 'महर्षयः—' इति पूर्वश्लोकोक्तामृषिमन्वादिरूपां विभूतिं योगं च 'बुद्धिर्ज्ञानम्' [ १०।४ ] इत्यादिनोक्तं बुद्ध्यादिप्रवर्तकत्वरूपमैश्वर्यं तत्त्वतो यो वेत्ति, सः अविकम्पेन अप्रचलितेन योगेन मुक्तिहेतुसम्यग्ज्ञानयोगेन युक्तो भवति; नास्त्यत्र संशयः॥ ७॥

९ ब० त० दी०—एतां विभूतिमिति। तथाविधैश्वर्यं च यो वेत्ति तत्त्वतः स भक्तिरूपेण योगेन युज्यते॥७॥

१० पु. अ. त.—एतन्निरूपणप्रयोजनमाह—एतामिति। एतां मद्वद्भावरूपां भृग्वादिलक्षणां तां मम विभूतिं क्रीडार्थकप्रकटिताम्; च पुनः क्रीडार्थप्रकटितसामग्र्या मम योगं तत्त्वतः मल्लीलारूपेण यो वेत्ति सः, अविकम्पेन निश्चलेन मद्वियोगादिरहितेन योगेन मत्संयोगेन भक्तिरूपेण युज्यते, युक्तो भवतीत्यर्थः। नात्र संशयः, अत्र सन्देहो नास्तीत्यर्थः। अनेन सन्देहे सति न भवतीति ज्ञापितम्॥ ७॥

११ नी० भा० दी०—उपास्तावधिकारणमाह—एतामिति। एतां वक्ष्यमाणां विभूतिं योगं च विश्वतोमुखे भगवति मनस्समाधानं यस्तत्त्वतो वेत्ति सम्यगनुष्ठातुं ज्ञातुं च समर्थो भवति, सोऽविकम्पेनाचलेन निर्विकल्पकेन षष्ठाध्यायोक्तेन योगेन मद्विषयेण समाधिना युज्यते; ततश्च कृतकृत्यो भवति। नात्र संशय इति प्रवृत्त्यतिशयार्थमुच्यते, भगवद्वचसि संशयासम्भवात्॥ ७॥

भगवद्भक्तानां प्रेमोपासनास्वरूपं तत्फलं च।

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते।**
**इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः॥ ८॥**
**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ ९॥**
**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ १०॥**

१ शां. भा.—कीदृशेनाविकम्पेन योगेन युज्यते? इत्युच्यते—अहमिति। अहं परं ब्रह्म वासुदेवाख्यं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिः, मत्त एव स्थितिनाशक्रियाफलोपभोगलक्षणं विक्रियारूपं सर्वं जगत्प्रवर्तते, इत्येवं मत्वा भजन्ते सेवन्ते मां बुधा अवगततत्त्वार्था भावसमन्विता भावो भावना परमार्थतत्त्वाभिनिवेशस्तेन समन्विताः संयुक्ता इत्यर्थः॥ ८॥

२ आ. शां. व्या — कथं तावकविभूत्यैश्वर्यज्ञानमुक्तयोगस्य हेतुः ? इति मत्वा पृच्छति- **कीदृशेनेति**। उक्तज्ञानमाहात्म्यात्प्रतिष्ठिता भगवन्निष्ठा सिध्यतीत्याह— **उच्यत** इति। प्रभवत्यस्मादिति प्रभवः सर्वप्रकृतिः सर्वात्मेत्याह— **उत्पत्तिरिति**। सर्वज्ञात्सर्वेश्वरान्मत्तो निमित्तात्सर्वं स्थितिनाशादि भवति, मया चान्तर्यामिणा प्रेर्यमाणं सर्वं यथास्वं मर्यादामनतिक्रम्य चेष्टते तदाह— **मत्त इति**। इत्थं मम सर्वात्मत्वं सर्वप्रकृतित्वं सर्वेश्वरत्वं सर्वज्ञत्वं च महिमानं ज्ञात्वा मय्येव निष्ठावन्तो भवन्तीत्याह- **इत्येवमिति**। संसारासारताज्ञानवतां भगवद्भजनेऽधिकारं द्योतयति- **अवगतेति**। परमार्थतत्त्वे पूर्वोक्तरीत्या ज्ञाते प्रेमादरावभिनिवेशाख्यौ भवतस्तेन संयुक्तत्वं च भगवद्भजने भवति हेतुरित्याह- **भावेति** ॥८॥

**१ शां. भा.— किञ्च – मच्चित्तेति** । **मच्चित्ता मयि चित्तं येषां ते मच्चित्ता मद्गतप्राणा मयि गताः प्राणाश्चक्षुरादयः प्राणा येषां ते मद्गतप्राणाः, मय्युपसंहृतकरणा इत्यर्थः । अथवा मद्गतप्राणा मद्गतजीवना इत्येतत् । बोधयन्तोऽवगमयन्तः परस्परमन्योन्यं कथयन्तो ज्ञानबलवीर्यादिधर्मैर्विशिष्टं मां तुष्यन्ति च परितोषमुपयान्ति रमन्ति च रतिं प्राप्नुवन्ति प्रियसङ्गत्येव ॥ ९ ॥**

२ आ. शां. व्या.— न केवलमुक्तमेव भगवद्भजने साधनं, साधनान्तरं चास्तीत्याह— **किञ्चेति**। ईश्वरात्प्रतीचः प्रागुक्तादन्यत्र चित्तप्रचारराहित्यं भगवद्भजनोपायमाह- **मयीति**। चक्षुरादीनां भगवत्यप्राप्तिस्तदगोचरत्वात्तस्येत्याशङ्क्याऽऽह— **मय्युपसंहृतेति**। भगवदतिरेकेण जीवनेऽपि नाऽऽदरः, तदपि मय्येवार्पितं भक्तानामित्याह - **अथवेति**। आचार्येभ्यः श्रुत्वा वादकथया परस्परं भगवन्तं सब्रह्मचारिणो बोधयन्ति तदपि भगवद्भजनसाधनमित्याह— **बोधयन्त** इति । आगमोपपत्तिभ्यां भगवन्तमेव विशिष्टधर्माणं शिष्येभ्यो गुरवो व्युपदिशन्ति तदपि भगवद्भजनमेवेत्याह— **कथयन्त** इति। भक्तानां तुष्टिरती स्वरसतः स्यातामित्याह— **तुष्यन्तीति**। मनोरथपूर्त्या रतिप्राप्तौ कामुकसम्मतमुदाहरणमाह— **प्रियेति** ॥ ९ ॥

**१ शां. भा.— ये यथोक्तप्रकारैर्भजन्ते मां भक्ताः सन्तः— तेषां सततयुक्तानां नित्याभियुक्तानां निवृत्तसर्वबाह्यैषणानां भजतां सेवमानानाम् । किमर्थित्वादिना कारणेन ? नेत्याह- प्रीतिपूर्वकं प्रीतिः स्नेहस्तत्पूर्वकं मां भजतामित्यर्थः । ददामि प्रयच्छामि बुद्धियोगं बुद्धिः सम्यग्दर्शनं मत्तत्त्वविषयं तेन योगो बुद्धियोगस्तं बुद्धियोगम् । येन बुद्धियोगेन सम्यग्दर्शनलक्षणेन मां परमेश्वरमात्मभूतमात्मत्वेनोपयान्ति प्रतिपद्यन्ते । के ते ? ये मच्चित्तत्वादिप्रकारैर्मां भजन्ते ॥ १० ॥**

२ आ. शां. व्या.— यदुक्तं 'सोऽविकम्पेन' [ १०।७ ] इत्यादि, तदर्थे भूमिकां कृत्वा तदिदानीमुदाहरति- **ये यथोक्तेति**। नित्याभियुक्तानामनवरतं भगवत्यैकाग्र्यसम्पन्नानामित्यर्थः। पुत्रादिलोकत्रयहेत्वर्थित्वेन वा, गर्भदासत्वेन वा, प्रत्यहं जीवनोपायसिद्धये वा भजनं ? इति शङ्कित्वा दूषयति- **किमित्यादिना**। प्रागुक्तां ज्ञानाख्यां भक्तिं स्नेहेन कुर्वतामित्यर्थः। तेभ्योऽहं तत्त्वज्ञानं प्रयच्छामीत्याह— **ददामीति**। उक्तबुद्धिसम्बन्धस्य फलमाह- **येनेति**। ध्यानजन्यप्रकर्षकाष्ठागतान्तःकरणपरिणामे निरस्ताशेषविशेषभगवद्रूपप्राप्तिहेतौ बुद्धियोगे प्रश्नपूर्वकमुक्तानधिकारिणो दर्शयति- **के त इति**॥ १० ॥

**३ रा. भा.— विभूतिज्ञानविपाकरूपां भक्तिवृद्धिं दर्शयति- अहमिति । अहं सर्वस्य विचित्रचिदचित्प्रपञ्चस्य प्रभव उत्पत्तिकारणं; सर्वं मत्त एव प्रवर्तत इतीदं मम स्वाभाविकं निरङ्कुशैश्वर्यं सौशील्यसौन्दर्यवात्सल्यादिकल्याणगुणगणयोगं च मत्वा बुधाः ज्ञानिनो भावसमन्विताः मां सर्वकल्याणगुणान्वितं भजन्ते । भावः मनोवृत्तिविशेषः । मयि स्पृहयालवो मां भजन्त इत्यर्थः ॥ ८ ॥**

४ वे. ता. चं.— उक्तार्थस्यानन्तरमुदाहरणप्रदर्शनमुखेन प्रपञ्चनं क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— **विभूतिज्ञानेति**। तदेव हि ज्ञानं भक्तिरूपेण परिणमत इत्यभिप्रायेण विभूतिज्ञानविपाकरूपत्वोक्तिः। असङ्कोचात्कार्यभूतब्रह्मादिसमस्तगोचरः सर्वशब्द इत्यभिप्रायेण **विचित्रेत्यादिकमुक्तम्**। प्रभवशब्दस्यात्रोत्पत्तिक्रियादिमात्रपरत्वव्युदासायाह— **उत्पत्तिकारणमिति**। अत्र वक्ष्यमाणप्रकारेण सृष्ट्युपयुक्तकल्याणगुणयोगोऽपि गर्भितः। ब्रह्मादेरपि स्वप्रवृत्तिसामर्थ्यं मदधीनमिति 'मत्तः सर्वम्' इत्यनेन विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **सर्वं मत्त एवेति**। पूर्वोक्तविभूत्याद्यनुवादरूपतां दर्शयति **इतीदमित्यादिना**। स्वाभाविकनिरंकुशशब्दाभ्यां अर्वाचीनेश्वरव्यवच्छेदाय श्रुतिसिद्धाहेतुसाध्यत्वानवधिकत्वोक्तिः। वक्तृरूपावतारसौलभ्यपरास्मच्छब्दाभिप्रेतं **'मां भजन्ते'** इत्युच्यमानभजनस्यात्यन्तोपयुक्तयोगशब्दार्थमाह- **सौशील्येत्यादिना** । **सौशील्यवात्सल्येति** दिव्यात्मगुणवर्गस्य प्रदर्शनार्थम्, **सौन्दर्येत्याकर्षकतम**दिव्यमङ्गलविग्रहगुणवर्गस्य। बुधशब्देनात्र प्रकृतज्ञानविशेषवन्तः प्रागुक्ता महात्मानो विवक्षिता इत्यभिप्रायेण **ज्ञानिन** इत्युक्तम्। मत्वा भावसमन्विता इत्यन्वयः। एवंविधज्ञानस्य भक्ति-

साधनत्वे तात्पर्यात्। 'माम्' इत्यनेनात्र भजनदशानुसन्धेयगुणगणविशिष्टस्वरूपं विवक्षितमित्यभिप्रायेणोक्तं **सर्वकल्याणगुणान्वित**मिति । अनेकार्थस्य भावशब्दस्य प्रकृतानुगुणमर्थमाह—**भावो मनोवृत्तिविशेष** इति । तमेव विशेषं विशदयति— **मयि स्पृहयालव** इति ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.— कथम्?— मच्चित्ता इति । मच्चित्ताः मयि निविष्टमनसः, मद्गतप्राणाः मद्गतजीविताः, मया विनाऽऽत्मधारणमलभमाना इत्यर्थः; स्वैः स्वैरनुभूतान् मदीयान् गुणान् परस्परं बोधयन्तो मदीयानि दिव्यानि रमणीयानि कर्माणि च कथयन्तः तुष्यन्ति च रमन्ति च— वक्तारस्तद्वचनेनानन्यप्रयोजनेन तुष्यन्ति; श्रोतारश्च तच्छ्रवणेनानवधिकातिशयप्रियेण रमन्ते ॥ ९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— भावसमन्वितत्वप्रपञ्चनमेवानन्तरं क्रियत इत्यभिप्रायेण तदाकाङ्क्षां दर्शयति **कथ**मिति । भक्तिपरिपाकक्रमविशेषसिद्धाकारप्रदर्शनं 'मच्चित्ताः' इत्यादिभिश्चतुर्भिर्विशेषणैः क्रियत इत्यभिप्रायेण **मयि निविष्टमनस** इत्यादिकमुक्तम् । 'मद्गतप्राणाः' इत्यस्य तात्पर्यप्रदर्शनाय पर्यायं तावदाह **मद्गतजीविता** इति । भक्तगतस्य जीवितस्य कथं तद्गतत्वं ? इत्यत्राह **मया विने**ति । बोधनकथनशब्दयोरेकविषयत्वे पौनरुक्त्याद्विषयभेदो वाच्यः; तत्र च 'बोधयन्तः' इत्यनेन अज्ञातार्थज्ञापनं 'कथयन्तः' इत्यनेन च इति वृत्तवर्णनं च स्वरसतः प्रतीयत इत्यभिप्रायेण **स्वैः स्वैरि**त्यादिकमुक्तम् । **दिव्यानी**त्यतिमानुषत्वप्रयुक्ताद्भुतत्वं विवक्षितम् । तस्यैव भोग्यत्वं **रमणीयानी**त्यनेनोक्तम् । 'तुष्यन्ति च रमन्ति च' इत्यनयोर्द्वयोरपि कथाकथकविषयत्वेनातिभिन्नार्थतायां मन्दप्रयोजनत्वात्कस्यचित्कथकविषयत्वमन्यस्य कथनाक्षिप्तश्रोतृविषयत्वं च युक्तम्; तत्र च स्वप्रयोजनान्तरसाधकपरप्रीत्यर्थं हि लोके कथाप्रयोगो दृष्टः । तोषशब्दश्चाधिकस्पृहानिवृत्त्यर्थः; ततोऽत्र 'तुष्यन्ति' इत्यनन्यप्रयोजनकथकविषयम्, पारिशेष्यात् 'रमन्ति' इत्यस्य श्रवणमूलत्वं लब्धम् । 'तुष्यन्ति च रमन्ति च' इत्यनयोः 'मच्चित्ताः' इत्याद्युक्तैककर्तृकत्वं कथनश्रवणयोरेकस्मिन्नेव कालभेदेन सम्भवान्न परित्यक्तम् । तदेतदखिलमभिप्रेत्याह **वक्तार** इत्यादि **रमन्त** इत्यन्तम् ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.— तेषां सततयुक्तानां— मयि सततयोगमाशंसमानानां मां भजमानानामहं तमेव बुद्धियोगं विपाकदशापन्नं प्रीतिपूर्वकं ददामि, येन ते मामुपयान्ति ॥ १० ॥**

**४ वे. ता. चं.**— भगवद्गुणविभूतिज्ञानस्य भक्त्युत्पत्तिविवृद्धिहेतुत्वमुक्तम्; तथाविधविवृद्धभक्तेर्भगवत्प्राप्तिपूर्वभाविविशदतमसाक्षात्काररूपावस्थाविशेषहेतुत्वं भगवत्प्रसादावान्तरव्यापारकमुच्यते **तेषा**मिति । **मयि सततयोगमाशंसमाना**नामिति । नहि सततं समाधानरूपो योगः शक्यः । सततशब्देन प्रतिदिनविवक्षा च न स्वारसिकी, न च प्राप्तिरूपसततयोग इदानीं वृत्तः; अत आशंसार्थत्वमेव युक्तमिति भावः । **तमेवे**ति आशंसाविषयान्तर्गतमेवेत्यर्थः । सततयोगाशंसयैव भजने प्रीतिरूपत्वस्य फलितत्वात् 'प्रीतिपूर्वकम्' इत्यस्य भजनान्वये प्रयोजनं नास्ति 'ददामि' इत्यनेनान्वये तु भजनावान्तरव्यापारकथनरूपेण परमोदारत्वादिभगवद्गुणगणप्रकाशनेन च महत्प्रयोजनमित्यभिप्रायेण **प्रीतिपूर्वकं ददामी**त्यन्वय उक्तः । 'मामुपयान्ति' इत्यत्रापरामृष्टपदपदार्थैर्मूढैरैक्यापत्तिर्व्याख्याता ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.— सन्ति च भजन्तः केचिदित्याह— अहमित्यादिना ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु 'एतां विभूतिम्' [ १०।७ ]इति परिज्ञातुः फलमुक्तं तत्किमर्थं पुनरुच्यते ? इत्यतस्तात्पर्यान्तरमाह— **सन्ति चे**ति । उक्तफले विश्वासजननार्थमिति शेषः ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.— अहमिति । प्रभव उत्पत्तिकारणम् । मत्तः परमेश्वरात्सर्वं क्रियाकारकफलरूपं जगत्प्रवर्तत इत्येवं मत्वा भजन्ते सेवन्ते मां बुधा अवगतपरमार्थतत्त्वार्थाः । भावस्तत्त्वार्थाभिनिवेशस्तेन समन्विताः संयुक्ता इत्यर्थः ॥ ८ ॥ इत्थम्— मच्चित्ता मद्गतचित्ता मद्गतप्राणा मयि व्यवस्थितप्राणा मद्गतजीवना बोधयन्तोऽन्योन्यं कथयन्तो मामीश्वरं निरतिशयज्ञानबलवीर्यसम्पन्नं, रमन्ति च प्रियसङ्गमेनेव ॥ ९ ॥ तेषां सततयुक्तानां नित्याभियुक्तानां प्रीतिपूर्वकं स्नेहपूर्वकं भजताम् । बुद्धियोगं तं येन बुद्धियोगेन मामीश्वरमुपयान्ति ॥ १० ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— एतदेवोपपादयति चतुर्भिः— **अह**मिति । अहमेव सर्वस्य जगतः प्रभवः मन्वादिविभूतिरूपेणोत्पत्तिहेतुः; मत्त एव च 'बुद्धिर्ज्ञानं' [ १०।८ ] इत्यादि सर्वं प्रवर्तते; इत्येवं मद्विभूतियोगौ मत्वा सम्यगवधार्य तत एव बुधा विवेकिनो भावसमन्विताः प्रेमविशेषसहिताः सन्तो मां भजन्ते ॥ ८ ॥ प्रेमभजनमेव दर्शयति— **मच्चित्ता** इति ।

मद्गतप्राणा नित्यं रमन्तीति प्रथममन्वयः। मामेव गताः प्राणा येषां ते मद्गतप्राणा मदर्पितजीविताः, मां विना क्षणमात्रमपि प्राणधारणमलभमाना इति यावत्। एवंविधप्रेमभक्तानामवस्थाद्वयं ध्यानावस्था विक्षेपावस्था चेति; तत्र ध्यानावस्थायां तेषां स्वरूपमाह— **मच्चित्ता** इति। मामेव गतं चित्तं येषां ते मच्चित्ताः। विक्षेपावस्था तु द्विविधा भक्तगोष्ठीरूपा तद्रहिता चेति। तत्राद्यावस्थायां तत्स्वरूपमाह— **बोधयन्त** इति। भक्तगोष्ठीषु परस्परं स्वस्वानुभूतमदीयकल्याणगुणानुवर्णनैर्मामेव भजनीयत्वेन बोधयन्तः तुष्यन्ति परस्परानुमोदनेन सन्तोषं यान्तीत्यर्थः। द्वितीयविक्षेपावस्थायां तत्स्थितिमाह— **कथयन्त** इति। भक्तगोष्ठ्यभावे स्वयमेव हरे! गोविन्द! गोपाल! इति कीर्तयन्तः रमन्ते आत्मारामतयाऽवतिष्ठन्त इत्यर्थः ॥ ९ ॥ एवं विभूतियोगज्ञानपूर्वकप्रेमभक्तानुक्त्वा तेषां मुक्तिहेतुसम्यग्ज्ञानयोगप्राप्तिं दर्शयति— **तेषामिति**। सततयुक्तानां नित्यमच्चित्तानाम्। तत्र हेतुः— **प्रीतिपूर्वकं भजतामिति**। कामनापूर्वकं भजतां हि काम्यसिद्धिपर्यन्तमेव भगवद्योगः; प्रेमपूर्वकं भजतां तु क्षणमपि भजनं विना आत्मधारणाभावात्सततं भगवद्योगो भवतीत्यर्थः। एवंविधानां तेषां 'अविकम्पेन योगेन' [ १०।७ ] इति यः पूर्वश्लोकोक्तस्तं बुद्धियोगम्, बुद्धिः सम्यग्दर्शनम्, तदेव योगस्तं ददामि, येन बुद्धियोगेन ते भक्ता मामात्मत्वेनोपयान्ति ॥ १० ॥

९ व० त० दी०— विभूतियोगज्ञानविपाकरूपभक्तिविवृद्धिं दर्शयति चतुर्भिः पुमर्थरूपैः अहमित्यादिभिः— **अहं सर्वस्य प्रभव** इत्यादि। विश्वोत्पादकत्वप्रवर्त्तकत्वरूपस्वयोगविभूतिस्वरूपाविष्करणं इत्येवं मम योगं विभूतिं च भगवन्मार्गीयाचार्योपदेशद्वारा मयि भावो भक्तिस्तया समन्विता मां सेवन्ते बुधाः। एते च माहात्म्यज्ञानपूर्वकभक्तिमन्तो भगवत्सेवकाः स्वरूपतो निर्दिश्यन्ते भगवन्मार्गीया उद्धवादय इव। मच्चित्ता इति मदर्पितान्तःकरणाः। मद्गतप्राणा इति— प्राणशब्द इन्द्रियप्राणवाचक इति मदर्पितेन्द्रियप्राणाः मयि सततं युक्ता देहेनेति, समर्पितदेहाः आत्मना वा भगवति सततं युक्ताः अयमेव ब्रह्मसम्बन्धः भगवते कृष्णाय दारागारपुत्राप्त-इतिवाक्यात् 'आत्मना सह तत्तदीहापराणि देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च' समर्पयित्वा स्वयं दासभूता नित्यं भगवन्तं भजन्ते सेवामार्गप्रकारेण सेवन्ते, न पूजाडम्बरेणेति, सेवायां स्थितिस्तेषामुक्ता 'सेवायां वा कथायां वा' इति भक्तिवर्द्धिन्यां कथायां च स्थितिमाह— 'परस्परं बोधयन्तः कथयन्तश्च मां' इति। तदपि नित्यं, न तु नैमित्तिकम्। तथैव च तुष्यन्ति मनउत्सवादिषु च रमन्ति अनुकरणेन वा क्रीडन्ति तथाभूतानां तेषां प्रीतिपूर्वकं पुष्टिमर्यादानुकूला 'परानुरक्तिरीश्वरे' सर्वात्मना प्रीतिस्तत्पूर्वकं भजतां सेवतां— अनेन 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा' इति मानसीस्वरूपमुक्तं— तेषामेव बुद्धियोगं विपाकदशामापन्नं ददामि येन ते मां पुरुषोत्तमं उप समीप एव प्राप्ता भवन्ति। इत्थं तेषां निर्गुणमुक्तिर्भावितया सूचिता ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— एवं ज्ञानिनो भक्तियुक्तत्वं विशदयति— **अहमिति** चतुर्भिः। अहं सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिस्थानं, सर्वं जगत् मत्तः 'बुद्धिर्ज्ञानं' [ १०।४ ] इत्यादिरीत्या भृग्वाद्युक्तधर्मादिरीत्या च प्रवर्तते, मत्क्रीडार्थकभावयुक्तं भवतीत्यर्थः। भावसमन्विताः मत्सेवनैकप्रयत्नवन्तः सन्तो बुधाः पण्डिता विवेकिनः, इति अमुना प्रकारेण क्रीडात्मकतया प्रकटीभूतरूपं मां भजन्ते सेवन्ते ॥ ८ ॥ भजने प्रकारमाह— **मच्चित्ता** इति। मय्येव चित्तं येषां ते मच्चिन्तनपराः लीलावस्थमत्स्वरूपविचारणपराः। मद्गतप्राणाः मय्येव गताः प्राप्ताः प्राणा येषां ते, मद्दुःखदुःखिता मत्सुखसुखिता इत्यर्थः। तादृशाः सन्तः परस्परं तादृशानेव मामेतादृशं स्वानुभवप्रमाणादिभिर्बोधयन्तस्तदनुकथयन्तः कीर्तनरीत्या कीर्तयन्तः। चकारेणाऽन्यकीर्त्तनं शृण्वन्तः। च पुनः। तद्गाने सति तुष्यन्ति ज्ञानेन वा रमन्ते च। स्वयं कीर्त्तनेनानन्दयुक्ता भवन्ति रमन्ते वा। तोषमानन्दं च प्राप्नुवन्तीति भावः। यद्वा मां विप्रयोगादिलीलावस्थासु नित्यं कथयन्तः सततं परस्परं बोधयन्तः ॥ ९ ॥ एवम्भावेन भजतामहं फलं ददामीत्याह— **एवमिति**। एवममुना प्रकारेण सततयुक्तानां निरन्तरं मत्कृपाविशिष्टानां प्रीतिपूर्वकमनुद्वेगेन भजतां तं बुद्धियोगं मत्स्वरूपानुभवात्मकभक्त्युपायरूपं ददामि, येन ते मामुपयान्ति प्राप्नुवन्ति। उपसर्गेण तथा यान्ति यथा तद्भावच्युतिः कदापि न भवतीति ज्ञापितम् ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— उपासनास्वरूपमाह द्वाभ्यां— **अहमिति**। बुधा मां प्रत्यगात्मानमिति मत्वा भजन्ते इति। कथं? अहमेव सर्वस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिः, मत्तो मदनुग्रहं प्राप्यैव सर्वं बुद्ध्यादिकं स्वस्वकार्याय प्रवर्त्तते। अहमेव जगतः कर्त्ताऽन्तर्यामी चेत्यहङ्ग्रहेणात्मानमुपासीतेति भावः। भावसमन्विताः भावनायुक्ताः। एतच्चोत्तरार्धम् ॥ ८ ॥ एवं ध्याने भावनाप्रकारमुक्त्वा व्युत्थाने तमाह— मच्चित्ता इति। अहमेव चित्ते येषां ते मच्चित्ताः, तथाऽहमेव गतो विद्यमानो येषु ते मद्गताः, तथाविधाः प्राणा इन्द्रियाणि येषां ते मद्गतप्राणाः। चित्तेनेन्द्रियैर्वा यद्गृह्यते तत्सर्वं प्रत्यगात्मा वासुदेव इति भावयन्त इत्यर्थः। इममेवार्थं परस्परं बोधयन्तः श्रुति-

युक्तिप्रदर्शनेन समानानां समुदायं ज्ञापयन्तः कथयन्तश्च शिष्यान्प्रति, तुष्यन्ति तेनैव ज्ञानेन, न तु मिष्टान्नादिना; रमन्ति च तत्रैव, न तु स्त्र्यादाविर्त्यर्थः ॥ ९ ॥ उपासनायाः फलमाह— तेषामिति । सततयुक्तानां नित्योत्साहवतां प्रीतिः प्रेमा तत्पूर्वकं भजतां सेवमानानां तेभ्यो ददामि तं बुद्धियोगं ज्ञानरूपं योगं समाधिं, ज्ञाननिष्ठामित्यर्थः । तां ददामि येन यया निष्ठया ते मामुपयान्ति समुद्रमिव नद्योऽभेदेन प्रविशन्ति ॥ १० ॥

**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।**
**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— किमर्थं कस्य वा त्वत्प्राप्तिप्रतिबन्धहेतोर्नाशकं बुद्धियोगं तेषां त्वद्भक्तानां ददासि? इत्याकाङ्क्षायामाह— **तेषामिति** । तेषामेव कथं नाम श्रेयः स्यादित्यनुकम्पार्थं दयाहेतोरहमज्ञानजमविवेकतो जातं मिथ्याप्रत्ययलक्षणं मोहान्धकारं तमो नाशयामि आत्मभावस्थ आत्मनो भावोऽन्तःकरणाशयस्तस्मिन्नेव स्थितः सन् । ज्ञानदीपेन विवेकप्रत्ययरूपेण भक्तिप्रसादस्नेहाभिषिक्तेन मद्भावनाभिनिवेशवातेरितेन ब्रह्मचर्यादिसाधनसंस्कारवत्प्रज्ञावर्तिना विरक्तान्तःकरणाधारेण विषयव्यावृत्तचित्तरागद्वेषाकलुषितनिवातापवारकस्थेन नित्यप्रवृत्तैकाग्र्यध्यानजनितसम्यग्दर्शनभास्वता ज्ञानदीपेनेत्यर्थः ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— भगवत्प्राप्तेर्बुद्धिसाध्यत्वे तस्यानित्यत्वापत्तेस्त्वमपि भक्तेभ्यो बुद्धियोगं ददासीत्ययुक्तमिति शङ्कते— **किमर्थमिति** । तेषां बुद्धियोगं किमर्थं ददासीति सम्बन्धः । भगवत्प्राप्तिप्रतिबन्धकनाशको बुद्धियोगस्तेन नास्ति तत्प्राप्तेरनित्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **कस्येति** । भक्तानां तत्प्राप्तिप्रतिबन्धकं विविच्य दर्शयति— **इत्याकाङ्क्षायामिति** । अविवेको नामाज्ञानं ततो जातं मिथ्याज्ञानं तदुभयमेकीकृत्य तमो विवक्ष्यते, न च तन्नाशकत्वं जडस्य कस्यचित्तदन्तर्भूतस्य युक्तं तेनाहं नाशयामीत्युक्तम् । केवलचैतन्यस्य जडबुद्धिप्रवृत्तेरिवाज्ञानाद्यनाशकत्वमाशङ्क्य विशिनष्टि— **आत्मेति**, तस्याऽऽशयस्तन्निष्ठो वृत्तिविशेषः । वाक्योत्थबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्तश्चिदात्मा सहायसामर्थ्यादज्ञानादिनिवृत्तिहेतुरित्यर्थः । बुद्धीद्धबोधस्याज्ञानादिनिवर्तकत्वमुक्त्वा बोधेद्धबुद्धेस्तन्निवर्तकत्वमिति पक्षान्तरमाह— **ज्ञानेति** । देहाद्यव्यक्तान्तानात्मवर्गातिरिक्तवस्तुगोचरत्वमाह— **विवेकेति** । भगवति सदा विहितया भक्त्या तस्य प्रसादोऽनुग्रहः स एव स्नेहस्तेनाऽऽसेचनद्वाराऽस्योत्पत्तिमाह— **भक्तीति** । मय्येव भावनायामभिनिवेशो वातस्तेन प्रेरितोऽयं जायते, न हि वातप्रेरणमन्तरेणाऽऽदौ दीपस्योत्पत्तिरित्याह— **मद्भावनेति** । ब्रह्मचर्यमष्टाङ्गं, आदिशब्देन शमादिग्रहः, तेन हेतुनाऽऽहितसंस्कारवती या प्रज्ञा तथाविधवर्तिनिष्ठश्चायं, न हि वर्त्यतिरेकेण दीपो निर्वर्त्यते तदाह— **ब्रह्मचर्येति** । न चाऽऽधारादृते दीपस्योत्पत्तिरदृष्टत्वादित्याह— **विरक्तेति** । यद्विषयेभ्यो व्यावृत्तं चित्तं रागाद्यकलुषितं तदेव निवातमपवारकं, तत्र स्थितत्वमस्य दर्शयति— **विषयेति** । भास्वतेति विशेषणं विशदयति— **नित्येति** । सदातनं चित्तैकाग्र्यं तत्पूर्वकं ध्यानं तेन जनितं सम्यग्दर्शनं फलं तदेव भास्वद्रूता तत्पर्यन्तेनेत्यर्थः । तेनाज्ञाने सकार्ये निवृत्ते भगवद्भावः स्वयमेव प्रकाशीभवतीति मत्वा व्याख्यातमेव पदमनुवदति— **ज्ञानेति** ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— **किञ्च**— तेषामेवानुग्रहार्थमहम्, आत्मभावस्थः तेषां मनोवृत्तौ विषयतयाऽवस्थितो मदीयान् कल्याणगुणगणांश्चाविष्कुर्वन् मद्विषयज्ञानाख्येन स्वसजातीयेन भास्वता दीपेन ज्ञानविरोधि प्राचीनकर्मरूपाज्ञानजं मद्व्यतिरिक्तपूर्वाभ्यस्तविषयप्रावण्यरूपं तमो नाशयामि ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तबुद्धियोगोत्पत्तिप्रतिबन्धनिरसनं 'तेषामेव' इति श्लोकेनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **किञ्चेति** । अनुकम्पाशब्देनात्र अनिष्टनिवृत्तिपूर्वकेष्टप्राप्तिहेतुः 'मदनुग्रहाय' [ ११ । १ ] इति वक्ष्यमाणप्रसादविशेषो विवक्षितः । सहजकारुण्यमात्रपरत्वेऽर्थशब्दस्य व्यर्थत्वादित्यभिप्रायेणोक्तं— **अनुग्रहार्थमिति** । अत्र चाहंशब्देनानुग्रहौपयिकज्ञानशक्तिकरुणादिव्यमङ्गलविग्रहादिविशिष्टस्वरूपं विवक्षितम् । **मनोवृत्ताविति**— आत्मभावशब्दस्यात्रात्मत्वस्वस्वभावादिपरत्वेऽधिकप्रयोजनं नास्ति; मनोवृत्तिविषयत्वं तु बुद्धियोगस्यात्यन्तोपयुक्तमिति भावः । व्यासस्येश्वरस्य कीदृशीयमपूर्वा स्थितिः ? इत्यत्रोक्तं— **विषयतयेति** । दीपतया रूपितस्य ज्ञानस्य भास्वरत्वं परितः प्रकाशनम्, तच्च प्रकारविशेषप्रकाशनं भवितुमर्हति । तथाविधविशदानुभवादज्ञाननिवृत्तिः, शब्दादिप्राकृतगुणप्रावण्यनिवृत्तिश्चेत्यभिप्रायेणाह— **मदीयान्कल्याणगुणगणांश्चाविष्कुर्वन्निति** । हेतुकार्यभावेन व्यपदेशादज्ञानतमश्शब्दयोरत्रार्थान्तरं वाच्यम्; कर्मणि च ज्ञानविरोधित्वेनाज्ञानशब्दः; यथोक्तम्— 'अविद्या कर्मसंज्ञाऽन्या' [ वि. पु. ६।६१ ] इति । कर्मजन्यं भगवत्साक्षात्काररूपप्रकाशप्रतिबन्धकं च तमोऽर्थस्वभावाद्विषयान्तरप्रावण्यमेव । निरतिशयभोग्यभगवज्ज्ञानस्य भोग्यान्तरप्रावण्यनिवर्तकत्वं युक्तं, 'तवामृतस्यन्दिनि

पादपङ्कजे निवेशितात्मा कथमन्यदिच्छति। स्थितेऽरविन्दे मकरन्दनिर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षते'[स्तो. र.] इत्यादिन्यायात्; तदेतदभिप्रेत्योक्तं ज्ञानविरोधीत्यादि। तमःशब्देन तमोवृत्तिलक्षणादिपक्षोऽप्यनेन निरस्तः। यद्यपि विषयप्रावण्यनिवृत्तिपूर्वकं भजनं, तथापि संस्कारशेषादनुवृत्तं सूक्ष्मं प्रावण्यमिह भजनविनाश्यतयोक्तमिति नान्योन्याश्रयः॥ ११॥

५ आ. मा. भा.—॥ ११॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ११॥

७ ह. पै. भा.— अज्ञानजमविवेकजं तमो मिथ्याप्रत्ययरूपमात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन ज्ञानमेव दीपो ज्ञानदीपस्तेन भास्वता नाशयामि॥ ११॥

८ वें. ब्र. गि.— यद्यपि 'या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्मध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्। सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ! माभूत्किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्' [भाग. ४।९।१०] 'न नाकपृष्ठं नच पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः (समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे) [भाग. ६।११।२५] इति मद्भजनैकप्रयोजना भक्ता मद्भजनातिरेकेणान्यत्र कामयन्ते, तथाप्यहमेव तेषां बुद्धियोगं ददामीत्याह— तेषामिति। तेषां भक्तानामनुकम्पार्थं निरतिशयपुरुषार्थप्रापणेनानुग्रहार्थं आत्मभावस्थः, आत्मा स्वयं भगवान्, तदाकारो यो भावस्तेषां मनोवृत्तिः, तत्र तिष्ठतीत्यात्मभावस्थः; अहमेव तैरप्रार्थितत्वेऽपि भास्वता प्रकाशमानेन ज्ञानलक्षणदीपेन तेषामज्ञानजं तमः संसारं तदुपादानाज्ञाननाशेन नाशयामि। ज्ञाने दीपत्वनिरूपणेनेदं सूचितम्— यथा दीपेनान्धकारनिवृत्तौ पूर्वं तत्र सदेव घटाद्यभिव्यज्यते, न तु नूतनं किञ्चिदुत्पद्यते; तथा ज्ञानेनाज्ञाननिवृत्तौ जातायां पूर्वं विद्यमान एव ब्रह्मभावरूपो मोक्षः प्रकाशते, न तु पूर्वमसन्पश्चाजायत इति। दीपत्वनिरूपणबीजं च ज्ञानस्य स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकत्वमिति विवरणाचार्योक्तं द्रष्टव्यम्। 'भास्वता' इत्यनेन तीव्रपवनादेरिवासम्भावनादेः प्रतिबन्धकस्याभावो विवक्षितः।

'आत्मभावस्थः' इत्यस्यान्यद्व्याख्यानम्— भक्तैरप्रार्थितमपि बुद्धियोगं किमर्थं तेभ्यः प्रयच्छसि? इत्यत्र मुख्यं हेतुमाह— आत्मभावस्थ इति। तेषां भक्तानामात्मभावस्तादात्म्यम्, तत्रैव तिष्ठतीत्यात्मभावस्थः तदेकनिष्ठः, तदासक्त इति यावत्। तद्वेदमसहमानस्तादात्म्यलिप्सया तेषां मद्भावापत्तिरूपमोक्षहेतुज्ञानयोगं ददामीत्यर्थः। यद्यपि भक्तेभ्यो बुद्धियोगाप्रदानेऽपि भक्तात्मभावप्रतिपत्तिर्भगवतः सम्भवति; तथापि भक्तानां भगवदात्मभावप्रतिपत्तिं विना भगवतो भक्तात्मभावप्रतिपत्तिर्न सम्भवति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' [४।११] इति स्वामिभृत्यन्यायेन भक्तेषु प्रतिपद्यमानेषु भगवताऽपि तथैव प्रतिपत्तव्यत्वात्। एतदभिप्रायेणैव खलु 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [७।१८] इत्युक्तम्। अन्यथा ज्ञानिवदज्ञानिनोऽप्यात्मत्वाज्ज्ञानिग्रहणमनर्थकं स्यात्। अतो भक्तानां ब्रह्मभावापत्तिहेतुज्ञानमन्तरा भगवतो भक्तात्मभावो न सिद्ध्यतीति तदर्थं स्वयमेव तेभ्यस्तं ददातीति भावः॥ ११॥

९ व० त० दी०— आत्मज्ञानमपि तेषां मयैव सम्पाद्यते इत्याह— तेषामेवानुकम्पार्थमिति। 'जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः। उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन्। इति सञ्चिन्त्य भगवान्महाकारुणिको विभुः'। तेषामन्तरात्मत्वं अङ्गीकृत्य स्थितो भास्वता ज्ञानदर्पणेनात्मविषयकसाक्षात्कारेणोभयाज्ञानजं तमो देहाध्यासादिना विषयप्रावण्यरूपं पूर्वाभ्यस्तं सर्वं नाशयामि। एवं च भगवदीयानां निजानामहमेव सर्वयोगक्षेमसाधको नान्य इति द्योत्यते॥ ११॥

१० पु. अ. त.— नन्वन्यबोधने तेषामज्ञत्वाद्बहुकालव्यासङ्गेन सेवावियोगक्लेशः स्यादिति कथं बोधनं स्यात्? इत्याशङ्क्याह तेषामेवेति। तेषामेव भक्तानामेव अनुकम्पार्थं मत्सेवाविप्रयोगक्लेशाभावार्थम्, आत्मभावस्थेषु तेषु स्वीयत्वभावयुक्तोऽहमन्येषामज्ञानजं तमः संसारात्मकं भास्वता स्फुरद्रूपेण ज्ञानदीपेन नाशयामि। ततः संसाराज्ञानविमुक्तानां शीघ्रं स्वरूपबोधात् पुनः परस्परं मद्गुणकथनेन परमानन्द एव भवति, न तु क्लेश इति भावः॥ ११॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च तेषां भक्तानामुपर्यनुकम्पार्थं, न स्वप्रयोजनसिद्ध्यर्थं राजवत्। बुद्धियोगप्रदानेनाज्ञानजमविवेकादुत्थितं मिथ्याप्रत्ययलक्षणं मोहान्धकारं तमोनामकं सर्वानर्थनिदानमूलाज्ञाननाशेन नाशयामि। आत्मभावस्थः आत्मनो भावोऽन्तःकरणगृहं तत्स्थः। ज्ञानरूपेण दीपेन। भास्वता प्रबलेन। अयं भावः-"तत्त्वमसि" इतिवाक्यजा ब्रह्माकारान्तःकरणवृत्तिः स्वोत्पत्तये श्रवणमननध्यानानि शमादीनि कर्माणि चापेक्षते। यथा दीपः स्वोत्पत्तये तैलवर्त्यग्न्यादीन्। उत्पन्ना तु तमोनाशेन स्वविषयप्रकाशनार्थं प्रत्ययावृत्तिलक्षणं प्रसङ्ख्यानं च कर्मभिरुपकारं वा नापेक्षते। न हि ज्ञाते घटे तदाकारप्रत्ययावृत्तिर्वा कर्मापेक्षा वा

तज्ज्ञानदार्ढ्यायापेक्षते, प्रमाणव्याप्तिमात्रसापेक्षत्वाज्ज्ञानस्य । तस्माद्ये उत्पन्नज्ञानानामपि प्रसङ्ख्यानापेक्षां कर्मभिरुपकारापेक्षां च वदन्ति ते बलादेव मोक्षस्य कृतकतामनित्यतां च प्रार्थयन्त इति दिक् ॥ ११ ॥

भगवद्विभूतीर्विस्तरेण शुश्रूषोरर्जुनस्य प्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच—परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।**
**पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥ १२ ॥**
**आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।**
**असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥**
**सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव ! ।**
**न हि ते भगवन्व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः ॥ १४ ॥**
**स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ! ।**
**भूतभावन ! भूतेश ! देवदेव ! जगत्पते ! ॥ १५ ॥**

१ **शां. भा.**— यथोक्तां भगवतो विभूतिं योगं च श्रुत्वाऽर्जुन उवाच— **परमिति** । परं ब्रह्म परमात्मा, परं धाम परं तेजः, पवित्रं पावनं, परमं प्रकृष्टं, भवान्। पुरुषं शाश्वतं नित्यं, दिव्यं दिवि भवमादिदेवं सर्वदेवानामादौ भवं देवं अजं विभुं विभवनशीलम् ॥ १२ ॥ ईदृशम्— आहुः कथयन्ति त्वामृषयो वसिष्ठादयः सर्वे। देवर्षिर्नारदस्तथाऽसितो देवलोऽप्येवमेवाऽऽह व्यासश्च, स्वयं चैव त्वं ब्रवीषि मे ॥ १३ ॥ **सर्वमिति**। सर्वमेतद्यथोक्तमृषिभिस्त्वया च तदृतं सत्यमेव मन्ये यन्मां प्रति वदसि भाषसे । हे केशव ! न हि ते तव भगवन् ! व्यक्तिं प्रभवं विदुर्न देवा न दानवाः ॥ १४ ॥ यतस्त्वं देवादीनामादिरतः— स्वयमेवाऽऽत्मनाऽऽत्मानं वेत्थ जानासि त्वं निरतिशयज्ञानैश्वर्यबलादिशक्तिमन्तमीश्वरं पुरुषोत्तम ! । भूतानि भावयतीति भूतभावनः, हे भूतभावन ! भूतेश भूतानामीशितः ! हे देवदेव ! जगत्पते ! ॥ १५॥

---

१**ऋषय** इति। 'धर्मशास्त्रप्रणेतारो महिम्ना सर्वगाश्च वै । तपःप्रकर्षः सुमहान् येषां ते ऋषयः स्मृताः ॥ (ब्रह्मां. पू. ३३।३२) इत्यृषिलक्षणम् ॥ असित इति देवलस्य विशेषणमेव, न तु ऋष्यन्तरम् । 'अस्मिन्नेव तु धर्मात्मा वसति स्म तपोधनः । गार्हस्थ्यं धर्ममास्थाय ह्यसितो देवलः पुरा ॥ १ ॥ असितो देवलस्तूर्णमुत्पपात पपात च । ततः सिद्धास्त ऊचुर्हि देवलं पुनरेव ह ॥ (म. भा. ९।४९।४९ ) 'जैगीषव्यं महाप्रज्ञं धर्माणामागतागमम् । अक्रुध्यन्तमहृष्यन्तमसितो देवलोऽब्रवीत् ॥' ( म. भा. १२।२२९।४ ) 'असितस्यैकपर्णा तु देवलस्य महात्मनः। पत्नी दत्ता महाब्रह्मन्योगाचार्याय धीमते ॥' ( ह. वं. १।१८।२३ ) ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु देवलस्य सुताऽभवत्। असितस्य हि दुर्धर्षा सन्नतिर्नाम नामतः ॥' ( ह. वं. १।२३।२९ ) इत्यादौ स्पष्टं तथा प्रतीयमानत्वात् ॥

यद्यपि 'समिद्ध एकादश काश्यपोऽसितो देवलो वा' ( ६।७ ) इति सर्वानुक्रमसूत्रस्य "असितो नाम, काश्यपो गोत्रतः । अथवा देवलो नाम, सोऽपि काश्यपः । भवति हि प्रवरः—काश्यपासितदेवलेति । 'असितो देवलो वार्षिस्तौ च काश्यपगोत्रकौ ।' इति षड्गुरुशिष्यव्याख्यानात्, 'असितो देवलश्चैव कश्यपश्च महातपाः। परस्परमवैवाह्या ऋषयः परिकीर्तिताः ॥' (१९९।१९) इति मात्स्यात्, 'काश्यपश्चैव वत्सारो नैध्रुवो रैभ्य एव च । असितो देवलश्चैव षडेते ब्रह्मवादिनः ॥' ( १।३३।११२ ) इति ब्रह्माण्डाच्च काश्यपावसितदेवलौ पृथक्प्रतीयेते; तथापि तयोर्महाभारते ग्रहणाभावेन भिन्नकालिकत्वानुमानात्, 'पूर्वे प्रजाभिसर्गे त्वामाहुरेकं प्रजापतिम् । स्रष्टारं सर्वलोकानामसितो देवलोऽब्रवीत् ॥ ' ( म. भा. ३।१२।५० ) इति प्रकृतार्थसंवादिद्रौपदीवाक्य एकत्वदर्शनात् 'विदितो मे सुदुर्धर्ष ! नारदाद्देवलात्तथा । कृष्णद्वैपायनाच्चैव—' ( म. भा. १४।५२।१९ ) इत्यर्जुनस्यैव समानविषयकवचनान्तराच्चात्रैक एवासितविशेषणवान्देवलो ज्ञेयः । विशेषणप्रयोजनं तु 'प्रत्यूषस्य विदुः पुत्रमृषिं नाम्नाऽथ देवलम् ।' (म. भा. १।६६।२६ ) इत्युक्तदेवलान्तरस्य, प्रदर्शितकाश्यपदेवलस्य च व्यावृत्त्यर्थमिति ध्येयम् ॥ तूष्णीम्भूतं प्रति ब्रवीषीत्युक्त्य इदानीमेवाभिहितं त्वया, भूयोऽपि वक्तुकामोऽसीति प्रतीयते इति **केचित्** । —**अविगीता** ।

**२ आ. शां. व्या.**— निरस्ताशेषविशेषं निरुपाधिकं सोपाधिकं च सर्वात्मत्वादि भगवतो रूपं तद्धीफलं च श्रुत्वा निरुपाधिकरूपस्य प्राकृतबुद्ध्यनवगाह्योक्तिपूर्वकं मन्दानुग्रहार्थं सर्वदा सर्वबुद्धिग्राह्यं सोपाधिकं रूपं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन्पृच्छतीत्याह— **यथोक्तामिति** । परं ब्रह्म भवानिति लक्ष्यनिर्देशः, तस्य लक्षणार्थं 'परं धाम' इत्यादिविशेषणत्रयम् । धामशब्दस्य स्थानवाचित्वं व्यावर्तयन्व्याचष्टे— **तेज** इति । तस्य चैतन्यस्य परत्वं जन्मादिराहित्येन कौटस्थ्यम् । प्रकृष्टं पावनमत्यन्तशुद्धत्वमुच्यते । यदेवंलक्षणं परं ब्रह्म तद्भवानेव, नान्य इत्यर्थः । कुतस्त्वमेवमज्ञासीरित्याशङ्क्याऽऽप्तवाक्यादित्याह- **पुरुषमिति** । दिवि परमे व्योम्नि भवतीति दिव्यस्तं सर्वप्रपञ्चातीतं दीव्यति द्योतत इति देवः, स चाऽऽदिः सर्वमूलत्वादत एवाजस्तं त्वां सर्वगतमाहुरिति सम्बन्धः ॥ १२ ॥ उक्तविशेषणं त्वामृषयः सर्वे यस्मादाहुस्तस्मात्तद्वचनात्तवोक्तं ब्रह्मत्वं युक्तमित्याह— **ईदृशमिति** । ऋषिग्रहणेन गृहीतानामपि नारदादीनां विशिष्टत्वात् पृथग्ग्रहणम् । असितो देवलस्य पिता । किमन्यैः ? त्वं स्वयमेवाऽऽत्मानमुक्तरूपं मह्यमुक्तवानित्याह— **स्वयं चेति** ॥ १३ ॥ ऋषिभिस्त्वया चोक्तत्वादुक्तं सर्वं सत्यमेवेति मम मनीषेत्याह— **सर्वमिति** । किं तत् ? इत्याशङ्क्याऽऽत्मरूपमित्याह— **यन्मामिति** । देवादिभिः सर्वैरुच्यमानतया त्वद्रूपे विशिष्टवक्तृग्रहणमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह— **न हीति** । प्रभवो नाम प्रभावो निरुपाधिकस्वभावः, यदा देवादीनामपि दुर्विज्ञेयं तव रूपं तदा का कथा मनुष्याणामित्यर्थः ॥ १४ ॥ कश्चिदेव महता कष्टेनानेकजन्मसंसिद्धो जानाति त्वदनुगृहीतस्त्वद्रूपमित्यभिप्रेत्याऽऽह— **यत** इति । स्वयमेवोपदेशमन्तरेणेत्यर्थः । आत्मना प्रत्यक्त्वेनाविषयतयेति यावत् । आत्मानं निरुपाधिकं रूपम् । न चैतत्सोपाधिकमपि रूपमन्यस्य गोचरे तिष्ठतीत्याह— **निरतिशयेति** । पुरुषश्चासावुत्तमश्चेति क्षराक्षरातीतपूर्णचैतन्यरूपत्वं सम्बोधनेन बोध्यते । सर्वप्रकृतित्वं सर्वकर्तृत्वं च कथयति — **भूतानीति** । सर्वेश्वरत्वमाह— **भूतानामिति** । उक्तं ते सोपाधिकं रूपं देवादीनामाराध्यतामधिगच्छतीत्याह— **देवेति** । जगतः सर्वस्य स्वामित्वेन पालयितृत्वमाह— **जगदिति** ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.**— एवं सकलेतरविसजातीयं भगवदसाधारणं शृण्वतां निरतिशयानन्दजनकं कल्याणगुणगणयोगं तदैश्वर्यविततिं च श्रुत्वा तद्विस्तारं श्रोतुकामोऽर्जुन उवाच— **परं ब्रह्मेति** । परं ब्रह्म परं धाम परमं पवित्रम् इति यं श्रुतयो वदन्ति, स हि भवान् । " यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति " [ तै. उ. ३।१ ] " ब्रह्मविदाप्नोति परं " [ तै. उ. २।१ ] " स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति " [ मुं. उ. ३।२।९ ] इति ।

**४ वे. ता. चं.**— 'परं ब्रह्म' इत्यादेः ' अमृतम् ' [१०।१२–१८] इत्यन्तस्य अर्जुनवाक्यस्य पूर्वोत्तरसङ्गतिं दर्शयति— **एवमिति** । ' यो मामजम् ' [ १०।३ ] इत्याद्यनुसन्धानेनोक्तं **सकलेतरेत्यादि** । 'तुष्यन्ति च रमन्ति च ' [ १०।९ ] इत्यनेनोक्तमाह— **शृण्वतां निरतिशयानन्दजनकमिति** । 'विस्तरेणात्मनो योगं'[ १०।१८ ]'विस्तरस्य मे'[ १०।१९ ] इति प्रष्टृप्रतिवक्तृभ्यां विस्तरशब्दप्रयोगेऽपि वक्ष्यमाणस्य अर्थप्रपञ्चरूपत्वाच्छब्दप्रपञ्चोपलक्षितार्थप्रपञ्चेत्यत्र विस्तरशब्दस्य तात्पर्यमिति दर्शयितुं **तद्विस्तारं श्रोतुकाम** इत्युक्तम् । विस्तरं श्रोतुकामश्चार्जुनः सङ्ग्रहोक्तस्यार्थस्य प्रतिपन्नतां तस्य सत्यत्वाध्यवसायेनानसूयतां च दर्शयति **परं ब्रह्मे**त्यादिभिः । अत्र तावत् 'भवान्' इति प्रथमान्तत्वात् 'आहुः' इत्युत्तरत्र न सम्बन्धः, 'परं ब्रह्म' इत्यादीनां प्राथम्यादिनोद्देश्यत्वं, 'भवान्' इत्यस्य च विधेयत्वं प्रतीतम्; उद्देश्यस्य च पूर्वमेव सिद्धिरपेक्षिता; तदाह— **यं श्रुतयो वदन्ति, स हि भवानिति** । त्रिष्वपि क्रमाच्छ्रुतीरुदाहरति । तत्र 'यतो वा ' इत्युपास्यब्रह्मलक्षणवाक्यम् ; तत्पुरोवादेनोपास्यं ब्रह्मैव प्राप्यमिति प्रदर्शनाय परशब्दविशेषणसिद्धये च "ब्रह्मवित्" इति वाक्यमुपात्तम् । उभयत्रातिस्फुटं वाक्यं "स यो ह"[मुण्डको. ३।२।९] इति । 'ब्रह्मैव भवति' इत्येतच्छारीरकभाष्ये व्याख्यातम् । 'प्रकारैक्ये च तत्त्वव्यवहारो मुख्य एव, यथा 'सेयं गौः' इति । ब्रह्मात्यन्तसाम्याद्ब्रह्मव्यपदेशो मुख्यप्राय इत्यर्थः । सेयं गौः इति दृष्टान्तोऽपि साधर्म्यमूलव्यपदेशविषयः । यद्वा "ब्रह्मैव भवति" इत्यात्राप्येवकार इवशब्दार्थोऽपि स्यादिति केचित्; 'इववद्वैवमेव' इति निघण्टुसद्भावात्, 'वैष्णवं वामनमालभेत स्पर्धमानो विष्णुरेव भूत्वेमान् लोकानभिजयति' [ यजुः २।१।१७ ] इत्यादिप्रयोगसद्भावाच्च । नह्यत्र पशुयागमात्रेण विष्णुरेवासौ जातः; नापि स्पर्धमानस्य **मोक्षाधिकारः**; नच विष्णुरेव भवतीति तावदेव फलं निर्दिष्टं, किन्तु इमान् लोकानभिजयति इति सांसारिकफलमुक्तम्; अतः पराक्रमादिगुणयोगेन विष्णुरिव भूत्वेमान् लोकानभिजयतीति वाक्यार्थ इति । अतो 'ब्रह्मैव भवति' इति साधर्म्यहेतुकं सामानाधिकरण्यम् । "परमं साम्यमुपैति" [ मुं. उ. ३।१।३ ] इति हि श्रुतिः । वक्ष्यति च ' मम साधर्म्यमागताः ' [ १४।२ ] इति ।

**३ रा. भा.**— तथा परं धाम; धामशब्दो ज्योतिर्वचनः; परं ज्योतिः " अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते " [ छां. उ. ३।१३।७ ] " परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते " [ छां. उ. ८।१२।२ ] " तं ( तत् ) देवा ज्योतिषां ज्योतिः " [ बृ. उ. ४।४।१६ ] इति । तथा च परमं पवित्रं, परमं

पावनं; स्मर्तुरशेषकल्मषाश्लेषकरं, विनाशकरं च । " यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते " [ छां. उ. ४।१४।३ ] " तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते " [ छां. उ. ५।२४।३ ] " नारायणपरं ब्रह्म तत्त्वं नारायणः परः । नारायणपरो ज्योतिरात्मा नारायणः परः " [ महाना. ९।४ ] इति हि श्रुतयो वदन्ति ।

४ वे. ता. चं.—श्रुतिप्रदर्शनार्थं विषयमुपादाय शोधयति —**तथे**त्यादिना । सामानाधिकरण्यप्रयोगाद्वस्त्वन्तरसामानाधिकरण्यसहपाठाभावाद्भगवतस्तत्तच्छ्रुतिप्रतिपादितपरत्वप्रकारव्यञ्जने तात्पर्याच्च अत्र धामशब्दस्य स्थानादिपरत्वमयुक्तमित्यभिप्रायेणाह—**धामशब्दो ज्योतिर्वचन** इति । 'विष्णुसंज्ञं सर्वाधारं धाम' इत्यादि धामशब्दप्रयोगेऽपि 'परं धाम' इति विशेषणादर्शनात्पर्यायान्वयमुखेन तत्प्रदर्शयति **परं ज्योतिरि**ति । 'अथ यदतः' इत्यादिवाक्येनाप्राकृतलोकादिविशिष्टत्वं 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि' [ छां. उ. ३।१२।६ ] इत्यादिव्यपदेशवशसिद्धपुरुषसूक्तप्रकरणैकार्थ्याच्च समीहितमखिलं सिद्धम्; 'परं ज्योतिरुपसम्पद्य' इति वाक्येन मुक्तप्राप्यत्वादिकम्, 'परं ज्योतिः' इति विशिष्टप्रयोगश्च सिद्धः। "तं (तत्) देवा ज्योतिषां ज्योतिः" [बृ. उ. ४।४।१६] इत्यादिना देवोपास्यत्वमुखेन ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वेन च परत्वमर्थलब्धम् । भगवदसाधारणं परमशब्दविशेषितं पावनत्वं दर्शयितुं पवित्रशब्दस्यात्र संज्ञात्वव्युदासायाह **परमं पावनमि**ति। **विनाशक**रमित्यत्र कल्मषशब्दो बुद्ध्या निष्कृष्यानुसन्धेयः । प्रदूयन्ते, नश्यन्तीत्यर्थः। सूत्रं च—'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् [ब्र. सू. ४।१।१३ ] इति । तत्त्वनिर्णयैकतत्परनारायणानुवाकवाक्येनापि परब्रह्मत्वादिकं 'भवान्' इति निर्दिष्टदेवताविशेषस्यैव संवादयति **नारायणे**ति । अनयोर्वाक्ययोः प्रथमौ नारायणशब्दौ लुप्तविभक्तिकौ, 'तत्त्वं नारायणः परः' इत्यादिसहपाठवशाद्व्यस्तत्वं प्रथमान्तत्वं च प्राप्तम् । तथैव सविभक्तिकतया श्रुत्यन्तरेऽधीयते 'नारायणः परं ब्रह्म' इत्यादि ।एतेन पञ्चमीसमासतां वदन् भगवद्द्वेषी प्रत्युक्तः, सर्वश्रुतिस्मृतिसूत्रन्यायविरोधाच्च। **इति हि श्रुतयो वदन्ती**त्यत्र 'यतो वा इमानि' इत्यादिकमखिलमन्वेतव्यम् ; मध्ये तत्तदर्थवैशद्यायावान्तरवाक्यम् ।

३ रा. भा.— ऋषयश्च सर्वे परावरतत्त्वयाथात्म्यविदस्त्वामेव शाश्वतं दिव्यं पुरुषमादिदेवमजं विभुमाहुः, तथैव देवर्षिर्नारदः असितो देवलो व्यासश्च । ' एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः । नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मधुरां पुरीम् ।। पुण्या द्वारवती तत्र यत्रास्ते मधुसूदनः । साक्षाद्देवः पुराणोऽसौ स हि धर्मः सनातनः ।। ये च वेदविदो विप्रा ये चाध्यात्मविदो जनाः । ते वदन्ति महात्मानं कृष्णं धर्मं सनातनम् ।। पवित्राणां हि गोविन्दः पवित्रं परमुच्यते । पुण्यानामपि पुण्योऽसौ मङ्गलानां च मङ्गलम् ।। त्रैलोक्ये पुण्डरीकाक्षो देवदेवः सनातनः । अव्ययात्मा व्ययात्मा च क्षेत्रज्ञः परमेश्वरः । आस्ते हरिरचिन्त्यात्मा तत्रैव मधुसूदनः ।। [ म. भा. ३।८८।२४–२८ ] तथा 'यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः । तत्र कृत्स्नं जगत्पार्थ ! तीर्थान्यायतनानि च ।। तत्पुण्यं तत्परं ब्रह्म तत्तीर्थं तत्तपोवनम् । तत्परं परमं देवं भूतानां परमेश्वरम्।। .... तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः ।। आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः । पुण्यानामपि तत्पुण्यं मा भूत्ते संशयोऽत्र वै ।। [ म. भा. ३।९०।२८–३२ ] कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः । कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम् ' इति । तथा स्वयमेव ब्रवीषि च ' भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ' [ ७।४ ] इत्यादिना ' अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ' [ १०।८ ] इत्यन्तेन ।। १२ ।। १३ ।।

४ वे. ता. चं.—एवं श्रुतिसिद्धोऽर्थः स्मृतीतिहासपुराणायमानमहर्षिवचनाच्छ्रुतिवदन्यानपेक्षसर्वज्ञवचनाच्च सिद्ध इत्याह—'पुरुषम्' इति सार्धेन । सर्वशब्देनाविगीतत्वं विवक्षितम् । **परावरतत्त्वयाथात्म्यविद्** इति ऋषिशब्दाभिप्रेतोक्तिः । तेनाप्ततमत्वमुक्तं भवति । 'त्वाम्' इत्येतद्ब्रह्मरुद्रादिविशेषान्तरव्युदासार्थमित्यभिप्रायेण– **त्वामेवे**त्युक्तम् । यद्वा अवतीर्णं त्वामेवेत्यर्थः। **शाश्वतं** नित्यम्, **दिव्यं** परमव्योमनिलयम् , **पुरुषं** "परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते " [ प्रश्नो. ५।५ ] इत्यादिप्रतिपादितम् । 'शाश्वतं दिव्यं पुरुषम्' इति व्युत्क्रमोपादानं दिवि वर्तमानस्य पुरुषस्य पुरुषसूक्तोदितामृतत्रिपाद्विभूतिविशिष्टवेषेण शाश्वतत्वमिह विवक्षितमिति व्यञ्जनार्थम् । आदिश्चासौ देवश्चेत्यादिदेवः जगत्कारणभूतः क्रीडारूपजगत्कारणव्यापारश्चेत्यर्थः।स्मरन्ति च–' क्रीडतो बालकस्येव' [वि. पु. १।२।१८] 'क्रीडा हरेरिदं सर्वं' 'बालः क्रीडनकैरिव' [म.भा. २।९० ३१] इति । सूत्रितं च ' लोकवत्तु लीलाकैवल्यम' [ब्र. सू. २।१।३३] इति । एतेन ब्रह्मादीनामपि देवतात्वनुप्रविष्टानां परम-

पुरुषलीलोपकरणत्वं कार्यत्वं चोक्तं भवति । "नारायणाद्ब्रह्मा जायते नारायणाद्रुद्रो जायते" [ ना. उ. १ ] "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" [महो. १।१] "तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि" [ मुं. उ. २।१।७ ] 'एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोध-( जावुभौ ) जौ स्मृतौ' [ म. भा. १२।३४१।१९] 'आवां तवाङ्गे सम्भूतौ' [ ह. वं. ] इत्याद्याः । कारणवाक्यार्थ उक्तः, शोधकवाक्यार्थ-मुपलक्षयति—**अज**मिति । कर्मकृतजन्मादिरहितमित्यर्थः स्वरूपापेक्षया वा निर्विकारत्वमुच्यते । विभुम् "आकाशवत्सर्व-( गतं सुसूक्ष्मं )-गतश्च नित्यः" [ शां. उ. २।१ ] इति प्रक्रियया व्याप्तं; नियन्तारमिति वा । एतेन कारणत्वाद्यनुगुणव्याप्तिनियमनादिकमन्तर्यामिब्राह्मणादिसिद्धं स्मारितम् । एतैः पदैः "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" [ सुबालो. ७ ] इति श्रुतिः सूचिता। सर्व इति सामान्यतः सङ्ग्रहेऽप्याप्ततमत्वविवक्षया नारदादेः पृथगभिधानम्। देवर्षिशब्देन जात्यापि सत्त्वोत्तरत्वं प्रकाश्यते। तत्राप्यसौ 'देवर्षीणां च नारदः' [ १०।२६ ] इति प्रकृष्टः। असितः, देवलश्च तस्य पिता। व्यासश्चात्र भगवान् पाराशर्यः। 'आहुस्त्वामृषयः सर्वे' इत्यादिकं संवादयति—**ये चे**ति । वेदविदः कर्मभागवेदिनः, अध्यात्मविदः वेदान्तार्थवेदिनः । कृष्णं महात्मानं सनातनं धर्मं वदन्तीत्यन्वयः। महात्मशब्देन सर्वातिशायि परमैश्वर्यादिकं विवक्षितम्; महानात्मेति परमात्मत्वं वा, "स वा एष महानज आत्मा" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इत्यादेः। यागदानादयो हि देशकालादिपरिमितफलदायिनः, स्वयं चानित्याः; अयं तु नित्यनिरतिशयफलदायी, नित्यश्चेति सनातनशब्देन धर्मस्य विशेषणम्। पवित्रशब्दोऽत्र पापनिबर्हणपरः। पुण्यशब्दोऽभिमतफलविशेषसाधनपरः । मङ्गलशब्दश्च स्वसन्निधिमात्रेणातिसमृद्धिहेतुभूतकल्याणवस्तुपरः । 'त्रैलोक्यं पुण्डरीकाक्षः' इति कार्यकरणभावेन शरीरात्मभावेन वा सामानाधिकरण्यम् । त्रयो लोकास्त्रैलोक्यम्— बद्धमुक्तनित्या इत्यर्थः । यद्वोपलक्षणतया भूम्यन्तरिक्षादिकमुच्यते । पुण्डरीकाक्षशब्देन अन्तरादित्यविद्याप्रतिपादितविलक्षणविग्रहत्वं दर्शितम्। 'तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी' [ छां. उ. १।६।७ ] इत्यस्य च वाक्यस्य द्रविडभाष्योदितेषु षट्स्वर्थेषु सिद्धान्तत्वेन भाष्यकारपरिगृहीतास्त्रयोऽर्थाः । तथा हि वेदार्थसङ्ग्रहे दर्शितं—'गम्भीराम्भस्समुद्भूतसुमृष्टनालरविकरविकसितपुण्डरीकदलामलायतेक्षणः' इति । इदं च वरदगुरुभिस्तत्त्वसारे दर्शितं प्रपञ्चितं च । नारायणशब्देन परतत्त्वनिर्णयैकपरनारायणानुवाकसूचनम्। 'श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः' इत्याभ्यां "ह्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" [यजुषि आ. ३।१३।३] "अम्भस्यपारे" [ म. ना. १।१ ] "यमन्तस्समुद्रे" [ म. ना. १।३ ] इत्यादिकं स्मारितम् । 'उत्सृज्यागतः' इत्यवतारमात्रत्वं विवक्षितम् । कृष्णावतारदशायामपि क्षीरार्णवगतनागपर्यङ्कशायिविग्रहस्य तत्रैव स्थितत्वात्। **साक्षा**दिति— न त्वौपचारिकः आत्मान्तरव्यवहितो वेत्यर्थः । **तथे**ति— प्रकरणान्तरत्वव्यक्त्यर्थम्। 'देवर्षिर्नारदस्तथा' इति व्याख्येयविभागावगमात्तदुक्तवाक्योपादानमपि तथाविभागेन कुर्मह इति च दर्शितम्। 'तत्र कृत्स्नम्' इत्यादि नारायणस्यैव सर्वाश्रयत्वात्सर्वप्रकारातिशययोगित्वाद्वा । 'तत्पुण्यम्' इत्यादिकं ब्रह्मशब्दानुरोधेन नारायणविषयं वा, प्रकरणविशेषेण तदाश्रितस्थानप्रशंसनं वा । **स्वयमेवे**ति—स्वतःसर्वज्ञो ब्रह्मादीनामपि गुरुस्त्वमेवेत्यर्थः । 'भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादिषु सर्वशेषित्वं सर्वकारणत्वं सर्वशरीरित्वमित्यादिकमुक्तम् ॥ १२ ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.— अतः सर्वमेतद्यथावस्थितवस्तुकथनं मन्ये, न प्रशंसाद्यभिप्रायम्; यन्मां प्रत्यनन्यसाधारणमनवधिकातिशयं स्वाभाविकं तवैश्वर्यं कल्याणगुणानन्त्यं च वदसि । अतो भगवन् निरतिशयज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजसां निधे ! ते व्यक्तिं व्यञ्जनप्रकारं, नहि परिमितज्ञाना देवा दानवाश्च विदुः ॥१४॥**

**४ वे. ता. चं.**—सङ्गत्यर्थमाह—**अत** इति । आप्ततमैराम्नायैर्महर्षिभिर्भवतापि चोक्तत्वादिति भावः । 'ऋतं मन्ये' इत्यस्याभिप्रेतमाह **न प्रशंसाद्यभिप्राय**मिति । अन्येषु हि तद्गुणारोपणेन प्रशंसेत्यभिप्रायः । 'माम्' इत्यनेन 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' [ २।७ ] इत्यादिकमभिप्रेतम्। वदिरिह शिष्टमनुवदन्नत्र शास्यर्थे वर्तमाने द्विकर्मकः । एवं शिष्टस्यानुभाषणं शासनविशेषप्राधान्यार्थम् । **अनन्यसाधारणमनवधिकातिशय**मिति विशेषणाभ्यां समाधिकराहित्यम्, **स्वाभाविक**मित्यनन्याधीनत्वं विवक्षितम् । अतो न विदुरित्यर्थः । 'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः । भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः' [ वि. पु. ६।५।७९] इति भगवत्पराशरवचनानुसारेण देवादिभिरवेद्यत्वाय भगवच्छब्दार्थं दर्शयति—**निरतिशयज्ञाने**त्यादिना। व्यक्तिशब्दोऽत्र 'किमात्मिकैवैषा भगवतो व्यक्तिः' इत्यादिष्विव न विग्रहादिपरः, अप्रसक्तत्वात् अनन्तरं चापृच्छ्यमानत्वात् । अतो 'वक्तुमर्हस्यशेषेण' [ १०।१६ ] इत्यनन्तरं विवक्षोः 'अन्ये त्वत्प्रतिपादनप्रकारमपि न जानन्ति, किं पुनः प्रत्यक्षादिवत्प्रकाशनम्' इत्ययमर्थोऽपेक्षितत्वात्स्वीकार्य इत्यभिप्रायेणाह— **व्यञ्जनप्रकार**मिति । 'अक्षरक्षरयोर्व्यक्तिमिच्छाम्यरिनिषूदन ! । उपलब्धुम्' इतिवत् । **परिमितज्ञाना** इति शब्दतात्पर्योक्तिः ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.— हे पुरुषोत्तम ! आत्मना आत्मानं त्वां स्वयमेव स्वेनैव ज्ञानेन वेत्थ; भूतभावन सर्वेषां भूतानामुत्पादयितः! भूतेश सर्वेषां भूतानां नियन्तः! देवदेव दैवतानामपि परमदैवत ! यथा मनुष्यमृगपक्षि-**

सरीसृपादीन् सौन्दर्यसौशील्यादिकल्याणगुणगणैर्दैवतान्यतीत्य वर्तन्ते, तथा तानि सर्वाणि दैवतान्यपि तैस्तैर्गुणैरतीत्य वर्तमान ! जगत्पते जगत्स्वामिन् ! वक्तुमर्हसीत्युत्तरेणान्वयः ॥ १५ ॥

४ वे. ता. चं.— देवादीनां भगवद्वैभवे वक्तृत्वयोग्यता प्रतिक्षिप्ता ; अथ भगवत एव स्ववैभववचनयोग्यतामाह–'**स्वयमेव**' इतिश्लोकेन । अत्र 'पुरुषोत्तम !' इति संज्ञा ; शेषं तु तत्संज्ञान्वयौपयिकगुणपरमिति विभजनाय पूर्वमेव हे **पुरुषोत्तमे**त्युक्तम् । अत्र ' त्वमेव त्वां वेत्थ योऽसि सोऽसि ' [ यजुःकाठ. १ । ३ । १ ] इति श्रुतिस्मरणाद्यभिप्रायेण ' आत्मानम् ' इत्यस्य त्वामिति प्रतिपादनम् । ' स्वयमेव ' इत्यनेन फलितोक्तिः **स्वेनैव ज्ञानेने**ति । **आत्मना**— अन्यैरननुगृहीत इत्यर्थः । यथाऽन्येषां ' मत्तः स्मृतिर्ज्ञानम् ' [ १५।१५ ] इति; न तथास्येति भावः । यद्वा ' आत्मना ' इत्यस्य व्याख्या **ज्ञानेने**ति, 'आत्मा जीवे' इत्यारभ्य 'यत्नेऽर्केऽग्नौ मतौ वायौ' इति पाठात् । भावनशब्दस्य चिन्तार्थपरत्वव्युदासायाह **उत्पादयितरि**ति । भूतेशजगत्पतिशब्दयोः पौनरुक्त्यशङ्काव्युदासाय नियन्तृत्वस्वामित्वकथनम् । रक्षणे व्युत्पन्नस्यापि पतिशब्दस्य शेषित्वे रूढिः । 'स कारणं करणाधिपाधिपः" [ श्वे. उ. ६।९ ] "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम् । पतिं पतीनां परमं परस्ताद्विदाम देवं भुवनेशमीड्यम् " [श्वे. उ. ६।७] इति श्रुतिसिद्धाश्चत्वारोऽर्थाः 'भूतभावन !' इत्यादिभिश्चतुर्भिः प्रतिपाद्यन्त इति ज्ञापनाय **दैवतानामपि परमदैवते**ति श्रुतिगतैः पदैर्व्याख्यातम् । देवशब्दस्य जातिविशेषवाचकत्वेन प्रतिसम्बन्धिशब्दत्वाभावात् द्वितीयो देवशब्द उत्कर्षविशेषविषयतया औपचारिक इति मुख्यगौणानुगतमुपचारनिमित्तं दर्शयति **यथे**ति । अन्योन्यवैलक्षण्यस्याकिञ्चित्करत्वायात्यन्तवैलक्षण्यज्ञापनाय च मृगपक्षिसरीसृपग्रहणम् । यथा देवादीनां कीटाः, तथा परमात्मनो देवा अपि । 'कीटाः समस्ताः सुराः दृष्टे यत्र' इति ह्याहुः । **सौन्दर्यसौशील्ये**ति विग्रहगुणानामात्मगुणानां चोपलक्षणम् ॥ १५ ॥

५ आ. मा. भा.— ब्रह्म परिपूर्णम् । "अथ कस्मादुच्यते परं ब्रह्म .... बृहद्बृहत्या बृंहयति " [ अ. शिर. ४ ] इति च श्रुतिः । बृह बृहि वृद्धाविति पठन्ति । 'परमं यो महद्ब्रह्म' [ म. भा. १३।१४९।९ ] इति च । विविधमासीदिति विभुः । तथा हि वारुणशाखायाम्— "विभु प्रभु प्रथमं मेहनावतः" [ ऋक्सं. २।७।२५ ] इति "स ह्येव प्रभावाद्विविधोऽभवत् " इति । "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय" [ तै. उ. २।६ ] इत्यादेश्च ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ब्रह्मविभुशब्दावैकार्थ्यपरिहाराय क्रमेण सप्रमाणकं व्याचष्टे— **ब्रह्मे**ति । परं वस्तु ब्रह्मेति कस्मादुच्यते ? बृहति पूर्णं भवति बृंहयति पूरयति चान्यान् । बृहतेर्मन्प्रत्ययोऽमागमश्च । ईश्वरो ब्रह्मणोऽन्यः स कथं परं ब्रह्मेत्युच्यते ? इत्यत उक्तम्— **परममि**ति । विविधमनेकरूपत्वेनाभवत् । मेहनावतः सेचकस्य भगवतः प्रथमं रूपं विभु प्रभु चेत्येतदनूद्य व्याख्यायते । प्राभवत्समर्थोऽभवदिति प्रभुः विविधोऽभवदिति विभुः । "सोऽकामयत" इति विविधभवने श्रुत्यन्तरम् । "विप्रसम्भ्यो ड्वसंज्ञायाम्" [अष्टा. ३।२।१८०] इति च स्मृतिः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥

७ द. पै. भा.— भक्तानामन्तःकरणस्थो भास्वता ज्ञानदीपेन विवेकमिथ्याप्रत्ययरूपं तमो नाशयामीति भगवद्वचनं श्रुत्वा महान्तमनुग्रहमात्मनि मन्यमानोऽन्यमप्यभिमतमर्थं मम वक्ष्यतीति मत्वा प्रष्टुकामोऽर्जुन उवाच— **परं ब्रह्मे**ति । परं ब्रह्म भवान् । परं धाम परमं तेजो भवान् । परमं पवित्रं पावनं भवान् ॥ १२ ॥ आहुरिति । स्वयं चैवाऽऽत्मानम् ॥ १३ ॥ सर्वमिति वचनात्तत्त्ववचनाद्यथोक्तं सर्वमृतं सत्यं मन्ये । व्यक्तिमुत्पत्तिम् ॥ १४ ॥ स्वयमिति । स्वयमेवाऽऽत्मनैव । भूतानि भावयतीति भूतभावनस्तस्य सम्बोधनम् ॥ १५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं सङ्क्षेपेणोक्तां भगवद्विभूतिमाकर्ण्य विस्तरेण शुश्रूषुर्भगवन्तं स्तुवन् **अर्जुन उवाच— पर**मिति । परं प्रकृष्टं धाम तेजः " तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [कठो. ५।१५+मुं. उ. २।२।१०+ श्वे. उ. ६।१४] इति श्रुत्युक्तस्वप्रकाशरूपमित्यर्थः । परमं पवित्रं पावनं भस्मीकृताविधिकसकलकलुषप्रपञ्चम , निर्विशेषाद्वैतस्वरूपमित्यर्थः । एवम्भूतं यत्परं ब्रह्म, तद्भवान् । कुत इत्यत आह— **पुरुष**मिति । यतः शाश्वतं शश्वदेकरूपं, दिव्यं दिवि परमे व्योम्नि स्वस्वरूपे भवम्, आदिदेवं आदिं सर्वकारणं देवं द्योतनात्मकम् , अत एव अजं विभुं व्यापकं पुरुषं परमात्मानं त्वामाहुर्वदन्ति । के ? सर्वे ऋषयो वेदाः " पुरुषान्न परं किञ्चित् " [ कठो. ३।११ ] " शाश्वतं शिवमच्युतम् " [महाना. ९।३] " दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः " [मुं. उ. २।१।२] " एको ह वै नारायण आसीत् " [ महो. १ ] "अजस्य

नाभाववश्यैकमर्पितम्" "व्याप्य नारायणः स्थितः" [म. ना. ९।५] इत्याद्याः, तथा वेदतत्त्वार्थदर्शिनो नारदासितदेवलव्यासा अप्येवमेवाहुर्युधिष्ठिरराजसूयादिषु; तथा स्वयं चैव ब्रवीषि मे 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्' [१०३] 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [१०।८] इत्यादिना त्वमेव साक्षान्मह्यं वदसि च। अतः सर्वमप्येतद्वेदैर्ऋषिभिश्चोक्तं 'पुरुषं शाश्वतं' इत्यादिकं ऋतं सत्यमेव मन्ये, न प्रशंसापरमिति; यस्मात्कारणात् मां शिष्यभावेन प्रपन्नं भक्तं प्रति त्वमेवं वदसि 'लोकमहेश्वरम्' [१०।३] इत्यादि। ततस्तत्पारम्ये ममेदानीमसम्भावना निवृत्तेत्यर्थः ॥ १२ ॥ १३ ॥

एवं भगवन्तं स्तुत्वा त्वद्विभूत्युपदेशस्त्वयैव कर्तव्य इति वक्तुमन्येषां तदनभिज्ञत्वं दर्शयति सार्धेन- नहीति। हे भगवन्! तव व्यक्तिं विभूत्याविर्भावं त्वदनुग्राह्यनिग्राह्यभावेन स्थिता अपि देवा दानवाश्च न विदुर्न जानन्ति; किन्तु स्वयमेवात्मानं वेत्थ जानासि; किं मनश्चक्षुरादिभिः? नेत्याह— आत्मना स्वरूपेणैव। अत्र हेतुगर्भं पुरुषोत्तमेति सम्बोधनम्। पुरुषशब्दवाच्यक्षराक्षरात्मकस्य सर्वस्य जगतस्त्वत्तोऽपकृष्टत्वान्न पुरुषोत्तमत्वम्। अतस्त्वां न जगद्वेत्ति, परिमितज्ञानस्य तदयोगादित्यर्थः। पुरुषोत्तमत्वमेवोपपादयति— भूतभावनेत्यादिभिः सम्बोधनैः। भूतभावन भूतोत्पादक! हे भूतेश भूतनियन्तः! हे देवदेव! यथाऽस्मदादीन्मनुष्यान्महिम्नाऽतीत्य देवास्तिष्ठन्ति, तथा देवानपि महिम्नाऽतीत्य वर्तमानेत्यर्थः। जगत्पते जगत्पालक! ॥ १४ ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— एवं सकलेतरविसजातीयं भगवतो योगप्रभावं तादृशविभूतिहेतुत्वं स्वानन्यजनकात्मत्वं च निशम्य तद्विस्तारं ज्ञातुकामो भगवन्तं स्तुवन् अर्जुन उवाच— परं ब्रह्मेति सप्तभिः धर्मधर्म्यैभिप्रायेण। इदं च सर्वं श्रुतेरिव प्रतिवाक्यभूतं भवान् परं ब्रह्मेत्यादि। त्वामेवाहुः सर्वे ऋषयः, तथा महाभगवदीयो मर्यादापुष्टिभक्तः देवर्षिर्नारदः आह असितो देवलो व्यासश्च— 'एष नारायणः श्रीमान् क्षीरार्णवनिकेतनः। नागपर्यङ्कमुत्सृज्य ह्यागतो मथुरां पुरीम्' [म. भा. ३।८८।२४] इति भारते। 'कृष्ण एव हि भूतानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः। कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्' इत्यादीनि भूयांसि महर्षिवचनानि श्रूयन्ते। भागवते [१०।३७।१०] देवर्षिवचनं- 'कृष्ण! कृष्ण! प्रमेयात्मन्योगेश! जगदीश्वर!' इत्यादि। स्वयं च ब्रवीषि 'अहं सर्वस्य प्रभवः' [१०।८] इत्यादि। पुरुषोत्तम एव स्वमुखेन स्वस्वरूपं स्वमाहात्म्यं च वदति, नान्य इति। तदेतत्सर्वोक्तत्वात्सत्यमेव मन्ये यन्मां त्वं च वदसि। अतो भगवन् षड्गुणपूर्ण! ज्ञानं त्वय्येव गुणः त्वदत्तमेवान्यत्रोद्भवतीति नान्ये देवा दानवाश्च ते व्यक्तिं अनन्यसाधारणं योगप्रभावं तत्तद्विभूतिरूपां व्यक्तिं च ते विदुः ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ किं तर्हि स्वयमेव वेत्थेति तदप्यात्मना, न साधनान्तरेण ॥ १५ ॥

१० पु. अ. त.— एवं 'न मे विदुः सुरगणाः' [१०।२] इत्यादिना सर्वेषां स्वावेदनयुक्तानां 'यो मामजमनादिं च' [१०।३] इत्यादिना स्वज्ञानस्योत्तमत्वं प्रतिपादितम्। ततः सर्वभावोत्पत्तिः स्वत उक्ता स्वरूपा या, स्वस्वविभूतिज्ञस्य स्वभजने स्वप्राप्तिमुक्तवान्, एतत्सर्वजिज्ञासुरर्जुनः प्रभुं विज्ञापयति सप्तभिः। विज्ञप्तेरपि भगवदात्मत्वाय षड्गुणधर्मिसमसङ्ख्यैः श्लोकैर्विज्ञापयति— **अर्जुन उवाच। परं ब्रह्मेति।** परं पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्म बृहद्व्यापकं परं धाम पुरुषोत्तमात्मकतेजोरूपं रमणात्मगृहात्मकं वा, परमं पवित्रं सर्वोत्कृष्टं सर्वपावनम्, एतत्सर्वरूपो भवान् सत्यमेवेत्यर्थः। कथमेवमवगतं? इत्यत आह— **पुरुषमिति।** पुरुषं पुरुषोत्तमम्। अन्यत्रापि तथात्वमाशङ्क्य शाश्वतं नित्यमिति। अक्षरादिष्वपि नित्यत्वमाशङ्क्य दिव्यमित्याह क्रीडनैकरूपम्। अवतारादिष्वपि तथात्वमाशङ्क्याह— **आदिदेवमिति।** मूलरूपमित्यर्थः। परिदृश्यमानजन्माद्याशङ्कायामाह— **अजमिति।** जन्मरहितम्। जन्माभावे जन्मप्रतीतिः कथं? इत्यत आह— **विभुमिति।** समर्थमित्यर्थः। तथाप्रतीतिकरणसमर्थमिति भावः ॥ १२ ॥ एवंविधं त्वां सर्वे वदन्तीत्यनेनावगतमित्याह— **आहुरिति।** सर्वे ऋषयो भृग्वादयः, तथा देवर्षिः देवानामपि मन्त्रद्रष्टा नारदः सर्वमोक्षदः। असितः भगवद्धर्मरूपः। देवलः देवानुग्रहकृत्। व्यासः ज्ञानावतारः च पुनः स्वयमेव त्वमेव साक्षान्मे मह्यम् 'अहमादिर्हि देवानाम्' [१०।२] इत्यादिना ब्रवीषि। अतस्त्वां तथा जानामीत्यर्थः ॥ १३ ॥ परोक्ते स्वानुभवाभावे न विश्वासः स्यादित्यत आह— **सर्वमेतदिति।** सर्वं पूर्वोक्तं "परं ब्रह्म" [श्वे. उ. ३।७ गी १०।१२] इत्यादि अहं स्वानुभवात् ऋतं सत्यं मन्ये। किञ्च 'न मे विदुः' [१०।२] इत्यादिना देवाः क्रीडारूपाः। दानवाविरोधेऽपि मोक्षदातुः हे भगवन्! ते व्यक्तिं प्राकट्यं स्वरूपं वा न विदुरिति। केशव! दुष्टगुणव्याप्तयोरपि मोक्षदायक! यत् मां वदसि एतत्सर्वं हि निश्चयेन ऋतं मन्ये ॥ १४ ॥ यतोऽन्ये न विदुरतः स्वस्वरूपं स्वयमेव जानासीत्याह— **स्वयमेवेति।** स्वयं स्वेच्छयैव, न केनचित् प्रेरितः। आत्मना स्वस्वरूपेणैव आत्मानं यादृशोऽसि तादृशं त्वमेव वेत्थ, जानासीत्यर्थः। अन्यथा ज्ञानहेतुभूतत्वेन सम्बोधयति। हे पुरुषोत्तम! केन कथं वा ज्ञातुं योग्य इत्यर्थः। अतएव ब्रह्माण्डपुराणे— 'नैष भावयितुं योग्यः केनचित् पुरुषोत्तम!' इत्युक्तम्। ननु तर्हि 'यो मामजमनादिं च वेत्ति' [१०।३] इति कथमुक्तं? इत्याशङ्क्य तत्कृपया स्ववेदनात्मकस्वशक्ति-

दानेन ज्ञापयतीति 'ददामि बुद्धियोगं तम्' [ १०।१० ] इत्यादिनोक्तम् । तथात्वेनैव सम्बोधयन्नाह— भूतभावनेत्यादिभिः। हे भूतभावन ! भूतानि भावयसि स्वभावयुक्तानि करोषीति तथा । कथमेवं करोतीत्यत आह— भूतेश ! तेषां स्वामी नियामकः; तेन स्वीयत्वेन करोतीति भावः । ईशत्वेऽपि कथमेवं करोति ? इत्यत आह– देवदेव ! पूज्यानामपि पूज्य ! तत्पूजादिसन्तुष्टस्तथा करोतीति भावः । तर्हि देवेष्वेव तथोचितं, न तु सर्वेष्वित्यत आह– जगत्पते इति । जगतः सर्वस्यैव पतिः पालको रक्षक इति यावत् रक्षार्थं तथा करोतीति भावः ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं 'एतां विभूतिं योगं च' [ १०।७ ] इत्यादिना विभूतिज्ञानस्य फलोदर्कं श्रुत्वा तत्प्राप्त्युत्सुकः प्रथमं स्तुत्या भगवन्तमावर्जयन्नर्जुन उवाच— परमिति । परं ब्रह्म, न त्वपरमुपास्यम् । "तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" [ के. उ. ४ ] इति श्रुतेः । परं धाम ज्योतिर्न त्वपरं वृत्तिरूपं ज्ञानम् । एतस्य "ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" [ बृ. उ. १।५।३ ] इति श्रुतेर्वृत्तिरूपत्वात् । परमं पवित्रं, न तु तीर्थादिवदपरमं भवान् । तत्र मानमाह— पुरुषमिति सार्धेन । पुरुषं देहान्तरस्थं, शाश्वतं नित्यं, दिव्यं दिवि हार्दाकाशे आविर्भूतं, आदिदेवं सूत्रात्मनोऽप्याद्यं, अत एव अजं विभुं व्यापकं त्वां ऋषय आहुरिति सम्बन्धः ॥ १२ ॥ १३ ॥ व्यक्तिं प्रभवम् ॥ १४ ॥ हे भूतभावन भूतानां भावक ! ॥ १५ ॥

**वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।**
**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥**

१ शां. भा.— **वक्तुमिति** । वक्तुं कथयितुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतय आत्मनो विभूतयो यास्ता वक्तुमर्हसि । याभिर्विभूतिभिरात्मनो माहात्म्यविस्तरैरिमाँल्लोकांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— यस्मादस्मादृशामगोचरस्तवाऽऽत्मा जिज्ञासितश्च तस्मात्त्वयैव त्वद्रूपं वक्तव्यमित्याह– **वक्तुमि**ति। दिव्यत्वमप्राकृतत्वम् । सम्प्रत्यन्वयमन्वाचष्टे– **आत्मन** इति । वक्तव्या विभूतीर्विशिनष्टि— **याभिरि**ति । यद्वारा लोकान् पूरयित्वा वर्तसे ता विभूतीरशेषेण वक्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— दिव्याः त्वदसाधारण्यो विभूतयो याः, तास्त्वमेवाशेषेण वक्तुमर्हसि त्वमेव व्यञ्जयेत्यर्थः । याभिरनन्ताभिर्विभूतिभिः यैर्नियमनविशेषैर्युक्त इमान् लोकांस्त्वं नियन्तृत्वेन व्याप्य तिष्ठसि ॥१६

४ वे. ता. चं.—आत्मशब्दोऽन्यविभूतित्वव्युदासार्थ इत्याह–**त्वदसाधारण्य** इति । 'विभूतयः' इति प्रथमान्तत्वेन 'वक्तुमर्हसि' इत्यनेन अन्वयायोगात्– **विभूतयो या** इति यच्छब्दाध्याहारः । यतो दिव्याः, अतोऽवश्यवक्तव्याः; अतस्ता वक्तुमर्हसीति वाक्यावृत्तिज्ञापनार्थः । 'अर्हसि' इति योग्यत्वनिर्देशेन तत्प्रार्थनं विवक्षितम् । ईश्वरेणाप्यशेषेण वक्तुं अर्जुनेन च श्रोतुमशक्यत्वाद्वचनतः प्रसादतश्च प्रकाशमात्रमिह प्रार्थ्यते; 'न हि ते भगवन् ! व्यक्तिम्' [ १०।१४ ] इति हि पूर्वमुक्तमित्यभिप्रायेणाह **त्वमेव व्यञ्जयेत्यर्थ** इति । बहुवचनासङ्कोचात् 'अशेषेण' इति निर्देशाच्च आनन्त्यमिह विवक्षितम् । 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य' [ १०।१९ ] इत्याद्युत्तरवशाच्चेत्यभिप्रायेण–**अनन्ताभि**रित्युक्तम् । विपूर्वो भवतिः भावप्रत्ययान्तो नियमनवाचीत्युक्तम् । नचात्रार्थान्तरं घटते, नियन्तव्यसामानाधिकरण्याद्यभावादित्यभिप्रायेण **यैर्नियमनविशेषै**रित्युक्तम् । प्रभूतनियमनविषये कौतुकातिरेकद्योतनाय विशेषशब्दः । तृतीयाया इह करणाद्यर्थत्वायोगादित्थम्भूतलक्षणार्थत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेण **युक्त** इत्युक्तम् । अत्र विभूतिशब्दस्य नियन्तव्यपरत्वेऽश्वत्थादीनां न लोकव्याप्तिकारणत्वं, नच तद्विशिष्टस्य, तैः सह वा तदितरव्याप्तिः; नच व्याप्तौ नियन्तव्यानामित्थम्भूतलक्षणत्वं, नैरर्थक्यात् ; नियमनविशेषाणां तु श्रुत्यनुसारादाकाशादिव्याप्तिव्यवच्छेदार्थत्वाच्च तदुपपत्तिरित्यभिप्रायेणाह–**नियन्तृत्वेन व्याप्ये**ति । "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानाम्" [ यजुः सं. ३।१० ] "अन्तरो यमयति" [ बृ. उ. ३।७।३–२३ शत. १४।५।३० ] "अन्तर्याम्यमृतः" [ बृ. उ. ३।७।३–२३ ] इत्यादिभिः श्रूयते । 'व्याप्य तिष्ठसि' इत्यनेन "व्याप्य नारायणः स्थितः" [ म. ना. ९।५ ] इति श्रुतिः स्मारिता ॥ १६ ॥

५ आ. भा.— विभूतयो विविधभूतयः ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— विभूतय ऐश्वर्याणि पृष्टानि नानारूपाणि वक्ष्यन्ते । किं केन सङ्गतं ? इत्यत आह–**विभूतय** इति । विविधभूतयो नानाभूतानि रूपाणि ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.—वक्तुमिति। आत्मविभूतयो दिव्या अप्राकृतास्तस्मात्त्वयमेव वक्तुमर्हसि ॥१६॥

८ वें. ब्र. गि.—यत एवं त्वमेव त्वद्विभूतीर्वेत्सि, ततस्त्वमेवोपदिशेत्याह—वक्तुमिति । दिव्या अत्यद्भुता आत्मविभूतयो याः, ता अशेषेण कार्त्स्न्येन वक्तुं त्वमेवार्हसि, नान्यः। शेषं स्पष्टम् ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०—यतो देवादयो न विदुस्तस्माद्वक्तुमर्हसि अशेषेणेति। या दिव्यास्तवासाधारण्यो विभूतयः ता अशेषेण वद। याभिः स्वांशभवनरूपैर्नियमनविशेषैर्गुणभूतैस्तदात्मभूतैश्चेमाँल्लोकांस्त्रीन् व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥

१० पु. अ. त.—एवं सम्बोध्य जगत्पतित्वेन स्वस्यापि पतित्वं सम्पाद्येदानीं स्वीयत्वेनानुग्रहं कुरु यथाऽहं पूर्वोक्तं त्वत्स्वरूपं ज्ञात्वा प्रपन्नो भवामीत्याह—वक्तुमर्हसीति । दिव्याः क्रीडारूपाः, आत्मविभूतयः स्वविभूतयः कार्यार्थं स्वयमेवांशरूपाः, अशेषेण वक्तुं त्वमेवार्हसि योग्योऽसि। योग्यत्वोक्त्या विभूतिज्ञानमपि नान्यस्य, यत्र तत्र साक्षात् त्वदज्ञाने किं वाच्यमिति व्यञ्जितम्। यतस्त्वमेव योग्योऽस्यतः कृपया वदेति भावः । याभिर्विभूतिभिः इमान् लोकान् व्याप्य स्वीयत्वेनाङ्गीकृत्य तिष्ठसि ता वक्तुमर्हसीत्यर्थः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०—एवं स्तुत्वाऽऽत्मनो बुभुत्सितमाह—वक्तुमिति ॥ १६ ॥

**कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन् ।**
**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ॥ १७ ॥**
**विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन ।**
**भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥ १८ ॥**

१ शां. भा.—कथमिति। कथं विद्यां विजानीयामहं हे योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्?। केषु केषु च भावेषु वस्तुषु चिन्त्योऽसि ध्येयोऽसि भगवन्मया? ॥ १७ ॥ विस्तरेणेति। विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं योगैश्वर्यशक्तिविशेषं विभूतिं च विस्तरं ध्येयपदार्थानां हे जनार्दन!—अर्दतेर्गतिकर्मणो रूपम्—असुराणां देवप्रतिपक्षभूतानां जनानां नरकादिगमयितृत्वाज्जनार्दनः । अभ्युदयनिःश्रेयसपुरुषार्थप्रयोजनं सर्वैर्जनैर्याच्यत इति वा। भूयः पूर्वमुक्तमपि कथय, तृप्तिर्हि परितोषो यस्मान्नास्ति मे शृण्वतस्त्वन्मुखनिस्सृतवाक्यामृतम् ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.—किमर्थं विभूतीः श्रोतुमिच्छसि? इत्याशङ्क्य ध्यानसौकर्यप्रकारप्रश्नेन फलं कथयति—कथमिति। योगो नामैश्वर्यं तदस्यास्तीति योगी, हे योगिन्! अहं स्थविष्ठमतिस्त्वां केन प्रकारेण सततमनुसन्दधानो विशुद्धबुद्धिर्भूत्वा निरुपाधिकं त्वां विजानीयां इति प्रश्नः। प्रश्नान्तरं प्रस्तौति—केषु केष्विति । चेतनाचेतनभेदादुपाधिबहुत्वाच्च बहुवचनम् ॥ १७ ॥ प्रकृतं प्रश्नमुपसंहरति—विस्तरेणेति। अर्दतेर्गतिकर्मणो जनार्दनेति रूपं तद्व्युत्पादयति—असुराणामिति । प्रकारान्तरेण शब्दार्थं व्युत्पादयति—अभ्युदयेति। ननु पूर्वमेव सप्तमे [ श्लो. ८-११ ] नवमे [ श्लो. २०-३९ ] च विभूतिरैश्वर्यं चेश्वरस्य दर्शितं तत्किमिति श्रोतुमिष्यते? तत्राऽऽह—भूय इति। अमृतममृतप्रख्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

३ रा. भा.—किमर्थं तत्प्रकाशनं? इत्यपेक्षायामाह—कथमिति। अहं योगी भक्तियोगनिष्ठः सन् भक्त्या त्वां सदा परिचिन्तयन् परिचिन्तयितुं प्रवृत्तः चिन्तनीयं त्वां परिपूर्णैश्वर्यादिकल्याणगुणगणं

---

१ 'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।' ( १०।७ ) इति द्वयोरपि ज्ञातव्यत्वोक्त्या विभूतिं योगं च कथयेति द्वयोः प्रार्थना। मध्ये 'विभूतीर्वक्तुमर्हसि' ( १०।१६ )इति विभूतिकथनप्रार्थना तु भगवतः सर्वोत्तमत्वप्रतिनिश्चयाय विभूतीनामवश्यज्ञातव्यत्वाभिप्रायेणेति केचित्॥ 'शृण्वतो नास्ति मेऽमृतं' इत्यत्र वाक्यपदाध्याहारे एकदेशविवर्तिरूपकम्, विषयस्य वाक्यस्य स्वशब्देनोल्लेखनं विना विषयिवाचकेनैवामृतशब्देन ग्रहणपूर्वकं तद्रूपतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, वाक्यरूपे धर्मिण्यमृतत्वारोपार्थं वाक्यत्वस्यापह्नवादपह्नुतिश्चेत्येतेषां सङ्करो माधुर्यातिशयानुभवेनोत्कण्ठातिशयं व्यनक्तीति मधुसूदनसरस्वत्यभिप्रायः।
—अविगीता।

कथं विद्याम् ? ; पूर्वोक्तबुद्धिज्ञानादिभावव्यतिरिक्तेष्वनुक्तेषु केषु केषु च भावेषु मया नियन्तृत्वेन चिन्त्योऽसि ? ॥ १७ ॥ 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] इति सङ्क्षेपेणोक्तं तव स्रष्टृत्वादियोगं विभूतिं नियमनं च भूयो विस्तरेण कथय; त्वयोच्यमानं त्वन्माहात्म्यामृतं शृण्वतो मे तृप्तिर्नास्ति हि; ममातृप्तिस्त्वयैव विदितेत्यभिप्रायः ॥ १८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— योगिशब्दः प्रकरणविशेषात् ' त्वां सदा परिचिन्तयन्' इत्यादेः सामर्थ्याच्च योगिविशेषविषय इत्याह—**भक्तियोगनिष्ठः सन्निति**। सन्नित्यनेन निष्पन्नयोगिपरत्वमपि व्यावर्तितम् । अत्र 'योगिन्' इति परेषां पाठोऽनार्षः। 'सदा' इति विशेषणसामर्थ्यात् भक्त्येति सिद्धम्। वेदनात्पूर्वं चिन्तनाशक्तेः, ' कथं विद्याम् ' इत्यस्य चिन्तनहेतुत्वात् 'लक्षणहेत्वोः क्रियायाः' [ अष्टा. ३।२।१२६ ] इति शतुरनुशासनाच्च **चिन्तयितुं प्रवृत्त** इत्युक्तम् । 'त्वाम्' इति धर्मिविशेषस्य प्रतिपन्नत्वात्प्रकारविशेषेषु बुभुत्सेति ज्ञापनायोक्तं **परिपूर्णे**त्यादि । प्रश्नो ह्यज्ञातविशेषज्ञापनार्थ इत्यभिसन्धायोक्तं—**पूर्वोक्ते**त्यादि । 'भावेषु' इति सप्तम्यभिप्रेतोक्तिः, प्रकृतानुकर्षणं वा— **नियन्तृत्वे**नेति ॥ १७ ॥ प्रतिकूलजनानां नरकादिगमयितृत्वात् अनुकूलजनैः स्वाभिलषितं याच्यमानत्वाद्वा जनार्दनः । विस्तरबुभुत्साहेतुज्ञापनार्थं योगशब्दविवक्षितव्यक्त्यर्थं च भूयश्शब्दफलितमाह—**अहं सर्वस्ये**ति । अमृतशब्दोऽत्रातृप्तिसमभिव्याहारान्माहात्म्ये भोग्यत्वपरः । भोग्यतमत्वायोक्तं **त्वयोच्यमान**मिति । त्वन्मुखचन्द्रनिस्सृतमिति भावः । हिशब्दाभिप्रेतं विवृणोति—**ममे**ति ॥१८॥

**५ आ. मा. भा.** —॥ १७ ॥ न जायतेऽर्दयति च संसारमिति जनार्दनः । तथा च बाभ्रव्यशाखायाम्—" स भूतः स जनार्दनः " इति । " स ह्यासीत्स नासीत्सोऽर्दयत् " इति ॥ १८ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १७ ॥ ' अर्द गतौ याचने च ' [ धा. पा. १।५५ ] इति वचनात् आसुरजनानां नरकादिगमयितृत्वाज्जनैर्याच्यत्वाद्वा जनार्दन इति **शङ्करः**, तदप्रामाणिकं व्याख्यानम् । इदं तु श्रौतत्वादुपादेयमिति भावेनाह— **न जायत** इति । नञः परनिपातः । अत एव नलोपाभावः उत्तरपदे तस्य स्मरणात् अर्दयति गमयति । **स ह्यासीदि**ति । भूतः । अनादितः सत्तावानित्यर्थः । स नासीन्न स जन्मवान्सोऽर्दयतीति जनार्दनः ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **कथमिति** । कथं विद्यां विजानीयाम् । भावेषु पदार्थेषु ॥ १७ ॥ **विस्तरेणेति** । विस्तरेणाऽऽत्मनो योगं विभूतिं विस्तरं च । अमृतं शृण्वतः ॥ १८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— विभूत्युपदेशेन तव किं फलम् ? तत्राह— **कथमिति** । हे योगिन् निरतिशयैश्वर्यसम्पन्न ! कथं केन प्रकारेण सदा परिचिन्तयन्ध्यायन्सन् अहं त्वां विद्यां जानीयाम् ?। ननु विभूतिरूपेण ध्यायन्मां जानीहि; तत्राह— केषु केषु च भावेषु पदार्थेषु त्वं मया चिन्त्योऽसि ? के वा पदार्थास्त्वद्विभूतय इति यावत्। योगिभिरपि दुर्ग्रहं त्वद्रूपं विक्षिप्तचेतसो ममातिदुरवगाहमित्यतो विभूतिरूपेण त्वां ध्यायन्क्रमेण त्वद्रूपं प्रतिपित्समानस्य मम त्वद्विभूतिज्ञानमवश्यभाव्यमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥ ननु ' महर्षयः सप्त पूर्वे ' [ १०।६ ] इत्यादिना पूर्वमेव विभूतयस्तवोपदिष्टा इत्यत आह— **विस्तरेणे**ति । हे जनार्दन ! आत्मनस्तव योगमैश्वर्यं विभूतिं ध्यानालम्बनाय प्राक् ( सप्तमे नवमे च ) सङ्क्षेपेणोक्तमपि विस्तरेण भूयः कथय । किञ्च वाक्ये खलु श्रूयमाणे तत्र पौनरुक्त्ये सति कैमर्थक्यशङ्काऽवतरति, न त्वमृते; मया च त्वन्मुखारविन्दनिर्गतममृतमेव श्रोत्राभ्यां पीयते, न तु वाक्यम् ; अतो न तत्रालम्बुद्धिर्भवितुमर्हतीत्याह— तृप्तिर्नास्ति मे शृण्वतोऽमृतमिति । अत्र केवलामृतशब्दप्रयोगादमृतमेवेदम् , न वाक्यमित्यपह्नवालङ्कारो व्यज्यते । हिशब्देन च प्रसिद्ध्यर्थकेन ' यत्तेऽहं प्रीयमाणाय ' [ १०।१ ] इति वदता त्वया विदित एवायमर्थ इति सूचितम् ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— किमर्थं तत्प्रकाशनं ? इत्यपेक्षायामाह— कथं विद्यामिति । अहं त्वया योगी विधीये तस्य च चिन्तनं युक्तमेवेति । केषुकेषूभयविधेषु भावेषु मया चिन्त्योऽसि ? । ' योगिन् ' इति पाठे तद्वत्त्वात्तव योगमपि कथमहं विद्यामिति प्रश्न उपलभ्यते। ततो विस्तरेणेति समस्तप्रश्नस्फोरणं विभूतिं योगं चेति । यद्यपि पूर्वं त्वयोक्ता विभूतिस्तथापि सङ्क्षेपेणेत्यधुना विस्तरेण वदेति पृच्छति ॥ १७ ॥ १८ ॥

**१० पु. अ. त.**— कथनप्रयोजनमाह— **कथमिति** । हे योगिन् सर्वव्यापक सर्वकरणसमर्थ ! अहं प्रकटरूपमानन्दमयं त्वां सदा परिचिन्तयन् परितो बाह्याभ्यन्तरभेदेन चिन्तयन् विभूतीः कथं विद्यां जानामीत्यर्थः । अत्रायं भावः— साक्षाद्भगवच्चिन्तने विभूतिज्ञाने तत्र मनोनिवेशने चिन्तनविच्छेदो भविष्यतीति कथं जानामि ? ननु तर्हि प्रश्नः किमर्थं ? इत्याशङ्क्य यत्पूर्वमुक्तम् ' एतां विभूतिं ' [ १०।७ ] इत्यारभ्य ' येन मामुपयान्ति ते ' [ १०।७ ] इत्यन्तं तेन स्वत्प्राप्त्यर्थं

पृच्छामि, तत्रापि स्वाधिकारानुसारेण यत्स्वस्यावश्यकं तत्कथयेति विज्ञापयति— **केष्विति** । केषु लोकेषु, च पुनः केषु भावेषु पदार्थेषु भगवन् षड्गुणैश्वर्य ! पूर्णगुणैः सर्वव्यापक ! मया चिन्तनीयोऽसि ? ॥ १७ ॥ यच्चिन्तनात् त्वां प्राप्नोमि याथातथ्येन जानामि तादृशमात्मनो योगं पदार्थेषु क्रीडात्मकं योगम् । च पुनः । तादृशीमेव विभूतिं हे जनार्दन सर्वाविद्यानाशक ! पूर्वं सङ्क्षेपकथितामपि भूयो विस्तारेण कथय । हि यस्मात् अमृतं मोक्षात्मकं मरणनिवर्तकमानन्दरूपं त्वद्वाक्यं शृण्वतो मे तृप्तिः अलम्भावो न भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— योग ऐश्वर्यं तद्वत् हे योगिन् ! त्वां कथं चर्मचक्षुषा विद्याम् ? न कथमपीति विश्वरूपदर्शनस्य दौर्लभ्यं मन्वानः कतिपयेष्वेव स्थानेषु भगवन्तं चिन्तयिष्यामि विश्वरूपदर्शनेऽधिकारसिद्ध्यर्थमित्याशयेनाह— केष्विति ॥ १७ ॥ योगं वैश्वरूप्यम् । विभूतिं ध्यानालम्बनम् । अमृतममृतस्य मोक्षस्य साधनम् ॥ १८ ॥

प्रष्टुरर्जुनस्य चित्तैकाग्र्यार्थं भगवदुक्तिः ।

**श्रीभगवानुवाच— हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।**
**प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ ! नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥ १९ ॥**

**१ शां. भा.— हन्त त इति । हन्तेदानीं ते दिव्या दिवि भवा आत्मविभूतय आत्मनो मम विभूतयो यास्ताः कथयिष्यामीत्येतत्प्राधान्यतो यत्र यत्र प्रधाना या या विभूतिस्तां तां प्रधानां प्राधान्यतः कथयिष्याम्यहं कुरुश्रेष्ठ ! । अशेषतस्तु वर्षशतेनापि न शक्या वक्तुं, यतो नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे मम विभूतीनामित्यर्थः ॥ १९ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— प्रष्टारं विश्रम्भयितुं भगवानुक्तवानित्याह— **श्रीभगवानिति** । 'हन्त' इत्यनुमतिं व्यावर्त्य जिज्ञासावच्छिन्नं कालं दर्शयति— **इदानीमिति** । दिविभवत्वमप्राकृतत्वमस्मदगोचरत्वम् । वाक्यान्वयं द्योतयति— **यास्ता** इति । सर्वविभूतीनां वक्तव्यत्वप्राप्तावुक्तम्— **यत्रेति** । किमित्यनवशेषतो विभूतयो नोच्यन्ते ? तत्राऽऽह— **अशेषतस्त्विति** । तत्र हेतुः— **यत** इति ॥ १९ ॥

**३ रा. भा.— हे कुरुश्रेष्ठ ! मदीयाः कल्याणीर्विभूतीः प्राधान्यतस्ते कथयिष्यामि । प्राधान्यशब्देनोत्कर्षो विवक्षितः ; 'पुरोधसां च मुख्यं माम्' [ १०।२४ ] इति हि वक्ष्यते ; जगत्युत्कृष्टाः काश्चन विभूतीर्वक्ष्यामि, विस्तरेण वक्तुं श्रोतुं च न शक्यते, तासामानन्त्यात् । विभूतित्वं नाम नियाम्यत्वम्, सर्वेषां भूतानां बुद्ध्यादयः पृथग्विधा भावा मत्त एव भवन्तीत्युक्त्वा 'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः' [ १०।७ ] इति प्रतिपादनात् । तथा तत्र योगशब्दनिर्दिष्टं स्रष्टृत्वादिकं विभूतिशब्दनिर्दिष्टं तत्प्रवर्त्यत्वमिति युक्तम् ; पुनश्च 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः' [ १०।८ ] इत्ययुक्तम् ॥ १९ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवमतृप्त्या पृच्छन्तमर्जुनं प्रति अतिप्रसन्नो भगवांस्तस्याभिजनादिवर्णनमुखेन योग्यतां दर्शयन् विभूतेर्विस्तरेण प्रत्येकं वक्तुं श्रोतुं च अशक्यत्वात्केनचिदुपाधिविशेषेण संगृहीता विभूतीर्वक्ष्यामीत्याह— **हन्तेति** । ते अनसूयत्वप्रीयमाणत्वातृप्तत्वादिगुणपूर्णायेति भावः । गुणत्वादिप्रतियोगिकशेषित्वादिप्राधान्यविवक्षायां वक्ष्यमाणसमस्तोदाहरणव्याप्त्यभावाद्गुणानां च प्राधान्येन व्यपदेक्ष्यमाणत्वात्सङ्ग्राहकमर्थविशेषमाह **प्राधान्यशब्देनेति** । तस्यैव विवक्षितत्वं वक्ष्यमाणेन संवादयति **पुरोधसामिति** । पिण्डितार्थमाह **जगतीति** । 'विस्तरेण कथय' इति पृच्छन्तं प्रति प्राधान्यतः कथयिष्यामीति कथमुच्यते ? इति शङ्कायां 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' इत्युच्यते । विभूतीनामिति शेषः । 'विभूतेर्विस्तरो मया' [ १०।४० ] इति हि वक्ष्यते । नास्तिशब्दाभिप्रेतमशक्यत्वं दर्शयति **विस्तरेण वक्तुमिति** । नेदं वक्तृ-

---

१ **हन्तेति**— अत्र विभूतिशब्देनैश्वरं प्राकृताप्राकृतवस्तुमात्रम्, तथा प्राकृताप्राकृतवस्तुसारश्चाग्रिमग्रन्थदृष्ट्योच्यत इति विवेचनीयमिति वंशीधरीये ( ११।१६।५ ) । —**अविगीता** ।

श्रोत्रोरसामर्थ्यनिबन्धनमित्याह तासामानन्त्यादिति । तदेतदुक्तं नास्त्यन्त इति । वक्ष्यमाणेषु पदार्थेषु विभूतिशब्दप्रयोगनिमित्तमाह विभूतित्वं नामेति । नियन्तव्यवस्त्वन्तरविषयो विभूतिशब्दो विभवनकर्मपरः । अन्यत्र च 'ब्रह्मा दक्षादयः कालः' 'विष्णुर्मन्वादयः कालः' 'रुद्रः कालान्तकाद्याश्च' 'जनार्दनविभूतयः' [वि. पु. १।२२।३१—३३] इत्यादिषु इति नियन्तव्येषु विभूतिशब्दो दृष्ट इति भावः । कुतः ? इत्यत्राह— सर्वेषामिति । प्रस्तुतं तादधीन्यं ह्येतच्छब्देन परामृश्यत इति भावः । समनन्तरश्लोकेनापि तस्य श्लोकस्य तदर्थपरत्वं दर्शयति तथेति । नन्वस्य श्लोकस्य व्याख्याने पूर्वं 'सौशील्यवात्सल्यसौन्दर्यादिकल्याणगुणयोगं' इत्युक्तम्; इह तु योगशब्दनिर्दिष्टं स्रष्टृत्वादिकमुच्यते; तत्कथं घटते ? इत्थम्-उभयत्रोभयमप्यादिशब्देन सङ्गृहीतमित्येकार्थत्वात् । अत एव हि 'एतां विभूतिं योगं च' [१०।७] इत्यत्र मम 'हेयप्रत्यनीककल्याणगुणगणरूपं योगं च' इति प्रयोजकेन संगृहीतम् । 'एतां विभूतिम्' इत्यादेः पूर्ववन्नियमनपरत्वेन व्याख्यानेऽपि अत्र तदुपादानं समृद्ध्याद्यर्थान्तरव्युदासेन सोपसर्गधात्वर्थव्यञ्जनार्थम् । 'विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च' [१०।१८] इत्यत्र तु 'याभिर्विभूतिभिः' [१०।१६] इति तत्पूर्वप्रश्नवाक्यस्थविभूतिशब्दैकार्थ्यस्वारस्यान्नियमनार्थतोक्ता । अतः प्रश्नोत्तरपदयोरीषद्वैरूप्यं सह्यम् ॥ १९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १९ ॥

७ हृ पै भा.— हन्तेति । हन्त ! ते । प्राधान्यतः प्राधान्यात् ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं प्रार्थितः श्रीभगवानुवाच— हन्तेति । कुरुश्रेष्ठेत्युपदेशाधिकारप्रदर्शनम् । हन्तेति तदीयस्तुतिनम्रताप्रयुक्तविनयावस्थानुकारः । या दिव्या आत्मनो मम विभूतयः, ताः प्राधान्यतः प्रधानभूताः काश्चित्ते कथयिष्यामि । विस्तरेण तु वक्तुं श्रोतुं चाशक्याः, यतो मे विभूतीनां विस्तरस्यान्तो नास्ति ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— एवं प्रार्थितः श्रीभगवानुवाच— हन्तेति । अनुकम्पा सम्बोधने । या दिव्या ममात्मविभूतयस्ता वक्ष्यामि । तत्रापि प्राधान्यतः, न तु सामस्त्येन; अनन्तत्वात्तदाह— नास्त्यन्त इति । विभूतिर्हि विविधतया स्वांशरूपेण प्रकृतौ भूतिराविर्भूतिः केनचिद्विशेषेण युक्ता सर्वत्र सत्ता वा स्वस्य विविधा सर्वेषां नियम्यत्वोक्त्या स्वांशत्वकथनमभिप्रेतम् । एवं च सर्वस्य विभूतिरूपत्वे प्राधान्यतो विभूतय इहोच्यन्ते । 'पुरोधसां च मुख्यं मां' [१०।२४] इति रीत्या मुख्यभावो ज्ञेयः । एवमपि भगवानव्ययोऽचिन्त्यैश्वर्यादिधर्मकत्वादिति योगः स च तदन्ते वक्ष्यते 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२] इति ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— एवं जिज्ञासुनाऽर्जुनेन प्रार्थित आह— हन्तेति । स्वस्वरूपज्ञानार्थकतादृक्प्रार्थनया हन्तेति हर्षे । हे कुरुश्रेष्ठ भक्तवंशोद्भव ! दिव्याः क्रीडारूपा विभूतयः ते प्राधान्यतस्त्वद्योग्यास्त्वदर्थं कथयिष्यामि । ननु विस्तरेण कथं नोच्यते ? इत्यत आह— नास्तीति । मे विभूतीनां विस्तरस्य अन्तो नास्ति । अतस्त्वत्पृष्टत्वाद्योग्या एव कथयिष्यामीति भावः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच— हन्तेति । हन्त इदानीं— हन्तेत्यनुमतौ वा-दिव्याः पुराणान्तरेष्वपि श्रेष्ठत्वेन प्रसिद्धा या आत्मविभूतयस्ताः कथयामीति योजना । प्राधान्यत इति योगोपकारित्वेन विभूतय इह प्राधान्येन । योगस्तु सङ्क्षेपेणैवोच्यते, तस्याग्रे वक्ष्यमाणत्वादिति भावः । अन्यथा योगं विभूतिं च कथयेति पृष्टे विभूतिमात्रकथनेनानवहितचित्तत्वं भगवतः स्यात् । 'नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे' 'नान्तोऽस्ति ... विभूतीनां' [१०।४०] इति विपरिणामेनानुषञ्जनीयम् ॥ १९ ॥

पारमेश्वरं पारमार्थिकं ध्येयस्वरूपम् ।

**अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ।**
**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥ २० ॥**

---

१ अहमात्मेत्यनेन व्यवच्छेदं वारयति, अन्यथा 'स्थावराणां हिमालयः' [१०।२५] इत्यादिवाक्येषु हिमालय एव भगवान्, नान्ये इति व्यवच्छेदेन निर्विभागत्वाभावात् ब्रह्मदर्शनं खण्डितमभविष्यत् । यतो यस्याखण्डाकारव्याप्तिस्तथा चेतसि नोपारोहति, तां च जिज्ञासति; तस्यायमुपदेशग्रन्थः । इत्यभिनवगुप्तपादाः । — अविगीता ।

**१ शां. भा.**— तत्र प्रथममेव तावच्छृणु— अहमात्मा प्रत्यगात्मा गुडाकेश गुडाका निद्रा तस्या ईशो गुडाकेशः, जितनिद्र इत्यर्थः; घनकेश इति वा । सर्वभूताशयस्थितः सर्वेषां भूतानामाशयेऽन्तर्हृदि स्थितोऽहमात्मा प्रत्यगात्मा नित्यं ध्येयः । तदशक्तेन चोत्तरेषु भावेषु ( श्लो. २१–३९ ) चिन्त्योऽहं चिन्तयितुं शक्यः, यस्मादहमेवाऽऽदिर्भूतानां कारणं तथा मध्यं च स्थितिरन्तः प्रलयश्च ॥ २० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— विभूतिप्रदर्शने प्रस्तुते सत्यादावेव पारमार्थिकं पारमेश्वरं रूपं दर्शयितुं श्रोतुरर्जुनस्य मनस्समाधानार्थं यतते— **तत्रे**ति । सोपाधिकमपि काल्पनिकं परस्य रूपं पश्चाद्वक्ष्यमाणं श्रोतुं चित्तसमाधानं कर्तव्यमेवेत्याह—**तावदि**ति । आशेरतेऽस्मिन्विद्याकर्मपूर्वप्रज्ञा इत्याशयो हृदयं सर्वेषां भूतानां हृदयेऽन्तः स्थितो यः प्रत्यगात्मा सोऽहमेवेति वाक्यार्थमाह— **सर्वेषा**मिति । यस्तु मन्दो मध्यमो वा परमात्मानमात्मत्वेन ध्यातुं नालं तं प्रत्याह— **तदशक्तेने**ति । वक्ष्यमाणादित्यादिषु परस्य न ध्येयत्वमन्यदेव कारणं किञ्चित्तत्र तत्र ध्येयमित्याशङ्क्याऽऽह— **यस्मादि**ति । सर्वकारणत्वेन सर्वज्ञत्वेन सर्वेश्वरत्वेन च परस्य ध्येयत्वमत्रेप्सितं; नान्यस्य कस्यचित्कारणस्याऽऽदित्यादिषु ध्येयतेत्यर्थः ॥ २० ॥

**३ रा. भा.**— तत्र सर्वभूतानां प्रवर्तनरूपं नियमनमात्मतयाऽवस्थायेतीममर्थं योगशब्दनिर्दिष्टं सर्वस्य स्रष्टृत्वं पालयितृत्वं संहर्तृत्वं चेति सुस्पष्टमाह— **अहमिति** । सर्वेषां भूतानां मम शरीरभूतानां आशये हृदये अहमात्मतयाऽवस्थितः । आत्मा हि नाम शरीरस्य सर्वात्मना आधारो नियन्ता शेषी च । तथा वक्ष्यते— ‘ सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ’ [ १५।१५ ] ‘ ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ’ [ १८।६१ ] इति । श्रूयते च— “ यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः, यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ” [ बृ. उ. ३।७।१५ ] इति, “ य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः ” [ श. प. १४।५।३० ] इति च । एवं सर्वभूतानामात्मतयाऽवस्थितोऽहं तेषामादिर्मध्यं चान्तश्च, तेषामुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुरित्यर्थः ॥ २० ॥

**४ वे. ता. चं.** —‘विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च’ [ १०।१८ ] इति पृष्टमर्थद्वयं विस्तरेण वक्तुं तस्योत्तरद्वयम् ‘अहमात्मा’ इति श्लोकेन संगृह्योच्यत इत्यभिप्रायेणाह- **तत्रे**ति । एतेन प्रागुक्तेषु वक्ष्यमाणेषु च सामानाधिकरण्यनिर्देशेषु यथासम्भवं निमित्तद्वयमुक्तं भवति । **आत्मतयाऽवस्थित** इति फलितान्वयप्रदर्शनम् । अनेकार्थोऽप्यात्मशब्दः शरीरप्रतिसम्बन्धिनि प्रसिद्धिप्राचुर्यात्प्रतिसम्बन्धिरूपं शरीरमपेक्षते; ततश्च वृत्त्यन्तर्गतोऽपि भूतशब्दो बुद्ध्या निष्कृष्यान्वेतव्य इत्यभिप्रायेण **सर्वेषां भूतानां मम शरीरभूतानामि**त्युक्तम् । ईश्वरस्य जीवशरीराणि भूतानि जीवांश्च प्रति कथमात्मत्वं ? इत्यत्रात्मलक्षणं दर्शयति–**आत्मा ही**ति । त्रयमप्येकं लक्षणमित्येके । तत्र श्रुत्याद्यनुसारेण जन्मादित्रयस्य ब्रह्मलक्षणत्व इव शङ्कितमात्रव्यवच्छेदार्थतया त्रयाणां साफल्यं भाव्यम् । लक्षणत्रयमिति चान्ये । तत्र त्वेवं **विवेकः**—‘यस्य चैतन्यविशिष्टस्य यद्द्रव्यं सर्वात्मना स्वार्थे नियन्तुं धारयितुं च शक्यम्’ इत्यादि शरीरलक्षणवाक्यमपि भाव्यम् । शरीरलक्षणान्तराणि च तत्र तत्र विस्तरेण प्रतिक्षिप्तानि । चैतन्यविशिष्टं प्रत्यपृथक्सिद्धविशेषणभूतद्रव्यं शरीरमिति भाष्याभिप्रेतोऽस्माकं निष्कर्षः । अत्र सर्वभूतशब्देन शरीरमात्रनिर्देशशङ्काव्युदासाय आशयशब्दस्य च हृदयविषयत्वव्यञ्जनायाधारत्वनियन्तृत्वादेरात्मलक्षणत्वासिद्ध्यर्थं चाह **तथे**ति । ‘सर्वस्य चाहम्’ [ १५।१५ ] इत्यस्यानन्तरं ‘द्वाविमौ पुरुषौ’ [ १५।१६ ] इत्युपक्रम्य ‘क्षरः सर्वाणि भूतानि’ [ १५।१६ ] इति वचनात्सर्वभूतशब्दोऽचिद्विशिष्टक्षेत्रज्ञपर इति निश्चीयते तद्वदत्रापि । तथा तस्मिन्नेव प्रकरणे ‘ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः’ [ १५।१७ ] इत्युक्त्वा ‘यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः’ [ १५।१७ ] इत्युक्तम् । अत्र ‘बिभर्तीश्वरः’ इत्याभ्यां आधारत्वनियन्तृत्वे स्पष्टे; ईश्वरशब्दरूढ्या च स्वामित्वसिद्धिः; न खलु गरुडादिषु भुजङ्गादीन्नियच्छत्सु तदीश्वरशब्दः । ईश्वरशब्दस्याहंशब्दस्य चात्रैकविषयत्वं श्लोकद्वयोपादानेन दर्शितम् । अत्र हि सर्वभूतशब्दो जीवपर एव ‘भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया’ [ १८।६१ ] इत्यभिधानात् । ‘भ्रामयन्’ इत्यनेन नियन्तृत्वादिसिद्धिः । हृद्देशस्थितया च ‘मयि सर्वमिदं प्रोतम्’ [ ७।७ ] इत्याद्युक्तधारकत्वादि सूचितमेव । एवं चिदचिदात्मकसमस्तवस्तुशरीरत्वं सर्वभूतशब्दान्वयेनैव वदन्तीं श्रुतिं दर्शयति— **यः सर्वेषु भूतेष्वि**ति । चिदंशं प्रति शरीरित्वं प्रपञ्चयद्वाक्यमुपादत्ते **य आत्मनी**ति । आत्मत्वेनावस्थानस्योपादानत्वनिमित्तत्वोपयोगात्पूर्वार्धेन सङ्गमयन्नुत्तरार्धं

व्याख्याति—एवमिति । एवमात्मतयाऽवस्थितोऽहमित्यनेन निर्विकारस्य स्वस्यैवोपादानत्वस्थापनम् । देशतः कालतो वा आदिमध्यान्तत्वमात्रमनुचितमिति तदुपचरितमाह— तेषामुत्पत्तीति ॥ २० ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २० ॥

७ ह. पै. भा.— अहमिति । गुडाः पिण्डीकृताः केशा यस्य स गुडाकेशः । सर्वाणि भूतान्याशयो यस्य स सर्वभूताशयः ॥ २० ॥

८ वें. ब्र. गि.— तत्र तावत्प्रथमम् 'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वाम्' [ १०।१७ ] इत्यस्योत्तरमाह— अहमिति । सर्वेषां भूतानां चेतनानामाशये हृदि स्थितो यः प्रत्यगात्मा सोऽहमेव ज्ञेयः। अनेन 'कथं विद्याम्' [ १०।१७ ] इत्यस्य प्रत्यगात्माभिन्नत्वेनाहं वेद्य इत्युत्तरमुक्तं भवति। 'गुडाकेश !' इत्यनेन निरस्तन्द्रत्ववाचकेन तादृशज्ञानयोग्यता दर्शिता । प्रत्यगात्माभेदोपपादनाय "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्" [ छां. उ. ३।१४।१ ] इति श्रुत्युक्तं सर्वाद्वैतं दर्शयति— अहमिति । नात्र सर्वभूतजन्मादिहेतुत्वं प्रतिपाद्यते, 'अहं सर्वस्य प्रभवः' [ १०।८ ] इत्यादिना तस्य प्रागेवोक्तेः । नापि सर्वभूतजन्मस्थितिलयानां भगवद्विभूतित्वमुच्यते, 'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ! [ १०। ३२ ] इत्यनुपदमेव तस्य वक्ष्यमाणत्वात्, किन्तु सर्वभूतोत्पत्तिस्थितिलयाधारत्वम्, तेन सर्वाद्वैतमुक्तं भवति । 'यद्धि यत्रोत्पद्य स्थित्वा लीयते तत्ततो नातिरिक्तम्' इति व्याप्तेः, "तज्जलान्" इति श्रुतेश्च । तथा च प्रत्यग्ब्रह्माभेदो निर्विवाद इति भावः । एवमस्य श्लोकस्य 'अहमेव प्रत्यगात्मा' इति (शं.) भाष्यकारैर्निर्णीतेऽर्थे यच्छ्रीधराचार्यैरन्यद्व्याख्यातम् 'सर्वभूतानामाशयेषु ... नियन्तृत्वेनावस्थितः परमात्माऽहमित्यन्तर्याम्यभेदोऽत्र प्रतिपाद्यते' इति, तच्चिन्त्यम्; 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] इति पूर्वमेव भगवता स्वस्यान्तर्यामित्वप्रदर्शनेन पुनस्तत्प्रतिपादनवैयर्थ्यात्, उक्तरीत्या 'अहमादिश्च मध्यं च' इति वाक्यशेषोक्तविश्वाद्वैतासामञ्जस्याच्च; सर्वभूताशयेषु नियन्तृत्वेन स्थितोऽहमित्येतावतैव चारितार्थ्येनात्मपदवैयर्थ्याच्च । आत्मशब्देन नियन्तुरुक्तौ सर्वभूताशयस्थित इति विशेषणवैयर्थ्यम् । भाष्यकारमते त्वात्मशब्दस्य जीवपरमात्मसाधारणत्वात्र जीवात्मपरत्वज्ञापनाय सर्वभूताशयस्थित इति परिच्छिन्नत्वबोधकं विशेषणम् । तावन्मात्रं च "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः" [ बृ. उ. २।१।१७+४।२।३+४।४।२२ तै. उ. १।६।१ ] इति श्रुतिप्रसिद्धाकाशसाधारणमित्यात्मपदमिति न कोऽपि दोषः । तस्माद्भाष्यनिर्णीतो यथोक्त एव श्लोकार्थः ॥ २० ॥

९ व० त० दी०— तत्र प्रथमं योगं लक्षयन्नाह— अहमिति । गुडाका निद्रा तस्या ईशः नियन्ता भवेति निरालस्यतयैव चिन्तनीयमिति सम्बोधयति। अहं स्वांशभूतस्य प्राकृतस्य सर्वस्यैव प्रथममात्मा । स्वशरीरभूतस्य पृथिव्यादेः सर्वभूतपदवाच्यचेतनस्य चाशये स्थितोऽहमन्तस्तथा सर्वेषामादिश्चेति पूर्वोक्तस्य 'अहमादिर्हि देवानां' [ १०।२ ] इत्यस्य प्रपञ्चः । सर्वत्रात्मत्वेनाहं चिन्तनीय इति भावः । अत्रांशांशिनोरभेदाभिप्रायेण तथोक्तिरवसेया ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.— एवं कथनं प्रतिज्ञाय प्रथमं सर्वत्र स्वयोगमाह—अहमिति । अतन्द्रितभावेन श्रवणार्थं सम्बोधयति–हे गुडाकेश ! सर्वभूतानामाशयेषु अन्तःकरणेषु स्थितः आत्मा अहम्, तेन मदात्मकात्मसम्बन्धेन सर्वेषां जीवानां विषयानन्दमारभ्य ब्रह्मानन्दानुभवान्तानन्दानुभवो भवतीत्यर्थः । त्वयाऽपि तेषु आनन्दानुभवार्थकमदंशात्मकसंयोगात्मकोऽहं चिन्तनीय इति भावः । एतच्चिन्तनं च माहात्म्यज्ञानायोपयोक्ष्यतीति भावः । ननु त्वदात्मसंयोगे नाशः कथं भवति ? इत्याकाङ्क्षायामाह— अहमिति । भूतानामादिः उत्पत्तिस्थानं चाहम्, च पुनः मध्यं स्थितिः । अन्तश्च लयस्थानमहमेव । यतो मदिच्छया मत्क्रीडार्थमुत्पादिताः यावत्क्रीडनं च रक्षिताः, क्रीडोपसंहारेच्छायां च लयं प्रापिता अतो न दोष इति भावः । मयोत्पादितानां मदात्मांशसंयुक्तानामन्यतो नाशेऽन्यलीनत्वे दोषः स्यात्, न तु मयि लीनानाम् । इदमेवैवकारेण द्योतितम् । अत एव निर्दोषभावेन मदंशात्मसंयोगं सर्वेषु चिन्तयेति भावः ॥ २० ॥

११ नी० भा०दी०— सङ्क्षेपेण योगमाह— अहमिति । हे गुडाकेश हे जितनिद्र ! घनकेश ! इति वा । अहं वासुदेव आत्मा अततीत्यात्मा व्यापकः, अत एव सर्वेषां भूतानामाशय एकीभावस्थानं जलानामिव कासारो जलाशयस्तद्वदहं सर्वभूताशयः स्थितोऽचलः । 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः' [ अष्टा. ८।३।३६ ] इति वार्तिकेन पक्षे विसर्गलोपः । भाष्ये तु सर्वेषां भूतानामाशयेऽन्तर्हृदि स्थित इति व्याख्यातम् । सर्वभूताशयत्वादेवाहं आदिर्जन्मकारणम्, मध्यं स्थितिकारणं, भूतानां अन्तो लयस्थानम्, सर्वमिदं ब्रह्माण्डं मय्येवास्तीति भावः ॥ २० ॥

उक्तस्वरूपध्यानाशक्तेभ्यः सुध्येयाः काश्चिद्भगवद्विभूतयः ।

**आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान् ।**
**मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥ २१ ॥**

**१ शां. भा.— एवं च ध्येयोऽहम्— आदित्यानां द्वादशानां विष्णुर्नामाऽऽदित्योऽहं, ज्योतिषां रविः प्रकाशयितॄणामंशुमान्रश्मिमान्, मरीचिर्नाम मरुतां मरुद्देवताभेदानामस्मि, नक्षत्राणामहं शशी चन्द्रमाः ॥ २१ ॥**

---

१ अत्रेदमवधेयम्— विभूतयो द्विविधाः, उत्तमा उत्तमत्वप्रदाश्चेति । तत्र प्रत्यक्षा उत्तमाः, तिरोहिता उत्तमत्वप्रदाः । उत्तमत्वप्रदा द्विविधाः, विजातीयसजातीयोत्तमत्वप्रदत्वभेदात् । 'नक्षत्राणामहं शशी' ( १०।२१ ) 'वरुणो यादसामहम्' ( १०।२९ ) इत्यादयो विजातीयोत्तमत्वप्रदा विभूतयः, अन्यास्तु सजातीयोत्तमत्वप्रदाः । अत्र प्रकरणे षष्ठी द्विविधा, निर्धारणषष्ठी सम्बन्धषष्ठीति । 'आदित्यानामहं विष्णुः' ( १०।२१ ) इत्यादिषु निर्धारणषष्ठी, 'भूतानामस्मि चेतना' ( १०।२२ ) इत्यादिषु सम्बन्धषष्ठी । 'नक्षत्राणामहं शशी' ( १०।२१ ) इत्यत्रापि सम्बन्धषष्ठ्येव, चन्द्रस्य विजातीयत्वेन नक्षत्रेभ्यो निर्धारणायोगात षष्ठ्यर्थः सम्बन्धः । 'भूतानामस्मि चेतना' ( १०।२२ ) इत्यादिष्वाश्रयाश्रयिभावः, 'नक्षत्राणामहं शशी' ( १०।२१ ) इत्यादिषु स्वस्वामिभावः । ताराधिपतिर्हि चन्द्रः । आश्रयाश्रयिभावसम्बन्धषष्ठीस्थलेषु 'भूतानामस्मि चेतना' ( १०।२२ ) 'तेजस्तेजस्विनामहम्' ( १०।३६ ) 'नीतिरस्मि जिगीषताम्' ( १०।३८ ) इत्यादिषु चेतनाश्रितेषु धर्मेषु उत्कर्षाधायकत्वेन च उत्तमो धर्मश्चेतनारूपः, तेजोरूपः, नीतिरूपश्च सोऽहम् । तस्य धर्मस्य स्वाश्रयोत्तमत्वप्रदत्वरूपं यदुत्तमत्वं, तत्प्रदोऽहमित्यादिरीत्यार्थ इति **उपन्यासदर्पणे ।**

**आदित्यानामिति**—'धाता मित्रोऽर्यमा शक्रो वरुणस्त्वंश एव च । भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा ॥ एकादशस्तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते । जघन्यजस्तु सर्वेषामादित्यानां गुणाधिकः ॥' इति भारते ( १।६५।१५,१६ ) ॥ अंशुमान् सूर्यस्य दशमी मूर्तिः, 'दशमी तस्य या मूर्तिरंशुमानिति विश्रुता । वायौ प्रतिष्ठिता सा तु प्रह्लादयति वै प्रजाः ॥' ( सां. पु. ४।१७ ) 'अंशुमान्' इत्येतावतैव निर्वाहे रविपदोपादानं सगरनप्तुरंशुमतो व्यावर्तनार्थम् । 'योऽसमञ्जस इत्युक्तः स केशिन्या नृपात्मजः । तस्य पुत्रोंऽशुमान्नाम पितामहहिते रतः ॥' ( भाग. ९।८।१५ ) इत्यादिना तस्यापि प्रसिद्धत्वात् ॥

मरुत एकोनपञ्चाशदिन्द्रानुचरा दितेः पुत्राः । तेषां नामान्युक्तानि विष्णुधर्मोत्तरे– [२।२२।५१–५७] 'एकज्योतिश्च द्विज्योतिस्त्रिचतुर्ज्योतिरेव च। एकशक्रो द्विशक्रश्च त्रिशक्रश्च महाबलः ॥ इन्द्रश्च गव्योऽदृश्यश्च ततः प्रतिसकृत्तथा । मितश्च सम्मितश्चैव अमितश्च महाबलः । ऋतजित्सत्यजिच्चैव सुषेणः सेनजित्तथा ॥ अतिमित्रोऽनमित्रश्च पुरुमित्रोऽपराजितः । ऋतश्च ऋतवाग्धाता विधाता धारणो ध्रुवः ॥ विधारणो महातेजा वासवस्य प्रियः सखा । ईदृक्षश्च सदृक्षश्च एतादृगमृताशनः ॥ क्रीडनः प्रसदृक्षश्च सरभश्च महायशाः । धर्ता दुर्गो ध्वनिर्भीमस्त्वभियुक्तः क्षिपः सहः। द्युतिर्वपुरनाधृष्यो वासः कामो जयो विराट् । देवा एकोनपञ्चाशन्महाबलपराक्रमाः ॥' इति । अग्निपुराणे ( २१९।२८–३४ ) गरुडपुराणे ( आ. कां. ६।६५–७१ ) चैतान्येव दृश्यन्ते । विष्णुरहस्ये ( २३।२०।२५ ) त्वन्यान्येवोक्तानि 'प्राणोऽपानस्तथा व्यान उदानश्च समानकः । नागश्च कृकलः कूर्मो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ प्रवहो विवहः शङ्कुः संवहश्च परावहः । उद्वहश्चावहः शंकुः कालः श्वासोऽनिलोऽनलः ॥ प्रतिभः कुमुदः कान्तः शुचिः श्वेतोऽजितो गुरुः । संज्ञाप्रवर्तकः कालोऽर्दितः सौम्यः कपिर्जडः ॥ मण्डूकः सन्ततः सिद्धो रक्तः कृष्णः पिकः शुकः । यतिर्भीमो हनुः पिङ्गोऽहः प्राणः कम्पनस्तथा । सप्तसप्तकसङ्ख्याता मरुतोऽमी प्रकीर्तिताः' ॥ इति ।

अत्र क्वापि मरीचिनाम्नोऽदर्शनात् मरुतां सम्बन्धिनी मरीचिर्दीप्तिरहमस्मीति व्याख्येयम् । मरुतो हि दीप्तिमन्तः श्रूयन्ते–'पावकासः शुचयः सुर्या इव' ( ऋक्सं. १।५।६ ) 'विरोकिणः सूर्यस्येव रश्मयः' ( ऋक्सं. ४।३।१७ ) इत्यादौ । मरीचिश्च दीप्तिः, 'यत्ते मरीचीः प्रवतः' ( ऋक्सं. ८।१।२० ) इति श्रुतौ तथार्थदर्शनात्, 'मरीचिः किरणे दीप्तावृषिभेदेऽपि दृश्यते ।' ( विश्वः ५।१५ ) इति कोशाच्च । अस्ति चात्रोपष्टम्भकं लिङ्गम्– 'विष्णोर्मेहः समन्यवः' ( ऋक्सं. ४।४।३४ ) इति, मरुतां विभूतित्वे निदानं च दित्याचरितं भगवद्व्रतमिति ज्ञेयम् । तदुक्तं भागवते–[ ६।१८।६६ ] 'सकृदिष्ट्वादिपुरुषं पुरुषो याति साम्यताम् । संवत्सरं किञ्चिदूनं दित्या यद्धरिरर्चितः ॥ सजूरिन्द्रेण पञ्चाशद्देवास्ते मरुतोऽभवन्.' इति । मरुन्नामनिरुक्तिश्च पद्मपुराणे–( सृ. खं. ७।६।४ ) 'यस्मान्मा रुद इत्युक्ता रुदन्तो गर्भसम्भवाः । मरुतो नाम ते नाम्ना भवन्तु शुभभागिनः' ॥ इति ॥ अथवा 'महत्यन्तरिक्षे द्रवन्तीति मरुतः । ये मध्यमस्थाने देवगणाः समाम्नातास्ते सर्वे मरुत आख्यायन्ते' ( ऋ. सं. भा. १।६।१४ ) इति सायणोक्तेस्तथाविधानां मरुतां मरीचिराश्रयभूतोऽन्तरिक्षलोकः, 'अन्तरिक्षं मरीचयः' ( ऐ. उ. १।२ ) इति श्रुतेः । 'सूर्यमरीचीनामाधारत्वादन्तरिक्षलोको मरीचय इति शब्देनोच्यते' इति तत्र सायणः ॥ यद्वा मरुद्विजातीयोऽपि मरीचिस्तेषामुत्तमत्वप्रदो ज्ञेयः । क्वचिन्मरुत्स्वेव मरीचिनाम्न उपलम्भे तु सर्वं सुस्थमेव ॥—

**२ आ. शां. व्या.**—उक्तध्यानाशक्तेभ्यो व्यस्तं विभूतियोगमुपदिशति—**एवं** **चे**ति । तत्र तत्र प्रधानत्वेन परस्य ध्येयत्वम् । एवंशब्दार्थमेव दर्शयति—**आदित्यानामित्या**दिना ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.**—एवं भगवतः स्वविभूतिभूतेषु सर्वेष्वात्मतयाऽवस्थानं तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्यनिर्देशहेतुं प्रतिपाद्य विभूतिविशेषान् सामानाधिकरण्येन व्यपदिशति । भगवत्यात्मतयाऽवस्थिते हि सर्वे शब्दास्तस्मिन्नेव पर्यवस्यन्ति; यथा 'देवो मनुष्यः पक्षी वृक्षः' इत्यादयः शब्दाः शरीराणि प्रतिपादयन्तस्तत्तदात्मनि पर्यवस्यन्ति, तथा भगवतस्तत्तदात्मतयावस्थानमेव तत्तच्छब्दसामानाधिकरण्यनिबन्धनमिति विभूत्युपसंहारे वक्ष्यति—'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' [ १०।३९ ] इति सर्वेषां स्वेनाविनाभाववचनात् । अविनाभावश्च नियाम्यतयेति 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] इत्युपक्रमोदितम् ।

**४ वे. ता. चं.**—'आदित्यानामहं विष्णुः' इत्युपक्रम्य 'यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन!' [ १०।३९ ] इत्यन्तं सामानाधिकरण्यप्रघट्टकं 'अहमात्मा' [ १०।२० ] इति श्लोकेन सङ्गमयन्नवतारयति—**एवं भगवत** इति । एतेन 'अहमात्मा' इत्यादिकाः समस्ताश्चतस्रो विभूतय इति मतान्तरं निरस्तम् । **विभूतिविशेषानि**ति, प्राधान्यत इति ह्युपक्रान्तम् । ननु शरीरवाचिनः शरीरादिशब्दा नात्मनि पर्यवस्यन्ति; तस्मादत्रापीति लक्षणास्वीकार एव न्याय्यः; न शक्तिकल्पना, लाघवाच्चेत्यत्राह—**भगवती**ति । हिशब्दो हेत्वर्थः । अपृथक्सिद्धविशेषणवाचिनः शब्दास्तत्तद्द्वारा धर्मिण्यपि मुख्यवृत्ता इति प्रयोजकरूपेण गुणादिष्वपि सिद्धत्वान्न शक्तिकल्पनागौरवमिति भावः । तदेतदुक्तं **पर्यवस्यन्ती**ति । शरीरवाचिशब्दानां स्वरसतस्तत्तदात्मनि पर्यवसानमपृथक्सिद्ध्युपाधिकं दर्शयति—**यथे**ति । शरीरादिशब्दास्तु गुण इत्यादिशब्दवन्निष्कर्षकशब्दत्वान्न धर्मिणि पर्यवस्यन्ति । एतदभिप्रायेणोक्तं **देवो मनुष्यः पक्षी वृक्ष इत्यादयः शब्दा** इति । अध्यासादिहेतुकसामानाधिकरण्यशङ्कामपनयति **भगवतस्तत्तदात्मतये**ति । नह्युपक्रमोपसंहारविरुद्धोऽर्थो मध्ये स्वीकार्यः; न च ब्रह्मणः सर्वहेयमयत्वं भ्रमाद्वा तत्त्वतो वाऽङ्गीकर्तुं युक्तमिति भावः । **अविनाभाववचना**दिति आत्मना विना हि शरीरभूतं न भवतीति भावः । 'अग्निना विना धूमो नास्ति; गुणिना विना गुणो नास्ति' इत्युक्ते अग्न्यादिरेव परमार्थः; धूमादिस्तु मिथ्याभूत इति वा, अग्न्याद्यात्मक इति वा प्रत्ययो हि न भवति ; तद्वदत्रापि इति । ननु 'यज्ञदत्तं विनाऽन्ये गृहे न सन्ति' 'रज्जुं विना सर्पादिकं नास्ति' इत्युक्ते यथैकस्यैव सत्त्वं तदतिरिक्तानां चासत्त्वं प्रतीयते, तद्वदत्रापि किं न स्यात् ? इत्यत्राह **अविनाभावश्चे**ति । असञ्जातविरोधिकालसमुदितोपक्रमविरुद्धतया उपसंहारस्य नोदय इत्युपक्रमाधिकरणसिद्धमिति भावः । **नियाम्यतये**त्यनेन धूमाग्निव्याप्तिवैषम्यमपि दर्शितम् ।

**३ रा. भा.**—द्वादशसङ्ख्यासङ्ख्यातानामादित्यानां द्वादशो य उत्कृष्टो विष्णुर्नामादित्यः, सोऽहम् । ज्योतिषां जगति प्रकाशकानां योंऽशुमान् रविरादित्यगणः, सोऽहम् । मरुतामुत्कृष्टो मरीचिर्यः, सोऽहमस्मि । नक्षत्राणामहं शशी । नेयं निर्धारणे षष्ठी, 'भूतानामस्मि चेतना' [ १०।२२ ] इतिवत् । नक्षत्राणां पतिर्यश्चन्द्रः, सोऽहमस्मि ॥ २१ ॥

**४ वे. ता. चं.**—एवमेतावता ग्रन्थेन 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' [ १०।२० ] इति सर्वशरीरवर्तिनां जीवानां ब्रह्मस्वरूपैक्यमुच्यत इति कुदृष्टिमतमुन्मूलितम् । आदित्यानां अदितिपत्यानाम् । 'अजघन्यो जघन्यः' इत्यादिवचनानुसारेण **द्वादशो य उत्कृष्ट** इत्युक्तम् । अत्र चोत्तरेषु च निर्धारणार्थविशेषप्रदर्शनार्थ उत्कृष्टशब्दः । स च 'पुरोधसां च मुख्यं मां' [ १०।२४ ] इति वक्ष्यमाणमुख्यपर्यायतया अपेक्षितप्रदेशे सर्वत्र निहितः । अत्र चोद्रियमाणानां पदार्थानां केषाञ्चित्प्राधान्यं प्रत्यक्षम् ; केषाञ्चिदागमिकम् । क्वचिदव्यवहितं, क्वचिज्जीवव्यवहितं च सामानाधिकरण्यम् । ज्योतिश्श-

---

—नक्षत्राण्यश्विन्याद्या दक्षकन्याः, 'सप्तविंशतिमिन्दोस्तु दाक्षायण्यो महाव्रताः । ददौ प्राचेतसो दक्षो नक्षत्राणीति या विदुः ॥' ( ह. वं. १।२५।२२ ) इत्युक्तेः । तासां नक्षत्रसंज्ञानिदानं चन्द्रपत्नीत्वं च स्कान्दे विश्वेश्वरवाक्ये—'न क्षान्तं हि तपोऽत्युग्रमेतदन्याभिरीदृशम् । पुराबलाभिस्तस्माद्वो नाम नक्षत्रमत्र वै ॥ ओषधीनां सुधायाश्च ब्राह्मणानां च यः पतिः । पतिमत्यो भवत्योऽपि तेन पत्या शुभाननाः ॥' ( ४।१५।१२,१५ ) इति । एवमत्र सम्बन्धषष्ठी बोध्या । अथवा नक्षन्ति सततं गच्छन्तीति नक्षत्राणि ग्रहादयः, 'णक्ष' गतौ ( धा. पा. १।६६२ ) 'अमिनक्षी—' ( उ. ३।१०५ ) इत्यादिना त्रन् । तथा च सूर्येऽपि नक्षत्रशब्दः श्रूयते—'अग्ने नक्षत्रमजरमासूर्यं रोहयो दिवि ।' ( ऋक्सं. ८।८।१४ ) इति । अतः सततं गच्छतां तेषां मध्ये चन्द्रमा इति निर्द्धारणमेव । चन्द्रमा हि 'अर्कस्य संवत्सरभुक्तिं पक्षाभ्यां मासभुक्तिं सपादर्क्षाभ्यां दिनेनैव पक्षभुक्तिमग्रचारी द्रुततरगमनो भुङ्क्ते' ( भाग. ५।२२।८ ) इति युक्तमेव तस्य विभूतित्वमिति ।

—**अविगीता**

ब्देन तारकामात्रग्रहणे ततो बहिर्भूतस्य तत्सम्बन्धरहितस्य तस्य च रवेर्निर्धारणायोगात् **प्रकाशकानाम**िति सामान्येनोक्तम्। जगत्कारणभूतपरज्योतिरपेक्षया रवेः खद्योतकल्पत्वात्तद्व्यवच्छेदाय **जगतीति** विशेषितम्। 'अंशुमान्' इति निर्धारणौपयिकातिशयितप्रकाशयोगो मतुपा विवक्षितः, अन्यथा पौनरुक्त्यात्। रविशब्दस्य द्वादशादित्यसाधारणत्वादेकवचनं समुदायाभिप्रायमिति प्रदर्शनायोक्तं **आदित्यगण** इति। मरुतो वायव एकोनपञ्चाशद्दितिपुत्राः, येषां सप्तकाः सप्त गणा भवन्ति। शशिनोऽपि यदि नक्षत्रत्वं स्यात्, तदा हि तस्माद्वर्गात्तस्य निर्धारणमित्यभिप्रायेणाह **नेयमिति**। कस्तर्ह्यत्रार्थः? इत्यत्राह— **नक्षत्राणां पतिरिति**। 'प्राधान्यतः' इति ह्युपक्रान्तमिति भावः।

ननु पूर्वापरेषु सर्वेषु निर्धारणार्थेषु मध्ये कस्यचित्सम्बन्धमात्रपरत्वमयुक्तम्; नक्षत्रशब्देन निशि प्रकाशमात्रं छत्रिन्यायाद्ग्राह्यम्, "सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि" [ यजुः ५।४।१।३ ] इति श्रुतेश्चन्द्रमण्डलस्यापि वा स्वर्गिणां भोगस्थानत्वान्नक्षत्रत्वं "यो वा इह यजते अमुं स लोकं न क्षते तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वं देवगृहा वै नक्षत्राणि" [ यजुः १।५।२।१० ] इति; तत्राह— **भूतानामस्मि चेतनेतिवदिति**। मुख्ये सम्भवति लक्षणा न न्याय्या, नचात्र सर्वत्र निर्धारणार्थता 'भूतानामस्मि चेतना' [ १०।२२ ] 'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन!' [ १०।३२ ] 'वादः प्रवदतामहम्' १०।३२ ] 'अहमेवाक्षयः कालः' [ १०।३३ ] 'उद्भवश्च भविष्यताम्' [ १०।३४ ] 'द्यूतं छलयतामस्मि' [ १०।३६ ] 'तेजस्तेजस्विनामहम्' [ ७।१० ] 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि' [ १०।३६ ] इत्यादिषु निर्धारणाभावात्; अतोऽत्र चन्द्रस्य नक्षत्रजातीयत्वाभावात् षष्ठ्यभिहितस्य सम्बन्धसामान्यस्य प्रमाणसिद्धविशेषे पर्यवसानमिति भावः ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.— विष्णुः सर्वव्यापित्वप्रवेशित्वादेः। 'विष्लृ व्याप्तौ, विश् प्रवेशने' इति पठन्ति। 'गतिश्च सर्वभूतानां प्रजानां चापि ( प्रजनश्चास्मि ) भारत!। व्याप्तौ मे रोदसी पार्थ! कान्तिश्चाभ्यधिका मम ॥ आधिभूतनिविष्टश्च तदिच्छुश्चा-( तद्विश्वं चा-)स्मि भारत!। क्रमणाच्चाप्यहं पार्थ! विष्णुरित्यभिसंज्ञितः' [ म. भा. १२।३४१।४२,४३ ] इति मोक्षधर्मे ॥ २१ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— द्विविधं विभूतिरूपं प्रत्यक्षं तिरोहितं च; अत्र विष्णवादिकं प्रत्यक्षमिति ज्ञापयितुं तच्छब्दान्व्याकुर्वन् 'आदित्यानामहं विष्णुः' इति विष्णुशब्दं तावत्सप्रमाणकं व्याकरोति— **विष्णुरिति**। सर्वेति, योग्यतया सम्बध्यते। 'आदिपदेन वक्ष्यमाणार्थसङ्ग्रहः। चशब्दो धात्वन्तरसमुच्चयार्थः। गच्छन्त्यनेनेति गतिः। भूतानां पृथिव्यादीनां प्रजानां ब्रह्मादीनाम्। 'वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु' [ धा. पा. २।३८ ] इत्यतो गत्यर्थात् क्स्नुप्रत्ययो धातोर्ह्रस्वश्च। मे मया, रोदसी द्यावापृथिव्यौ, व्याप्तौ व्याप्ते; 'विष्लृ व्याप्तौ' [ धा. पा. ३।१३ ] इत्यतः क्नुः, कान्तिः कमनीयता 'वश कान्तौ' [ धा. पा. २।७० ] इत्यतो नुः; धातोरकारस्येकारः, शकारस्य षकारः। 'वी गति' इत्यतो वा कान्तिकर्मणः क्स्नुः। अधिभूतं प्राग्व्याख्यातम्। 'विश प्रवेशने' [ धा. पा. ६।१४३ ] इति, अतः क्नुः षत्वं च। तदिच्छुरधिभूतस्य जन्मादीच्छुः। कान्तिरिच्छा। अतो वयतेर्वेष्टेश्च पूर्ववद्रूपम्। क्रमणात् त्रिविक्रमरूपेण पादविक्षेपात्। पूर्ववद्वयतेर्गत्यर्थात्कर्तरि प्रत्ययः ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.— आदित्यानामिति। द्वादशादित्यानां मध्ये विष्णुरहम्। तेजसां मध्ये रविरहम्। मरुतां देवानां मध्ये मरीचिरहम्। नक्षत्राणां मध्येऽहं शशी। ननु नक्षत्राणां मध्ये शशिनो निर्धारणं नोपपद्यते, कस्मात्? अनक्षत्ररूपत्वात्; नैतदेवं, शशी च नक्षत्रमेव। कथम्? इह पुण्यतः फलभोगार्थममुं लोकं नक्षत्रं ते नक्षन्ति गच्छन्तीति नक्षत्रम्। तथा हि श्रुतिः— "यो वा इह यजमानोऽमुं लोकं नक्षते तन्नक्षत्राणां नक्षत्रत्वम्" इति ॥ २१ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— एवम् 'कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्' [ १०।१७ ] इति प्रश्नस्य प्रत्यगात्माभिन्नतया परिचिन्तयंस्तथैव मां जानीहीत्युत्तरमुक्तम्; इदानीं तत्साधनतया केषुकेषु भावेषु चिन्त्योऽसीति प्रश्नोत्तरत्वेन विभूतीरुपदिशति यावदध्यायसमाप्ति— **आदित्यानामिति** ॥ २१ ॥

**९ व० त० दी०— इदानीं** विभूतिमाह-- आदित्यानामित्यादिना। द्वादशानां मध्ये विष्णुनामाऽऽदित्योऽहम्। आदित्यानां देवानामेव वामन इति केचित्। ज्योतिषां प्रकाशभूतानां मध्येंऽशुमान् रविरहम्। मरुतां देवानामुत्कृष्टो यो मरीचिः सोऽहम्। नक्षत्राणामहं शशीति। अत्र सर्वत्र प्रायेणेति निर्द्धारणे षष्ठी, क्वचित् निर्द्धारणे सम्बन्धे च षष्ठी विज्ञातव्या, यथा 'भूतानामस्मि चेतना' [ १०।२२ ] इत्यादौ ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— योगयुक्ता विभूतीः कथयति— आदित्यानामित्यारभ्य यावदध्यायसमाप्ति । आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुः व्यापकधर्मात्मको बिम्बप्रकाशकोऽहं ज्योतिषां बहिर्जगत्प्रकाशकानां मध्ये अंशुमान् सर्वप्रकाशकरश्मियुक्तो रविः सूर्योऽस्मीत्यर्थः । मरुतां वायूनां मध्ये मरीचिर्नाम कश्चन सर्वसुखोत्पादनरूपो वायुरस्मि । नक्षत्राणां मध्ये शशी चन्द्रोऽस्मि । 'शशी' इति नाम्ना रोहिण्यासक्तिजलाञ्छनवत्त्वेन रसात्मकासक्तिधर्मरूपशृङ्गाररसात्मकत्वं व्यञ्जितम् ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— योगमुक्त्वा विभूतीराह— आदित्यानामित्यादिना यावदध्यायसमाप्ति । आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुनामाऽऽदित्योऽहं, वामनावतारो वा । ज्योतिषामग्न्यादीनां मध्ये रविरंशुमान् अत्यन्तं प्रतपनशीलः, निदाघमध्याह्ने तीव्रातपवान् रविरहमेवेत्यर्थः । मरुतां सप्तसप्तकानां मध्ये मरीचिरहम् । नक्षत्राणां ताराणां— अत्र प्रायेण निर्द्धारणे षष्ठी— 'भूतानामस्मि चेतना' [ १०।२२ ] इत्यादौ सम्बन्धेऽपि शशी चन्द्रमाः ॥ २१ ॥

**वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः ।**
**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥ २२ ॥**

**१ शां. भा.— वेदानामिति । वेदानां मध्ये सामवेदोऽस्मि, देवानां रुद्रादित्यादीनां वासव इन्द्रोऽस्मि, इन्द्रियाणामेकादशानां चक्षुरादीनां मनश्चास्मि, सङ्कल्पविकल्पात्मकं मनश्चास्मि । भूतानामस्मि चेतना । कार्यकरणसङ्घाते नित्याभिव्यक्ता बुद्धिवृत्तिश्चेतना ॥ २२ ॥**

२ आ. शां. व्या.— मन्त्रब्राह्मणसमुदायानामृगादीनां मध्ये सामवेदोऽस्मीति ध्यानान्तरमुदाहरति— **वेदानामिति ।** सङ्घाते जीवाधिष्ठिते यावत्पञ्चत्वं सर्वत्र व्यापिनी चैतन्याभिव्यञ्जिकेति शेषः ॥ २२ ॥

**३ रा. भा.— वेदानां ऋग्यजुस्सामाथर्वणां य उत्कृष्टः सामवेदः, सोऽहम् । देवानामिन्द्रोऽहमस्मि । एकादशानामिन्द्रियाणां यदुत्कृष्टं मनइन्द्रियम् , तदहमस्मि । इयमपि न निर्धारणे । भूतानां चेतनावतां या चेतना, साऽहमस्मि ॥ २२ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** गीतिर्हि सामशब्दार्थः; तस्य वेदेषु निर्धारणं कथं? इति शङ्काव्युदासाय 'सामवेदोऽस्मि' इति निर्देश इति प्रदर्शयति **ऋग्यजुरिति** । सामवेदस्योत्कर्षो गीतिप्रधानत्वसहस्रशाखत्वादिभिः; अन्येषां तु तदभावात्तावन्मात्रेणापकर्षः; न तु प्रामाण्यतारतम्यात् । "ऋक् च वा इदमग्रे साम चास्तां सैव नाम ऋगासीदमो नाम साम स वा ऋक्सामो वावदन्मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या इति नेत्यब्रवीत् साम ज्यायान्वा अतो मम महिमा" [ ऋ. ऐ. ब्रा. ३।२३ ] इति गीतिरूपस्य साम्नः प्राधान्याद्गीतात्मकस्य सामवेदस्य प्राधान्यम् । 'ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः यजुर्वेदं क्षत्रियस्याहुर्योनिं सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः" [ यजुःका ३।९।५० ] इति च । देवा इति स्वर्गवासिनो विवक्षिताः, ब्रह्मादिसङ्ग्रहायोगात् । वासवशब्दस्येन्द्रशब्देन व्याख्यानमतिशयद्योतनार्थम् , 'इदि परमैश्वर्ये' [ धा. पा. १।६३ ] इति। "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः" [ कठो. ३।१० ] "'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" [ मुं. उ. २।१।३ ] इत्यादिषु मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगभिधानात्कथ 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' इति निर्धारणमित्यत्राह— **एकादशेन्द्रियाणां यदुत्कृष्टं मन इन्द्रियमिति** । **अयमभिप्रायः**— 'इन्द्रियाणि दशैकं च' [१३।५] 'एकादशं मनश्चात्र' [ वि. पु. १।२।४६] इत्यादिषु मनसोऽपीन्द्रियत्वेन व्यपदेशात्क्वाचित्कः पृथग्व्यपदेशो गोबलीवर्दन्यायादिति निर्धारणोपपत्तिः— इति । नहि भूतेषु चेतनासंज्ञकं किञ्चिद्भूतमस्तीत्यभिप्रायेणाह **इयमपी**ति; षष्ठीति शेषः । 'तेजस्तेजस्विनां' [ ७।१०+१०।३६ ] 'सत्त्वं सत्त्ववताम्' [ १०।३६ ] इत्यादिवद्विशिष्टे सारभूतविशेषणांशो विवक्षित इत्यभिप्रायेण **चेतनावतामित्युक्तम्** । ननु भूतानां षष्ठत्वेन चेतनासंज्ञं किमप्यन्यत्रोच्यते; यथा 'महाभूतानि खं वायुरग्निरापस्तथा मही । षष्ठस्तु चेतनाधातुरात्मा सप्तम उच्यते । अष्टमं तु मनो ज्ञेयम्' इति; तथा 'षष्ठं वा चेतनाधातुर्मन इत्युपदिश्यते' इति च । अत्र मनसोऽधिष्ठानतया चेतनायास्तदपृथग्वचनमित्यविरोधः । अतो 'भूतानामस्मि चेतना' इति निर्धारणार्थत्वं युज्यत इति । मैवं, नहि भूतषष्ठनिर्देशमात्रान्महाभूतत्वम् , अन्यथापि सङ्ख्यानिवेशसम्भवात्, अत्र च सप्तमतया अष्टमतया च निर्दिष्टयोर्महाभूतत्वानभ्युपगमात् , चेतनाशब्दस्य च अप्रसिद्धार्थत्वात्, प्रसिद्धार्थस्वीकारस्यौचित्यात् । अतस्सम्बन्धमात्रविवक्षयैव अत्र षष्ठी युक्तेति ॥ २२ ॥

भा.— ॥ २२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— वेदानामिति । वेदानां सामवेदोऽस्मि । भूतानां कार्यकारणसङ्घातानां सम्बन्धिनी चेतना ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०— वेदानामिति । सामवेदोऽहं वेदानां मध्ये सामवेदोऽस्मि । देवानामहमिन्द्र इति यज्ञे गानमाधुर्येण भगवद्विभूतिराराध्या । इन्द्रियाणां एकादशानां मध्ये मनोऽहम् । नात्र निर्द्धारणे षष्ठी । प्रायःपदान्मनस्यपीन्द्रियत्वं निर्बाधम् ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— वेदानां चतुर्णामपि मध्ये सामवेदोऽस्मि । गानात्मकमाधुर्यरसवत्त्वेनाऽधिक्यं तत्रेति भावः। देवानां मध्ये वासव इन्द्रोऽस्मि, शतमखत्वेन सर्वक्रियांशभोक्तृत्वेन राज्यभोक्तृत्वेन च । इन्द्रियाणां आधिदैविके न्द्रियरूपोऽस्मि । च पुनः सर्वप्रेरकत्वान्मनोऽस्मि । भूतानां चेतनानां चेतना ज्ञानशक्तिरस्मि ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— सामवेदो गानेन रमणीयत्वात् , वासवो देवराजत्वात् , मन इन्द्रियान्तरप्रवर्त्तकत्वात् , चेतना धीवृत्तिः चिदभिव्यक्तिहेतुत्वात् , एते वेदादीनां मध्ये श्रेष्ठाः ॥ २२ ॥

**रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।**
**वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥ २३ ॥**

१ शां. भा.— रुद्राणामिति । रुद्राणामेकादशानां शङ्करश्चास्मि । वित्तेशः कुबेरो यक्षरक्षसां यक्षाणां रक्षसां च । वसूनामष्टानां पावकश्चास्म्यग्निः, मेरुः शिखरिणां शिखरवतामहम् ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— ॥ २३ ॥

३ रा. भा.— रुद्राणामिति । रुद्राणामेकादशानां शङ्करोऽहमस्मि । यक्षरक्षसां वैश्रवणोऽहम् । वसूनामष्टानां पावकोऽहम् । शिखरिणां शिखरशोभिनां पर्वतानां मध्ये मेरुरहम् ॥ २३ ॥

४ वे. ता. चं.— रुद्राणामिति । रुद्रेष्वेकस्य शङ्करसंज्ञयैवोत्कर्षद्योतनम् । यक्षराक्षसजात्योरविदूरविप्रकर्षात् यक्षरक्षसामित्युक्तम्, न तु वित्तेशस्य राक्षसत्वगन्धः; यद्वा 'नक्षत्राणामहं शशी' [ १०।२१ ] इतिवज्जातिद्वयपतित्वमात्रमिह विवक्षितम् । वित्तेशसंज्ञया च धनदस्यासाधारणैश्वर्योत्कर्षद्योतनम् । 'स्थावराणां हिमालयः' [ १०।२५ ] इति पर्वतमात्राणां

---

१ रुद्रा एकादश, 'हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्चापराजितः । वृषाकपिश्च शम्भुश्च कपर्दी रैवतस्तथा ॥ मृगव्याधश्च शर्वश्च कपाली च विशांपते ! । एकादशैते कथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥' ( ह. वं. १।३।५१-५२ ब्र. पु. १।१६०-१६१ ) इत्युक्ताः । "सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः" (तै. सं. ४।५।११) इति श्रुतेरसङ्ख्याः । ते चैकादशगणात्मका इति वा; 'अजैकपादहिर्बुध्न्यो विरूपाक्षोऽथ रैवतः । हरश्च बहुरूपश्च त्र्यम्बकश्च सुरेश्वरः ॥ सावित्रश्च जयन्तश्च पिनाकी चापराजितः । एते रुद्राः समाख्याता एकादश गणेश्वराः ॥ एतेषां मानसानां तु त्रिशूलवरधारिणाम् । कोटयश्चतुरशीतिस्तत्पुत्राश्चाक्षया मताः' ॥ (प. पु. सृ. खं. ४।३०-३२) इति पुराणात् । तेषामधिपतिः शङ्कर इति सम्बन्धे षष्ठी । 'रुद्रैरात्मसमुद्भूतैः क्रीडायुक्तस्तदाऽभवत् । स्थाणुवन्निश्चलो यस्मात्स्थितः स्थाणुरिति स्मृतः ॥' ( सौ. पु. २३।१५ ) इत्यादिपुराणेभ्यः शङ्करस्य रुद्राधिपत्वमवसेयम् ॥

यक्षा मणिभद्राद्याः, रक्षांसि हेतिप्रहेतिमुखानि । 'रक्षामेति च यैरुक्तं राक्षसास्ते भवन्तु वः । जक्षाम इति यैरुक्तं यक्षा एव भवन्तु वः ॥' ( वा. रा. ७।४।१५ ) इति तन्नामनिर्वचनम् । एतेषां नामादिवर्णनं ब्रह्माण्डपुराणे ( म. भा. ७ ) द्रष्टव्यम् । अत्रापि सम्बन्ध एव षष्ठ्यर्थः, विजातीयस्यापि वित्तेशस्य 'निधीनामधिनाथस्त्वं गुह्यकानां भवेश्वरः । यक्षाणां किन्नराणां च तथा राज्ञां च सुव्रत ! । पतिः पुण्यजनानां च सर्वेषां धनदो भव ।' ( स्कं. पु. ४।१३।५६ ) इति शिववरप्रभावेण यक्षादीनामधिपतित्वात् ॥ वसूनां 'धरो ध्रुवश्च सोमश्च अहश्चैवानिलोऽनलः । प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ॥' ( म. भा. १।६६।१८ ) इत्युक्तानां मध्ये पावकोऽनलाख्यः ॥ शिखरिणां प्रशस्तशिखरवतां मध्ये मेरुः, 'सद्रत्नकाञ्चनमयं शिखरत्रयं च मेरौ मुरारिकपुरारिपुराणि तेषु' ( सि. शि. गो. २।३६ ) इत्युक्तेः । अथवा—शिखराणि रत्नविशेषास्तद्वताम्, 'पक्वदाडिमबीजाभं माणिक्यं शिखरं विदुः ।' इति मेघसन्देशटीकायां ( २।१५ ) दक्षिणावर्तनाथः । 'शिखरं ... पक्वदाडिमबीजाभमाणिक्ये शकलेऽपि च ( रा.१०४ ) इति विश्वप्रकाशश्च ॥

—अविगीता

परस्ताद्वक्ष्यमाणत्वात् 'मेरुः शिखरिणाम्' इत्यत्र शिखरिशब्दः पर्वतविशेषोपलक्षकः । शक्तश्चायं शब्दो विशेषं दर्शयितुमित्यभिप्रायेणोक्तं **शिखरशोभिनां पर्वतानामिति** । प्रशंसापरः प्रत्यय इति भावः । प्रशस्तरत्नकाञ्चनादिमयशिखरविशेषयोगान्मेरोरतिशयः ॥ २३ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २३ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ २३ ॥

**७ ह. पै. भा.— रुद्राणामिति । रुद्राणामेकादशानां शङ्करश्चास्मि । वित्तेशो वैश्रवणः । वसूनां मध्ये पावकोऽस्मि ॥ २३ ॥**

८ वें. व्र. गि.— ॥ २३ ॥

९ ब० त० दी०— रुद्राणामिति । एकादशानां मध्ये वा मूलं शङ्करोऽस्मि वैष्णवत्वेन माननीयः । वित्तेशो मम कोशाधिकारी । वसूनां मध्ये पावको भगवन्मुखभूतोऽग्निरहम् ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.— रुद्राणां तामसानामेकादशानां च मध्ये शङ्करः सुखकरः सर्वेषां भक्तिज्ञानोपदेशकोऽस्मि । यक्षरक्षसां वित्तेशः कुबेरोऽस्मि । वसूनां मध्ये मुख्यतया द्रोणोऽस्मि । अतएव 'द्रोणो वसूनां प्रवरः' इति श्रीभागवते [ १०।८।४८ ] उक्तम् । च पुनः पावकः अग्निरस्मि । शिखरिणां शिखरवतामुच्चानां मध्ये मेरुरहमस्मि ॥ २३ ॥

११ नी० भा० दी०— रुद्राणामेकादशानाम् । वसूनामष्टानाम् । शिखराणि रत्नविशेषास्तद्वतां मध्ये मेरुरहम् ॥ २३ ॥

**पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ ! बृ[1]हस्पतिम् ।**
**सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥ २४ ॥**
**महर्षीणां भृगुरहं गि[2]रामस्म्येकमक्षरम् ।**
**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥ २५ ॥**

**१ शां. भा.— पुरोधसामिति । पुरोधसां च राजपुरोहितानां च मुख्यं प्रधानं मां विद्धि जानीहि हे पार्थ ! बृहस्पतिम् । स हीन्द्रस्येति मुख्यः स्यात्पुरोधाः । सेनानीनां सेनापतीनामहं स्कन्दो देवसेनापतिः । सरसां यानि देवखातानि सरांसि तेषां सरसां सागरोऽस्मि भवामि ॥ २४ ॥ महर्षीणामिति । महर्षीणां भृगुरहम् । गिरां वाचां पदलक्षणानामेकमक्षरमोङ्कारोऽस्मि । यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि । स्थावराणां स्थितिमतां हिमालयः ॥ २५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— पुरोहितेषु बृहस्पतेर्मुख्यत्वे हेतुमाह— **स हीति** ॥ २४ ॥ एकमित्योङ्कारस्य ब्रह्मप्रतीकत्वेन तदभिधानत्वेन च प्रधानत्वमुच्यते । जपयज्ञस्य यज्ञान्तरेभ्यो हिंसादिराहित्येन प्राधान्यमुपेत्याऽऽह— **यज्ञानामिति।** 'शिखरवतामुच्छ्रितानां पर्वतानां मध्ये मेरुरहं' [ १०।२३ ] इत्युक्तेऽपि स्थितिशीलानां तेषामेव हिमवान्पर्वतराजोऽस्मीत्यर्थभेदं गृहीत्वाऽऽह— **स्थितिमतामिति** ॥ २५ ॥

---

१ बृहस्पतिं 'बृहता तपसाऽनेन बृहतां पतिरप्यहो ! । नाम्ना बृहस्पतिरिति ग्रहेष्वर्च्यो भविष्यसि ॥' ( स्कं. पु. ४।१७।४३) इतीशवचनात्प्राप्तोक्तसंज्ञमाङ्गिरसं देवपुरोहितत्वात् पुरोधसां मुख्यम् । "बृहस्पतिर्ह वै देवानां पुरोहितस्तमन्वन्ये मनुष्यराज्ञां पुरोहिताः" (ऐ. ब्रा. ८।५।३) इति श्रुतेः ॥ 'बृहद्ब्रह्म महच्चेति शब्दाः पर्यायवाचकाः । एभिःसमन्वितो राजन्गुणैर्विद्वान् बृहस्पतिः' ॥ इति भारते (१२।३३६।२ ) सेनां नयन्ति इति सेनान्यः, 'सत्सूद्विष—' ( अष्टा. ३।२।६१ ) इत्यादिना क्विप् । तेषां स्कन्दः, देवसेनापतित्वात् । तथा चेन्द्रं प्रति तद्वाक्यम्— 'दानवानां विनाशाय देवानामर्थसिद्धये । गोब्राह्मणहितार्थाय सैनापत्येऽभिषिञ्च माम् ॥' ( म. भा. ३।२२९।२३ ) इति ॥ — **अविगीता ।**

२ गिरामेकमक्षरमोङ्कारः 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' ( ८।१३ ) इत्युक्तेः । 'य ओमित्युच्यते शब्दो यस्य वागिति गीयते । स एवासि प्रभो ! विष्णो !' ( ३।११९।४३ ) इति हरिवंशाच्च ॥ यज्ञेषु जपयज्ञः श्रेष्ठः, तत्र हिंसाद्यभावात् इत्याहुः । अत्र जापकोपाख्यानमपि ( म. भा. १२ अ. १९६–२०० ) अनुसन्धेयम् । — **अविगीता ।**

३ रा. भा.—पुरोधसामिति । पुरोधसामुत्कृष्टो बृहस्पतिर्यः, सोऽहमस्मि । सेनानीनां सेनापतीनां स्कन्दोऽहमस्मि । सरसां सागरोऽहमस्मि ॥ २४ ॥ महर्षीणामिति । महर्षीणां मरीच्यादीनां भृगुरहम् । अर्थाभिधायिनः शब्दा गिरः, तासामेकमक्षरं प्रणवोऽहमस्मि । यज्ञानामुत्कृष्टो जपयज्ञोऽस्मि । पर्वतमात्राणां हिमवानहम् ॥ २५ ॥

४ वे. ता. चं.—बृहस्पतिसंज्ञया बृहतां पतिरित्यतिशयसिद्धिः; गिरां पतिर्ह्यसौ । सेनानीशब्देनात्र कर्मवश्यसेनापतिसङ्ग्रहः । स्कन्दस्य देवसेनानीत्वलक्षणोऽतिशयः । सरश्शब्देन प्रवाहव्यतिरिक्तस्थास्नुसलिलाशयमात्रस्य विवक्षितत्वात्सागरसङ्ग्रहः, स्रोतसां पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् [ १०।३१ ] ॥ २४ ॥ 'देवर्षीणां' मुनीनाम्' [ १०।२६-३७ ] इत्यादिवक्ष्यमाणत्वादत्र महच्छब्देन विशेषणाच्च 'महर्षीणाम्' इति ऋषिगणविशेषो विवक्षित इत्यभिप्रायेण मरीच्यादीनामित्युक्तम् । 'गिराम्' इति न शब्दमात्रं विवक्षितम्; समुद्रघोषादिषु तत्प्रयोगाभावात् । अत एव नाक्षरमात्रम् 'अक्षराणामकारोऽस्मि' [ १०।३३ ] इति पृथग्वक्ष्यमाणत्वाच्च । तत एव 'एकमक्षरम्' इत्यप्यकारव्यतिरिक्तविषयम् । 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' [ ८।१३ ] इत्यादिषु प्रणवेऽप्येकशब्दविशेषितोऽक्षरशब्दः प्रयुक्त इत्यभिप्रायेणाह—अर्थाभिधायिन इति । अर्थाभिधायिषु प्रणवस्योत्कर्षः सर्वोत्कृष्टार्थाभिधायित्वादिना शङ्कुना पर्णानामिव सर्वासां वाचां प्रणवेन सन्तृण्णत्वश्रुतेश्च [ छां. उ. २।२३।३ ] यज्ञेषु जपयज्ञस्य प्राशस्त्यमन्यत्र सिद्धं 'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः' [ मनुः २।८५ ] इति । किञ्च 'कुर्याद्घृतपशुं (वापि) कुर्यात्पिष्टपशुं तथा । न त्वेव तु वृथा हन्तुं पशुमिच्छेत्क-(दाचन) थञ्चन' [ मनुः ५।३७ ] इति 'पशुयज्ञैः कथं हिंस्रैर्मादृशो यष्टुमर्हति । हिंसात्मकैस्तु किं तस्य यज्ञैः कार्यं महात्मनः। प्रस्वापे च प्रबोधे च पूजितो येन केशवः' इत्यादिवचनबलादहिंसात्मकयज्ञानर्हाणां हिंसात्मकयज्ञानुष्ठानम् । तत्रापि विधितः प्रवृत्तेः अपकारानभिसन्धानादुपकारश्रुतेर्देवताप्रीणनत्वाच्च न प्रत्यवायः । फलार्थिनां तु तत्फलमल्पमस्थिरं दुःखमिश्रं च । अहिंसात्मकास्तु यज्ञा विशिष्टाधिकारिसाध्याः भगवतोऽतिप्रीणनत्वादपवर्गप्रत्यासन्नाः। अत एव ह्युपरिचरादयः पिष्टपशुभिरिष्टवन्तः । एवमितरेषु यज्ञेषु हिंसादिप्रसङ्गोऽधिकारिविशेषादिना विषयव्यवस्थापनमित्यादिर्महान् क्लेशः; जपयज्ञे तु तत्प्रसङ्गाभावादव्याक्षेपेणार्थप्रतीत्या सबीजयोगद्वारा समाधौ सहसा निवेशनाच्च यज्ञान्तरेभ्यो जपयज्ञः प्रशस्ततमः; सर्वाश्रमसाधारण्यात् 'जप्ये(नैव) नापि तु संसिद्ध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः । कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते' [ मनुः २।८७ ] इति विधुरादेरपि सिद्धिहेतुत्वाच्च । पर्वतविशेषाणां पूर्वमुक्तत्वात् ( २३ ) वृक्षाणां वक्ष्यमाणत्वाच्च ( २६ ) तदुभयव्यवच्छेदार्थं हिमवतः शैलराजत्वप्रसिद्ध्यनुरोधार्थं चोक्तं पर्वतमात्राणामिति ॥ २५ ॥

५ आ. मा. भा.—२४ ॥ २५ ॥

६ ज. प्र. दी.—॥ २४ ॥ २५ ॥

७ ह. वै. भा.—पुरोधसां च मुख्यं माम् । बृहस्पतिं सुरगुरुम् ॥ २४ ॥ महर्षीणामिति । महर्षीणां भृगुरहम् । गिरां वाचां मध्य एकमक्षरं प्रणवोऽस्मि ॥ २५ ॥

८ वें. ब्र. गि.—॥ २४ ॥ ॥ २५ ॥

९ व० त० दी०—पुरोधसामिति । सरसां स्थिरजलाशयानां मध्ये सागरः ॥ २४ ॥ महर्षीणामिति । भृगुरहं ब्रह्मानन्दजनको भक्तिनिर्द्धारकश्चेत्यतो मद्विभूतिः । अक्षरमेकं सर्वबीजं प्रणवरूपोऽस्मि ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.—हे पार्थ ! पुरोधसां च मध्ये मुख्यं बृहस्पतिं मां विद्धि । पार्थेति सम्बोधनेन पृथासम्बन्धेन त्वयि कृपां करोमि । तथा निन्दिते पौरोहित्येऽपि देवक्रियया तस्मिन् बुद्ध्यादिशक्तिरूपेण तिष्ठामि, तेन मत्स्वरूपं विद्धीति व्यञ्जितम् । सेनानीनां सेनामध्ये देवसेनापतित्वात् स्कन्दोऽस्मि । सरसां रसयुतानां स्थिरजलानां मध्ये सागरः समुद्रोऽस्मि, रत्नाकर इत्यर्थः ॥ २४ ॥ महर्षीणां सर्ववेदात्मको भृगुरस्मि । गिरां पदात्मकानां मध्ये एकाक्षरम् ॐकारात्मकमहमस्मि । यज्ञानां कर्मणां मध्ये जपयज्ञोऽस्मि । स्थावराणामचलानां हिमालयोऽस्मि ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०—पुरोधसां पुरोहितानाम् । बृहस्पतिं देवराजपुरोहितत्वात् । सेनानीनां सेनापतीनाम् । स्कन्दः कार्त्तिकेयः । सरसां जलाशयानाम् ॥ २४ ॥ एकमक्षरं ओङ्काराख्यम् । जपयज्ञो हिंसाशून्यत्वात् । स्थावराणां स्थितिमताम् ॥ २५ ॥

**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।**
**गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥**
**उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम् ।**
**ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥ २७ ॥**

१ **शां. भा.**— अश्वत्थ इति । अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम् । देवर्षीणां च नारदः, देवा एव सन्तः ऋषित्वं प्राप्ता मन्त्रदर्शित्वात्ते देवर्षयः तेषां नारदोऽस्मि । गन्धर्वाणां चित्ररथो नाम गन्धर्वोऽस्मि । सिद्धानां जन्मनैव धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयं प्राप्तानां कपिलो मुनिः ॥ २६ ॥ उच्चैरिति । उच्चैःश्रवसमश्वानामुच्चैःश्रवा नामाऽश्वराजस्तं मां विद्धि जानीहि अमृतोद्भवममृतनिमित्तमथनोद्भवम् । ऐरावतमिरावत्या अपत्यं, गजेन्द्राणां हस्तीश्वराणां तं मां विद्धीत्यनुवर्तते । नराणां मनुष्याणां च नराधिपं राजानं मां विद्धि जानीहि ॥ २७ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'सर्ववृक्षाणां' इत्यत्र सर्वशब्देन वनस्पतयो गृह्यन्ते ॥ २६ ॥ २७ ॥

३ **रा. भा.**— सर्ववृक्षाणां मध्ये पूज्योऽश्वत्थ एवाहम् । देवर्षीणां मध्ये परमवैष्णवो नारदोऽहमस्मि । गन्धर्वाणां देवगायकानां मध्ये चित्ररथोऽस्मि । सिद्धानां योगनिष्ठानां परमोपास्यः कपिलोऽहम् ॥ २६ ॥ सर्वेषामश्वानां मध्येऽमृतमथनोद्भवमुच्चैःश्रवसं मां विद्धि । गजेन्द्राणां सर्वेषां मध्येऽमृतमथनोद्भवमैरावतं मां विद्धि । अमृतोद्भवमित्यैरावतस्यापि विशेषणम् । नराणां मध्ये राजानं मां विद्धि ॥ २७ ॥

---

१ **अश्वत्थ** इति– "तेजसो वा एष वनस्पतिरजायत यदश्वत्थः साम्राज्यं वा एतद्वनस्पतीनाम्" ( ऐ. ब्रा. ७।१।६ ) इति श्रुतेरश्वत्थरूपी भगवान् विष्णुरेव न संशयः । ( प. पु. उ. खं. ११७।२३ ) इत्यादिपुराणाच्चाश्वत्थस्य भगवद्रूपत्वं ज्ञेयम् । गौरीशापकथा चानुसन्धेया ॥ देवर्षय उक्ताः—'धर्मस्याथ पुलस्त्यस्य क्रतोश्च पुलहस्य च । प्रत्यूषस्य च देवस्य कश्यपस्य तथा पुनः ॥ देवर्षयः सुतास्तेषां नामतस्तान्निबोधत । देवर्षी धर्मपुत्रौ तु नरनारायणावुभौ । वालखिल्याः क्रतोः पुत्राः कर्दमः पुलहस्य तु ॥ कुबेरश्चैव पौलस्त्यः प्रत्यूषस्य दलः सुतः । नारदः पर्वतश्चैव कश्यपस्यात्मजावुभौ ॥ ऋषन्ति देवान्यस्मात्ते तस्माद्देवर्षयः स्मृताः' । (ब्रह्माण्डे पु. पू. भा. ३५।९२।९५) इति ॥ चित्ररथोऽङ्गारपर्णः 'अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः । सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥ ( म. भा. १।१७०।४० ) इति तदुक्तेः ॥ कपिलस्य मुनिरिति विशेषणं वेदविरुद्धसाङ्ख्यमतप्रवर्तककपिलव्यावृत्त्यर्थम् । साङ्ख्यशास्त्रप्रणेता हि कपिलो न विष्णुः, किन्त्वग्न्यवतारोऽन्य एव । 'अग्निः स कपिलो नाम साङ्ख्यशास्त्रप्रवर्तकः' । ( म. भा. ३।२२१।२१ ) इति भारतात् । मुनिश्च भगवदवतारोऽन्यः 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं' ( श्वे. उ. ५।२ ) इति श्रुतावुक्तः सगरपुत्राणां दग्धा । तथा च वा० रामायणम् [ १।४०।२४–२५ ]—'ततः प्रागुत्तरां गत्वा सागराः पश्चिमां दिशम् । रोषादभ्यखनन्सर्वे पृथिवीं सगरात्मजाः ॥ ते तु सर्वे महात्मानो भीमवेगा महाबलाः । ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम्' ॥ इति । अत एवाहुरुदाहृतश्रुतिव्याख्याने शङ्करानन्दाः—'कपिलं वासुदेवस्यावतारभूतं सगरपुत्राणां दग्धारम्; न तु साङ्ख्यप्रणेता कपिलः, नाममात्रसाम्येन तद्ग्रहणे स्यादतिप्रसङ्गः' इति । एतेन विष्णुसहस्रनामसु 'महर्षिः कपिलाचार्यः' ( म. भा. १३।१४९।७० ) इति कपिलाचार्यनाम्नः सविशेषणग्रहणमपि व्याख्यातम् ॥ — **अविगीता** ।

२ उच्चैः श्रवः श्रवणं यस्याः सा कीर्तिर्यस्य स उच्चैःश्रवाः । तथा च स्कान्दे ( ४।१०।११ ) 'कीर्तिरुच्चैःश्रवा यस्य सर्वतो वा गिरादिषु । रत्नमुच्चैःश्रवाः सोऽत्र हयानां पौरुषाधिकः' ॥ इति । अमृताज्जलादुद्भवो यस्य "अप्सु योनिर्वा अश्वः" ( तै.सं. ५।३।१२ ) इति श्रुतेः । 'अमृतोद्भवम्' इत्यस्य काकाक्षिन्यायादुभयत्र सम्बन्धः । 'तत ऐरावतो नाम वारणेन्द्रो विनिर्गतः । दन्तैश्चतुर्भिः श्वेताद्रेर्हरन्भगवतो महिम् ॥' (भाग. ८।८।४) इत्यैरावतस्याप्यमृतमथनप्रसङ्ग एवोद्भवश्रवणात् । इरा आपः, 'इरा भूवाक्सुराऽप्सु स्यात्' ( ३।३।१७९ ) इत्यमरः । इरावान् समुद्रः, तत्र भव ऐरावतः 'अमृतोद्भवं' इत्युच्चैःश्रवस एव विशेषणमिति पक्षे तु इरावत्या अयमैरावत इति व्याख्येयम् । तथा च ब्रह्माण्डे ( म. भा. ७।३२४–३२७ ) 'सूर्यस्याण्डकपाले द्वे समानीय तु भौवनः । हस्ताभ्यां परिगृह्याथ रथन्तरमगायत ॥ साम्नि प्रस्तूयमाने तु सद्य एव गजोऽभवत् । तं प्रायच्छदिरावत्यै पुत्रार्थं स तु भौवनः ॥ इरावत्याः सुतो यस्मात्तस्मादैरावतः स्मृतः । देवराजोपवाह्यत्वात्प्रथमः स मतङ्गराट् ॥ श्वेताभ्राभश्चतुर्दन्तः प्रथमः स मतङ्गराट्' । इति । — **अविगीता** ।

४ वे. ता. चं.— अश्वत्थ इति । ननु 'सर्ववृक्षाणाम्' इत्येतदनुपपन्नं, पारिजाताद्यपेक्षया अश्वत्थस्य निकृष्टत्वादित्यत्रोक्तं पूज्य इति । पारिजातादीनामप्यश्वत्थवत्पूज्यत्वं नास्तीति भावः । देवा मन्त्रदर्शिनो देवर्षयः, देवर्षिषु नारदस्य बहुप्रकारोऽतिशयो बहुषु प्रदेशेषु महाभारत एव प्रपञ्चितः । चित्ररथो गन्धर्वराजः । 'सिद्धानाम्' इत्यादि पूर्वसञ्चितसुकृतविशेषवशाज्जन्मसिद्धाणिमाद्यैश्वर्यसिद्धिः । 'आदिविद्वान्सिद्धः' इति कपिलमाहुः । 'ऋषिं प्रसूतं कपिलं (महान्तम्) यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति' [श्वे. उ. ५।२] इति च श्रुतिः । 'ददृशुः कपिलं तत्र वासुदेवं सनातनम्' [वा. रा. १।४०।२५] इति चाहुः । अयमपि परशुरामादिवत् ॥ २६ ॥ 'अमृतोद्भवम्' इति जन्मतः प्रकर्षसूचनम् । अमृतमत्र जलं, मथ्यमानावस्था सुधैव वा । गजेन्द्रशब्देन दिग्गजा विवक्षिताः । तेषु प्रधानतया दिक्पालेश्वरस्य शचीपतेरौपवाह्य ऐरावतः । अमृतोद्भवत्वं च काकाक्षिन्यायादैरावतेऽप्यन्वेतव्यम् । रथन्तरसामोद्भवत्वं वा द्रष्टव्यम् । नराधिपशब्देनैव निर्वाहकत्वलक्षणोऽतिशयः सिद्धः ॥ २७ ॥

५ आ. मा. भा.— सुखरूपः पाल्यते लीयते च जगदनेनेति कपिलः । 'प्रीतिः सुखं कमानन्दः' इत्यभिधानात् "प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म" [छां. उ. ४।१०।५] इति च । "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति (ज्ञा) जायमानं च पश्येत्" [श्वे. उ. ५।२] "सुखादनन्तात्पालनाल्लीयनाच्च यं वै देवं कपिलमुदाहरन्ति" इति (सामवेदे) बाभ्रव्यशाखायाम् ॥ २६ ॥ २७ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'सिद्धानां कपिलो मुनिः' इति कपिलशब्दं व्याचष्टे— सुखेति । सुखरूप इति कः, पाल्यते जगदनेनेति पिः, 'पा रक्षणे' [धा. पा. २।४६] इत्यतः किः, लीयते जगदनेनेति लः । 'ली श्लेषणे' [धा. पा. ९।२९] इत्यस्माङ्कः 'ला आदाने' [धा. पा. २।४८] इत्यतो वा कः । ततः कर्मधारयः । कशब्दस्य सुखवाचित्वेऽभिधानं प्रयोगं च पठति— प्रीतिरिति । समग्रार्थे श्रुतिमाह— ऋषिमिति । तं भगवन्तमृषिं कपिलं च पश्येत् । कथमृषिः ? सर्वज्ञत्वात्, इत्युच्यते । यः प्रसूतं पूर्वकल्पेषु जातं जायमानं वर्तमानं चैवमागामि च जगज्ज्ञानैर्बिभर्ति जानातीति यावत् । कथं कपिलः ? इत्यत उक्तं— सुखादिति । यच्छब्दद्वयस्य तमित्यनेनान्वयः ॥ २६ ॥ २७ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ २६ ॥ २७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ॥ २६ ॥ २७ ॥

९ व० त० दी०— अश्वत्थ इति । वैष्णवोऽयं ध्येयः पूज्यश्च । देवर्षीणां नारदोऽहं महाभागवतो मर्यादापुष्टिरसिकः । गन्धर्वाणां मध्ये चित्ररथो गायको वैष्णवत्वाच्चिन्तनीयः । कपिलस्तु भगवदवतारः 'साङ्ख्यतत्त्ववक्ता 'पुष्टिसर्गप्रणेता' भगवद्विभूतिः ॥ २६ ॥ उच्चैःश्रवसमिति । सप्तमुखान्निरूपमश्वम्, अमृतेन समुद्भवो यस्य । भगवत्सेवायां क्रीडोपयोगितया विभूतिः स चिन्तनीयः । तथैरावतोऽपि तदभिषेचनेन वा । भागवतेऽपि [स्कं. ११ अ. १६] विभूतिनिरूपणे तदिदमुक्तम् । तारतम्यभेदस्त्वैच्छिकः एकवक्तृकत्वात् ॥ २७ ॥

१० पु. अ. त.— सर्ववृक्षाणां मध्ये अश्वत्थः पिप्पलोऽस्मि । देवर्षीणां देवमन्त्रद्रष्टॄणां मध्ये मदिङ्गितोपदेशकत्वान्नारदोऽस्मि । गन्धर्वाणां गायकानां मध्ये चित्ररथोऽस्मि । सिद्धानां अधिगतपरमार्थानां मध्ये स्वतोऽधीतपरमार्थरूपः कपिलो मुनिरस्मि ॥ २६ ॥ अश्वानां अमृतमथने अमृतसङ्गोत्पन्नमुच्चैःश्रवसं मदंशं विद्धि । गजेन्द्राणां ऐरावतं विद्धि । नराणां मध्ये पालकं नरं राजानं विद्धि ॥ २७ ॥

११ नी० भा० दीं०— ॥ २६ ॥ अमृतोद्भवं अमृतमथनावसरे उद्भवो यस्य तम् ॥ २७ ॥

**आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ॥**
**प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥ २८ ॥**
**अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ॥**
**पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥ २९ ॥**

---

१ आयुधानामिति— यद्यपि धनुर्वेदे 'धनुः प्रहरणं श्रेष्ठं' (म. भा. १२।१६६।२) इत्यादौ धनुषः; 'अग्र्यः प्रहरणानां च खड्गो माद्रवतीसुत !। (म. भा. १२।१६६।८५) इति खड्गस्य चायुधेषु प्राधान्यं प्रतीयते; तथापि वज्रमध्ये प्रविश्यासौ संस्थितो भगवान् हरिः ।' (दे. भा. ६।६।५३) 'नन्वेष वज्रस्तव शक्र ! तेजसा हरेर्दधीचेस्तपसा च तेजितः ।' (भाग.

१ शां. भा.— आयुधानामिति । आयुधानामहं वज्रं दधीच्यस्थिसम्भवं ; धेनूनां दोग्ध्रीणामस्मि कामधुक्, वसिष्ठस्य सर्वकामानां दोग्ध्री सामान्या वा कामधुक् ; प्रजनः प्रजनयिताऽस्मि कन्दर्पः कामः; सर्पाणां सर्पभेदानामस्मि वासुकिः सर्पराजः ॥ २८ ॥ अनन्त इति । अनन्तश्चास्मि नागानां नागविशेषाणां नागराजश्चास्मि । वरुणो यादसामहं अब्देवतानां राजाऽहम् । पितॄणामर्यमा नाम पितृराजश्चास्मि । यमः संयमतां संयमनं कुर्वतामहम् ॥ २९ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रजनयतीति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह—**प्रजनयिते**ति । सर्पा नागाश्च जातिभेदाद्भिद्यन्ते ॥२८॥२९॥

३ रा. भा.— आयुधानां मध्ये वज्रं तदहम् । धेनूनां हविर्दुघानां मध्ये कामधुग्दिव्या सुरभिः । प्रजनो जननहेतुः कन्दर्पश्चाहमस्मि । सर्पा एकशिरसस्तेषां मध्ये वासुकिरस्मि ॥ २८ ॥ नागा बहुशिरसः । यादांसि जलवासिनस्तेषां वरुणोऽहम् । अत्रापि न निर्धारणे षष्ठी । दण्डयतां वैवस्वतोऽहम् ॥२९॥

४ वे. ता. चं.—'आयुधानाम्' इत्यर्वाचीनायुधपरं, सुदर्शनाद्यपेक्षया दधीचेरस्थिसम्भवस्य वज्रस्यापि निकृष्टत्वात् । धेनूनां दोग्ध्रीणाम् । **दिव्या सुरभिरिति** यौगिकः कामधुक्शब्दोऽत्र व्यक्तिविशेषनिष्ठ इति भावः । प्रजनशब्देन जननहेतुत्वं कन्दर्पस्यासाधारणोऽतिशय उक्तः । स मदायत्त इत्यर्थः । अप्रजार्थकन्दर्पव्यवच्छेदार्थो वा प्रजनशब्दः । पर्याययोः सर्पनागशब्दयोः कथं पृथग्व्यपदेश इत्यत्राह— **सर्पा एकशिरसः; नागा बहुशिरस** इति । यादश्शब्देन वरुणस्यापि सङ्ग्रहार्थमाह— **यादांसि जलवासिन** इति । यद्वा जलजन्तुमात्रं विवक्षितम्; तेषां पतित्वेन सम्बन्धो वरुणस्य तत्साजात्याभावाद्ग्राह्यः । अर्यमा पितृराजः । संयमतां संयच्छतामित्यर्थः । तदाह **दण्डयतामि**ति ॥ २८ ॥ २९ ॥

—६।११।२०) इति वज्रे भगवत्तेजःप्रवेशदर्शनात्तस्यैव विभूतित्वम् । वज्रस्वरूपं श्रुतौ— "त्वष्टा यद्वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपाअवर्तयत् ।" ( ऋ क्सं. १।६।१०) "अष्टाश्रिर्वै वज्रः "( ऐ. ब्रा. २।१।१) इति च द्रष्टव्यम् । 'वज्रः कस्मात् ? वर्जयतीति' ( नि. पू. ३।११।४ ) यास्कः ।

—**अविगीता ।**

२ नागा वासुक्यादयः । सर्पास्ततोऽपकृष्टा अलगर्दादय इति कुल्लूकः ( म. टी. १। ३७) 'सर्पा एकशिरसः' 'नागा बहुशिरसः' इति रामानुजविद्याधिराजादयः । 'सुरसाऽजनयन्नागान्राम ! कद्रूश्च पन्नगान् ।' ( वा. रा. ३।१४।२८ ) इत्यत्र तीर्थोऽप्येवमेव । तदयुक्तम् 'सुरसायाः सहस्रं तु सर्पाणाममितौजसाम् ॥ अनेकशिरसां विप्राः ! खेचराणां महात्मनाम् ' (ब्र.पु.१।२०।८।९) 'सर्पाणां सुरसा जज्ञे शतं नैकशिरोभृताम् ।' ( ब्रह्मां. म. भा. ७।४४३ ) इत्यादौ सर्पाणामपि बहुशिरस्कताश्रवणात् । निर्विषा नागाः, सविषाः सर्पा इति श्रीधरादयः, उदाहृतरामायणटीकायां कतकश्च । तदपि न, 'स च घोरविषो नागस्तक्षकश्चोपलक्षकः' ( वा. रा. ७।२३।२४ ) 'वासुकेरथ नागस्य सहसाक्षिप्यतः सुरैः । सधूमाः सार्चिषो वाता निष्पेतुरसकृन्मुखात्' ( म. भा. १।१८।१६ ) इत्यादावन्यत्र च पुराणादिषु तक्षककर्कोटककालियादिनागानां भीषणविषवत्त्वस्य बहुशो वर्णनात् ॥ वस्तुतस्तु सर्पसंज्ञा सर्वेषामपि गोनसाजगरादीनामपि सामान्या, यथा चतुष्पदां पशुसंज्ञा । नागसंज्ञा च सटादिमतां सिंहसंज्ञेव सफणानां पद्माद्यङ्कितानां च विशिष्टेति न काप्यनुपपत्तिः । अत एव 'स तत्र नागांस्तानस्तुवत् ... य ऐरावतराजानः सर्पाः समितिशोभनाः ।' ( म. भा. १।३।३४ ) इत्यादौ नागानामपि सर्पत्वोक्तिरविरुद्धा । एतेन सर्पसत्रे तेषां दाहोऽपि व्याख्यातः । अन्ये त्वाहुः-'फणिनो धवलाङ्गा ये ते नागा इति कीर्तिताः । अन्ये रक्तादिवर्णाद्यैर्बोध्याः सर्पादिनामभिः ॥' ( रा. नि. १९।९३) इति । सर्पाणां महातले वासो नागानां च पाताल इति पौराणिकाः ( भाग. ५।२४।२९,३१ ) तत्रानन्तस्य भगवद्विभूतित्वं 'या वै कला भगवतस्तामसी समाख्याताऽनन्त इति सात्वतीया' ( भाग. ५।१९।१- ) इत्यादौ प्रसिद्धमेव । वासुकेरपि 'नागेन्द्रमबोधरूपः' ( भाग. ८।७।११ ) 'तेजसा नागराजानं तथाप्यायितवान् हरिः' (वि. पु. १।९।८९) इति भगवत्तेज आप्यायितत्वेन तथात्वं बोध्यम् । यत्तु—'नागानां वासुकिं चक्रे सर्पाणामथ तक्षकम् ।' (ह. वं. १।४।१०) 'सर्पाणां तक्षको राजा नागानां चापि वासुकिः ।' (ब्रह्मां. ७।४४४) 'नागाधिपं वासुकिमुग्रवीर्यं सर्पाधिपं तक्षकमादिदेश' ( म. पु. ८।७ लिं. पु. १।१८।११) इत्यादौ वासुकेर्नागराजत्वमुक्तम्, तदनन्तस्याग्रजत्वेऽपि 'सोदर्या मम सर्वे हि भ्रातरो मन्दचेतसः । सह तैर्नोत्सहे वस्तुं तद्भवाननुमन्यताम् ॥' (म. भा. १।३६।१८) इति प्रार्थितेन ब्रह्मणा धरणीधरणे नियुक्तत्वात् । वासुकेश्च 'शेषः प्रथमतो जातो वासुकिस्तदनन्तरम् ।' ( म. भा. १।३५।९ ) इत्युक्तदिशा तदनुजत्वेन तदसन्निधौ राज्यार्हत्वादुपपन्नमेव । तक्षकस्य सर्पराजत्वं तु सामन्तवद्बोध्यमित्यलमप्रकृतप्रपञ्चेन ॥ यादसां वरुणः, तद्भिन्नोऽपि तेषामधिपतिः । तदुक्तम्— 'यादसामत्र राज्येन सलिलस्य च गुप्तये । कश्यपो भगवान्देवो वरुणं समाभ्यषेचयत्' ( म. भा. ५।११०।३ ) इति । अन्यत्र च 'उत्तस्थौ तज्जलादेव पुमान्स वरुणः स्मृतः । जलाधिष्ठातृदेवोऽसौ सर्वेषां यादसां पतिः ॥' (ब्र. वै. पु. ब्र. खं. ४।१८) वरुणनामनिर्वचनं च साम्बपुराणे (९।३०) 'वरान्विवृण्वतो देवान्वरदो हि वरार्थिनाम् । धातुर्वृञ्वरणे प्रोक्तस्तेनासौ वरुणः स्मृतः ॥' इति । एवमत्र षष्ठी सम्बन्धे बोध्या ॥

—**अविगीता ।**

५ आ. मा. भा.—॥ २८ ॥ २९ ॥ ६ ज. प्र. दी.—॥ २८ ॥ २९ ॥

७ ह. पै. भा.—आयुधानामिति । प्रजनः प्रजनयिता ॥ २८ ॥ अनन्त इति । यादसां जलौकसाम् । संयमतां संयमनं कुर्वताम् ॥ २९ ॥

८ वें. ब्र. गि.—॥ २८ ॥ २९ ॥

९ व० त० दी०—आयुधानामिति । धेनूनां मध्ये कामधुगहम् । भगवत्सेवोपयोगितया सा पूज्या वन्द्या च । प्रजनानां मध्ये भगवदीयप्रजोत्पत्तिहेतुर्नियमागतः कामोऽहं, बलवत्त्वाद्वा मुख्यः ॥ २८ ॥ अनन्त इति । शेषोऽहम् । वरुणोऽधिकृतो लोकपालः । पितॄणां मुख्योऽर्यमाऽहम् । श्राद्धान्नभोजी भगवत्स्वरूपतया श्राद्धे तदादिः पितृगणो यजनीयश्चिन्तनीयो भगवदीयेनेति भावः ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.—आयुधानां शस्त्राणां मध्ये वज्रं अस्मि । धेनूनां दोग्ध्रीणां कामधुक् कामधेनुरस्मि । प्रजनः प्रजोत्पादकः कन्दर्पश्च कामोऽस्मि । चकारेण केवलसम्भोगहेतुर्निवारितः । सर्पाणां विषधराणां गतिमतां वा वासुकिरस्मि ॥ २८ ॥ नागानां अविषाणां स्थिराणां मध्ये अनन्तस्तेषामधीशः शेषोऽस्मि । यादसां जलचराणां पतिर्वरुणोऽस्मि । पितॄणां मुख्यः अर्यमा चास्मि । चकारेण सर्वेषां पितृरूपत्वमपि ज्ञापितम् । संयमतां नियमं कुर्वतां मुख्यो यमोऽस्मि ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०—प्रजनोऽपत्यजनयिता, कन्दर्पः कामः; न तु वृथामैथुनरूपः ॥ २८ ॥ नागानां सर्पावान्तरभेदानाम् । यादसां जलचराणाम् । संयमतां नियमनकर्तॄणाम् ॥ २९ ॥

**प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।**
**मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥ ३० ॥**
**पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।**
**झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥ ३१ ॥**

१ शां. भा.—प्रह्लाद इति । प्रह्लादो नाम चास्मि दैत्यानां दितिवंश्यानाम् । कालः कलयतां कलनं गणनं कुर्वतामहम् । मृगाणां च मृगेन्द्रः सिंहो व्याघ्रो वाऽहम् । वैनतेयश्च गरुत्मान्विनतासुतः, पक्षिणां पतत्रिणाम् ॥ ३० ॥ पवन इति । पवनो वायुः पवतां पावयितॄणामस्मि; रामः शस्त्रभृतामहं शस्त्राणां धारयितॄणां दाशरथी रामोऽहं; झषाणां मत्स्यादीनां मकरो नाम जातिविशेषोऽहम्; स्रोतसां स्रवन्तीनामस्मि जाह्नवी गङ्गा ॥ ३१ ॥

२ आ. शां. व्या.—॥ ३० ॥ ३१ ॥

---

१ रामो जामदग्न्य एव । 'जमदग्नेस्तु चत्वार आसन्पुत्रा महात्मनः । रामस्तेषां जघन्योऽभूदजघन्यैर्गुणैर्युतः ॥ सर्वशस्त्रेषु कुशलः क्षत्रियान्तकरो वशी' । ( म. भा. १।६६।४८ ) 'स शुश्राव महात्मानं जामदग्न्यं परन्तपम् । सर्वज्ञानविदं विप्रं सर्वशस्त्रभृतां वरम् ॥' ( म. भा. १।१३०।५० ) इत्यादौ तस्यैव शस्त्रभृद्वरत्वदर्शनात् । दाशरथेस्तु धनुर्धरप्रवरत्वेनैव प्रसिद्धेर्धनुषश्च शस्त्रत्वाभावान्न तद्ग्रहणं युक्तम् । धनुर्वेदे हि अमुक्तं खड्गाद्येव शस्त्रमुच्यते । जामदग्न्यस्य च परश्वधायुधत्वादुपपन्नमेव शस्त्रभृत्त्वमिति सूक्ष्मधीभिर्विभावनीयम् ॥ 'प्लवतां' इति पाठो वामनसम्मतः ॥ जाह्नवी गङ्गा । 'ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्भुतकर्मणः । गङ्गा सम्प्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः ॥ तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धो जह्नुश्च राघव ! । अपिबत्तु जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम् ॥ ततो देवाः सगन्धर्वा ऋषयश्च सुविस्मिताः । पूजयन्ति महात्मानं जह्नुं पुरुषसत्तमम् ॥ गङ्गां चापि नयन्ति स्म दुहितृत्वे महात्मनः । ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत्प्रभुः ॥ तस्माज्जह्नुसुता गङ्गा प्रोच्यते जाह्नवीति च' ॥ ( वा. रा. १।४३।३८–४३ ) इति रामायणात् ।

—अविगीता ।

३ रा. भा.— अनर्थप्रेप्सुतया गणयतां मध्ये कालः मृत्युरहम् ॥ ३० ॥ पवतां गमनस्वभावानां पवनोऽहम् ; शस्त्रभृतां रामोऽहम् ; शस्त्रभृत्त्वमत्र विभूतिः, अर्थान्तराभावात् । आदित्यादयश्च क्षेत्रज्ञा आत्मत्वेनावस्थितस्य भगवतः शरीरतया धर्मभूता इति शस्त्रभृत्त्वस्थानीयाः ॥ ३१ ॥

४ वे. ता. चं.—'उपमानमशेषाणां साधूनां यः सदाऽभवत्' [वि. पु. १।१५।१५९] इत्यादिना प्रह्लादोत्कर्षः । 'अहमेवाक्षयः कालः' [१०।३३] इति नित्यस्य कालतत्त्वस्य परस्ताद्वक्ष्यमाणत्वात् यमस्य च पूर्वमुक्तत्वात्तद्व्यतिरिक्तः पुरुषविशेष इह कालशब्देन विवक्षितः ; अचेतनस्य च कालस्य गणयितृत्वं न युज्यते; 'कलयताम्' इत्यस्य विज्ञातृमात्रपरत्वे तेषु कालस्य निर्धारणमयुक्तम् ; अतस्तदुचितमर्थविशेषं दर्शयति— अनर्थेति । नहि मरणातिरिक्तोऽनर्थ इति भावः । मृगेन्द्रशब्देनैव सिंहस्यातिशयः सिद्धः । पक्षिषु वैनतेयस्य वेगातिशयाद्वेदमयत्वादिना चोत्कर्षः ॥ ३० ॥

'पवताम्' इत्यनेन पवनासाधारणक्रिया विवक्षिता चेन्निर्धारणं नोपपद्येतेति तदुपपत्तये गमनस्वभावानामित्युक्तम् । अजस्रगमनशीलानामित्यर्थः । पवनप्रेरिता एव हि तारकादयोऽप्यजस्रं परिभ्रमन्ति । सोमपवनादिष्विवात्र शोधनान्वयिगमनमिहाविवक्षितम् । 'रामः शस्त्रभृतामहम्' इति परशुरामस्यापि जेता रावणहन्ता रामो विवक्षित इति तदुचितममोघशस्त्रत्वलक्षणमतिशयमाह— शस्त्रभृत्त्वमत्र विभूतिरिति । पूर्वोत्तरेष्विव राम एव विभूतिः किं न स्यात्? इत्यत्राह अर्थान्तराभावादिति । अचिद्विशेषस्य चेतनान्तरस्य वा शस्त्रभृच्छब्दवाच्यस्यात्रासम्भवादित्यर्थः । अर्थान्तराणां मध्ये स्वासाधारणधर्मविशेषनिर्देशे रीतिभङ्गः स्यादित्यत्राह आदित्यादयश्चेति । शस्त्रभृत्त्वस्यान्येषां च भगवन्तं धर्मिणं प्रति धर्मत्वमविशिष्टमित्येकैव रीतिः; निर्धारणानिर्धारणभेदवन्मुखभेदमात्रं न दोष इति भावः । तत्रादित्यशब्देन 'ज्योतिषां रविरंशुमान्' [१०।२१] इत्युक्तो रविर्विवक्षितः । 'आदित्यानामहं विष्णुः' [१०।२१] इत्युक्तस्त्वादित्यो रामतुल्यः । मकरो मत्स्यराजः । स्रोतस्सु जाह्नव्याः विष्णुपदोद्भवत्वसर्वज्ञशिरोधृतत्वत्रैलोक्यप्रवृत्तत्वादिभिरतिशयः ॥ ३१ ॥

५ आ. गि. भा.— ॥ ३० ॥ आनन्दरूपत्वात्पूर्णत्वाल्लोकरमणत्वाच्च रामः । "आनन्दरूपो निष्परिमाण एष लोकश्चैतस्माद्रमते तेन रामः" इति शाण्डिल्यशाखायाम् । रश्च अमश्चेति व्युत्पत्तिः ॥ ३१ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३० ॥ 'रामः शस्त्रभृतामहं' इति रामशब्दं व्याख्याति— आनन्देति । आनन्दरूपत्वात्पूर्णत्वादित्येकोऽर्थः । रमत इति रः । 'रमु क्रीडायां' [धा. पा. १।८७८] इत्यतो अमन्ताड्ड इति डः । न विद्यते मा प्रमा परिच्छेदोऽस्येत्यमः लोक इत्यपरोऽर्थः । रमतेर्घञ् । अत्र श्रुतिमाह— आनन्देति । आद्येऽर्थे विग्रहं दर्शयति— रश्चेति । रश्चासावमश्चेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

७ ह. पै. भा.— प्रह्लाद इति । कलयतां विच्छेत्तॄणाम् ॥ ३० ॥ पवन इति । पवतां गच्छताम् । रामो दाशरथिरहम् । झषा हिंस्रजलचराः ॥ ३१ ॥

८ वे. ब्र. गि.— ॥ ३० ॥ ३१ ॥

९ व० त० दी०— प्रह्लादश्चास्मीति महाभागवततया चिन्तनीयः । अनिमिषतया भूतानामायुर्गणयतां संवत्सरादीनां मध्ये कालोऽहं भगवदुपयोगित्वाच्चिन्तनीयः । मृगाणामिति । मृगेन्द्रो नृसिंहो वराहश्चाहं मृगेन्द्रगरुडयोर्वाहनप्रतिकृतिरूपतया वा भगवत्सेवासने क्रीडोपयोगित्वेन चिन्तनं 'अनुकृत्य रुतैर्जन्तूंश्चेरतुः प्राकृतौ यथा' [भाग. १०।११।४०] इत्युक्तेः भगवदनुकरणविषयत्वेन वा ॥ ३० ॥ पवन इति । त्रिविधगुणवान् भगवदुपयोगितया चिन्तनीयः । शस्त्रभृतां मध्ये रामो नाम्ना जामदग्न्योऽहं 'रामः शस्त्रभृतां वरः' इति सर्वैः स्तुतत्वात् । दाशरथिस्तु न भगवतोऽंशः किन्तु पूर्णपुरुषोत्तम एवांशीति ब्रह्मशुकाचार्यचरणानामाशयः; अतो न विभूतित्वं तस्य युज्यते इति वयं ब्रूमः । झषाणां मध्ये मकरोऽहं बलवत्त्वान्मत्स्यरूपो वा कुण्डलगतत्वनिरूपणाद्वा चिन्तनीयः । गङ्गा भगवत्पदीति चिन्त्या ॥ ३१ ॥

१० पु. अ. त.— दैत्यानां च असम्भावितत्वात् मध्ये दैत्यकुलोद्धारकः प्रह्लादोऽस्मि । कलयतां व्याकुर्वतां कालोऽहमस्मि । मृगाणां मृगेन्द्रः सिंहः । पक्षिणां पक्षवतां मध्ये वैनतेयस्तेषां राजा गरुडोऽस्मि ॥ ३० ॥ पवतां वेगवतां मध्ये पवनः वायुरस्मि । शस्त्रभृतां रामः दशरथात्मजोऽस्मि । झषाणां मध्ये मकरः मत्स्यजातिविशेषोऽस्मि । स्रोतसां प्रवहज्जलानां मध्ये जाह्नवी गङ्गाऽस्मि ॥ ३१ ॥

११ नी० भा० दी०—कलयतां गणनं कुर्वताम् ॥ ३० ॥ पवतां पावयितॄणां, वेगवतां वा। रामो दाशरथिः। रामादीनां परमेश्वराणामपि विभूतिमध्ये गणनं ध्यानार्थम्। झषाणां मत्स्यादीनां मकरो जातिभेदः। स्रोतसां नदीनाम् ॥ ३१ ॥

**सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन !।**
**अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥ ३२ ॥**
**अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।**
**अहमेवाक्षयः कालो धाताऽहं विश्वतोमुखः ॥ ३३ ॥**

१ शां. भा.— **सर्गाणामिति।** सर्गाणां सृष्टीनामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमुत्पत्तिस्थितिलया अहमर्जुन !। भूतानां जीवाधिष्ठितानामेवाऽऽदिरन्तश्चेत्याद्युक्तं [ १०।२० ] उपक्रमे, इह तु सर्वस्यैव सर्गमात्रस्येति विशेषः। अध्यात्मविद्या विद्यानां मोक्षार्थत्वात्प्रधानमस्मि। वादोऽर्थनिर्णयहेतुत्वात्प्रवदतां प्रधानम्, अतः सोऽहमस्मि। प्रवक्तृद्वारेण वदनभेदादीनामेव वादजल्पवितण्डानामिह ग्रहणं प्रवदतामिति ॥ ३२ ॥ **अक्षराणामिति।** अक्षराणां वर्णानामकारो वर्णोऽस्मि। द्वन्द्वः समासोऽस्मि सामासिकस्य च समाससमूहस्य। किं चाहमेवाक्षयोऽक्षीणः कालः प्रसिद्धः क्षणाद्याख्यः, अथवा परमेश्वरः कालस्यापि कालोऽस्मि। धाताऽहं कर्मफलस्य विधाता सर्वजगतो विश्वतोमुखः सर्वतोमुखः ॥ ३३ ॥

२ आ. शां. व्या.—'अहमादिश्च' [ १०।२० ] इत्यादावुक्तमेव पुनरिहोच्यते तथा च पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—भूतानामिति। सर्गशब्देन सृज्यन्त इति सर्वाणि कार्याणि गृह्यन्ते। अध्यात्मविद्येति। आत्मन्यन्तःकरणपरिणतिरविद्यानिवर्तिका गृहीता। प्रवदतां सम्बन्धी वादो वीतरागकथा तत्त्वनिर्णयावसाना। यदा प्रवदतामिति लक्षणया कथाभेदोपादानं तदा निर्धारणे षष्ठीत्याह—प्रवक्त्रिति ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

३ रा. भा.— **सर्गाणामिति।** सृज्यन्त इति सर्गाः, तेषामादिः कारणम्; सर्वदा सृज्यमानानां सर्वेषां प्राणिनां तत्रतत्र स्रष्टारोऽहमेवेत्यर्थः। तथाऽन्तः सर्वदा संह्रियमाणानां तत्रतत्र संहर्तारोऽप्यहमेव। तथाच मध्यं पालनम्, सर्वदा पाल्यमानानां पालयितारश्चाहमेवेत्यर्थः। श्रेयस्साधनभूतानां विद्यानां मध्ये परमनिश्श्रेयससाधनभूता अध्यात्मविद्याऽहमस्मि। जल्पवितण्डादि कुर्वतां तत्त्वनिर्णयाय प्रवृत्तो वादो यः, सोऽहम् ॥ ३२ ॥ अक्षराणां मध्ये 'अकारो वै सर्वा वाक्' [ ऐ. पू. ३।६ ] इति श्रुतिसिद्धः सर्ववर्णानां प्रकृतिरकारोऽहम्। सामासिकः समाससमूहः, तस्य मध्ये द्वन्द्वसमासोऽहम्। स उभयपदार्थप्रधानत्वेनोत्कृष्टः। कलामुहूर्तादिमयोऽक्षयः कालोऽहमेव। सर्वस्य स्रष्टा हिरण्यगर्भश्चतुर्मुखोऽहम् ॥ ३३ ॥

४ वे. ता. चं.— सर्गशब्देन सृष्टिमात्रविवक्षायां 'आदिरन्तश्च' इत्यादिनाऽन्वयायोगात्कर्मार्थोऽत्र सर्गशब्द इत्याह—**सृज्यन्त इति सर्गा** इति। आदिमध्यान्तशब्दानामवयवविशेषाद्यर्थता न युक्ता, अनतिशयितार्थत्वात्। नापि कालविशेषार्थता, कालस्य वक्ष्यमाणत्वेनात्र पृथग्व्यपदेशप्रयोजनाभावात्। न चोत्पत्त्यादिक्रियामात्रार्थता, 'उद्भवश्च भविष्यताम्'।

१ वादोऽस्यास्तीति वादः वादं कुर्वन्। अर्श आदित्वादच् इति केचित् ॥ अत्र—
'मध्यं चैवाह' मित्यत्र विशेषेण वदन्विभुः। भासमानमपि द्वैतं मध्यमिथ्येत्यसूसुचत्।
तथा हि—
आदौ तथान्ते च सुवर्णमेव मध्ये तु नानाभरणानि भान्ति।
आद्यन्तयोः सागर एव पूर्णो मध्येऽतितुङ्गाः शतशस्तरङ्गाः ॥
मृदेव पूर्वं परतश्च मध्ये त्वलञ्जरोखाकलशादिभेदाः। ब्रह्माद्वयं प्राक्परतश्च तद्वन्मध्ये विचित्राः खलु भूतसङ्घाः ॥
सर्गेषु मध्ये प्रतिभासमानमेवंविधं द्वैतमनन्यदेव। प्रख्यापयन्नित्यवपुस्स 'मध्यं चैवाह' मित्याह हरिर्विशेषात् ॥ इति **वामनः**।
— **अविगीता**।

[१०।३४] इति वक्ष्यमाणेन पौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । न चेश्वरस्यैव कारणत्वादिकमिहोच्यते 'अहमादिश्च मध्यं च' [ १०।२० ] इत्युपक्रमेण कृतकरत्वात् । न चेदं सामान्यतस्तन्निगमनम्, उपर्युपरि वचनात् । तस्माल्लोकसिद्धोत्पत्त्यादिहेतुपरत्वमेवोचितं लक्षणया । तत्राप्युपादानकारणस्य 'बीजं मां सर्वभूतानाम्' [ ७।१० ] इति वक्ष्यमाणत्वात् ( ? ) निमित्तकारणमात्रमिह विवक्षितम् । 'सर्गाणाम्' इत्यविशेषवचनेन सर्वदेशकालवर्तिसृज्यप्रतियोगिकसर्वनिमित्तकारणवर्गस्य स्वाधीनत्वमभिप्रेतम् । तदेतदखिलमभिसंहितं **सर्वदे**त्यादिवाक्यत्रयेण । अध्यात्मविद्या जीवपरमात्मयाथात्म्यविद्या, सा विषयतः फलतश्च विद्यान्तरेभ्य उत्कृष्टा । 'प्रवदताम्' इति नान्योन्यविवादमात्रं विवक्षितम्, तत्र वादाख्यविशेषस्यास्मरणात् 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' इति विद्याप्रसङ्गात्तदर्थकथाविषयत्वोपपत्तेः । न च 'सत्त्वं सत्त्ववताम्' [ १०।३६ ] इतिवद्वादाख्यकथाविशेषवत्त्वमभिप्रेतम्; अन्यापेक्षयाऽतिशयसूचनसम्भवे तत्परित्यागायोगात् । अतः 'प्रवदताम्' इति कथात्रयसाधारणरूपमिह विवक्षितम्; तदाह **जल्पवितण्डादि कुर्वता**मिति । **तत्त्वनिर्णयाय प्रवृत्त** इत्यनेन स्वल्पफलविजिगीषुकथातोऽतिशयितापवर्गपर्यवसितफलत्वेन वादस्योत्कर्षप्रदर्शनम् ॥३२॥ बह्वृचोपनिषदि श्रूयते— "अ इति ब्रह्म" [ ऋ. आ. २।२ ] इति । तथा "अकारो वै सर्वा वाक्सैषा स्पर्शोष्मभिर्व्यज्यमाना बह्वी नानारूपा भवति" [ ऐ. पू. ३।६ ] इति श्रुत्यैव प्रपञ्चितं प्रकृतित्वमाह **सर्ववर्णानां प्रकृति**रिति । निर्धारणौपयिकबहुत्वसिद्ध्यर्थं प्रत्ययार्थं दर्शयति **सामासिकः समाससमूह** इति । पूर्वोत्तरान्यपदार्थप्रधानेभ्योऽव्ययीभावतत्पुरुषबहुव्रीहिभ्यो द्वन्द्वस्योत्कर्षमाह **स ह्युभयेति** । अक्षयशब्देन "कला मुहूर्ताः काष्ठाश्च" [ तै. ना. १।८ ] 'कलामुहूर्तादिमयश्च कालः' [ वि. पु. ४।१।२६ ] इति श्रुतिस्मृत्यादिसिद्धबहुविधविकाररूपलोकक्षयहेतुभूतानन्तावच्छेदे सत्यपि स्वरूपतोऽनाद्यन्तत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— **कले**ति । 'अनादिर्भगवान्कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते' [ वि. पु. १।२।२६ ] 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृत्तो ( द्धो ) नान्तो न चादिर्न च मेऽस्ति मध्यम्' [ ११।३२ ] इत्यादिभिरिदं कालाधिष्ठातृत्वं व्यक्तम् । धातृशब्दरूढ्या विश्वतोमुखत्वविशेषणेन च हिरण्यगर्भ एवात्रोच्यत इत्यभिप्रायेणाह—**सर्वस्ये**ति । धातृशब्देनैवाण्डान्तर्वर्तिसमस्तविधातृत्वलक्षण उत्कर्षः सिद्ध इति प्रदर्शनाय **सर्वस्य स्रष्टे**त्युक्तम् । एतेन कर्मफलविधातृत्वेन व्याख्यान्तरं निरस्तम् । 'विश्वतः' इति दिक्चतुष्टयमात्रमिह विवक्षितमिति ज्ञापनायोक्तं **चतुर्मुख** इति । वेदचतुष्टयप्रवर्तनादिकं चानेन सूचितम् ॥ ३३ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ३२ ॥ ३३ ॥**

**६ ज. प्र. दी.— ॥ ३२ ॥ ३३ ॥**

**७ ह. पै. भा.—सर्गाणामिति । सर्गाणां सृष्टीनामादिरन्तश्च मध्यं च सृष्टिस्थितिसंहाराः । प्रवदतां सम्बन्धी वादोऽहम् । प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भसिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवत्वोपपन्नपक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ ३२ ॥ अक्षराणामिति । समासे भवः सामासिको द्वन्द्वः । धाता कर्मफलभावनार्हः । ईश्वरो विश्वतोमुखो विश्वरूपः ॥ ३३ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—**सर्गाणामिति** । सृज्यन्त इति सर्गाः प्राणिनः, तेषामादिमध्यान्ताः सृष्टिस्थितिसंहाराः स्रष्टृपालयितृसंहर्तारो वा; ते मद्विभूतय इत्यर्थः । विद्यानां मध्ये मोक्षहेतुरध्यात्मविद्याऽहम् । प्रवदच्छब्देन वादिवाचकेन वादजल्पवितण्डाख्यास्तत्सम्बन्धिकथा लक्ष्यन्ते । तत्र वादो नाम तत्त्वबुभुत्सया गुरुशिष्ययोः सब्रह्मचारिणोर्वा वीतरागयोः प्रमाणतर्काभ्यां स्वपक्षस्थापनपरपक्षदूषणात्मकः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । वादफलस्य तत्त्वनिर्णयस्य दुर्दुरूढवादिनिराकरणेन संरक्षणार्थं विजिगीषुकथे जल्पवितण्डे जयमात्रफले । तदुक्तम्— 'तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थे जल्पवितण्डे' [ न्या. द. ४।२।४७ ] इति । अत्र च्छलजातिनिग्रहस्थानैः परपक्षदूषणस्य जल्पवितण्डयोरविशेषेऽपि जल्पे वादिनोरुभयोरपि स्वपक्षस्थापनम् । वितण्डायां त्वेकेन स्वपक्षः स्थाप्योऽन्येन स दूष्य एव, न तु तस्य स्थाप्यः पक्षोऽस्तीति भेदः । एतासु च कथासु वादस्य तत्त्वनिर्णयफलकत्वेन श्रेष्ठत्वात्स मद्विभूतिरित्यर्थः । एवं च प्रवदतामित्यस्य कथापरत्वे निर्धारणे षष्ठी, प्रवक्तृमात्रपरत्वे तु सम्बन्धे षष्ठी । 'भूतानामस्मि चेतना' [ १०।२२ ] इत्यत्रापि भूतशब्दस्य तत्सम्बन्धिमनोवृत्तिपरत्वे एवमेवेति ध्येयम् ॥ ३२ ॥ **अक्षराणामिति** । अक्षराणां सर्ववर्णानां मध्ये "अकारो वै सर्वा वाक्" [ऐ पूर्वो. ३।६] इति श्रुतिप्रसिद्धः सर्ववर्णप्रकृतिरकारोऽहम् । सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्ये द्वन्द्वः समासः; तस्योभयपदार्थप्रधानत्वात्; अन्येषां तु 'पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावः' 'उत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषः' 'अन्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः' इत्युभयपदार्थसाम्याभावेन ततोऽपकृष्टत्वादिति भावः । कालानां कलामुहूर्तादिरूपाणां मध्ये अक्षयः क्षयरहितः कालः "कालाय नमः कलविकरणाय नमः" [ म. ना. १०।९ ] इति श्रुतिप्रसिद्धः कालकालः परमशिवोऽहमेव । तस्य साक्षात्परब्रह्मत्वेऽपि 'रामः शस्त्रभृतामहम्' [ १०।३१ ] इतिवत्तेन रूपेणापि ध्यानार्थं विभूतिषु पाठः । 'कालः कलयताम्' [ १०।३० ] इत्यत्र तु क्षयी काल उक्त इति भेदः । धातॄणां स्रष्टॄणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वस्य स्रष्टा हिरण्यगर्भाख्योऽहम् ॥ ३३ ॥

९ व० त० दी०—सर्गाणां पुष्टिप्रवाहमर्यादारूपाणां चाहमादिः कारणं, उत्तमाङ्गकायरूपः पुष्टेः प्रवाहस्यान्तरमनोरूपः मर्यादाया: मध्यं हृदयं वेदरूपः कारणम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ३२ ॥ अक्षराणामिति । अकारो वासुदेववाचकः । 'अकारो वै सर्वा वाक्' [ऐ. पू. ३।६] इति श्रुतेः । समासगणस्य मध्ये द्वन्द्वोऽहं उभयपदार्थप्रधानत्वान्मुख्यः, रामकृष्णावित्यादिसमासोऽस्मि इति स चिन्तनीयः । अहमेव कालः प्रवाहरूपः । धाता चाहम् ॥ ३३ ॥

१० पु. अ. त.—सर्गाणामिति । सृज्यन्त इति सर्गा भूतादयश्च । स त्रिविधः कार्यसर्गः कारणसर्गः लीलात्मकश्च । तत्र कार्यसर्गो लौकिको बहिस्सृष्टिरूपः, स च जीवनाशरूपत्वात् प्रलयात्मकः । कारणसर्गस्तु मोक्षात्मकत्वादलौकिकः । तृतीयो भगवल्लीलात्मकः । तत्राऽप्यवान्तरभेदास्तत्त्वकालजीवादिरूपाः सन्ति ; तेषां सर्गाणां मध्ये आदिः कारणरूपोऽहम् । च पुनः । अन्तः रजोगुणात्मकब्रह्मकृतोऽन्तात्मकोऽप्यहम् । मध्यं लीलात्मसर्गोऽहमेव, च मत्स्वरूपमेवेत्यर्थः । हे अर्जुन मुक्त्यधिकारजातीय ! असतामसुक्त्यर्थमेव सर्गत्रयं मद्रूपत्वेन चिन्तयेत्यर्थः । अध्यात्मेति । विद्यानां सर्वासां मध्ये अध्यात्मविद्याऽहमस्मि । प्रवदतां वादिनां वादः, वितण्डाजल्पपक्षत्रयमध्ये वादस्तत्त्वस्वरूपनिर्णयात्मकोऽहमस्मि ॥ ३२ ॥

अक्षराणां वर्णानां मध्ये अकारोऽस्मि, सर्वाक्षरगतत्वात् । सामासिकस्य समाससमूहस्य मध्ये द्वन्द्वः 'गोपीमाधवौ' इत्यादिरस्मि । अक्षयः लीलात्मकोऽलौकिकः कालोऽहमेवास्मि । एवकारेण तस्य साक्षात्स्वरूपात्मकत्वाद्विभूतित्वे किं वाच्यमिति ज्ञापितम् । विधातॄणां मध्ये विश्वतोमुखः सर्वतोमुखश्चतुर्मुखो धाता अलौकिकसृष्टिकर्त्ताऽहमस्मीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्गाणां भौतिकानां 'भूतानामादिरन्तः' [१०।२०] इति प्रागेवोक्तत्वात् । विद्यानां चतुर्दशसङ्ख्यानां मध्ये अध्यात्मविद्या, बन्धच्छेदहेतुत्वात् । प्रवदतां प्रवक्तृद्वारेण वदनभेदा एव वादजल्पवितण्डा इह गृह्यन्ते । तेषां मध्ये वादस्तत्त्वनिर्णयार्थत्वादहम् ॥ ३२ ॥ अक्षराणां मध्ये अकारः । "अकारो वै सर्वा वाक्" [ऐ. ब्रा. पू. ३।६] इति श्रुतेः । सामासिकस्य समाससमुदायस्य मध्येऽहं द्वन्द्वोऽस्मि, उभयपदार्थप्रधानत्वादिति प्राञ्चः । समं एकत्रासनं समासो विदुषां वा गुरुशिष्याणां वा मन्त्रार्थकथनार्थं वा एकत्रावस्थानं तत्र विदितमर्थजातं सामासिकम् । चातुरर्थिकष्ठक् 'ठस्येकः' [अष्टा. ७।३।५०] इतीकादेशः 'यस्येति च' [अष्टा. ६।४।१४८] इत्यलोपः तस्य मध्ये द्वन्द्वो रहस्योऽर्थोऽहम् । 'द्वन्द्वं रहस्य' [अष्टा. ८।१।१५] इति सूत्रे द्वन्द्वशब्दस्य रहस्यवाचित्वं शाब्दिकप्रसिद्धम् । अक्षयः क्षयहीनः । कालः क्षणादिः, परो वा ईश्वरः, कालस्यापि कालोऽस्मि । धाता कर्मफलप्रदः विश्वतोमुखः सर्वप्राणितृप्त्या तृप्यामीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।**
**कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥ ३४ ॥**
**बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।**
**मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥ ३५ ॥**

---

१ सर्वहरो मृत्युः 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि' (म. भा. ५।४३।४) 'स क्रोधलोभौ मोहवानन्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वच्छारीरे य एषः' (म. भा. ५।४२।१६) इत्युक्तस्वरूपः । 'यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुः' (म. भा. ५।४२।६) इति मृत्युत्वेन प्रसिद्धो यमः, 'उपसंहरतस्तस्य तमग्निं रोषजं तदा । प्रादुर्बभूव विश्वेभ्यः खेभ्यो नारी महात्मनः ॥ तामाहूय तदा देवो लोकानामादिरीश्वरः । मृत्यो ! इति महीपाल ! जहि चेमाः प्रजा इति ॥ त्वं हि संहारबुद्ध्या मे चिन्तिता रुषितेन च । तस्मात्संहर सर्वास्त्वं प्रजाः सजडपण्डिताः ॥ (म. भा. १२।२५८।१५, १८, १९) इत्यादिनोक्तं देवतान्तरं च प्राणानेव हरति, अयं च धनधर्मादिकं सर्वमेवेति । मृत्युः 'मृङ्' प्राणत्यागे (धा. पा. ६।१२३) 'भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ' (उ. ३।२१) इति त्युक् । 'मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा' (नि. ११।६।२) इति नैरुक्ताः ॥

कीर्त्याद्या वाग्व्यतिरिक्ता दक्षकन्याः । तासु कीर्तिः श्रीर्धृतिर्मेधा च धर्मपत्न्यः । स्मृतिरङ्गिरसः पत्नी, क्षमा पुलहस्य । तदुक्तं मुद्गलपुराणे–'प्रसूत्यां जनयामास कन्या दक्षः प्रजापतिः । श्रद्धा लक्ष्मीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिर्मेधा क्रिया तथा ॥ बुद्धिर्लज्जा वपुः शान्तिः सिद्धिः कीर्तिस्त्रयोदश ॥ ददौ धर्माय पत्न्यर्थे दक्षो हृष्टमना मुने !, × × स्मृतिमङ्गिरसे ददौ' × × क्षमां च पुलहाय वै ॥' (२।६।१७, ३० ब्रह्मां. पू. ९।५०, ९५) इति । वाक्तु ब्रह्मणो मानसी कन्या, 'वाचं दुहितरं तन्वीं स्वयम्भूर्हरतीं मनः ।

**१ शां. भा.**— मृत्युर्द्विविधो धनादिहरः प्राणहरश्च। तत्र यः प्राणहरः स सर्वहर उच्यते सोऽहमित्यर्थः। अथवा पर ईश्वरः प्रलये सर्वहरणात्सर्वहरः सोऽहम्। उद्भव उत्कर्षोऽभ्युदयस्तत्प्राप्तिहेतुश्चाहं; केषां? भविष्यतां, भाविकल्याणानामुत्कर्षप्राप्तियोग्यानामित्यर्थः। कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमेत्येता उत्तमाः स्त्रीणामहमस्मि; यासामाभासमात्रसम्बन्धेनापि लोकः कृतार्थमात्मानं मन्यते ॥ ३४ ॥ बृहत्सामेति। बृहत्साम तथा साम्नां प्रधानमस्मि। गायत्री छन्दसामहं गायत्र्यादिच्छन्दोविशिष्टानामृचां गायत्र्यृगहमस्मीत्यर्थः। मासानां मार्गशीर्षोऽहम्। ऋतूनां कुसुमाकरो वसन्तः ॥ ३५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सर्वहरशब्दस्य मुख्यमर्थान्तरमाह— **अथवेति**। भाविकल्याणानामित्युक्तमेव स्पष्टयति— **उत्कर्षेति**। कीर्तिर्धार्मिकत्वनिमित्ता ख्यातिः, श्रीर्लक्ष्मीः, कान्तिः शोभा, वाग्वाणी सर्वस्य प्रकाशिका, स्मृतिश्चिरानुभूतस्मरणशक्तिः, मेधा ग्रन्थधारणशक्तिः, धृतिर्धैर्यं, क्षमा मानापमानयोरविकृतचित्तता। स्त्रीषु कीर्त्यादीनामुक्तत्वमुपपादयति— **यासामिति** ॥३४॥ 'वेदानां सामवेदोऽस्मि' [१०।२२] इत्युक्तं तत्रावान्तरविशेषमाह— **बृहदिति**। छन्दसां मध्ये गायत्री नाम यच्छन्दस्तदहमित्ययुक्तं छन्दसामृग्भ्योऽतिरेकेण स्वरूपभावादित्याशङ्क्याऽऽह— **गायत्र्यादीति**। द्विजातेर्द्वितीयजन्मजननीत्वादित्यर्थः। मार्गशीर्षो मृगशीर्षेण युक्ता पौर्णमास्यस्मिन्निति मार्गशीर्षो मासः, सोऽहं पक्वसस्याढ्यत्वादित्याह— **मासानामिति**। वसन्तो रमणीयत्वादिति शेषः ॥ ३५ ॥

**३ रा. भा.**— मृत्युरिति। सर्वप्राणहरो मृत्युश्चाहम्। उत्पत्स्यमानानामुद्भवाख्यं कर्म चाहम्। नारीणां श्रीरहम्, कीर्तिश्चाहम्, वाक्चाहम्, स्मृतिश्चाहम्, मेधा चाहम्, धृतिश्चाहम्, क्षमा चाहम् ॥३४॥ साम्नां बृहत्सामाहम्। छन्दसां गायत्र्यहम्। ऋतूनां कुसुमाकरो वसन्तः ॥ ३५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— कर्मानुरूपदण्डकाऽवच्छेदाधिकृतयोर्यमकालाख्यपुरुषयोरुक्तत्वाद्यमादेशकारिप्राणहरणाधिकृतपुरुषविशेष इह 'मृत्युः सर्वहरः' इत्युच्यत इति ज्ञापनाय **सर्वप्राणहर** इत्युक्तम्। 'प्रलये सर्वसंहर्तेश्वर इह मृत्युः' इति कैश्चिदुक्तं मन्दम्, 'भूतानामन्त एव च' [१०।२०] इत्युक्तत्वात्। उद्भवसहपाठादत्र मृत्युशब्दो मरणपर इति केचित्। उद्भवशब्दः स्वरसत उत्पत्तिक्रियापरः। उद्भवस्थानादि निमित्तोपादानादिकं चात्र पृथगेव निर्दिष्टमिति क्रियापरत्वमेवोचितमित्यभिप्रायेण **उद्भवाख्यं कर्मे**त्युक्तम्। कीर्त्यादयो नेह गुणविशेषा विवक्षिताः; तेषां पुरुषेष्वपि च उद्भूतत्वेन 'नारीणाम्' इति विशेषणायोगात्। न च नारीशब्दोऽत्र स्त्रीलिङ्गपदार्थमात्रपरः, मुख्यबाधाभावात्। अतो नारीविशेषनिर्धारणमेव क्रियते। तत्र च श्रिय एव सर्वनारीभ्योऽतिशयितत्वात्सैव प्रथमं वक्तव्या; 'कीर्तिः श्रीः' इति तु पाठक्रमोऽर्थक्रमेण बाध्यत इत्यभिप्रायेण **श्रीरहं कीर्तिश्चाह**मित्युक्तम्। एताश्च भगवदसाधारणशक्तयः। अन्यत्र तु तत्तदभिमानविशेषात्तत्तच्छब्दः ॥ ३४ ॥

सामसु बृहत्साम्न उत्कृष्टत्वं श्रुत्यैव सिद्धं 'बृहच्च वा इदमग्रे रथन्तरं च आस्तां वाक्च वै तन्मनश्चास्तां वाग्वै रथन्तरं मनो बृहत्तद्बृहत्पूर्वं ससृजानं रथन्तरमत्यमन्यत तद्रथन्तरं गर्भमधत्त' [म. ता. ] इति। गायत्र्याश्छन्दसां मातृत्वेनोत्कर्षः श्रुतिषु च्छन्दोविचित्यां च प्रपञ्चितः। यथा बह्वृचोपनिषदि "अग्रं वै छन्दसां गायत्री" इति। मासेषु मार्गशीर्षस्यातिशयः वर्षगर्भाधानकालत्वान्मासाधिदेवेषु केशवादिषु प्रथमस्य केशवस्य मासत्वाद्व्रतवर्गारम्भकालत्वाच्च। कुसुमाकरशब्देनैव वसन्तस्य प्रत्यक्षसिद्धः सर्वप्राणिसुखहेतुरतिशयो द्योतितः। "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" "वसन्ते दीक्षयेद्विप्रं ग्रीष्मे राजन्यमेव च" इत्यादिभिश्च ॥ ३६ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

---

—( भाग. ३।१२।२८ ) इत्युक्तेः। श्रीर्भृगुकन्या विष्णुपत्नी वा, 'भृगुः ख्यात्यां महाभागः पत्न्यां पुत्रानजीजनत्। धातारं च विधातारं श्रियं च भगवत्पराम्॥' ( भाग. ४।१।४३ ) इत्युक्तेः ॥ — **अविगीता**।

२ अत्र मासेषु मार्गशीर्षस्य प्राधान्याभिधानं प्राचां तमारभ्यैव मासगणनाचारात्। तथा च भारत एव मासोपवासविधाने— 'मार्गशीर्षं तु यो मासमेकभक्तेन संक्षिपेत्' ( १३।१०६।१७ ) इति मार्गशीर्षमारभ्यैव फलविशेषाद्यभिहितम्। तत्रैव विष्णोर्द्वादशकेऽपि 'द्वादश्यां मार्गशीर्षे तु अहोरात्रेण केशवम्' ॥ ( म. भा. १३।१०९।३ ) इति अन्यत्र च 'मार्गशीर्षस्य मासस्य चन्द्रे मूलेन संयुते।' ( म. भा. १३।११०।३) इत्यादौ मार्गशीर्षस्यैव प्राथम्यं दृश्यते। अत एव 'आग्रहायणिकः' इति तस्य संज्ञाऽपि एतद्विषये **चोपसंहारे** गीताप्रणयनकालनिर्णयावसरे सविस्तरं विवेचयिष्यते ॥ ऋतूनां वसन्तः, "मुखं वा एतदृतूनाम्। यद्वसन्तः" ( तै. सं. १।१।२।६ ) इति श्रुतेः। — **अविगीता**।

**७ ह. पै. भा.**— मृत्युरिति । पर एवेश्वरः सर्वहरो मृत्युरुच्यते, प्रलये सर्वहरणात् । भविष्यतामुद्भूषतामुद्भवोऽभ्युदयोऽहम् । स्वरूपेण कथनं कीर्तिः । श्रीर्लक्ष्मीः । वाक्सरस्वती । स्मृतिः स्मरणशक्तिः । मेधा धारणाशक्तिः । धृतिर्धैर्यम् । क्षुत्पिपासादिसहनं क्षमा । 'आक्रुष्टोऽभिहतो वाऽपि नाऽऽक्रोशेन्नैव ताडयेत् । अदुष्टो वाङ्मनःकायैः सा क्षमा परिकीर्तिता' एता उत्तमाः स्त्रियोऽहं, यासामाभासमात्रसम्बन्धेन लोकः कृतार्थमात्मानं मन्यते ॥ ३४ ॥ बृहत्सामेति । बृहत्साम नाम साम्नां प्रधानं साम । गायत्री छन्दोविशिष्टानामृचां गायत्र्यृगहम् । कुसुमाकरो वसन्तर्तुः ॥ ३५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— मृत्युरिति । संहारकाणां मध्ये सर्वसंहारको मृत्युरहम् । भविष्यतामुत्कर्षप्राप्तियोग्यानां सम्बन्धी उद्भव उत्कर्षोऽहम् । कीर्तिः ख्यातिः, श्रीः सम्पत्तिः, वाक्सरस्वती, स्मृतिश्चिरानुभूतार्थस्मरणशक्तिः, मेधा अनेकग्रन्थार्थधारणाशक्तिः, धृतिः क्षुत्पिपासादिसहनशक्तिः, क्षमा 'आक्रुष्टोऽभिहतो वाऽपि नाक्रोशेन्न च ताडयेत् । अदुष्टो वाङ्मनःकायैः सा क्षमा परिकीर्तिता' इत्युक्ता । एता कीर्त्यादयो धर्मपत्न्यो देवताः सर्वलोकमातरः पुराणे प्रसिद्धाः। यासामाभासमात्रेणापि लोकः श्लाघ्यतामेति ता इमा नारीणां मध्ये मद्विभूतय इत्यर्थः ॥ ३४ ॥ बृहत्सामेति । 'गीतिषु सामाख्या' [ पू. मी. २।१।३६ ] इति जैमिनिसूत्रेण लक्षितानि ऋगारूढगीतिविशेषरूपाणि सामानि । तेषां मध्ये बृहन्नामकं साम "त्वामिद्धि हवामहे-"[ऋक्सं. ४।७।२१।१] इत्यस्यामृचि गीयमानमतिरात्रे पृष्ठस्तोत्रमिन्द्रपारम्यपरत्वात् "अपरिमितं बृहत्" [ मै उ. ४।४ ] इत्यादिश्रुतेश्च श्रेष्ठम्, तन्मम विभूतिः । छन्दसां मध्ये गायत्र्यहम्, द्विजत्वहेतुतया सोमाहरणेन च तस्याश्छन्दोन्तरापेक्षयाधिक्यात् । तस्याः सोमहरणं च यजुस्संहितायाम् 'कद्रुश्च वै सुपर्णी च' इत्यादिना बह्वृचब्राह्मणे च "सोमो वै राजा गन्धर्वोऽध्यासीत्" इत्यादिना प्रपञ्चितम् । मासानां द्वादशानां मध्ये नातिशीतातपत्वेन नानाविधौषधिशाकभरितत्वेन च सुखहेतुत्वात्, 'कोदण्डस्थे सवितरि प्रत्यूषे कमलापतेः । सहस्रवार्षिकी पूजा दिनेनैकेन लभ्यते ॥' 'हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दव्रजकुमारिकाः' [ भाग. १०।२२।१ इत्यादिश्रवणाच्च श्रेष्ठो मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां षण्णां मध्ये सुगन्धिसर्वकुसुमरमणीयत्वात् "वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत" "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत" [ ] इत्यादिश्रुतेश्च श्रेष्ठः कुसुमाकरो वसन्तोऽहम् ॥ ३५ ॥

९ व० त० दी०— मृत्युरिति स्पष्टम् । भगवदीयविरोधिजनान् सर्वान् संहरति तथाभूतो मृत्युर्मद्विभूतिः । एवमुद्भवोऽपि । नारीणां मध्ये कीर्त्यादयः सप्ताहम् । अथवा कीर्तिर्वृषभानुपत्नी मद्विभूतिः । तत्र श्रीश्चाहम् । वाक्सरस्वतीयमवताररूपा चाहं; श्रीपरिचारिका वा निर्दिष्टा ॥ ३४ ॥ बृहत्सामेति । "त्वामिद्धि हवामहे" [ ऋक्सं. ४।७।२१।१ ] इत्यस्यां ऋचि गीयमानं बृहत्साम तेन चेन्द्रः सर्वेश्वरत्वेन स्तूयत इति श्रैष्ठ्यं दर्श्यते । छन्दसां वेदमन्त्राणां वा मध्ये गायत्री मे विभूतिः, मत्स्वरूपप्रतिपादकत्वाद्भगवत्सेवकैश्चिन्तनीया । मासानां मध्ये मार्गशीर्षोऽहं कुमारिकाकामपूरणकालत्वात् भोगयोग्यत्वाच्च मे विभूतिः । ऋतूनां मध्ये कुसुमाकरो वसन्तोऽहं "वसन्तेऽग्नीनादधीत" [ ] इति श्रुतौ प्राशस्त्यत्वाज्जडेष्वपि प्रमोदापादकत्वाद्वृन्दावनाविरतवृत्तित्वाच्च मे विभूतिः ॥ ३५ ।

१० पु. अ. त.— मृत्युरिति । संहारिणां मध्ये सर्वसंहारकोऽहम् । च पुनः मृत्युरपि । भविष्यतां निखिलानां प्राणिनां पदार्थानां उद्भवोऽभ्युदयः भाग्यरूपोऽहम् । कीर्तिरिति । कीर्तिः धर्मस्य स्त्री, श्रीः लक्ष्मीः, वाक् सरस्वती श्रीभागवतादिरूपा, स्मृतिर्भगवत्स्मरणात्मिका, मेधा बुद्धिः भगवद्गुणैकनिष्ठा, धृतिः आपत्सु धर्मैकनिष्ठता, क्षमा सर्वातिक्रमसहनरूपा, नारीणां मध्ये एता मद्विभूतिरूपाः ॥ ३४ ॥ साम्नां सामऋचां मध्ये बृहत्साम मद्विभूतिरित्यर्थः । छन्दसां मध्ये गायत्री मद्विभूतिः । मासानां मध्ये मार्गशीर्षोऽहम् । ऋतूनां मध्ये कुसुमाकरो वसन्तोऽस्मि ॥ ३५ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्वहरः प्रलयकालिको मृत्युरस्मि । भविष्यतां भाविकल्याणानामुद्भव ऐश्वर्योत्कर्षोऽहम् । कीर्त्यादिसप्तकमप्यहं, यासां संश्रयमात्रेण मनुष्येषु कृतार्थताबुद्धिर्भवति ॥ ३४ ॥ बृहत्साम "त्वामिद्धि हवामहे" [ ऋक्सं. ४।७।२१।१ यजुस्सं. २७।३७] इत्यस्यामृचि गीयमानं साम पृष्ठ्यस्तोत्रे विनियुक्तमिन्द्रदेवत्यं तत् साम्नां मध्येऽहमस्मि । छन्दसां मध्ये गायत्री द्विजत्वसम्पादनात्सोमाहरणाच्च श्रेष्ठाऽहमस्मि । कुसुमाकरो वसन्तः ॥ ३५ ॥

**द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।**
**जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥ ३६ ॥**
**वृष्णीनां[२] वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।**
**मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥ ३७ ॥**

१ **शां. भा.**— द्यूतमिति । द्यूतमक्षदेवनादिलक्षणं छलयतां छलस्य कर्तॄणामस्मि । तेजस्तेजस्विनामहं, जयोऽस्मि जेतॄणाम् । व्यवसायोऽस्मि व्यवसायिनां, सत्त्वं सत्त्ववतां सात्त्विकानामहम् ॥ ३६ ॥ वृष्णीनामिति । वृष्णीनां यादवानां वासुदेवोऽस्मि, अयमेवाहं त्वत्सखः । पाण्डवानां धनञ्जयस्त्वमेव । मननशीलानां मुनीनां सर्वपदार्थज्ञानिनामप्यहं व्यासः, कवीनां क्रान्तदर्शिनामुशना कविरस्मि ॥ ३७ ॥

२ **आ. शां. व्या.**—द्यूतमुक्तलक्षणं सर्वस्वापहारकारणमन्यापदेशेन पराभिप्रेतं निघ्नतां स्वाभिप्रेतं वा सम्पादयतामित्याह—**छलस्येति** । तेजोऽप्रतिहताज्ञा, उत्कर्षो जयः, व्यवसायः फलहेतुरुद्यमः, धर्मज्ञानवैराग्यादि सत्त्वकार्यं सत्त्वम् ॥ ३६ ॥ उशना शुक्रः; कविशब्दोऽत्र यौगिकः, न रूढः, पौनरुक्त्यात् ॥ ३७ ॥

३ **रा. भा.**— छलं कुर्वतां छलास्पदेष्वक्षादिलक्षणं द्यूतमहम् । जेतॄणां जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायोऽस्मि । सत्त्ववतां सत्त्वं महामनस्त्वम् ॥ ३६ ॥ वसुदेवसूनुत्वमत्र विभूतिः, अर्थान्तराभावादेव । पाण्डवानां धनञ्जयोऽर्जुनोऽहम् । मुनयो मननेनार्थयाथात्म्यदर्शिनः, तेषां व्यासोऽहम्, कवयो विपश्चितः ॥ ३७ ॥

४ **वे. ता. चं.**—'छलयताम्' इत्यत्र 'तत्करोति' इति णिजित्यभिप्रायेण **छलं कुर्वता**मित्युक्तम् । अक्षसञ्चारादिमात्रेण जयपराजयारोपादिह च्छलत्ववाचोयुक्तिरित्यभिप्रायेण **अक्षादिलक्षण**मित्युक्तम् । 'तेजस्तेजस्विनाम्' इत्यादिवत् 'दीव्यतां द्यूतमहम्' इत्यनभिधानात् 'छलयताम्' इति छलकरणमात्रवचनाच्च छलस्थानान्तरेभ्यः क्रयविक्रयऋणदायसंवित्सङ्गरादिभ्यो द्यूतस्यातिशयितत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेण **छलास्पदेष्वि**त्युक्तम् । वञ्चनास्पदेष्वित्यर्थः । अक्षादीत्यादिशब्देन

---

१ 'तेजस्तेजस्विनामहम्' ( ७।१० ) इति सप्तमे तेजोरूपेण तेजस्विनामुत्कर्षाधायकोऽहमित्युक्तम् । अत्र तु तस्य तेजसः स्वाश्रयोत्तमत्वप्रदत्वरूपं यदुत्तमत्वं, तत्प्रदोऽहमित्युक्तमिति भेद इति **दर्पणे** । —**अविगीता** ।

२ **वृष्णीनाम्** 'मधोः पुत्रशतं त्वासीद्वृषणस्तस्य वंशभाक् । वृषणाद्वृष्णयः सर्वे मधोस्तु माधवाः स्मृताः' ॥ (ह. वं. १।३३।५४ ब्र. पु. १२।२०६ ) इत्युक्तानां मध्ये वासुदेवो वसुदेवसूनुः । ननु शास्त्रभृत्त्वस्येव वसुदेवसूनुत्वस्यातिशयाधायकत्वाभावात् कथं विभूतित्वम्? इति चेत्, वासुदेवशब्दसामर्थ्येन 'तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् । श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥ महार्हवैडूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् । उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत' (भाग.१०।३।९–१०) इत्यादिनोपवर्णितस्यातिमानुषस्य भगवदाविर्भाववैभवस्योपस्थापनादेवेति केचित्।

धनञ्जयः–'धत्ते धारयते चेदमेतस्मात् कारणाद्धनम् ।' ( म. भा. ५।११४।२ ) इत्युक्तं धनम्, 'राष्ट्राणि वै धनानि। ( ऐ. ब्रा. ८।५।३ ) इति श्रुते राष्ट्राणि वा जयतीति धनञ्जयोऽर्जुनः । 'संज्ञायां भृतॄवृजि–' (अष्टा.३।२।४६) इत्यादिना खच्। 'सर्वाञ्जनपदाञ्जित्वा वित्तमादाय केवलम् । मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मां धनञ्जयम् ॥' ( म. भा. ४।४४।१३ ) इति स्वयमेव निरुक्तनामा भगवदंश एव । 'वसुदेवसुतस्त्वेको वासुदेव इति श्रुतः । देहो भविष्यति हरेर्द्वितीयः पाण्डुनन्दनः ॥ ( यो. वा. नि. प्र. पू. ५२।२८ ) इत्यादि वर्णनात् । उक्तं च पूर्वमपि भगवतैव–'अनन्यः पार्थ ! मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च। नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ ! ॥' ( म. भा. ३।१२।४७ ) इति । अत्रापरोक्षसंवादे—'त्वं तु भागवतेष्वहम्' ( भाग. ११।१६।२९) इतिवत्, पाण्डवानां भवानहमिति वक्तव्ये ताटस्थ्येनोक्तिर्धनञ्जयपदप्रयोगश्च राष्ट्राणां धनानां च जेतृत्वमेव तव दिव्यो भावः, नेदानींन्तनं हृदयदौर्बल्यम्; अतस्तत्त्यक्त्वा प्रकृतिं प्रतिपद्यस्वेति भगवतो निगूढमाकूतमभिव्यनक्ति । तथा च —'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते ।' (२।३) इत्युक्तमप्युपपादितमिति सूक्ष्मधीभिर्विभावनीयम् ॥ कल्पान्तरेषूत्पन्नपाण्डवेष्वपि अर्जुनस्यैव विभूतित्वं दर्शयितुं परोक्षेण निर्देश इति वा बोध्यम् ॥ —**अविगीता** ।

सजीवनिर्जीवसमस्तद्यूतवर्गसङ्ग्रहः । यद्वा निर्जीवमात्रग्रहणाय अक्षादिलक्षणमित्युक्तम् । तस्य चातिशयितत्वमनायासेन धर्माविरोधेनाभ्युपगमादेव समस्तधनहरणादेः शक्यत्वात् । तेजस्विसत्त्ववच्छब्दयोः पूर्वोत्तरयोस्तेजस्सत्त्वाभ्यामवरुद्धत्वात्तत्र जयव्यवसायशब्दयोरन्वयानौचित्यात्तदुचितौ जेतृव्यवसायिशब्दौ पूर्वापरच्छाययार्थाक्षिप्तावित्यभिप्रायेण **जेतॄणां व्यवसायिनाम**िति चोक्तम् । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' [ अमरः ३।३।२१२ ] इत्यादिभिः सत्त्वशब्दस्यानेकार्थसिद्धेर्व्यवसायस्य चोक्तत्वात्सत्त्ववच्छब्दप्रसिद्धचनुरोधेनार्थविशेषं दर्शयति **सत्त्वं महामनस्त्व**मिति । एतेन पराभिभवसामर्थ्यादिलक्षणात्तेजसोऽपि सत्त्वस्यात्र भेद उक्तः ॥ ३६ ॥

'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' इत्यत्रापि रामवत्साक्षात्स्वावतारत्वादाह **वसुदेवसूनुस्त्वमत्र विभूति**रिति । **अर्थान्तराभावादेवे**त्येवकारेण रामप्रसङ्गे हेतोः प्रागेवोक्तत्वं सूचितम् । ननु वसुदेवसूनुत्वमिति कथं विभूतिः; नहि सूनुत्वमात्रेणातिशयः, अतिप्रसङ्गात्; नच वसुदेवाख्यपितृविशेषसूनुत्वेन, तस्याप्यनेकसाधारणत्वेन निर्धारणायोगात्; नच वासुदेवशब्दप्रसिद्धिमात्रेण, तावन्मात्रस्य अतिशयं प्रत्यप्रयोजकत्वात्; नचेह वसुदेवसूनुत्वमुपदेश्यम्, अर्जुनस्य सम्प्रतिपन्नत्वादेव; अतः साक्षादवतारत्वं नोचितम्; अत एव 'वृष्णीनामहमस्मि' इति नोक्तमित्यत्रोच्यते—वासुदेवशब्दोऽत्र लक्षणया वसुदेवगृहे चतुर्भुजतयाऽवतारप्रभृति अतिमानुषगुणविग्रहपराक्रमादिरूपमागोपालं प्रसिद्धमतिशयं लक्षयति। तस्य चार्जुनं प्रत्यभिधानं दृष्टान्तार्थम् । सर्वनाम्नो युष्मदस्मच्छब्दादपि साक्षान्नाम्नोऽत्यन्तासन्नत्वादिभिरतिशयोऽत्र विवक्षितः । धर्मे युधिष्ठिरस्य सर्वातिशायित्वात्, बले च भीमसेनस्य, आभिरूप्यादिषु च माद्रीसुतयोः, 'अर्जुन' इति प्रसिद्धनामधेयेन विशदीकरणम् । तेन स्वाभिमुखमर्जुनं प्रति त्वमिति निर्देशाभावात् किं धनञ्जयाख्योऽन्य इति शङ्काव्युदासः । नह्यत्र पारोक्ष्यप्रसङ्गः, अपरोक्षस्यैव सर्वस्यात्र सर्वदर्शिना वचनादिति । ऋषित्वं ह्यदृष्टविशेषादतीन्द्रियार्थदर्शित्वम्; तच्च प्रायशः प्रागेवोक्तम्; अतो 'मुनीनां' इत्यनेन तदतिरिक्तो निर्वचनबलात् "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति" [ ] इतिश्रुत्यनुसाराच्च विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह **मुनयो मननेनात्मयाथात्म्यदर्शिन** इति । तथाविधश्च भगवतो व्यासस्यातिशयस्तद्वाक्यैरेव सिद्धः 'आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा' [ गा. पु. पू. खं. २२२।१ ] इत्यादिभिः; 'तपोविशिष्टादपि वै वसिष्ठान्मुनिसत्तमात् । मन्ये श्रेष्ठतमं त्वाद्य रहस्यज्ञानवेदनात्' इति च । अयमपि कश्चिद्विभवावतारो गण्यते 'वेदविद्भगवान् कल्की पातालशयनः प्रभुः' इति । कवीनामिति न निबन्धृत्वं विवक्षितम्, तथा सति वाल्मीकिप्रभृतेः सर्वातिशायित्वात्; अतः क्रान्तदर्शी कविरिति विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह **कवयो विपश्चित** इति । उशनसो विपश्चित्सु वैलक्षण्यं नीतिनिपुणत्वादिभिः । प्रसिद्धं ह्येतत 'न कश्चिन्नोपनयते पुमानन्यत्र भार्गवात् । शेषसम्प्रतिपत्तिस्तु बुद्धिमत्स्ववतिष्ठते' इत्यादिषु ॥ ३७ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ३६ ॥ आच्छादयति सर्वं वासयति वसति चेति सर्वत्र वासुदेवः । देवशब्दार्थ उक्तः पुरस्तात्— 'छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः । सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततोऽस्म्यहम्' इति मोक्षधर्मे । विशिष्टः सर्वस्मादा समन्तात्स एवेति व्यासः । तथा चाग्निवेश्यशाखायाम् "सव्यासो वीति तमप् वै विः सोऽधस्तात्स उत्तरतः स पश्चात्स पूर्वस्मात्स दक्षिणतः स उत्तरत इति" इति " यच्च किञ्चिज्जगत्सर्वं दृश्यते श्रूयतेऽपि वा । अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः " इति च ॥ ३७ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३६ ॥ 'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि' इति वासुदेवशब्दं व्याचिकीर्षुर्वासुशब्दार्थं तावदाह— **आच्छादयती**ति । 'वस आच्छादने' [ धा.पा.२।१३ ] इत्यत उण् । वासयति सर्वमिति वर्तते । 'वस निवासे' [ धा. पा.१।१०३०] इत्यतो ण्यन्तादुण्। वसति चेति केवलादुणेव वा। ततः किमायातं वासुदेवशब्दस्य ? इत्यत आह— **देवे**ति । तथाहि देवशब्दार्थमित्यत्र ततः कर्मधारयः। विश्वं समस्तं भूत्वा प्राप्य 'भू प्राप्तावात्मनेपदी' [धा.पा. १०।३११] इति वचनात् सर्वभूताधिवासश्चेति तत्पुरुषो बहुव्रीहिश्च । अत्रापि देवशब्दार्थो ग्राह्यः । 'मुनीनामप्यहं व्यासः' इति व्यासशब्दं व्याचष्टे— **विशिष्ट** इति । सर्वस्माद्विशिष्ट इति विशब्दार्थः। आ इत्यनुवादेन समन्तादिति व्याख्यानम् । स इत्यस्य एवेति । 'सृ गतौ' [धा.पा. १।८६०] 'सृप्लृ गतौ' [धा. पा. १।१००८] इत्यतो वा डे रूपमेतत्, न तु तदः, व्यासमित्याद्यनुपपत्तेः। समन्ताद्गतः सर्वगत इत्यर्थः, स व्यासः । कुतः ? वीति हेतोः। कोऽर्थः तमपोऽर्थो हि विशब्दः उत्तरत उपरिष्टात् यच्च किञ्चिदिति भगवतः सर्वगतत्वे प्रमाणम् ॥ ३७ ॥

**७ ह. पै. भा.— द्यूतमिति । छलयतां छद्मगतीनां द्यूतमस्मि । जेतॄणां जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायोऽस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां सत्त्वमहमस्मि ॥ ३६ ॥ वृष्णीनामिति । वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि । मुनीनां मननशीलानां सकलपदार्थतत्त्वज्ञानिनाम् । कवीनां क्रान्तदर्शिनाम् ॥ ३७ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—द्यूतमिति। छलयतां वञ्चयतां सम्बन्धि द्यूतमक्षविदेवनादि सर्वः सर्वस्वापहारकारणमहमस्मि । तेजस्विनां प्रतापवतां सम्बन्धि तेजः प्रतापोऽहम् । तथा जेतॄणां जयोऽस्मि । व्यवसायिनां व्यवसायः फलैकान्तिकोद्यमरूपोऽस्मि । सत्त्ववतां सम्बन्धि सत्त्वं ज्ञानसुखादिरूपं सत्त्वकार्यमहमस्मि ॥ ३६ ॥ साक्षादीश्वरस्यापि विभूतिषु परिगणनं तद्रूपेणापि ध्यानार्थमिति प्रागेवोक्तम् । वृष्णीनां राज्ञां मध्ये वसुदेवपुत्रस्त्वदुपदेष्टाऽयमेवाहमस्मि। पाण्डवानां धनञ्जयस्त्वमेवास्मि । मुनीनां वेदार्थमननशीलानां मध्ये व्यासोऽहम् । कवीनां क्रान्तदर्शिनां सूक्ष्मदर्शामुशना कविः शुक्रः ॥ ३७ ॥

९ व० त० दी०—द्यूतमिति । छलयतां सम्बन्धि धर्मद्यूतं छलमहम्; यथा युधिष्ठिरे भगवत्सेवोपयोगिक्रीडासाधनेष्वक्षलक्षणेषु द्यूतं वा भगवद्विभूतिः। तत्र च तेजस्विनां मध्येऽहङ्काररूपं तेजो मद्विभूतिः। दासोऽस्मीति वा भागवतं वा तत् तत्र जयोऽपि चाहं; रुक्मीकालिङ्गप्रसङ्गेऽक्षगोष्ठ्यां [भाग.१०] बलभद्रनिष्ठः सत्यवागुदितो जयो मे विभूतिः । अन्योऽपि तथा भावनीयः व्यवसाय इत्यादिः ॥ ३६ ॥ यदुष्वपि स्वस्य विभूतित्वमाहि-माह—वृष्णीनामिति । यादवानां मध्ये वासुदेवत्वधर्ममयो भगवान् चिन्त्योऽहं ( जातोऽहम् )। तेन वासुदेवो मे पुरुषोत्तमस्य विभूतिः । व्यवसायिनां फलाव्यभिचार्युद्यमविभूतिर्वसुदेवगृहे जातो धर्ममयोऽहमन्यत्र केवल इत्यभियुक्तपादाः । यद्वा वसुदेवसुतो यो बलभद्रः स मे विभूतिरिति सोऽहम् । पाण्डवानां पञ्चानां मध्ये त्वं त्वहमेव; नरो हि नाम नारायणांशः प्रसिद्धः । मुनीनां मननशीलानां वेदार्थमननशीलानां मध्ये कृष्णद्वैपायनोऽहम् । उशना शुक्रः ॥ ३७ ॥

१० पु. अ. त.—द्यूतमिति । छलयतां वञ्चकानां मध्ये द्यूतमस्मि, येन क्रीडाक्षात्रादिधर्मदर्शनेन मोहितो जानन्नपि वञ्चति । तेजस्विनां प्रभावतां मध्ये तेजः प्रभा अहमस्मि । जयतां मध्ये जयोऽस्मि । व्यवसायिनामुद्यमवतां निश्चयवतां वा व्यवसायः उद्यमः निश्चयो वाऽस्मि । सत्त्ववतां सात्त्विकानां मध्ये सत्त्वमहम् ॥ ३६ ॥ वृष्णीनामिति । वृष्णीनां यादवानां सर्वेषां मध्ये हृदये वासुदेवः सर्वमोक्षदाता क्रीडार्थम् अंशैरस्मि, सर्वे यादवा मद्विभूतिरूपा इत्यर्थः । पाण्डवानां मध्ये धनञ्जयस्त्वमेवास्मि । मुनीनां ब्रह्ममननशीलानां मध्ये व्यासः कृष्णद्वैपायनोऽस्मि । कवीनां निर्दुष्टस्वरशब्दप्रदर्शिनां मध्ये उशना कविः शुक्रोऽस्मि ॥ ३७ ॥

११ नी० भा० दी०—व्यवसायो निश्चयः, उद्यमो वा ॥ ३६ ॥ वृष्णीनां यादवानाम् । उशना शुक्रः ॥ ३७ ॥

**दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम् ।**
**मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥**
**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ! ।**
**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ॥ ३९ ॥**

१ शां. भा.—दण्ड इति । दण्डो दमयतां दमयितॄणामस्म्यदान्तानां दमकारणं, नीतिरस्मि जिगीषतां जेतुमिच्छतां, मौनं चैवास्मि गुह्यानां गोप्यानां, ज्ञानं ज्ञानवतामहम् ॥ ३८ ॥

यच्चापीति । यच्चापि सर्वभूतानां बीजं प्ररोहकारणं, तदहमर्जुन ! प्रकरणोपसंहारार्थं विभूतिसङ्क्षेपमाह न तदस्ति भूतं चराचरं चरमचरं वा मया विना यत्स्याद्भवेत् । मयाऽपकृष्टं परित्यक्तं निरात्मकं शून्यं हि तत्स्यात्, अतो मदात्मकं सर्वमित्यर्थः ॥ ३९ ॥

२ आ. शां. व्या.—अदान्तानुत्पथान्पथि प्रवर्तयतां दण्डोऽहं, उत्पथप्रवृत्तौ निग्रहहेतुरित्यर्थः । नीतिर्न्यायो धर्मस्य जयोपायस्य प्रकाशकः । मौनं वाचंयमत्वमुत्तमा वा चतुर्थाश्रमप्रवृत्तिः । श्रवणादिद्वारा परिपक्वसमाधिजन्यं सम्यग्ज्ञानं ज्ञानम् ॥ ३८ ॥ जाड्यमात्रप्रतिबिम्बितं चैतन्यं बीजम्, किमिति स्थावरं जङ्गमं वा त्वदतिरेकेण न भवति ? तत्राऽऽह—मयेति । तस्यापि स्वरूपेण सत्त्वमाशङ्क्योक्तं—शून्यं हीति । आत्मनोऽपकर्षादित्यर्थः । मयैव सच्चिदानन्दस्वरूपेण सर्वस्य सिद्धेरित्यतशब्दार्थः ॥ ३९ ॥

**३ रा. भा.—** नियमातिक्रमणे दण्डं कुर्वतां दण्डोऽहम् । विजिगीषूणां जयोपायभूता नीतिरस्मि। गुह्यानां सम्बन्धिषु गोपनेषु मौनमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानं चाहम् ॥ ३८ ॥ सर्वभूतानां सर्वावस्थावस्थितानां तत्तदवस्थाबीजभूतं प्रतीयमानमप्रतीयमानं च यत्, तदहमेव । चराचरं सर्वभूतजातं मया आत्मतयाऽवस्थितेन विना यत्स्यात्, न तदस्ति; 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' [ १०।२० ] इति प्रक्रमात् ; 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' इत्यत्राप्यात्मतयाऽवस्थानमेव विवक्षितम् । सर्वं वस्तुजातं सर्वावस्थं मया आत्मभूतेन युक्तं स्यादित्यर्थः । अनेन सर्वस्यास्य सामानाधिकरण्यनिर्देशस्यात्मतयावस्थितिरेव हेतुरिति प्रकटयति ॥ ३९ ॥

**४ वे. ता. चं.—** **नियमातिक्रमण** इति दण्डयोग्यत्वकथनम्, अदण्ड्यविषयदण्डस्यातिशयेन नरकहेतुत्वात् । नीतिरस्मि नीतिमतामिति वक्तव्यम्, जिगीषतामित्यनेन तु कीदृशोऽन्वय इत्यत्राह— **विजिगीषूणां जयोपायभूता नीतिरि**ति बुद्धिव्यापारविशेषो विवक्षितः । लोकविदितस्य वाङ्नियमनरूपस्य मौनस्य गुह्यत्वाभावान्न निर्धारणमुचितम् ; मौनशब्दस्यात्मविद्याविषयत्वे तु प्रसिद्धित्यागः स्यात् ; नच गुह्यधर्मत्वं मौनस्य, येन 'सत्त्वं सत्त्ववताम्' [ १०।३६ ] इतिवत्स्यादित्यत्राह—**गुह्यानां सम्बन्धिषु गोपनेषु मौनमस्मी**ति । गुह्यानां गोपनीयत्वं मौनस्य चाषट्कर्णत्वमन्त्रणादपि गोपनोपायत्वं सम्प्रतिपन्नम् ; ततश्चात्र सम्बन्धमात्रे षष्ठी गोप्यगोपकभावरूपविशेषे विश्रान्ता । 'भूतानामस्मि चेतना' [ १०।२२ ] इति चैतन्यमात्रस्य पूर्वमुक्तत्वादत्र 'ज्ञानं ज्ञानवताम्' इति पुरुषार्थौपयिकातिशयितज्ञानविशेषोऽभिमतः, 'तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्' ( तज्ज्ञानमेवाह तपोऽन्यरूपं ) [ वि. पु. ६।५।८७ ] इतिवत् ॥ ३८ ॥ 'सर्वभूतानां बीजम्' इति न प्रधानादिमात्रमुच्यते, तस्य साक्षात्सर्वभूतबीजत्वाभावात् ; नापि व्रीह्यादिलक्षणं बीजं, तस्य सर्वभूतशब्दसङ्गृहीतेषु जङ्गमेष्वनन्वयात् ; ततश्चाविशेषेण तत्तत्कार्यावस्थद्रव्यापेक्षया तत्तत्कारणावस्थोपादानद्रव्यमात्रमिह विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **सर्वावस्थे**ति । एतेन प्राकृतनैमित्तिकसृष्ट्यादेः 'अहमादिश्च' [ १०।२० ] इत्यादिनोक्तत्वादिह नित्यसृष्टिहेतुभूततत्तद्द्रव्यशरीरकत्वेन तद्धेतुत्वमपि प्रदर्शितम् । 'यच्चापि' इत्यनेनाभिप्रेतमाह **प्रतीयमानमप्रतीयमानं चे**ति । अप्रतीयमानमनुमानादिवेद्यमित्यर्थः । 'न तदस्ति' इत्यादौ स्वव्यतिरिक्तासत्त्वादिविधिपरत्वभ्रमव्युदासायाविनाभावार्थतोक्तिः । उपक्रमविरोध्युपसंहारो नोदेतुमलमित्यभिप्रायेणाह **भूतजातमि**ति । आत्मतयावस्थितेन अविनाभावमुपपादयति **अहमात्मे**ति । व्यतिरेकोक्तिफलितमन्वयविशेषं दर्शयति **सर्वमि**ति । उपक्रमोपसंहारयोरविनाभावकथनस्य भगवदभिप्रेतं प्रयोजनमाह **अनेने**ति । क्वचित्क्वचिद्द्रव्यव्यतिरिक्तैः सामानाधिकरण्यमपि तदाश्रयद्रव्यस्य भगवच्छरीरत्वादिति प्रागेव प्रपञ्चितमस्माभिः ॥ ३९ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ३८ ॥ मया विना यद्भूतं स्यात् तन्नास्ति । विश्वरूप ! अनन्तगते ! अनन्तभाग ! अनन्तग ! अनन्त ! अनादे ! इत्यादि मोक्षधर्मे [ म. भा. शां. अ. ३३८ ] ॥ ३९ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ३८ ॥ 'न तदस्ति विना' इत्यत्र पदानां व्यवहितत्वादन्वयमाह— **मये**ति । भगवतोऽनन्तै रूपैः सर्वपदार्थव्यापित्वे प्रमाणमाह— **विश्वे**ति । विश्वं रूपं प्रतिमा यस्यासौ विश्वरूपः । अनन्तानां गतिराश्रयोऽनन्तगतिः । अनन्ता भागा अवतारा यस्यासावनन्तभागः । अनन्तान्पदार्थान् गतः अनन्तगः । अनन्तः कालाद्यपरिच्छिन्नः ॥ ३९ ॥

**७ ह. पै. भा.—** दण्ड इति । दमयितॄणां सम्बन्धी दण्डोऽस्मि, अदान्तानां दमनकारणम् । जिगीषतां जिगीषूणां नीतिरस्मि । नीतिः षाड्गुण्यम् । गुह्यानां गोप्यानां गुप्तिहेतुर्मौनमस्मि ॥ ३८ ॥ **यच्चापी**ति । बीजं प्ररोहकारणम् । न तदिति सङ्क्षेपमाह । मया विना यत्स्याच्चराचरं चरमचरं वा न तदस्ति ॥ ३९ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** दण्ड इति । नियमातिक्रमे दमयतां दण्डयतां सम्बन्धी दण्डोऽस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां जयोपायभूता नीतिरस्मि । गुह्यानां गोपनहेतूनां मौनमवचनमस्मि । न हि तूष्णीं स्थितस्याभिप्रायः केनचिज्ज्ञायते । तत्त्वज्ञानवतां सम्बन्धि ज्ञानमहम् ॥ ३८ ॥

एवम् 'आदित्यानामहं विष्णुः' [ १०।२१ ] इत्यारभ्य 'ज्ञानं ज्ञानवतामहम्' [ १०।३८ ] इत्यन्तानां सामानाधिकरण्यनिर्देशानामर्थं दर्शयति—**यच्चापी**ति । सर्वेषां चराचरात्मकानां भूतानां यद्बीजं प्ररोहकारणमुत्पत्तिस्थानं ब्रह्म, तदहमेव । अतो मया विना यत्स्याद्भवति चरमचरं वा भूतं वस्तु, तन्नास्त्येव । अतः सर्वस्य प्रपञ्चस्य मत्कार्यत्वेन मद्व्यतिरेकेणासत्त्वात्तादृशाभेद एवेमानि सामाधिकरण्यानीति भावः । एवं 'अहमात्मा गुडाकेश !' इति प्रस्तुत्य 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' [ १०।२० ]

इति सर्वाद्वैतेनोपक्रमात् 'न तदस्ति विना यत्स्यात्' इति तथैवोपसंहाराच्च।

सर्वाद्वैतपर एवायं सामानाधिकरण्यनिर्देश इति भगवदभिप्राये स्पष्टे सति, यत्त्वत्र रामानुजेनोक्तम्— 'शरीरशरीरिभावनिबन्धनमेवेदं सामानाधिकरण्यम्, न त्वद्वैतनिबन्धनम्। दृष्टा हि शरीरवाचकपदानां शरीरिणि वृत्तिः, 'मनुष्योऽहम्' 'देवोऽहम्' इति सामानाधिकरण्यप्रतीतिदर्शनात्। तथा च सर्वशरीरको भगवानेक एवेत्यनुसन्धानमिह विवक्षितम्' इति। अत्र ब्रूमः— सर्वस्य वस्तुनो भगवच्छरीरत्वं नाम न तावदस्मदादिशरीरस्येव तद्भोगायतनत्वरूपं मुख्यं शरीरत्वम्; असिद्धेः, भगवच्छरीरस्याप्राकृतत्वभङ्गप्रसङ्गाच्च। नापि सामानाधिकरण्यप्रतीतिमात्रनिर्वाहौपयिकतया वैवक्षिकं शरीरत्वम्। तद्धि न तदधिष्ठानत्वरूपम्, देवदत्ताधिष्ठानस्य भूतलस्यातथात्वात्। नापि तन्नियम्यत्वं, स्वामिनियम्यभृत्यादिसाधारण्यात्। नाप्यन्तः प्रविष्टतन्नियम्यत्वम्, कवचान्तःप्रविष्टदेवदत्तनियम्यस्य कवचस्य देहान्तःप्रविष्टपिशाचनियम्यस्य देहस्य च तत्सामानाधिकरण्यप्रतीत्यसिद्धेः। न हि 'मनुष्योऽहम्' इतिवत् 'कवचमहम्' इति कवचधारिणो देवदत्तस्य 'मनुष्योऽहम्' इति मनुष्याविष्टपिशाचस्य वा 'मनुष्योऽयं देवदत्तः' इतिवत् 'कवचमयं देवदत्तः' 'मनुष्योऽयं पिशाचः' इति पार्श्वस्थानां वा तत्सामानाधिकरण्यधीरस्ति, भूतनिग्राहकैः कस्त्वमिति पृष्टे 'नाहं मनुष्यो देवोऽन्यो वा, किन्तु पिशाचः' इति पिशाचस्योत्तरदर्शनात्सर्वस्य ब्रह्मशरीरत्वमेव दुर्वचमिति शरीरशरीरिभावप्रयुक्तं सामानाधिकरण्यमित्ययुक्तम्।

"यस्य पृथिवी शरीरम्" [बृ. उ. ३।७।३] इत्यादिश्रुतौ पृथिव्यादेर्ब्रह्मशरीरत्वोक्तिस्तु तन्नियम्यत्वमात्रेणौपचारिकीति न तादृशेन शरीरशरीरिभावेन सामानाधिकरण्यनिर्वाहः। किञ्चास्तु कथञ्चित्प्रपञ्चस्य ब्रह्मशरीरत्वम्; तथापि शरीरवाचिनां शरीरिणि व्युत्पत्तिरिति कुत इदमानीतं येन 'अहं क्रतुः' [९।१६] इत्यादिकं तन्निबन्धनं स्यात्? न हि गुणवाचिनां गुणिनीव शरीरवाचिनां शरीरिणि वृत्तिरिति कश्चिद्व्युत्पादितं दृश्यते। न च 'मनुष्योऽहम्' 'देवोऽहम्' इत्यादिसामानाधिकरण्यप्रतीत्या तथा कल्प्यत इति युक्तम्; तस्याः प्रतीतेर्देहैक्याध्यासकृतभेदाभावनिबन्धनत्वेनान्यथासिद्धत्वात्। 'पूर्वपूर्वभ्रमोत्पन्नवासनाया बलेन तु। देहेन्द्रियादिसङ्घाते जायतेऽहम्मतिर्दृढा,' 'नाहं मनुष्यो न च देवयक्षः' इत्यादिवचनैर्देहैक्याध्यासवत एव 'अहं मनुष्यः' इत्यादिप्रतीतिः, देहभिन्नात्मसाक्षात्कारनिवृत्ततदैक्याध्यासस्य तु नेत्यवगमेनान्वयव्यतिरेकाभ्याम् 'मनुष्योऽहम्' इत्यादेरध्यासत्वावसायात्; शरीरशरीरिभावनिबन्धनत्वे च 'नाहं मनुष्यः' इत्यादेरयोगात्। तथा च 'इदं रजतम्' इत्यादिवत् 'मनुष्योऽहम्' इति प्रतीतिरध्यासकृतभेदाभावनिबन्धनैव, अध्यस्तस्याधिष्ठानाद्भेदाभावात्। न हि शुक्त्यतिरेकेण रजतं नाम किञ्चिदस्तीत्यतः सामानाधिकरण्यबुद्धेः शरीरशरीरिभावनिबन्धनत्वाभावान्न शरीरवाचिनां शरीरिपर्यन्तत्वसिद्धिः। किञ्च तदभ्युपगमेऽपि नात्र शरीरशरीरिभावनिबन्धनं सामानाधिकरण्यम्, "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" [नृ. उ. ता. ७] "आत्मैवेदं सर्वम्" [छां. उ. ७।२५।२] इत्यादिसामानाधिकरण्यश्रुतीनाम् "न तु द्वितीयमस्ति" "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः" [गौ. का. १।१७] इत्यादिश्रुतिभिः 'सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं चैतन्यं सर्वगं शिवम्। तदेवेदमिदं विश्वं तस्मादन्यन्न विद्यते। तत्स्वरूपातिरेकेण न किञ्चिदिह विद्यते' ॥ इत्यादिस्मृतिभिश्च सर्वाभेदपरत्वेनैव व्याख्यातत्वेन 'अहं क्रतुः' [९।१६] इत्यादेरपि तदैकार्थ्यावश्यम्भावात्। एतेन 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' [११।४०] इति वक्ष्यमाणत्वात्सर्वव्याप्तिरेव सर्वाभेदश्रुत्यर्थ इति 'अहं क्रतुः' इत्यादेरपि 'स एवार्थः' इति वदन्तो माध्वा अपि निरस्ताः "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" इति श्रुत्यवगतसर्वव्याप्तिके वियदादौ 'वियत्सर्वम्' इत्यव्यवहारेण सर्वव्याप्तेः सर्वत्वव्यपदेशहेतुत्वासिद्ध्या 'ततोऽसि सर्वः' [११।४०] इति तद्धेतुत्वोक्त्यनुपपत्तिप्रसङ्गेन तदुपपत्त्यर्थं सम्पूर्वेणाप्नोतिना सम्यग्व्याप्त्यर्थकेनोक्तस्याध्यासाधिष्ठानतया सर्वव्यापनलक्षणसम्यग्व्याप्तिरूपार्थस्य सर्वत्वव्यपदेशहेतुत्वपरं तदिति वक्तव्यतया ततोऽपि सर्वभेदाभाव एव सर्वत्वमिति प्राप्तेः।

कथं पुनर्जडाजडयोर्जगद्ब्रह्मणोर्भेदभाव इति चेत्, शृणु— भेदाभावो हि न स्वरूपैक्यं येन जडाजडत्वविरोधः। किन्तु शुक्तिरजतयोरिव तद्व्यतिरेकेणासत्त्वम्। यथोक्तमारम्भणाधिकरणभाष्ये— 'अनन्यत्वं व्यतिरेकेणाभावः' इति। उक्तं च वाचस्पत्ये— 'अनन्यत्वमिति भेदं व्यासेधामः, न त्वभेदं ब्रूमः' इति। न च भेदनिषेधस्याभेदव्याप्तत्वात्तस्मिन्सत्यभेदोऽपि स्यादेवेति वाच्यम्; शुक्तिरजतादिस्थले तद्व्यतिरेकेणासत्त्वरूपे भेदनिषेधे सत्यपि तदभेदाभावेन तस्याभेदव्याप्त्यसिद्धेः। स्वरूपैक्यरूपस्य हि भेदनिषेधस्याभेदव्याप्तिरित्यलमतिविस्तरेण ॥ ३९ ॥

९ व० त० दी०— दण्ड इति। कालीयेन्द्रादिषु कृतो दण्डो भगवद्रूप उक्तः। स्पष्टमन्यत् ॥ ३८ ॥ यच्चापीति। अन्यत् किं वाच्यं? मया विना किमपि नास्तीत्याह— न तदस्ति विना मयेति। मत्प्रकृतिद्वयकार्यभूतत्वया तथेति भावः ॥ ३९ ॥

१० पु. अ. त.— दण्ड इति । दमयतां दमकारिणां मध्ये दण्डोऽस्मि, सर्वदोषहरत्वेनेति भावः । जिगीषतां जेतुमिच्छतां नीतिरस्मि । गुह्यानां गोप्यानां मध्ये मौनमवचनमस्मि । ज्ञानवतां ज्ञानिनां मध्ये ज्ञानमहमस्मि ॥ ३८ ॥ यदिति । यत्सर्वभूतानां बीजमुत्पत्तिकारणं तदपि अहमेव । अपिशब्देन योनिस्तद्रूपं चाऽहमेवेति व्यञ्जितम् । यत् चराचरं भूतं तज्जातं तन्मया विना किञ्चिन्नास्ति ॥ ३९ ॥

११ नी० भा० दी०— दमयतां राजादीनां दमनसाधनं दण्डोऽहमस्मि । जिगीषतां जेतुमिच्छतां जयसाधनं नीतिरस्मि । मौनं वाचो निग्रहः ॥ ३८ ॥ 'सर्वभूतानां बीजं' इत्यनेन सर्वभूतानि मद्विभूतिरिति दर्शितम् । तदेवोपपादयति— न तदस्तीति । मया विना भूतं किमपि नास्ति, उपादेयस्योपादानमन्तरेण स्थित्यसम्भवात् ॥ ३९ ॥

भगवद्विभूतीनामनन्तत्वम् ।

**नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ! ।**
**एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥ ४० ॥**
**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।**
**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥ ४१ ॥**

१ शां. भा.— नान्तोऽस्तीति । नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां विस्तराणां परन्तप ! । न हीश्वरस्य सर्वात्मनो दिव्यानां विभूतीनामियत्ता शक्या वक्तुं ज्ञातुं वा केनचित् । एष तूद्देशत एकदेशेन प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥ यद्यदिति । यद्यल्लोके विभूतिमद्विभूतियुक्तं सत्त्वं वस्तु श्रीमदूर्जितमेव वा श्रीर्लक्ष्मीस्तया सहितमुत्साहोपेतं वा, तत्तदेवावगच्छ त्वं जानीहि । ममेश्वरस्य तेजोंऽशसम्भवं तेजसोंऽश एकदेशः सम्भवो यस्य तत्तेजोंऽशसम्भवमित्यवगच्छ त्वम् ॥ ४१ ॥

२ आ. शां. व्या.— दिव्यानां विभूतीनां परिमितत्वशङ्कां वारयति— नेत्यादिना । तदेवोपपादयति— न हीति । कथं तर्हि विभूतेर्विस्तरो दर्शितः ?तत्राऽऽह— एष त्विति ॥४०॥ अनुक्ता अपि परस्य विभूतीः सङ्ग्रहीतुं लक्षणमाह— यद्यदिति । वस्तु प्राणिजातं, श्रीमत्समृद्धिमद्वा कान्तिमद्वा । सप्राणं बलवदूर्जितं, तदाह— उत्साहेति । सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः, तेजसश्चैतन्यस्येश्वरशक्तेर्वांऽशस्तेजोंऽशः सम्भवोऽस्येति तेजोंऽशसम्भवं तदाह— तेजस इति ॥ ४१ ॥

३ रा. भा.— नान्त इति । मम दिव्यानां कल्याणीनां विभूतीनामन्तो नास्ति । एष तु विभूतेर्विस्तरो मया कैश्चिदुपाधिभिः सङ्क्षेपतः प्रोक्तः ॥ ४० ॥ यद्यद्विभूतिमत् ईशितव्यसम्पन्नं भूतजातं श्रीमत् कान्तिमत्, धनधान्यसमृद्धं वा, ऊर्जितं कल्याणारम्भेषूद्युक्तम् ; तत्तन्मम तेजोंऽशसम्भवमित्यवगच्छ; तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम् ; ममाचिन्त्यशक्तेर्नियमनशक्त्येकदेशसम्भवमित्यर्थः ॥ ४१ ॥

---

१— 'नान्तो मम' यतो योगरूपमेतन्ममोर्जितम् । मदीयानां विभूतीनामप्यन्तो नैव विद्यते ॥
एवं 'विभूतिं योगं च कथये' त्वर्जुनोदितम् । अनुरुद्ध्यात्र सङ्क्षेपादुभयं तज्जगौ हरिः ॥ × ×
श्रोताऽहं सादरो, वक्ता देव ! त्वं करुणाकरः । नान्तो यदि विभूतीनां भूयः कथय तास्ततः ॥
पार्थस्य प्रार्थनोत्थानं सम्भाव्येत्थं यदूद्वहः । 'परन्तपे' त्यनुष्ठेयमरिनाशमसूसुचत् ॥ इति **वामनाशयः** ।

इह **ज्ञानदेवेन**—'प्रधानाः सप्तपञ्चैवं प्रोक्ताः पार्थ ! विभूतयः' इत्युक्तम् । पञ्चसप्ततिसङ्ख्याका एव विभूतयोऽत्रोक्ताः इति तद्व्याख्यातारः । तत्प्रामादिकमेव । पञ्चषा इत्यादिवदनियतसङ्ख्यावमर्श एव तदिष्ट इत्यस्मद्गृहः । निर्णयस्तु कृतमतिष्वेवायतते ॥
**— अविगीता ।**

२ तेजः अंशसम्भवमिति छित्त्वा अंशेन सम्भूतं ममैव तेजो विद्धीति केचिद्व्याचक्षते । चिन्मयस्य भगवतश्चिन्मया विलासा अंशा उच्यन्ते, मायामयास्तु विभूतय इति ज्ञेयम् ।
**— अविगीता ।**

४ वे. ता. चं.— निश्शेषवचनाशक्यतां प्रागुक्तामेव स्मारयति—'नान्तोऽस्ति' इति। दिव्यशब्देन देशविशेषवर्तित्वादिविवक्षायां पूर्वमनियतदेशवर्तिनामदिव्यानां प्रपञ्चनं विरुध्येतेत्यत उक्तं कल्याणीनामिति। 'विभूतीरात्मनः शुभाः' [१०।१९] इति ह्युपक्रान्तम्। उद्देशतः एकदेशतः प्रयोजकाकारैः विभूत्युद्धारेणेत्यर्थः। तदभिप्रायेणाह कैश्चिदुपाधिभिः सङ्क्षेपत इति॥४०॥ 'प्राधान्यतः' [१०।१९] इत्युपक्रम्य प्रपञ्चितमर्थमनुक्तानामवश्यकर्तव्यप्रधानविभूतीनां सङ्ग्रहाभिप्रायेणोपसंहरति 'यद्यत्' इतिश्लोकेन। विभूतिशब्दस्य प्राकरणिकमर्थमनुसन्धायोक्तं ईशितव्यसम्पन्नमिति। सत्त्वशब्दोऽत्र जन्तुपरः। वीप्साभिप्रायव्यञ्जनाय जातशब्दः। विभूतिमच्छ्रीमच्छब्दयोः पौनरुक्त्यं परिहरति कान्तिमदिति। नियन्तव्यविशेषविवक्षया वा गोबलीवर्दन्यायात्पौनरुक्तिपरिहार इत्यभिप्रायेणाह धनधान्यसमृद्धं वेति। ऊर्जितमित्युत्कृष्टत्वादिसामान्यविवक्षायामितरपाठवैयर्थ्यात्; विशिष्टमर्थमाह कल्याणेति। ऊर्जशब्दो ह्यदीनत्वेन सन्नाहशीलत्वपरः। विभूतिमदित्यादि बलादिमतां प्रदर्शनम्। 'मम तेजोंशसम्भवम्' इत्युक्ते विग्रहगततेजोद्रव्यैकदेशोपादानत्वं प्रतीयेतेति तन्निरासाय प्रकृतौपयिकं तेजश्शब्दार्थमाह तेजः पराभिभवनसामर्थ्यमिति। कोऽयमत्राभिभवो नाम, तत्र च कथमंशसद्भावः? इत्यत्राह ममेति। अचिन्त्यशक्तेरित्यनेन चिन्तायोग्यांशनिष्कर्षाय ममेत्यस्याभिप्रायो विवृतः। तेन सर्वगोचरत्वाभङ्गुरत्वाघटितघटनत्वादिसिद्धिः। यथा शैलान्दोलिनश्चण्डमारुतस्य तृणप्रेरणादिकं वेगलेशमात्रभवम्, तद्वदिहेति भावः। तेजसोंशः सम्भवो यस्य तत्तेजोंऽशसम्भवम्॥ ४१॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४० ॥ यद्यद्विभूतिमदिति विस्तरः। विष्ण्वादीनि तत्स्वरूपाण्येव। अन्यानि तु तेजोयुक्तानि। तथा च पैङ्गिखिलेषु—'विशेषका रुद्रवैन्येन्द्रदेवा राजन्याद्या अंशयुतान्यजीवाः। कृष्णव्यासौ रामकृष्णौ च रामकपिलयज्ञप्रमुखाः स्वयं सः' इति॥ 'स एवैको भार्गवदाशरथिकृष्णाद्यास्त्वंशयुतान्यजीवाः' इति गौतमखिलेषु। 'ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः। कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः॥ एते स्वांशकलाः (चांशकलाः) पुंसः कृष्णस्तु भगवान्स्वयम्' इति भागवते [१।३।२७;२८] ऋष्यादीनंशयुतत्वेनोक्त्वा वराहादीन्स्वरूपत्वेनाह। तुशब्द एवार्थे। अन्यस्तु विशेषो न कुत्राप्यवगतः। अंशत्वं तत्राप्यवगतम् 'उद्बर्हात्मनः केशौ' इति। मृडयन्तीति च बहुवचनं चायुक्तम्। न ह्यन्तराऽन्यदुक्त्वा पूर्वमपरामृश्य तत्क्रियोच्यमाना दृष्टा कुत्रचित्॥ ४१॥

६ ज. प्र. दी.— ॥४०॥ 'एष तूद्देशतः' [१०।४०] इत्येतच्छब्दोऽनुक्रान्तपरामर्शीति प्रतीतिनिरासार्थमाह— यद्यदिति। वक्ष्यमाणं बुद्धिस्थमेतच्छब्देन परामृश्यते। शृङ्ग्ग्राहिकयोक्तेरपि लक्षणोक्तेर्विस्तरत्वादिति भावः। विभूतिमदादिकं मम तेजोरूपेणांशेन सह भवतीत्युक्त्या विष्ण्वादीनामपि भगवदंशयुक्तत्वं प्रतीयते। तेषामप्येतल्लक्षणोपेतत्वात्तन्निवृत्त्यर्थमाह- विष्ण्वादीनीति। तर्हि किंविषयमेतद्वाक्यं? इत्यत आह— अन्यानि त्विति। कुत एतत्? इत्यत आह— तथा चेति। विशेषकाः गरुडानन्तविरिञ्चाः। वैन्यः पृथुः। राजन्यग्रहणेन गृहीतस्यापि पुनरुक्तिः साक्षादवतारत्वविशेषोक्तिबोधनार्थम्। कृष्णो धर्मसूनुरपि। रामो भार्गवोऽपि। अंशयुक्तत्वेनोक्त्वा 'कला' इत्यनेन कला इव कलाः, न स्वरूपत्वेन। 'एते स्वांशकलाः' इत्यनेन स्वरूपांशरूपा एव कलाः, न तु पूर्ववदुपचारेणेति। नन्वत्रैते वराहाद्याः परमपुरुषस्यांशा एव, कृष्णस्त्वंशी भगवान् स्वयमिति प्रतीयते, तत्कथमुक्तव्याख्यानमन्यथा? तुशब्दानुपपत्तेरित्यत आह— तुशब्द इति। ततश्चायमर्थः— एते वराहाद्याः पुंसः स्वांशकलाः। कोऽर्थः? कृष्णः परमपुरुषो भगवान् स्वयमेवैते इति। कुत एतत्? इति चेत् उदाहृतश्रुतिसंवादात्। अर्थान्तरस्य संवादाभावाच्चेत्याह— अन्यस्त्विति। वराहादयोऽप्यंशाः कृष्णोंऽशीत्येवंरूपः। इतोऽप्ययं विशेषो न युक्त इत्याह— अंशत्वमिति। तत्रापि कृष्णेऽपि किञ्चास्मिन् व्याख्याने कृष्णस्यैकस्यैव प्रकृतत्वात्। 'इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे' [भाग. १।३।२८] इत्युत्तरवाक्ये बहुवचनं नोपपन्नमित्याह— मृडयन्तीति। ननु बहुवचनं पूर्वोक्तैर्वराहादिभिः सम्बध्यते, न कृष्णेनेति चेत्, न; 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' इति वाक्यार्थेन व्यवहितत्वात्, व्यवहितस्यापि पुनः सन्निधानाय परामर्शाभावात्। सति गत्यन्तरेऽध्याहारायोगात्। असन्निहितेनान्वयबोधस्य क्वाप्यदर्शनादिति भावेनाह— न हीति। क्रियेति प्रकृतापेक्षयोक्तम्। ननु सन्निधेरपि योग्यता बलवतीति चेत्, सत्यम्; सन्निधिमनतिक्रम्य योग्यान्वयस्तूक्तः॥ ४१॥

७ ह. पै. भा.— नान्तोऽस्तीति ॥ ४० ॥ यद्यदिति। तेजसोंऽशस्तेजोंशः स सम्भवः कारणं यस्य तत्तेजोंशसम्भवम्॥ ४१॥

८ वें. ब्र. गि.— इत्थं प्राधान्येन काश्चिद्विभूतीरुक्त्वा साकल्येन तासामशक्यवचनत्वं दर्शयन्नध्यायार्थमुपसंहरति— नान्त इति। उद्देशतः सङ्क्षेपतः। स्पष्टमन्यत्॥ ४०॥ एवं विस्तरशो ज्ञातुमशक्यत्वेनोक्तेऽपि विभूतिविस्तरे पुनः पुनरु-

त्कण्ठमानमर्जुनमालक्ष्य सङ्ग्रहेण तज्ज्ञानोपायं दर्शयति— यद्यदिति । विभूतिमदैश्वर्ययुक्तं श्रीमद्योगान्वितं ऊर्जितं बलादियुक्तं वा यद्यत्सत्त्वं प्राणिवस्तुमात्रम्, तत्तत् ममैव तेजोंशेन प्रभावैकदेशेन सम्भूतं जानीहि ॥ ४१ ॥

९ व० त० दी०— प्रकरणार्थमुपसंहरति– नान्तोऽस्तीति । एता दिव्या मे विभूतयः प्राधान्यतः उक्तास्ता अप्यनन्ता इति । एष तूद्देशतः प्रोक्तः–नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्त्तनमुद्देशः–तस्मात्सङ्क्षेपत इत्यर्थः ॥ ४० ॥ पुनश्च साकाङ्क्षं प्रति कथञ्चित्साकल्येन कथयन्सर्वसङ्ग्रहार्थमाह– यद्यदिति । सत्त्वं चेतनाचेतनवस्तुमात्रं श्रीमत् शोभादिमच्च ऊर्जितं अन्नसमृद्धिमत् अतिशयितं वा तन्मम तेजोंशसम्भवं जडजीवान्तर्यामिष्वेकैकांशप्राकट्यात् ममाचिन्त्ययोगशक्तेः सच्चिदानन्दैकदेशसम्भवं जानीहीत्यर्थः ॥ ४१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं विभूतिमुक्त्वोपसंहरति—नान्तोऽस्तीति । मम स्वच्छन्दचारिणो दिव्यानां क्रीडात्मिकानां विभूतीनामन्तो नास्ति । परन्तपेति सम्बोधनं विश्वासार्थम् । नन्वन्ताभावे कथमेता एवोक्ताः ? इत्याकाङ्क्षायामाह— एष इति । एष तूद्देशतः सङ्क्षेपतो विभूतेर्विस्तरो मया प्रोक्तः । प्रोक्तत्वेनान्येषामेतावज्ज्ञानेऽप्यसामर्थ्यं द्योतितम् ॥ ४० ॥ ननु मया सर्वस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र त्वच्चिन्तनार्थं विभूतिविस्तारः पृष्टः, तस्यान्ताभावोक्त्या मया कुत्र कथं चिन्तनीयः ? इत्याकाङ्क्षायामाह— यद्यदिति । यत् यत् सत्त्वं वस्तुमात्रं विभूतिमत् ऐश्वर्ययुक्तं श्रीमत् सम्पत्तियुक्तं ऊर्जितमेव केनापि प्रकारेणोत्कृष्टतां प्राप्तं रमणीयतरं वा तत्तदेवं मम तेजोंशसम्भवं ममानुभावसम्भूतं अवगच्छ जानीहि ॥ ४१ ॥

११ नी० भा० दी०— नान्तोऽस्तीति उद्देशत एकदेशेन विभूतेर्विस्तरो विस्तारो मया प्रोक्तः ॥ ४० ॥ 'सर्वभूतानां बीजमहं' [३९] इत्युक्त्वा स्वस्य सार्वात्म्योक्तेः सर्वं स्वविभूतिरित्युक्तमेव, तथापि तद्ग्रहणाशक्तं प्रति प्राह— यद्यदिति । यद्यत्सत्त्वं प्राणिविभूतिमदैश्वर्ययुक्तं श्रीर्लक्ष्मीः शोभा वा तद्युक्तं ऊर्जितं बलाद्यतिशययुक्तं तत्तत्सर्वं मम तेजसश्चिच्छक्तेरंशसम्भवं अंशात्सम्भूतं त्वमवगच्छ जानीहि । लोके यदतिरमणीयं तद्भगवतो रूपमिति ध्यायेदित्यर्थः ॥ ४१ ॥

भगवतः सामस्त्येन व्यापकत्वम् ।

**अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।**
**विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥ ४२ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**१ शां. भा.**— अथवेति । अथवा बहुनैतेनैवमादिना किं ज्ञातेन तवार्जुन! स्यात्सावशेषेण ? । अशेषतस्त्वमिममुच्यमानमर्थं शृणु, विष्टभ्य विशेषतः स्तम्भनं दृढं कृत्वेदं कृत्स्नं जगदेकांशेनैकावयवेनैकपादेन सर्वभूतस्वरूपेणेत्येतत् । तथा च मन्त्रवर्णः–"पादोऽस्य विश्वा भूतानि" [ ऋक्सं. ८।४।१७।३ ] इति स्थितोऽहमिति ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

२ आ. शां. व्या.— सर्वेषां सुगमत्वायावयवशो विभूतिमुक्त्वा शक्तानुग्रहार्थं साकल्येन तामाह— अथवेति । पक्षान्तरपरिग्रहार्थमथेत्युक्तम् । बहुधा विस्तीर्णेनैतेन ग्रन्थेन संज्ञातेन सावशेषेण तव शक्तस्य न किञ्चित्फलं स्यादित्याह— बहुनेति । न हि विभूतिषूक्तासु ज्ञातासु सर्वं ज्ञायते कासाञ्चिदेव विभूतीनामुक्तत्वादित्यर्थः । तर्हि केनोपदेशेनाल्पाक्षरेण सर्वोऽर्थो ज्ञातुं शक्यते ? तत्राऽऽह— अशेषत इति । विशेषतः स्तम्भनं विधरणं सर्वभूतस्वरूपेण सर्वप्रपञ्चोपादानशक्त्युपाधिकेनैकेन पादेन कृत्स्नं जगद्विधृत्य स्थितोऽस्मीति सम्बन्धः । तत्रैव श्रुतिं प्रमाणयति— तथा चेति । तदनेन भगवतो नानाविधा

विभूतीर्ध्येयत्वेन ज्ञेयत्वेन चोपदिश्यन्ते । सर्वप्रपञ्चात्मकं ध्येयं रूपं दर्शयित्वा "त्रिपादस्यामृतं दिवि" [ ऋक्सं. ८।४।१७।३ यजुस्सं. ३१।३ छां. उ. ३।१२।६ ] इति प्रपञ्चाधिकं निरुपाधिकं तत्त्वमुपदिशता परिपूर्णसच्चिदानन्दैकतानस्तत्पदलक्ष्योऽर्थो निर्धारितः ॥ ४२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते
श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— अथवेति ।** बहुनैतेनोच्यमानेन ज्ञानेन किं प्रयोजनम् ? इदं चिदचिदात्मकं कृत्स्नं जगत्कार्यावस्थं कारणावस्थं स्थूलं सूक्ष्मं च स्वरूपसद्भावे स्थितौ प्रवृत्तिभेदे च यथा मत्सङ्कल्पं नातिवर्तेत, तथा मम महिम्नोऽयुतायुतांशेन विष्टभ्याहमवस्थितः । यथोक्तं भगवता पराशरेण—'यस्यायुतायुतांशांशे विश्वशक्तिरियं स्थिता' [ वि. पु. १।९।५२ ] इति ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**४ वे. ता. चं.**—'प्राधान्यतः' [१०।१९] इत्युपक्रान्तमुपसंहृतम् ; अथ सङ्क्षेपादपि सङ्क्षेपेण प्रधानाप्रधानसमस्तविभूतिसंग्रहमाह 'अथवा' इति श्लोकेन। **उच्यमानेने**ति एतच्छब्द उक्तत्यवसानराहित्यपर इति भावः । विभूतिपर्यवसानज्ञानरूपं प्रयोजनं न सिध्येदित्यभिप्रायेणाह—**किं प्रयोजन**मिति । इदमित्यनेन तत्तत्प्रमाणप्रतिपन्नवैचित्र्यं सूचितमित्यभिप्रायेण **चिदचिदात्मक**मित्युक्तम् । **कार्ये**त्यादिना कृत्स्नशब्दाभिप्रेतविवरणम् । **स्थूलं सूक्ष्मं चे**ति कार्यकारणावस्थयोर्यथाक्रममन्वयः। **स्वरूपे**त्यादिना विष्टम्भनप्रयोजनकथनम् । अनित्येषु स्वरूपसद्भाव उत्पत्तिः ; नित्येषु त्वसद्व्यतिरेकः । नित्यानां स्वरूपमपि हि भगवतो नित्येच्छासिद्धम् । इदं च प्रागेव प्रपञ्चितम् । अत्र स्वरूपैकदेशावतारादिरूपांशव्युदासाय नियमनप्रकरणबलाच्च **मम महिम्न** इत्युक्तम् । अत्र महिमशब्देन प्रकृतं नियमनसामर्थ्यमेव विवक्षितम् । अत एव 'तेजोंशसम्भवम्' इत्यनेनैकार्थ्यम् । एकशब्दोऽत्रातिक्षुद्रत्वपर इत्यभिप्रायेणोक्तं **अयुतायुतांशेने**ति । स्तम्भनमत्र स्वैरान्निवारणम् ; स्ववशीकरणरूपमधिष्ठानं वा । 'एकांशेन' इत्यत्र स्वोक्तमर्थं संवादयति **यथोक्त**मिति । विश्वशक्तिः विश्वमेव शक्तिः, तत्तत्कार्योपयुक्तविशेषभूतं विश्वमित्यर्थः । 'तेजोंशसम्भवम्' [१०।४१] इत्यनन्तरं अभिधानात् 'एकांशेन' इत्यस्याप्यंशशब्दस्य तद्विषयत्वमेव न्याय्यमिति भावः ॥४२॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु
श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.— किमिति ?** वक्ष्यमाणप्राधान्यज्ञापनार्थं, न तूक्तनिष्फलत्वज्ञानाय। तथा सति नोच्येत । "अज्ञात्वैनं सविशेषयुक्तं देवं वरं को विमुच्येत बन्धात्" इत्यृग्वेदखिलेषु । त्वं तु बहुफलप्राप्तियोग्य इति तवेति विशेषणम् । अन्यस्तुत्यर्थत्वेन प्रसिद्धश्चैवात्र किंशब्दः । 'रागद्वेषौ यदि स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ?। तावुभौ यदि न स्यातां तपसा किं प्रयोजनम् ? ' इत्यादौ । प्राधान्यं च सिद्धमेकत्र दर्शनात्सर्वत्र भगवद्दर्शनस्य । 'यो मां पश्यति सर्वत्र' [ ६।३० ]इत्यादौ ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये
दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**६ ज. प्र. दी.**—'अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन' इति पूर्वोक्तव्यस्तज्ञानाक्षेपात् तस्य निष्फलत्वमिति प्रतीतिनिरासार्थमाह —**किमि**ति । किमित्ययमाक्षेपो वक्ष्यमाणसर्वव्याप्तरूपज्ञानस्योक्तरविप्रभृतिपरिच्छिन्नवस्तुस्वरूपज्ञानापेक्षया प्राधान्यज्ञापनार्थमेव, न तूक्तविशेषज्ञानस्य निष्फलत्वज्ञापनार्थम् । निष्फलत्वे तदुक्तिवैयर्थ्यापत्तिरित्यर्थः । ननु व्याप्तिज्ञानेनैव मुक्तिसम्भवाद्विशेषज्ञानं व्यर्थमेव किं न स्यात् ? इत्यत आह— **अज्ञात्वे**ति। 'प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः' इत्यादिकं ध्यानापेक्षयोक्तं; ज्ञानापेक्षया तु श्रुतिरित्यविरोधः, अथवा विशिष्टाधिकारिविषयेयं श्रुतिः। ननु व्याप्तज्ञानयोग्यानां विशेषज्ञानं निष्फलमेव, 'अन्यान्प्रति तु तदुक्तिः' इति व्यवस्थाऽस्तु, तवेति विशेषणसामर्थ्यादित्यत आह— **त्वं त्वि**ति । अतो न तव विशेषज्ञानमात्रेणालमिति ज्ञापयितुमिति शेषः। विशेषणस्यान्यथासिद्धत्वान्नोक्तव्यवस्थाकल्पकत्वमिति भावः । ननु किं ज्ञातेन न किमपीति शब्दादुक्तस्य नैष्फल्ये प्रतीते तदुक्तिवैयर्थ्यप्रसङ्गात् बाधकान्निष्फलाल्पफलयोर्महाफलत्वाभावसादृश्याद्गौण्या वृत्त्योक्तस्याप्राधान्यप्रतीतावर्थाद्वक्ष्यमाणस्य प्राधान्यप्रतीतिरित्युक्तम्, तत्र गौणप्रयोगे प्रयोजनं वाच्यमिति चेत्, न; रूढोपचारत्वादिति

भावेनाह— **अन्येति** । स्तुतिः प्रशस्ततातापनम् । अर्थः प्रयोजनम् । स्यादिदं व्याख्यानं यदि परिच्छिन्नज्ञानाद्व्याप्तिज्ञानस्य प्राधान्यं प्रमितं स्यात् । तदेव कुतः ? इत्यत आह— **प्राधान्यं** चेति । 'यो मां' इति विशिष्टफलकथनात् । न्यायसिद्धोऽप्ययर्थो वाक्यसम्मत्या दृढो भवतीत्येतदुक्तम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितगीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थविरचितप्रमेयदीपिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.— अथवेति** । अथवा बहुनैतेनैवमादिना किं ज्ञातेन तवार्जुन ! स्यात्सावशेषेण ? । अशेषतस्त्वमिदं शृणु । अहमेकेन सूक्ष्मांशेनेदं कृत्स्नं जगद्विष्टभ्य व्याप्य स्थित इति मन्तव्यम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— अथवा किमनेन परिच्छिन्नदर्शनेन सावशेषेण ? सर्वत्र मद्दृष्टिमेव कुर्वित्याह— **अथवेति** । अथवेति पक्षान्तरे । बहुना पृथक्पृथग्ज्ञातेन तव किं कार्यम् ? यस्मात् इदं सर्वं जगत् एकांशेन एकदेशमात्रेण विष्टभ्याधिष्ठाय व्याप्येति वा, अहमेव स्थितः । न मद्व्यतिरिक्तं किञ्चिदस्ति, "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" [ ऋक्सं. ८।४।१७।३ यजुस्सं. ३१।३ ] इति श्रुतेः ॥ ४२ ॥

इति श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**९ व० त० दी०**—एवं विभूतिप्रक्रियां योगे निपात्योसंहरति–**अथवेति** । अथवा बहुनैतेनोच्यमानेनेह ज्ञातेन विशेषेण तव किं ? अहं पुरुषोत्तमोऽधिदेव एकांशेनाक्षरमहिम्नाऽध्यात्मरूपेण कृत्स्नमिदं चेतनाचेतनात्मकं जगद्विभूतं कार्यशरीरावस्थं स्थूलं सूक्ष्मं च विष्टभ्य विधृत्य व्याप्य नियम्य च स्थितोऽस्मीति योगं ममैश्वर्यं जानीहि । एतेन स्वस्यैकांशेन जगद्विष्टम्भकथनात् कृत्स्नप्रसक्तिरपि वारिता । तेन माहात्म्यं सूचितम् ॥ ४२ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**१० पु. अ. त.**—एवं विभूत्यादिमत्सु भगवदंशज्ञानेनान्यत्र हेयत्वादिबुद्धौ सर्वस्य भगवदात्मकत्वं भज्येतेत्यन्यं प्रकारमाह— **अथवेति** । अथवा पक्षान्तरेण । हे अर्जुन ! तव बहुना नानाविधेन ज्ञातेन किं कार्यम् ? न किमपीत्यर्थः । यत एतेन नानाज्ञानेन न किञ्चित् कार्यम्, अतः कार्योपयोगिस्वरूपमाह— इदं परिदृश्यमानं जगत् कृत्स्नं सम्पूर्णं एकांशेन क्रीडात्मकेन विष्टभ्य धृत्वा स्थितोऽस्म्यहमेवेत्यर्थः । अनेन सर्वं मत्क्रीडारूपमेव चिन्तयेति भावो बोधितः ॥ ४२ ॥

'प्रतीयते जगन्नानाविधं स्वाज्ञानभावतः ।
विभूतिरूपं श्रीकृष्णस्तन्नाशायाऽब्रवीन्नरम् ॥ १० ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

**११ नी० भा० दी०**— उत्तमाधिकारिणमुद्दिश्याह— **अथवेति** । मूढान्प्रत्येतदुक्तं, त्वं तु एतावदेव विद्धि एकांशेन एकदेशेनाहमिदं विष्टभ्य व्याप्य स्थितोऽस्मि । "पादोऽस्य विश्वा भूतानि" [ ऋक्सं.८।४।१७।३ यजुस्सं. ३१।३ ] इति श्रुतेः । तस्मात्परिच्छिन्नं दर्शनं त्यक्त्वा सर्वत्र ब्रह्मबुद्धिमेव कुर्वित्याशयः ॥ ४२ ॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशे दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

## श्रीमद्भगवद्गीतायाः दशमाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

**श्रीदेव्युवाच—**

सर्वज्ञ ! सर्वचैतन्य ! सर्वेश्वर ! गिरां गुरो ! ।
धन्याऽस्मि शिव ! मान्येति दृष्टा मान्येन यत्त्वया ॥१॥
निरूपितमिदं पुण्यं नवमाध्यायवैभवम् ।
अनेकविस्मयस्वादुकथानकमयं मधु ॥ २ ॥
पिबन्त्या मम देवेश ! न तृप्तिर्जातु जायते ।
अकुण्ठा श्रवणोत्कण्ठा वर्धते वृषभध्वज ! ॥ ३ ॥
असीमा महिमाम्भोधिर्गीतानां श्रुतिजीवितम् ।
तत्रापि दशमाध्यायं प्रधानं मुनयो जगुः ॥
तमुद्दिश्य महाध्यायमभिधेहि कथानकम् ॥ ४ ॥

**श्रीशिव उवाच—**

शृणु सुश्रोणि ! निश्श्रेणिं स्वर्गदुर्गस्य दुर्लभाम् ।
सभामिव प्रभावानां पावनीं परमां कथाम् ॥ ५ ॥
आसीत्काशीपुरे विप्रः पुण्यकीर्तिपरायणः ।
प्रशान्तचेता निर्मुक्तहिंसाकार्कश्यसाहसः ॥ ६ ॥
निवृत्तिनिरतो नित्यं जितेन्द्रियतया तथा ।
धीरधीरिति विख्यातो नन्दीव मयि भक्तिमान् ॥७॥
निस्तीर्णनिगमाम्भोधिः सर्वशास्त्रार्थकोविदः ।
तस्य ध्यानपराधीनचेतसः प्रतिगच्छतः ॥ ८ ॥
अन्तरात्मनि निर्मग्नमनसस्तत्त्वचक्षुषः ।
करावलम्बनं तस्य धावन्प्रीत्या ददाम्यहम् ॥ ९ ॥
कदाचन चमत्कारकारकं विमना मुनिः ।
आचान्तः किञ्चिन्नासाग्रे परमानन्दमेदुराम् ॥ १० ॥
दृशमासाद्य निद्राणकरणोऽयमवस्थितः ।
उपधाय विशालाक्षि ! विशालां द्वारदेहलीम् ॥ ११ ॥

अशेत निशि निश्शङ्कं तावल्लम्बेक्षणः क्षणम् ।
मामपृच्छद्भृङ्गिरिटिः प्रणम्य पादपङ्कजम् ॥ १२ ॥
भृङ्गिरिटिरुवाच—
अनेन विधिना केन विहितं तव दर्शनम् ।
तपस्तप्तं हुतं जप्तं किमनेन महात्मना ॥ १३ ॥
दत्ते प्रतिपदं देवो यस्य हस्तावलम्बनम् ।
अयं न लभते गन्तुं कस्मादस्मात्पुराद्बहिः ॥१४ ॥
यदृच्छया यदा काशीसीमामुल्लङ्घ्य गच्छति ।
न पश्यति तदा सर्वान्पार्श्वस्थानपि देहिनः ॥ १५ ॥
अत्र हेतुमहं ज्ञातुमिच्छामि स्वामिभाषितम् ।
अनुग्राह्योऽस्मि चेद्वक्तुं युक्तं चेत्तदुदीरय ॥ १६ ॥
श्रीशिव उवाच—
इमं भृङ्गिरिटेः प्रश्नं समाकर्ण्याहमूचिवान् ।
कदाचिदासं कैलासपार्श्वे पुन्नागकानने ॥ १७ ॥
रणत्खेचरसुश्रोणिपूर्णस्तबककानने ।
कलकण्ठकुलालापकल्लोलितदिगन्तरे ॥ १८ ॥
गरुत्मदादिदात्यूहसमूहस्वरसङ्कुले ।
भ्रमद्वारुघटीयन्त्रप्रोल्लसद्बिन्दुदन्तुरे ॥ १९ ॥
प्रबुद्धसारथिप्रान्तकदलीकन्दलालये ।
कस्तूरीहरिणोपेते किन्नरस्वरमोहिते ॥ २० ॥
रोमन्थमन्थरापाङ्गैः क्वापि क्वापि निषेविते ।
हंसैः कीरेषु पाण्डित्यं कुर्वाणैः सङ्कुले शुकैः ॥ २१ ॥
निह्रादद्दिग्घनीरन्ध्रसमीरणविलोडिते ।
माधवीपुष्पनिर्याससीधुक्षीबमधुव्रते ॥ २२ ॥
उन्मीलत्त्रिवलीपुष्पगुच्छसौरभनिर्भरे ।
प्रोत्फुल्लबकुलामोदमदमन्थरषट्पदे ॥ २३ ॥
सोमादुद्गतपीयूषप्रक्षालितक्षितिमण्डले ।
अध्यास्य वेदिकामेकामहं क्षणमवस्थितः ॥ २४ ॥
उद्दण्डशाखिसङ्घट्टस्फुटन्मन्थामुखोत्करैः ।
प्रकम्पिताचलच्छायो ववौ चण्डसमीरणः ॥ २५ ॥
पश्चादभून्महाघोषो निर्घोषितदरीतटः ।
अवातरत्ततः कश्चित्पक्षी गगनगह्वरात् ॥ २६ ॥
शारदानीरदच्छायः कज्जलानामिवोच्चयः ।
तमसामिव सङ्घातः पक्षच्छेदीव पर्वतः ॥ २७ ॥
अवष्टभ्य क्षितिं पद्भ्यां पक्षी मां प्रणनाम सः ।
आनीय पद्ममम्लानमसौ मत्पादयोर्व्यधात् ॥
अथासौ स्पष्टया वाचा पक्षी स्तोत्रमुदीरयत् २८
पक्ष्युवाच—
जय देव ! चिदानन्द ! सुधासिन्धो ! जगत्पते ! ।
सदासद्भावनासङ्गकल्लोलानन्तवैभव ! ॥ २९ ॥
अद्वैतवासनामत्या मलत्रयविवर्जित ! ।
जितेन्द्रियपराधीन ! समाधिप्राप्यविग्रह ! ॥ ३० ॥
निरुपाधे ! विनिर्मुक्त ! निराकार ! निरामय ! ।
निस्सीम ! निरहङ्कार ! निरावरण ! निर्गुण ! ॥३१॥
शरणागतसन्त्राणप्रवीणचरणाम्बुज ! ।
भीमभालमहाज्वालज्वालादग्धमनोभव ! ॥ ३२ ॥
कुठारभिन्नदैत्येन्द्र ! गण्डूषितमहाविष ! ।
त्रिपुरप्रमदाभालसिन्दूरोद्धूलिमार्जन ! ॥ ३३ ॥
कात्यायनीकुचाम्भोजवरकुङ्कुमचर्चित ! ।
नमः प्रमाणदूराय नमः प्रामाण्यरूपिणे ॥ ३४ ॥
नमश्चैतन्यनाथाय नमस्त्रैलोक्यरूपिणे ।
वन्दे तव पदाम्भोजं योगिप्रवरचुम्बितम् ॥ ३५ ॥
अपारभवपापाब्धिपारावतरणाद्भुतम् ।
वाचस्पतिरपि स्तोत्रे भवतो न प्रगल्भते ॥ ३६ ॥
सहस्रवदनस्यापि फणीन्द्रस्य न चातुरी
त्वद्वर्णने महादेव ! कोऽहमल्पमतिः खगः ॥ ३७ ॥
श्रीशिव उवाच—
स्तोत्रमेतत्समाकर्ण्य कृतं तेन पतत्रिणा ।
तमवोचमहं कोऽसि कुतस्त्योऽसि विहङ्गम ! ॥३८॥
हंसेन सदृशः काये वर्णे काकेन सन्निभः ।
प्रयोजनं यदुद्दिश्य प्राप्तोऽसीह तदुच्यताम् ॥ ३९ ॥
इति पक्षी मया पृष्टः प्रश्रयानतकन्धरः ।
जगाद श्लक्ष्णया वाचा पक्षी वाक्यविदां वरः ॥ ४० ॥
पक्ष्युवाच—
देवेश ! धूर्जटे ! विद्धि मां मरालं स्वयम्भुवः ।
कर्मणा येन कार्ष्ण्यं मे जातमाधुनिकं विभो ! ॥४१॥
तदाकर्णय सर्वज्ञ ! पृष्टं यदि तदुच्यते ।
मानसात्सरसः पृथ्वीं यातः प्राप्तोऽस्मि सङ्कटम् ॥४२॥
सौराष्ट्रनगरादारात्सरसि स्फुरदम्बुजे ।
बालेन्दुखण्डधवलान्मृणालकवलानहम् ॥ ४३ ॥
आदाय लब्धसौहित्यो निरगां गगनं द्रुतः ।
विहायसस्ततस्तस्मादकस्मादपतं भुवि ॥ ४४ ॥
अथ मोहपरीतात्मा सर्वथा विकलेन्द्रियः ।
वेपमानवपुर्मोहात्स्पृष्टः शीतैः समीरणैः ॥ ४५ ॥
प्रबुद्धः पतने हेतुमपश्यन्नात्मनस्तदा ।
अहो ! किमेतदापन्नमद्य पातः कथं मम ॥ ४६ ॥
कालिमा येन कायेऽस्मिन्पक्वकर्पूरपाण्डुरे ।
इत्यहं विस्मयाविष्टो यावत्कुर्वे विचारणाम् ॥ ४७ ॥
तावदम्बुरुहाद्वाणीमश्रौषमहमीदृशीम् ।
उत्तिष्ठ हंस ! वक्ष्यामि कारणं पातकार्ष्ण्ययोः ॥४८॥
अथोत्थाय समागत्य मया मध्ये सरोवरे ।
दृष्टा राजीविनीं रम्यां राजीवैः पञ्चभिर्युताम् ॥ ४९ ॥
कारणं प्रष्टुमारेभे कार्ष्ण्यस्य पतनस्य च ।
अथ तत्र घनश्यामान्स्वर्णवर्णाम्बरावृतान् ॥ ५० ॥
चतुर्भुजान्गदाशङ्खचक्रपङ्केरुहायुधान् ।
किरीटहारकेयूरकुण्डलद्युतिचित्रितान् ॥ ५१ ॥
अद्राक्षमन्तरिक्षस्थान्पुरुषानयुतानि षट् ।
नत्वा प्रदक्षिणीकृत्य पञ्चपद्मां सरोजिनीम् ॥
आत्मीयं पातमारभ्य पृष्टं तदखिलं मया ॥ ५२ ॥
पद्मिन्युवाच—
कलहंस ! गतोऽसि त्वं मां विलङ्घ्य विहायसा ।
तेन पातकपाकेन पतितोऽसि महीतले ॥ ५३ ॥

तेनैव कालिमा काये तावकीये च लक्ष्यते।
भवन्तं पतितं वीक्ष्य कृपापूर्णेन चेतसा ॥ ५४ ॥
मध्यमेनामुनाऽब्जेन वदन्त्या जातसौरभम्।
आघ्राय षट्पदाः षष्टिसहस्राणि दिवं ययुः ॥ ५५ ॥
एते ये भवता दृष्टा नीलोत्पलसमन्विताः।
सर्वे ते सप्तमेऽतीते जन्मन्यासन्मुनेः सुताः ॥ ५६ ॥
अस्यैव सरसस्तीरे तेपुस्ते परमं तपः।
कदाचित्कामिनी काचिच्चम्पकस्तबकस्तनी ॥ ५७ ॥
चलापाङ्गकलाकान्ततरङ्गितरसालसा।
नासामुक्ताफलज्योत्स्नाचुम्बितस्मितदीधितिः ॥५८॥
वीणां विन्यस्य कुचयोर्वनेऽस्मिन्मधुरं जगौ।
गायन्त्याः स्वनमाकर्ण्य ब्राह्मणा हरिणा इव ॥ ५९ ॥
तां समागत्य ते सर्वे सममेव व्यलोकयन्।
मया दृष्टा ममैवेयमित्यूचुस्ते परस्परम् ॥ ६० ॥
मुष्टामुष्टि ततस्तेषां भ्रातृणामभवद्रणः।
अन्योन्यमुष्टिनिष्पिष्टवक्षसस्त्यक्तजीविताः ॥ ६१ ॥
ते भुक्त्वा निरयान्घोरान्बभूवुः सारसा भुवि।
तदा ते श्वापदाश्चानुदग्धा वन्येन वह्निना ॥ ६२ ॥
ततो मातङ्गतामेत्य पथि पान्थानघातयन्।
वने विषोदकं पीत्वा ते ययुर्यममन्दिरम् ॥ ६३ ॥
खरोष्ट्रवृकमार्जारजन्मान्यासाद्य च क्रमात्।
ततो मधुव्रता जाता वर्तन्तेऽत्र सरोवरे ॥ ६४ ॥
अद्य मे गन्धमाघ्राय प्रापुस्ते वैष्णवं पदम्।
शृणु पक्षीन्द्र! वक्ष्यामि येन मय्यस्ति वैभवम् ॥६५॥
एतस्माज्जन्मनः पूर्वं तृतीये जन्मनि क्षितौ।
सरोजवदना नाम द्विजातेः कन्यकाऽभवम् ॥ ६६ ॥
पातिव्रत्यैकनिरता गुरुशुश्रूषणे रता।
कदाचित्सारिकामेकां पाठयन्त्यविलम्बितम् ॥ ६७ ॥
सारिका भव पापे! त्वं पत्या शप्ताऽस्मि कुप्यता।
प्रेत्य सारित्वमासाद्य पातिव्रत्यप्रसादतः ॥ ६८ ॥
मुनीनामेव सदने कन्या काचित्पुपोष माम्।
गीतानां दशमाध्यायं विभूतिरिति विश्रुतम् ॥ ६९ ॥
प्रातः पठति विप्रोऽसावश्रौषं तमघापहम्।
कालेन सारिकादेहमहं हित्वा विहङ्गम! ॥ ७० ॥
दशमाध्यायमाहात्म्यादप्सराश्चाभवं दिवि।
पद्मावतीति विख्याता पद्माया दयिता सखी ॥७१॥
कदाचन मया यान्त्या विमानेन विहायसा।
एतत्सरोवरं रम्यं विलोक्य विमलाम्बुजम् ॥ ७२ ॥
अवतीर्य जलक्रीडा यावदारभ्यते मया।
दुर्वासास्तावदायातो विवस्त्रा तेन वीक्षिता ॥ ७३ ॥
तद्भयात्पद्मिनीरूपं धृतमेतन्मया स्वयम्।
पद्भ्यां पद्मद्वयं चैव द्वयं हस्तद्वयेन च ॥ ७४ ॥
मुखेन पञ्चमाम्भोजमिति पञ्चाम्बुजा त्वहम्।
दृष्टा तेन मुनीन्द्रेण कोपज्वलितचक्षुषा ॥ ७५ ॥
अनेनैव स्वरूपेण तिष्ठ पापे! शतं समाः।
इति शापं समुत्सृज्य तेन चान्तर्दधे क्षणात् ॥ ७६
विभूत्यध्यायमाहात्म्याद्वाणी मे न विलीयते।
मद्विलङ्घनमात्रेण पतितोऽसि महीतले ॥ ७७ ॥
अद्य शापनिवृत्तिर्मे तिष्ठतस्ते खगोत्तम!।
निशामय मया गीयमानमध्यायमुत्तमम् ॥
यस्याऽऽकर्णनमात्रेण त्वमद्यैव विमोक्ष्यसे ॥ ७८ ॥

पक्ष्युवाच—

इत्यसौ दशमाध्यायं पपाठ श्लक्ष्णया गिरा।
तमाकर्ण्य तया दत्तमादाय च सरोरुहम् ॥
मया समर्पितं तुभ्यं पद्मिन्या परमुत्तमम् ॥ ७९ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युक्त्वा स जहौ देहं तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ८० ॥

भृङ्गिरिटिरुवाच—

पुरातनभवे कोऽयं ब्रह्महंसोऽभवत्कथम्।
तवाग्रतः कुतो हेतोरुत्ससर्ज कलेवरम् ॥ ८१ ॥

श्रीशिव उवाच—

इति भृङ्गिरिटेर्वाक्यमाकर्ण्याहं तदाऽब्रवम्।
द्विजवेश्मनि पूर्वस्मिञ्जन्मन्ययमजायत ॥ ८२ ॥
सुतपा इति विख्यातो ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः।
वसन्गुरुकुले कुर्वन्वेदाध्ययनमन्वहम् ॥ ८३ ॥
गुरुशुश्रूषणं सम्यग्विदधाति स भक्तितः।
शयानस्य गुरोः शय्यां निद्रितः स पदाऽस्पृशत् ॥८४॥
तेन पापेन तिर्यक्त्वमयं स्वर्गेऽपि लब्धवान्।
पद्मयोनिमरालानां मध्ये जातस्ततो द्विजः ॥ ८५ ॥
अस्मिञ्जन्मन्यमुष्येह पुराऽस्मल्लोकनावधि।
गीतानां दशमाध्यायं नलिन्या कथितं ततः ॥ ८६ ॥
आकर्ण्य विहगो लेभे ब्रह्मज्ञानमनुत्तमम्।
सोऽयं विप्रकुले जातो दशमाध्यायवैभवात् ॥ ८७ ॥
जन्माभ्यासवशादस्य शिशोरपि मुखाम्बुजात्।
गीतानां दशमाध्यायः समुल्लसति सर्वदा ॥ ८८ ॥
तदर्थपरिणामेन सर्वभूतेष्ववस्थितम्।
शङ्खचक्रधरं देवमयं पश्यति सर्वदा ॥ ८९ ॥
यस्मिन्यस्मिन्सदैवास्य दृष्टिः स्निग्धा शरीरिणि।
स स मुक्तो भवेत्सर्वः सुरापो ब्रह्महाऽथवा ॥ ९० ॥
तद्विज्ञाय मया विप्रः परमात्मस्वरूपिणा।
इदं नगरमानीतो मुक्तिक्षेत्रं स्वभावतः ॥ ९१ ॥
अत्रत्यानां मनुष्याणां मुक्तिः करतले स्थिता।
तेनास्य दृष्टिपातेन विशेषोऽन्यो न जायते ॥ ९२ ॥
न ददामि बहिर्गन्तुमहमस्य पुराकृतम्।
दशमाध्यायमाहात्म्यात्तत्त्वज्ञानं सुदुर्लभम् ॥ ९३ ॥
लब्धमेतेन मुनिना जीवन्मुक्तिरियं तथा।
तेनास्य चलतो हस्तं ददामि पथि गच्छतः ॥ ९४ ॥
दशमाध्यायमहिमा सोऽयं भृङ्गिरिटे! महान्।
इति भृङ्गिरिटेरग्रे कथितं यत्कथानकम् ॥ ९५ ॥
तवेदमत्र कथितं सर्वपापप्रणाशनम्।
नरो वाऽप्यथवा नारी योऽपि कोऽपि च वा पुनः ॥
अस्य श्रवणमात्रेण सर्वाश्रमफलं लभेत् ॥ ९६ ॥

इति श्रीराज्ञोत्तरे श्रीगीतामाहात्म्ये गीतादशमाध्यायमाहात्म्यकथनं नामाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१०॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः ११ ]

**एकादशे स्वमाहात्म्यसाक्षात्कारावलोकनम् ।**
**दत्तमुक्तं विदिप्राप्त्योर्भक्त्येकोपायता तथा ॥ १५ ॥**

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकवेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

साक्षात्कारहेतुभूतमवलोकनं साक्षात्कारावलोकनम् । अवलोक्यतेऽनेनेति अवलोकनमिह दिव्यं चक्षुः । विदिप्राप्त्योरिति दर्शनस्याप्युपलक्षणम् । तथाहि गीयते—'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप !' [ ११।५४ ] इति । अयं तु सङ्ग्रहो द्वादशारम्भे सङ्गतिं विवक्षद्भिर्व्याख्यातः—'भक्तियोगनिष्ठानां प्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो नारायणस्य निरङ्कुशैश्वर्यं साक्षात्कर्तुकामायार्जुनायानवधिकातिशयकारुण्यौदार्यसौशील्यादिगुणसागरेण सत्यसङ्कल्पेन भगवता स्वैश्वर्यं यथावदवस्थितं दर्शितम् । उक्तं च तत्त्वतो भगवज्ज्ञानदर्शनप्राप्तीनामैकान्तिकात्यान्तिकभगवद्भक्त्येकलभ्यत्वम्' [ रा॰ भा. १२।१ ]—इति ॥ १५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीतायाः

# विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ।

विश्वरूपदर्शनाभिलाषिणोऽर्जुनस्य प्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच— मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम् ।**
**यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं[1] विगतो मम ॥ १ ॥**

१ श्रीशाङ्करभाष्यम् ।

भगवतो विभूतय उक्ताः, तत्र च ‘ विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ’ [ १० । ४२ ] इति भगवताऽभिहितं श्रुत्वा यज्जगदात्मरूपमाद्यमैश्वरं तत्साक्षात्कर्तुमिच्छन्नर्जुन– उवाचमद् नुग्रहायेति । मदनुग्रहाय ममानुग्रहार्थं परमं निरतिशयं गुह्यं गोप्यमध्यात्मसंज्ञितमात्मानात्मविवेकविषयं यत्त्वयोक्तं वचो वाक्यं, तेन ते वचसा मोहोऽयं विगतो मम; अविवेकबुद्धिरपगतेत्यर्थः ॥ १ ॥

२ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

तेन तेनाऽऽत्मना भगवदनुसन्धानार्थमुक्ता विभूतीरनुवदति— **भगवत** इति । परस्य सोपाधिकं निरुपाधिकं च चिद्रूपं ध्येयत्वेन ज्ञेयत्वेन चोक्तमित्यर्थः । सोपाधिकमैश्वरं रूपमशेषजगदात्मकं विश्वरूपाख्यमधिकृत्याध्यायान्तरमवतारयन्ननन्तरप्रश्नोपयोगित्वेन वृत्तं कीर्तयति— **तत्र** चेति । यदेतदशेषप्रपञ्चात्मकमखिलस्यैतस्य जगतः कारणं सर्वज्ञं सर्वैश्वर्यवद्रूपमुक्तं तदिदं श्रुत्वा तस्य साक्षात्कारं यियाचिषुरादौ पृष्टवानित्याह— **श्रुत्वे**ति । मयि करुणां निमित्तीकृत्योपकारोऽनुग्रहस्तदर्थमिति वचसो विशेषणम् । निरतिशयत्वं परमपुरुषार्थसाधनत्वम् । ‘अशोच्यान्’ [ २।११ ] इत्यादि त्वम्पदार्थप्रधानं वाक्यम् । मोहस्य ‘ अयं ’ इत्यात्मसाक्षिकत्वं दर्शयति । अविवेकबुद्धिरज्ञानविपर्यासात्मिका ॥ १ ॥

---

१ ‘ मोहोऽयं विगतः ’ इति, इयमुक्तरूपस्यैव मोहस्य निवृत्तिः, न तु सर्वस्य; तथात्वे इतः परं प्रश्नोपदेशयोरयोगात् । सर्वमोहनिवृत्तिस्तु– ‘नष्टो मोहः ’ (१८।७३ ) इति वक्ष्यते । अयं च विशेषः– अत्र ‘अयं मोहः ’ इति, तत्र ‘मोहः’ इति चोक्त्या ज्ञायते । उक्तं च भगवता प्रथममस्य मोहस्य निवृत्तिः, पश्चात् मोहसामान्यस्येति– ‘यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ! । येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ’ ( ४।३५ ) इत्यनेन ॥ ‘मत् ’ ‘अनुग्रहाय ’ इति छेदः, मदिति पञ्चमी । मन्निमित्तमित्यर्थ इति **केचित्** । अत्र **वामनः**—

अन्वयव्यतिरेकाभ्यामध्यात्मं द्विविधं मतम् । तत्रावरणविध्वंसो व्यतिरेकेण सिद्ध्यति ॥
जडाजडैक्यविज्ञानमन्वयादुपपद्यते । विशिष्यते परममित्यतस्तत्सव्यसाचिना ॥
यद्बाह्यमिन्द्रियग्राह्यं भगवद्रूपमेव तत् । इति प्रतीतिजनकं त्वध्यात्मं गुह्यमुच्यते ॥
अध्यात्मसंज्ञं व्यतिरेकयुक्तेस्त्वया यदुक्तं मदनुग्रहाय । वचोऽन्वयात्तत्परमं तदेव गुह्यं जडस्येश्वररूपतोक्तेः ॥

—इति सविस्तरं प्रतिपादयामास ।

**नव्यास्तु**– सप्तमेऽध्याये ज्ञानविज्ञानवर्णनमुपक्रम्य तस्मिन्नष्टमे चाव्यक्तरूपस्य, नवमदशमयोश्च व्यक्तरूपस्य यज्ज्ञानमुक्तम्, तदेवार्जुनेनाध्यात्मसंज्ञया व्यपदिश्यत इत्याहुः । तदसङ्गतम् , द्वितीयाध्याय एवाध्यात्मोपदेशोपक्रमात् । नवमदशमयोर्व्यक्तरूपाणां ज्ञानमुक्तमित्यपि तथाभूतमेव । परमेश्वररूपस्य व्यक्तत्वाभावात् । उक्तं चैतदिहैव ‘अव्यक्तोऽयम् ’ ( २।२५ ) ‘मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । ’ ( ९।४ ) इति । विभूतयो हि विभोः सोपाधिकं रूपं, न पुनर्व्यक्तमिति वेदान्तविदामतिरोहितमेवेत्यास्तां तावत् ॥ ॥ अत्र श्लोके अक्षराधिक्यकरणमेतदध्यायप्रमेयस्य सर्वाधिक्यसूचनायेति **केचित्** । श्रुतस्य शुश्रूषितार्थश्रवणस्य, भविष्यतो दिदृक्षितरूपदर्शनस्य चानुसन्धानजनितामन्दानन्दपारवश्यहेतुकानवधानसूचकमक्षराधिक्यमित्यन्ये । न चात्र छन्दोभङ्गः शङ्कनीयः, ‘न वा एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति’ ( ऐ. ब्रा. १।१।६ ) इति श्रुतेः । — **अभिगीता** ।

### ३ रामानुजभाष्यम् ।

एवं भक्तियोगनिष्पत्तये तद्विवृद्धये च सकलेतरविलक्षणेन स्वाभाविकेन भगवदसाधारणेन कल्याणगुणगणेन सह भगवतः सर्वात्मत्वं, तत एव तद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्य चिदचिदात्मकस्य वस्तुजातस्य तच्छरीरतया तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तित्वं चोक्तम् ; तमेतं भगवदसाधारणं स्वभावं कृत्स्नस्य तदायत्तस्वरूपस्थितिप्रवृत्तितां च भगवत्सकाशादुपश्रुत्य एवमेवेति निश्चित्य तथाभूतं भगवन्तं साक्षात्कर्तुकामोऽर्जुन उवाच । तथैव भगवत्प्रसादादनन्तरं द्रक्ष्यति ; 'सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्' [ ११।११ ] 'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा' [ ११।१३ ] इति हि वक्ष्यते ।

### ४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

विश्वरूपाध्यायमवतारयितुं विभूत्यध्यायार्थं सङ्गृह्याह— **एवमिति** । **भक्तियोगनिष्पत्तये तद्विवृद्धये चेति** प्रयोजनकथनेनानन्तरमर्जुनस्य दिदृक्षा भक्तिविवृद्ध्यधीनेति सूचितम् । **सकलेतरविलक्षणेनेति** सकलेतरवैलक्षण्यरूपेणेत्यर्थः ; यद्वा सकलेतरस्वभावविलक्षणेनेत्यर्थः । एतेनानवधिकातिशयत्वमुक्तं भवति । 'अनन्यसाधारणं स्वाभाविकमनवधिकातिशयम्' इति पूर्वोक्तस्यात्र प्रातिलोम्येन प्रत्यभिज्ञानात् **सकलेतरविलक्षणेन भगवदसाधारणेनेत्यनयोर्यथेष्टं** हेतुसाध्यभावेन अन्वयात्समाधिकराहित्यतात्पर्याच्च नानर्थक्यम् । श्रुतार्थनिश्चयाधीनभक्तिविवृद्धिफलभूतदिदृक्षामूलमुत्तराध्यायोपोद्घातरूपमर्जुनवाक्यमवतारयति— **तमेतमिति** । तं सर्वातिशायिनम्, एतं उक्तप्रकारम् । **भगवत्सकाशादित्यनेन** निश्चयहेतुभूतमाप्तत्वं सूचितम् ; नह्याचार्यान्तरसकाशादुपश्रवणे दिदृक्षायां सत्यामपि दर्शनप्रार्थनं घटत इति च भावः । 'एवमेतत्' इत्यादिश्लोकार्थाभिप्रायेणाह— **एवमेवेति निश्चित्येति**। ननु 'एवमेतद्यथात्थ' इति पूर्वोक्तमभ्युपगम्य 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्' [ ११।३ ] इत्यर्थान्तरस्य रूपविशेषस्य दिदृक्षावचनमिव भाति ; ततश्च कथं तथाभूतं भगवन्तं साक्षात्कर्तुकाम इत्युच्यते ? तत्राह— **तथैवेति** । श्रुतप्रकारेणेत्यर्थः । तद्विवृणोति— **सर्वाश्चर्येति** । 'अहं सर्वस्य प्रभवः' [ १०।८ ] इत्यादिना 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [ १०।४२ ] इत्यन्तेन प्रतिपादितो ह्यर्थोऽत्र विग्रहविशेषानुबन्धेन प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञायत इति भावः । अत्र साक्षात्कारं प्रार्थयितुं 'मदनुग्रहाय' इत्यादिभिस्त्रिभिः श्लोकैः कृतज्ञतामास्तिक्यं भक्तिमत्त्वं च दर्शयति ।

**३ रा. भा.— मदनुग्रहायेति** । देहात्माभिमानरूपमोहेन मोहितस्य ममानुग्रहैकप्रयोजनाय परमं गुह्यं परमं रहस्यमध्यात्मसंज्ञितम्— आत्मनि वक्तव्यं वचः 'न त्वेवाहं जातु नासम्' [२।१२ ] इत्यादि 'तस्माद्योगी भवार्जुन !' [ ६।४६ ] इत्येतदन्तं यत्त्वयोक्तम्, तेनायं ममात्मविषयो मोहः सर्वो विगतो दूरतो निरस्तः ॥ १ ॥

**४ वे. ता. चं.—** तत्र प्रथमेन अध्यात्मशब्दादिस्वारस्यात् 'भवाप्ययौ' इत्यादेः सप्तमार्थस्य पृथग्वचनाच्चात्मतत्त्वतदवलोकनोपायश्रवणतत्फलानुवादः क्रियत इत्यभिप्रायेणाह— **देहात्मेति** । 'मोहो विगतः' इत्यनन्तरमभिधानात् मच्छब्देन मोहविशिष्टस्वरूपं विवक्षितमित्यभिप्रायेण **मोहितस्येत्यन्तमुक्तम्** । 'मदनुग्रहाय' इत्यनेन न ह्यन्यत्तेनानवाप्तमवाप्तव्यमस्तीत्यभिप्रेतमित्याह **ममानुग्रहैकप्रयोजनायेति** । युद्धप्रोत्साहनमात्रशङ्काप्यनेन निरस्ता । परमशब्दविशेषितगुह्यशब्देन 'मौनं चैवास्मि गुह्यानाम्' [ १०।३८ ] इत्युक्तगुह्यत्वप्रतीतिव्युदासाय रहस्यशब्देन व्याख्या । गुह्यतमभक्तियोगशेषत्वात्परमत्वविशेषणमित्यादृत्य परमशब्दपाठेन सूचितम् । आत्मनि प्रतिपादकत्वेनाधिवसनाद्वचसोऽध्यात्मत्वमित्यभिप्रेत्य **आत्मनि वक्तव्यमित्युक्तम्** । उपोद्घातान्मध्यमषट्कप्रस्तावश्लोकार्थाच्चावच्छिद्य जीवात्मप्रधानमंशमध्यात्मशब्दानूदितमाह— **न त्वेवाहमिति** । 'अध्यात्मसंज्ञितम्' इत्येतदनुसारात् 'अयम्' इत्यपरोक्षनिर्देशाभिप्रेतमुक्तं **ममात्मविषय इति** । 'विगतः' इत्यनेन सोपसर्गेण सवासनं निश्शेषविनाशो विवक्षित इति प्रदर्शनाय **सर्वशब्दः** । **दूरतो निरस्त** इति संस्कारस्यापि तिरस्कारादपुनरङ्कुरं विनष्ट इत्यर्थः ॥ १ ॥

### ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

ॐम् । यथा श्रुते ध्यानं शक्यं तथा स्वरूपस्थितिरनेनाध्यायेनोच्यते ॥ १ ॥

### ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका।

एतदध्यायप्रतिपाद्यमर्थमाह—यथेति। दशमान्ते [ ४२ ] 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' इति व्याप्तोपासनं सङ्क्षेपेणोक्तम्। न च सङ्क्षेपोक्तस्य ध्यानं शक्यम्, बुद्धावनारोहात्। अतो यथाभूते व्याप्तरूपे विस्तरेण श्रुते ध्यानं शक्यं भवति, तथाभूतस्वरूपस्थितिरर्जुनाय प्रदर्शितस्यानुवादेन अनेनैकादशेनाध्यायेनोच्यते। स्वरूपग्रहणेन विश्वरूपस्य मायादिना तदैव निर्माय विसृष्टत्वं निवारयति॥ १॥

### ७ श्रीमद्धनुमद्विरचितं पैशाचभाष्यम्।

एवं भगवन्मुखात्सङ्क्षेपविस्तराभ्यां विभूतिं श्रुत्वा पररूपं द्रष्टुकामोऽर्जुन उवाच— मदनुग्रहायेति। अध्यात्मसंज्ञितमध्यात्मप्रतिपादकं वचनमप्युपचारेणाध्यात्मसंज्ञितमित्युच्यते॥ १॥

### ८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम्।

एवं दशमेऽध्याये भगवतो विभूतय उपदिष्टाः। एकादशे तदीयं विश्वरूपप्रदर्शनमनुवर्ण्यते। तत्र तावत् 'अशोच्यानन्वशोचः' [ २।११ ] इत्यादि 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [ १०।४२ ] इत्यन्तं भगवदुपदेशमाकर्ण्य विगतमोहः स्वकीयं कृतार्थभावमावेदयन्नर्जुन उवाच-मदनुग्रहायेति। परमं गुह्यं अतिरहस्यमपि मदनुग्रहाय मम शिष्यभावेन प्रपन्नस्य मोहनिवर्तनरूपानुग्रहैकप्रयोजनाय यत् त्वया परमकारुणिकेन सर्वज्ञेन अध्यात्मसंज्ञितं 'अध्यात्मं' इति शब्दितमात्मानात्मविवेकविषयम् 'न त्वेवाहं जातु नासम्' [ २।१२ ] इत्यादि 'तस्माद्योगी भवार्जुन!' [ ६।४६ ] इत्यन्तं त्वम्पदार्थप्रधानं प्रथमषट्करूपं वचनमुक्तम्, तेन ममायं मोहः 'अहमेषां हन्ता, मयैते हन्यन्ते' इत्यादिरूपः विनष्टः, आत्मनः सर्वविकारशून्यतोक्तेः॥ १॥

### ९ श्रीवल्लभाचार्याविष्कृता तत्त्वदीपिका।

अथातोऽष्टभिरध्यायैर्गुणैराश्रयधर्मतः। पुष्टयात्मना भगवता मोचितः स इतीर्यते॥ १॥

स्वनिगमवचसा महिमज्ञाने भक्त्या स्वधर्ममर्यादा। कुण्डलावृतमुखभगवत्समाश्रयेणैव धर्मतः पुष्टिः॥ २॥

मर्यादावचने पुष्टिः स्वकार्यार्थिप्रदर्शने। इति मर्यादया मिश्रं पुष्टिरूपं प्रदर्श्यते॥ ३॥

पूर्वाध्यायान्ते परमासाधारणयोगः विभूतेरक्षरैश्वर्यस्य स्वस्य विष्टभ्याहमिति श्लोके योगाख्यमैश्वर्यमुदीरितं तद्विशिष्टरूपं दिदृक्षुः पूर्वोक्तमभिनन्दयन्नर्जुन उवाच मदनुग्रहायेति चतुर्भिः। गुह्यमध्यात्मसंज्ञितं 'अहं सर्वस्य प्रभवः' [१०।८] इति स्वमाहात्म्यनिरूपकं मर्यादारूपं यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मम गतो मोहः ऐश्वर्याज्ञानरूपः। माहात्म्यनिरूपकं वाक्यमेव ते श्रुतं, न तु तथा स्वरूपं दृष्टं तवेति भावः॥ १॥

### १० श्रीपुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी।

कृष्णात्मत्वं हि जगतो विभूतिकथनान्तरः।
अवगत्य च तद्रूपं द्रष्टुं हरिमथाऽब्रवीत्॥ १॥

पूर्वाध्यायान्ते 'विष्टभ्याहं' [१०।४२] इत्यनेन स्वक्रीडात्मकत्वेन विश्वस्य स्वात्मकत्वं प्रतिपादितम्, तद्रूपदर्शनेच्छुरर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति-मदनुग्रहायेति चतुर्भिः। मदनुग्रहाय मम स्वीयत्वेन ग्रहणाय परमं परः पुरुषोत्तमो मीयते अनुमीयते यस्मात्तादृशम्। अतएव गुह्यं सर्वेषामनाख्येयम्। अध्यात्मसंज्ञितं आत्मानात्मविवेकविषयत्वेन सर्वात्मरूपं यत् त्वया वचो 'विष्टभ्याहं' इत्युक्तं, तेन ममाऽयं रूपे मोहो विशेषेण गतो नष्ट इत्यर्थः॥ १॥

### ११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः।

पूर्वस्मिन्नध्याये योगो विभूतिश्च व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातौ 'एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति' [१०।७] इति 'आत्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन! भूयः कथय' [१०।१८] इतीतरेण च श्रोतव्यत्वेन प्रार्थितौ; तत्र 'अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः' [१०।२०] इति सङ्क्षेपेण योगो भगवतः सर्वभूताधारत्वलक्षण उक्तः प्राग्विभूतिकथनात्; तदन्ते च 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२] इति। कुसूलेन धान्यमिव मयेदं जगद्विष्टब्धमित्युक्त्या स एव स्मारितस्तदेव भगवतः सर्वभूताधारत्वं साक्षात्कर्तुकामोऽर्जुन उवाच— मदनुग्रहायेति। मयि अनुग्रहोऽनुकम्पा तदर्थं मदनुग्रहाय परमं सद्यः शोकमोहनिवर्त्तकत्वेनोत्कृष्टं गुह्यं गोप्यं अध्यात्मसंज्ञितमात्मानात्मविवेकार्थं शास्त्रमध्यात्मं तत्संज्ञितं यत्त्वया वचः 'अशोच्यानन्वशोचः' [ २।११ ] इत्यादिना षष्ठाध्यायपर्यन्तं त्वम्पदार्थशुद्धिप्रधानं 'नायं हन्ति न हन्यते' [ २।१९ ] इत्यात्मनोऽकर्तृत्वाभोक्तृत्वप्रतिपादकं उक्तम्, तेन मम मोहः अविवेकोऽयं विशेषेण गतो नष्टः। अत्र प्रथमे पादेऽक्षराधिक्यमार्षम्॥ १॥

**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया ।**
**त्वत्तः कमलपत्राक्ष ! माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥**

**१ शां. भा.— किञ्च—** भव उत्पत्तिः, अप्ययः प्रलयः, तौ भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशः मया, न सङ्क्षेपतः । त्वत्तस्त्वत्सकाशात्कमलपत्राक्ष ! कमलस्य पत्रं कमलपत्रं तद्वदक्षिणी यस्य तव स त्वं कमलपत्राक्षः हे कमलपत्राक्ष ! महात्मनः भावः माहात्म्यमपि चाव्ययमक्षयं ' श्रुतं ' इत्यनुवर्तते ॥ २ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** सप्तमादारभ्य तत्पदार्थनिर्णयार्थमपि भगवदुक्तं वचो मया श्रुतमित्याह— **किञ्चेति** । त्वत्तो भूतानामुत्पत्तिप्रलयौ त्वत्तः श्रुताविल्याभ्यां सम्बध्यते महात्मनस्तव भावो माहात्म्यं पारमार्थिकं सोपाधिकं वा सर्वात्मत्वादिरूपं, श्रुतमिति परिणम्यानुवृत्तिं द्योतयितुं 'अपि च' इत्युक्तम् ॥ २ ॥

**३ रा. भा.— तथा च— भवाप्ययाविति** । तथा सप्तमप्रभृति दशमपर्यन्तं त्वद्व्यतिरिक्तानां सर्वेषां भूतानां त्वत्तः परमात्मनो भवाप्ययौ उत्पत्तिप्रलयौ विस्तरशो मया श्रुतौ । हे कमलपत्राक्ष ! तवाव्ययं नित्यं सर्वचेतनाचेतनवस्तुशेषित्वं ज्ञानबलादिकल्याणगुणगणैस्तवैव परतरत्वं सर्वाधारत्वं चिन्तितं निमिषितादिसर्वप्रवृत्तिषु तवैव प्रवर्तयितृत्वमित्याद्यपरिमितं माहात्म्यं च श्रुतम् । हिशब्दो वक्ष्यमाणदिदृक्षाद्योतनार्थः ॥ २ ॥

**४ वे. ता. चं.**—'भवाप्ययौ हि' इत्यादेः प्रकृतहेत्वर्थत्वव्युदासेन पृथगर्थत्वव्यञ्जनायाह— **तथाचेति** । **सप्तमप्रभृति दशमपर्यन्तं** इति । भाष्यकारः स्वानुसंहिताध्यायोक्त्या तत्रत्यवचनमुपलक्षयति । बहुवचनासङ्कोचसूचितम् 'अहं कृत्स्नस्य ' [ ७।६ ] इत्यादिनोक्तमाह— **त्वद्व्यतिरिक्तानामिति** । निवृत्तमानुषत्वभ्रमस्यार्जुनस्य वचनत्वात् ' त्वत्तः ' इत्यनेन भवाप्ययौपयिकरूपत्वं विवक्षितमित्यभिप्रायेण **परमात्मन** इत्युक्तम् । अप्ययशब्दस्य पञ्चम्यनन्वयाद्भवाप्ययशब्देन संसारमोक्षादिप्रतीतिः स्यादिति तद्व्युदासायोक्तं— **उत्पत्तिप्रलयाविति** । निमित्तोपादानसाधारणहेतुमात्रे पञ्चमीत्यप्ययान्वयः । ' त्वत्तः श्रुतौ' इत्यन्वयस्तु मन्दप्रयोजन इति भावः । विस्तरशः विस्तरेणेत्यर्थः । ' कमलपत्राक्ष' इत्यनेनान्तरादित्यविद्यादिप्रतिपादितपुण्डरीकाक्षत्वविशिष्टाप्राकृतविग्रहवत्त्वमस्मिन्नवतारेऽपि स्पष्टमुपलभ्यत इति सूचितम् । पुण्डरीकाक्षस्यैव हि सर्वलोककामेशत्वादिकमव्ययं माहात्म्यं तत्र श्रूयते। **माहात्म्यमि**त्यत्र 'तव' इति विपरिणतानुषङ्गः । अव्ययशब्देन कालतो विषयतः सङ्ख्यातः प्रकर्षतश्चानवधिकत्वं प्राक्सिद्धमिहाभिप्रेतमित्यभिप्रायेणोक्तं **नित्यमि**त्यादि **अपरिमितमित्यन्तम्** । 'भूमिरापः' [ ७।४ ] 'मत्तः परतरं नान्यत्' [ ७।७ ] 'मयि सर्वं ' [ ७।७ ] 'बुद्धिर्ज्ञानम् ' [ १०।४ ] इत्यादिभिरिदं शेषित्वादिकं प्राक्प्रपञ्चितम् । **हिशब्दो वक्ष्यमाणदिदृक्षाद्योतनार्थ** इति । हेतुत्वप्रसिद्ध्याद्यानुगुण्याभावात्प्रकृतानुगुणोऽयमर्थ इति भावः ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ २ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.— भवेति** । भवाप्ययावुत्पत्तिप्रलयौ ॥ २ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं प्रथमषट्कोपदेशजन्यत्वम्पदार्थविवेकप्रयुक्तं कृतार्थत्वमधिगत्य तत्पदार्थविवेकप्रधानमध्यमषट्कोपदिष्टपरमेश्वरस्वरूपदर्शनप्रयुक्तमपि कृतार्थभावमाकाङ्क्षमाणसप्तमादिदशमाध्यायान्तोपदिष्टं स्वावधृतं पारमेश्वरस्वरूपमनुपममनुवदति — **भवाप्ययाविति** । हे कमलपत्राक्ष ! भूतानां चेतनाचेतनात्मकानां प्रभवाप्ययौ सृष्टिप्रलयौ त्वत्तः सकाशादेव [illegible] इति विस्तरतः 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलय[illegible]' इत्यादिना पुनः पुनर्मया श्रुतौ । तथा अव्ययमपरिच्छिन्नं तव माहात्म्यमपि 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२ ] इत्यादिकं श्रुतमिति विपरिणामेनानुषङ्गः। अत्र 'कमलपत्राक्ष' इत्यनेन त्वदीयपारमैश्वर्यश्रवणानुग्रहणमिव त्वदीयसौन्दर्यातिशयोऽपि दृश्यते, " तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी" [छां. उ.१।६।७] इत्यादिश्रुत्या कमलपत्राक्षत्वस्य परमेश्वररूपत्वप्रतिपादनादिति सूचितम् । हिशब्देन वक्ष्यमाणदिदृक्षा द्योत्यते ॥ २ ॥

---

[illegible]श्रुतौ वेदे विस्तरशः , तौ त्वत्तो मया सङ्ग्रहेण श्रुतौ इति व्याख्यातमु**पन्यासदर्पणे** । तत्र श्रुतौ [illegible]व द्विवचनान्तम् , श्रुतौ विस्तरशः इत्यन्वयश्चेत्यनुसन्धेयम् । — **अविगीता** ।

९ व० त० दी०—भवाप्ययाविति । जगत्कारणत्वं तव मया श्रुतं, माहात्म्यमपि च सर्वं; तदिदं विभूतिरूपं तव मयेति ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च—**भवाप्ययाविति**। भूतानां भवाप्ययौ उत्पत्तिनाशौ 'अहमादिश्च' [ १०।२० ] इत्यादिना हे कमलपत्राक्ष दृष्ट्यैव तापनाशक ! त्वत्तो मया विस्तरशः श्रुतौ । अव्ययं स्थितिरूपं पालनरूपं माहात्म्यं महत्त्वं नाशानन्तरपालनरूपं चापि श्रुतं, 'तेन मोहो नष्टः' इति पूर्वेणैवान्वयः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— भवेति। तथा सप्तमाध्यायमारभ्य दशमपर्यन्तं त्वया भूतानां भवाप्ययावप्युक्तौ 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते' [ १०।८ ] इति, तावपि मया विस्तरशस्त्वत्तः श्रुतौ । हे कमलपत्राक्ष ! अव्ययं माहात्म्यमपि 'न च मां तानि कर्माणि लिम्पन्ति' [९।९] इति । विषमसृष्टिकर्तुरपि वैषम्यनैर्घृण्यदोषो नास्ति, जगत्कर्तुरपि विकारगन्धो नास्तीत्येवमादिरूपतत्पदार्थशुद्धिप्रधानं श्रुतमित्यनुषङ्गः ॥ २ ॥

## एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वमात्मानं परमेश्वर !।
## द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ॥ ३ ॥

१ शां. भा.— एवमिति । एवमेतत्– नान्यथा यथा येन प्रकारेणाऽऽत्थ कथयसि त्वमात्मानं परमेश्वर ! तथापि द्रष्टुमिच्छामि ते तव ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सम्पन्नमैश्वरं वैष्णवं रूपं पुरुषोत्तम! ॥ ३ ॥

२ आ. शां. व्या.—त्वदुक्तेऽर्थे विश्वासाभावान्न तस्य दिदृक्षा, किन्तु कृतार्थीबुभूषयेत्याह—**एवमेतदि**ति । येन प्रकारेण सोपाधिकेन निरुपाधिकेन चेत्यर्थः । यदि ममाऽऽत्थ निश्चित्य मद्वाक्यं ते मानं, तर्हि किमिति मदुक्तं दिदृक्षते ? कृतार्थीबुभूषयेत्युक्तं मत्वाऽऽह—**तथाऽपी**ति । चतुर्भुजादिरूपनिवृत्त्यर्थमाह— **ऐश्वर**मिति । तद्व्याचष्टे— **ज्ञानेत्या**दिना ॥ ३ ॥

३ रा. भा.— एवमिति । हे परमेश्वर ! एवमेतदित्यवधृतम्, यथात्थ त्वमात्मानं ब्रवीषि । पुरुषोत्तम आश्रितवात्सल्यैकजलधे ! तवैश्वरं त्वदसाधारणं सर्वस्य प्रशासितृत्वे, पालयितृत्वे, स्रष्टृत्वे, संहर्तृत्वे, भर्तृत्वे, कल्याणगुणाकरत्वे, परतरत्वे, सकलेतरविसजातीयत्वे चावस्थितं रूपं द्रष्टुं साक्षात्कर्तुमिच्छामि ॥ ३ ॥

४ वे. ता. चं.— 'परमेश्वर !' इत्यनेन वाक्यार्थविश्वासहेतुभूतं परमाप्तत्वादिकं विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह —**हे परमेश्वरे**ति । तद्व्यञ्जनाय स्वसंवादमात्रार्थतव्व्युदासेन श्रुतप्रतिष्ठापनाय चाह **एवमेतदित्यवधृतमि**ति । आश्रितजने दोषदर्शिनः कापुरुषा इति ह्याहुः। अतोऽत्र दिदृक्षमाणे स्वस्मिन् दोषानादररूपनिरतिशयपौरुषं पुरुषोत्तमशब्देन विवक्षितमित्यभिप्रायेण **आश्रितवात्सल्यैकजलध** इत्युक्तम्। पुरु सनोतीति वा व्युत्पत्तिरिहाभिप्रेता ; 'आविश्य बिभर्ति' [ १५।१७ ] इति वक्ष्यमाणं वा ज्ञापितम् । एवं परत्वसौलभ्ये समाख्याभ्यामुक्ते । 'ते' इति निर्देशे सत्यपि 'ऐश्वरम्' इति वचनमीश्वरत्वस्वभावाभिव्यञ्जकत्वपरमित्यभिप्रायेण **त्वदसाधारणमि**त्युक्तम् । तस्यैव प्राक्प्रपञ्चितप्रक्रियया विवरणं **सर्वस्ये**त्यादि। एवं स्वभावविशिष्टो हीश्वरशब्दार्थ इति भावः । प्रशासितृत्वादौ रूपस्यावस्थानं नाम तदनुरूपैर्गुणसन्नहनचेष्टितैस्तत्तदभिव्यञ्जकत्वम् । यद्वा प्रशासितृत्वेऽवस्थानं 'यथार्हं केशवे वृत्तिमवशाः प्रतिपेदिरे' [ म. भा. २।६८।११ ] इति न्यायेन स्वदर्शनमात्रेण विपरीताध्यवसायं विनिवर्त्य सम्यक्प्रवृत्तिहेतुत्वात् । कल्याणगुणाकरत्वेऽवस्थानं नाम अवतारविग्रहवदज्ञत्वाद्यभिनयानर्हत्वम् । पालयितृत्वेऽवस्थानं तु सत्त्वप्रवर्तनादिमुखेन । स्रष्टृत्वेऽवस्थानं स्वावयवेभ्यो ब्रह्मरुद्रादीनां चातुर्वर्ण्यादीनां च प्रसूतेः। संहर्तृत्वेऽवस्थानं तु वक्ष्यमाणग्रसनादिना । भर्तृत्वेऽवस्थितिस्तु 'तत्रैकस्थम्' [ ११।१३ ] इत्यादिभिः स्फुटीभविष्यति । परत्वेन शङ्कितानां ब्रह्मरुद्रादीनां स्वैकदेशेऽवस्थानस्य 'ब्रह्माणमीशम्' [ ११।१५ ] इत्यादिना वक्ष्यमाणतया परतरत्वेऽवस्थानं युक्तम्। **सकलेतरविसजातीयत्व** इति तूक्तसमस्तनिगमनम् ; तत्फलितं वा ; परमेश्वरपुरुषोत्तमसम्बुध्यभिप्रेतकथनं वा । 'पश्य मे योगमैश्वरम्' इति गुह्यतमारम्भे स्वयमुक्तस्यापातप्रतीतार्थस्य दर्शनप्रार्थनानुसारेण 'रूपमैश्वरम्' इति । स्वरूपपरतया योजनायाम् 'ऐश्वरम्' इत्येकमौपचारिकम् ; इतरत्सर्वं मुख्यम् । स्वरूपानुबन्धेन तु विग्रहदिदृक्षा गर्भिता । रूपशब्दः स्वरूपरूपादिसमस्तासाधारणाकारपरो वा । रूपं प्रकारमित्यर्थः । 'द्रष्टुम्' इत्युक्ते दर्शनसमानाकारेऽपि ज्ञाने दर्शनशब्दप्रयोगात्तद्व्यवच्छेदार्थं चाक्षुषज्ञानमात्रपरत्वं च व्यवच्छेत्तुं **साक्षात्कर्तु-मि**त्युक्तम् ॥ ३ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ ३ ॥

७ ह. पै. भा.— एवमिति । ऐश्वरस्येदमैश्वरम् ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवाह—एवमिति । हे पुरुषोत्तम ! तवेदानीं दृश्यमानान्मानुषरूपादन्यदैश्वरं रूपं 'विष्टभ्याहमिदम्'[१०।४२] इत्युक्तं द्रष्टुमिच्छामि । 'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नमपश्यत्' [११।१३] इति हि वक्ष्यते । 'इच्छामि' इत्यनेन परीक्षार्थं न त्वदीयरूपदर्शनम्, परन्तु कृतार्थीबुभूषयैव; न हि परत्वसौलभ्यकाष्ठां परमेश्वरं त्वामासाद्य सम्प्रति कृतार्थो न भवन्कदाचिदहं कृतार्थो भविष्यामीति सूचितम् । इदमेव स्पष्टयति—एवमेतदिति । हे परमेश्वर ! यथा येन प्रकारेण सोपाधिकेन निरुपाधिकेन च निरतिशयैश्वर्येणात्मानं त्वमात्थ कथयसि, एवमेवैतन्नान्यथा । तथा च न भवद्वाक्ये ममाविश्वासशङ्केति जन्मसाफल्यसम्पादनायैव त्वद्रूपदर्शनोत्कण्ठेति भावः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— एवमेतदिति । सत्यमेवैतत्, अत्राविश्वासो मम नास्तीति। परं तादृशैश्वर्यं योगाख्यं यत्र तत्तवैश्वरं रूपं द्रष्टुमिच्छामि। हे पुरुषोत्तम! नहि मादृशस्त्वयि सति न सिद्धमनोरथो भवितुमर्हतीति भावः॥३॥

१० पु. अ. त.— कथं ज्ञातव्यं मोहो नष्ट इति ? इत्याशङ्क्य नष्टमोहानां भगवद्वाक्ये विश्वासो नियत इति तदाह— एवमिति। हे परमेश्वर सर्वाधीश ! यथा त्वमात्मानं स्वस्वरूपमात्थ वदसि 'न मे विदुः' [१०।२] इत्यनेन सर्वाज्ञातत्वं, 'विष्टभ्याहम्' [१०।४२] इत्यनेन सर्वात्मत्वं, 'ददामि बुद्धियोगं तं' [१०।१०] इत्यादिना स्वकृपयैव ज्ञातत्वम्, एवमेतत् यथार्थमेवेत्यर्थः । यथार्थत्वोक्त्या पूर्वमज्ञातस्वरूपोऽहम्, अधुना विभूतिनिरूपणेन 'विष्टभ्याहं' इति कृपोक्त्या च तच्चिन्तनेन सर्वात्मत्वज्ञानयुक्तो जात इति स्वानुभवो व्यञ्जितः । अथातो ज्ञातस्वरूपस्तद्रूपं दर्शयेत्याह— द्रष्टुमिति । हे पुरुषोत्तम ! ते तवैव तत्सम्बन्धिनामैश्वरं नानाविलासकं रूपं द्रष्टुमिच्छामि ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमिति । यच्च त्वं 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२] इति आत्मानं जगदाधारमात्थ तदपि इत्थमेव, न ममात्रासम्भावनाऽस्ति । हे परमेश्वर ! ते तव रूपं ऐश्वरमीश्वरस्येदं विश्वात्मकं मायामयमित्यर्थः । हे पुरुषोत्तम क्षराक्षरातीत ! विश्वरूपं मायामयं, वास्तवं तु रूपं मायातीतमित्यैश्वरमिति पुरुषोत्तमेति च पदाभ्यां लभ्यते । तथा च वक्ष्यति—'माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद !। सर्वभूतगुणैर्युक्तं नैवं मां (त्वं) ज्ञातुमर्हसि' [म. भा. १२।३३९।४५;४६] इति । उक्तं च शुद्धं रूपमभिप्रेत्य 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयम्' [२।२५] इति ॥ ३ ॥

**मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो ! ।**
**योगेश्वर ! ततो मे त्वं दर्शयाऽऽत्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥**

१ शां. भा.— मन्यस इति । मन्यसे चिन्तयसि यदि मयाऽर्जुनेन तच्छक्यं द्रष्टुमिति प्रभो स्वामिन् ! योगेश्वर— योगिनो योगास्तेषामीश्वरो योगेश्वरः । हे योगेश्वर ! यस्मादहमतीवार्थी द्रष्टुं, ततस्तस्मान्मे मदर्थं दर्शय त्वमात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

२ आ. शां. व्या.— द्रष्टुमयोग्ये कुतो दिदृक्षा ? इत्याशङ्क्याऽऽह— मन्यस इति । प्रभवति सृष्टिस्थितिसंहारप्रवेशप्रशासनेभ्य इति प्रभुः । लक्षणया योगशब्दार्थमाह— योगिन इति । तत इत्यादि व्याचष्टे— यस्मादिति ॥ ४ ॥

१ योग एषामस्तीति योगा योगिनः, 'अर्श आदिभ्योऽच्' (अष्टा. ५।२।२७) तेषामीश्वरः । उक्तं च सहस्रनामसु 'योगविदां नेता' (म. भा. १३।१४९।१६) इति । अन्ये तु— योगानां 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु ।' (अमरः ३।३।२२) इत्यादावभिहितानामीश्वर इत्येव व्याख्येयम्, न तु योग एषामस्तीति योगास्तेषामीश्वर इति । न हि तथा सति योगसामर्थ्यं भगवत उक्तं भवति, किन्तु योगिनः सनकादीन्प्रति स्वामित्वम् । तच्च प्रकृतानुपयोगि । न च योगवतामीश्वरस्य योगसामर्थ्याविनाभावोऽर्थसिद्ध एवेति वाच्यम्, गायकवृन्दस्वामिनो नृपस्य गायकत्वादर्शनादिति यथोक्तमेव युक्तमित्याहुः । व्ययो देशतो न्यूनता, तद्रहितमात्मानं दर्शय; व्यापकं त्वद्रूपं दर्शयेति यावत् इत्येके । अव्ययमिति क्रियाविशेषणमिति परे ।

—अविगीता ।

३ रा. भा.— **मन्यस** इति । तत्सर्वस्य स्रष्टृ, सर्वस्य प्रशासितृ, सर्वस्याधारभूतं, त्वद्रूपं मया द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे, ततो योगेश्वर ! योगो ज्ञानादिकल्याणगुणयोगः, 'पश्य मे योगमैश्वरम्' [११।८] इति हि वक्ष्यते । त्वद्व्यतिरिक्तस्य कस्याप्यसम्भावितानां ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजसां निधे ! आत्मानं त्वामव्ययं मे दर्शय । अव्ययमिति क्रियाविशेषणम् । त्वां सकलं मे दर्शयेत्यर्थः ॥ ४ ॥

४ वे. ता. चं.— **सर्वस्य स्रष्टृ**त्यादिना तच्छब्दपरामृष्टश्रुताकारोक्तिः । अत्रापि स्वरूपपरत्वे मुख्यता ; रूपपरत्वे, प्रकारमात्रपरत्वे च प्राग्वदनुसन्धेयम् । **योगो ज्ञानादिकल्याणगुणयोग** इति— अत्राणिमाद्यैश्वर्यशक्तिरपि गुणानुप्रविष्टा, योगनिर्वाहकत्वादिमात्रं तु दिदृक्षिताकारान्तरङ्गत्वाभावादत्र न विवक्षितमिति भावः । दर्शयिष्यमाणो ह्याकारोऽत्र दिदृक्षितः । न चार्जुनायाष्टाङ्गयोगाद्यर्थान्तरं प्रदर्श्यते, योगशब्दश्च प्रत्यभिज्ञायत इत्यभिप्रायेणाह **पश्ये**ति । प्रभुशब्देन यदि त्वं मन्यसे, तदा न किञ्चित्ते दुष्करमित्यभिप्रेतं गुणविशेषवत्त्वं दर्शयति— **त्वद्व्यतिरिक्तस्ये**त्यादिना । अथवा योगेश्वरशब्दाभिप्रेतोक्तिरियम् । 'अश्वपतिर्धनपतिः' इत्यादिवद्गुणभूयस्त्वापेक्षया गुणानामपि नियमनेन वा योगेश्वरशब्द इति भावः । 'त्वाम्' इति आत्मशब्दस्यार्थान्तरं त्वयुक्तम्, 'माम्' इति च वक्ष्यत इति भावः । अव्ययशब्दस्यात्र निष्प्रयोजनत्वशङ्काव्युदासाय, क्षरप्रपञ्चाख्यतद्रूपप्रदर्शनविरोधपरिहाराय, विशेषतो दिदृक्षोरपेक्षितार्थपरत्वं दर्शयति **अव्ययमिति । क्रियाविशेषणमि**ति । ततः किमित्यत्राह **त्वां सकल**मिति । समस्तगुणविभूतिविग्रहादिविशिष्टरूपमित्यर्थः ॥ ४ ॥

५ आ. मा. भा.— प्रभुः समर्थः 'नास्ति तस्मात्परं भूतं पुरुषाद्वै सनातनात्' इति मोक्षधर्मे (?) 'प्रभुरीशः समर्थश्च' इत्याद्यभिधानम् ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'मन्यसे यदि' इत्यत्र प्रभुशब्दो न स्वामित्वमात्रार्थः; किन्तु तवातिसामर्थ्यात् त्वत्सामर्थ्येनैवातीन्द्रियस्यापि दर्शनमिति भावेन प्रयुक्त इत्याशयेनाह— **प्रभुरि**ति । ईश्वरस्य निरतिशयसामर्थ्ये प्रमाणमाह— **नास्तीति**। भूतं समर्थम् । प्रभुशब्दस्य समर्थार्थत्वेऽभिधानमाह— **प्रभुरि**ति ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— **मन्यस** इति । योगशब्दात्समाधिवचनादर्शआदित्वादच्प्रत्ययः । योगो विद्यते येषां ते योगाः ; योगानामीश्वरो योगिनामीश्वरो योगेश्वरस्तस्य सम्बोधनम् ॥ ४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— न च अहं 'द्रष्टुमिच्छामि' [११।३] इत्येतावतैव त्वद्रूपं दर्शयितव्यम्, किन्तु मदधिकारं दृष्ट्वैवेत्याह —**मन्यस** इति । हे प्रभो ! तत्तवैश्वरं रूपं मयाऽर्जुनेन द्रष्टुं शक्यमिति यदि मन्यसे ततस्तर्हि योगेश्वर ! त्वं अव्ययमपरिच्छिन्नमात्मानं स्वरूपं मे दर्शय । अत्र 'मन्यसे' इत्यनेन त्वन्मननमेव मम दर्शने शक्तिः, न त्वन्यत्किञ्चिदस्तीत्युक्तं भवति। कथं पुनर्मननमात्रात्तव दर्शनाधिकारः ? इत्यतः 'प्रभो' इति हेतुगर्भं सम्बोधनम् । अनधिकारिणमप्यधिकारीकर्तुं शक्नोषि; अतस्त्वन्मननमेव ममाधिकारः, 'इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः' इति शास्त्रादिति भावः । योगिजन एवाधिकारी मत्स्वरूपदर्शने; कथं त्वमयोग्यधिकारी कर्तव्यः ? इत्याशङ्क्य अयोगिनमपि योगीकर्तुं शक्नोषीत्याह— **योगेश्वरे**ति । योगोऽस्त्येषामिति योगा योगिनः– अर्शआद्यच्– तेषामीश्वर ! ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— तत्रापि न मत्कृतया लभ्यमिदं किन्तु त्वदिच्छयैवेत्याह— मन्यसे यदीति । योगेश्वरेति साधारणो यो योगी भवति सोऽपि स्वमाहात्म्यं दर्शयति, त्वं तु योगेश्वरः सर्वसमर्थ इति दर्शय । अथवा ननु तव सारथ्ये निषण्णं वसुदेवसुतं मां किमित्येवं स्तौषीति चेन्मैवं भ्रामयितव्यं, त्वदादिमुनिवाक्यविश्वासतः पुरुषोत्तमं परमेश्वरमेव त्वां जानन्नपीत्याशयेनाह योगेश्वरेति । न च तवैश्वर्यदर्शने कश्चित्प्रयासो योगेश्वरत्वादिति भावः ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— स्वेच्छायां सत्यामपि भगवदिच्छाभावे च द्रष्टुमपि निर्बन्धेन न फलतीति विज्ञापयति— **मन्यस इति** । हे प्रभो सर्वकरणसमर्थ ! यदि तद्रूपं मया द्रष्टुं शक्यं दर्शनानन्तरं फलरूपं भवति तथा चेन्मन्यसे फलरूपं भवत्विति, तदा योगेश्वर ! योगिनः स्वयोगबलेन सामर्थ्यं प्रकटयन्ति तेषां योग आगन्तुको धर्मः; त्वं तु योगस्यापीश्वरस्तेन मम दर्शनसामर्थ्यमपि कृपया दत्त्वा दर्शय । एवं प्रार्थनायां प्रभुस्तद्रूपं दर्शयित्वा तत्रैव लीनं कुर्यात् तदा भक्तिरसानुभूतपुरुषोत्तमरूपानुभवो न भवेदतो विज्ञापयति– **तत** इति । तत एतन्मनोरथपूर्त्यनन्तरम् । अव्ययमविनाशिनं आत्मानं पुरुषोत्तममानन्दमयं दर्शयेति भावः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०—मन्यस इति । हे योगेश्वर योगानां योगिनामीश्वर ! तद्रूपं यदि मया द्रष्टुं शक्यमिति मन्यसे यदि मयि तद्दर्शनाधिकारं पश्यसि, ततस्तर्हि मे मह्यमव्ययं मायामयमात्मानं दर्शय । मायामयत्वादेवास्याव्ययत्वं; मायायां हि सर्वं सर्वात्मकं सर्वदाऽस्तीति प्रसिद्धम् । यथोक्तं वसिष्ठेन 'वर्त्तमानमतीतं च भविष्यत्स्थूलमण्वपि । तथा दूरमदूरं च निमेषः कल्प इत्यपि ॥ चिदात्मनि स्थितान्येव पश्य मायाविजृम्भितम्' इति । नहि मरुमरीचिसरसी क्रमशः शुष्यति, अतो मायामयत्वादेवास्यैश्वरस्य रूपस्याप्यव्ययत्वम् ॥ ४ ॥

अर्जुनप्रार्थितस्य विश्वरूपं दर्शयिष्यतो भगवतः स्वात्मरूपानुक्रमः,
तद्दर्शनक्षमं तस्मै दिव्यचक्षुःप्रदानं च ।

**श्रीभगवानुवाच— पश्य मे पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।**
**नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥**

१ **शां. भा.**—एवं चोदितोऽर्जुनेन भगवानुवाच—**पश्येति** । पश्य मे मम पार्थ ! रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः, अनेकश इत्यर्थः । तानि च नानाविधान्यनेकप्रकाराणि, दिवि भवानि दिव्यान्यप्राकृतानि, नानावर्णाकृतीनि च नाना विलक्षणा नीलपीतादिप्रकारा वर्णास्तथाऽऽकृतयश्चाऽवयवसंस्थानविशेषा येषां रूपाणां तानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

२ **आ. शां. व्या.**—अर्जुनमतिभक्तं सखायं प्रार्थितप्रतिश्रवणेनाऽऽश्वासयितुमाह—**एवमिति** ॥ ५ ॥

३ **रा. भा.**—एवं कौतूहलान्वितेन हर्षगद्गदकण्ठेन पार्थेन प्रार्थितो भगवानुवाच—**पश्येति** । पश्य मे सर्वाश्रयाणि रूपाणि, अथ शतशः सहस्रशश्च नानाविधानि नानाप्रकाराणि दिव्यानि । अप्राकृतानि नानावर्णाकृतीनि शुक्लकृष्णादिनानावर्णानि नानाकाराणि च पश्य ॥ ५ ॥

४ **वे. ता. चं.**—अर्जुनस्य भगवत आत्मप्रदर्शने हेतुं प्रश्नादिप्रकारफलितमवस्थाविशेषं दर्शयन् 'पश्य' इत्यादिभगवद्वाक्यस्य सङ्गतिमाह **एवमिति** । वक्ष्यमाणप्रकारमनुसन्धायाह **सर्वाश्रयाणीति** । बहुव्रीहित्वान्नपुंसकत्वम् । आदित्यमण्डलादीन्यनन्तान्यधिकरणानि । यद्वा, आश्रयशब्द उपचाराद्विवक्षाभेदेन वा आश्रितपरः । **शतशः सहस्रशश्चेत्यनेन** परव्यूहविभवाद्यवच्छेदकोडीकृतानन्ताप्राकृतविग्रहवत्त्वं दर्शितम् । यदेकादित्यमण्डलवर्ति रूपं, तत्समानमनन्तब्रह्माण्डेष्वादित्यमण्डलवर्त्यसङ्ख्यातं रूपम् । एवं श्रीविश्वरूपादिरूपान्तरेष्वपि । 'रूपं रूपं प्रतिरूपः' [ कठो. ५।९;१० ] इत्यादिश्रुत्याऽयमप्यर्थो विवक्षित इति केचित् । यथा द्रक्ष्यसि, तथा करिष्यामीत्यभिप्रायेण पश्येत्युक्तिः । 'नानाविधानि' इत्यनेन प्रत्येकंभूषणायुधलाञ्छनभुजसङ्ख्यादिप्रकारविशेषानन्त्यमत्र विवक्षितमित्याह—**नानाप्रकाराणीति** । **अप्राकृतानीति**— अत्र दिव्यशब्देन दिवि वर्तमानत्वादिकं न विवक्षितं, पृथिव्यादिव्याप्तेरपि वक्ष्यमाणत्वात्; द्रव्यवैलक्षण्यं चावश्यवक्तव्यमित्यभिप्रायः । वासुदेवादिषु चतुर्षु युगभेदेन सितरक्तपीतकृष्णरूपपरिवृत्तेरवतारान्तरेषु च तत्तत्फलार्थिध्यानानुगुण्याच्च नानावर्णत्वम् । आकृतिशब्देन सुरनरतिर्यगादिसमानसंस्थानविशेषो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह—**नानाकाराणीति** ॥ ५ ॥

५ **आ. मा. भा.**— ॥ ५ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— ॥ ५ ॥

७ **ह. पै. भा.**—एवमर्जुनेन स्वरूपदर्शनं प्रार्थितं तद्दर्शयितुकामो भगवानुवाच—**पश्येति** । शतशः शतानि । सहस्रशः सहस्राणि । नानावर्णाकृतीनि नानाविधवर्णसंस्थानानि ॥ ५ ॥

८ **वं. ब्र. गि.**—एवं प्रार्थितो भगवानुवाच— **पश्येति** । तत्र यदुक्तम् 'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुम्' [ ११।४ ] इति, तत्सत्यमेव मद्रूपदर्शनाधिकारस्य दुर्लभत्वात्; तथापि त्वं मत्प्रसादात्तदधिकारीत्याह— **पश्येति** । अर्हार्थे लोट्, मत्प्रसादाद्द्रष्टुमर्हो भवेत्यर्थः । वक्ष्यति हि— 'मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितम्' [ ११।४७ ] इति । शतसहस्रशब्दावपरिमितिवाचिनौ, 'विश्वं शतं सहस्रं च सर्वमक्षयवाचकम्' [ म. भा. १।२१७।१ ] इत्यभिधानात् । रूपस्यैकत्वेऽपि प्रकारभेदानन्त्याद्रूपाणीति बहुवचनम् । अपरिमितत्वं चेत्येतद्दर्शयति— **नानाविधानीति** । अनेकप्रकारत्वमेवोपपादयति— **नानावर्णाकृतीनि** नानाविधा वर्णा नीलपीतादय आकृतयोऽवयवसंस्थानविशेषाश्च येषां तानि तथोक्तानि । दिव्यान्यत्यद्भुतानि च मम रूपाणि पश्य ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०—एवं प्रार्थितः सन्नद्भुतमक्षरस्वरूपं दर्शयिष्यन् 'सावधानो भव' इत्येवं अर्जुनमभिमुखीकरोति पश्येतिचतुर्भिः। 'पश्य मे पार्थ ! रूपाणि' इति कूटस्थत्वादक्षरे स्वरूपे बहूनि रूपाणि सन्तीति बहुवचनम्॥५॥

१० पु. अ. त.—एवं प्रार्थितः सन् तद्रूपं दर्शयिष्यन्नर्जुनं सावधानं करोति भगवान्—पश्येत्यादिचतुर्भिः। हे पार्थ भक्तपुत्र ! कृपया दर्शयामीति सम्बोधनम्। अन्यथा पुरुषोत्तमदर्शनतोऽन्यदर्शनेच्छायामेतद्रसानुभवमपि न कारयेदिति भावः। मे मम शतशः सहस्रशः असङ्ख्यातानि, शतशः सहस्रशः यावदिच्छसि तावद्वा, नानाविधानि नानाफलकारकाणि रूपाणि यस्य नानाविधान्यपि दिव्यानि अलौकिकानि क्रीडात्मकानि, न तु प्रदर्शनार्थमेव कृतानि; च पुनः तथैव नानावर्णाकृतीनि नाना अनेके वर्णाः शुक्ललोहितादयः आकृतयः अवयवादिविशेषाश्च येषां तानि ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०—एवं प्रार्थितः सन् भगवानुवाच—पश्येति। शतश इत्यादिना अनन्तानीत्युक्तम्। नानावर्णानि नानाकृतीनि च ॥ ५ ॥

**पश्याऽऽदित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।**
**बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याऽऽश्चर्याणि भारत ! ॥ ६ ॥**

**१ शां. भा.—पश्यादित्यानिति**। पश्याऽऽदित्यान्द्वादश, वसूनष्टौ, रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतः सप्तसप्तगणा ये तान्, तथा च बहून्यन्यान्यप्यदृष्टपूर्वाणि मनुष्यलोके त्वया, त्वत्तोऽन्येन वा केनचित्; पश्याऽऽश्चर्याण्यद्भुतानि भारत ! ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.—दिव्यानि रूपाणि पश्येत्युक्तं, तान्येव लेशतोऽनुक्रामति—**पश्याऽऽदित्यानिति**। तान् मरुतस्तथा पश्येति सम्बन्धः। 'नानाविधानि' इत्युक्तं तदेव स्फुटयति—**बहूनीति**। अदृष्टपूर्वाणि पूर्वमदृष्टानि। 'नानावर्णाकृतीनि' इत्युक्तं व्यनक्ति—**आश्चर्याणीति** ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.—**ममैकस्मिन्रूपे पश्यादित्यान् द्वादश, वसूनष्टौ, रुद्रानेकादश, अश्विनौ द्वौ, मरुतश्चैकोनपञ्चाशतम्; प्रदर्शनार्थमिदम्। इह जगति प्रत्यक्षदृष्टानि शास्त्रदृष्टानि च यानि वस्तूनि, तानि सर्वाण्यन्यान्यपि सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु च शास्त्रेष्वदृष्टपूर्वाणि बहून्याश्चर्याणि पश्य ॥ ६ ॥

४ वे. ता. चं.—'शतशोऽथ सहस्रशः' [ ११।५ ] इति स्वासाधारणानन्तरूपप्रसङ्गेऽपि प्रकृतोपयोगाय 'इहैकस्थम्' [ ११।७ ] इत्येकस्यैव रूपस्य विशेषतः प्रदर्शयिष्यमाणत्वमनुसन्धायाह—**ममैकस्मिन्निति**। 'पश्यादित्यान्' इत्यादिना प्रधानदेवास्त्रयस्त्रिंशत्प्रथमं निर्दिश्यन्त इत्यभिप्रायेण द्वादशेत्यादि सङ्ख्याविशेषप्रदर्शनम्। वक्ष्यमाणानुसारेण दृष्टमात्राश्चर्यत्वव्युदासायाह **प्रदर्शनार्थमिति**। अर्जुनेन अन्यैश्चाप्रतिपन्नानामिति शेषः। 'अदृष्टपूर्वाणि' इत्येतदश्रुतपूर्वाणामप्युपलक्षणम्, अनवगतत्वमात्रेण वा सामान्यतः सङ्ग्रह इत्यभिप्रायेणाह **सर्वेषु च शास्त्रेष्वदृष्टपूर्वाणीति**। एतेनातीन्द्रिये वस्तुनि सामान्यतः शास्त्रावगतेऽपि साक्षात्कारैकसमधिगम्या बहवो विशेषाः सन्तीति सूचितम् ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.—॥ ६ ॥**

६ ज. प्र. दी.—॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.—॥ ६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.—एतदेव विवृणोति—पश्येति। ममैकस्मिन्देहे द्वादशादित्यान् अष्ट वसून् द्वावश्विनौ एकोनपञ्चाशतं मरुतो देवताभेदान् तथाशब्दात् 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थं' [ ११।१५ ]इत्यादिना वक्ष्यमाणानन्यानपि लोकवेदयोर्दृष्टान्सर्वानपि पदार्थान्पश्य। न केवलमेतावन्मात्रम्; किन्तु अदृष्टपूर्वाणि सर्वेष्वपि लोकेषु सर्वेषु शास्त्रेषु केनापि क्वचिदपि पूर्वमदृष्टानि बहून्याश्चर्याणि पश्य। अत्र पूर्वार्धेन 'शतशोऽथ सहस्रशः' 'नानाविधानि' इत्येतद्विवृतम्; उत्तरार्धेन 'दिव्यानि' इत्यनेनोक्तमाश्चर्यत्वमिति द्रष्टव्यम् ॥ ६ ॥

९ व० त० दी०—किञ्चात्रैव पश्यादित्यानिति। आश्चर्याणि बहूनि पश्य; एकत्रान्योन्यविरुद्धधर्मसमावेशरूपाणि तत्राश्चर्याणि पश्य ॥ ६ ॥

१० अ. पु. त.—तान्येव पश्येति नामभिर्विशेषेणाह—पश्येति । आदित्यान् द्वादशात्मकान्, वसून् अष्टसङ्ख्याकान्, रुद्रानेकादशसङ्ख्यान्, अश्विनौ अश्विनीकुमारौ, मरुतः देवगणविशेषान्; तथा बहून्यसङ्ख्येयानि अदृष्टपूर्वाणि सर्वैः, आश्चर्याणि अलौकिकानि हे भारत उत्तमवंशोद्भव ! योग्यत्वात् पश्य ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०—दिव्यानि तावदाह— पश्यादित्यानिति । अदृष्टपूर्वाण्याश्चर्याण्यद्भुतानि चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखादीनि ॥ ६ ॥

**इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम् ।**
**मम देहे गुडाकेश ! यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥**
**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।**
**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥**

**१ शां. भा.**— न केवलमेतावदेव— इहैकस्थमेकस्मिन्नेव स्थितं जगत्कृत्स्नं समस्तं पश्य, अद्येदानीं सचराचरं सह चरेणाचरेण च वर्तते मम देहे गुडाकेश !। यच्चान्यज्जयपराजयादि यच्छङ्कसे 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इति यदवोचस्तदपि द्रष्टुं यदीच्छसि किन्तु— न तु मां विश्वरूपधरं शक्यसे द्रष्टुमनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा स्वकीयेन चक्षुषा । येन तु शक्यसे द्रष्टुं दिव्येन, तद्दिव्यं ददामि ते तुभ्यं चक्षुः ; तेन पश्य मे योगमैश्वरमीश्वरस्य ममैश्वरं योगं योगशक्त्यतिशयमित्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— न केवलमादित्यवस्वाद्येव मद्रूपं त्वया द्रष्टुं शक्यं, किन्तु समस्तं जगदपि मद्देहस्थं द्रष्टुमर्हसीत्याह— **नेत्यादिना** । सप्तमीद्वयं मिथः सम्बध्यते । समासान्तर्गताऽपि सप्तमी तत्रैवान्विता । यदीच्छसि तर्हीहैव पश्येति सम्बन्धः । 'मन्यसे यदि' [ ११।४ ] इत्युक्तमनुवदति— **किन्त्विति** । सप्रपञ्चमनवच्छिन्नं मां स्वचक्षुषा न शक्नोषि द्रष्टुमित्याह— **नत्विति** । कथं तर्हि त्वां द्रष्टुं शक्नुयां ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **येनेति** । दिव्यस्य चक्षुषो वक्ष्यमाणयोगशक्त्यतिशयदर्शने विनियोगं दर्शयति— **तेनेति** ॥ ७ ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.**— इहेति । इह ममैकस्मिन् देहे तत्राप्येकस्थं एकदेशस्थं सचराचरं कृत्स्नं जगत्पश्य; यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि, तदप्येकदेहैकदेश एव पश्य ॥ ७ ॥ अहं मम देहैकदेशे सर्वं जगद्दर्शयिष्यामि; त्वं त्वनेन नियतपरिमितवस्तुग्राहिणा प्राकृतेन स्वचक्षुषा मां तथाभूतं सकलेतरविसजातीयमपरिमेयं द्रष्टुं

---

१ नत्विति, तथा चोक्तम्— 'पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम् । सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत् ॥' ( भाग. ३।३।४ ) इति । प्रसिद्धं चोद्योगे धृतराष्ट्रसभायां प्रकाशितं तद्द्रष्टुमलब्धदिव्यदृष्टयो न केऽप्यशक्नुवन्निति । 'तं दृष्ट्वा घोरमात्मानं केशवस्य महात्मनः । न्यमीलयन्त नेत्राणि राजानस्त्रस्तचेतसः ॥ ऋते द्रोणं च भीष्मं च विदुरं च महामतिम् । तत्रायं च महाभागमृषींश्चैव तपोधनान् । प्रादात्तेषां च भगवान्दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः'(म.भा.५।१३१।१३-१५)इत्यादौ ॥ शक्यस इति 'शक मर्षणे' ( धा. पा. ४।८१ ) इत्यस्य रूपम् । सौवादिकस्यापि शक्नोतेः ( धा. पा. ५।१५ ) श्यन् छान्दस इति केचित् ॥ **पश्येति**— दिव्यमन्यच्चक्षुः कथं दास्यति ? किंवेदं मदीयं चक्षुः करिष्यतीति पर्याकुलो मा- भूः, तवेदं चक्षुर्मात्रयाऽप्यपीडयित्वा इच्छामात्रेणैवान्यदपि ददामि; तत्र मदीयं ऐश्वरं योगं युक्तिं मानुषैरसाध्यमिदं कथं करोमीति पश्य प्रत्यक्षीकुरु । 'योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु ।' ( ३।३।४ ) इत्यमरः । अत्र **ज्ञानदेवः**—

सत्यं दर्शयितव्यं ते विश्वरूपमिदं यदि । तर्हि तद्दर्शने शक्तिर्दातव्या प्रथमं मया ॥
प्रणयेन वदन्नत्र प्रमत्तोऽस्मि परं ततः । अकृष्टोप्तो बीजमुष्टिरिव व्यर्थो ममोद्यमः ॥
एतर्हि स्मृतवानस्मि साधु चक्षुर्ददामि ते । दृष्ट्वाऽनुभवितासे त्वं येन योगं ममैश्वरम् ॥

—इति भावार्थमाह । **वामनस्तु**—

इच्छामि रूपमवलोकयितुं तवेति सम्प्रार्थितो मुररिपुः कपिकेतनेन ।
यत्पश्य योगमिति सम्प्रति वावदीति तद्विश्वरूपमपि योग इति व्यनक्ति ॥

—इति प्रत्यपीपदत् ।

— **अविगीता** ।

न शक्ष्यसे; तव दिव्यम् अप्राकृतं मद्दर्शनसाधनं चक्षुर्ददामि; पश्य मे योगमैश्वरं मदसाधारणं योगं पश्य; ममानन्तज्ञानादियोगमनन्तविभूतियोगं च पश्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— इह 'देहे' इत्येकवचनान्तनिर्देशेनैव प्रदर्शयिष्यमाण एको देहो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह— इह ममैकस्मिन्देह इति। एकवचनेन प्रदर्शयिष्यमाणविशेषनिर्देशेन च देहैकत्वस्याभिमतत्वादेकस्थपदेन तदेकदेशे स्थितिर्विवक्षिता। एकस्यावयविनोऽवयवभूतमिति कैश्चिदुक्तं तु भगवद्विग्रहस्य अप्राकृतत्वसमर्थनाच्च निरस्तमित्यभिप्रायेणोक्तं तत्राप्येकस्थमेकदेशस्थमिति। यद्वा कृत्स्नस्य एकस्थत्ववचनात्तदेकदेशस्थितिः फलिता। 'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि' इत्यनेन पाण्डवधार्तराष्ट्रजयादिकमपि गर्भितम्। तत्रापि समुच्चयसामर्थ्याद्देहैकदेशाश्रितत्वमाह— तदपीति ॥ ७ ॥ 'न तु मां शक्ष्यसे' इत्यत्र तुशब्दद्योतितमशक्तिहेतुं पूर्वश्लोकोक्तमाकृष्य दर्शयति— अहमिति। अनेनैवेत्यस्य विवक्षितमाह नियतेति। दिव्यप्रतिपक्षत्वात् प्राकृतेनेत्युक्तम्। तथाभूतमित्यादि। 'माम्' इत्यनेनात्र विग्रहादिविशिष्टत्वं विवक्षितमिति भावः। अत्र दिव्यशब्दविवक्षितमाह अप्राकृतमिति। मद्दर्शनसाधनमित्यप्राकृतत्वफलितोक्तिः। ऐश्वरपदाभिप्रेतमाह मदसाधारणमिति। प्रकरणादिफलितमैश्वरपदानुगृहीतं च योगशब्दार्थमाह अनन्तेति। नियमनशक्तिरीश्वरत्वम्; तदनुबन्धी च योगस्तदुचितगुणविभूतियोग एव। चक्षुषो दिव्यत्वाज्ज्ञानादिगुणदर्शनम्। अनन्तवीर्यत्वादिविशिष्टविशेषेण 'पश्यामि' [११।१६] इति वक्ष्यतीति भावः ॥ ८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ७ ॥ ८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ७ ॥ ८ ॥

७ ह. पै. भा.— इहेति। इह मम देहे। गुडाका निद्रा तस्या ईश्वरः स्वामी गुडाकेशः। जितनिद्र इत्यर्थः ॥ ७ ॥ ८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२] इति मदुक्तमाकर्ण्यैव यत्त्वं द्रष्टुमुत्कण्ठितो बभूविथ, तदपि पश्येत्याह— इहेति। इह अस्मिन्मम देहे तत्राप्येकस्थमेकदेशस्थं सचराचरं कृत्स्नं जगत् तत्र तत्र परिभ्रमता वर्षकोटिसहस्रेणापि द्रष्टुमशक्यं अद्याधुनैव पश्य। यच्चान्यज्जयपराजयादिकं द्रष्टुमिच्छसि, शङ्कितं खलु प्राक्त्वया 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [२।६] इति, तदपि सन्देहोच्छेदायेदानीं पश्य। 'गुडाकेश' इत्यनेन निरस्तन्द्रस्य तवास्मिन्विषये सावधानत्वमनुक्तसिद्धमिति सूचितम् ॥ ७ ॥ एवमुक्तमात्रेणैवातिमात्रहर्षेण नयने विस्तार्य द्रष्टुकामं तमालक्ष्याह— न त्विति। अनेन तु प्राकृतेन स्वीयेन चक्षुषा मां दिव्यरूपधरं द्रष्टुं नैव शक्ष्यसे न शक्तो भविष्यसि। अतः ते दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्मद्रूपदर्शनक्षमं ददामि। तेन त्वं ममैश्वरं योगं अघटितघटनासामर्थ्यातिशयात्मकं विश्वरूपं पश्य ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— किञ्चेहास्मिन्नक्षरस्वरूपे कृत्स्नं जगदेकस्थं पश्येत्यनेन 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२] इति समर्थितम्। मम स्वरूपभूतेऽक्षरे देहे जगत्कृत्स्नमित्युक्त्वा प्रत्यक्षजगद्दर्शनेनालीकत्वं च निरस्तम्। नहि तदो-(दु?)-पदेष्टुर्भ्रमः कदाचिद्वक्तुं शक्यते, आनर्थक्यप्रसङ्गात्; अतएव व्यास आह-'नाभाव उपलब्धेः' 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्' [ब्र. सू. २।२।२८,२९] इति। 'मम देहे' इति स्वदेहभूतस्य भूतस्य प्रपञ्चाश्रयत्वमुक्तं यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि तत्सर्वं पश्य ॥ ७ ॥ यदुक्तमर्जुनेन 'मन्यसे यदि तच्छक्यं' [११।४] इति तत्राह-न तु मामिति। अनेनैव तु स्वीयेन नियमतः परिमितग्राहिणा प्राकृतेन चक्षुषा मामक्षरैश्वर्यरूपं द्रष्टुं न शक्यसे, अतोऽहं दिव्यमप्राकृतज्ञानात्मकदर्शनसाधनं चक्षुर्ददामि, तेन ममैश्वरं योगं मत्स्वरूपगतं सर्वविभिन्नधर्माश्रयणं पश्य साक्षात्कुरु ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— इहेति। कोटिजन्मभिरपि सम्पूर्णं द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नं समस्तं जगत् विरुद्धत्वेन परिदृश्यमानमपि मम देहे एकस्थमेकत्र स्थितं सचराचरं जडजीवसहितं इह अस्मिन्नेव जन्मनि। अद्य तत्कालमेव यच्च अन्यत् सर्वेषां विभूतित्वेन कथं मारयामीति विचारेण मरणमारणादिरूपं यत् द्रष्टुमिच्छसि तत्पश्य ॥ ७ ॥ एवमुक्ते दर्शनोद्यतं प्रत्याह— नत्विति। तु पुनः एवमेव द्रष्टुं न शक्यसे न शक्तोऽसि। अतस्ते दिव्यमलौकिकं चक्षुर्ददामि। तेन स्वचक्षुषा मत्कृपादृष्ट्या मां पुरुषोत्तमं पश्य। अतो दृष्टपुरुषोत्तमेन अनेनैव मे ऐश्वरं करणाकरणान्यथाकरणसामर्थ्यरूपं योगयुक्तं पश्य। पुरुषोत्तमस्वरूपज्ञानदर्शनाभावे सर्वस्वरूपदर्शनं न स्यात्, पुरुषोत्तमदर्शनं चासाधारणदृष्ट्या भवेदिति भावः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— हे गुडाकेश जितनिद्र ! इह मम देहे एकस्थमेकस्मिन्नेवावयवे नखाग्रमात्रे स्थितं कृत्स्नं वर्त्तमानं जगत् पश्य, यच्चान्यत् अतीतमनागतं विप्रकृष्टं व्यवहितं स्थूलं सूक्ष्मं वा तत्सर्वमिह पश्य ॥ ७ ॥ यत्तूक्तं—'मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुं' [ ११।४ ] इति तत्राह— न त्विति । शक्यसे शक्नोषि । पदविकरणव्यत्यय आर्षः । अनेन प्राकृतेन । दिव्यमप्राकृतम् । ऐश्वरमीश्वरसम्बन्धिनं योगं विश्वाश्रयत्वलक्षणं सामर्थ्यम् ॥ ८ ॥

भगवताऽर्जुनाय दर्शितस्य स्वैश्वरस्य विश्वरूपस्य वर्णनं तद्दर्शनेनार्जुनस्य विस्मयाकुलितत्वं च ।

**सञ्जय उवाच— एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।**
**दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥**
**अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।**
**अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥**
**दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।**
**सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— एवं यथोक्तप्रकारेणोक्त्वा ततोऽनन्तरं राजन्धृतराष्ट्र! महायोगेश्वरो महांश्चासौ योगेश्वरश्च महायोगेश्वरः हरिर्नारायणो दर्शयामास दर्शितवान्पार्थाय पृथासुताय परमं रूपं विश्वरूपमैश्वरम् ॥ ९ ॥ अनेकेति । अनेकवक्त्रनयनं अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे तदनेकवक्त्रनयनम् । अनेकाद्भुतदर्शनं अनेकान्यद्भुतानि विस्मापकानि दर्शनानि यस्मिन्रूपे तदनेकाद्भुतदर्शनम् । तथाऽनेकदिव्याभरणं अनेकानि दिव्यान्याभरणानि यस्मिंस्तदनेकदिव्याभरणम् । तथा दिव्यानेकोद्यतायुधं दिव्यान्यनेकान्यस्यादीन्युद्यतान्युन्नतान्यायुधानि यस्मिंस्तद्दिव्यानेकोद्यतायुधम् । 'दर्शयामास' इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १० ॥ किञ्च दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यानि माल्यानि पुष्पाण्यम्बराणि वस्त्राणि च ध्रियन्ते येनेश्वरेण तं दिव्यमाल्याम्बरधरं, दिव्यगन्धानुलेपनं दिव्यं गन्धानुलेपनं यस्य तं दिव्यगन्धानुलेपनं, सर्वाश्चर्यमयं सर्वाश्चर्यप्रायं देवं, अनन्तं नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तस्तमनन्तं विश्वतोमुखं सर्वतोमुखं सर्वभूतात्मभूतत्वात्, तं दर्शयामासार्जुनो ददर्शेति वाऽध्याह्रियते ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— इमं वृत्तान्तं धृतराष्ट्राय सञ्जयो निवेदितवानित्याह— **सञ्जय** इति । मदीयं विश्वरूपाख्यं रूपं न प्राकृतेन चक्षुषा निरीक्षितुं क्षमं, किन्तु दिव्येनेत्यादि यथोक्तप्रकारः । **अनन्तरं** दिव्यचक्षुषः प्रदानादिति शेषः । हरत्यविद्यां सकार्यामिति हरिः । यदीश्वरस्य मायोपहितस्य परममुत्कृष्टं रूपं तद्दर्शयाम्बभूवेत्याह— **परम**मिति ॥ ९ ॥ तदेव रूपं विशिनष्टि— **अनेके**ति । दिव्यान्याभरणादीनि हारकेयूरादीनि भूषणानि । उद्यतान्युच्छ्रितानि ॥ १० ॥ उक्तरूपवन्तं भगवन्तं प्रकारान्तरेण विशिनष्टि— **किञ्चे**ति । 'अर्जुनः' इति अध्याहारेऽपि पदसङ्घटनासम्भवात् ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— एवमिति । एवमुक्त्वा सारथ्येऽवस्थितः पार्थमातुलजो महायोगेश्वरो हरिः महाश्चर्ययोगानामीश्वरः परब्रह्मभूतो नारायणः परममैश्वरं स्वासाधारणं रूपं पार्थाय पितृष्वसुः पृथायाः पुत्राय दर्शयामास, तद्विविधविचित्रनिखिलजगदाश्रयं विश्वस्य प्रशासितृ च रूपम् ॥ ९ ॥ तच्चेदृशम्— अनेकेति । देवं द्योतमानम्, अनन्तं कालत्रयवर्तिनिखिलजगदाश्रयतया देशकालपरिच्छेदानर्हं, विश्वतोमुखम् विश्वदिग्वर्तिमुखं स्वोचितदिव्याम्बरगन्धमाल्याभरणायुधान्वितम् ॥ १० ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'महायोगेश्वरो हरिः' इत्यनयोस्तिरस्कारकं पूर्वप्रतिपन्नं रूपमाह— **सारथ्येऽवस्थितः पार्थमातुलज** इति । एतेन दिव्यरूपप्रकाशनहेतुभूतवात्सल्यादिसूचनं च । महत्त्वेन विशेषणादाश्चर्यत्वम् । महच्छब्दस्य च योगेश्वरविशेषणत्वादपि योगविशेषणत्वमत्रोचितमित्यभिप्रायेणाह **महाश्चर्ययोगाना**मिति। अन्येष्वप्याश्चर्ययोगस्य तदधीनत्वमीश्वरशब्देन विवक्षितम् । 'महायोगेश्वरो हरिः' इति पदद्वयाभिप्रेतं सामान्यविशेषवाक्यार्थं दर्शयति **परब्रह्मभूतो नारायण**

इति । 'पश्य मे योगमैश्वरं' [ ११।८ ] 'परमं रूपमैश्वरम्' इत्यनयोरदूरविप्रकर्षेण घटनादैकार्थ्यम् । 'ऐश्वरं रूपं दर्शयामास' इत्युक्ते स्वेतरस्य कस्यचिद्रूपमिति धीः स्यादिति तद्व्युदासायोक्तं **स्वासाधारण**मिति । रूपशब्दस्यात्रापि सानुबन्धस्वरूपपरतया तदभिव्यञ्जकविग्रहपरतया स्वरूपादिसमस्तासाधारणाकारमात्रपरतया वा निर्वाहो ग्राह्यः । अत्र पार्थशब्देन स्वस्वरूपप्रदर्शनार्थः प्रीतिहेतुः सम्बन्धोऽभिप्रेत इति प्रदर्शनायाह **पितृष्वसुः पृथायाः पुत्रा**येति । परममैश्वरं रूपमित्युक्तं विवृणोति— **तद्विविधे**ति । निखिलजगदाश्रयत्वं स्वरूपतो विग्रहद्वारा च । यद्वा 'अनेक–' [११।१०] इत्यादेरुत्थानप्रदर्शनमिदम् । तत एव हि 'तच्चेदृशम्' इति संहितम् । 'इहैकस्थम्' [ ११।७ ] इत्यादिभिः सिद्धोऽयमर्थः । प्रशासितृशब्देनाधिष्ठातृत्वं विवक्षितम् ॥ ९ ॥ वस्त्राभरणायुधेष्वनेकत्वं जातिवैचित्र्यादपि द्रष्टव्यम् । नानाजातीयबहुवक्त्रयोगो हि श्रीविश्वरूपध्याने भगवच्छास्त्रेषु पठ्यते ; अन्यथाऽनेकनयनत्वनिर्देशो निरर्थकः स्यात्, वक्त्रानेकत्वेनैव तत्सिद्धेः । अनेकमद्भुतं दर्शनं यस्य तदनेकाद्भुतदर्शनम्, अनवधिकातिशयाश्चर्यतया दृश्यमानमित्यर्थः । दिव्यत्वमप्राकृतत्वम् । **सर्वाश्चर्यमयम्** आश्चर्यभूतसर्वतत्त्वाश्रयभूतमित्यर्थः । अत एव 'अनेकाद्भुतदर्शनम्' इत्यनेनापुनरुक्तिः । 'जगदेतन्महाश्चर्यं रूपं यस्य महात्मनः' [ वि. पु. ५।१९।७ ] इत्यादि भाव्यम् । देवशब्दस्यात्रानुपयुक्तजातिविशेषादिमात्रनिष्ठताव्युदासार्थं विग्रहविशिष्टविषयत्वप्रदर्शनार्थं च **द्योतमान**मित्युक्तम् । आनन्त्यप्रकारं तद्धेतुं चाह, **निखिले**त्यादिना । कृत्स्नजगदाश्रयत्वस्य कण्ठोक्तत्वात्फलितं कालत्रयवर्त्याश्रयत्वमपि । तदुभयफलितं देशकालपरिच्छेदानर्हत्वमत्र यथासम्भवं विग्रहद्वारमद्वारकं च । आनन्त्यं तु स्वरूपगतम् । विग्रहविशेषणवर्गमध्यवर्तित्वादनन्तशब्दोऽपि विग्रहविषयः । 'दृष्ट्वाद्भुतम्' [ ११।२० ] इत्यत्र 'अनन्तायामविस्तारमित्यद्भुतमत्युग्रम्' इति रूपविषयमेव वक्ष्यति । ततश्चात्यन्तपृथुत्वादिमात्रप्रदर्शने तात्पर्यमित्यन्ये । एवं 'अनन्तायामविस्तारे' इति वक्ष्यमाण एतदनुवादोऽपि निर्वाह्यः । विश्वव्यापिनोऽप्यस्य विग्रहस्य शक्तिविशेषात्सर्वत्राप्रतिघातो युक्तः । अष्टैश्वर्यशालिनां योगिनामपि भूमावुन्मज्जति निमज्जतीति सिद्धिविशेषोऽभिधीयते । अतोऽस्य प्रकृत्यादिकृत्स्नजगदाश्रयत्वं वक्ष्यमाणं नानुपपन्नम् । अत एवास्त्रभूषणरूपेण सर्वाश्रयत्वमिहोच्यत इत्येतदपि नाशङ्कनीयम्, तत्र 'देवदेवस्य शरीरं' इत्यत्र शरीरविशेषणतयाऽनन्तायामविस्तारत्वाद्युक्तेः । न च वटपत्रशायिविग्रहवदघटितघटनाशक्त्या सूक्ष्मरूपेण वाऽल्पीयस्यपि सर्वान्तर्भावप्रकाशनमित्यपि वाच्यम्, तथाऽनुक्तेस्तद्विपरीतोक्तेश्च । अतो यथाश्रुत एवार्थः । एतच्चारम्भभाष्य एव अचिन्त्यशब्देन स्थापितमिति । 'अनेकवक्त्र–' इत्युक्तमेवात्र विश्वतोमुखशब्देन विशेष्यत इत्यभिप्रायेणाह— **विश्वदिग्वर्तिमुख**मिति । साक्षाद्विग्रहविषयत्वात् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" [ ऋक्सं. ४।७।२७।१ श्वे. उ. ३।३ यजुस्सं. १७।१९ ] इत्यादिष्विव नात्र सर्वत्र मुखशक्तियोगोऽपि विवक्षितः । सर्वत्र मुखयुक्तमिति च **परोक्तं** ( शं. ) अयुक्तम्, पाणिपादादिषु मुखाभावादिति भावः । अविशदविशदोपलम्भक्रमेण पाठक्रममनादृत्य 'देवम्' इत्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । स्वगताकारप्रतीतेः परस्ताद्धि पृथक्सिद्धद्रव्यविशिष्टताप्रतीतिः ; तथैव च प्रदर्शनमुचितमित्यभिप्रायेणाम्बरादिकं पूर्वमुक्तमपि परस्ताद्दर्शितं— **स्वोचिते**त्यादिना । अत्रापि पाठक्रमोल्लङ्घनेनाम्बरादिक्रमेण निर्देशोऽन्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वतारतम्यप्रदर्शनाय । अत्र 'दर्शयामास' इति पूर्वेणान्वयः ॥ १० ॥ ११ ॥

५ **आ. मा. भा.**— हरिः सर्वयज्ञभागहारित्वात् । 'इडोपहूतं गेहेषु हरे भागं क्रतुष्वहम् ॥ वर्णो मे हरितः श्रेष्ठस्तस्माद्धरिरिति स्मृतः' इति हि मोक्षधर्मे (?) ॥९॥ १० ॥ सर्वाश्चर्यमयं सर्वाश्चर्यात्मकम् ॥११॥

६ **ज. प्र. दी.**— 'महायोगेश्वरो हरिः' इत्यत्र हरिशब्दस्य प्रकृतोपयुक्तमर्थमाह— **हरि**रिति । गेहेषु इष्टिगृहेषु । हरतेरिकारप्रत्ययः । श्रेष्ठोऽप्राकृतः । अप्राकृतविग्रहस्य साकारस्यैवानन्तपूजास्थानेषु स्वरूपेणैव युगपत्सन्निधाने किं वक्तव्यं महायोगेश्वरत्वं ? इति ॥ ९ ॥ १० ॥ **सर्वाश्चर्यमय**मिति केनचित्प्राचुर्यार्थो मयड्व्याख्यातः । तदसत्, सर्वशब्देन गतार्थत्वादिति भावेनाह— **सर्वे**ति । मयटस्तादात्म्यार्थत्वे प्रमाणमुक्तमेव ॥ ११ ॥

७ **ह. पै. भा.**— सञ्जय उवाच– **एवमुक्त्वे**ति । राजन्निति धृतराष्ट्रस्य सम्बोधनम् । योगो विद्यते येषां ते योगाः, महायोगानामीश्वरो हरिः ॥ ९ ॥ **अनेके**ति । अनेकवक्त्रनयनमनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन्रूपे तदनेकवक्त्रनयनम् । अनेकानि च यान्यद्भुतानि, अनेकाद्भुतानां दर्शनमुपलब्धिर्यत्र रूपे तद्रूपमनेकाद्भुतदर्शनम् । दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधानि यत्र रूपे तद्दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥ ११ ॥

८ **वें. ब्र. गि.**— ततः किं वृत्तमिति धृतराष्ट्राकाङ्क्षायां सञ्जय उवाच— **एव**मिति । 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' [११।८] इत्येवमुक्त्वा, ततः दिव्यचक्षुःप्रदानानन्तरं हे राजन् ! अद्यापि पाण्डवैः सह सन्धिं न मन्यसे; धिक्त्वाज्ञानमिति सम्बोधनाभिप्रायः । स्पष्टमन्यत् ॥ ९ ॥ तदेव रूपं वर्णयति चतुर्भिः— **अनेके**ति । अनेकान्यपरिमितानि वक्त्राणि

नयनानि च यस्मिन्रूपे तत्तथोक्तम्; 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः' [ऋक्सं.८।४।१७।१ यजुस्सं. ३१।१] इति श्रुतेः। तथा अनेकेषामद्भुतानां दर्शनं यस्मिन्। अनेकानि दिव्यान्याश्चर्याणि आभरणानि यस्मिन्। तथा दिव्यान्यनेकान्युद्यतान्यायुधान्यस्त्राणि यस्मिन्। तद्दर्शयामासेति पूर्वेणान्वयः॥१०॥ दिव्यान्यलौकिकानि माल्यान्यम्बराणि च धारयतीति तथा दिव्यः "सत्यगन्धः" [ऐ. ब्रा.] इति श्रुत्युक्तः अप्राकृतो गन्धो यस्य तादृशमनुलेपनं यस्य तथा। सर्वाश्चर्यमयं समस्ताद्भुतप्रचुरम्, सर्वस्मिन्नप्यंशे आश्चर्यमयमिति वा। यत्र यत्र दृश्यते तत्र तत्र आश्चर्यस्वरूपमित्यर्थः। देवं द्योतमानम्। अनन्तं सर्वदेशकालवर्तिनिखिलजगदाश्रयतया देशकालपरिच्छेदशून्यम्। विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य। उपलक्षणमेतत् "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" [ऋक्सं. ४।७।२७।१ + यजुस्सं. १७।१९ + म. ना. २।२ + श्वे. उ. ३।३] इति श्रुतेः॥ ११॥

९ व० त० दी०— एवं सञ्जय उवाच राजन्निति। एवमुक्त्वा महायोगेश्वरः सर्वसमर्थः परमं ऐश्वरं रूपं पार्थाय दर्शयामास॥ ९॥ तच्च कीदृशमिति तच्छृणु— 'अनेकवक्त्रनयनं' इत्यारभ्य 'विश्वतोमुखं' इत्यन्तं रूपविशेषणानि। इदं च महाकालपुरुषरूपवद्दर्शितं मर्यादामार्गपरैरुपास्यं सर्वतः पाणिपादं चालौकिकमेतत्समष्टिभूतपुरुषस्वरूपभूतं कूटस्थं सर्वकारणकारणं निर्गुणभूतमित्यवसेयम्। दिव्यमिति स्पष्टार्थः। अम्बरं छन्दोमायारूपं किरीटाद्याभरणानि च पारमेष्ठ्यादिरूपाणि, आयुधानि पञ्चभूततत्त्वस्वरूपाणि, इत्येवंविधं विश्वरूपं विश्वतोमुखं निरुपमतेजस्कं स्वं दर्शितम्॥ १०॥ ११॥

१० पु.अ.त.— एवमुक्त्वा अर्जुनाय स्वरूपं दर्शयामास भगवानिति धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय आह— एवमिति। राजन्याभिमानेन दिव्यदृष्ट्यसुरावेशिभीष्मादिमारणेन सर्वदुःखनिराकरणार्थं महायोगेश्वरः सर्वकरणसमर्थः सर्वात्मकयोगबलेन एवमुक्त्वा अलौकिकीं दृष्टिं दत्त्वा पार्थाय स्वाङ्गीकृताय परमं रूपं पुरुषोत्तमरूपं दर्शयामास। ततस्तद्दर्शनानन्तरं ऐश्वरं रूपं दर्शयामास॥ ९॥ उभयोः स्वरूपमाह— अनेकेति। अनेकानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिंस्तत्, निखिललीलात्मकरूपसहितम्। अनेकाद्भुतदर्शनं अनेकानि अलौकिकानि लीलामयानि दर्शनानि यस्मिंस्तत्। अनेकानि दिव्यानि अलौकिकानि आभरणानि यस्मिंस्तत्। दिव्यानि अलौकिकानि अनेकानि उद्यतानि सकलदुःखनिवारकाणि आयुधानि शङ्खगदादीनि यस्मिंस्तत्॥ १०॥ दिव्यानि क्रीडोपयुक्तानि माल्यानि अम्बराणि बिभर्तीति तथा। दिव्यः क्रीडोद्भूतो गन्धो यस्य तादृशमनुलेपनं यस्य तत्। सर्वाश्चर्यमयं दुर्वितर्क्यं देवं सर्वपूज्यम्, अनन्तमपरिच्छिन्नम् व्यापकम्। विश्वतोमुखं सर्वं पश्यन्तं सर्वसन्मुखम्॥ ११॥

११नी० भा० दी०— एवमुक्त्वा भगवानर्जुनाय दिव्यं रूपं दर्शितवान्, स च दृष्ट्वा विस्मयाविष्टो भगवन्तं विज्ञापितवानितीमं वृत्तान्तमेवमुक्त्वेत्यादिषड्भिः श्लोकैर्धृतराष्ट्रं प्रति सञ्जय उवाच— एवमुक्त्वेत्यादि। ततः दिव्यचक्षुःप्रदानानन्तरं राजन् हे धृतराष्ट्र! महांश्चासौ योगेश्वरश्चेति विग्रहः, महतो योगस्य वा ईश्वरः। परमं दिव्यं रूपं ऐश्वरं मायासम्बन्धि, न तु मायातीतं दर्शयामास॥ ९॥ तदेव रूपं विशिनष्टि द्वाभ्यां— अनेकेत्यादिना। अनेकान्यनन्तानि वक्त्राणि नयनानि च यस्मिन् तदनेकवक्त्रनयनम्। अनेकान्यद्भुतानि दर्शनानि यस्मिंस्तदनेकाद्भुतदर्शनम्। अनेकानि दिव्यान्याभरणानि यस्मिन्। दिव्यान्यनेकानि च उद्यतानि आयुधानि चक्रादीनि यस्मिन्॥ १०॥ विश्वतोमुखमिति पूर्वोक्तस्य 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' इत्यस्यायं परामर्शः। अनन्तं सर्वतः परिच्छेदरहितम्॥ ११॥

## दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
## यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः॥ १२॥

१ अत्र दिवि सूर्यसहस्रस्य भाया युगपदुत्थानरूपस्यासम्भाविनोऽर्थस्य यदिशब्देनोक्तौ कल्पनादतिशयोक्त्यलङ्कारः। 'यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्' (का. प्र. १०।१००) इति तल्लक्षणे मम्मटोक्तेः। दण्डिमते त्वद्भुतोपमा, यदाह— 'यदि किञ्चिद्भवेत्पद्मं सुभ्रु! विभ्रान्तलोचनम्। तत्ते मुखश्रियं धत्तामित्यसावद्भुतोपमा॥' (का. द. २।२४) इति॥ यदि पदसमभिव्याहृतेन स्यादित्यनेन तादृशी भा नास्तीत्यस्य निगरणादविद्यमानाध्यवसाय उपमानस्य। तत उपमानाभावाच्चोपमाभावपरात्, यदि स्यात्तादृशी भाः, सा सदृशी स्यादित्यतोऽविद्यमानस्वरूपाभूतोपमातिमिकातिशयोक्तिर्गम्यमाना 'न स्यात्' ततोऽपि नूनं—

**१ शां. भा.**— या पुनर्भगवतो विश्वरूपस्य भास्तस्या उपमोच्यते— **दिवीति** । दिव्यन्तरिक्षे तृतीयस्यां वा दिवि सूर्याणां सहस्रं सूर्यसहस्रं तस्य युगपदुत्थितस्य सूर्यसहस्रस्य या युगपदुत्थिता भाः सा यदि सदृशी स्यात्तस्य महात्मनो विश्वरूपस्यैव भासः । यदि वा न स्यात्, ततोऽपि विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्यत इत्यभिप्रायः ॥ १२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ननु प्रकृष्टस्य भगवतो रूपस्य दीप्तिरस्ति, न वा ? न चेत्काष्ठादिसाम्यं यद्यस्ति, कीदृशी सा ? इत्याशङ्कयाऽऽह— **या पुनरिति** । सा यदि स्यात्तद्भासः सदृशी सेति योजना । असम्भाविताभ्युपगमार्थो यदिशब्दः, स्याच्छब्दो निश्चयार्थः । सा कथञ्चित्सदृशी सम्भवति, न तु भवत्येवेति विवक्षित्वाऽऽह— **यदि वेति** ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.**— तामेव देवशब्दनिर्दिष्टां द्योतमानतां विशिनष्टि— तेजसोऽपरिमितत्वदर्शनार्थमिदम्; अक्षयतेजस्स्वरूपमित्यर्थः ॥ १२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'दिवि' इत्यादिश्लोकस्य सङ्गतिमाह— **तामेवेति** । निर्दिष्टस्य भास्वरत्वस्य निरतिशयत्वलक्षणो विशेष उच्यत इत्यर्थः । सङ्ख्याविशेषेण परिच्छिन्नत्वशङ्काव्युदासायाह **तेजस** इति ॥ १२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— सहस्रशब्दोऽनन्तवाची । तदपि पाकशासनविक्रम इत्यादिवत्प्रत्यायनार्थमेव । तथा हि ऋग्वेदखिलेषु— "अनन्तशक्तिः परमोऽनन्तवीर्यः सोऽनन्ततेजाश्च ततस्ततोऽपि" इति महातात्पर्याच्च प्राबल्यं, न च परिमाणोक्त्या किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १२

**६ ज. प्र. दी.**— 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' इति विश्वरूपस्य सहस्रसूर्योपमप्रभत्वमुच्यते; तत्र सहस्रशब्दो दशशतवाचीति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **सहस्रेति** । अनन्तसूर्योपमप्रभत्वमपि भगवतो न वास्तवं, निरुपमत्वात्; किं तर्हि ? इत्यत आह— **तदपीति** । प्रत्यायनार्थं बुद्धिप्रवेशनार्थमेवोच्यते । यथा भगवतो दाशरथेः पाकशासनोपमपराक्रमत्वमित्यर्थः । सहस्रशब्दस्य प्रसिद्धार्थपरित्यागः कुतः ? इत्यत आह— **तथा हीति** । ततस्ततः सूर्यादेरपि । विलक्षण इति शेषः । कुतः श्रुत्या गीतावाक्यस्य बाधः? इति चेत्, शतं सहस्रमिति अपरिमितनामानीति गीतावाक्यस्य सावकाशत्वेन दौर्बल्यात्, श्रुतेर्निरवकाशत्वेन प्राबल्यात्; इतश्च श्रुतेः प्राबल्यमित्याह— **महातात्पर्याच्चेति** । समस्तागमानां महाप्रयोजनाय यद्भगवति महातात्पर्यं श्रुतेस्तदानुकूल्यात्, गीतावाक्यस्य तत्प्रातिकूल्यादित्यर्थः । कथं गीतावाक्यस्य तत्प्रातिकूल्यं ? इति चेत्, किं भगवतः परिमितप्रभत्वमेव वस्तुतः ? उतापरिमितप्रभस्याप्यत्र सहस्रसूर्योपमप्रभत्वमुच्यते ? नाद्यः— सकलश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणविरोधात् । द्वितीये त्वपरिमितस्य परिमाणोक्त्या किञ्चिदपि प्रयोजनं न सिध्यति । कुतो महत् ? इत्याह— **न चेति** ॥ १२ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ॥ १२ ॥

---

—विश्वरूपस्यैव भा अतिरिच्येतेत्यहं मन्य इत्युत्प्रेक्षां व्यञ्जयन्ती परमतात्पर्यविषयनिरुपमत्वमेव व्यनक्तीति तत्त्वालोकः ।

अत्र **वामनः**—

तेजोरूपं परं ब्रह्म निगमेषूपवर्णितम् । अपरोक्षीकृतं ज्ञानचक्षुषाऽत्रार्जुनेन तत् ॥
इति केचिद्वर्णयन्ति प्रकृते तन्न सङ्गतम् । सत्त्वस्यैव प्रकाशोऽसौ यमलोकत फाल्गुनः ॥
तेजो यदपि चैद्यादिदेहोत्थं चक्रिणः स्तनौ । विवेश, लीनं तदपि वैकुण्ठे सत्त्वमूर्जितम् ॥
चक्षुषा चार्मणेनैव लोकेन यदलोकि तत् । न हि यातीन्द्रियपथं निर्गुणं ब्रह्म कस्यचित् ॥
प्रकाशस्तादृगेवात्र सत्त्वस्यैक्षि किरीटिना । अनेकवक्त्रनयनं कथं वा निर्गुणं भवेत् ? ॥
चक्षुस्त्वेकपदे विश्वं द्रष्टुं सहजमक्षमम् । इति दिव्यमदादन्यद्दयालुर्यदुपुङ्गवः ॥
ददर्श स तदाश्चर्यं युगपद्द्विविधं च यत् । त्रिगुणं विश्वमेवेदं तद्धि न ब्रह्म निर्गुणम् ॥
तेजो ब्रह्मैव मन्यन्ते ये ज्ञानित्वाभिमानिनः । शुद्धं सत्त्वं तमोरूपं तैः किमभ्युपगम्यते ? ॥
चिन्त्यते मनसा तेजश्चक्षुषा दृश्यतेऽपि च । ब्रह्माचिन्त्यमदृश्यं च तेजोरूपं कथं नु तत् ? ॥
प्रकाशरूपं विशदं सत्त्वं श्रुतिषु निश्चितम् । 'आदित्यवर्णं' (तै. आ. ३।१२।१६) मित्यादौ ब्रह्मेष्टं सगुणं ततः ॥
महात्माऽप्यत्र विज्ञेयो विश्वाकारशरीरभृत् । अनेकार्थो ह्यात्मशब्दोऽभिधत्ते देहमप्यसौ ॥
वदन्ति केचिदात्मानं चिद्रूपं तन्न सङ्गतम् । वक्त्रनेत्रादिकं तस्मिन् पृथङ्न घटते यतः ॥

—इति प्रत्यपीपदत् ॥ —अविगीता ।

८ वें. ब्र. गि.— देवशब्दोक्तं द्योतमानत्वं विवृणोति— दिवीति । दिवि आकाशे सूर्याणां सहस्रस्य अपरिमितसूर्यसमूहस्य यदि युगपदुत्थिता भाः प्रभा भवेत्– सम्भावनायां लिङ्– सा तस्य महात्मनो विश्वरूपस्य भासः प्रभायाः सदृशी स्यात् । नान्यत्किञ्चिदुपमानं पश्याम इत्यर्थः । अत्राकाशस्य युगपत्सूर्यसहस्रप्रकाशासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः । तेन च भगवत्प्रभाया निरुपमानत्वं व्यज्यते' 'पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यात्' [ कु. सं. १।४४ ] 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्' । [ शि. व. ३।८ ] इत्यादिवत् ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— एवं सञ्जयो दर्शनं रूपं वर्णयित्वा तस्याऽलौकिकत्वमभूतोपमावर्णनेनाह— दिवीत्यादि । एवमभूतोपमया लोकविलक्षणत्वमुक्तम् ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— तस्य स्वरूपस्याऽप्रमेयं तेजस्स्वरूपमाह— दिवीति । दिवि स्वर्गे सूर्यसहस्रस्य युगपत् एकदैव उदितस्य युगपदेव उत्थिता भाः प्रभा यदि भवेत् सा तस्य महात्मनः पुरुषोत्तमस्य अनेकात्मरूपस्य भासः सदृशी स्यात् । किन्तु न स्यादेवेति काकूक्तिः । एतादृशं स्वरूपम् ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— दिवि अन्तरिक्षे । भाः दीप्तिः । भासः दीप्तेः । अभूतोपमेयं निरुपमतामेव तस्य दीप्तेर्दर्शयति । 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ' [ शि. व. ३।८ ] इत्यादिवत् ॥ १२ ॥

## तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।
## अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

**शां. भा.**— किञ्च— तत्र तस्मिन्विश्वरूप एकस्मिन्स्थितमेकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा देवपितृमनुष्यादिभेदैरपश्यद्दृष्टवान्देवदेवस्य हरेः शरीरे पाण्डवोऽर्जुनस्तदा ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— न केवलमुक्तमेवार्जुनो दृष्टवान्, किन्तु तत्रैव विश्वरूपे सर्वं जगदेकस्मिन्नवस्थितमनुभूतवानित्याह– किञ्चेति । तदा विश्वरूपस्य भगवद्रूपस्य दर्शनदशायामित्यर्थः ॥ १३ ॥

३ रा. भा.— तत्रानन्तायामविस्तारे अनन्तबाहूदरवक्त्रनेत्रे अपरिमिततेजस्के अपरिमितदिव्यायुधोपेते स्वोचितापरिमितदिव्यभूषणे दिव्यमाल्याम्बरधरे दिव्यगन्धानुलेपने अनन्ताश्चर्यमये देवदेवस्य दिव्ये शरीरे अनेकधा प्रविभक्तं ब्रह्मादिविविधविचित्रदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभोक्तृवर्गपृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गपातालातलवितलसुतलादिभोगस्थानभोग्यभोगोपकरणभेदभिन्नं प्रकृतिपुरुषात्मकं कृत्स्नं जगत् । 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १० । ८ ] 'हन्त ते कथयिष्यामि विभूतीरात्मनः शुभाः' [ १०।१९ ] 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' [ १०।२० ] 'आदित्यानामहं विष्णुः' [१०।२१] इत्यादिना 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' [१०।३९] 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [ १०।४२ ] इत्यन्तेनोदितम् । एकस्थमेकदेशस्थं पाण्डवो भगवत्प्रसादलब्धतद्दर्शनानुगुणदिव्यचक्षुरपश्यत् ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ १३ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १३ ॥

७ ह. पै. भा.— तत्र देवस्य शरीरे कृत्स्नं जगदनेकधा प्रविभक्तमेकस्थमपश्यदिति व्यवहितेन सम्बन्धः ॥ १३ ॥

८ वें. ब्र. गि — तत्र अनन्तायामविस्तारे अनन्तबाहूदरवक्त्रनेत्रे अपरिमिततेजस्के अपरिमितदिव्यायुधोपेते स्वोचितापरिमितदिव्यभूषणे दिव्यमाल्याम्बरधरे दिव्यगन्धानुलेपने अनन्ताश्चर्यमये देवदेवस्य शरीरे अनेकधा प्रविभक्तं ब्रह्मादि विविधदेवतिर्यङ्मनुष्यस्थावरादिभोक्तृवर्गपृथिव्यन्तरिक्षस्वर्गपातालातलवितलसुतलादिभोगस्थानभोग्यभोगोपकरणभेदभिन्नं कृत्स्नं जगत् 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] 'हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः' [ १०।१९ ] 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' [ १०।२० ] 'आदित्यानामहं विष्णुः' [१०।२१] इत्यादिना

'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' [१०।३९]
'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [१०।४२]
इत्यन्तेनोदितं एकस्थमेकदेशस्थं पाण्डवो भगवत्प्रसाद-लब्धतद्दर्शनाद्गुणदिव्यचक्षुरपश्यत् ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— ततः किं वृत्तं ? इत्यपेक्षायामाह सञ्जयः— तत्रेति। अनेकधा योनिबीजाशयेन्द्रियाकृति-भेदेन प्रविभक्तं चेतनाचेतनात्मकं चतुर्दशलोकसहितं सर्वं जगत् देवदेवस्याक्षरैश्वर्यस्य पुरुषोत्तमस्य शरीरभूते स्वरूपे मृत्स्नाभक्षणप्रसङ्गे श्रीयशोदावत्तदेकस्थं तदवयवैकदेशस्थं पाण्डवो ददर्श "कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्" [कठो. ४।१] इति श्रुतेर्दर्शनं श्रुतिसिद्धम्। न हि माहात्म्यदर्शनं विना भक्त्या भगवदाश्रयणदार्ढ्यं भवतीति दर्शयामास हरिस्ततस्तदनुग्रहेणैव ददर्श पार्थ इत्यंशे पुष्टिः । श्रीयशोदायां तु दर्शितस्वैश्वर्यजन्यमाहात्म्यज्ञानस्य वैष्णव्या स्वशक्त्या तिरोधानमेव कृतं प्रेमभावदार्ढ्याय तत्र मोक्षाद्यनुपयोगाय चेति शुद्धपुष्टिमाहात्म्यम् । अत्र तु न तथा इति मर्यादापुष्ट्यधिकृताः पार्थाः इत्युक्तिः समञ्जसैव । विशेषस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— तत्र तस्मिन्नेव रूपे, एकस्थमेकत्र स्थितं कृत्स्नं सम्पूर्णं जगत्, अनेकधा प्रविभक्तं नानाप्रकारविभागयुक्तं दर्शयामासेति पूर्वेणैवान्वयः। यदा दर्शितं तदा देवदेवस्य पूज्यानामपि पूज्यस्य शरीरे पूर्वप्रतीयमानसूक्ष्मरूप एव पाण्डवः अर्जुनः अपश्यत् दृष्टवान् ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— 'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्य' [ ११।७ ] इति यत्प्राक् भगवता उक्तं तदप्यपश्य-दित्याह— तत्रेति । 'अनेकधा प्रविभक्तं' इत्येतत् वर्षासूत्थिततिन्तिणीबीजे सूक्ष्मरूपेण तरुर्दृश्यते तद्वन्माभू-दिति दर्शयितुं सावकाशं अनेकधा विभागयुक्तं विविक्तं अपश्यत्, एकस्थं एकावयवस्थम्। अयमर्थः— यदा भगवत-श्चतुर्भुजं रूपं चिन्त्यते, तत्र च चेतसि लब्धपदे सति क्रमशस्तदीयावयवांस्त्यक्त्वा मुखे स्मिते वा पदनखे वा चित्तं ध्रियते, तत्रापि लब्धपदे तस्मिंस्तदपि त्यक्त्वा विश्वरूपमारोहति । दिव्यं चक्षुरपि एवं सूक्ष्मतामापादितं मन एव; "मनोऽस्य दैवं चक्षुः स ( वा एष ) एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान्पश्यन् रमते" [ छां. उ. ८।१२।५ ] इति श्रुतेः। कामान् विषयान् एतान् हार्दाकाशाख्यसगुणब्रह्मगतानिति श्रुतिपदयोरर्थः । यथोक्तं श्रीभागवते– 'तत्र लब्धपदं ( तत्सर्वव्यापकं ) चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत् । नान्यानि चिन्तयेद्भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम् ॥ तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत् । तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्' [ ११।१४।४३;४४ ] इति । तत्र मूर्तौ एकत्र अङ्गे, व्योम्नि कारणे, मदारोहो निर्विकल्पे ब्रह्मण्यारूढः, तदिदमुक्तं देवदेवस्य शरीरे कृत्स्नं जगदेकस्थं पाण्डवोऽपश्यदिति ॥ १३ ॥

## ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।
## प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

९ **शां. भा.— तत** इति । ततस्तं दृष्ट्वा स विस्मयेनाऽऽविष्टो विस्मयाविष्टो हृष्टानि रोमाणि यस्य सोऽयं हृष्टरोमा चाभवद्धनञ्जयः, प्रणम्य प्रकर्षेण नमनं कृत्वा प्रह्वीभूतः सञ्छिरसा देवं विश्वरूपधरं कृताञ्जलिर्नमस्कारार्थं सम्पुटीकृतहस्तः सन्नभाषतोक्तवान् ॥ १४ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— विश्वरूपधरस्य भगवतस्तस्मिन्नेकीभूतजगतश्चोक्तविशेषणस्य दर्शनानन्तरं किमकरोदित्यपेक्षायामाह— **तत** इति । आश्चर्यबुद्धिर्विस्मयः, रोम्णां हृष्टत्वं पुलकितत्वं, प्रकर्षो भक्तिश्रद्धयोरतिशयः ॥ १४ ॥

३ **रा. भा.**— ततो धनञ्जयो महाश्चर्यस्य कृत्स्नस्य जगतः स्वदेहैकदेशेनाश्रयभूतं कृत्स्नस्य प्रवर्त-

---

१ अत्र परमाद्भुतवस्तुदर्शनादर्जुनस्य विस्मयाख्यो भावः प्रादुरभूत्, सच स्थायीभूत्वा तादृशेन भगवतालम्बनविभावेन तद्रूपेणोद्दीपनविभावेन, असकृत्तद्दर्शनप्रणामाञ्जलिकरणादिभिरनुभावैः, रोमाञ्चादिभिः सात्त्विकभावैः धृतिमतिहर्षवितर्कादिभिर्व्यभिचारिभावैश्च परिपोषं नीतोऽद्भुतरसोऽभूत् । श्रोतॄणां च तदभेदाध्यवसायादद्भुतरसोदयः। स च परमानन्दास्वादरूपो रस इति, **मधुसूदनाशयः**। पण्डितराजो **जगन्नाथस्तु**— 'पश्यामि देवान्' इत्यादौ वाक्यसन्दर्भे प्रधानीभूतायाः स्तोतृगतभक्तेः प्रकर्षकत्वेन विस्मयस्य गुणीभूतत्वात् नात्राद्भुतरसः, किन्तु रसालङ्कार एवेति सूचयामास **रसगङ्गाधरे**। **—अविगीता**।

यितारं चाश्चर्यतमानन्तज्ञानादिकल्याणगुणगणं देवं दृष्ट्वा विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा शिरसा दण्डवत्प्रणम्य कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ १४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १४ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १४ ॥

८ वें. व्र. गि.— एवं दृष्ट्वाऽतिसन्त्रासमुकुलिताक्षसम्भ्रमेणेतिकर्तव्यतामूढश्च कश्चित्पार्थो बभूवेति धृतराष्ट्रदुराशयनिरासायाह— तत इति। ततो दर्शनानन्तरं विस्मयेनाविष्टो व्याप्तः हृष्टरोमा पुलकितः स धनञ्जयः 'पाण्डवानां धनञ्जयः' ( १०।३७ ) इति भगवता स्वविभूतित्वेनोक्तः, तं देवं नारायणं शिरसा प्रणम्य कृताञ्जलिः सन्नभाषत ॥ १४ ॥

९ व. त. दी.— तत इति दर्शनानन्तरं धनञ्जयः अभाषत । स्पष्टमन्यत् ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— दर्शनानन्तरं किं कृतवानित्यत आह— तत इति । ततस्तदनन्तरं स पूर्वोक्तः प्राप्तदिव्यदृष्टिः विस्मयाविष्टः आश्चर्यरसनिमग्नः हृष्टरोमा उत्पुलकिताङ्गः अन्तरानन्दयुक्तः धनञ्जयः प्रादुर्भूतविभूतिरूपः शिरसा मस्तकेन देवं पूज्यं नमस्करणीयं प्रणम्य नमस्कृत्य कृताञ्जलिः विनीतः सन् अभाषत विज्ञप्तिं कृतवान् ॥ १४ ॥

११ नी. भा. दी.— हृष्टरोमा रोमाञ्चितगात्रः ॥ १४ ॥

भगवद्दर्शितस्यार्जुनदृष्टस्य विश्वरूपस्य वर्णनम् ।

**अर्जुन उवाच—पश्यामि देवांस्तव देव ! देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।**
**ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥**

१ शां. भा.— कथं ? यत्त्वया दर्शितं विश्वरूपं तदहं पश्यामीति स्वानुभवमाविष्कुर्वन् अर्जुन उवाच— पश्याम्युपलभे हे देव ! तव देहे देवान्सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्भूतविशेषाणां स्थावरजङ्गमानां नानासंस्थानविशेषाणां सङ्घा भूतविशेषसङ्घास्तान् । किञ्च ब्रह्माणं चतुर्मुखमीशमीशितारं प्रजानां, कमलासनस्थं पृथिवीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थमित्यर्थः । ऋषींश्च वसिष्ठादीन्, सर्वानुरगांश्च वासुकिप्रभृतीन्, दिव्यान्दिवि भवान् ॥ १५ ॥

२ आ. शां. व्या.— कथं भगवन्तं प्रत्यर्जुनो भाषितवान्? इति पृच्छति— कथमिति। तत्प्रश्नमपेक्षितं पूरयन्नवतारयति— यत्त्वयेति । भूतविशेषसङ्घेषु देवानामन्तर्भावेऽपि पृथक्करणमुत्कर्षात् । ब्रह्मणः सर्वदेवतात्मत्वेऽपि तेभ्यो भेदकथनं तदुत्पादकत्वादिति मत्वाऽऽह— किञ्चेति । ऋषीणामुरगाणां च किञ्चिद्वैषम्यात्पृथक्त्वं, दिव्यानित्युभयेषां विशेषणम् ॥ १५॥

३ रा. भा.— पश्यामीति । देव ! तव देहे सर्वान् देवान् पश्यामि ; तथा सर्वान् प्राणिविशेषाणां सङ्घान्, तथा ब्रह्माणं चतुर्मुखमण्डाधिपतिं, तथेशं कमलासनस्थं कमलासने ब्रह्मणि स्थितमीशं तन्मतेऽवस्थितं तथा देवर्षिप्रमुखान् सर्वानृषीन्, उरगांश्च वासुकितक्षकादीन् दीप्तान् ॥ १५ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ १५ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १५ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १५ ॥

८ वें. व्र. गि.— 'धनञ्जयोऽभाषत' [ ११।१४ ] इत्युक्त्वाऽपि पुनः 'अर्जुन उवाच' इत्युक्त्या न केवलं भगवद्विभूतित्वमात्रेणैव तस्यैतादृशभाग्यलाभः; किन्त्वतिशुद्धात्मतयापीति दर्शितम् । तदेवार्जुनवाक्यमाह सप्तदशभिः— पश्यामीति । हे देव ! तव देहे सर्वान्देवानादित्यादीन् पश्यामि ; सर्वान्भूतविशेषाणां स्थावरजङ्गमात्मनां सङ्घांश्च पश्यामि ; तथा सर्वानृषीन्वसिष्ठादीन् सर्वानुरगान्वासुकिप्रभृतींश्च पश्यामि । एतेषां सर्वेषामीशमीशितारं कमलासनस्थं पृथिवीपद्ममध्ये मेरुकर्णिकासनस्थं भगवन्नाभिकमलासनस्थमिति वा ; एवम्भूतं ब्रह्माणं चतुर्मुखं च पश्यामि ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— तदेवाह पश्यामीति सप्तदशभिः षोडशकलारूपैः एकेन प्रार्थनं च। हे देव श्रीकृष्णेन्दो ! तव देहे एतस्मिन्विश्वरूपे सर्वान्पश्यामि। भूतविशेषसङ्घान् जरायुजादिभेदविशेषान् ॥ १५ ॥

१० पु. अ. त.— तद्वाक्यमेवाह– पश्यामीति सप्तदशभिः। हे देव पूज्य ! तव देहे उपचितस्वरूपे देवान् इन्द्रादीन् क्रीडामयान्, तथा क्रीडात्मकानेव सर्वान् भूतविशेषाणां चतुर्विधानां सङ्घान् समूहान्। दिव्यान् क्रीडार्थप्रकटितान्, ऋषीन् नारदादीन्, पुनस्तामसान् उरगान् शेषादीन्, तन्मूलभूतं कमलासनस्थं नाभिपद्मस्थं ब्रह्माणम्, ईशं महादेवम्, एवमेतान् सर्वान् पश्यामि ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— देवानादित्यादीन्, भूतविशेषाश्चतुर्विधा जरायुजादयस्तेषां सङ्घान् समूहान्, ब्रह्माणं चतुर्मुखं, ईशं ईशितारं, 'कमलासनस्थं' इत्यनेन दूरदर्शनमुक्तं; उरगान् पातालस्थाननन्तादीन् दिव्यान् कैलासादौ स्थितान् वासुकिप्रमुखान्। एतेन व्यवहितदर्शनमुक्तम् ॥ १५ ॥

**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा सर्वतोऽनन्तरूपम्।**
**नान्तं न मध्यं न पुनस्तवाऽऽदिं पश्यामि विश्वेश्वर ! विश्वरूप !॥१६॥**

**१ शां. भा.**— अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं अनेके बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्य तव स त्वमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रस्तमनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वा त्वां सर्वतः सर्वत्रानन्तरूपं अनन्तानि रूपाण्यस्येत्यनन्तरूपस्तमनन्तरूपम्, नान्तम्, अन्तोऽवसानं, न मध्यं, मध्यं नाम द्वयोः कोटयोरन्तरं, न पुनस्तवाऽऽदिं; तव देवस्य नान्तं पश्यामि, न मध्यं पश्यामि, न पुनरादिं पश्यामि हे विश्वेश्वर ! हे विश्वरूप !॥ १६ ॥

**२ आ. शां व्या.**— यत्र भगवद्देहे सर्वमिदं दृष्टं तमेव विशिनष्टि— **अनेकेति**। आदिशब्देन मूलमुच्यते। 'नान्तं न मध्यं' इत्यत्रापि पश्यामीत्यस्य प्रत्येकं सम्बन्धं सूचयति— **नान्तं पश्यामीति** ॥ १६ ॥

**३ रा. भा.**— अनेकेति। अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं अनन्तरूपं त्वां सर्वतः पश्यामि; विश्वेश्वर विश्वस्य नियन्तः!; विश्वरूप विश्वशरीर! यतस्त्वमनन्तः, अतस्तव नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं च पश्यामि॥ १६॥

**४ वे. ता. चं**— 'सर्वतोऽनन्तरूपम्' इत्यन्वये 'सर्वतः' इति शब्दस्य वैयर्थ्यं स्यात्; 'सर्वतः पश्यामि' इत्यन्वयस्तु दिव्यचक्षुर्लाभानुगुणत्वादुक्तः। विश्वरूपत्वे हेतुपरो विश्वेश्वरशब्द इत्यभिप्रायेणाह **विश्वस्य नियन्तरिति**। व्याप्यनियन्ता हि शरीरी। 'नान्तं न मध्यम्' इत्यादौ विद्यमानस्यादर्शनं न विवक्षितम्; अर्जुनस्य दिव्यचक्षुर्लाभेन तदयोगात्, अन्यत्र 'अनन्तरूपम्' इति हेतुगर्भविशेषणाद्विषयाभावादेव शशशृङ्गादेरिवादर्शनमुक्तमित्यभिप्रायेणाह **यत इति**। इदं च 'विश्वरूप' इत्यनेनापि विवक्षितम्। अत्र देशतः कालतश्चादिमध्यान्तनिषेधो भाव्यः। आद्यन्तरूपावच्छेदाभावात्तदुभयनिरूपणीयमध्याभावोऽपि सिद्धः॥ १६ ॥

**५ आ. मा. भा.**— अनेकशब्दोऽनन्तवाची, 'अनन्तबाहुं' [११।१९] इति स्वयं वक्ष्यति 'सर्वतः पाणिपादं तत्' इत्यादि च। "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्॥ सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" [ऋक्सं. २।२।४।२४ म. ना. २।२ श्वे. उ. ३।३] इति ऋग्वेदखिलेषु। "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्॥ सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन्देव एकः" इति यजुर्वेदे च। विश्वशब्दश्चानन्तवाची। 'सर्वं समस्तं विश्वं च अनन्तं पूर्ण( वं )मेव च' इत्यभिधानात्। "[2]अनन्तबाहुमनन्तपादमनन्तरूपं पुरुवक्त्रमेकम्" इति च ( सामवेदस्य ) बाभ्रव्यशाखायाम्। महत्त्वाद्युक्तिस्तु तदात्मकत्वेनापि भवति।

---

१ **नान्त**मिति–उक्तं चान्यत्र–'न चादिं न मध्यं तथा चैव नान्तं कदाचिद्विदन्ते सुराश्चासुराश्च। अनाद्यो ह्यमध्यस्तथा चाप्यनन्तः प्रगीतोऽहमीशो विभुर्लोकसाक्षी ॥' (म. भा.१२।३४२।९०) इति। विश्वरूप ! विश्वं व्याप्तं, विश्वं जगद्वा रूपं यस्य तादृश !। 'विश्वं बहुविधं ज्ञेयं स च सर्वत्र विद्यते। तस्मात्स बहुरूपत्वाद्विश्वरूप इति स्मृतः॥'(१।६७।१८) इति भविष्ये। –**अविगीता**।

२ 'अनन्तपादमनन्तबाहुमनन्त वक्त्रं पुरुषंरूपमेकम्' इति लिखितपुरातनपुस्तके पाठान्तरम्। चिन्त्यमेतत् सुधीभिः।

६ ज. प्र. दी.— 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं' इत्यत्रानेकशब्दस्य द्व्यादौ पर्यवसानात् विवक्षितमर्थमाह— अनेकेति। अनेनानेकवक्त्रनयनमित्यपि व्याख्यातम्। कुत एतत्? इत्यत आह— अनन्तेति। 'सर्वत इत्यस्यार्थस्तात्पर्यनिर्णयेऽवगन्तव्यः' इत्यादि च वक्ष्यति। बाहुभ्यां प्रधानाभ्यां, पतत्रैः पतत्रसदृशैरितरबाहुभिः, सन्धमति अग्न्यादिभूतानि संयोजयतीति प्रत्येकमन्वयः। सन्नमतीत्यस्याप्ययमेवार्थः। एतयोर्मन्त्रयोः प्रकृतानुपयोगादयुक्तमुदाहरणमित्यत आह— विश्वशब्दश्चेति। तथा च प्रथमार्थे तन्निरित्युक्तं भवति। स्पष्टार्थो चात्र श्रुतिमाह— अनन्तबाहुमिति। यदि भगवाननन्तबाह्वादिस्तदा परममहत्परिमाणः स्यात्। अन्यथा तदयोगात्। न च तद्युक्तम्। 'रूपं महत्ते' [ ११।२३ ] इति महत्त्वमात्रोक्तेः। तथा 'बहुवक्त्रनेत्र' [ ११।२३ ] इति बहुत्वमात्रोक्तेरनन्तबाह्वादित्वोक्तिश्चानुपपन्नेत्यत आह— महत्त्वादिति। स्यादयं विरोधो यदि भगवद्रूपस्य महत्त्वमात्रं तदवयवानां च बहुत्वमात्रमुच्येत। न चैवम्, अवच्छेदकाश्रवणात्। महत्त्वबहुत्वोक्तिस्तु परममहत्त्वात्मकत्वेनानन्तावयत्वेन च सह सम्भवति। परममहति महत्त्वस्यानन्ते बहुत्वस्यान्तर्भावादित्यर्थः।

८ आ. मा. भा.— अन्यथा 'अनादिमत्परं ब्रह्म' [ १३।१२ ] इत्याद्ययुक्तं स्यात्। एकत्र त्वनन्तान्यस्य रूपाणीत्यनन्तरूपः। अन्यत्र त्वपरिमाण इति। उक्तं ह्युभयमपि— "परात्परं यन्महतो महान्तं यदेकमव्यक्तमनन्तरूपम्" इति यजुर्वेदे। अव्यक्तस्यानन्तत्वादेव महतो महत्त्वे अपरिमितत्वं सिध्यति। 'महान्तं च समावृत्य प्रधानं समव(समुप)स्थितम्॥ अनन्तस्य न तस्यान्तस्सङ्ख्यानं चापि विद्यते' इत्यादित्यपुराणे। तानि चैकैकानि रूपाण्यनन्तानीति चैकत्र भवति। "असंख्याता ज्ञानकास्तस्य देहाः सर्वे परिमाणविवर्जिताश्च" इत्यृग्वेदखिलेषु। "यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते। उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ" [ छां. उ. ८।१।३ ] इति च। 'कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्ष्णिप्रहारपरिरुग्णफणातपत्रम्' [ १०।१६।३१ ] इति च भागवते।

६ ज. प्र. दी.— अवच्छेदकानुक्तावप्यवान्तरमहत्त्वादिग्रहणे को दोषः? इत्यत आह— अन्यथेति। तत्र परममहत्त्वस्यानन्तावयवत्वस्य चोक्तेरिति भावः। 'पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपं' 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप!' [ ११।३८ ] इत्यनन्तशब्दद्वयस्य माहात्म्यातिशयसूचनायार्थभेदमाह— एकत्र त्विति। अपरिमाणोऽपरिच्छिन्न इत्यनन्तरूप इति सम्बन्धः। स्यादिदं व्याख्यानं यदीदं द्वयं प्रामाणिकं स्यादित्यत आह— उक्तं हीति। महान्तं महत्। 'महतो महान्तं' इत्यनन्तमपरिच्छिन्नपरिमाणं रूपमस्येत्युक्तार्थे प्रमाणम्। एकं भिन्नमपि अनन्तरूपमित्यनन्तसङ्ख्यान्यस्य रूपाणीत्यत्र। ननु 'महतो महान्तं' इति महत्तत्त्वान्महत्त्वमेवोच्यते, न त्वन्तत्वम्। ततश्च 'यदेकमव्यक्तं' इत्यव्यक्तव्यापित्ववचनात्तत्साम्यमेव सिध्यतीत्यत आह— अव्यक्तस्येति। महतो महत्त्वेऽव्यक्तव्यापित्वे चेत्यपि ग्राह्यम्। अव्यक्तस्यानन्तत्वं कुतः? इत्यत आह— महान्तं चेति। अनन्तस्य विष्णोः प्रतिमाभूतस्य तस्यान्तः परिमाणं परिच्छेदः, कार्यतः सङ्ख्यानं सङ्ख्यापरिच्छेदोऽपि न विद्यते। प्रकारान्तरेणानन्तरूपशब्दद्वयस्यार्थभेदमाह— तानि चेति। एकस्यानन्तरूपशब्दस्यानन्तसङ्ख्यारूपार्थत्वे स्थिते सत्येकत्रानन्तरूपशब्दे तानि चानन्तसङ्ख्यानि रूपाणि प्रत्येकमपरिच्छिन्नपरिमाणानीत्यर्थो भवतीत्यर्थः। अत्र प्रमाणमाह— असङ्ख्याता इति। ज्ञानकाः ज्ञानानन्दात्मकाः। अयं बहिर्व्याप्त आकाशः परमात्मा यावान् यावत्परिमाणस्तावानेवैषोऽन्तर्हृदये स्थितः परमात्मेत्यर्थः। गर्भे जठरे जगद्यस्यासौ तथोक्तः। अवसन्नोऽवनतः। गर्भजगत्त्वेनापरिच्छिन्नपरिमाणत्वं लभ्यते। कृष्णादीनामप्यपरिच्छिन्नपरिमाणत्वं वदन्तो वक्तव्याः। तत्राल्पपरिमाणप्रतीतिर्या सा किं भ्रान्तिरुत प्रमितिः? इति। आद्ये क्रियादेर्द्विभुजचतुर्भुजादेश्च मिथ्यात्वं स्यात्। न द्वितीयः, युगपदेकत्राल्पानल्पपरिमाणसमावेशस्यायुक्तत्वात्। अतोऽपरिच्छिन्नपरिमाणोक्तिरुपचारमात्रमिति चेत्, किमिदमनेकपरिमाणत्वस्यायुक्तत्वं? किमन्यत्रादर्शनेनासम्भावितत्वम्? उत नायमल्पानल्पपरिमाणोपेतो द्रव्यत्वात्। नायं परममहत्परिमाणः; अल्पपरिमाणत्वात्; पटवदित्यादियुक्तिविरुद्धत्वम्।

९ आ. मा. भा.— न चैतदयुक्तम्, अचिन्त्यशक्तित्वादीश्वरस्य। 'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्' इति च श्रीविष्णुपुराणे [ ]॥ "नैषा तर्केण मतिरापनेया" [ कठो. २।९ ] इति श्रुतिः। अतिप्रसङ्गस्तु महातात्पर्यवशात् वाक्यबलाच्चापनेयः। न हि घटवत्कश्चित्पदार्थो न दृष्ट इत्येतावता प्रमाणदृष्टः सन्निराक्रियते। केषुचित्पदार्थेषु वाक्यव्यवस्था अचिन्त्यशक्तित्वाभावादङ्गीक्रियते।

६ ज. प्र. दी.— अथातिप्रसङ्गदुष्टत्वं किंवाऽप्रामाणिकत्वम्? नाद्य इत्याह— न चेति। अघटितघटनाशक्त्युपेते किं नामासम्भावितमिति भावः। न द्वितीयः, ईश्वरस्य युक्त्यगोचरत्वेन तदनवकाशादिति भावेनाह— अचिन्त्या इति। एषा ब्रह्मविषया। अपनेया निराकार्या। अतिप्रसङ्गोऽपि किं यदीश्वरो विरुद्धपरिमाणद्वयोपेतः स्यात् तदा निर्दुःखो दुःखी स्यादितीश्वरमधिकृत्य स्यात्? उत प्राणादयोऽपि तथा स्युः? तथा चाणुश्चेत्यादिका तद्विषयवाक्यव्यवस्था नाङ्गीक्रियेतेत्यन्यदधिकृत्य स्यात्?। आद्यं दूषयति— अतिप्रसङ्गस्त्विति। अविशेषमाश्रित्य ह्ययमतिप्रसङ्गः, नचासावस्ति; निर्दोषानन्तगुणत्वे हरेः श्रुतीनां महातात्पर्येण दुःखादेस्तद्विरोधात्, परिमाणद्वयस्य तु तदविरोधात्, दुःखादेरप्रामाणिकत्वात्, परिमाणद्वयस्य तूक्तवक्ष्यमाणवाक्यसिद्धत्वादिति भावः। विपर्ययापर्यवसायी चायं प्रसङ्ग इति भावेनाह— न हीति। यदि घटः पृथुबुध्नोदराकारः स्यात्तर्हि पदार्थो न स्यात् तथाविधस्य पदार्थस्य कस्याप्यदृष्टत्वादिति प्रसङ्गो यथा न युक्तः, भवति च पदार्थस्तस्मात्पृथुबुध्नोदराकारः, न भवतीति विपर्ययस्य प्रमाणबाधितत्वेनापर्यवसानात्, तथात्वेन तस्य धर्मिग्राहकप्रमाणदृष्टत्वात्। तथा प्रकृतेऽपीति। एतेनानुमानानां कालात्ययापदिष्टत्वं चोक्तं भवति। प्राणादिकमधिकृत्यातिप्रसङ्ग इति द्वितीयं निराकरोति— केषुचिदिति। अत्रापि सम्भावनाहेतुभावाभावाभ्यां विशेषादविशेषोऽसिद्ध इति भावः।

५ आ. मा. भा.— "गुणाः श्रुताः सुविरुद्धाश्च देवे सन्त्यश्रुता अपि नैवात्र शङ्का। चिन्त्या अचिन्त्याश्च तथैव दोषाः श्रुताश्च नाज्ञैर्हि तथा प्रतीताः॥ एवं परेऽन्यत्र श्रुताश्रुतानां गुणागुणानां च क्रमाद्व्यवस्था" इति जाबालिखिले श्रुतेश्च। उपचारत्वपरिहाराय न मध्यमिति। अन्यथा आद्यन्तभावेनैव तत्सिद्धेः। "विश्वरूपः पूर्णरूपः स विश्वरूपो अनूनरूपो अतोऽयं सोऽनन्तरूपो न हि नाशोऽस्ति तस्य" इति शाण्डिल्यशाखायाम्॥ १६॥

६ ज. प्र. दी.— चतुर्थं निरस्यति— गुणा इति। श्रुता अश्रुता अपि सुविरुद्धा अन्यत्र सहादृष्टा अविरुद्धाश्च। तथा गुणा इव दोषाः श्रुता अश्रुताश्च नैव सन्ति, किन्त्वज्ञैर्मिथ्यादृष्टिभिर्हि तथा सन्तीति प्रतीताः। एवं परे ईश्वरे स्थितिः, ततोऽन्यत्र तु श्रुतानां प्रमाणान्तरसिद्धानां च गुणदोषाणां व्यवस्थावस्थानम्। तच्च क्रमादुत्तमेषु गुणबाहुल्यं दोषाल्पत्वं, मध्यमेषूभयसाम्यम्, अवरेषु दोषबाहुल्यं गुणाल्पत्वमिति। तदेवमसम्भावनाद्यभावान्न भगवति अपरिच्छिन्नपरिमाणत्वोक्तेरुपचरितत्वं कल्प्यम्। अर्जुनेनापि तन्निराकृतमिति भावेनाह— उपचारत्वेति। 'नान्तं न पुनस्तवादिं पश्यामि' इत्याद्यन्ताभावोक्तेरुपचरितत्वपरिहाराय न मध्यमित्युक्तम्। मध्यनिराकरणार्थमेव तत्किं न स्यात्? इत्यत आह- अन्यथेति। उपचारत्वपरिहारार्थत्वाभावे तद्वैयर्थ्यं स्यादिति शेषः। कुतः? आद्यन्तसापेक्षत्वात् मध्यस्य तदभावोक्त्यैव तदभावसिद्धेः। विश्वं महदादिकं रूपं स्वरूपमस्येति प्रतीतिं सप्रमाणकं निवारयति— विश्वरूप इति। एतच्चाभ्यासरूपमिति मन्तव्यम्॥ १६॥

७ ह. पै. भा.—॥ १६॥

८ वें. व्र. गि.— किञ्च, हे विश्वेश्वर! अनेकानि बाह्वादीनि यस्य तम्; तथा अनन्तमपरिच्छिन्नं रूपं यस्य तं त्वां सर्वतः पश्यामि। एतदेवोत्तरार्धेनोपपादयति- नान्तमिति। पुनश्शब्दो हेत्वर्थः। हे विश्वरूप! यस्मात्तव विश्वरूपस्य नान्तमवसानं न मध्यं नादिं च पश्यामि तस्मादनन्तरूपमित्यर्थः॥ १६॥

९ व० त० दी०— अनेकेति। कूटस्थत्वात्॥ १६॥

१० पु. अ. त.— यस्य देहे न एतान् पश्यामि तादृशं त्वां च पश्यामीत्याह भ्रमाभावाय— अनेकेति। अनेकानि बाह्वादीनि यस्य। सर्वतोऽनन्तानि रूपाणि यस्यैतादृशं त्वां पश्यामि। तादृशानेकरूपस्यापि तव अन्तं पूर्णभावं, मध्यं स्थितिस्थानम्, आदिमुत्पत्तिस्थानं न पश्यामि। विश्वेश्वर विश्वपरिपालक! किं बहुना? विश्वरूपं पश्यामि॥ १६॥

११ नी० भा० दी०— अनेके अनन्ता बाहव उदराणि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिंस्तदनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं, सर्वतश्चतुर्दिक्षु उपर्यधश्च अनन्तमपरिच्छिन्नं रूपमस्य तम्। अनन्तत्वमेवाह— नान्तमिति। दीर्घरज्ज्वा इव तवाद्यन्तौ दैशिकौ न स्त इत्यर्थः॥ १६॥

**किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतोदीप्तिमन्तम्।**
**पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥ १७॥**

१ शां० भा०— किञ्च— किरीटिनं किरीटं नाम शिरोभूषणविशेषस्तद्यस्यास्ति स किरीटी तं किरीटिनं, तथा गदिनं गदा यस्य विद्यत इति गदी तं गदिनं, तथा चक्रिणं चक्रमस्यास्तीति चक्री तं

चक्रिणं च, तेजोराशिं तेजःपुञ्जं सर्वतोदीप्तिमन्तं सर्वतो दीप्तिर्यस्यास्ति स सर्वतोदीप्तिमान्, तं सर्वतोदीप्तिमन्तं पश्यामि, त्वां दुर्निरीक्ष्यं दुःखेन निरीक्ष्यो दुर्निरीक्ष्यस्तं दुर्निरीक्ष्यं, समन्तात्समन्ततः सर्वत्र दीप्तानलार्कद्युतिमनलश्चार्कश्चानलार्कौ दीप्तावनलार्कौ तयोर्दीप्तानलार्कयोर्द्युतिरिव द्युतिस्तेजो यस्य तव स तं दीप्तानलार्कद्युतिम्; अप्रमेयं न प्रमेयमप्रमेयमशक्यपरिच्छेदमित्यर्थः ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.—विश्वरूपवन्तं भगवन्तमेव प्रकारान्तरेण प्रपञ्चयति— किञ्चेति । परिच्छिन्नत्वं व्यावर्तयति— सर्वत इति । दुर्निरीक्ष्यं पश्यामीत्यधिकारिभेदादविरुद्धम् । पुरतो वा पृष्ठतो वा पार्श्वतो वा नास्य दर्शनं, किन्तु सर्वत्रेत्याह— समन्तत इति । दीप्तिमत्त्वं दृष्टान्तेन स्पष्टयति- दीप्तेति ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तं समन्ताद्दुर्निरीक्ष्यं दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयं त्वां किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च पश्यामि ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— किरीटिनमिति । 'किरीटिनम्' इत्यादेः पाठक्रममनादृत्य उपलम्भार्थक्रमानुरोधेनान्वयमाह— तेजोराशिमित्यादिना । 'तेजोराशिं' इति धर्मिस्वरूपनिर्देशः । सर्वतोदीप्तिमन्तं "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [ कठो. १।५।१५ ] इत्यादिवत्सर्वव्यापिप्रभायोगिनम् । 'समन्तात्' इति कृत्स्नविग्रहप्रदेशविवक्षयाऽभिहितम् । 'दीप्तानलार्कद्युतिम्' इति दुर्निरीक्षत्वे हेतुः । अत्र द्युतिशब्देन किरणरूपं तेजो विवक्षितम् ; अतो 'दीप्तिमन्तम्' इत्यनेनापौनरुक्त्यम् । यद्वा पूर्वत्र सर्वव्यापित्वे तात्पर्यम्; इह तु दुष्प्रेक्षत्वहेतुभूतातितीव्रत्वे । अप्रमेयं ईदृक्त्वेयत्ताभ्यां परिच्छेत्तुमशक्यम् । एतावता सामान्योपलम्भकथनमित्यभिप्रायेण अप्रमेयं त्वामित्यवच्छिद्योक्तम् । अदृष्टपूर्वरूपदर्शनेऽपि त्वदसाधारणचिह्नैः त्वां प्रत्यभिजानामीत्यभिप्रायेणाह किरीटिनं गदिनं चक्रिणं पश्यामि इति । किरीटिनमिति भूषणवर्गोपलक्षणम् । तत्रापि किरीटनिर्देशस्तस्य सर्वेश्वरत्वव्यञ्जकत्वात् । किरीटकरण्डिकाभेदेन द्विधा हि मुकुटजातिः ; तत्र किरीट उत्कृष्टधार्यः । 'गदिनं चक्रिणं' इत्यायुधवर्गोपलक्षणम् । तत्रापि चक्रादेर्व्यपदेशो भगवदसाधारणत्वेन प्रसिद्धत्वात् ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— अनलार्कद्युतिमित्युक्ते मितत्वशङ्कामपाकरोति— अप्रमेयमिति ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— नन्वनलार्कद्युतिमित्युक्तत्वात् सहस्रशब्दोऽनन्तवाचीत्याद्युक्तमयुक्तमिति चेत्, न; एतदेवाशङ्क्य प्रत्यायनार्थमेवैतदुक्तम्, वस्तुतस्त्वपरिच्छिन्नद्युतिरेव भगवानिति स्वयमेवोक्तत्वादित्याह— अनलेति । इत्युक्ते जातां द्युतेर्मितत्वशङ्काम् । एतच्च सविशेषणविशेषत्वात् द्युत्या सम्बध्यते ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च, किरीटिनमिति । समन्ताद्दीप्तेति समस्तं पदम् । समन्तात्सर्वतोदीप्ताः प्रज्वलन्तश्चेदनलार्का भवेयुः, 'दिवि सूर्यसहस्रस्य' [ ११।१२ ] इति प्रागुक्तेः । तदा तेषां द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तम् ,अत एव दुर्निरीक्ष्यं दिव्यचक्षुर्विना निरीक्षितुमशक्यम् । सयकारपाठे तु दुश्शब्दो नञर्थः, अनिरीक्ष्यमित्यर्थः । दुर्निरीक्षत्वादेव अप्रमेयं 'अयमित्थम्भूतः' इति निश्चेतुमशक्यम् । एवम्भूतमपि त्वां सर्वतो दीप्तिमन्तं तेजःपुञ्जं किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च पश्यामि त्वत्प्रसादादित्यर्थः ॥ १७ ॥

९ ब० त० दी०— किरीटिनमिति । अत्र बहव एव पारमेष्ठ्यपदभूताः किरीटादयो ज्ञेयाः, नैकाङ्गत्वात् ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च किरीटिनं मुकुटालङ्कारयुक्तं रसात्मकम् । गदिनं सकलप्राणाधिदैविकधर्मधारिणम् । चक्रिणं तेजोरूपसुदर्शनधारिणम् । चकारेण तद्वत् मोक्षदानार्थमपि चक्रधारित्वं ज्ञापितम् । तेजोराशिं तेजःपुञ्जात्मकम् । सर्वतो दीप्तिमन्तं परित उद्दीपककिरणयुक्तम् । तेजोयुक्तत्वे दीप्तियुक्तत्वे च दृष्टान्तमाह — दीप्तानलार्कद्युतिं दीप्तौ यावनलार्कौ तयोर्द्युतिरिव द्युतिर्यस्य तादृशम् । अप्रमेयं प्रमातुमयोग्यं त्वां समन्तात् दुर्निरीक्ष्यं पश्यामि ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— किरीटगदाचक्रधारिणं दीप्तिमत्त्वादेव दुर्निरीक्ष्यं द्रष्टुमशक्यं समन्तात्सर्वतो ये दीप्ता अनला अर्काश्च तद्वत् द्युतिर्यस्य तम् , समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमित्येकं पदम् । अत एवाप्रमेयं द्रष्टुमशक्यपरिच्छेदम् ॥ १७ ॥

**त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।**
**त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥**

१ **शां. भा.**— इत एव ते योगशक्तिदर्शनादनुमिनोमि— **त्वमक्षरमिति** । त्वमक्षरं न क्षरतीति परमं ब्रह्म वेदितव्यं ज्ञातव्यं मुमुक्षुभिः। त्वमस्य विश्वस्य समस्तस्य जगतः परं प्रकृष्टं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं, पर आश्रय इत्यर्थः; किञ्च त्वमव्ययो न तव व्ययो विद्यत इत्यव्ययः, शाश्वतधर्मगोप्ता शश्वद्भवः शाश्वतो नित्यो धर्मस्तस्य गोप्ता शाश्वतधर्मगोप्ता, सनातनश्चिरन्तनस्त्वं पुरुषः परो मतोऽभिप्रेतो मे मम ॥ १८ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— सप्रपञ्चे भगवद्रूपे प्रकृते प्रकरणविरुद्धं 'त्वमक्षरं' इत्यादिनिरुपाधिकवचनमित्याशङ्क्याऽऽह— **इत एवेति** । योगशक्तिरैश्वर्यातिशयः । न क्षरतीति निष्प्रपञ्चत्वमुच्यते, परमपुरुषार्थत्वात्परमार्थत्वाच्च ज्ञातव्यत्वम् । 'यस्मिन्द्यौः पृथिवी' इत्यादौ प्रपञ्चायतनस्यैव ततो निष्कृष्टस्य ज्ञातव्यत्वश्रवणात्कुतो ब्रह्मणो ज्ञातव्यत्वं ? तत्राऽऽह— **त्वमस्येति** । निष्प्रपञ्चस्य ब्रह्मणो ज्ञेयत्वे हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । अविनाशित्वात्तवैव ज्ञातव्यत्वादतिरिक्तस्य नाशित्वेन हेयत्वादित्यर्थः। ज्ञानकर्मात्मनो धर्मस्य नित्यत्वं वेदप्रमाणकत्वम् । 'धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि'[४।८] इत्युक्तत्वाद्गोप्ता रक्षिता ॥१८॥

३ **रा. भा.**— उपनिषत्सु "द्वे विद्ये वेदितव्ये" [मुं. उ. १।१।४] इत्यादिषु वेदितव्यतया निर्दिष्टं परममक्षरं त्वमेव । अस्य विश्वस्य परं निधानं विश्वस्यास्य परमाधारभूतस्त्वमेव । त्वमव्ययः व्ययरहितः; यत्स्वरूपो यद्गुणो यद्विभवश्च त्वं तेनैव रूपेण सर्वदाऽवतिष्ठसे। शाश्वतधर्मगोप्ता शाश्वतस्य नित्यस्य वैदिकस्य धर्मस्य एवमादिभिरवतारैस्त्वमेव गोप्ता। सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे— "वेदाहमेतं पुरुषं महान्तं" [यजुस्सं. ३१।१८ श्वे. उ. ३।८] "परात्परं पुरुषम्" [ मुं. उ. ३।२।८ ] इत्यादिषूदितः सनातनपुरुषस्त्वमेवेति मे मतः ज्ञातः ; यदुकुलतिलकस्त्वमेवम्भूत इदानीं साक्षात्कृतो मयेत्यर्थः ॥ १८ ॥

४ **वे. ता. चं.**— **त्वमक्षरमिति** । 'त्वमक्षरम्' इत्यादिना भगवत्प्रभावदर्शनादेवमक्षरवेदितव्याव्ययसनातनपुरुषादिशब्दैर्मुण्डकोपनिषदादिस्मारणमित्यभिप्रायेणाह— **उपनिषत्स्विति** । **निर्दिष्टमिति**— "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" [ मुं. उ. १।१।५ ] इत्यादिनेति शेषः । 'विष्णुसंज्ञं सर्वाधारं धाम' इत्याद्यनुसन्धानेनाह— **विश्वस्यास्य परमाधारभूत इति** । निधीयतेऽस्मिन्निति निधानम् ; निधानानामपि निधानत्वात्परं निधानम् । 'आधारभूतं विश्वस्य' इत्याद्युक्तजीवव्यवच्छेदार्थः परशब्दः । "भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः । प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः" [ कौ. उ. ३।९ ] इति हि श्रूयते ।

---

१ **अभिनवगुप्तपादाचार्यास्तु**— 'सात्त्वतधर्मगोप्ता' इति पाठमालम्ब्य— 'यत्सत्त्वं क्रियाज्ञानयोरुभयोरपि भेदाप्रतिभासात्मकं परमगुरौ महादेवेऽर्पणम् , तथा सत्तात्मकं प्रकाशरूपं सतत्त्वं विद्यते येषां ते सात्त्वताः, तेषां धर्मोऽनवरतग्रहणसन्न्यासपरत्वात् सृष्टिसंहारविषयः सकलमार्गोत्तीर्णः, तं सङ्गोपायते । एतदेवात्राध्याये रहस्यं प्रायशो **देवीस्तोत्रविवृतौ** मया प्रकाशितम् , तत्सहृदयैः सोपदेशैः स्वयमेवावगम्यत इति किं पुनः पुनः स्फुटतरप्रकाशनवाचालतया ?— इत्याहुः ॥ अयं पाठः ब्रह्म सत्वं वा सत् , तद्वन्तः सत्त्वन्तो ब्रह्मविदः सात्त्विका वा । 'तसौ मत्वर्थे' (अष्टा.१।४।१९) इति भत्वाज्जश्त्वाभावः । तेषामिमे सात्त्वा धर्मास्तेषां गोप्ता इति; सात्त्वतं पाञ्चरात्रागमाख्यं तन्त्रम् , 'तन्त्रं सात्त्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः । ' ( भाग. १।३।८ ) 'सात्त्वतं विधिमास्थाय प्राक् सूर्यमुखनिस्सृतम् ' ( म. भा. १२।२३५।१९ ) इत्याद्युक्तेः । तत्रोक्तानां धर्माणां गोप्ता इति; 'पुरुहोत्रस्त्वनोः पुत्रस्तस्यायुः सात्वतस्ततः । ' (भाग.९।२४।६ ) इत्यादिनोपवर्णितसात्त्वतकुलोत्पन्नः सात्त्वतः । अत एवोक्तम् 'रामो दाशरथिश्चैव सात्त्वतः कल्किरेव च' (म. भा. १२।३३९।१०४) इति । अथवा— सत्त्वेन तायते पाल्यते वा, सत्त्वं तनोति विस्तारयति वा सत्त्वतः, सत्त्वमस्त्यस्मिन्निति सत्त्वतः, सत्त्वपूर्वकमेव सर्वं कर्माचरतीति सत्त्वतः, सत्त्वत एव सात्त्वतः । 'तायृ सन्तानपालनयोः ' ( धा. पा.१।४८९ ) 'तनु विस्तारे ' ( धा.पा.८।१ ) आभ्यां सत्त्वशब्दपूर्वाभ्यां डः 'तप्पर्वमरुद्भ्याम् ' ( वार्तिकं) इत्यत्र श्रुतो मत्वर्थीयस्तप्प्रत्ययो बाहुलकात्सत्त्वशब्दादपि । सात्त्वतं पाञ्चरात्रादि, तज्जन्यज्ञानेन दृष्टः सत्त्वतो वा । तदुक्तम्— 'सत्त्वान्न च्युतपूर्वोऽहं सत्त्वं वै विद्धि मत्कृतम् । जन्मनीहाभवेत्सत्त्वं पौर्विकं मे धनञ्जय ! ॥ निराशीः कर्मसंयुक्तः सत्वतश्चाप्यकल्मषः सात्त्वतज्ञानदृष्टोऽहं सत्त्वतामिति सत्त्वतः ॥ ' ( म. भा. १२।३४२।७७,७८ ) इति । तत्सम्बुद्धिः सात्त्वत ! त्वं धर्मगोप्ता मतो मे इत्याद्यपि व्याख्यानमर्हतीति कृतं पल्लवितेन । —अभिगीता ।

अनन्याधारत्वाय परमशब्देन व्याक्रिया । अव्ययशब्देन "तदव्ययम्" [ मुं उ. १।१।६ ] "अनन्तमव्ययं कविम्" [ म. ना. ९।३ ] इत्यादिकं स्मारितम् । स्वरूपस्य गुणस्य विभवस्य वा यदा कदाचित्प्रच्युतिर्हि व्ययः ; स सर्वोऽप्यस्य नास्तीत्यविशेषिताव्ययशब्देनोच्यते, दृश्यमानाकारानुवादित्वं शब्दनिर्दिष्टविशेषकत्वादव्ययशब्दस्य जीवादिसाधारणस्वरूपमात्रनित्यतोक्तावतिशयाभावादित्यभिप्रायेणाह — **यत्स्वरूपो यद्गुणो यद्विभवश्चेति** । अत्र विभवशब्देन नित्यविभूतिर्विवक्षिता ; विभूतियुगलविवक्षायां तु द्रव्यस्वरूपस्यान्यूनानतिरिक्तत्वमात्रमिह विवक्षितमिति भाव्यम् । शश्वद्भवः शाश्वतः । शाश्वतत्वे हेतुः नित्यागममूलत्वमित्यभिप्रायेण— **वैदिकस्ये**त्युक्तम् । 'नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता' इत्यादिष्वपि वैदिक एव विशेषधर्म उच्यत इत्यभिप्रायः । प्रत्यक्षशास्त्राभ्यामवगतोऽयमर्थ उच्यत इत्यभिप्रायेण— **एवमादिभिरवतारै**रित्युक्तम् । पुरुषविषयेण श्रुतिद्वयेनोपास्यत्वप्राप्यत्वप्रदर्शनम् । आदिशब्देन "येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" [ मुं. उ. १।२।१३ ] इत्यादिकं क्रोडीकृतम् । सनातनशब्देन सत्यशब्दोपबृंहणम् । 'मतः' इति स्वाभिमानमात्रप्रतीतिव्युदासायाह **ज्ञात** इति । अत्र श्लोके 'त्वम्' इति प्राचीनमांसचक्षुःप्रतिपन्नाकारानुवादः । शेषेण तु दिव्यचक्षुर्लब्धसाक्षात्कृताकारकथनम् । प्रभावमात्रज्ञानस्य प्रागेव सिद्धत्वादित्यभिप्रायेणाह **यदुकुले**ति । मतशब्दोऽत्र सामान्यरूपः 'पश्यामि' इत्युक्तसाक्षात्काराख्यविशेषपर्यवसित इत्यभिप्रायेण— **इदानीं साक्षात्कृत** इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.— ॥ १८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं तवातर्क्यनिरतिशयैश्वर्यदर्शनात्त्वमेव परं ब्रह्मेति निश्चिनोमीत्याह— **त्वमक्षरमिति** । उपनिषत्सु "द्वे विद्ये वेदितव्ये" [ मुं. उ. १।१।४ ] इत्यादिषु वेदितव्यतया निर्दिष्टं परमं न क्षरतीत्यक्षरं ब्रह्मैव । त्वमेव चाऽस्य विश्वस्य परमुत्कृष्टं निधीयतेऽस्मिन्निति निधानमाश्रयः । त्वमेव च व्ययेन नाशेन रहितः शाश्वतस्य वैदिकनित्यस्य धर्मस्य गोप्ता पालयिता । त्वमेव च सनातनश्चिरन्तनः पुरुषः "वेदाहमेतं पुरुषम्" [ यजुस्सं. ३१।१८ ] "परात्परं पुरुषमुपैति" [ मुं. उ. ३।२।८ ] इत्यादिश्रुत्युक्त इति मे मतः विदितोऽसि । एतावन्तं कालमपरिमितबलपराक्रमशाली सर्वलोकमान्यस्त्वं महापुरुष इत्येव स्थितम् । इदानीमेतदैश्वर्यप्रदर्शनात्परं ब्रह्मैव त्वमिति निश्चयो मम जात इत्यर्थः ॥१८॥

९ व० त० दी०— यस्मादेवं तस्मात्— **त्वमक्षरमिति** । ब्रह्मविशेषणतया व्याख्येयं ज्ञानिभिर्वेदितव्यं यदुक्तं "तत्त्वमसि" [ छां. उ. ६।८।७-१५ ] 'सनातनः पुरुषः' इति समष्टिभूतस्याप्यव्यक्तः कारणभूतः पुरुषलिङ्गकः । न तु स्त्रीलिङ्गाव्यक्ताप्रकृतिरेवम्भूता सर्वत्र निर्वक्तुं शक्या अव्यक्तस्याक्षरस्य पुरुषत्वेन निर्देशात् ॥१८॥

१० पु. अ. त.— एवम्भूतस्वरूपदर्शनेन स्वज्ञानार्थं निवेदयति— **त्वमिति** । अक्षरं अक्षरस्वरूपं त्वमेव परमं ब्रह्म । त्वं वेदितव्यं भक्तानां ज्ञानिनां ज्ञेयरूपस्त्वमेव । अक्षरत्वेन सर्वोत्पत्तिकारणता निरूपिता । लयस्वरूपमाह— त्वमस्य विश्वस्य परमुत्कृष्टं मोक्षरूपं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम् । पालकत्वमाह— शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य गोप्ता पालको रक्षकस्त्वम् । एवमपि न गुणात्मकः, किन्तु अव्ययोऽविनाशी नित्यः । एवं सर्वधर्मानुक्त्वा मुख्यं स्वनिश्चितताmाह— सनातनः पुरुषः पुरुषोत्तमो मे मम मतः सम्मत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं तव योगैश्वर्यदर्शनात्त्वामेवमवैमीति वदन्नप्रमेयत्वमेव विवृणोति— **त्वमिति** । परममक्षरमस्थूलादिलक्षणं 'अक्षरं ब्रह्म परमं' [८।३] इत्यत्र प्रागुक्तं निष्कलं ब्रह्म तदेव त्वमसि । एतेन सगुणरूपस्य निर्गुणज्ञापकत्वमुक्तं, शाखाग्रस्येव चन्द्रज्ञापकत्वं अतएव वेदितव्यं वेदान्तप्रमाणेन ज्ञातुं योग्यं, न तूपासनीयम् । सगुणं ब्रह्मापि त्वमेवेत्याह— **त्वमस्येति** । निधानं लयस्थानं, एतेन कारणत्वमुक्तम् । अव्ययः अमृतः देवत्वात् । 'शाश्वतस्य वैदिकस्य धर्मस्य गोप्ता' इत्यनेन कार्यब्रह्मभूतहिरण्यगर्भरूपत्वमुक्तम् । सनातनश्चिरन्तनोऽनादिपुरुषो जीवात्मा सोऽपि त्वमेव मे मम मतः । एवं विश्वरूपदर्शने जीवब्रह्मणोरैक्यं शाखया चन्द्र इवाधिगम्यत इत्युक्तम् ॥ १८ ॥

## अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्[1] ।
## पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

---

१ अत्र वामनः— नेत्रमर्को मनश्चन्द्र इति श्रुत्यादिषूदितम् । कथं सुधांशोर्नेत्रत्वं तद्विरुद्धमिहोच्यते ? ॥ इत्याशङ्क्य-
नीयतेः (धा. पा. ९०१) ष्ट्रनि (अष्टा. ३।२।१८२) निष्पन्नो 'नेत्रो नेतरि वाच्यवत्' (विश्व. रा. ४३) ।
मनोऽपि देहं नयति नेत्रताऽस्य ततोऽक्षिवत् ॥—

**१ शां. भा.**—किञ्च— अनादिमध्यान्तं आदिश्च मध्यं चान्तश्च न विद्यते यस्य सोऽयमनादिमध्यान्तः, तं त्वामनादिमध्यान्तं, अनन्तवीर्यं न तव वीर्यस्यान्तोऽस्तीत्यनन्तवीर्यस्तं त्वामनन्तवीर्यं, तथाऽनन्तबाहुं अनन्ता बाहवो यस्य तव स त्वमनन्तबाहुस्तं त्वामनन्तबाहुं, शशिसूर्यनेत्रं शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य तव स त्वं शशिसूर्यनेत्रस्तं त्वां शशिसूर्यनेत्रं चन्द्रादित्यनयनं, पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं दीप्तश्चासौ हुताशश्च स वक्त्रं यस्य तव स त्वं दीप्तहुताशवक्त्रस्तं त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं, स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं तापयन्तम् ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवतो विश्वरूपाख्यं रूपमेव पुनर्विवृणोति— **किञ्चे**ति। हुतमश्नातीति हुताशो वह्निः ॥ १९ ॥

**३ रा. भा.**— अनादिमध्यान्तं आदिमध्यान्तरहितम्, अनन्तवीर्यं अनवधिकातिशयवीर्यम्; वीर्यशब्दः प्रदर्शनार्थः; अनवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजसां निधिमित्यर्थः। अनन्तबाहुं असङ्ख्येयबाहुम्, सोऽपि प्रदर्शनार्थः; अनन्तबाहूदरपादवक्त्रादिकं; शशिसूर्यनेत्रं शशिवत्सूर्यवच्च प्रसादप्रतापयुक्तसर्वनेत्रम्, देवादीननुकूलान् नमस्कारादि कुर्वाणान्प्रति प्रसादः, तद्विपरीतानसुरराक्षसादीन् प्रति प्रतापः; 'रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः' [ ११।३६ ] इति हि वक्ष्यते। दीप्तहुताशवक्त्रं प्रदीप्तकालानलवत्संहारानुगुणवक्त्रम्; स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं— तेजः पराभिभवनसामर्थ्यम्— स्वकीयेन तेजसा विश्वमिदं तपन्तं त्वां पश्यामि। एवम्भूतं सर्वस्य स्रष्टारं, सर्वस्याधारभूतं, सर्वस्य प्रशासितारं, सर्वस्य संहर्तारं, ज्ञानाद्यपरिमितगुणसागरम् आदिमध्यान्तरहितमेवम्भूतदिव्यदेहं त्वां यथोपदेशं साक्षात्करोमीत्यर्थः। एकस्मिन् दिव्यदेहे अनेकोदरादिकं कथम्? इत्थमुपपद्यते— एकस्मात्कटिप्रदेशादनन्तपरिमाणादूर्ध्वमुद्गता यथोदितोदरादयः, अधश्च यथोदितदिव्यपादाः; तत्रैकस्मिन्मुखे नेत्रद्वयमिति च न विरोधः ॥ १९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'अनादिमध्यान्तम्' इति नञस्तदन्यपरत्वे 'सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन!' [ १०।३२ ] 'अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च' [ १०। २० ] इत्यादिभिर्विरुध्येत; अतो निषेधपरतामाह **आदिमध्यान्तरहित**मिति। 'नान्तं न मध्यम्' [११।१६] इत्यादिकं स्वरूपविषयम्; इदं तु विग्रहविषयमित्यपौनरुक्त्यम्। यद्वा उत्पत्तिस्थितिनाशरूपविकारनिषेधः क्वचित्; अन्यत्र तत्तद्धेतुनिषेध इत्यादिरूपेण विभजनीयम्। अथवाऽत्र कालाभिमानिरूपदर्शनात्। 'अनादिर्भगवान्कालः' [ वि. पु. १।२।२६] इत्यादिवत् कालाख्यविभूतिनित्यत्वविवक्षा। वीर्यस्यानन्त्यं नाम तारतम्यप्रयुक्तावच्छेदनिवृत्तिरित्यभिप्रायेणाह— **अनवधिकातिशयवीर्य**मिति। निर्दिष्टमात्रपरत्वव्युदासाय सन्नियोगशिष्टानामन्यतरोक्तावितरदपि सिद्ध्यतीत्यभिप्रायेणाह **वीर्यशब्दः प्रदर्शनार्थ** इति। 'अनेकबाहुम्' [ ११।१६ ] इति बाहुनानात्वमात्रं पूर्वमुक्तम्; अनन्तबाहुम्' इति तु सङ्ख्यानिवृत्तिरुच्यत इत्यपौनरुक्त्यमित्यभिप्रायेणाह **असङ्ख्येयबाहु**मिति। 'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्' [ ११।१६ ] इति पूर्वसमादिष्टसमुदाये कस्यचिदसङ्ख्येयत्वविधानमितरेषामपि प्रदर्शनार्थमित्यभिप्रायेणाह **सोऽपी**ति। 'शशिसूर्यनेत्रम्' इत्यत्र चन्द्रसूर्ययोरेव न नेत्रत्वरूपणम्, रूपणप्रकरणाद्यभावात्, अस्य च रूपस्यानन्तनयनविशिष्टत्वात्; अतः साधर्म्यमेव विवक्षितम्। तत्रापि केषाञ्चिच्छशितुल्यत्वं केषाञ्चित्सूर्यतुल्यत्वमिति विभाजकाभावात्सर्वेषामुभयतुल्यत्वं विवक्षितमित्याह **शशिव**दिति। युगपत्प्रसादप्रतापयोर्विरुद्धयोर्विषयं व्यवस्थापयति **देवादी**निति। तदेव वक्ष्यमाणेन स्थापयति **रक्षांसी**ति। 'दीप्तानलार्कद्युतिम्' [ ११।१६ ] इति प्रागभिधानेऽपि पुनः 'दीप्तहुताशवक्त्रम्' इति विशेषतोऽभिधानं वक्त्रसाध्यजगद्ग्रसनाख्यविशेषतात्पर्येणेत्यभिप्रायेणाह **प्रदीप्तकालानलव**दिति। **संहारानुगुणे**ति। साधर्म्यकथनम्। अत्र 'हुताश एव वक्त्रं' इति परोक्तनिरसनाय 'कालानलसन्निभानि' [ ११।२५ ] इति वक्ष्यमाणानुसन्धानेन **कालानलव**दित्युक्तम्। पावकश्च वसुगणेऽन्तर्भूतः पृथगुक्तः। 'विश्वमिदं तपन्तम्' इति वचनादत्र

---

—अर्थद्वयमभिप्रेत्य मनश्चक्षुरिति क्रमात्। अत्र नेत्रपदं पार्थः श्लेषेणापार्थमैरिरत् ॥ —इति प्रत्यपीपदत्।

तत् 'द्यौर्मूर्द्धा ते चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ' 'सूर्याचन्द्रमसौ चक्षुः' ( म. भा. १२।३४२।६६ ) इत्यादिषु शतशः शशाङ्कस्यापि भगवन्नेत्रत्वदर्शनान्नातीव रुचिरम्। एतेन 'अनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्' ( प. सू. खं. १४।१४५ ) इति पद्यमपि व्याख्यातम्।

— **अविगीता**।

तेजश्शब्देन अन्यानपेक्षत्वं न विवक्षितम् , प्रकृतानुपयोगात् ; अतस्तदुचितमर्थमाह **तेजस** इति । 'कालः पचति भूतानि' इत्यादेः इदं निदानसूचनमित्यभिप्रायेणाह **स्वकीयेने**ति । पूर्वं श्रुतमनन्तरं दिव्यचक्षुषा साक्षात्कृतं सर्वमाकारं सङ्कलय्याह **एव**मिति । एकस्य देहस्य अनेकबाहुमुखादियोगः श्रुतपूर्वो दृष्टपूर्वश्च ; उदरादेरनेकत्वं तु कथं ? इति चोदयति **एकस्मि-न्नि**ति । परिहरति **इत्थ**मिति । श्रुतानुरूपं सर्वमुपपादनीयमिति भावः। **एकस्मा**दित्यादि । अयमभिप्रायः—'अनेकबाहूदरवक्त्र-नेत्रम्' इत्यवयवानेकत्वमात्रवचनाद्रूपमेकमिति गम्यते ; एकविग्रहविषयपूर्वापरपरामर्शाच्च । नच 'पश्य मे पार्थ ! रूपाणि' [ ११।५ ] इत्युपक्रमादिहाप्यनेकविग्रहविषयमनेकोदर-त्वादिकमिति वाच्यम्, तथा सति 'अनेकविग्रहम्' इत्येतावतो वक्तव्यत्वात् । नह्यनेकेषु शरीरेष्वनेकबाहूदरत्वादिकं विशेषतो वक्तव्यम् ; नच भगवच्छास्त्रे अनेकोदरादिमद्रूपं न दृष्टमिति वाच्यं, तस्य शास्त्रस्येदानीं निश्शेषप्रवृत्त्यभावात् ; नारदादि-दृष्टरूपाण्यपि तत्रेदानीं न पश्यामः ; इतोऽन्यथापि श्रीविश्वरूपं नारदेन दृष्टम् ; ततोऽन्यदेव धृतराष्ट्रेण दृष्टम् ; अतो यथा संहिताभेदेन वराहनारसिंहादेरन्यथान्यथासन्निवेशवर्णभुजादि-वैचित्र्यं, तद्वच्छ्रीविश्वरूपविग्रहेऽपि वचनबलादेव तथातथा वैचित्र्यमङ्गीकुर्मः ; अतः शाखामूलनानात्वेऽपि काण्डैक्याद्वृक्षै-क्यवद्बाहूदरादिभेदेऽपि भेदोक्तिरहितकटिप्रदेशैक्यादिह रूपै-क्यम्—इति । एतच्च सर्वं यथोदितशब्देन सूचितम् । **एकस्मि-न्मुखे नेत्रद्वय**मिति । एकैकस्मिन्नित्यर्थः ॥ १९ ॥

**५ आ. सा. भा.**—'शशिसूर्यनेत्रं' इत्यपि 'अहं क्रतुः' [ ९।१६ ] इत्यादिवत् । "तदङ्गजाः सर्वसुरादयोऽपि तस्मात्तदङ्गेत्यृषिभिः स्तुतास्ते" इत्यृग्वेदखिलेषु । "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत" [ऋक्सं. ८।४।१९।३ यजुस्सं. ३१।१२] इति च । बहुरूपत्वाद्ब्रह्माश्रयत्वं तेषां युक्तम् ॥१९॥

**६ ज. प्र. दी.**—'शशिसूर्यनेत्रं' इत्युक्तत्वात् कथं विश्व-रूपशब्दस्यान्यथाव्याख्यानं ? इत्यत आह—**शशीति** । इत्या-दिवद्व्याख्येयम् । जन्यजनकभावेनाश्रयाश्रयिभावेन वाऽभेदोक्ति-रित्यर्थः । कुत एतदित्यत आह— **तदङ्गजा** इति । तदङ्गेत्यवि-भक्तिको निर्देशः सम्बुद्धिर्वा । अभेदे बाधकं चाह— **चन्द्रमा इति** । चक्षोश्चक्षुषः । नन्वत्र चन्द्रमसो मनोजातत्वं तदाश्रयत्वं चोच्यते, गीतायां तु नेत्राश्रयत्वादि, तथाऽन्यत्र 'दंष्ट्राऽर्यमेन्दू' इति, तत्कृतो न विरोधः ? इत्यत आह— **बह्विति** ॥ १९ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ॥ १९ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**—ब्रह्मत्वनिश्चये हेतुभूतं तद्धर्मदर्शनं प्रमाण-यति पञ्चभिः— **अनादी**ति । अत्र 'अनादिमध्यान्तं' इत्यनेन जन्मस्थितिनाशराहित्योक्तौ 'पश्यामि' इति वर्तमानलकारा-स्वारस्यात् आकाशवद्व्यापकतयादिमध्यान्तभागशून्यं पश्यामी-त्येव तदर्थो ग्राह्यः । तेन च "आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः (सूक्ष्मः)" [सर्वसारो. ४] "व्याप्य नारायणः स्थितः [ म. ना. ९।५ ] इत्यादिश्रुत्युक्तसर्वगतत्वानुभवः परब्रह्मत्वसाधकत-योक्तो भवति । अनन्तमपरिच्छिन्नं वीर्यं पराभिभवशक्तिवि-शेषो यस्य तं पश्यामि । अनेन "विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्" [ऋक्सं. २।२।२४।१] इति श्रुत्युक्तानन्तवीर्यत्वा-नुभवस्तत्साधनत्वेनोक्तः । तथा अनन्तबाहुम् । बाहुग्रहणं चात्र चक्षुर्मुखादीनामप्युपलक्षणम् । तेन 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" [ऋक्सं. ४।७।२७।१ यजुस्सं. १७।१९] इत्या-दिश्रुत्युक्तार्थानुभवोक्तिः । शशिसूर्यनेत्रमित्यनेन "चक्षोः सूर्यो अजायत" [ ऋक्सं. ८।४।१९।३ यजुस्सं. ३१।१२ ] इत्यादि-श्रुत्यर्थानुभवः । दीप्तहुताशवक्त्रमिति "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च" [ ऋक्सं. ८।४।१९।३ ] इत्यादिश्रुत्यर्थानुभवः । 'स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तं' इत्यनेन "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति श्रुत्यर्थसंवादो दर्शितः ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च **अनादिमध्यान्त**मिति । कालरूपमेतदाधिदैविकं तदाह— शशिसूर्यनेत्रमिति । काला-भिमानिनौ शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य । तथा सायङ्कालाभिमानी दीप्तो हुताशश्च वक्त्रेषु यस्य तं त्वां पश्यामि ॥ १९॥

**१० पु. अ. त.**— एवं पुरुषोत्तमसुक्त्वा दृष्टं विश्वरूप-माह— **अनादी**त्यादिना । अनादिमध्यान्तं न विद्यते आदि-र्मध्यं अन्तश्च यस्य उत्पत्तिस्थितिप्रलयरहितम्,- अनन्तं वीर्यं पराक्रमो यस्य तम् । अनन्तबाहुं अनन्ताः क्रियाशक्तयो यस्य, शशिसूर्यनेत्रं शशिसूर्यौ नेत्रे यस्य, दीप्तहुताशवक्त्रं दीप्तो धूमादिरहितो हुताशः अग्निर्वक्त्रेषु यस्य तम् , स्वतेजसा इदं परिदृश्यमानं विश्वं तपन्तं तेजोयुक्तं त्वां पश्यामि ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवाह— अनादीति । देशतः कालतश्चादिमध्यान्तहीनत्वादनादिमध्यान्तम् । दीप्तो हुताशो वक्त्रे यस्येति भास्वरदन्तत्वं व्यज्यते । स्वतेजसा चैतन्यज्योतिषा इदं विश्वं विश्वरूपं तपन्तं प्रकाश-तम् । अनादित्वादिसर्वविशेषणविशिष्टं विश्वं तपिकर्मीभूतं तापयन्तं त्वां परञ्ज्योतीरूपं पश्यामि जानामि । पटस्थानीयं विश्वरूपं सकलकारकात्मकधीवासनोपेतं येन ज्योतिषा प्रकाशते तदेव त्वमसीति जानामीति भावः ॥ १९ ॥

भगवतो विश्वरूपस्य व्यापकत्वं लोकभयङ्करत्वं च ।

**द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः ।**
**दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ! ॥ २०॥**

१ **शां. भा.**— द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि अन्तरिक्षं व्याप्तं त्वयैकेन विश्वरूपधरेण, दिशश्च सर्वा व्याप्ताः, दृष्ट्वोपलभ्याद्भुतं विस्मापकं रूपमिदं तवोग्रं क्रूरं लोकानां त्रयं लोकत्रयं प्रव्यथितं भीतं प्रचलितं वा हे महात्मन्नक्षुद्रस्वभाव ! ॥ २० ॥

२ **आ. शां. व्या.**— प्रकृतभगवद्रूपस्य व्याप्तिं व्यनक्ति–**द्यावापृथिव्यो**रिति । तस्यैव भयङ्करत्वमाचष्टे- **दृष्ट्वे**ति ॥ २० ॥

३ **रा. भा.**— एवम्भूतं त्वां दृष्ट्वा देवादयोऽहं च प्रव्यथिता भवाम इत्याह– **द्यावे**ति । द्युशब्दः पृथिवीशब्दश्चोभावुपरितनानामधस्तनानां च लोकानां प्रदर्शनार्थौ ; द्यावापृथिव्योरन्तरं अवकाशः ; यस्मिन्नवकाशे सर्वे लोकास्तिष्ठन्ति ; सर्वोऽयमवकाशो दिशश्च सर्वास्त्वयैकेन व्याप्ताः ; दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदम्– अनन्तायामविस्तारमत्यद्भुतमत्युग्रं तव रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं— युद्धदिदृक्षया आगतेषु ब्रह्मादिदेवासुरपितृगणसिद्धगन्धर्वयक्षराक्षसेषु प्रतिकूलानुकूलमध्यस्थरूपं लोकत्रयं सर्वं प्रव्यथितमत्यन्तभीतम् । महात्मन् अपरिच्छेद्यमनोवृत्ते ! एतेषामप्यर्जुनस्येव विश्वाश्रयरूपसाक्षात्कारसाधनं दिव्यं चक्षुर्भगवता दत्तम् ; किमर्थमिति चेत् अर्जुनाय स्वैश्वर्यं सर्वं प्रदर्शयितुम् ; अत इदमुच्यते 'दृष्ट्वाऽद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् !' इति ॥ २० ॥

४ **वे. ता. चं.**— **एवम्भूत**मिति अत्युग्ररूपमित्यर्थः । प्रव्यथितविशेषणानुसारेण लोकशब्दोऽत्र जनविषय इत्याह— **देवादय** इति । 'दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम्' [११।२३] इति वक्ष्यमाणावेक्षणेन **अहं चे**त्युक्तम् । अनन्तत्वस्य बहुशोऽभिहितत्वादवच्छिन्नलोकद्वयव्याप्तिवचनं तदुपलक्षितलोकवर्गद्वयप्रदर्शनार्थमित्यभिप्रायेणाह **द्युशब्द** इति । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये' [ अमरः ३।३।१८६ ] इत्यनेकार्थान्तरशब्दस्य प्रस्तुतानुगुणमर्थमाह **अवकाश** इति । शक्तिविशेषादिवशात्सप्रतिघत्वविरोधाद्यभावाभिप्रायेणावकाशं विवृण्वान्पिण्डितार्थमाह **यस्मिन्नि**ति । **अनन्तायामविस्तार**मिति पूर्वोक्तस्यानुकर्षणम् । अयमभिप्रायः— पूर्वापरवाक्ययोर्विग्रहैकविषयतया मध्ये स्वरूपव्याप्तिकथनप्रयोजनाभावाद्विग्रहस्य चातिमहत्त्वेन कण्ठोक्तत्वात्तद्विषयोऽयं व्याप्तिव्यपदेश इति । नात्र लोकत्रयशब्देन पृथिव्यादिकं विवक्षितम्, तत्र प्रव्यथितत्ववचनायोगात् । अतो 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इतिवत्तद्वर्तिनः प्राणिनो वक्तव्याः । ततश्च लक्षणातोऽपि लोकशब्दस्यैव मुख्यत्वेन जनविषयत्वं वरम् । जनस्य त्रित्वं च शत्रुमित्रोदासीनरूपेण सुप्रसिद्धम् ; तस्य च सर्वस्य जनस्यात्र समवायो युद्धदिदृक्षया सिद्धः ; अत एव लोकत्रयवर्तिकतिपयपुरुषव्यथादर्शनेन लोकत्रयनिर्देश इति न भ्रमितव्यम् ; नापीदमर्जुनस्योत्प्रेक्षणं, दृष्टस्यैव सर्वस्य वचनात् ; तदेतदाह— **युद्धे**ति । अत्र देवासुरादिग्रहणं मानुषव्यवच्छेदार्थं, युद्धायागतानां सर्वेषां भगवद्विग्रहादर्शनात् । सोपसर्गस्य धातोर्विवक्षितमाह— **अत्यन्तभीत**मिति । महात्मशब्दस्य गम्भीरबुद्धिविशेषवत्सु प्रसिद्धत्वात्, विग्रहस्योग्रत्ववदाशयापरिच्छेदस्यापि भयहेतुत्वादत्रायमेवार्थ उचित इत्यभिप्रायेणाह **अपरिच्छेद्ये**ति । ननु 'दर्शयामास पार्थाय' [ ११।९ ] इति ह्युपक्रान्तम् ; तत्कथं देवासुरादीनामपि मानुषवन्मांसचक्षुषां भगवद्विग्रहसाक्षात्कार उच्यते ? इत्यत्राह– **एतेषामपी**ति । अर्जुनस्य शिष्यभूतस्यात्यन्तोपसन्नस्य निरतिशयभक्तेः स्वविग्रहप्रकाशनं प्राप्तम् ; तदर्थं च तस्यैव दिव्यचक्षुर्दत्तम् ; वक्ष्यति च 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः' [ ११।५२ ] इति ; अतः सामान्येन सर्वस्य जनस्य दिव्यचक्षुःप्रदाने कारणं न पश्याम इत्यभिप्रायेण शङ्कते— **किमर्थ**मिति । परिहरति— **अर्जुनाये**ति । देवादीनामपि दिदृक्षासम्भवात्सर्वेषामवतारसाक्षात्कारवत्सुकृतविपाकसन्निपातात्क्षुद्राणामिव महतामपि भयावहत्वादिना निरङ्कुशैश्वर्यप्रकाशनेन प्रकृतोपयोगाच्च दिव्यचक्षुर्दानमिति भावः । तदेवार्जुनवाक्येन संवादयति— **अत इद**मिति ॥२०॥

५ **आ. मा. भा.**— "मातापित्रोरन्तरङ्गः स एकः, रूपेण चान्यैः सर्वगतः स एकः" इति वारुणश्रुतेरेकेनैव द्यावापृथिव्योरन्तरं व्याप्तो भवति । 'पश्य मे पार्थ ! रूपाणि' [ ११।५ ] इति बहूनि रूपाणि प्रतिज्ञातानि मातापितरौ च पृथिवीद्यावौ । "मा नो माता पृथिवी दुर्मतौ धात्" "मधु द्यौरस्तु नः पिता" [ ऋक्सं. बृ. उ. ६।३।६ ] इत्यादिप्रयोगात् । न तु नियमतो भयप्रदं तत्स्वरूपम् ।

नारदस्य तदभावात् । केषाञ्चित्तथा दर्शयति भगवान्— "म्रियन्ति केचित्तस्य रूपस्य दृष्टौ बिभेति कश्चिदभ्यसे सर्वतृप्तिः" इति वारुणशाखायाम् । न तु तं सर्वे पश्यन्ति । अदृष्ट्वाऽपि तान्निरूप्य भयेन द्रष्टुस्तथा प्रतिभाति । तथा च गौतमखिलेषु— "दृष्ट्वा देवं मोदमाना अदृष्ट्वाऽप्येतद्भयाद्बिभ्यतो दृष्टवत्ते । पश्यन्ति ते न्यस्तचक्षुर्मुखांस्तु तस्मिन्नेवैते मनसो गतत्वात्" इति ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— 'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि' इत्यत्र 'त्वया' इत्यनेनैवैकत्वस्य सिद्धत्वात् 'एकेन' इति व्यर्थमित्यतः प्रमाणपूर्वकं तदभिप्रायमाह— **मातापित्रोरिति** । बहुत्वेऽपि स एकोऽभिन्नः अनेन 'दिशश्च सर्वाः' रूपान्तरैरित्युक्तं भवति । तदयुक्तम् । विश्वरूपस्य 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपं' [११।३] इत्यादिना एकत्वावगतेरित्यत आह **पश्येति**। ऐक्यापेक्षयैकवचनमिति भावः । "मातापित्रोः" इति श्रुतिः प्रकृतानुपयोगिनी कथमुदाहृता ? 'द्यावापृथिव्योः' इत्यनभिधानादित्यत आह— **मातापितरौ चेति** । माता पृथिवी, नोऽस्मान्दुर्मतौ माधात् न दध्यात्। नोऽस्माकं मधु सुखहेतुरस्तु । 'दृष्ट्वाऽद्भुतं' इत्यादिना विश्वरूपदर्शनस्य भयहेतुत्वमुच्यते । तन्न सर्वेषां सर्वदा, किन्तु केषाञ्चित्कारणविशेषात्कदाचिदेवेति सप्रमाणकं तदभिप्रायमाह— **न त्विति**। अभ्यसेऽभ्यासे सति सर्वेषां तृप्तिरानन्द एवेत्यर्थः । एवं तद्दर्शनस्य भयहेतुत्वनियमाभावमभिधाय लोकत्रयस्य दर्शनाभावं चाह— **न त्विति** । किन्तु त्रिलोकेषु स्थितैर्भक्तैरित्युक्तप्रकारेण कैश्चिदेव । तदभिप्रायश्च लोकत्रयशब्द इति भावः । प्रकारान्तरेण 'लोकत्रयं' इत्यस्याभिप्रायमाह— **अदृष्ट्वाऽपीति** । विश्वरूपदर्शनार्थं यतमानानां लोकत्रयस्थानां पुंसां तदद्दृष्ट्वाऽपि चेतसि निरूप्य स्थितानां भये जाते सति तद्द्रष्टुरर्जुनस्य तथाऽहमिवैतेऽपि दृष्ट्वा बिभ्यतीति प्रतिभातीत्यतः 'लोकत्रयं दृष्ट्वा प्रव्यथितं' इत्याहेत्यर्थः । अत्र श्रुतिसम्मतिमाह— **दृष्ट्वेति** । देवं विश्वरूपं दृष्ट्वा मोदमानास्त एतेऽर्जुनादयस्तद्ध्यायिनः पश्यन्ति। कथम्भूतान् ? अदृष्ट्वाऽपि तन्निरूप्यैतद्भयाद्बिभ्यतो भयचिह्नवतस्तस्मिन्नेव विश्वरूपे मनसो गतत्वात्न्यस्तचक्षुर्मुखांश्च दृष्टवत् दृष्टवन्त इवेत्यर्थः ॥ २० ॥

७ ह. पै. भा.—॥ २० ॥

८ वें. ब्र. गि.— अनादिमध्यान्तत्वमनन्तवीर्यत्वं च विवृणोति— **द्यावापृथिव्योरिति** । अत्र द्युपृथिवीशब्दौ न तावन्मात्रपरौ, किन्तूर्ध्वाधस्स्थितसर्वलोकोपलक्षकौ; 'विष्टभ्याहमिदम्' [१०।४२] 'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्' [११।७] इति प्रक्रान्तस्यार्थस्य 'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा । अपश्यत्' [११।१३] इति तथैवानुभूतत्ववर्णनात् 'ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्' [११।१५] इति सत्यलोकपातालस्थितब्रह्मवासुक्यादिसर्वानुभूत्युक्तेश्च । तथा च पातालादिसत्यलोकान्तं सकलमपि जगदेकांशेन व्याप्यापरिच्छिन्नतया प्रदर्शिते भगवद्रूपे 'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं' इत्यनेन सर्वलोकानामाधारभूतः पातालसत्यलोकान्तरालरूपोऽवकाश उच्यते, तदिदमन्तरं सर्वा दिशश्च त्वयैकेन व्याप्ताः । हि यस्मादेवं तस्मादनादिमध्यान्तमिति पूर्वेण सम्बन्धः । हे महात्मन् अपरिच्छिन्नरूप ! तवेदमनन्तायामविस्तारं अद्भुतमत्युग्रं च रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितमतिभीतं जातम् । हि यस्मादेवं तस्मात् 'अनन्तवीर्यं' इति पूर्वेणान्वयः ।

ननु 'तव रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं' इत्युक्तमयुक्तम्, अर्जुनायैव भगवता विश्वरूपसाक्षात्कारसाधनदिव्यचक्षुःप्रदानात्; न ह्यर्जुनं विनाऽन्येन तस्मिन्युद्धरङ्गे विश्वरूपं केनचिद्दृष्टम्, 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः। नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !' [११।५२; ५३,५४।] इत्यादिभगवद्वचनविरोधप्रसङ्गात्; न च भगवता स्वकीयं विश्वरूपमपश्यदपि लोकत्रयं तद्द्रष्टृत्वेनार्जुनाय मायया केवलं प्रदर्शितमिति वाच्यम्, तथा सति स्वस्मिन्नविद्यमानमपि जगद्विद्यमानत्वेन मायया प्रदर्शितमित्यैन्द्रजालिकस्येव भगवतोऽपि विश्वरूपप्रदर्शनं पारम्यसाधकं नेत्यापातादिति चेत्; उच्यते— नात्र लोकत्रयशब्देन भूरादिलोकत्रयमुच्यते येनोक्तदोषः स्यात्; किन्तु कुरुपाण्डवयुद्धदिदृक्षयाऽऽगतेषु ब्रह्मादिदेवासुरपितृगणसिद्धगन्धर्वयक्षराक्षसेषु प्रतिकूलानुकूलमध्यस्थरूपास्त्रिविधा अपि जना उच्यन्ते। तेषामप्यापाततो विश्वरूपप्रदर्शनार्थं भगवता किञ्चिज्ज्ञानचक्षुर्दत्तम् । तेन हि सर्वदेवासुरभयङ्करात्मकत्वसर्वशरण्यत्वादिरूपो निरवधिकः स्वमहिमार्जुनाय प्रदर्शितो भवति । अर्जुनस्य तु परमभक्तस्य यथावत्स्वरूपदर्शनार्थं भगवता ज्ञानचक्षुर्दत्तमित्युन्नीयते; 'रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च । गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे' [११।२२] 'शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा । भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन !' इत्युभयविधवचनस्वारस्यात् ।अतो न कश्चिद्विरोधः ॥ २० ॥

९ व० त० दी०— 'द्यावापृथिव्योः' इत्यारभ्य 'चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः' [११।२७] इत्यन्तं स्पष्टार्थम् ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च द्यावापृथिव्योरिति। इदं द्यावापृथिव्योः अन्तरमन्तरिक्षं एकेन त्वया व्याप्तम्। च पुनः, दिशः सर्वास्त्वया व्याप्ताः पश्यामि। किञ्च हे महात्मन् इतोऽप्यधिकप्रकटनसमर्थ! तव इदमद्भुतमलौकिकं उग्रं अदृष्टं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रव्यथितं प्रकर्षेण व्यथितं भीतं पश्यामीति पूर्वेणान्वयः॥ २०॥

११ नी० भा० दी०— एवं स्वयङ्कृतविश्वरूपदर्शनेन कृतकृत्यो भूत्वा तदुपसंहारमिच्छन् स्तौति— द्यावापृथिव्योरिति। हे महात्मन्! हि प्रत्यक्षं त्वयैकेनेदं द्यावापृथिव्योरन्तरं मध्यं सर्वाः दिशश्च व्याप्ताः, अतस्तवेदं अद्भुतं उग्रं रूपं दृष्ट्वा लोकत्रयं प्रकर्षेण व्यथितम्। अतःपरमिदमुपसंहरेत्यभिप्रायः॥ २०॥

**अमी हि त्वा सुरसंघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।**
**स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः २१॥**

१ शां. भा.— अथाधुना पुरा 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इत्यर्जुनस्य यः संशय आसीत्तन्निर्णयाय पाण्डवविजयमैकान्तिकं दर्शयामीति प्रवृत्तो भगवांस्तं पश्यन्नाह, किञ्च— अमी हि युद्ध्यमाना ये योद्धारस्त्वा त्वां सुरसङ्घा येऽत्र भूभारावतारायावतीर्णा वस्वादिदेवसङ्घा मनुष्यसंस्थानास्ते त्वा विशन्ति प्रविशन्तो दृश्यन्ते। तत्र केचिद्भीताः प्राञ्जलयः सन्तो गृणन्ति स्तुवन्ति पलायनेऽप्यशक्ताः सन्तः। युद्धे प्रत्युपस्थित उत्पातादिनिमित्तान्युपलक्ष्य 'स्वस्त्यस्तु जगतः' इत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा महर्षीणां सिद्धानां च सङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः सम्पूर्णाभिः॥ २१॥

२ आ. शां. व्या.— 'अमी हि' इत्यादिसमनन्तरग्रन्थस्य तात्पर्यमाह— **अथेति**। तं भगवन्तं पाण्डवजयमैकान्तिकं पश्यन्नर्जुनो ब्रवीतीत्याह— **तं पश्यन्निति**। विश्वरूपस्यैव प्रपञ्चनार्थमनन्तरग्रन्थजातमिति दर्शयति— **किञ्चेति**। असुरसङ्घा इति पदं छित्त्वा भूभारभूता दुर्योधनादयस्त्वां विशन्तीत्यपि वक्तव्यम्। उभयोरपि सेनयोरवस्थितेषु योद्धुकामेष्ववान्तरविशेषमाह— **तत्रेति**। समरभूमौ समागतानां द्रष्टुकामानां नारदप्रभृतीनां विश्वविनाशमाशङ्कमानानां तं परिजिहीर्षतां स्तुतिपदेषु भगवद्विषयेषु प्रवृत्तिप्रकारं दर्शयति— **युद्ध इति**॥ २१॥

३ रा. भा.— अमी सुरसङ्घाः उत्कृष्टास्त्वां विश्वाश्रयमवलोक्य हृष्टमनसस्त्वत्समीपं विशन्ति। तेष्वेव केचिदत्युग्रमत्यद्भुतं च तवाकारमालोक्य भीताः प्राञ्जलयः स्वज्ञानानुगुणं स्तुतिरूपाणि वाक्यानि गृणन्ति उच्चारयन्ति; अपरे महर्षिसङ्घाः सिद्धसङ्घाश्च परावरतत्त्वयाथात्म्यविदः स्वस्तीत्युक्त्वा पुष्कलाभिर्भगवदनुरूपाभिः स्तुतिभिः स्तुवन्ति॥ २१॥

४ वे. ना. चं.— 'अमी हि त्वा विशन्ति' इत्यत्र न संहारादिकं विवक्षितं, स्तुत्यादिभिः सहपाठाद्धार्तराष्ट्रादिवदासन्नोपसंहाराभावात्; परोक्तस्यावतीर्णसुरसङ्घविषयत्वस्य 'वीक्षन्ते' [ ११।२२ ] इत्यादिभिर्विरोधाच्च; अतोऽत्र समीपगमनरूपसेवाप्रकारोऽभिधीयत इत्यभिप्रायेणाह— **अमी सुरसङ्घा** इत्यादिना। 'केचिद्भीताः' इत्यनेन धार्ष्ट्यरहितानां पृथगभिधानादनेन वाक्येन अक्षोभ्याशया हर्षवन्तो विवक्षिता इति व्यञ्जनाय ब्रह्मादीनां सर्वेषां देवानां सेवार्थागमनं प्रथममुच्यते। **उत्कृष्टा** इति तु सुरशब्दव्यञ्जितोक्तिः। विनाशार्थप्रवेशव्यवच्छेदाय **हृष्टमनस** इत्युक्तम्। वक्ष्यमाणवक्त्रप्रवेशव्यवच्छेदायाह— **त्वत्समीपमिति**। 'केचित्' इति पृथक्करणस्य समुदायविशेषसाकाङ्क्षत्वात् 'सुरसङ्घाः' इति च प्रसक्तत्वाज्जात्यन्तरानवादाच्च **तेष्वेवेत्युक्तम्**। **अत्युग्रमत्यद्भुतं** चेति भीत्यादिहेतुभूतप्रकृताकारकथनम्। 'पुष्कलाभिः' इति वक्ष्यमाणत्वादिह तदभावो विवक्षित इत्यभिप्रायेण— **स्वज्ञानानुगुणमित्युक्तम्**। **स्तुतिरूपाणी**त्यादिना 'गृणन्ति' इत्यस्यापेक्षितकर्माध्याहारः। श्रुत्यादिसिद्धस्तुतिपाठमात्रपरत्वायाह— **उच्चारयन्तीति**। एतेनापि 'केचित्' इत्यस्य देवविशेषविषयत्वं सिद्धम्; अन्येषां तु भूतानां पलायनस्य वक्ष्यमाणत्वात्। 'महर्षि-' इत्यादिना पृथग्व्यपदेशविशेषणादिफलितमपरशब्देन व्यञ्जितम्। महर्षिसङ्घाः भृग्वादिगणाः, सिद्धसङ्घाः सनकमुख्याः। महर्षित्वादिसूचितं पुष्कलस्तुतिहेतुमाह— **परावरतत्त्वयाथात्म्यविद** इति। 'जितं ते' [ भाग. ३।१३।३४+४।२४।३३ ] इत्यादिवत् भक्तिपरवशानां मङ्गलाशासनं वा, सेव्यसन्दर्शनमाले

---

१ अत्र त्वा त्वामित्युभयथा पाठो दृश्यते। त्वेतिपाठे च **केचित्** हि तु आ इति च्छित्वा आ विशन्तीत्यन्वयमाहुः। हिशब्दः प्रत्यक्षानुभवे। अखिलमिदमहं प्रत्यक्षतः पश्यामीत्यर्थः। सुरसङ्घा असुरसङ्घाश्चेत्युभयथा छेदसम्भवादुभयोः सेनयोर्नाशः सूच्यते। 'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि' ( ११।७ ) इत्युक्तस्य प्रदर्शनमिदम्—इति **परे**। —अविगीता।

सेवकस्य वक्तव्यः स्वस्तिशब्दः; स्तुतिस्तु तदनन्तरं गुणप्रकर्षोक्तिः । अत एव गोब्राह्मणेभ्यो जगतो वा स्वस्तीति परोक्तं प्रकृतासङ्गतम् । अत्र स्तुतेः पौष्कल्यं प्रामाणिकसर्वेश्वरत्वादिकथनमित्यभिप्रायेणाह— **भगवदनुरूपाभिरिति** ॥ २१ ॥

५ **आ. मा. भा.— ॥ २१ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ २१ ॥

७ **ह. पै. भा.— ॥ २१ ॥**

८ **वें. ब्र. गि.—** सर्वदेवासुरशरण्यत्वसर्वमहर्षिस्तोतव्यत्वदर्शनेनापि ब्रह्मत्वं सिद्धमित्याह— **अमीति** । अमी हि सुरसङ्घा भीताः सन्तस्त्वा त्वां विशन्ति शरणं प्रविशन्ति । असुरसङ्घा इति वा पदच्छेदः । त्वा विशन्ति त्वय्येव लयं यान्तीत्यर्थः । तेषां मध्ये केचिदतिभीताः प्राञ्जलयः सन्तो गृणन्ति 'जय जय, रक्ष रक्ष' इति प्रार्थयन्ते । एवं महद्भयमुपस्थितं दृष्ट्वा 'स्वस्ति जगतः' इत्युक्त्वा नारदादिमहर्षीणां कपिलादिसिद्धानां च सङ्घा त्वां पुष्कलाभिः परिपूर्णार्थाभिः स्तुतिभिः स्तुवन्ति ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— ॥ २१ ॥

१० **पु. अ. त.—** किञ्च **अमी हीति** । अमी सुरसङ्घाः देवसमूहाः त्वां त्वत्समीपे विशन्ति शरणमागच्छन्तीत्यर्थः । हीति युक्तमेव पुरुषोत्तमशरणागमनं देवानाम् । केचित् इतरे असुरा इत्यर्थः, भीताः सन्तः प्राञ्जलयो बद्धाञ्जलिपुटाः गृणन्ति, रक्षेति वदन्तीत्यर्थः । महर्षिसिद्धसङ्घाः महर्षीणां सिद्धानां च समूहाः 'स्वस्ति अस्माकमस्तु' इत्युक्त्वा पुष्कलाभिः पूर्णाभिः स्तुतिभिस्त्वां स्तुवन्ति ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— व्यथामेवाह— **अमीति** । हि यतः अमी त्वा त्वां असुरसङ्घाः असुरांशाः दुर्योधनादयः त्वां पतङ्गाः पावकमिव अदृष्टप्रेरिताः विशन्ति, मरणायेत्यर्थः । केचिद्भीताः प्राञ्जलयो बद्धाञ्जलयो गृणन्ति स्तुवन्ति ॥ २१ ॥

**रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।**
**गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥**

१ **शां. भा.—** किञ्चान्यत्— **रुद्रेति** । रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या रुद्रादयो गणाः, विश्वेदेवाः, अश्विनौ च देवौ, मरुतश्च, ऊष्मपाश्च पितरः, गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा गन्धर्वा हाहाहूहूप्रभृतयः, यक्षाः कुबेर-

१ रुद्रादय उक्ता दशमे (पृ.२४१टि.)— साध्या द्वादश 'मनोऽनुमन्ता प्राणश्च नरो नारायणस्तथा । वृत्तिस्तपो हयश्चैव हंसो धर्मश्च वीर्यवान् ॥ विभुश्चापि प्रभुश्चैव साध्या द्वादश कीर्तिताः । ' (सांबपु. १८।१८) इति प्रसिद्धाः साध्याख्याया दक्षकन्यायाः सुताः, 'साध्या साध्यानजीजनत् । ' (मत्स्यपु. ५।१७)इत्युक्तेः । विश्वे विश्वाख्यायां दक्षकन्यायां धर्मादुत्पन्ना दश । ते चोक्ताः साम्बपुराणे— 'क्रतुर्दक्षो वसुः सत्यः कालः कामो धुरिस्तथा । लोचनश्चार्द्रवश्चैव पुरूरव इमे दश ॥ ' ( सां. पु. १८।१४ )इति । अश्विनौ देवभिषजौ संज्ञापुत्रौ, 'त्वाष्ट्री तु सवितुर्भार्या वडवारूपधारिणी । असूयत महाभागा साऽन्तरिक्षेऽश्विनावुभौ ॥' (म.भा.१।६६।३५) इत्युक्तेः । तयोः पृथङ्नामनी उक्ते अन्यत्र— 'नासत्यश्चैव दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनाविति । ' ( ह. वं. १।९।५५ ) इति । मरुत उक्ताः [ १०।२१ पृ. २३७ टि.] । ऊष्मपाः पितृविशेषाः, 'देवास्तु पितरो नाम निर्मिता ये स्वयम्भुवा । ऊष्मपा ये महाभागाः'— ( म. भा. १३।९१।२७ ) इत्यादौ प्रसिद्धाः । गन्धर्वा मुनिनाम्न्यां दक्षकन्यायां कश्यपादुत्पन्ना देवगायकाः—'भीमसेनोग्रसेनौ च सुपर्णो वरुणस्तथा । गोपतिर्धृतराष्ट्रश्च सूर्यवर्चाश्च सप्तमः ॥ सत्यवागर्कपर्णश्च प्रयुतश्चापि विश्रुतः । भीमश्चित्ररथश्चैव विख्यातः सर्वविद्वशी ॥ तथा शालिशिरा राजन् ! पर्जन्यश्च चतुर्दशः । कलिः पञ्चदशस्तेषां नारदश्चैव षोडशः । इत्येते देवगन्धर्वा मौनेयाः परिकीर्तिताः ॥ ' ( म. भा. १।६५।४३-४४ ) इत्युक्ताः, अन्ये च हाहादयः प्रसिद्धाः । 'धयेति धातुः कविभिः पानार्थे परिपठ्यते । पिबतो जज्ञिरे वाचं गन्धर्वास्तेन ते स्मृताः ॥ ' [ ब्रह्मां. पु. ८।४० ] इति निरुक्तसंज्ञाः । यक्षादय उक्ताः [ १०।२३ पृ. २४१ टि. ] । विस्मिताश्चैव भवन्तीति शेषः ।

नन्वेतैरपि चेद्विश्वरूपं पार्थवदीक्ष्यते । तस्मा एव किमर्थं तद्दिव्यं चक्षुरदाद्विभुः? ॥
एवंरूपस्त्वदन्येन नाहं शक्यो विलोकितुम् । इत्ययमिमं चाच्युतस्य वचः सङ्गच्छते कथम् ? ॥
अतो नार्जुनवद्दृष्टः किन्तु कालात्मनैव तैः । पश्यन्ति कालं शीतोष्णं लोकास्तस्माच्च बिभ्यति ॥
हेमन्तकाले कम्पन्ते ग्लायन्त्यूष्मागमे यथा । भवाप्ययावपि तथा कालेनेति विदुर्विदः ।

—इति वामनः ।

— अविगीता ।

प्रभृतयः, असुरा विरोचनप्रभृतयः, सिद्धाः कपिलादयस्तेषां सङ्घा गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घास्ते वीक्षन्ते पश्यन्ति त्वा त्वां विस्मिता विस्मयमापन्नाः सन्तस्त एव सर्वे ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— दृश्यमानस्य भगवद्रूपस्य विस्मयकरत्वे हेत्वन्तरमाह— किञ्चेति। त एवोक्ता रुद्रादयः सर्वे विस्मयमापन्नास्त्वां पश्यन्तीति सम्बन्धः ॥ २२ ॥

३ रा. भा.— रुद्रेति। ऊष्मपाः पितरः "ऊष्मभागा हि पितरः" [ यजुः १।३।१०।६।१।३ ] इति श्रुतेः; एते सर्वे विस्मयमापन्नास्त्वां वीक्षन्ते ॥ २२ ॥

४ वे. ता. चं.— देवजातिभेदसमभिव्याहारानुगुणमूष्मपशब्दार्थमाह— पितर इति ॥ २२ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— रुद्रादित्या इति। विश्वे हि विश्वेदेवाः। ऊष्मपाः पितरः ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'अमी हि त्वा सुरसङ्घाः' [११।२१] इति पूर्वश्लोकोक्तमेव प्रपञ्चयति द्वाभ्याम्— रुद्रादित्या इति। साध्या देवविशेषाः। मरुत एकोनपञ्चाशद्वायुगणाः। ऊष्मपाः पितरः। स्पष्टमन्यत्। रुद्रादित्यादयः सर्वे एव विस्मिताः सन्तस्त्वां वीक्षन्ते। चकारात्र केवलं विस्मिता वीक्षन्ते, किन्तु प्रव्यथिताश्च भवन्तीति ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०— ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च ये त्वदनुगृहीताः रुद्रादयस्तेऽपि विस्मिताः सन्तः सर्वे त्वां वीक्षन्त इत्याह— रुद्रादित्या इति। साध्याः विश्वे च देवगणविशेषौ रुद्रादित्यवज्ज्ञेयौ। ऊष्मपाः पितरः। गन्धर्वाणां यक्षाणामसुराणां सिद्धानां जातिभेदानां सङ्घाः समूहाः। शेषं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

लोकानामर्जुनस्य च भयहेतुत्वकथनम्।

**रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो! बहुबाहूरुपादम्।**
**बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाऽहम् ॥ २३ ॥**

१ शां. भा.— यस्मात्— रूपं महदतिप्रमाणं ते तव बहुवक्त्रनेत्रं बहूनि वक्त्राणि मुखानि नेत्राणि चक्षूंषि च यस्मिंस्तद्रूपं बहुवक्त्रनेत्रं, हे महाबाहो! बहुबाहूरुपादं बहवो बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिन् तद्बहुबाहूरुपादं, किञ्च बहूदरं बहून्युदराणि यस्मिन्निति तद्बहूदरं, बहुदंष्ट्राकरालं बह्वीभिर्दंष्ट्राभिः करालं विकृतं तद्बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा रूपमीदृशं लोका लौकिकाः प्राणिनः प्रव्यथिताः प्रचलिता भयेन, तथाऽहमपि ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'लोकत्रयं प्रव्यथितं' [ ११।२० ] इत्युक्तमुपसंहरति— यस्मादिति। ईदृशं यस्मात्ते रूपं तस्मात्तं (तत्) दृष्ट्वेति योजना। भयेन लौकिकवदहमपि व्यथितो व्यथां पीडां देहेन्द्रियप्रचलनं प्राप्तोऽस्मीत्याह— तथेति ॥ २३ ॥

३ रा. भा.— रूपमिति। बह्वीभिर्दंष्ट्राभिरतिभीषणाकारं लोकाः पूर्वोक्ताः प्रतिकूलानुकूलमध्यस्थास्त्रिविधाः सर्व एवाहं च तवेदमीदृशं रूपं दृष्ट्वा अतीव व्यथिता भवामः ॥ २३ ॥

४ वे. ता. चं.— 'रुद्रादित्याः' [ ११।२२ ] इत्यादिना विस्मय उक्तः; 'रूपं महत्ते' इति भीतिरुच्यते पूर्वोक्तलोकत्रयशब्दस्यात्रत्यलोकशब्दस्य च प्रत्यभिज्ञयैकविषयत्वं दर्शयति— लोकाः पूर्वोक्ता इति। 'इदमीदृशं' इति प्रकारिणः प्रकाराणां च निर्देशः। प्रस्थानप्रस्मरणादिषु प्रशब्दस्य निषेधपरत्वदर्शनात् 'प्रव्यथिताः' इत्यत्र तद्व्युदासायाह— अतीवेति। व्यथिताः चलिताः, भीता वा ॥ २३ ॥

---

१ अत्र उरुपादम् उरवो विपुलाः पादा यस्मिन्नित्यपि व्याख्येयम्। 'वड्रोरुविपुलम्' ( ३।१।६१ ) इत्यमरः॥ लोका व्यथन्ते चेद्व्यथन्ताम्, त्वदर्थं प्रदर्शितं रूपं त्वमनुभव, इति चेत्, आह— तथाऽहमिति, प्रव्यथित इति वचनविपरिणामेनानुषञ्जनीयम्। — अविगीता।

५ आ. गि. भा.— ॥ २३ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ २३ ॥

७ हृ. पै. भा.— ॥ २३ ॥

८ वें. व्र. गि.— तदेवाह— रूपमिति । हे महाबाहो! महदतिपरिमाणं बहुवक्त्रनेत्रं बहुबाहूरुपादं बहूदरं बहुदंष्ट्राभिः करालं भीषणं तव रूपं दृष्ट्वा लोकाः पूर्वोक्ता युद्धदर्शनार्थागता देवासुरसङ्घाः तथाऽहं च प्रव्यथिताः अतिभीता भवामः ॥ २३ ॥

९ व० त० दी०— ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च रूपमिति। हे महाबाहो महत्कृपाशक्तियुक्त ! ते रूपं दृष्ट्वा लोकास्त्वत्स्वरूप एव स्थिताः प्रव्यथिताः, भीता इत्यर्थः । तथाऽहं च प्रव्यथितः । भयजनकत्वेन रूपं वर्णयति- बह्वित्यादिविशेषणैः। बहूनि वक्त्राणि नेत्राणि च यस्मिन् । बहवः बाहव ऊरवः पादाश्च यस्मिन् । बहूनि उदराणि यस्मिन् । बह्वीभिर्दंष्ट्राभिः करालं भयानकम्। वक्त्रबाहुल्येन गिलनसामर्थ्यं, नेत्रबाहुल्येन सर्वतो दर्शनसामर्थ्यं, तेन निलायनाद्यशक्यत्वम्, क्रियाबाहुल्येन ग्रहणसामर्थ्यम्, ऊरुपादबाहुल्येन धावनसामर्थ्यं, तेन पलायनाद्यशक्यत्वम्; उदरबाहुल्येन जारणसामर्थ्यम्, दंष्ट्राबाहुल्येन चर्वणसामर्थ्यं द्योतितम् । अत एवंविधं दृष्ट्वा त्वद्रूपस्थाश्चेल्लोकाः प्रव्यथितास्तदा मम कः सन्देह इति तथेति पदेन द्योतितम् २३॥

११ नी० भा० दी०— पुनर्लोकानामात्मनश्च व्यथामाह— रूपमिति । महत् आदिमध्यान्तहीनम् । हे महाबाहो ! ते तव करालं महारूपं दृष्ट्वा लोका व्यथितास्तथाऽहं च व्यथित इति योजना ॥ २३ ॥

**नभस्स्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।**
**दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ! ॥२४॥**

१ शां. भा.— तत्रेदं कारणम्— नभस्स्पृशमिति, द्युस्पर्शमित्यर्थः। दीप्तं प्रज्वलितं अनेकवर्णं अनेके वर्णा भयङ्करा नानासंस्थाना यस्मिंस्त्वयि तं त्वामनेकवर्णं, व्यात्ताननं व्यात्तानि विवृतान्याननानि मुखानि यस्मिंस्त्वयि तं त्वां व्यात्ताननं, दीप्तविशालनेत्रं दीप्तानि प्रज्वलितानि विशालानि विस्तीर्णानि नेत्राणि यस्मिंस्त्वयि तं त्वां दीप्तविशालनेत्रं दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा प्रव्यथितः प्रभीतोऽन्तरात्मा मनो यस्य सोऽहं प्रव्यथितान्तरात्मा सन् धृतिं धैर्यं न विन्दामि न लभे; शमं चोपशमं मनस्तुष्टिं, हे विष्णो ! ॥ २४ ॥

२ आ. शां. व्या.— अर्जुनस्य विश्वरूपदर्शनेन व्यथितत्वे हेतुमाह— तत्रेति ॥ २४ ॥

३ रा. भा.— नभ इति। नभश्शब्दः "तदक्षरे परमे व्योमन्" [ म. ना. १।२ तै. ना. ६।१।२ ] "आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्" [ श्वे. उ. ३।८ यजुस्सं. ३१।१८ ] "क्षयन्तमस्य रजसः पराके" [ऋक्सं. २।६।२५।५ साम. उ. १८७।२।४] "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" [ऋक्सं. ८।९।१७।७+ यजु. २।८।९।६] इत्यादिश्रुतिसिद्धत्रिगुणप्रकृत्यतीतपरमव्योमवाची; सविकारस्य प्रकृतितत्त्वस्य पुरुषस्य च सर्वावस्थस्य, कृत्स्नस्याश्रयतया नभस्स्पृशमिति वचनात्, 'द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तम्' [ ११।२० ] इति पूर्वोक्तत्वाच्च । दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा अत्यन्तभीतमनाः धृतिं न विन्दामि देहस्य धारणं न लभे; मनसश्चेन्द्रियाणां च शमं न लभे । विष्णो व्यापिन् ! सर्वव्यापिनमतिमात्रमत्यद्भुतमतिघोरं च त्वां दृष्ट्वा प्रशिथिलसर्वावयवो व्याकुलेन्द्रियश्च भवामीत्यर्थः ॥२४॥

---

१ नभः स्पृशतीति नभस्स्पृक्, 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' ( अष्टा. ३।२।५८ ) । अत्र वामनः—
ब्रह्माण्डावरणेषु सप्तसु यतो व्योम स्थितं पञ्चमं सर्वैरावरणैः सहापरिमितान्यण्डानि चास्मिन्विभौ ।
व्याख्यातव्यमतो नभस्स्पृशमिति प्रस्तुत्य नभोऽवस्थितं दृष्ट्वा चाप उपस्पृशेत्प्रभृतिषु ग्रासार्थताऽपि स्पृशेः ॥ —इति मन्यते । हिरण्येन जानास्येव त्वमिमां मे दशामन्तर्यामीति सूच्यत इति केचित् ॥ विष्णो ! इति 'यद्विजितो भवति तद्विष्णुर्भवति, विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा ( नि. १२।१८।२ ) इति यास्कः ।
— अविगीता ।

४ वे. ता. चं.— आकाशपर्यायाणामनेकेषां परस्मिन् पदे प्रयोगमभिप्रेत्याह— **नभश्शब्द** इति। **त्रिगुणे**ति विशेषणात् परमव्योम्नः शुद्धसत्त्वमयत्वसूचनम्; अत्र प्रसिद्धप्राकृताकाशपरत्वे, गार्गिविद्योक्ताकाशशब्दवन्मूलप्रकृतिविषयत्वे वा को दोषः? इत्यत्राह— **सविकारस्ये**ति। 'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं... यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि' [ ११।७ ] 'बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्य' [ ११।६ ] इत्यादिकं ह्युक्तमिति भावः। हेत्वन्तरमाह— **द्यावापृथिव्यो**रिति। प्रसिद्धद्युपृथिव्यादिसर्वलोकव्यापकत्वं हि तत्रोक्तम्; अन्यथा पुनरुक्तिः स्यात्; अतः प्रकृतिपुरुषादिसर्वाश्रयवेषेण नभस्स्पृक्त्वोक्तिः प्राकृतव्योमस्पर्शित्वविषयेति भावः। अनेकवर्णत्वमिह प्रतिनियतानन्तावयवविशेषवर्तिभिः सितरक्तादिभिर्वर्णैः किर्मीरत्वम्; तथैव ह्यन्यत्र श्रीविश्वरूपविग्रहस्यानेकवर्णत्वमुक्तम्; अन्नमयाद्यपेक्षया मनोमयस्यान्तरत्वाचेतनस्वरूपविषयत्वे प्रव्यथितशब्दानतिरिक्तप्रयोजनत्वादन्तरात्मशब्देन मनो विवक्षितमित्यभिप्रायेणोक्तं **अत्यन्तभीतमना** इति। अचेतनेऽप्यन्तःकरणे भीतिव्यपदेशश्चेतनत्वारोपेण भीत्यतिशयद्योतनार्थः। 'न लभे च शर्म' इति सुखस्य वक्ष्यमाणत्वात् धृतिशब्दोऽत्र न प्रीतिपर्यायसुखविशेषविषयः, धारणे च प्रसिद्धोऽयम्; अतो धार्यानिर्देशेऽपि प्रकरणादर्थस्वभावाच्च देहविषयमिदं धारणमित्यभिप्रायेण **देहस्य धारण**मित्युक्तम्। **मनसश्चेन्द्रियाणां चे**त्यपि सामर्थ्याच्छमशब्दप्रसिद्ध्या च लब्धम्; अन्यथा तत्रापि पुनरुक्तिः स्यादिति भावः। विष्णुशब्दस्यात्र संज्ञामात्रपरत्वादप्युपयुक्तनिर्वचनसिद्धार्थपरत्वमुचितमित्यभिप्रायेणाह— **व्यापिन्नि**ति। पिण्डितार्थमाह **सर्वव्यापिन**मिति। **अतिमात्रं** महापरिमाणमित्यर्थः। ॥ २४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २४ ॥

७ ह. पै. भा.— **नभ इति**। व्यात्ताननं व्यात्तानि विवृतान्याननानि यस्यासौ व्यात्ताननः॥२४॥

८ वे. ब्र. गि.— नन्वतिधीरस्य तव कुतो भयम्? तत्राह— **नभस्स्पृश**मिति। हे विष्णो! नभः स्पृशतीति नभस्स्पृशं दीप्तं प्रज्वलितं भयङ्करानेकवर्णं व्यात्ताननं विवृतमुखं दीप्तविशालनेत्रं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा भीतमनस्कोऽहं धृतिं धैर्यं शमं चेन्द्रियप्रसादं न विन्दामि न लभे ॥ २४ ॥

९ ब० त० दी०— ॥ २४ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च केवलस्वाधिष्ठितदेहाध्यासेन जीवस्यैव न भयं, किन्तु त्वदंशस्यान्तरात्मनोऽपि भयं समुत्पन्नमित्याह— **नभस्स्पृश**मिति। नभ आकाशं स्पृशति तदाकाशव्यापि ज्ञातुमशक्यम्। दीप्तं प्रज्वलत्तेजोराशिं ध्यानैकयोग्यम्। अनेकवर्णम् अनेके शुक्ललोहितादयो वर्णा यस्य तं निश्चययोग्यम्। व्यात्ताननं व्यात्तानि प्रसारितानि आननानि यस्य तं प्रार्थनायोग्यम्, दीप्तविशालनेत्रंदीप्तानि ज्वलद्रूपाणि विशालानि नेत्राणि यस्य तं दर्शनायोग्यम्। एतादृशं त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितः अतरात्मा यस्य तादृशो हि निश्चयेन धृतिं धैर्यं शमं च शान्तिं, न विन्दामि न प्राप्नोमीत्यर्थः। स्वरक्षणार्थं विष्णो! इति सम्बोधनम् ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— करालत्वप्रपञ्चनेन स्वव्यथामेवाह— नभ इति। नभस्स्पृशं व्योमव्यापिनं, दीप्तमग्निवज्जाज्वल्यमानं, व्यात्ताननं विस्तारितमुखं, दीप्तविशालनेत्रं रक्तनेत्रमित्यर्थः। हि प्रत्यक्षं त्वा त्वां दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मा प्रकर्षेण व्यथितचित्तो धृतिं धैर्यं न विन्दामि न लभे, शमं च शान्तिं स्वास्थ्यं च न लभे। हे विष्णो व्यापक! भयानकं त्वदाक्रान्तं देशं त्यक्त्वाऽन्यत्र गन्तुमशक्यं, तव व्यापकत्वादिति भावः ॥ २४ ॥

**दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।**
**दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ २५ ॥**

१ शां. भा.— कस्मात्?— दंष्ट्रेति। दंष्ट्राकरालानि दंष्ट्राभिः करालानि विकृतानि ते तव मुखानि दृष्ट्वैवोपलभ्य कालानलसन्निभानि प्रलयकाले लोकानां दाहकोऽग्निः कालानलस्तत्सन्निभानि कालानलसदृशानि इत्येतत्। दिशः पूर्वापरविवेकेन न जाने दिङ्मूढो जातोऽस्मि, अतो न लभे नोपलभे च शर्म सुखम्, अतः प्रसीद प्रसन्नो भव हे देवेश जगन्निवास! ॥ २५ ॥

२ आ. शां. व्या.— दृश्यमानेऽपि भगवद्देहे परितोषाद्यभावे कारणान्तरं प्रश्नपूर्वकमाह— **कस्मादि**ति। 'दृष्ट्वैव' इत्येवकारेण प्राप्तिर्व्यावर्त्यते ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.**— दंष्ट्रेति। युगान्तकालानलवत्सर्वसंहारे प्रवृत्तान्यतिघोराणि तव मुखानि दृष्ट्वा दिशो न जाने; सुखं च न लभे; जगतां निवास! देवेश ब्रह्मादीनामीश्वराणामपि परममहेश्वर! मां प्रति प्रसन्नो भव; यथाऽहं प्रकृतिं गतो भवामि, तथा कुर्वित्यर्थः ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अवयवान्तरेभ्यो मुखानामतिभीषणत्वव्यञ्जनाय 'दंष्ट्रा' इति श्लोकः; स्वस्यातिभीतत्वप्रदर्शनेन प्रसादनार्थं च। **सर्वसंहारे प्रवृत्तानीति** कालानलसाधर्म्योक्तिः। कालाभिमानिरूपतया तद्व्यापारानुबन्धसूचनं च। **अतिघोराणीति** 'दंष्ट्राकरालानि' इत्यस्यार्थः। करालशब्दो दन्तुरत्वं, विकृतत्वं, भीषणत्वं वाऽऽह। जगन्निवासशब्दे बहुव्रीहिविवक्षायां 'इहैकस्थम्' [ ११।७ ] इत्यादिप्रकृतसर्वाधारत्वानुवादो न स्यात्; तत्पुरुषविवक्षायां तु प्रकृतैकार्थ्यमित्यभिप्रायेणाह— **जगतां निवासेति**। देवेशशब्देन "तमीश्वराणां परमं महेश्वरम्" [ श्वे. उ. ६।७ ] इति श्रुतिप्रसिद्धसर्वेश्वरेश्वरत्वं यथोपदेशं साक्षात्कृतमिति सूचितमित्यभिप्रायेणाह **ब्रह्मादीना**मित्यादि। अनेन ब्रह्मादयोऽपि त्वां वीक्षितुं न शक्नुवन्ति, किमुताहं क्षुद्रजन्तुरित्यभिप्रेतमिति व्यञ्जयति। **मां प्रतीति**। किमर्जुने भगवतः क्रोधः येन प्रसादः प्रार्थ्यते? इत्यत्र प्रसादफलमाह **यथाह**मिति ॥ २९ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— दंष्ट्रेति। शर्म सुखम् ॥ २५ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— न केवलं धैर्यभ्रंशमात्रम्, किन्तु मोहितोऽपि जातोऽस्मीत्याह— **दंष्ट्रेति**। हे देवेश! दंष्ट्राभिः करालानि विकृतत्वेनातीव भयङ्कराणि प्रलयकालाग्निसदृशानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव, न तु प्राप्य, भयातिशयेन दिशः पूर्वापरादिविवेकेन न जाने। अतः शर्म सुखं न लभे। जगन्निवास! प्रसीद। यथाऽहं प्रकृतिं गतः स्यां तथा कुर्वित्यर्थः ॥ २५ ॥

९ व० त० दी०— ॥ २५ ॥

**१० पु. अ. त.**— किञ्च भयाधिक्येन पुनर्विज्ञापयति— **दंष्ट्राकरालानीति**। हे देवेश सर्वपूज्य! ते मुखानि दंष्ट्राभिः करालानि भयोत्पादकानि। च पुनः कालानलसन्निभानि प्रलयाग्निसन्निभानि दृष्ट्वैव भयाद्दिशो न जाने गत्वा प्राप्यस्थानं न जानामि। शर्म त्वदवलोकनरूपं च सुखं न लभे। अतो हे जगन्निवास जगत्पालक! जगतः सुखस्थितिरूप! प्रसन्नो भव; प्राप्यं स्थानं दर्शयेति भावः ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— कालानलः प्रलयाग्निस्तत्तुल्यानि। प्रसीद प्रसन्नः सुखदो भवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

**अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।**
**भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥**
**वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।**
**केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः* ॥ २७ ॥**

**१ शां. भा.**— येभ्यो मम पराजयाशङ्का याऽऽसीत्सा चापगता; यतः— अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनप्रभृतयः 'त्वरमाणास्त्वां विशन्ति' इति व्यवहितेन सम्बन्धः। सर्वे सहैव संहता अवनिपालसङ्घैरवनिं पृथ्वीं पालयन्तीत्यवनिपालास्तेषां सङ्घैः। किञ्च भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णस्तथाऽसौ सहास्मदीयैरपि धृष्टद्युम्नप्रभृतिभिर्योधमुख्यैर्योधानां मुख्यैः प्रधानैः सह ॥ २६ ॥ किञ्च वक्त्राणि मुखानि ते तव त्वरमाणास्त्वरायुक्ताः सन्तो विशन्ति। किंविशिष्टानि मुखानि? दंष्ट्राकरालानि भयानकानि भयङ्कराणि। किञ्च केचिन्मुखानि प्रविष्टानां मध्ये विलग्ना दशनान्तरेषु दन्तान्तरेषु मांसमिव भक्षितं सन्दृश्यन्त उपलभ्यन्ते चूर्णितैश्चूर्णीकृतैरुत्तमाङ्गैः शिरोभिः ॥ २७ ॥

---

१ अत्र 'नाहं जीवति गाङ्गेये योत्स्ये राजन्! कथञ्चन।' (म. भा. ५।१६८।२९) इति प्रतिज्ञाय रणभूमावसन्निहितत्वात्कर्णस्य पुनरसाविति विप्रकर्षवाचितादसा पृथङ्निर्देशः (?)। तस्मिन्द्वेषातिशयोऽप्यनेन सूचित इति ध्येयम्। —अविगीता।

* एतदनन्तरं केचिदधिकान् चतुरः श्लोकान् पठन्ति— 'नानारूपैः पुरुषैः.....' इति। ते तु तात्पर्यचन्द्रिकायां द्रष्टव्याः।

२ आ. शां. व्या.— अस्माकं जयं परेषां पराजयं च दिदृक्षन्तं पश्यामीत्याह— **येभ्य इति** । तत्र हेतुत्वेन श्लोकमवतारयति— **यत इति** । न केवलं दुर्योधनादीनामेव पराजयः, किन्तु भीष्मादीनामपीत्याह— **किञ्चेति** ॥ २६ ॥ भगवद्रूपस्योग्रत्वे हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । प्रविष्टानां मध्ये केचिदिति सम्बन्धः ॥ २७ ॥

**३ रा. भा.— एवं सर्वस्य जगतः स्वायत्तस्थितिप्रवृत्तित्वं दर्शयन् पार्थसारथी राजवेषच्छद्मनाऽवस्थितानां धार्तराष्ट्राणां यौधिष्ठिरेष्वनुप्रविष्टानां चासुरांशानां संहारेण भूभारावतरणं स्वमनीषितं स्वेनैव करिष्यमाणं पार्थाय दर्शयामास ; स च पार्थो भगवतः स्रष्टृत्वादिकं सर्वैश्वर्यं साक्षात्कृत्य तस्मिन्नेव भगवति सर्वात्मनि धार्तराष्ट्रादीनामुपसंहारमनागतमपि तत्प्रसादलब्धेन चक्षुषा पश्यन्निदं प्रोवाच— अमीति । अमी धृतराष्ट्रस्य पुत्राः दुर्योधनादयः सर्वे भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णश्च तत्पक्षीयैः अवनिपालसमूहैः सर्वैरस्मदीयैरपि कैश्चिद्योधमुख्यैः सह त्वरमाणा दंष्ट्राकरालानि भयानकानि तव वक्त्राणि विनाशाय विशन्ति ; तत्र केचिच्चूर्णितैरुत्तमाङ्गैर्दशनान्तरेषु विलग्नाः सन्दृश्यन्ते ॥ २६ ॥ २७ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'अमी' इत्यादिश्लोकपञ्चकार्थोत्थानहेतुं तस्य पूर्वेण सङ्गतिं चाह— **एवमिति** । अवश्यम्भावितया **स्वमनीषित**मित्युक्तम्। स्वमनीषितभारावतरणज्ञापनाय भीषणरूपाविष्कारः; तेन च युद्धप्रोत्साहनं सिध्येदिति भावः । वक्ष्यमाणमर्जुनादेरुपकरणमात्रत्वं तद्व्यापाराभावेऽपि शक्यत्वं चाभिप्रेत्य **स्वेनैव करिष्यमाण**मित्युक्तम्। तदानीं युद्धभूमौ स्थितानां वक्ष्यमाणभगवद्वक्त्रप्रवेशस्याघटिततया इन्द्रजालादिशङ्कां परिहरति— **स च पार्थ** इति । भगवतः सर्वगोचरस्रष्टृत्वादिसाक्षात्कारे धार्तराष्ट्रादिकतिपयजन्तुसंहारो नात्यद्भुत इत्यभिप्रायेणाह **तस्मिन्नेवे**ति। 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' [११।४०] इति वक्ष्यमाणप्रकारेण सर्वशरीरतया सर्वभूतः सत्यसङ्कल्पो भगवानेव धार्तराष्ट्रादिविलयेऽपि सर्वविधं कारणम्, लौकिकातीन्द्रियेण रूपेण प्रसन् भगवानेव प्रधानतमो हेतुः; दृष्टास्त्वर्जुनशरादयः काकतालीयवन्निमित्तमात्रमिति भावः । **अनागतमपी**त्यादि लौकिकं हि प्रत्यक्षं वर्तमाननियतमिति भावः। **इदमिति**— धार्तराष्ट्रादिविशेषविषयमित्यर्थः । यद्वा वर्तिष्यमाणमपि साक्षात्काराद्वर्तमानवद्व्यपदिशतीति भावः । अस्मदीयैरिति पृथगभिधानादवनिपालसङ्घैरित्येतत्परपक्षविषयमिति व्यञ्जनाय **तत्पक्षीयै**रित्युक्तम् । दुर्योधनादीनां सर्वेषामिव तत्पक्षीयाणामपि सर्वेषां वधस्य युद्धे करिष्यमाणत्वात् **सर्वै**रित्युक्तम्। **अस्मदीयै**रिति वचनात्स्वपक्षस्थानामपि वधः स्वेषां चावस्थानं विवक्षितम्। परेषु सर्वैरिति विशेषणात्स्वकीयेषु योधमुख्यैरित्युपादानाच्च पाण्डवपक्षीयाणां युद्धे निश्शेषवधाभावः **कैश्चिदि**त्युक्तः। शीघ्रं संहरणस्य तत्तदपराधत्वरामूलत्वं **त्वरमाण**पदेन विवक्षितम्। यद्वा समरसंरम्भादिः सर्वोऽपि व्यापारस्तेषां स्ववधार्थ इति भावः । 'भयानकानि' इति पृथगुक्तत्वात्करालशब्दोऽत्र सान्तरालत्वविकृतत्वपरः, दन्तुरत्वपरो वा; 'करालं दन्तुरे वक्रे' इत्यादि। 'अमी च त्वा' [११।२१] इत्यत्र क्रियानिर्देशाभावेऽपि 'मा भवन्तमनलः पवनो वा' इत्यादिष्विवाध्याहारेणैव क्रियान्वयो गुण एव। यद्वा 'विशन्ति' इति वक्ष्यमाणपदमत्रापि पठितव्यम्।

अथवा 'दृष्ट्वा प्रव्यथितान्तरात्मानो धृतिं न विन्दन्ति' इति वा विपरिणतानुषङ्गेण वाक्यसमाप्तिः; न पुनः श्लोकद्वयमप्येकवाक्यतया विवक्षितम्, पूर्वश्लोके त्वेति कर्मतया निर्देशात्परत्र 'वक्त्राणि ते' [११।२७] इत्युक्तेः 'अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य पुत्राः' इति भाष्याभिप्रेतः पाठः, 'दुर्योधनादयः सर्वे' इत्युक्तेः; अत एव हि 'विशन्ति' इत्यनेनैकवाक्यतया व्याख्यातम्। रक्षणार्थं भगवति प्रवेशव्युदासाय वक्ष्यमाणपरामर्शात् **विनाशाये**त्युक्तम्। **तत्र** धार्तराष्ट्रादिष्विवत्यर्थः। यद्वा तेषु वक्त्रेष्वित्यर्थः। केचिद्विनाशाय विशन्ति ; केचित्तु विनष्टाः सन्दृश्यन्ते इत्युक्तं भवति ।

'विद्ध्येनमिह वैरिणम्' [३।३७] इत्यस्यानन्तरं यादवप्रकाशीयैरिह केचित्पञ्चश्लोकान्पठन्तीति विलिख्य व्याख्यातम्—

†अर्जुन उवाच—

भवत्येष कथं कृष्ण ! कथं चैष विवर्धते ।
किमात्मकः किमाचारस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ १ ॥

भगवानुवाच—

एष सूक्ष्मः परः शत्रुर्देहिनामिन्द्रियैः सह ।
सुखं तत्र इवासीनो मोहयन्पार्थ ! तिष्ठति ॥ २ ॥
कामक्रोधमयो घोरः स्तम्भहर्षसमुद्भवः ।
अहङ्कारोऽभिमानात्मा दुस्तरः पापकर्मभिः ॥ ३ ॥
हर्षमस्य निवर्त्यैष शोकमस्य ददाति च ।
भयं चास्य करोत्येष मोहयंश्च मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥
स एष कलुषी क्षुद्रश्छिद्रापेक्षी धनञ्जय ! ।
रजःप्रवर्तितो मोहान्मानुषाणामुपद्रवः ॥ ५ ॥ इति ।

अत्र च—

नानारूपैः पुरुषैर्वध्यमाना विशन्ति ते वक्त्रमचिन्त्यरूपम् ।
यौधिष्ठिरा धार्तराष्ट्राश्च योधाः शस्त्रैः कृत्ता विविधैः सर्व एव॥१॥
दिव्यानि कर्माणि तवाद्भुतानि पूर्वाणि पूर्वेऽप्यृषयः स्तुवन्ति ।
नान्योऽस्ति कर्ता जगतस्त्वमेको धाता विधाता च विभुर्भुवश्च २

---

† यादवप्रकाशीयैरभिनवगुप्तपादैश्च तृतीयाध्याय एव सङ्गृहीतमिदं श्लोकपञ्चकमेकादशाध्यायव्याख्याने व्यङ्कटाचार्यैरुल्लिखितं तस्य किं प्रयोजनं तत्त एव जानन्ति । चिन्त्यमेतद्गीतापठनपाठनपरिशीलनपरायणैः सुधीभिः ।

तवाद्भुतं किं नु भवेदसह्यं किं वा शक्यं परतः कीर्तयिष्ये ।
कर्तासि लोकस्य यतः स्वयं विभो! त्वत्तः सर्वं त्वयि सर्वं त्वमेव३
अत्यद्भुतं कर्म न दुष्करं ते कर्मोन्मानं न च विद्यते ते ।
न ते गुणानां परिमाणमस्ति न तेजसो नापि बलस्य नर्द्धेः ॥४॥
—इति । अत्र 'दिव्यानि ' इत्यादयः श्लोका नारायणार्यैरपि लिखिताः । 'प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ' [ ११।३९] इत्यस्यानन्तरमन्यश्च श्लोकः—

अनादिमानप्रतिमप्रभावः सर्वेश्वरः सर्वमहाविभूतिः ।
न हि त्वदन्यः कश्चिदस्तीह देव ! लोकत्रये दृश्यतेऽचिन्त्यकर्मा
इत्येते श्लोकाः सन्ति न वेति देवो जानाति । पूर्वव्याख्यातृभिरनुदाहृतत्वादध्ययनप्रसिद्ध्यभावाच्च भाष्यकारैरनादृताः । न च गीताशास्त्रस्य श्लोकसङ्ख्या व्यासादिभिरुक्ता । अर्वाचीनास्त्वविश्वसनीया इति ॥ २६ ॥ २७ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २६ ॥ २७ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ २६ ॥ २७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ॥ २६ ॥ २७ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं 'पश्य मे पार्थ! रूपाणि ' [ ११।५ ] इत्यादिना ' पश्याद्य सचराचरम् ' [ ११।७ ] इत्यन्तेन प्रतिज्ञातं स्वकीयं विश्वरूपं दर्शयन् ' यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ' [ ११।७ ] इत्यनेनोक्तं निखिलधार्तराष्ट्रविनाशमपि भगवान्पार्थाय दर्शयामास; तदेतत्पश्यन्नाह पञ्चभिः— **अमीति** । किञ्च, सर्वेऽमी धृतराष्ट्रस्य पुत्रा दुर्योधनादयः तथा असौ अजय्यत्वेन प्रसिद्धः भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रः कर्णश्च तत्पक्षीयैर्जयद्रथाद्यवनिपालसङ्घैः अस्मदीयैरपि कैश्चिद्धृष्टद्युम्नप्रभृतिभिर्योधमुख्यैः सह स्वयमेव त्वरमाणा धावमानाः सन्तः तव दंष्ट्राकरालानि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति । तेषां मध्ये केचित् चूर्णितैश्चूर्णीकृतैः उत्तमाङ्गैः शिरोभिर्विशिष्टाः सन्तो दशनान्तरेषु दन्तसन्धिषु विलग्ना दृश्यन्ते ॥ २६ ॥ २७ ॥

**९ ब० त० दी०**— ॥ २६ ॥ २७ ॥

**१० पु. अ. त.**— एवं भगवत्स्वरूपस्थं जगद्दृष्ट्वा विज्ञाप्य 'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ' [ ११।७ ]इति भगवतोक्तं तदर्थं बाह्यस्थः स्वपरसैन्यस्वरूपज्ञानदर्शनेच्छया दृष्ट्वा विज्ञापयति— **अमी चेति** पञ्चभिः । च पुनः । बाह्यस्थाः अमी परिदृश्यमानाः धृतराष्ट्रस्य पुत्रा आलोचनरहिताः सर्वे अवनिपालसङ्घैः जयद्रथादिसमूहैः सह, भीष्मो योद्धा च , द्रोणः शास्त्रविशारदः , सूतपुत्रः कर्णः अस्मदीयैरपि योधमुख्यैः धृष्टद्युम्नादिभिः सह ॥२६ ॥ त्वरमाणा वेगवत्तराः दंष्ट्राकरालानि स्वतोऽपि भयानकानि वक्त्राणि विशन्ति प्रविशन्ति । प्रवेशानन्तरं दृष्टमाह । केचित् एके दशनान्तरेषु दन्तच्छिद्रेषु विलग्ना लम्बमानाः चूर्णितैः चूर्णीकृतैः उत्तमाङ्गैः सन्दृश्यन्ते ॥ २७ ॥

**११ नी० भा० दी०**— अमी 'त्वां विशन्ति' इत्यग्रिमश्लोकादपकृष्यते ॥ २६ ॥ ते भीष्मादयः । **उत्तमाङ्गैः** शिरोभिः । अयं भावः— धृतराष्ट्रस्य पुत्राः पापिष्ठाः भवन्तमेव त्रैलोक्यशरीरं विशन्ति पापानुरूपं तस्य पायुस्थानस्थितान् नरकानेव गच्छन्तीति तत्र त्वां विशन्तीत्येवोक्तम् । भीष्मादयस्तु भक्ता यतोऽग्निर्ब्राह्मणा वेदाश्च प्रसूतास्तद्भगवतो मुखं प्रविशन्तीति वैषम्यगतिसूचनार्थं त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्रा विशन्ति, भीष्मादयस्ते वक्त्राणि विशन्तीति विभागदर्शनं युक्तमिति ॥ २७ ॥

**यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।**
**तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥**
**यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।**
**तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥**

---

वाहाः 'वेगः प्रवाहजवयोरपि । ' (३।३।२०) इत्यमरः । यद्वा वेग एषामस्तीति वेगाः प्रजविनः पदार्थाः । अशूपाश्च ते वेगाश्चाम्बुवेगाः । 'नरलोकवीराः' इत्यनेनाखिलेऽपि जीवलोके वीरत्वेन प्रसिद्धानां सर्वेषामप्येषैवावस्थेति भितो ज्वलन्ति ' इति पाठान्तरम् । महता वेगेन पारवश्यात्प्रवेशे, प्रविष्टानां नामरूपहानिविषये चायं दृष्टान्तः ।
प्रवेशे तूत्तरश्लोक उच्यते । — अविगीता ।
शलभा दीपे पतित्वा तं निर्वापयन्ति, तथैव लोका विश्वरूपिणमपि नाशयेयुरित्याशङ्कानुदयार्थं ज्वलनपदोपादनं च । — अविगीता ।

१ शां. भा.— कथं प्रविशन्ति मुखानि ? इत्याह— यथा नदीनां स्रवन्तीनां बहवोऽनेकेऽम्बूनां वेगा अम्बुवेगास्त्वराविशेषाः समुद्रमेवाभिमुखाः प्रतिमुखा द्रवन्ति प्रविशन्ति, तथा तद्वत्तवामी भीष्मादयो नरलोकवीरा मनुष्यलोकशूरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति प्रकाशमानानि ॥ २८ ॥ ते किमर्थं प्रविशन्ति कथं च ? इत्याह— यथेति । यथा प्रदीप्तं ज्वलनमग्निं पतङ्गाः पक्षिणो विशन्ति नाशाय विनाशाय समृद्धवेगाः समृद्ध उद्भूतो वेगो गतिर्येषां ते समृद्धवेगाः, तथैव नाशाय विशन्ति लोकाः प्राणिनस्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

२ आ. शां. व्या.— उभयोरपि सेनयोरवस्थितानां राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशं निदर्शनेन विशदयति- **कथमित्यादिना** २८ प्रवेशप्रयोजनं तत्प्रकारविशेषं चोदाहरणान्तरेण स्फोरयति— **ते किमर्थमित्यादिना** ॥ २९ ॥

३ रा. भा.— एते राजलोका बहवो नदीनामम्बुप्रवाहाः समुद्रमिव, प्रदीप्तज्वलनमिव च शलभाः तव वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति स्वयमेव त्वरमाणा आत्मनाशाय विशन्ति ॥ २८ ॥ २९ ॥

४ वे. ता. चं.— 'त्वरमाणाः' [ ११।२७ ] इत्युक्तस्वव्यापारमूलविनाशत्वे, सर्वेषां चैकस्मिन्नेवोपसंहारे तस्य चैकस्य सर्वसंहारानुगुणसामान्याकारेणावस्थानमात्रे च दृष्टान्तद्वयं श्लोकद्वयेनोच्यते— **यथेति** । पाण्डवादीनां सर्वेषामपि विनाशानभिधानाज्जगत्प्रतपन्तीत्येतावन्मात्रस्य चानन्तरमुक्तेः 'नरलोकवीराः' इत्युक्त एवार्थो 'लोकाः' इत्युक्त इत्यभिप्रायेण **एते राजलोका** इति सङ्कलय्य कथितम् । 'अम्बुवेगाः' इत्यत्र वेगशब्दस्यात्र वेगवद्विषयत्वव्यञ्जनाय प्रवाहशब्दः । पतङ्गशब्दस्यानेकार्थस्यात्र शकुन्तादिविषयत्वव्यावर्तनाय **शलभा** इत्युक्तम् । 'अभिविज्वलन्ति' इति पदं पूर्वश्लोकस्थमपि समनन्तरश्लोकगतज्वलनदृष्टान्तौपयिकमिति व्यञ्जनाय ज्वलनदृष्टान्तादनन्तरं पठितम् । 'समृद्धवेगाः' इत्येतत्प्रागुक्तत्वरमाणपदसमानार्थमित्यभिप्रेत्य **स्वयमेव त्वरमाणा** इत्युक्तम् । पतङ्गानां प्रदीपादिषु पक्षवेगादिभिर्नाशकत्वस्यापि सम्भवात्तद्व्यवच्छेदः 'प्रदीप्तज्वलनम्' इति वचनेन विवक्षित इति व्यञ्जनाय **आत्मनाशाये**त्युक्तम् । नदीप्रवाहस्य नाशो नाम पृथग्भूतप्रवाहाकारत्यागः ; येन नदीप्रवाहव्यपदेशस्तस्मिन्नेव द्रव्ये निवर्तते ; पतङ्गानां तु द्रव्यान्तरव्यपदेशयोग्यभस्मताद्यापत्तिरिति प्रकारभेदप्रदर्शनाय दृष्टान्तद्वयाभिधानम् । यद्वा स्वेच्छया निवर्तितुमशक्यमित्येवमभिप्रायः प्रवाहदृष्टान्तः ; तथाविधस्य विनाशस्य स्वेच्छामूलव्यापारहेतुकत्वव्यञ्जनाय पतङ्गदृष्टान्तः । ईश्वरस्यापि च सर्वप्रवेशेऽप्यपरिपूर्णत्वविवक्षया समुद्रनिदर्शनम्, सहसा विध्वंसनाय तु ज्वलनोदाहरणम् ॥ २८ ॥ २९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २८ ॥ २९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २८ ॥ २९ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ २८ ॥ २९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'वक्त्राणि विशन्ति' [११।२७]इत्यनेनोक्तः प्रवेशो द्विविधः बुद्धिपूर्वकोऽबुद्धिपूर्वकश्चेति; उभयमपि दृष्टान्तमुखेनोपपादयति द्वाभ्याम्— **यथेति** । यथा नदीनामनेकमार्गप्रवृत्तानां बहवः अम्बुवेगवन्तः प्रवाहाः समुद्राभिमुखाः सन्तः समुद्रमेव द्रवन्ति गच्छन्ति, प्रविशन्तीति यावत् । तथा तवामी नरलोकवीराः सर्वतः प्रदीप्यमानानि वक्त्राणि विशन्ति । यथा पतङ्गाः शलभाः समृद्धवेगाः सन्तो बुद्धिपूर्वकं प्रदीप्तं ज्वलनं नाशायैव विशन्ति, तथैवेत्यादि स्पष्टम् ॥ २८ ॥ २९ ॥

९ व० त० दी०— यथा नदीनामिति । अम्बुवेगाः समुद्रमिव ; ते वक्त्राण्यभिमुखं तत्रैव चेमे नरलोकवीरा नाशाय विशन्ति ॥ २८ ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.— प्रवेशे दृष्टान्तमाह— **यथेति** । यथा नदीनां बहुधा प्रसरन्तीनां बहवोऽम्बुवेगाः जलप्रवाहाः समुद्रमेव स्वलयस्थानमेव अभिमुखाः सन्मुखाः सन्तो द्रवन्ति प्रविशन्ति तथा अमी नरलोकवीराः अभिविज्वलन्ति परितो दीप्यमानानि तव वक्त्राणि विशन्ति ॥ २८ ॥ नदीदृष्टान्ते प्रकटतया नाशो न दृश्यत इति नाशार्थप्रवेशे दृष्टान्तान्तरमाह— **यथेति** । यथा पतङ्गाः सूक्ष्मकीटाः शलभाः स्वपक्षवेगमदावलिप्ताः नाशाय मरणार्थं प्रदीप्यमानं ज्वलनमग्निं विशन्ति तथैव समृद्धवेगाः मदावलिप्ता एते लोकाः पूर्वोक्ता नाशाय मरणाय तवापि वक्त्राणि विशन्ति ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०— इदमेव सदृष्टान्तमाह— यथेति । तव वक्त्राणि विशन्तीति सम्बन्धः । अभिविज्वलन्ति सर्वतः जाज्वल्यमानानि ॥ २८ ॥ बुद्धिपूर्वकमेव ते त्वद्वक्त्राणि प्रविशन्तीति सदृष्टान्तमाह— यथा प्रदीप्तमिति ॥ २९ ॥

**[1]लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।**
**तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ! ॥ ३० ॥**

**१ शां. भा.**— त्वं पुनः— लेलिह्यसे आस्वादयसि ग्रसमानोऽन्तः प्रवेशयन्समन्तात्समन्ततो लोकान्समग्रान्समस्तान् वदनैर्वक्त्रैर्ज्वलद्भिर्दीप्यमानैस्तेजोभिरापूर्य संव्याप्य जगत्समग्रं सहाग्रेण समस्तमित्येतत् । किञ्च भासो दीप्तयस्तवोग्राः क्रूराः प्रतपन्ति सन्तापं कुर्वन्ति हे विष्णो व्यापनशील ! ॥ ३० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— योद्धुकामानां राज्ञां भगवन्मुखप्रवेशप्रकारं प्रदर्श्य तस्यां दशायां भगवतस्तद्ग्रासं च प्रवृत्तिप्रकारं प्रत्याययति— त्वं **पुनरिति** । भगवत्प्रवृत्तिमेव प्रत्याय्य तदीयभासां प्रवृत्तिं प्रकटयति— **किञ्चेति** ॥ ३० ॥

**३ रा. भा.**— राजलोकान् समग्रान् ज्वलद्भिर्वदनैर्ग्रसमानः कोपवेगेन तद्रुधिरावसिक्तमोष्ठपुटादिकं लेलिह्यसे पुनः पुनर्लेहनं करोषि । तवातिघोरा भासो रश्मयः तेजोभिः स्वकीयैः प्रकाशैर्जगत्समग्रमापूर्य प्रतपन्ति ॥ ३० ॥

**४ वे. ता. चं.**— ईश्वरः किं संहरणेऽत्यन्तनिर्व्यापारः, येन 'स्वयमेव त्वरमाणाः' इत्युच्यते ? इत्यस्योत्तरं 'लेलिह्यसे' इति श्लोकेनोच्यते । संहरणादेर्निदानं तत्तच्चेतनानां व्यापारविशेषः; तत्तदुपाधिककोपादिविशिष्टस्तु भगवान् संहृत्यादिकं करोतीति भावः । 'राजलोकान्' इति पूर्ववद्व्याख्यम् । समग्रान् युद्धाय समवेतानित्यर्थः । 'लेलिह्यसे' इत्यस्य सञ्जिहीर्षानुभावत्वव्यञ्जनाय **कोपवेगेने**त्युक्तम् । **तद्रुधिरे**त्यादिना ग्रसनलेहनाभ्यामर्थसिद्धमुच्यते । क्रियासमभिहारे हि यङो विधानम् ; पौनःपुन्यं भृशार्थो वा क्रियासमभिहार इत्यभिप्रायेणाह **पुनः पुनर्लेहन**मिति । भास्तेजश्शब्दयोः पौनरुक्त्यशङ्काव्युदासाय **रश्मय** इति, **स्वकीयैः प्रकाशै**रिति चोक्तम् । **समग्रं** सर्वमित्यर्थः । **प्रतपन्ति** सन्तापयन्ति, ग्रसनार्थं पचन्ति इति भावः । यद्वा ब्रह्मादीनामपि पश्यतां दुस्सहत्वमात्रे तात्पर्यम् ॥ ३० ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ३० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ३० ॥

**७ ह. पै. भा.**— लेलिह्यसेऽत्यर्थमास्वादयसि ॥ ३० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं धार्तराष्ट्राणां भगवन्मुखप्रवेशमुक्त्वा भगवतस्तद्ग्रासमाह— **लेलिह्यस** इति । त्वं पुनः समग्रान् सर्वानपि प्रविशतो लोकान्दुर्योधनादीन् समन्ताज्ज्वलद्भिर्वदनैर्ग्रसमानः अन्तः प्रवेशयन्सन् कोपवशेन तद्रुधिरावसिक्तमोष्ठपुटादिकं लेलिह्यसे पुनः पुनरास्वादयसि । न चेदं त्वय्याश्चर्यमित्याह— **तेजोभिरिति** । उग्रा अतिघोरास्तव भासो दीप्तयः स्वकीयैस्तेजोभिः किरणैः सर्वं जगदापूर्य व्याप्य प्रतपन्ति तापयन्ति । अतः सकलजगत्सन्तापकनिरवधिकतेजसस्तव धार्तराष्ट्रग्रसने को भारः ? इत्यर्थः । 'विष्णो' इत्यनेन व्यापकस्य तवैतावदक्षौहिणीबलनिगिलनं युक्तमिति सूचितम् ॥ ३० ॥

**९ व० त० दी०**— तान् लेलिह्यसे । हे विष्णो व्यापनशील ! अन्यत् स्पष्टम् ॥ ३० ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु भगवान् न नाशयेत्तदा किं तत्प्रवेशेन ? इत्यत आह— **लेलिह्यस इति** । ग्रसमानः ग्रासं कुर्वन् समन्तात् सर्वतः समग्रान् लोकान् ज्वलद्भिः देदीप्यमानैर्वदनैः लेलिह्यसे भक्षयसि । तवापि तन्नाशेच्छैव दृश्यत इति भावः । भगवानेवं कथं कुर्यात् ? अत आह । हे विष्णो सर्वपालक ! सात्त्विकरक्षणार्थमेव । उग्राः प्रतपनसमर्थाः तव भासः किरणाः तेजोभिः स्फुरत्कान्तिभिः समग्रं जगदापूर्य प्रतपन्ति सन्तापयन्ति । अत्रायं भावः— विष्णुः सात्त्विकाधिष्ठाता सात्त्विकरक्षणार्थमेव दुष्टनाशं करोत्यत उचितमेव तथाकरणम् ॥ ३० ॥

---

१ लेलिह्यसे– ग्रसमानो बहिर्निर्गच्छतो जिह्वाग्रेण निजोष्ठपुटसृक्कप्रान्तविलेहनं कुर्वन् पुनः पुनर्मुखान्तः प्रवेशयसि । 'लिह आस्वादने'(धा.पा.२।६) इत्यस्माज्जिह्वया आस्वादने प्रसिद्धक्रियासमभिहारे यङ् । एतेन युद्धे कथञ्चिन्मुक्ताः पलायिता अपि च पुनः संहरिष्यन्त एवेति सूचितम् ॥ **वामन**स्त्वष्टादशाक्षौहिणीरोदनकवलवद्ग्रसमानोऽन्यानपि समग्रांल्लोकाञ्छाकाद्युपदंशवच्छश्वल्लेक्षीत्यर्थः । तथा च "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनम्–" ( कठो. २।२५ ) इति श्रुत्यर्थोऽनुसंहित इति मन्यते । 'स्वतेजसा विश्वं तपन्तं' ( ११।१९ ) इति पूर्वमुक्तम् ; न तेजसैव, किन्तु तेजसो विस्फुरणैरपीतीदानीमुच्यत इति **दर्पणे** ।

— **अभिगीता** ।

११ नी० भा० दी०--ये च पतन्तस्तांस्त्वं करुणावानपि न वारयसि प्रत्युत ग्रसितुमिच्छस्येवेत्याह— लेलिह्यस इति । लेलिह्यसे भूयो भूयोऽतिशयेन वाऽऽस्वादयसि । कीदृशस्त्वम् ? समन्ताज्ज्वलद्भिर्वदनैर्लोकान् समग्रान् ग्रसमानः । एवं निर्घृणस्यापि तव तेजो न हीयते, प्रत्युत वर्द्धत एवेत्याह— तेजोभिरिति । हे विष्णो व्यापनशील ! समग्रं जगत् तेजोभिरापूर्य तव उग्राः स्प्रष्टुमशक्या भासो दीप्तयः प्रतपन्तीति योजना । पदार्थः स्पष्टः ॥ ३० ॥

**आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद ।**
**विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥**

१ **शां. भा.**— यत एवमुग्रस्वभावोऽतः— आख्याहि कथय मे मह्यं को भवानेवमुग्ररूपः क्रूराकारः ? । नमोऽस्तु ते तुभ्यं, हे देववर देवानां प्रधान ! प्रसीद प्रसादं कुरु । विज्ञातुं विशेषेण ज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यमादौ भवमाद्यम् । न हि यस्मात्प्रजानामि तव त्वदीयां प्रवृत्तिं चेष्टाम् ॥ ३१ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— भगवद्रूपस्यार्जुनेन दृष्टपूर्वत्वात्तस्य तस्मिन्न जिज्ञासेत्याशङ्कयाऽऽह— **यत इति** । उपदेशं शुश्रूषमाणेनोपदेशकर्तुः प्रह्वीभवनं कर्तव्यमिति सूचयति— **नमोऽस्त्विति** । क्रौर्यत्यागमर्थयते— **प्रसादमिति** । त्वमेव मां जानीषे किमर्थमित्थमिदानीमर्थयसे ? मदीयां चेष्टां दृष्ट्वा तथैव प्रतिपद्यस्वेत्याशङ्कयाऽऽह— **न हीति** ॥ ३१ ॥

३ **रा. भा.**— 'दर्शयात्मानमव्ययम्' [११।४] इति तवैश्वर्यं निरङ्कुशं साक्षात्कर्तुं प्रार्थितेन भवता निरङ्कुशमैश्वर्यं दर्शयताऽतिघोररूपमिदमाविष्कृतम् । अतिघोररूपः को भवान् ? किं कर्तुं प्रवृत्तः ? इति भवन्तं ज्ञातुमिच्छामि । तवाभिप्रेतां प्रवृत्तिं न जानामि, एतदाख्याहि मे; नमोऽस्तु ते देववर ! प्रसीद— नमस्तेऽस्तु सर्वेश्वर ! एवं कर्तुमनेनाभिप्रायेणेदं संहर्तृरूपमाविष्कृतमित्युक्त्वा प्रसन्नरूपश्च भव ॥ ३१ ॥

४ **वे. ता. चं.**— एवमत्यन्तघोराकारदर्शनं सोढुमशक्तो धनञ्जयः स्वसर्वैश्वर्यप्रकाशनप्रवृत्तस्य तादृशघोररूपाविष्कारे तात्पर्यकथनं पुनः प्रसन्नरूपपरिग्रहार्थं प्रसादं चापेक्षते 'आख्याहि' इति श्लोकेन । भक्तस्य मे भयानकरूपप्रदर्शने कोऽभिप्रायः ? इत्यज्ञानात्प्रश्न इत्याह **दर्शयेत्यादिना** । उपदेशसाक्षात्काराभ्यां भगवतः प्रतिपन्नत्वात् 'को भवान् ?' इति प्रश्नो न स्वरूपसंज्ञादिविषयः, 'नहि प्रजानामि तव प्रवृत्तिं' इति प्रवृत्तिप्रश्नाभिप्रायेणाज्ञातांशश्चात्रैव निर्दिश्यत इति तद्विषयजिज्ञासयैवायं प्रश्नो युक्त इत्यभिप्रायेण— **किं कर्तुं प्रवृत्त** इत्युक्तम् । कृष्णरूपप्रच्छन्नागतदैत्याभिव्यक्तस्वरूपान्तरादिशङ्कयाऽयं प्रश्न इति कैश्चिदुक्तमेतेन निरस्तम् । तदानीं परिदृश्यमानविग्रहादिप्रवृत्तिमात्रव्युदासाय **अभिप्रेता**मित्युक्तम् । देववरशब्देन ब्रह्मरुद्राद्यपेक्षयाऽपि समुत्कृष्टत्वं वदताऽत्यन्तोत्कृष्टविषये स्वरसभावित्वं नमस्कारस्य द्योत्यत इत्यभिप्रायेण **सर्वेश्वर**शब्दः । यथोक्तमहिर्बुध्न्येन 'नन्तव्यः परमः शेषी शेषा नन्तार ईरिताः। नन्तॄनन्तव्यभावोऽयं न प्रयोजनपूर्वकः' [अ. सं. ५२।७] इति । श्लोकस्य पिण्डितार्थमाह **एवं कर्तुमि**ति । 'प्रसीद' इत्यनेन फलितमुच्यते **प्रसन्नरूपश्चे**ति । एतदेव हि पश्चात् 'तदेव मे दर्शय रूपम्' [ ११।४५ ] इत्यादौ प्रपञ्चयिष्यते ॥ ३१ ॥

५ **आ. मा. भा.**— धर्मान्तरज्ञानार्थमेव को भवानिति पृच्छति— आख्याहीति। यथा कश्चित्कश्चिन्नामादिकं जानन्नपि जातिज्ञानार्थं पृच्छति कस्त्वमिति। यदि तमेव न जानाति तर्हि 'विष्णो !' [११।३०] इत्येव सम्बोधनं न स्यात् 'त्वमक्षरं' [११।१८] इत्यादि च ॥ ३१ ॥

---

१ यथा मानुषं रूपं दर्शयंस्त्वं कृष्णोऽसि, एवमिदं महोग्रं रूपं दर्शयन्कोऽसि ? एतद्रूपधारिणस्तव संज्ञा का ? ब्रूहि । तथा तव प्रवृत्तिं अनेन रूपेण चिकीर्षितं न सम्यग्जानामि, अतस्तदप्याख्याहीति भावः । **वामनो**ऽप्येवमेव परिष्करोति—

रूपं कार्यानुरूपं तव भवति विभो ! नाम चाप्यन्वितार्थं तस्मान्नाम्नाऽद्य कस्त्वं कथय भयकरं रूपमुग्रं दधानः ।
कर्तुं वा किं प्रवृत्तोऽस्यखिलमपि बलं लक्ष्यसे यज्जिघत्सन्नाख्याहीतद्भवन्तं लषति मम मतिर्वेत्तुमाद्यं यथावत् ॥ इत्यादिना ।

तथा चाकुलीभूतोऽर्जुनो भगवानयमिति विस्मृत्याहेति वदन्तः स्वयमेव व्याकुलीभूता विष्णो ! इति सन्निहिततरमपि सम्बोधनं विस्मृतवन्तः कालोऽस्मीत्यादि प्रत्युत्तरं चाननुसन्दधाना उपेक्ष्या एव । — अभिगीता ।

६ ञ. प्र. दी.— स्वरूपमेवाज्ञात्वा तद्धर्मान्वाऽयं पृच्छतीत्यन्यथा प्रतीतिनिरासायार्थमाह— धर्मान्तरेति । तर्हि किं धर्मान्तरो भवान् ? इति प्रश्नेन भाव्यम् । 'को भवान्' इति तु न युज्यत इत्यत आह– यथेति । अन्येषां व्यवहारान्नाम प्रत्यक्षेण रूपादिकं च जानन्नपि जातिज्ञानार्थं यथा कश्चित्कश्चित्कस्त्वमित्येवं पृच्छति, तथाऽर्जुनो भगवन्तं तद्धर्मांश्च जानन्नपि धर्मान्तरज्ञानार्थं 'को भवान् ?' इत्येव पृच्छतीत्यर्थः। प्रश्नव्याख्यानस्य वर्तमानत्वाद्वर्तमाननिर्देशः । उग्रं रूपं दृष्ट्वा रुद्रो वा यमो वाऽयमिति स्वरूप एव सन्दिहानस्य प्रश्नः किं न स्यात् ? इत्यत आह— यदीति । तत्स्वरूपमेवेत्यर्थः । 'भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो' [ ११।३३ ] इति । तर्हि ननु धर्मविषयोऽयं प्रश्नोऽस्तु, ततश्चान्तरशब्दो न युक्त इत्यत आह— त्वमिति । यदि भगवद्धर्मान्न जानीयात्तर्हि 'त्वमक्षरं परमं' [ ११।१८ ] इत्यादिवर्णनं न स्यात् । अतो भगवन्तं तद्धर्मांश्चाक्षरत्वादीन् ज्ञात्वा तदन्यधर्मज्ञानार्थमेव प्रश्न इत्येवमुक्तमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ ३१ ॥

८ वें. ब्र. गि.— यस्मादेवमत्युग्ररूपस्त्वम् , तस्मात्— आख्याहीति । एवमुग्ररूपो भवान्कः ? मह्यमाख्याहि; देववर ! ते तुभ्यं नमोऽस्तु । प्रसीद मह्यम् । मया हि ' दर्शयात्मानमव्ययम् ' [ ११।४ ] इति त्वदीयं रूपं प्रार्थितम्, त्वया त्वतिघोरमीदृशं रूपं प्रदर्श्यते ; न ह्याश्रितवत्सलस्य तवेदमुचितम्, अतो वक्तव्यमयुकोऽहमेतत्कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मीति। अन्यथा न मे समाधानं स्यादित्यभिप्रायः । एतदेव विवृणोति— विज्ञातुमिति । आद्यं विश्वरूपप्रदर्शनावधृतपरब्रह्मभावं भवन्तं विशेषेण अमुको देव इदं कर्तुं प्रवृत्तः इत्येवं रूपेण ज्ञातुमिच्छामि । हि यस्मात् तवाभिमतां प्रवृत्तिं न जानामि ॥ ३१ ॥

९ व० त० दी०— अतस्त्वमाख्याहि । को भवानुग्ररूपो दृश्यसे ? हे देववर ! प्रसीदेति स्वस्य भीतत्वं सूचयति । एवं च त्वामाद्यं पुरुषं भयङ्कराकारेण वर्तमानं सर्वविलक्षणं विज्ञातुमिच्छामि; यतस्तव प्रवृत्तिं च न जानामि ततो ब्रूहि ॥ ३१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं समग्रजगत्तापनेन ममाऽपि सन्तापो भवत्यतो मयि प्रसन्नो भवेत्याह—आख्याहीति । भवान् पूर्वरूपेण परिदृश्यमानः कः? उग्ररूपः कः? एतत् मह्यं हि निश्चयेन आख्याहि वद । तवाख्याने किं साधनं ? इत्यत आह । हे देववर देवश्रेष्ठ ! देवाः पूजनेन तुष्यन्ति, त्वं तु तेषामपि श्रेष्ठः प्रभुरतस्ते नमोऽस्तु । 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्यादिवाक्यैस्तव प्रसादे नमस्कार एव साधनमित्यर्थः । अतः प्रसीद प्रसन्नो भव । ननु प्रसादे स्वरूपाख्यानं किम्प्रयोजनकं ? इत्यत आह— विज्ञातुमिति । आद्यं पुरुषोत्तमं मूलभूतं भवन्तं विज्ञातुं विशेषेण सलीलं ज्ञातुमिच्छामि वाञ्छामि । यतस्तव प्रवृत्तिं अत्र प्राकट्यरूपां चेष्टां लीलां हि निश्चयेन न प्रजानामि; स्वरूपज्ञाने सति तज्ज्ञानमपि भविष्यतीत्यर्थः । एवं सलीलं त्वज्ज्ञानेन भजनं करिष्याम्यतो विज्ञातुमिच्छामीति भावः ॥ ३१ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं दीप्त्याऽऽकुलीभूतोऽर्जुनो भगवानयमिति विस्मृत्याह— आख्याहीति । एवमुग्ररूपः क्रूरकर्मा भवान् कोऽसीत्याख्याहि अमुकोऽस्मीति कथय, प्रसीद शान्तो भव; त्वामहं विज्ञातुमिच्छामि, यतस्तव प्रवृत्तिं चेष्टां न जानामि ॥ ३१ ॥

भयङ्कररूपधारणस्य भगवद्धेतुः ।

**श्रीभगवानुवाच– कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।**
**ऋतेऽपि त्वा न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥**

---

१ न भविष्यन्ति सत्तां न प्राप्स्यन्ति न शिष्यन्तीति यावत् ॥ अत्र– अर्जुनेन जगद्रक्षकस्य विष्णोस्तव न भवतीदं सकलजगत्संहारकमतिभयङ्करं रूपं त्वया प्रदर्शितमित्यभिप्रायेण 'आख्याहि मे को भवान् ?' इति पृष्टेन भगवता सकललोकसंहर्तृ कालाग्निरुद्ररूपं मया प्रदर्शितमित्युक्तं 'कालोऽस्मि' इति । अतो जगत्संहारार्थं कालाग्निरुद्ररूपं दधानस्य शिवस्यैवेदं रूपमिति युक्तम् । ननु कृष्णेन शैवं रूपं प्रदर्शितमिति कथमिदमुपपद्यताम् ? 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ! ।' इत्यर्जुनेन तदीयमेव खल्वाद्यमैश्वरं रूपं प्रदर्शनीयमिति प्रार्थितम् । उच्यते– तत्प्रार्थनानुसारेण यदेव वस्तुतः कृष्णस्य सर्वतोऽप्याद्यं रूपं, तदेव हि प्रदर्शनीयम् । तच्च वस्तुतो वैष्णवरूपस्यापि मूलभूतं शैवमेव रूपमिति तत्प्रदर्शने काऽनुपपत्तिः ?। यदि तु कृष्णस्य शिवाभेदो नेष्यते, तदापि नानुपपत्तिः; अर्जुनेन खलु सर्वात्मकमाद्यमैश्वरं रूपं प्रदर्शनीयमिति पृष्टम् , तत्तु वस्तुतः शैवमेव रूपमित्यभिप्रेत्य योगमाहात्म्यात् कृष्णेन तदेव प्रदर्शितमित्युपपत्तेः। यद्येवम्, ' एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य ' ( ११।३५ ) इत्यादिसन्दर्भे भीतस्यार्जुनस्य यानि कृष्णं प्रति वचनानि, तानि कथमुपपद्यन्ताम् ? एतानि हि कृष्णस्तुतिवचनानि प्राचीनस्वापराधसहनप्रार्थनासहितानि कृष्णस्यैव—

**१ शां. भा.— कालोऽस्मीति** । कालोऽस्मि लोकक्षयकृल्लोकानां क्षयं करोतीति लोकक्षयकृत् , प्रवृद्धो वृद्धिं गतः । यदर्थं प्रवृद्धस्तच्छृणु, लोकान्समाहर्तुं संहर्तुमिहास्मिन्काले प्रवृत्तः । ऋतेऽपि विनाऽपि त्वा त्वां न भविष्यन्ति भीष्मद्रोणकर्णप्रभृतयः सर्वे, येभ्यस्तवाऽऽशङ्का; येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेष्वनीकमनीकं प्रति प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षभूतेष्वनीकेषु योधा योद्धारः ॥ ३२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— स्वयं यदर्था च स्वप्रवृत्तिस्तत्सर्वं भगवानुक्तवानित्याह— **श्रीभगवानिति** । कालः क्रियाशक्त्युपहितः परमेश्वरः, अस्मिन्निति वर्तमानयुद्धोपलक्षितत्वं कालस्य विवक्षितम् । लोकसंहारार्थं त्वत्प्रवृत्तावपि नासावर्थवती प्रतिपक्षाणां भीष्मादीनां मत्प्रवृत्तिं विना संहर्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **ऋतेऽपीति** ॥ ३२ ॥

**३ रा. भा.**— आश्रितवात्सल्यातिरेकेण विश्वैश्वर्यं दर्शयतो भवतो घोररूपाविष्कारे कोऽभिप्रायः ? इति पृष्टो भगवान् पार्थसारथिः स्वाभिप्रायमाह— पार्थोद्योगेन विनाऽपि धार्तराष्ट्रप्रमुखमशेषं राजलोकं निहन्तुमहमेव प्रवृत्त इति ज्ञापनाय मम घोररूपाविष्कारः, तज्ज्ञापनं च पार्थमुद्योजयितुं **श्रीभगवानुवाचेति** । कलयति गणयतीति कालः; सर्वेषां धार्तराष्ट्रप्रमुखानां राजलोकानामायुरवसानं गणयन्नहं तत्क्षयकृत् घोररूपेण प्रवृद्धो राजलोकान् समाहर्तुमाभिमुख्येन संहर्तुमिह प्रवृत्तोऽस्मि; अतो मत्सङ्कल्पादेव त्वामृतेऽपि त्वदुद्योगमृतेऽपि एते धार्तराष्ट्रप्रमुखास्तव प्रत्यनीकेषु येऽवस्थिता योधाः, ते सर्वे न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति ॥ ३२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'कालोऽस्मि' इत्यादिश्लोकत्रयस्यार्थं सङ्कल्प्यादौ सङ्गमयति— **आश्रितेत्यादिना** । **आश्रितवात्सल्यातिरेकेणे**त्यनेन घोररूपाविष्कारानौचित्यं द्योत्यते। 'एवं कर्तुमनेनाभिप्रायेण' इति निर्दिष्टयोर्निश्रेणिकाक्रमेणोत्तरं ददाति **पार्थोद्योगेने**त्यादिना । कालशब्दस्यात्र कलामुहूर्तादिमयकालद्रव्यमात्रपरत्वे भगवता सामानाधिकरण्यायोगादिन्द्रप्राणाधिकरणन्यायेन तदन्तर्यामिविषयत्वं वा, आकाशप्राणाधिकरणन्यायेन यौगिकार्थत्वं वा, सृष्टिस्थितिकालव्यावृत्तसंहर्तृकालाभिमानित्वविशिष्टभगवत्स्वरूपानुसन्धानासाधारणं ध्येयविग्रहविशेषनिष्ठतापरत्वं वा स्वीकार्यम् । तत्र त्रिष्वपि कालशब्दस्य यौगिकोऽर्थः प्रतीयमानः प्रकृतापेक्षितत्वादपरित्याज्य इत्यभिप्रायेणाह **कलयतीति** । सम्बन्धाद्यर्थादपि गणनस्यात्र संहरणानुगुणत्वात् **गणयती**त्युक्तम् । प्रकृतविशेषपरतया योजयति **सर्वेषा**मिति । लोकशब्दस्य राजलोकशब्देन व्याख्यानं पूर्ववत् । 'प्रवृद्धः' इति रूपमहत्त्वं विवक्षितमित्याह **घोररूपेण प्रवृद्ध** इति । यद्वा प्रसनोन्मुखावस्थ इति भावः । 'समाहर्तुम्' इति पदेन समुदायकरणादिकं न विवक्षितम्, प्रस्तुतासङ्गतत्वात् ; नापि संहरणमात्रं 'लोकक्षयकृत्' इत्यनेन पुनरुक्तिप्रसङ्गात् ; अतः संहरणमेव मध्यनिविष्टेनाप्युपसर्गान्तरेण विशेष्यत इत्याह **आभिमुख्येने**ति । अपरोक्षत इत्यर्थः । भृत्यैः शत्रुनिरसनवन्न परोक्षः संहारोऽयमिति भावः । आभिमुख्यमात्रमेव वा संहारहेतुरिति भावः । ' मनसैव जगत्सृष्टिं संहारं च करोति यः । तस्यारिपक्षक्षपणे कियानुद्यमविस्तरः ' [ वि. पु. ५।२२।१५ ] इत्याद्यनुसारेणाह **अतो मत्सङ्कल्पादेवेति** । निमित्तभूतव्याप्रियमाणाकारस्त्वमिति विवक्षित इत्यभिप्रायेण **त्वदुद्योगमृतेऽपी**त्युक्तम् । 'न भविष्यन्ति' इत्युक्ते नोत्पत्स्यन्त इति प्रतीतिः स्यादिति तद्व्यवच्छेदायोत्तरकालसत्तानिषेधपरतामाह— **विनङ्क्ष्यन्ती**ति ॥ ३२ ॥

**५ आ. मा. भा.— कालशब्दो जगद्बन्धनच्छेदनज्ञानादिसर्वभगवद्धर्मवाची** । कल बन्धने, कल च्छेदने, कल ज्ञाने, कल कामधेनुरिति पठन्ति । प्रसिद्धश्च स शब्दो भगवति । 'नियतं कालपाशेन बद्धं शक्र ! विकत्थसे । अयं स पुरुषः श्यामो लोकस्य हरति प्रजाः ॥ बद्ध्वा तिष्ठति मां रौद्रः पशुं रशनया यथा' इति मोक्षधर्मे । विष्णुना बद्धो बलिर्वक्ति ' विष्णौ चाधीश्वरे ( त्र्यधीश्वरे ) चित्तं धारयन् ( येत् ) कालविग्रहे' [ ११।१५।१५ ] इति भागवते । प्रवृद्धः परिपूर्णोऽनादिर्वा । "ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्" [ ऋक्सं. ८।८।४९।१ म. ना. ६।१ ] इति हि श्रुतिः । " एतत् ( इदं ) महद्भूतम् " [ बृ. उ. २।४।१२ ] इति च ।

—तद्रूपान्तरं स्वेन दृष्टमित्याशयं गमयन्तीति चेत्; यद्यभेदस्तदा न काचिदनुपपत्तिः । यदि स नेष्यते, तदाप्येवंभूतशिवयोगनिष्ठत्वरूपमाहात्म्यातिशयदर्शनेन स्तुत्यादिकमिति तदुपपत्तेः, इत्याद्यप्पय्यदीक्षितीयं प्रतिपादनमप्यनुसन्धानमर्हतीति मनाक् सङ्गृहीतम् । विस्तरस्तु **ब्रह्मतर्कस्तव**व्याख्याने द्रष्टव्यः । — **अविगीता**

६ ज. प्र. दी.— एवं तर्हि 'कालोऽस्मि' इत्युत्तरमयुक्तं धर्मानुक्तेरित्यत आह- कालेति। धर्मविशिष्टभगवद्वाचीत्यर्थः। कुत एतत्? इत्यत आह— कलेति। यथा कामधेनुः सर्वार्थान् ददाति तथाऽयमपि धातुः सर्वार्थवाचीत्यर्थः। तथा चास्मादण् कर्तरि घञ् वा। जगदिति योग्यतया सम्बध्यते। भवत्वयं बन्धनादिधर्मवद्वाची, भगवद्वाची तु कुतः? अन्यत्र रूढत्वादित्यत आह— प्रसिद्धश्चेति। बद्धं मां प्रति विकत्थसे आत्मानं तु श्लाघसे। कः कालः। अयं कथम्? श्यामः प्रजा हरति। बद्ध्वा तिष्ठति रौद्रश्चेति। अत्र कथं विष्णुवाचित्वनिश्चयः? इत्यत आह— विष्णुनेति। कालनामाविग्रहो यस्यासौ तथोक्तः। प्रवृद्ध इति कादाचित्की वृद्धिः प्रतीयतेऽत आह— प्रवृद्ध इति। वृद्धिर्धात्वर्थः। सा च प्रशब्देन देशतः कालतश्च सदातनी विवक्षितेति भावः। अनादिरिति नित्यत्वस्याप्युपलक्षणम्। भूताधिकारे विहितस्य क्तस्य कुतः सार्वकालिकत्वं? प्रयोगदर्शनादिति भावेनाह— ऋतं चेति। इद्धाद्भूतमितिवदित्यर्थः।

**५ आ. मा. भा— "प्र विष्णुरस्तु तवसः स्तवीयांस्त्वेषं ह्यस्य स्थविरस्य नाम" [ऋक्सं. ५।६।२५।३] इति च, न तु वर्धनम्। 'नासौ जजान न मरिष्यति नैधतेऽसौ' इति हि भागवते। 'यस्य दिव्यं हि तद्रूपं हीयते वर्धते न च' इति मोक्षधर्मे। "न कर्मणा" [बृ. उ. ४।४।२३] इति तु कर्मणाऽपि न, किमु स्वयं? इति। लोकान्समाहर्तुमिह विशेषेण प्रवृत्तः। भ्रात्रादींश्च ऋते इत्यपिशब्दः। प्रत्यनीकत्वं तु परस्परतया। सर्वेऽपि न भविष्यन्ति, अक्षौहिण्यादिभेदेन बहुवचनं युक्तम्॥ ३२॥**

६ ज. प्र. दी.— अत्रापि सार्वकालिकत्वानिश्चय इत्यतो भगवतो दीप्तेः सत्तायाश्च सदातनत्वे श्रुतिसद्भावादित्याह— प्रविष्णुरिति। विष्णुः— तवसो देशकालपरिच्छिन्नात् सूर्यादेस्तेजसः स्तवीयान् अतिशयिततेजोरूपो भवति, अत एव ह्यस्य स्थविरस्यानादिकालीनस्य त्वेषमिति नाम; असाधारण्येन हि व्यपदेशा भवन्तीत्यर्थः। अस्त्वेवं तथापि प्रागल्पः सन्निदानीं वृद्धिङ्गत इत्यत्रार्थे: किं न स्यात्? इत्यत आह- नतिवति। तुशब्दो विशेषणार्थः। विक्रियारूपं वर्धनं प्रवृद्धशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं न भवति। भगवति भावविकाराणां प्रतिषिद्धत्वात्। भगवतो विक्रियारूपवृद्ध्यभावेऽपि तद्रूपस्य भवत्विति तत्राह— यस्येति। ननु "न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्" इति श्रुतौ कर्मनिमित्तवृद्धिप्रतिषेधनात् वृद्धिमात्रमस्तीति ज्ञायते, अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यात्। तथा च सत्प्रतिपक्षमुक्तवाक्यमित्यत आह— नेति। 'न कर्मणा' इति विशेषनिषेधस्तु वृद्धिलक्षणविक्रियाकारणत्वेन सम्भावितेन कर्मणाऽपि यदा न वर्धते, तदा स्वयं कर्मणा विना न वर्धत इति किमु वक्तव्यम्? इति वृद्धिलक्षणविक्रियाकारणत्वमात्रनिषेधाय कैमुत्यप्रदर्शनार्थमित्यन्यथोपपन्नमित्यर्थः। ननु सर्वत्र भगवानेव लोकानां संहर्ता तस्मात् 'इह' इति व्यर्थमित्यत आह— लोकानिति। युगपद्बहून्प्रत्यक्षत एवेति विशेषेण युधिष्ठिरादीनामवशिष्टत्वात् कथं 'त्वामृते' इत्येवोक्तं? इत्यत आह— भ्रात्रादींश्चेति। अपिशब्दो द्योतयतीति शेषः। अस्मत्प्रतिकूलेष्वनीकेषु अवस्थिता योधा न भविष्यन्तीत्युक्ते का पाण्डवादीनां प्राप्तिर्येन 'ऋतेऽपि त्वा' इत्युच्यत इत्यत आह- प्रत्यनीकत्वमिति। सेनाद्वयस्यापीति शेषः। कुत एवं व्याख्यानं? इत्यत आह— सर्वेऽपीति। सेनाद्वयगता अपीत्यर्थः। प्रत्यनीकेष्विति बहुवचनं कथं? इत्यत आह— अक्षौहिणीति। भेदेन बहुत्वेन॥ ३२॥

**७ ह. पै. भा.— अर्जुनस्य वचनं श्रुत्वा तस्योत्तरं श्रीभगवानुवाच- कालोऽस्मीति। लोकानिह मच्छरीरे समाहर्तुं पिण्डीकर्तुं प्रवृत्तः। ऋतेऽपि त्वा त्वामन्तरेणापि न भविष्यन्ति॥ ३२॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं पार्थेन प्रार्थितो यः स्वयं यदर्थी च स्वप्रवृत्तिस्तत्सर्वं त्रिभिः श्रीभगवानुवाच— कालोऽस्मीति। लोकानां चतुर्दशभुवनानां तज्जनानां च सर्वेषां क्षयं संहारं करोतीति तथोक्तः, सोऽयं कालः "कालाय नमः कलविकरणाय" [म. ना. १०।५] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धः सङ्कर्षणाख्यकालाग्निरुद्ररूपः परमेश्वरोऽहमस्मि। अनेन 'को भवान्' [११।३१] इत्यस्योत्तरमुक्तम्। अथ 'किं कर्तुं प्रवृत्तः?' इत्यस्योत्तरमाह— लोकानिति। लोकान्दुर्योधनादीन् इहास्मिन्काले समाहर्तुं नाशयितुं प्रवृद्धः प्रकर्षेण वृद्धिं गतः सन् प्रवृत्तोऽस्मि। तथा च त्वत्प्रवृत्त्यैवैषां नाशः? इति, नेत्याह— ऋतेऽपि त्वामिति। प्रत्यनीकेषु प्रतिपक्षसैन्येषु अवस्थिता ये योधा भीष्मद्रोणादयः, ते सर्वे त्वामृते त्वां विनापि, त्वद्व्यापारमन्तराऽपीति यावत्; न भविष्यन्ति विनङ्क्ष्यन्ति॥ ३२॥

९ व० त० दी०— एवं प्रार्थितः श्रीभगवानुवाच- कालोऽस्मीति त्रिभिः। योऽधुनाऽऽविर्भूतः स कालोऽहम्। चतुर्धा ह्यहं अक्षरकालकर्मस्वभावभेदादित्यक्षरमपि लेलिहानत्वादिधर्मवत्त्वेन लिङ्गेन मां कालरूपमवेहि। यथोक्तं श्रीभागवते- 'अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः। समन्वेत्येष सत्त्वेन (सत्त्वानां) भगवानात्ममायया॥ तथा 'वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पुरुषकालरूपैः। प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व

विद्वन् ! ' [ भाग.१०।१।७ ] कालरूपतयाऽसुरावेशिनां मृत्युहेतुरित्याह— लोकानसुरावेशिन इह समाहर्तुं प्रवृत्त इति । अयमेव सङ्कर्षणभावः प्रदर्श्यते भगवता । संहारको हि सङ्कर्षणव्यूहः तत्केशस्य भगवत्स्वरूपेऽवतरणं भूमौ भारहरणार्थमिति भारते निरूप्यते । तथा च भूभारभूतानामेव संहारकः कालः प्रवृत्तोऽस्मि । 'ऋतेऽपि त्वां' इत्युपलक्षणं मदनुगृहीतान्विना सर्वान्समाहर्तुं प्रवृत्तोऽस्मीत्यर्थः । त्वा हननिमित्तभूतं विना न जीविष्यन्तीति वा सम्बन्धः । हे पार्थ ! त्वया न हन्तव्याश्चेन्मया कालरूपेण तु ग्रस्ताः तिरोभावं यास्यन्तीत्यभिप्रायेण 'न भविष्यन्ति' इति प्रत्युक्तम् ।। ३२ ।।

१० पु. अ. त.— एवं विज्ञप्तः सन् श्रीभगवान् उवाच— कालोऽस्मीति त्रयेण । लोकक्षयकृत् लोकानां विनाशकः प्रवृद्धः ऊर्जितः, लोकान् प्राणिनः, इह बाह्यतः समाहर्तुं संहर्तुं स्वलीनान् कर्तुं प्रवृत्तः कालोऽस्मि । यद्दशनान्तरेषु योधास्त्वया दृष्टास्तत्कालात्मकं मत्स्वरूपमिति भावः । त्वां द्रष्टारं मत्कृपापात्रं ऋते विना प्रत्यनीकेषु अनीकानि प्रत्यवस्थिताः ये योधास्ते सर्वेऽपि न भविष्यन्ति न स्थास्यन्तीति । यतोऽहं कालरूपः सर्वसंहारार्थं प्रवृत्तोऽस्मि । त्वां ऋते सर्वे न भविष्यन्तीत्युक्त्या त्वदर्थमेवैते मारिता इति ज्ञापितम् ।। ३२ ।।

११ नी० भा० दी०— एवमर्जुनेन प्रार्थितो भगवानुवाच— काल इति । इहास्मिन्सङ्ग्रामे लोकान्समाहर्तुं भक्षितुं प्रवृत्तः प्रवृद्धो महान् लोकक्षयकृत् कालो नाम परमेश्वरोऽस्मि । यस्मादेवं तस्मात् ऋतेऽपि त्वा त्वां विनाऽपि सर्वे न भविष्यन्ति मरिष्यन्ति । के ते सर्वे ? ये प्रत्यनीकेषु शत्रुसैन्येषु योधाः शूरा भीष्मादयोऽवस्थितास्ते ।। ३२ ।।

**तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् ।**
**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ! ।। ३३ ।।**

१ शां. भा.— यस्मादेवम्— तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ 'भीष्मद्रोणप्रभृतयोऽतिरथा अवस्थिताः अजेया देवैरप्यर्जुनेन जिताः' इति यशो लभस्व, केवलं पुण्यैर्हि तत्प्राप्यते । जित्वा शत्रून्दुर्योधनप्रभृतीन्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धमसपत्नमकण्टकम् । मयैवैते निहता निश्चयेन हताः प्राणैर्वियोजिताः पूर्वमेव । निमित्तमात्रं भव त्वं हे सव्यसाचिन् ! सव्येन वामेनापि हस्तेन शराणां क्षेपात्सव्यसाचीत्युच्यतेऽर्जुनः ।। ३३ ।।

२ आ. शां. व्या.— तवौदासीन्येऽपि प्रतिकूलानीकस्था मत्प्रातिकूल्यादेव न भविष्यन्तीत्येवं यस्मान्निश्चितं, तस्मात्त्वदौदासीन्यमकिञ्चित्करमित्याह— यस्मादिति । उत्तिष्ठ युद्धायोन्मुखी भवेत्यर्थः । यशोलाभमभिनयति— भीष्मेति । किं

---

१ 'सव्यसाचिन् ! ' इत्यनेन करद्वयेनापि योद्धुं समर्थस्य तवैवैतेषां नाशने निमित्तीकरणं युक्तं मन्य इति ध्वन्यते । 'उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे । तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ।।' ( म. भा. ४।४४।१९ ) 'सव्यं दक्षिणवामयोः' तेन ' सव्यौ उभौ पाणी सचते समवैति अर्थाज्ज्याकर्षणेऽतः सव्यसाची' इति **विरोधार्थभञ्जनी** । सव्यश्च सव्यश्च एकशेषात् साची क्षेपक इत्यर्जुनमिश्रः । अत्र **वामनः**—

सव्योऽपि सचते बाणान्पाणिर्दक्षिणवत्तव । सव्यसाचीति लोकेऽस्मिन् विदितोऽसि ततो जनैः ।।
यदि न स्यादिदं युद्धं सदृशप्रतियोगिकम् । धानुष्कतामसदृशीं क्व नु तां दर्शयिष्यसि ? ।।
अनाविष्कृतविद्यस्य कथं स्याच्च यशः स्थिरम् ? । सव्यसाचिपदेनेति पार्थायाबोधयद्विभुः ।। — इति मनुते ।

परमेश्वरावतारत्वेन श्रीकृष्णस्य तदभिन्नत्वात् ' मयैवैते निहताः ' इत्यस्य ' यस्तु ते सोऽग्रतो याति युद्धे सम्प्रत्युपस्थिते । तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय ! देवदेवं कपर्दिनम् ।। निहतांस्तेन वै पूर्वं हतवानसि यान् रिपून् ।। ( म. भा. १२।३४२।३९–४० ) इति वक्ष्यमाणस्य च न विरोध इति **रुद्रभाष्ये** ( ८।५ ) वेङ्कटनाथः । ' मयैवैते निहताः—' इत्येवकारेण केवलमर्जुन एव व्यावर्तनीयः, ' निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ! ' इति वाक्यशेषात् ; तत्र शिवप्रसङ्गाभावाच्च । यद्वा जगत्संहारार्थं कालाभिरुद्ररूपं दधानस्य शिवस्यैवेदं रूपं कृष्णेन शिवाभेदेन शिवयोगसामर्थ्यलब्धशिवाहम्भावभावनया प्रदर्शितमितीदं वचनमपि शिवस्यैवेति न काप्यनुपपत्तिः । एवमभिप्रायकल्पन एव च ' पूर्वमेव ' इत्यस्य नालायनीसन्निधौ पञ्चेन्द्रान् प्रति रुद्रेणोक्तस्य 'योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम् । तत्र यूयं कर्म कृत्वाऽविषह्यं बहूनन्यान्निधनं प्रापयित्वा ।। आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं–' [ म. भा. १।१९७।२९ ] इत्यादेरुपलक्षकत्वेन सर्वपूर्वभावविषयतया सामञ्जस्यं भवतीत्यप्पयदीक्षिताशयः ( ब्र. त. स्त. ९।११ ) ।

— **अविगीता** ।

तेनाप्नुमर्थेनेत्याशङ्क्याऽऽह— पुण्यैरिति । राज्यभोगेऽपेक्षिते किमनपेक्षितेन ? इत्याशङ्क्याऽऽह— जित्वेति । भीष्मादिष्वतिरथेषु सत्सु कुतो जयाशङ्का ? इत्याशङ्क्याऽऽह— मयैवैत इति । तर्हि मृतमारणार्थं न मे प्रवृत्तिस्तत्राऽऽह— निमित्तेति । सव्यसाचिपदं विभजते— वामेनेति ॥ ३३ ॥

**३ रा. भा.—** तस्मात्त्वं तान् प्रति युद्धायोत्तिष्ठ; तान् शत्रून् जित्वा यशो लभस्व; धर्म्यं राज्यं च समृद्धं भुङ्क्ष्व ; मयैवैते कृतापराधाः पूर्वमेव निहताः हनने विनियुक्ताः ; त्वं तु तेषां हनने निमित्तमात्रं भव; मया हन्यमानानां शस्त्रादिस्थानीयो भव; सव्यसाचिन् ! 'षच समवाये'[धा.पा.१।१०२२] सव्येन शरसचनशीलः सव्यसाची; सव्येनापि करेण शरसमवायकरः; करद्वयेन योद्धुं समर्थ इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**४ वे. ता. चं.—** यदि मदुद्योगमृतेऽपि धार्तराष्ट्रादयो न भविष्यन्ति ; तर्हि किमर्थं मामुद्योजयसि ? इत्यत्रोत्तरं 'तस्मात्त्वम्' इति श्लोकः । मद्भक्तस्य ते जययशोराज्यादिलाभार्थं त्वदुद्योजनमिति परिहाराशयः । 'जित्वा शत्रून्' इति यशोराज्ययोः साधारणहेतुः । वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारेण जिघांसाहेतुप्रदर्शनार्थं **कृतापराधा** इत्युक्तम् । ननु पूर्वमेव निहता इति प्रत्यक्षविरुद्धम् ; तथा सति तद्धननार्थं निमित्तमात्रं भवेत्युद्योजनं च व्यर्थमित्यत्राह **हनने विनियुक्ता** इति । हनने विनियोगस्तदर्थसङ्कल्पः ; हन्तव्यत्वेन सङ्कल्पिता इत्यर्थः । सङ्कल्पस्यामोघत्वात्फलसिद्ध्यविनाभावेन निहतत्वोक्तिः ; एवमपि निष्ठार्थो घटते ; ईश्वरसङ्कल्पप्रभृति फलपर्यन्ते क्रियासमुदाये सङ्कल्पांशस्य निष्पन्नत्वादेकदेशे च समुदायशब्दप्रयोगोपपत्तेः स्थालीकाष्ठादिव्यापारेषु प्रत्येकं पचतिप्रयोगवत् । अत्राशंसायामादिकर्मणि क्त इत्येके 'निमित्तमात्रम्' इत्युपादानत्वनिषेधः प्रतीयते ; तत्र च प्रसङ्गाभावात्प्रतिषेधोऽपि नोचित इत्यत्राह **मया हन्यमानाना**मिति । मयैवोपकरणीकृतेन तत्प्रतिपत्तिमता भवता पापनैर्घृण्यपराजयादिशङ्का न कार्येति भावः । मात्रशब्दः प्राधान्यव्यवच्छेदार्थ इत्यभिप्रायेणाह— **शस्त्रादिस्थानीय** इति । सव्यसाचिपदेन सम्बोधनं युद्धौपयिकासाधारणातिशयद्योतनार्थमित्यभिप्रायेण व्युत्पादयति **षच समवाय** इत्यादिना । सव्यशब्दस्य करणार्थतां धातोः प्रकृतोचितं कर्मविशेषं ताच्छील्यार्थतां च प्रत्ययस्य दर्शयति **सव्येने**ति । समवायोऽत्र शरसन्धानम् । परिसङ्ख्यान्यायात् दक्षिणेन शरसमवायं कर्तुमशक्त इति शङ्कामपनयन् सव्यशब्दस्य पादादिसाधारणस्य प्रस्तुतौपयिकं विशेष्यमप्याह **सव्येनापि करेणे**ति । अयोगव्यवच्छेदार्थं सव्योपादानम् , न त्वन्ययोगव्यवच्छेदार्थमिति भावः । फलितमाह— **करद्वयेने**ति । भूभारनिर्हरणार्थं तवेदृशं सामर्थ्यं मया सङ्कल्पितमिति समर्थशब्दाभिप्रायः ॥ ३३ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ३३ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ३३ ॥

**७ ह. पै. भा.—** ॥ ३३ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** एवं च 'दर्शयात्मानमव्ययम्' [११।४] इति प्रार्थितेन मया यदेतत्संहारप्रधानमत्युग्रं विश्वरूपं दर्शितं तत्तु निखिलधार्तराष्ट्रविनाशप्रदर्शनेन तव जयनिश्चयमुत्पाद्य त्वां युद्धे प्रवर्तयितुमित्येतद्दर्शयन्नाह— **तस्मादिति** । यस्माद्दुर्योधनादिविनाशावश्यम्भावेन 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इति त्वदीयप्राक्तनसंशयानवकाशस्तस्मात् त्वं युद्धायोत्तिष्ठ । ननु तेषां विनाशाय त्वयि प्रवृत्ते सति मदुत्थानस्य किं फलम् ? अत आह— यशो लभस्व देवैरपि दुर्जया भीष्मद्रोणादयोऽर्जुनेन निहता इति कीर्तिं प्राप्नुहि । न केवलं कीर्तिलाभमात्रम् , किन्तु शत्रूञ्जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व । न च 'लोकान्समाहर्तुं प्रवृत्तः' इति 'न भविष्यन्ति' [ ११।३२ ] इति च तद्विनाशस्य भविष्यत्त्वोक्त्या तत्र संशयः कार्यः , किन्तु विनष्टानेव तान्विद्धीत्याह— **मयैवैते निहता** इति । पूर्वमेव शङ्खवादनकाल एव मयैवैते निहताः । 'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्' [ १।१९ ] इति हि तत्रोक्तम् । यथा चायमर्थस्तत्र स्पष्टो भवति , तथाऽस्माभिः प्रथमाध्याये व्याख्यातम् । यद्येवं त्वयैवैते निहतास्तर्हि मम कथं यशो भविष्यति ? तत्राह— **निमित्तमात्रमिति** । मया ह्येतेषां निहननं नाम बलपराक्रमादिशक्तिविनाशनेन त्वद्यशस्सिद्ध्यर्थं केवलशरीरमात्रेणावस्थापनम् । अतस्तेषां देहपाते त्वं निमित्तमात्रं भव । एतदेवाह— **सव्यसाचिन्निति** । सव्येन वामहस्तेनापि शरान् सचितुं सन्धातुं शीलमस्येति सव्यसाची । 'षच समवाये' [धा.पा. १।१०२२] इति धातुः । हस्तद्वयेनापि योद्धुं समर्थ इत्यर्थः । अतश्च यथा कथञ्चित्त्वदीयैकबाणप्रयोगमात्रेण तेषु पतत्सु तवैव कर्तृत्वं लोकाः स्थापयिष्यन्तीति भावः ॥ ३३ ॥

९ व० त० दी० तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ निमित्तमात्रं तु भव ॥ ३३ ॥

**१ पु. श्री. त.—** अत एव त्वमनायासेन यशो गृहाणेत्याह— **तस्मादि**ति । हे सव्यसाचिन् ! सव्येन वामेन हस्तेन सचितुं सन्धातुं शीलं यस्य तादृशस्त्वमुत्तिष्ठ युद्धार्थं सज्जो भव । यशो लभस्व सव्यहस्तेनैव सर्वे मारिता इत्यादि-

रूपम्। शत्रून् दुर्योधनादीन् जित्वा समृद्धं राज्यं भुङ्क्ष्व। एते मया पूर्वमेव त्वन्मारणात् प्रथममेव निहताः मारिताः, अतो निमित्तमात्रं भव लोककथनार्थमर्जुनेन सर्वे मारिता इति ॥ ३३ ॥

११ नी० भा० दी०—तस्मादिति। यस्मात्त्वां विनाऽप्येते मरिष्यन्ति तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ युद्धाय। शेषं स्पष्टम् ॥ ३३ ॥

**द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथाऽन्यानपि योधवीरान्।**
**मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥**

१ शां. भा.—द्रोणं चेति। द्रोणं च येषु येषु योधेष्वर्जुनस्याऽऽशङ्का तांस्तान्व्यपदिशति भगवान्—**मया हतानिति**। तत्र द्रोणभीष्मयोस्तावत्प्रसिद्धमाशङ्काकारणम्—द्रोणो धनुर्वेदाचार्यो दिव्यास्त्रसम्पन्नः, आत्मनश्च विशेषतो गुरुर्गरिष्ठः; भीष्मश्च स्वच्छन्दमृत्युर्दिव्यास्त्रसम्पन्नश्च परशुरामेण द्वन्द्वयुद्धमगमत्, न च पराजितः; तथा जयद्रथः, यस्य पिता तपश्चरति 'मम पुत्रस्य शिरो भूमौ निपातयिष्यति यस्तस्यापि शिरः पतिष्यति' इति। कर्णोऽपि वासवदत्तया शक्त्या त्वमोघया सम्पन्नः सूर्यपुत्रो-

१ **सपत्नान् जेता** इति—त्वं हि पूर्वं शत्रुजयार्थमेव ब्रह्मविष्णुरुद्रैः सृष्टोऽसि, तथा च पाद्मे तत्प्रथमोत्पत्तिसमये विष्णुं प्रति महारुद्रवाक्यम्—'एष नारायण! सखा नरस्तव भविष्यति। मुनिर्ज्ञानपरीक्षायां जेता लोके भविष्यति ॥ तेजसो ब्रह्मणो दीप्ताद्भुजस्य तव शोणितात्। मम दृष्टिनिपातात्तु त्रीणि तेजांसि यानि तु ॥ तत्संयोगात्समुत्पन्नः शत्रुं युद्धे विजेष्यते। अवध्या ये भविष्यन्ति दुर्जयास्तव चापरे ॥ शक्रस्य चामराणां च तेषामेष भयङ्करः।'—(सृ. खं. १४।२९-३२) इति। तथाऽस्मिञ्जन्मन्यपि पाण्डुना 'यं दास्यति स मे पुत्रं स वरीयान् भविष्यति। अमानुषान्मानुषांश्च सङ्ग्रामे स हनिष्यति ॥' (म. भा. १।१२३।५) इत्यभिसन्धायाराधितेन गोत्रभिदा 'सुतं ते यं प्रदास्यामि सर्वामित्रविनाशनम्।' (म. भा. १।१२३।३०) इति प्रतिज्ञायैवोत्पादितोऽसि, अतः प्रकृतिसिद्धमेव तव सपत्नजेतृत्वम्, न च प्रकृतिः केनचिदप्यतिवर्तितुं शक्या; तस्माद्व्यथां विहाय युद्धस्वेति भावः। वक्ष्यते चायमर्थः स्पष्टमेवाष्टादशे—'प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति' (१८।५९) 'स्वभावजेन कौन्तेय! निबद्धः स्वेन कर्मणा। कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥' (१८।६०) इति। जेता इति 'जि जये' (धा. पा. १।५६१) इत्यस्मात् ताच्छील्ये 'तृन्' (अष्टा. ३।२।१३५) 'न लोकाव्यय—' (अष्टा. २।३।६९) इति षष्ठीनिषेधः। अन्ये तु जेतासीति लुण्मध्यमैकवचनमभ्युपेत्य जेष्यसीति व्याचक्षते, तद्दूषणपूर्वकं भुक्तमर्थमेव विशेषमेव परिष्करोति **वामनः**—

मरिष्यन्त्येव खल्वेते निहताः कालरूपिणा। निमित्तमात्रं तत्रायं मामेव कुरुते कुतः? ॥
इति प्रव्यथितात्मानं प्रारब्धबलमीदृशम्। तवेति दर्शयन्पार्थं समाश्वासयति प्रभुः ॥
हन्यामहं कथमिति महान्मन्युरभूत्तव। यांस्ते मयैव निहताः किमर्थं व्यथसे वृथा? ॥
मृतं कालेन जनकं लोके दहति तत्सुतः। परं स तावता किं नु प्रयाति पितृहन्तृताम्? ॥
तथा मया हतानेतान्कालेन शववत्स्थितान्। हिन्धि स्वधर्ममाश्रित्य मा व्यथिष्ठाः स्थिरो भव ॥
इत्युक्ते लोकनाथेन पृथासूनोर्हृदि व्यथा। काप्यासीदत्र युक्तोऽयं मामेव किमिति प्रभुः? ॥
कालरूपेण हतवान् यथा सर्वात्मना तथा। नाशयत्वयमेवैतान् कुतो योयोक्ति मामिति ॥
सर्वसाक्षी विदित्वैवमाशयं तस्य केशवः। समाधत्ते प्रकृत्यैव जेतासि त्वमिति स्फुटम् ॥
प्रारब्धकर्मबलतो जेता जातोऽसि वैरिणाम्। नास्ति भोगादृते नाशः प्रारब्धानां च कर्मणाम् ॥
युद्धस्व तस्मादित्येष सरलोऽर्थोऽत्र दृश्यते। तथापि कथितो नान्यैरेष व्याख्यातृभिः क्वचित् ॥
जयेम वा जयेयुर्न इति यो दर्शितः पुरा। स निराक्रियते सख्युः संशयो विश्वरूपिणा ॥
इति मत्वाऽत्र सर्वेऽपि जयं प्राप्स्यसि निश्चितम्। इति व्याचक्षते प्रायो जेतासीति पदं बत! ॥
न चैतत्सङ्गतं यस्माद्ग्रस्तान्कालेन तानिह। साक्षाद्दृष्टवतः स्पष्टं स तिष्ठेत्संशयः कथम्? ॥
मृतान्पुनर्मारयितुं निमित्तयति मां कुतः। इति व्यथा तु युक्ताऽस्य युक्ता चोक्ता समाहिति ॥
प्राप्तब्रह्मावबोधोऽपि प्रारब्धं नातिवर्तते। प्रारब्धेनैव जेतासि मा व्रजिष्ठा व्यथामिति ॥
अष्टादशेऽपि विस्पष्टमयमर्थोऽभिधास्यते। निबद्धः कर्मणा स्वेन कर्तास्येवेति वादिना ॥

—इति। —अविगीता

ऽयं कानीनो यतः, अतस्तन्नाम्नैव निर्देशः । मया हतांस्त्वं जहि निमित्तमात्रेण; मा व्यथिष्ठास्तेभ्यो भयं मा कार्षीः, युध्यस्व, जेतासि दुर्योधनप्रभृतीन्रणे युद्धे सपत्नान् शत्रून् ॥ ३४ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'मयैव' [ ११।३३ ] इत्यादिनोक्तं प्रपञ्चयति— **द्रोणं चेति** । किमिति कतिचिदेवात्र द्रोणादयो गण्यन्ते ? तत्राऽऽह— **येष्विति** । द्रोणादिषु कुतः शङ्का ? इत्याशङ्क्य द्वयोः शङ्कानिमित्तमाह— **तत्रेत्यादिना** । जयद्रथेऽपि शङ्कानिमित्तमाह— **तथेति** । दिव्यास्त्रसम्पन्न इति सम्बन्धः । तत्र शङ्कायां कारणान्तरमाह— **यस्येति** । कर्णेऽपि तत्कारणं कथयति— **कर्णोऽपीति** । पूर्ववदेव सम्बन्धः । हेत्वन्तरमाह— **वासवेति** । सा खल्वमोघा पुरुषमेकमत्यन्तसमर्थं घातयित्वैव निवर्तते । जन्मनाऽपि तस्य शङ्कनीयत्वमाह— **सूर्येति** । कुन्ती हि कन्यावस्थायां मन्त्रप्रभावं ज्ञातुमादित्यमाजुहाव, ततस्तस्यामेवावस्थायामयमुद्बभूव तदाह— **कानीन इति** । एतदेवाभिप्रेत्य कर्णग्रहणमित्याह— **यत इति** । उक्तेष्वन्येषु च न त्वया शङ्कितव्यमित्याह— **मयेति** ॥ ३४ ॥

**३ रा. भा.**— द्रोणभीष्मकर्णादीन् कृतापराधतया मयैव हनने विनियुक्तान् त्वं जहि त्वं हन्याः; एतान् गुरून् बन्धूंश्चान्यानपि भोगसक्तान् कथं हनिष्यामि ? इति मा व्यथिष्ठाः, तानुद्दिश्य धर्माधर्मभयेन बन्धुस्नेहेन कारुण्येन च मा व्यथां कृथाः; यतस्ते कृतापराधा मयैव हनने विनियुक्ताः; अतो निर्विशङ्को युध्यस्व, रणे सपत्नान् जेतासि जेष्यसि; नैतेषां वधे नृशंसतागन्धः; अपितु जय एव लभ्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

४ वे. ता. चं.— अर्जुनस्यास्थानस्नेहकारुण्यधर्माधर्मभयमूलं 'कथं भीष्मम्' [ २।४ ] इत्यादिकं साक्षात्प्रतिवक्ति **द्रोणं** चेति । 'मा व्यथिष्ठाः' इत्यत्र पूजाद्यर्हान् मन्वान इति वाक्यशेषाभिप्रायेणाह **गुरूनिति** । **गुरून् बन्धून् भोगसक्तानिति** पदैर्धर्माधर्मभयबन्धुस्नेहकारुण्यानां हेतुप्रदर्शनम् । अत्र च धर्माधर्मभयादिव्यर्थताहेतुरित्याह **तानुद्दिश्येति** । धर्माधर्मभयादिकं तु पृष्ठतः करोमि ; द्रोणादयो हि तैस्तैर्हेतुभिर्दुर्जयाः शत्रवः ; युद्धसिद्धिश्च चञ्चलेति भीरुरस्मीति यदि ब्रवीषि, तर्हि मा भैषीरित्यभिप्रायेण 'मा व्यथिष्ठाः' 'युध्यस्व' इत्यादिकमुच्यत इत्याह **यतस्त** इति । 'जेतासि' इत्यत्र द्वितीयया तृजन्तायोगात्तृनश्च भविष्यदर्थत्वासिद्धेर्लुडन्ततत्वैकपद्यम् ; तत्रानद्यतनविवक्षापि नास्तीत्यभिप्रायेणाह **जेष्यसीति**। शङ्कितानिष्टनिवृत्ताविष्टप्राप्तौ च श्लोकतात्पर्यमित्याह **नैतेषामिति** । अर्जुनस्यापजयशङ्काभावात् 'मा व्यथिष्ठाः' इत्यादिकमारम्भोक्तनृशंसत्वशङ्कापरिहारार्थमिति भावः । अनुकूलेषु ह्यानृशंस्यमित्यभिप्रायेण सपत्नशब्द इति चाभिप्रेतम् ॥ ३४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— योऽस्य शिरश्छिन्नं भूमौ पातयति तच्छिरो भेत्स्यतीति तत्पितुर्वराज्जयद्रथोऽपि विशेषेणोक्तः । 'प्रवरा वासवी शक्तिः' इति कर्णः ॥ ३४ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः' [ २।६ ] इत्यस्य सन्देहेऽपि प्रवृत्तिर्युक्ता, पक्षद्वयेऽपि फललाभादिति 'हतो वा' [ २।३७ ] इत्युत्तरमुक्तम्, इदानीं तव पराजयशङ्काऽपि नास्तीत्युच्यते— **द्रोणं चेति** । तत्र द्रोणस्य धनुर्विद्याचार्यत्वेन, भीष्मस्य स्वच्छन्दमृत्युत्वेन चाशङ्काविषयत्वाद्युक्तं योधवीरसमुदायात् पृथक्कृत्य स्वशब्देन ग्रहणम् । जयद्रथस्य कर्णस्य च कुतः ? इत्यत आह— **योऽस्येति** । अस्य जयद्रथस्य । तच्छिरस्तस्य पातयितुः शिरः । भेत्स्यति भेत्स्यते । तत्पितुर्जयद्रथपितुः । शक्तिरस्ति कर्णस्येति शेषः । कर्णो विशेषेणोक्त इति वर्तते ॥ ३४ ॥

**७ ह. पै. भा.**— द्रोणं चेति । जहि व्यापादय । मा व्यथिष्ठा मा शङ्किष्ठाः । भयचलने मा कार्षीरित्यर्थः । जेतासि जेष्यसि ॥ ३४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु द्रोणो धनुर्वेदाचार्यो दिव्यास्त्रसम्पन्नः ; तथा भीष्मः स्वच्छन्दमृत्युरखिलक्षत्रजिता परशुरामेणापि द्वन्द्वयुद्धमधिगम्य न पराजितः; तथा यस्य पिता तपश्चरति 'मत्पुत्रशिरो यो भूमौ पातयिष्यति, तस्यापि शिरस्तत्कालं पततु ' इति , स जयद्रथोऽप्यजय्यः ; तथा कर्णोऽप्यमोघयेन्द्रदत्तशक्त्या सम्पन्नोऽतिबलपराक्रमः; तथा कृपाश्वत्थामभूरिश्रवःप्रभृतयोऽपि ; अतश्चैतेषु सत्सु कथं जित्वा शत्रून् राज्यं भोक्ष्ये ? कथं च यशो लप्स्ये ? इत्याशङ्कामपनयन्नाह— **द्रोणमिति** । अत्र द्रोणं चेत्यादिचकारत्रयेण ' तथान्यानपि ' इति तथाशब्दापिशब्दाभ्यां च द्रोणादीनां पूर्वोक्ताजय्यत्वमनूद्यते । एवंविधानप्येतान्मया हतांस्त्वं जहि । न हि हतहनने कश्चिद्भारोऽस्ति; अतो मा व्यथिष्ठाः कथमेनान् हनिष्यामीति भयनिमित्तां व्यथां मा गाः । किन्तु युध्यस्व । अवश्यं रणे सपत्नाञ्छत्रूञ्जेतासि जेष्यसि ॥ ३४ ॥

९ व० त० दी०— पूर्वशङ्काऽधुना न कार्येत्याह— द्रोणमिति। येभ्यस्त्वं पूर्वमशङ्किथास्तानेतान् मया हतप्रायान्कालदृष्ट्या प्रारब्धकर्मणा जीवितशेषान् जहि। एवं रणे सपत्नान् जेष्यसि। ततो युद्धधर्मं कुरु॥ ३४॥

१० पु. अ. त.— द्रोणो ब्राह्मणत्वाद्भगवता कथं वध्यः? तथा भीष्मो भक्तः, तथैव जयद्रथः शिवात्प्राप्तप्रसादः, कर्णः कुन्तीपुत्रः,एतेषाममारणे कथं जयो भवेत्? अतस्तन्नाम्ना प्राह— द्रोणं चेति। च पुनः। ब्राह्मणमपि द्रोणं, भीष्मं च भक्तमपि, जयद्रथं चकारेण प्राप्तवरमपि, कर्णं च कुन्तीपुत्रमपि तथाभूतानन्यानपि योधवीरान् युद्धविशारदान् मया हतांस्त्वं जहि मारय। स्वहतत्वोक्त्या 'इषुभिः कथं पूजार्हान् प्रति योत्स्यामि' [ २।४ ] इति यत् पूर्वमुक्तं स दोषोऽत्रानुकूल्यकरणेन निवारितः। यत एते मया हता अतो निश्शङ्कं युद्ध्यस्व; रणे सपत्नान् शत्रून् जेतासि जेष्यसि॥ ३४॥

११ नी० भा० दी०— मा व्यथिष्ठाः एते महान्तः कथं हन्तुं शक्या इत्याकुलीभावं मागा इत्यर्थः। जेतासि जेष्यसि। सपत्नान् शत्रून्॥ ३४॥

**सञ्जय उवाच— एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।**
**नमस्कृत्वा भूय एवाऽऽह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य॥ ३५॥**

१ शां. भा.— एतच्छ्रुत्वेति। एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य पूर्वोक्तं कृताञ्जलिः सन्वेपमानः कम्पमानः किरीटी, नमस्कृत्वा भूयः पुनरेवाऽऽहोक्तवान्कृष्णं सगद्गदं—भयाविष्टस्य दुःखाभिघातात्, स्नेहाविष्टस्य च हर्षोद्भवात्, अश्रुपूर्णनेत्रत्वे सति श्लेष्मणा कण्ठावरोधः, ततश्च वाचोऽपाटवं मन्दशब्दत्वं यत्स गद्गदः, तेन सह वर्तत इति सगद्गदं वचनमाहेति वचनक्रियाविशेषणमेतत्, भीतभीतः पुनःपुनर्भयाविष्टचेताः सन्प्रणम्य प्रह्वीभूत्वाऽऽहेति व्यवहितेन सम्बन्धः। अत्रावसरे सञ्जयवचनं साभिप्रायम्। कथं? द्रोणादिष्वर्जुनेन निहतेष्वजेयेषु चतुर्षु निराश्रयो दुर्योधनो निहत एवेति मत्वा धृतराष्ट्रो जयं प्रति निराशः सन्सन्धिं करिष्यति, ततः शान्तिरुभयेषां भविष्यतीति। तदपि नाश्रौषीद्धृतराष्ट्रो भवितव्यवशात्॥ ३५॥

२ आ. शां. व्या.— पराजयभयात्करिष्यति सन्धिमिति बुद्ध्या सञ्जयो राज्ञे वृत्तान्तमुक्तवानित्याह— सञ्जय इति। पूर्वोक्तं वचनं 'कालोऽस्मि' [ ११।३४ ] इत्यादि। विश्वरूपदर्शनदशायामर्जुनस्य भगवता संवादवचनं किमिति सञ्जयो राज्ञे व्यजिज्ञपदित्याशङ्क्य तदुक्तेस्तात्पर्यमाह— अत्रेति। तमेवाभिप्रायं प्रश्नद्वारा विशदयति— कथमित्यादिना। तर्हि सञ्जयवचनं श्रुत्वा किमिति राजा सन्धिं न कारयामास? इति तत्राऽऽह— तदपीति॥ ३५॥

३ रा. भा.— एतदाश्रितवात्सल्यजलधेः केशवस्य वचनं श्रुत्वा अर्जुनस्तस्मै नमस्कृत्य भीतभीतोऽतिभीतो भूयस्तं प्रणम्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी सगद्गदमाह॥ ३५॥

४ वे. ता. चं.— 'एतच्छ्रुत्वा' इति श्लोके नमस्कारद्वयहेतुं विप्रकीर्णानां पदानामुचितान्वयप्रकारं च दर्शयति— एतदाश्रितेति। वचनश्रवणमात्रादवशस्य प्रथमो नमस्कारः; भीतभीतस्य वक्ष्यमाणवाक्यप्रारम्भार्थौ पुनः प्रणामाञ्जली, अपेक्षामालेण स्वविग्रहादिप्रकाशनवत्स्वाभिप्रायस्याविष्कारमपि वात्सल्येनैव कृतवानित्यभिप्रायेणाह— आश्रितवात्सल्यजलधेरिति। ब्रह्मेशरक्षकत्वादिभिः केशवः; आश्रितसंसारकर्षणादिभिः कृष्णः। भगवच्चरणारविन्दवन्दनेन किरीटजुष्टं शिरः कृतार्थतां गतमित्यभिप्रायेणात्र किरीटिपदप्रयोगः। 'भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्' इति हि महर्षिणोक्तम्॥ ३५॥

---

१ भीतेभ्यो भीतः भीतभीतः, अतिभीत इति यावत्। 'आधिक्ये द्वे वाच्ये' इति वार्तिकेन भीतभीतादौ द्वित्वमिति दुर्घटादिभिरुक्तं समाधानं नादर्तव्यम्, तादृशवार्तिकस्याप्रसिद्धत्वात् इति तत्त्वबोधिनी।

दृष्टाः सहस्रशो भीता लोका ये पूर्वमीरिताः। भीतस्तेभ्योऽधिकमयं भीतभीतस्ततोऽर्जुनः॥
स्वाभाविकं नेत्रपथातिगं ते कालस्वरूपं प्रविलोक्य भीताः।
प्रत्यक्षमेवेक्षितवांस्तदत्र पार्थस्ततोऽजायत भीतभीतः॥ इति वामनः। — अविगीता।

५ आ. मा. भा.— ॥ ३५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३५ ॥

७ ह. पै. भा.— वेपमानः कम्पमानः । किरीट्यर्जुनः । सगद्गदं भीतभीतः प्रकारम् (?) ॥ ३५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— सञ्जय उवाच— सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सञ्जयवचनत्वे स्थिते, विशिष्यात्र 'सञ्जय उवाच' इत्यस्य कारणं भगवत्पादैरेव वर्णितम्— द्रोणभीष्मजयद्रथकर्णेषु जयाशाहेतुषु हतेषु निराश्रयो दुर्योधनो हत एवेत्यनुसन्धाय यदि धृतराष्ट्रः सन्धिं कुर्यात्तदोभयेषामपि शान्तिः स्यादित्यभिप्रायेण सञ्जयवचनम् ; धृतराष्ट्रस्तु तन्नाश्रौषीद्भवितव्यतावशादिति— एतदिति । एतदाश्रितवात्सल्यजलधेः केशवस्य वचनं श्रुत्वा किरीटी अर्जुनः 'जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्' [११।३३] इत्यमोघभगवदाशिषैव सद्यः प्राप्तपट्टाभिषेकतया किरीटीत्यपि ध्वनिः । कृताञ्जलिः वेपमानः परमाश्चर्यदर्शनेन कम्पमानः अतिशयेन भीतश्च सन् कृष्णं नमस्कृत्य भूय एव पुनरपि प्रणम्य अतिनम्रो भूत्वा सगद्गदं— भयेन हर्षेण वाऽश्रुपूर्णनेत्रस्य कफरुद्धकण्ठतया वाचो मन्दत्वसकम्पत्वादिविकारो गद्गदः, तत्सहितं यथातथाऽऽह ॥ ३५ ॥

९ व० त० दी०— ततो यत् जातं तदवसन्नाय धृतराष्ट्राय सञ्जय उवाच— एतदिति । श्रुत्वा अर्जुन उवाचेति ॥ ३५ ॥

१० पु.अ.त.— ततोऽर्जुनः किं कृतवान्? इत्याकाङ्क्षायां सञ्जयो धृतराष्ट्रं प्रत्याह— एतदिति । एतत् पूर्वोक्तं केशवस्य ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदातुः वचनं श्रुत्वा किरीटी अर्जुनः वेपमानः भगवता राजभोगे विनियुक्तस्तदयुक्तं मन्वानो मोक्षाभिलाषवत्त्वात् कम्पमानो जातः । ततो विज्ञापनार्थं कृताञ्जलिः भीत-भीत इति भगवदाज्ञायां पुनर्विज्ञापने कदाचिदप्रसन्नो भवेदिति महाभीतः सन् प्रणम्य प्रकर्षेण मनसा नमस्कृत्य कृष्णं सदानन्दं सगद्गदं प्रेमोपरुद्धकण्ठं यथा तथा भूयः पुनः नमस्कृत्यैव अतीव दीनो भूत्वा आह विज्ञप्तिं कृतवानित्यर्थः ॥ ३५ ॥

११ नी० भा० दी०— भगवतैवमुक्ते सति पश्चात्किं वृत्तं ? इत्यपेक्षायां सञ्जय उवाच— एतदिति । अत्र कृताञ्जलित्वादिना चिह्नेन भगवद्वाक्योल्लङ्घनं किरीटी न करिष्यतीति सूच्यते । सगद्गदं भयहर्षाद्यावेशेन गद्गदेन कण्ठकम्पनेन सह वर्त्तत इति सगद्गदं यथा भवति तथा आह उक्तवान् । भीतभीतोऽत्यन्तं भीतः सन्नाहेति सम्बन्धः । अत्र आहेति पदच्छेदे पुनरर्जुन उवाचेति पुनरुक्तं स्यात्, अतः प्रणम्य अर्जुन उवाचेत्येव सम्बन्धः, न तु प्रणम्य आहेति । का तर्हि आहेति क्रियाया गतिः ? नेयं क्रिया; किन्तु 'अह' इति प्रसिद्ध्यर्थमव्ययमित्यदोषः ॥ ३५ ॥

विश्वरूपदर्शनेनातिभीतेनार्जुनेन कृता भगवत्स्तुतिपूर्विका प्रार्थना ।

**अर्जुन उवाच— स्थाने हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।**
**रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥**

---

१ 'स्थाने' इति युक्तार्थेऽव्ययम् । 'युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने' (३।४।११) इत्यमरः । 'स्थाने वृता भूपतिभिः परोक्षैः स्वयंवरं साधुममंस्त भोज्या ।' ( र. वं. ७।१३ ) इति महाकविप्रयोगश्च । **वामन**स्त्वत्र दूरं भिन्नेन पथा प्रस्थितः—

स्थानं नाम स्थितेः कालस्तस्मिन्कीर्त्या प्रकृष्टया । प्रहर्षमनुरागं च प्राप्नोति जगदीशितुः ॥
कीर्तेर्भीतास्तदीयाया प्रबलायाः सुरद्विषः । पलायन्ते दश दिशो सिद्धाश्च प्रणमन्ति तम् ॥

संहारकाले सहसा विलोक्य भीतं समाश्वासयितुं सखायम् । देवो दयालुः स्थितिकालमस्मै व्यदर्शयन्मोदनिदानमेवम् ॥
देवोऽवतारान्स्थितिकाल एव सूते सतामभ्युदयाय दिव्यान् । तदीययाऽऽप्नोति जगत्समग्रं कीर्त्याऽनुरागं च तथा प्रहर्षम् ॥
हर्षानुरागौ विषयाश्रितोऽपि लोकेषु दृष्टावपि तौ दुरन्तौ । अतोऽर्जुनः श्रीपतिभक्तिमूलावेवात्र शंसत्यपवर्गहेतू ॥
क्रूरा नरा ये विषयानुरक्ता द्रवन्ति दामोदरकीर्तिभीताः । रक्षःपदेनेह विवक्षितास्ते कीर्तिप्रिया एव नरा मुरारेः ॥

भक्ताः कीर्त्या प्रहृष्यन्ति रज्यन्ति च रमापतेः । द्रवन्त्यभक्तास्तद्भीताः श्रिताः सम्पदमासुरीम् ॥
अन्यान्देवान् भजन्तोऽपि ये शृण्वन्ति हरेः कथाः । सिद्धमन्त्रा अपि सदा वन्दन्ते च तमच्युतम् ॥
न ते रक्षस्सु गण्यन्ते श्रेष्ठत्वेनाश्रिताच्युताः । अतस्तानपि कौन्तेयः प्रसङ्गादचिकीर्तत ॥—

**१ शां. भा.— स्थान** इति। स्थाने युक्तम्। किं तत्? तव प्रकीर्त्या त्वन्माहात्म्यकीर्तनेन श्रुतेन हे हृषीकेश! यज्जगत्प्रहृष्यति प्रहर्षमुपैति तत्स्थाने युक्तमित्यर्थः। अथवा विषयविशेषणं स्थान इति, युक्तो हर्षादिविषयो भगवान्। यत ईश्वरः सर्वात्मा सर्वभूतसुहृच्चेति। तथाऽनुरज्यतेऽनुरागं चोपैति, तच्च विषय इति व्याख्येयम्। किञ्च रक्षांसि भीतानि भयाविष्टानि दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति तच्च स्थाने विषये। सर्वे नमस्यन्ति नमस्कुर्वन्ति च सिद्धसङ्घाः सिद्धानां समुदायाः कपिलादीनां, तच्च स्थाने इति॥ ३६॥

**२ आ. शां. व्या.**— किं तदर्जुनो भगवन्तं प्रति सगद्गदं वचनमुक्तवान्? इति तदाह— **अर्जुन** इति। विषयविशेषणत्वमेव व्यनक्ति— **युक्त** इति। भगवतो हर्षादिविषयत्वं युक्तमित्यत्र हेतुमाह— **यत** इति। तव प्रकीर्त्या हर्षवदनुरागं च गच्छति जगदित्याह— **तथे**ति। **तच्चे**त्यनुरागगमनम्। रक्षस्तु जगदेकदेशभूतेषु प्रतिपक्षेषु कुतो जगतो भगवति हर्षानुरागौ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **किञ्चे**ति। इतश्च जगतो भगवति हर्षादि युक्तमित्याह— **सर्व** इति॥ ३६॥

**३ रा. भा.— अर्जुन उवाचे**ति। स्थाने युक्तम्; यदेतद्युद्धदिदृक्षयाऽऽगतमशेषं देवगन्धर्वसिद्धयक्षविद्याधरकिन्नरकिम्पुरुषादिकं जगत्त्वत्प्रसादात् त्वां सर्वेश्वरमवलोक्य तव प्रकीर्त्या सर्वं प्रहृष्यति, अनुरज्यते च; यच्च त्वामवलोक्य रक्षांसि भीतानि सर्वा दिशः प्रद्रवन्ति; सर्वे सिद्धसङ्घाः सिद्धाद्यनुकूलसङ्घाः नमस्यन्ति च; तदेतत्सर्वं युक्तमिति पूर्वेण सम्बन्धः॥ ३६॥

**४ वे. ता. चं.**— 'स्थाने हृषीकेश!' इति श्लोकः श्रीविष्णुपञ्जरादिषु विनियुक्तो मन्त्रः प्रसिद्धः। 'स्थाने' इत्यस्य अधिकरणार्थताप्रतीतिव्युदासायाह **युक्त**मिति। अत्र जगच्छब्दविवक्षितार्थं तस्य प्रकीर्तिमूलप्रहर्षनिदानं च व्यनक्ति **यदेत**दिति। 'प्रहृष्यति' इत्यनेन प्रियातिथिलाभादाविवाक्षिमनःप्रीतिर्विवक्षिता। 'अनुरज्यते' इति तु पित्रादिषु पुत्रादेरिव स्नेह इत्यपुनरुक्तिः। **त्वामवलोक्ये**त्यनेन रक्षसां भीतिहेतुप्रदर्शनम्। 'प्रकीर्त्या' इत्यस्यानुषङ्गस्तु विरुद्धत्वादयुक्तः। अन्यकर्तृकप्रकीर्त्यैति तु कल्पनागौरवम्। अवलोकनं तु 'वीक्षन्ते त्वा' [ ११।२२ ] इति देवासुरादीनां सर्वेषामुक्तमिति भावः। सिद्धशब्दोऽत्रानुकूलवर्गप्रदर्शनार्थं इत्यभिप्रायेण **सिद्धाद्यनुकूलसङ्घा** इत्युक्तम्॥ ३६॥

**५ आ. भा. भा.**— यदेतद्वक्ष्यमाणं तत्स्थाने युक्तमेवेत्यर्थः। अग्नीषोमाद्यन्तर्यामितया जगद्धर्षणादेर्हृषीकेशः, केशत्वं त्वंशूनां तन्नियतत्वादेः, प्रमाणं तु 'शशिसूर्यनेत्रं' [ ११।१९ ] इत्यत्रोक्तम्, हृषीकाणामिन्द्रियाणामीशत्वाच्च हृषीकेशः, तेषां विशेषतः ईशत्वं च "यः प्राणे तिष्ठन्" [बृ.उ.३।७।१६] इत्यादौ प्रसिद्धम्। 'न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे' इत्यादिप्रयोगाच्च। इतरोऽर्थो मोक्षधर्मे सिद्धः

---

— सर्वशब्देन मन्त्रादि साधयित्वापि ये विभुम्। न नमस्यन्ति ते सिद्धा नोच्यन्त इति सूच्यते॥
प्रसाध्य मन्त्रान्कुर्वाणा मारणोच्चाटनादिकम्। नरकाधिकृता नैव लभन्ते सिद्धतां क्वचित्॥

सिद्धमन्त्रजपशुद्धबुद्धयः कर्म काम्यमपहाय मुक्तये।
ये भजन्ति निजदेवमञ्जसा ते हि सिद्धपदभाजनं जनाः॥

उत्सार्य मत्सरं प्रीताः प्रकीर्त्या विश्वरूपिणम्। अपवर्गप्रदं सर्वे ते नमस्यन्ति सन्ततम्॥
त्रिविधेष्वपि चैतेषु जनेषु समतां विभोः। हृषीकेशपदेनेह सूचयन्स्तौति पाण्डवः॥
हृषीकानीन्द्रियाण्याहुस्तेषामीशः प्रकाशकः। सतां तदितरेषां च भवानेव न संशयः॥
येषां प्रियं तव यशः श्रवणं स्वभावाद्येषां तथाप्रियमथान्यमनोरथा ये।
त्वां पूजयन्ति विषयीण्यविशेषतस्त्वं तेषां प्रकाशयसि सूर्य इवेक्षणानि॥
दृष्ट्वा द्विजं प्रणयतः प्रणमन्ति केचित् केचित्कशाभिरपि तं बत! ताडयन्ति।
कार्यार्थिनेनमपरे पुनराद्रियन्ते तुल्यं प्रकाशयति चक्षुरिनस्तु तेषाम्॥ — इत्यादिना॥

श्लोकोऽयं मन्त्रशास्त्रे रक्षोघ्नत्वेन प्रसिद्धः। तथा नारायणाष्टाक्षरसुदर्शनमन्त्राभ्यां सम्पुटितः सर्वसिद्धिप्रदः, सर्वानिष्टनिवर्तकश्चेत्याद्यन्यत्र प्रपञ्चयिष्यते। —अविगीता।

' सूर्याचन्द्रमसौ शश्वत्केशैर्मे अंशुसंज्ञितैः । बोधयन् स्थापयंश्चैव जगदुत्पद्यते पृथक् ॥ बोधनात्स्थापनाच्चैव जगतो हर्षसम्भवात् । अग्नीषोमकृतैरेभिः कर्मभिः पाण्डुनन्दन ! ॥ हृषीकेशो महेशानो वरदो लोकभावनः ' इति च ॥ ३६ ॥

६ ज. प्र. दी.—'स्थाने' इत्येतत् 'युक्तं' इत्यर्थेऽव्ययं चास्ति, अस्ति च सप्तम्यन्तं पदं; तत्किमत्राभिप्रेतं कथं चास्यान्वयः ? इत्यत आह—यदिति । स्थाने विषये एवेति वा, बहुमानस्थाने त्वयीति वा योजनायां साध्याहारत्वमिति भावः। हृषीकेशशब्दस्य प्रकृतोपयुक्तमपूर्वमर्थमाह—अग्नीति । अत्राद्येनादिशब्देन सूर्यो गृह्यते, द्वितीयेन बोधनस्थापने; अग्न्यादंशुभिः स्वकेशैरिति शेषः। जगद्धर्षणादेरिति बोधनस्थापनाभ्यां जगद्धर्षणादित्यर्थः । सूर्याद्यंशूनां कथं भगवत्केशत्वं ? इत्यत आह—केशत्वं त्विति । तन्नियतत्वतज्जन्यत्वादिना तादात्म्योक्तिरित्यत्र किं प्रमाणं ? इत्यत आह—प्रमाणं त्विति । इत्यत्रैतद्व्याख्यानावसरे । अनेन वक्ष्यमाणं वाक्यं विवृतं भवति । तथा चाग्न्यादिषु स्थित्वा स्वकेशनियतैस्तदंशुभिर्जगतो बोधनस्थापनाभ्यां हर्षणादित्युक्तं भवति । हृष्यतेः कीप्रत्ययः । हृष्यो हर्षहेतवः केशा अस्येति हृषीकेशः । नानेन प्रसिद्धोऽर्थस्त्यज्यत इति भावेन तमप्याह—हृषीकाणामिति । ननु जगदीशस्य विशेषत इन्द्रियेशत्वं कथं ? इत्यत आह—तेषामिति । पुरुषार्थोपयुक्तज्ञानक्रियाशक्तिप्रेरकत्वेनेति भावः । हृषीकशब्दस्येन्द्रियवाचित्वं कुतः ? इत्यत आह—नेति । पूर्वेण समुचितस्यास्य व्याख्यानसमर्थनहेतुत्वाच्चशब्दः । आद्येऽर्थे प्रमाणमाह—इतरोऽर्थ इति । अग्निश्च । जगद्बोधयन्तः स्थापयन्तश्च पृथक् स्वावसरे उत्पद्यन्ते उदयं गच्छन्ति सूर्यकृतैश्च । अत्रापि पूर्ववद्बोधनादेर्हेतुहेतुमद्भावो ज्ञातव्यः । ईशानत्वादावप्युक्तो हेतुः ॥ ३६ ॥

७ ह. पै. भा.—एवं प्रणामपूर्वकं भगवन्तमर्जुन उवाच—स्थान इति । स्थाने युक्तम् । प्रकीर्त्या प्रकर्षेण कीर्त्येत्यर्थः ॥ ३६ ॥

८ वें. ब्र. गि.—' किरीट्याह ' इत्युक्त्वाऽपि पुनः ' अर्जुन उवाच ' इत्युक्तिस्तदीयभाग्यातिशयानुसन्धानप्रयुक्तादरनिबन्धना । ' स्थाने ' इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थे । हे हृषीकेश ! तव प्रकीर्त्या ' तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम् । मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ! ' [ ११।३३ ] इत्येवंरूपमदनुग्रहप्रसूता भक्तवत्सलो भगवानिति तव या प्रकृष्टा कीर्त्तिस्तया सर्वमपि युद्धदिदृक्षयागतं देवगन्धर्वसिद्धयक्षविद्याधरकिन्नरकिम्पुरुषादिकमिदं जगत् प्रहृष्यत्यनुरज्यते च त्वयि; तदेतत्स्थाने युक्तम् । तथा रक्षांसि भीतानि सन्ति दिशो द्रवन्ति गच्छन्ति तदपि स्थाने । तथा सिद्धानां कपिलादीनां सङ्घाः सर्वे नमस्यन्ति चेति यत्तदपि स्थाने युक्तम् । अयं श्लोको विष्णुपञ्जरमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः । मन्त्रप्रयोगभेदास्त्वस्य मन्त्रसारसुधानिधावस्माभिः प्रदर्शितास्तत्रैवावगन्तव्याः॥३६॥

९ व० त०दी०—'स्थाने' इत्येकादशभिः प्रार्थयन्नाह फाल्गुनः । षड्भिर्गुणैस्त्रिभिर्युक्तं भगवन्तं गुणातिगम् ॥ 'स्थाने ' इत्यत्र प्रकीर्त्या युतं प्रार्थयति । ' स्थाने ' इत्यव्ययम् ; । युक्तमित्यर्थः । जगत्सर्वमनुरज्यते प्रहृष्यति च तव प्रकीर्त्या । अहं त्वधुना बिभेमीति द्योतयति । अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः ॥ ३६ ॥

१० पु. अ. त.—किमर्जुनो विज्ञापितवान्? इत्याकाङ्क्षायामर्जुनवाक्यान्याह—अर्जुन उवाच ' स्थाने ' इत्येकादशभिः । एकादशेन्द्रियैरपि शुद्धैर्विज्ञाप्यमित्येकादशभिर्विज्ञापयति । हे हृषीकेश ! यतस्त्वं सर्वेन्द्रियप्रेरकस्तस्मात् स्थाने स्थितौ तव प्रकीर्त्या तव गुणसङ्कीर्तनेन जगत् प्रहृष्यति हर्षमाप्नोति । च पुनः । अन्यत् कीर्तनश्रवणेन अनुरज्यते अनुरागयुक्तं भवति ! ननु बाधकेषु विद्यमानेषु कीर्तनं कर्तुं कथं शक्यं ? इत्याशङ्क्य कीर्तनेनैव बाधनाशो भवतीत्याह—रक्षांसीति । तव कीर्तनेनैव भीतानि सन्ति रक्षांसि दिशः प्रति द्रवन्ति पलायन्ते । तथा सिद्धसङ्घाः सिद्धानां प्राप्तज्ञानानां समूहाः नमस्यन्ति प्रणमन्तीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

११ नी० भा० दी०—एकादशभिः श्लोकैरर्जुन उवाच—स्थाने इति । हे हृषीकेश सर्वेन्द्रियप्रवर्त्तक अन्तर्यामिन् ! तव प्रकीर्त्या नामसङ्कीर्तनेन जगत्प्रहृष्यति यत्तत् स्थाने युक्तम् । स्थाने इत्यव्ययं युक्तमित्यर्थे । यत्तव प्रकीर्त्या जगदनुरज्यते तदपि स्थाने युक्तम् । यत्तव प्रकीर्त्या रक्षांसि भीतानि सन्ति दिशो द्रवन्ति पलायन्ते तदपि स्थाने युक्तम् । यच्च त्वां सर्वे सिद्धसङ्घाः कपिलादीनां समुदाया नमस्यन्ति तदपि स्थाने । अयं श्लोको रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः, स च नारायणाष्टाक्षरसुदर्शनास्त्रमन्त्राभ्यां सम्पुटितो ज्ञेय इति रहस्यम् ॥ ३६ ॥

**कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् ! गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।**
**अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥**
**त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।**
**वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥ ३८ ॥**
**वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।**
**नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥**
**नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ! ।**
**अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥**

१ **शां. भा.**— अतश्च भगवतो हर्षादिविषयत्वे हेतुं दर्शयति— **कस्मादिति** । कस्माच्च हेतोस्ते तुभ्यं न नमेरन्न नमस्कुर्युः ? हे महात्मन् ! गरीयसे गुरुतराय । यतो ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्याप्यादिकर्ता कारणमतस्तस्मादादिकर्त्रे कथमेते न नमस्कुर्युः ? अतो हर्षादीनां नमस्कारस्य च स्थानं त्वमर्हो विषय इत्यर्थः । हेऽनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! त्वमक्षरं तत्परं यद्वेदान्तेषु श्रूयते । किं तत् ? सदसदिति । सद्विद्यमानं, असच्च यत्र नास्तीति बुद्धिः; ते उपाधानभूते सदसती यस्याक्षरस्य यद्द्वारेण सदसदित्युपचर्यते । परमार्थतस्तु सदसतोः परं तत् 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' [ ८।११ ] तत्त्वमेव नान्यदित्यभिप्रायः ॥ ३७ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— उक्तेऽर्थे हेत्वर्थत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति— **भगवत** इति । महात्मत्वमक्षुद्रचेतस्त्वम् । गुरुतरत्वान्नमस्कारादियोग्यत्वमाह— **गुरुतरायेति** । तत्रैव हेत्वन्तरमाह— **यत** इति । महात्मत्वादिहेतूनामुक्तानां फलमाह— **अत** इति । तत्रैव हेत्वन्तराणि सूचयति— **हेऽनन्तेति** । अनवच्छिन्नत्वं सर्वदेवनियन्तृत्वं सर्वजगदाश्रयत्वं च तव नमस्कारादियोग्यत्वे कारणमित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह— **त्वमिति** । तत्र मानमाह— **यदिति** । कथमेकस्यैव सदसद्रूपत्वं तत्राऽऽह— **ते** इति । कथं सतोऽसतश्चाक्षरं प्रत्युपाधित्वं तदाह — **यद्द्वारेणेति** । 'तत्परं यत्' इत्येतद्व्याचष्टे— **परमार्थतस्त्विति** । अनन्तत्वादिना भगवतो नमस्कारादियोग्यत्वमुक्तम् ॥ ३७ ॥

१ **शां. भा.**— पुनरपि स्तौति— **त्वमिति** । त्वमादिदेवो जगतः स्रष्टृत्वात्, पुरुषः पुरि शयनात्, पुराणश्चिरन्तनस्त्वमेवास्य विश्वस्य परं प्रकृष्टं निधानं निधीयतेऽस्मिञ्जगत्सर्वं महाप्रलयादाविति । किञ्च वेत्ताऽसि वेदिताऽसि सर्वस्यैव वेद्यजातस्य, यच्च वेद्यं वेदनार्हं तच्चासि, परं च धाम परमं पदं वैष्णवम् । त्वया ततं व्याप्तं विश्वं समस्तं हे अनन्तरूप ! अन्तो न विद्यते तव रूपाणाम् ॥ ३८ ॥

---

१ **सदस**दिति– सत् पदार्थत्वेन, असत् उपलम्भं प्रत्यविषयत्वात् । अथवा अभावोऽपि धियि निजनिजविशिष्टवाचकवशसंश्लेषितो ज्ञानाकारमश्नुवानो न परब्रह्मसत्ताव्यतिरिक्तः, सदसद्रूपाभ्यां परं तदुभयबुद्धितिरोधाने तद्रूपोपलब्धेः– **इत्यभिनवगुप्ताचार्याः**, भयहर्षविस्मयाद्याविष्टत्वात् भगवन्महिमोक्तौ महातात्पर्यवत्त्वाच्च 'त्वमक्षरं' ( ११।१८ ) इत्यनेन पौनरुक्त्यं न दोषायेति **केचित्** । **— अविगीता** ।

२ 'पितामहस्त्वं प्रपितामहश्च' इति पाठान्तरम् । अत्र क्वचित्—'अनादिमानप्रतिम —'इत्यधिकं पठ्यते । सोऽयं श्लोकः ( ११।२७ ) तात्पर्यचन्द्रिकायां ( पृ. ३०२ ) द्रष्टव्यः । **— अविगीता** ।

३ स्तादिति 'अस् भुवि' ( धा. पा. भ्वा. ५५ ) इत्यस्य लोट् वा । 'खर्परे शरि—' ( वा. ) इति विसर्गलोपः । 'सामर्थ्यं सहजं वीर्यं, कार्यं यत्तन्निवर्तितम् । तद्धि विक्रमसंज्ञं स्यादनन्तमुभयं विभोः ॥ 'विक्रमस्त्वतिशक्तिता' ( २।८।१०२ ) इत्यमरः। 'शस्त्रास्त्रसाधना प्रवृत्तिशक्तिर्विक्रमः' इति चित्रभानुः । तुरीयचरणे– 'सर्वः असि, ततः सर्वं समाप्नोषि' इत्यन्वीय त्वं सर्वः स्थिरचरप्रपञ्चरूपः असि भवसि, ततः सर्वं तं समाप्नोषि व्याप्य तिष्ठसि च; यथा सुवर्णं विविधालङ्काररूपं भवति, स्वयमेवाविकृतं तान्व्याप्य तिष्ठति तथेति भाव इति व्याचक्षते **केचित्** । **— अविगीता** ।

**२ आ. शां. व्या.**— सम्प्रति जगत्स्रष्टृत्वादिनाऽपि तद्योग्यत्वमस्तीति स्तुतिद्वारा दर्शयति— **पुनरपीति** । जगतः स्रष्टा पुरुषो हिरण्यगर्भ इति पक्षं प्रत्याह— **पुराण** इति । स्रष्टृत्वं निमित्तमेवेति तटस्थेश्वरवादिनस्तान्प्रत्युक्तम्— **त्वमेवेति** । 'महाप्रलयादौ' इत्यादिपदमवान्तरप्रलयार्थम् । ईश्वरस्योभयथा कारणत्वं सर्वज्ञत्वेन साधयति— **किञ्चेति** । वेद्यवेदितृभावेनाद्वैतानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह— **यच्चेति** । मुक्त्यालम्बनस्य ब्रह्मणोऽर्थान्तरत्वमाशङ्कित्वोक्तम्— **परं चेति** । यत्परमं पदं तदपि त्वमेवेति सम्बन्धः । तस्य पूर्णत्वमाह— **त्वयेति** । व्याप्यव्यापकत्वेन भेदं शङ्कित्वा कल्पितत्वात्तस्य मैवमित्याह— **अनन्तेति** ॥ ३८ ॥

**१ शां. भा.— किञ्च— वायुस्त्वं, यमश्च, अग्निः, वरुणोऽपाम्पतिः, शशाङ्कश्चन्द्रमाः, प्रजापतिस्त्वं कश्यपादिः, प्रपितामहश्च पितामहस्यापि पिता प्रपितामहः, ब्रह्मणोऽपि पितेत्यर्थः ॥ नमो नमस्ते तुभ्यमस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते । बहुशो नमस्कारक्रियाभ्यासावृत्तिगणनं कृत्वसुचोच्यते । पुनश्च भूयोऽपीति श्रद्धाभक्त्यतिशयादपरितोषमात्मनो दर्शयति ॥ ३९ ॥ तथा— नम इति । नमः पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि तुभ्यं, अथ पृष्ठतस्ते पृष्ठतोऽपि च ते । नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्वासु दिक्षु सर्वत्र स्थिताय हे सर्व ! अनन्तवीर्यामितविक्रमः— अनन्तं वीर्यमस्य अमितो विक्रमोऽस्य, वीर्यं सामर्थ्यं, विक्रमः पराक्रमः, वीर्यवानपि कश्चिच्छत्रुवधादिविषये न पराक्रमते मन्दपराक्रमो वा । त्वं त्वनन्तवीर्योऽमितविक्रमश्चेत्यनन्तवीर्यामितविक्रमः । सर्वं समस्तं जगत्समाप्नोषि सम्यगेकेनाऽऽत्मना व्याप्नोषि यतस्ततस्तस्मादसि भवसि सर्वस्त्वं; त्वया विनाभूतं न किञ्चिदस्तीत्यर्थः ॥ ४० ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— तस्य सर्वात्मत्वे हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । कश्यपादिरित्यादिशब्देन विराड्दक्षादयो गृह्यन्ते । पितामहो ब्रह्मा, तस्य पिता सूत्रात्माऽन्तर्यामी चेत्याह— **ब्रह्मणोऽपीति** । सर्वा देवतास्त्वमेवेत्युक्ते फलितमाह— **नम** इति । सहस्रकृत्व इति कृत्वसुचो विवक्षितमर्थमाह— **बहुश** इति । पुनरुक्तितात्पर्यमाह— **पुनश्चेति** । श्रद्धाभक्त्योरतिशयात्कृतेऽपि नमस्कारे परितोषाभावो बुद्धेरात्मनोऽलम्प्रत्ययराहित्यं तद्दर्शनार्थं पुनरुक्तिरित्यर्थः ॥ ३९ ॥ विधान्तरेण भगवन्तं स्तुत्या नमस्कुर्वन्नभिमुखीकरोति— **तथेति** । यस्यां दिशि सवितोदेति सा पूर्वा दिगुच्यते, तस्यां व्यवस्थितं सर्वं त्वमेव, तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्त्वित्याह— **नम** इति । अथशब्दः समुच्चये । पश्चादपि स्थितं सर्वं त्वमेव, तस्मै ते तुभ्यं नमोऽस्त्वित्याह— **अथेति** । किं बहुना ? यावत्यो दिशस्तत्र सर्वत्र यद्वर्तते तदशेषं त्वमेव, तस्मै तुभ्यं प्रह्वीभावः स्यादित्याह— **नमोऽस्त्विति** । फलितं सर्वात्मत्वं सूचयति— **हे सर्वेति** । वीर्यविक्रमयोर्न पौनरुक्त्यमित्याह— **वीर्यमित्यादिना** । वीर्यवतो विक्रमाव्यभिचारादर्थपौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह— **वीर्यवानिति** । भगवति लोकतो विशेषमाह— **त्वं त्विति** । उक्तं सर्वात्मत्वं प्रपञ्चयति— **सर्वमिति** । सप्रपञ्चत्वं वारयति— **त्वयेति** ॥ ४० ॥

**३ रा. भा.— युक्ततामेवोपपादयति— कस्मादिति । महात्मन् ! ते तुभ्यं गरीयसे ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापि आदिभूताय कर्त्रे । हिरण्यगर्भादयः कस्माद्धेतोर्न नमस्कुर्युः ? अनन्त ! देवेश ! जगन्निवास ! त्वमेवाक्षरं न क्षरतीत्यक्षरं जीवात्मतत्त्वं, ' न जायते म्रियते वा विपश्चित् ' [ कठो. २।१८ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धो जीवात्मा हि न क्षरति; सदसच्च त्वमेव सदसच्छब्दनिर्दिष्टं कार्यकारणभावेनावस्थितं प्रकृतितत्त्वं, नामरूपविभागवत्तया कार्यावस्थं सच्छब्दनिर्दिष्टं तदनर्हतया कारणावस्थमसच्छब्दनिर्दिष्टं च त्वमेव । तत्परं यत् तस्मात्प्रकृतेः प्रकृतिसम्बन्धिनश्च जीवात्मनः परमन्यन्मुक्तात्मतत्त्वं यत्, तदपि त्वमेव । अतस्त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं निधीयते त्वयि विश्वमिति त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्; विश्वस्य शरीरभूतस्यात्मतया परमाधारभूतस्त्वमेवेत्यर्थः ॥ जगति सर्वो वेदिता वेद्यं च सर्वं त्वमेव, त्वं सर्वात्मतयाऽवस्थितस्त्वमेव परं च धाम स्थानं प्राप्यस्थानमित्यर्थः । त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! त्वयाऽऽत्मत्वेन विश्वं चिदचिन्मिश्रं जगत् ततं व्याप्तम् ॥ ३७ ॥ ३८ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— 'कस्मात्' इत्यादिकं पूर्वेण सङ्गमयति— **युक्ततामिति** । ' ते ' इत्यस्य प्रथमाबहुवचनत्वभ्रमव्युदासाय **तुभ्यमित्युक्तिः** । प्रणतिकर्तारस्त्वर्थसिद्धा अनुक्ता एवेति भावः । ब्रह्मशब्दस्यानेकार्थेषु प्रयोगादिह सर्वप्रणन्तव्यत्वोपयोगाय हिरण्यगर्भपदेन व्याख्या । ' आदिकर्त्रे ' इति सविशेषणनिर्देशेन व्यवच्छेद्यभूतनूतनहिरण्यगर्भकर्तृसम्भावनाभ्रमव्युदासाय **आदिभूतायेति** व्यस्योक्तम् । कर्तृशब्देन निमित्तत्वस्योक्तत्वात् आदिशब्द उपादानत्वपरः, सर्वस्य कारणा-

न्तरनिषेधार्थौ वा । नमश्शब्दयोगवन्नमनमात्रयोगेऽपि चतुर्थी विद्यत इति ज्ञापनाय **नमस्कुर्यु**रित्युक्तम् । ' पञ्चशिखाय तथेश्वरकृष्णायैते नमस्यामः ' इत्यादिवत् ॥

' त्वमक्षरम् ' [ ११ । १८ ] इति प्रागप्युक्तत्वादत्र ' त्वमक्षरम् ' इति तदतिरिक्तार्थपरत्वमुचितम्; ' तत्परम् ' इत्यस्य सामर्थ्याच्चात्राक्षरसदसच्छब्दानामवरतत्त्वविषयत्वं न्याय्यम्; तत्र च भावाभावशब्दाभिलप्यविकारयोगितया सदसच्छब्दयोरचित्परत्वं निर्विकारतयाऽक्षरशब्दस्य जीवात्मविषयत्वं चोचितमित्यभिप्रायेणाह— **न क्षरतीति**। जीवस्वरूपस्य निर्विकारत्वे श्रुतिं दर्शयति— **न जायत** इति। कार्यकारणयोरसच्छब्देन व्यपदेशः " असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत " [ तै. उ. २।७।१ ] इत्यादिश्रुतिसिद्ध इत्यभिप्रायेण कार्यकारणभावकथनम् । एकस्मिन्नेव द्रव्ये सदसच्छब्दप्रयोगनिदानमाह **नामरूपेति** । ' अक्षरं सदसत् ' इति निर्दिष्टोभयपरामर्शी तच्छब्दः। विशेषकाभावात्तिलतैलदारुवह्न्यादिवत् परस्परमिलिततदुभयापेक्षया परत्वं च मुक्तात्मनः प्रसिद्धमिति ' सदसत्तत्परं यत् ' इत्यनूद्यत इत्यभिप्रायेण— **मुक्तात्मतत्त्व**मित्युक्तम् । प्रकृतिपुरुषशरीरकत्वं मुक्तात्मनस्तादर्थ्यं च कारणत्वसाधकमित्याह— **अत** इति । सर्वतत्त्वात्मकत्वादित्यर्थः । जगन्निवासशब्देन जगन्निवासो यस्येति विग्रहः । अतो निधानशब्देनात्राधारत्वमेवानुक्तं विवक्षितमिति प्रदर्शनायाधिकरणव्युत्पत्तिं दर्शयति **निधीयते त्वयी**ति । तेन ' त्वमक्षरम् ' इत्यादिसामानाधिकरण्यकारणं विश्वशरीरित्वं विवक्षितमित्याह **विश्वस्य शरीरभूतस्ये**ति । एतेन निधानशब्दस्यात्राव्यक्तपरत्वं कैश्चिदुक्तं निरस्तम् ।

' वेत्तासि ' इत्यादौ परमात्मनो वेदितृत्वादिमात्रविधानेऽतिशयाभावात् कारणावस्थद्रव्यान्तर्यामित्वस्य चोक्तत्वात्, कार्यावस्थज्ञातृज्ञेयान्तर्यामित्वमेवात्र विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह **जगति सर्वो वेदिता वेद्यं चे**ति । धामशब्दस्यानेकार्थस्यापि स्थाने प्रसिद्धिप्रकर्षात्स एवार्थ उचितः । स्थानं च प्राप्यमिति प्रसिद्धम् । अतः परत्वेन विशेषितप्राप्यत्वमेवात्र विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— **प्राप्यस्थान**मिति । यद्वा परमप्राप्यमिति भगवदसाधारणं स्थानं विवक्षितं स्यात्; तेनापि पूर्ववत्सामानाधिकरण्यव्यपदेशः । आमनन्ति च तदप्राकृतस्थानम् " अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि । तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितं हिरण्मयं" [ छां. उ. ८।५।३ ] इति, तथा " सहस्रस्थूणे विमिते दृढ उग्रे यत्र देवानामधिदेव आस्ते " इति । सामान्यतो विशेषतश्च प्रवृत्तयोः पूर्वोत्तरसामानाधिकरण्योर्मध्यस्थेन **' त्वया ततम् ' इत्यादिना** शरीरात्मभाव एव निबन्धनमिति स्पष्टमुच्यत इत्यभिप्रायेणाह— **त्वयात्मत्वेने**ति ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

**३ रा. भा.**— अतस्त्वमेव वाय्वादिशब्दवाच्य इत्याह— **वायुरिति** । सर्वेषां प्रपितामहस्त्वमेव, पितामहादयश्च; सर्वासां प्रजानां पितरः प्रजापतयः, प्रजापतीनां पिता हिरण्यगर्भः प्रजानां पितामहः, हिरण्यगर्भस्यापि पिता त्वं प्रजानां प्रपितामहः; पितामहादीनामात्मतया तत्तच्छब्दवाच्यस्त्वमेवेत्यर्थः । अत्यद्भुताकारं भगवन्तं दृष्ट्वा हर्षोत्फुल्लनयनोऽत्यन्तसाध्वसावनतः सर्वतो नमस्करोति **नम** इति ।

**४ वे. ता. चं.**—"इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः" [ ऋक्सं. २।३ । २२ । ६ तै. ब्रा. ३ । ७ । ९ । ३ ] " तदेवाग्निस्तद्वायुस्तत्सूर्यस्तदु चन्द्रमाः । तदेव शुक्रममृतं तद्ब्रह्म तदापः स प्रजापतिः " [ तै. ना. १।७ ] इत्यादिश्रुत्युपबृंहणाभिप्रायेण ' त्वया ततं विश्वम् ' [ ११।३८ ] इति निर्दिष्टशरीरात्मभावं ' वायुर्यमोऽग्निः ' इत्यादिसामानाधिकरण्यहेतुत्वेनाह **अतस्त्वमेवे**ति । सम्बन्धिविशेषानुपादानात्प्रपितामहत्वं सर्वप्रतिसम्बन्धिकमित्यभिप्रायेणाह **सर्वेषां प्रपितामहस्त्वमेवे**ति । चशब्दः पितामहादिसमुच्चयार्थक इत्यभिप्रयन्नाह **पितामहादयश्चे**ति । सर्वप्रपितामहस्य कस्यचिदभावेन तच्छरीरकत्वेन प्रपितामहत्वायोगादन्यथा तदाह **सर्वासां प्रजानां पितर** इत्यादिना। प्रजापतयः दक्षादयः। चशब्दसमुच्चितपितामहत्वं तु तच्छरीरकतयेत्याह **पितामहादीनामात्मतये**ति ।

' नमो नमस्तेऽस्तु ' इत्यादिनोक्तनमने विश्वरूपप्रदर्शनप्रकटितपरत्वसौलभ्यानुभवजनितभयहर्षावेव हेतुरित्यभिप्रायेणाह— **अत्यद्भुताकार**मिति ।

**३ रा. भा.**—अनन्तवीर्य अपरिमितवीर्य ! अपरिमितपराक्रमस्त्वं सर्वमात्मतया समाप्नोषि, ततः सर्वोऽसि, यतस्त्वं सर्वचिदचिद्वस्तुजातमात्मतया समाप्नोषि, अतः सर्वस्य चिदचिद्वस्तुजातस्य त्वच्छरीरतया त्वत्प्रकारत्वात्सर्वप्रकारस्त्वमेव सर्वशब्दवाच्योऽसीत्यर्थः। 'त्वमक्षरं सदसत्' [११।३७] 'वायुर्यमोऽग्निः' इत्यादिसर्वसामानाधिकरण्यनिर्देशस्यात्मतया व्याप्तिरेव हेतुरिति सुव्यक्तमुक्तं 'त्वया ततं विश्वमनन्तरूप!' [११।३८] 'सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः' इति च ॥ ३९ ॥ ४० ॥

**४ वे. ता. चं.**— अनन्तस्य वीर्यमिव वीर्यं यस्येत्यन्यथाप्रतिपत्तिवारणायाह **अपरिमितवीर्ये**ति । अमितशब्दस्याप्रमितपरत्वे शास्त्रादिसिद्धिनिरोधात् **अपरिमितपराक्र**' इत्युक्तम्। 'सर्वं समाप्नोषि' इत्यत्राकाशादिवद्व्याप्तिव्युदास

"अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" [ चित्यु. ११।१ ] इत्यादिश्रुत्युक्तात्मत्वपर्यवसितनियमनार्थव्याप्तिर्विवक्षितेत्यभिप्रयन्नाह— **सर्वमात्मतयेति** । "पुरुष एवेदं सर्वम्" [ ऋक्सं. ८।४।१७।२ यजुस्सं. ३१।२] 'आत्मैवेदं सर्वं' [छां. उ.७।२५।२] 'नारायण एवेदं सर्वम्' [ना.उ.२] इत्यादिश्रुतिस्थसर्वशब्दसामानाधिकरण्योपबृंहणाय 'सर्वत एव सर्वे' इति पूर्वोक्तसर्वशब्दसामानाधिकरण्यं न बाधार्थम्, अपितु शरीरात्मभावनिबन्धनविशिष्टैक्यपरमित्युक्तमित्यभिप्रायेणाह— **यतस्त्वमित्यादि** । सकलवेदवेदान्ततदुपबृंहणेषु भगवद्वाचिशब्दानां सर्वचिदचिद्वस्तुवाचिसामान्यविशेषसकलशब्दसामानाधिकरण्यस्यापि शरीरात्मभाव एव निबन्धनमित्येतत्प्रघट्टफलितमित्यभिप्रायेणाह **त्वमक्षरं सदसदित्यादि** ॥ ३९ ॥ ४० ॥

**५ आ. मा. भा.— कथं स्थाने ? इति तदाह— कस्मादित्यादिना । पूर्णश्चासावात्मा चेति महात्मा । आत्मशब्दश्चोक्तो भारते— 'यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह । यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति भण्यते' इति । तत्परं सदसतः परम् । 'असच्च सच्चैव च यद्विश्वं सदसतः परम् ।' [ म. भा. १।१।२३ ] इति भारते ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— 'सर्वे नमस्यन्ति' [११।३६ ] इत्येतद्युक्तमिति स्वयमेवोक्त्वा 'कस्माच्च ते न नमेरन्' इति विरुद्धं कथं पृच्छति ? इत्यत आक्षेप एवायमिति ज्ञापयन् तन्निवर्त्याशङ्काप्रदर्शनपूर्वकमवतारयति— **कथमिति**। इति शङ्कायामिति शेषः तत्तस्या उत्तरम् । महात्मन्नक्षुद्रचित्तेत्यल्पार्थप्रतीतिनिरासार्थमाह— **पूर्णश्चेति** । आत्मा जीव इति प्रतीतिं वारयितुमाह— **आत्मेति** । उक्तो निरुक्तः । यद्यस्मात् । आप्नोतेर्मन् । पकारस्य च तकारः । आङ्पूर्वाद्दाञः स एव प्रत्ययः आकारलोपस्तत्वम् । आङ्पूर्वाददो मन् । तत्वं च । इह देहे । सन्ततो भावो नित्या सत्ता । आङ्पूर्वात्तनोतेर्मन् । सदसद्भावात्मकं विश्वं त्वमेवेति सत्तादिप्रदत्वादेवोच्यते । नत्वन्यथा, तथा सति उत्तरवाक्यविरोधात्, इति भावेन तत्पठित्वा सप्रमाणकं व्याचष्टे— **तत्परमिति** ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥

**७ ह. पै. भा.— कस्माच्चेति । न नमेरन्न नमस्युः ? । अक्षरं ब्रह्म । सच्चासच्च सदसत्, सदसदात्मकमित्यर्थः । ताभ्यां सदसद्भ्यां परं तत्परं यत्तदपि त्वम् ॥ ३७ ॥ त्वमिति । निधीयतेऽस्मिन्निति निधानम् । वेत्ताऽसि वेदिताऽसि । धाम तेजः । ततं व्याप्तम् ॥ ३८ ॥ वायुरिति । प्रजापतिर्दक्षः । पितामहो ब्रह्मा, तस्य पिता प्रपितामहः ॥ ३९ ॥ नम इति । पुरस्तादग्रतः । पृष्ठतः पश्चात् । सर्वतः पुरस्तात्पार्श्वतः पश्चाच्च । हे सर्व ! अनन्तं वीर्यं यस्य सोऽनन्तवीर्यस्तस्य सम्बोधनम् । अमितोऽपरिच्छिन्नो विक्रमः पराक्रमो यस्य सोऽमितविक्रमः । सर्वं व्याप्नोषि ततः सर्वो भवसि ॥ ४० ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— युक्तत्वमेवोपपादयति— **कस्माच्चेति** । वाकारार्थे चशब्दः । हे महात्मन् सर्वोत्कृष्ट ! ते तुभ्यं कस्माद्वा हेतोर्न नमेरन् न नमेयुः सर्वे सिद्धसङ्घादयः ? किन्तु नमस्कुर्युरेव । अत्र हेतुः— **महात्मन्निति** । अनेनोत्कर्षाख्यं नमस्कारबीजमुक्तम् । दृश्यते हि लोके तावदुत्कर्षस्य नमस्कारप्रयोजकत्वम् । तथा वेदेऽपि, "नमस्कारकृत्या हि वसीयांसमुपचरन्ति" इति श्रुतेः । 'गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे' इत्यनेन सर्वलोकगुरुत्वेन पितृत्वेन च नमस्कार्यतोक्ता । 'अनन्त' इत्यपरिच्छेदवाचिना निसर्गाभ्यधिकत्वमुक्तम् । तेन च सर्वनमस्कार्यस्य भगवतो नमस्कार्यमन्यन्नास्तीति दर्शितम् । 'देवेश !' 'जगन्निवास !' इत्यनेन "नमो ब्रह्मणे नमोऽस्त्वग्नये" [ गृ. सू. ] इत्यादिश्रुत्युक्तानां देवतान्तरपृथिव्योषध्यादिनमस्काराणामन्येषां च लौकिकनमस्काराणां तत्तदधिष्ठातरि भगवत्येव पर्यवसानम्, 'सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रतिगच्छति' [वि.स.ना.१५१]इत्यादिस्मृतेरित्ययमर्थो दर्शितः। किञ्च यत्सदसद्व्यक्ताव्यक्तात्मकं जगदस्ति, तत्परमक्षरं ब्रह्म त्वमेवासि। अतः 'त्वयि जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च सर्वे नमस्यन्ति' [ ११।३६ ] इत्यादिकं न किञ्चिदपि चित्रमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ भक्त्युद्रेकात्पुनरपि स्तौति— **त्वमिति** । आदिदेवो देवानामादिस्त्वमसि; तव त्वादिः कोऽपि नास्ति । यतस्त्वं पुराणः अनादिः । अत्र हेतुः— **पुरुष इति** । "पूर्वमेवाहमिहासमिति तत्पुरुषस्य पुरुषत्वम्" इति श्रुतिप्रसिद्धः पुरुषस्त्वम्; अतोऽनादिः । अनेन जगदुत्पत्तिस्थानत्वमुक्तम्; तल्लयस्थानत्वमप्याह— **त्वमस्येति** । निधीयतेऽस्मिन्निति निधानं लयस्थानम् । यस्मादेवं जगदुत्पत्तिस्थितिलयाधिष्ठानभूतस्त्वं तस्माद्द्रष्टृदृश्यात्मकं जगत्सर्वमपि त्वत्तो नातिरिच्यते; त्वमेव च परं ब्रह्मेत्याह— **वेत्तासि** वेद्यं च परं च धामेति । 'घटः सन्' 'पटः सन्' इत्यादिना सत्त्वेनानुभूयमानस्य जगतः कथं त्वद्व्यतिरेकेणासत्त्वम् ? अत आह— **त्वयेति** । हे अनन्तरूप ! त्वया अधिष्ठानेन इदं विश्वं ततं व्याप्तं, शुक्तिशकलेनेव रूप्यम् । अतोऽधिष्ठानसत्त्यैव जगतः सत्त्वप्रतीतिः, न तु पृथक्सत्तास्तीत्यर्थः ॥ ३८ ॥ यस्मादेवं त्वदन्यद्वस्तु किञ्चिदपि न विद्यते, तस्मात्सर्वदेवतात्मकस्त्वमेव सर्वनमस्कार्य इति त्वामेव बहुधा नमस्करो-

मीत्याह— वायुरिति । वाय्वादिग्रहणमनुक्तदेवतान्तरोपलक्षणार्थम् । वाय्वादिप्रजापत्यन्ताः सकलदेवतास्त्वम् । प्रपितामहश्च त्वम्, हिरण्यगर्भजनकत्वेन पितामहपितृत्वात् । अतस्ते तुभ्यं सहस्रकृत्वः सहस्रशो नमोऽस्तु । 'पुनश्च भूयोऽपि' इत्यनयोः प्रत्येकं सहस्रकृत्व इत्यनुषङ्गः। अनेन भक्तिविश्वासातिशयप्रयुक्ता नमस्कारेष्वतृप्तिरात्मनो दर्शिता भवति ॥ ३९ ॥ सर्वमपि भगवदात्मकं पश्यन्सर्वतो नमस्करोति— नम इति । हे सर्व सर्वात्मक ! ते तुभ्यं पुरस्तात्पूर्वभागे नमोऽस्तु; तथा पृष्ठतः पश्चाद्भागे नमोऽस्तु । किमत्र विशेषग्रहणेन ? सर्वत एव ते नमोऽस्तु, सर्वस्यापि त्वयि कल्पितत्वेन त्वदतिरिक्तस्य कस्याप्यभावात्सर्वत्र कुतो नमस्कारः सर्वात्मकस्य तवैव भवतीत्यर्थः। एतदेव सर्वात्मकत्वमुपपादयति— अनन्तवीर्येति । वीर्यं शक्तिः, विक्रमः पराक्रमः । अनन्तवीर्यश्चासावमितविक्रमश्चेति तथोक्तः । स त्वं यतः सर्वं जगत्समाप्नोषि सम्यग्देशकालवस्तुपरिच्छेदराहित्येन व्याप्नोषि, ततः सर्वोऽसि। अत्रानन्तवीर्येति भगवन्मायाशक्तेरानन्त्योक्त्या द्वैतप्रतिभासस्य मायिकत्वप्रदर्शनाद्वस्तुपरिच्छेदशून्यत्वमुपपादितम् । अमितविक्रमपदेन च "त्रीणि पदा विचक्रमे" [ ऋक्सं. २१२ ] " विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः " [ ऋक्सं. २।२।२४।१ ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धव्यापकत्वप्रदर्शनाद्देशकालपरिच्छेदशून्यत्वमुपपद्यते । 'सर्वव्यापित्वात्सर्वोऽसि' [ ] इति द्वैतिव्याख्याने समित्युपसर्गवैयर्थ्यम्, आप्नोषीत्येतावतैव चारितार्थ्यात्; 'वेत्ताऽसि वेद्यं च परं च धाम' [ ११।३८ ] 'वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः' [ ११।३९ ] इत्यादिपूर्वश्लोकोक्तसर्वात्मकत्वविरोधश्च; सर्वव्यापिनोऽप्याकाशस्य 'सर्वः' इत्यव्यपदेशात् 'ततोऽसि सर्वः' इति सर्वव्याप्तेः सर्वव्यपदेशहेतुत्वानुपपत्तिश्चेत्यतो भगवत्पादीयो यथोक्त एवार्थः ॥ ४० ॥

९ व० त० दी०— कस्माच्चेति । ऐश्वर्यं वैराग्यं वा ब्रह्मणः समष्टिपुरुषजीवस्यादिकर्तृत्वेनालिप्तत्वात् ' सदसत्परमक्षरं ' इति नित्यत्वेन क्षरणाभावान्निरतिशयैश्वर्यं सर्वविभिन्नधर्माश्रयं त्वमेव ब्रह्मेत्याह । परं कारणम् ॥ ३७ ॥ त्वमिति । ज्ञानं वेत्तासि वेद्यं चेति विरुद्धधर्माश्रयत्वमक्षरत्वं च पुनः स्फोटयति-परं धामेति । ' तद्धाम परमं मम ' [ ८।२१+१५।६ ] इत्यनेनैकार्थ्यमेति । ' त्वया ततं विश्वं ' इति व्याख्यानभूतं ' मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना ' [ ९।४] इत्यादेः ॥ ३८ ॥ वायुर्यम इति सर्वरूपत्वेऽप्येकस्याव्ययत्वमित्यैश्वर्यं वैराग्यं वा; अतस्ते सहस्रकृत्वो नमो नम इति सभयं प्रणमति ॥ ३९ ॥ सर्वरूपत्वेन वीर्यं तस्योपपादयति— 'परं ब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् । द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ' इति वाक्यैरेकमपि तत्सर्वमित्याशयेनानन्तवीर्य ! हे सर्वेति सम्बोधयति । विश्वं व्याप्नोषि सर्वप्रपञ्चरूपस्त्वमेवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

१० पु. अ. त.— ननु सिद्धाः किमिति नमन्ति ? इत्यत आह— कस्मादिति । हे महात्मन् महतामात्मस्वरूप ! यस्मात्तेषां भक्तानां स्वरूपं त्वमेवातस्ते तुभ्यं कस्मान्न नमेरन् न नमस्कुर्युः?। कीदृशाय? गरीयसे गुरवे । ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे जनकाय । किञ्च । हे अनन्तदेवेश ! अनन्तानां देवानामीश प्रभो ! हे जगन्निवास सकलाश्रय ! अक्षरं त्वमेव, सत् असच्च सर्वं त्वमेव, यत् परं पुरुषोत्तमाख्यं ब्रह्मतत्त्वम् अतो नमन्तीत्यर्थः ॥ ३७ ॥ किञ्च— त्वमादिदेव इति । त्वं देवानामादिः तथा त्वं ब्रह्मणोऽप्यग्रेऽसीत्यत आह— पुरुषः । तत् त्वमक्षरेऽपि वर्तसे इत्यतः पुराणः पुरुषोत्तम इत्यर्थः । पुरुषोत्तमधर्मानेवाह— त्वमस्य परिदृश्यमानस्य विश्वस्य परमुत्कृष्टं आधिदैविकरूपेण स्वस्मिन् स्थाने स्वरतीच्छारूपं निधानं लयस्थानं परं विश्वस्य क्रीडाप्रकटितस्वरूपज्ञानेन सर्वत्र रमणकर्ता त्वमसि विश्वस्य विश्वस्मिन् वा । वेद्यं ज्ञेयं त्वं च त्वमेवेत्यर्थः । च पुनः परं धाम वैकुण्ठाख्यं तेजोरूपं पुरुषोत्तमगृहात्मकं वा त्वम् । हे अनन्तरूप ! इदं विश्वं त्वया ततं व्याप्तं त्वद्रूपमेवेत्यर्थः । अनन्तरूपमिति ॥ ३८ ॥ वायुरिति । वायुः सर्वप्रेरकः सर्वप्राणरूपः, यमः सर्वनियमनः, अग्निः सर्वाधारः वरुणः जलाधिपः सर्वरसपूरकः, शशाङ्कः सर्वानन्दकरः, प्रजापतिः सर्वोत्पादकः । च पुनः प्रपितामहः ब्रह्मणोऽपि पिता अतः सर्वरूपस्त्वं तस्मात् पूर्वोक्ताः कथं तुभ्यं न नमस्कुर्युः ? । अतः सर्वरूपत्वादाधिदैविकत्वात् त्वमेव नमस्यः । अतोऽहमपि नमस्करोमि सहस्रकृत्वः सहस्रशः ते तुभ्यं नमो नमोऽस्तु । अस्त्वितिपदेन त्वमङ्गीकुर्विति ज्ञापितम् । पुनश्चाङ्गीकारानन्तरमपि भूयः वारंवारं ते नमो नमः करोमीत्यर्थः ॥ ३९ ॥ किञ्च— नम इति । हे सर्व सर्वात्मन् ! पुरस्तात् पूर्वदिशि पृष्ठतः पश्चिमायां सर्वतः दक्षिणोत्तरकोणादिषु सर्वासु दिक्षु ते नमो नम एवाऽस्तु । 'किमासनं ते गरुडासनाय' इत्यादिवाक्यैर्नान्यत्किञ्चिदपि कर्तुं शक्यमिति भावः। इदमेवैवकारेण व्यञ्जितम् । यद्वा पृष्ठतः पश्चात् सर्वतः दक्षिणोत्तरादिभागेषु नमः कृतो नमस्कारः ते पुरस्तादेव पूर्वभाग एव सन्मुख एवाऽस्त्विति वाऽर्थः । ननु पश्चाद्भागकृतो नमस्कारः कथं पूर्वभागीयः स्यादत आह— अनन्तेति । अनन्तं वीर्यं सामर्थ्यम्, अमितो बहुतरः पराक्रमो यस्य तादृशस्त्वं सर्वं जगत् समाप्नोषि तत्तद्रूपनामभेदेन सर्वरूपो भूत्वा वर्तसे, ततः सर्वः सर्वरूपस्त्वमसि, अतः पृष्ठतोऽपि नमस्कृतौ पूर्वभागो न बाध्यत इत्यर्थः ॥ ४० ॥

११ नी० भा० दी०— कुतो मां सिद्धसङ्घा नमस्यन्ति यतस्तेऽप्यहमिव ब्रह्माण्डशतानि स्रष्टुमर्हन्ति ? इत्यत आह— कस्मादिति। हे महात्मन् ! कस्माद्धेतोस्ते त्वां न नमेरन् ? अपितु नमेरन्नेव। तत्र हेतुः—गरीयसे।

तेऽपि गुरवस्त्वमपि गुरुस्तथापि त्वमतिशयितो गुरुरसीत्यर्थः। कुतो ममैवातिशयः? तेषां मम च समानेऽपि सत्यसङ्कल्पत्वादौ सत्यतश्चाह—ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्यापि आदिकर्त्रे पितामहाय पञ्चमहाभूतसृष्टिद्वारा ब्रह्माण्डं सृजत इत्यर्थः। 'जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च' [ ब्र. सू. ४।४।१७ ] इति न्यायेन नित्यसिद्धेश्वरस्य तवाज्ञया ते सर्वेऽप्यैश्वर्यभाजो भवन्ति, न तु त्वत्समास्ते अत एव हे अनन्त! हे देवानां ईश! जगन्निवास जगतामालयभूत! त्वमक्षरं शुद्धं ब्रह्म। कीदृशमक्षरं? यत् सदसत्तत्परं सच्च असच्च सदसती ताभ्यां परं च सदसत्तत्परं कार्यं कारणं तदुभयातीतं चेति त्रिविधमित्यर्थः ॥ ३७ ॥ पुनरपि स्तौति—त्वमिति। आदिदेवो जगतः स्रष्टृत्वात्, पुरुषः सर्वशरीरशायी, पुराणः शरीरनाशादिनाऽप्यविनश्यन् विश्वस्यास्य त्वं परं निधानं निधीयतेऽस्मिन्निति लयस्थानम्। साङ्ख्यानां जडां प्रकृतिं वारयति— वेत्ता ज्ञाता वेद्यं तद्दृश्यं च त्वमेव परं वेत्तृवेद्याभ्यामन्यत्, धाम चैतन्यं त्वया विश्वं ततं व्याप्तं स्वसत्तास्फूर्तिभ्यां, हे अनन्तरूप त्रिविधपरिच्छेदशून्यस्वरूप! ॥ ३८ ॥ सर्वदेवतात्मत्वेन स्तौति—वायुरिति। प्रजापतिर्दक्षादिश्चतुर्मुखो वा। प्रपितामहश्चतुर्मुखपिता ॥ ३९ ॥ हे अनन्तवीर्य! यतः सर्वं समाप्नोषि एकीभावेनाऽऽसमन्ताद्व्याप्नोषि ततो हेतोः सर्वं इति तव नाम। पुरस्तात्कर्मणामादौ। पृष्ठतस्तेषां समाप्तौ। सर्वतो मध्येऽपि ते नमोऽस्तु ॥ ४० ॥

**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण! हे यादव! हे सखेति।**
**अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वाऽपि ॥ ४१ ॥**

---

१ **हे सखे**ति यलोपेऽपि सन्धिः पुनः सन्धिनिषेधस्य लौकिकविषयत्वान्न दुष्यति, 'लोपशि पुनर्न सन्धिः' (स्वरसं. प्र. १८) इति सारस्वतसूत्रे वृत्तिकृता 'छन्दसि तु भवति' इत्युक्त्वा 'हे सखे' इति—हे सखेति इत्युदाहृतत्वात्। एतेन 'प्रियः प्रियायार्हसि' इत्यपि व्याख्यातम्। केचित्तु 'सखे! अति' इति छित्वा अति नितरां लभ्यत इत्याहुः। **अत्रोपन्यासदर्पणम्**— सर्वो हि लोके 'देवदत्तः यज्ञदत्तः' इति नाम्ना, 'आत्रेयः गार्ग्यः' इति कुलेन, 'मित्रं शत्रुः, इति गुणेन च निर्दिश्यते। सति चैवं हे कृष्ण! इति नामोक्तिः, हे यादव! इति कुलोक्तिः, हे सखे! इति स्नेहरूपगुणोक्तिश्च कथमपराधः स्यात्? इति चेत्; यद्यपि नाम्ना कुलेन गुणेन च निर्देशो नापराधः, तथापि महामहिमवति महति पुरुषे नाम्ना कुलेन सम्बोधनं, 'हे सखे!' इति स्नेहाविष्कारपूर्वकसम्बोधनं च महानपराध एव भवति, आवहति च कोपम्। द्रोणस्य सखित्वेन निर्देशो हि द्रुपदस्य कोपमुदपादयत्। तथैव चानुभूयते लोके। अत ईदृशमहामहिमवतो भवतो विषये 'हे कृष्ण!' इत्याद्युक्तिरपराध एव। अन्वर्थनामत्वकुलोद्धारकत्वाद्यभिप्रायेण नामादिभिर्निर्देशो नामादिभिर्निर्दिश्यमानस्य तोषाय भवति, तथा स गुण एव सम्पद्यते। नाहं तथा— 'कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।' ( म. भा. ५।७०।५ ) इत्युक्तनिर्वचनात् 'पूर्णानन्दात्मकत्वाभिप्रायेण 'कृष्ण!' इति, यदुकुलोद्धारकत्वाभिप्रायेण 'यादव!' इति, ईदृशानन्तकल्याणसुगुणगणो भगवान् भवान् मे सखा जातः, अहो मे भाग्यातिशयः! इत्यभिप्रायेण 'सखे!' इति च त्वामुक्तवानस्मि, अपितु साधारणबुद्ध्या, अतोऽयमपराध एव, अतः क्षमस्वेति प्रार्थ्यते। इति ॥

ननु व्यासनारदाद्या अहं 'परं ब्रह्म परं धाम' इत्याद्यवोचन्नेव तुभ्यम्, दृष्टवानसि च चैद्यवधादौ शुद्धसत्वरूपस्य तत्तेजसो मयि प्रवेशम्; तस्माद**जानता** इति हेतुर्न सार्वत्रिकः, अतो हेत्वन्तरं दर्शयति— **प्रमादा**दिति। प्रमादोऽनवधानता। नन्वीश्वरत्वानवधानेऽपि लोकदृष्ट्या मदीयं श्रेष्ठत्वं कस्मान्न मानितवानसि? नहि सामान्योऽपि क्षत्रियो निरुपपदेन नाम्ना सम्बोध्यते, किं पुनर्मादृशो लोकोत्तरवीरः? इत्यत्राह— **प्रणयेन वापी**ति। तथा च महिमानमजानता वा, प्रमादाद्वा, प्रणयेन वा यदुक्तम्, तत्क्षामये इत्युत्तरेण सम्बन्ध इति **वामना**शयः ॥

अत्रैवं वा व्याख्यातव्यम्— हे कृष्ण! इति **यदुक्तम्** तत्र हेतुः—अजानता महिमानमिति। अविदितमहिमा हि लोके 'कृष्ण!' 'काण!' 'खञ्ज!' इत्यादि तत्तद्दोषमूलकसंज्ञाभिः प्रसभं सम्बोध्यते। कृष्णेति च कृष्णवर्णनिमित्तं नाम, 'कृष्णो वर्णश्च मे यस्मात्तस्मात्कृष्णोऽहमर्जुन!।' (म. भा. १२।३४२।७९) इत्युक्तेः। 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्' (वार्ति.)। महिमशालिनश्चैवं दोषोद्घोषणं ध्रुवं समेधयेदेव क्रोधम्। तथा च प्राणेभ्योऽपि प्रियतरेण पत्या कालीति सम्बोधिता पार्वत्यपि चुकोपेत्युपाख्यायते— 'अथ प्राह तदा भर्गः पार्वतीमिदमद्भुतम्। ···कालि! भिन्नाञ्जनश्यामे! उर्वश्याद्यप्सरोगणैः। त्वयेह स्त्रीस्वभावेन संलापः क्रियतामिति ॥ सा चाप्सरसां पुरतो वर्णोद्देशविकत्थनम्। न सेहे मन्युना युक्ता गिरिजेन्दुकलाभृतः ॥ जातिहीनं वृत्तिहीनं रूपहीनमदक्षिणम्। हीनाङ्गमतिरिक्ताङ्गं तेन दोषेण नाक्षिपेत् ॥ इति ब्रह्मा पुरा प्राह वेदौघार्थविनिश्चयम्। तच्चावमन्य भवता परिहासोऽभ्यभाष्यते ॥' ( कालि. पु. ४७।५३;६७ ) इत्यादि। तस्मात्तत्क्षमापनं समुचितमेव।

तथा हे यादवेत्युक्तौ हेतुः प्रमादादिति। लोके हि शौर्यौदार्यादिभिर्गुणैः प्रधानीभूतस्य पुरुषस्य सम्बन्धेन तद्वमात्तद्वंश्याः स्यन्ते; यथा रघो राघवाः, पूरोः पौरवाः, भरतस्य भारता इति। न च यदुस्तव महिम्नः षोडशीमपि कलामर्हतीति तद्वंशजत्व-

**यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ॥**
**एकोऽथवाऽप्यच्युत ! तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥**

**१ शां. भा.—** यतोऽहं त्वन्माहात्म्यापरिज्ञानापराध्यतः— सखा समानवया इति मत्वा ज्ञात्वा विपरीतबुद्ध्या प्रसभमभिभूय प्रसह्य यदुक्तं हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखेति चाजानताऽज्ञानिना मूढेन । किमजानता? इत्याह, महिमानं माहात्म्यं तवेदमीश्वरस्य विश्वरूपम् । तवेदं महिमानमजानतेति वैयधिकरण्येन सम्बन्धः। 'तवेमं' इति पाठो यद्यस्ति, तदा सामानाधिकरण्यमेव । मया प्रमादाद्विक्षिप्तचित्ततया, प्रणयेन वाऽपि– प्रणयो नाम स्नेहनिमित्तो विश्रम्भः– तेनापि कारणेन यदुक्तवानस्मि ॥४१॥ **यच्चेति** । यच्चावहासार्थं-परिहासप्रयोजनायासत्कृतः परिभूतोऽसि भवसि त्वम् । क्व ? विहारशय्यासनभोजनेषु— विहरणं विहारः पादव्यायामः, शननं शय्या, आसनमास्थायिका, भोजनमदनं, इत्येतेषु विहारशय्यासनभोजनेषु; एकः परोक्षः सन्नसत्कृतोऽसि परिभूतोऽसि, अथवाऽपि हेऽच्युत ! तत्समक्षं— तच्छब्दः क्रियाविशेषणार्थः— प्रत्यक्षं वाऽसत्कृतोऽसि, तत्सर्वमपराधजातं क्षामये क्षमां कारये त्वामहमप्रमेयं प्रमाणातीतम् ॥ ४२ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** अज्ञाननिमित्तमपराधं क्षमापयति- **यत** इति । इदंशब्दार्थमाह— **विश्वरूपमिति** । न हीदमित्यस्य महिमानमित्यस्य च सामानाधिकरण्यं लिङ्गव्यत्ययादित्याह— **तवेति** । पाठान्तरसम्भावनायां सामानाधिकरण्योपपत्तिमाह— **तवेत्यादिना** । यदुक्तवानस्मि तदहं क्षामये त्वामिति सम्बन्धः ॥ ४१ ॥ यद्युक्तमुक्तं तत्क्षन्तव्यमित्येव न, किन्तु यत्परिहासार्थं क्रीडादिषु त्वयि तिरस्करणं कृतं तदपि सोढव्यमित्याह— **यच्चेति** । विहरणं क्रीडा व्यायामो वा । शयनं तल्पादिकम्, आस्थायिका सिंहासनादेरुपलक्षणं, एतेषु विषयभूतेष्विति यावत् । एकशब्दो रहसि स्थितमेकाकिनं कथयतीत्याह— **परोक्षः सन्निति** । प्रत्यक्षं परोक्षं वा तदसत्करणं परिभवनं यथा स्यात्तथा यन्मया त्वमसत्कृतोऽसि तत्सर्वमिति योजनामङ्गीकृत्याह— **तच्छब्द** इति । क्षमा कारयितव्येत्यत्रापरिमितत्वं हेतुमाह— **अप्रमेयमिति** ॥ ४२ ॥

**३ रा. भा.—** तवानन्तवीर्यत्वामितविक्रमत्वसर्वान्तरात्मत्वस्रष्टृत्वादिको यो महिमा, तमिममजानता मया प्रमादान्मोहात्प्रणयेन चिरपरिचयेन वा सखेति मम वयस्य इति मत्वा हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इति त्वयि प्रसभं विनयापेतं यदुक्तं ; यच्च परिहासार्थं सर्वदैव सत्कारार्हस्त्वमसत्कृतोऽसि; विहारशय्यासनभोजनेषु च सहकृतेष्वेकान्ते वा समक्षं वा यदसत्कृतोऽसि; तत्सर्वं त्वामप्रमेयमहं क्षामये ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

**४ वे. ता. च.—** इदंशब्दविशेषितमहिमशब्दः प्रकृतमहिमाद्यवादीत्यभिप्रयन्नाह— **अनन्तवीर्यत्वामितविक्रमत्वे-** त्यादि । प्रमादशब्दस्याज्ञानपरत्वे 'अजानता' इत्यनेन पौनरुक्त्यात्, सजातीयत्वभ्रमपरत्वमभिप्रेत्य **प्रमादान्मोहादित्यु-**

---

मूलकप्रसिद्धिप्रत्यायकेन यादवेति नाम्ना न कथञ्चिदपि विख्यातदिव्यानुभावस्य भवता सम्बोधनं साम्प्रतम्, परमनवधानोक्त्या कृतं बहुशः। अतस्तत्क्षमाप्यते । एवं हे सखेति सम्बुद्धौ हेतुः प्रणयेनेति । सख इति च्युतसंस्कारम् । प्रणयेन च्युतसंस्कारमपि सम्बोधनं प्रयुज्यते प्रायशो लोके यथा निष्ठयेति । न चैतच्छिष्टानुमतम् । स्वोत्कृष्टविषये च नितान्तमनुचितमिति तदपि क्षमापनमर्हत्येवेति व्याख्यातव्यम् । एवं च सन्धिदोषः परिहृतो भवति, ' यथासङ्ख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः ।' (कु. नं. १०८) इति लक्षितो यथासङ्ख्यालङ्कारश्च सिध्यतीति ध्येयं सुधीभिः । **— अविगीता ।**

१ ' तत्समक्षं ' इत्यत्र तच्छब्देन बुद्धिस्थाः पूर्वश्लोकसूचिताः सखायः परामृश्यन्ते । स एव समक्षं तत्समक्षमिति वा । ' तदास्पदं श्रीर्युवराजसंज्ञितम् । ' ( र. वं. ३।३६ ) ' सोढुं न तत्पूर्वमवर्णमीशे ' ( र. वं. १४।३८ ) इत्यादिवत् । क्षामये इति ' क्षमू सहने ' ( धा. पा. ४।१०० ) इत्यस्माण्णिचि तङ् । अच्युताप्रमेयविशेषणयोरभिप्रायमाह **यामुनः—**

असत्कृता महिम्नः स्वाच्च्यवन्ते प्राकृता जनाः । न तथा जातु भगवानैश्वर्याच्च्युतिमश्नुते ॥
अस्मत्कृतासत्कृतेश्चेच्च्यवेत न सहेत तत् । अच्युतोऽयमतोऽस्माकं सोढुमर्हत्यतिक्रमम् ॥
असत्क्रिया च मानादिपरिच्छिन्नस्य दृश्यते । प्रमाणातीतरूपस्य सा कथं सम्भवत्यपि ? ॥
तेजोलवावलेपेन वल्गत्स्वपि विहायसि । खद्योतेषु त्विषां पत्युः का नाम स्यादसत्क्रिया ? ॥
चेष्टा त्वनुचिता पूज्ये स्वीया शल्यायते हृदि । क्षमापयत्यतः पार्थः साभिप्रायं विशेषयन् ॥ इति ।

**— अविगीता ।**

क्रम् । सखेति बुद्धिहेतुत्वस्वारस्यात्प्रीतिवाचिनापि प्रणयशब्देन तदौपयिकचिरपरिचयोपचारो युक्त इत्याशयेनाह **प्रणयेन चिरपरिचयेनेति** "सयुजा सखाया" [ऋक्सं. २।३।१७।५ मुं. उ. ३।१ श्वे. उ. ४।६ ] इति श्रुतिप्रतिपन्नसखित्वबुद्धेर्मोहादिजन्यत्वासम्भवेन 'सखेति मत्वा' इत्येतल्लौकिकवयस्यत्वबुद्धिपरमित्याशयेनाह **मम वयस्य इति मत्वे**ति । 'हे कृष्ण !' इत्यादिकं प्रसभोक्त्याकारसमर्पकमित्याशयेनान्वयं दर्शयन् प्रकृतोचितविनयाभावपरत्वमाह **हे कृष्णे**त्यादि । 'यच्च' इत्यत्र चशब्दाभिप्रेतासत्कारबहुत्वसिद्ध्यर्थं 'यदसत्कृतोऽसि' इत्यस्यावृत्त्या वाक्यभेदमङ्गीकृत्य अर्थमाह **यच्च परिहासार्थ**मित्यादिना । तत एव 'तत्सर्वम्' इति तस्य बहुत्वमुच्यते । परिहासार्थमप्यसत्कारो महद्विषयेऽपराध एवेत्यभिप्रायेण मध्यमपुरुषाक्षिप्तार्थमाह **सर्वदैव सत्कारार्हस्त्व**मिति । एकशब्दफलितोक्तिः **एकान्त** इति ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ४१ ॥ एकस्त्वमेव कारयिता, नान्योऽस्त्यथापि ॥ ४२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४१ ॥ एकः परोक्ष इति क्लिष्टव्याख्यानमिति ज्ञापयितुं तदर्थमन्वयं च दर्शयति— **एक इति** । आद्याक्षरग्रहणेन एशब्दः एकस्य द्योतकः । कशब्दः कारयितृत्वद्योतकः । अन्तर्णीतण्यर्थात्करोतेर्डः । अथापि एवमसत्कारानर्होऽप्यसत्कृतोऽसि ॥ ४२ ॥

**७ ह. पै. भा.— सखेति । प्रसभम् । तथा हे सखेत्यत्र परलोपो द्रष्टव्यः । तवेदं तवेममित्यर्थः ॥ ४१ ॥ यदिति । विहारः क्रीडा । एकोऽसहायो बहुजनप्रत्यक्षं क्षामये प्रसादये ॥ ४२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— इत्थं नमस्कृत्यापराधं क्षमापयति चतुर्भिः— **सखेतीति** । तवेदं विश्वरूपं तथा महिमानं सर्वकारणत्वसर्वात्मकत्वादिरूपमैश्वर्यं च अजानता मया प्रमादात् मोहात्प्रणयेन चिरपरिचयेन च सखेति वयस्य इति मत्वा 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इति प्रसभं विनयापेतं यदुक्तम् । हे सखेतीत्यत्रैकारलोपश्छान्दसः । यच्च परिहासार्थं सर्वदैवसत्कारार्हस्त्वमसत्कृतोऽसि मया परिभूतोऽसि । किंविषये ? विहारशय्यासनभोजनेषु सहकृतेषु विषये । तथा एकः सखीन्विहाय रहसि, अथवा तत्समक्षं तेषां सखीनां परिहसतां पुरतः, यत् असत्कृतोऽसि, हे अच्युत ! तत्सर्वमपराधजातं त्वामहं क्षामये क्षमापयामि । 'अच्युत' इत्यनेन आश्रितवात्सल्यादिकल्याणगुणगणनिधिना नित्यमप्रच्युतेन भवता ममापराधाः क्षाम्यन्त एव ; परन्तु मयाऽनुचितमाचरितमिति परितप्यत इति दर्शितम् । ननु किं त्वयाऽनुचितमाचरितम् ? पितृष्वसृतनयस्य मातुलतनयेन सह परिहासगोष्ठ्या लोकसिद्धत्वादित्याशङ्क्य विशेषयति— **अप्रमेयं त्वामिति** । अचिन्त्यप्रभावमित्यर्थः ॥ ४१ ॥ ४२ ॥

९ व० त० दी०— **अक्षरैश्वर्यादिगुणमहिमानं परमं तं दृष्ट्वा क्षमापयति- सखेति । तव महिमानं अलौकिकमाहात्म्यश्रियं अतिशयेनाजानता मया यदुक्तं हे यादव ! हे सखेति तत्क्षामये त्वामित्यग्रिमेणान्वयः ॥ ४१ ॥ किञ्च तामसकर्मसु मृगयाविहारादिषु स्थितं त्वां तमोगुणयुक्तं पूर्वं ज्ञात्वा मया यदसत्कृतोऽसि तदप्येकोऽहं त्वां साम्प्रतं क्षमां कारयामि ॥ ४२ ॥**

१० पु. अ. त.— एवं नमस्कृत्य पूर्वाज्ञानजापराधान् क्षमापयति— **सखेति** द्वयेन । मया तव इदं पुरुषोत्तमत्वेन सर्वरूपात्मकरूपं महिमानमजानता प्रमादादनवधानतया प्रणयेन स्नेहेन वाऽपि प्रसभं बलात्कारेण अकार्येषु योजनार्थं हे कृष्ण ! इति नामत्वेन, न तु सदात्मकत्वेन; हे यादव ! इति तत्कुलोद्भवत्वेन, न तु तदुद्धारार्थप्रकटत्वेन; हे सखेति मित्रत्वेन लौकिकबुद्ध्या, न तु परमात्मत्वेन यदुक्तम् ॥ ४१ ॥ च पुनः । सखेति मत्वा अवहासार्थं मिथ्यावादादिभिः एकः केवलो मां विहाय विहारादिकं करोषीत्यादिभिः । अथवा मत्समक्षं विहारे द्यूतमृगयादिषु स्वजनत्वसद्भावयता, शय्यायां सहशयनेन, आसने सहोपवेशेन, भोजने सहभुञ्जता, इत्यादिषु यत् असत्कृतोऽसि अवमानितोऽसि हे अच्युत च्युतिरहित ! स्वाङ्गीकृतपरिपालक । अहं त्वामप्रमेयं प्रमातुमयोग्यं तत्सर्वं क्षामये क्षमां कारयामि ! अप्रमेयत्वेनाऽज्ञानजापराधनिवृत्तिः सूचिता ॥ ४२ ॥

**११ नी० भा० दी०— एवं स्तुत्वा स्वापराधान् क्षमापयते— सखेतीति । 'अयं मम सखा' इति मत्वा प्रसभं स्वोत्कर्षाविष्करणपूर्वकं यन्मया उक्तं 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' इति । इति शब्देन सन्धिरार्षः । कुत उक्तं तवेदमेवंविधं महिमानं माहात्म्यं अजानता कदाचित्प्रमादाच्चित्तविक्षेपात् कदाचित्प्रणयेन स्नेहेन च ॥ ४१ ॥ तथा यच्च अवहासार्थं विहारादिष्वसत्कृतोऽसि परिभूतोऽसि । एको वा सखीनां नियोगकाले वा तत्समक्षं सखिजनसमक्षं वाऽसत्कृतोऽसि तत्क्षामये क्षमापये, यतस्त्वमप्रमेयोऽचिन्त्यस्वभावः करुणापरः । यतः शत्रुभ्योऽपि शिशुपालादिभ्य उत्तमां गतिं दत्तवानसीत्यर्थः ॥ ४२ ॥**

**पिताऽसि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।**
**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ! ॥ ४३ ॥**

**१ शां. भा.—** यतस्त्वम्—पिताऽसि जनयिताऽसि लोकस्य, प्राणिजातस्य चराचरस्य स्थावरजङ्गमस्य; न केवलं त्वमस्य जगतः पिता, पूज्यश्च पूजार्हः, यतो गुरुर्गरीयान्गुरुतरः । कस्माद्गुरुतरस्त्वं ? इत्याह— न च त्वत्समस्त्वत्तुल्योऽन्योऽस्ति । न हीश्वरद्वयं सम्भवत्यनेकेश्वरत्वे व्यवहारानुपपत्तेः । त्वत्सम एव तावदन्यो न सम्भवति, कुत एवान्योऽभ्यधिकः स्यात् ? लोकत्रयेऽपि सर्वस्मिन् ? अप्रतिमप्रभाव ! प्रतिमीयते यया सा प्रतिमा, न विद्यते प्रतिमा यस्य तव प्रभावस्य स त्वमप्रतिमप्रभावः, हेऽप्रतिमप्रभाव ! निरतिशयप्रभाव इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** गुणाधिक्यात् पूजार्हत्वं, धर्माधर्मात्मज्ञानसम्प्रदायप्रवर्तकत्वेन शिक्षयितृत्वाद्गुरुत्वं, गुरूणामपि सूत्रादीनां गुरुत्वाद्गरीयस्त्वं तदेव प्रश्नद्वारा साधयति—**कस्मादिति** । ईश्वरान्तरं तुल्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**न हीति** । ईश्वरभेदे प्रत्येकं स्वातन्त्र्यात्तदैकमत्ये हेत्वभावान्नानामतित्वे चैकस्य सिसृक्षायामन्यस्य सञ्जिहीर्षासम्भवाद्व्यवहारलोपादयुक्तमीश्वरनानात्वमित्यर्थः । अभ्यधिकासत्त्वं कैमुतिकन्यायेन दर्शयति—**त्वत्सम इति** । तत्र हेतुमवतार्य व्याकरोति—**अप्रतिमेत्यादिना** ॥ ४३ ॥

**३ रा. भा.—** पितेति । अप्रतिमप्रभाव ! त्वमस्य सर्वस्य चराचरस्य लोकस्य पिताऽसि, अस्य लोकस्य गुरुश्चासि, अतस्त्वमस्य लोकस्य गरीयान् पूज्यतमः ; न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः, कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽपि त्वदन्यः कारुण्यादिना केनापि गुणेन न त्वत्समोऽस्ति, कुतोऽभ्यधिकः ? ॥ ४३ ॥

**४ वे. ता. चं.—** त्वया क्षामणे कृतेऽपि क्षमेऽहमिति केन निश्चितम् ? मदन्यः कश्चिदाश्रीयतामिति भगवदभिप्रायमुन्नीय तदुत्तरत्वेन हेतुफलभावेन प्रवृत्ते श्लोकद्वये प्रथमश्लोकस्थविशेषणान्यप्रतिमप्रभावत्वोपपादकानीत्यभिप्रायेण **अप्रतिमप्रभावेति** प्रथममुक्तम् । पितृगुरुपूज्यशब्दानां सम्बन्धिसापेक्षत्वेन लोकशब्दस्य सर्वत्रान्वयमाह **अस्य लोकस्य पिताऽसीत्यादिना** । निरुपाधिकपितृत्वगुरुत्वे पूज्यतमत्वहेतुरित्यभिप्रायेण **अत** इति । पूज्यत्वे गरीयस्त्वमनवच्छिन्नमिति ज्ञापनाय प्रवृत्तं 'न त्वत्समोऽस्ति' इति वाक्यं व्याख्यास्यन् प्रयोजनातिशयसत्त्वाल्लोकत्रयशब्दस्यात्रान्वयमाह **लोकत्रयेऽपि त्वदन्य** इति । अत्र लोकत्रयशब्देन कृतकमकृतकं कृतकाकृतकमित्युक्तलोकत्रयं वा, लोक्यतेऽनेन प्रमाणान्तराप्राप्तार्थ इति व्युत्पत्त्या वेदत्रयं वा विवक्षितम् । साम्यस्य भेदघटितत्वात् 'न त्वत्समोऽस्ति' इत्यनेनैव अन्यस्मिन् भगवत्साम्यनिषेधलाभादन्यपदानर्थक्यं इत्याशङ्कापरिहाराय 'अन्यस्त्वत्समो नास्ति, त्वमेव तव समः' इत्यर्थलाभार्थं 'त्वदन्यः' इत्युद्देश्यसमर्पकत्वेनान्यशब्दस्यान्वय उक्तः । तेन कार्यत्वकर्मवश्यत्वादिना भगवदन्यत्वेन प्रसिद्धानां विधिशिवादीनां "हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे" [ ऋक्सं. ८।७।३।१ वा.सं. २०।१०।१०।१४ ] "अजस्य नाभावध्येकमर्पितं" [ यजुः ४।६।२ ] "यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः" [ श्वे. उ. ४।१८ ] इत्यादिषु तत्तद्वाचिशब्दश्रवणेन कारणत्वादिना भगवत्साम्यापातप्रतीतावपि 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' [ ब्र. सू. १।१।२२ ] 'प्राणस्तथानुगमात्' [ ब्र. सू. १।१।२८ ] 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' [ ब्र. सू. १।१।३० ] 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः' [ ब्र. सू. १।२।२८ ] इत्यादिन्यायानुरोधेन "एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः ?" [ सुबालो. ७ ] "एको ह वै नारायण आसीन्न ब्रह्मा नेशानः" [ महो. १।१ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धसर्वान्तरात्मत्वापहतपाप्मत्वादिविशिष्टभगवदसाधारणधर्मप्रतिपादकवाक्यस्थहिरण्यगर्भाजशिवादिशब्दानां भगवत्परतया न तेषां भगवत्साम्यगन्धोऽपीति लभ्यते । **केनापि गुणेनेति**—किमुत सकलकल्याणगुणैर्जगत्कारणत्वमोक्षप्रदत्वादिना चेति भावः । अनेन साम्यैक्योत्तीर्णव्यक्त्यन्तरत्वपक्षा निरस्ता वेदितव्याः ॥ ४३ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ४३ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ४३ ॥

**७ ह. पै. भा.—** ॥ ४३ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** एतदेव विवृण्वन्नाह— **पिताऽसीति** । अस्य चराचरस्य लोकस्य पिता त्वमसि ; तथा अस्य लोकस्य पूज्यश्चासि ; तथा गुरुः शास्त्रोपदेष्टा ; तथा गुणैः स्वरूपतः कर्मणा च गरीयान् श्रेष्ठतरोऽसि । अत्र च पितृत्वादिषु चतुर्ष्वे-

कैकमेव सभक्तिविश्वासप्रणामार्हताप्रयोजकम् ; किमुत चत्वार्यप्येकत्र स्थितानि ? तादृशे त्वयि परिहासमसत्कारं च कुर्वन्मोहतो 'हा हतोऽहं' इत्यर्थः । किञ्च परिहासगोष्ठी समानयोरेव लोके भवति ; न हि निस्समाभ्यधिकस्य परमेश्वरस्य तवाहं वराकः समान इत्यभिप्रेत्याह— न त्वत्सम इति ॥ ४३ ॥

९ व० त० दी०— पिताऽसीति । पूज्यो गुरुश्चेति सात्त्विकोऽश्वमेधे राजसूये च विदितस्त्वं सात्त्विकधर्माणां त्वयि निरूपितत्वात्तथाभूतं त्वां जानन् क्षमापयेऽहं प्राकृतः ॥ ४३ ॥

१० पु. अ. त.— क्षमापने सन्बन्धस्यावश्यकत्वायाह— पितेति । अस्य चराचरस्य स्थावरजङ्गमात्मकस्य ब्राह्मणक्षत्रिययोर्वा पिता इत्पादकः, च पुनः गरीयान् पूज्यः देवोत्तमः तद्द्रष्टा गुरुः त्वमसि । तर्हि त्वत्समो भविष्यतीति नेत्याह । हे अप्रतिमप्रभाव उपमारहितानुभाव ! लोकत्रये अन्यस्त्वत्समोऽपि नास्ति ; कुतोऽभ्यधिको भवेत् येन त्वं तत्समः स्याः ? ॥ ४३ ॥

११ नी० भा० दी०— अप्रमेयत्वमेवाह— पिताऽसीति । यतस्त्वमस्माकं पिताऽसि, अतोऽस्माभिः शिशुभिः कृता अपराधास्त्वया क्षन्तव्या एवेति भावः ॥ ४३ ॥

**तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम् ।**
**पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥**

**१ शां. भा.— यत एवम्— तस्मात्प्रणम्य नमस्कृत्य, प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा कायं शरीरं, प्रसादये प्रसादं कारये त्वामहमीशमीशितारमीड्यं स्तुत्यम् । त्वं पुनः पुत्रस्यापराधं पिता यथा क्षमते सर्वं, सखेव च सख्युरपराधं, यथा वा प्रियाया अपराधं प्रियः क्षमते, एवमर्हसि हे देव ! सोढुं प्रसहितुं क्षन्तुमित्यर्थः ॥ ४४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— निरतिशयप्रभावं हेतूकृत्याप्रतिमेत्यादिना प्रसादये प्रणामपूर्वकं त्वामित्याह— **यत** इति । प्रसादनानन्तरं भगवता कर्तव्यं प्रार्थयते— **त्वं पुन**रिति । प्रिय इव प्रियाया इतीवकारोऽनुषज्यते । प्रियायाऽर्हसीति च्छान्दसः सन्धिः । क्षन्तुं मदपराधजातमिति शेषः ॥ ४४ ॥

**३ रा. भा.— तस्मादिति । यस्मात् त्वं सर्वस्य पिता, पूज्यतमो गुरुश्च, कारुण्यादिगुणैश्च सर्वाधिकोऽसि; तस्मात् त्वामीशमीड्यं प्रणम्य प्रणिधाय च कायं प्रसादये; यथा कृतापराधस्यापि पुत्रस्य यथा च**

---

१ मम प्रियः त्वं प्रियाय प्रियस्य । 'सात्यकिः कौरवेयाय खड्गेनापाहरच्छिरः ।' ( म. भा. ७।१४३।५४ ) इतिवच्छष्ठ्यर्थे चतुर्थी । ममेति यावत् । 'प्रियस्तेऽहं महाबाहो ! प्रियोऽसि मे धनञ्जय ! ।' ( ह. वं. २।११४।१८ ) 'न हि दारा न मित्राणि ज्ञातयो न च बान्धवाः । कश्चिदन्यः प्रियतरः कुन्तीपुत्रान्ममार्जुनात् ॥ यस्तं द्वेष्टि स मां द्वेष्टि यस्तं चानु स मामनु । इति सङ्कल्प्यतां बुद्ध्या शरीरार्द्धं ममार्जुनः ॥ ( म. भा. ७।७९।२६,३३ ) त्रैलोक्यराज्याद्यत्किञ्चिद्भवेदन्यत्सुदुर्लभम् । नेच्छेयं सात्वताहं तद्विना पार्थं धनञ्जयम् ॥' ( म. भा. ७।१८२।४४ ) इत्यादौ भगवतैवार्जुनस्य प्रियत्वं तत्र तत्रोक्तम् , अतः समुचितैव तत्स्मारयित्वा 'सखेति मत्वा' इत्यादावुदाहृतमपराधजातं सोढुमर्हसीति तस्य प्रार्थना । एवमत्रोपमाद्वयमेव विवक्षितम् ; प्रियः प्रियाया इवेति तृतीयोपमाभ्युपगमे त्विवशब्दाध्याहारक्लेशः, सन्धिदोषश्च स्पष्ट एव । किञ्च— 'सखेति मत्वा' 'पितासि' इति समनन्तरमेवोक्तौ सखिपितरावेवोभौ बुद्धिसन्निहिताविति तयोरेवोपमानीकरणं स्वाभाविकं भवति, नाप्रस्तुतायाः प्रियायाः । तथा 'शय्यासनाटनविकत्थनभोजनादिष्वैक्याद्वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः । सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान्महितया कुमतेरघं मे ॥' ( १।१५।१९ ) इति समानविषयकं भागवतमप्युक्तार्थ एव संवदतीति न किञ्चिदसमञ्जसम् ।

**नव्यतरास्तु**— प्रियः पिता पुत्रस्य प्रियायेव, प्रियः सखा सख्युः प्रियायेवेत्यन्वयन्ति । तत्र तादर्थ्ये चतुर्थी । अन्ये— 'प्रियाया' इति छित्वा या प्रिया तस्या इवेत्यर्थापयन्ति । वस्तुतस्तत्र 'सखेति मत्वा' ( ११।४१ ) इत्युक्तानुरोधेनोपमात्रयमेव विवक्षितम् । तथा हि यत्तव महिमानमजानता प्रसभमुक्तम् , तत्पुत्रस्य पितेव; यत्प्रमादादुक्तम् , तत्सख्युः सखेव; यच्च प्रणयेनोक्तम् , तत्प्रियायाः प्रिय इव सोढुमर्हसि । प्रसिद्धमेव हि जगति अजानतः पुत्रस्यातिक्रमं पिता, सख्युरनवधाननिमित्तमवमानितं सखा, प्रियायाः प्रणयापराधं प्रियश्च सोढुमर्हत्येवेति । अतो भगवत्पादादिभिरादृतोऽर्थ एव सन्दर्भस्वरसानुगुणो वक्त्रभिमतश्चेत्यत्र सहृदयहृदयमेव प्रमाणमित्यलं पल्लवितेन ।

—**अविगीता** ।

सख्युः प्रणामपूर्वकं प्रार्थितः पिता सखा वा प्रसीदति; तथा त्वं परमकारुणिकः प्रियः प्रियाय मे सर्वं सोढुमर्हसि ॥ ४४ ॥

४ वे. ता. त्वं.— 'तस्मात्' इति पूर्वश्लोकोक्तनिरुपाधिकपितृत्वपूज्यतमत्वगुरुत्वादिकं हेतुत्वेन परामृशतीत्यभिप्रायेणाह **यस्मात्त्वं सर्वस्य पितेत्यादिना**। 'प्रणम्य' इति प्रपदनमुच्यते; पूर्वोक्तपितृत्वादिपरामर्शिना 'तस्मात्' इत्यनेन 'अहम्' इत्यनेन चानुकूल्यसङ्कल्पाद्यङ्गानि सूचितानि। 'प्रणिधाय कायम्' इत्यनेन "यद्धि मनसा ध्यायति" [यजुः ६।१।७] इत्युक्तरीत्या करणपूर्तिः सूचिता। प्रणम्य प्रसादये प्रसादार्थं प्रणमामीत्यर्थः। 'प्रसादये, सोढुम्' इत्याभ्यामर्थसिद्धं वदन् दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यमुपपादयति **यथा कृतापराधस्यापीत्यादिना** ॥ ४४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४४ ॥

७ ह. पै. भा.— **तस्मादिति**। प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्दण्डवद्भूमौ कायं निपात्य। सोढुमपचारान् ॥ ४४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— यस्मादेवमत्यन्तापराधी, तस्मात् कायं प्रणिधाय प्रकर्षेण नीचैर्धृत्वा; दण्डवद्भुवि पतित्वेति यावत्। प्रणम्य नमस्कृत्य ईड्यं सर्वलोकस्तुत्यम्, ईशं सर्वलोकनियन्तारम्। अनेन परिहासानर्हत्वमुक्तम्। त्वामहमपराधी प्रसादये। अतो हे देव! पितेव पुत्रस्यापराधं, सखेव सख्युरपराधं, प्रिय इष्टस्त्वं प्रियाय मे? तं सर्वं सोढुमर्हसि ॥ ४४ ॥

९ व० त० दी०— यस्मादेवं, तस्मादिति। त्वामीशं सर्वेषां राजानं नियन्तारं रजोभावमाश्रितं भक्तवात्सल्येन सारथ्ये कर्मणि स्थितं प्रणम्य प्रसादये। त्वं च पितेव पुत्रस्य, सखेव सख्युः, प्रिय इव प्रियाय सर्वं सोढुमर्हसि ॥ ४४ ॥

१० पु. अ. त.— यतः सर्वेषां पिता गुरुः पूज्यश्च त्वमेवाऽतो ममापि सर्वं त्वमेवेति मदपराधं क्षन्तुमर्हसीति विज्ञापयति— **तस्मादिति**। तस्मात्कारणात् अहं त्वां ईशं प्रभुं ईड्यं स्तुत्यं कायं प्रणिधाय दण्डवत् पतित्वा प्रणम्य नत्वा प्रसादये प्रसादयामि। हे देव जगत्पूज्य! त्वं पूर्वोक्तान् ममापराधान् सोढुम् अर्हसि। क इव? पुत्रस्य पितेव सख्युर्मित्रस्य सखा इव, प्रियायाः प्रीतियोग्यायाः स्त्रियाः प्रिय इव ॥ ४४ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवाह— तस्मादिति। यस्मात्त्वं पिता गुरुश्च तस्मात्कायं शरीरं प्रणिधाय भूमौ कृत्वा दण्डवत्प्रणम्य त्वां प्रसादये। ईड्यं स्तुत्यम्। स्पष्टमन्यत् ॥ ४४ ॥

**अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।**
**तदेव मे दर्शय देव! रूपं प्रसीद देवेश! जगन्निवास! ॥ ४५ ॥**
**किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।**
**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो! भव विश्वमूर्ते! ॥ ४६ ॥**

१ शां. भा.— अदृष्टपूर्वमिति। अदृष्टपूर्वं न कदाचिदपि दृष्टपूर्वमिदं विश्वरूपं तव मयाऽन्यैर्वा, तदहं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि; भयेन च प्रव्यथितं मनो मे, अतस्तदेव मे मम दर्शय हे देव! रूपं यन्मत्सखम्। प्रसीद देवेश! जगन्निवास जगतो निवासो जगन्निवासः, हे जगन्निवास! ॥ ४५ ॥ **किरीटिनमिति**। किरीटिनं किरीटवन्तं, तथा गदिनं गदावन्तं, चक्रहस्तमिच्छामि त्वां प्रार्थये त्वां द्रष्टुमहं; तथैव पूर्ववदित्यर्थः। यत एवं तस्मात्तेनैव रूपेण वसुदेवपुत्ररूपेण चतुर्भुजेन हे सहस्रबाहो! वार्तमानिकेन विश्वरूपेण भव हे विश्वमूर्ते! उपसंहृत्य विश्वरूपं, तेनैव रूपेण वसुदेवपुत्ररूपेण भवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥

१ वसुदेवसूनोः श्रीकृष्णस्य चतुर्भुजमेव स्वाभाविकं रूपमिति भगवत्पादरामानुजादीनामभिप्रायः। अन्ये तु प्राकृतराजपुत्रसाधारणं द्विभुजमेव तस्य रूपमिति मन्यन्ते। ते चात्र 'चतुर्भुज! इन!' इति छित्त्वा व्याचक्षते। तदत्र बहुवक्तव्यमप्यवसरान्तरे वक्ष्यामः सविमर्शम्।
— **अविगीता**।

२ आ. शां. व्या.— हेतूक्तिपूर्वकं विश्वरूपोपसंहारं प्रार्थ्यते— अदृष्टेति । हृषितो हृष्टस्तुष्ट इति यावत् । भयेन तद्धेतुविकृतदर्शनेनेत्यर्थः ॥ ४५ ॥ 'तदेव दर्शय' इत्युक्तं, किं तत् ? इत्यपेक्षायामाह— किरीटिनमिति । चक्रं हस्ते यस्य तमिति व्युत्पत्तिं गृहीत्वाऽऽह— चक्रेति । मदीयेच्छा फलपर्यन्ता कर्तव्येत्याह— यत इति । चतुर्भुजत्वे कथं सहस्रबाहुत्वं ? तत्राऽऽह— वार्तमानिकेनेति । सति विश्वरूपे कथं पूर्वरूपभाक्त्वं ? तत्राऽऽह— उपसंहृत्येति ॥ ४६ ॥

**३ रा. भा.— अदृष्टपूर्वमत्यद्भुतमत्युग्रं च तव रूपं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि; प्रीतोऽस्मि; भयेन प्रव्यथितं च मे मनः; अतस्तदेव तव सुप्रसन्नं रूपं मे दर्शय; प्रसीद देवेश! जगन्निवास! मयि प्रसादं कुरु; देवानां ब्रह्मादीनामपीश निखिलजगदाश्रयभूत! ॥ ४५ ॥ तथैव पूर्ववत् किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं त्वां द्रष्टुमिच्छामि; अतस्तेनैव पूर्वसिद्धेन चतुर्भुजेन रूपेण युक्तो भव; सहस्रबाहो! विश्वमूर्ते! इदानीं सहस्रबाहुत्वेन विश्वशरीरत्वेन दृश्यमानरूपस्त्वं तेनैव रूपेण युक्तो भवेत्यर्थः ॥ ४६ ॥**

४ वे. ता. चं.— विचित्रस्याप्यदृष्टपूर्वस्यैवाश्चर्यविषयत्वदर्शनात् 'अदृष्टपूर्वम्' इत्यनेन फलितमाह— अत्यद्भुतमिति। 'भयेन च प्रव्यथितं मनो मे' इत्यनेनाक्षिप्तं 'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपः' [ ११।३१ ] इत्यत्रोक्तं विशेषणमाह अत्युग्रं चेति । 'भयेन च' इत्यत्र चशब्दस्य निष्प्रयोजनत्वादुक्तव्यथाहेत्वन्तरसमुच्चयार्थत्वमयुक्तमित्युक्तप्रीतिसमुच्चयार्थत्वमभिप्रेत्य व्यवहितान्वयमाह प्रव्यथितं च मे मन इति । पूर्वार्धोक्तस्य व्यथासहितप्रीतिजनकत्वस्योत्तरार्धार्थहेतुत्वमभिप्रेत्याह अत इति । तच्छब्दस्य पूर्वप्रसिद्धाकारपरामर्शित्वेन तदभिप्रेतमाकारमाह सुप्रसन्नमिति । अनेन केवलप्रीतिहेतुत्वं सूचितम्। प्रपन्नस्य रक्षणमवश्यं कार्यमित्यभिप्रायेण मे दर्शयेत्युक्तम्। 'देव!' 'देवेश!' इति सम्बोधनद्वयेन "तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं दैवतानां परमं च दैवतम्" [ श्वे. उ. ६।७ ] इति श्रुत्यर्थोऽभिप्रेत इत्याशयेन— देवानां ब्रह्मादीनामपीशेत्युक्तम् । दृश्यमानरूपस्य 'तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा' [ ११।१३ ] इति जगदाश्रयत्वेन दृश्यमानत्वात् 'जगन्निवास!' इत्यनेन तदुच्यत इत्यभिप्रयन्नाह— जगदाश्रयभूतेति ॥ ४५ ॥ 'तथैव' इत्यस्य पूर्वं जगदाश्रयमत्यद्भुतं रूपं द्रष्टुमिच्छन् तथैव पूर्वरूपं द्रष्टुमिच्छामीत्यर्थभ्रमं व्युदस्यन् अतीतावस्थाविशिष्टस्य कथं प्रदर्शनं ? इति शङ्कां चार्थात्परिहरन् अन्वयभेदेन तद्व्याचष्टे— तथैव पूर्ववत्किरीटिनमिति । पूर्वदृष्टसजातीयमेव द्रष्टुमिच्छामीत्यर्थः । 'रूपेण' इत्यत्र तृतीयायाः करणार्थत्वासम्भवात् रूपेण युक्तो भवेत्युक्तम् । सहस्रबाहूदरविश्वमूर्तिविशिष्टस्य चतुर्भुजरूपयुक्तत्वासम्भवं कालभेदेन परिहरति इदानीमिति ॥ ४६ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ४५ ॥ ४६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४५ ॥ ४६ ॥

**७ ह. पै. भा.— अदृष्टेति । हृषितो हृष्टरोमा ॥ ४५ ॥ यथा पूर्वं दृष्टवानहं तथैव संयुक्तो भव ॥ ४६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं क्षमाप्य विश्वरूपोपसंहारं प्रार्थ्यते— अदृष्टपूर्वमिति । पूर्वमदृष्टमदृष्टपूर्वमत्यद्भुतमत्युग्रं च तव रूपं दृष्ट्वा हृषितो हृष्टरोमाऽस्मि,सन्तुष्टोऽस्मीति वा। तथा भयेन च मे मनः प्रव्यथितं व्याकुलीकृतम् । अतः तदेव प्राचीनमेव रूपं मे दर्शय, इदं तूपसंहर । एवमुक्त्वा नियोजनप्राप्तेः पुनरपराधमाशङ्क्य क्षमापयितुमाह— प्रसीदेति । विश्वरूपोपसंहारेण प्राचीनरूपप्रदर्शनरूपं प्रसादं कुरु । 'देवेश! जगन्निवास!' इत्यनेन नियोजनोक्त्ययोग्यत्वं दर्शितम् ॥ ४५ ॥ 'तदेव रूपम्' [ ११।४९ ] इत्युक्तमेव विवृणोति— किरीटिनमिति । किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं च त्वामहं द्रष्टुमिच्छामि । ननु पश्यस्येव किरीटादिमन्तं माम् ; उक्तं हि त्वयैव 'किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिम्' [ ११।१७ ] इति तत्किमुच्यते द्रष्टुमिच्छामीति ? तत्राह— तथैवेति । यथा त्वं पूर्वं किरीटादिमांस्तथैव त्वां द्रष्टुमिच्छामि, न तु दुर्निरीक्ष्यतेजोराश्यनन्तकिरीटगदाचक्रादिरूपमित्यर्थः । तस्मादिदानीं सहस्रबाहुत्वविश्वरूपत्वादिनोपलक्ष्यमाणमिदमुपसंहृत्य तेनैव चतुर्भुजेन वसुदेवनन्दनरूपेणाविर्भव ॥ ४६ ॥

९ व० त० दी०— एवं क्षमापयित्वा गुणातिगं प्रति प्रार्थयते— अदृष्टेति । वस्तुतस्तु त्वं गुणातीत इति भक्ताय तदेव गुणातीतं रूपं प्रदर्शय । इदं चादृष्टपूर्वं ते रूपं दृष्ट्वा, पूर्वं हृष्टः पश्चाल्लोकान् ग्रसमानं ज्ञात्वा मनो मे प्रव्यथितं यतः, अतस्तदेव चतुर्भुजं वा दृष्टपूर्वं रूपं मे प्रदर्शय । अस्माकं तु चतुर्भुजं मर्यादामयं शुद्धसत्त्वात्मकं ते रूपं श्रेष्ठं शान्तत्वादित्याशयेनाह तद्दर्शने प्रसीदेति । अनेनाक्षरब्रह्मोपासकेभ्यः शुद्धसत्त्वमयचतुर्भुजोपासका 'मर्यादया गुणज्ञाः' उत्तमा इति लभ्यते ॥ ४५ ॥ तदेव रूपं विशेषयन् भगवन्तं प्रार्थयते— किरीटिनमिति । तदनेन श्रीकृष्णं अर्जुन एवमेव षड्गुणगणालङ्कृतं चतुर्भुजं पश्यति स्मेति गम्यते । द्विभुजं तु सदैवेति । "न पुष्टिमिश्रभक्तस्य जायते निर्भया रुचिः । स्वतः प्रवृत्तिजनिकाक्षरमात्रैकदर्शने ॥ क्षराक्षरातीतहरे रसानन्द-

महोदधेः। स्वरूपामृतमग्नानां नान्यत्र स्याद्रतिः क्वचित्॥ इत्यभिप्रायमाज्ञाय गोपानामिव तस्य च। आश्वासयन् भीतमेनमुवाच भगवान्पुनः॥ ४६॥

१० पु. अ. त.— एवं क्षमाप्य विज्ञापयति— अदृष्टपूर्वमिति द्वयेन। अदृष्टपूर्वं तव रूपं विश्वात्मकं अनेकलीलायुतं दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि हर्षं प्राप्तोऽस्मि। च पुनः मे मनः भयेन प्रव्यथितं प्रकर्षेण व्यथां प्राप्तम्। अयं भावः— द्रष्टुकामस्य तादृशं रूपं दर्शयित्वा पुरुषोत्तमदर्शनवतोऽन्यरूपदर्शनाभिलाषापराधिनः पुनः पुरुषोत्तमरूपं दर्शयिष्यति न वेति अयमभूत्, अतः प्रसादं प्रार्थयित्वा तद्दर्शनं प्रार्थयति। देवेश देवानामपीन्द्रादीनामीश नियामक! जगन्निवास! प्रसीद प्रसन्नो भव। प्रसन्नो भूत्वा हे देव! सेवनार्थं तदेव पुरुषोत्तमरूपं दर्शय॥ ४५॥ रूपं विशिनष्टि— किरीटिनमिति। किरीटवन्तं गदावन्तं चक्रहस्तं त्वामहं तथैव पूर्ववदेव द्रष्टुमिच्छामि। अतो हे सहस्रबाहो! अगणितक्रियाशक्तिमन्! विश्वमूर्ते! तेनैव चतुर्भुजेन रूपेण भव प्रकटो भवेत्यर्थः ४६

११ नी० भा० दी०— एवं स्तुत्वा स्वेष्टं प्रार्थयते— अदृष्टपूर्वमिति। हे देव! कदाचिदपि पूर्वं न दृष्टं तादृशमदृष्टपूर्वं तव रूपं दृष्ट्वा हृषित उत्फुल्लोऽस्मि, तथा विकरालरूपदर्शनजेन भयेन च मे मम मनः प्रव्यथितं; अतस्तदेव धारणाविषयभूतं रूपं मे मह्यं दर्शय॥ ४५॥ तदेव रूपमाह— किरीटिनमिति। एतेनार्जुनस्य चक्रगदाकिरीटोपेतं चतुर्भुजं भगवतो रूपं धारणाविषय इति दर्शितम्। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्ते! सहस्रबाहुत्वादिकमुपसंहृत्य तेनैव रूपेण भव प्रकटो भव॥ ४६॥

भयाकुलस्यार्जुनस्याश्वासनं पूर्वरूपप्रदर्शनं च।

**श्रीभगवानुवाच— मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।**
**तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न-दृष्टपूर्वम्॥ ४७॥**

१ **शां. भा.**— अर्जुनं भीतमुपलभ्योपसंहृत्य विश्वरूपं प्रियवचनेनाऽऽश्वासयन् श्रीभगवानुवाच— मयेति। मया प्रसन्नेन— प्रसादो नाम त्वय्यनुग्रहबुद्धिः— तद्वता प्रसन्नेन मया, तव हेऽर्जुनेदं परं रूपं विश्वरूपं दर्शितम्, आत्मयोगादात्मन ऐश्वर्यस्य सामर्थ्यात्, तेजोमयं तेजःप्रायं, विश्वं समस्तं अनन्तमन्तरहितं आदौ भवमाद्यं, यद्रूपं मे मम त्वदन्येन त्वत्तोऽन्येन केनचिन्नदृष्टपूर्वम्॥ ४७॥

२ आ. शां. व्या.— अर्जुनेन 'स्थाने हृषीकेश!' [ ११। ३६ ] इत्यादिनोक्तस्य भगवतो वचनमवतारयति— अर्जुनमिति। भगवत्प्रसादैकोपायलभ्यं तद्दर्शनमित्याशयेनाऽऽह— मयेति॥ ४७॥

३ **रा. भा.**— यन्मे तेजोमयं तेजसां राशिं विश्वं विश्वात्मभूतं अनन्तमन्तरहितं— प्रदर्शनार्थमिदम्— आदिमध्यान्तरहितम्, आद्यं मद्व्यतिरिक्तस्य कृत्स्नस्यादिभूतं त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं रूपं तदिदं प्रसन्नेन मया मद्भक्ताय ते दर्शितं, आत्मयोगात् आत्मनः सत्यसङ्कल्पत्वयोगात्॥ ४७॥

४ वे. ता. चं.— 'तेजोमयम्' इत्यत्र मयटः प्राचुर्यार्थत्वमभिप्रेत्याह तेजसां राशिमिति। विश्वात्मभूतमिति विश्वव्यापकमित्यर्थः। अचेतनस्य हि नात्मत्वं सम्भवति। 'अनादिमध्यान्तम्' [११।१९] इति पूर्वमुक्तत्वात् 'अनन्तम्' इत्येतदितरोपलक्षणमित्याह— प्रदर्शनार्थमिदमिति। 'आद्यम्' इत्यत्र प्रतिसम्बन्धिविशेषानिर्देशात् कृत्स्नस्यादिभूतमित्युक्तम्। 'त्वदन्येन' इत्यनेनार्थसिद्धमाह केनापीति। प्रसादस्य निर्हेतुकत्वे वैषम्यनैर्घृण्यप्रसङ्गात्, 'ते' इत्यनेनाभिप्रेतं प्रसादहेतुमाह मद्भक्ताय त इति। योगशब्दस्य ध्यानपरत्वभ्रमव्युदासाय व्याचष्टे आत्मनः सत्यसङ्कल्पत्वयोगादिति॥४७॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४७॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४७॥

७ ह. पै. भा.— एतदर्जुनस्य वचनं श्रुत्वा श्रीभगवानुवाच— मयेति। आत्मयोगादात्मस्वरूपेण योगस्तस्मात्॥ ४७॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमर्जुनं भीतमुपलभ्य तमाश्वासयन् श्रीभगवानुवाच— मयेति। हे अर्जुन! प्रसन्नेन परं प्रसन्नेनैव मया तव इदं विश्वरूपं आत्मयोगान्निजासाधारणमायाशक्तिसामर्थ्याद्दर्शितम्, अतः किमिति त्वं बिभेषि? इत्यभिप्रायः। प्रसन्नेनैवेत्येतदुत्तरार्धेनोपपादयति— तेजोमयमिति। यद्यस्मात्कारणात् तेजोमयं विश्वात्मकमनन्तमपरिच्छिन्नं आद्यं सर्वकारणं मे रूपं त्वदन्येन केनापि न दृष्टपूर्वं त्वयैव दृष्टम्, तस्मात्त्वदनुग्रहबुद्धिरूपप्रसादेनैव तवेदं दर्शितमित्यर्थः॥ ४७॥

९ व० त० दी०— श्रीभगवानुवाच— मयेति त्रिभिः । मया सर्वमूलरूपेण स्वयं भगवताऽशिना कृष्णेन स्वोपनिषत्प्रतिपाद्यस्वरूपेण द्विभुजेन लावण्यजलधिना महामनोरमेन गुणातीतेन सर्ववेदान्तवेद्यचरणेन परतत्त्वेन स्वाश्रितवात्सल्यकरुणावरुणालयेनाचिन्त्यैश्वर्ययोगेन प्रसन्नेन स्वात्मयोगबलात् परमुत्तममेतदक्षरं विश्वरूपं दर्शितम् । अनेन सदानन्दरूपे श्रीकृष्णे तस्मिन् द्विभुज एवेदं सामर्थ्यं यत्स्वरूपान्तरदर्शनमिति मूलरूपतयाऽवतारित्वादिति ज्ञापितम् । इत्थमेवोक्तमभियुक्तैः–'नान्यावतारे सामर्थ्यं यत्कृष्णतनुदर्शनम् । श्रीकृष्ण एव सामर्थ्यं यद्रूपान्तरदर्शनम्' इति ॥ ४७ ॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रार्थितोऽर्जुनमाश्वासयन् स्वरूपं दर्शयामास, तत्र पूर्वमाश्वासनमाह— श्री भगवानुवाच मयेति । हे अर्जुन ! मया सर्वदा त्वयि प्रसन्नेन आत्मयोगात् स्वकीयत्वयोगाच्च तव परं इच्छया इदं रूपं दर्शितम् । कीदृशं ? तेजोमयं, विश्वं विश्वात्मकम् , अनन्तमन्तरहितम् , आद्यं सनातनं, यत् मे रूपं त्वदन्येन त्वां विना केनाऽपि दृष्टपूर्वं न । तादृशं रूपं त्वदिच्छया दर्शितमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमर्जुनेन प्रार्थितस्तं स्तुवन् भगवानुवाच— मयेति त्रिभिः । हे अर्जुन ! प्रसन्नेन मया तव तुभ्यमिदं परं रूपं दर्शितं आत्मयोगात्स्वसामर्थ्यात् करुणया, न तु तव दर्शनेऽधिकारोऽस्ति, तथा च प्रागुक्तं– 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' [ २।४७ ] इति । तेजोमयं चिद्रूपं दिव्यं, विश्वं विश्वात्मकं, आद्यमनादि, अनन्तं च यत् रूपं त्वदन्येन कदाचिदपि न पूर्वं दृष्टं दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।**
**एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥ ४८ ॥**

**१ शां. भा.**— आत्मनो मम रूपदर्शनेन कृतार्थ एव त्वं संवृत्त इति तत्स्तौति— **नेति** । न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैः; चतुर्णामपि वेदानामध्ययनैर्यथावद्यज्ञाध्ययनैश्च । वेदाध्ययनैरेव यज्ञाध्ययनस्य सिद्धत्वात्पृथक् यज्ञाध्ययनग्रहणं यज्ञविज्ञानोपलक्षणार्थम् । तथा न दानैस्तुलापुरुषादिभिः, न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिभिः श्रौतादिभिः, नापि तपोभिरुग्रैश्चान्द्रायणादिभिरुग्रैर्घोरैः, एवंरूपो यथा दर्शितं विश्वरूपं यस्य सोऽहमेवंरूपः शक्यः; न शक्योऽहं नृलोके मनुष्यलोके द्रष्टुं त्वदन्येन त्वत्तोऽन्येन कुरुप्रवीर ! ॥ ४८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तच्छब्देन प्रकृतं दर्शनं परामृश्यते । वेदाध्ययनात्पृथग्यज्ञाध्ययनग्रहणं पुनरुक्तेरयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह– वेदेति । न च वेदाध्ययनग्रहणादेव यज्ञविज्ञानमपि गृहीतमध्ययनस्यार्थावबोधान्तत्वादिति वाच्यं, तस्याक्षरग्रहणान्ततया वृद्धैः साधितत्वादिति भावः । श्लोकपूरणार्थमसंहितकरणम् । त्वत्तोऽन्येन मदनुग्रहविहीनेनेति शेषः ॥ ४८ ॥

**३ रा. भा.**— अनन्यभक्तिव्यतिरिक्तैः सर्वैरप्युपायैर्यथावदवस्थितोऽहं द्रष्टुं न शक्य इत्याह— **न वेदेति** । एवंरूपो यथावदवस्थितोऽहं मयि भक्तिमतस्त्वत्तोऽन्येन एकान्तिकात्यन्तिकभक्तिरहितेन केनापि पुरुषेण वेदयज्ञादिभिः केवलैर्द्रष्टुं न शक्यः ॥ ४८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— कथमेतद्रूपस्य मदन्येन केनाप्यदृष्टपूर्वत्वम् ? येनकेनचिदुपायेनान्यैरपि दर्शनसम्भवादित्यत्र एतदुपपादकत्वेनोत्तरश्लोकमवतारयति— **अनन्यभक्तिव्यतिरिक्तैरि**त्यादिना । 'एवंरूपः' इत्यस्याप्राकृतरूपविशिष्टपरत्वे कृष्णावताररूपस्य सर्वैर्दृश्यमानत्वानुपपत्त्या मनुष्यादिविसजातीयत्वाप्राकृतत्वरूपपरत्वमभिप्रेत्याह **यथावस्थितोऽहमि**ति । एकान्तभक्तिरहितानामवताररूपदर्शनं तु मनुष्यादिसजातीयत्वप्राकृतत्वादिरूपेणायथावस्थितदर्शनमेवेति भावः । 'त्वत्' इत्येतत्पृथक्पदं भक्तिमत्परं चेत्यभिप्रयन्नाह **मयि भक्तिमतस्त्वत्तोऽन्येनेति** । अत्रान्यपदेन अर्जुनान्यत्वविवक्षायां 'भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन' [११।५४]इत्युत्तरग्रन्थविरोधापत्त्या भक्तिमदन्यत्वमात्रं विवक्षितमित्याह **एकान्तभक्तिरहितेन केनापी**ति । वेदशब्दोऽर्थवत्तया श्रुतवेदपरः । तेन 'श्रोतव्यः'[२।४१५]इत्युक्तश्रवणं लभ्यते

१ वेदेन यज्ञैः स्वाध्यायेन चेति **नव्याः** । तत्प्रामादिकम् , वेदाध्ययनस्यैव स्वाध्यायत्वात् , अनधीयमानस्य वेदस्याकिञ्चित्करत्वाच्च । 'नृलोके' इत्यनेन 'रुद्रादित्याः' ( ११।२२ ) इत्यादि निर्व्यूढमिति **केचित्** । — **अविगीता** ।

इत्यध्ययनस्य पृथगुक्तत्वात्क्रियाशब्देन गोबलीवर्दनयाद्यज्ञाध्ययनादिव्यतिरिक्तहोमादिक्रिया उच्यन्त इत्यभिप्रेत्य वेदयज्ञादिभिरित्युक्तम् । "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुत्या वेदयज्ञादीनां भक्तिद्वारा दर्शनसाधनत्वप्रतीतेः कथमयं निषेधः? इति शङ्कावारणाय केवलैरित्युक्तम् ॥ ४८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४८ ॥

७ ह. पै. भा.— नेति । अध्ययनैरङ्गाध्ययनैः । न च क्रियाभिर्गुरुपरिचर्यादिभिः ॥ ४८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अतो भयं विहाय कृतार्थोऽस्मीति सन्तोष्टुमेवार्हसीत्याह— न वेदेति । वेदानां यज्ञानां चाध्ययनैः; तत्र वेदाध्ययनमक्षरग्रहणम्, यज्ञाध्ययनं तु कल्पसूत्रमीमांसादिभिर्वेदविहितयज्ञानामनुष्ठानपर्यन्तोऽधिगमः । दानानि तुलापुरुषादीनि । क्रियाः सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादयः । उग्रतपांसि कृच्छ्रचान्द्रायणादीनि । हे कुरुप्रवीर ! त्वदन्येन वेदाध्ययनादिभिरेवंरूपोऽहं द्रष्टुं न शक्यः । निषेधदार्ढ्याय प्रत्येकं नकाराभ्यासः । 'शक्योऽहम्' इति वक्तव्ये विसर्गलोपश्छान्दसः । 'नृलोके' इत्यन्यलोकानामप्युपलक्षणम्, 'त्वदन्येन न शक्यते' इति सामान्यनिषेधात् 'देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः' [११।५२] इति वक्ष्यमाणत्वाच्च ॥ ४८ ॥

९व० त० दी०— मदनुग्रहैकलभ्यभक्तिव्यतिरिक्तैस्तु सर्वैरप्युपायैरेवमपि द्रष्टुमशक्य इत्याह— न वेदेति । अहं पुरुषोत्तमः कृष्ण एवंरूपमैश्वरं यस्य स विशिष्टो नृलोके द्रष्टुमशक्यः; केवलोऽक्षरादिस्तु स्वोपासकानां वेदप्रवचनादिसाधनैर्द्रष्टुं शक्योऽपि भवति, नाहं पुरुषोत्तमः अनन्यभक्तिलभ्यत्वात् 'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः' इति [ ११।१४।२१ ] भागवतवाक्यात् । तत्रापि त्वत्तो मदनुगृहीताद्भक्तादन्ये नैवमपि द्रष्टुं न शक्ताः एतद्दर्शनस्यापि मदनुग्रहलभ्यत्वात्; त्वं तु केवलं मदनुग्रहात् दृष्टवानसि । इयमेव पुष्टिः 'पोषणं तदनुग्रहः' इति [ २।१०।४ ] भागवतवाक्यात् । 'तद्रहितानामपि स्वप्रमेयबलेन स्वप्रापणं पुष्टिः' इति भाष्यकारः । दैवस्य निग्रहणमनु सर्वसाधनकरणेनापि पुरुषोत्तमस्वरूपालाभे दैन्येनार्त्ततया च दृढतरबीजरूपासक्तिभावमनुग्रहणं भगवता यत्र भवति सोऽनुग्रहश्च पुष्टिरिति सङ्क्षेपः । तदिदं प्रमेयवर्त्म भागवतषष्ठस्कन्धे— 'सध्रीचीनो ह्ययं पन्था लोके क्षेमोऽकुतोभयः' [ अ. १।१७ ] इति शुकेन धर्मविष्णुदूतसंवादोपाख्यानद्वारा स्पष्टमेव दर्शितमिति ततोऽवसेयम् । अत्रोपपत्तिर्भक्तिहेतुग्रन्थेऽनेकधा निरूपिता द्रष्टव्या ॥ ४८ ॥

१० पु. अ. त.— एवं त्वदिच्छयैवेदं रूपं दर्शितं, इदानीं च पूर्वतनमेव रूपं पश्य, दर्शनीयस्य रूपस्य दुर्लभत्वायाऽर्जुने कृपाधिक्यमाह— न वेदेति । न वेदयज्ञाध्ययनैः वेदानां सार्थकशब्दात्मकानां यज्ञानामानुपूर्व्यादिसहितविद्याक्रियाणां अध्ययनैः, न दानैः तुलापुरुषादिभिः, न च क्रियाभिरग्निहोत्रादिरूपाभिः, न तपोभिरुग्रैः कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः नृलोके मनुष्यलोके एवंरूपः अहं पुरुषोत्तमः हे कुरुप्रवीर भक्तकुलश्रेष्ठ ! त्वदन्येन त्वामपहायान्येन द्रष्टुं पूर्वोक्तैः साधनैरपि न शक्यः न समर्थः ॥ ४८ ॥

११ नी० भा० दी०— योगैकगम्यमेतत्कर्मिणां दुष्प्रापमित्याह— न वेदेति । वेदानां यज्ञानां चाध्ययनैरधिगमैः, न च दानैः; न च क्रियाभिः स्मृत्युक्ताभिरापूर्तादिभिर्वापीकूपारामादिभिः, तपोभिः कृच्छ्रचान्द्रायणाद्यैः, उग्रैर्मासोपवासाद्यैः नृलोके एवंरूपोऽहं द्रष्टुं न शक्यः । रोरुत्वाभावश्चार्षः । त्वदन्येन कुरुप्रवीर ! ॥ ४८ ॥

**मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।**
**व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य[1] ॥ ४९ ॥**

---

१ प्रपश्येति— मुहुर्दुर्लभदर्शनं हि प्रयत्नेन शश्वद्दृश्यते प्रीतिमद्भिर्दुर्दर्शमपि लोकैः, यथा शुक्रस्यार्कबिम्बाधिक्रमणम्, अल्पीयः सूर्यग्रहणं वा । इदं रूपं तु त्वदन्येन नृलोके न दृष्टपूर्वं द्रष्टुमशक्यं च । अतः प्रीतमनाः प्रकर्षेण पश्येति भावः । वामनस्तु—

पश्येत्येतावता सिद्धे प्रपश्येति वदन्विभुः । सूचयत्यात्मदृष्ट्यैव मद्रूपं दृश्यतामिति ॥
लब्धोऽपरोक्षानुभवो दृष्टं च मम वैभवम् । पश्येदानीं प्रकर्षेण मामात्मत्वेन केवलम् ॥
तन्तौ प्रतीयमानेऽपि यः पश्यति पटं स्फुटम् । स पश्यत्येव, यस्तन्तुद्रष्टाऽसौ तु प्रपश्यति ॥
शुद्धसत्त्वमयं रूपं पटस्थानीयमेव मे । तन्तुस्त्वात्मेति पश्य त्वं तत्प्रकर्षेण दर्शनम् ॥

— इति प्रतिपादयति । — अविगीता ।

१० पु. अ. त.— एवमुक्त्वा स्वरूपं दर्शयामासेति सञ्जय आह— इतीति । अमुना प्रकारेण वासुदेवो मोक्षदाता परमकृपालुः अर्जुनं तथा पूर्वप्रकारेणोक्त्वा स्वकं स्वीयं पुरुषोत्तमरूपं भूयः पुनः दर्शयामास । एवं दर्शयित्वा सौम्यवपुर्भूत्वा च पुनः पूर्वरूपदर्शनभीतं एनं अर्जुनं पुनराश्वासयामास । नन्वेवं वारं वारं कथं कृतवान् इत्यत आह— महात्मेति । महांश्चासौ आत्मा च तेन कृपया तथा कृतवानिति भावः । यद्वा महतां भक्तानां आत्मा अतो भक्तत्वात्तथा कृतवानित्यर्थः ॥ ५० ॥

११ नी० भा० दी०— सञ्जय उवाच— इतीति । वासुदेवोऽर्जुनं प्रति इति पूर्वोक्तरीत्या उक्त्वा यथापूर्वमासीत्तथा स्वकं मानुषं रूपं भूयः पुनर्दर्शयामास । यदर्जुनेन प्रार्थितं चतुर्भुजं धारणाविषयं रूपं तदपि तिरोदधे इत्यर्थः । तथा महात्मा व्यापकोऽपि सन् सौम्यवपुरनुग्रदेहो भूत्वा भीतमेनमाश्वासयामास च ॥ ५० ॥

अर्जुनस्य स्वास्थ्यम् ।

**अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ! ।**
**इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥**

**१ शां. भा.**— दृष्ट्वेदमिति । दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं मत्सखं प्रसन्नं तव सौम्यं जनार्दन ! इदानीमधुनाऽस्मि संवृत्तः सञ्जातः । किं ? सचेताः प्रसन्नचित्तः प्रकृतिं स्वभावं गतश्चास्मि ॥ ५१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— एवं भगवदाश्वासितः सन्नर्जुनस्तं प्रत्युक्तवानित्याह— **अर्जुन इति** ॥ ५१ ॥

**३ रा. भा.**— अनवधिकातिशयसौन्दर्यसौकुमार्यलावण्यादियुक्तं तवैवासाधारणं मनुष्यत्वसंस्थानसंस्थितमतिसौम्यमिदं तव रूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेता संवृत्तोऽस्मि प्रकृतिं गतश्च ॥ ५१ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'मानुषं रूपम्' इत्यस्य कर्मजन्यप्राकृतरूपपरत्वभ्रमव्युदासायेदंशब्दाभिप्रेतं वदंस्तद्याचष्टे **अनवधिकातिशयसौन्दर्येत्यादिना** ॥ ५१ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ५१ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ५१ ॥

**७ ह. पै. भा.**— इदं परमपदप्राप्तिकारणम् ॥ ५१ ॥

**८ वे. ब्र. गि.**— ततो निर्भयः सन्नर्जुन उवाच— दृष्ट्वेदमिति । अनवधिकातिशयसौन्दर्यसौकुमार्यादिभिः तवैवासाधारणं मनुष्यत्वसंस्थानमधिगतं अतिसौम्यमिदं रूपं दृष्ट्वा इदानीं सचेताः प्रसन्नचित्तः संवृत्तोऽस्मि, प्रकृतिं भयव्यथाराहित्येन स्वास्थ्यं च गतोऽस्मि ॥ ५१ ॥

९ व० त० दी०— ततो यथावदवस्थितः सन् अर्जुन उवाच— दृष्ट्वेदमिति । निरवधिकातिशयसौन्दर्यसौकुमार्यलावण्यसौशील्यादियुक्तं सदानन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरूपं सौम्यं मानुषं मनुष्यत्वसंस्थानस्थितं दृष्ट्वा सचेताः जातोऽस्मि । तदा तु विचेताः "अमनाः अपाणिपादं तदमूर्त्तमव्ययम्" इति वाक्यात् । इदानीं तु प्रकृतिं स्वभावं प्राप्तोऽस्मि ॥ ५१ ॥

१० पु. अ. त.— दर्शितस्वरूपं दृष्ट्वाऽर्जुनो विज्ञापयति— दृष्ट्वेति । हे जनार्दन अविद्यानाशक ! इदं पुरतो दृश्यमानं मानुषं मनुष्यैर्द्रष्टुं योग्यं सौम्यं दयापरीतं दयायुक्तं तव रूपं दृष्ट्वा इदानीमधुना सचेताः सावधानचित्तः संवृत्तः जातोऽस्मि । प्रकृतिं भक्तिरूपां गतः प्राप्तोऽस्मि (च) ॥ ५१ ॥

११ नी० भा० दी०— ततो निर्भयः सन्नर्जुन उवाच— दृष्ट्वेति । सचेता अव्याकुलः, प्रकृतिं गतः स्वास्थ्यं प्राप्तः, संवृत्तो जातोऽस्मि ॥ ५१ ॥

भगवद्विश्वरूपदर्शनस्य दुर्लभत्वं तत्प्राप्त्युपायश्च ।

**श्रीभगवानुवाच—सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम ।**
**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥**

**१ शां. भा.— सुदुर्दर्शमिति** । सुदुर्दर्शं सुष्ठु दुःखेन दर्शनमस्येति सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम । देवा अप्यस्य मम रूपस्य नित्यं सर्वदा दर्शनकाङ्क्षिणः, दर्शनेप्सवोऽपि न त्वमिव दृष्टवन्तः न द्रक्ष्यन्ति चेत्यभिप्रायः ॥ ५२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उपास्यत्वाय विश्वरूपं स्तोतुं भगवदुक्तिमुत्थापयति— **श्रीभगवानिति** । त्वद्व्यतिरिक्तानामिदं रूपं द्रष्टुमशक्यमित्येतद्विशदयति- **देवा अपीति** ॥ ५२ ॥

**३ रा. भा.— सुदुर्दर्शमिति** । ममेदं सर्वस्य प्रशासनेऽवस्थितं सर्वाश्रयं सर्वकारणभूतं रूपं यद्दृष्टवानसि; तत्सुदुर्दर्शं न केनापि द्रष्टुं शक्यम्; अस्य रूपस्य देवा अपि नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः, न तु दृष्टवन्तः ॥ ५२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— यच्छब्दस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वेन प्रसिद्धाकारानाह **सर्वस्य प्रशासनेऽवस्थितम्** इत्यादिना । 'नित्यम्' इत्यस्य पदार्थैकदेशदर्शनान्वयस्यागतिकस्य आश्रयणमनुचितमित्यभिप्रेत्याकाङ्क्षाया नित्यत्वं दर्शनाभावमवगमयतीत्याशयेनाह **न तु दृष्टवन्त** इति ॥ ५२ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ५२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ५२ ॥

**७ हृ. पै. भा.— ॥ ५२ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— स्वकृतस्यानुग्रहस्यातिदुर्लभत्वं दर्शयन् श्रीभगवानुवाच - **सुदुर्दर्शमिति** । सुदुर्दर्शमत्यन्तं द्रष्टुमशक्यं ममेदं विश्वरूपं दृष्टवानसि । कुतो दुर्दर्शम् ? यद्यस्मात्कारणाद्देवा अपि "पुण्यमेवामुं गच्छति न ह वै देवान्पापं गच्छति" [ बृ. उ. १।५।२० ] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धनित्यपुण्यमूर्तय इत्यपिशब्दार्थः । तेऽप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः, न तु त्वमिव दृष्टवन्तः; न वाग्रे द्रक्ष्यन्तीत्यभिप्रायः, दर्शनकाङ्क्षाया नित्यत्वोक्तेः । यदा देवानामपीयं गतिस्तदा मनुष्यवराकाणां का कथा ? इति भावः ॥ ५२ ॥

**९ व० त० दी०**— ततः एवं स्थितौ स्वरूपस्य सुदुर्दर्शत्वं निरूपयन्प्रसङ्गादनुग्रहभक्त्यैकगम्यत्वं स्वस्य निगमयति त्रिभिः— **सुदुर्दर्शमिति** । इदं मत्सम्बन्धि रूपमक्षरं विश्वरूपं यत्त्वं दृष्टवानसि, यतोऽहं सुदुर्दर्शस्तदा किं वाच्यं मत्सम्बन्धिरूपमिदमिति ? तदेवाह- **देवा अपीति** । सात्विका अपि ते नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः, न तु दृष्टवन्तोऽपि अनुग्रहबीजभावाभावात् ॥ ५२ ॥

**१० पु. अ. त.**— स्वस्य रूपस्य स्वानुग्रहैकसाध्यत्वेन परमदुर्लभत्वमाह— **श्रीभगवानुवाच सुदुर्दर्शमिति** । इदं परिदृश्यमानं मम रूपं सुदुर्दर्शं सुष्ठु दुःखेनाऽपि द्रष्टुमशक्यं यत् त्वं दृष्टवानसि । देवा अपि मत्क्रीडायोग्या मदंशा अपि अस्य नित्यं प्रत्यहं दर्शनकाङ्क्षिणः दर्शनेच्छवस्तिष्ठन्तीत्यर्थः । **अत्रायं भावः**- ब्रह्मादयो देवाः श्रीदेवकीगृहे स्तुत्वा गतास्तदा गर्भ एव प्राकट्यं, न बहिः; बहिः प्राकट्यानन्तरं तु मातृप्रार्थनया तिरोहितं कृत्वा ध्यानास्पदत्वेन स्थापितं देवादीनां तु तद्वृत्तान्ताज्ञानाद्वेदोक्तरीत्या भजनात्तादृक्स्वरूपदर्शनमेव भवति; इदं च स्वरूपं भावात्मकं वेदाद्यगम्यं भक्तमुखात् श्रुतत्वाच्चाकाङ्क्षिणस्तिष्ठन्तीति तथा ॥ ५२ ॥

**११ नी० भा० दी०**— अस्य विश्वरूपदर्शनस्य दौर्लभ्यं दर्शयन् श्रीभगवानुवाच— **सुदुर्दर्शमिति** । दर्शनकाङ्क्षिणः दर्शनं काङ्क्षन्ते एव, न तु लभन्ते ॥ ५२ ॥

---

१ **वामनः** श्लोकमिममित्थमवतारयति—

दृष्ट्वा वपुः प्रतिभयं व्यथितान्तरेण न स्यात्कदाचिदवधारितमर्जुनेन ।
मत्वेति तं प्रकृतिमास्थितमीक्ष्य भूयः सारं पुरोक्तमपि वक्ति स भक्तिवश्यः ॥ इति । — **अविगीता** ।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ! ॥ ५४ ॥

---

१ अत्रेदं दैवीमीमांसादर्शनमनुसन्धानमर्हति यो हि परमात्मा अवाङ्मनसगोचरत्वाद्बुद्धिवृत्तिवेद्यो न भवतीत्युक्तः, कथं तस्यैवानन्यभक्तिलभ्यत्वं स्यात् ? यतो हि अनुरागरूपा भक्तिरुच्यते । अनुरागश्च चित्तवृत्तिविशेष एव । तथा च यश्चित्ताद्बुद्धितोऽप्यतीतः, स एव चित्तवृत्तिविशेषात्मिकया भक्त्या कथं लभ्यः ? इति चेत् ; उच्यते— यद्यपि भक्तिरनुरागात्मिकैवाभिहिता, तथापि भक्तिरूपेण परिणतोऽनुरागो न वृत्तिविशेषः; किन्त्वलौकिक ईश्वरानुराग एव । भक्तिरपि गौणी परेति द्विधोच्यते । तत्र गौण्यनुष्ठानेन यदा चित्तं निर्मलं भवति, तदा तत्रानन्दमयस्य परमपुंस आनन्दसत्ता प्रतिफलिता भवति । ततश्चानन्दरसेनाप्लुतं चित्तं सर्वथैवानन्दमयं जायते । तस्य प्रत्यवयवं चैतन्यमात्रा प्रोच्छलन्ती रिङ्गमाणा विराजते । तदा साधकः " सर्वं खल्विदं ब्रह्म" ' वासुदेवमयं जगत् ' इत्यादिभावं सर्वदैव स्वचित्ते स्मरन् तिष्ठति । एवं भक्तिभावोदये सति साधकः पुलकिताङ्गो भूत्वा सगद्गदो नयनाभ्यां निरन्तरमश्रुधारां वर्षति; किं बहुना ? स आत्मानं विस्मरत्येव । अत एव सर्वव्यापके भगवति निरवच्छिन्नचिन्तागतिरेव भक्तिशब्दवाच्या भवति । निरवच्छिन्नत्वं नाम भगवच्चरणारविन्दचिन्तायाः क्षणमात्रस्यापि कृते वियोगाभाव एव, सर्वदा निरवच्छिन्नतैलधारावद्भगवत्येव तन्मयतेति यावत् । अतश्च नायमनुरागोऽत्र चित्तवृत्तिविशेषः, किन्तु रसरूपस्य भगवतो याऽऽनन्दसत्ता विराजते, तस्या एवायमेकः प्रकारभेदो ज्ञेयः । सा च भक्तिर्विना भगवदनुग्रहं नैवासाद्यते । यदा हि चेतसि भगवदानन्दसत्ता प्रकाशीभवति, तदा भक्तस्य याऽवस्था दृग्गोचरीभवति, सैव भक्तिरित्युच्यते । तथा चेश्वरानुग्रहेण लब्धस्यालौकिकस्यापार्थिवस्य चानुरागस्य नाम भक्तिरिति व्यक्तम् । न चेयं भक्तिश्चित्तवृत्तिधर्मः । ईदृग्लक्षणशालिन्यैव च भक्त्या अवाङ्मनसगोचरमपि परमेश्वरं भक्तस्तदनुग्रहेणैवासादयतीति निर्विवादसिद्धोऽर्थ इति ॥

वेदान्तनयेनाप्ययमर्थ उपपद्यते । तथा हि— तत्राज्ञानकार्यत्वात् बुद्धिरपि मिथ्या असती चोच्यते । तद्गम्या विषया अपि मिथ्या असन्त एव । ततश्च ध्यानधारणाप्रभृतयो यावन्त ईश्वरचिन्तनहेतवः सन्ति, तेषां सर्वेषामपि मिथ्यात्वेनासत्त्वेऽपि यथा स्वप्ने व्याघ्रादीनां दर्शनात् द्रष्टुर्निद्राभङ्गो जायते, स चोत्थाय जाग्रदवस्थामुपेतः स्वस्वरूपस्थितो भवति, तथैवेश्वरस्य बुद्धिगोचरताभावेऽपि तदनुग्रहेणैव तं बुद्धिवेद्यं विधाय गौण्या भक्त्या तदुपासनां विदधत्साधकः स्वचित्तस्थैर्यं विन्दते । तस्मिंश्चित्ते चानन्दसत्तायाः प्रकाशो जायते । ततश्च तेनैवानन्देनात्यन्ताह्लादपरीतः साधक आनन्दस्वरूपं परमात्मानमासाद्य परानन्दाप्लुतो भवति । इत्थञ्च परमात्मनो बुद्धिवेद्यत्वाभावेऽपि भक्तिलभ्यत्वमावश्यकम्— इति । ( दै. मी. द. १।५ ) **वामनस्तु**—

उपास्य एकः खलु वासुदेवः स एव सर्वं मम देवदेवः । नान्यत्ततः किञ्चिदपीति तस्मिन् मता दृढा बुद्धिरनन्यभक्तिः ॥
'एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम् ।' ( ७।७।५५ ) लक्षितेत्थं भागवते या प्रह्लादेन सप्तमे ॥
सैव भक्तिरनन्येति सम्मता पार्थसारथेः । तथापि निर्गुणासक्ताः खेदयन्ति धियं वृथा ॥
शक्यो भक्त्या ज्ञातुमिति वचनादिह साधनम् । ज्ञानस्य भक्तिरिति ते साधयन्ति प्रयत्नतः ॥
न देवतान्तरं यस्या भवत्यालम्बनं क्वचित् । साऽनन्या भक्तिरित्याहुरज्ञाताद्वैतभक्तयः ॥
परं न ते प्रकरणमद्वैतद्वेषिणो विदुः । अनन्यभक्तिलभ्यं वा न च ज्ञानं स्वरूपतः ॥
'द्रष्टुमिच्छाम्यैश्वरं ते रूप' मित्याह पाण्डवः । ( ११।३ ) तथैव 'दर्शयामासे' त्यूचे चालोक्य सञ्जयः ॥ (११।९)
दर्शितं तु जगत्सर्वं युगपत्सचराचरम् । अतस्तदैश्वरं रूपं विभोरित्यतिरोहितम् ॥
कृत्स्नः प्रपञ्चोऽघटितघटनायोग ईशितुः । विश्वरूपेऽप्येष एव श्वेताश्वायोपदर्शितः ॥
यावन्नास्त्यात्मविज्ञानं तावन्नैवं प्रतीयते । सति तस्मिन् योगरूपो मायाभासोऽपि भासते ॥
ज्ञानोत्तरमिदं रूपमवबोद्धव्यमैश्वरम् । स्वयमष्टादशे देवोऽप्येतत्स्पष्टीकरिष्यति ॥
ब्रह्मभूतो हि भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् । ( १८।५४ ) तया मामभिजानाति यो यावांश्चेति तत्त्वतः ॥ (१८।५५)
इति ज्ञानोदयादूर्ध्वं भक्तिं भूतेष्वपि स्थिराम् । लब्ध्वा ततो यथा वेत्तीत्युक्तमत्रापि तत्तथा ॥
इत्थं चानन्यभक्तिः स्यादचला यस्य तत्त्वतः । मायाभासमपीमं स मनुते योगमैश्वरम् ॥
अत एवाह भगवानत्र ' ज्ञातुमनन्यया । शक्य एवंविधो ' व्यक्तं भक्त्यैवास्मीति निश्चितम् ॥
यथाविधोऽधुना दृष्टो विश्वरूपधरस्त्वया । द्रष्टुमद्वैततत्त्वेन शक्योऽर्जुन ! तथाविधः ॥
तथा च नवमेऽद्वैतं 'मया ततमिदं जगत् ' । ( ९।४;९।५ ) इत्यादिनोपदिश्योक्तं 'पश्य योग' मिति स्फुटम् ॥
अद्वैतबोधनिपुणं विधायादौ धनञ्जयम् । ततोऽब्रवीदघटितघटनायोगमात्मनः ॥ —

**१ शां. भा.**— कस्मात् ?— नाहं वेदैर्ऋग्यजुस्सामाथर्ववेदैश्चतुर्भिरपि, न तपसोग्रेण चान्द्रायणादिना, न दानेन गोभूहिरण्यादिना, न चेज्यया यज्ञेन पूजया वा शक्य एवंविधो यथादर्शितप्रकारो द्रष्टुं, दृष्टवानसि मां यथा त्वम् ॥ ५३ ॥ पुनः कथं शक्यः ? इत्युच्यते— भक्त्येति । भक्त्या तु किंविशिष्टया ? इत्याह — अनन्ययाऽपृथग्भूतया । भगवतोऽन्यत्र पृथङ्न कदाचिदपि या भवति सा त्वनन्या भक्तिः, सर्वैरपि करणैर्वासुदेवादन्यन्नोपलभ्यते यया साऽनन्या भक्तिः, तयाऽनन्यया भक्त्या शक्योऽहमेवंविधो विश्वरूपप्रकारो हेऽर्जुन ! ज्ञातुं शास्त्रतः, न केवलं ज्ञातुं, शास्त्रतो द्रष्टुं च साक्षात्कर्तुं तत्त्वेन तत्त्वतः, प्रवेष्टुं च मोक्षं च गन्तुं परन्तप ! ॥ ५४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— दर्शनोपायाभावाद्दुर्दर्शत्वमिति शङ्कते- **कस्मादिति** । वेदादिषूपायेषु सत्स्वपि भगवानुक्तरूपो न शक्यो द्रष्टुमित्याह— **नाहमिति** । तर्हि दर्शनायोग्यत्वाद्द्रष्टुमशक्यत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **दृष्टवानिति** ॥ ५३ ॥ केनोपायेन तर्हि द्रष्टुं शक्यो भगवान् ? इति पृच्छति—**कथमिति** । शास्त्रीयज्ञानद्वारा तद्दर्शनं सफलं सिध्यतीत्याह— **उच्यत इति**। न भक्तिमात्रं तत्र हेतुरिति तुशब्दार्थं स्फुटयति —**किमित्यादिना** । अनन्यां भक्तिमेव व्यनक्ति— **सर्वैरिति** ॥ ५४ ॥

**३ रा. भा.**— कुत इत्यत्राह— **नाहमिति** । वेदैरध्यापनप्रवचनाध्ययनश्रवणजपविषयैर्यागदानहोमतपोभिश्च, मद्भक्तिविरहितैः केवलैः यथावदवस्थितोऽहं द्रष्टुमशक्यः; अनन्यया तु भक्त्या तत्त्वतः शास्त्रैर्ज्ञातुं तत्त्वतः साक्षात्कर्तुं तत्त्वतः प्रवेष्टुं च शक्यः । तथा च श्रुतिः— "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" [ कठो. २।२२ मुं.उ. ३।२।३ ] इति ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

**४ वे. ता. चं**— उत्तरश्लोकस्यैतदुपपादकतया न पौनरुक्त्यमित्याशयेन तमवतारयति— **कुत इत्यत्राहेति** । वेदानां स्वरूपेण साधनत्वाप्रसक्त्या तन्निषेधोऽनुपपन्न इत्यतस्तदभिप्रेतमाह **वेदैरध्यापनप्रवचनेति** । दानेज्याकथनं होमस्याप्युपलक्षणमित्यभिप्रयन्नाह **यागदानहोमतपोभिश्चेति** । भक्तिद्वारा साधनत्वस्य "तमेतं वेदानुवचनेन" [ बृ. उ.४।४।२२] इत्यादिश्रुत्यवगतत्वात् **मद्भक्तिविरहितै**रित्युक्तम् । एवंविधशब्दो मानुषत्वादिभ्रमानर्हत्वाप्राकृतत्वादिपर इत्याह **यथावदवस्थितोऽह**मिति। न केवलं साक्षात्कारमात्रे साधनत्वेन भक्तिरपेक्षिता; किन्तु 'शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम्' [ म. भा. ५।६९।५ ]इत्यादिवच्छास्त्रतोऽर्थनिर्णये साक्षात्कारानन्तरभाविन्यां प्राप्तावपीत्यभिप्रायेण 'ज्ञातुं' 'प्रवेष्टुम्' इत्युभयं पूर्वश्लोकाप्रसक्तमिह प्रसञ्जितम् । 'तत्त्वतः' इत्येतत्त्रिष्वप्यविशेषादपेक्षितत्वाच्चान्वितम् । तत्त्वतः प्रवेशः परिपूर्णप्राप्तिः, यथावस्थितसर्वाकारेणानुभव इत्यर्थः । तेन व्यूहविभवादिमात्रप्राप्तिव्यवच्छेदः । स्मर्यन्ते च साक्षान्मुक्तेरर्वाञ्चः प्राप्तिपर्वभेदाः-'लोकेषु विष्णोर्निवसन्ति केचित्समीपमृच्छन्ति च केचिदन्ये । अन्ये तु रूपं सदृशं भजन्ते सायुज्यमन्ये स तु मोक्ष उक्तः' इति । 'एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्' [ ६।४२ ]इत्यस्य व्याख्याने यादवप्रकाशैश्चोक्तम्- "इदमल्पीयसीं योगसिद्धिं गतस्य मृतस्य फलं, यदि प्रथमां योगसिद्धिं गतो म्रियते, त्यजति वा योगं, श्वेतद्वीपे जायते; भगवत्सालोक्यं वा याति; यदि ततोऽप्यधिकां योगसिद्धिं गतो म्रियते; विष्णुपार्षदो भवति; यदि ततोऽप्यधिकां, पार्षदेश्वरो भवति; यदि ततोऽप्यधिकां, द्वारपालो भवति; यदि ततोऽप्यधिकां, भगवतोऽङ्गसंवाहको भवति; यदि ततोऽप्यधिकां, मन्त्रिस्थानीयः पृथगैश्वर्ययुक्तो भवति; यदि पूर्णां योगसिद्धिं गतो म्रियते, भगवत्सायुज्यं गतो मुक्तः परमैश्वर्ययुक्तो भवति" इति वैष्णवेषु योगशास्त्रेषु मर्यादा । तदेतत्सर्वमिह सूचितं भगवता "अथवा योगिनाम्" [ ६।४२ ] इत्यादीनीति । ज्ञानदर्शनप्राप्तिहेतुत्वे भक्तेः पर्वभेदान्नान्योन्याश्रयणादिदोषः । पूर्वजन्मसुकृतमूलसात्त्विकजनसंवादादिजनितं यथावच्छ्रवणानुगुणं किञ्चिदानुकूल्यरूपं

---

—अव्यक्तासक्तचित्तानां भक्तानां चैतदन्तरम् । आद्यानां सगुणः श्रीशो नेष्टोऽन्येषां तु स प्रियः ॥
चित्प्रकाशं जडे तेऽपि पश्यन्त्यव्यक्तचिन्तकाः । सगुणापेक्षया क्लेशं परमश्नुवतेऽधिकम् ॥
न तादृक् पाण्डवः किन्तु प्रेयानस्याच्युतस्ततः । सिद्धेऽद्वैतावबोधेऽसावनन्यां भक्तिमाप्तवन् ॥
भक्त्यैवाद्वैततत्त्वेन ज्ञानवान्योगमैश्वरम् । पार्थस्ततस्तथा तस्मै दर्शयित्वाऽऽह विश्वधृक् ॥
ज्ञातुं द्रष्टुं प्रवेष्टुं च क्रमादेवंविधोऽर्जुन ! । शक्यो भक्त्याद्वैततत्त्वं लब्ध्वा तेनाहमाश्विति ॥
ज्ञातुं तथाविधं सम्यग्द्रष्टुं चार्हो य ईश्वरम् । प्रवेष्टुमप्यशक्तं स तत्वेनाद्धा तमर्हति ॥

इत्यादि बहुलं प्रतिपादयति । तद्विस्तरभयान्न सर्वं सङ्गृह्यते । — अविगीता ।

भक्तिमात्रं शास्त्रजन्यज्ञानोत्पत्तौ सहकारि भवति । उत्कटदिदृक्षागर्भा तु परभक्तिः साक्षात्कारहेतुः; साक्षात्कृते तु परिपूर्णानुभवाभिनिवेशलक्षणा परमभक्तिः प्रवेशहेतुरिति । अत्र 'अनन्यया' इति पदं प्रागुक्तप्रक्रियया अनन्यप्रयोजनयेति भाव्यम्। अनन्यदेवताकयेत्येके । ऐक्यानुसन्धानविवक्षा तु प्रागेव दूषिता; प्रत्यक्षादिविरुद्धा च । तदेतदखिलमभिप्रेत्य सङ्गृहीतम् 'एकादशे स्वमाहात्म्यसाक्षात्कारावलोकनम् । दत्तमुक्तं विदिप्राप्त्योर्भक्त्येकोपायता तथा' [गी. सं. १५] इति । भक्तिप्रशंसापरत्वशङ्कामपाकरोति– तथा चेति । "नायमात्मा" इत्यादौ "न पृथिव्यामग्निश्चेतव्यः" [यजुः ५।२।७।२] इत्यादाविव केवलानां निषेधः । यच्छब्दानूदितो वरणीयताहेतुगुणविशेषो भक्तिरेवेत्यर्थस्वभावादुपबृंहणबलाच्च सिद्धम् । अत्र तनुशब्दस्य विग्रहपरत्वे स्वरूपादिकं तत्परत्वे च विग्रहादिकमर्थलब्धम् ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

## ५ आ. मा. भा.— ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

६ अ. प्र. दी.— ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

## ७ ह. पै. भा.— ॥ ५३ ॥ ५४ ॥

८ वें. व्र. गि.— कस्मात्पुनर्देवा अपि न दृष्टवन्तः ? इत्याशङ्क्य भक्त्यभावादिति वक्तुं भक्तिव्यतिरिक्तं साधनान्तरं निषेधति– **नाहमिति**। अत्र वेददानतपोयागानां भक्तिविरहितानामेव दर्शनसाधनत्वनिषेधः। तेन च "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [बृ. उ. ४।४।२२] इति श्रुत्या न विरोधः "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना वा श्रुतेन। यमेवैष वृणुते, तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्" [कठो. २।२२ मुं. उ. ३।२।३] "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" [श्वे. उ. ६।२३] इत्यादिभिर्भगवद्भक्तिं विना वेदानुवचनादीनां दर्शनसाधनत्वनिषेधेन विविदिषाश्रुतेर्भक्तिसहितवेदानुवचनादीनामेव दर्शनसाधनत्वपरत्वात् । ननु त्वदीयं विश्वरूपं देवासुरादिभिः सर्वैरपि दृष्टतया मयोपलब्धम् । उक्तं हि तत्रैव— 'गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे' [११।२२] इति; तत्कथम् 'नाहं वेदैः' 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' इत्यादिना च केनापि दुर्दर्श इत्युच्यते ? इत्याशङ्क्याह— **एवंविध** इति । एवंविधशब्दार्थमेव दर्शयन् 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' [११।४८] इति श्लोकेनैतस्य गतार्थत्वशङ्कां निराकरोति— **दृष्टवानसि मां यथेति**। येन प्रकारेण मां दृष्टवानसि, तेन प्रकारेण केनापि द्रष्टुं न शक्यः । तथा च देवानामापातदर्शित्वेऽपि तदेव मदीयतत्त्वदर्शित्वं नेति न विरोध इति भावः ॥ ५३ ॥ एवं साधनान्तरं निषिध्य भक्तेरेव स्वरूपदर्शनसाधनत्वं वदन्नध्यायार्थमुपसंहरति— **भक्त्येति**। अनन्यया मदेकनिष्ठया भक्त्यैव निरतिशयप्रीतिरूपया एवंविधो विश्वरूपोऽहं तत्त्वेन परमार्थतः शास्त्रैर्ज्ञातुं शक्यः। 'शक्य अहं' इति छान्दसो विसर्गलोपः । तथा तत्त्वेन द्रष्टुं श्रवणमनननिदिध्यासनक्रमेण साक्षात्कर्तुं च शक्यः, ततस्तत्त्वेन प्रवेष्टुं मद्रूपतयाऽवाप्तुं शक्यः, भक्त्यैवंविधो द्रष्टुं शक्य इति विश्वरूपदर्शनलक्षणस्याध्यायार्थस्य कथनम् ॥ ५४ ॥

९ व० त० दी०— एवं विश्वरूपस्य सुदुर्दर्शत्वं निरूप्य तदादिदृक्षस्य स्वस्यापि तदाह– नाहं वेदैरिति । निरतिशयाक्षरैश्वर्योऽहमात्मा "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते (सः) तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा (वि) वृणुते तनूं स्वाम्" [कठो. २।२२ मुंडको. ३।२।३] इति वरणेतरसाधनैरशक्यः श्रुतोऽस्मि । एवंविधं मां त्वं यत् वरणेन सत्प्रकारेण स्वरूपयोग्यो दृष्टवानसि तथा च प्रवचनादिसाधनानां केवलात्मसाक्षात्कारपरतया जीवे स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वं, न साक्षात्पुरुषोत्तमनिरोधकत्वमिति सिद्धम् ॥ ५३ ॥ तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे सञ्जातया भक्त्याऽहं भगवान् ग्राह्य इति तदाह— भक्त्येति । अथवा ननु तर्हि सर्वैः कथमेवं दृश्यसे ? इति चेत्तत्राह– भक्त्येति । सर्वनिरोधार्थमवतीर्णस्यापि मम दर्शनं ज्ञानं च केषाञ्चिन्मानुषत्वेनांशत्वादिना च भवति, न तु तत्त्वेन; यतोऽहं तत्त्वेन ज्ञातुं द्रष्टुं हृदि प्रवेष्टुं च भक्त्यैव शक्यः । किम्भूतया ? अनन्ययेति । वेदप्रवचनादिसाधननिरपेक्षया मदनुग्रहैकलभ्यया रागानुगयेति यावत् । 'केचित्केवलया भक्त्या' इति वाक्यात् प्रमेयरूपया तथेति । यतोऽहमेवंविधः । भक्त्या ग्राह्यः 'अस्वतन्त्र इव द्विजः' इति । अथवा विश्वरूपाद्यक्षरैश्वर्यादियोगयुक्त एवाक्लिष्टकर्मा प्रवाहमर्यादापुष्टिप्रणेताऽलौकिकगुणगणो महामनोरमवपुर्महाकरुणोऽहं पुरुषोत्तमोऽपि ॥ ५४ ॥

१० पु. अ. त.— ननु ते वेदाद्युक्तसाधनैः कथं न पश्यन्ति ? इत्यत आह— **नाहमिति** । यथा त्वं मां दृष्टवानसि एवंविधः पुरुषोत्तमोऽहं परिदृश्यमानवेदैः वेदोक्तसाधनैः वेदैरेव वा न अतएव "यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" [तै. उ. २।४।१–२।९।१] इत्युक्तम् । तपसा क्लेशात्मकेनाऽपि न, दानेन सर्वस्वदक्षिणात्मकेन न, इज्यया यागेन न द्रष्टुं शक्यः ॥ ५३ ॥ तदा कथं द्रष्टुं शक्यः ? इत्यत आह— भक्त्येति । हे अर्जुन ! हे परन्तप ! इति स्नेहेन वीप्सया

सम्बोधनम्। एवंविधोऽहं अनन्यया न विद्यते अन्यः पारलौकिकैहिकयत्नो यस्यां तादृश्या भक्त्या तत्त्वेन याथार्थ्यस्वरूपेण ज्ञातुं च पुनरलौकिकभावदृष्ट्या द्रष्टुं च पुनः प्रवेष्टुं अलौकिकरूपेण लीलासु सेवनार्थं शक्यः, अस्मीति शेषः॥५४॥

११ नी० भा० दी०— नाहमिति। 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' [११।४८] इत्यनेनोक्त एवार्थः पुनरुच्यते विश्वरूपदर्शनस्यातिदौर्लभ्यसूचनाय। स्पष्टार्थश्च श्लोकः॥ ५३॥ कथं तर्हि द्रष्टुं शक्यस्त्वं? अत आह— भक्त्येति। भक्त्या आराधनेन अनन्यया अव्यभिचरितया, अखण्डयेत्यर्थः। अहमेवंविधो ज्ञातुं शक्यस्त्वम्पदार्थशोधकशास्त्रतः, द्रष्टुं शक्यो ध्यानतः, तत्त्वेन याथात्म्येन प्रवेष्टुं शक्यस्तत्त्वमसिवाक्यार्थजज्ञानतः। हे परं अज्ञानशत्रुं तापयतीति परन्तप!॥ ५४॥

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव!॥ ५५॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीभगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

**१ शां० भा०—** अधुना सर्वस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोऽर्थो निःश्रेयसार्थोऽनुष्ठेयत्वेन समुच्चित्योच्यते— **मत्कर्मकृदिति।** मत्कर्मकृत् मदर्थं कर्म मत्कर्म, तत्करोतीति मत्कर्मकृत्; मत्परमः करोति भृत्यः स्वामिकर्म, न त्वात्मनः परमा प्रेत्य गन्तव्या गतिरिति स्वामिनं प्रतिपद्यते; अयं तु मत्कर्मकृन्मामेव परमां गतिं प्रतिपद्यत इति मत्परमः, अहं परमः परा गतिर्यस्य सोऽयं मत्परमः। तथा मद्भक्तो मामेव सर्वप्रकारैः सर्वात्मना सर्वोत्साहेन भजत इति मद्भक्तः। सङ्गवर्जितो धनपुत्रमित्रकलत्रबन्धुवर्गेषु सङ्गवर्जितः— सङ्गः प्रीतिः स्नेहः— तद्वर्जितः। निर्वैरो निर्गतवैरः सर्वभूतेषु शत्रुभावरहित आत्मनोऽत्यन्तापकारप्रवृत्तेष्वपि। य ईदृशो मद्भक्तः स मामेति, अहमेव तस्य परा गतिः, नान्या गतिः काचिद्भवति। अयं तवोपदेश इष्टो मयोपदिष्टो हे पाण्डवेति॥ ५५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

२ आ. शा. व्या.— **भक्त्या त्विति** विशेषणादन्येषामहेतुत्वमाशङ्क्याऽऽह— **अधुनेति।** समुच्चित्य सङ्क्षिप्य पुञ्जीकृत्येति यावत्। मत्कर्मकृदित्युक्ते मत्परमत्वमार्थिकमिति पुनरुक्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **करोतीति।** भगवानेव परमा गतिरिति निश्चयवतस्तत्रैव निष्ठा सिध्यतीत्याह— **तथेति।** न तत्रैव सर्वप्रकारैर्भजनं धनादिस्नेहाकृष्टत्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **सङ्गेति।** द्वेषपूर्वकानिष्टाचरणं वैरम्, अनपकारिषु तदभावेऽपि भवत्येवापकारिष्विति शङ्कित्वाऽऽह— **आत्मन इति।** एतच्च सर्वं सङ्क्षिप्यानुष्ठानार्थमुक्तमेवमनुतिष्ठतो भगवत्प्राप्तिरवश्यम्भाविनीत्युपसंहरति— **अयमिति।** तदेव भगवतो विश्वरूपस्य सर्वात्मनः सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य मत्कर्मकृदित्यादिन्यायेन क्रममुक्तिफलमभिध्यानमभिवदता तत्पदवाच्योऽर्थो व्यवस्थापितः॥ ५५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

---

१ येषां भक्तिः परिस्फुरति, तेषां 'वासुदेवः सर्वं' (७।१९) इत्यादिपूर्वाभिहितोपदेशचमत्काराद्विश्वात्मकं वासुदेवतत्त्वमयत्नत एव बोधपदवीमवतरतीत्यभिनवगुप्तपादाः॥ "मत्कर्मकृत् सर्वाणि कर्माणि मम परमेश्वरस्येति बुद्ध्या तत्कर्ता। जगद्वर्ति सर्वं कर्म परमेश्वरस्यैव, स एव पारमार्थिकः कर्ता कारयिता च परमिदं कर्मासौ मां निमित्तमात्रं विधाय कारयतीति प्रत्यस्ताभिमानया बुद्ध्या जगति भगवद्भक्तेन व्यवहर्तव्यम्"— इत्यादि नव्यव्याख्यानं त्वापातरमणीयमेव, 'मां विद्ध्यकर्तारं' (४।१३) 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।' (५।१४) इत्यादि विरोधात्। एवं निर्वैरपदस्य निष्क्रियार्थत्वप्रत्याख्यानमपि तदीयमनुक्तोपालम्भनमेव, केनापि प्राचा तथाविधस्यार्थस्यानुक्तत्वात्। अतः 'तदर्थं कर्म' (३।९) 'मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्' (१२।१०) इत्याद्यनुसारि मदर्थं कर्म मत्कर्मेति भगवत्पादाद्युक्तमेव युक्तम्। — अविगीता।

३ रा. भा.— मत्कर्मकृदिति । वेदाध्ययनादीनि सर्वाणि कर्माणि मदाराधनरूपाणीति यः करोति स मत्कर्मकृत्, मत्परमः सर्वेषामारम्भाणामहमेव परमोद्देश्यो यस्य स मत्परमः, मद्भक्तः अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मत्कीर्तनस्तुतिध्यानार्चनप्रणामादिभिर्विना आत्मधारणमलभमानो मदेकप्रयोजनतया यः सततं तानि करोति, स मद्भक्तः; सङ्गवर्जितः मदेकप्रियत्वेनेतरसङ्गमसहमानः निर्वैरः सर्वभूतेषु मत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्वभावत्वात्स्वदुःखस्य स्वापराधनिमित्तत्वानुसन्धानाच्च सर्वभूतानां परमपुरुषपरतन्त्रत्वानुसन्धानाच्च सर्वभूतेषु वैरनिमित्ताभावात्तेषु निर्वैरः, य एवम्भूतः स मामेति मां यथावदवस्थितं प्राप्नोति; निरस्ताविद्याद्यशेषदोषगन्धो मदेकानुभवो भवतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

४ वे. ता. चं.— 'नाहं वेदैः' इत्यादेः "वेदानुवचनेन" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इत्यादिश्रुतिविरोधपरिहाराय भक्त्यङ्गभावेन वेदानुवचनादीनामुपयोगं वदन् 'प्रवेष्टुम्' इत्युक्तं प्राप्तिहेतुं भक्त्यवस्थाविशेषं विविनक्ति— मत्कर्मकृदिति । 'नाहं वेदैः' इत्यादिनोक्तान्येव कर्माणि भगवति समर्पणान्मत्कर्मशब्देनोच्यन्ते, कीर्तनादीनि तु प्रागुक्तानि भक्त्यन्तर्गतत्वान्मद्भक्तशब्देऽनुप्रवेशमर्हन्तीत्यभिप्रायेणाह वेदाध्ययनेति । कर्मप्रसङ्गात्तत्साध्यतया बुद्धिस्थं फलमिह मत्परमशब्देनोच्यत इत्याह सर्वेषामिति । लौकिकानामन्नपानादिस्थानेऽस्य कीर्तनादिकमित्यभिप्रायेणाह आत्मधारणमलभमान इति । भक्तेः काष्ठाप्राप्तिदशायां यादृशी निस्सङ्गता, तां सहेतुकां दर्शयति मदेकप्रियत्वेनेति । तृषितस्यामृतधारायां तृणादिनिरोधवन्मन्यमानं सङ्गमेवैनं यथा स्वयं विरक्तो वर्जयति, तथा स्वयं सङ्गे जातोद्वेग इत्यभिप्रायेण इतरसङ्गमसहमान इत्युक्तम् । तादृश्यां भक्तिकाष्ठायां न केवलं शास्त्रवश्यत्वेन निर्वैरता; अपितु कारणाभावात् कार्याभाव इत्याह मत्संश्लेषेति । परमात्मनि रक्ततया तदितरविरक्तस्य सांसारिकक्षुद्रसुखदुःखयोरुपेक्षकत्वात्तन्निवर्तकेषु तत्प्रवर्तकेषु च नास्य वैरसम्भवः । नच स्वापराधं जानतः परो द्वेषविषयः; नच काष्ठादिवत्परतन्त्रतयाऽवगताय कश्चिदनुन्मत्तः कुप्येत्; आत्मन इव परेषामपि विश्वरूपभगवद्रूपत्वानुसन्धाने कथं वैरावकाशः ? इति भावः । एवम्भूतः एवंविधः । 'प्रवेष्टुम्' [ ११।५४ ] इति प्रागुक्तानुसन्धानेनाह— मां यथावदवस्थितमिति । प्रवेशप्राप्त्यादिशब्दानामन्यार्थतां कुदृष्ट्यभिमतां निराकर्तुं परमनिःश्रेयसरूपायाः प्राप्तेः स्वरूपं शोधयति निरस्तेति । निरस्तत्वमपुनरङ्कुरविनष्टत्वम् । अविद्या अज्ञानान्यथाज्ञानतत्कारणकर्मादिरूपा । पूर्वावस्थायामपि कतिपयाविद्यादिनिवृत्तिरस्तीति तद्व्यवच्छेदायाशेषपदम् । सवासननिरासद्योतनाय गन्धशब्दः । मदेकानुभव इति— "सर्वं ह पश्यः पश्यति" [ छां. उ. ७।२६।२] इत्युक्तं सर्वमपि सर्वशरीरोऽहमेव । तथाच श्रुत्यन्तरं " ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति " [ मुं. उ. ३।२।५ ]इति — इति भावः ॥ ५५ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ५५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ५५ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितगीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

७ ह. पै. भा.— मत्कर्मकृदिति । अहं वासुदेवः परमं प्रधानं यस्य स मत्परमः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'नाहं वेदैः' [ ११। ५३ ] 'न वेदयज्ञाध्ययनैः' [ ११।४८ ] इति वेदयज्ञादिनिषेधपूर्वकं भक्तेरेव दर्शनसाधनत्वोक्त्या वेदयज्ञादेः परित्यागप्राप्ताविदमाह— मत्कर्मकृदिति । मदर्थं कर्माणि श्रौतस्मार्तानि करोतीति मत्कर्मकृत् । मदर्थकर्मानुष्ठानमपि मदेकोद्देशेन कर्तव्यं, न तु फलोद्देशेनेत्याह— मत्परम इति । अहमेव परमः प्राप्यपुरुषार्थतया श्रेष्ठो यस्य स मत्परमः । इदं च मत्परमत्वं रागद्वेषवतो न सम्भवतीति तद्राहित्यस्य तद्धेतुत्वं दर्शयति— सङ्गवर्जितो निर्वैरः सर्वभूतेष्विति । एवम्भूतो यः स मद्भक्तो मामेति । तथा च 'नाहं वेदैः' [ ११।५३ ] इत्यादिनिषेधो मद्भजनानात्मककर्मविषय इति भावः ॥ ५५ ॥

इति श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

९ ब० त० दी०— यद्यप्येवं तथापि त्वादृशस्य मन्निगममर्यादायामनुगृहीतत्वान्मदाज्ञया मद्भक्तिपूर्वकमेव स्वधर्मकरणे मत्प्राप्तिरित्याह— मत्कर्मकृदिति। भगवदीयस्य भगवत्सेवापूर्वककर्मकरणं विहितं 'मम कर्मकरणे प्रभोरिच्छाऽस्तीति यो निर्द्धारयति स करोति, य एतद्विपरीतं स न करोति, यथा शुकजडादिः। एतन्निर्द्धारश्च भगवदधीनोऽतो भक्तेष्वपि तन्निर्द्धारणानियम इत्यतः कर्म कर्त्तव्यमेव अतन्निर्द्धारणे त्वाधुनिकानाम्; एवं सतीच्छाज्ञानवता तत्सन्देहवता च कर्त्तव्यं' इति। 'तन्निर्द्धारणानियमः पृथग्घ्यः प्रतिबन्धः फलं' इत्यादि सूत्रभाष्ये निर्णीतमवगन्तव्यम्। मत्परम इति अहमेव परम उद्देश्यो यस्य परमो मद्भक्तः स मामेति पुरुषोत्तमाप्तिस्तस्य फलं भवतीत्यर्थः॥ ५५॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

१० पु. अ. त.— नन्वनन्यभक्तः कथं ज्ञेयः? इत्याकाङ्क्षायामाह— मत्कर्मकृदिति। मदर्थं स्वस्य सहजदासत्वेन, न तु कामनया, कर्म सेवादिरूपं करोति स तथा। मत्परमः अहमेव परमः सर्वस्वं यस्य। मद्भक्तः मद्भजनकृत् मदाश्रितो वा। सङ्गवर्जितः पुत्रादिलौकिकावैष्णवादिसङ्गवर्जितः। सर्वभूतेषु निर्वैरः द्वेषरहितः। हे पाण्डव! उत्पत्त्यैव भक्त! एवंविधो यः स मामेति प्राप्नोति, सोऽनन्यो ज्ञातव्य इति भावः॥ ५५॥

प्रदर्श्य विश्वरूपं स्वं दृढीकृत्याऽर्जुनाय वै॥
श्रीकृष्णः साधनासाध्यं स्वस्वरूपमदर्शयत्॥ १॥

इति श्रीगीतामृततरङ्गिण्यां विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः॥ ११॥

११ नी० भा० दी०— शास्त्रसर्वस्वं सङ्गृह्णाति— मत्कर्मकृदिति। मदर्थमेव कर्माणि करोतीति मत्कर्मकृत् अहमेव परमो निष्कलः प्राप्यो यस्येति स मत्परमः। एतेन कृत्स्नः कर्मयोगो ध्यानयोगश्च त्वम्पदार्थशोधक उक्तः। मम भक्त आराधनकृदित्युपासनाकाण्डार्थसङ्ग्रहः। 'सङ्गवर्जितः' इत्यनेन एकान्तभगवद्ध्याननिष्ठ इत्युक्तम्। निर्वैर इति विश्वं भगवदात्मना पश्येदित्युक्तम्। अन्यथा भेदबुद्धिमतो निर्वैरत्वासम्भवात्। एवम्भूतो यः स मां तत्पदलक्ष्यार्थभूतमखण्डानन्दैकघनमेति प्राप्नोति प्रत्यगभेदेन। हे पाण्डव विशुद्धवंशज! त्वमेवैतज्ज्ञातुं शक्नोषीति भावः॥ ५५॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थप्रकाशे एकादशोऽध्यायः॥ ११॥

# श्रीमद्भगवद्गीताया एकादशाध्यायस्य माहात्म्यम्।

देव्युवाच—

इतिहासोऽयमीशान! श्रेयसां साधनं परम्।
आकर्ण्य करुणापूर्ण! मम काङ्क्षा प्रवर्तते॥ १॥
एकादशस्य माहात्म्यमध्यायस्य कथाश्रयम्।
व्यावर्णय विरूपाक्ष! वक्तॄणां प्रथमं प्रभो!॥ २॥

ईश्वर उवाच—

आकर्णय कथां कान्ते! गीतावर्णनसंश्रयाम्।
विश्वरूपाभिधानस्य माहात्म्यमपि पावनम्॥ ३॥
अध्यायस्य विशालाक्षि! वक्तुं तावन्न शक्यते।
सहस्राणि कथाः सन्ति तत्रैका कथ्यते कथा॥ ४॥
प्रणीतायास्तटे नद्या मेघङ्करमिति श्रुतम्।
नगरं गरिमाधारं तुङ्गप्राकारगोपुरम्॥ ५॥
विशालाश्रमशालासु स्वर्णस्तम्भविभूषितम्।
श्रीमद्भिः सुखिभिः शान्तैः सदाचारैर्जितेन्द्रियैः॥ ६॥
अधिष्ठितं जनैश्चारुशृङ्गाटकमनोहरम्।
कीर्तिस्तम्भस्फुरत्स्वर्णसुवर्णशतशोभितम्॥ ७॥
पताकाकिङ्किणीक्वाणकादम्बकपिकस्वरम्।
वेदाध्ययननिर्घोषवाचालितदिगन्तरम्॥ ८॥
तूर्यसङ्घोषसङ्कीर्णविशालव्योममण्डलम्।
पताकापल्लवोद्भूतवातनिर्जितविग्रहम्॥ ९॥
राजमार्गवरद्वारनारीमञ्जीरशिञ्जितैः।
वल्लकीवेणुकैर्गीतैर्भाति वाजीन्द्रहेषितैः॥ १०॥
प्रेक्ष्यमाणमिवाभीक्ष्णं दिक्पालानां पुरैः समम्।
आस्ते जगत्पतिर्यत्र शार्ङ्गपाणिर्विराजितः॥ ११॥
मूर्तिमत्परमं ब्रह्म जगल्लोचनजीवितम्।
लक्ष्मीनयनराजीवपूजिताकारगौरवः॥ १२॥
त्रिविक्रमवपुर्मेघश्यामलः कोमलाकृतिः।
श्रीवत्सवक्षा राजीववनमालाविभूषितः॥ १३॥
अनेकभूषणोपेतः सरत्न इव वारिधिः।
चलत्सौदामिनीदामसान्द्रमेघसमद्युतिः॥ १४॥
तस्याऽऽस्ते मुकुटे साक्षाच्छार्ङ्गपाणिः परः पुमान्।
तं दृष्ट्वा मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥ १५॥
यस्मिन्पुरे महातीर्थं विद्यते मेखलाभिधम्।
यत्र स्नात्वा नरैर्नित्यं प्राप्यते वैष्णवं पदम्॥ १६॥
तत्र वीक्ष्य जगन्नाथं नरसिंहं कृपार्णवम्।
सप्तजन्मार्जिताद्घोरान्मुच्यते दुष्कृतान्नरः॥ १७॥

मेखलायां गणाधीशं विलोकयति यो नरः।
स निस्तरति विघ्नानि दुस्तराण्यपि सर्वदा ॥ १८ ॥
ब्रह्मचर्यपरो दान्तो निर्ममो निरहङ्कृतिः।
तस्मिन्मेघङ्करे कश्चिदभूद्ब्राह्मणसत्तमः ॥ १९ ॥
सुनन्द इति विख्यातो वेदशास्त्रविशारदः।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो वासुदेवपरायणः ॥ २० ॥
देवस्य शार्ङ्गिणः पार्श्वे गीताध्यायमिमं प्रिये!।
एकादशं पठत्येष विश्वरूपप्रदर्शनम् ॥ २१ ॥
अध्यायस्य प्रभावेन ब्रह्मज्ञानमवाप सः।
परमानन्दसन्दोहश्लाघ्यसंवित्समाधिना ॥ २२ ॥
प्रत्यङ्मुखेन्द्रियतया निश्चलां स्थितिमीयुषा।
सततं स्थीयते तेन जीवन्मुक्तेन योगिना ॥ २३ ॥
एकदा स महायोगी सिंहराशिस्थिते गुरौ।
गोदावरीतीर्थयात्रां विधातुमुपचक्रमे ॥ २४ ॥
प्रथमेऽह्नि समागत्य विरजं तीर्थमुत्तमम्।
नाभिमारभ्य तीर्थेषु स समभ्यर्च्य देवताः ॥ २५ ॥
मज्जन्मज्जज्जगद्धात्रीं कमलां स व्यलोकयत्।
तां सम्पूज्य महामायां सर्वकामफलप्रदाम् ॥ २६ ॥
तारातीर्थे ततः स्नात्वा कपिलासङ्गमे ततः।
अष्टतीर्थमसौ चक्रे विधाय पितृतर्पणम् ॥ २७ ॥
कुमारीं सशिवां नत्वा कपिलाद्वारमाययौ।
तत्र निर्मज्य निर्धूतप्राग्जन्मान्तरदुष्कृतः ॥ २८ ॥
सम्पूज्य नत्वा स्तुत्वा च देवं वै मधुसूदनम्।
उषित्वा तत्र तां रात्रिमगात्प्रातः सह द्विजैः ॥ २९ ॥
नरसिंहवने तत्र तीर्थे रामस्य दीर्घिका।
प्रह्लादपूजितः साक्षादास्ते यत्र नृकेसरी ॥ ३० ॥
तं दृष्ट्वा देवदेवेशं पूजयित्वा तु भक्तितः।
तत्र तं दिवसं नीत्वा स ययावम्बिकापुरीम् ॥ ३१ ॥
अनुग्रहणे भक्तानामम्बिका तत्र तिष्ठति।
पूरयन्ती मनुष्याणां वाञ्छितान्यखिलान्यपि ॥ ३२ ॥
पूजयित्वाऽम्बिकां भक्त्या पुष्पगन्धानुलेपनैः।
उपहारैश्च विविधैः स्तोत्रैः प्रणमनैरपि ॥ ३३ ॥
विप्रस्तस्मात्पुरात्प्राप्तः करस्थानाभिधं पुरम्।
यत्राऽऽस्ते परमा शक्तिर्महालक्ष्मीर्महाद्युतिः ॥ ३४ ॥
तामवेक्ष्य सुधाभानुभास्करद्युतिमण्डलाम्।
संसारतापविच्छेदपद्मपीयूषवाहिनीम् ॥ ३५ ॥
योगिराजहृदम्भोजराजहंसनिषेविताम्।
अनाहतमहानादमयीमद्वयरूपिणीम् ॥ ३६ ॥
महालक्ष्मीं भगवतीं वाञ्छितार्थप्रदायिनीम्।
आराध्य भक्तिभावेन चेतसा स मुनीश्वरः ॥ ३७ ॥
विवाहमण्डपं प्राप पुरं मित्रैः समन्वितः।
पुरे तत्र प्रतिगृहं वासस्थानमयाचत ॥ ३८ ॥
न लेभे वसतिं स्थातुं गेहे कस्मिन्नपि द्विजः।
दर्शितं ग्रामपालेन विशालं वासमन्दिरम् ॥ ३९ ॥
प्रविश्य वसतिं चक्रे ब्राह्मणः सङ्गिभिः सह।
ततः प्रभाते विमले सुनन्दोऽसौ द्विजोत्तमः ॥ ४० ॥
बहिरालोकयाञ्चक्रे वासगेहान्निजं वपुः।
अध्वन्यानखिलान्यत्र यातान्क्वापि यदृच्छया ॥ ४१ ॥
गम्यमानः समायान्तं ग्रामपालो ददर्श सः।
तं बभाषे ग्रामपाल आयुष्मानसि सर्वशः ॥ ४२ ॥
भागधेयवतां पुंसां पुण्यः पुण्यवतामसि।
प्रभावो विद्यते वत्स! कोऽपि लोकोत्तरस्त्वयि॥४३॥
क्व प्रयाताः सहायास्ते कथं तत्सदनाद्बहिः।
तत्पश्य मुनिशार्दूल! कथयामि तवाग्रतः ॥ ४४ ॥
किन्तु नान्यं त्वया तुल्यं पश्यामीह तपस्विनम्।
किं जानासि महामन्त्रं कां विद्यामवलम्बसे ॥ ४५ ॥
कस्य देवस्य कारुण्याच्छक्तिर्लोकोत्तरा त्वयि।
तत्कारुण्यवशात्तिष्ठ ग्रामेऽस्मिन्ब्राह्मणोत्तम!॥ ४६ ॥
शुश्रूषामखिलामेव भगवंस्ते करोम्यहम्।
इति तं वासयामास तस्मिन्ग्रामे मुनीश्वरम् ॥ ४७ ॥
परिचर्यां च तस्यासौ भक्त्या चक्रे दिवानिशम्।
दिवसेषु प्रयातेषु सप्ताष्टसु समेयिवान् ॥ ४८ ॥
प्रातरागत्य तस्याग्रे रुरोद भृशदुःखितः।
अद्य मे भाग्यहीनस्य गुणवान्भक्तिमान्सुतः ॥ ४९ ॥
जाज्वल्यमानदंष्ट्रेण भक्षितो निशि रक्षसा।
इत्येवं रक्षकेनोक्तस्तं पप्रच्छ स संयमी ॥
काऽऽस्ते स राक्षसः पुत्रो भक्षितस्ते कथं वद॥५०॥

ग्रामपाल उवाच—

वर्तते नगरे घोरः पुरुषादो निशाचरः।
स खादति नरानेत्य नित्यं नगरगोचरान् ॥ ५१ ॥
स सर्वैर्नागरैरत्र प्रार्थितः पुरुषैः पुरा।
रक्ष राक्षस! नः सर्वान्ग्रासं ते कल्पयामहे ॥ ५२ ॥
पथिका निशि निद्रान्ति ये च तान्भुङ्क्ष्व राक्षस!।
एतस्मिन्सदने पान्थान्ग्रामपालप्रवेशितान् ॥ ५३ ॥
आहारं कल्पयाञ्चक्रुरात्मीयप्राणगुप्तये।
भवान्सुप्तो गृहेऽमुष्मिन्नध्वन्यैः संयुतः परः ॥ ५४ ॥
ते ग्रस्ताः किल चानेन त्वं मुक्तोऽसि द्विजोत्तम!।
प्रभावं भवतो वेत्ति भवानेव द्विजोत्तम! ॥ ५५ ॥
मदीयतनयस्याद्य मित्रमेकमुपागतम्।
अजानता मया सोऽपि तनयस्य प्रियः सखा ॥ ५६ ॥
अन्यैः पान्थजनैः सार्धं तस्मिन्गेहे प्रवेशितः।
श्रुत्वा तत्र प्रविष्टं तं निशीथे तनयो मम ॥ ५७ ॥
तमानेतुं गतः सोऽपि भक्षितस्तेन रक्षसा।
दुःखितेन मया प्रोक्तः प्रातः स पिशिताशनः ॥ ५८ ॥
ममापि पुत्रो दुष्टात्मन्भवता निशि भक्षितः।
भवज्जठरनिमग्नः सुतोऽसौ येन जीवति ॥
अस्ति चैवमुपायश्चेद्ब्रूहि मे त्वं निशाचर! ॥ ५९ ॥

राक्षस उवाच—

अन्तः प्रविष्टं त्वत्पुत्रमज्ञात्वाऽहमभक्षयम्।
अज्ञानाद्भक्षितः पान्थैः सहितोऽसौ सुतस्तव ॥ ६० ॥
यथा जीवति मे कुक्षौ यथा भवति रक्षितः।
तथा विहितमप्यस्ति देवेन परमेष्ठिना ॥ ६१ ॥
गीतैकादशमध्यायं यः पठत्यनिशं द्विजः।
तत्प्रभावेन मे मुक्तिर्मृतानां पुनरुद्भवः ॥ ६२ ॥

ग्रामपाल उवाच—

कथमेकादशाध्यायसामर्थ्यमिदमद्भुतम्।
इति पृष्टो मया विप्र! स बभाषे निशाचरः ॥ ६३ ॥

राक्षस उवाच—

पुरा गृध्रेण केनापि नभोमार्गेण गच्छता।
अस्थिखण्डं स्वकात्तुण्डात्पातितं क्वापि वारिणि ६४
तं जलाशयमागत्य कोऽपि ज्ञानीश्वरस्तदा।
महातीर्थमिति ज्ञात्वा विदधे पितृतर्पणम् ॥
तमूचिरे जनाः सर्वे तीर्थमेतत्कथं वद ॥ ६५ ॥

मुनिरुवाच—

जपत्येकादशाध्यायं त्रिसन्ध्यं नियतेन्द्रियः।
वित्तवानिति विप्रोऽसौ चोरैर्व्यापादितः पथि ॥ ६६ ॥
तस्यास्थिशकलं गृध्रवदनात्पतितं जले।
तेन तीर्थमिदं दिव्यं जातं पातकनाशनम् ॥ ६७ ॥

राक्षस उवाच—

ततस्ते मानवाः सर्वे सस्नुस्तत्र जलाशये।
निष्कल्मषतया चैवं प्रापुस्ते परमं पदम् ॥ ६८ ॥
एकादशस्य सामर्थ्यादध्यायस्य भविष्यति।
ममापि मुक्तिः पान्थानां पुनरुत्थानमद्भुतम् ॥ ६९ ॥
यो मया कश्चिदुत्कीर्णो ब्राह्मणोऽत्रैव तिष्ठति।
स च एकादशाध्यायं जपति स्म निरन्तरम् ॥ ७० ॥
स तेनाध्यायमन्त्रेण सप्तवाराभिमन्त्रितम्।
विधाय वारि विप्रेन्द्रः क्षिपेद्यदि ममोपरि ॥
ततो मे शापनिर्मुक्तिर्भविष्यति न संशयः ॥ ७१ ॥

ग्रामपाल उवाच—

इति तेनास्मि सन्दिष्टः समायातस्त्वदन्तिकम् ॥ ७२ ॥

विप्र उवाच—

राक्षसः केन पापेन जातोऽसौ वद रक्षक!।
यः क्षपायां गृहे तस्मिन्नरान्खादति निद्रितान् ॥ ७३ ॥

ग्रामपाल उवाच—

अस्मिन्ग्रामे पुरा कश्चिदासीद्विप्रः कृषीवलः।
एकदा शालिकेदाररक्षणे व्याकुलो द्विजः ॥ ७४ ॥
नातिदूरे महागृध्रः पान्थमेकमभक्षयत्।
तं विमोचयितुं दूराद्यां चक्रेऽपि तापसः ॥ ७५ ॥
भुक्त्वा पान्थं खगस्तावन्निरगादम्बराध्वना।
ततः स तापसः कोपात्तं बभाषे कृषीवलम् ॥ ७६ ॥

तापस उवाच—

धिक्त्वां हालिक! दुष्टात्मन्! कठोरमतिनिर्घृणम्।
कुक्षिम्भरं परत्राणविमुखं हतजीवितम् ॥ ७७ ॥
चोरैश्च दंष्ट्रिभिः सर्पैररिवह्निविषाम्बुभिः।
गृध्रराक्षसभूतैश्च वेतालादिभिराहतान् ॥ ७८ ॥
जनानुपेक्षते शक्तः स तद्वधफलं लभेत्।
न मोचयति यो विप्रं प्रभुश्चौरादिभिर्धृतम् ॥ ७९ ॥
स याति नरकं घोरं स पुनर्जायते वृकः।
निहन्यमानं विपिने गृध्रव्याघ्रेण वीक्षितम् ॥ ८० ॥
मुञ्च मुञ्चेति यो वक्ति स याति परमां गतिम्।
गवामर्थे हता व्याघ्रैर्भिल्लैर्दुष्टैश्च राजभिः ॥ ८१ ॥
तेऽपि यान्ति पदं विष्णोर्दुष्प्राप्यं योगिनामपि।
अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ॥ ८२ ॥
शरणागतसन्त्राणकलां नार्हन्ति षोडशीम्।
दीनस्योपेक्षणं कृत्वा भीतस्य च शरीरिणः ॥ ८३ ॥
पुण्यवानपि कालेन कुम्भीपाके स पच्यते।
पश्यन्नपि भवान्पान्थं दुष्टगृध्रेण भक्षितम् ॥ ८४ ॥
निवारणसमर्थोऽपि न चक्रे यन्निवारणम्।
निष्कृतोऽसि यतस्तस्माद्भविष्यसि निशाचरः ॥ ८५ ॥

ग्रामपाल उवाच—

इमं शापं मुनेः श्रुत्वा कम्पमानकलेवरः।
प्रणम्य हालिको विप्रं बभाषे करुणं वचः ॥ ८६ ॥

हालिक उवाच—

अत्राहं क्षेत्ररक्षायां चिरं क्षिप्तेन चक्षुषा।
न वेद्मि निकटं गृध्रहन्यमानमिमं नरम् ॥
तेन मेऽनुग्रहं कर्तुं कृपणस्य त्वमर्हसि ॥ ८७ ॥

विप्र उवाच—

यो वेत्त्येकादशाध्यायं जपत्यनुदिनं च यः।
तेनाभिमन्त्रितं वारि यदा शिरसि तावके ॥
पतिष्यति तदा शापात्तव मुक्तिर्भविष्यति ॥ ८८ ॥

ग्रामपाल उवाच—

इत्युक्त्वा तापसो यातो हालिको राक्षसोऽभवत्।
इति तद्राक्षसवचो निशम्याऽऽशु प्रधावतः ॥ ८९ ॥
उभयं कार्यमेवाद्य संसिद्धं कुरु तापस!।
तदागच्छ द्विजश्रेष्ठ! तेनाध्यायेन मन्त्रय ॥
तीर्थोदकं स्वहस्तेन तस्य मूर्धनि निक्षिप ॥ ९० ॥

श्रीमहादेव उवाच—

इति तत्प्रार्थितं सर्वं श्रुत्वा करुणयाऽऽप्लुतः।
तथेति सह पालेन मुनी रक्षोन्तिकं ययौ ॥ ९१ ॥
एकादशेन तेनाम्बु विश्वरूपेण मन्त्रितम्।
निक्षिप्तं तस्य शिरसि तेन विप्रेण योगिना ॥ ९२ ॥
गीताध्यायप्रभावेन शापमोक्षमवाप सः
विहाय राक्षसं देहं चतुर्बाहुस्ततोऽभवत् ॥ ९३ ॥

निगीर्णा ये जनास्तेन पान्था आसन्सहस्रशः ।
चतुर्भुजा बभूवुस्ते शङ्खचक्रगदाधराः ॥
ते विमानान्यारुरुहुस्तावदूचे स राक्षसम् ॥ ९४ ॥

ग्रामपाल उवाच—

मदीयस्तनयः कस्तं दर्शयस्व निशाचर ! ॥ ९५ ॥

श्रीमहादेव उवाच—

इत्युक्ते ग्रामपालेन दिव्यधीराह राक्षसः ॥ ९६ ॥

राक्षस उवाच—

एनं चतुर्भुजं विद्धि तमालश्यामलद्युतिम् ।
माणिक्यमुकुटं दिव्यमणिकुण्डलमण्डितम् ॥ ९७ ॥
हारहारिमहास्कन्धं स्वर्णकेयूरभूषितम् ।
राजीवलोचनं स्निग्धं हस्ते कृतसरोरुहम् ॥
दिव्यं विमानमारूढं देवत्वं प्राप्तमात्मजम् ॥ ९८ ॥

श्रीमहादेव उवाच—

इति तस्य वचः श्रुत्वा सुतं दृष्ट्वा च तादृशम् ।
स्वगेहं नेतुमारेभे तं जहास सुतस्ततः ॥ ९९ ॥

सुत उवाच—

कतिवाराणि जातोऽसि त्वं पुत्रो मम रक्षक ! ।
पूर्वं पुत्रस्त्वदीयोऽस्मि ह्यधुना विबुधोऽस्म्यहम् १००
यास्यामि वैष्णवं धाम ब्राह्मणस्य प्रसादतः ।
निशाचरोऽपि प्राप्तोऽयं पश्य देहं चतुर्भुजम् ॥ १०१ ॥
एकादशस्य माहात्म्याद्याति स्वर्गं समं जनैः ।
विप्रादस्मात्त्वमध्यायमधीष्व त्वं जपानिशम् ॥ १०२ ॥
भविष्यति न सन्देहस्तवापि गतिरीदृशी ।
तात! तस्मात्सतां सङ्गो दुर्लभः सर्वथा जनैः ॥ १०३ ॥
सोऽप्यद्य ते समुत्पन्नो ह्यात्मनः साधयेप्सितम् ।
किं धनैर्भोगदानैर्वा किं यज्ञैस्तपसा नु किम् ॥ १०४ ॥
किं पूर्तैर्वा परं श्रेयो विश्वरूपस्य पाठतः ।
तद्विष्णोः परमं रूपं तत्त्वं ध्यायस्व विश्रुतम् ॥ १०५ ॥
यत्पूर्णानन्दसन्दोहकृष्णब्रह्मास्यनिर्गतम् ।
कुरुक्षेत्रेऽर्जुने मित्रे तत्कैवल्यरसायनम् ॥ १०६ ॥
नृणां च भवभीतानामाधिव्याधिविनाशनम् ।
अनेकजन्मदुःखघ्नं नान्यत्पश्यामि तत्स्मर ॥ १०७ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युक्त्वा सह तैः सर्वैर्ययौ विष्णोः परं पदम् ।
तमध्यायं ततो विप्राद्ग्रामपालः पपाठ सः ॥ १०८ ॥
तावुभौ तस्य माहात्म्याज्जग्मतुर्वैष्णवं पदम् ।
इत्येकादशमाहात्म्यकथा तुभ्यं निरूपिता ॥
यस्याः श्रवणमात्रेण महापातकनाशनम् ॥ १०९ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये सतीश्वरसंवादे श्रीमद्भगवद्गीतैकादशाध्यायमाहात्म्यकथनं नामैकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११ ॥

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १२ ]

**भक्तेः श्रैष्ठ्यमुपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठता ।**
**तत्प्रकारास्त्वतिप्रीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते ॥ १६ ॥**

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकवेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

अत्रच भाष्यम्—' अनन्तरमात्मप्राप्तिसाधनभूतादात्मोपासनाद्भक्तिरूपस्य भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने शैघ्र्यात्सुसुखोपादानत्वाच्च श्रैष्ठ्यं भगवदुपासनोपायश्च तदशक्तस्याक्षरनिष्ठता तदपेक्षिताश्चोच्यन्ते ' [रा. भा. १२।१] इति। अत्र— अतिप्रीतिर्भक्त इत्यस्योपादानमुपसंहारमात्रताव्यञ्जनार्थम् । उपायोक्तिः ' अथ चित्तं समाधातुम् ' [ १२।९,१० ] इत्यादिश्लोकद्वयेन कृता । भगवति चित्तं समाधातुमशक्तस्य भगवद्गुणाभ्यासः, तत्राप्यशक्तस्य प्रीतिपूर्वकभगवदसाधारणकर्मकरणम् , तस्मिन्नप्यसमर्थस्यात्मनिष्ठेति क्रमः । तत्प्रकाराः कर्मयोगाद्यपेक्षिताः ' अद्वेष्टा सर्वभूतानाम् ' [ १२।१३ ] इत्यादिनोक्ता उपादेयगुणप्रकाराः । तथाच तत्र भाषितम्— ' अनभिसंहितफलकर्मनिष्ठस्योपादेयान् गुणानाह ' [ रा. भा. १२।१३ ] इति । अतिप्रीतिर्भक्ते— ' ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तम् ' इत्यादिना अध्यायान्तिमश्लोकेन [ १२।२० ] उक्ता । तदभिप्रेतं चैवमुक्तम्— ' अस्मादात्मनिष्ठाद्भक्तियोगनिष्ठस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपादयन्यथोपक्रममुपसंहरति ' [ रा. भा. १२।२० ] इति ॥ १६ ॥

# भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ।

सगुणनिर्गुणब्रह्मनिष्ठयोर्द्वयोर्मध्ये का श्रेष्ठा का च कर्तव्येत्यर्जुनप्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच— एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।**
**ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ १ ॥**

१ श्रीशाङ्करभाष्यम् ।

द्वितीयप्रभृतिष्वध्यायेषु विभूत्यन्तेषु [१०] परमात्मनो ब्रह्मणोऽक्षरस्य विध्वस्तसर्वोपाधिविशेषणस्योपासनमुक्तम्, सर्वयोगैश्वर्यसर्वज्ञानशक्तिमत्सत्त्वोपाधेरीश्वरस्य तव चोपासनं तत्र तत्रोक्तम्, विश्वरूपाध्याये [ ११ ] त्वैश्वरमाद्यं समस्तजगदात्मरूपं विश्वरूपं त्वदीयं दर्शितमुपासनार्थमेव त्वया, तच्च दर्शयित्वोक्तवानसि 'मत्कर्मकृत्' [ ११।५५] इत्यादि, अतोऽहमनयोरुभयोः पक्षयोर्विशिष्टतरबुभुत्सया त्वां पृच्छामीत्यर्जुन उवाच— **एवमिति** । 'एवं' इत्यतीतानन्तरश्लोकेनोक्तमर्थं परामृशति 'मत्कर्मकृत्' इत्या-

---

"भक्तो न नश्यति ममेति यदुक्तमत्र विश्वस्य तत्र विभयः सुचिरं स्थितोऽस्मि ।
नष्टे सुधाकरशिशौ सहसाऽधुनापि ब्रूहि त्वमेव कथमाश्वसिमीति देव !" ॥

१ **एव**मिति पञ्चमादावविद्वत्कर्तृकयोः कर्मयोगतत्संन्यासयोर्मध्ये कतरत् श्रेयः ? इतिवत् मन्दकर्तृकयोः सगुणनिर्गुणोपासनयोर्मध्ये कतरत् श्रेय इति संशयः । निर्गुणोपासनाधिकारिणो ये ज्ञानिनस्त उत्तमा एव, 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ ७।१८ ] 'ज्ञानवान् मां प्रपद्यते' ( ७।१९ ) इत्यादिना तेषामभिहितो महिमातिशयः । कुतस्तेषां महानुभावानामवरत्वशङ्का ? न तान्प्रति प्रश्नः परिहारो वाऽऽवश्यक इति **सम्प्रदायविदः** । **वामनस्तु**—

सविकल्पो निर्विकल्पश्चेति योगावुदीरितौ । तद्वित्सु द्विविधेष्वत्र श्रेयसः परिपृच्छति ॥
द्वयेऽपि योगवेत्तारस्तत्रैके निर्गुणप्रियाः । अपरे सगुणासक्तास्तेषु के वित्तमा ? इति ॥
भक्तानुद्दिश्याक्षरं ये ये चाव्यक्तमुपासते । वदन्तीत्थं पृथगिमं व्याजीदर्थं पृथासुतः ॥
अक्षरं हि क्षरात्सर्वाज्जडात्स्फुरति यत्पृथक् । सच्चिद्रूपं, चेतसश्च ताद्रूप्यं तदुपासनम् ॥
अयमेवामलो योगो निर्विकल्प इतीरितः । उपासतेऽक्षरमिति पदाभ्यामिह सूचितः ॥
अव्यक्तं दृश्यमानापि व्यक्तिर्यत्र न विद्यते । व्यक्तः प्रपञ्चो ह्यखिलोऽव्यक्तं ब्रह्मैव तत्त्वतः ॥
दृष्ट्या विभाव्यते व्यक्तिर्विचारे सा न विद्यते । व्यक्त्यव्यक्त्योः सामरस्यमव्यक्तोपासनं मदः ॥
इन्द्रियैर्लक्ष्यते व्यक्तिर्बुद्ध्या ब्रह्मैव केवलम् । स्पर्शे कठोरा करका रसने सलिलं यथा ॥
योगोऽयमेव सविकल्प इति प्रसिद्धो यच्छातकुम्भमिव भासुरभूषणेषु ।
दृश्ये जडे जगति सच्चिदखण्डमेकमालोक्यते हि तदभिन्नतयाऽऽत्मरूपम् ॥
तदेवं द्विविधं योगमुभयेऽपि वदन्त्यमुम् । नान्यथा तत्तारतम्यजिज्ञासैवोपपद्यते ॥
को वा धानुष्कयोः श्रेयानिति प्रश्ने ह्यशङ्कितम् । धनुर्धरत्वमुभयोरपि स्पष्टं प्रतीयते ॥
एवं द्वयेऽपि द्विविधयोगज्ञा इति निश्चितम् । न संशयस्तारतम्ये सम्भवत्यज्ञतज्ज्ञयोः ॥
निर्गुणोपासकाः किन्तु तदेवैकमुपासते । भक्तास्तु योगं बुद्ध्वाऽपि सेवन्ते सगुणं हरिम् ॥

× × ×

विहाय न्याय्यमप्यर्थमिमं केचिदहंयवः । निर्गुणोपासनासक्ताः श्रयन्ति विपथं वृथा ॥
ज्ञानहीनेषु सगुणनिर्गुणोपासकेषु ते । के श्रेयांस ? इति प्रश्नभावं तावद्विवृण्वते ॥ —

दिना । एवं सततयुक्ता नैरन्तर्येण भगवत्कर्मादौ यथोक्तेऽर्थे समाहिताः सन्तः प्रवृत्ता इत्यर्थः । ये भक्ता अनन्यशरणाः सन्तस्त्वां यथादर्शितं विश्वरूपं पर्युपासते ध्यायन्ति । ये चान्येऽपि त्यक्तसर्वैषणाः सन्न्यस्तसर्वकर्माणो यथाविशेषितं ब्रह्माक्षरं, निरस्तसर्वोपाधित्वादव्यक्तमकरणगोचरं, यद्धि लोके करणगोचरं तद्व्यक्तमुच्यते, अञ्जेर्धातोस्तत्कर्मकत्वात्; इदं त्वक्षरं तद्विपरीतं शिष्टैश्चोच्यमानैर्विशेषणैर्विशिष्टं तद्ये चापि पर्युपासते तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः केऽतिशयेन योगविदः? इत्यर्थः ॥ १ ॥

## २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

'अशोच्यान्' [ २।११ ] इत्यादिषु विभूत्यध्यायावसानेष्वध्यायेषु निरुपाधिकस्य ब्रह्मणो ज्ञेयत्वेनानुसन्धानमुक्तमिति वृत्तं कीर्तयति— **द्वितीयेति** । अतिक्रान्तेषु तत्तदध्यायेषु सोपाधिकस्यापि ब्रह्मणो ध्येयत्वेन प्रतिपादनं कृतमित्याह— **सर्वेति** । सर्वस्यापि प्रपञ्चस्य योगो घटना जन्मस्थितिभङ्गप्रवेशनियमनाख्या, तत्रैश्वर्यं सामर्थ्यं तेन सर्वत्र ज्ञेये प्रतिबन्धविधुरया ज्ञानशक्त्या विशिष्टस्य सत्त्वाद्युपहितस्य भगवतो ध्यानं तत्र तत्र प्रसङ्गमापाद्य मन्दमध्यमयोरनुग्रहार्थमुक्तमित्यर्थः। एकादशे वृत्तमनुवदति— **विश्वरूपेति** । अध्यायान्ते भगवदुपदेशमनुवदति— **तच्चेति** । यथाधिकारं तारतम्योपेतानि साधनानि नियन्तुमध्यायान्तरमवतारयन्नादौ प्रश्नमुत्थापयति — **अत इति** । सोपाधिकध्यानस्य निरुपाधिकज्ञानस्य चोक्तत्वादित्यर्थः । एवंशब्दार्थमुक्त्वा तमनूद्य सततयुक्ता इति भागं विभजते— **एवमिति** । ये भक्ता इत्यनूद्य व्याचष्टे— **अनन्येति** । मन्दमध्यमाधिकारिणः सगुणशरणानुक्त्वा निर्गुणनिष्ठानुत्तमाधिकारिणो निर्दिशति— **ये चेति** । यथाविशेषितं 'अनिर्देश्यं सर्वत्रगमचिन्त्यं कूटस्थं' ( १२।३ ) इत्यादिवक्ष्यमाणविशेषणविशिष्टमित्यर्थः । न क्षरत्यश्नुते वेत्यक्षरम् । अव्यक्तमित्येतद्व्याचष्टे— **निरस्तेति** । करणागोचरत्वं व्यतिरेकद्वारा स्फोरयति— **यद्धीति** । यथाविशेषितमित्युक्तं स्पष्टयति— **शिष्टैश्चेति** । पूर्वार्धगतक्रियापदस्यानुषङ्गं सूचयति— **तदिति** । सर्वं तावदेते योगं समाधिं विन्दन्तीति योगविदः । के पुनरतिशयेनैषां मध्ये योगविदो योगिन इति पृच्छति— **केऽतिशयेनेति** ॥ १ ॥

## ३ रामानुजभाष्यम् ।

भक्तियोगनिष्ठानां प्राप्यभूतस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो नारायणस्य निरङ्कुशैश्वर्यं साक्षात्कर्तुकामायार्जुनायानवधिकातिशयकारुण्यौदार्यसौशील्यादिगुणसागरेण सत्यसङ्कल्पेन भगवता स्वैश्वर्यं यथावदव-

— न चैतत्सङ्गतं, यस्मान्नितान्तमसमानयोः । न तारतम्यजिज्ञासा चतुरस्योपपद्यते ॥
नापि सङ्गच्छते तेषां पक्षे प्रत्युत्तरं हरेः । सगुणोपासकास्तत्र यतो युक्ततमा मताः ॥
अज्ञत्वे हि कथं तेषां ज्ञानिभ्यः श्रेष्ठता भवेत् ? । सर्वेभ्योऽभ्यर्हितत्वं हि ज्ञानिनां सर्वसम्मतम् ॥
विहाय सगुणोपास्तिमथ मन्दाधिकारिणः । माभूवन्निर्गुणपरा इति भक्ताः स्तुता इह ॥
इत्यर्थवादता मुक्तेर्वदन्त्यस्याः कुपण्डिताः । देवेनैव निरस्तास्ते 'यथोक्त'(१२।२०)मिति वादिना ॥
शक्त्यसारमनाश्रित्य वाक्यस्याभिधयैव यः । प्रतीयतेऽर्थः प्रथमं स यथोक्त इति स्मृतः ॥
नूनमुद्भावयिष्यन्ति स्वोक्तेऽर्थे गौणतामिति । ज्ञात्वैवाहोपसंहारे यथोक्तमिति तत्प्रभुः ॥
तस्मात्समाना एवैते ज्ञानिनो द्विविधा अपि । विशेषो सगुणोपास्तितत्त्यागौ तेषु केवलम् ॥
तत्र ये ज्ञानिनः सक्ताः सगुणे परमात्मनि । ते देवेशो युक्ततमाः सम्मताश्चेति वक्ष्यति ॥

× × ×

पार्थः सततयुक्तत्वं भक्तानामुक्तवानिह । तदेवान्ववदच्चाग्रे नित्ययुक्ता इति प्रभुः ॥
विचारणीयं तत्रेदं कथं सततयुक्तता ? । प्रारब्धाधीनदेहानां नियत्वाद्विस्मृतेर्भवेत् ॥
बुद्धौ तमसि लीनायां सुषुप्तावात्मनः स्मृतिः । ज्ञानिनामपि कुत्रास्ति ? तदभावे क्व युक्तता ? ॥
सेवन्तां नाम सगुणं निर्गुणं वा यथारुचि । दुर्वारत्वादसम्भाव्या विस्मृतेर्नित्ययुक्तता ॥
तथापि भक्तान्सततयुक्तान्कृष्णार्जुनाविह । उक्तवन्तौ न तु तथा केवलाक्षरचिन्तकान् ॥
तत्र तत्त्वमिदं नश्येद्विस्मृत्या युक्तता स्मृतेः । अभक्त्युद्भवपर्यन्तमचला भक्तियुक्तता ॥
कार्यव्यग्रः क्वचित्पुत्रमपि विस्मरति प्रियम् । न प्रीत्यभावो भवति तदीयस्तत्र तावता ॥
न विस्मृत्या प्रीत्यभावः किन्त्वप्रीत्यैव लक्ष्यते । तथा भक्तेरभावोऽपि वक्तव्योऽभक्तिसम्भवे ॥
अतो युक्तैव भक्तानां वक्तुं सततयुक्तता । नापरेषां सुषुप्त्यादौ प्रायो विच्छेददर्शनात् ॥

इति सुविस्तृतं प्रपञ्चयति । 'के योगवित्तमाः' इत्यस्य उत्तमाः कर्मयोगवेत्तारः के ? इति **नव्यव्याख्यानं** तु कर्मग्राहगृहीतानां तेषामेव शोभते, न हि केऽपि उपासनासक्तं कर्मयोगीति वदन्ति, किन्तूपासक इत्येवेत्यास्तां तावत् । — **अविगीता** ।

स्थितं दर्शितम्; उक्तं च तत्त्वतो भगवज्ज्ञानदर्शनप्राप्तीनामैकान्तिकात्यन्तिकभगवद्भक्त्येकलभ्यत्वम्, अनन्तरमात्मप्राप्तिसाधनभूतादात्मोपासनात् भक्तिरूपस्य भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने शैघ्र्यात् सुखोपादानत्वाच्च श्रैष्ठ्यं भगवदुपासनोपायश्च तदशक्तस्याक्षरनिष्ठता तदपेक्षिताश्चोच्यन्ते। भगवदुपासनस्य प्राप्यभूतोपास्यश्रैष्ठ्यात्, श्रैष्ठ्यं तु 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः' [६।४७] इत्यत्रोक्तम्— 'एवं मत्कर्मकृत्' [११।५५] इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण, सततयुक्ताः भगवन्तं त्वामेव परं प्राप्यं मन्वानाः ये भक्ताः त्वां सकलविभूतियुक्तमनवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसार्वज्ञसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनन्तगुणसागरं परिपूर्णमुपासते; ये चाप्यक्षरं प्रत्यगात्मस्वरूपं तदेव चाव्यक्तं चक्षुरादिकरणेनाभिव्यक्तस्वरूपमुपासते; तेषामुभयेषां के योगवित्तमाः के स्वसाध्यं प्रति शीघ्रगामिन इत्यर्थः। 'भवामि न चिरात्पार्थ! मय्यावेशितचेतसाम्' [१२।७] इत्युत्तरत्र योगवित्तमत्वं शैघ्र्यविषयमिति हि व्यञ्जयिष्यते ॥ १ ॥

### ४ वेङ्कटनाथकृता तात्पर्यचन्द्रिका ।

प्रसक्ताया भक्तेः श्रैष्ठ्यादिकमुच्यत इति द्वादशाध्यायार्थसङ्गतिं वक्तुं पूर्वोक्तमनुवदन् भक्तियोगप्रकरणे वैश्वरूप्यप्रदर्शनसङ्गतिमप्यर्थाद्विविनक्ति— **भक्तियोगनिष्ठाना**मिति। साक्षात्कृते हि पूर्णोपासनं शक्यम्, उपास्यत्वफलत्वोपयुक्ताकारेण तत्प्रकाशनं च युक्तमिति भावः । प्रस्तुतसाक्षात्कारादिकारणप्रधानसङ्गतिस्थलमाह **उक्तं** **चे**ति । स्वप्रकाशनहेतुः कारुण्यादिकम् । तदैव कार्यसिद्ध्यर्थं सत्यसङ्कल्पत्वोक्तिः । उपायफलनिर्देशानन्तरं फलाविलम्बाद्युक्तिरिति सङ्गतिमाह **अनन्तर**मिति । एतेन 'भक्तिशैघ्र्यमुपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठता । तत्प्रकारास्त्वतिप्रीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते' [गी. सं.१६] इति सङ्ग्रहश्लोकोऽपि व्याख्यातः। 'अतिप्रीतिः' इत्यादिना संगृहीतस्य द्वादशाध्यायान्तिमश्लोकार्थस्य भाष्ये चकारेण सङ्ग्रहः। उपक्रान्तोपसंहारमात्ररूपत्वात्तस्य पृथगनुक्तिः । अस्मिन्नध्याये योगवित्तमयुक्ततमादिशब्दैः प्रश्नोत्तरगतैस्तारतम्यमात्रमुच्यते । तच्चोपास्यप्रकर्षहेतुकफलतारतम्यनिबन्धनं किं न स्यात्? इत्यत्राह— **भगवदुपासनस्ये**ति । सम्प्रतिपन्नांशे पुनः प्रश्नो न युक्त इति भावः। अव्यवहितवाक्यसङ्गतिव्यञ्जनार्थमासक्तिवशादौचित्याच्चैवंशब्दानूदितमाह **मत्कर्मकृदित्यादिनोक्तेन प्रकारेणे**ति। सततयुक्तशब्दोऽत्र सततयोगाशंसापर इत्यभिप्रायेणाह **भगवन्तं त्वामेव परं प्राप्यं मन्वाना** इति । 'मत्परमः' [११।५५] इति हि पूर्वश्लोकोक्तम् । सुप्रहत्वानुगुणाकारसूचनार्थं **सकले**त्यादिना 'त्वाम्' इति निर्देशस्य प्रागुपदेशदिव्यचक्षुर्भ्यां प्रतिपन्नविभूत्यादिवैशिष्ट्यपरत्वं दर्शितम् । यद्वा 'पर्युपासते' इत्यत्रोपसर्गाभिप्रेतोक्तिरियम्। तदाह **परिपूर्ण**मिति । अक्षरशब्दस्य प्रकृतावीश्वरे च प्रयोगादिह तद्व्यावृत्त्यर्थमाह **प्रत्यगात्मस्वरूप**मिति । अव्यक्तशब्दस्याक्षरशब्दसमभिव्याहृताचिद्विशेषपरत्वव्युदासायाह **तदेव चाव्यक्त**मिति। यच्छब्दत्रयाभावादुत्तरे च विशेषणविशेष्यव्यक्तेस्त्र्योपास्यत्रयपरत्वमनुचितमिति भावः। 'पञ्चविंशकमव्यक्तं षड्विंशः पुरुषोत्तमः । एतज्ज्ञात्वा विमुच्यन्ते यतयः शान्तबुद्धयः' इति यमस्मृतिवचनेऽपि पुरुषोत्तमादर्वाचीन एवाव्यक्तशब्दः । अत्र योगवित्तमशब्दाभिप्रेतमाधिक्यं दर्शयति **के स्वसाध्य**मिति। प्रश्नस्योपास्याधिक्यादिपरत्वं मा भूत्; उक्तार्थपरत्वे किं प्रमाणं? इत्यत्राह **भवामी**ति। प्रश्नान्यथानुपपत्त्यैव पारिशेष्यादयमर्थः सिद्धः; उत्तरवाक्ये तु स्पष्टः। 'क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्' इति चाक्षरनिष्ठात्प्रकर्ष उच्यत इति भावः ॥ १ ॥

### ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

उपासनाप्रियाय नमः ॥ ॐ ॥ अव्यक्तोपासनाद्भगवदुपासनस्योत्तमत्वं प्रदर्श्य तदुपायं प्रदर्शयत्यस्मिन्नध्याये; तदुपासनमपि मोक्षसाधनं प्रतीयते "श्रियं वसाना अमृतत्वमायन्भवन्ति सत्या समिथा मितद्रौ" [ऋक्सं.७।४।४।४] इति । "अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते" [कठो. ३।१५] इति च । अव्यक्तं च महतः परम् । "महतः परमव्यक्तम्" [कठो. ३।११] इत्युक्तपरामर्शोपपत्तेः ।

### ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

एतदध्यायप्रतिपाद्यमर्थमाह— **अव्यक्ते**ति । अव्यक्तं श्रीः, तदुपायं भगवदुपासनोपायम् । तदुपायप्रदर्शनं च भगवदुपासनाधिक्यसमर्थनार्थमित्येकार्थता, षट्कान्तर्भावश्च । अर्जुनस्य प्रश्नसङ्गतिप्रदर्शनेनैवानन्तर्यलक्षणाऽपि सङ्गतिर्ज्ञायते । ननु भगवदुपासनमिवाव्यक्तोपासनमपि यदि मोक्षसाधनत्वेन प्रमितं स्यात्, तदा तत्साधकाधिक्यविषयः संशयः स्यात्। तदेव कुतः? तथा च

कथमयं संशयमूलोऽर्जुनस्य प्रश्नः? नहि भिन्नफलसाधनसाधकानां निर्धारणार्थः प्रश्नो युज्यते, किन्तु साध्यनिर्धारणार्थ एव; न च तथा प्रकृतो 'यावानर्थः' [ २।४६ ] इत्यादिना निरस्तत्वादित्यत आह **तदुपासनमपीति**। श्रियं प्रति वसाना वसन्तस्ताम् आच्छाद्य स्थिताः, उपासीना इति यावत्। तेषां समिथा समीहितानि सत्यानि भवन्ति। मितद्रौ समुद्रे क्षीराब्धौ। श्रीशब्दस्यान्यतोऽपि प्रवृत्तेः अव्यक्तविषयामेव श्रुतिं पठति- **अनादीति**। निचाय्य सम्पूज्य निशाम्य वा। अत्रापि नाव्यक्तं श्रूयत इत्यत आह— **अव्यक्तं चेति**। चोऽवधारणे। कुत एतत्? परमात्मनोऽपि तत्सम्भवादित्यत आह— **महत इति**। अत्र हि तं महतः परमिति परामर्शो दृश्यते, स चोक्तस्यैव भवति, अव्यक्तमेव च "महतः परमव्यक्तं" [कठो. ३।११] इति महतः परत्वेनोक्तम्; अतोऽत्राप्यव्यक्तग्रहणे तमित्ययं 'महतः परमव्यक्तं' इत्युक्तस्य परामर्श इत्युपपद्यते। अन्यथाऽनुक्तपरामर्शः प्रसज्यते। परमात्मा तु न महतः पर इत्युक्तः किन्तु "अव्यक्तात्पुरुषः परः" [ कठो. ३।११] इत्येवेत्यर्थः।

८ **आ. मा. भा.**— "उपास्य तां श्रियमव्यक्तसंज्ञां भक्त्या मर्त्यो मुच्यते सर्वबन्धैः" इति सामवेदे आग्निवेश्यशाखायाम्। महच्च माहात्म्यं तस्या वेदेषूच्यते— "चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते। तस्यां सुपर्णा वृषणा निषेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥ [ ऋक्सं.८।६।१६।३ ] " चतुःशिखण्डा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते " इति च।

६ **ज. प्र. दी.**— श्रुतिद्वयार्थसंग्राहिकां स्पष्टां चात्र श्रुतिमुदाहरति— **उपास्येति**। नन्वेवं प्रतीयमानमपि अव्यक्तोपासनस्य मोक्षसाधनत्वमुपचरितमेव 'अन्तवत्तु फलं तेषां' [ ७।२३ ] इत्युक्तन्यायात्; अतो नास्य सन्देहहेतुत्वमित्यत आह— **महच्चेति**। तस्याः श्रियः युक्तं ब्रह्माद्युपासनस्य मोक्षसाधनतायां उपचरितत्वकल्पनम्, तेषां जननमरणादिमत्त्वेनासम्भवात्। श्रियस्तु महामाहात्म्यवत्त्वेन वेदोक्तत्वादसम्भवाभावात्। वास्तवमेव तदुपासनस्य मोक्षसाधनत्वमित्यर्थः। सुपेशा सुरूपा घृतप्रतीका दीप्ताङ्गी वयुनानि ज्ञानानि वस्ते आच्छादयति, ज्ञानालंकृतेति यावत्। सुपर्णा सुष्ठु परमानन्दौ, वृषणा सेचकौ, द्विरूपो भगवानेव। यत्र यस्यां विषये। अत्र नित्ययौवनं ज्ञानमयत्वं सर्वदेवतापूज्यत्वं च प्रतीयते। एवमुत्तरत्र।

८ **आ. मा. भा.**— " अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः " इत्यारभ्य " अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्॥ मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि॥ यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्। अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ॥ अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वान्तस्समुद्रे। परो दिवा पर एना पृथिव्यै तावती महिना सम्बभूव" [ऋक्सं. ८।७व. ११, १२]इत्यादि च। "त्वया जुष्ट ऋषिर्भवति देवि त्वया ब्रह्मा गतश्रीरुत त्वया " [ म. ना.१३।२ ] इति च। इति शङ्का कस्यचिद्भवति, अतो जानन्नपि सूक्ष्मयुक्तिज्ञानार्थं पृच्छति— **एवमिति**। एवंशब्देन दृष्टश्रुतरूपं 'मत्कर्मकृत्' [ ११।५५ ] इत्यादिप्रकारश्च परामृश्यते।

६ **ज. प्र. दी.**— रुद्राद्यैः परिवृता राष्ट्री राज्ञी यज्ञियानां यज्ञार्हाणां वसूनां पदार्थानां देवानां वा सङ्गमनी सङ्गमयित्री। प्रथमा चिकितुषी अनादितः सर्वत्र कृतनिवासा। पुरुत्रा पुरुस्थानेषु व्यदधुः कृतवन्तः पूजार्थं प्रतिष्ठापितवन्तः। भूरिस्थात्रां स्वतो भूरिस्थानेषु स्थिताम्। भूरिस्थानेषु देवानावेशयन्तीम्। योऽन्नमत्ति स मयैवात्तीत्यादि। ये अमन्तवो निरपराधास्ते मामुपक्षियन्ति मत्समीपे वसन्ति। श्रुधि शृणु। श्रुत प्रसिद्ध। श्रद्धिवं श्रद्धेयम्। यमुग्रं रुद्रं कर्तुं कामये तं तमुग्रं कृणोमि करोमीत्यादि। सुमेधां सुमेधसम्। रुद्रायेत्यादिचतुर्थी द्वितीयार्थे। ब्रह्मद्विषे संहारकाले ब्राह्मणादिसर्वप्राणिद्विषम्। यद्वा ब्रह्मद्विषां शरवे हिंसकं हन्तवा उ हन्तुमेव। अस्य जगतः पितरं हिरण्यगर्भं मूर्धनि सर्वाधिक्ये। योनिः कारणम्। दिवेत्यादितृतीया पञ्चम्यर्थे। एना एतस्याः महिना महिम्नाऽहमेतावतो सम्बभूवेत्यादिनोच्यते। भवत्वेवं ततः किं असन्दिग्धतया भगवन्तमेवोपासीनस्यार्जुनस्य कथमयं संशयो येनैवं पृच्छति? इत्यत आह— **इतीति**। यत एवं भगवदुपासनस्येवाव्यक्तोपासनस्यापि विनोपचारेण मोक्षसाधनत्वं प्रतीयत इति। तस्मान्मार्गद्वयेनैकमेव फलं प्राप्नुवतां मध्ये के श्रेष्ठा इति साधकबाधकप्रमाणाभावेन शङ्कासंशयः कस्यचिदविदिततत्त्वस्य भवति, अतस्तदनुजिघृक्षया भगवदुपासका एव श्रेष्ठा इति जानन्नप्यर्जुनः पृच्छतीत्यर्थः। अथवा जानन्नपि तत्र स्वाविदितयुक्तिज्ञानार्थं संशयमाहृत्य पृच्छतीत्याह— **सूक्ष्मेति**। योग्यतावशादेवम्भूतं त्वामेवं प्रकारेणोपासत इत्युभयत्रैवं शब्दस्यान्वय इत्याशयवानाह— **एवमिति**। दृष्टं श्रुतं च रूपं यस्य ब्रह्मणस्तत्तथा।

९ आ. मा. भा.— अव्यक्तं प्रकृतिः । 'महतः परमव्यक्तं' [ कठो. ३।१२ ] इति प्रयोगात् । 'यत्तत् त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् । प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत्' [ ३।२६।१० ] इति च भागवते । अक्षरं च तत् । "अक्षरात्परतः परः" [मुं. उ. २।१।२] इति श्रुतेः । परं तु ब्रह्म न हि भगवतोऽन्यत् । 'आनन्दमानन्दमयेऽवसाने सर्वात्मके ब्रह्मणि वासुदेवे ' [ ] इति भागवते । रूपं चेदृशं साधितं पुरस्तात् । उपासनं च तथैव कार्यम् । " सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् " [ ऋक्सं. ८।४।१७।१ श्वे. उ. ३।१४] इत्यारभ्य " तमेवं विद्वानमृत इह भवति " [ नृ. पू. ता. १।६ ] " नान्यः पन्था अयनाय विद्यते " [ श्वे.उ. ३।८ ] इति साभ्यासा ॥

६ ज. प्र. दी.— अव्यक्ताक्षरशब्दयोरपव्याख्यानं निराकर्तुमर्थं तावदाह— **अव्यक्तमिति** । प्रकृतिश्चेतना त्रिगुणं त्रिगुणाभिमानित्वात् । सदसदात्मकं कार्यकारणाभिमानित्वात् । अविशेषं अकार्यं ततः प्रधानं प्राहुः विशेषवत् कार्यवत् । ततः प्रकृतिं प्राहुः तत्प्रकृत्याख्यं तत्त्वम् । परतः परोऽस्त्युत्तमः । अत्राव्यक्तमिति विशेष्यवाची । अक्षरमिति विशेषणवाची अव्यक्तासक्तचेतसाम् । 'अव्यक्ता हि गतिः' [ १२।५ ] इत्यादिवचनात् । अतो व्युत्क्रमेण व्याख्यानम् । विशेषणोपादानं च देवतान्तरवैलक्षण्यप्रदर्शनेन प्रश्नसम्भावनार्थम् । एतदेव भाष्यकृता महच्चेत्यादिना प्रपञ्चितम् । अन्ये तु 'ये त्वां भगवन्तं वासुदेवमुपासते, ये चाप्यक्षरमव्यक्तं परं ब्रह्म तेषां के योगवित्तमाः' इति व्याचक्षते तदसदित्याह— **परं त्विति** । 'आनन्दं' इत्यादेः पूर्वेणोत्तरेण चान्वयो द्रष्टव्यः । तथा च ये त्वां पर्युपासते ये च त्वामित्युक्तं स्यात् । तथा चोन्मत्तप्रलापत्वप्रसङ्ग इति भावः । ननु भगवान्करचरणादिमद्रूपवान्, परं ब्रह्म तु नेदृशरूपवत् । "अशब्दमस्पर्शमरूपम्" [ कठो. ३।१५] इत्यादिश्रुतेः । अतः कथमेतत् ? इत्यत आह— **रूपं चेति** । पराभ्युपगतस्य ब्रह्मणोऽपीति शेषः । अस्तु भगवानेव परं ब्रह्म, किन्तु ये त्वामेवं साकारमुपासते ये चाव्यक्तं निराकारं तेषां के योगवित्तमा इति प्रश्नार्थ इत्यत आह— **उपासनं चेति** । तथैव रूपवत्तयैव । स्यादयं प्रश्नार्थो यदि रूपवत्त्वारूपवत्त्वाभ्यां भगवदुपासनं कार्यं स्यात्; न त्वेतदस्ति, किन्तु रूपवत्तयैवान्यस्य मिथ्योपासनत्वेनानर्थहेतुत्वादिति भावः । कुत एतत् ? इत्यत आह— **सहस्रेति** । आरभ्येत्यनेन "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" [ ऋक्सं. ८।४।१९।२] इत्यादेः "आदित्यवर्णं तमसस्तु पारे" [ चित्यु. १२।७] इत्यादेश्च ग्रहणम् । अभ्यासशब्देन तत्फलनियमो लक्ष्यते । श्रुतिः साकारोपासनं मोक्षसाधनमाहेति शेषः ।

९ आ. मा. भा.— आदित्यवर्णत्वादिश्च न वृथोपचारत्वेनाङ्गीकार्यः । तथा च सामवेदे सौकरायणश्रुतिः— " स्थाणुर्ह वै प्राजापत्यः स प्रजापतिं पितरमेत्योवाच । मुमुक्षुभिः साधुभिः पूतपापैः किमु ह वै तारकं तारवाच्यम् । ध्यानं च तस्याप्तरुचेः कथं स्याद्ध्येयश्च कः पुरुषोऽलोमपादः" इति । "तं होवाचैष वै विष्णुस्तारकोऽलोमपादो ध्यानं च तस्याप्तरुचेर्वदामि । सोऽनन्तशीर्षो बहुवर्णः सुवर्णो ध्येयः स वै लोहितादित्यवर्णः । श्यामोऽथ वा हृदये सोऽष्टबाहुरनन्तवीर्योऽनन्तबलः पुराणः " इति । अरूपत्वादेस्तु गतिरुक्ता । पुरुषभेदश्च प्रश्नादौ प्रतीयते । त्वां पर्युपासते ' ये चाप्यक्षरमव्यक्तं ' इत्यादौ ॥ १ ॥

६ ज. प्र. दी.— नन्वत्रोच्यमान आदित्यवर्णत्वादिराकारः अतमस्कत्वादिसादृश्यादुपचरित एवेत्यत आह— **आदित्येति** । वृथा बाधकेन विना उपचर्यत इत्युपचारः । केचित् "सहस्रशीर्षा" इत्यादिकं हिरण्यगर्भविषयमिति मन्यन्ते अतस्तद्विधूय ईश्वरविषयतया स्वमतं गृहीतुमादित्येत्यादीत्युक्तम् । उपचारानर्हां चात्र श्रुतिमाह— **तथा चेति** । स्थाणुः रुद्रः प्राजापत्यः, प्रजापतेरपत्यम् । साधुभिः साधकैः तारकं संसारस्य । तारः ॐकारः आप्तरुचेर्व्याप्ततेजसः । लोमेति केशवचनम् । लोमपादेति द्वन्द्वः । न विद्यन्ते लोमान्तपादाद्यवयवा यस्यासावलोमपादः, तं स्थाणुमुवाच प्रजापतिः । सुवर्णः सुवर्णवर्णः । अत्र मुमुक्षुभिः को ध्येय प्रश्नः । इत्यकः तारावाच्यं तारकं वस्तु किमिति द्वितीयः । तस्य ध्यानं कथं स्यात् किं साकारतयोत निराकारत्वेन ? इति तृतीयः, तत्राद्यद्वितीययोरर्थतो न भेदः । तारकस्यैव मुमुक्षुध्येयत्वादित्यभिप्रेत्य द्वयोरेकमेवोत्तरमाह यस्त्वया मुमुक्षुध्येयः तारकः पृष्टः एष विष्णुरिति । नाद्यः, अलोमपादो ह्यसावुच्यते । न द्वितीयः, बुद्धावनारोहात् यद्यप्यसावलोमपाद उच्यते तथापि तस्य साकारतयैव ध्यानं वदामीति तृतीयस्य यदि ब्रह्म साकारमेव; तद्ध्यानं च तथैव कार्यम् । तर्हि "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" [कठो. ३।१५]इत्यादेः का गतिः ? इत्यत आह— **अरूपत्वादेस्त्विति** । लौकिकरूपाद्यभावरूपा एतेनालोमपाद इत्यस्याभिप्रायोऽप्युक्तो भवति । इतोऽपि न परोक्तः प्रश्नार्थ इत्याह— **पुरुषेति** । एवं हि व्याख्याने ध्येयस्यैव ध्यानं द्वेधेत्युक्तं स्यात् । अत्र तु ध्येयौ पुरुषौ द्वौ प्रतीयेते । अतश्च नैवमित्यर्थः । प्रश्नस्यैकध्येयविषयतया कथञ्चिद्व्याख्यानेऽप्युत्तरं निरवकाशमित्याशयेनादिग्रहणं कृतम् । किञ्च साकारो-

पासनेन विशुद्धाशये निराकारमुपास्त इत्येकस्यैव क्रमेण ध्येयद्वयमिति परेषां सिद्धान्तः, अत्र तूपासकपुरुषभेदः प्रतीयते ततोऽपि नान्योऽर्थ इत्याह— **पुरुषेति** । उत्तरापव्याख्याननिराकरणं तु तात्पर्यनिर्णय इत्युक्तमेव व्याख्यानमिति स्थितम् ॥ १ ॥

### ७ श्रीमद्धनुमद्विरचितं पैशाचभाष्यम् ।

एवं सुदर्शनं भगवद्रूपं प्रत्यक्षेणोपलभ्य तस्योपास्यत्वं च भगवद्वचनादेव श्रुत्वा किमेवं साकारं भगवद्रूपमुपास्यमाहोस्विदव्यक्तं ब्रह्मरूपमुपास्यम् ? इति संशयानस्तन्निर्णयार्थमर्जुन उवाच— एवमिति । सततयुक्ताः साकारध्याननिष्ठाः । योगवित्तमाः परमात्मवित्तमाः ॥ १ ॥

### ८ श्रीवेङ्कटनाथप्रणीतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

एकादशेऽध्याये भगवतो विश्वरूपं प्रदर्शितम्; द्वादशे तु तदेव सगुणब्रह्मरूपं मुमुक्षुभिः प्रथममुपास्यमिति प्रतिपाद्यते; तत्र मुक्त्यर्थमादौ किं सगुणब्रह्मनिष्ठा कर्तव्या किं वा निर्गुणब्रह्मनिष्ठैव ? इति सन्दिहानः अर्जुन उवाच— एवमिति । एवं ' मत्कर्मकृत् ' [ ११।५५ ] इत्यादिपूर्वोक्तप्रकारेण सततं युक्ताः सन्तो ये भक्तास्त्वां विश्वरूपधरं साकारं ब्रह्म पर्युपासते चिन्तयन्ति, ये चापि अव्यक्तं सर्वेन्द्रियागोचरं निराकारमक्षरं निर्विशेषम् " एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् " [ बृ. उ. ३।८।८ ] इत्यादिश्रुतिप्रतिषिद्धसर्वोपाधिकं ब्रह्मोपासते श्रवणमनननिदिध्यासनैस्तदेकनिष्ठा भवन्ति, तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः ? । योग उपायः, तं विदन्तीति योगविदः, अतिशयेन योगविदो योगवित्तमाः, श्रेष्ठा इत्यर्थः ।

नन्वस्मिन्श्लोके सगुणनिर्गुणब्रह्मोपासकानां मध्ये केषां श्रैष्ठ्यमित्येतावदेव प्रतीयते, न तु मुमुक्षुणा प्रथमं सगुणनिर्गुणनिष्ठयोः किं कार्यं ? इत्येषोऽर्थ इति चेत्, उच्यते— अत्र हि निर्गुणोपासनं नाम तद्विषयकवेदान्तश्रवणमनननिदिध्यासनरूपं तदेकनिष्ठत्वमेव; सगुण इव निर्गुणे मूर्तिचिन्तनरूपस्य प्रसिद्धोपासनस्यासम्भवात्, ' ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ' [ १२।३ ] इत्यत्रोपासनं नाम ' यथाशास्त्रमुपास्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते ' इति भगवत्पादैर्व्याख्यातत्वाच्च । एतादृशनिर्गुणोपासनद्वारैव सगुणोपासनं मुमुक्षोर्मोक्षाय प्रभवति, नान्यथा; श्रवणमनननिदिध्यासनाभावे ज्ञानानुदयात् । तथा च सगुणनिर्गुणचिन्तकेषु के योगविदः ? इति प्रश्नस्य मुमुक्षुषु प्रथमतः किं सगुणनिष्ठा उपायज्ञाः किंवा निर्गुणनिष्ठाः ? इत्येवार्थो भवति । उत्तरानुसारेणाप्येवमेव प्रश्नार्थोऽवसीयते । एवं खलु प्रत्युत्तरं दृश्यते— सगुणनिष्ठा एव श्रेष्ठाः ; यद्यपि सगुणनिर्गुणनिष्ठयोर्भगवत्प्राप्तिरूपं फलमविशिष्टम्, तथापि निर्गुणनिष्ठानां क्लेशोऽधिक इति । एतच्च प्रश्नस्योक्तरूपत्वे सङ्गच्छते; प्रथमतः सगुणनिष्ठानामीश्वरानुग्रहादनायासेनैव निर्गुणविद्यया मोक्ष इति त एवोपायविदः श्रेष्ठाः, सगुणनिष्ठां विहाय प्रथमत एव निर्गुणनिष्ठानां तु तदभावात्क्लेशोऽधिक इत्यनुपायवित्त्वादश्रेष्ठास्त इति सङ्गतेः । सगुणनिर्गुणोपासकानां मध्ये के श्रेष्ठा इति प्रश्नार्थकल्पनं तु सगुणविदां निर्गुणविद्यां विना पुरुषार्थाभावात्तेषां युक्ततमत्वोक्तिर्निर्गुणविदां ततः क्लेशाधिक्योक्तिश्चासङ्गता स्यात् । तस्माद्यथोक्त एव प्रश्नार्थः । " कौन्तेय ! प्रतिजानीहि ' [ ९ । ३१ ] ' मत्कर्मकृन्मत्परमः ' [ ११ । ५५ ] इत्यादिना भक्तस्य श्रेष्ठत्वम् ' तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः ' [ ७ । १७ ] ' सर्वं ज्ञानप्लवेनैव ' [ ४।३६ ] इत्यादिना ज्ञाननिष्ठस्य च श्रेष्ठत्वमुक्तम् ; एवमुभयोरपि श्रेष्ठत्वे विशेषजिज्ञासयाऽर्जुनप्रश्नोऽयम् ' इति व्याख्यानं त्वसङ्गतमेव, ' भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन ' [ ११।५४ ] इति पूर्वाध्यायोक्त्या 'भक्त्या मामभिजानाति ' [ १८।५५ ] ' मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ' [ १३।१८ ] इत्यादिना भगवता भक्तेर्ज्ञानसाधनत्वप्रतिपादनेन मोक्षं प्रति तस्याः स्वतन्त्रसाधनत्वासिद्ध्या भक्तिज्ञानयोर्विशेषजिज्ञासया प्रश्नस्य भक्तेराधिक्यवर्णनस्य चायोगात् । अतः पूर्वोक्तरीत्यैव श्लोकार्थः । भाष्यमप्यत्रैव स्वरसमिति ॥ १ ॥

### ९ श्रीवल्लभाचार्याविष्कृता तत्त्वदीपिका ।

प्रमेयरूपा तद्भक्तिः प्रमेयः पुरुषोत्तमः । अतः प्रमेयमार्गे तु हरिः सेव्यो न चापरः ॥ १ ॥

अथ पूर्वत्र 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' [ ८।११ ] इत्यादिना विश्वरूपादेरप्यक्षरत्वेन निरूपणश्रवणादक्षरस्य च भगवद्धामपदत्वोक्तौ भेदमिवालक्ष्य तदुभयोपासकविशेषजिज्ञासया भगवन्तमर्जुन उवाच— एवमिति । 'मत्कर्मकृत्' [ ११।५५ ] इत्यादिनोक्तप्रकारेण सततं युक्ता योगिनोऽर्पितात्मानो वा भक्ता ये त्वां पुरुषोत्तमं सौम्यरूपं भक्तानुग्रहविग्रहं सर्वविभूतिमूलं निरवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसर्वज्ञत्वसत्यसङ्कल्पत्वाद्यनन्तगुणनिधिं सदानन्दमात्रकरपादमुखोदराङ्गं परिपूर्णं स्वेच्छयाऽधिदैविकश्रीभूलीलादिशक्तिभिः सह भुवि प्रादुर्भूतं स्वमायया मानुषाकारं पर्युपासते। परिरत्र वर्जने 'अपपरी वर्जने' [अष्टा.१।४।८८]इत्यनुशासनात्। अन्योपासनं परिवर्ज्य त्वत्समीप आसते आसक्ता ये भक्ताः । ये चापि समनन्तरोक्तरूपमक्षरमव्यक्तं पर्युपासते। तेषामुभयेषां मध्ये तव मताः के युक्ततमाः ? इति प्रश्नः ॥ १ ॥

### १० श्रीपुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी ।

पुरुषोत्तमभक्तानामक्षराभिनिवेशिनाम् ।
स्वरूपतारतम्यार्थं श्रीकृष्णं ह्यर्जुनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'मत्कर्मकृत्' [ ११।५५ ] इत्यनेन भक्तानां स्वभजनैकनिष्ठानां स्वप्राप्तिरुक्ता, पूर्वं चाष्टमाध्याये 'यदक्षरं वेदविदो वदन्ति' [ ११ ] इत्यारभ्य 'स याति परमां गतिम्' [ ८।१३ ] इत्यन्तमक्षरोपासकानां परमगतिरुक्ता, एतदुभयोस्तारतम्यजिज्ञासुरर्जुनो भगवन्तं विज्ञापयति—एवमिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वसङ्गपरित्यागेन अनन्यभक्ता ये त्वां प्रकटमानन्दरूपं पर्युपासते ध्यायन्ति तेषामुभयेषां मध्ये के योगवित्तमाः? अतिशयितत्वत्संयोगविदः? श्रेष्ठा इत्यर्थः । तान् कृपया आज्ञापयेति भावः ॥ १ ॥

### ११ नीलकण्ठकृतो भारतभावदीपः ।

सप्तममारभ्यैतावता ग्रन्थेन तत्पदवाच्यार्थो निरूपितः । इदानीं तत्पदार्थशोधनमुपासनाकाण्डं च समापयिष्यन्निहार्थतः प्राधान्येन तत्पदलक्ष्यमर्थं तद्विदां लक्षणानि च प्रदर्श्यन्ते । शब्दतस्तु लौकिकबुद्ध्यनुसारेण तत्पदवाच्यस्यैवोपासनादिकं प्रपञ्च्यते । तत्र पूर्वाध्यायान्ते [ ११।५५ ] 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इत्यादिना स्वभजनमुक्तम् । तत्र मच्छब्दार्थः किं सगुणमुत निर्गुणं ब्रह्म उभयत्राप्यस्मच्छब्दस्य पूर्वं प्रयोगदर्शनात्सन्दिहानः पृच्छति—एवमिति । एवमित्यव्यवहितं 'मत्कर्मकृत्' इत्यादिनोक्तं प्रकारं परामृशति अनेन प्रकारेण ये सततयुक्ता नित्यं समाहितचित्ता भक्ताः सगुणवेदिनस्त्वां पर्युपासते, ये चाप्यक्षरमस्थूलादिलक्षणमव्यक्तं बुद्ध्याद्यगोचरमुपासते तेषां मध्ये योगवित्तमाः के ? कतरे इत्यर्थः ॥ १ ॥

सगुणब्रह्मनिष्ठायाः सुकरत्वात्सौलभ्यं प्राशस्त्यं च ।

**श्रीभगवानुवाच— मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।**
**श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ २ ॥**

१ **शां. भा.**—श्रीभगवानुवाच— ये त्वक्षरोपासकाः सम्यग्दर्शिनो निवृत्तैषणास्ते तावत्तिष्ठन्तु, तान्प्रति यद्वक्तव्यं तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः [ ] । ये त्वितरे—**मयी**ति । मयि विश्वरूपे परमेश्वर आवेश्य समाधाय मनो ये भक्ताः सन्तो मां सर्वयोगेश्वराणामधीश्वरं सर्वज्ञं विमुक्तरागादिक्लेशतिमिरदृष्टिं नित्ययुक्ता अतीतानन्तराध्यायान्तोक्तश्लोकार्थन्यायेन सततयुक्ताः सन्त उपासते श्रद्धया परया प्रकृष्टयोपेता ये ते, मे मम युक्ततमा मता अभिप्रेता युक्ततमा इति । नैरन्तर्येण हि ते मच्चित्ततयाऽहोरात्रमतिवाहयन्ति (अहोरात्रमतिरात्रं मां ध्यायन्ति) अतो युक्तं तान्प्रति युक्ततमा इति वक्तुम् ॥ २ ॥

---

१ ननूभयेऽपि योगज्ञाश्चेत्तत्र भक्तानामेवाधिकतमत्वं किम्मूलं ? न हि समानकक्ष्येष्वन्यतरस्य श्रेयस्त्वं हेतुमृते वक्तुं युक्तमिति चेत्, 'तेषामहं समुद्धर्ता' ( १२।७ ) इति वक्ष्यमाण एव तत्र हेतुः । निर्गुणोपासकाः खल्वभ्यासबलेन मां निर्गुणं प्राप्नुवन्ति, अतो भिक्षाटनेन धनार्जनपरा इव ते भूयांसं क्लेशमश्नुवते । भक्तानां त्वहमेवोद्धर्तेति सार्वभौमसेवकाः स्वापतेयमिव तेऽल्पीयसायासेन सगुणं मामाप्नुवन्तीति पत्काषिभ्यः पुष्परथस्थानामिव युक्तमेव तेषां ततोऽभ्यर्हितत्वम् ॥ ननु सगुणसेवयाऽनायासेन सिद्धिरिति निर्गुणासक्तचेतसः कथं नावगच्छन्ति ? नहि ते भ्रान्ता अज्ञा वा भवन्ति। तत्कुतस्ते निर्गुणात्मज्ञाने सति सगुणभजनं जहति ? कुतश्चेमे नेति चेदाह— **श्रद्धयेति** । इमे हि परया कदाचिदप्यविचलया श्रद्धया सगुणभक्त्यैव सिद्धिरित्यास्तिक्यबुद्ध्योपेता अतो भक्तिं न त्यजन्ति, अन्ये तु स्वहितपरा अपि ज्ञाने सति तदवलेपाविष्टा निपुणमानिनः सगुणभजनं विहाय प्रसभं योगमभ्यस्यन्तः, तत्र त्रिविष्टपपतिभिरुपस्थापितान्विघ्नान्प्रत्याहारादिभिः प्रयत्नैर्निघ्नन्तः पारदर्शनमात्रेण तरणिमुज्झित्यावर्तगर्तदन्तुरे महोग्रग्राहविषमे स्रोतस्विनीप्रवाहे प्रदत्तझम्पा इव भूयांसं क्लेशमनुभवन्तीति भावः । अत एव च ते न नित्ययुक्ता इत्युच्यन्ते, तैर्भक्तियोगस्य त्यक्तत्वात्, निरालम्बनस्य च योगस्य व्युत्थाने विच्छेददर्शनात् । सगुणपराणां तु ज्ञानोदयात्पूर्वमिव तदूर्ध्वमपि भगवदनुरागधाराविच्छेदाद्युक्तमेव सततयुक्तत्वमिति । अथ भक्तानां ज्ञानोत्पत्तेः प्राक्तनोपासनादूर्ध्वतनोपासनस्य विशेषमाह— **मय्यावेश्येति** । सर्वात्मतावगमापूर्वं साकारं मां मनस्यावेश्य ध्यायन्ति, तदूर्ध्वं तु मनो मयि चिदेकरसे प्रवेश्य मूर्तौ कनकमिव, पटे तन्तुमिव साकारे निराकारं चिदेकरसं मां सामरस्येन साक्षात्कुर्वाणा उपासत इति नैर्गुण्यानुभवपूर्वकं सगुणसेवनं सूचयतीत्यादिचतुरतरं प्रपञ्चितमत्र **वामनेन** ।

**—अविगीता ।**

२ आ. शां. व्या.— किमनयोर्योगयोर्मध्ये सुशक्यो योगो वा पृच्छ्यते ? किंवा साक्षान्मोक्षहेतुः ? इति विकल्प्य क्रमेणोत्तरं भगवानुक्तवानित्याह— श्रीभगवानिति । यदि द्वितीयस्तथाविधयोगस्य वक्ष्यमाणत्वान्न प्रष्टव्यतेत्याह— ये त्वक्षरेति । यथायस्तत्राऽऽह— ये त्विति । सर्वयोगेश्वराणां सर्वेषां योगमधितिष्ठतां योगिनामित्यर्थः । विमुक्ता त्यक्ता रागाद्याख्या क्लेशनिमित्तभूता तिमिरशब्दिताऽनाद्यज्ञानकृता दृष्टिरविद्या मिथ्या धीर्यस्य तमिति विशिनष्टि— विमुक्तेति । नित्ययुक्तत्वं साधयति— अतीतेति । तत्रोक्तो योऽर्थो 'मत्कर्मकृत्' इत्यादि तस्मिन्निश्चयेनायनमायो गमनं तस्य नियमेनानुष्ठानं तेनेत्यर्थः । उपासते मयि स्मृतिं सदा कुर्वन्तीत्यर्थः । उक्तोपासकानां युक्ततमत्वं व्यनक्ति— नैरन्तर्येणेति । तदेव स्फुटयति— अहोरात्रमिति । अह्नि च रात्रौ चातिमात्रमतिशयेन मामेव विषयान्तरविमुक्ताश्चिन्तयन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

**३ रा. भा.— अत्यर्थमत्प्रियत्वेन मनो मय्यावेश्य श्रद्धया परयोपेताः नित्ययुक्ताः नित्ययोगं काङ्क्षमाणाः ये मामुपासते प्राप्यविषयं मनो मय्यावेश्य ये मामुपासत इत्यर्थः । ते युक्ततमाः मे मताः, मां सुखेनाचिरात्प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥**

४ वे. ता. चं.— मयीति । 'मय्यावेश्य' इत्यत्रोपासनान्यथानुपपत्तिलभ्यविषयीकरणमात्रपरत्वे निष्प्रयोजनत्वादक्षरनिष्ठस्याप्युपायतया भगवति चित्तावेशसाम्यात्तद्व्यवच्छेदार्थमाह प्राप्यविषयमिति ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.— मयीति । मयि भगवति साकारे विश्वरूपे ॥ २ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं पृष्टः श्रीभगवानुवाच — मय्यावेश्य इति । प्रथमं मयि सगुणे ब्रह्मणि मन आवेश्य एकाग्रं कृत्वा 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' [ ११।५५ ] इत्यादिना पूर्वोक्तप्रकारेण नित्ययुक्ताः सन्तः परया श्रद्धया सह ये मामुपासते चिन्तयन्ति, ते प्रथमतः सगुणनिष्ठा मुमुक्षवः युक्ततमा उपायवित्तमा ममाभिमताः ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— तत्र सिद्धान्तं वदन् श्रीभगवानुवाच— मयीति । सर्वनियन्तरि सकलालौकिकगुणे साक्षान्मन्मथमन्मथे निरवद्या-( द्य )-नन्तनित्यलोके करुणाशीले परमानन्दे लोकोत्तरनामरूपाङ्केऽसङ्ख्येयसर्वधर्माश्रये परतत्त्वे रसात्मके पूर्णपुरुषोत्तमे साक्षात्कर्त्तरि परदेवतायां भगवति सर्वमूलभूते मयि ये प्रेममात्रसम्बन्धेन (येनकेन च सम्बन्धेन )नित्ययुक्ता मन आवेश्य मामुपासते । 'अयमेवास्माकं भजनीयगुणालयः परः प्रेयानात्मा, नान्यः' इति परया श्रद्धयोपेतास्ते युक्ततमा मे मताः ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— तत्र ये प्रकटपुरुषोत्तमरूपमद्भजनकर्तारस्त उत्तमा इत्याशयेनोत्तरमाह श्रीभगवान्— मयीति । मयि प्रकटरूपे सम्यक् निष्कामतया मनः सर्वदैकरूपमावेश्य आसमन्तात् सर्वात्मभावेन निवेश्य ये भाग्यवन्तो नित्ययुक्ताः मत्सेवैकतत्पराः परया प्रेमैकलक्षणया श्रद्धया उपेताः युक्तास्ततो मामुपासते सेवन्ते ते युक्ततमा उत्तमाः मे मताः सम्मता इत्यर्थः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— निर्गुणस्य दुष्प्रापत्वोक्त्यैवं श्रेष्ठत्वं सूचयन् सगुणप्राशस्त्यं च शब्दतो दर्शयन् श्रीभगवानुवाच— मयीति । मयि सगुणे ब्रह्मणि मन आवेश्य प्रवेश्य ये नित्ययुक्ताः सदोद्युक्ता मां परमेश्वरमुपासते चिन्तयन्ति श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या परया सात्विकया 'अवश्यं परमात्माऽयमाराधितोऽस्मांस्तारयिष्यति' इत्येवं निश्चयरूपया श्रद्धया उपेतास्ते मे मम 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ ७।८ ] इति ज्ञानिनमात्मत्वेनैव पश्यतो मूर्खेष्वपि कारुण्यात्पक्षपातवतः सर्वज्ञस्य युक्ततमा मताः ॥ २ ॥

निर्गुणब्रह्मनिष्ठाया दुष्करत्वाद्दौर्लभ्यं श्रेष्ठत्वं च ।

**ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।**
**सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥ ३ ॥**

---

१ अत्र वामनः— अक्षरं क्षरभागातीतं तन्निरसनमुखेनानुभवैकगम्यम् । ननु शास्त्रश्रवणान्न क्षरतीत्यक्षरम्, तमुपास्महे इत्युपासत इति चेत् तन्न घटत इत्याह— अनिर्देश्यमिति, न निर्देशार्हमिदमित्थमिति वक्तुमशक्यं, किन्तु शाखाचन्द्रन्यायेनाधिगम्यम्; तमुपासते तावता त्वनुभवैकवेद्यमिति सिद्धम् । तदेवोपपादयति— अव्यक्तमिति, व्यक्तिरहितमव्यक्त

**सन्नियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।**
**ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥ ४ ॥**
**क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।**
**अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ ५ ॥**

---

—श्रीवत्साद्यङ्कैः श्रुतं मनसि कल्पयित्वा परोक्षेण सगुणमिवोपासितुमशक्यमिति भावः । ननु— किमिति न गृह्यते ? यदक्षरं यदनिर्देश्यं यदव्यक्तं तदुपास्महे इत्युपासितुं शक्यत इति चेत् ; तथा च न घटत इत्याह— अचिन्त्यमिति, केनापि प्रकारेण चिन्तयितुमशक्यम् ; आत्मतयाधिगतमेवोपास्यं, न तु परोक्षेण तच्चिन्त्यमित्यभिप्रायः । तत्र हेतुमाह— कूटस्थमिति, निर्विकारं चैतन्यं सर्ववृत्तिप्रकाशकमपि वृत्तिभिरलिप्तम्, तस्य वृत्तिभिरेवैकगम्यत्वात् । एवमेवाचलं ध्रुवं चेति सप्तभिरुपास्यविशेषणैः साक्षादुपासनामुपपाद्य निर्विशेषयोगाभ्यासपरास्त इत्युक्त्वा सर्वत्रगमिति विशेषणेन सर्वत्र ब्रह्मनिरीक्षणाभ्यासपरा इत्यपि स्फुटीकृतम्— इति । सर्वत्रगमित्यादिभिर्विशेषणैरात्मनः सर्वेश्वरधर्मा आरोप्यन्त इत्यभिनवगुप्तपादाः । —अविगीता ।

१ अथाधिगतात्मनामपि वैराग्याभावान्न योगसिद्धिरित्यपि शङ्का मा भूत् , सगुणोपासनात्यागस्यैव तत्र हेतुत्वादिति स्फुटीकर्तुमुपासकविशेषणैस्तद्वैराग्यं द्योतयतीत्यवतारितोऽयं श्लोको **वामनेन** ।

इन्द्रियग्रामसंयमः सर्वत्र समबुद्धित्वे, तच्च सर्वभूतहितत्वे हेतुः; मामिति च निर्गुणस्वरूपनिर्देश इति **च तदाशयः** । तथा चाह—

ज्ञातेऽपि हेम्नि सकलेषु समानरूपे यद्वद्विभान्ति विषमाणि विभूषणानि ।
विश्वं तथा विषयिभिर्विषयान् लषद्भिर्दृष्टं तदात्मकतया विषमं विभाति ॥
संयम्य तान्यशिथिलं सकलं जगद्ये ब्रह्माद्वितीयमिति चेतसि चिन्तयन्ति ।
लोकेषु च व्यवहरन्ति तथा स्मरन्तस्ते सर्वभूतहित एव रता भवन्ति ॥
अव्यक्तं मामुपासीनाः सगुणं परिहृत्य ते । मामेवाव्यक्तमगुणं प्राप्नुवन्ति तथाविधम् ॥ — इति ।

ते पश्चात्तप्ताः सन्तो वयं ज्ञातब्रह्मात्मानः किमस्माकं सगुणोपासनया ? इत्यभिमानं परित्यज्य मामेव प्राप्नुवन्ति, मां सगुणमेव यं ज्ञानाभिमानेन त्यक्तवन्तस्तमेव, मामित्यङ्गुल्या स्वां श्रीमूर्तिं दर्शयन्नेवकारेणेममर्थं सूचयन्नाह । कुतस्त्वामेव प्राप्नुवन्तीति चेत्तत्राह-**सर्वभूतहिते** रता इति । यतस्ते स्वहिताशंसिनो न तु दाम्भिकाः, न चादीर्घदर्शिनो मताभिमानिनो वा । सर्वभूतहिते रतास्ते कथं स्वहिते प्रमत्ताः स्युः ? किन्तु प्राक् सगुणभजनत्याग एव स्वहितं मन्यमाना एवं दुःखमनुभूय मामेव शरणं प्राप्नुवन्तीति भगवतोऽभिप्राय इति स एवान्यत्र । (श्रु. क. १७–१८) यत्तु - 'तेऽपि मामेव प्राप्नुवन्ति इति' **नव्यव्याख्यानम्**, तत्राक्षरोपासकानामवरत्वबोधनाय प्रयुक्तोऽपिशब्दोऽनाकरः; 'तेषामहं समुद्धर्ता' (१२।७) इत्यग्रिमवचनस्वारस्यविरुद्धश्चेति व्यक्तमेव ॥ —अविगीता ।

१ अत्र **श्रुतिकल्पलतायां** दशम एकादशे चाध्याये **वामनेन** प्रतिपादितोऽर्थः सङ्क्षेपतः सङ्गृह्यते- **क्लेश** इति । **अयमर्थः**– आदावात्मज्ञानात्प्राक् सगुणोपासनयैव सामान्यतः सर्वेषां तत्त्वप्राप्तिरिति सर्वसम्मतम् । ततः केचित् 'अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते' (१२।६) । केचित्तु किमधुना सगुणेनेति ज्ञानमानिनः 'अक्षरमनिर्देश्यम्–' (१२।३) तत्र सगुणोपासकानां 'तेषामहं समुद्धर्ता' (१२।७) इत्युक्तत्वादनायासेन योगसिद्धिः, केवलाव्यक्तोपासकानां तु 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' (१२।४) इत्युक्तकालादूर्ध्वमुपासकतुल्यगतित्वात् , ततः प्राक् योगसिद्धिहेतुकृतक्लेशवैयर्थ्यात् 'क्लेशोऽधिकतरः' इत्युच्यते ॥

अत्र केवलाव्यक्तोपासनाभिमानिनो देहवद्भिर्देहाभिमानिभिः, न तु निरभिमानिभिरिति व्याकृत्य केवलाव्यक्तोपासनयैव सिद्धिरिति स्थापयन्ति । तन्न घटते । कुतः ? देहवद्भिरिति पदेन ये देहाभिमानिन इत्युच्यन्ते, ते निरस्तजडोपाधयः समधिगतचिदात्मानो वा ? उत चिदचिद्विवेकशून्या वा ? । **आद्ये**, निरस्ताभिमानास्पदोपाधयः समधिगतनिरभिमानमूलचिदात्मानोऽव्यक्तोपासका अपि यदि देहात्ममानिन एव, तर्हि सगुणोपासनाराहित्यादिति सिद्धम् । "तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य" (तै. २।७।१) इति श्रुतेः । अहं ज्ञानवानिति मन्वानस्य तु तदेव 'उदरमन्तरं कुरुते' इति पूर्ववाक्योक्तं भयं भवतीत्यर्थः । तस्मादहं ज्ञानवानिति मनस्स्फुरणस्य दुर्वारत्वात् केवलाव्यक्तोपासकानां वयं ज्ञानिन इति मानः स्यादेव, स्वस्य ब्रह्मात्मताधिगमादधुना किमस्माकं सगुणोपासनयेति मानित्वस्य दृश्यमानत्वात् । ये सगुणपरास्तेषां तु भगवानेव ज्ञानप्रद इति बुद्धिनिश्चयदार्ढ्यादहं ज्ञानवानिति स्फुरणाभावः । अतो भगवानेव 'तेषामहं समुद्धर्ता' (१२।७) इत्याह । **द्वितीये** तु 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं' (१२।३) इत्युपक्रमविरोधः चिदचिज्ज्ञानशून्यानामनधिगतचिदात्मनामव्यक्तोपासनाया असम्भवश्च । तस्मादत्रोक्ता अव्यक्तोपासका आत्मज्ञानिन एव । किन्तु भगवदाराधनाभावाज्ज्ञानमानित्वात् तैर्देहवद्भिर्दुःखं यथा स्यात्तथा अव्यक्ता गतिरवाप्यते, न तु सुखेनेत्यर्थः । —

**१ शां. भा.— किमितरे युक्ततमा न भवन्ति ? न ;** किन्तु तान्प्रति यद्वक्तव्यं तच्छृणु— ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तत्वादशब्दगोचरमिति न निर्देष्टुं शक्यतेऽतोऽनिर्देश्यम्, अव्यक्तं न केनापि प्रमाणेन व्यज्यत इत्यव्यक्तं पर्युपासते परि समन्तादुपासते। उपासनं नाम यथाशास्त्रमुपास्यस्यार्थस्य विषयीकरणेन सामीप्यमुपगम्य तैलधारावत्समानप्रत्ययप्रवाहेण दीर्घकालं यदासनं तदुपासनमाचक्षते । अक्षरस्य उपास्यस्य विशेषणमाह— सर्वत्रगं व्योमवद्व्याप्यचिन्त्यं चाव्यक्तत्वादचिन्त्यम्। यद्धि करणगोचरं तन्मनसाऽपि चिन्त्यं, तद्विपरीतत्वादचिन्त्यमक्षरं कूटस्थं, दृश्यमानगुणकमन्तर्दोषं वस्तु कूटं कूटरूपं कूटसाक्ष्यं, इत्यादौ कूटशब्दः प्रसिद्धो लोके। तथा चाविद्याद्यनेकसंसारबीजमन्तर्दोषवन्मायाव्याकृताद्यनेकशब्दवाच्यतया "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" [श्वे.उ.४।१०] 'मम माया दुरत्यया' [७।१४]इत्यादौ प्रसिद्धं यत्तत्कूटं, तस्मिन्कूटे स्थितं कूटस्थं तदध्यक्षतयाऽथवा राशिरिव स्थितं कूटस्थमतएवाचलं, यस्मादचलं तस्माद्ध्रुवं नित्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** वक्ष्यामस्तदुपरिष्टादित्युक्तं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **किमि**त्यादिना । पूर्वेभ्यः फलतो विशेषार्थस्तुशब्दः । अव्यक्तत्वमनिर्देश्यत्वे हेतुरित्याह— **अव्यक्तत्वादि**ति । यतोऽव्यक्तमतोऽनिर्देश्यमिति योजना । निरुपाधिकेऽक्षरे कथमुपासना ? इति पृच्छति— **उपासनमि**ति । शास्त्रतोऽक्षरं ज्ञात्वा तदुपेत्याऽऽत्मत्वेनोपगम्योपासते तथैव तिष्ठन्ति पूर्णचिदेकतानमक्षरमात्मानमेव सदा भावयन्तीत्येतदिह विवक्षितमित्याह— **यथे**ति । अव्यक्तत्वमेवाचिन्त्यत्वेऽपि हेतुरित्याह— **यद्धी**ति । कूटशब्दस्योक्तार्थत्वं वृद्धप्रयोगतः साधयति— **कूटरूप**मिति । आदिपदमनृतार्थम् । प्रकृते किं तदनृतं कूटशब्दितं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तथा चे**ति । उक्तरीत्या कूटशब्दस्यानृतार्थत्वे सिद्धे यदनेकस्य संसारस्य बीजं निरूप्यमाणं नानाविधदोषोपेतं "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतं" [बृ.उ. १।४।७ ] "मायां तु प्रकृतिं" [ श्वे. उ. ४।१० ] 'मम माया' [ ७।१४ ] इत्यादौ मायाशब्दिततया प्रसिद्धमविद्यादि तदिह कूटशब्दितमित्यर्थः । तत्रावस्थानं केन रूपेण ? इत्याशङ्कायामाह— **तदध्यक्षतये**ति । कूटस्थशब्दस्य निष्क्रियत्वमर्थान्तरमाह— **अथवे**ति । पूर्वमुपजीव्यानन्तरविशेषणद्वयप्रवृत्तिमाह— **अत एवे**ति ॥ ३ ॥

**१ शां. भा.— सन्नियम्येति** । सन्नियम्य सम्यक् नियम्य उपसंहृत्येन्द्रियग्राममिन्द्रियसमुदायं, सर्वत्र सर्वस्मिन्काले समबुद्धयः समा तुल्या बुद्धिर्येषामिष्टानिष्टप्राप्तौ ते समबुद्धयः ते, य एवंविधास्ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः । न तु तेषां वक्तव्यं किञ्चिन्मां ते प्राप्नुवन्तीति । 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं' [७।१८] इति ह्युक्तम् । न हि भगवत्स्वरूपाणां सतां युक्ततमत्वमयुक्ततमत्वं वा वाच्यम् ॥ ४ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** कथमक्षरमुपासते तदुपासने वा किं स्यात् ? इति तदाह— **सन्नियम्येति** । तुल्या हर्षविषादरागद्वेषादिरहिता सम्यग्ज्ञानेनाज्ञानस्यापनीतत्वात् । क्रमपरापेक्षयोरसम्भवं विवक्षित्वाऽऽह— **ते, य** इति । सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हिते रताः सर्वेभ्यो भूतेभ्यो हितमेव चिन्तयन्तस्तदेवाऽऽचरन्ति । ज्ञानवतां यथाज्ञानं भगवत्प्राप्तेरर्थसिद्धत्वादनुवादमात्रमेतदित्याह— **न त्वि**ति । ज्ञानिनो भगवत्प्राप्तिः सिद्धैवेत्यत्र प्रमाणमाह— **ज्ञानी** त्विति । ज्ञानवतां भगवत्प्राप्तौ त एव युक्ततमा वक्तव्याः, कथं सगुणब्रह्मोपासकान्युक्ततमानुक्तवानसि? इत्याशङ्क्याऽऽह— **न ही**ति ॥ ४ ॥

---

ननु यथाकथञ्चिदव्यक्तां गतिं ते प्राप्नुवन्तीति सिद्धम्, देहाभिमानिनां तदसम्भवात्। तस्माद्देहवद्भिरित्यनेन देहाभिमानिभिरनधिगतात्मभिरव्यक्ता हि गतिर्नावाप्यते; दुःखशब्दः परिवर्जनार्थ इति व्याख्येयमिति चेत् , न; उपक्रमविरोधात्, बहुभिः पदैस्तेषामात्मज्ञानित्वोपपादनात्मज्ञा इति न घटते । न च दुःखशब्दोऽत्र परिवर्जनार्थे, 'ये त्वक्षरं' इत्याद्युपास्योपासकविशेषणैर्ज्ञातात्मनां सविशेषनिर्विशेषयोगद्वयाभ्यासपराणां विरक्तानां द्वन्द्वसमानां गत्यन्तराविवक्षणात् । तर्हि देहाभिमानिभिर्दुःखेन वा कथमव्यक्ता गतिरवाप्यते ? इति चेत् ; भगवदाराधनाभावाद्योगसिद्धिमप्राप्य पश्चात्तप्ताः पुनः सगुणं शरणं प्राप्य तदनन्तरमव्यक्तां गतिं प्राप्नुवन्तीति दुःखेनाव्यक्ता गतिस्तैरवाप्यत इत्युक्तम् । ननु देहवद्भिर्नाम मनुष्यैः, नात्र देहाभिमानित्वं वयं व्याकुर्म इति चेत् ; इष्टापत्तिः, मनुष्यैरव्यक्तोपासनया दुःखं यथा स्यात्तथा गतिरवाप्यत इति सिद्धत्वात् इत्यादि तत्रैव विस्तरः । **सिद्धान्तदर्शने** तु — 'अव्यक्ता हि ' इत्यत्रायम**ाशयः**— सावयवस्याविवेकिनो निरवयवभावनायामवसीदति मनो महाप्रान्तरपतितस्येव लोचनागोचरमानवतिर्यग्जनस्तम्भतरुलतादेः । ( २।४।१ ) इति ब्रह्मोपासका अपि मामेव यद्यपि यान्ति, तथाप्यधिकतरस्तेषां क्लेशः । आत्मनि किलापहतपाप्मत्वादिगुणाष्टकारोपं विधाय पश्चात्तमेवोपासत इति स्वतस्सिद्धगुणग्रामगरिमणीश्वरेऽयत्नसाध्ये स्थितेऽपि द्विगुणमायासं विन्दन्ति इत्य**भिनवगुप्तपादाः** ।

— **अविगीता** ।

**१ शां. भा.**—किन्तु—**क्लेश** इति । क्लेशोऽधिकतरो यद्यपि मत्कर्मादिपराणां क्लेशोऽधिक एव, क्लेशोऽधिकतरस्त्वक्षरात्मनां परमार्थदर्शिनां देहाभिमानपरित्यागनिमित्तः, अव्यक्तासक्तचेतसामव्यक्ते आसक्तं चेतो येषां तेऽव्यक्तासक्तचेतसस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् । अव्यक्ता हि यस्माद्या गतिरक्षरात्मिका दुःखं सा देहवद्भिर्देहाभिमानवद्भिरवाप्यतेऽतः क्लेशोऽधिकतरः । अक्षरोपासकानां यद्वर्तनं तदुपरिष्टाद्वक्ष्यामः ॥ ५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—सगुणोपासकेष्वपि कथं ? इत्याह—**किन्त्विति** । अक्षरोपासनस्य दुष्करत्वादुपासनान्तरस्य सुकरत्वादित्यभिप्रेत्याह—**क्लेश** इति । अधिक एवेतरेभ्यो द्वैतदर्शिभ्यः कामिभ्य इति शेषः । तेषां क्लेशस्याधिकतरत्वे हेतुं मत्वा विशिनष्टि—**देहे**ति । अव्यक्तमत्यन्तसूक्ष्मं निर्विशेषमक्षरं तस्मिन्नासक्तमभिनिविष्टं चेतो येषां तेषामिति यावत् । अक्षरोपासकानां क्लेशस्याधिकतरत्वे भगवानेव हेतुमाह—**अव्यक्ते**ति । दुःखं दुःखेन, कृच्छ्रेणेति यावत्; अतो देहाभिमानत्यागादित्यर्थः । ते कथं वर्तन्ते ? तत्राऽऽह—**अक्षरे**ति ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.**—ये त्वक्षरं प्रत्यगात्मस्वरूपं, अनिर्देश्यं देहादन्यतया देवादिशब्दानिर्देश्यं, तत एव चक्षुरादिकरणानभिव्यक्तं, सर्वत्रगमचिन्त्यं च सर्वत्र देवादिदेहेषु वर्तमानमपि तद्विसजातीयतया तेन तेन रूपेण चिन्तयितुमनर्हं, तत एव कूटस्थं सर्वसाधारणं, तत्तद्देवाद्यसाधारणाकारसम्बद्धमित्यर्थः । अपरिणामित्वेन स्वासाधारणाकारान्न चलति न च्यवत इत्यचलं, तत एव ध्रुवं नित्यं, सन्नियम्येन्द्रियग्रामं चक्षुरादिकमिन्द्रियग्रामं सर्वं स्वव्यापारेभ्यः सम्यङ्नियम्य, सर्वत्र समबुद्धयः सर्वत्र देवादिविषमाकारेषु देहेष्ववस्थितेष्वात्मसु ज्ञानैकाकारतया समबुद्धयः, तत एव सर्वभूतहिते रताः सर्वभूताहितरतित्वान्निवृत्ताः, सर्वभूताहितरतित्वं ह्यात्मनो देवादिविषमाकाराभिमाननिमित्तम्; य एवमक्षरमुपासते, तेऽपि मां प्राप्नुवन्त्येव, मत्समानाकारमसंसारिणमात्मानं प्राप्नुवन्त्येवेत्यर्थः । 'मम साधर्म्यमागताः' [१४।२] इति हि वक्ष्यते । श्रूयते च—"निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मुं. उ. ३।१।३] इति । तथाक्षरशब्दनिर्दिष्टात्कूटस्थादन्यत्वं परस्य ब्रह्मणो वक्ष्यते—'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' [१५।१६] 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [१५।१७] "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" [मुं.उ.१।१।५] इत्यक्षरविद्यायां तु अक्षरशब्दनिर्दिष्टं परमेव ब्रह्म, भूतयोनित्वादेव । तेषामव्यक्तासक्तचेतसां क्लेशस्त्वधिकतरः; अव्यक्ता हि गतिः अव्यक्तविषया मनोवृत्तिः देहवद्भिः देहात्माभिमानयुक्तैः दुःखेनावाप्यते; देहवन्तो हि देहमेवात्मानं मन्यन्ते ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

**४ वे. ता. चं.**—अक्षरनिष्ठस्यापकर्षमाह—'ये त्वक्षरम्' इत्यादिश्लोकत्रयेण । सर्वप्रकारनिर्देशनिषेधस्य स्ववचनविरोधादिदुष्टत्वाद्यथावस्थितस्वरूपे निषेध्यतया विवक्षितं निर्देशविशेषं सहेतुकमाह **देहादन्यतये**ति । यद्यपि देहादन्यस्मिन्नपि देहिनि देहद्वारा देवादिशब्दाः प्रवर्तन्ते; तथापि विविच्य निर्देष्टव्ये प्रकृतिसम्बन्धरहिते चापवृक्तात्मस्वरूपे तावत्तादृशवृत्तिरपि न सम्भवतीत्यभिप्रायः । **तत एव** देहादन्यतयैवेत्यर्थः । अत्यन्तानभिव्यक्तत्वविवक्षायां 'उपासते' इति स्ववाक्येनापि विरोध इत्यभिप्रायेणाह—**चक्षुरादिकरणानभिव्यक्त**मिति । 'सर्वत्रगम्' इत्यत्राणुत्वश्रुतिविरोधपरिहारायाह **देवादिदेहेष्वि**ति । यद्वा निषेध्यस्य चिन्त्यत्वस्य प्रसङ्गार्थं 'सर्वत्रगम्' इत्युक्तमित्याह—**देवादिदेहेषु वर्तमानमपी**ति । **तेन तेन रूपेणे**ति आत्मचिन्ताविधिविरोधाच्चिन्त्यत्वमात्रनिषेधो न शक्यत इति भावः । **तत एव कूटस्थ**मिति तत्तद्विलक्षणत्वादित्यर्थः । अनेकेषां सन्तन्यमानानां पुरुषाणां साधारणो हि पूर्वः पुरुषः कूटस्थः; अत्र तु साधारण्यमात्रं लक्ष्यत इत्याह **सर्वसाधारण**मिति । एतेन कूटशब्दनिर्दिष्टमायाध्यक्षत्वं वा राशिवत्स्थितत्वं वा वदन्तः प्रसिद्धार्थपरित्यागादिभिर्निरस्ताः । अतः कूट इव निश्चलं वृद्धिक्षयादिरहितमित्यप्यत्र मन्दम् । नन्वेकदा सर्वसाधारणत्वमसिद्धं, कालभेदेन सर्वजातीयशरीरपरिग्रहेऽपि सर्वव्यक्तिपरिग्रहो नास्ति, अतः कथं सर्वसाधारणत्वमित्यत आह **देवादी**ति । नह्यसाधारणा देवत्वादय आत्मन्यव्यवधानेन सम्बध्यन्त इति भावः ।

उत्क्रान्त्यादिमतो जीवस्य स्पन्दनिषेधादेरनुपपन्नत्वादत्राचलशब्दविवक्षितमाह—**अपरिणामित्वेने**ति । अनित्यत्वं हि परिणामेन व्याप्तम् । ततश्च व्यापकाभावाद्व्याप्याभावो विवक्षित इत्यपुनरुक्तिरित्याह—**तत एव ध्रुवमि**ति । 'उपासते' [१२।२] इत्यनेनैव मनोनियमनस्य सिद्धत्वात्तदुपयुक्तबाह्येन्द्रियव्यापारनियमनपरतया व्याचष्टे **सम्यङ्नियम्ये**ति । 'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यपरिग्रहः' [वि. ध. १०४।२ बृ. ना. ३१।७६] इत्यादिकमभिप्रेत्योक्तं **सर्वत्रे**ति । 'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' [५।१८] इत्यादिकमभिप्रेत्य **आत्मसु**

ज्ञानैकाकारतया समबुद्धय इत्युक्तम् । तत एव— समबुद्धित्वादेव । य एवमक्षरमुपासते अक्षरशब्दवाच्यं प्रत्यगात्मानं प्राप्यतया निश्चित्य परमात्मानं तत्प्रापकतयोपासते । तेऽपीति मद्व्यतिरिक्तप्राप्यान्तरनिश्चयवन्तोऽपीत्यर्थः । मां प्राप्नुवन्त्येव— "विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता" [ वि. पु. ६।७।६१ ] इत्युक्तप्रकारेण 'अविभागेन दृष्टत्वात्' [ ब्र. सू. ४।४।३ ] इत्यपृथक्सिद्धविशेषणभूतं मुक्तस्वरूपं मत्समानाकारं प्राप्नुवन्तीत्यर्थ इत्यर्थः ।

प्रमेयशरीरं साधीयः,यदि प्रमाणमुपलभामह इत्याशङ्क्य सोपबृंहणश्रुतिमुदाहरति परमं साम्यमुपैतीति । ननु "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" [ मुं. उ. १।१।५ ] 'अक्षरमम्बरान्तधृतेः' [ ब्र.सू.१।३।१० ] इत्यादिषु परब्रह्मसाधारण तया प्रयुज्यमानमक्षरपदं कथं जीवात्मवाचकम् उच्यते ? "अमृताक्षरं हरः" [श्वे.उ.१।१०] 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' [१५।१६] इत्यादिषूक्तत्वादित्याह तथाक्षरशब्दनिर्दिष्टादित्यादिना । 'पञ्चविंशकमव्यक्तं षड्विंशः पुरुषोत्तमः । एतज्ज्ञात्वा विमुच्यन्ते यतयः शान्तबुद्धयः' [ य. स्मृ. ] इत्युक्तप्रकारेणाव्यक्तजीवात्मासक्तचेतसां क्लेशस्त्वधिकतरः, मय्यावेशितचेतस्त्वाभावात् । अव्यक्तविषया मनोवृत्तिः सर्वेन्द्रियोपरतिरूपा । ननु देहवत्त्वं सनकादीनामपि सम्भवतीत्याशङ्क्य देहात्माभिमानयुक्तैरित्युक्तम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.— भवन्तु त्वदुपासका एवोत्तमाः, इतरेषां तु किं फलं ? इत्यत आह— ये त्वित्यादिना । अनिर्देश्यत्वं चोक्तं भागवते मायायाः— 'अप्रतर्क्यादनिर्देश्यादिति केष्वपि निश्चयः' [ ] इति । ईश्वरस्तु देवशब्देनोक्तः 'दैवमन्ये परे' [४।२५] इत्यत्र । उक्तं च सामवेदे काषायणश्रुतौ— "नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्" [ऋक्सं.८।७।१८।१] इति । "न महाभूतं नोपभूतं तदासीत् "इत्याद्यारभ्य "तम आसीत्तमसा गूढमग्रे" [ऋक्सं. ८।७।१७।३] इति । "तमो ह्यव्यक्तमजरमनिर्देश्यमेषा ह्येव प्रकृतिः" इति ।**

६ ज. प्र. दी.— एवं तर्हि 'मय्यावेश्य' [ १२।२ ] इत्यनेनैव मदुपासका एवोत्तमा इति प्रश्नस्योत्तरं जातं, किमुत्तरेण वाक्येन ? इत्यत आह- भवन्त्विति । आक्षेपगर्भोऽयमभ्युपगमः । न युक्तं त्वदुपासकानामेवोत्तमत्वमिति भावः । तदुपपादनाय पृच्छति- इतरेषामिति । अव्यक्तोपासकानां किं फलं ? मोक्षोऽस्ति, न वा ? नोचेदुदाहृतवाक्यविरोधः । आद्ये कथं त्वदुपासकानामुत्तमत्वम् ? फलसाम्यादिति भावः । नन्वेषां विशेषणानां ब्रह्मणोऽन्यत्रासम्भवात् कथमितरेषां किं फलं? इत्यस्योत्तरत्वेन एतदवतार इत्यतोऽक्षराव्यक्तयोर्मायायामुपपादितत्वात् तदन्यानि तत्रोपपादयन्ननिर्देश्यत्वं तावदुपपादयति- अनिर्देश्यत्वं चेति शब्दागोचरम् ? धर्मस्य मम पादभङ्ग इत्यन्वयः । नन्वत्रापीश्वरोऽस्त्वनिर्देश्य इत्यत आह— ईश्वरस्त्विति । दैवं पादभङ्गकारणमाहुः । तथा च पुनरुक्तिः स्यादिति भावः । न च दैवशब्दोऽदृष्टवाची । तस्य 'अपरे कर्म' इति पृथगुक्तत्वात् । मायाया अनिर्देश्यत्वे स्पष्टं च प्रमाणमाह- उक्तं चेति । महाभूतमाकाशवायुरूपम् । उपभूतं तेजोब्भूलक्षणम् । तदा प्रलये । अजरमित्यादिकं प्रलयेऽवस्थानस्योपपादकम् । नचैतत् ब्रह्मेति प्रदर्शनाय 'एषा ह्येव प्रकृतिः' इत्युदाहृतम् ।

**५ आ. मा. भा.— सर्वगाऽचिन्त्यादिलक्षणा हि सा । तथाहि मोक्षधर्मे— 'नारायणगुणाश्रयादजरामरादतीन्द्रियादग्राह्यादसम्भवतः । असत्यादहिंस्राल्ललामाद्द्वितीयप्रवृत्तिविशेषादवैरादक्षयादमरादक्षरादमूर्तितः । सर्वस्याः सर्वस्य सर्वकर्तुः शाश्वततमसः' [म. भा.१२।३४२।६] इति 'आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् । अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः' इति मानवे [१।५] । 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' [१५।१६] वक्ष्यति इति । कूटे आकाशे स्थिता कूटस्था । "आकाशे संस्थिता त्वेषा ततः कूटस्थिता मता" इति ह्यृग्वेदखिलेषु । " सा सर्वगा निश्चला लोकयोनिः सा चाक्षरा विश्वगा विरजस्का" इति सामवेदे गौपवनशाखायाम् ॥ ३ ॥ ४ ॥**

६ ज.प्र.दी.— इदानीं 'सर्वत्रगं' इत्यादिकं मायायामुपपादयितुमाह— सर्वगेति । भावप्रधानो निर्देशः । स्वरूपवाची वा लक्षणशब्दः नारायणगुणस्तदिच्छादिलक्षण आश्रयो यस्य तत्तथोक्तम् । अनेन ब्रह्मणो व्यावृत्तिः । अजरादमरादिति जडप्रधानादेः, तस्य तत्प्राप्त्यभावात् । अग्राह्यान्मनसोऽप्यगोचरादित्यनेनाचिन्त्यमिति सिद्ध्यति । असम्भवतोऽक्षयादक्षरादिति ध्रुवत्वसिद्धिः । असति प्रलये भवमसत्त्यम् । ललामं प्रधानम् । द्वितीया भगवदेकाधीना प्रवृत्तिर्विशेषो यस्य तत्तथा । अमूर्तितः प्राकृतदेहरहितात् । सर्वस्याः सर्वगाया इति छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः, अनाद्यविद्याभिमानित्वात् । शाश्वततमसः पुरुषोऽभूदित्यन्वयः । इदं प्रसिद्धं तमो मायाख्यं प्रलये सर्वतः प्रसुप्तमिव निर्व्यापारमासीत् । अभूतमजातम् । 'अप्रज्ञातं'

इत्यादिना प्रत्यक्षानुमानागमवेद्यत्वाभाव उच्यते। अवेद्यलक्षणत्वादप्रतर्क्यम्। अनेन सर्वत्रगमचिन्त्यं ध्रुवमिति सिध्यति। गीतावाक्येन कूटस्थत्वं नित्यत्वं चेत् ध्रुवमिति पुनरुक्तिः। कूटमनृतं तिष्ठत्यस्मिन्नित्यसम्भवीत्यत आह— **कूट** इति। कूटशब्दस्याकाशवाचित्वेऽभिधानं प्राक् पठितम्। तथापि दार्ढ्याय श्रुत्युदाहरणम्। श्रुत्यनुसारेण स्त्रीलिङ्गम्। या सर्वैरित्युक्तार्थे स्पष्टं प्रमाणम्। निश्चला स्वपदादभ्रष्टा। विश्वं गतमाश्रितमस्यामिति विश्वगा। एतानि चोक्तविशेषणानि तदुपासनस्य मोक्षसाधनत्वाङ्गीकारसमर्थनार्थानीति ज्ञेयम्॥ ३॥ ४॥

**५ आ. मा. भा.**— कथं तर्हि त्वदुपासकानामुत्तमत्वं? इत्यत आह— **क्लेश** इति। अव्यक्ता गतिर्दुःखं ह्यवाप्यते। गतिर्मार्गः। अव्यक्तोपासनद्वारको मत्प्राप्तिमार्गो दुःखमवाप्यत इत्यर्थः। अतिशयोपासनसर्वेन्द्रियातिनियमनसर्वसमबुद्धिसर्वभूतहितेरतत्वातिशुद्धाचारसम्यग्विष्णुभक्त्यादिसाधनसन्दर्भमृते नाव्यक्तापरोक्षम्।

**६ ज. प्र. दी.**— नन्वितरेषां किं फलं? इत्यस्य प्रश्नस्य 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' [१२।४] इत्युत्तरं दत्तम्, तत्किमुत्तरेण? इत्यत आह— **कथमिति**। पूर्ववाक्ये पक्षग्रहणमात्रं कृतम्, न तु तत्राभिप्रेतस्य दोषस्य परिहारः। अतः पूर्वपक्षिणाऽभिप्रायोद्घाटने कृते तत्समाधानमाहेति भावः। तर्ह्युभयेषां फलसाम्ये। यद्यप्येषा शङ्का पूर्ववाक्ये परिहृता, पर्यादिपदप्रयोगात्। तथा च वक्ष्यति। तथापि साध्यस्यानुक्तत्वाद्धेतुवचनं स्वरूपकथनं मन्यमानस्य भवत्येव पुनः शङ्का। उत्तरार्धे पदानां व्यवहितत्वादन्वयाप्रतीतौ तमाह— **अव्यक्तेति**। अनेन 'दुःखं' इत्यस्य क्रियाविशेषणत्वमुक्तम्। गतिशब्दस्याकर्तरि कारके भावे च प्रयोगादत्र विवक्षितमर्थमाह— **गतिरिति**। गम्यतेऽनेनेति व्युत्पादनादुपायो गतिरित्यर्थः। ननु मार्गस्याव्यक्तत्वं कथमुच्यते? कुतश्च गम्यार्थता गतिशब्दस्य त्यज्यत इत्यत आह— **अव्यक्तेति**। अव्यक्तोपासनं द्वारं उपायो यस्यासौ तथोक्तः। अव्यक्तोपासनानन्तरभावि यद्भगवदुपासनं तदेवमुच्यते; अनेनाव्यक्तशब्दस्तदुपासनं लक्षयति। तेन च तद्द्वारकत्वं लक्ष्यते गम्यार्थतायां च गतिशब्दस्याव्यक्ताख्यं गम्यमित्युक्तं स्यात्। न च तद्युक्तम्। 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' इति भगवत्प्राप्तिरुक्तत्वादित्युक्तं भवति। अत्र पूर्वार्धेऽस्य मार्गस्याधिकतरक्लेशवत्त्वं प्रतिज्ञाय कथमित्यतस्तत्प्रसिद्धमित्युत्तरार्धेनोक्तम्। तत्प्रसिद्धिं विवृणोति— **अतिशयेति**।

**५ आ. मा. भा.**— तदृते च न विष्णुप्रसादः। सत्यपि तस्मिन्नसम्यग्भगवदुपासनमृते नर्ते च तं मोक्षः; विनाऽव्यक्तोपासनं भवत्येव भगवदुपासकानां मोक्ष इति; क्लेशिष्ठोऽयं मार्ग इति भावः। तथाप्यपरोक्षीकृताव्यक्तानां सुकरं भगवदुपासनमित्येव प्रयोजनम्। तत्रापि योऽव्यक्तापरोक्षे प्रयासस्तावता प्रयासेन यदि भगवन्तमुपास्ते, ऊनेन वा, तदा भगवदपरोक्षमेव भवतीति द्वितीयमधिकम्। इन्द्रियसंयमाद्यूनभावे अत्युपासकस्यापि देवी नातिप्रसादमेति। देवस्तु तानि साधनानि भक्तिमतः स्वयमेव प्रयत्नेन ददातीति सौकर्यमिति भक्तानां भगवदुपासने। इतरत्र च क्लेशोऽधिकतरः।

**६ ज. प्र. दी.**— षष्ठोक्तप्रकारेण सर्वसमबुद्धिः, ततः किं? इत्यत आह— **तदृते चेति**। अयोगव्यवच्छेद एवायमुक्तः, न तु तावन्मात्रेणेत्याह— **सत्यपीति**। तस्मिन्नव्यक्तापरोक्ष्ये सति विष्णुप्रसाद इति वर्तते। ततोऽपि किं? इत्यत आह— **नर्ते चेति**। तं विष्णुप्रसादम्। अस्त्वेवमव्यक्तोपासनद्वारकभगवत्प्राप्तिमार्गप्रकारः। तथापि कथमत्राधिकतरः क्लेश इत्यत आह— **विनेति**। अव्यक्तोपासनमार्गे अयमव्यक्तोपासनद्वारकः। एवं तर्हि किमिति प्रवृत्तो येनार्जुनेनाशङ्कितः? इत्यत आह— **तथापीति**। एवं तर्हि मार्गयोः साम्यमेव। अनेन प्रयोजनेन क्लेशस्य समाधानादित्यत आह— **तत्रापीति**। अव्यक्तोपासनद्वारके मार्गेऽपि द्वितीये भगवदुपासने दुःखं; पाक्षिकमेतत्, ऊनेन वेत्युक्तत्वात् इतश्चाव्यक्तोपासनद्वारके मार्गे भगवदुपासनात्क्लेशोऽधिकतर इत्याह— **इन्द्रियेति**। नातिप्रसादमेतीत्यतः परमेक इति शब्दः। द्वावपि हेतौ प्रकारार्थौ वा।

**५ आ. मा. भा.**— तदेतत्सर्वं पर्युपासते सन्नियम्याधिकतर इति परिसन्तरपशब्दैः प्रतीयते। सामवेदे माधुच्छन्दशाखायां चोक्तम्— "भक्ताश्च येऽतीव विष्णावतीव जितेन्द्रियाः सम्यगाचारयुक्ताः। उपासते तां समबुद्धयश्च तेषां देवी दृश्यते नेतरेषाम्॥ दृष्टा च सा भक्तिमतीव विष्णौ दत्त्वोपास्ते सर्वविघ्नांश्छिनत्ति। उपास्य तं वासुदेवं विदित्वा ततस्ततः शान्तिमत्यन्तमेति" इति। उक्तं च सामवेदे अयास्यशाखायाम्— "प्रसन्नो भविता देवः सोऽव्यक्तेन सहैव तु। यावता तत्प्रसादो हि तावतैव न संशयः॥ न तत्प्रसादमात्रेण प्रीयते स महेश्वरः। तस्मिन्प्रीते तु सर्वस्य प्रीतिस्तु भवति

ध्रुवम् ॥ यद्यप्युपासनाधिक्यं तथापि गुणदो हि सः। मुक्तिदश्च स एवैको नाव्यक्तादिस्तु कश्चन " इति। 'ममात्मभावमिच्छन्तो यतन्ते परमात्मने ' [ म. भा. १२।२२८।२० ] इति मोक्षधर्मे श्रीवचनम्। 'धर्मनित्ये महाबुद्धौ ब्रह्मण्ये सत्यवादिनि। प्रश्रिते दानशीले च सदैव निवसाम्यहम् ' [ म. भा. १२।२२८।२६ ] इति च।

६ ज. प्र. दी.—कुतोऽयं भगवतो भावः? इत्यत आह—तदेतदिति। उपलक्षणमेतत्। सर्वत्र समबुद्धय इत्यादिनेत्यपि द्रष्टव्यम्, तत्र परीत्यनेनोपासकस्यातिशयः। समित्यनेनेन्द्रियनियमस्यातिशयः। सर्वत्रेत्यादिना सर्वेत्यादिकम्। तरपाऽतिशुद्धाचारादिकम्। 'अव्यक्ता गतिः' इत्यनेन तद्वते चेत्यादिव्यवधानम्। मामेवेत्यवधारणेन तथापीत्यादिकं प्राप्नुवन्तीति स्वातन्त्र्योक्त्येन्द्रियसंयमादिति देवतासहायाभावः। भगवदुपासने त्वेतदभावो यथा गीतोक्तस्तदुत्तरत्र प्रदर्शयिष्यते। आगमान्तरसिद्धत्वाचार्यं भवति। भगवदभिप्राय इत्याह—सामवेद इति। तेषामित्यादिषष्ठी तृतीयार्थे। विदित्वा साक्षात्कृत्य ततो वेदनात्प्रसन्नात्ततो वासुदेवात्। यावता प्रयासेन तत्प्रसादोऽव्यक्तप्रसादः। सर्वस्यापीति द्वितीयस्तुशब्दोऽपिशब्दार्थे आधिक्यशब्देन न्यूनत्वमप्युलक्ष्यते। न्यूनाधिकयोरन्यत्र प्रत्यवायहेतुत्वात्। नाव्यक्तादेरिति पाठे मध्ये इत्युपस्कारः। ममोपासनेनात्मभावं कैवल्यं परमात्मने तमुद्दिश्य-अस्य वाक्यस्य कथं प्रकृतोपयोग इत्यत उक्तम्—श्रीवचनमिति। नित्ये नियते ब्रह्मण्ये ब्रह्मणि साधौ निवसामि प्रसन्ना भवामीति च श्रीवचनमिति सम्बन्धः।

५ आ. मा. भा.—महतः परं तु ब्रह्मैव। तथा हि भगवता सयुक्तिकमभिहितम्। "ॐवदतीति चेन्न प्राज्ञो हिॐ" त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्चेत्यादि। तमिति पुल्लिङ्गाच्चैतत्सिद्धिः। महतः परत्वं तु अव्यक्तपरस्य भवत्येव। तथा चाग्निवेश्यशाखायाम्—"अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवम्" [कठो. ३।१५] इति। "परो हि देवः पुरुहूतो महत्तः" इति। न चाव्यक्तरूपं भगवता निषिद्धं भारतादौ साधितत्वात्। शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेरित्यादौ तु साङ्ख्यप्रसिद्धं प्रधानं निषिध्य वैदिकमव्यक्तमेवोक्तम्। तथा च सौकरायणश्रुतिः—" शरीररूपिका अशरीरस्य विष्णोर्यतः प्रिया सा जगतः प्रसूतिः" इति। सुव्रतानां क्षिप्रं महदैश्वर्यं ददाति देवी न देव इति विशेषः। " सुवर्णवर्णां पद्मकरां च देवीं सर्वेश्वरीं व्याप्तजडां च बुद्ध्वा। सैवेति वै सुव्रतानां तु मासान्महाविभूतिं श्रीस्तु दद्यान्न देवः" इत्यृग्वेदखिलेषु ॥५॥

६ ज. प्र. दी.— पूर्वं शङ्काहेतुत्वेन " श्रियं वसाना" [ ऋक्सं. ७।४।४।४ ] इत्यादीनि वाक्यान्युदाहृतानि; तेष्विदमेकं नाव्यक्तविषयमिति वस्तुस्थितिमाह— महत इति। "अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं" [ कठो. ३।१५ ] इति वाक्यप्रतिपाद्यमिति यावत्। अत्राभ्युच्चययुक्तिं चाह— तमिति। ननूक्तपरामर्शोपपत्तेरितिपूर्वपक्षेऽपि युक्तिरुक्तेत्यतः साऽन्यथासिद्धेत्याह— महत इति। तथा चोक्तवक्ष्यमाणबलात् "अव्यक्तात्पुरुषः परः" [कठो. ३।११] इत्युक्तस्यायं परामर्श इति भावः। श्रुत्यन्तरेणैवं व्याख्यातत्वाच्च एतद्वाक्यं तत्परमित्याह— तथाचेति। पुरुभिर्हूतः पुरुहूतः। नन्वव्यक्तं नाम तत्त्वमेव नास्तीति सूत्रकृतोक्तं ततस्तदभिमानिन्यव्यक्ताख्या देवताऽपि नास्ति; तत्कथं तद्विषयतया व्याख्यानं? इत्यत आह— न चेति। तर्हि कथं तत्सूत्रं? इत्यत आह— शरीरेति। साङ्ख्यप्रसिद्धं प्रधानमिति स्वतन्त्रं मुख्यतः शब्दवाच्यमित्यर्थः। वैदिकमिति भगवदधीनं तत्सम्बन्धेन शब्दवाच्यमित्यर्थः। अत्र श्रुतिं चाह— तथा चेति। प्राक् तथाऽप्यपरोक्षीकृताव्यक्तानामित्यादिनैकं प्रयोजनमुक्तम्। अपरं च सप्रमाणकमाह— सुव्रतानामिति। बुद्ध्वेत्युक्तप्रकारेणोपासीनाय इति शेषः। एतत्प्रयोजनं गीतायां न सूचितमिति न तत्रैवोक्तम् ॥ ५ ॥

७ ह. पै. भा.—य इति। अनिर्देश्यमीदृशं तदिति निर्देष्टुमयोग्यं, अव्यक्तं प्रत्यक्षादिप्रमाणैरप्रतीयमानम्। कूटस्थं कूटः पर्वतस्तद्वत्तिष्ठतीति कूटस्थम् ॥ ३ ॥ ४ ॥ क्लेश इति। अव्यक्ता गतिरव्यक्तं ज्ञानम् ॥ ५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— प्रथमत एव निर्गुणनिष्ठास्तु नैवमुपायविच्छेद्या इत्याह त्रिभिः— ये त्विति। अक्षरं निर्गुणं ब्रह्म। तत्र हेतुः— अनिर्देश्यं व्यपदेष्टुमशक्यम्। यद्धि वस्त्विदमित्यमिति व्यपदिश्यते तत्सविशेषत्वात्सगुणं भवति, नेदं तथा तस्मान्निर्गुणमिति भावः। अनिर्देश्यत्वे हेतुः— अव्यक्तमिति; रूपादिहीनम्। तत्रापि हेतुः— सर्वत्रगं सर्वव्यापि; अतिसूक्ष्ममिति यावत्, " नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मम् " [ मुं. उ. १।१।६ ] इत्यादिश्रुतेः। सर्वव्यापिनोऽप्याकाशवन्निर्देश्यत्वं किं न स्यात्? अत आह— अचिन्त्यमिति। मनसोऽप्यविषयभूतम्, " यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य

मनसा सह " [ तै. उ. २।४।१;२।९।१ ] इति श्रुतेः; अतो नाकाशप्रतिबन्दि । मनोवृत्त्यविषयत्वे हेतुः— कूटस्थमिति । मिथ्यात्वे सति सत्यतया प्रतीयमानं कूटमित्युच्यते, कूटसाक्षीत्यादिलोकव्यवहारात् । मायामयं जगदपि तथाभूतत्वात्कूटम् । तस्मिन्कूटे जगति साक्षितया तिष्ठतीति कूटस्थम् । तथा च सर्वसाक्षित्वान्न मनोवृत्तिविषयत्वम्, " न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः ... ... न मतेर्मन्तारम् " [ बृ. उ. ३।४।२ ] इति श्रुतेरिति भावः । सर्वसाक्षित्वे हेतुः— अचलमिति । जगद्विकारैः स्वयमविक्रियमाणमित्यर्थः । तत्रापि हेतुः— ध्रुवं नित्यम् । एवम्भूतमक्षरं ये पर्युपासते । कथम्भूताः ? सर्वभूतहिते रताः । तत्र हेतुः— सर्वत्र समबुद्धयः ब्रह्मबुद्धयः, ' निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः' [ ५।१९ ] इत्युक्तेः । अजितेन्द्रियस्य हेयोपादेयबुद्धेः कथं सर्वत्र समबुद्धिता ? तत्राह— इन्द्रियग्रामं सन्नियम्येति । एवम्भूताः सन्तो येऽक्षरमुपासते श्रवणमनननिदिध्यासनैश्चिन्तयन्ति, ते मामेव प्राप्नुवन्ति । यद्येतादृशी निर्गुणनिष्ठा प्रथमत एव सिध्येत्, तदेवासिद्धम्; अतस्तेषां क्लेश एव फलमित्याह— क्लेश इति । तेषां सगुणभजनत्यागिनां प्रथममव्यक्तासक्तचेतसां निर्गुणनिष्ठानामधिकतरः क्लेश एव । एतदेवोपपादयति —अव्यक्तेति । अव्यक्तविषया गतिर्निष्ठा दुःखं दुःखसाधनम् । अतस्तन्निष्ठैर्देहवद्भिर्दुःखमेवावाप्यते । हि-शब्दः प्रसिद्ध्यर्थः । प्रसिद्धं हि सगुणेतरभजनमन्तरेण ज्ञानार्थिनां क्लेश एव फलमिति । यथोक्तं भागवते [ १०।१४।४ ]— 'श्रेयस्सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो! क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्' इति । पातञ्जलेऽपि— ' समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ' [ पा. यो. २।४५ ] इति, श्रुतावपि— "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः " [ कठो. १।२।२२।मुं. उ. ३।२।३ ] इति । अत्राप्युक्तम्— ' भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ! । ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन ' [ ११।५४ ] इति ॥ ३—५ ॥

९ व० त० दी०— येत्विति । तुशब्दो भेदं द्योतयति । ये त्वक्षरमन्तर्यामिस्वरूपांशं पूर्वोक्तमनामरूपत्वादव्यक्तं गणितानन्दं बृहत्स्वरूपं पर्युपासते । स्पष्ट एव भेदः । अक्षरोऽव्यक्तः, अहं तु व्यक्तः । सोऽनिर्देश्यः, अहं तु स्वेच्छयाऽलौकिकनिर्देशार्हः । स सर्वत्रगः, अहं तु भक्तैकगम्यः । स चाचिन्त्यः अहं तु भक्तैश्चिन्त्यः । स तु कूटस्थः सर्वसाधारणः अहमसाधारणः । स त्वचलः स्थिरात्मा, अहं चलः तत्रतत्र विहरन् चलामि । स तु ध्रुवं पदरूपमैश्वर्यमध्यात्मं, अहं त्वीश्वरस्तन्निलयन इति । तदुपासका मां ब्रह्मानन्दात्मिकां श्रियमेव ध्रुवात्मानं वा मां प्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥ ४ ॥ तेषां तथाऽव्यक्ततया प्राप्तिरेव मत्स्वरूपस्य, न च तदधिगमपूर्वकं सुखमपीत्याह— इह क्लेशोऽधिकतरो दुःखमव्यक्ता गतिरिति । तत्रापि सर्वभूतहिते रता एव तदा तथा मां प्राप्नुवन्ति । अनेन भागवतैकादशस्कन्धे भक्तस्वरूपनिरूपणे सर्वभूतहिते रतस्य भगवदात्मप्राप्तिरुक्ता, नान्यस्य, तथेहापीत्युक्तं भवति । ततो देह इव देहवतां मदव्यक्तदेहासक्तचेतसां न तदन्तस्थितस्यात्मनो मम प्राप्तिः साक्षाद्रसानन्दरूपा, किन्तु दुःखमव्यक्तगतिरेव स्वरूपरसहानिरैक्यं लवणस्य सलिल इवेति भावः । किञ्च तदुपासनकालेऽपि साधनक्लेशोऽधिकतरः, निर्विशेषे तस्मिन्नभेदेन भावनाया दुःखसम्भवात् । अतएवोक्तं —'श्रेयस्सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो ! क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये' [ भाग. १०।१४।४ ] इति । ते पुरुषोत्तमस्य भक्तिमुदस्य केवलस्याक्षरात्मनो बोधलब्ध्यै क्लिश्यन्तीति क्लेशोऽधिकः 'श्रम एव हि केवलं' इत्याशयेन तरप् च । मद्भजनमार्गे त्वारम्भत एव परमानन्दः अक्षरज्ञानमार्गे त्वन्तत इत्यपि विशेषः ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— एवं स्वभक्तानामुत्तमत्वमुक्त्वा अक्षरोपासकानां स्वरूपमाह— ये त्वक्षरमिति द्वयेन । ये तु, तुशब्देन स्वाभिमतत्वं निराकृतम् ये अनिर्देश्यं शब्दाविवेच्यं, अव्यक्तमप्रकटरूपं सर्वत्रगं ध्यानादिदशायामपि हृदयेऽस्थिरस्वभावम् । अतएव अचिन्त्यं चिन्तनायोग्यं रूपाद्यभावादस्थिरत्वाच, कूटस्थं प्रपञ्चाधिष्ठितम् , अचलं मचरणात्मकं अतएव ध्रुवं नित्यं एतादृशम् अक्षरम् ॥ ३ ॥

इन्द्रियग्रामं सन्नियम्य वशीकृत्य सर्वत्र मयि देवादिषु लौकिकेषु सुखदुःखेषु वा समबुद्धयः सर्वभूतहिते रताः सन्तो ये पर्युपासते ध्यायन्ति ते मामेव प्राप्नुवन्ति । एवकारेणाक्षरसम्बन्धव्यवहिताः प्राप्नुवन्तीति भावः, स्वयुक्ततमत्वाभावश्च ज्ञापितः ॥ ४ ॥ किञ्च मदभिमता भावात्परम्पराप्रापावपि तेषां क्लेशः, अप्रकटरूपासक्तचित्तानां सेवार्थप्रकटितसर्वेन्द्रियवैकल्यात् क्लेशः अधिकतरो भवति, आसक्तचित्तत्वाद्दर्शनाद्यभिलाषे सति तदभावादाधिक्यं भवति साधनदशायामपि, अत एवाधिकतरत्वमुक्तम् । फलमपि दुःखेन प्राप्यत इत्याह— अव्यक्तेति । देहवद्भिः देहात्मसेवमानवद्भिः अव्यक्ता गतिः अव्यक्तनिष्ठा गतिः दुःखं दुःखेन अवाप्यते प्राप्यते । हीति युक्तत्वाय । भगवत्सेवैकयोग्यदेहस्य व्यर्थगमनेन सा गतिर्दुःखेनैव प्राप्यते । प्राप्त्यनन्तरमप्यलौकिकदेहाद्यभावादव्यक्ततया प्रवेशे तदात्मकांशस्य पूर्वानुभूतलौकिकेन्द्रियरसस्मरणेन जले निमग्नस्य जलपानवद्दुःखं प्राप्यत इति भावः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमुपासकान् स्तुत्वा अव्यक्तविदां ज्ञानिनां दौर्लभ्यं श्लोकत्रयेणाह- ये त्विति । तु-शब्दः सगुणाद्वैलक्षण्यार्थः । अक्षरं "एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" [बृ.उ.३।८।८] इत्यादिश्रुत्या सर्वधर्मशून्यं निरूपितम् , अत एवानिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं वाचा, अव्यक्तं च; वाचामगोचरत्वाद्बु-द्धेरप्यविषय इत्यर्थः । तथाच श्रुतिः-" यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह " [तै. उ. २।४।१+२।९।१] इति ब्रह्मणो वाङ्मनसातीतत्वं दर्शयति । पर्युपासते सर्वप्रकारेणोपासते । उपासनमिहानात्मनामदर्शनमेव । यथोक्तं 'अनात्मादर्शनेनैव परमात्मानमुपास्महे ' इति । ननु तर्ह्येवंविधस्य शून्यकल्पस्य सत्त्वे किं मानं ? अत आह— सर्वत्रगमिति । सत्तारूपेण स्फुरणरूपेण च सर्वत्र गतम् । यत्सत्तया सर्वं सत्तावद्भवति कथं तस्यासत्त्वं वाच्य-मिति भावः । नन्वेवं तार्किकाभिमतं सत्तासामान्यमुक्तं स्यात् , तद्धि घटः सन् पटः सन्निति सर्वत्रानुगतं दृश्यत इत्याशङ्क्याह— अचिन्त्यमिति । सत्तासामान्यं हि प्रत्यक्षं तदपि ब्रह्मसत्तानुवेधेनैवात्मानं लभते, न स्वतः सिद्धं; सामान्यं सत् जातिः सती घटत्वं सदितिप्रत्ययात् । सामान्यस्य सदिति प्रत्ययागोचरत्वे तु तस्यासत्त्वा-पत्त्या पदार्थत्वमेव न स्यात् । तस्मात्सर्वाधिष्ठानभूतं ब्रह्म रूपादिहीनत्वाच्चिन्तयितुमशक्यम् । दूरे तस्य सर्वगतत्वेन प्रत्यक्षगोचरत्वमित्यर्थः । ननु सत्सदिति प्रत्ययस्यान्यथाप्युपपत्तौ सत्तासामान्यवादिनं प्रति तेना-धिष्ठानभूतं ब्रह्म न साधयितुं शक्यमत आह— कूटस्थमिति ॥

वस्तुतोऽसदपि सदिवावभासमानं कूटम् । यथा कूटकार्षापणं कूटतुलेति तद्वत्कूटः अहङ्कारः प्रतीच्यभेदेन भासमानत्वे सति कादाचित्कत्वाद्यो यदभेदेन कदाचिद्भाति स तत्र मिथ्याकल्पितः, यथा रज्जूरगस्तथा चाय-महङ्कारो मिथ्यात्वात् कूटसंज्ञस्तत्र तिष्ठति तद्भासकत्वेनेति कूटस्थं चैतन्यम् । अहमनुभवे ह्यहङ्कारो दृश्यतया भाति, तद्भासकं च चैतन्यं ततोऽन्यत् , यथा घटाभासकोऽर्को घटादन्यस्तद्वत् । एतेन नित्यापरोक्षत्वं ब्रह्मणः साधितम् । नन्वहमनुभव एवात्मविषयोऽतोऽहमर्थ एवात्मा, न ततोऽन्य आत्माऽस्तीत्याशङ्क्याह— अचल-मिति । अहमर्थो हि सुखी दुःखी परिणाम्याविर्भावतिरोभावशीलश्चातश्चञ्चलः, आत्मा तु न तथा । तस्य तथा-त्वेऽनिर्मोक्षापत्तेः; वह्न्यौष्ण्यवद्दुःखादिधर्मिण आत्यन्तिकदुःखनाशस्य मोक्षस्य धर्मिनाशमन्तरेणासम्भवात् । घटे यावद्रूपनाशादर्शनात् । आत्मनस्तिरोभावे च जगदान्ध्यं प्रसज्येत, सुषुप्तावपि तत्रत्यसुखाज्ञानसा-क्षित्वेनाविर्भूतस्वरूप एवात्माऽस्ति अन्यथा सुप्तोत्थितस्य 'सुखमहमस्वाप्सं ' इति परामर्शायोगात् । ननु सुषुप्तौ सन्नप्यात्मा न प्रकाशते तत्प्रकाशकस्य मनस्संयोगस्याभावात् । कर्त्रा व्याप्रियमाणं हि करणं क्रियां साधयति । न च सुषुप्तौ करणव्यापारोऽस्ति, तस्मान्न्यस्तवासिस्तक्षेवात्मा सुषुप्तौ ज्ञानादिगुणहीनोऽप्रकाशमा-नोऽस्त्येवेत्याशङ्क्याह—ध्रुवमिति । नन्वात्मा किं सत्तामात्रेणायस्कान्तवत्कारणानि प्रवर्त्तयति ? उत व्यापाराविष्टः सन् ? नाद्यः, इष्टापत्तेः; त्वन्मते च आत्मनः कर्तृत्वासिद्धेः । नान्त्यः, अनित्यत्वापत्तेः; व्यापारो हि स्पन्दः । स च परिच्छिन्नस्यैव युज्यते, न विभोः, विभुत्वहाने चाणुत्वानभ्युपगमात् ; मध्यमपरिमाणत्वे घटादिवदनित्यता-पत्तिः । तस्माद्ध्रुवमप्रच्युतस्वभावमक्षरमित्यर्थः ॥ ३ ॥

एवंविधमक्षरं कथमुपासनीयं ? इत्यत आह— सन्नियम्येति । सर्वत्र काले सर्वदा । एतेन ध्यानस्य नैरन्तर्य-मुक्तम् । इन्द्रियग्रामं समनस्कानीन्द्रियाणि सन्नियम्य एकीभावेनात्मनि वशे कृत्वा स्वकारणे प्रविलाप्येत्यर्थः । समा चाञ्चल्यहीना बुद्धिर्येषां ते समबुद्धयो ये भवन्ति तेऽपि मामेव निर्विकल्पं परं ब्रह्म परां काष्ठां प्राप्नुवन्ति । श्रुतिश्च— "यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् " [ कठो. ६।१० ] इति । 'सर्वभूतहिते रताः' इत्यनेन सर्वभूताभयदानेन सन्न्यासोऽपि ध्यानाङ्गमिति विधीयते ॥ ४ ॥

अस्या गतेर्दुष्प्रापत्वमाह— क्लेश इति । यद्यपि सगुणविदामधिकः क्लेशोऽस्त्येव तथापि ते सालम्बना ध्यायन्ति सोपानारोहक्रमेण परां काष्ठां प्रविशन्ति; येषां तु निरालम्बं ध्यानमाकाशयुद्धसमं तेषां निर्विषये चेतस्स्थिरीकरणेऽधिकतरः क्लेशोऽस्ति । तत्र क्रमिकध्यानप्रयोगः शुद्धे चिन्मात्रे विश्वरूपं माययाऽध्यस्तम् । तत्र च केवलमातिवाहिकं कृत्स्नं जडमाधिभौतिकमध्यस्तम् , । यथोक्तं वसिष्ठेन-' आतिवाहिक एवायं त्वादृशैश्चित्त-देहकः । आधिभौतिकया बुद्ध्या गृहीतश्चिरभावनात् ' [ यो. वा. ] इति । अतिक्रम्य पाषाणादीन् वहति इष्टदेशं नयत्यभिमानिनमित्यतिवाहि सर्वत्राप्रतिहतगतिकं भूतसूक्ष्मं तेन निर्वृत्त आतिवाहिकोऽयं कृत्स्नः

प्रपञ्चो यतश्चित्तदेहकः चित्तमेव देहः स्वरूपमस्येति स्वप्नतुल्य एव सन् चिरभावनात् वज्रपञ्जरवत् काठिन्येनोपेत आधिभौतिकया स्थूलभूतप्रभवया बुद्ध्या गृहीत इति श्लोकार्थः ।

एवं च यथा तीव्राभिनिवेशेन निरीक्ष्यमाणो रज्जूरगः स्वयं शाम्यति तदधिष्ठानभूता रज्जुश्चाविर्भवति तथा वस्तुतश्चिद्रूपायामपि माधवादिमूर्तौ जाड्यमध्यस्तं तामेवाभिनिवेशेन चिरकालं चर्मचक्षुषैव पश्यतस्तस्या मूर्त्तेर्जाड्यं तिरोधीयते, चैतन्यमाविर्भवति, अत एव बाणादयः स्वाराध्यैः सार्द्धं स्वामिभृत्यन्यायेन व्यवहरन्तीति सर्वत्रोपाख्यायते । एवमचेतनाया मूर्तेरपि तत्त्वं विश्वरूपमेवेति मूर्तिमेवात्यादरेण पश्यंस्तस्यास्तत्त्वं विश्वरूपमवगच्छति यदपश्यदर्जुनो वासुदेवदेहे । एतदेव वितर्कजं प्रत्यक्षं प्रकृत्योक्तं भगवता योगभाष्यकारेण बादरायणेन—'तत्परं प्रत्यक्षम्' तच्च श्रुतानुमानयोर्बीजमिति स्थूलालम्बनः समाधिर्वितर्कः । विश्वरूपस्याप्यस्मितामात्रेऽध्यासात् , तस्यावलोकनेऽस्मितामात्रमवशिष्यते; अस्मिताया अपि शुद्धायां चितावध्यस्तत्वात्तस्यामपि समाहिते मनसि सहैव मनसाऽस्मिता तिरोधीयते, शुद्धा चितिरेवावशिष्यते इति । एवं व्यक्तासक्ताः सोपानारोहक्रमेण परां काष्ठां प्रतिपद्यन्ते; ये तु अव्यक्तासक्ताः पक्षिवदकस्मादूर्ध्वं पदमारुरुक्षन्ति ते लयेन विक्षेपेण च भृशं बाध्यन्ते, लयमेव च कदाचित्समाधित्वेनाभ्युपगच्छन्तीति तेषां पराभवसम्भावनाऽप्यस्तीत्यत उक्तं—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्' इति । हि यस्मादव्यक्ता निरालम्बना गतिः पदप्राप्तिर्देहवद्भिर्देहाभिमानिभिर्दुःखं यथा स्यात्तथा अवाप्यते, न तु सा सुखप्राप्येति भावः ॥ ५ ॥

सगुणब्रह्मोपासकानामविलम्बेन मोक्षसिद्धिः ।

**ये [1]तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः ।**
**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥ ६ ॥**
**तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।**
**भवामि न चिरात्पार्थ ! मय्यावेशितचेतसाम् ॥ ७ ॥**

**१ शां. भा.—** ये त्विति । ये तु सर्वाणि कर्माणि मयीश्वरे सन्न्यस्य मत्परा अहं परो येषां ते मत्पराः सन्तः, अनन्येनैवाविद्यमानमन्यदालम्बनं विश्वरूपं देवमात्मानं मुक्त्वा यस्य सोऽनन्यस्तेनानन्येनैव ।

१ अनन्येनैव— येनाखण्डचिन्मात्राभेदानुभवयोगेन निर्गुणासक्ता उपासते, तेनैव भक्ताः सगुणं चतुर्भुजादिविग्रहरूपं विश्वरूपं च मां ध्यायन्त उपासते विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण तैलधारावदविच्छिन्नसमानप्रत्ययप्रवाहरूपनिदिध्यासनेन विषयीकुर्वते। ध्यायन्त इति शत्रा सगुणध्यानसमकालमेव तत्प्रकाशकं चैतन्यमभेदेन विभालयन्तीति द्योत्यते । केचित्तु नान्यो देवो विषयो यस्मिंस्तादृशेनेति व्याचक्षते । तदयुक्तम्, एवकारवैयर्थ्यात् । अहमेव परो येषां ते मत्पराः । 'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे' ( ११।३७ ) इत्युक्तदिशा ब्रह्मादयः सर्वेऽपि कार्यभूताः, अहमेवाभरणानां भर्मेव तदभिन्नोऽपि तेषां कारणमिति दृढतरभावनासमन्विता इति यावत् । इति **वामनाशयः** ।

वयमधिगतपरमार्थाः, किं सगुणस्य मायोपाधिशबलितस्य भजनेनास्माकं कृत्यमस्ति ? इति ये केवलाभ्यासमात्रे प्रवृत्तास्तेषां नाहं समुद्धर्ता सम्यगुद्धर्ता । प्राक् मदाराधनादात्मानात्मविवेकपर्यन्तं यज्ज्ञानं, तन्मयैव दत्तमतस्तेषामप्युद्धर्ता अहमेव; किन्तु न सम्यगुद्धर्ता, ज्ञानमानिभिस्ततः परं मदाराधनस्य परित्यक्तत्वात् । ये तु सर्वकर्मार्पणं मयि कृत्वा तेनैवानन्ययोगेन मां ध्यायन्तः सन्तो मामुपासते, तेषां सम्यगुद्धर्ता— भगवानेवास्माकमुद्धर्तेति ज्ञानोत्तरकालेऽपि मद्भजनादिति समितिपदात्सूचितोऽर्थः॥ **मय्यावेशितचेतसा**मिति– मयि निर्विशेष आवेशितं चिदाकारपरिणामं नीतं चेतो येषामित्यनेन विदितात्मान एव ते, किन्तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परा देवतान्तरभजनरहिताः सगुणं ध्यायन्तः विदिते तत्त्वे किमधुना भगवदुपासनयेति ज्ञानमानरहिता इति विशेषादहं समुद्धर्ता भवामि, योगसिद्धिं ददामीत्यर्थः । कल्पतरुस्वभावत्वात् नाव्यक्तमात्रोपासकानाम् , किन्तु मद्भक्तानामेव समुद्धर्ता भवामि, तथापि मयि न किमपि वैषम्यमिति भावः । इति श्रुतिकल्पलतायां **वामनः** ।

सं अनायासेन उत् उत्तमं यन्निर्गुणोपासनं तत् हर्ता प्रापयिता; उत् ऊर्ध्वे उत्कृष्टे निर्गुणे ब्रह्मणि धर्ता धारयिता वा भवामि, सगुणं ब्रह्माहमुपासितः प्रसन्नः सन् निर्गुणब्रह्मोपासनयोग्यतामापाद्य तत्प्रापकः, तस्मिन्नेवावस्थापकश्च भवामीत्यर्थः । सगुणब्रह्मोपासनाधिक्येन ब्रह्मलोकादिषु महैश्वर्यप्राप्तौ तु तदनुभवानन्तरं विना गुरूपदेशं विना च श्रवणमननाद्यावृत्तिक्लेशमृषीणामिव स्वयमाविर्भूतेन वेदान्तवाक्येन तत्त्वज्ञानोदयात् निर्गुणब्रह्मोपासनफलभूतपरमकैवल्यप्राप्तिः, अतोऽहं समुद्धर्ता भवामीति युक्तमिति **साम्प्रदायिकाः**।

**— अभिनवगीता ।**

केन? योगेन समाधिना मां ध्यायन्तश्चिन्तयन्त उपासते ॥ ६॥ तेषां किम्? तेषां मदुपासनैकपराणामहमीश्वरः समुद्धर्ता। कुतः? इत्याह— मृत्युसंसारसागरात्, मृत्युयुक्तः संसारो मृत्युसंसारः स एव सागर इव सागरः, दुस्तरत्वात्; तस्मान्मृत्युसंसारसागरादहं तेषां समुद्धर्ता भवामि न चिरात्। किं तर्हि? क्षिप्रमेव। हे पार्थ! मय्यावेशितचेतसां मयि विश्वरूपे आवेशितं प्रवेशितं समाहितं चेतो येषां ते मय्यावेशितचेतसस्तेषाम् ॥ ७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यद्यक्षरोपासका मामेवाऽऽप्नुवन्तीति विशेष्यन्ते तत्किं सगुणोपासकास्त्वां नाऽऽप्नुवन्ति? न; तेषामपि क्रमेण मत्प्राप्तेरित्याह— **ये त्विति**। तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः ॥ ६ ॥ तेषां भगवद्ध्यायिनां किं फलति? इति शङ्कामनुभाष्य फलमाह— **तेषामित्यादिना**। समुद्धर्ता सम्यगूर्ध्वं नेता; ज्ञानावष्टम्भदानेनेत्यर्थः। मृत्युरज्ञानं, मरणाद्यनर्थहेतुत्वात्। तेन कार्यतया युक्तः संसारः ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**— भगवन्तमुपासीनानां युक्ततमत्वं सुव्यक्तमाह— ये तु लौकिकानि देहयात्राशेषभूतानि देहधारणार्थानि चाशनादीनि कर्माणि, वैदिकानि च यागदानहोमतपःप्रभृतीनि सर्वाणि सकारणानि सोद्देशान्यध्यात्मचेतसा मयि सन्न्यस्य, मत्पराः मदेकप्राप्याः अनन्येनैव योगेन अनन्यप्रयोजनेन योगेन मां ध्यायन्त उपासते ध्यानार्चनप्रणामस्तुतिकीर्तनादीनि स्वयमेवात्यर्थप्रियाणि प्राप्य समानि कुर्वन्तो मामुपासत इत्यर्थः; तेषां मत्प्राप्तिविरोधितया मृत्युभूतात्संसाराख्यात्सागरादहमचिरेणैव कालेन समुद्धर्ता भवामि ॥ ६ ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**—'ये तु सर्वाणि' इति। **देहयात्राशेषभूतानि** कृष्यादीनि **सकारणानि**, सन्ध्यावन्दनसहितानि **सोद्देश्यानि** स्वर्गाद्युद्देशेन चोदितानि। **अध्यात्मचेतसा** आत्मनि परमात्मनि यच्चेतः, तदध्यात्मम्; तेन चेतसा। मत्पराः अहं परः परमप्राप्यं येषां ते मत्परा इति हृदि निधाय **मदेप्राकप्या** इत्युक्तम्। **अनन्यप्रयोजनेनेति** उपलक्षणं भगवद्ध्यानं 'सततं कीर्तयन्तः' [९।१४] इत्याद्युक्तानाम्। भगवत्प्राप्त्युपाये प्रयोजनत्वधीर्भवति; तद्बुद्धेर्विधिरिति भावः। **स्वयमेवेति**— न तु फलापेक्षयेत्यर्थः। **मृत्युभूतात्संसाराख्यादिति**— निषादस्थपतिन्यायात्समानाधिकरणसमास उचितः। हेयत्वार्थं च विशेषणमत्रोपयुक्तमिति भावः। **मत्प्राप्तिविरोधितयेति** मृत्युत्वोपचारनिमित्तम्। सत्यां हि भगवत्प्राप्तौ अमृतत्वम्। 'न' इत्यस्य व्यस्ततया क्रियान्वयभ्रमव्युदासाय **अचिरेणैव कालेन समुद्धर्ते**त्यन्वय उक्तः ॥६॥७॥

**५ आ. मा. भा.**— मदुपासकानां भक्तानां न कश्चित्क्लेश इति दर्शयति— ये त्वित्यादिना। उक्तं च सौकरायणश्रुतौ—"उपासते ये पुरुषं वासुदेवमव्यक्तादेरीप्सितं किन्नु तेषाम्" इति। 'तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः। अहमेव गतिस्तेषां निराशीः कर्मकारिणाम्' इति च मोक्षधर्मे [म. भा. १२] ॥ ६ ॥ ७ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— नन्वव्यक्तोपासकानां क्लेशातिशयो गीतायां प्रतीयते, भगवदुपासकानां तु तदभावो न प्रतीयते, अतस्तदेतत्सर्वमिति कथमुक्तं? इत्यत आह— **मदुपासकानामिति**। 'भक्तानां' इत्यनेन नान्यत्रात्यन्तमादर इति सूचयति। अत्र 'अनन्येनैव योगेन' इत्यादिना 'विनाऽव्यक्तोपासनम्' इत्येतत्प्रतीयते। उपासन इत्येवोक्त्याऽतिशयोपासनाद्यभावः। 'न चिरात्' इत्यनेन तत्रापीत्यादिकम्। 'तेषामहं समुद्धर्ता भवामि' [१२।१] इत्यनेन देवस्त्वित्यादिकं आगामिगीतावाक्यमपेक्ष्य प्राग्बुद्ध्यारोहाय तदुक्तमिति। अत्र श्रुत्यादिसम्मतिं चाह— **उक्तं चेति**। तेषामार्तादीनां मध्ये गतिः साधनादिसम्पादकः ॥ ६ ॥ ७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ये त्विति। अनन्यो न विद्यतेऽन्यद्यस्मिन्योगे सोऽनन्यः ॥ ६ ॥ ७ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— तदेतदभिप्रेत्य सगुणनिष्ठानामीश्वरप्रसादादनायासेनैव सिद्धिरिति दर्शयति द्वाभ्याम्— **ये त्विति**। तुशब्दः पूर्वोक्तवैलक्षण्यार्थः। ये सर्वाणि कर्माणि मयि सगुणे ब्रह्मणि सन्न्यस्य समर्प्य मत्परायणाः सन्तो मां ध्यायन्तः अनन्येन न विद्यतेऽन्यो भजनीयो यस्मिंस्तेन एकान्तभक्तियोगेनोपासते, मय्यावेशितचेतसां तेषां मृत्युयुक्तो यः संसारः स एव दुस्तरत्वात्सागरः, तस्मात्समुद्धर्ताऽहं क्षिप्रमेव भवामि।

यत्त्वत्र **माध्वव्याख्यानम्**— "ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः" [१२।१] इत्यत्राक्षरशब्देन लक्ष्मीरुच्यते" इति, यच्च **रामानुजव्याख्यानम्**— 'अक्षरशब्देन जीव-

इति। तत्रोभयत्रापि प्रश्नानुपपत्तिरुत्तरासङ्गतिः स्ववाक्यविरोधश्च। तथा हि—आद्यव्याख्याने तावत्प्रश्न एवानुपपन्नः। 'ये त्वन्यदेवताभक्ताः' [ ९।२३ ] इत्यादिना देवतान्तरभजनमन्तवत्फलं स्वभजनमनन्तफलमिति हि भगवता प्राग्बहुधोक्तम्। तत्र त्वदुपासकानां लक्ष्म्युपासकानां च मध्ये के वा योगवित्तमा इति प्रश्नः कथमुपपन्नः ? एवमुत्तरमप्यसङ्गतम्। 'देवान्देवयजो यान्ति' [ ७।२३ ] इति देवतान्तरोपासकानां तत्तद्देवताप्राप्तेरेव भगवतोक्तत्वेन 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' [ १२।४ ] इत्यस्यासङ्गतेः। अथ लक्ष्मीप्राप्तिद्वारा भगवत्प्राप्तिः सङ्गच्छत इति चेत्, तथा सति सर्वदेवतोपासकानामप्युपास्यदेवताप्राप्तिद्वारेण भगवत्प्राप्तेः सत्त्वेन विशिष्यात्र लक्ष्म्युपासकमात्रविषययोरेव प्रश्नोत्तरयोरयोगात्। तर्ह्यक्षरशब्देन लक्ष्मीग्रहणं सर्वदेवतोपलक्षकं भविष्यतीति चेत्, न; अनिर्देश्यमव्यक्तं सर्वत्रगमचिन्त्यं कूटस्थमचलं ध्रुवमिति विशेषणानामनन्वयात्। किञ्च लक्ष्म्याः परब्रह्माभिन्नत्वे 'विष्णुः सर्वोत्तमोऽथ प्रकृतिः—' इति त्वन्मतहानिः, 'ये त्वामुपासते ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां मध्ये के श्रेष्ठाः ?' इति प्रश्नानुपपत्तिश्च, परब्रह्माभिन्नत्वे तु जीवत्वेनाणुत्वात्सर्वत्रगमित्यादिविशेषणासङ्गतिः।

'अक्षरशब्दो जीवपरः' इति रामानुजव्याख्यानेऽप्येवमेव प्रश्नोत्तरस्ववाक्यासङ्गतिः। तथा हि— 'अक्षराख्यजीवयाथात्म्यदर्शनरूपमात्मोपासनं मोक्षहेतुभगवद्भक्तिरूपोपासनाङ्गत्वेन प्रथमषट्के निरूप्यते; मध्यमषट्के त्वात्मोपासनसाध्यं भगवदुपासनमुच्यते' इति त्वया व्याख्यातम्। तत्राङ्गाङ्गिभावेन जीवपरमोपासने प्रतिपद्यमानस्यार्जुनस्य कथं तयोरन्यतरश्रैष्ठ्यप्रश्नो घटते ? न ह्यस्मदभिमतः सगुणनिर्गुणनिष्ठयोरिव त्वदभिमतो जीवपरमोपासनयोरङ्गाङ्गिभावोऽत्रैव व्युत्पाद्य इति त्वया वक्तुं शक्यते, 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'। [ ६।४७ ]इत्यादिषु बहुस्थलेषु त्वया जीवपरोपासनयोरङ्गाङ्गिभावव्याख्यानात्। एवमुत्तरमपि न सङ्गच्छते— जीवोपासकानां तत्प्राप्तेरेव वक्तव्यतया 'ते प्राप्नुवन्ति मामेव' [ १२।४ ] इत्युक्त्ययोगात्। न च मामेवेत्यस्य मत्समानाकारमात्मानं प्राप्नुवन्तीत्यशब्दार्थव्याख्यानं यथाश्रुते सम्भवतीति युक्तम्। एवं जीवस्याणुत्वात्सर्वत्रगमित्यादिविशेषणानुपपत्त्या स्ववाक्यविरोधः। सर्वत्र देवतिर्यगादिदेहेष्वित्यर्थकल्पने च सर्वशब्दसङ्कोचः। तस्माद्भगवत्पादीयव्याख्यानमेवानवद्यम्॥ ६॥ ७॥

९ व० त० दी०—एवमक्षरोपासकानां गतिमुक्त्वा स्वभक्तानामाह द्वाभ्याम्— ये त्विति। तुशब्दः पूर्वेभ्यो भेदनिर्देशार्थः। मयि स्वामिनि सेव्ये स्वस्य सर्वकर्माणि सन्न्यस्य लौकिकानि वैदिकानि च समर्प्य अनन्येनोक्तलक्षणैकभक्तियोगेन मां ध्यायन्त उपासते ध्यानार्चनसेवनप्रणामश्रुतिकीर्तनादीनि स्वयमेवात्यन्तप्रियाणि प्राप्य सरूपाणि कुर्वन्तो मामुपासत इत्यर्थः। तेषां मत्प्राप्तिविरोधिमृत्युसंसारसागरादहमचिरेणैव समुद्धर्ताऽस्मि। अथवा मयि परमात्मनि नित्यप्रिये सति मन्निमित्तं वा लौकिकवैदिकानि सर्वाणि कर्माणि सन्त्यज्य बहिरन्तश्च त्यक्त्वा सद्व्रजप्रिया यच्छब्दवाच्यास्तु मत्पराः अनन्येनैव सर्वनिरपेक्षेणैव योगेन अनुवृत्तिमात्रसम्बन्धेनैव मां परमात्मप्रियं चिन्तयन्तो मत्समीप आसते॥ ६॥

तेषां तादृशानामहं तत्सम्बन्ध्येवाहमित्यर्थः 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज ! । वशे कुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पतिं यथा' [ भाग. ९।४।६३ ] इति वाक्यात्। न च तादृशानां कथं समुद्धारः सोपाधिभावनिदर्शनादिति वाच्यम्; मन्निष्ठत्वेन निर्गुणत्वादित्याह— मय्यावेशितचेतसामचिरेण समुद्धर्ता भवामीति मयि तथा भावकारणे वस्तुशक्तिरेवोद्धारिका 'न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते' इति वाक्यात्। न च तथात्वे तथाभूतानां सोपाधिकभक्तिमत्त्वं सगुणत्वापादकमिति शङ्क्यम्; भगवद्रूपत्वेन तत्कामस्य निर्बीजत्वनिदर्शनात्। अतएवोक्तं भगवता— 'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः। येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा' [ भाग. ११।१२।८ ] इति 'मन्निष्ठं निर्गुणं मतं' इति च। अन्यथा सोपाधिकत्वेन विघातकत्वेन च कामस्य तत्र सत्त्वाद्भगवत्प्राप्तिर्नोक्ता स्यादित्युपरम्यते। इदं च विशेषतः श्रीमत्प्रभुचरणैः स्पष्टीकृतमेवेति ततोऽवसेयम्॥ ७॥

१० पु. अ. त.—अक्षरोपासकानां साक्षात्कारेऽपि क्लेशः, मद्भक्तानां तु मत्स्वरूपध्यानेन मत्प्रतिमादिसेवतामप्यहमुद्धारं करोमीत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम्। ये तु सर्वाणि लौकिकवैदिकादीनि मयि मन्निमित्तं सन्न्यस्य त्यागं कृत्वा, मत्पराः अहमेव पर उत्कृष्टः प्राप्यो येषां तादृशाः सन्तोऽनन्येनैव योगेन, नैव अन्यो भजनीयो यस्मिंस्तादृशेन भक्तियोगेन मां ध्यायन्तः मद्ध्यानं कुर्वन्त उपासते सेवन्ते; मूर्त्यादिष्विति शेषः॥ ६॥ हे पार्थ मद्भक्त ! मयि आ समन्तात् सर्वभावेनाऽऽवेशितं चेतो येषां तेषां मृत्युसंसारसागरात् वारंवारं मरणधर्मयुक्तशरीरप्रापकरूपात् अलौकिकभजनौपयिकस्वरूपदानेन उद्धर्ता। न चिरात् शीघ्रमेवाऽहं भवामि, ध्याने मूर्तौ वा प्रकटो भवामीत्यर्थः॥ ७॥

११ नी० भा० दी०— नन्वव्यक्तासक्तचेतसां क्लेशाधिक्येऽपि क्लेशान्ते सद्यः कैवल्यसिद्धिरस्तीति किं विलम्बसाध्येन व्यक्तभावनेन ? इत्याशङ्क्याह— ये त्विति द्वाभ्याम् । सर्वाणि नित्यनैमित्तिकस्वाभाविकादीनि सन्न्यस्य समर्प्य मत्परा अहमेव परः सर्वकर्मभिः प्राप्यो येषां ते मत्परा मद्ध्यानपरा वा । अनन्येन भेदशून्येन अहमेव भगवान्वासुदेव इति परमेश्वरेऽहङ्ग्रहलक्षणेन योगेन चेतस्समाधानेन मां ध्यायन्त उपासते तत्रैव ध्याने स्थैर्यं लभन्ते ॥६॥ तेषां ध्यायिनां न चिरात् शीघ्रमेवाहं समुद्धर्ता समुद्धरणकर्त्ता । यतस्ते मयि सगुणे विश्वरूपे आवेशितचेतसो भवन्ति, अतो व्यक्तासक्ता अपि शीघ्रमेव परं पदमारोढुमर्हा इति । नाव्यक्तेऽत्यन्ताभिनिवेष्टव्यमिति भावः ॥ ७ ॥

सगुणनिर्गुणोपासनायाः सुकरं शीघ्रफलप्रदं चोपायचतुष्टयं भगवतो भक्तप्रेमातिरेकश्च ।

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।**
**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥**

१ **शां. भा.**— यत एवं तस्मात्— **मय्येवेति** । मय्येव विश्वरूप ईश्वरे मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व स्थापय । मय्येवाध्यवसायं कुर्वतीं बुद्धिं च आधत्स्व निवेशय । ततस्ते किं स्यात् ? इति शृणु । निवसिष्यसि निवत्स्यसि निश्चयेन मदात्मना मयि निवासं करिष्यस्येव, अतः शरीरपातादूर्ध्वं, न संशयः संशयोऽत्र न कर्तव्यः ॥ ८ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— भगवदुपासना विशिष्टफलेत्येवं यतः सिद्धमतो भगवन्निष्ठायां प्रयतितव्यमित्याह— **यत** इति । असंहिताकरणं श्लोकपूरणार्थम् । मनोबुद्ध्योर्भगवत्यवस्थापने प्रश्नपूर्वकं फलमाह— **तत** इति । भगवन्निष्ठस्य तत्प्राप्तौ प्रतिबन्धाभावं सूचयति— **संशयोऽत्रेति** ॥ ८ ॥

३ **रा. भा.**— अतोऽतिशयितपुरुषार्थत्वात्सुलभत्वादचिरलभ्यत्वाच्च मय्येव मन आधत्स्व मयि मनस्समाधानं कुरु; मयि बुद्धिं निवेशय अहमेव परमप्राप्य इत्यध्यवसायं कुरु; अत ऊर्ध्वं मय्येव निवसिष्यसि अहमेव परमप्राप्य इत्यध्यवसायपूर्वकमनोनिवेशनानन्तरमेव मयि निवसिष्यसीत्यर्थः ॥ ८ ॥

४ **वे. ता. चं.**— सामान्येनोक्तं कर्तव्यमर्थे 'मय्येव' इत्यादिना श्रोतर्यर्जुने निवेशयतीति सङ्गतिप्रदर्शनायाह— **अत** इति । प्रागुक्तमत्रत्यं च समुच्चित्य हेतुत्रयमुक्तम् **अतिशयितपुरुषार्थत्वा**दित्यादिना । समाध्युपक्रमपरत्वव्यक्त्यर्थं **मयि मनस्समाधानं कुर्वि**त्युक्तम् । उपायभूतमनस्समाधानेन पुनरुक्तिपरिहाराय बुद्धिशब्दार्थं प्राप्यभूतं तद्विषयविशेषं चाह **अहमेवेति** । 'अत ऊर्ध्वम्' इत्युपदेशकालानन्तर्यपरत्वव्युदासायाह **अध्यवसायपूर्वकमनोनिवेशनानन्तर**मिति । अव्यवधानविषयेण 'अत ऊर्ध्वम्' इत्यनेन अवधारणं फलितमिति वा तत्रैवकारस्यान्वयमभिप्रेत्य वा **अनन्तरमेवे**त्युक्तम् । **मयि निवसिष्यसि** निवत्स्यसीति यावत् । अत्राधारत्वमात्रं सर्वदास्ति, तद्बुद्धिश्च श्रवणत एव जातेति न तत्परत्वमत्रोचितम् ; अतो मनोनिवेशनानन्तरमेव मुक्तवद्वक्ष्यसीत्यर्थः । यद्वा दृष्टादृष्टसर्वप्रकाररक्षके मयि, आचार्ये शिष्यवत्, पितरि पुत्रवदवस्थित इति निर्भयो भवेत्यभिप्रायः । भगवदुपासनस्य स्वसाध्यनिष्पादने शैघ्र्यात्सुसुखोपादानत्वाच्च श्रैष्ठ्यमुक्तम् । तस्मिन्मय्यध्यवसायं कुरुष्वेति चार्जुनं प्रत्यनुशिष्टम् ॥ ८ ॥

---

१ **मय्येवेति**— मय्यात्मनि मन आधत्स्व, दीपे दृष्टिमिवाधत्स्वेत्यर्थः । येन प्रकाशितं घटादिकं पश्यति, तस्मिन्मय्येव मदितरविशेषमात्रमकल्पयन् मन आधत्स्व । घटादिष्वपि दीपप्रकाशस्यैव दृश्यमानत्वात् तत्रापि दृष्टिर्दीपं पश्यत्येव । यथा मनः सर्वत्र चैतन्यं स्पृष्ट्वैव पदार्थं पश्यति तथा मास्त्वित्येवकारार्थः । ननु चञ्चलं कथमाहितं निश्चलं स्यात् तत्राह– **मयि बुद्धिं निवेशयेति** । विषयचिन्तनमेव मनश्चाञ्चल्यम् । तत्र स्वरूपं निर्विशेषं सुषुप्त्युपलक्षितम्, न तत्र कश्चन धर्म इति संस्कृतां बुद्धिं मयि निवेशय– साक्षादेवमनुभवस्वेत्यर्थः । बुद्धेर्निश्चयात्मकस्वरूपत्वादेवमात्मतत्त्वं, न तत्र कश्चन धर्म इति निश्चयानुसन्धानान्मनो विषयाभिमुखत्वं त्यक्त्वा ततो निश्चलं भविष्यति, स एव मयि प्रवेश इत्याह— **निवसिष्यसी**ति । अत ऊर्ध्वं यदा मन्निर्धर्मकत्वसंस्कृतां बुद्धिं चिदेकमात्रे मयि प्रवेशयिष्यति, तदुपरि मय्येव निवसिष्यसि– वृत्तिशून्यं मनो भविष्यतीत्यर्थः ॥ नात्र सगुणे मयि मन आधत्स्व, बुद्धिं च निवेशय; ततो निर्गुणे मयि निवसिष्यसीत्याद्यर्थकल्पनावसरः; उत्तरश्लोके निर्गुणे मनोधारणाया उक्तत्वात्— इति श्रुतिकल्पलतायां **वामनः** ॥ मनसा गृहीतवस्तुसामान्ये बुद्धिर्निविशते, अतस्त्वं प्रयत्नेन निवेशय; मत्स्वरूपं मनसा गृहीत्वा बुद्ध्या निर्धार्य मामनन्ययोगेन भजस्वेत्यर्थ **इत्यन्ये** । — **अविगीता** ।

५ आ. मा. भा.— ॥ ८ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ ८ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ ८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवं मुमुक्षोः प्रथमं सगुणनिष्ठावश्यिकत्वमुक्त्वेदानीं तद्विधत्ते— मय्येवेति। मय्येव सगुणे ब्रह्मणि मनः स्थापय। तथा मयि बुद्धिं निवेशय अहमेव परमप्राप्य इत्यध्यवसायं कुरु। एवं कुर्वन्मत्प्रसादेन लब्धज्ञानः सन् अत ऊर्ध्वमेतद्देहान्ते मय्येव निर्गुणे ब्रह्मणि मदात्मना निवसिष्यसि निवत्स्यसि। नात्र कश्चित्संशयोऽस्ति। 'एव अत ऊर्ध्वम्' इत्यत्र सन्ध्यभावः श्लोकपरिपूरणार्थः ॥ ८ ॥

९ ब० त० दी०— यस्मादेवं तस्मात् मय्येवेति। असाधारणवस्तुशक्त्याश्रये येन केन च सम्बन्धेन मनोनिवेशमात्रेण तन्निर्गुणत्वापादके प्रकटरूपे एव पुरुषोत्तमे परमात्मप्रिये मन आदिकं निवेशय सङ्कल्पविकल्पविषयकमपि मदीयमेव कुरु। व्यवसायोऽयमेव परं प्राप्यो नान्य इति बुद्धिधर्मस्तद्वृत्तीश्च मय्येव निवेशयैव। अत्रैवकारोऽन्यसर्वधर्मव्यावृत्त्यर्थकत्वाद्वक्ष्यमाणसर्वधर्मपरित्यागे बीजभूत उक्तः। अत ऊर्ध्वं एवम्भावानन्तरं मय्येव निवसिष्यसि, न त्वक्षरादौ धाम्नि, किन्तु मद्रूप इति भावः ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— यतो ध्यानादिभिः सेवतामप्युत्तमफलप्राप्तिर्भवति, तत्र साक्षान्मद्भजनकर्तॄणां किं वाच्यं? अतस्त्वं मत्परो भवेत्याह— मयीति। मय्येव प्रकटरूप एव मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व आ समन्तात् स्थैर्येण सर्वत आकृष्य स्थापय। बुद्धिं व्यवसायात्मिकां मय्येव निवेशय। अत ऊर्ध्वं बुद्धिप्रवेशानन्तरं मय्येव पुरुषोत्तमे निवसिष्यसि नितरां सेवादियोग्यतया निकट एव स्थास्यसि। न संशयः अत्र न सन्देहः। संशयं मा कुर्या इत्यर्थः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— यस्मादेवं तस्मान्मय्येव विश्वरूपे ईश्वरे मनः सङ्कल्पविकल्पात्मकमाधत्स्व स्थापय। मय्येवाध्यवसायं कुर्वतीं बुद्धिं निवेशय। तत्फलं च— निवसिष्यसि निवत्स्यसि निश्चयेन मदात्मना मयि वासं करिष्यसि। अतः शरीरपातादूर्ध्वं न संशयः कर्तव्यः ॥ ८ ॥

**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**
**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाऽऽप्तुं धनञ्जय! ॥ ९ ॥**

**१ शां. भा.**— अथेति। अथैवं यथाऽवोचाम तथा मयि चित्तं समाधातुं स्थापयितुं स्थिरमचलं न शक्नोषि चेत्, ततः पश्चादभ्यासयोगेन, चित्तस्यैकस्मिन्नालम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनःपुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षणस्तेनाभ्यासयोगेन मां विश्वरूपमिच्छ प्रार्थयस्वाऽऽप्तुं प्राप्तुं हे धनञ्जय! ॥ ९ ॥

२ आ. शां. व्या.— मतप्रदर्शनपूर्वकं भगवत्प्राप्तावुपायान्तरमाह— अथेत्यादिना। एकमालम्बनं स्थूलं प्रतिमादि। समाधानं ततोऽभ्यन्तरे विश्वरूपे चित्तैकाग्र्यम् ॥ ९ ॥

३ रा. भा.— अथ सहसैव मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि, ततोऽभ्यासयोगेन मामाप्तुमिच्छ— स्वाभाविकानवधिकातिशयसौन्दर्यसौशील्यसौहार्दवात्सल्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यशौर्य-

---

१ यदि मयि चित्तं स्थिरं यथा स्यात्तथाधातुं न शक्नोषि, ध्रियमाणमेव यदा लीनं विक्षिप्तं वा भविष्यति, तदा बुद्धिरपि निर्धर्मकत्वसंस्कृता निश्चला न भविष्यति। यत्र मनसः सङ्कल्पस्तत्रैव साऽपि तत्तन्निश्चयरूपा परिणता भविष्यति, तदा मयि प्रवेशो न सम्भविष्यति तर्हि अभ्यासयोगोऽष्टाङ्गादिसाधनरूपस्तं तदनन्तरं कुरु 'अनन्येनैव–' (१२।६) इत्युक्तम्— इति **श्रुतिकल्पलतायां वामनः।**

विश्वाकारो निर्विकारा चिदेव शुद्धेत्येवं सर्वदा दर्शनं यत्। प्रत्यग्वृत्तेर्योजनं चात्मरूपे भूयो भूयोऽयं मतोऽभ्यासयोगः ॥

इति यथार्थदीपिकायां स एव। धनञ्जयेति यथा राजसूयप्रसङ्गे शत्रून् जित्वा धनमाहृतवानसि, तथा मनोरूपं शत्रुं जित्वा तत्त्वज्ञानधनमाहरेति भावः — इति केचित्। — अविगीता।

**वीर्यपराक्रमसार्वज्ञसत्यकामत्वसत्यसङ्कल्पत्वसर्वेश्वरत्वसकलकारणत्वाद्यसङ्ख्येयकल्याणगुणसागरे निखिलहेयप्रत्यनीके मयि निरतिशयप्रेमगर्भस्मृत्यभ्यासयोगेन स्थिरं चित्तसमाधानं लब्ध्वा मां प्राप्तुमिच्छ ॥ ९ ॥**

४ वे. ता. चं.— अथ शब्दादिविषयवासनाकृष्टचेतसोऽत्यन्तादृष्टपूर्वे त्वयि कथं स्थिरं चित्तसमाधानं शक्यं ? इत्यर्जुनाशयमुन्नीय तदुपायमुपदिशति— **अथ चित्त**मिति। कदाचिदप्यशक्यत्वेऽप्यनुपदेश्यत्वमेव, तदुपायोपदेशश्च व्यर्थः स्यादित्यत्राह **सहसैवे**ति । **स्थिर**मिति क्रियाविशेषणम्; मनसश्चलस्वभावत्वान्न तद्विशेषणत्वमुचितम्। **अथे**ति प्रश्नार्थः; यद्यर्थविश्रान्तो वा । **तत** इति साक्षाच्चित्तसमाधानाशक्तत्वादित्यर्थः। एवमुत्तरत्राप्यथततश्शब्दयोरर्थो ग्राह्यः । किंविषयोऽभ्यासः ? कथं च तस्यापि शक्यत्वं ? कथं वा तेन त्वत्प्राप्तिः ? इत्यत्राह **स्वाभाविके**ति। इतरपरिहारहेतुभूतगुणवति तु विशेषेण सजन्त इत्यभिप्रायेण गुणगणग्रहणम् । अयमेवाभिप्रायो 'मद्गुणानुसन्धानकृत' इत्यत्र व्यक्तो भविष्यति । तत्तद्गुणानां प्रत्येकं चित्ताकर्षकत्वप्रकारो यथासम्भवमनुसन्धेयः। **सकलकारणत्व**वचनं पितृत्वेन प्रीत्यर्थमाश्रयत्वार्थं च । **गुणव**त्यपि यत्किञ्चिद्दोषदर्शनेऽपि मात्रया विरज्येरन्निति तत्परिहाराय निखिलहेयप्रत्यनीकत्वोक्तिः। हिरण्यादिवद्विपरीताभ्यासपरिहाराय **निरतिशयप्रेमगर्भे**त्युक्तम्। आलम्बने पुनः पुनः स्थापनमभ्यासः; स एव योगः । अभ्यासवैराग्याभ्यां चित्तनिरोधश्च योगानुशासनेऽस्मिन्नपि शास्त्रे पूर्वमेवोक्तः । अभ्यासमात्रस्याव्यवधानेन प्राप्तिहेतुत्वव्युदासाय **स्थिरं चित्तसमाधानं** लब्ध्वेत्युक्तम् ॥ ९ ॥

**५ आ. मा. भा.—॥ ९ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ९ ॥

**७ ह. पै. भा.—॥ ९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— इदानीं सगुणब्रह्मध्यानाशक्तस्य बाह्ये प्रतिमादौ भगवद्ध्यानाभ्यासः कार्यं इत्याह— **अथे**ति। **अथे**ति पक्षान्तरे। मयि स्थिरं निश्चलं यथा भवति तथा चित्तं स्थापयितुं न शक्नोषि चेत्, तदा अभ्यासयोगेन एकस्मिन्प्रतिमालम्बने चित्तस्य सर्वतः प्रत्याहृत्य पुनः पुनः स्थापनमभ्यासः, स एव योग उपायस्तेन स्थिरचित्तसमाधानं लब्ध्वा मां प्राप्तुमिच्छ, अन्तर्ध्यातुं यतस्वेत्यर्थः ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— **अथे**ति पक्षान्तरे । मुख्यकल्पासम्भवेऽनुकल्पमुपदिशति। चेन्मयि चित्तं स्थिरं समाधातुं न शक्तोऽसि अनिषिद्धो योगो न निष्पद्यते तर्हि अभ्यासयोगेन तत्स्थिरीकृत्य मामाप्तुमिच्छ ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— ननु मनश्चञ्चलत्वात् कथं त्वयि स्थिरं स्यात् ? अत आह- **अथे**ति। 'धनञ्जय' इति सावधानार्थे सम्बोधनम्। अथ चेत् मयि स्थिरं चित्तं समाधातुं न शक्नोषि समर्थो न भवसि, तदा अभ्यासयोगेन मच्छ्रवणानुस्मरणादिरूपेण मामाप्तुं प्राप्तुं इच्छ यतस्व । विचार्य प्रयत्नपरो भवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— विश्वरूपधारणायामशक्तं प्रति प्राह— **अथे**ति। मयि विश्वेश्वरे विश्वरूपे अथ यदि चित्तं समाधातुं निवेशितुमचलं धारयितुं न शक्नोषि, ततस्तर्ह्यभ्यासयोगेन चित्तस्यैकस्मिन्नाभ्यन्तरे बाह्ये वा प्रतिमादावालम्बने सर्वतः समाहृत्य पुनः पुनः स्थापनमभ्यासस्तत्पूर्वको योगः समाधानलक्षणस्तेनाभ्यासयोगेन मां विश्वरूपमाप्तुं प्राप्तुमिच्छ प्रार्थयस्व हे धनञ्जय ! ॥ ९ ॥

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।**
**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥**

**१ शां. भा.—अभ्यासे**ऽपीति। अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽस्यशक्तोऽसि, तर्हि मत्कर्मपरमो भव, मदर्थं कर्म मत्कर्म तत्परमः, मत्कर्मप्रधान इत्यर्थः। अभ्यासेन विना मदर्थमपि कर्माणि केवलं कुर्वन्सिद्धिं सत्त्वशुद्धियोगज्ञानप्राप्तिद्वारेणावाप्स्यसि ॥ १० ॥

२ आ. शां. व्या.— द्वैताभिनिवेशादभ्यासाधीने योगेऽपि सामर्थ्याभावे पुनरुपायान्तरमाह— **अभ्यासे**ऽपीति। अभ्यासयोगेन विना भगवदर्थं कर्माणि कुर्वाणस्य किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अभ्यासेने**ति। सिद्धिर्ब्रह्मभावः। अपिरुक्तव्यवधिसूचनार्थः ॥ १० ॥

३ रा. भा.— अथैवंविधस्मृत्यभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि, मत्कर्मपरमो भव मदीयानि कर्माण्यालयनिर्माणोद्यानकरणप्रदीपारोपणमार्जनाभ्युक्षणोपलेपनपुष्पाहरणपूजनोद्वर्तननामसङ्कीर्तनप्रदक्षिणस्तुतिनमस्कारादीनि तान्यत्यर्थप्रियत्वेनाचर; अत्यर्थप्रियत्वेन मदर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि अचिरादभ्यासयोगपूर्विकां मयि स्थिरां चित्तस्थितिं लब्ध्वा मत्प्राप्तिरूपां सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ १० ॥

४ वे. ता. चं.— चिराभ्यस्तेषु प्रत्यक्षेषु शीघ्रलभ्येषु भोग्येषु प्रसक्तस्य मनसो दुर्निग्रहत्वाद्गुणवति विशुद्धेऽपि त्वय्यभ्यासो न शक्यः; कर्मस्वेव हि तेषुतेषु वासना; ततः कर्मस्वेव मनः प्रवर्ततेत्यर्जुनाभिप्रायमुन्नीय शीलितसजातीयमभ्यासोपायमुपदिशति 'अभ्यासेऽपि' इति । अथशब्दोऽत्रानुषक्तः । एवंविधत्वं निरतिशयप्रेमगर्भत्वम् । 'सर्वकर्म-' [१२।११+१८।२] इति परस्ताद्यज्ञादिकर्मणां पर्वान्तरत्वेन वक्ष्यमाणत्वादत्र च 'मत्कर्म' इति विशेषतो निर्देशाच्च भगवदसाधारणं भक्त्यन्तरङ्गं 'सततं कीर्तयन्तो माम्' [ ९।१४ ] इत्यादिभिः प्राक्प्रपञ्चितमितिहासपुराणभगवच्छास्त्रादिप्रसिद्धं कर्मात्र विवक्षितमित्यभिप्रायेण **आलयनिर्माणे**त्यादिकमुक्तम् । परमशब्दाभिप्रेतमाह **तान्यत्यर्थप्रियत्वेनाचरे**ति । 'मामिच्छाप्तुम्' [ १२।९ ] इति पूर्वश्लोकोक्ता प्राप्तिरेवात्रापि सिद्धिशब्देन विवक्षितेति तत्स्थानप्राप्त्या प्रतीयते । तत्र पूर्वप्रक्रियया परम्परयैवास्यापि कर्मणः साधकत्वमित्यपिशब्देन द्योत्यत इति ज्ञापनायाह— **अभ्यासयोगपूर्विका**मिति । तत्तत्कर्मणामतिपवित्रत्वात्प्रतिकर्म तच्चिन्तनाच्च तत्स्मृत्यभ्यासोऽचिरात्सिध्यतीत्यर्थसिद्धमित्यभिप्रायेण **अचिरा**दित्युक्तम् ॥ १० ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १० ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १० ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १० ॥

८ वें. व्र. गि.— अभ्यासाशक्तौ भगवत्कथाश्रवणकीर्तनादिकं कार्यमित्याह-**अभ्यास** इति । अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि चेत्, मत्कर्माणि श्रवणादीनि परमाणि प्रधानानि यस्य स त्वं तदेकनिष्ठो भवेत्यर्थः । ततश्च अभ्यासेन विना केवलं मदर्थं कर्माणि कुर्वन्नपि त्वं चित्तशुद्धिद्वारेण सिद्धिं मोक्षं प्राप्स्यसि ॥ १० ॥

९ व० त० दी०— यदि पुनः अभ्यासेऽप्यङ्गसाधनेऽसमर्थोऽसि तर्हि पूजायां मत्सेवापरो भव, सेवापूर्वं मदर्थं कर्माणि कुरु ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— एवं चित्तधारणार्थमभ्यासः साधनत्वेनोक्तस्तत्साधनमप्याह— **अभ्यास** इति । अभ्यासे निरन्तरानुस्मरणे अपि चेत् असमर्थोऽसि तदा मत्कर्मपरमः मत्प्रीतिहेतुपूजादिरूपाणि यानि तदनुष्ठानमेव परममुत्कृष्टं यस्य, तादृशो भव । एवं मदर्थं मत्प्रीत्यर्थं, न तु फलकामनया कर्माण्यपि कुर्वन् सिद्धिमभ्याससिद्धिं प्राप्स्यसि ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— अभ्यासेऽपीति । अभ्यासे पूर्वश्लोकोक्ते । मत्कर्म 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्' [ भाग. ७।५।२३ ] इति नवविधभजनात्मकं भगवत्प्रीत्यर्थं कर्म मत्कर्मशब्दितं, तदेव परममावश्यकं यस्य, तादृशो भव । कर्माणि श्रवणादीनि । सिद्धिं सत्त्वशुद्धिम् ॥ १० ॥

## अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः ।
## सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ ११ ॥

१ शां. भा.— अथैतदिति । अथ पुनरेतदपि यदुक्तं मत्कर्मपरमत्वं तत्कर्तुमशक्तोऽसि, मद्योगमाश्रितो मयि क्रियमाणानि कर्माणि सन्न्यस्य यत्करणं तेषामनुष्ठानं स मद्योगस्तमाश्रितः सन्सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां कर्मणां फलसन्न्यासं सर्वकर्मफलत्यागं ततोऽनन्तरं कुरु । यतात्मवान्संयतचित्तः सन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवत्कर्मपरत्वमप्यशक्यमिति शङ्कते— अथेति । बहिर्विषयाकृष्टचेतस्त्वादित्यर्थः । तर्हि भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन संयतचित्तो भूत्वा कर्मफलसन्न्यासं कुर्वित्याह— **मद्योग**मिति ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— अथ मद्योगमाश्रित्यैतदपि कर्तुं न शक्नोषि मद्गुणानुसन्धानकृतमदेकप्रियत्वाकारं भक्तियोगमाश्रित्य भक्तियोगाङ्गरूपमेतन्मत्कर्मापि कर्तुं न शक्नोषि, ततोऽक्षरयोगमात्मस्वभावानुसन्धानरूपं परभक्तिजननं पूर्वषट्कोदितमाश्रित्य तदुपायतया सर्वकर्मफलत्यागं कुरु ।

**४ वे. ता. चं.**— स्वार्थेष्वेव कर्मसु निबद्धचित्तस्य कथं त्वदर्थेषु कर्मस्वत्यर्थप्रियत्वेन प्रवृत्तिः सम्भवेदित्यत्र तदुपायपरम्पराकाष्ठाभूतं कर्मयोगं प्रत्यभिज्ञापयति **अथैतद**दिति । 'मद्योगमाश्रितः' इत्यस्याक्षरयोगविषयेणोत्तरार्धेन अन्वयव्युदासाय पूर्वार्धान्वयमाह **अथ मद्योग**मिति । तस्याशक्यत्वज्ञापनायाह— **मद्गुणे**ति । भक्तियोगावस्थाविशेषेष्वतः पूर्वावस्था नास्तीति व्यञ्जनाय **भक्तियोगाङ्गरूप**मित्युक्तम् । 'मद्योगम्' इत्यनेन जीवात्मयोगव्यवच्छेदः । ततश्च मद्योगमाश्रित्य तदङ्गे कर्मण्यसमर्थश्चेज्जीवात्मयोगमाश्रित्य तदङ्गे कर्मयोगे प्रवर्तस्वेति वाक्यार्थः । तदेतदभिप्रेत्याह **ततोऽक्षरे**ति । अक्षरयोगस्याप्यव्यवधानेन मोक्षोपायत्वव्युदासाय **परभक्तिजनन**मित्युक्तम् । सप्रकाराक्षरयोगप्रत्यभिज्ञापनार्थे, मध्यमषट्कोदिताक्षरयोगव्यवच्छेदार्थे च **पूर्वषट्कोदित**मित्युक्तम् । सर्वकर्मफलत्यागस्याव्यवधानेन भक्तियोगजनकत्वव्युदासाय **तदुपायतये**त्युक्तम् ।

**३ रा. भा.**— मत्प्रियत्वेन मदेकप्राप्यताबुद्धिर्हि प्रक्षीणाशेषपापस्यैव जायते; यतात्मवान् यतमनस्कः ; ततोऽनभिसंहितफलेन मदाराधनरूपेणानुष्ठितेन कर्मणा सिद्धेनात्मज्ञानेन निवृत्ताविद्यादिसर्वतिरोधाने मच्छेषतैकस्वरूपे प्रत्यगात्मनि साक्षात्कृते सति मयि परा भक्तिः स्वयमेवोत्पद्यते ।

**४ वे. ता. चं.**— कर्मयोगपूर्वकात्मसाक्षात्कारस्य भक्त्युत्पत्त्युपयोगित्वप्रकारं प्रकरणान्तरोक्तं दर्शयति— **मत्प्रियत्वे**नेति । 'मय्येव मन आधत्स्व' [ १२।८ ] इति पूर्वं परमात्मनि मनस्समाधानं विहितम्; तदशक्तं प्रत्युपदिश्यमानाक्षरयोगांकुररूपे कर्मणि प्रवृत्तस्य तु पूर्वषट्कप्रपञ्चितैर्हेतुभिः मनोनियमनशक्यत्वं 'यतात्मवान्' इत्युक्तमित्यभिप्रायेण **यतमनस्क** इत्युक्तम् । कर्मयोगस्यानन्तरश्लोकेऽभिधास्यमानक्रमेण परम्परया भक्तियोगजनकत्वप्रकारमाह **ततोऽनभिसंहि**तेति । 'फलत्यागं कुरु' इति साध्यांशत्यागवचनेन तत्पूर्वकसाधनानुष्ठानं विवक्षितमिति ज्ञापनाय **अनभिसंहितफलेने**त्यादिकमुक्तम् । अनन्तराभिधास्यमानमनश्शान्तिद्वारात्मध्यानसिद्धिः । अविद्या संसारकारणं कर्म, 'अविद्या कर्मसंज्ञा' इत्युपक्रम्य 'यया क्षेत्रज्ञशक्तिः सा वेष्टिता' [ वि. पु. ६।७।६१ ] इति वचनात् ; आदिशब्देन 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या त्वस्वे स्वमिति या मतिः । अविद्यातरुसम्भूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम्' [ वि. पु. ६।७।११ ] इत्याद्युक्तसङ्ग्रहः । यद्वाऽत्र अविद्या देहात्मभ्रमादिः; आदिशब्देन कर्मवासनादिसङ्ग्रहः । परभक्तिजनकत्वसिद्ध्यर्थमुक्तं **मच्छेषतैकस्वरूप** इति । यथा बाल्ये बालक्रीडाप्रसङ्गेन नरेन्द्रभवनान्निष्क्रान्तस्य मार्गाद्भ्रष्टस्य व्याधगृहीतस्य पक्कणे वर्तमानस्य राजकुमारस्याप्तोपदेशात्स्वात्मनस्तथात्वं मत्वा विमृशतः स्वात्मनि राजसाम्यमङ्गप्रत्यङ्गादिषु पश्यतस्तस्मिन् यथा पितृत्वप्रीतिर्निरतिशया जायते; एवमस्यापि यथोपदेशं भगवच्छेषभूते स्वात्मनि तत्साम्याकारेण साक्षात्कृते भक्तिसिद्ध्यर्थं न किञ्चित्कर्तव्यमस्तीत्यभिप्रायेण— **मयि परा भक्तिः स्वयमेवोत्पद्यत** इत्युक्तम् । एतेनाध्यायारम्भे 'ये चाप्यक्षरमव्यक्तम्' [ १२।१ ] इत्युक्ताक्षरयोगोऽप्यक्षरसाक्षात्कारद्वारा परभक्तिमुत्पाद्य परमात्मप्राप्तौ विश्राम्यतीति सिद्धम् । स एव ह्यत्रापि प्रथमषट्कोक्तोऽक्षरयोगः प्रस्पष्टमुच्यते ।

**३ रा. भा.**— तथाच वक्ष्यते—'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [ १८।४६ ] इत्यारभ्य 'विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' [ १४।२६ ] इति ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.**— ननु यदशक्तं प्रति यदुपदिश्यते, तत्तत्तुल्यफलमशक्ताधिकारं साधनान्तरं दृष्टम् ; यथावगाहनाशक्तस्य स्नानान्तराणि । उच्यते चान्यत्र क्रियायोगस्य साक्षान्मोक्षसाधनत्वं 'मोक्षकारणमव्यक्तमचिन्त्यमपरिग्रहम् । तमाराध्य जगन्नाथं क्रियायोगेन मुच्यते' इति । तथात्रापि किं न स्यादिति शङ्कायां कर्मयोगस्य भक्तियोगसाधनत्वं अष्टादशाध्याये वक्ष्यमाणं दर्शयति **तथाचे**ति । अन्यत्र चाप्ययं क्रमः स्फुटः— 'तत्र चित्तं समावेष्टुं न शक्नोति भवान्यदि । तदभ्यासपरस्तस्मिन् कुरु योगं दिवानिशम् । तत्राप्यसामर्थ्यवतः क्रियायोगो महात्मनः । ब्रह्मणा यः समाख्यातस्तत्परः सततं भव । करोषि यानि कर्माणि देवदेवे जगत्पतौ । समर्पयस्व भद्रं ते ततः कर्म प्रहास्यसि । प्रधानं कारणं योगो विमुक्तेर्दितिजेश्वर ! । क्रियायोगश्च योगस्य परमं तस्य साधनम्' इति । 'मद्भक्तिं लभते पराम्' [ १८।५४ ] इति वक्ष्यमाणफलस्य कर्मयोगहेतुकत्वं प्रकरणसिद्धमिति ज्ञापनाय 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [ १८।४६ ] **इत्यारभ्ये**त्युक्तम् ॥ ११ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ११ ॥

६ ज. म. दी.— ॥ ११ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ ११ ॥

८ वें. ब्र. गि.— भगवदर्थकर्मानुष्ठानाशक्तौ स्वतः क्रियमाणकर्मफलत्यागः कार्य इति पक्षान्तरमाह— अथेति। अथ एतत्कर्मापि कर्तुं न शक्नोषि। कर्माणीति बहुवचनेनोक्तानामेतदित्येकवचनं भगवत्कीर्तनश्रवणस्तुतिनमस्कारादिष्वेकमपि कर्मालमिति सूचयति। ततो मद्योगं मदेकशरणत्वमाश्रितः, यतात्मवान् यतः संयतेन्द्रियः स चासावात्मवानिवेकी च सन् सर्वकर्मफलत्यागं कुरु, फलाभिसन्धिं त्यज ॥ ११ ॥

९ व० त० दी०— अथैतदपि न कर्तुं त्वं शक्तोसि चेत्तर्हि मद्योगं मत्सम्बन्धसेव्यसेवकत्वरूपमाश्रितः सन् सर्वकर्मफलत्यागं कुरु। एतदुक्तं भवति— ईश्वराज्ञया परमाचार्योपदिष्टशरणमार्गतः यथाशक्ति स्वधर्माचरणं फलादित्यागपूर्वकं सुखावहमिति मयि भारमारोप्य अन्यज्ञानयोगधर्मपरित्यागेन मदाश्रये कृतार्थतेति। विशेषस्त्वग्रे स्पष्टीकरिष्यते ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.— एतत्प्राप्त्यर्थमतिसुगमोपायमाह— अथैतदिति। अथ चेत् एतदपि मदर्थकं कर्तुमशक्तोऽसि न समर्थोऽसि, स्वरूपाज्ञानात्; तदा मद्योगं मम योगः संयोगो यस्मिन् यस्य वा तादृशं भक्तमाश्रितः सन् यतात्मवान् तदेकपरचित्तो भूत्वा सर्वकर्मफलत्यागं सन्ध्यावन्दनाग्निहोत्रादीनां स्वर्गादिरूपफलानां त्यागं कुरु, चिन्तनं त्यजेत्यर्थः। तत्फलानभिलाषे मदाज्ञया करणात् कर्मभिश्चित्तशुद्ध्या मद्भक्तोपदिष्टं ज्ञानं स्थिरीभविष्यति, तेन मत्कर्मसिद्धिर्भविष्यतीति भावः ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०— मद्योगं श्रवणादौ निष्ठाम्। तर्हि पूर्वोक्तं श्रौतस्मार्तसर्वकर्मफलत्यागं कुर्वित्यर्थः। यतात्मवान् यतश्च नियमादिमांश्च आत्मवान् जितचित्तश्चेति यतात्मवान् ॥ ११ ॥

**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।**
**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥**

---

१ श्रेयो हि ज्ञानमावेशात्मकमभ्यासात्, अभ्यासस्य तत्फलत्वात्। तस्मादेवावेशाद्ध्यानं भगवन्मयत्वं विशिष्यते विशेषत्वं याति। अभिमतप्राप्त्यासत्तिध्यानेन भगवन्मयत्वे कर्मफलानि सन्यसितुं युज्यन्ते। अन्यथा अज्ञातरूपत्वे क सन्यासः? कर्मफलत्यागे चात्यन्तिकी शान्तिः? अतः सर्वमूलत्वादावेशात्मकं ज्ञानमेव प्रधानम्— इत्यभिनवगुप्तपादाः ॥ अत्र कर्मफलत्यागः स्तूयते। स्तुतिश्च पूर्वपूर्वसाधनेष्वसमर्थस्य तत्र नियतप्रवृत्त्यर्था, न तु वस्तुपरा। वस्तुतो ध्यानाद्विधिपूर्वकश्रवणमननादिजन्मनस्तत्त्वसाक्षात्कारहेतोस्तद्द्वारा संसारमूलाविद्योच्छेदकात् अज्ञेन कृतस्य कर्मफलत्यागमात्रस्य चेतोविशुद्धिद्वारा संसारनिवृत्तेरतिव्यवहितहेतोरुत्कृष्टत्वस्याभावात्— इति गूढार्थतत्त्वालोकः ॥ एतेन 'नवमादिषु श्लोकेषु भक्तियुक्तकर्मयोगसिद्ध्यर्थमभ्यासज्ञानभजनादिकर्मप्रभृतीनि साधनान्यभिधाय तेषामन्येषां च साधनानां तरतमभावं विचार्यान्ते द्वादशश्लोके कर्मफलत्यागाख्यनिष्कामकर्मयोगस्य श्रेष्ठत्वमुपवर्णितम्' इत्यादिनव्यजल्पितमपास्तम्। किञ्च नात्र कर्मयोगसिद्धिः प्रकृता, न च कर्मफलत्यागस्यैव सर्वतः श्रेष्ठत्वे 'एतदप्यशक्तोऽसि' इति तस्येश्वरार्थं कर्मानुष्ठानादपि निकृष्टत्वं स्पष्टमुक्तमुपपद्यत इत्यपि ध्येयम् ॥

यत्तु— निष्कामकर्मयोगस्यैतच्छ्रेष्ठत्वं न केवलमत्रैव कीर्तितम्, किन्तु प्रागपि 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' (३।८) 'कर्मसन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते' (५।२) 'कर्मिभ्यश्चाधिको योगी' (६।४६) इत्यत्राप्ययमेवार्थः स्पष्टतयोपवर्णित इति, तत्तत्र तत्रास्मत्कृतविचारेणैव दत्तोत्तरम् ॥ यच्च— ज्ञानमार्गिभ्यो व्याख्यातृभ्यो ज्ञानात्कर्मफलत्यागस्य श्रैष्ठ्यस्थापनं न रोचते; अतस्ते ज्ञानं शाब्दज्ञानमिति, कर्मफलत्यागस्य प्रशंसेयमर्थवादात्मिका अर्थादसारेति वा ज्ञेयेत्याहुरिति, तत्र ज्ञानात्साध्यात्कर्मफलत्यागस्य तत्साधनस्य श्रैष्ठ्यं सकलशास्त्रसिद्धान्तविरुद्धं न्यायविरुद्धं च शास्त्रविद्भ्यो न रोचत इति युक्तमेव। तथा यस्मादपरोक्षानुभवसाधनं ध्यानं विशिष्यते, तस्य ज्ञानस्य परोक्षताप्यवचनसिद्धैवेति न किञ्चिदत्याहितम्। ज्ञानस्य शाब्दतायाः कर्मफलत्यागस्तुतेरर्थवादतायाश्च विकल्पाभ्युपगमानुवादस्त्वनुक्तोपालम्भ एव, केनापि व्याख्यात्रा तथानुक्तत्वात् ॥

'एवं निष्कामकर्मयोगस्य श्रेष्ठत्वे सिद्धे तत्रावश्यिकीं भक्तियुक्तां साम्यबुद्धिं सम्पादयितुमुपायान्वेषणमेवावशिष्यते। उपायाश्चेमे अभ्यासो ज्ञानं ध्यानं चेति त्रयः। तत्राभ्यासासमर्थेन ज्ञानध्यानयोरन्यतर उपाय आलम्बनीयः' इत्यप्यसङ्गतम्; न ह्येते उपायाः—

**१ शां. भा.**— इदानीं सर्वकर्मफलत्यागं स्तौति—**श्रेयो हीति** । श्रेयो हि प्रशस्यतरं ज्ञानं, कस्मात् ? ( अ ) विवेकपूर्वकादभ्यासात्, तस्मादपि ज्ञानाज्ज्ञानपूर्वकं ध्यानं विशिष्यते । ज्ञानवतो ध्यानादपि कर्मफलत्यागः 'विशिष्यते' इत्यनुषज्यते । एवं कर्मफलत्यागात्पूर्वविशेषणवतः ( श्लो. ११ ) शान्तिरुपशमः सहेतुकस्य संसारस्यानन्तरमेव स्यात्, न तु कालान्तरमपेक्षते ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उत्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **इदानीमिति** । ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयः, अभ्यासो ज्ञानार्थश्रवणाभ्यासो निश्चयपूर्वको ध्यानाभ्यासो वा, तस्य विशिष्यमाणत्वे साक्षात्कारहेतुत्वं हेतुः । त्यागस्य विशिष्टत्वे हेतुमाह— **एवमिति** । 'प्रीणातु भगवान्' इति तस्मिन्कर्मसन्न्यासपूर्वकमित्यर्थः । पूर्वविशेषणवतो नियतचित्तस्य पुंसो यथोक्तत्यागादित्यर्थः । अनन्तरमेवेत्युक्तं व्यनक्ति— **न त्विति** ।

**१ शां. भा.**— अज्ञस्य कर्मणि प्रवृत्तस्य पूर्वोपदिष्टोपायानुष्ठानाशक्तौ सर्वकर्मणः फलत्यागः श्रेयस्साधनमुपदिष्टं, न प्रथममेव । अतश्च 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्युत्तरोत्तरविशिष्टत्वोपदेशेन सर्वकर्मफलत्यागः स्तूयते, सम्पन्नसाधनानुष्ठानाशक्तावनुष्ठेयत्वेन श्रुतत्वात् । केन साधर्म्येण स्तुतित्वं ? "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते" [ कठो. ६ । १४ बृ. उ. ४ । ४ । ७ ] इति सर्वकामप्रहाणादमृतत्वमुक्तं तत्प्रसिद्धम् । कामाश्च सर्वे श्रौतस्मार्तसर्वकर्मणां फलानि । तत्त्यागे च विदुषो ज्ञाननिष्ठस्यानन्तरैव शान्तिरिति सर्वकामत्यागसामान्यमज्ञकर्मफलत्यागस्याप्यस्तीति तत्सामान्यात्सर्वकर्मफलत्यागस्तुतिरियं प्ररोचनार्था । यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इतीदानीन्तना अपि ब्राह्मणा ब्राह्मणत्वसामान्यात्स्तूयन्ते । एवं कर्मफलत्यागात्कर्मयोगस्य श्रेयस्साधनत्वमभिहितम् ॥ १२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ननु कर्मफलत्यागस्य सद्यश्शान्तिकरत्वे सम्यग्धीरेव तथेति श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धिर्विरुध्येत तत्राऽऽह— **अज्ञस्येति** । दीर्घेण कालेनाऽऽदरनैरन्तर्यानुष्ठिताद्ध्यानाद्वस्तुसाक्षात्कारद्वारा संसारदुःखोपशान्तेस्तथाविधाद्ध्यानात्त्यागस्य विशिष्टत्वोक्तेस्तदीयस्तुतिरत्रेष्टेत्याह— **अतश्चेति** । तत्र हेतुमाह— **सम्पन्नेति** । सम्पन्नानि प्राप्तानि साधनान्यक्षरोपासनादीनि तेषां मध्ये पूर्वपूर्वस्यानुष्ठानाशक्तावुत्तरोत्तरस्यानुष्ठेयत्वेनोपदेशात्त्यागे चोपदेशपर्यवसानादित्यर्थः । त्यागे विशिष्टत्ववचनस्य केन साधर्म्येण तं प्रति स्तुतित्वं ? इति पृच्छति— **केनेति** । उत्तरमाह— **यदेति** । अमृतत्वमुक्तं "अथ मर्त्योऽमृतो भवति" [ बृ.उ.४।४।७ कठो. ६।१४;१५] इति शेषादिति शेषः । कामप्रहाणस्यामृतत्वार्थत्वं "अथाकामयमानः" [ बृ. उ. ४४।६ ] इत्यादावपि सिद्धमित्याह— **तदिति** । कामत्यागस्यामृतत्वहेतुत्वेऽपि कथं कर्मफलत्यागस्य तद्धेतुत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **कामाश्चेति** । कर्मफलत्यागादेव शान्तिश्चेज्ज्ञाननिष्ठोपेक्षितेत्याशङ्क्याऽऽह— **तत्त्यागे चेति** । तथापि कथमज्ञस्य कर्मफलत्यागस्तुतिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **इति सर्वेति** । विद्यावतस्त्यागवदविद्वत्त्यागस्यापि त्यागत्वाविशेषाद्विशिष्टत्वोक्तिर्युक्तेति स्तुतिमुपसंहरति — **इति तत्सामान्यादिति** । किमर्था स्तुतिः ? इत्याशङ्क्य त्यागे रुचिमुत्पाद्य प्रवर्तयितुमित्याह— **प्ररोचनार्थेति** । त्यागस्तुतिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— **यथेति** । फलत्यागः श्रेयोहेतुश्चेत्कर्मत्यागादपि फलत्यागसिद्धेरलं कर्मानुष्ठानेनेत्याशङ्क्याऽऽह— **एवं कर्मेति** । फलाभिलाषं त्यक्त्वा कर्मानुष्ठानस्यार्पितस्येश्वरे श्रेयोहेतुताया विवक्षितत्वान्नानुष्ठानानर्थक्यमित्यर्थः ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.**— अत्यर्थप्रीतिविरहितात्कर्कशरूपात् स्मृत्यभ्यासादक्षरयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वकं तदापरोक्ष्यज्ञानमेवात्महितत्वे विशिष्यते; आत्मापरोक्ष्यज्ञानादप्यनिष्पन्नरूपात्तदुपायभूतात्मध्यानमेवात्महितत्वे

---

—मिथो नैरपेक्ष्येण वैकल्पिका इहोपदिश्यन्ते, न चैषामुपेयः कर्मयोग इति क्वाप्युच्यत इति । भगवति चित्तस्य समाधानं ह्यत्र प्रकृतम्, तदर्थमेव चैते उपाया यथोत्तरं सुलभाः पूर्वपूर्वोपकारकाश्चोपवर्ण्यन्त इति मूल एव व्यक्तम् ॥

यदप्यर्थवादस्य व्यर्थतोद्घोषणम्, तत्प्रमाणशास्त्रपरिशीलनाभावमूलकम् । तत्र विधिमात्रेणाप्रवर्तमानानां पुंसामालस्यादि निरस्य प्रवृत्तिसम्पादकत्वेन तस्य सप्रयोजनत्वसमर्थनात् । उक्तं च **भट्टपादैः**—'बुद्धिपूर्वकारिणो हि पुरुषा यावत्प्रशस्तोऽयमिति नावबुद्ध्यन्ते, तावन्न प्रवर्तन्ते । तत्र विधिशक्तिरवसीदति, तां प्राशस्त्यज्ञानमुत्तम्नाति' ( तं.वा. १।२।७ ) इति । प्रकृतेऽपि कर्मफलत्यागस्य सकलसाधनान्तरावलम्बनासमर्थं प्रति चरमसुगमोपायत्वेनोक्तत्वात्तत्र तुच्छत्वबुद्ध्या पुंसामप्रवृत्तिसम्भवेन तद्वारणाय समुचितैव तत्प्रशंसेति सन्दर्भानुसारिणी शास्त्रशुद्धा च सरलैव प्राचां व्याख्यानसरणिरित्यलमसारवचोविसरविमर्शेन ।

— **अविगीता** ।

विशिष्यते ; तद्ध्यानादप्यनिष्पन्नरूपात्तदुपायभूतं फलत्यागेनानुष्ठितं कर्मैव विशिष्यते ; अनभिसंहितफलादनुष्ठितात् कर्मणोऽनन्तरमेव निरस्तपापतया मनसः शान्तिर्भविष्यति ; शान्ते मनसि आत्मध्यानं सम्पत्स्यते ; ध्यानाज्ज्ञानं ज्ञानाच्च तदापरोक्ष्यम् ; तदापरोक्ष्यात्परा भक्तिरिति भक्तियोगाभ्यासाशक्तस्यात्मनिष्ठैव श्रेयसी । आत्मनिष्ठस्याप्यशान्तमनसो निष्ठाप्राप्तयेऽन्तर्गतात्मज्ञानानभिसंहितफलकर्मनिष्ठैव श्रेयसीत्यर्थः ॥ १२ ॥

४ **वे. ता. चं.**— अथाव्यवहितोपायानधिकारनिमित्तखेदनिवृत्त्यर्थं रजनीकरबिम्बलिप्सोदस्तहस्तस्तनन्धयवदशक्ये प्रवृत्तिपरिहारार्थं च व्यवहितानेवोपायान्यथाधिकारं सौकर्यातिशयेन प्रशंसन्नुक्तमुपपादयति— 'श्रेयो हि' इति । यथावस्थितवेषेणाभ्यासात्तदुपायस्य श्रेयस्त्वं वक्तुमयुक्तं वैपरीत्यात् ; अतोऽनधिकारिणा क्रियमाणो भगवदभ्यासः परिपक्वफलरसलोलुपबटुकरमृदितशलाटुवद्विरस एव स्यादिति तदपेक्षया यथावस्थितसरसाभ्यासहेतोः श्रेयस्त्वमुचितमेव भवेदित्यभिप्रायेण **अत्यर्थप्रीतिरहिता**दित्युक्तम् । त एव च पित्तोपहतपयःपानवदक्षीणपापस्य दुष्करतामाह **कर्कशरूपा**दिति । अत्र परमात्माभ्यासोपायत्वेन विहितं ज्ञानं जीवात्मविषयमेव युक्तम् ; तच्च ध्यानसाध्यत्वेन विवक्षितत्वादपरोक्षाकारमित्यभिप्रायेण **अक्षरयाथात्म्यानुसन्धानपूर्वकं तदापरोक्ष्यज्ञान**मित्युक्तम् । 'श्रेयः' इत्यस्य 'विशिष्यते' इत्यस्य च समानार्थत्वज्ञापनाय **हितत्वे विशिष्यत** इत्युक्तम् । व्यवहितोपायस्यापि सौकर्यातिशयलक्षणमत्र हितत्वम् ; न तु मुख्यत्वादिरूपम् । **अनिष्पन्नरूपा**दित्यस्यापि पूर्ववदभिप्रायः । कर्मणो रजस्तमोमूलरागद्वेषादिनिवृत्तिरूपशान्तिजनकत्वेऽवान्तरव्यापारमाह **निरस्तपापतये**ति । ननु 'त्यागाच्छान्तिः' इत्यत्रापि पूर्ववच्छ्रेयस्त्वविधानमेवोचितम् , अन्यथा रीतिभङ्गप्रसङ्गात् , ध्यानस्य कर्मसाध्यतया विवक्षितत्वेन ततोऽन्यस्य कर्मसाध्यत्वनिर्देशायोगात् शान्तिव्यवहितस्य च कथं वैशिष्ट्यमित्यत्राह— **शान्ते मनसी**ति । **अयमभिप्रायः**— 'अनन्तरम्' इति निर्देशेनैव रीतिस्त्यक्तेति प्रतीयते ; यतश्च यदनन्तरं यद्दृश्यते, तस्य तत्कार्यत्वमेव व्यक्तम् ; ध्यानं प्रति शान्तेर्हेतुतया ध्यानस्य कर्मसाध्यत्वात्तद्वैशिष्ट्याभिप्रायानुरूपमेव चेदम्' इति । अत्र 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' इति हेतुकार्यभावनिर्देश उपलक्षणतया ध्यानादिष्वप्यभिमत इति ज्ञापनाय **ध्याना**दित्यादिकमुक्तम् । ननु 'श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात्' इत्यत्र स्वारस्येन अभ्यासप्रभृत्युत्तरोत्तरमन्तरङ्गत्वाकारेण प्रकृष्टं ज्ञानादिकमिति किं नाङ्गीक्रियते ? इत्यत्र पिण्डितार्थं वदन् व्यवहितनिष्ठाश्रैष्ठ्यं निगमयति **इति भक्तियोगाभ्यासाशक्तस्ये**ति । **अयमभिप्रायः**—'अथ चित्त समाधातुं न शक्नोषि' [ १२।९ ] इति ह्युपक्रान्तम् ; 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' [१२।११] इत्यनेन च भक्तियोगाङ्कुरेऽप्यशक्तस्य कर्मफलत्यागो विहितः ; स चात्र 'ध्यानात्कर्मफलत्यागः' इति प्रत्यभिज्ञायते ; ततश्चाभ्यासापेक्षया तस्याशक्तविषयत्वे सिद्धे तदुभयमध्यगतयोरपि ज्ञानध्यानयोरभ्यासात्पूर्वभावित्वेन कर्मणः परत्वेन च प्रतीयमानयोस्तत्तदशक्ताधिकारिविशेषविषयत्वं सिद्धम्— इति ॥१२॥

५ **आ. मा. भा.**— अज्ञानपूर्वादभ्यासाज्ज्ञानमेव विशिष्यते । ज्ञानमात्रात्सज्ञानं ध्यानम् । तथा च सामवेदे अनभिम्लानशाखायाम्—"अधिकं केवलाभ्यासाज्ज्ञानं तत्सहितं ततः । ध्यानं ततश्चापरोक्षं ततः शान्तिर्भविष्यति" इति । 'ध्यानात्कर्मफलत्यागः' इति तु स्तुतिः । अन्यथा कथमसमर्थोऽसीत्युच्यते ? 'तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते' [ ५।२ ] इति चोक्तम् । "सर्वाधिकं ध्यानमुदाहरन्ति ध्यानाधिके ज्ञानभक्ती परात्मन् । कर्मफलाकाङ्क्षमथो विरागस्त्यागश्च न ज्ञानकलाफलार्हाश्च" इति च काषायणशाखायाम् ।

६ **ज. प्र. दी.**— ननु ज्ञानमभ्यासस्य साधनं, तत्कथं ततः श्रेयः ? इत्यत आह— **अज्ञाने**ति । एवेति केवलम् । ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते' इत्यसत् , सध्यानस्यापि ज्ञानस्य सम्भवात् । अज्ञानपूर्वस्य ध्यानस्य सम्भवाच्चेत्यत आह— **ज्ञानमात्रा**दिति । उपपत्तिलब्धमर्थं श्रुत्याऽपि द्रढयति— **तथा चे**ति । तत्सहितं ज्ञानसहितं ध्यानम् । ततो ज्ञानमात्रादधिकम् । ध्यानात्कर्मफलत्यागो विशिष्यत इत्येतदन्यथाप्रतीतिनिरासाय व्याख्याति— **ध्याना**दिति । त्यागस्य प्रशस्तत्वमेवानेन लक्ष्यते, न प्रतीतार्थे तात्पर्यमित्यर्थः । कुतः ? इत्यत आह— **अन्यथे**ति । 'अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं' [ १२।११ ] इति । ध्यानात्प्रत्यवरे कर्मयोगेऽप्यशक्तस्य कर्मफलत्यागः कथमन्यथाध्यानादाधिक्ये सत्युपदिश्यते ? इत्यर्थः । कर्मसन्यासात्कर्मफलरागसन्यासात् कर्मयोगोऽपि विशिष्यते किमुत ध्यानयोगः ? वक्ष्यमाणकर्मादिसर्वाधिकम् । परात्मन् परमात्मविषये । विरागः शोभनाध्यासाभावः ।

५ आ. मा. भा.— वाक्यसाम्येऽप्यसमर्थविषयत्वोक्तेस्तात्पर्याभाव इतरत्र प्रतीयते । ध्यानादिप्राप्तिकारणत्वाच्च त्यागस्तुतिर्युक्ता । केवलध्यानात्फलत्यागयुक्तं ध्यानमधिकम् । ध्यानयुक्तत्याग एव चात्रोक्तः । अन्यथा कथं 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरं' इत्युच्यते ? कथं च ध्यानादाधिक्यम् ? तथा च गौपवनशाखायाम्— "ध्यानात्तु केवलात्त्यागयुक्तं तदधिकं भवेत्" इति । न हि त्यागमात्रानन्तरमेव मुक्तिर्भवति; भवति च ध्यानयुक्तात् । केवलत्यागस्तुतिरेवमपि भवति । यथाऽनेन युक्तो जेता, नान्यथेत्युक्तेः ॥ १२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु तयोस्त्विवति सर्वाधिकमिति चेत्तयोरपि वाक्यत्वात्कथं तद्विरोधेन ध्यानादिति वाक्यस्य स्वार्थे तात्पर्याभावो व्याख्यातः ? इत्यत आह— वाक्येति । वाक्यत्वेन साम्येऽप्युपपत्तिसाहित्येन प्राबल्यादित्यर्थः । इतरत्र ध्यानादिति वाक्यस्य प्रतीतेऽर्थे युक्त्यन्तरं चाह— ध्यानादीति । त्यागो हि ध्यानज्ञाननिवृत्तकर्मानुष्ठानप्राप्तौ कारणत्वेन 'परीक्ष्य लोकान्' इत्यादौ उच्यते । न च फलात्साधनं श्रेयः । अतोऽपीयं स्तुतिरेवेत्यर्थः । अनेन लक्ष्यार्थोऽपि निष्कृष्योक्तो भवति । प्रकारान्तरेण व्याख्याति— केवलेति । त्यागरहितात् ध्यानात् । ननु कुतो ध्यानादिति केवलस्य निर्धारणं ? कुतश्च कर्मफलत्यागः ? इति तत्सहितध्यानलक्षणात्त्यागस्य वा ध्यानसाहित्येनोपस्कार इत्यतः प्रतिज्ञापूर्वकमाह— ध्यानेति । त्यागयुक्तं ध्यानं, ध्यानयुक्तस्त्याग इति द्विविधोक्त्योक्तं प्रकारद्वयं सूचयति । अन्यथा केवलत्यागाङ्गीकारे कथं चेत्यत्राप्यन्यथेति वर्तते । न केवलमन्यथानुपपत्त्याऽयमर्थः सिद्धः, किं तर्हि ? श्रुत्याऽपीत्याह— तथा चेति । आद्यामन्यथानुपपत्तिमुपपादयति— न हीति । ततश्चापरोक्ष्यमित्युक्तश्रुतिविरोधादिति भावः । उक्ताङ्गीकारे कथमेतत् ? अनुपपत्त्यभाव इत्यत आह— भवति चेति । त्यागादिति सम्बन्धः । ज्ञानमात्रव्यवधानेनेति भावः । द्वितीयानुपपत्तिस्तु 'तयोस्तु' [ ५।२ ] इत्युपपादितैव । ननु 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' [ १२।११ ] इत्यनेन केवलत्यागो विहितः, तत्प्ररोचनाय 'श्रेयो हि' [ १२।१२ ] इति तस्य स्तुतिरुपक्रान्ता । नच केवलध्यानात् तत्फलत्यागयुक्तं ध्यानमधिकमिति व्याख्याने केवलत्यागस्तुतिर्लभ्यते, किन्तु तद्युक्तस्य ध्यानस्यैव । अतः पूर्वसङ्गतत्वात्पूर्वमेव व्याख्यानं युक्तम्, न तु द्वितीयं; असङ्गतेरित्यत आह— केवलेति । यथाऽनेन भृत्येन युक्तो राजा रिपूणां जेता, नाऽन्यथेत्युक्ते भृत्यस्य स्तुतिर्लभ्यते; तथैवमप्यस्मिन्नपि व्याख्याने केवलत्यागस्तुतिर्युक्ता । ध्यानस्य ध्यानान्तराधिक्ये तत्साहाय्यस्य हेतुत्वेनोक्तत्वादित्यर्थः ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— भगवद्ध्यानं मुख्यपक्षः, तदशक्तावभ्यासः, तदशक्तौ भगवदर्थकर्मानुष्ठानं, तदशक्तौ सर्वकर्मफलत्यागः; ततः सर्वजघन्योऽयं पक्ष इति बुद्धिं वारयितुं कर्मफलत्यागपक्षं प्रशंसति— श्रेय इति । अभ्यासाज्ज्ञानार्थश्रवणाभ्यासात् ज्ञानं शब्दयुक्तिभ्यामात्मनिश्चयरूपं श्रेयः प्रशस्तम् । तस्माच्च ज्ञानात् ध्यानं निदिध्यासनं विशिष्यते साक्षात्कारं प्रत्यव्यवहितहेतुत्वात् । ततोऽप्यतिशयित्वेनाङ्कृतः कर्मफलत्यागः स्तूयते— ध्यानात्कर्मफलत्याग इति । विशिष्यत इत्यनुषङ्गः । तत्र हेतुः— त्यागादिति । त्यागादनन्तरमव्यवधानेनैव संसारशान्तिरूपा मुक्तिर्भवति । "यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवति" [ बृ. उ. ४।४।७ कठो. ६।१४ ] इति श्रुतौ विद्वत्कर्तृकस्य सर्वकर्मफलरूपसर्वकामत्यागस्याव्यवधानेनैव मोक्षहेतुत्वं प्रतिपादितमित्यविवेकिकर्तृकः कर्मफलत्यागोऽपि कामत्यागत्वसामान्यात्सर्वकामत्यागफलेन स्तूयते, यथाऽगस्त्येन ब्राह्मणेन समुद्रः पीत इति ब्राह्मणत्वसामान्यादिदानींतना अपि ब्राह्मणास्तथा स्तूयन्ते तद्वदिति ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— तमिमं फलादित्यागं स्तौति— श्रेयो हीति । अभ्यासादुक्तपूर्वात् युक्तिसहितोपदेशपूर्वकं सर्वज्ञानं श्रेष्ठं, ततो ध्यानं निषेवणं, ततश्च फलत्यागः, ततोऽनन्तरं शान्तिः स्वास्थ्यमेव भवतीति विशिष्यते । शान्तिर्हि लाभेऽलाभे जयेऽजये च मनस उपशमस्वरूपा, ततश्च कृतार्थतेत्यर्थसिद्धम् ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— एवमुक्तानामुत्तरोत्तरकर्तव्यानां स्वरूपमाह— श्रेय इति । अभ्यासात् केवलचित्ताकर्षणेनाऽनुस्मरणरूपात् ज्ञानं श्रेयः, श्रेष्ठमित्यर्थः । अतो ज्ञानयुक्तोऽभ्यास उत्तम इति भावः । ज्ञानात् केवलात् ध्यानं मत्स्वरूपानुचिन्तनात्मकं विशिष्टं भवतीत्यर्थः । तेन ज्ञानाभ्यासयुक्तं ध्यानमुत्तममिति भावः । ध्यानात् केवलात् कर्मफलत्याग उत्तमः । तेन ज्ञानाभ्यासध्यानसहितमदर्थकमत्कर्मकरणमुत्तममित्यर्थः । यत एवमतस्तादृशत्यागादनन्तरं शीघ्रमेव शान्तिर्मद्भक्तिस्थितिरूपा भवेदिति शेषः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— इममेव त्यागं सर्वपुरुषार्थमूलत्वात्स्तौति— श्रेयो हीति । अभ्यासान्निदिध्यासनात् ज्ञानं श्रवणमननजं परोक्षं श्रेयः । ज्ञानादपि ध्यानं विष्णोः श्रवणकीर्त्तनादि विशिष्यते । ततोऽपि कर्मफलत्यागः श्रेयान् । यस्मादनन्तरमव्यवधानेन शान्तिर्मोक्षोऽस्ति चित्तशुद्ध्याद्युत्पादनद्वारेण । अत्र बाह्यं साधनं सुकरत्वात् पूर्वपूर्वापेक्षया प्रशस्तमित्युच्यते तत्रैव प्रवृत्त्यतिशयाय । यद्वा श्रवणाद्यभ्यासात् तज्जं ज्ञानं तत्त्वनिश्चयात्मकं श्रेयः । ततोऽपि ज्ञातस्यार्थस्य साक्षात्कारार्थं ध्यानं श्रेयः । ततोऽपि कर्मफलत्यागः । योगी हि सर्वकर्मत्यागी 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २ । ५५ ] इति प्रोक्तः । अयमपि कर्मफलत्यागेन कामान् जहात्येवेति तेन सम इति स्तूयते ॥ १२ ॥

## धर्म्यामृतम् ।

[ अर्थात्तद्विष्णोः परमं पदमभीप्सूनां कृते भगवतोक्ता जीवन्मुक्तधर्माः ]

**अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।**
**निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी ॥ १३ ॥**
**सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १४ ॥**

१ शां. भा.— अत्र चाऽऽत्मेश्वरभेदमाश्रित्य विश्वरूप ईश्वरे चेतस्समाधानलक्षणो योग उक्तः, ईश्वरार्थं कर्मानुष्ठानादि च । 'अथैतदप्यशक्तोऽसि' [ १२ । ११ ] इत्यज्ञानकार्यसूचनान्नाभेददर्शिनोऽक्षरोपासकस्य कर्मयोग उपपद्यत इति दर्शयति । तथा कर्मयोगिनोऽक्षरोपासनानुपपत्तिं दर्शयति भगवान् 'ते प्राप्नुवन्ति' [ १२।४ ] इति अक्षरोपासकानां कैवल्यप्राप्तौ स्वातन्त्र्यमुक्त्वेतरेषां पारतन्त्र्यमीश्वराधीनतां दर्शितवान् 'तेषामहं समुद्धर्ता' [ १२।७ ] इति । यदि हि ईश्वरस्याऽऽत्मभूतास्ते मता अभेददर्शित्वादक्षरस्वरूपा एव त इति समुद्धरणकर्मविषयवचनं तान्प्रत्यपेशलं स्यात् । यस्माच्चार्जुनस्यात्यन्तमेव हितैषी भगवांस्तस्य सम्यग्दर्शनानन्वितं कर्मयोगं भेददृष्टिमन्तमेवोपदिशति । नचात्मानमीश्वरं प्रमाणतो बुद्ध्वा कस्यचिद्गुणभावं जिगमिषति कश्चित्, विरोधात् । तस्मादक्षरोपासकानां

---

१ अद्वेष्टेत्यारभ्य स्थिरमतिरित्यन्तेन त्रयस्त्रिंशद्गुणान् ब्रवीति । एवशब्द अद्वेष्टेत्यादिभिः सर्वैः सम्बद्ध्यते, एकैकमप्यावश्यकमिति भावः- इति केचित् । अद्वेष्टा उत्कृष्टेषु द्वेषबुद्धिहीनः । सम्भवति हि प्रायः स्वोत्कृष्टविषये द्वेषः । तथा चोक्तम्- 'पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् । अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा पदंपरं द्वेष्टि यथाऽसुरा हरिम् ॥' ( भाग ४।३।२१ ) इति । मैत्रः समेषु स्नेहवान् । करुणोऽवरेषु दयावानिति यथोचितवृत्तित्वं सूचितम् ॥ ममेतिबुद्धिर्यस्य नास्ति, स निर्मम इत्युच्यते । इदमत्रानुसन्धेयम्- सर्वेषां प्रायःशब्दानां त्रयोऽर्थाः-स्वरूपम्, व्यवहार्योऽर्थः, बुद्धिश्च । तत्र स्वरूपं यथा- घटशब्दस्य घकारटकारसमुदायः । व्यवहार्योऽर्थो यथा- तस्य पृथुबुध्नोदराकारो मृदादिविकारः । बुद्धिर्यथा- तद्विषया तदाकारा च बुद्धिः । तत्र बुद्ध्यर्थत्वे शब्दशक्तिस्वाभाव्यात् इत्यवच्छिन्नत्वेन वृत्तिगतत्वेन वा केवलं प्रयोगः, यथा घट इति बुद्धिरिति वा; न तु स्वातन्त्र्येण प्रयोगः । तस्मादत्र ममशब्दस्य ममेतिबुद्धिरर्थं इति । ( कु. सं. टी. अरु. १।१२ ) । ममेति षष्ठ्यन्तप्रतिरूपकमव्ययमित्यन्ये ।

२ सततं सम्यक् निजलाभेन तुष्टः सन्तुष्टः । यतः- सततं योगी सर्वदा प्रत्यगात्मनि संयोजितचित्तः, तस्य हि जडभ्रमरहितत्वात् निरतिशयानन्दानुभवाच्च युक्तमेव सन्तुष्टत्वम् । सततमित्यस्य काकाक्षिन्यायादुभयत्रान्वयः । सर्वत्रापि सम्बन्ध इति केचित् । तादृशस्यापि स्वरूपविस्मृतौ जडभ्रमाच्युतिः स्यादित्यत आह- यतात्मा स्वस्वरूपे योजितचित्तः, आत्माऽत्र चित्तम् 'आत्मा पुंसि स्वभावेऽपि प्रयत्नमनसोरपि ।' ( नां. ३८ ) इति मेदिनी । कथमस्य चित्तं यतमेव तिष्ठतीत्याह- दृढनिश्चय इति । उक्तानि लक्षणानि सगुणनिर्गुणोपासकयोः समान्येवेति स्वप्रियस्य सगुणोपासकस्य विशेषमाह- मयीति, मनसा नानाविधानाकारान् कल्पयित्वा बुद्ध्या तत्र चिन्मात्रमेव साक्षात्करोतीति मय्यर्पितमनोबुद्धिः— इति वामनाशयः । योगी कर्मयोगीति नव्याः । तन्न; कर्मयोगप्रकरणाभावात्, सततमिति विशेषणस्वारस्यभङ्गात्, निर्ममादिपूर्वोक्तविशेषणसाहचर्याच्च । —अभिनवगीता ।

सम्यग्दर्शननिष्ठानां सन्यासिनां त्यक्तसर्वैषणानाम् 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' इत्यादिधर्मपूगं साक्षादमृतत्वकारणं वक्ष्यामीति प्रवर्तते— अद्वेष्टेति। अद्वेष्टा सर्वभूतानां सर्वेषां भूतानां न द्वेष्टाऽऽत्मनो दुःखहेतुमपि न किञ्चिद्द्वेष्टि, सर्वाणि भूतान्यात्मत्वेन हि पश्यति। मैत्रो मित्रभावो मैत्री, मित्रतया वर्तत इति मैत्रः। करुण एव च करुणा कृपा दुःखितेषु दया, तद्वान्करुणः। सर्वभूताभयप्रदः सन्यासीत्यर्थः। निर्ममो ममप्रत्ययवर्जितः निरहङ्कारो निर्गताहम्प्रत्ययः। समदुःखसुखः समे दुःखसुखे द्वेषरागयोरप्रवर्तके यस्य स समदुःखसुखः। क्षमी क्षमावान्, आक्रुष्टोऽभिहतो वाऽविक्रिय एवाऽऽस्ते ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— सम्प्रति 'अद्वेष्टा' इत्याद्यवतारयितुं वृत्तं कीर्तयति— अत्र चेति। तयोश्चेदात्यन्तिकोऽभेदो न, तर्हीश्वरे मनस्समाधानरूपो योगः अत्यन्ताभेदे ध्यातृध्येयत्वाभावात्। न चात्यन्ताभेदे कर्मानुष्ठानं तत्फलत्यागो वा, परस्परं तदयोगादित्यर्थः। भगवदुक्तिसामर्थ्यादपि कर्मयोगादि नाभेददृष्टिमतो भवतीत्याह— अथेति। अक्षरोपासकस्य कर्मयोगायोगवत् कर्मयोगिनोऽक्षरोपासनानुपपत्तिरपि दर्शितेत्याह— तथेति। अक्षरोपासकाः सम्यग्धीनिष्ठा यथाज्ञानं भगवन्तमेवाऽऽप्नुवन्ति, न तथा कर्मिणः साक्षात्तदाप्तावुचितास्तथा च कर्मिणो नाक्षरोपासनसिद्धिरित्यर्थः। इतश्चाक्षरोपासनं कर्मानुष्ठानं न चैकत्र युक्तमित्याह— अक्षरेति। नन्वक्षरोपासकवदन्येषामपीश्वरात्मत्वाविशेषात्कुतस्तदधीनत्वं ? तत्राह— यदीति। कर्मयोगस्याक्षरोपास्तेश्च युगपदेकत्रायोगे हेत्वन्तरमाह— यस्माच्चेति। 'कुरु कर्मैव' [४।१५] इत्यादाविति शेषः। किञ्च अक्षरोपासको वाक्यादीश्वरमात्मानं वेत्ति, नासौ क्रियायां गुणत्वेन कर्तृत्वमनुभवति गुणत्वेश्वरत्वयोरेकत्र व्याघातात्, अतोऽपि नाक्षरोपासनं कर्मानुष्ठानं चैकत्र युक्तमित्याह— न चेति। अक्षरोपास्तिकर्मयोगयोरेकत्र पर्यायायोगे फलितमाह— तस्मादिति। अज्ञानां कर्मिणां वक्ष्यमाणधर्मजातस्य साकल्येनायोगादक्षरनिष्ठानामेवेदमुच्यते अविरुद्धांशस्य तु सर्वार्थत्वमिष्टमेवेत्यर्थः। सर्वेषां भूतानां मध्ये यो दुःखहेतुस्तं विद्वानपि द्वेक्ष्येवेत्याशङ्क्याऽऽह— आत्मन इति। तत्र हेतुः— सर्वाणीति। सर्वभूतानामित्युभयतः सम्बध्यते। मम प्रत्ययवर्जितो देहेऽपीति शेषः। वृत्तस्वाध्यायकृताहङ्कारान्निष्क्रान्तत्वमाह— निर्गतेति ॥ १३ ॥

१ शां. भा.— सन्तुष्ट इति। सन्तुष्टः सततं नित्यं देहस्थितिकारणस्य लाभेऽलाभे चोत्पन्नालम्प्रत्ययः, तथा गुणवल्लाभे विपर्यये च सन्तुष्टः सततम्, योगी समाहितचित्तः, यतात्मा संयतस्वभावः, दृढनिश्चयो दृढः स्थिरो निश्चयोऽध्यवसायो यस्याऽऽत्मतत्त्वविषये स दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिः सङ्कल्पात्मकं मनोऽध्यवसायलक्षणा बुद्धिस्ते मय्येवार्पिते स्थापिते यस्य सन्यासिनः स मय्यर्पितमनोबुद्धिः, य ईदृशो मद्भक्तः स मे प्रियः 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' इति सप्तमेऽध्याये [१७] सूचितं तदिह प्रपञ्च्यते ॥ १४ ॥

२ आ. शां. व्या.— अक्षरोपासकस्य ज्ञानवतो विशेषणान्तराण्याह— सन्तुष्ट इति। सततमिति सर्वत्र सम्बध्यते, कार्यकरणसङ्घातः स्वभावशब्दार्थः, स्थिरत्वं कुतर्कादिनाऽनभिभवनीयत्वम्। मद्भक्तो मद्भजनपरः, ज्ञानवानिति यावत्। ज्ञानवतो भगवत्प्रियत्वे प्रमाणमाह— प्रियो हीति। किमर्थं तर्हि पुनरुच्यते ? तत्राऽऽह— तदिहेति ॥ १४ ॥

३ रा. भा.— अनभिसंहितफलकर्मनिष्ठस्योपादेयान् गुणानाह— अद्वेष्टेति। अद्वेष्टा सर्वभूतानां विद्विषतामपकुर्वतामपि सर्वेषां भूतानामद्वेष्टा मदपराधानुगुणमीश्वरप्रेरितान्येतानि भूतानि द्विषन्त्युपकुर्वन्ति चेत्यनुसन्दधानः। तेषु द्विषत्स्वपकुर्वत्सु च सर्वभूतेषु मैत्रीं मतिं कुर्वन् मैत्रः। तेष्वेव दुःखितेषु करुणां कुर्वन् करुणः। निर्ममः देहेन्द्रियेषु तत्सम्बन्धिषु च निर्ममः। निरहङ्कारः देहात्माभिमानरहितः। तत एव समदुःखसुखः सुखदुःखागमयोः साङ्कल्पिकयोः हर्षोद्वेगरहितः। क्षमी स्पर्शप्रभवयोरवर्जनीययोरपि तयोर्विकाररहितः ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं 'भक्तेः श्रैष्ठ्य-(भक्तिशैघ्र्य)-मुपायोक्तिरशक्तस्यात्मनिष्ठता' इत्येतावदुक्तम्; 'तत्प्रकारास्त्वतिप्रीतिर्भक्ते द्वादश उच्यते' [गी. सं. १६] इत्युक्तमुभयमवशिष्टम्; तत्रापि 'ये तु धर्म्यामृतम्' [१२।२०] इत्यध्यायान्तिमश्लोकेनातिप्रीतिरुच्यन्ते, ततः पूर्वैः 'अद्वेष्टा' इत्यादिभिः सप्तभिः श्लोकैरात्मनिष्ठाप्रकारा उच्यन्ते इत्याह अनभिसंहितेति। 'तत्प्रकाराः' इत्यनेनेतिकर्तव्यताविशेषरूपाः प्रकारा विवक्षिता इति ज्ञापनायोक्तम् उपादेयान् गुणानाहेति। ननु 'कर्मनिष्ठस्योपादेयान् गुणानाह' इति कथं सङ्गच्छते ? तेषु हि श्लोकेषु 'मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः' [१२।१४]

'सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः' [ १२।१६ ] 'शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः' [ १२।१७ ] 'अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः' [ १२।१९ ] इति भक्तिनिष्ठ एव प्रियत्वेन पुनः पुनरुच्यते । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' [ १७ ] इति सप्तमोक्त एव ज्ञानी प्रियशब्देन प्रत्यभिज्ञायते; तत्समानाधिकरणानां च 'अद्वेष्टा' इत्यादीनां तदुपायभक्त्यङ्गपरत्वं युक्तमिति । अत्रोच्यते— 'ध्यानात्कर्मफलत्यागः' [ १२।१२ ] इति कर्मप्रसङ्गानन्तरमेव पठितानां तदङ्गत्वं प्रतीयते । अङ्गभूतानां चैषामुपकारः 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्' [ १२।१२ ] इत्युक्तः । प्रागपि कर्मयोगाङ्गतया चैते प्रतिपादिताः । या तु स्ववाक्ये 'मद्भक्तः' इत्यादिभिः प्रतीता भक्तिः, सा कर्मयोगान्तर्भूतभक्तिरेवेति तत्रतत्र श्लोके व्याख्यास्यति । नहि भक्तिगन्धरहितौ कर्मज्ञानयोगौ; यथोक्तं— 'त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्यसङ्गमः' [ गी. सं. २४ ] इति । साक्षाद्भक्तिनिष्ठास्तु 'ये तु' इति श्लोकेन वक्ष्यन्ते । तत्र हि तुशब्देन 'मत्परमा भक्ताः' इति मत्परमशब्दविशेषणेन 'अतीव मे प्रियाः' [ १२।२० ] इति प्रियत्वातिशयवर्णनेन च भक्तान्तरप्रतिपत्तिर्दृढतरा जायते । ततश्च तत्पूर्वे प्रियत्वमात्रेण निर्दिष्टास्त्ववर्चीना एव भक्ता इति सङ्ग्रहविस्तरकृतोराशयः।

प्रसक्तप्रतिषेधाय 'सर्वभूतानाम्' इति सविशेषणनिर्देशाभिप्रेतमाह **विद्विषतामपकुर्वतामपीति** । विशेषणे तात्पर्यमिति ज्ञापनाय **सर्वेषामिति** व्यासः । **विद्विषतामिति** मानसः, **अपकुर्वतामिति** वाचिकः कायिकश्च व्यापारः । न केवलं तेष्वद्वेषमात्रम्, अपितु मैत्री चेत्याह **मैत्र इति** । मैत्रीहेतुं दर्शयति **मद्पराधेति** । अयमेवाद्वेषस्यापि हेतुः । **मैत्रीं मतिं कुर्वन्निति** सामान्यविषये तद्धिताभिप्रेतविशेषोक्तिः । **मैत्रीं** हितैषिणीमित्यर्थः । करुणाया निरुपाधिकत्वायाह **तेष्वेव दुःखितेष्विति** । **करुणां कुर्वन्निति** करुणशब्दनिर्वचनम् । नामधातोः क्विबन्तात्पचादित्वादच्प्रत्ययः, अर्शआदित्वाद्वा मत्वर्थीयः । एवं मैत्रशब्दे । द्विषत्स्वपकुर्वत्स्वेवेति चैवकाराभिप्रायः । निरहङ्कारत्वं निर्ममत्वे हेतुः । ममकारप्रसङ्गस्थले हि निर्ममत्वं विधेयमित्यभिप्रायेणाह **देहेन्द्रियेषु तत्सम्बन्धिषु चेति** । अनात्मन्यात्मबुद्धिर्यत्र निषेध्योऽहङ्कार इत्यभिप्रायेणाह— **देहात्माभिमानरहित** इति । एतेन 'निर्गताहम्प्रत्ययः' इति परव्याख्या दूषिता, अहमर्थस्यैवात्मत्वसमर्थनात् । **तत एवेति**— निर्ममत्वनिरहङ्कारत्वाभ्यामित्यर्थः । **क्षमीति**— नापकर्तृषु क्षमा विवक्षिता, 'अद्वेष्टा' इत्यादिना गतार्थत्वात् । ततश्च 'तांस्तितिक्षस्व' [ २।१४ ] इति प्रागुक्तावर्जनीयसांस्पर्शिकद्वन्द्वतितिक्षा स्मार्यते । तत्पौनरुक्त्यपरिहाराय 'समदुःखसुखः' इत्येतदाभिमानिकविषयम् । तथा सति निर्ममत्वनिरहङ्कारत्वानन्तरोक्तिश्च सङ्गच्छत इत्यभिप्रायेण **साङ्कल्पिकयोरित्युक्तम्** । अहङ्कारममकारप्रयुक्तयोरित्यर्थः । 'सन्तुष्टो येनकेनचित्' [ १२।१९ ] इति वक्ष्यमाणत्वात्, 'यदृच्छालाभसन्तुष्टः' [ ४।२२ ] इति प्रागुक्तत्वाच्च ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.— सन्तुष्ट इति । सन्तुष्टः यदृच्छोपनतेन येनकेनापि देहधारणद्रव्येण सन्तुष्टः, सततं योगी सततं प्रकृतिवियुक्तात्मानुसन्धानपरः। यतात्मा नियमितमनोवृत्तिः । दृढनिश्चयः अध्यात्मशास्त्रोदितेष्वर्थेषु दृढनिश्चयः मय्यर्पितमनोबुद्धिः भगवान् वासुदेव एवानभिसंहितफलेनानुष्ठितेन कर्मणा आराध्यते, आराधितश्च ममात्मापरोक्ष्यं साधयिष्यतीति मय्यर्पितमनोबुद्धिः, एवम्भूतो मद्भक्त एवम्भूतेन कर्मयोगेन मां भजमानो यः, स मे प्रियः ॥ १४ ॥**

४ वे. ता. चं.— स एव सन्तोषोऽत्राप्यादरार्थं सङ्ग्रहेणोक्त इत्यभिप्रायेणाह-**यदृच्छोपनतेन येनकेनापीति** । अन्यत्रापि ह्युच्यते-येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः। यत्रक्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः'[म.भा.१२।२४५।१२] इति। शास्त्रीयेष्वयत्नोपनतेषु प्रभूताल्पसरसविरसादिवैषम्यं नानुसन्धेयमिति भावः । यथोक्तमजगरेण— 'न सन्निपतितं धर्म्यमुपभोगं यदृच्छया । प्रत्याचक्षे न चाप्येनमनुरुन्धे सुदुर्लभम्' [ ] इति । **सततमिति** योगकालोपकारकवासनास्थैर्यार्थम् । योगशब्दश्चात्र योगदर्शनानुग्राहकप्राचीनानुसन्धानपरः, साक्षाद्योगस्य सर्वदा कर्तुमशक्यत्वादित्यभिप्रायेणाह— **सततं प्रकृतिवियुक्तेति** । सततमात्मचिन्तनवदनात्मचिन्तननिवृत्तिरपि योगान्तरङ्गमिति यतात्मशब्देनोच्यत इत्याह **नियमितमनोवृत्तिरिति** । अन्येषां यत्र सन्देहप्रसङ्गः, तत्र ह्यस्य निश्चयो वाच्यः; स चात्रानुष्ठानोपकारक एव ग्राह्यः; तदाह— **अध्यात्मशास्त्रेति** । 'मयि' इत्यनेन 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च' [ ९।२४ ] इत्युक्तमाराध्यत्वं फलप्रदत्वं चात्र कर्मयोगनिष्ठस्य मनोबुद्ध्यर्पणार्थम् । अपेक्षितमभिसंहितमित्यभिप्रायेणाह **भगवानिति** । भगवच्छब्देन सकलफलप्रदत्वौपयिकोभयलिङ्गत्वोक्तिः । वासुदेवशब्देन सर्वकर्माराध्यत्वौपयिकसर्वदेवतान्तर्यामित्वोक्तिः । वक्तृरूपविवक्षा वा । आराध्यत्वेन चिन्तनमत्र मनसोऽर्पणम् । फलप्रदत्वाध्यवसायो बुद्ध्यर्पणम् । यद्वा द्वयोरपि चिन्ताध्यवसायौ भाव्यौ । मनसाध्यवसायो वा मनोबुद्धिः । उद्देश्यांशं निष्कर्षति **य एवम्भूतो मद्भक्त** इति । अशक्तस्य शक्यनिष्ठाप्रतिपादनप्रकरणत्वात् साक्षाद्भक्तियोगनिष्ठाव्यवच्छिन्दन् श्लोकद्वयस्य पिण्डितार्थमाह **एवम्भूतेन कर्मयोगेनेति** । उद्देश्यविशेषणेष्वपि तात्पर्यं मीमांसकैरेवाङ्गीकृतम्, यत्र विशेषणप्रयोगस्य गत्यन्तरं नोपलब्धमिति भावः । प्रियः प्रीतिविषयः, प्रीतोऽहं तदभिलषितं ददामीति भावः ॥ १४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १३ ॥ १४ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ १३ ॥ १४ ॥

७ ह. पै. भा.—अद्वेष्टेति । करुणा यस्यास्ति स करुणः । अर्श आदिभ्योऽच् ॥ १३ ॥ १४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवं मुमुक्षोः प्रथमतः सगुणनिष्ठामुक्त्वा तस्यैव निर्गुणनिष्ठामीश्वरानुग्रहादनन्तरभाविनीं दर्शयन्निर्गुणब्रह्मनिष्ठस्य कृतकृत्यस्य लक्षणभूतान्धर्मानाह सप्तभिः—अद्वेष्टेति । द्विविधानि भूतानि प्रतिकूलान्यप्रतिकूलानि च । अप्रतिकूलानि च द्विविधानि तत्त्वबुभुत्सयोपसन्नानि तदन्यानि च । तत्र प्रतिकूलेष्वद्वेष्टा, अप्रतिकूलेषु तत्त्वबुभुत्सुषु मैत्रो मैत्रवान् । अर्शआदिभ्योऽच् । हितोपदेष्टेत्यर्थः । अतत्त्वबुभुत्सुषु संसारदुःखमग्नेषु करुणः करुणावान् । अद्वेष्टृत्वे हेतुः— निर्ममः प्रतिकूलजनबाध्यदेहादिषु ममकारशून्यः । तत्रापि हेतुः— निरहङ्कारः । ततो निर्ममः अहङ्कारपूर्वकत्वान्ममकारस्येति भावः । तथापि सुखदुःखाभ्यां रागद्वेषयोरवश्यम्भावात्कथमद्वेष्टृत्वम् ? तत्राह— समदुःखसुख इति । समाध्यवस्थायां सुखदुःखयोरप्रतीतेर्व्युत्थाने तत्प्रतीतेर्भासेऽपि स्वाप्निकसुखदुःखयोरिव जागरे तन्मिथ्यात्वनिश्चयेन हर्षविषादाभावात्समदुःखसुखत्वमिति प्राग्व्याख्यातम् । समदुःखसुखत्वमेव वितृणोति–क्षमीति; निन्दास्तुत्यादिषु निर्विकार इत्यर्थः १३

किञ्च सन्तुष्ट इति । शरीरस्थित्यर्थान्नपानादेर्लाभे चालाभे च सन्तुष्टो जातालम्प्रत्ययः । तत्र हेतुः— सततं योगी निरतिशयानन्दरूपस्वात्मानुसन्धानैकशीलः । तत्रापि हेतुः— यतात्मा दृढनिश्चय इति । यतः संयत आत्मा विषयचापलस्वभावो यस्य स यतात्मा, तथा दृढः कुतर्कैरभिभवितुमशक्यतया स्थिरो निश्चयः " अहं ब्रह्मास्मि " [ बृ. उ, १।४।१० ] इत्यध्यवसायो यस्य स तथोक्तः । अत एव तुच्छवैषयिकानन्दानभिलाषित्वान्मयि स्वस्वरूपे परब्रह्मण्येव अर्पिते मनोबुद्धी येन स तथोक्तः; निष्काम इत्यर्थः । एवम्भूतो यो मद्भक्तः ममाक्षरस्य ज्ञानरूपभजनकृत् स निर्गुणनिष्ठः 'ते मे युक्ततमा मताः' [ १२।२ ] इति पूर्वोक्तसगुणनिष्ठेभ्योऽपि मम प्रियः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' [ १७ ] इति सप्तमाध्यायोक्तस्यैवायं प्रपञ्चः ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— एवमादिधर्मवतो भक्तस्य द्वात्रिंशल्लक्षणं पुष्टिसूचकमिति तस्य स्वप्रियत्वमाह षड्गुणभगवतोऽनुग्रहात्प्रीतिविषयत्वाच्चैकेन षड्भिः श्लोकैः । यद्यपि भगवन्मार्गे सत्सङ्गादेर्भगवद्भक्तिहेतुत्वं तथापि तं प्रति भगवदनुग्रहस्यैव निर्हेतुकस्य हेतुत्वं सम्भवति 'भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः' इत्यादि भागवते [ १०।५१।५४ ] भगवत्सेवकवाक्ये भवं अपवर्जयतीति तद्व्याख्यानादनुग्रह एव तत्र हेतुरिति मूलभूततदनुगृहीतत्वात् । अद्वेष्टेति ॥ १३ ॥ सन्तुष्ट इति । यथालब्धेन भगवत्सेवोपयोगिना द्रव्येण देहधारणेन सन्तुष्टः । सततं योगी यतात्मा समवृत्तिः निरुद्धचेताः । दृढो भगवदेकसेवायां निश्चयो यस्य सोऽपि न बहिरेव तन्वादिना केवलम्, किन्तु मानसोऽभ्यन्तर इति । तदाह मय्यर्पितमनोबुद्धिरिति । श्रीपुरुषोत्तमेऽर्पिते मनोबुद्धी यस्य सद्व्रजौकसां यथा तथा स य एवम्भूतो द्विषड्गुणयुतो निर्हेतुकमद्भक्तिमान् स मे प्रियः । यो मद्भक्त इतीरणात्पुष्टिरस्तीति निश्चीयते । नहि भगवत्प्रियत्वं स्वकृति–( स्वल्प )–तपस्साध्यम् । अतः प्रवाहाद्भिन्नोऽयं मार्गः, प्रवाहस्य सर्वसाधारणत्वात् भक्तेर्निर्हेतुकानुग्रहैकलभ्यत्वान्महानेव भेदोऽस्तीति मन्तव्यं वेदमर्यादामार्गतोऽपि असङ्कीर्णत्वं च 'नाहं वेदैर्न तपसा' [ ११।५३ ] इति पूर्वमुक्तं सर्वतो (ऽत्र) वैदिककर्माद्यपेक्षयाऽस्योत्तमत्वकथनात् अभेदे तूत्कर्षवैयर्थ्यादिति सर्वं श्रीमदाचार्यग्रन्थादवसेयम् ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— तस्य स्वरूपमाह— अद्वेष्टेति । सर्वभूतानां प्राणिमात्राणां मत्क्रीडात्मकत्वात् अद्वेष्टा आधिक्यादिदर्शने द्वेषरहितः; मैत्रः भक्तेषु मित्रतया वर्त्तमानः; करुणः भक्तिरहितेषु संसारदुःखनिश्चयात् करुणः उपदेशादिदानार्थं करुणावान् । एवकारेण न कदाचित् कर्कशहितेष्टेदिति ज्ञापितम् । निर्ममः उपदेशदानानन्तरं तेषु सर्वत्र च ममत्वरहितः, निरहङ्कारः स्वस्योत्तमत्वज्ञानेनाऽहङ्काररहितः; समदुःखसुखः समे दुःखसुखे वियोगसंयोगात्मके यस्य, क्षमी क्षमावान् दुष्टकृतावमानादिसहनशीलः ॥१३॥ किञ्च सन्तुष्ट इति । सततं सन्तुष्टः निरन्तरं हृदयस्थितमत्स्वरूपेण आनन्दयुक्तः, योगी मच्चिन्तनशीलः, यतात्मा वशीकृतस्वभावः दृढनिश्चयः दृढः कामाद्यनुपहतो मत्परीक्षितदुःखादिष्वचलो मयि सर्वकरणसमर्थत्वेन निश्चयो यस्य, मयि अर्पिते मनोबुद्धी येन, य एतादृशः स मद्भक्तः मे प्रियः मदिङ्गितकरणादिति भावः ॥ १४ ॥

११ नी० भा० दी०— परमप्रकृतस्याक्षरस्योपासकं स्तौति, तद्गुणकथने हि साधकानां तेषु गुणेष्वादरो भविष्यतीति बुद्ध्याऽऽह— अद्वेष्टेति । अद्वेष्टा चेदुदासीनः स्यात्, नेत्याह– मैत्रः मित्रमेव मैत्रः, न तूदासीनः कदाचिदपि । नन्वन्यस्मिन् शत्रौ सति कथं मैत्रत्वं स्यात् ? तत्राह— करुण इति । दुःखदातारमपि करुणया न

बाधितुमीष्टे, अपितु त्रातुमेवेच्छति । एतेन सर्वभूताभयप्रदः सन्न्यासी उक्तः । अत एव तस्य ' निर्ममः ' इति विशेषणं युज्यते । मुख्यमक्षरविदो लक्षणं निरहङ्कार इति । अहङ्कारो हि सर्वानर्थनिदानं स एव निर्गतो यस्मात् स निरहङ्कारः । अतएव समे दुःखसुखे यस्य । " तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः " [ ईशो. ७ ] इति श्रुतेः । क्षमी क्षमावान् , परिभवप्राप्तावपि स्वस्थचित्तः । अन्योऽपि मुमुक्षुरेतान् धर्माननुतिष्ठेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

सन्तुष्टो यदृच्छालाभेनैव सञ्जातालम्प्रत्ययः । सततं सर्वदा योगी श्रवणादौ समाहितचित्तः । यतात्मा संयतशरीरेन्द्रियादिसङ्घातः । दृढः स्थिर आत्मतत्त्वविषये निश्चयो यस्य स दृढनिश्चयोऽसम्भावनाशून्यो दृढश्रद्धावान् । मयि निर्गुणे ब्रह्मण्यर्पिते निहिते प्रविलापिते वा मनः सङ्कल्पादिरूपं बुद्धिरध्यवसायस्ते उभे येन स मय्यर्पितमनोबुद्धिः । एतादृशो यो मे मम भक्तः स मे मम प्रियः, आत्मत्वादेव स परमप्रेमास्पदम् ' ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ' [ ७।१८ ] इत्युक्तम् । एतेन पूर्वश्लोकोक्ताया निरहङ्कारतायाः साधनान्युक्तानि ॥ १४ ॥

**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।**
**हर्षामर्षभयोद्वेगमुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥**

**१ शां. भा.—यस्मादिति ।** यस्मात्सन्न्यासिनो नोद्विजते नोद्वेगं गच्छति, न सन्तप्यते संक्षुभ्यते लोकः । तथा लोकान्नोद्विजते च यः । हर्षामर्षभयोद्वेगैर्हर्षश्चामर्षश्च भयं चोद्वेगश्च तैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः; हर्षः प्रियलाभेऽन्तःकरणस्योत्कर्षो रोमाञ्चनाश्रुपातादिलिङ्गः, अमर्षोऽसहिष्णुता, भयं त्रासः, उद्वेग उद्विग्नता तैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** उद्वेगादिराहित्यमपि ज्ञानवतो विशेषणमित्याह— **यस्मादिति** । न केवलमुद्वेगं प्रत्यपादानत्वमेव सन्न्यासिनोऽनुपपन्नं किन्तु तत्कर्तृत्वमपीत्याह— **तथेति** । असहिष्णुता परकीयप्रकर्षस्येति शेषः । त्रासस्तस्करादिदर्शनाधीनः, उद्विग्नत्वमचेतनाचेतनाधीनस्य लोकादिति गतत्वात् ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.—** यस्मात् कर्मनिष्ठात् पुरुषान्निमित्तभूताल्लोको नोद्विजते यो लोकोद्वेगकरं कर्म किञ्चिदपि न करोतीत्यर्थः । लोकाच्च निमित्तभूताद्यो नोद्विजते यमुद्दिश्य सर्वलोको नोद्वेगकरं कर्म करोति, सर्वाविरोधित्वनिश्चयात् । अत एव कञ्चन प्रति हर्षेण, कञ्चन प्रत्यमर्षेण, कञ्चन प्रति भयेन, कञ्चन प्रत्युद्वेगेन मुक्तः, एवम्भूतो यः सोऽपि मम प्रियः ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.—** अथ निर्ममत्वादिफलभूतं लोकोद्वेगकरकर्मत्यागरूपं गुणं विदधत्तत्फलयोगं च दर्शयति—' यस्मात् ' इति श्लोकेन । यच्छब्दावृत्तिमात्रेणाधिकार्यन्तरत्वशङ्कानिवृत्त्यर्थं **यस्मात्कर्मनिष्ठादित्युक्तम्** । लोकगताया उद्वेगनिवृत्तेः कर्मनिष्ठं प्रति विधातुमशक्यत्वादुद्वेगकारणभूतकर्मनिवृत्तिर्विधेयत्वेन विवक्षितेति दर्शयति **यो लोकोद्वेगकरमिति** ।

---

१ **यस्मा**दिति । अत्र **वामनः**—

मुनेरुद्विजते लोकस्तपोमात्रबलादपि । तस्मादभ्यर्हितो भक्तोऽधिकमुद्वेजकस्ततः ॥
अक्रोधनादपि ततो विदंष्ट्रादिव पन्नगात् । भयं स्यादेव लोकस्येत्याशङ्कामपकर्षति ॥

इत्यवतार्य व्याचष्टे—

तस्मान्नोद्विजते लोकः स्वाचारात्प्रियदर्शनात् । चेष्टास्तदीयाः पश्यन्तस्तुष्यन्त्येव शरीरिणः ॥
यस्य दर्शनमात्रेण भवभीरपसर्पति । उद्विजेत कथं वाऽयं लोकस्तस्मान्महात्मनः ॥
अथासमर्थादप्यत्र न कोऽप्युद्विजते जनः । अतस्तत्साम्यमायातं स्वभक्तस्य निरस्यति ॥
लोकात्सपालात्कालादिसहितादपि जातुचित् । न बिभेति स धीराग्र्यः सर्वभूताभयप्रदः ॥
भयात्तत्कारणेभ्यश्च हर्षामर्षादिभिर्भृशम् । मुक्तस्याहं प्रियस्तस्य सर्वदा स च मे प्रियः ॥
व्याख्येयमित्थमेवात्र न चेत्पूर्वत्र कीर्तितः । भक्तो युक्तो गुणैरेतैर्नैति प्राप्नोति निश्चितम् ॥
[illegible]योऽतः पूर्वत्रात्र च वर्णितः । भक्तश्चकारस्तूक्तार्थान्वाचयस्योपलक्षकः ॥ इत्यादि ।

गत्वाद्यभावेऽपि एतच्छ्लोकोक्तगुणवत्त्वमात्रेणापि मे प्रियो भवतीति केषाञ्चिद्व्याख्यानं

**— अविगीता ।**

अपकाररूपत्वाभावेऽप्यश्लीलभाषणादिमात्रेणापि हि लोकोद्वेगो जायत इत्यभिप्रायेण **कञ्चिदपीत्युक्तम्** । एतेन 'अद्वेष्टा' [ १२।१३ ] इत्यादिना पूर्वोक्तात् 'समः शत्रौ च' [१२।१८] इत्यादिना वक्ष्यमाणाच्च वैषम्यं सिद्धम् । 'लोकान्नोद्विजते च यः' इत्यत्रापि हेत्वभावे तात्पर्यम्, अन्यथा पूर्वोत्तरपौनरुक्त्यप्रसङ्गात् । अस्मिन्नपि श्लोके ' हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः ' इत्युद्वेगाभावस्य विहितत्वात्, 'यस्मान्नोद्विजते' इत्यनेन भिन्नरीतित्वप्रसङ्गाच्चेत्यभिप्रायेणाह **यमुद्दिश्येति** । लोकगतोद्वेगकरकर्मनिवृत्तिरपि नास्य विधेयेति विधेयं दर्शयितुं लोकस्य तथाविधकर्माकरणे हेतुमाह **सर्वेति** । यथा सर्वाविरोधित्वेन कर्मनिष्ठं लोको निश्चिनुयात्, तथाऽसौ कर्मनिष्ठो वर्ततेत्युक्तं भवति । 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि' [ १२।१७ ] इति वक्ष्यमाणादत्र हर्षादेर्विषयभेदेन निवर्तकभेदेन च वैषम्यज्ञापनायाह **अत एव कञ्चन प्रतीति** । **अत एवेति** उपकारापकारादिहेतुभेदाभावादित्यर्थः । **कञ्चन प्रत्युद्वेगेनेति** भयादेः पृथगुक्तत्वाद्भयकार्यभूतं कर्म वा जुगुप्सा वाऽत्रोद्वेगः । ' यस्मान्नोद्विजते ' इत्यादिवाक्यत्रयार्थसङ्कलनेनाह **य एवम्भूत** इति । पूर्वश्लोकोक्तमैत्रत्वकरुणत्वादिगुणगणाभावेऽपि लोकोद्वेगकरकर्मनिवृत्तिमात्रेणापि प्रीतो भवामीति ' स च ' इत्यादिनोच्यत इत्याह— **सोऽपीति** ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.— ॥ १५ ॥**

**७ ह. पै. भा.— यस्मादिति । उद्वेगश्चलचित्तता । अमर्षः क्रोधः ॥ १५ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.— किञ्च यस्मादिति** । यस्मात्सकाशात् लोको यः कश्चिदपि जनो नोद्विजते न सन्तप्यते, अत एव लोकादपि यो नोद्विजते । तत्र हेतुः— **हर्षामर्षेति** । हर्ष इष्टलाभोत्साहः, अमर्षस्त्वसहनम्, भयं सन्त्रासः, उद्वेगस्तु व्याकुलीभावाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषः; एतैर्मुक्तः । लोके हि हर्षामर्षादिमान्पराधिक्षेपताडनादौ प्रवर्तते, तस्माच्च लोकः सन्तप्यते ; हर्षादिरहितस्य तु पराधिक्षेपाद्यप्रवृत्तेर्न ततो लोकस्योद्वेगः ; अत एवास्मिन्नपि लोकस्याधिक्षेपाद्यप्रवृत्तेः कस्यचिद्दुष्टस्य तत्प्रवृत्तावप्येतच्चित्ते विकाराभावाच्चायमपि लोकान्नोद्विजत इत्यर्थः । ' हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः ' इत्यनेन हर्षादिभिः स्वयमेवायमद्वितीयब्रह्मात्मदर्शीति स्वायोग्यत्वेन त्यक्तः, न तु तेषां त्यागार्थमयं व्यापृत इति सूचितम् । स मे प्रिय इति पूर्ववत् ॥ १५ ॥

**९ व० त० दी०— किञ्च यस्मादिति** । भगवत्सेवाकर्मनिष्ठान्मैत्र्यात्तत्तदाचारसंशोधनप्रयोगात् लोको नोद्विजते । यश्च स्वयं तत्तदाचारपराङ्मुखात्तस्माल्लोकाच्च नोद्विजते, किन्तु स्वधर्मे एव निष्ठितो भवति तथा । स्वेष्टप्राप्तौ हर्षः, अप्राप्तौ वाऽमर्षः, कुतश्चिद्भयं प्रतिकूलादुद्वेगश्चिन्ता चेत्येभिर्मुक्तः प्रह्लाद इव स भक्तो मे प्रियः ॥१५॥

**१० पु. अ. त.— किञ्च— यस्मादिति** । यस्मात् सकाशाल्लोकः न उद्विजते ध्रुवादिवत् सकामभजनादिना लोकः क्लेशं नाप्नोति । च पुनः लोकात् स्वस्योत्सादनार्थं तपआदियत्नवतो यो न उद्विजते भयं न प्राप्नोतीत्यर्थः । च पुनः हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः हर्षः स्वेष्टाप्त्या तद्राहित्येन सर्वत्र भगवदात्मकत्वेनेतरास्फूर्त्या सर्वदैव हर्षात्मक एवेत्यर्थः; अमर्षः परोत्कर्षासहिष्णुता, तद्राहित्येन भगवल्लीलात्मकज्ञानवानित्यर्थः । भयं त्रासः, तदभावेन भगवद्रक्षणसामर्थ्यज्ञानवानित्यर्थः । उद्वेगश्चित्तलोभस्तेन सेवादिसमये चित्तचाञ्चल्यरहित इत्यर्थः । एतादृशो यः स मे प्रियः ॥ १५ ॥

**११ नी० भा० दी०— स च** निरहङ्कारो द्विविधः समाधिस्थो व्युत्थितश्च, तयोर्लक्षणं क्रमेणाह द्वाभ्याम्— यस्मादिति । यस्मात् समाधिस्थत्वेन काष्ठसमाल्लोको नोद्विजते न त्रस्यति; लोकादपि यो निर्मनस्कत्वान्नोद्विजते । अतएव हर्ष इष्टलाभे सति मनस उत्फुल्लता, अमर्षः असहिष्णुता, भयमात्मोच्छेदशङ्का, उद्वेगस्तत्कृतैव व्याकुलता, एतैर्निर्मनस्कत्वादेव स्वयमेव मुक्तस्त्यक्तः; न त्वेतान् स्वयं त्यक्तुं यतते साधकवत् । **ईदृशो यो** मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १५ ॥

## अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
## सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

**१ शां. भा.— अनपेक्ष इति** । अनपेक्षः देहेन्द्रियविषयसम्बन्धादिष्वपेक्षाविषयेष्वनपेक्षो निस्स्पृहः, शुचिर्बाह्येनाभ्यन्तरेण च शौचेन सम्पन्नः, दक्षः प्रत्युत्पन्नेषु कार्येषु सद्यो यथावत्प्रतिपत्तुं समर्थः, उदासीनो न कस्यचिन्मित्रादेः पक्षं भजते यः स उदासीनो यतिः, गतव्यथो गतभयः, सर्वारम्भपरित्यागी

आरभ्यन्त इत्यारम्भा इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भाः, तान्परित्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— निरपेक्षत्वादिकमपि ज्ञानिनो विशेषणमित्याह— **अनपेक्ष** इति । आदिपदमपेक्षणीयसर्वसङ्ग्रहार्थं, प्रतिपत्तव्येषु प्रतिपत्तुं कर्तव्येषु कर्तुं चेत्यर्थः । पुरस्ताडितस्यापि गता व्यथा भयमस्येति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह— **गतेति** । न च ' क्षमी ' [ १३ ] इत्यनेन पौनरुक्त्यं प्रत्युत्पन्नायामपि व्यथायामपकर्तृष्वनपकर्तृत्वं क्षमित्वमित्यभ्युपगमात् ॥ १६ ॥

**३ रा. भा.— अनपेक्ष इति । अनपेक्षः आत्मव्यतिरिक्ते कृत्स्ने वस्तुन्यनपेक्षः । शुचिः शास्त्रविहितद्रव्यवर्धितकायः । दक्षः शास्त्रीयक्रियोपादानसमर्थः । अन्यत्रोदासीनः । गतव्यथः शास्त्रीयक्रियानिर्वृत्तावर्जनीयशीतोष्णपरुषस्पर्शादिदुःखेषु व्यथारहितः । सर्वारम्भपरित्यागी शास्त्रीयव्यतिरिक्तसर्वकर्मारम्भपरित्यागी । य एवम्भूतो मद्भक्तः, स मे प्रियः ॥ १६ ॥**

४ वे. ता. चं.— आत्ममात्रापेक्षत्वेन शास्त्रीयमात्रजागरूकत्वं तद्व्यतिरिक्तेष्वत्यन्तनिरीहत्वं चाह— 'अनपेक्षः' इति श्लोकेन । प्रस्तुताधिकारविरोधव्युदासाय सामान्यं विशेषे नियमयति **आत्मव्यतिरिक्त** इति । अन्येषु सङ्कोचकाभावात् **कृत्स्न** इत्युक्तम् । फलीभूतस्य शुचित्वस्य स्वरूपेण विधातुमशक्यत्वात्तद्धेतौ तात्पर्यमित्याह **शास्त्रविहितेति** । अन्यविषयसामर्थ्यस्यानुपयुक्तत्वात्तदुपयुक्तानुष्ठानसामर्थ्यं दक्षशब्देनाभिधीयत इत्याह **शास्त्रीयेति** । विरोधपरिहारायौदासीन्यं विहितव्यतिरिक्तविषयमित्याह **अन्यत्रोदासीन** इति । अविहिताप्रतिषिद्धेष्वित्यर्थः । अपक्षपातित्वमिहौदासीन्यं वदन्तः 'समः शत्रौ च'[१२।१८] इत्यादिवक्ष्यमाणपौनरुक्त्यान्निरस्ताः। निषिद्धयमानव्यथाप्रसङ्गं दर्शयति **शास्त्रीयक्रियानिर्वृत्ताविति** । विहितयोगारम्भादिव्यवच्छेदायाह **शास्त्रीयव्यतिरिक्तेति** । साभिसन्धिकपरित्यागस्यात्र विवक्षितत्वात् माध्यस्थ्यरूपौदासीन्याद्भेदः । यद्वा निष्प्रयत्नतारूपोदासीनत्वफलं सर्वकर्मारम्भपरित्यागः । कर्मात्र वाक्कायव्यापारः । स एवारभ्यमाणत्वादारम्भः । तस्योपादानं वा । एतदखिलमपि मद्भक्तिविशिष्टतयैव प्रियत्वकारणमिति मद्भक्तशब्देन विवक्षितमित्याह **य एवम्भूतो मद्भक्त** इति ॥ १६ ॥

**५ आ. मा. भा.— ' सर्वारम्भपरित्यागी ' इत्यादेः सामान्यविशेषव्याख्यानव्याख्येयभावेनापुनरुक्तिः । हर्षादिभिर्मुक्त इत्युक्ते कादाचित्कमपि भवतीति ' यो न हृष्यति '[ १२।१७ ] इत्युक्तम् । उपचारपरिहारार्थं पूर्वम् आधिक्यज्ञानार्थं भक्त्यभ्यासः । ' ये तु सर्वाणि कर्माणि ' [ १२ । ६ ] इत्यादेः प्रपञ्च एषः ॥ १६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— पुनरुक्तिदोषमाशङ्क्य परिहरति— **सर्वेति** । 'सर्वारम्भपरित्यागी' 'शुभाशुभपरित्यागी' [१२।१७] इत्यादौ सामान्यविशेषभावेन 'सन्तुष्टः सततं योगी' [१२।१४] 'सन्तुष्टो येन केनचित्' [ १२।१९ ] इत्यादौ व्याख्यानव्याख्येयभावेन ' हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः' [१२।१५] 'यो न हृष्यति' [१२।१७] इत्यत्र नोक्तं प्रकारद्वयं सम्भवतीत्यत आह— **हर्षादिभिरिति** । निष्ठाप्रत्ययेनातीतत्वप्रतीत्या कालान्तरे हर्षादिकं भवतीत्याशङ्क्य क्रियाप्रबन्धे विहितेन लटा प्रतिपादयतीत्यर्थः । तर्हीदमेवास्तु, किं तेन ? इत्यत आह— **उपचारेति** । सिद्धेऽर्थे वचनमुपचारं तात्पर्यद्योतनेन परिहरतीत्यर्थः। 'यो मद्भक्तः' इति भक्तिः पुनःपुनरुच्यते, तत्प्रयोजनमाह— **आधिक्येति** । ' अद्वेष्टा ' [ १२।१३ ] इत्यादिनोक्तेषु सर्वधर्मेषु भक्तेरिति शेषः । 'अद्वेष्टा' इत्यादेः सङ्गत्यदर्शनात्तामाह— **ये त्वेति** । प्रपञ्चस्तदुपलक्षितस्याभिधानम्। अक्षरोपासकानधिकृत्यैतदुच्यते इत्यसत् । सन्निहितसम्बन्धे सति व्यवहितसम्बन्धग्रहणायोगात् 'यो मद्भक्तः स मे प्रियः' इत्यादिवचनाच्च ॥ १६ ॥

**७ ह. पै. भा.—॥ १६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अत्र हेतुः— **अनपेक्ष इति** । अनपेक्षः कर्मफलेच्छाशून्यः । तथापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मानुष्ठेयम् ? नेत्याह— **शुचिः** । ' न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम् ' [ ४।३८ ] इति परमपावनज्ञानसम्पन्नतया नित्यशुद्धः । ततो न तस्य प्रत्यवायशङ्केति भावः । तर्हि कर्मफलैः स्वर्गाद्यानन्दैर्वञ्चितः स्यात् ? नेत्याह— **दक्षः** समर्थः " एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति " [ बृ. उ. ४।३।३२ ] इति श्रुत्यवगतस्वर्गादिसर्वानन्दसम्भृतनिरतिशयब्रह्मानन्दास्वादचतुर इति यावत् । नन्वेवमपि भिक्षाटनादिकर्मकर्तृत्वदर्शनात् सर्वारम्भपरित्यागित्वमसिद्धम् ; तत्राह— **उदासीनः** कर्तृत्वशून्यः ; अत एव **गतव्यथः** तत्कर्मफलभूतान्नपानाद्यलाभनिमित्तव्यथारहितः ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— अनपेक्ष इति । मत्सेवातिरिक्तं सालोक्यादिकमपि नापेक्षते । तथा 'सालोक्यसार्ष्टिसारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः' [ ३।२९।१३ ] इति भागवतवचनात् । शुचिराचारवान् 'आचारप्रभवो धर्मस्तेनैव च सुखी भवेत्' इति वाक्यात् । तथा भगवत्सेवायां तत्तच्छृङ्गारयोजने दक्षः चतुरः । तत्प्रतिकूले गृहादावुदासीनः । तत्रापि गतव्यथः 'भार्यादीनां तथाऽन्येषामसतश्चाक्रमं सहेत्' तथा कलत्रादिकं प्रतिकूलं दृष्ट्वा तदीयसर्वविषयारम्भपरित्यागी च । सेवायां हि 'उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः' इति श्रीमदाचार्यैरप्युच्यते, अतः सर्वारम्भभोगोऽनुचितः; घातकत्वात् । य एवम्भूतो भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च । अनपेक्षः सेवादौ स्वमनोऽतिरिक्तापेक्षारहितः,समर्थ इति यावत् । शुचिः मत्स्मरणवान्, दक्षः भजनस्वरूपज्ञानवान्, उदासीनः लोकेषु, गतव्यथः मानसिकक्लेशरहितः, सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टश्रुतफलककर्माऽनुद्यमानस्वभावः । एतादृशो मद्भक्तः मद्भजनकर्ता स मे प्रियः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— अस्यैव व्युत्थानावस्थामाह— अनपेक्ष इति । सुखप्राप्तौ दुःखहाने वा तत्साधने वा लिप्साशून्योऽनपेक्षः । शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचवान्, पुण्यापुण्याभ्यामलिप्तो वा । दक्षः भगवद्भजनादावनलसः । उदासीनो मानापमानादौ समवृत्तिः । अतएव गता व्यथा चेतःपीडा यस्य स गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी सन्न्यासित्वादेव । यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

**यो न [1]हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।**
**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥**

**१ शां. भा.— किञ्च— यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ, न द्वेष्ट्यनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्रियवियोगे, न चाप्राप्तं काङ्क्षति, शुभाशुभे कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥**

२ आ. शां. व्या.— द्वेषहर्षादिराहित्यमपि ज्ञानिनो लक्षणमित्याह— **किञ्चेति** । 'सर्वारम्भपरित्यागी' [१२।१६] इत्यनेन विहितकाम्यत्यागस्योक्तत्वाद्विहितादन्यत्र मा सङ्कोचीति विशिनष्टि— **शुभाशुभेति** ॥ १७ ॥

**३ रा. भा.— यो न हृष्यति यन्मनुष्याणां हर्षनिमित्तं प्रियजातं तत्प्राप्य यः कर्मयोगी न हृष्यति, यच्चाप्रियं तत्प्राप्य यो न द्वेष्टि, यच्च मनुष्याणां शोकनिमित्तं भार्यापुत्रवित्तक्षयादिकं, तत्प्राप्य न शोचति; तथाविधमप्राप्तं च न काङ्क्षति; यच्च मनुष्याणां हर्षनिमित्तभार्यावित्तादि तदप्राप्तं च न काङ्क्षतीत्यर्थः ।**

---

१ हृष्यतीत्यादौ 'नानद्यतनवत्क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः' ( अष्टा. ३।३।१३५ ) इति क्रियासातत्ये लट् । तेन कदापि नहृष्यतीत्यादिरर्थः । 'अद्वेष्टा' ( १२।१३ ) इत्यत्र सर्वभूतेषु स्वाभाविकः सामान्यद्वेषाभाव उक्तः, अत्र त्वनिष्टप्राप्तौ तत्प्रयुक्तद्वेषविशेषाभाव इत्यपौनरुक्त्यमिति **भगवत्पादाभिप्रायः । वामनस्तु—**

ननु 'हर्षामर्षमुक्तो' 'ऽनपेक्ष' श्चेति वर्णितम् । इदानीमेव तत्कस्मात्पुनरत्रानुवर्ण्यते ? ॥
इति चेच्छ्रूयतां श्लोकै 'रद्वेष्टे' त्यादिकैस्त्रिभिः । वर्णितः पक्वयोगो यो भक्तः स परमात्मना ॥
पूर्वश्लोके च यस्त्यक्त्वा धर्मान् सर्वानपि प्रभुम् । याति सर्वात्मभावेन शरणं स निरूपितः ॥
शरणागतिमाहात्म्यात्सम्प्राप्तः पक्वबोधताम् । सगुणे प्रीतिमान्देवे स एवात्रानुकीर्त्यते ॥
सिद्धावस्था यथैतस्य पूर्वस्यापि तथेरिता । अतो भेदात्प्रसङ्गस्य पुनरुक्तिर्न दुष्यति ॥
धर्मान् भागवताञ्छ्रिताः कतिपये सर्वात्मभावामृतं पीत्वा सिद्धिमवाप्नुवन्ति विमलां पक्वावबोधाः शनैः ।
आरम्भानखिलान्विहाय सगुणं भक्त्या प्रपन्नाः प्रभुं सिद्धिं तत्कृपयाप्नुवन्ति खलु तत्तुल्यामयत्नात्परे ॥
सर्वारम्भपरित्यागी यः पूर्वश्लोक ईरितः । शुभाशुभपरित्यागीत्युक्ता तस्यात्र सिद्धता ॥ इति प्रतिपादयति ।

'भक्तिर्ज्ञानं च वैराग्यमृते यो नेच्छति क्वचित् । शुभाशुभपरित्यागी विद्वद्भिः कीर्तितो हि सः ॥' इति **विद्याधिराजीये** ।

— **अविगीता** ।

आरभ्यन्त इत्यारम्भा इहामुत्रफलभोगार्थानि कामहेतूनि कर्माणि सर्वारम्भाः, तान्परित्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— निरपेक्षत्वादिकमपि ज्ञानिनो विशेषणमित्याह— **अनपेक्ष** इति । आदिपदमपेक्षणीयसर्वसङ्ग्रहार्थं, प्रतिपत्तव्येषु प्रतिपत्तुं कर्तव्येषु कर्तुं चेत्यर्थः । परैस्ताडितस्यापि गता व्यथा भयमस्येति व्युत्पत्तिमाश्रित्याऽऽह— **गतेति** । न च 'क्षमी' [ १३ ] इत्यनेन पौनरुक्त्यं प्रत्युत्पन्नायामपि व्यथायामपकर्तृष्वनपकर्तृत्वं क्षमित्वमित्यभ्युपगमात् ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— अनपेक्ष इति । अनपेक्षः आत्मव्यतिरिक्ते कृत्स्ने वस्तुन्यनपेक्षः । शुचिः शास्त्रविहितद्रव्यवर्धितकायः । दक्षः शास्त्रीयक्रियोपादानसमर्थः । अन्यत्रोदासीनः । गतव्यथः शास्त्रीयक्रियानिर्वृत्तावववर्जनीयशीतोष्णपरुषस्पर्शादिदुःखेषु व्यथारहितः । सर्वारम्भपरित्यागी शास्त्रीयव्यतिरिक्तसर्वकर्मारम्भपरित्यागी । य एवम्भूतो मद्भक्तः, स मे प्रियः ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— आत्ममात्रापेक्षत्वेन शास्त्रीयमात्रजागरूकत्वं तद्व्यतिरिक्तेष्वत्यन्तनिरीहत्वं चाह— 'अनपेक्षः' इति श्लोकेन । प्रस्तुताधिकारविरोधव्युदासाय सामान्यं विशेषे नियमयति **आत्मव्यतिरिक्त** इति । अन्येषु सङ्कोचकाभावात् **कृत्स्न** इत्युक्तम् । फलीभूतस्य शुचित्वस्य स्वरूपेण विधातुमशक्यत्वात्तद्धेतौ तात्पर्यमित्याह **शास्त्रविहितेति** । अन्यविषयसामर्थ्यस्यानुपयुक्तत्वात्तदुपयुक्तानुष्ठानसामर्थ्यं दक्षशब्देनाभिधीयत इत्याह **शास्त्रीयेति** । विरोधपरिहारायौदासीन्यं विहितव्यतिरिक्तविषयमित्याह **अन्यत्रोदासीन** इति । अविहिताप्रतिषिद्धेष्वित्यर्थः । अपक्षपातित्वमिहौदासीन्यं वदन्तः 'समः शत्रौ च'[१२।१८] इत्यादिवक्ष्यमाणपौनरुक्त्यान्निरस्ताः। निषिद्धयमानव्यथाप्रसङ्गं दर्शयति **शास्त्रीयक्रियानिर्वृत्ताविति** । विहितयोगारम्भादिव्यवच्छेदायाह **शास्त्रीयव्यतिरिक्तेति** । साभिसन्धिकपरित्यागस्यात्र विवक्षितत्वात् माध्यस्थ्यरूपौदासीन्याद्भेदः । यद्वा निष्प्रयत्नतारूपोदासीनत्वफलं सर्वकर्मारम्भपरित्यागः । कर्मात्र वाक्कायव्यापारः । स एवारभ्यमाणत्वादारम्भः । तस्योपादानं वा । एतदखिलमपि मद्भक्तिविशिष्टतयैव प्रियत्वकारणमिति मद्भक्तशब्देन विवक्षितमित्याह **य एवम्भूतो मद्भक्त** इति ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— 'सर्वारम्भपरित्यागी' इत्यादेः सामान्यविशेषव्याख्यानव्याख्येयभावेनापुनरुक्तिः । हर्षादिभिर्मुक्त इत्युक्ते कादाचित्कमपि भवतीति 'यो न हृष्यति' [ १२।१७ ] इत्युक्तम् । उपचारपरिहारार्थं पूर्वम् आधिक्यज्ञानार्थं भक्त्यभ्यासः । 'ये तु सर्वाणि कर्माणि' [ १२ । ६ ] इत्यादेः प्रपञ्च एषः ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— पुनरुक्तिदोषमाशङ्क्य परिहरति— **सर्वेति** । 'सर्वारम्भपरित्यागी''शुभाशुभपरित्यागी' [१२।१७] इत्यादौ सामान्यविशेषभावेन 'सन्तुष्टः सततं योगी'[१२।१४] 'सन्तुष्टो येन केनचित्' [ १२।१९ ] इत्यादौ व्याख्यानव्याख्येयभावेन 'हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तः' [१२।१५] 'यो न हृष्यति' [१२।१७] इत्यत्र नोक्तं प्रकारद्वयं सम्भवतीत्यत आह— **हर्षादिभिरिति** । निष्ठाप्रत्ययेनातीतत्वप्रतीत्या कालान्तरे हर्षादिकं भवतीत्याशङ्क्य क्रियाप्रबन्धे विहितेन लटा प्रतिपादयतीत्यर्थः । तर्हीदमेवास्तु, किं तेन ? इत्यत आह— **उपचारेति** । सिद्धेऽर्थे वचनमुपचारं तात्पर्यद्योतनेन परिहरतीत्यर्थः। 'यो मद्भक्तः' इति भक्तिः पुनःपुनरुच्यते, तत्प्रयोजनमाह— **आधिक्येति** । 'अद्वेष्टा' [ १२।१३ ] इत्यादिनोक्तेषु सर्वधर्मेषु भक्तेरिति शेषः । 'अद्वेष्टा' इत्यादेः सङ्गत्यदर्शनात्तामाह— **ये त्वेति** । प्रपञ्चस्तदुपलक्षितस्याभिधानम्। अक्षरोपासकानधिकृत्यैतदुच्यते इत्यसत् । सन्निहितसम्बन्धे सति व्यवहितसम्बन्धग्रहणायोगात् 'योमद्भक्तः स मे प्रियः' इत्यादिवचनाच्च ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अत्र हेतुः— **अनपेक्ष इति** । अनपेक्षः कर्मफलेच्छाशून्यः । तथापि प्रत्यवायपरिहारार्थं कर्मानुष्ठेयम् ? नेत्याह— शुचिः । 'न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रम्' [ ४।३८ ] इति परमपावनज्ञानसम्पन्नतया नित्यशुद्धः । ततो न तस्य प्रत्यवायशङ्केति भावः । तर्हि कर्मफलैः स्वर्गाद्यानन्दैर्वञ्चितः स्यात् ? नेत्याह— दक्षः समर्थः "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" [ बृ. उ. ४।३।३२ ] इति श्रुत्यवगतस्वर्गादिसर्वानन्दसम्भृतनिरतिशयब्रह्मानन्दात्वादचतुर इति यावत् । नन्वेवमपि भिक्षाटनादिकर्मकर्तृत्वदर्शनात् सर्वारम्भपरित्यागित्वमसिद्धम् ; तत्राह— उदासीनः कर्तृत्वशून्यः ; अत एव गतव्यथः तत्कर्मफलभूतान्नपानाद्यलाभनिमित्तव्यथारहितः ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— अनपेक्ष इति । मत्सेवातिरिक्तं सालोक्यादिकमपि नापेक्षते । तथा 'सालोक्यसार्ष्टिसारूप्यसामीप्यैकत्वमप्युत । दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ' [ ३।२९।१३ ] इति भागवतवचनात् । शुचिराचारवान् 'आचारप्रभवो धर्मस्तेनैव च सुखी भवेत्' इति वाक्यात् । तथा भगवत्सेवायां तत्तच्छृङ्गारयोजने दक्षः चतुरः । तत्प्रतिकूले गृहादावुदासीनः । तत्रापि गतव्यथः 'भार्यादीनां तथाऽन्येषामसतश्चाक्रमं सहेत्' तथा कलत्रादिकं प्रतिकूलं दृष्ट्वा तदीयसर्वविषयारम्भपरित्यागी च । सेवायां हि 'उद्वेगः प्रतिबन्धो वा भोगो वा स्यात्तु बाधकः' इति श्रीमदाचार्यैरप्युच्यते, अतः सर्वारम्भभोगोऽनुचितः; घातकत्वात् । य एवम्भूतो भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च । अनपेक्षः सेवादौ स्वमनोऽतिरिक्तापेक्षारहितः,समर्थ इति यावत्। शुचिः मत्स्मरणवान्, दक्षः भजनस्वरूपज्ञानवान्, उदासीनः लोकेषु, गतव्यथः मानसिकक्लेशरहितः, सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टश्रुतफलककर्माऽनुद्यमानस्वभावः । एतादृशो मद्भक्तः मद्भजनकर्त्ता स मे प्रियः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— अस्यैव व्युत्थानावस्थामाह— अनपेक्ष इति । सुखप्राप्तौ दुःखहाने वा तत्साधने वा लिप्साशून्योऽनपेक्षः । शुचिः बाह्याभ्यन्तरशौचवान्, पुण्यापुण्याभ्यामलिप्तो वा । दक्षः भगवद्भजनादावनलसः । उदासीनो मानापमानादौ समवृत्तिः । अतएव गता व्यथा चेतःपीडा यस्य स गतव्यथः । सर्वारम्भपरित्यागी सन्न्यासित्वादेव । यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥ १६ ॥

## यो न [1]हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
## शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

१ शां. भा.— किञ्च— यो न हृष्यतीष्टप्राप्तौ, न द्वेष्ट्यनिष्टप्राप्तौ, न शोचति प्रियवियोगे, न चाप्राप्तं काङ्क्षति, शुभाशुभे कर्मणी परित्यक्तुं शीलमस्येति शुभाशुभपरित्यागी, भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— द्वेषहर्षादिराहित्यमपि ज्ञानिनो लक्षणमित्याह— किञ्चेति । 'सर्वारम्भपरित्यागी' [१२।१६] इत्यनेन विहितकाम्यत्यागस्योक्तत्वाद्विहितादन्यत्र मा सङ्कोचीति विशिनष्टि— शुभाशुभेति ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— यो न हृष्यति यन्मनुष्याणां हर्षनिमित्तं प्रियजातं तत्प्राप्य यः कर्मयोगी न हृष्यति, यच्चाप्रियं तत्प्राप्य यो न द्वेष्टि, यच्च मनुष्याणां शोकनिमित्तं भार्यापुत्रवित्तक्षयादिकं, तत्प्राप्य न शोचति; तथाविधमप्राप्तं च न काङ्क्षति; यच्च मनुष्याणां हर्षनिमित्तभार्यावित्तादि तदप्राप्तं च न काङ्क्षतीत्यर्थः ।

---

१ हृष्यतीत्यादौ 'नानद्यतनवत्क्रियाप्रबन्धसामीप्ययोः' ( अष्टा. ३।३।१३५ ) इति क्रियासातत्ये लट् । तेन कदापि नहृष्यतीत्यादिरर्थः । 'अद्वेष्टा' ( १२।१३ ) इत्यत्र सर्वभूतेषु स्वाभाविकः सामान्यद्वेषाभाव उक्तः, अत्र त्वनिष्टप्राप्तौ तत्प्रयुक्तद्वेषविशेषाभाव इत्यपौनरुक्त्यमिति भगवत्पादाभिप्रायः । वामनस्तु—

ननु 'हर्षामर्षमुक्तो' 'ऽनपेक्ष' श्चेति वर्णितम् । इदानीमेव तत्कस्मात्पुनरत्रानुवर्ण्यते ? ॥
इति चेच्छ्रूयतां श्लोके 'रद्वेष्टे' त्यादिकैस्त्रिभिः । वर्णितः पक्वयोगो यो भक्तः स परमात्मना ॥
पूर्वश्लोके च यस्त्यक्त्वा धर्मान् सर्वानपि प्रभुम् । याति सर्वात्मभावेन शरणं स निरूपितः ॥
शरणागतिमाहात्म्यात्सम्प्राप्तः पक्वबोधताम् । सगुणे प्रीतिमान्देवे स एवात्रानुकीर्त्यते ॥
सिद्धावस्था यथैतस्य पूर्वस्यापि तथेरिता । अतो भेदात्प्रसङ्गस्य पुनरुक्तिर्न दुष्यति ॥
धर्मान् भागवताञ्छ्रिताः कतिपये सर्वात्मभावामृतं पीत्वा सिद्धिमवाप्नुवन्ति विमलां पक्वावबोधाः शनैः ।
आरम्भानखिलान्विहाय सगुणं भक्त्या प्रपन्नाः प्रभुं सिद्धिं तत्कृपयाप्नुवन्ति खलु तत्तुल्यामयत्नात्परे ॥
सर्वारम्भपरित्यागी यः पूर्वश्लोक ईरितः । शुभाशुभपरित्यागीत्युक्ता तस्यात्र सिद्धता ॥ इति प्रतिपादयति ।

'भक्तिर्ज्ञानं च वैराग्यमृते यो नेच्छति कचित् । शुभाशुभपरित्यागी विद्वद्भिः कीर्तितो हि सः ॥' इति विद्याधिराजीये ।
— अविगीता ।

शुभाशुभपरित्यागी पापवत्पुण्यस्यापि बन्धहेतुत्वाविशेषादुभयपरित्यागी; य एवम्भूतो भक्तिमान्, स मे प्रियः ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ दैवादागतेष्वपि प्रियाप्रियेषु शोकहर्षाद्यभावोऽनागतेषु निषिद्धव्यतिरिक्तेष्वपि वाञ्छारहितत्वं तत्कारणत्यागश्चोच्यते 'यो न हृष्यति' इति श्लोकेन । 'हर्षामर्ष' [ १२।१५ ] इति पूर्वं पुरुषविशेषनिमित्तं हर्षादिकं निषिद्धम् ; इह त्वर्थलाभादिनिमित्तमिति विशेष इत्यभिप्रायेणाह यन्मनुष्याणामिति । यच्छब्दव्याख्यानरूपेण 'कर्मयोगी' इत्यनेन हर्षाभावहेतु सूचितः । आत्मव्यतिरिक्तनिस्स्पृहो ह्ययमिति भावः । 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' [ १२।१३ ] इत्युक्ताद्विशेषज्ञापनायाह यच्चाप्रियं तत्प्राप्येति । हेत्वनागमने हर्षद्वेषशोकादेरभावस्य सर्वजनसाधारणत्वाद्विकारहेतौ सति निर्विकारत्वं ह्यस्य विधेयो विशेष इति ज्ञापनाय तत्तन्निमित्तकथनम् । 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन ( खित्र ) दह्यते' [म. भा. १२।१७।१९ ] इतिवत् प्राप्तेः काङ्क्षणीयत्वाभावात् अप्राप्तमित्युक्तम् । तथाविधं यद्विनाशे शोकः स्यात्, तथाभूतमित्यर्थः । एतेन शोकादिनिवृत्तौ हेतुः सूचितः । यथोक्तं भगवता पराशरेण ' यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् । तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः'[वि. पु. १।१७।६६ ] इति । शुभाशुभशब्दयोर्मङ्गलतदितरमात्रविषयतया प्रयोगेऽपि मङ्गलत्वाद्याकारतापि पुण्याद्याकाररूपत्वेनैवेति तन्निषेधे तात्पर्यम् । तत्र पापस्य दूरनिरस्तत्वात् दृष्टान्तार्थं तदुपादानमित्यभिप्रायेणाह पापवत्पुण्यस्यापीति । स्वर्गादिहेतोः पुण्यस्य विधिविषयस्यापि तत्साधनत्ववेषेण त्याज्यत्वे हेतुमाह बन्धहेतुत्वाविशेषादिति । एतेन स्वर्गादिहेतोः पुण्यस्यापि मुमुक्षवपेक्षया पापत्वमेवेति सूचितम् । शास्त्रवेद्यमनिष्टसाधनं हि पापम् । श्रुतिश्च— "न सुकृतं न दुष्कृतम्" इत्युक्त्वा "सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्ते" [ छां. उ. ८।४।१] इति निगमनेन सुकृतस्यापि पाप्मतामाह ॥ १७ ॥

आ. मा. भा.— ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १७ ॥

ह. पै. भा.— ॥ १७ ॥

८ वं. ब्र. गि.— एतदेवोदासीनत्वं विवृण्वन्नाह— यो नेति । प्रियं प्राप्य न हृष्यति, अप्रियं प्राप्य च न द्वेष्टि, तथा प्रियनाशे सति न शोचति, अप्राप्तं च प्रियं न काङ्क्षति, अत उदासीनत्वाच्छुभाशुभयोर्विहितनिषिद्धयोः परित्यागी यः स भक्तो मे प्रियः ॥ १७ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च यो न हृष्यति न द्वेष्टि च । परस्य दुःखं सुखं वा दृष्ट्वा प्राकृतवत् धनादिव्ययेऽपि न शोचति । न च तत्काङ्क्षति स्वभोगार्थं 'भगवानेव प्रभुः सर्वं विदधाति, निजेच्छातः करिष्यति' इति भावेन न प्रार्थयते, चिन्तां वा न करोतीति । शुभाशुभपरित्यागी यः स भक्तिमान्मे प्रियः ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— यो नेति । यः लौकिकप्रियाप्त्या न हृष्यति, तथैवाप्रियादिना न द्वेष्टि; तथाच सेवार्थवस्तुनाशे न शोचति, न तदाकाङ्क्षति । शुभाशुभे स्वर्गनरकादिरूपे त्यजति । सर्वत्र भगवदिच्छां ज्ञात्वा लीलात्वेन व्यवहरतीत्यर्थः । एतादृशो यो भक्तिमान् भक्तियुक्तः स मे प्रियः ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— एतमेव श्लोकं व्याचष्टे त्रिभिः श्लोकैः— यो नेति । इष्टलाभे सति न हृष्यति, अनिष्टप्राप्तौ न द्वेष्टि, इष्टवियोगे सति न शोचति, इष्टसंयोगमनिष्टपरिहारं वा न काङ्क्षति, अनपेक्षत्वात् । शुभं कल्याणं पुण्यं च अशुभममङ्गलं पापं च ते उभे परित्यक्तुं शीलमस्य स शुभाशुभपरित्यागी । एतेन शुचिर्व्याख्यातम् । भक्तिमान् भक्तौ सततोद्युक्त इति दक्ष इत्यर्थः ॥ १७ ॥

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥ १८ ॥

---

१ सम इति । अत्र वामनः—

सर्वत्र पश्यति समं भगवत्स्वरूपं योऽसौ कथं समवगच्छति शत्रुमित्रे ? ।
मानं तदन्यमपि वाथ, न चेत्तदास्य देवस्तयोः कथमिवात्र समत्वमाह ? ॥—

**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी[1] सन्तुष्टो येन केनचित् ।**
**अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥**

१ शां. भा.— **सम** इति । समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः पूजापरिभवयोः शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सर्वत्र च सङ्गवर्जितः ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'अद्वेष्टा' [ १२ । १३ ] इत्यादिना द्वेषादिविशेषाभाव उक्तः, सम्प्रति सर्वत्रैवाविकृतचित्तत्वमुच्यते । सर्वत्र चेतने स्याादावचेतने च चन्दनादावित्यर्थः ॥ १८ ॥

१ शां. भा.— किञ्च— तुल्यनिन्दास्तुतिः निन्दा च स्तुतिश्च निन्दास्तुती, ते तुल्ये यस्य स तुल्यनिन्दास्तुतिः, मौनी मौनवान्संयतवाक्; सन्तुष्टो येनकेनचिच्छरीरस्थितिहेतुमात्रेण । तथा चोक्तम्— "येनकेनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः । यत्रक्वचनशायी स्यात्तं देवा ब्राह्मणं विदुः" [ म. भा. १२।२४५।१२ ] इति । किञ्चानिकेतो निकेत आश्रयो निवासो नियतो न विद्यते यस्य सोऽनिकेतः, नागार इत्यादिस्मृत्यन्तरात् । स्थिरमतिः स्थिरा परमार्थवस्तुविषया मतिर्यस्य स स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥ १९ ॥

आ. शां. व्या.— वाग्यमत्वादिविशेषणमपि ज्ञाननिष्ठस्यास्तीत्याह- **किञ्चेति** । निन्दा दोषसङ्कीर्तनं, स्तुतिर्गुणगणनम् । देहस्थितिमात्रफलेनान्नादिना ज्ञानिनः सन्तुष्टत्वे स्मृतिं प्रमाणयति— **तथा चेति** । नियतनिवासराहित्यमपि ज्ञानवतो विशेषणमित्याह- **किञ्चेति** । 'न कुड्यां नोदके सङ्गो न चैले न त्रिपुष्करे । नागारे नाऽऽसने नान्ने यस्य वै मोक्षवित्तु सः' इति स्मृतिमुक्तेऽर्थे प्रमाणयति— **नेत्यादिना** । पुनःपुनर्भक्तिग्रहणमपवर्गमार्गस्य परमार्थज्ञानस्योपायत्वार्थम् ॥ १९ ॥

---

—शङ्कां विनाशयितुमेवमुदीयमानां शीतोष्णदुःखसुखयोरपि साम्यमत्र ।
वक्त्यच्युतः पिशुनयन्भवति प्रतीतिः प्रारब्धधर्मफलतः खलु तादृशीति ॥
प्रत्येति यद्यपि न धीः सुखदुःखभावौ भोगस्तयोर्भवति दैवबलात्तथापि ।
भक्तस्तु तत्र मनुते समतामभीक्ष्णं प्रारब्धनाशमुभयत्र समीक्षमाणः ॥
अन्येषां विषयासङ्गान्नेदृशी समता भवेत् । पार्थ ! भक्तस्तु निस्सङ्गो भृशं भर्जितवासनः ॥— **अविगीता** ।

१ मौनीत्यस्याशयमाह **वामनः**—
निन्दां स्तुतिं वाऽन्यकृतां स्वकीयां त्यक्ताभिमानो मनुते समानाम् ।
तथा परेषामपि नैव निन्दां जातु स्तुतिं वा कुरुते स मौनी ॥
स्वरूप एव प्रविलीनचेता यो देहनिर्वाहकृतेऽपि किञ्चित् ।
न वक्ति तुष्टो भगवत्कथाभिर्मौनीति तं निर्दिशतीह देवः ॥— इति ।

चतुर्थचरणं चैवमुपपादयति स एव—
अव्यक्तसक्तेष्वपि सङ्गतानि भक्तेष्विवोक्तानि विशेषणानि ।
अतो विशिष्याभिदधाति देवः प्रियो नरो भक्तियुतो ममेति ॥— इति ।

'अनिकेतस्थितिः' ( प. हं.उ.४) इत्यस्य व्याख्यायां **शङ्करानन्दाः**—निकेतो नीडमाश्रयो गृहमिति पर्यायः स्वनिर्मितगृहव्यतिरिक्तं शून्यागारदेवायतनादिकं स्थानं यस्य सोऽनिकेतस्थितिः । 'ये त्वनिकेतस्थितिरनियतस्थितिरिति व्याचक्षते, तत्पक्षे तु नियतं नियमनहेतुः स्वकृतादिकमिति व्याख्येयम्, न तु नित्यम् । न च तस्यानुदिनं गमनम्, प्रधानविरोधात् । 'कीटवत्पर्यटेद्भूमौ' इति स्मृतिस्तु कुतश्चित्पतितवंश्यानुश्रवणानधिकारिपरमहंसपरत्वेन व्याख्येया; अपरमहंसविषयत्वेन वा ' इत्याहुः ।

अनिकेतो गृहादिषु मनोऽभिष्वङ्गरहित इति **नव्यकल्पितोऽर्थस्तु न युक्तः**, लक्षणापत्तेः । यत्तु-अनिकेतपदस्य गृहादित्यागो नार्थ इत्यादि, तदनुक्तोपालम्भमात्रम्, प्राचां तथा व्याख्यानाभावात् । तस्य अविद्यमानगृह इति धात्वर्थ इति त्वनध्ययनपाण्डित्यम् । फलाशैव त्याज्या, न कदाचिदपि कर्माणि त्याज्यानि, इत्यविचलो गीतासिद्धान्त इत्येवमादि च 'तस्य कार्यं न विद्यते' ( ३।१७ ) 'सर्वं कर्म ज्ञाने परिसमाप्यते' ( ४।३३ ) इत्यादौ विमृष्टप्रायमिति नेह प्रपञ्च्यते । —**अविगीता** ।

**३ रा. भा.**— 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' [ १२।१३ ] इत्यादिना शत्रुमित्रादिषु द्वेषादिरहितत्वमुक्तम्, अत्र तेषु सन्निहितेष्वपि समचित्तत्वं ततोऽप्यतिरिक्तो विशेष उच्यते । आत्मनि स्थिरमतित्वेन निकेतनादिष्वसक्त इत्यनिकेतः । तत एव मानापमानादिष्वपि समः; य एवम्भूतो भक्तिमान्, स मे प्रियः ॥ १८ ॥ १९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'समः शत्रौ च' इत्यादिना श्लोकद्वयेन बहुविधं सहेतुकं साम्यमुच्यते; तत्र पुनरुक्तिमाशङ्क्य परिहरति **अद्वेष्टेति** । सन्निहितस्वरूपमानावमानादिद्वन्द्वान्तरसहपाठवशादत्र शत्रुमित्रयोरपि सन्निहितयोर्विवक्षा । सन्निधिर्हि विकारमतिशयेन जनयति । **ततोऽप्यतिरिक्त** इति दूरस्थासन्नसाधारणात् अद्वेषमात्रादतिरिक्त इत्यर्थः । क्वचिदपि सङ्गवर्जितत्वाच्छीतोष्णादिषु समत्वम् । निन्दास्तुत्योः फलभूतामर्षानुरागादिरहितत्वान्निष्फलत्वविशेषेण तुल्यत्वम् । 'मौनी' इति नात्र मननं विवक्षितम्, 'स्थिरमतिः' इत्यनेनैव सिद्धत्वात्; मुनिर्मननशीलः, तस्य भावो मौनमित्यप्रसिद्धार्थता च स्यात्; नापि समस्तशब्दानुच्चारणं, तस्यात्यन्तापेक्षाभावात्, सङ्कीर्तनादिविधेश्च; न च कालविशेषादिनियतमौनव्रतं, तस्योपयुक्तत्वेऽपि पूर्वोत्तरसङ्गत्यभावात्; निन्दन्तं हि निन्दन्ति लौकिकाः, स्तुवन्तं च स्तुवन्ति; ततः प्रसक्तनिन्दास्तोत्रप्रतिक्षेपपरत्वमेवोचितम् । 'सन्तुष्टो येनकेनचित्' इति मौनित्वे हेत्वन्तरपरम्; अन्यथा 'सन्तुष्टः सततं योगी' [ १२।१४ ] इति पूर्वोक्तत्वेन पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । यदृच्छयागतैर्यत्किञ्चिद्द्रव्यैरसन्तुष्टो हि सापेक्षतया स्तुतिपूर्वं कञ्चन याचते, अदातारं च द्विष्यात् । यद्वा अन्यस्तुतितात्पर्येण वा निन्दन्ति । स्थिरमतित्वस्य प्रकरणविशेषितं विषयं दर्शयन् सर्वस्योपरि निर्दिष्टस्य तस्य साक्षात्परम्परया वा पूर्वोक्तसमस्तहेतुत्वं च दर्शयति **आत्मनीति** । निकेतननिषेधस्य क्षेत्रादिनिषेधोपलक्षणतया आदिशब्दः । अत्र 'समः' इति द्वौ परिव्राड्विषयाविति यादवप्रकाशोक्तस्य न लिङ्गं पश्यामः । शत्रुमित्रसाम्यादिगुणानां मुमुक्षौ गृहस्थेऽप्यवश्यम्भावादनिकेतत्वस्य च ' न शब्दशास्त्राभिरतस्य मोक्षो नचापि रम्यावसथप्रियस्य । न भोजनाच्छादनतत्परस्य न लोकचित्तग्रहणे रतस्य ॥ एकान्तशीलस्य दृढव्रतस्य पञ्चेन्द्रियाप्रीतिनिवर्तकस्य । अध्यात्मविद्यारतमानसस्य मोक्षो ध्रुवो नित्यमहिंसकस्य [ वा. स्मृ. १० । ७ आ. स्मृ. १० । ६; ७ ] इत्यादिन्यायेन निस्सङ्गतयाऽपि निर्वाहात्, गृहस्थादिषु निकेतसद्भावनिषेधस्यानुपकारकत्वात्, तत्सद्भावस्य क्वचिद्योगाद्युपकारकत्वसम्भावनया च तत्सङ्गमात्रमेव निषेध्यतया विवक्षितमिति दर्शयितुं **असक्त** इत्युक्तम् । अत एव ' अद्वेष्टा ' [ १२।१३ ] इत्यादीनां सर्वेषामप्यक्षरोपासकसन्यासिविषयत्वं **शङ्करोक्तं** निरस्तम् । क्वचित्सक्तस्य हि स्वरूपतः सुखत्वरहितैर्मानादिभिः प्रीत्यादिकम्; अतः क्वचिदपि सङ्गाभावान्मानादिषु समत्वमित्याह— **तत एवेति** पूर्वश्लोकेष्विवात्रापि यत्तच्छब्दाध्याहारेणोद्देश्यविधेयांशविभागं दर्शयति **य एवम्भूतो भक्तिमान्स मे प्रिय इति** ॥ १८ ॥ १९ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १८ ॥ १९ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १८ ॥ १९ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ॥ १८ ॥ तुल्येति । अनिकेतोऽगृहः ॥ १९ ॥

**८ वें. व्र. गि.**— ' समदुःखसुखः ' [ १२।१३ ] इति पूर्वोक्तस्यैवायं प्रपञ्चः । सङ्गविवर्जितः क्वचिदप्यासक्तिरहितः । स्पष्टव्याख्यानमन्यत् ॥१८॥ **तुल्येति** । मौनी संयतवाक् । ननु शरीरयात्रार्थं वाग्व्यापारः स्यादेव; नेत्याह— **सन्तुष्ट** इति । स्वयं यत्नं विना बलवत्प्रारब्धोपनीतेन शरीरस्थितिमात्रहेतुना येनकेनाप्यन्नजलादिना सन्तुष्टः । किञ्च अनिकेतो नियतनिवासरहितः । स्पष्टमन्यत् । अत्र च पुनः पुनर्भक्तेरुपादानमेवंविधभक्तेर्मुक्तिं प्रति मुख्यकारणत्वं द्रढयितुम् । एतच्च ' अद्वेष्टा ' [ १२।१३ ] इत्यादिकं जीवन्मुक्तानां स्वभावसिद्धं लक्षणम् । तथोक्तं वार्तिके— ' उत्पन्नात्मावबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः । अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपतः ' इति एतदेव च धर्मजातं द्वितीयाध्याये पुरा स्थितप्रज्ञलक्षणरूपेणोक्तं मुमुक्षुभिरप्यवश्यं सम्पाद्यमिति द्रष्टव्यम् ॥ १९ ॥

**९ व० त० दी०**— तथा सम इति । शत्रौ मित्रे च मानापमानयोश्च शीतादिषु च स्वयं समः, सेव्ये स्वामिनि श्रीभगवति तु शीतादिकं प्रेम्णा भावयमानस्तत्तत्प्रतीकारसेवां कुर्यादेवेत्याशयेन पुनरुक्तं; अनेवम्भूतानां तु सङ्गेन वर्जितः । एवं भावयतां सङ्गं कुर्वाणः स्यादेव, ' येऽन्योन्यतो भागवताः ' इत्यादिवाक्यात् ॥ १८ ॥

तुल्येति । स्वनिन्दास्तुती तुल्ये यस्य, न भगवत इति(?) । तथा मौनी संयतवाक् । स्वयं च येनकेनचित् सन्तुष्टः, भगवति तु तेनैवोपभोगं साधयमानः । अनिकेत इति ' तादृशस्य गृहस्थानं विनाशकं ' इति सूचयति । एवं बाधसम्भावनयाऽनिकेतत्वमुक्तम् । तत्रापि ' बाधसम्भावनायां तु नैकान्ते वास इष्यते ' इत्याशयेनास्य विष्णोर्निकेतने प्रतिमायां मन्दिरे वा भगवदीयेषु तन्निवासेषु वा स्थिरा मतिर्यस्येत्येकं वा पदम् ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— सम इति। शत्रौ द्वेषकर्तरि, मित्रे अनुरागवति समः, स्वतो द्वेषानुरागरहित इत्यर्थः। तथा मानापमानयोरपि समः। शीतोष्णयोर्दैहिकयोः सुखदुःखयोः पुत्रजन्ममरणादिरूपयोः समः। सङ्गवर्जितः लौकिकासक्तिरहितः ॥ १८ ॥ तुल्ये निन्दास्तुती यस्य, निन्दितो न व्यथति, स्तुतो न हृष्यति; स्वयं च न कञ्चन निन्दति न च स्तौति। मौनी वशवाक्। येनकेनचिद्भगवदिच्छाप्राप्तेन सन्तुष्टः। अनिकेतः गृहाद्यासक्तिरहितः। स्थिरमतिः, मयीत्यर्थः। एतादृशो यो भक्तिमान् भक्तियुक्तो नरः स मे प्रियः, प्रियो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— उदासीनत्वं व्याचष्टे— सम इति। गतव्यथत्वमुपपादयति सङ्गवर्जित इति। सङ्गी हि व्यथते, न तु तद्वर्जित इत्यर्थः ॥ १८ ॥ 'सर्वारम्भपरित्यागी' इत्येतद्व्याचष्टे— तुल्येति। शिष्टेषु विगीतो न स्यामिति वा, लोकेषु प्रख्यातः स्यामिति वा, इदं मे भूयादिति वा कामयमानः किञ्चिदारभते न त्वयं; तुल्यनिन्दास्तुतित्वात्सन्तुष्टत्वाच्च। मौनी सन्न्यासी, अतएवानिकेतो गृहशून्यः कुटीमपि वासार्थं नारभते। यतः स्थिरमतिः स्थितप्रज्ञो भक्तिमान्योगी मे मम प्रियो नरः पुरुषः ॥ १९ ॥

धर्म्यामृतानुष्ठानस्य फलश्रुतिः।

## ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
## श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ २० ॥

### इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

१ अत्र वामनः—

जडं जगदिदं सर्वं विनाशित्वान्मृतं मतम्। तन्नास्ति यत्र तज्ज्ञेयं चिन्मात्रममृतं परम् ॥
दृश्यं जडं जगदिदं चित्स्वरूपे न विद्यते। इत्युक्तं 'न च मत्स्थानि भूतानी' त्यत्र चक्रिणा (९।५) ॥
अतश्चिदमृतं तच्च सगुणत्वाद्विशिष्यते। धर्म्यमित्यनपेतार्थे तद्धितप्रत्यये यति (अष्टा. ४।४।९२) ॥
तस्माच्चिदेकममृतं व्यक्तं तज्जगदात्मना। भक्ता धर्म्यामृतमिति यथोक्तमिह सेवते ॥
मायागुणातिगं यत्तु चैतन्यं शुद्धमद्वयम्। अपेतं सर्वधर्मेभ्यो न वाच्यं धर्म्यमित्यदः ॥
जडाभासं परित्यज्य मायांशं, तत्प्रकाशकम्। चैतन्यं निर्गुणासक्ताः केवलं पर्युपासते ॥
जडं शरावश्चिन्मृत्सा जडभूमिश्चिदम्बुधिः। जडमाभरणं चित्तु हाटकं हेयमत्र किम्? ॥
इत्थं समालोचयन्तश्चिद्रूपमाखिलं जगत्। भक्तास्त्वनन्ययोगेन ध्यायन्तः पर्युपासते ॥
अध्यायेऽस्मिन्नेतदेव प्रोक्तं धर्म्यामृतं मया। इति वक्ति व्यक्तमत्र भक्तकल्पद्रुमो हरिः ॥
तथा ह्युपक्रमे प्रश्नः सगुणं निर्गुणं च ये। उपासते तेषु के वाऽधिका? इति किरीटिनः ॥
अव्यक्तोपासकेभ्योऽपि सगुणोपासका मम। सम्मताश्चाधिकाश्चेति तत्रोत्तरमपि प्रभोः ॥
अग्रेऽप्यनन्ययोगेन मां ध्यायन्त उपासते। (१२।६) इत्यत्र देवः सगुणोपासकानववर्णत ॥
मय्येव मन आधत्स्व बुद्धिं च सगुणे मयि। निवेशयेति सगुणभक्तिमेवोपदिष्टवान् ॥ (१२।८)
अथैतदप्यशक्तोऽसीत्यत्र मद्योगमाश्रितः। (१२।११) इति सूचितवान्व्यक्तं सगुणोपासनं पुनः ॥
श्रेयो हीत्यत्र च ज्ञानाच्छ्रेयो ध्यानं यदुक्तवान्। (१२।१२) तदभिप्रेत्य सगुणोपासनामेव नान्यथा ॥
तदग्रे लक्षणान्याह भक्तस्य ज्ञानिनः क्रमात्। एवं धर्म्यामृतं सम्यगध्यायेऽत्र निरूपितम् ॥
अव्यक्तोपासनमपि वर्णितं क्वचिदन्तरा। नायकोत्कर्षसिद्ध्यर्थं प्रतिनायककीर्तिवत् ॥
अथान्यथोन्नयिष्यन्ति तात्पर्यमिह केचन। यदि तद्वारणायाह 'यथोक्त' मिति सर्ववित् ॥ — इति व्याचष्टे।

'अस्मिञ्श्लोके 'भगवद्भक्ताः कर्मयोगिनो वर्णिताः' इति नव्याः। तन्न, इदं यथोक्तं पर्युपासत इत्यस्मिन्नध्याये प्रतिपादितभक्तियोगपराणामेवात्र परामर्शस्य स्पष्टतरत्वात्, कर्मयोगिनामप्रकृतत्वाच्च। न चात्रोपवर्णितो भक्तियोगः कर्मसमुच्चित इति भ्रमितव्यम्, 'सर्वकर्माणि सन्न्यस्य' (१२।६) 'सर्वारम्भपरित्यागी' (१२।१६) 'शुभाशुभपरित्यागी' (१२।१७) इति तत्र तत्र कर्मत्यागस्यैवोत्कीर्तनादित्यलं तुषावघातेन।

"त्वयैव दत्तोऽपहृतस्त्वयैव सुधाकरो मे तनयो गुणाढ्यः।
गीते! न चेत्तं प्रतिदास्यसि त्वं दत्तापहर्त्रीत्ययशः स्थिरं ते ॥" — अविगीता।

**१ शां. भा.**— 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' [ १२।१३ ] इत्यादिनाऽक्षरस्योपासकानां निवृत्तसर्वैषणानां सन्न्यासिनां परमार्थज्ञाननिष्ठानां धर्मजातं प्रक्रान्तमुपसंह्रियते— ये तु सन्न्यासिनो धर्म्यामृतं धर्मादनपेतं धर्म्यं च तदमृतं च तदमृतत्वहेतुत्वात् । इदं यथोक्तं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादिना पर्युपासतेऽनुतिष्ठन्ति श्रद्दधानाः सन्तो मत्परमा यथोक्तोऽहमक्षरात्मा परमो निरतिशया गतिर्येषां ते मत्परमा मद्भक्ताश्चोत्तमां परमार्थज्ञानलक्षणां भक्तिमाश्रितास्तेऽतीव मे प्रियाः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थं' [ ७ । १७ ] इति यत्सूचितं तद्व्याख्यायेहोपसंहृतं भक्तास्तेऽतीव मे प्रिया इति । यस्माद्धर्म्यामृतमिदं यथोक्तमनुतिष्ठन्भगवतो विष्णोः परमेश्वरस्यातीव मे प्रियो भवति, तस्मादिदं धर्म्यामृतं मुमुक्षुणा यत्नतोऽनुष्ठेयं; विष्णोः प्रियं परं धाम जिगमिषुणेति वाक्यार्थः ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ भगवद्गीताभाष्ये भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— 'अद्वेष्टा' [ १२।१३ ] इत्यादिधर्मजातं ज्ञानवतो लक्षणमुक्तं, तदुपपादितमनूद्योपसंहारश्लोकमवतारयति— **अद्वेष्टे**त्यादिना । चतुर्थपादस्य तात्पर्यमाह— **प्रियो ही**ति । यद्यपि यथोक्तं धर्मजातं ज्ञानवतो लक्षणं तथापि जिज्ञासूनां ज्ञानोपायत्वेन यत्नादनुष्ठेयमिति वाक्यार्थमुपसंहरति— **यस्मा**दिति । तदेवं सोपाधिकाभिध्यानपरिपाकान्निरुपाधिकमनुसन्दधानस्य 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्यादिधर्मविशिष्टस्य मुख्यस्याधिकारिणः श्रवणाद्यावर्तयतस्तत्त्वसाक्षात्कारसम्भवात्ततो मुक्त्युपपत्तेस्तद्धेतुवाक्यार्थधीविषयत्वयोग्यस्तत्पदार्थोऽनुसन्धेय इति सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.**—अस्मादात्मनिष्ठान्मद्भक्तियोगनिष्ठस्य श्रैष्ठ्यं प्रतिपादयन् यथोपक्रममुपसंहरति— ये त्विति । धर्म्यं चामृतं चेति धर्म्यामृतं, ये तु प्राप्यसमं प्रापकं भक्तियोगं, यथोक्तं 'मय्यावेश्य मनो ये माम्' [ १२।२ ] इत्यादिनोक्तेन प्रकारेण उपासते, ते भक्ताः अतितरां मम प्रियाः ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अध्यायोपक्रमे प्रश्नपूर्वकं भक्तियोगनिष्ठस्य अक्षरनिष्ठाच्छ्रैष्ठ्यं ह्युक्तम्; भक्तियोगाशक्तिप्रसङ्गेन अक्षरयोगस्य परम्परया भक्तियोगसाधनत्वं तदपेक्षितगुणाश्चोक्ताः; अथाध्यायारम्भगतप्रश्नस्योत्तरं प्रपञ्चितं निगमयतीत्याह— **अस्मा**दिति । 'मय्यावेश्य मनो ये माम्' [ १२।२ ] इति श्लोकोऽयं चैकार्थ एव ह्युपलभ्यत इत्यभिप्रायेण **यथोपक्रम**मित्युक्तम् । तत्र 'नित्ययुक्ताः' [ १२।२ ] इत्युक्त एवार्थोऽत्र 'मत्परमाः' इत्युच्यते । तत्र 'श्रद्धया परयोपेताः' [ १२।२ ] इत्युक्तम् ; अत्र तु 'श्रद्दधानाः' इति । तत्र 'ते मे युक्ततमा मताः' [१२।२] इत्युक्तम् ; अत्र तु तत्फलितत्वेन 'भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः' इत्युच्यते । अतः स एवार्थोऽत्रोपसंह्रियते । अस्य चाधिकार्यन्तरपरत्वे तुशब्दविशेषणादयो हेतवः पूर्वमेवोक्ताः । अनेनैव च श्लोकेन मध्यमषट्कप्रधानार्थभक्तियोगोपसंहारश्च कृतो भवति । 'धर्म्यामृतम्' इत्यनेन विवक्षितमाकारद्वयं वक्तुं तदुपयुक्तं कर्मधारयत्वं दर्शयति— **धर्म्यं चामृतं चे**ति । धर्मादनपेतं धर्म्यम् । अतोऽत्र धर्म्यशब्देन साधनत्ववचनादमृतशब्देनामृतसाधनत्वस्याविवक्षितत्वात्फलवदेव भोग्यत्वं विवक्षितमित्याह **ये तु प्राप्यसम**मिति । **यथोक्त**मिति व्याख्येयपदोपादानम् । प्रसङ्गागतकर्मयोगोक्तेर्व्युदासाय **मय्यावेश्ये**त्यादिकमुक्तम् । पूर्वोक्तानामन्येषामपि भक्तत्वमस्तीति तद्व्यवच्छेदाय **ते भक्ता** इति विशेष्यते । पूर्वेषु प्रियत्वमुदारत्वप्रयुक्तम्; अस्मिंस्तु स्वाभिमतान्तरात्मत्वप्रयुक्तम् । अतो ह्यतीव प्रियत्वमिहोक्तम् । उक्तं च प्रागेव 'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ ७।१८ ] इत्याद्युपक्रम्य 'स महात्मा सुदुर्लभः' [ ७।१९ ] इति । एतेन 'अद्वेष्टा' [ १२।१३ ] इत्यादिना प्रक्रान्तं धर्मजातं 'ये तु धर्म्यामृतम्' इति श्लोकेनोपसंह्रियत इति परोक्तं निरस्तम् , भिन्नाधिकारविषयत्वस्य व्यञ्जितत्वात् ॥ २० ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीगीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

५ आ. मा. भा.— पिण्डीकृत्योपसंहरति– ये तु धर्म्यामृतमिति। धर्मो विष्णुस्तद्विषयं धर्म्यम् । धर्म्यम्, अमृतं मृत्यादिसंसारनाशकं चेति धर्म्यामृतम् । श्रदास्तिक्यम् , 'श्रन्नामास्तिक्यमुच्यते' इत्यभिधानम् । तद्धानाः श्रद्धानाः ॥ २० ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'ये तु' इत्युक्तमेव किमर्थमुच्यते? इत्यत आह— पिण्डीकृत्येति। धर्म्यामृतमित्येतदप्रतीतार्थं व्याख्यातुं धर्मशब्दं तावद्व्याख्याति— धर्म इति। तद्विषयं तदुपासनाङ्गत्वात् धर्मादनपेतं धर्म्यं, धर्मश्च विष्णुः। नादृष्टं प्रवृत्तस्यासम्भवात् । निवृत्तस्यैतत्साधनत्वात् । इदानीममृतशब्दं व्याकुर्वन् धर्म्यामृतमिति कर्मधारयोऽयमित्याह– धर्म्यमिति। न मृतं अमृतम्, नञ् विरुद्धार्थेऽमृतशब्दश्चोपलक्षक इत्यर्थः। श्रद्धाना इत्येतद्व्युत्पादयति— श्रदिति। श्रच्छब्दस्योपसङ्ख्यानमित्युपसर्गत्वेनोपसङ्ख्यायमानस्याप्यस्य सत्त्ववाचित्वमविरुद्धम्, उपसर्गत्वस्य कार्यविशेषार्थत्वात् ॥ २० ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादविरचितस्य गीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.— ये त्विति। धर्मादनपेतं धर्म्यममृतमिवोक्तमिदम् । व्याघ्रादित्वात्समासः ॥२०॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथाध्यायार्थमुपसंहरति— ये त्विति। ये तु मुमुक्षवः श्रद्दधाना मत्परमाश्च सन्तः 'मय्यावेश्य मनो ये माम्' [ १२। २ ] इत्यादिना यथोक्तमुक्तप्रकारमिदं धर्मामृतम्, प्रथमतः सगुणब्रह्मनिष्ठारूपो धर्मः स एवामृतम् 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्' [ १२।१३ ] इत्यादिनोक्तनिर्गुणनिष्ठाद्वारेणामृतत्वसाधनत्वात् । 'धर्म्यामृतम्' इति पाठोऽप्ययमेवार्थः। पर्युपासते अनुतिष्ठन्ति, ते भक्ताः ज्ञानरूपमक्षरपरब्रह्मात्मकमद्भजनं कुर्वाणाः अतीव मे प्रियाः 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' [ ७।१७ ] इत्युक्तेरिति भावः। तदेवं मुक्तिहेतुमहावाक्यान्वयबोधयोग्यस्तत्पदार्थोऽनुसन्धेय इति मध्यमषट्केन सिद्धम् ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— एवं मर्यादायामक्षरात्मनिष्ठात्स्वपुष्टिभक्तियोगनिष्ठस्यातीव प्रियत्वं प्रतिपादयन्नुक्तमुपसंहरति– ये त्विति । ये दैवजीवा इदमेव सेवाधर्मादनपेतमुक्तममृतं यथावत्पर्युपासते निषेवन्ते श्रद्दधाना मदाश्रयास्ते भक्ता अतीव मे प्रिया इति । तथा भवेति भावः ॥ २० ॥

अव्यक्तोपासनामार्गे दुःखं मर्यादयाऽपि हि । सुखं पुष्ट्या कृष्णभक्तिमार्गे सम्यगुदीरितम् ॥ १ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— उक्तभक्तिरूपमुपसंहरति— ये त्विति। य इति सामान्योक्त्या नात्र वर्णादिनियमः किन्तु ये केचन भाग्यवन्त इदं पुरत उक्तं धर्म्यामृतम् अक्षयं मत्प्रसादात्मकफलरूपं यथोक्तं श्रद्धानाः मदुक्तं सत्यमिति ज्ञानवन्तो मत्परमाः मदेकनिष्ठाः सन्तः पर्युपासते मां सेवन्ते ते भक्ता मे अतीव स्वात्मनः प्रिया भवन्तीत्यर्थः। 'नाऽहमात्मानमाशासे' [भाग. ९।४।६४] इतिवत् ॥ २० ॥

एवमर्जुनमासिच्य भक्तियोगामृतोक्तिभिः। सर्वसंशयमाच्छिद्य लोकोद्धारपरो हरिः ॥ १ ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— मुक्तलक्षणान्येव मुमुक्षोः साधनत्वेन विधत्ते— ये त्विति। ये मुमुक्षवः तु पूर्वोक्तमुक्तापेक्षया विलक्षणाः, इदं 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' [ १२।१३ ] इत्यादिना ग्रन्थेन प्रतिपादितं धर्मजातं तदेवा-

मृतस्य मोक्षस्य साधनत्वादमृतं धर्मामृतं यथोक्तमुक्तानतिक्रमेण पर्युपासते साकल्येनानुतिष्ठन्ति। श्रद्दधानाः श्रद्धायुक्ताः मत्परमाः अहमेव भगवान्वासुदेवोऽक्षराख्यः सर्वविशेषणरहितः परमानन्दरूपः परमः पार्यन्तिकः प्राप्यो येषां ते मत्परमाः भक्ताः शान्तिदान्त्यादिमन्तो मद्भजनशीलाः, तेऽतीव मे मम प्रियाः। ज्ञानी तु भगवत आत्मैव, परिशेषात् अतीव प्रियत्वं भक्तेष्वेव पर्यवसन्नम्। यो मुक्तानां स्वाभाविको धर्मः स मुमुक्षुणा यत्नतोऽनुष्ठेय इत्यर्थः। यथोक्तं वार्तिके 'उत्पन्नात्मप्रबोधस्य ह्यद्वेष्टृत्वादयो गुणाः। अयत्नतो भवन्त्येव न तु साधनरूपिणः' इति। समाप्त उपासनाप्रधानस्तत्पदार्थविवेकः। अतःपरं वाक्यार्थविचारो जीवब्रह्माभेदप्रतिपादको भविष्यति ॥ २० ॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे श्रीमद्भगवद्गीतार्थ-
प्रकाशे द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

---

# श्रीमद्भगवद्गीताया द्वादशाध्यायस्य माहात्म्यम्।

श्रीमहादेव उवाच—

अस्ति कोल्हापुरं नाम नगरं दक्षिणापथे।
सुखानां सदनं सिद्धसाधूनां सिद्धिसम्भवम् ॥ १ ॥
परशक्तेः परं पीठं सर्वदेवनिषेवितम्।
पुराणेषु प्रसिद्धं यद्भुक्तिमुक्तिप्रदायकम् ॥ २ ॥
कोटिशस्तत्र तीर्थानि शिवलिङ्गानि कोटिशः।
आस्ते रुद्रगया यत्र विशालं लोकविश्रुतम् ॥ ३ ॥
तुङ्गाचलमहावप्रगोपुरोल्लासितोरणम्।
प्रासादशिखरे यत्र तुङ्गं च कनकध्वजम् ॥ ४ ॥
सोमकान्तमहासौधवलभीपङ्क्तिशोभितम्।
जालरन्ध्रोद्गिरद्धूपधूमामोदितदिक्तटम् ॥ ५ ॥
चलत्पताकविस्तीर्णच्छायदेवालयान्वितम्।
चतुरैः सुन्दरैः स्निग्धैः श्रीमद्भिः शुचिमानसैः ॥ ६ ॥
अधिष्ठितं सदाचारैः पुरुषैर्भूरिभूषणैः।
कुरङ्गनयनाश्चन्द्रवदनाः कुटिलालकाः ॥ ७ ॥
उत्फुल्लचम्पकच्छायपीनतुङ्गपयोधराः।
कृशमध्या निम्ननाभिवलित्रयविराजिताः ॥ ८ ॥
विशालजघनाश्चारुजङ्घायुग्मा वराङ्गयः।
वाचालमेखलादामनिक्वणन्मणिनूपुराः ॥ ९ ॥
रणत्कङ्कणहस्ताब्जस्फुरत्करजरश्मयः।
वसन्ति प्रमदा यत्र मादयन्त्यो मुनीनपि ॥ १० ॥
समस्तवस्तुसंयुक्तं सर्वभोगसमन्वितम्।
मङ्गलैः सकलैर्युक्तं महालक्ष्मीसमन्वितम् ॥ ११ ॥
तत्रागच्छत्पुमान्कश्चिद्युवा गौरः सुलोचनः।
कम्बुकण्ठः पृथुस्कन्धो महावक्षा महाभुजः ॥ १२ ॥
समस्तलक्षणोपेतो गौरः सर्वाङ्गसुन्दरः।
प्रविश्य नगरं पश्यञ्छोभां सौधेषु सर्वतः ॥ १३ ॥
उत्कण्ठितमना द्रष्टुं महालक्ष्मीं सुरेश्वरीम्।
मणिकण्ठे कृतस्नानः सम्पन्नपितृतर्पणः ॥
महालक्ष्मीं महामायां नत्वा तुष्टाव भक्तितः ॥ १४ ॥

राजपुत्र उवाच—

जयत्यपारकारुण्या कामदा जगदम्बिका।
कुर्वाणा जगतो जन्म पालनं क्षपणं दृशा ॥ १५ ॥
यया शक्त्या यथादिष्टः परमेष्ठी सृजत्यसौ।
अवष्टभ्य यया शक्त्या पालयत्यच्युतो जगत् ॥ १६ ॥
यया शक्त्या कृतावेशः संहरत्यखिलं हरः।
तां भजे परमां शक्तिं सर्गस्थितिलयोर्जिताम् ॥ १७ ॥
योगिध्येयांघ्रिकमले कमले! कमलालये।
स्वभावान्निखिलान्स्त्वं गृह्णासीन्द्रियगोचरान् ॥ १८ ॥
त्वमेव कल्पनाजालं तत्कल्पं कुरुषे मनः।
इच्छाज्ञानक्रियारूपा परसंवित्स्वरूपिणी ॥ १९ ॥
निष्कला निर्मला नित्या निराकारा निरञ्जना।
निरन्तरा निरातङ्का निरालम्बा निरामया ॥ २० ॥
तवैवं महिमानं हि के वर्णयितुमीशते।
वन्दे निर्भिन्नषट्चक्रां द्वादशान्तर्विहारिणीम् ॥ २१ ॥
अनाहतध्वनिमयीं बिन्दुनादकलात्मिकाम्।
मातस्त्वं पूर्णशीतांशुगलत्पीयूषवाहिनी ॥ २२ ॥
पुष्णासि वत्सले! बालान्सनकादीन्दिगम्बरान्।
अनुस्यूता शिवा सा वै जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिषु ॥ २३ ॥
तुरीयायां वर्तमाना दयासूनृतसन्निधिषु।
ददासि प्राणिनां सर्वाः सततं ब्रह्मसम्पदः ॥ २४ ॥
संहृत्य तत्त्वसङ्घातं तुरीयातीतया त्वया।
योगिनां बिम्बतादात्म्यं दीयते निर्विकल्पया ॥ २५ ॥
परां नमामि पश्यन्तीं मध्यमां वैखरीमपि।
रूपाणि देवि! गृह्णासि जगत्सन्त्राणहेतवे ॥ २६ ॥
त्वं ब्राह्मी वैष्णवी त्वं च माहेशी च त्वमम्बिके!।
वाराही त्वं महालक्ष्मीर्नारसिंही त्वमैन्द्रिका ॥ २७ ॥
त्वं कौमारी चण्डिका त्वं लक्ष्मीस्त्वं विश्वपावनी।
सावित्री त्वं जगन्माता शशिनी त्वं च रोहिणी ॥ २८

त्वं स्वाहा त्वं स्वधा त्वं हि त्वं सुधा परमेश्वरी।
चण्डमुण्डभुजादण्डखण्डदोर्दण्डमण्डिते ! ॥ २९ ॥
रक्तबीजगलद्रक्तपानघूर्णितलोचने !।
उन्मत्तमहिषग्रीवोन्मूलनप्रौढदोर्युगे ! ॥ ३० ॥
शुम्भासुरमहादैत्यदारणायाऽऽत्तविक्रमे !।
अनन्तविक्रमे ! तुभ्यं नमस्त्रैलोक्यमातृके ! ॥
भक्तकल्पलते ! मह्यं प्रसीद परमेश्वरि ! ॥ ३१ ॥

श्रीशिव उवाच—

इति तेन स्तुता देवी महालक्ष्मीस्ततः स्वयम्।
निजरूपं समास्थाय पुरुषं प्रत्युवाच तम् ॥ ३२ ॥

श्रीमहालक्ष्मीरुवाच—

राजपुत्र ! प्रसन्नाऽहं वृणीष्व वरमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

राजपुत्र उवाच—

पिता मे धरणीपालो वाजिमेधं महाक्रतुम्।
कुर्वाणो दैवयोगेन रोगाक्रान्तो दिवं ययौ ॥ ३४ ॥
तद्वपुस्तप्ततैलेन शोषयित्वा मया ततः।
स्थापितस्तत्र यागेऽस्मा यथापूर्वमवर्तत ॥ ३५ ॥
अथ क्रान्तमहीचक्रो यूपयोगतुरङ्गमः।
निशीथे बन्धनं छित्वा नीतः केनापि कुत्रचित् ॥ ३६॥
अदृष्ट्वा तं गतं क्वापि निवृत्तेषु जनेष्वहम्।
आमन्त्र्य ऋत्विजः सर्वाञ्छरणं त्वामुपागतः ॥ ३७ ॥
प्रसन्ना यदि देवि ! त्वं तन्मे यागतुरङ्गमः।
दृष्टो भवतु यागोऽसौ सम्पूर्णो जायते यथा ॥ ३८ ॥
आनृण्यं मम तातस्य तेन राज्ञो भविष्यति।
तथा कुरु जगद्धात्रि ! शरणागतवत्सले ! ॥ ३९ ॥

श्रीदेव्युवाच—

मम द्वारे द्विजः सिद्धसमाधिरिति विश्रुतः।
ममाऽऽज्ञया स ते सर्वं कार्यं निष्पादयिष्यति ॥ ४० ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युक्तः श्रीमहालक्ष्म्या ततो राजकुमारकः।
आजगाम मुनिः सिद्धसमाधिर्यत्र तिष्ठति ॥ ४१ ॥
प्रणम्य तस्य पादाब्जं कृताञ्जलिरवस्थितः।
तमुवाच ततो विप्रः प्रहितोऽसि त्वमम्बया ॥
त्वदीप्सितमिदं सर्वं साधयामि विलोकय ॥ ४२ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युक्त्वा त्रिदशान्सर्वानाचकर्ष स मान्त्रिकः।
प्रेक्षत क्षितिपालस्य तनयोऽसौ तदा सुरान् ॥ ४३ ॥
कृताञ्जलिपुटान्देवान्वेपमानकलेवरान्।
अथ तानमरान्सर्वान्सम्बभाषे द्विजोत्तमः ॥ ४४ ॥

सिद्धसमाधिरुवाच—

अमुष्य राजपुत्रस्य वाजी यज्ञाय कल्पितः।
नीतोऽस्ति देवराजेन क्षपायामपहृत्य यः ॥
गीर्वाणास्तूर्णमर्वाणं समानयत मा चिरम् ॥ ४५ ॥

श्रीशिव उवाच—

अथ तस्य मुनेर्वाक्याद्दैवैर्यज्ञतुरङ्गमः।
समर्पितस्ततस्तेन तेऽनुज्ञाता दिवौकसः ॥ ४६ ॥
आकृष्टानमरान्दृष्ट्वा गतं लब्ध्वा तुरङ्गमम्।
महीपतिसुतो नत्वा तं मुनिं वाक्यमब्रवीत् ॥ ४७ ॥

राजपुत्र उवाच—

आश्चर्यमिदमेतत्ते सामर्थ्यमृषिसत्तम !।
कृतमेतत्त्वया विप्र ! त्रिदशाकर्षणं क्षणात् ॥ ४८ ॥
हठादाकृष्य दत्तो मे यज्ञीयोऽयं तुरङ्गमः।
न किञ्चिदपरं यावद्दुष्करं यत्सुरैरपि ॥ ४९ ॥
प्रभविष्यति तत्कर्तुं भवानेव न चापरः।
शृणु विप्र ! महीपालः पिताऽऽसीन्मे बृहद्रथः ॥५०॥
आरब्धहयमेधोऽसौ दैवेन निधनं गतः।
अद्यापि तस्य देहोऽस्ति तप्ततैलेन शोषितः ॥
तस्य सञ्जीवनं भूयः कर्तुमर्हसि सत्तम ! ॥ ५१ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्याकर्ण्य स्मितं कृत्वा स जगाद महामुनिः।
यामस्तत्र पिता यत्र तावको यागमण्डपे ॥ ५२ ॥
अथाऽऽगत्य समं तेन तत्र सिद्धसमाधिना।
पयोऽभिमन्त्र्य निदधे तस्य प्रेतस्य मूर्धनि ॥ ५३ ॥
ततः प्राप नृपः संज्ञामुत्तस्थे वै ददर्श च।
स तं पप्रच्छ विप्रेन्द्रं कोऽसि धर्मेति भूपतिः ॥ ५४ ॥
ततो राजसुतः सर्वं भूपालाय न्यवेदयत्।
स नत्वा ब्राह्मणं राजा तं पुनर्दत्तजीवितम् ॥ ५५ ॥
बभाषे केन पुण्येन त्वयि शक्तिरलौकिकी।
यया मे जीवितं दत्तमाकृष्टाश्च दिवौकसः ॥
यागश्चोद्धरितो विप्र ! येन मे तन्निरूपय ॥ ५६ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युक्तस्तेन विप्रोऽसौ जगाद श्लक्ष्णया गिरा ॥ ५७ ॥

सिद्धसमाधिरुवाच—

गीतानां द्वादशाध्यायं जपाम्यहमतन्द्रितः।
तेन शक्तिरियं राजन्यया प्राप्तोऽसि जीवितम् ॥ ५८ ॥

श्रीशिव उवाच—

एतदाकर्ण्य राजाऽसौ द्वादशाध्यायमुत्तमम्।
पपाठ तस्माद्विप्रर्षेः सकाशाद्ब्राह्मणान्वितः ॥ ५९ ॥
तस्याध्यायस्य माहात्म्यात्ते सर्वे सद्गतिं ययुः।
अन्ये पठित्वा जीवाश्च मुक्तिमापुरहो ! पराम् ॥६०॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताद्वादशाध्यायमाहात्म्यकथनं नाम द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः।

# श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयषट्कश्लोकानामादिवर्णानुक्रमः ।


| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृष्ठं |
|---|---|---|---|
| **अ** | | | |
| अक्षरं ब्रह्म परमं | ८ | ३ | ६९ |
| अक्षराणामकारोऽस्मि | १० | ३३ | २४९ |
| अग्निर्ज्योतिरहश्शुक्लः | ८ | २४ | ११३ |
| अथ चित्तं समाधातुं | १२ | ९ | ३६६ |
| अथवा बहुनैतेन | १० | ४२ | २६१ |
| अथैतदप्यशक्तोऽसि | १२ | ११ | ३६८ |
| अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि | ११ | ४५ | ३२७ |
| अद्वेष्टा सर्वभूतानां | १२ | १३ | ३७४ |
| अधिभूतं क्षरो भावः | ८ | ४ | ७१ |
| अधियज्ञः कथं कोऽत्र | ८ | २ | ६६ |
| अनन्तश्चास्मि नागानां | १० | २९ | २४५ |
| अनन्यचेताः सततं | ८ | १४ | ९६ |
| अनन्याश्चिन्तयन्तो मां | ९ | २२ | १७२ |
| अनपेक्षः शुचिर्दक्षः | १२ | १६ | ३७९ |
| अनादिमध्यान्तमनन्त- | ११ | १९ | २९० |
| अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं | ११ | १६ | २८५ |
| अनेकवक्त्रनयनं | ११ | १० | २७८ |
| अन्तकाले च मामेव | ८ | ५ | ७७ |
| अन्तवत्तु फलं तेषां | ७ | २३ | ४९ |
| अपरेयमितस्त्वन्यां | ७ | ५ | ११ |
| अपि चेत्सुदुराचारः | ९ | ३० | १८८ |
| अभ्यासयोगयुक्तेन | ८ | ८ | ८३ |
| अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि | १२ | १० | ३६७ |
| अमी सर्वे धृतराष्ट्रस्य | ११ | २६ | ३०० |
| अमी हि त्वा सुरसङ्घाः | ११ | २१ | २९५ |
| अवजानन्ति मां मूढाः | ९ | ११ | १५२ |
| अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः | ८ | १८ | १०३ |
| अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तः | ८ | २१ | १०७ |
| अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं | ७ | २४ | ५१ |
| अश्रद्दधानाः पुरुषाः | ९ | ३ | १३४ |
| अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां | १० | २६ | २४४ |
| अहं क्रतुरहं यज्ञः | ९ | १६ | १६२ |
| अहमात्मा गुडाकेश ! | १० | २० | २३४ |
| अहं सर्वस्य प्रभवः | १० | ८ | २१८ |
| अहं हि सर्वयज्ञानां | ९ | २४ | १७७ |
| अहिंसा समता तुष्टिः | १० | ५ | २१० |
| **आ** | | | |
| आख्याहि मे को भवान् | ११ | ३१ | ३०५ |
| आदित्यानामहं विष्णुः | १० | २१ | २३७ |
| आ ब्रह्मभुवनाल्लोकाः | ८ | १६ | १०० |
| आयुधानामहं वज्रं | १० | २८ | २४१ |
| आहुस्त्वामृषयः सर्वे | १० | १३ | २२४ |
| **इ** | | | |
| इच्छाद्वेषसमुत्थेन | ७ | २७ | ५६ |
| इत्यर्जुनं वासुदेवस्त- | ११ | ५० | ३३२ |
| इदं तु ते गुह्यतमं | ९ | १ | १२७ |
| इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं | ११ | ७ | २७६ |
| **उ** | | | |
| उच्चैःश्रवसमश्वानां | १० | २७ | २४४ |
| उदाराः सर्व एवैते | ७ | १८ | ४१ |
| **ए** | | | |
| एतच्छ्रुत्वावचनं केशवस्य | ११ | ३५ | ३१३ |
| एतद्योनीनि भूतानि | ७ | ६ | १६ |
| एतां विभूतिं योगं च | १० | ७ | २१७ |
| एवमुक्त्वा ततो राजन् ! | ११ | ९ | २७८ |
| एवमेतद्यथाऽऽत्थ त्वं | ११ | ३ | २७१ |
| एवं सततयुक्ता ये | १२ | १ | ३४६ |
| **ओ** | | | |
| ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म | ८ | १३ | ९२ |
| **क** | | | |
| कथं विद्यामहं योगिन् ! | १० | १७ | २३१ |
| कविं पुराणमनुशासितारं | ८ | ९ | ८३ |
| कस्माच्च ते न नमेरन् | ११ | ३७ | ३१७ |
| कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः | ७ | २० | ४५ |
| कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् | ११ | ३२ | ३०६ |
| किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं | ८ | १ | ६६ |
| किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः | ९ | ३३ | १९३ |
| किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तं | ११ | ४६ | ३२७ |
| किरीटिनं गदिनं चक्रिणंच | ११ | १७ | २८७ |
| क्लेशोऽधिकतरस्तेषां | १२ | ५ | ३५४ |
| क्षिप्रं भवति धर्मात्मा | ९८ | ३१ | १९० |
| **ग** | | | |
| गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी | ९ | १८ | १६५ |
| **च** | | | |
| चतुर्विधा भजन्ते मां | ७ | १६ | ३५ |
| **ज** | | | |
| जरामरणमोक्षाय | ७ | २९ | ५९ |
| ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये | ९ | १५ | १६० |
| ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानं | ७ | २ | ८ |
| **त** | | | |
| ततः स विस्मयाविष्टः | ११ | १४ | २८३ |
| तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं | ११ | १३ | २८२ |
| तपाम्यहमहं वर्षं | ९ | १९ | १६७ |
| तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय | ११ | ४४ | ३२६ |
| तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशः | ११ | ३३ | ३०९ |
| तस्मात्सर्वेषु कालेषु | ८ | ७ | ७९ |
| तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी | १२ | १९ | ३८३ |
| ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं | ९ | २१ | १६९ |
| तेषामहं समुद्धर्ता | १२ | ७ | ३६२ |
| तेषामेवानुकम्पार्थं | १० | ११ | २२२ |
| तेषां सततयुक्तानां | १० | १० | २१८ |
| तेषां ज्ञानी नित्ययुक्तः | ७ | १७ | ३९ |
| त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः | ७ | १३ | २८ |
| त्रैविद्या मां सोमपाः | ९ | २० | १६९ |
| त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं | ११ | १८ | २९२ |
| त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः | ११ | ३८ | ३१७ |
| **द** | | | |
| दण्डो दमयतामस्मि | १० | ३८ | २५६ |
| दंष्ट्राकरालानि च ते | ११ | २५ | २९९ |
| दिवि सूर्यसहस्रस्य | ११ | १२ | २८० |
| दिव्यमाल्याम्बरधरं | ११ | ११ | २७८ |
| दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं | ११ | ५१ | ३३४ |
| दैवी ह्येषा गुणमयी | ७ | १४ | २८ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृष्ठं |
|---|---|---|---|
| द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं | ११ | २० | २९३ |
| द्यूतं छलयतामस्मि | १० | ३६ | २५४ |
| द्रोणंच भीष्मं च जयद्रथंच | ११ | ३४ | ३११ |
| **ध** | | | |
| धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः | ८ | २५ | ११९ |
| **न** | | | |
| न च मत्स्थानि भूतानि | ९ | ५ | १३६ |
| न च मां तानि कर्माणि | ९ | ९ | १४७ |
| न तु मां शक्यसे द्रष्टुं | ११ | ८ | २७६ |
| नभस्स्पृशं दीप्तमनेक- | ११ | २४ | २९८ |
| नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते | ११ | ४० | ३१७ |
| न मां दुष्कृतिनो मूढाः | ७ | १५ | ३४ |
| न मे विदुः सुरगणाः | १० | २ | २०५ |
| न वेदयज्ञाध्ययनैः | ११ | ४८ | ३३० |
| नान्तोऽस्ति ममदिव्यानां | १० | ४० | २५९ |
| नाहं प्रकाशः सर्वस्य | ७ | २५ | ५३ |
| नाहं वेदैर्न तपसा | ११ | ५३ | ३३६ |
| नैते सृती पार्थ ! जानन् | ८ | २७ | १२१ |
| **प** | | | |
| पत्रं पुष्पं फलं तोयं | ९ | २६ | १८० |
| परस्तस्मात्तु भावोऽन्यः | ८ | २० | १०७ |
| परं ब्रह्म परं धाम | १० | १२ | २२४ |
| पवनः पवतामस्मि | १० | ३१ | २४७ |
| पश्य मे पार्थ ! रूपाणि | ११ | ५ | २७४ |
| पश्यादित्यान्वसून्रुद्रान् | ११ | ६ | २७५ |
| पश्यामि देवांस्तव देवदेव | ११ | १५ | २८४ |
| पितासि लोकस्य चराच- | ११ | ४३ | ३२६ |
| पिताऽहमस्य जगतः | ९ | १७ | १६४ |
| पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च | ७ | ९ | २० |
| पुरुषः स परः पार्थ ! | ८ | २२ | ११० |
| पुरोधसां च मुख्यं मां | १० | २४ | २४२ |
| प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य | ९ | ८ | १४६ |
| प्रयाणकाले मनसा | ८ | १० | ८३ |
| प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां | १० | ३० | २४७ |
| **ब** | | | |
| बलं बलवतां चाहं | ७ | ११ | २० |
| बहूनां जन्मनामन्ते | ७ | १९ | ४३ |
| बीजं मां सर्वभूतानां | ७ | १० | २० |
| बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः | १० | ४ | २१० |
| बृहत्साम तथा साम्नां | १० | ३५ | २५१ |
| **भ** | | | |
| भक्त्यात्वनन्यया शक्यः | ११ | ५४ | ३३६ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृष्ठं |
|---|---|---|---|
| भवाप्ययौ हि भूतानां | ११ | २ | २७० |
| भूतग्रामः स एवायं | ८ | १९ | १०३ |
| भूमिरापोऽनलो वायुः | ७ | ४ | ११ |
| भूय एव महाबाहो ! | १० | १ | २०३ |
| **म** | | | |
| मच्चित्ता मद्गतप्राणाः | १० | ९ | २१८ |
| मत्कर्मकृन्मत्परमः | ११ | ५५ | ३३९ |
| मत्तः परतरं नान्यत् | ७ | ७ | १८ |
| मदनुग्रहाय परमं | ११ | १ | २६८ |
| मनुष्याणां सहस्रेषु | ७ | ३ | १० |
| मन्मना भव मद्भक्तः | ९ | ३४ | १९६ |
| मन्यसे यदि तच्छक्यं | ११ | ४ | २७२ |
| मया ततमिदं सर्वं | ९ | ४ | १३६ |
| मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः | ९ | १० | १४९ |
| मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं | ११ | ४७ | ३२९ |
| मय्यावेश्य मनो ये मां | १२ | २ | ३५२ |
| मय्यासक्तमनाः पार्थ ! | ७ | १ | ३ |
| मय्येव मन आधत्स्व | १२ | ८ | ३६५ |
| महर्षयः सप्त पूर्वे | १० | ६ | २१३ |
| महर्षीणां भृगुरहं | १० | २५ | २४२ |
| महात्मानस्तु मां पार्थ ! | ९ | १३ | १५७ |
| मा ते व्यथा मा च | ११ | ४९ | ३३१ |
| मामुपेत्य पुनर्जन्म | ८ | १५ | ९९ |
| मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य | ९ | ३२ | १९३ |
| मृत्युः सर्वहरश्चाहं | १० | ३४ | २५१ |
| मोघाशा मोघकर्माणः | ९ | १२ | १५४ |
| **य** | | | |
| यच्चापि सर्वभूतानां | १० | ३९ | २५६ |
| यच्चावहासार्थमसत्कृतः | ११ | ४२ | ३२३ |
| यत्करोषि यदश्नासि | ९ | २७ | १८२ |
| [ यत्करोमि यदश्नामि ] | ९ | २७ | १८२ |
| यत्र काले त्वनावृत्ति | ८ | २३ | ११२ |
| यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं | ९ | ६ | १४१ |
| यथा नदीनां बहवोऽम्बु- | ११ | २८ | ३०२ |
| यथा प्रदीप्तज्वलनं | ११ | २९ | ३०२ |
| यदक्षरं वेदविदो वदन्ति | ८ | ११ | ९० |
| यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं | १० | ४१ | २५९ |
| यं यं वापि स्मरन् भावं | ८ | ६ | ७९ |
| यस्मान्नोद्विजते लोकः | १२ | १५ | ३७८ |
| यान्ति देवव्रता देवान् | ९ | २५ | १७८ |
| ये चैव सात्त्विका भावाः | ७ | १२ | २१ |
| ये तु धर्म्यामृतमिदं | १२ | २० | ३८५ |
| ये तु सर्वाणि कर्माणि | १२ | ६ | ३६२ |

| श्लोकप्रतीकानि | अ. | श्लो. | पृष्ठं |
|---|---|---|---|
| ये त्वक्षरमनिर्देश्यं | १२ | ३ | ३६३ |
| ये त्वन्यदेवताभक्ताः | ९ | २३ | १७५ |
| येषां त्वन्तगतं पापं | ७ | २८ | ५८ |
| यो न हृष्यति न द्वेष्टि | १२ | १७ | ३८१ |
| यो मामजमनादिं च | १० | ३ | २०७ |
| योयो यांयां तनुं भक्तः | ७ | २१ | ४७ |
| **र** | | | |
| रसोऽहमप्सु कौन्तेय ! | ७ | ८ | २० |
| राजविद्या राजगुह्यं | ९ | २ | १३० |
| रुद्राणां शङ्करश्चास्मि | १० | २३ | २४१ |
| रुद्रादित्या वसवो ये च | ११ | २२ | २९६ |
| रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं | ११ | २३ | २९७ |
| **ल** | | | |
| लेलिह्यसे ग्रसमानः | ११ | ३० | ३०४ |
| **व** | | | |
| वक्तुमर्हस्यशेषेण | १० | १६ | २३० |
| वक्त्राणि ते त्वरमाणाः | ११ | २७ | ३०० |
| वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः | ११ | ३९ | ३१७ |
| विस्तरेणात्मनो योगं | १० | १८ | ३१ |
| वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि | १० | ३७ | २५४ |
| वेदानां सामवेदोऽस्मि | १० | २२ | २४० |
| वेदाहं समतीतानि | ७ | २६ | ५४ |
| वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव | ८ | २८ | १२३ |
| **श** | | | |
| शुक्लकृष्णे गती ह्येते | ८ | २६ | १२० |
| शुभाशुभफलैरेवं | ९ | २८ | १८४ |
| श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासात् | १२ | १२ | ३७० |
| **स** | | | |
| सखेति मत्वा प्रसभं | ११ | ४१ | ३२२ |
| सततं कीर्तयन्तो मां | ९ | १४ | १५९ |
| स तया श्रद्धया युक्तः | ७ | २२ | ४७ |
| समोऽहं सर्वभूतेषु | ९ | २९ | १८९ |
| समः शत्रौ च मित्रे च | १२ | १८ | ३८२ |
| सर्गाणामादिरन्तश्च | १० | ३२ | २४९ |
| सर्वद्वाराणि संयम्य | ८ | १२ | ९२ |
| सर्वभूतानि कौन्तेय ! | ९ | ७ | १४३ |
| सर्वमेतदृतं मन्ये | १० | १४ | २२४ |
| सहस्रयुगपर्यन्तं | ८ | १७ | १०२ |
| साधिभूताधिदैवं मां | ७ | ३० | ६१ |
| सुदुर्दर्शमिदं रूपं | ११ | ५२ | ३३५ |
| सन्तुष्टः सततं योगी | १२ | १४ | ३७४ |
| सन्नियम्येन्द्रियग्रामं | १२ | ४ | ३५४ |
| स्थाने हृषीकेश ! तव | ११ | ३६ | ३१४ |
| स्वयमेवात्मनात्मानं | १० | १५ | २२४ |
| **ह** | | | |
| हन्त ते कथयिष्यामि | १० | १९ | २३३ |

निम्बार्कीयतत्त्वप्रकाशिकाद्यष्टटीकोपेता

# श्रीमद्भगवद्गीता

[ द्वितीयो गुच्छः ]

अयि समीक्ष्यकारिणो विचक्षणाः ! यदा खलु 'गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस' संस्थापकैर्गुजरातीवृत्तपत्रोत्पादकैश्च देसाईकुलविभूषणैः सूर्यरामतनूजैरिच्छारामाख्यैः श्रेष्ठिवर्यैः स्वीयप्राचीनतरहस्तलिखितग्रंथसंग्रहाद्विचित्य विचित्य सप्तटीकात्मकः श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमो गुच्छो मुद्रितस्तदैव तदन्तर्गतव्याख्योपव्याख्याप्रणेतॄणां चतुर्णां सांप्रदायिनामद्वैतद्वैतविशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतमतानि, एकमतानुसारिणां विचक्षणानामपि तत्तद्व्याख्योपव्याख्याकृतं विचक्षणत्वरूपं चार्थान्तरवैचित्र्यमालोच्य कथं तेषां तत्परस्परविरुद्धराद्धान्तप्रतिपादनं, कथं तैरेक एव श्लोकः श्लोकार्धं तद्गतवाक्यानि वा स्वस्वसिद्धान्तसमर्थकतया स्वाविरोधितयोपवर्ण्यन्ते, कथं च ते परस्परं स्वाद्वैताद्यनुयाय्युपमर्दे प्रवर्तन्ते ? तद्दर्शनकुतुकजुषां तत्त्वजिज्ञासूनां चेप्सितं सम्पादयितुकामैस्तैरेव निम्बार्कपथानुयायितत्त्वप्रकाशिकायुतश्चाष्टटीकात्मकोऽयं द्वितीयगुच्छोऽपि मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

एवं प्रथमगुच्छान्तरालस्थितानां सम्प्रति टीकाचतुष्टयसंवर्धितशाङ्करभाष्याद्येकादशव्याख्योपव्याख्यानां द्वितीयगुच्छान्तर्गताष्टव्याख्यानां चावलोकनकृतां विदुषां टीकान्तरालोचनावशिष्टं किञ्चिदपि नावशिष्येतेत्यलमतिपल्लवितेन ।

पूर्वमत्र भारतेऽस्मिन्खण्डे देशे देशान्तरेषु दिक्षु विदिक्षु चाविगीतयशोभिर्लोकमान्यैः बालगङ्गाधरतिलकैः स्वोक्ते गीतारहस्ये यैः स्ववदननलिनवचनसुमनोभिः स्वलङ्कृतोऽयमच्छो गुच्छस्तान्यत्र तेषां सुमनसां सुमनोहराणि सुमनांनीमानिः—

वल्लभसंप्रदायी तत्त्वदीपिका, गुजराती प्रिन्टिंगप्रेस मधली... ...; पण ... ... बाकीच्या आणि निंबार्क संप्रदायाची व दुसऱ्या कांहीं टीका मिळून एकंदर पंधरा [ सध्या एकोणीस ] संस्कृत टीका गुजराती प्रिंटिंग प्रेसनें नुकत्याच [ शके १८३४ ] छापून प्रसिद्ध केल्या असल्यामुळें या एकाच ग्रंथानें आतां सर्व निर्वाह होतो. (गीतारहस्य– पुणें, अधिक वैशाख शके १८३७; बाळ गंगाधर टिळक.)

निरनिराळ्या सांप्रदायिक आचार्यांचीं गीतेवरील भाष्यें व त्या संप्रदायांतील इतर प्रमुख टीका मिळून पंधरा [ सध्या एकोणीस ] टीका मुंबईस गुजराती प्रिंटिंग प्रेसचे मालक यांनीं नुकत्याच [ इ. स. १९१२ ] प्रसिद्ध केल्या आहेत. निरनिराळ्या टीकाकारांचे अभिप्राय एकदम कळण्यास हा ग्रंथ फार सोयीचा आहे.

[ गीतारहस्य टिपणी ] बाळ गंगाधर टिळक.

## टीकाकाराणां टीकानां च नामानि।

१ निम्बार्कमतानुयायि श्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यपादप्रणीता ... तत्त्वप्रकाशिका
२ श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृता ... गूढार्थदीपिका
३ श्रीशङ्करानन्दप्रणीता ... तात्पर्यबोधिनी
४ श्रीधरस्वामिकृता ... ... सुबोधिनी
५ श्रीसदानन्दविरचितः ... भावप्रकाशः
६ श्रीधनपतिसूरिविरचिता– भाष्योत्कर्षदीपिका
७ दैवज्ञपंडितश्रीसूर्यविरचिता ... ...परमार्थप्रपा
८ पूर्णप्रज्ञमतानुसारिश्रीराघवेन्द्रकृतः ... अर्थसंग्रहः

चेत्येताभिर्व्याख्याभिरष्टाभिः सहितायाः श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयो गुच्छः । अत्र श्लोकाः स्थूलतमाक्षरैष्टीकाश्च स्थूलाक्षरैर्मुद्रिताः दृष्टा मा क्लेशिषतेति । मूल्यम् १०-०-०

श्रीमद्भगवद्गीता– मूलमात्रं मू० ०-३-०

प्राप्तिस्थानम् :– गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट– मुंबई.

# THE BHAGAVAD-GITA

## WITH
## ELEVEN COMMENTARIES
### FIRST COLLECTION:-

(1) Shankaracharya's *Adwaita Bhashya*; (2) Anandagiri's *Vyakhya*; (3) Ramanuja's *Vishishta-adwaita Bhashya*, (4) Deshika's *Tatparya-Cchandrika;* (5) Madhava's *Dwaita Bhashya*, (6) Jayatirtha's *Prameya-deepika*; (7) Hanumat's *Paishacha Bhashya*; (8) Venkatnatha's *Brahmanandagiri;* (9) Vallabha's *Tattva-deepika.* (10) Purushotama's *Amrita-tarangini*; (11) Nilakantha's *Bhava-deepa*, and last Yamuna muni's *Artha-sangraha* with Deshika's *Raksha* and *Gita Mahatmya* of each Adhyaya

**VOL III**

(Thirteenth to Eighteenth Adhyayas)

New Edition (2ND)

Critically Edited and Thoroughly Revised by
SHASTRI GAJANANA SHAMBHU SADHALE

**BOMBAY**
**THE "GUJARATI" PRINTING PRESS**
Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort
**1938**

*This book Can be had from:—*
**The Gujarati Printing Press**
Sassoon Building, Elphinstone Circle
Fort, BOMBAY

( All rights reserved by the Publishers )

CONTENTS

| *Commentators:—* | *Commentaries:—* |
|---|---|
| General Gita Mahatmya (2) | From Varaha-puran etc |
| 1 SHANKARACHARYA ... | ... Adwaita BHASHYA |
| 2 Ananda-giri ... ... | ... ...Bhashya Vyakhya |
| 3 RAMANUJA ... ... | Vishishtadwaita BHASHYA |
| 4 Vedant-deshika ... ... | ... Tatparya-Chandrika |
| 5 MADHAVA ... ... | ... Dwaita BHASHYA |
| 6 Jayatirtha ... ... | ... ... Prameya-Deepika |
| 7 Hauuman ... ... ... | ... Paishacha BHASHYA |
| 8 Venkatanatha ... ... | ... ... Brahmanandagiri |
| 9 Vallabha ... ... ... | ... ... Tattva-deepika |
| 10 Purushotama ... ... | ... ... Amrita·tarangini |
| 11 Nilakantha... ... ... | ... ... Bhava-deepa |
| Yamuna-muni ... ... | ... ... Artha-sanghraha |
| Deshika ... ... ... | ... ... ... Raksha |
| Mahatmya at the end of each Adhyaya | From Padmapuran |
| Dhupakara Shashtri ... | ... ... Avigita Notes |

Bhagawad-gita with eight other commentaries. P. 1328 Rs. 10/-, Postage extra

## EIGHT MORE COMMENTARIES:-

| | | |
|---|---|---|
| 1 | Keshava Kashmiri Bhattacharya | Tattva-Prakāshikā |
| 2 | Madhu-Sudana Saraswati | Gūdhārtha-Deepikā |
| 3 | Shankarananda | Tātparya-Bodhini |
| 4 | Shreedhara Swami | Subodhini |
| 5 | Sadananda | Bhāva Prakāsha |
| 6 | Dhanapati Suri | Bhāshyotkarsha Deepikā |
| 7 | Daivagnya Pandit Surya | Paramārtha-Prapā |
| 8 | Raghavendra | Artha-Sangraha |

*This Book is Printed and Published*
by
Natverlal Itchharam Desai B. A.
at
**The Gujarati Printing Press**
Sassoon Building, Elphinstone Circle, Fort, BOMBAY

# श्रीमद्भगवद्गीता

## शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता

[ प्रथमो गुच्छः ]

तृतीयषट्कम्

( १३-१८ )

द्वितीयावृत्तिः

संशोधनकर्ता

' साधले ' इत्युपाह्व-शम्भुजनुर्गजाननशर्मा

प्रकाशकः

' गुजराती ' प्रिन्टिंग प्रेस

सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल

कोट-मुंबई.

वैक्रमाब्दः १९९४ ]　　खिस्ताब्दः १९३८　　[ शाकाब्दः १८५९

पुस्तकप्राप्तिस्थानम्—
" गुजराती " प्रिन्टिंग प्रेस,
सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन् सर्कल, कोट-मुंबई

[ ग्रन्थस्यास्य पुनर्मुद्रणादयः सर्वेऽप्यधिकाराः राजशासनपक्षमनुसृत्य स्वायत्तीकृताः सन्ति । ]

## व्याख्योपव्याख्याकार-व्याख्या-नामानि ।

| | भाष्यकाराष्टीकाकाराश्च | (संप्रदायः) | भाष्याणि टीकाश्च |
|---|---|---|---|
| १ | श्रीमच्छङ्कराचार्याः | (अद्वैतः) | भाष्यम् |
| २ | आनन्दगिरिः | ,, | शां. भाष्यव्याख्या |
| ३ | श्रीमद्रामानुजाचार्याः | (विशिष्टाद्वैतः) | भाष्यम् |
| ४ | वेदान्तदेशिकाचार्यवेंकटनाथः | ,, | रा. भा. तात्पर्यचंद्रिका |
| ५ | श्रीमदानन्दतीर्थाः | ( द्वैतः ) | ( माध्व- )भाष्यम् |
| ६ | जयतीर्थः | ,, | प्रमेयदीपिका |
| ७ | श्रीमद्धनुमान् | (अद्वैतः) | पैशाचभाष्यम् |
| ८ | श्रीवेंकटनाथः | ,, | ब्रह्मानंदगिर्याख्यानम् |
| ९ | श्रीमद्वल्लभाचार्याः | (शुद्धाद्वैतः) | तत्त्वदीपिका |
| १० | पुरुषोत्तमजी | ,, | अमृततरङ्गिणी |
| ११ | नीलकण्ठः | (अद्वैतः) | भारतभावदीपः |
| १२ | यामुनमुनिः | (विशिष्टाद्वैतः) | गीतार्थसङ्ग्रहः |
| १३ | महादेशिकाचार्यो वेंकटनाथः | ,, | गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा |
| १४ | श्रीपाद्मपुराणोक्तं गीतामाहात्म्यम् | | ( प्रत्यध्यायम् ) |
| १५ | अनंताख्या धूपकरशास्त्रिणः | | अविगीता ( टिप्पण्यः ) |

श्रीमद्भगवद्गीता- अन्याष्टटीकोपेता- [ द्वितीयो गुच्छः ] पृष्ठसंख्या १३२८ मू. रु. १०

**अन्याष्टटीकाः ।**

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ | केशवकाश्मीरिभट्टाचार्यप्रणीता | द्वैताद्वैतमतानुसारिणी | तत्त्वप्रकाशिका |
| २ | मधुसूदनसरस्वतीकृता | अद्वैतमतानुसारिणी | गूढार्थदीपिका |
| ३ | शंकरानन्दप्रणीता | ,, | तात्पर्यबोधिनी |
| ४ | श्रीधरस्वामिकृता | ,, | सुबोधिनी |
| ५ | सदानन्दविरचितः | ,, | भावप्रकाशः |
| ६ | धनपतिसूरिविरचिता | ,, | भाष्योत्कर्षदीपिका |
| ७ | दैवज्ञपंडितसूर्यविरचिता | ,, | परमार्थप्रपा |
| ८ | राघवेन्द्रकृतः | द्वैतमतानुसारी | अर्थसंग्रहः |

मुद्रकः प्रकाशकश्च—
नटवरलाल इच्छाराम देसाई बी. ए.
" गुजराती " प्रिन्टिंग प्रेस
सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन् सर्कल, कोट-मुंबई.

# निवेदनम् ।

अपरिमितज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजोभिः सदा सम्पन्नस्य नरसखस्य भगवतो नारायणस्य कृपालवमात्रावलम्बनाः श्रीमद्भगवद्गीताया व्याख्योपव्याख्यानां प्रथमगुच्छस्यानेन तृतीयषट्केनेदानीं तत्रभवतः सभाजयितुमधिगतावसराः सुतरां सन्तुष्यामः ।

प्रथमद्वितीयषट्कवदेव परिष्कृतेऽप्यस्मिन् षट्केऽर्थान्तरप्रकाशन-यथार्थदीपिकासङ्ग्रह-नव्यमतपरीक्षणादि मुहुः प्रत्यूहव्यूहपराहतोत्साहा न यावदभिलषितं विधातुमपीपराम, अनवसरलब्धत्वादविगीतायाः प्रत्यध्यायमन्ते निवेशनमेवानिच्छतामपि प्रकाशकानामगतिकतया कर्तव्यमभूत्, व्याख्याशोधनादिकर्मणश्च सर्वोऽपि भारो मुद्रणालयस्यपण्डितेष्वेव समसजदिति सत्यमिह शश्वत् 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' इतिवचसो भूतार्थतामपरोक्षमन्वभाविष्महि । किमधिकेन ? सर्वमेवास्य षट्कस्य परिष्करणपुण्यमर्हन्ति मुद्रणालयपण्डिताः **साधले** इत्युपाह्वा **गजाननशास्त्रिण** इत्यनिर्दिश्यात्र न पारयाम स्थातुम् ।

अथेदानीं पुनर्लब्धप्रकाशनेनानेन प्रथमगुच्छेन प्रकाशितपूर्वेण द्वितीयगुच्छेन चास्मदीयया '**अविगीतया**' कृतपूर्तिं भगवद्गीताव्याख्यानानां विंशतिं ललितललितैरक्षरैर्निजयशोराशिविशदेषु पत्रेषु विपश्चिद्द्वारा संशोधनपूर्वकमङ्कयित्वा प्रकाश्य '**गुजराती**' मुद्रणालयाधिपैः श्रेष्ठिवरिष्ठैरधिवसुधमधिष्ठिता कनिष्ठिका गुणवत्तरगीतापुस्तकप्रकाशकगणनायां गीताध्येतॄणामिति तान् सादरं वर्धयामो धन्यवादैः ।

सम्प्रति चास्मिन् गुच्छद्वये संगृहीतव्याख्याभ्योऽन्या अपि— **१ शैवभाष्यम्, २ तत्त्वैकदर्शनभाष्यम्, ३ रामकण्ठी, ४ अनुव्याख्यानम्, ५ मध्वमतानुवर्तिनी, ६ सारार्थवर्षिणी, ७ हृद्ग्रन्थिभेदिनी, ८ पदयोजना, ९ श्रीकृष्णरसिकरञ्जनी, १० गोविन्दभट्टी, ११ गीतार्थप्रकाशनम्, १२ सारार्थसंग्रहदीपिका,** इत्याद्या भगवद्गीताव्याख्याः समुपलभ्यन्ते । सन्ति च तासु काश्चनाद्ययावदनारूढमुद्रणयन्त्राः प्रायो भूयोभिरदृष्टचराश्चेति तासामपि तृतीयगुच्छात्मना प्रकाशनमावश्यकं मन्यामहे । विश्वसिमश्चास्मिन्नपरिमितव्ययसाध्ये क्लेशावहे च कर्मणि प्रवर्तितुमुत्साहयेयुरुपक्रान्तगीताव्याख्यानसङ्ग्रहकार्यान् 'गुजराती' मुद्रणालयाधिपतीन् गीताभ्यासव्यसनिनः सुकृतिन इति ।

अत्रेदमपि विज्ञापनं नः प्राप्तकालं प्रतिभाति, यत्— प्राचीनव्याख्यानसम्पादनवदिदानीन्तनैरनतिप्राचीनैश्च तत्तद्भाषासु सन्दब्धानां कैश्चिद्विशेषैः प्रतननिबन्धनान्यतिशयानानां गुणवतां गीताविवरणानां गीर्वाणवाण्या विपरिणमनमप्यावश्यकमिति । श्रूयते च ज्ञानदेवीया **भावार्थदीपिका** पद्यैरेवानूदिता कैश्चिदिति । वामनपण्डितप्रणीता **यथार्थदीपिका**पि तथैवानुवादमर्हतीत्यस्मदनूदिततदंशदर्शनेन स्थालीपुलाकन्यायेन जानीयुरेव सहृदयाः । दासोपन्तविरचिते लक्षाधिकग्रन्थात्मके '**गीतार्णव**' नाम्नि महार्णवाभे निबन्धेऽपि सन्ति बहवोंऽशाः सङ्ग्रहार्हाः । तथा निजनामधन्यैर्लोकमान्यैर्बालतिलकैः सन्दृब्धमभिनवमपि '**गीतारहस्यम्**' सर्वात्मनाऽर्हति संस्कृतीकरणम् । यदि नाम गीताविवरणरूपस्य तद्द्वितीयभागस्य भाष्यात्मना, निबन्धरूपस्य च प्रथमभागस्य

वार्तिकात्मना कोऽपि प्रज्ञावान् निलिम्पभाषायां परिवर्तनं व्यधास्यत् , तर्हि वेदान्तशास्त्रस्य तद्बलवत्प्रस्थानान्तरमेवाभविष्यत् । न जानीमः पदे पदे विद्योतत्स्वपि तद्गौरवज्ञेषु मनीषिप्रवरेषु कथमेतावन्तं कालमनिष्पन्नमेतत्कार्यम् ! इति विश्वसिमो वशीकृतत्रिदशगिरो लब्धवर्णशिरोमणयोऽत्र तूर्णमेव प्रवर्त्स्यन्तीति ।

अथापरमप्यस्ति प्रज्ञावत्सु विज्ञापनीयं यत् यथाप्रतिश्रुतं पृथगेव प्रकाशयितुमभिलषामो ' गीतागौरवम् ' नामोपसंहारभागम् , यत्र—गीताप्रशंसा, संज्ञाबीजम् , गीतायाः स्मृतित्वम् , उपनिषद्भ्योदुग्धत्वम् , महाभारते सम्बन्धः, गीतान्तरैस्तुलनम् , वेदविषये वृत्तिः, धर्मशास्त्रविषये वृत्तिः, शिष्टाचारविषये वृत्तिः, दर्शनैः सम्बन्धः, शास्त्रान्तरैः सम्बन्धः, पुराणैः सम्बन्धः, प्रतिपाद्यम् , कर्मयोगः, भक्तियोगः, सन्यासयोगः, अर्जुनस्याधिकारविचारः, शङ्कराचार्यैः प्रतिक्षिप्तो ज्ञानकर्मसमुच्चयः, तिलकपरिष्कृतज्ञानोत्तरकर्मविचारः, अद्वैतमते गीतानुगुण्यम् , विशिष्टाद्वैतमतम् , द्वैताद्वैतमतम् , द्वैतमतम् , शुद्धाद्वैतमतम् , भागवतमतम् , शैवादिमतान्तराणि, वैदेशिकतत्त्वज्ञानम् , गीतायाः काव्यत्वेन निरीक्षणम् , गीतोपदेष्टुर्भगवतः श्रोतुश्च धनञ्जयस्य जन्मकर्मवयोऽवस्थाविमर्शः, गीताश्लोकसङ्ख्या, उपलब्धाधिकश्लोकविचारः, हंसयोगिस्वीकृतचतुर्विंशत्यध्यायादिविमर्शः, एकनाथव्याख्यातगीतासारविचारः, उत्तरगीता, प्राचीनपुस्तकोपलब्धपाठान्तरसमालोचनम् , गीताकालनिर्णयः, दिननिर्णयः, रथव्यूहादिस्वरूपम् , विभूतिपरिचयः, उल्लिखितव्यक्त्यादिपरिचयः, व्याख्यातृपरिचयः, अद्ययावदविचारितानि शङ्कराचार्यकालविषये प्रमाणानि, व्याख्यावैशिष्ट्यम् , गीतायाः सूक्ष्मविषयसूची, पदसूची, व्याख्योदाहृतप्रमाणसूची,—इत्येवमादयो गीताध्येतॄणामतीवोपयुक्ता विषया विनिवेशयिष्यन्ते । अस्मादृशैरकिञ्चिज्ज्ञैरशक्यानुष्ठानमप्येतन्महत्कार्यमन्तर्यामिणः प्रेरणया तत्रभवतामाशिषा च लब्धोत्साहा अह्नायैव विधित्सामहे ।

तदिदानीमविगणय्य द्रविणव्ययम् , सहित्वा समयातिपातम् , आश्रित्य परिश्रमम् , एवंविधैः सरत्नैरिव सुवर्णाभरणैः सुपुस्तकैः सुरभारतीभाण्डागारं भूषयतां कृतिकुलमुपकृतवतां च ' गुजराती ' मुद्रणयन्त्रालयाधिपतीनां देसाईकुलविभूषणश्रीमच्छ्रेष्ठिवर्यैच्छारामात्मजानां श्रीश्रेष्ठिवर—नटवरलाल—मदनलाल—बाबूभाई—महोदयानां शुभोदर्कमहोद्यमादिसिद्ध्यर्थं भगवन्तं पार्थसारथिं सम्प्रार्थ्य, सत्यस्य गुच्छस्य पुनर्मुद्रणयोगेऽनेकविधान् विशेषविदिष्टान् विशेषान् विधातुम् , अवशिष्टान्यशुद्धानि निर्मार्ष्टुं च यावन्मनीषं यतिष्यामह इति सहृदयेभ्यः साञ्जलिबन्धं विज्ञाप्य चोपरमामः ॥

' यत्किञ्चिदत्र लिखितं मयका ततस्त्यान् सन्तः सुखं गुणकणान् शिरसा वहेयुः ।
दोषोत्करांस्तु हरतां रसनाञ्चलेन स्वैरं कथं नु भवितास्म्यनृणः खलानाम् ? ॥ '

श्रीविद्याविहारमन्दिरम्, माशैलः, गोवा
१८५९ रथसप्तमी

आर्यमिश्राणामाश्रवः—
धूपकरोपाह्वोऽनन्तयज्ञेश्वरशर्मा ।

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमगुच्छे

## तृतीयषट्कस्य विषयानुक्रमः ।


| विषयाः | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|
| **त्रयोदशोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः ... ... | | २ |
| प्रकृतिपुरुषादिबुभुत्सोरर्जुनस्य प्रश्नः ... ... | १ | ३ |
| क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्लक्षणम् ... ... ... ... | २ | ४ |
| सङ्क्षेपेणोक्तयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यकथनप्रतिज्ञा | ४ | २८ |
| क्षेत्रस्वरूपम् ... ... ... ... ... | ६ | ३३ |
| क्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञानस्य साधनानि ... ... | ८ | ३८ |
| ज्ञेयवस्तुनः क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपम् ... ... | १३ | ४६ |
| क्षेत्रादिज्ञातुः फलम् ... ... ... | १९ | ६३ |
| क्षेत्रक्षेत्रज्ञापरपर्यायस्य प्रकृतिद्वयस्य जगद्धेतुत्वम् | २० | ६५ |
| क्षेत्रज्ञपुरुषस्यौपाधिकं संसारित्वम् ... ... | २२ | ७१ |
| तस्यैव परमात्मनः साक्षात्स्वरूपं तज्ज्ञानफलं च | २३ | ७३ |
| आत्मस्वरूपज्ञान उत्तममध्यमाधमाधमाधमाधिकारिभेदानुक्रमेणोपायचतुष्टयम् ... | २५ | ८१ |
| संसारस्याविद्यिकत्वं तन्निवर्तकं सफलं तत्त्वज्ञानं च | २७ | ८४ |
| आत्मनः सर्वव्यापित्वादिना तत्तद्दोषालिप्तता तत्तत्प्राकाश्यं च ... ... ... | ३२ | ९३ |
| क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगाध्यायज्ञानस्य फलम् ... | ३५ | ९८ |
| त्रयोदशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | | १०३ |
| **चतुर्दशोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः ... ... | | १०५ |
| परमात्मविषयकज्ञानस्य प्रशंसा ... ... | १ | १०६ |
| ईश्वरायत्तप्रकृतिपुरुषयोरखिलजगद्धेतुत्वं तस्य चाचिन्त्यशक्तिवैभवम् ... ... | ३ | ११० |
| क्षेत्रज्ञोपाधिभूतानां गुणानां नामानि तत्कार्याणि च | ५ | ११४ |
| सत्त्वादिगुणानां लक्षणानि तद्बन्धकत्वप्रकाराश्च | ६ | ११६ |
| सत्त्वादिगुणानां स्वाभाविकानि कार्याणि | ९ | १२१ |
| सत्त्वादिगुणत्रयाणां वृद्धिकार्ययोः कालः ... | १० | १२२ |
| समुद्भूतगुणानां ज्ञानचिह्नम् ... ... | ११ | १२३ |
| मरणसमये प्रवृद्धानां गुणानां फलम् ... ... | १४ | १२५ |
| सात्त्विकादिकर्मणां फलं सहेतुकम् ... ... | १६ | १२७ |
| सात्त्विकाद्याचारसम्पन्नानां गतयः ... ... | १७ | १२९ |
| मिथ्याज्ञाननिवर्तकात्सम्यग्ज्ञानाज्जीवन्मुक्तता | १९ | १३० |
| गुणातीतलक्षणज्ञानार्थोऽर्जुनप्रश्नः ... ... | २१ | १३२ |
| गुणातीतत्वोपायः सलक्षणः ... ... | २२ | १३४ |
| अव्यभिचारो भक्तियोग एव गुणातीतत्वप्राप्त्युपायान्तरम् ... ... ... | २६ | १३९ |
| अव्यभिचारभक्तियोगेन सेव्यस्य परमात्मनः स्वरूपम् ... ... ... | २७ | १४१ |
| चतुर्दशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | | १४९ |
| **पञ्चदशोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः ... ... | | १५१ |
| विरक्तिद्वारा भगवत्तत्त्वज्ञानाधिकारसिद्ध्यर्थं संसारवृक्षस्वरूपवर्णनम् ... | १ | १५२ |
| संसारवृक्षस्यान्यदवयवकल्पनं दुरुच्छेद्यत्वं च | २ | १५७ |
| दुरुच्छेद्यस्यानर्थकरस्य संसारवृक्षस्योच्छेदनोपायकथनद्वारा कर्तव्योपदेशः ... | ३ | १६० |
| मुक्तिपदं गच्छतांससाधनलक्षणानि ... | ५ | १६४ |
| मुक्तिपदस्य स्वरूपविवेचनम् ... ... | ६ | १६६ |
| 'तद्धाम परमं मम' इति निर्दिष्टस्यैव संसारावस्था | ७ | १६८ |
| पूर्वदेहादिन्द्रियाकर्षणस्य कालस्तदुपयोगश्च ... | ८ | १७२ |
| ब्रह्मस्वरूपस्य भगवतः सर्वात्मकत्वं सर्वव्यवहारास्पदत्वं च ... ... | १२ | १७७ |
| क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिविनिर्मुक्तं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं पुरुषोत्तमाख्यं परमात्मस्वरूपम् ... ... | १६ | १८४ |
| पुरुषोत्तमशब्दस्य नामनिर्वचनम् ... ... | १८ | १८९ |
| भगवतः पुरुषोत्तमस्य परमात्मनः पुरुषोत्तमयोगाध्यायस्य च ज्ञानफलम् ... | १९ | १९० |
| पञ्चदशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | | १९८ |
| **षोडशोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः ... ... | | २०० |
| मुक्त्यधिकारिणां दैवीसम्पद्वतां लक्षणानि ... | १ | २०१ |

| विषयाः | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|
| मुक्त्यनधिकारिणामासुरीसम्पद्वतां लक्षणानि | ४ | २०७ |
| दैव्यासुरसम्पदोः कार्यमर्जुनस्य च समाश्वासनम् | ५ | २०९ |
| आसुरसम्पद्विवरणप्रतिज्ञा ... ... ... | ६ | २१० |
| आसुरसम्पद्वतां लक्षणानि ... ... ... | ७ | २१२ |
| आसुरसम्पल्लक्षणवतां फलम् ... ... | १९ | २२७ |
| आसुरसम्पत्प्रवेशस्य द्वारं, तस्मान्निवर्तनोपायभूतश्च हितोपदेशः ... ... | २१ | २२९ |
| नरकद्वारभूतानां कामक्रोधलोभानां त्यागस्य फलम् ... ... ... | २२ | २३० |
| शास्त्रोक्तधर्मानादरपूर्वकं स्वच्छन्दानुगुणतः कर्मकारिणः फलम् ... ... | २३ | २३१ |
| शास्त्रोक्तविध्याचरणार्थं भगवदुपदेशः ... | २४ | २३२ |
| षोडशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | | २३८ |
| **सप्तदशोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः ... ... | | २३९ |
| शास्त्रानभिज्ञानां श्रद्धया कर्म कुर्वतां किं फलमित्यर्जुनप्रश्नः ... ... ... | १ | २४० |
| श्रद्धात्रैविध्यम् ... ... ... ... | २ | २४३ |
| श्रद्धावैचित्र्यस्य कारणं तदधिकारी च ... | ३ | २४५ |
| सात्त्विक्यादिश्रद्धात्रयस्य ज्ञानम् ... ... | ४ | २४६ |
| आहारादीनां विवरणप्रतिज्ञा ... ... | ७ | २५० |
| सात्त्विकादिभेदक्रमेण त्रिविधा आहाराः ... | ८ | २५१ |
| सात्त्विकादिभेदेन यज्ञत्रैविध्यम् ... ... | ११ | २५७ |
| तपसः शारीरादिभेदकथनपूर्वकं गुणतस्त्रैविध्यम् | १४ | २५९ |
| दानस्य गुणतस्त्रैविध्यम् ... ... ... | २० | २६५ |
| यज्ञादिकाम्याकाम्यकर्मणां वैगुण्ये तत्साङ्गतासिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तरूपोपायः ... | २३ | २६८ |
| अध्यायार्थस्योपसंहारः ... ... ... | २८ | २७६ |
| सप्तदशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | | २८२ |
| **अष्टादशोऽध्यायः ।** | | |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहः ... ... | | २८३ |
| त्यागसन्न्यासशब्दयोः स्वरूपबुभुत्सयाऽर्जुनप्रश्नः | १ | २८४ |
| सन्न्यासत्यागशब्दार्थयोरितरविचक्षणानां मतानि | २ | २८७ |
| त्यागसन्न्यासशब्दयोरर्थविषये निश्चितं भगवन्मतम् | ४ | २९३ |
| कर्मत्यागस्य त्रैविध्यम् ... ... ... | ७ | २९८ |
| आत्मज्ञानवतस्तद्धीनस्य च सात्त्विकत्यागसम्पन्नस्य त्यागिनो लक्षणम् ... | १०।११ | ३०३ |
| अज्ञानां केवलज्ञाननिष्ठानां च कर्मणः त्रिविधफलप्राप्तिनिर्णयः ... ... | १२ | ३०७ |
| आत्मनोऽकर्तृत्वादिसिद्धये तत्कारकप्रदर्शनम् | १३ | ३१० |
| आत्मनि कर्तृत्वारोपं कुर्वतो दुर्मतित्वम् ... | १६ | ३१८ |
| अकर्त्रात्मज्ञानिनः सुमतित्वं तत्फलं च ... | १७ | ३२१ |
| कर्मणः प्रवर्तकानि तदाश्रयश्च ... ... | १८ | ३२४ |
| ज्ञानादित्रयाणां त्रिगुणात्मकत्वकथनप्रतिज्ञा | १९ | ३२८ |
| ज्ञानस्य गुणतो भेदकथनम् ... ... ... | २० | ३३० |
| कर्मणो गुणतस्त्रैविध्यम् ... ... ... | २३ | ३३३ |
| गुणतः कर्तृत्रैविध्यम् ... ... ... | २६ | ३३६ |
| बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यकथनप्रतिज्ञा ... ... | २९ | ३४० |
| बुद्धेर्गुणतस्त्रैविध्यम् ... ... ... ... | ३० | ३४१ |
| धृतेर्गुणतस्त्रैविध्यम् ... ... ... ... | ३३ | ३४४ |
| सुखस्य गुणतस्त्रैविध्यम् ... ... | ३६ | ३४७ |
| सर्वस्य प्राणिजातस्य त्रिगुणात्मिकता ... | ४० | ३५१ |
| गीताशास्त्रार्थोपसंहारे चातुर्वर्ण्यस्य कर्मविभागोपक्रमः ... ... | ४१ | ३५३ |
| स्वस्ववर्णविहितकर्माभिरतस्यैवेश्वरार्चनेन सिद्धिप्रतिपत्तिः ... ... ... | ४५ | ३६० |
| स्वकर्मणेति पूर्वोक्तस्यैव फलपूर्वकं प्राशस्त्यम् | ४७ | ३६३ |
| स्वकर्म-धर्मप्राशस्त्ये सदृष्टान्तं हेत्वन्तरम् | ४८ | ३६४ |
| विद्वत्सम्न्यासेन ज्ञाननिष्ठारूपाया नैष्कर्म्यसिद्धेः प्राप्त्युपायः ... ... | ४९ | ३६९ |
| ज्ञाननिष्ठायाः प्राप्त्युपायकथनम् ... ... | ५० | ३७१ |
| उक्तक्रमेण ब्रह्मीभूतस्य लक्षणम् ... ... | ५४ | ३७९ |
| अनन्योत्तमभक्तिप्राप्तेः फलम् ... ... | ५५ | ३८१ |
| ज्ञानोत्तरकृतकर्मणां भगवदर्पणेनैव तन्निष्क्रत्या शाश्वतपदप्राप्तिः ... ... | ५६ | ३८५ |
| एतावदुपदिष्टस्याप्यर्जुनस्यान्तिमकर्तव्योपदेशः | ५७ | ३८६ |
| अनिच्छतोऽपि कर्मप्रवृत्तौ प्रकृतेः प्राबल्यम् | ५९ | ३८९ |
| सर्वान्तर्यामिण ईश्वरस्यैव शरणागत्या परमपदप्राप्तिः | ६१ | ३९१ |
| उपदिष्टस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोपदेशः | ६४ | ३९६ |
| अधिकारपरत्वेनार्जुनं प्रति भगवदुपदेशः | ६६ | ४०० |
| गीताशास्त्रानधिकारिमुखेन तदधिकारिणः | ६७ | ४१९ |
| गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलम् ... ... ... | ६८ | ४२१ |
| गीताशास्त्रपठनस्य फलम् ... ... | ७० | ४२४ |
| गीताशास्त्रश्रवणार्हस्य लक्षणं श्रवणस्य च फलम् | ७१ | ४२५ |
| गुरुधर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञस्यापि परमगुरोर्गोविन्दस्य प्रश्नः ... ... ... | ७२ | ४२६ |
| कृतज्ञताव्यञ्जकमर्जुनस्योत्तरम् | ७३ | ४२७ |
| कथानुसन्धानप्रदर्शनार्था सञ्जयोक्तिः ... | ७४ | ४२९ |
| दूरस्थस्यापि सञ्जयस्य श्रवणार्हताद्योतनम् | ७५ | ४३० |
| भगवदर्जुनसंवादश्रवणजाह्लादकथनम् | ७६।७७ | ४३१ |
| धृतराष्ट्रस्य जयाशानिराकरणाय सञ्जयस्य निश्चयोक्तिः ... ... ... | ७८ | ४३३ |
| यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसङ्ग्रहोपसंहारः ... | | ४३८ |
| अष्टादशाध्यायस्य माहात्म्यम् ... ... | | ४४३ |


इति श्रीमद्भगवद्गीतातृतीयषट्कानुक्रमः ।

[ प्रथमगुच्छे तृतीयं षट्कम् ]

शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता

# श्रीमद्भगवद्गीता

## ज्ञानकाण्डम्

[ अध्यायाः १३—१८ ]

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १३ ]

**देहस्वरूपमात्माप्तिहेतुरात्मविशोधनम् ।**
**बन्धहेतुर्विवेकश्च त्रयोदश उदीर्यते ॥ १७ ॥**

श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

अत्र भाष्यं 'तत्र तावत् त्रयोदशे देहात्मनोः स्वरूपं, देहयाथात्म्यशोधनं, देहवियुक्तात्मप्राप्त्युपायः, विविक्तात्मस्वरूपशोधनं, तथाविधस्यात्मनश्चाचित्सम्बन्धहेतुः, ततो विवेकानुसन्धानप्रकारश्चोच्यते' [रा. भा. १३।२ ] इति । अत्र देहस्वरूपमित्यनेनैवाभिप्रेतं देहात्मनोः स्वरूपमिति । देहयाथात्म्यशोधनमिति च विवृतम् । आत्माप्तिहेतुः 'अमानित्वम्' [ १३ । १८ ] इत्यादिभिरुक्तः । आत्मविशोधनं 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' [ १३।१३ ] इत्युपक्रम्य कृतम् । बन्धहेतुस्तु 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' [ १३।२२ ] इत्युक्तः । 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' [ १३।२५ ] इत्यादिना विवेकानुसन्धानप्रकारो यथाधिकारं दर्शितः ॥ १७ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः

——:०:——

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीवेदव्यासप्रणीता महाभारतान्तर्गता

# श्रीमद्भगवद्गीता

शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता ।

[ प्रथमगुच्छे तृतीयं षट्कम् ]

## ज्ञानकाण्डम् ।

## क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगाख्यस्त्रयोदशोऽध्यायः ।

प्रकृतिपुरुषादिबुभुत्सोरर्जुनस्य प्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच—प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।**
**एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव !* ॥ १ ॥**

१ शां. भा.— ॥ १ ॥

२ आ. शां. व्या.— ॥ १ ॥

३ रा. भा.— ॥ १ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ १ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ॥ १ ॥

९ व० त० दी०— ॥ १ ॥

१० पु. अ. त.– ये यथोक्तप्रकारेण मां भजन्ति विचक्षणाः । अनन्यमनसस्ते मे प्रियास्तानुद्धराम्यम् ॥ १ ॥
इत्युक्तिं समुपाकर्ण्य तज्जिज्ञासुर्धनञ्जयः । प्रभुं विज्ञापयामास प्रेमविह्वलितः सुधीः ॥ २ ॥

अथ प्रपञ्चादिसर्वस्वरूपज्ञानाभावे भक्तिः कथं स्यात् ? इति तज्ज्ञानं पृच्छति— **प्रकृतिमिति** । प्रकृतिं पूर्वोक्तां स्वशक्तिरूपां, पुरुषं च स्वांशं जीवं, क्षेत्रं सर्वोत्पत्तिस्थानं, क्षेत्रज्ञं, तत्स्वरूपज्ञं, ज्ञानं ज्ञानस्वरूपं, ज्ञेयं तेन ज्ञानेन प्राप्यं सर्वं हे केशव ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षद ! अहं भक्त्यर्थं वेदितुमिच्छामि ॥ १ ॥

११ नी० भा० दी०— ॥ १ ॥

---

* अयं श्लोकः श्रीशङ्करभगवत्पादादिभाष्यकारचतुष्टयेन टीकाकारैश्चोपेक्षितोऽतः केचनेमं प्रक्षिप्तं मन्यन्ते तथापि अश्वत्थामृततरङ्गिणीप्रणेतृभिः अस्मन्मुद्रिताष्टटीकात्मक-द्वितीयगुच्छान्तर्गतार्थसङ्ग्रहप्रणेतृभी राघवेन्द्रयतिभिश्च व्याख्यातत्वादत्रत्यश्लोकानामेकैकाङ्कवृद्धयाऽत्र निवेशितोऽस्माभिः ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्लक्षणम् ।

**श्रीभगवानुवाच– इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।**
**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ २ ॥**

१ शाङ्करभाष्यम् ।

सप्तमेऽध्याये सूचिते द्वे प्रकृती ईश्वरस्य त्रिगुणात्मिकाऽष्टधा भिन्नाऽपरा संसारहेतुत्वात् , परा चान्या जीवभूता क्षेत्रज्ञलक्षणेश्वरात्मिका; याभ्यां प्रकृतिभ्यामीश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुत्वं प्रतिपद्यते । तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणप्रकृतिद्वयनिरूपणद्वारेण तद्वत ईश्वरस्य तत्त्वनिर्धारणार्थं क्षेत्राध्याय आरभ्यते। अतीतानन्तराध्याये च 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' [ १२।१३ ] इत्यादिना यावदध्यायपरिसमाप्तिस्तावत्तत्त्वज्ञानिनां सन्न्यासिनां निष्ठा यथा ते वर्तन्त इत्येतदुक्तं, केन पुनस्ते तत्त्वज्ञानेन युक्ता यथोक्तधर्माचरणाद्भगवतः प्रिया भवन्त्येवमर्थश्चायमध्याय आरभ्यते। प्रकृतिश्च त्रिगुणात्मिका सर्वकार्यकरणविषयाकारेण परिणता पुरुषस्य भोगापवर्गार्थकर्तव्यतया देहेन्द्रियाद्याकारेण संहन्यते । सोऽयं सङ्घात इदं शरीरम् । तदेतद्भगवानुवाच– **इदमिति** ।

२ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

प्रथममध्यमयोः षट्कयोस्त्वन्तत्पदार्थावुक्तौ, अन्तिमस्तु षट्को वाक्यार्थनिष्ठः सम्यग्धीप्रधानोऽधुनाऽऽरभ्यते; तत्र क्षेत्राध्यायमन्तिमषट्काद्यमवतितारयिषुर्व्यवहितं वृत्तं कीर्तयति— **सप्तम** इति । प्रकृतिद्वयस्य स्वातन्त्र्यं वारयति— **ईश्वरस्येति** । भूमिरित्यादिनोक्ता सत्त्वादिरूपा प्रकृतिरपरेत्यत्र हेतुमाह— **संसारेति** । 'इतस्त्वन्यां' [ ७।५ ] इत्यादिनोक्तां प्रकृतिमनुक्रामति— **परा चेति** । परत्वे हेतुं सूचयति— **ईश्वरात्मिकेति** । किमर्थमीश्वरस्य प्रकृतिद्वयं ? इत्याशङ्क्य कारणत्वार्थमित्याह— **याभ्यामिति** । वृत्तमनूद्य वर्तिष्यमाणाध्यायारम्भप्रकारमाह— **तत्रेति** । व्यवहितेन सम्बन्धमुक्त्वाऽव्यवहितेन तं विवक्षुरव्यवहितमनुवदति— **अतीतेति** । निष्ठोक्तेति सम्बन्धः । निष्ठामेव व्याचष्टे— **यथेति** । वर्तन्ते धर्मजातमनुतिष्ठन्ति तथा पूर्वोक्तेन प्रकारेण सर्वमुक्तमिति योजना । अव्यवहितमेवानूद्य तेनोत्तरस्य सम्बन्धं सङ्गिरते— **केनेति** । तत्त्वज्ञानोक्तेरुक्तार्थेन समुच्चयार्थश्चकारः । जीवानां सुखदुःखादिभेदभाजां प्रतिक्षेत्रं भिन्नानां नाक्षरेणैक्यमित्याशङ्क्य संसारस्याऽऽत्मधर्मत्वं निराकर्तुं सङ्घातनिष्ठत्वं वक्तुं सङ्घातोत्पत्तिप्रकारमाह— **प्रकृतिश्चेति** । भोगश्चापवर्गश्चार्थौ तयोरेव कर्तव्यतयेति यावत् । नन्वनन्तरश्लोके शरीरनिर्देशात्तस्योत्पत्तिर्वक्तव्या, किमिति सङ्घातस्योच्यते ? तत्राऽऽह— **सोऽयमिति** । उक्तेऽर्थे भगवद्वचनमवतारयति— **तदेतदिति** ।

**१ शां. भा.— 'इदं'** इति सर्वनाम्नोक्तं विशिनष्टि— **शरीरमिति** । हे कौन्तेय ! क्षतत्राणात्क्षयात्क्षरणात्क्षेत्रवद्वाऽस्मिन्कर्मफलनिर्वृत्तेः क्षेत्रमिति । इतिशब्द एवंशब्दपदार्थकः । क्षेत्रमित्येवमभिधीयते कथ्यते । एतच्छरीरं क्षेत्रं यो वेत्ति विजानात्यापादतलमस्तकं ज्ञानेन विषयीकरोति, स्वाभाविकेनौपदेशिकेन वा वेदनेन विषयीकरोति विभागशस्तं वेदितारं प्राहुः कथयन्ति क्षेत्रज्ञ इति । इतिशब्द एवंशब्दपदार्थक एव पूर्ववत् , क्षेत्रज्ञ इत्येवमाहुः । के ? तद्विदस्तौ क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ ये विदन्ति विजानन्ति ते तद्विदः ॥ २ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तत्र द्रष्टृत्वेन सङ्घातदृश्यादन्यमात्मानं निर्दिशति– **इदमिति** । उक्तं प्रत्यक्षदृश्यविशिष्टं किञ्चिदिति शेषः । शरीरस्याऽऽत्मनोऽन्यत्वं क्षेत्रनामनिरुक्त्या ब्रूते— **क्षतेति** । क्षयो नाशः, क्षरणमपक्षयः । यथा क्षेत्रे बीजमुप्तं फलति तद्वदित्याह— **क्षेत्रवद्वेति** । क्षेत्रपदादुपरिस्थितमितिपदं क्षेत्रशब्दविषयमन्यथा वैयर्थ्यादित्याह— **इतिशब्द** इति । क्षेत्रमित्येवमनेन क्षेत्रशब्देनेत्यर्थः । दृश्यं देहमुक्त्वा ततोऽतिरिक्तं द्रष्टारमाह— **एतदिति** । स्वाभाविकं मनुष्योऽहमिति ज्ञानमौपदेशिकं, देहो नाऽऽत्मा दृश्यत्वादित्यादिविभागशः स्वतोऽतिरिक्तत्वेनेत्यर्थः । क्षेत्रमित्यत्रेतिशब्दवदत्रापीतिशब्दस्य क्षेत्रज्ञशब्दविषयत्वमाह— **इतिशब्द** इति । क्षेत्रज्ञ इत्येवं क्षेत्रज्ञशब्देन तं प्राहुरिति सम्बन्धः । प्रवक्तॄन्प्रश्नपूर्वकमाह— **के** इत्यादिना ॥ २ ॥

### ३ रामानुजभाष्यम् ।

पूर्वस्मिन् षट्के परमप्राप्यस्य परस्य ब्रह्मणो भगवतो वासुदेवस्य प्राप्त्युपायभूतभक्तिरूपभगवदुपासनाङ्गभूतं प्राप्तुः प्रत्यगात्मनो याथात्म्यदर्शनं ज्ञानयोगकर्मयोगलक्षणनिष्ठाद्वयसाध्यमुक्तम् । मध्यमे च परमप्राप्यभूतभगवत्तत्त्वयाथात्म्यतन्माहात्म्यज्ञानपूर्वकैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगनिष्ठा प्रतिपादिता; अतिशयितैश्वर्यापेक्षाणामात्मकैवल्यमात्रापेक्षाणां च भक्तियोगस्तत्तदपेक्षितसाधनमिति चोक्तम् ।

### ४ वेङ्कटनाथविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका ।

अथ तृतीयषट्कसङ्गतिं वक्तुं प्रथमद्वितीयषट्कार्थं सङ्ग्रहेणाह— **पूर्वस्मिन्निति** । अत्र पदानां भावः प्राक्प्रपञ्चितः । 'ज्ञानकर्मात्मिके निष्ठे योगलक्ष्ये सुसंस्कृते । आत्मानुभूतिसिद्ध्यर्थे पूर्वषट्केन चोदिते ' [ गी. सं. २ ] इति प्रथमषट्कार्थसङ्ग्रहः । सिषाधयिषितपर्यन्ताविच्छिन्नसाधनानुष्ठानमिह निष्ठा । 'मध्यमे भगवत्तत्त्वयाथात्म्यावाप्तिसिद्धये । ज्ञानकर्माभिनिर्वर्त्यो भक्तियोगः प्रकीर्तितः' [ गी. सं. ३ ] इति सङ्ग्रहानुसारेण मध्यमषट्कप्रधानार्थमुक्त्वा प्रसङ्गोक्तं चाह— **अतिशयितेति** । **इति चेति** चकारोऽन्वाचयार्थः । इदं चान्ते सङ्गृहीतं—'भक्तियोगस्तदर्थी चेत्समग्रैश्वर्यसाधनम् । आत्मार्थी चेत्त्रयोऽप्येते तत्कैवल्यस्य साधकाः ' [ गी. सं. २७ ] इति ।

**३ रा. भा.— इदानीमुपरितनषट्के प्रकृतिपुरुषतत्संसर्गरूपप्रपञ्चेश्वरयाथात्म्यकर्मज्ञानभक्तिस्वरूपतदुपादानप्रकाराश्च षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्ते; तत्र तावत् त्रयोदशे देहात्मनोः स्वरूपं, देहयाथात्म्यशोधनं, देहवियुक्तात्मप्राप्त्युपायः, विविक्तात्मस्वरूपसंशोधनं, तथाविधस्यात्मनश्चाचित्सम्बन्धहेतुः, ततो विवेकानुसन्धानप्रकारश्चोच्यते— इदमिति ।**

**४ वे. ता. चं.**— 'प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम् । कर्मधीर्भक्तिरित्यादिः पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः' [ गी. सं. ४ ] इति सङ्ग्रहश्लोकव्याख्यानाभिप्रायेण तृतीयषट्कं पूर्वोक्तषट्कद्वयेन सङ्गमयति— **इदानीमिति** । इदानीं सामान्यतः प्रतिपत्त्या बुभुत्सोदयेन विशोधनावसरे प्राप्त इत्यर्थः । **तत्संसर्गरूपप्रपञ्चेति** व्यक्तशब्दार्थविवरणम् । संसर्गोऽत्र समुदायः; यद्वा, 'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति' [ १४।३ ] इति संसर्गविशेषमूलत्वात्संसर्गरूपतोक्तिः । याथात्म्यशब्देन विवेचनशब्दाभिप्रेतकथनम् । विविच्यतेऽनेनेति व्यावर्तकधर्मोऽत्र विवेचनम् । **तदुपादानप्रकारा इति** आदिशब्दसङ्गृहीतोक्तिः । **षट्कद्वयोदिता विशोध्यन्त** इत्यनेन ' पूर्वशेषोऽन्तिमोदितः ' इत्येतदभिप्रेतसङ्गतिविशेषविवरणम् । **विशोध्यन्त** इतिवचनं वक्ष्यमाणस्य सर्वस्य सामान्यतः पुनरुक्तिपरिहारार्थम् । आभिप्रायिकानुक्तापेक्षितांशप्रतिपादनेन प्रागुक्तानां सर्वप्रकारेण निस्संशयीकरणं विशोधनम् । अथ ' देहस्वरूपमात्माप्तिहेतुरात्मविशोधनम् । बन्धहेतुर्विवेकश्च त्रयोदशे' [ गी. सं. १७ ] इति सङ्ग्रहश्लोकमपि व्याकुर्वंस्त्रयोदशमवतारयति— **तत्र तावदिति** । **तत्र** तृतीयषट्के वक्तव्ये, **तावत्** प्रथममित्यर्थः । तेनाध्यायान्तरेभ्यो वक्ष्यमाणेभ्यः पञ्चभ्योऽस्य पूर्वत्वं सङ्गतिविशेषसिद्धमित्यभिप्रेतम् । तथाहि— प्रथमषट्कं हि शास्त्रोपोद्घातशास्त्रावतरणहेतुभूतशोकनिवर्तकात्मदर्शनपरद्विकेन आत्मदर्शनस्यैव साधनप्रपञ्चनपरचतुष्केण च भिन्नम् । द्वितीयं च षट्कं साधनाधिकारिफलादिभेदपरिकरितभक्तियोगस्वरूपपरेण तदुत्पत्तिविवृद्ध्यर्थपरेण च त्रिकभेदेन भिन्नम् । तथा तृतीयं च षट्कं त्रिकद्वयात्मकम् । तत्र प्रथमत्रिकं [अ. १३।१४।१५ ] प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वररूपतत्त्वविवेचनपरम् । तत्र प्रसङ्गेन तु मात्रया कर्तव्यानुप्रवेशः । षोडशादित्रिकं [ १६।१७।१८ ] कर्तव्यादिविवेचनपरम् । तत्रापि तत्तत्प्रसङ्गान्मात्रया तत्त्वानुप्रवेशः शास्त्रवश्यत्वादिविवेकोऽपि हि कर्तव्यसिद्ध्यर्थमेव । एवं त्रिकभेदो विवक्षित इति षोडशारम्भे दर्शयिष्यति— ' अतीतेनाध्यायत्रयेण ' [ रा. भा. १६।११ ] इत्यादिना । अत्र ' प्रधानपुरुषव्यक्तसर्वेश्वरविवेचनम् ' इति समासपदेन प्रथमत्रिकार्थः संगृहीतः । ' कर्मधीर्भक्तिरित्यादिः ' इति तु कर्तव्यरूपद्वितीयत्रिकार्थः संगृहीत इति भाष्यकाराभिप्रायः । एतेन 'समाप्तं च पञ्चदशेऽध्याये शास्त्रम्; उत्तरैस्त्रिभिः खिलाध्यायैः परिशिष्टा नानाधर्मा निरूपिताः' इति यादवप्रकाशकल्पनाऽपि निरस्ता । अत्रच त्रिके त्रयोदशचतुर्दशाभ्यां ' गतासूनगतासूंश्च ' [ २।११ ] इत्यादिना क्रमेण देहात्मविवेकादिमुखेन प्रवृत्तप्रथमषट्कार्थशेषभूतदेहात्मयाथात्म्यसंसारतन्निवृत्तितन्निवर्तकादि परिशोध्यते । पञ्चदशेन तु मध्यमषट्कप्रतिपादितद्विविधप्रकृतिशेषिभूतचतुर्विधाधिकारिभजनीयपरमपुरुषपरिशोधनं क्रियते । इमं च भेदं पञ्चदशारम्भे सूचयिष्यति— 'क्षेत्राध्याये' [ रा. भा. १५।१ ] इत्यादिना । क्षेत्राध्यायप्रसक्तबन्धहेतुगुणसङ्गस्य बन्धहेतुताप्रकारतन्निवृत्त्यादिपरतया 'परं भूयः' इत्यादेः अध्यायस्य पश्चाद्भावित्वं सिद्धम् । ततः क्षेत्राध्यायस्य तृतीयषट्कादित्वं युक्तमिति तदेतदखिलमभिप्रेत्य— **तत्र तावत् त्रयोदशे** इत्युक्तम् । **देहात्मनोः स्वरूपं देहयाथात्म्यशोधनमिति**— अध्यायशरीरपर्यालोचनेन सङ्ग्रहश्लोकेऽनुक्तस्यापि चकारसमुच्चितस्योक्तिः । देहस्वरूपमिति तत्प्रतिसम्बन्ध्यात्मस्व-

रूपस्याप्युपलक्षणार्थम्। 'आत्मविशोधनम्' इति सङ्ग्रहश्च देहयाथात्म्यशोधनस्याप्युपलक्षणम्। **देहात्मनोः स्वरूपमिति** धर्मनिर्देशो विवक्षितः। विवेकशब्देन च न विविच्य प्रतिपादनमात्रं भेदमात्रं वा विवक्षितम्, 'आत्मविशोधनम्' इत्यनेनैव गतार्थत्वात्। 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' [१३।२९] इत्यादिना द्रष्टव्यत्वेन निर्दिष्टस्यात्मनः 'समं सर्वेषु' [१३।२८] इत्यादिना स्वयं विविच्यानुसन्धानप्रकारो हि वक्ष्यते। तदाह— **ततो विवेकानुसन्धानप्रकारश्चेति**।

**३ रा. भा.—** इदं शरीरं 'देवोऽहं, मनुष्योऽहं, स्थूलोऽहं, कृशोऽहम्' इत्यात्मना भोक्त्रा सह सामानाधिकरण्येन प्रतीयमानं भोक्तुरात्मनोऽर्थान्तरभूतस्य भोगक्षेत्रमिति शरीरयाथात्म्यविद्भिरभिधीयते। एतत् अवयवशः सङ्घातरूपेण च 'इदमहं वेद्मि' इति यो वेत्ति, तं वेद्यभूतादस्माद्वेदितृत्वेनार्थान्तरभूतं, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः आत्मयाथात्म्यविदः प्राहुः।

**४ वे. ता. चं.—** अथ 'गतासूनगतासूंश्च' [२।११] इतिप्राक्त्वेनैवोपक्षिप्तक्रमेण सप्तमारम्भप्रकृतिद्वयनिर्देशक्रमेण चापृष्टोऽप्यवसरे प्राप्ते स्वयमेव परिशोधयितुं भगवानुवाच— 'इदं शरीरम्' इति। भ्रान्तिरूपलोकोपलम्भप्रकारनिर्देशपर **इदं**शब्द इत्यभिप्रायेण **देवोऽहमित्याद्युक्तिः**। 'देवोऽहं मनुष्योऽहम्' इत्यनन्तजातिभेदोपलक्षणम्; 'स्थूलोऽहं कृशोऽहम्' इत्यनन्तगुणभेदोपलक्षणम्। एवं जातिगुणोदाहरणं 'गच्छामि' इत्यादिक्रियाविशेषोपलक्षणार्थम्। संसारिणां भोक्तृत्वं हि प्रायशो देहात्मभ्रममूलमित्यभिप्रायेण **आत्मना भोक्त्रेत्युक्तम्**। 'क्षेत्रमित्यभिधीयते' इत्यनेनैव भोग्यत्वं प्रतीतम्। ततश्च केदारादेवदत्त इव प्रतिसम्बन्धित्वेनार्थाक्षिप्तो भोक्ताभोक्तृत्वाकारेणार्थान्तरभूतसिद्ध इत्याह **भोक्तुरात्मनोऽर्थान्तरभूतस्येति**। भोगस्योत्पत्तिस्थानतया क्षेत्रत्ववाचोयुक्तिरित्याह— **भोगक्षेत्रमिति**। क्षतत्राणक्षयकरणाद्यप्रसिद्धक्लिष्टार्थग्रहणात्क्षेत्रवत्कर्मबीजफलोत्पत्तिस्थानत्वग्रहणमेवोचितमिति भावः। 'अभिधीयते' इत्यनेनाकाङ्क्षितोचितकर्त्रध्याहारः **शरीरयाथात्म्यविद्भिरिति**। यद्वा 'तद्विदः' इति पदमत्रापि विपरिणामेन प्रकृतविषयतया 'तद्विद्भिः' इति भाव्यम्। विपरिणते च तस्मिन् तच्छब्दः प्रकृतक्षेत्रपर इत्यभिप्रायः। 'एतद्यो वेत्ति' इत्यनेनैव देहाद्यतिरेकः स्फुटीक्रियत इत्याह— **एतदवयवशः सङ्घातरूपेण चेदमहं वेद्मीति**। **अयमभिप्रायः—** 'इदमहम्' इति प्रत्यक्त्वपराक्त्वाभ्यामेव तावद्भेदः प्रतीयते, गृहादिवदेव। नच 'देवोऽहं मनुष्योऽहम्' इति सामानाधिकरण्यव्यपदेशहेतुभूतदेहात्मबुद्ध्या सा प्रतीतिः भ्रान्तिरिति युक्तम्, तस्यैव देहात्मबुद्धेर्बाधात्। बलवता हि दुर्बलं बाध्येत। उपपत्तिशास्त्रे च प्राक्प्रपञ्चिते, बलं व्यतिरेकबुद्धेः, देहात्मबुद्धेस्तदुभयमपि प्रतिकूलमिति। प्रागुक्तां प्रत्येकसमुदायादिविकल्पानुपपत्तिमभिप्रेत्य **अवयवशः सङ्घातरूपेण** चेत्युक्तम्। **अवयवश** इति 'मम मूर्धा, मम हस्तः' इत्यादिरूपेणावयवेभ्योऽहमर्थः स्फुटं भिन्नतया प्रतीयते। न तु 'अहं मूर्धा' इत्यादिरूपेणेति भावः। **सङ्घातरूपेण चेति—** 'मम शरीरम्' इत्येव हि सङ्घातेऽपि भेदधीरिति भावः। 'एतद्यो वेत्ति' इत्यनेनाभिप्रेतं उपलम्भसिद्धं भेदं दर्शयति **वेद्यभूतादिति**। 'तद्विदः' इत्यत्र सामान्यज्ञानमात्रस्य निर्णयानुपयुक्तत्वात् **आत्मयाथात्म्यविद** इत्युक्तम्।

**३ रा. भा.—** यद्यपि देहव्यतिरिक्तघटाद्यर्थानुसन्धानवेलायां 'देवोऽहं, मनुष्योऽहं, घटादिकं जानामि' इति देहसामानाधिकरण्येन ज्ञातारमात्मानमनुसन्धत्ते, तथापि देहानुभववेलायां देहमपि घटादिकमिव 'इदमहं वेद्मि' इति वेद्यतया वेदितानुभवतीति वेदितुरात्मनो वेद्यतया शरीरमपि घटादिवदर्थान्तरभूतम्; तथा घटादेरिव वेद्यभूताच्छरीरादपि वेदिता क्षेत्रज्ञोऽर्थान्तरभूतः। सामानाधिकरण्येन प्रतीतिस्तु वस्तुतः शरीरस्य गोत्वादिवदात्मविशेषणतैकस्वभावतया तदपृथक्सिद्धेरुपपन्ना। तत्र वेदितुरसाधारणाकारस्य चक्षुरादिकरणाविषयत्वात् योगसंस्कृतमनोविषयत्वाच्च प्रकृतिसन्निधानादेव मूढः प्रकृत्याकारमेव वेदितारं पश्यति; तथा च वक्ष्यति— 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्। विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' [१५।१०] इति ॥ २ ॥

**४ वे. ता. चं.—** ननु ज्ञाता तावदात्मेति सिद्धम्; स च जानामीति प्रतीतिसिद्धः; सैव प्रतीतिर्ज्ञातृत्वमिव देहात्मकत्वमपि 'देवोऽहम्' इत्यादिरूपेण युगपद्गृह्णाति; प्रत्यक्षसिद्धस्य तस्य युक्त्या शास्त्रेण वा देहातिरिक्तत्वसाधने धर्मिग्राहकप्रमाणविरोध इति शङ्काभिप्रायेणाह— **यद्यपीति**। यदि ज्ञातुर्देहसमानाधिकरणतयैव प्रतीतिः स्यात्, तदैवं शक्येतापि। न च तदस्ति, देहस्यैव प्रधानतया वेद्यत्वदशायां व्यधिकरणतयैव प्रतीतिसिद्धेः। न च धर्मिग्राहकसिद्धः सर्वोऽप्याकारो नारोपित इति नियमः; बुद्बुदमुक्ताफलचषकमुकुरादिसमानपरिमाणान्येव ग्रहनक्षत्रहिमकरमार्तण्डमण्डलानि सर्वैरुपलभ्यन्ते; युक्त्या शास्त्रेण च अतिपृथुपरिमाणतया स्थाप्यन्ते; तद्वदत्रापीत्यभिप्रायेणाह— **तथापीति**। अतो धर्मिग्राहकविरोधरहितश्रुत्युपपत्तिसमानार्थ-

व्यतिरेकप्रत्ययसिद्धं देहात्मनोः परस्परभेदं सनिदर्शनमाह— **इति वेदितुरि**त्यादिना । इतिहेतौ । ननु यद्यतो भिद्यते, न तत्तत्समानाधिकरणतया प्रतीयते; यथा घटेन पटः; समानाधिकरणश्च मृद्घटादिवद्देहो ज्ञात्रा प्रतीयत इति विपरीतयुक्तिमाशङ्क्याह **सामानाधिकरण्येने**ति । **अयमभिप्रायः**— न तावत्सामानाधिकरण्यमात्रेणाभेदः, जातिगुणादिष्वभावात्; न च तानि न सन्तीति सौगती गतिः, अबाधितप्रत्ययबलेन दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिभिश्च धर्मधर्मिभेदसमर्थनात् । नचात्र भेदाभेदः, व्याघातादिप्रसङ्गात्; अतो यथा जातिगुणक्रियादिष्वपृथक्सिद्धेरेव सम्बन्धविशेषात्सामानाधिकरण्यम् । तद्वदत्रापीति सर्वानुवृत्तं वक्तव्यमित्यन्यथैवान्यथापि वोपपन्नं भेदसाधने सामानाधिकरण्यम्— इति । **विशेषणतैकस्वभावतये**त्यपृथक्सिद्धिविवरणम् ।

ननु जातिगुणादिवदिह धर्मधर्मिभावः सामानाधिकरण्यदशायां न प्रतीयते; यथा 'गौः शुक्लो गच्छति' इत्यादिषु गोत्वशुक्लत्वादिविशिष्ट इति बुद्धिः, न तथाऽत्र धीः; 'देवोऽहं, मनुष्योऽहम्' इत्यत्र हि 'देवत्वविशिष्टोऽहं, मनुष्यत्वविशिष्टोऽहम्' इति प्रतीतिः; न तु 'देवशरीरविशिष्टोऽहं, मनुष्यशरीरविशिष्टोऽहम्' इति । अतो घट इत्यत्र घटत्वविशिष्टपिण्डमात्रप्रतीतिवत् 'देवोऽहं, मनुष्योऽहम्' इत्यत्र देवत्वादिजातिविशिष्टपिण्डमात्रप्रतीतेर्देहस्य किञ्चित्प्रति विशेषणत्वादर्शनान्नापृथक्सिद्धिनिबन्धनं देहात्मसमानाधिकरण्यमित्यत्राह **तत्र वेदितुरि**ति । ज्ञानत्वनित्यत्वसूक्ष्मत्वादिरत्रासाधारणाकारः । **अयमभिप्रायः**— किं बाह्यकरणैर्देहमात्रप्रतीतिरिह विवक्षिता ? उत मनोमात्रेण ? अथवा परिशुद्धेन मनसा ? । नाद्यः, चक्षुरादीनामात्मग्रहणशक्त्यभावेन योग्यानुपलम्भाभावात् । न द्वितीयः, मनस आत्मग्रहणशक्तत्वेऽपि तस्याशुद्धस्य देहव्यावर्तकपरिमाणादिविशिष्टत्वेन ग्रहणाशक्तेः । न तृतीयः, असिद्धेः । अतिरिक्ततया ग्रहणार्थमेव हि योगोपदेशः । तथाच योगिनामुपलम्भः । अतो यथा गृह्यमाणयोरेव क्षीरनीरद्रव्ययोर्न्यूनाधिकसमभावेन संसर्गविशेषेषु क्षीरत्वेन नीरत्वेन वोपलम्भः; तद्वदत्रापि गृह्यमाणयोरेव देहात्मनोः सन्निधिविशेषवशेन रजस्तमोवृद्धिहेतुकर्मवशेन च भेदाग्रहादैक्याध्यास इति निर्णीतदोषतादृशोपलम्भवशेन विरोधो न शङ्कनीयः— इति । मोहहेतुभूतगुणमयप्रकृतिसन्निधानेन मूढतया यथावस्थितात्मादर्शने वशेन तस्य योगसंस्कृतमनोवेद्यत्वे च वक्ष्यमाणमुदाहरति **वक्ष्यति चे**ति ॥ २ ॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं ( माध्व- ) भाष्यम् ।

**श्रीज्ञानदात्रे नमः । ॐ पूर्वोक्तज्ञानज्ञेयक्षेत्रपुरुषान् पिण्डीकृत्य विविच्य दर्शयत्यनेनाध्यायेन ॥ २ ॥**

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

पूर्वसङ्गतत्वेनाध्यायप्रतिपाद्यं दर्शयति— **पूर्वोक्ते**ति । पूर्वमाषष्ठसमाप्तेर्यत् ज्ञानं ज्ञानसाधनमुक्तम्, यच्च सप्तमादिभिः षड्भिर्ज्ञेयं ब्रह्मस्वरूपमुक्तम्, यदपि 'भूमिरापः' [७।४] इत्यादिना क्षेत्रमुक्तम्, यच्च 'न त्वेवाहं' [२।१२] इत्यादिना पुरुषभेद उक्तः, तत्सर्वमनेनाध्यायेन दर्शयति भगवान् । किमर्थं ? पिण्डीकृत्य विक्षिप्तमेकीकृत्य । गौणोऽत्र क्त्वाप्रत्ययः पिण्डीकरणार्थमित्यर्थः । पिण्डीकरणे मिश्रत्वादप्रतिपत्तिरेवेत्यत उक्तम्— **विविच्ये**ति । प्रकरणशुद्धयेत्यर्थः ॥ २ ॥

## ७ हनुमत्प्रणीतं पैशाचभाष्यम् ।

**भूम्याद्यष्टविधा प्रकृतिरित्यपरेश्वरस्य शक्तिरूपा पुरा प्रतिपादिता 'भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादिना ग्रन्थेन । तथेश्वरस्य स्वरूपभूता जीवभूता च परा प्रकृतिः प्रतिपादिता 'अपरेयमितस्त्वन्यां' [ ७।५ ] इत्यादिना ग्रन्थेन । तत्र तत्प्रकृतिद्वयं क्षेत्रक्षेत्रज्ञरूपमीश्वरस्य स्वरूपावबोधार्थमेव यथावदर्जुनाय वक्ष्यामीति भगवानुवाच— इदमिति ॥ २ ॥**

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

तत्त्वम्पदार्थौ पूर्वाभ्यां षट्काभ्यां प्रतिपादितौ ।
तदैक्यरूपवाक्यार्थः षट्केनान्त्येन वर्ण्यते ॥

तत्र तावत्पूर्वाध्याये 'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' [ १२।७ ] इति प्रतिज्ञातं संसारोत्तरणं प्रति मुख्यहेतुभूतं जीवब्रह्माद्वैतज्ञानमुपदिदिक्षुः कर्तृत्वभोक्तृत्वादिमतो जीवस्य कथं तद्विपरीतब्रह्माभेद इति शङ्कानिरासाय कर्तृत्वादीनां क्षेत्रधर्मत्वात्तदुपपत्तिरिति दर्शयितुं देहेन्द्रियान्तःकरणरूपेभ्यः क्षेत्रेभ्यो निर्विकारशुद्धचिन्मात्ररूपक्षेत्रज्ञाख्यजीवस्य विवेचनार्थं त्रयोदशाध्याय आरभ्यते । तत्र यत्सप्तमाध्याये 'भूमिरापोऽनलो वायुः' [ ७।४ ] इत्यादिना भूम्यादिक्षेत्ररूपतया जीवाख्यक्षेत्रज्ञरूपतया च प्रकृतिद्वयमुक्तं, तदेव परस्परविविक्ततया तत्त्वतो निरूपयितुकामः **श्रीभगवानुवाच— इदमि**ति । इदमिन्द्रियान्तःकरणसहितं भोगायतनं शरीरं हे कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते संसारस्य प्ररोहभूमित्वात् । एतद् यो वेत्ति अहं ममेत्यभिमन्यते, तं क्षेत्रज्ञ इति प्राहुः; कृषीवलवत्फलभोक्तृत्वात् । तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविदः ॥ २ ॥

## ९ वल्लभाचार्यकृता तत्त्वदीपिका ।

सूत्रवत्पूर्वमुक्तस्य द्वितीयस्यापि वृत्तिवत् । तृतीयं सर्वनिर्णयं भाष्यमाभाष्यतेऽधुना ॥ १ ॥

यत्तावत्प्रथममुपपादितं प्रकृतिद्वयं परापरविवेकेन परप्रकृतिस्वरूपं सोपस्करं क्षेत्रम्, अपरप्रकृतिस्वरूपं तु चेतनः क्षेत्रज्ञ इत्यक्षरमूलस्वरूपत्वात् ज्ञेयं तत्साधनभूतं ज्ञानं चोपदिशन् श्रीभगवानुवाच— इदमिति । अन्यथा मध्ये प्रश्नं विना विवरणं नोपपद्येत । अत्र कैश्चिन्मूले 'प्रकृतिं पुरुषं च' [१३।१] इति पद्यान्तरं लिख्यते तत्तूपेक्ष्यं, असम्भवेन सर्वाप्रयुक्तत्वात् पूर्वोक्तविवरणरूपत्वाच्चास्य षट्कस्य । तथाहि यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे इत्याशयात् या पूर्वं प्रकृतिरनात्मा इत्युक्ता तत्परिणामभूतमिदं शरीरं पुरुषस्य निवासभूतत्वाज्जीवनाद्वा 'क्षेत्रं' इत्युच्यते तथाभूतमेतन्न विजानाति पुरुषो विविक्ततया; तदा तु क्षेत्रित्वमात्र एव संसारी भवति । एतद्यो वा कश्चिद्विविक्ततया वेत्ति क्षेत्रं जानाति स्वं च द्रष्टारं तं तु क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः प्राहुः ।

यद्यपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानं संसारदशायामप्यस्ति तथापि न विविक्ततया, किन्तु क्षेत्रसामानाधिकरण्येन; तथापि तद्भोग्यं भोक्तुरात्मनोऽर्थान्तरभूतमेव मृतशरीरे तथा दर्शनात् । किञ्चोभयोः सम्बन्धे तु तत्सम्भवति, न कैवल्ये सम्भवति । यस्य वेतृत्वं तस्यैव वेद्यादन्यत्वमर्थसिद्धं दृष्टचरं घटादिनो द्रष्टुरिव 'देवोऽहं' इत्यतिमन्दानां नाहमितिवदात्मविशेषणतैकस्वभावतया तदपृथक्सिद्धेरुपपन्नं भवति । इदं तु पार्थक्यं स्वात्मानं क्षेत्रज्ञमेव भेदेन विजानतो विदुषो भवति, न सर्वस्येति ॥ २ ॥

## १० पुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी ।

भगवान् कृपयाऽत्रोत्तरमाह— इदमिति । हे कौन्तेय कृपापात्र ! इदं शरीरं दृश्यमानं मरणादिधर्मयुक्तं क्षेत्रं ज्ञानादिप्ररोहस्थानं लीलार्थं स्वांशजीवोत्पत्तिस्थानं तद्विदा अभिधीयते कथ्यत इत्यर्थः । एतत् याथातथ्येन यो वेत्ति तं तद्विदः क्षेत्रविदो ज्ञानिनः क्षेत्रज्ञं प्राहुः । अन्योक्तिकथनेन तथा न भवतीति ज्ञापितम् ॥ २ ॥

## ११ नीलकण्ठप्रणीतो भारतभावदीपः ।

ननु 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते । नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः' [२।२५] इति द्वितीये त्वम्पदार्थस्वरूपमुक्तम्; तथा द्वादशे 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते । सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्' [१२।३] इति तत्पदार्थस्वरूपमुक्तम्; न च तयोर्भेदः सम्भवति, लक्षणैक्यात्; लक्षणं हि तयोरव्यक्तत्वमचिन्त्यत्वमचलत्वं सर्वगतत्वं चेत्यादिसमानम्; न च द्वयोः सर्वगतत्वं सम्भवति, अन्योन्यव्यावृत्तत्वेनासर्वगतत्वापत्तेः । न च लक्षणभेदाभावेऽपि तत्तदात्मगतविशेषाः सन्ति; ये मुक्तात्मनां जीवेशयोश्चान्योन्यं भेदमावहन्ति स्वात्मानं च स्वाश्रयात्स्वयमेव व्यावर्तयन्तीति वाच्यं, विशेषाणां सत्त्वे प्रमाणाभावात् । ननु मा सन्तु विशेषाः, बन्धमोक्षादिव्यवस्थान्यथानुपपत्त्या तु निर्विशेषेष्वपि पुरुषेषु भेदः सिध्यति, यथोक्तं साङ्ख्यवृद्धैः 'जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव' इति । जन्मादिव्यवस्थातो युगपत्प्रवृत्त्यदर्शनात् सात्त्विकराजसादिभेदाच्च न पुरुषैक्यमित्यर्थ इति चेत्, न; व्यापकानेकात्मवादे भोगसाङ्कर्यप्रसङ्गात् । न ह्येकत्रान्तःकरणे सुखादिरूपेण परिणते तत्प्रतिसंवेदी एक एव चेतन इति नियन्तुं शक्यं, सर्वेषां सान्निध्याविशेषेण प्रतिसंवेदनापत्तेरवर्जनीयत्वात् । श्रोत्रस्यैकस्यापि कर्णशष्कुलीरूपोपाधिभेदादिवान्तःकरणरूपोपाधिभेदादेकस्याप्यात्मनः शब्दग्रहव्यवस्थावज्जन्मादिव्यवस्थाऽपि सेत्स्यतीति न पुरुषबहुत्वं वक्तव्यम् । ततश्च जीवेशयोर्लक्षणैक्यादभेदे सिद्धे किमुत्तरग्रन्थेन तत्प्रतिपादनार्थेन ? इति चेत्, सत्यम्; "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" [बृ.उ.४।५।१५] इति श्रुतेर्विद्यावस्थायां भेदाभावेऽप्यविद्यावस्थायाम् "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां" [तै.आ.३।११चित्यु. ११।१] "एष ह्येव (एनं) साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते(उन्नुत्सते)"[कौ.उ.३९] इति व्यवहारदशायां शास्यशासितृभावेन कर्तृकारयितृभावेन च प्रसक्तस्य जीवेश्वरयोर्भेदस्य निरासार्थत्वादुत्तरग्रन्थस्यारम्भ उपपद्यते । तत्रानुपदोक्तेन तत्पदार्थेन सहास्याभेदं वक्तुं योग्यतायै भास्यभासकभावेन क्षेत्रात्क्षेत्रज्ञस्य कुम्भाद्भास्वत इव विवेकं दर्शयति— इदमिति । इदमनात्मत्वेन भास्यं घटाद्यहङ्कारान्तं शरीरं विशरणधर्मि हे कौन्तेय ! क्षेत्रं क्षिणोत्यात्मानमविद्यया त्रायते च विद्ययेति क्षेत्रं कर्मबीजप्ररोहस्थानं क्षेत्रशब्देनोच्यते, एतद्यो वेत्ति भासयति तं चिदात्मानं क्षेत्रज्ञ इत्यन्वर्थसंज्ञं प्राहुः । के प्राहुः ? तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविदः । एतेन 'गच्छामि, पश्यामि, भुञ्जे' इति अनुभवाद्देहेन्द्रियाहङ्काराः प्रतीतितो भासककोटिनिविष्टा इव भान्ति, तथापि तेषां तत्त्वतो भास्यत्वलक्षणो नात्मभावः सिद्धः ॥ २ ॥

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ ३ ॥**

**१ शां. भा.—** एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञावुक्तौ किमेतावन्मात्रेण ज्ञानेन ज्ञातव्यौ ? इति, नेत्युच्यते—**क्षेत्रज्ञ**मिति । क्षेत्रज्ञं यथोक्तलक्षणं चापि मां परमेश्वरमसंसारिणं विद्धि जानीहि । सर्वक्षेत्रेषु यः क्षेत्रज्ञो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानेकक्षेत्रोपाधिप्रविभक्तस्तं निरस्तसर्वोपाधिभेदं सदसदादिशब्दप्रत्ययागोचरं विद्धीत्यभिप्रायः । हे भारत ! यस्मात्क्षेत्रक्षेत्रज्ञेश्वरयाथात्म्यव्यतिरेकेण न ज्ञानगोचरमन्यदवशिष्टमस्ति, तस्मात्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञेयभूतयोर्यज्ज्ञानं क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ येन ज्ञानेन विषयीक्रियेते तज्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति मतमभिप्रायो ममेश्वरस्य विष्णोः ।

**२ आ. शां. व्या.—** दृश्यानां दुःखादीनां भेदकानां यावद्देहभाविनां अनात्मधर्मत्वसिद्धये द्रष्टारं देहादन्यमुक्त्वा साङ्ख्यानामिव तन्मात्रेण मुक्तिनिवृत्तये तस्य सर्वदेहेष्वैक्योक्तिपूर्वकं स्वेन परमार्थेनाक्षरेणैक्यं वृत्तमनूद्य प्रश्नद्वारा दर्शयति—**एवमि**त्यादिना । यथोक्तलक्षणं दृश्याद्देहान्निष्कृष्टं द्रष्टारमित्यर्थः । **चापी**तिनिपातौ जीवस्याक्षरत्वज्ञानस्य देहादन्यत्वज्ञानेन समुच्चयार्थौ भिन्नक्रमौ; न क्षेत्रज्ञं साङ्ख्यवद्दृश्यादन्यमेव विद्धि; किन्तु मां चापि विद्धीति सम्बध्यते । यः सर्वक्षेत्रेष्वेकः क्षेत्रज्ञस्तं मामेव विद्धीति सम्बन्धं सूचयति—**सर्वे**ति । तत्तत्क्षेत्रोपाधिकभेदभाजस्तत्तच्छब्दधीगोचरस्य कथं तद्विपरीतब्रह्मत्वधीः ? इत्याशङ्क्याऽऽह—**ब्रह्मादी**ति । उत्तरार्धं विभजते—**यस्मा**दिति । तदेव विशिनष्टि—**क्षेत्रे**ति । न च भेदविषयत्वान्न सम्यग्ज्ञानं तदिति युक्तं, तस्य विवेकज्ञानस्य वाक्यार्थज्ञानद्वारा मोक्षौपयिकत्वेन सम्यक्त्वसिद्धि(द्धे)रिति भावः ।

**१ शां. भा.—** ननु सर्वक्षेत्रेष्वेक एवेश्वरः, नान्यः तद्व्यतिरिक्तो भोक्ता विद्यते चेत्तत ईश्वरस्य संसारित्वं प्राप्तम्; ईश्वरव्यतिरेकेण वा संसारिणोऽन्यस्याभावात् संसाराभावप्रसङ्गः । तच्चोभयमनिष्टं, बन्धमोक्षतद्धेतुशास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्, प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधाच्च । प्रत्यक्षेण तावत्सुखदुःखतद्धेतुलक्षणः संसार उपलभ्यते ।

**२ आ. शां. व्या.—** जीवेश्वरयोरेकत्वमुक्तमाक्षिपति—**नन्वि**ति । जीवेश्वरयोरेकत्वे जीवस्येश्वरे वा तस्य जीवे वाऽन्तर्भावो नाऽऽद्यः, जीवस्य परस्मादन्यत्वाभावे संसारस्य निरालम्बनत्वानुपपत्त्या परस्यैव तदाश्रयत्वप्रसङ्गादित्यर्थः । "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" [ श्वे. उ. ४।६ मुं. उ. ३।१।१ ] इति श्रुतेर्न तस्य संसारितेत्याशङ्क्य द्वितीयं दूषयति—**ईश्वरे**ति । जीवे चेदीश्वरोऽन्तर्भवति तदाऽपि ततोऽन्यसंसार्यभावात्तस्य च संसारोऽनिष्ट इति संसारो जगत्यस्तं गच्छेदित्यर्थः । प्रसङ्गद्वयस्येष्टत्वं निराचष्टे—**तच्चे**ति । संसाराभावे "तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति" [ श्वे. उ. ४।६ मुं. उ. ३।१।१ ] इत्यादिबन्धशास्त्रस्य तद्धेतुकर्मविषयकर्मकाण्डस्य चाऽऽनर्थक्यमीश्वराश्रिते च संसारे तदभोक्तृत्वश्रुतेर्ज्ञानकाण्डस्य मोक्षतद्धेतुत्वज्ञानार्थस्याऽऽनर्थक्यं, अतो न प्रसङ्गयोरिष्टतेत्यर्थः । संसाराभावप्रसङ्गस्यानिष्टत्वे हेत्वन्तरमाह—**प्रत्यक्षादी**ति । तत्र प्रत्यक्षविरोधं प्रकटयति—**प्रत्यक्षेणे**ति ।

**१ शां. भा.—** जगद्वैचित्र्योपलब्धेश्च धर्माधर्मनिमित्तः संसारोऽनुमीयते । सर्वमेतदनुपपन्नमात्मेश्वरैकत्वे, न; ज्ञानाज्ञानयोरन्यत्वेनोपपत्तेः । "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता" [ कठो. २।४ ] तथा च तयोर्विद्याविद्याविषययोः फलभेदोऽपि विरुद्धो निर्दिष्टः "श्रेयश्च प्रेयश्च" [ कठो. २।२ ] इति । विद्याविषयः श्रेयः, प्रेयस्त्वविद्याकार्यमिति । तथा च व्यासः—'द्वाविमावथ पन्थानौ' [ म. भा. १२।२४१।६ ] इत्यादि 'इमौ द्वावेव पन्थानौ' इत्यादि च । इह च द्वे निष्ठे उक्ते । अविद्या च सह कार्येण विद्यया हातव्येति श्रुतिस्मृतिन्यायेभ्योऽवगम्यते ।

**२ आ. शां. व्या.—** आदिशब्दोपात्तमनुमानविरोधमाह—**जगदि**ति । विमतं विचित्रहेतुकं विचित्रकार्यत्वात् प्रासादादिवदित्यर्थः । प्रत्यक्षानुमानागमविरोधादयुक्तमैक्यमित्युपसंहरति—**सर्वमि**ति । ऐक्येऽपि संसारित्वमविद्यातो विद्यातोऽसंसारित्वमिति विभागान्नानुपपत्तिरित्युत्तरमाह—**ने**त्यादिना । तयोः स्वरूपतो विलक्षणत्वे श्रुतिमाह—**दूरमि**ति ।

अविद्या या च विद्येति प्रसिद्धे एते विद्याविद्ये दूरं विपरीते अत्यन्तविरुद्धे इत्यर्थः । विषूची नानागती भिन्नफले इत्यर्थः । स्वरूपतो विरोधवत्फलतोऽपि सोऽस्तीत्याह— **तथेति** । फलभेदोक्तिमेव व्यनक्ति— **विद्येति** । तयोर्विलक्षणत्वे वेदव्यासस्यापि सम्मतिमाह— **तथा चेति** । उक्तेऽर्थे भगवतोऽपि सम्मतिमुदाहरति— **इह चेति** । द्वयोरपि निष्ठयोस्तुल्यमुपादेयत्वमिति शङ्कां शातयति— **अविद्या चेति** ।

**१ शां. भा.**— श्रुतयस्तावत्— "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः" [ केनो. २।५ ] "तमेवं विद्वानमृत इह भवति" [ तै. आ. ३।१२ ] "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [ श्वे. उ. ३।८ ] "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" [ तै. उ. २।९ ] अविदुषस्तु— "अथ तस्य भयं भवति" [ तै. उ. २।७ ] "अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः" [ कठो. २।५ ] "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" [ मुण्डको. ३।२।९ ] "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" [ बृ. उ. १।४।१० ] आत्मविदः "स इदं सर्वं भवति" [ बृ. उ. १।४।१० ] "यदा चर्मवत्" [ श्वे. उ. ६।२० ] इत्याद्याः सहस्रशः । स्मृतयश्च— 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः' [ ५।१५ ] 'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः' [५।१९] 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' [१३।२९] इत्याद्याः ।

**२ आ. शां. व्या.**— अविद्या सकार्या हातव्येत्यत्र श्रुतीरुदाहरति— **श्रुतयस्तावदिति** । इहेति जीवदवस्थोच्यते, चेच्छब्दो विद्योदयदौर्लभ्यद्योती, अवेदीदहं ब्रह्मेति विदितवानित्यर्थः । अथ विद्यानन्तरमेव सत्यमवितथं पुनरावृत्तिवर्जितं कैवल्यं स्यादित्याह— **अथेति** । अविद्याविषयेऽपि श्रुतिमाह— **न चेदिति** । जन्ममरणादिरूपा संसृतिर्विनष्टिस्तस्या महत्त्वं सम्यग्ज्ञानं विना निवर्तयितुमशक्यत्वम् । विद्याविषये श्रुत्यन्तरमाह— **तमेवमिति** । परमात्मानं प्रत्यक्त्वेन यः साक्षात्कृतवान्स देही जीवन्नेव मुक्तो भवतीत्यर्थः । विद्यां विनाऽपि हेत्वन्तरतो मुक्तिमाशङ्क्याऽऽह— **नेति** । भयहेतुमविद्यां निराकुर्वती तज्जं भयमपि निरस्यति विद्येत्यत्र वाक्यान्तरमाह— **विद्वानिति** । अविद्याविषये वाक्यान्तरमाह— **अविदुष इति** । प्रतीच्येकरसे स्वल्पमपि भेदं मन्यमानस्य भेददृष्ट्यनन्तरमेव संसारध्रौव्यमित्यर्थः । तत्रैव श्रुत्यन्तरमाह— **अविद्यायामिति** । तन्मध्ये तत्परवशतया स्थितास्तत्त्वमजानन्तो देहाद्यभिमानवन्तो मूढाः संसरन्तीत्यर्थः । विद्याविषये श्रुत्यन्तरमाह— **ब्रह्मेति** । अविद्याविषये श्रुत्यन्तरमाह— **अन्योऽसाविति** । भेददृष्टिमनूद्य तन्निदानमविद्येत्याह— **नेति** । स च मनुष्याणां पशुवद्देवादीनां प्रेष्यतां प्राप्नोतीत्याह— **यथेति** । विद्याविषये वाक्यान्तरमाह— **आत्मविदिति** । इदं सर्वं प्रत्यग्भूतं पूर्णं ब्रह्मेत्यर्थः । 'ज्ञानादेव तु कैवल्यं' इत्यत्र श्रुत्यन्तरमाह— **यदेति** । न खल्वाकाशं चर्मवन्मानवो वेष्टयितुमीष्टे तथा परमात्मानं प्रत्यक्त्वेनाननुभूय न मुच्यत इत्यर्थः । आदिशब्देनानुक्ता विद्याविद्याफलभेदार्थाः श्रुतयो गृह्यन्ते । तासां भूयस्त्वेन प्रामाण्यं सूचयति— **सहस्रश इति** । विद्याविद्याविषये स्मृतीरुदाहरति— **स्मृतयश्चेति** । तत्राविद्याविषयं वाक्यमाह— **अज्ञानेनेति** । विद्याविषयं वाक्यद्वयं दर्शयति— **इहेत्यादिना** ।

**१ शां. भा.**— न्यायतश्च— 'सर्पान्कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति । अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचिज्ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्' [ म.भा.१२।२०१।१७ ] तथा च देहादिष्वात्मबुद्धिरविद्वान्रागद्वेषादिप्रयुक्तो धर्माधर्मानुष्ठानकृत् 'जायते म्रियते च' इत्यवगम्यते; देहादिव्यतिरिक्तात्मदर्शिनो रागद्वेषादिप्रहाणापेक्षधर्माधर्मप्रवृत्त्युपशमान्मुच्यन्त इति न केनचित्प्रत्याख्यातुं शक्यं न्यायतः । तत्रैवं सति क्षेत्रज्ञस्येश्वरस्यैव सतोऽविद्याकृतोपाधिभेदतः संसारित्वमिव भवति; यथा देहाद्यात्मत्वमात्मनः । सर्वजन्तूनां हि प्रसिद्धो देहादिष्वनात्मस्वात्मभावो निश्चितोऽविद्याकृतः; यथा स्थाणौ पुरुषनिश्चयः । न चैतावता पुरुषधर्मः स्थाणोर्भवति, स्थाणुधर्मो वा पुरुषस्य । तथा न चैतन्यधर्मो देहस्य, देहधर्मो वा चेतनस्य ।

**२ आ. शां. व्या.**— 'विद्याफलमनर्थध्वस्तिरविद्याफलमनर्थास्तिः' इत्येतदन्वयव्यतिरेकाख्यन्यायादपि सिध्यतीत्याह— **न्यायतश्चेति** । तत्रैव पुराणसम्मतिमाह— **सर्पानिति** । उदपानं कूपम्, यथाऽऽत्मज्ञाने विशिष्टं फलं स्यात्तथा पश्येति योजना । न्यायतश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाख्यं न्यायमुक्तं विवृणोति— **तथा चेति** । तत्राऽऽदावन्वयमाचष्टे— **देहादिष्विति** । अनाद्यनिर्वाच्याविद्यावृतश्चिदात्मा देहादावनात्मन्यात्मबुद्धिमादधाति, तद्युक्तो रागादिना प्रेर्यते, तत्प्रयुक्तश्च कर्मानुतिष्ठति, तत्कर्ता च यथाकर्म नूतनं देहमादत्ते, पुरातनं त्यजति,इत्येवमविद्यावत्त्वे संसारित्वं सिद्धमित्यर्थः । व्यतिरेक

मिदानीं दर्शयति— देहादीति । श्रुतियुक्तिभ्यां भेदे ज्ञाते रागादिध्वस्त्या कर्मोपरमादशेषसंसारासिद्धिरित्यविद्याहित्ये बन्धध्वस्तिरित्यर्थः । उक्तान्वयादेरन्यथासिद्धिं शिथिलयति— इति नेति । उक्तमन्वयादिवादिना केनचिदपि न्यायतो न शक्यं प्रत्याख्यातुं तदन्यथासिद्धिसाधकाभावादित्यर्थः । अन्वयादेरनन्यथासिद्धित्वे चोद्यमपि प्राचीनं प्रतिनीतमित्याह— तत्रेति । ज्ञानाज्ञानयोरुक्तन्यायेन स्वरूपभेदे कार्यभेदे च स्वारस्येन परापरयोरैक्येऽपि बुद्ध्याद्युपाधिभेदादाविद्यकमात्मनः संसारित्वमाभासरूपं प्रातिभासिकं सिध्यतीत्यर्थः । आत्मनो ब्रह्मता स्वतश्चेदहमित्यात्मभावेन ब्रह्मताऽपि मायादित्याशङ्क्याऽऽह— यथेति । देहाद्यतिरेकस्याऽऽत्मनो वैदिकपक्षे स्वतस्त्वेऽपि तस्मिन्नहमिति भात्येव, तदतिरिक्तत्वं न भाति, किन्त्वविद्यातो देहाद्यात्मत्वमेव विपरीतं भासते; तथाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वे स्वाभाविकेऽपि तस्मिन्भात्येव ब्रह्मत्वं, न भात्यविद्यातोऽब्रह्मत्वमेव त्वस्य भास्यतीत्यर्थः । आत्मनो देहाद्यात्मत्वमाविद्यं भातीत्युक्तमनुभवेन स्पष्टयति— सर्वेति । अतस्मिंस्तद्बुद्धिरविद्याकृतेत्यत्र दृष्टान्तमाह— यथेति । पुरस्स्थिते वस्तुनि स्थाणावविद्यया पुमानिति निश्चयो जायते तथा देहादावनात्मन्यात्मधीरविद्यातो निश्चितेत्यर्थः । देहात्मनोरैक्यज्ञाने देहधर्मस्य जरादेरात्मन्यात्मधर्मस्य च चैतन्यस्य देहे विनिमयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— न चेति । स्थाणौ पुरुषत्वं भ्रान्त्या भातीत्येतावता पुरुषधर्मः शिरःपाण्यादिर्न स्थाणोर्भवति । तद्धर्मो वा वक्रत्वादिर्न पुंसो दृश्यते मिथ्याध्यस्ततादात्म्याद्वस्तुतो धर्माव्यतिकरादिति दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह— तथेति ।

**१ शां. भा.**— एवं सुखदुःखमोहात्मकत्वादिरात्मनो न युक्तोऽविद्याकृतत्वाविशेषाज्जरामृत्युवत् ; न, अतुल्यत्वात् ; इति चेत् , स्थाणुपुरुषौ ज्ञेयावेव सन्तौ ज्ञात्राऽन्योन्यस्मिन्नध्यस्ताववियया; देहात्मनोस्तु ज्ञेयज्ञात्रोरेवेतरेतराध्यासः, इति न समो दृष्टान्तः । अतो देहधर्मो ज्ञेयोऽपि ज्ञातुरात्मनो भवतीति चेत् , न; अचैतन्यादिप्रसङ्गात् । यदि हि ज्ञेयस्य देहादेः क्षेत्रस्य धर्माः सुखदुःखमोहेच्छादयो ज्ञातुः ( आत्मनः ) भवन्ति, तर्हि ज्ञेयस्य क्षेत्रस्य धर्माः केचनाऽऽत्मनो भवन्त्यविद्याध्यारोपिताः; जरामरणादयस्तु न भवन्तीति विशेषहेतुर्वक्तव्यः । 'न भवन्ति' इत्यस्त्यनुमानमविद्याध्यारोपितत्वाज्जरामरणादिवदिति, हेयत्वादुपादेयत्वाच्चेत्यादि ।

**२ आ. शां. व्या.**— जरादेरनात्मधर्मत्वेऽपि सुखादेरात्मधर्मत्वमिति केचित्तान्प्रत्याह— सुखेति । कामसङ्कल्पादिश्रुतेरनात्मधर्मत्वज्ञानादित्यर्थः । किञ्च विमतो नाऽऽत्मधर्मोऽविद्याकृतत्वाज्जरादिवत् न च हेत्वसिद्धिरतस्मिंस्तद्बुद्धिविषयत्वेन स्थाणौ पुरुषत्ववत् , अविद्याकृतत्वस्योक्तत्वादिति मत्वाऽऽह— अविद्येति । स्थाणौ पुरुषत्ववदाविद्यत्वं देहादेरयुक्तं दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यादिति शङ्कते— नेति । तदेव प्रपञ्चयति— स्थाणिवत्यादिना । ज्ञेयस्य ज्ञेयान्तरेऽध्यासादत्र चोभयोर्ज्ञेयत्वं व्यापकव्यावृत्त्या व्याप्याध्यासस्यापि व्यावृत्तिरित्यर्थः । देहात्मबुद्धेर्भ्रमत्वाभावे फलितमाह— अत इति । उपाधिधर्माणां सुखादीनामुपहिते जीवे वस्तुत्वमयुक्तमतिप्रसङ्गादिति परिहरति— नेत्यादिना । अतिप्रसङ्गमेव प्रकटयति— यदीति । सुखादीनामात्मधर्मत्वं चेदुपाधिधर्मत्वादचैतन्यं जरादिकं चाऽऽत्मनो दुर्वारं स्यादित्यर्थः । सुखादिरात्मधर्मो नेति पक्षेऽपि नास्ति विशेषहेतुरित्याशङ्क्याऽऽह— नेति । तदेवानुमानं साधयति— अविद्येति । विमतं नाऽऽत्मधर्मं आगमापायित्वात्संसारवदित्यनुमानान्तरमाह— हेयत्वादिति । आदिशब्दाद्दृश्यत्वजडत्वादि गृह्यते ।

**१ शां. भा.**— तत्रैवं सति कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारो ज्ञेयस्थो ज्ञातर्यविद्ययाऽध्यारोपित इति; न तेन ज्ञातुः किञ्चिद्दुष्यति । यथा बालैरध्यारोपितेनाऽऽकाशस्य तलमलिनत्वादिना । एवं च सति सर्वक्षेत्रेष्वपि सतो भगवतः क्षेत्रज्ञस्येश्वरस्य संसारित्वगन्धमात्रमपि नाऽऽशङ्क्यम् । न हि क्वचिदपि लोकेऽविद्याध्यस्तेन धर्मेण कस्यचिदुपकारोऽपकारो वा दृष्टः । यत्तूक्तं 'न समो दृष्टान्तः' इति, तदसत् । कथम् ? अविद्याध्यासमात्रं हि दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः साधर्म्यं विवक्षितम् ; तन्न व्यभिचरति । यत्तु ज्ञातरि व्यभिचरतीति मन्यसे तस्याप्यनैकान्तिकत्वं दर्शितं जरादिभिः । अविद्यावत्त्वात् क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वमिति चेत्, न; अविद्यायास्तामसत्वात् । तामसो हि प्रत्यय आवरणात्मकत्वादविद्याविपरीतग्राहकः, संशयोपस्थापको वाऽग्रहणात्मको वा ।

**२ आ. शां. व्या.**— सुखादीनां जरादिवदात्मधर्मत्वाभावे तस्य वस्तुतोऽसंसारितेति फलितमाह— तत्रेति । आरोपितेनाधिष्ठानस्य वस्तुतोऽस्पर्शे दृष्टान्तमाह— यथेति । पराभिन्नस्याऽऽत्मनः संसारित्वमध्यस्तमिति स्थिते यत्परस्य संसारित्वापादनं तदयुक्तमित्याह— एवं चेति । आत्मनि संसारस्याऽऽरोपितत्वात्तदभिन्ने परस्मिन्नाशङ्कैव तस्यायुक्तेत्यत-

डुपपादयति— **न हीति**। स्थाणौ पुरुषनिश्चयवदात्मनो देहाद्यात्मत्वनिश्चयस्याध्यस्ततेत्युक्तं दृष्टान्तस्य ज्ञेयमात्रविषयत्वादितरस्य ज्ञेयज्ञातृविषयत्वादित्युक्तमनुवदति— **यत्त्विति**। वैषम्यं दूषयति— **तदसदिति**। तर्हि केन साधर्म्यं ? इति पृच्छति— **कथमिति**। अभीष्टं साधर्म्यं दर्शयति— **अविद्येति**। तस्योभयत्रानुगतिमाह— **तन्नेति**। ज्ञेयान्तरे ज्ञेयस्याऽऽरोपनियमाज्ज्ञातरि नाऽऽरोपः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **यत्त्विति**। नायं नियमो ज्ञातरि जराद्यारोपस्योक्तत्वादित्याह— **तस्यापीति**। ज्ञेयस्यैव ज्ञेयान्तरेऽध्यासनियमस्येति यावत्। **अतो** ज्ञातरि नाऽऽरोपव्यभिचारशङ्केत्यर्थः। आत्मन्यविद्याध्यासे तत्राविद्यायाः स्वाभाविकत्वात्तदधीनत्वं संसारित्वमपि तथा स्यादिति शङ्कते— **अविद्यावत्त्वादिति**। काऽविद्या विपरीतग्रहादिर्वा ? अनाद्यनिर्वाच्याज्ञानं वा ?। नाऽऽद्यो विपरीतग्रहादेस्तमश्शब्दितानिर्वाच्याज्ञानकार्यत्वात्तन्निष्ठस्याऽऽत्मधर्मत्वायोगादित्याह— **नेत्यादिना**। तदेव प्रपञ्चयति— **तामसो हीति**।

**१ शां. भा.—विवेकप्रकाशभावे तदभावात्। तामसे चाऽऽवरणात्मके तिमिरादिदोषे सत्यग्रहणादेरविद्यात्रयस्योपलब्धेः। अत्राऽऽहैवं तर्हि ज्ञातृधर्मोऽविद्या ? न; करणे चक्षुषि तैमिरिकत्वादिदोषोपलब्धेः। यत्तु मन्यसे ज्ञातृधर्मोऽविद्या, तदेव चाविद्याधर्मवत्त्वं क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वम्। तत्र यदुक्तमीश्वर एव क्षेत्रज्ञः, न संसारीत्येतदयुक्तमिति। तन्न; यथा करणे चक्षुषि विपरीतग्राहकादिदोषस्य दर्शनात्।**

२ आ. शां. व्या.— आवरणात्मकत्वं वस्तुनि सम्यक्प्रकाशप्रतिबन्धकत्वम्; विपरीतग्रहणादेरविद्याकार्यत्वं विद्यापोह्यत्वेन साधयति— **विवेकेति**। न च कारणाविद्याऽनाद्यनिर्वाच्याऽऽत्मधर्मः स्यादिति युक्तमनिर्वाच्यत्वादेव तस्यास्तद्धर्मत्वस्य दुर्वचत्वादिति भावः। किञ्च विपरीतग्रहादेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां दोषजन्यत्वावगमादपि नाऽऽत्मधर्मतेत्याह— **तामसे चेति**। तमश्शब्दिताज्ञानोत्थवस्तुप्रकाशप्रतिबन्धकस्तिमिरकाचादिदोषस्तस्मिन्सत्यज्ञानं मिथ्याधीः संशयश्चेति त्रयस्योपलम्भादसति तस्मिन्नप्रतीतेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां विपरीतज्ञानादेर्दोषाधीनत्वाधिगमान्न केवलात्मधर्मतेत्यर्थः। दोषस्य निमित्तत्वाद्भावकार्यस्योपादाननियमादनिर्वाच्याविद्यायाश्चासम्मतेरात्मैव विपर्ययादेरुपादानमिति चोदयति— **अत्राऽऽहेति**। विपरीतग्रहादेर्दोषोत्थत्वं सप्तम्यर्थः। अग्रहादित्रितयमविद्या। विपर्ययादेः सत्योपादानत्वे सत्यत्वप्रसङ्गान्नाऽऽत्मा तदुपादानं, किन्तु दोषस्य चक्षुरादिधर्मकत्वग्रहणादग्रहणादेरपि दोषत्वात्करणधर्मत्वे कारणमविद्योत्थमन्तःकरणम्। न च तद्धेतुरविद्याऽसिद्धेति वाच्यम्; अज्ञोऽहमित्यनुभवात्स्वापे चाज्ञानपरामर्शात्तदवगमात्कार्यलिङ्गकानुमानादागमाच्च तत्प्रसिद्धेरिति परिहरति— **नेत्यादिना**। सङ्गृहीतचोद्यपरिहारयोश्चोद्यं विवृणोति— **यत्त्विति**। अविद्यावत्त्वेऽपि ज्ञातुरसंसारित्वादुत्खातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति ? इत्याशङ्क्याह— **तदेवेति**। मिथ्याज्ञानादिमत्त्वमेवाऽऽत्मनः संसारित्वमिति स्थिते फलितमाह— **तत्रेति**। न करणे चक्षुषीत्यादिनोक्तमेव परिहारं प्रपञ्चयति— **तन्नेत्यादिना**।

**१ शां. भा.— न विपरीतादिग्रहणं तन्निमित्तो वा तैमिरिकत्वादिदोषो ग्रहीतुः, चक्षुषः संस्कारेण तिमिरेऽपनीते ग्रहीतुरदर्शनान्न ग्रहीतुर्धर्मो यथा, तथा सर्वत्रैवाग्रहणविपरीतसंशयप्रत्ययास्तन्निमित्ताः करणस्यैव कस्यचिद्भवितुमर्हन्ति; न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य। संवेद्यत्वाच्च तेषां प्रदीपप्रकाशवन्न ज्ञातृधर्मत्वम्; संवेद्यत्वादेव स्वात्मव्यतिरिक्तसंवेद्यत्वम्। सर्वकरणवियोगे च कैवल्ये सर्ववादिभिरविद्यादिदोषवत्त्वानभ्युपगमात्। आत्मनो यदि क्षेत्रज्ञस्याग्न्युष्णवत्स्वो धर्मः, ततो न कदाचिदपि तेन वियोगः स्यात्। अविक्रियस्य च व्योमवत्सर्वगतस्यामूर्तस्याऽऽत्मनः केनचित्संयोगवियोगानुपपत्तेः। सिद्धं क्षेत्रज्ञस्य नित्यमेवेश्वरत्वम्, 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्' [१३।३२] इत्यादीश्वरवचनाच्च।**

२ आ. शां. व्या.— तिमिरादिदोषस्तत्कृतो विपरीतग्रहादिश्च न ग्रहीतुरात्मनोऽस्तीत्यत्र हेतुमाह— **चक्षुष इति**। तद्गतेनाञ्जनादिसंस्कारेण तिमिरादौ पराकृते देवदत्तस्य ग्रहीतुर्दोषाद्यनुपलम्भान्न तस्य तद्धर्मत्वमतो विमतं तत्त्वतो नाऽऽत्मधर्मो दोषत्वात्तत्कार्यत्वाद्वा सम्मतवदित्यर्थः। किञ्च विपरीतग्रहादिस्तत्त्वतो नाऽऽत्मधर्मो वेद्यत्वात्सम्प्रतिपन्नवदित्याह— **संवेद्यत्वाच्चेति**। किञ्च यद्वेद्यं तत्स्वातिरिक्तवेद्यं, यथा दीपादीति व्याप्तेर्विपरीतग्रहादीनामपि वेद्यत्वादतिरिक्तवेद्यत्वे संवेदिता न संवेद्यधर्मवान्वेदितृत्वात्, यथा देवदत्तो न संवेद्यरूपादिमानित्यनुमानान्तरमाह— **संवेद्यत्वादेवेति**। किञ्च विपरीतग्रहादयस्तत्त्वतो नाऽऽत्मधर्माव्यभिचारित्वात्कृशत्वादिवदित्याह— **सर्वेति**। उक्तमेव विवृण्वन्नात्मनो विपरीतग्रहादिः स्वाभाविको वाऽऽगन्तुको वा ? इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— **आत्मन इति**। अतोऽनिर्मोक्षोऽविद्यातज्जध्वस्तेरसद्भावादिति भावः। आगन्तुकोऽपि स्वतश्चेदमुक्तिः परतश्चेत्तत्राऽऽह— **अविक्रियस्येति**। विभुत्वादविक्रियत्वादमूर्तत्वाच्चाऽऽत्मा व्योमवन्न केनचित्संयोग-

विभागावनुभवति, न हि विक्रियाभावे व्योम्नि वस्तुतः संयोगविभागावसङ्गत्वाच्चाऽऽत्मनस्तदसंयोगान्न परतोऽपि तस्मिन्विपरीतग्रहादीत्यर्थः । तस्याऽऽत्मधर्मत्वाभावे फलितमाह— **सिद्धमिति** । आत्मनो निर्धर्मकत्वे भगवदनुमतिमाह— **अनादित्वादिति** ।

**१ शां. भा.**— नन्वेवं सति संसारसंसारित्वाभावे शास्त्रानर्थक्यादिदोषः स्यादिति चेत्, न; सर्वैरभ्युपगतत्वात् । सर्वैर्ह्यात्मवादिभिरभ्युपगतो दोषो नैकेन परिहर्तव्यो भवति । कथमभ्युपगतः ? इति, मुक्तात्मनां हि संसारसंसारित्वव्यवहाराभावः सर्वैरेवाऽऽत्मवादिभिरिष्यते । न च तेषां शास्त्रानर्थक्यादिदोषप्राप्तिरभ्युपगता । तथा नः क्षेत्रज्ञानामीश्वरैकत्वे सति शास्त्रानर्थक्यं भवतु, अविद्याविषये चार्थवत्त्वम् । यथा द्वैतिनां सर्वेषां बन्धावस्थायामेव शास्त्राद्यर्थवत्त्वं, न मुक्तावस्थायां; एवम् ।

**२ आ. शां. व्या.**- ईश्वरत्वे सत्यात्मनोऽसंसारित्वे विधिशास्त्रस्याध्यक्षादेश्चाऽऽनर्थक्यात्तात्त्विकमेव तस्य संसारित्वमिति शङ्कते— **नन्विति** । विद्यावस्थायामविद्यावस्थायां वा शास्त्रानर्थक्यं ? इति विकल्प्याऽऽद्यं प्रत्याह— **न सर्वैरिति** । विदुषो मुक्तस्य संसारतदाधारयोरभावस्य सर्ववादिसम्मतत्वात्तत्र शास्त्रानर्थक्यादि चोद्यं मयैव न प्रतिविधेयमित्यर्थः । सङ्ग्रहवाक्यं विवृणोति— **सर्वैरिति** । अभिप्रायाज्ञानात्प्रश्ने स्वाभिप्रायमाह— **कथमि**त्यादिना । तर्हि मुक्तान्प्रति विधिशास्त्रस्याध्यक्षादेश्चाऽऽनर्थक्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **न चेति** । न हि व्यवहारातीतेषु तेषु गुणदोषाशङ्केत्यर्थः । द्वैतिनां मते मुक्तात्मस्विवास्मत्पक्षेऽपि क्षेत्रज्ञस्येश्वरत्वे तं प्रति च शास्त्राद्यानर्थक्यं विद्यावस्थायामास्थितमिति फलितमाह— **तथेति** । द्वितीयं दूषयति— **अविद्येति**। तदेव दृष्टान्तेन विवृणोति— **यथेति**। एवमद्वैतिनामपि विद्योदयात्प्रागर्थवत्त्वं शास्त्रादेरिति शेषः ।

**१ शां. भा.**—नन्वात्मनो बन्धमुक्तावस्थे परमार्थत एव वस्तुभूते द्वैतिनां नः सर्वेषाम् , अतो हेयोपादेयतत्साधनसद्भावे शास्त्राद्यर्थवत्त्वं स्यात् । अद्वैतिनां पुनर्द्वैतस्यापरमार्थत्वादविद्याकृतत्वाद्बन्धावस्थायाश्चाऽऽत्मनोऽपरमार्थत्वे निर्विषयत्वाच्छास्त्राद्यानर्थक्यमिति चेत्, न; आत्मनोऽवस्थाभेदवत्त्वानुपपत्तेः। यदि तावदात्मनो बन्धमुक्तावस्थे युगपत्स्यातां, क्रमेण वा ? । युगपत्तावद्विरोधान्न सम्भवतः स्थितिगती इवैकस्मिन् । क्रमभावित्वे च निर्निमित्तत्वं सनिमित्तत्वं वा ? निर्निमित्तत्वेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गः, सनिमित्तत्वे च स्वतोऽभावादपरमार्थत्वप्रसङ्गः । तथा च सत्यभ्युपगमहानिः ।

**२ आ. शां. व्या.**— द्वैतिभिरद्वैतिनां न साम्यमिति शङ्कते— **नन्विति** । अवस्थयोर्वस्तुत्वे तन्मते शास्त्राद्यर्थवत्त्वं फलितमाह— **अत इति** । सिद्धान्ते तु नावस्थयोर्वस्तुतेति वैषम्यमाह— **अद्वैतिनामिति** । व्यावहारिकं द्वैतं तन्मतेऽपि स्वीकृतमित्याशङ्क्याऽऽह— **अविद्येति** । कल्पितद्वैतेन व्यवहारान्न तस्य वस्तुतेत्यर्थः । बन्धावस्थाया वस्तुत्वाभावे दोषान्तरमाह— **बन्धेति** । आत्मनस्तत्त्वतोऽवस्थाभेदो द्वैतिनामपि नास्तीति परिहरति— **नेति** । अनुपपत्तिं दर्शयितुं विकल्पयति— **यदीति** । तत्राऽऽद्यं दूषयति— **युगपदिति**। द्वितीयेऽपि- क्रमभाविन्योरवस्थयोर्निर्निमित्तत्वं सनिमित्तत्वं वा ? इति विकल्प्याऽऽद्ये सदा प्रसङ्गाद्बन्धमोक्षयोरव्यवस्था स्यादित्याह— **क्रमेति** । कल्पान्तरं निरस्यति— **अन्येति** । बन्धमोक्षावस्थे न परमार्थे अस्वाभाविकत्वात्स्फटिकलौहित्यवदिति स्थिते फलितमाह— **तथा चेति** । वस्तुत्वमिच्छताऽवस्थयोरवस्तुत्वोपगमादित्यर्थः ।

**१ शां. भा.**— किञ्च बन्धमुक्तावस्थयोः पौर्वापर्यनिरूपणायां बन्धावस्था पूर्वं प्रकल्प्या, अनादिमत्यन्तवती च; तच्च प्रमाणविरुद्धम् । तथा मोक्षावस्थाऽऽदिमत्यनन्ता च प्रमाणविरुद्धैवाभ्युपगम्यते । न चावस्थावतोऽवस्थान्तरं गच्छतो नित्यत्वमुपपादयितुं शक्यम् । अथानित्यत्वदोषपरिहाराय बन्धमुक्तावस्थाभेदो न परिकल्प्यते; अतो द्वैतिनामपि शास्त्रानर्थक्यादिदोषोऽपरिहार्य एवेति समानत्वान्नाद्वैतवादिना परिहर्तव्यो दोषः ।

**२ आ. शां. व्या.**— इतश्चावस्थयोर्न वस्तुत्वमित्याह— **किञ्चेति** । अवस्थयोर्वस्तुत्वमिच्छता तयोर्यौगपद्यायोगाद्वाच्ये क्रमे बन्धस्य पूर्वत्वं मुक्तेश्च पाश्चात्यमिति स्थिते बन्धस्याऽऽदित्वकृतं दोषमाह— **बन्धेति** । तस्याश्चाकृताभ्यागमकृतविनाशनिवृत्तयेऽनादित्वमेष्टव्यम्; अन्तवत्त्वं च मुक्त्यर्थमास्थेयम्; तच्च यदनादिभावरूपं तन्नित्यं, यथाऽऽत्मेति व्याप्तिविरुद्धमित्यर्थः । मोक्षस्य पाश्चात्यकृतं दोषमाह— **तथेति** । सा हि ज्ञानादिसाध्यत्वादादिमती पुनरावृत्त्यनङ्गीकारादनन्ता च । तच्च

यत्सादिभावरूपं तदन्तवत्; यथा घटादीति व्याप्त्यन्तरविरुद्धमित्यर्थः । किञ्च क्रमभाविनीभ्यामवस्थाभ्यामात्मा सम्बध्यते न वा? प्रथमे पूर्वावस्थया सहैवोत्तरावस्थां गच्छति चेदुत्तरावस्थायामपि पूर्वावस्थावस्थानादनिर्मोक्षः । यदि पूर्वावस्थां त्यक्त्वोत्तरावस्थां गच्छति तदा पूर्वत्यागोत्तराप्त्योरात्मनः सातिशयत्वान्नित्यत्वानुपपत्तिरित्याह— **न चेति** । आत्मनोऽवस्थाद्वयसम्बन्धो नास्तीति द्वितीयमनूद्य दूषयति— **अथे**त्यादिना ।

१ **शां. भा.**— न च शास्त्रानर्थक्यं यथाप्रसिद्धाविद्वत्पुरुषविषयत्वाच्छास्त्रस्य । अविदुषां हि फलहेत्वोरनात्मनोरात्मदर्शनम्, न विदुषाम्; विदुषां हि फलहेतुभ्यामात्मनोऽन्यत्वदर्शने सति तयोरहमित्यात्मदर्शनानुपपत्तेः । न ह्यत्यन्तमूढ उन्मत्तादिरपि जलाग्न्योश्छायाप्रकाशयोर्वैकात्म्यं पश्यति; किमुत विवेकी? । तस्मान्न विधिप्रतिषेधशास्त्रं तावत्फलहेतुभ्यामात्मनोऽन्यत्वदर्शिनो भवति ।

२ **आ. शां. व्या.**— तर्हि पक्षद्वयेऽपि दोषाविशेषान्नाद्वैतमतानुरागे हेतुरित्याशङ्क्याविद्याविषये चेत्युक्तं विवृणोति— **न चेति** । तदेव स्फुटयति— **अविदुषां हीति** । फलं भोक्तृत्वं कर्तृत्वं हेतुः, यद्वा फलं देहविशेषो हेतुरदृष्टं, तयोरनात्मनोर्भोक्ताऽहं कर्ताऽहं मनुष्योऽहं इत्याद्यात्मदर्शनमधिकारकारणं तेनाविद्वद्विषयं विधिनिषेधशास्त्रमित्यर्थः । विदुषामपि मनुष्योऽहमित्यादिव्यवहारात्तद्विषयं शास्त्रं किं न स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **नेति** । भोक्तृत्वकर्तृत्वाभ्यां ब्राह्मण्यादिमतो देहाद्धर्माधर्माभ्यां चाऽऽत्मनोऽन्यत्वं पश्यतो न विधिनिषेधाधिकारित्वमुक्तफलादावात्मीयाभिमानासम्भवादित्यर्थः । आत्मनो देहादेरन्यत्वदर्शिनो न देहादावात्मधीरित्येतदुपपादयति— **न हीति** । विदुषो न विधिनिषेधाधिकारितेत्युक्तमुपसंहरति— **तस्मादिति** ।

१ **शां. भा.**— न हि 'देवदत्त! त्वमिदं कुरु' इति कस्मिंश्चित्कर्मणि नियुक्ते विष्णुमित्रः 'अहं नियुक्तः' इति तत्रस्थो नियोगं शृण्वन्नपि प्रतिपद्यते । नियोगविषयविवेकाग्रहणात्तूपपद्यते प्रतिपत्तिः, तथा फलहेत्वोरपि । ननु प्राकृतसम्बन्धापेक्षया युक्तैव प्रतिपत्तिः शास्त्रार्थविषया, फलहेतुभ्यामन्यात्मत्वदर्शनेऽपि सतीष्टफलहेतौ प्रवर्तितोऽस्मि, अनिष्टफलहेतोश्च निवर्तितोऽस्मीति । यथा पितृपुत्रादीनामितरेतरात्मान्यत्वदर्शने सत्यप्यन्योन्यनियोगप्रतिषेधार्थप्रतिपत्तिः । न; व्यतिरिक्तात्मदर्शनप्रतिपत्तेः प्रागेव फलहेत्वोरात्माभिमानस्य सिद्धत्वात् ।

२ **आ. शां. व्या.**— शास्त्रस्याविद्वद्विषयत्वमिव विद्वद्विषयत्वमपि मन्तव्यमुभयोरपि शास्त्रश्रवणाविशेषादित्याशङ्क्याह— **न हीति** । तत्रस्थो यस्मिन्देशे देवदत्तः स्थितस्तत्रैव वर्तमानः सन्नित्यर्थः । ननु देवदत्ते नियुक्ते विष्णुमित्रोऽपि कदाचिन्नियुक्तोऽस्मीति प्रतिपद्यते; सत्यं, नियोगविषयान्नियोज्यादात्मनो विवेकाग्रहणान्नियोज्यत्वभ्रान्तेरित्याह— **नियोगेति** । अविवेकिनो नियोगधीर्भवतीति दृष्टान्तमुक्त्वा फले हेतौ चाऽऽत्मदृष्टिविशिष्टस्याविदुषः सम्भवत्येव विधिनिषेधाधिकारित्वमिति दार्ष्टान्तिकमाह— **तथेति** । विधिनिषेधशास्त्रमविद्वद्विषयमिति वदता शास्त्रानर्थक्यं समाहितं, सम्प्रति शास्त्रस्य विद्वद्विषयत्वेनैवार्थवत्त्वं शक्यसमर्थनमिति शङ्कते— **नन्विति** । प्रकृतिरविद्या ततो जातो यो देहादावभिमानात्मा सम्बन्धो विद्योदयात्प्रागनुभूतस्तदपेक्षया विधिना प्रवर्तितोऽस्मि निषेधेन निवर्तितोऽस्मीति विधिनिषेधविषया सत्यामपि विद्यायां धीर्युक्तैवेत्यर्थः । विदुषोऽपि पूर्वमाविद्यं सम्बन्धमपेक्ष्य विधिनिषेधविषयां धियमुक्तामेव व्यक्तीकरोति— **इष्टेति** । नन्वविदुषो मिथ्याभिमानवन्न विदुषः सोऽनुवर्तते, तथा चाऽऽविद्यसम्बन्धापेक्षया न युक्ता विदुषो यथोक्ता धीरिति तत्राऽऽह— **यथेति** । पिता पुत्रो भ्रातेत्यादीनां मिथोऽन्यत्वदृष्टावप्यन्योन्ययोगार्थस्य निषेधार्थस्य च धीर्दृष्टा पितरमधिकृत्य विधौ निषेधे वा तस्य तदनुष्ठानाशक्तौ पुत्रस्य तद्विषया धीरिष्टा "अथातः सम्प्रत्तिर्यदा प्रैष्यन्मन्यतेऽथ पुत्रमाह त्वं ब्रह्म त्वं यज्ञस्त्वं लोकः" [ बृ. उ. १।५।१७ ] इत्यादिसम्प्रत्तिश्रुत्याऽशेषानुष्ठानस्य पुत्रकार्यताप्रतिपादनात् । पुत्रं चाधिकृत्य विधिनिषेधप्रवृत्तौ तस्य तदशक्तौ पितुस्तदर्था धीरुपगता, तथा भ्रात्रादिष्वपि द्रष्टव्यम् । एवं विदुषो हेतुफलाभ्यामन्यत्वदर्शनेऽपि प्राक्कालीनाविद्यदेहादिसम्बन्धादविरुद्धा विधिनिषेधार्था धीरित्यर्थः । पुत्रादीनां मिथ्याभिमानान्मिथो नियोगधीर्युक्ता, तत्त्वदर्शिनस्तु तदभावान्न देहादिसम्बन्धाधीना नियोगधीरिति परिहरति— **नेत्यादिना** ।

१ **शां. भा.**— प्रतिपन्ननियोगप्रतिषेधार्थो हि फलहेतुभ्यामात्मनोऽन्यत्वं प्रतिपद्यते, न पूर्वं; तस्माद्विधिप्रतिषेधशास्त्रमविद्वद्विषयमिति सिद्धम् । ननु " स्वर्गकामो यजेत" [ आ. श्रौ. सू. १०।२।१ ] ' न कलञ्जं भक्षयेत् ' इत्यादावात्मव्यतिरेकदर्शिनामप्रवृत्तौ केवलदेहाद्यात्मदृष्टीनां च, अतः कर्तुरभा-

वाच्छास्त्रानर्थक्यमिति चेत्, न; यथाप्रसिद्धित एव प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेः । ईश्वरक्षेत्रज्ञैकत्वदर्शी ब्रह्मवित्तावन्न प्रवर्तते । तथा नैरात्म्यवाद्यपि नास्ति परलोक इति न प्रवर्तते । यथाप्रसिद्धितस्तु विधिप्रतिषेधशास्त्रश्रवणान्यथानुपपत्त्याऽनुमितात्मास्तित्व आत्मविशेषानभिज्ञः कर्मफलसञ्जाततृष्णः श्रद्धानतया च प्रवर्तत इति सर्वेषां नः प्रत्यक्षं, अतो न शास्त्रानर्थक्यम् ।

**२ आ. शां. व्या.**— किञ्च "सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत्" [ब्र. सू. ३।४।२६] इति सर्वापेक्षाधिकरणे सम्यग्ज्ञानस्यादृष्टसाध्यत्वोक्तेर्विधिनिषेधार्थानुष्ठानं सम्यग्ज्ञानात्पूर्वमिति कुतो विदुषस्तदनुष्ठानं ? इत्याह— **प्रतिपन्ने**ति । सत्यदृष्टे सम्यग्धीदृष्टेरसति चाशुद्धबुद्धेस्तदभावादन्वयव्यतिरेकाभ्यां विविदिषावाक्याच्च विधिनिषेधानुष्ठानात्पूर्वं न सम्यग्धीरित्याह **न पूर्वमि**ति । विधिनिषेधयोर्विद्वद्विषयत्वायोगे फलितमाह— **तस्मादि**ति । शास्त्रस्याविद्वद्विषयत्वेनोक्तमर्थवत्त्वमाक्षेपसमाधिभ्यां प्रपञ्चयितुमाक्षिपति— **नन्वि**ति । चकारादूर्ध्वप्रवृत्तिरिति सम्बध्यते । आत्मनो देहाद्यतिरेकं पश्यतां देहाद्यभिमानरूपाधिकारहेत्वभावाद्विधितो यागादावप्रवृत्तिर्निषेधाच्चाभक्ष्यभक्षणादेर्न निवृत्तिः, अतस्तेषां प्रवृत्तिनिवृत्त्योरभावे देहादावात्मत्वमनुभवतामपि न ते युक्ते, तेषां पारलौकिकभोक्तृप्रतिपत्त्यभावादित्यर्थः । विदुषामविदुषां च प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावे फलितमाह— **अत** इति । आत्मनो देहाद्यतिरेकं परोक्षमपरोक्षं च देहाद्यात्मत्वं पश्यतः शास्त्रानुरोधादेव प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेर्न शास्त्रानर्थक्यमित्युत्तरमाह— **नेत्या**दिना । प्रसिद्धिरत्र शास्त्रीयाऽभिमता । एतदेव विवृण्वन्ब्रह्मविदो वा नैरात्म्यवादिनो वा परोक्षज्ञानवतो वा प्रवृत्तिनिवृत्ती विवक्षसीति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— **ईश्वरे**ति । न निवर्तते चेत्यपि द्रष्टव्यम् । द्वितीयं निरस्यति— **तथे**ति । पूर्ववदत्रापि सम्बन्धः । तृतीयमङ्गीकरोति— **यथे**ति । विधिनिषेधाधीनां प्रसिद्धिमनुरुन्धानः सन्निति यावत् । चकारान्निवर्तते चेत्यनुकृष्यते । ब्रह्मविदं नैरात्म्यवादिनं च त्यक्त्वा देहाद्यतिरिक्तमात्मानं परोक्षमपरोक्षं च देहाद्यात्मत्वं पश्यतो विधिनिषेधाधिकारित्वे सिद्धे फलमाह— **अत** इति ।

**१ शां. भा.**— विवेकिनामप्रवृत्तिदर्शनात्तदनुगामिनामप्रवृत्तौ शास्त्रानर्थक्यमिति चेत्, न; कस्यचिदेव विवेकोपपत्तेः । अनेकेषु हि प्राणिषु कश्चिदेव विवेकी स्याद्यथेदानीम् । न च विवेकिनमनुवर्तन्ते मूढाः रागादिदोषतन्त्रत्वात्प्रवृत्तेः, अभिचरणादौ च प्रवृत्तिदर्शनात्, स्वाभाव्याच्च प्रवृत्तेः; 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' [ ५।१४ ] इति ह्युक्तम् ।

**२ आ. शां. व्या.**— विधान्तरेण शास्त्रार्थानर्थक्यं चोदयति— **विवेकिनामि**ति । दृष्टा हि तेषां विधिनिषेधयोरप्रवृत्तिः, न हि देहादिभ्यो निष्कृष्टमात्मानं दृष्टवतां तयोरधिकारः, तेन तान्प्रति शास्त्रं नार्थवत् । न च देहाद्यात्मत्वदृशस्तत्राधिक्रियन्ते तेषां 'यद्यदाचरति' [३।२१] इति न्यायेन विवेकिनोऽनुगच्छतां विध्यादावप्रवृत्तेः; अतोऽधिकार्यभावाद्विध्यादिशास्त्रस्य तदनुसारिशिष्टाचारस्य चाऽऽनर्थक्यमित्यर्थः । किं सर्वेषां विवेकित्वादधिकार्यभावादानर्थक्यं शास्त्रस्योच्यते ? किंवा कस्यचिदेव विवेकित्वेऽपि तदनुवर्तित्वादन्येषामप्रवृत्तेरानर्थक्यं चोद्यते ? तत्र प्रथमं प्रत्याह— **न, कस्यचिदि**ति । 'मनुष्याणां सहस्रेषु' [ ७।३ ] इति न्यायेनोक्तमेव स्फुटयति— **अनेकेष्वि**ति । तत्रानुभवानुरोधेन दृष्टान्तमाह— **यथे**ति । द्वितीयं दूषयति— **न चे**ति । किञ्च विवेकिनामप्रवृत्तावन्येषामप्रवृत्तिरित्याशङ्कां निरसितुं श्येनादौ तदप्रवृत्तावपीतरप्रवृत्तेरित्याह— **अभिचरणादौ चे**ति । अविवेकिनां रागादिद्वारा प्रवृत्त्यास्पदं सर्वं सङ्ग्रहीतुमादिपदम् । इतश्च विवेकिनां प्रवृत्त्यभावेऽपि नाज्ञस्याप्रवृत्तिरित्याह— **स्वाभाव्याच्चे**ति । प्रवृत्तेः स्वभावाख्याज्ञानकार्यत्वे भगवद्वाक्यमनुकूलयति— **स्वभावस्त्वि**ति ।

**१ शां. भा.**— तस्मादविद्यामात्रं संसारो यथादृष्टविषय एव । न क्षेत्रज्ञस्य केवलस्याविद्या तत्कार्यं च । न च मिथ्याज्ञानं परमार्थवस्तु दूषयितुं समर्थम् । न ह्यूषरदेशं स्नेहेन पङ्कीकर्तुं शक्नोति मरीच्युदकम्, तथाऽविद्या क्षेत्रज्ञस्य न किञ्चित्कर्तुं शक्नोति । अतश्चेदमुक्तं— 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' 'अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानम्' [ ५।१५ ] इति च ।

**२ आ. शां. व्या.**— प्रवृत्तेरज्ञानजत्वे विधिनिषेधाधीनप्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकबन्धस्याविद्यामात्रत्वादविद्वद्विषयत्वं शास्त्रस्य सिद्धमिति फलितमाह— **तस्मादि**ति । दृष्टमेवानुसरन्नविद्वान्यथादृष्टस्तद्विषयस्तदाश्रयः संसारः, तथा च प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकसंसारस्याविद्वद्विषयत्वात्तद्धेतुविधिशास्त्रस्यापि तद्विषयत्वमित्यर्थः । नन्वविद्या क्षेत्रज्ञमाश्रयन्ती स्वकार्यं संसारमपि तस्मिन्नाधत्ते, तेन तस्यैव शास्त्राधिकारित्वं ? नेत्याह— **ने**ति । अविद्यादेः शुद्धे क्षेत्रज्ञे वस्तुतोऽसम्बन्धेऽपि तस्मिन्नारोपितं

तमेव दुःखीकरोतीत्यत्राऽऽह— **न चेति** । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति— **न हीति** । क्षेत्रज्ञस्य वस्तुतोऽविद्यासम्बन्धे भगवद्वचोऽपि द्योतकमित्याह— **अत** इति । क्षेत्रज्ञेश्वरयोरैक्ये किमित्यसावात्मानमहं (?) इति बुध्यमानोऽपि स्वस्येश्वरत्वमीश्वरोऽस्मीति न बुध्यते ? तत्राऽऽह— **अज्ञानेनेति** ।

**१ शां. भा.— अथ किमिदं संसारिणामिव 'अहमेवं, ममैवेदं' इति पण्डितानामपि । शृण्विदं तत्पाण्डित्यं, यत्क्षेत्र एवाऽऽत्मदर्शनम् । यदि पुनः क्षेत्रज्ञमविक्रियं पश्येयुः, ततो न भोगं कर्म वाऽऽकाङ्क्षेयुर्मम स्यादिति । विक्रियैव हि भोगकर्मणी । अथैवं सति फलार्थित्वादविद्वान्प्रवर्तते । विदुषः पुनरविक्रियात्मदर्शिनः फलार्थित्वाभावात्प्रवृत्त्यनुपपत्तौ कार्यकरणसङ्घातव्यापारोपरमे निवृत्तिरुपचर्यते ।**

**२ आ. शां. व्या.**— आत्मनो वस्तुतः संसारासंस्पर्शे विद्वदनुभवविरोधः स्यादिति चोदयति— **अथेति** । एवमित्यभिजात्यादिवैशिष्ट्यमुक्तम् , इदमा क्षेत्रकलत्रादि, पण्डितानामपि प्रतीतं संसारित्वमिति शेषः । किं पाण्डित्यं देहादावात्मदर्शनं किंवा कूटस्थात्मदृष्टिराहो संसारित्वादिधीः ? इति विकल्प्याऽऽद्यं निराकुर्वन्नाह— **शृण्विति** । तच्च वस्तुतोऽसंसारित्वाविरोधि, प्रातिभासिकं तु संसारित्वमिष्टमिति शेषः । द्वितीयं दूषयति— **यदीति** । न हि कूटस्थात्मविषयं संसारित्वं प्रतीयते, येन वस्तुतोऽसंसारित्वं विरुध्येत; कूटस्थात्मधीविरुद्धायाः संसारित्वबुद्धेरनवकाशित्वादित्यर्थः । आत्मानमक्रियं पश्यतोऽपि कुतो भोगकर्मणी न स्यातां ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **विक्रियेति** । अविक्रियात्मबुद्धेर्भोगकर्माकाङ्क्षयोरभावे कस्य शास्त्रे प्रवृत्तिः? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अथेति** । फलार्थित्वाभावाद्विदुषो न कर्मणि प्रवृत्तिः, इत्येवं स्थिते सत्यनन्तरमविद्वान् फलार्थितयात्तदुपाये कर्मणि प्रवर्तते शास्त्राधिकारीत्यर्थः । विदुषो वैधप्रवृत्त्यभावेऽपि निषेधाधीननिवृत्तेरपि दुर्वचत्वात्तस्य निवृत्तिनिष्ठत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **विदुष** इति ।

**१ शां. भा.— इदं चान्यत्पाण्डित्यं कस्यचिदस्तु— क्षेत्रज्ञ ईश्वर एव । क्षेत्रं चान्यत्क्षेत्रज्ञस्यैव विषयः । अहं तु संसारी सुखी दुःखी च । संसारोपरमश्च मम कर्तव्यः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविज्ञानेन, ध्यानेन चेश्वरं क्षेत्रज्ञं साक्षात्कृत्वा तत्स्वरूपावस्थानेनेति । यश्चैवं बुध्यते यश्च बोधयति नासौ क्षेत्रज्ञ इति । एवं मन्वानो यः स पण्डितापसदः संसारमोक्षयोः शास्त्रस्य चार्थवत्त्वं करोमीति, आत्महा च; स्वयं मूढोऽन्यांश्च व्यामोहयति शास्त्रार्थसम्प्रदायरहितत्वात् , श्रुतहानिमश्रुतकल्पनां च कुर्वन् । तस्मादसम्प्रदायवित्सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः ।**

**२ आ. शां. व्या.** —तृतीयमुत्थापयति— **इदं चेति** । सिद्धान्तादविशेषमाशङ्क्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञाद्वस्तुतो भिन्नत्वेन तद्विषयत्वाङ्गीकारान्मैवमित्याह— **क्षेत्रं चेति** । अहंधीवश्यस्याऽऽत्मनो वस्तुतः संसारित्वस्वीकाराच्च सिद्धान्ताद्भेदोऽस्तीत्याह— **अहं त्विति** । संसारित्वमेव स्फोरयति— **सुखीति** । संसारित्वस्य वस्तुत्वे तदनिवृत्त्या पुमर्थासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **संसारेति** । कथं तदुपरमस्य हेतुं विना कर्तव्यत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **क्षेत्रेति** । क्षेत्रं ज्ञात्वा ततो निष्कृष्टस्य क्षेत्रज्ञस्य ज्ञानं कथं संसारोपरतिमुत्पादयेत् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ध्यानेनेति** । संसारित्वमात्मनो बुध्यमानस्य तद्रहितादीश्वरादन्यत्वमिति वक्तुमितिशब्दः । तदेवान्यत्वमुपपादयति— **यश्चेति** । मम संसारिणोऽसंसारीश्वरत्वं कर्तव्यमित्येवं यो बुद्ध्यते यो वा तथाविधं ज्ञानं तव कर्तव्यमित्युपदिशति स क्षेत्रज्ञादीश्वरादन्यो ज्ञेयः; अन्यथोपदेशानर्थक्यादित्यर्थः । आत्मा संसारी परस्मादात्मनोऽन्यस्तस्य ध्यानाधीनज्ञानेनेश्वरत्वं कर्तव्यमित्येतज्ज्ञानं पाण्डित्यमिति मतं दूषयति— **एवमिति** । "अयमात्मा ब्रह्म" [ बृ. उ. २।५।१९ ] इत्यात्मनो ब्रह्मत्वश्रुतिविरोधादित्यर्थः । ननु संसारस्य वस्तुत्वाङ्गीकारात्तत्प्रतीत्यवस्थायां कर्मकाण्डस्यार्थवत्त्वं संसारित्वनिरासेनाऽऽत्मनो ब्रह्मत्वे ध्यानादिना साधिते मोक्षावस्थायां ज्ञानकाण्डस्यार्थवत्त्वं, तत्कथं यथोक्तज्ञानवान्पण्डितापसदत्वेनाऽऽक्षिप्यते ? तत्राऽऽह— **संसारेति** । करोमीति मन्यमानो यः स पण्डितापसद इति पूर्वेण सम्बन्धः । कर्मकाण्डं हि कल्पितं संसारित्वमधिकृत्य साध्यसाधनसम्बन्धं बोधयदर्थवदिष्टं ज्ञानकाण्डमपि तथाविधं संसारित्वं पराकृत्याखण्डैकरसे प्रत्यग्ब्रह्मणि पर्यवस्यदर्थवद्भवेदित्यर्थः । किञ्चाऽऽत्मनः शास्त्रसिद्धं ब्रह्मत्वं त्यक्त्वाऽब्रह्मत्वं कल्पयन्नात्महा भूत्वा लोकद्वयबहिर्भूतः स्यादित्याह— **आत्महेति** । ननु 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इत्यनेन सर्वक्षेत्रान्तर्यामी परो जीवादन्यो निरुच्यते, न जीवस्येश्वरत्वमत्र प्रतिपाद्यते, तत्कथमित्थमाक्षिप्यते ? तत्राऽऽह— **स्वयमिति** । किञ्च तत्त्वमसीतिवत्प्रसिद्धक्षेत्रज्ञानुवादेनाप्रसिद्धं तस्येश्वरत्वमिहोपदेशतः श्रुतं तस्य हानिमश्रुतस्य च जीवेश्वरयोस्तात्त्विकभेदस्य कल्पनां कुर्वन्कथं व्यामूढो न स्यात् ? इत्याह— **श्रुतेति** । ननु केचन व्याख्यातारो यथोक्तं पाण्डित्यं पुरस्कृत्य 'क्षेत्रज्ञं चापि' इत्यादिश्लोकं व्याख्यातवन्तस्तत्कथमुक्तं पाण्डित्यमास्थातुर्व्यामूढत्वं ? तत्राऽऽह— **तस्मादिति** ।

१ **शां. भा.**— यत्तूक्तमीश्वरस्य क्षेत्रज्ञैकत्वे संसारित्वं प्राप्नोति, क्षेत्रज्ञानां चेश्वरैकत्वे संसारिणोऽभावात् संसाराभावप्रसङ्ग इति; एतौ दोषौ प्रत्युक्तौ विद्याविद्ययोर्वैलक्षण्याभ्युपगमादिति । कथम् ? अविद्यापरिकल्पितदोषेण तद्विषयं वस्तु पारमार्थिकं न दुष्यतीति । तथा च दृष्टान्तो दर्शितो मरीच्यम्भसोषरदेशो न पङ्कीक्रियत इति संसारिणोऽभावात्संसाराभावप्रसङ्गदोषोऽपि संसारसंसारिणोरविद्याकल्पितत्वोपपत्त्या प्रत्युक्तः ।

२ **आ. शां. व्या.**— 'क्षेत्रज्ञं चापि' इत्यत्र क्षेत्रज्ञेश्वरयोरैक्यं स्वाभीष्टं स्पष्टयितुं प्रत्युक्तमेव चोद्यमनुद्रवति— **यत्तूक्तमिति** । तात्त्विकमेकत्वमतात्त्विकं संसारित्वमित्यङ्गीकृत्योक्तमेव समाधिं स्मारयति— **एताविति** । ईश्वरस्य संसारित्वं संसार्यभावेन संसाराभावश्चेत्युक्तौ दोषौ विद्याविद्ययोर्वैलक्षण्येऽपि कथं प्रत्युक्तौ ? इति पृच्छति— **कथमिति** । कल्पितसंसारेण कल्पनाधिष्ठानमद्वयं वस्तु वस्तुतो न सम्बद्धमिति परिहरति— **अविद्येति** । तद्विषयं कल्पनास्पदमधिष्ठानमिति यावत् । कल्पितेनाधिष्ठानस्य वस्तुतोऽसंस्पर्शे दृष्टान्तं स्मारयति— **तथा चेति** । ईश्वरस्य संसारित्वाप्रसङ्गं प्रकटीकृत्य प्रसङ्गान्तरनिरासमनुस्मारयति— **संसारिण** इति ।

१ **शां. भा.**— नन्वविद्यावत्त्वमेव क्षेत्रज्ञस्य संसारित्वदोषः, तत्कृतं च सुखित्वदुःखित्वादि प्रत्यक्षमुपलभ्यते इति चेत्, न; ज्ञेयस्य क्षेत्रज्ञधर्मत्वात्, ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य तत्कृतदोषानुपपत्तेः । यावत्किञ्चित् क्षेत्रज्ञस्य दोषजातमविद्यमानमासञ्जयसि, तस्य ज्ञेयत्वोपपत्तेः क्षेत्रधर्मत्वमेव; न क्षेत्रज्ञधर्मत्वम् । न च तेन क्षेत्रज्ञो दुष्यति, ज्ञेयेन ज्ञातुः संसर्गानुपपत्तेः । यदि हि संसर्गः स्याज्ज्ञेयत्वमेव नोपपद्येत । यदात्मनो धर्मोऽविद्यावत्त्वं दुःखित्वादि च कथं भोः प्रत्यक्षमुपलभ्यते? कथं वा क्षेत्रज्ञधर्मः ? 'ज्ञेयं च तत्सर्वं क्षेत्रं, ज्ञातैव क्षेत्रज्ञः' इत्यवधारितेऽविद्यादुःखित्वादेः क्षेत्रज्ञविशेषणत्वं क्षेत्रज्ञधर्मत्वं तस्य च प्रत्यक्षोपलभ्यत्वमिति विरुद्धमुच्यतेऽविद्यामात्रावष्टम्भात्केवलम् ।

२ **आ. शां. व्या.**— न तावदविद्या संसारं संसारिणं च कल्पयति स्वतन्त्रातत्त्वव्याघातात्, पारतन्त्र्ये चाऽऽश्रयान्तराभावात्क्षेत्रज्ञस्य तद्वत्त्वे संसारित्वमिति शङ्कते— **नन्विति** । न चाविद्यावत्त्वमविद्याकृतमनवस्थानादिति भावः । यत्तूत्खातदंष्ट्रोरगवदविद्या किं करिष्यति ? इति तत्राह— **तत्कृतं चेति** । अविद्यातज्जयोर्ज्ञेयत्वान्नाऽऽत्मधर्मतेत्युत्तरमाह— **नेत्यादिना** । तदेव प्रपञ्चयति— **यावदिति** । ज्ञेयस्य क्षेत्रधर्मत्वेऽपि क्षेत्रद्वारा क्षेत्रज्ञस्य तत्कृतदोषवत्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **न चेति** । क्षेत्रस्यापि ज्ञेयत्वान्न तेन चितो वस्तुतः स्पर्शोऽस्तीत्युपपादयति— **यदीति** । धर्मधर्मित्वेन संसर्गेऽपि ज्ञेयत्वे का क्षतिः ? इत्याशङ्क्याह— **यदीति** । आत्मधर्मस्याऽऽत्मना ज्ञेयत्वे स्वस्यापि ज्ञेयत्वापत्त्या कर्मकर्तृविरोधः स्यादित्यर्थः । किञ्च विमतं न क्षेत्रज्ञाश्रितं तद्द्वेद्यत्वाद्रूपादिवदित्याह— **कथं वेति** । किञ्च महाभूतानीत्यादिना ज्ञेयमात्रस्य क्षेत्रान्तर्भावान्नाविद्यादेर्ज्ञातृधर्मतेत्याह— **ज्ञेयं चेति** । किञ्च 'एतद्यो वेत्ति'[१३।२]इत्युक्तत्वात्क्षेत्रज्ञस्य ज्ञातृत्वनिर्णयान्न तत्र ज्ञेयं किञ्चित्प्रविशतीत्याह— **ज्ञातैवेति** । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवंस्वाभाव्ये सिद्धे सिद्धं क्षेत्रधर्मत्वमविद्यादेरिति फलितमाह— **इत्यवधारित** इति । विरोधाच्च न क्षेत्रज्ञधर्मत्वमविद्यादेरित्याह— **क्षेत्रज्ञेति** । विरुद्धवादित्वे मूलं दर्शयति— **अविद्येति** । मात्रपदस्य व्यावर्त्यं मानयुक्त्याख्यमवष्टम्भान्तरमिति वक्तुं केवलपदम् ।

१ **शां. भा.**— अत्राऽऽह साऽविद्या कस्येति । यस्य दृश्यते तस्यैव । कस्य दृश्यत इति ? अत्रोच्यते— अविद्या कस्य दृश्यत इति प्रश्नो निरर्थकः । कथं ? दृश्यते चेदविद्या, तद्वन्तमपि पश्यसि । न च तद्वत्युपलभ्यमाने सा कस्येति प्रश्नो युक्तः । न हि गोमत्युपलभ्यमाने गावः कस्येति प्रश्नोऽर्थवान्भवेत् ।

२ **आ. शां. व्या.**— ययाऽविद्यया विरुद्धमपि निर्वोढुं शक्यते तस्याः स्वातन्त्र्याभावाच्चितोऽन्यस्याविद्यमानत्वेनातदाश्रयत्वात्तस्या विद्यास्वभावतया तदाश्रयत्वव्याघातादाश्रयजिज्ञासया पृच्छति— **अत्राऽऽहेति** । आश्रयमात्रं पृच्छ्यते तद्विशेषो वा ? प्रथमे प्रश्नस्यानवकाशत्वं मत्वाऽऽह— **यस्येति** । अविद्या दृश्याऽदृश्या वा ? दृश्यत्वे पारतन्त्र्यात्किञ्चिन्निष्ठत्वेनैव तद्दृष्टेर्नाऽऽश्रयमात्रं प्रष्टव्यम्, अदृश्यत्वे वाऽप्रकाशत्वादसिद्धिरेव स्यादित्यर्थः । द्वितीयमालम्बते— **कस्येति** । अविद्याया दृश्यमानत्वादाश्रयविशेषस्याऽऽत्मनोऽपि स्वानुभवसिद्धत्वात्प्रश्नस्य निरवकाशतेत्युत्तरमाह— **अत्रेति** । प्रश्नानर्थक्यं प्रश्नद्वारा स्फोरयति— **कथमित्यादिना** । तथापि कथं प्रश्नासिद्धिस्तत्राऽऽह— **न चेति** । तदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति— **न हीति** ।

१ शां. भा.— ननु विषमो दृष्टान्तः, गवां तद्वतश्च प्रत्यक्षत्वात्तत्सम्बन्धोऽपि प्रत्यक्ष इति प्रश्नो निरर्थकः। न तथाऽविद्या तद्वांश्च प्रत्यक्षौ, यतः प्रश्नो निरर्थकः स्यात्। अप्रत्यक्षेणाविद्यावताऽविद्यासम्बन्धे ज्ञाते किं तव स्यात्? अविद्याया अनर्थहेतुत्वात्परिहर्तव्या स्यात्। यस्याविद्या स तां परिहरिष्यति। ननु ममैवाविद्या, जानासि तर्ह्यविद्यां तद्वन्तं चाऽऽत्मानम्। जानामि, न तु प्रत्यक्षेण। अनुमानेन चेज्जानासि कथं सम्बन्धग्रहणम्?।

२ आ. शां. व्या.— दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्वैषम्यं चोदयति— **नन्विति**। अज्ञानाश्रयस्य परोक्षत्वेऽपि प्रश्नवैयर्थ्यमित्याह— **अप्रत्यक्षेणे**ति। अविद्यावतोऽप्रत्यक्षत्वेऽपि तेनाविद्यासम्बन्धे सिद्धे प्रष्टुस्तव प्रश्नानर्थक्यसमाधिर्न कश्चिदित्यर्थः। अबुद्धपराभिसन्धिः शङ्कते— **अविद्याया** इति। अविद्यावतस्तत्परिहारान्नान्येन प्रयतितव्यमित्याह— **यस्ये**ति। ममैवाविद्यावत्त्वात्तत्परिहारे मया प्रयतितव्यमिति शङ्कते— **नन्वि**ति। तर्हि प्रश्नानर्थक्यमिति सिद्धान्ती स्वाभिसन्धिमाह— **जानासी**ति। आत्मानमविद्यावन्तं जानन्नपि तद्विषयाध्यक्षाभावात्पृच्छामीति शङ्कते— **जानामी**ति। अविद्यावतोऽप्रत्यक्षत्वं वदता तस्याहमविद्यावानविद्याकार्यवत्त्वाद्व्यतिरेकेण मुक्तात्मवदित्यनुमेयत्वमिष्टमित्यभ्युपेत्य दूषयति— **अनुमानेने**ति।

१ शां. भा.— न हि तव ज्ञातुर्ज्ञेयभूतयाऽविद्यया तत्काले सम्बन्धो ग्रहीतुं शक्यते, अविद्याया विषयत्वेनैव ज्ञातुरुपयुक्तत्वात्। न च ज्ञातुरविद्यायाश्च सम्बन्धस्य यो ग्रहीता, ज्ञानं चान्यत्तद्विषयं सम्भवत्यनवस्थाप्राप्तेः। यदि ज्ञात्राऽपि ज्ञेयसम्बन्धो ज्ञायेत अन्यो ज्ञाता कल्प्यः स्यात्, तस्याप्यन्यः, तस्याप्यन्य इत्यनवस्थाऽपरिहार्या। यदि पुनरविद्या ज्ञेया, अन्यद्वा ज्ञेयं, ज्ञेयमेव। तथा ज्ञाताऽपि ज्ञातैव, न ज्ञेयं भवति। यदा चैवमविद्यादुःखित्वाद्यैर्न ज्ञातुः क्षेत्रज्ञस्य किञ्चिद्दुष्यति।

२ आ. शां. व्या.— आत्मनोऽविद्यासम्बन्धग्रहे काऽनुपपत्तिः? इत्याशङ्क्य ज्ञातैवाऽऽत्मा स्वस्याविद्यासम्बन्धं बुध्यतेऽन्यो वा ज्ञाता? इति विकल्प्याद्यं दूषयति— **न ही**ति। तत्काले स्वस्याविद्यां प्रतिज्ञातृत्वावस्थायामिति यावत्। अविद्यां विषयत्वेन गृहीत्वा तज्ज्ञातृत्वेनैवोपयुक्तस्याऽऽत्मनस्तस्याः स्वात्मनि कुतः सम्बन्धज्ञातृत्वं? एकस्य कर्मकर्तृत्वविरोधादित्याह— **अविद्याया** इति। द्वितीयं निरस्यति— **न चे**ति। यो ग्रहीता स न सम्भवतीति सम्बन्धः। तद्विषयमिति ज्ञातुरविद्यायाश्च सम्बन्धस्तच्छब्दार्थः। अनवस्थामेव प्रपञ्चयति— **यदी**ति। आत्मनः स्वपरज्ञेयत्वायोगात्तस्मिन्नविद्यासम्बन्धस्याप्रामाणिकत्वान्नित्यानुभवगम्यत्वे स्थिते फलितमाह— **यदि पुनरि**ति। यदा चैवं तदेत्यध्याहार्यम्।

१ शां. भा.— नन्वयमेव दोषः, यद्दोषवत्क्षेत्रविज्ञातृत्वम्, इति चेत्, न; विज्ञानस्वरूपस्यैवाविक्रियस्य विज्ञातृत्वोपचारात्। यथोष्णतामात्रेणाग्नेस्तप्तिक्रियोपचारस्तद्वत्। यथा चात्र भगवता क्रियाकारकफलात्मत्वाभाव आत्मनि स्वत एव दर्शितोऽविद्याध्यारोपित एव क्रियाकारकादिरात्मन्युपचर्यते, तथा तत्र तत्र 'य एनं वेत्ति हन्तारं' [२।१९] 'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः' [३।२७] 'नाऽऽदत्ते कस्यचित्पापम्' [५।१५] इत्यादिप्रकरणेषु दर्शितस्तथैव च व्याख्यातमस्माभिः, उत्तरेषु च प्रकरणेषु दर्शयिष्यामः। हन्त तर्ह्यात्मनि क्रियाकारकफलात्मतायाः स्वतोऽभावेऽविद्यया चाध्यारोपितत्वे 'कर्माण्यविद्वत्कर्तव्यान्येव, न विदुषां' इति प्राप्तम्। सत्यमेवं प्राप्तम्। एतदेव च 'न हि देहभृता शक्यं' [१८।११] इत्यत्र दर्शयिष्यामः। सर्वशास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे च 'समासेनैव कौन्तेय! निष्ठा ज्ञानस्य या परा' [१८।५०] इत्यत्र विशेषतो दर्शयिष्यामः। अलमिह बहुप्रपञ्चेनेत्युपसंह्रियते॥ ३॥

२ आ. शां. व्या.— ज्ञातुरात्मनो न किञ्चिद्दुष्यतीत्येतदमृष्यमाणः शङ्कते— **नन्विति**। किं ज्ञातृत्वं ज्ञानक्रियाकर्तृत्वं ज्ञानस्वरूपत्वं वा? नाऽऽद्यः— तदनभ्युपगमात्तत्प्रयुक्तदोषाभावात्। द्वितीये ज्ञातृत्वस्यौपचारिकत्वान्न तत्कृतो दोषोऽस्तीत्याह— न इत्यादिना। असत्यामपि क्रियायां क्रियोपचारं दृष्टान्तेन स्फुटयति— **यथे**ति। आत्मनि वस्तुतो विक्रियाभावे भगवदनुमतिं दर्शयति— **यथा चात्रे**ति। गीताशास्त्रं सप्तम्यर्थः। स्वत एवाऽऽत्मनि क्रियाद्यात्मत्वाभावो भगवता शास्त्रे यथोक्तस्तथैव व्याख्यातमस्माभिरिति सम्बन्धः। कथं तर्हि क्रियादिरात्मनि भाति? तत्राऽऽह— **अविद्ये**ति। यथा वस्तुतो

नास्त्यात्मनि क्रियादिः, उपचारात्तु भाक्ति तथा तत्र तत्रातीतप्रकरणेषु भगवता कृतो यत्न इत्याह— **तथे**ति । न केवलमतीतेष्वेव प्रकरणेषु वास्तवक्रियाद्यभावादात्मन्याध्यासिकी तद्धीरुक्ता, किन्तु वक्ष्यमाणप्रकरणेष्वपि तथैव भगवदभिप्रायदर्शनं भविष्यतीत्याह— **उत्तरेषु चे**ति । आत्मनि वास्तवक्रियाद्यभावेऽध्यासाच्च तत्सिद्धौ कर्मकाण्डस्याविद्वदधिकारित्वप्राप्तौ 'विद्वान्यजेत ज्ञात्वा कर्माऽऽरभेत' इत्यादिशास्त्रविरोधः स्यादिति शङ्कते— **हन्ते**ति । शास्त्रस्य व्यतिरेकविज्ञानाभिप्रायत्वादशनायाद्यतीतात्मधीविधुरस्यैव कर्मकाण्डाधिकारितेत्यङ्गीकरोति— **सत्यमि**ति । कथमज्ञस्यैव कर्माधिकारित्वमुपपन्नं ? इत्याशङ्क्याह— **एतदेव चे**ति । ज्ञानिनो ज्ञाननिष्ठायामेवाधिकारः, निष्ठान्तरे त्वज्ञस्यैव, इत्युपसंहारप्रकरणे विशेषतो भविष्यतीत्याह— **सर्वे**ति । तदेवानुक्रामति— **समासेने**ति । जीवब्रह्मणोरैक्याभ्युपगमे न किञ्चिदवद्यमित्युपसंहरति— **अलमि**ति ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.**— देवमनुष्यादि सर्वक्षेत्रेषु वेदितृत्वैकाकारं क्षेत्रज्ञं च मां विद्धि मदात्मकं विद्धि; 'क्षेत्रज्ञं चापि' इति अपिशब्दात् क्षेत्रमपि मां विद्धीत्युक्तमिति गम्यते । यथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञविशेषणतैकस्वभावतया तदपृथक्सिद्धेः तत्सामानाधिकरण्येनैव निर्देश्यं, तथा क्षेत्रं क्षेत्रज्ञश्च मद्विशेषणतैकस्वभावतया मदपृथक्सिद्धेः मत्सामानाधिकरण्येनैव निर्देश्यौ विद्धि । वक्ष्यति हि— क्षेत्रात् क्षेत्रज्ञात् च बद्धमुक्तोभयावस्थात् क्षराक्षरशब्दनिर्दिष्टादर्थान्तरत्वं परस्य ब्रह्मणो वासुदेवस्य । 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥' [ गी. १५।१६–१८ ] इति ।

**४ वे. ता. चं.**— अथैवमन्योन्यव्यावर्तकाकारवत्तया निर्दिष्टयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्द्वयोरपि परमात्मव्यावृत्तिसिद्ध्यर्थमुभयानुवृत्तं तच्छेषत्वमुपदिश्य एवं यथावस्थितक्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानमेव मे मतमित्यभिप्रायेण प्रशंसति 'क्षेत्रज्ञं चापि' इति श्लोकेन । शरीरातिरिक्तस्य बद्धावस्थस्यात्र क्षेत्रज्ञशब्देनोपादानम् । स च स्वक्षेत्रापेक्षया शरीरी, मदपेक्षया शरीरमिति समानाधिकरणनिर्देशतात्पर्यमित्याह **देवमनुष्यादी**ति । 'क्षेत्रज्ञम्' इत्येकवचनेन जात्यैक्यमभिप्रेतमिति दर्शयितुं **सर्वक्षेत्रेषु वेदितृत्वैकाकारमि**त्युक्तम् । फलितमाह— **मदात्मकं विद्धी**ति । अनुक्तसमुच्चयार्थोऽपिशब्दः, अन्यथा निरर्थकत्वप्रसङ्गादित्यभिप्रायेणाह **क्षेत्रज्ञं चापीत्यपिशब्दादि**ति । कण्ठोक्तं समुच्चयागतमाभिप्रायिकं च सङ्कलय्याह **यथा क्षेत्रमि**ति । जीवस्य तच्छरीरेण सामानाधिकरण्ये यो हेतुः, स एवात्रापि विद्यत इति मुख्यमेव सामानाधिकरण्यमिति ज्ञापनायापृथक्सिद्धिकथनम् ।

**३ रा. भा.**— पृथिव्यादिसङ्घातरूपस्य क्षेत्रस्य क्षेत्रज्ञस्य च भगवच्छरीरतैकस्वभावस्वरूपतया भगवदात्मकत्वं श्रुतयो वदन्ति 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [बृ.उ.३।७।३] इत्यारभ्य "य‡ आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद । यस्यात्मा शरीरम् । य आत्मानमन्तरो यमयति, स त आत्मान्तर्याम्यमृतः" इत्याद्याः । इदमेवान्तर्यामितया सर्वक्षेत्रज्ञानामात्मत्वेनावस्थानं भगवतस्तत्सामानाधिकरण्येन व्यपदेशहेतुः । 'अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः' [१०।२०] 'न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्' [ १०।३९ ] 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [ १०।४२ ] इति पुरस्तादुपरिष्टाच्चाभिधाय, मध्ये सामानाधिकरण्येन व्यपदिशति 'आदित्यानामहं विष्णुः' [ १०।२१ ] इत्यादिना । यदिदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविषयं तयोर्मदात्मकत्वविषयं च ज्ञानमुक्तं, तदेवोपादेयं ज्ञानमिति मम मतम् ।

**४ वे. ता. चं.**— ननु क्षेत्रज्ञविशेषणत्वं प्रत्यक्षसिद्धत्वात् स्वीक्रियते; क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः परमात्मानं प्रति विशेषणत्वं न प्रतीयते; प्रत्युत स्वतन्त्रतयैव क्षेत्रज्ञो घटपटादयश्च प्रतीयन्ते; अतो न सामानाधिकरण्यं मुख्यमिति शङ्कायां विशेष्यस्याप्रत्यक्षत्वादश्रुतवेदान्तानां विशेषणत्वाग्रहणमित्यभिप्रायेणाह— **पृथिव्यादिसंघातरूपस्ये**ति । पृथिव्यादेः परमात्मानं प्रति शरीरत्ववचनादेव तत्सङ्घातरूपस्य देवमनुष्यादिपिण्डस्यापि शरीरत्वमुक्तमेव; शरीरधातूनां च पृथक्परमात्मशरीरत्वं व्यप-

‡ "य आत्मनि तिष्ठन्" इति श्रुतिस्तु उपनिषत्सु न दृश्यते ।

दिश्यत इति, ततोऽपि तत्समुदायस्य शरीरत्वमुक्तं भवतीत्यभिप्रायेण **पृथिव्यादिसङ्घातरूपस्ये**त्युक्तम्। जीवं प्रति क्षेत्रस्येव नावस्थाभेदनिबन्धनमनयोर्द्वयोः परमात्मशरीरत्वमिति ज्ञापनाय—**भगवच्छरीरतैकस्वरूपतये**त्युक्तम्। यथा पृथिव्यादेः लोके शरीरत्वेनाप्रसिद्धस्यापि परमात्मशरीरत्वं श्रुतिवशात्स्वीकार्यम्, तथा स्वक्षेत्रं प्रति शरीरिणोऽपि जीवस्येति भावः। एवं स्वरूपभेदेऽन्तर्यामित्वे च सिद्धे श्रुतिषु सामानाधिकरण्यव्यपदेशस्तन्निबन्धनः; तदुपबृंहणे चास्यां स्मृतौ स्मृत्यन्तरे च। अस्मिंश्च विभूत्यध्यायेऽन्तर्यामित्वं पुरस्तादुपरिष्टाच्चाभिधाय मध्ये सामानाधिकरण्यनिर्देशादात्मत्वेनावस्थानमेव सामानाधिकरण्ये हेतुरिति श्रुत्युपबृंहणं कृतं भवति। तत्समानतयाऽस्मिन्नपि सामानाधिकरण्ये स एवार्थ इत्यभिप्रायेणाह **इदमेवे**ति। उत्तरार्धं व्याख्याति—**यदिदमि**ति। प्रस्तुतविविक्ताकारविशिष्टयोरेव हि क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिह परामर्शः, तत्प्रायःपिण्डादिवदलौकाकारज्ञानस्य पश्वादिसाधारणत्वात्तस्य चात्र प्रशंसानुपपत्तेरित्यभिप्रायेण विवेकविषयत्वोपादानम्। नहि ज्ञानस्य ज्ञानत्वमात्रं विधेयं, पुनरुक्त्यादिप्रसङ्गात्; नचान्येषां ज्ञानानां ज्ञानत्वनिषेधे तात्पर्यं, व्याघातात्; नच ज्ञानमित्यनूद्य मतत्वमात्रमत्र विधीयते, ज्ञानशब्दावृत्तिनैरर्थक्यात्; अतोऽत्र ज्ञानस्यैव ज्ञानमिति विधानं परिग्राह्यत्वार्थप्रशंसापरमित्यभिप्रायेणाह **तदेवोपादेयं ज्ञानमि**ति। **मम मतमि**ति सर्वभूतसुहृदो मम सर्वशास्त्रार्थोपयोगितया सर्वहितत्वेनेदमेवोपादेयतयाऽभिमतमिति भावः।

**३ रा. भा.— केचिदाहुः—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इति सामानाधिकरण्येनैकत्वमवगम्यते। ततश्चेश्वरस्यैव सतोऽज्ञानात्क्षेत्रज्ञत्वमिव भवतीत्यभ्युपगन्तव्यम्। तन्निवृत्त्यर्थश्चायमेकत्वोपदेशः। अनेन चाप्ततमभगवदुपदेशेन 'रज्जुरेषा, न सर्पः' इत्याप्तोपदेशेन सर्पत्वभ्रमनिवृत्तिवत् क्षेत्रज्ञत्वभ्रमो निवर्तत इति। ते प्रष्टव्या अयमुपदेष्टा भगवान् वासुदेवः परमेश्वरः किमात्मयाथात्म्यसाक्षात्कारेण निवृत्ताज्ञानः? उत न? इति। निवृत्ताज्ञानश्चेत् निर्विशेषचिन्मात्रैकस्वरूपे आत्मन्यतद्रूपाध्यासासम्भावनया कौन्तेयादिभेददर्शनं तान् प्रत्युपदेशादिव्यापाराश्च न सम्भवन्ति।**

**४ वे. ता. चं.**— एवमस्य श्लोकस्य श्रुतिस्मृत्यन्तरपूर्वापरसङ्गतमर्थमभिधाय कुदृष्टिदृष्टिं दूषयितुमनुभाषते—**केचिदि**त्यादिना। **केचिदि**ति निरूपकाभासत्वमभिप्रेतम्। बहुवचनेन जगद्व्यामोहनम् तद्ग्रन्थकारकुमतिपरम्परायोतनम्। **सामानाधिकरण्येनैकत्वमवगम्यत** इति। 'भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तानां शब्दानामेकस्मिन्नर्थे वृत्तिः सामानाधिकरण्यम्' इति हि तल्लक्षणमिति भावः। सर्वज्ञत्वाज्ञत्वादिविरुद्धधर्मवतोरेकत्वे कथमवगन्तुं शक्यं? इत्यत्राह—**ततश्चे**ति। श्रुतस्य ह्यनायोगात्तदर्थापत्त्येत्यर्थः। एवकारेण विरोधशङ्काद्योतनम्। संसारस्यौपाधिकत्वेन सर्वाभ्युपगतत्वात्स्वतः क्षेत्रज्ञत्वाभावेऽपि दोषवशात्तत्सम्भव इत्यभिप्रायेण **अज्ञानादि**त्युक्तम्। ननु दोषवशादपि विरुद्धं न सम्भवति, नहि दोषेण तेजसस्तिमिरत्वापादनं सम्भवति. नच क्षितिजलादिसमवधाने शिलाशकलस्याङ्कुरारम्भकत्वमित्यत्राह—**क्षेत्रज्ञत्वमिवे**ति। विरुद्धाकारसद्भावो ह्यसम्भावितः; तदारोपस्तु रज्जुसर्पादिवदुपपन्न इति भावः। **अभ्युपगन्तव्यमि**ति गत्यन्तरादर्शनादिति भावः। यदि परमार्थतः संसारित्वं नास्ति; कथं संसारनिराकरणायोपदेशादि क्रियते? नहि परमार्थतो व्याध्यभावे तन्निरासाय चिकित्सोपपद्येतेत्यत्राह **तन्निवृत्त्यर्थ** इति। क्षेत्रज्ञत्वभ्रमनिवृत्त्यर्थ इति यावत्। नह्ययमैक्योपदेशो दृष्टिविध्यादिष्विवान्यशेषतया भाति; अपितु आत्मयाथात्म्यज्ञानार्थ इति भवद्भिरप्यभ्युपेतमित्यभिप्रायेण **अयमि**त्युक्तम्। चन्द्रभेदभ्रमनिवर्तकतदैक्योपदेशवदिति भावः। अबाधितात्प्रत्यक्षतो भेदे दृढं प्रतीयमाने कथं तदुपजीवकेन सम्भवदभिप्रायान्तरेण परोक्षेणोपदेशेन बाधः? इत्यत्राह **अनेन चे**ति। सामान्यवेषेणोपजीवकत्वं न बाधकत्वविरोधि; अन्यथा भेदानुमानेन ज्वालैक्यबाधायोगात्; अतएव परोक्षत्वमपि न दौर्बल्यप्रयोजकम्। निर्दोषत्वमेव हि प्राबल्यनिदानम्। वाक्यस्य च दोषा वक्तुर्भ्रमविप्रलम्भप्रमादाशक्तयः। अत्र च वक्तुर्वासुदेवस्याप्ततमत्वेन विप्रलम्भगन्धाभावः; भगवत्त्वेन भ्रमप्रमादाशक्तीनामसम्भवः; अतस्तदुपदेशेन क्षेत्रज्ञत्वभ्रमस्य प्रत्यक्षस्यापि बाध उपपद्यत इति भावः।

एवमनुभाषितं दूषयितुमुपक्रमते—**ते प्रष्टव्या** इति। सर्वज्ञस्येश्वरस्यैव सतोऽज्ञानात्क्षेत्रज्ञत्वभ्रमो भवति; स एव चेश्वरः क्षेत्रज्ञायोपदिशतीति व्याकुलभाषिणः किमभिप्रेतं? इत्याशयपरिशोधनेन दूषणं वक्तव्यमिति भावः। **अयमि**ति—'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः' [ २।१२ ] इत्युपक्रमे भेदेनैव स्वात्मानमुपदिशन् परस्ताच्च क्षराक्षरपुरुषवैलक्षण्यमेव स्वात्मनोऽभिधास्यन्निरुत्कृष्टव्यवहारेषु जीवानां परार्थभूत इति भावः। **उपदेष्टे**ति— यद्यसावप्यज्ञः, तदाऽर्जुनवदस्यापि शिष्यत्वमेवोचितं, नतूपदेष्टृत्वमिति भावः। **भगवानि**ति— पराज्ञाननिवृत्त्यर्थमेव ह्ययमुपदिशति, स्वस्य तत्त्वज्ञत्वादित्यभिप्रायः। **वासुदेव** इत्यत्रान्तर्यामित्वादिविवक्षायां 'सर्वत्रासौ समस्तं च वसत्यत्र' [ वि. पु. १।२।१२ ] इति भेद एव व्यक्त इति भावः। वसुदेवतनयत्वाविवक्षायां तु स एव ह्यवतीर्णः। 'सर्वलोकमहेश्वरम्' [ ५।२९ ] 'बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' [ १५।१७ ] 'यस्मात्क्षरमतीतोऽहम्' [ १५।१८ ] इत्यादिषु स्वात्मानमीश्वरत्वेनैव मन्यमानो जीवेभ्यः सर्वप्रकारवैलक्षण्यमुपदिशतीत्यभिप्रायेण परमेश्वरशब्दः। ईश्वरस्य भ्रमहेतुभूतमज्ञानं न कदाचिदप्यस्तीति तैर्वक्तुं न शक्यं, तथा सतीशित्वप्रति-

भासाभावादीश्वरत्वस्यैवासिद्धिप्रसङ्गात्, अज्ञानमन्तरेण च मिथ्याभूतभेदप्रतिभासायोगात्, परबुद्धिविषयत्वोल्लेखरूपस्य तु मिथ्यार्थप्रतिभासस्य परसद्भावसापेक्षत्वात्, तस्य च तैरनभ्युपगमात्; अत ईश्वरस्यापि पूर्वमज्ञानमस्ति; तच्च पश्चाज्ज्ञाननिवर्त्यमित्यभ्युपगन्तव्यम्। तच्चोपदेशदशायां भवदभिमतहेतुविशेषेण निवृत्तं, न वा ? इत्यभिप्रायेण विकल्पयति **किमित्या**दिना।

प्रथमं शिरो दूषयितुमनुवदति **निवृत्ताज्ञानश्चे**दिति। **निर्विशेषे**त्यादि कारणाभावात्कार्याभाव इति भावः। अभ्युपगताधिष्ठानविशेषस्वभावादेवाध्यासो न सम्भवति, किं पुनर्दोषस्यापि निवृत्तावित्यभिप्रायेण निर्विशेषचिन्मात्रत्वोपादानम्। तथाहि सविशेषे वस्तुनि कस्मिंश्चिदसाधारणाकारे तिरोहिते तद्विरुद्धाकारान्तराध्यासः; ज्ञाता च कश्चिदर्थमन्यथा मन्येत; न तु ज्ञप्तिमात्रम्। **कौन्तेयादी**त्यादिशब्देन जिघांसितधार्तराष्ट्रादिग्रहणम्। **उपदेशादी**त्यादिशब्देन सारथ्यादेरपि सङ्ग्रहः।

**३ रा. भा.—** अथात्मयाथात्म्यसाक्षात्काराभावादनिवृत्ताज्ञानः, न तर्ह्यज्ञत्वादेवात्मज्ञानोपदेशसम्भवः; 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' [४।३४] इति ह्युक्तम्। अत एवमादिवादा अनाकलितश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणन्यायसदाचारस्ववाग्विरोधैः स्ववचस्स्थापनदुराग्रहैरज्ञानिभिर्जगन्मोहनाय प्रवर्तिता इत्यनादरणीयाः।

**४ वे. ता. चं—** द्वितीयं शिरोऽनुभाषते— **अथे**ति। निवर्तकसाक्षात्काररहितत्वादिति भावः। **न तर्ही**ति— नहीन्द्रियलिङ्गशब्दादिवदज्ञत्वेऽपि परज्ञानजनकत्वं सम्भवति, उपदेशवाक्यप्रयोगस्य ज्ञानपूर्वकत्वावश्यम्भावात्, अप्रमितोपदेशेऽनाप्तत्वप्रसङ्गाद्दिति भावः। तत्त्वसाक्षात्कारवत एवाध्यात्मोपदेष्टृत्वे तस्यैवोक्तिं दर्शयति— **उपदेक्ष्यन्ती**ति।

एवं **शङ्करपक्षो**क्तं दोषं भास्करादिपक्षेऽप्यतिदिशति— **अत** इति। **शङ्करमते** भेदश्रुतयः सगुणश्रुतयोऽन्तर्यामिश्रुतयः प्रकृतिपुरुषनित्यत्वश्रुतयस्तथाविधाश्च स्मृत्यादयो विरुद्धा एव। अभेदश्रुत्यादयश्च मुख्यार्थपरित्यागेन निर्विशेषलक्षकतया तैरेवाभ्युपगमात् मुख्यार्थप्रतिपादकाकारेण विरुद्धाः। विषयव्यवस्थादिभिर्विरोधपरिहारे सम्भवति बाध्यबाधकभावाभ्युपगमान्न्यायविरोधः। स्ववचनविरोधस्तु ब्रह्म निर्विशेषम्, एवंत्वादित्यत्र हेतुसाध्यधर्मान्वयावश्यम्भावात्। 'अनुभूतिरवेद्या' इत्यत्रानुभूतिशब्दबोध्यत्वादेरवश्याभ्युपगन्तव्यत्वात्। एवं 'ब्रह्म न शब्दप्रतिपाद्यम्' इत्यादिष्वपि भाव्यम्। भास्करपक्षे तु भेदगोचरश्रुत्यादिभिस्तत्प्रतिपक्षमभेदमसहमानैर्विरोधो वक्तव्यः। अचितोऽपि ब्रह्मस्वरूपैक्याभ्युपगमात् निर्विकारत्वप्रतिपादकैर्विरोधः। ब्रह्मण एवोपहितस्य जीवत्वान्निर्दोषश्रुतिविरोधः। अभेदश्रुतयोऽपि प्रायशो न मुख्याः। जीवेश्वरसामानाधिकरण्ये 'घटाकाशो महाकाशः' इतिवन्निर्दिश्यमानवेषेणैक्यासिद्धेः। एवमेवाचिदीश्वरयोरपि न सामानाधिकरण्यस्वारस्यम्। सर्वज्ञत्वादिगुणगणविशिष्टस्य ब्रह्मणः सर्वतादात्म्ये सर्वदुःखप्रतिसन्धानप्रसङ्गान्निरवद्यश्रुत्यादिविरोधप्रशमनाभावेन न्यायविरोधः। यादवप्रकाशपक्षे तु स्वत एव भिन्नाभिन्नसर्वजीवत्वाभ्युपगमोऽतिशयितः। सर्वानुवृत्तसन्मात्रस्य ब्रह्मत्वाभ्युपगमात् अदृश्यत्वादिश्रुतिविरोधश्च। सत्ताया घटादिधर्मत्वेन प्रतीयमानत्वात् ब्रह्मणो जातिरूपत्वप्रसङ्ग इत्यादयो दोषा द्रष्टव्याः। अनयोः स्ववचनविरोधस्तु सप्तभङ्गीवादिनामिव भेदाभेदाभ्युपगमात्तन्मूलनिर्दोषत्वसदोषत्वसामानाधिकरण्याच्च व्यक्तः। **जगन्मोहनाय प्रवर्तिता** इति न तेषामभिप्रायेणोच्यते, 'अज्ञानिभिः' इत्युक्तत्वात्; अपितु तेषामन्यानां वादो दैवाज्जगन्मोहनाय जात इत्युच्यते।

ननु युष्मत्पक्षेऽपि श्रुतिविरोधादिदूषणं समानम्। तथाहि यदि जगद्ब्रह्मणोरत्यन्तभेद एवाभ्युपगतः, तदा "तन्नामरूपाभ्यां (एव) व्याक्रियते" [बृ.उ.१।४।७] इति कारणस्यैव ब्रह्मणः कार्यनामरूपभाक्त्वश्रुतिविरोधः; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधः; न हि घटज्ञानेन ततोऽत्यन्तभिन्नस्य पटस्य ज्ञातृत्वं सम्भवति; अत्यन्तभिन्नयोर्जगद्ब्रह्मणोः सामानाधिकरण्यं च न सम्भवति, घटपटवदेव; लक्षणया निर्वाहश्चेत्परपक्षे कः प्रद्वेषः ? ब्रह्मोपादानत्वं च जगतो न सिद्ध्यति, मृद्घटादिवज्जगद्ब्रह्मणोरेकद्रव्यत्वानभ्युपगमात्; अन्यथा सत्कार्यवादविरोधात्। यदि भिन्नैरेव प्रकृतिपुरुषेश्वरैर्जगदारम्भः, ते किमेकीभूताः कार्यमारभन्ते ? उत पृथगवस्थिता एव ? पूर्वत्र परस्परस्वभावसङ्करः परपक्षवत्प्रसक्तः; उत्तरत्रापि किं पृथक्कार्यकराणि ? उत न ? पृथक्कार्यकरत्वे सर्वस्य ब्रह्मकारणत्वमभ्युपगतं पलायते; एककार्यकरत्वे कार्यावस्थायां स्वभावसङ्करस्तदवस्थः; यदि च ब्रह्म स्वरूपतो निर्विकारं, तदा तस्य कार्यात्मकत्ववादिनीभिः श्रुतिभिर्विरोधः। अथ सविकारत्वाभ्युपगमः, तदा परपक्षप्रसक्तनिर्विकारश्रुतिविरोधस्तदवस्थः; यदि च सर्वदा सर्वज्ञत्वादिगुणगणविशिष्टमेव ब्रह्म, तदा निर्गुणश्रुतिभिः ज्ञानमात्रश्रुतिभिश्च व्याघातः; सर्वदा भेदश्च यद्यभ्युपगतः तदा भेदनिषेधकश्रुतिविरोधः; न्यायविरोधश्च, विधिनिषेधयोरर्थस्वभावलब्धेन पौर्वापर्येणापच्छेदवद्बाध्यबाधकभावस्यानभ्युपगमात्; स्ववचनविरोधश्च, सर्वात्मकं ब्रह्म सर्वविलक्षणं चेत्यभ्युपगमात्।

**३ रा. भा.— अत्रेदं तत्त्वम्—** अचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनः परस्य ब्रह्मणो भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन च स्वरूपविवेकमाहुः काश्चन श्रुतयः— "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया

सन्निरुद्धः " [ श्वे. उ. ४।९ ] " मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् " [ श्वे. उ. ४।१० ] " क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः " [ श्वे. उ. १।१० ] ' अमृताक्षरं हरः ' इति भोक्ता निर्दिश्यते; प्रधानमात्मनो भोग्यत्वेन हरतीति हरः । " स कारणं करणाधिपाधिपो नचास्य कश्चिज्जनिता नचाधिपः " [ श्वे. उ. ६।९ ] " प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः " [ श्वे. उ. ६।१६ ] " पतिं विश्वस्यात्मेश्वरं शाश्वतं शिवमच्युतम् " [ तै. ना. १० ] " ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ " [श्वे. उ.१।९] " नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् " [ श्वे. उ. ६ । १३ कठो. २।५।१३ ] "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा " [ श्वे. उ. १।१२ ] " पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति " [ श्वे. उ. १।६ ] " तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " [ मुं. उ. ३।१।१ ] " अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजां जनयन्तीं सरूपाम् । अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः " [ श्वे. उ. ४।५ तै. ना. १२।५ ] " गौरनाद्यन्तवती सा जनित्री भूतभाविनी " [ मं. उ. ५ ] " समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः " [ श्वे. उ. ४।७ ] इत्याद्याः ।

**४ वे. ता. चं.**— अतो दोषसाम्ये कस्य मतं तत्त्वं ? इति चोद्यमभिप्रायानभिज्ञैः परैः श्वावराहकलहन्यायेन प्रवर्तितं परिहृत्य समीचीनशारीरकन्यायानुगृहीतसर्ववेदान्तसारार्थप्रतिपादनपरतामस्य शास्त्रस्य स्थापयितुमाह— **अत्रेदं तत्त्व**मिति। **अत्र** श्रुतिस्मृतीतिहासाद्यविरुद्धार्थगवेषणायामित्यर्थः; श्रुत्यादिष्विति वा । **इदं** यथाप्रमाणं वक्ष्यमाणम् ; न तु शङ्कराद्युक्तमित्यर्थः । **तत्त्वं** प्रामाणिकमित्यर्थः । शङ्कितान् दोषान् परिहरिष्यन् स्वपक्षं तावत्प्रमाणतः स्थापयति **अच्छिद्रस्तुन** इत्यादिना **सत्यमभवदि**त्यन्तेन । भोग्यत्वादिकं यथाक्रमम् । **भोग्यत्वेन भोक्तृत्वेन चेशितृत्वेन** चेति भेदकधर्मान्तराणां उपादास्यमानश्रुतिसिद्धानामुपलक्षणम् । अनुक्तसमुच्चायार्थेन चकारेण वा तत्सङ्ग्रहः । **स्वरूपविवेकं** स्वरूपाणां भिन्नत्वमित्यर्थः । विवेकशब्दो भ्रमनिराकरणद्योतनार्थः । न हि भेदवादिनीनां श्रुतीनां श्रुतित्वे सर्पमृतिरित्यभिप्रायेण **काश्चन श्रुतय** इत्युक्तम् । बहुवचनेन भूयसां न्यायोऽप्यविरुद्ध इति ज्ञापितम् । भेदश्रुत्यविरोधेन सामानाधिकरण्यश्रुत्यर्थं स्थापयितुं प्रथमं भेदश्रुत्युपादानम् । **अस्मादि**त्यनेन साक्षाद्विकाराश्रयत्वमचिद्द्रव्यस्येति सिद्धम् 'अन्यो मायया सन्निरुद्धः' [ श्वे. उ. ४ । ९ ] इत्यनेनोपहितस्य ब्रह्मण एव जीवत्वमित्यादिप्रलापा निर्मूलिताः । नह्यत्र मायया सन्निरोधादन्यत्वमुच्यते; अपितु अन्यस्यैव सतो मायया सन्निरोधः । सन्निरुद्धः स्वाभाविकसर्वज्ञत्वनिरतिशयानन्दाद्याविर्भावरहित इत्यर्थः । पराभिमतो मायाशब्दार्थः श्रुत्यैव प्रतिक्षिप्त इति दर्शयितुमाह **मायां** **त्वि**ति । 'क्षरम्' इत्यादौ हरशब्दस्योत्तरपदान्वयेन कुदृष्टचुन्नीतयोजनान्तरप्रतिक्षेपार्थमाह **अमृताक्षरं हर इति भोक्ता निर्दिश्यत** इति । रुद्रे रूढस्य कथं भोक्तृमात्रसाधारण्यमित्यत्राह— **प्रधानमि**ति । **हरतीति हरः** इत्येतावन्निर्वचनम् ; शेषमर्थसिद्धकथनम् । अयमभिप्रायः— यदि हरशब्दो 'देव एकः' इत्यनेनान्वीयते, तदा 'अमृताक्षरम्' इत्यस्य विधेयत्वं न स्यात्; अथ 'अमृताक्षरम्' इत्यसमस्तं लुप्तविभक्तिकं उद्देश्योपादेयपरमुच्येत, तदा विभक्तिलोपक्लेशो व्युत्क्रमेणोद्देश्योपादेयनिर्देशश्च स्यात् । न चात्र "क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या" [ श्वे. उ. ५ । १ ] इतिवदमृतशब्द एवोद्देश्यपरः, क्षराक्षरशब्दयोरेव मिथःप्रतिरूपत्वात् । ऋक्षु च पादभेदेनार्थव्यवस्था सम्भवन्ती न परित्याज्या । एवं "क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः" इति वाक्यान्तरशैली चानुसृता स्यात् । अन्यथा व्यवहितान्वयश्च । नच 'देव एकः' इत्यत्र विशेषाकाङ्क्षास्ति । तावता च माहात्म्यमतिशयेन व्यज्यते । 'क्षरात्मानौ' इति पुल्लिङ्गान्तानुवादश्च तल्लिङ्गनिर्दिष्टविषयतायां स्वरसः । शब्दान्तरेणानुवादस्तु पक्षद्वयेऽपि समः । अस्मत्पक्षे तु हरशब्दस्यात्मजातिविषयत्वज्ञापनार्थतया सप्रयोजनश्च । 'अमृताक्षरम्' इति सविशेषणनिर्देशोऽपि तत्स्वभावविशेषज्ञापनेन सार्थः । एवं हरशब्दस्यात्र प्रधानसहपठितपुरुषतत्त्वविषयत्वे अवश्यम्भाविनि लक्षणादेश्चासम्भवे श्रुत्यन्तरस्वप्रकरणादिविरुद्धरूढिपरित्यागेन यौगिकार्थपरत्वमैन्द्र्यादिन्यायेनाङ्गीकार्यमिति । क्षेत्रज्ञेश्वरयोः सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वनियन्तृत्वनियाम्यत्वरूपं भेदं द्वयोरप्यजत्वं च द्विशब्देनैव सङ्ख्यया वदन्तीं श्रुतिं दर्शयति— **ज्ञाज्ञावि**ति । सुषुप्तिमरणमूर्च्छाप्रलयेषु क्षेत्रज्ञस्यात्यन्ताज्ञत्वम् ; जागरस्वप्नयोरपि ज्ञानं कतिपयविषयम् , अज्ञानं त्वनन्तगोचरम् । ईश्वरात्पृथग्भूतानामेव जीवानां नित्यत्वं बहुत्वं जीवेश्वरयोश्चैतन्याश्रयत्वमीश्वरस्य चाद्वितीयत्वं सकलफलप्रदत्वं च 'नित्यो नित्यानाम्' इति श्रुत्या सिद्धम् । स्वशब्दादेव भेदस्य वेद्यत्ववादिनीं भेदज्ञानपूर्वकपरमात्मप्रीतिविषयत्वेन मोक्षं च प्रतिपादयन्तीं श्रुतिमाह— **पृथ**गिति । जीवेश्वरयोरेकशरीरानुप्रविष्टयोरेव कर्मफलभोक्तृत्वाभोक्तृत्वरूपवैधर्म्यपरं वाक्यमाह **तयोरन्य** इति । तयोरन्यः तयोरेक इत्यर्थः । **स्वाद्वत्ती**ति पुण्यफलोदाहरणमुपलक्षणार्थम् । अभिचाकशीति अभितोऽधिकं प्रकाशते । तादृशजीवनियन्तृत्वलक्षणो-

ऽतिशय एव तदानीमपि सिध्यति; न तु ज्ञानसङ्कोचादीत्युक्तं भवति। सत्त्वरजस्तमोमय्याः प्रकृतेः पुरुषस्य च अजत्वं, प्रकृतेः पुरुषकर्मानुरूपपरिणामविशेषभाक्त्वेनाध्यासप्रसङ्गराहित्यं, बद्धमुक्तव्यवस्था मुक्तदशायामपि प्रकृतेर्विश्लेषमात्रं च ज्ञापयति— अजामिति।

३ रा. भा.— अत्रापि 'अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो! ययेदं धार्यते जगत्' [७।४,५] 'सर्वभूतानि कौन्तेय! प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्। कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥ प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनःपुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्' [९।७-८] 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्। हेतुनाऽनेन कौन्तेय! जगद्वि(द्वि)परिवर्तते' [९।१०] 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि' [१३।२०] 'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्। सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत!' [१४।३] इति कृत्स्नं जगद्योनिभूतं महद्ब्रह्म मदीयं प्रकृत्याख्यं भूतसूक्ष्ममचिद्वस्तु यत्, तस्मिन् चेतनाख्यं गर्भं संयोजयामि; ततो मत्सङ्कल्पकृताच्चिदचित्संसर्गादेव देवादिस्थावरान्तानामचिन्मिश्राणां सर्वभूतानां सम्भवो भवतीत्यर्थः। श्रुतावपि भूतसूक्ष्मं ब्रह्मेति निर्दिष्टं "तस्मादेतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते" [मुं.उ.१।१।९] इति।

४ वे. ता. चं.— उक्तश्रुत्युपबृंहणायास्मिन्नेव प्रतिपादितं नित्यं प्रकृतिपुरुषेश्वरभेदं दर्शयति— **अत्राप्यहङ्कार इतीति**। **मे प्रकृतिरिति** व्यधिकरणनिर्देशादीश्वरात्प्रकृतिपुरुषयोर्भेदः सिद्धः। 'इतस्त्वन्याम्' इत्यनेन प्रधानात्पुरुषस्य भेदः। सृष्टिप्रलययोरध्यासतन्निवृत्तिरूपत्वव्युदासाय परमात्मशरीरभूतप्रकृत्यविभागविभागरूपत्वमाह **सर्वभूतानीति**। अत्रापि 'मामिकाम्' इत्यादिभिर्भेदः स्फुटः। प्रधानपुरुषयोश्चराचराद्यवस्थापत्तेः परमात्मभ्रममूलत्वव्युदासाय तदधिष्ठानमूलतामाह— **मयेति**। जीवानामध्यासाधीनासिद्धित्वव्युदासाय प्रकृतिपुरुषयोरविशेषेणानादित्वं दर्शयति— **प्रकृतिं पुरुषं चेति**। प्रकृतेरेव साक्षात्परिणामाश्रयत्वं, सृष्ट्यौपयिकप्रकृतिपुरुषसंसर्गविशेषस्य परमात्मसङ्कल्पाधीनत्वं तत एव जगत्सृष्टिम्; एवंप्रकारेण त्रयाणामन्योन्यभेदं चोदाहरति— **मम योनिरिति**। जगदपेक्षया योनित्वं, जगत्स्रष्टुरधिष्ठातृतया सम्बन्धः; तदाह— **जगद्योनीति**। मुख्यब्रह्मणो ममेति व्यधिकरणनिर्देशाद्योनित्वसामर्थ्याच्च ब्रह्मशब्दोपचरितमाह— **प्रकृत्याख्यमिति**। चिन्मिश्रभूतोत्पत्तिहेतुतया प्रकृत्याधेयतया च सिद्धं गर्भशब्दार्थमाह— **चेतनाख्यमिति**। 'दधामि' इत्याधानं विवक्षितमित्याह— **संयोजयामीति**। विस्तरोऽस्य स्थाने भविष्यति। एवं बहुषु प्रदेशेषु प्रकृतिपुरुषजगत्सृष्ट्यादिप्रतिपादनदशायां जीवाध्यासजगन्मिथ्यात्वादिसूचकं न किञ्चिद्दृश्यत इत्यभिप्रायः।

३ रा. भा.— एवं भोक्तृभोग्यरूपेणावस्थितयोः सर्वावस्थावस्थितयोश्चिदचितोः परमपुरुषशरीरतया तन्नियाम्यत्वेन तदपृथक्स्थितिं परमपुरुषस्य चात्मत्वमाहुः काश्चन श्रुतयः— "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति' [बृ. उ. ३।७।३] इत्यारभ्य "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [बृ.उ.३।७।२२] इति, तथा "यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरे सञ्चरन् यं पृथिवी न वेद" इत्यारभ्य "यस्याक्षरं शरीरं योऽक्षरमन्तरे सञ्चरन् यमक्षरं न वेद" "यस्य मृत्युः शरीरं यो मृत्युमन्तरे सञ्चरन् यं मृत्युर्न वेद (स) एष सर्वभूतान्तरात्मापहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" [सुबालो.७] अत्र मृत्युशब्देन तमश्शब्दवाच्यं सूक्ष्मावस्थमचिद्वस्त्वभिधीयते, अस्यामेवोपनिषदि "अव्यक्तमक्षरे विलीयते, अक्षरं तमसि विलीयते, तमः परे देव एकीभवति (एकीभूय तिष्ठति)" [सुबालो.२] इति वचनात् "अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" [तै.आ. ३।११ चित्यु. ११।१] इति च। एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकारः परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इतीममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतयः कार्यावस्थं कारणावस्थं च जगत् स एवेत्याहुः— "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं" [छां. उ.६।२।१] "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत" [छां. उ. ६।२।३] इत्यारभ्य "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" [छां. उ. ६।८।६] "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं, स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो" [छां. उ.६।८।७] इति।

**४ वे. ता. चं.**— एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदः काणादप्रभृतिभिरभ्युपगत इति ततो विशेषं घटकश्रुतिसिद्धं शरीरात्मभावं सामानाधिकरण्यमुख्यत्वसिद्ध्यर्थमाह– **एव**मिति। **भोक्त्रि**ति— एकीभावावस्थायामपि शरीरत्वं "यस्य तमः शरीरम्" [बृ. उ. ३।७।१३] "यस्य मृत्युः शरीरम्" [सुबालो. ७] इत्यादिभिः सिद्धमिति ज्ञापनाय **सर्वावस्थावस्थितयो**रित्युक्तम्। प्रत्यक्षाद्यप्राप्तस्य जगद्ब्रह्मणोः शरीरात्मभावस्य तत्त्वोपदेशतत्परानेकश्रुतिसिद्धत्वान्न तत्परित्यागः शङ्क्यः। तदनुगुणतया च शरीरलक्षणमनुसन्धेयमिति भावः। अन्तर्यामिब्राह्मणे सर्वावस्थप्रकृतिपुरुषयोरविशेषेण परमात्मशरीरत्वं दर्शयति **यः पृथिव्या**मिति। इममेवार्थमीषदावापोद्वापभेदेन प्रतिपादयन्त्या सुबालोपनिषदाऽन्तर्यामिब्राह्मणोक्तमपहतपाप्मत्वादिगुणयोगमद्वितीयत्वं नारायणत्वं च विशदयति **यः पृथिवी**मिति। अत्र मृत्युशब्दस्य स्थानप्रमाणेन अतिसूक्ष्मदशापन्नमूलप्रकृतिविषयत्वमाह **अत्रे**ति। अत्र अक्षरपर्यायादनन्तरे पर्याये इत्यर्थः। तेजःप्रतिद्वन्द्वितमोव्युदासाय **सूक्ष्मावस्थमचिद्वस्त्वि**त्युक्तम्। **अस्यामेवे**त्यनेन शीघ्रप्रत्यभिज्ञानं सूचितम्। आत्मलक्षणपूर्वकमात्मत्वं दर्शयत्तैत्तिरीयकवाक्यमाह— **अन्तःप्रविष्ट** इति। नृपनभोव्यावर्तकाभ्यामन्तःप्रवेशनियमनाभ्यां शरीरित्वसिद्धिः। उक्तभेदश्रुतिघटकश्रुत्यनुसारेण सामानाधिकरण्यश्रुतीनामर्थं मुख्यमेवाह **एवं सर्वावस्थे**ति। अतोभयावस्थपरमपुरुषप्रकारद्रव्यैक्यं सामानाधिकरण्यश्रुतीनां विवक्षितमित्यर्थः। **इममर्थं ज्ञापयितु**मिति न पुनः श्रुत्यन्तरस्वप्रकरणस्ववचनप्रत्यक्षादिविरुद्धं ज्ञापयितुमित्यर्थः।

**३ रा. भा.**— तथा "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत" इत्यारभ्य "सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" [तै. उ. २।६] इत्याद्याः। अत्रापि श्रुत्यन्तरसिद्धश्चिदचितोः परमपुरुषस्य च स्वरूपविवेकः स्मारितः "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति" [छां. उ. ६।३।२] "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्....विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्" [तै. उ. २।६] इति च। अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्येति जीवस्य ब्रह्मात्मकत्वं तदनुप्रविश्य "सच्च त्यच्चाभवत् विज्ञानं चाविज्ञानं च" इत्यनेनैकार्थ्यादात्मशरीरभावनिबन्धनमिति विज्ञायते। एवम्भूतमेव यन्नामरूपव्याकरणं "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां (एव) व्याक्रियते" [बृ. उ. १।४।७] इत्यत्राप्युक्तम्। अतः कार्यावस्थः कारणावस्थश्च स्थूलसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरः परमपुरुष एवेति, कारणात् कार्यस्यानन्यत्वेन कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञाततयैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं च समीहितमुपपन्नतरम्।

**४ वे. ता. चं.**— छान्दोग्यवदेव सामानाधिकरण्यं तस्य च चेतनांशेऽप्यनुप्रवेशपूर्वकत्वं तैत्तिरीयके दर्शयति **तथे**ति। **स तपोऽतप्यत**, आलोचनमकरोदित्यर्थः। "तपसा चीयते ब्रह्म" इति प्रकरणे "यस्य ज्ञानमयं तपः" [मुं. उ. १।१।८,९] इति व्याख्यानात्। न केवलं प्रकरणान्तरगतैर्घटकवाक्यैर्भेदाभेदश्रुत्यविरोधः, अपितु स्वप्रकरणस्थैरपीत्याह **अत्रापी**ति। समानाधिकरणनिर्देशवतोः छान्दोग्यतैत्तिरीयकप्रकरणयोरित्यर्थः। जीवेनात्मना जीवेन मयेत्यर्थः। 'सिंहेन भूत्वा बहवो मयात्ता व्याघ्रेण भूत्वा बहवो मयात्ताः। तथाऽन्यरूपैर्बहवो मयात्ताः सम्भक्षितोऽहं बहुभिस्तथैव॥ [वि. ध. ९८।१७] इतिवत्। 'तिस्रो देवताः' अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य इत्यचिदनुप्रवेशो व्यक्तः। जीवे तु सामानाधिकरण्यमात्रम्; तदनुप्रवेशकृतमिति तैत्तिरीयके व्यक्तमित्यभिप्रायेणाह **तत्सृष्ट्वे**ति। एवं जीवशरीरकपरमात्मानुप्रवेशान्नामरूपव्याकरणं नाम्नां च परमपुरुषपर्यन्तत्वं, तत एव सामानाधिकरण्यमुख्यत्वं च सिद्धम्। एतदैकरस्यात्सर्वशाखाप्रत्ययन्यायेन चिदचिदनुप्रवेशोक्तिरहितप्रकरणान्तरेष्वपि नामरूपव्याकरणवचनमेवंप्रकारप्रवेशाभिप्रायपूर्वकमेवेत्याह— **एवम्भूतमेवे**ति। इत आरभ्य प्रागुक्तचोद्यानां क्रमेण परिहारः। तथाहि कारणविज्ञानेन कार्यस्य ज्ञातत्वं नाम कार्यशब्दनिर्दिष्टस्य द्रव्यस्य कारणविज्ञानेन विषयीकृतत्वम्। पूर्वमासीनं देवदत्तं दृष्ट्वा तमेव गच्छन्तमप्यवलोक्य 'असौ पूर्वमेव दृष्टः' इति हि वदति; अतः कार्यावस्थायाः पूर्वमज्ञातत्वेऽपि नास्य व्यवहारस्यामुख्यत्वमित्यभिप्रायेणाह **अतः कार्यावस्थ** इति। परपक्षे त्वेतदनुपपन्नतरमिति चाभिप्रेतम्। तथाहि– एकनिर्विशेषविज्ञानेन सर्वस्य ज्ञातत्वमित्यत्र ज्ञातव्यसर्वशब्दार्थाभावात्, सत्यमिथ्यार्थैक्यप्रसङ्गादिभिश्च सर्वस्य ज्ञातत्वमित्येतन्न घटते; सर्वस्य मिथ्यात्वेन ज्ञातत्वमिति योजनायामध्याहारादिदोषः; अविद्याविशिष्टैकब्रह्मविज्ञानेन तत्कार्यप्रपञ्चविज्ञानमिति विवक्षायामदूरविप्रकर्षेणास्मत्पक्ष एवानुप्रवेशः; सर्वप्रमाणसङ्क्षोभस्त्वधिकः; एवमेव पक्षान्तरयोरपि सूक्ष्माचिच्छक्तिवैशिष्ट्यस्य दुष्परिहरत्वाद्विशिष्टैक्यविज्ञाने तत्कार्यविज्ञानमित्येव निर्वाह्यम्; तथाच निर्विकारनिर्दोषश्रुत्यविरुद्धोऽस्मत्पक्ष एवोपपन्नतरः— इति।

**३ रा. भा.**— "हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" [छां. उ. ६।३।२] इति 'तिस्रो देवताः' इति सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्य तत्र स्वात्मकजीवानुप्रवेशेन

नामरूपव्याकरणवचनात् सर्वे वाचकाः शब्दा अचिज्जीवविशिष्टपरमात्मन एव वाचका इति कारणावस्थ-परमात्मवाचिना शब्देन कार्यवाचिनः शब्दस्य सामानाधिकरण्यं मुख्यवृत्तम् । अतः स्थूलसूक्ष्मचिद्-चित्प्रकारं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत् । सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मैव कारणमिति जगतो ब्रह्मोपादानत्वेऽपि सङ्घातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासङ्करोऽप्युपपन्नतरः । यथा शुक्लकृष्ण-रक्ततन्तुसङ्घातोपादानत्वेऽपीति चित्रपटस्य तत्तत्तन्तुप्रदेश एव शौक्ल्यादिसंयोग इति कार्यावस्थायामपि न सर्वत्र वर्णसङ्करः; ( कारणवत्सर्वत्र चासङ्करः ); तथा चिदचिदीश्वरसङ्घातोपादानत्वेऽपि जगतः कार्यावस्थायामपि भोक्तृत्वभोग्यत्वनियन्तृत्वनियाम्यत्वाद्यसङ्करः । तन्तूनां पृथक्स्थितियोग्यानामेव पुरुषेच्छया कदाचित्संहतानां कारणत्वं कार्यत्वं च; इह तु चिदचितोः सर्वावस्थयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतयैव पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुष एव कारणं कार्यं च; स एव सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः । स्वभावभेदस्तदसङ्करश्च तत्र चात्र च तुल्यः ।

४ वे. ता. चं.— परपक्षे सामानाधिकरण्यस्य लाक्षणिकत्वं तैरेवाभ्युपगतमिति न किञ्चित्तत्र वक्तव्यमिति कृत्वा स्वपक्षे तन्मुख्यत्वमुपपादयति— **अहमिमा इति** । प्रकरणान्तराधीतानामपि तत्त्वानां सङ्कुचिताभिधानप्रकरणेऽपि शाखान्तरनयेन समाहारमभिप्रेत्याह— **तिस्रो देवता इति सर्वमचिद्वस्तु निर्दिश्येति** । जगद्ब्रह्मणोः स्वरूपतोऽत्यन्तभेदेऽपि विशिष्टवेषेण कार्यकारणयोरेकद्रव्यत्वसिद्धेर्जगतो ब्रह्मोपादानत्वं युज्यत इत्याह— **अतः स्थूलेति** । सामानाधिकरण्यव्यपदेशस्य मुख्यत्वादित्यर्थः । सत्कार्यवादाविरोधश्च सिद्ध इत्यभिप्रायः । उपादानावस्थायामैक्यापत्त्या प्रसक्तं स्वभावसङ्करं परिहरति— **सूक्ष्मेति** । बालस्य युवत्वापत्तौ बालशरीरस्य तदभिमानिचेतनस्य च यथा स्वभावसङ्करो नास्ति, तद्वदत्रापीत्यभिप्रायेण— **सङ्घातस्योपादानत्वेनेत्युक्तम्** । एककारणारम्भात् कार्यदशायां प्रसक्तसङ्करं निरस्यति **यथा शुक्लेति** ।

ननु शुक्लकृष्णरक्ततन्तूपात्तस्य पटस्य न केनचिच्छुक्लेन कृष्णेन रक्तेन वा तन्तुविशेषेण विशेषतः सामानाधिकरण्यं दृश्यते ; 'तन्तवः पटाः' इति तु कथञ्चिदुच्येत ; अतोऽत्रापि प्रकृतिपुरुषेश्वररूपसङ्घातोपात्तस्य जगत ईश्वरेण विशेषतः सामानाधिकरण्यं न स्यादित्यत्राह **तन्तूनामिति** । **अयमभिप्रायः**— न सर्वप्रकारसाधर्म्यमभिप्रेत्य तन्तुपटदृष्टान्तः; अपितु स्वरूपतोऽत्यन्तभिन्नानां सम्भूय कार्यदशायामपि स्वभावासङ्करमात्रमभिप्रेत्य सामानाधिकरण्यं तु यत्र शब्दानामेकविशेष्यपर्यवसानहेतुभूतप्रकारप्रकारिभावोऽस्ति, तत्र स्यात् ; नान्यत्रेति विशेषः । कस्तर्हि विशेषः ? इत्यत्रोपजीव्यांशमाह **स्वभावेति** ।

३ रा. भा.— एवं च सति परस्य ब्रह्मणः कार्यानुप्रवेशेऽपि स्वरूपान्यथाभावाभावादविकृतत्वमुपपन्नतरम् । स्थूलावस्थस्य नामरूपविभागविभक्तस्य चिदचिद्वस्तुन आत्मतयाऽवस्थानात् कार्यत्वमप्युपपन्नतरम् । अवस्थान्तरापत्तिरेव हि कार्यता । निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणोऽहेयगुणसम्बन्धाभावादुपपद्यन्ते । "अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः" [ छां. उ. ८।७।१ ] इति हेयगुणान् प्रतिषिध्य "सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः" [ छां. उ. ८।७।१ ] इति कल्याणगुणगणान्विदधतीयं श्रुतिरेवान्यत्र सामान्येनावगतं गुणनिषेधं हेयगुणविषयं व्यवस्थापयति ।

४ वे. ता. चं.— उपादानत्वेन कार्यभावेऽपि निर्विकारश्रुत्यविरोधमाह— **एवं च सतीति** । एवंविशिष्टस्योपादानत्वात् सर्वदैवासङ्कीर्णस्वभावत्वाच्चेत्यर्थः । निर्विकारश्रुतिस्तु स्वरूपविषया ; उपादानत्वकार्यत्वश्रुतिर्विशिष्टविषयेति नानयोः परस्परविरोधः । स्वरूपपरिणामपक्षे तु निर्विकारश्रुतेर्न कश्चिद्विषय इति भावः । नहि वयं स्वरूपैकदेशेऽपि विकारं ब्रूम इत्यभिप्रायेण **उपपन्नतरमित्युक्तम्** । अविकृतस्य कार्यत्वप्रकारमाह **स्थूलावस्थस्येति** । **आत्मतयाऽवस्थानादिति** तदातनतत्तन्नियमनधारणावस्थाविशेष एव हि कार्यत्वम् ; कार्यशब्दोऽत्र नामरूपव्याकरणस्य अन्तर्यामिपर्यन्तत्वश्रुतेस्तत्पर्यन्त इति तस्य मुख्यत्वमिति भावः । तथापि प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विशेषणस्यैव कार्यत्वमिति चोद्यं परिहरति **अवस्थेति** । विशेषणानामवस्थान्तरापत्तौ तदवस्थतत्तन्नियमनविशिष्टत्वलक्षणावस्थान्तरापत्तिर्विशेष्येऽप्यस्तीति भावः । उत्सर्गापवादन्यायेन सगुणश्रुत्यविरोधाय निर्गुणवादानां विषयं व्यवस्थापयति— **निर्गुणवादाश्चेति** । एवं व्यवस्थापितं विषयभेदमेकस्मिन्नेव वाक्ये श्रुतिरेव दर्शयतीत्याह— **अपहतेति** । अवधारणेन न्यायनैरपेक्ष्यं सूचितम् ।

३ रा. भा.— 'ज्ञानस्वरूपं ब्रह्म' इति वादश्च सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेर्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणगुणाकरस्य ब्रह्मणः स्वरूपं ज्ञानैकनिरूपणीयं स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चेत्यभ्युपगमादुपपन्नतरः ।

"यः सर्वज्ञः सर्ववित्" [ मुं. उ. १।१।९ ] "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च" [ श्वे. उ. ६।८ ] "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" [ बृ. उ. २।४।१४ ] इत्यादिका ज्ञातृत्वमावेदयन्ति, "सत्यं ज्ञानमनन्तं" [ तै.उ.२।१ ] इत्यादिकाश्च ज्ञानैकनिरूपणीयतया स्वप्रकाशतया च ज्ञानस्वरूपत्वम्; "सोऽकामयत बहु स्याम्" [ तै. उ. २।६ ] "तदैक्षत बहु स्याम्" [ छां. उ. ६।२।३ ] "तन्नामरूपाभ्यां (एव) व्याक्रियते" [बृ. उ.१।४।७] आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितं ( भवति ) [ बृ. उ. ४।५।६ ] "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" [ बृ. उ. ४।५।७] "तस्य (अस्य) ह वा एतस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदः" [सुबालो. २;बृ.उ.४।५।११] इति ब्रह्मैव स्वसङ्कल्पाद्विचित्रस्थिरत्रसरूपतया नानाप्रकारमवस्थितमिति तत्प्रत्यनीकाब्रह्मात्मकवस्तुनानात्वमतत्त्वमिति प्रतिषिध्यते । "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" [बृ. उ.४।४।१९] "नेह नानास्ति किञ्चन" [ कठो. ४।११ ] "यत्र हि द्वैतमिव भवति .... तदितर इतरं पश्यति .... यत्र त्वस्य ( वा अस्य ) सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्' [बृ.उ.२।४।१४] इत्यादिना ।

४ वे. ता. चं.— आर्थगुणनिषेधं परिहरति— **ज्ञानस्वरूपमिति** । **सर्वज्ञस्य सर्वशक्ते**रित्यादिकं श्रुत्यन्तरसिद्धाविरोधार्थम् । **ज्ञानैकनिरूपणीयमि**तिः स्वरूपनिरूपणधर्मशब्दा हि धर्ममुखेन धर्मिणमपि प्रतिपादयन्तीति भावः। सूत्रितं च 'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्' [ब्र.सू.२।३।२९] 'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्' [ ब्र. सू. २।३।३० ] इति । अनुक्तसमुच्चयार्थेन सौत्रचकारेण द्योतितं वृत्त्यन्तरमभिप्रेत्याह— **स्वप्रकाशतया ज्ञानस्वरूपं चे**ति । धर्मभूतज्ञानवज्ज्ञानशब्दप्रवृत्तिनिमित्तयोगोऽप्यस्तीति भावः । निर्विशेषवादिनो ज्ञातृत्वं परित्यजन्ति ; वैशेषिकादयस्तु ज्ञानत्वम् ; उभयेषामपि श्रुतिविरोधमभिप्रेत्य स्वपक्षे तदानुगुण्यमाह— **यः सर्वज्ञ** इति । भेदनिषेधकवाक्यानां भेदविधायकवाक्याविरुद्धं विषयमाह **सोऽकामयते**ति । ब्रह्मगुणविभूतिरूपभेदस्य विहितत्वात्तन्निषेधो न शक्य इति भावः ।

३ रा. भा.— न पुनः "बहु स्यां प्रजायेय" [ तै. उ. २।६ छां. उ. ६।२।३ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धं स्वसङ्कल्पकृतं ब्रह्मणो नानानामरूपभाक्त्वेन नानाप्रकारत्वमपि निषिध्यते "यत्र त्वस्य ( वा अस्य ) सर्वमात्मैवाभूत्" [बृ. उ.४।५।१५ ] इति निषेधवाक्यारम्भे च तत्स्थापितं "सर्वं तं ( ब्रह्म ) परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं ( ब्रह्म ) वेद" [बृ. उ.४।५।७] "तस्य ह वा एतस्य (अस्य) महतो भूतस्य निश्श्वसितमे-( वै -)तद्यदृग्वेदः" [ सुबालो. २ बृ. उ. ४।५।७ ] इत्यादिना ।

४ वे. ता. चं.— पराभिमतं श्रुतिविरोधेन प्रतिक्षिपति— **न पुन**रिति । 'यत्र त्वस्य' इत्यादेरब्रह्मात्मकनानात्वनिषेधे तात्पर्यं श्रुत्यैव ह्युक्तमित्याह— **निषेधवाक्यारम्भ** इति । अन्यथोपक्रमविरोध इति भावः । **तत्स्थापितमिति**— 'बहु स्याम्' इत्यादिश्रुत्यन्तरसिद्धं वक्ष्यमाणनिषेधानास्कन्दितत्वेनासञ्जातविरोधदशायां स्थापितमित्यर्थः ।

३ रा. भा.— एवं चिदचिदीश्वराणां स्वरूपभेदं स्वभावभेदं च वदन्तीनां कार्यकारणभावं कार्यकारणयोरनन्यत्वं वदन्तीनां च सर्वासां श्रुतीनामविरोधः, चिदचितोः परमात्मनश्च सर्वदा शरीरात्मभावं शरीरभूतयोः कारणदशायां नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मदशापत्तिं कार्यदशायां च तदर्हस्थूलदशापत्तिं वदन्तीभिः श्रुतिभिरेव ज्ञायत इति ब्रह्माज्ञानवादस्यौपाधिकब्रह्मभेदवादस्यान्यस्याप्यपन्यायमूलस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्य न कथञ्चिदप्यवकाशो दृश्यत इत्यलमतिविस्तरेण ॥ ३ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ स्वपक्षे सर्वप्रकाराविरोधं परपक्षेषु च सर्वप्रकारविरोधं श्रुतहानाश्रुतकल्पनादिरूपं सङ्ग्रहेण वदन्नुपसंहरति— **एवमिति** । **श्रुतिभिरेवेति**— न्यायेऽपि नात्यन्तापेक्षा; स्फुटतरत्वादस्यार्थस्येति भावः । **अन्यस्यापीति**— यादवप्रकाशनैयायिकाद्यभिमतयोजनासङ्ग्रहः । **अपन्यायमूलस्य सकलश्रुतिविरुद्धस्ये**त्युभयं ब्रह्माज्ञानवादिषु सर्वेषु नेतव्यम् ॥ ३ ॥

५ आ. मा. भा.— क्षेत्रज्ञमिति ॥ ३ ॥

६ ज. प्र. दी.— क्षेत्रज्ञमिति ॥ ३ ॥

७ ह. पै. भा.— क्षेत्रज्ञमिति ॥ २ ॥

८ वें. ब्र. गि.—एवं देहेन्द्रियादिविलक्षणं क्षेत्रज्ञं निर्दिश्य तस्य "तत्त्वमसि" [ छां. उ. ६।८।७ ] "अहं ब्रह्मास्मि" [ बृ. उ. १।४।१० ] इत्यादिवेदान्तमहावाक्यप्रतिपाद्यासंसारिब्रह्मात्मैक्यस्वरूपमुपदिशति— क्षेत्रज्ञमिति । क्षेत्रज्ञं मां विद्धीति प्रथममन्वयः । ननु क्षेत्रज्ञाः प्रतिक्षेत्रं भेदेनानुभूयन्ते, देवदत्तो यज्ञदत्तान्नि इति प्रतीतेः; तत्कथं भिन्नैः सह परमात्मनः स्वत एकस्याभेदः ? इत्याशङ्क्य, क्षेत्रभेदविषयोऽयं प्रत्ययः, न क्षेत्रज्ञभेदविषय इत्याह— सर्वक्षेत्रेष्विति । देवदत्तयज्ञदत्तादिरूपेषु सर्वेष्वपि क्षेत्रेषु च स्थितो य एकः क्षेत्रज्ञः, तं मामेव जानीहीत्यर्थः । अनेन 'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः' [ २।१२ ] 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ' [ ४।१० ] इत्यादिषु यत्र यत्र बहुवचनं तत्सर्वं क्षेत्रबहुत्वनिबन्धनमेव, न तु क्षेत्रज्ञबहुत्वनिबन्धनमिति प्रदर्शितम् । पारमार्थिकजीवभेदवादश्च पूर्वाचार्यग्रन्थेष्वस्माभिश्च वज्रपञ्जरे विस्तरेण निरस्तस्तत्रैवावगन्तव्यः । क्षेत्रज्ञोऽहमित्यनुक्त्वा क्षेत्रज्ञं मां विद्धीति वदन्नुपदेशोऽयमिति दर्शयति । तेन च भक्तिविश्वासाभ्यामवगन्तव्योऽयमर्थ इति सूचितम् । 'भारत!' इत्यनेन च भा ज्ञानम्, तत्र रत आसक्तेत्यर्थः । तेन ज्ञानोपदेशार्थिनस्तव सर्ववेदान्तसिद्धान्तभूतसम्पूर्णगीताशास्त्रतात्पर्यविषयीभूततत्त्वज्ञानोपदेशः सोऽयं मया कृत इति दर्शितम् । एतदेवोत्तरार्धेन स्पष्टयति— क्षेत्रेति । 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' [ २।११ ] इति शास्त्रोपक्रमे 'नानुशोचन्ति पण्डिताः' [ २।११ ] इति यत्पाण्डित्यशब्देनोपक्रान्तम्, यच्चोपसंहारे ' इति ते ज्ञानमाख्यातम्' [ १८।६३ ] इत्युपसंहरिष्यते, तज्ज्ञानमिदमेव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम्; क्षेत्रं नाम शरीरम्, तदभिमानी क्षेत्रज्ञः,स चाहमेवेत्युपदिष्टं यज्ज्ञानं तदेव गीताशास्त्रप्रतिपाद्यं तत्त्वज्ञानमिति मम गीताचार्यस्य भगवतो वासुदेवस्य मतमित्यर्थः ।

यत्त्वत्र माध्वव्याख्यानम्— ' क्षेत्रज्ञं सर्वज्ञं मां सर्वक्षेत्रेष्वपि विद्धि' इति, यच्च रामानुजव्याख्यानम्– ""यस्यात्मा शरीरम्" इति श्रुत्या क्षेत्रज्ञस्य परमेश्वरशरीरत्वोक्तेः शरीरशरीरिभावनिबन्धनमेवेदं सामानाधिकरण्यम्, न तु जीवब्रह्मैक्यनिबन्धनम् ' इति, तत्राद्यव्याख्याने क्षेत्रज्ञशब्दस्य सर्वज्ञवाचकत्वाभावादशब्दार्थव्याख्यानम् । न च 'महाभूतान्यहङ्कारः' [ १३।६ ] इत्यारभ्य 'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्' [ १३।७ ] इत्यन्तेन वाक्यशेषेण पृथिव्यादिकं सर्वं क्षेत्रमित्युक्तत्वात्क्षेत्रज्ञशब्दः सर्वज्ञत्वार्थक इति; वाच्यम् ; अचेतनानामेव तत्र परिगणितत्वेन ततःक्षेत्रज्ञशब्दस्य चेतनाचेतनात्मकनिखिलजगद्वाचित्वासिद्धेः,तत्सिद्धावपि 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्' [ १०।४२ ] इत्यादिना पूर्वमेव भगवतः सर्वव्यापकत्वस्य बहुशो निरूपितत्वेन 'सर्वक्षेत्रेष्वपि मां विद्धि ' इति पुनस्तन्निरूपणवैयर्थ्याच्च ' इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' [ १३।१९] इत्युपसंहारे ' मद्भावाय ' इति जीवब्रह्मैक्यस्यैव निगमनेन उपक्रमेऽपि क्षेत्रज्ञं मां विद्धि इति तस्यैव प्रतिपाद्यत्वावसायाच्च, क्षेत्रज्ञशब्दस्य " योऽयं शरीरे उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः" " प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः " [ श्वे. उ. ६।१६ ] ' प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणान्वितम् । क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु कर्तारं गुणसंवृतम् ' ' क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः ' [ अमरः १।४।२९ ] इत्यादिश्रुतिस्मृतिप्रयोगदर्शनेन जीवे रूढत्वाच्च । तस्मान्न माध्वव्याख्यानं युक्तम्,नापि रामानुजव्याख्यानम् ; शरीरशरीरिभावनिबन्धनसामानाधिकरण्यस्य प्रागेव निरस्तत्वात् । अतो भगवत्पादीय एव श्लोकार्थः । जीवब्रह्मैक्यसाधकबाधकविचारस्तु भाष्ये ( शां. ) प्रपञ्चितोऽस्माभिर्विस्तरभयान्न लिख्यते ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— यस्य च भवति स क्षेत्रज्ञ इह मत्स्वभावापन्न इत्याह– क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धीति । नहि क्षेत्रिभावेन संसृष्टो जीवः क्षेत्रं स्वतो विविक्तं जानाति, यः कश्चिज्जानाति तं मां विद्धि मदंशत्वान्मद्रूपं पुरुषं जानीहि भगवद्गुणाविर्भावात् ' तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ' [ ब्र. सू. २।३।२९ ] इति सूत्रितत्वात् । आदरार्थमेतज्ज्ञानं स्तौति 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम' इति मदिच्छासम्मतं रक्षेत् ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— अथाऽर्जुनज्ञानार्थं स्वमते यथा तत्स्वरूपमस्ति तथाऽऽह— क्षेत्रज्ञमिति । क्षेत्रज्ञं बीजम् । अपिशब्देनाणुरूपमपि मां मदंशं रसानुभवार्थं सर्वक्षेत्रेषु चकारेण मद्रूपेषु स्थितं विद्धि जानीहि । भारतेति सम्बोधनं विश्वासार्थम् । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्मदंशत्वेन लीलार्थत्वेन यज्ज्ञानं तत् मम मतं सम्मतमित्यर्थः । एतद्विपरीतं देहादीनां कर्मादिजन्यत्वं तज्ज्ञानवत्त्वं जीवस्य क्षेत्रज्ञत्वं असम्बद्धमित्यर्थः स्वमतोक्त्या ज्ञापितः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— तमेवंलक्षणमुपाधितो निष्कृष्टं क्षेत्रज्ञं चात् क्षेत्रमपि मां परमेश्वरमेव उभयरूपेण सन्तं विद्धि " तत्त्वमसि " [ छां. उ. ६।८।७-१४ ] " अहं ब्रह्मास्मि " [ बृ. उ. १।४।१० ] " ब्रह्मैवेदं सर्वं " [ नृ. उ. ता. ७ ] "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [ छां. उ.३।१४।१ ]इति शास्त्रात् । यस्मादुभयात्माऽहं तस्मात्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यज्ज्ञानं क्षेत्रस्य बाध्यत्वेन क्षेत्रज्ञस्य सर्वबाधावधिभूतत्वेन च यज्ज्ञानमापरोक्ष्येण तत्त्वनिश्चयस्तदेव ज्ञानं मम मद्विषयं सम्यग्ज्ञानं एतयोरैक्य ज्ञानं ब्रह्मज्ञानमिति मतं निश्चितं ब्रह्मविद्भिः । " नेह नानाऽस्ति किंचन "

[ बृ. उ. ४।४।१९ कठो. २।४।११ ] इति क्षेत्रस्य बाधात् " नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा " [ बृ. उ. ३।७।२३ ] इति क्षेत्रज्ञादन्यस्य द्रष्टुर्निषेधाच्च । यद्यपि सर्वस्य ब्रह्माभिन्नत्वाद्यत्किञ्चिदपि ज्ञानं तत्सर्वं ब्रह्मविषयमेव भवति, तथापि रज्जुं सर्पात्मना पश्यतो न तु रज्जुविषयं सर्पविषयं वा सम्यग्ज्ञानमस्ति; नापि तस्य ज्ञानस्य रज्जुव्यतिरेकेण विषयान्तरं वास्तवमस्ति । किन्तु यदा सर्पबाधेन रज्जुतत्त्वमधिगच्छति तदैव सर्पं मिथ्याऽयमिति सम्यग्जानाति रज्जुं च । तद्वदिहाप्युभयविदेव सम्यग्ज्ञानीत्यर्थः । न ह्यन्यतरस्य तत्त्वे ज्ञाते कृतकृत्यताऽस्ति । नहि साङ्ख्यो निर्विशेषात्मविदपि प्रपञ्चमबाधमानः शून्यवादी वा प्रपञ्चं तुच्छत्वेन पश्यन्नधिष्ठानं ब्रह्म नास्तीति ब्रुवाणः कृतकृत्यो भवतीति वक्तुं युक्तम्; अतो द्वयोरपि तत्त्वं बोध्यमेव ॥ ३ ॥

सङ्क्षेपेणोक्तयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यकथनप्रतिज्ञा ।

**तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।**
**स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ४ ॥**

**१ शां. भा.**— 'इदं शरीरं' [ १३।२ ] इत्यादिश्लोकोपदिष्टस्य क्षेत्राध्यायार्थस्य संग्रहश्लोकोऽयमुपन्यस्यते 'तत्क्षेत्रं यच्च' इत्यादि 'व्याचिख्यासितस्य ह्यर्थस्य संग्रहोपन्यासो न्याय्यः' इति यन्निर्दिष्टं 'इदं शरीरं' इति तत्तच्छब्देन परामृशति । यच्चेदं निर्दिष्टं क्षेत्रं तद्यादृग्यादृशं स्वकीयैर्धर्मैः । चशब्दः समुच्चयार्थः । यद्विकारि यो विकारोऽस्य तद्यद्विकारि, यतो यस्माच्च यत्, 'कार्यमुत्पद्यते' इति वाक्यशेषः । स च यः क्षेत्रज्ञो निर्दिष्टः स यत्प्रभावो ये प्रभावा उपाधिकृताः शक्तयो यस्य स यत्प्रभावश्च । तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं यथाविशेषितं समासेन सङ्क्षेपेण मे मम वाक्यतः शृणु । श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः ॥ ४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— एवं श्लोकद्वयं व्याख्याय श्लोकान्तरमवतारयति— **इदमिति** । कुत्र सङ्ग्रहोक्तिरुपयुज्यते ? तत्राऽऽह— **व्याचिख्यासितस्येति** । प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं सङ्ग्रहोक्तिरर्थवतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणेऽर्थे श्रोतुर्मनस्समाधानार्थं सूत्रितवाक्यार्थोपायविवरणप्रतिज्ञामभिप्रेत्याऽऽह— **यन्निर्दिष्टमिति** । 'इदं शरीरं' [१३।२]इति यन्निर्दिष्टं तच्छरीरं तच्छब्देन परामृशति प्रकृतार्थत्वात्तस्येति योजना । तत्क्षेत्रं ज्ञातव्यमित्यध्याहारः । **यच्चेति**— येन रूपेण रूपवदिति तदेव क्षेत्रं विशेष्यते । तस्य क्षेत्रस्य स्वकीया धर्मा जन्मादयस्तैर्विशिष्टस्य ज्ञेयत्वे हेयत्वं फलति । चशब्दपञ्चकस्येतरेतरसमुच्चयार्थत्वमाह— **चशब्द** इति । विकारित्वेनापि हेयत्वं सूचयति— **यद्विकारीति** । यत्कार्यं तत्सर्वं यस्मादुत्पद्यते तत्कारणत्वाज्ज्ञातव्यमित्याह— **यत** इति । क्षेत्रमिव क्षेत्रज्ञं ज्ञातव्यं दर्शयति — **स चेति** । स ज्ञातव्य इति सम्बन्धः । चक्षुराद्युपाधिकृतदृष्ट्यादिशक्तिवशात्तस्य ज्ञातव्यत्वं सूचयति - **यत्प्रभाव** इति । तेनोक्तेन प्रभावेण तस्य ज्ञातव्यतेति शेषः । कथं यथाविशेषितं क्षेत्रं क्षेत्रज्ञो वा शक्यो ज्ञातुं ? इत्याशङ्क्य भगवद्वाक्यादित्याह— **तदिति** ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.**— तत्क्षेत्रं यच्च यद्द्रव्यं, यादृक्च येषामाश्रयभूतं, यद्विकारि ये चास्य विकाराः, यतश्च यतो हेतोरिदमुत्पन्नं, यस्मै प्रयोजनायोत्पन्नमित्यर्थः । यत् यत्स्वरूपं चेदम् । स च यः स च क्षेत्रज्ञो यो यत्स्वरूपः, यत्प्रभावश्च ये चास्य प्रभावाः, तत्सर्वं समासेन सङ्क्षेपेण मे मत्तः शृणु ॥ ४ ॥

**४ वे. ता. चं**— शृण्वत एवार्जुनस्य पुनः 'शृणु' इत्यवधानार्थमुच्यते 'तत्क्षेत्रम्' इति । 'महाभूतानि' [१३।६] इत्युपक्रम्य 'सङ्घातः' [ १३।७ ] इत्यन्तवक्ष्यमाणपरामर्शादाद्यन्तौ यच्छब्दौ जडद्रव्यतत्सङ्घातविषयावित्यपुनरुक्तिरित्यभिप्रायेणाह— **यद्द्रव्यमिति** । वक्ष्यमाणेन्द्रियाद्याश्रयत्वानुसारेण यादृक्शब्दार्थमाह— **येषामाश्रयभूतमिति** । ये विकारा अस्य कार्यतया सन्ति, तद्यद्विकारि; तत्र यच्छब्दनिर्दिष्टतात्पर्यमिति प्रकाशनाय **ये चास्य विकारा** इत्युक्तम् । 'यतः' इति नोपादानादिपरं, प्रथमं तदुक्तेरित्यभिप्रायेणाह **यतो हेतोरिति** । 'चेतना धृतिः' [ १३।७ ] इति वक्ष्यमाणं हेतुविशेषमाह— **यस्मै प्रयोजनायेति** । क्षेत्रकर्तुरीश्वरस्य धीस्थतया प्रयोजनमपि हेतुः; प्रयुज्यते च 'अध्ययनेन वसति' इति । **यत्स्वरूपमिति**-सङ्घातपरम् । सन्निवेशविशेषो हि शरीरत्वादि । अतः प्रथमयच्छब्दो जडाजडद्रव्यविशेषनिर्धारणार्थः; द्वितीयस्तु

जडत्वनिश्चये जडद्रव्येष्वनेकेष्वन्यतमात्मकत्वसङ्घातात्मकत्वनिश्चयार्थ इति भावः । 'माम्' इति परमात्मात्मनोऽपि प्रसङ्गात्तत्परामर्शभ्रमम्व्युदासायाह— स च क्षेत्रज्ञ इति । 'यो यत्प्रभावः' इत्युभाभ्यां स्वरूपप्रकारयोर्निर्देशः । प्रभावा आश्चर्यभूताः प्रकृष्टाः स्वभावविशेषाः ॥ ४ ॥

५ आ. मा. भा.— यद्विकारि येन विकारेण युक्तम् । यतश्च यत् यतो याति प्रवर्तते । स च प्रवर्तकः । यतश्च यदित्यस्मात्प्रवर्तते क्षेत्रमिति वचनं स च य इति स्वरूपमात्रम् ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'यो विकारो यस्य तत् यद्विकारि' इति कश्चित् ( शं. ) तदसत् । बहुव्रीहितायामिनेर्वैयर्थ्यात् । किन्तु यश्चासौ विकारश्चेति यद्विकारः सोऽस्यास्तीति यद्विकारीति भावेनाह— यदिति । अत्र 'येन विकारेण' इत्यनेन कर्मधारयं सूचयति । युक्तमितीनेरर्थम् । यतश्च यदित्येतत् 'यस्माच्च यत्कार्यमुत्पद्यते' इति कश्चिद्व्याख्यातवान् ( शं. ) तदयुक्तम्, यद्विकारीत्यनेन गतार्थत्वात् साध्याहारत्वाच्च, 'विकारांश्च गुणांश्च' [ १३।२० ] इत्यस्यान्यथोपपत्तेः । अपरस्तु यतश्चामानित्वादिभ्यो यज्ज्ञेयं प्राप्यत इति, तदप्यसत्, अध्याहारादेव । 'अमानित्वं' [ १३।८ ] इत्यादेः 'अनादिमत्' [ १३।१३ ] इत्यादेश्चान्यथासिद्धेरिति भावेनान्यथा व्याचष्टे— यतश्चेति । यतो यस्य प्रेरणया । यदितीणो लडादेशशत्रन्तस्य रूपम् । इणो यातेश्चानतिभिन्नार्थत्वाद्यातीत्युक्तम् । सर्वस्य क्षेत्रस्य गत्यभावाद्गौणीं वृत्तिमाश्रित्य विवृणोति— प्रवर्तत इति । स च य इति जीवप्रतिज्ञेति व्याख्यानमसत्, तस्याप्रकृतत्वात् क्षेत्रज्ञशब्दस्यातद्विषयत्वादिति भावेनाह— स चेति । यतः क्षेत्रं प्रवर्तत इति प्रवर्तकस्य प्रकृतत्वादित्याशयः । नन्वेवं चेदेतद्वक्तव्यम्— किं 'यतश्च यत्' 'स च यः' इत्येकैव प्रतिज्ञा ? उत द्वे ? नाद्यः चशब्दद्वयानुपपत्तेः, 'तत्समासेन' इत्यनेनान्वयात् 'स च यः' इत्यस्य वैयर्थ्याच्च । न द्वितीयः, अर्थभेदाभावादित्यतो द्वितीयमङ्गीकृत्याह— यतश्चेति । 'यतश्च यत्' इति वचनमस्मादेवंधर्मविशिष्टात् क्षेत्रं प्रवर्तत इति वक्तुं प्रतिज्ञारूपम् । 'स च यः' इति वचनं प्रवर्तकस्य स्वरूपमात्रं वक्तुं प्रतिज्ञारूपमित्यर्थभेद इत्यर्थः ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— तदिति प्रकृतं क्षेत्रं निर्दिशति । यद्यदात्मकम् । चशब्दः समुच्चये । यादृग्यादृशं स्वकीयैर्धर्मैः । चशब्दः पूर्ववत् । यद्विकारि विकारोऽस्यास्तीति विकारि । येन विकारि सह सुपेति योगविभागात्समासः । यथा यत्कार्यमुपपद्यत इति वाक्यशेषः । चशब्दः पूर्ववत् । तत्समासेन मे शृणु ॥ ४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं श्लोकद्वयेन सङ्क्षेपेणोपदिष्टमर्थं विवरीतुमारभ्यते— तत्क्षेत्रमिति । 'इदं शरीरम्' [ १३।२ ] इति यत्पूर्वोक्तं तत्क्षेत्रं यत् यत्स्वरूपं, यादृक् यद्धर्मकं, यद्विकारि यैर्विकारि, यद्विकारयुक्तमित्यर्थः । यतश्च कारणात् यत्, उत्पद्यत इति शेषः । चकारः सर्वत्र समुच्चयार्थः । तथा स च क्षेत्रज्ञो यः यत्स्वरूपः यत्प्रभावः यः प्रभावो महिमा 'सर्वतः— पाणिपादम्' [ श्वे. उ. ३।१६ ] इत्यादिना वक्ष्यमाणसार्वात्म्यरूपो यस्य स यत्प्रभावः । तत्सर्वं समासेन सङ्क्षेपेण मत्तः शृणु ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— एतत्प्रपञ्चयिष्यन् प्रतिजानीते— तत्क्षेत्रमिति । यच्च यद्द्रव्यं, यादृक् येषामाश्रयभूतं, ये चात्र विकाराः सन्ति, यतश्चेति यदर्थमुद्भावितं, यत् यत्स्वभावं (स्वरूपं) । स च क्षेत्रज्ञो यः यत्स्वरूपः यत्प्रभावस्तत्सर्वं सङ्क्षेपेण मे मत्तः शृणु ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रतिज्ञाय क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं सभेदकं कथयामि तच्छृण्वित्याह— तत् क्षेत्रमिति । तन्मदुक्तं क्षेत्रं यत् मत्सत्तात्मक, जडादिरूपमपि यादृक् यादृशं मल्लीलेच्छात्मकम् । यद्विकारि विचित्रक्रीडेच्छया नानाविकारयुक्तम् । यतश्च मदंशात्मकमत्क्रीडार्थप्रकृतिपुरुषसंयोगजम् । तत्स्थावरजङ्गमपक्ष्मादिविचित्ररूपम् । स च क्षेत्रज्ञः स्वरूपतो मदंशरूपो यत्प्रभावः सूक्ष्मोऽपि व्यापकादिसेवनयोग्याद्यचिन्त्यप्रभाववांस्तदन्यैर्याथातथ्यस्वरूपाज्ञानाद्बहुविधमुक्तं तत्सर्वं समासेन सङ्क्षेपतो मे मत्तः शृणु ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— क्षेत्रक्षेत्रज्ञपदे विवरीतुमारभते— तदिति । यच्चेदं क्षेत्रं निर्दिष्टं तत् यादृक् यादृशं स्वकीयैर्धर्मैरस्ति, यद्विकारि ये च तस्य विकाराः, यतश्च यत् यस्माद्विकाराद्यज्जायत इति प्राञ्चः । तत्पूर्वोक्तं क्षेत्रं यच्च यत्स्वरूपं, यादृक् यत्प्रकारकं, यद्विकारि ये च तस्य विकाराः, यतश्च क्षेत्रावयवाद्यज्जायते तत् शृणु; तथा स च क्षेत्रज्ञः यो यत्स्वरूपः, यत्प्रभावश्च, तदपि मत्तः शृणु ॥ ४ ॥

**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।**
**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ५ ॥**

**१ शां. भा.**— तत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं विवक्षितं स्तौति श्रोतृबुद्धिप्ररोचनार्थम्— ऋषिभिरिति । ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिर्बहुधा बहुप्रकारं गीतं कथितम् । छन्दोभिश्छन्दांसि ऋगादीनि तैश्छन्दोभिर्विविधैर्नानाभावैर्नानाप्रकारैः पृथग्विवेकतो गीतम् । किञ्च ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि,तैः पद्यते गम्यते ज्ञायते ब्रह्मेति तानि पदान्युच्यन्ते । तैरेव च क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्याथात्म्यं गीतमित्यनुवर्तते । " आत्मेत्येवोपासीत " [ बृ. उ. १।४।७ ] इत्यादिभिर्हि ब्रह्मसूत्रपदैरात्मा ज्ञायते । हेतुमद्भिर्युक्तियुक्तैर्विनिश्चितैर्निस्संशयरूपैः, निश्चितप्रत्ययोत्पादकैरित्यर्थः ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.- श्लोकान्तरस्य तात्पर्यमाह- **तदि**त्यादिना । विवक्षितं जिज्ञासितमित्यर्थः । स्तुतिफलमाह-**श्रोत्रि**ति । न केवलमाप्तोक्तेरेव क्षेत्रादियाथात्म्यं सम्भावितं, किन्तु वेदवाक्यादपीत्याह— **छन्दोभिरि**ति । ऋगादीनां चतुर्णामपि वेदानां नानाप्रकारत्वं शाखाभेदादिष्टम् । न केवलं श्रुतिस्मृतिसिद्धमुक्तं याथात्म्यं किन्तु यौक्तिकं चेत्याह— **किञ्चे**ति । कानि तानि सूत्राणीत्याशङ्क्याऽऽह— **आत्मेत्येवे**ति । आदिपदेन "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" [ तै. उ.२।१।१ ] "अथ योऽन्यां देवताम्" [ बृ. उ. १।४।१० ] इत्यादीनि विद्याविद्यासूत्राण्युक्तानि । आत्मेति क्षेत्रज्ञोपादानं तच्च क्षेत्रोपलक्षणम् । "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" [ ब्र. सू. १।१।१ ] इत्यादीन्यपि सूत्राण्यत्र गृहीतानि, अन्यथा 'छन्दोभिः' इत्यादिना पौनरुक्त्यादिति मत्वा विशिनष्टि— **हेतुमद्भिरि**ति ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.**— तदिदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यमृषिभिः पराशरादिभिः बहुधा बहुप्रकारं गीतम्—' अहं त्वं च तथाऽन्ये च भूतैरुह्याम पार्थिव ! । गुणप्रवाहपतितो भूतवर्गोऽपि यात्ययम् ॥ कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते ! । अविद्यासञ्चितं कर्म तच्चाशेषेषु जन्तुषु ॥ आत्मा शुद्धोऽक्षरः शान्तो निर्गुणः प्रकृतेः परः । प्रवृद्ध्यपचयौ नास्य चैकस्याखिलजन्तुषु ' [वि. पु. २।१३।६९—७१] तथा ' पिण्डः पृथग्यतः पुंसः शिरःपाण्यादिलक्षणः । ततोऽहमिति कुत्रैतां संज्ञां राजन्करोम्यहम् ' [ वि. पु. २ । १३ । ८९ ] तथा च ' किं त्वमेतच्छिरः किन्नु उरस्तव तथोदरम् । किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत्किं महीपते ! ॥ समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथग्भूप ! व्यवस्थितः । कोऽहमित्येव निपुणो भूत्वा चिन्तय पार्थिव ! ' [ वि. पु. २।१३।१०२,१०३ ] इति ।

४ वे. ता. चं.— स्वेनोपदिश्यमानस्यार्थस्येतिहासपुराणमीमांसानुगृहीतानेकश्रुतिसिद्धत्वमाह— ' ऋषिभिः ' इति श्लोकेन । विशदोपबृंहणवाक्यानुसारेण अविशदवेदवाक्यार्थनिश्चयाय प्रथममृषिभिर्गीतत्वोक्तिः । राजसतामसोपबृंहणव्यवच्छेदाय ऋषिशब्दोक्तान्विशिनष्टि— **पराशरादिभिरि**ति । **बहुप्रकार**मिति अर्थस्यैकत्वेऽपि वचनव्यक्तौ रथचक्रनद्यादिकल्पनाप्रकारभेदः । यद्वा सङ्क्षेपविस्तारादिरूपेणेत्यर्थः । अविविक्तदेहात्मस्वरूपस्य राज्ञो वाह्यवाहकत्वोक्तिप्रतिक्षेपार्थं वाक्यम्— **अहं त्वं चे**ति । अध्यात्मगन्धिवाक्यश्रवणमूलस्य कस्त्वमिति प्रश्नस्योत्तरं— **पिण्ड** इति । 'शिरःपाण्यादिलक्षणः' इत्यनेन कृत्स्नैकदेशचेतनत्वविकल्पो द्योतितः । प्रतिपादितार्थस्य श्रोतर्यपि स्वप्रत्ययेन दृढीकरणार्थं वाक्यं **किं त्वमि**ति । एवम् 'इदं शरीरम्' [१३।२] इति श्लोकेनोक्तस्य संवादकमुपात्तम् । ननु "द्वा सुपर्णा" इति मन्त्रे " तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति " इति कर्मफलभोक्ता जीव उच्यते; "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" [मुं. उ. ३।१।१] इति परमात्मेति शारीरके 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' [ ब्र. सू. १।२।११ ] 'स्थित्यदनाभ्यां च' [ ब्र. सू. १।३।७ ] इत्यादिषु प्रपञ्चितम् । ब्राह्मणे तु 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्तीति सत्त्वम्' इति जन्तुवाचिना सत्त्वशब्देन जीवमभिधाय 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' 'अनश्नन्नन्यो अभिपश्यतीति क्षेत्रज्ञः' तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः' इति क्षेत्रज्ञशब्देन परमात्मानमेवाभिधत्ते । तावेवात्र क्षेत्रज्ञोपद्रष्टृशब्दौ प्रत्यभिज्ञायेते 'तं प्राहुः क्षेत्रज्ञः' [ १३।२ ] इति 'उपद्रष्टानुमन्ता' [ १३।२३ ] इति च । मनुश्च ' योऽस्यात्मनः कारयिता तं क्षेत्रज्ञं प्रचक्षते । यः करोति तु कर्माणि परमा-( स भूता ) त्मोच्यते बुधैः' [ मनुः १२।१२] इति क्षेत्रज्ञशब्देन परमात्मानमाह ।

**३ रा. भा.**— एवं विविक्तयोर्द्वयोर्वासुदेवात्मकत्वं चाहुः 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः। वासुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च'॥ [म. भा. १३।१४९।१३६] इति। छन्दोभिर्विविधैः पृथक् पृथग्विधैश्छन्दोभिश्च ऋग्यजुस्सामाथर्वभिः देहात्मनोः स्वरूपं पृथग्गीतम्– "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात्पुरुषः, स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" [तै.उ. २।१] इति शरीरस्वरूपमभिधाय तस्मादन्तरं प्राणमयं तस्माच्चान्तरं मनोमयमभिधाय "तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयात्, अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः" [तै. उ. २।४] इति क्षेत्रज्ञस्वरूपमभिधाय "तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात्। अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः" [तै.उ.२।५] इति क्षेत्रज्ञस्याप्यन्तरात्मतया आनन्दमयः परमात्माऽभिहितः। एवमृक्सामाथर्वसु च तत्रतत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पृथग्भावस्तयोर्ब्रह्मात्मकत्वं च सुस्पष्टं गीतम्।

**४ वे. ता. चं.**— अतः कथमत्र क्षेत्रज्ञो जीव इत्युच्यते? इति शङ्कामर्थात्परिहरन् 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [१३।३] इत्यस्य संवादकं तस्य स्वोक्तार्थानुगुण्यं सूचयन्नवतारयति— **एवं विविक्तयोरिति**। तथाच क्षेत्रज्ञशब्दस्य जीवेऽपि प्रयोगदर्शनात्क्षेत्रज्ञो जीव इत्युपपद्यते। प्रत्येकं समुदायेन वा 'ममेदं शिरः' 'ममेमौ पाणी' 'ममेदं शरीरम्' इति क्षेत्रवेदित्वाज्जीवस्य क्षेत्रज्ञत्वम्। परमात्मनस्तु 'इदं शरीरमेतत्कर्मारम्भायैतत्कर्मफलभोगाय' इत्यादिक्षेत्रयाथात्म्यवेदितृत्वेन। एतच्च 'एतदवयवशः सङ्घातरूपेण च इदमहं वेद्मि इति यो वेत्ति' इति [रा. भा. २] भाष्येण 'योऽस्यात्मनः कारयिता' [१२।१२] इति मनुवचनेन च ज्ञापितम्। एवमुपद्रष्टृत्वमपि जीवस्य स्वशरीरमात्रं प्रति; परमात्मनस्तु सर्वचेतनाचेतनान् प्रतीत्युभयोरप्युपद्रष्टृत्वमविरुद्धम्। अतो न कस्यापि प्रमाणस्य विरोध इति भावः। स्वरूपवैविध्यस्य 'छन्दोभिः' इति बहुवचनेनैव लाभात् विविधशब्दः प्रकृतप्रतिपाद्यप्रकारवैविध्यपर इत्यभिप्रायेणाह— **पृथग्विधैरिति**। पृथग्भूताः विधाः प्रतिपाद्यप्रकारा येषामिति विग्रहः। 'आम्नायश्छन्दसां दण्डः' इत्यादिप्रयोगानुसारेण च्छन्दश्शब्दो वेदपरः, न तु गायत्र्यादिपर इत्यभिप्रयन्नाह **ऋग्यजुरिति**। पृथक्छब्दस्य ऋषिभिरुक्तात्पृथक्त्वपरत्वभ्रमव्युदासायाध्याहारानुषङ्गाभ्यां योजयति **देहात्मनोः स्वरूपं पृथग्गीत**मिति। परस्परविलक्षणं गीतमित्यर्थः। "तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पिता, नाभावरा अर्पिताः, एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः, प्रज्ञामात्राः प्राणेऽर्पिताः" [कौ. उ. ३।९] "एष म आत्माऽन्तर्हृदये एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मि" [छां उ. ३। १४।४] "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः। अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" [मुं. उ. २।१।२] "स कारणं करणाधिपाधिपः" [श्वे.उ. ६।९] "भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा" [श्वे उ.१।१२] "जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" [मुं. उ. ३।१।१] इत्यादिकमभिप्रेत्याह— **एवमृक्सामाथर्वस्विति**।

**३ रा. भा.**— ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्मप्रतिपादनसूत्राख्यैः पदैः शारीरकसूत्रैः, हेतुमद्भिः हेतुयुक्तैः, विनिश्चितैः निर्णयान्तैः; 'न वियदश्रुतेः' [ब्र. सू. २।३।१] इत्यारभ्य क्षेत्रज्ञप्रकारनिर्णय उक्तः। 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' [ब्र.सू.२।३।१७] इत्यारभ्य 'ज्ञोऽत एव' [ब्र.सू.२।३।१८] इत्यादिभिः क्षेत्रज्ञयाथात्म्यनिर्णय उक्तः, 'परात्तु तच्छ्रुतेः' [ब्र. सू.२।३।४१] इति भगवत्प्रवर्त्यत्वेन भगवदात्मकत्वमुक्तम्; एवं बहुधा गीतं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यं मया सङ्क्षेपेण सुस्पष्टमुच्यमानं शृण्वित्यर्थः॥ ५॥

**४ वे. ता. चं.**—'ब्रह्मसूत्र-' इत्यत्र लुप्तषष्ठ्यर्थः सम्बन्धः प्रतिपादकत्वमित्यभिप्रेत्य 'सूत्रपदैः' इत्यत्र षष्ठीसमासभ्रमं वारयति **ब्रह्मप्रतिपादनसूत्राख्यैः पदैरिति**। फलितमाह **शारीरकसूत्रैरिति**। **हेतुयुक्तैरिति** हेतुप्रतिपादकैरित्यर्थः। कर्मणि क्ताश्रयणे प्रयोजनाभावाद्विशेषतो निश्चितं येषामिति भावे क्तं बहुव्रीहिं चाभिप्रेत्याह **निर्णयान्तैरिति**, निर्णयफलकैरित्यर्थः। **न वियदश्रुतेरित्यारभ्येत्य**नेन—'अस्ति तु' [ब्र.सू.२।३।२] इत्यादिकं सूत्रषट्कं 'एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः' [ब्र. सू.२।३।८] 'तेजोऽतस्तथा ह्याह' [ब्र.सू.२।३।१०] 'आपः' [ब्र. सू. २।३।११] 'पृथिवी' [ब्र. सू. २।३।१२] इति सूत्रचतुष्टयं च विवक्षितम्। **उक्त इति**— अनेनाकाशादीनामुत्पत्तिकथनेन तत्सङ्घातात्मकक्षेत्रयाथात्म्यमुक्तप्रायमिति भावः। **नात्मा श्रुतेरित्यारभ्येत्य**नेन 'ज्ञोऽत एव, उत्क्रान्तिगत्यागतीनां, स्वात्मना चोत्तरयोः, नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेत-

---

१ द्वैतिनां मते 'अश्रुतेः' इति पदच्छेदः। विशिष्टाद्वैतिनां तु 'श्रुतेः' इति। 'नात्मश्रुतेः' इत्यपि चाद्वैतिनाम्। २ 'पृथिवी' इत्येतावन्मात्रं पृथक्सूत्रं विशिष्टाद्वैतिनां मते 'पृथिव्यधिकारत्वरूपशब्दान्तरेभ्यः' इति त्वद्वैतिनां मते। समग्रं सूत्रम्।

राधिकारात्, स्वशब्दोन्मानाभ्यां च, अविरोधश्चन्दनवत्, अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि, गुणाद्वा लोकवत्, [1]व्यतिरेको गन्धवत् तथाच दर्शयति, पृथगुपदेशात्, तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्, यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्, पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्, नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽन्यथा, कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्, [2]उपादानाद्विहारोपदेशाच्च, व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः, उपलब्धिवदनियमः, शक्तिविपर्ययात्, समाध्यभावाच्च, यथाच तक्षोभयथा, परात्तु तच्छ्रुतेः' [ब्र. सू. २।३। १७–४० ] इत्यन्तं सूत्रजातमभिप्रेतम् । **इत्यारभ्य ज्ञोऽत** एवेत्यादिभिरिति पाठे इत्यादिशब्देनैतद्विवक्षितम् । **भगवत्प्रवर्त्यत्वेनेति**, चेतनं प्रति नियमेन नियाम्यद्रव्यत्वस्य शरीरलक्षणत्वादिति भावः । श्रुत्यादिभिः प्रतिपादितस्यैव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यस्य ज्ञातुं शक्यत्वात्त्वत्तः किमर्थं श्रोतव्यमित्याशङ्कापरिहाराय पूर्वोक्तं 'तत्समासेन मे शृणु' [ १३।४ ] इत्येतदत्र सङ्गमय्य तत्तात्पर्यमाह— **एवं बहुधा गीतमित्यादि।** क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यस्य श्रुत्यादिभिरतिविस्तरेण बहुधा गीतत्वात् किञ्चिज्ज्ञेन स्पष्टमवगन्तुमशक्यत्वात्सर्वज्ञेन मया सङ्क्षेपेण सुस्पष्टमुच्यमानं तच्छ्रोतव्यमिति भावः ॥ ५ ॥

## ५ आ. मा. भा.— ब्रह्मसूत्राणि शारीरकम् ॥ ५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ब्रह्मणः सूचकानि वाक्यानि ब्रह्मसूत्राणि (शं.) इति कश्चित् । ततश्च छन्दसामृषिवाक्यानां च तथात्वात् ऋषिभिरित्यादिकं वृथा स्यादित्यतो रूढिमाश्रित्याह— ब्रह्मेति ॥ ५ ॥

## ७ ह. पै. भा.— ऋषिभिर्वसिष्ठादिभिः । गायत्र्यादीनि च्छन्दांसि । तन्मन्त्रैर्विविधैर्नानाप्रकारैः पृथग्विवेकाद्गीतं दर्शितम् । किञ्च ब्रह्मणः प्रतिपादकानि सूत्राणि पदानि पद्यते गम्यत एभिरिति ॥ ५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— मत्तः शृण्वित्युक्त्या मया नूतनं किञ्चित्प्रकल्प्योच्यत इति न मन्तव्यम्, किन्तु श्रुतिस्मृतिब्रह्मसूत्रसिद्धान्तितोऽयमर्थ इत्याह— **ऋषिभिरिति** । ऋषिभिस्तत्त्वार्थदर्शिभिः बहुधा विस्तरेण गीतमिदं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यम् । तत्र तावत्तत्त्वविन्मूर्धन्यतया जनकगुरुत्वेन च बृहदारण्यकादिप्रसिद्धो भगवान्याज्ञवल्क्यः स्वकीये धर्मशास्त्रे वर्णयामास । तत्र ह्यात्मस्वरूपनिरूपणं प्रस्तुत्य 'आकाशमेकं हि यथा घटादिषु पृथग्भवेत् । तथा ह्येकोऽप्यनेकश्च ( तथात्मैको ह्यनेकश्च ) जलाधारेष्विवांशुमान्' [ या. स्मृ. ३।१४४ ] इत्यात्मैक्यप्रतिपादनपूर्वकम् 'तस्मादस्ति परो देहादात्मा सर्वग ईश्वरः' [ या. स्मृ. ३।१७९ ] इति जीवेश्वरैक्यं प्रतिज्ञाय 'बुद्धीन्द्रियाणि सार्थानि मनः कर्मेन्द्रियाणि च । अहङ्कारश्च बुद्धिश्च पृथिव्यादीनि चैव हि । अव्यक्तमात्मा क्षेत्रज्ञः क्षेत्रस्यास्य निगद्यते । ईश्वरः सर्वभूतस्थः सदसत्सद-( सन्नसन्सद ) सच्च यः' [या. स्मृ. ३।१७७;१७८] इत्युपपादितम् । **विज्ञानेश्वरेण** च— 'बुद्ध्यादीन्यव्यक्तान्तानि क्षेत्रम्; अस्य क्षेत्रस्य योऽसावीश्वरः सर्वगतः, स एवात्मा क्षेत्रज्ञः' इति स्पष्टमेव व्याख्यातम् । **मनुनाऽपि** स्वकीये धर्मशास्त्रे 'सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम् । तत्राद्यं ( तद्ध्यग्र्यं ) सर्वविद्यानां प्राप्यते ह्यमृतं ततः । [१२।८५] इति मुक्तिहेतुमात्मज्ञानं प्रस्तुत्य 'आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्युप(न्यव-)स्थितम्' [१२।११९] इत्यात्मनः सार्वात्म्यप्रतिज्ञापूर्वकम् 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि। रुक्माभं शुद्धधीगम्यं विद्यात्तु पुरुषं परम्' [१२।१२२] इति महावाक्यार्थमुपदिश्य 'एन ( त )-मेके वदन्त्यग्निं मरुतोऽन्ये (मनुमन्ये)प्रजापतिम् । इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ ( १२।१२३ ) 'एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना । स सर्वसमतामेत्य प्राप्नोति ब्रह्म शाश्वतम् ( ब्रह्माभ्येति परं पदम्' ) [ १२।१२५ ] इत्यद्वितीयात्मतत्त्वं प्रतिपादितम् ।

वसिष्ठेनापि स्वकीये योगशास्त्रे— देहस्तावज्जडो मूढो नाहमित्येव निश्चयः' इति प्रस्तुत्य 'एते हि तद्विलासान्ता मनोबुद्धीन्द्रियादयः । असन्तः सर्वे एवाहो अवधानं विनोदिताः ॥ महाचिदेव सैवास्ति महासत्येति योच्यते। निष्कलङ्का समा शुद्धा निरहङ्काररूपिणी ॥ शुद्धसंवेदनाकारं शिवं चिन्मात्रमक्षयम् । सद्ब्रह्म परमात्मादिनामभिर्याभिधीयते' इति जीवब्रह्माद्वैतमसकृदुद्घोषितम् । एवं छन्दोभिर्विविधैः पृथग्गीतं ऋग्यजुस्सामाथर्वरूपैर्वेदैर्विवेकेन वर्णितम् । यजुषि तावत् "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः" इत्युपक्रम्य "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" [ तै. उ. २।१ ] इत्यादिनाऽन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाख्यशरीरप्राणमनोबुद्ध्यहङ्काररूपकोशात्मकक्षेत्रविवेचनपूर्वकम् "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" [ तै. उ. २।५ ] इत्यनेन ब्रह्मैव तदात्मरूपमुपदिष्टम् । एतच्चानन्दवल्लीभाष्येऽस्माभिर्विस्तरेणोपपादितं तत एवानुसन्धेयम् । एवम् "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्" [ ऐ. उ. १।१ ] "स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" [ छां. उ. ६।८।७ ] "स एष ( इह ) प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः" [ बृ. उ. १।४।७ ]

---

१ द्वैतिनां विशिष्टाद्वैतिनां च मतेनेदमेकमेव सूत्रम् । अद्वैतिनां तु 'व्यतिरेको गन्धवत्' 'तथा च दर्शयति' इति सूत्रद्वयम् । २ इदमेकमेव सूत्रं विशिष्टाद्वैतिनां सचकारम् । चकाररहितं च 'विहारोपदेशात्' 'उपादानात्' इति व्युत्क्रमेणाद्वैतिनाम् ।

" अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य " [ छां. उ. ६।३।२;३ ] इत्यादिकमृक्सामाथर्ववाक्यजातमप्युदाहर्तव्यम् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव ब्रह्मसूत्राणि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' [ ब्र. सू. १।१।१ ] इत्यादीनि 'अनावृत्तिः शब्दात्' [ ब्र. सू. ४।४।२२ ] इत्यन्तानि , तान्येव पद्यते गम्यते ब्रह्मैभिरिति पदानि , तैश्च गीतं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यम् । तत्र हि 'न वियदश्रुतेः' [ब्र. सू. २।३।१] इत्यादिना क्षेत्रस्वरूपम् , 'नात्माश्रुतेः' [ ब्र. सू. २।३।१७ ] 'आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ' [ब्र. सू. ४।१।३ ] 'शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्' [ ब्र. सू. १।१।३० ] इत्यादिना च नित्याद्वितीयब्रह्मलक्षणं क्षेत्रज्ञस्वरूपं च वर्णितम् । हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः, युक्तिमद्भिरसन्दिग्धार्थकैश्चेत्यर्थः । एतच्च छन्दोभिर्ब्रह्मसूत्रपदैश्चेत्युभयोरपि विशेषणम् । तदेवमेतैर्निश्चितमेवार्थमहं तुभ्यं कथयिष्यामि, सावधानः शृण्वित्यर्थः ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— ऋषिभिर्बहुधा गीतमिति । क्षेत्रज्ञस्वरूपं बहुधा गीतं बहुप्रकारेण निरूपितस्य विप्रकीर्णस्यार्थस्यैकेन क्रोडीकारासम्भवादिति छन्दोभिर्ध्यानधारणाविषयत्वेन वैराजादिरूपेण नानायजनीयदेवतादिरूपेण क्षेत्रज्ञस्वरूपमुक्तं, तत्र विविधैरनेकैः पृथक् ब्रह्मसूत्रपदैश्च व्याससूत्रैः वेदार्थसारग्रथनरूपैरतएव विनिश्चितैः हेतुमद्भिः हेतुः साधकवाक्यं 'तत्तु समन्वयात्' [ ब्र. सू. १।१४ ] इतिवदनेकयुक्तिमद्भिरपि च बहुप्रकारेण गीतं मया तत्सर्वतः सारभूतं फलितं संगृह्योच्यते इति भावः ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— बहुधान्योक्तभ्रमाभावाय प्रपञ्चयति— ऋषिभिरिति । ऋषिभिः स्वानुभवोत्पन्नफलनिरूपणेन बहुधा बहुप्रकारेण गीतम् । किञ्च, छन्दोभिर्वेदैर्विविधैः कर्मज्ञानोपासनकाम्यादिभिः पृथक् भिन्नतया अधिकारपरत्वेन गीतम् । तथैव ब्रह्मसूत्रपदैश्च ब्रह्म सूच्यते एभिरिति ब्रह्मसूत्राणि 'जन्माद्यस्य यतः' [ ब्र. सू. १।१।२ ] इत्यादीनि । तथाच ब्रह्म प्रपद्यते गम्यते एभिरिति पदानि "एको देवो बहुधा निविष्टः" [तै. आ. ३।१४ ] इत्यादीनि तैर्बहुधा श्रुत्यनुसारेणैव गीतम् । कीदृशैस्तैः ? हेतुमद्भिः सहेतुकैः "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" [ तै. उ. २।७ ] "एष ह्येव तं साधु कर्म कारयति" [ कौ. उ. ३।८ ] इत्यादिभिः । विनिश्चितैः निस्सन्दिग्धैः स्वानुभवप्रतिपादकैरित्यर्थः । एवं विस्तरेणैतैरुक्तं दुर्बोधं याथातथ्येन तत् समासेन मे मत्तः उक्तं शृणु । कथयामीत्यर्थः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— वक्ष्यमाणेऽर्थे प्रमाणमाह— ऋषिभिरिति । ऋषिभिर्वसिष्ठाद्यैर्बहुधा गीतं योगवासिष्ठादौ प्रतिपादितम् । छन्दोभिर्वेदैर्मन्त्रैर्वा पृथक् प्रतिशाखमनेकप्रकारं गीतम् । ब्रह्मसूत्रपदैः ब्रह्मणः सूचकानि पदानि समुच्चित्य वाक्यभावमापन्नानि तैर्ब्रह्मसूचकैर्ब्राह्मणवाक्यैः "तत्त्वमसि" [ छां. उ. ६।८।७-१४ ] इत्याद्यैरित्यर्थः । हेतुमद्भिः " अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापोमूलमन्विच्छ, अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ, तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ, सन्मूलः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः " [ छां. उ. ६।८।४ ] इत्यादिना कार्यलिङ्गान्यनुमानानि ब्रह्माधिगमाय प्रदर्शयन्तो हेतवस्तद्वद्भिः, विनिश्चितैः असकृदभ्यासेन सकलशङ्कापङ्कक्षालनेन निश्चितार्थैः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः स्वरूपमेतैः सर्वैर्यद्गीतं तच्छृणु इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ५ ॥

### क्षेत्रस्वरूपम् ।

## महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
## इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ६ ॥

---

१ अत्र बुद्धिशब्देन महत्तत्त्वमुच्यते, तस्यैव कार्यकारणपरम्परायामहङ्काराव्यक्तयोर्मध्यगतत्वात् । दृष्टं च महतो बुद्धिशब्दवाच्यत्वं 'हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृतः । महानिति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः ॥' ( म. भा. १२।१०३।१८ ) इत्यादौ । साङ्ख्यप्रवचनेऽपि– 'महत्तत्त्वस्य पर्यायो बुद्धिरिति' (२।१३) । **विद्याधिराजादयो माध्वास्तु**– महत्तत्त्वमप्यहङ्कारशब्देन गृह्यत इति वदन्ति, तत्र प्रमाणं त एव प्रष्टव्याः ॥

दशैकं चेत्यवयुत्योक्तिर्मनस इन्द्रियताया गौणत्वसूचनार्था । तथा ह्याहुः– न तावदन्तःकरणमिन्द्रियमित्यत्र मानमस्ति, 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' ( गी. १५।७ ) इति वचनं प्रमाणमिति चेत्, न; अनिन्द्रियेणापि मनसा षट्त्वसङ्ख्यापूरणाविरोधात् । न हीन्द्रियगतसङ्ख्यापूरणमिन्द्रियेणैवेति नियमः, 'वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान् ।' ( म. भा. १।६३।८९ ) इत्यत्र वेदगतपञ्चत्वसङ्ख्याया अवेदेनापि महाभारतेन पूरणदर्शनात् । 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।' ( कठो. ३।१० ) इत्यादिश्रुत्या मनसोऽनिन्द्रियतावगमाच्च । 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' ( १०।२२ ) इत्यपि तथाभूतम्, 'बलं बलवतां चाहं' ( ७।११ ) 'नक्षत्राणामहं शशी' (१०।२१) इत्यादाविव सम्बन्धसामान्यार्थैव षष्ठीत्यङ्गीकारेण निर्द्धारणषष्ठ्यनभ्युपगमात् । –

## इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः।
## एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ७ ॥

१ **शां. भा.**—स्तुत्याऽभिमुखीभूतायार्जुनायाऽऽह भगवान्— **महाभूतानीति**। महाभूतानि महान्ति च तानि भूतानि, सर्वविकारव्यापकत्वात्। भूतानि च सूक्ष्माणि ( न स्थूलानि )। स्थूलानि त्विन्द्रियगोचरशब्देनाभिधायिष्यन्ते। अहङ्कारो महाभूतकारणमहम्प्रत्ययलक्षणः। अहङ्कारकारणं बुद्धिरध्यवसायलक्षणा। तत्कारणमव्यक्तमेव च, न व्यक्तमव्यक्तमव्याकृतमीश्वरशक्तिः 'मम माया दुरत्यया' [७।१४] इत्युक्तम्। एवशब्दः प्रकृत्यवधारणार्थः। एतावत्येवाष्टधा भिन्ना प्रकृतिः। चशब्दो भेदसमुच्चयार्थः। इन्द्रियाणि दश श्रोत्रादीनि पञ्च बुद्ध्युत्पादकत्वाद्बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाण्यादीनि पञ्च कर्मनिर्वर्तकत्वात् कर्मेन्द्रियाणि, तानि दश। एकं च; किं तत्? मन एकादशं सङ्कल्पाद्यात्मकम्। पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दादयो विषयाः। तान्येतानि साङ्ख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥ ६ ॥

२ **आ. शां. व्या.**—क्षेत्रादियाथात्म्यस्तुत्या प्रलोभिताय 'किं तत्' इति जिज्ञासवे यथोद्देशं क्षेत्रं निर्दिशति— **स्तुत्येति**। महत्त्वे हेतुमाह— **सर्वेति**। भूतशब्देन स्थूलानामपि विशेषाभावाद्ग्रहे का हानिः? इत्याशङ्क्याऽऽह— **स्थूलानीति**। अहङ्कारोऽहम्प्रत्ययलक्षण इति सम्बन्धः। भूतानां प्रातीतिकत्वेनाभिमानमात्रात्मत्वं मत्वाऽहङ्कारं विशिनष्टि— **महाभूतेति**। "महतः परं" [ कठो. ३।११ ] इत्यादौ प्रसिद्धं महच्छब्दार्थं महङ्कारहेतुमाह— **अहङ्कारेति**। **ईश्वरशक्तिरित्युक्ते** चैतन्यमपि

—न च 'एकादशेन्द्रियाण्याहुर्यानि पूर्वे मनीषिणः। तानि सम्यक्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः॥ श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी। पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥ बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः। कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥ एकादशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्।' ( मनुः ११८९–९२ ) इति स्मृतिविरोधोऽपि, तस्याः पूर्वे मनीषिण आहुरित्यनेन पक्षान्तरानुवादकत्वदर्शनात्। अत एव 'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः।' (म. भा. १४।१४९।१३६)इत्यादौ तत्र तत्र मनस इन्द्रियेभ्यः पृथग्गणनं सङ्गच्छते। यत्तु क्वचिन्मनसोऽपीन्द्रियत्वेन ग्रहणम्, तदिन्द्रियसाधर्म्याद्गौणमेव। उक्तं च **साङ्ख्यैः**— 'उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्।' ( सां. का. २७ ) इति। मनश्चक्षुरादिभिः सह सात्त्विकाहङ्कारकार्यत्वरूपसाधर्म्येणेन्द्रियमुच्यते, इन्द्रियशब्दस्य तत्रैव योगरूढत्वङ्गीकारादित्यर्थः। एतेन— 'स्मृतौ त्वेकादशेन्द्रियाणीति मनोऽपीन्द्रियत्वेन श्रोत्रादिवत्सङ्गृह्यते।' ( शारी. भा. २।४।१७ ) इति भगवत्पादवचोऽपि व्याख्यातम्। विस्तरो **विवरणे वेदान्तपरिभाषा**दिषु तदनुसारिग्रन्थेषु च द्रष्टव्यः। **वाचस्पतिमिश्रास्तु** मनस इन्द्रियत्वं स्वीकुर्वन्ति, तेषां मते 'इन्द्रियाणां वर्तमानमात्रविषयत्वात्, मनसस्तु त्रैकाल्यगोचरत्वाद्भेदेनाभिधानं' ( भामती २।४।१७ ) इति ॥ चकारेणेन्द्रियाभिमानिदेवतानामप्युत्पत्तिः सूच्यत इति **वामनः**।

पूर्वार्धोक्ता अपरा प्रकृतिरिति 'भूमिरापो–' ( ७।४ ) इत्यत्र व्यक्तम्। उत्तरार्धोक्तास्तु विकारा इति साङ्ख्याः। **एवमेतानि चतुर्विंशतितत्त्वानि** आयुर्वेदेऽपि–'अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्चतन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः शेषाः षोडश विकाराः।' ( सु. सं. शा. १।६ ) इति। तानीमानि चतुर्विंशतितत्त्वानि साङ्ख्यदर्शनं आयुर्वेदे च व्याख्यातानि। तत्र मतभेदादिकं विस्तरभयान्न सङ्गृह्यते ॥

— **अविगीता**।

१ चेतना ज्ञानमात्रम्। यद्यपि बुद्धिशब्देन चेतनाधृतिस्मृत्यहङ्काराः प्राप्यन्त एव, तथापि बुद्धिप्रकरणत्वेन पृथक्पृथगात्मकत्वेन पुनः पुनः पृथगुपात्ताः। तथा हि चेतनागुणत्वेन चेतना खादिभूतातिरिक्तधर्मेणात्मानं गमयति। धृतिस्तु नियमात्मिका नियन्तारमात्मानं गमयति। बुद्धिस्तु ऊहापोहयोरेकं कारणं गमयत्यात्मानम्। स्मृतिस्तु पूर्वानुभूतार्थस्मरणकर्तारं स्थायिनमात्मानं गमयतीत्यनुसरणीयम्– इति **चरकटीकायां चक्रदत्तः**। सविकारं 'षड्भावविकारा भवन्ति' इति **वार्ष्यायणिः**; 'जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्द्धतेऽपक्षीयते विनश्यति' ( नि. १।२।८ ) इत्युक्तविकारसहितमिति **केचित्**। **यत्त्वायुर्वेदे**– 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं प्रयत्नश्चेतना धृतिः। बुद्धिः स्मृतिरहङ्कारो लिङ्गानि परमात्मनः'॥ ( च. सं. शा. १।७० ) इति। तत्राभिमतः परमात्मा न मुख्यः, किन्तु चिकित्साधिकृतः कर्मपुरुष एव, 'यस्मात्समुपलभ्यन्ते लिङ्गान्येतानि जीवतः। न मृतस्यात्मलिङ्गानि तस्मादाहुर्महर्षयः॥' ( च. सं. शा. १।७१ ) इत्यादिसन्दर्भात्, 'स एष कर्मपुरुषश्चिकित्साधिकृतः। तस्य सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नः प्राणापानावुन्मेषनिमेषौ बुद्धिर्मनः सङ्कल्पो विचारणा स्मृतिर्विज्ञानमध्यवसायो विषयोपलब्धिश्च गुणाः' ( सु. सं. शा. १।१७ ) इति समानतन्त्रान्तराच्च। तस्य च क्षेत्रत्वमविरुद्धमेवास्मत्प्रक्रियेति न कोऽपि विरोधः। विशेषश्च वैशेषिकमतविचारे **नीलकण्ठीये**ऽनुसन्धेयः॥

— **अविगीता**।

शङ्केत, तदर्थमाह— **ममेति** । अवधारणरूपमर्थमेव स्फुटयति— **एतावत्येवेति** । पञ्च तन्मात्राण्यहङ्कारो महदव्याकृतमित्यष्टधा भिन्नत्वम् । मूलप्रकृत्या सह तन्मात्रादिभेदानां समुच्चयश्चकारार्थः । दशेन्द्रियाण्येव विभज्य व्युत्पादयति— **श्रोत्रे**त्यादिना । तत्रैव प्रश्नद्वारा स्फुटयति— **किं तदि**ति । शब्दादिविषयशब्देन स्थूलानि भूतानि गृह्यन्ते । उक्तेषु तन्मात्रादिषु तन्त्रान्तरीयसम्मतिमाह— **तानी**ति । 'मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त । षोडशकश्च विकारः' [ सां. का. ३ ] इति पठन्ति ॥ ६ ॥

**१ शां. भा.—** अथेदानीं 'आत्मगुणाः' इति यानाचक्षते वैशेषिकास्तेऽपि क्षेत्रधर्मा एव, न तु क्षेत्रज्ञस्येत्याह भगवान्— **इच्छेति** । इच्छा यज्जातीयं सुखहेतुमर्थमुपलब्धवान्पूर्वं, पुनस्तज्जातीयं समुपलभमानस्तमर्थं समादातुमिच्छति सुखहेतुरिति; सेयमिच्छाऽन्तःकरणधर्मः ; ज्ञेयत्वात्क्षेत्रम् । तथा द्वेषो यज्जातीयमर्थं दुःखहेतुत्वेनानुभूतवान्,पुनस्तज्जातीयमर्थमुपलभमानस्तं द्वेष्टि,सोऽयं द्वेषो ज्ञेयत्वात्क्षेत्रमेव। तथा सुखमनुकूलं प्रसन्नसत्त्वात्मकं, ज्ञेयत्वात्क्षेत्रमेव । दुःखं प्रतिकूलात्मकं, ज्ञेयत्वात्तदपि क्षेत्रम् । सङ्घातो देहेन्द्रियाणां संहतिः । तस्यामभिव्यक्तान्तःकरणवृत्तिस्तप्त इव लोहपिण्डेऽग्निः, आत्मचैतन्याभासरसविद्धा चेतना सा च क्षेत्रं, ज्ञेयत्वात् । धृतिर्यया ऽवसादं प्राप्तानि देहेन्द्रियाणि ध्रियन्ते, सा च ज्ञेयत्वात् क्षेत्रम् । सर्वान्तःकरणधर्मोपलक्षणार्थमिच्छादिग्रहणं यत उक्तं तदुपसंहरति— **एतदिति** । एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारं सह विकारेण महदादिनोदाहृतमुक्तम् ॥ ७ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** अव्यक्ताहङ्कारादीनां त्रैगुण्याभिमानादिधर्मकत्वं प्रसिद्धमिति शब्दादीनामेव ग्रहणे कर्मेन्द्रियाणां विषयानुक्तेर्वैरूप्यप्रसङ्गात्क्षेत्रनिरूपणस्य च प्रकृतत्वात्स्वरूपनिर्देशेनैव 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' [ १३।४ ] इति व्याख्यातं; इदानीमिच्छादीनामात्मविकारत्वनिवृत्तये क्षेत्रविकारत्वनिरूपणेन 'यद्विकारि' [ १३।४ ] इत्येतन्निरूपयन्मतान्तरनिवृत्तिपरत्वेन श्लोकमवतारयति— **अथेति** । सर्वज्ञोक्तिविरोधाद्धेयं वैशेषिकं मतमिति मत्वोक्तं— **भगवानिति** । उपलब्धजातीयस्योपलभ्यमानस्याऽऽदानेच्छायां हेतुमाह— **सुखेति** । इतिशब्दो हेत्वर्थः । सुखहेतुत्वात्तस्मिन्निच्छेत्यर्थः । इच्छां सुखतद्धेतुविषयत्वेन व्याख्यायाऽऽत्मधर्मत्वं तस्या व्युदस्यति— **सेयमिति** । तथापि कथं क्षेत्रान्तर्भूतत्वं ? तत्राऽऽह— **ज्ञेयत्वादिति** । इच्छावद्द्वेषोऽपि धर्मो बुद्धेरित्याह— **तथेति** । कोऽसौ द्वेषो यस्य बुद्धिधर्मत्वं ? तत्राऽऽह— **यज्जातीयमिति** । तस्यापीच्छावत्क्षेत्रान्तर्भावमाह— **सोऽयमिति** । इच्छाद्वेषवद्बुद्धिधर्मः सुखमपीत्याह— **तथेति** । तस्यापि स्वरूपोक्त्या क्षेत्रान्तःपातित्वमाह— **अनुकूलमिति** । दुःखस्यापि स्वरूपोक्त्या क्षेत्रमध्यवर्तित्वमाह — **दुःखमिति** । देहेन्द्रियात्मवादौ व्युदसितुं क्षेत्रान्तर्भूतमेव सङ्घातं विभजते— **देहेति** । विज्ञानवादं प्रत्याह— **तस्यामिति** । तप्ते लोहपिण्डे वह्नेरभिव्यक्तिवदुक्तसंहतौ बुद्धिवृत्तिरभिव्यज्यते । तत्र चाग्निरभिव्यक्तो लोहपिण्डमेवाग्निबुद्ध्या ग्राहयति, तथाऽऽत्मचैतन्यं बुद्धिवृत्तावभिव्यक्तं तामेवाऽऽत्मतया बोधयति, अतस्तदाभासानुविद्धा सैव चेतनेत्युच्यते । सा च मुख्यं चेतनं प्रति ज्ञेयत्वादतद्रूपत्वात्क्षेत्रमेवेत्यर्थः । धृतिस्वरूपोक्त्या क्षेत्रत्वं तस्या दर्शयति— **धृतिरि**त्यादिना । नन्वन्येऽपि सङ्कल्पादयो मनोधर्माः सन्ति ते किमित्यत्र क्षेत्रत्वेन नोच्यन्ते ? तत्राऽऽह— **सर्वेति** । तस्योपलक्षणार्थत्वे हेतुमाह— **यत** इति । इच्छादिवदस्मिन्नवसरे सङ्कल्पादीनामपि दर्शितत्वं सिद्धवत्कृत्य प्रकरणविभागार्थं यतो भगवानुक्तं क्षेत्रमुपसंहरत्यतो युक्तमिच्छादिग्रहस्य सर्वानुक्तबुद्धिधर्मोपलक्षणार्थत्वमित्यर्थः ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.—**'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इति क्षेत्रारम्भकद्रव्याणि, पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशमहाभूतानि, अहङ्कारो भूतादिः, बुद्धिर्महान्, अव्यक्तं प्रकृतिः; 'इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः' इति क्षेत्राश्रितानि तत्त्वानि । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि पञ्च कर्मेन्द्रियाणीति; तानि दश, एकमिति मनः, इन्द्रियगोचराश्च पञ्च-शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः ॥६॥

**४ वे. ता. चं.—** 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' [ १३।४ ] इत्यादौ 'यच्च' इति प्रतिज्ञातस्य 'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' इत्येतत्प्रतिपादकमित्यभिप्रायेणाह **महाभूतानी**त्यारभ्य **इतिक्षेत्रारम्भकद्रव्याणी**ति । भूतशब्दस्य सशरीरचेतनादावपि प्रयोगात्तद्भ्रमव्युदासाय प्रकृतोपयुक्तमर्थमाह **पृथिव्यप्तेज** इति । अहङ्कारशब्दस्य त्रिविधाहङ्कारवाचित्वेऽपि सात्त्विकाहङ्कारस्येन्द्रियारम्भकत्वात् राजसस्योभयानुग्राहकत्वात्तामसपरत्वमाह— **अहङ्कार** इति । बुद्धिशब्दस्याध्यवसायपरत्वभ्रमव्युदासायाह—**बुद्धिर्महानिति** । अव्यक्तशब्दस्य ''अव्यक्तमक्षरे ( वि ) लीयते'' [ सुबालो॰ २ ] इत्युक्ताव्यक्तपरत्वे तत्कारणमपि वक्तव्यं स्यादित्यभिप्रायस्तद्व्याचष्टे— **अव्यक्तं प्रकृतिरिति** । 'इन्द्रियाणि दशैकं च' इत्या-

दिकं 'यादृक्च' इति प्रतिज्ञातस्य प्रतिपादकमित्यभिप्रायेणाह— **इन्द्रियाणि दशेत्यारभ्य इति क्षेत्राश्रितानि तत्त्वानीति।** इन्द्रियाणामेकादशत्वव्यक्तीकरणाय तद्गोचरा इत्युक्तपञ्चसङ्ख्यास्पष्टीकरणाय च ' त्वक्चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम् । शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि च द्विज ! । पायूपस्थौ करौ पादौ वाक्च मैत्रेय ! पञ्चमी । विसर्गशिल्पगत्युक्ति कर्म तेषां च कथ्यते । एकादशं मनश्चात्र ' [ वि. पु. १।२।४८,४९ ] इति पराशरोक्त्यनुसारेण तानि इन्द्रियार्थांश्च विशेषतः कथयति **श्रोत्रत्वगि**त्यादिना ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.— इच्छा द्वेषः सुखं दुःखमिति क्षेत्रकार्याणि क्षेत्रविकारा उच्यन्ते; यद्यपीच्छाद्वेषसुखदुःखान्यात्मधर्मभूतानि, तथाप्यात्मनः क्षेत्रसम्बन्धप्रयुक्तानीति क्षेत्रकार्यतया क्षेत्रविकारा उच्यन्ते; तेषां पुरुषधर्मत्वं 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' [ १३।२१ ]इति वक्ष्यते । सङ्घातश्चेतनाधृतिः— आधृतिराधारः, सुखदुःखे भुञ्जानस्य भोगापवर्गौ साधयतश्च चेतनस्याधारतयोत्पन्नो भूतसङ्घातः प्रकृत्यादिपृथिव्यन्तद्रव्यारब्धमिन्द्रियाश्रयभूत-मिथ्याद्वेष-सुखदुःख-विकारिभूतसङ्घातरूपं चेतनसुखदुःखोपभोगाधारत्वप्रयोजनं क्षेत्रमित्युक्तं भवति, एतत् क्षेत्रं समासेन सङ्क्षेपेण सविकारं सकार्यमुदाहृतम् ॥ ७ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम् 'इत्येतत् 'यद्विकारि' [ १३।४ ] इत्युक्तस्य प्रतिपादकमित्याशयेनाह— **इच्छा द्वेष** इति । इच्छादीनां भूतसङ्घातरूपक्षेत्रपरिणामत्वाभावेन कथं क्षेत्रविकारत्वं ? प्रत्युतात्मधर्मभूतज्ञानविकारत्वमेवेत्याशयेन शङ्कते— **यद्यपी**ति । तेषां क्षेत्रविकारत्वव्यपदेश औपचारिक इत्याशयेन परिहरति **तथापी**ति । क्षेत्रासाधारणकार्यत्वमुपचारनिमित्तमिति भावः । ननु कथमिच्छादीनां धर्मभूतज्ञानविकारत्वम् ?, "कामः सङ्कल्पः" [ बृ. उ. १।५।३ ] इत्यादिना तेषां मनोविकारत्वश्रवणात् । 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' [बृ. सू. २।४।१२] इति सूत्रभाष्ये 'न कामादिकं मनसस्तत्त्वान्तरम् ' [ रा. भा. ] इति भाषितत्वाच्चेत्यत आह— **तेषामि**ति । नचाश्रयत्वमन्तरेण हेतुत्वमस्त्विति वाच्यम्, 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' [ १३।२१ ] इति पूर्ववाक्ये क्रियाश्रयत्वरूपकर्तृत्वं प्रति प्रकृतेराश्रयत्वेन हेतुत्वोक्त्या तद्वैरूप्यापत्तेः । न चान्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यरूपजीवस्य पुरुषशब्देन विवक्षितत्वात्, "कामःसङ्कल्पः" बृ. उ. १।५।३] इत्यादिश्रुत्यनुसारेण योग्यतयाऽन्तःकरणस्य तदाश्रयत्वपरमेव 'पुरुषः सुखदुःखानाम्' [ १३।२१ ] इति वाक्यमिति वाच्यं, देहादिवदन्तःकरणस्यापि प्रकृतिपरिणामत्वेन कार्यकारणकर्तृत्वे सुखदुःखानां भोक्तृत्वे च हेतुः प्रकृतिरुच्यत इत्येवोक्त्यापत्तेः । चैतन्यसम्बन्धप्रयुक्तं भोक्तृत्वाश्रयत्वमिति ' पुरुषः सुखदुःखानाम् ' इत्युक्तिरिति चेत्, कर्तृत्वाश्रयत्वमपि तत्सम्बन्धायत्तमिति तत्रापि तथोक्तिः स्यात् । नचैवं 'कामः सङ्कल्पः' इति श्रुतेः 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' [ब्र.सू.२।४।१२] इति सूत्रभाष्यस्य च कथमुपपत्तिरिति वाच्यम् ; कामसङ्कल्पादिशब्दवाच्यधर्मभूतज्ञानपरिणामहेतुभूतमनोवृत्तीनां तत्कार्यवाचिशब्देनाभिधानपूर्वकं मनसस्तत्त्वान्तरत्वाभावप्रतिपादनपरत्वेनोपपत्तेः ।

न भयसम्प्रतिपन्नमनोवृत्तिभिरेव तत्तन्नाम्नीभिः सर्वकार्योपपत्तौ कामादिशब्दवाच्यधर्मभूतज्ञानपरिणामकल्पने प्रमाणाभावात् कामादिशब्दानां मनोवृत्तिषु लाक्षणिकत्वमनुपपन्नमिति चेत्, न; "सोऽकामयत" [ तै. उ. २।६ ] "अथ पुरुषो ह वै नारायणोऽकामत" [ ना.उ. १] इति स्थाने "तदैक्षत" [छां.उ.६।२।३] "स ईक्षाञ्चक्रे" [ प्र. उ. ६।३ ] इत्यन्तःकरणरहितजगत्कारणाश्रितज्ञानविशेषवाचीक्षतिशब्दपाठात् "स तपोऽतप्यत" [ तै.उ. २।६ ] इति तत्स्थानपठिततपश्शब्दस्य "यस्य ज्ञानमयं तपः" [ मुं. उ. १।१।९ ] इति ज्ञानशब्देन व्याख्यानात् । "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति" [ छां. उ. ८।२।१] इति मुक्ताश्रितत्वेन कामसङ्कल्पयोः श्रवणात् सुखत्वापरपर्यायानन्दत्वस्य "रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति" [ तै.उ. २।७ ] "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" [ तै.उ. २।४,९ ] इत्यादिषु 'अनुकूलज्ञानमेव ह्यानन्दः' [ रा. भा. ] इति भाष्यकृदुक्तरीत्या मुक्तब्रह्मसंबन्धिज्ञानवृत्तित्वश्रवणात् ' निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा । भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता' [ वि. पु. ५।६।५९ ] इति भगवदनुभवरूपभगवत्प्राप्तेः सुखरूपत्वमृतेश्च कामसङ्कल्पसुखादीनां ज्ञानावस्थाविशेषत्वस्य अवश्याभ्युपगमनीयत्वान्मनोवृत्तीनामज्ञानत्वेनान्याधीनप्रकाशतयानन्याधीनप्रकाशत्वादिरूपव्यापकनिवृत्त्या व्याप्यभूतार्थान्तरप्रकाशादिहेतुत्वासम्भवेन ज्ञानावस्थाविशेषानङ्गीकारे विषयप्रकाशव्यवहारादेरनुपपत्तेः स्वप्रकाशज्ञानावस्थाविशेषाणामावश्यकत्वादनेकशक्तिकल्पने गौरवेण कामसङ्कल्पादिशब्दानां वृत्तिषु लाक्षणिकत्वस्य न्याय्यत्वाच्च ।

नच वृत्तीनां चैतन्यसम्बन्धेन विषयप्रकाशादिसमर्थत्वमिति वाच्यम्, निर्विशेषचैतन्यस्य सर्वविषयविमुखस्य विषयप्रकाशाद्ययोग्यत्वेन तत्सहायस्य 'शतमप्यन्धानां न पश्यति ' इति न्यायेन विषयप्रकाशादिसामर्थ्यानापादकत्वान्निर्विशेषचैतन्यस्य तद्योग्यत्वे तेनैव प्रकाशाद्युपपत्तौ वृत्त्यवच्छेदकल्पना निष्फला स्यात् । नच संसारदशायां सङ्कुचितस्य तस्य विषयव्यवस्थौपयिकतया साफल्यमिति वाच्यम्, तस्य सङ्कोचाङ्गीकारे निर्विकारत्वादिप्रतिपादकश्रुत्यादिविरोधाच्चक्षुरादिवृत्तिभिरेव विषयव्यवस्थोपपत्तेश्च; धर्मभूतज्ञानस्य च विकारोऽङ्गीकृत एवेति न किञ्चिदनुपपन्नमस्माकम्— इति । एतत्सर्वमभिप्रेत्य भाषितं

तेषां पुरुषधर्मत्वं 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' [ १३।२१ ] इति वक्ष्यत इति।
'चेतनाधृतिः' इत्यत्र न तावत्पदद्वयं, चैतन्यस्य क्षेत्रान्तर्भावात्; एकपदत्वेऽपि चेतनाया धृतिरिति न विग्रहः, धृतिशब्दस्याधारपरत्वे शरीरस्य चैतन्याधारत्वासम्भवात्; भोगस्थानपरत्वे निर्विशेषचैतन्यस्य भोक्तृत्वानभ्युपगमात् "एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः" [ प्र.उ. ४।९ ] इति ज्ञातृत्वकर्तृत्वविशिष्टचेतनस्यैव भोक्तृत्वश्रवणाच्च। चेतनस्याधृतिरिति विग्रहः। चेतनशब्देनात्मा निर्दिश्यते। 'भूतरुद्याम' [ वि. पु. ] इतिवत् आधृतिशब्दोऽपि 'अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्' [अष्टा.३।३।१९ ] इत्याधारपर इत्याह— आधृतिराधार इति। अत्रोद्दिष्टार्थक्रमवशाद्व्युत्क्रमेण व्याख्यातम्, आधारत्वस्यात्र भोगायतनत्वरूपत्वान्नाधेयत्वरूपशरीरलक्षणविरोध इत्यभिप्रेत्याह— सुखेति। 'महाभूतानि' इत्यादेः सुग्रहत्वाय 'महाभूतानि' इत्यादेः 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' [ १३।४ ] इत्यादि यद्वृत्तपञ्चकार्थविषयतां दर्शयन् पिण्डितार्थमाह— प्रकृत्यादीति। सविकारशब्देनेच्छादीनां क्षेत्रपरिणामत्वशङ्काव्युदासायाह— सकार्यमिति ॥ ६ ॥ ७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ६ ॥ इच्छादयो विकाराः ॥ ७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६ ॥ महाभूतानीत्यनुक्रम्य 'एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतं' इत्युक्तम्, तत्र न ज्ञायते किं क्षेत्रं के च तद्विकारा इत्यत आह- इच्छादय इति। पूर्वं क्षेत्रमिति भावः ॥ ७ ॥

७ ह. पै. भा.— अहङ्कारो महाभूतकारणं तत्कारणमव्यक्तमीश्वरशक्तिः। 'मम माया दुरत्यया' [ ७।१४ ] इत्युक्तम्। पञ्च बुद्ध्युत्पादकत्वान्निवर्तकत्वात्। पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि मनश्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। तान्येतानि साङ्ख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते ॥ ६ ॥

अथेदानीमात्मगुणा इति यानाचक्षते वैशेषिकास्तेऽपि क्षेत्रधर्मा एव, न तु क्षेत्रज्ञस्येत्याह भगवान्। सङ्घातः कार्यकरणसङ्घातात्मकं शरीरम्। चेतना शरीरस्य नित्यसिद्धात्मचैतन्यप्रकाशः। धृतिरुत्साहः। एतदिति सर्वान्तःकरणधर्मोपलक्षणार्थम्। सविकारं विकारसहितम्। विकारा इन्द्रियाणि ॥ ७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तत्र क्षेत्रस्वरूपमाह द्वाभ्याम्— महाभूतानीति। पृथिव्यादीनि पञ्च महाभूतानि, तत्कारणमहङ्कारः, तस्यापि कारणं ज्ञानात्मकं महत्तत्त्वं बुद्धिः; तत्कारणीभूता मूलप्रकृतिरव्यक्तम्, बाह्यानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि दश, एकं चान्तरिन्द्रियं मनः, इन्द्रियगोचराः पञ्च शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः। तदेतानि साङ्ख्याश्चतुर्विंशतितत्त्वान्याचक्षते। सिद्धान्ते साङ्ख्याभिमतप्रकृतिमहदहङ्काराणामनङ्गीकारेऽपि भगवन्मायाशक्तिरूपायाः प्रकृतेस्तदीक्षणरूपबुद्ध्यात्मकस्य महत्तत्त्वस्य 'बहु स्यामहम्' [ ] इति सङ्कल्परूपस्याहङ्कारस्य च सत्त्वान्न विरोधः। अनेन पाञ्चभौतिको देह इन्द्रियाण्यहङ्कारो वाऽऽत्मेति मतानि निरस्तानि, तेषां क्षेत्रान्तर्भूतत्वेन क्षेत्रज्ञत्वासम्भवादिति दर्शितम्। नन्विच्छाद्वेषादीनामात्मधर्माणामहङ्कारे दृश्यमानत्वात्स एवात्मेत्याशङ्क्य तेषामपि क्षेत्रधर्मत्वमेवेत्याह— इच्छेति। इच्छादयः प्रसिद्धाः। चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिः। धृतिर्धैर्यम्। एतच्च "कामः सङ्कल्पः" [बृ.उ.१।५।३] इत्यादिश्रुतिसिद्धसङ्कल्पादिधर्मान्तराणामप्युपलक्षणम्। अनेन 'यादृक्' [ १३।३ ] इति प्रतिज्ञाताः क्षेत्रधर्माश्चोक्ताः। 'सङ्घातः' इत्यनेन देहेन्द्रियमनोहङ्काराणामसंहतानां क्षेत्ररूपत्वेऽपि तत्सङ्घातस्य क्षेत्रज्ञात्मरूपत्वमस्त्विति शङ्कानिरासाय तस्यापि क्षेत्ररूपतैवेति दर्शितम्। एतन्महाभूतादिधृत्यन्तं क्षेत्रमिति सङ्क्षेपेण तुभ्यं मयोक्तम्। कथमेतस्य क्षेत्रत्वम्? इत्याशङ्कायां 'सविकारं' इति हेतुगर्भं विशेषणम्; विकारवत एव लोके क्षेत्रत्वदर्शनादिति भावः ॥ ६ ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— महाभूतेति। तत् क्षेत्रं यद्द्रव्यं तन्महाभूतद्रव्यात्मकं स्थूलं; यादृक्च अहङ्कारबुद्धिमहतामेकादशेन्द्रियविषयाणां लिङ्गशरीरसूक्ष्मभूतानां चाश्रयभूतम् ॥ ६ ॥ तस्य यद्विकारितामाह— इच्छेत्यादि। यद्यपीच्छाद्वेषसुखदुःखान्यात्मधर्मभूतानि तथाप्यात्मनश्चिदंशभूतस्य क्षेत्रसम्बन्धप्रयुक्तानीति क्षेत्राश्रितानीत्युच्यन्ते साङ्ख्ये पुरुषधर्मत्वं च 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते' [ १३।२१ ] इत्येव वक्ष्यते। सङ्घातः संहननं चेतनाविवेकाद्यात्मिका प्राणादिवृत्तिः; धृतिश्चेति विकाराः। सुखदुःखे भुञ्जानस्य भोगापवर्गौ साधयतश्चिदंशभूतस्य वस्तुतोऽव्यक्तस्य पुरुषस्याधारतयोत्पन्नं भूतमयं शरीरं तेषामहङ्कारादीनामाश्रयं तत्तदिच्छासुखदुःखद्वेषसङ्घातादिविकारबहुलं विवेकधैर्यादिकचतुर्वर्गसाधकं मदिच्छयोद्भावितं स्वभक्त्यर्थं दिष्टकृतमन्यैः समुदङ्कितमिति मया तत् विनश्वरस्वभावं क्षेत्रं स्थूलं सूक्ष्मं च मानुषं शरीरं तुभ्यं समासेनोदाहृतम् ॥ ७ ॥

१० पु. अ. त.— तत्क्षेत्रस्वरूपमाह द्वयेन— महाभूतानीति। महाभूतानि पृथिव्यादीनि। अहङ्कारस्तत्कारणात्मकः। बुद्धिर्विज्ञानात्मिका। अव्यक्तं मूलप्रकृतिः। इन्द्रियाणि दश। च पुनः एकं मनः। इन्द्रियगोचरास्तन्मात्रात्मकाः शब्दादयः पञ्च। एवं चतुर्विंशतितत्त्वानि प्रतिपादितानि ॥ ६॥ इच्छा अभिलषितार्थरूपा, द्वेषः प्रतीपस्फूर्त्या, सुखं स्वाभिलषितप्राप्त्या, दुःखं स्वाज्ञानकल्पितं, सङ्घातः शरीरं, चेतना ज्ञानरूपा मनोवृत्तिः, धृतिः धैर्यम्। इच्छादयोऽपि मनोधर्मा अतः सविकारम् इन्द्रियादिविकारसहितं क्षेत्रं सर्वोत्पत्तिस्थानं सङ्क्षेपेण सम्यक्प्रकारेण उदाहृतं लीलार्थं प्रकटितमिति ज्ञानार्थं कथितमित्यर्थः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— तत्र 'यच्च यादृक् च यद्विकारि' [ १३।४ ] चेत्येतद्व्याचष्टे— महाभूतानीति। चकारो भिन्नक्रमो बुद्धिश्चेति बुद्धिपदादुपरि द्रष्टव्यः। यत्क्षेत्रं शरीराख्यमुक्तं तदव्यक्तमेव "शरीरं रथमेव तु" [ कठो. ३।३ ] इति श्रुतौ अव्यक्तपदेन तस्यैव ग्रहणात्। क्षेत्रस्वरूपमुक्त्वा तत्प्रकारमाह महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिश्चेति सप्तप्रकारैरङ्कुरितम्। महाभूतशब्देन पञ्चतन्मात्रा उच्यन्ते। अहङ्कारो बुद्धिरिति महत्तत्त्वमुच्यते। स्वप्ने हि एतान्येव करणानि भासन्ते तत्प्रकारक एव भूतगण इति तावत्प्रकारकमेव क्षेत्रमित्युक्तम्। 'यद्विकारि' इत्यस्योत्तरमाह— इन्द्रियाणीति। इन्द्रियाणि दश, एकं चेत्येकादश। पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुरसनघ्राणानि, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि, मनश्चेत्येकादश। इन्द्रियाणां गोचरा विषयाः स्थूला वियदादयः पञ्च। अयं षोडशको विकार एव एतान्येव साङ्ख्यैश्चतुर्विंशतितत्त्वानि गण्यन्ते, एतावांस्त्वस्माकं विशेषः। तैः स्वतन्त्रा सत्या च प्रकृतिरुच्यते, अस्माभिर्मायारूपा मिथ्या ईश्वराधीना चोच्यते इति। तथा च श्रुतिः— "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" [ श्वे. उ. ४।१० ] इति तस्मात्साङ्ख्यप्रक्रियाऽत्र भगवताऽऽश्रितेति न भ्रमितव्यम् ॥ ६ ॥

यतश्च विकाराद्यज्जायत इत्युक्तं तदाह— इच्छेति। इच्छा सुखे तत्साधने वा स्पृहारूपा चित्तवृत्तिः 'इदं मे भूयात्' इति। सा काम इति राग इति चोच्यते। द्वेषो दुःखे तत्साधने च 'इदं मे माभूत्' इति स्पृहाविरोधिनी चेतोवृत्तिः। सुखदुःखे प्रसिद्धे। सङ्घातः "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" [ कठो. ३।४ ] इति श्रुतेरिन्द्रियमनश्चिदात्मनामेकलोलीभावरूपो भोक्ता। चेतना या पूर्वोक्ता बुद्धिः सैव, शुद्धा सत्त्वमयत्वाद्विमलादर्शवच्चित्प्रतिबिम्बग्राहिणी, तप्तायःपिण्डे वह्नित्वमिव स्वयमचेतनाऽपि चेतनात्वं प्राप्ता, यया व्याप्तः स्थूलपिण्डोऽपि चेतन एव प्रतीयते; सेयं चेतना मनस्संज्ञिता सैव इच्छादिरूपा परिणमते। तथा च श्रुतिः— "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" [बृ. उ. १।५।३] इति कामादीनां मनोवृत्तित्वमाह। एतत्क्षेत्रमव्यक्ताख्यं सविकारं विकारेण महदादिना तद्विकारेण चेच्छादिना सहितमुदाहृतमुक्तम्। नन्विच्छादयोऽहम्प्रत्ययविषयस्यात्मनो धर्मा इति काणादा वदन्ति। सत्यमेव वदन्ति ते, परन्तु सोऽस्माकं मुख्य आत्मैव न भवति, तस्य शुद्धायां चिति अभेदेनाध्यस्तत्वादिति प्रागेवोक्तम्। अतः क्षेत्रान्तर्गस्याहमर्थस्य दृश्यस्य तादृशा एव दृश्या इच्छादयो धर्माः सन्तु; न नः किञ्चिच्छिन्नम्। आत्मनोऽसङ्गत्वमहङ्कारस्यानृतत्वं चानुभवसिद्धं श्रुती अप्यनुवदतः— "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [ बृ. उ. ४।३।१५-१६ ] इति "अनृतेन हि प्रत्यूढाः" [ छां. उ. ८।३।२ ] इति ॥ ७ ॥

क्षेत्रज्ञस्वरूपज्ञानस्य साधनानि [ ८-१२ ]।

**अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।**
**आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ८॥**

---

१ क्षेत्रकार्यत्वादमानित्वादिसाधनानि तदव्यवधानेनोपदिश्यन्ते। मानोऽभिमान इति केचित्, जनसंसदि पूजेत्यन्ये। अविद्यमानगुणाभिमानमूलको गर्वोऽहङ्कारः। मानस्तु विद्यमानगुणाभिमानमूलक आत्मश्लाघासहितश्चेति भेद इत्यपरे। 'अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृतः' (१।४१) इति सनत्सुजातीयभाष्ये 'श्रेष्ठं पूज्यं विदित्वा मां मानयन्तु जना भुवि। इत्यासक्त्या विहीनत्वं मानानासक्तिरुच्यते॥' (स. वे. सि. सं. १२५) इत्याचार्याः॥ अदम्भित्वमपि व्याख्यातं तैः 'ध्यानपूजादिकं लोके द्रष्टर्येव करोति यः। पारमार्थिकधीहीनः स दम्भाचार उच्यते॥ पुंसस्तथानाचरणमदम्भित्वं विदुर्बुधाः।'—

**१ शां. भा.**— यस्य क्षेत्रभेदजातस्य संहतिः 'इदं शरीरं क्षेत्रं' [ १३।२ ] इत्युक्तं, तत्क्षेत्रं व्याख्यातं महाभूतादिभेदभिन्नं धृत्यन्तम् । क्षेत्रज्ञो वक्ष्यमाणविशेषणो यस्य सप्रभावस्य क्षेत्रज्ञस्य परिज्ञानादमृतत्वं भवति तं 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' [ १३।१३ ] इत्यादिना सविशेषणं स्वयमेव वक्ष्यति भगवान्; अधुना तु तज्ज्ञानसाधनगणममानित्वादिलक्षणं यस्मिन्सति तज्ज्ञेयविज्ञाने योग्योऽधिकृतो भवति, यत्परः सन्न्यासी ज्ञाननिष्ठ उच्यते, तममानित्वादिगणं ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानशब्दवाच्यं विदधाति भगवान्— **अमानित्वमिति** । अमानित्वं मानिनो भावो मानित्वमात्मनः श्लाघनं तदभावोऽमानित्वम् । अदम्भित्वं स्वधर्मप्रकटीकरणं दम्भित्वं, तदभावोऽदम्भित्वम् । अहिंसाऽहिंसनं प्राणिनामपीडनम् । क्षान्तिः परापराधप्राप्तावविक्रिया । आर्जवमृजुभावोऽवक्रत्वम् । आचार्योपासनं मोक्षसाधनोपदेष्टुराचार्यस्य शुश्रूषादिप्रयोगेण सेवनम् । शौचं कायमलानां मृज्जलाभ्यां प्रक्षालनम्, अन्तश्च मनसः प्रतिपक्षभावनया रागादिमलानामपनयनं शौचम् । स्थैर्यं स्थिरभावो मोक्षमार्ग एव कृताध्यवसायत्वम् । आत्मविनिग्रहः आत्मनोऽपकारकस्याऽऽत्मशब्दवाच्यस्य कार्यकरणसङ्घातस्य विनिग्रहः स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य सन्मार्ग एव निरोध आत्मविनिग्रहः ॥ ८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— विरक्तस्य ज्ञानेऽधिकाराय वैराग्यार्थं क्षेत्रं व्याख्यातमित्यनुवदति— **यस्येति**। क्षेत्रभेदजातस्य व्यष्टिदेहविभागस्य सर्वस्येत्यर्थः । संहतिः समष्टिशरीरम् । ननूक्ते क्षेत्रे क्षेत्रज्ञो वक्तव्यस्तं हित्वा किमित्यन्यदुच्यते ? तत्राऽऽह— **क्षेत्रज्ञ** इति । 'अनादिमत्' [१३।१२] इत्यादिना वक्ष्यमाणविशेषणं क्षेत्रज्ञं स्वयमेव भगवान्विवक्षितविशेषणसहितं 'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादिना वक्ष्यतीति सम्बन्धः। किमिति क्षेत्रज्ञो वक्ष्यते ? तत्राऽऽह–**यस्येति** । 'ज्ञेयं यत्तत्' [ १३।१३ ] इत्यतः प्राक्तनग्रन्थस्य तात्पर्यमाह— **अधुनेति** । अमानित्वादिलक्षणं विदधातीत्युत्तरत्र सम्बन्धः। ज्ञानसाधनसमुदायबोधनं कुत्रोपयुज्यते ? तत्राऽऽह–**यस्मिन्निति** । योग्यमधिकृतमेव विवृणोति— **यत्पर** इति । 'एतज्ज्ञानं' [१३।१२] इति वचनात्कथमिदं ज्ञानसाधनं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तमिति** । तद्विधानस्य वक्तृद्वारा दार्ढ्यं सूचयति— **भगवानिति** । अमानित्वादिनिष्ठस्यान्तर्धियो ज्ञानमिति नियमार्थमाह— **अमानित्वमिति** । मानस्तिरोहितोऽवलेपः, स चाऽऽत्मन्युत्कर्षारोपहेतुः, सोऽस्येति मानी, न मान्यमानी तस्य भावोऽमानित्वमिति व्याकरोति— **अमानित्वमि**त्यादिना । प्रतियोगिमुखेनादम्भित्वं विवृणोति— **अदम्भित्वमिति** । वाङ्मनोदेहैरपीडनं प्राणिनामहिंसनम्, तदेवाहिंसेत्याह— **अहिंसेति** । परापराधस्य चित्तविकारकारणस्य प्राप्तावेवाविकृतचित्तत्वेनापकारसहिष्णुत्वं क्षान्तिरित्याह— **क्षान्तिरिति** । अवक्रत्वमकौटिल्यम्, यथा हृदयव्यवहारः सदैकरूपप्रवृत्तिनिमित्तत्वं चेत्यर्थः । 'उपनीय तु यः शिष्यम्' [ मनुः २।१४० ] इत्यादिनोक्तमाचार्यं व्यवच्छिनत्ति— **मोक्षेति** । शुश्रूषादीत्यादिपदं नमस्कारादिविषयम् । बाह्यमाभ्यन्तरं च द्विप्रकारं शौचं क्रमेण विभजते— **शौचमित्यादिना** । मनसो रागादिमलानामिति सम्बन्धः, तदपनयोपायमुपदिशति— **प्रतिपक्षेति** । रागादिप्रतिकूलस्य भावनाविषयेषु दोषदृष्ट्या वृत्तिः, तयेति यावत् । स्थिरभावमेव विशदयति— **मोक्षेति** । आत्मनो नित्यसिद्धस्यानाधेयातिशयस्य कुतो विनिग्रहः ? तत्राऽऽह— **आत्मन** इति ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.**— अथ क्षेत्रकार्येष्वात्मज्ञानसाधनतयोऽपादेया गुणाः प्रोच्यन्ते— **अमानित्वमिति** । अमानित्वम् उत्कृष्टजनेष्ववधीरणारहितत्वम्, अदम्भित्वं धार्मिकत्वयशःप्रयोजनतया धर्मानुष्ठानं दम्भः, तद्रहितत्वम्; अहिंसा वाङ्मनःकायैः परपीडारहितत्वम्, क्षान्तिः परैः पीड्यमानस्यापि तान्प्रत्यविकृतचित्त-

— ( स. वे. सि. सं. ११६ ) इति । अहिंसा तत्रैव– 'अहिंसा वाङ्मनःकायैः प्राणिमात्राप्रपीडनम् ।' ( १११ ) अन्यत्रापि– 'कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा । अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः' ॥ ( यो. या. सं. १।५१ ) इति । क्षान्त्यादिलक्षणान्यष्टादशे वक्ष्यन्ते । स्थैर्यं तु–'गुरुवेदान्तवचनैर्निश्चितार्थे दृढस्थितिः । तदेकवृत्त्या तत्स्थैर्यं नैश्चल्यं न तु वर्ष्मणः ॥' ( स. वे. सि. सं. ११९) इत्युक्तम् ॥

**नव्यास्तु**— अथ ज्ञानमिति किं वाच्यमित्येतत् ज्ञानस्य मनुष्यस्वभावे ये परिणामा भवन्ति, तद्वर्णनमुखेन कीर्तयतीत्याहुः । तत्र यद्येतेषां ज्ञानपरिणामत्वं, तर्हि प्रागेव ज्ञानोदयः स्यात् । न च तथा क्वापि दृष्टं श्रुतं सम्भाव्यते वा । अमानित्वादीनामेव हि ज्ञानसाधनता प्रसिद्धा । अनुमता च साऽत्रापि 'निर्मानमोहाः' ( १५।५ ) इत्यादिना । एतेषां ज्ञानपरिणामत्वे च कानि ज्ञानस्य साधनानि ? किञ्चैतेषां साध्यमिति वक्तव्यमिति किं सङ्कुलजल्पितालोचनेन ? ॥ **— अविगीता ।**

त्वम् , आर्जवं परान्प्रति वाङ्मनःकायप्रवृत्तीनामेकरूपता, आचार्योपासनमात्मज्ञानप्रदायिन्याचार्ये प्रणिपातपरिप्रश्नसेवादिनिरतत्वं, शौचमात्मज्ञानतत्साधनयोग्यता मनोवाक्कायगता शास्त्रसिद्धा, स्थैर्यम् अध्यात्मशास्त्रोदितेऽर्थे निश्चलत्वम्; आत्मविनिग्रहः आत्मस्वरूपव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निवर्तनम् ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— पूर्वं क्षेत्रज्ञादपि पश्चाज्ज्ञानोद्देशेऽपि तत्साधनानामनुष्ठेयानामिच्छादिवत्क्षेत्रकार्यत्वात्तदनन्तरमिह तदुक्तिरित्यभिप्रायेणाह— अथ क्षेत्रकार्येष्विति । विद्याभिजनधनादिसम्पत्तिमूल उत्कृष्टजनावमानहेतुर्गर्वोऽत्र मानः, तद्वान्मानी, तदन्योऽमानी तस्य भावस्तत्त्वम् , मानित्वस्यास्वभावो वाऽत्रामानित्वम् ; एवमदम्भित्वमपि; तदाह— तद्रहितत्वमिति । 'धर्मध्वजः' इति स्मृत्यनुसारेणाह— धार्मिकत्वयशःप्रयोजनतयेति । न पुनश्चोदितकर्तव्यताबुद्ध्येति भावः । अनर्थैकफलपीडारूपो व्यापारो हिंसा; स च वाङ्मनःकायैस्त्रिभिरपि शापादिद्वारा सम्भवतीति सम्भावितसमस्तप्रकारनिषेधस्य वचनात्सिद्धस्य असङ्कोचेन विवक्षितत्वात् वाङ्मनःकायैरित्युक्तम् । परपीडेति प्राधिकत्वाभिप्रायम् , अशास्त्रीयस्वपीडाया अपि हिंसात्वात् । 'मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्' इत्येवंरूपं हि कौटिल्यं, तन्निवृत्तिरार्जवमित्यभिप्रायेणाह परान्प्रति वाङ्मनःकायप्रवृत्तीनामेकरूपतेति । उपकारबुद्ध्या आचार्योपासनस्य स्वरसवाहित्वज्ञापनायाह— आत्मज्ञानप्रदायिनीति । यद्वा आत्मज्ञानापेक्षिततत्त्वज्ञापनाय तदुक्तिः । 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया' [४।३४] इति प्राक्प्रपञ्चितमिहोपासनशब्देन सङ्गृहीतमिति ज्ञापनाय प्रणिपाताद्युपादानम् । अशुचित्वं ह्युत्तरकर्मानर्हयोग्यत्वरूपम् ; शुचित्वं च तद्योग्यत्वम् ; तच्चात्र प्रकरणविशेषितविषयमित्याह आत्मज्ञानेति । रागादयोऽनृतादयो निषिद्धभक्षणादयश्च मनोवाक्कायानामशुद्धयः । प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वप्रामाणिकत्वप्रतिपादनाय तत्तद्विशेषावगमाय च शास्त्रसिद्धेत्युक्तम् । स्थैर्यं निश्चलत्वम् ; तच्च प्रकृते नियच्छति— अध्यात्मेति । निश्चलत्वं बाह्यकुदृष्टिभिरक्षोभणीयत्वं, निस्सन्देहत्वमित्यर्थः । निग्राह्यत्वसामर्थ्यादत्रात्मशब्दो मनोविषयः । अत एव परोक्तं ( शं. ) सङ्घातपरत्वमयुक्तम् । स्वभावेन सर्वतः प्रवृत्तस्य निग्रहश्चापथान्निवर्तनं, तदाह आत्मस्वरूपेति ॥८॥

५ आ. मा. भा.— 'स च यो यत्प्रभावश्च' इति वक्तुं तज्ज्ञानसाधनान्याह— अमानित्वमित्यादिना । आत्माल्पत्वं ज्ञात्वाऽपि महत्त्वप्रदर्शनं दम्भः । 'ज्ञात्वाऽपि स्वात्मनोऽल्पत्वं दम्भो माहात्म्य( भावनम् ) दर्शनम्' इति ह्यभिधानम् । आर्जवं मनोवाक्कायकर्मणामवैपरीत्यम् ॥ ८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु षट्स्वर्थेषु प्रतिज्ञातेषु अमानित्वादिकमनन्तर्भूतं किमित्युच्यते ? इत्यत आह— स चेति । इति प्रतिज्ञातमर्थद्वयं वक्तुं 'ज्ञेयं यत्तत्' [१३।१२] इत्यादिना । न यादृशतादृशेन श्रवणेन तदनुभवारूढं भवतीत्याशयेनेति शेषः । मानाहङ्काराभ्यां दम्भं पृथक् दर्शयति— आत्मेति । आर्जवं ज्ञानसाधनं यथा स्यात्तथा व्याचष्टे— आर्जवमिति । एतच्च सन्मार्ग इति ज्ञातव्यम् ॥ ८ ॥

७ ह. पै. भा.— मान आत्मश्लाघित्वं, तदभावोऽमानित्वम् । दम्भो धर्माविष्करणं, तदभावोऽदम्भित्वम् । क्षान्तिः क्षमा । आर्जवमृजुभावः । शुचित्वं शौचं शारीरमलशोधनम् । स्थैर्यं स्थिरत्वम् । आत्मविनिग्रहः शरीरस्य प्रवृत्तिनियमः ॥ ८ ॥

८ वें. व्र. गि.— एवं क्षेत्रस्वरूपमुक्त्वा तद्विलक्षणक्षेत्रज्ञस्वरूपं निरूपयिष्यंस्तज्ज्ञानसाधनान्याह पञ्चभिः— अमानित्वमिति । विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणैरात्मनः श्लाघारूपं सम्मानं मानित्वम्, तद्राहित्यममानित्वम्, न त्वनहङ्कारित्वम् 'अनहङ्कार एव च' [ १३।९ ] इति वक्ष्यमाणत्वेन पौनरुक्त्यात् । ख्यातिलाभपूजार्थं स्वधर्मप्रकटनं दम्भः, तद्राहित्यमदम्भित्वम् । त्रिकरण्या परपीडावर्जनमहिंसा । परैरभिभूयमानस्यापि तान्प्रत्यविकृतचित्तत्वं क्षान्तिः । मनोवाक्कायानामैकरूप्यमार्जवम् । प्रणिपातपरिप्रश्नसेवाभिराचार्यानुवर्तनमाचार्योपासनम् । शौचं बाह्यमलानां मृज्जलाभ्यामन्तर्मलानां रागादीनां विषयदोषदर्शनाभ्यासेन प्रक्षालनया बहिरन्तश्शुचित्वम् । स्थैर्यं मुक्तिसाधनप्रवृत्तस्य विघ्नसम्भवेऽपि तदपरित्यागेन पुनःपुनर्यत्नाधिक्यम् । आत्मविनिग्रह आत्मनो देहेन्द्रियादेर्मोक्षसाधनप्रातिकूल्यस्वभावनिरोधनेन तदनुकूलतया व्यवस्थापनम् । 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' [ १३।१२ ] इति पञ्चमेनान्वयः ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— अथ तस्मिन् क्षेत्रे स्वात्मज्ञानगुणानाह— अमानित्वमिति सार्धैश्चतुर्भिः । एतेऽमानित्वादयो ज्ञानगुणा उक्ताः ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— एवं क्षेत्रस्वरूपमुक्त्वा ससाधनं ज्ञानस्वरूपमाह पञ्चभिः— अमानित्वमिति । अमानित्वं स्वगुणोत्कर्षवर्णनप्रबोधराहित्यम् । अदम्भित्वं लोकदर्शनार्थं धर्माद्यनुष्ठानाभावत्वम् । अहिंसा परपीडाराहित्यम्

क्षान्तिः दुष्टाद्यतिक्रमसहनम् । आर्जवमकौटिल्यम् । आचार्योपासनं गुरुसेवनम् । शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधम्; बाह्यं मृत्तिकाजलादिना, आभ्यन्तरं भगवत्स्मरणात्मकम् । स्थैर्यं क्लेशादिष्वपि भगवत्परतया स्थितिः । आत्मविनिग्रहः क्षुधाशीतादिसहनेन शरीरसंयमः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— इदानीं ज्ञानसाधनानि विधत्ते— अमानित्वमिति । अमानित्वादयोऽपि चेतोवृत्तिविशेषः, दृश्यत्वाच्च; तत्क्षेत्रविकारा एव सन्तः सत्त्वगुणकार्यत्वात् ज्ञानस्य साधनभूता अप्युपचाराज्ज्ञानपदवाच्या भवन्ति । 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' [ १३।१२ ] इत्युपसंहारात् । तत्र विद्यमानैरविद्यमानैर्वा गुणैरात्मनः श्लाघित्वं मानित्वम्, लाभपूजाख्यात्यर्थं स्वधर्मस्य प्रकटीकरणं दम्भित्वम्, कायवाङ्मनोभिः प्राणिनां पीडनं हिंसा। तेषां वर्जनममानित्वमदम्भित्वमहिंसा च । परेणापकृतेऽपि चित्तस्य निर्विकारत्वं क्षान्तिः। आर्जवमकौटिल्यम्। आचार्योपासनं स्पष्टम्। शौचं मृज्जलाभ्यां बाह्यं, भावशुद्धिरान्तरम्। स्थैर्यं मोक्षसाधने प्रवृत्तस्य विघ्नसद्भावेऽपि तदगणनम्। आत्मविनिग्रहो देहेन्द्रियादिप्रचारसङ्कोचः ॥ ८ ॥

**इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।**
**जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥**

**१ शां. भा.**—किञ्च– इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु दृष्टादृष्टेषु विषयभोगेषु विरागभावो वैराग्यम्। अनहङ्कारोऽहङ्काराभाव एव च । जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं, जन्म च मृत्युश्च जरा च व्याधयश्च दुःखानि च तेषु जन्मादिदुःखान्तेषु प्रत्येकं दोषानुदर्शनम्। जन्मनि गर्भवासयोनिद्वारा निस्सरणं दोषस्तस्यानुदर्शनमालोचनं, तथा मृत्यौ दोषानुदर्शनम् । तथा जरायां प्रज्ञाशक्तितेजोनिरोधदोषानुदर्शनं परिभूतता चेति। तथा व्याधिषु शिरोरोगादिषु दोषानुदर्शनं, तथा दुःखेष्वाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकनिमित्तेषु। अथवा दुःखान्येव दोषो दुःखदोषस्तस्य जन्मादिषु पूर्ववदनुदर्शनम्। दुःखं जन्म दुःखं मृत्युर्दुःखं जरा दुःखं व्याधयः। दुःखनिमित्तत्वाज्जन्मादयो दुःखं, न पुनः स्वरूपेणैव दुःखमिति। एवं जन्मादिषु दुःखदोषानुदर्शनाद्देहेन्द्रियादिविषयभोगेषु वैराग्यमुपजायते, ततः प्रत्यगात्मनि प्रवृत्तिः करणानामात्मदर्शनाय। एवं ज्ञानहेतुत्वाज्ज्ञानमुच्यते जन्मादिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— न केवलममानित्वादीन्येव ज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनानि, किन्तु वैराग्यादीन्यपि तथाविधानि सन्तीत्याह— **किञ्चे**ति। दृष्टादृष्टेष्वनेकार्थेषु रागे तत्प्रतिबद्धं ज्ञानं नोत्पद्येतेति मत्वा व्याकरोति— **इन्द्रिये**ति। आविर्भूतो गर्वोऽहङ्कारस्तदभावोऽपि ज्ञानहेतुरित्याह— **अनहङ्कार** इति। इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमुक्तमुपपादयति— **जन्मे**ति। प्रत्येकं दोषानुदर्शनमित्युक्तं, तत्र जन्मनि दोषानुदर्शनं विशदयति— **जन्मनी**ति। यथा जन्मनि दोषानुसन्धानं तथा मृत्यौ दोषस्य सर्वमर्मनिकृन्तनादेरालोचनं कार्यमित्याह— **तथे**ति। जन्मनि मृत्यौ च दोषानुसन्धानवज्जरादिष्वपि दोषानुसन्धानं कर्तव्यमित्याह— **तथे**ति। व्याधिषु दोषस्यासह्यतारूपस्यानुसन्धानं दुःखेषु त्रिविधेष्वपि दोषानुसन्धानं प्रसिद्धम्। व्याख्यानान्तरमाह— **अथवे**ति। यथा जन्मादिषु दुःखान्तेषु दोषदर्शनमुक्तं तथा तेष्वेव दुःखाख्यदोषस्य दर्शनं स्फुटयति— **दुःखमि**त्यादिना। कथं जन्मादीनां बाह्येन्द्रियग्राह्याणां दुःखत्वं ? तत्राऽऽह— **दुःखे**ति। जन्मादिषु दोषानुदर्शनकृतं फलमाह— **एवमि**ति। वैराग्ये सत्यात्मदृष्ट्यर्थं करणानां तदाभिमुख्येन प्रवृत्तिरिति वैराग्यफलमाह— **तत** इति। जन्मादिदुःखदोषानुदर्शनं ज्ञानहेतुषु किं ? इत्युपसङ्ख्यानं इत्याशङ्क्य वैराग्यद्वारा धीहेतुत्वादित्याह— **एवमि**ति ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.**— इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं आत्मव्यतिरिक्तेषु विषयेषु सदोषतानुसन्धानेनोद्वेजनम्; अनहङ्कारः अनात्मनि देहे आत्माभिमानरहितत्वम्, प्रदर्शनार्थमिदम्; अनात्मीयेष्वात्मीयाभिमानरहितत्वं चापि विवक्षितम्। जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनं सशरीरत्वे जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखरूपस्य दोषस्यावर्जनीयत्वानुसन्धानम् ॥ ९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— बाह्यविषयवैराग्यं हि आत्मरागनिबन्धनमित्यभिप्रायेणाह— **आत्मव्यतिरिक्तेषु विषयेष्वि**ति । विरागस्य भावो वैराग्यम्, तत्प्रकारमाह **सदोषतानुसन्धाने-नोद्वेजनमि**ति । दुःखसाध्यत्वदुःखमिश्रत्वनश्वरत्वादिभिस्तेषां दोषमयत्वम्। गर्वरूपस्याहङ्कारस्य पूर्वं निषेधादत्राहङ्कारशब्देन देहात्मभ्रमो निवार्यत इत्याह **अनात्मनी**ति । अहङ्कारस्य

निषेधस्तन्मूलस्य सर्वत्र तत्सहपठितस्य ममकारस्यापि निषेधं प्रदर्शयितुमित्याह **प्रदर्शनार्थमिति** । शरीरप्रयुक्तजन्मादिदोषदर्शनं "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोः" [ छां. उ. ८।१२।१ ] इत्यादिप्रकारेण शरीरस्य हेयताप्रतिपत्त्यर्थमित्यभिप्रायेणाह **सशरीरत्व** इति । जन्ममृत्युजराव्याधिभिर्जन्यं दुःखं जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखम्, स एव दोष इति समासार्थः । जन्मादय एव वा दुःखान्ताः सर्वे दुःखसाधनत्वाद्दुःखत्वाच्च दोषाः । नहि तुषतण्डुलवच्छरीरमवस्थाप्य दोषाः परिहर्तुं शक्या इति दर्शयितुं अवर्जनीयत्वोक्तिः । अनुदर्शनं भूयोभूयोदर्शनमित्याह **अनुसन्धानमिति** ॥ ९ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ९ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ९ ॥

**७ हृ. पै. भा.—** वैराग्यं शब्दादिविषयेषु । अनहङ्कारोऽहङ्काराभावः । एवं च जन्मादिदोषदर्शनम् ॥ ९ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— किञ्च, **इन्द्रियार्थेष्विति** । इन्द्रियार्थेषु शब्दस्पर्शरूपादिषु दृष्टानुश्रविकेषु वैराग्यम् । अनहङ्कारः अहमेव सर्वोत्कृष्ट इति गर्वराहित्यम् । **जन्ममृत्युजरेति** । गर्भवासयोनिद्वारनिस्सरणं जन्म, मृत्युः सर्वमर्मच्छेदनरूपः, जरा तु बुद्धिबलतेजोनाशसर्वपरिभवरूपा, व्याधयो ज्वरादयः, दुःखान्यनिष्टसंयोगेष्टवियोगजान्याध्यात्मिकादीनि, दोषास्तु वातपित्तश्लेष्माणो मलमूत्रदुर्गन्धरूपाश्च, तेषामनुदर्शनं पुनः पुनरालोचनम् ॥ ९ ॥

**९ व० त० दी०**— **इन्द्रियार्थेष्विति**– विषयेषु ॥ ९ ॥

**१० पु. अ. त.**— इन्द्रियार्थेषु इन्द्रियभोगेषु वैराग्यम् । अनहङ्कार एव च, च पुनः अहङ्कारराहित्यम् । एवकारेणाऽस्यावश्यकत्वं ज्ञापितम् । जन्मादिषु दुःखदोषयोरनुदर्शनं विचारः । तथाहि । जन्म– अजन्मनो ब्रह्मांशस्याऽपि योनिमलादिसम्बन्धः । मृत्युर्भगवद्विस्मरणं, जरा शक्तिह्रासः, व्याधिः रोगादिक्लेशः ॥ ९ ॥

**११ नी० भा० दी०**— इन्द्रियार्थेषु दृष्टेषु आनुश्रविकेषु वा शब्दादिषु वैराग्यं रागाभावः । अनहङ्कारो दर्पराहित्यम् । अयोगव्यवच्छेदार्थ एवकारः । समुच्चयार्थश्चकारः । जन्मादिषु यज्जायमानं दुःखं परस्य व्यथा दोषाश्च दैन्यादयस्तेषामनुदर्शनम् ॥ ९ ॥

## असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
## नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ १० ॥

**१ शां. भा.**—किञ्च–असक्तिः, सक्तिः सङ्गनिमित्तेषु विषयेषु प्रीतिमात्रं, तदभावोऽसक्तिः । अनभिष्वङ्गोऽभिष्वङ्गाभावः । अभिष्वङ्गो नाम सक्तिविशेष एवानन्यात्मभावनालक्षणः; यथाऽन्यस्मिन्सुखिनि दुःखिनि वाऽहमेव सुखी दुःखी च, जीवति मृते वाऽहमेव जीवामि मरिष्यामि चेति । क्व ? इत्याह— पुत्रदारगृहादिषु पुत्रेषु दारेषु गृहेषु; आदिग्रहणादन्येष्वप्यत्यन्तेष्टेषु दासवर्गादिषु । तच्चोभयं ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञानमुच्यते । नित्यं च समचित्तत्वं तुल्यचित्तता; क्व ? इष्टानिष्टोपपत्तिषु, इष्टानामनिष्टानां चोपपत्तयः सम्प्राप्तयस्तास्विष्टानिष्टोपपत्तिषु नित्यमेव तुल्यचित्तता; इष्टोपपत्तिषु न हृष्यति, न कुप्यति चानिष्टोपपत्तिषु । तच्चैतन्नित्यं समचित्तत्वं ज्ञानम् ॥ १० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानस्यान्तरङ्गमेव हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । नन्वसक्तिरेवाभिष्वङ्गाभावस्तथा च पुनरुक्तिः ? इत्याशङ्क्याभिष्वङ्गोक्तिद्वारा निरस्यति– **अभिष्वङ्गो नामेति** । अन्यस्मिन्नेव पुत्रादावनन्यत्वधिया तद्गते सुखादावात्मनि

१ अभिष्वङ्गः सक्तिविशेषः, 'ष्वञ्ज परिष्वङ्गे' (धा. पा. १।९७६) 'भावे' (पा. सू. ३।३।१८) घञ् 'उपसर्गात्–' (पा. सू. ८।३।६५) इति षः ॥ सुश्रुतसंहितायां तु सत्त्वादियुक्तस्य मनसो गुणेषु– 'बुद्धिर्मेधा स्मृतिर्धृतिरनभिषङ्गश्च' (शा. १।१८) इति निर्वकारपाठो दृश्यते । 'फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयःकर्मकरणमनभिषङ्गः' इति तत्र डल्हणः । 'यन्मां पृच्छस्यभिषङ्गेण राजन् !' (म. भा. ५।४४।२) इत्यत्र अभिषङ्गेण निर्बन्धेनेति नीलकण्ठः । अभिषङ्गः सम्बन्ध इत्यर्जुनमिश्राः (म. भा. टी. ५।१८९।२१) । एतेऽप्यर्था अत्र यथारुचि योजनीयाः ॥ — **अविगीता** ।

तद्भावनाख्यं सक्तिविशेषमेवोदाहरति— **यथे**ति । उक्तविशेषणयोराकाङ्क्षाद्वारा विषयमाह— **क्वे**त्यादिना । उक्तविशेषणयोर्ज्ञानशब्दस्योपपत्तिमाह— **तच्चे**ति । सदा हर्षविषादशून्यमनस्त्वमपि ज्ञानहेतुरित्याह - **नित्यं चे**ति । तदेव विभजते— **इष्टे**ति । तस्य ज्ञानहेतुत्वं निगमयति— **तच्चैतदि**ति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— असक्तिः आत्मव्यतिरिक्तपरिग्रहेषु सङ्गरहितत्वम् । अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु शास्त्रीयकर्मोपकरणत्वातिरेकेण आश्लेषरहितत्वम् । नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु सङ्कल्पप्रभवेष्विष्टानिष्टोपनिपातेषु हर्षोद्वेगरहितत्वम् ॥ १० ॥**

४ **वे. ता. चं.**— पूर्वम् 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' (१३।९) इति सांस्पर्शिके शब्दादिविषये विरक्तिरुक्ता, इदानीं 'असक्तिः' इत्याभिमानिकेषु सङ्गरहितत्वमुच्यत इति पुनरुक्तिं परिहर्तुं **आत्मव्यतिरिक्तपरिग्रहेष्वि**त्युक्तम् । तर्हि गृहस्थस्य मुमुक्षोराभिमानिकसर्वधर्मपरित्यागेन कथमाश्रमधर्मो निर्वर्त्येत ? इत्यत्रोच्यते— **अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिष्वि**ति । नात्र तेषूपयुक्तानामपि स्वरूपेण त्यागो विवक्षितः, प्रव्रजितस्याप्यवर्जनीयेषु सङ्गमात्रनिषेधात्, 'न कुर्व्यां नोदके सङ्गो न चेले न च विष्टरे । नागारे नासने नान्ये यस्य वै मोक्षवित्तु सः' इति । अतो धर्मोपयुक्तत्वमात्रेण तु परिग्रह एवेत्यभिप्रायेणाह— **शास्त्रीये**ति । सङ्गोऽभिष्वङ्गहेतुः, 'सङ्गात्सञ्जायते कामः' [ २।६२ ] इत्युक्तत्वात् । अतः कारणाभावात्कार्याभाव इति भावः । अभिष्वङ्गोऽतिसक्तिः । सांस्पर्शिकेष्टानिष्टयोः समचित्तत्वस्याशक्यत्वादाह— **सङ्कल्पप्रभवेष्वि**ति । पुत्रदारादिप्रसङ्गात्तद्विषयत्वं युक्तमेवेति च भावः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.— सक्तिः स्नेहः । स एवातिपक्कोऽभिष्वङ्गः । 'स्नेहः सक्तिः स एवातिपक्कोऽभिष्वङ्ग उच्यते' इत्यभिधानम् ॥ १० ॥**

६ **ज. प्र. दी.**— सक्त्यभिष्वङ्गशब्दयोरर्थभेदमाह— **सक्तिरि**ति ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.— असक्तिः सङ्गाभावः । अनभिष्वङ्गोऽभिष्वङ्गोऽन्यस्मिन्नहम्बुद्धिः ॥ १० ॥**

८ **वें. ब्र. गि.**— किञ्च **असक्तिरि**ति । पुत्रादिष्वसक्तिः प्रीतित्यागः । तेष्वनभिष्वङ्गः पुत्रादीनां सुखे दुःखे चाहमेव सुखी दुःखीत्यध्यासाभावः । इष्टानिष्टयोरुपपत्तिषु प्राप्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वं हर्षविषादशून्यत्वम् ॥ १० ॥

९ **व० त० दी०**— **असक्तिरि**ति अमुत्र भोगविरागः ॥ १० ॥

१० **पु. अ. त.**— किञ्च **असक्तिरि**ति । पुत्रदारगृहादिपदार्थेष्वसक्तिः आसक्तिराहित्यम् । अनभिष्वङ्गः तेषु समदुःखसुखतया तन्मयत्वाभावः । इष्टानिष्टोपपत्तिषु इष्टानिष्टप्राप्तिषु नित्यं भगवदिच्छाविचारेण समचित्तत्वम् ॥१०॥

११ **नी० भा० दी०**— **असक्तिरि**ति । सक्तिः पुत्रादौ ममतामात्रम् । अभिष्वङ्गस्तेन सह तादात्म्याभिमानोऽयमेवाहमिति च । पुत्रादेः सुखेऽहमेव सुखी, तस्य दुःखेऽहमेव दुःखीति सङ्गाभिष्वङ्गौ, तद्वर्जनमित्यर्थः । समचित्तत्वं हर्षविषादराहित्यम् । कुत्र ? इष्टानिष्टोपपत्तिषु इष्टप्राप्तौ हर्षाभावोऽनिष्टप्राप्तौ विषादाभावः ॥ १० ॥

**मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।**
**विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥ ११ ॥**

---

१ अत्र **वामनः**—

चित्तचैतन्ययोर्योगो यत्रायोगोऽन्यताधियः । सोऽनन्ययोगस्तेनेष्टा सगुणे भक्तिरच्युते ॥
अद्वैतभक्तेः सगुणेऽसम्भवं वारयन्निह । चकारेण स्फोरयति सगुणे निर्गुणेक्षणम् ॥
नास्त्यन्यता नीरनिधेस्तरङ्गे यथा, यथा वा कनकात् किरीटे ।
न निर्गुणाख्यात्सगुणस्वरूपे भावातिलेशोऽपि तथाऽन्यतायाः ॥
या त्वन्यदेवताप्राप्तिर्भक्तौ साव्यभिचारिणी । इत्यनेन निरस्ताऽत्र तस्मादुक्तोऽर्थ एव सन् ॥
भावं यया भगवति प्रगुणं बिभर्ति प्रीत्या समाश्रयति चापरदैवतानि ।
सा जारिणी कुलवधूरिव गर्हणीया भक्तिर्बुधैरभिहिता व्यभिचारिणीति ॥ —

१ शां॰ भा॰— किञ्च— मयि चेश्वरेऽनन्ययोगेनापृथक्समाधिना ' नान्यो भगवतो वासुदेवात्परोऽस्त्यतः स एव नो गतिः' इत्येवं निश्चिताऽव्यभिचारिणी बुद्धिरनन्ययोगस्तेन भजनं भक्तिः, न व्यभिचरणशीलाऽव्यभिचारिणी; सा च ज्ञानम् । विविक्तदेशसेवित्वं, विविक्तः स्वभावतः संस्कारेण वाऽशुच्यादिभिः सर्पचोरव्याघ्रभयादिभिश्च रहितोऽरण्यनदीपुलिनदेवगृहादिभिर्विविक्तो देशः; तं सेवितुं शीलमस्येति विविक्तदेशसेवी, तद्भावो विविक्तदेशसेवित्वम् । विविक्तेषु हि देशेषु चित्तं प्रसीदति यतः, तत आत्मादिभावना विविक्त उपजायते; अतो विविक्तदेशसेवित्वं ज्ञानमुच्यते । अरतिररमणम् । जनसंसदि, जनानां प्राकृतानां संस्कारशून्यानामविनीतानां संसत्समवायो जनसंसत्, न संस्कारवतां विनीतानां संसत्, तस्या ज्ञानोपकारकत्वात्, अतः प्राकृतजनसंसदि अरतिर्ज्ञानार्थत्वाज्ज्ञानम् ॥ ११ ॥

२ आ॰ शां॰ व्या॰— साधनान्तरमाह— किञ्चेति । अनन्ययोगमेव सङ्क्षिप्तं व्यनक्ति— नेत्यादिना । उक्तधीद्वारजाताया भक्तेर्भगवति स्थैर्यं दर्शयति— नेति । तत्रापि ज्ञानशब्दस्तद्धेतुत्वादित्याह— सा चेति । देशस्य विविक्तत्वं द्विविधमुदाहरति— विविक्त इति । तदेव स्पष्टयति— अरण्येति । उक्तदेशसेवित्वं कथं ज्ञाने हेतुस्तत्राऽऽह— विविक्तेष्विति । आत्मादीत्यादिशब्देन परमात्मा वाक्यार्थश्चोच्यते । नन्वरतिविषयत्वेनाविशेषतो जनसंसन्मात्रं किमिति न गृह्यते ? तत्राऽऽह— तस्या इति । ' सन्तः सङ्गस्य भेषजम् ' इत्युपलम्भादित्यर्थः ॥ ११ ॥

३ रा॰ भा॰— मयि सर्वेश्वरे-(चैकान्त्य)-चैकान्तिकयोगेन स्थिरा भक्तिः; जनवर्जितदेशवासित्वं, जनसंसदि चाप्रीतिः ॥ ११ ॥

४ वे॰ ता॰ चं॰— ' मयि ' इत्यनेनान्यभक्त्युन्मूलनेनाव्यभिचारित्वोपयुक्ताकारविवक्षामाह— मयि सर्वेश्वर इति । ' अनन्ययोगेन ' इति देवतान्तरादिपरित्यागः सङ्गृहीतः । तत एव चाव्यभिचारित्वं तन्मूलं स्थैर्यम्, अन्यथा पुनरुक्तेरित्यभिप्रायेणाह ऐकान्त्ययोगेन स्थिरेति । ' अनन्ययोगेनापृथक्समाधिना ' इति शङ्करोक्तमेतेन प्रत्युक्तम् । न व्यभिचरितुं शीलमस्या इत्यव्यभिचारिणीति । समाधिविरोधपरिहारार्थं विविक्तेत्यादि; ' अहेरिव गणाद्भीतः ' इत्यादिवत् । उक्तं च मोक्षधर्मे ' नैतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च । सत्यं धृति-( शीले स्थिति- ) र्दण्डनिधानमार्जवं ततस्ततश्चोपरमः क्रियाभ्यः ' [ म. भा. १२।२७७।३७ ] इति । जनोऽत्र सत्त्वोत्तरेतरः ॥ ११ ॥

५ आ॰ मा॰ भा॰— मयीति ॥ ११ ॥

६ ज॰ प्र॰ दी॰— मयीति ॥ ११ ॥

७ ह॰ पै॰ भा॰— विविक्तदेशसेवित्वं रहस्यदेशसेवित्वम् ॥ ११ ॥

८ वे॰ ब्र॰ गि॰— किञ्च, मयीति । अनन्ययोगेन अपृथक्समाधिना अहमेव भगवान्वासुदेव इति निश्चयेन, अत एव स्वात्मभूते मय्यव्यभिचारिण्यैकान्तिकी भक्तिः । विविक्तः शुद्धश्चित्तप्रसादजनको यो देशस्तत्सेवित्वम् । जनानां वैषयिकाणां संसदि रत्यभावः ॥ ११ ॥

---

—आलोकयन्त्यपि नरानपरं न पत्युर्योषा वृषस्यति तु याऽव्यभिचारिणी सा ।
भक्तिस्तथा भगवतोऽपरमच्युताया नालम्बनं विषहतेऽव्यभिचारिणी सा ॥
विविक्तदेशसेवित्वं कामिनामपि दृश्यते । अतो विशेषयत्यत्रारतिरित्यादिना विभुः ॥
जनसंसदिह ज्ञेया यत्र नाच्युतकीर्तनम् । तद्यत्र सा भक्तसंसत्सेव्या ज्ञानवतामपि ॥

शय्यां श्रिते शान्तनवे शराणां शुश्रूषतां पार्थपुरस्सराणाम् ।
या संसदासीदृषिपुङ्गवानां तथाविधायां न रमेत को वा ? ॥
यत्राभिमन्योस्तनयः शुकास्याच्छ्रोतुं कथां भागवतीं न्यविक्षत् ।
अध्यात्मतृप्तस्य रतिं समज्या न तादृशी कस्य करोति पुंसः ? ॥

नाध्यात्मचर्चा यत्रास्ति नापि वा भगवत्कथा । जनसंसत्सैव हेया तस्माद्दूरान्मुमुक्षुभिः ॥ – इत्यादि प्रपञ्चितवान् ॥
जनवर्जितदेशवासित्वं, जनसंसदि चाप्रीतिरिति आद्ये सत्यपि द्वितीयाभावो बाधकः; द्वितीये सत्यपि प्रथमस्याभावो बाधक इति केचित् ।

— अविगीता ।

९ व० त० दी०— मयि चेति । अनन्ययोगेन अव्यभिचारिणी निर्हैतुकी भक्तिर्मध्ये हृदयरूपोक्ता ॥११॥

१० पु. अ. त.—च पुनः मयि अनन्ययोगेन लौकिकालौकिकेषु मच्छरणतया अव्यभिचारिणी अन्यत्र सद्बुद्धिराहित्येन भक्तिः, विविक्तदेशसेवित्वं भगवत्परिपन्थिरहिततद्देशसेवनशीलत्वम्, अरतिर्जनसंसदि जननादिक्लेशयुक्तलौकिकजीवसभायां अरतिः प्रतिष्ठायनाकाङ्क्षा ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०— मयीति श्लोकः स्पष्टार्थः ॥ ११ ॥

**अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।**
**एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ १२ ॥**

१ शां. भा.—किञ्च– अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं, आत्मादिविषयं ज्ञानमध्यात्मज्ञानं, तस्मिन्नित्यभावो नित्यत्वम् । अमानित्वादीनां ज्ञानसाधनानां भावनापरिपाकनिमित्तं तत्त्वज्ञानं, तस्यार्थो मोक्षः संसारोपरमः, तस्यालोचनं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधनानुष्ठाने प्रवृत्तिः स्यादिति । एतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तमुक्तं 'ज्ञानं' इति प्रोक्तं, ज्ञानार्थत्वात् । अज्ञानं यदतोऽस्माद्यथोक्तादन्यथा विपर्ययेण मानित्वं दम्भित्वं हिंसाऽक्षान्तिरनार्जवमित्याद्यज्ञानं विज्ञेयं परिहरणाय, संसारप्रवृत्तिकारणत्वादिति ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— साधनान्तरमाह- **किञ्चे**ति । आत्मादीत्यादिशब्दोऽनात्मार्थः, तद्विषयं ज्ञानं विवेकस्तन्नित्यत्वं तत्रैव निष्ठावत्त्वम् । विवेकनिष्ठो हि वाक्यार्थज्ञानसमर्थो भवति । तेषां भावनापरिपाको नाम यत्नेन साधितानां प्रकर्षपर्यन्तत्वं तन्निमित्तं तत्त्वज्ञानमैक्यसाक्षात्कारः, तत्फलालोचनं किमर्थम्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तत्त्वे**ति । प्रवृत्तिः स्यादिति, अतस्तत्त्वज्ञानार्थदर्शनमर्थवदिति शेषः । ज्ञानस्यान्तरङ्गहेतुमुक्तमुपसंहरति— **एत**दिति । किमिति तस्य विज्ञेयत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **परिहरणाये**ति । तत्र हेतुः— **संसारे**ति । तस्य प्रवृत्तिरुत्पत्तिस्तद्धेतुत्वान्मानित्वादि त्याज्यं, ज्ञाते च त्याज्यत्वं तेन तस्य ज्ञेयतेत्यर्थः । इतिशब्दः साधनाधिकारसमाप्त्यर्थः ॥१२॥

३ रा. भा.—आत्मनि ज्ञानं अध्यात्मज्ञानं तन्निष्ठत्वम्; तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनं तत्त्वज्ञानप्रयोजनं यच्चिन्तनं तन्निरतत्वमित्यर्थः। ज्ञायतेऽनेनात्मेति ज्ञानम्, आत्मज्ञानसाधनमित्यर्थः। क्षेत्रसम्बन्धिनः पुरुषस्यामानित्वादिकमुक्तं गुणवृन्दमेवात्मज्ञानोपयोगि, एतद्व्यतिरिक्तं सर्वं क्षेत्रकार्यमात्मज्ञानविरोधीत्यज्ञानम्॥१२॥

४ वे. ता. चं.— 'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम्' इत्यत्र नित्यशब्देनाविच्छिन्नानुवृत्तिर्विवक्षितेत्याह— **तन्निष्ठत्वमि**ति । 'तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनम्' इत्युक्तस्य तत्त्वज्ञानस्य अर्थचिन्तनमित्यनुचितम्, न हि तत्त्वज्ञानस्य कोऽर्थ इति चिन्तनप्रकारः, अपितु तत्त्वं किमिति; ततस्तत्त्वचिन्तनमिति वा तत्त्वार्थचिन्तनमिति वा वक्तव्यम्; न पुनस्तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनमिति । एवं तत्त्वज्ञानविषयस्य प्रयोजनस्य वा चिन्तनं, तत्त्वज्ञानपुरुषार्थदर्शनमित्यादिकमपि मन्दप्रयोजनम्; दर्शनशब्दश्चात्राध्येतृभिर्न पठ्यते; ततोऽस्यार्थान्तरमुचितमाह **तत्त्वज्ञानप्रयोजनमि**ति । फलितमन्यत्र चिन्ताराहित्यमभिप्रेत्याह **तन्निरतत्वमित्यर्थ** इति । अमानित्वादीनां सर्वेषामविशेषेण ज्ञानशब्दनिर्देशोचितं निर्वचनमाह **ज्ञायतेऽनेने**ति । आत्मेत्यर्थप्रकरणलब्धविषयविशेषाभिधानम् । करणव्युत्पत्तिं विवृण्वन् फलितमाह— **आत्मज्ञाने**ति । आपातप्रतीत्यादेः पूर्वसिद्धत्वादपरोक्षादिज्ञानमिह विवक्षितम् । 'एतज्ज्ञानम्' इति निर्दिश्य 'यदतोऽन्यथा' इति सामान्येन तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्याज्ञानतोक्तिस्तस्य सर्वस्य परिहरणीयत्वपरेत्यभिप्रायेणाह **क्षेत्रसम्बन्धिन** इति । क्षेत्रसबन्धोक्तिस्तदत्यन्तनिवृत्तेः ज्ञानसापेक्षत्वसूचनार्था । 'एतत्' इत्यवच्छिद्य निर्देशेनाभिप्रेतं **गुणवृन्दमेवे**त्यवधारणेन विवृतम् । न केवलं प्रकृतगुणप्रतिपक्षभूतमानित्वादिमात्रमित्यभिप्रायेणाह **एतद्व्यतिरिक्तं सर्वमि**ति । 'अज्ञानम्' इत्यत्र करणव्युत्पत्तिनैरपेक्ष्यात् प्रसिद्धभावव्युत्पत्त्यनुसारेण ज्ञानविरोधित्वमुच्यत इत्याह **क्षेत्रकार्यमात्मज्ञानविरोधीत्यज्ञानमि**ति । अवैरूप्याय करणार्थत्वेऽप्यसौ फलितोक्तिर्वा ॥१२॥

५ आ. मा. भा.— तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं अपरोक्षज्ञानार्थं शास्त्रदर्शनम् ॥ १२ ॥

---

१ 'तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनं' इति पाठः । तत्त्वज्ञानं अर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तत्त्वज्ञानार्थम्, तच्च तत् चिन्तनं च तदित्यर्थः । अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं अध्यात्मज्ञानं नित्यमिति बुद्धिरिति **नव्याः** । ज्ञानपरिणाम एवायं तेषामिति मन्यामहे । — **अविगीता** ।

६ ज. प्र. दी.— ननु तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं नाम ज्ञानमेव, तत्कथं ज्ञानसाधनेषूच्यते ? इत्यत आह— तत्त्वेति । शास्त्रदर्शनं तात्पर्यालोचनम् । अत्र शास्त्रस्येत्यध्याहृत्य व्याख्यानमिति ज्ञातव्यम् ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च, अध्यात्मेति । आत्मानमधिकृत्य प्रवृत्तमात्मानात्मविवेकज्ञानमध्यात्मज्ञानम्, तस्मिन्नित्यत्वं तत्रैव निष्ठा, त्वम्पदार्थशोधनैकपरत्वमिति यावत् । पदार्थविवेकपरो हि वाक्यार्थज्ञानमधिगच्छति । तथा तत्वज्ञानस्य वाक्यार्थरूपज्ञानस्य योऽर्थः फलं मोक्षस्तस्य दर्शनमालोचनम् । तत्त्वज्ञानफलालोचने हि तत्साधने प्रवृत्तिः स्यादिति भावः । तदेतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशतिसङ्ख्याकं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानसाधनत्वाज्ज्ञानमिति प्रोक्तम् । अतोऽन्यथा अस्माद्विपरीतं यदमानित्वादिकं तदज्ञानं, ज्ञानविरोधित्वात् । तस्मादज्ञानपरित्यागेन ज्ञानमेवोपादेयमित्यर्थः ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— एतत्प्रोक्तं ज्ञानं विद्याकार्यम् । यदतोऽन्यथा तदज्ञानमविद्याकार्यं प्रतिज्ञातम् ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— अध्यात्मज्ञाने आत्मस्वरूपज्ञाने नित्यभावः । तत्त्वज्ञानस्य अर्थात्मको भगवान् मोक्षो वा तस्य दर्शनं आलोचनरीत्या विचारः । एतत्पञ्चश्लोकोक्तं ज्ञानमिति प्रोक्तम् । एतद्युक्तो ज्ञानवान् । अतोऽन्यथा यत् विपरीतत्वं मानित्वादिभावयुक्तं तत् अज्ञानं, न ज्ञानमित्यर्थः । सज्जनर्हा एतेऽपि त्याज्याः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— अध्यात्मशास्त्रजे ज्ञाने निष्ठावत्त्वमध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् । तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनमविद्यानिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च तयोर्दर्शनम् । एतदमानित्वादितत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तं विंशकं ज्ञानं ज्ञानसाधनमिति प्रोक्तं वेदेषु । अज्ञानं ज्ञानविरोधि । इतोऽन्यथा यत्तत् मानित्वादिकमित्यर्थः । तस्मात्तत्परित्यागेनामानित्वादिकमेवोपादेयमिति भावः ॥ १२ ॥

ज्ञेयवस्तुनः क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपम् ।

**ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।**
**अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १३ ॥**

---

१ ज्ञेयमिति—'यतो ज्ञानं विनाऽन्येन नोपायेनोपलभ्यते । ततो ब्रह्माभिधेयं तद्वस्तु ज्ञेयमितीर्यते ॥ इति ज्ञानेशः ।

ननु—अनादीत्येतावतैव बहुव्रीहिणा तात्पर्यविषयार्थलाभसम्भवे 'अनादिमत्' इति गुरूक्तिरनुचितेति चेत्, तत्र गूढार्थतत्त्वालोकः—अनादिशब्दाद्बहुव्रीहावनादित्वयोगमात्रं प्रतीयते । तावन्मात्रस्य विवक्षितत्वे भवेन्निष्प्रयोजनं गुरूक्तिर्दोषावहा । न च तदस्ति, कार्यस्यापि तत्सम्भवात् । कार्यस्यास्ति हि रूपद्वयम्—अव्याकृतनामरूपावस्थाशालिस्त्वाभिन्नं कारणरूपम्, व्याकृतनामरूपावस्थाशालि रूपमपरमिति । तत्र स्वान्यूनसत्ताकेऽपि रूपे कारणात्मके तस्य सम्भवः कार्यकारणयोरभेदाभ्युपगमात् । अतोऽनादित्वस्यातिशयेन नित्यं वा योगो विवक्षितः । स च न बहुव्रीहिमात्राल्लभ्यत इति तादृशार्थको मतुप्प्रत्ययोऽर्थवानिति सप्रयोजना गुरूक्तिरुचितैव ।

न च अनादित्वेन आद्यभावरूपेण यस्य योगः, तस्य नित्यमेव । न ह्येकं वस्तु कदाचिदनादि, कदाचित्सादि भवतीति नित्यपदव्यावर्त्याभावान्निष्प्रयोजनत्वमेव स्यादिति वाच्यम्; नित्यत्वविशिष्टयोगस्य स्वान्यूनसत्ताकनिखिलावस्थायोगरूपस्य विवक्षितत्वात् । कार्यस्य स्वान्यूनसत्ताकारणावस्थायामनादित्वयोगेऽपि कार्यावस्थायां तदभावेन कार्यस्य प्रागुक्तरीत्याऽनादित्वयोगेऽपि विवक्षितानादित्वनित्ययोगाभावात्तस्यैव व्यावर्त्यत्वस्य सम्भवात् । ब्रह्मणः स्वान्यूनसत्ताकावस्था न कार्यात्मिकेति तादृशनिखिलावस्थास्वेवानादित्वयोगेन निरुक्तानादित्वयोगो ह्यव्याहतः ॥ यद्वा—उक्तप्रक्रियया कार्यस्याप्यनादित्वं स्यादित्यादिशब्दादतिशययोगादौ मतुपं विधाय नञ्समासाश्रयणेनानादिमदित्युक्तम् । तथा सति आदित्वेन स्वसमानसत्ताकसर्वावस्थासु योगलक्षणो नित्ययोगः कार्यत्वेन कार्यस्यैव तद्भिन्नत्वं ब्रह्मणोऽव्याहतम् । अन्यथा कार्यात्मना ब्रह्मणोऽप्यादिमत्त्वेन तद्भिन्नत्वं न स्यात्, स्याद्वा कार्यस्यापि स्वाधिष्ठानब्रह्मात्मना तथात्वम् । तथोक्तौ च तादृशभेदस्य स्वान्यूनसत्ताकनिरवच्छिन्नस्वरूपसम्बन्धेन सत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । यत्र यस्य प्रतियोगि व्यावहारिकं, नहि तत्र तस्य व्यावहारिकत्वम् । ब्रह्मणि न प्रतियोगि व्यावहारिकमिति तादृशाभावस्य व्यावहारिकस्य सत्त्वम्, कार्ये च प्रतियोग्यस्ति व्यावहारिकम्, न तत्राभावस्तादृशस्तादृशेन सम्बन्धेनेति भवत्यदोषः ॥ अथवा—जीवाविद्याद्यनादय एव व्यावर्त्याः । तेषामनादित्वेन योगे

१ शां. भा.— यथोक्तेन ज्ञानेन ज्ञातव्यं किं? इत्याकाङ्क्षायामाह— ज्ञेयं यत्तदित्यादिना। ननु यमा नियमाश्चामानित्वादयो न तैर्ज्ञेयं ज्ञायते, न ह्यमानित्वादि कस्यचिद्वस्तुनः परिच्छेदकं दृष्टम्; सर्वत्रैव च यद्विषयं ज्ञानं तदेव तस्य ज्ञेयस्य परिच्छेदकं दृश्यते, न ह्यन्यविषयेण ज्ञानेनान्यदुपलभ्यते, यथा घटविषयेण ज्ञानेनाग्निः; नैष दोषः, ज्ञाननिमित्तत्वात्; ज्ञानमुच्यत इति ह्यवोचाम, ज्ञानसहकारिकारणत्वाच्च। ज्ञेयं ज्ञातव्यं यत्तत्प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण यथावद्वक्ष्यामि। किं फलं तत्? इति प्ररोचनेन श्रोतुरभिमुखीकरणायाऽऽह— यज्ज्ञात्वेति । यज्ज्ञेयं ज्ञात्वाऽमृतममृतत्वमश्नुते; न पुनर्म्रियत इत्यर्थः। अनादिमत्, आदिरस्यास्तीत्यादिमत्, नाऽऽदिमदनादिमत्। किं तत्? परं निरतिशयं ब्रह्म, ज्ञेयमिति प्रकृतम्।

२ आ. शां. व्या.— उत्तरग्रन्थमवतारयति– यथोक्तेनेति । अमानित्वादीनां ज्ञानत्वमाक्षिपति— नन्विति । वस्तुपरिच्छेदकत्वाज्ज्ञानत्वमाशङ्क्याऽऽह– न हीति। 'परिच्छेदकत्वाज्ज्ञानत्वं, ज्ञानत्वात्परिच्छेदकत्वं' इत्यन्योन्याश्रयादित्यभिप्रेत्याह— सर्वत्रेति। स्वार्थस्यैव ज्ञानं परिच्छेदकमित्येतद्व्यतिरेकद्वारा विशदयति— न हीति। व्यतिरेकदृष्टान्तमाह— यथेति। अमानित्वादीनां ज्ञानत्वमाक्षिप्तं प्रतिक्षिपति—नैष दोष इति। तत्र हेतुत्वेनोक्तं स्मारयति— ज्ञानेति। तेषु ज्ञानशब्दे हेत्वन्तरमाह— ज्ञानेति। अमानित्वादीनां ज्ञानत्वमुक्त्वा ज्ञातव्यमवतारयति— ज्ञेयमिति। प्रश्नद्वारा ज्ञेयप्रवचनस्य फलमुक्त्वा प्ररोचनं कृत्वा तेन श्रोतुराभिमुख्यमापादयितुं प्रवचनफलोक्तिपरमनन्तरवाक्यमित्याह– किमित्यादिना तदेव विशिनष्टि– अनादिमदिति। आदिमत्त्वराहित्यमव्याकृतस्याप्यस्त्यतो विशेषं दर्शयति— किं तदिति। भोक्तुरपि भोग्यात्परत्वमित्यतो विशिनष्टि— ब्रह्मेति।

१ शां. भा.— अत्र केचित् 'अनादि मत्परं' इति पदं छिन्दन्ति, बहुव्रीहिणोक्तेऽर्थे मतुप आनर्थक्यमनिष्टं स्यादिति; अर्थविशेषं च दर्शयन्ति— अहं वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्य तन्मत्परमिति। सत्यम्, एवमपुनरुक्तं स्यादर्थश्चेत्सम्भवति। न त्वर्थः सम्भवति, ब्रह्मणः सर्वविशेषप्रतिषेधेनैव विजिज्ञापयिषितत्वात्। 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति। विशिष्टशक्तिमत्त्वप्रदर्शनं विशेषप्रतिषेधश्चेति विप्रतिषिद्धम्। तस्मान्मतुपो बहुव्रीहिणा समानार्थत्वेऽपि प्रयोगः श्लोकपूरणार्थः।

२ आ. शां. व्या.— अनादीत्येकं पदं मत्परमिति चापरमिति पदच्छेदान्न पुनरुक्तिरिति मतान्तरमुत्थापयति— अत्रेति। एकपदत्वसम्भवे किमिति पदद्वयं? इत्याशङ्क्याऽऽह— बहुव्रीहिणेति। आदिरस्य नास्तीति यो बहुव्रीहिणोऽक्तोऽर्थस्तस्मिन्नादिमत्त्वनिषेधे नास्ति मतुपोऽर्थवत्त्वम्, इति मतुबानर्थक्यमनिष्टं स्यादिति मत्वा पदं छिन्दन्तीति पूर्वेण सम्बन्धः। आदिरस्य नास्तीत्यनादीत्युक्त्वा मत्परमित्युच्यमाने कोऽर्थः स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— अर्थेति। उक्तव्याख्यानस्यायुक्तत्वान्नायं पुनरुक्तिसमाधिरित्याह— सत्यमिति। अर्थासम्भवं समर्थयते— ब्रह्मण इति। तथापि विशिष्टशक्तिमत्त्वं किं न स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— विशिष्टेति। तथापि मतुपो बहुव्रीहिणा तुल्यार्थस्य कथं नाऽऽनर्थक्यं? तत्राऽऽह– तस्मादिति।

१ शां. भा.— अमृतत्वफलं ज्ञेयं मयोच्यत इति प्ररोचनेनाभिमुखीकृत्याऽऽह– न सत्तज्ज्ञेयमुच्यत इति, नाप्यसत्तदुच्यते। ननु महता परिकरबन्धेन कण्ठरवेणोद्घुष्य 'ज्ञेयं प्रवक्ष्यामि' इत्यननुरूपमुक्तं 'न सत्तन्नासदुच्यते' इति। न; अनुरूपमेवोक्तम्। कथं? सर्वासु ह्युपनिषत्सु ज्ञेयं ब्रह्म "नेति नेति" [बृ.उ.२।३।६] "अस्थूलमनणु" [बृ.उ.३।८।८] इत्यादिविशेषप्रतिषेधेनैव निर्दिश्यते 'नेदं तत्' इति, वाचोऽगोचरत्वात्। ननु– न तदस्ति यद्वस्त्वस्तिशब्देन नोच्यते। अथास्तिशब्देन नोच्यते, नास्ति तज्ज्ञेयम्। विप्रतिषिद्धं च ज्ञेयं तत्, अस्तिशब्देन नोच्यते– इति च। न तावन्नास्ति, नास्तिबुद्ध्यविषयत्वात्।

---

—सत्यपि न नित्ययोगः, तत्स्वरूपवदनादित्वतद्योगयोरपि कल्पितत्वेन ब्रह्मज्ञाननिवर्त्यत्वात्। ब्रह्मणि त्वनादित्वमभावरूपं ब्रह्मस्वरूपं सम्बन्धोऽपि ब्रह्मरूपो नित्य एवेति प्रयोजनवती गुरूक्तिरुचितैवेति ॥

अनादिमदित्यादिभिर्विशेषणैर्ब्रह्मस्वरूपाक्षेपानुग्राहकं सर्वप्रवादान्तराभिहितविज्ञानापृथग्भावकमुच्यत इत्यभिनवगुप्तपादाः। पारमार्थिकं परमेश्वरतत्त्वं व्यक्ताव्यक्ताभ्यां परं सर्वात्मना ज्ञेयमिति नव्योक्तिस्तु 'ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि' इति मूलेनैवोन्मूलिता।

— अविगीता।

२ आ. शां. व्या.— 'अनादिमत्परं ब्रह्म' इत्यत्र पक्षान्तरं प्रतिक्षिप्य स्वपक्षः समर्थितः, सम्प्रति ब्रह्मणो ब्रह्मत्वादेव कार्यकारणात्मकत्वप्राप्तावुक्तानुवादद्वारा 'न सत्' इत्याद्यवतारयति— **अमृतत्वेति** । सत्कार्यमभिव्यक्तनामरूपत्वात्, असत्कारणं तद्विपर्ययादिति विभागः। ज्ञेयप्रवचनमनिर्वाच्यविषयत्वात्प्रक्रमप्रतिकूलमित्याक्षिपति— **नन्विति** । निर्विशेषस्य वस्तुनो ज्ञेयत्वात्तद्विषयं प्रवचनं प्रक्रमानुकूलमित्युत्तरमाह— **नेत्यादिना** । अनिर्वाच्यत्वे 'न सत्तन्नासत्' इत्युच्यमाने कथमिदमनुरूपं ? इति पृच्छति— **कथमिति** । ब्रह्मात्मप्रकाशस्य सिद्धत्वात्तदर्थं विधिमुखेनोपदेशायोगादध्यस्ततद्धर्मनिवृत्तये निषेधद्वारोपदेशस्य वेदान्तेषु प्रसिद्धेरारोपितविशेषनिषेधरूपमिदं प्रवचनमुचितमिति परिहरति— **सर्वास्विति** । ज्ञेयस्य ब्रह्मणो विधिमुखोपदेशायोगे हेतुमाह— **वाच** इति । ब्रह्मणोऽस्तिशब्दावाच्यत्वे नरविषाणवन्नास्तित्वमित्यनिष्टमाशङ्कते— **नन्विति** । एवमुत्सर्गेऽपि ब्रह्मणि किमायातं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अथेति** । ज्ञेयस्यास्तिशब्दावाच्यत्वे व्याघातश्चेत्याह— **विप्रतिषिद्धं चेति** । अस्तिशब्दावाच्यत्वादवस्तु ब्रह्मेत्यत्राप्रयोजकत्वमाह— **न तावदिति** ।

**१ शां. भा.**— ननु सर्वा बुद्धयोऽस्तिनास्तिबुद्ध्यनुगता एव; तत्रैवं सति ज्ञेयमप्यस्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात्, नास्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात्, न; अतीन्द्रियत्वेनोभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययाविषयत्वात् । यद्धीन्द्रियगम्यं वस्तु घटादिकं तदस्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात्, नास्तिबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं वा स्यात् । इदं तु ज्ञेयमतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वान्न घटादिवदुभयबुद्ध्यनुगतप्रत्ययविषयं, इत्यतो 'न सत्तन्नासत्' इत्युच्यते । यत्तूक्तं विरुद्धमुच्यते ज्ञेयं तन्न सत्तन्नासदुच्यते इति । न विरुद्धम् "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि" [ केनो. १।३ ] इति श्रुतेः । श्रुतिरपि विरुद्धार्थेति चेत्, यथा यज्ञाय शालामारभ्य "को हि तद्वेद यद्यमुष्मिँल्लोकेऽस्ति वा न वेति" [ तै. सं. ६।१।१] इत्येवमिति चेत्, न; विदिताविदिताभ्यामन्यत्वश्रुतेरवश्यविज्ञेयार्थप्रतिपादनपरत्वात् । 'यद्यमुष्मिन्' इत्यादि तु विधिशेषोऽर्थवादः । उपपत्तेश्च सदसदादिशब्दैर्ब्रह्म नोच्यत इति ।

२ आ. शां. व्या.— नास्तिबुद्धिविषयत्वमेवावस्तुत्वे निमित्तम्, अतस्तदभावाद्ब्रह्मणो नावस्तुतेत्येतदेव व्यक्तीकर्तुं चोदयति— **नन्विति** । सर्वासां धियामस्तिधीत्वेन नास्तिधीत्वेन वाऽनुगतत्वेऽन्यतरधीगोचरत्वाभावे ब्रह्मणोऽनिर्वाच्यत्वं दुर्वारमिति फलितमाह— **तत्रेति** । ब्रह्मणो घटादिवैलक्षण्यादुभयबुद्ध्यविषयत्वेऽपि नानिर्वाच्यतेत्याह— **नेत्यादिना** । घटादेरिन्द्रियग्राह्यस्योभयबुद्धिविषयत्वेऽपि ब्रह्मणस्तदग्राह्यस्य नोभयधीविषयत्वं, तथापि नानिर्वाच्यत्वं, सच्चिदेकतानस्य शब्दप्रमाणादविषयत्वेन दृष्टत्वादित्युक्तमेव प्रपञ्चयति— **यद्धीति** । परोक्तं विरोधमनुवदति— **यत्त्विति** । श्रुत्यवष्टम्भेन निराचष्टे— **न विरुद्धमिति** । साऽपि विरुद्धार्थत्वान्न मानं बोधकस्याविरोधापेक्षत्वादिति शङ्कते— **श्रुतिरिति** । तस्या विरुद्धार्थत्वेनाप्रामाण्ये दृष्टान्तमाह— **यथेति** । "प्राचीनवंशं करोति" [तै. सं. ६।१।१] इति पारलौकिकफलयज्ञानुष्ठानार्थं शालानिर्माणं प्रस्तुत्य 'को हि तद्वेद' इत्याद्या परलोकसत्त्वे सन्दिहाना यथा विरुद्धार्था श्रुतिरप्रमाणं, एवं विदिताविदितान्यत्वश्रुतिरपीत्यर्थः । नेयं श्रुतिर्विरुद्धार्थत्वेनामानतया हातव्या, ब्रह्मण्यद्वितीये प्रत्यक्त्वाप्रतिपादनेन मानत्वादित्युत्तरमाह— **न विदितेति** । यत्तु विरुद्धार्थत्वे 'को हि' इत्युदाहृतं, तदसत्; अर्थवादस्य विधिशेषस्य स्वार्थेऽतात्पर्यादित्याह— **यदीति** । यत्र जात्यादिमत्त्वं तत्र वाच्यत्वं, यथा गवादौ; न ब्रह्मणि जात्यादिमत्त्वमतस्तस्यावाच्यत्वान्निषेधेनैव बोध्यत्वमित्याह— **उपपत्तेश्चेति** । नोच्यत इति निषेधेनैव तस्योपदेश इति शेषः ।

**१ शां. भा.**— सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणश्च श्रोतृभिर्जातिक्रियागुणसम्बन्धद्वारेण सङ्केतग्रहणं सव्यपेक्षार्थं प्रत्याययति, नान्यथाऽदृष्टत्वात् । तद्यथा 'गौरश्वः' इति वा जातितः, 'पचति पठति' इति वा क्रियातः, 'शुक्लः कृष्णः' इति वा गुणतः, 'धनी गोमान्' इति वा सम्बन्धतः, न तु ब्रह्म जातिमत्, अतो न सदादिशब्दवाच्यं । नापि गुणवत् येन गुणशब्देनोच्यते, निर्गुणत्वात्; नापि क्रियाशब्दवाच्यं, निष्क्रियत्वात् "निष्कलं निष्क्रियम् शान्तम्" [ श्वे. उ. ६।१९ ] इति श्रुतेः । न च सम्बन्धिकत्वादद्वयत्वादविषयत्वादात्मत्वाच्च न केनचिच्छब्देनोच्यत इति युक्तं "यतो वाचो निवर्तन्ते" [ तै. उ. २।९ ] इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— जात्यादिमतोऽर्थस्यैव वाच्यत्वं, तत्रैव सङ्गतिग्रहादिति प्रपञ्चयति— **सर्वो हीति** । अश्रुतस्य जात्यादिद्वारेणाज्ञातसम्मतेर्वा शब्दस्य न बोधकत्वमदृष्टेरित्याह— **नान्यथेति** । जात्यादेः सच्छब्दविषयत्वमुदाहरति— **तद्यथेत्यादिना** ब्रह्मणस्त्वगोत्रत्वमवर्णत्वं "अगोत्रमवर्णं" [ मुं. उ. १।१।६ ] इत्यादिश्रुतेः । जात्यादिमत्त्वाभावान्न शब्दवाच्यते-

त्याह— **नत्विति** । " केवलो निर्गुणश्च " [ श्वे. उ. ६।११ ] इतिश्रुतेर्गुणद्वारा ब्रह्मणो न वाच्यतेत्याह— **नापीति** । निष्क्रियत्वे मानमाह— **निष्कलमिति** । ब्रह्मणोऽद्वयत्वस्या शेषोपनिषत्सु सिद्धत्वाद्विशिष्टस्य सम्बन्धस्य तस्मिन्नसिद्धेर्न तद्वाराऽपि तस्य वाच्यतेत्याह— **न चेति** । ब्रह्मण्यभिधावृत्त्या शब्दाप्रवृत्तौ हेत्वन्तराण्याह— **अद्वयत्वादिति** । ब्रह्मणोऽवाच्यत्वे श्रुतिमपि संवादयति— **यत इति** ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.—** अथ 'एतद्यो वेत्ति' [१३।२] इति वेदितृत्वलक्षणेनोक्तस्य क्षेत्रज्ञस्य स्वरूपं विशोध्यते— ज्ञेयमिति । अमानित्वादिभिः [ १३।८-१२ ] साधनैः ज्ञेयं प्राप्यं यत्प्रत्यगात्मस्वरूपं तत्प्रवक्ष्यामि, यत् ज्ञात्वा जन्मजरामरणादिप्राकृतधर्मरहितममृतमात्मानं प्राप्नोति; अनादि आदिर्यस्य न विद्यते तदनादि । अस्य हि प्रत्यगात्मन उत्पत्तिर्न विद्यते; तत एवान्तो न विद्यते । श्रुतिश्च—"न जायते म्रियते वा विपश्चित्" [ कठो. १।२।१८ ] इति । मत्परम्, अहं परो यस्य तन्मत्परम्, ' इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूताम्' [ ७।५ ] इति ह्युक्तम्, भगवच्छरीरतया भगवच्छेषतैकरसं ह्यात्मस्वरूपम्; तथाच श्रुतिः— "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" [ बृ. उ. ३।७।२२ श. प. १४।५।३० ] इति, तथा " स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः" [ श्वे.उ. ६।९ ] " प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः " [ श्वे.उ. ६।१६ ] इत्यादिका ।

**४ वे. ता. चं.—** ज्ञाता हि पूर्वमुद्दिष्टः— ' स च यो यत्प्रभावश्च ' [ १३।४ ] इति, स एव पुनः परामृष्टः; तत्कथं ? ' ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि ' इत्युच्यत इत्यत्राह— **अथेति** । वेद्यविशेषस्यात्मनो लक्षणतया हि वेदितृत्वं प्रागुक्तमिति भावः । अत एव ' ज्ञेयं यत् ' इत्यादेः परब्रह्मविषयत्वभ्रमो निरस्तः, ' क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानम् ' [ १३।३ ] इति प्रक्रमात्, ' क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ' [ १३।३५ ] इति उपसंहरिष्यमाणत्वात्, मध्ये च ' प्रकृतिं पुरुषं चैव ' [ १३।२० ] इति तयोरेव निरूपणात्, इन्द्रियाधीनभोगत्वोत्क्रमणगुणवश्यत्वादिवचनाच्च । स्वरूपशब्देन नपुंसकनिर्देशविवक्षाद्योतनम् ; वक्ष्यमाणब्रह्मशब्दापेक्षया वा नपुंसकत्वम् । स्वेतरसमस्तव्यावर्तकं हि लक्षणम् । तत्र वेदितृत्वलक्षणेन विविक्तस्वरूपस्य किमन्यत् स्वरूपशोधनमिति चेत्, तन्न; लक्षणेनान्यत्वमात्रं हि प्रतीयते, न पुनर्भावाभावरूपाः सर्वे प्रकाराः; यथा ' गन्धवती पृथिवी ' [ त. सं. २ ] इत्यत्र तेनाकारेण जलादिव्यावृत्तिमात्रं सिध्यति, न पुनः पाकजरूपादिमत्त्वादिकम्, तद्वदिहाऽपि ज्ञातृत्वलक्षणाभिधानेऽपि तस्य ज्ञातुः कार्यत्वाकार्यत्वादिविवेको न सिध्येत् ' अतः स वक्तव्य इत्यभिप्रायेण ' ज्ञेयम्' इत्यनेन सुचितां सङ्गतिमाह **अमानित्वादिभिरिति** । प्रवक्ष्यामि प्रकर्षेण यथावद्वक्ष्यामीत्यर्थः ।'अनादिमत्' इति पदच्छेदो न युक्तः, प्रत्ययमन्तरेणापि बहुव्रीहिवशात्तदर्थसिद्धेरित्यभिप्रायेणाह— **आदिर्यस्येति** । अनादि कारणरहितमित्यर्थः । अयमर्थो ' नात्माश्रुतेः ' [ ब्र. सू. २।३।१८ ] इत्यधिकरणसिद्ध इत्यभिप्रायेणाह— **अस्य हीति** । पूर्वोक्तामृतत्वेऽपि हेतुरयमित्याह— **तत एवेति**। उभयत्र प्रमाणमाह— **श्रुतिश्चेति** । 'अनादिमत् ' इति पदच्छेदेऽत्र निर्दिश्यमानं ब्रह्म परशब्देन विशेषणीयम्; तच्चाप्रकरणत्वादस्वरसम्; अतः प्रकरणोचितपदच्छेदार्थमाह— **अहं परो यस्येति** । प्रागुक्तसङ्ग्रहो ह्ययमित्यभिप्रायेणाह— **इतस्त्वन्यामिति** । परशब्दोऽत्र शेषिपरः । शरीरत्वे शेषत्वे च क्रमाच्छ्रुतिमाह— **तथाचेति** । एतेन ' मत्परम् ' इति पदच्छेदेऽर्थासम्भवान्मतुपो बहुव्रीहिणा समानार्थत्वेऽपि प्रयोगः श्लोकपूरणार्थ इति **शङ्करोक्तं** प्रत्युक्तम् ।

**३ रा. भा.—** ब्रह्म बृहत्त्वगुणयोगि, शरीरादेरर्थान्तरभूतं, स्वतश्शरीरादिभिः परिच्छेदरहितं क्षेत्रज्ञतत्त्वमित्यर्थः । " स चानन्त्याय कल्पते " [ श्वे. उ. ५।९ ] इति हि श्रूयते; शरीरपरिच्छिन्नत्वं चास्य कर्मकृतम् ; कर्मबन्धान्मुक्तस्यानन्त्यम् ; आत्मन्यपि ब्रह्मशब्दः प्रयुज्यते—'स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' [ १४।२६ ] ' ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ' [ १४।२७ ] ' ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्' [१८।५४] इति वचनम् ।

**४ वे. ता. चं.—** ननु परशब्देनाविशेषितोऽपि ब्रह्मशब्दः परमात्मन्येव मुख्यः, तत्कथमस्य जीवविषयत्वं ? इत्यत्राह— **बृहत्त्वगुणयोगीति** । अणुत्वेन श्रुतिसिद्धस्य संकुचितज्ञानस्य कथं बृहत्त्वं ? इत्यत्राह— **शरीरादेरिति** । **परिच्छेदरहितं**— स्वतः सर्वविषयत्वाहस्य ज्ञानस्य सङ्कोचरहितमित्यर्थः । स्वरूपाविर्भावदशायां बृहत्त्वं श्रुतिसिद्धमित्याह— **स चेति** । अनन्तस्वभावस्य परिच्छिन्नत्वासम्भवादानन्त्यमौपचारिकमित्यत्राह— **शरीरपरिच्छिन्नत्वं चेति** । औपाधिकमवस्थाभेदेनाविरुद्धं चेत्यभिप्रायः । औपचारिकस्यापि ब्रह्मशब्दप्रयोगस्य प्रसिद्धिमाह— **आत्मन्यपीति** । अत एव हि परं ब्रह्मेति विशे-

षणस्य सार्थतेत्यभिप्रायः। अत्रैव शास्त्रे बहुषु प्रदेशेषु प्रत्यगात्मन्येव ब्रह्मशब्दप्रयोगं दर्शयति **स गुणानिति**। ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय। नहि जीवस्य मुक्तस्यापि साक्षाद्ब्रह्मत्वं, 'मम साधर्म्यमागताः' [ १४।२ ] इत्यादिविरोधादिति भावः। 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' [ १४।२७ ] इत्यत्र 'अहम्' इति परं ब्रह्म निर्दिश्यते; तत्प्रतिष्ठं च ब्रह्म ततोऽन्यदेवेति भावः। 'ब्रह्मभूतः' [ १८।५४ ] इत्यत्र श्लोके परब्रह्मप्राप्तिसाधनभूतभक्त्युत्पत्तेः पूर्वमेव ब्रह्मभूतत्वं च नहि परब्रह्मस्वरूपत्वमिति भावः॥

**३ शा. भा.—न सत्तन्नासदुच्यते कार्यकारणरूपावस्थाद्वयरहिततया सदसच्छब्दाभ्यामात्मस्वरूपं नोच्यते, कार्यावस्थायां हि देवादिनामरूपभाक्त्वेन सदित्युच्यते,तदनर्हतया कारणावस्थायामसदित्युच्यते। तथाच श्रुतिः—"असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत" [तै.उ.२।७] "तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियते" इत्यादिका; कार्यकारणावस्थाद्वयान्वयस्त्वात्मनः कर्मरूपाविद्यावेष्टनकृतः न स्वरूपकृत इति सदसच्छब्दाभ्यामात्मस्वरूपं नोच्यते। यद्यपि "असद्वा इदमग्र आसीत्" इति कारणावस्थं परं ब्रह्मोच्यते, तथापि नामरूपविभागानर्हसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं परं ब्रह्म कारणावस्थमिति कारणावस्थायां क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपमप्यसच्छब्दवाच्यम्; क्षेत्रज्ञस्य साऽवस्था कर्मकृतेति परिशुद्धस्वरूपं न सदसच्छब्दनिर्देश्यम्॥ १३॥**

**४ वे. ता. चं.**—'न सत्तन्नासदुच्यते' इत्यत्र न सर्वप्रकारोक्तिगोचरत्वप्रतिक्षेपः, स्ववचनविरोधात्। नच सत्त्वासत्त्वनिषेधः, 'परस्परविरोधे हि न प्रकारान्तरस्थितिः' इति न्यायात्; नापि सदसत्संज्ञकाभ्यां वस्तुभ्यां व्यावृत्तिः, तयोरसिद्धत्वात्। न च शुभाशुभादिव्यवच्छेदः, शुभत्वनिषेधायोगात्। अतोऽत्र किमुच्यते? इत्यत्राह—**कार्यकारणे**ति। परिशुद्धाकारविषयमिदमिति ज्ञापनाय **आत्मस्वरूपमि**त्युक्तम्। अवस्थाद्वये सदसच्छब्दयोः प्रयोगनिमित्तमाह **कार्यावस्थायामि**ति। तन्निबन्धनं श्रुतौ परमात्मादिविषयप्रयोगं दर्शयति **तथाचे**ति। "असद्वा इदम्" इत्यत्रासच्छब्दनिर्दिष्टं हि तत इति कारणतयोच्यते; 'सदजायत' इति कार्यं सच्छब्देन, "तद्धेदम्" इति समानार्थश्रुत्यन्तरेणासदादिशब्दौ क्रमान्नामरूपप्रहाणतद्योगनिमित्तौ व्याख्यातौ। ननु 'असद्वा इदमग्र आसीत्' इत्याद्युक्तमवस्थाद्वयं जीवस्याप्यस्त्येव, अन्यथा प्रागुक्तप्रकृतित्वानुपपत्तेः। 'तोयेन जीवान्व्य-(न्वि)ससर्ज भूम्याम्" [म.ना. १।४] इति श्रुत्या च तत्सिद्धेरित्यत्राह—**कार्यकारणे**ति। कर्मोपाधिकमेव ह्यवस्थाद्वयं, न पुनः स्वाभाविकम्। अत्र स्वाभाविकरूपमुच्यत इत्यर्थः। ननु 'कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः' [ब्र. सू. १।४।१४] इत्यस्मिन्नधिकरणे सदसदव्याकृतादयः सर्वे कारणवाक्यगताः शब्दाः परमात्मपरा इति निर्णीतम्, तत्कथमत्रासच्छब्देन जीवप्रसङ्गः? इत्यत्राह—**यद्यपी**ति। सदसच्छब्दौ ह्यत्र परमात्मनि सद्वारकौ, अतो द्वारभूते जीवे तद्वाच्यत्वं सिद्धमिति भावः। तर्हि परिशुद्धावस्थायामपि कार्यनामरूपविभागाभावादसच्छब्दः प्राप्त इत्यत्राह—**क्षेत्रज्ञस्ये**ति। कर्मकृतावस्थाद्वयनिषेधेऽत्र तात्पर्यमिति भावः॥ १३॥

**५ आ. मा. भा.—परं ब्रह्मेति 'स च यः' [१३।४] इति प्रतिज्ञातमुच्यते। अन्यत् 'यत्प्रभावः' [ १३।४ ] इति आदिमद्देहवर्जितमित्यनादिमत्। अन्यथाऽनादीत्येव स्यात्॥ १३॥**

**६ ज. प्र. दी.**— प्रतिज्ञातार्थद्वयप्रतिपादनाय 'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादिकं वाक्यमिति सूचितम्, तत्र केन तु किमुच्यते? इत्यत आह— **परमि**ति। इति नामोक्त्या अन्यत् 'अनादिमत्' इत्यादिकं 'यत्प्रभावः' [ १३।४ ] इति प्रतिज्ञातस्य प्रतिपादकमित्यर्थः। आदिरस्यास्तीत्यादिमन्न आदिमदनादिमदिति व्याख्याने न विद्यते आदिरस्येत्यनादीति बहुव्रीहित्वाश्रयणेनैव विवक्षितार्थसिद्धेः मतुपो वैयर्थ्यमिति दोषं पश्यन्तः केचित् 'अनादि' इति 'मत्परं' इति च पदं विच्छिद्य 'अहं वासुदेवाख्या परा शक्तिर्यस्य तन्मत्परं' इति व्याचक्षते, तदसत्, अर्थासम्भवात्; न हि ब्रह्मेति वासुदेवेति कश्चिद्भेदः। न चावतारेषु पारावर्यमित्युक्तमिति भावेन **यथा** मतुपो न वैयर्थ्यं तथा व्याचष्टे— **आदिमदि**ति। आदिर्येषामस्तीत्यादिमन्ति, न विद्यन्ते आदिमन्ति यस्य तदनादिमत्। सामर्थ्यात्तानि देहेन्द्रियगुणक्रियादीनीत्यर्थः। अथवा पूर्वोक्त एव विग्रहः। न च तुमपो वैयर्थ्यं वैदिकं लिङ्गव्यत्ययं विभक्तिलोपं वा मन्यमानस्य बहुव्रीहिर्वा नञ्समासो वाऽयमिति संशयः स्यात्। तथा च ब्रह्म स्वयं कारणं न भवतीत्यपि शङ्कचेत, तन्निवृत्त्यर्थं मतुबन्तेनादिशब्देन नञ्समासस्याश्रयणात्; ये त्वेवं प्रयोजनमनभिधाय मतुपः प्रयोगः श्लोकपूरणार्थ इत्युक्तवन्तस्तान्निराचष्टे— **अन्यथे**ति। अस्मदुक्तप्रयोजनद्वयानङ्गीकार इत्यर्थः। सार्थकेन शब्दान्तरेण श्लोकपूरणसम्भवादिति भावः। ननु बहुव्रीहिमाश्रित्य पुनर्मतुपः प्रयोगे दोषः स्यात्, न चैवम्; किन्तु शब्दान्तरमेवैतत्, तत्कथमयं दोषः? अन्यथा 'यद्विकारि' [ १३।४ ] इत्यत्रापि दोषप्रसङ्गात्। मैवम्, बहुव्रीहिं विवक्षितवाऽल्पेन शब्देनाभिमतार्थप्रतिपादनसम्भवे बहुयत्नाश्रयणस्य दोषत्वेनोक्तत्वात्। 'यद्विकारि' इत्यत्र गौरवाभावात्॥ १३॥

७ ह. पै. भा.— मत्परं मदात्मकम् ॥ १३ ॥

८ वें. ब्र. गि.—एवं क्षेत्रं क्षेत्रज्ञतत्त्वज्ञानसाधनं चोक्त्वा सम्प्रति क्षेत्रज्ञस्वरूपं कथयति– ज्ञेयमिति । यज्ज्ञेयं क्षेत्रज्ञस्वरूपं तत्प्रवक्ष्यामीति प्रथममन्वयः । श्रोतुरादरसिद्धये ज्ञानफलं दर्शयति—यज्ज्ञात्वा अमृतं मोक्षं प्राप्नोति । किं तत्स्वरूपम् ? परं ब्रह्मैव । कथं परब्रह्मणः क्षेत्रज्ञस्वरूपत्वं ? इत्यतो हेतुगर्भं विशेषणम्—अनादिमदिति । आदिः कारणमस्यास्तीत्यादिमत् , तन्न भवतीत्यनादिमत् अजन्यमविकारम् । अनेन ब्रह्मातिरिक्तस्य सर्वस्यापि सविकारत्वेन क्षेत्रत्वान्निर्विकारब्रह्मण एव क्षेत्रज्ञत्वमुचितमिति दर्शितम् । यद्यपि 'अनादि' इत्येतावतैव बहुव्रीहिणा मतुबर्थे सिद्धे व्यर्थं मतुबन्तम् ,तथापि यथोक्तविशेषणविशेष्यभावे न वैयर्थ्यमिति ज्ञेयम् । यद्वा अनादीति च मत्परमिति च पदद्वयम् । मत्तः सगुणरूपात्परं निर्विशेषमित्यर्थः । तदेवाह—न सत्तन्नासदुच्यते । विधिमुखेन प्रमाणविषयः सत् । निषेधमुखेन प्रमाणविषयस्त्वसत् । इदं तु तदुभयविलक्षणम् , निर्विशेषत्वात्स्वप्रकाशत्वाच्चैतन्यरूपत्वाच्च "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" [ तै. उ. २।४;२।९ ] इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— ज्ञेयस्वरूपमाह षड्भिः स्वगुणरूपैः ज्ञेयमिति । शास्त्रतः ज्ञानिभिरधिगम्यम् । ज्ञानस्य फलमाह अमृतमिति । ज्ञेयं नामरूपलक्षणतो निर्दिशति— अनादिमत्परं ब्रह्मेति । सर्ववेदान्तप्रतिपाद्यं यत् । यद्वा अहं परो यस्मात्तदक्षरं इति च । विरुद्धधर्माश्रयं च तदित्याह— न सत्तन्नासदिति । असत्त्वं सत्त्वं च विरुद्धौ धर्मौ तयोराश्रयं 'नहि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरे' इत्यादि भागवतवाक्यैरुच्यते ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा तेन ज्ञेयस्वरूपमाह— ज्ञेयमित्यादिषड्भिः । स्वगुणरूपैरेवं पूर्वोक्तसाधनैर्यत् ज्ञेयं तत् प्रकर्षेण सर्वाङ्गयुक्तं वक्ष्यामि, कथयामीत्यर्थः । तत्कथनप्रयोजनमाह— यत् ज्ञात्वा अमृतं मोक्षं अश्नुते प्राप्नोति । एवं कथनं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपमाह— अनादीति । न विद्यते आदिरुत्पत्तिर्यस्य तादृशं, मत्परं अहमेव परो यस्य मत्स्थानभूतं ब्रह्म बृहत् व्यापकं च । तदेवाह— न सत् सत्र भवति । तर्ह्यसद्भवति ? इति चेदित्याशङ्क्याह— तत् असत् न उच्यते । सदसदनिश्चयोक्त्या दुर्ज्ञेयत्वेन ब्रह्मत्वं प्रतिपादितम् ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं क्षेत्रं व्याख्याय 'स च यो यत्प्रभावश्च' [ १३।४ ] इत्युक्तं क्षेत्रज्ञस्वरूपं तस्य मायिकं प्रभावं व्याचष्टे— ज्ञेयमिति । एतैर्ज्ञानसाधनैर्यत् ज्ञेयं तत्प्रवक्ष्यामि । यज्ज्ञेयं ज्ञात्वा अमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति । तस्य स्वरूपं तावदाह— अनादिमदिति । आदिमदव्यक्तं 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं' इति तदुत्पत्तिस्मरणात् तदन्यदनादिमत् । अनादीत्येतावत्युक्ते प्रवाहनित्यत्वमव्यक्तादीनामप्यस्तीति तेषामप्यनादितायां प्राप्तायां तत्प्रतिषेधार्थमनादिमदित्युक्तम् । यद्वा आदिमच्च ततः परं च आदिमत्परे कार्यकारणे ताभ्यामन्यदनादिमत्परमिति । अत एव परं निर्विशेषं, न त्वपरं सविशेषम् । ब्रह्म त्रिविधपरिच्छेदशून्यम् । न सत् प्रधानपरमाण्वादिवत् सदिति नोच्यते । नाप्यसत् शून्यवदसदपि नोच्यते । तथा च श्रुतिः-"नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत्" [ ऋक्सं. ७।८।१८।१ ] इति असच्छब्दितस्य शून्यस्य सच्छब्दितस्य प्रधानस्य रजश्शब्दितानां परमाणूनां परव्योमशब्दितस्यास्मदभिमतस्याव्यक्तस्यापि सृष्टेः प्राक् निषेधं दर्शयति ॥ १३ ॥

**सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् ।**
**सर्वतश्श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १४ ॥**

---

१ ईश्वरस्य सर्वकार्यकरणेषु प्रत्यग्रूपेणावस्थानं सर्वात्मकतां चाह— सर्वत इति । आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां सर्वेषां तस्यैव पाणिपादा इति सर्वतःपाणिपादम् । तत्प्रकृतं ब्रह्म । सर्वतोक्षिशिरोमुखमित्यस्याप्येवमेव विग्रहः । सर्वतश्श्रुतिमच्छ्रवणवत् , लोके प्राणिनिकाये; सर्वमावृत्य तिष्ठति इति, किं बहुना ? प्रकृतिप्राकृतं सर्वमन्तर्बहिश्च स्वरूपस्फुरणप्रदतयावृत्य समन्ताद्व्याप्य तिष्ठति, मायावीव स्वमायानिर्मितव्याघ्रहस्त्यश्वादिवत्— इति विज्ञानभगवद्विवरणम् ।

**वामनस्तु**— तज्ज्ञेयमन्वयात्पाणिपादवक्त्रादि सर्वतः । यथा सुवर्णं कटककुण्डलाद्याकृति गतम् ॥
हेमैव भूषणमिव ब्रह्मैव जगदन्वयात् । व्यतिरेकात्तु तद्भेदो भर्माभरणयोरिव ॥—

१ शां. भा.— सच्छब्दप्रत्ययाविषयत्वादसत्त्वाशङ्कायां ज्ञेयस्य सर्वप्राणिकरणोपाधिद्वारेण तदस्तित्वं प्रतिपादयंस्तदाशङ्कानिवृत्त्यर्थमाह— सर्वतःपाणिपादं सर्वतः पाणयः पादाश्चास्येति सर्वतःपाणिपादं तज्ज्ञेयम् । सर्वप्राणिकरणोपाधिभिः क्षेत्रज्ञास्तित्वं विभाव्यते । क्षेत्रज्ञश्च क्षेत्रोपाधित उच्यते । क्षेत्रं च पाणिपादादिभिरनेकधा भिन्नम् । क्षेत्रोपाधिभेदकृतं च विशेषजातं मिथ्यैव क्षेत्रज्ञस्येति तदपनयनेन ज्ञेयत्वमुक्तं 'न सत्तन्नासदुच्यते' [ १३।१२ ] इति । उपाधिकृतं मिथ्यारूपमप्यस्तित्वाधिगमाय ज्ञेयधर्मवत्परिकल्प्योच्यते सर्वतःपाणिपादमित्यादि । तथाहि सम्प्रदायविदां वचनम्— 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति । सर्वत्र सर्वदेहावयवत्त्वेन गम्यमानाः पाणिपादादयो ज्ञेयशक्तिसद्भावनिमित्तस्वकार्या इति ज्ञेयसद्भावलिङ्गानि 'ज्ञेयस्य' इत्युपचारत उच्यन्ते । तथा व्याख्येयमन्यत् । सर्वतःपाणिपादं तज्ज्ञेयम् । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं, सर्वत्राक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । सर्वतःश्रुतिमत्, श्रुतिः श्रवणेन्द्रियं, तद्यस्य तच्छ्रुतिमत्; लोके प्राणिनिकाये सर्वमावृत्य सर्वं व्याप्य तिष्ठति स्थितिं लभते ( न चलतीत्यर्थः ) ॥ १४ ॥

२ आ. शां. व्या.— सर्वविशेषरहितस्यावाङ्मनसगोचरस्याद्दष्टेश्चेष्टेश्च विपरीतस्य प्राप्ते ब्रह्मणः शून्यत्वे प्रत्यक्त्वेनेन्द्रियप्रवृत्त्यादिहेतुत्वेन कल्पितद्वैतसत्तास्फूर्तिप्रदत्वेनेश्वरत्वेन च सत्त्वं दर्शयन्नादौ देहादीनां प्रवृत्तिमतां रथादिवदचेतनानां प्रेक्षापूर्वकप्रवृत्तिमत्त्वाच्चेतनाधिष्ठितत्वमनुमिमानस्तत्प्रत्यक्चेतनं ब्रह्मेत्याह— सच्छब्देति । तदस्तित्वमिति तच्छब्दो ज्ञेयब्रह्मार्थः । तदाशङ्केति तच्छब्देनासत्त्वमुच्यते । ननु सर्वदेहेषु पाणिपादमस्येति कथं पाणीनां च पादानां च देहस्थत्वेनाऽऽत्मधर्मत्वं ? तत्राऽऽह— सर्वेति । करणप्रवृत्ती रथादिप्रवृत्तिवत्प्रेक्षापूर्वकप्रवृत्तित्वाच्चेतनाधिष्ठातृपूर्विकेत्यर्थः । उक्तप्रवृत्त्या चेतनास्तित्वसिद्धावपि कथं क्षेत्रज्ञास्तित्व ? इत्याशङ्क्य चेतनस्यैव क्षेत्रोपाधिना क्षेत्रज्ञत्वाचेतनास्तित्वं तदस्ति त्वमेवेत्याह— क्षेत्रज्ञश्चेति । तस्य क्षेत्रोपाधित्वेऽपि कथं पाणिपादाक्षिशिरोमुखादिमत्त्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— क्षेत्रं चेति । अतश्चोपाधितस्तस्मिन्विशेषोक्तिरिति शेषः । कथं तर्हि 'न सत्तन्नासत्' [ १३।१३ ] इति निर्विशेषत्वोक्ति ?:इत्याशङ्क्याऽऽह— क्षेत्रेति । पाणिपादादिमत्त्वमौपाधिकं मिथ्या चेज्ज्ञेयप्रवचनाधिकारे कथं तदुक्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— उपाधीति । मिथ्या रूपमपि ज्ञेयवस्तुज्ञानोपयोगीत्यत्र वृद्धसम्मतिमाह— तथा हीति । पाणिपादादीनामन्यगतानामात्मधर्मत्वेनाऽऽरोप्य व्यपदेशे को हेतुः ? इति चेत्तत्राऽऽह— सर्वत्रेति । ज्ञेयस्य ब्रह्मणः शक्तिः सन्निधिमात्रेण प्रवर्तनसामर्थ्यं, तत्सत्त्वं निमित्तीकृत्य स्वकार्यवन्तो भवन्ति पाण्यादय इति कृत्वेति योजना । 'सर्वतोक्षि-' इत्यादावुक्तमतिदिशति— तथेति । तज्ज्ञेयं यथा सर्वतःपाणिपादमिति व्याख्यातं तथेत्युक्तमेव स्फुटयति— सर्वत इति । 'सर्वतोक्षि-' इत्यादेरक्षरार्थमाह— सर्वतोक्षीति । अक्षिश्रवणवत्त्वमवशिष्टज्ञानेन्द्रियवत्त्वस्य, पाणिपादमुखवत्त्वं चावशिष्टकर्मेन्द्रियवत्त्वस्य मनोबुद्ध्यादिमत्त्वस्य चोपलक्षणम् । एकस्य सर्वत्र पाण्यादिमत्त्वं साधयति— सर्वमिति ॥ १४ ॥

३ रा. भा.— सर्वतःपाणिपादं तत् परिशुद्धात्मस्वरूपं सर्वतःपाणिपादकार्यशक्तम्, तथा सर्वतोक्षिशिरोमुखं सर्वतश्श्रुतिमत् सर्वतश्चक्षुरादिकार्यकृत्, "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" [श्वे उ. ३।१९ ना. प. ९।१४] इति परस्य ब्रह्मणोऽपाणिपादस्यापि सर्वतःपाणिपादादिकार्यकर्तृत्वं श्रूयते, प्रत्यगात्मनोऽपि परिशुद्धस्य तत्साम्यापत्त्या सर्वतःपाणिपादादिकार्यकर्तृत्वं श्रुतिसिद्धमेव "तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [मुं. उ. ३।१।३] इति हि श्रूयते । 'इदं ज्ञानमुपा

—कार्यकारणयोरैक्यमन्वयेन प्रकाशते । वैलक्षण्यं तयोस्तद्वद्व्यतिरेकेण सिद्ध्यति ॥
पूर्वार्धेऽन्वयमत्रोक्त्वा तत्रापि जगदीश्वरः । व्यतिरेकं सूचयति तृतीयेनाङ्घ्रिणा स्फुटम् ॥
श्रोत्रेण संयुतं ज्ञेयं जगद्व्याप्य व्यवस्थितम् । उपलक्षणतः पाणिपादाद्यैरपि तद्युतम् ॥
जडेनाभिन्नतामुक्त्वा पृथग्भावस्य सूचनात् । तस्योपादानता सिद्धा सान्वयव्यतिरेकतः ॥
विनोपादानतामैक्यं पार्थक्यं च न दृश्यते । उपादानेऽन्वयादैक्यं पृथक्त्वं व्यतिरेकतः ॥
एकता त्वन्वयेनोक्ता व्यतिरेकेण युक्तता । वक्तव्यामङ्घ्रिणाऽन्त्येन वक्ति व्यापकतामथ ॥
— इति व्याख्यान्तरविलक्षणमेव विवृणोति ॥ — अविगीता ।

श्रित्य मम साधर्म्यमागताः ' [१४।२] इति च वक्ष्यते । लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति— इति लोके यद्वस्तुजातं तत्सर्वं व्याप्य तिष्ठति, परिशुद्धस्वरूपं देशादिपरिच्छेदरहिततया सर्वगतमित्यर्थः ॥ १४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— आत्मस्वरूपस्याशरीरत्वान्निरवयवत्वान्निरिन्द्रियत्वाच्च पाणिपादप्रसङ्ग एव नास्ति, न चेदमनेकबाहुत्वादिप्रागुक्तपरं, जीवप्रकरणत्वस्थापनात्; अतएव जीवकर्मगृहीतैः स्वेच्छागृहीतैश्च पाण्यादिभिर्विश्वात्मकस्य ब्रह्मणो योग उच्यत इत्यादिकल्पनाऽपि निरस्ता; पादादिषु पाण्याद्यभावाच्च सर्वत इत्यपि न घटते; तत्कथं सर्वतःपाणिपादत्वादिकं ? इत्यत्राह— **परिशुद्धेति** । पाण्यादिरहितस्यापि परिशुद्धात्मनः पाण्यादिशब्दलक्षिते शक्तियोगे श्रुतिं दर्शयितुं परमात्मनस्तद्रहितस्यापि तच्छक्तियोगं तावद्दर्शयति— **अपाणीति** । " अपाणिपादः " [ श्वे. उ. ३।१९ ] इति निषेध्यस्य कर्मेन्द्रियवर्गस्योपलक्षणम् ; " अचक्षुरकर्णः " [ श्वे. उ. ३।१९ ] इति ज्ञानेन्द्रियवर्गस्य । तर्हि परमात्मासाधारणस्वभावस्यात्र अल्पशक्तौ जीवे कथं व्यपदेशः ? इत्यत्राह— **प्रत्यगात्मनोऽपीति** । मुक्तदशायां ब्रह्मगुणाष्टकयोगादसङ्कुचितज्ञानशक्तेस्तदुपपत्तिरिति भावः । साम्यश्रुतिसङ्कोचाभावाद्विशेषकण्ठोक्त्यभावेऽपि सर्वतः-पाणिपादत्वादिकं सिद्धमेवेत्यभिप्रायेणैवकारः । साम्यापत्तिमात्रे सर्वथासाम्यं कथं श्रुतिसिद्धं ? इत्यत्राह— **तदेति** । इदं हि परमसाम्यं जगद्व्यापारव्यतिरिक्तसर्वविषयमिति फलपादे मीमांसितमिति भावः । स च श्रुत्यर्थोऽत्राप्युपदेक्ष्यते, तद्विवक्षाऽत्र युक्तेत्याह— **इदं ज्ञानमिति** । ' तिष्ठति ' इत्यत्र व्याप्तेरप्रच्युतिर्विवक्षिता । कर्मवेष्टितज्ञानस्याणोः कथं सर्वव्यापिस्थितिरित्यत्राह— **परिशुद्धेति** । इदं च व्यापकत्वं धर्मभूतज्ञानद्वारेति निरूपितं शारीरके ' प्रदीपवदावेशस्तथाहि दर्शयति ' [ ब्र. सू. ४।४।१५ ] इत्यादिना, जीवस्वरूपस्याणुत्वेनैव लक्षणात्, निर्विकारश्रुत्या च स्वरूपविकारायोगात् ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ॥ १४ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— यदि वाङ्मनसयोरविषयः, कथं तर्हि ज्ञेयत्वं ? इत्याशङ्क्य ' अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ' इति न्यायेन तज्ज्ञानमुपपादयति— **सर्वत** इति । सर्वतः सर्वदेहेषु पाणयः पादाश्च सर्वव्यापारेषु प्रवर्तनीया यस्य क्षेत्रज्ञस्वरूपत्वेनाभिमतस्य परब्रह्मणः तत्सर्वतःपाणिपादम् , अचेतनप्रवृत्तेश्चेतनाधिष्ठानपूर्वकत्वात् । तथा सर्वतोऽक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य प्रवर्तनीयानि तत्तथोक्तम् । सर्वतः श्रुतयः श्रोत्राणि च यस्य तत्तथोक्तम् । लोके सर्वप्राणिनिकायेषु सर्वमचेतनवर्गरूपं क्षेत्रमावृत्य सत्तास्फूर्तिप्रदतयाध्यासकसम्बन्धेन व्याप्य तत्तिष्ठति । एवं च निर्विशेषस्य स्वयमवाङ्मनसगोचरत्वेऽपि सर्वजगत्प्राणिगतपाणिपादादिसर्वव्यवहारास्पदत्वरूपेण ज्ञेयत्वमविरुद्धमिति भावः ॥ १४ ॥

**९ व० त० दी०**— तत्साकारं निराकारं वा ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वतःपाणिपादान्तमिति** । साकारमेव सर्वत्र प्रदेशे पाणयः पादा अन्ता यस्य । गतिकृतिलक्षणे क्रिये सर्वत्र अन्तपदेन स्वेच्छया परिच्छेदायभानं चोक्तम् । सर्वतोऽक्षिशिरोमुखं इति ज्ञानप्राधान्यभोगाश्च सर्वत्र चोक्ताः । नामप्रपञ्चार्थमाह— **सर्वत्र श्रुतिमल्लोक इति** । सर्वतः शृणोतीत्यर्थः । एतादृशस्य परिच्छेदः सम्भविष्यतीत्याह— **सर्वमावृत्य तिष्ठतीति** । एते धर्माः प्रपञ्चोत्पत्त्यनन्तरमेव स्पष्टा भवन्ति, तथापि तेषां नित्यत्वख्यापनाय प्रथमतो वचनम् ॥ १४ ॥

**१० पु. अ. त.**— एवं सर्वाविषयत्वे ज्ञेयत्वं बाध्यते इति ज्ञेयत्वेन स्वरूपमाह— **सर्वत इति** । सर्वतः पाणयः पादाश्च यस्य तत् । एवं विशेषणद्वयेन सर्वत्र क्रियाशक्तिः सर्वसेव्यत्वं च निरूपितम् । सर्वतः अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य । एवं विशेषणत्रयेण सर्वज्ञानवत्त्वं सर्वमुख्यत्वं ज्ञापितम् । सर्वतश्श्रुतिमत् सर्वतः श्रवणेन्द्रिययुक्तम् । अनेन भक्तादिस्तुतिश्रवणे योग्यत्वेन कृपालुत्वं प्रदर्शितम् । लोके स्वकीय इति शेषः । तर्हि परिच्छिन्नं भविष्यति इत्याशङ्क्याह— सर्वं आवृत्य व्याप्य सर्वेन्द्रियादियुक्तमेव तिष्ठतीति भावः ॥ १४ ॥

**११ नी० भा० दी०**— एवं 'स च यः' [१३।४] इत्येतत् क्षेत्रज्ञस्वरूपमपास्तसमस्तविशेषमुपपाद्य 'यत्प्रभावः' [ १३।४ ] इति प्रतिज्ञातं तस्य प्रभावं वैश्वरूप्यलक्षणमुपपादयति— **सर्वत इति** । सर्वतः सर्वासु दिक्षु अन्तर्बहिश्च पाणयः पादाश्चास्य सन्तीति सर्वतःपाणिपादम् । एवं सर्वतः अक्षीणि शिरांसि मुखानि च यस्य तत्सर्वतोक्षिशिरोमुखम् । सर्वतश्श्रुतिमत् श्रवणवत् । लोके सर्वमावृत्य व्याप्य तिष्ठति । यथा स्वप्नदृक् तैजसो वासनामयेनैव पाणिपादादिना स्वाप्नं प्रपञ्चमनुभवति तस्य च जाग्रत्काले उपाधिभूतं पिण्डगतमेव पाणिपादा-

दिकं तदेव स्थूलप्रपञ्चानुभवसंस्काराधानद्वारा वासनामयस्य प्रपञ्चस्य कारणम् । वासनामयश्च स्थूलप्रपञ्चस्य कारणमिति बीजांकुरन्यायेनानयोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यसद्भावोऽन्योन्यकारणत्वं चास्तीति । एवं सकलप्राणिधी-वासनोपरक्ताज्ञानोपाधिकं चैतन्यं सकलप्राणिधीवासनामयं समष्टिसूक्ष्मप्रपञ्चमवभासयति । अस्य चोपाधिभूतं ब्रह्माण्डगतसकलप्राणिपाणिपादादिकमेव । एवं च पूर्ववत् स्थूलसूक्ष्मयोरपि समष्टिप्रपञ्चयोरन्योन्यं बीजांकुर-न्यायेन कार्यकारणभावमन्योन्यस्यान्योन्यस्मिन्सद्भावं चाभिप्रेत्योक्तं भगवता भाष्यकारेण । सकलप्राणिकर-णोपाधिद्वारेण ज्ञेयब्रह्मणोऽस्तित्वं प्रतिपाद्यत इति कार्यद्वारा कारणास्तित्वसिद्धौ च कारणाभावोऽप्यपोह्यते । 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते' [ १३।१३ ] इति । ननु 'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' इति न्यायेन व्यर्थस्तर्हि कारणोपन्यास इति चेत्, न; तं विना शुद्धाधिगमायोगात् । शाखाचन्द्रन्यायेन हि सगुणं निर्गुणस्य वस्तुनो ज्ञापकम् । यथोक्तं भाष्ये–'उपाधिकृतमिथ्यारूपमप्यस्तित्वाधिगमाय ज्ञेयधर्मवत् परिकल्प्योच्यते सर्वतःपाणिपादमित्यादि' । तथा हि सम्प्रदायविदां वचनम्–'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते' इति ॥ १४ ॥

**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।**
**असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १५ ॥**

१ **शां. भा.**— उपाधिभूतपाणिपादादीन्द्रियाध्यारोपणाज्ज्ञेयस्य तद्वत्ताशङ्का मा भूदित्येवमर्थः श्लोकारम्भः— **सर्वेन्द्रियेति** । सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वाणि च तानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रियाख्यानि, अन्तःकरणे च बुद्धिमनसी ज्ञेयोपाधित्वस्य तुल्यत्वात्सर्वेन्द्रियग्रहणेन गृह्यन्ते । अपि चान्तःकरणोपाधिद्वारेणैव श्रोत्रादीनामप्युपाधित्वं, इत्यतोऽन्तःकरणबहिष्करणोपाधिभूतैः सर्वेन्द्रियगुणै-रध्यवसायसङ्कल्पश्रवणवचनादिभिरवभासत इति सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव तज्ज्ञेय-मित्यर्थः । "ध्यायतीव लेलायतीव" [बृ.उ.४।३।७] इति श्रुतेः । कस्मात्पुनः कारणान्न व्यापृतमेवेति गृह्यते ? इत्यत आह– सर्वेन्द्रियविवर्जितं सर्वकरणरहितमित्यर्थः । अतो न करणव्यापारैर्व्यापृतं तज्ज्ञेयम् । यस्त्वयं मन्त्रः–"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" [श्वे.उ.३।१९ ना.प.९।१४] इत्यादिः । स सर्वेन्द्रियोपाधिगुणानुगुण्यभजनशक्तिमत्तज्ज्ञेयमित्येवंप्रदर्शनार्थः, न तु साक्षादेव जवनादि-क्रियावत्त्वप्रदर्शनार्थः । "अन्धो मणिमविन्दत्" [तै. आ.१।११] इत्यादिमन्त्रार्थवत्तस्य मन्त्रस्यार्थः ।

२ **आ. शां. व्या.**— आरोपादते साक्षादेव ज्ञेयस्य पाण्यादिमत्त्वमाशङ्क्याऽऽह— **उपाधीति** । इन्द्रियविशेषणीभूतसर्व-शब्दाज्ज्ञेयोपाधित्वन्यायाविशेषाच्चात्र बुद्ध्यादेरपि ग्रहणमि-त्याह— **अन्तःकरणे चेति** । श्रोत्रादीनां ज्ञेयोपाधित्वस्य मनोबुद्धिद्वारत्वादपि तयोरिह ग्रहणमित्याह— **अपि चेति** । तयोरपीहोपादाने फलितमाह— **इत्यत** इति । अक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह— **सर्वेति** । उपाधिद्वारा कल्पितव्यापारवत्त्वे मानमाह— **ध्यायतीति** । कल्पितमेवास्य व्यापारवत्त्वं, न वास्तवं, इत्यत्र भगवतोऽपि सम्मतिमाकाङ्क्षाद्वारा दर्शयति— **कस्मादित्यादिना** । सर्वकरणराहित्ये फलमाह— **अत** इति । साक्षादेव ज्ञेयस्य वेगवद्विहरणादिक्रियावत्ताया मान्त्र-वर्णिकत्वात्कुतोऽस्य करणव्यापारैरव्याकृतत्वं ? इत्याशङ्क्यानु-वादपूर्वकं मन्त्रस्य प्रकृतानुगुणत्वमाह– **यस्त्विति** । करणगुणा-नुगुण्यभजनमन्तरेण साक्षादेव जवनादिक्रियावत्त्वप्रदर्शनपरत्वे मन्त्रस्य मुख्यार्थत्वं स्यादित्याशङ्क्य तदसम्भवान्नैवमित्याह— **अन्ध इति** । अर्थवादस्य श्रुतेऽर्थे तात्पर्याभावान्न प्रकृतप्रति-कूलतेत्यर्थः ।

---

१ स्वयम्प्रकाशचिन्मात्रैकरसस्येश्वरस्य निखिलकार्यकरणेषु प्रत्यग्रूपेणावस्थानं, सर्वेन्द्रियविषयेषु साक्षित्वं, निस्सङ्गतां, सर्वनिर न्तृत्वादीनि चाह— सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वाणीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि वागादीनि च, तद्गुणाः श्रवणादिवचनादितद्वृत्तयः शब्दादि वेदनानि तद्विषयाश्च तद्गुणाः, तेषामिन्द्रियाणां तद्गुणानां च सर्वेषामाभासत्वेन भानत्वेनावस्थितम् । सर्वेन्द्रियविवर्जितं निस्सः कूटस्थसंविन्मात्ररसत्वात्परमार्थत इन्द्रियतद्वृत्तितद्विषयैः सर्वैरैक्यतादात्म्यादिसम्बन्धशून्यम् । इन्द्रियमिति पूर्वोक्तानामुपलक्षणम् इति **विज्ञानभाष्यम्** । **विद्याधिराजस्तु**— 'सर्वभुक्चैव' इति पाठमादाय सर्वं भुङ्क्त इति सर्वभुगिति व्याचष्टे ।

—**अविगीता**

१ शां. भा.— यस्मात्सर्वकरणवर्जितं तत् ज्ञेयं तस्मादसक्तं सर्वसंश्लेषवर्जितम्। यद्यप्येवं तथापि सर्वभृच्चैव; सदास्पदं हि सर्वं सर्वत्र सद्बुद्ध्यनुगमात्। न हि मृगतृष्णिकादयोऽपि निरास्पदा भवन्ति। अतः सर्वभृत्सर्वं बिभर्तीति। स्यादिदं चान्यज्ज्ञेयस्य सत्त्वाधिगमद्वारं निर्गुणं सत्त्वरजस्तमांसि गुणास्तैर्वर्जितं तज्ज्ञेयम्। तथापि गुणभोक्तृ च गुणानां सत्त्वरजस्तमसां शब्दादिद्वारेण सुखदुःखमोहाकारपरिणतानां भोक्तृ चोपलब्धृ तज्ज्ञेयमित्यर्थः॥ १५॥

२ आं. शां. व्या.— सर्वकरणराहित्यं तद्व्यापारराहित्यस्योपलक्षणमित्यङ्गीकृत्योक्तमेव हेतुं कृत्वा वस्तुतः सर्वसङ्गवर्जितत्वमाह— **यस्मादि**ति। वस्तुतः सर्वसङ्गाभावेऽपि सर्वाधिष्ठानत्वमाह— **यद्यपी**ति। स्वसत्तामात्रेणाधिष्ठानतया सर्वं पुष्णातीत्येतदुपपादयति— **सदि**ति। विमतं सति कल्पितं प्रत्येकं सदनुविद्धधीबोध्यत्वात्प्रत्येकं चन्द्रभेदानुविद्धधीबोध्यचन्द्रभेदवदित्यर्थः। सर्वं सदास्पदमित्ययुक्तं, मृगतृष्णिकादीनां तदभावादित्याशङ्क्याऽऽह— **न ही**ति। तेषामपि कल्पितत्वे निरधिष्ठानत्वायोगान्निरूप्यमाणे तदधिष्ठानं सदेवेति सर्वस्य सति कल्पितत्वमविरुद्धमित्यर्थः। सर्वाधिष्ठानत्वेन ज्ञेयस्य ब्रह्मणोऽस्तित्वमुक्तमुपसंहरति— **अत** इति। इतश्च ज्ञेयं ब्रह्मास्तीत्याह— **स्यादिदं चे**ति। न हि तस्योपलब्धृत्वमसत्त्वे सिद्ध्यतीत्यर्थः॥ १५॥

३ रा. भा.— सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियगुणैराभासो यस्य तत्सर्वेन्द्रियगुणाभासम्, इन्द्रियगुणा इन्द्रियवृत्तयः, इन्द्रियवृत्तिभिरपि विषयान् ज्ञातुं समर्थमित्यर्थः। स्वभावतः सर्वेन्द्रियविवर्जितं विनैवेन्द्रियवृत्तिभिः स्वत एव सर्वं जानातीत्यर्थः। असक्तं स्वभावादेव देवादिदेहसङ्गरहितं, सर्वभृच्चैव देवादिसर्वदेहभरणसमर्थं च, "स एकधा भवति (द्विधा भवति) त्रिधा भवति" [छां.उ.७।२६।२] इत्यादिश्रुतेः; निर्गुणं तथा स्वभावतः सत्त्वादिगुणरहितम्; गुणभोक्तृ च सत्त्वादीनां गुणानां भोगसमर्थं च॥ १५॥

४ वे. ता. चं.— नन्विन्द्रियाण्येव करणभूतानि, न पुनरिन्द्रियगुणा इत्यत्राह— **इन्द्रियगुणा इन्द्रियवृत्तय** इति। स्वयम्प्रकाशस्यात्मस्वरूपस्य कथमिन्द्रियवृत्तिभिराभासः? विषयाभासविवक्षायामपि परिशुद्धस्वरूपप्रसङ्गे कथमैन्द्रियिकज्ञानोक्तिः— इत्यत्राह— **इन्द्रियवृत्तिभिरपी**ति। स्वरूपमिन्द्रियगुणैराभासत इत्यादिपरोक्तव्युदासायाह— **इन्द्रियगुणैराभासो यस्ये**ति। योग्यत्वं शुद्धावस्थायामप्यस्तीति भावः। एतेन 'सर्वेन्द्रियव्यापारैर्व्यापृतमिव, ज्ञेयम्' इति **शङ्करस्यो**क्तग्रन्थकल्पना निरस्ता। कदाचिदिन्द्रियवतः कथं सर्वेन्द्रियविवर्जितत्वं? इत्यत्राह— **स्वभावत** इति। सर्वेन्द्रियनिषेधे तदधीनज्ञानाभावात्परोक्तं पाषाणकल्पत्वप्रसङ्गं प्रागुक्तेन परिहरति— **विनैवे**ति। मुक्तस्यापि जगदाधारत्वाभावात् पर्यायेण सर्वजातीयदेहभर्तृत्वाभावाच्च तच्छक्तिरत्रापि विवक्षिता। स्वतः सङ्गराहित्यं च 'असक्तम्' इत्युच्यत इत्याह **स्वभावतो देवादी**ति। सामर्थ्यं परिशुद्धावस्थाभाविना कार्येण दर्शयति— **स एकधे**ति। आत्मस्वरूपस्य भिदुरत्वाभावाल्लक्षणादिश्रुतिवशाच्च विग्रहद्वारैव हि त्रिधा भवनादिकथनमिति भावः। एतेन 'सर्वभर्तृत्वं सर्वाध्यासाधिष्ठानत्वम्' इति वदन् प्रत्युक्तः। 'निर्गुणम्' इत्यत्र न सत्त्वादिगुणसमवायित्वं प्रतिषिध्यते, तस्याशुद्धावस्थायामपि प्रसङ्गाभावात्, 'गुणभोक्तृ च' इत्येतत्प्रतिपक्षरूपत्वाभावाच्च; अतोऽत्र कर्मोपाधिकस्य प्राकृतगुणभोगस्य प्रतिक्षेपः क्रियत इति न निर्विशेषवादावकाश इत्यभिप्रायेणाह— **स्वभावतः सत्त्वादिगुणरहितमि**ति। **स्वभावत** इत्यनेन गुणभोक्तृत्वविरोधपरिहारः। **भोगसमर्थमि**त्यत्रापि पूर्ववदभिप्रायः। औपाधिकं गुणभोक्तृत्वं, स्वभावतस्तदभावः, तत्सामर्थ्यमात्रं तु नित्यमित्यविरोधः॥ १५॥

५ आ. मा. भा.— सर्वेन्द्रियाणि गुणांश्चाभासयतीति सर्वेन्द्रियगुणाभासम्। इन्द्रियवर्जितत्वाद्यर्थ उक्तः पुरस्तात्॥ १५॥

६ ज. प्र. दी.— अहं परा शक्तिर्यस्येति व्याख्यानेऽर्थासम्भवं कश्चिदन्यथा प्राह— 'ब्रह्मणः सर्वविशेषप्रतिषेधेनैवात्र तदविजिज्ञापयिषितत्वात्। शक्तिमत्त्वप्रतिपादनं विरुद्धम्' इति। तदसत्, अत्र विशेषवत्त्वस्य दर्शनादिति भावेनाह— **सर्वे**ति। गुणांस्तद्विषयानाभासयति प्रत्याययति प्रत्येतीति वा। भासतेः पचाद्यच्। एवं 'सर्वतःपाणिपादं तत्' [१३।१४] 'सर्वभृत् गुणभोक्तृ च' इत्यादिकमप्युदाहार्यम्। कथं तर्हि सर्वेन्द्रियविवर्जितं निर्गुणमचरमित्याद्युक्तमित्यत आह— **इन्द्रिये**ति। आदिशब्दात्परं शब्देत्यध्याहार्यम्। पुरस्तात् द्वितीये॥ १५॥

७ ह. पै. भा.— सर्वेन्द्रियव्यापाराणामाभासः प्रतिभासमात्रं यस्मिंस्तत्सर्वेन्द्रियगुणाभासम् । असक्तमसम्बद्धं सर्वभ्रान्त्यधिष्ठानम् । निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम् । गुणभोक्तृ च शब्दादिगुणविकाराणां शब्दादिविषयाणां भोक्तृ च ॥ १५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु संव्यवहारास्पदस्य तद्धेतुपाणिपादादिमत्त्वमपि वास्तवमेवेति निर्विशेषत्वाद्युपपत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— सर्वेन्द्रियेति । सर्वेषां ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां गुणास्तद्धर्माः श्रवणवचनादिव्यापाराः, तेषामाभासः प्रतिभासमात्रं यस्य तत्सर्वेन्द्रियगुणाभासम्, तद्व्यवहारास्पदत्वेन प्रतीयते परम् । वस्तुतस्तु सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । तथा च श्रुतिः— "ध्यायतीव लेलायतीव" [बृ. उ. ४।३।७] "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" [श्वे. उ. ३।१९ ना, प. ९।१४ ] इत्यादिः । अत्र ध्यानं बुद्धीन्द्रीयव्यापारोपलक्षणम्, लेलायनं तु चलनं कर्मेन्द्रियव्यापारोपलक्षणम् । सर्वेन्द्रियविवर्जितत्वे हेतुः— असक्तं परमार्थतः सर्वसम्बन्धशून्यम्; तथापि सर्वभृत्सर्वाधारभूतम्, निरधिष्ठानभ्रमायोगात् । तथा परमार्थतो निर्गुणमपि गुणभोक्तृ सत्त्वादिगुणपालकम् ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— सर्वत्र परिच्छेदस्य प्रयोजनं तूपपादितमेव 'अनन्तं' [ ११।४७ ] 'अव्यक्तं' [१३।६] इत्यत्र । एतेन सर्वतश्चक्षुरादिकार्यकर्तृत्वमुक्तं "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" [ श्वे.३।१९ ना. प. उ. ९।१४ ] "विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखः" [ ऋक्सं.४।७।२७।१; म. ना. २।२; श्वे. उ. ३।३ ] इति प्राकृतनिषेधपूर्वकमप्राकृतश्रवणात् । विरुद्धधर्माश्रयत्वमाह— सर्वेन्द्रियगुणाभासमिति ॥ १५ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— सर्वेन्द्रियगुणाभासमिति । सर्वेषामिन्द्रियाणां चक्षुरादीनां गुणेषु रूपादिषु भासमानम् । अनेन यत्र सौन्दर्यादिकं यत्किञ्चिदपि तद्भगवत्सम्बन्धादेवेति ज्ञापितम् । तर्हि लौकिकेन्द्रियादियुक्तं भविष्यति? इत्यत आह— सर्वेन्द्रियैर्विवर्जितं, रहितमित्यर्थः । अनेनेन्द्रियाणां पूर्वोक्तानामलौकिकत्वं ज्ञापितम् । एतदेव विवेचयति— असक्तमित्यादिना । असक्तं सर्वत्राऽऽसक्तिरहितं तेन सङ्गाभावः सूचितः । च पुनस्तादृशमेव सर्वभृत् सर्वाधारभूतम् । सर्वधारणेन सगुणत्वमाशङ्क्याऽऽह— निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितम् । एवं गुणवैयर्थ्यमाशङ्क्याह— गुणभोक्तृ च गुणेषु स्थित्वा तद्भोगं करोतीत्यर्थः । चकारेण तत्पालकमपीति ज्ञापितम् ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु यूपाहवनीयादिवदलौकिकमपि ब्रह्म कार्यकारणप्रपञ्चविशिष्टं चित्रमेव 'सर्वतःपाणिपादं तत्' [ १३।१४ ] इत्यादिना शास्त्रेण कार्यशेषतया समर्थ्यते; न च वाच्यं उपासनापरं शास्त्रं न ब्रह्मणो वैचित्र्यं प्रतिपादयितुमीष्टे इति । देवताधिकरणन्यायेन देवताविग्रहादिवत्तद्वैचित्र्यस्याप्यवान्तरतात्पर्यविषयतया सिद्धेः । न च देवताविग्रहादेर्व्यावहारिकमेव सत्त्वं न पारमार्थिकं, ब्रह्मज्ञानेन तस्य बाधादिति वाच्यं; सत्ताद्वैविध्यस्याप्रसिद्धेः । तस्मात्सर्वतःपाणिपादत्वादिकं ब्रह्मणो वास्तवमेवेति नापवादमर्हतीत्याशङ्क्याह— सर्वेन्द्रियेति । सर्वाण्यान्तराणि बाह्यानि चेन्द्रियाणि मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्यानि श्रोत्रादीनि चेति ग्राहकमात्रसंगृहीतम् । गुणाश्च विषयास्तेन ग्राह्यमात्रं गृह्यते समस्तग्राह्यग्राहकवदाभासते, न तु ग्राह्यग्राहकस्वरूपं विचित्रम् । यथा जलसूर्योऽधस्स्थ इव कम्पत इवाभासते, न तु वस्तुतोऽधस्स्थः कम्पते वा तद्वदात्मनो ग्राह्यग्राहकाकारत्वं मिथ्येत्यर्थः । कुत एतत् ? यतः सर्वेन्द्रियविवर्जितं, इन्द्रियेति गुणानामप्युपलक्षणम् । नहि ब्रह्मणि किञ्चित् ग्राह्यं रूपादि ग्राहकं वा मनआदि वर्तते । "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं" [ कठो.३।१५ ] "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः" [ मुं. उ. २।१२ ] "यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमचक्षुश्श्रोत्रं तदपाणिपादम्" [ मुं. उ. १।१।६ ] इत्यादिशास्त्रात् तस्मान्न प्रपञ्चविशिष्टं विचित्रं ब्रह्म ।

कथं तर्हि 'सर्वं ब्रह्म' इति शास्त्रं? इत्याशङ्क्याह— असक्तं सर्वभृच्चैवेति । अत्र 'सर्वभृत्' इति सर्वाधारत्वोक्त्या सर्वस्मात्पृथग्भूतमित्युक्तम् । सर्वस्य ब्रह्मणा सहाधाराधेयभावोऽपि किं घटरूपयोरिव समवायसम्बन्धेन कुण्डबदरयोरिव संयोगसम्बन्धेन वा ? इत्याशङ्क्य सम्बन्धं विनैव सर्वभृत्त्वं ब्रह्मण इत्याह— असक्तमिति । ननु व्याहतमेतत्, असक्तमिति सर्वभृदिति चेति नैष दोषः; न ह्यूषरभूमिर्मरीचिकोदकेन संसक्ता अथ च तदाधारभूताऽपि भवति, तद्वदेतद्भविष्यति । नन्वेवं प्रपञ्चस्य मिथ्यात्वमापततीति, तथा च कर्मोपास्तिविधय उपरुध्येरन्, न; ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानेन यावद्द्वैतं न बाध्यते तावत्क्रियाकारकादिसर्वव्यवहारस्य सत्यत्वोपगमात् । "प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्" [ बृ. उ. २।३।६ ] इति श्रुत्याऽपि प्राणोपलक्षितस्य कृत्स्नस्य प्रपञ्चस्य व्यावहारिकं सत्यत्व-

मुक्त्वा ततोऽप्यधिकं परमार्थसत्यं ब्रह्म दर्शितम्। सत्यत्वं चाबाध्यत्वं तत्किञ्चित्कालं प्राणानामस्ति; ब्रह्मणस्तु सार्वत्रिकमिति। यथा भूपतीनां भूपतिरित्युक्ते ऐश्वर्याल्पत्वभूयस्त्वकृतो भेदः स्पष्टः, एवमिहापि द्रष्टव्यं; तस्माद्ब्रह्मणः सविशेषत्वं निष्कलात्मबोधात् प्रागेव, न तूर्ध्वमित्यवश्यं तत्त्वज्ञानेन बाधितुं शक्यम्। इत्यनुपाधिकं ब्रह्म न केनचित्कार्यशेषतां नेतुं शक्यम्, तदधिगमे क्रियाकारकादिद्वैतोपमर्दादुपास्योपासकोपासनाभेदस्य बाधितत्वात्। तस्माद्युक्तमुक्तमुपाधिकृतं रूपं मिथ्येति। किञ्च निर्गुणं गुणभोक्तृ च ग्राह्यग्राहकसम्बन्धशून्यमपि ग्राह्येषु बुद्ध्यादिषु ग्राह्यसम्बन्धात्सुखाद्याकारेण परिणतेषु सत्सु केवलं तत्प्रकाशकत्वमात्रेण गुणभोक्तृत्वमप्यस्य चिदाभासरूपस्योपपद्यते। यथा प्रतिबिम्बरूपे स्वावुपाधिगतं चलनादिकम्। तथा च श्रुतिः—"ध्यायतीव लेलायतीव" [ बृ. उ. ४।३।७ ] इति। बुद्धौ ध्यायन्त्यां तत्र प्रविष्टश्चिदाभासो ध्यायतीव विषयान्। बुद्धौ लेलायन्त्यां विषयप्रदेशं गच्छन्त्यां सोऽपि लेलायतीव; न तु स्वतो ध्यायति लेलायति वेति प्रतिपादयति। एतेन "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः" [ श्वे. उ. ३।१९ ना. प. ९।१४ ] इत्येतदपि ब्रह्मण उपाधिगुणानुगुण्यभजनशक्तिमत्त्वेनैव व्याख्येयम्। अयमपादोऽपि पादे जववति जववान् भवतीति। "अन्धो मणिमविन्दत्" [ तै. आ. १।११ ] इत्यादिकं वचनजातं चात्रानुसन्धेयम्। तस्माद्युक्तमुक्तं निर्गुणं गुणभोक्तृ चेति। भाष्ये ( शं. ) तु निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहितमपि तेषां गुणानां सुखदुःखमोहात्मकत्वेन परिणतानां भोक्तृ च उपलब्धृ चेति व्याख्यातम्॥ १५॥

**बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।**
**सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥ १६॥**

१ **शां. भा.**— किञ्च– बहिस्त्वक्पर्यन्तं देहमात्मत्वेनाविद्याकल्पितमपेक्ष्य तमेवावधिं कृत्वा बहिरुच्यते। तथा प्रत्यगात्मानमपेक्ष्य देहमेवावधिं कृत्वाऽन्तरुच्यते। बहिरन्तश्चेत्युक्ते मध्येऽभावे प्राप्त इदमुच्यते– अचरं चरमेव च, यच्चराचरं देहाभासमपि तदेव ज्ञेयम्। यथा रज्जुसर्पाभासः। यद्यचरं चरमेव च स्यात् व्यवहारविषयं सर्वं ज्ञेयं, किमर्थमिदमिति सर्वैर्न विज्ञेयं? इति; उच्यते– सत्यं सर्वाभासं तत्, तथापि व्योमवत्सूक्ष्मं, अतः सूक्ष्मत्वात्स्वेन रूपेण तज्ज्ञेयमप्यविज्ञेयमविदुषाम्। विदुषां तु "आत्मैवेदं सर्वं" [ छां. उ. ७।२५।२ ] "ब्रह्मैवेदं सर्वं" [बृ.उ.२।५।१] इत्यादिप्रमाणतो नित्यं विज्ञातम्। अविज्ञाततया दूरस्थं वर्षसहस्रकोट्याऽप्यविदुषामप्राप्यत्वात्, अन्तिके च तदात्मत्वाद्विदुषाम्॥ १६॥

२ **आ. शां. व्या.**— इतोऽपि ज्ञेयं ब्रह्मास्तीत्याह— **किञ्चेति**। **बहिरिति** व्याख्येयमादाय व्याचष्टे— **त्वगिति**। भूतेभ्यो बहिर्बाह्यविषयाद्यात्मकमित्यर्थः। कथमनात्मन एवाऽऽत्मत्वं? कल्पनयेत्याह— **आत्मत्वेनेति**। अन्तश्शब्दार्थमाह— **तथेति**। भूतानां चराचराणामन्तर्मध्ये प्रत्युग्भूतमित्यर्थः। द्वितीयं पादमवतार्य व्याचष्टे— **बहिरित्यादिना**। यन्मध्ये भूतात्मकं नानाविधदेहात्मना भासमानं तदपि ज्ञेयान्तर्भूतं तत्त्वं सदित्यर्थः। कथं चराचरात्मनो भूतजातस्य ज्ञेयत्वं? तत्राऽऽह— **यथेति**। अधिष्ठाने रज्ज्वां कल्पितसर्पादेरन्तर्भाववद्देहाभासस्यापि ज्ञेयान्तर्भावान्नासत्त्वं, मध्ये ज्ञेयस्य शङ्कितव्यमित्यर्थः। सर्वात्मकं चेज्ज्ञेयं सर्वैरिदमिति गृह्येतेति शङ्कते— **यदीति**। इदमिति ग्राह्यत्वयोग्यत्वाभावान्नेत्याह— **उच्यत इति**। सर्ववस्त्वात्मना भासते तदयोग्यत्वं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सत्यमिति**। सूक्ष्मत्वेऽपि किं स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अत इति**। सूक्ष्मत्वमतीन्द्रियत्वम्। तस्याविज्ञेयत्वे कुतस्तज्ज्ञानान्मुक्तिः? तत्राऽऽह— **अविदुषामिति**। विशेषणफलमाह— **विदुषां त्विति**। तेषामात्मत्वेन ज्ञातं चेत्कथं दूरस्थत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अविज्ञाततयेति**। कथं तर्हि तस्य प्रत्यक्त्वं? तत्राऽऽह— **अन्तिके चेति**। विद्वदविद्वद्भेदापेक्षया "दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च" [ मुं. उ. ३।१।७ ] इति श्रुतिः; तदर्थोऽत्र प्रसङ्गादनूदित इत्यर्थः॥ १६॥

३ **रा. भा.**— पृथिव्यादीनि भूतानि परित्यज्याशरीरो बहिर्वर्तते; तेषामन्तश्च वर्तते, "जक्षन् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" [ छां. उ. ८।१२।३ ] इत्यादिश्रुतिसिद्धस्वच्छन्दवृत्तिषु अचरं चरमेव च स्वभावतोऽचरं चरं च देहित्वे सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयम्। एवं सर्वशक्तियुक्तं सर्वज्ञं तदात्मतत्त्वमस्मिन्

क्षेत्रे वर्तमानमप्यतिसूक्ष्मत्वाद्देहात् पृथक्त्वेन संसारिभिरविज्ञेयम् । दूरस्थं चान्तिके च तत् अमानित्वाद्युक्तगुणरहितानां विपरीतगुणानां पुंसां स्वदेहे वर्तमानमप्यतिदूरस्थम्, तथा अमानित्वादिगुणोपेतानां तदेवान्तिके च वर्तते ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— सशरीरत्वावस्थायां हि भूतान्तर्वृत्तिरिति मुक्तस्याशरीरत्वात्तद्बहिर्वृत्तिर्युक्ता; तदन्तर्वृत्तिस्तु कथं ? इत्यत्राह—**अन्तश्चेति** । स्वच्छन्दवृत्तिषु तेषामन्तश्च वर्तत इत्यन्वयः । न चैतत्कर्मकृतं सशरीरत्वं "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [ छां. उ. ८।१२।२ ] इत्याविर्भूतस्वरूपस्य तदुक्तेः, तस्य च विधूतपुण्यपापत्वात् 'स्वराड्भवति' [ छां. उ. ७।२५।२ ] इति वचनाच्च । तदेतदभिप्रेत्य— **स्वच्छन्दवृत्तिष्वित्युक्तम्** । "स यदि पितृलोककामो भवति" [ छां- उ. ८।२।१ ] "इमान् लोकान् कामान्नी कामरूप्यनुसञ्चरन्" [ तै. उ. ३।१०।५ ] इत्यादिकमादिशब्देन गृह्यते । स्वरूपतो निर्विकारस्यात्मनस्त्रिभावादिकं जक्षणादिकं पितृलोकादिकं च शरीरपरिग्रहमन्तरेण नोपपद्यते; शरीरं चास्य प्राकृतानामप्राकृतानां वा भूतानां सङ्घात एवेति भूतान्तर्वर्तित्वं सिद्ध्यतीत्यभिप्रायः । अचरत्वचरत्वयोर्न चराचरान्तरत्वे शुद्धावस्थायामन्वयः; अतो 'बहिरन्तः' इत्युक्तसशरीरत्वाशरीरत्वे तत्र हेतू इति दर्शयति— **स्वभावतोऽचरं चरं च देहित्व इति** । पादाद्यधीनसञ्चारतदभावाविह विवक्षितौ । योग्यानुपलम्भबाधपरिहारायोच्यते **सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयमिति** । अहमिति नित्यमुपलभ्यमानस्य अविज्ञेयत्वं केनाकारेण ? इत्यत्राह— **एवं सर्वशक्तियुक्तं सर्वज्ञमिति** । तच्छब्दपरामृष्टोऽयमर्थः । योग्यत्वशङ्कासूचनाय दूरत्वाद्यनुपलम्भकारणान्तराभावोपलक्षणतया **अस्मिन् क्षेत्रे वर्तमानमपीत्युक्तम्** । पृथिव्याद्यपेक्षया सूक्ष्माणामपि वाय्वादीनां पृथगुपलम्भोऽस्तीति तद्व्युदासायोक्तं **अतिसूक्ष्मत्वादिति** । 'अहं जानामि' इत्यात्मोपलम्भे सत्यपि विविच्य ज्ञातुमशक्यत्वमविज्ञेयत्वमिति सोपसर्गनिषेधेन विवक्षितमिति दर्शयितुं **देहात्पृथक्त्वेनेत्युक्तम्** । पृथक्त्वस्य सर्वदा सर्वैरनुपलम्भे शशशृङ्गादिवदप्रामाणिकत्वमेव स्यात्, योगाभ्यासविधानस्य च निरर्थकत्वं स्यादित्यत्रोक्तं **संसारिभिरिति** । योगिनामपि मुक्तवदविच्छिन्नविशदतमप्रत्ययाभावात् **संसारिभिरिति** सामान्येनोक्तम् । यद्वा योगविरहिता इह संसारिशब्देन विवक्षिताः, योगिनामासन्नमोक्षत्वेन मुक्तप्रायत्वात् । 'दूरस्थं चान्तिके च तत्' इत्यनेन न व्याप्तिर्विवक्षिता, तस्याः 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' [ १३।१४ ] इति प्रागेवोक्तत्वात्; अतोऽत्र सूक्ष्मत्वात्संसारिभिरविज्ञेयस्य कथं तैरेव विज्ञातव्यत्वविधिः ? इति शङ्काव्युदासायाधिकारिभेदेन दुर्ग्रहत्वसुग्रहत्वपरत्वमाह— **अमानित्वादिति** ॥ १६ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ १६ ॥

**७ ह. पै. भा.— बहिः शरीरादन्तश्च शरीरस्य ॥ १६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— **किञ्च बहिरिति** । चराचराणां भूतानां बहिरन्तश्च तदेव सुवर्णमिव कटकमुकुटादीनाम् । तथा चरमचरं च सर्वं जगत्तदेव, नान्यत्; कारणातिरेकेण कार्यस्यासत्त्वात् । एवमपि सूक्ष्मत्वाद्रूपादिहीनत्वात्तदविज्ञेयम् । इदं तदिति विस्पष्टज्ञानार्हं न भवति । अत एव अविदुषां योजनलक्षकोट्यन्तरितमिव दूरस्थं च, विदुषां पुनः स्वात्मत्वादन्तिके च तत् नित्यसन्निहितम् । तथा च मन्त्रः— "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदु अन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः" [ ईशो. ५ ] इति ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— **तस्यैव प्रपञ्चात्मकतामाह— अचरं चरमेव चेति** । 'द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम्' इति । **अचरं** जडं तत् । "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [ छां. उ. ६।२।१ ] इति "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" [ छां. उ. ३।१४।१ ] इत्यादिश्रुतेः । **चरं** जङ्गमं जीवरूपं **च** "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" [ छां. उ. ६ ८–१६ ] इति श्रुतेः सूक्ष्मत्वादविज्ञेयं तत् दूरस्थमन्तिके **च** तत् । तथा च मन्त्रः "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्व(द)न्तिके । तदन्तर(म)स्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यं ( बाह्यतः )" [ ईशो. ५ ] इति ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— एवं भोगकर्तृत्वे व्यापकत्वं बाध्यत इत्यत आह— **बहिरिति** । भूतानां चराचराणां बहिः भोक्तृत्वेन, अन्तस्तद्रूपेणात्मरूपेण वा तदेव, एवं बहिरन्तस्थत्वे सति भिन्नत्वेन व्यापकत्वहानिमाशङ्क्याह— अचरं स्थावरं, चरमेव च जङ्गमं च । एवकारेण स्थावरत्वसहितमेव जङ्गमत्वं जङ्गमत्वसहितमेव स्थावरत्वं, तेन विरुद्धधर्माश्रयत्वं ज्ञापितम् । एवं सति सर्वज्ञेयत्वमेव स्यात् । पूर्वोक्तसाधनवत्स्वे को विशेषः ? इत्यत आह— **सूक्ष्मत्वादिति** । तत् ब्रह्म तत्र तत्र लीलार्थरूपेण सूक्ष्मत्वात् साधनाभावे अविज्ञेयं; विशेषेण ज्ञातुमशक्यमित्यर्थः । एतदेवाह **दूरस्थं चान्तिके च तत्**, बहिर्मुखानां दूरस्थं, भक्तानां च अन्तिके निकटे स्थितमित्यर्थः । चकारद्वयेनैतदुभयस्याऽपि लीलात्मकत्वं ज्ञापितम् । यद्वा,

मर्यादास्थानां दूरस्थं, पुष्टिस्थानामन्तिके स्थितम् । यद्वा पुष्टिमार्गीयाणामेव विरहदशायामतितापेन पुरस्कृतं तच्च विरहरीत्या दूरस्थमेव , अन्तिके हृदये परोक्षरीत्या । तदज्ञानेन तज्जीवनार्थं निकटे च स्थितम् । 'मया परोक्षं भजता तिरोहितम्' [भाग. १०।३२।२१] इति रीत्येति भावः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— नन्वसक्तमसम्बद्धं चेत्कथमुपलब्धं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— बहिरिति । भूतानां प्राणिनामेकादशेन्द्रियाणि स्थूलभूतानि च केवलविकारत्वेन व्यवहितत्वात् बहिरित्युच्यन्ते । महदहङ्कारपञ्चतन्मात्राव्यक्तानि प्रकृतिरूपत्वेन सन्निहितत्वादन्तरित्युच्यन्ते । चराचरमिति उभयनिकृष्टाश्चराचरोपाध्युपलक्षिता अवधिभूताः पुरुषाश्चरमचरं चेत्यनेनोच्यन्ते । तत्र चराचरं ज्ञेयमिति सामानाधिकरण्यात् पुरुषाणां ज्ञेयब्रह्मभाव उक्तः । बहिरन्तश्च ज्ञेयमिति षोडशसु विकारेष्वष्टासु प्रकृतिषु च ज्ञेयस्य सम्बन्ध उक्तः, स च सम्बन्धो 'यादृशो यक्षस्तादृशो बलिः' इति न्यायेनाध्यस्तप्रकृतिविकृतिनिरूपितत्वेनाध्यस्त एव । एवं च पुरुषस्योपलब्धिमात्रशरीरस्य गुणैः सहाध्यासिकसम्बन्धसत्त्वात् गुणोपलब्धृत्वं युज्यते । यथा प्रकाशमात्रस्वरूपस्य रवेः प्रकाश्यसम्बन्धापेक्षं प्रकाशयितृत्वं तद्वदित्यर्थः । ननु नित्यापरोक्षः पुरुषप्रकृतिविकारसम्बद्धश्च तर्हि कुतो न सर्वैर्गृह्यते ? इत्याशङ्क्याह— सूक्ष्मत्वात् दुर्लक्ष्यत्वात्तदविज्ञेयं, अविज्ञेयं दुर्विज्ञेयम् । यथा जपाकुसुमोपहितस्य स्फटिकस्य शौक्ल्यं सन्निहितमपि रूपान्तरविक्षेपेण तिरोहितं सन्न गृह्यते । एवं नित्यापरोक्षमप्यसङ्गं ब्रह्मोपाध्युपधानाद्विविक्ततया न ग्रहीतुं शक्यं, किन्त्वौपाधिकधर्मोपेतमेव गृह्यते मूढैः । विद्वद्भिस्तूपाधिप्रविलापनेन सुग्रहमित्याशयः । एतदेवाह —'दूरस्थं चान्तिके च तदि'ति । यथा मूढो जलसूर्यं बिम्बसूर्याद्दूरस्थं मन्यते । विद्वांस्तु उपाधिप्रतिहतनयनरश्मीनामुपर्युत्प्लुत्य गतानां बिम्बग्राहित्वं स्पष्टम् । बिम्बस्याधस्स्थत्वग्रहणं तु पूर्वप्रवृत्ताधोमुखवृत्तिसंस्कारापेक्षमिति जानन् बिम्बदेशे एव प्रतिबिम्बं पश्यति । बिम्बे एव जलस्थत्वमध्यस्य तेन तु जले प्रतिबिम्ब इति उपाधौ धर्म्यध्यासकल्पनातो विषयस्योपाधिसंसर्गमात्राध्यासकल्पने लाघवात् । एवं बिम्बभूतं ब्रह्म प्रतिबिम्बभूताज्जीवान्मूढानां विप्रकृष्टं, विदुषां त्वत्यन्तं सन्निकृष्टमिति ॥ १६ ॥

**अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।**
**भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १७ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च— अविभक्तमिति । अविभक्तं च प्रतिदेहं व्योमवत्तदेकं, भूतेषु सर्वप्राणिषु विभक्तमिव च स्थितम्, देहेष्वेव विभाव्यमानत्वात् । भूतभर्तृ च भूतानि बिभर्तीति तज्ज्ञेयं भूतभर्तृ च स्थितिकाले । प्रलयकाले च ग्रसिष्णु ग्रसनशीलम् । उत्पत्तिकाले प्रभविष्णु च प्रभवनशीलम् ; यथा रज्ज्वादिः सर्पादेर्मिथ्याकल्पितस्य ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— ज्ञेयस्यास्तित्वे हेत्वन्तरमाह— किञ्चेति । तद्धि प्रतिदेहं नभोवदेकं तद्भेदे मानाभावात्, भिन्नत्वे च घटवदनात्मत्वापातात्, अतोऽद्वितीयं सर्वत्र प्रत्यग्भूतम् । ज्ञेयं नास्तीत्यतिसाहसमित्याह— अविभक्तं चेति । कथं तर्हि देहादेर्भेदधीः ? इत्याशङ्क्य कल्पनयेत्याह— भूतेष्विति । तत्र हेतुः— देहेष्विति । कार्याणां स्थितिहेतुत्वाच्च ज्ञेयमस्तीत्याह— भूतेति । निमित्तोपादानतया तेषां प्रलये प्रभवे च कारणत्वाच्च तदस्तीत्याह— प्रलयेति । तर्हि कार्यकारणत्वस्य वस्तुत्वान्नाद्वैतमित्याशङ्क्याऽऽह— यथेति ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— देवमनुष्यादिभूतेषु सर्वत्र स्थितमात्मवस्तु वेदितृत्वैकाकारतया अविभक्तम्; अविदुषां देवाद्याकारेण 'अयं देवो मनुष्यः' इति विभक्तमिव च स्थितम् । 'देवोऽहं मनुष्योऽहम्' इति देहसा-

---

१ माध्वास्तु— 'अविभक्तं विभक्तेषु' इति पठित्वा भिन्नेषु नानाविधेषु भूतेषु चेतनाचेतनात्मकेषु स्थितमपि अभिन्नं— स्थानभेदप्रयुक्तभेदरहितम्— इति व्याचक्षते । ग्रसिष्ण्विति 'भुवश्च' ( अष्टा. ३।२।१३८ ) इति सूत्रे 'चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः' इति वृत्तिवचनादिष्णुच् । सारस्वते तु व्यक्तमेव पठ्यते 'अलंकृञ् ...' ( १३३८ ) इत्यादिसूत्रे 'ग्रसू उन्मत् ... भू भ्राज् ण्यन्त एभ्य इष्णुः' इति । तथा च तन्मते सिद्धमुभयोरपि भाषायामपि साधुत्वम् । पाणिनीयास्तु 'भुवश्च' इत्यपि छन्दोविषयं मन्यन्ते ॥ — अविगीता ।

मानाधिकरण्येनानुसन्धीयमानमपि वेदितृत्वेन देहादर्थान्तरभूतं ज्ञातुं शक्यमिति आदावुक्तमेव 'एतद्यो वेत्ति' [१३।२] इति । इदानीं प्रकारान्तरैश्च देहादर्थान्तरत्वेन ज्ञातुं शक्यमित्याह— भूतभर्तृ चेति । भूतानां पृथिव्यादीनां देहरूपेण संहतानां यद्भर्तृ तद्भर्तव्येभ्यो भूतेभ्योऽर्थान्तरं ज्ञेयम् ; अर्थान्तरमिति ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः । तथा ग्रसिष्णु अन्नादीनां भौतिकानां ग्रसिष्णु, ग्रस्यमानेभ्यो भूतेभ्यो ग्रसितृत्वेनार्थान्तरभूतमिति ज्ञातुं शक्यम् ; प्रभविष्णु च प्रभवहेतुश्च , ग्रस्तानामन्नादीनामाकारान्तरेण परिणतानां प्रभवहेतुः, तेभ्योऽर्थान्तरमिति ज्ञातुं शक्यमित्यर्थः । मृतशरीरे ग्रसनप्रभवादीनामदर्शनान्न भूतसङ्घातरूपं क्षेत्रं ग्रसनप्रभवभरणहेतुरिति निश्चीयते ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— स्वरूपभेदवत्स्वविग्रहक्षेत्रादिष्वविभक्तशब्दप्रयोगात् ' पण्डिताः समदर्शिनः ' [ ५।१८ ] इति प्रागुक्तं साम्यमिहापि विवक्षितमित्याह— देवमनुष्यादीति । अविभक्तं स्वरूपेण देवत्वादिविभागरहितमित्यर्थः । ' विभक्तमिव ' इतीवशब्देन भ्रान्तोपलम्भविषयाकारसूचनमाह अविदुषामिति । एवं शुद्धव्यवस्थोक्ता, तत्र 'भूतभर्तृ ' इत्यादिना जगद्व्यापारभ्रमव्युदासाय प्रकरणस्य भोक्तृव्यतिरेकपरतामेव वदन् पूर्वोक्तपुनरुक्तिं च परिहरति देवोऽहमित्यादिना ग्रन्थद्वयेन । अहंत्वानहंत्वज्ञातृत्वाज्ञत्वादिरूपो भेदः प्रागुक्तः; अत्र त्वाधाराधेयभावभोक्तृत्वभोग्यत्वविकार्यत्वविकारहेतुत्वैर्विवेकः क्रियत इत्यर्थः । अत्र जीवभर्तव्यविषयो भूतशब्दोऽचिन्मात्रपरः; तत्रापि प्रसिद्ध्यनुरोधेन महाभूतविषयत्वेऽपि क्षेत्रप्रकरणात्तादृशपरिणामवद्भूतविषय इत्याह— भूतानामिति । ज्ञेयशब्दश्च ' ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि ' [ १३।१३ ] इत्युपक्रान्तत्वेऽपि पुनरिहोच्यमानत्वात्तदतिरिक्तार्थतया व्याख्यातः । भर्तृत्वभर्तव्यत्वफलितमाह— अर्थान्तरमिति । प्रभवहेतुरिति— देहव्यतिरिक्तत्वोपपादने तात्पर्यादयमेवार्थ उचित इति भावः । प्रभवोऽत्र रेतोगर्भादिरूपेण परिणामः । आकारान्तरेण— रसमलवात्वादिरूपेणेत्यर्थः ।

ननु शरीरेणैव ग्रासादिकं क्रियमाणं दृश्यते, न च कार्यकरणसङ्घातमन्तरेण निरवयवस्य ग्रसनादिसम्भवः, तत्कथमात्मधर्मत्वेन व्यपदिश्यत इति शङ्कायामुक्तमर्थं व्यतिरेकेण द्रढयति— मृतशरीर इति । क्षेत्रं शरीरत्वविशेषेण ग्रसनादिकारणम्, उत भूतसङ्घातमात्रेण ? आद्ये शरीरत्वस्यात्मप्रतियोगिकत्वादात्मसापेक्षत्वं ग्रसनादेः सिद्धम्, द्वितीये मृतशरीरादिष्वदर्शनादयुक्तिः । यद्यपि मृतशरीरेऽपि केचिद्विशेषा दृश्यन्ते; तथापि जीवज्ञानपूर्वकग्रसनभरणाद्यभावान्न ते जीवापेक्षाः । ईश्वरापेक्षा तु सार्वत्रिकीति न तत्र विशेष इति भावः । अत्र भरणग्रसनादिकं रज्ज्वादिषु सर्पादेरिवेति वदन्तः श्रुतहानाश्रुतकल्पनादिभिर्निरस्ताः ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी. — ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— अविभक्तमभिन्नमाकाशवत् । भूतभर्तृ स्थितिकाले । ग्रसिष्णु प्रलयकाले । प्रभविष्णूत्पत्तिकाले ॥ १७ ॥

८ वे. ब्र. गि.— ननु प्रतिदेहं भिन्नत्वेनोपलभ्यमानस्य क्षेत्रज्ञस्य कथं सर्वात्मकत्वमित्याशङ्क्याह— अविभक्तमिति । भूतेषु सर्वप्राणिषु अविभक्तमभिन्नं, न तु प्रतिदेहं भिन्नम् । तथापि देहतादात्म्येन प्रतीयमानत्वात्प्रतिदेहं विभक्तमिव च स्थितम् । तथा च श्रुतिः—" यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा " इति । नन्वस्तु सर्वदेहेष्वेक एवात्मा, तथापि तस्य ब्रह्मत्वं न युज्यते, " यतो वा इमानि भूतानि " [ तै. उ. ३।१।१ ] इत्यादिश्रुत्या जन्मादिसूत्रेण च ब्रह्मलक्षणत्वेनोक्तस्य जगज्जन्मस्थितिलयकारणत्वस्य जीवात्मन्यसम्भवादित्याशङ्क्याह— भूतभर्त्रिति । भूतानि सर्वाणि स्थितिकाले बिभर्ति, तथा भूतानां प्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलम् , उत्पत्तिकाले प्रभविष्णु उत्पादनशीलं च । तथा च जीवेश्वरानुगतशुद्धचिन्मात्ररूपनिर्विशेषब्रह्मण एव श्रुतिसूत्रोक्तं तल्लक्षणमिति नोक्तदोष इति भावः ॥ १७ ॥

९ व० त० दी०— तर्हि खण्डशः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— अविभक्तमिति । अनन्तमूर्तिष्वपि न परस्परं विभेदः, केवलमिच्छया तावन्मात्रप्रकटनार्थं विभक्तमिव च स्थितम् । पालकरूपेण भूतभर्तृ, संहारकरूपेण ग्रसिष्णु, प्रजापतिरूपेण प्रभविष्णु च । यथोक्तं निबन्धे— ' अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म ( स्व )ह्यविभक्तं विभक्तिमत् । बहु स्यां प्रजायेयेति वीक्षा तस्य ह्यभूत्सती ॥ तदिच्छामात्रतः सृष्टा ब्रह्मभूतांशचेतनाः । सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया ॥ विस्फुलिङ्गा इवाग्नेस्तु सदंशेन जडा अपि । आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः ॥ इत्यादि । अस्यार्थः— बहु स्यामिति अनेकत्वमुच्चनीचत्वं भावयामास । भावना

तस्य विषयाव्यभिचारिणी । तदिच्छामात्रतः सृष्टा ब्रह्मभूताः, न तु योगबलेनाविर्भूताः; अंशाः मन्दप्रकाशाः साकाराः सूक्ष्मपरिच्छेदाः, चेतनाश्चित्प्रधानाः । सर्वेऽसङ्ख्याताः प्रथमसृष्टौ । ततः साकारा भगवद्रूपा अपि उच्चनीचभावेच्छया निर्गता इति निराकारा जाताः, विस्फुलिङ्गा इव वह्नेः । प्रकृतिः तद्गुणाश्च सत्प्राधान्येन अन्तर्यामिणस्तु आनन्दांशस्वरूपेण । यथा जीवानां नानात्वं तथाऽन्तर्यामिणामपि, एकस्मिन् हृदि हंसरूपेणोभयोः प्रवेशात् । अतएवात्रापि 'सर्वस्य हृदि धिष्ठितं' इत्युक्तम् । भेदस्तु जीवेऽपि नास्तीति न काप्यनुपपत्तिः, इत्येवं त्रैविध्यमंशेन, तत्रापि विचारः— सेति चिदानन्दधर्मयोस्तिरोभावः, चित्यानन्दस्य आनन्दांशतिरोभावस्यापि ज्ञापकं तु निराकारा इति। भगवदाकारश्चतुर्भुजाद्यानन्दमयाकार आकारशब्देनोच्यते; आनन्दस्यैव भगवत्याकारसमर्पकत्वात् । एवं स्वरूपेऽवैजात्यं, नामतो वैजात्यं; जडश्चिदन्तर्यामिण इति व्यवहार इति ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— अविभक्तमिति । भूतेषु स्थावरजङ्गमेषु स्वलीलार्थस्वस्वरूपात्मकत्वेन सर्वस्य प्रकटितत्वात् अभिन्नं रसार्थं द्वितीयरूपेण कृतत्वात् विभक्तमिव भिन्नमिव स्थितम् । इवपदेन स्वेच्छया तथा प्रदर्शयतीति ज्ञापितम् । किञ्च तत् पूर्वोक्तं ज्ञेयं भूतानां भर्तृ रक्षकं पोषकम् । भर्तृपदेन रमणशीलत्वं ज्ञापितं, तेन रमणार्थमेव स्थितिकाले रक्षकमित्यर्थः । वियोगात्मकप्रलयकाले ग्रसिष्णु ग्रसनशीलं, स्वस्मिन्नवरोधकमित्यर्थः । च पुनः सृष्टिकाले लीलात्मकरसदानात्मके प्रभविष्णु नानास्वरूपैः प्रभवनशीलम् ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— एतदेवोपपादयत्यर्धेन— अविभक्तं चेति । "एक एव तु ( हि ) भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् " [ ब्र. बि. १२ ] इति श्रुतेर्भूतेषु कार्यकारणसङ्घातापन्नेषु जलपात्रेषु चन्द्रस्येव ब्रह्मणः प्रतिबिम्बा जीवाः, ते चोक्तरीत्या बिम्बादनन्या इति तद्रूपेण भूतेष्वविभक्तं च विभागमप्राप्तमपि ज्ञेयवस्तु मूढदृष्ट्या विभक्तमिव दूरदेशस्थमिव— चाद्भिन्नमिव च— स्थितम् । एवं तर्हि चन्द्रादुदपात्राणामिव भूतानां पृथक्सत्त्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—भूतभर्तृ चेति । अधिष्ठानत्वेन सर्वाणि भूतानि धारयतीति न ततस्तेषां पृथक्सत्ताऽस्ति; रज्जुत इव तदध्यस्तानां सर्पदण्डधारादीनामित्यर्थः । एतदेवाह ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च, यथा रज्जुस्तत्त्वज्ञानदशायां सर्पादीन् ग्रसति अज्ञानदशायां च तानेव प्रसूते, तद्वत् ज्ञातं ब्रह्म सर्वभूतानि ग्रसिष्णु ग्रसनशीलं, अज्ञातं च सर्वभूतानां प्रभविष्णु उत्पादनशीलम् ॥ १७ ॥

## ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
## ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १८ ॥

१ शां. भा.— किञ्च सर्वत्र विद्यमानमपि सत् नोपलभ्यते चेत् ज्ञेयं, तमस्तर्हि ? न; किं तर्हि ? ज्योतिषामादित्यादीनामपि तज्ज्ञेयं ज्योतिः । आत्मचैतन्यज्योतिषेद्धानि ह्यादित्यादीनि ज्योतींषि दीप्यन्ते " येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" [ तै.ब्रा.३।१२।९] "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " [ श्वे. उ. ६।१४ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः । स्मृतेश्चेहैव ' यदादित्यगतं तेजः ' [१५।१२] इत्यादेः । तमसोऽज्ञानात्परमसंस्पृष्टमुच्यते । ज्ञानादेर्दुस्सम्पादनबुद्ध्या प्राप्तावसादस्योत्तम्भनार्थमाह— ज्ञानममानित्वादि [१३।८] । ज्ञेयं ' ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि ' [ १३।१३ ] इत्यादिनोक्तम् । ज्ञानगम्यं ज्ञेयमेव ज्ञातं तज्ज्ञानफलमिति

---

१ ज्योतिषामपीति—

अपिशब्देन तज्ज्ञेयं तमसोऽप्यवभासकम् । प्रतिद्वन्द्विद्वन्द्वतास्ति तेजस्तिमिरयोर्यतः ॥
समुच्चिनोत्यपिश्चापि द्वन्द्वेषु प्रतियोगिनम् । भुङ्क्ते शीतमपीत्युक्ते सिद्धमेवोष्णभोजनम् ॥
एतेन तत्परमिति ज्योतिषामपि सिद्ध्यति । तमसः परमित्यत्र ज्योतिषां चानुकर्षणात् ॥
यथैव ज्योतिषां ज्योतिस्तमसोऽपि तथैव चेत् । परं यथा तत्तमसो ज्योतिषां न तथा कथम् ? ॥
तस्मात्प्रकाशकं ज्ञेयं ज्योतिषां तमसोऽपि तत् । परं च, तेन दृश्यत्वप्राप्तिशङ्काऽप्यपाकृता ॥ — इति वामनः ।

विशेषेण व्यापकत्वेन स्थितं विष्ठितम् । ' यावद्ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक् । ' ( ऋक्सं. ८।६।१७।३ ) इत्यादिवत् । यास्कस्तु— ' विष्ठितं ' ' स्थावरं ' इति निरवोचत् ( नि. ९।१३।१ ) । केचित्तु ' धिष्ठितं ' इति पठन्ति । तत्राधेरल्लोप आर्षः, भागुरिमतेऽवाप्योरुपलक्षणार्थत्वमभ्युपेत्य वा समाधेयः ॥ — अविगीता ।

ज्ञानगम्यमुच्यते । ज्ञायमानं तु तज्ज्ञेयम् । तदेतत्त्रयमपि हृदि बुद्धौ सर्वस्य प्राणिजातस्य विष्ठितं विशेषेण स्थितम् । तत्रैव ह्येतत्त्रयं विभाव्यते ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— इतोऽपि ज्ञेयस्यास्तित्वमित्याह— किञ्चेति । हेत्वन्तरमेव स्फोरयितुं शङ्कते— सर्वत्रेति । न तत्तमो मन्तव्यमित्याह— नेति । तर्हि किं तस्य रूपं ? इति पृच्छति— किं तर्हीति । तत्रोत्तरं— ज्योतिषामिति । सूर्यादीनां बुद्ध्यादीनां च प्रकाशकत्वादस्ति ज्ञेयं ब्रह्मेत्याह— ज्योतिषामिति । तदेवोपपादयति— आत्मेति । तत्र श्रुतिद्वयं प्रमाणयति— येनेति । उक्तेऽर्थे वाक्यशेषमपि दर्शयति— स्मृतेश्चेति । ज्ञेयस्यात्मत्वेऽपि तमस्स्पृष्टत्वमाशङ्क्योक्तं— तमस इति । उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह— ज्ञानादेरिति । उत्तम्भनमुद्दीपनं, प्रकटीकरणमिति यावत् । ज्ञानममानित्वादि; करणव्युत्पत्त्येति शेषः । ज्ञानगम्यं ज्ञेयमिति पुनरुक्तिं शङ्कित्वोक्तं— ज्ञेयमिति । उक्तत्रयस्य बुद्धिस्थतया प्राकट्यं प्रकटयति— तदेतदिति । तत्रानुभवमनुकूलयति— तत्रैवेति ॥ १८ ॥

३ रा. भा.— ज्योतिषां दीपादित्यमणिप्रभृतीनामपि तदेव ज्योतिः प्रकाशकम् ; दीपादित्यादीनामप्यात्मप्रभारूपं ज्ञानमेव प्रकाशकम् , दीपादयस्तु विषयेन्द्रियसन्निकर्षविरोधिसन्तमसनिरसनमात्रं कुर्वते, तावन्मात्रेणैव तेषां प्रकाशकत्वम् ; तमसः परमुच्यते, तमश्शब्दः सूक्ष्मावस्थप्रकृतिवचनः, प्रकृतेः परमुच्यत इत्यर्थः । अतो ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानैकाकारमिति ज्ञेयम् । तच्च ज्ञानगम्यं अमानित्वादिभिर्ज्ञानसाधनैरुक्तैः [ १३ । ८–१२ ] प्राप्यमित्यर्थः । हृदि सर्वस्य विष्ठितं सर्वस्य मनुष्यादेः हृदि विशेषेणावस्थितं सन्निहितम् ॥ १८ ॥

४ वे. ता. चं.— ननु स्वरूपमात्रप्रकाशरूपस्य आत्मस्वरूपस्य कथं मण्यादिप्रकाशकत्वं ? इत्यत्राह— दीपादित्यादीनामपीति । दीपादित्यादीनां यथा विषयसम्बन्धिप्रभाद्वारा प्रकाशकत्वं, न स्वरूपतः; तद्वदत्रापि प्रभास्थानीयेन ज्ञानाख्यधर्मेण प्रकाशकत्वमिति भावः । अन्यप्रकाशकानामपीति अपिशब्दार्थः । प्रकाश्यभूतघटादिवत्तत्प्रकाशकज्ञानाश्रयभूते प्रत्यगात्मनीति भावः । विषयेन्द्रियसन्निकर्षशब्देनात्र सामग्री मध्यपातिसन्निकर्षोऽभिप्रेतः; तन्मूलप्रकाशो वा लक्षितः, सन्तमसस्य कुड्यादिवदिन्द्रियसन्निकर्षविरोधित्वाभावात् ; अन्यथा सन्तमसवर्तिनः पुरुषस्य सन्तमसान्तरितप्रकाशमध्यवर्तिनां पदार्थानां कुड्यान्तरितपदार्थवदप्रकाशप्रसङ्गात् । एतेन दीपादेश्चाक्षुषपदार्थमात्रप्रतिनियततया ज्ञानवन्न सर्वव्यापकं प्रकाशकत्वमिति सूचितम् । तावन्मात्रेण, न तु साक्षात्प्रकाशजनकत्वेनापीत्यर्थः ।

ज्योतिस्सन्निकर्षात् प्रसिद्धिप्राचुर्याच्चात्र तमश्शब्दस्य तिमिरविषयत्वधीव्युदासायाह— तमश्शब्द इति । ज्योतिषामपि प्रकाशकतया कैमुत्यसिद्धस्य तिमिरात्परत्वस्याभिधाने प्रयोजनाभावात्प्रकृतेः परत्वस्य चावश्यवक्तव्यत्वात्तमश्शब्दस्य च 'यस्य तमश्शरीरं ' [ बृ. उ. ३।७।१३ ] " तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं " [ ऋक्सं. ८।७।१७।३ ] " यदा तमस्तत् " [ श्वे. उ. ४।१८ ] "तमः परे देव एकीभवति" [ सुबालो. २ ] 'आसीदिदं तमोभूतं ' [ मनुः १।५ ] इत्यादिषु मूलप्रकृतिविषयतया श्रौतस्मार्तप्रयोगप्राचुर्याच्चेति भावः । परं अन्यदित्यर्थः । भोक्तृतया प्रधानभूतमिति वा । प्रागपि हि ते परावरतया प्रकृती विभक्ते । उच्यत इति 'निर्गुणः प्रकृतेः परः ' इत्यादिष्विति शेषः । एतेन जडवैलक्षण्यं विवक्षितमित्यभिप्रायेणाह— अत इति । पूर्ववद्वैधर्म्यानुसन्धानशक्यतायां ज्ञेयशब्दस्य तात्पर्यम् ; अन्यथा पौनरुक्त्यादित्यभिप्रायेणाह ज्ञानैकाकारमिति ज्ञेयमिति । 'ज्ञानगम्यम् ' इत्यत्र सर्वसाधारणज्ञानविषयत्वमात्राभिधाने प्रयोजनाभावात् 'ज्ञेयम् ' इत्यनेन पौनरुक्त्याद्गम्यशब्दस्य प्राप्यपर्यायत्वप्रसिद्धेश्च प्रकृतिसङ्गतं विवक्षितमाह अमानित्वादिभिरिति । 'एतज्ज्ञानम्' [१३।१२] इतिवदत्रापि करणव्युत्पत्तिं व्यनक्ति ज्ञानसाधनैरुक्तैरिति । मनुष्यादेरिति । पिण्डस्येति शेषः । भोक्तृत्वादिरूपेणावस्थानं विशेषेणावस्थानम् । यद्वा हृदि स्वरूपेणावस्थानम् ; अवयवान्तरेषु तु स्वधर्मभूतज्ञानेनेति विशेषः । स्थितिशब्दस्यात्र मुख्यार्थायोगात् सन्निधिमात्रपरत्वमुक्तम् ; 'सर्वस्य गृहेऽप्ययमेव व्रीहिः ' इतिवज्जात्यैक्यविवक्षया सर्वस्य हृदि स्थितिनिर्देशः ॥ १८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १८ ॥

७ ह. पै. भा.— तमसोऽज्ञानात्परमसंस्पृष्टम् । ज्ञानममानित्वादि । ज्ञेयं 'अनादि मत्परं ब्रह्म' इत्यादि । ज्ञेयं ज्ञानगम्यं प्राप्यं फलमित्यर्थः । ज्ञानेन गम्यं ज्ञानगम्यं फलम् । तत्त्रितयमपि हृदि बुद्धौ सर्वस्य प्राणिजातस्य विष्ठितं विशेषेण स्थितम् ॥ १८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं च ब्रह्मण एव क्षेत्रज्ञरूपत्वाद्ब्रह्मधर्मः स्वप्रकाशत्वादिरपि क्षेत्रज्ञस्यैव स्वरूपमित्याह— ज्योतिषामिति । तत्क्षेत्रज्ञाख्यं ज्ञेयवस्तु ज्योतिषामादित्यादीनामपि ज्योतिरवभासकमित्युच्यते " येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः " [तै.आ.३।१२।९] "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" [ कठो. ५।१५;श्वे. उ. ६।१०;मुं.उ. २।२।१० ] इत्यादिश्रुतिभिः । तथा तमसः अज्ञानात्परं तेनास्पृष्टमित्युच्यते " आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् " [ यजुस्सं. ३१।१८ ] इत्यादिभिः । तथा "प्रज्ञानं ब्रह्म" [ ऐ. उ. ५।३ ] "तद्विजिज्ञासस्व " [ तै. उ. ३।१ ] इत्यादिभिर्ज्ञानं ज्ञेयं च तदेवोच्यते । तथा " यो वेद निहितं गुहायाम् " [ तै. उ. २।१ ] " आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः " [ श्वे.उ. ३।२० ] ' सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः ' [ १५।१५ ] ' अहमात्मा गुडाकेश ! सर्वभूताशयस्थितः ' [ १०।२० ]इत्यादिभिस्तदेव सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि स्थितमित्युच्यते । यद्येवं किमिति न सर्वैर्ज्ञायते ? तत्राह— ज्ञानगम्यमिति । ' अमानित्वमदम्भित्वम् ' [ १३।८ ]इत्यादिलक्षणेन पूर्वोक्तज्ञानसाधनेन ग्राह्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— ज्योतिषामिति । प्रकाशकानां चेतनानां च तन्मूलं ज्योतिरध्यात्मरूपं प्रकाशकं । अतएवोक्तं—' चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे' [भाग.३।२८।२८] इति । तमसः प्रकृतेः परं "तम आसीत्तमसा गूहळमग्रे प्रकेतं " [ ऋक्सं. ८।७।१७।३ ] इति श्रुतावप्युच्यते । अन्तर्यामिपदं च तदित्याह— हृदि सर्वस्य धिष्ठितमिति स्पष्टम् । ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं चैतन्यं ज्ञानसाधनं अमानित्वादिरूपं वा । तत्तु ज्ञेयं च तज्ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य धिष्ठितम् ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— ज्योतिषामिति । ज्योतिषां रविचन्द्रादीनामन्यप्रकाशमानानामपि तदेव ज्योतिः प्रकाशकमित्यर्थः । अत्रायं भावः– " न तत्र सूर्यो भाति " [ कठो. ५।१५ श्वे. उ. ६।१४ मुण्ड. २।२।१० ] इत्यादिश्रुत्या तत्रैतेषामभानमुक्तं, तथाच तत्प्रकटनवैयर्थ्यं स्यात्तदर्थं तत्प्रकाशनेन तत्र शोभादिकारकमित्यर्थः। अन्यथाऽन्यत्र सर्वप्रकाशकत्वमपि न भवेत् [ इति ] । तर्हि मुख्यतमोरूपं सर्वप्रकाश्यत्वेन भविष्यतीत्यत आह— तमसः परमिति । तमसः मुख्यतमसोऽपि परम् उपरि उत्कृष्टं वा उच्यते श्रूयते इत्यर्थः । अतएव श्रुतिरपि– " तमसा गूढमग्रे प्रकेतम् " [ ऋक्सं. ८।७।१७।३ ] इत्याह । ननु स्वप्रकाश्यत्वे स्वस्यैव नानास्वरूपात्मके सर्वेषां कथं न तज्ज्ञानं ? इत्यत आह— ज्ञानमिति । ज्ञानबुद्धिवृत्त्यभिव्यक्त्यात्मकं च तदेव । तेन यत्र ज्ञापनेच्छा तत्रैव तद्रूपेणाविर्भवतीत्यर्थः। तथैव ज्ञेयं ज्ञेयरूपेणाविर्भूतमित्यर्थः । तथापि पुरुषोत्तमगृहात्मकमेवेत्याह— ज्ञानगम्यमिति । ज्ञाने ज्ञानेन पूर्वोक्तरूपेण गम्यं प्राप्यं तेनाऽक्षरात्मकत्वं ज्ञापितम् । ननु पूर्वं ज्ञानरूपत्वेन सर्वागम्यत्वमुक्तं तत्कथं ज्ञानगम्यं ? इत्याह— हृदीति । सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितम् , अधिष्ठितमित्यर्थः। सर्वप्रेरकत्वेन स्थितं तेन यत्र तथेच्छा तत्र ज्ञानरूपेणाविर्भवति, यत्र न ज्ञापनेच्छा तत्राऽऽच्छादकत्वेन भवतीति भावः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं ज्ञेयस्य तटस्थलक्षणमुक्त्वा स्वरूपलक्षणमाह— ज्योतिषामिति । ज्योतिषां बाह्यानामादित्यादीनामान्तराणां च बुद्ध्यादीनामितरावभासकानामपि तज्ज्ञेयं ब्रह्म ज्योतिरवभासकं चैतन्यज्योतिषो जडज्योतिरवभासकत्वोपपत्तेः । तथा च श्रुतयः— " येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः " [ तै. आ. ३।१२।९ ] " तस्य भासा सर्वमिदं विभाति " [ कठो. ५।१५ श्वे. उ. ६।१४ मुण्ड. २।२।१० ] इत्याद्याः । वक्ष्यति च— ' यदादित्यगतं तेजः ' [ १५।१२ ]इत्यादि । तमसोऽज्ञानात् भूतग्रामप्रसवहेतोः परं दूरस्थं तदुच्यते । ननु यथा चान्द्रस्य ज्योतिषोऽवभासकं तत्सजातीयं सौरं ज्योतिरिति ज्योतिश्शास्त्रे प्रसिद्धम् । एवं सौरादिज्योतिषामप्यवभासकं किञ्चित्तत्सजातीयं ज्योतिरलौकिकं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— ज्ञानमिति । केवलज्ञप्तिमात्रशरीरं यज्ज्योतिः, न तु भौतिकं, तदेव ज्ञेयं वस्तु आवृतत्वात् ज्ञानेन प्राप्तुमिष्टतमम् । कुतस्तर्हि तज्ज्ञानं ? अत आह— ज्ञानगम्यमिति । यतस्तज्ज्ञानेनामानित्वादिना ज्ञानसाधनेन गम्यं प्राप्यम् । किं तर्हि ग्रामान्तरवद्देशव्यवहितं वा बाल्ययौवनाद्यवस्थान्तरवत् कालव्यवहितं वा तत्प्राप्यमस्ति ? इत्यत आह— हृदि सर्वस्य धिष्ठितमिति ; स्वात्मभूतमेव तदन्तर्दृष्टीनां सम्यक् प्रकाशत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

क्षेत्रादिज्ञातुः फलम् ।

## इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

---

१ तथा पुरस्तात्तत्क्षेत्रं सविकारमुदाहृतम् । इदानीं तु तदेवोक्तं ज्ञानज्ञेयसमन्वितम् ॥
सविकारं स्वर्नरकप्रदत्वादधर्मं यथा । तथा सज्ञानमुत्कृष्टं ज्ञेयावगमसाधनम् ॥—

## मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १९ ॥

१ शां. भा.— यथोक्तार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोक आरभ्यते— **इति क्षेत्रमिति**। इत्येवं क्षेत्रं महाभूतादि धृत्यन्तं [१३।६–७]तथा ज्ञानममानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनपर्यन्तं [१३।८–१२]; ज्ञेयं च 'ज्ञेयं यत्तत्' इत्यादि 'तमसः परमुच्यते' [१३।१३–१८] इत्येवमन्तमुक्तं, समासतः सङ्क्षेपतः। एतावान्सर्वो हि पदार्थो (वेदार्थः) गीतार्थश्चोपसंहृत्योक्तः। अस्मिन्सम्यग्दर्शने कोऽधिक्रियते? इत्युच्यते— मद्भक्तो मयीश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ वासुदेवे समर्पितसर्वात्मभावो यत्पश्यति शृणोति स्पृशति वा 'सर्वमेव भगवान् वासुदेवः' इत्येवं ग्रहाविष्टबुद्धिर्मद्भक्तः, स एतद्यथोक्तं सम्यग्दर्शनं विज्ञाय मद्भावाय मम भावो मद्भावः परमात्मभावस्तस्मै मद्भावायोपपद्यते मोक्षं गच्छति ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— त्वमर्थशुद्ध्यर्थं सविकारं क्षेत्रं पद वाक्यार्थविवेकसाधनं चामानित्वादि तत्पदार्थं च शुद्धं तद्भावोक्त्यर्थमुक्त्वा तेषां फलमुपसंहरति— **यथोक्तेति**। पूर्वार्धं विभजते— **इत्येवमिति**। वक्तव्यान्तरे सति किमिति त्रितयमेव सङ्क्षिप्योपसंहृतं? तत्राऽऽह— **एतावानिति**। उत्तरार्धमाकाङ्क्षाद्वाराऽवतारयति— **अस्मिन्निति**। ईश्वरे समर्पितसर्वात्मभावमेवाभिनयति— **यत्पश्यतीति**। विज्ञाय लब्ध्वेत्यर्थः ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— एवं 'महाभूतान्यहङ्कारः' [१३।६] इत्यादिना 'सङ्घातश्चेतनाधृतिः' [१३।७] इत्यन्तेन क्षेत्रतत्त्वं समासेनोक्तम्; 'अमानित्वम्' [१३।८] इत्यादिना 'तत्त्वज्ञानार्थचिन्तनम्' [१३।१२] इत्यन्तेन ज्ञातव्यस्यात्मतत्त्वस्य ज्ञानसाधनमुक्तम्; 'अनादि मत्परम्' [१३।१३] इत्यादिना 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्' [१३।१८] इत्यन्तेन ज्ञेयस्य क्षेत्रज्ञस्य याथात्म्यं च सङ्क्षेपेणोक्तम्; मद्भक्त एतत् क्षेत्रयाथात्म्यं, क्षेत्राद्विविक्तात्मस्वरूपप्राप्त्युपाययाथात्म्यं क्षेत्रज्ञयाथात्म्यं च विज्ञाय, मद्भावायोपपद्यते मम यो भावः स्वभावः असंसारित्वम्, असंसारित्वप्राप्तये उपपन्नो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.— उपसंहरन्नुक्तयाथात्म्यज्ञानस्य फलं चाह— 'इति' इति श्लोकेन। प्रकृतपरामर्शिन एतच्छब्दस्य विशेषकाभावात्प्रकृतार्थत्रयविषयत्वमाह **क्षेत्रयाथात्म्यमि**त्यादिना। 'मद्भावाय' इत्यत्र साम्यश्रुत्यादिविरुद्धतादात्म्यभ्रमव्युदासायाह **मम यो भावः स्वभाव** इति। नित्यसिद्धज्ञानत्वादिस्वभावव्यवच्छेदायाह **असंसारित्वमिति**। 'उपपद्यते' इत्यस्य ज्ञानजन्ययोग्यतायां तात्पर्यमुपपन्नशब्देन दर्शितम् ॥ १९ ॥

५ आ. आ. भा.— विकारान्तर्भावाज्ज्ञानसाधनं प्रथमत उक्तम्। बहुत्वात्साधनात्युपयोगात् प्रभावः ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु ब्रह्मणि प्रतिपादिते केन साधनेनेदं बुद्ध्यारूढं भवेत्? इत्याकाङ्क्षायां साधनं पश्चाद्वक्तव्यं तत्कुतः प्रथमत उक्तं? इत्यत आह— **विकारेति**। विकारेष्वन्तर्भावं ज्ञापयितुं तदनन्तरमुपोद्घातप्रक्रिययोक्तमिति भावः। उद्देशक्रमानुसारेण 'यतश्च यत्' [१३।४] इति प्रथममनुक्त्वा 'स च यो यत्प्रभावश्च' [१३।४] इत्येतत्कुत उक्तमित्यत आह— **बहुत्वादि**ति। सूचीकटाहनिर्माणादौ बहुत्वस्य प्राथम्यव्यभिचाराद्धेत्वन्तरोक्तिः। अलौकिकस्य प्रभावस्य बुद्ध्यारोहे हि साधनानामत्युपयोगः, न तु तावान् लौकिकस्य प्रेरकत्वस्यानुभवारोह इति ज्ञापयितुं ज्ञानसाधनानन्तरमेव प्रभाव उक्तः। तत्प्रसङ्गेन चेति भावः ॥ १९ ॥

७ ह. पै. भा.— मद्भावाय मम भावायोपपद्यते मोक्षं गच्छति ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— उपदिष्टमर्थमुपसंहरति— इतीति। इत्येवं क्षेत्रम् 'महाभूतानि' [१३।६] इत्यादि 'चेतना धृतिः' [१३।७] इत्यन्तम्, तथा ज्ञानम् 'अमानित्वम्' [१३।८] इत्यादि 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' [१३।१२

---

— अवमं चोत्तमं चैवं क्षेत्रं क्षेत्रमिव स्थितम्। बीजोप्यनुगुणं यत्र फलं भवति निश्चितम् ॥ — इति **वामनः**।
एतेन सप्तकेन 'स च यो यत्प्रभावश्च' (१३।४) इति द्वयं विवृतमित्येके। एतद्द्वयं 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि' (१३।२२ 'उपद्रष्टा' (१३।२३) इति श्लोकद्वयेन विवरिष्यते। ज्ञेयस्वरूपकथनमिदम्— **इत्यन्ये** — **अविगीता**।

इत्यन्तम् , ज्ञेयं च 'अनादिमत्परम्' [ १३।१३ ] इत्यादि 'सर्वस्य हृदि धिष्ठितम्' [ १३।१८ ] इत्यन्तं समासतः सङ्क्षेपेण मया तुभ्यमुक्तम् । एतावानेव हि सर्ववेदार्थो गीताशास्त्रार्थश्च ; अत्र च मद्भक्त एवाधिकारीत्याह— मद्भक्त इति । एतच्च मद्भक्तो विज्ञाय मद्भावाय ब्रह्मत्वायोपपद्यते योग्यो भवति; "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" [ मुं. उ.३।२।९ ] "स एव तदभवत्" इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०—'प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत्पुरा । यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीरितम्' इतीति । 'महाभूतान्यहङ्कारः' इत्यादिना 'सङ्घातश्चेतना धृतिः' [ १३।६;७ ] इत्यन्तेन क्षेत्रतत्त्वं समासेनोक्तं, 'अमानित्वं' [ १३।८-१२ ]इत्यादिना 'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' इत्यन्तेन ज्ञानं, 'ज्ञेयम्' [१३।१८] इत्यादिना ज्ञेयं तत्तदप्यात्मतत्त्वस्य ज्ञानसाधनमुक्तं, 'अनादिमत्परं' [ १३।१३ ] इत्यादिना च 'हृदि सर्वस्य धिष्ठितं' [१३।१८] इत्यन्तेन ज्ञेयस्य च ब्रह्मणोऽक्षरात्मत्वं सङ्क्षेपेणोक्तम् । इदं सर्वं मद्भक्तिमानेव विज्ञाय मद्भावाय मद्गुणवत्त्वायोपपन्नो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— उपसंहरति- इतीति । इति अमुना प्रकारेण 'महाभूतानि' [ १३।६ ]इत्यादिना क्षेत्रं 'अमानित्वं' [ १३।८ ]इत्यादिना ज्ञानं 'अनादिमत्परं ब्रह्म' [ १३।१३ ] इत्यादिना ज्ञेयं, चकारेण सर्वमक्षरात्मकं समासतः सङ्क्षेपेण सौकर्यबोधार्थमुक्तम् । यदर्थमुक्तं तदाह— मद्भक्त इति । एतदुक्तरूपं विज्ञाय विशेषेण मद्विभूत्यक्षरात्मकं ज्ञात्वा मद्भक्तो मद्भजनशीलः सन् मद्भावाय भावात्मकस्वरूपलाभाय उपपद्यते योग्यः समर्थो वा भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— उक्तमर्थजातमुपसंहरति— इतीति । क्षेत्रं महाभूतादिधृत्यन्तम् , [१३।६-७] ज्ञानं ज्ञानसाधनममानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम् , [ १३।८-१२ ] ज्ञेयं 'अनादिमत्परं' [ १३।१३ ] इत्यादि 'धिष्ठितम्' [१३।१८] इत्यन्तं श्रुतिभ्यः स्मृतिभ्यश्च समासतः सङ्क्षेपत उक्तम् । मद्भक्त एतत्त्रयं विज्ञाय मद्भावाय ब्रह्मभावायोपपद्यते युक्तो भवति, भक्त्यैव प्राप्यं ब्रह्म यत्प्राप्य ब्रह्मैव भवति । तथा च श्रुतिः- "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ॥ तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः" [ श्वे. उ. ६।२३ ] इति । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" [ मुण्डो. ३।२।९ ] इति च ॥ १९ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञापरपर्यायस्य प्रकृतिद्वयस्य जगद्धेतुत्वम् ।

**प्रकृतिं[१] पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।**
**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ २० ॥**
**कार्यकरणकर्तृत्वे[१] हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।**
**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २१ ॥**

---

१ प्रकृतिशब्देन चेतनाचेतनप्रकृत्योः, पुरुषशब्देन जीवपरयोर्ग्रहणायोभावपीत्युक्तम् । द्वे प्रकृती द्वौ पुरुषौ चानादी विद्धि इति **विद्याधिराजः** । **नव्यास्तु**- 'एतावत्पर्यन्तं यदुपनिषदनुसारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञज्ञानमुक्तम् , तदेवेदानीं साङ्ख्यपरिभाषया तदभिमतं द्वैतं विहाय प्रकृतिपुरुषविवेकरूपेण वक्तुमुपक्रमते' इति श्लोकमिममवतारयन्ति । तदसत् ; अत्र प्रतिशरीरं भिन्नस्य पुरुषस्य जडायाः परिणामिन्याः प्रकृतेश्च ग्रहणाभावात् । न ह्यत्र साङ्ख्याभिमतोऽव्यापकः परिच्छिन्नः पुरुषो वर्ण्यते, किन्तु- 'उपद्रष्टाऽनुमन्ता च कर्ता भोक्ता महेश्वरः । परमात्मेति चाप्युक्तः पुरुषः' ( १३।२२ ) । एतादृशश्चासावौपनिषद एव, 'एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः' (प्रश्नो. ४।९) 'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः' ( मुं. २।१।२ ) 'पुरुष एवेदं विश्वं' ( मुं. २।१।१० ) इत्यादिदर्शनात । साङ्ख्यैस्तु- 'जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वं' ( सां. सू. १।१।४९ ) स्वीकृतमिति भिन्न एव तेषां पन्थाः । प्रकृतिरप्यत्र 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' ( श्वे. ४।१० ) इति श्रुत्युक्ता मायैव, न साङ्ख्यपरिगृहीता प्रधानाख्या; 'तत एव च विस्तारं' ( १३।३० ) इति ब्रह्मकारणताया एव पुरस्कृतत्वात् । तथा चात्र प्रकृतिपुरुषावुपनिषत्सिद्धान्तगम्यौ मायामायाविनावेव विवक्षितौ, न साङ्ख्यकल्पिताविति व्यक्तमेव वेदान्तविदाम् । अतः 'साङ्ख्यवेदान्तौ सङ्गमयति' 'प्रकृतिपुरुषयोरिदमन्योन्यसम्बन्धस्य भेदस्य च वर्णनं साङ्ख्यशास्त्रोक्तम्' इत्यादि सर्वमप्यत्रत्यमनधिगतसम्प्रदायानां प्रकृतिपुरुषशब्दश्रवणमात्रेण भ्रान्तानां प्रतिपादनमुपेक्ष्यमेव ॥ — अविगीता ।

१ अत्र- 'भगवतः सर्वकर्तृत्वेऽपि चित्प्रकृतिभोक्तृत्वप्रदाने स्वप्रवृत्तिमपेक्ष्य कार्यकारणकर्तृत्वेऽधिकप्रवृत्तिमती । पुरुषो विष्णुः सर्वकर्तापि जीवं प्रति भोक्तृत्वदाने देव्या अल्पवृत्तित्वात्स्वयमेव सुखादिभोक्तृत्वे हेतुरिति विभागेनोभयोः कर्तृत्वव्यपदेशो युज्यते । अत एवोच्यत इत्यर्धद्वयेऽप्युक्तम् । - इति **मध्वमतानुवर्तिनी** । — अविगीता ।

१ शां. भा.— तत्र सप्तमे [ श्लो. ५ ] ईश्वरस्य द्वे प्रकृती उपन्यस्ते परापरे क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणे। 'एतद्योनीनि भूतानि' [ ७।७ ] इति चोक्तम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वययोनित्वं कथं भूतानां? इत्ययमर्थोऽधुनोच्यते— प्रकृतिं पुरुषं चैवेश्वरस्य प्रकृती, तौ प्रकृतिपुरुषावुभावप्यनादी विद्धि। न विद्यत आदिर्ययोस्तावनादी। नित्येश्वरत्वादीश्वरस्य तत्प्रकृत्योरपि युक्तं नित्यत्वेन भवितुम्। प्रकृतिद्वयवत्त्वमेव हीश्वरस्येश्वरत्वम्। याभ्यां प्रकृतिभ्यामीश्वरो जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयहेतुः, ते द्वे अनादी सत्यौ संसारस्य कारणम्। नाऽऽदी अनादी इति तत्पुरुषसमासं केचिद्वर्णयन्ति, तेन हि किलेश्वरस्य कारणत्वं सिद्ध्यति। यदि पुनः प्रकृतिपुरुषावेव नित्यौ स्यातां, तत्कृतमेव जगत्, नेश्वरस्य जगतः कर्तृत्वमिति। तदसत्, प्राक्प्रकृतिपुरुषयोरुत्पत्तेरीशितव्याभावादीश्वरस्यानीश्वरत्वप्रसङ्गात्, संसारस्य निर्निमित्तत्वेऽनिर्मोक्षत्वप्रसङ्गात्, शास्त्रानर्थक्यप्रसङ्गात्, बन्धमोक्षाभावप्रसङ्गाच्च। नित्यत्वे पुनरीश्वरप्रकृत्योः सर्वमेतदुपपन्नं भवेत्। कथं? विकारांश्च गुणांश्चैव वक्ष्यमाणान्विकारान्बुद्ध्यादिदेहेन्द्रियान्तान् गुणांश्च सुखदुःखमोहप्रत्ययाकारपरिणतान्विद्धि जानीहि। प्रकृतिसम्भवान् प्रकृतिरीश्वरस्य विकारकारणशक्तिस्त्रिगुणात्मिका माया, सा सम्भवो येषां विकाराणां गुणानां च, तान्विकारान्गुणांश्च विद्धि प्रकृतिसम्भवान् प्रकृतिपरिणामान्॥ २०॥

२ आ. शां. व्या.— प्रकृतिमित्यादि वक्ष्यमाणमनन्तरपूर्वग्रन्थसम्बन्धीत्याशङ्क्य व्यवहितेन सम्बन्धार्थं व्यवहितमनुवदति— तत्रेति। तयोश्च प्रकृत्योरुक्तं भूतकारणत्वमित्याह— एतदिति। भूतानामिव प्रकृत्योरपि प्रकृत्यन्तरापेक्षयाऽनवस्थानान्न भूतयोनितेति शङ्कते— क्षेत्रेति। तत्राकृताभ्यागमादिवारणाय बन्धस्य निदानज्ञानार्थमात्मनो विक्रियावत्त्वादिदोषनिरासार्थं च प्रकृतिपुरुषयोरनादित्वं क्षेत्रत्वेनोक्तानां प्रकृतिं प्रति विकारभावं च दर्शयति— अयमर्थ इति। 'स च यो यत्स्वभावश्च' [ १३।४ ] इत्युद्दिष्टं व्याचष्टे— प्रकृतिमिति। ईश्वरस्यापरा प्रकृतिरत्र प्रकृतिशब्देनोक्ता; परा तु प्रकृतिर्जीवाख्या पुरुषशब्देन विवक्षितेति व्याकरोति— ईश्वरस्येति। तयोरनादित्वं व्युत्पादयति— नेत्यादिना। तत्र युक्तिमाह— नित्येश्वरत्वादिति। ईश्वरस्योक्तप्रकृतिद्वयवत्त्वं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— प्रकृतीति। तस्य जगज्जन्मादौ स्वातन्त्र्यमेवेश्वरत्वं, न प्रकृतिद्वयवत्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह— याभ्यामिति। प्रकृत्योरनादित्वं कुत्रोपयुक्तं? इत्याशङ्क्याऽऽह— ते इति। मतान्तरमाह— नेत्यादिना। तयोर्मूलकारणत्वाभावे कस्य तदेष्टव्यं? इत्याशङ्क्याऽऽह— तेन हीति। प्रकृत्योरेव मूलकारणत्वे श्रुतिस्मृतिसिद्धमीश्वरस्य तथात्वं न स्यादित्याह— यदीति। प्रकृतिद्वयस्य कार्यत्वपक्षं प्रत्याह— तदसदिति। किञ्च प्रकृतिद्वयमनपेक्ष्येश्वरस्य संसारहेतुत्वे स्वातन्त्र्यान्मुक्तानामपि ततः संसाराप्तेरनिषेधान्मोक्षशास्त्राप्रामाण्यान्न तस्यैव संसारहेतुतेत्याह— संसारस्येति। निर्निमित्तत्वं प्रकृतिद्वयापेक्षामृते परस्यैव निमित्तत्वमिति यावत्। किञ्च कार्यत्वे प्रकृत्योस्तदुदयात्पूर्वं बन्धाभावे तद्विश्लेषात्मनो मोक्षस्याभावात्कदाचिदुभयाभावे पुनस्तदप्रसङ्गान्न प्रकृतिद्वयस्य कार्यतेत्याह— बन्धेति। प्रकृत्योर्मूलकारणत्वे नानुपपत्तिरित्याह— नित्यत्व इति। स्वपक्षे दोषाभावं प्रश्नपूर्वकं प्रपञ्चयति— कथमित्यादिना। सम्भवः सत्ताप्रापको हेतुः। प्रकृतेरनादित्वे विकाराणां गुणानां च तत्कार्यत्वादात्मनो निर्विकारत्वं निर्गुणत्वं च सिध्यतीति भावः॥ २०॥

१ शां. भा.— के पुनस्ते विकारा गुणाश्च प्रकृतिसम्भवाः? इत्याह— कार्येति। कार्यकरणकर्तृत्वे कार्यं शरीरं करणानि तत्स्थानि त्रयोदश, देहस्याऽऽरम्भकाणि भूतानि, पञ्च विषयाश्च प्रकृतिसम्भवा विकाराः पूर्वोक्ता इह कार्यग्रहणेन गृह्यन्ते। गुणाश्च प्रकृतिसम्भवाः सुखदुःखमोहात्मकाः करणाश्रयत्वात्करणग्रहणेन गृह्यन्ते, तेषां कार्यकरणानां कर्तृत्वमुत्पादकत्वं, यत्तत्कार्यकरणकर्तृत्वं तस्मिन्कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः कारणमारम्भकत्वेन प्रकृतिरुच्यते। एवं कार्यकरणकर्तृत्वेन संसारस्य कारणं प्रकृतिः। 'कार्यकारणकर्तृत्वे' इत्यस्मिन्नपि पाठे— कार्यं, यद्यस्य विपरिणामस्तत्तस्य कार्यं विकारः, विकारि कारणं तयोर्विकारविकारिणोः कार्यकारणयोः कर्तृत्व इति। अथवा षोडश विकाराः कार्यं, सप्त प्रकृतिविकृतयः कारणं; तान्येव कार्यकारणान्युच्यन्ते। तेषां कर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यत आरम्भकत्वेनैव।

२ आ. शां. व्या.— विकाराणां गुणानां प्रकृतेश्च स्वरूपमाकाङ्क्षाद्वारा निर्णेतुमुत्तरश्लोकपूर्वार्धं पातयति— **के पुनरि**ति। पुरुषस्यानादित्वकृतं बन्धहेतुत्वमाह— **पुरुष** इति । पूर्वार्धं व्याचष्टे— **कार्यमि**त्यादिना । ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं मनोबुद्धिरहङ्कारश्चेति त्रयोदश करणानि । तथापि भूतानां विषयाणां चाग्रहणात्कथं तेषां प्रकृतिकार्यता? इत्याशङ्क्याऽऽह— **देहस्ये**ति । तथापि गुणानामिहाग्रहणान्न प्रकृतिकार्यत्वं, तत्राऽऽह— **गुणाश्चे**ति । उक्तरीत्या निष्पन्नमर्थमाह— **एवमि**ति। पाठान्तरमनूद्य व्याख्यापूर्वकमर्थभेदमाह— **कार्ये**त्यादिना । व्याख्यान्तरमाह— **अथवे**ति। एकादशेन्द्रियाणि पञ्च विषया इति षोडशसङ्ख्याको विकारोऽत्र कार्यशब्दार्थः। महानहङ्कारो भूततन्मात्राणीति प्रकृतिविकृतयः सप्त कारणं, तेषामारम्भकत्वेन कर्तृत्वेन हेतुराश्रयो मूलप्रकृतिरित्यर्थः।

**१ शां. भा.— पुरुषश्च संसारस्य कारणं यथा स्यात्तदुच्यते- पुरुषो जीवः क्षेत्रज्ञो भोक्तेति पर्यायः, सुखदुःखानां भोग्यानां भोक्तृत्वे उपलब्धृत्वे हेतुरुच्यते। कथं पुनरनेन कार्यकरणकर्तृत्वेन सुखदुःखभोक्तृत्वेन च प्रकृतिपुरुषयोः संसारकारणत्वमुच्यते? इति । अत्रोच्यते— कार्यकरणसुखदुःखरूपेण हेतुफलात्मना प्रकृतेः परिणामाभावे पुरुषस्य च चेतनस्यासति तदुपलब्धृत्वे कुतः संसारः स्यात्?। यदा पुनः कार्यकरण(सुखदुःख)रूपेण हेतुफलात्मना परिणतया प्रकृत्या भोग्यया पुरुषस्य तद्विपरीतस्य भोक्तृत्वेनाविद्यारूपः संयोगः स्यात्तदा संसारः स्यादिति। अतो यत्प्रकृतिपुरुषयोः कार्यकरणकर्तृत्वेन सुखदुःखभोक्तृत्वेन च संसारकारणत्वमुक्तं तद्युक्तमुक्तम्। कः पुनरयं संसारो नाम? सुखदुःखसम्भोगः संसारः पुरुषस्य च सुखदुःखानां सम्भोक्तृत्वं संसारित्वमिति॥ २१॥**

२ आ. शां. व्या.— उत्तरार्धस्य तात्पर्यमाह— **पुरुषश्चे**ति। तस्य परमात्मत्वं व्यवच्छिनत्ति— **जीव** इति। तस्य प्राणधारणनिमित्तस्य तदर्थं चेतनत्वमाह— **क्षेत्रज्ञ** इति। तस्यानौपाधिकत्वं वारयति— **भोक्ते**ति। तयोः संसारकारणत्वमुपपादयितुं शङ्कते— **कथमि**ति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तयोस्तथात्वमित्याह— **अत्रे**ति। तत्र व्यतिरेकं दर्शयति— **कार्ये**ति। न हि नित्यमुक्तस्याऽऽत्मनः स्वतः संसारोऽस्तीत्यर्थः। इदानीमन्वयमाह— **यदे**ति। अन्वयादिफलमुपसंहरति— **अत** इति। आत्मनोऽविक्रियस्य संसरणं नोचितमित्याक्षिपति— **कः पुनरि**ति । सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारो भोगः, स चाविक्रियस्यैव द्रष्टुः संसारस्तथाविधभोक्तृत्वमस्य संसारित्वमित्युत्तरमाह— **सुखे**ति । श्लोकव्याख्यासमाप्ताविति शब्दः॥ २१॥

**३ रा. भा.— अथात्यन्तविविक्तस्वभावयोः प्रकृत्यात्मनोः संसर्गस्यानादित्वं संसृष्टयोर्द्वयोः कार्यभेदः संसर्गहेतुश्चोच्यते— प्रकृतिमिति। प्रकृतिपुरुषावुभावन्योन्यसंसृष्टावनादी इति विद्धि। बन्धहेतुभूतान् विकारान् इच्छाद्वेषादीन्, अमानित्वादिकांश्च गुणान् मोक्षहेतुभूतान् प्रकृतिसम्भवान् विद्धि। पुरुषेण संसृष्टेयमनादिकालप्रवृत्ता क्षेत्राकारपरिणता प्रकृतिः स्वविकारैरिच्छाद्वेषादिभिः पुरुषस्य बन्धहेतुर्भवति, सैवामानित्वादिभिः स्वविकारैः पुरुषस्यापवर्गहेतुर्भवतीत्यर्थः॥ २०॥**

४ वे. ता. चं.— अथ 'बन्धहेतुः' इत्यनेन सङ्गृहीतं 'प्रकृतिं पुरुषम्' इत्यारभ्य विवेकानुसन्धानात्पूर्वस्यार्थं विविनक्ति— **अथे**ति। **संसर्गहेतुश्चे**ति प्रवाहानादेः संसर्गस्य निमित्तमित्यर्थः। 'उभावनादी' इत्यत्र 'प्रकृतिं पुरुषं च' इतीतरेतरयोगपरचकारेण लब्धं विशेषं दर्शयति— **प्रकृतिपुरुषावुभावन्योन्यसंसृष्टावि**ति। तदपेक्षया द्विवचनान्तप्रयोग उपपन्नः। **प्रकृतिपुरुषावि**त्यत्र 'परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' [अष्टा. २।४।२६] इति पुल्लिङ्गत्वम्। तद्विशेषणत्वात् 'उभावनादी' इत्यनयोरपि तल्लिङ्गतैव। 'इच्छा द्वेषः' इत्यादिना 'अमानित्वम्' [१३।७,८] इत्यादिना च निर्दिष्टा यथाक्रमं विकारगुणशब्दाभ्यामनूद्यन्त इति दर्शयति **बन्धहेतुभूतानि**ति। 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि' [१३।४] इति प्रकरणोपक्रमे विकारशब्दः क्षेत्रकार्यमात्रपरः, तत्प्रत्यभिज्ञानाच्चात्रापि विकारशब्दस्तद्विषयः। अतः प्रकरणबलान्न महदादिविकारपरत्वम् । तत्साहचर्याच्च गुणशब्दस्यापि प्राकरणिकार्थविषयत्वौचित्यात्, सत्त्वादिगुणविषयत्वमयुक्तमिति भावः। 'विकारांश्च गुणांश्च' इति भेदोक्तिनिदानज्ञापनाय बन्धमोक्षहेतुत्वेन वचनम्। हेयोपादेयगुणवर्गद्वयोपदेशो हानोपादानार्थतया सप्रयोजनः; तस्य प्रकृतिसम्भवत्वोपदेशस्तु किमर्थः? इति शङ्कायामुच्यमानतया ज्ञातव्यार्थे 'विद्धि' इत्यधिकोक्त्यभिप्रेतमाह— **पुरुषेणे**ति। प्रकृतेरेवाकारभेदेन हेयत्वोपादेयत्वज्ञापनार्थस्तत्सम्भवत्वोपदेश इति भावः। **स्वविकारैरि**त्यमानित्वादीनां विकारत्वभाषणं 'प्रकृतिसम्भवान्' इत्युक्तप्रकृतिकारणत्वाविशेषाद्गोबलीवर्दनयसूचनार्थम्॥ २०॥

**३ रा. भा—** संसृष्टयोः प्रकृतिपुरुषयोः कार्यभेदमाह—**कार्यकारणेति** । कार्यं शरीरं, कारणानि ज्ञानकर्मात्मकानि समनस्कानीन्द्रियाणि, तेषां क्रियाकारित्वे पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरेव हेतुः, पुरुषाधिष्ठित-क्षेत्राकारपरिणतप्रकृत्याश्रया भोगसाधनभूताः क्रिया इत्यर्थः । पुरुषस्याधिष्ठातृत्वमेव तदपेक्षयाऽधिकं 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ ब्र. सू. २।३।३३] इत्यादिकमुक्तम्; शरीराधिष्ठानप्रयत्नहेतुत्वमेव हि पुरुषस्य कर्तृत्वम्; प्रकृतिसंसृष्टः पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः, सुखदुःखानुभवाश्रय इत्यर्थः ॥ २१ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथान्योन्यसंसृष्टयोः प्रकृतिपुरुषयोः संसर्गविशेषनिबन्धनो व्यापारभेद उच्यते—'**कार्यकारण**' इति श्लोकेन । **कार्यं शरीरमि**ति । प्रकरणात् कारणशब्दस्य समभिव्याहाराच्च अत्र कार्यशब्दो भोगायतनाख्यकार्यविशेषपर इति भावः । 'इन्द्रियाणि दशैकं च' [ १३।६ ] इति इन्द्रियादिप्रकृतविषयोऽत्र कारणशब्द इत्याह **ज्ञानकर्मात्मकानी**ति । एतेन 'कार्यं भूततन्मात्ररूपेण दशविधम्; कारणं बुद्ध्यहङ्काररूपेण त्रयोदशविधम्; तेषां स्वरूपोत्पत्तौ प्रतिक्षणपरिणामे च हेतुर्मूलप्रकृतिः' इत्यादिव्याख्यानान्तराणि निरस्तानि । 'कार्यकरणकर्तृत्वे' इति ( शं. ) परोक्तं पाठान्तरमप्रसिद्धेरनादृतम् । कर्तृशब्दोऽत्र न प्रयत्नावाश्रयत्वपरः, अचेतने तदसम्भवात्; अतो यथास्वं व्यापाराश्रयत्वं विवक्षितमित्याह— **तेषां क्रियाकारित्व** इति । यद्यप्यबुद्धिपूर्वेषु केषुचिन्मनश्श्रोत्रादिव्यापारेषु पुरुषेच्छाधीनत्वं नास्ति, तथापि तेषां पुरुषभोगार्थत्वात् भोक्तृत्वदशापन्नपुरुषसन्निधानरूपमधिष्ठानमपेक्षितम्; बाहुल्येन च प्रयत्नाधीनत्वमस्तीत्यभिप्रायेणाह **पुरुषाधिष्ठिते**ति । विभज्य व्यापारनिर्देशात् **प्रकृतिरेवे**त्यवधारणलाभः ।

ननु पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिरित्ययुक्तं, प्रलयदशायां करणकलेवरविधुरस्य संसारिणः स्वेच्छया प्रकृत्यधिष्ठानासम्भवादित्यत्राह **पुरुषाधिष्ठितक्षेत्राकारपरिणते**ति । भोगतत्साधनयोराश्रयत्वलक्षणं हेतुत्वमिह विविच्यत इत्यभिप्रायेण प्रकृत्याश्रयत्वादिकथनम् । प्रकृतेः कर्तृत्वे 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इत्यादिभिः सूत्रैर्विरोधः स्यादित्यत्राह **पुरुषस्याधिष्ठातृत्वमेवे**ति । यदि पुरुषस्याधिष्ठातृत्वमात्रं, तदा साक्षात्कर्तृत्वं प्रकृतेरेवेति पुरुषस्य कर्तृत्वमौपचारिकं स्यादित्यत्राह **शरीराधिष्ठाने**ति । **अयमभिप्रायः**— न हि प्रयत्नाधीनपरिस्पन्दाश्रयत्वलक्षणं कर्तृत्वं पुरुषस्य सूत्र्यते; तत्र शास्त्रार्थवत्त्वादिहेतुनामन्यथासिद्धेः; नच शरीरादिप्रेरकप्रयत्नाश्रयत्वे कर्तृशब्दस्यौपचारिकता, कृतिप्रयत्नयोः पर्यायत्वात्कृत्याश्रयत्वरूपत्वाच्च कर्तृत्वस्य । ततश्चान्यत्रैव कर्तृत्वमौपचारिकमिति फलितम् । यदि पुनर्यथास्वं व्यापाराश्रयत्वमेव सर्वेषां कर्तृत्वमित्युच्यते; तथापि पुरुषस्य कर्तृत्वं मुख्यमेव ।

ननु 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्ता' इत्ययुक्तम्, शुद्धस्य पुरुषस्य प्रियाप्रियविधुरत्वश्रुतेः । यद्यपि मोक्षे विलक्षणं सुखमनुभूयते, तथापि दुःखप्रसङ्गस्तु नास्त्येवेत्यत्राह— **प्रकृतिसंसृष्ट** इति । "न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" [ छां. उ. ८।१२।१ ] इत्यपि श्रूयत इति भावः । विषयेन्द्रियादिरूपेण परिणतायाः प्रकृतेरपि भोक्तृत्वे हेतुत्वमस्ति; तत्कथं पुरुषो विशिष्य निर्दिश्यते ? इत्यत्राह **सुखदुःखानुभवाश्रय** इति । तत्कालस्वसमवेतसुखदुःखसाक्षात्कारो भोग इति भोगलक्षणमप्यनेन सूचितम् । एतेन निर्विकारपुरुषसन्निधानात् प्रकृतेरेव भोक्तृत्वमिति पक्षो निरस्तः । तदा 'पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्' [ सां. का. १७ ] 'पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य' [ सां. का. २१ ] इत्यादिस्वग्रन्थविरोधश्च । अयं हि पक्षः शारीरके 'रचनानुपपत्तेश्च' [ ब्र. सू. २।२।१ ] इत्यारभ्य 'विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्' [ ब्र. सू. २।२।१० ] इत्यन्तैः सूत्रैर्विस्तरेण प्रतिक्षिप्तः । अत्र च श्लोके यदि प्रकृतेरेव भोक्तृत्वमपि विवक्षितं स्यात्, तदा कर्तृत्वे भोक्तृत्वे च प्रकृतिरेव हेतुरिति वक्तव्यम्; नतु विवेक्तव्यम्; भोक्तृत्वस्यापि कर्तृत्वविशेषत्वात्, 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' [ पू. मी. ३।७।१० ] इति न्यायाच्च ।

न च वाच्यं कर्तृत्वं प्रकृतेः स्वतस्सिद्धं, भोक्तृत्वे तु तस्याः पुरुषो हेतुरिति प्रदर्शनाय विवेक इति; पुरुषनिरपेक्षायाः केवलायाः प्रकृतेः कर्तृत्वस्याप्ययोगादनभ्युपगमाच्च। अन्यथा विशुद्धकेवलज्ञानोदयेऽपि "तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात्सप्तरूपविनिवृत्ताम्" [ सां. का. ६५ ] इत्युक्तसप्तरूपविनिवृत्तिभङ्गप्रसङ्गात् । तथाच मुक्तावपि यथापूर्वमेव प्रकृतिप्रवृत्तिः स्यात् । 'सङ्घातपरार्थत्वात्त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात् । पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात्कैवल्यार्थप्रवृत्तेश्च ॥ जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च । पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव(च) ॥' [ सां. का. १७;१८ ] इत्यधिष्ठानायुगपत्प्रवृत्तिभ्यां पुरुषतद्बहुत्वकल्पनं च भज्येत । अत्र 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्' [ १३।२२ ] इत्यनन्तरोक्तिश्च व्याहन्येतेति भावः ॥ २१ ॥

**५ आ. मा. भा.**—'यतश्च यत्' [ १३।४ ] इति वक्तुं प्रकृतिविकारपुरुषान् सङ्क्षिप्याऽऽह । गुणाः सत्त्वादयः । तेषामत्यल्पो विशेषो लयात्सर्ग इति विकाराः पृथगुक्ताः । "कार्याकार्यगुणास्तिस्रो यतः स्वल्पोद्भवो जनौ" इति माधुच्छन्दसशाखायाम् ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धि' इत्यादिकमप्रतिज्ञातं किमित्युच्यते ? मैवम् । 'यादृक्च' [ १३।४ ] इति प्रतिज्ञातस्य सप्रकारस्य क्षेत्रस्य कथनात् तत्प्रतिज्ञाक्रमेण प्रागेव कुतो नोक्तं ? इत्यत आह— यतश्चेति । 'यतश्च यत्' [ १३।४ ] इति प्रतिज्ञातं प्रेरकस्वरूपं तावत्प्रभावानन्तरं वक्तव्यं प्राप्तम् । तत्र प्रेरकस्य स्वरूपनिरूपणं प्रेर्यज्ञानमपेक्षते । प्रेर्यं च सप्रकारं क्षेत्रम्, प्रेरकस्वरूपं वक्तुं अनेन प्रेरणीयं सप्रकारं क्षेत्रमुच्यते । तस्य प्रागपि वचने गौरवं स्यादिति भावः । तर्हि प्रकृतीत्यादि कथमुच्यते ? ईश्वरातिरिक्तः सर्वोऽपि चेतनाचेतनवर्गः क्षेत्रमित्युच्यते । तत्र प्रकृतिशब्देन 'महाभूतानि' [ १३।६ ] इत्यादिनोक्तानि चतुर्विंशतितत्त्वानि गृह्यन्ते । विकारशब्देनेच्छाद्युपलक्षिताः क्षेत्रान्तर्भूता अपि गुणत्रयाद्याः सर्वे विकारा विवक्षाविशेषवशेन पृथगुपात्ताः । पुरुषशब्देन जीव इति । 'यावत्सञ्जायते' [ १३।२७ ] इत्यादिना पुनर्वक्ष्यमाणत्वात्पुनरुक्तिदोषं परिहर्तुं सङ्क्षिप्येत्युक्तम् । आह सप्रकारान्निरूपयति । गुणाः सुखदुःखमोहा इति [ शं. ] कश्चित् । कार्यकारण॰लक्षणा इत्यन्वयः, तदुभयं निराकर्तुं व्याचष्टे— गुणा इति । ननु सत्त्वरजस्तमसामपि प्रकृतिविकारत्वात् 'विकारांश्च गुणांश्च' इति । पृथगुक्तिः किमर्था ? इत्यत आह— तेषामिति । इति ज्ञापयितुमिति शेषः । विकाराः पृथगुक्ता इति विकाराश्च गुणाश्च पृथगुक्ता इत्यर्थः । कार्याश्च तेऽकार्याश्च । तिस्रस्त्रयः । अनेन सुखाद्यङ्गीकारे विकारेभ्यः पृथग्ग्रहणमयुक्तमित्यपि सूचितम् ॥ २० ॥

**५ आ. मा. भा.— कार्यं शरीरम् । 'शरीरं कार्यमुच्यते' इत्यभिधानम् । कारणानीन्द्रियाणि; भोगोऽनुभवः । स हि चिद्रूपत्वादनुभवति । प्रकृतिश्च जडत्वात्परिणामिनी । 'कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः । भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्' [ ३।२६।८ ] इति भागवते ॥ २१ ॥**

६ ज. प्र. दी.— कारणानामपि कार्यत्वात् पृथगुक्तिर्व्यर्थेत्यतो रूढिमाश्रित्य कार्यकारणशब्दौ व्याख्याति— कार्यमिति । 'भोक्तृत्वे' इत्यत्र प्रकृत्यर्थो भोगोऽभ्यवहारादिसुखादिविषयो न सम्भवति, अत आह— भोग इति । स्वीयतया साक्षात्कार इत्यर्थः । भोगः प्रकृतेरेव न पुरुषस्य, अतः 'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः' इति कथमुक्तं ? इति साङ्ख्याः । तत्राह— स हीति । न तु प्रकृतिः, अचैतन्यादिति शेषः । ननु 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः' इत्युक्तम्, कर्तृत्वं च ज्ञानेच्छाप्रयत्नयोगः; तत्कथं प्रकृतेर्भोगासम्भवः ? इत्यत आह— प्रकृतिश्चेति । चस्त्वर्थः परिणामिकारणत्वात्कर्तृत्वमित्युपचर्यत इति भावः । श्लोकार्थे पुराणसम्मतिमाह— कार्येति । 'कारणं विदुः' इत्युत्तरार्धेऽनुवर्तते ॥ २१ ॥

**७ ह. पै. भा.— प्रकृतिमव्यक्तं पुरुषं क्षेत्रज्ञम् । विकारान् बुद्ध्यहङ्कारतन्मात्रा देहेन्द्रियादींश्च गुणान् सत्त्वादीन्सुखदुःखमोहाकारपरिणतान् । तत्रैव हि त्रयं विभाव्यते । यथार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोक आरभ्यते 'विद्धि प्रकृतिसम्भवान्' इति ॥ २० ॥ तेषां कार्यकारणकर्तृत्वे भोक्तृत्व उपलक्ष्यते ॥ २१ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तदनेन ग्रन्थेन 'तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च' [ १३।४ ] इत्येतद्व्याख्यातम् । इदानीम् 'यद्विकारि यतश्च यत्' [ १३।४ ] इत्येतत्सार्धेन व्याचष्टे— प्रकृतिमिति । प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका पारमेश्वरी मायाशक्तिः क्षेत्ररूपा या सप्तमे पूर्वमपरा प्रकृतिरित्युक्ता । पुरुषस्तु क्षेत्रज्ञो यः पूर्वं परा प्रकृतिरित्युक्तः । तावुभावपि अनादी एव विद्धि, न विद्यते आदिः कारणं ययोस्तावनादी । यस्मात्प्रकृतिरनादिस्तस्मात्तस्याः सकलजगत्कारणत्वं युक्तमित्याह— विकारानिति । पञ्चमहाभूतैकादशेन्द्रियरूपान् षोडश विकारान् गुणांश्च सत्त्वरजस्तमोरूपान् सुखदुःखमोहान् प्रकृतिकारणकान्विद्धि । एतदेवोपपादयति— कार्येति । कार्यं शरीरं करणानीन्द्रियाणि । तेषां कर्तृत्वं नाम तदुत्पादकत्वम्, शरीरेन्द्रियाद्याकारपरिणाम इति यावत् । तत्र प्रकृतिर्हेतुरुच्यते । प्रकृतिपरिणामाः शरीरेन्द्रियाणीत्यर्थः ॥ २० ॥

एवं 'यद्विकारि यतश्च यत्' [ १३।४ ] इत्येतद्व्याख्याय 'स च यो यत्प्रभावश्च' [ १३।४ ] इत्येतत्प्राग्व्याख्यातमेव पुनः प्रपञ्चयति सार्धद्वयेन— पुरुषः क्षेत्रज्ञः परा प्रकृतिरिति प्रागुक्तः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते, भोक्ता भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— अथ 'स च यो यत्प्रभावश्च' [ १३।४ ] इत्येतत्पूर्वप्रतिज्ञातं पुरुषतत्त्वं कथयिष्यन् अत्यन्तविभक्तस्वभावयोः प्रकृत्यात्मनोः कारणस्वरूपादनन्ययोः सफलं सर्वहेतुत्वमाह— पञ्चभिः । तत्र प्रकृतिरात्मव्यतिरिक्ता साङ्ख्यैकदेशिनो मते पुरुषवन्नित्या । भगवदीयसाङ्ख्ये तु भगवतः शक्तिः । साङ्ख्यशास्त्रं तु न भगवन्तं विषयीकरोति तत्प्रवर्तकत्वात्तन्नियामकत्वाच्च । अक्षरादर्वागेव तच्छास्त्रप्रवृत्तेः पञ्चधा भावना अनादिः पुरुषोत्तमोऽक्षरं कालः प्रकृतिपुरुषाविति । इदं मतमाश्रित्यात्र साङ्ख्यसिद्धान्तप्रवृत्तिः, न तु प्राकृतमाश्रित्य । तथाहि— प्रकृतिमिति । पुरुषमिति । उभयत्र सर्वसमष्टिरूपविवक्षयैकवचनम् । एतच्च 'स एव (एषः)

प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः । यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः । विलोक्य सद्यो मुमुहे स इह ज्ञानगूहया ' [ भाग. ३।२६।४,५ ] इति भागवतवाक्येनैकार्थ्यं यति । तत्र कार्यकारणरूपेण प्रकृतिर्द्विविधा, कार्यरूपा जीवात्मोपाधिरविद्यायुक्ता; कारणरूपा माया परमात्मनः । एवं पुरुषोऽपि द्विविधः कारणमंशी मूलपुरुषात्मा, तस्य कार्यं अंशा जीवपुरुषा इति । तत्र स एव पुरुषः प्रकृतिं लीलया क्रीडया हेतुनाऽभ्यपद्यत । कीदृशीं प्रकृतिं ? यदृच्छयैव भगवदिच्छयैवोपगतामिति । तां तं च उभावप्येतौ चिरादधिगम्यमानौ मदंशभूतौ सच्चित्स्वभावौ कारणस्वरूपानन्यत्वादनादी एव विद्धि । बन्धहेतुभूतान्विकारांश्चेच्छाद्वेषादीन् अमानित्वाद्विकारांश्च । गुणानमृतहेतुभूतान्सत्वादीन्श्च प्रकृतिसम्भवाननादीन् विद्धि । सर्गकाले मे मायांशागुणात्मिकाऽचेतना प्रकृतिः पुरुषेण मूलभूताक्षरांशेन संसृष्टा महदहङ्कारभूम्यादिरूपिणी क्षेत्राकारेण विपरिणता अन्तरासृष्ट्या नीहाररूपयाऽविद्ययाऽध्यस्ता प्रकृतिः सविकारैरिच्छाद्वेषादिभिः पुरुषस्य बन्धहेतुः । सैव मायानिर्मितया विद्ययाऽवगताऽमानित्वादिभिः स्वविकारैः पुरुषस्यामृतहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥२०॥

सृष्ट्यां तयोः कार्यभेदमाह— कार्येति । कार्यं बन्धमोक्षरूपं, तस्य कारणरूपा विकारा गुणाश्च एतेषां कर्तृत्वे समुत्पादकत्वे पुरुषाधिष्ठिता प्रकृतिर्हेतुः, ' प्रकृतिसम्भवान् ' [ १३।२० ] इत्युक्तत्वात् । पुरुषस्य तु तदन्तश्चेतयितृत्वमेव तदपेक्षयाऽधिकं ' कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् ' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इत्यादिसूत्रोक्तं क्षेत्राधिष्ठानप्रयत्नहेतुत्वमेव पुरुषस्य कर्तृत्वं प्राकृतवदभ्युपगम्यते । स तु तत्संसृष्टस्तदुद्भूतानां सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः सुखदुःखाद्यनुभवाश्रयः । यद्यप्युभयं क्षेत्रधर्म इति वक्तव्यं तथापि विक्रियाग्रा जडावसानत्वात् क्षेत्रप्राधान्यं भोगस्य चिदवसानत्वदर्शनाच्चेतनाप्राधान्यमित्यर्थः ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— एवं पूर्वप्रतिज्ञातं ' तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च ' [ १३।४ ] इति निरूपितम्; स्वांशत्वेन तत्र क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंज्ञा कथं ? इत्याशङ्क्य ' यद्विकारि ' [ १३।४ ] इत्यादिना पूर्वमेव प्रतिज्ञातं उभयोः स्वरूपं निरूपयति— प्रकृतिमित्याद्यैः पञ्चभिः पद्यैः । प्रकृतिं सर्वजननसमर्थां व्यापकत्वादिधर्मयुतां भगवच्छक्तित्वादनादिं, पुरुषं च तद्रसभोक्तारं भोक्त्रंशरूपं भगवदंशत्वादनादिम्, एवमुभावपि अनादी विद्धि जानीहि । अत्रायं भावः— पूर्वं ब्रह्मप्रकृतिपुरुषरूपेण विचित्ररसभोगार्थमाविर्भूय ततः सर्वं कृतवान्, स्वांशानां जीवानां ज्ञापनार्थं तत्र मोहकस्वभावमायासम्बन्धादन्यथा ज्ञानेन सम्बन्धो भवति, तदभावायाऽनादिस्वभगवच्छक्तिभगवदंशादिज्ञानेन मोहो न भवेदित्यर्थः । एवं तावनादी ज्ञात्वा विकारान् देहेन्द्रियादीन् सेवौपयिकान् गुणान् सुखदुःखमोहात्मकान् प्रकृतिसम्भवानेव विद्धि । अत्रायं भावः कयाचिदवस्थयाऽवस्थितस्वस्वरूपेण स्वरसानुभवार्थं देहादीन् सत्तात्मकान् शक्तितः प्रकटीकरोति, तथैव सङ्गमसुखानुभवविरहदुःखानन्दानुभवासक्त्यात्मकानन्दमोहात्मकान् गुणानपि प्रकटयति, अतस्तथा विद्धि । एवं ज्ञानप्रयोजनं चाग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ २० ॥

एतदेव विशदयति— कार्येति । कार्यस्य स्वरसानुभवात्मकस्य कारणानि देहगुणादीनि तेषां कर्तृत्वे प्रकटकरणे हेतुः प्रकृतिः पूर्वोक्तरूपा शक्तिरुच्यते । तथैव पुरुषः सुखदुःखानां सङ्गमविरहात्मकादीनां भोक्तृत्वे तद्रसज्ञत्वे हेतुः कारणमुच्यते ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं क्षेत्रं शरीराख्यमव्यक्तमुक्तं [ १३।२ ] तत्प्रकाराश्च महदाद्यास्त्रयोविंशतिस्तद्विकारा इच्छादयो ज्ञानाज्ञानशब्दिता अमानित्वमानित्वादयः [१३।८–१२] पुरुषश्च उक्तः [१३।१३] । इदानीं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्मध्ये यस्माद्यज्जायते तच्च क्षेत्रज्ञस्य प्रभावश्चेति द्वयं वक्तव्यं, तत्राद्यं विवृणोति त्रिभिः— प्रकृतिमिति । सप्तमाध्यायेऽष्टधा या प्रकृतिरपरा उक्ता [ श्लो. ४;५ ] साऽत्र प्रकृतिः । या तु जीवभूता परा प्रकृतिरुक्ता साऽत्र पुरुषशब्देनोच्यते । एतौ हि सम्पृक्तौ संसारं जनयतः वियोगश्च तयोर्मोक्षः । तत्र तावुभावप्यनादी विद्धि, तयोरादिमत्त्वे संसारस्याकस्मिकत्वापातात् , कृतहानाकृताभ्यागमप्रसङ्गश्चेत्यन्यत्र विस्तरः । विकारान् इच्छादीन् , गुणान् बुद्धीन्द्रियादींश्च प्रकृतिसम्भवान् विद्धि ॥ २० ॥ उभयोरपि संसारं प्रति कारणत्वे द्वारमाह— कार्येति । कार्यं शरीरं तदारम्भकाणि भूतानि विषयाश्च, कारणं त्रयोदशेन्द्रियाणि तदाश्रिताश्च सुखदुःखमोहात्मका गुणाश्च । करणेति पाठेऽपि स एवार्थः । एतयोः कार्यकारणयोः कर्तृत्वे निमित्ते सति, कर्तृत्वेनेत्यर्थः । हेतुः संसारस्य कारणं प्रकृतिर्भवति । तथा पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वेन संसारस्य हेतुरिति । यदि हि कार्यकारणसुखदुःखस्वरूपहेतुफलात्मना प्रकृतिर्न परिणमेत तदा पुरुषः किमुपलभेत ? अनुपलब्ध्वा वा कथं संसारी स्यात् ? अनुपलब्धृका वा प्रकृतिः कुत्रोपयुज्येत ? तस्मादुपलभ्योपलब्धृसंयोगः संसारकारणमिति यथाभाष्यं व्याख्यातम् । यद्वा पुरुषस्य कार्यत्वे कारणत्वे कर्तृत्वे च प्रकृतिरेव पुरुषतादात्म्यं प्राप्ता हेतुर्भवति ।

वह्निताादात्म्यं प्राप्तं लोहं वह्नेश्चतुष्कोणत्वादाविव हेतुर्भवति, तथा प्रकृतेः सुखदुःखभोक्तृत्वे स्वच्छायाप्रदानेन पुरुषः कारणम्। वह्निरिव लोहस्य स्वच्छायाप्रदानेन दग्धृत्वे। तथा हि कार्यत्वादयः प्राकृतदेहेन्द्रियबुद्धिधर्माः सन्तश्चिदात्मन्यारोप्यन्ते 'गौरोऽहं, मनुष्यपुत्रोऽहं, काणोऽहं, खञ्जोऽहं, करोम्यहं, अकार्षमहं' इति। तथा चिच्छायापन्ना बुद्धिः 'चेतयाम्यहं सुखदुःखादीनुपलभे' इति मन्यते। सोऽयं प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्यधर्माध्यासः संसारस्य कारणमित्युपपादितं भवति। साङ्ख्याभिमतं पुरुषस्य भोक्तृत्वमपि निरस्तं भवति। अन्यथा प्रकृतिः कर्त्री पुरुषो भोक्तेति कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्वैयधिकरण्यमापद्येत। न च भोक्तुः पुरुषस्य निर्विकारत्वमपि वक्तुं शक्यमित्यन्यत्र विस्तरः। 'द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते' इति त्वप्रत्ययस्य पूर्वाभ्यामपि सम्बन्धे कार्यत्वं कारणत्वं कर्तृत्वं चेति विग्रहः। द्वन्द्वैकवद्भावश्च "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" [ अष्टा. २।३।४६ ] इत्यादिवत्॥ २१॥

क्षेत्रज्ञपुरुषस्यौपाधिकं संसारित्वम्।

## पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
## कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥ २२॥

**१ शां. भा.**— यत्पुरुषस्य सुखदुःखानां भोक्तृत्वं संसारित्वमित्युक्तं तस्य तत्किंनिमित्तं? इत्युच्यते— **पुरुष इति**। पुरुषो भोक्ता प्रकृतिस्थः प्रकृतावविद्यालक्षणायां कार्यकरणरूपेण परिणतायां स्थितः प्रकृतिस्थः— प्रकृतिमात्मत्वेन गत इत्येतद्धि यस्मात्तस्माद्भुङ्क्ते उपलभत इत्यर्थः। प्रकृतिजान्प्रकृतितो जातान् सुखदुःखमोहाकाराभिव्यक्तान् गुणान् 'सुखी दुःखी मूढः पण्डितोऽहं' इत्येवम्। सत्यामप्यविद्यायां सुखदुःखमोहेषु गुणेषु भुज्यमानेषु यः सङ्गः आत्मभावः संसारस्य, स प्रधानं कारणं यस्य पुरुषस्य जन्मनः "स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति" [बृ.उ.४।४।५] इत्यादिश्रुतेः। तदेतदाह— कारणं हेतुर्गुणसङ्गो गुणेषु सङ्गोऽस्य पुरुषस्य भोक्तुः, सदसद्योनिजन्मसु सच्चासच्च सदसती तयोर्योनयः सदसद्योनयस्तासु सदसद्योनिषु जन्मानि सदसद्योनिजन्मानि तेषु सदसद्योनिजन्मसु विषयभूतेषु निमित्तं कारणं गुणसङ्गः। अथवा सदसद्योनिजन्मस्वस्य संसारस्य कारणं गुणसङ्ग इति संसारपदमध्याहार्यम्। सदसद्योनिजन्मसु अस्य संसारस्य कारणमित्यर्थः। सद्योनयो देवादियोनयः, असद्योनयः पश्वादियोनयः। सामर्थ्यात्सदसद्योनयो मनुष्ययोनयोऽप्यविरुद्धा द्रष्टव्याः। **एतदुक्तं भवति**— प्रकृतिस्तत्त्वाख्याऽविद्या गुणेषु च सङ्गः कामः संसारस्य कारणमिति। तच्च परिवर्जनायोच्यते। अस्य च निवृत्तिकारणं ज्ञानवैराग्ये ससन्न्यासे गीताशास्त्रे प्रसिद्धम्। तच्च ज्ञानं पुरस्तादुपन्यस्तं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविषयम्। 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' [ १३।१३ ] इति। उक्तं चान्यापोहेनातद्धर्माध्यारोपेण च॥ २२॥

**२ आ. शां. व्या.**— श्लोकान्तरं प्रश्नोत्तरत्वेनावतारयति— **यदिति**। निमित्तं वक्तुमादौ संसारित्वमस्याविवेक्याध्यासादित्याह— **पुरुष इति**। यस्मात्प्रकृतिमात्मत्वेन गतस्तस्माद्भुङ्क्ते इति योजना। गुणविषयं भोगमभिनयति— **सुखीति**। अविद्याया भोगहेतुत्वात्किं कारणान्वेषणया? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सत्यामपीति**। सङ्गस्य जन्मादौ संसारे प्रधानहेतुत्वे मानमाह— **स यथेति**। उक्तेऽर्थे द्वितीयार्धमवतार्य व्याचष्टे— **तदेतदित्यादिना**। साध्याहारं योजनान्तरमाह— **अथवेति**। सदसद्योनीर्विविच्य व्याचष्टे— **सद्योनय इति**। योनिद्वयनिर्देशान्मध्यवर्तिन्यो मनुष्ययोनयोऽपि ध्वनिता इत्याह— **सामर्थ्यादिति**। सङ्गस्य संसारकारणत्वे नाविद्यायास्तत्कारणत्वं, एकस्मादेव हेतोस्तदुपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह— **एतदिति**। अविद्योपादानं सङ्गो निमित्तमित्युभयोरपि कारणत्वं सिध्यतीत्यर्थः। द्विविधहेतूक्तेर्विवक्षितं फलमाह— **तच्चेति**। सासङ्गस्याज्ञानस्य स्वतोऽनिवृत्तेस्तन्निवर्तकं वाच्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **अस्येति**। वैराग्ये सति सन्न्यासस्तत्पूर्वकं ज्ञानं सासङ्गाज्ञाननिवर्तकमित्यर्थः। उक्ते ज्ञाने मानमाह— **गीतेति**। अध्यायादौ चोक्तं ज्ञानमुदाहृतमित्याह— **तच्चेति**। तदेव ज्ञानं यज्ज्ञात्वेत्यादिना 'न सत्तन्नासत्' [ १३।१३ ] इत्यन्तेनान्यनिषेधेन 'सर्वतःपाणिपादं' [ १३।१४ ] इत्यादिना चातद्धर्माध्यासेनोक्तमित्याह— **यज्ज्ञात्वेति**॥ २२॥

**३ रा. भा.**— एवमन्योन्यसंसृष्टयोः प्रकृतिपुरुषयोः कार्यभेद उक्तः; पुरुषस्य स्वतः स्वानुभवैकसुखस्यापि वैषयिकसुखदुःखोपभोगहेतुत्वमाह— **पुरुष** इति । गुणशब्दः स्वकार्येष्वौपचारिकः; स्वतस्स्वानुभवैकसुखः पुरुषः प्रकृतिस्थः-प्रकृतिसंसृष्टः, प्रकृतिजान् गुणान् प्रकृतिसंसर्गोपाधिकान् सत्त्वादिगुणकार्यभूतान् सुखदुःखादीन् भुङ्क्ते अनुभवति । प्रकृतिसंसर्गहेतुमाह— **कारणमिति** । पूर्वपूर्वप्रकृतिपरिणामरूपदेवमनुष्यादियोनिविशेषेषु स्थितोऽयं पुरुषस्तत्तद्योनिप्रयुक्तसत्त्वादिगुणमयेषु सुखदुःखादिषु सक्तस्तत्साधनभूतेषु पुण्यपापकर्मसु प्रवर्तते; ततस्तत्पुण्यपापफलानुभवाय सदसद्योनिषु साध्वसाधुषु योनिषु जायते; ततश्च कर्मारभते; ततश्च जायते; यावदमानित्वादिकानात्मप्राप्तिसाधनभूतान् गुणान् सेवते, तावदेव संसरति । तदिदमुक्तं— ' कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ' इति ॥ २२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तैकदेशे शङ्कोदयार्थमुक्तवक्ष्यमाणपुनरुक्तिपरिहारार्थं चोक्तं विविच्यानुभाषते— **एवमिति** । परिशुद्धस्यानुभवसुखैकतानस्य प्रत्यगात्मनो वैषयिकबाह्यसुखदुःखोपभोगो न तात्त्विकः स्यात्, अपि तु स्फटिकमणौ जपाकुसुमपाटलिमवदासक्तिविशेषादारोपित एव स्यादिति शङ्का ' पुरुषः ' इत्यर्धेन परिह्रियत इत्याह— **पुरुषस्येति** । सत्त्वादिगुणा न साक्षाद्भोक्तव्याः, सुखदुःखमोहकार्योन्नेयतयातीन्द्रियत्वात्, तत्सुखदुःखानां भोक्तृत्वं च प्रसक्तमुपपादनीयम्; तच्च हिशब्देन द्योतितम् । अत्र तु ' प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते ' इति गुणभोक्तृत्वं कथमुच्यते ? इत्यत्राह— **गुणशब्द** इति । **स्वकार्येष्विति** लक्षणानिमित्तकथनम् । स्वशब्देन गुणस्वरूपग्रहणम् । यद्यपि गुणशब्दः सुखदुःखेष्वपि मुख्यः, तथापि प्रकृतिगुणत्वस्य विवक्षिततत्वा**दौपचारिक** इत्युक्तम् । उत्तरत्रापि हि बहुशो गुणशब्दः सत्त्वादिविषय एव । यथावस्थिताकारोऽत्र पुरुषशब्देनानूदित इत्याह— **स्वतस्स्वानुभवैकसुख** इति । प्रकृतिस्थशब्दः स्वास्थ्यादिपरोऽपि प्रयुज्यत इति तद्व्युदासाय **प्रकृतिसंसृष्ट** इत्युक्तम् । ' प्रकृतिजान् ' इत्यनेन प्रकृत्याश्रयत्वं न विवक्षितम्, ' सुख्यहं, दुःख्यहम् ' इति स्वाश्रिततयैव तदुपलम्भात्, अन्तःकरणविकाराणां सुखादीनां स्वात्मन्यारोप इति पक्षस्य निर्दिष्टप्रमाणविरुद्धत्वात् । अतस्तदुपाधिकत्वमेव विवक्षितमिति ज्ञापनाय प्रकृतिसंसर्गोपाधिकत्वोक्तिः । आदिशब्देन पूर्वसमभिव्याहृतेच्छाद्वेषादिसङ्ग्रहः । तेऽपि हि कर्मफलभूता भोक्तव्याः । आत्मनेपदान्तत्वादर्थानन्वयाच्चात्र पालनार्थत्वमयुक्तम्; अभ्यवहारार्थोऽप्यत्रानौचित्यादेव त्यक्तः; अतोऽत्र ' भुङ्क्ते ' इति प्रस्तुतानुभवमात्रं विवक्षितम् । स्वसमवेतवर्तमानसुखदुःखसाक्षात्कारो भोग इत्यपि हि लक्षयन्तीत्यभिप्रायेणाह— **अनुभवतीति** ।

स्वानुभवैकतानस्य वैषयिकसुखदुःखोपभोगे प्रकृतिसंसर्गो हेतुरुक्तः, परिशुद्धस्यात्मनः सोऽपि प्रकृतिसंसर्गः कथं ? इति शङ्कामनन्तरं परिहरतीत्यभिप्रायेणाह **प्रकृतिसंसर्गहेतुमाहेति** । बीजाङ्कुरन्यायेन प्रवाहानादित्वादन्योन्याश्रयणचक्रकादिपरिहारः सिद्धः; अनवस्था च न दोषः; प्रवाहेषु च पूर्वहेतुवैचित्र्यादुत्तरोत्तरवैचित्र्यसिद्धिः । गुणसङ्गस्य विहितनिषिद्धकर्मद्वारा तत्फलानुभवार्थविचित्रजन्महेतुत्वाच्छास्त्रसाफल्यं, "रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ... कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्" [ छां. उ. ५।१०।७ ] इति सदसद्योनिप्राप्तेः कर्ममूलत्वश्रुत्यविरोधं चाह— **पूर्वपूर्वेति** । सत्त्वादीनां साक्षात्सङ्गास्पदत्वायोगादत्रापि गुणशब्दस्य पूर्ववदौपचारिकत्वाभिप्रायेण **सत्त्वादिगुणमयेषु सुखदुःखादिष्वित्युक्तम्** । दुःखसङ्गो नाम दुःखे सुखभ्रान्त्या सङ्गः; दुःखहेतुषु हि सागरतरणादिषु सुखलवसङ्गात्सज्जते; भ्रान्तिज्ञानवतां पुंसां प्रहारोऽपि सुखायते, इति चाहुः । यो हि यदिच्छति, तस्य तस्मिन् तत्साधने वा कार्यताबोध इति स्थिते सुखस्य स्वरूपेण कर्तुमशक्यत्वात्तत्साधनेष्वेव पुरुषप्रवृत्तिरित्यभिप्रायेण **तत्साधनभूतेष्वि**त्युक्तम् । श्रूयते च— ' स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति ' इति; अस्तिनास्तीत्याद्यर्थतायामनन्वयात्, " तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा " [ छां. उ. ५।१०।७ ] इत्यादिश्रुत्यनुसाराच्च, साध्वसाधुशब्दः साध्वसाधुषु **योनिष्विति** वदता ' सदसतोर्योनिषु जन्मसु ' (शं.) इति परव्याख्या निरस्ता । बहुवचनेनैकस्यैव पुरुषस्य प्रवाहरूपेण विचित्रानन्तसदसद्योनिसम्बन्धो विवक्षित इत्यभिप्रायेण **ततश्च कर्मारभते, ततश्च जायत** इत्यादिकमुक्तम् । एवं प्रवाहतोऽनादित्ववदविच्छेदात्प्रवाहानन्तत्वमपि किं स्यात् ? इति शङ्कां परिहरति **यावदिति** । प्रकृतिसंसर्गस्य गुणसंसर्गः कारणमित्युक्ते सति अर्थात् ' कारणाभावे कार्याभावः ' [ वै. द. १।२।१ ] इति न्यायादमानित्वादिभिर्गुणसङ्गनिवृत्त्या सदसद्योनिजन्मप्रवाहोऽप्युच्छिद्येतेत्युक्तं भवतीत्याह— **तदिदमुक्तमिति** । अत्र कण्ठोक्त्यभावेऽपि गुणसङ्गस्य पूर्वपूर्वदेहसम्बन्धप्रयुक्तत्वं कर्मद्वारा योनिप्राप्तिहेतुत्वादिकं च श्रुतिस्मृत्यन्तरानुसारादभिप्रायत उक्तमिति भावः ॥ २२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २२ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— पुरुषः प्रकृतिस्थो हि ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ननु निर्विशेषपरब्रह्मात्मकत्वेनोक्तस्य पुरुषस्य कथं सुखदुःखभोक्तृत्वरूपः संसारः ? इत्याशङ्क्य, आध्यासिक एवायं, न स्वत इत्याह— पुरुष इति । हि यस्मात्कारणात्पुरुषः प्रकृतिस्थः प्रकृतिपरिणामभूतदेहतादात्म्याध्यासेन स्थितः सन् प्रकृतिजान्गुणान् सुखदुःखमोहान् भुङ्क्ते । अतोऽस्य पुरुषस्य सुखदुःखमोहहेतुषु सदसद्योनिजन्मसु, सतीषु देवयोनिषु असतीषु पश्वादियोनिषु, सदसतीषु धर्माधर्ममिश्रासु मनुष्ययोनिषु च यानि जन्मानि तेषु गुणसङ्गः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकप्रकृतिमयदेहतादात्म्याध्यासरूपः सम्बन्धः, स एव कारणम् । न त्वसङ्गस्यास्य स्वरूपेण संसारोऽस्ति, “ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ” [ कठो. १।३।४ ] इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ २२ ॥

९ श० त० दी०— एवं कार्यभेदमुक्त्वा तद्भोक्तृत्वमपि तस्य प्रकृतिपरिणामक्षेत्रसंसर्गेणैव भवति, नान्यथेत्याह— पुरुष इति । प्रकृतिस्थ एव क्षेत्रस्थ एव जीवः प्रकृतिजान् गुणान् सत्त्वादिपरिणामभूतांस्तत्कार्यभूतैरिन्द्रियैर्भुङ्क्ते भोक्ता भवति, न त्वन्तर्यामिवदसङ्गः “ अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ’ [ ऋक्सं. २।३।१७।५ मुं. उ. ३।१।१श्वे. उ. ४।६ ] यथोक्तं भागवते— [३।२६।६;७ ] ‘ एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृतेः पुमान् । कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् । भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ’ इति ‘ कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः । बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः ’ [ २।५।१९ ] इति च । अतोऽस्य पुरुषस्य प्रकृतिसंसर्गेण तिरोहिताक्षरस्वभावस्य तद्गुणसङ्ग एव सदसद्योनिजन्मसु कारणं ज्ञातव्यम् ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— ततः किमत आह— पुरुष इति । पुरुषः पुरुषरूपेण प्रकटो भगवान्, प्रकृतिस्थः स्वरसात्प्रभवस्थानस्थितः सन् प्रकृतिजान् गुणान् भुङ्क्ते इतरसम्भोगं करोतीत्यर्थः । न तु पुरुषरूपस्य सदसद्योनिदेवतिर्यगादिरूपजन्मसु गुणरसभोगेच्छा कारणं हेतुरित्यर्थः ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु यथा बौद्धं कर्तृत्वं पुंस्यारोप्यते, एवं पौंस्नं भोक्तृत्वं बुद्धावस्त्वित्येतं भ्रमं वारयति— पुरुष इति । हि प्रसिद्धम् । प्रकृतिस्थः देहेन्द्रियमनस्सङ्घातमध्यारूढस्तत्तादात्म्यं गत इत्यर्थः । प्रकृतिजान् सुखदुःखमोहात्मकान् । गुणान् भुङ्क्ते उपलभते । यदा तु सुप्तिसमाधिमूर्च्छादौ प्रकृतिस्थत्वं नास्ति तदा न सुखादीनुपलभते तेनोपाधिगतान्येव सुखादीनि तदभावेन प्रतीयन्त इति सिद्धम् । श्रुतिरपि–“आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ” [ कठो. ३।४ ] इतीन्द्रियमनोयोगादेवात्मनि भोतृत्वं दर्शयन्ती शुद्धस्य केवलस्य भोक्तृत्वं नास्तीति दर्शयति । कुतस्तर्ह्यभोक्तुरप्यस्य प्राकृतो बन्धः इति तत्राह– कारणमिति । अस्य पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मसु । तत्र सद्योनिजन्मानो देवाः, असद्योनिजन्मभाजस्तिर्यञ्चः स्थावराश्च, सदसद्योनिजन्मानो मनुष्याः; एतेषु त्रिष्वपि जन्मसु प्राप्येषु अस्य पुंसो गुणसङ्गः सुखादिष्वभिष्वङ्गः कारणं हेतुः । तथाहि– सात्त्विका देवा भवन्ति, राजसा मनुष्यास्तामसाश्च पशवस्तेषां तत्तद्योनिप्राप्तौ तद्गुणप्राधान्यमेव कारणम्; वक्ष्यति च— ‘ ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः’ [ १४।१८ ] इत्यादि । यद्वा प्रकृतिस्थो विद्वानविद्वान्वा गुणान्भुङ्क्ते ‘ पश्वादिभिश्चाविशेषात् ’ इति न्यायात् । तर्हि विद्वानिवाविद्वानपि कुतो न मुच्यते ? अविद्वानिव विद्वान्वा कुतो न बध्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह– कारणमिति । गुणेषु देहेन्द्रियविषयेषु सङ्गः ‘अहमिदं, ममेदं’ इत्यभिनिवेशः स एव जन्मकारणम् । विदुषां तु तदभावान्न जन्म, समानेऽपि देहसम्बन्धे यदा यक्षो देहाभिमानं धत्ते तदा स एव देहपीडया पीड्यते, न तु देहपतिर्जीवः, यदा त्वयं देहाभिमानं धत्ते तदा नेतर इति प्रसिद्धम् । सङ्गस्य बन्धकत्वं, न तु सान्निध्यमात्रं बन्धकम् । अतो विद्वदविदुषोः समानेऽपि देहसम्बन्धे सङ्गतदभावकृतो महान् विशेष इति भावः ॥ २२ ॥

तस्यैव परमात्मनः साक्षात्स्वरूपं तज्ज्ञानफलं च ।

**उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥ २३ ॥**

**१ शां. भा.**— तस्यैव पुनः साक्षान्निर्देशः क्रियते— उपद्रष्टेति। उपद्रष्टा— समीपस्थः सन्द्रष्टा स्वयमव्यापृतः, यथर्त्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तटस्थोऽन्योऽव्यापृतो यज्ञविद्याकुशलः ऋत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता, तद्वच्च कार्यकरणव्यापारेष्वव्यापृतोऽन्यस्तद्विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां सामीप्येन द्रष्टोपद्रष्टा। अथवा देहचक्षुर्मनोबुद्ध्यात्मनो द्रष्टारः, तेषां बाह्यो द्रष्टा देहः, तत आरभ्यान्तरतमश्च प्रत्यक्समीप आत्मा द्रष्टा, यतः परोऽन्तरतमो नास्ति द्रष्टा, सोऽतिशयसामीप्येन द्रष्टृत्वादुपद्रष्टा स्यात्। यज्ञोपद्रष्टृवद्वा सर्वविषयीकरणादुपद्रष्टा। अनुमन्ता च, अनुमोदनमनुमननं, कुर्वत्सु तत्क्रियासु परितोषः, तत्कर्ताऽनुमन्ता च। अथवाऽनुमन्ता कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव तदनुकूलो विभाव्यते तेनानुमन्ता। अथवा प्रवृत्तान्स्वव्यापारेषु तत्साक्षिभूतः कदाचिदपि न निवारयतीत्यनुमन्ता।

**२ आ. शां. व्या.**— प्रकृतस्यैव मोक्षहेतोर्ज्ञानस्य साक्षान्निर्देशायोत्तरश्लोकमुत्थापयति— **तस्येति**। कार्यकरणानां व्यापारवतां समीपे स्थितः सन्निधिमात्रेण तेषां साक्षीत्येवमर्थत्वेन 'उपद्रष्टा' इति पदं व्याचष्टे— **समीपस्थ** इति। लौकिकस्येव द्रष्टुरस्यापि व्यापारविशिष्टतया निष्क्रियत्वविरोधमाशङ्क्याऽऽह— **स्वयमिति**। स्वव्यापारादृते सन्निधिरेव द्रष्टृत्वम्। दृष्टान्तेन स्पष्टयति- **यथेति**। उपद्रष्टेरस्यार्थान्तरमाह- **अथवेति**। बहूनां द्रष्टृत्वेऽपि कस्योपद्रष्टृत्वं? तत्राऽऽह— **तेषामिति**। उपोपसर्गस्य सामीप्यार्थत्वेन प्रत्यगर्थत्वात्तत्रैव सामीप्यावसानात्प्रत्यगात्मा च द्रष्टा चेत्युपद्रष्टा सर्वसाक्षी प्रत्यगात्मेत्यर्थः। उक्तमेव व्यनक्ति— **यत** इति। यथा यजमानस्य ऋत्विजां च यज्ञकर्मणि गुणं दोषं वा सर्वयज्ञाभिज्ञः सन्नुपद्रष्टा विषयीकरोति, तथाऽयमात्मा चिन्मात्रस्वभावः सर्वं गोचरयतीत्युपद्रष्टेति पक्षान्तरमाह— **यज्ञेति**। अनुमन्ता चेत्येतद्व्याकरोति— **अनुमन्तेति**। ये स्वयं कुर्वन्तो व्यापारवन्तो भवन्ति, तेषु कुर्वत्सु सत्सु यास्तेषां क्रियास्तासु पार्श्वस्थस्य परितोषोऽनुमननं तच्चानुमोदनं तस्य सन्निधिमात्रेणं कर्ता यः सोऽनुमन्तेत्यर्थः। व्याख्यान्तरमाह— **अथवेति**। तदेव स्फुटयति— **कार्येति**। अर्थान्तरमाह— **अथवेत्यादिना**।

**१ शां. भा.**— भर्ता, भरणं नाम देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्यात्मपारार्थ्येन निमित्तभूतेन चैतन्याभासानां यत्स्वरूपधारणं तच्चैतन्यात्मकृतमेवेति भर्ताऽऽत्मेत्युच्यते। भोक्ता, अग्न्युष्णवन्नित्यचैतन्यस्वरूपेण बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकाः प्रत्ययाः सर्वविषयविषयाश्चैतन्यात्मग्रस्ता इव जायमाना विभक्ता विभाव्यन्त इति भोक्ताऽऽत्मोच्यते। महेश्वरः सर्वात्मत्वात्स्वतन्त्रत्वाच्च महांश्चासावीश्वरश्चेति महेश्वरः। परमात्मा देहादीनां अव्यक्तान्तानां प्रत्यगात्मत्वेन परिकल्पितानामविद्यया परम उपद्रष्टृत्वादिलक्षण आत्मेति परमात्मा 'सोऽन्तः परमात्मा' इत्यनेन शब्देन चाप्युक्तः कथितः श्रुतौ। क्वासौ? अस्मिन्देहे पुरुषः परोऽव्यक्तात्। 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' [ १५।१७ ] इति। यो वक्ष्यमाणः 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।२ ] इत्युपन्यस्तो व्याख्यायोपसंहृतश्च ॥ २२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— भर्तेति पदमादाय किं भरणं नाम? इति पृच्छति— **भर्तेति**। तद्रूपं निरूपयन्नात्मनो भर्तृत्वं साधयति— **देहेति**। भोक्तेत्युक्ते क्रियावत्त्वे प्राप्ते भोगश्चिदवसानेति न्यायेन विभजते— **अग्नीति**। विशेषणान्तरमादाय व्याचष्टे— **महेश्वर** इति। परमात्मत्वमुपपादयति— **देहादीनामिति**। अविद्याया कल्पितानामिति सम्बन्धः। परमत्वं प्रकृष्टत्वम्। स पूर्वोक्तविशेषणवानिति यावत्। परमात्मशब्दस्य प्रकृतात्मविषयत्वे श्रुतिमनुकूलयति— **अन्त** इति। तस्य तादर्थ्यं प्रश्नद्वारा प्रत्याचष्टे— **क्वेति**। कस्मात्परत्वं? तदाह— **अव्यक्तादिति**। तत्रैव वाक्यशेषानुकूलयमाह— **उत्तम** इति। सोऽस्मिन्देहे परः पुरुष इति सम्बन्धः। शोधितार्थयोरैक्यज्ञानं प्रागुक्तं फलोक्त्या स्तौति— **क्षेत्रज्ञं चेति** ॥ २२ ॥

**३ रा. भा.**— अस्मिन् देहेऽवस्थितोऽयं पुरुषो देहप्रवृत्त्यनुगुणसङ्कल्पादिरूपेण देहस्योपद्रष्टा अनुमन्ता च भवति, तथा देहस्य भर्ता च भवति; तथा देहप्रवृत्तिजनितसुखदुःखयोर्भोक्ता च भवति; एवं देहनियमनेन, देहभरणेन, देहशेषित्वेन च देहेन्द्रियमनांसि प्रति महेश्वरो भवति। तथाच वक्ष्यते-'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः। गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्' [ १५।८ ] इति।

४ वे. ता. चं.— सदसद्योनिजन्मसमनन्तरभाविनः पुरुषस्वभावानाह **उपद्रष्टेति**। श्लोकेन द्रष्टा प्रमाणादिवशेन दृश्यानां प्रदर्शकः, उपद्रष्टा यथावत्स्वयमप्रवृत्तः प्रवर्तमानस्यानुसन्धाता, तत्तत्साधर्म्यादिहोपद्रष्टृशब्द इत्याह **देहप्रवृत्त्यनुगुणसङ्कल्पादिरूपेणेति** । आदिशब्देन प्रेरणं संगृहीतम्। यद्वा प्रवृत्तस्य प्रवर्तकोऽनुमन्तेति भेदमभिप्रेत्य आदिशब्दः। उपद्रष्टृत्वानुमन्तृत्वादेः प्रतिसम्बन्धिसापेक्षत्वादधिकरणतया सन्निहितोऽपि देहः प्रतिसम्बन्धितयाप्यर्थादन्वयमर्हतीत्यभिप्रायेण **देहस्येत्युक्तम्**। नियन्तृत्वधारकत्वशेषित्वानां शरीरप्रतिसम्बन्ध्यात्मलक्षणानां विभागप्रदर्शनाय प्रवृत्तिविषयोपद्रष्टृत्वानुमन्तृत्वयोरेकवाक्यकरणं, **तथे**त्यादिवाक्यभेदश्च । भर्ता धारकः। उक्तहेतुकं सन्निहितदेहादिविषयमेवास्य महेश्वरत्वमित्याह— **एवमिति** । देहजन्यफलभोक्तृत्वकथनेन देहस्य तदर्थतया देहिनः शेषित्वं फलितमित्यभिप्रायेणाह— **देहशेषित्वेनचेति**। कर्माधीनजननमरणभागिनि जीव एवेश्वरशब्दस्य परिच्छिन्नविषयतया प्रयोगं दर्शयति— **तथाचेति** ।

**३ रा. भा.— अस्मिन् देहे देहेन्द्रियमनांसि प्रति परमात्मेति चाप्युक्तः देहे मनसि चात्मशब्दोऽनन्तरमेव प्रयुज्यते 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना' [ १३।२५ ] इति; अपिशब्दान्महेश्वर इत्यप्युक्त इति गम्यते; पुरुषः परः 'अनादि मत्परम्' [ १३।१३ ] इत्यादिनोक्तोऽपरिच्छिन्नज्ञानशक्तिरयं पुरुषोऽनादिप्रकृतिसम्बन्धकृतगुणसङ्गादेतद्देहमात्रमहेश्वरो देहमात्रपरमात्मा च भवति ॥ २३ ॥**

४ वे. ता. चं.— जीवात्मन्येव ज्ञानतो व्याप्त्या परमात्मशब्दप्रयोगोपपत्तये सन्निहितसङ्कोचकान्वयमाह **अस्मिन्देह** इति। साक्षात्परमात्मविषयत्वे सति 'अस्मिन् देहे' इत्यसङ्गतमिति भावः। अत्र देहेन्द्रियमनांसीति मनसः पृथगुपादानं तस्यात्मशब्दप्रयोगविषयत्वप्रदर्शनार्थम्। परमशब्दव्यवच्छेद्याभावाज्जीवविषयत्वानुपपत्तिरित्यत्राह— **देहे मनसिचेति**। अयं प्रयोगः प्रबन्धान्तरे प्रदेशान्तरे वा न मृग्यः; अपित्वेतत्प्रकरणे श्लोकमात्रव्यवधानेन । अतो व्यवच्छेद्यसन्निधानमपि तद्व्यवच्छेदमात्रार्थस्वस्य व्यवस्थापकमित्यभिप्रायेण **अनन्तरमेवेत्युक्तम्**। परमात्मशब्दवन्महेश्वरशब्दस्यापि सन्निहितसङ्कोचकावच्छिन्नविषयत्वं चकारातिरिक्तविषयेणापिशब्देनापि प्रतीतमित्याह— **अपिशब्दादिति** । 'उक्तः' इत्यनेनापरमात्मन्ययमापेक्षिकः परमात्मादिशब्द इति सूचितम्। 'पुरुषः परः' इत्यत्र परशब्दस्यापि पूर्ववदवच्छिन्नविषयत्वानुग्राहकं देहव्यपदेशस्यापेक्षिकमहेश्वरत्वादिव्यपदेशस्य च तात्पर्यं, श्लोके चोद्देश्योपादेयविभागं, पिण्डितार्थं च दर्शयति— **अनादीति**। '**अनादिमत्परम्**' [१३।१३] **इत्यादिनोक्त** इति परमत्वाभावोक्तिः । **अपरिच्छिन्नज्ञानशक्तिरिति** तु परत्वमात्रप्रदर्शनम् '**अयं**' इत्यनेन तन्मध्यपतितः 'उपद्रष्टा' इति श्लोकोऽपि तद्विषय एवेति प्रकरणस्य जीवविषयत्वं प्रदर्शितम्। 'देहेऽस्मिन्' इत्यनेन प्रागुक्तो हेतुर्विवक्षित इत्यभिप्रायेण **अनादिप्रकृतिसम्बन्धकृतगुणसङ्गादि**त्युक्तम् ॥ २३ ॥

**५ आ. मा. भा.— 'यतश्च यत्' [ १३।४] इत्याह— उपद्रष्टेति । अनुमन्ता अन्वनु विशेषतो निरूपकः। पुरुषः सुखदुःखानामिति जीव उक्तः। पुरुषं प्रकृतिमिति जीवेश्वरौ सहैवोच्येते । अन्यत्र महातात्पर्यविरोधः । उत्कर्षे हि महातात्पर्यम् । तथा हि सौकरायणश्रुतिः–"अवाच्योत्कर्षे महत्त्वात्सर्ववाचां सर्वन्यायानां च महत्तत्परत्वम्। विष्णोरनन्तस्य परात्परस्य तच्चापि ( तथापि ) ह्यस्त्येव न चात्र शङ्का । अतो विरुद्धं तु यदत्र मानं तदक्षजादावथ वाऽपि युक्तिः । न तत्प्रमाणं कवयो वदन्ति न चापि युक्तिर्ह्यूनमतिर्हि दृष्टेः" इति ।**

६ ज. प्र. दी.— 'यतश्च यत्' [ १३।४ ] इति वक्तुमित्युक्तं तत्केनोच्यते ? इत्यत आह— **यतश्चेति** । इति प्रतिज्ञातमिति शेषः। अनुमन्ता अनुज्ञातेति कश्चित्। तदसत्, औदासीन्यप्राप्तौ भर्ता भोक्तेत्यादिविरोधादिति भावेन व्याचष्टे— **अनुमन्तेति**। अनुशब्दः पुनरर्थे क्रियावृत्तिश्च तदर्थं इति ज्ञापनाय द्विरुक्तिः। विशेषत इति तृनोऽर्थः। निरूपकः कर्तव्यस्यालोचकः। 'य एनं वेत्ति पुरुषं' इत्यत्र पुरुषशब्दं व्याख्यातुमुपोद्घातमाह— **पुरुष इति** । सुखदुःखभोक्तृलिङ्गादिति भावः। सुखदुःखानां भोक्तृत्वे भोगे हेतुः कर्तेति व्याख्यानमाश्रित्येदमुक्तम्; व्याख्यानान्तरे तु भगवानेवात्र पुरुषः 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि' [ १३।२२ ] इति जीवः। उपलक्षणमेतत्, उपद्रष्टेतीश्वर उक्त इत्यपि द्रष्टव्यम्। ततः किं इत्यत आह— **पुरुषमिति**। यत एवमुभावपि प्रकृतौ अतो 'य एनं वेत्ति पुरुषं' [ १३।२४ ] इत्यत्र पुरुषशब्देन जीवेश्वरौ द्वावपि गृह्येते, द्वयोरपि परामर्शसम्भवात्। तर्हि द्वयोर्द्विवचनेन भाव्यमित्यत उक्तं **सहैवेति**, तन्त्रेण इत्यर्थः । अत्र कश्चित् [ शं. ] 'य एनं वेत्ति पुरुषं' साक्षात् अयमहमस्मि इत्येवमध्याहारेण जीवेश्वरैक्यं व्याख्यातवान्, तद्दूषयति— **अन्यत्रेति** । जीवेश्वरैक्ये सर्ववेदानां प्राधान्येन यत्प्रतिपादकत्वं तद्विरोधः। कथमित्यत आह— **उत्कर्षे हीति**। सर्वागमानामीश्वरस्य सर्वोत्कर्षे हि महातात्पर्यमित्यर्थः। तत्कुतः ? प्रागुक्तयुक्तेः श्रुतेश्चेत्याह— **तथा हीति**। विष्णोर्महत्त्वादेवावाच्य-

त्वेनोक्ते सर्वोत्कर्षे सर्वासां वेदवाचां सर्वन्यायानां न्यायव्युत्पादकस्य मीमांसाशास्त्रस्येति यावत्। महत्तत्परत्वं महातात्पर्यम्। अस्तूत्कर्षे महातात्पर्यम्, तथाप्युत्कर्षस्य सत्त्वं कुतः? न हि जैनवाक्यस्य क्वचिन्महातात्पर्येऽपि तत्सत्त्वमस्तीत्यत आह—**तच्चापीति**। न केवलं तत्र तात्पर्यं, किन्तु तन्महत्त्वमपि चास्त्येव। धियां स्वतः प्रामाण्यादिति हेत्वर्थः। स्वतःप्रामाण्येऽपि बाधकाद्विषयासत्त्वं भवति। तदप्यत्र नास्तीत्याह—**न चात्रेति**। **शङ्केति**। शङ्काहेतुर्बाधकमिति यावत्। कथं बाधकाभावः? इत्यत आह—**अत** इति। अत इत्यस्योत्तरत्रान्वयः। तत्रेश्वरस्य सर्वोत्कर्षे तु यद्विरुद्धं मानं शङ्क्यते तदपि किमक्षजादौ। अक्षजागमयोरन्यतरत्। अथवा युक्तिः। आद्यं निराकरोति—**न तदिति**। कवयो न्यायविदः। कुतः? अत उपजीव्यवेदविरोधात्। एतेन द्वितीयोऽपि निरस्तः। तथापि विशेषं वक्तुमाह—**न चेति**। युक्तिरपि नैव मानं, यतो दृष्टः श्रुतेरूनमतिर्जात्यैव दुर्बलज्ञानोत्पादिका भगवदुत्कर्षे सर्वागमानां महातात्पर्यमित्यत्र पठितायाः श्रुतेः शेषेण योऽर्थो लब्धः सोऽपि प्रकृतोपयुक्त एव।

**५ आ. मा. भा.**— अतो युक्तिभिरप्येतदपलापो न युक्तः। अतो यया युक्त्याऽविद्यमानत्वादि कल्पयति साऽप्याभासरूपेति सदैव माहात्म्यं वेदैरुच्यत इति सिद्ध्यति। अवान्तरं च तात्पर्यं तत्रास्ति। उक्तं च तत्रैव—"अवान्तरं तत्परत्वं च सत्त्वे महद्वाऽप्येकत्वात्तु तयोरनन्ते" इति, श्यामत्वाद्यभिधानाच्च। युक्तं च पुरुषमतिकल्पितयुक्त्यादेराभासत्वम्, अज्ञानसम्भवात्। न तु स्वतः प्रमाणस्य वेदस्याभासत्वम्। अदर्शनं च सम्भवत्येव पुंसां बहूनामप्यज्ञानात्। तर्ह्यस्मदनधीतश्रुत्यादौ विपर्ययोऽपि स्यादिति न वाच्यम्।

यतस्तत्रैवाह—"नै(व)तद्विरुद्धा वाचो नै(व)तद्विरुद्धा युक्तय इति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच" इति। तद्विरुद्धं च जीवसात्म्यमाभास एव चेति चोक्तम्। जनमेजय उवाच—'बहवः पुरुषा ब्रह्मन्नुताहो एक एव तु। को ह्यत्र (पुरुषः श्रेष्ठः का वा योनिरिहोच्यते)पुरुषश्रेष्ठस्तं भवान्वक्तुमर्हति॥ श्रीवैशम्पायन उवाच—नैतदिच्छन्ति पुरुषमेकं कुरुकुलोद्वह!॥ बहूनां पुरुषाणां हि यथैका योनिरुच्यते॥ तथा तं पुरुषं विश्व(श्वं व्या)माख्यास्यामि गुणाधिकम्' इति मोक्षधर्मे [म. भा. १२।३५०।१-३]।

**६ ज. प्र. दी.**— उत्कर्षस्य सत्त्वाभावे जीवेश्वरैक्यस्य तद्विरोधाभावात्; अतस्तं स्ववाक्येनाप्याह—**अत** इति। युक्तिभिरित्युपलक्षणम्। एतदपलापो भगवदुत्कर्षस्याविद्यमानत्वादिकल्पनम्। अत इत्युक्तमेवार्थं विशदयति—**अत** इति, वेदविरोधादित्यर्थः। आदिपदेनानिर्वाच्यत्वं गृह्यते; भगवदुत्कर्षस्येति शेषः। साऽपीत्यपिशब्देन प्रत्यक्षादेः समुच्चयः। इतिशब्दो हेतौ; बाधकाभावादित्यर्थः। उत्कर्षस्य प्रकृतत्वेऽपि तच्चापीति श्रौततच्छब्दव्याख्यानाय माहात्म्यमित्युक्तम्। ननु प्रतिपन्नस्य विद्यमानत्वादिकं बाधकाभावेन कल्प्यम्, स्वतः प्रामाण्यात्। न चोत्कर्षस्य सत्त्वं वेदात्प्रतिपन्नम्। उत्कर्षे तत्सत्त्वे च तात्पर्याङ्गीकारे वाक्यभेदप्रसङ्गादित्यत आह—**अवान्तरं चेति**। चशब्दस्य तत्र सत्त्वे चेत्यन्वयः। उभयत्र महातात्पर्याभावान्न दोषः। एतत्कुतः? इत्यत आह—**उक्तं चेति**। तत्रैव तस्यामेव श्रुतावङ्गीकृत्य चेदमुक्तं, वस्तुतस्तूत्कर्षसत्त्वे महदपि तत्परत्वम्। कुतः? अनन्तसम्बन्धिनोस्तयोरुत्कर्षस्य तत्सत्त्वस्य चैकत्वात्। अनन्त इति प्रकृतत्वादेवोक्तम्। **एतदुक्तं भवति**— प्रमाणं हि प्रवर्तमानं विधिरूपं निषेधरूपं वा, न तूदासीनं, तस्य च बाधाभावे स्वत एव सत्त्वासत्त्वलक्षणौ विधिनिषेधौ सिध्यतः, किं तत्र तात्पर्यान्तरकल्पनया? इति। ननु निराकारमेव ब्रह्म श्रूयते तत्कथं तद्गुणोत्कर्षे सर्वश्रुतीनां महातात्पर्यं स्यादित्यत आह—**श्यामत्वेति**। एतच्चानन्तरातीताध्याये प्रपञ्चितम्। वेदविरोधाद्युक्त्यादेराभासत्वसम्भवात्। अज्ञानं चोपाधिव्यभिचारादिविषयम्। स्वतः प्रमाणस्यापौरुषतया पुरुषगुणानपेक्षप्रमाणत्वमित्युक्तम्; तदयुक्तम्, नियामकाभावात्। विपर्ययस्यापि सुवचनादित्यत आह—**युक्तं चेति**। युक्तं सम्भावितम्। अज्ञानसम्भवात्, अज्ञानमूलत्वसम्भवात्। अज्ञानं चोपाधिव्यभिचारादिविषयम्। स्वतः प्रमाणस्यापौरुषेयतया पुरुषगुणानपेक्षप्रमाणभावस्य युक्तेरज्ञानमूलत्वसम्भावना निर्बीजेत्यत आह—**अदर्शनं चेति**। सम्भवति शङ्कार्हमित्यर्थः। **एतदुक्तं भवति**— वेदस्य युक्त्यादेश्च परस्परविरोधे द्वयोः प्रामाण्यानुपपत्तावन्यतरस्याभासत्वे कल्पनीये युक्त्यादेरेव तत्कल्प्यं, सम्भवात्। न तु वेदस्य, असम्भवात्। निरवकाशेन सावकाशस्य बाधदर्शनादिति। पुरुषेष्वदर्शनमाशङ्कमानानामतिप्रसङ्गमाशङ्क्य निषेधति—**तर्हीति**। विपर्ययो भगवद्गुणोत्कर्षस्य "सर्ववाचाम्" इति श्रुत्यैवोक्तत्वादिति। परिहारे स्थितेऽन्यमप्याह—**यत** इति। तस्यामेव श्रुतावाह वेदपुरुषः एतद्विरुद्धाः भगवद्गुणोत्कर्षविरुद्धाः। उत्कर्षे हीत्यादिनोक्तमुपसंहरति—**तदिति**। सर्ववेदानां यद्भगवद्गुणोत्कर्षे महातात्पर्यमुक्तं तद्विरुद्धं जीवसात्म्यमीश्वरेण जीवस्यैकात्म्यं सूत्रेतिहासविरुद्धं चेत्याह—**आभास** इति। बहव इति पक्षेऽपि किं सर्वे समाः? उतैकः श्रेष्ठः? द्वितीये कोऽसावत्र पुरुषेषु श्रेष्ठः? कथं च श्रेष्ठः? तं तथा वक्तुमर्हतीति। एतदेतस्मिन् जगति किन्तु बहवः तेषां बहूनां पुरुषाणां मध्ये यो योनिः यः कारणभूतः श्रेष्ठः। तथा च तं पुरुषं तथा व्याख्यास्यामि। विश्वं व्यासम्।

५ आ. मा. भा.— न च तत्सर्वं स्वप्नेन्द्रजालवत् वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवदिति भगवद्वचनम् । न च स्वप्नवदेकजीवकल्पितत्वे मानं पश्यामः । विपर्यये मानानि चोक्तानि द्वितीये । उक्तं चायास्यशाखायाम्– "स्वप्नो ह वा अयं चञ्चलत्वान्न च स्वप्नो न हि विच्छेद एतदिति" इति ।

६ ज. प्र. दी.— स्यादेतत्, सर्वं जगत्स्वप्नवदेकाज्ञानपरिकल्पितमित्येके, इन्द्रजालवदनेकाज्ञानकल्पितमित्यपरे । अपकृष्टापेक्षश्चोत्कर्षः, तथा चापकृष्टस्य विश्वस्य मिथ्यात्वादुत्कर्षस्य सत्त्वं कथं स्यात् ? कथं च तत्र सर्ववेदानां महातात्पर्यं ? इत्यत आह— न चेति । भगवद्वचनं यत इति शेषः । इतोऽप्येवमित्याह— न चेति । कल्पितत्वे विश्वस्य एवं बहुजीवकल्पितत्वेऽपीति वाच्यम् । विपर्यये सत्यत्वे । तर्हि कथं विश्वस्य पुराणेषु स्वप्नादिसाम्यमुच्यते ? इत्यत आह-- उक्तं चेति । अयं प्रपञ्चः स्वप्न इवोच्यते, चञ्चलत्वादनित्यत्वात् विकारित्वाच्च; न तु स्वप्नः, साक्षान्मिथ्येति यावत् । कुतः ? एतत् एतस्य विच्छेदो बाधो न हीत्यर्थः । यद्यपि स्वप्नः सत्यः तथाप्यङ्गीकारवादोऽयं मिथ्यार्थप्राचुर्याद्वा ।

५ आ. मा. भा.— नायं दोषः । नहीश्वरस्य जीवैक्यमुच्यते जीवस्य हीश्वरैक्यं ध्येयम् । तदपि न निरुपाधिकम्, अतो न प्रतिबिम्बत्वस्य विरोध्यैक्यम् । तथा च माधुच्छन्दसश्रुतिः– "ऐक्यं चापि प्रतिबिम्बेन विष्णोर्जीवस्यैवैतदृषयो वदन्ति" इति । अहङ्ग्रहोपासने च फलाधिक्यमाग्निवेश्यश्रुतिसिद्धम् । "अहंग्रहोपासकस्तस्य साम्यमभ्याशो ह वाऽश्नुते नात्र शङ्का" इति । 'तदीयोऽहमिति ज्ञानमहंग्रह इतीरितः' इति वामने । तद्वशत्वात्तु सोऽस्मीति भृत्यैरेव, न तु स्वत इति च । प्रातिबिम्ब्येन सोऽस्मि भृत्यश्चेति भावना । तथा ह्यायास्यशाखायाम्— "भृत्यश्चाहं प्रातिबिम्ब्येन सोऽस्मीत्येवं ह्युपास्यः परमः पुमान् सः" इति । प्रातिबिम्ब्यं च तत्साम्यमेव ॥ २३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ननु जीवस्य ब्रह्मणि "अहं ब्रह्मास्मि" [ बृ. उ. १।४।१ ] इत्यहङ्ग्रहोपास्तिस्तावत्कर्तव्या, जीवश्च न सर्वोत्कृष्टः ? ततश्च तेनैकीभूतस्येश्वरस्य कथं सर्वोत्कर्ष इत्यत आह– नायमिति । बुद्धिस्थस्यायमिति परामर्शः कुतः ? इत्यत आह-- न हीति । किं तर्ह्युच्यत इत्यत आह– जीवस्य हीति । स्यादयं दोषः, यदि "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादिनेश्वरमुद्दिश्य तस्यानुत्कृष्टजीवैक्यमुच्येत । नचैवं, किन्तु जीवमुद्दिश्य तस्येश्वरैक्यं; अन्यथा ब्रह्म मदात्मकं भवति निर्देशप्रसङ्गादिति । सत्यमेतत् , जीवस्येश्वरैक्यमुच्यत इति । तथापि नोक्तदोषपरिहारः । यदीश्वरो वस्तुतः सर्वोत्कृष्टः स्यात्तदा कथं जीवस्य तदैक्यं स्यात् ? श्रुतस्यानुत्कृष्टत्वेनानुभवात् । अतो जीवस्य ब्रह्मणि तस्याहङ्ग्रहोपासनस्यान्यथाऽनुपपत्त्येश्वरस्य सर्वोत्कृष्टत्वं मिथ्येत्यङ्गीकार्यमित्यत आह— तदिति । यज्जीवस्येश्वरेणैक्यमुच्यते तदपि न निरुपाधिकं निरुपचरितम्, किन्तूपचारेणैवोच्यते । उपचारबीजं सहेतुकमाह— अत इति । यतः साक्षादैक्यं नार्थः अतो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादावुच्यमानमैक्यं प्रतिबिम्बत्वविरोधि प्रतिबिम्बत्वादन्यत् न भवति; किन्तु प्रतिबिम्बत्वमेवेत्यर्थः । ननु साक्षादैक्यं कुतो नार्थः ? कुतश्चोपचारोऽपि प्रतिबिम्बत्वनिमित्तः ? इत्यत आह— तथा चेति । जीवस्यापि विष्णोरैक्यं यदृषयो वदन्ति तत्प्रतिबिम्बत्वेनैव निमित्तेन हीत्यर्थः । इतश्चोपचारेणैवाहङ्ग्रहोपासनमित्याह— अहमिति । फलाधिक्यं मुख्यं फलमहङ्ग्रहोपासनस्य हि परमं प्रयोजनमीश्वरसारूप्यापत्तिरेव श्रुत्योच्यते । यदि च निरुपचरितमैक्यमुपास्यं स्यात् तदा तन्नोपपद्येत । "तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेरिति भावः । अभ्याशः समीपम् । अल्पेनैव कालेनेत्यर्थः । इतोऽप्युपचारेणैवाहङ्ग्रह इत्याह— तदीय इति । भृत्यैरेवोपास्यत इति शेषः । स्वतः साक्षादैक्यात् । नन्वग्निर्माणवक इत्याद्युपचारो भेदज्ञानसहचरितो दृष्टः, न च प्रकृते तदस्ति, तत्कथमुपचारेणाहङ्ग्रहोपासनं ? इत्यतोऽत्रापि भेदज्ञानसाहित्यमस्तीति सप्रमाणकमाह— प्रातिबिम्ब्येनेति । ननु बिम्बत्वमङ्गीकृतं चेदैक्यमेवोपपन्नमित्यत आह— प्रातिबिम्ब्यं चेति । तदधीनत्वं च ग्राह्यम्, 'तदीयोऽहं' इत्युक्तत्वात् । एवशब्दस्तत्वैक्यस्य व्यवच्छेदार्थः । एतेन 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।३ ] इत्यादेरपव्याख्यानमपास्तं भवति ॥ २३ ॥

७ ह. पै. भा.— उपद्रष्टा शरीरेन्द्रियेषु स्वविषयाभिव्यापृतेषु तद्विलक्षणस्तस्य कर्मणः समीपस्थ उपद्रष्टा । अनुमन्ता कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव तदनुकूलो विभाव्यते । भर्ता देहेन्द्रियमनोबुद्धीनां संहतानां चैतन्यात्मपरस्यार्थेन निमित्तीभूतेन चैतन्याभासानां यत्स्वरूपं तच्चैतन्यात्मकमेवेति भर्ताऽऽत्मेत्युच्यते । भोक्ताऽग्न्युष्णवन्नित्यचैतन्यस्वरूपेण बुद्धेः सुखदुःखमोहात्मकाः प्रत्ययाश्चैतन्य-

ग्रस्ता इव जायमाना विभक्ता इव विभाव्यन्त इति भोक्ताऽऽत्मेत्युच्यते । महानीश्वरो महेश्वरः । परम-श्चासावात्मेति परमात्मा । देहेऽस्मिन्नव्यक्तात्परः पुरुषः ॥ २३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एतदेवोपपादयन् पुरुषस्य स्वरूपमाह— उपद्रष्टेति । अस्मिन्प्रकृतिपरिणामे देहे स्थितोऽपि पुरुषः परो भिन्न एव तद्गुणैर्न लिप्यते; वस्तुतः स्वरूपेणासंसारीत्यर्थः । अत्र हेतवः— उपद्रष्टा, यथा हि ऋत्विग्यजमानेषु यज्ञकर्मव्यापृतेषु तत्समीपस्थोऽन्यः स्वयमव्यापृत एव यज्ञविद्याकुशलत्वादृत्विग्यजमानव्यापारगुणदोषाणामीक्षिता, तथा कार्यकरणव्यापारेषु स्वयमव्यापृतो विलक्षणस्तेषां कार्यकरणानां सव्यापाराणां समीपस्थो द्रष्टा । अनुमन्ता, कार्यकरणप्रवृत्तिषु स्वयमप्रवृत्तोऽपि प्रवृत्त इव सन्निधिमात्रेण तदनुकूलत्वादनुमन्ता । भर्ता, देहेन्द्रियादीनां सत्तास्फुरणदानेन धारयिता पोषयिता च । भोक्ता, सुखदुःखादिरूपाणां बुद्धिवृत्तीनामुपलब्धा । महेश्वरः, महांश्चासावीश्वरश्च महेश्वरः "एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुतेः । परमात्मेति चाप्युक्तः "स वा एष महानज आत्मा" [ बृ. उ. ४।४।२२;२४;२५ ] इत्यादिश्रुतिभिः। अत्रापि 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः' [१५।१७] इत्यग्रे वक्ष्यते ॥ २३ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च— उपद्रष्टेति । अस्मिन्वृक्षरूपके देहे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" [ ऋक्सं. २।३।१७।५+मुं. उ. ३।१।१-श्वे. उ. ४ । ६ ] इति मन्त्रैकवाक्यार्थतया भगवताऽन्योऽपि परमात्माऽन्तर्यामिपुरुष उच्यतेऽसङ्गः प्रसङ्गादिति गम्यते। अतएव 'परमात्मा' इति चेति पदं दीयते 'परः पुरुषः' इति च । सोऽप्युक्त उपद्रष्टा साक्षी; वस्तुतः कार्यकारणभोगसङ्गानपेक्षः स्वत एव मुख्यभोक्ता कर्ता 'षाड्गुण्यं जिघ्रति षड्गुणेशः' इति वाक्यात्। अविज्ञातोऽनुमन्ता च महेश्वरो नियन्ता प्रेरकश्च यद्यपि देहेऽस्मिन् वर्त्तते, तथापि स निर्लेपः अनशनात्। अयं प्राणभृत्तु लिप्तोऽशनादित्येवम्भूतं पुरुषं देहेऽस्मिन्वर्त्तमानं उभयविधं वस्तुतोऽक्षरप्रभावं क्षेत्रज्ञं ब्रह्मांशभूतं चेतनं पुरुषं हंसस्वरूपभूतं स्वरूपतो विविक्तं निर्गुणं च यो वेत्ति प्रकृतिं च गुणैः सह वर्त्तमानां यो वेत्ति, स गुणैर्वर्त्तमानो वा भूयः सर्वथा नाभिजायते न गुणप्रवाहसंसारं भजते; किन्तु मुच्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं रसभोगेच्छां कारणत्वेनोक्त्वा तत्र देहादिषु प्रविष्टस्य स्वल्पांशस्याविद्यात्मकजीवस्य भोगादिदर्शने पुरुषस्य कथं भोगः? कथं तेन जीवस्य संसारः? इत्याशङ्कायां समाधत्ते— उपद्रष्टेति । परः पुरुषः पुरुषोत्तमः अस्मिन्देहे उपद्रष्टा, उप-समीपे द्रष्टा साक्षी, तथा अनुमन्ता अनुमोदिता, भर्त्ता धारकः, भोक्ता रक्षकः, महेश्वरः महांश्चासावीश्वरश्च सः । तथैव परमात्मा । चकारेण प्राणजीवादिरप्युक्त इत्यर्थः । अयं भावः— देहादिकं सर्वं भगवति निवेद्य तद्दत्तप्रसादत्वेन सेवार्थोपयोगिभोगकर्तुः साक्षी— मुख्यसेवायां तदुपयोगकारयिता । एवमेव कृतसमर्पणभोदे अनु पश्चान्मोदिता । एवमेव भर्त्ता, पतित्वेन धारकपोषक इत्यर्थः । तथैव भोक्तृत्वेन स्वीयत्वज्ञानेन रक्षकः । तथैव महेश्वरः कर्तॄणां ब्रह्मादीनामपि प्रभुः, तेन तादृग्वस्तुकर्त्तेत्यर्थः । तथैव परमात्मा तादृग्धर्मवतो मित्ररूप इत्यर्थः ॥ २३ ॥

११ नी० भा० दी०— 'स च यो यत्प्रभावश्च' [ १३।४ ] इति क्षेत्रज्ञतत्प्रभावौ व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञातौ, तत्र क्षेत्रज्ञः प्रागेव वर्णितस्तस्येदानीं प्रभावमाह— उपद्रष्टेति । तत्र पूर्वं गुणसङ्गो जन्मकारणमित्युक्तम्। तत्र सङ्गश्चतुर्विधः, पुरुषापलापेन गुणमात्रप्राधान्येन वा तमन्तर्भाव्य गुणप्राधान्येन वा गुणानां समप्राधान्येन वेति । तत्राद्ये देहेन्द्रियमनआदिरूपं गुणसङ्घातमेव आत्मत्वेन पश्यन् भोक्ता भवति, यथा चार्वाकादिः । द्वितीये गुणानां प्राधान्यादात्मनि वास्तवकर्तृत्वाद्यभिमानेन कर्मफलानां भर्त्ता सञ्चेता भवति, यथा तार्किकादिः । तृतीये गुणानां समप्राधान्येन गुणगतमपि भोक्तृत्वमसङ्गेऽप्यात्मनि वस्त्रे भल्लातकाङ्कवदनुमन्यते, यथा साङ्ख्यः । चतुर्थे सर्वथाऽपि गुणधर्माणामात्मनि सङ्क्रममपश्यन्नुदासीनबोधरूपत्वेन गुणप्रचारदर्शी उपद्रष्टा भवति, यथाऽस्माकं साक्षी । एतेषु चतुर्ष्वपि गुणसङ्गिषूपद्रष्टोत्तमः । अनुमन्ता मध्यमः । भर्त्ता अधमः । भोक्ता अधमाधमः । स एव गुणान्वशीकृत्य यदा क्रीडति तदा महेश्वर इत्युच्यते । यः सर्गस्थित्यन्तकर्त्ता प्रभुर्जगदन्तर्यामी स एव गुणानपहाय स्थितः परमात्मेति चाप्युक्तो भवति । यद्यप्युपद्रष्टाऽपि गुणानपहाय तत्साक्षित्वेन स्थितो भवति तथापि तस्यैव सङ्घातोपहितस्य सङ्घातान्तरप्रचारदर्शित्वाभावादयं सकलसङ्घातप्रचारदर्शीति सर्वोत्कृष्टत्वात्परमोऽयमात्मा । तमेनं वक्ष्यति— 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः । यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' ॥ [ १५।१७ ] इति । एतावपि गुणसङ्गिनौ । एवमेक एव देहेऽस्मिन्विद्यमानः परो गुणातीतः स्वात्मनि गुणान्प्रवि-

लाभ्य स्थितोऽखण्डैकरस आत्मा गुणसङ्गेन षड्विधो भवति। अयमेवास्य प्रभावः। तत्र अनुमन्तृभर्तृभोक्तृभिस्त्रिभी रूपैरयं बध्यते। उपद्रष्टृमहेश्वरपरमात्मरूपैस्तु नित्यमुक्त एक एवेति ज्ञेयम्। अत्र भाष्यार्थोऽप्यनुसन्धेयो विस्तरभयात्तु न प्रदर्शितः॥ २३॥

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते॥ २४॥**

१ **शां. भा.**— तमेतं यथोक्तलक्षणमात्मानम्— य एवं यथोक्तप्रकारेण वेत्ति पुरुषं साक्षादात्मभावेन 'अयमहमस्मि' इति, प्रकृतिं च यथोक्तामविद्यालक्षणां गुणैः स्वविकारैः सह निवर्तितामभावमापादितां विद्यया, सर्वथा सर्वप्रकारेण वर्तमानोऽपि स भूयः पुनः पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे देहान्तराय नाभिजायते नोत्पद्यते, देहान्तरं न गृह्णातीत्यर्थः। अपिशब्दात्किमु वक्तव्यं? स्ववृत्तस्थो न जायत इत्यभिप्रायः। ननु यद्यपि ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं पुनर्जन्माभाव उक्तः, तथापि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः कृतानां कर्मणामुत्तरकालभाविनां च यानि चातिक्रान्तानेकजन्मकृतानि तेषां फलमदत्त्वा नाशो न युक्त इति स्युस्त्रीणि जन्मानि। कृतविप्रणाशो हि न युक्त इति। यथा फले प्रवृत्तानामारब्धजन्मनां कर्मणाम्। न च कर्मणां विशेषोऽवगम्यते। तस्मात्त्रिप्रकाराण्यपि कर्माणि त्रीणि जन्मान्यारभेरन्; संहतानि वा सर्वाण्येकं जन्माऽऽरभेरन्। अन्यथा कृतविप्रणाशे सति सर्वत्रानाश्वासप्रसङ्गः, शास्त्रानर्थक्यं च स्यात्, इत्यत इदमयुक्तमुक्तं 'न स भूयोऽभिजायते' इति। न; "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" [मुं. उ. २।२।८] 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मुं. उ. ३।२।९] "तस्य तावदेव चिरं" [छांदो. ६।१४।२] "ईषीकातूलवत्सर्वकर्माणि प्रदूयन्ते" [छांदो. ५।२४।३] इत्यादिश्रुतिशतेभ्य उक्तो विदुषः सर्वकर्मदाहः।

२ **आ. शां. व्या.**— यथोक्तप्रकारेण, जीवेश्वरादिसर्वकल्पनाधिष्ठानत्वेनेत्यर्थः। साक्षादपरोक्षत्वेनेति यावत्। यथोक्तामनाद्यनिर्वाच्यां, सर्वानर्थोपाधिभूतामित्यर्थः। विद्यया प्रागुक्तैकत्वगोचरया प्रकृतिमविद्यारूपां सकार्यामभावमापादितां यो वेत्तीति सम्बन्धः। सर्वप्रकारेण विहितेन निषिद्धेन चेत्यर्थः। पुनर्नकारोऽन्वयार्थः। निपातसूचितं न्यायमाह— **अपीति**। 'न स भूयोऽभिजायते' इत्युक्तमाक्षिपति— **नन्विति**। ज्ञानोत्पत्त्यनन्तरं जन्माभावस्योक्तत्वात्पुनर्देहारम्भमुपेत्य नाऽऽक्षेपः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **यद्यपीति**। तथापि स्युस्त्रीणि जन्मानीति सम्बन्धः। वर्तमानदेहे ज्ञानात्पूर्वोत्तरकालानां कर्मणां फलमदत्त्वा नाशायोगाज्जन्मद्वयमावश्यकमतीतानेकदेहेष्वपि कृतकर्मणां 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' [ ] इति स्मृतेरदत्त्वा फलमनाशादस्ति तृतीयमपि जन्मेत्याह— **प्रागिति**। फलदानं विनाऽपि कर्मनाशे दोषमाह— **कृतेति**। न युक्त इति कृत्वा फलमदत्त्वा कर्मनाशो नेति शेषः। विमतानि कर्माणि फलमदत्त्वा न क्षीयन्ते वैदिककर्मत्वादारब्धकर्मवदिति मत्वाऽऽह— **यथेति**। नाशो न ज्ञानादिति शेषः। नन्वनारब्धकर्मणां ज्ञानान्नाशो युक्तोऽप्रवृत्तफलत्वात्, आरब्धकर्मणां तु प्रवृत्तफलत्वेन बलवत्त्वान्न ज्ञानात्तन्निवृत्तिर्नेत्याह— **न चेति**। अज्ञानोत्थत्वेन ज्ञानविरोधित्वाविशेषात्प्रवृत्ताप्रवृत्तफलत्वमनुपयुक्तमिति भावः। कर्मणां फलमदत्त्वा नाशाभावे फलितमाह— **तस्मादिति**। ननु कर्मणां बहुत्वात्तत्फलेषु जन्मसु कुतस्त्रित्वमारम्भकर्मणां त्रिप्रकारत्वादिति चेत्, न; अनारब्धत्वेनैकप्रकारत्वसम्भवात्तत्राऽऽह— **संहतानीति**। नास्ति ज्ञानस्यैकान्तिकफलत्वमिति शेषः। उक्तकर्मणां जन्मानारम्भकत्वे प्रागुक्तं दोषमनुभाष्य तस्यातिप्रसञ्जकत्वमाह— **अन्यथेति**। सर्वत्रेत्यारब्धकर्मस्वपीति यावत्। फलजनकत्वानिश्चयोऽनाश्वासः। कर्मणां जन्मानारम्भकत्वे कर्मकाण्डानर्थक्यं दोषान्तरमाह— **शास्त्रेति**। अनारब्धकर्मणां सत्यपि ज्ञाने जन्मारम्भकत्वध्रौव्ये फलितमाह— **इत्यत इति**। श्रुत्यवष्टम्भेन परिहरति— **नेत्यादिना**।

१ **शां. भा.**— इहापि चोक्तः 'यथैधांसि' [४।३७] इत्यादिना सर्वकर्मदाहः। वक्ष्यति चोपपत्तेश्च। अविद्याकामक्लेशबीजनिमित्तानि हि कर्माणि जन्मान्तराङ्कुरमारभन्ते। इहापि च साहङ्काराभिसन्धीनि कर्माणि फलारम्भकाणि, नेतराणीति तत्र तत्र भगवतोक्तम्। 'बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः। ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा सम्पद्यते पुनः" [म. भा. ३।२००।१०] इति च। अस्तु तावज्ज्ञानोत्पत्त्युत्तरकालकृतानां कर्मणां ज्ञानेन दाहः, ज्ञानसहभावित्वात्। न त्विह जन्मनि ज्ञानो-

त्पत्तेः प्राक्कृतानामतीतानेकजन्मान्तरकृतानां च दाहो युक्तः, न; सर्वकर्माणीति विशेषणात् । ज्ञानोत्तरकालभाविनामेव सर्वकर्मणामिति चेत्, न; सङ्कोचे कारणानुपपत्तेः । यत्तूक्तं यथा वर्तमानजन्मारम्भकाणि कर्माणि न क्षीयन्ते फलदानाय प्रवृत्तान्येव सत्यपि ज्ञाने तथाऽनारब्धफलानामपि कर्मणां क्षयो न युक्त इति । तदसत् । कथं ? तेषां मुक्तेषुवत्प्रवृत्तफलत्वात् । यथा पूर्वं लक्ष्यवेधाय मुक्त इषुर्धनुषो लक्ष्यवेधोत्तरकालमप्यारब्धवेगक्षयात्पतनेनैव निवर्तते, एवं शरीरारम्भकं कर्म शरीरस्थितिप्रयोजने निवृत्तेऽप्यासंस्कारवेगक्षयात्पूर्ववत्प्रवर्तत एव । स एवेषुः प्रवृत्तिनिमित्तानारब्धवेगस्त्वमुक्तो धनुषि प्रयुक्तोऽप्युपसंहृियते तथाऽनारब्धफलानि कर्माणि स्वाश्रयस्थान्येव तत्त्वज्ञानेन निर्बीजीक्रियन्त इति पतितेऽस्मिन्विद्वच्छरीरे ' न स भूयोऽभिजायते ' इति युक्तमेवोक्तमिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

२ आ. शां. व्या.— ज्ञानादनारब्धकर्मदाहे भगवतोऽपि सम्मतिमाह— **इहापीति** । ज्ञानाधीनसर्वकर्मदाहे ' सर्वधर्मान् परित्यज्य ' [ १८।६६ ] इति वाक्यशेषोऽपि प्रमाणीभवतीत्याह— **वक्ष्यति चेति** । ज्ञानादनारब्धाशेषकर्मक्षये युक्तिरपि वक्तुं शक्येत्याह— **उपपत्तेश्चेति** । तामेव विवृणोति— **अविद्येति** । अज्ञस्याविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यक्लेशात्मकानि सर्वानर्थबीजानि तानि निमित्तीकृत्य यानि धर्माधर्मकर्माणि तानि जन्मारम्भकाणि, यानि तु विदुषो विद्यादग्धक्लेशबीजस्य प्रतिभासमात्रशरीराणि कर्माणि, न तानि शरीरारम्भकाणि, दग्धपटवदर्थक्रियासामर्थ्याभावादित्यर्थः । प्रतीतिमात्रदेहानां कर्माभासानां न फलारम्भकतेत्यस्मिन्नर्थे भगवतोऽपि सम्मतिमाह— **इहापीति** । तत्त्वज्ञानादूर्ध्वं प्रातीतिकक्लेशानां कर्मद्वारा देहानारम्भकत्वे वाक्यान्तरमपि प्रमाणयति— **बीजानीति** । ज्ञानानन्तरभाविकर्मणां ज्ञानेन दाहमङ्गीकरोति— **अस्त्विति** । विरोधिग्रस्तानामेवोत्पत्तेरिति हेतुमाह— **ज्ञानेति** । अस्मिञ्जन्मनि जन्मान्तरे वा ज्ञानात्पूर्वभाविकर्मणां न ततो दाहो विरोधिनं विना प्रवृत्तेरित्याह— **नन्विति** । श्रुतिस्मृतिविरोधान्नैवमिति परिहरति— **नेत्यादिना** । सर्वशब्दश्रुतेः सङ्कोचं शङ्कते— **ज्ञानेति** । प्रकरणादिसङ्कोचकाभावान्नैवमित्याह— **नेति** । आक्षेपदशायामुक्तमनुमानमनुवदति— **यत्त्विति** । आभासत्वादिदमसाधकमिति दूषयति— **तदसदिति** । व्याप्त्यादिसत्त्वे कथमाभासत्वं ? इति पृच्छति— **कथमिति** । प्रवृत्तफलत्वोपाधिना हेतोर्व्याप्तिभङ्गादाभासत्वधीरित्याह— **तेषामिति** । तदेव प्रपञ्चयति— **यथेत्यादिना** । धनुषः सकाशादिषुर्मुक्तो बलवत्प्रतिबन्धकाभावे मध्ये न पतति तथा प्रबलप्रतिबन्धकं विना प्रवृत्तफलानां कर्मणां भोगादृते न क्षयः; न च तत्त्वज्ञानं तादृक्प्रतिबन्धकं, उत्पत्तावेव पूर्वप्रवृत्तेन कर्मणा प्रतिबद्धशक्तित्वादित्यर्थः । यत्र ज्ञानेनादाह्यत्वं तत्र प्रवृत्तफलत्वमित्यन्वयेऽपि यत्राप्रवृत्तफलत्वं तत्र ज्ञानदाह्यत्वमिति न व्यतिरेकसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **स एवेति** । प्रवृत्तौ निमित्तभूतो नाऽऽरब्धो वेगोऽनेनेति विग्रहः । स्वाश्रयस्थानि साभासान्तःकरणनिष्ठानीति यावत् । विमतानि तत्त्वधीनिमित्तनिवृत्तीनि तत्कृतकारणनिवृत्तित्वात् रज्जुसर्पादिवदिति व्यतिरेकसिद्धिरिति भावः । विदुषो वर्तमानदेहपाते देहहेत्वभावात्तत्त्वधीरैकान्तिकफलेत्युपसंहरति— **पतित इति** ॥ २४ ॥

३ रा. भा.— एनमुक्तस्वभावं पुरुषम् उक्तस्वभावां च प्रकृतिं वक्ष्यमाणस्वभावयुक्तैः सत्त्वादिभिर्गुणैः सह, यो वेत्ति यथावद्विवेकेन जानाति, स सर्वथा-देवमनुष्यादिदेहेष्वतिमात्रक्लिष्टप्रकारेण वर्तमानोऽपि, न भूयोऽभिजायते न भूयः प्रकृत्या संसर्गमर्हति, अपरिच्छिन्नज्ञानलक्षणमपहतपाप्मानमात्मानं तद्देहावसानसमये प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ विवेकानुसन्धानप्रकारं वक्तुं तत्रात्यादराय तत्फलं प्रथमं प्रदर्श्यते **य एन**मिति श्लोकेन । अन्वादेशः प्रागुक्तविविक्ताकारपरामर्शीत्याह **उक्तस्वभावमिति** । प्रकृतेरपि प्रागेवोक्तत्वात् ' एनाम् ' इति विपरिणामः **उक्तस्वभावामित्युक्तः** । गुणानां तु प्राक्प्रदर्शनमात्रम्; प्रपञ्चनं तु चतुर्दशाध्याय इत्यभिप्रायेणाह **वक्ष्यमाणस्वभावयुक्तैरिति** । प्रकृतिपुरुषयोरेव प्रधानत्वाद्गुणानां चाप्रधानत्वात् **गुणैः सहे**त्युक्तम् । पुरुषस्य प्रकृत्या समुच्चित्य सहनिर्देशेऽपि गुणशब्दोऽत्र पूर्वोत्तरप्रपञ्चितप्रकृतिगुणमात्रविषय इति ज्ञापनाय **सत्त्वादिभिरि**त्युक्तम् । प्रकृतितद्गुणसहितवेदनमशुद्धवेदनं स्यादिति शङ्कायां ' एनं वेत्ति ' इत्यनेनाभिप्रेतमाह **यथावद्विवेकेन जानातीति** । उच्छास्त्रप्रवृत्तित्वशङ्काव्युदासाय ' सर्वथा ' इत्यनेन नानाविधदेहसंसर्गप्रयुक्तो योगविरोधिविचित्रक्लेशान्वयो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाह **देवमनुष्यादीति** । एतदुक्तं भवति— तत्त्वविदः प्रारब्धकर्मवशात्तदानीन्तनक्लेशानुभवेऽपि नेतरपुरुषसाधर्म्येण जन्मान्तरमनुमातुं शक्यमिति । अपिशब्दादक्लिष्टवृत्तिषु कैमुत्यं सूचितम् । ' न जायते म्रियते ' [ कठो. १।२।१८ ] इत्यनेनैव आत्मस्वरूपस्य जन्माभाव उक्तः; अतोऽत्र तत्प्रसङ्गाभावात्तत्र भूयश्शब्दानन्वयाच्च ' सदसद्योनिजन्मसु ' [ १३।२२ ] इति प्रसक्तदेहसंसर्गलक्षणजनिरेव

निषिध्यत इत्यभिप्रायेणाह **न भूयः प्रकृत्या संसर्गमर्हतीति**। प्रलयाद्यवस्थासु विनष्टदेहस्य देहानन्तरमेव देहसम्बन्धलक्षणजन्यभावेऽपि पुनर्देहसम्बन्धयोग्यताऽस्ति, अस्य तु ज्ञानाग्निदग्धकर्मत्वात्; साऽपि नास्तीत्यभिप्रायेणार्हतिशब्दः। अनर्हतामेव व्यञ्जयन् पुनर्भवादिरूपानिष्टनिवृत्तेरर्थादिष्टप्राप्तिपर्यन्ततामाह **अपरिच्छिन्नेति**। अज्ञानस्य कर्मणश्च निश्शेषविनाशात् नहि देहसम्बन्धयोग्यतेत्यभिप्रायेण **अपरिच्छिन्नज्ञानलक्षणमपहतपाप्मान**मिति विशेषणद्वयम्। भूयश्शब्दाभिप्रेतमाह **तद्देहावसानसमय** इति ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ २४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २४ ॥

**७ ह. पै. भा.— गुणैर्विकारैः ॥ २४ ॥**

८ **वें. ब्र. गि.—** तदेवं 'स च यो यत्प्रभावश्च' [ १३।४ ] इत्येतत्प्रपञ्चितम्; इदानीं 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' [ १३।१२ ] इत्येतद्व्याचष्टे— **य एवमिति**। य एवमुक्तप्रकारेण पुरुषं वेत्ति साक्षात्करोति, प्रकृतिं चाविद्यां गुणैः स्वविकारैः सह मिथ्याभूतां वेत्ति, स ज्ञानी सर्वथा प्रारब्धकर्मवशाद्विधिमतिक्रम्य वर्तमानोऽपि सन् भूयो न जायते तत्कारणाविद्यानाशात् 'तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्' [ ब्र. सू. ४।१।१३ ]इति न्यायात्। अपिशब्देन विधिमनतिक्रम्य वर्तमानः पुनर्न जायत इति किमु वक्तव्यं? इति दर्शितम् ॥ २४ ॥

९ व० त० दी०— ॥ २४ ॥

१० **पु. अ. त.—** एवमनूद्यैवंविदः संसाराभावमाह— **य एवमिति**। एवं पूर्वोक्तप्रकारेण यः पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह भगवद्रूपं वेत्ति जानाति, ज्ञात्वा तथा सर्वथा वर्तमानोऽपि तथाऽऽचरणशीलो यो भवति, स भूयो नाभिजायते संसारे नोत्पन्नो भवति। किन्तु मुक्त एव भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं यथोक्तलक्षणात्मज्ञाने फलमाह— य एवमिति। गुणैः स्वविकारैः सर्वथा विहितेन निषिद्धेन वा कर्मणा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते पुनर्जन्म न लभते मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ २४ ॥

आत्मस्वरूपज्ञान उत्तममध्यमाधमाधमाधमाधिकारिभेदानुक्रमेणोपायचतुष्टयम्।

**ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**
**अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २५ ॥**
**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते।**
**तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥**

**१ शां. भा.—** अत्रात्मदर्शने (बहवः) उपायविकल्पा इमे ध्यानादय उच्यन्ते— **ध्यानेनेति**। ध्यानेन, ध्यानं नाम शब्दादिभ्यो विषयेभ्यः श्रोत्रादीनि करणानि मनस्युपसंहृत्य, मनश्च प्रत्यक्चेतनयितरि एकाग्रतया यच्चिन्तनं तद्ध्यानम्। तथा "ध्यायतीव बकः" "ध्यायतीव पृथिवी .... ध्यायन्तीव पर्वताः" [ छां. उ. ७।६।१ ] इत्युपमोपादानात्। तैलधारावत्सन्ततोऽविच्छिन्नप्रत्ययो ध्यानं; तेन ध्यानेनाऽऽत्मनि बुद्धौ पश्यन्त्यात्मानं प्रत्यक्चेतनमात्मना (स्वेनैव प्रत्यक्चेतनेन) ध्यानसंस्कृतेनान्तःकरणेन केचिद्योगिनः। अन्ये साङ्ख्येन योगेन, साङ्ख्यं नाम— इमे सत्त्वरजस्तमांसि गुणा मया दृश्या अहं तेभ्योऽन्यस्तद्व्यापारसाक्षिभूतो नित्यो गुणविलक्षण आत्मेति चिन्तनं, एष साङ्ख्यो योगः, तेन पश्यन्त्यात्मानमात्मनेत्यनुवर्तते। कर्मयोगेन कर्मैव योगः, ईश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठीयमानं घटनरूपं योगार्थत्वाद्योग उच्यते गुणतस्तेन सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारेण चापरे ॥ २५ ॥

२ आ. शां. व्या.— 'ज्ञेयं यत्तत्' [ १३।१३ ]इत्यादिना तत्पदार्थस्त्वम्पदार्थश्चानन्तरमेव शोधितौ तयोरैक्यं च 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।३ ] इत्युक्तं; इदानीं तद्दृष्टिहेतून्यथाधिकारं कथयति— **अत्रे**ति । ध्यानाख्यं साधनं किंरूपमिति पृच्छति— **ध्यानं नामे**ति । तद्रूपं वदन्नुत्तरमाह— **शब्दादिभ्य** इति । एकाग्रतयोपसंहृत्येति सम्बन्धः । यच्चिन्तनं प्रत्यक्चेतयितरीति पूर्वेणान्वयः । किं तच्चिन्तनमित्युक्ते दृष्टान्तद्वारा श्रुत्यवष्टम्भेन ध्यानं प्रपञ्चयति— **तथे**ति । विवक्षितध्यानानुरोधेनेति यावत्, आत्मानं पश्यन्ति परमात्मतयेति शेषः । केचिदित्युत्तमाधिकारिणो गृह्यन्ते । मध्यमानधिकारिणो निर्दिशति— **अन्य** इति । साङ्ख्यशब्दितं साधनं किं नामेत्युक्ते विचारजन्यं ज्ञानं तदेव ज्ञानं हेतुतया योगतुल्यत्वाद्योगशब्दितमित्याह— **साङ्ख्यमि**ति । अधमानधिकारिणः सङ्गिरते— **कर्मे**ति । चित्तैकाग्र्यं योगस्तादर्थ्यं कर्मणः शुद्धिहेतोरस्ति तेन गौण्या वृत्त्या योगशब्दितं कर्मेत्याह— **गुणत** इति । अपरे पश्यन्त्यात्मानमात्मनेति पूर्ववदनुषङ्गमङ्गीकृत्याऽऽह— **तेने**ति ॥ २५ ॥

**१ शां. भा.— अन्ये त्विति । अन्ये त्वेषु विकल्पेष्वन्यतरेणाप्येवं यथोक्तमात्मानमजानन्तोऽन्येभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वेदमेव चिन्तयतेत्युक्ता उपासते श्रद्दधानाः सन्तश्चिन्तयन्ति तेऽपि चातितरन्त्येवातिक्रामन्त्येव, मृत्युं मृत्युयुक्तं संसारमित्येतत् । श्रुतिपरायणाः श्रुतिः श्रवणं परमयनं गमनं मोक्षमार्गप्रवृत्तौ परं साधनं येषां ते श्रुतिपरायणाः केवलं परोपदेशप्रमाणाः, स्वयं विवेकरहिता इत्यभिप्रायः । किमु वक्तव्यं प्रमाणं प्रति स्वतन्त्रा विवेकिनो मृत्युमतितरन्तीति ? इत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥**

२ आ. शां. व्या.— अधमतमानधिकारिणो मोक्षमार्गे प्रवृत्तिं प्रतिलम्भयति— **अन्ये त्विति** । आचार्याधीनां श्रुतिमेवाभिनयति— **इदमि**ति । उपासनमेव विवृणोति— **श्रद्धाना** इति । परोपदेशात्प्रवृत्तानामपि प्रवृत्तेः साफल्यमाह— **तेऽपी**ति । तेषां मुख्याधिकारित्वं व्यावर्तयति— **श्रुती**ति । तेऽपीत्यपिना सूचितमर्थमाह— **किम्वि**ति ॥ २६ ॥

**३ रा. भा.— केचित् निष्पन्नयोगा आत्मनि शरीरेऽवस्थितमात्मानं आत्मना मनसा ध्यानेन भक्तियोगेन पश्यन्ति; अन्ये अनिष्पन्नयोगाः साङ्ख्येन योगेन ज्ञानयोगेन, योगयोग्यं मनः कृत्वा आत्मानं पश्यन्ति; अपरे योगादिष्वात्मावलोकसाधनेष्वनधिकृता ये ज्ञानयोगानधिकारिणः तदधिकारिणश्च सुकरोपायसक्ताः व्यपदेश्याश्च, कर्मयोगेनान्तर्गतज्ञानेन मनसा योगयोग्यतामापाद्यात्मानं पश्यन्ति ॥ २५ ॥**

४ वे. ता. चं.— उक्तमेवार्थं श्लोकद्वयेन विवृण्वन्नात्मज्ञानस्य पर्वभेदानाह— **ध्यानेने**ति । अधिकरणतया कर्मतया, करणतया च निर्देशादात्मशब्दत्रयमिह भिन्नविषयमिति तत्तदुचितमाह **आत्मनि शरीर** इत्यादिना । उत्तरोत्तरापकृष्टपर्वनिर्देशक्रमात् ध्यानशब्दोऽत्र साङ्ख्यादप्युत्कृष्टं साक्षाद्योगाख्यं पर्वाभिधत्ते । **अनिष्पन्नयोगा** इत्यादि पर्वक्रमप्रदर्शनं आत्मदर्शने स्वतन्त्रोपायत्वशङ्काव्युदासार्थम् । 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानाम्' [३।३] इति पूर्वोक्तानुसारेण 'साङ्ख्येन योगेन' इत्यस्यार्थमाह **ज्ञानयोगेने**ति । 'अपरे' इत्यनेन प्रागुक्तकर्मयोगाधिकारिवर्गविवक्षेत्यभिप्रायेणाह **ज्ञानयोगानधिकारिण** इत्यादिना ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.— अन्ये तु कर्मयोगादिष्वात्मावलोकनसाधनेष्वनधिकृता अन्येभ्यः तत्त्वदर्शिभ्यो ज्ञानिभ्यः श्रुत्वा कर्मयोगादिभिरात्मानमुपासते तेऽप्यात्मदर्शनेन मृत्युमतितरन्ति; ये श्रुतिपरायणाः श्रवणमात्रनिष्ठाः, एते च श्रवणनिष्ठाः पूतपापाः क्रमेण कर्मयोगादिकमारभ्यातितरन्त्येव मृत्युम् । अपिशब्दाच्च पर्वभेदोऽवगम्यते ॥ २६ ॥**

४ वे. ता. चं.— अनिष्पन्नकर्मयोगानां मुमुक्षूणां कर्मयोगोपक्रमदशोच्यते । 'अन्ये तु' इति तुशब्देन, 'एवमजानन्तः' इत्यनेन च स्वविवेचनशक्त्याद्यभावात् कर्मयोगादिष्वनधिकृतत्वं द्योतितम् । 'अन्येभ्यः' इत्यनेन उपदेष्टृत्वविषयेण 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' [४।३४] इति प्रागुक्ता विवक्षिता इत्यभिप्रायेणोक्तं **तत्त्वदर्शिभ्यो ज्ञानिभ्य** इति । 'तेऽपि' इत्यादिना कर्मयोगोपक्रमेऽप्यसमर्था निर्दिश्यन्त इत्यभिप्रायेणाह **तेऽप्यात्मे**ति । यद्वाऽस्य वाक्यस्य पूर्वेणान्वयः 'श्रुतिपरायणाश्च' इत्यन्वयेन वाक्यान्तरम्; तद्दर्शयति— **ये श्रुतिपरायणा** इति । श्रुतिः परमयनं निष्ठा येषां ते श्रुतिपरायणाः; श्रुतिपरायणशब्दः श्रुत्वोपासीनेभ्यो व्यवच्छेदकः; अन्यथा श्रुत्वेत्युक्तेऽपि श्रुतिपरायणशब्दस्य नैरर्थक्यप्रसङ्गादित्यभिप्रायेणाह **श्रवणमात्रनिष्ठा** इति । अत्र श्रवणनिष्ठायाः पावनत्वरूपं प्राशस्त्यं विवक्षितमित्याह **श्रवण-**

निष्ठाः पूतपापा इति । क्रमेणेत्यादिना कर्मयोगादिविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गपरिहारः । अत्र पृथगुपायान्तरपरत्वं किं न स्यात् ? इत्यत्राह अपिशब्दादिति । अपिशब्देनान्येषां कैमुत्यमेषामपकृष्टपर्वनिष्ठत्वं च सूचितमिति भावः ॥ २६ ॥

**५ आ. मा. भा.—** साङ्ख्येन वेदोक्तभगवत्स्वरूपज्ञानेन । कर्मिणामपि श्रुत्वा ज्ञात्वा ध्यात्वा दृष्टिः । श्रावकाणां च ज्ञात्वा ध्यात्वा । साङ्ख्यानां च ध्यात्वा । तथा च गौपवनश्रुतिः— "कर्म कृत्वा च तच्छ्रुत्वा ज्ञात्वा ध्यात्वाऽनुपश्यति । श्रावकोऽपि तथा ज्ञात्वा ध्यात्वा ज्ञान्यपि पश्यति ॥ अन्यथा तस्य दृष्टिर्हि कथञ्चिन्नोपजायते" इति । अन्य इत्यशक्तानामप्युपायदर्शनार्थम् ॥ २५ ॥ २६ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** 'अन्ये साङ्ख्येन योगेन' इत्यत्र कापिलतन्त्रोक्तप्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानं साङ्ख्यमिति व्याख्यानमसत्, कापिलतन्त्रस्यावैदिकस्यात्र ग्रहणायोगात्, तस्य भगवद्दर्शने प्रधानसाधनत्वायोगाच्चेति भावेनान्यथा व्याचष्टे— **साङ्ख्येनेति** । ज्ञानेन परोक्षज्ञानेन । ध्यानेनेत्यत्र ध्यानादीनां केवलानामेवेश्वरदर्शनसाधनत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— **कर्मिणामिति** । दृष्टिः प्राप्येति शेषः । पाठक्रमादर्थक्रमस्य प्राधान्याद्व्युत्क्रमेणोक्तिः । कुत एतत् ? इत्यत आह— **तथा चेति** । ध्यात्वेत्येतज्ज्ञान्यपीत्युत्तरेणापि सम्बध्यते । ननु सर्वत्र सर्वस्य संयोजने सत्येक एवायं प्रकारः स्यात्तथा च 'केचिदन्ये परं' इत्युक्तमयुक्तं स्यादित्यत आह— **अन्य इति** । ध्यानादावुत्तरोत्तरसाधने साक्षादशक्तानामपि तत्तदुपायज्ञानादिप्रदर्शनार्थमवस्थाभेदमाश्रित्यान्य इत्याद्युक्तमित्यर्थः ॥ २५ ॥ २६ ॥

**७ ह. पै. भा.—** चित्तस्याविच्छेदेनैकप्रकारता ध्यानं तेन । साङ्ख्येन साक्षी नित्यो विलक्षण आत्मेति चिन्तनेन । योगेनानेनैव चिन्तनेन । कर्मयोगेनेश्वरार्पितेनानुष्ठीयमानेन कर्मणा ॥ २५ ॥ श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते यथाश्रुतं श्रुतिपरायणाः ॥ २६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** एवंविधात्मज्ञानेऽधिकारितारतम्येन साधनभेदान्दर्शयति द्वाभ्याम्— ध्यानेनेति । केचिदुत्तमाधिकारिणः ध्यानेन विजातीयप्रत्ययानन्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहेण श्रवणमननफलभूतेन निदिध्यासनाख्येन आत्मनि हृदये आत्मानं आत्मना मनसा पश्यन्ति साक्षात्कुर्वन्ति । अन्ये तु मध्यमाधिकारिणः साङ्ख्येन योगेन श्रवणमननरूपेणात्मचिन्तनेन पश्यन्ति । निदिध्यासनाशक्ताः श्रवणमनने एव कुर्वन्ति; तेऽपि क्रमान्निदिध्यासनं प्राप्य साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः । अपरे मन्दाः कर्मयोगेन परमेश्वरार्पणनिष्कामकर्मानुष्ठानरूपेणात्मानं पश्यन्ति; श्रवणाद्यशक्ताः कर्मयोग एव निष्ठिताः सन्तः क्रमेण चित्तशुद्धिश्रवणमनननिदिध्यासनद्वारा पश्यन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥ अन्ये त्वतिमन्दाः यथोक्तोपायेषु केनाप्युक्तरूपमात्मानं द्रष्टुमजानन्तः अन्येभ्यः परमकारुणिकेभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वा 'ब्रह्मैवाहं न संसारी मुक्तोऽहमिति भावयेत् । अशक्नुवन्भावयितुं वाक्यमेतदुदीरयेत्' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धं 'ब्रह्मैवाहम्' इति वाक्यं नित्यमावर्तयेत्युपदेशं लब्ध्वा तथैवोपासते श्रद्धयाऽनुतिष्ठन्ति, तेऽपि मृत्युं संसारं क्रमेणातितरन्त्येव; यतः श्रुतिपरायणाः श्रूयत इति श्रुतिराचार्योपदेशः, स एव परमयनं मोक्षमार्गः येषां ते तथोक्ताः । तेऽपीत्यपिशब्दात् कर्मयोगादिसाधननिष्ठा मृत्युमतितरन्तीति किमु वक्तव्यम् ? इत्यभिप्रायः ॥ २६ ॥

**९ व० त० दी०—** एवम्भूतदर्शनसाधनविकल्पानाह— द्वाभ्यां ध्यानेनेति । आत्मनि स्वस्मिन् आत्मना स्वेन, अन्ये साङ्ख्येन योगेनाष्टाङ्गेन, कर्मयोगेन चापरे निष्कामेन पश्यन्त्यात्मानम् ॥ २५ ॥

अन्ये त्विति । अतिमन्दाधिकारिणोऽन्येभ्यस्तत्त्वदर्शिभ्यो ज्ञानिभ्यः श्रुत्वा 'कर्मणा' [ ३।२० ] इत्यादिभिरात्मानमुपासते, ततस्तेऽप्यात्मदर्शनेन मृत्युं संसारमतितरन्ति, ये श्रुतिपरायणास्त एव । अपिचशब्दोपादानात्पूर्वभेदोऽवगम्यते ॥ २६ ॥

**१० पु. अ. त.—** नन्वेवं ज्ञानेनैव मुक्तिश्चेत्तदाऽन्यसाधनानामप्रयोजकत्वं स्यादित्याशङ्क्यान्यसाधनस्वरूपमाह— **ध्यानेनेति** द्वयेन । केचित् ज्ञानिनः ध्यानेन परिकल्पनेन आत्महृदये आत्मना मनसा आत्मानं आत्मरूपं भगवन्तं पश्यन्ति । अन्ये साङ्ख्येन नित्यानित्यवस्तुविवेकात्मकेन योगेन तथा पश्यन्ति । अपरे कर्मयोगेन कर्मसु तदात्मकप्राकट्यरूपयोगेन पश्यन्ति तद्रूपम् ॥ २५ ॥

अन्ये तु मूर्खाः अजानन्तः अन्येभ्यो गुरुभ्यः श्रुत्वा विनैवानुभवम् , एवं पूर्वोक्तप्रकारैरुपासते उपासनां कुर्वन्ति, तेऽपि च सर्वे मृत्युमतितरन्त्येव; मुक्ता भवन्तीत्यर्थः । कथं ? इत्यत आह— श्रुतिपरायणाः, श्रुत्युक्तप्रकारत्वात् श्रद्धया करणादित्यर्थः । अयमर्थः— स्ववाक्यसत्यत्वाय तानपि तारयामि निर्बन्धेन, न तु स्नेहेन; इदमेवैवकारापिशब्दाभ्यां व्यञ्जितम् ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— एवंविधात्मदर्शनेऽधिकारिभेदेनोपायविकल्पानाह— ध्यानेनेति । अत्र ये आत्मानं विविदिषन्ति ते निष्कामकर्मणा परमेश्वरमाराधयन्ति ते कर्मयोगिनः । तत एवोत्पन्नविविदिषा वेदान्तश्रवणे प्रवर्तन्ते । ततः प्रमाणगतासम्भावनानिवृत्तौ सत्यां तस्यैवार्थस्य मनने प्रवर्तन्ते प्रमेयगतासम्भावनानिवृत्त्यर्थं ते साङ्ख्याः । ततः प्रमाणप्रमेयगतासम्भावनाया निवृत्त्यनन्तरमनात्मनि देहादावात्मबुद्धिरूपाया विपरीतभावनाया निवृत्त्यर्थं निदिध्यासनं विजातीयप्रत्ययतिरस्कारपूर्वकसजातीयप्रत्ययप्रवाहीकरणलक्षणं कर्तुं प्रवर्तन्ते ततस्तत्परिपाके आत्मनि बुद्धिवृत्तौ आत्मानं परमेश्वरं पश्यन्ति ते ध्यायिनः । तत्र ये कर्मसाङ्ख्ययोर्निष्णातास्ते ध्यानेनात्मनि देहे आत्मानं परमेश्वरं आत्मना बुद्ध्या पश्यन्ति । अन्ये त्वकृतकर्माणः साङ्ख्येन योगेन विचारात्मकेन योगेन ध्यानद्वारा पश्यन्ति । अन्ये पुनः कर्मयोगेनैव पूर्वोक्तलक्षणेन साङ्ख्या ध्यानद्वारा पश्यन्तीति साधनत्रयस्य समुच्चयः, न तु विकल्पः ॥ २५ ॥

पक्षान्तरमाह— अन्ये त्विति । अन्ये ऊहापोहकौशलहीनाः । तुशब्देन पूर्वोक्तेभ्यो विलक्षणाः । एवं पूर्वोक्तप्रकारमजानन्तोऽन्येभ्य आचार्येभ्यः श्रुत्वा आत्मनो निर्विशेषब्रह्मचैतन्यरूपत्वं तदुपासनामार्गं चाधिगत्य उपासते यथोक्तप्रकारेण ध्यायन्ति, तेऽपि च मृत्युं संसारं तरन्त्येव । अपिशब्दात्पूर्वश्लोकोक्तास्तरन्तीत्यत्र किमाश्चर्यं ? इति गम्यते । एवशब्दात्तेषां मुख्यक्रमाभावेऽपि तरणे संशयो नास्ति । यतस्ते श्रुतिपरायणाः, श्रुतिः श्रवणं तदेव परं अयनं मोक्षसाधनं येषां ते तथा । ध्याने प्रवृत्त्यतिशयान्न तेषां चित्तशुद्ध्यर्थं कर्मापेक्षा । वेदोक्ततत्त्वे दृढनिश्चयाच्चासम्भावनानिवृत्त्यर्थं श्रवणमननापेक्षेति भावः । अयं च ब्रह्मसाक्षात्कारः संवादिभ्रमरूप इति केचित्, प्रमारूप इत्यन्ये । तथाहि– यथा कश्चिन्मणिप्रभां मणिबुद्ध्या पश्यन् भ्रान्त एव तथापि तद्ग्रहणकाले मणिं लभतेऽतः स संवादिभ्रमः । एवं त्वम्पदार्थं तत्पदार्थमणिप्रभाभूतं तत्पदार्थबुद्ध्या भावयन् व्यवहारतो भ्रान्त एव, तथापि तत्साक्षात्कारकाले तदनन्यस्य तत्पदार्थस्य साक्षात्कारोऽपि संवादिभ्रमन्यायेन जायते इति । तथा च वसिष्ठः– 'असत्ये सत्यता साधो ! शाश्वती परिदृश्यते । शून्येन ध्यानयोगेन शाश्वतं प्राप्यते पदम्' [ यो. वा. ] इति व्यवहारतो निर्विशेषस्वरूपत्वेनासत्ये आत्मनि तत्र निर्विशेषत्वभावनं शून्यो निर्विषयोऽयं ध्यानयोगो योषित्यग्निध्यानवत्, तथापि तेन शाश्वती सत्यता प्राप्यते दृश्यत इति वसिष्ठवाक्यार्थः । कल्पद्रुमाचार्यास्तु– 'वेदान्तवाक्यजध्यानभावनाजापरोक्षधीः । मूलप्रमाणदार्ढ्येन भ्रमत्वं प्रतिपद्यते' इति प्राहुः ॥ २६ ॥

संसारस्याविविक्तत्वं तन्निवर्तकं सफलं तत्त्वज्ञानं च ।

**यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥ २७ ॥**

**१ शां. भा.**— 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।२ ] इति क्षेत्रज्ञेश्वरकत्वविषयं ज्ञानं मोक्षसाधनं 'यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते' [ १३।१२ ] इत्युक्तं, तत्कस्माद्धेतोः ? इति तद्धेतुप्रदर्शनार्थं श्लोक आरभ्यते— **यावदिति** । यावद्यत्किञ्चित्सञ्जायते समुत्पद्यते सत्त्वं वस्तु– किमविशेषेण ? नेत्याह– स्थावरजङ्गमं स्थावरं जङ्गमं च क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तज्जायत इत्येवं विद्धि जानीहि हे भरतर्षभ ! । कः पुनरयं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगोऽभिप्रेतः ? । न तावद्रज्ज्वेव घटस्यावयवसंश्लेषद्वारकः सम्बन्धविशेषः संयोगः क्षेत्रेण क्षेत्रज्ञस्य सम्भवति, आकाशवन्निरवयवत्वात् । नापि समवायलक्षणः, तन्तुपटयोरिव क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितरेतरकार्यकारणभावानभ्युपगमादिति उच्यते– क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विषयविषयिणोर्भिन्नस्वभावयोरितरेतरतद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपविवेकाभावनिबन्धनः, रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावादध्यारोपितसर्परजतादिसंयोगवत् । सोऽयमध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगो मिथ्याज्ञानलक्षणः । यथाशास्त्रं क्षेत्रक्षेत्रज्ञलक्षणभेदपरिज्ञानपूर्वकं प्राग्दर्शितरूपात्क्षेत्रात् मुञ्जादिवेषीकां यथोक्तलक्षणं क्षेत्रज्ञं प्रविभज्य 'न सत्तन्नासदुच्यते' [ १३।१२ ]

इत्यनेन निरस्तसर्वोपाधिविशेषं ज्ञेयं ब्रह्म स्वरूपेण यः पश्यति, क्षेत्रं च मायानिर्मितहस्तिहर्म्यादिवत् स्वप्नदृष्टवस्तुवत् गन्धर्वनगरादिवदसदेव सदिवावभासत इत्येवं निश्चितविज्ञानो यस्तस्य यथोक्तसम्यग्दर्शनविरोधादपगच्छति मिथ्याज्ञानं तस्य जन्महेतोरपगमात्। 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह' [ १३।१४ ] इत्यनेन विद्वान्भूयो नाभिजायत इति यदुक्तं तदुपपन्नमुक्तम् ॥ २७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ऐक्यधीर्मुक्तिहेतुरिति प्रागुक्तमनूद्य प्रश्नपूर्वकं जिज्ञासितहेतुपरत्वेन श्लोकमवतारयति— **क्षेत्रे**ति। सर्वस्य प्राणिजातस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञसम्बन्धाधीना यस्मादुत्पत्तिस्तस्मात्क्षेत्रज्ञात्मकपरमात्मातिरेकेण प्राणिनिकायस्याभावादैक्यज्ञानादेव मुक्तिरित्याह— **कस्मादि**ति। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसम्बन्धमुक्तमाक्षिपति— **कः पुनरि**ति। क्षेत्रज्ञस्य क्षेत्रेण सम्बन्धः संयोगो वा समवायो वा ? इति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— **न तावदि**ति। द्वितीयं निरस्यति— **नापी**ति। वास्तवसम्बन्धाभावेऽपि तयोरध्यासरूपः सोऽस्तीति परिहरति— **उच्यत** इति। भिन्नस्वभावत्वे हेतुमाह— **विषये**ति। इतरेतरवत्क्षेत्रे क्षेत्रज्ञे वा तद्धर्मस्य क्षेत्रानधिकरणस्य क्षेत्रज्ञगतस्य चैतन्यस्य क्षेत्रज्ञानाधारस्य च क्षेत्रनिष्ठस्य जाड्यादेरारोपरूपो योगस्तयोरित्याह— **इतरे**ति। तत्र निमित्तमाह— **क्षेत्रे**ति। अविवेकादारोपितसंयोगे दृष्टान्तमाह— **रज्जिव**ति। उक्तं सम्बन्धं निगमयति— **सोऽयमि**ति। तस्य निवृत्तियोग्यत्वं सूचयति— **मिथ्ये**ति। कथं तर्हि मिथ्याज्ञानस्य निवृत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यथे**ति। "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" [बृ. उ. ४।४।२२] इत्यादि त्वम्पदार्थविषयं शास्त्रमनुसृत्य विवेकज्ञानमापाद्य महाभूतादिधृत्यन्तात्क्षेत्रात् [ १३।६,७ ] उपद्रष्टृत्वादिलक्षणं प्रागुक्तं [ १३।२२ ] क्षेत्रज्ञं मुञ्जेषीकान्यायेन विविच्य सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं ब्रह्म स्वरूपेण ज्ञेयं योऽनुभवति तस्य मिथ्याज्ञानमपगच्छतीति सम्बन्धः। कथमस्य निर्विशेषत्वं ? क्षेत्रज्ञस्य सविशेषत्वहेतोः सत्त्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **क्षेत्रं चे**ति। बहुदृष्टान्तोक्तेर्बहुविधत्वं क्षेत्रस्य द्योत्यते। उक्तज्ञानान्मिथ्याज्ञानापगमे हेतुमाह— **यथोक्ते**ति। तथापि कथं पुरुषार्थसिद्धिः ? कालान्तरे तुल्यजातीयमिथ्याज्ञानोदयसम्भवादित्याशङ्क्याऽऽह— **तस्ये**ति। सम्यग्ज्ञानादज्ञानतत्कार्यनिवृत्त्या मुक्तिरिति स्थिते फलितमाह— **य एवमि**ति ॥ २७ ॥

**३ रा. भा.**—अथ प्रकृतिसंसृष्टस्यात्मनो विवेकानुसन्धानप्रकारं वक्तुं सर्वं स्थावरं जङ्गमं च सत्त्वं चिदचित्संसर्गजमित्याह— **यावदि**ति। यावत् स्थावरजङ्गमात्मना सत्त्वं जायते, तावत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितरेतरसंयोगादेव जायते संयुक्तमेव जायते, न त्वितरेतरवियुक्तमित्यर्थः ॥ २७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमात्मदर्शनमुक्तं, तदर्थं 'समं सर्वेषु' इत्यादिभिः श्लोकैः प्रकृतिपुरुषयोर्विवेकानुसन्धानप्रकारो वक्ष्यते। स चाविविक्तप्रतीतौ सत्यामेवोपदेष्टव्यः, अन्यथा निष्प्रयोजनत्वात्। सा च न दोषमन्तरेण घटते; स च दोषोऽत्र भोक्तृत्वभोगायतनत्वनिर्वाहकः संसर्गविशेषः; तदिदं 'यावत् सञ्जायते' इति श्लोकेनोच्यत इति सङ्गतिमाह **अथे**ति। सर्वशब्देन यावच्छब्दस्यात्र साकल्यपरत्वमुक्तम्। यावच्छब्दस्य यच्छब्दार्थत्वेन व्याख्यानमवाचकत्वान्मन्दप्रयोजनत्वाच्चायुक्तमिति भावः। सत्त्वशब्दोऽत्र जन्तुपरः 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' [ अमरः ३।३।२१२ ] इति पाठात्। वृक्षगुल्मलतावीरुत्तृणादिषु चैतन्यविकासाभावमात्रेण जैनप्रक्रियया केवलाचेतनत्वशङ्कानिरासायात्र स्थावरशब्दः। स्थावरजङ्गमत्वयोर्बाल्ययौवनवार्धकादिवदयावच्छरीरभावित्वाभावज्ञापनाय **स्थावरजङ्गमात्मने**त्युक्तम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञाभ्यां सहान्यस्य संयोगशङ्काव्युदासायोक्तं **इतरेतरसंयोगादि**ति। विधेयांशं दर्शयितुं **संयोगादेवे**त्युक्तम्। मातापितृसंसर्गात् पुत्रोत्पत्तिवत्क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्ततोऽन्यत्सत्त्वं जायेतेत्यत्राह— **संयुक्तमेवे**ति। पृथक्सिद्धप्रसिद्धक्षेत्रक्षेत्रिसम्बन्धव्यवच्छेदायाह **नत्वि**ति। 'तद्विद्धि' [ ४।३४ ] इति तच्छब्देन जन्मनः परामर्शः ॥ २७ ॥

**५ आ. मा. भा.**— पुनश्च प्रकृतिपुरुषेश्वरस्वरूपं साम्यादिधर्मयुक्तमाह— **यावदि**त्यादिना ॥ २७ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'तत्क्षेत्रं यच्च' [ १३।४ ] इत्यादिना प्रतिज्ञातस्य सर्वस्योक्तत्वात्किमुत्तरेण ? इत्यत आह— **पुनश्चे**ति। उक्तस्य पुनर्वचने को हेतुः ? इत्यत उक्तं **साम्या**दीति। ईश्वरधर्मस्योभयधर्मात्प्राधान्येन साम्यग्रहणम्, तच्च प्रकृतिपुरुषधर्मकथनं यादृगिति प्रतिज्ञातेऽन्तर्भवति ईश्वरधर्मकथनं च यत्प्रभाव इति ॥ २७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— ॥ २७ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— 'य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह' [ १३।२४ ] इति प्रागुक्तयोः संसारतत्त्वज्ञानयोः प्रपञ्चनार्थमतः परमध्यायशेषः। तत्र संसारस्याविद्यिकत्वं दर्शयति— **यावदि**ति। यावत्किञ्चित्सत्त्वं वस्तु स्थावर-

जङ्गमात्मकमुत्पद्यते, तत्सर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः प्रागुक्तयोः संयोगः परस्पराविवेककृतः सत्यानृतमिथुनीकरणात्मकस्तादात्म्याध्यासः, अतिरिक्तसम्बन्धासम्भवस्य वज्रपञ्जरे प्रपञ्चितत्वात् । तस्मादध्यासादेव सर्वं कार्यजातमिति विद्धि । अतः स्वरूपाज्ञाननिबन्धन एव संसार इत्यर्थः ॥ २७ ॥

९ व० त० दी०— अथ साङ्ख्यरीत्या प्रकृतिसस‍ृष्टस्यात्मनो विवेकानुसन्धानप्रकारं वक्तुं स्थावरजङ्गमं च सत्त्वं सच्चित्संसर्गजमित्याह— यावदिति । सत्त्वं भूतमात्रं स्थावरं जङ्गमं च जायते तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः सम्बन्धात् 'उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत्' [ भाग. १०।८७।३१ ] इति वाक्यात् । क्षेत्रात्मनोरन्योन्यसंयोगादिह जायते संयुक्तावेव, नेतरेतरवियुक्तावित्यर्थः ॥ २७ ॥

१० पु. अ. त.— एतेषु पूर्वोक्तप्रकारेषु किमुत्तमम् ? अथ च कथं ज्ञेयम् ? इत्यत आह— यावदिति । यावद्वस्तुमात्रं स्थावरजङ्गमं तत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पूर्वोक्तस्वरूपयोगात् क्रीडार्थकमत्संयोगात् सत्त्वं सत्त्वात्मकं विद्धि जानीहि । भरतर्षभ ! इतिसम्बोधनं तदर्थज्ञानयोग्यत्वाय ॥ २७ ॥

११ नी० भा० दी०— पूर्वं 'कार्यकारणकर्तृत्वे' [ १३।२१ ] इत्यत्र चिदचितोः पुम्प्रकृत्योरन्योन्यधर्माध्यास उक्तस्तस्यैव गुणसङ्गरूपस्य 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' [ १३।२२ ] इति नानाजन्महेतुत्वं चोक्तं तद्विशदयति— यावदिति । सत्त्वं जीवरूपम् । गुणसङ्गोऽत्र रूपाद्यासक्तिर्न, किन्तु क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः संयोगोऽन्योन्यस्मिन्नन्योन्यात्मकताध्यासलक्षणो बोध्यः । शेषं स्पष्टम् ॥ २७ ॥

**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।**
**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २८ ॥**

१ **शां. भा.**— 'न स भूयोऽभिजायते' [ १३।२४ ] इति सम्यग्दर्शनफलमविद्यादिसंसारबीजनिवृत्तिद्वारेण जन्माभाव उक्तः, जन्मकारणं चाविद्यानिमित्तकः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग उक्तः, अतस्तस्या अविद्याया निवर्तकं सम्यग्दर्शनमुक्तमपि पुनः शब्दान्तरेणोच्यते— **सममिति** । समं निर्विशेषं तिष्ठन्तं स्थितिं कुर्वन्तम् । क्व ? सर्वेषु समस्तेषु भूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्राणिषु । कम् ? परमेश्वरं देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यव्यक्तात्मनोऽपेक्ष्य परमश्चासावीश्वरश्चेशनशीलश्चेति परमेश्वरस्तं सर्वेषु भूतेषु समं तिष्ठन्तम् । तानि विशिनष्टि— **विनश्यत्स्विति** । तं च परमेश्वरमविनश्यन्तमिति भूतानां परमेश्वरस्य चात्यन्तवैलक्षण्यप्रदर्शनार्थम् । कथं ? सर्वेषां हि भावविकाराणां जनिलक्षणो भावविकारो मूलं; जन्मोत्तरकालभाविनोऽन्ये सर्वे भावविकारा विनाशान्ताः । विनाशात्परो न कश्चिदस्ति भावविकारः, भावाभावात् । सति हि धर्मिणि धर्मा भवन्ति; अतोऽन्त्यभावविकाराभावानुवादेन तत्पूर्वभाविनः सर्वे भावविकाराः प्रतिषिद्धा भवन्ति सह तत्कार्यैः । तस्मात्सर्वभूतैर्वैलक्षण्यमत्यन्तमेव परमेश्वरस्य सिद्धं निर्विशेषत्वमेकत्वं च । य एवं यथोक्तं परमेश्वरं पश्यति स पश्यति । ननु सर्वोऽपि लोकः पश्यति, किं विशेषणेनेति ? । सत्यं पश्यति, किन्तु विपरीतं पश्यति; अतो विशिनष्टि स एव पश्यतीति । यथा तिमिरदृष्टिरनेकं चन्द्रं पश्यति, तमपेक्ष्यैकचन्द्रदर्शी विशिष्यते स एव पश्यतीति । तथैवेहाप्येकमविभक्तं यथोक्तमात्मानं यः पश्यति, स विभक्तानेकात्मविपरीतदर्शिभ्यो विशिष्यते, स एव पश्यतीति । इतरे पश्यतोऽपि न पश्यन्ति, विपरीतदर्शित्वादनेकचन्द्रदर्शिवदित्यर्थः ॥ २८ ॥

२ आ. शां. व्या.— उत्तरग्रन्थमवतारयितुं व्यवहितं वृत्तं कीर्तयति— **नेत्यादिना** । अविद्याऽनाद्यनिर्वाच्यमज्ञानं मिथ्याज्ञानं तत्संस्कारश्चाऽऽदिशब्दार्थः । व्यवहितमनूद्याव्यवहितमनुवदति— **जन्मेति** । व्यवधानाव्यवधानाभ्यां सर्वानर्थमूलत्वादज्ञानस्य तन्निवर्तकं सम्यग्ज्ञानं वक्तव्यमित्याह— **अत** इति । तस्यासकृदुक्तत्वात्तदुक्तार्थप्रवृत्तिर्वृथेत्याशङ्क्याति-

सूक्ष्मार्थस्य शब्दभेदेन पुनः पुनर्वचनमधिकारिभेदानुग्रहायेति मत्वाऽऽह— **उक्तमिति** । सर्वत्र परस्यैकत्वान्नोत्कर्षापकर्षवत्त्वमित्याह— **सममिति** । परमत्वमीश्वरत्वं चोपपादयति— **देहेति** । आत्मा जीवस्तमित्यादिनाऽन्वयोक्तिः । आश्रयनाशादाश्रितस्यापि नाशमाशङ्क्याऽऽह— **तं चेति** । अविनश्यन्तमिति विशिनष्टीति सम्बन्धः । उभयत्र विशेषणद्वयस्य तात्पर्यमाह— **भूतानामिति** । नाशानाशाभ्यां वैलक्षण्येऽपि कथमत्यन्तवैलक्षण्यं ? सविशेषत्वभिन्नत्वयोस्तुल्यत्वादिति शङ्कते— **कथमिति** । भूतानां सविशेषत्वादिभावेऽपि परस्य तदभावादत्यन्तवैलक्षण्यमिति वक्तुं जन्मनो भावविकारेष्वादित्वमाह— **सर्वेषामिति** । तत्र हेतुमाह— **जन्मेति** । न हि जन्मान्तरेणोत्तरे विकारा युज्यन्ते जन्मवतस्तदुपलम्भादित्यर्थः । विनाशानन्तरभाविनोऽपि विकारस्य कस्यचिदुपपत्तेर्न तस्यान्त्यविकारत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **विनाशादिति** । तस्यान्त्यविकारत्वे सिद्धे फलितमाह— **अत** इति । तेषां जन्मादीनां कार्याणि कादाचित्कसत्त्वानि तदधिकरणानि तैः सहेति यावत् । परमेश्वरस्य भूतेभ्योऽत्यन्तवैलक्षण्यमुक्तमुपसंहरति— **तस्मादिति** । निर्विशेषत्वं सर्वभावविकारविरहितत्वं कूटस्थत्वमेकत्वमद्वितीयत्वम् । 'यः पश्यति' इत्यादि व्याचष्टे— **य एवमिति** । उक्तविशेषणमीश्वरं पश्यन्नेव पश्यतीत्युक्तमाक्षिपति— **नन्विति** । ईश्वरपराङ्मुखस्यानात्मनिष्ठस्य तद्दर्शित्वेऽपि विपरीतदर्शित्वादीश्वरप्रवणस्यैव सम्यग्दर्शित्वमिति विवक्षित्वा विशेषणमिति परिहरति— **सत्यमिति** । उक्तमेव दृष्टान्तेन विवृणोति— **यथेत्यादिना** । 'यः पश्यति' इत्यादेरर्थमुपसंहरति— **इतर** इति । परवस्तुनिष्ठेभ्यो व्यतिरिक्ता इत्यर्थः ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.— एवमितरेतरयुक्तेषु सर्वेषु भूतेषु देवादिविषमाकारात् वियुक्तं तत्रतत्र तत्तद्देहेन्द्रियमनांसि प्रति परमेश्वरत्वेन स्थितमात्मानं ज्ञातृत्वेन समानाकारं तेषु देहादिषु विनश्यत्सु विनाशानर्हस्वभावेनाविनश्यन्तं यः पश्यति, स पश्यति स आत्मानं यथावदवस्थितं पश्यति । यस्तु देवादिविषमाकारेणात्मानमपि विषमाकारं जन्मविनाशादियुक्तं च पश्यति, स नित्यमेव संसरतीत्यभिप्रायः ॥ २८ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** अथ समत्वविषमत्वनियन्तृत्वनियाम्यत्वनित्यत्वानित्यत्वैर्द्वयोर्विवेकानुसन्धानमभिधाय तदेव तत्त्वाध्यवसायरूपत्वेन परमपुरुषार्थहेतुतया प्रशंसति **सममिति** श्लोकेन । 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' [ १३।२७ ] इत्यत्र **शङ्करेणोक्तम्** "आकाशवन्निरवयवतया अवयवसंश्लेषलक्षणसंयोगासम्भवात् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरितरेतरकार्यकारणभावानभ्युपगमेन समवायासम्भवाच्च विषयविषयिणोस्तयोरितरेतरधर्माध्यासलक्षणः संयोगः; तन्निवर्तनं च सम्यग्दर्शनं 'समं सर्वेषु' इत्यादिनोच्यते" इति; तदेतद्बालिशभाषितम्, निरवयवस्यापि संयोगसम्भवात्; 'युतसिद्धयोः सम्बन्धः संयोगः' इति हि तं लक्षयन्ति; स च निरवयवयोः सावयवयोर्निरवयवसावयवयोश्च सम्भवति । तन्मते च अध्यासानुपपत्त्यादयः प्रपञ्चिताः । 'सर्वेषु भूतेषु' इति देवमनुष्यादिरूपवैषम्यं विवक्षितम् । यथा मृण्मयहिरण्मयादिघटोपात्तस्यापि गङ्गोदकस्य तत्रतत्र स्थितिमात्रमेव, न पुनर्मृण्मयत्वादिसिद्धिः; तथाऽऽत्मनोऽपि देवमनुष्यादिदेहेषु स्थितिमात्रमेव; नतु रुमाप्रतिक्षिप्तकाष्ठादिलवणत्वन्यायेन स्वरूपेण देवमनुष्यत्वादिवैषम्याश्रयत्वमिति । 'तिष्ठन्तम्' इत्यस्याभिप्रायमाह **देवादिविषमाकाराद्वियुक्तमिति** । यद्वा 'समम्' इति वचनादर्थाक्षिप्तं वैषम्यनिवृत्तिकथनमिदम्; 'तिष्ठन्तम्' इति तु परत्रान्वेतव्यम् । अतो हि भाष्यते **परमेश्वरत्वेन स्थितमिति** ।

अनीश्वरस्याल्पशक्तेः क्षेत्रज्ञस्य कथं परमेश्वरत्वं ? इत्यत्र पूर्ववत्सङ्कोचमाह **तत्रतत्र तत्तद्देहेन्द्रियमनांसि प्रतीति** । देहात्माभिमानिनो हि देहनाशादात्मनाशं मन्यन्ते; नत्वप्रतीतस्य परमात्मनो नाशम्; तस्मात् 'अविनश्यन्तम्' इति प्रसक्तविनाशप्रतिषेधार्थपदसमानाधिकरणः परमेश्वरशब्दः प्रकान्तविषय इति भावः । समशब्देन न बाह्यदेवत्वादिवैषम्यनिवृत्तिमात्रं विवक्षितम्; अपितु "गवामनेकवर्णानां क्षीरस्य त्वेकवर्णता । क्षीरवत्पश्यति ज्ञानं लिङ्गिनस्तु गवां यथा" [ ब्र. बिं. उ. १० त्रि. ता. उ. ५।१९ ] इति श्रुत्यनुसारेणात्मनां स्वरूपेषु मिथोवैषम्यनिवृत्तिरपि । तच्च साम्यं कथम्भूतमिति शङ्कायाम् 'एतयो वेत्ति' [ १३।२ ] इति प्रक्रमानुसारेणाह **ज्ञातृत्वेन समानाकारमिति** । ज्ञानत्वादेरप्युपलक्षणमेतत् ।

'येन सर्वमिदं ततम्' [ १८।४६ ] इत्यादिना प्रपञ्चितानविनाशित्वहेतून् स्मारयति **विनाशानर्हस्वभावेनेति** । 'यः पश्यति स पश्यति' इत्यनयोरनतिशयितार्थतया नैरर्थक्यं उद्देश्योपादेयभङ्गश्चेत्यत्राह **स आत्मानं यथावदवस्थितमिति** । इतरे तु पीतशङ्खादिदर्शिवद्विपरीतदर्शितया पश्यन्तोऽपि न पश्यन्तीति भावः । 'स पश्यति' इति प्रशंसाऽत्र परमपुरुषार्थलाभादिनिबन्धना । व्यतिरेकनिन्दा चात्र फलितेत्यभिप्रायेणाह **यस्त्विति** ॥ २८ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २८ ॥**

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ २८ ॥

**७ ह. पै. भा.— ॥ २८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवमाविद्यिकं संसारमुक्त्वा तन्निवर्तकं तत्त्वज्ञानमाह— सममिति। सर्वेषु भूतेषु देवतिर्यङ्नरादिविचित्रभेदभिन्नेषु प्राणिषु सुरामूत्रगङ्गाजलेषु सूर्यबिम्बमिव सममेकरूपं यथा भवति तथा तिष्ठन्तम्, अत एव तेषु विनश्यत्स्वपि अविनश्यन्तम्। विकारमात्रोपलक्षणमेतत्। भूतविकारे स्वयमविक्रियमित्यर्थः। एवंविधं परमेश्वरं 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो मानुषीं तनुम्' "स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः" [बृ. उ. १।४।७] "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" [तै. उ. २।६] "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" [छां. उ. ६।३।२] इत्यादिप्रमाणसहस्रसम्प्रतिपन्नपरब्रह्मभावं क्षेत्रज्ञं यः पश्यति, स एव सम्यक्पश्यति, नान्यः॥ २८॥

९ ब० त० दी०— अथ पुनरपि सुग्रहणायात्मदर्शनमाह— तत्रात्मा त्रिविधोऽन्तर्यामी पुरुषोऽव्यक्तश्च। तत्र प्रथमस्य दर्शने फलमाह— द्वाभ्यां सममिति। तत्र यः समं तिष्ठन्तं सर्वभूतेषु परमात्मानमन्तर्यामिणमीश्वरं पश्यति स सम्यग्दर्शनः, विनश्यदवस्थेषु सत्प्रकृतिकार्यशरीरेषु जातिवदविनश्यन्तं ज्ञातृत्वेन समानाकारं यः पश्यति स पश्यति॥ २८॥

१० पु. अ. त.— एतदेव फलरूपत्वेन विशदयति— सममिति। सर्वेषु प्रपञ्चान्तःपातिस्थावरजङ्गमात्मकेषु भूतेषु लीलया अनेकविधरसभोगार्थं तिष्ठन्तं रसानुभवार्थं नीचोच्चादिधर्मरहितं समं, तेषु विनश्यत्सु च अविनश्यन्तं तादृग्लीलावबोधरहितत्वाद्विनाशं प्राप्तेषु अन्यथाभावेन क्रोधादिराहित्येन तथैव लीलानुभवं कुर्वन्तं यः पश्यति, स परमेश्वरं पश्यति। अत एवंदर्शनाभावे सापराधो भवत्येव॥ २८॥

११ नी० भा० दी०— तन्नाशोपायमाह— सममिति। सममपरिणामिनं कूटस्थं नित्यं सर्वेषु भूतेषु देहाद्याकारेण परिणतेषु तिष्ठन्तम्। एतेन देह एव तदधिगमस्थानमित्युक्तम्। परमेश्वरमन्तर्यामिणं सर्गस्थित्यन्तकर्तारम्। अत एवान्तर्मुखदृष्ट्या विनश्यत्सु तेषु भूतेषु रज्जूरगादिवत्कल्पितत्वाददर्शनं गच्छत्सु विभुत्वादात्मत्वान्नित्यदृग्रूपत्वाच्चाविनश्यन्तं सर्वास्वप्यवस्थास्वदर्शनमगच्छन्तं यः पश्यति स एव पश्यति। अन्येऽन्धा इत्यर्थः॥ २८॥

**समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**
**न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्॥ २९॥**

१ शां. भा.— यथोक्तस्य सम्यग्दर्शनस्य फलवचनेन स्तुतिः कर्तव्येति श्लोक आरभ्यते— सममिति। समं पश्यन्नुपलभमानो हि यस्मात्सर्वत्र सर्वभूतेषु समवस्थितं तुल्यतयाऽवस्थितमीश्वरमतीतानन्तरश्लोकोक्तलक्षणमित्यर्थः। समं पश्यन् किं? न हिनस्ति हिंसां न करोत्यात्मना स्वेनैव स्वमात्मानम्। ततस्तदहिंसनाद्याति परां प्रकृष्टां गतिं मोक्षाख्याम्।

२ आ. शां. व्या.— प्रकृतसम्यग्ज्ञानेन किं? इत्यपेक्षायां तत्फलोक्त्या तस्यैव स्तुत्या तद्धेतौ पुरुषं प्रवर्तयितुं श्लोकान्तरमित्याह— यथोक्तस्येति। यस्मादित्यस्य तत इतिशब्देन सम्बन्धः। सर्वभूतेषु तुल्यतयाऽवस्थितं पूर्वोक्तलक्षणमीश्वरं निर्विशेषं पश्यन्नात्मानमात्मना यस्मान्न हिनस्ति ततस्तस्मान्मोक्षाख्यां परां गतिं यातीति योजना। तत्र पादत्रयेण ज्ञानादज्ञानध्वस्त्या ध्वस्तिरनर्थस्योक्ता। अज्ञानमिथ्याज्ञानयोरावरणयोर्नाशे सर्वोत्कृष्टां गतिं परमपुरुषार्थं परमानन्दमनुभवति विद्वानिति चतुर्थपादार्थः।

१ शां. भा.— ननु नैव कश्चित्प्राणी स्वयं स्वमात्मानं हिनस्ति, कथमुच्यतेऽप्राप्तं न हिनस्तीति? यथा "न पृथिव्यां नान्तरिक्षे न दिव्यग्निश्चेतव्यः" [तै. सं. ५।२।७।१] इत्यादि। नैष दोषः, अज्ञानामात्मतिरस्करणोपपत्तेः। सर्वो ह्यज्ञोऽत्यन्तप्रसिद्धं साक्षादपरोक्षादात्मानं तिरस्कृत्य, अनात्मानमात्मत्वेन परिगृह्य, तमपि धर्माधर्मौ कृत्वोपात्तमात्मानं हत्वाऽन्यमात्मानमुपादत्ते नवं, तं चैवं हत्वाऽन्यम्; एवं तमपि हत्वाऽन्यं, इत्येवमुपात्तमुपात्तमात्मानं हन्तीत्यात्महा सर्वोऽज्ञः। यस्तु परमार्थात्माऽसावपि सर्वदाऽविद्यया हत इव विद्यमानफलाभावात्, इति सर्वे आत्महन एवाविद्वांसः। यस्त्वितरो यथो-

क्तात्मदर्शी स उभयथाऽप्यात्मनाऽऽत्मानं न हिनस्ति न हन्ति । ततो याति परां गतिं, यथोक्तं फलं तस्य भवतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

२ आ. शां. व्या.— ‘ न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ’ इति यथाश्रुतमादाय चोदयति— **नन्विति** । ‘ न पृथिव्यां ’ इति प्राप्तिद्वारा निषेधवत् ‘ नान्तरिक्षे न दिवि ’ इति प्राप्त्यभावाच्चायं निषेधो मुख्यो नेष्यते, तथेहापि प्राप्तिं विना निषेधो न युक्तिमानित्याह— **यथेति** । अज्ञानामात्मनैवाऽऽत्महिंसासम्भवाद्विदुषां तदभावोक्तिर्युक्तेति समाधत्ते— **नैष दोष** इति । सङ्ग्रहवाक्यं विवृणोति— **सर्वो हीति** । अनात्मशब्दो देहादिविषयः । अविदुषामारोपितात्महन्तृत्वं निगमयति— **इत्यात्महेति** । तथापि पारमार्थिकस्याऽऽत्मनो हननाभावान्न तेषां सर्वेषामात्महन्तृत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **यस्त्विति** । उक्तरीत्या सर्वेषामविदुषामात्महन्तृत्वं सिद्धमित्युपसंहरति— **सर्व** इति । आत्मनैवाऽऽत्महननमविदुषां दृष्टं, तदिह विद्वद्विषये शक्यं निषेद्धुमित्याह— **यस्त्वितर** इति । **उभयथाऽपीति** आरोपानारोपाभ्यामित्यर्थः । ज्ञानादनर्थभ्रमभ्रंशे पूर्वोक्तं परमानन्दप्राप्त्या परितृप्तत्वं युक्तमित्याह— **तत** इति ॥ २९ ॥

३ रा. भा.— सर्वत्र देवादिशरीरेषु तत्तच्छेषित्वेनाधारतया नियन्तृतया च स्थितमीश्वरमात्मानं देवादिविषमाकारवियुक्तं ज्ञानैकाकारतया समं पश्यन् आत्मना मनसा स्वमात्मानं न हिनस्ति रक्षति, संसारान्मोचयति; ततः तस्मात् ज्ञातृतया सर्वत्र समानाकारदर्शनात्, परां गतिं याति; गम्यत इति गतिः, परं गन्तव्यं यथावदवस्थितमात्मानं प्राप्नोति देवाद्याकारयुक्ततया सर्वत्र विषममात्मानं पश्यन् आत्मानं हिनस्ति भवजलधिमध्ये प्रक्षिपति ॥ २९ ॥

४ वे. ता. चं.— उक्तमुपपादयति **समं पश्यन्निति** श्लोकेन । ‘ हि ’ इति हेतौ । प्रस्तुतं समदर्शनं ह्यत्र फलद्वारा स्तूयते ‘सर्वत्रावस्थितो देहे ’ [ १३।३३ ] इति वक्ष्यमाणावेक्षणेन ‘ सर्वत्र ’ इतिशब्दस्य विवक्षितमाह **देवादिशरीरेष्विति** । ‘ भर्ता भोक्ता महेश्वरः ’ [ १३।२३ ] इति पूर्वोक्तानुरोधेन ‘ समवस्थितम् ’ इत्यत्रोपसर्गसामर्थ्यलब्धस्थितिवैशेष्यं व्यनक्ति **तत्तच्छेषित्वेनेत्यादिना** । अतएव हि ‘ स्थितम् ’ इत्येतावद्विभज्य निर्दिष्टम् । ईश्वरशब्देनापि शेषित्वनियन्तृत्वे सिद्धे । अत्रापीश्वरशब्दः पूर्वोक्तन्यायेनावच्छिन्नविषयोऽनुसन्धेयः । देहात्माभिमानप्रसक्तदेवादिवैषम्यप्रतिषेधार्थोऽत्र समशब्द इत्यभिप्रायेणाह— **देवादिविषमाकारवियुक्तमिति** । ‘ क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् ’ [ १३।२७ ] ‘यदा भूतपृथग्भावम ’ [ १३।३१ ] इति पूर्वापरपरामर्शाद्देहसम्बन्धसिद्धवैषम्यनिवृत्तिर्विवक्षितेति भावः । तृतीयान्त आत्मशब्दोऽत्र करणविभक्त्यन्तत्वादौचित्याच्च मनोविषयः; द्वितीयान्तस्तु हिंसाकर्मत्वसामर्थ्यात् संसार्यात्मविषय इति ज्ञापयति **मनसा स्वमात्मानमिति** । समदर्शिनो हिंसकत्वं नास्तीत्यत्र अविहिताप्रतिषिद्धकर्तृवत्समदर्शकस्याबाधकत्वमात्रमुक्तं स्यात्; तच्चानर्थकम्; अपिच विषमदर्शिनोऽप्यात्मा नित्यत्वान्न हिंसार्हः । अतोऽत्र ‘ न हिनस्ति’ इत्यनेन किमपि समदर्शनसाध्यं पुरुषेष्टमभिप्रेतमित्याह **रक्षतीति** । प्रकरणतो वाक्यशेषाच्च रक्षां विशिनष्टि **संसारादिति** । ततश्शब्दोऽत्र न वाक्यार्थादिपरामर्शी, अनिष्टनिवृत्तेरपि स्वयंफलत्वेनेष्टप्राप्तिहेतुत्वनिर्देशानौचित्यात्; अत उभयकारणं समदर्शनमेव परामृश्यत इत्याह— **तस्मादित्यादिना** । ‘ परां गतिम् ’ इति प्राप्यविशेषस्य विवक्षितत्वाद्भावार्थमात्रपरत्वे तदसिद्धेस्तदुचितां व्युत्पत्तिमाह **गम्यत इतीति** । तदेव विशिनष्टि **यथावदिति** । प्रकरणं हीदं जीवविषयं समर्थितम्; परगतिशब्दश्च ‘ अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ’ [ ८।२१ ] इत्यादिषु जीवेऽपि प्रयुक्तचर इति भावः । ‘ आत्मनि वैषम्यदर्शी तु स्वात्मानं हिनस्ति ’ इति ‘ विशेषनिषेधः शेषाभ्यनुज्ञानार्थः ’ इति न्यायेन सिद्धमित्याह **देवाद्याकारेति** । नित्यस्यात्मस्वरूपस्याच्छेद्यत्वादिस्वभावतया ‘ कं घातयति हन्ति कम् ’ [२।२१] इति प्रागुक्तस्य काऽसौ हिंसा ? इत्यत्राह— **भवजलधीति** । अनेनापि श्लोकेन प्रकृतिपुरुषयोः स्वाकारानुदर्शनद्वारा संसारहेतुत्वमोक्षहेतुत्वाभ्यामपि विवेक उक्तो भवतीत्यभिप्रायः ॥ २९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २९ ॥

७ ह. पै. भा.— न हिनस्ति न व्यापादयति ॥ २९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेतदात्मदर्शनमिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारफलेन स्तौति— **सममिति** । सर्वभूतेषु समं यथातथा समवस्थितं सम्यग्जन्मादिनाशान्तषड्भावविकारशून्यतयाऽवस्थितं ईश्वरमात्मानं पश्यन् हि यस्मादात्मानं न हिनस्ति संरक्षति, संसारान्मोचयतीति यावत्; तस्मात् परां गतिं मुक्तिमाप्नोति । अनेन— य एवमात्मानं न पश्यति स पापी-

थानात्महा स्वस्वरूपज्ञानिनं प्रति, वस्तुगत्यात्मनो विद्यमानस्याप्यविद्यमानफलतया तेन तस्य हतप्रायत्वात्; अतस्तस्यात्महत्यापापिष्ठस्यानिष्टमेव फलं भवतीति दर्शितम्; यदाहुः*— ‘ योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ’ [ म. भा. १।७४।२७ ] इति ; श्रुतिरपि “असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः । तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ” [ ईशो. ३ ] इति । असुर्या असुरैरुपभोग्याः ॥ २९ ॥

९ व० त० दी०— समं पश्यन् आत्मना आत्मानं न हिनस्ति नान्यथा प्रतिपद्यते, किन्तु याथातथ्येनावैति हीति युक्तं ‘ योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणात्मापहारिणा [ म. भा. १।७४।२७ ] इति श्रुतिप्रामाण्यात् ? । अपितु संरक्षति संसारमत्येति “ अतिमृत्युमेति ” [ यजुस्सं. ३१।१८+श्वे. उ. ३।८।६।१५ ] इति श्रुतिप्रतिपादितार्थः; ततो ज्ञातृतया सर्वत्र समानाकारदर्शनात् परां गतिं सच्चिदानन्दकां भगवद्धामरूपामक्षरात्मिकां याति ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.— पश्यन् मुक्तो भवतीत्याह— सममिति । सर्वत्र प्रापञ्चिकपदार्थमात्रे समवस्थितं सम्यक्प्रकारेण तथाभूतलीलार्थमवस्थितं ईश्वरं सर्वसामर्थ्ययुक्तं समं पश्यन् आत्मना स्वलीलात्मरूपेण आत्मस्वरूपमविकृतमात्मानं हि निश्चयेन न हिनस्ति अन्यथा न प्राप्नोति, यथार्थरूपेण ज्ञात्वा प्रपद्यते । ततः परामुत्कृष्टां वैकुण्ठाख्यां गतिं याति । हीति युक्तत्वम्; अन्यथाप्रपत्तेर्निषिद्धत्वात् । अत एव ‘योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ’ [ म. भा. १।७४।२७ ] इति सम्पद्यते ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०— दर्शनफलमाह— सममिति । स्वदेहे इव सर्वत्र देहमात्रे समवस्थितं सम्यगवस्थितमीश्वरं समं समतया पश्यन् हि यतः स सर्वाभेददर्शी आत्मना देहादिना आत्मानं ईश्वरं न हिनस्ति नानायोनिसङ्कटेषु पातनेन न पीडयति, किन्तु ततः परां गतिं मोक्षं याति । यद्वा ऐकात्म्यदर्शित्वात्स्वात्मानमिवान्यमपि न हिनस्ति, सर्वत्र दयालुर्भवतीति भावः । ततश्च परां गतिं याति ॥ २९ ॥

## प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
## यः पश्यति तथाऽऽत्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥ ३० ॥

---

* अत्र मनुरपि— योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा सत्सु भाषते । स पापकृत्तमो लोके स्तेन आत्मापहारकः [ २५।४५ ] इति ।

१ ननु— कश्चिच्छुभं करोति, कश्चिदशुभम्; एकस्मिन्नेव काले कश्चित्पूर्वकृतशुभफलं भुङ्क्ते, कश्चित्पूर्वकृताशुभफलम्; कश्चिज्जानाति घटम्, कश्चित्पटम्, कश्चित्सुषुप्तो न किमपि; कश्चित्स्वप्नान्पश्यति, कश्चित्प्रबुद्ध इत्यादिप्रविभागानां सर्वानुभवसिद्धानां प्रतिशरीरं जीवात्मनां चेतनानां भेदं विनानुपपत्तियुक्तेस्तेषां वास्तविका भेदाः सर्वैस्तैर्थिकैः प्रतिपन्ना इति— कथं सर्वभूतस्थमेकमात्मानं समं पश्यन् ‘ न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ’ [ १३।२९ ] इत्युक्तम् ? इति चेत्; ते भेदा अविद्योपाधिप्रयुक्ता एव, न वास्तविका इत्यौपनिषदाः । औपाधिकानामपारमार्थिकानामपि भेदानां सार्वजनीनानुभवगोचरता हि नैयायिकादिभिरपि— ‘ इयं प्राची, न प्रतीची; इयं प्रतीची, नोदीची ’ इति भेदा दिशः; क्षणमुहूर्तयामाहोरजनीमासर्तुवर्षभेदाः कालस्य; चैत्रमैत्रादिश्रोत्रभेदानुभवविषया भेदा आकाशस्य स्वीकृता एव; तत्प्रयुक्ताः कार्यभेदाश्च समानेऽप्येकत्वे विभुत्वे च । सर्वप्रमाणशिरोमणितात्पर्यवदागमसिद्धमात्मैकत्वमपह्नुत्य दुःशिक्षातिमिरविप्लुतदृष्टित्वमृते किमन्यत्कारणमात्मभेदस्य पारमार्थिकत्वोपगमे न्यायसिद्धान्ताद्यनुसारिणां— शरीरात्मत्वक्षणिकविज्ञानात्मवादिवादनिराकरणपरमतात्पर्यशालिनो लोककर्मकाण्डप्रसिद्धात्मभेदानुवादिनः परमार्थभूतमनादित्वं प्रतिपादयतो न्यायादिसूत्रसन्दर्भस्याशयमविदुषां स्यात् ? इति हि ते मन्यन्ते । सति चौपाधिके भेदे तद्गतानामेव शुभाशुभकर्मकर्तृत्वतत्फलसुखदुःखतद्भोगकामादीनां कल्पितभेदजीवगतत्वेन प्रतीतिः, न ते धर्मा जीवानां वास्तविकानामपि भेदा अपि । तेषामेकत्वमेव तु स्वरूपानतिरिक्तं पारमार्थिकमिति । तदेतदभिसन्धायाभिधत्ते भगवानुपनिषत्सौरभेयीदोग्धा— प्रकृत्यैव चेति । — इति गूढार्थतत्त्वालोकः ।

के ते उपाधयः ? कश्च तैः सम्बन्धः ? कीदृशान्यौपाधिकानि जीवस्वरूपाणि ? कथं चोपाधिगतानां धर्माणां जीव उपलम्भः ? इत्यत्र वेदान्तिमतानि तत्रैव द्रष्टव्यानि ॥ मध्वमतानुयायिन्यां त्वन्यथैव व्याख्यातम्— चशब्दानुकृष्टेन प्रकृतेन परमात्मना कर्त्रा, प्रकृत्या च निमित्तभूतया क्रियमाणानि सर्वाणि कर्माणि स्वात्मानमकर्तारं यः पश्यति, स परमेश्वरं पश्यतीत्यर्थः । अथवा— प्रकृत्य स्वयमेव कर्मादिकं प्रबोध्य, प्रकृतेनेश्वरेण क्रियमाणानि कर्माणि; तथा आत्मानं परमेश्वरमकर्तारं कर्तृरहितं यः पश्यति, स पश्यति । कर्तृराहित्यात्स्वातन्त्र्यम्, पूर्वकर्मापेक्षया कर्तृत्वेनावैषम्यादिकम्— इति ॥ — अविगीता ।

**१ शां. भा.**— 'सर्वभूतस्थमीशं समं पश्यन्न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं' [१३।२९] इत्युक्तं तदनुपपन्नं स्वगुणकर्मवैलक्षण्यभेदभिन्नेष्वात्मस्वित्येतदाशङ्क्याऽऽह— **प्रकृत्येति** । प्रकृत्या, प्रकृतिर्भगवतो माया त्रिगुणात्मिका "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्" [श्वे. उ. ४।१०] इति मन्त्रवर्णात्तया प्रकृत्यैव च नान्येन महदादिकार्यकारणाकारपरिणतया, कर्माणि वाङ्मनःकायारभ्याणि क्रियमाणानि निर्वर्त्यमानानि सर्वशः सर्वप्रकारैर्यः पश्यत्युपलभते; तथाऽऽत्मानं क्षेत्रज्ञमकर्तारं सर्वोपाधिविवर्जितं स पश्यति स परमार्थदर्शीत्यभिप्रायः । निर्गुणस्याकर्तुर्निर्विशेषस्याऽऽकाशस्येव भेदे प्रमाणानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ ३० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— श्लोकान्तरं शङ्कोत्तरत्वेनावतारयितुमुक्तमनुवदति— **सर्वेति** । प्रतिदेहं धर्माधर्मादिमत्त्वेनाऽऽत्मनो भेदभानान्न सम्यग्दर्शनमिति शङ्कते— **तदिति** । स्वगुणैः सुखदुःखादिभिः स्वकर्मभिश्च धर्माधर्माख्यैर्वैलक्षण्यात्प्रतिदेहं भेदे तद्विशिष्टेष्वात्मसु **कथं** साम्येन दर्शनं ? इत्येतदाशङ्क्य परिहरतीत्याह— **एतदिति** । प्रकृतिशब्दस्य स्वभाववाचित्वं व्यावर्तयति— **प्रकृतिरिति** । मायाशब्दस्य संवित्पर्यायत्वं प्रत्याह— **त्रिगुणेति** । उक्ता । परस्य शक्तिर्मायेत्यत्र श्रुतिसम्मतिमाह— **मायां त्विति** । अन्येन केनचित्क्रियमाणानि न भवन्ति कर्माणीत्येवकारार्थमाह— **नान्येनेति** । किं तदन्यन्निषेध्यमित्युक्ते साङ्ख्याभिप्रेता प्रधानाख्या प्रकृतिरित्याह— **महदादीति** । सर्वप्रकारत्वं काम्यत्वनिषिद्धत्वादिना प्रकारबाहुल्यमात्मानमुक्तविशेषणं यः पश्यतीति पूर्वेण सम्बन्धः । स पश्यतीत्ययुक्तं पुनरुक्तेरित्याशङ्क्याऽऽह— **स परमार्थेति** । आत्मनां प्रतिदेहं भिन्नत्वे तेषु समदर्शनमयुक्तमित्युक्तस्य कः समाधिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **निर्गुणस्येति** ॥ ३० ॥

**३ रा. भा.**— सर्वाणि कर्माणि 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते' [१३।२१] इति पूर्वोक्तरीत्या प्रकृत्या क्रियमाणानीति यः पश्यति, तथाऽऽत्मानं ज्ञानाकारमकर्तारं च यः पश्यति, तस्य प्रकृतिसंयोगस्तदधिष्ठानं तज्जन्यसुखदुःखानुभवश्च कर्मरूपाज्ञानकृतानीति च यः पश्यति, स आत्मानं यथावदवस्थितं पश्यति ॥ ३० ॥

**४ वे. ता. चं.**— अथ साक्षात्क्रियाश्रयत्वतदभावादिवैधर्म्यमुच्यते— **प्रकृत्यैवेति** श्लोकद्वयेन । अत्र कर्माण्याकुञ्चनप्रसारणादीनि । प्रकृत्या क्रियमाणानां कर्मणां स्वरूपदर्शनमात्रं विद्वदविद्वत्साधारणम्; विदुषस्तु प्रकृत्या क्रियमाणत्वदर्शनं विशेष इत्युपादेयांशविशदीकरणाय— **क्रियमाणानीति** इतिकरणम् । अकर्तृत्वमात्मशब्दाभिप्रेतेन शुद्धाकारेण स्थापयति— **ज्ञानाकारमिति** । 'ज्ञाताकारम्' इति वा पाठः । कथं तर्हि शास्त्रवश्यत्वतत्फलभोक्तृत्वादिकं ? इत्यत्राह— **तस्येति** । सर्वस्यास्य चक्रवत्परिवर्तमानोपाधिप्रवाहनिबन्धनत्वान्न कश्चिद्दोष इति भावः ॥ ३० ॥

**५ आ. मा. भा.**— आत्मानं चाकर्त्तारं पश्यति स पश्यति ॥ ३० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— '**प्रकृत्यैव च**' इत्यत्र यः प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि **पश्यति** स आत्मानमकर्तारं पश्यतीति कश्चिदन्वयमाह, तदसत्; तथाशब्दवैयर्थ्यापत्तेरिति भावेनान्यथाऽऽह— **आत्मानं चेति** । स पश्यति परमेश्वरम् ॥ ३० ॥

**७ ह. पै. भा.**— प्रकृत्याऽविद्यया । सर्वशः सर्वप्रकारैः ॥ ३० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— **ननु** 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' [१३।२९] इत्युक्तम्, शुभाशुभकर्तॄणामात्मनां साम्यायोगादित्याशङ्क्य तत्कर्तृत्वमेवासिद्धमित्याह— **प्रकृत्यैवेति**। मनोवाक्कायारभ्याणि कर्माणि सर्वशः सर्वप्रकारैः प्रकृत्यैव मायाविद्याख्यया देहेन्द्रियादिरूपेण परिणतया क्रियमाणानि यः पश्यति। 'प्रकृत्यैव' इत्येवकारव्यावर्त्यमाह— **तथात्मानमकर्तारमिति**। तथाशब्दः पश्यतेराकर्षणार्थः । '**प्रकृतिपरिणामभूतान्तःकरणतादात्म्या**ध्यासेनैवात्मनः कर्तृत्वं, न वस्तुतः' इति यः पश्यति "विज्ञानं यज्ञं तनुते, कर्माणि तनुतेऽपि च" [तै. उ. २।५।१] "ध्यायतीव लेलायतीव" [बृ. उ. ४।३।७] 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते' [३।२७] 'चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहन्धिया स्मृतः' इत्यादिप्रमाणैर्यः पश्यति, स एव सम्यक्पश्यति; नान्य इत्यर्थः ॥ ३० ॥

**९ व० त० दी०**— द्वितीयस्यापि स्वस्य दर्शने फलमाह— प्रकृत्यैवेति । साङ्ख्ये तु प्रकृत्यैव क्रियमाणानि कर्माणि कर्तृत्वं चेष्टावत्त्वेन प्रकृत्याश्रयं, न तु केवल आत्मनि जीवस्वरूपेऽणुपरिमाणमात्रे चिद्रूपेऽपि मुख्यकर्तृपुरुषोत्तमांशभावानुसन्तत्यैव; देहद्वयोपाधिवैशिष्ट्ये तु तत्र कर्तृत्वं प्राकृतमेवेति ध्येयं, तथा चैवमन्ततोऽकर्तारमात्मानं स्वस्वरूपं निरुपाधिभावं पश्यति स पश्यति; अन्ये त्वन्धाः ॥ ३० ॥

१० पु. अ. त.— ननु सर्वरूपेण यदि सर्वत्र स एवास्ति, तदा कथं न सर्वे तथा पश्यन्ति ? इत्याशङ्कयाऽऽह– प्रकृत्यैवेति । प्रकृत्या लीलोपयोगीन्येव क्रियमाणानि कर्माणि यः पश्यति, चकारेण कार्यमाणानि, तथा आत्मानं जीवमकर्तारं तदिच्छाभावे सर्वकरणाशक्तं यः पश्यति स पश्यति; परमेश्वरमिति शेषः । अथवा स एव पश्यति अन्ये त्वन्धा एवेति भावः ॥ ३० ॥

११ नी० भा० दी०— ननु विषमस्वभावानि भूतानि कः समबुद्ध्या पश्यत्यग्निमिव शीतबुद्ध्या ? इत्याशङ्क्याऽऽह— प्रकृत्यैवेति । सर्वशः सर्वप्रकारेण कर्माणि वाङ्मनःकायैरारब्धानि प्रकृत्यैव क्रियमाणानीति यः पश्यति, तथा आत्मानं चाकर्तारं यः पश्यति पूर्वोक्तरीत्या स एव सर्वत्र समं पश्यतीति पूर्वेणान्वयः ॥ ३० ॥

## यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
## तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३१ ॥

१ शां. भा.— पुनरपि तदेव सम्यग्दर्शनं शब्दान्तरेण प्रपञ्चयति— यदेति । यदा यस्मिन्काले भूतपृथग्भावं भूतानां पृथग्भावं पृथक्त्वमेकस्थमेकस्मिन्नात्मनि स्थितमेकस्थमनुपश्यति शास्त्राचार्योपदेशतो मत्वाऽऽत्मप्रत्यक्षत्वेन पश्यति "आत्मैवेदं सर्वं" [ छां. उ. ७।२५।२ ] इति । तत एव च तस्मादेव च विस्तारमुत्पत्तिं विकासं "आत्मतः प्राण आत्मत आशा आत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावावात्मतोऽन्नं" [ छां. उ. ७।२६।१ ] इत्येवमादिप्रकारैर्विस्तारं यदा पश्यति ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवति, तदा तस्मिन्काल इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रकृतेर्विकाराणां च साङ्ख्यवत्पुरुषादन्यत्वप्रसक्तौ प्रत्याह— पुनरपीति । उपदेशजनितं प्रत्यक्षदर्शनमनुवदति— आत्मैवेति । भूतानां विकाराणां नानात्वं प्रकृत्या सहाऽऽत्ममात्रतया प्रलीनं पश्यति, न हि भूतपृथक्त्वं; सत्यां प्रकृतौ केवले परस्मिन्विलापयितुं शक्यत इत्यर्थः । परिपूर्णादात्मन एव प्रकृत्यादेर्विशेषान्तस्य स्वरूपलाभमुपलभ्य तन्मात्रतां पश्यतीत्याह— तत एवेति । उक्तमेव विस्तारं श्रुत्यवष्टम्भेन स्पष्टयति— आत्मत इति । ब्रह्मसम्पत्तिर्नाम पूर्णत्वेनाभिव्यक्तिः, अपूर्णत्वहेतोः सर्वस्याऽऽत्मसात्कृतत्वादित्याह— ब्रह्मैवेति । ज्ञानसमानकालैव मुक्तिरिति सूचयति— तदेति ॥ ३१ ॥

३ रा. भा.— प्रकृतिपुरुषतत्त्वद्वयात्मकेषु देवादिषु सर्वेषु भूतेषु सत्सु तेषां देवत्वमनुष्यत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वादिपृथग्भावमेकस्थं एकतत्त्वस्थं प्रकृतिस्थं यदा पश्यति, नात्मस्थम्; तत एव प्रकृतित एवोत्तरोत्तरपुत्रपौत्रादिभेदविस्तारं च यदा पश्यति, तदैव ब्रह्म सम्पद्यते अनवच्छिन्नं ज्ञानैकाकारमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ परिणामित्वापरिणामित्वलक्षणं वैषम्यमुच्यते— यदेति श्लोकेन । एकशब्देनान्यतरस्य निर्धारणार्थं भूतशब्दोऽत्र तिलतैलवन्मिथश्श्लिष्टचिदचित्समुदायपर इत्यभिप्रायेणाह प्रकृतिपुरुषेति । पृथग्भावशब्दोऽत्र जातिरूपं गुणादिरूपं च भेदमविशेषात्मद्गृह्णाति । स च सर्वोऽप्यवस्थान्तरापत्तिरूपतया निर्विकारात् पुरुषाद्भेदः, तदाह— देवत्वमनुष्यत्वह्रस्वत्वदीर्घत्वादिपृथग्भावमिति । एकशब्दोऽत्र प्रकृतयोरन्यतरनिर्धारणार्थ इत्याह एकतत्त्वस्थमिति । किं तदेकं ? इत्यत्राह प्रकृतिस्थमिति । यद्यात्मा अत्रैकशब्देन विवक्षितः, तदा तस्यैव देवादिवैषम्यदर्शनमुक्तं स्यात्; तच्च 'समं पश्यन्' [ १३।२९ ] इत्याद्युपक्रमेण 'पण्डिताः समदर्शिनः' [ ५।१८ ] इत्यादिस्मृत्यन्तरोक्त्या च विरुद्धयेतेत्यभिप्रायेणाह— नात्मस्थमिति । सन्मात्रस्यैकस्यैव ब्रह्मणः सकलविकल्पसकलपरिणामास्पदत्वमिहोच्यत इति परेषां जल्पाः प्रागेव निरस्ता इति चाभिप्रायः । "आत्मा वै पुत्रनामासि" [ कौ. उ. २।११ ] इत्यादिषु योऽयमात्मनः पुत्रादिरूपः परिणामः प्रतीयते, सोऽपि "अङ्गादङ्गात्सम्भवसि" [ कौ. उ. २।११ ] इत्यादिकमनुसन्दधानस्य प्रकृत्यंशगत एव प्रकाशेतेत्युच्यते 'तत एव च विस्तारम्' इति । तद्विवृणोति— प्रकृतित एवेति । प्रकृतितत्त्वस्य प्रथमं देवादिरूपविचित्रपरिणामे, तन्मूले च सन्तानव्यपदेशभाजि परिणामे भोक्तुः पुरुषस्य भोगार्थसन्निधिमात्रमपेक्षितम्, न पुनर्भोगायतनादिगतविकारास्पदत्वमपीत्येवकाराभिप्रायः । 'ब्रह्म सम्पद्यते' इत्यत्र परमात्मभावस्य विरुद्धत्वाज्जीवात्मभावस्य नित्यसिद्ध-

त्वात् "परमं साम्यमुपैति" [ मुं. उ. ३।१।३ ] 'मम साधर्म्यमागताः' [ १४।२ ] इत्यादिभिरैकार्थ्यात् परब्रह्मसाम्यापत्तिर्विवक्षितेत्यभिप्रायेणाह— **अनवच्छिन्नमिति** । यद्वा देहात्मविवेकज्ञानमात्रेण साक्षात्परमात्मप्राप्तिर्न स्यादित्यभिप्रायः । ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्म भवतीत्यर्थः । तत्र फलितार्थकथनं **आत्मानं प्राप्नोतीति** । यद्वा ब्रह्मेति द्वितीयान्तम् ; सम्पद्यत इति सम्प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

५ **आ. मा. भा.— एकस्थमेकस्मिन्विष्णौ स्थितम् । तत एव च विष्णोर्विस्तारम् ॥ ३१ ॥**

६ **अ. प्र. दी.**— 'एकस्थं' इत्यस्यैकस्यात्मकमिति व्याख्यानं सर्वप्रमाणविरुद्धमिति भावेनाह— **एकस्थमिति** । 'तत एव च विस्तारं' इत्यस्य स्वस्मादेव विश्वस्य विस्तारमिति व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **तत एवेति** । विस्तारमुत्पत्तिम् ॥ ३१ ॥

७ **ह. पै. भा.— पुनरपि सम्यग्दर्शनं शब्दान्तरेण प्रपञ्च्यते— यदेति । एकस्थमेकस्मिन्नात्मनि स्थितम् । विस्तारं विकासम् ॥ ३१ ॥**

८ **वें. ब्र. गि.**— एवं भूतभेदमभ्युपेत्य कर्मवैषम्यकृतः क्षेत्रज्ञभेदो निरस्तः; इदानीं भूतभेदस्यापि कल्पितत्वात्तत्कृतोऽप्यात्मभेदो नेत्याह— **यदेति** । यदा भूतानां स्थावरजङ्गमात्मकानां पृथग्भावं भेदं एकस्थमेकस्मिन्नात्मनि सद्रूपेऽधिष्ठाने स्थितं कल्पितस्याधिष्ठानातिरेकात् "आत्मैवेदं सर्वं" [ छां. उ. ७।२५।२ ] इत्यनुपश्यति । तत्र हेतुः— **तत एव चेति** । चो हेतौ । यस्मात्तत एवात्मनः सकाशादेव—रज्जुतः सर्पदण्डधारादीनामिव— भूतानां विस्तारं विकासमुत्पत्तिमनुपश्यति तस्मात्सर्पादीनां रज्ज्वात्मकत्ववद्भूतानामप्यात्ममात्ररूपत्वमिति तदा सर्वाद्वैतदर्शी परिपूर्णं ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवति ॥ ३१ ॥

९ व० त० दी०— तृतीयेऽपि फलं दर्शयति— **यदेति** । प्रकृतिपुरुषतत्त्वात्मकेषु देवादिभूतेषु सत्सु तेषां देवत्वमनुष्यत्वादिदीर्घह्रस्वस्थूलकृशत्वादिकं पृथग्भावं पृथक्त्वेन वा ज्ञायमानं उभयस्वरूपमेकस्थं प्रकृतिस्थं समष्टिपुरुषस्थं च पश्यति, तत एव च निर्गमनविस्तारं "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिंगा ... एवमेवास्मादात्मनः ... भूतानि व्युच्चरन्ति" [ बृ. उ. २।१।२० ] इत्यादि श्रूयमाणं साक्षात्करोति तदा ब्रह्माक्षरं सम्पद्यते अनवच्छिन्नाक्षरात्मैक्यं प्राप्नोति । अयमर्थः— 'क्षुद्रप्रवाहवद्व्यष्टिः समष्टिर्गाङ्गनीरवत् । अक्षरं तच्छक्तिवद्धि देवतावत्परो हरिः ॥ अक्षरेण सहैक्यं हि पुरुषस्याह तच्छ्रुतिः । पुरुषोत्तमतस्त्वैक्यं प्रवेशः स्वेच्छया मतः' ॥ [व.सि.मु.] एतद्विषये मिथ्यावादिभिराविद्यको भेदः कल्पयित्वोपदिश्यते दृग्दृश्यव्यवहारमभ्युपगम्येति; तदुपेक्ष्यं श्रौतानां श्रौत एव व्यवहारः, न यौक्तिकः, इत्यभियुक्तोक्तेः, विशेषस्तु निबन्धादवगन्तव्यः ॥ ३१ ॥

१० **पु. अ. त.**— एवमेव सर्वेषां लये सूक्ष्मत्वमुत्पत्तौ विस्तरं च यदा ब्रह्मणः सकाशादेव तद्रूपं पश्यति तदा ब्रह्मत्वमाप्नोतीत्याह— **यदेति** । यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथग्भावं ब्रह्मणो भेदं विचित्रानेकरूपात्मकं एकस्थं संहारेच्छात्मकरमणात्मकब्रह्मस्वरूपस्थं प्रलये अनुपश्यति, च पुनः तत एव प्रपञ्चरमणेच्छब्रह्मण एव सृष्टिसमये विस्तारमनुपश्यति, तदा ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मत्वमाप्नोतीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु कथं प्रकृतेरेव कर्तृत्वं, न त्वात्मनः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यदेति** । भूतानां वियदादीनां जरायुजादीनां च पृथग्भावं नानाभावेनावस्थानं परिदृश्यमानमिदं यदा एकस्थं एकस्मिन्नात्मनि स्थितं —रज्ज्वां सर्पादिवत्, कनके वा कुण्डलादिवत्— विलीनं शास्त्राचार्योपदेशमनुपश्यति; तत एवैकस्मात् विस्तारं च भूतपृथग्भावस्य व्युत्थानावस्थामनु स्वप्नादिवत् पश्यति तदा ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवति । अयं भावः— कर्तृत्वं हि क्रियावत्त्वं, क्रिया च परिस्पन्दः, स च परिच्छिन्नस्य पृथग्भूतस्य प्राकृतस्य बुद्ध्यादेरेव सम्भवति, न तु व्यापकस्य सर्वभूतपृथग्भावप्रसिष्णोरात्मन इति ॥ ३१ ॥

आत्मनः सर्वव्यापित्वादिना तत्तद्दोषालिप्तता तत्तत्प्राकाश्यं च ।

## अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः ।

---

१ **अनादित्वादिति**— यद्यप्यविद्या जन्मरहिताऽपि तत्तद्विकारवती तत्त्वज्ञानात्स्वरूपेणापि विनश्यतीत्यनादित्वादित्यस्याव्ययहेतुत्वकथनमसङ्गतम् ; तथाप्युत्पत्तिरहितस्य स्वरूपेण भावभूतविकारावस्थास्वरूपेण न विनाश इत्यत्र तात्पर्यम् । अविद्यापि—

## शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते ॥ ३२ ॥

१ शां. भा.— एकस्याऽऽत्मनः सर्वदेहात्मत्वे तद्दोषसम्बन्धे प्राप्त इदमुच्यते— अनादित्वात्, अनादेर्भावोऽनादित्वं, आदिः कारणं, तद्यस्य नास्ति तदनादि । यद्ध्यादिमत्तत्स्वेनाऽऽत्मना व्येति, अयं त्वनादित्वान्निरवयव इति कृत्वा न व्येति । तथा निर्गुणत्वात्, सगुणो हि गुणव्ययात् व्येति, अयं तु निर्गुणत्वान्न व्येतीति परमात्माऽयमव्ययः; नास्य व्ययो विद्यत इत्यव्ययः । यत एवमतः शरीरस्थोऽपि शरीरेष्वात्मन उपलब्धिर्भवतीति शरीरस्थ उच्यते; तथापि न करोति कर्म । तदकरणादेव तत्फलेन न लिप्यते । यो हि कर्ता स कर्मफलेन लिप्यते, अयं त्वकर्ताऽतो न फलेन लिप्यत इत्यर्थः ।

२ आ. शां. व्या.— परिपूर्णत्वेन सर्वात्मत्वे प्राप्तमात्मनो देहादिगतेन कर्तृत्वादिना तद्वत्त्वं, दृष्टं हि पवित्रस्यापि पञ्चगव्यादेरपवित्रसंसर्गात्तद्दोषेण दुष्टत्वमित्याशङ्कामनूद्योत्तरत्वेन श्लोकमवतारयति— **एकस्येति** । अनादित्वमेव साधयति— **आदिरिति** । तथापि किं स्यात् ? इत्याशङ्क्य कार्यत्वकृतव्ययाभावः सिध्यतीत्याह— **यद्धीति** । तथापि गुणापकर्षद्वारको व्ययो भविष्यति; नेत्याह— **तथेति** । निरवयवत्वादेवावयवद्वारकस्य निर्गुणत्वाद्गुणद्वारकस्य च व्ययस्याभावेऽपि स्वभावतो व्ययः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **परमात्मेति** । परमात्मनः स्वतः परतो वा व्ययाभावे फलितमाह— **यत** इति । स्वमहिमप्रतिष्ठस्य कथं शरीरस्थत्वं ? तत्राऽऽह— **शरीरेष्विति** । सर्वगतत्वेन सर्वात्मत्वेन च देहादौ स्थितोऽपि स्वतो देहाद्यात्मना वा न करोति; कूटस्थत्वाद्देहादेश्च कल्पितत्वादित्यर्थः । कर्तृत्वाभावेऽपि भोक्तृत्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तदकरणादिति** । तदेवोपपादयति— **यो हीति** ।

१ शां. भा.— कः पुनर्देहेषु करोति लिप्यते च ? यदि तावदन्यः परमात्मनो देही करोति लिप्यते च, ततः इदमनुपपन्नमुक्तं क्षेत्रज्ञेश्वरैकत्वं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।२ ] इत्यादि; अथ नास्तीश्वरादन्यो देही, कः करोति लिप्यते चेति वाच्यं परो वा नास्तीति । सर्वथा दुर्विज्ञेयं दुर्वाच्यं चेति भगवत्प्रोक्तमौपनिषदं दर्शनं परित्यक्तं वैशेषिकैः, साङ्ख्यार्हतबौद्धैश्च । तत्रायं परिहारो भगवता स्वेनैवोक्तः 'स्वभावस्तु प्रवर्तते' [ ५।१४ ] इति । अविद्यामात्रस्वभावो हि करोति लिप्यत इति व्यवहारो भवति, न तु परमार्थत एकस्मिन्परमात्मनि तदस्ति । अत एव एतस्मिन्परमार्थसाङ्ख्यदर्शने स्थितानां ज्ञाननिष्ठानां परमहंसपरिव्राजकानां तिरस्कृताविद्याव्यवहाराणां कर्माधिकारो नास्तीति तत्र तत्र दर्शितं भगवता ॥ ३२ ॥

२ आ. शां. व्या.— परस्य कर्तृत्वादेरभावे कस्य तदिष्टं ? इति पृच्छति— **कः पुनरिति** । परस्मादन्यस्य कस्यचिज्जीवस्य कर्तृत्वादीत्याशङ्कामनुवदति— **यदीति** । तस्मिन्पक्षे प्रक्रमभङ्गः स्यादिति दूषयति— **तत** इति । ईश्वरातिरिक्तजीवानङ्गीकारान्नोपक्रमविरोधोऽस्तीति शङ्कते— **अथेति** । तर्हि प्रतीतकर्तृत्वादेरधिकरणं वक्तव्यमिति पूर्ववाद्याह— **क** इति । परस्यैव कर्तृत्वाद्याधारत्वान्नास्ति वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **परो वेति** । नास्तीति वाच्यमिति पूर्वेण

—हि भावभूतचरमतत्त्वसाक्षात्कारात्मकविकारावस्थापन्नैव विनश्यतीति न हेत्वसङ्गतिः । विकारवत्तस्या अपि कल्पितत्वेन सर्वकल्पितविरोधिज्ञानोदये स्वरूपतोऽपि तस्या अत्यन्तं विनाश इति **गूढार्थतत्त्वालोकः** । अत्रायं **विवेकः**— परमात्मनः सर्वत्र साम्योक्तिरष्टाविंशे, तज्ज्ञानान्मोक्षोक्तिरेकोनत्रिंशे, साम्यदृढीकरणं त्रिंशे, जगज्जन्मादिकर्तृत्वस्य तज्ज्ञानान्मोक्षस्य चोक्तिरेकत्रिंशे, जीवाज्जडाच्च भेदस्य शरीरस्थत्वेऽपि दोषाभावस्य चोक्तिर्द्वात्रिंशे इति **द्वैतिनः** । समत्वविषमत्वनियन्तृत्वनियम्यत्वनित्यत्वानित्यत्वादिविरुद्धधर्मवत्वाद्देहात्मनोर्भेदानुसन्धानोक्तिः सप्तविंशे, स्वाकारानुदर्शनद्वारा संसारहेतुत्वमोक्षहेतुत्वाभ्यां विवेकानुसन्धानोक्तिरष्टाविंशे, साक्षात्क्रियाश्रयत्वतदभावाभ्यां विवेकानुसन्धानोक्तिरेकोनत्रिंशे, परिणामित्वापरिणामित्वाभ्यां विवेकानुसन्धानोक्तिस्त्रिंशे, उक्तवैधर्म्यस्य हेतूक्त्या स्थिरीकरणमेकत्रिंशे इति **विशिष्टाद्वैतिनः** । आत्मनः सर्वत्र साम्योक्तिः सप्तविंशे, तज्ज्ञानफलोक्तिरष्टाविंशे, साम्यदृढीकरणमात्मनामभेदोक्तिश्चैकोनत्रिंशे, आत्मनां परस्परं जडाच्च भेदनिराकरणं त्रिंशे, शरीरस्थस्यापि कर्तृत्वाद्यभावोक्तिरेकत्रिंशे **इत्यद्वैतिनः** । तत्र द्वैतिभिरध्यायादौ 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' [ १३।१ ] इत्यादेरधिकश्लोकस्य पाठात् सप्तविंशाया एव तन्मतेऽष्टाविंशाया इत्यनुसन्धेयम् ॥

— **अविगीता** ।

सम्बन्धः । न हि कर्तृत्वादिभाक्त्वे परस्यास्मदादिवदीश्वरत्वमिति भावः । परस्यान्यस्य वा कर्तृत्वादावविशिष्टे शरीरस्थोऽपीत्यादि श्रुतिमूलमपि ज्ञातुं वक्तुं चाशक्यत्वात्त्याज्यमेवेति परीक्षकसम्मत्योपसंहरति— सर्वथेति । परस्य वस्तुतोऽकर्तुरभोक्तुश्चाविद्यया तदारोपादादेयमेव भगवन्मतमिति परिहरति— तत्रेति । तमेव परिहारं प्रपञ्चयति— अविद्येति । व्यावहारिके कर्तृत्वादाविष्टे पारमार्थिकमेव किं नेष्यते ? तत्राऽऽह— नन्विति । वास्तवकर्तृत्वाद्यभावे लिङ्गमुपन्यस्यति— अत इति ॥ ३२ ॥

**३ रा. भा.**— अयं परमात्मा देहान्निष्कृष्टस्वभावेन निरूपितः, शरीरस्थोऽपि अनादित्वात् अनारभ्यत्वात् अव्ययः व्ययरहितः, निर्गुणत्वात् सत्त्वादिगुणरहितत्वात् , न करोति, न लिप्यते देहस्वभावैर्न लिप्यते न बध्यते ॥ ३२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— आत्मनो नित्यत्वानित्यत्वापरिणामित्वादिभिरुक्तं वैधर्म्यं सहेतुकं स्थिरीकरोति— अनादित्वादिति श्लोकेन । आपेक्षिकपरमात्मत्वविषयेण 'अयं परमात्मा' इत्यनेनाभिप्रेतमाह— देहान्निष्कृष्येत्यादिना । ज्ञानसङ्कोचरूपव्ययस्य देहादिप्रेरणरूपकर्तृत्वस्य च प्रत्यक्षादिसिद्धत्वात् कथमव्ययत्वादिः ? इत्यत्राह— स्वभावेन निरूपित इति । अनादित्वादित्यव्ययहेतुरुत्पत्तिराहित्यं विवक्षितमित्याह अनारभ्यत्वादिति । आरभ्यमाणमेव हि व्येतीति दृष्टमिति भावः । 'निर्गुणत्वात्' इति सामान्येन ज्ञानादिगुणनिषेधपरिहारायाह— सत्त्वादिगुणरहितत्वादिति । एवं हेतुद्वयशक्त्यनुसारेण यथायोग्यं साध्यद्वयान्वयो दर्शितः । लेपशङ्काप्रतिषेधयोः सम्भावितविषययोरेव युक्तत्वात्, "तत्सप्तधातु त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं शरीरम्" [ गर्भो. १ ] इत्याम्नातस्य शरीरस्य पटादिषु पङ्कादेरिव संसर्गेण लेपकत्वस्वभावात् 'शरीरस्थोऽपि' इत्यनेन सूचितमाह— देहस्वभावैरिति ॥ ३२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— न च व्ययादिस्तस्येत्याह— अनादित्वादिति । सादि हि प्रायो व्ययि गुणात्मकं च । न करोतीत्यादेरर्थ उक्तः पुरस्तात् । न लौकिकक्रियादिस्तस्य । अतो 'न प्रज्ञं' इत्यादिवदिति ॥ ३२ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— अव्यय इत्यनुवादेन लेपाभावमात्रं विधीयत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— न चेति । एतेनाव्ययत्वमपि साध्यमप्राप्तत्वादित्युक्तं भवति । तस्य विष्णोः अनेन जीवविशेषणमेतत् तस्य प्राप्तिसद्भावेन प्रतिषेधोपपत्तेरिति निरस्तम् । विष्णोरपि 'शरीरस्थोऽपि' इति प्राप्तेरुक्तत्वात् अनादित्वनिर्गुणत्वयोरव्ययत्वे हेतुत्वमुपपादयितुं व्याप्तिमाह— सादीति । यद्व्ययि तत्प्रायः सादि गुणात्मकं चेति योजना । प्रागभावे व्यभिचारपरिहाराय 'प्रायः' इत्युक्तम् । ससाद्येव गुणात्मकमेवेत्यवधारणेन यथास्थितयोजना वा । न करोति निर्गुणत्वादिति ईश्वरस्य क्रियागुणाभावः प्रतीयत इत्यत आह— न करोतीति । पुरस्तादुक्तमेव स्मारयति— नेति । इत्यादिवदक्रियत्वादिकं व्याख्येयमिति शेषः । यद्यप्यव्ययत्वमप्यत्र साध्यं तथापि तल्लोकतो ज्ञातुं शक्यत इति लोपाभावमात्रं, यथा सर्वगतमित्युपपद्यते ॥ ३२ ॥

**७ ह. वै. भा.**— शरीरस्थः शरीर उपलभ्यमानः ॥ ३२ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं च सर्पादीनां रज्ज्वात्मकत्वेऽपि रज्ज्वाः सर्पादिविकारैरिव सर्वभूतानामात्मरूपत्वेऽप्यात्मनो भूतविकारैर्न लिप्तत्वमित्याह— अनादित्वादिति । अयमपरोक्षतयाऽनुभूयमानः प्रत्यगात्मरूपः परमात्मा शरीरस्थोऽपि अव्ययः न व्येतीत्यव्ययः सर्वविकारशून्य इति प्रथममन्वयः । तत्र व्ययो द्विविधः— धर्मिस्वरूपस्योत्पत्त्या वा, तदनुत्पत्तावपि धर्माणामुत्पत्त्या वा ? प्रथमं निराकरोति— अनादित्वादिति । अनादेर्जन्मैव नेति जन्मोत्तरभाविनो भावविकारा न सम्भवन्त्येव; अतो न स्वरूपेण विकारित्वमित्यर्थः । द्वितीयं निराकरोति— निर्गुणत्वादिति । निर्धर्मकत्वाद्धर्मद्वाराऽपि विकारो नेत्यर्थः । न चेच्छाद्वेषादीनामात्मधर्मत्वप्रसिद्धेः कथं निर्धर्मकत्वं ? इति वाच्यम् ; 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्' [ १३।७ ] इत्यादिना तेषां क्षेत्रधर्मत्वकथनादिति भावः । एवं निर्धर्मकत्वादेव शरीरस्थोऽपि न करोति; अत एव च कर्मफलैर्न लिप्यते, तदकर्तुस्तत्फललेपासम्भवात् ॥ ३२ ॥

**९ व० त० दी०**— स्वतः पुरुषस्य प्राकृतसम्बन्धाभाव इत्युपपादयति— अनादित्वादिति । परमात्माऽन्तःपुरुषः अथवा अक्षररूपत्वेन अनादित्वान्निर्गुणत्वादयं आत्मा जीवः पुरुषोऽव्ययः केवलं भगवदिच्छया स्वतः पृथग्भावितोऽप्यकर्ताऽलिप्तः अध्यासेनैव तथा, नान्यथेति भावः ॥ ३२ ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु यथा ब्रह्मांशस्यादिजीवस्य देहसम्बन्धात् कर्मलेपस्तेनैवाज्ञानं तत्राशश्च प्रेरकात्मसम्बन्धात्तस्यैव जीवसम्बन्धालेपे सति कथं समदर्शनं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— अनादित्वादिति । यस्यैवोत्पत्तिस्तस्यैवान्यसम्बन्धेन नाशः ।

स च अनादिनित्वाविद्यकजीवभाववहुत्पत्तिरतएव तत्सम्बन्धाभावार्थं साक्षित्वं पूर्वं निरूपितम्। तस्मात् गुणसम्बन्धिन एव तन्नाशे नाशः, स च निर्गुणस्तस्मादयं परमात्मा अव्ययः परसम्बन्धादिनाशशून्यः। अतः शरीरस्थोऽपि कर्माणि न करोति, अत एव न लिप्यते॥ ३२॥

११ नी० भा० दी०— नन्वात्मनो विभुत्वेन रूपेण कर्तृत्वं मा स्वीकारि, देहाद्यवच्छिन्नेन तु रूपेण तद्वक्तव्यमन्यथानुभवविरोधादित्याशङ्क्याऽऽह— अनादित्वादिति। अयं सर्वेषां प्राणिनां नित्यापरोक्षः। परमो देहादिभ्योऽपरमेभ्य आत्मभ्योऽन्यः कोशपञ्चकातीत आत्मा। परमात्मा अव्ययः न व्येति परिच्छिद्यते देशतः कालतो वस्तुतश्चेत्यव्ययः। अव्ययत्वे हेतुः— अनादित्वादिति। यद्धि आदिमदाकाशादि तद्व्येति, न त्वयं व्येति; अनादित्वात्। नन्वनादिभावस्यानन्त्यनियमेनात्मनः कालतः परिच्छेदो माऽस्तु, तथा देशतः परिच्छिन्नस्य नाशावश्यम्भावादनादित्वायोगाच्च देशतोऽपि परिच्छेदो ब्रह्मणो माऽस्तु। ननु परमाणुवद्भविष्यतीति चेत्, न; दशदिगवच्छेद्यप्रदेशभेदवतो द्रव्यस्य निरवयवत्वरूपाणुत्वासिद्धेः, नहि परमाणोः पूर्वदिगवच्छिन्नो भागः पश्चिमया व्यवच्छेत्तुं शक्यते, अनुभवविरोधात्; देशतः परिच्छेदाभावादेव सजातीयविजातीयवस्तुसद्भावकृतः परिच्छेदोऽपि मास्तु; तथापि विचित्रशक्तियुक्तस्याभिनवप्रपञ्चरचनापटीयसः परस्य सर्वेश्वरत्वसर्वज्ञत्वादिगुणयुक्तस्य स्वगतभेदोऽवश्यम्भावी। स्वशक्तिमायावच्छिन्नेन रूपेण जगत्कर्तृत्वं देहावच्छेदेनाग्निहोत्रादिकर्तृत्वं चावश्यं वक्तव्यमित्याशङ्क्याऽऽह— निर्गुणत्वादिति। यो हि गुणवानाकाशादिः स संयोगं विभागं वोपाधिं प्राप्य स्वगुणं शब्दमाविष्करोति; न तु स्वस्मिन्नसन्तं स्पर्शं केनचिदपि उपाधिना दर्शयितुमीष्टे। एवं आत्मा सर्वगुणहीनः सत्यप्यवच्छेदलाभे कर्तृत्वादिकं गुणमाविष्कर्तुं न समर्थ इति। फलितमाह— शरीरस्थोऽपीति, स्पष्टार्थमेतत्॥ ३२॥

## यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
## सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥ ३३॥

१ शा. भा.— किमिव न करोति न लिप्यते? इत्यत्र दृष्टान्तमाह— यथेति। यथा सर्वगतं सर्वव्याप्यपि सत् सौक्ष्म्यात् सूक्ष्मभावादाकाशं खं नोपलिप्यते न सम्बध्यते, सर्वत्रावस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते॥ ३३॥

२ आ. शां. व्या.— सूक्ष्मभावादप्रतिहतस्वभावत्वादित्यर्थः। न सम्बन्ध्यते पङ्कादिभिरिति शेषः॥ ३३॥

३ रा. भा.— यद्यपि निर्गुणत्वान्न करोति, नित्यसंयुक्तो देहस्वभावैः कथं न लिप्यते? इत्यत्राह— यथेति। यथा आकाशं सर्वगतमपि सर्वैर्वस्तुभिः संयुक्तमपि सौक्ष्म्यात्सर्ववस्तुस्वभावैर्न लिप्यते, तथा आत्मा अतिसौक्ष्म्यात् सर्वत्र देवमनुष्यादौ देहेऽवस्थितोऽपि तत्तद्देहस्वभावैर्न लिप्यते॥ ३३॥

४ वे. ता. चं.— 'न करोति' इत्युक्तमकर्तृत्वं तु पूर्वत्रोत्तरत्र च विशोधितस्वरूपम्; 'शरीरस्थोऽपि न लिप्यते' [ १३।३२ ] इत्यस्मिन् साध्यांशे रुमागतकाष्ठादिन्यायशङ्का अनन्तरश्लोकेन परिह्रियत इत्याह— यद्यपीति। '* संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' 'छिक्केणार्द्रं दह्यते मित्रभावात्' इति हि प्रसिद्धमिति भावः। 'यं प्राप्यातिपवित्राणि वस्त्राण्याभरणानि च। अशुचित्वं क्षणाद्यान्ति किमन्यदशुचिस्ततः' इति न्यायाद्देहेन क्षणमात्रयोगेऽपि वस्त्रादय उपहन्यन्ते; किं पुनरनादिसंयुक्तः? इत्यभिप्रायेणाह— नित्यसंयुक्त इति। संसर्गस्य संसर्गिणि संसर्ग्यन्तरस्वभावापादकत्वमनियतमिति व्यभिचारोपपादनार्थो 'यथा सर्वगतम्' इत्यनुवाद इति ज्ञापनायोभयत्र अपिशब्दोपादानम्। सर्वगतत्वानुवादः 'शरीरस्थोऽपि' इति शङ्कोत्थापक इति च भावः। सर्वैर्वस्तुभिः संयुक्तमपीति— सर्वगतशब्देन परस्परविरुद्धानन्तस्वभावलेपप्रसङ्गोऽभिप्रेत इति भावः। यथा आकाशो भूतान्तरेभ्यः सूक्ष्मः, तथा आकाशादपि सूक्ष्मतरोऽयमिति ज्ञापनार्थमुक्तं अतिसौक्ष्म्यादिति।

---

१ सर्वत्र देहे इति, देहे सर्वत्रेति चान्वयः। आत्मनो विभुत्वेन सर्वेषु देहेष्विव देहेऽपि सर्वत्रावस्थितत्वात्। — अविगीता।

* कस्यचिच्छुकस्य स्वभ्रातुरपशब्दैः क्रुद्धं राजानं प्रत्युक्तिरियम्— 'माताप्येका पिताप्येको मम तस्य च पक्षिणः। अहं मुनिभिरानीतः स च नीतो गवाशनैः॥ गवाशनानां स शृणोति वाक्यं त्वहं हि राजन्! वचनं मुनीनाम्। न चास्य दोषो न च मद्गुणो वा ( प्रत्यक्षमेतद्भवतापि दृष्टं ) संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'॥ इति।

तथेत्यनेन हेतुरप्युक्तिर्दिश्यत इति भावः। केचित्पदार्थाः कैश्चित्संसर्गे तत्स्वभावलेपरहिता अपि ततोऽन्यैः कैश्चित्संसर्गे तत्स्वभावलेपवन्तो दृश्यन्ते; यथा कार्पासादावञ्जनादिवासन-याऽपि न श्यामतादियोगः, लाक्षारसवासनया त्वरुणता दृष्टा; तथेहापि सम्भवतीति शङ्काव्युदासाय दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वशब्दः॥ ३३॥

**५ आ. मा. भा.**—॥ ३३॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ३३॥

**७ ह. पै. भा.**— धूमतुषारादिभिर्नोपलिप्यते॥ ३३॥

**८ वें. ब्र. गि.**— अत्र दृष्टान्तमाह— **यथेति**। यथा सर्वत्र पङ्कादिष्वपि स्थितमाकाशं सौक्ष्म्यादसङ्गस्वभावत्वात् पङ्कादिभिर्नोपलिप्यते तथा। स्पष्टमन्यत्॥ ३३॥

**९ व० त० दी०**— यद्यपि निर्गुणत्वान्न करोति तथापि नित्यसंयुक्तैर्देहस्वभावैः कथं न लिप्यते ? इत्यत्राह दृष्टान्तेन— **यथा सर्वगतमिति**। आकाशवत्सर्वाश्रयव्यापी सौक्ष्म्यादणुत्वाद्धेतोः जीवः आत्माऽपि तथा नोपलिप्यते; सर्वाश्रयव्यापित्वं तु व्यापिचैतन्यगुणादेव युज्यते चन्दनादिवदिति॥ ३३॥

**१० पु. अ. त.**— एतदर्थं दृष्टान्तमाह— **यथेति**। यथा सर्वगतं सर्वत्र जडजीवान्तर्गतमाकाशं सौक्ष्म्यात् स्वरूपाभावात् सङ्गरहितं तेन सह नोपलिप्यते, तथा सर्वत्र उच्चनीचोऽपि देहावस्थितोऽप्यात्मा न लिप्यते॥ ३३॥

**११ नी० भा० दी०**— निर्गुणत्वान्न करोतीति सिद्धं, असङ्गत्वान्नोपलिप्यत इत्याह— **यथेति**। यथा आकाशो धूमादिना न लिप्यते सौक्ष्म्यादसङ्गस्वभावत्वात्। एवमात्मा पुण्यपापादिना नोपलिप्यत इत्यर्थः॥ ३३॥

**यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।**
**क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत !॥ ३४॥**

**१ शां. भा.**— किञ्च— **यथेति**। यथा प्रकाशयत्यवभासयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः सविताऽऽदित्यः; तथा तद्वन्महाभूतादिधृत्यन्तं [ १३।६–७ ] क्षेत्रमेकः सन्प्रकाशयति। कः ? क्षेत्री, परमात्मेत्यर्थः। भारत ! रविदृष्टान्तोऽत्राऽऽत्मन उभयार्थोऽपि भवति, रविवत्सर्वक्षेत्रेष्वेक एव आत्माऽलेपकश्चेति॥ ३४॥

**२ आ. शां. व्या.**— 'न करोति न लिप्यते' [ १३।३२ ] चेत्यत्र द्रष्टृत्वेन दृश्यधर्मशून्यत्वं हेतुमाह— **किञ्चेति**। दृष्टान्तेन विवक्षितमर्थं दर्शयति— **रवीति**। उभयविधमर्थमेव स्फुटयति— **रविवदिति**॥ ३४॥

**३ रा. भा.**— यथैक आदित्यः स्वया प्रभया कृत्स्नमिमं लोकं प्रकाशयति, तथा क्षेत्रमपि क्षेत्री 'ममेदं क्षेत्रमीदृशम्' इति कृत्स्नं बहिरन्तश्चापादतलमस्तकं स्वकीयेन ज्ञानेन प्रकाशयति। अतः प्रकाश्याल्लोकात्प्रकाशकादित्यवद्वेदितृत्वेन वेद्यभूतादस्मात् क्षेत्रादत्यन्तविलक्षणोऽयमुक्तलक्षण आत्मेत्यर्थः॥ ३४॥

**४ वे. ता. चं.**— अथाध्यायारम्भे 'एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञम्' [ १३।२ ] इति वेद्यत्ववेदितृत्वाभ्यां प्रतिपादितं सङ्घातात्मकत्वासङ्घातात्मकत्वप्रयुक्तनानात्वैकत्वाभ्यां सिद्धं च भेदं दृष्टान्तपूर्वं स्थिरीकरोति— **यथा प्रकाशयतीति** श्लोकेन। स्वरूपधर्मभूतयोर्ज्ञानयोरेकजातीययोरपि वैधर्म्यप्रदर्शनार्थं प्रभोदाहरणम्। 'कृत्स्नं क्षेत्रम्' इत्यनेन कृत्स्नशब्देन सर्वेषां शरीराणां सङ्ग्रहः प्रतीयते। व्याचख्युश्च परे ( शं. ) 'रविदृष्टान्तोऽत्र रविवत्सर्वक्षेत्रेष्वेक आत्मा अलेपकश्चेति ज्ञापनार्थम्' इति। तच्चायुक्तं, प्रतिक्षेत्रमात्मनां भिन्नत्वादेकैकस्य सर्वक्षेत्रप्रकाशनाभावाज्जातिपरत्वे त्वादित्यदृष्टान्तासङ्गतिरित्यभिप्रायेणाह— **बहिरन्तश्चापादतलमस्तकमिति**। बहिस्त्वगादिः, अन्तर्मांसादिः। एकैकस्य शरीरस्य अवयवभेदप्रयुक्तनानात्वेन आत्मव्यतिरेकप्रदर्शनार्थमवयवेषु कस्यचिद्वेदितृत्वशङ्काव्युदासार्थं च कृत्स्नशब्द इति भावः। अनेकावयवसमुदायात्मकाच्छरीरात्तदखिलज्ञातृत्वेन प्रतिसन्धीयमान एक आत्मा भिन्न इत्युपलम्भबलसिद्धमित्युक्तं भवति। न प्रकाशकत्वमात्रप्रतिपादनपरोऽत्र दृष्टान्तः, अपितु तदधीनवैलक्षण्यपर इत्याह— **प्रकाश्यादिति**। कर्मकर्तृभावादिना भेदोऽत्र स्फुट इति भावः॥ ३४॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३४ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ ३४ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ ३४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— न केवलमसङ्गत्वादात्मा नोपलिप्यते, किन्तु प्रकाशकत्वादपि प्रकाश्यधर्मैर्न लिप्यत इति सदृष्टान्तमाह— यथेति । "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" [ कठो. ५।११ ] इति श्रुत्यर्थप्रतिपादकोऽयं श्लोकः ॥ ३४ ॥

९ व० त० दी०— प्रकाशकत्वं च दृष्टान्तान्तरेण स्पष्टयति— यथेति । चैतन्यं ज्ञानरूपमात्मनो धर्मः न प्राकृत इति । यथा सूर्यः प्रकाशधर्मवान् सर्वं प्रकाशयति तथाऽयं क्षेत्रीति । अनेन पुरुषस्य क्षेत्रित्वमेव, साम्प्रतं तत्त्वज्ञानेन भगवद्गुणसारत्वात्तद्व्यपदेशः क्षेत्रज्ञत्वं भवतीति बोधितम् ॥ ३४ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वलेपे देहादिगुणप्रकाशकत्वं कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— यथेति । यथैको रविर्मदंशात्मकत्वात् कृत्स्नं सम्पूर्णमिमं लोकं प्रकाशयति, तथा मदंशकत्वादेव क्षेत्री क्षेत्रं कृत्स्नं सम्पूर्णं प्रकाशयति । रवेर्लोचनात्मकत्वात्तदृष्टान्ते मत्कृपादृष्ट्या क्रीडोपयोग्यत्वायाऽऽस्मापि क्षेत्रं प्रकाशयतीति ज्ञापितम् । भारतेतिसम्बोधनेन सैन्यमध्ये स्थितो मदंशत्वात्तद्दोषैस्त्वं यथा न लिप्यस इति ज्ञापितम् ॥ ३४ ॥

११ नी० भा० दी०— 'न करोति न लिप्यते' [ १३।३२ ] इति द्वयमपि दृष्टान्तान्तरेण प्रतिपादयति— यथेति । यथा सूर्यः स्वसत्तामात्रेण विश्वं प्रकाशयति, न तु व्यापाराविष्टतया कुविन्द इव पटम् । यथा चैष प्रकाश्यधर्मैर्दुर्गन्धादिभिर्न लिप्यते एवमयं क्षेत्री क्षेत्रज्ञः सूर्यवदेक एव सन्ननेकधाभूतं क्षेत्रं 'महाभूतानि' [ १३।६ ] इत्यादिना चतुर्विंशतितत्त्वात्मकमिच्छाद्वेषादिविकारयुक्तमुक्तं तत्स्वसत्तामात्रेण प्रकाशयति । हे भारत ! न तु व्यापाराविष्टतया तत्सम्पादयति, तद्धर्मैर्वा पुण्यपापादिभिर्न लिप्यते । सूर्यदृष्टान्तेनैकत्वमकर्तृत्वप्रयुक्तमलेपत्वं च दर्शितम् । तथा च श्रुतयः- । "यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुरूपोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा" [ ] "सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ॥ एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" [ कठो. ५।११ ] इति ॥ ३४ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगाध्यायज्ञानस्य फलम् ।

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।**
**भूतप्रकृतिमोक्षं[1] च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३५ ॥**

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

---

१ भूतप्रकृतिमोक्षं च— अत्र **वामनः**—

अधिष्ठानं चिदेवैकं विवर्तो नैव विद्यते । इति बोधेऽपि भूतेषु स्फुरत्येव जडत्वधीः ॥
संस्कारधर्मः स ध्यानाभ्यासादेव निवर्तते । चराचरतरङ्गेषु चिदकूपारचिन्तनात् ॥
अतो ये चिदभेदेन चिन्तयन्ति चराचरम् । ते भूतप्रकृतेर्मोक्षं विदन्ति जडताधियः ॥ इति ॥

**नव्यास्तु**— सर्वभूतानां मूलभूता या प्रकृतिस्तस्या मोक्षम् । बन्धो मोक्षश्चेत्युभे अप्यवस्थे प्रकृतेरेवेति साङ्ख्याः सङ्गिरन्ते । तदनुसृत्यैवात्र 'प्रकृतिमोक्षं' इत्युक्तमित्याहुः । तदसत्, साङ्ख्यकल्पितायाः प्रकृतेरत्रानभिमतत्वस्यास्माभिः प्रागेव दर्शितत्वात् । प्रधानस्याचेतनत्वेन बन्धमोक्षयोस्तद्धर्मत्वासम्भवत्वादिप्रबलयुक्तिभिरुक्तसिद्धान्तस्य शारीरकमीमांसायां शङ्करभगवत्पादैर्निराकृतत्वाच्च ॥ किञ्चात्र गीताकृत् 'ब्रह्मसूत्रपदैः' ( १३।४ ) इति वेदान्तसूत्राण्येव बादरायणीयानि स्वोपजीव्यत्वेनाचिकीर्तदिति साभिनिवेशमिवोपपादयन्तः, तत्र 'हेतुमद्भिः' 'विनिश्चितैः' च पदैः प्राधान्येनोन्मथितं साङ्ख्यसिद्धान्तमेव तत्र तत्रासावनुसरतीति कथञ्चित् श्रुतिसामान्यमात्रेणापि प्रतिपादयन्तश्च 'लोके महान्तो हि ते' नमस्कार्या एवेत्यलं प्रपञ्चेन ॥— **अविगीता ।**

**१ शा. भा.—** समस्ताध्यायार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः— **क्षेत्रे**ति । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्यथाव्याख्यातयोरेवं यथाप्रदर्शितप्रकारेणान्तरमितरेतरवैलक्षण्यविशेषं ज्ञानचक्षुषा शास्त्राचार्यप्रसादोपदेशजनितमात्मप्रत्ययिकं ज्ञानं चक्षुस्तेन ज्ञानचक्षुषा, भूतप्रकृतिमोक्षं च भूतानां प्रकृतिरविद्यालक्षणाऽव्यक्ताख्या तस्याः भूतप्रकृतेर्मोक्षणमभावगमनं च ये विदुर्विजानन्ति यान्ति गच्छन्ति ते परं परमार्थतत्त्वं ब्रह्म, न पुनर्देहमाददत इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यवर्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** अध्यायार्थं सफलमुपसंहरति— **समस्ते**ति । **विशेषं** कौटस्थ्यपरिणामादिलक्षणम् । तदेवममानित्वादिनिष्ठतया क्षेत्रक्षेत्रज्ञयाथात्म्यविज्ञानवतः सर्वानर्थनिवृत्त्या परिपूर्णपरमानन्दाविर्भावलक्षणपुरुषार्थासिद्धिरिति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.—** एवमुक्तेन प्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं विशेषं विवेकविषयज्ञानाख्येन चक्षुषा ये विदुः भूतप्रकृतिमोक्षं च, ते परं यान्ति निर्मुक्तबन्धमात्मानं प्राप्नुवन्ति; मोक्ष्यतेऽनेनेति मोक्षः, अमानित्वादिकमुक्तं [ १३।८ ] मोक्षसाधनमित्यर्थः । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्विवेकविषयेणोक्तेन ज्ञानेन तयोर्विवेकं विदित्वा भूताकारपरिणतप्रकृतिमोक्षोपायममानित्वादिकं चावगम्य य आचरन्ति, ते निर्मुक्तबन्धाः स्वेन रूपेणावस्थितमनवच्छिन्नज्ञानलक्षणमात्मानं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**४ वे. ता. चं.—** अथैतदध्यायप्रधानार्थभूतहेयोपादेयतदुपायविज्ञानस्य फलमुच्यते **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरि**ति । एवंशब्दानूदितमाह **उक्तेन प्रकारेणे**ति । अज्ञत्ववेदितृत्वधार्यत्वधारकत्वशेषत्वशेषित्वा**दि**प्रकारेणेत्यर्थः । ‘अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये’ [ अमरः ३।३।१८६ ] इत्यनेकार्थस्यान्तरशब्दस्यात्र विवक्षितमाह— **विशेषमि**ति । ‘ज्ञानचक्षुषा’ इत्यत्र दिव्यज्ञानादिप्रसङ्गव्युदासार्थं विवेकविषयत्वोक्तिः । प्रकान्तोपदेशलब्धज्ञानमिह विवक्षितमिति भावः । ज्ञानस्य चक्षुष्ट्वरूपणमपरोक्षज्ञानान्तरहेतुत्वात् । विविच्यतेऽनेनेति विवेकः अत्र व्यावर्तकाकारः— भूतमय्याः प्रकृतेर्मोक्षः भूतप्रकृतिमोक्षः, भूतानां जीवानां प्रकृतेर्मोक्ष इति वा । यत्तु ‘भूतानां प्रकृतिरविद्यालक्षणा अव्यक्ताख्या, तस्याः प्रकृतेर्मोक्षणमभावगमनम्’ इति **शङ्करेणोक्तम्**, तत् “गौरनाद्यन्तवती” [ मं. को. ५ ] इत्यादिश्रुति**विरोधा**दवधीरणीयम् । जीवात्मज्ञानफलविषयत्वात्परशब्दोऽत्र **परिशुद्ध**जीवविषयः । तस्य च परत्वं संसारित्वलक्षणस्वकीयपूर्वावस्थापेक्षयेत्यभिप्रायेणाह— **निर्मुक्तबन्धमि**ति ।

अध्यायारम्भे क्षेत्रक्षेत्रज्ञौ पूर्वमुपपादितौ; परम्परया परिशुद्धात्मप्राप्त्युपायतया अमानित्वादिगुणवर्गश्च; अतोऽत्र निगमनेऽपि क्षेत्रक्षेत्रज्ञाभ्यां सह समुच्चीयमानो भूतप्रकृतिमोक्षः स एव गुणवर्गो भवितुमर्हतीत्यभिप्रायेणाह— **मोक्ष्यतेऽनेने**ति । लुप्ताभ्यासे सन्नन्ते वा, मोक्षशब्दप्रकृतिके मोक्षयतीति णिजन्ते वा ‘मोक्ष मोक्षणे’ इति धात्वन्तरे वा— **मोक्ष्यत** इति यक्प्रयोगः । तत्र चायं मोक्षशब्दः ‘अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्’ [ अष्टा. ३।३।१९ ] इति करणार्थघञन्तः । उक्तेषु ज्ञातव्येषु सिद्धं ज्ञातव्यांशं विवृण्वन्वाक्यार्थज्ञानमात्रस्य साक्षान्मोक्षहेतुत्वाभावादनुष्ठानशेषतां च ज्ञापयन् भूतप्रकृतिमोक्षशब्देनानिष्टनिवृत्तेः सूचनं, ‘परं याति’ इत्यनेन चेष्टप्राप्तेर्विवक्षितत्वं दर्शयन् पिण्डितं महावाक्यार्थमाह— **क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरि**ति ॥ ३५ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु भगवद्रामानुजविरचितश्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

**५ आ. मा. भा.—** भूतेभ्यः प्रकृतेश्च मोक्षसाधनं अमानित्वादिकम् [ १३।८ ] ॥ ३५ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'भूतप्रकृतिमोक्षं' इत्यस्य 'भूतानां प्रकृतिरविद्या तस्याः मोक्षमवसानलक्षणं' [ शं. ] इति व्याख्यानमसत्, भूतशब्दवैयर्थ्यात्, अविद्याध्वंसस्यानुक्तत्वेनैवमिति परामर्शायोगाच्चेति भावेनाह— भूतेभ्य इति । अनेन भूतप्रकृतीति द्वन्द्वः । ततः पञ्चमीति योगविभागात्पञ्चमीतत्पुरुष इत्युक्तं भवति । भूतेभ्यः पृथिव्यादिभ्यः । ननु मोक्षो न प्रागुक्त इत्यत उक्तम्— मोक्षसाधनमिति । करणे घञित्यर्थः । मोक्षसाधनमपि नोक्तमित्यत आह— अमानित्वादिकमिति । ज्ञानसाधनमपि परम्परया मोक्षसाधनमिति भावः । मोक्षशब्दस्य नित्यसापेक्षत्वान्नासमर्थत्वम् । यद्वा भूतेभ्यः प्रकृतेश्चेति समासद्वयसूचनार्थं पृथगेव वाक्यम्, ततो मोक्षपदव्याख्यानं पृथगेवेति ॥ ३५ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितगीताभाष्यस्य जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

७ ह. पै. भा.— भूतप्रकृतिर्माया तस्या मोक्षो भूतप्रकृतिमोक्षस्तम् ॥ ३५ ॥

इति श्रीमद्धनुमत्प्रणीते पैशाचभाष्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अध्यायार्थं सफलमुपसंहरति— क्षेत्रेति । एवमुक्तरीत्या क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं भेदं जडत्वाजडत्वसविकारत्वतदभावरूपम्, तथा भूतानां प्रकृतिमोक्षं च, प्रकृतिरविद्या; मोक्ष्यतेऽनेनेति ( मोक्षः; प्रकृतेर्मोक्षः ) प्रकृतिमोक्षः अविद्याविवेचनोपायभूतं 'अमानित्वमदम्भित्वम्' [ १३।८ ] इत्यादिकम्, तच ये ज्ञानलक्षणेन चक्षुषा विदुर्जानन्ति, ते परं ब्रह्म यान्ति ॥ ३५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— उक्तमुपसंहरति— क्षेत्रेति । उक्तप्रकारेण अन्तरं भेदं विवेकं तत्त्वज्ञानदृष्ट्या भूतप्रकृतेर्मोक्षो यस्मात्तमुपायं अमानित्वादिकं च ये विदुस्ते परं तत्त्वज्ञानं पुरुषोत्तमप्रापकं प्राप्नुवन्ति ॥३५॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— उपसंहरति— क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरिति । एवं पूर्वोक्तप्रकारेण क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरं भेदं लौकिकसृष्टितः ज्ञानचक्षुषा ये विदुः, च पुनः भूतानां सम्बन्धिनी या प्रकृतिः संसारोपयोगिनी ततो मोक्षसाधनं ध्यानाद्यात्मकं ये विदुस्ते परं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ ३५ ॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवं रूपमुक्त्वेश्वरः स्वयम् । मोहं निवारयामास फाल्गुनस्य नमामि तम् ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां टीकायां त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— अध्यायार्थं कृत्स्नमुपसंहरति— क्षेत्रेति । क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः पूर्वोक्तयोरेवमुक्तरीत्या अन्तरं भेदं जडत्वाजडत्वकर्तृत्वाकर्तृत्वविकारित्वाविकारित्वकृतं वैलक्षण्यं ज्ञानचक्षुश्शास्त्राचार्योपदेशात्मप्रत्ययजनितेन ज्ञानचक्षुषा ये विदुस्ते परं मोक्षं यान्ति प्राप्नुवन्ति । किं साङ्ख्यानामिवास्माकमपि गुणपुरुषान्तरज्ञानादेव कैवल्यमुच्यते ? इत्याशङ्क्याऽऽह— भूतप्रकृतिमोक्षमिति । भूतानां वियदादीनां प्रकृतिरुपादानं त्रिगुणात्मिका अविद्या तस्या विद्यया मोक्षं निरन्वयोच्छेदं च ये विदुस्त एव परं यान्ति; नतु क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरन्तरमात्रविद इत्यर्थः । यद्येका सत्या विभ्वी च प्रकृतिस्तर्हि विभूनामलिप्तदृशां बहूनां पुरुषाणां मुक्तानामपि तद्दर्शनमपरिहार्यम् । तथा च तेषामपि बन्धप्रसक्तिः । यदि तु मिथ्या, तर्हि यस्यैवात्मसाक्षात्कारो जातस्तद्दृष्ट्या सर्वथैव रज्जूरगवद्बाधिता कालत्रयेऽपि नास्ति । इतरेषां त्वनादिरनन्तास्त्येवेति वक्तुं शक्यम् । तस्मान्न प्रकृतिपुरुषान्तरज्ञानमात्रात्कैवल्यं, किन्तु प्रकृतिबाधेन पुरुषज्ञानात्, सर्पबाधेन रज्जुदर्शनात् भयनिवृत्तिवद्बन्धनिवृत्तिरिति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

इति नैलकण्ठीये भारतभावदीपे त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

# त्रयोदशाध्यायटिप्पण्यः ।

**अध्यायमेनमेवमवतारयति वामनः—**

'**धर्मामृतं** ये समुपासते ते श्रेष्ठा मताश्चेत्युदितं पुरस्तात् । तेन प्रसङ्गेन समासतश्चेद्धर्मामृतं 'येत्वि'(१२।६)ति वर्णितं तत् ॥
योगः प्राक् परिदर्शितोऽत्र नवमेऽध्याये तथैकादशे यो, धर्मामृतमित्युदीर्य सुतरां शस्तश्च स द्वादशे ।
धर्मस्याथ पृथग्विभाग उदितो नैवामृतस्यापि तं सम्यग्वक्तुमयं त्रयोदश इहाध्यायः समारभ्यते ॥
नवमे ज्ञानदृष्ट्या यो दिव्ययैकादशे दृशा । ऐश्वरो दर्शितो योगो **धर्म्मामृतसौ** मतः ॥
अमृतं पुरुषस्तत्र प्रकृतिर्धर्मरूपिणी । अद्वैतज्ञानमुभयोर्धर्मामृतमुदीरितम् ॥
स्थूलसूक्ष्मविभेदेन विवेकोऽपि द्विधा तयोः । तद्बाध्यश्चाविवेकोऽपि द्विधैवानादिरुच्यते ॥
तत्र स्थूले तादृशेन विवेकेनापरे हृते । मोक्षः सूक्ष्मविवेकेन देह एवानुभूयते ॥
चिद्रूपः पुरुषो ब्रह्म धर्मास्तु प्रकृतेरिति । प्रत्ययः स्याद्दृढः सूक्ष्मविवेके सति सर्वतः ॥
तावच्छरीरं प्रकृतेर्विकारः क्षेत्राभिधानं, पुरुषश्चिदंशः । क्षेत्रज्ञसंज्ञश्च तयोर्विवेकं वक्त्यच्युतोऽत्र प्रथमं यथावत्' ॥ इति ॥

**नव्यास्तु**— जडप्रकृतेरेव सर्वे व्यक्तपदार्था निर्मीयन्ते इति सामान्यबोधेऽपि तस्याः कस्माद्गुणादयं विस्तारो भवति ? कश्चास्य क्रमः ? इति अनुक्ते, न ज्ञानविज्ञाननिरूपणस्य पूर्णताऽस्तीति त्रयोदशेऽध्याये प्रथमं क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचारं, ततश्चतुर्भिरध्यायैर्गुणत्रयविभागं चोक्त्वा; अष्टादशे सर्वोऽपि विषय उपसंहृत इति वदन्ति । तदसत्, प्रकृतेः कस्मात् गुणादयं विस्तारो भवतीत्यस्य तत्क्रमस्य वाऽग्रेऽनिरूपणात् । न च चतुर्दशादिभिश्चतुर्भिरध्यायैर्गुणत्रयविभाग उक्तः, किं तु केवलं चतुर्दश एव स दृश्यते । स च कथं ' गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति देहे देहिनम् ' ( १४।५ ) कथं च 'गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' (१४।२६) इत्यवबोधयितुमेवोक्तः, न तु कस्माद्गुणादयं विस्तारो भवतीति निरूपयितुम् । पञ्चदशषोडशयोस्तु न गुणत्रयविभागगन्धोऽपि । यत्तु सप्तदशे श्रद्धादीनां त्रैविध्यमुक्तम् , तत्सात्विकानामेवादरणीयत्वबोधनार्थं, न तु गुणत्रयविभागकथनार्थमिति मूल एव व्यक्तम् ॥

**श्लोकः २— इदं शरीरमिति** । उक्तोऽयमर्थोऽन्यत्रापि– ' क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभम् । तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ' ( म. भा. १२।३५१।६ ) इति । स्पष्टीकृतश्चा**नुभूतिप्रकाशे**— 'प्रतिदेहं तु चिन्मात्रो घटाकाश इव स्थितः । देहं साक्षितया जानन् क्षेत्रज्ञ इति कथ्यते ॥ ' ( १०।६९ ) इति । अत्र ' तं प्राहुः ' इति तच्छब्दात् क्षेत्रगोचराहन्त्वाद्यभिमानकर्तृत्वरूपेणोपहितस्य ज्ञानकर्मत्वयोग्यस्योपस्थापकात् कर्मत्वबोधकद्वितीयाप्रयोगे समुचिते कृतेऽपि तत्समानाधिकरणक्षेत्रज्ञशब्दादुचितां द्वितीयां प्रस्फुटकर्मत्वबोधिकामप्रयुज्य, **इति** शब्दं धात्वर्थज्ञानानुकूलव्यापारैकदेशज्ञानान्वय्याकारार्थकं प्रयुञ्जानः क्षेत्रज्ञपदार्थे प्रतिक्षेत्रमेकस्मिन्निर्विकारचिद्रूपे ज्ञानकर्मत्वस्य मुख्यस्य चित्तादात्म्यरूपस्याभावमभिप्रैति भगवान् । न च 'क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः ' ( शि. व. १।३ ) इत्यस्य व्याख्याने ' इतिशब्देन कर्मत्वस्याभिधानान्न द्वितीया ' इत्युक्तत्वादितिपदाभिधानेऽपि कर्मत्वप्रतिपत्तेः, समानाधिकृततत्पदार्थस्य द्वितीयया कर्मत्वे बोधिते क्षेत्रज्ञपदार्थेऽपि तत्प्रतिपत्तेरुक्तार्थस्यासङ्गतिरिति वाच्यम् ; आकाराख्यस्यौपचारिककर्मत्वस्य बोधनेऽपि मुख्यकर्मत्वाभावबोधतात्पर्ये विरोधविरहात् तत्पदार्थनिष्कृष्टचैतन्यांशेनैव क्षेत्रज्ञपदार्थसामानाधिकरण्ये तात्पर्यात् , विशिष्टस्यैव कर्मत्वप्रत्ययाच्च । **तद्विदः** क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्जडत्वेन चित्त्वेन च यो विवेकस्तद्विद इत्यर्थः । तथा च अविद्याप्रत्युपस्थापितौपाधिकभेदवत उपाध्युपरागेणोपाधिवन्नानाविकारभाजोऽपि वस्तुत एकस्य निर्विकारचिद्रूपस्य मुख्यकर्मत्वाभावेनाकर्मत्वं विदन्तोऽपि क्षेत्रगोचराहन्त्वाभिमानाश्रयोपाधिकलुषितस्वरूपगोचरवास्तविकनिर्विकारचिद्रूपक्षेत्रज्ञस्वरूपाभेदाकारज्ञानानुकूलव्यापारकर्तारः क्षेत्रक्षेत्रज्ञविवेकविद इत्यर्थे भगवद्वाक्यस्य तात्पर्यमुन्नीयते इति शब्दप्रयोगादित इति **गूढार्थतत्त्वालोकः** ।

**अभिनवगुप्तपादास्तु– ' एतद्यो वेद '** इति पाठमादायाहुः— परमात्मा वासुदेवः क्षेत्रज्ञः एतत्क्षेत्रं यो वेदयति । वेदेत्यन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र विदिः । तेन यत्प्रसादादचेतनमिदं चेतनीभावमायाति, स एव क्षेत्रज्ञः; नान्यः कश्चित् । विशेषस्तु परिमितव्याप्तिकं रूपमालम्ब्य आत्मेति भण्यते, अपरिच्छिन्नसर्वक्षेत्रव्याप्त्या परमात्मा भगवान्वासुदेव इति । **तद्विद** इति चैवं विवृणोति **वामनः—**

क्षेत्रं शरीरं यो वेद मदीयमिति तं बुधाः । क्षेत्रज्ञमाहुर्जानन्तः सम्यक्तस्य चिदंशताम् ॥
चैतन्यं सर्वगं बिम्बं जीवोपाधिस्तदंशकः । भोक्ता तत्प्रतिबिम्बोऽयं क्षेत्रज्ञ इति संज्ञितः ॥
विदन्ति बिम्बं ये सम्यक् प्रतिबिम्बं विदन्ति ते । जानन्ति हि ज्ञातजलाः कल्लोलानिह नेतरे ॥
यैर्न दृष्टोऽम्बरे भानुस्ते जले प्रतिबिम्बितम् । दृष्टवन्तोऽपि तं न स्युः प्रतिबिम्बविदः क्वचित् ॥
बिम्बस्य निजहस्तेन यावन्नासा न पीडिता । न तावत्प्रतिबिम्बस्य पीड्यते सा कथञ्चन ॥
तथा व्यापकता यावच्चितो नैवावधारिता । तावत्तत्प्रतिबिम्बस्य तत्त्वं भोक्तुर्न लभ्यते ॥
तस्माद्ये सच्चिदानन्दं सम्यक् प्रत्यभिजानते । सर्वत्रगं बिम्बभूतं त एव खलु तद्विदः ॥ इति ॥ — **अविगीता** ।

श्लोकः ३ अत्र वामनेन—

चकारेणानुकृष्यात्र क्षेत्रं पूर्वोक्तमच्युतः । क्षेत्रज्ञस्येव तस्यापि जगादाभेदमात्मना ॥
ईशकूटस्थयोरैक्यं यथा तत्त्वं पदार्थयोः । नेशक्षेत्रज्ञयोस्तद्वत्स्फुटं क्वचन लक्ष्यते ॥
क्षेत्रज्ञस्य तथाप्यैक्यं मया युक्त्यावधारय । गूढ इत्याशयः शार्ङ्गचापिना सूच्यतेऽपिना ॥
मठाकाशवदीशोऽत्र कूटस्थस्तु घटाभ्रवत् । क्षेत्रज्ञो घटतोयाम्बुबिम्बिताकाशवद्भवेत् ॥
ऐक्यं घटमठापोहे स्पष्टं घटमठाभ्रयोः । प्रतीयते न तु तथा सलिलाभ्रस्य कुत्रचित् ॥
जले चले जलाकाशो लक्ष्यतेऽत्र चलन्निव । घटाकाशमठाकाशौ न तथा चलतः क्वचित् ॥
तयोरैक्यमतो व्यक्तमीशकूटस्थयोस्तथा । न तु नीराभ्रकल्पस्य क्षेत्रज्ञस्यैवमीयते ॥
तथापि युक्त्या कूटस्थद्वारेण ज्ञेयमत्र तत् । प्रतिबिम्बस्य कूटस्थे सम्यग्विलयदर्शनात् ॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरात्माभेद एवं निरूपितः । तथाप्यनुभवं तत्र न पार्थस्य मनोऽभृत ॥
क्षेत्रं जडं तत्क्षेत्रज्ञयोगादेव सचेतनम् । क्षेत्रज्ञः प्रतिबिम्बोऽसौ परमात्मा च चिन्मयः ॥
एषां त्रयाणामपृथग्भावो ज्ञेयः कथं न्विति ? । उक्तपूर्वेऽपि विषये विशयं पार्थधीरधात् ॥
अतो वक्त्युत्तरार्द्धेन गोविन्दो गुह्यमत्र तत् । ऐक्यं यथाऽस्ति क्षेत्रज्ञक्षेत्रयोरात्मना सह ॥
क्षेत्रज्ञे यच्च यत्क्षेत्रे ज्ञानं पार्थ ! प्रकाशते । तस्य ज्ञानस्य यज्जातं तद्विद्धि मम सम्मतम् ॥
स्वरूपरूपज्ञानस्य वृत्तिज्ञानेन बोधनम् । यत्तदद्वैतविज्ञानं द्वैतमूलनिकृन्तनम् ॥
यत्क्षेत्रे तदुपादानं ज्ञानं तत्क्षेत्रवेत्तरि । तस्य ज्ञानात्समाधानमभेदानुभवात्परम् ॥

इति सविस्तरं प्रतिपाद्य व्याख्यानान्तराणि पुनर्ज्ञानपदोपादानवैयर्थ्यापत्तिप्रदर्शनेन दूषितानि ।

अत्र— न च क्षेत्रज्ञं मां सर्वक्षेत्रेषु विद्धीत्यर्थः । ‘ महाभूतान्यहङ्कारः ’ ( १३।६ ) इत्याद्युक्त्या ‘ एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् । ’ ( १३।७ ) इत्यनेन, “ यस्य पृथिवी शरीरं ” ( बृ. ३।७।३ ) इत्यादिश्रुत्येश्वरशरीरतयोक्तं चेतनाचेतनात्मकं सर्वं क्षेत्रमित्युक्तत्वात्— इति वाच्यम् ; सर्वनियामकतया सकलक्षेत्रसम्बन्धस्य प्रागेव ( १२।३ ) सिद्धेः पौनरुक्त्यापत्तेः, तत्तत्क्षेत्राधिष्ठातृत्वेन क्षेत्रज्ञपदवाच्यजीवाभेदपरत्वस्यैवोचितत्वात् । अत एव ‘ क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजानि च शुभाशुभे । स तानि वेत्ति योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ ’ ( म. भा. १२।३५१।६ ) ‘ प्रकृतेश्च विकाराणां द्रष्टारमगुणात्मकम् । क्षेत्रज्ञमाहुर्जीवं तु कर्तारं गुणसंवृतम् ॥ ’ इत्यादिस्मृतौ क्षेत्रज्ञशब्दस्य सर्वान्तर्यामिसर्वज्ञपरत्वेऽपि प्रकृते तदसम्भवः, जीवे सुप्रसिद्धत्वाच्च । न च ‘ शास्त्रस्था वा ’ ( पू. मी. सू. १।३।९ ) इति न्यायः; तस्य एकतराशास्त्रीयविषयत्वात् । — इत्यद्वैतसिद्धिरनुसन्धानमर्हति ॥

**— अविगीता ।**

श्लोकः ५— ब्रह्मसूत्रपदैरित्यत्र ब्रह्मसूत्रपदेन ‘ अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ’ इत्यादीनि वेदान्तसूत्राण्येव विवक्षितानि, भगवदवतारात्पूर्वमेव व्यासस्यावतीर्णत्वात् , ‘ मुनीनामप्यहं व्यासः ’ ( १०।३७ ) इति तस्यात्र मुनिश्रेष्ठत्वेन स्वविभूतित्वेन चोपवर्णितत्वात् । ‘ वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ’ (१५।१५) इत्युक्तेरपि तस्यैवोपलक्षकत्वाच्च तत्कृतसूत्राणां भगवतोल्लेखे बाधकाभावात् । न च ‘ अपि च स्मर्यते ’ ( २।३।४५ ) इत्यादिवेदान्तसूत्राणां भगवद्गीतामूलकत्वस्य सर्वसम्मतत्वादन्योन्याश्रयभयम् , गीताया अपि व्यासेनैव ग्रथितत्वात् ; समानकर्तृकयोः समसमयसन्दृब्धत्वेऽन्योन्यस्मिन्मिथो निर्देशस्य शिष्टसम्मतत्वात् । दृश्यते ह्येवमेककर्तृकयोर्ग्रन्थयोर्मिथोनामोल्लेखः, यथा— श्रीहर्षरचितयोर्नैषधीयचरितखण्डनखण्डखाद्ययोः, **अप्पय्य**प्रणीतयोश्चित्र**मीमांसाकुवलयानन्दयोः**, कमलाकरकृतयो**र्निर्णयसिन्धुशूद्रधर्मतत्त्वयो**श्च । तथा चात्र ‘योऽर्थोऽभिहितः सूत्रपदे’ (उ.तं. ६१।११) इति सुश्रुत इव षष्ठीतत्पुरुषो बोध्यः । एवं ‘ हेतुमद्भिः ’ इति विशेषणमपि स्वरसतः सङ्गच्छते । अन्यथा व्याख्यानं तु रूढार्थबाधितमिति यथोक्तमेव ज्याय इत्येके ।

**अपरे** तु भूयसां वेदान्तसूत्राणां गीतामूलकत्वात् , गीताया महाभारते व्यासेन सङ्ग्रहेऽपि तस्यां भगवद्वाक्ये स्वीयाभिनवकृतिनिर्देशनिवेशस्य तथाकरणस्य सर्वथा न्याय्यत्वेनासम्भवात् , सूत्रकर्तुर्बादरायणव्यासस्य द्वैपायनव्यासाद्भिन्नत्वसम्भवात् , उभयोरेकत्वेऽपि ‘ वेदार्थान्वेत्तुकामस्य धर्मिष्ठस्य तपोनिधेः । गुरोर्मे ज्ञाननिष्ठस्य हिमवत्पाद आसतः ॥ कृत्वा भारतमाख्यानं तपश्श्रान्तस्य धीमतः । शुश्रूषां तत्परा राजन् ! कृतवन्तो वयं सदा ॥ ’ ( म. भा. १२।३४९।९–१० ) इत्यादिवैशम्पायनवाक्यात्तस्य भारतप्रणयनोत्तरमेव तस्य वेदान्तवाक्यकुसुमग्रथनार्थसूत्ररचनायां प्रवृत्तत्वावगमात् , ब्रह्मसूत्रेष्वत्र प्रकृतविषयस्य साक्षान्निरूपणाभावात् , ‘ ब्रह्मसूत्रोद्यतकरः स्वपन्नेव महामुनिः । ’ ( ह. वं. १।५०।१२ ) इत्यत्रार्थान्तरेऽपि प्रयोगदर्शनेन रूढिविरोधाभावात् , पदशब्दप्रयोगस्वारस्याच्च ‘ श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि ’ ( बृ. २।४।१० ) इति श्रुतावितात्र सूत्राणि सङ्ग्रहवाक्यानि ‘ आत्मेत्येवोपासीत ’ ( बृ. १।४।७ ) इत्येवमादीन्येवाभिमतानीत्यभिप्रयन्ति । गायतेः प्रयोगस्य चकारेण समुच्चेयार्थस्य पूर्वार्धगतच्छन्दोभिरिति पदस्य च स्वारस्यादिदमेव सविशेषं सङ्गतमिति **मन्यामहे** । तथा च ऋषिभिर्वेदद्रष्टृभिः कर्तृभिः; विविधैः अनुष्टुप्त्रिष्टुब्जगत्यादिभिश्छन्दोभिः, सूत्ररूपैः गद्यमयैः प्रबन्धैश्च करणैर्गीतमिति सरलोऽर्थः । विस्तरस्त्वन्यत्र द्रष्टव्यः ॥
‘ विनिश्चितं ’ इति पाठान्तरम् ।

**— अविगीता ।**

# श्रीमद्भगवद्गीतायास्त्रयोदशाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

श्रीदेव्युवाच—

द्वादशाध्यायमाहात्म्यं भवता कथितं मम ।
ब्रूहि त्रयोदशाध्यायमाहात्म्यमतिसुन्दरम् ॥ १ ॥

ईश्वर उवाच—

शृणु त्रयोदशाध्यायमहिमाम्भोनिधिं शिवे ! ।
यदाकर्णनमात्रेण परां मुदमवाप्स्यसि ॥ २ ॥
अस्ति दक्षिणदिग्भागे तुङ्गभद्रा महानदी ।
तत्तटे नगरं रम्यं नाम्ना हरिहरं पुरम् ॥ ३ ॥
यत्राऽऽस्ते भगवान्देवि ! देवो हरिहरः स्वयम् ।
यस्य दर्शनमात्रेण परं कल्याणमाप्यते ॥ ४ ॥
तस्मिन्पुरे द्विजन्माऽऽसीद्धरिदीक्षितसंज्ञितः ।
तपस्स्वाध्यायनिरतः श्रोत्रियो वेदपारगः ॥ ५ ॥
दुराचारेति तस्याऽऽसीद्भार्या नाम्ना च कर्मणा ।
न सुष्वाप समं पत्या दुरालापा कदाचन ॥ ६ ॥
क्षणमप्यात्मसदने नचाऽऽस्ते स्वैरचारिणी ।
कण्ठदघ्नं द्विजद्वारे धयन्ती वारुणीरसम् ॥ ७ ॥
पतिसम्बन्धिनः सर्वांस्तर्जयन्ती पुनः पुनः ।
विटैः सह सदोन्मत्ता रममाणा निरन्तरम् ॥ ८ ॥
कदाचिद्व्याकुलं दृष्ट्वा पुरं पौरैरितस्ततः ।
सङ्केतगेहमकरोत्कान्तारे निर्जने स्वयम् ॥ ९ ॥
अथ तत्रैव सा धूर्ता रममाणा विटैः सह ।
निनाय सा बहून्कालान्निजयौवनगर्विता ॥ १० ॥
अथ तस्मिन्पुरे नित्यं निवसन्त्या निरङ्कुशम् ।
वसन्तकालः समभूत्परश्चित्तभुवः सखा ॥ ११ ॥
आमूलपल्लवाकीर्णसहकारविकारिणाम् ।
पिकानां पञ्चमालापैः पुनः सञ्जीवितस्मरः ॥ १२ ॥
स्फुरच्चम्पकसौरभ्यहारकैर्मलयानिलैः ।
मन्दं मन्दं प्रसर्पद्भिरान्दोलितवनद्रुमः ॥ १३ ॥
उत्फुल्लमल्लिकामोदमदिरापारणावताम् ।
अलीनां कलहुङ्कारैः समन्ताद्रावशोभितः ॥ १४ ॥
प्रसन्नचारुभिः स्मेरैः सरोवरसुगन्धिभिः ।
मीलन्मरालनिवहैः सरोभिः प्रकटीकृतः ॥ १५ ॥
घनच्छायासुखासीनहरिणार्भकधारिभिः ।
नीरन्ध्रपल्लवैर्नानाशाखिभिः शोभितावनिः ॥ १६ ॥
तस्मिन्वसन्तसमये मुदिता साऽभिसारिका ।
अपश्यज्जगदानन्ददायिनीं चन्द्रिकां निशि ॥ १७ ॥
चञ्चच्चकोरचञ्चवग्रपीतपीयूषसीकराम् ।
द्रवदिन्दुशिलानिर्यत्सुधानिर्झरनिर्भराम् ॥ १८ ॥
विकासिकुसुमक्रोडसान्द्रीभूतकरोत्कराम् ।
उल्लासितपयोराशिकल्लोलालिङ्गिताम्बराम् ॥ १९ ॥
मनोभवमहासिंहकुलटाकुलकर्तरीम् ।
घनान्धकारसन्दोहविदारणपटीयसीम् ॥ २० ॥
श्वेतीकृतसतीकारपरार्थहिमगर्भिणीम् ।
म्लानपङ्कजसङ्कोचां यूनामानन्ददायिनीम् ॥ २१ ॥
चक्रवाकवधूवक्त्रकरुणाक्रोशसाक्षिणीम् ।
मुक्ताश्रेणीव शुद्धांशुप्रभासितदिगन्तराम् ॥ २२ ॥
अथ तस्यां प्रभूतायां पूरयन्त्यां दिशो दश ।
कामान्धाः कामिनो जाताः पथि सौधविहारिणः २३
अपश्यन्ती विटं रात्रौ निर्भिद्य भवनार्गलम् ।
ययौ सङ्केतभवनं निर्गत्य नगराद्बहिः ॥ २४ ॥
तत्र प्रियतमं कञ्चित्काममोहितमानसा ।
अन्वेषयन्ती नाद्राक्षीत्कुञ्जे कुञ्जे तरौ तरौ ॥ २५ ॥
आकर्णयन्ती कान्तस्य मन्दालापान्पदे पदे ।
अभियाति ततः क्रीडन्नत्र सञ्चारिनिस्स्वना ॥२६॥
चक्रवाकरवाञ्श्रुत्वा कान्तालापभ्रमादसौ ।
सरोवराणि सर्वाणि पर्यटन्ती मुहुर्मुहुः ॥ २७ ॥
कान्तभ्रान्त्या तरुतले प्रसुप्तान्हरिणोत्करान् ।
प्रबोधयन्ती सोच्छ्वासमागताऽस्मीति भाषिणी ॥२८॥
आलिङ्गन्ती वनस्थाणुं जीवितेश्वरशङ्कया ।
तदाननभ्रमाद्भूयश्चुम्बन्ती विकचाम्बुजम् ॥ २९ ॥
तत्र तत्र कृतव्यर्थश्रमाऽदृष्टप्रिया स्वयम् ।
विललाप वने तस्मिन्मूर्छन्ती विविधोक्तिभिः ॥ ३० ॥

दुराचारोवाच—

हा कान्त ! हा गुणाकान्त ! हा चैतन्यस्य नायक ! ।
हे मनोहरसौभाग्य ! भाग्यलावण्यशेवधे ! ॥ ३१ ॥
हा पूर्णचन्द्रवदन ! हा सरोजायतेक्षण ! ।
हा कान्त ! सत्त्वसाहित्य ! विश्रामार्थसुरद्रुम ! ॥ ३२ ॥
अहो कान्त ! नवाकीर्णकर्णकुण्डलदीधितिः ।
नयनानन्दतिष्यन्दी कुत्र ते मुखचन्द्रमाः ॥ ३३ ॥
यदि कोपेन कुत्रापि गुप्तवेषोऽत्र तिष्ठसि ।
प्रसादयामि त्वां कान्त ! दत्त्वा प्राणान्प्रियानपि ॥ ३४ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युच्चैः सर्वतो दिक्षु विलपन्त्या वियोगतः ।
तस्याः श्रुत्वा वचः कोऽपि सुप्तो व्याघ्रः प्रबुद्धवान् ॥३५॥
कुर्वन्घुरघुरध्वानं पश्यन्प्रतिदिशं रुषा ।
आस्फालयन्नखैर्भूमिं गर्जन्नाकाशगह्वरे ॥ ३६ ॥
पृष्ठनिर्मग्नलाङ्गूलं प्लुतमुत्थाय चाकरोत् ।
गतो व्याघ्रः समुत्पत्य यत्राऽऽस्ते साऽभिसारिका ३७
अथ साऽपि तमायान्तमालोक्य पतिशङ्कया ।
निर्जगाम पुरः स्थातुं प्रेमनिर्भरमानसा ॥ ३८ ॥
ततस्तस्य नखक्रीडाक्रूरतान्धीकृता सती ।
जहौ प्रियवपुश्शङ्कां श्रुत्वा गर्जितमूर्जितम् ॥ ३९ ॥
व्याघ्रोऽपि पातयामास ततो नखशिलीमुखैः ।
तमुवाचाथ क्रोशन्ती वीतसौहृदया गिरा ॥
तथाविधाऽपि सा नारी भ्रान्तिमुत्सृज्य सत्वरम् ॥४०॥

दुराचारोवाच—

व्याघ्र ! त्वं तु कुतो हेतोर्मां निहन्तुमिहाऽऽगतः ।
इदं सर्वं ममाऽऽख्याहि पश्चात्त्वं हन्तुमर्हसि ॥ ४१ ॥

श्रीशिव उवाच—

इति तस्या वचः श्रुत्वा शार्दूलश्चण्डविक्रमः ।
क्षणं विहाय तत्त्रासमुवाच प्रहसन्निव ॥ ४२ ॥

व्याघ्र उवाच—

मलापहा नदी नाम्ना देशे तिष्ठति दक्षिणे ।
नगरी मुनिपर्णेति तस्या रोधसि वर्तते ॥ ४३ ॥
तत्राऽऽस्ते भगवान्साक्षात्पञ्चलिङ्गो महेश्वरः ।
तस्यां पुर्यामहं विप्रपुत्रो भूत्वा स्थितस्ततः ॥ ४४ ॥
अयाज्यान्याजयन्नन्नन्नेकोऽतिष्ठं नदीतटे ।
वेदपाठफलं शश्वद्विक्रीणन्धनकाङ्क्षया ॥ ४५ ॥
भिक्षुकानपराँल्लोभात्तिरस्कुर्वन्दुरुक्तिभिः ।
अदेयं द्रविणं गृह्णन्नदत्तमनिशं दिनम् ॥ ४६ ॥
छलयन्सकलाँल्लोकानृणग्रहणकौतुकात् ।
ततः कतिपये काले जरठत्वमुपेयिवान् ॥ ४७ ॥
वलीपलितवानन्धः प्रपतन्प्रस्खलद्गतिः ।
पतद्दन्तोऽभवं भूयः प्रतिग्रहपरायणः ॥ ४८ ॥
हस्ते गृहीतदर्भोऽहमगमं तीर्थसन्निधिम् ।
प्रतिग्रहणलोभेन भ्रमन्पर्वसु पर्वसु ॥ ४९ ॥
ततोऽहं शिथिलाङ्गः सन्कांश्चिद्धूर्तवरान्द्विजान् ।
गतवान्याचितुं भोक्तुं दष्टो मध्ये पदे शुना ॥ ५० ॥
अपतं मूर्छितो भूत्वा ततः क्षितितले क्षणात् ।
ततोऽहं विगतप्राणो व्याघ्रयोनिमुपागतः ॥ ५१ ॥
अत्र तिष्ठामि कान्तारे पूर्वपापमनुस्मरन् ।
न भक्षयामि धर्मिष्ठान्यतीन्साधुजनान्सतीः ॥ ५२ ॥
किन्तु पापान्दुराचारानसतीर्भक्षयाम्यहम् ।
अतोऽसती त्वं तत्वेन ममालं कवलायसे ॥ ५३ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्युक्त्वा स्वनखैः क्रूरैस्तां विभज्याङ्ग ! खण्डशः ।
अथ सा भक्षिता तेन पापदेहमुपाश्रिताम् ॥ ५४ ॥
यमस्य किङ्करा निन्युः सद्यः संयमनीं पुरीम् ।
यमादेशेन तत्रापि मज्जयामासुराशु ताम् ॥ ५५ ॥
विण्मूत्ररक्तपूर्णेषु घोरकुण्डेष्वनेकधा ।
कल्पकोटिषु जातासु तस्मादादाय तां मुहुः ॥ ५६ ॥
रौरवे स्थापयामासुर्मन्वन्तरशतावधि ।
ततोऽप्याकृष्य तां दीनां रुदतीं सर्वतोमुखीम् ॥ ५७ ॥
मुक्तकेशां भीमगात्रां चिक्षिपुर्दहनानने ।
एवमाद्यपरां घोरां भुक्त्वा नरकयातनाम् ॥ ५८ ॥
इह जाता महापापात्पुनः श्वपचयोनिषु ।
ततः श्वपचगेहेऽपि वर्धमाना दिनेदिने ॥ ५९ ॥
पूर्वजन्मवशेनैव तथैवाऽऽसीद्यथा पुरा ।
कुष्ठरोगक्षयवती नेत्रपीडापरायणा ॥ ६० ॥
ततः कतिपये काले पुनः स्वभवनं ययौ ।
यत्राऽऽस्ते जम्भका देवी शिवस्यान्तःपुरेश्वरी ॥ ६१ ॥
तत्रापश्यद्द्विजन्मानं वासुदेवाभिधं शुचिम् ।
गीतात्रयोदशाध्यायमुद्गिरन्तमनारतम् ॥ ६२ ॥
ततस्तच्छ्रवणादेव मुक्ता श्वपचविग्रहात् ।
दिव्यदेहं समासाद्य जगाम त्रिदशालयम् ॥ ६३ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीतात्रयो-
दशाध्यायमाहात्म्यकथनं नाम त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो श्रीमद्गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १४ ]

**गुणबन्धविधा तेषां कर्तृत्वं तन्निवर्तनम् ।**
**गतित्रयस्वमूलत्वं चतुर्दश उदीर्यते ॥ १८ ॥**

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकवेङ्कटनाथप्रणीता गीतार्थसंग्रहरक्षा ।

अत्र प्रकृतविशोधनरूपतया सङ्गतिपूर्वकं भाष्यं— 'त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्यसंसृष्टयोः स्वरूपयाथात्म्यं विज्ञाय अमानित्वादिभिर्भगवद्भक्त्यनुगृहीतैर्बन्धान्मुच्यते' इत्युक्तम् । तत्र बन्धहेतुः पूर्वपूर्वसत्त्वादिगुणमयसुखादिसङ्ग इति चाभिहितम्—'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' [ १३।२२ ] इति । अथेदानीं गुणानां बन्धहेतुताप्रकारो गुणनिवर्तनप्रकारश्चोच्यत इति । गुणकर्तृत्वादेरिह भाष्येऽनुक्तिः पूर्ववदेवेति भाव्यम् । सत्त्वं सुखज्ञानसङ्गेन बध्नाति, रजस्तु कर्मसङ्गेन, तमस्तु प्रमादालस्यनिद्राभिरिति बन्धहेतुताप्रकारः । तेषां कर्तृत्वं प्रागुक्तप्रकारेण प्राप्ताप्राप्तविवेकेन तेष्वारोपितम् । तच्चात्र 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' [ १४।१२ ] इति स्मारितम् । गुणनिवर्तनप्रकारस्तु— 'मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते । स गुणान्समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते' [ १४।२६ ] इत्यन्तेनोक्तः । अतएवात्र 'गतित्रयस्वमूलत्वम्' इत्येतत् 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम्' [ १४।२७ ] इत्यध्यायान्तिमश्लोकोक्तमेव संगृह्णाति । तत एव हि तत्रैवं भाषितं— पूर्वत्र 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' [ ७।१४ ] इत्यारभ्य गुणात्ययस्य तत्पूर्वकाक्षरैश्वर्यभगवत्प्राप्तीनां च भगवत्प्रपत्त्येकोपायतायाः प्रतिपादितत्वादेकान्तभगवत्प्रपत्त्येकोपायो गुणात्ययस्तत्पूर्वको ब्रह्मानुभवश्चेति । 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति' [ १४।१८ ] इत्याद्युक्तगतित्रयविवक्षायां तु सङ्ग्रहक्रमभङ्गः स्यात् ॥ १८ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

——:o:——

# गुणत्रयविभागयोगाख्यश्चतुर्दशोऽध्यायः।

परमात्मविषयकज्ञानस्य प्रशंसा।

**श्रीभगवानुवाच—परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।**
**यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः॥ १॥**

१ शाङ्करभाष्यम्।

सर्वमुत्पद्यमानं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगादुत्पद्यत इत्युक्तं, तत्कथं? इति तत्प्रदर्शनार्थं 'परं भूयः' इत्यादिरध्याय आरभ्यते; अथवा 'ईश्वरपरतन्त्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्जगत्कारणत्वं, न तु साङ्ख्यानामिव स्वतन्त्रयोः' इत्येवमर्थं प्रकृतिस्थत्वं गुणेषु च सङ्गः संसारकारणमित्युक्तं [ १३।२२ ] कस्मिन् गुणे कथं सङ्गः? के वा गुणाः? कथं वा ते बध्नन्ति? इति गुणेभ्यश्च मोक्षणं कथं स्यात्? मुक्तस्य च लक्षणं वक्तव्यमित्येवमर्थं च श्रीभगवानुवाच—**परं भूय** इति। परं ज्ञानमिति व्यवहितेन सम्बन्धः। भूयः पुनः पूर्वेषु सर्वेष्वध्यायेष्वसकृदुक्तमपि प्रवक्ष्यामि। तच्च परं, परवस्तुविषयत्वात्। किं तत्? ज्ञानं सर्वेषां ज्ञानानामुत्तमम्, उत्तमफलत्वात्। ज्ञानानामिति नामानित्वादीनाम्, किं तर्हि? यज्ञादिज्ञेयवस्तुविषयाणामिति। तानि न मोक्षाय, इदं तु मोक्षायेति परोत्तमशब्दाभ्यां स्तौति श्रोतृबुद्धिरुच्युत्पादनार्थम्। यज्ज्ञानं ज्ञात्वा प्राप्य मुनयः सन्न्यासिनो मननशीलाः सर्वे परां सिद्धिं मोक्षाख्यामितोऽस्माद्देहबन्धनादूर्ध्वं गताः प्राप्ताः॥ १॥

२ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्य सर्वोत्पत्तिनिमित्तत्वमज्ञातं ज्ञापयितुमध्यायान्तरमवतारयन्नध्याययोरुत्थाप्योत्थापकत्वरूपां सङ्गतिमाह—**सर्वमिति**। विधान्तरेणाध्यायारम्भं सूचयति—**अथवेति**। तदेव वक्तुमुक्तमनुवदति—**ईश्वरेति**। प्रकृतिस्थत्वं पुरुषस्य प्रकृत्या सहैक्याध्यासः तस्यैव गुणेषु शब्दादिविषयेषु सङ्गोऽभिनिवेशः। षड्विधामाकाङ्क्षां निक्षिप्य तदुत्तरत्वेनाध्यायारम्भे पूर्ववदेव पूर्वाध्यायसम्बन्धसिद्धिरित्याह—**कस्मिन्निति**। पूर्वोक्तेनार्थेनास्याध्यायस्य समुच्चयार्थश्चकारः। 'परं' इत्यस्य भाविकालार्थत्वं व्यावर्तयितुं सङ्गतिमाह—**परमिति**। भूयश्शब्दस्याधिकार्थत्वमिह नास्तीत्याह **पुनरिति**। पुनश्शब्दार्थमेव विवृणोति—**पूर्वेष्विति**। पुनरुक्तिस्तर्हीत्याशङ्क्य सूक्ष्मत्वेन दुर्बोधत्वात्पुनर्वचनमर्थवदित्याह—**तच्चेति**। विशेष्यं प्रश्नद्वारा निर्दिशति—**किं तदिति**। निर्धारणार्थां षष्ठीमादाय तस्य प्रकर्षं दर्शयति—**सर्वेषामिति**। परमुत्तममिति पुनरुक्तिमाशङ्क्य विषयफलभेदान्मैवमित्याह—**उत्तमेति**। 'ज्ञानं ज्ञेयं' [ १३।१९ ] इत्यादौ ज्ञानशब्देनामानित्वादीनामुक्तत्वात्तन्मध्ये च ज्ञानस्य साध्यत्वेनोत्तमत्वान्न तस्य वक्तव्यतेत्याशङ्क्याऽऽह—**ज्ञानानामिति**। नामानित्वादीनां ग्रहणमिति शेषः। इतिशब्दादूर्ध्वं पूर्ववदेव शेषो द्रष्टव्यः। यथोक्तज्ञानापेक्षया कुतस्तज्ज्ञानस्य प्रकर्षः? तत्राऽऽह—**तानीति**। स्तुतिफलमाह—**श्रोतृबुद्धीति**। ज्ञानं ज्ञात्वा ज्ञानस्य ज्ञेयत्वोपगमादनवस्थेत्याशङ्क्याऽऽह—**प्राप्येति**। मुनिशब्दस्य चतुर्थाश्रमविषयत्वे तन्मात्रादेव ज्ञानायोगात् कुतस्तेषां मुक्तिः? इत्याशङ्क्याऽऽह—**मननेति**। सिद्धेर्ज्ञानत्वं परामिति विशेषणाद्व्यावर्त्य मुक्तित्वमाह—**मोक्षाख्यामिति**। देहाख्यस्य बन्धनस्याध्यक्षत्वमाह—**अस्मादिति**॥ १॥

### ३ रामानुजभाष्यम् ।

**त्रयोदशे प्रकृतिपुरुषयोरन्योन्यसंसृष्टयोः स्वरूपयाथात्म्यं विज्ञायामानित्वादिभिर्भगवद्भक्त्यनुगृहीतैर्बन्धान्मुच्यत इत्युक्तम्; तत्र बन्धहेतुः पूर्वपूर्वसत्त्वादिगुणमयसुखादिसङ्ग इति चाभिहितं 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' [ १३।२२ ] इति; अथेदानीं गुणानां बन्धहेतुताप्रकारो गुणनिवर्तनप्रकारश्चोच्यते— परमिति । परं पूर्वोक्तादन्यत् प्रकृतिपुरुषान्तर्गतमेव सत्त्वादिगुणविषयं ज्ञानं भूयः प्रवक्ष्यामि; तच्च ज्ञानं सर्वेषां प्रकृतिपुरुषविषयज्ञानानामुत्तमम्; यज्ज्ञानं ज्ञात्वा सर्वे मुनयस्तन्मननशीला इतः संसारमण्डलात्परां सिद्धिं गताः परिशुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिरूपां सिद्धिमवाप्ताः ॥ १ ॥**

### ४ वेङ्कटनाथविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका ।

पूर्वाध्यायप्रकृतविशोधनरूपतयाऽस्य तत्सङ्गतिं प्रदर्शयन् 'गुणबन्धविधा तेषां कर्तृत्वं तन्निवर्तनम् । गतित्रयस्वमूलत्वं चतुर्दश उदीर्यते' [ गी. सं. १८ ] इति सङ्ग्रहश्लोकं व्याचष्टे— **त्रयोदश** इति । 'इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते' [ १३।२ ] इत्यारभ्य 'इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः । मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' [ १३।१९ ] इत्यन्तार्थमभिप्रेत्य **प्रकृतिपुरुषयो**रित्यादि **बन्धान्मुच्यत इत्युक्त**मित्यन्तमभिहितम् । **गुणानां बन्धहेतुताप्रकार** इत्यनेन 'गुणबन्धविधा' इत्येतद्व्याख्यातम् । **गुणनिवर्तनप्रकारश्चे**त्यनेन 'तन्निवर्तनम्' इत्येतद्व्याख्यातम् । सङ्ग्रहोक्तगुणकर्तृत्वगतित्रयस्वमूलत्वयोर्भाष्येऽनुक्तिरन्यार्थानुवादत्वप्रासङ्गिकत्वाभ्यामिति द्रष्टव्यम् ।

परशब्दस्योत्कृष्टपरत्वे उत्तमशब्देन **पौनरुक्त्यं** स्यादित्यन्यथा व्याचष्टे **पूर्वोक्तादन्यदि**ति । एवं सत्युक्तस्यैव पुनर्वचनपरं 'भूयः प्रवक्ष्यामि' इत्येतद्विरुध्येतेत्याशङ्कावारणाय तदभिप्रेतमाह— **प्रकृतिपुरुषान्तर्गतमेवे**ति । संग्रहेण पूर्वाध्यायोक्तं गुणानां बन्धहेतुत्वमेव विस्तरेणात्र भूयः प्रवक्ष्यामीत्यर्थ इति न विरोध इति भावः । 'ज्ञानानामुत्तमं ज्ञानं भूयः प्रवक्ष्यामि' इत्यन्वयसम्भवेऽपि तज्ज्ञानस्यावश्यज्ञातव्यत्वसिद्धये ज्ञानानामुत्तमत्वस्य वाक्यभेदेन विधेयतयाऽन्वयमाह— **तच्च ज्ञानमि**ति । 'ज्ञानानाम्' इति सामान्यनिर्देशेन सर्वज्ञानापेक्षयोत्तमत्वलाभेऽपि भगवद्विषयज्ञानापेक्षयोत्तमत्वासम्भवात्तद्व्यवच्छेदाय **सर्वेषां प्रकृतिपुरुषविषयज्ञानानामि**त्युक्तम् । एतज्ज्ञानविषयज्ञानमात्रस्य परसिद्धिहेतुत्वासम्भवात्तदभ्यासरूपानुष्ठानालाभाच्च **सर्वे मुनयस्तन्मननशीला** इत्युक्तम् । 'इतः' इत्यस्य प्रकृतज्ञानहेतुतापरत्वे, तदभावेऽपि भूतभव्यसमुच्चारिन्यायेन तद्धेतुतालाभाद्भगवद्भक्त्यैकलभ्यभगवत्प्राप्तिरूपसिद्धेरेतत्साध्यत्वासम्भवेन परत्वप्रतिसम्बन्धिविशेषस्य अपेक्षितत्वाच्च तत्परत्वमाह— **इतः संसारमण्डलात्परामि**ति । इयं परा सिद्धिः कीदृशी इत्यतः तत्स्वरूपमाह— **परां परिशुद्धात्मस्वरूपप्राप्तिरूपामि**ति ॥ १ ॥

### ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

**ॐ साधनकृज्ज्ञानदात्रे नमः । साधनं प्राधान्येनोत्तरैरध्यायैर्वक्ति ॥ १ ॥**

### ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

उत्तरेषां पञ्चानामध्यायानां प्रतिपाद्यमाह— **साधनमि**ति । 'योगे त्विमां शृणु' [ २।३९ ] इति प्रतिज्ञायाषष्ठपरिसमाप्तेः कामवर्जनादीति कर्तव्यतासहितं कर्मध्यानलक्षणं ज्ञानसाधनमुक्तम् । तत्रेतिकर्तव्यतांशमुत्तरैरध्यायैः प्रपञ्चयतीत्यर्थः । 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' [ १४।३ ] 'न तद्भासयते सूर्यः' [ १५।६ ] इत्यादिनेश्वरमाहात्म्यस्यापि वचनात्कथमेतत् ? इत्यत उक्तम्— **प्राधान्येने**ति । प्राचुर्यापेक्षया संग्राहकमेतदित्यर्थः । अवान्तरप्रतिपाद्यभेदादध्यायभेदः । तत्र 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्' [ १३।२७ ] इत्युक्तविवरणपूर्वकं 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' [ १३।२२ ] इत्युक्तं गुणसम्बन्धं प्रपञ्च्य तदत्ययसाधनमनेनाध्यायेनोच्यते ॥ १ ॥

### ७ हनुमत्प्रणीतं पैशाचभाष्यम् ।

**स्वतन्त्रपरतन्त्रयोः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्जगत्कार-(णत्वं)णं, न तु साङ्ख्यानामिव; गुणेषु च सङ्गः संसारकारणमित्युक्तम्; गुणेषु कथं सङ्गः ? के वा गुणाः ? कथं बध्नन्ति ? गुणेभ्यश्च मोक्षणं कथं स्यात् ? इत्येतत्प्रतिपादनार्थमुक्तलक्षणं वक्तव्यमित्येतमर्थं च भगवानुवाच— परमिति । परं प्रकृष्टं भूयः पुनरपि ज्ञानानामुत्तमम् । इतो देहबन्धनात् ॥ १ ॥**

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

त्रयोदशेऽध्याये क्षेत्रक्षेत्रज्ञस्वरूपं तत्प्रसङ्गागतमन्यदपि किञ्चिन्निरूपितम्, तदेव चतुर्दशे विस्तरेण निरूप्यते। पूर्वत्र हि 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्। क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि' [१३।२७] इत्युक्तम्; तत्र निरीश्वरसाङ्ख्यानामिव किं स्वातन्त्र्येण क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगः? किंवेश्वरेच्छयैव भवति? तथा 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु' [१३।२२] इत्युक्तम, तत्र कस्मिन्गुणे कथं सङ्गः? के गुणाः? कथं वा ते बध्नन्ति? तथा 'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुः' [१३।३५] इत्युक्तम्, तत्र भूतप्रकृतिशब्दोक्तेभ्यो गुणेभ्यः कथं मोक्षणम्? मुक्तस्य च किं लक्षणम्? इति तदेतत्सर्वमत्र निरूप्यते; तत्र निरूपयिषितमर्थं स्तुवन्द्वाभ्यां श्रीभगवानुवाच— परमिति। परं परवस्तुविषयकं ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं परमात्मज्ञानसाधनं भूयः पुनः पूर्वाध्यायोक्तमपि प्रकर्षेण विस्तरेण वक्ष्यामि। कथम्भूतम्? ज्ञानानां ज्ञानसाधनानां यज्ञादीनां मध्ये उत्तममुत्कृष्टम्; अन्तरङ्गत्वेन बहिरङ्गयज्ञादिभ्योऽतिशयितत्वात्। अत एवाह— यज्ज्ञात्वाऽनुष्ठाय मुनयः सर्वे इतः संसारबन्धात्परां सिद्धिं मुक्तिं गताः ॥ १ ॥

## ९ वल्लभाचार्यकृता तत्त्वदीपिका ।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्पुरुषो विमलः स्वतः । अनादित्वेऽपि मलिना प्रकृतिस्त्रिगुणा यतः ॥ १ ॥
तत्सम्बद्धप्रपञ्चेऽस्मिन् गुणातीतस्तु कश्चन । इत्युच्यतेऽस्मिन्नध्याये गुणत्रयविभागशः ॥ २ ॥

तत्र पूर्वं 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्'[१३।२७] इत्युक्तं स च क्षेत्रात्मनोः संयोगो निरीश्वरसाङ्ख्यानामिव, न स्वातन्त्र्येण; किन्तु भगवदिच्छयेति कथनपूर्वकं 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' [१३।२२] इत्यनेनोक्तं सत्त्वादिगुणकृतं जगद्वैचित्र्यं प्रपञ्चयिष्यन् 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा। भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम्' [१३।३५] इति परशब्दं च विवृण्वन् श्रीभगवानुवाच– परं भूय इति द्वाभ्याम्। पूर्वश्लोकोक्तं यत्परं तद्भूयः प्रवक्ष्यामि विवृण्वन्वक्ष्यामीति प्रशब्दार्थः। किं तत्परं? ज्ञानानामुत्तमं ज्ञानमिति ज्ञायते इति ज्ञानं अचिन्त्यशक्तिमाहिमपुरुषोत्तमविषयकं तत्त्वज्ञानं यदधिगम्य मुनयः परां गुणातीतां मुक्तिं गताः, इतस्त्रैगुण्यात् ॥ १ ॥

## १० पुरुषोत्तमजीकृतामृततरङ्गिणी ।

कृष्णः स्वगुणसम्बन्धात्प्रपञ्चस्य विचित्रताम् ।
बोधनार्थं पाण्डवाय वर्णयामास विस्तरात् ॥ १ ॥

अथ स्वक्रीडार्थं विरचितसत्त्वादिगुणसङ्गजप्रपञ्चवैचित्र्यस्वरूपेण फलात्मकं निरूप्य वर्णयति, तत्र श्लोकद्वयेन फलरूपस्वरूपमाह— परमिति। परं भगवत्सम्बन्धिफलात्मकं ज्ञानं ज्ञेयसाधनं तेन भूयः पूर्वमुक्तं साधारण्येन, पुनः प्रकर्षेण ससाधनं वक्ष्यामि कथयामीत्यर्थः। भूयः प्रकर्षकथने विशेषणेन विशेषयति। कीदृशं तत्? ज्ञानानां पूर्वोक्तज्ञेयसाधनानां मध्ये उत्तमं मुख्यमित्यर्थः। एवं कथनं प्रतिज्ञाय फलरूपत्वमाह— यदिति। यत् ज्ञानं ज्ञात्वा मुनयो मननशीलास्तदभ्यसनपराः सर्वे परां सिद्धिमनुभवात्मिकां इतः लौकिकदेहात् गताः प्राप्ताः। 'सर्वे' इतिपदेन येषां सिद्धिर्जाता तेषामनेनैवेति ज्ञापितम्। ज्ञानानामुत्तममनेन विशेषणेन ज्ञानेष्वेवोत्तमत्वं, न तु भक्तित इति व्यञ्जितम् ॥ १ ॥

## ११ नैलकण्ठीयो भारतभावदीपः ।

पूर्वाध्यायान्ते 'भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुस्ते परं यान्ति' इत्युक्तं, तत्र का वा भूतप्रकृतिः? किमाश्रयेण तस्या भूतजनकत्वं? कथं वा बन्धकत्वम्? कथं च ततो मोक्षः? किं च मुक्तानां लक्षणम्? इत्येतदर्थजातं विवरीतुं चतुर्दशोऽध्याय आरभ्यते; तत्र रुच्युत्पादनार्थं परं ज्ञानं स्तुवन् श्रीभगवानुवाच— परमिति। परं सर्वोत्कृष्टं ब्रह्मविषयत्वात् ज्ञानं भूयः पुनः असकृदुक्तमपि प्रवक्ष्यामि। किं तत्स्वरूपमाह– ज्ञानानाममानित्वादीनां यज्ञादीनां ज्ञानसाधनानां मध्ये यदुत्तमं मोक्षफलत्वादन्तरङ्गं तदेव तत्। 'अहं घटं जानामि' इत्यत्राहमर्थस्य घटाकारवृत्तेर्घटस्य च ज्ञानमस्तीति विषयभेदात् ज्ञानत्रयमस्ति। तत्राद्यद्वयं नान्तरीयकं, यच्च उत्तमं चरमं घटप्रकाशफलरूपं ज्ञानं तदेव परं ब्रह्मेत्यर्थः। यथोक्तं वार्तिककारैः–'परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता। संवित् सैवेह ज्ञेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः' इति। यत् ज्ञानं ज्ञात्वा वेदान्तवाक्यजन्यया धीवृत्त्या अपरोक्षीकृत्य परां सिद्धिं मोक्षमितः संसारात् संसारं विहाय गताः प्राप्ताः ॥ १ ॥

**इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः ।**
**सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥ २ ॥**

**१ शां. भा.— अस्याश्च सिद्धेरैकान्तिकत्वं दर्शयति— इदमिति । इदं ज्ञानं यथोक्तमुपाश्रित्य ज्ञानसाधनमनुष्ठायेत्येतत् । मम परमेश्वरस्य साधर्म्यं मत्स्वरूपतामागताः प्राप्ता इत्यर्थः; न तु समानधर्मतां साधर्म्यं, क्षेत्रज्ञेश्वरयोर्भेदानभ्युपगमाद्गीताशास्त्रे । फलवादश्चायं स्तुत्यर्थमुच्यते । सर्गेऽपि सृष्टिकालेऽपि नोपजायन्ते नोत्पद्यन्ते, प्रलये ब्रह्मणोऽपि विनाशकाले न व्यथन्ति च व्यथां नाऽऽपद्यन्ते, न च्यवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥**

**२ आ. शां. व्या.—** ज्ञानफलस्य कर्मफलवैलक्षण्यमाह— **अस्याश्चेति** । कथं ज्ञानाश्रयणं ? तद्धेतुश्रवणादिसामग्रीसम्पत्तिद्वारेत्याह— **ज्ञानेति** । साधर्म्ये गोगवययोरिव विद्वदीश्वरयोरपि भेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **मत्स्वरूपतामिति** । साधर्म्यस्य मुख्यत्वे भेदध्रौव्याद्गीताशास्त्रविरोधः स्यादित्याह— **न त्विति** । ज्ञानस्तुतये तत्फलस्य विवक्षितत्वाच्च नात्र सारूप्यमिष्टमित्याह— **फलेति** । सारूप्ये धीफलं हित्वा ध्यानफलमप्रस्तुतं प्रसज्ज्येतेत्यर्थः । ईश्वरात्मतां गतानामेवावान्तरसर्गादौ जन्माद्यभावेऽपि महासर्गादौ तद्भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्गेऽपीति** ॥ २ ॥

**३ रा. भा.— पुनरपि तज्ज्ञानं फलेन विशिनष्टि— इदमिति । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः मत्साम्यं प्राप्ताः, सर्गेऽपि नोपजायन्ते न सृजिकर्मतां भजन्ते, प्रलये न व्यथन्ति च न च संहृतिकर्मतां ( मृतिकर्मतां ) भजन्ते ॥ २ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** अपौनरुक्त्यं सूचयन् उत्तरश्लोकमवतारयति— **पुनरपि तज्ज्ञानमिति** । इष्टप्राप्तिः पूर्वत्रोक्ता, अनिष्टनिवृत्तिरत्रोच्यत इति न पौनरुक्त्यमिति भावः । इदंशब्दस्योक्तपरत्वे प्रकृतासङ्गत्या अन्यथा व्याचष्टे **वक्ष्यमाणमिति** । 'आगताः' इत्यस्यागमनकर्तृपरत्वे प्रकृतानन्वयात् प्राप्त्यर्थत्वमाह **प्राप्ता** इति । 'व्यथन्ति' इत्यस्य दुःखार्थकत्वेऽपि जनिसमभिव्याहारात् संहारलक्षकत्वमुचितमित्यभिप्रायेणाह— **न च संहृतिकर्मतां भजन्त** इति ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ २ ॥

**७ हृ. पै. भा.— इदमिति । ममेश्वरस्य साधर्म्यं सधर्मताम् । न व्यथन्ति न चलन्ति ॥ २ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.—** एतदेव विवृणोति— **इदमिति** । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानं ज्ञानसाधनमुपाश्रित्यानुष्ठाय मम साधर्म्यं मद्रूपत्वमागताः प्राप्ताः सन्तः सर्गेऽपि हिरण्यगर्भादिषूत्पद्यमानेष्वपि नोपजायन्ते; तथा तेषां प्रलयेऽपि न व्यथन्ति, न प्रलीयन्त इत्यर्थः ।

अत्र 'मम साधर्म्यम्' इत्युक्तया 'मुक्तानामीश्वरसमानरूपत्वमेव, न त्वभेदः' इति **रामानुजो** बभ्राम । तत्तु 'परमेश्वरस्वरूपत्वमेव तत्साधर्म्यं, न तत्समानधर्मत्वम्; क्षेत्रज्ञेश्वरभेदाभावात्' इति भाष्यवचनैरेव चिकित्सितम् । न हि 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।३ ] इत्युपक्रम्य 'मद्भावायोपपद्यते' [ १३।१९ ] 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति । गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति' [ १४।१९ ] इत्यादिमध्ये परामर्शपूर्वकं 'स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते' [ १४।२६ ] इत्युपसंह्रियमाणेऽस्मिन्ग्रन्थसन्दर्भे जीवेश्वरभेदवादः स्वारस्यमश्नुते । किञ्च "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति" [ मुं. उ. ३।१।३ ] इति त्वन्मतसाधकत्वेनाभिमतश्रुतौ 'परमं साम्यम्' इत्यभेद एवोच्यते, कियत्यपि भेदे सति तद्व्याप्यधर्मप्रयुक्तवैलक्षण्यावश्यम्भावेन परमसाम्यायोगात् । अतः श्रुतिरेवेयं 'मम साधर्म्यम्' इत्यस्य मत्स्वरूपत्वमित्यर्थमानयति । अपि च प्रत्येकं मुक्तिसाधनत्वेन त्वदभिमतयोर्निरन्तरचिन्ताभरन्यासरूपयोर्भक्तिप्रपत्त्योः स्वरूपतः कर्मापेक्षानपेक्षाभ्यामावृत्त्यनावृत्तिभ्यां च विषमत्वेन तयोर्मिथस्तारतम्यात्तत्साध्यमुक्तावप्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमसाध्यस्वर्ग इव साम्यं न भवतीत्याद्यन्यत्र विस्तरः ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— इदं वक्ष्यमाणं मम साधर्म्यं षड्गुणवत्तया साम्यं प्राप्ता एके ते सर्गेऽपि नोपजायन्ते, प्रलये च न व्यथन्ति; किन्तु नित्यं समीपे तिष्ठन्तीत्यर्थः । अनेन मुक्तानां तत्र बाहुल्यं सूचितं 'अनुव्रता यत्र हरेः' इत्यादिवाक्यात् ॥ २ ॥

**१० पु. अ. त.—** ज्ञानेन कथं सिद्धिं प्राप्ताः ? इत्यत आह— **इदमिति** । इदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य साधनानुष्ठानं कृत्वा मम साधर्म्यं समानधर्मत्वं लीलायोग्यत्वमागताः सन्तः सर्गेऽपि आदिसर्गे ब्रह्मादिसृष्टावपि नोपजायन्ते । च पुनः प्रलये सृष्टिसंहारे न व्यथन्ति, न पुनरावर्तन्त इत्यर्थः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— इदं ज्ञानं विषयविषयिरूपविकल्पविनिर्मुक्तमुपाश्रित्य मम ईश्वरस्य साधर्म्यं सर्वात्मत्वं सर्वनियन्तृत्वं सर्वभावाधिष्ठातृत्वमित्यादिधर्मसाम्यं साधर्म्यमागताः । तथा च श्रुतयः– "य एव (एवं) वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" [ बृ. उ. १।४।१० ] "सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति ज्ञानफलमीश्वरसाधर्म्यप्राप्तिमाहुः । किञ्च भुशुण्डिप्रभृतयो ज्ञानबलादेव सर्गेऽपि न जायन्ते, प्रलयकाले च तत्तद्भूतभावं गच्छन्तो न प्रलयाग्न्यादिभिर्व्यथन्ते व्यथां प्राप्नुवन्ति । इदं श्लोकद्वयं भाष्ये वक्ष्यमाणज्ञानस्तुत्यर्थत्वेनैव व्याख्यातम् । तज्ज्ञानमुपाश्रित्य ज्ञानसाधनमनुष्ठायेति पदार्थः । शेषं स्पष्टम् ॥ २ ॥

ईश्वरायत्तप्रकृतिपुरुषयोरखिलजगद्धेतुत्वं तस्य चाचिन्त्यशक्तिवैभवम् ।

**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।**
**सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ! ॥ ३ ॥**

**१ शां. भा.**— क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोग ईदृशो भूतकारणमित्याह— **ममेति** । मम स्वभूता मदीया माया त्रिगुणात्मिका प्रकृतिर्योनिः सर्वभूतानां कारणं सर्वकार्येभ्यो महत्त्वात्कारणत्वाद्बृंहणाच्च ( भरणाच्च ) स्वविकाराणां महद्ब्रह्मेति योनिरेव विशिष्यते । तस्मिन्महति ब्रह्मणि योनौ गर्भं हिरण्यगर्भस्य जन्मनो बीजं सर्वभूतजन्मकारणं बीजं दधामि निक्षिपामि; क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिद्वयशक्तिमानीश्वरोऽहमविद्याकामकर्मोपाधिस्वरूपानुविधायिनं क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयोजयामीत्यर्थः । सम्भव उत्पत्तिः सर्वभूतानां हिरण्यगर्भोत्पत्तिद्वारेण ततस्तस्माद्गर्भाधानाद्भवति हे भारत ! ॥ ३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानस्तुत्या तदभिमुखायावहितचेतसे विवक्षितमर्थमाह— **क्षेत्रेति** । स्वरूपत्वेन स्वभूतत्वं दारयति— **मदीयेति** । ईश्वरीं चिच्छक्तिं व्यावर्तयति— **त्रिगुणात्मिकेति** । साङ्ख्यीयप्रकृतिरपि मदीयेति व्यावर्तिता । योनिशब्देन सर्वाणि भवनयोग्यानि कार्याणि प्रत्युपादानत्वमभिप्रेतमित्याह- **सर्वभूतानामिति** । प्रकृतेर्महत्त्वं साधयति-- **सर्वेति** । सर्वकार्यव्याप्तिमादाय योनावेव ब्रह्मशब्दः । लिङ्गवैषम्यान्महद्ब्रह्मेत्यर्थान्तरं किञ्चिदित्याशङ्क्याऽऽह— **योनिरिति** । तस्मिन्नित्यादि व्याचष्टे- **तस्मिन्निति** । ईदृशस्य क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्य भूतकारणत्वमिति वक्तुमुपक्रम्य किमिदमन्यदादर्शितं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **क्षेत्रेति** । गर्भशब्देनोक्तसंयोगस्य फलं दर्शयति— **सम्भव** इति । 'आदिकर्ता स भूतानाम्' इति स्मृत्या हिरण्यगर्भकार्यत्वावगमाद्भूतानां कथं यथोक्तगर्भाधाननिमित्तत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **हिरण्यगर्भेति** ॥ ३ ॥

**३ रा. भा.**— अथ प्राकृतानां गुणानां बन्धहेतुताप्रकारं वक्तुं सर्वस्य भूतजातस्य प्रकृतिपुरुषसंसर्गजत्वं 'यावत्सञ्जायते किञ्चित्' [ १३।२७ ] इत्यनेनोक्तं भगवता स्वेनैव कृतमित्याह– **ममेति** । मम मदीयं कृत्स्नस्य जगतो योनिभूतं महद्ब्रह्म यत्, तस्मिन् गर्भं दधाम्यहं 'भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च । अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ अपरेयम्' [ ७।४,५ ] इति निर्दिष्टा अचेतना प्रकृतिर्महदहङ्कारादिविकाराणां कारणतया 'महद्ब्रह्म' इत्युच्यते; श्रुतावपि क्वचित्प्रकृतिरपि 'ब्रह्म' इति निर्दिश्यते— 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' [ मुं. उ. १।१।९ ] इति ।

**४ वे. ता. चं.**— गुणसम्बन्धहेतुताप्रकारतन्निवर्तनप्रकारप्रतिपादकत्वाभावात् 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' इति श्लोकः प्रकृतासङ्गत इति शङ्कापरिहाराय तच्छ्लोकमवतारयति— **अथ प्राकृतानामिति** । वक्ष्यमाणगुणबन्धहेतुत्वमपि स्वकृतमिति द्योतनाय सर्वभूतजातस्य प्रकृतिपुरुषसंसर्गजत्वं स्वकृतमित्यनेनोच्यत इति भावः । **कृत्स्नस्य जगतो योनिभूतमिति** मम योनिभूतमित्यन्वये 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !' [ ७।६ ] इत्यादिभिर्विरोधः; स्वयोनिभूते तस्मिन् गर्भाधानाभिधानं चानुपपन्नम्; 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' [ १४।४ ] इत्युत्तरश्लोकवैरस्यं च । अतः 'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इत्यस्याञ्जस्याच्च जगत्पितृत्वेनावस्थितस्य स्वस्य

जगद्गर्भाधानक्षमसाक्षाद्विकारिद्रव्यमिह योनिशब्देन विवक्षित-मिति भावः । 'मम योनिः' इत्येतत् 'भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादिप्रतिपादितार्थविषयत्वादनुवादरूपमिति ज्ञापनार्थं तच्छब्दप्रतिसम्बन्धितया यच्छब्दनिर्देशः । ननु जगद्योनिभूतं महद्ब्रह्म परमात्मैव; 'वासुदेवः परा प्रकृतिः' "यद्भूतयोनिं" [ मुं. उ. १।१।६ ] "कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" [ मुं. उ. ३।१।३ ] इत्यादिषु श्रूयते; स कथं 'मम' इति व्यतिरेकेण निर्दिश्यते ? ब्रह्मशब्दस्य च न प्रकृतिवाचकत्वं, 'महद्ब्रह्म' इति विशेषणं च तत्प्रतिकूलमेव; अतः परमात्मस्वरूपमेव "ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा" [ तै. उ. २।५।१ ] इत्यादिष्विवात्रापि भेदेनोपचर्यत इति योज्यम् । तत्राह— **भूमिराप** इति ।

**अयमभिप्रायः**— षट्कद्वयोक्तवैशद्याय हि तृतीयषट्कप्रवृत्तिः; ततश्च 'भूमिरापः' इत्यादौ स्वशेषतया निर्दिष्टा प्रकृतिरेवात्रापि सम्बन्धिविभक्तिवशात्प्रकृतिशब्दपर्याययोनिशब्दादिभिश्च तद्गर्भशब्दाभिहितचेतनप्रकृत्याधानक्षेत्रत्वेन भोगायतनत्वप्रतीतेश्च प्रत्यभिज्ञायते । 'एतद्योनीनि' [ ७।६ ] इति योनिशब्दोऽपि पूर्वं तत्र प्रयुक्तः । तस्याश्च महतां भूतानां तत्कारणस्याहङ्कारस्य तत्कारणस्य महत्तत्त्वस्य च कारणतया तत्तत्कार्यापेक्षया महत्त्वविशेषितब्रह्मत्वमप्युपपन्नम् । ब्रह्मशब्दश्च कारणत्वबृहत्त्वादिसादृश्यादब्रह्मण्यपि प्रयोक्तुं युज्यते, तथाच श्रौतप्रयोगोऽप्यस्ति । प्रकृतेर्जगद्योनित्ववचनं तु न परमात्मनो जगदुपादानत्वविरुद्धम्, अपित्वनुगुणमेव; प्रकृतिविशिष्टवेषेणैव निर्विकारस्य तस्य जगद्योनित्वात् । अतो हि पूर्वं 'एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय' [ ७।६ ] इत्युक्त्वा तदनन्तरम् 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा' [ ७।६ ] इत्युक्तम्— इति ।

**३ रा. भा.— 'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् । जीवभूतां' [ ७।५ ] इति चेतनपुञ्जरूपा या परा प्रकृतिर्निर्दिष्टा, सेह सकलप्राणिबीजतया गर्भशब्देनोच्यते; तस्मिन्नचेतने योनिभूते महति ब्रह्मणि चेतनपुञ्जरूपं गर्भं दधामि; अचेतनप्रकृत्या भोगक्षेत्रभूतया भोक्तृवर्गपुञ्जभूतां चेतनप्रकृतिं संयोजयामीत्यर्थः । ततस्तस्मात्प्रकृतिद्वयसंयोगान्मत्सङ्कल्पकृतात्सर्वभूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां सम्भवो भवति ॥ ३ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— प्रसिद्धगर्भासम्भवात् गर्भशब्दाभिलप्यत्वमत्र जीवस्य कथं ? इत्यत्राह— **इतस्त्वन्यामिति** । 'मम योनिः' इत्यनेन प्रत्यभिज्ञापितस्वकीयप्रकृतिद्वयविषयप्राचीनवचनपरामर्शादनन्तरग्रन्थसामञ्जस्याच्च गर्भशब्दोऽत्र परप्रकृतिशब्दनिर्दिष्टचित्समष्टिपर इति भावः । 'गर्भम्' इत्येकवचनं समुदायैक्यपरमिति ख्यापनाय पुञ्जशब्दः । अन्वितार्थमाह— **तस्मिन्निति** । ननु पूर्वं 'ययेदं धार्यते जगत्' [७।५] इति चेतनप्रकृतेराधारत्वमचेतनस्य च धार्यत्वमुक्तम् । इह तु 'तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' इति तद्विपरीतमुच्यत इत्यत्राह— **अचेतनेति** । नात्र तादधीन्यपर्यन्ताधाराधेयभावोऽभिमतः; अपित्वभेदनिर्देशमात्रयोग्यः; संयोगः तथाविधसंयोगकरणस्य कर्मवश्यानां पुंसां कर्मानुरूपभोगप्रदानं प्रयोजनमित्युक्तं भवति । अत्र तत इति नानन्तर्यपरः, मन्दप्रयोजनत्वात्; आनन्तर्येण हेतुभावस्य फलितत्वादपि तत्कण्ठोक्तेर्युक्तत्वात् । अतः 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्' [ १३।२७ ] इति पूर्वाध्यायोक्त एव हेतुरिह साङ्ख्यमतशङ्कानिरासाय स्वाधीनत्वेन विशेष्यत इत्यभिप्रायेणाह **प्रकृतिद्वयसंयोगान्मत्सङ्कल्पकृतादिति** । अतएव तस्य कार्यकरत्वं चोपपन्नमिति भावः ।

अत्र 'सर्वभूतानाम्' इति न महदादितत्त्वपरं, भूतशब्दस्य महदादिष्वरूढत्वात्; नापि महाभूतादिविवक्षा, क्षेत्रज्ञानां बन्धहेतुप्रकारपरत्वात्; तच्च क्षेत्रज्ञत्वं भूतशब्दविवक्षितसृज्यत्वाविशेषात् 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ता जगदन्तर्व्यवस्थिताः । प्राणिनः कर्मजनितसंसारवशवर्तिनः' [ वि. ध. १०४।२३ ] 'ब्रह्माद्याः सकला देवा मनुष्याः पशवस्तथा । विष्णुमायामहावर्तमोहान्धतमसावृताः' [ वि. पु. ५।३०।१७ ] 'हिरण्यगर्भो भगवान्' [ वि. पु. ६।७।५६ ] इत्यादिभिश्च ब्रह्मेशानादेरपि समानमित्यभिप्रायेण सर्वशब्द इति दर्शयितुं **ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामित्युक्तम्** । 'अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः' [ वि. पु. ६।७।५६ ] इत्यादिषु चतुर्मुखसङ्कल्पमन्तरेणैव स्थावरादिसृष्टिवचनाद्धिरण्यगर्भवत्तत्स्रष्टानामपि स्तम्बपर्यन्तानां परमात्मसृज्यत्वं स्पष्टम् ॥ ३ ॥

**५ आ. मा. भा.— महद्ब्रह्म प्रकृतिः, सा च श्रीर्भूर्दुर्गेति भिन्ना । उमासरस्वत्याद्यास्तु तदंशयुता अन्यजीवाः । तथा च काषायणश्रुतिः—" श्रीर्भूर्दुर्गा महती तु माया या लोकसृतिर्जगतो बन्धिका च । उमावागाद्या अन्यजीवास्तदंशास्तदात्मना सर्ववेदेषु गीताः " इति । मम योनिरिति गर्भाधानार्था योनिः, न तु माता, वाक्यशेषात् । तथा हि सामवेदे शार्कराक्षश्रुतौ— " विष्णोर्योनिर्गर्भसन्धारणार्था महामाया सर्वदुःखैर्विहीना । तथाऽप्यात्मानं दुःखिवन्मोहनार्थं प्रकाशयन्ती सह विष्णुना सा " इति । अतः सीतादुःखादिकं सर्वं मृषा प्रदर्शनमेव । तथा कूर्मपुराणे—' न चेयं भूः' [ ब्र. सं. पु. ] तथा च**

सौकरायणश्रुतिः—" अन्या भूर्भूरियं तस्य छाया भूताऽनमा सा हि भूतैकयोनिः " इति । " अत्रापि स्वेच्छया दास्यं जगतां प्रपितामही " इत्यनभिम्लानश्रुतिः । मत्स्यपुराणोक्तमपि स्वेच्छयैव । महद्ब्रह्म-शब्दवाच्याऽपि प्रकृतिरेव ' महती ब्रह्मणी द्वे तु प्रकृतिश्च महेश्वरः ' इति तत्रैव ॥ ३ ॥

६ ज. प्र. दी.— अत्र महत् ब्रह्मेति जडाऽविद्योच्यत इति प्रतीतिनिरासार्थमाह— महदिति । प्रकृतिर्महालक्ष्मीः । ननु सत्त्वं रजस्तम इति जडा प्रकृतिर्विक्ष्यते, तत्सन्निधाना-दत्रापि सैव युक्तेति चेत्, न; तत्रापि चेतनप्रकृत्यभिधानात्, कथमस्याः सत्त्वादिभेदभिन्नत्वं ? इत्यत आह— सा चेति । जडप्रकृतेरभिमानिनी तत्कार्यसत्त्वादिगुणाभिमानिन्येतद्रूपत्रयव-तीत्यर्थः । ननु भगवती माहेश्वरी ब्राह्मी कौमारी माहेन्द्री श्रीर्भू-र्दुर्गेति सप्तधा भिन्नाऽऽगमेषूच्यते, तत्कथं त्रिधा भिन्नोच्यते ? इत्यत आह— उमेति । आद्याश्चतस्रो भगवत्या अन्याः । कुतः ? जीवाः । कथं तद्रूपत्वोक्तिः ? तदंशयुतास्तत्सन्निधानो-पेताः । कुत एतत् ? इत्यत आह— तथा चेति । ' मम योनिः ' इत्येतत्परे व्याचक्षते मम स्वरूपभूता योनिः कारणं विश्वस्य प्रतीत एवान्वये मम मातेत्यापत्तेरिति तन्निरासार्थ-माह— ममेति; भार्येत्यर्थः । ममेत्यनुवादेनान्यथा प्रतीता-न्वयबाधः स्यादिति सूचयति । प्रतीतान्वयाङ्गीकारे ' माता ' इत्यपि प्रतीयेत, तत्र कथं भार्येति निश्चयः ? इत्यत आह— न त्विति । इति प्रतीतिः प्रसज्यत इति शेषः । कुतो न ? इत्यत आह— वाक्येति । ' तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ' इति वाक्य-शेषाद्भार्यार्थितानिश्चयात् । श्रुतिबलाच्चेत्याह— तथा हीति । प्रकाशयन्ती प्रवर्तते । अनयैव श्रुत्याऽन्यदपि लब्धमिति प्रस-ङ्गादाह— अत इति । मृषाऽयथार्थं प्रदर्शनं यस्य तत्तथा । इतश्चैवमेवेत्याह— तथेति । तत्र ह्येवमुक्तम् ' दग्ध्वा मायामयीं सीतां भगवानुग्रदीधितिः । रामायादर्शयत्सीतां पावकोऽसौ सुरप्रियः ' [ ] इत्यादि । ननु महालक्ष्मीः श्रीर्भूर्दुर्गेति भिन्नेत्युक्तम् । भुवश्च ' गौर्भूत्वाऽश्रुमुखी खिन्ना ' [ भाग. १०।१।१८ ] इति दुःखं प्रतीयते, तत्कथं तत् ? इत्यत आह— न चेति । इयं भूताभिमानिनी प्रसिद्धा भूः भगवत्या रूपं न भवति, किन्त्वियमन्यैव । कुतः ? इत्यत आह— तथा चेति । महालक्ष्मीरूपं भूरन्या, इयं प्रसिद्धा, तस्य तस्याः । छाया प्रतिमा । ननु रावणहरणादिकं भवतु मायासीतायाः; वाल्मीकि-दास्यं तावन्मत्स्यपुराणे साक्षात्सीताया एवोक्तम् ' दास्ये च दुःखमवर्जनीयं ' इत्याशङ्कां प्रमाणपूर्वकमपाकरोति— अत्रा-पेति । श्रुतिरस्ति । ' यतोऽतः ' इति शेषः । महद्ब्रह्म प्रकृति-रित्युक्तम्, तत्र प्रमाणं वक्तुं व्यवहितत्वात्पुनः प्रतिजानीते— महदिति । ' महत्, ब्रह्म ' इति भिन्ने पदे; ततः परमिति-शब्दोऽध्याहार्यः । कुतः ? इत्यत आह— महतीति । तत्रैव मत्स्यपुराणे । अर्थक्रमेण ' मम योनिर्महद्ब्रह्म ' इत्यत्र व्युत्क्र-मेण व्याख्यानम् । मत्स्यपुराणोदाहरणप्रसङ्गादत्रोपपादन-मिति ॥ ३ ॥

७ ह. पै. भा.— ममेति । मम मत्सम्बन्धिनी । योनिः प्रकृतिः । सर्वकार्यापेक्षया महत्त्वात् वर्धमा-( नत्वाच्च )नाच्च महद्ब्रह्मेति योनिरेव विशिष्यते । गर्भं हिरण्यगर्भस्य बीजं वीर्यं क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृति-द्वयशक्तिमानीश्वरोऽहं दधामि । क्षेत्रज्ञं क्षेत्रेण संयोजयामीत्यर्थः । सम्भव उत्पत्तिः सर्वभूतानां, हिरण्यगर्भोत्पत्तिद्वारेणेत्यर्थः ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं प्रशंसया श्रोतारमभिमुखीकृत्य प्रथमं तावदीश्वराधीनयोरेव प्रकृतिपुरुषयोः सर्वभूतहेतुत्वं, न तु स्वतन्त्रयोरित्यमुमर्थं दर्शयति द्वाभ्याम्— ममेति । देशतः कालतो वाऽनवच्छेदान्महत् । सर्वकार्यवृद्धिहेतुत्वरू-पाद्बृंहणत्वाद्ब्रह्म प्रकृतिः । तन्महद्ब्रह्म ममेश्वरस्य योनिर्गर्भा-धानस्थानम् । तस्मिन्नहं गर्भं सर्वभूतजन्मकारणम् " बहु स्यां प्रजायेय " [ छां. उ. ६।२।३ तै. आ. ६।२ ] इति श्रुत्युक्तमीक्षणरूपं सङ्कल्पं दधामि । यथा हि लोके पिता पुत्रमनुशयिनं व्रीह्याद्याहाररूपेण स्वस्मिँल्लीनं शरीरेण योज-यितुं योनौ रेतस्सेकपूर्वकं गर्भमाधत्ते, ततः स पुत्रः शरीरेण युज्यते, तदर्थं च मध्ये कलिलाद्यवस्था भवन्ति; तथा प्रलये मयि लीनमविद्याकामकर्माशयवन्तं क्षेत्रज्ञं सृष्टिसमये क्षेत्रेण कार्यकरणसङ्घातरूपेण योजयितुं चिदाभासाख्यरेतस्सेकपूर्वकं मायावृत्तिरूपं गर्भमादधामि, तदर्थं च मध्ये आकाशवायु-तेजोजलभूम्याद्युत्पत्त्यवस्था भवन्ति । ततो गर्भाधानात्सर्व-भूतानां हिरण्यगर्भादीनां सम्भव उत्पत्तिर्भवति, न त्वीश्वर-कृतगर्भाधानं विनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— तदेवं प्रशंसया श्रोतारमभिमुखीकृत्य स्वस्याचिन्त्यशक्तिवैभवलीलां दर्शयति— ममेति । तत्र ' सर्गेऽपि नोपजायन्ते ' [ १४।२ ] इत्यत्राभिप्रेतं सर्गस्य प्राकृतत्वेन सगुणत्वं वदन् तत्सम्भवमाह— मम योनिरिति । गुणानां हेतुभूता सर्वस्य भूतजातस्य मत्प्रकृतिगुणसंसर्गजत्वं पूर्वोक्तं मयैव कृतमिति स्पष्टयितुं ममेति । मम सदंशभूता योनिः निषेकस्थानं प्रकृतिः " त-( तस्मा- )देतद्ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते " [ मुं. उ. १।१।९ ] इति श्रुतेर्ब्रह्मांशभूतत्वान्महद्ब्रह्मेत्युच्यते सूत्रभूतादिकारणभूताऽचेतना, तत्र गर्भं बीजभूतं

सूत्रं चेतनपुञ्जीभूतं च दधाम्यहमक्षरात्मा पुरुषः स धारणमीक्षणद्वारा भवति तदेव बीजमित्युच्यते तत्सम्मृष्टपुरुषो विराट्, तत्संसृष्टा उभयस्वरूपाश्चेतना अणवो व्युच्चरिता जायायामिवात्मा वै जायते इति तदंशभूता मत्स्वरूपचैतन्यतोऽभिन्नाः प्राणधारणप्रयत्नवन्तोऽनेके जीवा इति व्यपदिश्यन्ते। तदाह - तत इति। गर्भात्सर्वभूतानां सम्भवो भवति ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं फलरूपतामुक्त्वा तदेव प्रपञ्चयति— ममेति। महत् देशकालाद्यपरिच्छिन्नं ब्रह्म बृहत्त्वाद्बृंहणत्वेन मल्लीलार्थवस्तुवृद्धिहेतुत्वात् ब्रह्म प्रकृतिः मम पुरुषोत्तमस्य योनिः क्रीडार्थविचित्रानेकवस्तुरूपप्रकटनात्मकगर्भाधानस्थानम्। तस्मिन् गर्भं क्रीडेच्छात्मकभावं दधामि स्थापयामि। ततो गर्भाधानानन्तरं सर्वभूतानां सम्भव उत्पत्तिर्भवति। भारत! इति सम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— अथेदानीं का वा भूतप्रकृतिः? किमाश्रयेण तस्या भूतजनकत्वं? तदाह— ममेति। मम शुद्धचिन्मात्रस्य, योनिः प्रवेशस्थानं, महद्ब्रह्म महत्तत्त्वस्य प्रथमकार्यस्य ब्रह्म बृंहकं कारणमव्यक्ताव्याकृतापरपर्यायं त्रिगुणात्मकमायाख्यं, तस्मिन् गर्भं स्वप्रतिबिम्बरूपं दधामि अर्पयामि, अहं चिदात्मा। ततो मत्प्रतिबिम्बगर्भिता या माया ततः सर्वेषां भूतानां भवनधर्माणां महदादीनां हिरण्यगर्भादीनां च सम्भव उत्पत्तिर्भवति। हे भारत! एतेन चित्प्रतिबिम्बसापेक्षत्वोपपादनेन प्रकृतेः साङ्ख्याभिमतं स्वातन्त्र्यं निरस्तम् ॥ ३ ॥

**सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्तयः सम्भवन्ति याः।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ४ ॥**

**१ शां. भा.— सर्वयोनिष्विति। देवपितृमनुष्यपशुमृगादिषु सर्वयोनिषु कौन्तेय! मूर्तयो देहसंस्थानलक्षणा मूर्छिताङ्गावयवा मूर्तयः सम्भवन्ति यास्तासां मूर्तीनां ब्रह्म महत्सर्वावस्थं योनिः कारणमहमीशो बीजप्रदो गर्भाधानस्य कर्ता पिता ॥ ४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— ननु कथमुक्तकारणानुरोधेन हिरण्यगर्भोद्भवमभ्युपेत्य भूतानामुत्पत्तिरुच्यते? देवादिजातिविशेषेषु देहविशेषाणां कारणान्तरस्य सम्भवात्तत्राऽऽह— सर्वयोनिष्विति। तत्र तत्र हेत्वन्तरप्रतिभासे कुतोऽस्य हेतुत्वं इत्याशङ्क्य तत्तद्रूपेणास्यैवावस्थानादित्याह— सर्वावस्थमिति ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.— कार्यावस्थोऽपि चिदचित्प्रकृतिसंसर्गो मयैव कृत इत्याह— सर्वयोनिष्विति। सर्वासु देवगन्धर्वयक्षराक्षसमनुष्यपशुमृगपक्षिसरीसृपादिषु योनिषु तत्तन्मूर्तयो याः सम्भवन्ति जायन्ते तासां ब्रह्म महत् योनिः कारणं मया संयोजितचेतनवर्गा महदादिविशेषान्तावस्था प्रकृतिः कारणमित्यर्थः। अहं बीजप्रदः पिता तत्रतत्र च तत्तत्कर्मानुगुण्येन चेतनवर्गस्य संयोजकश्चाहमित्यर्थः ॥ ४ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवमनेन श्लोकेन प्राकृतनैमित्तिकसृष्ट्योः स्वाधीनत्वमुक्तम्; अथ नित्यसृष्टिरपि स्वेनैव कृतेत्युच्यते 'सर्वयोनिषु' इति श्लोकेन। श्लोकयोः पुनरुक्तिपरिहारमभिप्रेत्याह कार्यावस्थोऽपीति। नित्यसर्गाविच्छिन्नोऽपीत्यर्थः। हिरण्यगर्भमूलचतुर्विधसृष्टेः समनन्तरमप्याप्रलयात्क्षुद्रेष्वपि जन्तुषु या सन्ततिः, तत्रापि नेश्वरः स्वयमुदासीनः सन्नन्यैः कारयतीत्यभिप्रायेण सर्वयोनिशब्द इत्याह देवगन्धर्वेत्यादिना। प्रमाणसिद्धं प्रतिनियतकारणवस्तुवैजात्यलक्षणं वैचित्र्यं स्रष्टुः स्वस्य विचित्रशक्तियोगज्ञप्तये 'याः' इति प्रसिद्धवन्निर्देशेनानूद्यत इत्यभिप्रायेणाह तत्तन्मूर्तय इति। 'सम्भवन्ति' इत्यस्य सम्भावनार्थताव्युदासार्थमुपादानोपादेयभावज्ञापनार्थं चाह जायन्त इति। अव्यवहितोपादानत्वाद्यभावात् कारणमित्युक्तम्। चित्सम्पर्कविरहे सर्वेश्वराधिष्ठानविरहे च केवलस्याचिन्मात्रस्य हेतुत्वायोगमभिप्रेत्याह मया संयोजितचेतनवर्गेति। 'सर्वयोनिषु' इत्यादिना निर्दिश्यमानचरमव्यष्टिसृष्टौ बहुयोनिकतया प्रतीयमानायां च कथमेकस्या मूलप्रकृतेर्योनित्वं? इत्यत्राह महदादिविशेषान्तावस्थेति। विशेषाः पञ्चभूतानि। अत्र को बीजशब्दार्थः? किञ्च पितृत्वव्यपदेशहेतुभूतं तत्प्रदानं 'तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता' इत्यनेन च सेश्वरसाङ्ख्यवत् प्रकृतेरेवोपादानत्वम्, ईश्वरस्य च केवलनिमित्तत्वं प्रतीयते, तच्च श्रुतिविरुद्धम्; एकस्यामेव च योनावेकस्मिन्नेवाविषमे पितरि जायमानानां वैचित्र्यं किन्निबन्धनं? इत्यत्राह तत्र तत्रेति। 'महद्ब्रह्म योनिः' इति पूर्वश्लोकोक्ता प्रकृतिरत्रापि स्वशब्देनोपात्ता। तत्र गर्भशब्दस्थानीयो बीजशब्दस्तत्तत्सृष्ट्यनुगुणचेतनवाचीति भावः ॥ ४ ॥

६ आ. मा. भा.— ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— सर्वेति। सर्वयोनिषु देवाद्यासु मूर्तयः संस्थानानि विशिष्टानि भूतानि। तासां महद्योनिरहं ब्रह्म वासुदेवः ॥ ४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— सर्वभूतानां सम्भवस्ततो भवतीत्येतदेवोपपादयति— सर्वयोनिष्विति। देवपितृमनुष्यपशुपक्षिसरीसृपादिसर्वयोनिषु यास्तत्तन्मूर्तयो जायन्ते तासां मूर्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः योनिर्मातृस्थानीया; अहमीश्वरो बीजप्रदो गर्भाधानकर्ता पिता ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— एवं कार्यावस्थोऽयं चिदचित्प्रकृतिसर्गो मयैव कृत इति सर्वयोनिष्विति। नेदमपूर्ववरमिवोच्यते; किन्तु सर्वत्रैवमेव लोके दृश्यत इत्याह एकः पिताऽन्यत्क्षेत्रमिति। तत्र तासां भूतमूर्तीनां महद्ब्रह्म योनिः, अहं बीजप्रदः पितेति वस्तुतोऽवसेयम्। अत एव विष्णुपुराणादौ लक्ष्मीनारायणौ गौरीशङ्करौ सर्वत्र स्त्रीपुम्भावापन्नस्वरूपौ निरूपितौ ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वनेकविधवस्तूनामनेकयोनिषु नानाविधप्रतीतौ कथमेकयोनित्वं? इत्यत आह— सर्वयोनिष्विति। पूर्वं तु सर्वोत्पत्तिरूपसर्वयोन्युत्पत्तिः, ततः सर्वयोनिषु हे कौन्तेय! या मूर्तयः स्वरूपाणि सम्भवन्ति, तासां महद्ब्रह्म प्रकृतियोनिरुत्पत्तिस्थानं मातृस्थानीयं बीजप्रदः इच्छाज्ञानात्मकबीजप्रदः पिता उत्पादकः, अहमेवेत्यर्थः। तदेव ब्रह्म मदिच्छया नानायोनिरूपेण भूत्वा भासते इत्यर्थः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च सर्वेषु भूतेषु योनिषु उपादानभूतेषु पृथिव्यामोषधय इव या मूर्तयः शरीराणि सुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकानि चतुर्विधानि सम्भवन्ति, तासां मूर्तीनां ब्रह्म महत्पूर्वोक्तं महतो ब्रह्म ब्रह्ममहत्-राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः– मायैव योनिरित्यर्थः। अहं तु तासां बीजप्रदः पिता तास्वपि स्वप्रतिबिम्बस्यार्पयिता। यथा पुरुषो भार्यायामनुशयि सम्पृक्तं रेतो निषिञ्चति, ततो भार्यातः पिण्डोत्पत्ती रेतोंशतस्तत्र चैतन्योत्पत्तिरिति चैतन्यविशिष्टस्य पिण्डस्य पिताऽहं, माता च मायेत्यर्थः ॥ ४ ॥

क्षेत्रज्ञोपाधिभूतानां गुणानां नामानि तत्कार्याणि च।

**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।**
**निबध्नन्ति महाबाहो! देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥**

१ शां. भा.— के गुणाः? कथं बध्नन्ति? इत्युच्यते— सत्त्वमिति। सत्त्वं रजस्तम इत्येवंनामानः 'गुणाः' इति पारिभाषिकः शब्दः, न रूपादिवद्द्रव्याश्रिता गुणाः। न च गुणगुणिनोरन्यत्वमत्र विवक्षितम्। तस्माद्गुणा इव नित्यपरतन्त्राः क्षेत्रज्ञं प्रति अविद्यात्मकत्वात्क्षेत्रज्ञं निबध्नन्तीव तमास्पदीकृत्याऽऽत्मानं प्रतिलभन्त इति 'निबध्नन्ति' इत्युच्यते। ते च प्रकृतिसम्भवा भगवन्मायासम्भवा निबध्नन्तीव हे महाबाहो!– महान्तौ समर्थतरावाजानुप्रलम्बौ बाहू यस्य स महाबाहुः, हे महाबाहो! देहे शरीरे देहिनं देहवन्तमव्ययम्; अव्ययत्वं चोक्तं 'अनादित्वात्' [ १३।३२ ] इत्यादिश्लोकेन। ननु देही 'न लिप्यते' [ १३।३२ ] इत्युक्तं तत्कथमिह 'निबध्नन्ति' इत्यन्यथोच्यते? परिहृतमस्माभिरिवशब्देन 'निबध्नन्तीव' इति ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगाज्जगदुत्पत्तिं दर्शयता ब्रह्मैवाविद्यया संसरतीत्युक्तं, इदानीमध्यायादावुक्तमाकाङ्क्षाद्वयं पूर्वमनूद्यानन्तरश्लोकेनोत्तरमाह— के गुणा इति। सत्त्वादिषु कथं गुणशब्दप्रवृत्तिः? इत्याशङ्क्य परतन्त्रत्वादित्याह— गुणा इति। रूपादिष्विव गुणशब्दः सत्त्वादिषु द्रव्याश्रितत्वं निमित्तीकृत्य किं न स्यात्? इत्याशङ्क्य प्रकृत्यात्मकानां तेषां सर्वाश्रयत्वान्नैवमित्याह— न रूपादिवदिति। गुणानां प्रकृतेश्च पृथगुक्तेरन्यत्वे कुतस्तेषां प्रकृत्यात्मत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— न च गुणेति। अत्यन्तभेदे गवाश्ववत्तद्भावासम्भवादित्यर्थः। भेदाभेदे च तद्भावासम्भवाद्विशेषात्कुतस्तेषु गुणपरिभाषा? इत्याशङ्क्याऽऽह— तस्मादिति। क्षेत्रज्ञं प्रति नित्यपारतन्त्र्ये हेतुमाह— अविद्येति। 'के गुणाः' इत्यस्योत्तरमुक्तं, 'कथं बध्नन्ति' इत्यस्योत्तरमाह— क्षेत्रज्ञमिति। तदेवोपपादयति— तमास्पदीकृत्येति। प्राकृतानां गुणानां

प्रकृत्यात्मकत्वमाह— **ते चेति** । सम्भवत्यस्मादिति सम्भवः प्रकृतिः सम्भवो येषां ते तथेति । साङ्ख्यीयां प्रकृतिं प्रधानाख्यां व्यावर्तयति— **भगवदिति** । इवकारानुबन्धेन नितरां बध्नन्ति स्वविकारवत्तयोपदर्शयन्तीति क्रियापदं व्याख्याय महाबाहुशब्दं व्याचष्टे— **महान्ताविति** । देहवन्तं देहमात्मानं मन्यमानं देहस्वामिनमित्यर्थः । कूटस्थस्य कथं बध्यमानत्वं ? इत्याशङ्क्य 'कुर्यान्मेरावणुधियम्' इतिन्यायेन मायामाहात्म्यमिदमित्याह— **अव्ययमिति** । स्वतो धर्मतो वा व्ययराहित्यमित्यपेक्षायामाह— **अव्ययत्वं चेति** । 'लिप्यते न स पापेन' [ ५।१० ] इत्यनेन विरुद्धमिदं निबध्नन्तीति वचनमिति शङ्कते— **नन्विति** । इवकारानुबन्धेन क्रियापदं व्याचक्षाणैरस्माभिरस्य चोद्यस्य परिहृतत्वान्नैवमित्याह— **परिहृतमिति** ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.— एवं सर्गादौ प्राचीनकर्मवशादचित्संसर्गेण देवादियोनिषु जातानां पुनःपुनर्देवादिभावेन जन्महेतुमाह— सत्त्वमिति । सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिनः स्वभावविशेषाः प्रकाशादिकार्यैकनिरूपणीयाः प्रकृत्यवस्थायामनुद्भूतास्तद्विकारेषु महदादिषूद्भूता महदादिविशेषान्तैरारब्धदेवमनुष्यादिदेहसम्बन्धिनमेनं देहिनमव्ययं स्वतो गुणसम्बन्धानर्हं देहे वर्तमानं निबध्नन्ति, देहे वर्तमानत्वोपाधिना निबध्नन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ननु नैमित्तिकसर्गादौ प्राचीनकर्मानुरूपपरमपुरुषसङ्कल्पकृताचित्संसर्गाज्जन्मोपपद्यते, प्राचीनं च कर्म तेनैव दत्तफलं, तदारम्भककर्मावसाने च तच्छरीरं विनश्येत्; स्वतश्चात्मा विशुद्धः; कुतः पुनरस्य नित्यसृष्टिविषयता ? इत्यत्र गुणबन्धप्रकरणमवतारयति **एवमिति** । **एवं** समष्टिव्यष्टिविषयश्लोकद्वयोक्तप्रकारेणेत्यर्थः । स्वरूपनिरूपकधर्मा हि धर्मिणं कदाचिदपि न त्यजन्ति, अतः प्रकृतिसम्भवत्वमिह कार्यदशायां विषमतयोद्भवमात्रमित्यभिप्रायेणाह **प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिन इति** । निरुपधिका इत्यर्थः । कार्यावस्थप्रकृतिगतेभ्यः शब्दादिगुणेभ्यः स्वरूपनिरूपकत्वनित्यानुबन्धित्वलक्षणवैषम्यप्रकाशनाय इतिशब्दः । सत्त्वादीनामेव प्रकृतिद्रव्यतां वदतः साङ्ख्यान् प्रतिक्षिपति **स्वभावविशेषा इति** । असाधारणधर्मविशेषा इति यावत् । चेतनासाधारणत्वेऽप्यौपाधिकाः सुखदुःखादयः, स्वाभाविका अपि साधारणाद्रव्यत्वादयः; तदुभयव्यवच्छेदाय **स्वरूपानुबन्धिनः स्वभावविशेषा** इति पदद्वयम् । एतेन 'गुणाः' इति पारिभाषिकः शब्दः, न रूपादिवद्द्रव्याश्रिता इत्यादि **शङ्करोक्तं** निरस्तम् । गुणशब्दप्रसिद्धिस्तन्मते विरुद्धेति भावः । ननु शब्दादिवन्न सत्त्वादिसंज्ञा गुणाः प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते; न च नित्यातीन्द्रियेऽनुमानं क्रमत इति शारीरके स्थापितम् ; नचानुपलब्धेषु प्रकृतिगुणेषु वायसरदनवदुपदेशस्य प्रयोजनं पश्यामः; अतो वैशेषिकादिवदन्यपरत्वमिह वक्तुं युक्तमित्यत्राह **प्रकाशादीति** ।

**अयमभिप्रायः**— प्रकाशप्रवृत्तिमोहरूपाणि कार्याणि तावत् प्रत्यक्षाणि; तत्कारणविशेषाश्च कार्यभूतैस्तैरेव सामान्यतोऽनुमीयन्ते, कारणविशेषमन्तरेण कस्यापि कार्यस्यानुत्पत्तेः; स च विशेषः सत्त्वादिरूप इत्यागमसिद्धम् ; न चात्र निष्प्रयोजनता, अतीन्द्रियविषभेषजशक्तिविशेषोपदेशवद्धानोपादानपर्यवसानात्— इति ।

कार्यैकनिरूपणीयाश्चेत्प्रतिसर्गदशायां सुखदुःखादिकार्याभावात्सत्त्वादिगुणानामभावः प्राप्नोति; अतः कथं स्वरूपानुबन्धित्वं ? इत्यत्राह— **प्रकृत्यवस्थायामनुद्भूता** इति । कार्यहेतुरुद्भवस्तदानीं नास्तीति भावः । **तद्विकारेष्वित्यादि** परिणामवशात्पुष्पफलादिषु गन्धाद्युद्भववदिति भावः । प्रकृतितद्विकारस्था गुणाः स्वतोऽव्ययत्वाद्गुणसम्बन्धानर्हं कथं बध्नन्ति ? इत्यस्योत्तरं देहिशब्द इत्याह **महदादिष्विति** । अव्ययशब्दोऽत्र गुणसम्बन्धकृतज्ञानसङ्कोचरूपव्ययनिषेधपर इत्यभिप्रायेणाह **अव्ययं स्वतो गुणसम्बन्धानर्हमिति** । तथापि 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते' [ १३।३१ ] इत्युक्तस्य कथं बन्धाख्यो लेपः ? इत्यत्र आमोक्षादविच्छिन्नदेहसम्बन्धौपाधिकत्वं 'देहे' इत्यनेन अभिप्रेतमित्याह **देहे वर्तमानत्वोपाधिनेति** । एतेन 'क्षेत्रज्ञं बध्नन्तीव, तमास्पदीकृत्य आत्मानं प्रति लभन्ते' इति **शङ्कर**दुरुक्तिर्निरस्ता । नह्येष गुणबन्धः प्रकोष्ठबलेन हन्तुं शक्यत इत्यभिप्रायेण महाबाहुशब्दः । 'दीर्घौ बुद्धिमतो बाहू याभ्यां हिंसति हिंसितः' इति भावः । यथा त्वद्भुजबलेन परेषां बन्ध इति वा ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.— बन्धप्रकारं दर्शयति साधनानुष्ठानाय— सत्त्वमित्यादिना ॥ ५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु प्रतिज्ञातं ज्ञानं श्लोकद्वयेनोक्तं, तत्किमुत्तरेण ग्रन्थेनाध्यायासङ्गतमुच्यते ? इत्यत आह— **बन्धेति** । यो हि बद्धोऽस्मीति जानाति स एव तन्निवृत्तिसाधने विजिज्ञास्य ज्ञात्वाऽनुतिष्ठति, अतो बन्धोच्छेदसाधनानुष्ठानाय तज्ज्ञापनार्थं जिज्ञासामुत्पादयितुं गुणत्रयकृतबन्धप्रकारमादौ तावद्दर्शयतीति नासङ्गतिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.— के गुणाः कथं वा बध्नन्ति ? इत्यत्रोच्यते— सत्त्वमिति । प्रकृतिसम्भवा अविद्यासम्भवाः । निबध्नन्ति नियच्छन्ति । अव्ययमविनाशिनम् ॥ ५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्येश्वराधीनत्वमुक्तम् ; इदानीं के गुणाः कथं वा बध्नन्ति ? इत्यस्योत्तरमाह चतुर्भिः— सत्त्वमिति । सत्त्वं रजस्तम इत्येवंनामानस्त्रयो गुणाः प्रकृतिसम्भवाः , प्रकृतिरीश्वरशक्तिर्माया, सैव सम्भव आविर्भावस्थानं येषां ते तथोक्ताः । गुणसाम्यं प्रकृतिः, तस्याः सकाशात् परस्पराङ्गाङ्गिभावेन वैषम्येणाभिव्यक्ता इत्यर्थः । ते च देहे प्रकृतिपरिणामे तादात्म्येन स्थितं देहिनं क्षेत्रज्ञं वस्तुतः अव्ययं निर्विकारमेव सन्तं निबध्नन्ति सुखदुःखमोहादिस्वविकारवत्तयोपदर्शयन्ति, आप इव निष्कम्पमादित्यमात्मकम्पेन कम्पवन्तम् ; अतो मिथ्याभूत एव बन्धः, न वास्तव इत्यव्ययपदेन द्योत्यते ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— अनेन स्वस्येच्छया जीवेषु निजप्रकृतिसम्भवसंसर्जनलीलामुपपाद्येदानीं बन्धलीलामुपपादयितुं चतुर्दशश्लोकबन्धहेतुभूतगुणानाह चतुर्दशभिः— सत्त्वमिति । नचैते सकार्या आत्मनो गुणाः, अपितु प्रकृतेरुक्ताः प्रकृतिसम्भवा इति सम्भूतं चेतनं तत्तद्देहे गुणा एव बध्नन्ति । प्रकृतिधर्म एव तत्र हीनतापादको देहे अहंवृत्तिमान् नोपाधिविशिष्टस्य नान्यस्य । ये च भगवदंशभूतायां प्रकृतौ समागता गुणास्ते भगवतः सच्चिदानन्दा एव मूलतः परिणममाना बन्धका दोषा जडगतत्वात् । बन्धनश्लेषात् 'गुणाः' इति संज्ञा तेषाम् । तदेवाह निबध्नन्तीति । तत्र प्रकृतिरुद्भूता गुणाः सत्त्वादयो देहाभिमानिनस्तमणुस्वरूपं चिदंशं जीवमव्ययमपि निबध्नन्ति । त्वं तं बन्धं निवर्त्तयेति सम्बोधयति ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— ननु लीलात्मकप्रकृत्युत्पादितलीलार्थदेहादिषु स्थितस्य बीजस्य बन्धः कथं ? इत्यत आह— सत्त्वमिति । सत्त्वं रजस्तम इति संज्ञका गुणाः प्रकृतिसम्भवाः प्रकृतितः सम्भव उत्पत्तिर्येषां तादृशाः; ते अव्ययं विनाशादिधर्मरहितं भगवतश्चिदंशात्मकं देहिनं जीवं तद्रूपेण तद्द्वारा गुणभोगार्थमाविर्भूतं निबध्नन्ति वशीकुर्वन्ति, रसपरत्वादित्यर्थः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमीश्वराश्रयेण प्रकृतिर्भूतानि सृजतीत्युक्तम् ; इदानीं सा कथम्भूता निबध्नातीति तदुच्यते— सत्त्वमिति । प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था, ततः सकाशात्परस्पराङ्गाङ्गीभावेन वैषम्येणोद्रिच्यमानाः प्रकृतिसम्भवा इत्युच्यन्ते; न तु प्रकृतितो वैशेषिकाणामिव द्रव्यात् गुणा अन्ये एते हे महाबाहो ! देहे अव्ययमविकारिणमपि देहिनं— स्थूणायां वत्समिव— रशनाभूता गुणा निबध्नन्ति ॥ ५ ॥

सत्त्वादिगुणानां लक्षणानि तद्बन्धकत्वप्रकाराश्च ।

## तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
## सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥ ६ ॥

१ शां. भा.— तत्र सत्त्वादीनां सत्त्वस्यैव तावल्लक्षणमुच्यते— तत्र सत्त्वमिति । निर्मलत्वात्स्फटिकमणिरिव प्रकाशकमनामयं निरुपद्रवं सत्त्वं तन्निबध्नाति । कथं ? सुखसङ्गेन 'सुख्यहं' इति विषयभूतस्य सुखस्य विषयिण्यात्मनि संश्लेषापादनं मृषैव सुखे सञ्जनमिति । सैषाऽविद्या । न हि विषयधर्मो विषयिणो भवति । इच्छादि च धृत्यन्तं क्षेत्रस्यैव विषयस्य धर्म इत्युक्तं भगवता [ १३।७ ] । अतोऽविद्ययैव स्वकीयधर्मभूतया विषयविषय्यविवेकलक्षणयाऽस्वात्मभूते सुखे सञ्जयतीव आसक्तमिव करोत्यसङ्गं सक्तमिव करोति, असुखिनं सुखिनमिव, तथा ज्ञानसङ्गेन च । ज्ञानमिति सुखसाहचर्यात् क्षेत्रस्यैव विषयस्यान्तःकरणस्य धर्मः, नाऽऽत्मनः । आत्मधर्मत्वे सङ्गानुपपत्तेर्बन्धानुपपत्तेश्च सुख इव ज्ञानादौ सङ्गो मन्तव्यो हेऽनघाव्यसन ! ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.— किंलक्षणो गुणः ? केन बध्नाति ? इत्यपेक्षायामाह— तत्रेति । निर्धारणार्थतया सप्तमीं व्याचष्टे— तत्र सत्त्वादीनामिति पुनस्तत्रेत्यनुवादमात्रं, निर्मलत्वं स्वच्छत्वमावरणवारणक्षमत्वं, तस्मात्प्रकाशकं चैतन्याभिव्यञ्जकं, निरुपद्रवमिति निर्मलं सत्सुखस्यातिव्यञ्जकमित्यर्थः । केन द्वारेण तदात्मानं निबध्नाति ? इति पृच्छति— कथमिति । सुखसङ्गेन बध्नातीत्युत्तरम् । तदेव विवृणोति— सुख्यहमित्यादिना । मुख्यसुखस्याभिव्यञ्जकसत्त्वपरिणामोऽत्र विषयसम्भूतं सुखमुच्यते । संश्लेषापादनमेव विशदयति— मृषैवेति । किमिति मृषैवेति विशेषणं ? सङ्गस्य वस्तुत्वसम्भ-

वादित्याशङ्क्याऽऽह— **सैषे**ति । नन्विच्छा सङ्गोऽभिनिवेश-श्चेत्येकोऽर्थः, तत्रेच्छादेरात्मधर्मत्वात्किमविद्यया ? इत्याशङ्क्य मनोधर्मत्वादिच्छादेः नाऽऽत्मधर्मतेत्याह- **न ही**ति । इच्छा-देरनात्मधर्मत्वे किं प्रमाणं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **इच्छादि**-**चे**ति । तस्याऽऽत्मधर्मत्वासम्भवे फलितमाह— **अत** इति । सञ्जयतीव सत्त्वमिति शेषः । इवकारप्रयोगे हेतुमाह— **अवि-द्यये**ति । तस्या वस्तुतो नाऽऽत्मसम्बन्धस्तथापि सम्बन्ध्य-न्तराभावादस्वातन्त्र्याच्चाऽऽत्मधर्मत्वमापाद्य दृष्टत्वमाचष्टे— **स्वकीये**ति । वृत्तिमदन्तःकरणस्य विषयत्वादात्मनः साधक-त्वेन तद्विषयित्वेऽपि तदविवेकरूपाऽविद्येति तत्स्वरूपमाह— **विषये**ति । यथोक्ताविद्यामाहात्म्यमिदं यदस्वरूपेऽतद्धर्मे च सक्तिसम्पादनमित्याह— **असक्ते**ति । तदेव स्फुटयति— **सक्तमिवे**ति । प्रकारान्तरेण सत्त्वस्य निबन्धृत्वमाह- **तथे**ति । ज्ञायतेऽनेनेति सत्त्वपरिणामो ज्ञानं तेन ‘ ज्ञान्यहं ’ इति विपरी-ताभिमानेन सत्त्वमात्मानं निबध्नातीत्याह— **ज्ञानमित्या**-दिना । विपक्षे दोषमाह— **आत्मे**ति । स्वाभाविकत्वेन प्राप्तत्वा-त्तत्र स्वतः संयोगात्तद्द्वारा बन्धे च तन्निवृत्त्यनुपपत्तेर्नाऽऽत्मधर्म-त्वमित्यर्थः । ज्ञानैश्वर्यादावपि क्षेत्रधर्मे सङ्गस्य पूर्ववदाविद्यकत्वं सूचयति— **सुख इवे**ति । पापादिदोषहीनस्यैवात्र शास्त्रेऽधि-कार इति द्योतयति— **अनघे**ति ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.— सत्त्वरजस्तमसामाकारं बन्धनप्रकारं चाह— तत्रेति । तत्र सत्त्वरजस्तमस्सु सत्त्वस्य स्वरूपमीदृशं निर्मलत्वात्प्रकाशकम् ; प्रकाशसुखावरणस्वभावरहितता निर्मलत्वम् ; प्रकाशसुखजननैकान्त-स्वभावतया प्रकाशसुखहेतुभूतमित्यर्थः । प्रकाशो वस्तुयाथात्म्यावबोधः; अनामयं आमयाख्यकार्यं न विद्यत इत्यनामयम्, अरोगताहेतुरित्यर्थः ।**

**४ वे. ता. चं.**— ‘ तत्र ’ इत्यादिश्लोकत्रयस्य प्रकृत-सङ्गतिमाह— **सत्त्वे**ति । **आकारं,** निरूपकस्वभावमित्यर्थः । ‘ तत्र ’ इति निर्धारणार्थः समुदायनिर्देश इत्याह **सत्त्वरज-स्तमस्स्व**ति । ननु निर्मलानां स्फटिकमण्यादीनां न प्रकाश-कत्वं दृश्यत इत्यत्राह **प्रकाशे**ति । मलशब्दोऽत्र तमस्स्व-भावभूतप्रकाशविरोध्याकारपर इत्यर्थः । वक्ष्यमाणपरामर्शादिह सुखोपादानम् । आवरणस्वभावरहितानामप्याकाशवाय्वादीनां न प्रकाशकत्वमित्यत्राह **प्रकाशसुखजननैकान्तस्वभाव-तये**ति । सत्त्वमिश्ररजस्तमसोरपि भ्रान्तिबुद्धिविशेषहेतुत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्कथमिह सत्त्वस्यैव प्रकाशजनकत्वं ? इत्यत्राह **प्रकाशो वस्तुयाथात्म्यावबोध** इति । राजसतामसधियो-रप्यधिष्ठानस्वरूपप्रकाशादिकं सत्त्वस्यांश इति भावः । सत्त्वस्या-मयप्रसङ्गाभावात्तन्निषेधो न युक्त इत्यत्राह **आमयाख्यं कार्यं न विद्यत** इति । अत्र सहपठिते गुणान्तरे कार्यत्वेनामयस्य सम्बन्धोऽस्ति, सोऽत्र प्रसक्तः प्रतिषिध्यत इति भावः । आमयाख्यकार्यनिषेधोऽत्र फलतस्तद्विपरीतकार्यान्तरविध्यभि-प्रायेणेत्याह— **अरोगताहेतु**रिति ।

**३ रा. भा.— एष सत्त्वाख्यो गुणो देहिनमेनं सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च बध्नाति; पुरुषस्य सुख-सङ्गं ज्ञानसङ्गं च जनयतीत्यर्थः । ज्ञानसुखयोः सङ्गे हि जाते तत्साधनेषु लौकिकवैदिकेषु प्रवर्तते, ततश्च तत्फलानुभवसाधनभूतासु योनिषु जायत इति सत्त्वं सुखज्ञानसङ्गद्वारेण पुरुषं बध्नाति; ज्ञानसुख-जननं पुनरपि तयोः सङ्गजननं च सत्त्वमित्युक्तं भवति ॥ ६ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ‘ तन्निबध्नाति ’ इत्युत्तरश्लोकयोरि-वात्रापि स्वरूपनिर्देशेन बन्धहेतुत्वनिर्देशेन च वाक्यभेदमाह **एष** इति । अन्यतस्सिद्धस्य सुखादिसङ्गस्य करणतामात्रं तृतीयया प्रतिपादितम् ; नच तद्युक्तं, हेत्वन्तरानुक्तेः । तत्राह **पुरुषस्ये**ति। बन्धावान्तरव्यापारत्वमिह विवक्षितमिति भावः । बन्धो हि कर्मफलानुभवार्थदेहसम्बन्धः; स च कर्ममूलः, स कथं सुखादि-सङ्गादित्यत्राह **ज्ञानसुखयो**रिति । ननु वैदिकसाधनानुष्ठानं योनिप्राप्त्यैव भवतीति युक्तम् , लौकिकं तु साधनं दृष्टफल-मात्राय स्याद्वा न वा ? न तु जन्मान्तरादिप्रसाधकम् । प्रवृत्ति-दृष्टान्ततयाऽपि लौकिकग्रहणं मन्दप्रयोजनम्। **अत्र ब्रूमः**- अत्र लौकिकशब्देन स्मार्तग्रहणम् , अथवा निषिद्धग्रहणम् ; हिंसादेः सुखसाधनत्वं हि लौकिकम् ; अलौकिक्या तु शक्त्या पापिष्ठ-जन्मादिप्रसाधकत्वम्— इति । रजसि च वक्ष्यति ‘ ताश्च क्रियाः पुण्यपापरूपाः ’ [पृ. ११८ पं. ३५] इति। यदि सत्त्वमेव प्रकाशं सुखं च स्वयं जनयति, ततः सिद्धयोस्तयोः प्रवृत्तिहेतुः सङ्गो न जायेतेत्यत्राह **ज्ञानसुखे**ति । बीजाङ्कुरन्यायेनोत्तर-सङ्गतद्विषययोः सत्त्वं साधकमित्यर्थः । ‘ न काङ्क्षे विजयम् ’ [ १।३१ ] इत्यादिवदतस्तव न सङ्ग इत्यभिप्रायेणानघ-शब्दः ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ६ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.— तत्रैतेषु सत्त्वादिगुणेषु सत्त्वस्य लक्षणमुच्यते— तत्रेति । निर्मलत्वात्स्फटिक-मणिरिव प्रकाशकम् । अनामयं निरुपद्रवमित्यर्थः । सुखसङ्गेन सुखेच्छया ॥ ६ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्वप्रकारं चाह— तत्रेति। तत्र तेषां गुणानां मध्ये सत्त्वं प्रकाशकं चैतन्यस्यावरणाभिभवरूपप्रकाशजनकम्। कुतः? निर्मलत्वात् स्फटिकस्येव स्वच्छत्वात्, चिद्बिम्बग्रहणयोग्यत्वादिति यावत्। तथा अनामयं आमयस्य दुःखस्य विरोधि, सुखाभिव्यञ्जकमित्यर्थः। एतादृशं सत्त्वं सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च स्वकार्यभूतसुखज्ञानाभ्यां यः सङ्गस्तेन क्षेत्रज्ञं बध्नाति 'अहं सुखी ज्ञानी च' इति मनोधर्मांस्तदभिमानिनि क्षेत्रज्ञे संयोजयतीत्यर्थः॥ ६॥

९ ध० त० दी०— तत्र क्रमतो लक्षणं गुणानां बन्धनप्रकारं च वदन् पूर्वं सत्त्वस्य तदाह— तत्रेति। सत्त्वं प्राकृतत्वात् सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च लौकिकेन बध्नाति, पुरुषस्य सुखे ज्ञाने च सङ्गं जनयतीत्यर्थः। ज्ञानसुखयोः सङ्गे जाते तत्साधनेषु लौकिकवैदिकेषु पुरुषप्रवृत्तिः, ततश्च तत्फलानुभवसाधनभूतासु योनिषु जायते इति सत्त्वं मर्यादया तद्द्वारेण पुरुषं बध्नाति। एवमेवान्यत्र। लक्षणं तु निर्मलत्वादिति मूले उक्तमेव, एवमन्ययोरपि लक्षणं स्पष्टमेव मूले। तथा च सत्त्वं प्राकृतं सोऽहं सुखी शब्दादिज्ञानी चेति ज्ञानसुखसङ्गजनेन (?) बन्धकमित्युक्तं भवति॥ ६॥

१० पु. अ. त.— अथ त्रयाणां बन्धनरीतिं सलक्षणामाह— तत्रेति। तत्र गुणत्रये सत्त्वं निर्मलत्वाद्भगवदिच्छात्मकपदार्थस्थितिहेतुत्वेन शुद्धत्वात् प्रकाशकं भगवद्रमणात्मकसर्वस्वरूपप्रकटीकरणसमर्थम्; अनामयं भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकरागादिदोषरहितम्, अतः सुखसङ्गेन भगवतः साधनात्मकसेवनसुखजनकदेहाद्युत्तमत्वसङ्गेन बध्नाति। च पुनः ज्ञानसङ्गेन ज्ञानोत्पत्तिसाधकत्वेन बध्नाति। अनघ! इतिसम्बोधनेन मत्कृपाविशिष्टत्वात्तव बन्धाभाव इति ज्ञापितम्॥ ६॥

११ नी० भा० दी०— तत्र कः केन सङ्गेन बध्नाति? इत्युच्यते— तत्रेति। तत्र तेषु गुणेषु सत्त्वं निर्मलत्वाद्दुःखमोहाख्यमलराहित्यात् प्रकाशकमालोकवत्सर्वार्थविद्योतकम्। यतोऽनामयं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं, तत्सुखसङ्गेन ज्ञानसङ्गेन च नरमविद्यया तिरोहितस्वरूपज्ञानानन्दं 'अहं सुख्यहं ज्ञानी' इत्यभिमानेनान्तःकरणवृत्तिधर्मयोः सुखज्ञानयोरात्मन्यारोपेण बध्नाति। हे अनघ अव्यसनिन्!॥ ६॥

## रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
## तन्निबध्नाति कौन्तेय! कर्मसङ्गेन देहिनम्॥ ७॥

१ शां. भा.— रजो रागात्मकमिति। रजो रागात्मकं– रञ्जनाद्रागो गैरिकादिवद्रागात्मकं विद्धि जानीहि। तृष्णासङ्गसमुद्भवं तृष्णाऽप्राप्ताभिलाषः, आसङ्गः प्राप्ते विषये मनसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः, तृष्णासङ्गयोः समुद्भवं तृष्णासङ्गसमुद्भवं, तन्निबध्नाति तद्रजः निबध्नाति कौन्तेय! कर्मसङ्गेन दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सञ्जनं तत्परता कर्मसङ्गस्तेन निबध्नाति रजो देहिनम्॥ ७॥

२ आ. शां. व्या.— रजस्तर्हि किंलक्षणं? कथं वा पुरुषं निबध्नाति? इत्याशङ्क्याऽऽह— रज इति। रज्यते संसृज्यतेऽनेन पुरुषो दृश्यैरिति रागोऽसावात्माऽस्येति रागात्मकं रजो जानीहीत्याह— रञ्जनादिति। समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवः, तृष्णा चाऽऽसङ्गश्च तृष्णासङ्गौ, तयोः समुद्भवस्तमिति विग्रहं गृहीत्वा कार्यद्वारा रजो विवक्षुस्तृष्णासङ्गयोरर्थभेदमाह— तृष्णेत्यादिना। रजसो लक्षणमुक्त्वा निबन्धृत्वप्रकारमाह— तद्रज इति। कर्मसङ्गं विभजते— दृष्टेति। अकर्तारमेव पुरुषं करोमीत्यभिमानेन प्रवर्तयतीत्यर्थः॥ ७॥

३ रा. भा.— रजो रागात्मकं रागहेतुभूतम्। रागो योषित्पुरुषयोरन्योन्यस्पृहा। तृष्णासङ्गसमुद्भवं तृष्णासङ्गयोरुद्भवस्थानं, तृष्णासङ्गहेतुभूतमित्यर्थः। तृष्णा शब्दादिसर्वविषयस्पृहा, सङ्गः पुत्रमित्रादिषु सम्बन्धिषु संश्लेषस्पृहा, तथा देहिनं कर्मसु क्रियासु स्पृहाजननद्वारेण निबध्नाति; क्रियासु हि स्पृहया याः क्रिया आरभते देही, ताश्च पुण्यपापरूपा इति तत्फलानुभवसाधनभूतासु योनिषु जन्महेतवो भवन्ति; अतः कर्मसङ्गद्वारेण रजो देहिनं निबध्नाति; तदेवं रजो रागतृष्णासङ्गहेतुः कर्मसङ्गहेतुश्चेत्युक्तं भवति॥ ७॥

४ वे. ता. चं.— ' रजसो लोभ एव च ' [ १४।१७ ] इति वक्ष्यते; अतः ' प्रकाशकं ' ' मोहनाम् ' इति पूर्वोत्तरवत् ' रागात्मकम् ' इत्यत्रापि रागहेतुत्वं विवक्षितमित्याह रागहेतुभूतमिति । कारणे कार्योपचारः । रज्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या वा रागहेतुत्वं रागशब्देन विवक्षितमिति भावः । सहप्रयुक्ततृष्णादिशब्दपुनरुक्तिपरिहाराय रागशब्दं प्रयोगप्राचुर्यानुसारेण विषयविशेषे नियच्छति— योषित्पुरुषयोरन्योन्यस्पृहेति । तृष्णासङ्गाभ्यां रजस उत्पत्तिकथनं मन्दम्; रजोगुणात्तयोरुत्पत्त्यभिधानं तु बन्धावान्तरव्यापारज्ञापनेन सार्थकमित्यभिप्रायेणाह तृष्णासङ्गयोरुद्भवस्थानमिति । आत्मधर्मभूतयोस्तयोरात्मैव ह्युद्भवस्थानमित्यत्राह तृष्णासङ्गहेतुभूतमित्यर्थ इति । ' क्षुत्तृष्णोपशमम् ' इत्यादिप्रयोगात्पिपासामात्रशङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह तृष्णाशब्दादिविषयेति । सांस्पर्शिकगुणपञ्चकग्रहणमिदम् । पुत्रमित्रादिष्वित्याभिमानिकपरम् , विषयतृष्णा विषयवैतृष्ण्यमित्यादिप्रयोगात् । तृष्णा सांस्पर्शिकसमस्तविषया; सङ्गस्तु परिशेषात् प्रयोगानुसाराच्च आभिमानिकविषय इति भावः । रागादिहेतुकस्तद्विषयोपायसङ्गोऽत्र कर्मसङ्ग इत्याह तथेति । ननु रागतृष्णासङ्गा अप्यन्यत्र सुखविशेषसङ्गा एव व्याख्याताः । ज्ञानसुखयोः सङ्गे जाते तत्साधनेषु प्रवृत्तिवचनात्सत्त्वेनापि क्रियासङ्गो जन्यते, तत्कथं विवेकः ? इत्थं सत्त्वगुणः सुखं प्रधानीकृत्य तदर्थतयाऽन्यत्र सञ्जयति; ' प्रयोजनेषु सज्जन्ते न विशेषेषु पण्डिताः ' [ ] इतिवत् । रजोगुणस्तु तत्तद्वस्तूनि क्रियास्वरूपं च प्रधानीकृत्य सुखमल्पं प्रभूतं वेत्यत्रोदासीनो भवति । राजदाराभिलाषदुष्पुत्रादिसंरक्षणवृथाचेष्टादिष्वेतद्व्यक्तम् - इति । कर्मसङ्गस्य कथं बन्धद्वारत्वं ? इत्यत्राह क्रियासु हीति । कर्मसङ्गवद्रागादेरपि बन्धद्वारत्वज्ञापनाय पिण्डितमाह तदेवमिति । तत् रागादीनां बन्धे पर्यवसानेन साफल्यादित्यर्थः । एवं सत्त्वतमोव्यावृत्तस्वभावेनोक्तप्रकारेणेत्यर्थः ॥ ७ ॥

५ आ. मा. भा.— रज इति । तृष्णासङ्गयोः समुद्भवं तयोः कारणम् ॥ ७ ॥

६ ज. प्र. दी.— अत्र ' रजस्तृष्णासङ्गसमुद्भवं ' इत्यस्य ' तृष्णासङ्गाभ्यां समुद्भवो यस्य ' इत्यपव्याख्यानमिति भावेन विग्रहप्रदर्शनपूर्वकमर्थमाह— तृष्णेति । समुद्भवत्यस्मादिति समुद्भवं कारणम् । अन्यथा ' प्रकृतिसम्भवाः ' (१४।५) इत्युक्तविरोधात् समुद्भवशब्देनाविर्भावो विवक्षित इति चेत् तथापि गुणकार्यकथनप्रकरणविरोधात् ॥ ७ ॥

७ ह. पै. भा.— रज इति । रजो रागात्मकमिच्छात्मकम् । तृष्णाऽप्राप्ताभिलाषः । आसङ्गः प्राप्तविषये मनसः प्रीतिः; तृष्णासङ्गसमुद्भवं तृष्णासङ्गकारणम् । कर्मसङ्गेन कर्मपरतया ॥ ७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथ रजसो लक्षणं बन्धकत्वप्रकारं चाह— रज इति । रज्यते विषयेषु पुरुषोऽनेनेति रागः कामः, स एवात्मा स्वरूपं यस्य धर्मधर्मिणोस्तादात्म्यात्तद्रागात्मकं रजो विद्धि । अत एव तृष्णासङ्गसमुद्भवम् , अप्राप्ताभिलाषस्तृष्णा, प्राप्ते विशेषप्रीतिरासङ्गः, तयोस्तृष्णासङ्गयोः सम्भवो यस्मात्तत्तथोक्तम् । तच्च रजः कर्मसङ्गेन कर्मसु दृष्टादृष्टार्थेषु ' अहमिदं करोम्येतत्फलं भोक्ष्ये ' इत्यभिनिवेशः सङ्गः, तेन देहिनं वस्तुतोऽकर्तारमेव सन्तं निबध्नाति ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— रजसोऽप्याह— रज इति । अनुरागात्मकं ' रञ्ज रागे ' इति धातोः स्पष्टमेव । कर्मसु रञ्जनाद्बन्धकम् ॥ ७ ॥

१० पु. अ. त.— सत्त्वलक्षणमुक्त्वा रजोलक्षणमाह— रजो रागात्मकमिति । रजः रजोगुणं रागात्मकं अनुरञ्जनात्मकं नानापदार्थोत्पादनेन भगवद्रञ्जनात्मकं विद्धि । तत् तृष्णासङ्गसमुद्भवं तृष्णा भगवदर्थोत्पन्नवस्तुमात्राज्ञानेन स्वाभिलाषः, तत्सङ्गेन समुद्भव उत्पत्तिर्यस्य तादृशं देहिनं, न तु भगवदर्थकज्ञानात्मकम् । कर्मसङ्गेन तत्स्वाभिलषितप्राप्त्यर्थं क्रियासङ्गेन बध्नाति लौकिकासक्तिं जनयतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— रजो गुणो रागो रञ्जना तदात्मकं विद्धि । तृष्णा प्राप्यमाणेष्वप्यर्थेष्वतृप्तिः, सङ्गः प्राप्ते विषये मनसः प्रीतिलक्षणः संश्लेषः, तयोः समुद्भवं निदानभूतम् । तद्रजो हे कौन्तेय ! कर्मसङ्गेन दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गस्तत्परता तेन निबध्नाति देहिनं देहाभिमानिनम् ॥ ७ ॥

## तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
## प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥ ८ ॥

१ शां. भा.— तमस्त्विति । तमस्तृतीयो गुणः, अज्ञानजमज्ञानाज्जातमज्ञानजं विद्धि; मोहनं मोहकरमविवेककरं सर्वदेहिनां सर्वेषां देहवतां प्रमादालस्यनिद्राभिः प्रमादश्चाऽऽलस्यं च निद्रा च प्रमादालस्यनिद्राः, ताभिस्तत्तमो निबध्नाति भारत ! ॥ ८ ॥

२ आ. शां. व्या.— तमस्तर्हि किंलक्षणं ? कथं वा पुरुषं निबध्नाति ? तत्राऽऽह— **तमस्त्विति** । गुणानां प्रकृतिसम्भवत्वाविशेषेऽपि तमसोऽज्ञानजत्वविशेषणं तद्विपरीतस्वभावानापत्तेरिति मत्वाऽऽह— **अज्ञानादिति** । मुह्यत्यनेनेति मोहनं विवेकप्रतिबन्धकमिति कार्यद्वारा तमो निर्दिशति— **मोहनमित्यादिना** । लक्षणमुक्त्वा तमसो बन्धनकरत्वं दर्शयति— **प्रमादेति** । कार्यान्तरासक्ततया चिकीर्षितस्य कर्तव्यस्याकरणं प्रमादः, निरीहतयोत्साहप्रतिबन्धस्त्वालस्यं, स्वापो निद्रा, ताभिरात्मानमविकारमेव तमोऽपि विकारयतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.— ज्ञानादन्यदिहाज्ञानमभिप्रेतम् ; ज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावबोधः, तस्मादन्यत् तद्विपर्ययज्ञानम् । तमस्तु वस्तुयाथात्म्यविपरीतविषयज्ञानजम्, मोहनं सर्वदेहिनां;मोहो विपर्ययज्ञानम्,विपर्ययज्ञानहेतुरित्यर्थः । तत् तमः प्रमादालस्यनिद्राहेतुतया तद्द्वारेण देहिनं निबध्नाति । प्रमादः कर्तव्यात्कर्मणोऽन्यत्र प्रवृत्तिहेतुभूतमनवधानम्, आलस्यं कर्मस्वनारम्भस्वभावः, स्तब्धतेति यावत् । पुरुषस्येन्द्रियप्रवर्तनश्रान्त्या सर्वेन्द्रियप्रवर्तनोपरतिर्निद्राः; तत्र बाह्येन्द्रियप्रवर्तनोपरमः स्वप्नः; मनसोऽप्युपरतिः सुषुप्तिः ॥ ८ ॥**

४ वे. ता. चं.– अत्यन्तपरिहरणीयत्वलक्षणवैषम्यद्योतनाय **तमस्त्विति** तुशब्दः । अज्ञानशब्दस्य पुण्यपापरूपे कर्मणि ज्ञानाभावादिषु च प्रयोगादिह तद्व्यावृत्तं मोहजनकत्वानुरूपं कारणविशेषमाह **ज्ञानादन्यदिति** । सर्वज्ञानव्यतिरेकव्युदासायाह **ज्ञानं वस्तुयाथात्म्यावबोध** इति । विपर्ययज्ञानस्य तमोजनकत्वं पापानुष्ठानादिद्वारा । तमःकार्यतया वक्ष्यमाणं धर्मवैपरीत्यज्ञानमिह मोहशब्देन विवक्षितमित्याह **मोहो विपर्ययज्ञानमिति** । प्रत्ययस्यात्र हेतुमात्रपरतामाह **विपर्ययज्ञानहेतुरित्यर्थ** इति । **अनवधानमित्येतावत्प्रमादशब्दार्थः**। **कर्तव्यादित्यादिना** प्रमादस्य बन्धहेतुत्वनिर्वहणम्; अकर्तव्ये हि प्रवृत्तिः पापिष्ठजन्मादिहेतुर्भवति, एवं कर्तव्यकर्मस्वनारम्भोऽपि; स्मरन्ति हि ‘ अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन् । प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ’ [ मनुः ११।४४ ] इति । आलस्यशब्दस्यात्र सप्रयोजनेऽपि विषये प्रवृत्तिविरोधिस्वभावपरतामाह— **स्तब्धतेति** । सर्वदा तमसि वर्तमानेऽपि कदाचिन्निद्रा कुतः ? इत्यत्राह **इन्द्रियप्रवर्तनश्रान्त्येति** । स्वप्नस्यानुक्तिशङ्कापरिहाराय स्वप्नसुषुप्त्योर्निद्राभेदत्वं दर्शयति **तत्रेति** । निद्राया बन्धकत्वं चोदितानुष्ठानविरुद्धादकालकरणात्काले चाकरणात्पापिष्ठस्वप्नद्वारा च द्रष्टव्यम् । उक्तं च—‘ युक्तस्वप्नावबोधस्य ’ [ ६।१७ ] इति ॥ ८ ॥

**५ आ. मा. भा.— अज्ञानं जायते यतस्तदज्ञानजम् । ‘ प्रमादमोहौ तमसः ’ [ १४।१७ ] इति वाक्यशेषात् ॥ ८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ‘तमस्त्वज्ञानजं’ इत्यस्य ‘अज्ञानाज्जातं’ ( शं. ) इत्युपव्याख्यां प्रत्याख्यातुमाह— **अज्ञानमिति** । एतच्च ‘अन्येष्वपि दृश्यते’ [ अष्टा. ३ । २ । १०१ ] इति दृशिग्रहणसामर्थ्याल्लभ्यते । कुतः प्रतीत एवार्थो न ? इत्यत आह— **प्रमादेति** । वाक्यशेषेऽज्ञानस्य तमःकार्यत्ववचनादित्यर्थः ॥ ८ ॥

**७ ह. पै. भा.— तम इति । अज्ञानजमज्ञानजातम् । मोहनं मोहकारणं, अविवेककारणमित्यर्थः । प्रमादालस्यनिद्राभिर्देहिनं तमो निबध्नाति ॥ ८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तमसो लक्षणं बन्धकत्वं चाह— **तम इति** । तमस्तु अज्ञानजं अज्ञानादावरणशक्तिप्रधानाज्जातं विद्धि, अतएव सर्वेषां देहिनां मोहनमविवेकजनकम् । तच्च तमः प्रमादालस्यनिद्राभिर्देहिनं निबध्नाति । तत्र प्रमादोऽनवधानम् , आलस्यमनुद्यमः स्तब्धतापरपर्यायः, निद्रा सर्वेन्द्रियप्रवृत्त्युपरतिस्तमसोऽवस्थाविशेषः ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— तमसश्चाह– तम इति । विरुद्धज्ञानजन्यं, अविद्याजन्यमिति वा ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— तमसो लक्षणं सबन्धकमाह— **तमस्त्विति** । तमः पूर्वोक्तभगवल्लीलायज्ञानाज्जातं प्रलयात्मकत्वात् भगवद्विस्मारणात्मकं सर्वदेहिनां मोहनं भ्रमजनकं विद्धि । प्रमादालस्यनिद्राभिर्भगवत्सेवाप्रतिबन्धात्मकत्रयरूपाभिरन्यथाज्ञानेन तं बध्नाति । प्रमादो भगवदनवधानता । आलस्यं भगवत्सेवानुद्यमः । निद्रा चित्तस्य ज्ञाननाशः ॥ ८ ॥

**११ नी० भा० दी०— तमोगुणस्तु पूर्वाभ्यां विलक्षणः, अज्ञानं मायाया आवरणशक्तिस्तत उद्भूतमज्ञानजं विद्धि । अतः सर्वेषां देहिनां मोहनं भ्रान्तिहेतुः । प्रमादोऽनवहितत्वं, स च सत्त्वकार्यप्रकाशविरोधी । आलस्यं जडता, तच्च रजःकार्यप्रवृत्तिविरोधि । उभयकार्यनिरोधिनी तमोगुणालम्बना वृत्तिर्निद्रा, ताभिस्तत्तमो नितरां बध्नाति हे भारत ! देहिनमित्यनुवर्तते ॥ ८ ॥**

सत्त्वादिगुणानां स्वाभाविकानि कार्याणि ।

**सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत ! ।**
**ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत ॥ ९ ॥**

१ शां. भा.— पुनर्गुणानां व्यापारः सङ्क्षेपत उच्यते— सत्त्वमिति । सत्त्वं सुखे सञ्जयति संश्लेषयति, रजः कर्मणि हे भारत ! सञ्जयतीत्यनुवर्तते । ज्ञानं सत्त्वकृतं विवेकमावृत्याऽऽच्छाद्य तु तमः स्वेनाऽऽवरणात्मना प्रमादे सञ्जयत्युत । प्रमादो नाम प्राप्तकर्तव्याकरणम् ॥ ९ ॥

२ आ. शां. व्या.— उक्तानां मध्ये कस्मिन्कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्षः ? तत्राऽऽह— **पुनरिति** । सुखे साध्ये विषये समुत्कृष्यते सत्त्वमित्याह— **सत्त्वमिति** । सञ्जयतीत्यस्यार्थमाह— **संश्लेषयतीति** । कर्मणि साध्ये रजः समुत्कृष्यत इत्याह— **रज** इति । प्रमादे प्राधान्यं तमसो दर्शयति— **ज्ञानमिति** ॥ ९ ॥

३ रा. भा.— सत्त्वादीनां बन्धद्वारभूतेषु प्रधानान्याह— सत्त्वमिति । सत्त्वं सुखसङ्गप्रधानम् । रजः कर्मसङ्गप्रधानम् । तमस्तु वस्तुयाथात्म्यज्ञानमावृत्य विपरीतज्ञानहेतुतया कर्तव्यविपरीतप्रवृत्तिसङ्गप्रधानम् ॥ ९ ॥

४ वे. ता. चं.— 'सत्त्वं सुखे' इति श्लोकस्य अर्थविभागेन पुनरुक्ततां परिहरति— **सत्त्वादीनामिति** । **सत्त्वं सुखसङ्गप्रधानमिति**; ज्ञानसङ्गोऽपि सुखार्थ इति भावः । **रजः कर्मसङ्गप्रधानमिति** रागतृष्णादयोऽपि हि कर्मणि विश्राम्यन्तीति भावः । निश्शेषज्ञानावरणे सुषुप्त्यादिरूपत्वात् प्रमादाख्यदशा न स्यादित्यत्राह— **वस्तुयाथात्म्यज्ञानमावृत्येति** ॥ ९ ॥

५ आ. मा. भा.— सत्त्वमिति ॥ ९ ॥

६ ज. प्र. दी.— सत्त्वमिति ॥ ९ ॥

७ ह्. पै. भा.— सत्त्वमिति । कर्माणि क्रियायाम् । ज्ञानमावृत्य ज्ञानमाच्छाद्य तमः प्रमादे प्राप्ताप्रतिपत्तौ ॥ ९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एतेषां मध्ये कस्मिन्कार्ये कस्य गुणस्योत्कर्षः ? इत्यत आह— **सत्त्वमिति** । सत्त्वमुत्कृष्टं सत्सुखे सञ्जयति देहिनं संश्लेषयति । 'षञ्ज सङ्गे' [ धा. पा. १।१०१२ ] इति धातुः । दुःखकारणे सत्यपि सुखाभिमुखमेव देहिनं करोतीत्यर्थः । एवं रज उत्कृष्टं सत्सुखादिकारणे सत्यपि कर्मणि सञ्जयतीत्यनुषङ्गः । तमस्तूत्कृष्टं प्रमाणबलेनोत्पद्यमानमपि सत्त्वकार्यं ज्ञानमावृत्याच्छाद्य प्रमादे सञ्जयति प्राप्तज्ञायमानताकस्यार्थस्याज्ञानं जनयतीत्यर्थः । उतापि । प्राप्तकर्तव्यताकस्याप्यकरणरूपे आलस्ये तामस्यां च निद्रायां सञ्जयति ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— सत्त्वादीनां स्वभावमाह— सत्त्वमिति । सुखादिसञ्जननस्वभावमित्यर्थः । एवमन्यदपि ज्ञेयं; तत्र हेतुमाह— ज्ञानमिति । ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— एवं सत्त्वादीनां स्वरूपमुक्त्वा तेषां स्वकार्यकरणातिशयत्वमाह— **सत्त्वमिति** । सत्त्वं सत्त्वगुणः सुखे भगवज्ज्ञानात्मके सञ्जयति संयोजयति । एवमेव रजः कर्मणि पूर्वोक्ते संयोजयति । तथा तमो भगवदीयसङ्गादिना जायमानं ज्ञानं निद्रालस्यादिनाऽऽवृत्य प्रमादे अनवधानतायां संयोजयति । यद्वा सुखे उत्पादिते सत्त्वं सञ्जयति सर्वोत्कर्षेण तिष्ठति, तथैव कर्मणि रजः, प्रमादे तमः । **अत्रायं भावः**— भगवता त्रयोऽपि गुणा एतद्वैचित्र्यार्थमेवोत्पादितास्तेषां तत्कृतकार्यदर्शनेन सन्तुष्यति प्रभुस्तेनैव तदुत्कर्षः सिद्ध्यतीति ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— सत्त्वमुत्कृष्टं सत् सुखे दुःखकारणमभिभूय सञ्जयति संश्लेषं जनयति । एवमुत्तरत्रापि । ज्ञानं प्रकाशमावृत्य । प्रमादे अवश्यकर्तव्यस्याकरणे ॥ ९ ॥

सत्त्वादिगुणत्रयाणां वृद्धिकार्ययोः कालः ।

**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत !।**
**रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥**

**१ शां. भा.**— उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणाः ? इत्युच्यते— **रज** इति । रजस्तमश्चोभावप्यभिभूय सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा, तदा लब्धात्मकं सत्त्वं स्वकार्यं ज्ञानसुखाद्यारभते । हे भारत ! तथा रजोगुणः सत्त्वं तमश्चैवोभावप्यभिभूय वर्धते यदा, तदा कर्म तृष्णादि स्वकार्यमारभते । तमआख्यो गुणः सत्त्वं रजश्चोभावप्यभिभूय तथैव वर्धते यदा, तदा ज्ञानावरणादि स्वकार्यमारभते ॥ १० ॥

२ आ. शां. व्या.— इतरेतराविरोधेन वा सत्त्वादयो गुणा युगपदुत्कृष्यन्ते ? विरोधेन वा ? क्रमेण वा ? इति सन्देहात्पृच्छति— **उक्तमिति** । सत्त्वोत्कर्षार्थिनामितराभिभवार्थं क्रमपक्षमाश्रित्योत्तरमाह— **उच्यत** इति । सत्त्वाभिवृद्धिमेव विवृणोति— **तदेति** । रजस्तमसोस्तिरोधानदशायामिति यावत् । रजसो वृद्धिप्रकारं तत्कार्यं च कथयति— **तथेति** । तमसोऽपि विवृद्धिं तत्कार्यं च निर्दिशति— **तम** इति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.**— देहाकारपरिणतायाः प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिनः सत्त्वादयो गुणाः, ते च स्वरूपानुबन्धित्वेन सर्वदा सर्वे वर्तन्त इति परस्परविरुद्धं कार्यं कथं जनयन्ति ? इत्यत्राह— **रज** इति । यद्यपि सत्त्वादयस्त्रयः प्रकृतिसंसृष्टात्मस्वरूपानुबन्धिनः, तथापि प्राचीनकर्मवशाद्देहाप्यायनभूताहारवैषम्याच्च सत्त्वादयः परस्परसमुद्भवाभिभवरूपेण वर्तन्ते । रजस्तमसी कदाचिदभिभूय सत्त्वमुद्रिक्तं वर्तते । तथा तमस्सत्त्वे अभिभूय रजः कदाचित्; कदाचिच्च रजस्सत्त्वे अभिभूय तमः ॥ १० ॥

**४ वे. ता. चं.**— अनन्तरग्रन्थस्यासङ्गतिशङ्कां परिहरति— **देहाकारेति** । परस्परविरुद्धं यथार्थायथार्थज्ञानसुखदुःखसङ्गादिरूपमित्यर्थः । उद्भवाभिभवानियमप्रसङ्गपरिहाराय भगवदनुग्रहनिग्रहहेतूनां कर्मणां विषमविपाकसमयत्वात्तदनुरूपोद्भवाभिभवप्रवाह उपपद्यत इत्याह **प्राचीनकर्मवशादिति** । यथा वातपित्तकफानां तत्तत्प्रचुरैर्द्रव्यैरुपचयं 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' [ अष्टांगह. सू. स्था. १।१५ ] इत्यायुर्वेदविदो वदन्ति, तथाऽत्रापि वक्ष्यमाणसात्त्विकाद्याहारभेदादित्याह— **देहाप्यायनभूताहारवैषम्याच्चेति** । "ततो देवा अभवन् परासुराः" इत्यादि-(श्रुति-)ष्विव भवतिरत्रोद्भवविषय इत्याह **उद्रिक्तं वर्तत** इति । रजस्तमसोरुद्भूतयोः परिहारार्थमयमुद्भवाभिभवोपदेशः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १० ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.**— अभिभूय ( न्यग्भावयित्वा ) अन्यद्भाव्यं भवति ॥ १० ॥

८ वें. ब्र. गि.— अत्र हेतुमाह— **रज** इति । रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवति अदृष्टवशादुद्भवति उत्कर्षं गच्छति, अतः स्वकार्ये सुखादौ सञ्जयति । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति, अतः स्वकार्ये कर्मणि सञ्जयति । एवं तमोऽपि सत्त्वरजोगुणावभिभूयोद्भवति, अतः स्वकार्ये प्रमादालस्यादौ सञ्जयति ॥ १० ॥

९ व० त० दी०— रजस्तमश्चेति । गुणद्वयमभिभूय सत्त्वं भवत्यदृष्टवशात् । एवमन्यदपि ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— ननु सुखदुःखाद्यदृष्टसाधनत्वे सति स्वकार्यकरणमन्यथाभावकत्वं कथं ? इत्याशङ्क्य तेषां तथा सामर्थ्यं मया दत्तमस्तीति ज्ञापनाय सिद्धवत्कारेणानुवदति— **रजस्तम** इति । रजस्तमः दुःखाज्ञानात्मकगुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवतीत्यर्थः । भारत ! इतिसम्बोधनेन यथा मदिच्छया सर्वपराभवेन त्वं जयसि तथेत्यर्थो द्योतितः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयाभिभवेन भवति । एवकारेण तमसो मोहकसामर्थ्याधिक्येऽपि तथाकर्तृत्वं व्यज्यते । तथा तमः सत्त्वं रजश्चाभिभूय भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— सत्त्वादयः कदा स्वस्वकार्ये प्रभवन्ति ? इत्याशङ्क्येतरेतरयोरभिभवे सतीत्याह— **रज** इति । रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वं भवति वर्धते । एवं रजोऽपि सत्त्वतमसी अभिभूय भवति । तथा तमोऽपि सत्त्वरजसी अभिभूय भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

समुद्भूतगुणानां ज्ञानचिह्नम् ।

**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।**
**ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— यदा यो गुण उद्भूतो भवति तदा तस्य किं लिङ्गं ? इत्युच्यते— **सर्वेति** । सर्वद्वारेष्वात्मन उपलब्धिद्वाराणि श्रोत्रादीनि सर्वाणि करणानि तेषु सर्वद्वारेष्वन्तःकरणस्य बुद्धेर्वृत्तिः प्रकाशो देहेऽस्मिन्नुपजायते, तदेव ज्ञानम् । यदैवं प्रकाशो ज्ञानाख्य उपजायते तदा ज्ञानप्रकाशेन लिङ्गेन विद्याद्विवृद्धमुद्भूतं सत्त्वमित्युतापि ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— उत्तरश्लोकत्रयस्याऽऽकाङ्क्षां दर्शयति— **यदेति** । सत्त्वोद्भवलिङ्गदर्शनार्थमनन्तरं श्लोकमुत्थापयति— **उच्यत** इति । सर्वद्वारेष्वित्यादिसप्तमी निमित्ते नेतव्या । उतशब्दोऽपिशब्दपर्यायोऽप्यतिशयार्थः ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— तच्च कार्योपलब्ध्यैवावगच्छेदित्याह— **सर्वद्वारेष्विति** । सर्वेषु चक्षुरादिज्ञानद्वारेषु यदा वस्तुयाथात्म्यप्रकाशे ज्ञानमुपजायते, तदा तस्मिन् देहे सत्त्वं प्रवृद्धमिति विद्यात् ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.**— ते च कुतो ज्ञाते चिकित्सितव्ये? इत्यत्र 'सर्वद्वारेषु' इत्यादिश्लोकत्रयमवतारयति— **तच्चेति** । नात्र द्वारशब्दो नवद्वारविषयः; नाप्येकादशेन्द्रियविषयः, तेषां सर्वेषां ज्ञानेनानन्वयात्; अतश्चैतन्यप्रसरद्वारभूतमनष्षष्ठज्ञानेन्द्रियवर्गपर इत्याह— **चक्षुरादिज्ञानद्वारेष्विति** । प्रकाशशब्दोऽत्र न प्रथमान्तः, ज्ञानशब्देन पुनरुक्तिप्रसङ्गात्, प्रकाश इत्यस्य व्याख्यानं ज्ञानमितीति (शं.) कैश्चिदुक्तस्य क्लिष्टत्वात्। सप्तम्यन्तत्वे तु ज्ञानफलभूतव्यवहारानुगुण्यविषयतया वा, प्रकाश्यस्वरूपादिपरतया वा, ज्ञानशब्देन मनोवृत्तिविवक्षया वा, अन्वय उपपद्यत इत्यभिप्रायेणाह— **वस्तुयाथात्म्यप्रकाशे ज्ञानमिति** । एतेन 'प्रकाश आलोकस्थानीयः, ज्ञानं चक्षुस्स्थानीयम्' इति वदन्तो निरस्ताः। एकस्यैव योगिनः सौभर्यादेर्युगपत्परिगृहीतानेकदेहस्य देहभेदेन गुणभेदवृद्धिसम्भवज्ञापनार्थं युगपन्महाप्रलयादिवत्सर्वसाधारण्यपरिहारार्थं च 'अस्मिन् देहे' इति विशेषितमित्याह— **तदा तस्मिन् देहे सत्त्वं प्रवृद्धमिति** ॥ ११ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ११ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ११ ॥

**७ ह. पै. भा.**— सर्वद्वारेषु सर्वेन्द्रियेषु । प्रकाशो ज्ञानं प्रकाशशब्दवाच्यम् ॥ ११ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— इदानीमुद्भूतानां गुणानां क्रमाल्लिङ्गान्याह त्रिभिः— **सर्वद्वारेष्विति** । अस्मिन्नात्मनो भोगायतने देहे सर्वेष्वपि द्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा शब्दादिज्ञानात्मकः प्रकाश उपजायते, तदा तेन प्रकाशलिङ्गेन सत्त्वं विवृद्धमुद्भूतमिति विद्याज्जानीयात् । उतशब्दात्सुखादिलिङ्गेनापि जानीयादित्युक्तं भवति ॥ ११ ॥

**९ व० त० दी०**— एतच्च कार्योपलब्ध्यै वाऽवगच्छेदित्याह— सर्वद्वारेष्विति । श्रोत्रादिषु अस्मिन् भोगायतने शब्दादिज्ञानात्मकः प्रकाश उपपद्यते, ज्ञानं च सुखं तदा सत्त्वं विवृद्धमिति जानीयात् । उतशब्दश्चार्थे लिङ्गेनेह विजानीयादित्युक्तम् ॥ ११ ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु तदभिभवेन तत्तदुत्पत्तिः कथं न ज्ञातव्या ? इत्यत आह— **सर्वद्वारेष्विति** । अस्मिन् देहे साधनात्मके सर्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा भगवत्सम्बन्धित्वेन प्रकाशो दर्शनमुपजायते, अथवा ज्ञानं, तदा सत्त्वं विवृद्धं विशेषेण भगवत्सम्बन्धित्वेन विवृद्धं विद्यात् । **अयमर्थः**— श्रोत्रद्वारेण भगवत्कथाश्रवणात्मकः, वचनद्वारेण च कीर्तनात्मकः, प्रसादग्रहणात्मकः, नासाद्वारेण च गन्धादिग्रहणम् । एवं सर्वत्रेति भावः ॥ ११ ॥

**११ नी० भा० दी०**— तत्तद्गुणोद्भवलिङ्गान्याह— त्रिभिः सर्वेति । अस्मिन्देहे यदा सर्वेषु द्वारेषु बाह्याभ्यन्तरविषयोपलब्धिसाधनेषु बाह्याभ्यन्तरकरणेषु प्रकाशः स्वस्वविषयावरणविरोधी परिणामविशेषो जायते, तेन च ज्ञानं शब्दादिविषयस्य याथात्म्येन प्रकाशो यदा जायते तदा सत्त्वं विवृद्धमिति विद्याज्जानीयात् । उत अपि, सुखादिलिङ्गेनापि जानीयादित्यर्थः ॥ ११ ॥

# लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा ।
# रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥

**१ शां. भा.—** रजस उद्भूतस्येदं चिह्नम्— **लोभ** इति । लोभः परद्रव्यादित्सा, प्रवृत्तिः प्रवर्तनं सामान्यचेष्टा, आरम्भः– कस्य ? कर्मणाम्, अशमोऽनुपशमः हर्षरागादिप्रवृत्तिः, स्पृहा सर्वसामान्यवस्तुविषया तृष्णा, रजसि गुणे विवृद्ध एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** अतिशयेनोद्भूतस्य रजसो लिङ्गमाह— **रजस** इति । उपक्रमपर्यायस्याऽऽरम्भस्य विषयं पृच्छति— **कस्येति** । काम्यानि निषिद्धानि च लौकिकानि कर्माणि विषयत्वेन निर्दिशति— **कर्मणामिति** । अनुपशमो बाह्यान्तःकरणानामिति शेषः। लोभाद्युपलम्भाद्रजोवृद्धिर्बोद्धव्येति भावः ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.—** लोभः स्वकीयद्रव्यस्यात्यागशीलता, प्रवृत्तिः प्रयोजनमनुद्दिश्यापि चलनस्वभावता, आरम्भः कर्मणां फलसाधनभूतानां कर्मणामारम्भ उद्योगः, अशमः इन्द्रियानुपरतिः, स्पृहा विषयेच्छा, एतानि रजसि प्रवृद्धे जायन्ते; यदा लोभादयो वर्तन्ते तदा रजः प्रवृद्धमिति विद्यादित्यर्थः ॥ १२ ॥

**४ वे. ता. चं.—** 'लोभः प्रवृत्तिः' इत्यादौ स्पृहाशब्दपौनरुक्त्यपरिहाराय रूढिप्रकर्षसिद्धं लोभशब्दार्थमाह— **स्वकीयद्रव्यस्यात्यागशीलतेति** । आरम्भशब्दः साभिसन्धिकप्रवृत्तौ समग्रप्रयोगः । अत्र 'कर्मणाम्' इति समभिव्याहारस्वारस्याच्च तत्सिद्धम् । अतोऽत्रारम्भशब्दो दृष्टादृष्टफलसाधनभूतकृषियज्ञादिविषयः । अतश्च प्रवृत्तिशब्दोऽत्र ततो व्यावृत्ततृणच्छेदाङ्गकम्पादिवृथाचेष्टाविषय इत्याह— **प्रयोजनमनुद्दिश्यापि चलनस्वभावतेति** । द्वाभ्यामपौनरुक्त्याय अशमोऽत्र प्रवृत्तिहेतुरिन्द्रियोद्रिक्ततेत्याह— **इन्द्रियानुपरतिरिति**। पूर्वश्लोकवदत्रापि गुणविवृद्धिलिङ्गोपदेशपरतामाह— **यदेति** ॥ १२ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ १२ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ १२ ॥

**७ ह. पै. भा.— लोभ** इति । लोभः शास्त्रेण प्राप्तत्यागानामत्यागः । तथा शास्त्रेण निषिद्धपरिग्रहणपरिग्रहश्च । प्रवृत्तिः प्रकर्षेण वर्तनं चेष्टा स्वभावतः । आरम्भः कर्मणां लौकिकवैदिकानाम् । अशमः क्रोधहर्षादिसाम्यम्, तदभावः । स्पृहेच्छा ॥ १२ ॥

**८ वे. ब्र. गि.—** लोभः स्वकीयद्रव्यस्यात्यागशीलता, प्रवृत्तिर्नित्यं कुर्वद्रूपता, कर्मणामारम्भो महागृहादिनिर्माणोद्यमः, अशमः इदमिदं कृत्वेदमिदं करिष्यामीति सङ्कल्पप्रवाहानुपरमः, स्पृहा विषयाभिलाषः, एतानि रजसि विवृद्धे जायन्ते । एतैर्लिङ्गैः रजोगुणोद्भूतिं जानीयादित्यर्थः ॥ १२ ॥

**९ व० त० दी०—** लोभ इति । लोभस्तु कार्पण्यम् । प्रयोजनमनुद्दिश्यापि चलस्वभावता प्रवृत्तिः । आरम्भ उद्योगः कर्मणाम् ॥ १२ ॥

**१० पु. अ. त.—** एवं सत्त्वज्ञानमुक्त्वा रजोज्ञानरूपमाह— **लोभ** इति । लोभो भगवत्सेवार्थे स्वेच्छया दत्तासव्यवहारयोग्यद्रव्ये सत्यपि लौकिकासक्त्या पुनर्द्रव्येच्छयेतस्ततो मनोधावनेन तद्यत्नादिकरणे प्रवृत्तिः क्रियाकरणम् । आरम्भः कर्मणां लौकिकस्वोपभोग्यवस्तुकरणम्, अशमः अशान्तिः 'प्रातरिदं कर्त्तव्यमद्येदं कृतं' इत्यादिविचारेण चित्तोद्वेगः, स्पृहा स्वायोग्यवस्तुन्यपीच्छा; रजसि विवृद्धे एतानि जायन्ते । एतदुत्पत्तौ रजोविवृद्धिं विद्यादित्यर्थः । भरतर्षभ ! इति सम्बोधनं राज्याद्यर्थस्पृहाभावेनैतद्दोषराहित्याय ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— लोभः प्राप्ताधिके गर्धः, प्रवृत्तिरग्निहोत्रादौ, आरम्भो गृहादेः; कर्मणामशमः सतामसतां वा कार्याणामनुपरमः, स्पृहा दृष्टे परधनादावुपादित्सा; रजसि विवृद्धे सति एतानि लिङ्गानि जायन्ते हे भरतर्षभ ! ॥ १२ ॥

**अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।**
**तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ! ॥ १३ ॥**

१ **शां. भा.— अप्रकाश** इति । अप्रकाशोऽविवेकः, अत्यन्तमप्रवृत्तिश्च प्रवृत्त्यभावस्तत्कार्यं प्रमादो मोह एव च (तत्कार्ये) अविवेको मूढतेत्यर्थः । तमसि गुणे विवृद्ध एतानि लिङ्गानि जायन्ते । हे कुरुनन्दन ! ॥ १३ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— उद्भूतस्य तमसो लिङ्गमाह— **अप्रकाश** इति । सर्वथैव ज्ञानकर्मणोरभावो विशेषणाभ्यामुक्तः । तत्कार्यमिति तच्छब्दो दर्शिताविवेकार्थः । प्रमादो व्याख्यातः । मोहो वेदितव्यस्यान्यथावेदनम् । तस्यैव मौढ्यान्तरमाह— **अविवेक** इति । अविवेकातिशयादिना प्रवृद्धं तमो ज्ञेयमिति भावः ॥ १३ ॥

३ **रा. भा.—** अप्रकाशो ज्ञानानुदयः, अप्रवृत्तिश्च स्तब्धता, प्रमादः अकार्यप्रवृत्तिफलमनवधानम्, मोहो विपरीतज्ञानम् ; एतानि तमसि प्रवृद्धे जायन्ते; एतैस्तमः प्रवृद्धमिति विद्यात् ॥ १३ ॥

४ **वे. ता. चं.**—'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' इति श्लोके प्रमादो हि समीक्षावसरे सत्यप्यसमीक्षा, अतोऽप्रकाशप्रमादयोः सामान्यविशेषरूपत्वात् गोबलीवर्दनयेनापुनरुक्तिरित्यभिप्रायेणाह **अप्रकाशो ज्ञानानुदय** इति । प्रागुक्तनिद्रादिरूप इहाप्रमभिप्रेतः । अप्रवृत्तिश्च प्रागुक्तमालस्यमित्याह **स्तब्धते**ति । मोहप्रमादावपि हि तावेव ॥ १३ ॥

५ **आ. मा. भा.**— ॥ १३ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— ॥ १३ ॥

७ **ह. पै. भा.—** अप्रकाशोऽज्ञानम् । अप्रवृत्तिरालस्यम् । प्रमादः प्राप्ताप्रतिपत्तिः । मोहोऽविवेकः ॥ १३ ॥

८ **वें. ब्र. गि.**— अप्रकाशः सत्यपि ज्ञानकारणे ज्ञानानुदयः, अप्रवृत्तिः स्तब्धता, प्रमादः कर्तव्यार्थानुसन्धानशून्यत्वम्, मोहो विपरीतज्ञानम् । शेषं सुगमम् ॥ १३ ॥

९ **व० त० दी०— अप्रकाश** इति । अन्धतामिस्रं तामिस्रं महामोहो मोहश्चेति चतुर्धा । तमः पञ्चमं प्रथममेवोक्तम् । स्वरूपाज्ञाने हि (प्रवृद्धे विलोमतः) प्राणान्तःकरणेन्द्रियदेहाध्यासाः । इयं च पञ्चपर्वाऽविद्यैव नामान्तरेणोक्ता । श्रीविष्णुस्वामिप्रोक्ता तु 'ता(स्वा)दृगुत्थविपर्यासभवभेदजभीषु च' इति रूपाविभिन्नपर्याया, साऽप्यस्यामेव पर्यवस्यति । अत्राविद्या तमोगुणान्तर्भूता न पृथगुक्ता ॥ १३ ॥

१० **पु. अ. त.— तमसो ज्ञानायाऽऽह— अप्रकाश** इति । अप्रकाशश्चित्ताप्रसादः । अप्रवृत्तिः भगवत्सेवनभगवदीयसङ्गाद्युद्यमः । प्रमादो भगवद्भजनाननुसन्धानम् । मोहः संसारासक्तिः । हे कुरुनन्दन ! तमसि विवृद्धे सत्येतानि जायन्ते ॥ १३ ॥

११ **नी० भा० दी०—** सत्यपि बोधके गुर्वादावप्रकाशः सत्त्वकार्यप्रकाशानुदयः । अप्रवृत्तिः सत्यपि प्रवृत्तिनिमित्ते रजःकार्यप्रवृत्त्यनुदयः; प्रमादः कार्याकार्यविवेकराहित्यम् ; मोहो निद्रालस्यादिरूपः ॥ १३ ॥

मरणसमये प्रवृद्धानां गुणानां फलम् ।

**यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत् ।**
**तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते ॥ १४ ॥**
**रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते ।**
**तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥ १५ ॥**

**१ शां. भा.**— मरणद्वारेणापि यत्फलं प्राप्यते तदपि सङ्गरागहेतुकं सर्वं गौणमेवेति दर्शयन्नाह— यदेति । यदा सत्त्वे प्रवृद्धे उद्भूते तु प्रलयं मरणं याति प्रतिपद्यते देहभृदात्मा, तदोत्तमविदां महदादितत्त्वविदामित्येतत् । लोकानमलान्मलरहितान्प्रतिपद्यते प्राप्नोतीत्येतत् ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सात्त्विकादीनां भावानां पारलौकिकं फलविभागमुदाहरति— **मरणेति** । सङ्गः सक्तिः, रागस्तृष्णा, तद्बलादनुष्ठानद्वारा लभ्यमानमित्यर्थः । गौणं सत्त्वादिगुणप्रयुक्तमिति यावत् । तत्र सत्त्वगुणवृद्धिकृतफलविशेषमाह— **यदेति** । मलरहितान् रजस्तमसोरन्यतरस्योद्भवो मलं तेन रहितानागमसिद्धान्ब्रह्मलोकादीनित्यर्थः ॥ १४ ॥

**१ शां. भा.**— रजसीति । रजसि गुणे विवृद्धे प्रलयं मरणं गत्वा प्राप्य कर्मसङ्गिषु कर्मासक्तियुक्तेषु मनुष्येषु जायते । तथा तद्वदेव प्रलीनो मृतस्तमसि विवृद्धे मूढयोनिषु पश्वादियोनिषु जायते ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— रजस्समुद्रेके मृतस्य फलविशेषं दर्शयति— **रजसीति** । जायते शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । यथा सत्त्वे रजसि च प्रवृद्धे मृतो ब्रह्मलोकादिषु मनुष्यलोके च जायते, देवादिषु मनुष्येषु च जायते तथैवेत्याह— **तद्वदिति** ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.**— यदा सत्त्वं प्रवृद्धं, तदा सत्त्वे प्रवृद्धे देहभृत् प्रलयं मरणं याति चेत्, उत्तमविदां उत्तमतत्त्वविदामात्मयाथात्म्यविदां लोकान् समूहानमलान् मलरहितान्, अज्ञानरहितान् प्रतिपद्यते प्राप्नोति । सत्त्वे प्रवृद्धे तु मृतः आत्मविदां कुलेषु जनित्वा आत्मयाथात्म्यज्ञानसाधनेषु पुण्यकर्मस्वधिकरोतीत्युक्तं भवति ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.**— रजसि प्रवृद्धे मरणं प्राप्य फलार्थ कर्म कुर्वतां कुलेषु जायते; तत्र जनित्वा स्वर्गादिफलसाधनकर्मस्वधिकरोतीत्यर्थः । तथा तमसि प्रवृद्धे मृतो मूढयोनिषु श्वसूकरादियोनिषु जायते; सकलपुरुषार्थारम्भानर्हो जायत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— यदेति ॥ १४ ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १४ ॥ १५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १४ ॥ १५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— प्रलयं मरणम् । उत्तमविदां महदादितत्त्वस्वरूपविदाम् ॥ १४ ॥ रजसि प्रवृद्धे कर्मसङ्गिषु जायते । प्रलीनो मृतः । तमसि प्रवृद्धे । मूढयोनिषु तिर्यक्षु ॥ १५ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— अथ मरणसमये विवृद्धानां सत्त्वादीनां फलविशेषमाह द्वाभ्याम्— **यदेति** । सत्त्वे प्रवृद्धे सति यदा देही मृत्युं याति, तदा उत्तमा हिरण्यगर्भादयः, तद्विदां तदुपासकानां ये अमलाः प्रकाशमया लोका भोगस्थानविशेषाः, तान्प्राप्नोति । रजसि प्रवृद्धे तु मृत्युं गत्वा कर्मसङ्गिषु कर्माधिकारिषु मनुष्येषु जायते । तमसि प्रवृद्धे सति तु प्रलीनो मृतः मूढयोनिषु पश्वादिषु जायते ॥ १४ ॥ १५ ॥

**९ व० त० दी०**— मरणसमये प्रवृद्धानां सत्त्वादीनां फलं गतिभेदमाह— यदेति द्वाभ्याम् । सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं गतो देही योगिनामुत्तमोपायविदां देहान्प्रपद्यते, अर्थात्तत्कुले भवति । तत्र जन्मवान् भूत्वाऽऽत्मयाथात्म्यज्ञानसाधनेषु पुण्यकर्मस्वधिकारी भवतीत्युक्तं; उत्तमलोकान्वा प्राप्नोति ॥ १४ ॥ रजसीति कर्मसङ्गिषु मध्यमलोकेषु जायते । तमसीति अधोयोनिषु नीचलोकेषु जायते ॥ १५ ॥

**१० पु. अ. त.**— एवं विवृद्धौ सत्यां मरणान्तं तेन यान्यतस्तत्सम्बन्धिदेहाप्तिर्भवतीत्याह— **यदेति**पद्येन । सत्त्वे प्रवृद्धे— तुशब्दोऽन्यव्यवच्छेदकः— यदा देहभृज्जीवः प्रलयं याति मृत्युमवाप्नोति तदोत्तमविदान् उत्तमैर्ज्ञानिभिर्वेद्यं ज्ञातुं योग्यास्तान् लोकान् अमलान् वैष्णवब्राह्मणादीन् प्रतिपद्यते प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ किञ्चैवमेव रजसि प्रवृद्धे प्रलयं गत्वा मृत्युमवाप्य कर्मसङ्गिषु कर्मासक्तेषु तेषु नरेषु पुनस्तदाचरणेन तत्फलभोगार्थं जायते । तथा तमसि प्रवृद्धे प्रलीनो मृतो मूढयोनिष्वासुरेषु जायते ॥ १५ ॥

**११ नी० भा० दी०**— प्रलयं मरणम् । उत्तमविदां हिरण्यगर्भाद्युपासकानां देवानां वा, लोकान् अमलान् निर्दुःखान् ॥ १४ ॥ कर्मसङ्गिषु श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठातृषु मनुष्येषु मूढयोनिषु तिर्यक्स्थावरचाण्डालादिषु ॥ १५ ॥

सात्त्विकादिकर्मणां फलं सहेतुकम् ।

**कर्मणः सुकृतस्याऽऽहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम् ।**
**रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम् ॥ १६ ॥**

१ **शां. भा.**— अतीतश्लोकार्थस्यैव सङ्क्षेप उच्यते— कर्मण इति । कर्मणः सुकृतस्य, सात्त्विकस्येत्यर्थः । आहुः शिष्टाः सात्त्विकमेव निर्मलं फलमिति । रजसस्तु फलं दुःखं, राजसस्य कर्मण इत्यर्थः । कर्माधिकारात् फलमपि दुःखमेव कारणानुरूप्याद्राजसमेव । तथाऽज्ञानं तमसस्तामसस्य कर्मणोऽधर्मस्य फलं पूर्ववत् ॥ १६ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— भावानां फलमुक्त्वा सात्त्विकादीनां कर्मणां फलमाह— अतीतेति । सुकृतस्य शोभनस्य कृतस्य पुण्यस्येत्यर्थः । सात्त्विकस्याशुद्धिरहितस्येति यावत् । सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तं निर्मलं रजस्तमस्समुद्भवान्मलान्निष्क्रान्तम् । रजश्शब्दस्य राजसे कर्मणि कुतो वृत्तिः ? तत्राऽऽह— कर्मेति । दुःखमेव दुःखबहुलं दुःखमेवेत्यर्थः । कथमित्थं व्याख्यायते ? तत्राऽऽह— कारणेति । पापमिश्रस्य पुण्यस्य रजोनिमित्तस्य कारणत्वात्तदनुरोधात्फलमपि रजोनिमित्तं यथोक्तं युक्तमित्यर्थः । अज्ञानमविवेकप्रायं दुःखं तामसाधर्मफलमित्याह— तथेति ॥ १६ ॥

३ **रा. भा.**— एवं सत्त्ववृद्धौ मरणमुपगम्यात्मविदां कुले जातेनानुष्ठितस्य सुकृतस्य फलाभिसन्धिरहितस्य मदाराधनरूपस्य कर्मणः फलं पुनरपि ततोऽधिकसत्त्वजनितं निर्मलं, दुःखगन्धरहितं भवतीत्याहुः सत्त्वगुणपरिणामविदः । अन्त्यकालप्रवृद्धस्य रजसस्तु फलं फलसाधनकर्मसङ्गिकुले जन्मफलाभिसन्धिपूर्वककर्मारम्भतत्फलानुभवपुनर्जन्मरजोवृद्धिफलाभिसन्धिपूर्वककर्मारम्भपरम्परारूपं सांसारिकं दुःखप्रायमेवेत्याहुस्तद्गुणयाथात्म्यविदः । अज्ञानं तमसः फलम् । एवमन्त्यकालप्रवृद्धस्य तमसः फलमज्ञानपरम्परारूपम् ॥ १६ ॥

४ **वे. ता. चं.**— ॥ १६ ॥

५ **आ. मा. भा.**— रजसस्तु फलं दुःखमित्यल्पसुखं दुःखम् । तथा हि शार्कराक्षशाखायाम्— "रजसो ह्येव जायते मात्रया सुखं दुःखं तस्मात्तान्सुखिनो दुःखिन इत्याचक्षते " इति । अन्यथा दुःखस्यातिकष्टत्वात्तमोधिकत्वं रजसो न स्यात् ॥ १६ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— दुःखशब्दः केवलदुःखवाचीत्यन्यथाप्रतीतिनिरासायाह रजस इति । दुःखशब्देनोच्यत इति शेषः । तत्कथं ? इत्यत उक्तम् अल्पेति । अल्पत्वात्सुखस्याविवक्षेति भावः । कुतः ? इत्यत आह— तथा हीति । रजस इति पञ्चमी । मात्रयेति सुखविशेषणम् । स्लोकात्मकं सुखं दुःखं चेत्यर्थः । तान् राजसकर्मिणः । केवलदुःखार्थाङ्गीकारे बाधकं चाह— अन्यथेति । अतिकष्टत्वात् ज्ञानादपि कष्टत्वात् । तत्फलकस्य रजसः । तथा च ' मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ... अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ ' [ १४।१८ ] इत्याद्ययुक्तं स्यादिति भावः ॥ १६ ॥

७ **ह. पै. भा.**— सुकृतस्य पुण्यस्य फलं सात्त्विकं सत्त्वप्रधानं निर्मलं शुद्धं सुखस्वरूपम् । रजसो राजसस्य कर्मणः । अज्ञानं मोहानुविद्धमित्यर्थः ॥ १६ ॥

८ **वें. ब्र. गि.**— अथ सत्त्वादीनां स्वानुरूपकर्मद्वारेण विचित्रफलहेतुत्वं दर्शयति— कर्मण इति । सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं सत्त्वेन निर्वृत्तं निर्मलं प्रकाशबहुलं सुखं फलमाहुर्महर्षयः । रजसो राजसस्य पापमिश्रपुण्यरूपस्य कर्मणः फलं दुःखं दुःखबहुलमल्पसुखमाहुः, कार्यस्य कारणानुरूपत्वात् । तमसस्तामसस्य पापकर्मणः अज्ञानमविवेकपरम्परारूपं दुःखं फलम्; आहुरित्यनुषजते । सात्त्विकादिकर्मलक्षणं चाष्टादशे [ २३-२५ ] भगवानेव वक्ष्यति । अत्र रजस्तमश्शब्दौ तत्कार्यकर्मपरौ, तस्यैव प्रकृतत्वात् । तथा च यथा " गोभिः श्रीणीत मत्सरम् " [ऋक्सं. ७।१।३।४] इत्यत्र गोशब्दस्तत्प्रभवे पयसि, यथा वा " धान्यमसि धिनुहि देवान् " [ यजुस्सं. १।२० ] इत्यत्र धान्यशब्दस्तत्प्रभवे तण्डुले, तथाऽत्रापि द्रष्टव्यम् ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— अमरणसमये इह तु फलं सुकृतस्य सत्त्वेन कृतस्य कर्मणः पुण्यरूपस्य निर्मलं भवति दुःखगन्धरहितं अज्ञानादिगन्धरहितं च । रजसस्तु दुःखमज्ञानं तमसः कर्मणः फलं येन च पुनः पुनर्जन्ममरणपर्यावर्त्तेऽपि विवेकाभाव एव भवति। यद्यपि 'रजः कर्मणि' [ १४।९] इति वाक्यात्कर्ममात्रसम्बन्धो राजस एव; तथापि मतान्तररीत्याऽऽह— कर्मणः सुकृतस्येति । सर्वमेव हि गौणम् । सत्त्वेन कृतस्य कर्मणः सात्त्विकस्य सुकृतपदवाच्यस्य फलमपि सात्त्विकं निर्मलं प्रकाशबहुलं भवति, सुखं चेत्याहुः कापिलाः ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— तथाजातानां किं फलं ? इत्यत आह— कर्मण इति । सुकृतस्य सुष्ठु भगवदाज्ञया भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकं विष्णुप्रसादात्मकं निर्मलं दोषरहितं फलमाहुः; व्यासकपिलादय इत्यर्थः । तु पुनः रजसो राजसकर्मणो दुःखं संसारात्मकं फलमाहुः । तथा तमसः कर्मणोऽज्ञानं भगवद्वैमुख्यात्मकं फलमाहुः । कर्मस्वरूपं चाऽग्रेऽष्टादशे [ श्लो. २३-२५ ] वक्ष्यति ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः फलं निर्मलं दुःखाज्ञानमलशून्यं सात्त्विकं ज्ञानवैराग्यादिकं, रजसो राजसस्य कर्मणः फलं दुःखं, तमसस्तामसस्य कर्मणः फलमज्ञानम् । सात्त्विकादिकर्मलक्षणं च 'नियतं सङ्गरहितम्' इत्यादिनाऽष्टादशे [ २३-२५ ] वक्ष्यति ॥ १६ ॥

## सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च ।
## प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥ १७ ॥

१ शां. भा.— किं च गुणेभ्यो भवति ?— सत्त्वादिति । सत्त्वाल्लब्धात्मकात्सञ्जायते समुत्पद्यते ज्ञानम् । रजसो लोभ एव च । प्रमादमोहौ चोभौ तमसो भवतः, अज्ञानमेव च भवति ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— विहितप्रतिषिद्धज्ञानकर्माणि सत्त्वादीनां लक्षणानि सङ्क्षिप्य दर्शयति— किं चेति । ज्ञानं सर्वकरणद्वारकम् । अज्ञानं विवेकाभावः ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— तदधिकसत्त्वादिजनितं निर्मलादिफलं किं ? इत्यत्राह— सत्त्वादिति । एवं परम्परया जातादधिकसत्त्वादात्मयाथात्म्यापरोक्षरूपं ज्ञानं जायते । तथा प्रवृद्धाद्रजसः स्वर्गादिफललोभो जायते; तथा प्रवृद्धाच्च तमसः प्रमादः अनवधाननिमित्तासत्कर्मणि प्रवृत्तिः, ततश्च मोहो विपरीतज्ञानम्, ततश्चाधिकतरं तमः, ततश्चाज्ञानं ज्ञानाभावः ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— ॥ १७ ॥

८ वें. व्र. गि.— 'कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्' [ १४।१६ ] इत्यादौ हेतुमाह— सत्त्वादिति । सर्वकरणद्वारकं प्रकाशरूपं ज्ञानं सत्त्वात्सञ्जायते; अतस्तदनुरूपं सात्त्विकस्य कर्मणः प्रकाशबहुलं सुखं फलं भवति । रजसो लोभो जायते; तस्य च दुःखहेतुत्वाद्राजसस्य कर्मणो दुःखं फलं भवति । तमसस्तु प्रमादमोहाज्ञानानि भवन्ति; अतस्तामसस्य कर्मणस्तामसमज्ञानादिप्रायमेव फलमिति युक्तमेवैतदित्यर्थः ॥ १७ ॥

९ व० त० दी०— तर्हि सत्त्वादिजनितं निर्मलादिफलं किं ? इत्यत्राह— सत्त्वादिति । ज्ञानं वस्तुयाथात्म्यापरोक्षरूपं जायते । रजसस्तु स्वर्गादौ फले लोभः, तमसः पुनरनवधानमोहतत्त्वज्ञानाभावः ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— ननु स्वरूपज्ञानाभावे कथं तादृक्कर्मकरणं सम्भवति ? इत्यत आह— सत्त्वादिति । सत्त्वात् ज्ञानं सञ्जायते, तादृक्स्वभावविशिष्टस्यैव प्रकटनात् । तथा रजसो रजोगुणाल्लोभः पापमूलको भवतीति । तस्य च दुःखात्मकत्वात्तदेव भवति । तमसस्तामसगुणात् प्रमादमोहौ भवतः । ततस्ताभ्यां चाज्ञानमेव भवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— एतादृशफलवैचित्र्ये पूर्वोक्तमेव हेतुमाह— सत्त्वादिति ॥ १७ ॥

सात्त्विकाद्याचारसम्पन्नानां गतयः ।

**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।**
**जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥**

**१ शां. भा.**— किञ्च— ऊर्ध्वं गच्छन्ति देवलोकादिषूत्पद्यन्ते सत्त्वस्थाः सत्त्वगुणवृत्तस्थाः । मध्ये तिष्ठन्ति मनुष्येषूत्पद्यन्ते राजसाः । जघन्यगुणवृत्तस्था जघन्यश्चासौ गुणश्च जघन्यगुणस्तमः, तस्य वृत्तं निद्रालस्यादि, तस्मिन्स्थिता जघन्यगुणवृत्तस्था मूढा अधो गच्छन्ति पश्वादियोनिषूत्पद्यन्ते । के ? तामसाः ॥ १८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सात्त्विकादिज्ञानकर्मफलान्युक्त्वाऽनुक्तसङ्ग्रहार्थं सामान्येनोपसंहरति— **किञ्चेति** । वक्ष्यमाणफलद्वाराऽपि सत्त्वादिज्ञानमित्यर्थः । सत्त्वगुणस्य वृत्तं शोभनं ज्ञानं कर्म वा तत्र तिष्ठन्तीति तथा । राजसा रजोगुणनिमित्ते ज्ञाने कर्मणि वा निरताः ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.**— एवमुक्तेन प्रकारेण सत्त्वस्था ऊर्ध्वं गच्छन्ति क्रमेण संसारबन्धान्मोक्षं गच्छन्ति । रजसः स्वर्गादिफललोभकरत्वाद्राजसाः फलसाधनभूतं कर्मानुष्ठाय तत्फलमनुभूय पुनरपि जनित्वा तदपेक्षितं कर्मानुतिष्ठन्तीति मध्ये तिष्ठन्ति, पुनरावृत्तिरूपतया दुःखप्रायमेव तत् । तामसास्तु जघन्यगुणवृत्तिस्था उत्तरोत्तरनिकृष्टतमोगुणवृत्तिषु स्थिता अधो गच्छन्ति । अन्त्यजत्वं, ततस्तिर्यक्त्वं, ततः क्रिमिकीटादिजन्म, ततः स्थावरत्वं, ततोऽपि गुल्मलतात्वं, ततश्च शिलाकाष्ठलोष्टतृणादित्वं गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १८ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.**— सात्त्विका देहं त्यक्त्वा स्वकर्मफलभोगार्थमूर्ध्वं देवलोकादीन्गच्छन्ति । राजसाः स्वकर्मफलभोगार्थं मनुष्यलोके तिष्ठन्ति । जघन्यगुणस्तमोगुणः । जघन्यगुणप्रवृत्ता जघन्यगुणवृत्तिस्थास्तामसाः पुरुषा जघन्यगुणवृत्तिस्था मोहनिष्ठाः, अधो गच्छन्तीत्यर्थः ॥ १८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— इदानीं सत्त्वादिवृत्तशीलानां फलभेदमाह— ऊर्ध्वमिति । अत्र तृतीये गुणे वृत्तशब्दप्रयोगादाद्ययोरपि वृत्तमेव विवक्षितं गम्यते । तथा च सत्त्वस्थाः सत्त्ववृत्ते शास्त्रीये ज्ञाने कर्मणि च निरता ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वोत्कर्षतारतम्यादुत्तरोत्तरशतगुणानन्दान् मनुष्यगन्धर्वादिसत्यलोकान्तान् देवलोकान् गच्छन्ति । राजसास्तु रजोगुणवृत्ते लोभादिपूर्वके कर्मणि निरताः पुण्यपापमिश्रतया तत्फलभूते मनुष्यलोके जायमाना मध्य एव तिष्ठन्ति, न तूर्ध्वमधो वा गच्छन्ति । जघन्यगुणस्य तमसो वृत्ते निद्रालस्यप्रमादादिरूपे स्थिता अधो निरयान्गच्छन्ति । सात्त्विका राजसा अपि कदाचिज्जघन्यगुणवृत्तस्था भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं तामसा इति विशेषितम् । सर्वदा तमःप्रधाना इत्यर्थः ॥ १८ ॥

**९ व० त० दी०**— त्रैगतिभेदमाह— ऊर्ध्वं गच्छन्तीति । ब्रह्मलोकपर्यन्तमपि मोक्षं च । राजसास्तु मध्ये ततोऽधरस्थाने लोभस्य च तत्र निरूपितत्वात् । जघन्योऽधमो गुणस्तमोरूपः, तस्य वृत्तिः प्रमादमोहादिः, तत्र तेन वा स्थिता अधो गच्छन्ति । ततोऽधोभागरूपं जघन्यत्वेन निरूपितं स्थानमतलादि— यथाऽसुराणां वैरोचनादीनाम्— तत्र स्थितिः । नीचयोन्यादिषु वा नरकादौ यान्तीति ॥ १८ ॥

**१० पु. अ. त.**— अथ तेषां फलं तद्रूपं चाह— **ऊर्ध्वमिति** । सत्त्वस्थाः सात्त्विककर्मनिरता ऊर्ध्वं सत्यादिलोकं गच्छन्ति । राजसा राजसकर्मनिरता मध्ये मनुष्यलोके दुःखावृते राज्यादिसुखफले तिष्ठन्ति । जघन्यगुणतामसतद्वृत्तिस्थास्तत्कर्मसु वर्तमानास्तामसा अधो नरकादिनीचयोनिषु गच्छन्ति ॥ १८ ॥

**११ नी० भा० दी०**— यतः सत्त्वादिभ्यो ज्ञानादीनि जायन्तेऽतः सत्त्वादिवृद्धिकाले प्रलयं गच्छन्तः क्रमेणोत्तममध्यमाधमासु योनिषु जायन्त इत्याह— ऊर्ध्वमिति । ऊर्ध्वं देवभावे, मध्ये मानुषभावे, अधो नरकतिर्यक्स्थावरभावे । जघन्यं निन्द्यं यद्गुणवृत्तं निद्रालस्यप्रमादादि तत्स्थास्तामसाः ॥ १८ ॥

मिथ्याज्ञाननिवर्तकात्सम्यग्ज्ञानाज्जीवन्मुक्तता ।

**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥**
**गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।**
**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥**

१ **शां. भा.**— पुरुषस्य प्रकृतिस्थत्वरूपेण मिथ्याज्ञानेन युक्तस्य भोग्येषु गुणेषु सुखदुःखमोहात्मकेषु 'सुखी दुःखी मूढोऽहमस्मि' इत्येवंरूपो यः सङ्गः सत्कारणं पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मप्राप्तिलक्षणस्य संसारस्येति समासेन पूर्वाध्याये यदुक्तं, तदिह 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' [१४।५] इत्यत आरभ्य गुणस्वरूपं गुणवृत्तं स्ववृत्तेन च गुणानां बन्धकत्वं, गुणवृत्तनिबद्धस्य च पुरुषस्य या गतिरित्येतत्सर्वं मिथ्याज्ञानमज्ञानमूलं बन्धकारणं विस्तरेणोक्त्वाऽधुना सम्यग्दर्शनान्मोक्षो वक्तव्य इत्याह भगवान्— **नान्यमिति** । नान्यं कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्यो गुणेभ्यः कर्तारमन्यं यदा द्रष्टा विद्वान् सन्नानुपश्यति, गुणा एव सर्वावस्थाः सर्वकर्मणां कर्तार इत्येवं पश्यति, गुणेभ्यश्च परं गुणव्यापारसाक्षिभूतं वेत्ति मद्भावं मम भावं वासुदेवाख्यं "वासुदेवः सर्वं" [७।१९] इत्येवं पश्यन्सन् स द्रष्टाऽधिगच्छति ॥१९॥

२ **आ. शां. व्या.**— कस्मिन्गुणे कथमित्यादिप्रश्नान् प्रत्याख्याय 'गुणेभ्यो मोक्षणं कथं' इति प्रत्याख्यानार्थं वृत्तानुवादपूर्वकं मिथ्याज्ञाननिवर्तकं सम्यग्ज्ञानं प्रस्तौति— **पुरुषस्ये**त्यादिना । पुरुषस्य या गतिः सा चेति शेषः । मोक्षो गुणेभ्यो विश्लेषपूर्वको ब्रह्मभावः । सम्यग्ज्ञानोक्तिपरं श्लोकं व्याख्यातुं प्रतीकमादत्ते— **नान्यमिति** । सत्त्वादिविषयस्य गुणशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह— **कार्येति** । विद्यानन्तर्यमनुशब्दार्थः । अक्षरार्थमुक्त्वा पूर्वार्धस्याऽऽर्थिकमर्थमाह— **गुणा एवेति** । सर्वावस्थास्तत्तत्कार्यकरणाकारपरिणता इति यावत् । सर्वकर्मणां कायिकवाचिकमानसानां विहितप्रतिषिद्धानामित्यर्थः । परं व्यतिरिक्तम् । व्यतिरेकमेव स्फोरयति— **गुणेति** । निर्गुणब्रह्मात्मानमित्यर्थः । मद्भावं ब्रह्मात्मतामसौ प्राप्नोति; ब्रह्मभावोऽस्याभिव्यज्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

१ **शां. भा.**— कथं सोऽधिगच्छति ? इत्युच्यते— **गुणानिति** । गुणानेतान् यथोक्तानतीत्य जीवन्नेवातिक्रम्य मायोपाधिभूतांस्त्रीन्देही देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिबीजभूतान्, जन्ममृत्युजरादुःखैः जन्म च मृत्युश्च जरा च दुःखानि च तैर्जीवन्नेव विमुक्तः सन् विद्वानमृतमश्नुते । एवं मद्भावमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

२ **आ. शां. व्या.**— अनर्थव्रातरूपमपोह्य विद्वान्ब्रह्मत्वं प्राप्नोतीत्येतत्प्रश्नद्वारा विवृणोति— **कथमि**त्यादिना । यथोक्तानित्येतदेव व्याचष्टे— **मायेति** । मायैवोपाधिस्तद्भूतांस्तदात्मनः सत्त्वादीननर्थरूपानित्यर्थः । एभ्यः समुद्भवन्तीति समुद्भवाः, देहस्य समुद्भवा देहसमुद्भवास्तानिति व्युत्पत्तिं गृहीत्वा व्याचष्टे— **देहोत्पत्तीति** । यो विद्वानविद्यामयान् गुणाञ्जीवन्नेवातिक्रम्य स्थितस्तमेव विशिनष्टि— **जन्मेति** । पुरस्ताद्विस्तरेणोक्तस्य प्रसङ्गादत्र सङ्क्षिप्तस्य सम्यग्ज्ञानस्य फलमुपसंहरति— **एवमिति** ॥ २० ॥

३ **रा. भा.**— आहारविशेषैः फलाभिसन्धिरहितसुकृतविशेषैश्च परम्परया प्रवर्धितसत्त्वानां गुणात्ययद्वारेण ऊर्ध्वगमनप्रकारमाह— **नान्यमिति** । एवं सात्त्विकाहारसेवया फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपकर्मानुष्ठानैश्च रजस्तमसी सर्वात्मनाऽभिभूय उत्कृष्टसत्त्वनिष्ठो यदाऽयं द्रष्टा गुणेभ्योऽन्यं कर्तारं नानुपश्यति; गुणा एव स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्तार इति पश्यति; गुणेभ्यश्च परं वेत्ति कर्तृभ्यो गुणेभ्यश्च परम् अन्यमात्मानमकर्तारं वेत्ति; स मद्भावमधिगच्छति, मम यो भावस्तमधिगच्छति । एतदुक्तं भवति—

आत्मनः स्वतः परिशुद्धस्वभावस्य पूर्वपूर्वकर्ममूलगुणसङ्गनिमित्तं विविधकर्मसु कर्तृत्वम्; आत्मा स्वतस्त्व-कर्ता अपरिच्छिन्नज्ञानैकाकार इत्येवमात्मानं यदा पश्यति, तदा मद्भावमधिगच्छतीति ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.— ननु 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' [ १४।१८ ] इति यदि सत्त्वस्थस्यापवर्गोऽभिधीयते; तर्ह्यनन्तरं गुणत्रयातीतस्यापवर्गवचनं व्याहन्येतेति शङ्कायामनन्तरग्रन्थ-मवतारयति **आहारविशेषैरिति** । आहारविशेषादेः सत्त्व-विवृद्धिहेतुत्वं पूर्वापरसिद्धम् । सांसारिकत्रिगुणातिक्रमः, प्रवृद्धेन सत्त्वेनोर्ध्वगमनं च सुसङ्गतमिति भावः। 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः' [ ३।१३ ] 'भोक्तारं यज्ञतपसां' [ ५।२९ ] 'रजस्तमश्चाभि-भूय सत्त्वं भवति भारत !' [ १४।१० ] इति पूर्वोक्तानुसारेण प्रकृतसङ्गतमर्थमाह **एवं सात्त्विकाहारेति** । **सर्वात्मनेति** अपुनरुद्भवमित्यर्थः । 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' इति गुण-व्यतिरिक्तस्य कर्तृत्वनिषेधः । तत्र कर्तुरात्मनो गुणेभ्योऽन्य-त्वनिषेधधीर्मा भूदित्याह **गुणा एवेति** । पुरुषधर्मभूतप्रयत्ना-श्रयत्वलक्षणकर्तृत्वव्युदासायाह **स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्तार** इति । क्वचित्कर्तृत्वानुदर्शनस्यानात्मविदामपि सम्भवात्ततो विशेष उच्यते **गुणेभ्यश्चेति** । परत्वं प्रकृताकारापेक्षया नियन्तुमाह **कर्तृभ्य** इति । 'कर्तृभ्यः परम्' इत्युक्त्या कर्तृत्वातिशयधीव्युदासः **अन्यमिति** । गुणानां परस्पर-मिवान्यत्वेऽपि कर्तृत्वमविरुद्धमित्यत्र प्रस्तुताकारविरहोऽन्य-शब्दाभिप्रेत इत्याह **अकर्तारमिति** । गुणाश्रयप्रवृत्तीनामना-श्रयभूतं स्वतश्च तन्मूलप्रवृत्त्यनर्हमित्यर्थः । स्वरूपैक्यभ्रमव्यु-दासायानन्तरग्रन्थ इत्यभिप्रायेण मद्भावशब्दार्थमाह— **मम यो भाव** इति । गुणानां कर्तृत्वज्ञानमनुपयुक्तम्, आत्मनो-ऽकर्तृत्वं तु 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ ब्र. सू. २।३।३३] इत्या-दिविरुद्धम्; तत्राह **एतदुक्तमिति** । पुण्यपापरूपेषु लौकिकेषु च कर्मसु कर्तृत्वमस्वाभाविकं, न पुनः प्रयत्नाश्रयत्वमित्य-भिप्रायेणाह **आत्मनः स्वत** इति । एतेन परशब्दस्यात्र पर-मात्मपरत्वं न विवक्षितमित्यपि दर्शितम् । **विविधकर्मस्विति** सांसारिकसात्त्विकराजसतामसकर्मस्वित्यर्थः । **स्वतस्त्वकर्ते-ति** गुणकृतेषु तेष्वेव; अन्यथा 'जक्षन्क्रीडन्' [ छां. उ. ८।१२।३ ] इत्यादिविरोधात् । अत्र 'मद्भावम्' इति तादात्म्यं प्रतीतं स्यात्, तच्च 'मम साधर्म्यमागताः' [ १४।२ ] इति प्रागुक्तविरुद्धम् । श्रुतिश्च "परमं साम्यमुपैति" [ मुं. उ. ३।१।३ ] इति । श्रुत्यन्तरं च "यथोदकं (के) शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति, एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम !" [ कठो. २।४।१५ ] इति । अत्रोदकद्वयस्य संसर्गेऽपि स्वरूपै-क्यासम्भवात्तादृक्छब्दस्वारस्याच्च साम्यपरत्वं व्यक्तम् । आह च जनकाय वसिष्ठः— 'परेण परधर्मा च भवत्येष समेत्य वै । विशुद्धधर्मा शुद्धेन बुद्धेन च स बुद्धिमान् । विमुक्तधर्मा मुक्तेन समेत्य हि तदा भवेत् ( पुरुषर्षभ ! ) । वियोगधर्मिणा चैव वियोगात्मा भवत्य-( थ )पि । विमोक्षिणा विमोक्षी च समेत्येह तदा ( तथा ) भवेत् । शुचिना च ( शुद्धधर्मा ) शुचिश्चैव भवत्यमितदीप्तिमान् । विमलात्मा भवत्येष ( च भवति ) समेत्य विमलात्मना । केवलात्मा तथा चैव केवलेन समेत्य वै । स्वतन्त्रश्च स्वतन्त्रेण स्वतन्त्रत्वम-( वाप्नुते ) वाप्नुयात्' [ म. भा. १२।३०८।२६–३० ] इति ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— कर्तृभ्यो गुणेभ्योऽन्यमकर्तारमात्मानं पश्यन् भगवद्भावमधिगच्छतीत्युक्तम्, स भगवद्भावः कीदृशः ? इत्यत आह— **गुणानिति** । अयं देही देहसमुद्भवान् देहाकारपरिणतप्रकृति-समुद्भवानेतान् सत्त्वादीन् त्रीन् गुणानतीत्य तेभ्यश्चान्यं ज्ञानैकाकारमात्मानं पश्यन् जन्ममृत्युजरादुःखै-विमुक्तोऽमृतमात्मानमनुभवति; एष मद्भाव इत्यर्थः ॥ २० ॥

४ वे. ता. चं.— तदेवमनेकश्रुतिस्मृत्यादिविरुद्धं मुक्तस्य भगवत्त्वं कथमुच्यते ? इति शङ्कायामुक्तमर्थं कर्तृभ्य इत्यादिना-नूद्यानन्तरश्लोकमवतारयति– **स भगवद्भावः कीदृश** इति । 'देहसमुद्भवान्' इत्यत्र देहोत्पत्तिबीजभूतानिति परव्याख्यान-मयुक्तम्, 'गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' [ १४।५ ] इतिवदत्रापि प्रकृतिपरिणतिरूपदेहाश्रयत्ववचनस्य युक्तत्वादित्यभिप्रायेणाह **देहाकारपरिणतप्रकृतिसमुद्भवानिति** । वक्ष्यमाणप्रकारेण गुणात्ययो बद्धदशायामेवेत्याह **गुणानतीत्य तेभ्योऽन्य-मित्यादिना** । **जन्ममृत्युजरादुःखैः**, जन्मादिकृतैर्दुःखै-रित्यर्थः । जन्मादिभिस्तत्साध्यैश्च दुःखैरिति वा । 'मद्भावं सोऽधिगच्छति' [ १४।१९ ] इत्युक्तमेव 'विमुक्तोऽमृत-मश्नुते' इत्यनेन विवृतमित्याह **आत्मानमनुभवतीति** । **एष मद्भाव इत्यर्थ** इति— एष इति न पुनः श्रुत्यादिविरुद्ध इत्यर्थः ॥ २० ॥

५ आ. मा. भा.— परिणामिकर्त्तारं गुणेभ्योऽन्यं न पश्यति । अन्यथा "यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्" [ मुण्ड. ३।१।३ ] इति श्रुतिविरोधः । 'नाहं कर्त्ता न कर्त्ता त्वं कर्त्ता यस्तु सदा प्रभुः' इति मोक्षधर्मे ॥ १९ ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं' इति स्वतन्त्रकर्तृत्वं गुणानामेव, नान्यस्येत्युच्यत इत्यपव्याख्याननिरासार्थमाह— परिणामीति। कुत एतत्? इत्यत आह— अन्यथेति; गुणेभ्योऽन्यस्य कर्तृत्वाभावे। मोक्षधर्मे परमेश्वरस्य कर्तृत्वमुक्तं तद्विरोधश्चेति वाक्यशेषः॥ १९॥ २०॥

७ ह. पं. भा.— नान्यमिति। द्रष्टा विद्वान्। गुणेभ्यः परं गुणव्यापारसाक्षिभूतम्। मद्भावमीश्वरभावम्॥ १९॥ गुणानिति। देहसमुद्भवान्देहस्य कारणभूतान्॥ २०॥

८ वें. व्र. गि.— तदेवम् 'सत्त्वं रजस्तमः' [ १४।५ ] इत्यारभ्यैतत्पर्यन्तैश्चतुर्दशभिः श्लोकैः के गुणाः कथं वा बध्नन्ति? इत्यस्योत्तरं प्रपञ्चितम्। इदानीं गुणेभ्यः कथं मोक्षणमित्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम्— नान्यमिति। यदा तु द्रष्टा शास्त्राचार्योपदेशजन्यतत्त्वदर्शनसम्पन्नो भूत्वा बुद्ध्याकारपरिणतेभ्यो गुणेभ्योऽन्यं कर्तारं नानुपश्यति, किन्तु गुणा एव बुद्ध्यादिभावापन्नाः कर्तार इति पश्यति, गुणेभ्यश्च परं व्यतिरिक्तं तत्कार्यासंस्पृष्टं निर्विकारमात्मानमेकं वेत्ति, स द्रष्टा मद्भावं ब्रह्मत्वमधिगच्छति। तादृशात्मतत्त्वज्ञानेनैव गुणेभ्यो मोक्षणमित्यर्थः॥ १९॥

एतदेवोपपादयति— गुणानिति। देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिहेतुभूतानेतांस्त्रिगुणानतीत्य तत्त्वज्ञानेन बाधित्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तो जीवन्नेव अमृतं मोक्षं प्राप्नोति॥ २०॥

९ व० त० दी०— एवं गुणसर्गभेदोक्तौ पुरुषस्य सर्वस्य बन्धलीलामुपपाद्येदानीं तद्विवेकतो गुणात्ययद्वारा मोक्षलीलामाह द्वाभ्याम्— नान्यमिति। यदा गुणेभ्योऽन्यं कर्त्तारं नानुपश्यति गुणा एव स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्त्तार इति पश्यति गुणेभ्यश्च परमात्मानं वेत्ति तदा द्रष्टा मद्भावं ब्रह्माक्षरभावं प्राप्नोति "ब्रह्मवित् (ब्रह्म वेद) ब्रह्मैव भवति" [ मुं. उ. ३।२।९ ] इति श्रुतेः। निर्गुणं हि ब्रह्म स्वयमव्ययं तदा गुणांस्त्रीनेतानतीत्यामृतमश्नुते प्राप्नुते ब्रह्मसुखं वा भुङ्क्ते॥ १९॥ २०॥

१० पु. अ. त.— एवं स्वेच्छया स्वक्रीडार्थोत्पादितगुणादिरूपमुक्त्वा कृतोत्तमध्यनीचादिधर्मेषु तत्त्वादिबुद्धिरहितो मत्क्रीडाज्ञानवांस्तत्सङ्गरहितो यः स मद्भक्तिमाप्नोतीत्येतदर्थमेतन्निरूपितमित्याह— नान्यमिति। यदा मत्कृपाविशिष्टकाले द्रष्टा विवेकवान् गुणेभ्यः स्वक्रीडार्थप्रकटरूपेभ्यः कृत्वा कर्तारं सर्वमूलभूतमनुपश्यति, नान्यम्; च पुनः गुणेभ्यो विचित्ररूपेभ्यः परं पुरुषोत्तमं वेत्ति; स मद्भावं मद्भक्तिमधिगच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः। अत्रायं भावः– गुणकृतनानावैचित्र्यदर्शनेन पुरुषोत्तममाहात्म्यज्ञानेन सर्वत्र तद्वैचित्र्यं पश्यन्तं तत्कर्तारं तद्रूपेणाऽऽविर्भूतम् अनु तद्वदेव यथा भगवान् स्वात्मकमेव पश्यति तथा पश्यति, नान्यं कञ्चन पश्यति स मद्भावं प्राप्नोति॥१९॥ ततो मद्भावयुक्तो गुणदोषाभिभूतो न भवतीत्याह— गुणानेतानिति। देही जीवो देहसमुद्भवान् देहानां समुद्भव उत्पत्तिर्येभ्यस्तादृशानेतान् लौकिकान् न त्वलौकिकान् त्रीन् गुणानतीत्य अतिक्रम्य, जन्म तत्कर्मभोगार्थकं, मृत्युस्तद्भोगसमाप्तिरूपो भगवद्विस्मरणरूपो वा, जरा सेवाप्रतिबन्धरूपा, दुःखं संसारात्मकम्, एतैर्विमुक्तः अमृतं मरणादिदोषरहितम् लौकिकं देहमश्नुते भुङ्क्ते प्राप्नोतीत्यर्थः। अथवा अमृतमलौकिकं देहं प्राप्य मया सह सर्वकामानश्नुते "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह" [ तै. उ. २।१ ] इति श्रुत्युक्तरीत्या देहीतिपदादिदं व्यज्यते; अन्यथा देहवत्पदं व्यर्थं स्यादिति भावः॥ २०॥

११ नी० भा० दी०— कथं प्रकृतिः पुरुषं बध्नाति? इत्यस्योत्तरमुक्तम्; कथं वा ततोऽस्य मुक्तिः? इत्यस्योत्तरमाह— नान्यमिति। गुणेभ्यः कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्योऽन्यं दृशिमात्रमात्मानं द्रष्टा जीवः कर्तारं नानुपश्यति विवेकमनु न पश्यति, किन्तु गुणा एव कर्तार इत्येव पश्यति, न त्वहं कर्तेति। तथा गुणेभ्यः परं गुणव्यापारसाक्षिभूतं मां यदा वेत्ति, तदा स वेदिता मद्भावं ब्रह्मभावं गच्छति, अन्यथा तु गुणभावं गतो भवति॥ १९॥ कथं त्वद्भावं गच्छतीति तत्राह— गुणानिति। एतान्गुणान् महदादित्रयोविंशतिविकारात्मना परिणतान् देहसमुद्भवान् स्थूलदेहस्य समुद्भवो येभ्यस्तानतीत्य जीवन्नेवातिक्रम्य निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासेन बाधित्वाऽमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति। एतेनानन्दावाप्तिर्गुणात्ययप्रयोजनमुक्तम्। यतो मुक्तो जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः सन्निति तु अनर्थनिवृत्तिरुक्ता॥ २०॥

गुणातीतलक्षणज्ञानार्थोऽर्जुनप्रश्नः।

**अर्जुन उवाच– कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो!॥**
**किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते॥ २१॥**

१ शां. भा.— जीवन्नेव गुणानतीत्यामृतमश्नुत इति प्रश्नबीजं प्रतिलभ्यार्जुन आह— कैरिति । कैर्लिङ्गैश्चिह्नैस्त्रीन् गुणानेतान् व्याख्यातान् गुणानतीतोऽतिक्रान्तो भवति प्रभो ! । किमाचारः कोऽस्याचार इति किमाचारः । कथं केन च प्रकारेणैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ? ।। २१ ।।

२ आ. शां. व्या.— सम्यग्धीफलं गुणातिक्रमपूर्वकममृतत्वमुक्तं श्रुत्वा मुक्तस्य लक्षणं वक्तव्यमिति प्रकृतं विवक्षित्वा प्रश्नमुत्थापयति— जीवन्नेवेति । ये व्याख्याताः सत्त्वादयो गुणास्तत्परिणामभूतानभ्यासानतिक्रान्तः सन्कैर्लिङ्गैर्ज्ञातो भवति ? इति तानि वक्तव्यानि सिद्धयर्थं पूर्वमनुष्ठेयानि पश्चादयत्नलभ्यानि लिङ्गानि कानि तानीति पृच्छति— कैरिति । यथेष्टचेष्टाव्यावृत्त्यर्थं प्रश्नान्तरं— किमाचार इति । ज्ञानस्य गुणात्ययोपायस्योक्तत्वादुपायप्रकारजिज्ञासया प्रश्नान्तरं— कथमिति ॥ २१ ॥

३ रा. भा.— अथ गुणातीतस्य स्वरूपसूचनाचारप्रकारं गुणात्ययहेतुं च पृच्छन् अर्जुन उवाच— कैर्लिङ्गैरिति । सत्त्वादीन् त्रीन् गुणानेतानतीतः कैर्लिङ्गैः कैर्लक्षणैरुपलक्षितो भवति ? किमाचारः केनाचारेण युक्तोऽसौ ? अस्य स्वरूपावगतेर्लिङ्गभूताचारः कीदृश इत्यर्थः । कथं चैतान् केनोपायेन सत्त्वादींस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ? ।। २१ ।।

४ वे. ता. चं.— अत्र स्वावस्थानिरूपणार्थमर्जुनप्रश्नमवतारयति— अथेति । 'कैर्लिङ्गैः' 'किमाचारः' इत्यनयोरान्तरबाह्यरूपोपलक्षणपरत्वादेकराशित्वं 'कथं च' इत्युपायस्य पृथक्प्रश्नश्चेत्यभिप्रेत्याह स्वरूपसूचनाचारप्रकारं गुणात्ययहेतुं चेति । लिङ्गशब्दस्य वेषादावपि प्रयोगात्तस्य च 'न लिङ्गं धर्मकारणम्' इति गुणातीतोपलक्षणत्वायोगात् आन्तरशमाद्यसाधारणधर्मविवक्षामभिप्रेत्याह कैर्लक्षणैरिति । 'किमाचारः' इत्यस्य कोऽस्याचार इति बहुव्रीहिमभिप्रेत्याह केनाचारेण युक्तोऽसाविति । अत्राचारशब्दस्याव्यभिचारिबाह्यलिङ्गपरतामाह अस्य स्वरूपावगतेर्लिङ्गभूतेति । यद्यपि स्वसंवेद्यैरान्तरैः स्वस्मिन् गुणात्ययः प्रतीयेत, तथापि परेषु बाह्यैराचारैस्तदनुमानमिति तदर्थं पृथक्प्रश्न इति भावः । कथंशब्दस्यात्रोपायभूतप्रकारपरतायाः प्रतिवचनप्रकारेणावगतत्वात् प्रतिक्षेपपरतामनुष्ठानबाह्यफलदशाप्रकारपरतां च व्युदस्यति— केनोपायेनेति ॥ २१ ॥

५ आ. मा. भा.— ।। २१ ।।

६ ज. प्र. दी.— ॥ २१ ॥

७ ह. पै. भा.— कैरिति । लिङ्गैश्चिह्नैः । अतीतोऽतिक्रान्तः ।। २१ ।।

८ वें. ब्र. गि.— 'गुणानेतानतीत्यामृतमश्नुते' [१४।२०] इति श्रुत्वा गुणातीतलक्षणं बुभुत्सुः अर्जुन उवाच— कैरिति । हे प्रभो स्वामिन् ! एतान् त्रीन्गुणानतीतो भवति यः स कैर्लिङ्गैर्ज्ञेयः ? तल्लक्षणं किमित्यर्थः । ननु गुणातीतलक्षणं तदीयाचारस्तदीयगुणात्ययोपायसम्पत्तिश्चेति स्पष्टमेव, किमत्र पृच्छसि इत्याशङ्क्य तदेव पृच्छ्यत इत्याह— किमाचार इति । क आचारोऽस्येति किमाचारः, कथं च केनोपायेन त्रिगुणानेतानतीत्य वर्तते ? ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— अथ गुणातीतस्य लक्षणमाचारं गुणात्ययहेतुं च जिज्ञासुरर्जुन उवाच— कैर्लिङ्गैरिति । कैर्लक्षणैस्त्रीन् गुणानतीत उपलक्षितो भवति ? स किमाचारः ? कथं केनोपायेन हेतुरूपेण वा त्रीन् गुणानतिवर्त्तते ? इति ।। २१ ।।

१० पु. अ. त.— एवमेतांस्त्रीन् गुणानिति भगवतोक्तं, तेनान्येऽपि गुणाः सन्ति, यैरेतदतिक्रमो भवतीति विचार्याऽर्जुनस्तथैव विज्ञापयति— कैर्लिङ्गैरिति । हे प्रभो सर्वकरणसमर्थ ! कैर्लिङ्गैश्चिह्नैरेतान् बन्धनात्मकांस्त्रीन् गुणान् अतीतो भवति, अतिक्रमं कृत्वा अलौकिकदेहवान् भवतीत्यर्थः । ततो देहाप्त्यनन्तरं किमाचारः कीदृगाचारवान् ? च पुनः एतांस्त्रीन् गुणानतीत्य कथं केनोपायेन वर्त्तते ? तं कथयेत्यर्थः ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— प्रकृतितो मुक्तिप्रकारे उक्तेऽथ मुक्तलक्षणानि पृच्छन्नर्जुन उवाच— कैरिति । कैर्लिङ्गैश्चिह्नैस्त्रीन् गुणानेतान् व्याख्यातानतीतो भवति पुमान् ? हे प्रभो ! स च किमाचारः ? कोऽस्याचारः ? कथं केन च प्रकारेणैतांस्त्रीन् गुणानतिक्रम्य वर्तते ? ।। २१ ।।

गुणातीतत्वोपायः सलक्षणः ।

**श्रीभगवानुवाच— प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ! ।
न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति ॥ २२ ॥**

१ शां. भा.— गुणातीतस्य लक्षणं गुणातीतत्वोपायं चार्जुनेन पृष्टोऽस्मिन् श्लोके प्रश्नद्वयार्थं प्रतिवचनं भगवानुवाच — यत्तावत्कैर्लिङ्गैर्युक्तो गुणातीतो भवतीति तच्छृणु— **प्रकाशमिति** । प्रकाशं च सत्त्वकार्यं, प्रवृत्तिं च रजःकार्यं, मोहमेव च तमःकार्यं इत्येतानि न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि सम्यग्विषयभावेनोद्भूतानि— मम तामसः प्रत्ययो जातस्तेनाहं मूढः, तथा राजसी प्रवृत्तिर्ममोत्पन्ना दुःखात्मिका तेनाहं रजसा प्रवर्तितः प्रचलितः स्वरूपात्, कष्टं मम वर्तते योऽयं मत्स्वरूपावस्थानाद्भ्रंशः, तथा सात्त्विको गुणः प्रकाशात्मा मां विवेकित्वमापादयन्सुखे च सङ्गं जनयन्बध्नातीति तानि द्वेष्ट्यसम्यग्दर्शित्वेन । तदेवं गुणातीतो न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि । यथा च सात्त्विकादिपुरुषः सत्त्वादिकार्याण्यात्मानं प्रति प्रकाश्य निवृत्तानि काङ्क्षति, न तथा गुणातीतो निवृत्तानि काङ्क्षतीत्यर्थः । एतन्न परप्रत्यक्षं लिङ्गम् । किं तर्हि ? स्वात्मप्रत्यक्षत्वादात्मविषयमेवैतल्लक्षणम् । न हि स्वात्मविषयं द्वेषमाकाङ्क्षां वा परः पश्यति ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रश्नस्वरूपमनूद्य तदुत्तरं दर्शयति— **गुणातीतस्येति** । पृष्टो भगवानिति सम्बन्धः । किंवृत्तस्य त्रिधा प्रयोगदर्शनात् प्रश्नद्वयार्थमित्युपलक्षणं प्रश्नत्रयार्थमिति द्रष्टव्यम् । उत्तरमवतार्यानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **यत्तावदिति** । तानि सम्यग्दर्शी न द्वेष्टीत्युक्तमेव स्पष्टयितुं निषेध्यमसम्यग्दर्शिनो द्वेषं तेषु प्रकटयति— **ममेत्यादिना** । सम्यग्दर्शिनः सम्प्रवृत्तेषु प्रकाशादिषु द्वेषाभावमुपसंहरति— **तदेवमिति** 'न निवृत्तानीत्यादि व्याचष्टे— **यथा चेति** । तेषामनात्मीयत्वं सम्यक्पश्यन्नात्मानुकूलप्रतिकूलतारोपणेन नोद्विजते तेभ्यश्च न स्पृहयतीत्यर्थः । स्वानुभवसिद्धं गुणातीतस्य लक्षणमुक्तमित्याह— **एतन्नेति** । परप्रत्यक्षत्वाभावं प्रपञ्चयति— **न हीति** । आश्रयो विषयः ॥ २२ ॥

३ रा. भा.— आत्मव्यतिरिक्तेषु वस्तुस्वनिष्टेषु सम्प्रवृत्तानि सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि प्रकाशप्रवृत्तिमोहाख्यानि यो न द्वेष्टि, तथा आत्मव्यतिरिक्तेष्विष्टेषु वस्तुषु तान्येव निवृत्तानि न काङ्क्षति ॥ २२ ॥

४ वे. ता. चं.— **आत्मव्यतिरिक्तेष्वित्यादि— अयमभिप्रायः**— आत्मव्यतिरिक्तानि वस्तूनि द्विविधानि इष्टान्यनिष्टानि च; तत्रानिष्टतत्साधनेषु सम्प्रयुक्तेषु द्वेषः; इष्टतत्साधनेषु च निवृत्तेषु काङ्क्षेति लोकसिद्धम्; तत्रानिष्टेषु साध्येषु साधनतया सम्प्रवृत्तानि गुणकार्याणि यो न द्वेष्टि; इष्टेषु च साध्येषु साधनतया स्थित्वा विनिवृत्तानि पुनर्न काङ्क्षति । प्रकाशस्यानिष्टसाधनत्वं भयादिहेतुषु व्यक्तम्; इष्टसाधनत्वमनुकूलविषयेषु प्रवृत्तेरपथ्यभेषजादिषु मोहस्यानुकूलेषु प्रतिकूलबुद्धौ प्रतिकूलेषु वानुकूलबुद्धौ— इति । द्वेषकाङ्क्षयोः प्रतिषेधार्थप्रसङ्गसिद्ध्यर्थमिष्टानिष्टोक्तिः ॥ २२ ॥

५ आ. मा. भा.— प्रायो न द्वेष्टि न काङ्क्षति । तथा हि सामवेदे भाल्लवेयशाखायाम्— "रजस्तमसत्त्वगुणान्प्रवृत्तान्प्रायो न च द्वेष्टि न चापि काङ्क्षति । तथापि सूक्ष्मं सत्त्वगुणं च काङ्क्षेद्यदि प्रविष्टं सुतमश्च जह्यात्" इति । 'न हि देवा ऋषयश्च सत्त्वस्था नृपसत्तम ! । हीनाः सत्वेन सूक्ष्मेण ततो वैकारिका मताः ॥ कथं वैकारिको गच्छेत्पुरुषः पुरुषोत्तमम्' इति मोक्षधर्मे । 'सात्त्विकः पुरुषव्याघ्र ! भवेन्मोक्षार्थनिश्चितः' इति च ॥ २२ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' इत्यनेन गुणातीतस्य सर्वथा सत्त्वादिगुणकार्येषु प्रकाशादिषु द्वेषाकाङ्क्षे न स्त इत्युच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— **प्राय इति** । इदमुक्तं भवति— सत्त्वादयो गुणा द्विविधाः स्थूलाः सूक्ष्माश्च, तत्र स्थूलेभ्यो लौकिकाः प्रकाशप्रवृत्तिमोहाः जायन्ते; सूक्ष्मेभ्यस्तु परमेश्वरादिविषयाः । तत्राद्येषु गुणातीतस्य द्वेषाकाङ्क्षे प्रायो न स्तः । न तु सर्वथा प्रारब्धवशात्कदाचित्सम्भवात् । द्वितीयेषु तु आकाङ्क्षादिकं विद्यत एवेति कुत एतत् ? इत्यत आह— **तथा हीति** । यद्यपि 'न द्वेष्टि' इत्यादिकमुक्तम्, तथापि यदि सुतमः सूक्ष्मतमो दैववशात्तं प्रविष्टं स्यात्, तदाऽसौ तज्जह्यात् द्विष्यात् । गुणातीतानां च सूक्ष्मसत्त्वसद्भावे भारतवाक्यं च पठति— **नहीति** । यदि देवा ऋषयश्च सूक्ष्मेण सत्त्वेन हीनाः स्युः, तदा सत्त्वस्था इति नोच्येरन्, किन्तु ततस्तदा वैकारिका मताः प्रसज्येरन्, ततः किं कथं वैकारिको गच्छेत्

पुरुषोत्तमम् ? तेषां मोक्षो न स्यादिति यावत् । अस्ति च तेषां मोक्षोऽतः सूक्ष्मसत्त्ववन्त एव त इत्यर्थः । सात्त्विकः सूक्ष्मसत्त्ववान् । 'ससूक्ष्मसत्त्वसंयुक्तः संयुक्तस्त्रिभिरक्षरैः । पुरुषं गच्छेन्निष्क्रियः पञ्चविंशकः ॥' इति सूक्ष्मसत्त्वप्रकरणात् । मोक्षार्थनिश्चितः मोक्षलक्षणे पुरुषार्थे निश्चितः ॥ २२ ॥

**७ ह. पै. भा.— प्रकाशमिति ॥ २२ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— तत्र द्वितीयाध्याये 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' [ २।५४ ] इत्यादिना पूर्वमेव पृष्टमपि 'प्रजहाति यदा कामान्' [ २।५५ ] इत्यादिना दत्तोत्तरमपि पुनर्विशेषबुभुत्सयाऽयं पृच्छतीत्यवधार्य प्रकारान्तरेण तल्लक्षणं पञ्चभिः **श्रीभगवानुवाच- प्रकाशमिति** । प्रकाशं सत्त्वकार्यं, प्रवृत्तिं रजःकार्यं, मोहं च तमःकार्यम् । उपलक्षणमेतत् । सर्वाण्यपि गुणकार्याणि यथायथं सम्प्रवृत्तानि स्वतः प्राप्तानि सन्ति दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, निवृत्तानि च सन्ति सुखबुद्ध्या यो न काङ्क्षति, स रागद्वेषशून्यो गुणातीत उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः ॥ २२ ॥

**९ व० व० दी०**— तदा श्रीभगवांस्तत्स्वरूपमाचारं गुणातीततां च लक्षयन्नाह चतुर्भिः— प्रकाशं चेत्यादिभिः । प्रकाशः सात्त्विकः, प्रवृत्ती राजसी, मोहस्तामस इत्येतानि त्रिगुणकार्याणि अनात्मसु प्रवृत्तानि न द्वेष्टि, यदि निवृत्तानि च तथापि न काङ्क्षति, अथवा प्रकाशं कर्माणि च निवृत्तानि न काङ्क्षति, कर्मप्रवृत्तिं मोहं च न द्वेष्टि, प्रवृत्तानि च कर्माण्यपीति ॥ २२ ॥

**१० पु. अ. त.**— अत्रोत्तरं मद्गुणैरेव सर्वं भवतीति ज्ञापनाय गुणसङ्ख्याकैः श्लोकैराह भगवान्- **प्रकाशं** चेति । प्रकाशं सर्वद्वारेष्वलौकिकानुभवसिद्ध्यर्थं मदीयालौकिकमत्स्वरूपात्मकसत्त्वोपस्थापितालौकिकानुकरणात्मकलौकिकरूपम् । इदमेव चकारेण व्यञ्जितम् । च पुनः तथैव प्रवृत्तिं, चस्त्वर्थे । तथाच महदनुभवरससिद्ध्यर्थं विप्रयोगलयात्मकरूपं मोहमेव केवलं मोहं वा, एतादृक्श्रवणेऽपि भयाभावाय हे पाण्डव ! न द्वेष्टि मदिच्छागतानलौकिकान् लौकिकस्वरूपान् । किञ्चैवं सात्त्विकादित्रयाण्येव कार्याणि प्रवृत्तानि मदिच्छया प्राप्नोति । अतएव स्वतः प्रवृत्तिरुक्ता । स्वेच्छात्वज्ञापनाय लौकिकत्वेन प्रतिबन्धकतया न द्वेष्टि तत्त्यागाय यत्नं न करोति । तथैव मदिच्छाभावे निवृत्तानि न काङ्क्षति; स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थश्लोकेनाऽन्वयः ॥ २२ ॥

**११ नी० भा० दी०**— तत्राद्यस्योत्तरमाह— प्रकाशमिति । प्रकाशप्रवृत्तिमोहाः सत्त्वरजस्तमसां कार्याणि व्युत्थानावस्थायां तानि सम्यक् प्रवृत्तानि 'सामान्ये नपुंसकं' तान्सम्प्रवृत्तान् न द्वेष्टि । नापि समाध्यवस्थायां तानि निवृत्तानि सन्ति काङ्क्षति । सोऽयं नित्यसमाधिस्थो ब्रह्मविद्वरिष्ठः यं प्रकृत्य श्रीभागवते स्मर्यते—'देहं च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा सिद्धो न पश्यति' [११।१३।१६ ] इति । अत्र वासिष्ठे सप्तयोगभूमय उक्ताः— 'ज्ञानभूमिः शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता । विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥ सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात्ततोऽसंसक्तिनामिका । पदार्थाभावनी षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता' इति । तत्र यथोक्ता साधनसम्पत्त मुमुक्षान्ता प्रथमा । श्रवणमननाख्यविचारात्मिका द्वितीया । निदिध्यासनरूपा तृतीया । एताः साधनभूमयः । सत्त्वापत्तिर्ब्रह्मसाक्षात्काररूपा चतुर्थी फलभूता, यस्यां योगी कृतार्थोऽपि जीवन्मुक्तिसुखं पुष्कलं नानुभवति । परास्तिस्रो जीवन्मुक्तेरवान्तरभेदाः । तत्रापि पञ्चम्यां भूमौ स्वयं स्थितः स्वयमेव व्युत्तिष्ठति; षष्ठ्यां परप्रयत्नेन, सप्तम्यां तु न स्वतः परतो वा व्युत्तिष्ठति सोऽयं नित्यसमाधिस्थः 'प्रकाशं' इत्यनेन श्लोकेनोक्तः ॥ २२ ॥

## उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
## गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥ २३ ॥

**१ शां. भा.**— अथेदानीं 'गुणातीतः किमाचारः' [ १४।२१ ] इति प्रश्नस्य प्रतिवचनमाह— **उदासीनवदिति** । उदासीनवत्, यथोदासीनो न कस्यचित्पक्षं भजते, तथाऽयं गुणातीतत्वोपायमार्गेऽवस्थित आसीन आत्मविद्गुणैर्यः सन्न्यासी न विचाल्यते विवेकदर्शनावस्थातः । तदेतत्स्फुटीकरोति— गुणाः कार्यकरणविषयाकारपरिणता अन्योन्यस्मिन्वर्तन्त इति योऽवतिष्ठति । छन्दोभङ्गभयात्परस्मैपदप्रयोगः । 'योऽनुतिष्ठति' इति वा पाठान्तरम् । नेङ्गते न चलति; स्वरूपावस्थ एव भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— कैर्लिङ्गैरित्यादि परिहृत्य द्वितीयं प्रश्नं परिहरति— अथेति। दृष्टान्तं व्याचष्टे— यथेति। उपेक्षकस्य पक्षपाते तत्त्वायोगादित्यर्थः। आत्मविदात्मकौटस्थ्यज्ञानेनाऽऽसीनो निवृत्तकर्तृत्वाभिमानोऽप्रयतमानो भवतीति दार्ष्टान्तिकमाह— तथेति। गुणातीतत्वोपायमार्गो ज्ञानमेव। शब्दादिभिर्विषयैरस्य कूटस्थत्वज्ञानात्प्रच्यवनमाशङ्क्याऽऽह— गुणैरिति। उपनतानां विषयाणां रागद्वेषद्वारा प्रवर्तकत्वमित्येतत्प्रपञ्चयति— तदेतदिति। योऽवतिष्ठति स गुणातीत इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। अवपूर्वस्य तिष्ठतेरात्मनेपदे प्रयोक्तव्ये कथं परस्मैपदं? इत्याशङ्क्याऽऽह— छन्दोभङ्गेति। पाठान्तरे तु बाधितानुवृत्तिमात्रमनुष्ठानम्। करणाकारपरिणतानां गुणानां विषयाकारपरिणतेषु तेषु प्रवृत्तिर्न ममेति पश्यन्नचलतया कूटस्थदृष्टिमात्मनो न जहातीत्याह— नेङ्गत इति॥ २३॥

३ रा. भा.— उदासीनवदासीनः गुणव्यतिरिक्तात्मावलोकनतृप्त्या अन्यत्रोदासीनवदासीनः गुणैर्द्वेषाकाङ्क्षाद्वारेण यो न विचाल्यते, गुणाः स्वेषु कार्येषु प्रकाशादिषु वर्तन्त इत्यनुसन्धाय यस्तूष्णीमवतिष्ठते, नेङ्गते न गुणकार्यानुगुणं चेष्टते॥ २३॥

४ वे. ता. चं.— कथं तर्ह्येते? कथं च सशरीर इष्टानिष्टसाधनसम्पत्तौ न विक्रियेत? इत्यत्रोत्तरं उदासीनवदिति। आत्मव्यतिरिक्तौदासीन्यं च गुणकार्यद्वेषकाङ्क्षानिवृत्तिहेतुः। न विचाल्यते बाह्यविषयेषु कार्यद्वारा न प्रवर्तेत इत्यर्थः। अविचाल्यत्वविवरणाय द्वेषाकाङ्क्षाद्वारेणेति विचलनप्रकारोक्तिः। 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते' [३।२८] इत्युक्तस्य 'गुणा वर्तन्ते' इत्यस्य चैकार्थ्यं दर्शयन्नविचाल्यताहेतुमाह गुणाः स्वेषु कार्येष्विति। इतिकरणमनुसन्धानप्रकारपरमित्याह अनुसन्धायेति। एवकाराभिप्रेतमाह तूष्णीमिति। छन्दोभङ्गभयादार्षं परस्मैपदमित्याह— तूष्णीमवतिष्ठत इति। स्वकार्यप्रवृत्तैः किमेभिर्ममेति भावः। तदेतदौदासीन्यविवरणम्। 'न विचाल्यते' इत्यनेन 'नेङ्गते' इति विवृतम्। तदाह— न गुणकार्यानुगुणं चेष्टत इति। न द्वेषकाङ्क्षानुगुणं प्रवर्तेत इत्यर्थः॥ २३॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २३॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २३॥

७ ह. पै. भा.— उदासीनवदिति। नेङ्गते न चाल्यते। कार्यकारणसङ्घातविषयरूपपरिणताः गुणेषु वर्तन्त इति योऽवतिष्ठति यः प्रतिपद्यते स न चलति॥ २३॥

८ चं. ब्र. गि.— आचाररूपं लक्षणान्तरमाह— उदासीनवदिति। यथा हि द्वयोः कलहायमानयोरवलोकयिता तटस्थः केवलमुदास्ते, न तु तदीयजयपराजयाभ्यामितस्ततश्चाल्यते, तथैवासीनो यो गुणैः सुखदुःखात्मना परिणतैर्न विचाल्यते, स गुणातीतः। एतदेवोत्तरार्धेन विवृणोति— गुणा इति। गुणा एव स्वकार्येषु प्रवर्तन्ते, न त्वहं निर्विकारः; ततो मम न तैः सह सम्बन्धोऽस्तीति ज्ञानेन तूष्णीमेवावतिष्ठते। अनेन 'उदासीनवदासीनः' इत्येतद्विवृतम्। 'गुणैर्यो न विचाल्यते' इत्येतद्विवृणोति— नेङ्गते न चलति, न हर्षविषादाकुलो भवतीति यावत्। अवपूर्वस्य तिष्ठतेः 'समवप्रविभ्यः स्थः' [अष्टा. १।३।२२] इत्यात्मनेपदविधानादवतिष्ठतीति परस्मैपदमार्षम्। 'योऽनुतिष्ठति' इति क्वचित्पाठान्तरमस्तीति (शां.) भाष्ये लिखितम्॥ २३॥

९ व० त० दी०— उदासीनवदिति। गुणातिरिक्तात्मावलोकनतृप्तत्वात् अन्यत्रानात्मवस्तुनि उदासीनवदासीनः द्वेषाकाङ्क्षाद्वारेण गुणैश्च यो न विचाल्यते, किन्तु स्वकार्येषु प्रकाशादिषु गुणा वर्त्तन्त इति तिष्ठति; न गुणानुगुणं स्वात्मना चेष्टते॥ २३॥

१० पु. अ. त.— एवं लिङ्गोत्तरमुक्त्वा आचारोत्तरमाह— उदासीन इति। उदासीनवत् सुखदुःखप्राप्त्यभावराहित्येन मत्कृतिं साक्षिरूपेण पश्यन्नासीनो गुणैर्लौकिकैर्मत्कृतिं पश्यन्नात्मस्वरूपान्न विचाल्यते। किञ्च गुणाः भगवदात्मकाः गुणेषु स्वकार्येषु वर्तन्ते स्वत एव भगवदिच्छयेत्येवं प्रकारेणैवावतिष्ठति, नेङ्गते न चलति पूर्वरूपात्॥ २३॥

११ नी० भा० दी०— अथ षष्ठ्यां पदार्थाभावन्यां गतो ब्रह्मविद्वरीयानुच्यते— उदासीनवदिति। योऽयं समाधावुदासीन इवास्ते व्युत्थाने किमपि प्रयोजनमपश्यन् इदं मम कर्तव्यमस्तीति वासनाशून्यत्वात् य आस्ते एव; न तु परप्रयत्नमन्तरेण कदाचिदपि गुणैर्विचाल्यते। परेण व्युत्थापितोऽपि गुणान् पश्यन् 'गुणा वर्तन्ते' इत्येव ज्ञात्वा योऽवतिष्ठति स्तब्ध एव वर्तते, न तु गुणकृतैरिष्टानिष्टस्पर्शैरिङ्गते चलति। अयमर्थः— यथा कश्चिद्भुञ्जानो रसनामौढ्यात् स्वयं शाकादिरसं न विन्दति, परेण ज्ञापितोऽपि कश्चिद्रसविशेषमुपलभ्यापि तत्रोदासीन एवास्ते, झटित्येव विशेषदर्शनस्य तिरोधानात् न तत्कृतं सुखं दुःखं वा पश्यति, तद्वदयं ज्ञेयः॥२३॥

**समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।**
**तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥**
**मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।**
**सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥**

**१ शां. भा.—** किञ्च— समदुःखेति । समदुःखसुखः समे दुःखसुखे यस्य स समदुःखसुखः । स्वस्थः स्व आत्मनि स्थितः प्रसन्नः । समलोष्टाश्मकाञ्चनः, लोष्टं चाश्मा च काञ्चनं च समानि यस्य स समलोष्टाश्मकाञ्चनः । तुल्यप्रियाप्रियः, प्रियं चाप्रियं च प्रियाप्रिये, तुल्ये समे प्रियाप्रिये यस्य सोऽयं तुल्यप्रियाप्रियः । धीरो धीमान् । तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः निन्दा चाऽऽत्मसंस्तुतिश्च निन्दात्मसंस्तुती, तुल्ये निन्दात्मसंस्तुती यस्य यतेः स तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥ २४ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** गुणातीतस्य लिङ्गान्तरमाह— **किञ्चे**ति । तयोः समत्वं रागद्वेषानुत्पादकतया स्वकीयत्वाभिमानानास्पदत्वम् । प्रसन्नत्वं स्वास्थ्यादप्रच्युतिरविक्रियत्वम् । विद्वदृष्ट्या प्रियाप्रिययोरसम्भवेऽपि लोकदृष्टिमाश्रित्याऽऽह— **प्रियं चे**ति । प्रियाप्रियग्रहणेन गृहीतानां काञ्चनादीनां ब्राह्मणपरिव्राजकवत्पृथग्ग्रहणम् । निन्दा दोषोक्तिः, आत्मसंस्तुतिरात्मनो गुणकीर्तनम् ॥ २४ ॥

**१ शां. भा.—** किञ्च— मानापमानयोस्तुल्यः समो निर्विकारः । तुल्यो मित्रारिपक्षयोः, यद्यप्युदासीना भवन्ति केचित्स्वाभिप्रायेण, तथापि पराभिप्रायेण मित्रारिपक्षयोरिव भवन्तीति । अयं तु तुल्यो मित्रारिपक्षयोरित्याह । सर्वारम्भपरित्यागी दृष्टादृष्टार्थानि कर्माण्यारभ्यन्त इत्यारम्भाः, सर्वानारम्भान्परित्यक्तुं शीलमस्येति सर्वारम्भपरित्यागी, देहधारणमात्रनिमित्तव्यतिरेकेण सर्वकर्मपरित्यागीत्यर्थः । गुणातीतः स उच्यते ॥ २५ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** इतश्च गुणातीतः शक्यो ज्ञातुमित्याह— **किञ्चे**ति । मानः सत्कारस्तिरस्कारोऽपमानः । परदृष्ट्या यौ सखिशत्रू तयोः पक्षयोर्निर्विशेषो न कस्यचित्पक्षे तिष्ठतीत्याह— **तुल्य** इति । विदुषो मित्रादिबुद्ध्यभावात्तुल्यो मित्रारिपक्षयोरित्ययुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **यद्यपी**ति । सर्वकर्मत्यागे देहधारणमपि निमित्ताभावान्न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **देहे**ति । उक्तविशेषणो गुणातीतो ज्ञातव्य इत्याह— **गुणातीत** इति ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.—** समदुःखसुखः सुखदुःखयोः समचित्तः, स्वस्थः स्वस्मिन् स्थितः स्वात्मैकप्रियत्वेन तद्व्यतिरिक्तपुत्रादिजन्ममरणादिसुखदुःखयोः समचित्त इत्यर्थः । तत एव समलोष्टाश्मकाञ्चनः; तत एव च तुल्यप्रियाप्रियः तुल्यप्रियाप्रियविषयः; धीरः प्रकृत्यात्मविवेककुशलः; तत एव तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः आत्मनि मनुष्यत्वाद्यभिमानकृतगुणागुणनिमित्तस्तुतिनिन्दयोः स्वासम्बन्धानुसन्धानेन तुल्यचित्तः, तत्प्रयुक्तमानावमानयोः तत्प्रयुक्तमित्रारिपक्षयोरपि स्वसम्बन्धाभावादेव तुल्यचित्तः, तथा देहित्वप्रयुक्तसर्वारम्भपरित्यागी; य एवम्भूतः स गुणातीत उच्यते ॥ २४ ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.—** समदुःखसुखत्वादिकं प्रागेव सुशिक्षितम् , स्वस्थशब्देन विकाररहित्यगुणाननुविधानादिमात्रप्रतिपादनं पुनरुक्तम् ; आत्मनिष्ठताविधानं तु बहुविधसमचित्तताप्रतिपादने हेतुतयोपयुक्तमित्यभिप्रायेणाह **स्वस्मिन् स्थित** इति । तदभिप्रेतमाह **स्वात्मैकप्रियत्वेने**ति । सुखदुःखप्रियाप्रियादिशब्दानामनतिभिन्नार्थानामपि लोकव्यवहारच्छायया पुनरुक्तिः परिहृता । **तत एव** स्वस्थत्वादेवेत्यर्थः । प्रियाप्रियोपनतावक्षोभ्यत्वादेस्तुल्यप्रियाप्रियादिशब्दैः सिद्धत्वादत्र विवक्षितं धीविशेषवत्त्वलक्षणं धीरत्वं निन्दास्तुतिसाम्यादौ यथा हेतुर्भवति, तथा विशिनष्टि **प्रकृत्यात्मविवेककुशल** इति । 'धीरः' इत्यन्तैरान्तरलक्षणान्युक्तानि । अथ बाह्याचारलिङ्गप्रश्नोत्तरमित्यभिप्रायेणाह **तत एव तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिरि**ति । 'समदुःखः' इत्यादिकं बाह्यलिङ्गपरमिति केचित् । स्तुतिनिन्दे हि गुणदोषख्यापनरूपे; तत्र विविक्तात्मदर्शिनो

देहगतैः सौन्दर्यवैरूप्यादिगुणदोषैः स्तुतिनिन्दाप्रवृत्तौ परस्तुतिनिन्दयोरिव न प्रीत्यादिसम्भव इत्याह— आत्मनीति । 'मूर्खाः पूजितपूजकाः (लोकः पूजितपूजकः)' [म. भा. ५।३३।५५] इति न्यायेन लौकिकाः स्तुवन्तं मानयन्ति, निन्दकमवमन्यन्ते; मानावमानप्रकाराश्च लोकव्यवहारतः शास्त्रतश्च सिद्धाः । तत्र 'मानयितारो मित्राणि भवन्ति, अवमन्तारस्त्वरयः' इति लोकदृष्टक्रमविवक्षामाह— तत्प्रयुक्तेति । वाचिकस्तुतिनिन्दयोः पृथगुपादानादत्र मानावमानशब्दौ मानसकायिकविषयौ । समबुद्धेरपि गुणातीतस्य परबुद्धिकल्पितौ मित्रारिपक्षौ विद्येते । आरभ्यत इत्यारम्भः कर्म, कृतप्रतिकृतादिरूपः । अपवर्गार्थारम्भव्यवच्छेदायाह देहित्वप्रयुक्तेति, सांसारिकसर्वारम्भपरित्यागीत्यर्थः । एतदेव बाह्याचारलिङ्गम् । आन्तरैर्द्वेषादिभिर्बाह्यैरारम्भपरित्यागादिभिश्च गुणातीतो लक्ष्यते । त एव च गुणात्ययोपाया इति प्रश्नत्रयं प्रत्युक्तं भवति ॥ २४ ॥ २५ ॥

५ आ. मा. भा.— तुल्यत्वार्थ उक्तः पुरस्तात् ॥ २४ ॥ २५ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'समदुःखसुखः' [१४।२४] इत्यादिना सर्वथा सुखादौ तुल्यत्वबुद्धिरुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— तुल्यत्वेति । तुल्यत्ववाचिनः शब्दस्यार्थ इत्यर्थः । प्रायः सर्वानित्याद्युक्तरीत्येति भावः ॥ २४ ॥ २५ ॥

७ ह्. पै. भा.— समेति । स्वस्मिन्नात्मनि तिष्ठतीति स्वस्थः । धीरो धीमान् ॥ २४ ॥ किञ्च— मानेति । देहेन्द्रियविषयाकारपरिणतान्गुणानतीतोऽतिक्रान्तस्तेषु निस्स्पृहः ॥ २५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च, हर्षविषादजनकत्वाभावात्समे दुःखसुखे यस्य स तथोक्तः । तत्र हेतुः— स्वस्थः स्वस्मिन् स्वरूप एव निरतिशयानन्दात्मके स्थितः, अतएव हेयोपादेयराहित्यात्समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य स तथोक्तः, अत एव च तुल्ये प्रियाप्रिये सुखदुःखसाधने यस्य सः । स्वस्थत्वे हेतुः— धीरः धीमान् निर्विशेषाद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानवान् , अतएव तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः विद्याभिजनसम्पत्त्यादिगुणतदभावनिबन्धनस्तुतिनिन्दयोर्निर्विशेषशुद्धचिन्मात्ररूपे स्वस्मिन्नसम्बन्धानुसन्धानेन तुल्यचित्तः, अत एव स्तुतिनिन्दाप्रयुक्तमानावमानयोस्तत्प्रयुक्तमित्रारिपक्षयोश्च स्वसम्बन्धाभावादेव तुल्यचित्तः । तथा सर्वारम्भान् सर्वकर्माणि परित्यक्तुं शीलमस्येति तथोक्तः । एवमुदासीनवदासीन इत्याद्युक्तप्रकाराचारलक्षणो यः, स गुणातीत इत्युच्यते ॥ २४ ॥ २५ ॥

९ ब० त० दी०— समेति । गुणकार्येषु हर्षद्वेषशून्यतया स लक्ष्य इत्युक्ते समत्वं योगो हेतुरिति साङ्ख्ययोगसारभूतमर्थं स्मारयति । समे दुःखसुखे रजस्सत्त्वकार्ये यस्य । तत्र हेतुः— स्वस्थ आत्मस्थ इति । समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि हेयतया यस्य, सर्वत्र समभूतस्य ॥ २४ ॥ मानापमानयोरिति । देहित्वप्रयुक्तसर्वारम्भपरित्यागी च यः, एवम्भूतः स गुणातीत उच्यते ज्ञानमार्गीयः ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च समदुःखसुखः समे दुःखसुखे विप्रयोगसंयोगात्मके लौकिकालौकिकदेहरूपे वा यस्य सः । स्वस्थः मत्स्वरूपे स्थितः । अतएव समलोष्टाश्मकाञ्चनः समानि लोष्टाश्मकाञ्चनानि यस्य, सर्वस्य भगवदात्मकत्वात्तादृशः । तुल्यप्रियाप्रियः तुल्ये प्रियाप्रिये संयोगवियोगात्मके यस्य सः । भगवदिच्छाया एव मुख्यत्वादुभयोस्तुल्यत्वम् । धीरः विप्रयोगादितीक्ष्णदुःखसहनशीलः । तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः तुल्या निन्दा आत्मसंस्तुतिश्च यस्य । अयं भावः— दुष्टकृता निन्दाऽपि भक्तत्वेन स्तुतिप्रायैव ॥ २४ ॥ किञ्च मानापमानयोस्तुल्यः भगवत्कृतमानापमानयोः स्वीयत्वेन कृतत्वात्तुल्यः । तुल्यो मित्रारिपक्षयोः, भगवदीयेन तदीयत्वेन, मित्रपक्षे कृते तुल्यः भगवदीयभावेन; अरिपक्षे आसुरैर्भगवदीयत्वेन विचारिते भगवदीयत्वेन तथा विचारयन्तीति तेषामुचितमेवेति तद्दोषाविचारकत्वात्तुल्यः । सर्वारम्भपरित्यागी सर्वेषां पदार्थानामारम्भाणां दृष्टप्रत्ययानां परित्यजनशीलवान् । एवमाचारवान् यः स गुणातीत उच्यते, कथ्यत इत्यर्थः ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— अथ पञ्चम्यां भूमावसंसक्तिनामिकायां स्थितो ब्रह्मविद्वर उच्यते— समेति । समाधौ समे दुःखसुखे यस्य स समदुःखसुखः । स्वस्थः स्वेनैव स्वेच्छयैव तिष्ठतीति स्वस्थः । यदा तु न समाधाविच्छा तदा स्वयमेव व्युत्तिष्ठतीति भावः । सोऽपि व्युत्थानावस्थायां समलोष्टाश्मकाञ्चनः, विरक्त इत्यर्थः । तुल्यप्रियाप्रियः तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिश्च प्रियाप्रिययोर्निन्दास्तुत्योश्च प्राप्तौ तुल्यो हर्षविषादशून्यः । अत्र हेतुर्धीर इति । यथा कश्चिच्छूरस्तीव्रप्रहारवेदनार्तोऽपि न व्यामुह्यति, धैर्याद्वेदनां चानुभवति; तद्वदयं हर्षविषादावनुभवन्नपि धैर्यान्न चलति । पूर्वस्य तु जातायामपि वेदनायां हर्षाद्युदय एव नास्ति, तत्पूर्वस्य तु वेदनैव नास्तीति भेदः । एतेन

श्लोकत्रयेण सर्वेषां जीवन्मुक्तानां समाधौ लिङ्गानि तत्संवेद्यान्याचाराश्च परसंवेद्यानि लिङ्गान्युक्तानि ॥ २४ ॥
अथ चतुर्थ्यां भूमौ सत्त्वापत्तिसंज्ञायां स्थितस्य योगिनः समाधिसुखाभावेन स्वसंवेद्यलिङ्गाभावात्तत्त्वनिश्चयेन द्वैतस्य बाधाल्लिङ्गमाचारश्च परसंवेद्य एव, तदाह- मानेति । यथा हि परीक्षकः कूटकार्षापणस्य लाभे विनाशे वा हर्षविषादशून्यः, न च तल्लाभार्थं यत्नमारभते; मूढस्तु ताभ्यां बाध्यते, तल्लाभार्थं यत्नं चारभते । एवं विद्वान् द्वैतं मरुमरीचिकाह्रदसमानं पश्यन् तत्र मानापमानयोर्वा मित्रारिपक्षयोर्वा तुल्य एव, न त्वन्यतरला-भाय परिहाराय वा यत्नमारभते; अतो गुणातीत इत्युच्यते । सर्वत्र पदार्थः स्पष्टः ॥ २५ ॥

अव्यभिचारो भक्तियोग एव गुणातीतत्वप्राप्त्युपायान्तरम् ।

**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।**
**स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ २६ ॥**

१ **शां. भा.**— 'उदासीनवत्' इत्यादि 'गुणातीतः स उच्यते' इत्येतदन्तमुक्तं यावद्यत्नसाध्यं तावत्सन्न्यासिनोऽनुष्ठेयं गुणातीतत्वसाधनं मुमुक्षोः; स्थिरीभूतं तु स्वसंवेद्यं सद्गुणातीतस्य यतेर्लक्षणं भवतीति; अधुना कथं च त्रीन्गुणानतिवर्तत इत्यस्य प्रश्नस्य प्रतिवचनमाह— **मामिति** । मां चेश्वरं नारायणं सर्वभूतहृदयाश्रितं यो यतिः कर्मी वाऽव्यभिचारेण न कदाचिद्यो व्यभिचरति भक्तियोगेन भजनं भक्तिः, सैव योगस्तेन भक्तियोगेन सेवते, स गुणान् समतीत्यैतान्यथोक्तान् ब्रह्मभूयाय भवनं भूयः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावनाय मोक्षाय कल्पते, समर्थो भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— यदुक्तमुपेक्षकत्वादि तद्विद्योदयात्पूर्वं यत्नसाध्यं विद्याधिकारिणा ज्ञानसाधनत्वेनानुष्ठेयम्; उत्पन्नायां तु विद्यायां जीवन्मुक्तस्योक्तधर्मजातं स्थिरीभूतं स्वानुभवसिद्धलक्षणत्वेन तिष्ठतीत्युक्ते धर्मजाते विभागं दर्शयति— **उदासीनवदि**त्यादिना । प्रश्नद्वयमेवं परिहृत्य तृतीयं प्रश्नं परिहरति— **अधुने**ति । मच्छब्दस्य संसारिविषयत्वं व्यावर्तयति— **ईश्वरमि**ति । तत्रैव नारायणशब्दान्मूर्तिभेदो व्यावर्त्यते; तस्य ताटस्थ्यं व्यवच्छिनत्ति— **सर्वे**ति । मुख्यामुख्याधिकारिभेदेन विकल्पः । भक्तियोगस्य यादृच्छिकत्वं व्यवच्छेत्तुमव्यभिचारेणेत्युक्तम्; तद्याचष्टे— **ने**ति । भजनं परमप्रेमा, स एव युज्यतेऽनेनेति योगः । सेवते पराक्चित्ततां विना सदाऽनुसन्दधातीत्यर्थः । स भगवदनुग्रहकृतसम्यग्धीसम्पन्नो विद्वाञ्जीवन्नेवेत्यर्थः ॥ २६ ॥

३ **रा. भा.**— अथैवंरूपगुणात्यये प्रधानहेतुमाह— **मामिति** । 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' [ १४।१९ ] इत्यादिनोक्तेन प्रकृत्यात्मविवेकानुसन्धानमात्रेण न गुणात्ययः सम्पत्स्यते, तस्यानादिकालप्रवृत्तविपरीतवासनाबाध्यत्वसम्भवात्, मां सत्यसङ्कल्पं परमकारुणिकमाश्रितवात्सल्यजलधिं अव्यभिचारेण ऐकान्त्यविशिष्टेन भक्तियोगेन च यः सेवते, स एतान् सत्त्वादीन् गुणान् दुरत्ययान् अतीत्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय कल्पते ब्रह्मभावयोग्यो भवति, यथावस्थितमात्मानममृतमव्ययं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

४ **वे. ता. चं.**— तत्र 'मां च' इतिश्लोकेन पृथगुपायविधिशङ्काव्युदासायाह- **अथे**ति । गुणात्ययहेतुषु अप्रधानकथनानन्तरमित्यर्थः । अत एव हि **प्रधानहेतुमाहे**त्युक्तम् । **नान्यमि**त्यादि दृष्टद्वारोपकारकाणां प्रतिबन्धकभूयस्तया केवलानां न कार्यकरत्वमिति भावः । 'माम्' इत्यनेन वासनापर्यन्तानादिप्रतिबन्धकप्रशमनौपयिकगुणयोगविवक्षामाह— **सत्यसङ्कल्पमि**त्यादिना । 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' [ ब्र. सू. ३।२।५ ] इति सूत्रोक्तप्रकारेण बन्धसङ्कल्पवत्तन्निवर्तनसङ्कल्पोऽपि परमात्मनो न प्रतिहन्येतेति भावः । सत्यसङ्कल्पस्यापि समत्वादौदासीन्यपरिहाराय परमकारुणिकत्वोक्तिः । सदोषेषु संसारिषु करुणायाः कोऽवकाशः ? इत्यत्राह **आश्रितवात्सल्यजलधिमि**ति । एवं निग्रहानुग्रहसाधारणस्य सत्यसङ्कल्पत्वस्य अनुग्रहप्रावण्यप्रदर्शनार्थं कारुण्यवात्सल्यरूपगुणद्वयमुक्तम् । अव्यभिचारो देवतान्तरादिपरित्यागरूप इत्यभिप्रायेणाह **ऐकान्त्यविशिष्टेने**ति । भक्तियोगेन सह तदङ्गानां पूर्वोक्तानां समुच्चयार्थश्चशब्दः । तैरपि परमात्मैव हि सेव्यते । 'एतान्' इत्यनेन गुणानां बन्धकत्वं पूर्वोक्तं परामृश्यत इत्यभिप्रायेणाह **दुरत्ययानि**ति । एतेन 'दैवी ह्येषा गुणमयी' [ ७।१४ ] इत्यादिश्लोकोक्तमपि स्मारितम् । 'कल्पते' इत्यनेनाभिप्रेतमाह **ब्रह्मभावयोग्यो**

भवतीति । कोऽसौ जीवस्य ब्रह्मभावः ? का च तद्योग्यता ? इत्यत्राह यथावस्थितमिति । 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' [ १८।५४ ] इत्यादिष्विव अमृतत्वाव्ययत्वादिभिर्ब्रह्मसाम्यमेव श्रुत्यादिसिद्धमिह ब्रह्मभावः; तच्च ब्रह्मसमं रूपं 'जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते' [ १४।२० ] 'देहे देहिनमव्ययम्' [ १४।५ ] इत्यादिभिरिहैवोक्तम् । अनन्तरश्लोके च 'अमृतस्याव्ययस्य च' [ १४।२७ ] इति विशेष्यत इति भावः । साङ्गैकान्तिकभक्तियोगेन सेवितोऽहमेव मुमुक्षोर्मोक्षप्रद इत्युक्तं भवति ॥ २६ ॥

५ आ. मा. भा.— ब्रह्मवत्प्रकृतिवद्भगवत्प्रियत्वं ब्रह्मभूयम् । न तु तावत्प्रियत्वं, किन्तु प्रियत्वमात्रम् । 'बद्धा वापि तु मुक्ता वा न रमावत्प्रिया हरेः' इति पाद्मे । भूयाय भवाय ॥ २६ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'ब्रह्मभूयाय' इत्यस्य परब्रह्मत्वायेति व्याख्यानं प्रमाणविरुद्धमिति भावेनान्यथा व्याचष्टे— ब्रह्मवदिति । नात्र ब्रह्मशब्दं परं ब्रह्म, किन्तु 'मम योनिर्महद्ब्रह्म' [ १४।३ ] इति प्रकृता प्रकृतिरेव; 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं' [ १३।२७ ] इत्युत्तरवाक्यात् । तद्भूयं च न तादात्म्यं, किन्तु तद्वद्भगवत्प्रियत्वमेव; अन्यस्यान्यभावायोगादिति भावः । तत्किं यावत्प्रकृतेर्भगवत्प्रियत्वं तावद्गुणातीतस्येत्यतः सप्रमाणमाह— न त्विति । तत्किं भूयशब्दः प्रियत्ववाची येनैवं व्याख्यायते ? इत्यत आह— भूयायेति । भुवो भाव इति वचनाद्भावो भवनं भूयशब्दार्थः । ब्रह्मवद्भावो ब्रह्मभूयम् । 'वदः सुपि' [ अष्टा. ३।१।१०६ ] इति सुबन्तमात्रस्योपपदस्यानुवृत्तेः । वत्यर्थस्य च वृत्तावन्तर्भावात् । मयूरव्यंसकादिवत् । वत्यर्थश्च प्रियत्वमिति तदुक्तमिति भावः ॥ २६ ॥

७ ह. पै. भा.— मां चेति । भक्तिरेव योगो भक्तियोगः । ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते समर्थो भवति ॥ २६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— इदानीं गुणातीतत्वोपायनिष्ठारूपं लक्षणान्तरं दर्शयन्नध्यायार्थमुपसंहरति— मामिति । चस्त्वर्थः । यस्तु मां भगवन्तं वासुदेवमव्यभिचारेण ऐकान्तिकेन भक्तियोगेन सेवते, स एतान्गुणान्समतीत्य 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारम्' [ १४।१९ ] इति प्रागुक्तात्मतत्त्वज्ञानेन सम्यगनायासेनैवोपमृद्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय मोक्षाय कल्पते समर्थो भवति । अनेन गुणातीतस्य ब्रह्मभावापत्तिरध्यायार्थ इत्युक्तं भवति ॥ २६ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च भक्तिमार्गीयस्य गुणातीतत्वं केवलगुणातीतभगवद्भक्त्येति तथाह— मां चेति । मां पुरुषोत्तमं अव्यभिचारेण सर्वात्मना ऐकान्तिकेन भक्तियोगेन स्नेहयोगेन सेवते, स गुणानेतानतीत्य ब्रह्मभूयायाक्षरब्रह्मभावाय कल्पते । एतेन अव्यभिचारिभक्तिमर्यादया सेवतामपि ब्रह्मात्मप्राप्तिरुक्तानुषङ्गिकी अव्यभिचारिभक्तियोगोक्तिः । यथा च श्रुतौ– "यो वै स्वां देवतामतियजते प्रस्वायै देवतायै च्यवते न परीप्राप्नोति स पापीयान्भवति" "तमेवैकं जानथात्मानं अन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः" [ मुं. उ. २।२।५ ] इति । अत्रात्मत्वेन ज्ञानं स्नेहभक्तिविषयत्वेन एवकारेण व्यभिचारिणीभक्तिव्यावृत्तिरनूद्यते अयमेवामृतस्य त्रिगुणात्मकरूपमोक्षस्य सेतुरित्यर्थः ॥ २६ ॥

१० पु. अ. त.— कथं गुणानतिवर्त्तते ? इत्यत्रोत्तरमाह– मां चेति । चस्त्वर्थे । मां मदर्थे अव्यभिचारेण अनन्यात्मकेन भक्तियोगेन यः सेवते, स एतान् गुणान् समतीत्य सम्यगतिक्रम्य ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते समर्थो भवति ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— अथ कथं त्रीन् गुणानतिवर्तते ? इत्यस्योत्तरं विवक्षन् साधनभूतासु तिसृषु भूमिषु तृतीयां तनुमानसामाह— मां चेति । यश्च साधको मां प्रत्यगात्मानम् । चकारस्त्वर्थे । पूर्वभूमिस्थापेक्षया अस्य वैलक्षण्यं द्योतयति अव्यभिचारेण वृत्त्यन्तरानन्तरितेन भक्तियोगेन मयि भगवति तैलधारावदविच्छिन्नवृत्तिप्रवाहिमनःप्रणिधानरूपेण योगेन सेवते ध्यायति, स एवं सूक्ष्मीकृतचित्त एतान् गुणान् समतीत्य ध्यानपरिपाकान्ते सत्त्वमपि बाधित्वा ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय कल्पते योग्यो भवति । 'भुवो भावे' [ अष्टा. ३।१।१०७ ] इति भवतेर्भावे क्यप् ॥ २६ ॥

अव्यभिचारभक्तियोगेन सेव्यस्य परमात्मनः स्वरूपम् ।

**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च ।**
**शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥ २७ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीता-
सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे गुणत्रय-
विभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

१ **शां. भा.**— कुत एतत् ? इत्युच्यते— **ब्रह्मण** इति । ब्रह्मणः परमात्मनो हि यस्मात्प्रतिष्ठाऽहं प्रतितिष्ठत्यस्मिन्निति प्रतिष्ठाऽहं प्रत्यगात्मा । कीदृशस्य ब्रह्मणः ? अमृतस्याविनाशिनोऽव्ययस्याविकारिणः **शाश्वतस्य च** नित्यस्य **धर्मस्य** धर्मज्ञानस्य ज्ञानयोगधर्मप्राप्यस्य **सुखस्या**ऽऽनन्दरूपस्य **ऐकान्तिकस्या**व्यभिचारिणः । अमृतादिस्वभावस्य परमात्मनः परमानन्दरूपस्य प्रत्यगात्मा प्रतिष्ठा, सम्यग्ज्ञानेन परमात्मतया निश्चीयते । तदेतत् ' ब्रह्मभूयाय कल्पते ' इत्युक्तम् । यया चेश्वरशक्त्या भक्तानुग्रहादिप्रयोजनाय ब्रह्म प्रतितिष्ठते प्रवर्तते, सा शक्तिर्ब्रह्मैवाहं शक्तिशक्तिमतोरनन्यत्वादित्यभिप्रायः । अथवा ब्रह्मशब्दवाच्यत्वात् सविकल्पकं ब्रह्म, तस्य ब्रह्मणो निर्विकल्पकोऽहमेव, नान्यः; प्रतिष्ठाऽश्रयः । तथा किंविशिष्टस्य ? अमृतस्यामरणधर्मकस्याव्ययस्य च व्ययरहितस्य । किञ्च शाश्वतस्य च नित्यस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठालक्षणस्य सुखस्य तज्जनितस्यैकान्तिकस्यैकान्तनियतस्य च प्रतिष्ठाऽहमित्यनुवर्तते ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ
श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— 'विद्वान्ब्रह्मैव' इत्यत्र हेतुं पृच्छति— **कुत इति** । तत्रोत्तरमाह— **उच्यत** इति । ब्रह्मशब्दस्यासति बाधके मुख्यार्थग्रहणमभिप्रेत्याऽऽह— **परमात्मन** इति । तं प्रति प्रत्यगात्मनो यत्प्रतिष्ठात्वं तदुपपादयति— **प्रतितिष्ठतीति** । यद्ब्रह्म प्रत्यगात्मनि प्रतितिष्ठति तत्किंविशेषणं ? इत्यपेक्षायामुक्तम्— **अमृतस्ये**त्यादि । तत्रामृतशब्देनाव्ययशब्दस्य पुनरुक्तिं परिहरति— **अविकारिण** इति । नित्यत्वमपक्षयराहित्यं तेन पूर्वाभ्यामपौनरुक्त्यम् । प्रसिद्धार्थस्य धर्मशब्दस्य ब्रह्मण्यनुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह— **ज्ञाने**ति । अर्थेन्द्रियसम्बन्धोत्थं सुखं व्यावर्तयितुमैकान्तिकस्येत्युक्तम् । अक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह— **अमृतादी**ति । प्रतिष्ठा यस्मादिति पूर्वेण सम्बन्धः । तस्मात्प्रत्यगात्मा परमात्मतया निश्चीयते सम्यग्ज्ञानेनेति योजना । अस्य श्लोकस्य पूर्वश्लोकेनैकवाक्यतामाह— **तदेतदि**ति । विवक्षितं वाक्यार्थं प्रपञ्चयति— **ययेति** । सा शक्तिर्ब्रह्मैवेति कथं सामानाधिकरण्यं ? तत्राऽऽह— **शक्तीति** । व्याख्यानान्तरमाह— **अथवेति** । विशेषणानि पूर्ववदपौनरुक्त्यानि नेतव्यानि । तदनेनाध्यायेन क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगस्य संसारकारणत्वं पञ्चप्रश्ननिरूपणद्वारेण च सम्यग्ज्ञानस्य सकलसंसारनिवर्तकत्वमित्येतदुपपादयता मुमुक्षोर्यत्नसाध्यं गुणैरचाल्यत्वादिमुक्तस्यायत्नसिद्धं लक्षणमिति निर्धारितम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते
श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

३ **रा. भा.**— हिशब्दो हेतौ; यस्मादहमव्यभिचारिभक्तियोगेन सेवितोऽमृतस्याव्ययस्य च ब्रह्मणः प्रतिष्ठा, तथा शाश्वतस्य च धर्मस्य, अतिशयितनित्यैश्वर्यस्यैकान्तिकस्य सुखस्य च ' वासुदेवः सर्वम् ' [ ७।१९ ] इत्यादिना निर्दिष्टस्य ज्ञानिनः प्राप्यस्य सुखस्येत्यर्थः ।

४ **वे. ता. चं.**— एवमपवर्गप्रदानप्रसङ्गे शारीरके यथा ' फलमत उपपत्तेः ' [ ब्र. सू. ३।२।३८ ] इति सामान्यतः सकलफलप्रदत्वं फलस्यानन्याधीनत्वख्यापनायोपपादितं, तथात्रापि मध्यमषट्कप्रपञ्चितफलत्रयप्रदातृत्वं प्रकृतहेतुत्वस्थापनार्थतयाऽनन्तरश्लोकेनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह **हिशब्दो हेताविति** । नात्र ब्रह्मशब्दः साक्षात्परब्रह्मविषयः, ' अहं ब्रह्मणः प्रतिष्ठा ' इति वैयधिकरण्यादिविरोधात्; न च भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपेण त्र्यंशस्य ब्रह्मण ईश्वरांशः पृथुत्वात्

प्रतिष्ठेति वाच्यम्, ईश्वरस्यैव ब्रह्मत्वस्थापनात्; नच निर्विकल्पकं रूपं विकल्पितस्य ब्रह्मणः प्रतिष्ठेति वा, प्रत्यगात्मा परमात्मनः प्रतिष्ठेति वा वाच्यं, श्रुत्यादिवैपरीत्यात्, तन्मतनिर्मूलनाच्च नापि मूलप्रकृत्यादिविषयः, प्रस्तुतहेतुत्वायोगात्; अतो 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' [ १४।२६ ] इति जीवस्य फलदशाभावित्वेन निर्दिष्टं रूपमिह ब्रह्मशब्देनोपचर्यते; तादृशस्य रूपस्याहं प्रतिष्ठा।

किमुक्तं भवति ? मुमुक्षोः परब्रह्मसमानपरिशुद्धस्वरूपप्राप्तौ शास्त्रोदितेषु सिद्धेषु साध्येषु च पदार्थेषु कः प्रधानहेतुः ? इति विमर्शे अहमेव विमर्शविश्रान्तिभूमिरिति। यद्वा प्रतिष्ठाशब्द आधारवाची, तच्चाधारत्वं 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" [ बृ. उ. ३।८।९ ] इति श्रुत्यनुसारेण नियमनगर्भमिति 'सा च प्रशासनात्' [ ब्र. सू. १।३।११ ] इति सूत्रेणोक्तम्। अतः शुद्धात्मस्वरूपस्यापि मदेकनिर्वाह्यत्वात् प्रस्तुतं ब्रह्मभूयं मद्भजनैकलभ्यमित्यर्थः। शाश्वतधर्मशब्देन तत्फललक्षणामाह **अतिशयितनित्यैश्वर्यस्येति**। इन्द्रप्रजापतिप्रभृतिभोगापेक्षयाऽतिशयितत्वम्। नित्यत्वं ह्यतिचिरकालवर्तित्वमात्रमापेक्षिकमिह मन्तव्यम्। **वासुदेव** इत्यादि। **अयमभिप्रायः**– एकान्तिलभ्यं सुखमिहैकान्तिसम्बन्धादैकान्तिकमुच्यते— इति। **निर्दिष्टस्येति**। ज्ञानिविशेषणम्। एवमपवर्गेऽप्यैकान्तिकसुखवचनात्पाषाणकल्पादिपक्षाः परिक्षीणाः। न च 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखम्' [१३।७] इति गणनात्सुखं सर्वं क्षेत्रकार्यमिति भ्रमितव्यं, 'रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दीभवति' [ तै. उ. २।७।१ ] इत्यन्यादृशसुखाभिधानात्। अतएव "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः" [ छां. उ. ८।१२।१ ] इति श्रुतिरपि दुःखसहचारिसुखनिषेधपरेति मन्तव्यम्।

**३ रा. भा.— यद्यपि शाश्वतधर्मशब्दः प्रापकवचनः, तथापि पूर्वोत्तरयोः प्राप्यरूपत्वेन तत्साहचर्याद्यमपि प्राप्यलक्षकः। एतदुक्तं भवति— पूर्वत्र 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते' [ ७।१४ ] इत्यारभ्य गुणात्ययस्य तत्पूर्वकाक्षरैश्वर्यभगवत्प्राप्तीनां च भगवत्प्रपत्त्येकोपायतायाः प्रतिपादितत्वादेकान्तभगवत्प्रपत्त्येकोपायो गुणात्ययस्तत्पूर्वकब्रह्मभावश्च— इति ॥ २७ ॥**

**इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ननु शाश्वतधर्मशब्देनातिशयितैश्वर्यलक्षणा न युक्ता, मुख्यार्थबाधाद्यभावात्; 'नारायणः शाश्वतधर्मगोप्ता' [ म. भा. १२।३३५।५ ] इत्यादिषु च प्रसिद्धः कार्तयुगधर्मोऽत्र शाश्वतविशेषणेन प्रतीयते; तस्य प्रलयादिषु पाषण्डाद्युपप्लवेषु 'यदा यदा' [ ४।७ ] इति क्रमेण परिपालनात्तदेकप्रतिष्ठत्वं च सर्वत्र प्रसिद्धम्; तत्राह— **यद्यपीति**। 'ब्रह्मणो हि' इत्यस्य प्राप्यरूपत्वमुपपादितम्। 'सुखस्यैकान्तिकस्य' इत्यस्य तु साक्षाद्भगवदनुभवसुखपरत्वं स्पष्टम्। अल्पत्वादिदूषितात्मानुभवैश्वर्यसुखव्यवच्छेदाय ह्यैकान्तिकशब्दः। तदुभयमध्यपाठाद्ग्रयप्रायन्यायेन प्रागुक्तमैश्वर्यमिह विवक्षितमिति तत्साधनवाचिना तल्लक्षणा युक्ता। अतएवानेन कार्तयुगधर्मोऽपि न विवक्षितः। ऐकान्तिकसुखसाधनत्वेन तु पृथक्सोऽनुसन्धातव्य इति। नन्विहाप्रस्तुतैश्वर्यादिप्रसङ्गः किमर्थः ? नचान्यदुपक्रम्यान्यन्निगमयितुं युक्तम्, कथं च तत्प्रतिष्ठारूपत्वस्य प्रकृतहेतुत्वं; सिद्धस्य च हेतुभावः ? क्व तत्सिद्धिः ? कथं च गुणात्ययमन्तरेणाव्यभिचरितभगवद्भक्तियोगः ? तेनैव तदत्ययेऽन्योन्याश्रयणमित्यादिशङ्कायामाह— **एतदुक्तमिति**। प्रागुक्तसर्वपुरुषार्थस्वाधीनताप्रत्यभिज्ञापनस्य प्रस्तुतस्य गुणात्ययपूर्वकब्रह्मभूयस्वाधीनतास्थापनं प्रयोजनम्। अव्यभिचरितभक्तियोगशब्दोऽत्र भक्त्यङ्गभूतं प्रपदनं क्रोडीकरोतीति पूर्वोत्तरैकार्थ्यमिति भावः ॥ २७ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्भगवद्रामानुजप्रणीतश्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.— ब्रह्मण इति। ब्रह्मणो मायायाः ॥ २७ ॥**

**इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— 'ब्रह्मणो हि' इत्येतत् 'परब्रह्मणो हि' इति व्याचक्षते (शां.) तदसत्, प्रतिष्ठाऽहमिति वचनात्। उपचारोऽसाविति चेत्, न; मुख्ये सम्भवति तदुपादानायोगादिति भावेनाह– **ब्रह्मण** इति। मायेति प्रकृता महालक्ष्मीः ॥ २७

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य गीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.— कुतः ? इति चेत्— ब्रह्मणो हीति। ब्रह्मणः परमात्मनः। हि यस्मात् प्रतिष्ठा प्रतिष्ठते गच्छति क्षेत्रज्ञोऽभिमुखमनेनेति प्रतिष्ठा। अहमीश्वरः। अमृतस्याव्ययस्याविनाशि**

शाश्वतस्य नित्यस्य धर्मस्य मोक्षसाधनस्य सुखस्य ब्रह्मानन्दस्य चैकान्तिकस्याव्यभिचारिणः। तस्मान्मामव्यभिचारेण भक्तियोगेन यः सेवते स त्रीन्गुणान्समतीत्य ब्रह्मभूयाय कल्पते समर्थो भवति ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

८ वें. ब्र. गि.–अथ भगवद्भक्तेर्ब्रह्मभूयप्राप्तिहेतुत्वमुपपादयति— ब्रह्मण इति। 'हि यस्माद्ब्रह्मणः प्रतिष्ठाऽहम्, यया ईश्वरशक्त्या भक्तानुग्रहादिप्रयोजनाय ब्रह्म प्रतिष्ठते प्रवर्तते सा शक्तिरेवाहं शक्तिशक्तिमतोरनन्यत्वात्। यद्वा ब्रह्मशब्दवाच्यस्य सविकल्पकस्य निर्विकल्पकोऽहं प्रतिष्ठा आश्रयः' इति (शां.) भाष्यकारोक्तमर्थद्वयम्। 'ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा प्रतिमा घनीभूतं ब्रह्मैवाहम्, यथा घनीभूतः प्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वत्' इति श्रीधराचार्यव्याख्यातोऽर्थः। 'ब्रह्मणः परमात्मनः प्रतिष्ठा पर्याप्तिरहमेव, न मद्भिन्नं ब्रह्म' इति नवीनोक्तोऽर्थः। सर्वथापि 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं' इति युक्तम्। अमृतस्य मोक्षस्य। कीदृशस्य? अव्ययस्य नाशरहितस्यापि प्रतिष्ठा अहमाश्रयः। मदधीनो मोक्ष इत्यर्थः। तथा शाश्वतस्य नित्यमोक्षफलस्य धर्मस्य ज्ञाननिष्ठारूपस्य प्रतिष्ठाऽहम्। सोऽपि मदायत्त इत्यर्थः। तस्माद्युक्तमेवोक्तं मद्भक्तो ब्रह्मभूयाय कल्पत इति।२७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— 'ब्रह्मभूयाय' [१४।२६] इत्यादौ तत्र तत्र च निर्दिष्टानां ब्रह्मामृतधर्मसुखानां सर्वेषामभिन्न आश्रयोऽहमेवेत्याशयेन स्वस्य परत्वमाह– ब्रह्मणो हीति। अक्षरस्य शुभ्राद्यायतनस्य ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा मूलस्थानं, तद्येन प्रतिष्ठितं वा सोऽहं ऐश्वर्यधामत्वात्तस्येत्यर्थः। अमृतस्य मोक्षस्य ब्रह्मानन्दस्याव्ययस्य च प्रतिष्ठाऽहं, तथा शाश्वतस्य सनातनस्य भगवद्धर्मस्य मोक्षार्थस्य तथैकान्तिकस्य भजनानन्दस्यागणितस्वरूपस्य क्षराक्षरातीतमत्स्वरूपात्मकस्याहमभिन्न आश्रयः प्रतिष्ठा, तत्तत्पदैरहमेव तत्तदधिकारिणां तत्तद्भावनाविषयो वाच्यप्राप्य इत्यर्थः। एवं साङ्ख्यविवृतं स्वतात्पर्यवृत्त्येति ज्ञेयम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— ब्रह्मशब्दस्याऽक्षरवाचकत्वे तद्भावे धर्मात्मकभाव एव भविष्यति, न मुख्यभाव इत्यत आह— ब्रह्मण इति। हीति निश्चयेन यस्माद्धेतोः ब्रह्मणः अक्षरात्मकस्यापि प्रतिष्ठा स्थितिरूपोऽहमेव, अमृतस्य मोक्षस्य, अव्ययस्य नित्यात्मकवैकुण्ठस्यापि, शाश्वतस्य नित्यरूपस्य, शास्त्रीयभक्त्यादिरूपस्य धर्मस्य च। च पुनः। तथा एकान्तिकस्य रक्षात्मकस्य भावादिरूपस्य सुखस्याऽहं प्रतिष्ठा, मूलमित्यर्थः। अतएवमेतैरुत्पन्नो भावो मदात्मक एवेति भावः ॥ २७ ॥

एवं चतुर्दशेऽध्याये गुणानां स्वस्वरूपताम्।
द्विरूपतां च क्रीडार्थं प्रोक्तवानर्जुनं हरिः ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

११ नी० भा० दी०— विषयप्रदर्शनद्वारा विचारणाख्यां द्वितीयां भूमिमाह— ब्रह्मणो हीति। ब्रह्मणो वेदस्य प्रतिष्ठा तात्पर्येण पर्यवसानस्थानमहमेव। अमृतस्य कर्मब्रह्मोभयदर्शनद्वाराऽमृतसाधनस्य। अव्ययस्य अनादित्वादनन्तत्वाच्च, अपौरुषेयत्वेनाप्रामाण्यशङ्काकलङ्कशून्यस्य स्वतःप्रमाणभूतस्येत्यर्थः। एतेनोपक्रमोपसंहारादिपर्यालोचनया वेदाविरुद्धतर्कोपकरणया कृत्स्नस्य वेदस्य तात्पर्यं मद्दर्शनकामेन निर्णेतव्यमिति विचारणाख्या द्वितीया भूमिरुक्ता।

हेतुफलोपदर्शनमुखेन शुभेच्छाख्यां प्रथमां भूमिमाह— शाश्वतस्येति। काम्यकर्मवत्फलदानेन नाशाभावात् भगवत्यर्पितो नित्यो धर्मः शाश्वतः, विविदिषादिपारम्पर्येण मोक्षाख्यशाश्वतफलहेतुत्वात्। शाश्वतस्य च धर्मस्य प्रतिष्ठा परमं प्राप्यं फलमहमेव। तथा ऐकान्तिकं विषयसङ्गजन्यसुखव्यभिचारिस्वरूपभूतं मोक्षसुखं, तस्यापि प्रतिष्ठा पराकाष्ठा अहमेव। एवं निष्कामधर्मेण विशुद्धचित्तस्यैकान्तिकसुखेच्छा भवति, सेयं शुभेच्छाख्या प्रथमा भूमिः। अत्र परां परां भूमिमारोढुमशक्तस्य पूर्वा पूर्वा भूमिरुपदिश्यते। यथा 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' [१३।२५] इत्यत्र निदिध्यासनाशक्तस्य साङ्ख्यनामा विचारः, तत्राप्यशक्तस्य कर्मयोग उपदिश्यते तद्वत् ॥ २७ ॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

## चतुर्दशाध्यायटिप्पणम् ।

इममध्यायमेवमवतारयति **वामनः**—

इदं धर्म्यामृतमिति द्वादशान्तेऽब्रवीद्विभुः । तदेवानन्तरेऽध्याये विस्तरेण न्यरूरुपत् ॥
प्रकृत्यंशोऽखिलो धर्मः पुरुषो धर्मवर्जितः । एतत्तत्त्वमुदीर्ण क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंज्ञया ॥
तत्फलोक्तिप्रसङ्गेन प्रकृतिं च गुणैः सह । वेत्तीति गुणभेदानां ज्ञातव्यत्वमसूसुचत् ॥
गुरोः प्रसादात्सुलभो भासतेऽनुभवः क्षणम् । किन्तु दैवे भुज्यमाने क्षुभ्यन्ति सहसा गुणाः ॥
प्रारब्धरूपा प्रकृतिर्भ्रामयत्यपि पण्डितम् । सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेरत एव सः ॥
प्रवृत्तिर्भोगसमये भोगे भवति देहिनः । नावतिष्ठत्यविज्ञातगुणवृत्तेस्तदा धृतिः ॥
गुणवृत्तिविवेकं तु सम्यग्जानाति तत्र यः । तत्पृथग्रूपमात्मानं वेत्त्यसावेव केवलम् ॥
अतः प्रष्टव्यमपि तन्मेघवाहननन्दनः । व्यस्मार्षीच्छ्रवणादेव स्वात्मानुभवनिर्वृतः ॥
आप्तस्तु भगवानस्य स्थिरीकुर्वन्नकर्तृताम् । व्यक्तं गुणविभागं प्रागुक्तं वक्ति पुनः स्वयम् ॥— इति ।

**नव्यास्तु**— त्रयोदशाध्याये क्षेत्रक्षेत्रज्ञविचारो वेदान्तदृष्ट्या साङ्ख्यदृष्ट्या चोक्तः । तत्र च सर्वं कर्तृत्वं प्रकृतेरेव, पुरुषस्तूदासीन इत्यपि प्रतिपादितम् । किन्तु प्रकृतेरिदं कर्तृत्वं कथं प्रवर्तत इति न विवेकितमित्येकस्याः प्रकृतेर्नानाविधा; विशेषतः सजीवा सृष्टिः कथमुत्पद्यते ? इत्यस्मिन्नध्याये निरूप्यते इत्याहुः । तत्र जडायाः प्रकृतेश्चेतनसृष्ट्युत्पत्त्यभिधानमयुक्तम्; 'कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते । ' ( १३।२१ ) न जीवभूतायाः पराप्रकृतेरित्यर्थस्य मूल एव व्यक्तत्वात् ।

**श्लोकः — १ परमिति**— 'परं भूयः प्रवक्ष्यामि, तच्च ज्ञानानां मध्ये उत्तमं' इति वाक्यभेदेनोत्तमत्वविधानादवश्यज्ञातव्यता बोद्ध्यते । ज्ञानमात्रस्य फलाजनकत्वात् ज्ञानस्यानुष्ठानपर्यन्तस्य विवक्षिततया ज्ञात्वेत्यनुष्ठायेति व्याख्येयमिति **केचित्** । यज्ज्ञात्वेत्यनेनास्य ज्ञानस्य दृष्टप्रत्ययतां प्रसिद्धिं चाहेत्य**भिनवगुप्तपादाः** । **वामनस्तु**—

इतोऽस्मादेव देहादिबन्धान्मुक्त्वा गता इति । केचिद्व्याचक्षते व्यक्तं तत्र व्यर्थमितः पदम् ॥
मुक्तिं प्राप्ता हि देहादिबन्धान्मुक्ता इति स्फुटम् । किमर्थमधिकं तत्र प्रयोक्तव्यमितः पदम् ? ॥
किञ्चात्र प्रकृतेः कार्याद्बन्धाद्देहादिरूपतः । इत्यध्याहरणक्लेशाद्व्याख्येयमिदमन्यथा ॥
'इतो'ऽस्याः प्रकृतेरत्र प्रकृतायाः 'परं' पृथक् । 'ज्ञानं वक्ष्याम्य' कर्तृत्वप्रत्ययः स्यात्स्थिरो यतः ॥
सङ्क्षेपादुक्तमेवेदमिह वक्ष्यामि विस्तरात् । बध्नाति को गुणः केन प्रकारेणेति पाण्डव ! ॥
न ज्ञानिनमपि प्रायः प्रारब्धं मुञ्चति क्वचित् । अज्ञातगुणवृत्तिं ते वञ्चयन्ति गुणास्ततः ॥
चिदंशलक्षणे ज्ञातेऽपैति भोक्तृत्वधीभ्रमः । गुणत्रये पृथग्ज्ञातेऽकर्तृताऽपि प्रतीयते ॥
तस्मादितः परं भूयः प्रकर्षेण वदामि तत् । ज्ञानं येन परां मुक्तिं निर्गुणां मुनयो गताः ॥ —इत्यादि निर्वक्ति ।

— **अविगीता** ।

**श्लोकः २— अत्र वामनः**—

ज्ञानस्यास्य फलं मुक्तिः केवलेत्युपधारयन् । भक्तौ सक्तमनाः पार्थो बभूव विमना इव ॥
सत्यां मुक्तौ केवलायां सत्त्वेऽपि विलयं गते । भविष्यति कथं भक्तिः सगुणप्रेमरूपिणी ? ॥
इत्याकुलमतिं दृष्ट्वा सखायं सगुणाऽपि सा । मुक्तिर्ज्ञानस्यास्य फलमिति वक्त्यत्र केशवः ॥
भक्त्यै भक्तः स्पृहयति मुक्तिं देवः प्रदित्सति । उभयोः साधिका मुक्तिः सगुणा युक्तिरैश्वरी ॥

प्राप्तानामीशसाधर्म्यं तद्रूपा एव मूर्तयः । ईशस्य धर्मनाशेऽतस्तेषां नाशोऽपि निश्चितः ॥
कल्पान्ते विश्वसंहारे सत्त्वं ब्रह्मणि लीयते । ईशस्यापि सधर्मत्वं तदानीं नावशिष्यते ॥
यदेशस्यापि नश्यन्ति दिव्याः सगुणमूर्तयः । तदानीं का कथा वाच्या मुक्तानां तत्सधर्मिणाम् ? ॥
नष्टानां सृष्टिसमये स्पष्टश्च पुनरुद्भवः । यातानामीशसाधर्म्यं तत्प्राप्ता संसृतिर्व्यथा ॥
इति चेन्नेशदेहानां क्वापि स्तः प्रलयोदयौ । आविर्भावतिरोभावमात्रं तेषां प्रतीयते ॥
नास्ति प्रसूतिजं तेषां न विनाशव्यथा यथा । तत्साधर्म्यं गतास्तद्वन्न व्यथन्ते कथञ्चन ॥

कल्पान्तेऽपि न चेद्व्यथा भगवतः साधर्म्यभाजां तदा द्वास्थावेव हरेः कथं न्यपततां शापेन तद्रूपिणौ ? ।
शङ्कैवं तु न युज्यते, यत इदं न ज्ञानमाश्रित्य तौ प्राप्तावच्युतधाम किन्तु मरणे तच्चिन्तनादेर्बलात् ॥
ज्ञानं विनापि भगवन्तमधोक्षजं ये देहावसानसमये सगुणं स्मरन्ति ।
ते यान्ति निर्विशयमस्तसमस्तपापास्तद्भावमित्यभिहितं हरिणा पुरस्तात् ॥

पाद्मे कथेयमुदिता विजयो जयश्च विप्रौ विधाय कलहं किल दक्षिणार्थम् ।
अन्योन्यशापवशतो भुवि नक्रनागौ तौ गण्डकीपरिसरेऽभवतां द्विषन्तौ ॥
कालान्तरेऽनुशयतः प्रतियुद्धयमानावुद्धृत्य शापनिरयाद्दयया ऽऽत्मधाम्नि ।
प्राणावसानसमयस्मृतितोषितेन द्वास्थौ कृतौ भगवता गरुडध्वजेन ॥

वैकुण्ठोऽप्यन्य एवासौ यत्र तौ द्वास्थितौ कृतौ । वैकुण्ठः प्रार्थितो लक्ष्म्या यं व्यधाद्रैवतेऽन्तरे ॥
येऽनुत्पन्नात्मविज्ञाना भावेन भगवत्पदम् । स्मरन्तो यान्ति साधर्म्ये वैकुण्ठेऽस्मिन् वसन्ति ते ॥
अनाद्यनन्तो विरजो वैकुण्ठस्त्वन्य एव सः । यं भक्ता ज्ञानिनो यान्ति पुनरावृत्तिवर्जिताः ॥
वैकुण्ठद्वितये मानं स्पष्टं भागवतं यतः । वैकुण्ठसृष्टिरुद्दिष्टा तत्रैवं रैवतेऽन्तरे ॥
" पत्नी विकुण्ठा शुभ्रस्य वैकुण्ठैः सुरसत्तमैः । तयोः स्वकलया जज्ञे वैकुण्ठो भगवान् स्वयम् ॥
वैकुण्ठः कल्पितो येन लोको लोकनमस्कृतः । रमया प्रार्थ्यमानेन देव्या तत्प्रियकाम्यया ॥ " (भाग. ८।५।४–६)

एकपञ्चाशत्तमेऽब्दे ब्रह्मणः प्रथमेऽहनि । मन्वन्तरं पञ्चमं तद्रैवतमितीर्यते ॥
तथा तत्रैव विधये स्वलोकं प्रथमेऽहनि । दर्शयामास भगवानित्यपि प्रतिपादितम् ॥
" तस्मै स्वलोकं भगवान्सभाजितः सन्दर्शयामास परं न यत्परम् ॥
व्यपेतसङ्क्लेशविमोहसाध्वसं स्वदृष्टवद्भिर्विबुधैरभिष्टुतम् ॥ " (भाग. २।९।९)

वैकुण्ठैक्ये तु नैवेदं सङ्गच्छेतोपवर्णनम् । निर्विवादमतः सिद्धं पृथक्त्वमुभयोस्तयोः ॥
द्वास्थौ च्युतावभिनवाद्वैकुण्ठान्न सनातनात् । तं प्राप्य ज्ञानिनो भक्ता न व्यथन्ते कदाचन ॥ —इत्यादि ॥

'व्यथन्तीति छान्दसत्वात्तिङ्प्रत्ययः' इत्यभिनवगुप्तपादाः । अनुदात्तेत्त्वलक्षणस्यात्मनेपदस्यानित्यत्वादपि तदविरुद्धम् ॥ **— अविगीता ।**

**श्लोकः ३— अत्र वामनः—**

'यदोदिता सिसृक्षा मे तदा सा सूत्ररूपिणी । प्रकृतिस्त्रिगुणा याता महत्तत्त्वमिति प्रथाम् ॥
महत्तत्त्वे च तत्रांशः सत्त्वांशे योऽनुबिम्बितः । मदीयश्चिन्मयो भोक्ता देहस्यास्य जडस्य सः ॥
उपाधावपयाते मद्रूप एवावशिष्यते । यतस्तस्मान्मदीयोंऽशो मत्तोऽनन्यः स तत्त्वतः ॥
एवं महति सत्त्वांशे मदीयोंऽशोऽनुबिम्बति । व्यक्तं ततो महत्तत्त्वं मदीया योनिरर्जुन ! ॥
अथ बिम्बस्यैव योनिर्महदित्यपि सम्भवेत् । किन्तु गर्भमहं ब्रह्म दधामीति न सङ्गतम् ॥
आधत्ते जठरे पत्न्या गर्भमत्र यथा पतिः । महत्तत्त्वे तथा गर्भमादधाम्यहमीश्वरः ॥
अतो योनिर्महत्तत्त्वं जीवानां जननी मम । जीवत्व एव जानीहि पिताऽहं बिम्ब ईश्वरः ॥
इति सूक्ष्मधियां प्रमोदावहं प्रपञ्चितवान् । **— अविगीता ।**

**श्लोकः ४— अत्राभिनवगुप्तपादा** आहुः— आत्मीयामेव हि विमर्शशक्तिमालम्ब्याहमनादीनात्माणूननुग्रहार्थं संसारयामि । अत एव सर्वासु योनिष्वादिकारणतया बृंहिका भगवच्छक्तिः सकलसंसारजननस्वभावा माता । पिता त्वहं शक्तिमानव्यपदेश्य इति ॥ ॥ अत्रेदं **दैवीमीमांसा**दर्शनमनुसन्धानमर्हति– सृष्टिविस्ताराय बीजदाता ईश्वरः पिता, क्षेत्रभूता जननी तु प्रकृतिर्विद्यते । यथा च क्षेत्रेऽङ्कुरोत्पत्त्यै बीजवापः क्रियते, तथैव प्रकृतिरूपे क्षेत्रे पुरुषबीजाधानद्वारा सृष्टिचक्रं प्रचलति । यथा हि मनुष्यादिजीवजगतः सृष्टिविस्ताराय मातुः क्षेत्रे पितुर्वीर्याधानमावश्यकम्, तथैव प्रकृतेर्मातुः क्षेत्रे परमपितुः परमेश्वरस्य वीर्याधानद्वारा अनन्तकोटिब्रह्माण्डात्मिकाया विराट्सृष्टेरुद्भवः । इमामेव स्त्रीरूपां मातृशक्तिं वेदस्मृत्यादिषु कुत्रचन 'संस्त्यानशक्ति'शब्देन क्वचन 'अप्' 'सलिल' प्रभृतिशब्दतोऽप्युपाददते तद्विदः । अस्यामेवाव्याकृतायां महाप्रकृतौ परमेश्वरो वीर्याधानेन प्रथमं गर्भं जनयति । तदीयवीर्याधानेन महत्तत्त्वादिरूपेण क्रमशः सृष्टिविस्तारो भवति । तथा च सूत्रम्— 'स बीजदाता प्रकृतिश्च क्षेत्रम्' (दै. मी. २।८) इति ॥ कौन्तेयेति सम्बोधनेन यथा महेन्द्रानुगृहीताया कुन्त्याः सकाशात्तवोत्पत्तिः, तथा मदनुगृहीतायाः प्रकृतेः सकाशात्सर्वस्य जगत उत्पत्तिरिति सूचितम् ॥ ब्रह्ममहदित्येकं पदम् । महतो ब्रह्म ब्रह्ममहत् । राजदन्तादिवन्महच्छब्दस्य परनिपातः ।

**वामनस्तु—**

अत्र ब्रह्मपदेनोक्तो महत्तत्त्वात्मको विधिः । महत्तत्त्वांशरूपा धीः स तस्याश्चाधिदेवतम् ॥
दृष्टा सृष्टिर्महत्तत्त्वाद्ब्रह्मा स्रष्टेति च स्मृतः । सृष्टिप्रकरणे देवो महद्ब्रह्मेत्यतोऽवदत् ॥

दृष्टा भोगादिषु स्फूर्तिर्यतो ब्रह्मादिमूर्तिषु । अमूर्तिः प्रतिबिम्बोऽसौ पुरुषोंऽशस्तु मामकः ॥
कमलासनतां याति महत्तत्प्रतिबिम्बयुक् । क्रमोऽयमेव सर्वासूत्पद्यमानासु मूर्तिषु ॥
इति प्रकारान्तरेणैव व्याचष्टे । — अविगीता ।

श्लोकः ५—
यं बध्नन्ति गुणास्तं हि वदन्देहिनमव्ययम् । चिदंशस्यैव भोक्तृत्वं व्यक्तं सूचयति प्रभुः ॥
भोक्तृतां मनसः केचिद्वदन्ति, तदसङ्गतम् । सत्त्वांशत्वाद्यतस्तस्य प्रसिद्धा बन्धरूपता ॥
ज्ञानाद्बन्धक्षये बिम्बे प्रतिबिम्बं विलीयते । यदा तदा गुणमयं मनस्तत्क भविष्यति ? ॥
बन्धस्य च कथं बन्धस्तस्माद्बद्धोऽन्य एव सः । सुखदुःखे अधिष्ठाय मनो य उपसेवते ॥
'अधिष्ठाय मनश्चाय' मित्यग्रेऽपि स्वयं हरिः । भोक्तृत्वं मनसोऽन्यस्य व्यक्तमग्रेऽभिधास्यति ॥
—इति वामनः ।

'महाबाहो !' इत्यामन्त्रणेन गुणबन्धोऽयं न महाबाहुनाऽपि त्वया दूरीकर्तुं शक्यः इति, महाबाहुना त्वयाऽऽक्रान्तो यथा त्वद्बन्धं दूरीकर्तुं न शक्नोति, तथा गुणैरेभिराक्रान्तो न तद्बन्धं दूरीकर्तुं शक्नोतीति च व्यञ्जयतीति **दर्पणे** । — **अविगीता** ।

**श्लोकः ६**— ननु- स्यान्नाम रजोगुणतमोगुणयोर्बन्धकत्वम्, रञ्जकत्वात् मोहकत्वाच्च । कथं निर्मलत्वात्प्रकाशकस्य प्रकाशकत्वेन ज्ञानजनकस्य, अनामयत्वेन सुखजनकस्य सत्त्वस्य बन्धकत्वमुच्यते ? इति चेत्; सत्त्वगुणः स्वकार्यं सुखं ज्ञानं चोत्पाद्य तेन पुंसः 'अहं सुखी, अहं ज्ञानी, मम सुखसाधनमिदम्' इत्यादिरीत्या अहम्ममाभिनिवेशोत्पादनद्वारा बन्धको भवति । सत्त्वगुणकार्यभूतया दयया परमसात्त्विक आदिभरतः कस्मिंश्चित् कुरङ्गशावके संसक्तमनाः सदा तद्भावभावितस्तं स्मरन्नेव कलेवरं त्यक्त्वा 'यं यं वापि' (८।६) इति न्यायेन कुरङ्गतामापेति प्रसिद्धमेतत् । (वि. पु. अं. २ अ. १३) अतः सत्त्वगुणस्यापि बन्धकत्वं युक्तम् । — इति **दर्पणे** । — **अविगीता** ।

**श्लोकः ८**— दुर्लभस्यापि चिरतरसञ्चितपुण्यशतलब्धस्य अपवर्गप्राप्त्यावेककारणस्य मानुष्यकस्य वृथातिवाहनं प्रमादः । तथाह्युक्तम्— 'आयुषः क्षण एकोऽपि सर्वरत्नैर्न लभ्यते । स वृथा नीयते येन स प्रमादी नराधमः' ॥ इति । यथा वा श्रीमद्भागवते— 'निद्रया ह्रियते नक्तं व्यवायेन च वा वयः। दिवा चार्थेहया राजन् ! कुटुम्बभरणेन वा ॥ देहापत्यकलत्रादिष्वात्मसैन्येष्वसत्स्वपि । तेषां प्रमत्तो निधनं पश्यन्नपि न पश्यति' । (२।१।३,४) तथा— 'किं प्रमत्तस्य बहुभिः परोक्षैर्हायनैरिह । वरं मुहूर्तं विदितं घटते श्रेयसे यतः' ॥ (२।१।१२) अयमेव प्रमादस्तत्रैवैकादशस्कन्ध आत्महत्याशब्दवाच्यो निर्णीतो भगवता । यथा— 'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम् । मयाऽनुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा' ॥ (११।२०।१७) इति । आलस्यं शुभकरणीयेषु । निश्शेषेण द्राणं कुत्सिता गतिर्निद्रा । **इत्यभिनवगुप्ताचार्याः** ॥ 'गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' (१४।५) इति त्रयाणामपि गुणानां प्रकृतिजत्वाविशेषेऽपि तमसः प्रकृतिजत्वोक्तिस्तद्विपरीतस्वभावानापत्त्या तद्योग्यताप्रकाशकत्वेन । अनेकेषां देवदत्तपुत्रत्वेऽपि तद्विपरीतस्वभावानापत्त्या तद्योग्यताप्रकाशकस्य पुत्रस्य तत्पुत्रत्वोक्तिवदिति **केचित्** । — **अविगीता** ।

**श्लोकः १०**— **भवतीति** । 'ततो देवा अभवन् परासुराः' (तै. सं. २।५।४) इत्यादाविव भवतिर्वृद्ध्यर्थको ज्ञेयः । अभिभवः कार्याक्षमत्वम्, वृद्धिश्च कार्यक्षमत्वम् । तदुभयत्र प्रवाहानादितया वर्तमानानामदृष्टानां विपाकाभिमुख्यमेव निमित्तमालोचनीयमित्याहुः ॥ **इदमत्रावधेयम्**- यत्सत्त्वरजस्तमोगुणास्त्रयोऽपि त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः स्वाभाविकाः सन्तः परस्परमन्योन्याश्रिताः सन्ति । यथोष्णत्वप्रकाशावग्नेर्गुणौ, उभयोः कार्यमपि दाहप्रकाशात्मकं पृथगेवास्ति, तथापि तावुभौ पृथगपि स्वसत्तां बिभृतः, अन्योन्याश्रितत्वमपि दधाते इति स्वीकरणीयमेव । यतो हि यथा विनोष्णत्वेनाग्नेः प्रकाशो न तिष्ठति, तथैव प्रकाशादृते उष्णत्वमपि नैव तिष्ठतीत्यन्याश्रयत्वं सुसङ्गतमेव । इत्थमेव प्रकृतिगुणा अपि परस्परमन्योन्याश्रिता एव वर्द्धन्ते । यथोक्तम्— 'तमो रजस्तथा सत्त्वं गुणानेतान् प्रचक्षते । अन्योन्यमिथुनाः सर्वे तथाऽन्योन्यानुजीविनः ॥ अन्योन्यापाश्रयाश्चापि तथान्योन्यानुवर्तिनः । अन्योन्यव्यतिषक्ताश्च त्रिगुणाः पञ्च धातवः' ॥ इति ॥ अनेनैकस्य गुणस्योदयेऽन्यावङ्गतया सहायकौ भवत इति सिद्ध्यति । यद्येवं न स्यात्, तर्हि त्रिगुणानां नियतः परिणाम एवासम्बद्धो भवेदिति । सूत्रितश्चायमर्थः कर्ममीमांसायाम्— 'अन्योन्याश्रयत्वं गुणानाम्' (३।१७) इति ॥
भारतेति सम्बोधनेन यथा भरतवंशजानपरानभिभूय त्वं वर्धसे तथेति दृष्टान्तः सूचितः । — **अविगीता** ।

**श्लोकः ११**— सर्वद्वारेष्वित्यत्र सर्वद्वाः एषु इति छित्वा सर्वेषां कार्याणां द्वारभूतं प्रकाशात्मकं ज्ञानम् । नहि ज्ञानेन विना कस्यापि कार्यस्य सम्भवः । 'जानाति, इच्छति, यतते' इति हि न्यायः । तद्यदोपजायते, तदा एषु गुणेषु सत्त्वं अतिशयेन विवृद्धं जानीयात् । उतशब्दोऽतिशयार्थक इति व्याख्यानान्तरं दर्शितमुपन्यासदर्पणे । प्रत्यक्षप्रमितिकरणान्यक्षाणि विषयसम्बद्धानि ।

तानि च मनश्श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणानि षट् स्वसम्बन्धेनान्तःकरणस्य तमोऽभिभूय चिदात्मप्रकाशमानार्थाकारां सत्त्ववृत्तिं जनयन्ति। जीवबुद्धिरूपमनसो दुःखादिविकारास्तु नाज्ञाताः सन्तीत्यात्मप्रकाशेनैव प्रकाश्यन्ते इति न तत्र सत्त्ववृत्त्यवकल्पनम्, गौरवात्। एतदेव साक्षिभास्यत्वमिति भक्तिमीमांसाभाष्ये **स्वप्नेश्वरः** (३।२।७) । देहेऽस्मिन्निति प्रतिदेहं गुणानां वृद्धिह्रासयोर्लिङ्गभेदः, न तु युगपदनेकदेहधारिणो योगिन एकस्मिन् देहे दृष्टेन लिङ्गेन देहान्तरे तल्लिङ्गकगुणवृद्ध्यादेरूहसम्भव इति भावः । प्रकाशो विषयज्ञानम् । ज्ञानमनुभवः । **— अविगीता ।**

**श्लोकः १२—** लोभस्पृहयोरुपधेययोः क्वचिदभेदेऽपि तदुपाध्योर्भेदात् भेदः । धनं मे स्यादिति लोभस्याकारः, येन केनाप्युपायेन धनं सम्पादयेयमिति स्पृहाया आकार इति स्वरूपेणापि भेदः— इति **गूढार्थतत्त्वालोकः** । आरम्भपदेन च नैकस्यापि कर्मणो यथावत्समाप्तिर्भवतीति ध्वन्यते । दुर्योधनादयः सर्वेऽपीदृशा एव प्रवृद्धरजोगुणाः, त्वं तु न तथेति भरतकुलोत्पन्नेषु श्रेष्ठोऽसीति भावेनोक्तं भरतर्षभेति ॥ **— अविगीता ।**

**श्लोकः १३—** चकारान्निद्राऽपि गृह्यते । ननूक्तेन तेन तेन लिङ्गेन तस्य तस्य गुणस्याभिवृद्धिः किमर्थं ज्ञेया ? इति चेत्; तत्तदभिवृद्धिलिङ्गभूतगुणदोषान् ज्ञात्वा— लिङ्गैरेतैः इदानीमहं राजसोऽस्मि, इदानीमहं तामसोऽस्मि, इति ज्ञात्वा— नैवं मया भवितव्यं, किन्तु सात्त्विकेनैव भवितव्यम्, इत्यालोच्य; रजोगुणतमोगुणविवृद्धिलिङ्गभूतदोषनिरसनाय सत्त्वगुणविवृद्धिलिङ्गभूतगुणसम्पादनाय च; प्रयत्नतो राजसतामसदुष्टजनसहवासराजसतामसाहारसेवनादिदूरीकरणपूर्वकं सात्त्विकसाधुजनसहवाससात्त्विकाहारसेवनादिभी रजोगुणतमोगणाभिभवपूर्वकं सत्त्वगुणविवर्धनाय चेति जानीहि ॥ यथा गुणत्रयमध्ये सत्त्वम्, तथा कुरुकुलमध्ये त्वं सुखयिता । अतः सत्त्वगुणः श्रेष्ठश्चासीति भावेन सम्बोधयति कुरुनन्दनेति ॥ **— अविगीता ।**

**श्लोकः १४—** यदा समग्रेणैव जन्मनानवरतसात्त्विकव्यापाराभ्यासात्सत्त्वं विवृद्धं भवति, तदा प्राप्तप्रलयस्य शुभलोकावाप्तिः । एवं जन्माभ्यस्तराजसकर्मणः प्रयाणाद्विमिश्रोपभोगाय मानुष्याप्तिः । तथा तेनैव क्रमेण यदा समग्रेण जन्मना तामसमेव कर्माभ्यस्यते, तदा नरकतिर्यग्वृक्षादिदेहेषूत्पद्यते । ये तु व्याचक्षते— मरणकाल एव सत्त्वादौ विवृद्धे एतानि फलानीति, ते न सम्यक् शारीरेऽनुभवे प्रविष्टाः । यतः सर्वस्यैव सर्वथाऽन्त्ये क्षणे मोह एवोपजायते । — **इत्यभिनवगुप्ताः** । मरणफलप्राप्त्योरेककालत्वासम्भवात् तदेत्यनेनाव्यवहितकाल उच्यते ॥ **— अविगीता ।**

**श्लोकः १५—** यद्यपि प्राणिनां पारत्रिकी शुभाशुभगतिः पूर्वपुण्यपापकर्मानुसारिणी, तथापि पूर्वपुण्यपापकर्मानुसारेण तत्तद्गुणाभिवृद्धिकालिकी मृतिर्भवति । तदनुसारेणोक्तरीत्या शुभाशुभगतिर्भवति । पूर्वपुण्यपापरूपकर्माणि मरणकाले तत्तद्गुणविवर्धनद्वारा परत्र शुभाशुभगतिप्राप्तिसाधनानि भवन्ति, अत उक्तं युक्तम् ॥ **— अविगीता ।**

**श्लोकः १६—** अत्र दुःखमिश्रसुखे दुःखशब्दप्रयोगो दुःखस्याधिक्यात् । अज्ञानप्राचुर्यमूलके दुःखे अज्ञानतत्कार्यवाचकाज्ञानशब्दप्रयोगस्तयोस्तद्धेतुत्वात् । आलस्यस्य निद्राधिक्यस्य च तदानीं सुखतया भासमानत्वेऽपि दुःख एव पर्यवसानम् । पूर्वस्मिन् जन्मनि कृतानां सात्त्विकादिकर्मणामौत्कट्येऽव्यवधानेनैव तत्तत्फललाभः । अनौत्कट्ये तु उक्तरीत्या तत्तज्जन्म प्राप्येति विवेकः ॥ रजःफलं तमःफलं च दुःखरूपमेवेति सूचयितुं तुशब्दः । अत्र केचिदसम्बद्धाः श्लोकाः कल्पिताः, पुनरुक्तत्वात् ते त्याज्या एवेत्य**भिनवगुप्ताचार्याः** । **— अविगीता ।**

**श्लोकः १७—** अज्ञानस्य सर्वदोषमूलत्वात् पृथगुपादानम् । **— अविगीता ।**

**श्लोकः १८—** 'सात्त्विकाः' इत्यनुक्त्वा 'सत्त्वस्थाः' इत्युक्त्या सत्त्वमविहाय स्थातव्यमिति सूच्यते । 'जघन्यगुणवृत्तिस्थाः' इति विशेषणेन तमःप्राचुर्यात् ये निद्रालवोऽलसाश्च तेषां सत्त्वरजःफलालाभमात्रम्, न तु सम्पूर्णस्य तमःफलस्य प्राप्तिः । ये तु तामसास्तामसानि कर्माणि सदा कुर्वन्तो वर्तन्ते, तेषां सम्पूर्णतमःफलप्राप्तिरिति सूच्यते । तमःप्राचुर्यवत् तमःप्रचुरतामसजनसहवासोऽपि बाधक इति बोधयितुं तद्विशेषणम् । ये प्रभुप्रसादापादकं कर्म कुर्वन्ति, ते स्वस्थानादुत्कृष्टस्थानमन्यत्र नीताः प्राप्नुवन्ति, ये प्रभुप्रकोपापादकं कर्म कुर्वन्ति, ते स्वस्थानान्निकृष्टं स्थानमन्यत्र नीताः प्राप्नुवन्ति; ये तु प्रसादस्य प्रकोपस्य वाऽनापादकं स्वीयतादात्विकसुखमात्रापादकं कर्म कुर्वन्तो वर्तन्ते, ते नान्यत्रोपरि अधो वा नीयन्ते, अपितु स्वस्थान एवाल्पसुखवन्तस्तिष्ठन्तीति लोके स्पष्टमेव । अतोऽत्र सात्त्विका गच्छन्ति, राजसास्तिष्ठन्ति, तामसा गच्छन्तीत्युक्तम्— इत्याहुः । 'वृत्तस्थाः' इत्यपि पाठः । **— अविगीता ।**

**श्लोकः २१—** लिङ्गशब्देन आन्तराः शमदमाद्यसाधारणधर्माः, आचारशब्देन असाधारणबाह्यकर्मानुष्ठानादयश्चोच्यन्ते । स्वस्मिन् गुणात्ययज्ञानायान्तरलिङ्गप्रश्नः, परेषु गुणात्ययज्ञानाय बाह्याचारप्रश्न इति विवेकः । **— अविगीता ।**

श्लोकः २३— अस्य व्याख्यान्तरमुपन्यासदर्पणे— उत् सर्वस्मात् जगत उत्कृष्टत्वेन आसीनः परमात्मा तस्य वदस्तदुत्तमत्वोपदेष्टा आचार्यः। तस्मिन् आसीनः सदा तत्समीप उपविश्य तत्त्वार्थं शृण्वन्। अगुणैरिति छेदः। तस्याचार्यस्या-गुणैर्दोषैः विद्यमानैरसूययारोपितैर्वा न विचाल्यते, गुरुभक्तितः तन्मुखात्तत्त्वार्थश्रवणेच्छातश्च न प्रच्याव्यते। यथा तथा वा भवतु, अयमाचार्यः, नास्य दोषो मया चिन्तनीयः; गुरोर्दोषाणामावरणात् खलु शिष्यः छात्र इत्युच्यते। गुरोर्दोषाणामावरणं छत्रम्, तच्छीलं यस्य स छात्र इति हि निरुक्तिः। कुतो न चलतीति चेत्; यैर्गुणैरयमाचार्यतया वृतस्ते गुणा ज्ञानतत्त्वज्ञानबोधनचातुरी-मुखा वर्तन्ते, नैकोऽपि तेष्विदानीमपगत इत्येव निश्चित्य गुरौ भक्तिमत्तया सम्यक् तिष्ठति, न चलति यः, स गुणातीत उच्यते। अयं गुणातीतस्य बाह्याचारः, अनेन गुणातीतो भवेदिति॥ नेङ्गते न स्वरूपाच्च्यवते। अत्र चोपायः सर्वेषामारम्भाणां शरीरारम्भ-केन्द्रियादिस्वभाव एष यत्प्रवर्तते, न तु फलं किञ्चिदहमभिसन्दध इति स्थिरबुद्धिः— इत्यभिनवगुप्तपादाः। इत्येवमिति पाठः। — अविगीता।

श्लोकः २४— लोके निन्दायाः स्वविषयतानुसन्धानमकृत्वा खलो मूढो निन्दति चेत्, निन्दतु; का हानिः? इति निन्दके मूढत्वमारोप्य तत्रोदासीनो भवति। स्तुतौ तु स्वविषयतामनुसन्धाय स्तावके विद्वत्त्वमारोप्य 'स्तुवीरन्नेव ते, जानन्ति ते मम परं भावम्, तादृशमहामहिमवान् किलाहम्,' इति तां स्तुतिं शतगुणीकृत्य प्रकृष्टो भवतीत्यर्थस्य सूचनाय स्तुतेरात्म-सम्बन्धित्वोक्तिः। — अविगीता।

श्लोकः २५— निन्दास्तुती वाचिकव्यापारौ, मानापमानौ तु कायिकमानसिकव्यापारौ। धीर इत्यन्तमान्तरं लिङ्गम्, 'तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः' इत्यादिकं बाह्यलिङ्गं 'समदुःखसुखः' इत्यादिकं सर्वं बाह्याचाररूपलिङ्गपरमिति केचित्। 'स्थित-प्रज्ञस्य का भाषा?' (२।५४) 'प्रजहाति यदा कामान्' (२।५५) इत्यत्र ज्ञानिलक्षणविषयके प्रश्नोत्तरे, अत्र तु ज्ञानेन गुणातीतविषयके इति विवेकः। अत्र 'समदुःखसुखं धीरं' (२।१५) 'समदुःखसुखः क्षमी' (१२।१३) 'उदासीनो गतव्यथः' (१२।१६) 'सर्वारम्भपरित्यागी' (१२।१६) 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः' (१२।१८) 'शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।' (६।७) 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी' (१२।१९) इत्यादौ शब्दतः 'तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि' (२।५७) 'न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्' (५।२०) 'शुभाशुभपरि-त्यागी' (१२।१७) इत्यादावर्थतश्च पुनरुक्तिस्तत्तत्प्रकरणानुगुणाभिप्रायभेदकल्पनात् समाधेया। तत्त्वविषये पुनरुक्तिर्न दोषाय, तद्बोधने महातात्पर्यात् — इति दर्पणे।

नव्यास्तु— सर्वारम्भपरित्यागीत्येतत् 'केवलं काम्यानां कर्मणां त्याजको योगी' इति व्याचक्षते। तदसत्; आरम्भपदस्य काम्यारम्भ एव सङ्कोचे मानाभावात्, सर्वपदस्वारस्यभङ्गाच्च। किञ्च काम्यकर्मणामेवात्र त्यागे विवक्षिते 'काम्यकर्मपरित्यागी' इत्येवावक्ष्यत्, न त्वेवमवाचकं प्रायोक्ष्यद्वाग्मिनामिनो गीतागुरुरिति यत्किञ्चिदेतत्। 'मानावमानयोः' इति पाठः। — अविगीता।

श्लोकः २६— चशब्दोऽवधारणे। यो मामेव सेवते। अनेन फलादिसाकाङ्क्षो मामङ्गत्वेनाश्रयति, फलं प्रधानतयेति निरस्तः। अत एव नास्याव्यभिचारिणी भक्तिः; फलं प्रति ह्यसावास्थावानिति। यस्तु फलं किञ्चिदप्यनभिलष्यन् किमिति तदलीकमनुतिष्ठसि? इति पर्यनुयुज्यमानोऽपि निरन्तरभगवद्भक्तिवेधविद्रुतान्तःकरणतया कण्टकितरोमवान् वेपमानतनुर्विस्फारतर-नयनयुगुलपरिवर्तमानसलिलसम्पातस्तूष्णीम्भावेनैवोत्तरं प्रयच्छति, स एवाव्यभिचारिण्या भगवतो महेश्वरस्योग्रशक्त्या भक्त्या पवित्रीकृतो नान्य इति ज्ञेयम्— इत्यभिनवगुप्तपादाः। अत्र भगवानेवात्मभक्तेस्त्रिगुणात्मकान्तःकरणलयपूर्वकब्रह्मानन्दावाप्ति-लक्षणमुक्तिहेतुतामाह। न चात्मज्ञानवैयर्थ्यम्, अश्वहामलक्षालनेन भक्तावुपयोगात् — इति स्वप्नेश्वरः। (शां. सू. १।१।१) चकारो ज्ञानान्वाचयार्थः। यो ज्ञानवान् मां सगुणं सकलप्रपञ्चात्मनाऽवस्थितं सेवते, स एतान् गुणानतीत्य ब्रह्मभूयाय मत्साधर्म्या-वाप्तये योग्यो भवतीति सगुणमोक्ष एवोच्यते। निर्गुणमोक्षाभ्युपगमे गुणातीतस्य पुनर्ब्रह्मभवनयोग्यत्वाभिधानासङ्गतेरिति वामन-नाशयः। अयं भावः- अन्वयव्यतिरेकसिद्धं ज्ञानस्य फलं मोक्षः। ज्ञानिनश्च द्विविधाः- निर्गुणोपासकाः सगुणसेवकाश्च। तत्रा-द्यानां गुणातीतत्वेन ब्रह्मभाव एव मोक्षः, अपरेषां पुनर्भगवत्साधर्म्यप्राप्तिरिति ये त्वनुत्पन्नात्मज्ञाना अपि भगवद्भक्तिसक्तास्तेऽपि तत्सारूप्यं लभन्ते, किन्तु अमुक्तस्थलं नववैकुण्ठं गता जयविजयवच्च्यवन्ते। ज्ञानिनस्तु कल्पान्तेऽपि न च्यवन्त इति। एतच्चोक्तं पुरस्तात्- 'इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः। सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥' (१४।२) इति। अयमेव सगुणमोक्षोऽत्र ब्रह्मभूयायेत्युक्तः, पूर्वत्र च 'मद्भावायोपपद्यते' (१३।१९) इति। विस्तरस्त्वन्यत्रोक्त एव॥ ब्रह्मभूयायेति 'भुवो भावे' (अष्टा. ३।१।१०७) इति क्यप्। — अविगीता।

श्लोकः २७— अहमेव हि ब्रह्मणः प्रतिष्ठा। मयि सेव्यमाने ब्रह्म भवति। अन्यथा जडरूपतया ब्रह्मोपास्यमानं मोक्षमपि सौषुप्तादविशिष्टमेव प्रापयेदित्यभिनवगुप्तपादाः। ब्रह्मणो वेदस्य प्रतिष्ठा प्रकृष्टा स्थितिः। वेदोक्तानि कर्माण्यनुतिष्ठन्तो मत्त एव फलं लभन्ते, अतस्तस्य साफल्यसाधकत्वात् प्रकृष्टा स्थितिरहमेव। अमृतस्य निर्गुणोपासनाफलस्य मोक्षस्य। तस्यापि

मत्प्रसादेनैव सुलभत्वात्। अव्ययस्य मत्साधर्म्यप्राप्तिरूपस्य सगुणमोक्षस्य च 'सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' (१४।२) इत्युक्ताव्ययत्वस्य। एवं ह्युपक्रम उपन्यस्तौ द्वावपि मोक्षावत्र परामृष्टौ। शाश्वतस्य भागवतधर्मस्य। तदवलम्बिनां हि सगुणमोक्षं गतानामपि शुद्धसत्त्वधर्माखण्डानन्दवैभवानुभवसत्त्वात् पुनरावृत्तिरहितत्वाच्च भागवतधर्म एव शाश्वत इति व्यक्तमेव। तथा एकान्तिकस्य एकस्मिन्नेव स्वरूपे सकलवृत्तिलयरूपस्याखण्डनिर्गुणानुभवात्मकस्य सुखस्य एकश्चासावन्तो निर्णयः स चैकान्त एकप्रत्ययस्तद्गोचरस्य। नानात्वेन भासमानत्वेऽपि वस्तुत एकत्वात् अखण्डैकव्यत्ययगोचरतेति **केचित्**।

प्रकरणेऽस्मिन् वसिष्ठोक्ताः सप्तापि भूमिका अवरोहणक्रमेण प्रतिपादिताः। तत्र निष्कामधर्मेण शुद्धचित्तस्यैकान्तिकसुखलाभहेतुज्ञानयोग्यता जायत इति या शुभकर्मसम्यग्ज्ञानेच्छा, सा **शुभेच्छा** नाम प्रथमा भूमिका। सेह 'शाश्वतस्य च धर्मस्य' (१४।२७) इत्यनेनोक्ता। (१)

शुभेच्छावतो मद्दर्शनकामस्य श्रवणमननादिरूपो वेदान्तविचारो **विचारणा** नाम द्वितीया भूमिका। सेह 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहं' (१४।२७) इत्यनेनोक्ता। (२)

कृतश्रवणादिकस्य वृत्त्यन्तरानन्तरितेन भक्तियोगेन तैलधारावदविच्छेदेन भगवति मनःप्रणिधानं **तनुमानसा** नाम तृतीया भूमिका। सेह 'अव्यभिचारेण भक्तियोगेन' (१४।२६) इत्यनेनोक्ता। (३)

कृतनिदिध्यासनस्य यत्साक्षात्कारापरपर्यायमपरोक्षज्ञानं, सा **सत्त्वापत्ति**र्नाम चतुर्थी भूमिका। सेह 'मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।' (१४।२५) इत्यनेनोक्ता। (४)

अपरोक्षज्ञानी हि द्वैतमरुमरीचिकाहृदसमानं पश्यन् तत्र मानापमानयोर्वा मित्रारिपक्षयोर्वा तुल्य एव भवति। एतादृशस्य ब्रह्मज्ञानिनः समाधौ व्युत्थानेऽपि विषयेष्वसंसक्तिर्भवति सा **असंसक्ति**र्नाम पञ्चमी भूमिका। सेह जीवन्मुक्त्यवस्थारूपा 'समदुःखसुखः' (१४।२४) इत्यादिनोक्ता। (५)

लब्धपञ्चमभूमिकस्य विना परप्रयत्नं स्वयं व्युत्थानाभावेनोपवेशनरूपा **पदार्थाभावनी** नाम षष्ठी भूमिका। सेह 'उदासीनवदासीनः' (१४।२३) इत्यादिनोक्ता। (६)

लब्धषष्ठभूमिकस्य स्वतः परतो वा व्युत्थानाभावेन तन्मयतया परिपूर्णानन्दस्वरूपेणावस्थानं **तुरीयगा** नाम सप्तमी भूमिका। सेह नित्यसमाधिरूपा 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' (१४।२२) इत्यादिनोक्तेति ज्ञातव्यम्॥ (७) — **अविगीता**।

# श्रीमद्भगवद्गीतायाश्चतुर्दशाध्यायस्य माहात्म्यम्।

**ईश्वर उवाच—**

अतः परं प्रवक्ष्यामि भवानि! भवमुक्तये।
गीताचतुर्दशाध्यायमवधारय सादरम्॥ १॥
मेदिन्यां यत्किल स्थूलमस्ति काश्मीरमण्डलम्।
राजधानी सरस्वत्या भगवत्या मनोहरा॥ २॥
यामधिष्ठाय वाग्देवीं ब्रह्मलोकं प्रगच्छति।
हंसैः समुह्यमानां तु सावित्रीप्रहितैस्त्रिभिः॥ ३॥
सरस्वतीपदाम्भोजसेवामाश्रित्य कुङ्कुमैः।
यत्र गौरवयन्त्याशा हंसाः पक्षपुटोद्भवैः॥ ४॥
निरन्तरतया यत्र नृणां संस्कृतभाषिणाम्।
देववर्णमयी भाषा निमेषेणोपलभ्यते॥ ५॥
प्रातर्गृहाङ्गणोद्भूतैर्यत्र कुङ्कुमपांसुलैः।
सर्वतोरुणितच्छायं शशाङ्करविमण्डलम्॥ ६॥
तत्रासीत्तेजसां राशिः शौर्यवर्मा नरेश्वरः।
उद्यदुज्ज्वलबाणौघखण्डितारातिमण्डलः॥ ७॥
अभूच्च सिंहलद्वीपे राजा सिंहपराक्रमः।
नाम्ना विक्रमवेतालः कालानामपि शेवधिः॥ ८॥
उभौ पारस्परीं मैत्रीं वर्धयाञ्चक्रतुः क्रमात्।
तत्तद्देशसमुत्पन्नैरपूर्वैः प्रचुरोत्करैः॥ ९॥
एकदा प्रहितं प्रेम्णा प्रभूतं शौर्यवर्मणा।
राजा विक्रमवेतालो विलोक्य शुनकीद्वयम्॥ १०॥
मत्तमातङ्गतुरगं मणिभूषणचामरम्।
प्रेषयामास मित्राय प्रभूतं शौर्यवर्मणे॥ ११॥
एकदा शिबिकारूढं चारुचामरवीजितम्।
सुवर्णश्रृङ्खलारूढं वाद्यडिण्डिमडम्बरम्॥ १२॥
शुनीयुगलमादाय मृगयाकौतुकोत्सुकः।
राजा जगाम बाह्यालीं समं राजकुमारकैः॥ १३॥
पणबन्धविधानेन समुपेतं शशामिषम्।
तत्र राजकुमाराणां महान्कोलाहलोऽभवत्॥ १४॥
ततः समानवयसा केनचिद्राजसूनुना।
बहुमूल्यं पणं कृत्वा राजा चिक्रीड कौतुकी॥ १५॥
ततोऽवतार्य दोलाया बिरुदावलिगर्विताम्।
धावतः शशकस्योच्चैः पृष्ठेऽमुञ्चन्नृपः शुनीम्॥ १६॥
मुमोच राजपुत्रोऽपि प्रेमपात्रं महाभुजः।
विरराम शुनीमुच्चैः सङ्कीर्त्य बिरुदावलीम्॥ १७॥
अलक्ष्यमाणवेगेऽस्मिञ्छुनीयुगलके भृशम्।
धावत्युत्थितमेवाऽऽसीत्पश्यतां सर्वभूभृताम्॥ १८॥
पपात गर्ते महति शशकोऽतिश्रमादसौ।
पतितोऽपि शुनीवश्यो नाभूच्छशकशावकः॥ १९॥

ततः शनैः समुत्थाय धावन्नाक्रम्य रोषतः ।
जगृहे राजशुन्याऽसौ शशकः फेनमुद्वमन् ॥ २० ॥
ततः कथञ्चिदुत्प्लुत्य गच्छन्विस्खलयञ्छशः ।
राजपुत्रशुनक्याऽसौ गृहीतः कन्धरातटे ॥ २१ ॥
जितमस्माभिरत्यर्थमिति सञ्जल्पतां नृणाम् ।
कोलाहले शङ्किताया: शुन्या निर्गतवान्मुखात् ॥ २२ ॥
ततो दंष्ट्राव्रणश्रोणीक्षरद्रुधिरधारकः ।
क्वापि मर्मरभूभागे निलीय स्थितवाञ्छशः ॥ २३ ॥
जिघ्रन्त्या राजशुन्याऽसौ भूभागं घनरोषया ।
दृष्टमात्रः परित्रस्तो हस्तमात्रं ततोऽगमत् ॥ २४ ॥
यत्र कर्पूरकदलीक्रोडव्याघर्षशीतलः ।
चोलीकपोलफलकांश्चुम्बातिसमीरणः ॥ २५ ॥
उद्भिन्नकेतकीकोशरजोमुकुलितेक्षणाः ।
विस्रब्धा हरिणा यत्र च्छायां तां परितः स्थिताः ॥ २६ ॥
नारिकेलफलैर्यत्र स्वयं निपतितैरधः ।
अपि चूतफलैः पक्वैस्तृप्ताः शाखामृगा अपि ॥ २७ ॥
अपि केसरिणो यत्र खेलन्ति कलभैः समम् ।
फणिनः कङ्कबर्हेषु निर्विशङ्कं विशन्ति च ॥ २८ ॥
यत्राऽऽश्रमान्तरे विप्रो वत्सनामा जितेन्द्रियः ।
शान्तश्चतुर्दशाध्यायं जपन्नास्ते निरन्तरम् ॥ २९ ॥
तत्र तच्छिष्यपादाब्जप्रक्षालनजलैः कृते ।
कर्दमे न्यपतद्गत्वा जीवशेषो मुहुः श्वसन् ॥ ३० ॥
ततः कर्दमसंस्पर्शमात्रनिस्तीर्णसंसृतिः ।
दिव्यं विमानमारुह्य निर्ययौ शशको दिवम् ॥ ३१ ॥
ततः शुन्यपि लिप्ताङ्गी स्तोकैः कर्दमबिन्दुभिः ।
क्षुत्पिपासार्तिरहिता शुनीरूपं विहाय सा ॥ ३२ ॥
ततो दिव्याङ्गनारम्यं गन्धर्वैरुपशोभितम् ।
दिव्यं विमानमारुह्य शुन्यपि त्रिदिवं ययौ ॥ ३३ ॥

ततो जहास मेधावी शिष्यो नाम्ना स्वकन्धरः ।
विचार्य विस्मितः पूर्वजन्मवैरस्य कारणम् ॥ ३४ ॥
राजाऽपि पर्यपृच्छत्तं तत्स्मयस्मेरलोचनः ।
प्रणम्य परया भक्त्या विनयैकपयोनिधिः ॥ ३५ ॥

राजोवाच—

कथां कथय मे विप्र ! हीनयोनिनिषेवितौ ।
अज्ञौ यौ जग्मतुः स्वर्गं शुनीशशकशावकौ ॥ ३६ ॥

शिष्य उवाच—

वत्सनामा द्विजन्माऽऽस्ते वनेऽस्मिन्नियतेन्द्रियः ।
चतुर्दशं तु ह्यध्यायं गीतानां सर्वदा जपन् ॥ ३७ ॥
शिष्योऽहं तस्य भूपाल ! ब्रह्मविद्याविशारदः ।
चतुर्दशं तु ह्यध्यायं जपामि प्रत्यहं नृप ! ॥ ३८ ॥
मदीयचरणाम्भोजप्रक्षालनजले लुठन् ।
शशस्त्रिदिवमापन्नः शुनक्या सह भूपते ! ॥ ३९ ॥

राजोवाच—

हेतुना केन कथय हसितं च द्विजोत्तम ! ।
अतः किमपि साकूतं मन्यमानेन सादरम् ॥ ४०

शिष्य उवाच—

महाराष्ट्रे तु नगरं नाम्ना प्रत्युदकं महत् ।
तत्राऽऽसीद्ब्राह्मणो नाम्ना केशवः कितवाग्रणीः ॥ ४१ ॥
विलोभनाऽभवत्तस्य जाया स्वैरविहारिणी ।
तेन साऽहन्यत क्रोधाद्वैरं सञ्चिन्त्य जन्मनः ॥ ४२ ॥
ततः स्त्रीवधपापेन शशकोऽजायत द्विजः ।
किल्बिषाच्छुनकी साऽपि जाता वै जन्मजन्मनः ॥ ४३ ॥
पूर्वेण जन्मना वैरमभ्यस्तं विस्मृतं नहि ।
आसेदिवद्भ्यां बहुधा योन्यन्तरमपि क्वचित् ॥ ४४ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्याकलय्य सकलं भूपालः श्रद्धयाऽन्वितः ।
गीताचतुर्दशाध्यायपाठादाप परां गतिम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्म उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताचतुर्दशाध्याय-
माहात्म्यकथनं नाम चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो श्रीमद्गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १५ ]

**अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च चेतनात्पुरुषोत्तमः ।**
**व्यापनाद्भरणात्स्वाम्यादन्यः पञ्चदशोदितः ॥ १९ ॥**

श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसंग्रहरक्षा ।

अत्र ' अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च ' इत्यस्य सूचनीयां सङ्गतिं विवृण्वन् क्षराक्षरशब्दव्याख्यानतां व्यनक्ति ' क्षेत्राध्याये क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं विशोध्य विशुद्धस्यापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्यैव पुरुषस्य प्राकृतगुणसङ्गप्रवाहनिमित्तो देवाद्याकारपरिणतप्रकृतिसम्बन्धोऽनादिरित्युक्तम् ; अनन्तरे चाध्याये पुरुषस्य कार्यकारणोभयावस्थप्रकृतिसम्बन्धो गुणसङ्गमूलो भगवतैव कृत इत्युक्त्वा गुणसङ्गप्रकारं सविस्तरं प्रतिपाद्य गुणसङ्गनिवृत्तिपूर्वकात्मयाथात्म्यावाप्तिश्च भगवद्भक्तिमूलेत्युक्तम् ; इदानीं भजनीयस्य भगवतः क्षराक्षरात्मकबद्धमुक्तविभूतिमत्तां विभूतिभूतात् क्षराक्षरपुरुषद्वयान्निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतयाऽत्यन्तोत्कर्षेण विसजातीयस्य भगवतः पुरुषोत्तमत्वं च वक्तुमारभते ' [ रा. भा. १५।१ ] इति । अत्र व्यापनभरणस्वाम्यानि– ' यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ' [ १५।१७ ] इति प्रतिपादितानि । एवं प्राधान्यतश्चिदचिदीश्वररूपतत्त्वत्रयविशोधनं क्रमादध्यायत्रयेण कृतमित्यनुसन्धेयम् ॥ १९ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

——:०:——

# पुरुषोत्तमयोगाख्यः पञ्चदशोऽध्यायः।

विरक्तिद्वारा भगवत्तत्त्वज्ञानाधिकारसिद्ध्यर्थं संसारवृक्षस्वरूपवर्णनम्।

**श्रीभगवानुवाच— ऊर्ध्वमूलमधश्शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।**
**छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥ १॥**

### १ शाङ्करभाष्यम्।

यस्मान्मदधीनं कर्मिणां कर्मफलं ज्ञानिनां च ज्ञानफलं, अतो भक्तियोगेन मां ये सेवन्ते ते मत्प्रसादात् ज्ञानप्राप्तिक्रमेण गुणातीता मोक्षं गच्छन्ति, किमु वक्तव्यमात्मनस्तत्त्वमेव सम्यग्विजानन्तः? इत्यतो भगवानर्जुनेनापृष्टमप्यात्मनस्तत्त्वं विवक्षुरुवाच— ऊर्ध्वमूलमित्यादि। तत्र तावद्वृक्षरूपककल्पनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति; विरक्तस्य हि संसाराद्भगवत्तत्त्वज्ञानेऽधिकारः, नान्यस्येति।

### २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या।

ज्ञानेन गुणात्यये दर्शिते नाशित्वे तेषां विना ज्ञानेनानत्ययादनाशित्वे तेनापि तदयोग्यत्वान्न ज्ञानं गुणात्ययहेतुरित्याशङ्कां निरस्य साक्षादेव श्रवणादिहेतुं सन्न्यासं विधित्सुर्ब्रह्मत्वस्य परमपुरुषार्थतां च विवक्षुरध्यायान्तरमारभते— **यस्मादिति**। कर्मिणो ज्ञानिनश्च शास्त्रेऽधिकृताः, तत्र कर्मिणां कर्मानुकूलं फलमीश्वरायत्तम् 'फलमत उपपत्तेः' [ब्र. सू. ३।२।३८] इति न्यायात्, ज्ञानिनामपि तत्फलमीश्वरायत्तमेव 'ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' इत्युक्तत्वात्। यस्मादेवं तस्माद्ये भक्त्याख्येन योगेन मामेव सेवन्ते ते मत्प्रसादद्वारा ज्ञानं प्राप्य गुणातीता मुक्ता भवन्तीति स्थितमित्यर्थः। ये त्वात्मनस्तत्त्वमेव सन्देहाद्यपोहेन जानन्ति, ते तेन ज्ञानेन गुणातीताः सन्तो मुक्तिं गच्छन्तीति किमु वक्तव्यम्? इत्यर्थसिद्धमर्थमाह— **किमु वक्तव्यमिति**। आत्मतत्त्वाज्ञानं यतः संसारहेतुः, ज्ञानं मोक्षानुकूलमतोऽर्जुनेन 'किं तत्?' इत्यपृष्टमपि तत्त्वं भगवानुक्तवान्, प्रश्नाभावेऽपि तस्य तद्बुभुत्सुत्पादनाभिमानादित्याह— **अत इति**। तत्त्वे विवक्षिते किमिति संसारो वर्ण्यते? तत्राऽऽह— **तत्रेति**। अध्यायादिः सप्तम्यर्थः। वैराग्यमपि किमिति मृग्यते? तत्राऽऽह— **विरक्तस्येति**। इति वैराग्याय संसारवर्णनमिति शेषः।

**१ शां. भा.**— ऊर्ध्वमूलं कालतः सूक्ष्मत्वात्कारणत्वान्नित्यत्वान्महत्त्वाच्चोर्ध्वमुच्यते ब्रह्माव्यक्तं मायाशक्तिमत्, तन्मूलमस्येति सोऽयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः। श्रुतेश्च— "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" [कठो. ६।१] इति। पुराणे च— *'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥ महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रवांस्तथा। धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥ आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः। एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्माऽऽचरति नित्यशः॥

---

* एत एव श्लोका आश्वमेधीयपर्वणि षट्त्रिंशत्तमे सप्तचत्वारिंशत्तमे चाध्यायेऽपि पाठान्तरसहिता दृश्यन्ते। ते यथा— अव्यक्तबीजप्रभवो बुद्धिस्कन्धमयो महान्। महाहङ्कारविटप इन्द्रियां(तर)कुरकोटरः॥ २०॥ महाभूतविशेष(विशाख)श्च विशेषप्रतिशाखवान्। सदा-(पत्रः)पर्णः सदापुष्पः शुभाशुभफलोदयः॥ २१॥ आजी(व्यः)वः सर्वभूतानां ब्रह्म-(वृक्षः)बीजः सनातनः। एतज्ज्ञात्वा च तत्त्वानि ज्ञानेन परमासिना (एनं छित्वा च भित्वा च तत्त्वज्ञानासिना बुधः)॥ छित्वा चामरतां प्राप्य जहाति मृत्युजन्मनी (हित्वा सङ्गमयान्पाशान्मृत्युजन्मजरोदयान्)॥ २२॥ निर्ममो निरहङ्कारो मुच्यते नात्र संशयः।

एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना। ततश्चाऽऽत्मरतिं प्राप्य यस्मान्नाऽऽवर्तते पुनः' [म. भा. १४।३५।२०-२२] इत्यादि। तमूर्ध्वमूर्ध्वमूलं संसारं मायामयं वृक्षमाहुः।

२ आ. शां. व्या.— नाशसम्भावनार्थं वृक्षरूपकं बन्धहेतोर्दर्शयति- **ऊर्ध्वमूलमिति**। कथं कालतः सूक्ष्मत्वं? तदाह- **कारणत्वादिति**। तदेव कथं? कार्यापेक्षया नियतपूर्वभावित्वादित्याह— **नित्यत्वादिति**। सर्वव्यापित्वाच्चोत्कर्षं सम्भावयति- **महत्त्वाच्चेति**। ऊर्ध्वमुच्छ्रितमुत्कृष्टमिति यावत्। तस्य कूटस्थस्य कथं मूलत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अव्यक्तमिति**। स्मृतिमूलत्वेन श्रुतिमुदाहरति— **श्रुतेश्चेति**। अर्वाञ्चो निकृष्टाः शाखा इव महदाद्या यस्य स तथा। प्रकृते संसारवृक्षे पुराणसम्मतिमाह— **पुराणे चेति**। अव्यक्तमव्याकृतं, तदेव मूलं तस्मात्प्रभवनं प्रभवो यस्य स तथा, तस्यैव मूलस्याव्यक्तस्यानुग्रहादतिदृढत्वादुत्थितः संवर्धितः। तस्य लौकिकवृक्षसाधर्म्यमाह— **बुद्धीत्यादिना**। वृक्षस्य हि शाखाः स्कन्धादुद्भवन्ति, संसारस्य च बुद्धेः सकाशान्नानापरिणामा जायन्ते, तेन बुद्धिरेव स्कन्धस्तन्मयस्तत्प्रचुरोऽयं संसारतरुः। इन्द्रियाणामन्तराणि च्छिद्राणि कोटराणि यस्य स तथा। महान्ति भूतानि पृथिव्यादीन्याकाशान्तानि विशाखा स्तम्भा यस्य स तथा। आजीव्यत्वमुपजीव्यत्वम्, ब्रह्मणाऽधिष्ठितो वृक्षो ब्रह्मवृक्षस्तथापि ज्ञानं विना छेत्तुमशक्यतया सनातनश्चिरन्तनः। एतच्च ब्रह्मणः परस्याऽऽत्मनो वनं वननीयं सम्भजनीयम्। अत्र हि ब्रह्म प्रतिष्ठितं तस्य वृक्षस्य संसाराख्यस्य तदेव ब्रह्म सारभूतम्। अथवाऽस्य ब्रह्मवृक्षस्यानवच्छिन्नस्य संसारमण्डलस्य तदेतद्ब्रह्म वनमिव वनं वननीयं सम्भजनीयम्। न हि ब्रह्मातिरिक्तं संसारस्याऽऽस्पदमस्ति, ब्रह्मैवाविद्यया संसरतीत्यभ्युपगमादित्यर्थः। अहं ब्रह्मेति दृढज्ञानेनोक्तं संसारवृक्षं छित्त्वा प्रतिबन्धकाभावादात्मनिष्ठो भूत्वा पुनरावृत्तिरहितं कैवल्यं प्राप्नोतीत्याह— **एतदिति**।

१ शां. भा.— अधश्शाखं महदहङ्कारतन्मात्रादयः शाखा इवास्याधो भवन्तीति सोऽयमधश्शाखस्तमधश्शाखम्। न श्वोऽपि स्थातेत्यश्वत्थः, तं क्षणप्रध्वंसिनमश्वत्थं प्राहुः कथयन्ति। अव्ययं संसारमायामयमनादिकालप्रवृत्तत्वात् सोऽयं संसारवृक्षोऽव्ययोऽनाद्यनन्तदेहादिसन्तानाश्रयः, हि सुप्रसिद्धस्तमव्ययम्। तस्यैव संसारवृक्षस्येदमन्यद्विशेषणम्। छन्दांसि यस्य पर्णानि, छन्दांसि छादनादृग्यजुस्सामलक्षणानि यस्य संसारवृक्षस्य पर्णानीव पर्णानि। यथा वृक्षस्य परिरक्षणार्थानि पर्णानि तथा वेदाः संसारवृक्षपरिरक्षणार्थाः, धर्माधर्मतद्धेतुफलप्रकाशनार्थत्वात्। यथाव्याख्यातं संसारवृक्षं समूलं यस्तं वेद स वेदविद्वेदार्थविदित्यर्थः। नहि संसारवृक्षादस्मात् समूलाज्ज्ञेयोऽन्योऽणुमात्रोऽप्यवशिष्टोऽस्ति, अतः सर्वज्ञः सर्ववेदार्थविदिति समूलसंसारवृक्षज्ञानं स्तौति॥ १॥

२ आ. शां. व्या.— अधश्शाखमित्येतद्व्याचष्टे— **महदिति**। आदिशब्देनेन्द्रियादिसङ्ग्रहः। संसारवृक्षस्यातिचञ्चलत्वे प्रमाणमाह— **प्राहुरिति**। क्षणध्वंसिनोऽव्ययत्वं विरुद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— **संसारेति**। तदेवोपपादयति— **अनादीति**। छादनं रक्षणं प्रावरणं वा; कर्मकाण्डानि खल्वारोहावरोहफलानि नानाविधार्थवादयुक्तानि संसारवृक्षं रक्षन्ति, तन्निष्ठं दोषं चाऽऽवृण्वन्ति तानि च्छन्दांसि पर्णानीव भवन्तीत्यर्थः। तदेव प्रपञ्चयति- **यथेति**। उक्तेऽर्थे हेतुमाह- **धर्मेति**। कर्मकाण्डानां वेदानामिति शेषः। कर्मब्रह्माख्यसर्ववेदार्थस्य तत्रान्तर्भावमुपेत्य व्याचष्टे— **वेदार्थेति**। समूलसंसारवृक्षज्ञानेऽमूलं हित्वा मूलमेव निष्कृष्य ज्ञातुं शक्यमिति तज्ज्ञानार्थं प्रयतितव्यमिति मत्वा तज्ज्ञानस्तुतिरत्र विवक्षितेत्याह— **न हीति**॥ १॥

### ३ रामानुजभाष्यम्।

क्षेत्राध्याये(१३) क्षेत्रक्षेत्रज्ञभूतयोः प्रकृतिपुरुषयोः स्वरूपं विशोध्य विशुद्धस्यापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारस्यैव पुरुषस्य प्राकृतगुणसङ्गप्रवाहनिमित्तो देवाद्याकारपरिणतप्रकृतिसम्बन्धोऽनादिरित्युक्तम्; अनन्तरे चाध्याये (१४) पुरुषस्य कार्यकारणोभयावस्थप्रकृतिसम्बन्धो गुणसङ्गमूलो भगवतैव कृत इत्युक्त्वा गुणसङ्गप्रकारं सविस्तरं प्रतिपाद्य गुणसङ्गनिवृत्तिपूर्वकात्मयाथात्म्यावाप्तिश्च भगवद्भक्तिमूलेत्युक्तम्; इदानीं भजनीयस्य भगवतः क्षराक्षरात्मकबद्धमुक्तविभूतिमत्तां, विभूतिभूतात् क्षराक्षरपुरुषद्वयात् निखिलहेयप्रत्यनीककल्याणैकतानतया अत्यन्तोत्कर्षेण विसजातीयस्य भगवतः पुरुषोत्तमत्वं च वक्तुमारभते। तत्र तावत् असङ्गरूपशस्त्रच्छिन्नबन्धामक्षराख्यविभूतिं च वक्तुं छेद्यरूपबन्धाकारेण विततमचित्परिणामविशेषमश्वत्थवृक्षाकारं कल्पयन् श्रीभगवानुवाच— ऊर्ध्वमूलमिति। यं संसाराख्यमश्वत्थं ऊर्ध्वमूलमधश्शाख-

मव्ययं प्राहुः श्रुतयः "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" [ कठो. ६।१] "ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति" [ आरण्यके १।११।५ ] इत्याद्याः।

## ४ वेङ्कटनाथविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका।

एवमध्यायद्वयेन प्रथमषट्कोदितप्रकृतिपुरुषतत्प्रकारविशेषविशोधनं कृतम्; तत्रेयं प्रकृतिः स्वगुणैर्यदधीनसत्तादिः, पुरुषश्च यदपराधाद्बद्धः यत्प्रसादाच्च मोक्ष्यत इत्युक्तम्; स इदानीं मध्यमषट्कोदितः परमात्मा विशोध्यत इति सङ्गतिमाह— **क्षेत्राध्याय** इत्यादिना **आरभत** इत्यन्तेन। एतेन 'अचिन्मिश्राद्विशुद्धाच्च चेतनात्पुरुषोत्तमः। व्यापनाद्भरणात्स्वाम्यादन्यः पञ्चदशोदितः' [गी. सं. १९] इति सङ्ग्रहश्लोकोऽप्यनुसंहितः। त्रयोदशशेषतया चतुर्दशे वृत्ते तदन्ते 'मां च' (२६,२७) इत्यादिश्लोकद्वयेन अव्यभिचारिभक्त्या भजनीयः फलप्रदश्च परमपुरुषः प्रसक्तः; पञ्चदशे तत्प्रकर्षविशेषविशोधनपरतया चतुर्दशेन सङ्गतिः **भजनीयस्ये**त्यनेन दर्शिता। विभूतिमत्त्वप्रतिपादनमिह वैलक्षण्यप्रतिपादनार्थमित्यभिप्रायेण **आरभत** इत्युक्तम्। प्रकृताभ्यां बद्धमुक्ताभ्यां विभूतिमत्त्वमिह वर्ण्यत इत्यपि प्रकृताध्यायद्वयसङ्गतिरभिप्रेता। तत्र 'ऊर्ध्वमूलम्' इत्यादेरध्यायारम्भग्रन्थस्य जरद्गवादिवाक्यवदनन्वितत्वम्, अन्वितत्वेऽपि प्रकृताप्रकृतप्रकरिष्यमाणासङ्गतिं च परिहर्तुमाह—**तत्र तावदि**ति। प्रतिपत्तिसौकर्यार्थं श्रुत्यनुसारेणेदमश्वत्थवृक्षाकारकल्पनम्। परतत्त्वबुभुत्साहेतुभूतवैराग्यार्थमित्येके, विभूतितयाऽवसितया च विभूतिमत्परत्वप्रतिपादनार्थत्वात्तस्येति। अनन्तरमसङ्गशस्त्रच्छेद्यत्वोक्तेः सङ्गविषयः संसार एवात्राश्वत्थरूपेण कल्पित इति गम्यते; तत्र लौकिकाश्वत्थाद्वैलक्षण्यज्ञापनायोर्ध्वमूलत्वाद्याश्चर्यप्रदर्शनमिति भावः। ननु मूलप्रकृतिरेवात्राश्वत्थतया कल्प्यत इति किं न गृह्यते? 'गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः' [ १५।२ ] इत्यादीनि च तत्र सुसङ्गतानि; मैवं, साक्षात्सङ्गविषयत्वाभावादसङ्गशस्त्रच्छेद्यत्वस्य च मुख्यस्याविनाशित्वेनानन्वयात्तदिदमभिप्रेत्योक्तम्— **अचित्परिणामविशेषमिति, यं संसाराख्यमिति** च।

अयमेवार्थः पुराणेऽपि पठ्यते— 'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोच्छ्रितः। बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः॥ महाभूतविशाखश्च विषयैः पत्रशाखवान्। धर्माधर्मसुपुष्पश्च सुखदुःखफलोदयः॥ आजीव्यः सर्वभूतानां ब्रह्मवृक्षः सनातनः। एतद्ब्रह्मवनं चैव ब्रह्मवृक्षस्य तस्य तत्॥ एतच्छित्त्वा च भित्त्वा च ज्ञानेन परमासिना। ततश्चात्मरतिं प्राप्य यस्मान्नावर्तते पुनः' [ म. भा. १४।३९।२०-२२ + ना. पु. १६।५, ६, ७, ११ ] इत्यादि। केचित्पुरुषाणामेकैकस्मिञ्छरीरे शिरस ऊर्ध्वत्वात्पाण्यादीनां चाधोमुखत्वादूर्ध्वमूलत्वादिकल्पनामाहुः। पुनश्चान्यथाऽऽहुः 'तदिदं व्यष्टिक्षेत्रम्, अथ समष्टिक्षेत्रमुच्यते; कृत्स्नमिदं ब्रह्माण्डं हिरण्यगर्भशरीरं विराडित्युच्यते; तस्य द्यौः शिरश्चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे मध्यमाकाशं शरीरम्, पृथिवी पादौ, तस्मिन्नप्यूर्ध्वमूलमधश्शाखम्' इति योजयितव्यम्। 'प्राणिवंशो वा अश्वत्थो वृक्षः; तस्य मूलं ब्रह्मा उपरिष्टात्स्थितः' इत्यादि। 'अधश्चोर्ध्वं च' [१५।२] इति श्लोके तु प्रकृत्यादिविशेषान्तं कृत्स्नं वृक्षत्वेन कल्प्यत इति। एवं सर्वास्वपि योजनासु संसारहेयताप्रतिपादने तात्पर्यं वक्तव्यम्। ततो वरं संसारस्यैव साक्षाद्वृक्षत्वेन कल्पनम्। 'अधश्चोर्ध्वं च' [ १५।२ ] इति श्लोके तु 'तस्य' इति परामर्शात्पूर्वकल्पितस्यैव वृक्षस्य प्रतीतेर्न वृक्षान्तरकल्पना युक्ता। 'न रूपमस्य' [ १५।३ ] इत्यादौ स एव एको वृक्षः परामृश्यते। तस्मादेकस्यैव संसारस्य वृक्षत्वकल्पना भाष्यकारैर्व्याख्याता। अत्रानिर्दिष्टकर्तृकस्य **आहुः** इत्यस्य वाद्यन्तरकर्तृत्वशङ्काव्युदासायाह **श्रुतय** इति। ननु "ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" इति श्रुतिरिह कथं संसारविषयतयोदाह्रियते? 'एषः' इति हि प्रकृतस्य वक्ष्यमाणस्य च पुरुषस्य परामर्श उचितः; मैवं, पुरुषस्य स्वरूपेणोर्ध्वमूलत्वाद्यसम्भवात्। मुमुक्षूणां तस्मिन्नेव सङ्गादसङ्गशस्त्रच्छेद्यत्वोक्तेश्च अघटितत्वात्; उपहितवेषेण तु तथोक्तौ प्राप्ताप्राप्तविवेकेनोपाधावेव विश्रमादिति। श्वो न स्थास्यतीत्यप्यश्वत्थः; छेद्यत्वाच्च वृक्षः; तदेतदुपात्तश्रुतिद्वये विशेषतः सामान्यतश्च कल्पनालम्बनम्।

**३ रा. भा.**— सप्तलोकोपरिनिविष्टचतुर्मुखादित्वेन तस्योर्ध्वमूलत्वम्। पृथिवीनिवासिसकलनरपशुमृगपक्षिकृमिकीटपतङ्गस्थावरान्ततया अधश्शाखत्वम्। असङ्गहेतुभूतात् आसम्यग्ज्ञानोदयात् प्राक्प्रवाहरूपेणाच्छेद्यत्वेनाव्ययत्वम्। यस्य चाश्वत्थस्य छन्दांसि पर्णान्याहुः। छन्दांसि श्रुतयः। "वायव्यं श्वेतमालभेत भूतिकामः" [ यजुः २।१।१ ] "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत्प्रजाकामः" [यजुः का. २।१] इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितैः काम्यकर्मभिर्वर्धतेऽयं संसारवृक्ष इति छन्दांस्येवास्य पर्णानि। पर्णैर्हि वृक्षो वर्धते; यस्तमेवम्भूतमश्वत्थं वेद, स वेदवित्। वेदो हि संसारवृक्षच्छेदोपायं वदति; छेद्यवृक्षस्वरूपज्ञानं छेदनोपायज्ञानोपयोगीति वेदविदित्युच्यते॥ १॥

**४ वे. ता. चं.**— ऊर्ध्वमूलत्वमधश्शाखत्वं च व्यष्टिसृष्टिप्रक्रियया घटयति **सप्तलोके**त्यादिना । **पृथिवी**त्यधस्तनलोकानामुपलक्षणम् । अव्ययत्वच्छेद्यत्ववचनं व्याहतमित्यत्राह– **असङ्गहेतुभूतादासम्यग्ज्ञानोदयादि**ति । तत्त्वज्ञानात्प्रागपि विनाशदर्शनविरोधपरिहाराय प्रवाहरूपत्वोक्तिः । अक्षरसङ्ख्यारूपच्छन्दोव्यवच्छेदायाह **छन्दांसि श्रुतय** इति । पर्णवत्संसारवृक्षस्य यथावस्थिताकारं सञ्छाद्य रक्षन्तीति ज्ञापनायात्र छन्दश्शब्दः । संसारवृक्षपर्णत्वेन रूपणाच्छन्दश्शब्दोऽत्र 'वेदवादरताः' [ २।४२ ] इत्यादिष्विव त्रिवर्गपरांशविषय इत्यभिप्रायेणाह **वायव्यमि**ति । असम्बन्धिनां छन्दसां कथं पर्णत्वं ? इत्यत्राह **श्रुतिप्रतिपादितै**रिति । तथापि वृक्षावयवेषु बहुषु पर्णत्वेन रूपणे को विशेषः ? इत्यत्रोक्तं **वर्धत** इति । तद्विवृणोति **पर्णैर्ही**ति । 'तम्' इति सप्रकारपरामर्शविवक्षया आह **एवम्भूतमि**ति । ननु यः संसाराश्वत्थं वेद, स वेदविदित्यसङ्गतं; नहि संसारोऽश्वत्थो वा वेदाः, येन तद्वेदिनो वेदवित्त्वमुच्यते; अतोऽत्र 'आद्यं तु ( यत् ) त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यत्र ( यस्मिन् ) प्रतिष्ठिता । स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्' [ मनुः ११।२६५ ] इत्यादिष्विव प्रणवविषयत्वं कार्तयुगैकवेदपरत्वं वा युक्तम् । प्रणवस्यार्धमात्रायाः कारणपरमपुरुषदेवताकत्वश्रुतेः ऊर्ध्वमूलत्वं सुसङ्गतम् । कार्तयुगवेदस्यापि वेदान्तरूपत्वात्सर्वमूलत्वाच्च तथा निर्देशो घटते । एवं छन्दःपर्णत्वादिकं चोभयोः सुगमम् । शङ्कुना पर्णानामिव प्रणवेन सर्वासां वाचां सन्तृण्णत्वश्रुतेः 'महतो वेदवृक्षस्य मूलभूतो महानयम् । स्कन्धभूता ऋगाद्यास्ते शाखाभूतास्तथापरे' इति धर्मविशेषप्रतिपादकभागस्य मूलत्वोक्तेश्च । अतस्तथाभूतवेदविशेषवेदिन इह वेदवित्त्वेन स्तुतिः; न त्ववेदभूतयत्किञ्चिद्वेदिन इति; तत्राह **वेदो ही**ति । अत्र वेदशब्दोऽपवर्गार्थवेदभागपरः; ततः किमित्यत्राह— **छेद्यवृक्षे**ति ।

**अयमभिप्रायः**— असङ्गशस्त्रच्छेद्यत्वानुपपत्तेरेव प्रणवादिपरत्वमप्ययुक्तमेव; 'ततः परं तत्परिमार्गितव्यम्' [ १५।४ ] इत्येतदपि तत्रासङ्गतं, 'शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' [ मै. उ. ६।२२+वि. पु. ६।५।६४ ] इतिवत्स्यादिति चेत्, न; विरुद्धत्वात् । तत्र हि तन्निष्णातस्य परब्रह्माधिगम उच्यते; अत्र तु तच्छित्त्वा ततः परं परिमार्गितव्यमिति; अतोऽस्यान्यार्थासम्भवात्संसारविषयत्वे सिद्धे तद्विदो वेदवित्त्वेन स्तुतिः, तज्ज्ञानस्य वेदान्तप्रतिपाद्यार्थज्ञानोपयोगितयैव– इति । 'ऊर्ध्वमूलम्' इत्यादिकं नैमित्तिकसृष्टिप्रक्रिययोक्तम् ॥ १ ॥

### ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

संसारच्छेत्रे नमः ॥ ॥ ॐ संसारस्वरूपतदत्ययोपायविज्ञानान्यस्मिन्नध्याये दर्शयति । ऊर्ध्वो विष्णुः "ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीवस्वमृतमस्मि । द्रविण ँ सवर्चसम्" [ तै. उ. १।१० ] इति हि श्रुतिः । ऊर्ध्व उत्तमः सर्वतः, अधो निकृष्टं शाखा भूतानि । श्वोऽप्येकप्रकारेण न तिष्ठतीत्यश्वत्थः । तथापि न प्रवाहव्ययः । पूर्वब्रह्मकाले यथास्थितिः, तथा सर्वत्रापीत्यव्ययता । फलकारणत्वाच्छन्दसां पर्णत्वम्, न हि कदाचिदप्यजाते पर्णे फलोत्पत्तिः ॥ १ ॥

### ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

अध्यायप्रतिपाद्यमर्थमाह— **संसारे**ति । संसरत्यनेनेति संसारः प्रकृत्यादिकं क्षेत्रम् । पूर्वाध्याये संसारैकदेशानां गुणानामेव वृत्तं दर्शितम्, अत्र पुनः समग्रं संसारस्वरूपं प्रदर्श्य तदत्ययेच्छामुत्पाद्य तत्साधनजिज्ञासुं प्रति प्रागुक्तं साधनं प्रपञ्चयति । तत्प्रसङ्गादलौकिकं भगवन्महिमानं च दर्शयत्यनेनाध्यायेनेत्यर्थः । जगद्वृक्षस्योर्ध्वमूलत्वं घटयितुमूर्ध्वशब्दाभिधेयं तावदाह– **ऊर्ध्व** इति । कुतः ? श्रौतप्रयोगादित्याह– **ऊर्ध्वे**ति । आदौ तावदहमूर्ध्वेन विष्णुना पवित्रो निष्पापोऽस्मि; ततो वाजिरूपश्च नेता च वाजिनीः सूर्यः तत्र वसतीति वाजिनीवसुः, तेन वाजिनीवसुना विष्णुना अमृतं प्रारब्धकर्मनिर्मुक्तश्चास्मि । "स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः" [ प्रश्नो. ५।५ ] इति श्रुतेः । ततश्च तेनैव सवर्चसं सप्रभं अनुभूयमानमिति यावत् । द्रविणं धनं सुखं चास्मीत्यर्थः । वर्चसशब्दोऽकारान्तोऽप्यस्ति "ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः" [ अष्टा. ५।४।७८ ] इत्यत्र योगविभागात्समासान्तो वा, विष्णुप्रसङ्गदर्शनाय श्रुतिशेषोदाहरणम् । इदानीं तस्य तत्र प्रवृत्तौ निमित्तमाह— **ऊर्ध्व** इति । उन्नतो ह्यूर्ध्व उच्यते अतो ब्रह्मादिलोकस्थत्वादिलक्षणा सूक्ष्मत्वादिगुणयोगो वा नाश्रयणीयः सर्वतः सर्वस्मात्प्रपञ्चात् सर्वैश्च गुणैः । 'अधश्शाखं' इत्येतद्घटयन्नधश्शब्दार्थं तावदाह— **अध** इति । शाखाः काः ? इत्यत आह— **शाखा** इति । तानि हि मूलापेक्षयाऽपकृष्टानि । ननु वृक्षमात्रस्य सारूप्यमभिदधता कथमश्वत्थत्वमस्योच्यते ? इत्यत आह— **श्वोऽपी**ति । 'सुपि स्थः' [ अष्टा. ३।२।४ ] इति कः; श्वसः सकारस्य तकारो धातुसकारस्य लोपश्च निरुक्तत्वात् । श्वः स्थाता श्वत्थः, श्वत्थो न भवतीत्यश्वत्थः; किमुत कालान्तर इत्यपिशब्दः । ननु पदार्थानां बहुकालस्थायित्वदर्शनात्कथमेतत् ? इत्यत उक्तम्— **एके**ति । तिष्ठतीति लुङर्थेऽनादरसूचनाय लट् । अथवाऽपिशब्देन वर्तमानातीतयोः समुच्चयः । ततः क्रियाप्रबन्धे लट् । तर्ह्यव्ययमिति व्याघात इत्यत आह— **तथापी**ति विकारित्वेऽपि । एतदपि नास्ति । जगत्प्रवाहस्य प्रलये व्ययादित्यत आह— **पूर्वे**ति ।

छन्दसां पर्णत्वं घटयति— फलेति । फलकारित्वसादृश्यादित्यर्थः । तत्र फलं मोक्षादिकम् । छन्दसां वेदानाम् । स्यादिदं; यदि पर्णानां फलकारणत्वं स्यात्; तदेव कुतः ? अन्वयव्यतिरेकाभ्यामित्याह— न हीति । किन्तु जात एवेत्यन्वयोऽपि वाच्यः ॥ १ ॥

## ७ हनुमत्प्रणीतं पैशाचभाष्यम् ।

ऊर्ध्वमूलमिति । यत्सर्वेषां लोकानामुपरिष्टाद्वर्तमानं सत्यलोकनिवासिहिरण्यगर्भान्तःकरणाभिव्यक्तं सर्वस्य जगतः सृष्टिस्थितिसंहारहेतुभूतमव्यक्तात्मकं ब्रह्म तदूर्ध्वं तन्मूलं कारणं यस्य स ऊर्ध्वमूलः संसारवृक्षः । अश्वत्थः श्वो न तिष्ठतीति । अधश्शाखं तस्मात्सत्यलोकादधोभूतलोकान्तर्वासिशाखमश्वत्थं प्राहुः पण्डिताः । अव्ययमविनाशिनम् । छन्दांसि वेदाः पर्णानि, आवरणरूपत्वात् । सोऽश्वत्थस्तं क्षणध्वंसिनमश्वत्थं यो वेद स वेदविद्वेदार्थविदित्यर्थः ॥ १ ॥

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतस्य ब्रह्मभावापत्तिरूपा मुक्तिरुपवर्णिता; पञ्चदशे तु निस्संसारस्य मोक्षवर्णनेन पूर्वाध्यायार्थ एव प्रपञ्च्यते; तत्र संसारतो विरक्तस्यैव निस्संसारत्वं, नान्यस्येति, ततो विरक्त्यर्थं प्रथमं तावत्संसारस्वरूपं वृक्षत्वेन निरूपयन् श्रीभगवानुवाच— ऊर्ध्वमूलमिति । ऊर्ध्वाधश्शब्दावुत्कृष्टापकृष्टवाचिनौ । ऊर्ध्वं सर्वसंसारभ्रमाधिष्ठानत्वेन स्वप्रकाशपरमानन्दचैतन्यरूपत्वेन च सर्वोत्कृष्टं परब्रह्म मूलं यस्य संसारवृक्षस्य; यद्वा ऊर्ध्वं क्षराक्षराभ्यामुत्कृष्टं पुरुषोत्तमाख्यं मायाशबलितं ब्रह्म मूलं यस्य तमूर्ध्वमूलम् , 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' [ १५।४ ] इति वक्ष्यमाणत्वात् । अधश्शाखम्, ब्रह्मणोऽधस्तना हिरण्यगर्भादयः कार्योपाधयो जीवा महदहङ्कारतन्मात्रादयो वा नानादिक्प्रसृतत्वाच्छाखा इव शाखा यस्य तमधश्शाखम् । अथवा ऊर्ध्वाधश्शब्दावुपर्यधःप्रदेशरूपप्रसिद्धार्थकावेव 'अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतास्तस्य शाखाः' [ १५ । २ ] इत्यग्रिमश्लोकानुसारात् । तत्र सप्तलोकोपरिस्थितचतुर्मुखादित्वेन संसारस्योर्ध्वमूलत्वम् । ब्रह्माणमारभ्य हि संसारः प्रवृत्तः, 'स वै शरीरी प्रथमः' इत्यादिस्मृतेः । एवं भूमिस्थमनुष्यपशुपक्ष्यादिस्थावरान्तत्वेनाधश्शाखत्वं च द्रष्टव्यम् । अत्र चोर्ध्वमूलाधश्शाखत्वोक्त्या महानदीप्रवाहनिपातिततत्तीरतिर्यङ्निपतिताधोन्मूलितवृक्षत्वरूपणमभिव्यज्यते । तेन च संसारस्यातिजिहास्यत्वमाविष्कृतम् । न हि तादृशो वृक्षः पक्षिभिः पथिकैरन्यैर्वा कैश्चिदाश्रीयते, न वा स्वयं चिरं जीवितुमर्हति । अत एव श्वोऽपि न तिष्ठतीत्यश्वत्थमाशुविनाशिनम् । न चायमाशुविनाशीति स्वत एव नश्यति, किन्त्वव्ययम् , ज्ञानपरशुं विनाऽनुच्छेद्यमित्यर्थः । एवंविधं संसारं प्राहुः, श्रुतिस्मृतय इति शेषः । तत्र श्रुतयस्तावत्— " ऊर्ध्वमूलो ह्यवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः" [कठो. २।६।१] " ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति" इत्याद्याः । तथा स्मृतयश्च—'अव्यक्तमूलप्रभवस्तस्यैवानुग्रहोत्थितः । बुद्धिस्कन्धमयश्चैव इन्द्रियान्तरकोटरः' [म.भा.१४।३६।२०+ना.पु.१६।५] इत्याद्याः। यस्य संसारवृक्षस्य च्छन्दांसि ऋग्यजुस्सामरूपाणि पर्णानीव पर्णानि। यथा वृक्षस्य रक्षार्थानि पर्णानि भवन्ति तथा संसारवृक्षस्य रक्षणार्थानि कर्मकाण्डात्मकानि छन्दांसि, तेषां संसाराभिवृद्धिकरधर्माधर्मप्रतिपादकत्वात् । य एवम्भूतमश्वत्थं वेद जानाति स वेदवित् । संसारवृक्षस्य हि ब्रह्मैव मूलम् , जीवास्तस्य शाखाः; स च स्वरूपेण विनश्वरो विज्ञानं विनाऽनुच्छेद्यः कर्मभिश्चाभिवर्धते ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानेन च्छिद्यत इत्येतावानेव हि सर्ववेदार्थः । अत ईदृशसंसारवृक्षज्ञानी वेदविदिति युक्तैव स्तुतिः ॥ १ ॥

## ९ वल्लभाचार्यकृता तत्त्वदीपिका ।

एवं पूर्वाध्याये पुरुषस्य प्रकृतिसम्बन्धो गुणसङ्गतो लीलार्थं भगवतैव कृतस्तारतम्यत इति पूर्वोक्तं साङ्ख्यं विवृतं, तत्प्रसङ्गाद्गुणविभागमुक्त्वाऽन्ते तन्निवृत्तिपूर्वकमक्षरब्रह्मात्माप्तिः पुरुषोत्तमभक्तिमूला विरलस्य भक्तिमार्गीयस्य भवतीत्युक्तं; इदानीं भजनीयस्य ब्रह्माद्याश्रयस्य मूलभूतस्य क्षराक्षरातीतपुरुषोत्तमस्य सर्ववेदान्ततात्पर्यभूतस्य क्षराक्षरात्मकबद्धमुक्तमूलभूततया सर्वधर्माश्रयत्वमुत्तमत्वं च वक्तुमारभते; तत्र गुणसर्गेऽस्य सर्वस्य चिदचित्प्रपञ्चस्य नामरूपात्मकस्य भगवतः सच्चिदंशोद्भूतत्वाद्भगवत्स्वरूपस्य भजनीयतां तत्स्वरूपनिरूपणेन परिहरन् तन्मूलभूतस्य च तां प्रतिपादयन् श्रीभगवानुवाच– ऊर्ध्वमूलमिति । ऊर्ध्वं ब्रह्मपर्यन्तं मूलं यस्य, यं विचित्रनामरूपप्रपञ्चाख्यं प्रसिद्धमश्वत्थं प्राहुः। भगवानपि तथा सोऽपि च । "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं" [श्वे.उ.३।९+म.ना.उ.८।१४]इति वाक्यात् "स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशांगुलम्" [ऋक्सं.८।४।१७।१] इत्यादिश्रुतेः। भगवान्मूलवृक्षरूपस्तस्माज्जगदपि जायमानं वृक्षात्मकमेव भवति। अनेन भगवतो महत्त्वं कारणत्वं च निरूपितम् । 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखो यो(एषो)ऽश्वत्थः स सनातनः" [कठो.६।११] "ऊर्ध्वमूलावाक्शाखं वृक्षं यो वेद सम्प्रति" इत्यादि-

श्रुतय आहुः । अश्वत्थादिवृक्षे एकस्मिन्कोटिशः फलानि भवन्ति; तत्रैकस्मिन्फलेऽसङ्ख्यातानि बीजानीति; एकस्य बीजस्यायं ब्रह्माण्डात्मको वृक्षः, सोऽपि तादृश एव । एवमनादिनिधनो वृक्षमूलो भगवानत एव कश्चिद्ब्रह्माण्ड-निर्माणं भगवता स्वांशद्वारा कश्चित्तत्त्वद्वारा । अक्षरमत्र फलं तस्य तत्त्वान्यंशाः बीजं ब्रह्माण्डमिति, शकुनिभक्षि[त]मेव ततो निर्गतं फलतीति तत्त्वानां चेतनता निरूपिता । ' ऊर्ध्वमूलं ' इत्यादिविशेषणैर्विचित्ररचनत्वेन परम-काष्ठापन्नवस्तुकृतिसाध्यत्वात् तदंशत्वं तद्रूपत्वेन सनातनत्वं च सूच्यते । अतएवोक्तं यज्ञपत्न्युपाध्यायैः 'ब्रह्मात्मकं ब्रह्मकार्यं वेदलोकमयं जगत् ' इति; ' प्रपञ्चो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत् ' इति भाष्यकारेण च ।

छंदांसि यस्य भगवद्रूपप्रपञ्चस्य पर्णानि " वायव्यं श्वेतमालभेत " [ यजुः २।१।१ ] " स्वर्गकामो यजेत " [ आप. श्रौ. १०।१।२।१ ] इत्यादिकानि छायासुखकराणि जीवानां भवन्ति, बाह्यतः काम्यकर्मपर-त्वात् । आभ्यन्तरस्तु ' यन्न दुःखेन सम्भिन्नं तत्पदं स्वःपदास्पदम् ' इति व्यवस्थापनात् । यस्तमेवम्भूतमश्वत्थं वेद स वेदवित् । वेदो हि भगवत्कार्यभूते प्रपञ्चे अविद्यालिङ्गितजीवकृताहम्ममत्वकल्पितकर्मादिपर्यावर्तसंसार-विवर्तच्छेदोपायं वदति । अतएव ' सुवर्णजलवत्कार्यं ' इत्युक्तं श्रीमदाचार्यैः । तस्य चान्तरालिकस्य स्वरूपज्ञानं छेदनोपायज्ञानोपयोगीति वेदविदुच्यते ॥ १ ॥

१० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

स्वरूपज्ञानरहिता भक्तिर्नैवोपयुज्यते । पुरुषोत्तमरूपं तु ततः पञ्चदशेऽवदत् ॥ १ ॥
परीतः पार्थकृपया श्रीकृष्णः करुणानिधिः । उद्दिधीर्षुश्च तद्द्वारा लोकं भक्तिप्रवर्तितम् ॥ २ ॥

पूर्वाऽध्याये ' मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ' [ १४।२६ ] इत्यनेनाऽनन्यभजनमुक्तम्; तत्सिद्ध्यर्थं स्वपुरु-षोत्तमस्वरूपं सपरिकरं वदिष्यन् सार्धश्लोकद्वयेन तदङ्गत्याग-ज्ञापनाय स्वलीलात्मकसंसारवृक्षाद्भिन्नं संसारस्वरूपं वृक्ष-रूपेणाऽऽह— ऊर्ध्वमूलमित्यादिना । ऊर्ध्वः पुरुषोत्तमो मूलं यस्य, स्वक्रीडार्थं प्रकटितत्वात् । अधः जीवादयः सेवार्थो-त्पादिताः शाखा यस्य तम् । अव्ययं लीलार्थकत्वान्नित्यं स्थास्यति, दुर्लभत्वाज्जीवदर्शनयोग्यं, अतो व्यासादयोऽश्वत्थं प्राहुः । यस्य पर्णानि पत्राणि छायोपयोग्यानि तापापहानि । भगवत्स्वरूपभगवद्भजनादिप्रतिपादकत्वेन छन्दांसि वेदाः । 'यः'इति दुर्लभाधिकारित्वम् । वेदं वेत्ति जानाति स वेदवित्, वेदार्थज्ञानवानित्यर्थः ॥ १ ॥

११ नैलकण्ठीयो भारतभावदीपः ।

पूर्वाध्यायान्ते ' सुखस्यैकान्तिकस्य प्रतिष्ठा पराकाष्ठाऽहं ' [ १४।२७ ] इत्युक्तं, तत्र किंलक्षणं तत्सुखं ? केन वा आवृतं ? केन वा साधनेनास्यावरणभङ्गः ? केन वाऽधिकारिणा तत्प्राप्यं ? इत्यादि वर्णयितुं पञ्च-दशोऽध्याय आरभ्यते— ऊर्ध्वमूलमिति । " आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते " [ तै. उ. ३।६ ] इति श्रुतिप्रसिद्धं मानुषानन्दमारभ्योत्तरोत्तरशतगुणविवृद्धानन्दसोपानपङ्क्तेरुपरि स्थितं परमानन्दाद्वयं वस्तु ऊर्ध्वं तदेव मूलं मूलकारणमस्य संसाराश्वत्थस्य तमूर्ध्वमूलं; अधश्शाखं ऊर्ध्वादधोधस्सोपानस्थानीयाः शाखा इव शाखा अव्यक्तमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रा षोडशविकारहिरण्यगर्भविराट्प्रजापतिसुरगन्धर्वासुरनरतिर्यक्स्थावर-रूपा यस्य सोऽधश्शाखस्तम् , न श्वोऽपि स्थातुं योग्यमनृतत्वात् , अश्वत्थं संसारवृक्षम् । तथाऽप्यव्ययं मूढा-नामनाद्यनन्तं प्राहुर्वेदाः " ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः " [ कठो. ६।१ ] इत्यादयः । छन्दांसि वेदास्तदुपलक्षिता यज्ञादयः, त एव पर्णानि पर्णसङ्घातवत् शोभाहेतवो यस्य तरोस्तमश्वत्थं यो वेद मिथ्यात्वेन, स एव वेदवित् , विदितवेद्य इत्यर्थः। अत्राश्वत्थरूपकेण संसारो वर्ण्यते ॥ १ ॥

संसारवृक्षस्यान्यदवयवकल्पनं दुरुच्छेद्यत्वं च ।

## अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।
## अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

१ शां. भा.— तस्यैतस्य संसारवृक्षस्यापराऽवयवकल्पनोच्यते— अधश्चेति । अधो मनुष्या-दिभ्यो यावत्स्थावरं, अत ऊर्ध्वं च यावत् ब्रह्मणो विश्वसृजो धाम इत्येतदन्तं यथाकर्म यथाश्रुतं ज्ञान-कर्मफलानि तस्य वृक्षस्य शाखा इव शाखाः प्रसृताः प्रगताः, गुणप्रवृद्धा गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिः प्रवृद्धाः

स्थूलीकृता उपादानभूतैः, विषयप्रवाला विषयाः शब्दादयः प्रवाला इव देहादिकर्मफलेभ्यः शाखाभ्योऽङ्कुरीभवन्तीव, तेन विषयप्रवालाः शाखाः । संसारवृक्षस्य परममूलमुपादानकारणं पूर्वमुक्तम्; अथेदानीं कर्मफलजनितरागद्वेषादिवासना मूलानीव धर्माधर्मप्रवृत्तिकारणान्यवान्तरभावीनि तान्यधश्च देवाद्यपेक्षया मूलान्यनुसन्ततान्यनुप्रविष्टानि, कर्मानुबन्धीनि कर्म धर्माधर्मलक्षणमनुबन्धः पश्चाद्भावो येषामुद्भूतिमनूद्भवतीति तानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके विशेषतः । अत्र हि मनुष्याणां कर्माधिकारः प्रसिद्धः ॥ २ ॥

२ आ. शां. व्या.— अवयवसम्बन्धिन्यपरा प्रागुक्तादतिरिक्ता कल्पनेति यावत् । आमनुष्यलोकादाविरिञ्चेरित्यधश्शब्दार्थमाह— **मनुष्यादिभ्य** इति । तस्मादेवाऽऽरभ्याऽऽसत्यलोकादित्यूर्ध्वशब्दार्थमाह— **यावदिति** । शाखाशब्दार्थं दर्शयति— **ज्ञानेति** । तेषां हेत्वनुगुणत्वेन बहुविधत्वं सूचयति— **यथेति** । प्रत्यक्षाणां शब्दादिविषयाणां प्रवालत्वं, शाखासु पल्लवत्वम् । अंकुरत्वं स्फोरयति— **देहादीति** । 'ऊर्ध्वमूलं' इत्यत्र संसारवृक्षस्य मूलमुक्तं, किमिदानीमधश्च मूलानि ? इत्युच्यते तत्राऽऽह— **संसारेति** । अनुप्रविष्टत्वं सर्वेषु लिङ्गेष्वनुगततया सन्ततत्वमविच्छिन्नत्वम् । रागादीनां कर्मफलजन्यत्वं प्रकटयति— **कर्मेति** । कर्मणां रागादीनां मिथो हेतुहेतुमत्त्वम् । तेषां तथात्वेनावच्छिन्नतया प्रवृत्तिर्विशेषतो मनुष्यलोके भवतीत्यत्र हेतुमाह— **अत्र हीति** । कर्मव्युत्पत्त्या प्राणिनिकायो लोकः, मनुष्यश्चासौ लोकश्चेत्यधिकृतो ब्राह्मण्यादिविशिष्टो देहो मनुष्यलोकः ॥ २ ॥

३ रा. भा.—तस्य मनुष्यादिशाखस्य वृक्षस्य तत्तत्कर्मकृता अपराश्चाधश्शाखाः पुनरपि मनुष्यपश्वादिरूपेण प्रसृता भवन्ति; ऊर्ध्वं च गन्धर्वयक्षदेवादिरूपेण प्रसृता भवन्ति । ताश्च गुणप्रवृद्धाः गुणैः सत्त्वादिभिः प्रवृद्धाः; विषयप्रवालाः शब्दादिविषयपल्लवाः । कथं ? इत्यत्राह— ब्रह्मलोकमूलस्यास्य वृक्षस्य मनुष्याग्रस्य अधः मनुष्यलोके मूलान्यनुसन्ततानि, तानि च कर्मानुबन्धीनि कर्माण्येवानुबन्धीनि मूलानि अधो मनुष्यलोके च भवन्तीत्यर्थः । मनुष्यत्वावस्थायां कृतैर्हि कर्मभिः अधो मनुष्यपश्वादयः, ऊर्ध्वं च देवादयो भवन्ति ॥ २ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ नित्यसृष्टिप्रक्रिययाऽप्युच्यते 'अधश्च' इति । **अपराश्चेति** पूर्वोक्तपुनरुक्तिपरिहारार्थम् । **पुनरपीति** नित्यसृष्टिद्योतनम् । कर्मलोकमधिकृत्य ऊर्ध्वप्रवृत्तेर्विवक्षितत्वाद्गन्धर्वादिपरत्वम्; अत एव पूर्वोक्तेन चतुर्मुखलोकावधिकाधश्शाखत्वेन अविरोध इत्यभिप्रायेणाह— **गन्धर्वयक्षदेवादिरूपेणेति** । प्रागुक्तप्रक्रियया गुणानामुत्तरोत्तरजन्महेतुत्वेन देवमनुष्यादिशाखानां गुणप्रवृद्धत्वम् । गुणा इह साधारणाः सलिलस्थानीयाः; प्रकाण्डस्थानीया वा । अत्र विषयशब्दस्य सर्वसाधारणज्ञानादिविषयपरत्वव्युदासायाह— **शब्दादीति** । प्रवालशब्दस्यात्र विद्रुमार्थत्वासम्भवज्ञापनाय पल्लवशब्दः । शाखासु हि भोग्यत्वेन पल्लवाः समुद्भवन्ति । तद्वदेव देवादिषु शाखास्थानीयेषु भोग्यतया शब्दादेरुद्भवात्पल्लवस्थानीयत्वम् । ननु ऊर्ध्वमूलस्याधश्शाखत्वं मूलानुगुण्येनोपपद्यतां नाम, पुनरधश्चोर्ध्वं च प्रसृतेः किं मूलं ? इति शङ्काभिप्रायेणाह— **कथमित्यत्राहेति** । 'अधश्च मूलानि' इत्यवान्तरमूलोक्तिः । प्रासादशिखरप्ररूढप्रलम्बिताया लतायाः क्षितिसंसर्गजमूलप्रान्तरप्रसूतोर्ध्वशाखान्तरवदित्यभिप्रायेणाह— **ब्रह्मलोकमूलस्येति** । मनुष्यलोकग्रहणं तत्र कर्माधिकारभूयस्त्वज्ञापनार्थम् । समानाधिकरणसमासौचित्यात् कर्मणामेव च सर्वत्र मूलत्वोपपत्तेस्तदनुबन्धिनां गुणानामन्येषां वा मूलत्वनिर्देशायोगमभिप्रेत्याह **कर्माण्येवानुबन्धीनीति** । पुरुषमनुबध्नन्तीत्यनुबन्धीनि; यद्वा सुदृढाविच्छिन्नानीत्यर्थः । आत्मानुबन्धिनां कर्मणां मनुष्यलोकस्थमूलत्वोक्तेः किं नियामकम् ? इत्यत्र मूलत्वप्रकारमुपपादयति— **मनुष्यत्वावस्थायां कृतैरिति** । यथा न्यग्रोधादेरूर्ध्वशाखस्य शाखाग्रे बीजरूपं जटारूपं वा मूलं जायते, तथा अधश्शाखस्यापि स्यादिति भावः ॥ २ ॥

५ आ. मा. भा.—अव्यक्तेऽपि सूक्ष्मरूपेण सन्ति शरीरादौ च भूतानीत्यधश्चोर्ध्वं च प्रसृताः गुणैः सत्त्वादिभिः प्रतीतिमात्रसुखत्वात्प्रवाला विषयाः । मूलानि भगवद्रूपादीनि । भगवानपि कर्मानुबन्धेन हि फलं ददाति । तथा च भाल्लवेयशाखायाम्— "ब्रह्म वाऽस्य पृथङ्मूलं प्रकृतिः समूलं सत्त्वादयोऽर्वाचीनमूलम् । भूतानि शाखा छन्दांसि पर्णानि देवा नृतिर्यञ्चश्च शाखाः । पत्रेभ्यो हि फलं जायते । मात्राः शिफाः । मुक्तिः फलं अमुक्तिः फलम् । मोक्षो रसोऽमोक्षो रसः । अव्यक्ते च शाखाः

व्यक्ते च शाखाः । अव्यक्ते च मूलं व्यक्ते च मूलम् । एषोऽश्वत्थो गुणालोलपत्रो न स्थीयते न स्थीयते । न ह्येष कदाचनान्यथा जायते नान्यथा जायते " इति ॥ २ ॥

६ ज. प्र. दी.— अधश्चेत्येतद्व्यति— अव्यक्तेऽपीति । अनेन तस्य शाखा भूतान्यधश्च स्वापेक्षयाऽप्रकृष्टे शरीरादौ कार्ये चोर्ध्वं च उत्तमे कारणेऽव्यक्ते च प्रसृताः । सूक्ष्मरूपेण सन्तीति व्याख्यातं भवति । 'प्रसृताः' इत्यनेनोच्यन्त इति शेषः। अधः पातालादावूर्ध्वं स्वर्गादाविल्यादिव्याख्याने प्रकृतप्रक्रिये प्रसज्येते, गुणशब्दस्यानेकार्थत्वात् । 'गुणप्रवृद्धाः' इत्यत्र विवक्षितमर्थमाह— गुणैरिति । अर्वाचीनमूलैर्हि शाखाः प्रवृद्धा भवन्ति । सत्त्वादयश्चार्वाचीनमूलानीति वक्ष्यन्ते । विषयाणां प्रवालत्वं घटयति— प्रतीतिमात्रेति । प्रतीतिसमयमात्रसुखहेतुत्वादित्यर्थः । विमर्दनासहत्वसाम्यादिति भावः । विषयाः प्रवाला इति सम्बन्धः । 'अधश्च मूलानि' इत्यत्र रागद्वेषादिवासनामूलानीति व्याख्यानमसत्, प्रक्रमविरोधादिति भावेनाह— मूलानीति । आदिपदेन जडाजडप्रकृत्योः सत्त्वादीनां च ग्रहणम्, तेषामपि 'ऊर्ध्वमूलं' इत्यत्र विवक्षितत्वात् । ननु भगवतः कथं कर्मानुबन्धित्वं ? इत्यत आह— भगवानपीति । अत्र कर्मानुबन्धित्वं नाम कर्मानुसारित्वम् । तच्च कर्मसम्बन्धेन फलदातृत्वाद्भगवतोऽपि युक्तमित्यर्थः । यद्वा कर्मैवानुबन्धश्चरमभाविकारणं कर्मानुबन्धः, तद्वत्त्वं कर्मानुबन्धित्वम् । तदपि कर्मानुबन्धेन फलदातृत्वाद्भगवतो युज्यत इति । श्लोकद्वयार्थे श्रुतिसम्मतिं चाह— तथा चेति । अस्य जगद्वृक्षस्य पृथग्वृक्षानन्तर्गतम् । सहभूतं मूलं समूलं अर्वाचीनमूलं भूम्यन्तर्गतपादाख्यं छन्दांसीत्यस्योपपादनम्— पत्रेभ्यो हीति । देवादिशरीराणि चोपशाखाः । मात्राः भूतसूक्ष्माणि । शिफाः जटाः । मुक्त्यमुक्तिशब्दाभ्यां मोक्षतदितरपुरुषार्थसाधने ज्ञानकर्मणी उच्येते । फलमवान्तरम् । मोक्षामोक्षशब्दाभ्यां तु पुरुषार्थावेव । रसः श्रेष्ठं फलम् । गुणा विषयाः । अलोलपत्राणि प्रवालपर्णानि यस्यासौ तथोक्तः । न स्थीयत इत्यनेनाश्वत्थशब्दार्थकथनम् । तत्किं क्षणिकः ? न स्थीयते प्रवाहव्ययो नास्तीत्यर्थः । तस्योपपादनम्— न हीति । द्विरुक्तिस्तात्पर्यार्था ॥ २ ॥

७ ह. पै. भा.— अधश्चेति । अधश्चोर्ध्वं महर्लोकप्रभृत्यूर्ध्वं जनलोके प्रसृताः प्रसृतिं गतास्तस्य शाखाः कर्मज्ञानवासनारूपाः शरीरेन्द्रियविषयरूपाः कर्मफलभूताः । गुणप्रवृद्धा गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिरुपादानकारणभूतैः प्रवृद्धाः । विषयप्रवालाः, विषया शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः प्रवाला इव यासां शाखानां ताः । अधश्च महर्लोकप्रभृति मूलानि निवृत्तधर्माणि तदुपकरणानि चानुसन्ततानि अनुसृतानि, कर्मानुबन्धीनि कर्मनिमित्तानि । मनुष्यलोकग्रहणमुपलक्षणार्थम् ॥ २ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तस्यैव संसारवृक्षस्याव्ययपदोक्तमनुच्छेद्यत्वमुपपादयति— अध इति । तस्य जीवशाखत्वेनोक्तस्य संसारवृक्षस्य शाखाः अधश्चोर्ध्वं च प्रसृताः; तत्र ये कपूयचरणा दुष्कृतिनः ते अधः पश्वादियोनिषु प्रसृता विस्तारं गताः शाखाः, ये तु रमणीयचरणाः सुकृतिनः ते ऊर्ध्वं गन्धर्वदेवयक्षादिरूपेण प्रसृताः शाखाः । ताश्च गुणप्रवृद्धाः गुणैः सत्त्वादिवृत्तिभिः जलसेकैरिव प्रवृद्धिं गताः, 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः । जघन्यगुणवृत्तस्था अधो गच्छन्ति तामसाः' [ १४।१८ ] इत्युक्तेरिति भावः । पुनः कीदृश्यः शाखाः ? विषयप्रवालाः विषयाः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः प्रवालाः पल्लवस्थानीया यासां ताः । विषयाणां पल्लवत्वं शाखाग्रस्थानीयाभिरिन्द्रियप्रवृत्तिभिः संयुक्तत्वाद्रागाधिष्ठानत्वाच्चेति ध्येयम् । किञ्च तस्य संसारवृक्षस्य ब्रह्ममूलस्य मनुष्याग्रस्य अधो मनुष्यलोके च मूलान्यनुसन्ततानि अनुस्यूततया निबिडानि । कानि तानि मूलानि ? तत्राह— कर्मानुबन्धीनि पुण्यपापप्रवर्तकतया तदनुबन्धीनि, रागद्वेषवासनाजालानीत्यर्थः । मनुष्यलोके हि रागद्वेषाभ्यामाचरितैस्तत्तत्कर्मभिर्देवपश्वादिभावः प्राप्यते, अतो मनुष्यशाखस्यास्य वृक्षस्याग्रभागेऽपि मूलानि प्ररूढानि, इत्येवमद्भुतः प्रसिद्धवृक्षविलक्षणः प्रबलोऽयमापादमस्तकमविरलप्रवृद्धशाखानुविद्धः संसारवृक्षो दुरुच्छेद इत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च अधश्चेति । तस्य शाखास्थानीयतया सुकृतिनो दुष्कृतिनश्चोच्यन्ते । ताश्च सत्त्वादिभिर्गुणैः प्रवृद्धा विषयप्रवालाः शब्दादिविषयपल्लवाः । कथं ? इत्यत्राह— अधश्च मूलानीति । ब्रह्मपदमूलकस्याधोऽस्मिन् लोके जटामूलान्यत्र वासनाख्यान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि । मानुष्यावस्थायां भारताजिरे हि स्वकृतैः कर्मभिरधो मनुष्यपश्वाद्य ऊर्ध्वं देवादयो भवन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— एवं क्रीडात्मकं वृक्षं निरूप्य तत एव संसारात्मकवृक्षोत्पत्तिमाह— अधश्चोर्ध्वमिति । तस्य अलौकिकवृक्षस्य अधः विविधजीवादिषु, ऊर्ध्वं लीलावतारादिषु, शाखाः प्रसृताः अनेकरूपेण विस्तारं गताः । चकारेणाऽधः प्रसृतानामपि दर्शनानन्दप्रकारेण लीलौपयिकता ज्ञापिता । किञ्च गुणैः सात्त्विकादिभिः सेचनेनैव प्रकर्षेण

वृद्धाः वृद्धिं गताः । किञ्च विषयरूपादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया जाताः । किञ्च तासां शाखानां लौकिकानुबन्धार्थं अधः जीवादिषु मूलान्यनुसन्ततानि प्ररूढानि । प्रयोजनमाह— मनुष्यलोके कर्म अनुबन्धः पश्चाद्भवनं येषां तदर्थं तादृशानि, मनुष्यलोकोत्पन्नानां कर्मप्रवृत्त्या सृष्ट्यार्थम् ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— अधश्च मानुषेभ्यस्तिर्यक्स्थावरादयोऽवीच्यन्ताः (?) । ऊर्ध्वं च मानुषेभ्य एवोपरि च गन्धर्वयक्षादिहिरण्यगर्भपर्यन्तं प्रसृताः प्रसरं प्राप्तास्तस्य शाखाः । गुणैः सत्त्वादिभिः प्रकर्षेण वृद्धाः गुणप्रवृद्धाः । विषया एव रञ्जकतया कोमलपल्लवरूपाणि प्रवालानि यासां ताः । संसारवृक्षस्योपरि मूलं ब्रह्म उक्तम्, अधश्च इह मनुष्यलोके च तस्य मूलानि वासनारूपाण्यवान्तरमूलान्यनुसन्ततानि प्रवाहनित्यानि । यतः कर्मानुबन्धीनि कर्मैव धर्माधर्माख्यमनुबन्धः पश्चाद्भावि येषां तानि कर्मानुबन्धीनि । वासनाभ्यः कर्माणि कर्मभ्यो वासना इत्यनवरतसन्तानोऽयं वृक्ष इत्यर्थः ॥ २ ॥

दुरुच्छेदस्यानर्थकरस्य संसारवृक्षस्योच्छेदनोपाय-
कथनद्वारा कर्तव्योपदेशः ।

**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।**
**अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥ ३ ॥**
**ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।**
**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥ ४ ॥**

१ **शां. भा.**—यस्त्वयं वर्णितः संसारवृक्षः—**न रूपमिति** । न रूपमस्येह यथोपवर्णितं तथा नैवोपलभ्यते, स्वप्नमरीच्युदकमायागन्धर्वनगरसमत्वात्; दृष्टनष्टस्वरूपो हि स इति । अत एव नान्तो न पर्यन्तो निष्ठा परिसमाप्तिर्वा विद्यते । तथा न चाऽऽदिः 'इत आरभ्यायं प्रवृत्तः' इति न केनचिदवगम्यते । न च सम्प्रतिष्ठा स्थितिर्मध्यं अस्य केनचिदुपलभ्यते । अश्वत्थमेनं यथोक्तं सुविरूढमूलं सुष्ठु विरूढानि विरोहं गतानि सुदृढानि मूलानि यस्य तमेनं सुविरूढमूलं, असङ्गशस्त्रेण असङ्गः पुत्रवित्तलोकैषणादिभ्यो व्युत्थानं तेनासङ्गशस्त्रेण दृढेन परमात्माभिमुख्यनिश्चयदृढीकृतेन पुनः पुनर्विवेकाभ्यासाश्मनिशितेन छित्त्वा संसारवृक्षं सबीजमुद्धृत्य ॥ ३ ॥

२ आ. शां. व्या.— पुनः पुना रागादिना प्रवृत्तत्वेनानादित्वाच्च संसारवृक्षः समुच्छिद्यते, न चोच्छेत्तुं शक्यते केनापीत्याशङ्कयाऽऽह— **यस्त्विति** । यथा पूर्वं वर्णितं यथा च लोके प्रसिद्धं तथाऽस्य रूपमिह शास्त्रादनुमीयते तथा चास्य ज्ञानापनोद्यत्वं युक्तमित्याह— **यथेति** । तस्याप्रमितत्वे हेतुमाह— **स्वप्नेति** । तस्य स्वप्नादिसमत्वे दृष्टनष्टस्वरूपत्वं हेतुं करोति— **दृष्टेति** । इत्यमेयतेति शेषः । तमेवामेयत्वं हेतुं कृत्वाऽवसानमपि तस्य न भातीत्याह— **अत एवेति** । ज्ञानं विना भ्रान्तिवासनाकर्मणामन्योन्यनिमित्तत्वान्नावसानमस्तीत्यर्थः । इदं प्रथमत्वमपि नास्य परिच्छेत्तुं शक्यमित्याह— **तथेति** । आद्यन्तवन्मध्यमपि नास्य प्रामाणिकमित्याह— **मध्यमिति** । संसारवृक्षस्याश्वत्थशब्दितस्य क्षणभङ्गुरस्य स्वयमेवोच्छेदसम्भवात्तदुच्छेदार्थं न प्रयतितव्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **अश्वत्थमिति** । व्युत्थानं वैराग्यपूर्वकं पारिव्राज्यम् । दृढीकृतत्वमेव विवेकपूर्वकत्वेन स्फुटयति- **पुनः पुनरिति** ॥३॥

१ **शां. भा.**—**तत इति** । ततः पश्चाद्यत्पदं वैष्णवं तत्परिमार्गितव्यं, परिमार्गणमन्वेषणं; ज्ञातव्यमित्यर्थः । यस्मिन्पदे गताः प्रविष्टा न निवर्तन्ति नाऽऽवर्तन्ते भूयः पुनः संसाराय। कथं परिमार्गितव्यं ? इत्याह तमेव च यः पदशब्देनोक्त आद्यमादौ भवं पुरुषं प्रपद्य इत्येवं परिमार्गितव्यं, तच्छरणतयेत्यर्थः । कोऽसौ पुरुषः ? इत्युच्यते— यतो यस्मात्पुरुषात्संसारमायावृक्षप्रवृत्तिः प्रसृता निस्सृता; ऐन्द्रजालिकादिव माया, पुराणी चिरन्तनी ॥ ४ ॥

२ आ. शां व्या.— उद्धृत्य किं कर्तव्यं ? तदाह— **तत** इति । पश्चादश्वत्थादूर्ध्वं व्यवस्थितमित्यर्थः । किं तत्पदं यदन्विष्य ज्ञातव्यं ? तदाह— **यस्मिन्निति**। येन सर्वं तं पूर्णं पूर्णं वा शयानं पुरुषं प्रपद्ये शरणं गतोऽस्मीत्यर्थः । विवर्तवादानुरोधिनं दृष्टान्तमाह— **येन्द्रेति** ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.**— अस्य वृक्षस्य चतुर्मुखादित्वेनोर्ध्वमूलत्वं, तत्सन्तानपरम्परया मनुष्याग्रत्वेनाधश्शाखत्वं, मनुष्यत्वे कृतैः कर्मभिर्मूलभूतैः पुनरप्यधश्चोर्ध्वं च प्रसृतशाखत्वमिति यथेदं रूपं निर्दिष्टं, न तथा संसारिभिरुपलभ्यते; मनुष्योऽहं देवदत्तस्य पुत्रो यज्ञदत्तस्य पिता तदनुरूपपरिग्रहश्चेत्येतावन्मात्रमुपलभ्यते; तथाऽस्य वृक्षस्य अन्तो विनाशोऽपि गुणमयभोगेष्वसङ्गकृत इति नोपलभ्यते; तथाऽस्य गुणसङ्ग एवादिरिति नोपलभ्यते; तस्य प्रतिष्ठा चानात्मन्यात्माभिमानरूपमज्ञानमिति नोपलभ्यते; प्रतितिष्ठत्यस्मिन्नेवेति ह्यज्ञानमेवास्य प्रतिष्ठा ।

**४ वे. ता. चं.**— ननु सर्वप्रत्यक्षसम्मतेऽस्मिन् संसारे 'यस्तं वेद' इति कस्यचित्तद्वेदनेन प्रशंसनमयुक्तमित्यत्रोच्यते **न रूपमस्येति** । नात्र रूपानुपलम्भवचनस्य रूपाभावे तात्पर्यं, निर्दिष्टरूपविरोधादित्यभिप्रायेणाह— **अस्य वृक्षस्येति** । सर्वेषां संसारोपलम्भे सत्यपि प्रकृताकारेण नोपलम्भ इति तथाशब्दाभिप्रेतं विवृणोति— **चतुर्मुखादित्वेनेत्यादिना** । **संसारिभिरिति**— अपवर्गोपयुक्तज्ञानरहितैरिति भावः। संसारिष्वेव यस्तथा वेद, स मुक्तप्राय इति वा । कूटस्थपितृपुत्रादिरूपेण लोकेऽपि मूलशाखापल्लवादिकं दृश्यत इत्यत्राह— **मनुष्योऽहमिति** । तेषां हेयस्यापि संसारस्योपादानोपयुक्तं ज्ञानमस्ति; न तु हानार्थमिति भावः । 'नान्तः' इत्यादावपि तथाशब्दस्यानुषङ्गमाह— **तथाऽस्येति** । समभिव्याहृतासङ्गशस्त्रच्छेद्यत्वानुगुणमन्तशब्दार्थमाह **विनाश** इति । आत्यन्तिकप्रलय इहासङ्गनिष्पादितान्तशब्देन विवक्षितः; तस्य च स्वरूपतः कारणतश्चानुपलम्भः नित्यप्रलयमात्रं हि संसारिभिर्दृश्यत इत्यभिप्रायेणाह— **गुणमयभोगेष्वसङ्गकृत** इति । भोगशब्दोऽत्र भोग्यपरः । प्रमाणसिद्धस्यान्तस्यादेः प्रतिष्ठायाश्च स्वरूपनिषेधभ्रमव्युदासाय 'उपलभ्यते' इतिपदमनुषञ्जितम् । गर्भादिरूपस्यावान्तरादेरुपलम्भात्प्रधानभूत आदिरिह विवक्षित इत्याह— **गुणसङ्ग एवेति** । अत्र प्रतिष्ठाशब्देन परोक्तं परमात्माभिधानमयुक्तं, निस्सङ्गानां सङ्गविषयस्य तस्यासङ्गशस्त्रच्छेद्यवृक्षप्रतिष्ठात्वनिर्देशानौचित्यात्; अत आदिभूतस्य सङ्गस्यापि निदानं क्षेत्रादिस्थानीयमज्ञानमिह अर्थौचित्यात्प्रतिष्ठोच्यत इत्याह— **अनात्मन्यात्माभिमानरूपमिति** । एतेन सम्प्रतिष्ठा मध्यमिति व्याख्याऽपि निरस्ता । अज्ञाने कथं प्रतिष्ठाशब्दवृत्तिः? इत्यत्राह— **प्रतितिष्ठतीति** । **अयं भावः**— मूलस्थितिभूमिः वृक्षस्य प्रतिष्ठा; कर्म च संसारवृक्षस्य मूलत्वेनोक्तम्; तच्च 'अविद्यासञ्चितं कर्म' [वि. पु. २।१३।७०] इति वचनादज्ञाने स्थितं, तदधीनत्वात्तदनुष्ठानस्य; ममकारस्यापि कर्महेतोरहङ्कार एव कन्द इति स इह संसारवृक्षप्रतिष्ठेति ॥

**३ रा. भा.**— एनमुक्तप्रकारं सुविरूढमूलं सुष्ठु विविधं रूढमूलमश्वत्थं सम्यग्ज्ञानमूलेन दृढेन गुणमयभोगासङ्गाख्येन शस्त्रेण छित्त्वा ततो विषयासङ्गाद्धेतोस्तत्पदं परिमार्गितव्यं अन्वेषणीयम्; यस्मिन् गता भूयो न निवर्तन्ते ।

**४ वे. ता. चं.**—'एनम्' इति सन्नासपदप्रकृतिवैचित्र्यपरामर्श इत्याह— **उक्तप्रकारमिति** । सुष्ठुत्वं दृढनिरूढवासनत्वेनान्यैः छेत्तुमशक्यत्वम् । विविधत्वं प्रायश्चित्तादिभिरेकैकस्य कर्माख्यमूलस्य च्छेदेऽप्यनादिकालं मनोवाक्कायैर्बुद्धिपूर्वकमबुद्धिपूर्वकं च विधिनिषेधविषयविचित्रकर्मणामनन्तप्रकारसम्भृतत्वम् । असङ्गोऽपि कदाचित्तादात्विकव्याध्यादिक्लेशादपि भवति; स तु न दृढः; अतः **सम्यग्ज्ञानमूलेने**त्युक्तम् । विषयत्यागदशायामिव आत्मान्वेषणदशायामप्यसङ्गोऽनुवर्तनीय इति ज्ञापनाय **तत**श्शब्दः । अत एव 'ततः परम्' इति परशब्दाध्याहारेण व्याख्यान्तरमयुक्तमित्यभिप्रायेणाह— **ततो विषयासङ्गाद्धेतोरिति** । 'आत्मानमन्विच्छेत्' [ जा. उ. ६ ] इत्यादिसूचनायाह— **अन्वेषणीयमिति** । छन्दोनुरोधाय च्छान्दसं 'निवर्तन्ति' इति परस्मैपदमित्यभिप्रायेण स्वयमात्मनेपदं प्रायुङ्क्त ॥

**३ रा. भा.**— कथमनादिकालप्रवृत्तो गुणमयभोगसङ्गस्तन्मूलं च विपरीतज्ञानं निवर्तेत इत्यत आह— **तमेवेति** । अज्ञानादिनिवृत्तये तमेव चाद्यं कृत्स्नस्यादिभूतं 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' [ ९।१० ] 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय !' [ ७।७ ] इत्यादिषूक्तमाद्यं पुरुषमेव शरणं प्रपद्येत् तमेव शरणं प्रपद्येत;

यतो यस्मात् कृत्स्नस्य स्रष्टुरियं गुणमयभोगसङ्गप्रवृत्तिः, पुराणी पुरातनी प्रसृता । उक्तं हि मयैतत् पूर्वमेव ' दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ' [ ७।१४ ] इति । ' प्रपद्येयतः प्रवृत्तिः ' इति वा पाठः; तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्य शरणमुपगम्य, इयतः अज्ञाननिवृत्त्यादेः कृत्स्नस्यैतस्य साधनभूता प्रवृत्तिः पुराणी पुरातनी प्रसृता; पुरातनानां मुमुक्षूणां प्रवृत्तिः पुराणी । पुरातना हि मुमुक्षवो मामेव शरणमुपगम्य निर्मुक्तबन्धाः सञ्जाता इत्यर्थः ॥ ३ ॥ ४ ॥

४ **वे. ता. चं.**— ननु दृढस्यासङ्गशस्त्रस्य लाभे हि तेन च्छिद्येत; तदेव तु संसारिभिर्दुर्लभतरमिति शङ्कयोत्तरग्रन्थं सङ्गमयति— **कथमि**ति । ' निर्मानमोहाः ' [ १५।५ ] इत्यादिसमनन्तरग्रन्थानुसन्धानेनाह **अज्ञानादिनिवृत्तय** इति । आद्यत्वं पूर्वोक्तप्रकारं तच्छब्देन स्थाप्यत इत्याह **मये**ति । यदाज्ञातिलङ्घनाद्बन्धः, स एव हि प्रसादितो मोचक इत्यभिप्रायेणैवकारः । तत्प्रपञ्चनरूपस्य ' यतः प्रवृत्तिः ' इत्यादेर्महदादिसृष्टिमात्रपरत्वव्युदासायेममेवार्थं प्रपत्तिवाक्ये प्रागुक्तं स्मारयति **उक्तं ही**ति । ' तेषामेवानुकम्पार्थं ' [ ११।१० ] ' मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ' [ १८।५८ ] ' मामेकं शरणं व्रज ' [ १८।६६ ] इत्यादिकमपि भाव्यम् । अत्र प्रसृतादिशब्दैः सत्यत्वस्यैव प्रतीतेः, परेषामिन्द्रजालदृष्टान्तः शब्दस्वारस्येन प्रत्यक्षादिभिश्च बाधितः । छन्दोवदृषीणां प्रयोगानुमतेः ' प्रपद्येत् ' इति परस्मैपदम् । तत्र ह्यभिमतं पाठान्तरमर्थान्तरं चाह— **पप्रद्ये**त्यादिना । उत्तमपुरुषत्वे वाक्यानन्वयात् ' इयतः ' इति पदच्छेदः । एवं च शङ्कायाः साक्षादिदमुत्तरं स्यादिति भावः । इयच्छब्दस्यात्र प्रकृतसाकल्यपरत्वमाह **अज्ञाननिवृत्त्यादेः कृत्स्नस्ये**ति । पुरुषव्यापारविषयत्वाय **साधनभूते**त्युक्तम् । षष्ठ्यभिहितं सम्बन्धसामान्यमिह साध्यसाधनभावरूपविशेषे विश्रान्तमिति भावः । ' प्रसृता पुराणी ' इत्यनेन शिष्टाचारप्रदर्शनमभिमतमित्याह— **पुरातनानामि**ति । तदेव विवृणोति **पुरातना ही**ति ॥ ३ ॥ ४ ॥

५ **आ. मा. भा.**— यथास्थितस्तथा नोपलभ्यते । अन्तादिर्विष्णुः । ' त्वमादिरन्तो जगतोऽस्य मध्यम् ' इति भागवते । ' अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः ' इति च मोक्षधर्मे । असङ्गशस्त्रेण सङ्गराहित्यसहितेन ज्ञानेन । ' ज्ञानासिनोपासनया शितेन ' [ ११।२८।१७ ] इति भागवते । छेदश्च विमर्श एव । ततश्च तस्यैवाबन्धकं भवति । तथा हि मूलस्थं ब्रह्म प्रतीयते । तच्चोक्तं तच्छ्रुतावेव—" विमर्शो ह्यस्य छेदः स तन्न बध्नाति बध्नाति चान्यान् " [ ] इति ॥ ३ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— अस्य रूपं नोपलभ्यत इत्युक्ते प्रमाणबाधः, अत उक्तम्— **तथे**ति । तत्सापेक्षमित्यतः पूरयति— **यथे**ति । विकारित्वादिनेत्यर्थः । जगतो देशकालाभ्यां परिच्छेदस्योपलभ्यमानत्वान्नान्त इत्याद्युक्तमयुक्तमित्यत आह— **अन्तादिरि**ति । संहर्तृत्वादेरिति शेषः । अत्र सम्मतिमाह— **त्वमि**ति । मध्यं स्थितेः कर्ता । तस्यानुपलभ्यमानत्वे प्रमाणमाह— **अनादी**ति । आद्यन्तरहितम् । असङ्ग एव शस्त्रमिति व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **असङ्गे**ति । असङ्गः सङ्गराहित्यं तेन सहितं ज्ञानमसङ्गशस्त्रम् । दध्योदनादिवत् । वृत्तौ साहित्यस्यान्तर्भावादप्रयोग इति भावः । प्रतीतार्थः कुतो न ? इत्यतो ज्ञानस्यैव तत्र कारणत्वोक्तेरित्याह— **ज्ञाने**ति । 'छित्त्वा' इत्यस्य ' सबीजमुद्धृत्य ' इति ( शं. ) व्याख्यानमसदिति भावेनाह— **छेदश्चे**ति । चस्त्वर्थः विमर्शो विवेकः । व्याख्यानान्तरपरित्यागेनैवं व्याख्याने को हेतुः ? इत्यत आह— **ततश्चे**ति । यतो विमर्श एव प्रकृत्यादेर्विश्वस्य छेदो न सर्वथोद्धारणम् । तत एव तस्यैकस्यैवेदमबन्धकं भवतीति युज्यते । अन्यथैकेन छेदे कृते सर्वमुक्तिः स्यादिति भावः । इतश्चायमेव छेद इत्याह— **तथा ही**ति । अत्र ह्यश्वत्थमेनं छित्त्वा 'ततः परं तत्परिमार्गितव्यं' [ १५।४ ] इति विश्वच्छेदस्य ब्रह्मप्रतीतावुपायत्वमुच्यते । तथाहि । विश्वस्य कार्यत्वादिना विमर्शे सति कार्यस्य कारणापेक्षत्वात् चेतनानधिष्ठितादुपादानादुत्पत्त्यसम्भवात्परतन्त्राणां मुख्यतोऽधिष्ठातृत्वायोगान्मूलस्थमुपादानकारणाधिष्ठातृ ब्रह्म प्रतीयते न विश्वविनाशे । अतो योग्यतावशाद्विमर्श एव च्छेदो न विनाश इति गम्यत इत्यर्थः । विश्वमिथ्यात्वज्ञानमेव च्छेद इति चेत्, न; अस्य मिथ्याज्ञानत्वात् श्रुतिसंवादाच्चैवमेवेत्याह— **तच्चे**ति । " तं वै प्रपद्ये यं वै प्रपद्ये " इति तच्छ्रुतावेव अतस्तं छेदकमेव ॥ ३ ॥

५ **आ. मा. भा.**— तदर्थं च तमेव प्रपद्ये प्रपद्येत । तच्चोक्तं तत्रैव " तं वै प्रपद्येत यं वै प्रपद्य न शोचति न हृष्यति न जायते न म्रियते तद्ब्रह्म मूलं तच्छित्सुः " इति । ' नारायणेन दृष्टश्च प्रतिबुद्धो भवेत्पुमान् ' इति च मोक्षधर्मे । छेदनोपायो ह्यत्राकाङ्क्षितः न च भगवतोऽन्यः शरण्योऽस्ति ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— वाक्यार्थस्य समाप्तत्वात् 'तमेव चाद्यं' इति व्यर्थमित्यतः सङ्गतिं सूचयन्नाह— **तदर्थे चे**ति विमर्शार्थे च। विश्वविमर्शाद्ब्रह्मज्ञानं भवतु स विमर्श एव कथं स्यात्? इत्याकाङ्क्षां तदर्थमित्यनेन सूचयति। तर्हि चिच्छिदिषुं प्रति तदुपायो विधेयः, न तु प्रपद्य इति वचनं सङ्गतमित्यतः 'व्यत्ययो बहुलम्' [अष्टा. ३।१।८५] इति वचनमाश्रित्याह— **प्रपद्येते**ति। कुतो व्यत्ययः? इत्यतः श्रुतिस्मृतिसंवादादित्याह— **तच्चे**ति। तद्विश्वं चिच्छत्सुः। अभ्यासलोप इडभावश्च च्छान्दसः। चिच्छिदिषुः। विश्वविमर्शार्थी यद्ब्रह्म विश्वस्य मूलं तमेव पुरुषं प्रपद्येतेत्यर्थः। प्रपत्त्या प्रसन्नेन नारायणेन दृष्टः पुमान्प्रतिबुद्धो विश्वविमर्शक्षमो भवेदित्यर्थः। इतश्च पुरुषव्यत्ययोऽत्र व्याख्येय इत्याह— **छेद्ने**ति। अतस्तदुपायविधानमेव सङ्गतमिति शेषः। न केवलमुत्तमपुरुषोऽत्रानुपयुक्तः किन्त्वयुक्तश्चेत्याह— **न चे**ति। तमेव प्रपद्य इत्येवं परिमार्गितव्यमिति सम्बन्धस्त्वयुक्तः, अस्य परिमार्गणत्वाभावात्॥ ४॥

**७ ह. पै. भा.— न रूपमिति। अस्य संसारवृक्षस्य यथोपवर्णितस्य यथोक्तं रूपं नोपलभ्यते; नान्तो न चावसानमुपलभ्यते; न चाऽऽदिः, आदिरिदम्प्रथमतया प्रवृत्तिरस्य संसारवृक्षस्य नोपलभ्यते। न च सम्प्रतिष्ठा मध्यं, मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरद्विचन्द्रदिङ्मोहादिस्वरूपत्वात्। अश्वत्थमेनं यथोक्तं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण सङ्गस्याभावोऽसङ्गः शस्त्रमिव शस्त्रं तेन दृढेन परमार्थनिश्चयदृढीकृतेन छित्त्वा संसारवृक्षं समूलमुद्धृत्य॥ ३॥ तत इति। ततः पश्चात्तत्पदं वैष्णवं परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यं, ज्ञातव्यमित्यर्थः। कथं परिमार्गितव्यं? इत्यत्राऽऽह— तमेव विष्णुमाद्यमादौ भवं पुरुषं जगत्पूर्वकं प्रपद्ये शरणं गच्छामि। यतो यस्मात्संसारमायावृक्षस्य प्रवृत्तिराविर्भावः। प्रसृता निस्सृता पुराणी नित्येति॥ ४॥**

८ वें. ब्र. गि.— प्रकारान्तरेणापि दुरुच्छेदत्वमाह— **न रूपमिति।** इह संसारे स्थितैः प्राणिभिः अस्य संसारवृक्षस्य रूपं ब्रह्ममूलत्वं तत्सन्तानपरम्परया मनुष्याग्रत्वेनाधश्शाखत्वं,मनुष्यत्वावस्थायां च कृतैः कर्मभिः पुनरप्यधश्चोर्ध्वं च तस्य प्रसृतशाखत्वमिति यथोक्तं तथा नोपलभ्यते। अत एव नास्यान्तोऽवसानं चोपलभ्यते, नाप्यादिः, न वा सम्प्रतिष्ठा स्थितिर्मध्यम्, आद्यन्तप्रतियोगिकत्वान्मध्यस्य। तथा चानुपलभ्यमानस्वरूपतयाऽनवगतादिमध्यावसानस्यास्य वृक्षस्य दुर्घट एवोच्छेदः इति भावः।

यस्मादेवं दुरुच्छेदः सर्वानर्थकरोऽयं संसारवृक्षस्तस्मादेनमुपायेन छित्त्वा पुरुषार्थसिद्धये प्रयतितव्यमित्याह सार्धेन— **अश्वत्थमिति।** सुष्ठु विविधं रूढमूलमनाद्यज्ञानेनातिदृढं एनमश्वत्थं असङ्गशस्त्रेण, सङ्गः स्पृहा, तद्विरोधि वैराग्यमसङ्गः पुत्रवित्तलोकैषणात्यागरूपः, स एव शस्त्रं रागद्वेषमयसंसारच्छेदकत्वात्; तेन असङ्गशस्त्रेण दृढेन तत्त्वज्ञाननिष्ठया दृढीकृतेन पुनःपुनर्विवेकाभ्यासनिशितेन छित्त्वा, वैराग्यशमदमादिसम्पन्नो भूत्वेति यावत्।

ततो गुरुमुपसृत्य तत्पदं पद्यते ज्ञायत इति पदं ब्रह्मात्मतत्त्वं परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यम्;,"सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः" [छां.उ.८।७।१] इति श्रुतेः। श्रवणादिना ज्ञातव्यमित्यर्थः। किं तत्पदम्? यस्मिन्पदे गता अभेदेन प्राप्ता भूयः संसाराय न निवर्तन्ते। तदन्वेषणे च भगवदेकान्तभक्तिरेव कारणमित्याह— **तमेवेति।** यतः पुरुषादेषा पुराणी चिरन्तनी संसारवृक्षप्रवृत्तिः प्रसृता ऐन्द्रजालिकादिव गजादिमाया निस्सृता,तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये शरणं व्रजामीति। एवं तदेकशरणतया तत्परिमार्गितव्यमिति योजना॥ ३॥ ४॥

९ व० त० दी०— किञ्च **न रूपमिति।** इह मायामोहितैर्वादिभिरस्य स्वरूपं याथात्म्यं तथा वेदोक्तप्रकारेण नोपलभ्यते 'मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्' [ब्र. सू. ३।२।३] किञ्च **नान्तो** निर्णयो **न चादिः; न च सम्प्रतिष्ठा**ऽपि। तेनासम्प्रतिष्ठमसत्यं स्वाज्ञानकल्पितं जगदुच्यते। वक्ष्यति च मायावादिनामासुराणां लक्षणे 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' [१६।८] इति। ततो नेदं जगदसत्यं, किन्त्वेतदुपर्यावरणभूतं जीवकल्पितं सुवर्णजलवत्कार्यभूतसंसाराख्यं दुष्टांशमेनमभिन्नतया हंसोक्तितः प्रतीयमानम्; अतएव सुतरां विरूढानि मूलानि जीवकल्पितानि वासनामयानि दोषरूपाणि यत्र तमसङ्गशस्त्रेण दृढवैराग्यरूपेणाभजनीयतया सक्त्यभावेन छित्वा पृथक्कृत्य ततःपदमात्मरूपं भगवद्धामभूतमक्षरं ब्रह्म परिमार्गितव्यमित्यन्तरेणान्वयः। न चेह जीवकृतो जगदुच्छेद एव यथा श्रुतौ वाच्योऽपि शिष्टत्वनिरूपणादिति वाच्यम्, उच्छेदिते दण्डे दण्डी पुरुषो नेतिवदविरोधात्॥ ३॥ तद्विशिनष्टि— **यस्मिन्निति।** यत्र गता ज्ञानिनो भूयो न निवर्त्तन्ते। तत्र मुख्यं साधनं भक्तिमाह— **तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्य इति।** यतः पुराणी कृत्स्नस्य जगतः कर्मसु प्रवृत्तिरुत्पत्तिः प्रसृता भवति। तं प्रपद्य इति वा पाठः॥ ४॥

१० पु. अ. त.— ननु कथं तैः सृष्टिः? इत्यत आह— **न रूपमिति** । इहाऽस्मिन् लौकिके संसारे कर्मासक्तानामस्य तच्छाखारूपत्वे सत्यपि तथाऽलौकिकक्रीडात्मकं रूपं न लभ्यते । न च अन्तः, क्रीडात्मकेन नित्यत्वात् । न च आदिः, पुरुषोत्तममूलकत्वेनाऽनादित्वात् । न च पुनः सम्प्रतिष्ठा स्थितिः तस्माल्लौकिकसंसारात्मकवृक्षं छित्त्वा पुनरलौकिकान्वेषणं कार्यमित्याह—**अश्वत्थमिति** । एवं परिदृश्यमानं लौकिकमश्वत्थं नश्वरं सुविरूढमूलं दृढं, दृढेन निश्चयात्मकेन असङ्गशस्त्रेण एतन्मध्यपातिदुष्टविषयादिदोषपर्यालोचनसङ्गाभावात्मकेन शस्त्रेणैतच्छेदपटुना छित्त्वा भिन्नं कृत्वा ॥ ३ ॥

**ततः पदमिति** । ततस्तदनन्तरं तत्पदं अलौकिकस्य तस्य मूलभूतं परिमार्गितव्यं परितो विचारपूर्वकमालोचनरीत्या मार्गितव्यमन्वेषणीयम् । अन्वेषणे प्रयोजनमाह— **यस्मिन्निति** । यस्मिन् पदे गताः प्राप्ता भूयो न निवर्तन्ते, संसारे नागच्छन्तीत्यर्थः । कथमन्वेषणीयं ? इत्यत आह- **तमेवेति** । यतः पुरुषोत्तमात् पुराणी सनातनी नित्या प्रवृत्तिर्भक्त्यात्मिका भगवदनुप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता प्रकटिता; तमेव आद्यं च पुनः पुरुषं भावात्मतया पुरुषरूपं शरणं प्रपद्ये व्रजामीति भावः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु श्वोऽपि स्थातुमनर्हश्चाव्ययश्चेत्युक्ते प्रतिक्षणविनाशिविज्ञानसन्तानरूपो वा व्रीह्यादिवत्प्रवाहनित्यो वाऽयं संसारस्तर्हि दुरुच्छेद्यो वासनानां कर्मणां च बीजाङ्कुरवदन्योन्यजन्महेतुत्वस्यावर्जनीयत्वादित्याशङ्क्य सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयोऽयमित्येवं पक्षमाश्रित्य परिहरति— **न रूपमिति** । रज्जूरगस्येवास्य रूपं सम्यग्दृशा वीक्ष्यमाणं सन्नोपलभ्यते । इह जीवत्येव देहे । यथा पूर्वमज्ञानदशायां तथा नोपलभ्यते ज्ञानदशायाम् । तेनास्य मृषात्वमनुभवैकवेद्यमित्युक्तम् । एतेनानुपलभ्यरूपत्ववचनेन स्वप्रकाशानां विज्ञानानां रूपवतां बीजादीनां च सादृश्यस्य व्यावृत्तिः । तर्हि शशविषाणवत्तुच्छ एवायं स्यादित्यत आह– **नान्तो न चादिरिति** । उपादानस्य मूलाज्ञानस्याद्यन्तशून्यत्वादयमप्याद्यन्तशून्य इत्यर्थः । तर्ह्यात्मवदपरिहार्यः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **न च सम्प्रतिष्ठा**, अस्य प्रतिष्ठाख्यं लयस्थानं वृक्षस्य भूमिरिव नास्ति । न चायं ब्रह्मणो विकारो येन तत्रैव लीयते; न चेष्टापत्तिः ब्रह्मणः कौटस्थ्यभङ्गापत्तेः; किं तर्हि तुच्छमज्ञानमस्योपादानं तस्मिंश्च ज्ञानेन विनष्टे समूलस्यास्योच्छेदो भवति, अज्ञानस्य च तुच्छत्वम् । "तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत्" [ ] इत्यादिश्रुत्या । तत्कार्यस्य रज्जूरगादेः प्रलये तदनुपलम्भस्यानुभवेन च सिद्धम् । तस्मादस्य प्रतिष्ठा नोपलभ्यत इति युक्तमेवोक्तम् । तमेनमश्वत्थं वासनानां दार्ढ्यात् सुविरूढमूलं दृढतरमूलमप्यसङ्गशस्त्रेण सङ्गो देहादितादात्म्यबुद्धिः, तद्वर्जनमसङ्गः, स एव शस्त्रं तेन दृढेन परिपक्वेन च्छित्त्वा 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं' [ १५।४ ] इत्युत्तरेणान्वयः । यद्यपि स्थूलसूक्ष्मयोः संसारयोरसङ्गः सुषुप्तौ स्वयमेव जायते तेन तन्मूलवासनाभिरप्यात्मनोऽसङ्गोऽनुमीयते तथापि वासनामूलस्याज्ञानस्याज्ञानेनानुच्छेदान्नासङ्गधीर्दृढा भवति, तस्मान्निर्विकल्पसमाध्यभ्यासेन कारणशरीरस्याप्यसङ्गः साध्यः; तेन चासङ्गशस्त्रेणास्य च्छेदो मूलोच्छेदो लवणोदकवद्रज्जूरगवद्वा प्रविलापनरूपः कर्तव्यः । न तु साङ्ख्यानामिव स्वरूपेण सतः परिवर्जनमात्रम् ॥ ३ ॥

तमिममश्वत्थं छित्त्वा किं कर्तव्यं ? अत आह— **तत इति** । न केवलं निर्विकल्पसमाधिना तदसङ्गमात्रेण कृतार्थता; किं तर्हि ? ततोऽसङ्गानन्तरं तत् श्रुतिप्रसिद्धं पदं पदनीयं ब्रह्म परिमार्गितव्यं श्रुतियुक्तिबलेन 'अहमेव ब्रह्मास्मि' इति ज्ञातव्यम् । यस्मिन्पदे निर्विकल्पे गताः प्राप्ताः सन्तो न निवर्तन्ति न पुनर्निवर्तन्ते । तमेव प्रत्यगानन्दमाद्यं पुरुषं पुरि शरीरे शयानमहमपि प्रपद्ये शरणागतोऽस्मीति भावयेत् । भगवत एव वा इदं वचनं लोकशिक्षार्थं 'वर्त एव च कर्मणि' [ ३।२२ ] इतिवत् । कोऽसौ पुरुषः ? यतः पुराणी आद्या प्रवृत्तिः "सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति" [ तै. उ. २।६ ] इत्येवंरूपा प्रसृता अस्मास्वपि प्रवृत्ता । यतो वयमपि इदानीं कामयामहे धनादिना वयं भूयांसः स्याम प्रजया प्रजायेमहीति चेति । येनेयं प्रवृत्तिर्दर्शिता तत्प्रणामेनैव सा निवर्तिष्यत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

मुक्तिपदं गच्छतां ससाधनलक्षणानि ।

**निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।**
**द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥**

१ शां. भा.— कथम्भूतास्तत्पदं गच्छन्ति ? इत्युच्यते— **निर्मानेति** । निर्मानमोहाः, मानश्च मोहश्च मानमोहौ, तौ निर्गतौ येभ्यस्ते निर्मानमोहा मानमोहवर्जिताः, जितसङ्गदोषाः सङ्ग एव दोषः

सङ्गदोषः, जितः सङ्गदोषो यैस्ते जितसङ्गदोषाः; अध्यात्मनित्याः परमात्मस्वरूपालोचने नित्यास्तत्पराः, विनिवृत्तकामाः विशेषतो निर्लेपेन निवृत्ताः कामा येषां ते निवृत्तकामा यतयः सन्यासिनो द्वन्द्वैः प्रियाप्रियादिभिर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः परित्यक्ता गच्छन्त्यमूढा मोहवर्जिताः पदमव्ययं तद्यथोक्तम् ॥ ५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— परिमार्गणपूर्वकं वैष्णवं पदं गच्छतामङ्गान्तराण्याकाङ्क्षापूर्वकं कथयति— **कथ**मित्यादिना । मानोऽहङ्कारः, मोहस्त्वविवेकः । जितसङ्गदोषाः शत्रुमित्रसन्निधावपि द्वेषप्रीतिवर्जिता इत्यर्थः । तत्परत्वं श्रवणादिनिष्ठत्वम् । सन्यासिनो वैराग्यद्वारा त्यक्तसर्वकर्माण इत्यर्थः । आदिशब्देन तद्धेतुग्रहः । मोहवर्जितत्वमुक्तहेतुतः सञ्जातसम्यग्धीत्वम् ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.**— एवं मां शरणमुपगम्य निर्मानमोहाः निर्गतानात्मात्माभिमानरूपमोहाः जितसङ्गदोषाः जितगुणमयभोगसङ्गाख्यदोषाः, अध्यात्मनित्याः आत्मनि यत् ज्ञानं तदध्यात्मम्, आत्मज्ञाननिरताः, विनिवृत्तकामाः, विनिवृत्ततदितरकामाः, सुखदुःखसंज्ञैर्द्वन्द्वैश्च विमुक्ताः, अमूढाः आत्मानात्मस्वभावज्ञाः, तदव्ययं पदं गच्छन्ति अनवच्छिन्नज्ञानाकारमात्मानं यथावस्थितं प्राप्नुवन्ति, मां शरणमुपगतानां मत्प्रसादादेवैताः सर्वाः प्रवृत्तयः सुशकाः सिद्धिपर्यन्ता भवन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अस्मिन्नर्थे ‘ निर्मानमोहाः ’ इत्याद्यनन्तरवाक्यमपि ‘ यतः ’ [ १५।४ ] इत्युक्तस्य विवरणतया सुसङ्गतमित्यभिप्रायेणाह— **एवमि**ति । अत्र सामर्थ्यात्सङ्गनिवृत्तेः कारणं निर्मानमोहत्वमिति तदनुरूपं व्याख्याति— **निर्गतानात्मात्माभिमानरूपमोहा** इति । ‘ अमूढाः ’ इति पृथगुक्तेरत्र मानमोहमेलनव्याख्यानमयुक्तमिति भावः । आत्मसङ्गव्यवच्छेदाय **गुणमये**ति विशेषणम् । जितसङ्गत्वफलमध्यात्मनित्यत्वम्; तच्च ‘ अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् ’ [ १३।१२ ] इति प्रागुक्तं तदाह— **आत्मनि यज्ज्ञानमि**ति । योगकाले नैरन्तर्येणोत्थानकालेऽपि प्राचुर्येणाध्यात्मज्ञाननिरतत्वम् । स्वादुतमे स्वात्मज्ञाने निरतत्वात्तदितरकामनिवृत्तिः । विनिवृत्तकामत्वमिह विशेषतो निवृत्तकामत्वं; तच्च विषयसन्निधावप्युपेक्षकत्वम् । सङ्गकामयोर्हेतुहेतुमद्भावस्य पूर्वोक्तत्वाच्चापुनरुक्तिः । **सुखदुःखसंज्ञैः** अनुकूलप्रतिकूलभावैरित्यर्थः । इदं चोपायदशाविवक्षायां द्वन्द्वतितिक्षापरम्; फलदशापरत्वे दुःखात्यन्तनिवृत्तिपरम् । ‘ त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् । मोहितम् ’ [ ७।१३ ] इत्युक्तमायातरणादिहामूढत्वम्, तच्च देहात्मभ्रमनिवृत्तेः ‘ निर्मानमोहाः ’ इत्यनेनोक्तत्वात्तद्व्यतिरिक्तात्मानात्मविषयसमस्तभ्रमनिषेधरूपमित्यभिप्रायेणाह **आत्मानात्मस्वभावज्ञा** इति । यद्वा मोहहेतुनिवृत्तिलक्षकोऽत्रामूढशब्दः, अन्योन्यव्यावर्तकासाधारणधर्मप्रतीत्या ह्यात्मानात्मैक्यमोहो निवर्तनीय इति भावः । स्वरूपतो निर्विकारत्वादात्मनां व्ययो ज्ञानसङ्कोचविकासरूपः; तन्निषेधफलितमाह— **अनवच्छिन्नज्ञानाकारमि**ति । पद्यत इति पदं ‘ प्रापणीयस्तथैवात्मा प्रक्षीणाशेषभावनः ’ [ वि. पु. ६।७।९३ ] इति परिशुद्धात्मनोऽपि परमात्मवत् प्राप्यत्वात् पदत्वम् । न चात्र परमात्मा पदशब्दाभिप्रेतः, अनन्तरश्लोके तस्यैव तच्छब्दपरामृष्टस्य ‘ मम धाम ’ इति व्यधिकरणनिर्देशात् । न च पदशब्दधामशब्दयोरिह दिव्यस्थानविषयत्वं, ‘ परिमार्गितव्यम् ’ [ १५।४ ] इति तस्यान्वेषणीयत्वविध्ययोगात् । तस्य हि फलतयाऽस्तीति ज्ञातव्यत्वमात्रं; नत्वात्मवत् समाधिपर्यन्तगवेषणास्पदत्वम् । ‘ मम धाम ’ इति निर्दिष्टस्यैव हि संसारावस्था ‘ ममैवांशः ’ [ १५।७ ] इत्यादिनोच्यते । अन्यथा परस्थानप्रतिपादनानन्तरं ‘ ममैवांशः ’ इति बद्धावस्थजीवनिर्देशोऽपि नातीव सङ्गत इति भावः । उक्तशङ्कापरिहारतया ‘ तमेव ’ इत्यादेः पिण्डितं तात्पर्यमाह— **मां शरणमि**ति ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— साधनान्तरमाह— निर्मानेति ॥ ५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— तर्हि ब्रह्मज्ञानसाधनं विश्वविमर्शस्तत्र साधनं च तत्प्रतिपत्तिरिति समस्तमुक्तं किमुत्तरेण ? इत्यत आह— **साधनान्तरमि**ति ॥ ५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **निर्मानेति** । कृतचेतस्कतया जितसङ्गदोषाः, सङ्गो विषयसङ्कल्पः, स एव दोषः, जितः सङ्गदोषो यैस्ते जितसङ्गदोषाः, विषयसङ्कल्परहिता इत्यर्थः । अध्यात्मनित्या आत्मज्ञाननिरताः । विनिवृत्तकामास्त्यक्तकामाः । द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः सुखादिशब्दवाच्यैः, गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति, अमूढा विवेकिनः । तद्वैष्णवं पदम्, अव्ययमविनाशि ॥ ५ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं संसारस्वरूपं ततो विरक्तस्य भगवद्भक्त्या ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानं चोक्त्वा निस्संसारस्य मुक्तिं दर्शयति— **निर्माने**ति । निर्गतौ मानमोहावहङ्काराविवेकौ येभ्यस्ते, अत एव जितः पुत्रवित्तादिसङ्गरूपो दोषो यैः, अत

एव च प्रतिबन्धकाभावादध्यात्म आत्मज्ञाने नित्याः, अत एव 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते' [ २।५९ ] इति प्रागुक्तेर्विषयतो निरवशेषेण निवृत्ताः कामा विषया येभ्यस्ते, तत एव सुखदुःखसंज्ञैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः; अत एवंविधा अमूढा निवृत्ताज्ञानाः तदव्ययं त्रिविधपरिच्छेदशून्यं पदं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— अन्यान्यपि साधनानि चाह— निर्मानेति । मानमोहराहित्यं सङ्गदोषराहित्यं अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं निवृत्तकामत्वं सुखदुःखादिद्वन्द्वरहितत्वं चेति । साधनसम्पन्नास्तद्विष्णोः परमं पदं सर्वदोषरहितं व्यापि वैकुण्ठात्मकमक्षरं ब्रह्माख्यं यान्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— शरणागतिं विना दोषानिवृत्तौ तत्प्राप्तिर्न भवेदिति शरणागतौ च स्यादेवेत्यन्यथा अनिवृत्तित्वाद्दोषनिरूपणपूर्वकं तद्रहितानां तत्पदप्राप्तिरुच्यते— निर्मानमोहा इति । निर्गतौ मानमोहौ येषां ते । मानस्तु भगवत्सम्बन्धजः, मोहः स्वरूपाज्ञानात्मकः । तथा जितः सङ्गदोषः अवैष्णवादिसङ्गदोषो यैः । अध्यात्मनित्याः भगवत्स्वरूपतत्त्वविचारपरिनिष्ठिताः । विनिवृत्तकामाः विशेषेण मनसा विचाररहित्येन विनिवृत्तः कामो येभ्यः । सुखदुःखसंज्ञैः सांसारिकैर्द्वन्द्वैर्विमुक्ताः । अमूढाः भगवत्परिचिन्तनेन मोहरहिताः, तदव्ययं नित्यं पदं गच्छन्ति । यत एतद्दोषरहिता उक्तगुणवन्तश्च गच्छन्ति तद्द्वयमपि शरणातिरिक्तसाधनासाध्यं तस्मात् शरणं प्रपद्य इति शरणगमनमन्वेषणप्रकार इत्यर्थः॥५॥

११ नी० भा० दी०— एवमैकान्तिकस्य सुखस्याच्छादकं संसाराश्वत्थं तच्छेदकमसङ्गशस्त्रं चोक्त्वा तस्य सुखस्य प्राप्तावधिकारिणं तस्य स्वरूपं चाह द्वाभ्यां— निर्मानेति । मानो दर्पः मोहो विपर्ययस्तद्रहिताः निर्मानमोहाः । जितः सङ्गः 'कर्ताहं' इत्यभिमानो दोषो रागादिश्च यैस्ते जितसङ्गदोषाः । अध्यात्मं आत्मनि नित्याः निष्ठावन्तः, आत्मध्यानपरा इति यावत् । विनिवृत्तकामाः त्यक्तसर्वपरिग्रहाः । द्वन्द्वैः-सुखदुःखेत्युपलक्षणं शीतोष्णादीनामपि तैः— विमुक्ताः, तितिक्षावन्त इत्यर्थः । अमूढाः विद्ययाऽविद्यानाशं कृतवन्तः । तत्पदं अव्ययं अपुनरावृत्तिं गच्छन्ति ॥ ५ ॥

मुक्तिपदस्य स्वरूपविवेचनम् ।

**न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।**
**यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ ६ ॥**

**१ शां. भा.**— तदेव पदं पुनर्विशिष्यते— **न तदिति** । तद्धामेति व्यवहितेन धाम्ना सम्बन्धः । तद्धाम तेजोरूपं पदं न भासयते सूर्य आदित्यः सर्वावभासनशक्तिमत्त्वेऽपि सति । तथा न शशाङ्कश्चन्द्रः, न पावको नाग्निरपि । यद्धाम वैष्णवं पदं गत्वा प्राप्य न निवर्तन्ते, यच्च सूर्यादिर्न भासयते तद्धाम पदं परमं मम विष्णोः ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.— तच्चेत्पदं वेद्यं कर्तुरन्यत्कर्मेति द्वैतापातः, अवेद्यं चेदपुमर्थत्वात्प्रेप्सिततत्वासिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **तदेवेति** ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.**— तदात्मज्योतिर्न सूर्यो भासयते, न शशाङ्कः, न पावकश्च; ज्ञानमेव हि सर्वस्य प्रकाशकम्; बाह्यानि तु ज्योतींषि विषयेन्द्रियसम्बन्धविरोधितमोनिरसनद्वारेण उपकारकाणि । अस्य च प्रकाशको योगः, तद्विरोधि चानादिकर्म, तन्निवर्तनं चोक्तं भगवत्प्रपत्तिमूलमसङ्गादि; यद्गत्वा पुनर्न निवर्तन्ते, तत्परमं धाम— परमं ज्योतिः मम मदीयम्; मद्विभूतिभूतो ममांश इत्यर्थः । आदित्यादीनामपि प्रकाशकत्वेन तस्य परमत्वम् । आदित्यादीनि हि ज्योतींषि न ज्ञानज्योतिषः प्रकाशकानि, ज्ञानमेव सर्वस्य प्रकाशकम् ॥ ६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— प्रकाशकान्तरनैरपेक्ष्यद्योतनाय तच्छब्दाभिप्रेतमाह— **आत्मज्योतिरिति** । **अयं भावः**- तच्छब्दस्य प्रकृतपरामर्शित्वस्वारस्यात् 'पदमव्ययं तत्' [१५।५] इति परिशुद्धात्मस्वरूपस्य प्रकृतत्वादुत्तरश्लोकेऽपि 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः' [ १५।७ ] इति तस्यैवोक्तेरत्रापि श्रुतिसिद्धस्वयञ्ज्योतिष्ट्वव्यञ्जकधामशब्दप्रयोगात् जीवविषयोऽयं श्लोक इति । सूर्याद्यप्रकाश्यत्वं स्वभाववैपरीत्येन स्थापयति— **ज्ञानमेव हीति** । **सर्वस्येति**— प्रकाश्यवर्गस्य, तत्प्र-

काशकतयाऽभिमतसूर्यादिज्योतिषोऽपीति भावः । ज्ञानं चेत् सर्वस्य प्रकाशकं, तर्हि बाह्येष्वपि किं सूर्याद्यपेक्षया ? कथं च तेषु प्रकाशकत्वव्यवहारः ? इत्यत्राह— **बाह्यानि त्विति** । **सम्बन्धविरोधीति** सामग्रीमध्यपातिविशिष्टसम्बन्धाकारविवक्षयोक्तम् । नहि कुड्यादिवत्तमो व्यवधायकं, तमोव्यवहितालोकस्थग्रहणात् । एवं सर्वप्रकाशकमात्मज्योतिः स्वयमेव किं न प्रकाशते ? केन वाऽन्येन तत्प्रकाश्यं ? इत्यत्राह— **अस्य चेति** । चस्त्वर्थः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । स्वयम्प्रकाशस्यापि यथावस्थितसमस्ताकारग्रहणे संसारिणां योग एवोपाय इति भावः । प्रकाशकान्तरप्रतिक्षेपे वेद्यत्वनिषेधशङ्काप्यनेन परिहृता । विशेषनिषेधः शेषाभ्यनुज्ञानपर इति भावः । योगोऽपि सर्वेषां किं न सिद्धयेत् ? तत्राह— **तद्विरोधीति** । सांसारिकं कर्म योगोत्पत्तिप्रतिबन्धकमित्यर्थः । तर्हि सर्वेषां न सिद्धयेदिति शङ्कायां प्रकृतेन परिहरति **तन्निवर्तनं चेति** । **गत्वा** प्राप्येत्यर्थः । धामशब्दोऽत्र प्राग्वन्न नियमनस्थानपरः; अपितु सूर्याद्यपेक्षाप्रतिक्षेपात्स्वरूपस्य प्रकाशरूपत्वसिद्धेर्ज्योतिर्वाची । तत एव मम परं ज्योतिरित्यन्वयो मन्दः । ममेति स्वसम्बन्धविधिस्तु मुक्तदशाभाविपरमसाम्यशङ्कितस्वातन्त्र्यपरिहारेण सार्थ इत्यभिप्रायेणाह— **परं ज्योतिर्मम मदीयमिति** । 'ममैवांशः' [१५।७] इति वक्ष्यमाणस्यापि निदानमिहाभिप्रेतमिति व्यञ्जयन् षष्ठ्युक्तं सम्बन्धसामान्यं विशेषे नियच्छति— **मद्विभूतिभूत** इति । विभूतित्वं च न गृहिणो गृहादिवत्, अपित्वपृथक्सिद्धविशेषणांशत्वेनेत्याह **ममांश** इति । अयमभिप्रायः— न तावन्निरवयव एकस्मिन् स्वरूपेंऽशव्यपदेशः, अंशस्यैकवस्त्वेकदेशरूपत्वेन भेदाश्रयत्वादंशांशिभावस्य । अन्यथैकस्मिन् कोंऽशः कश्चांशी ? नहि स एव तस्यांश इति भ्रान्तोऽपि ब्रूयात् । न च भेदाभेदसम्भवः, व्याघातसर्वश्रुतिकोपादिप्रसङ्गात् । 'पादोऽस्य विश्वा भूतानि' [ऋक्सं.८।७।१७।३ यजुस्सं.३१।३] 'तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्'[श्वे.उ. ४।१०] "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्व एवात्मानो (सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि) व्युच्चरन्ति" [बृ उ.२।१।२०]इत्यादिश्रुतिप्रतीतांशत्वं विशिष्टे विशेषणांशतयेति 'अंशो नानाव्यपदेशात्' [ब्र.सू.२।३।४३] इत्यधिकरणे 'प्रकाशादिवत्तु नैवं परः' [ब्र.सू.२।३।४६] इति सूत्रे निरूपितम् । अतोऽनेकेष्वेव केनचिदुपाधिना एकतयाभिमतेषु कश्चिन्निरूप्यमाणोंऽश इति व्यपदिश्यते । एवमेव हि पटादिराश्यादिष्वपि । तच्च विशेषणविशेष्यभावेनावस्थितेष्वपि विशिष्टैक्ये 'विशेषणांशः' इत्यादिव्यपदेशेषु तुल्यम् । तस्मादत्रात्यन्तभिन्नयोर्जीवपरयोर्विभूतितद्वद्भावेन विशिष्टैक्याद्विशेषणभूतो जीवो निष्कृष्य व्यपदिश्यमानः प्रधानापेक्षयांश इति व्यपदिश्यत इति । अत्र निरङ्कुशपारम्यवत्परमात्मव्यतिरिक्तविषयधामशब्दनिर्दिष्टज्योतिर्विशेषणभूतं परमत्वं सन्निहितज्योतिरपेक्षयेति तत्फलितमाह **आदित्यादीनामपीति** ॥ ६॥

**५ आ. मा. भा.— स्वरूपं कथयति— न तदित्यादिना ॥ ६ ॥**

**६ ज. प्र. दी.—** उत्तरवाक्यानां सङ्गत्यप्रतीतेस्तां सूचयन्नाह— **स्वरूपमिति** । अनेन कीदृशं तत्पदं यत्प्राप्तिः पुरुषार्थः ? इत्याकाङ्क्षायामिदमुच्यत इत्युक्तं भवति । स्वरूपमित्यनेन पदमित्युक्तस्य धामेति वक्ष्यमाणस्य चार्थोऽप्युक्तो भवति; स्थानतेजसोरसङ्गतत्वात् ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.— न तदिति । यन्मम परमं धाम तत्सूर्यो न भासयते, नापि शशाङ्कः, नापि पावकः; यद्गत्वा योगिनो न निवर्तन्ते नहि पुनरागच्छन्तीत्यर्थः ॥ ६ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.—** तदेव गन्तव्यं पदं विशिनष्टि— **न तदिति** । यत्पदं गत्वा न निवर्तन्ते तत्पदं सर्वभासकः सूर्यो न भासयते, सूर्यास्तमयेऽपि तस्य भासमानत्वात्, "अस्तमित आदित्ये ... किं ज्योतिः ... आत्मैवास्य ज्योतिः" [बृ. उ. ४।३।६] इत्यादिश्रुतेरिति भावः । सूर्यास्तमयेऽपि चन्द्रोऽग्निर्वा तस्य भासकः किं न स्यात् ? तत्राह— **न शशाङ्क** इति । न शशाङ्को न पावकः भासयत इत्यनुषङ्गः । चन्द्राग्न्यभावेऽपि भासमानत्वान्न तद्भास्यत्वमपीत्यर्थः । तर्हि केनाप्यभास्यत्वे वेदितुमेवाशक्यत्वादपुरुषार्थत्वप्रसङ्ग इत्यत आह— **तद्धामेति** । मम परब्रह्मणः स्वरूपभूतं तत्परममुत्कृष्टं धाम ज्योतिः स्वयम्प्रकाशरूपम् "न तत्र सूर्यो भाति" [कठो. २।५।१५+श्वे. उ. ६।१४+मुं. उ.२।२।१०] इत्यादिश्रुतेः । तथा च सूर्यादिप्रकाशान्तराप्रकाश्यत्वेऽपि स्वप्रकाशतया स्वत एवापरोक्षत्वान्नापुरुषार्थत्वशङ्केति भावः । अत्र पूर्वार्धे अवेद्यत्वस्य 'तद्धाम परमं' इति स्वतो नित्यापरोक्षत्वस्य च प्रतिपादनादवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारविषयत्वरूपं स्वप्रकाशत्वलक्षणमुक्तं भवति ॥ ६ ॥

**९ व० त० दी०—** तदेव विशिनष्टि— **न तद्भासयत इति** । "तद्विष्णोः परमं पदं" [ऋक्सं. १।२।६।५] अक्षरं 'चैद्ये च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे' [                ] इति भागवतवाक्यात्पदभूतं 'प्रभुत्वेन हरेः स्फूर्तौ लोकवत्त्वेन तूद्भवः' इति निबन्धवाक्यात् लोकात्मकत्वेन च प्रसिद्धं लोकप्रसिद्धाः सूर्यादयो न भासयन्ते यद्गत्वा च योगिनो नहि निवर्तन्ते तत्परमं सर्वोत्कृष्टं मम पुरुषोत्तमस्य धाम परमं ज्योतीरूपं सर्व-

प्रकाशकं अध्यात्मज्ञानस्वरूपं 'न यत्र माया' इति निरूपणान्ममाधिष्ठानभूतं सर्वात्ममूलं निरुपममहिमात्मकं ज्ञेयम् ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— अथ तत्पदस्वरूपमाह— न तदिति । तत्पदं सूर्यो न भासयते न प्रकाशयति । एतेन स्वयम्प्रकाशत्वमुक्तम् । न शशाङ्कश्चन्द्रोऽपि तापहरणपूर्वकशीतादिना न प्रकाशयति । न पावकः, अग्निः शीतादिनिवारकत्वेन न प्रकाशयति । किञ्च यत्पदं गत्वा न निवर्तन्ते न पुनरागच्छन्ति । कुतः ? इत्यत आह । तत् मम परमम्युत्कृष्टं धाम गृहरूपमित्यर्थः ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु यदि तदूर्ध्वं पदं गच्छन्ति तर्हि ततः पातोऽप्यवश्यम्भावी 'पातनान्ताः समुच्छ्रयाः' इति न्यायात्; ततश्च 'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति' [ १५।४ ] इत्ययुक्तम्? इत्याशङ्क्य तस्य पदस्य स्वरूपमाह— न तदिति । तत्पदं सूर्यो न भासयति, रूपादिहीनत्वेन चक्षुरयोग्यत्वात् । एतेन सर्वेषां बाह्येन्द्रियाणां निवृत्तिः । यद्धि रूपवच्चक्षुर्योग्यं तत्सूर्येण चक्षुरनुग्राहकेण भास्यं, इदं तु न तथेत्यर्थः । न शशाङ्कश्चन्द्रोऽपि भासयति यन्मनोग्राह्यं वस्तु तच्चन्द्रेण मनोनुग्राहकेण भास्यं, इदं तु न तथा । "यन्मनसा न मनुते" [ केनो. ५ ] इति श्रुत्याऽस्य मनोग्राह्यत्वनिषेधात् । नापि पावको भासयति । यद्धि वाचा ग्राह्यं तत्तदनुग्राहकेण पावकेन भास्यं, इदं तु न तथा । "यद्वाचाऽनभ्युदितम्" [ केन. ४ ] इति श्रुत्याऽस्य वाग्गोचरत्वनिषेधात् । "न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा" [ मुण्ड. ३।१।८ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरं च । यतश्चक्षुर्मनोवाचामगम्यं तेन स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चातीतं प्रत्यगद्वयं "नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं" [ मुण्डको. ७ ] "अस्थूलमनणु" [ बृ. उ. ३।८।८ ] इत्यादिश्रुतिभिः सर्वविशेषरहितं यत्प्रतिपादितं तत् मम परमं धाम वृत्तिरूपज्ञानादपरमादन्यज्ज्योतिश्चिन्मात्रं ममेति सम्बन्धो 'राहोः शिरः' इतिवदुपचारात् । मदभिन्नं ज्योतिः स्वयम्प्रकाशमित्यर्थः । अत एव यद्गत्वा प्राप्य, ज्ञात्वेत्यर्थः । न निवर्तन्ते निवृत्तिकारणस्य मूलाज्ञानस्याभावात् । एवं व्याख्याने हि— "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति" [ तै. उ. २।७ ] इति श्रुत्यर्थानुगमो दृश्यते । अदृश्ये इति दृगयोग्यत्वेन सूर्यभास्यत्वं पर्युदस्यते । अनात्म्ये आत्मनो मनसो योग्यं आत्म्यं तदन्यत्र अनात्म्ये इति मनसोऽप्ययोग्यत्वेन चन्द्रमोभास्यत्वं निरस्यते । अनिलयने निलीयतेऽस्मिन्सर्वं स्थूलं सूक्ष्ममिति निलयनं कारणं तद्भिन्ने । अत एवानिरुक्ते निर्वचनायोगे वाचामगोचर इत्यर्थः । तेन पावकाप्रकाश्ये इति सिद्धम् । ये तु सूर्याद्यप्रकाश्यमर्चिरादिमार्गगम्यं सत्यलोकादप्युपरितनमप्राकृतं वैष्णवं पदं नित्यं देशान्तरेऽस्ति तद्गत्वा पुनर्न निवर्तन्त इति व्याचक्षते, तेषां 'न रूपमस्येह तथोपलभ्यते' [ १५।३ ] इति दृश्यस्य तुच्छत्वादेव तादृशस्यापि तुच्छत्वमपरिहाय, दृश्यत्वाविशेषात् । तस्माद्यथोक्त एव श्लोकार्थः ॥ ६ ॥

'तद्धाम परमं मम' इति निर्दिष्टस्यैव संसारावस्था ।

## ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।
## मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥ ७ ॥

१ शां. भा.— 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इत्युक्तम्; ननु सर्वा हि गतिरागत्यन्ताः 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' [ म. भा. ११।२।३+१२।२७।३१+१२।३३०।२० + वा. रा. २।१०५।१६ ] इति हि प्रसिद्धं; कथमुच्यते तद्धामगतानां नास्ति निवृत्तिः ? इति, शृणु तत्र कारणम्— ममेति । ममैव परमात्मनो नारायणस्यांशो भागोऽवयव एकदेश इत्यनर्थान्तरं जीवलोके जीवानां लोके संसारे जीवभूतो भोक्ता कर्तेति प्रसिद्धः सनातनः । यथा जलसूर्यकः सूर्यांशो जलनिमित्तापाये सूर्यमेव गत्वा न निवर्तते तथाऽयमप्यंशस्तेनैवाऽऽत्मना सङ्गच्छत्येवमेव । यथा वा घटाद्युपाधिपरिच्छिन्नो घटाद्याकाश आकाशांशः सन्घटादिनिमित्तापाय आकाशं प्राप्य न निवर्तत इत्येवमत उपपन्नमुक्तं 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' इति । ननु निरवयवस्य परमात्मनः कुतोऽवयव एकदेशोंऽशः ? इति, सावयवत्वे च विनाशप्रसङ्गोऽवयवविभागात्; नैष दोषोऽविद्याकृतोपाधिपरिच्छिन्न एकदेशोंऽश इव कल्पितो यतः । दर्शितश्चायमर्थः क्षेत्राध्याये

विस्तरशः । स च जीवो मदंशत्वेन कल्पितः कथं संसरत्युत्क्रामति च ? इत्युच्यते— मनःषष्ठानीन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि प्रकृतिस्थानि स्वस्थाने कर्णशष्कुल्यादौ प्रकृतौ स्थितानि कर्षत्याकर्षति ॥ ७ ॥

२ आ. शां. व्या.— उक्तमनूद्याऽऽक्षिपति— यद्गत्वेति । तत्र प्रसिद्धिं प्रमाणयति — संयोगा इति । गमनस्यागमनान्तत्वप्रसिद्धेरयुक्तं 'यद्गत्वा' [१५।६] इत्यादीत्युपसंहरति— कथमिति । आक्षेपं परिहरति— शृण्विति । भगवत्प्राप्तेर्निवृत्त्यन्तत्वाभावः सप्तम्यर्थः । जीवस्य परांशत्वेऽपि कथमुक्तदोषसमाधिः ? इत्याशङ्क्य प्रतिबिम्बपक्षमादाय दृष्टान्तेन प्रत्याचष्टे— यथेति । अवच्छेदपक्षमाश्रित्य दृष्टान्तान्तरेणोक्तदोषसमाधिं दर्शयति— यथा वेति । आक्षेपसमाधिमुपसंहरति— अत इति । परस्य निरवयवत्वात्तदंशत्वं जीवस्यायुक्तमिति शङ्कते— नन्विति । तस्य निरवयवत्वं साधयति— सावयवत्वे चेति । वस्तुतो निरंशस्यापि परस्य कल्पनया जीवोंऽशो भविष्यतीति परिहरति— नैष दोष इति । वस्तुतस्तु जीवस्य नांशत्वं परमात्मना तावन्मात्रतया दर्शितत्वादित्याह— दर्शितश्चेति यदि परस्यांशत्वेन कल्पितो जीवो वस्तुतस्तदात्मैव, न तर्हि तस्य संसारित्वमुत्क्रान्तिर्वेति शङ्कते— कथमिति । जीवस्य संसरणमुत्क्रमणं चोपपादयितुमुपक्रमते— उच्यत इति ॥ ७ ॥

३ रा. भा.— इत्थमुक्तस्वरूपः सनातनो ममांश एव सन् कश्चिदनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टितो जीवभूतो जीवलोके वर्तमानो देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषशरीरस्थानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति । कश्चिच्च पूर्वोक्तेन मार्गेणास्या अविद्याया मुक्तः स्वेन रूपेणावतिष्ठते; जीवभूतस्त्वतिसङ्कुचितज्ञानैश्वर्यः कर्मलब्धप्रकृतिपरिणामविशेषरूपशरीरस्थानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानामीश्वरः तानि कर्मानुगुणमितस्ततः कर्षति ॥ ७ ॥

४ वे. ता. चं.— यद्येवं त्वद्विभूतितया तवांश एव, तर्हि नित्यसूरिवर्गवदविशेषेण सर्वेषां परिशुद्धाकारयोगः किं न स्यात् ? इत्यत्र बद्धस्यापि स्वविभूतित्वमनूद्य बद्धमुक्तादिव्यवस्थापनं 'ममैवांशः' इत्यादिनोच्यत इत्यभिप्रायेणाह— इत्थमुक्तस्वरूप इति ॥ ७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ७ ॥

७ ह. पै. भा.— ममेति । ममैवांश एकदेशो जीवलोके प्राणिसमूहे जीवभूतः क्षेत्रज्ञः सनातनो मनः षष्ठं येषां तानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतौ कारणे मायारूपे तिष्ठन्तीति प्रकृतिस्थानि तानि शब्दादिविषयोपलम्भार्थं तदभिमुखं कर्षत्याकर्षति; श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि शब्दादिभिर्विषयैः संयोजयतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

८ वं. ब्र.गि.— ननु 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' [ १५।६ ] इत्युक्तमयुक्तम् ;गन्तुर्जीवस्य गन्तव्यब्रह्माभिन्नत्वे गन्तृगन्तव्यभावासम्भवेन गत्वेत्युक्तेरयोगात् ; तद्भिन्नत्वे तु 'संयोगा विप्रयोगान्ताः' इति शास्त्रेण संयोगस्य वियोगान्तत्वोक्त्या स्वर्गतस्येव ब्रह्मगतस्यापि ततो विनिवृत्त्यवश्यम्भावेन 'न निवर्तन्ते' [ १५।६ ] इत्युक्तेरयोगादित्याशङ्क्याऽऽह— ममैवेति । सुरनरतिर्यगादिरूपेणोपलभ्यमानेऽस्मिन्नुच्चावचे जीवलोके जीवभूतो जीवभावं प्राप्तः तत्तच्छरीरेषु जायमानेषु नश्यत्सु च स्वयं सनातनो नित्यः प्रथमषट्के निरूपितो योऽयमात्मा, स ममैव परब्रह्मणोंऽशः, न तु मद्भिन्न इत्यर्थः । अयं भावः— ब्रह्माभिन्न एव जीवः; न चैवं तस्य ब्रह्मप्राप्त्ययोगः, प्राप्तप्राप्तिरूपत्वात्तस्याः । द्विविधा हि प्राप्तिः, अप्राप्तप्राप्तिः प्राप्तप्राप्तिश्च । आद्या यथा देवदत्तस्य ग्रामप्राप्तिः । अन्त्या यथा कण्ठचामीकरादिप्राप्तिः । कण्ठ एव स्थितस्य चामीकरस्य भ्रमवशादप्राप्तवत्स्थितस्य तन्निवृत्त्या प्राप्तिरिव भवतीति भ्रमनिवृत्तिमात्रेण तत्र प्राप्तिव्यवहारः । एवं चात्र जीवस्य ब्रह्मप्राप्तिः किमप्राप्तप्राप्तिरूपा किं वा प्राप्तप्राप्तिरूपेति विषये, "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" [ बृ. उ. ४।४।६+तै. आ. २।२+नृ. उ. ५ ] "विमुक्तश्च विमुच्यते" [ कठो. ५ । १ ] इत्यादिश्रुतिभिरेव प्राप्तप्राप्तिरूपेति निर्णीतम् । उपबृंहितं च पुराणैः— 'नित्यप्राप्तस्य चाप्राप्तिर्विभ्रमः खलु देहिनाम् । विभ्रमस्य निवृत्त्या सा प्राप्तेति व्यपदिश्यते ' इत्यादिसूतसंहितायुक्तेः युक्तं चैतत्, ब्रह्मस्वरूपतया नित्यप्राप्तब्रह्मभावस्यैव सतो जीवस्य तद्भावप्राप्तेस्तदज्ञाननिवृत्तिमात्ररूपत्वौचित्यात् । उक्तं भगवताऽपि— "स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतो-

ऽधिगच्छति ' [ ५।२४ ] इति । अतो ब्रह्मांशतया ब्रह्मभूतस्यापि जीवस्य तत्प्राप्तिरविरुद्धैवेति ।

अत्र च जीवस्य ब्रह्मांशत्वं नाम घटाकाशस्य महाकाशं प्रतीव तदेकदेशत्वम् । तच्च निरंशे ब्रह्मणि वास्तवं न भवतीति कल्पितमेव । तथा च ' ममैवांशः ' इत्यत्र अंश इवांश इत्यर्थः । विस्तरस्त्वद्वैतवज्रपञ्जरे द्रष्टव्यः । नन्वस्तूक्तरीत्या ब्रह्माभिन्नस्यापि तद्भावप्राप्तिः; तथापि 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' [ १५।६ ] इत्ययुक्तम्, " सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति " इति श्रुत्युक्तायाः सुषुप्तौ ब्रह्मप्राप्तेः पुनरावृत्तिदर्शनात् ; अन्यथा सुप्तस्य मुक्तत्वे पुनरुत्थानायोगादित्याशङ्काग्रुत्तरार्धेन परिहरति— मनःषष्ठानीति । अयं जीवभूतः प्रकृतिस्थानि सुषुप्तिकाले प्रकृतावज्ञाने लीनतया स्थितानि मनः षष्ठं येषां तानि चक्षुरादीन्द्रियाणि पुनर्भोगार्थमाकर्षति । अयं भावः— अज्ञानवत एव सुषुप्तौ ब्रह्मभावावाप्तिः, " सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एव ( एतं ) ब्रह्मलोकं न विदन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः " [ छां. उ. ८।३।२ ] इति श्रुतेः, अतश्च जाग्रद्भोगजनककर्मोदयवशात् पुनरुत्थितस्याज्ञानविलीनेन्द्रियाकर्षणरूपा संसारपुनरावृत्तिर्युक्ता; ज्ञानिनस्त्वज्ञाननिवृत्त्या ब्रह्मभावं प्राप्तस्य कारणाभावात्तदयोग इति ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— अयमपि पुरुषो मे धाम ममैव सच्चिदानन्दात्मकस्य पुरुषोत्तमस्यैवांशोऽणुः केवलचिदात्मा स्वेच्छया पृथग्भावितः सनातनो वस्तुतो नित्यस्वरूपत्वात्— अनादिकर्मरूपाविद्यावेष्टनतिरोहितानन्दस्वरूपो जीवभूतो जीवलोके वर्त्तमानो देवमनुष्यादिप्रकृतिपरिणामविशेषशरीरस्थानि मनःषष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति । कश्चित्पूर्वोक्तमार्गेणास्या अविद्याया मुक्तः स्वेन रूपेणावतिष्ठते संसारी जीवः; अयं तु यतस्ततोऽतिसङ्कुचितज्ञानैश्वर्यः कर्मलब्धप्रकृतिपरिणामविशेषरूपशरीरस्थानामिन्द्रियाणां मनःषष्ठानां कर्षणं कर्मानुगुणं करोति । सोऽप्यत्र ब्रह्मवादे सर्वशक्तिमतः पुरुषोत्तमस्यांश एव जीव इत्युच्यते । यथा च सूत्रेषु ' अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ' [ब्र. सू. २।३।४३] इति । अयमात्मा भगवतोंऽशः सच्चिदानन्देषु चिद्रूपः इतरयोस्तत्र पराभिध्यानात्तिरोधानेन बन्धविपर्ययादिति क्रीडेच्छयैवांशत्वहेतुः । सूत्रे नानाव्यपदेशात् " सर्व एवात्मानो (– एत आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि ) व्युच्चरन्ति " [ बृ. उ.२।१।२० ] " रमणीयचरणाः ... ... कपूयचरणाः " [ छां. उ. ५।१०।७ ] इति च । न च ब्रह्मणो निरवयवत्वात्कथं जीवोंऽश इति वाच्यम् ; न हि ब्रह्म निरंशं सांशं वा क्वचिल्लोके सिद्धं, वेदैकसमधिगम्यत्वात् सत्त्वाचार्यमतोपपन्नार्थतयाऽभ्युपगन्तव्यः; न तु सर्वविप्लवः कार्यः । युक्तिस्त्वेषोपपद्यते— ' विस्फुलिङ्गा इवाग्नेर्हि जडा जीवाश्च निर्गताः । सर्वतः पाणिपादान्तात्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात् ॥ निरिन्द्रियात्स्वरूपेण तादृशादिति निश्चयः । सदंशेन जडाः पूर्वं चिदंशेनेतरा अपि ॥ अन्यधर्मातिरोभावा मूलेच्छातोऽस्वतन्त्रिणः' इति हि ब्रह्मवादेंऽशपक्ष एव ।

ननु अंशत्वेन सजातीयत्वमायाति । श्रुत्यन्तरे पुनः "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत" [ ] इत्यत्र सर्वस्यापि ब्रह्मज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिपादनात् दाशादीनामपि ब्रह्मत्वं प्रतीयते तत्कार्यत्व एव स्यादिति चेत्, न, अन्यथा चापीत्यादि । प्रकारान्तरेणापि एके शाखिनः दाशकितवादित्वमधीयते शरीरत्वेनांशत्वेन च स्वरूपतः कार्याभावेऽपि प्रकारभेदेन कार्यत्वात् । तथा च न साजात्यं आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात् । धर्मान्तरेण साजात्यं त्विष्टमेव; ततोऽग्रे च सूत्रे ' मन्त्रवर्णात् ' [ ब्र. सू. २।३।४४] इति "पुरुष एवेद९ सर्वं" [ ऋक्सं. ८।४।१७।२+ यजुः ३१।२ ] इत्युक्त्वा " पादोऽस्य विश्वा भूतानि " [ ऋक्सं. ८।४।१७।३+ यजुः ३१।३ ] इति जीवानां पादत्वं पादेषु स्थितत्वेनावांशत्वम् । अतएवाग्रे " अनुस्मर्यते " इति ' ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ' [ १५।७ ] इति । 'प्रकाशादिवन्नैवं परः ' [ ब्र. सू. २।३।४६ ] इत्यत्र च जीवस्यांशत्वं हस्तादिवत् तद्दुःखेन परस्यापि तदा दुःखित्वं स्यादिति चेत्, एवं परो न भवति एवमिति प्रकारभेदः श्लिष्टत्वेनानुभव इति यावत् । अन्यथा सर्वरूपत्वात् । कुत एवं ? तत्राह— प्रकाशादिवदिति ' नाग्नेर्हि तापो न हिमस्य तत्स्यात् ' इति प्रकाशग्रहणं धर्मत्वद्योतनाय सुखदुःखादयोऽपि ब्रह्मधर्मा इति । अतो द्वैतबुद्ध्यांशस्यैव दुःखित्वं, न परस्य ।

अथवा प्रकाशः प्रकाश्यदोषेण यथा न दुष्टः, तापस्यापि तदंशत्वादिति ' स्मरन्ति च ' [ ब्र. सू. २।३।४७+ ३।२।१४ ] इति सूत्रे सर्वे ऋषयोऽशिनं स्मरन्ति, दुःखसम्बन्धं न स्मरन्ति ' तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः । न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा' ॥ इति 'कर्मात्मा ह्यपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते' । " एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः " [ कठो. ५।११ ] चकारात् ' तयोरेकं (अन्यः) पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति " [ मुण्ड. ३।१।१ ] इति भाष्यात् । अतो जीवो नाम ब्रह्मांशो न तु ब्रह्मैव, कुतः ? नानाव्यपदेशात् । श्रुत्यादौ " एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः" [ मुण्ड. ३।१।९ ] "बुद्धे-

गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यवरो(प्यवरो)ऽपि दृष्टः" [श्वेता.५।८] इति। अत्र बुद्धेर्गुणेनावरः तिरोभूतानन्द आत्मगुणेन त्वाराग्रमात्र एव व्यापक इति व्याख्यातम्। न हि महतो ब्रह्मणोऽणुत्वं यत्र चाणुत्वं तज्जीवान्तर्याम्य-भिप्रायेण। अतएव "वालाग्रशतभागस्य" [श्वेता. ५।९] इत्यादौ "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" [छां. उ. ६।८।७; ८-१६] "योऽसावादित्ये सोऽसावहं" [ ] "यथाग्नेः क्षुद्राः" [बृ. उ. २।१।२०] इत्यादौ च नानाव्यपदेशात् सर्ववाक्यबाधाभावायाणुरेव ब्रह्मांश एव जीव इति मन्तव्यम्।

अथवा नानाव्यपदेशात् भेदव्यपदेशादित्यर्थः। "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्" [श.ब्रा. १४।५।३०] इति माध्यन्दिनब्राह्मणे जीवपरमात्मनोर्भेदेनोपदेशात् केवलं प्राण-धारणप्रयत्नवान् ब्रह्मणोंऽशो जीवशब्देनोच्यत इत्यर्थः। "यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानमन्तरो यमयति" [बृ. उ. ३।७।२२] इति काण्वपाठे स एवार्थः। एकत्र कचिदन्यथाप्रतिज्ञादिना वक्तव्यं स्यात्, न तु नानाप्रमाण-वचनेषु; तथा अतएव श्रुतावभेदोक्तिः तदंशत्वात्। अंशत्वं च सजातीयत्वे सति तदपेक्षया किञ्चिन्न्यूनशक्त्या-श्रयत्वमिति। "स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्त्तेत एवमेवायमात्मेति प्रज्ञया शरीरमुद्गृह्य तमुत्क्रामति" "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" [कठो. ६।१६ + छां. उ. ८।६।६।] "ऊर्णनाभिर्यथा तन्तून् सृजते सञ्चरत्यपि। जाग्रत्स्वप्ने तथा जीवो गच्छत्यागच्छते पुनः" [ब्रह्मो. २०] इति श्रुति-स्मृत्युक्तगमनागमनादिकं चाणुत्वमन्तरेण अनुपपन्नं; जीवस्य ब्रह्मांशत्वमेव प्रबोधयतीत्यणुत्वाद्ब्रह्मणोंऽश एव जीवः। जीवब्रह्मविभागस्याविद्याकल्पितत्वे मानाभावात् 'अविभक्तं विभक्तिमत्' इतिवाक्याच्छ्रुतौ "विश्वतश्चक्षुः" [ऋक्सं. ८।३।१६।३] इतिमन्त्रे प्रयोजनाभावेऽप्युतेतिपदश्रवणात्सहजो ब्रह्मकृत एवायं विभागः, न त्वविद्याकल्पितः; तथा सति सृष्ट्यारम्भेऽविभक्तस्य संसारित्वाभावाद्विभागस्य च संसारकल्पनमन्तरेणानुपप-त्तेरन्योन्याश्रयः प्रसज्येत। विभागस्याविद्याकल्पितत्वेन तस्याः स्थितेरनुक्तसिद्धत्वान्निराधारस्थितेरसम्भावित-त्वाद्भ्रान्तिरूपत्वेन द्वैतापत्तिभिया च स्वाधिष्ठानत्वस्यापि वक्तुमशक्यत्वाद्ब्रह्मणश्चाधिष्ठानत्वे संसारित्वप्रसक्त्यैक-मुक्तौ सर्वमुक्तिप्रसङ्गादभावदर्शनाच्छास्त्राप्रामाण्यं सर्वविप्लवप्रसङ्ग एव। तस्मादखिलश्रुतिस्मृतिप्रामाण्याज्जीवाः सर्वे भगवतो ब्रह्मणोऽशा अणवः सनातनाः स्वेच्छातो विभक्ता इति सर्वमनवद्यम्। प्रकृते स एकोऽयं जीवभूतः यावन्तो जीवास्तद्रूपतया जातः। समष्ट्यभिप्रायेणैकवचनम्। स च जीवलोके प्रपञ्चे। प्रपञ्चो हि जीवानां लोको वैकुण्ठो भगवत इव। अतएव प्रपञ्चक्रीडने जीवरूपस्य प्राधान्यं "अनेन जीवेनात्मना" [छां. उ. ६।३।२] इति श्रुतेः। तादृशोऽपि न देहादिरिवागन्तुकः, किन्तु सनातनः सर्वदैवैतावज्जीवरूपः; न तु भौतिकसृष्टिवत्पश्चात्तनः। प्रपञ्चे तस्यांशस्य तथाभूतस्य कार्यमाह- मनःषष्ठानीति। मनसा षष्ठानि षण्णां पूरणानि षट्सङ्ख्याकानि इन्द्रियाणि ज्ञानेन्द्रियाणि वासनामयलिङ्गशरीरभूतानि विषयभोगोत्पत्त्यर्थं कृषीवलो भूमिमिव लिखति, इह विषयभोगोत्पत्त्यनुकूलानि करोतीत्यर्थः। तान्यपि प्रकृतिस्थानीति, नत्वात्मस्थानि। प्रकृतौ संसर्जनात्प्रकृतिस्थानीत्युक्तम्। अतएवोक्तं 'बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः। मात्रार्थं च भवार्थं च स्वात्मने कल्पनाय च' [भाग. १०।८७।२] इति; तत एवायं जीवः ॥ ७ ॥

१० पु. अ. त.— ननु पूर्वं क्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रकृतिपुरुषजडजङ्ग-मादीनां स्वांशत्वक्रीडौपयिकत्वस्वक्रीडार्थोपसादितत्वमुक्तम-धुना च 'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते'[१५।६] इत्युक्तं तत्कथं सम्भवति? इत्याकाङ्क्षायामाह ममैवेति पञ्चभिः। जीवलोके मत्क्रीडार्थं प्रकटिते जीवभूतः आनन्दांशतिरोधानेनाऽनीशित्वोद्भावनेन क्रीडारसभोगार्थसेवारसानुभवार्थजीवत्वलक्षणो ममैवांशः सनातनः सदा मयि विद्यमानः। मनः षष्ठं येषां तादृशानि पञ्चे-न्द्रियाणि प्रकृतौ क्रीडार्थमाविर्भूतायां स्थितानि तद्भोगाद्यनु-भवार्थं कर्षति। अत्रायं भावः— साक्षात्स्वक्रीडानुभवार्थ-प्रकटितो जीवभावः सनातनःपुरुषोत्तमांश एव साक्षात् तद्द्वारा प्रकृत्युत्पादितभोगानुभवार्थं प्रकटितोंऽशः सांसारिको जीवो मूलभूतजीवांशः स स्वांशं तत्र नयति यत्र तदिच्छा। अतएव "तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनुत्क्रामति" [बृ. उ. ४।४।२] इत्यादिश्रुतिः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु यदि सूर्याद्यभास्यज्योतीरूपस्त्वं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [१३।२] इति स्वस्यैव क्षेत्रज्ञत्वं ब्रूषे, तर्हि क्षेत्रज्ञस्य सततस्तव घटादिप्रकाशे किमिति सूर्याद्यपेक्षा दृश्यते? न हि स्वयंज्योती-रूपः स्वविषयावभासने ज्योतिरन्तरमपेक्षते, दीपादिष्वदर्शनादित्याशङ्क्याऽऽह त्रिभिः— ममैवेति। यद्यस्मादीश्वरो जगत्स्रष्टा शरीरमवाप्नोति स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" [तै. उ. २।६]

इत्यादिश्रुतिभ्य ईश्वर एव शरीरधारी तथा यद्यस्माद्धेतोः । अपिशब्दोऽवधारणार्थे, चः समुच्चयार्थे। "कस्मिन्नह-मुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि ? कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति" [प्रश्न. ६।३] "स प्राणमसृजत" [प्रश्नो. ६।४] इति श्रुतेः । प्राणधारणेनोपाधिना ईश्वर एव च उत्क्रामति ततो हेतुद्वयाज्जीवलोके संसारे यो जीवभूतः प्राणी स सनातनः सर्वदैकरूपोऽहमेवेति वक्तव्ये "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवा(वैत-)स्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि (सर्व एत आत्मानो) व्युच्चरन्ति" [बृ. उ. २।१।२०] इति वह्निविस्फुलिङ्गन्यायेन स ममैवांश इत्यंशांशिभावोक्तिः । यद्यपि वह्नौ भेदः परिमाणं च स्वगतं न दृश्यते, तथापि रूपाधिगतमेव तदुभयं तत्राप्युपचर्यते 'अयमग्निरस्मादग्नेर्भिन्नः, अयमस्य स्फुलिङ्गः, अयमस्मादल्पः' इति ।

एवं "अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम्" [बृ. उ. ३।८।८] इतिश्रुतेश्चतुर्विधपरिमाणशून्ये ब्रह्मणि ममैवांश इत्यंशांशिभावेन भेदोऽल्पत्वमहत्त्वे चोपचारादौपाधिके ध्येये । तथा च श्रुतिः— "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव (आ) ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोपि (ह्यपरोपि) दृष्टः" [श्वे. उ.५।८] इति "समः पुषिणा समो मशकेन समो नागेन सम एभि-स्त्रिभिर्लोकैः" [बृ. उ. १।३।२२] इति च । तथा च विस्फुलिङ्गो वह्निरेव, न तु वह्न्यंशः; एवं जीवोऽपि ब्रह्मैव, न तु ब्रह्मांशः । "ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मेमे कितवा उत" [        ] इति दाशादिष्वपि पिण्डेषु गोत्व-स्येव कार्त्स्न्येन एकैकस्मिन् ब्रह्मभावपरिसमाप्तिदर्शनात्, निरंशेंऽशांशिकल्पनाया अयोग्यत्वाच्च । स एवं जीव-भूत ईश्वरो ममैवांश इवांशो रूपभेदो मनः षष्ठं येषु तानि मनसा सह षडिन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि इन्द्रियाणां प्रकृतिः स्वभावो विषयप्रावण्यं तत्र स्थितानि कर्षति सुप्तिप्रलयसमाधिकालेषु सङ्कोचयति ॥ ७ ॥

पूर्वदेहादिन्द्रियाकर्षणस्य कालस्तदुपयोगश्च ।

## शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः ।
## गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥ ८ ॥

१ **शां. भा.**— कस्मिन्काले ?— यच्चापि यदा चाप्युत्क्रामतीश्वरो देहादिसङ्घातस्वामी जीव-स्तदा । 'कर्षति' इति श्लोकस्य द्वितीयपादोऽर्थवशात्प्राथम्येन सम्बध्यते । यदा च पूर्वस्माच्छरीरा-च्छरीरान्तरमवाप्नोति तदा गृहीत्वैतानि मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि संयाति सम्यग्याति गच्छति । किमिव ? इत्याह— वायुः पवनो गन्धानिवाऽऽशयात्पुष्पादेः ॥ ८ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— स्वस्थाने स्थितानामिन्द्रियाणां जीवेनाऽऽकर्षणस्य कालं पृच्छति— **कस्मिन्निति** । जीवस्योत्क्रान्तिर्नेश्वरस्येत्याशङ्क्येश्वरशब्दार्थमाह- **देहादीति** । उत्क्रान्त्यनन्तरभाविनी गतिरित्येतदर्थवशादित्युक्तम् । अवशिष्टानि श्लोकाक्षराण्याचष्टे— **यदा चेति** ॥ ८ ॥

३ **रा. भा.**— यच्छरीरमवाप्नोति, यस्माच्छरीरादुत्क्रामति, तत्रायमिन्द्रियाणामीश्वरः एतानि इन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वा संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् । यथा वायुः स्रक्चन्दनकस्तूरिकादि आशयात् तत्स्थानात् सूक्ष्मावयवैः सह गन्धान् गृहीत्वाऽन्यत्र संयाति, तद्वदित्यर्थः ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ ८ ॥

५ **आ. मा. भा.**—'कर्षति' इत्युक्ते जीवस्य स्वातन्त्र्यं प्रतीतं तन्निवारयति **शरीरमित्यादिना**— यद्यदा शरीरमवाप्नोति उत्क्रामति च जीवस्तदेश्वर एवैतानि गृहीत्वा संयाति । 'यत्र यत्रैव संयुक्तो धाता गर्भं पुनः पुनः । तत्र तत्रैव वसति न यत्र स्वयमिच्छति' इति हि मोक्षधर्मे । 'भावाभावावपि जानन्गरीयो जानामि श्रेयो न तु तत्करोमि । आशासु हर्म्यासु ह्रदासु कुर्वन्यथा नियुक्तोऽस्मि तथा वहामि' इति च । 'हत्वा जित्वाऽपि मघवन्यः कश्चित्पुरुषायते । अकर्ता त्वेव भवति कर्ता चैव करोति तत्'

इति च । "तद्यथाहाऽनः सुसमाहितमुत्सर्जद्यायादेवमेवायं शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मनाऽन्वारूढमुत्सर्जद्याति" [ बृ. उ. ४।३।३५ ] इति च श्रुतिः । "वाङ्मनसि सम्पद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायाम्" [छां. उ. ६।८।६ ] इति च । गन्धानिव सूक्ष्माणि । भोगोऽस्यापि साधितः पुरस्तात् ॥ ८ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— पूर्ववाक्ये जीवस्य प्रकृतत्वात्तदुत्तरमपि तद्विषयमिति व्याख्यानमसत्, ईश्वरपदरूढार्थपरित्यागदोषात्, इत्याशयवान् सङ्गतिं तावदाह— **कर्षतीति** । शरीरावाप्तौ मूलकारणादुत्क्रमणे शरीरात् स्थितौ गोलकादिभ्यो विषयान्प्रतीन्द्रियाणि जीवः कर्षतीति पूर्वत्रोक्तम् । तथा च तस्य नियामकान्तरानुक्त्या इन्द्रियकर्षणे स्वातन्त्र्यं प्रतीतं तदयुक्तम् । पूर्वोक्तविरोधादित्याशङ्क्येश्वरस्यैव तत्प्रतिपादयंस्तज्जीवस्य स्वातन्त्र्यं निवारयतीत्यर्थः । श्लोकद्वयोपादानायादिपदम् । अत्र शरीरावाप्त्युत्क्रमणयोरुक्तत्वादीश्वरस्य तदयोगात्कथमिदं तद्विषयम् ? इत्यतो व्याचष्टे— **यदिति** । जीव इति पूर्ववाक्यादनुवर्तते । यदेति श्रवणात्तदेति लभ्यते । एतानीन्द्रियाणि संयाति शरीरं लोकान्तरं च । कुतोऽयमर्थ इत्यतो जीवस्य शरीरप्राप्तौ तावदीश्वराधीनत्वे प्रमाणसम्मतिमाह— **यत्रेति** । संयुक्तः प्रेरकत्वेन संयुक्तः परमेश्वरो यत्र यत्रैव योनौ गर्भे धाता तत्र तत्रैव वसति जीवः । प्रवृत्तावपीश्वराधीनत्वे जीवस्य प्रमाणसंवादमाह— **भावेति** । भावाभावौ लौकिके शुभाशुभे गरीयः श्रेयो मोक्षमपि, तथापि तत्र करोमि साधयितुं न स्वतन्त्रोऽस्मि, किन्तु आशासु दिक्षु हर्म्यासु हर्म्येषु ह्रदासु ह्रदेषु तास्ताः क्रियाः कुर्वन्निव प्रतीयमानोऽहं यथेश्वरेण नियुक्तोऽस्मि तथा तथा तां वहामि । हननादिक्रियाः कृत्वा यः कश्चित् परमपुरुषवत्स्वातन्त्र्यमात्मनो मन्यते सोऽप्यकर्तैव भवति यतस्तद्धननादिकर्तेश्वर एव करोति । शरीरोत्क्रमणमपीश्वराधीनमित्यत्र श्रुतिसम्मतिमाह— **तद्यथेति** । अनः शकटम् । सुसमाहितं पुरुषेण सम्यगधिष्ठितमुत्सर्जद्भामादिकमुत्सृजच्छारीर आत्मा जीवः प्राज्ञेनात्मना परमात्मना अन्वारूढोऽधिष्ठितः । उत्सर्जत् शरीरमुत्सृजन् । वागित्यनेनोत्क्रमणे परदेवतावागादीन्याकर्षतीत्युच्यते । अनेकेष्वाकृष्यमाणेषु सत्सु गन्धोपादानेऽभिप्रायमाह— **गन्धानिवेति** । गन्धवतः पुष्पाद्यवयवानित्यर्थः । ननु श्रोत्रमित्यादिना विषयभोगोऽस्योच्यते, न चेश्वरस्यासावस्ति, किन्तु जीवस्यैव; तत्कथमिदमीश्वरविषयं ? इत्यत आह— **भोग इति** । पुरस्तात् सप्तमे ॥ ८ ॥

७ **ह. पै. भा.**— **शरीरमिति** । शरीरं यदवाप्नोति प्राप्नोति, यच्चापि यदा च प्राप्त उत्क्रामति निर्गच्छतीश्वरः पुरस्वामी क्षेत्रज्ञस्तदैतानि वक्ष्यमाणानीन्द्रियाणि गृहीत्वा संयाति । वायुराशयाद्गन्धानिव ॥ ८ ॥

८ **वें. ब्र. गि.**— 'मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि कर्षति' [१५।७] इत्युक्तम्, तत्र कदा कर्षति ? इत्यत्राह— **शरीरमिति** । ईश्वरो देहेन्द्रियादिस्वामी जीवः यद्यदा प्रबोधे शरीरमवाप्नोतीति "सुषुप्तिकाले सकले विलीने" [कै. उ. १३] इति शरीरस्य सुषुप्तावसत्प्रायत्वात्सुप्तोत्थितस्य शरीरावाप्त्युक्तिः । यदा चोत्क्रामति अस्माच्छरीराद्बहिर्निर्गच्छति, तदा एतानि मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि गृहीत्वा संयाति गच्छति, यथा वायुः स्रक्चन्दनकस्तूरिकाद्याश्रयाद्गन्धान्गन्धात्मकान् सूक्ष्मानंशान् गृहीत्वा याति तद्वत् ॥ ८ ॥

९ **व० त० दी०**— शरीरं यदवाप्नोति । यस्माच्छरीरादुत्क्रामति तत्रायमिन्द्रियाणामीश्वरः एतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वा संयाति । यथा वायुः कस्तूरिकाद्याशयात्तत्स्थानात्सूक्ष्मावयवैः सह गन्धान् गृहीत्वाऽन्यत्र संयाति तद्वत् । एतदेव प्रपञ्चितं 'उत्क्रान्तिगत्या गतीनां स्वात्मना चोत्तरयोः' [ ब्र. सू. २।३।१ ] इति सूत्रेषु ॥ ८ ॥

१० **पु. अ. त.**— तदेव विस्तरेणाऽऽह— **शरीरमिति** । ईश्वरः मूलभूतो जीवो यत् यदा शरीरभोगार्थमवाप्नोति, च पुनः यदा भोगलमासौ उत्क्रामति तदा एतानि पूर्वोक्तानीन्द्रियाणि स्वभोगार्थकानि सूक्ष्माणि संस्कारात्मकानि गृहीत्वैव सम्यक् स्वांशजीवभावेन सह याति प्राप्नोति । तत्र दृष्टान्तमाह वायुः आशयात् पुष्पादितो गन्धान् सूक्ष्मांशानिव ॥ ८ ॥

११ **नीं० भा० दी०**— तथैतान्येव आशयात् स्वलयस्थानात् गृहीत्वा संयाति विषयदेशं प्रति गच्छति प्रबोधसर्गव्युत्थानकालेषु । तत्र दृष्टान्तः— वायुर्गन्धानिवाशयात् गन्धानिवाश्रयात् पुष्पात् ॥ ८ ॥

**श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च रसनं घ्राणमेव च ।**
**अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते ॥ ९ ॥**

१ शां. भा.— कानि पुनस्तानि ? इति— श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च त्वगिन्द्रियं, रसनं जिह्वा घ्राणमेव च मनश्च षष्ठं प्रत्येकमिन्द्रियेण सहाधिष्ठाय देहस्थो विषयान् शब्दादीनुपसेवते ॥ ९ ॥

२ आ. शां. व्या.— मनष्षष्ठानीन्द्रियाण्येव प्रश्नद्वारा विशेषतो दर्शयति— कानीति ॥ ९ ॥

३ रा. भा.— कानि पुनस्तानीन्द्रियाणि ? इत्यत्राह— श्रोत्रमिति । एतानि मनष्षष्ठानीन्द्रियाण्यधिष्ठाय स्वस्वविषयवृत्त्यनुगुणानि कृत्वा तान् शब्दादीन् विषयानुपसेवते उपभुङ्क्ते ॥ ९ ॥

४ वे. ता. चं.— ॥ ९ ॥

५ आ. मा. भा.— इन्द्रियद्वाराऽपि सोऽपि भुङ्क्ते । "तद्य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति" इति च श्रुतिः । गुणान्वितमेव भुङ्क्ते । "न ह वै देवान्पापं गच्छति" [बृ.उ.१।५।२०] इति श्रुतेः ॥ ९ ॥

६ ज. प्र. दी.— अस्तीश्वरस्य भोगः । किन्तु जीवेन्द्रियैर्नास्तीत्यतो जीवविषयमेतदित्यत आह— इन्द्रियेति । राजाद्यन्तर्गतं गायन्तीत्यनेन हि तच्छ्रोत्रेण गानभोगो लभ्यते। विषयभोगाङ्गीकारे दुष्टस्यापि भोगः स्यादित्यत उत्तरवाक्यगतं विशेषणमाश्रित्याह— गुणेति । गुणमेवेत्यर्थः । एतद्धृज्ञानस्य विशेषणमिति केचित्? तान्प्रत्याह— न ह वा इति ॥९॥

७ ह. पै. भा.— तानि अधिष्ठायाऽऽश्रित्य मनश्चायं क्षेत्रज्ञो विषयाञ्छब्दादीनुपसेवते उपलभते ॥ ९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किमर्थमेतानीन्द्रियाणि गृहीत्वा गच्छति ? तत्राह— श्रोत्रमिति । अयं जीवः श्रोत्रादीनि बाह्येन्द्रियाणि मनश्चान्तरिन्द्रियं चकारात्कर्मेन्द्रियाणि प्राणांश्चाधिष्ठाय विषयाञ्छब्दादीनुपसेवते भुङ्क्ते ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— तान्येवेन्द्रियाणि सेवते इति दर्शयन्यदर्थं गृहीत्वा गच्छति तदाह— श्रोत्रमिति स्पष्टम् । प्राकृताहङ्कारकार्यं स्वस्वविषयवृत्त्यनुगुणं कृत्वा तत्तच्छब्दादीन् विषयानुपभुङ्क्ते ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— किमर्थं गृहीत्वा गच्छति ? इत्यत आह— श्रोत्रमिति । श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि लौकिकस्थूलशरीरे स्थूलानि मनः अन्तःकरणं च अधिष्ठाय मुख्यरूपेण तत्र स्वयं स्थितिं कृत्वा अग्रे अलौकिकतदनुभवार्थं विषयान् उप स्वांशजीवसमीपे सेवते भोगं करोतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— कानि तानि मनष्षष्ठानि ? तानि गृहीत्वा गत्वा चायं किं करोति ? इत्यत आह— श्रोत्रमिति । अधिष्ठाय व्यापारवन्ति कृत्वा विषयान् शब्दादीनुपसेवते प्रकाशयति । यथा दीपः स्वस्य वृत्तिलाभाय तैलवर्त्याद्यपेक्षमाणोऽपि स्वविषयावभासने स्वयमेव प्रभुः, एवं जीवोऽपि घटाकारत्वलाभाय मनष्षष्ठानीन्द्रियाणि सूर्यादींश्चापेक्षते तथापि घटावभासं स्वयमेव करोति, नेतराणि इन्द्रियसूर्यादीनि स्वभास्यत्वात्तैलवर्त्यादिवदित्याशयः ॥ ९ ॥

**उत्क्रामन्तं स्थितं वाऽपि भुञ्जानं वा गुणान्वितम् ।**
**विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥ १० ॥**

१ शां. भा.— एवं देहगतं देहात्— उत्क्रामन्तं देहं पूर्वोपात्तं परित्यजन्तं स्थितं वाऽपि देहे तिष्ठन्तं भुञ्जानं वा शब्दादींश्चोपलभमानं गुणान्वितं सुखदुःखमोहाख्यैर्गुणैरन्वितमनुगतं, संयुक्तमित्यर्थः । एवम्भूतमप्येनं अत्यन्तदर्शनगोचरप्राप्तं विमूढा दृष्टादृष्टविषयभोगबलाकृष्टचेतस्तयाऽनेकधा मूढा नानुपश्यन्ति । अहो ! कष्टं वर्तत इत्यनुक्रोशति च भगवान् । ये तु पुनः प्रमाणजनितज्ञानचक्षुषस्त एनं पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः, विविक्तदृष्टय इत्यर्थः ॥ १० ॥

२ आ. शां. व्या.— 'शरीरं' [१५।८] इत्यादिश्लोके देहादात्मनोऽतिरेकमुक्त्वा 'श्रोत्रं चक्षुः' [१५।९] इत्यादौ स्वाभिलषिते विषये यथायथं करणानां प्रवर्तकत्वात्तेभ्योऽतिरिक्तश्चाऽऽत्मेत्युक्तं, तर्हि तमुत्क्रान्त्यादि कुर्वन्तं स्वरूपत्वात्रिकमिति सर्वे न पश्यन्ति? इत्याशङ्क्याऽऽह— एवमिति। सन्निहिततमत्वेन दर्शनयोग्यमपि विषयपारवश्यादात्मानं सर्वे न पश्यन्तीति भगवतोऽनुक्रोशं दर्शयति— एवम्भूतमिति । तर्हि केषामात्मदर्शनं ? तदाह— ये तु पुनरिति ॥ १० ॥

३ रा. भा.— एवं गुणान्वितं सत्त्वादिगुणमयप्रकृतिपरिणामविशेषमनुष्यत्वादिसंस्थानपिण्डसंसृष्टं पिण्डविशेषादुत्क्रामन्तं पिण्डविशेषेऽवस्थितं वा गुणमयान् विषयान् भुञ्जानं वा कदाचिदपि प्रकृतिपरिणामविशेषमनुष्यत्वादिपिण्डाद्विलक्षणं ज्ञानैकाकारं विमूढा नानुपश्यन्ति; विमूढाः मनुष्यत्वादिपिण्डात्माभिमानिनः। ज्ञानचक्षुषस्तु पिण्डात्मविवेकविषयज्ञानवन्तः सर्वावस्थमप्येनं विविक्ताकारमेव पश्यन्ति ॥ १० ॥

४ वे. ता. चं.— कर्मकलापनिगलितस्य कलेवरकारागृहेऽवस्थानं, तत्रोत्क्रमणप्रवेशादिक्लेशः, तत्रस्थस्य च विषमधुकल्पक्षुद्रतरविषयोपसेवा चोक्तानि । अथ तदुपरि तन्निदानभूतमात्मापहरणचौर्यमुपक्षिप्य योग्यानुपलम्भं च परिहरति— 'उत्क्रामन्तम्' इति श्लोकेन । गुणान्वितत्वमितरेषां हेतुरित्यभिप्रायेण पूर्वं तद्व्याख्या। उत्क्रमणादिकथनं सर्वावस्थोपलक्षणमित्यभिप्रायेण कदाचिदपीत्युक्तम्। 'अहम्' इति नित्यमुपलभ्यमाने सर्वेषां स्वात्मनि, भुञ्जानतादौ च स्वात्मसाक्षिके कथं केचिन्नानुपश्यन्ति? इत्युच्यत इत्यत्राह— मनुष्यत्वादिपिण्डाद्विलक्षण मिति । प्रकृतिपरिणामविशेषमनुष्यत्वादिविशिष्टपिण्डादित्यर्थः । ज्ञानैकाकारत्वोक्तिर्वैलक्षण्यप्रकाराणामुपलक्षणार्था । 'विमूढा नानुपश्यन्ति' इति भगवतः सानुक्रोशोक्तिः । यथावस्थितात्मदर्शनमूलं विमूढत्वं तद्विषयमेवेत्याह— मनुष्यत्वादिपिण्डात्माभिमानिन इति। नित्यस्वप्रकाशत्वाद्व्यतिरेकाय विविक्ताकारत्वोक्तिः ॥ १० ॥

५ आ. मा. भा.— तर्हि किमिति न दृश्यते ? इत्यत आह— उत्क्रामन्तमित्यादिना ॥ १० ॥

६ ज. प्र. दी.— उक्तमेव किमित्युच्यते ? इति मन्दाशङ्कानिरासार्थमुत्तरश्लोकद्वयस्य सङ्गतिमाह— तर्हीति । यदि जीवातिरिक्तो देहे नियामकः स्यादिति शेषः । उक्तानुवादेन विमूढत्वमनुपलम्भे कारणम् । न तदभाव इत्युच्यत इति भावः ॥ १० ॥

७ ह. पै. भा.— उत्क्रामन्तं शरीरादुद्गच्छन्तं स्थितं वाऽपि शरीरे, भुञ्जानं वा विषयानुपलभमानं, गुणान्वितं गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्बुद्ध्याद्याकारपरिणतैरन्वितं विमूढाः कार्यकरणसङ्घात आत्मत्वदर्शिनो नानुपश्यन्ति नोपलभन्ते । ज्ञानं चक्षुर्येषां ते ज्ञानचक्षुषः । ज्ञानचक्षुषो भूत्वा किं न पश्यन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं देहगतं दर्शनयोग्यमप्यात्मानमपश्यन्तः संसरन्तीत्यहो कष्टमिति सानुक्रोशमिवाह भगवान्— उत्क्रामन्तमिति । उत्क्रामन्तं देहाद्देहान्तरं गच्छन्तं तस्मिन्नेव देहे स्थितं वा विषयान्भुञ्जानं वा गुणैः सुखदुःखमोहात्मकैः सत्त्वरजस्तमोभिरन्वितं सर्वावस्थासु दर्शनयोग्यमप्येनं मूढा देहात्ममोहग्रस्ता नानुपश्यन्ति । ये तु ज्ञानचक्षुषः शास्त्राचार्योपदेशलब्धदेहात्मविवेकाः, त एव पश्यन्ति ॥ १० ॥

९ व० त० दी०—ननु तर्हि सङ्घाताद्भिन्नत एवम्भूतात्मानं किं न पश्यन्ति ? तत्राह— उत्क्रामन्तमिति। विमूढा नानुपश्यन्ति तमेनं सत्त्वादिगुणमयप्रकृतिपरिणामविशेषमनुष्यत्वादिसंस्थानपिण्डसंसृष्टं पिण्डविशेषादुत्क्रामन्तं पिण्डविशेषेऽवस्थितं वा गुणमयान् विषयान् भुञ्जानं वा तद्गुणसारान्वितं वा प्रकृतिमयमनुष्यत्वादिपिण्डात्माभिमानिनो न पश्यन्ति । ज्ञानचक्षुषस्तु पिण्डात्मविवेकविषयज्ञानदृष्टयस्तु सर्वावस्थमप्येनं विविक्ताकारमेव पश्यन्ति ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— एवम्भूतं कथं सर्वे न पश्यन्ति ? तत्राह— उत्क्रामन्तमिति। उत्क्रामन्तं भजनरसानुपयुक्तदेहाद् उपयुक्ताय गच्छन्तं वा विकल्पेन तादृगीक्षणेच्छया तत्रैव स्थितमपि वा भुञ्जानं तादृग्विषयरसानुभावकं गुणान्वितं तद्भोगपट्ठभिरिन्द्रियैर्युक्तं मुख्यजीवं विमूढाः सत्सङ्गाभावेन स्वोपभोगैकपराक्षिप्तदृशो नानुपश्यन्ति । तद्दृष्ट्वाऽपि स्वयं न पश्यन्ति । ज्ञानचक्षुषः सत्सङ्गलब्धस्वरूपाः पश्यन्ति ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— तमेवम्भूतं मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्राणं चाधिष्ठाय तेषामुत्क्रमणेनोत्क्रामन्तं तेषां स्थित्या स्थितं तेषां भोगेन भुञ्जानं तेषां सत्त्वरजस्तमोगुणयुक्तत्वेन गुणान्वितं घटसूर्यमिव घटाकाशमिव वा घटगमनादिना गमनादिमन्तं स्वतस्तूत्क्रमणादिशून्यमपि विमूढास्तात्त्विकरूपं नानुपश्यन्ति । ज्ञानचक्षुषस्तु पश्यन्ति । उपाधेरेवोत्क्रमणादिकं, न तूपहितस्यात्मन इति जानन्त्येवेत्यर्थः ॥ १० ॥

**यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।**
**यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.**— केचित्तु– यतन्तः प्रयत्नं कुर्वन्तो योगिनश्च समाहितचित्ता एनं प्रकृतमात्मानं पश्यन्ति 'अयमहमस्मि' इत्युपलभन्त आत्मनि स्वस्यां बुद्धाववस्थितम् । यतन्तोऽपि शास्त्रादिप्रमाणैरकृतात्मानोऽसंस्कृतात्मानस्तपसेन्द्रियजयेन च, दुश्चरितादनुपरताः, अशान्तदर्पात्मानः प्रयत्नं कुर्वन्तोऽपि नैनं पश्यन्त्यचेतसोऽविवेकिनः ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानचक्षुश्शब्देन न्यायानुगृहीतं शास्त्रं ज्ञानसाधनमुक्तं, तत्किमिदानीं शास्त्रमात्रेण न्यायानुगृहीतेनाऽऽत्मानं पश्यन्ति ? नेत्याह— **केचित्त्विति** । प्रयत्नः श्रवणमननात्मकः । शास्त्रादिप्रमाणैर्यतन्तोऽपीति सम्बन्धः । असंस्कृतात्मत्वं प्रकटयति— **तपसेति** । दुश्चरितादविरतिफलं कथयति— **अशान्तेति** । अशुद्धबुद्धीनामविवेकिनां सदपि श्रवणादि न फलवदिति मत्वाऽऽह — **प्रयत्नमिति** ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— मत्प्रपत्तिपूर्वकं कर्मयोगादिषु यतमानास्तैर्निर्मलान्तःकरणा योगिनो योगाख्येन चक्षुषा आत्मनि शरीरेऽवस्थितमपि शरीराद्विविक्तं स्वेन रूपेणावस्थितमेनं पश्यन्ति । यतमाना अप्यकृतात्मानः मत्प्रपत्तिविरहिणः तत एवासंस्कृतमनसः, तत एवाचेतसः आत्मावलोकनसमर्थचेतोरहिताः नैनं पश्यन्ति ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्त एवार्थः सहेतुकमुपपाद्यते— 'यतन्तः' इति श्लोकेन । 'यतन्तो योगिनः' इति पूर्वप्रपञ्चितमिह स्मारितमित्याह— **मत्प्रपत्तिपूर्वकमिति** । आत्मशब्दोऽत्रार्थान्तरानन्वयात्प्रस्तुतशरीरविषयः। तथा सत्यदर्शनशङ्काहेतुश्चानूदितो भवतीत्यभिप्रायेणाह— **शरीरेऽवस्थितमपीति** । यतमानानां कथमकृतात्मत्वं ? इत्यत्राह— **मत्प्रपत्तिविरहिण** इति । अत्रासंस्कृतमनस्त्वं शरणवरणाभावः । विद्यमानस्यापि चेतसः प्रकृतोपयोगाभावादसत्कल्पत्वमचेतश्शब्देन विवक्षितमित्याह— **आत्मावलोकनसमर्थचेतोरहिता** इति ॥ ११ ॥

**५ आ. मा. भा.**— यतन्तो ज्ञानं प्राप्य । अकृतात्मानोऽशुद्धबुद्धयः ॥ ११ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— यतन्तो योगिनश्चेति कारणान्तरमुच्यत इति प्रतीतिनिराकरणार्थमाह— **यतन्त** इति । आत्मा जीवश्चेत्सर्वदाऽकृत एव, शरीरं चेदसम्भव इत्यत आह— **अकृतेति** । आत्मा बुद्धिः, अकृतत्वं चाशुद्धत्वम् । केशान् करोतीत्यादौ शोधनेऽपि करोतेः प्रयोगादिति भावः ॥ ११ ॥

**७ ह. पै. भा.**— यतन्तो यमनियमादियोगानुष्ठानेन प्रयत्नं कुर्वाणा यतमाना योगिनः योगः सम्यग्ज्ञानं तत्र प्रवृत्ताः एनमात्मानं पश्यन्त्युपलभन्त आत्मनि शरीरे । यतन्तो योगानुष्ठाने प्रयतमाना अप्यकृतात्मानो अभ्यासवैराग्याभ्यामसंस्कृतान्तःकरणा नैनं पश्यन्त्यचेतसोऽविवेकिनः ॥ ११ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एतदेव विवृणोति— **यन्तत** इति । यतन्तो योगिनश्च– चोऽवधारणे– ध्यानादिभिः प्रयतमाना योगिन एव आत्मनि देहेऽवस्थितमेनं विविक्ततयाऽऽत्मानं पश्यन्ति । यतमाना अप्यकृतात्मानः कर्मभिरशुद्धान्तःकरणाः, अत एवाचेतसः आत्मदर्शनसाधनचेतोरहिता नैनं पश्यन्ति । तस्माच्छुद्धसत्त्वा एव निदिध्यासनेनात्मदर्शिनः ॥ ११ ॥

९ व० त० दी०— दुर्विज्ञेयश्चायं यतो विवेकिष्वपि केचित्पश्यन्ति केचिन्न पश्यन्तीत्याह–यतन्त इति । योगिनश्चित्तवृत्तिनिरोधकाः पश्यन्ति; अन्ये तु यतन्तोऽप्यकृतचित्ता नैनं पश्यन्ति अतएवाचेतसो मन्दमतयः ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त. — अथ चैनं भक्ता एव पश्यन्ति नान्य इत्याह- यतन्त इति । योगिनश्च योगिनोऽपि यतन्तः ज्ञानार्थं यत्नं कुर्वन्तः एनमात्मन्यवस्थितं अधिष्ठितं पश्यन्ति तथाभोगं कुर्वन्तमित्यर्थः। अकृतात्मानः सत्सङ्गादिभक्तत्वरहिताः, ज्ञानाभावेन केवलयोगादिना यतन्तोऽप्येनं न पश्यन्ति, यतोऽचेतसः मन्दमतयः चैतन्यरहिता इत्यर्थः ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०—यतन्तो यत्नशीला योगिनश्च एनं आत्मनि बुद्धाववस्थितं विमुमुत्क्रान्त्यादिहीनमसङ्गं पश्यन्ति । यतन्तोऽपि अकृतात्मानः ये यज्ञादिभिरशोधितचित्ताः एनं न पश्यन्ति, यतः अचेतसः अनिर्जितचित्ताः पाषाणतुल्या इत्यर्थः ॥ ११ ॥

ब्रह्मस्वरूपस्य भगवतः सर्वात्मकत्वं सर्वव्यवहारास्पदत्वं च ।

**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् ।**
**यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥ १२॥**
**गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।**
**पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ १३ ॥**
**अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः ।**
**प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ॥ १४ ॥**

**१ शां. भा.**— यत्पदं सर्वस्यावभासकमपि अग्न्यादित्यादिकं ज्योतिर्न विभासयते, यत्प्राप्ताश्च मुमुक्षवः पुनः संसाराभिमुखा न निवर्तन्ते, यस्य च पदस्योपाधिभेदमनु विधीयमाना जीवाः- घटाकाशादय इवाऽऽकाशस्यांशाः- तस्य पदस्य सर्वात्मत्वं सर्वव्यवहारास्पदत्वं च विवक्षुश्चतुर्भिः श्लोकैर्विभूतिसङ्क्षेपमाह भगवान्— **यदिति** । यदादित्यगतमादित्याश्रयं- किं तत् ? तेजो दीप्तिः प्रकाशो जगद्भासयते प्रकाशयत्यखिलं समस्तं; यच्चन्द्रमसि शशभृति तेजोऽवभासकं वर्तते, यच्चाग्नौ हुतवहे, तत्तेजो विद्धि विजानीहि मामकं मदीयं मम विष्णोस्तज्ज्योतिः । अथवा यदादित्यगतं तेजश्चैतन्यात्मकं ज्योतिः, यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ वर्तते तत्तेजो विद्धि मामकं मदीयं मम विष्णोस्तज्ज्योतिः । ननु स्थावरेषु जङ्गमेषु च तत्समानं चैतन्यात्मकं ज्योतिः, तत्र कथमिदं विशेषणं 'यदादित्यगतं' इत्यादि ? नैष दोषः, सत्त्वाधिक्याद्-(विस्तरत्वोपपत्तेः)धिक्योपपत्तेः । आदित्यादिषु हि सत्त्वमत्यन्तप्रकाशमत्यन्तभास्वरम्, अतस्तत्रैवाऽऽविस्तरं ज्योतिरिति तद्विशिष्यते; न तु तत्रैव तदधिकमिति । यथा हि लोके तुल्येऽपि मुखसंस्थाने न काष्ठकुड्यादौ मुखमाविर्भवति, आदर्शादौ तु स्वच्छे स्वच्छतरे च तारतम्येनाऽऽविर्भवति, तद्वत् ॥ १२ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— अनन्तरश्लोकचतुष्टयस्य वृत्तानुवादद्वारा तात्पर्यमाह— **यत्पदमिति** । जीवात्मत्वेन चिद्रूपत्वमुक्त्वा तदीयचैतन्येनाऽऽदित्यादीनामवभासकत्वाच्च ब्रह्मणश्चिद्रूपत्वमित्याह— **यदादित्येति** । चिद्रूपस्यैव ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वप्रतिपादकत्वेन श्लोकं व्याचष्टे— **यदित्यादिना** । आदित्यादौ तत्र तत्र स्थितं ब्रह्मचैतन्यज्योतिः सर्वावभासकमित्यर्थः। ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वेन चिद्रूपत्वमत्र विवक्षितमिति व्याख्यान्तरमाह— **अथवेति** । चैतन्यज्योतिषः सर्वत्राविशेषादादित्यादिगतत्वविशेषणमयुक्तमिति शङ्कते- **नन्विति** । सर्वत्र सत्त्वेऽपि क्वचिदेवाभिव्यक्तिविशेषाद्विशेषणमिति परिहरति— **नैष दोष इति** । तदेव प्रपञ्चयति— **आदित्यादिष्विति** । सर्वत्र चैतन्यज्योतिषस्तुल्यत्वेऽपि क्वचिदेवाभिव्यक्त्या विशेषणोपपत्तिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— **यथा हीति** ॥ १२ ॥

**१ शां. भा.**— किञ्च—गां पृथिवीमाविश्य प्रविश्य धारयामि भूतानि जगदहमोजसा बलेन; यद्बलं कामरागविवर्जितमैश्वरं रूपं जगद्विधारणाय पृथिव्यां प्रविष्टं येन गुर्वी पृथिवी नाधः पतति, न विदीर्यते च । तथा च मन्त्रवर्णः—" येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा " [ तै. सं. ४।१।८ ] "स दाधार

पृथिवीम् ” [ ऋक्सं. ८।७।३।१ ] इत्यादिश्च । अतो गामाविश्य च भूतानि चराचराणि धारयामीति युक्तमुक्तम् । किञ्च पृथिव्यां जाता ओषधीः सर्वा व्रीहियवाद्याः पुष्णामि पुष्टिमती रसस्वादुमतीश्च करोमि सोमो भूत्वा रसात्मकः । सोमः सर्वरसात्मको रसस्वभावः सर्वरसानामाकरः सोमः, स हि सर्वरसात्मकः सर्वा ओषधीः स्वात्मरसाननुप्रवेशेन पुष्णाति ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— इतश्च सर्वात्मत्वं प्रकृतपदस्य युक्तमित्याह— **किञ्चेति** । ईश्वरो हि पृथिवीदेवतारूपेण पृथिवीं प्रविश्य भूतशब्दितं जगदैश्वरेणैव बलेन बिभर्ति; ततो गुर्व्यपि पृथिवी विदीर्य नाधो निपततीत्यत्र प्रमाणमाह— **तथा चेति** । परस्यैव हिरण्यगर्भात्मनाऽवस्थानान्न मन्त्रयोरन्यपरतेति भावः । देवतात्मना द्यावापृथिव्योरुग्रत्वमुद्धरणसामर्थ्यं तथापीश्वरायत्तमेव स्वरूपधारणं, तदपेक्षया दुर्बलत्वादिति द्रष्टव्यम् । ईश्वरस्य सर्वात्मत्वे हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । रसात्मकसोमरूपतापत्तावपि कथमोषधीरीश्वरः सर्वाः पुष्णाति ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वेति** ॥ १३ ॥

१ शां. भा.— किञ्च— अहमेव वैश्वानर उदरस्थोऽग्निर्भूत्वा “ अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते ” [ बृ. उ. ५।९।१ ] इत्यादिश्रुतेर्वैश्वानरः सन्प्राणिनां प्राणवतां देहमाश्रितः प्रविष्टः प्राणापानसमायुक्तः प्राणापानाभ्यां समायुक्तः संयुक्तः पचामि पक्तिं करोमि अन्नमशनं चतुर्विधं चतुष्प्रकारं भोज्यं भक्ष्यं चोष्यं लेह्यं च ‘ भोक्ता वैश्वानरोऽग्निः, अग्नेर्भोज्यमन्नं सोमः, तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वं ’ इति पश्यतोऽन्नदोषलेपो न भवति ॥ १४ ॥

२ आ. शां. व्या.— भगवतः सर्वात्मत्वे हेत्वन्तरमाह— **किञ्चेति** । ‘ अहमेव ’ इत्यहंशब्देन परो लक्ष्यते । ‘ भूत्वा पचामि ’ इति सम्बन्धः । परस्यैव जाठरात्मना स्थितौ श्रुतिं प्रमाणयति— **अयमिति** । बाह्यं भौममग्निं व्यावर्तयति— **योऽयमिति** । देहान्तरारम्भकं तृतीयं भूतं व्यवच्छिनत्ति— **येनेति** । जाठरात्मना परः स्थितश्चेत्तस्य देहाश्रितत्वं सिद्धमिति न पृथग्वक्तव्यमित्याशङ्क्य “ पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद ” इति श्रुतिमाश्रित्याऽऽह— **प्रविष्ट** इति । परस्य जाठरात्मनोऽन्नपाके सहकारिकारणमाह— **प्राणेति** । संयुक्तत्वं सन्धुक्षितत्वम् । अन्नस्य चातुर्विध्यं प्रकटयति— **भोज्यमिति** । भोक्तरि वैश्वानरदृष्टिर्भोज्ये सोमदृष्टिरेवं भोक्तृभोज्यरूपं सर्वं जगदग्नीषोमात्मना भुक्तिकाले ध्यायतो भोक्तुरन्नकृतो दोषो नेति प्रासङ्गिकं सफलं ध्यानं दर्शयति— **भोक्तेति** ॥ १४ ॥

३ रा. भा.— एवं रविचन्द्राग्नीनामिन्द्रियसन्निकर्षविरोधिसन्तमसनिरसनमुखेनेन्द्रियानुग्राहकतया प्रकाशकानां ज्योतिष्मतामपि प्रकाशकज्ञानज्योतिरात्मा मुक्तावस्थो जीवावस्थश्च भगवद्विभूतिरित्युक्तम् ‘ तद्धाम परमं मम ’ [ १५।६ ] ‘ ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ’ [ १५।७ ] इति; इदानीमचित्परिणामविशेषभूतमादित्यादीनां ज्योतिष्मतां ज्योतिरपि भगवद्विभूतिरित्याह— यदेति । अखिलस्य जगतो भासकमेतेषामादित्यादीनां यत्तेजः, तन्मदीयं तेजः तैस्तैराराधितेन मया तेभ्यो दत्तमिति विद्धि ॥ १२ ॥

४ वे. ता. चं.— ‘ यदादित्यगतं तेजः ’ इत्यादेः पूर्वोत्तरासङ्गतिपरिहाराय सुखग्रहणाय चोक्तमर्थं निष्कृष्याह— **एवं रविचन्द्राग्नीना**मिति । आत्मज्योतिषो विभूतित्वोक्त्यनन्तरं तत्प्रकाशनासमर्थतया व्यवच्छेद्यत्वेन प्रसक्तानां प्राकृतज्योतिषामपि विभूतित्वोक्तिर्युक्तेत्युक्तं भवति अन्येषां तेजः कथमन्यस्य स्यात् ? अतोऽत्रादित्यादितादात्म्यं प्रतीयत इत्यत्राह— **तैस्तैराराधितेनेति** । श्रूयते हि “ येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः ” [ कठो. ३।९ ] “ यस्यादित्यो भामुपयुज्य भाति ” “ न तत्र सूर्यो भाति ” इत्युपक्रम्य “ तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ” [ कठो. ५।१५ ] इति । अतः सर्वं स्वत ईश्वरशेषभूतं सत् तत्तत्कर्मानुरूपात्तत्सङ्कल्पात् कियन्तं कालमन्येषामपि शेषत्वं भजत इति भावः । अत्र तेजश्शब्देन चैतन्यज्योतिर्विवक्षा ‘ जगद्भासयतेऽखिलम् ’ इत्यादिना न सङ्गच्छते; नह्यादित्यादिगतत्वेन चैतन्यमस्माकं घटादीन् प्रकाशयति । सर्वत्र चैतन्याविशेषेऽप्यादित्यादिषु सत्त्वाधिक्याद्दर्पणादिवदित्यप्यसारम्, तन्मते चैतन्यस्य व्यङ्ग्यत्वाद्यसम्भवादिति ज्योतिषां प्रकाशकत्वशक्तिः, स्वकीयेत्युक्तम् ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.— पृथिव्याश्च भूतधारिण्या धारकत्वशक्तिर्मदीयेत्याह— गामिति।** अहं पृथिवीमाविश्य सर्वाणि भूतान्योजसा ममाप्रतिहतसामर्थ्येन धारयामि पुष्णामीति। तथाऽऽहममृतरसमयः सोमो भूत्वा सर्वौषधीः पुष्णामि ॥ १३ ॥

**४ वे. ता. चं.—** एवमन्येषामपि सर्वेषां तत्तद्विशेषकार्यजननशक्तिः स्वकीयेति पृथिवीसोमवैश्वानराणां धारणाप्यायनपचनशक्तिभिरुपलक्ष्यते, अन्यथा स्वशक्तिमात्रकथने प्रकृतवैरूप्यादित्यभिप्रायेणाह **पृथिव्याश्च भूतधारिण्या धारकत्वशक्तिर्मदीयेति।** **सर्वाणीति—** चराणि स्थावराणि चेत्यर्थः। अन्ये हि पदार्थाः प्रतिघातिना संयोगेन धारयन्ति; अतस्तद्व्यवच्छेदार्थं 'ओजसा' इति स्वासाधारणशक्तिनिर्देशः। तदभावे पृथिव्या धारकत्वशक्तिः प्रतिहन्येतेत्यभिप्रायेणाह **ममाप्रतिहतसामर्थ्येनेति।** श्रूयते च "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" [यजुः. कां. १।८।५] "स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां" [ऋक्सं. ८।७।३।१] "येनेमे विधृते उभे। विष्णुना विधृते भूमी" "एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठतः" [बृ. उ. ३।८।९] इति। सोमत्वाकारोऽत्र रसात्मक इति विशेष्यते, तेन पोषणद्वारविवक्षामाह— **अमृतरसमयः सोमो भूत्वेति।** अत्र विशेषणशक्त्या रसैः पुष्णामीति गम्यते ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.—** अहं वैश्वानरः जाठरानलो भूत्वा सर्वेषां प्राणिनां देहमाश्रितः तैर्भुक्तं खाद्यचोष्यलेह्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं प्राणापानवृत्तिभेदसमायुक्तः पचामि ॥ १४ ॥

**४ वे. ता. चं.— जाठरानलो भूत्वेति** 'कोष्ठेऽग्निर्भुक्तमृच्छति' इति तेन ह्युक्तमिति भावः। ननु "त्रेधा विहितं वा इदमन्नमशनं पानं खादः" [१ ऐत. ३।४।३] इति वचनात्कथं चातुर्विध्यं? तत्राह— **खाद्यचोष्यलेह्यपेयात्मकमिति** आकारान्तरेण संग्रहादन्यत्र त्रेधोपदेश इति भावः। 'अपानप्राणयोर्मध्ये प्राणापानसमाहितः। समन्वितः समानेन सम्यक्पचति पावकः' इत्यादिष्वान्तरपवनवृत्तिसन्धुक्षितो ह्यग्निः पचनाय प्रभवतीत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाह **प्राणापानवृत्तिभेदसमायुक्त** इति ॥ १४ ॥

**५ आ. मा. भा.— पूर्वोक्तमेव ज्ञानं प्रपञ्चयति— यदादित्यगतमित्यादिना** ॥ १२ ॥ **गां** भूमिम् ॥ १३ ॥ १४ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ननु 'न तद्भासयते' [१५।६] इत्यादिना स्वरूपं कथितं तत्किमुत्तरेण? इत्यत आह— **पूर्वोक्तमेवेति।** 'अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि' [१५।२] इति यत्सर्वान्तर्यामिस्वरूपं विज्ञानमुक्तं, यच्चोर्ध्वशब्देन सर्वोत्तमत्वं तदध्यायशेषेण प्रपञ्चयतीत्यर्थः ॥ १२ ॥ धेनोरावेशो न भूतधारणे कारणमित्यत आह— **गामिति** ॥ १३ ॥ १४ ॥

**७ ह. पै. भा.—** अतो यतमाना अज्ञानचक्षुषो नैनं पश्यन्त्यपि। अहमात्माऽनेकयत्नात्मसंस्कारसाध्यत्वाद्दुर्विज्ञेयस्तत्रापि सकललोकप्रसिद्धोऽहमित्याह— **यदेति।** यदादित्यगतं तेजः प्रकाशोऽखिलं जगद्भासयते, यच्चन्द्रमसि तेजो यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्। तथाच श्रुतिः—"येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" [तै.आ. ३।१२।९] "तदहं ज्योतिः" इति ॥ १२ ॥ किं चान्यत्– **गां** पृथिवीमाविश्य भूतानि स्थावरजङ्गमात्मकानि धारयामि बिभर्मि। अहमात्मा। ओजसा बलेन। किञ्चान्यत्। पुष्णामि सरसाः करोमि। रसात्मको रसाधारभूतः ॥ १३ ॥ किञ्च— **अहमिति।** वैश्वानरो भूत्वौदर्योऽग्निर्भूत्वा प्राणश्चापानश्च प्राणापानौ ताभ्यां समायुक्तः सन्धुक्षितः। चतुर्विधमशितं खादितं पीतं लीढम् ॥ १४ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** तदेवम् 'ऊर्ध्वमूलम्' [१५।१] इत्यादिना संसारस्वरूपं भक्तिज्ञानवैराग्यैश्छिन्नसंसारस्य 'गच्छन्त्यमूढाः पदम्' [१५।५] इति ब्रह्मप्राप्तिं चोक्त्वा 'ममैवांशः,' [१५।७] इत्यादिना ब्रह्मभावापत्तिरूपैव ब्रह्मप्राप्तिरिति दर्शितम्। इदानीं ब्रह्मस्वरूपपर्यालोचनयाऽपि ब्रह्मैक्यमेव ब्रह्मप्राप्तिरिति दर्शयितुं ब्रह्मस्वरूपमाह चतुर्भिः। तत्र त्रिभिः स्वविभूतिसङ्क्षेपं दर्शयति— **यदेति।** आदित्यादिषु स्थितं यत्तेजो जगद्भासयते तत्सर्वं तेजो मामकमेव विद्धि। किं चाहमेव गां पृथिवीं धूलिमुष्टिरूपामाविश्य निजेन बलेन चराचराणि भूतानि धारयामि; अन्यथा सिकतामुष्टिवद्विशीर्येत, अधो वा निपतेत्; तथा च श्रुतिः— "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः" [तै. सं. ४।१।८] इति। किञ्चाहमेवा-

मृतरसमयः सोमो भूत्वा व्रीह्याद्योषधीः संवर्धयामि । किञ्चाहमेव वैश्वानरो जाठराग्निर्भूत्वा "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः-पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते" [ बृ. उ. ५।९।१ ] इति श्रुतेः, प्राणिनां देहमाश्रितः प्रविष्टः सन् प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां सन्धुक्षितश्च सन् प्राणिभिर्भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं चेति चतुर्विधमन्नं पचामि । तत्र यद्दन्तैरवखण्ड्य भक्ष्यते ऽपूपादि, तद्भक्ष्यम् । यत्तु केवलं जिह्वयाऽऽलोड्य निगीर्यते सूपौदनपायसादि, तद्भोज्यम् । यज्जिह्वायां निःक्षिप्य रसास्वादनेन निगीर्यते द्रवीभूतं फलरसायनादि, तल्लेह्यम् । यत्तु दन्तैर्विखण्ड्य सारांशं निगीर्यावशिष्टं त्यज्यते इक्षुदण्डादि, तच्चोष्यमिति भेदः । भोक्ता वैश्वानरोऽग्निः, भोज्यमन्नं सोमः, तदेतदुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति ध्यायतो नान्नदोषलेपोऽस्तीति (शं.) भगवत्पादैरत्रोपदिष्टम् ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— तदेवं सूर्यादीनां इन्द्रियसन्निकर्षविरोधिसन्तमसनिरसनमुखेनेन्द्रियानुग्राहकतया प्रकाशकानां ज्योतिष्मतामपि प्रकाशनिरपेक्षं सदानन्दचिद्रूपधामाक्षरः कालः प्रकृत्यध्यक्षः पुरुषश्चात्मा केवलचिद्रूपः जीवावस्थश्च भगवतो मे विभूतिरंश इत्युक्तम्; इदानीमचित्परिणामविशेषोऽप्यादित्यादीनां पूर्वोक्तानां ज्योतिरादिर्मद्विभूतिरिति श्रौतार्थमाह— यदित्यादिचतुर्भिः । आदित्यादिषु ममैवांशो तेजो यथा जीवलोके जीवभूत इति ब्रह्मवादेनाह । अंशभूतं तेजो विद्धि यत्तु "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहं" [ मैत्र्यु. ६।३५ ] इति श्रुतं, तत्तूपासनाभिप्रायेणाधिदैवतम् । एवं चन्द्रमस्यपि "यदेष औषधीनामधिपतिः" [ ] इति । आधिदैविकतया तैराराधिते वा मया तेभ्यो दत्तमिति च श्रूयते ॥ १२ ॥ किञ्च सूर्यादिष्विव भूम्यादिष्वपि या धारणपोषणपाचनशक्तिः साऽपि मदीयेत्याह— गामिति । ओजसा भुवमाविश्य भूतानि धारयामि; तत्र धारणशक्तिर्मदंशतेजोभूता । पोषणशक्तिमाह— सोम एव पुष्णामीति रसात्मकोऽमृतमयः सोमो भूत्वौषधीः व्रीह्याद्याः पुष्णामि । इदं च सोमोत्पत्तौ निरूपितम् ॥ १३ ॥ किञ्च अहं वैश्वानर इति । 'वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात्' [ ब्र. सू. १।२।२४ ] इति सूत्रेषु श्रौतपदनिदर्शनार्थमुक्तम् । स्वस्यैव व्यापकतानिर्देशेन च नामरूपात्मतामाह— वैश्वानरो वागधिपतिर्जाठरोऽहं, तत्र कार्यमाह पचामीति । तैर्भुक्तं भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयात्मकं चतुर्विधमन्नं प्राणापाननिर्दिष्टव्यक्तिभेदसंयुक्तः पचामि । अत्र परमपुरुषविभूतिरूपाः सूर्यसोमवैश्वानरोऽहं रविः सोमोऽन्तर्वैश्वानरो भूत्वेति सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टाः ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— ननु योगादीनां जडत्वेन दर्शनासाधकत्वमास्तां, परं सूर्यादीनां तेजस्त्वात्तदाराधनादिना दर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— यदिति । आदित्यगतं यत्तेजो जगदखिलं भासयते प्रकाशयति, यच्चन्द्रमसि तेजो जगदाप्यायनादिना भासयते, यच्चाग्नौ हुतादिना तोषजननेन हृदयं प्रकाशयति, तत् तेजो मामकं विद्धि जानीहि । स्वतेजस्त्वोक्त्या स्वेच्छां विना तेषामसाधकत्वं ज्ञापितम् । एतेन मत्क्रीडनेच्छया तद्रूपो भूत्वा जगत्प्रकाशयतीति भावो बोधितः ॥ १२ ॥

एवमेव सर्वरूपो भूत्वा सर्वं करोमीत्याह— गामाविश्येति । गां पृथ्वीं ओजसा बलेन आविश्य अहं भूतानि धारयामि । अहमेव सोमः अमृतमयरसात्मको रसमयो भूत्वा औषधीः सर्वा व्रीह्यादिकाः भूतानां पृथ्वीरूपेण धृतानां रसपोषार्थं पुष्णामि पुष्टाः करोमि वर्धयामीत्यर्थः ॥ १३ ॥

ततस्तेषां पोषार्थमेव तद्भक्षितमन्नं पचामीत्याह— अहमिति । अहं वैश्वानरो जाठराग्निरूपो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितोऽन्तःप्रविष्टः सन् प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां युक्तश्चतुर्विधमन्नं भुक्तं भक्ष्यं भोज्यं लेह्यं चोष्यं पचामि ॥ १४ ॥

११ नी० भा० दी०— कथं तर्हि सूर्यादीनामपि भासकत्वं लोके दृश्यते ? तदपि मदावेशादेवेत्याह— यदादित्येति । अत्राप्यादित्यादिपदैः करणाधिष्ठात्र्यो देवतास्तदधिष्ठेयानि करणानि च तन्त्रेणैव गृह्यन्ते । यदादित्यादिषु बाह्यकारणाधिष्ठातृषु तत्तदधिष्ठेयेषु बाह्यकरणेषु च गतं विद्यमानं तेजो विषयप्रकाशनसामर्थ्यं सर्वं जगद्भासयते मामकं तत्तेजो मदीयं विद्धि । "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" [तै. ब्रा. ३।१२।९] "येन चक्षूंषि पश्यन्ति" [ केनो. १।६ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः । एवं मनश्चन्द्रमसोर्यदान्तरप्रपञ्चप्रकाशनसामर्थ्यं तदपि मामकमेव । तथा यद्वागग्न्योरव्याकृतादिविषयप्रकाशनसामर्थ्यं तदपि मामकमेवेत्यर्थः । अक्षरयोजना स्पष्टा ॥ १२ ॥ न केवलमादित्यादिगतप्रकाशनसामर्थ्यं मामकं, अपितु पृथिव्यादिगतं भूतधारणव्यापनसामर्थ्यमपि मदीयमेवेत्याह— गामिति । गां पृथिवीमाविश्य तां पृथिवीं दृढां कृत्वा भूतान्यहमेव धारयामि ओजसा बलेन, अन्यथा पृथिवी सिकतामुष्टिवद्विशीर्येत । तथा च मन्त्रवर्णः— "येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" [ तै. सं. ४।१।८ ] इति । "स दाधार पृथिवीम्" [ ऋक्सं.८।७।३।१] इति च । तथाऽहमेव सोमो रसात्मको जलात्मकः । "रसो जलं रसो हर्षः"

इत्यनेकार्थमञ्जरी। जलमयो भूत्वा सर्वा ओषधीः पुष्णामि च रसवतीः पुष्टाश्च करोमि। सोमो हि स्वात्मरसानुप्रवेशेन सर्वा ओषधीः पुष्णातीति प्रसिद्धम्॥ १३॥ अहं वैश्वानरसंज्ञ उदरस्थोऽग्निर्भूत्वा प्राणिनां सर्वेषां देहमाश्रितः सन् प्राणापानाभ्यां वायुभ्यां समायुक्तः समुद्दीपितश्चतुर्विधमन्नमदनीयम्। भक्ष्यं दन्तव्यापारापेक्षमपूपादि। भोज्यं तदनपेक्षं पायसादि। लेह्यं गुडशर्करादि। चोष्यं निश्चोष्य त्यज्यमानमिक्षुदण्डादि। एतेन सर्वत्र सर्वा शक्तिर्या दृश्यते सा मदीयैवेति भावः। तदेवं भोक्ता वैश्वानरोऽग्निर्भोज्यमन्नं सोमस्तदेवमुभयमग्नीषोमौ सर्वमिति पश्यतोऽन्नदोषलेपो न भवतीत्यपि द्रष्टव्यम्॥ १४॥

**सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।**
**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥ १५॥**

**१ शां. भा.**—किञ्च—सर्वस्य प्राणिजातस्याहमात्मा सन्हृदि बुद्धौ सन्निविष्टः, अतो मत्त आत्मनः सर्वप्राणिनां स्मृतिर्ज्ञानं तदपोहनं च। येषां यथा पुण्यकर्मिणां पुण्यकर्मानुरोधेन ज्ञानस्मृती भवतः, तथा पापकर्मिणां पापकर्मानुरूपेण श्रुतिज्ञानयोरपोहनं चापायनमपगमनं च। वेदैश्च सर्वैरहमेव परमात्मा वेद्यो वेदितव्यः; वेदान्तकृद्वेदान्तार्थसम्प्रदायकृदित्यर्थः। वेदविद्वेदार्थविदेव चाहम्॥ १५॥

**२ आ. शां. व्या.**—इतश्च सर्वात्मत्वेन सर्वव्यवहारास्पदत्वमीश्वरस्येत्याह—**किञ्चे**ति। प्राणिजातं ब्रह्मादिपुत्तिकान्तम्। आत्मतया बुद्धौ सन्निविष्टत्वं तद्गुणदोषाणामशेषेण द्रष्टृत्वम्। अतो बुद्धिमध्यस्थस्य गुणदोषद्रष्टृत्वादिति यावत्। मत्तः सर्वकर्माध्यक्षाज्जगद्यन्त्रसूत्रधारादित्यर्थः। प्राणिनां स्मृतिज्ञानयोस्तदुपायस्य च भगवदधीनत्वे भगवतो वैषम्यं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—**येषामि**ति। स्मृतिर्जन्मान्तरादावनुभूतस्य परामर्शः। देशकालस्वभावविप्रकृष्टस्यापि ज्ञानमनुभवः। धर्माधर्माभ्यां विचित्रं कुर्वतो नेश्वरस्य वैषम्यमिति भावः। वेदवेद्यं परं ब्रह्म भगवतोऽन्यदिति शङ्कां वारयति—**वेदैरि**ति। वेदान्तानां पौरुषेयत्वं परिहरति—**वेदे**ति। तदर्थसम्प्रदायप्रवर्तकत्वार्थं तदर्थयाथातथ्यज्ञानवत्त्वमाह—**वेदार्थे**ति॥ १५॥

**३ रा. भा.**—अत्र परमपुरुषविभूतिभूतौ सोमवैश्वानरौ 'अहं सोमो भूत्वा' 'वैश्वानरो भूत्वा' इति तत्सामानाधिकरण्येन निर्दिष्टौ; तयोश्च सर्वस्य भूतजातस्य परमपुरुषसामानाधिकरण्यनिर्देशहेतुमाह—**सर्वस्येति**। तयोः सोमवैश्वानरयोः सर्वस्य च भूतजातस्य सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिमूलज्ञानोदयदेशे हृदि सर्वं मत्सङ्कल्पेन नियच्छन् अहमात्मतया सन्निविष्टः।

**४ वे. ता. चं.**—एक एव हि वायुः शारीरोऽनेकवृत्तिरिति 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' [ब्र. सू. २।४।१२] इति सूत्रभाष्येण "प्राणोऽपानो व्यान उदानः समान इत्येतत्सर्वं प्राण एव" [बृ. उ. १।५।३] इति श्रुत्योपपादितम्। 'सर्वस्य चाहम्' इति श्लोकस्यासाङ्गत्यशङ्कापरिहारायोक्तसामानाधिकरण्यहेतुपरत्वेन सङ्गतिमाह **अत्र परमपुरुषविभूतिभूतावि**त्यादिना। चशब्द उक्तसमुच्चयार्थ इत्यभिप्रेत्य उक्तार्थमाह **तयोः सोमवैश्वानरयोरि**ति। 'सर्वस्य' इत्यस्य 'हृदि' इत्येतत्समभिव्याहारसामर्थ्यलब्धार्थमाह—**सर्वस्य च भूतजातस्ये**ति। 'हृदि' इति निर्देशस्य प्रयोजनं सूचयितुं तत्स्वभावमाह **सकलप्रवृत्ती**ति। आकाशवन्निविष्टत्वव्यवच्छेदायाह—**आत्मतया सन्निविष्ट** इति। आत्मत्वोपपादनायोक्तं **सर्वं मत्सङ्कल्पेन नियच्छन्नि**ति।

**३ रा. भा.**—तथाऽऽहुः श्रुतयः—"अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" [चित्त्यु. ११।२+तै.आ. ३।११] "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" [बृ. उ. ३।७।३+श.प. १४।५।३०] "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमयति" [बृ. उ. ३।७।२२] "पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्" [तै. ना. ११] "अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म" [छां. उ. ८।१।१] इत्याद्याः। स्मृतयश्च—'शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो जगन्मयः' [वि. पु. १।१७।२०] 'प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसम-(णोरपि) णीयसाम्' [मनुः १२।१२२] 'यमो वैवस्वतो राजा (देवो) यस्तवैष हृदि स्थितः' [मनुः ८।९२] इत्याद्याः। अतो मत्त एव सर्वेषां स्मृतिर्जायते; स्मृतिः पूर्वानुभूतविषयमनुभवसंस्कारमात्रजं ज्ञानम्।

ज्ञानं इन्द्रियलिङ्गागमयोगजो वस्तुनिश्चयः; सोऽपि मत्तः अपोहनं च, अपोहनम् ज्ञाननिवृत्तिः, अपोहनम् ऊहनं वा, ऊहनमूहः; ऊहो नामेदं प्रमाणमित्थं प्रवर्तितुमर्हतीति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयं सामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहकं ज्ञानम्; स चोहो मत्त एव ।

**४ वे. ता. चं.— तथाहुरिति** । नियमनार्थमन्तःप्रविष्टत्वेनात्मत्वेन चेममाहुरित्यर्थः । प्रथमपादोक्तार्थो द्वितीयपादेनोच्यमानार्थे हेतुरित्याह **अत** इति । **सर्वेषां जायत** इति चार्थसिद्धकथनम् । श्रुत्युपबृंहणस्मृतिभ्रमव्युदासायाह **स्मृतिरिति** । बाह्यविषयानन्वितत्वमतव्युदासायोक्तं **पूर्वानुभूतविषयमिति** । प्रत्यभिज्ञानप्रत्यक्षव्यावृत्त्यर्थं **मात्रपदम्** । गोबलीवर्दन्यायमभिप्रेत्य ज्ञानपदं व्याचष्टे— **इन्द्रियलिङ्गेति** । ‘अपोढदोषः’ इत्यादिप्रयोगानुसारेणापोहनशब्दस्य निवृत्तिपरत्वम्, निवृत्तेः प्रतियोगिसाकाङ्क्षत्वेन प्रकृतज्ञानप्रतियोगिकत्वं चाभिप्रेत्याह **अपोहनं ज्ञाननिवृत्तिरिति** । पूर्वम् ‘अप परी वर्जने’ [ अष्टा. १।४।८८ ] इत्यपेत्यस्य वर्जनद्योतकत्वमभिप्रेत्य व्याख्यातम्; इदानीं तदविवक्षया ‘अध्याहारस्तर्क ऊहः’ [ अमरः १।५।३ ] इति कोशानुसारेण ज्ञानपदोक्तप्रमाणज्ञानानुग्राहकतर्कपरत्वमुचितमित्यभिप्रायेण व्याचष्टे **अपोहनमूहनं वेति** । ऊहनशब्दश्च भावे ल्युडन्त इत्याशयेनाह **ऊहनमूह** इति । **इत्थं प्रवर्तितुमर्हतीति**— चाक्षुषप्रमा रूपिरूपतदेकाश्रययोग्यचक्षुस्सम्बन्धविषये प्रवर्तितुमर्हतीत्येवमादिरूपप्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयमित्यर्थः ।

**३ रा. भा.— वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**; अतोऽग्निसूर्यवायुसोमेन्द्रादीनां मदन्तर्यामिकत्वेन मदात्मकत्वात्तत्प्रतिपादनपरैरपि सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्यः । देवमनुष्यादिशब्दैर्जीवात्मेव । वेदान्तकृत् वेदानाम् “इन्द्रं यजेत” [ श. ब्रा. ५।१।६ ] “वरुणं यजेत” [ श. ब्रा. २।३।३७ ] इत्येवमादीनामन्तःफलम् । फले हि ते सर्वे वेदाः पर्यवस्यन्ति; अन्तकृत्—फलकृत् वेदोदितफलस्य प्रदाता चाहमेवेत्यर्थः । तदुक्तं पूर्वमेव—‘यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति’ [ ७।२१ ] इत्यारभ्य ‘लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान् [ ७।२२ ] इति, ‘अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च’ [ ९।२४ ] इति च; वेदविदेव चाहं वेदविच्चाहमेव । एवं मदभिधायिनं वेदमहमेव वेद, इतोऽन्यथा यो वेदार्थं ब्रूते न स वेदविदित्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.**—‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः’ इत्युक्तसर्वान्तरात्मत्वस्य ‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः’ इत्यत्रापि हेतुत्वमाह— **अत** इति । **सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्य** इति— ‘नारायणं महाज्ञेयं वचसां वाच्यमुत्तमम्’ इत्युक्तप्रधानवेद्योऽहमेवेत्यर्थः । शरीरवाचिशब्दैरात्मन एव प्रधानवेद्यत्वे दृष्टान्तमाह— **देवमनुष्यादीति** । ‘चत्वारः पञ्चदशरात्रा देवत्वं गच्छन्ति’ ‘वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम् । शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः’ [ मनुः १२।९ ] इत्याद्यनन्यथासिद्धवैदिकलौकिकप्रयोगान्मनुष्यादिशब्दानामात्मपर्यन्तत्वं मुख्यमेवेति भावः । वेदान्तशब्दस्योपनिषत्परत्वे वेदनाशपरत्वे प्रकृतासङ्गत्यानुपपत्त्या चान्तशब्दस्य चरमवाचित्वमभिप्रेत्य व्याचष्टे— **वेदानामिति** । **इन्द्रं यजेतेति**—‘इन्द्रं यजेत वरुणं यजेत’ इत्येवमर्थवाक्यानामित्यर्थः । “ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम्” [यजुः२।५।४।१] ‘ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्’ ‘तावतो वारुणांश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्’ [ यजुः २।३।१२।१ ] इत्यादीनामिति यावत् । अन्तशब्दस्य कथं फलपरत्वं ? इत्यतस्तदुपपादयति **फले हीति** । ‘अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च’ [ ९।२४ ] इतिवत् । ‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः’ इत्यनेन फलितसर्वकर्मसमाराध्यत्वानन्तरं तत्फलप्रदत्वोक्तिस्तैरेव सङ्गतेति सूचयन्फलितमर्थं ससंवादमाह— **वेदोदितफलस्येत्यादिना** । एवकारस्य यथाश्रुतान्वये अयोगव्यवच्छेदार्थत्वं स्यात्; तच्चायुक्तम्, भगवति वेदवित्त्वायोगस्यायुक्तेः; अतो विशेष्यान्वयमाह— **वेदविच्चाहमेवेति** । ‘ये च वेदविदो विप्राः’ [ म. भा. ३।६६।२६ ] इति भगवदतिरिक्तानामपि वेदवित्त्वप्रतीतेः । **अहमेवेति** कथमितरयोगव्यवच्छेदः ? इत्यतस्तदभिप्रायमाह— **एवं मदभिधायिनमिति** ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.— वेदनिर्णयात्मिका मीमांसा वेदान्ताः** । तथा च सामवेदे प्राचीनशालाश्रुतिः— “स वेदान्तकृत्स कालकः” इति “स ह्येव युक्तिसूत्रकृत्स कालकः” ॥ १५ ॥

६ ज. प्र. दी.— वेदान्तकृदित्युपनिषदां कर्तृत्वमन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— वेदेति । वेदो वेदार्थः तस्यान्तो निर्णयस्तदात्मिका । तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यं मीमांसा ब्राह्मी तस्याः कर्तेति शेषः । कुत एतत्? इत्यत आह— तथा चेति । युक्तिसूत्रकृद्वेदार्थनिर्णयार्थयुक्तिसूचकवाक्यकृत् । स कालक इति द्वितीयेन कलधातोर्ज्ञानार्थतया प्रसिद्धत्वान्निगदव्याख्यानमेतदित्याचष्टे ॥ १५ ॥

७ ह. पै. भा.— किं विशिष्याभिधीयते? सर्वस्येति । सर्वस्य प्राणिजातस्य हृदि हृत्पुण्डरीके सन्निविष्टः । अपोहनं हेयबुद्धिस्तस्योपलक्षणार्थत्वेनोपादेयबुद्धिश्च । वेदान्तकृन्निश्चयकृत् । तथा च श्रुतिः—"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" [ श्वेता. ६।१८ ] इति । प्रहिणोति ददाति, उपदिशतीत्यर्थः । वेदं वेत्तीति वेदवित्, वेदार्थविदित्यर्थः । तस्मादहं सर्वलोकप्रसिद्धः ॥ १५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं विभूतिसङ्क्षेपोक्त्या स्वस्य परिच्छिन्नत्वं निरस्येदानीं सर्वात्मकत्वमुपदिशति— सर्वस्येति । सर्वस्य ब्रह्मादिस्थावरान्तस्य प्राणिजातस्य अहमात्मा सन् हृदि बुद्धौ सन्निविष्टः, "स एष इह प्रविष्ट आ नखाग्रेभ्यः" [ बृ. उ. १।४।७ ] "अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" [ छां. उ. ६।३।२ ] "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" [ तै. उ. २।६ ] इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतो मत्त आत्मन एव हेतोः प्राणिजातस्य स्मृतिः पूर्वानुभूतविषयकज्ञानरूपा, ज्ञानं विषयेन्द्रियसंयोगजमनुभवरूपम्, अपोहनं स्मृतिज्ञानयोरपायश्च भवति । यस्मादेवमहं सर्वात्मकस्तस्मादिन्द्राग्न्यादिरूपः सर्वदेवतात्मकोऽहमेव तत्तत्प्रतिपादकैरपि सर्वैश्च वेदैर्वेद्यः । श्रूयते हि— "इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" [ऋक्सं. २।३।२२।६ ] "एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति" [ ऋक्सं. "यो देवानां नामधा एक एव" [ ऋक्सं. ८।३।१७।३ ] इत्यादिरिति भावः । वेदान्तकृत् वेदान्तार्थसम्प्रदायप्रवर्तकस्तत्त्वज्ञानगुरुरहमेव ! वेदविच्चाहमेव । अतो मदुपदिष्टार्थोऽयं विश्वसनीयः । यः पुनरतोऽन्यथोपदिशति न स गुरुः, न च वेदार्थविदित्यर्थः ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— तेषां च सर्वभूतजातस्य परमपुरुषसामानाधिकरण्यनिर्देशे हेतुमाह— सर्वस्येति । तेषां च सर्वभूतजातस्य चेति । सर्वस्य सकलप्रवृत्तिहेतुज्ञानोदयदेशे हृदि सर्वं स्वसङ्कल्पेन नियच्छन्नहमात्मतया सन्निविष्टः "अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" [ चित्यु. ११।२ + तै. आ. ३।११] "यः पृथिव्यां तिष्ठन्" [ बृ. उ. ३।७।३ ] "य आत्मनि तिष्ठन्" [ श. प. ब्रा. १४।६ ] इत्यादिश्रुतेः । अतो मत्तः सर्वेषां स्मृतिः पूर्वानुभूतविषयसंस्कारमात्रजं ज्ञानं, ज्ञानमिन्द्रियलिङ्गागमयोगजो वस्तुनिश्चयः, सोऽपि मत्तः; अपोहनं तयोः प्रमोषश्च मत्तः, ब्रह्मवादे स्वत एव सर्वसत्त्वात् । अपोहनमज्ञाननिवृत्तिरिति केचित् । यद्वा अपकृष्टमूहनं इदं प्रमाणमित्थं प्रवर्तितुमर्हतीति प्रमाणप्रवृत्त्यर्हताविषयसामग्र्यादिनिरूपणजन्यं प्रमाणानुग्राहकं ज्ञानम्, तत्रापि मत्त एव । यतो वेदैश्च सर्वैरहमेव सर्वात्मना वेद्यः । ब्रह्मवादेऽग्निसोमसूर्यवाय्विन्द्रादीनां मदन्तर्यामिकत्वेन मद्रूपत्वात्तत्प्रतिपादनपरोऽपि वेदो मामेवाह सर्वम् ।

न च वेदान्तभूतैरुपनिषद्भिरेक एव प्रतिपाद्यते सर्वापवादमुखेनेति वाच्यम्, सर्वापवादमुखेन प्रतिपादनस्य जीवकल्पितत्वात् । न हि वेदान्तं सर्ववेदनिर्णयसिद्धान्तं मत्तोऽन्यः कोऽपि जानाति, मयैव कृष्णद्वैपायनात्मना ब्रह्मवादानुसारेण जीवकल्पिताध्यारोपवादनिरसनद्वारा तत्त्वनिश्चयादित्यर्थः । किमध्यारोपणमपोहनं च जीवकल्पितं ? न वा ? इति विचारणीयम् । अन्त्ये श्रुतिविरोधः, आद्ये इष्टापत्तिः, भगवत्कृतत्वे जगतः अलीकत्वस्यावचनीयत्वात् । विपरीतकल्पना च जीवकृतेति सिद्धान्तः,यत्तु माययैवेत्युच्यते तत्तु ब्रह्मवादे मायाऽपि न ततोऽन्यत्तत्त्वमिति समाधेयम्,सूत्रभाष्ये मायायाः पृथक्तया निरासनात् । 'आनुमानिकमप्येकेषामिति चेत्'[ब्र.सू. १।४।१ ] इत्यादौ । तत्र चाव्यक्तस्यैवाक्षर इति नामोक्तम् । ब्रह्मवादे क्षरोऽक्षरस्तदतीत इत्येव स्वयं रमते स एव च सर्वशक्तिमान् स्वाज्ञाकारिणीं स्वतः पृथग्भाविताः स्वीयमायां स्वभावकर्मसंज्ञां वा सदंशभूतां चिदंशभूतेषु क्षरेषु संयोजयति रमणार्थं, तदा प्रवाहः सिद्ध्यति अक्षरात्मत्वज्ञानतत्साधनशक्त्युदयनद्वारा रमणार्थं मर्यादा केवलं क्षराक्षरातीतस्वरूपप्रपञ्चेन रमणार्थं सृष्टेषु स्वप्रतिबिम्बभूतेषु तु भक्त्यात्मसु स नित्यं रममाण एवात्माराम इति पुष्टिरिति 'वेदान्तकृद्वेदार्थविदेव चाहं, नान्यः' इत्युक्त्या मत्त एव सर्ववेदान्तानां सारमर्थं शृण्विति पूर्वोक्तस्य सर्वस्य भाष्यमाभाष्यते भगवता भाष्यरूपत्वादस्याध्यायषट्कस्य ॥ १५ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं प्राणिमात्रस्य भगवद्रूपाग्निपाचितान्नपोषात् केषाञ्चिद्भगवत्स्मरणं केषाञ्चिदस्मरणादिकं च कथं ? इत्यत आह— **सर्वस्य चेति**। चकारोऽपिशब्दार्थे। सर्वस्यापि अहं हृदि प्रेरकत्वेनेश्वररूपेण प्रविष्टः तिष्ठामीत्यर्थः। ततः किं ? अत आह— मत्तः प्रविष्टात्मकत्वान्मद्विचित्रेच्छया स्मृतिः पूर्वानुभूतमत्स्वरूपस्मरणपुष्ट्या तदुद्धारार्थम्। तथैव मुक्तिदानेच्छया ज्ञानम्। च पुनः। मोहोत्पादनेन नरकादियातनेच्छया अपोहनं स्मृतिज्ञानयोः प्रमोषो विस्मरणमित्यर्थः। भवतीति शेषः। ननु वेदास्तु शब्दात्मकास्तदध्ययनेन सूत्रैः गुरूक्तप्रकारेण च कथं न ज्ञानोदयः ? इत्यत आह। सर्वैः काण्डद्वयात्मकैर्वेदैरहमेव वेद्यः ज्ञेयः। अतो मदिच्छयैव वेदशब्दानां मद्वाक्यरूपाणामलौकिकानामर्थप्रकाशः, नान्यथेत्यर्थः। वेदान्तकृत् सूत्रप्रदर्शनेन सम्प्रदायप्रवर्त्तको व्यासादिरूपो गुरुरहमेवेत्यर्थः। च पुनः अहमेव वेदवित् तदुक्तप्रकारेण शिष्यादिहृदयस्थो ज्ञानप्रकाशेन ज्ञानवानित्यर्थः। अतो न वेदादिभिरपि ज्ञानमिति भावः ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०—किञ्च सर्वस्य प्राणिजातस्याहं हृदि सन्निविष्टः, आत्मेत्यर्थः। अतो मत्त आत्मनस्तेषां स्मृतिर्ज्ञानं च पुण्यवताम्। पापिनां तु तयोरपोहनं विस्मरणमज्ञानं च भवति। तथा च सर्वैर्वेदैः कर्मोपास्तिज्ञानकाण्डात्मकैरहमेव परमात्मा वेद्यो वेदान्तकृत् वेदान्तोक्तविद्यासम्प्रदायकृत् वेदवित् वेदार्थविच्चाहमेव। एतेन वेदान्तविद्वेदविच्च स्वविभूतिरित्युक्तं भवति ॥ १५ ॥

क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिविनिर्मुक्तं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावं
पुरुषोत्तमाख्यं परमात्मस्वरूपम् ।

**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।**
**क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥**
**उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।**
**यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥ १७ ॥**

१ शां. भा.— भगवत ईश्वरस्य नारायणाख्यस्य विभूतिसङ्क्षेप उक्तो विशिष्टोपाधिकृतो 'यदादित्यगतं तेजः' [ १५।१२ ] इत्यादिना; अथाधुना तस्यैव क्षराक्षरोपाधिप्रविभक्ततया निरुपाधिकस्य केवलस्य तत्त्वस्वरूपनिर्दिधारयिषयोत्तरश्लोका आरभ्यन्ते; तत्र सर्वमेवातीतानागतानन्तराध्यायार्थजातं त्रिधा राशीकृत्याऽऽह— **द्वाविमाविति**। द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ **पुरुषा**वित्युच्येते **लोके** संसारे। **क्षर**श्च क्षरतीति क्षरो विनाश्येको राशिः, अपरः पुरुषोऽक्षरस्तद्विपरीतो भगवतो मायाशक्तिः क्षराख्यस्य पुरुषस्योत्पत्तिबीजं अनेकसंसारिजन्तुकामकर्मादिसंस्काराश्रयोऽक्षरः पुरुष उच्यते। कौ तौ पुरुषौ ? इत्याह स्वयमेव भगवान्— क्षरः सर्वाणि भूतानि, समस्तं विकारजातमित्यर्थः। कूटस्थः कूटो राशी राशिरिव स्थितः, अथवा— कूटो माया वञ्चना जिह्मता कुटिलतेति पर्यायाः। अनेकमायावञ्चनादिप्रकारेण स्थितः कूटस्थः संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीत्यक्षर उच्यते ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— उत्तरश्लोकानां तात्पर्यं वक्तुं वृत्तं कीर्तयति— **भगवत** इति। विशिष्टोपाधिराद्दित्यादिः। सम्प्रत्यध्यायसमाप्तेरुत्तरसन्दर्भस्य तात्पर्यमाह— **अथे**ति। न केवलं निरुपाधिकात्मस्वरूपनिर्धारणायोत्तरग्रन्थः, किन्तु सर्वस्यैव गीताशास्त्रस्यार्थनिर्णयार्थमित्याह— **तत्रे**ति। क्षराक्षरोपाधिभ्यां परमात्मना च राशित्रयमुक्तेन सर्वात्मत्वेनाशुद्ध्यादिदोषप्रसक्तावुक्तं— **द्वाविमावि**ति। पुरुषोपाधित्वात्पुरुषत्वं, न साक्षादिति विवक्षित्वाऽऽह— **पुरुषावि**ति। परं पुरुषं व्यावर्तयति— **भगवत** इति। तत्र कार्यलिङ्गकमनुमानं सूचयति— **क्षराख्यस्ये**ति। मायाशक्तिं विना भोक्तॄणां कर्मादिसंस्कारादेवोक्तकार्योत्पत्तिरित्याशङ्क्य तस्य निमित्तत्वेऽपि मायाशक्तिरुपादानमिति मत्वाऽऽह— **अनेके**ति। कामकर्मादीत्यादिशब्देन ज्ञानं गृह्यते। 'प्रकृतिं पुरुषं चैव' [ १३।२० ] इति प्रकृतयोरिह ग्रहणमिति शङ्कामाकाङ्क्षाद्वारा वारयति— **कौ तावि**ति। कूटशब्दार्थमुक्त्वा तेन स्थितस्य कूटस्थतेति सम्पिण्डितमर्थमाह— **अनेके**ति। तस्य कथमक्षरत्वं विना ब्रह्मज्ञानं ? अनाशादित्याह— **संसारे**ति ॥ १६ ॥

१ शां. भा.— आभ्यां क्षराक्षराभ्यामन्यो विलक्षणः क्षराक्षरोपाधिद्वयदोषेणास्पृष्टो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः— उत्तम उत्कृष्टतमः पुरुषस्त्वन्योऽत्यन्तविलक्षण आभ्यां, परमात्मेति परमश्चासौ देहाद्यविद्याकृतात्मभ्यः, आत्मा च सर्वभूतानां प्रत्यक्चेतनः, इत्यतः परमात्मेत्युदाहृत उक्तो वेदान्तेषु । स एव विशिष्यते यो लोकत्रयं भूर्भुवस्स्वराख्यं स्वकीयया चैतन्यबलशक्त्याऽऽविश्य प्रविश्य बिभर्ति स्वरूपसद्भावमात्रेण बिभर्ति धारयति, अव्ययो नास्य व्ययो विद्यत इत्यव्यय ईश्वरः सर्वज्ञो नारायणाख्य ईशनशीलः ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— कार्यकारणाख्यौ राशी दर्शयित्वा राश्यन्तरं दर्शयति— **आभ्यामि**ति । वैलक्षण्यफलमाह— **क्षरे**ति । उपाधिद्वयकृतगुणदोषास्पर्शे फलितमाह— **नित्ये**ति । आभ्यां क्षराक्षराभ्यामिति यावत् । 'उत्तमोऽन्यः' इति पदद्वयं वस्तुतः सर्वथैव क्षराक्षरात्मत्वाभावद्दष्टयर्थम् । जडवर्गस्यान्यत्वकृतं स्वातन्त्र्यं निरस्यति— **स एवे**ति । 'लोकत्रयं' इत्युपलक्षणं, सर्वं जगदपि विवक्षितम् । चैतन्यमेव बलं तत्र शक्तिर्माया तयेति यावत् । जगद्धारणे परस्य व्यापारान्तरं वारयति— **स्वरूपे**ति । न चास्यान्यो धारयिता स्वतोऽचलत्वादित्याह— **अव्यय** इति । "संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः" [ श्वे. उ. १।८ ] इति श्रुत्यर्थं गृहीत्वाऽऽह— **ईश्वर** इति ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— अतो मत्त एव सर्ववेदानां सारभूतमर्थं शृणु— **द्वाविमावि**ति । क्षरश्चाक्षरश्चेति द्वाविमौ पुरुषौ लोके प्रथितौ । तत्र क्षरशब्दनिर्दिष्टः पुरुषो जीवशब्दाभिलपनीयब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तक्षरणस्वभावाचित्संसृष्टसर्वभूतानि; अत्राचित्संसर्गरूपैकोपाधिना पुरुष इत्येकत्वनिर्देशः । अक्षरशब्दनिर्दिष्टः कूटस्थः, अचित्संसर्गवियुक्तः स्वेन रूपेणावस्थितो मुक्तात्मा । स त्वचित्संसर्गाभावादचित्परिणामविशेषब्रह्मादिदेहासाधारणो न भवतीति कूटस्थ इत्युच्यते । अत्राप्येकत्वनिर्देशोऽचिद्वियोगरूपैकोपाधिनाऽभिहितः । नहीतः पूर्वमनादौ काले मुक्त एक एव । यथोक्तं 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' [४।१०] 'मम साधर्म्यमागताः । सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च' [१४।२] इति ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— सर्ववेदसाररूपपुरुषोत्तमयाथात्म्यप्रतिपादनमुखेन सङ्गमयन्नवतारयति— **अतो मत्त एवे**ति । लोक्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या प्रमाणपरत्वमभिप्रेत्य 'प्रथितः' इत्येतदनुषज्य वचनविपरिणामेन योजयति— **लोके प्रथितावि**ति । प्रमाणं च "अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः" [ श्वे. उ. ४।५ ] इत्यादिकमभिप्रेतम् । पुरुषशब्दनिर्दिष्टात्मनः स्वरूपेण क्षरत्वायोगाच्छरीरद्वारा तदित्यभिप्रेत्य तृतीयपादं व्याचष्टे **तत्र क्षरशब्दनिर्दिष्ट** इत्यादिना । 'क्षरः' इत्येकत्वनिर्देशेन 'भूतानि' इति बहुत्वनिर्देशस्तूपाधिकृत इति शङ्काव्युदासायाऽऽह— **अत्राचित्संसर्गे**ति । बद्धात्मनां स्वरूपतो भेदाभावे सर्वदुःखसुखप्रतिसन्धानं सर्वेषां स्यादिति भावः । कूटस्थशब्दोऽनेकसन्ततिमूलपुरुषे प्रसिद्धः; स चात्र न परमपुरुषः, 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [ १५।१७ ] इति तस्य पृथग्वक्ष्यमाणत्वात् । नापि हिरण्यगर्भादिः, तस्य देहसम्बन्धित्वेन क्षरशब्दनिर्दिष्टत्वात्; नापि मुक्तात्मा, रूढ्याद्यविषयत्वादित्यतस्तत्र योगवृत्तिमभिप्रेत्य मुक्तात्मपर इत्याह— **अचित्संसर्गवियुक्त** इति । योगवृत्तिमुपपादयति— **स त्वि**ति । **ब्रह्मादिदेहे**ति— ब्रह्मादिदेहसम्बन्धायत्तविचित्रसुखदुःखाद्यसाधारणाकारो न भवतीत्यर्थः । एतेन "स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" [ छां. उ. ८।१२।२ ] इति श्रुत्युक्तासङ्कुचितज्ञानैकाकारत्वलक्षणसाधारणाकारो भवतीत्युक्तं भवति । तथाच कूटवत्तिष्ठतीति कूटस्थ इति व्युत्पत्तिरपि सूचिता । साधारणाकारत्वमेवात्र कूटसादृश्यमिति भावः । अत्राप्येकत्वनिर्देश एकोपाधिकोडीकारनिबन्धन एवेत्याह— **अत्रापी**ति । **निर्देशः......अभिहित** इत्येतत् 'पाकं पचति' इतिवत् द्रष्टव्यम् । उक्तार्थे हेत्वभिप्रायेण मुक्तात्मबहुत्वं सप्रमाणमाह— **पूर्वमनादौ काल** इति ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— उत्तमः पुरुषस्तु ताभ्यां क्षराक्षरशब्दनिर्दिष्टाभ्यां बद्धमुक्तपुरुषाभ्यामन्यः अर्थान्तरभूतः परमात्मेत्युदाहृतः । सर्वासु श्रुतिषु परमात्मेति निर्देशादेव ह्युत्तमः पुरुषो बद्धमुक्तपुरुषाभ्यामर्थान्तरभूत इत्यवगम्यते । कथं ? यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्ति, लोक्यत इति लोकः, तत्त्रयं लोकत्रयम्; अचेतनं तत्संसृष्टश्चेतनो मुक्तश्चेति प्रमाणावगम्यमेतत्त्रयं य आत्मतया आविश्य बिभर्ति, स तस्माद्व्याप्याद्भर्तव्याच्चार्थान्तरभूतः; इतश्चोक्ताल्लोकत्रयादर्थान्तरभूतः; यतः सोऽव्ययः ईश्वरश्च ।

**४ वे. ता. चं.**— अप्राप्तत्वादन्यत्वस्य विधेयत्वं वदन् तस्य प्रतियोगिसापेक्षत्वात् प्रकृतक्षराक्षरपुरुषयोरेव प्रतियोगित्वमाह— **उत्तमः पुरुषस्तु ताभ्यामिति** । ' परमात्मेत्युदाहृतः ' इत्यस्य विधेयपरत्वासम्भवेन अन्यत्वहेतुपरत्वमाह— **सर्वासु श्रुतिषु चेति** । ' तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः " [ महाना. ९।१३ + वासु. ६ + महो. १।९ + चतुर्वेदो. ६ ] " आत्मा नारायणः परः " [ महाना. ९।४ ] इत्यादिष्वित्यर्थः । परमात्मेतिनिर्देशहेतुत्वोपपादकत्वेनोत्तरार्धमवतारयति— **कथमिति** । लोकशब्दस्य भुवनपरत्वे लोकत्रयं भूरादिलोकत्रयं, स्वर्गमर्त्यपाताललक्षणलोकत्रयं वा स्यात् । तथाच तद्व्यापनभरणयोः सर्वात्मत्वपर्यवसितपरमात्मत्वोपपादकत्वेन क्षराक्षरात्मकसर्वान्यत्वसाधकत्वं न स्यात् । कृतकमकृतकं कृतकाकृतकमिति लोकत्रयपरत्वेऽपि तत्रत्यपुरुषेषु लक्षणा स्वीकार्या; ततो वरं योगवृत्त्याश्रयणमित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे— **लोक्यत इति लोक** इत्यादिना । कथमचाक्षुषयोर्बद्धमुक्तयोर्लोकनकर्मत्वमित्यत आह— **प्रमाणावगम्यमेतत्त्रयमिति** । ' यः ' इति " अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा " [ चित्सु. १।१।१+आ. ३।११ ] "भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति" [ आ. ३।१४ ] इत्यादिकमत्राभिप्रेतम् । **सः** इति— परमात्मेति निर्दिष्ट इत्यर्थः । ' यः ' इत्यस्य तत्परत्वात्प्रत्येकं विशेषणानामन्यत्वसाधनसामर्थ्यात् तदर्थेस्थितिमात्रविवक्षायामत्रानपेक्षितोक्त्या पदान्तरवैयर्थ्यादित्यभिप्रायेणाह— **इतश्चेति** ।

**रा. भा.— अव्ययस्वभावो हि व्ययस्वभावादचेतनात्तत्सम्बन्धेन तदनुसारिणश्च चेतनादचित्सम्बन्धयोग्यतया पूर्वसम्बन्धिनो मुक्ताच्चार्थान्तरभूत एव; तथैतस्य लोकत्रयस्येश्वरः, ईशितव्यात्तस्मादर्थान्तरभूतः ॥ १७ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— अत्राविशभरणेश्वरत्वानां कर्मकर्तृभावेन अन्यत्वोपस्थापकत्वम्, अव्ययत्वस्य तु साक्षात्स्वभावविरोधादित्यभिप्रायेणाऽऽह— **अव्ययस्वभावो हीति** । एवमवान्तरवैषम्यं दर्शयिष्यति ' अव्ययस्वभावतया व्यापनभरणैश्वर्यादियोगेन च ' [ रा. भा. १५।१९ ] इति । **तत्सम्बन्धेन तदनुसारिण** इति— तदधीनजन्मविनाशादिक्लेशभाज इत्यर्थः । तद्वज्ज्ञानसङ्कोचविकासलक्षणविकारयोगिन इति वा । योग्यता नाम सहकारिसन्निधौ कुर्वत्स्वभावत्वं, सहकार्यभावप्रयुक्तकार्याभाववत्त्वं वा । सा च मुक्तस्याप्यस्तीति स्वभावविरोधस्तत्राप्यविशिष्ट इत्याह— **अचित्सम्बन्धयोग्यतया पूर्वसम्बन्धिन** इति । अनवच्छिन्नात्मव्ययत्वं मुक्तस्यापि नास्तीति भावः । ईश्वरशब्दोऽत्र नानुपयुक्तसंज्ञामात्ररूप इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **तथैतस्येति** । अत्रात्मलक्षणान्तर्गतानुप्रवेशधारणनियमनानां कण्ठोक्तौ स्वार्थधारणादिवशादेव शेषित्वमपि सिध्यतीत्यभिप्रायेण संग्रहश्लोके स्वाम्योक्तिः । तथाच तत्र नियन्तृत्वमुपलक्षणीयम् । एवं ' अव्ययत्वव्यापनभरणस्वाम्यैः' [रा.भा. १६।१] इत्यनन्तराध्यायारम्भभाष्येऽपि द्रष्टव्यम् । यद्वा केवलनियन्तृत्वादिविशिष्टेष्वपीश्वरशब्दस्य प्रयुक्तचरत्वाभावात् स्वाम्योपश्लिष्टनियमनविषये च निरूढप्रयोगत्वादीश्वरशब्देनैव शेषित्वमप्युपस्थापितम् । अपि चात्र ' यः ' इति व्याख्यानुवादे ' मयि सर्वमिदं प्रोतम् ' [ ७।७ ] इत्यादिपुरोवादपरामर्शात्तत्प्रकरणे ' भूमिरापः' [ ७।४ ] इत्यादिनोक्तं शेषित्वमप्याकृष्यत इति " पतिं विश्वस्यात्मेश्वरम् " [ महाना. १।६ ] इति पतिशब्दस्थाने चेश्वरशब्दः प्रयुक्त इति भावः ॥ १७ ॥

**५ आ. मा. भा.— क्षरः भूतानि ब्रह्मादीनि । कूटस्था प्रकृतिः । तथा च शार्कराक्षश्रुतिः—"प्रजापतिप्रमुखाः सर्वजीवाः क्षरोऽक्षरः पुरुषो वै प्रधानम् । तदुत्तमं चान्यमुदाहरन्ति जालाजालं मातरिश्वानमेकम् " इति ॥ १६ ॥ १७ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— क्षराक्षरशब्दौ जडजीवार्थावित्यपव्याख्याननिरासार्थमाह— **क्षर** इति । भूतग्रहणं युक्तिसूचनार्थम् । न हि जडमात्रे भूतशब्दो रूढः, किन्तु जीवेष्वपि । पुरुषशब्दस्य चैतदुपलक्षणम् । प्रकृतिश्चेतना । ' अक्षरं ' इति वक्तव्ये ' कूटस्थः ' इति वचनमपि युक्तिसूचनार्थमेव । न हि जीवानां कूटस्थत्वमस्ति, सुखादिमत्त्वेन विकारित्वात् । श्रुतिसम्मत्याऽयमेवार्थ इत्याह— **तथा चेति** । ' क्षरः ' इत्यनुवादेन प्रजापतीत्यादि व्याख्यानम् । अन्यं परमात्मानम् । क्षरान्तर्भूतोऽपि मातरिश्वा विवक्षाविशेषेणाक्षरोऽपि भवतीत्युच्यते— **जालेति** । जालं संसारबन्धः सोऽस्यास्तीति जालः ' अर्श आदिभ्योऽच् ' [अष्टा. ५।२।१२७ ] इति । तद्रहितश्चाजालः अभिमानाभावात् ॥ १६ ॥ १७ ॥

**७ ह. पै. भा.— किञ्चान्यत्— द्वाविमाविति । क्षर एकोऽपरोऽक्षरः । तत्र क्षरं दर्शयति— क्षरः सर्वाणि भूतानि, प्राणिनः । अक्षरः पुरुषः कूटस्थोऽचलोऽव्याकृतात्मा सोऽक्षर उच्यते ॥ १६ ॥**

पुरुषान्तरं दर्शयितुमाह— उत्तम इति । उत्तमः प्रकृष्टतमः । पुरुषः पूर्णमनेन जगदिति परमात्मेत्युदाहृत उक्तो वेदान्तेषु । विशिनष्टि— यः पुरुषो लोकत्रयं पृथिवीमन्तरिक्षं स्वर्गमाविश्य बिभर्ति बलेन धारयति । तथा च श्रुतिः—" येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तम्भितं येन नाकः" [तै.सं.४।१।८] इति । ईश्वरः स्वामी ॥ १७ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** एवं निरूपितं प्रत्यग्ब्रह्माद्वैतं निरुपाधिकब्रह्मात्मतत्त्वप्रदर्शनेनोपपादयितुं क्षराक्षरशब्दवाच्यकार्यकारणोपाधिद्वयविनिर्मुक्तं शुद्धमात्मानं प्रतिपादयति द्वाभ्याम्— **द्वाविमाविति**। अस्मिँल्लोके संसारे द्वाविमौ पृथग्राशीकृतौ पुरुषौ पुरुषशब्दवाच्यात्मतादात्म्याध्यासापन्नतया तदुपाधित्वेन पुरुषशब्दव्यपदेश्यौ। कौ तौ ? क्षरश्चाक्षर एव च, क्षरतीति क्षरो विनाशी कार्यराशिरेकः पुरुषः, कार्योपाधौ नश्यत्यपि स्वयं न क्षरति न नश्यतीत्यक्षराख्यो द्वितीयः पुरुषः । तावेव व्याचष्टे— **क्षर इति**। भूतशब्दो भवनधर्मवद्वस्तुमात्रवाची । सर्वाणि भूतानि सर्वं कार्यजातमित्यर्थः। कूटस्थः कूट इव राशिरिव स्थितः कूटस्थः; शिलाराशिः पर्वत इव कार्यराशीभूत इत्यर्थः । यद्वा कूटो माया वञ्चनेति पर्यायः, तद्रूपेण स्थितः कूटस्थः पारमेश्वरमायाशक्तिरूपः कारणोपाधिः । स च संसारबीजानन्त्यान्न क्षरतीत्यक्षर उच्यते; " अक्षरात्परतः परः " [ मुं. उ. २।१।२ ] इत्यादिश्रुतिदर्शनात् ।

एताभ्यां क्षराक्षराभ्यां जडराशिभ्यामन्यः विलक्षणः उत्तमः नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः पुरुषः " तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं" [ श्वे. उ. ३।९ + महाना. ८।१४ ] इति श्रुत्युक्तः परिपूर्णस्वभावः परमात्मेत्युदाहृतः । अन्नमयाद्यानन्दमयान्तेभ्योऽविद्याकल्पितात्मभ्यः परमः प्रकृष्टः आत्मा, " तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य " [ तै. उ. २।३।१ ] इत्युक्तस्तेषां प्रत्यक्चेतन इत्यतः परमात्मेत्युक्तो वेदान्तेषु । एतदेवोपपादयति— **य इति** । यः परमेश्वरः अव्ययः स्वयं निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नमप्याविश्य स्वमायाशक्त्याधिष्ठाय बिभर्तीति । अत्र 'अक्षरशब्देन चेतनो जीव उच्यते' इति **श्रीधराचार्यै**र्लिखितम्; तत्तु भाष्यप्रतिकूलम् । जीवस्यैव पुरुषोत्तमत्वेनेह प्रतिपाद्यत्वात्प्रकृतासङ्गतं चेति ध्येयम् ।

यत्तु रामानुजेन व्याख्यातम्—'क्षराक्षरशब्दौ बद्धमुक्तजीवपरौ, ताभ्यामन्यत्वेनेह पुरुषोत्तमः परमात्मा प्रतिपाद्यते' इति । यच्च माध्वेन व्याख्यातम्— 'क्षरो जीवः, अक्षरस्तु लक्ष्मीः; तदुभयोत्तमः परमात्मा' इति । तत्र ब्रूमः— न तावद्रामानुजव्याख्यानं युक्तम्; 'सर्वाणि भूतानि' इत्यत्र भूतशब्दस्य जीववाचित्वे भवनधर्मवद्वस्तुवाचित्वे पञ्चभूतवाचित्वे च क्षरशब्दस्य सर्वजीववाचित्वस्य सर्वकार्यवाचित्वस्य पञ्चभूतवाचित्वस्य च प्राप्त्या तस्य बद्धजीववाचित्वव्याख्याने 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इत्युत्तरवाक्यविरोधात् । न च 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इति मुक्तजीवानां पृथङ्निर्देशात् 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' इत्यत्र बद्धजीवपरत्वेन सर्वशब्दः सङ्कोच्यत इति न विरोध इति वाच्यम्; अक्षरशब्दस्याद्यापि मुक्तजीववाचित्वासिद्धेरन्योन्याश्रयप्रसङ्गात् । किञ्च " निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति " [ मुं. उ. ३।१।३ ] इति श्रुतेर्मुक्तजीवानामीश्वरेण सह साम्यमिति वदतस्तव मते परमात्मनो मुक्तजीवापेक्षयोत्तमत्वमसङ्गतम् । न हि परमसाम्यापन्नानामुत्तमाधमभावो घटते, न च मुक्तेश्वरयोरानन्दांश एव साम्यं न सर्वांशेऽपि, शेषशेषित्वजगत्स्रष्टृत्वतदभावादिना तयोर्बहुवैषम्यसत्त्वादिति वाच्यम् ; तथा सति राजभृत्ययोरिव शेषशेषिणोरानन्देऽपि तारतम्यावश्यम्भावेन तदंशेऽपि साम्यायोगादित्यन्यत्र विस्तरः ।

नापि माध्वव्याख्यानं युक्तम्; अक्षरशब्दवाच्यलक्ष्म्या परमात्माभिन्नत्वे तस्य तदुत्तमत्वायोगात्, तद्भिन्नत्वे च लक्ष्म्या अपि जीवत्वेन सर्वजीववाचकक्षरपदेनैव तस्या अपि संग्रहसिद्धया 'क्षरश्चाक्षर एव च' इति पृथङ्निर्देशवैयर्थ्यात् 'सर्वाणि भूतानि' इति वाक्यशेषगतसर्वशब्दसङ्कोचापाताच्च । न च जीवेभ्यो लक्ष्म्या उत्तमत्वप्रदर्शनाय पृथङ्निर्देश इति वाच्यम्; भगवत्सर्वोत्तमत्वस्यैवात्र प्रस्तुतत्वेन तस्याप्रतिपाद्यत्वात् न हि 'विष्णुः सर्वोत्तमोऽथ प्रकृतिरथ विधिप्राणनाथौ' इत्यादि त्वत्कल्पितं प्रकृत्यादितारतम्यमप्यत्र विवक्षितम् । अपि च मतद्वयेऽपि जीवेश्वरयोः किञ्चिज्ज्ञत्वसर्वज्ञत्वादिना भेदस्य तारतम्यस्य च प्रत्यक्षादिनैव प्राप्तत्वात्तत्परत्वे श्लोकयोरेव वैयर्थ्यं स्यादिति यथोक्तमेव भगवत्पादीयव्याख्यानमनवद्यम् ॥ १६ ॥ १७ ॥

**९ व० त० दी०—** द्वाविमाविति । लोके क्षरश्चाक्षर एव चेति पुरुषौ प्रथितौ, न स्त्रीप्रकृतिकौ, नाप्यत्रान्यतरो स्त्रीप्रकृतिकः, केवलजडप्रकृतिकश्च; पुरुषत्वेनैवोभयोर्निर्देशात् । एतेनाव्यक्तपदवाच्यस्याक्षरस्य स्त्रीरूपप्रकृतित्वं परोक्तमपास्तं 'एव च' इत्यनेन स्वरूपतः क्षरोऽक्षर एवेति सूच्यते । क्षरत्वं च भगवदिच्छया प्रकृतिसंसर्गोपाधिकृतमेव, अतो जायते म्रियते इति प्रवाहः; न वस्तुतः । तदेतत्स्वयं व्याचष्टे 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इति । सर्वाणि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि व्यष्टिभूतानि जीवशब्दाभिलपनीयानि भगवत्सदंशभूतानि चित्प्रकृतिसंसृष्टानि भवनादिक्रियाविषयत्वेन व्यपदिश्यमानानि क्षरः पुरुषः । अत्रैकत्वनिर्देशो व्यष्टीनां समष्ट्यैक्याशयेन अचित्संसर्गैकोपाधिना वेति केचित् । कूटस्थो मूलभूतः शुद्धः सच्चिदानन्दकः भगवद्धामादिपदवाच्योऽपि स

महदादिषष्ठः कूटे भूतसमुदाये तिष्ठतीति वा। मूर्द्धन्यमणिरिव "अविनाशी वाऽरेऽयमात्मा" [बृ.उ. ४।५।१४] "आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यः" [बृ. उ. २।४।५+४।५।६] इत्याद्यौपनिषज्ज्ञानेन साक्षात्कृतो योऽक्षरः पुरुष इत्युच्यते अत्रैकत्वनिर्देशो विराट्समष्टिमूलभूताभिप्रायेण (धामत्वाभिप्रायेण)। तद्वियोगरूपैकोपाधिना वेति केचित्। अयमप्युक्तः पूर्वं मुक्त्याधिगम्यः। 'बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः' [४।१०] इत्यत्राध्यात्मरूपः। वस्तुतस्तु 'चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे' [भाग. ३।२८।२८] इति वाक्यात् कौस्तुभैक्यरूपेण मुख्यस्थितिरूप एव 'मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः' इत्युच्यते; इत्थं चावस्थानं भगवति दशमस्कन्धे भागवते 'वीक्ष्यालकावृतमुखं' [भाग. १०।२९।३९] इत्यत्र श्रीमदाचार्यैर्दर्शितम्। एतेनैव क्षराक्षरस्वरूपनिरूपणेन मतान्तरमपि प्रत्युक्तम् ॥ १६ ॥

तदुत्तममाश्रयभूतं मुख्यं स्वरूपमाह (तदधिदैवतम्) उत्तमः पुरुषस्त्वन्य इति। तुशब्दः पूर्वतो भेदं दर्शयति। एताभ्यां अन्यो विलक्षणोऽमितसच्चिदानन्दात्मा पुरुषोत्तमः सर्वकारणकारणभूतः। निरस्तविकृतिरव्यय ईश्वरोऽद्भुतैश्वर्यो विभिन्नधर्माश्रय इति यावत्। स लोकत्रयं गुणात्मकमाविश्यान्तर्यामिरूपो भूत्वा बिभर्तीति ततः पुरुषोत्तम इत्युदाहृतः सर्वैः। यद्वा नन्वक्षरपरमपुरुषयोरपि भगवत्त्वात्को विशेषः? तत्राह— परमात्मेति। परमश्चासावात्मा चेति गङ्गाऽध्यात्मदेवतयोरिव तयोः स्वरूपमिति भावः। तथा च पुराणि स्वप्रकृतिकार्याणि अवराणि तत्सम्बन्धी क्षरस्तदुत्कृष्टोऽक्षरश्चराचरात्मा तदुत्तमः पुरुषोत्तम इति व्युत्पत्तिः, तेन नित्यबद्धमुक्तपुरुषद्वयाद्विलक्षणता दर्शिता। 'बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः' [भाग. ११।११।१] इति भागवतवाक्यात्। अस्यार्थः— बद्ध इति क्षररूपतयाख्या आत्मनः मुक्त इत्यक्षररूपतया च विशेषाख्या मे गुणतः (सत्त्वरजस्तमोरूपात्। यद्वा) इच्छारूपाद्भवति तस्य मे मायामूलत्वात् मायां प्रति तस्य कारणत्वात् 'न मे मोक्षो न बन्धनं' इति वैलक्षण्येन विरुद्धधर्माश्रयत्वमिति 'नहि विरोध उभयं भगवत्यपरिगणितगुणगण ईश्वरेऽनवगाह्यमाहात्म्येऽर्वाचीनविकल्पवितर्कविचारप्रमाणाभासकुतर्कशास्त्रकलितान्तःकरणाश्रयदुरवग्रहवादिनां विवादानवसरः" इति भागवतेनैव [६।९।३६] सूत्रभाष्यरूपेण निर्णयात् ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— अथ स्वज्ञापितस्वरूपज्ञानार्थं सपरिकरं स्वस्वरूपमाह— द्वाविमाविति त्रिभिः। लोके प्रपञ्चस्थिते सर्वत्र द्वाविमावेव पुरुषौ सर्वपदार्थभोक्तारौ आधिभौतिकाध्यात्मरूपौ क्षरः अक्षरश्च। उभयोः स्वरूपमाह— क्षरः पुरुषः सर्वाणि भूतानि ब्रह्मादिस्थावरान्तानि शरीराणि नानाविधानि लीलौपयिकलीलात्मकत्वेनानेकरूपाणि, क्षरशब्दवाच्यः पुरुषांशरूपः पुरुष इत्यर्थः। कूटः शिलासमूहः पर्वतस्तद्वत् सर्वपदार्थेषु शरीरादिषु विनश्यत्स्वपि तत्समूहस्थः अविनाशी भोक्ता मच्चरणात्मको यः, स अक्षरः पुरुष इत्यर्थः ॥ १६ ॥

पुरुषोत्तमज्ञानार्थमेतौ निरूपिताविति तदाह— उत्तम इति। तुशब्द एव तत्समत्वव्यावर्तनार्थः। उत्तमः पुरुषः अन्यः सर्वाज्ञातः सर्वव्यतिरिक्त इत्यर्थः। कीदृशः? इत्याकाङ्क्षायामाह— परमात्मेत्युदाहृतः परमश्चासावात्मेति परमः सर्वोत्कृष्ट आत्मा अविकृतः इति अमुना प्रकारेण श्रुत्यादिभिरुदाहृतः कथितः, यो लोकत्रयं तत्तद्रसानुभवार्थमाविर्भवति धारयति पोषयति च। एवं चेन्न्यूनाधिक्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— अव्यय इति। निर्विकार इत्यर्थः। तर्हि धारणमनुपपन्नमित्यत आह— ईश्वर इति। कर्तुंमन्यथाकर्तुं च समर्थः। अतस्तथेत्यर्थः ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्वशास्त्रहृदयं संगृह्णाति— द्वाविति। लोके प्रसिद्धौ इमौ द्वावेव पुरुषौ। क्षरो विनाशी, स च सर्वाणि भूतानि प्राणवन्ति कर्मक्षये सुप्तिप्रलयकैवल्यादावुपाधिनाशमनु विनाशशीलो जीवो ब्रह्मप्रतिबिम्बभूतो जलार्कोपमः। "प्रज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति" [बृ.उ.४।५।१३] इति श्रुतेः। कूटस्थो निर्विकारो मायोपाधिरक्षरः तदुपाधेरकर्मजत्वेन नाशासम्भवात् उपाधिदोषेणावशीकृतत्वाच्च, असौ न क्षरति स्वरूपान्न च्यवत इत्यक्षरः ॥ १६ ॥ एताभ्यां कार्यकारणोपाधिभ्यामन्यो निरुपाधिरुत्तमः पुरुषः योऽसौ परमात्मेत्युदाहृतः शास्त्रे। योऽसौ मायया ईश्वरो भूत्वा लोकत्रयमुत्तममध्यमाधमशरीररूपमाविश्य प्रविश्य धारयति शरीरत्रयम्। अथापि अव्ययः सर्वज्ञत्वेन ईश्वरधर्मेण अल्पज्ञत्वेन जीवधर्मेण वा न व्येति वर्धते क्षीयते वेत्यर्थः ॥ १७ ॥

पुरुषोत्तमशब्दस्य नामनिर्वचनम् ।

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**
**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ १८ ॥**

**१ शां. भा.**— यथाव्याख्यातस्येश्वरस्य ‘ पुरुषोत्तमः ’ इत्येतन्नाम प्रसिद्धं, तस्य नामनिर्वचनप्रसिद्ध्याऽर्थवत्त्वं नाम्नो दर्शयन् ‘ निरतिशयोऽहमीश्वरः ’ इत्यात्मानं दर्शयति भगवान्— **यस्मादिति** । यस्मात्क्षरमतीतोऽहं संसारमायावृक्षमश्वत्थाख्यमतिक्रान्तोऽहं अक्षरादपि संसारमायावृक्षबीजभूतादपि चोत्तम उत्कृष्टतम ऊर्ध्वतमो वा, अतः ताभ्यां क्षराक्षराभ्यामुत्तमत्वादस्मि भवामि लोके वेदे च प्रथितः प्रख्यातः पुरुषोत्तम इत्येवं मां भक्तजना विदुः कवयः काव्यादिषु चेदं नाम निबध्नन्ति ‘ पुरुषोत्तमः ’ इत्यनेनाभिधानेनाऽभिगृणन्ति ॥ १८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— किञ्च लोकवेदयोर्भगवतो नामप्रसिद्ध्या सिद्धमप्रपञ्चत्वमित्याह— **यथेति** । अश्वकर्णादिवदस्य नाम्नो रूढत्वादर्थविशेषाभावाद्भगवतोऽपि लौकिकेश्वरवदीश्वरत्वं सातिशयमिति नेत्याह— **तस्येति** । यस्मादित्यस्यापेक्षितं निक्षिपति— **अत** इति । उत्तमः पुरुष इति वाक्यशेषः ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.**— ‘ यस्मादेवमुक्तैः स्वभावैः क्षरं पुरुषमतीतोऽहं ’ अक्षरान्मुक्तादप्युक्तैर्हेतुभिरुत्कृष्टतमः, अतोऽहं लोके वेदे च पुरुषोत्तम इति प्रथितोऽस्मि । वेदार्थावलोकनाल्लोक इति स्मृतिरिहोच्यते । श्रुतौ स्मृतौ चेत्यर्थः ।

**४ वे. ता. चं.**— एवं प्रतिज्ञातमन्यत्वं श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धधात्वर्थया समाख्यया स्थापितम्; तदेव पुनस्तथाभूतसमाख्यान्तरेण ‘ उत्तमः पुरुषः ’ इत्यनुवादस्सारितेन स्थिरीक्रियते ‘ यस्मात् ’ इतिश्लोकेन । एतेन पूर्वश्लोके पराक्त्वनिर्देशोऽपि स्वविषय एवेति दर्शितम् । अत्र ‘ यतोऽसावग्निमान्, अतएव धूमवान् ’ इत्यादिवत्साध्यमेव साधकं प्रति नियामकतया हेतुर्व्यपदिश्यते । तच्च साध्यं सहेतुकमिह समाख्यानिदानमित्यभिप्रायेणाह **यस्मादेवमुक्तैः स्वभावैरिति** । ‘ क्षरमतीतः ’ इति तत्स्वभावगन्धानाघ्रातत्वमुच्यते । अत्रापि क्षरशब्दः प्रस्तुतैकार्थ्यान्न प्रधानविषय इत्याह **क्षरं पुरुषमिति** । अक्षरशब्दस्य प्रधानेश्वरादिष्वपि प्रयोगात्तद्व्यवच्छेदाय ‘ कूटस्थोऽक्षरः ’ [ १५।१६ ] इत्युक्तैकार्थ्यमाह **अक्षरान्मुक्तादिति** । एतेन पुरुषोत्तमशब्दनिरुक्तिरप्यत्र दर्शिता । **उक्तैर्हेतुभिरिति**— ‘ षष्ठी हेतुप्रयोगे ’ [ अष्टा. २।३।२६ ] इति नियमस्य प्रयोजनरूपहेतुविषयतयैव प्रयोगप्राचुर्यान्न तृतीयानुपपत्तिः । उत्तमशब्दे प्रकृतिप्रत्ययभेदेन विवक्षितमाह— **उत्कृष्टतम** इति । मुक्तो हि बद्धादुत्कृष्टः; ततोऽप्यसौ सर्वान्तरात्मत्वादिभिरुक्तैर्हेतुभिरुत्कृष्टतमः । प्रथितशब्देन केवलप्रधनविधेः प्रकृतानन्वयात्सविशेषणोऽसौ विशेषणोपसंक्रामीत्यभिप्रायेण **पुरुषोत्तम इतीति** इतिकरणम् । नात्र लोकशब्दो भुवनविषयः, जनविषयो वा; तत्र प्रकृतनिरुक्तिविवक्षाप्रमाणत्वासम्भवात् । नच काव्यादिप्रयोगपरता, तत्राप्यतितरां स्वारस्याभावात् । अतो वेदसहपाठात्तदनुवर्तिस्मृतिपरोऽयम् । तत्र च लोक्यतेऽनेन वेदार्थ इति व्युत्पत्त्या वृत्तिरित्यभिप्रायेणाह— **वेदार्थावलोकनादिति** । **श्रुतौ स्मृतौ चेत्यर्थ** इति । अयमभिप्रायः— श्रूयते नित्यमिति हि श्रुतिः । अतो वक्तृदोषप्रसङ्गाभावादशिथिलसम्प्रदायत्वाच्च तदुक्तं तावत्प्रामाणिकमेव । स्मृतिरप्यल्पश्रुतैर्दुरवबोधसकलशाखानुगतमर्थं सङ्कलय्योपबृंहयन्ती परमाप्ततममन्वादिप्रणीता प्रमाणमेवेति तया वेदार्थावलोकनं युक्तम्— इति ।

**३ रा. भा.**— श्रुतौ तावत्–“ परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः ” [ छां. उ.८।१२।३ ] इत्यादौ; स्मृतावपि ‘ अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य ह्यनादिमध्यान्तमजस्य विष्णोः ’ [ वि. पु. ५।१७।३३ ] इत्यादौ ॥ १८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— ‘ परं ज्योतिरुपसम्पद्य ’ इति मुक्तोपसम्पत्तव्यतया निर्दिष्टो निरतिशयदीप्तियुक्तः पुरुष एवात्र “ स उत्तमः पुरुषः ” इति परामृश्य विशेष्यते; तदुपबृंहणाय हि ‘उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः ’ [ १५।१७ ] इति तत्तुल्यव्यस्तप्रयोगोऽयं प्रदर्शित इत्यभिप्रायेण ‘ परं ज्योतिः ’ इत्यादिवाक्योदाहरणम् । अत्र ‘ प्रथितः पुरुषोत्तमः ’ इत्युक्तसमस्तप्रयोगप्रदर्शनार्थतया ‘ अंशावतारं पुरुषोत्तमस्य ’ [ वि. पु. ५।१७।३३ ] इति स्मृत्युदाहृतिः । अत्र ‘ विष्णोः ’ इति संज्ञानिर्देशेऽपि ‘ पुरुषोत्तमस्य ’ इति विशेषणैकार्थ्यस्य विवक्षितत्वाद्योगरूढोऽयं शब्द इति सिद्धम् । एतेन ‘ रूढ्या तु कामं पुरुषोत्तमोऽस्तु ’ इति प्रलपन् वेदबाह्यः प्रत्युक्तः । ननु कथं यौगिकार्थविवक्षायामस्य साधुता ? न तावदसौ समानाधिकरण-

समासः 'सन् महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः' [अष्टा. २।१।६१] इति प्रथमानिर्दिष्टस्योत्तमशब्दस्योपसर्जनतया पूर्वनिपातापातात्। नापि व्यधिकरणः। उत्तमः पुरुष इवेत्युपमितविवक्षानुपपत्तेः; तदर्थतयोदाहृतायां श्रुतावपि वैयधिकरण्यादर्शनात्। नचासौ षष्ठीसमासः, निर्धारणे तन्निषेधात् नचान्यस्यापीह सम्भव इति। मैवं, षष्ठीसमासस्यैवात्र युक्तत्वात्; नहि वयमत्र निर्धारणार्थतां ब्रूमः। पुत्रादिवत्सम्बन्धिशब्दो ह्यसौ। अधमादिसापेक्षं ह्युत्तमत्वम्। इदं च सूचितम्—**उक्तैर्हेतुभिरुत्कृष्टतम** इति जातिगुणाद्यसम्बन्धिशब्देषु हि निर्धारणे षष्ठी। सम्बन्धसामान्यविहिता च षष्ठी तत्तत्सम्बन्धिशब्दसमभिव्याहारानुरोधेन तत्सम्बन्धविशेषं प्रतिपादयति। एवमेव हि नागोत्तमादिशब्दानां साधुत्वं वैयाकरणैर्व्याख्यातम्। अत्र च 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' [१५।१७] 'क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः' इति चार्थकथनमात्रं, न तु तत्समासांशद्वयविवक्षा। एवमेव "स उत्तमः पुरुषः" इति श्रुत्युदाहरणमपि। केचित्तु पञ्चमीसमासं व्याकुर्वते। न चोत्तमशब्दयोगे पञ्चमी न शिष्टेति वाच्यं; यथा 'यस्मादधिकम्' [अष्टा. २।३।९] इत्यादिसौत्रप्रयोगादशिष्टस्यापि परिग्रहः; 'एवमक्षरादपि चोत्तमः' इत्यादिप्रयोगबलादेव तत्परिग्रहोपपत्तेः। इदमपि सूचितं **मुक्तादप्युक्तैर्हेतुभिरुत्कृष्टतम** इति। योगविभागाच्च पञ्चम्या उत्तमादिशब्दैः समासोऽप्यनुशिष्ट एव। एवं सप्तमीसमासत्वेऽपि न दोषः, शौण्डादिष्वपठितत्वेऽपि तत्रापि योगविभागाभ्यनुज्ञानादेव तदुपपत्तेः। एतत्सर्वं विजानद्भिर्महाकविभिरपि विवक्षितयोग एवायं प्रयुज्यते प्रतिपाद्यते च। तथाऽऽदिकाव्ये 'न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः' [वा. रा. ११८।३०] इति। तदेतत्सर्वमभिसन्धाय भगवद्यामुनमुनिभिरुक्तं स्तोत्रे 'कः पुण्डरीकनयनः पुरुषोत्तमः कः' इति॥ १८॥

५ आ. मा. भा.—॥ १८॥

६ ज. प्र. दी.—॥ १८॥

७ ह. पै. भा.—तन्नामनिर्वचनार्थमाह—**यस्मादिति**। यस्मात्क्षरं पुरुषमतीतोऽतिक्रम्य स्थितः। अक्षरादपि पुरुषादुत्कृष्टतमः, सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितत्वात्। तथा च श्रुतिः—"उदिति नाम स (एव) एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः" [छां. उ. १।६।७] इति। अतो हेतोरस्मिँल्लोके वेदे च पुरुषोत्तम इति प्रथितः। तस्मादहं सर्वलोकप्रसिद्ध इत्यर्थः॥ १८॥

८ वें. ब्र. गि.—एवम् 'द्वाविमौ' [१५।१६] इतिश्लोकद्वयोक्तस्वकीयनिरुपाधिकब्रह्माद्वैतस्वरूपं स्वकीयपुरुषोत्तमनामनिर्वचनेन संवादयति भगवान्—**यस्मादिति**। यस्मात्क्षरं कार्यजातमतिक्रान्तोऽहं अक्षरादपि मायाख्यादुत्तमः तदधिष्ठातृतया तदीयदोषास्पृष्टः, अतः क्षराक्षराभ्यां पुरुषोपाधिभ्यामैक्याध्यासेन पुरुषपदव्यपदेश्याभ्यामुत्तमत्वात् लोके वेदे च पुरुषोत्तम इति प्रथितोऽस्मि। लोके हि तावत् 'हरिरेकैः पुरुषोत्तमः स्मृतो महेश्वरस्त्र्यम्बक एव नापरः' [र.वं. ३।४९] इत्यादि, वेदे च "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते (स उत्तमः पुरुषः)" [छां. उ.८।३।४] इत्यादि प्रसिद्धम्॥ १८॥

९ ब० त० दी०—एवम्भूतं पुरुषोत्तमत्वं स्वस्य निरुक्त्या स्वयं निर्दिशति—**यस्मादिति**। क्षरमतिक्रम्येतः अक्षरादपि चोत्तम इति अतो लोके वेदे च प्रथितोऽहं पुरुषोत्तम इति पुरुषाभ्यां क्षराक्षराभ्यां उत्तम इत्येवं वेदे "ब्रह्मविदाप्नोति परं" [तै. उ.२।१] इति श्रुतौ लोके च माहात्म्यदर्शनात्; अतः सच्चिदानन्दाकृतिरेवाहं परिदृश्यमानोऽपि, प्रतीत्यन्तरं तु माययेति सिद्धान्तः॥ १८॥

१० पु. अ. त.—तद्रूपश्चाऽयमेवातः सोऽहमेवेत्याह—**यस्मादिति**। यस्मात् क्षरं जडादिदेहधर्मं अतीतोऽतिक्रान्तोऽहं परिदृश्यमान आनन्दरूपः। अक्षरादपि कूटस्थचेतनात्मकादपि उत्तमोऽस्मि, अतो लोके चतुर्दशभुवनात्मके, वेद, चकारेण सूत्रस्मृत्यादिष्वपि पुरुषोत्तमः प्रथितः कथितो विख्यात इति भावः॥ १८॥

११ नी० भा० दी०—**यस्मादिति**। क्षरमुपाधिमक्षरं चोपाधिमतीतोऽतिक्रम्य स्थितोऽहमतोऽक्षरादपि- चेति चशब्दात् क्षरादपि- उत्तमः उत्कृष्टतमः। जडात्क्षररूपादुपाधेरुत्कृष्टस्तदुपहितो जीवश्चेतनत्वात्, ततोऽप्युत्कृष्टतरो मायोपाधिः स्वतन्त्रत्वात्, ततोऽप्युत्कृष्टतमोऽनुपाधिरनागन्तुकरूपत्वात्। अक्षरार्थः स्पष्टः॥ १८॥

भगवतः पुरुषोत्तमस्य परमात्मनः पुरुषोत्तमयोगाध्यायस्य च ज्ञानफलम्।

**यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**
**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत!॥ १९॥**

१ शां. भा.— अथेदानीं यथानिरुक्तमात्मानं यो वेद तस्येदं फलमुच्यते—यो मामिति । यो मामीश्वरं यथोक्तविशेषणमेवं यथोक्तेन प्रकारेणासम्मूढः सम्मोहवर्जितः सन् जानात्ययमहमस्मीति पुरुषोत्तमं, स सर्ववित्सर्वात्मना सर्वं वेत्तीति सर्वज्ञः सर्वभूतस्थं भजति मां सर्वभावेन सर्वात्मचित्ततया हे भारत ! ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— आत्मनोऽप्रपञ्चत्वं ज्ञानफलोक्त्या स्तौति— अथेति । यथोक्तविशेषणं सर्वात्मत्वादिविशेषणोपेतमिति यावत् । क्षराक्षरातीतत्वं यथोक्तप्रकारः । सम्मोहवर्जितः सम्मोहेन देहादिष्वात्मात्मीयत्वबुद्ध्या रहित इत्यर्थः । भगवन्तं जानतः सर्ववित्त्वं तस्यैव सर्वात्मनामेयत्वादित्याह— स सर्वविदिति । सर्वात्मनि मय्येवाऽऽसक्तचित्तत्वेनेत्यर्थः ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— य एवं उक्तेन प्रकारेण पुरुषोत्तमं मामसम्मूढो जानाति क्षराक्षरपुरुषाभ्यामव्ययस्वभावतया व्यापनभरणैश्वर्यादियोगेन च विसजातीयं जानाति, स सर्ववित् मत्प्राप्त्युपायतया यद्वेदितव्यं तत्सर्वं वेद । भजति मां सर्वभावेन ये च मत्प्राप्त्युपायतया मद्भजनप्रकारा निर्दिष्टास्तैश्च सर्वैर्भजनप्रकारैर्मां भजते, सर्वैर्मद्विषयैर्वेदनैर्मम या प्रीतिर्या च मम सर्वैर्मद्विषयैर्भजनैः उभयविधा सा प्रीतिरनेन वेदनेन मम जायते ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं पुरुषोत्तमशब्दनिर्वचनं तथाऽनुचिन्तनार्थमिति व्यञ्जयन् पुरुषोत्तमत्ववेदनं स्तौति— 'यो मामेवम्' इति श्लोकेन । पुरुषोत्तमत्वेन जानातीति विवक्षायामसम्मूढपदनैरर्थक्यम् । अतएव 'पुरुषोत्तमं ... माम्' इत्यर्थस्थितिं निर्दिश्य तत्र यथावज्ज्ञानं 'असम्मूढो जानाति' इत्युच्यते । तदाह— य एवमुक्तेनेति । एकीकृत्य मोहरहितत्वमसम्मूढत्वम् । तच्च पूर्वोक्तस्वप्रकारान्यत्वानुसन्धानादित्याह— क्षराक्षरेति । एवमसम्मूढशब्देन पराभिमतजीवेश्वरैक्यवेदनस्य भ्रान्तिरूपत्वं प्रकृतिपुरुषेश्वरभेदस्य पारमार्थिकत्वं च व्यञ्जितम् । 'स सर्ववित्' इत्यत्र पुरुषोत्तमशब्दार्थवेदनेनाष्टादशविद्यास्थानादिवेदनासिद्धेरत्र चानपेक्षितकेशकीटादिसङ्ख्यावेदनेन स्तुत्यसम्भवात् तस्य 'भजति मां सर्वभावेन' इत्यत्र मन्दप्रयोजनत्वाच्च भजनानुष्ठानोपयोगिविषयतया नियच्छति— मत्प्राप्त्युपायतयेति । भजनक्रियावशीकृतः सर्वभावशब्दो भजनावान्तरभेदतया प्राक्प्रपञ्चितकीर्तनयतनादिप्रकारपरः । 'वासुदेवः सर्वम्' [७।१९] इत्याद्यर्थविवक्षातोऽप्ययमेवार्थः स्तुत्युपयोगातिशयादिहोपादेय इत्यभिप्रायेणाह ये चेति । भावशब्दोऽत्र क्रियावाची पदार्थमात्रवाची वा सन्प्रकाराख्यविशेषे विश्रान्तः ।

नन्वत्र तत्त्वहितवेदनं हितानुष्ठानं च शास्त्रफलं विवक्षितम् । तत्र न तावत्पुरुषोत्तमत्ववेदनमेव परव्यूहविभवगुणचेष्टितादिसर्ववेदनं सर्वविधभजनकरणं च स्वरूपान्यथात्वात् । न चारोप्य स्तुतिः, अनूर्जितत्वान्निष्फलत्वाच्च । न चात्र हेतुफलभावविवक्षा 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्' [१५।२०] इत्यनन्तरेण पौनरुक्त्यात् अतो निरर्थकमिदमित्यत्राह— सर्वैर्मद्विषयैरिति ॥ १९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १९ ॥

७ ह. पै. भा.— अथेदानीं यः पुरुषोत्तमनामानं पुरुषं वेद तस्य फलमुच्यते—य इति । यो मां परमेश्वरमेवमसम्मूढो निश्चितबुद्धिर्वेत्ति पुरुषोत्तमम् । नामकर्मस्वरूपबलवीर्यतेजोभिरित्यर्थः ॥ १९ ॥

८ वं. ब्र. गि.— एतन्नामनिर्वचनज्ञाने फलमाह— यो मामिति । यः पुमानसम्मूढः परिच्छिन्नोऽयमिति सम्मोहवर्जितः सन् एवं यथोक्तनामनिर्वचनप्रकारेण मां पुरुषोत्तमं जानाति निखिलजगदधिष्ठानभूतं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावमद्वितीयं ब्रह्मैवेति प्रतिपद्यते, स सर्ववित् सर्वज्ञः "यस्मिन्विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति" इति श्रुतेः, तथा सर्वभावेन 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' [७।१९] इत्युक्तरूपेण सर्वात्मकत्वेन मां भजते, कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— यतोऽहमेतादृशस्वरूपः सर्वोत्तमः पुरुषोत्तम इति अतः सञ्ज्ञानवान् सर्वज्ञोऽन्यभजनरहितो मां भजतीत्याहुः– यो मामिति । असम्मूढः सम्मोहस्यासुरत्वात्तद्रहितो यो मामजमनादिं पुरुषोत्तमं जानाति स सर्ववित् एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानात्सर्वात्मभावेन मां भजति सेवत इति मार्गान्तराद्वैलक्षण्यं दर्शितम् । 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' इति निबन्धेऽप्युक्तम् ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— अतोऽहं पुरुषोत्तमः, अतो मज्ज्ञानवान् सर्वज्ञः सोऽन्यभजनरहितो मां भजतीत्याह— यो मामिति । यो दुर्लभो मामसम्मूढो मोहादिदोषरहितो व्यवसितमतिरेवं पूर्वोक्तप्रकारेण पुरुषोत्तमं जानाति, स सर्ववित् सर्वज्ञ इत्यर्थः, सर्वविद्भवतीति वा । सर्वज्ञत्वलक्षणमाह— मां सर्वभावेन भजति । भारतेति विश्वासाय ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— एतद्विज्ञानफलमपि भक्तिरेवेत्याह — यो मामिति । असम्मूढः मम पुरुषोत्तमत्वे संशयविपर्यासादिहीनः स एव सर्ववित् , यतो मां पुरुषोत्तमं जानाति , तत्फलं च । मां सर्वभावेन सर्वात्मना सर्वैः प्रकारैर्भजति ॥ १९ ॥

**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ! ।**
**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ! ॥ २० ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

**१ शां. भा.**— अस्मिन्नध्याये भगवत्तत्त्वज्ञानं मोक्षफलमुक्त्वाऽथेदानीं तत्स्तौति— **इतीति** । इत्येतद्गुह्यतमं गोप्यतमं, अत्यन्तरहस्यमित्येतत् । किं तत् ? शास्त्रम् । यद्यपि गीताख्यं समस्तं 'शास्त्रं' उच्यते; तथाऽप्ययमेवाध्याय इह 'शास्त्रं' इत्युच्यते, स्तुत्यर्थं प्रकरणात् । सर्वो हि गीताशास्त्रार्थोऽस्मिन्नध्याये समासेनोक्तः । न केवलं गीताशास्त्रार्थ एव, किन्तु सर्वश्च वेदार्थ इह परिसमाप्तः । 'यस्तं वेद स वेदवित्' [ १५।१ ] 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' [ १५।१५ ] इति चोक्तम् । इदमुक्तं कथितं मया हेऽनघापाप ! । एतच्छास्त्रं यथादर्शितार्थं बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्याद्भवेत् , नान्यथा । कृतकृत्यश्च भारत ! कृतं कृत्यं कर्तव्यं येन स कृतकृत्यः, विशिष्टजन्मप्रसूतेन ब्राह्मणेन यत्कर्तव्यं तत्सर्वं भगवत्तत्त्वे विदिते कृतं भवेदित्यर्थः । न चान्यथा कर्तव्यं परिसमाप्यते कस्यचिदित्यभिप्रायः । 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते' [ ४।३३ ] इति चोक्तम् । 'एतद्धि जन्मसामग्र्यं ( साफल्यं ) ब्राह्मणस्य विशेषतः । प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा' [ १२।९३ ] इति च मानवं वचनम् । यत एतत्परमार्थतत्त्वं मत्तः श्रुतवानसि अतः कृतार्थस्त्वं भारतेति ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीभगवद्गीताभाष्ये पुरुषोत्तमयोगो नाम पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

२ आ. शां. व्या.— अध्यायार्थमनूद्योपसंहारश्लोकमवतारयति— **अस्मिन्निति** । सर्वस्यां गीतायां शास्त्रशब्दे वक्तव्ये कथमस्मिन्नध्याये तत्प्रयोगः स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यद्यपीति** । सन्निहितमध्यायं स्तोतुमपि कुतस्तत्र शास्त्रशब्दः ? तदर्थाभावात्तत्राऽऽह— **सर्वो हीति** । गीताशास्त्रार्थस्य सर्वस्यात्र सङ्क्षिप्तत्वादेव केवलं शास्त्रशब्दो न भवति, किन्तु वेदार्थस्यापि सर्वस्यात्र समाप्तेर्युक्तं शास्त्रपदमित्याह— **नेति** । तत्र गमकमाह— **यस्तमिति** । भगवत्तत्त्वज्ञाने कृतकृत्यतेत्येतदुपपादयति— **विशिष्टेति** । नान्यथेत्युक्तं प्रपञ्चयति— **न चेति** । सत्यपि तत्त्वज्ञाने कर्मणां कर्तव्यत्वान्न कर्तव्यसमाप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वमिति** । तत्त्वज्ञाने कृतार्थतेत्यत्र मनोरपि सम्मतिमाह— **एतद्धीति** । भारतेति सम्बोधनतात्पर्यमाह— **यत** इति । तदनेनाऽऽत्मनो देहाद्यतिरिक्तत्वं चिद्रूपत्वं सर्वात्मत्वं कार्यकारणविनिर्मुक्तत्वेनाप्रपञ्चत्वं तस्याखण्डैकरसब्रह्मात्मत्वज्ञानादशेषपुरुषार्थपरिसमाप्तिरित्युक्तम् ॥ २० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.**— इत्येतत्पुरुषोत्तमत्ववेदनं पूजयति— **इतीति** । इत्थं मम पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादनं सर्वेषां गुह्यानां गुह्यतममिदं शास्त्रं त्वमनघतया योग्यतम इति कृत्वा मया तवोक्तम् । एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च, मां प्रेप्सुना उपादेया या बुद्धिः सा सर्वा उपात्ता स्यात् । यच्च तेन कर्तव्यम्, तत्सर्वं कृतं स्यादित्यर्थः । अनेन श्लोकेनानन्तरोक्तं पुरुषोत्तमविषयं ज्ञानं शास्त्रजन्यमेवैतत्सर्वं करोति; न तु साक्षात्काररूपमित्युच्यते ॥ २० ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— यदि पुरुषोत्तमत्ववेदनमात्रेण भगवतः सर्वविधा प्रीतिर्जायते, तर्हि भजनाद्यनुष्ठानविधिवैयर्थ्यम्; तत्राह— **इत्येतदि**ति । सर्वासां प्रतीतीनामेतदेव हि मूलकारणम् । फलसाम्याद्वा सर्वस्य विदितत्वकृतकृत्यत्ववचनमिति भावः । इत्येतदित्यादिकमुत्तरश्लोकावतारिका वा । रहस्यतया गोपनीयतमत्वं पारमार्थिकत्वं फलप्रकर्षं च व्यञ्जयन्निगमयति— **इति गुह्यतम**मिति श्लोकेन । एतदेव गीताशास्त्रनिगमनमिति वदतां प्रतिक्षेपायाह- **पुरुषोत्तमत्वप्रतिपादन**मिति । पञ्चदशोऽध्याय इत्यर्थः । 'अनघ!' इति सम्बुद्धिरधिकारिसूचनार्थेत्याह— **अनघतया योग्यतम इति कृत्वे**ति । एवं भारतसम्बुद्धिरपि जन्मतोऽधिकारित्वसूचनार्थम् । **इदमि**ति— अस्य 'वक्ता श्रोता च दुर्लभः' इत्यभिप्रायः । **इदं** शास्त्रान्तरेभ्य उत्कृष्टतममिति वा । उक्तं चाभियुक्तैः 'यस्मिन् प्रसादसुमुखे कवयोऽपि ते ते शास्त्राण्यशासुरिह तन्महिमाश्रयाणि । कृष्णेन तेन यदिह स्वयमेव गीतं शास्त्रस्य तस्य सदृशं किमिहास्ति शास्त्रम्' इति । **मया** वक्तव्यतत्त्ववेदिना, त्वदधिकारवेदिना, तव सख्या चेत्यर्थः । प्रागुक्तशास्त्रानुवादताभ्रमव्युदासायाह **तवोक्त**मिति । 'सा विद्या या विमुक्तये' 'विद्याऽन्या शिल्पनैपुणम्' [वि. पु. १।१९।४१] 'तज्ज्ञानमज्ञानमतोऽन्यदुक्तम्' [वि. पु. ६।५।८७] 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा' [१३।१२] इत्यादिभिरन्यासां बुद्धीनां अबुद्धिप्रायतोक्तेरिह बुद्धिशब्दविवक्षितमाह— **मां प्रेप्सुनोपादेये**ति । कृत्यशब्दोऽप्यत्र मुमुक्ष्वपेक्षितविषयः । तस्यैव 'तत्कर्म यन्न बन्धाय' [वि. पु. १।१९] इत्यादिषु ग्रहणात्, अन्येषां च 'आयासायापरं कर्म' [वि. पु. १।१९] इति निन्दनादित्यभिप्रायेणाह **यच्च तेन कर्तव्य**मिति । प्रस्तुतोऽर्थस्तज्ज्ञानं वाऽत्र प्रशंसनीयम्, किमत्र शास्त्रग्रहणेन ? तथाऽत्र पूर्वश्लोकपौनरुक्त्यमित्यत्राह **अनेन श्लोकेने**ति ।

**अयमभिप्रायः**— सार्थकशास्त्रज्ञानशक्त्या 'एतद्बुद्ध्वा' इत्यनूद्यते; अतोऽर्थज्ञान एव तात्पर्यं; तत्र शास्त्रशब्दग्रहणं शास्त्रमात्रजन्यस्यापि ज्ञानस्य फलाविनाभावापेक्षयेति । 'स सर्ववित्' [१५।१९] इत्यादेः 'बुद्धिमान्स्यात्' इत्यादेश्च अर्थैक्यमभिसन्धाय पुनरुक्तिपरिहारश्चात्र कृतः । भारत एतद्बुद्ध्वा त्वमपि कृतकृत्य इति च भावः ॥ २० ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु श्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ २० ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य गीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां पञ्चदशोऽऽध्यायः ॥ १५ ॥

**७ ह. पै. भा.**— इत्थं गुह्यतमं शास्त्रं शासनात्त्राणनाच्च उक्तमभिहितम् । एतच्छास्त्रं बुद्ध्वा बुद्धिमान् ब्रह्मवित् स्यात्कृतकृत्यश्च । कृतं कृत्यं येन स कृतकृत्यः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने
पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अध्यायार्थमुपसंहरति— इतीति। इति अनेन प्रकारेण गुह्यतमं रहस्यतमं सम्पूर्णं शास्त्रमेव सङ्क्षेपेणेदमस्मिन्नध्याये मयोक्तम्। ब्रह्मतत्त्वज्ञानिनः परब्रह्मभावापत्तिरूपा मुक्तिर्भवतीत्येवंरूपस्यैतदध्यायार्थस्यैव कृत्स्नगीताशास्त्रार्थत्वादित्यभिप्रायः। एतदध्यायार्थरूपं शास्त्रं बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृत्स्नशास्त्रार्थज्ञानवान् स्यात्, तथा कृतकृत्यश्च स्याद्भवति। 'अनघ भारत!' इत्यनेन यः कश्चिदप्येतद्बुद्ध्वा कृतार्थो भवति; महाकुलप्रसूतः परिशुद्धस्त्वं कृतकृत्योऽसीति किमुत वक्तव्यम्? इति प्रदर्शितम्॥ २०॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
श्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्द-
गिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

९ व० त० दी०— अध्यायार्थमुपसंहरति— इतीति। इत्थं पुरुषोत्तमयोगकं शास्त्रं सर्ववेदान्तसारत्वाद्गुह्यतमं मया सर्ववेदान्तवेद्यचरणेन वेदान्तकृता पुरुषोत्तमेन त्वमनघतया योग्य इति तवोक्तं, अतएव तद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् शास्त्रतात्पर्यज्ञानवान् कृतकृत्यश्च स्यात् योऽपि कोऽपि। हे भारत! त्वं कृतकृत्योऽसीति किमु वक्तव्यम्? इति भावः॥ २०॥

प्रपञ्चतः क्षराच्चाहमक्षरादपि चोत्तमः। भजनीय इति श्रीमान् स्वयं पञ्चदशेऽब्रवीत्॥ १॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

१० पु. अ. त.— उपसंहरति— इतीति। इति अमुना प्रकारेण गुह्यतममतिगुप्तरहस्यं शास्त्रं शासनधर्मरूपं हे अनघ निष्पाप! कुतर्काद्यनुपहतमते! इदं प्रत्यक्षं मया कृपालुनेत्यर्थः। उक्तं कथितमित्यर्थः। प्रयोजनमाह— एतदिति। बुद्धिमान् कुशल एतद्बुद्ध्वा कृतं कृत्यमेतत्सेवारूपं येन तादृशो भवेदित्यर्थः। यद्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्य इत्यर्थः। अनेन सर्वेषां दैवजीवानां स्वरूपज्ञानार्थं प्रकटितमिति भावः। भारतेतिसम्बोधनेन साहजिकबुद्धिमतो येन कृतकृत्यता स्यात्तत्र वंशोद्भवे त्वयि किं वक्तव्यं? इति भावो व्यञ्जितः॥ २०॥

कृष्णः पञ्चदशेऽध्याये लोकानां हितकाम्यया। पुरुषोत्तमयोगं हि पार्थाय कृपयाऽऽदिशत्॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

११ नी० भा० दी०— अस्मिन्नध्याये भगवत्तत्त्वज्ञानस्य मोक्षफलत्वमुक्त्वाऽथेदानीं तत्स्तौति— इतीति। इति एतद्गुह्यतममत्यन्तरहस्यं शास्त्रं यद्यपि इयमष्टादशाध्यायी कृत्स्ना शास्त्रं तथाप्यस्मिन्नध्याये कृत्स्नस्य शास्त्रार्थस्य प्रदर्शनादयमपि शास्त्रम्। अत्र हि कार्यकारणविभागः संसारवृक्षस्यानित्यत्वं भगवतो विभूतयः 'यस्तं वेद स वेदवित्' [ १५।१ ] 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' [ १५।१५ ] इत्यादिना सर्वः शास्त्रार्थो दर्शितोऽस्ति। इदं मयोक्तं हे अनघ निर्व्यसन! एतद्रहस्यं बुद्ध्वा बुद्धिमान् ज्ञानी स्यात् आत्मविद्भवेत् तावता कृतकृत्यः। सर्वं हि कृत्यं परमात्मावगतिपर्यन्तं, तत्रैव कृत्स्नपुरुषार्थसमाप्तेः। चात्प्राप्तप्रापणीयश्च स्यात् भवति; नातःपरं कर्त्तव्यमवशिष्यते इत्यर्थः॥ २०॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे पञ्चदशोऽध्यायः॥ १५॥

# पञ्चदशाध्यायटिप्पण्यः ।

**श्लोकः १—** इदं प्रपञ्चस्याश्वत्थरूपकं सम्यक् परिष्कृत्योक्त**माचार्यचरणै**ः कठोपनिषद्भाष्ये—

" अविच्छिन्नजन्मजरामरणशोकाद्यनेकानर्थात्मकः, प्रतिक्षणमन्यथास्वभावः, मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरादिवत् दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः, कदलीस्तम्भवन्निस्सारः, अनेकशतपाखण्डबुद्धिविकल्पास्पदः, तत्त्वविजिज्ञासुभिरनिर्धारितेदन्तत्त्वः, वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारः, अविद्याकामकर्माव्यक्तबीजप्रभवः, अपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः, सर्वप्राणिलिङ्गभेदस्कन्धः, तत्तत्तृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पः, बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः, श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशः, यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः, सुखदुःखवेदनानेकरसः, प्राण्युपजीव्यानन्तफलः, तत्तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररूढजटिलीकृतदृढबद्धमूलः, सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतपक्षिकृतनीडः, प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिताक्रुष्टरुदितहाहामुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवः, वेदान्तविहितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थवत्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचालितस्वभावः । " (६।१) इति ॥

**छन्दांसि पर्णानी**ति । यथा वृक्षस्य मानत्वफलवत्त्वसरसत्वादयः पर्णैः सूच्यन्ते, एवं ब्रह्मतत्त्वस्य वेदोपलक्षितशास्त्रद्वारिका प्रतीतिरित्याख्यायते ॥ किमर्थं जगतो वृक्षत्वकल्पना ? इति चेत्, छेद्यत्वसूचनेन छेदनसाधनशस्त्रसम्पादनप्रवृत्त्युत्पादनाय । कथं वृक्षत्वरूपणमात्रेण छेदनावश्यकतासूचनम् ? न हि वृक्षा वृक्षत्वमात्रेण च्छिद्यन्त इति चेत्; कस्यचित् प्राप्तव्यमेकमभिलषितं स्थानमुद्दिश्य स्वगृहान्निर्गत्य गच्छतः पथि यदि सुमहानेको वृक्षस्तिर्यक्पतितः स्यात्, तर्हि स तमच्छित्त्वा ततः परं गन्तुं न शक्नोति, तद्वत् प्राप्तव्यं मोक्षस्थानमुद्दिश्य तन्मार्गे श्रवणमननादौ गच्छन् पुरुषः प्रकृतिप्राकृतसमुदायं तिर्यक्पतितवृक्षवत् गमनप्रतिबन्धकं भक्तिविरक्तिरूपेण शस्त्रेण छित्त्वैव तस्मिन् मार्गे यावद्गन्तव्यम्, तावद्गत्वा प्राप्तव्यं मोक्षस्थानमाप्नोति; अतश्छेदनमावश्यकमित्यर्थस्य बोधनाय गङ्गातरङ्गतुद्यमानोत्तुङ्गतत्तीरसरणौ तिर्यङ्निपतितं समीरणेनार्धोन्मूलितं महान्तमश्वत्थमुपमानीकृत्य रूपककल्पनेति द्रष्टव्यम् । एतच्च 'ऊर्ध्वमूलमधश्शाखं' इत्युक्तेरवगम्यते । ऊर्ध्वमूलत्वमधश्शाखत्वं चोन्नतनदीकूलादौ तिर्यङ्निपतितस्य महावातोन्मूलितवृक्षस्यैव सम्भवति । अच्छित्त्वा च तं परत्र गन्तुं न शक्यते। तद्वदमुं वृक्षं छित्त्वैव मोक्षस्थानमाप्तव्यमिति ।

नन्वस्तु नाम वृक्षत्वकल्पना, साऽश्वत्थत्वेनैव कुतः ? इति चेत्, रूपकविधया यः कश्चन महान्वृक्ष उपमानीकरणीयः, तत्र यदि वटतिन्तिणीचूतादय उपमानीक्रियेरन्, तर्हि तत्तद्वाचकपदप्रयोगः कर्तव्यः स्यात् । वटादिशब्दप्रयोगश्च प्रकृतस्य जगद्वृक्षस्याविश्वसनीयतारूपे विवक्षितेऽर्थे नोपयुज्यते । अश्वत्थवृक्षस्योपमानीकरणे तद्बोधनाय कृतोऽश्वत्थशब्दप्रयोगः श्वः न तिष्ठतीति व्युत्पत्त्या अश्ववदतिवेगेन गमनशीलतया वर्तत इति व्युत्पत्त्या वा जगतो नश्वरत्वेनाविश्वसनीयतारूपेऽर्थे उपयुज्यते । अत एव 'ऊर्ध्वमूलः' ( कठो. ६।१ ) इति श्रुतावप्यश्वत्थत्वेन रूपणम् ॥

**नव्यास्तु**—'श्वोऽपि न तिष्ठतीत्यश्वत्थ' इत्याध्यात्मिकी निरुक्तिरर्वाचीनैरेव कल्पिता । यद्यपि नामरूपात्मिकाया मायायाः स्वरूपं विकारित्वाद्विनाशित्वाच्च तादृशमनित्यमिति वक्तुं शक्यम्, तथापि नात्र तदभिप्रेतमित्यव्ययमिति विशेषणेनैव व्यक्तमित्याहुः । तन्न, उक्तविशेषणस्यानित्यस्यापि संसारस्य प्रवाहरूपेणानित्यत्वबोधनार्थत्वात् । अन्यथा 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' ( १५।३ ) इति वक्ष्यमाणमप्यसङ्गतं स्यादिति यत्किञ्चिदेतत् । यत्तु— परमेश्वरः स्वर्गेऽस्ति ततः प्रवृत्तस्य जगद्वृक्षस्याधो मनुष्यलोके प्रसृतत्वादस्य मूलं परमेश्वर ऊर्ध्वम्— इत्यादि; तत्परमेश्वरस्य परिच्छिन्नत्वापादकं सकलशास्त्रविरुद्धं च केवलं **बालजल्पित**मेव । यदपि— "प्रजापतिर्देवेभ्यो निलायत । अश्वो रूपं कृत्वा । सोऽश्वत्थे संवत्सरमतिष्ठत् । तदश्वत्थस्याश्वत्थत्वम् ॥" ( तै. ब्रा. ३।८।१२ ) इत्यश्वत्थशब्दस्य श्रौतनिर्वचनप्रदर्शनादि, तत्सर्वमप्यप्रकृतत्वादकाण्डपाण्डित्यप्रदर्शनमात्रमिति न परामृश्यते ।

**— अविगीता ।**

**श्लोकः ३—**

न रूपमस्य नान्तोऽस्य छित्वैनमिति चेश्वरः । इन्द्रजालोपमत्वेन भवाश्वत्थं न्यरूपयत् ॥
सम्यग्दृशा वीक्ष्यमाणं रूपं नास्योपलभ्यते । एतत्प्रयोक्तुर्नित्यत्वादयमाद्यन्तवर्जितः ॥

रज्जुसर्पसमस्यास्य तुच्छाज्ञानोद्भवत्वतः । प्रतिष्ठाख्यं लयस्थानं नास्ति कुम्भस्य मृद्यथा ॥
'अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यदुपादानकारणम् । अज्ञानं तदुपाश्रित्य ब्रह्म कारणमुच्यते ॥'
इत्येवं वार्तिकाचार्यैरुपचारात्परात्मनः । उक्तोपादानता तस्मादप्रतिष्ठो भवद्रुमः ॥
दुस्स्वप्न इव संसारः सङ्गमात्रेण दुःखदः । तमसङ्गासिना छित्त्वा प्रयाहि परमं पदम् ॥
नित्यं बद्धदृशामिन्द्रजालं शुद्धदृशां त्विदम् । कालत्रयेऽपि नास्तीति न्यायमत्रापि योजयेत् ॥
प्रवाहनित्यं जगदित्याहुर्मीमांसकाः स्फुटम् । व्यवहारे भाट्टनयो ह्यस्माकमपि सम्मतः ॥

इति भरतभावदीपे (१।१।२३)

सुदृढेनासङ्गशस्त्रेण अश्वत्थोऽयमनायासेन च्छेत्तुं शक्य इति सूचयितुं 'छे च' (अष्टा. ६।१।७३) इति शास्त्रविहित-तुगागमानाश्रयणेन 'दृढेन छित्त्वा' इति सुखोच्चारणम्। — अविगीता।

**श्लोकः ४**— 'ततः परं तत्' इति पाठः, तत्र ब्रह्मेत्यर्थाल्लभ्यते। ततः अनन्तरं परं परब्रह्मेति वा व्याख्येयम्। तत इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वात् परस्तादिति बोधः॥ तस्य जगद्वृक्षस्य पदं आश्रयभूतं ब्रह्म, तत इति षष्ठ्यर्थे तसिः— इति **केचित्**। — अविगीता।

**श्लोकः ६**— गत्वा अभेदेन प्राप्य तद्भावं प्राप्य। जीवस्य 'अहं ब्रह्मास्मि' इति वेदान्तवाक्यजन्यसाक्षात्कारादहं न ब्रह्मेत्यज्ञाननिवृत्तिर्गत्वेत्युच्यते। निवृत्तस्य चानाद्यज्ञानस्य पुनरुत्थानाभावेन तत्कार्यसंसाराभावः 'न निवर्तन्ते' इत्युच्यते। अतो गमनानिवृत्त्योरुक्त्या जीवब्रह्मणोर्भेद उक्तो भवतीति शङ्काया नावकाशः। गत्वा ज्ञात्वेति वा। सूर्याद्यप्रकाश्यत्वोक्त्या तदनुग्राह्यचक्षुराद्यगम्यत्वमुच्यते मम मदभिन्नम्। 'राहोः शिरः' इतिवदभेदे षष्ठी। — अविगीता।

**श्लोकः १०**— शरीरस्थितियोगात्तिष्ठन्तं, शरीरान्तरग्रहणायोत्क्रामन्तं, विषयान्वा भुञ्जानं मूढा न पश्यन्ति, अप्रबुद्धत्वात्। प्रबुद्धास्तु सर्वत्रैव बोधरूपमनुसन्दधाना जानन्त्येवेत्यलुप्तसमाधयः, तेषां यत्नपरत्वात्। अकृतात्मनां तु यत्नोऽपि न फलाय, अपरिपक्वकषायत्वात्। नहि शरदि सलिलादिसामग्रीसम्मर्देऽपि धान्यबीजान्युप्यमानानि फलसम्पदेऽलम्। अत एव सामग्र्येव साऽस्य न भवति। अन्यदेव किल मधुमाससम्भृतजलधरपटलीप्रेरितमम्भः, काचिदेव च सा भूर्यस्यां शिशिरविवशीकृतायां रविकरस्पर्शेनैव कान्तिः। एवमकृतात्मनां यत्नो न सकलाङ्गपरिपूर्णः कर्तुमायाति। अत एव प्राप्याप्युपायं पारमेश्वरदीक्षादि, ये तथाविधक्रोधमोहादिग्रन्थिसन्दर्भगर्भीकृतान्तर्दशस्तेषूपाय एव साकल्यं न भजतीति मन्तव्यम्। तदुक्तम्- 'क्रोधादौ दृश्यमाने हि दीक्षितोऽपि न मुक्तिभाक्।' **इत्यभिनवगुप्तपादाः**। वाशब्द इवार्थे। उपाधावुत्क्रामति उत्क्रामन्तमिव, उपाधौ स्थिते स्थितमिव, उपाधौ भुञ्जाने भुञ्जानमिव, उपाधौ गुणान्विते गुणान्वितमिव, प्रतीयमानमात्मानं विमूढा नानुपश्यन्ति; ज्ञानचक्षुषस्तु पश्यन्तीत्यर्थः। — अविगीता।

**श्लोकः १३**— अहं रसात्मकः सोमो भूत्वा गां भूमिमाविश्य सर्वा ओषधीर्वर्धयामि च। तत ओजसा अन्नादिसामर्थ्येन भूतानि धारयामि चेत्येकवाक्येन व्याचक्षते **केचित्**। ओजसा तेजसेति **नव्याः**। तदयुक्तम्, ओजश्शब्दस्य तेजोऽर्थत्वाभावात्, प्रकृते धारणे च बलस्यैवोपयुक्तत्वाच्च। — अविगीता।

**श्लोकः १४**— प्राणिनामिति सामान्येनोक्त्या सर्वैरपि प्राणवद्भिर्भुज्यमानमदनीयमन्नं पार्थिवं, आप्यम्, तैजसम्, वायव्यं चेति चतुर्विधम्। तत्र मनुष्यादीनां पार्थिवम्, चातकादीनां आप्यं, वालखिल्यादीनां तैजसं, सर्पादीनां वायव्यमिति विवेकः— इति **केचित्**। — अविगीता।

**श्लोकः १५**— अत्राहुर**भिनवगुप्तपादाः**— बोध्यरूपत्वमुक्त्वा तद्बोध्यस्वरूपपृष्ठपतितस्वातन्त्र्यबोधस्वभावमात्मानं परस्वभावं परमेश्वरस्वरूपं सर्वज्ञानस्वतन्त्रं सर्वकर्तारं दर्शयितुमाह— **सर्वस्ये**ति। सर्वस्य वेद्यस्य यद्यत्समस्ताहरणस्वतन्त्रबोधस्वभावम्, तत्राहमिति यो विमर्शस्तत एवापूर्वावभासनामयं ज्ञानं विश्वमहासृष्टिरूपं 'अयं घट एव' इति सर्वात्मकभावखण्डनासारं विकल्पनाज्ञानात्मकम्, अपोहनम्, पाशवसृष्टिरूपमायामयप्रमात्रुचितम्, स्मरणं च संस्कारशेषतां नीतस्य संहृतस्य पुनरवभासनात्मकमितीयता समस्तज्ञानानि संहृतानीति सर्वज्ञतापूर्वकं स्वातन्त्र्यरूपं कर्तृत्वमुक्तम्। **सर्वै**रिति सम्भूय किल सर्वशास्त्राणां परमेशतत्त्वमेव निरूप्यम्। वेदवेदान्तकर्तृत्वेन कर्मफलतत्सम्बन्धादिद्वारतयाशेषविश्वनिर्माणे तदुन्मूलनेन पुनः स्वरूपप्रतिष्ठापने भगवत एव स्वातन्त्र्यमिति विश्वकर्तृत्वमुक्तम्— इत्याहुः। वेदैश्चेति चकारेण वेदानुसारिभिः शास्त्रैश्च सर्वैः। वेदैरेवाहं वेद्यः, सर्वैरेव वेदैर्वेद्यः, सर्वैर्वेदैरहमेव वेद्यः, सर्वैर्वेदैरहं वेद्य एवेत्यन्वयमाहुः **केचित्**। — अविगीता।

श्लोकः १६—'द्वाविमौ पुरुषौ' इति ग्रन्थेनेदमुच्यते—लोके तावदप्रबुद्धस्वभावोऽपि सर्वः पृथिव्यादिभूतारब्ध-शरीरमात्मानं चेतनं क्षररूपं जानातीति लोकस्य मूढत्वाद्द्वैतधीर्न निवर्तते। अहं तु सकलानुग्राही द्वैतग्रन्थिं विभिद्य सकललोक-व्यापकतया वेद्य इति क्षरमतीतो भूतानां जडत्वात्, अक्षरमतीत आत्मनोऽप्रबुद्धत्वे सर्वव्यापकत्वखण्डनात्। पुरुषोत्तमो लोके वेदेऽपि 'स उत्तमः पुरुषः' (छां. उ. ८।१२।३) इत्यादिभिर्वाक्यैः स एव परमात्माद्वय एवमुच्यते। एवं जानानः सर्वमयं मामेव ब्रह्मतत्त्वमुपासीनः सर्वं मन्मयत्वेन विदन् सर्वेण भावेन मूर्तिक्रियाज्ञानात्मकेन मामेव भजते। यत्पश्यति तद्भगवन्मूर्तितये-त्यभिनवगुप्तपादाः।

केचित्तु— क्षरशब्देनाचेतनवर्गमुक्त्वा, 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' इत्यनेन जीवमाहुः। तन्न, पुरुषोत्तमत्वेन जीवस्याग्रिमश्लोके प्रतिपादनीयतया अक्षरशब्देन तस्यैवात्र प्रतिपादने तत्र पौनरुक्त्यात्। न च पुरुषोत्तमत्वेनेश्वर एव प्रतिपादनीयः 'अव्यय ईश्वरः' इति स्पष्टमुक्तेरिति वाच्यम्; जीवपरतादात्म्यस्य मोक्षोपयोगित्वेन प्रतिपादनीयतया क्षराक्षरपदाभ्यां कल्पितपुरुष-रूपयोः कार्यकारणोपाध्योः पार्थक्येन चेतनानां जीवेश्वरशुद्धब्रह्मणां तदुपाधिप्रयुक्तकल्पितभेदानां परमार्थतोऽभिन्नत्वेनाग्रिमश्लोके प्रतिपादने तात्पर्यात्। तत्रोपाधिरूपककल्पितपुरुषात् जडादुत्तमत्वेन तदुपाधिकश्चिद्रूपो हि जीव ईश्वरश्च 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'(१५।१७) 'बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (१५।१७) इत्याभ्यां प्रतिपादितः, सामानाधिकरण्याच्च तयोरभेदः। तयोरपि पुनः 'परमात्मेत्युदाहृतः' (१५।१७) इत्यनेन शुद्धाभेदः प्रतिपादनीयः। पूर्वश्लोक एव जीवस्याक्षरशब्देनोक्तौ हि तस्मादन्यत्वमेवेश्वरस्य शुद्धस्य च 'अन्यः' इत्यनेनाभिहितं स्यात्, स्याच्च तदनभिधेयमेवाभिहितं सिद्धान्तविरुद्धं चेति तत्त्वालोकः। क्षरः विनाशिपञ्चभूतात्मको व्यक्तपदार्थः, व्यक्तसृष्टिरिति यावत् इति नव्याः। तन्मन्दम्, वाय्वाकाशबुद्ध्यहङ्कारतन्मात्राणां क्षरत्वेऽपि व्यक्तसृष्टित्वाभावात्।

—अविगीता।

श्लोकः १९— सर्वमिति सामान्यज्ञानेन, सर्वेत्याकारकशब्दज्ञानेन च यथा सर्वज्ञो न भवति, तथा सामान्यतः कोशा-दिना पुरुषोत्तमो भगवानिति ज्ञानमात्रेण पुरुषोत्तमत्वज्ञानी न भवति, किन्तु एवं जानन्निति भावः। —अविगीता।

श्लोकः २०— इतीति। गुह्यतमं सर्वाद्वयप्रतिपादकत्वात्। एतदेव बुद्धा बुद्धिमत्त्वम्, न तु व्यवहारबुद्ध्या। एतेन ते ज्ञातेनैव कृतकृत्यता, न तु कृतेनापि शत्रुविजयार्थाहरणस्त्र्युपभोगादिना। चकारोऽद्भुतद्योतकः। एतेन हि कृतकृत्यता दृष्टा, च एतेन तु ज्ञातेनैवेति चित्रम्। इतिशब्देन शास्त्रस्य समाप्तिः सूचिता, वक्तव्यस्य परिपूर्णतया समाप्तत्वात्। तथाहि षोडशा-ध्यायेन शिष्यस्यार्जुनस्य योग्यता केवलं प्रतिपाद्यते, न तूपदिश्यते किञ्चित्। दैवी ह्येवंविधा सम्पत्। आसुरी चाविद्यामय्यैतादृशी सम्पत्। त्वं च विद्यामयीं दैवीं सम्पदमभिप्राप्त इत्येतावति हि तात्पर्यम्। यद्वक्ष्यति 'मा शुचः सम्पदं दैवीं' (१६।५) इति। अतएव पूर्वं विद्याविद्यासङ्घर्षनिरूपणावसरे देवासुरसंग्रामच्छलेन विद्याविद्ययोः सङ्घर्ष इति सूचितम्। एवं च शिष्यस्वरूपे प्राधान्येन निरूप्यमाणे प्रसङ्गतोऽन्यदप्युक्तमित्यध्यायद्वयं भविष्यति। उपदेशस्त्वित एव परिसमाप्तः। सर्वभावेन हि परमेश्वर-भजनमावेशरूपं प्राप्यं तदर्थं चान्यत्सर्वमित्युक्तं प्राक्। सर्वमाहेश्वरस्वरूपावेश एव हि परमं शिवमिति शुभम्— इत्यभि-नवगुप्तपादाः।

'भारत!' 'अनघ!' इति सम्बोध्य तव मयोपदिष्टमित्युक्त्वा 'बुद्धिमान् स्यात्' इति च परोक्षनिर्देशेन न त्वदर्थ-मेवायमुपदेशः, किन्तु त्वां व्याजीकृत्य लोकोद्धरणार्थम्। त्वां व्याजीकृत्य यदर्थमुपदेशः, सोऽप्येवं सर्ववित् भवति, सर्वभावेन मां भजति, बुद्धिमान् कृतकृत्यश्च स्यात्, किं पुनः साक्षादुपदेशविषयभूतो भवान्? इति सूच्यते। —अविगीता।

---

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः पञ्चदशाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

ईश्वर उवाच—

प्रवक्ष्यामि विशालाक्षि तुहिनाचलकन्यके ! ।
गीतापञ्चदशाध्यायमाहात्म्यमवधारय ॥ १ ॥
कृपाणनरसिंहोऽभून्नाम्ना गौडेषु भूपतिः ।
यस्यासिधारया सङ्ख्ये देवसङ्घाश्च धिक्कृताः ॥ २ ॥
यदीयमत्तमातङ्गदानधाराजलैरिला ।
निदाघेऽपि च सेहे तां रविसन्तापवेदनाम् ॥ ३ ॥
संक्रन्दनात्परित्रस्ता यदीयशरणं गताः ।
रेजिरे करिणो मत्ताश्चलन्तः पर्वता इव ॥ ४ ॥
मत्तमातङ्गचीत्कारप्रतिस्वनमिवादरात् ।
यस्य गोपायितुं शैला व्याहरन्ति कृपावतः ॥ ५ ॥
यदीयश्चावतुरगखुरसङ्घातजर्जरम् ।
नाभूच्चित्रं कथङ्कारं गतखण्डं धरातलम् ॥ ६ ॥
यस्मिन्खड्गहतामित्रे समुद्धरति मेदिनीम् ।
पुनरुज्जल्पयाश्चक्रे महाभाष्यं फणीश्वरः ॥ ७ ॥
तस्याऽऽसीत्सैन्यपो धीमाञ्छस्त्रशास्त्रकलानिधिः ।
नाम्ना सरभभेरुण्डः प्रचण्डभुजमण्डलः ॥ ८ ॥
भाण्डागारेण तुरगैर्भटैर्वीररसोद्भवैः।
समान एव भूभर्तुर्दुर्गैरत्यन्तदुर्गमैः ॥ ९ ॥
स कदाचित्स्वयं राज्यं कर्तुं पापो दधे मनः ।
निहत्य वसुधापालं बलात्साकं कुमारकैः ॥ १० ॥
कर्तुं व्यवस्य दिवसैः स्वल्पैरित्थंचिकीर्षया ।
साहसिकजनैर्मन्त्रं मन्त्रयित्वा हृदि प्रभुः ॥ ११ ॥
विषूचिकामयादाशु परासुः समजायत ।
कालेनाल्पीयसा प्रेत्य पापात्मा तेन कर्मणा ॥ १२ ॥
तेजस्वी तुरगो जातः सिन्धुदेशे कृशोदरः ।
मूल्येन बहुना क्रीत्वा हयतत्त्वविदा ततः ॥ १३ ॥
बहुयत्नवता नीतः केनचिद्वैश्यसूनुना ।
राजापि पौत्रनप्त्राद्यैस्तस्यैव मरणात्परम् ॥ १४ ॥
कालेन वृद्धतां प्राप्तः स्वराज्यं चापि पालयन् ।
स वैश्यसूनुस्तं चाश्वं राज्ञे दातुं समागतः ॥ १५ ॥
राज्ञो द्वारस्थितस्तत्र प्रतीक्षंस्तत्समागमम् ।
ज्ञातपूर्वोऽपि वैश्योऽसौ प्रतीहारेण दर्शितः ॥ १६ ॥
किमर्थं ब्रूहि राज्ञेति पृष्टः स्पष्टमभाषत ।
देव ! त्रिजगतीरत्नमिति मत्वा तुरङ्गमः ॥ १७ ॥
मयाऽऽनीयत मौल्येन बहुना साधुलक्षणः ।
ततोऽवलोक्य वक्त्राणि भूपालः पार्श्ववर्तिनाम् ॥ १८ ॥
समादिदेश वणिजमश्वोऽत्राऽऽनीयतामिति ।
शिरांसि धूनयन्नृणामश्वलक्षणवेदिनाम् ॥ १९ ॥
शूराणामथ चेतांसि मुहुरुत्साहयन्महान् ।
अखण्डमेदिनीवेगबहुसंक्रमणार्जितम् ॥ २० ॥
लालाफेनच्छलेनासौ वमञ्छुभ्रतरं यशः ।
उच्चैःश्रवस्तुलां भेजे गुणसाम्येन तत्त्वतः ॥ २१ ॥
विवृण्वन्नतितेजश्च ह्रियेवाऽऽनतकन्धरः ।
चामरैरिन्दुधवलैर्वीज्यमानो निरन्तरम् ॥ २२ ॥
दुग्धाम्भोनिधिलोलैः स्वैः श्वासैरुच्चैःश्रवा इव ।
नीलातपत्रयुगलघनच्छायातलश्रिया ॥ २३ ॥
बिभ्राणो वारिदालीढहेमाद्रिशिखरश्रियम् ।
मेदिनीमण्डलस्पर्शसक्रान्तमिव पावकम् ॥ २४ ॥
मुहुरुद्धारयन्धुन्वन्बन्धुरं कन्धरातटम् ।
ईरयन्वैरिणः सर्वान्व्याहरन्वै जयश्रियम् ॥ २५ ॥
हेषारवेण गुरुणा दिक्षु प्रख्यापयन्यशः ।
सत्त्वस्य राशिरत्युच्चैर्गतीनामिव शेवधिः ॥ २६ ॥
रूपस्य निलयं साक्षाल्लक्षणानां पयोनिधिः ।
आनीतो वणिजा वाजी राज्ञा च समदृश्यत ॥ २७ ॥
बहुधा वर्णितोऽमात्यैरश्वलक्षणवेदिभिः ।
यथेच्छं वणिजोदीर्णं स्वर्णं दत्त्वा महीपतिः ॥ २८ ॥
जग्राह तुरगं वेगादसीमानन्दनिर्भरः ।
ततोऽश्वपालमाहूय भूपालस्तं निरूप्य च ॥ २९ ॥
विसर्जितसभालोको गृहान्तमगमन्नृपः ।
अनेकधा समापृष्टो महीपालरणाङ्गणे ॥ ३० ॥

शस्त्रव्रणकिणश्रेणीभूषणं सत्त्वसन्निभम् ।
एकदा मृगयां खेलन्कुतूहलरसोन्मनाः ॥ ३१ ॥
तमारुह्य महीपालो वनं प्रति विवेश ह ।
विसृज्य सैनिकान्पृष्ठे धावतः परितोऽखिलान् ॥ ३२ ॥
आकृष्यमाणो हरिणैः पिपासाकुलितोऽभवत् ।
तत उत्तीर्य तुरगाज्जलमन्वेषयन्नृपः ॥ ३३ ॥
बद्ध्वाऽश्वं तरुशाखायामारुरोह शिलातलम् ।
गीतापञ्चदशाध्यायश्लोकार्धं लिखितं नृपः ॥ ३४ ॥
पातितं मरुता तत्र पत्रखण्डे व्यलोकयत् ।
पत्रं वाचयतो राज्ञः श्रुत्वा गीताक्षरावलीम् ॥ ३५ ॥
ततो मुक्तिपदं लेभे तुरङ्गस्त्वरयाऽपतत् ।
ततो ग्रन्थिं समाच्छिद्य पल्याणमवतार्य च ॥ ३६ ॥
उत्थाप्यमानस्तुरगो राज्ञा नोत्थितवान्भुवः ।
कशाघातैर्बहुविधं ताडितोऽपि जडीकृतः ॥ ३७ ॥
ततः सरभभेरुण्डो नृपमानम्य सत्वरम् ।
दिव्यं विमानमारुह्य जगाम त्रिदशालयम् ॥ ३८ ॥
ततो गिरिं समारुह्य ददर्शाऽऽश्रममुत्तमम् ।
पुन्नागकदलीचूतनालिकेरसमन्वितम् ॥ ३९ ॥
द्राक्षेक्षुवाटिकापूगनागकेशरचम्पकम् ।
खेलत्कलभसारङ्गं नृत्यत्केकिकुलं नृपः ॥ ४० ॥
प्रणिपत्य द्विजन्मानमुटजाभ्यन्तरस्थितम् ।
पप्रच्छ परया भक्त्या मुक्तसंसारवासनम् ॥ ४१ ॥

राजोवाच—

तुरगो निरगात्स्वर्गं हेतुना केन मे वद ॥ ४२ ॥

श्रीशिव उवाच—

इत्याकर्ण्य वचो राज्ञो द्विजन्मा वाचमूचिवान् ।
त्रिकालदर्शी मन्त्रज्ञो विष्णुशर्मा महत्तरः ॥ ४३ ॥

द्विजन्मोवाच—

आसीत्सेनापतिः पूर्वं भेरुण्डस्तव भूपते ! ।
त्वां निहत्य समं पुत्रैः कर्तुं राज्यं समुद्यतः ॥ ४४ ॥
तावद्विषूचिकारोगात्कालधर्ममवाप सः ।
कालेन बहुना प्रेत्य तत्पापात्तुरगोऽभवत् ॥ ४५ ॥
अथ पञ्चदशाध्यायश्लोकार्धं लिखितं क्वचित् ।
मच्छिष्येण मुदा क्वापि गतेन वनमध्यतः ॥ ४६ ॥
त्वत्तो वाचयतः श्रुत्वा निरगात्तुरगो दिवम् ।
अनेकजन्मपापौघान्मुक्तो जन्मकृतादसौ ॥ ४७ ॥

श्रीशिव उवाच—

ततः समागतैस्तत्र परिवारजनैर्वृतः ।
प्रणिपत्य द्विजन्मानं हृष्टो राजा विनिर्गतः ॥ ४८ ॥
पत्रं तदेव लिखितं गीतापञ्चदशाक्षरम् ।
वाचयन्स महीपालो हर्षसम्फुल्ललोचनः ॥ ४९ ॥
अभिषिच्य निजं पुत्रं मन्त्रविन्मन्त्रिभिः समम् ।
सिंहासने सिंहबलं मुक्तिमाप विशुद्धधीः ॥ ५० ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीतापञ्चदशाध्यायमाहात्म्यवर्णनं नाम पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतो श्रीमद्गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १६ ]

**देवासुरविभागोक्तिपूर्विका शास्त्रवश्यता ।**
**तत्त्वानुष्ठानविज्ञानस्थेम्ने षोडश उच्यते ॥ २० ॥**

### श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसंग्रहरक्षा ।

अत्र पूर्वोत्तरसमस्तप्रतिष्ठापकः षोडशाध्यायार्थः संगृह्यते । एतदभिप्रायेण भाष्यम्—‘ अनन्तरमुक्तस्य तु कृत्स्नस्यार्थस्य स्थेम्ने शास्त्रवश्यत्वं वक्तुं शास्त्रवश्यतद्विपरीतयोर्देवासुरसर्गयोर्विभागं श्रीभगवानुवाच ’ [ रा. भा. १६।१ ] इति । अत एव सप्तदशमवतारयन्नेवमन्वभाषत—‘ देवासुरविभागोक्तिमुखेन प्राप्य तत्त्वज्ञानं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं च वेदैकमूलमित्युक्तम् ’ [ रा. भा. १७।१ ] इति। अत्र शास्त्रवश्यता ‘ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ । ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ’ [ १६।२४ ] इति अध्यायान्तिमश्लोकेनोक्ता ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

—:०:—

# देवासुरसम्पद्विभागयोगाख्यः षोडशोऽध्यायः ।

मुक्त्यधिकारिणां दैवीसम्पद्वतां लक्षणानि ।

**श्रीभगवानुवाच—** **अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ।**
**दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥ १ ॥**
**अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम् ।**
**दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ २ ॥**
**तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।**
**भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ! ॥ ३ ॥**

१ शाङ्करभाष्यम् ।

दैवी आसुरी राक्षसी चेति प्राणिनां प्रकृतयो नवमेऽध्याये (१२,१३) सूचिताः, तासां विस्तरेण प्रदर्शनाय 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' इत्यादिरध्याय आरभ्यते; तत्र संसारमोक्षाय दैवी प्रकृतिः, निबन्धायाऽऽसुरी राक्षसी चेति दैव्या आदानाय प्रदर्शनं क्रियते, इतरयोः परिवर्जनाय च श्रीभगवानुवाच— **अभयमिति**। अभयमभीरुता, सत्त्वसंशुद्धिः सत्त्वस्यान्तःकरणस्य संशुद्धिः,संव्यवहारेषु परवञ्चनमायानृतादिपरिवर्जनं शुद्धसत्त्वभावेन व्यवहार इत्यर्थः। ज्ञानयोगव्यवस्थितिर्ज्ञानं शास्त्रत आचार्यतश्चाऽऽत्मादिपदार्थानामवगमः, अवगतानामिन्द्रियाद्युपसंहारेणैकाग्रतया स्वात्मसंवेद्यतापादनं योगः, तयोर्ज्ञानयोगयोर्व्यवस्थितिर्व्यवस्थानं तन्निष्ठता; एषा प्रधाना दैवी सात्त्विकी सम्पत्। यत्र च येषामधिकृतानां या प्रकृतिः सम्भवति सात्त्विकी सोच्यते। दानं यथाशक्ति संविभागोऽन्नादीनां, दमश्च बाह्यकरणानामुपशमः; अन्तःकरणस्योपशमं शान्तिं वक्ष्यति। यज्ञश्च श्रौतोऽग्निहोत्रादिः स्मार्तश्च देवयज्ञादिः, स्वाध्याय ऋग्वेदाद्यध्ययनमदृष्टार्थं, तपो वक्ष्यमाणं शारीरादि, आर्जवमृजुत्वं सर्वदा ॥ १ ॥

२ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

व्यवहितेन सम्बन्धं वदन्नध्यायान्तरमवतारयति— **दैवीति**। दैवी सूचिता 'राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः' [ ९।१२ ] इत्यादाविति शेषः । प्रकृतीनां विस्तरेण दर्शनं कुत्रोपयोगि ? इत्याशङ्क्य विभज्योपयोगमाह— **संसारेति** । अतीते चाध्याये 'कर्मानुबन्धीन्यधश्च मूलान्यनुसन्ततानि' [ १५ । २ ] इत्यत्र कर्मव्यङ्ग्या वासनाः संसारस्यावान्तरमूलत्वेनोक्तास्ता मनुष्यदेहे प्राग्भवीयकर्मानुसारेण व्यज्यमानाः सात्त्विकादिभेदेन दैव्यादिप्रकृतित्रयत्वेन विभक्ता विस्तितीर्षुर्भगवानुक्तवानित्याह— **श्रीभगवानुवाचेति**। अभीरुता शास्त्रोपदिष्टेऽर्थे सन्देहं हित्वाऽनुष्ठाननिष्ठत्वम्, परवञ्चना परस्य व्याजेन वशीकरणम्, माया हृदयेऽन्यथा कृत्वा बहिरन्यथा व्यवहरणम्, अनृतमयथादृष्टकथनम्, आदिपदेन विप्रलम्भादिग्रहः। उक्तमर्थं सङ्क्षिप्याऽऽह— **शुद्धेति**। एषेत्यभयाद्या ज्ञानादिस्थित्यन्ता त्रिधोक्तेति यावत्। तामेव सात्विकीं प्रकृतिं प्रकटयति— **यत्रेति**। ज्ञाने कर्मणि वाऽधिकृतानामभीरुताद्या या प्रकृतिः सा तेषां तत्र सात्त्विकी सम्पदित्यर्थः। महाभाग्यानामत्युत्तमा दैवी सम्पदुक्ता; सम्प्रति सर्वेषां यथासम्भवं सम्पदं व्यपदिशति— **दानमिति**। बाह्यकरणविशेषे कारणमाह— **अन्तःकरणस्येति**। 'देवयज्ञादिः' इत्यादिशब्देन पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञश्चेति त्रयमुक्तम्; ब्रह्मयज्ञस्य स्वाध्यायेन पृथक्करणात् ॥ १ ॥

**१ शां. भा.— किञ्च—** अहिंसाऽहिंसनं प्राणिनां पीडावर्जनं, सत्यमप्रियानृतवर्जितं यथाभूतार्थवचनम्, अक्रोधः परैराक्रुष्टस्याभिहतस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्योपशमनं, त्यागः सन्न्यासः, पूर्वं दानस्योक्तत्वात्; शान्तिरन्तःकरणस्योपशमः, अपैशुनमपिशुनता, परस्मै पररन्ध्रप्रकटीकरणं पैशुनं तदभावोऽपैशुनं; दया कृपा भूतेषु दुःखितेषु, अलोलुप्त्वमिन्द्रियाणां विषयसन्निधावविक्रिया, मार्दवं मृदुताऽक्रौर्यं, ह्रीर्लज्जा, अचापलमसति प्रयोजने वाक्पाणिपादादीनामव्यापारयितृत्वम् ॥ २ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** दैवीं सम्पदमभिजातस्य विशेषणान्तराणि दर्शयति— **किञ्चे**ति। त्यागशब्देन दानं कस्मान्नोच्यते? तत्राऽऽह— **पूर्वमि**ति। लज्जाऽकार्यानुवृत्तिहेतुगर्हानिमित्ता मनोवृत्तिः ॥ २ ॥

**१ शां. भा.— किञ्च—** तेजः प्रागल्भ्यं, न त्वग्गता दीप्तिः; क्षमाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वाऽन्तर्विक्रियानुत्पत्तिः, उत्पन्नायां विक्रियायां प्रशमनमक्रोध इत्यवोचाम, इत्थं क्षमाया अक्रोधस्य च विशेषः। धृतिर्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः, येनोत्तम्भितानि करणानि देहश्च नावसीदन्ति। शौचं द्विविधं मृज्जलकृतं बाह्यम्, आभ्यन्तरं च मनोबुद्ध्योर्नैर्मल्यं मायारागादिकालुष्याभावः, एवं द्विविधं शौचम्। अद्रोहः परजिघांसाभावोऽहिंसनम्। नातिमानिताऽत्यर्थं मानोऽतिमानः स यस्य विद्यते सोऽतिमानी, तद्भावोऽतिमानिता, तदभावो नातिमानिता, आत्मनः पूज्यतातिशयभावनाभाव इत्यर्थः। भवन्त्यभयादीन्येतदन्तानि सम्पदमभिजातस्य। किं विशिष्टां सम्पदम्? दैवीं देवानां या सम्पत्तामभिलक्ष्य जातस्य दैवविभूत्यर्हस्य भाविकल्याणस्येत्यर्थः, हे भारत! ॥ ३ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** दैवीं सम्पदं प्राप्तस्य विशेषणान्तराण्यपि सन्तीत्याह— **किञ्चे**ति। व्यावर्त्यं कीर्तयति— **ने**ति। अध्यात्माधिकारादिति शेषः। क्षमाक्रोधयोरेकार्थत्वेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्य परिहरति— **उत्पन्नायामि**ति। तयोरेवं विशेषादपौनरुक्त्यं फलतीत्याह— **इत्थमि**ति। वृत्तिविशेषमेव विशदयति— **येने**ति। शौचस्य द्वैविध्यमेव प्रकटयति— **मृज्जले**त्यादिना। नैर्मल्यमेव स्फोरयति— **माये**ति। उक्तमुपसंहरति— **एवमि**ति। अतिमानित्वाभावमेव व्यनक्ति— **आत्मन** इति। कस्यैतानि विशेषणानि? इत्यपेक्षायामाह— **भवन्ती**ति। साधकस्य मनुष्यदेहस्थस्यैव कथं दैवीं सम्पदमभिलक्ष्य जातत्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **दैवे**ति ॥ ३ ॥

## ३ रामानुजभाष्यम्।

अतीतेनाध्यायत्रयेण प्रकृतिपुरुषयोर्विविक्तयोः संसृष्टयोश्च याथात्म्यं तत्संसर्गवियोगयोश्च गुणसङ्गतद्विपर्ययहेतुकत्वं, सर्वप्रकारेणावस्थितयोः प्रकृतिपुरुषयोर्भगवद्विभूतित्वं, विभूतिमतो भगवतो विभूतिभूतादचिद्वस्तुनश्चिद्वस्तुनश्च बद्धमुक्तोभयरूपादव्ययत्वव्यापनभरणस्वाम्यैरर्थान्तरतया पुरुषोत्तमत्वेन याथात्म्यं च वर्णितम्; अनन्तरमुक्तस्य कृत्स्नस्यार्थस्य स्थेम्ने शास्त्रवश्यतां वक्तुं शास्त्रवश्यतद्विपरीतयोर्दैवासुरसर्गयोर्विभागं श्रीभगवानुवाच— **अभयमि**ति।

## ४ वेङ्कटनाथविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका।

तृतीयषट्कस्य त्रिकभेदादिप्रकारः प्रागेवास्माभिः प्रपञ्चितः; तत्र त्रिकभेदं प्रदर्श्य त्रिभिः सङ्गततया षोडशमवतारयितुं तत्त्वत्रयविशोधनपरस्य त्रयोदशादित्रिकस्यार्थं क्रमादनुवदति— **अतीतेनाध्यायत्रयेणे**ति। गुणसङ्गतद्विपर्ययहेतुत्वमिति पाठः। कप्रत्ययप्रयोगाभावेऽप्यत्र बहुव्रीहित्वमेवेति। 'इति गुह्यतमं शास्त्रम्' [ १५।२० ] इति पूर्वाध्यायान्ते शास्त्रमुपक्षिप्तम्। अनघभारतशब्दाभ्यां च तदधिकारी सूचितः। स एव हि 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव!' [ १६।५ ] इति वक्ष्यते। तत्रोक्तार्थव्यवसायस्य शास्त्राधीनत्वात्पुरुषस्य शास्त्रवश्यत्वं तावद्वक्तव्यम्। तच्च 'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ। ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' [ १६।२४ ] इत्यध्यायान्ते वक्ष्यति। तदर्थमेव च पूर्वाध्यायान्तसूचिताधिकारिविशेषविवेचनायात्रादौ दैवासुरविभागोक्तिः। तदभिप्रायेण संगृहीतं 'दैवासुरविभागोक्तिपूर्विका शास्त्रवश्यता। तत्त्वानुष्ठानविज्ञानस्थेम्ने षोडश उच्यते' [ गी. सं. २० ] इति। तदेतत्सर्वमभिप्रेत्याह— **अनन्तरमि**ति।

**उक्तस्य कृत्स्नस्यार्थस्ये**ति— वक्ष्यमाणस्यानुष्ठानविवेकस्याप्युपलक्षणम्। उक्तैकदेशविशोधनरूपत्वाद्वा तदविवक्षा। सङ्ग्रहश्लोकोक्तानुष्ठानमपि **कृत्स्नस्ये**ति विशेषणेन अन्तर्भावि-

तम् । हेयोपादेयस्वभावकथनस्य हानोपादानार्थतया फलितमाह— **शास्त्रवश्यतां वक्तु**मिति । शास्त्रवश्यत्वकथने देवासुरविभागोक्तिः कुत्रोपकुरुते ? तत्राह– **शास्त्रवश्यतद्विपरीतयो**रिति । भगवदाज्ञा हि शास्त्रं, तदनुवर्तिनो देवास्तेनानुगृह्यन्ते; अतस्तथा वर्तितव्यम् । तदाज्ञातिक्रामिणोऽसुरास्तेन निगृह्यन्ते; अतस्तथा न वर्तितव्यमिति भावः । नैसर्गिकविरोधद्योतनायात्र वक्ष्यमाणसर्गशब्दोपादानम् । विभागोऽत्र गुणक्रियादिभिर्वक्ष्यमाणैः 'यया स्वप्नं (सुप्तं) भयं शोकम्' [ १८।३५ ] इत्यादिभिः ।

**३ रा. भा.**— इष्टानिष्टवियोगसंयोगरूपस्य दुःखस्य हेतुदर्शनजं दुःखं भयम्, तन्निवृत्तिरभयम्; सत्त्वसंशुद्धिः सत्त्वस्यान्तःकरणस्य रजस्तमोभ्यामसंस्पृष्टत्वम्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः प्रकृतिवियुक्तात्मस्वरूपविवेकनिष्ठा; दानं न्यायार्जितधनस्य पात्रे प्रतिपादनम्; दमः मनसो विषयौन्मुख्यनिवृत्तिसंशीलनम्; यज्ञः फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपमहायज्ञाद्यनुष्ठानम्; स्वाध्यायः सविभूतेर्भगवतस्तदाराधनप्रकारस्य च प्रतिपादकः कृत्स्नो वेद इत्यनुसन्धाय वेदाभ्यासनिष्ठा; तपः कृच्छ्रचान्द्रायणद्वादश्युपवासादेर्भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्य करणम्; आर्जवं मनोवाक्कायकर्मवृत्तीनामेकनिष्ठता परेषु ॥ १ ॥

**४ वे. ता. चं.**— तमश्शीलं हि भयम्; तत्सात्त्विकस्य दैवसर्गस्य न भवतीत्यभिप्रायेण भयनिरूपणार्थं तत्प्रतियोगिस्वरूपं शिक्षयति— **इष्टानिष्टे**ति । वियोगसंयोगशब्दाविष्टानिष्टाभ्यां यथाक्रममन्वेतव्यौ । इदं च स्वरूपकथनम्; न तु भयलक्षणानुप्रविष्टम्; आगामिदुःखहेतुदर्शनजं दुःखमित्येव हि तत् । **सत्त्वसंशुद्धिः** सत्त्वाधिष्ठानमन्तःकरणमिह सत्त्वम्; तस्य समीचीना शुद्धिः संशुद्धिः सर्वदोषनिवृत्तिः । तत्र कन्दभूतरजस्तमोनिवृत्त्या कामरागासूयावञ्चनादिसर्वदोषनिवृत्तिमभिप्रेत्याह– **रजस्तमोभ्यामसंस्पृष्टत्व**मिति । ज्ञानयोगशब्दोऽत्र न कर्मयोगादीनां व्यवच्छेदार्थः, तेषामपि सात्त्विकोपादेयत्वात्; अतः कर्मज्ञानभक्तीनां साधारणं शास्त्रीयं शुद्धात्मस्वरूपविवेचनमिह विवक्षितमित्याह— **प्रकृतिवियुक्ते**ति । ज्ञानमेवात्रोपायत्वाद्योगः । यद्वा शास्त्रजन्यज्ञाननिष्पाद्यं चिन्तनं ज्ञानयोगः । **न्यायार्जिते**त्यादिकं दान्तस्य शास्त्रीयाकारप्रदर्शनम्, अनेवङ्करणस्य राजसतामसत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । एतच्च यथाविभवमनुसन्धेयम् । दमनं दमः; तच्चान्तःकरणकर्मकं अमार्गान्निवर्तनं प्रकरणान्तरादिसिद्धमाह— **मनस** इति । बाह्येन्द्रियनियमनं हि शान्तिशब्देन वक्ष्यति । एतेन केषाञ्चिदनयोः शब्दयोर्व्युत्क्रमेणार्थव्याख्यानं निरस्तम् ।

'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्' [ १६।१७ ] इत्यासुरयज्ञानां वक्ष्यमाणत्वादत्र मोक्षप्रकरणेऽभिमतं सात्त्विकं यज्ञविशेषमाह— **फलाभिसन्धिरहिते**ति । समस्तनित्यनैमित्तिकोपलक्षणतयाऽत्र यज्ञोपादानमित्यादिशब्दः । अपकृष्टदेवताविषयस्य अल्पफलकाम्यकर्मविधायकस्य च वेदभागस्य यावानर्थउदपानन्यायान्मुमुक्षुणाऽनभ्यसनीयत्वमाशङ्क्य तत्रापि त्रैवर्गिकवेदाभ्यासाद्यावृत्तिं प्रकरणलब्धामाह— **स विभूते**रिति । "सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" [ कठो. २।१५ ] "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति" [ आ. ३।११।१ ] इत्यादिक्रमेणानुसन्धाय पठत उपनिषदभ्यासविधिप्रयुक्तस्य सर्वं प्रणवाष्टाक्षरषडक्षरद्विषट्कनिषदुपनिषदभ्यासकल्पमित्यभिप्रायः । एतेन "अन्या वाचो विमुञ्चथ" [ मुं. उ. २।२।५ ] इत्यादिकमप्यन्यपरं निवृत्तम्, 'ओमित्ये-(वं ध्यायथामात्मानं)वात्मानं ध्यायथ' [ मुं. उ. २।२।६ ] इति ध्यानदशायां प्रणवस्यैवोपादेयत्वे तात्पर्याच्च । यद्यपि स्वेनाधीयत इति स्वाध्यायः स्वशाखा, तथापि 'न चैकं प्रति शिष्यते' इति न्यायात्सर्वशाखानुगतस्यार्थस्यानुसन्धेयत्वात्, जपविधेश्च सर्वत्राविशेषात् **वेदाभ्यासनिष्ठे**ति सामान्येनोक्तम् । शास्त्रीयो भोगसङ्कोचस्तप इति लक्षिते तद्विशेषानुदाहरति— **कृच्छ्रे**ति । 'एकभु(भ)क्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च । उपवासेन (चैवायं पादकृच्छ्रः प्रकीर्तितः) दानेन न निर्द्वादशिको भवेत्' [ या. स्मृ. ३१८ अत्रिस्मृ. १२४ ] इत्यादिविहितद्वादशीसमाराधनार्थैकादश्युपवासोऽत्र द्वादश्युपवास इत्युक्तः । यद्वा तिथिव्रतेषु तिथिद्वयव्रते च द्वादश्युपवासोऽप्यस्त्येव । आदिशब्देन करणत्रयनिष्पाद्यानां वक्ष्यमाणानां तपसां ग्रहणम् । राजसतामसग्राह्यफलार्थतपोव्यवच्छेदार्थमाह— **भगवत्प्रीणनकर्मयोग्यतापादनस्ये**ति । तपसा शुद्धस्य ह्यर्चनादिष्वधिकारः । अत्रान्येषामपि करणत्रयस्य स्वस्मिन्नैकरूप्यात्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह— **परेष्वि**ति ॥ १ ॥

**३ रा. भा.**— अहिंसा परपीडावर्जनम्; सत्यं यथादृष्टार्थगोचरभूतहितवाक्यम्; अक्रोधः परपीडाफलचित्तविकाररहितत्वम्; त्यागः आत्महितप्रत्यनीकपरिग्रहविमोचनम्; शान्तिः इन्द्रियाणां विषयप्रावण्यनिरोधसंशीलनम्; अपैशुनं परानर्थकरवाक्यानिवेदनाकरणम्; दया भूतेषु सर्वेषु दुःखासहिष्णुत्वम्; अलोलुप्त्वम् अलोलुपत्वम्; अलोलुत्वमिति वा पाठः; विषयेषु निस्स्पृहत्वमित्यर्थः । मार्दवम्

अकाठिन्यं; साधुजनसंश्लेषार्हतेत्यर्थः । ह्रीः अकार्यकरणे व्रीडा; अचापलं स्पृहणीयविषयसन्निधावचञ्चलत्वम् ॥ २ ॥

४ वे. ता. चं.— कौटिल्यप्रसङ्गस्थले हि तन्निवृत्तिर्वक्तव्येत्यभिप्रायः । **परपीडावर्जनमिति** स्वपीडोपलक्षणम् । स्वपीडाऽपि मूर्खाणां परपीडाभिप्रायेति वा भावः । यथादृष्टार्थवचनेनैव सत्यवादी भवति; तथापि 'सत्यं भूतहितं प्रोक्तम्' इति नियमात् भूतहितोक्तिः । **परपीडाफलेति** प्रागवज्ञान्यम् । स्वभावार्थशास्त्रप्राप्तानां निद्राशनमहायज्ञदण्डकुण्डिकादीनां त्यागायोगाद्विशेषे नियच्छति— **आत्महितप्रत्यनीकेति**। दमशब्देन मनोनियमनस्योक्तत्वात् । "शान्तो दान्तः" [ बृ. उ. ४।४।२३ ] इत्यादिष्विव शान्तिरिह बाह्येन्द्रियगतेत्यभिप्रायेणाह— **इन्द्रियाणामिति** । अक्रोधाहिंसादिष्विव प्रतियोगिलक्षणद्वारेण अपैशुनं लक्षयति **परानर्थेति** । 'दया' इत्येतावता भूतविषयत्वे सिद्धेऽपि पुनरुपादानं बहुवचनं च शत्रुमित्रादिसर्वविषयाभिप्रायेण । यथोक्तं गौतमेन—'दया सर्वेषु भूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहा' [ गौ. ध. ७।१० ] इति । अन्यत्र च 'सर्वभूतदया पुष्पम्' [ प. पु. ४।७३।५८ ] इत्यादि । तदाह— **सर्वभूतेष्विति** । 'तापत्रयेणाभिहतं यदेतदखिलं जगत् । तदाशोच्येषु भूतेषु करुणां न करोति कः ( द्वेषं प्राप्तः करोति कः ) [ वि. पु. १ । १७ । ७० ] इति हि करुणाख्यचित्तपरिकर्म प्रह्लादः प्राह । दुःखासहिष्णुत्वं तन्निराकरणेच्छेत्यर्थः । लुपिधातौ यङ्लुगन्ते क्विपि कृते लोलुबिति पकारान्तं पदम्; अचि कृते तु लोलुप इति, तद्व्यञ्जयति— **अलोलुप्त्वम् अलोलुपत्वमिति** । 'लूञ् छेदने' [ धा. पा. ९।११ ] इति धातौ लोट् इति यङ्लुगन्तम् । तत्र 'त्वे च' [ अष्टा. ३।३।६४] इति च्छान्दसं ह्रस्वमभिप्रेत्याह— **अलोलुत्वमिति वा पाठ** इति । अयोग्यस्पृहारूपं लौल्यमिह निषिध्यत इत्यभिप्रायेणाह— **विषयेष्विति** । मुख्यस्य मार्दवस्यात्रानन्वयात् पूर्वभाषित्वमुखसौम्यत्वादिव्यङ्ग्यमौपचारिकं दर्शयितुमाह— **अकाठिन्यमिति** । कठिनं हि द्रव्यमन्येषां अनुप्रवेशानर्हम्; तद्वदिह स्तब्धप्रकृतिरिति तद्व्यतिरेकविवक्षया फलतो मार्दवं व्यनक्ति— **साधुजनेति** । अवमतत्वादीनां योगोपकारकत्वात्तन्मूला व्रीडा सत्त्वनिष्ठानामयुक्ता; अत उपयुक्तं ह्रीविशेषमाह— **अकार्यकरणे व्रीडेति** । प्रख्याताभिजनविद्यावृत्ता हि महान्तः परेष्वप्यकार्यकारिष्वपत्रपन्ते; स्वयं तु किमुतेति भावः । अलोलुपत्वाचापलत्वयोरपौनरुक्त्यायाह— **स्पृहणीयविषयसन्निधाविति** । एतेन क्रीडापरिहासमृगयाक्षादिष्वप्रसङ्गोऽपि दर्शितः ॥ २ ॥

३ रा. भा.— तेजो दुर्जनैरनभिभवनीयत्वम्; क्षमा परनिमित्तपीडानुभवेऽपि परेषु तं प्रति चित्तविकाररहितता; धृतिः महत्यामप्यापदि कृत्यकर्तव्यतावधारणम्; शौचं बाह्यान्तरकरणानां कृत्ययोग्यता शास्त्रीया; अद्रोहः परेष्वनुपरोधः, परेषु स्वच्छन्दवृत्तिनिरोधरहितत्वमित्यर्थः; नातिमानिता अस्थाने गर्वोऽतिमानित्वम्, तद्रहितता; एते गुणा दैवीं सम्पदमभिजातस्य भवन्ति । देवसम्बन्धिनी सम्पत् दैवी, देवा भगवदाज्ञानुवृत्तिशीलाः, तेषां सम्पत् । सा च भगवदाज्ञानुवृत्तिरेव, तामभिजातस्य तामभिमुखीकृत्य जातस्य, तां निर्वर्तयितुं जातस्य भवन्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

४ वे. ता. चं.— भूतेतरविषयस्तेजश्शब्दः पराभिभवनसामर्थ्ये अन्यानपेक्षतायां वा प्रयुज्यते; अतोऽत्राभिभावकत्वाविनाभूतमनभिभवनीयत्वं विवक्षितम्; तच्च दुर्जनावकाशप्रदायिकार्पण्याभावद्वारेत्यभिप्रायेणाह— **दुर्जनैरिति** । अक्रोधात् क्षमाया विशेषं दर्शयति— **परनिमित्तपीडानुभवेऽपीति** । निरपराधेषु निर्विकारता ह्यौदासीन्यमात्रम् । न तु क्षमा; पठ्यते च निरपराधेष्वपि क्रोधः— 'ब्राह्मणा गणिका वैद्याः सारमेयाश्च कुक्कुटाः । दृष्टमात्रेण कुप्यन्ति न जाने तत्र कारणम्' इतीत्यभिप्रायः । **परेषु तं प्रतीति**— परेषां पीडानुभवं प्रतीत्यर्थः । भयचापलनिवृत्तेः पृथगुक्तत्वादुपस्थितायामपि महत्यामापदि शास्त्रीयानुष्ठानसङ्कल्पस्य अप्रच्युतावलम्बनमिह सात्त्विकी धृतिरित्यभिप्रायेणाह— **महत्यामिति** । 'महत्यापदि सम्प्राप्ते (?) स्मर्तव्यो भगवान् हरिः' [म. भा. २।६८।४२] इति सुकरमुख्यकर्तव्यापरित्यागादितरदपि कर्तव्यं कृतमेव हि स्यादिति भावः । वक्ष्यति च सात्त्विकीं धृतिं 'धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः । योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी' [ १८।३३ ] इति । योगेनाव्यभिचारिण्या मोक्षसाधनभूतभगवदुपासनाख्यप्रयोजनेन प्रयोजनान्तरनिरपेक्षयेत्यर्थः । शरीरवाङ्मनांसि ह्यशुचिपुरुषस्पर्शाशुचिद्रव्योपयोगादिभिरुपहतसत्त्वानि तेषुतेषु कर्मस्वयोग्यानि शास्त्रैः शिष्यन्ते । तदभावोऽत्र शौचमित्याह **बाह्येति** । प्रत्यक्षसिद्धकरणपाटवादिरूपकृत्ययोग्यताव्यवच्छेदायाह— **शास्त्रीयेति** । अहिंसाया उक्तत्वादद्रोहस्य ततो विशेषप्रदर्शनायाह— **परेष्वनुपरोध** इति । प्रबलेन हि दुर्बलाः स्ववशे स्थापिताः स्वाच्छन्द्यान्निवार्यन्ते, सोऽयमुपरोधः; तदकरणमत्रानुपरोध इत्याह— **स्वच्छन्देति** । स्वस्य तु योगोपकारी स्वच्छन्दवृत्तिनिरोधस्तप एव । अतः **परेष्विति** विशेषितम् । मानो गर्व इति पर्यायस्तु सामान्यत इह निषेद्धुमिष्टः; तथापि वंश-

वीर्यश्रुताद्यनुगुणं मात्रया भवन्नसौ सह्येतापि; अन्यथा भवन्न-सुराणां धर्मतया वक्ष्यमाणोऽत्र न प्रसङ्गमर्हतीत्यभिप्रायेण सोपसर्गमाननिषेध इत्याह— **अस्थाने गर्व** इति।

'दैवीं सम्पदम्' इत्युक्ते देवानां विभूतिः प्रतीयेत; सा चात्र नान्वेति; अतोऽभिप्रेतमवतारयितुं व्युत्पत्तिं तावदाह— **देवसम्बन्धिनीति**। 'सत्त्वं देवगुणं विद्यादितरावासुरौ गुणौ' इति विभागात्, 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' [ १४।१७ ] इति सत्त्वस्यानुष्ठानपर्यन्तज्ञानहेतुत्वाच्च सत्त्वोत्तरत्वादेव भगवदाज्ञां नातिवर्तन्ते; तदादावेवाह- **भगवदाज्ञानुवृत्तिशीला** इति। सैव च तेषां सम्पदभिमता। अविवेकिनां भोग्यतत्साधन-समृद्धिवत्तेषां भगवदाज्ञानुवृत्तेः प्रीतिविषयत्वात्परमपुरुषार्थहेतु-त्वाच्चेत्याह— **सा चेति**। उक्तं च 'महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादि-मव्ययम्' [ ९।१३ ] इति। अन्यत्र च 'विष्णुभक्तिपरो देवः' [वि.ध.१०९।७४+अ.पु.३७३।१२] इति। जातस्येत्यकर्मकस्य जायतेः पतत्यादिष्विवोपसर्गवशाद्वितीयान्वयमाह— **ताम-भिमुखीकृत्येति**। 'अभिरभागे' [ अष्टा. १।४।९१ ] इति कर्मप्रवचनीययोगाद्वा द्वितीया। **अभिमुखीकृत्य** अभिलक्ष्य; यथा दैवी सम्पद्भवति, तथा कृत्वा जातस्येति यावत्। ईदृश-गुणयुक्तानामेवंविधायाः सम्पदोऽवश्यम्भावित्वमत्र अभिमुखी-करणं विवक्षितम्। तथा च स्मर्यते-'जायमानं हि पुरुषं यं पश्येन्मधुसूदनः। सात्त्विकः स तु विज्ञेयः स वै मोक्षार्थचिन्तकः' इति। तदिदमाह— **तां निर्वर्तयितुं जातस्येति**॥ ३॥

५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम्।

**ॐ साधनविघ्नहर्त्रे नमः॥ ॥ पुमर्थसाधनविरोधीत्यनेनाध्यायेन दर्शयति— तपो ब्रह्मचर्यादि। 'ब्रह्मचर्यादिकं तपः' इति ह्यभिधानम्॥ १॥**

६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका।

अध्यायप्रतिपाद्यं दर्शयति— **पुमर्थेति**। यद्यपि पूर्वयो-रध्याययोः साधनप्रतिपादन एव तात्पर्यं, तथापि तन्न प्रपञ्चितम्। किं नाम बन्धस्वरूपम्। साधनमनुतिष्ठता च तद्विरोधिनां त्यागोऽवश्यं करणीयः। पूर्वाध्याये च 'निर्मानमोहाः' [ १५।५ ] इत्यादिना पुमर्थयोर्ज्ञानमोक्षयोः साधनं 'यतन्तो-ऽप्यकृतात्मानः' [ १५।११ ] इत्यादिना तद्विरोधि च सङ्क्षे-पेणोक्तम्, तदुभयमिदानीं प्रपञ्चनीयम्। सुरासुरलक्षणं च तथेति तदनेनाध्यायेन दर्शयतीत्यर्थः। 'तपो वक्ष्यमाणं' इति कश्चित् (शां.) तदसत्, 'देवद्विजगुरुप्राज्ञ-' [ १७।१४ ] इत्यादिनोक्तस्यात्र ग्रहणे शौचादेरपि तपोग्रहणेन गृहीतत्वात् पुनरुक्तिप्रसङ्गात्, अतो वक्ष्यमाणान्तर्गतं यदत्र पृथगुच्यते तद्व्यतिरिक्तमेव, तच्च प्रधानस्यैवोपलक्षणत्वोपपत्तेर्नोपवासादीति भावेन सप्रमाणकमाह— **तप** इति॥ १॥

**५ आ. मा. भा.— पैशुनं परोपद्रवनिमित्तदोषाणां राजादेः कथनम्। 'परोपद्रवहेतूनां दोषाणां पैशुनं वचः। राजादेस्तु मदाद्भीतेरदृष्टिर्दर्प उच्यते' इत्यभिधानात्। लौल्यं रागः 'रागो लौल्यं तथा रक्तिः' इत्यभिधानात्। अचापलं स्थैर्यम्। 'चपलश्चञ्चलोऽस्थिरः' इत्यभिधानात्॥ २॥**

६ ज. प्र. दी.— पैशुनाभावोऽपैशुनं च परस्यापराधा-वचनमिति तदसत्, शिष्यादिदोषानुवादस्य शिक्षार्थस्यापि तत्त्वप्राप्तेरित्याशयेनाह— **पैशुनमिति**। राजादेस्तच्छ्रावणम्। **परोपद्रवनिमित्तेति** दोषेषूपचारः। अनेन परोपद्रवायेति सूचयति। वचः कथनम्। मदात्कारणात्। भीतेरदृष्टिरनुत्पत्ति-रिति यावत्। भीतेर्भीतिकारणस्य तथात्वेनादृष्टिरिति वा। बालादीनां भीतेरदर्शनं व्यावर्तयितुं 'मदात्' इत्युक्तम्। अनेन धात्वर्थोऽप्यनुगतः। एतेनासुरलक्षणं दर्पोऽपि व्याख्यातः। अलोलुत्वाचापलत्वयोर्भेदं क्रमेण सप्रमाणकं दर्शयति— **लौल्यमिति**। लोलुत्वपर्यायोऽयमिति अतएवमुक्तम्॥ २॥

**५ आ. मा. भा.— क्षमा तु क्रोधाभावेन सहापकर्तुरनपकारः। 'अक्रोधदोषकृच्छत्रोः क्षमा-वान्स निगद्यते' इत्यभिधानात्॥ ३॥**

६ ज. प्र. दी.— 'अक्रोधः' [ १६।२ ] इत्युक्तत्वात् क्षमेति पुनरुक्तिरित्यत आह— **क्षमा त्विति**। क्रोधं दोषं अपकारं च न करोतीत्यक्रोधदोषकृत्। शत्रोरपकर्तुः॥ ३॥

७ हनुमत्प्रणीतं पैशाचभाष्यम्।

**नवमेऽध्याये दैव्यासुरी राक्षसी चेति [ ९।१२,१३ ] प्राणिनां प्रकृतय उक्ताः, अधुना ता एव विस्तरेण प्रतिपादयितुमध्याय आरभ्यते— अभयमिति। अभयमभीरुता। सत्त्वसंशुद्धिरवञ्चनम्। ज्ञानं शास्त्राचार्योपदेशेनाऽऽत्मादिपदार्थावगमः। अवगतानां योगानुष्ठानेन साक्षात्करणं योगः, ज्ञानं च**

योगश्च ज्ञानयोगौ तयोर्व्यवस्थितिः । दानमर्थिभ्यः स्वद्रव्यसमर्पणम् । दमोऽन्तःकरणोपरतिः । यज्ञः— स्मार्ताः पञ्च महायज्ञाः, श्रौता अग्निष्टोमादयः । स्वाध्यायो वेदाभ्यासः । तपस्त्रिविधं कायिकं वाचिकं मानसं चेति । आर्जवमवक्रता ॥ १ ॥

किञ्च— अहिंसेति । अहिंसा प्राणिनामपीडा । अक्रोधः प्रसक्तस्य क्रोधस्य त्यागः । शान्तिर्बाह्येन्द्रियोपरतिः । अपैशुनं पररन्ध्रप्रच्छादनम् । दया भूतेषु रक्षितव्यबुद्धिः । अलोलुप्त्वमिन्द्रियाणां विषयसन्निधावविक्रिया । मार्दवमक्रौर्यम् । अचापलं व्यर्थचेष्टावर्जनम् ॥ २ ॥

तेज इति । तेजः प्रतापः, क्षमा क्रोधकारणेषु सत्सु चित्तस्याविक्रिया, धृतिः क्षुत्पिपासादिसहनम्, शौचं मलशोधनम्, अद्रोहः परजिघांसाभावः, नातिमानिताऽऽत्मनः पूज्यताप्रतिपत्तिः; एतेऽभयादयो भवन्ति जायन्ते । सम्पदं लाभम्, देवानामियं दैवी, तामभिलक्ष्य जातस्य; सम्पदं लब्ध्वा जातस्येत्यर्थः ॥ ३ ॥

### ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

पञ्चदशेऽध्याये ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानिनस्तद्भावापत्तिरूपा मुक्तिरुपवर्णिता; षोडशे तु तदधिकारी निरूप्यते । तत्र ज्ञानाधिकारिविशेषणभूतां दैवीं सम्पदं त्रिभिः **श्रीभगवानुवाच— अभयमिति** । इष्टानिष्टवियोगसंयोगहेतुदर्शनजन्यं यद्दुःखमभयं तद्राहित्यमभयम्, यद्वा शास्त्रोपदिष्टेऽर्थे सन्देहं विनाऽनुष्ठाननिष्ठत्वमभयम् । सत्त्वस्यान्तःकरणस्य सम्यक्शुद्धिर्निर्मलता सत्त्वसंशुद्धिः । शुद्धेः सम्यक्त्वं नाम भगवत्तत्त्वस्फूर्तियोग्यत्वम् । शास्त्राचार्योपदेशाभ्यामात्मतत्त्वावगतिर्ज्ञानम्, अवगतस्यार्थस्य चित्तैकाग्रतया स्वानुभवारूढत्वापादनं योगः, ज्ञानयोगयोर्व्यवस्थितिः सदा तन्निष्ठतेत्यर्थः । यथाधिकारं स्वद्रव्यस्य पात्रे प्रतिपादनं दानम् । बाह्येन्द्रियसंयमो दमः श्रौतोऽग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिः स्मार्तश्च देवयज्ञः पितृयज्ञो भूतयज्ञो मनुष्ययज्ञ इति चतुर्विधो यज्ञो यज्ञः, ब्रह्मयज्ञस्य स्वाध्यायपदेन पृथगुक्तेः । स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञोऽदृष्टार्थमृग्वेदाद्यध्ययनरूपः । उत्तराध्याये [१७।१४–१९] वक्ष्यमाणं शारीरादिभेदेन त्रिविधं तपः । अवक्रत्वमार्जवम्, मनोवाक्कायवृत्तीनामैकरूप्यमिति यावत् ॥ १ ॥ परपीडावर्जनमहिंसा । यथादृष्टार्थवचनं सत्यम् । परैराक्रोशे ताडने वा कृते सति सद्यः प्राप्तस्य क्रोधस्य तत्कालमुपशमनमक्रोधः । दानस्य प्रागुक्तेस्त्यागो दुःखसङ्गपरित्यागः । शान्तिरन्तरिन्द्रियोपरतिः । परदोषप्रकाशनं पैशुनम्, तदभावोऽपैशुनम् । दुःखितेषु भूतेषु तदीयदुःखासहिष्णुत्वं दया । अलोलुपत्वमलोलुत्वम्, इन्द्रियाणां विषयसन्निधानेऽप्यविक्रियत्वमिति यावत् । पवर्णलोप आर्षः । **अलोलुप्त्वमिति** वा पाठः । मृदुत्वं मार्दवम्, साधुजनसंश्लेषार्हतेत्यर्थः । अकार्यकरणे लज्जा ह्रीः । वृथाचेष्टाराहित्यमचापलम् ॥ २ ॥ प्रागल्भ्यं तेजः; स्त्रीबालकादिमूढजनैरनभिभवनीयत्वमित्यर्थः । सत्यपि सामर्थ्ये परिभवहेतुं प्रति क्रोधानुत्पत्तिः क्षमा; उत्पन्नस्य क्रोधस्य सद्यः शमनमक्रोध इति ततो विशेषः । दुःखादिभिः सीदतश्चित्तस्य स्थिरीकरणं धृतिः । बाह्यान्तरशुद्धिः शौचम् । परजिघांसया शस्त्राद्यग्रहणमद्रोहः । आत्मनि पूज्यत्वातिशयभावना अतिमानिता, तदभावो नातिमानिता; तया च तत्कार्यं पूज्येषु नम्रत्वमुपलक्ष्यते । त एते षड्विंशतिरभयादयो धर्मा दैवीं सम्पदं देवयोग्यसात्त्विकशुभवासनारूपां सम्पत्तिं शरीरारम्भकाले पुण्यकर्मभिरभिव्यक्तामभिलक्ष्य जातस्य पुरुषस्य भवन्ति निष्पद्यन्ते; "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" [ बृ.उ.४।४।२ ] "पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन" [ बृ.उ.४।४।५ ] इत्यादिश्रुतेरिति भावः ॥ ३ ॥

### ९ वल्लभाचार्यकृता तत्त्वदीपिका ।

पूर्वाध्याये 'यो मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम्' [ १५।१९ ] इत्युक्तं, तत्र 'बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोहः' इत्युक्तत्वादसम्मूढस्य दैवत्वं, तदितरस्य चासुरत्वमिति विभजन् पूर्वं दैवीं सम्पदमाह त्रिभिः **श्रीभगवान्— अभयमिति** । एते षड्विंशतिगुणाः दैवीं सम्पदमभिजातस्य भवन्ति, देवसम्बन्धिनी दैवी । देवा भगवद्वचनानुवर्त्तिधर्मशीलास्तेषां सम्पत्साधनरूपा सामग्री सृष्टिर्वा, सा च भगवन्निगमधर्मानुवर्त्तिकैव; तामभिजातस्य दैवजीवस्य भवन्तीत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥

### १० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

विमुक्तिबन्धज्ञानार्थं दैवीसम्पत्तथाऽऽसुरी । सलक्षणा सकार्या च षोडशे विनिरूप्यते ॥ १ ॥

पूर्वाध्यायान्ते 'एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् कृतकृत्यः स्यात्' [ १५।२० ] इत्युक्तम्, तत्र सृष्टौ बहव एव बुद्धिमन्तो दृश्यन्ते ते कथं नैतज्ज्ञानार्थं यतन्ते ? यतमानेष्वपि कथं न सर्वे एव ज्ञात्वा भजनेन कृतकृत्या भवन्ति ? इत्याशङ्क्याऽत्र दैवजीवा दैव्यामेव सम्पदि जाता अधिकारिणो यतमानाः कृतकृत्या भवन्तीति ज्ञापनाय दैवीसम्पत्स्वरूपमाह— **अभयमित्या-**

द्वित्रयेण। अभयं भयाभावः, कालादिसर्वनियामकत्वेनेश्वरज्ञानात्; सत्त्वस्य चित्तस्य सम्यक् शुद्धिः गुरूपसत्त्यादिना प्राप्तभगवन्नामादरतया भगवत्परत्वम्, ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानयोगे भगवज्ज्ञानोपाये व्यवस्थितिरेकाग्रतया स्थितिः, दानं यथाशक्त्यनभिलाषेण भगवत्प्रीत्यर्थमन्नादिविभागः, दम इन्द्रियनिग्रहः, यज्ञो यथाशक्ति यथाविधि यथाधिकारमग्निहोत्रादिकरणम्। चकारेण भगवद्विभूतिज्ञानेन, नान्यथेत्युच्यते। स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञादिः, तपो भगवदर्थं देहादिक्लेशः, आर्जवं कौटिल्यराहित्यम् ॥ १ ॥

अहिंसा परपीडाराहित्यं, सत्यं स्वार्थपरार्थलोभादिराहित्येन यथार्थभाषणम्, अक्रोधो निष्कारणताडनादिभिरपि क्षोभाभावः, त्यागः अनासक्तिः, शान्तिः चित्तस्थैर्यम्, अपैशुनं सर्वत्र भगवदात्मबुद्ध्या परापवादराहित्यम्, भूतेषु दया जीवेषु भगवद्वियुक्तत्वेन दया तत्स्मरणोपदेशादिरूपा, अलोलुप्त्वं भोगेच्छया मनोधावनत्वाभावः, मार्दवं मृदुत्वं परदुःखाभिज्ञत्वम्, ह्रीः लज्जा प्रभुविप्रयोगजीवने सेवाद्यकरणेन लौकिकप्रवृत्तौ च, अचापलं लौकिकक्रियासक्त्या भगवत्क्रियादिषु शैघ्र्याभावः ॥ २ ॥

तेजो भगवत्कृपाप्रागल्भ्येनाधृष्यत्वम्, क्षमा विद्यमाने सामर्थ्ये परिभवादिषु क्रोधानुत्पत्तिः, धृतिः लौकिकालौकिकदुःखादिषु चित्तस्थैर्यम्, शौचं स्नानादिभगवत्स्मरणादिना च बाह्याभ्यन्तरशुद्धिः, अद्रोहः परानिष्टचिन्तनाभावः, अतिमानिता आत्मनि सर्वाधिक्यज्ञानं तदभावो नातिमानिता। एतानि सर्वाणि दैवीं भगवत्क्रीडौपयिकीं सात्त्विकीं सम्पदमभिजातस्य भगवदाभिमुख्येन भगवत्कृपया तस्य भवन्ति। एतद्धर्मवत्त्वे भगवदाभिमुख्यं ज्ञेयमिति भावः। भारतेति विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥ ३ ॥

११ नैलकण्ठीयो भारतभावदीपः।

नवमाध्याये राक्षसी आसुरी दैवी चेति [ ९।१२,१३ ] तिस्रः सम्पद उक्तास्तासु राक्षसीमासुर्यामेवान्तर्भाव्य द्वे एव सम्पदावत्र व्युत्पाद्येते। "द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" [ बृ. उ. १।३।१ ] इति श्रुतौ अभयसत्त्वशुद्ध्यादिधीवृत्तयो देवाः, दम्भदर्पादिधीवृत्तयोऽसुरा इति द्वैराश्यस्यैव दर्शनात्। पूर्वाध्यायान्ते 'इदमुक्तं मयाऽनघ!' इत्यर्जुनं सम्बोधयताऽनघत्वं दैवसम्पत्तिमत्त्वं तद्विपर्ययस्त्वासुरीसम्पदिति दर्शयितुं श्रीभगवानुवाच– अभयमिति। अभयं स्वोच्छेदबुद्ध्यभावः। सत्त्वसंशुद्धिश्चित्तनैर्मल्यम्। ज्ञानं श्रवणादिजन्यं योगो ज्ञातेऽर्थे चित्तप्रणिधानं तयोर्व्यवस्थितिर्निष्ठा। एषा मुख्या दैवी सम्पत्। दानं यथाशक्ति संविभागोऽन्नादीनाम्। दमो बाह्येन्द्रियनियमः। यज्ञः श्रौतस्मार्तादिः। स्वाध्यायो वेदाध्ययनम्। तपो वक्ष्यमाणलक्षणं शारीरादि त्रिविधम्। आर्जवमृजुत्वं सर्वदा ॥ १ ॥

किञ्च अहिंसा प्राणिपीडावर्जनम्। सत्यमप्रियानृतवर्जनं यथाभूतार्थभाषणम्। अक्रोधः परैराक्रुष्टस्याभिहतस्य वा प्राप्तस्य क्रोधस्योपशमनम्, त्यागः सर्वकर्मसन्न्यासः, पूर्वं दानस्योक्तत्वात्। शान्तिरन्तःकरणस्योपरमः। पैशुनं परदोषप्रकाशनं, अपैशुनं तद्वर्जनम्। दया दुःखितेषु भूतेषु कृपा। अलोलुप्त्वमिन्द्रियाणां विषयसन्निधावप्यविक्रिया। मार्दवं मृदुता। ह्रीर्लज्जा। अचापलं असति प्रयोजने वाक्पाणिपादादीनामव्यापारयितृत्वम् ॥ २ ॥

किञ्च तेजः प्रागल्भ्यं, न तूग्रता। क्षमा आक्रुष्टस्य ताडितस्य वाऽन्तर्विक्रियानुत्पत्तिः। उत्पन्नाया विक्रियायाः प्रशमनमक्रोध इत्युक्तम्। धृतिर्देहेन्द्रियेष्ववसादं प्राप्तेषु तस्य प्रतिषेधकोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः, येनोत्तम्भितानि देहादीनि नावसीदन्ति। शौचं द्विविधं मृज्जलाभ्यां बाह्यम्, आन्तरं मनोबुद्ध्योर्नैर्मल्यम्। माया रागादिकालुष्याभावः। अद्रोहः परजिघांसाया अभावः। नातिमानिता अत्यन्तं मानराहित्यम्। एतानि अभयादीनि दैवीं सत्त्वप्रधानां सम्पदमभिलक्ष्य जातस्य स्वभावतो भवन्ति हे भारत! ॥ ३ ॥

मुक्त्यनधिकारिणामासुरीसम्पद्वतां लक्षणानि।

**दम्भो दर्पोऽतिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।**
**अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ! सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥**

**१ शां. भा.**— अथेदानीमासुरी सम्पदुच्यते— दम्भ इति। दम्भो धर्मध्वजित्वम्, दर्पो विद्याधनस्वजनादिनिमित्त उत्सेकः, अतिमानः पूर्वोक्तः क्रोधश्च, पारुष्यमेव च परुषवचनं यथा काणं चक्षुष्मान्, विरूपं रूपवान्, हीनाभिजनमुत्तमाभिजन इत्यादि। अज्ञानं चाविवेकज्ञानं कर्तव्या-

कर्तव्यादिविषयमिथ्याप्रत्ययः । अभिजातस्य पार्थ ! किमभिजातस्य ? इत्याह— असुराणां सम्पदासुरी तामभिजातस्येत्यर्थः ॥ ४ ॥

२ आं. शां. व्या.— आदेयत्वेन दैवीं सम्पदमुक्त्वा हेयत्वेनाऽऽसुरीं सम्पदमाह— **अथेति** । उत्सेको मदो महदवधीरणाहेतुः, आत्मन्युत्कृष्टत्वाध्यारोपोऽतिमानः । क्रोधस्तु कोपापरपर्यायः स्वपरापकारप्रवृत्तिहेतुर्नेत्रादिविकारलिङ्गोऽन्तःकरणवृत्तिविशेषः । परुषो निष्ठुरः प्रत्यक्षरूक्षवाक्, तस्य भावः पारुष्यं, तदुदाहरति— **यथेति** । तामभिजातस्य दम्भादीन्यज्ञानान्तानि भवन्तीत्यनुषज्यते ॥ ४ ॥

**३ रा. भा.— दम्भः धार्मिकत्वख्यापनाय धर्मानुष्ठानम्; दर्पः कृत्याकृत्याविवेककरो विषयानुभवनिमित्तो हर्षः; अतिमानश्च स्वविद्याभिजनाननुगुणोऽभिमानः; क्रोधः परपीडाफलचित्तविकारः; पारुष्यं साधूनामुद्वेगकरः स्वभावः; अज्ञानं परावरतत्त्वकृत्याकृत्याविवेकः; एते स्वभावा आसुरीं सम्पदमभिजातस्य भवन्ति; असुरा भगवदाज्ञातिवृत्तिशीलाः ॥ ४ ॥**

४ वे. ता. चं.— 'दम्भो दर्पः' इत्यादौ भवन्तीत्यनुषज्यते । **धार्मिकत्वख्यापनायेति**, न तु भगवदाज्ञानुवृत्तिबुद्धयेत्यर्थः । **कृत्याकृत्याविवेककर** इति शास्त्रातिलङ्घनहेतुरिति भावः । अतिमानशब्दोक्तगर्वापरपर्यायात्तत्कारणाभिमानाद्दर्पस्य विशेषमाह **विषयानुभवनिमित्त** इति । एतेनाचार्यभगवत्सन्दर्शनादिनिमित्तहर्षव्यवच्छेदः । अस्थान इति पूर्वोक्तमत्र **स्वविद्याभिजनाननुगुण** इत्यनेन विवृतम् । विद्याभिजनग्रहणं वीर्यादेरप्युपलक्षणम् । 'वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च । वेषवाग्वृत्ति(ग्बुद्धि)सारूप्यमाचरन्विचरेदिह' [ मनुः ४।१८ ] इत्यस्योल्लङ्घनमिहाभिप्रेतम् । बाह्यकुदृष्टिषु चोरादिषु च वाक्पारुष्यं दण्डपारुष्यं च नातीव दोष इत्यभिप्रायेणाह— **साधूनामुद्वेगकरः स्वभाव** इति । अतएव साधुबहिष्काराच्छास्त्रबहिष्कारोऽपि स्यादेवेत्यर्थः । प्राप्तकालनिद्रादिरूपमनुपयुक्तविषयं चाज्ञानमासुराणामन्येषामपि तुल्यमदोषश्च । तद्व्यवच्छिनत्ति— **परावरेति** । ईदृशाज्ञानमूलमागमान्तरेषु परावरतत्त्वव्यत्ययकल्पनं, वेदविरुद्धाचारपरिग्रहश्च । पूर्वोक्तकतिपयगुणव्यतिरेकप्रदर्शनमिहोपलक्षणार्थम् । चकारेण वाऽनुक्तसमस्तसमुच्चयः । आसुरीं सम्पदमभिव्यंक्तुमाह— **भगवदाज्ञातिवृत्तिशीला** इति । यान् प्रत्युच्यते 'पश्यत्येनं जायमानं ब्रह्मा रुद्रोऽथवा पुनः ( लोकपितामहः ) । रजसा तमसा चैव मानसं समभिप्लुतम्' [ म. भा. १२।३४८ ७७,७८ ] इति; 'विपरीतस्तथाऽऽसुरः' [ वि.ध.१०९।७४ ] इति च । प्रजापतिवाक्ये च देहात्माभिमानादिमूलत्रिवर्गमात्रनिष्ठामधिकृत्योच्यते "असुराणां ह्येषोपनिषत्" [ छां. उ. ८।८।५ ] इति । अत्र सम्पच्छब्दो भगवदाज्ञातिलङ्घनरुचीनामभिप्रायेणोपलम्भाभिप्रायेण वा सम्पद्यत इत्येतावन्मात्रविवक्षया वा ज्ञातव्यः ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ४ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४ ॥

**७ ह. पै. भा.— दम्भ इति । दम्भो धर्मध्वजः, दर्पो धनादिनिमित्तश्चित्तोत्सेकः, अभिमान आत्मनः पूज्यताप्रतिपत्तिः, क्रोधः कोपः, पारुष्यं क्रौर्यम्, अज्ञानमनवबोधः । असुराणामियं सम्पदासुरी ॥ ४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं दैवीं सम्पदमुक्त्वा तस्यास्तत्त्वज्ञानाधिकारविरोध्यासुरसम्पद्व्यवच्छेदकत्वेन तदधिकारिविशेषणत्वं दर्शयितुमासुरीं सम्पदमेकेन सङ्क्षिप्य दर्शयति— **दम्भ** इति । धार्मिकत्वख्यापनरूपं धर्मध्वजित्वं दम्भः, धनविद्यादिनिमित्तो गर्वो दर्पः । अतिमानो व्याख्यातः । अभिज्वलनात्मकश्चित्तवृत्तिविशेषः क्रोधः । निष्ठुरत्वं पारुष्यम् । कृत्याकृत्यविवेकशून्यत्वमज्ञानम् । एते दम्भाद्यज्ञानान्ताः षट् दोषा आसुरीं सम्पदमभिजातस्य असुरयोग्यां रजस्तमोमयीमशुभवासनामभिलक्ष्य जातस्य कुपुरुषस्य भवन्ति ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— आसुरीं सम्पदमाह— दम्भ इति । दर्पः कामरूपः, अभिमानो लोभः । चकारैः पूर्वप्रतियोगिनो गृह्यन्ते; स्पष्टमन्यत् । एते षट् दोषाः स्वभावतः पूर्वगुणवैरिण इति सर्वथा आसुरजीवस्य भवन्ति । भगवद्वचसि मायावादिनोऽसुराः भगवद्वचोऽननुवर्त्तिस्वभावा एव, अतोऽसुरा मापृष्टाः 'त्रयः प्राजापत्याः ... देवा मनुष्या असुराश्च" [बृ. उ. ५।२।१] इति बृहदारण्यके । पञ्चरात्रेऽपि–'उत्पन्नास्त्रिविधा जीवा देवदानवमानवाः । तत्र देवा मुक्तियोग्या मानुषेषूत्तमा अपि ॥ अधमा मानुषा ये तु सृतियोग्याः पुनः पुनः । अधर्मा निरयायैव दानवास्तु तमोलयाः' इत्युक्तम् । "ये सम्भूतिमुपासते मायेत्यसुराः"? इति श्रुतिष्वपि ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— एवं सलक्षणां दैवीं सम्पदमुक्त्वा आसुरीमाह— दम्भ इति। दम्भो धर्मध्वजित्वं अन्तस्तदभावेन बहिर्धर्मप्रकटनम्, दर्पो विद्यामदेन स्वात्मविस्मरणेन सर्वोपमर्दतयाऽऽधिक्येन स्थितिः, क्रोधः स्वबलाधिक्यभावनया निष्ठुरवाक्यतानिष्टचिन्तनं च, पारुष्यं कार्कश्यं परदुःखानभिज्ञता। एवकारेण (न) क्वचिदपि कदाचिदप्यपारुष्यमिति ज्ञापितम्। च पुनः अज्ञानं सर्वस्वरूपानभिज्ञता। आसुरीं सम्पदमभिजातस्य मदिच्छया जातस्यैतानि लक्षणानि भवन्तीत्यर्थः॥ ४॥

११ नी० भा० दी०— अथेदानीं रजस्तमोमयी आसुरी सम्पदुच्यते— दम्भ इति। दम्भो धर्मध्वजित्वम्। दर्पः धनाभिजननिमित्त उत्सेकः। अभिमान आत्मनि पूज्यताबुद्धिः। क्रोधः प्रसिद्धः। पारुष्यं निष्ठुरभाषणम्। अज्ञानमविवेकजनितो मिथ्याप्रत्ययः। एते आसुरीं सम्पदमभिलक्ष्य जातस्य भवन्ति हे पार्थ !॥ ४॥

दैव्यासुरसम्पदोः कार्यमर्जुनस्य च समाश्वासनम्।

**दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता।**
**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव !॥ ५॥**

१ शां. भा.— अनयोः सम्पदोः कार्यमुच्यते— दैवी सम्पद्या सा विमोक्षाय, संसारबन्धनात्; निबन्धाय नियतो बन्धो निबन्धस्तदर्थमासुरी सम्पन्मताऽभिप्रेता। तथा राक्षसी च। तत्रैवमुक्ते सत्यर्जुनस्यान्तर्गतं भावं 'किमहमासुरसम्पद्युक्तः किं वा दैवीसम्पद्युक्तः ?' इत्येवमालोचनारूपमालक्ष्याऽऽह भगवान्— मेति। मा शुचः शोकं मा कार्षीः, सम्पदं दैवीमभिजातोऽस्यभिलक्ष्य जातोऽसि; भाविकल्याणस्त्वमसीत्यर्थः; हे पाण्डव !॥ ५॥

२ आ. शां. व्या.— कार्यं फलविभागः। आसुरीत्युपलक्षणं, राक्षसी चेति द्रष्टव्यमित्याह— तथेति। फलविभागे सम्पदोरेवमुक्ते प्रतीत्यार्जुनस्याभिप्रायं भगवतो वचनमित्याह— तत्रेति। तत्राऽऽभिजात्यं हेतुं करोति— हे पाण्डवेति॥ ५॥

३ रा. भा.— दैवी मदाज्ञानुवृत्तिरूपा सम्पत् विमोक्षाय बन्धान्मुक्तये भवति, क्रमेण मत्प्राप्तये भवतीत्यर्थः। आसुरी मदाज्ञातिवृत्तिरूपा सम्पत् निबन्धाय भवति, अधोगतिप्राप्तये भवतीत्यर्थः। एतच्छ्रुत्वा स्वप्रकृत्यनिर्धारणादतिभीतायार्जुनायैवमाह— मेति। शोकं मा कृथाः; त्वं तु दैवीं सम्पदमभिजातोऽसि हे पाण्डव !। धार्मिकाग्रेसरस्य हि पाण्डोस्तनयस्त्वमित्यभिप्रायः॥ ५॥

४ वे. ता. चं.— दैवासुरस्वभावयोः श्रद्धोद्वेगजननाय 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः' [ १४।१८ ] इत्यादिनोक्तमिह सङ्क्षिप्य स्मार्यते— दैवी सम्पत् इत्यर्धेन। विमोक्षस्येष्टप्राप्तिपर्यन्ततां वक्तुमात्यन्तिकानिष्टनिवृत्तिरूपं शब्दस्य मुख्यार्थमाह— बन्धान्मुक्तय इति। अव्यवहितहेतुत्वविवक्षायां समाधिपर्यन्तशास्त्रार्थवैयर्थ्यं स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह क्रमेणेति। आत्मसाक्षात्कारादिद्वारेति वा। निबन्धः नियतो बन्धः। तत्र 'अधो गच्छन्ति तामसाः' [ १४।१८ ] इत्येतत्स्मारयति— अधोगतीति। अत्र 'मा शुचः' इति वचनं न शास्त्रोपक्रमप्रक्रान्ताशोच्यविषयशोकप्रतिषेधार्थम्, तस्य बहुधा परिहृतत्वात्, 'सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' इत्यनेन तत्परिहारासम्भवाच्च। अतो 'निबन्धायासुरी मता' इत्युक्ते शास्त्रीयमर्यादानतिलङ्घिन्यपि स्वात्मनि 'स्थिरो निगूढाहङ्कारः' [ द. रू. २।५ ] इति प्रक्रियया धीरोदात्तनायकगुणभूतस्य निगूढस्वाहङ्कारत्वस्य स्वात्मसाक्षिकत्वात्तावन्मात्रेणापि स्वस्मिन्नासुरत्वमतिशङ्कमानस्य श्रुतद्विविधसम्पत्कस्य बीभत्सोः स्वप्रकृत्यनिर्धारणात्पुनरपारसंसारसागरनिमज्जनभीत्या शोचतो देवप्रकृतित्वज्ञापनेन शोकमपनयतीत्याह— एतच्छ्रुत्वेति। अत्राप्यस्थाने शोकं त्वमेवाहारयसीत्यभिप्रायेणाऽऽह शोकं मा कृथा इति। न हि देवप्रकृतीनां धर्मोत्तराणामासुराः पुत्राः सम्भवन्तीत्यभिप्रायेण पाण्डवशब्दसम्बुद्धिरित्याह धार्मिकाग्रेसरस्येति॥ ५॥

५ आ. मा. भा.— दैवीं सम्पदमभिजातः प्रतिजातः॥ ५॥

६ ज. प्र. दी.— 'सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' इत्यत्राभिजात उत्तमजन्मा। नायं धातुः सकर्मकः तत्कथं द्वितीया ? इत्याशङ्क्य अभिलक्ष्य जात इति केचित्(शं.) व्याचक्षते, तदसत्। अर्जुनस्य देवत्वेन देवत्वमुद्दिश्य जन्मायोगादित्याशयवानाह— दैवीमिति। अनेनैतदाचष्टे— नायमभिरुपसर्गः, येन तस्य जनिसम्बन्धे द्वितीयानुपपत्तिर्लक्षिसम्बन्धे चोक्तानुपपत्तिः स्यात्;

किन्तु प्रत्यर्थे लक्षणे कर्मप्रवचनीयः । तथा च ‘ कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया ’ [ अष्टा. २।३।८ ] उपपद्यते । तथा ‘ वृक्षमभिवृक्षं प्रति विद्योतते ’ इत्यत्र वृक्षो विद्योतनस्य लक्षणमित्यर्थः । एवं दैवीसम्पज्जातस्य तव लक्षणमित्यर्थः । सम्पद्यते तथा चार्जुनस्य प्राप्तदेवत्वविरोध इति । अत एव सम्पदं दैवीमभिजातस्य ‘ अभिजातस्य पार्थ ! सम्पदमासुरीम् ’ [ १६।४ ] इत्येतद्विहायेदं व्याख्यातम् । अर्जुनस्य देवत्वप्रसिद्धेरेतत्साहचर्यात्तत्राऽप्येतदर्थत्वोपपत्तेः ॥ ५ ॥

७ ह. पै. भा.— अनयोः सम्पदोः फलमाह— दैवीति । विमोक्षाय संसारविमोक्षाय । निबन्धोऽविद्याकामकर्मनिबन्धः । मा शुचः शोकं मा कार्षीः ॥ ५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— आसुरसम्पदमुक्त्वा तद्विरोधित्वेन दैवसम्पदोऽधिकारिविशेषणत्वं दर्शयति— दैवीति । दैवी सम्पत् ज्ञानद्वारा विमोक्षाय मता ; आसुरी तु निबन्धाय नित्यसंसारबन्धाय । तथा च दैवसम्पद्युक्तस्तत्त्वज्ञानाधिकारीत्यर्थः । आसुरीत्येतत् ‘ राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ’ [९।१२]इति प्राङ्नवमाध्यायोक्तराक्षसमोहनप्रकृत्योरुपलक्षणम् । एतच्छ्रुत्वा ‘ किमहमधिकारी न वा’ इति सन्देहव्याकुलमर्जुनमाश्वासयति— मा शुच इति । त्वं दैवीं सम्पदमभिलक्ष्य जातोऽसि ; ततो मा शोकं कृथाः । ‘पाण्डव ’इत्यनेन परमपरिशुद्धस्य पाण्डोः पुत्रत्वेनैव दैवसम्पद्योगः, किं पुनस्त्वयि ? इत्युक्तं भवति ॥ ५ ॥

९ व० त० दी०— उभयोः कार्यं दर्शयन्नाह— दैवी सम्पदिति । विमोक्षाय विशेषतो मोक्षाय पुष्टिमर्यादाभेदेन; निबन्धायासुरीति नितरां बन्धायाज्ञदुर्ज्ञत्वभेदेनेत्यर्थः । एतन्निशम्य स्वस्वभावानिर्द्धारादतिभीतमर्जुनं समाश्वासयति— मा शुच इति । त्वं तु दैवीं सम्पदमभिजातोऽसि, पाण्डुर्हि देवस्वभावो देवांशत्वाद्धार्मिकत्वाच्च; न तथा धृतराष्ट्र इत्यतः कार्यस्य हेतुसाम्यौचित्यात्पाण्डवेति सम्बोधयति ॥ ५ ॥

१० पु. अ. त.— उभयोः सम्पदोः कार्यमाह— दैवी सम्पदिति । दैवी सम्पत् विमोक्षाय विशेषेण मोक्षाय पुष्टिमर्यादाभेदेन मता, मत्सम्मतेत्यर्थः । आसुरी निबन्धाय नितरां बन्धाय पुनः संसारपर्यावर्तनेनान्ते अन्धंतमःप्रवेशाय मता, सम्मतेत्यर्थः । एतच्छ्रवणेन युद्धोपस्थितौ कौरवादिषु क्रोधोत्पत्त्या शोचन्तमर्जुनमाश्वासयति— मा शुच इति । हे पाण्डव क्षत्रियात्मजत्वेन शोकानर्ह ! दैवीं सम्पदमभिजातोऽसि मदिच्छयाऽतो मा शुचः शोचं मा कार्षीः ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— अनयोः सम्पदोः कार्यमाह— दैवीति । दैवी पूर्वोक्ता । अर्जुनस्य शङ्का ‘ किमहमासुर्यां सम्पदि जातोऽस्मि ? ’ इति, तामपनुदति— मा शुच इति ॥ ५ ॥

आसुरसम्पद्विवरणप्रतिज्ञा ।

## द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च ।
## दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ ! मे शृणु ॥ ६ ॥

१ शां. भा.— द्वौ भूतेति । द्वौ द्विसङ्ख्याकौ भूतसर्गौ भूतानां मनुष्याणां सर्गौ सृष्टी भूतसर्गौ; सृज्येते इति सर्गौ, भूतान्येव सृज्यमानानि दैवासुरसम्पद्द्वययुक्तानि द्वौ भूतसर्गावित्युच्येते “ द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च” [ बृ. उ. १।३।१ ] इति श्रुतेः । लोकेऽस्मिन्संसार इत्यर्थः; सर्वेषां द्वैविध्योपपत्तेः । कौ तौ भूतसर्गौ ? इत्युच्येते प्रकृतावेव दैव आसुर एव च । उक्तयोरेव पुनरनुवादे प्रयोजनमाह दैवो भूतसर्गः ‘ अभयं सत्त्वसंशुद्धिः ’ [ १६।१ ] इत्यादिना विस्तरशो विस्तरप्रकारैः प्रोक्तः कथितः, न त्वासुरो विस्तरशः, अतस्तत्परिवर्जनार्थमासुरं पार्थ ! मे मम वचनादुच्यमानं विस्तरशः शृणवधारय ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.— निर्दयानां रक्षसां सम्पत्तृतीयाऽस्ति सा कस्मान्नोक्ता ? इत्याशङ्क्याऽऽसुर्यामन्तर्भावादित्याह— द्वाविति । भूतानां द्वैविध्ये मानत्वेनोद्गीथब्राह्मणमुदाहरति— द्वया हेति । सम्पद्द्वययुतेभ्योऽतिरिक्तानामपि प्राणिभेदानां सम्भवात्कुतो भूतानां द्वित्वनियतिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— सर्वेषामिति ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.—** अस्मिन् कर्मलोके कर्मकराणां भूतानां सर्गौ द्वौ द्विविधौ दैवश्चासुरश्चेति; सर्गः उत्पत्तिः, प्राचीनपुण्यपापरूपकर्मवशात् भगवदाज्ञानुवृत्तितद्विपरीतकरणायोत्पत्तिकाल एव विभागेन भूतान्युत्पद्यन्त इत्यर्थः। तत्र दैवः सर्गो विस्तरशः प्रोक्तः, देवानां मदाज्ञानुवृत्तिशीलानामुत्पत्तिर्यदाचारकरणार्था, स आचारः कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगरूपो विस्तरशः प्रोक्तः; असुराणां सर्गश्च यदाचारकरणार्थः, तमाचारं मे शृणु मम सकाशाच्छृणु ॥ ६ ॥

**४ वे. ता. चं.—** स्वरूपादिभिः समेषु सर्वेषु आत्मसु दैवासुरविभागस्य किं निदानम्? इति शङ्कां सविशेषानुवादेन परिहरन्नत्यन्तपरिहर्तव्यत्वज्ञापनाय प्रसक्तस्यासुरवृत्तान्तस्य विस्तरमुपलक्षयति **द्वौ भूतसर्गौ** इतिश्लोकेन। **अस्मिन् लोके** इति न लोकान्तरव्यवच्छेदार्थम्, सर्वत्र देवासुरविभागसिद्धेः; न च निरर्थकाधिकरणमात्रनिर्देशो युक्तः; अतो लोकोपलम्भसिद्धाकारेण विहितनिषिद्धकरणसूचनमिह विवक्षितमित्यभिप्रायेणाऽऽह **कर्मकराणामिति**। कर्मलोकविवक्षया वा **अस्मिन्** इति विशेषणम्। 'सर्गः स्वभावनिर्मोक्षनिश्चयाध्यायसृष्टिषु' [अमरः ३।३।२२] इति बह्वर्थस्याभिप्रेतं वक्तुमिहार्थवशाद्धातोः प्रयोज्यव्यापारपरत्वं तावदाह— **सर्ग उत्पत्तिरिति**। उत्पत्तिस्वरूपे कथं दैवत्वासुरत्वविभागः? इति शङ्कायां 'लोकेऽस्मिन्' इत्यनेन दैवासुरविभागे सर्गशब्देन चाभिप्रेतं सङ्कल्प्याऽऽह **प्राचीनेति**। दैवासुरसम्पदर्थत्वादुत्पत्तौ दैवासुरत्वोक्तिरित्यर्थः।

सर्गशब्दस्य स्वभावपरत्वं सृज्यमानपरत्वं चाप्रसिद्धत्वादनादृत्य प्रसिद्धसृष्टिपरत्वेन व्याख्यातम्। 'दैवः सर्गो विस्तरशः प्रोक्तः' इत्युक्ते देवानां वंशानुचरितकीर्तनवत्प्रतीयते; न च तथा कृतम्। यद्यपि 'प्रजहाति यदा कामान्' [२।५५] 'दैवमेवापरे यज्ञं' [४।२५] 'चतुर्विधा भजन्ते मां' [७।१६] 'महात्मानस्तु मां पार्थ!' [९।१३] इत्यादिभिर्ज्ञानयोगकर्मयोगभक्तियोगनिष्ठाः पुरुषा निर्दिष्टाः; तथापि तत्कर्तव्यप्रपञ्चन एव तत्रापि तात्पर्यम्; अतोऽत्र दैवसर्गस्य विस्तरेणोक्तिस्तत्कार्यद्वारेत्यभिप्रायेण **यदाचारकरणार्थेत्यादिक**मुक्तम्। 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' [१६।१] इत्यादिकं प्राग्विस्तरेणोक्तस्य सङ्ग्रहणमित्यभिप्रायेण कर्मयोगादिग्रहणम्। 'आसुरं सर्गं' इत्यत्रापि वक्ष्यमाणानुसारादेवमेव विवक्षेत्याह **असुराणामिति**। 'आसुरं सर्गं मे शृणु' इत्युक्ते सर्गान्वयेन कर्तरि षष्ठीप्रतीतिः स्यात्; ततोऽपि 'शृणु' इत्यस्यापेक्षितमाप्ततमत्वसूचनमेवोचितमित्यभिप्रायेणाऽऽह **मम सकाशादिति**। अविदितमुपादेयं यथा नोपादातुं शक्यं, तथा हेयमप्यविदितं न हातुं शक्यम्; अतोऽत्र सावधानो भवेत्यभिप्रायेण 'शृणु' इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ६ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ६ ॥

**७ ह. पै. भा.—** द्वाविति। सर्गः सृष्टिः। देवानामयं दैवः। असुराणामयमासुरः। दैवः सर्गः। विस्तरशो विस्तरेण ॥ ६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** एवमधिकारिणं निरूप्य तस्यावश्यपरिवर्जनीयामासुरीं सम्पदं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते— **द्वाविति**। अस्मिँल्लोके संसारे भूतानां मनुष्याणां सर्गौ द्वावेव। कौ तौ? दैव आसुर एव च। राक्षसमोहनप्रकृत्योरप्यासुरप्रकृतावेवान्तर्भावमभिप्रेत्य द्वावित्युक्तिः। यद्यपि शास्त्रार्थज्ञानभ्रंशहेतुः प्रकृतिर्मोहिनी, अविहितहिंसाहेतुद्वेषप्रधाना राक्षसी प्रकृतिः, शास्त्रानभ्यनुज्ञातविषयभोगहेतुरागप्रधाना आसुरी प्रकृतिरिति तासां लक्षणानि विविक्तान्येव; तथापि शास्त्रनिषिद्धकर्मप्रवृत्तिहेतुप्रकृतित्वेन तिसृणामप्यैक्यविवक्षयाऽत्रासुरशब्देन निर्देशो युज्यते। अत एवैतदभिप्रायेणैव 'द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च' [बृ. उ. १।३।१] इति श्रुतिरपि दृश्यत इत्यभिप्रायः। तत्र दैवो भूतसर्गः 'अभयं सत्त्वसंशुद्धिः' [१६।१] इत्यादिना विस्तरशः प्रोक्तः। आसुरं भूतसर्गमिदानीं मे मम सकाशाद्विस्तरशः शृणु ॥ ६ ॥

**९ व० त० दी०—** द्वौ भूतसर्गाविति। अस्मिन् लोके देवमायांशानां भूतानां द्वौ सर्गौ दैव आसुरश्चेति। 'एव च' इत्यनेनाधुना तु दैवेऽप्यासुरभावोदयकाल आयात इति द्योतयति। अत्रेदं तत्त्वमुक्तम्- 'द्वौ भूतसर्गावित्युक्तेः प्रवाहोऽपि व्यवस्थितः। वेदस्य विद्यमानत्वान्मर्यादापि व्यवस्थिता। भक्तिमार्गस्य कथनात्पुष्टिरस्तीति निश्चयः' इति निर्हेतुकभगवदनुग्रहैकलभ्यतया व्रजस्थादिष्वन्तःकथनाद्भक्तिमार्गस्येति विवरणकृतां श्रीरघुनाथचरणानामाशयः। तत्र दैवो मर्यादयाऽत्रान्यत्र च विस्तरशः प्रोक्त एवेत्यतस्त्वमादौ मत्त आसुरं शृणु अवधारय ॥ ६ ॥

**१० पु. अ. त.—** ननु दैव्यां सम्पदि जातस्य मम कथं क्रोधोत्पत्तिर्मनसि जायते? इत्याशङ्क्य नैकदोषेणैवाऽऽसुरत्वं, तदुत्पत्तिरस्तु सङ्गदोषजेति; तत्त्यागार्थं विस्तरेण सर्वलक्षणपूर्वकमासुरीं सम्पदं प्रपञ्चयितुं प्रतिजानीते— **द्वाविति**।

अस्मिँल्लोके भूतसर्गौ जीवसर्गौ द्वौ, एको दैवो द्वितीय आसुर एव; चकारेण राक्षसादिरपि गृहीतः । तत्र दैवो विस्तरशो विस्तारपूर्वकः पूर्वं प्रोक्तः प्रकर्षेण फलादिसहितो मे मया उक्तः कथितः । हे पार्थ कृपापात्र ! आसुरः पूर्वं सङ्क्षेपेणोक्तोऽतो मे मत्तो विस्तरेणोच्यमानमासुरं सर्गं शृणु ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— द्वौ द्विसङ्ख्यौ भूतसर्गौ भूतानां स्वभावौ । मे मद्वचनाच्छृणु ॥ ६ ॥

आसुरसम्पद्वतां लक्षणानि ७–१८ ।

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः ।**
**न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ॥ ७ ॥**

**१ शां. भा.**— आऽध्यायपरिसमाप्तेरासुरी सम्पत्प्राणिविशेषणत्वेन प्रदर्श्यते प्रत्यक्षीकरणेन च शक्यतेऽस्याः परिवर्जनं कर्तुमिति— **प्रवृत्तिं** चेति । प्रवृत्तिं च प्रवर्तनं यस्मिन्पुरुषार्थसाधने कर्तव्ये प्रवृत्तिस्तां, निवृत्तिं च तद्विपरीतां यस्मादनर्थहेतोर्निवर्तितव्यं सा निवृत्तिस्तां च, जनाः आसुरा न विदुर्न जानन्ति । न केवलं प्रवृत्तिनिवृत्ती एव ते न विदुः; न शौचं नापि चाऽऽचारो न सत्यं तेषु विद्यते ; अशौचा अनाचारा मायाविनोऽनृतवादिनो ह्यासुराः ॥ ७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— नन्वध्यायशेषेणाऽऽसुरसम्पद्दर्शनमयुक्तं, तस्यास्त्याज्यत्वेन **पङ्कप्रक्षालनन्यायावतारा**दित्याशङ्क्याऽऽह— **प्रत्यक्षीकरणेने**ति । वर्जनीयामासुरीं सम्पदं विवृणोति— **प्रवृत्तिं चे**ति । तां विहितां प्रवृत्तिं न जानन्तीत्यर्थः । तां च निषिद्धां क्रियां न जानन्तीति सम्बन्धः । न शौचमित्यादेस्तात्पर्यमाह— **अनाचारा** इति । शौचसत्ययोराचारान्तर्भावेऽपि **ब्राह्मणपरिव्राजक**न्यायेन पृथगुपादानम् ॥ ७ ॥

**३ रा. भा.**— प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च अभ्युदयसाधनं मोक्षसाधनं च वैदिकं धर्ममासुरा न विदुः न जानन्ति । न च शौचं वैदिककर्मयोग्यत्वं शास्त्रसिद्धम् ; तद्बाह्यमान्तरं चासुरेषु न विद्यते । नापि चाचारः तद्बाह्यान्तरशौचं येन सन्ध्यावन्दनादिना आचारेण जायते, सोऽप्याचारस्तेषु न विद्यते । यथोक्तं— 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' [ द. स्मृ. २।२३ ] इति; तथा सत्यं च तेषु न विद्यते । सत्यं यथार्थज्ञानं भूतहितरूपभाषणं तेषु न विद्यते ॥ ७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिशब्दौ न लौकिकविषयौ; आसुराणामेव लौकिकेष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थमपथप्रवृत्तेः सत्पथनिवृत्तेश्च सिद्धत्वात् ; न च विहितनिषिद्धमात्रविषयौ, रागप्राप्तशास्त्रप्राप्तविषयौ वा, 'न शौचं नापि चाचारः' इत्यादेः पुनरुक्तिप्रसङ्गात् ; अतोऽत्र मुमुक्ष्वपेक्षितप्रवर्तकनिवर्तकधर्मविवेकाभावे तात्पर्यमित्याह— **अभ्युदयसाधनमि**त्यादिना । तावेतौ धर्मौ स्मर्येते 'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत्' [ म. भा. १२।२१७४ ] 'निवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत्' [ म. भा. १२।२१७।२ ] इति । 'न विदुः' इत्यत्र 'न सत्यं तेषु विद्यते' इतिवदसद्भावमात्रं न विवक्षितम् , अपितु शतकृत्वः प्रतिपादितेऽपि तमःप्राचुर्यादपरिज्ञानमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **न जानन्ती**ति । 'कृत्ययोग्यता' इति प्रागुक्तमत्र **वदिककर्मयोग्यत्वमि**त्यनेन विवृतम् । बाह्यशौचमशुचिसंशीलनादिभिरवश्यकर्तव्याकरणाच्च न विद्यते; आन्तरं त्वात्मगुणाभावात् । 'न शौचं नापि चाचारः' इति क्रमात्कार्यकारणयोर्निषेध इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **तदि**ति । ननु सन्ध्यावन्दनादेर्वर्णाश्रमधर्मस्य 'प्राजापत्यं गृहस्थानां न्यासिनां ब्रह्मसंज्ञितम् । योगिनाममृतं स्थानं स्वात्मसन्तोषकारिणाम्' [ वि. पु. १।६।३६ ] इत्यादिभिः फलान्तरं श्रूयते; तत्कथं तस्य शौचहेतुत्वोक्तिः ? इत्यत्राऽऽह— **यथोक्तमि**ति । व्यतिरेकोक्त्या हेतुहेतुमद्भावोऽत्र दृढीकृतः । इदं नित्यकर्मान्तरहानादपि ग्राह्यम् । **यथाज्ञान**मित्यादि— विप्रलम्भरसिकत्वादयथाज्ञानं भाषणाभावः, हिंसास्वभावत्वाद्धितरूपभाषणाभावः ॥ ७ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ७ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **प्रवृत्तिमि**ति । प्रवृत्तिं कर्तव्यानुष्ठानं न विदुर्न जानन्ति । आसुरीं सम्पदं प्राप्ता आसुराः । आचारः शिष्टाचरणम् । सत्यमवितथवचनम् ॥ ७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— प्रतिज्ञातामासुरसम्पदमेव निरूपयति द्वादशभिः— प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिं प्रवृत्तिविषयं धर्मं निवृत्तिं निवृत्तिविषयमधर्मं च आसुरस्वभावा जना न जानन्ति । अतस्तेषु बाह्यान्तरशुचित्वरूपं शौचं तद्धेतुभूत आचारो मन्वाद्युक्तः 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यम्' [ द. स्मृ. २।२३ ] इत्यादिस्मृतेः; आचारमूलप्रमाणभूतं सत्यं श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिकं च न विद्यते । अशौचा अनाचारा अवेदशास्त्रपराश्चासुरा इत्यर्थः ॥ ७ ॥

९ व० त० दी०— सर्वात्मना वर्जनार्थमासुरीं विस्तरशो निरूपयति— प्रवृत्तिमित्यादिद्वादशभिः। प्रवृत्तिमार्गं वेदोक्तं निवृत्तिमार्गं च न विदुरासुराः 'रुचिस्तेषां न कुत्रचित्' इति श्रीमुखोक्तिरियम्। कुतः ? इत्यत आह 'न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते' इति मानसकायिकवाचिकदोषसद्भावेन सर्वत्र कर्मादौ तत्प्रतिपादकशास्त्रे च सत्यत्वानङ्गीकारादित्यर्थः ॥ ७ ॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रतिज्ञाय विस्तरेणाऽऽह द्वादशभिः— प्रवृत्तिमित्यादिभिः । आसुरा जीवा आसुरसर्ग एवोत्पन्नाः प्रवृत्तिं मदिच्छया मत्सेवानुकूलधर्मपदार्थादिषु प्रवृत्तिं तथैव तदननुकूलेषु च निवृत्तिं न विदुः, न जानन्तीत्यर्थः । अज्ञाने निदर्शनमाह— न शौचमिति । बाह्याभ्यन्तरभेदेन शौचं मत्सेवानुकूलदेहशुद्धिस्तेषु न, नापि च आचारः आचरणं न च, न सत्यं असत्यं तेषु विद्यते; सत्यं नास्तीत्यर्थः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— प्रवृत्तिं विधिवाक्यं निवृत्तिं निषेधवाक्यं न विदुः; धर्माधर्मयोरिष्टानिष्टहेतुत्वज्ञानरहिता इत्यर्थः ॥ ७ ॥

**असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।**
**अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥ ८ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च असत्यं यथा वयमनृतप्रायास्तथेदं जगत्सर्वमसत्यमप्रतिष्ठं च, नास्य धर्माधर्मौ प्रतिष्ठाऽतोऽप्रतिष्ठं चेति त आसुरा जना जगदाहुरनीश्वरम् । न च धर्माधर्मसव्यपेक्षकोऽस्य शासितेश्वरो विद्यत इत्यतोऽनीश्वरं जगदाहुः । किञ्चापरस्परसम्भूतं कामप्रयुक्तयोः स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यसंयोगाज्जगत्सर्वं सम्भूतम् । किमन्यत्कामहैतुकं कामहेतुरेव कामहैतुकं किमन्यज्जगतः कारणम् ? न किञ्चिददृष्टं धर्माधर्मादि कारणान्तरं विद्यते जगतः । काम एव प्राणिनां कारणमिति लोकायतिकदृष्टिरियम् ॥ ८ ॥

२ आ. शां. व्या.— आसुराणां जनानां विशेषणान्तराण्यपि सन्तीत्याह— किञ्चेति । विद्यत इत्याहुरिति पूर्वेण सम्बन्धः । शास्त्रैकगम्यमदृष्टं निमित्तीकृत्य प्रकृत्यधिष्ठात्रात्मकेन ब्रह्मणा रहितं जगदिष्यते चेत्कथं तदुत्पत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— किञ्चेति । किमन्यदित्यादेराक्षेपस्य तात्पर्यमाह— न किञ्चिदिति ॥ ८ ॥

३ रा. भा.— किञ्च— असत्यं— जगदेतत्सत्यशब्दनिर्दिष्टब्रह्मकार्यतया ब्रह्मात्मकमिति नाहुः । अप्रतिष्ठं तथा ब्रह्मणि प्रतिष्ठितमिति न वदन्ति; ब्रह्मणाऽनन्तेन धृता हि पृथिवी सर्वान् लोकान् बिभर्ति । यथोक्तं—' तेनेयं नागवर्येण शिरसा विधृता मही । बिभर्ति मालां लोकानां सदेवासुरमानुषाम्' [ वि. पु. २ । ५ । २७ ] इति; अनीश्वरं सत्यसङ्कल्पेन परेण ब्रह्मणा सर्वेश्वरेण मयैतन्नियमितमिति च न वदन्ति ।

४ वे. ता. चं.— एवं न सत्यस्याभाषणमात्रम्; अपितु तद्विपरीतभाषणमस्तीत्यनन्तरमुच्यत इत्याह— किञ्चेति । असत्यशब्दोऽत्र न मिथ्यात्वपरः, तस्य लोकोपलब्धिस्ववचनविरोधादिभिरेव प्रतिक्षिप्तत्वेन अतिस्थूलत्वात्, परमार्थं स्थिरं चैश्वर्यसभिमत्य निरूढाभिनिवेशानामासुराणां प्रपञ्चमिथ्यात्वकूटयुक्तिभिः प्रतार्यत्वासम्भवाच्च । 'यथा वयमनृतप्रायाः, तथा सर्वं जगदिति प्राहुः' ( शं.) इति व्याख्याऽपि मन्दा, जगच्छब्दस्य चेतनमात्रविषयत्वाभावात् निषेधानां चात्र पूर्वोक्ताकारव्यतिरेकपरत्वात्, 'अप्रतिष्ठमनीश्वरम्' इतिवच्छास्त्रसिद्धप्रतिषेधपरत्वात्, असुराणां च शास्त्रप्रद्वेषशीलत्वात् । अतोऽत्र शास्त्रसिद्धस्य प्रतिषेधपरोऽयं शब्दः । तच्च सत्यं ब्रह्मैवेति "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" [ तै. उ. २।१ ] इत्यादिषु प्रसिद्धम् । छान्दोग्ये

५ आ. मा. भा.— ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— **सर्वेति** । सर्वयोनिषु देवाद्यासु मूर्तयः संस्थानानि विशिष्टानि भूतानि । तासां महद्योनिरहं ब्रह्म वासुदेवः ॥ ४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— सर्वभूतानां सम्भवस्ततो भवतीत्येत-देवोपपादयति— **सर्वयोनिष्विति** । देवपितृमनुष्यपशुपक्षिसरीसृपादिसर्वयोनिषु यास्तत्तन्मूर्तयो जायन्ते तासां मूर्तीनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः योनिर्मातृस्थानीया; अहमीश्वरो बीजप्रदो गर्भाधानकर्ता पिता ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— एवं कार्यावस्थोऽयं चिदचित्प्रकृतिसर्गो मयैव कृत इति **सर्वयोनिष्विति** । नेदमपूर्वतर-मिवोच्यते; किन्तु सर्वत्रैवमेव लोके दृश्यत इत्याह एकः पिताऽन्यत्क्षेत्रमिति । तत्र तासां भूतमूर्तीनां महद्ब्रह्म योनिः, अहं बीजप्रदः पितेति वस्तुतोऽवसेयम् । अत एव विष्णुपुराणादौ लक्ष्मीनारायणौ गौरीशङ्करौ सर्वत्र स्त्रीपुम्भावापन्नस्वरूपौ निरूपितौ ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वनेकविधवस्तूनामनेकयोनिषु नानाविधप्रतीतौ कथमेकयोनित्वं ? इत्यत आह— **सर्वयोनिष्विति** । पूर्वं तु सर्वोत्पत्तिरूपसर्वयोन्युत्पत्तिः, ततः सर्वयोनिषु हे कौन्तेय ! या मूर्तयः स्वरूपाणि सम्भवन्ति, तासां महद्ब्रह्म प्रकृतियोनिरुत्पत्तिस्थानं मातृस्थानीयं बीजप्रदः इच्छाज्ञानात्मकबीजप्रदः पिता उत्पादकः, अहमेवेत्यर्थः । तदेव ब्रह्म मदिच्छया नानायोनिरूपेण भूत्वा भासते इत्यर्थः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च सर्वेषु भूतेषु योनिषु उपादानभूतेषु पृथिव्यामोषधय इव या मूर्तयः शरीराणि सुरनरतिर्यक्स्थावरात्मकानि चतुर्विधानि सम्भवन्ति, तासां मूर्तीनां ब्रह्म महत्पूर्वोक्तं महतो ब्रह्म ब्रह्ममहत् -राजदन्तादित्वादुपसर्जनस्य परनिपातः— मायैव योनिरित्यर्थः । अहं तु तासां बीजप्रदः पिता तास्वपि स्वप्रति-बिम्बस्यार्पयिता । यथा पुरुषो भार्यायामतुशयि सम्पृक्तं रेतो निषिञ्चति, ततो भार्यातः पिण्डोत्पत्ती रेतोंशतस्तत्र चैतन्योत्पत्तिरिति चैतन्यविशिष्टस्य पिण्डस्य पिताऽहं, माता च मायेत्यर्थः ॥ ४ ॥

क्षेत्रज्ञोपाधिभूतानां गुणानां नामानि तत्कार्याणि च ।

**सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।**
**निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥**

१ शां. भा.— के गुणाः ? कथं बध्नन्ति ? इत्युच्यते— **सत्त्वमिति** । सत्त्वं रजस्तम इत्येवं-नामानः ‘ गुणाः ’ इति पारिभाषिकः शब्दः, न रूपादिवद्द्रव्याश्रिता गुणाः । न च गुणगुणिनोरन्य-त्वमत्र विवक्षितम् । तस्माद्गुणा इव नित्यपरतन्त्राः क्षेत्रज्ञं प्रति अविद्यात्मकत्वात्क्षेत्रज्ञं निबध्नन्तीव तमास्प-दीकृत्याऽऽत्मानं प्रतिलभन्त इति ‘ निबध्नन्ति ’ इत्युच्यते । ते च प्रकृतिसम्भवा भगवन्मायासम्भवा निबध्नन्तीव हे महाबाहो !— महान्तौ समर्थतरावाजानुप्रलम्बौ बाहू यस्य स महाबाहुः, हे महाबाहो ! देहे शरीरे देहिनं देहवन्तमव्ययम् ; अव्ययत्वं चोक्तं ‘ अनादित्वात् ’ [ १३।३२ ] इत्यादिश्लोकेन । ननु देही ‘ न लिप्यते ’ [ १३।३२ ] इत्युक्तं तत्कथमिह ‘ निबध्नन्ति ’ इत्यन्यथोच्यते ? परिहृत-मस्माभिरिवशब्देन ‘ निबध्नन्तीव ’ इति ॥ ५ ॥

२ आ. शां. व्या.— एवं क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगाज्जगदुत्पत्तिं दर्शयता ब्रह्मैवाविद्यया संसरतीत्युक्तं, इदानीमध्यायादावुक्तमाकाङ्क्षाद्वयं पूर्वमनूद्यानन्तरश्लोकेनोत्तरमाह— **के गुणा** इति । सत्त्वादिषु कथं गुणशब्दप्रवृत्तिः ? इत्याशङ्क्य परतन्त्रत्वादित्याह— **गुणा** इति । रूपादिष्विव गुणशब्दः सत्त्वादिषु द्रव्याश्रितत्वं निमित्तीकृत्य किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्य प्रकृत्यात्मकानां तेषां सर्वाश्रयत्वान्नैवमित्याह— **न रूपादिवदिति** । गुणानां प्रकृतेश्च पृथगुक्तेरन्यत्वे कुतस्तेषां प्रकृत्यात्मत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **न च गुणेति** । अत्यन्तभेदे गवाश्ववत्तद्भावासम्भवादित्यर्थः । भेदाभेदे च तद्भावासम्भवाद्विशेषात्कुतस्तेषु गुणपरिभाषा ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मादिति** । क्षेत्रज्ञं प्रति नित्यपारतन्त्र्ये हेतुमाह— **अविद्येति** । ‘ के गुणाः ’ इत्यस्योत्तरमुक्तं, ‘ कथं बध्नन्ति ’ इत्यस्योत्तरमाह— **क्षेत्रज्ञमिति** । तदेवोपपादयति— **तमास्पदीकृत्येति** । प्राकृतानां गुणानां

६ ज. प्र. दी.— न केवलं जगतो मिथ्यात्वादिवदता-मसुरत्वं 'असत्यमप्रतिष्ठं ते ' इत्यनेनोच्यते; किन्तु जगज्जन्मादि-कारणं विष्णुं ये न मन्यन्ते तेषां सर्वेषामपीति भावेनाह— **जगत** इति । **तद्वैपरीत्येनेति** । न विद्यते सत्यमस्येत्यादि। जगतः सत्यं विष्णुरित्यत्र श्रुतिमाह— **तस्येति** । तस्य विष्णोः सत्यस्य सत्यमिति। उपनिषद्रहस्यं नाम कथम् ? प्राणा मूर्तामूर्तं जगदिति यावत्। सत्यमित्युच्यते। तेषां प्राणानामेष विष्णुः सत्यमित्यर्थः। एवं चेज्जगतो मुख्यं सत्यत्वं न भवेत्, अन्यथा निर्धारणायोगादित्यतो मूर्तामूर्तात्मकस्य जगतः सत्यत्वं तावदन्यथा श्रुत्यैव व्याचष्टे— **द्वे वा वेति** । रूपे प्रतिमे । तत्र **मूर्तं** स्थितमिति सदिति चोच्यते । अमूर्तं तु यदिति त्यदिति चोच्यत इत्यर्थः। तथा च सच्च त्यच्च सत्य-मित्युक्तं भवति । इदानीं जगतः सत्यत्वं विष्णोः श्रुत्या व्याचष्टे— **तस्येति** । सादयति विशरणादिकं प्रापयतीति सत्, यामयति नियच्छतीति यं, सच्च तद्यं च सत्यमित्यर्थः। प्रतिष्ठेश्वरश्चेति प्रसिद्धमेव । ' अपरस्परसम्भूतं ' इत्यस्यापरं परस्मात् सम्भूतमिति व्याख्यानमसत्; प्रतिषेधप्रकरणात् । अतः परस्परसम्भूतं न भवतीत्याहुरित्येव व्याख्येयम् । स्यादेवम्, यदि परस्परसम्भवो भगवतोऽभिमतः स्यात् इत्यत आह— **परस्परेति** । यद्वाऽनेन परव्याख्यानासाधुत्वमुपपादयति । भगवता परस्परसम्भवस्योक्तत्वात् तद्वचनं कथमासुरं ? इति । ईश्वराक्षेपे तात्पर्यमिति चेत्, न; पुनरुक्तिप्रसङ्गात् ॥ ८ ॥

**७ ह. पै. भा.— असत्यमिति । असत्यं धर्माधर्मौ यस्य न विद्येते । न यतोऽस्य प्रतिष्ठा तदप्रतिष्ठम् । ईश्वरः स्वामी यस्य न विद्यते तदनीश्वरम् । स्त्रीपुंसयोर्मैथुनं संयोगस्तेन सम्भूतमपरस्पर-सम्भूतम् । कामहेतुरेव कामहैतुकम् ॥ ८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ननु वेदशास्त्राप्रामाण्ये तन्मूलकधर्मा-धर्मनिबन्धना जगति सुखदुःखादिव्यवस्था कथं स्यात् ? अत आह— **असत्यमिति** । ते आसुरा जनाः जगत् असत्यं न विद्यते सत्यं वेदशास्त्रप्रमाणं यस्य तदसत्यम्, अत एव वेदशास्त्र-प्रामाण्याभावादप्रतिष्ठम्; न विद्यते वेदमूलकधर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा सुखदुःखव्यवस्थाहेतुर्यस्य तदप्रतिष्ठम्, अत एव धर्मा-धर्मयोरभावादनीश्वरं न विद्यते शुभाशुभकर्मफलप्रदाता ईश्वरो यस्य तदनीश्वरम् ; एवंविधं जगदाहुः । ईश्वराधिष्ठितधर्माधर्म-निबन्धनं जगतः सुखदुःखवैचित्र्यमित्यङ्गीकारेऽपि क्वचिद्गत्वा स्वभावे पर्यवसानात्स्वाभाविकमेव जगद्वैचित्र्यमिति युक्तम्, दृष्टे सम्भवत्यदृष्टकल्पनायोगादिति भावः । कथं तर्हि धर्माधर्म-सहायमीश्वरं विना जगदुत्पत्तिः ? तत्राह— **अपरस्परेति** । अपरश्च परश्चापरस्परम्, परस्परमित्यर्थः। ततः सम्भूतं काम-प्रयुक्तयोः स्त्रीपुरुषयोरन्योन्यसङ्गादुत्पन्नं जगत्, अतः काम-हैतुकं कामहेतुकमेव कामहैतुकम् । नन्वदृष्टेश्वरादिकमपि किं कारणम् ? नेत्याह— **किमन्यदिति** । कामादन्यत्कारणं किमस्ति ? नास्त्येवेत्यर्थः। यद्वा मनुष्यपश्वादिकं सर्वमपि स्त्रीपुंसयोः परस्परसम्बन्धेनैव जातमुपलभ्यते; अपरस्परसम्भूतं तु किमन्यदुपलभ्यते ? न किञ्चिदपि ; अतः कामहैतुकमेव जगदित्याहुरिति योजना ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— **किञ्चासत्यमिति** । 'त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिः' ' सत्यस्य सत्यं' इति भागवतवाक्यात् [ १०।२।२८;२६ ] " सदेव सोम्येदमग्र आसीत् " [ छां. उ. ६।२।१ ] " तत्सत्यमित्याचक्षते " [ तैत्ति. २।६ ] इत्यादिश्रुतेश्च । सत्यं परमकाष्ठापन्नसत्यवस्तुकृतिसाध्यत्वात्तदात्मकं जगदेतत्तदसुरा असत्यमाहुः मायास्वाज्ञानकल्पितत्वादियुक्तिभिः । तथासति तन्मध्यपातिवेदतदुदितसाधनानि व्यर्थानि स्युः, अनुपादेयानि च । न हि खपुष्पशशशृङ्गादिभिर्व्यवहार उपपद्यतेऽसत्त्वादित्यर्थः । तथाऽप्रतिष्ठं ब्रह्मणि न प्रतिष्ठा यस्य तथेति वदन्ति । अनीश्वरं च सत्यसङ्कल्पेन पुरुषोत्तमस्वरूपेण विभुना नियमितं न वदन्ति । मया तूक्तं—' अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते ' [ १०।८ ] इति । 'अहमेवात्मनाऽऽत्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ' इति च । ते तु वदन्ति चैवम्—अपरस्परसम्भूतं अपरस्परसम्भूतयोरन्योन्यसङ्गतयोः प्रकृतिरूपयोषित्पुरुषयोः परस्परसम्बन्धेन जातमिदं मनुष्यपश्वाद्युपलभ्यतेऽनेवम्भूतं किमन्यत् ? किञ्चिदपि नोपलभ्यत इति । अतः सर्वमिदं जगत्कामहैतुकमिति वदन्ति सहजासुराः ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च । असत्यं वेदपुराणाद्यप्रमाणम्, अप्रतिष्ठं अव्यवस्थितम्, अनीश्वरं न विद्यते ईश्वरः कर्ता यस्य तादृशं जगत् ते असुरा आहुः वदन्ति । ननु कर्त्रभावेन कथमुत्पत्तिं वदन्ति ? इत्याह— **अपरस्परेति** । अपरश्च परश्चेत्यपरस्परं स्त्रीपुरुषसंयोगस्ततो जातं कामहैतुकं स्त्रीपुरुषयोः काम एव हेतुर्यस्य तादृशम् । अन्यत् एतदतिरिक्तं किं कारणम् ? न किमपीत्यर्थः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— असत्यं सत्यवर्जितं जगत्प्राणिजातम् । तथाऽप्रतिष्ठं धर्माधर्माख्या प्रतिष्ठा आश्रयस्तच्छून्यम् । अनीश्वरमनियन्तृकं आहुः । अपरस्परसम्भूतं ' अपरस्पराः क्रियासातत्ये ' [ अष्टा. ६।१।१४४ ]

इति सुट्। बीजांकुरवत् परस्परकारणीभूतानां धर्माधर्मतद्वासनानां यत्सातत्यं तस्मात्सम्भूतं, किमन्यल्लोकेऽस्ति? न किञ्चिदपि धर्माद्यपेक्षया उत्पद्यते, किन्तु सर्वं कामहैतुकं स्त्रीपुंसयोर्मिथुनीभावः कामस्तदुत्थमेव; स्वभावादेव जन्तुर्जायते, न त्वदृष्टादित्यर्थः ॥ ८ ॥

**एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः ।**
**प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः ॥ ९ ॥**

**१ शां. भा.—** एतामिति । एतां दृष्टिमवष्टभ्याऽऽश्रित्य नष्टात्मानो नष्टस्वभावा विभ्रष्टपरलोकसाधना अल्पबुद्धयो विषयविषयाऽल्पैव बुद्धिर्येषां तेऽल्पबुद्धयः प्रभवन्त्युद्भवन्त्युग्रकर्माणः क्रूरकर्माणो हिंसात्मकाः । क्षयाय जगतः प्रभवन्तीति सम्बन्धः । जगतोऽहिताः शत्रव इत्यर्थः ॥ ९ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** यथोक्ता दृष्टिर्भ्रष्टदृष्टिविदिष्टैवेत्याशङ्क्याऽऽह— **एतामिति** । प्रागुपदिष्टामेतां लोकायतिकदृष्टिमवलम्ब्येति यावत् । नष्टस्वभावत्वमेव स्पष्टयति— **विभ्रष्टेति** । विषयबुद्धेरल्पत्वं दृष्टमात्रोद्देशेन प्रवृत्तत्वं, जगतः प्राणिजातस्येति यावत् ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.—** एतां दृष्टिमवष्टभ्य अवलम्ब्य, नष्टात्मानः अदृष्टदेहातिरिक्तात्मानः, अल्पबुद्धयः घटादिवत् ज्ञेयभूते देहे ज्ञातृत्वेन देहव्यतिरिक्त आत्मा नोपलभ्यत इति विवेकाकुशलाः, उग्रकर्माणः सर्वेषां हिंसकाः जगतः क्षयाय प्रभवन्ति ॥ ९ ॥

**४ वे. ता. चं.—** **एतां दृष्टिमिति—** विपरीतां दृष्टिमित्यर्थः । 'अवष्टभ्य' इत्याक्रमणादिप्रतीतिव्युदासायाह— **अवलम्ब्येति** । नित्यस्यात्मनो विनाशाभावात् '**णश** अदर्शने' [धा.पा.४।८८] इति धात्वर्थोऽत्र विवक्षित इत्याह— **अदृष्टेति** । स्वयञ्ज्योतिषः प्रत्यगात्मस्वरूपस्य देहाध्यासाधिष्ठानतया नित्यमुपलम्भाद्देहातिरिक्तत्वेन विशेषितम् । नष्टात्मत्वहेतुरिहाल्पबुद्धित्वमुच्यत इति । पुनरुक्तिपरिहाराभिप्रायेणाह **घटादिवदिति** । यद्वा पशुमृगादिवत्कर्मवशात्स्वारसिको विविक्तात्मानुपलम्भः । **अल्पबुद्धय** इति तु तत्परिहाराशक्तिरुच्यत इति भावः । एवं परावरात्मविषयविपरीतदृष्टिरुक्ता; अथ 'प्रभवन्त्युग्रकर्माणः' इत्यादिना तत्फलमुच्यते । 'उग्रकर्माणः' इत्यत्रोग्रव्रतादिप्रतीतिव्युदासायाह— **सर्वेषां हिंसका** इति । अशुभाः स्वसंसर्गिणामपि दोषावहा इत्यर्थः । **जगतः क्षयाय प्रभवन्तीति—** 'अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्' [३।१०] 'परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' [३।११] इत्यादिप्रतिपादितां भगवन्मूलां लोकभावनधर्ममर्यादामतिलङ्घयन्ति; तदनुवर्तिनश्चान्येऽपि मन्दाः तदाचारोपदेशादिविस्रम्भादिक्रमेण सर्वस्य जगतस्त्रिवर्गापवर्गरूपवृद्धिविरहिणस्त्रिविधतापाहतिरूपाय क्षयाय भवन्तीत्यर्थः ॥ ९ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ९ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ९ ॥

**७ ह. पै. भा.—** एतां दृष्टिं लोकायतदर्शनमवष्टभ्याऽऽश्रित्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयो विषयेषु भोग्यभोक्तृप्रतिपत्तिमात्रयुक्ताः प्रभवन्ति जायन्ते । उग्रकर्माणो वधबन्धादिकर्मनिरताः क्षयाय जगतः प्रभवन्तीति सम्बन्धः । अहिता आपत्कराः ॥ ९ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** नन्वयमपि वादो युक्तियुक्तः सम्यगिव दृश्यते; किमत्र बाधकम्? अत आह— **एतामिति** । एतामुक्तां लौकायतिकानां दृष्टिमवष्टभ्याश्रित्य नष्टात्मानो भवन्ति। न केवलं स्वनाशमात्रम्, किन्तु परानपि नाशयन्ति 'स्वयं नष्टः परानपि नाशयति' इति न्यायादित्याह— **अल्पबुद्धय** इत्यादिना । अल्पा केवलविषयविषयैव बुद्धिर्येषां ते तथोक्ताः; अत एव पापभयाभावादुग्रकर्माणः, अत एव च लोकस्याहिता वैरिणो भूत्वा जगतः क्षयाय प्रभवन्ति । तान्दृष्ट्वा जगदपि गतानुगतिकन्यायात्तथैव प्रवर्तत इति सर्वनाशकास्ते भवन्तीत्यर्थः । यद्वा जगतः प्राणिजातस्य क्षयाय उग्रकर्माणो हिंस्राः सर्पव्याघ्रादिरूपेण प्रभवन्त्युत्पद्यन्त इत्यर्थः । तस्मादत्यन्ताधोगतिहेतुत्वादियं दृष्टिः श्रेयोर्थिभिः सर्वथा त्याज्यैवेत्यर्थः ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— एतां दृष्टिमिति। सर्वत्र मृषात्वदृष्टिं चावष्टभ्य स्वस्य ब्रह्मणोऽविद्यासम्बन्धतो जीवत्वादि-मताङ्गीकारान्नष्टात्मानस्ते। वस्तुतोऽल्पबुद्धयः सर्वस्य जगतः क्षयाय प्रभवन्त्युद्भवन्ति। विष्णुपुराणे तूक्तं— 'तदेतदक्षयं नित्यं जगन्मुनिवराखिलम्। आविर्भावतिरोभावजन्मनाशविकल्पवत्' इत्यादि। तथाभूतस्यात्र क्षयायोद्भवन्ति। 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वा' [अष्टा.३।३।१३१] इति सूत्राद्भविष्यति वा वर्त्तमानप्रयोगः॥९॥

१० पु. अ. त.— किञ्च एतामिति। एतां कामहैतुकरूपां लौकिकीं दृष्टिं दर्शनं अवष्टभ्य आश्रित्य नष्टात्मानः अदृष्टात्मस्वरूपाः, अल्पबुद्धयः प्रत्यक्षमतयः, उग्रकर्माणः उग्रं हिंसाप्रधानं कर्म येषां ते, अहिताः शत्रुरूपाः, जगतः सर्वलोकस्य क्षयाय नरकादिपातनार्थं प्रभवन्ति उत्पद्यन्त इत्यर्थः॥ ९॥

११ नी० भा० दी०— एतामनुपदोक्तां लोकायतिकानामभिप्रेतां दृष्टिमवष्टभ्य तामाश्रित्य नष्टात्मानः कामादिवशेन नष्टधैर्याः। यतोऽल्पे क्षुद्रे दृष्टसुखे एव बुद्धिर्येषां तेऽल्पबुद्धयः। अहिता हिंस्राः॥ ९॥

## काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
## मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

**१ शां. भा.**— ते च— **काममिति**। काममिच्छाविशेषमाश्रित्यावष्टभ्य, दुष्पूरमशक्यपूरणं, दम्भमान-मदान्विताः दम्भश्च मानश्च मदश्च दम्भमानमदास्तैरन्विताः मोहादविवेकतो गृहीत्वोपादायासद्ग्राहानशुभ-निश्चयान्प्रवर्तन्ते लोके; अशुचिव्रता अशुचीनि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥

**२ आ. शां. व्या.**— तानेव दुराचारानासुरान्प्रकारान्तरेण विशिनष्टि— **ते चेति**॥ १०॥

**३ रा. भा.**— दुष्पूरं दुष्प्रापविषयं काममाश्रित्य तत्सिसाधयिषया मोहादज्ञानादसद्ग्राहान् अन्याय-गृहीतानसत्परिग्रहान् गृहीत्वा अशुचिव्रता अशास्त्रविहितव्रतयुक्ताः दम्भमानमदान्विताः प्रवर्तन्ते॥१०॥

**४ वे. ता. चं.**— कामो हि जगद्धेतुरुक्तः; अतः स एव हि तेषामाश्रयणीयोऽभिमतः; तदाश्रयेणेतिकर्तव्यतारूपास्तु दम्भमानादयोऽशुचिव्रतपर्यन्ता इत्युच्यते **कामम्** इतिश्लोकेन। दुष्प्रापविषयत्वं दुष्पूरत्वे हेतुः; यद्वा विषयप्राप्तिर्हि कामस्य पूरणम्; अतो दुष्प्रापविषयत्वमेव दुष्पूरत्वम्। आश्रित्य प्रयोजनतयाऽभिसन्धायेत्यर्थः। तदभिप्रायेणाऽऽह **तत्सिसाधयिषयेति**। विपरीतप्रवृत्तिहेतुभूतं कृत्याकृत्यविवेकान्धत्वमिह मोहशब्देन विवक्षितमित्याह **अज्ञानादिति**। असत् ग्रहणम् आर्जनं येषां तेऽत्रासद्ग्राहाः। धर्माभिसन्धिमन्तो हि न्यायेनार्जयन्ति; कामप्रवणास्तु चौर्यादिभिस्तदुपकरणानीत्याह— **अन्यायगृहीतानसत्परिग्रहानिति**। परिग्रहशब्दोऽत्र परिग्राह्यपरः। 'ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्', [१६।१२] इति तस्यैव विवरणम्। अत एवाशुभाभिनिवेशानिति (शां.) व्याख्याऽप्यत्र मन्दा। **गृहीत्वेति** तादात्विकविनियोगपरत्वादात्मीयत्वाभिमानपरत्वाद्वा पुनरुक्तिपरिहारः। पाषण्डागमादिनिर्दिष्टानि हि व्रतानि पुरुषस्य दर्शनस्पर्शनाद्ययोग्यताहेतुत्वात्स्वयमशुचीन्येवेत्यभिप्रायेणाऽऽह— **अशास्त्रविहितव्रतयुक्ता** इति। धर्माभिसन्धिरहितानामपि तामसानां विषहरणपाषाणस्फोटनादित्यस्तम्भनप्रतिमाजल्पादिवञ्चनोपायैर्वशीकृतानां वेदबाह्येषु व्रतेषु मात्रया संयोगो भवति; यद्वा शौर्याहङ्कारादिमूलः शास्त्रविरुद्धः सङ्कल्पोऽत्र व्रतशब्दाभिप्रेतः। शास्त्रीयेष्वपि व्रतेषु भगवत्समाराधनविवक्षामजानतामयथाशास्त्रकरणादशास्त्रविहितप्रयुक्तत्वम्। दम्भमानौ प्रागेव व्याख्यातौ। मदोऽत्र धनाभिजनविद्यादिमूलमयथायथचेष्टितारम्भकमौद्धत्यम्॥ १०॥

**५ आ. मा. भा.**— दुष्पूरो हि कामः। 'पाताल इव दुष्पूरो मां हि क्लेशयते सदा' इति मोक्षधर्मे॥ १०॥

**६ ज. प्र. दी.**— काममाश्रित्य दुष्पूरमिति कामस्य दुष्पूरत्वं किं विशेषणम्? नेति ब्रूमः; किं तर्हि? कामस्य प्रवृत्तिहेतुत्वे हेतुरयमुच्यत इति भावेनाऽऽह— **दुष्पूरो हीति**। विशेषणमेव किं न स्यात्। कामस्य दुष्पूरत्वाव्यभिचारादिति भावेनाऽऽह— **पाताल इवेति**॥ १०॥

७ ह. पै. भा.— काममिति । दुष्पूरमशक्यपूरणम् । दम्भश्च मानश्च मदश्च तैरन्विताः । दम्भो धर्मध्वजो धार्मिकत्वख्यापनम्, मान आत्मनि सम्भावनम्, मदो दर्पः, मोहादविवेकाद्गृहीत्वोपादायासद्ग्राहानशुभविश्वासान्प्रवर्तन्ते । लोकेऽशुचीनि व्रतानि येषां तेऽशुचिव्रताः क्षपणकादिव्रतानुसारिणः ॥१०॥

८ वें. ब्र. गि.— 'नष्टात्मानः' [१६।९] इत्येतदेव त्रिभिः प्रपञ्चयति— काममिति । दुष्पूरं पूरयितुमशक्यं काममाश्रित्य तत्कृतान्मोहात् कामाद्यनुरूपादविवेकात् असद्ग्राहानशुभनिश्चयान् 'अनेन मन्त्रेणेमां देवतामाराध्य कामिन्याकर्षणम्, अनेन चेमां देवतामाराध्य राजवशीकरणम्, अनेन च स्तम्भनं साधयामः' इति क्षुद्रदेवताराधनफलभूततत्तत्सिद्धिसम्पादनाध्यवसायरूपान्गृहीत्वा तत्साधनत्वेन वामागमोक्तानि मद्यमांसादिविषयाण्यशुचीनि व्रतानि येषां ते तथोक्ताः, दम्भमानमदान्विताः, अन्तः पापाचारत्वेऽपि बहिः परमेश्वरोपासकत्वप्रख्यापनेन धार्मिकत्वप्रकटनं दम्भः, तत्प्रयुक्तं लोकमान्यत्वं मानः, तत्कृतगर्वो मदः, तैरन्विताः सन्तः प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

९ ब० त० दी०— काममिति । मोहादसद्ग्राहान् गृहीत्वा असन् ग्राह आग्रहो येषु ते तान् ग्रन्थानप्रसिद्धान् प्रवर्तन्ते अन्तर्भावितण्यर्थोऽयं प्रवर्त्तयन्ति । यद्वा असदाग्रहान्प्रति प्रवर्तन्ते यतो दम्भमानमदान्विताः । तथा न शुचि व्रतं येषां; यद्वा पूर्ववद्धि व्रतित्वात् विष्णुव्यतिरिक्तव्रतित्वाच्च ते तथा । तथाचोक्तं भारते मोक्षधर्मे 'शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद्वादबलाज्जनाः । ब्रह्मस्तेना निरारम्भा दम्भमोहव्रतानुगाः ॥ नैर्गुण्यमेव पश्यन्तो न गुणाननुयुञ्जते । तेषां तमश्शरीराणां तम एव परायणम्' ॥ इति ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— काममाश्रित्येति । दुष्पूरं दुःखेनापि पूरयितुमशक्यं काममाश्रित्य दम्भः पारलौकिकवेषधारणेन धार्मिकज्ञापनं, मानं लोकपूज्यत्वम्, मदः स्वरूपविस्मरणेन कामैकपरत्वम्, एतैरन्विताः युक्ताः असद्ग्राहान् क्षुद्रदेवमन्त्रान् मोहात् भ्रमात् सकलकार्यसाधकान् ज्ञात्वा गृहीत्वा स्वीकृत्य अशुचिव्रताः अपेयपानादिरताः सन्तस्तदाराधनादौ प्रवर्तन्ते ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— असद्ग्राहान् वश्याकर्षणनिध्यञ्जनकायसिद्ध्यादिसाधनेषु असत्सु असमीचीनेषु ग्राहा निर्बन्धा अत्यन्ताभिनिवेशास्तान् गृहीत्वा अशुचीनि मद्यमांसादिसापेक्षाणि व्रतानि नियमविशेषा येषां ते तथाभूताः सन्तः कुमार्गप्रवर्तनेन प्रवर्तन्ते जगतः क्षयायेति सम्बन्धः ॥ १० ॥

**चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः ।**
**कामोपभोगपरमा एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥**

१ शां. भा.— किञ्च— चिन्तामिति । चिन्तामपरिमेयां च न परिमातुं शक्यते यस्याश्चिन्ताया इयत्ता, साऽपरिमेया, तामपरिमेयां प्रलयान्तां मरणान्तामुपाश्रिताः, सदा चिन्तापरा इत्यर्थः । कामोपभोगपरमाः, काम्यन्त इति कामाः विषयाः शब्दादयस्तदुपभोगपरमाः, 'अयमेव परमः पुरुषार्थो यः कामोपभोगः' इत्येवंनिश्चितात्मान एतावदितिनिश्चिताः ॥ ११ ॥

२ आ. शां. व्या.— तानेव विधान्तरेण विशिनष्टि— किञ्चेति । चिन्तामात्मीययोगक्षेमोपायालोचनात्मिकां अपरिमेयविषयत्वात् । परिमातुमशक्यामाश्रिता इति सम्बन्धः । एष कामोपभोगः परमयनं सुखस्येत्येतावत्; पारत्रिकं तु नास्ति सुखं इति निश्चयवन्त इत्याह— एतावदितीति ॥ ११ ॥

३ रा. भा.— अद्य श्वो वा मुमूर्षवः चिन्तामपरिमेयां चापरिच्छेद्यां प्रलयान्तां प्राकृतप्रलयावधिकालसाध्यविषयां उपाश्रिताः, तथा कामोपभोगपरमाः कामोपभोग एव परमपुरुषार्थ इति मन्वानाः, एतावदिति निश्चिताः इतोऽधिकः पुरुषार्थो न विद्यत इति सञ्जातनिश्चयाः ॥ ११ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं प्रवर्तकानामुपर्युपरिमनोविकारादय उच्यन्ते— चिन्तामपरिमेयामित्यादिभिः । अशक्यविषयवृथाप्रयासव्यञ्जनायाऽऽह अद्य श्वो वेति । 'अपरिमेयाम्' इत्यसङ्ख्येयविषयत्वेनानन्तशाखत्वं विवक्षितमित्याह— अपरिच्छेद्यामिति । 'प्रलयान्ताम्' इत्यत्र शरीरपातावधिकत्वोक्तिर्मन्दा; अनन्तकालसाध्यमल्पकालेन सिसाधयिषन्तीति

तु व्यामोहातिशयख्यापनेन सप्रयोजनमिदम् ; प्रलयशब्दश्च प्रसिद्धतमविषय उचितः; चिन्तयितॄणां पुरुषाणामाप्रलयस्थायित्वाभावाच्चिन्तायाः स्वरूपेण प्रलयान्तत्वं चायुक्तमित्यभिप्रायेणाऽऽह प्राकृतप्रलयावधिकालसाध्यविषयामिति। असङ्ख्येयेषु चिन्ताविषयेष्वेकैकोऽपि दुस्साध्य इति भावः । प्रयोजनतयाऽभिमतेषु कामोपभोग एव परमो येषां तेऽत्र कामोपभोगपरमाः; तदाह कामोपभोग एवेति । स्वर्गापवर्गप्रतिषेधार्थं एतावच्छब्द इत्याह— इतोऽधिक इति । सञ्जातनिश्चया इति । अत्र निश्चितशब्दे 'भुक्ता ब्राह्मणाः' इतिवत्कर्तरि क्त इति भावः ॥ ११ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ११ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ११ ॥

७ ह. पै. भा.— चिन्तामिति । अपरिमेयामवच्छेदरहितां प्रलयान्तामुपाश्रिताः, सदा चिन्तापरा इत्यर्थः । कामोपभोगपरमा विषयोपभोगप्रधानाः । एतावदिति निश्चिता एतावान्पुरुषार्थो यदुत शब्दादिविषयोपभोग इति निश्चिताः कृताध्यवसायाः ॥ ११ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च, चिन्तामिति । अपरिमेयां परिमातुमशक्यां प्रलयो मरणमेवान्तो यस्यास्ताम् , यावज्जीवमनुवर्तमानामित्यर्थः । चिन्तां योगक्षेमोपायालोचनात्मिकां प्राप्ताः । यद्वा अद्य श्वो वा मरिष्यतः शरीरस्यार्थे ब्रह्मप्रलयान्तां योगक्षेमचिन्तां प्राप्ता इत्यविवेकोक्तिः । अथवा प्रलयान्तां मरणपर्यन्तामेव चिन्तां प्राप्ताः, न तु मरणानन्तरं परलोके किं कथं भविष्यतीति चिन्तयन्तीत्यर्थः । तत्र हेतुः— कामोपभोग परमाः, काम्यन्त इति कामा दृष्टाः शब्दादयो विषयाः, तदुपभोग एव परमः पुरुषार्थो येषां ते तथोक्ताः । तत्रापि हेतुः— एतावदिति । दृष्टमेव सुखं, नान्यच्छरीरवियोगे भोग्यं सुखमस्ति; एतत्कायातिरिक्तस्य भोक्तुरभावादिति निश्चिताः सञ्जातनिश्चयाः, ईहन्त इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ११ ॥

९ व० त० दी०— चिन्तामिति । एतावदिति । कामोपभोग एव फलमिति निश्चिताः ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— चिन्तामिति । अपरिमेयां परिमातुमशक्यां प्रलयान्तां मरणान्तां चिन्तामुपाश्रिताः, अहर्निशं चिन्तापरा इत्यर्थः । कामोपभोग एव परमः फलरूपो येषां, एतावत्पुरुषार्थकामोपभोग एवेति निश्चिताः कृतनिश्चयाः ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०— चिन्तां योगक्षेमविषयां प्रलयान्तां मरणावधिम् । एतावत् देह एवात्मा, कामभोग एव पुरुषार्थः, इतोऽन्यन्नास्तीति निश्चिताः निश्चयवन्तः । तथा च बार्हस्पत्यं सूत्रम्—"चैतन्यविशिष्टः कामः पुरुषः" । "काम एवैकः पुरुषार्थः" इति च ॥ ११ ॥

## आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः ।
## ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् ॥ १२ ॥

१ शां. भा.— आशापाशेति । आशापाशशतैः आशा एव पाशास्तच्छतैराशापाशशतैर्बद्धा नियन्त्रिताः सन्तः सर्वत आकृष्यमाणाः, कामक्रोधपरायणाः कामक्रोधौ परमयनं पर आश्रयो येषां ते कामक्रोधपरायणाः, ईहन्ते चेष्टन्ते कामभोगार्थं कामभोगप्रयोजनाय, न धर्मार्थं; अन्यायेनार्थसञ्चयानर्थप्रचयान्, अन्यायेन परस्वापहरणादिनेत्यर्थः ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— आसुरानेव पुनर्विशिनष्टि— आशेति । अशक्योपायार्थविषया अनवगतोपायार्थविषया वा प्रार्थना आशाः, ताः पाशा इव पाशास्तेषां शतैर्बद्धा इव श्रेयसः प्रच्याव्येतस्ततो नीयमाना इत्याह— आशा एवेति ॥ १२ ॥

३ रा. भा.— आशापाशशतैः आशाख्यपाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः कामक्रोधैकनिष्ठाः कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान् प्रतीहन्ते ॥ १२ ॥

४ वे. ता. चं.— चिन्ता कर्तव्यविषया, आशा तु फलविषया; आशाविषयाणामसङ्ख्यातत्वात्तदाशानामपि शतशाखत्वेन तथात्वम् । 'कामक्रोधपरायणाः' इत्यत्र क्रोधस्य परमप्राप्यतया तदभिमानविषयत्वाभावात् कामक्रोधयोरैकाग्र्यमात्रं विवक्षितमित्याह– कामक्रोधैकनिष्ठा इति । अयनशब्दोऽत्र आश्रयपरः; कामो हि विहन्यमानः क्रोधात्मना परिणमतीति

प्राक्प्रपञ्चितस्मारणे [३।३७] तात्पर्यान्न पुनरुक्तिः । **कामोपभोगार्थ**मिति विषयानुभवार्थं परमनिश्श्रेयससाधनभूतपरमपुरुषसमाराधनार्थं यत्कर्तव्यं, हन्त तदनर्थावहातिक्षुद्रक्षणिकसुखाभासार्थमासीदिति भावः। **अन्यायेने**ति– नहि यज्ञादिवन्न्यायार्जितैः कामोपभोगो निष्पाद्यत इति भावः। द्वितीयान्वयज्ञापनायाऽऽह **प्रतीति**। प्रवर्तन्ते **ईहन्त** इत्युभयमत्र समानविषयं, तत्र ईहया निष्पादयन्तीति विवक्षितत्वात् 'अर्थसञ्चयान्' इति द्वितीयान्वयः ॥ १२ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.— आशेति । पाश इव पाशः । बद्धा आकृष्यमाणाः । कामक्रोधौ परमयनं येषां ते कामक्रोधपरायणाः, कामक्रोधवशा इत्यर्थः । ईहन्त आर्जयन्ति कामभोगप्रयोजनार्थमन्यायेनाशास्त्रविहितोपायैरर्थसञ्चयान्द्रव्यसञ्चयान् ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च, आशेति । स्वेष्टपरानिष्टाभिलाषरूपौ कामक्रोधौ, तावेव परमयनं येषां ते कामक्रोधपरायणास्तद्वशाः, अत एव आशापाशानां शतैः समूहैर्बद्धा इतस्ततं आकृष्यमाणाः कामभोगार्थं अन्यायेन चौर्यवञ्चनादिना अर्थसञ्चयान्धनराशीनीहन्ते ॥ १२ ॥

९ व० त० दी०— अतएव आशापाशशतैरिति ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— तदर्थमेव आशा एव पाशास्तेषां शतानि तैर्बद्धास्तद्वशेनाऽनेकतुच्छदैवाद्याश्रयणशीलाः, कामक्रोधावेव परमयनं मूलं आश्रयणं येषां तादृशाः। कामोपभोगस्य कृतपुरुषार्थनिश्चयत्वेन कामभोगार्थमन्यायेन चौर्यापहारहिंसादिना अर्थसञ्चयान् ईहन्ते इच्छन्ति ॥ १२॥

११ नी० भा० दी०— अन्यायेन परवञ्चनादिना अर्थसञ्चयान् धनराशीन् ईहन्ते लिप्सन्ते ॥ १२ ॥

**इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम् ।**
**इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥ १३ ॥**

१ शां. भा.— ईदृशश्च तेषामभिप्रायः— इदमिति । इदं द्रव्यमद्येदानीं मया लब्धम्, इदं चान्यत्प्राप्स्ये मनोरथं मनस्तुष्टिकरम् , इदं चास्ति, इदमपि मे भविष्यत्यागामिनि संवत्सरे पुनर्धनं, तेनाहं धनी विख्यातो भविष्यामीति ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— तेषामभिप्रायोऽपि विवेकविरोधीत्याह— **ईदृशश्चे**ति । द्रव्यं गोहिरण्यादि। इदमन्यत् बुद्धौ प्रार्थ्यमानत्वेन विपरिवर्तमानमित्येतत् ॥ १३ ॥

३ रा. भा.— इदं क्षेत्रपुत्रादिकं सर्वं मया मत्सामर्थ्येनैव लब्धं, नादृष्टादिना; इमं च मनोरथमहमेव प्राप्स्ये, नादृष्टादिसहितः; इदं धनं मत्सामर्थ्येन लब्धं मेऽस्ति, इदमपि पुनर्मे मत्सामर्थ्येनैव भविष्यति ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं 'सहस्रभगसन्दर्शनात्मकश्च महानन्दलक्षणो मोक्षः' इत्यादिभिः कामोपभोगः परमपुरुषार्थ इति कृत्वा तदर्थमर्थपुरुषार्थस्वीकार इत्युक्तम्; अथ तत्र प्रवृत्तस्य व्यतिरेकसंज्ञासंस्थावस्थितयोगिवल्लब्धालब्धकृताकृतप्रत्यवेक्षणमुच्यते **इदमद्ये**त्यादिना । एतेन पूर्वोक्तचिन्ताऽन्यमप्युदाहृतं भवति । वक्ष्यमाणधनव्यतिरिक्तविषयपुत्रक्षेत्रादिशब्दः । सात्त्विकानामीश्वराद्यधीनकृतकृतप्रत्यवेक्षणाव्यवच्छेदाय अहङ्कारगर्भतयाऽपि तथाविधानुसन्धानस्य भ्रान्तिरूपत्वं 'मया' इत्यनेन सूच्यत इत्याह— **मत्सामर्थ्येनैवे**ति। एवकाराभिप्रेतं विवृणोति— **नादृष्टादिने**ति । एवमेवोत्तमपुरुषाकृष्टाहंशब्दव्याख्यानरूपे 'अहमेव' इत्यादावप्यभिप्रायः । 'इदमस्तीदमपि' इति चिन्तायां विषयभूयस्त्वज्ञापनम् ॥ १३ ॥

. मा. भा.— ॥ १३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १३ ॥

७ ह. पै. भा.— इदमद्येति । इदं द्रव्यं सुवर्णाद्यस्मिन्नहनि प्राप्तम्, इमं मनोरथं प्राप्स्येऽहम्; मनोरथमभिमतविषयम्; इदं धनमस्ति, इदमपि धनं भविष्यति ॥ १३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'कामक्रोधपरायणाः' इत्यनेन कामक्रोधपारवश्यमुक्तम्, तत्र कामपारवश्यं विवृणोति— इदमिति । अद्यास्मिन्दिने इदं धनं मया लब्धम्, श्वः परश्वो वा इदमन्यदपि धनं प्राप्स्यामि । कीदृशं तत्? मनोरथं मनोरथविषयत्वान्मनोरथम्, आकाङ्क्षितमित्यर्थः । इदं पूर्वसञ्चितं मम गृहेऽस्ति; एवंविधमिदं धनं पुनरपि भविष्यति, अर्थप्रयोगादिभिरधिगतं भविष्यति । इत्यज्ञानविमोहिता इत्यग्रिमेणान्वयः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— 'इदमद्य मया लब्धं' इति स्पष्टम् ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं तेषां कर्मादिलक्षणमुक्त्वा मनसोऽसदर्थाभिनिवेशान्नरकप्राप्तिमाह— इदमद्येति । मया कृतयत्नेन इदमद्य लब्धं, न तु यदृच्छयेति जानन्ति । एवमेव यत्नं कुर्वाण इदं मनोरथं मनस इष्टं प्राप्स्ये प्राप्स्यामि । इदं भोगाद्यर्थं धनं मेऽस्ति मदिच्छया स्थास्यति, गमिष्यतीति न जानन्ति । इदमपि धनं मे पुनः भविष्यति ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— आशापाशान् विवृणोति— इदमद्येति ॥ १३ ॥

**असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।**
**ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी ॥ १४ ॥**
**आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।**
**यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः ॥ १५ ॥**

१ शां. भा.— असौ मयेति । असौ देवदत्तनामा मया हतो दुर्जयः शत्रुः; हनिष्ये चान्यान् वराकानपरानपि । किमेते करिष्यन्ति तपस्विनः? सर्वथाऽपि नास्ति मत्तुल्यः । कथं? ईश्वरोऽहमहं भोगी, सर्वप्रकारेण च सिद्धोऽहं सम्पन्नः पुत्रैः पौत्रैर्नप्तृभिः, न केवलं मानुषः; अहं बलवान्सुखी चाहमेव । अन्ये तु भूमिभारायावतीर्णाः ॥ १४ ॥

२ आ. शां. व्या.— यथोक्ते मदभिप्राये प्रतिबन्धकः शत्रुरपि न सम्भवतीत्याह— असाविति । त्वत्तो विहीनानां त्वया परिभवेऽपि त्वत्तुल्यानां शत्रूणां परिभवो निश्चितो न भवतीत्याशङ्क्याऽऽह— सर्वथेति । ऐश्वर्यातिरेकेऽपि कुतस्ते भोगसामर्थ्यं? इत्याशङ्क्याऽऽह— अहमिति । सिद्धत्वमेव स्फुटयति— सम्पन्न इति । बलवानोजस्वी, सुखी रोगरहितः ॥ १४ ॥

१ शां. भा.— आढ्य इति । आढ्यो धनेन, अभिजनेनाभिजनवान् सप्तपुरुषं श्रोत्रियत्वादिसम्पन्नस्तेनापि न मम तुल्योऽस्ति कश्चित् । कोऽन्योऽस्ति सदृशस्तुल्यो मया? । किञ्च यक्ष्ये यागेनाप्यन्यानभिभविष्यामि, दास्यामि नटादिभ्यः, मोदिष्ये हर्षं चातिशयं प्राप्स्यामि, इत्येवमज्ञानविमोहिताः अज्ञानेन विमोहिता विविधमविवेकभावमापन्नाः ॥ १५ ॥

२ आ. शां. व्या.— विद्यावृत्तधनाभिजनैर्मत्तुल्यो नास्तीत्याह— आढ्य इति । तथापि यागदानाभ्यां तत्फलेन वा कश्चिदधिको भविष्यति? इत्याशङ्क्याऽऽह— किञ्चेति । न च तेषामेषोऽभिप्रायः साधीयानित्याह— इत्येवमिति ॥ १५ ॥

३ रा. भा.— असौ मया बलवता हतः शत्रुः, अपरानपि शत्रूनहं शूरो धीरश्च हनिष्ये, किमत्र मन्दधीभिर्दुर्बलैः परिकल्पितेनादृष्टादिपरिकरेण?। तथा च— ईश्वरोऽहं स्वाधीनोऽहम्, अन्येषां चाहमेव नियन्ता, अहं भोगी स्वत एवाहं भोगी, नादृष्टादिभिः; सिद्धोऽहं स्वतस्सिद्धोऽहं, न कस्माच्चिददृष्टादेः; तथा स्वत एव बलवान्, स्वत एव सुखी ॥ १४ ॥

सत्त्वादिगुणत्रयाणां वृद्धिकार्ययोः कालः ।

**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ! ।**
**रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ॥ १० ॥**

**१ शां. भा.**— उक्तं कार्यं कदा कुर्वन्ति गुणाः ? इत्युच्यते— **रज** इति । रजस्तमश्चोभावप्यभिभूय सत्त्वं भवत्युद्भवति वर्धते यदा, तदा लब्धात्मकं सत्त्वं स्वकार्यं ज्ञानसुखाद्यारभते । हे भारत ! तथा रजोगुणः सत्त्वं तमश्चैवोभावप्यभिभूय वर्धते यदा, तदा कर्म तृष्णादि स्वकार्यमारभते । तमआख्यो गुणः सत्त्वं रजश्चोभावप्यभिभूय तथैव वर्धते यदा, तदा ज्ञानावरणादि स्वकार्यमारभते ॥ १० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— इतरेतराविरोधेन वा सत्त्वादयो गुणा युगपदुत्कृष्यन्ते ? विरोधेन वा ? क्रमेण वा ? इति सन्देहात्पृच्छति— **उक्तमिति** । सत्त्वोत्कर्षार्थिनामितराभिभवार्थं क्रमपक्षमाश्रित्योत्तरमाह— **उच्यत** इति । सत्त्वाभिवृद्धिमेव विवृणोति— **तदे**ति । रजस्तमसोस्तिरोधानदशायामिति यावत् । रजसो वृद्धिप्रकारं तत्कार्यं च कथयति— **तथे**ति । तमसोऽपि विवृद्धिं तत्कार्यं च निर्दिशति— **तम** इति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.**— देहाकारपरिणतायाः प्रकृतेः स्वरूपानुबन्धिनः सत्त्वादयो गुणाः, ते च स्वरूपानुबन्धित्वेन सर्वदा सर्वे वर्तन्त इति परस्परविरुद्धं कार्यं कथं जनयन्ति ? इत्यत्राह— **रज** इति । यद्यपि सत्त्वादयस्त्रयः प्रकृतिसंसृष्टात्मस्वरूपानुबन्धिनः, तथापि प्राचीनकर्मवशाद्देहाप्यायनभूताहारवैषम्याच्च सत्त्वादयः परस्परसमुद्भवाभिभवरूपेण वर्तन्ते । रजस्तमसी कदाचिदभिभूय सत्त्वमुद्रिक्तं वर्तते । तथा तमस्सत्त्वे अभिभूय रजः कदाचित्; कदाचिच्च रजस्सत्त्वे अभिभूय तमः ॥ १० ॥

**४ वे. ता. चं.**— अनन्तरग्रन्थस्यासङ्गतिशङ्कां परिहरति— **देहाकारे**ति । परस्परविरुद्धं यथार्थायथार्थज्ञानसुखदुःखसङ्गादिरूपमित्यर्थः । उद्भवाभिभवानियमप्रसङ्गपरिहाराय भगवदनुग्रहनिग्रहहेतूनां कर्मणां विषमविपाकसमयत्वात्तदनुरूपोद्भवाभिभवप्रवाह उपपद्यत इत्याह **प्राचीनकर्मवशादि**ति । यथा वातपित्तकफानां तत्तत्प्रचुरैर्द्रव्यैरुपचयं 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' [ अष्टांगहृ. सू. स्था. १।१५ ] इत्यायुर्वेदविदो वदन्ति, तथाऽत्रापि वक्ष्यमाणसात्त्विकाद्याहारभेदादित्याह— **देहाप्यायनभूताहारवैषम्याच्चे**ति । "ततो देवा अभवन् परासुराः" इत्यादि-(श्रुति-)ष्विव भवतिरत्रोद्भवविषय इत्याह **उद्रिक्तं वर्तत** इति । रजस्तमसोरुद्भूतयोः परिहारार्थमयमुद्भवाभिभवोपदेशः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १० ॥

**७ ह. पै. भा.**— अभिभूय ( न्यग्भावयित्वा ) अन्यद्भाव्यं भवति ॥ १० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— अत्र हेतुमाह— **रज** इति । रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवति अदृष्टवशादुद्भवति उत्कर्षं गच्छति, अतः स्वकार्ये सुखादौ सञ्जयति । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति, अतः स्वकार्ये कर्मणि सञ्जयति । एवं तमोऽपि सत्त्वरजोगुणावभिभूयोद्भवति, अतः स्वकार्ये प्रमादालस्यादौ सञ्जयति ॥ १० ॥

**९ व० त० दी०**— रजस्तमश्चेति । गुणद्वयमभिभूय सत्त्वं भवत्यदृष्टवशात् । एवमन्यदपि ॥ १० ॥

**१० पु. अ. त.**— ननु सुखदुःखाद्यदृष्टसाधनत्वे सति स्वकार्यकरणमन्यथाभावकत्वं कथं ? इत्याशङ्क्य तेषां तथा सामर्थ्यं मया दत्तमस्तीति ज्ञापनाय सिद्धवत्कारेणानुवदति— **रजस्तम** इति । रजस्तमः दुःखाज्ञानात्मकगुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवतीत्यर्थः । भारत ! इतिसम्बोधनेन यथा मदिच्छया सर्वपराभवेन त्वं जयसि तथेत्यर्थो द्योतितः । एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयाभिभवेन भवति । एवकारेण तमसो मोहकसामर्थ्याधिक्येऽपि तथाकर्तृत्वं व्यज्यते । तथा तमः सत्त्वं रजश्चाभिभूय भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

**११ नी० भा० दी०**— सत्त्वादयः कदा स्वस्वकार्ये प्रभवन्ति ? इत्याशङ्क्येतरेतरयोरभिभवे सतीत्याह— **रज** इति । रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वं भवति वर्धते । एवं रजोऽपि सत्त्वतमसी अभिभूय भवति । तथा तमोऽपि सत्त्वरजसी अभिभूय भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— असौ अयं मम शत्रुर्मया हतः, अपरानपि तादृशान् हनिष्ये, भगवदिच्छया विपरीतं न जानन्ति । ईश्वरोऽहं सर्वकरणसमर्थः, अहं भोगी भोगसाधनवान् कर्त्ता च, सिद्धोऽहं कृतकृत्यः, बलवान् परोपकारमर्दनसमर्थः, सुखी सिद्धेष्टसाधनः ॥ १४ ॥ किञ्च आढ्यो विपुलधनवान्, अभिजनवान् सत्कुलोत्पन्नः, मया सदृशः समोऽन्यः कोऽस्ति ? न कोऽपीत्यर्थः । तथापि यक्ष्ये यज्ञादिभिः प्रतिष्ठार्थमित्यर्थः । दास्यामि अधमेभ्योऽनुवर्तिभ्यः, मोदिष्ये हर्षमाप्स्यामि, इति अमुना प्रकारेण अज्ञानेन विमोहिताः पूर्वोक्तधर्मेष्वभिनिविष्टा भवन्तीत्यर्थः ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— क्रोधपरायणत्वं कामपरायणत्वं च पूर्वोत्तराभ्यामर्धाभ्यामाह— असाविति । ईश्वरः समर्थः सर्वेषां निग्रहे । सिद्धः लब्धाखिलभोगसाधनः । बलवान् विषयोपभोगे समर्थः, अत एव सुखी ॥ १४ ॥ आढ्यो धनी । अभिजनवान् कुलीनः । अज्ञानेन अविवेकेन मोहिताः विविधं भ्रमं प्रापिताः ॥ १५ ॥

**अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः ।**
**प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ १६ ॥**

१ शां. भा.— अनेकेति । अनेकचित्तविभ्रान्ता उक्तप्रकारैरनेकैश्चित्तैर्विविधं भ्रान्ता अनेकचित्तविभ्रान्ताः; मोहजालसमावृताः मोहोऽविवेकोऽज्ञानं, तदेव जालमिवाऽऽवरणात्मकत्वात्, तेन समावृताः; प्रसक्ताः कामभोगेषु तत्रैव निषण्णाः सन्तस्तेनोपचितकल्मषाः पतन्ति नरकेऽशुचौ वैतरण्यादौ ॥१६॥

२ आ. शां. व्या.— उक्तप्रकारविपर्ययेण कृत्याकृत्यविवेकविकलानां किं स्यात् ? इत्यपेक्षायामाह— अनेकेति । कामा विषयास्तेषां भोगेषु तत्प्रयुक्तेषूपभोगेष्विति यावत् ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— अदृष्टेश्वरादिसहकारमृते स्वेनैव सर्वं कर्तुं शक्यमिति कृत्वा 'एवं कुर्याम्, एतच्च कुर्याम्, अन्यच्च कुर्यां' इत्यनेकचित्तविभ्रान्ताः अनेकचित्ततया विभ्रान्ताः; एवं रूपेण मोहजालेन समावृताः कामभोगेषु प्रकर्षेण सक्ताः मध्ये मृताः अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— ईश्वरे न्यस्तभरा हि प्रायशो निश्चिताः, तद्व्यतिरेकमाह— स्वेनैव सर्वमिति । इति कृत्वा— इति मत्वेत्यर्थः । चिन्तारूपवृत्तियुक्तं मन एव चित्तम्, तत्प्रवृत्तिभेदादनेकत्वोक्तिः; तद्दर्शयति एवं कुर्यामित्यादिना । विभ्रान्ताः विक्षिप्ता इत्यर्थः । यद्वा विभ्रान्तिर्विपरीतज्ञानम्, मोहस्त्वज्ञानम् । अथवा 'अन्यथा चिन्तितं कार्यं देवेन कृतमन्यथा' इति न्यायाच्चिन्तानामेव भ्रान्तिरूपत्वमाह एवं रूपेणेति । 'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते' [ वि. पु. ४।१०।२३ + भाग. ९।१९।१४ + म. भा. १।७५।५० + मनुः. २।९४ ] इत्ययमर्थं उपसर्गेण द्योत्यत इत्याह प्रकर्षेण सक्ता इति । 'इदं कृतमिदं कार्यमिदमन्यत्कृताकृतम् । एवमीहासमायुक्तं कृतान्तः कुरुते वशे' इत्युक्तमाह मध्ये मृता इति । अशुचौ कामभोगे प्रसक्तानां तथाविधमेव फलमित्यभिप्रायेण नरकस्याशुचित्वविशेषणम् । पूयरुधिरवसादिमयत्वं चाशुचित्वम् ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.— अनेकेति । अनेकचित्तविभ्रान्ता अनवस्थिताः । मोहो जालमिव जालं मोहजालम् । पतन्ति निषीदन्ति ॥ १६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवम्भूता यत्प्राप्नुवन्ति तच्छृणु— अनेकेति । अनेकानि चित्तानि उक्तप्रकारा बहवः सङ्कल्पाः तैर्विविधं भ्रान्ताः । तत्र हेतुः— मोहजालसमावृताः, मोह एव जालमावरणात्मकत्वेन बन्धहेतुत्वात्; तेन समावृता मत्स्या इव सूत्रजालेन वेष्टिताः, तत्परवशीकृता इति यावत् । अत एव स्वानिष्टसाधनेष्वपि भोगेषु प्रसक्ताः अत्यन्तासक्ताः तदुपचीयमानकल्मषाः सन्तः अशुचौ विण्मूत्रश्लेष्मादिपूर्णे नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— अनेकेति । 'अज्ञश्चार्द्धप्रबुद्धश्च ब्रह्माहमिति यो वदेत् । महानरकजालेषु पच्यते नात्र संशयः' इति ब्रह्माण्डोक्तेः । दुर्ज्ञाः कामोपभोगेषु प्रसक्ता अशुचौ नरके पतन्ति ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— एवमभिनिविष्टानां फलमाह- अनेकेति । अनेकेषु क्षुद्रादिदेवेषु मनोरथेषु वा व्याप्तं चित्तं तेन विभ्रान्ताः विशेषेण भ्रान्ता विक्षिप्ताः, तेनैव भ्रान्तिपरिकल्पितेन मोहमयेन जालेन समावृताः सम्यगावृताः शकुन्ता इव सूत्रजाले ततो निस्सरणासमर्थाः— तत्रापि चेन्मत्स्मरणादिकं कुर्युस्तदा तु न पतेरन्, किन्तु खगादिवत् स्वकुटुम्बचिन्तनपराः, कामभोगेषु पूर्वोक्तरीत्या प्रसक्ताः सन्तः, अशुचौ पापात्मके परमदुःखनिधाने नरके विषयसुखात्मके आसक्त्युत्पादके पतन्ति । पतनोक्त्या वैवश्यं ज्ञापितम् ॥ १६ ॥

११ नी० भा दी०— अनेकं नास्ति एकं चिन्तनीयं यस्य तत् अनेकं बहुषु विषयेषु पूर्वोक्तेषु लग्नं चित्तं येषां ते अनेकचित्तास्ते च ते विभ्रान्ताश्च 'किमिदमादौ साधनीयमिदमादौ साधनीयं' इति विशेषेण भ्रान्त्याकुला अनेकचित्तविभ्रान्ताः । मोहः असत्स्वपि सद्बुद्धिस्तदेव जालं तेन सम्यगावृताः । प्रसक्ताः प्रकर्षेण लग्नाः । अशुचौ विण्मूत्रादिमये ॥ १६ ॥

## आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
## यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

१ शां. भा.— आत्मेति । आत्मसम्भाविताः सर्वगुणविशिष्टतयाऽऽत्मनैव सम्भाविता आत्मसम्भाविताः, न साधुभिः; स्तब्धा अप्रणतात्मानः; धनमानमदान्विता धननिमित्तो मानो मदश्च, ताभ्यां धनमानमदाभ्यामन्विता यजन्ते नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैस्ते दम्भेन धर्मध्वजितयाऽविधिपूर्वकं विधिविहिताङ्गेतिकर्तव्यतारहितम् ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु तेषामपि केषाञ्चिद्वैदिके कर्मणि यागदानादौ प्रवृत्तिप्रतिपत्तेरयुक्तं वैतरण्यादौ पतनमिति चेत्तत्राऽऽह— आत्मेति ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— आत्मनैव सम्भाविताः, आत्मनैवात्मानं सम्भावयन्तीत्यर्थः । स्तब्धाः परिपूर्णं मन्यमाना न किञ्चित्कुर्वाणाः, कथं ? धनमानमदान्विताः धनेन विद्याभिजनाभिमानेन च जनितमदान्विताः, नामयज्ञैः नामप्रयोजनैर्यष्टेति नाममात्रप्रयोजनैर्यज्ञैः यजन्ते; तदपि दम्भेन हेतुना यष्टृत्वख्यापनाय, अविधिपूर्वकम् अयथाचोदनं यजन्ते ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— 'आत्मसम्भाविताः' इत्यत्र परसम्भावनाप्रसङ्गरहिततया 'अब्भक्षः' इतिवदवधारणगर्भतामाह— **आत्मनैव सम्भाविता** इति । आत्मप्रशंसादिरूपदोषव्यक्त्यर्थमाह **आत्मनैवात्मानमिति** । परैः सम्भाविता अपि हि सन्तो लज्जन्ते । स्तब्धताहेतुः— **परिपूर्णं मन्यमाना** इति । **न किञ्चित्कुर्वाणा** इति तुशब्दार्थः । किञ्चित् गुरुवन्दनादिकमपीत्यर्थः । धनादिदृष्टसम्पत्तिमदेन अदृष्टवैकल्यतिरस्कार इति वक्तुं पारलौकिकाप्रवृत्तिहेतुं शङ्कते— **कथमिति** । 'विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः' [ म. भा. ५।३४।४४ ] इति संनियोगशिष्टत्वाद्धनस्यात्रोक्तेश्च तत्समभिव्याहृतो मदहेतुर्मानो विद्याभिजननिबन्धन इत्याह **विद्याभिजनाभिमानेन** चेति । नामसम्बन्धिनो यज्ञा नामयज्ञाः; सम्बन्धश्चात्र धर्मादिप्रयोजनाभिसन्धिव्युदासाय फलफलिभावेनेत्यभिप्रायेणाऽऽह **नामप्रयोजनैरि**ति । कीर्त्यादिष्वपि नामशब्दप्रयोगात्तदभिसन्धेश्च 'दम्भेन' इत्यादिना सिद्धेः संज्ञायां प्रसिद्धिप्रकर्षादपहासार्थत्वौचित्याच्च **यष्टेति नाममात्रप्रयोजनैरि**त्युक्तम् । अत एव 'यज्ञसमाख्यामात्रम्; न तु वस्तुतोऽसौ यज्ञः' इति व्याख्याऽपि मन्दा प्रदर्शिता; अविधिपूर्वकत्वोक्त्यैव तदर्थसिद्धेश्च । **दम्भेन हेतुने**त्यभिसन्धिविषयस्य हेतुत्वोक्तिः । **यष्टृत्वख्यापनाये**ति तु विषयतः प्रयोजनतश्च तद्विवरणम् । विधिरत्र विधायकं वाक्यम् । तदुक्तप्रकारपरित्यागोऽत्राविधिपूर्वकत्वमित्याह— **अयथाचोदनमिति** ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— आत्मेति । आत्मना सम्भाविताः पूजिताः । स्तब्धा गुरुदेवते अप्यप्रणताः । धननिमित्तो मानो धनमानः, धनमानश्च मदश्च धनमानमदौ ताभ्यामन्विता यजन्ते पूजयन्ति नामयज्ञैर्नामप्रधानयज्ञैः । दम्भेन धार्मिकत्वख्यापनेनाविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

८ वें. ब्र. गि.—नतु 'यक्ष्ये दास्यामि' [ १६।१५ ] इति यागदानादिवैदिककर्मप्रवृत्तानां तेषां कथं नरकपातः ? तत्राऽऽह— आत्मेति । 'सर्वगुणविशिष्टा वयं' इत्यात्मनैव सम्भाविताः पूजिताः, न तु साधुभिः कैश्चित्; तथा स्तब्धा अविनीताः । तत्रोभयत्रापि हेतुः— धनमानमदान्विताः, धननिमित्तौ यौ मानमदौ, ताभ्यामन्विताः । आत्मनि पूज्यत्वातिशयाध्यासो मानः, गुर्वादिष्वप्यपूज्यत्वाभिमानो मदः; यद्वा धनेन विद्याभिजनाभिमानेन च जनितो यो मोहो गर्वः, तदन्विताः; ते आसुरप्रकृतयः नामयज्ञैः नाममात्रेण यज्ञैः, नार्थतः । यद्वा 'दीक्षितः, सोमयाजी' इति नाममात्रसम्पादकैर्यज्ञैः अविधिपूर्वकं दम्भेन यजन्ते, न तु श्रद्धया । ततस्ते तत्फलभाजो न भवन्तीत्यर्थः ॥ १७ ॥

९ व० त० दि०— आत्मसम्भाविता इति । नामयज्ञैर्नाममात्रयज्ञैर्यजन्ति ते दम्भेन; तत्राप्यविधिपूर्वकम् ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— तत्र संसारविषयात्मके सुखे पतित्वा यत्कुर्वन्ति तेन च यत्फलमनुभवन्ति तदाह— आत्मेत्यादि- चतुर्भिः । आत्मना स्वेनैव सम्भाविताः स्वधर्माविष्कारेण लोकेषु उत्तमतां पूज्यतां नीताः, न तु भगवदीयैः; अतएव स्तब्धाः अनम्राः स्थाणुप्रायाः । किञ्च धनेन यो मानो मदश्च ताभ्या- मन्विताः युक्ताः । यद्वा धनमानमदैरन्विताः तादृशाः सन्तः नामयज्ञैः शब्दात्मकैः प्रतिष्ठार्थमविधिपूर्वकं मदंशादिज्ञानाभा- वेन मद्भजनराहित्येन ते पूर्वोक्ता आसुरा यज्ञादिकं कुर्वन्ति ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— आत्मनैवात्मानं महान्तं मन्यन्ते ते आत्मसम्भाविताः । स्तब्धा अप्रणताः । धन- निमित्तो मानो गर्वः, मद उन्मत्तता ताभ्यामन्विताः धनमानमदान्विताः । नामयज्ञैर्नाममात्रैर्यज्ञैः दम्भेन धर्मध्वजितया अविधिपूर्वकं यथोक्तधनज्ञानस्वयमृत्विक्पत्न्यादिशुद्धिरहितं यजन्ते ॥ १७ ॥

**अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।**
**मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूकाः ॥ १८ ॥**

१ शां. भा.— अहङ्कारमिति । अहङ्कारं अहङ्करणमहङ्कारः, विद्यमानैरविद्यमानैश्च गुणैरात्मन्य- ध्यारोपितैर्विशिष्टमात्मानं 'अहं' इति मन्यते सोऽहङ्कारोऽविद्याख्यः कष्टतमः, सर्वदोषाणां मूलं सर्वा- नर्थप्रवृत्तीनां च तम् । तथा बलं पराभिभवनिमित्तं कामरागान्वितम् । दर्पं दर्पो नाम यस्योद्भवे धर्म- मतिक्रामति सोऽयमन्तःकरणाश्रयो दोषविशेषः । कामं स्त्र्यादिविषयम् । क्रोधमनिष्टविषयम् । एतानन्यांश्च महतो दोषान्संश्रिताः । किञ्च ते मामीश्वरमात्मपरदेहेषु स्वदेहे परदेहेषु च तद्बुद्धिकर्मसाक्षिभूतं मां प्रद्विषन्तः मच्छासनातिवर्तित्वं प्रद्वेषस्तं कुर्वन्तः, अभ्यसूयकाः सन्मार्गस्थानां गुणेष्वसहमानाः ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— आसुरीं सम्पदमभिजातैरधर्मजात- मेव सञ्चीयते, प्रवृत्तैरपि वैदिके वर्त्मनि नैव पुण्यमित्युक्तम् । ब्रह्मज्ञानात्पुनरासुरा दूरादेवोद्विजन्त इत्याह— अहङ्कारमिति । अहङ्कारमेव स्फोरयति— विद्यमानैरिति । अध्यारोपित- वैशिष्ट्यविषयत्वादहङ्कारस्याविद्यामूलत्वेनाविद्यात्वमाह— अ- विद्याख्य इति । विवेकिभिस्तस्यातियत्नादवहेयत्वं सूच- यति— कष्टतम इति । तदेव स्पष्टयति— सर्वेति । तं संश्रिता इति सम्बन्धः । कार्यकरणसामर्थ्यमुक्तविशेषणं बलम् । अहङ्कार एव महदवधीरणापर्यन्तत्वेन परिणतो दर्पस्तं व्याक- रोति— दर्पो नामेत्यादिना । अन्यांश्च दोषान्मात्सर्यादीन् । न केवलमुक्तमेव तेषां विशेषणं, किन्तु कष्टतममस्ति विशेषणा- न्तरमित्याह— किञ्चेति । यद्यपीश्वरं प्रति द्वेषस्तेषां सम्भा- व्यते तथापि कथं स्वदेहे परदेहेषु च तं प्रति द्वेषः ? न हि तत्र भोक्तारमन्तरेणेश्वरस्यावस्थानमित्याशङ्क्याऽऽह— तद्बु- द्धीति । तेषामीश्वरं प्रति द्वेषमेव प्रकटयति— मच्छास- नेति । ईश्वरस्य शासनं श्रुतिस्मृतिरूपं तदतिवर्तित्वं तदुक्तार्थ- ज्ञानानुष्ठानपराङ्मुखत्वम् ॥ १८ ॥

३ रा. भा.— ते चेदम्भूता यजन्त इत्याह— अहङ्कारमिति । 'अनन्यापेक्षोऽहमेव सर्वं करोमि' इत्येवंरूपमहङ्कारमाश्रिताः तथा 'सर्वस्य करणे मद्बलमेव पर्याप्तं' इति च बलम्, अतो 'मत्सदृशो न कश्चिदस्ति' इति च दर्पम्; 'एवम्भूतस्य मम काममात्रेण सर्वं सम्पत्स्यते' इति कामं, 'मम ये अनिष्ट- कारिणस्तान् सर्वान् हनिष्यामि' इति च क्रोधम्, एवमेतान् संश्रिताः स्वदेहेषु परदेहेषु चावस्थितं

सर्वस्य कारयितारं पुरुषोत्तमं मामभ्यसूयकाः प्रद्विषन्तः कुयुक्तिभिर्मत्स्थितौ दोषमाविष्कुर्वन्तो माममसहमाना अहङ्कारादिकान् संश्रिता यागादिकं सर्वं क्रियाजातं कुर्वत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

४ वे. ता. चं.— पुनरुक्त्यादिपरिहारायानन्तरश्लोकस्य सात्त्विकयजनेतिकर्तव्यतारूपगुणवैपरीत्यपरत्वमाह— **ते चेद्दम्भूता यजन्त** इति । भगवानेव सर्वं कारयतीत्यस्य प्रतिक्षेपोऽहङ्कारः, यत्परिहाराय स्मर्यते 'यद्यहङ्कारमाश्रित्य यज्ञदानतपःक्रियाः । कुर्वंस्तत्फलमाप्नोति पुनरावर्तनं तु तत्' इति । बलवत्त्वमात्रस्यादोषत्वेऽपि 'भगवतो बलेन' इत्यादेर्विपरीतं स्वबलपर्याप्त्यनुसन्धानम्, तदुभयमूलो दर्पः सर्वाविज्ञानहेतुः पूज्यपूजाप्रतिस्पर्धी भगवत्प्रसादादेवेष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहाराविच्छस्य विपरीतौ कामक्रोधाविति क्रमेण दाम्भिकयज्ञेतिकर्तव्यताक्रमं विवृणोति **अनन्यापेक्ष** इत्यादिभिः । संश्रिताः सम्यगाश्रिताः, निरपेक्षहेतुत्वेनाभिमन्यमाना इत्यर्थः । अत्र **परदेहेष्विति** यज्ञानुकूलप्रतिकूलऋत्विक्तस्करादिविवक्षया सप्तम्या स्थितिः सिद्धा; सा च प्रवर्तनाद्यर्थमिति श्रुत्यादिभिः प्राक्प्रपञ्चितम्; तत्प्रतिपत्तिविरुद्धं स्मारयति **सर्वस्य कारयितारमिति** । हितप्रवर्तनमेवासूयाहेतुरिति भावः । **पुरुषोत्तममिति**— यद्वैलक्षण्यविज्ञानमात्रात् कृतकृत्यो भवतीत्युक्तं, स हि महोपकारी द्वेषासूयास्पदमेषामिति भावः । सर्वप्रवर्तनादिगुणकथनं, गुणेषु दोषाविष्करणरूपासूयालक्षणव्यक्त्यर्थं च । पुरुषोत्तमप्रकरणे हि स्मृत्यादिप्रवर्तनाय 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' [ १५।१५ ] इत्युक्तम्; तदेवात्र 'मामात्मपरदेहेषु' इत्यनेन स्मार्यत इति च भावः । 'प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः' इत्यनयोः प्रातिलोम्येन हेतुकार्यतयाऽन्वयक्रमं यजन्त इत्यनुकर्षणेन वाक्यसमाप्तिं चाऽऽह **कुयुक्तिभिरिति** । ईश्वरपरतन्त्रत्वे कथं कर्मवश्यता ? फलानां कर्ममूलत्वे च किमीश्वरेणेत्यादयः कुयुक्तयः । अनसूयालक्षणव्याजेनासूयामपि बृहस्पतिरलक्षयत्— 'न गुणान्गुणिनो हन्ति स्तौति मन्दगुणा-(चान्यान्गुणा-) नपि । नान्यदोषेषु रमते (न हसेच्चान्यदोषांश्च) साऽनसूया प्रकीर्तिता' [ अ. स्मृ. ३७ ] इति । असहिष्णुत्वरूपेण लक्षणेन द्वेषं विवृणोति **मामसहमाना** इति । असहमानत्वं च तदाज्ञातिलङ्घनपर्यन्तमनुसन्धेयम् । एतच्च स्ववंश्यानामप्यशुचिनरकपतने निदानम्; यथोच्यते 'मज्जन्ति पितरस्तस्य नरके शाश्वतीः समाः । द्विष्याद्यो विबुधश्रेष्ठं देवं नारायणं हरिम्' [ म. भा. १२।३४६।६ ] इति । एवं 'ये द्विषन्ति महात्मानं न स्मरन्ति च केशवम् (जनार्दनम्) । न तेषां पुण्यतीर्थेषु गतिः संसर्गिणामपि' [म. भा. १२।३३६।३६ कुं. को. ] इत्यादि चात्रानुसन्धेयम् । 'नामयज्ञैः' [ १६।१७ ] इत्यस्योपलक्षणमाह **यागादिकं सर्वमिति** ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.— मामात्मपरदेहेष्विति । न कस्यचिद्द्विष्णुः कारयिता । यदि स्यान्मामपीदानीं कारयत्वित्यादि "ईश्वरो यदि सर्वस्य कारकः कारयीत माम् । अद्येति वादिनं ब्रूयात्सदाऽधो यास्यसि" इति सामवेदे यास्कश्रुतिः ॥ १८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— भगवद्द्वेषस्यात्मपरदेहाधिकरणत्वं कथं ? इत्यत आह— **मामिति** । कुतो न कारयिता ? यदि स्यात्तर्हीदानीमकुर्वाणं मामपि कारयतु, कुर्वाणं च निवारयतु, इत्यर्थः । सदाधो नित्यनरकम् ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.— अहङ्कारमिति । अविद्यमानैरपि गुणैरात्मन्यध्यारोपितैरप्यहं गुणवानिति प्रतिपत्तिरहङ्कारः, तमाश्रिताः; मामीश्वरमात्मपरदेहेषु व्यवस्थितं प्रद्विषन्तोऽसहमानाः । अभ्यसूयका आत्मपरदेहेषु व्यवस्थित ईश्वरेऽप्यन्यवद्गुणदोषानाविष्कुर्वन्तः ॥ १८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— यदैवमेतेषामासुरप्रकृतीनां बहिरङ्गभूतं यागदानादिकमपि न सिध्यति, तदा दूरापास्तमेव विवेकवैराग्यादिकमन्तरङ्गसाधनमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **अहङ्कारमिति** । 'अहमेव सर्वोत्कृष्टः' इत्यभिमानोऽहङ्कारः, तत्प्रयुक्तपराभिभवहेतुसामर्थ्यविशेषो बलम्, तत्कृतं परावधीरणं दर्पः, तत्प्रयुक्तः परदाराद्यभिलाषः कामः, तत्प्रतिकूलेषु क्रोधः, चकारात्तत्संहार इत्येवमहङ्कारादीनाश्रिताः; अतो न तेषां विवेकवैराग्यादिप्रसक्तिरित्यभिप्रायः । तादृशा अपि यदि मद्भक्तिं कुर्युः पूता एव स्युः, न तु तत्कुर्वन्ति, प्रत्युत द्विषन्तीत्याह— **मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्त** इति । मां भगवन्तमीश्वरं आत्मदेहेषु परदेहेषु च प्रकर्षेण द्विषन्तः । तत्रात्मदेहेषु भगवद्द्वेषो नाम अन्तर्यामितया नियन्तृभावेन स्वदेहावस्थिते भगवति 'को नामेश्वरः ? स्वत एवाहं बुद्धिबलेन सर्वं करोमि' इति भगवन्नियन्तृभावासहनम् । परदेहेषु भगवद्द्वेषस्तु रामकृष्णादिभगवद्विग्रहेष्वतिमानुषमपि दिव्यवैभवमनालोच्य मनुष्यबुद्ध्या तेषु दोषारोपणम्, 'अवजानन्ति मां मूढाः' [९।११] इत्युक्तेः । नन्वेवं दुर्बुद्धीन्गुर्वादयः कथं नानुशासति ? तत्राऽऽह— **अभ्यसूयका** इति । गुर्वादीनां हितोपदेशेष्वज्ञानविप्रलम्भादिदोषारोपका इत्यर्थः ॥ १८ ॥

**९ व० त० दी०— अहङ्कारमिति । मां पुरुषोत्तमं सर्वेश्वरमिह लीलाकर्त्तारं सर्वत्र वर्त्तमानं चेतनात्मानं च द्विषन्तो भवन्ति; इदमेव तेषु महदासुरलक्षणं पारुष्यम् ॥ १८ ॥**

१० पु. अ. त.— अविधिपूर्वकं यजनं पूर्वं विवेचयति- अहङ्कारमिति । अहङ्कारं सत्त्वाभिमानं,बलं स्वसामर्थ्यं, दर्पं गर्वं, कामं मनोभिलाषं, क्रोधं व्यर्थं हृदयक्लेशं,- चकारेण हर्षोद्वेगादयः सङ्गृहीताः- तान् संश्रिताः सन्तः, आत्मपरदेहेषु 'मयि ते तेषु चाप्यहम्' [ ९।२९ ] इत्युक्तरीत्या स्थितं मां प्रद्विषन्तः प्रकर्षेण द्वेषं कुर्वन्तो मद्भजनादिनिन्दां कुर्वन्तः, अभ्यसूयकाः दोषरहितेषु दोषारोपकाः सन्तो यजन्त इति पूर्वेणैव सम्बन्धः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— अहङ्कारोऽहमेव सर्वश्रेष्ठ इति बुद्धिः, बलं शारीरं धनाभिजननिमित्तं च, दर्पं परावज्ञां कामं क्रोधं च संश्रिताः मां सर्वदेहेषु प्रविष्टं आत्मदेहे स्वदेहशोषणेन 'कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः। मां चैवान्तश्शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्' [ १७।६ ] इति वक्ष्यमाणदिशा परदेहे च हिंसादिना प्रद्विषन्तः। अभ्यसूयकाः सर्वत्र गुणेषु वेदोक्तेषु शमादिषु अशक्तत्वादिलक्षणं दोषमारोपयन्तः ॥ १८ ॥

आसुरसम्पल्लक्षणवतां फलम् ।

**तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।**
**क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ १९ ॥**

१ शां. भा.— तानहमिति । तानहं सर्वान् सन्मार्गप्रतिपक्षभूतान् साधुद्वेषिणो द्विषतश्च मां क्रूरान्संसारेष्वेव अनेकनरकसंसरणमार्गेषु नराधमानधर्मदोषवत्त्वात्क्षिपामि प्रक्षिपामि अजस्रं सन्ततमशुभानशुभकर्मकारिण आसुरीष्वेव क्रूरकर्मप्रायासु व्याघ्रसिंहादियोनिषु क्षिपामीत्यनेन सम्बन्धः ॥ १९ ॥

२ आ. शां. व्या.— तेषामुक्तविशेषणवतामासुराणां किं स्यात् ? इति तदाह— तानिति । भगवतो नैर्घृण्यप्रसङ्गं प्रत्यादिशति— अधर्मेति ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— य एवं मां द्विषन्ति, तान् क्रूरान् नराधमानशुभानहमजस्रं संसारेषु जन्मजरामरणादिरूपेण परिवर्तमानेषु सन्तानेषु, तत्राप्यासुरीष्वेव योनिषु क्षिपामि मदानुकूल्यप्रत्यनीकेष्वेव जन्मसु क्षिपामि; तत्तज्जन्मप्राप्त्यनुगुणप्रवृत्तिहेतुभूतबुद्धिषु क्रूरास्वहमेव संयोजयामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.— एवंविधप्रद्वेषादिपूर्वकयागादेरपि यथोचितप्रतिकूलफलप्रदोऽहमेवेत्युच्यते— 'तानहम्' इत्यादिश्लोकद्वयेन । वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारार्थः 'तान्' इत्यनुवाद इत्यभिप्रायेणाऽऽह य एवं मां द्विषन्तीति । अत्र चतुर्भिर्विशेषणैः 'न मां दुष्कृतिनः' [ ७।१५ ] इत्यादिनोक्ताश्चतुर्विधा दुष्कृतिन एव विवक्षिता इति तद्व्याख्यानम् । तथा हि— नराधमशब्दस्तावत्स एव, 'आसुरं भावमाश्रिताः' [ ७।१५ ] इत्येतत्तु 'द्विषन्तः' इत्येतत् समानार्थतया प्रागेव व्याख्यातम्, एवं क्रूराशुभशब्दावपि यथायोगं मूढादिशब्दसमानार्थौ नेतव्यौ । अत्राविभागेन योजनं चासुरराश्यैक्यात् । जन्मादिचक्रपरिवृत्तिष्वविच्छिन्नतयैकाकारेण सरणात् संसारः सन्तानः । संसरति पुरुषोऽस्मिन्निति अधिकरणार्थघञन्तोऽत्र संसारशब्दः । तद्बहुत्वोक्तिश्चक्रपरिवृत्त्यानन्त्यादित्याह जन्मजरेत्यादिना । संसारशब्दस्य सदसज्जन्मसाधारणत्वाद्विशेष्यत इत्याह तत्रापीति । 'एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्' [ ६।४२ ] इत्याद्युक्तभगवद्योगानुकूलसात्त्विकजन्मविशेषव्यवच्छेदाय तामसत्वम् 'आसुरीष्वेव' इत्युच्यत इत्याह मदानुकूल्यप्रत्यनीकेष्विति । ईदृशं प्रतिकूलजन्म देवादिचतुर्विधयोनिष्वपि द्रष्टव्यमिति । "एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषति" [ कौ. उ. ३।९ ] इत्यादिश्रुत्यनुसारेण 'क्षिपामि' इत्युक्तस्य द्वारमाह तत्तदिति । पापप्रवृत्तिहेतुभूतक्रूरबुद्ध्यादिप्रदानमपि प्राचीनप्रद्वेषादिफलभूतत्वान्नेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापादकम् ॥ १९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १९ ॥

७ ह. पै. भा.— तानिति । आसुरीषु सिंहव्याघ्रवराहादिषु ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमासुरसम्पदं निरूप्य तत्फलमाह द्वाभ्याम्— तानहमिति । क्रूरान्हिंसापरान् मां च द्विषत एव नराधमांस्तानहं संसारेषु नरकसंसरणमार्गेषु क्षिपामि पातयामि । 'पतन्ति नरकेषु च' [ १६।१६ ] इति पूर्वोक्तस्यवायं प्रपञ्चः । ततश्चिरकालान्नरकागतांस्तान् आसुरीष्वेव अतिक्रूरासु व्याघ्रसर्पादियोनिषु, क्षिपामीत्यनुषजते । न चैवं क्षिपतो मम वैषम्यनैर्घृण्ये भवतः, तदीयकर्मानुसारित्वादित्यभिप्रेत्य विशिनष्टि— अशुभानिति; अशुभकर्मकारिण

इत्यर्थः । ननु शुभकर्माण्यपि त्वमेव तैः कारयसि, श्रूयते हि- "*एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमुन्निनीषते एष उ एवासाधु कर्म कारयति, तं यमधो निनीषते" [कौ. उ.३।९] इति; तथा च कर्मानुसारित्वेऽपि वैषम्यनैर्घृण्यदोषो दुष्परिहर इत्याशङ्कानिरासार्थमजस्रमशुभानित्युक्तम् । नित्यपापकृतः तेषां पूर्वपूर्वतदीयपापानुसारेणैवाहमुत्तरोत्तरपापकारक इति न मे दोषप्रसक्तिः, 'वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति' [ब्र. सू.२।१।३४] इति न्यायादिति भावः ॥ १९ ॥

९ ब० त० दी०— तानहमिति । अतः सहजासुरान् नत्वावेशिनो मायाविन आसुरीष्वेव योनिषु पुनः पुनः क्षिपामि ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— सर्वफलदाता च स्वयमेव, अतः स्वभक्तद्वेषिणां फलं न प्रयच्छामीत्याह- तानहमिति । अहं तान् द्विषतः क्रूरान् कठिनान् नराधमान् तामसान् संसारेषु अहम्ममाप्तरूपेषु जन्ममरणादिरूपेषु वा, तेष्वप्यासुरीष्वेव मत्प्रतिपक्षरूपासु योनिषु अजस्रं निरन्तरं क्षिपामि; पातयामीत्यर्थः । क्षिपामीत्युक्त्या क्रोधः सूचितः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— तेषां सर्वदेहेषु फलमाह- तानिति । सर्वभूतसमोऽप्यहं तान् वेदोक्तशासनातिगान् भूतद्रोहकर्तॄन् अहमन्तरात्मा, न तु तटस्थः, येन मम वैषम्यं स्यात् । पूर्वसंस्कारात्ते तथैव पापं कुर्वन्ति तदनुरूपं फलं च प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥ १९ ॥

**आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।**
**मामप्राप्यैव कौन्तेय ! ततो यान्त्यधमां गतिम् ॥ २० ॥**

१ शां॰ भा.— आसुरीमिति । आसुरीं योनिमापन्नाः प्रतिपन्ना मूढा अविवेकिनो जन्मनि जन्मनि प्रतिजन्म तमोबहुलास्वेव योनिषु जायमाना अधो गच्छन्तो मूढा मामीश्वरमप्राप्यानासाद्यैव हे कौन्तेय ! ततस्तस्मादपि यान्त्यधमां निकृष्टतमां गतिम् । 'मामप्राप्यैव' इति न मत्प्राप्तौ काचिद-प्याशङ्काऽस्त्यतो मच्छिष्टसाधुमार्गमप्राप्येत्यर्थः ॥ २० ॥

२ आ. शां. व्या.— ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयो भविष्यति ? नेत्याह— आसुरीमिति । तेषामीश्वरप्राप्तिशङ्काभावे कथं तन्निषेधः स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह- मामित्यादिना । यस्मादासुरी सम्पदनर्थपरम्परया सर्वपुरुषार्थपरिपन्थिनी तस्माद्यावत्पुरुषः स्वतन्त्रो न काञ्चित्पारवश्यकरीं योनिमापन्नस्तावदेव तेनासौ परिहरणीयेति समुदायार्थः ॥ २० ॥

३ रा. भा.— मदानुकूल्यप्रत्यनीकजन्मापन्नाः पुनरपि जन्मनि जन्मनि मूढाः मद्विपरीतज्ञाना मामप्राप्यैव 'अस्ति भगवान् सर्वेश्वरो वासुदेवः' इति ज्ञानमप्राप्य ततस्ततो जन्मनोऽधमामेव गतिं यान्ति ॥ २० ॥

४ वे. ता. चं.— उत्तरोत्तरमपकर्षपरम्परोच्यते- आसुरीम् इति श्लोकेन । मूढशब्दतः फलितमाह मद्विपरीतज्ञाना इति । यद्वा विपरीतज्ञानमेवात्र मोहः; स च वाक्यार्थानुगुण्यात्स्वविषयो विशेषितः । सत्त्वोत्तराणामपि परब्रह्मप्राप्तेरनेकजन्मसंसिद्धिसाध्यतया तामसेषु तत्प्रसङ्गप्रतिषेधयोरनौचित्यात्प्राप्तेः प्रथमपर्वभूतशास्त्रजन्यज्ञानप्राप्तिरिहाशास्त्रवश्येष्वासुरेषु प्रतिक्षिप्यते । तत्र शास्त्रजन्यज्ञानत्वव्यक्त्यर्थमाह— अस्ति भगवानिति । अधमत्वस्योत्तमावधिसापेक्षत्वादवधिसमर्पणसमर्थतया सन्निहितः ततश्शब्दो न हेतुपर उचित इत्यभिप्रायेणाऽऽह ततस्ततो जन्मन इति ॥ २० ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २० ॥

७ ह. पै. भा.— आसुरीमिति । आपन्नाः प्राप्ताः । मां सर्वज्ञमीश्वरम् । अधमां निकृष्टां, नरकमित्यर्थः ॥ २० ॥

---

* 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो नुनुत्सते' श्रुतिरेतादृशीयं कौषीतक्युपनिषदि दृश्यते ।

८ वें. ब्र. गि.— ननु तेषामपि क्रमेण बहूनां जन्मनामन्ते श्रेयः किं न भविष्यति ? नेत्याह— आसुरीमिति । ये कदाचिदासुरीं योनिमापन्नाः ते जन्मनि जन्मनि मूढाः तमोबहुलत्वेनाविवेकिनः, ते च मामप्राप्यैव मदुपदिष्टं वेदमार्गमप्राप्य, तेषां भगवत्प्राप्तिशङ्काया एवाभावात् । 'अप्राप्यैव' इत्येवकारेण तिर्यक्स्थावरादिषु वेदमार्गप्राप्तिस्वरूपायोग्यता दर्शिता । तेनात्यन्ततमोबहुलत्वेन वेदमार्गायोग्यो भूत्वा ततः पूर्वनिकृष्टयोनितोऽपि अधमां निकृष्टतमां गतिं योनिं यान्ति । यस्मादेवं कदाचिदासुरीं योनिं गतस्योत्तरनिकृष्टयोनिप्राप्तिः, न तु प्रतीकारसामर्थ्यमत्यन्ततमोबहुलत्वात् ; तस्माद्यावन्मनुष्यदेहस्थितिस्तावदेवासुरसम्पत्परिहाराय दैवी सम्पद्यथाशक्त्यनुष्ठेया श्रेयोर्थिभिः ; अन्यथा तिर्यगादिदेहप्राप्तौ साधनानुष्ठानायोग्यत्वान्न कदापि निस्तारोऽस्तीति महत्सङ्कटमापद्येतेत्यभिप्रायः । उक्तं हि— 'इहैव नरकव्याधेश्चिकित्सां न करोति यः । गत्वा निरौषधं स्थानं स नरः किं करिष्यति ' इति ॥ २० ॥

९ व० त० दी०— आसुरीमिति । मामप्राप्यैव दृष्टयादिनाऽप्यसम्बध्यैवाऽधमां गतिं यान्ति । एवकारेण मत्प्राप्त्युपायभूतसन्मार्गप्राप्तिरपि नास्ति तेषां कुतः पुनर्मत्प्राप्तिः? ततोऽन्धन्तमो मायैवाधमगतिरित्युक्तम् ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.— तद्योनिप्राप्तानां फलमाह— आसुरीमिति । जन्मनि जन्मनि- तथात्वज्ञापनाय वीप्सा— हे कौन्तेय ! आसुरीं योनिं मद्धर्माचरणप्रतिकूलां योनिं प्राप्य मत्प्राप्तिसाधनाभावात् मामप्राप्यैव ततो जन्मसमाप्तौ अधमां गतिमन्धन्तमःप्रवेशरूपां यान्ति, प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । एवकारेणाऽवतारदशायां सर्वदर्शनयोग्यायामपि स्वरूपाज्ञानान्मद्दर्शनमप्राप्य गच्छन्तीति ज्ञापितम् । कौन्तेयेति सम्बोधनाद्भक्तगृहजन्मप्राप्त्या स्वप्राप्तियोग्यत्वं ज्ञापितम् ॥ २० ॥

११ नी० भा० दी०— आसुरयोनिप्राप्तेरपि फलमाह— आसुरीमिति । अधमां नारकीं तिर्यक्स्थावरादिरूपां वा ॥ २० ॥

आसुरसम्पत्प्रवेशस्य द्वारं, तस्मान्निवर्तनोपायभूतश्च हितोपदेशः ।

**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।**
**कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ २१ ॥**

**१ शां. भा.—** सर्वस्या आसुर्याः सम्पदः सङ्क्षेपोऽयमुच्यते, यस्मिंस्त्रिविधे सर्वं आसुरसम्पद्भेदोऽनन्तोऽप्यन्तर्भवति; यत्परिहारेण परिहृतश्च भवति, यन्मूलं सर्वस्यानर्थस्य; तदेतदुच्यते— त्रिविधमिति । त्रिविधं त्रिप्रकारं नरकस्य प्राप्ताविदं द्वारं नाशनमात्मनः, यद्द्वारं प्रविशन्नेव नश्यत्यात्मा कस्मैचित्पुरुषार्थाय योग्यो न भवतीत्येतदत उच्यते ' द्वारं नाशनमात्मनः ' इति । किं तत् ? कामः क्रोधस्तथा लोभः । तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्- यतः एतद्द्वारं नाशनमात्मनः, तस्मात्कामादित्रयमेतत्त्यजेत् ॥ २१ ॥

२ आ. शां. व्या.— कथमासुरी सम्पदनन्तभेदवती पुरुषायुषेणापि परिहर्तुं शक्येत ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वस्या** इति । सङ्क्षेपोक्तिफलमाह— **यस्मिन्निति** । कामादौ त्रिविधे सर्वस्याऽऽसुरसम्पद्भेदस्यान्तर्भावेऽपि कथमसौ परिह्रियते ? तत्राऽऽह— **यत्परिहारेणेति** । कामादिपरिहारेणाऽऽसुरसम्पद्भेदपरिहारेऽपि कथं सर्वानर्थपरिवर्जनं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यन्मूलमिति** । कथमात्मनो नित्यस्य नाशाशङ्का ? इति तत्राऽऽह— **कस्मैचिदिति** । त्रिविधमपि सामान्यतो दर्शितमाकाङ्क्षाद्वारा विशेषतो दर्शयति— **किं तदिति** । तस्मादिति व्याचष्टे— **यत** इति । कामादित्यागे सत्यनर्थावरणश्रेयःप्रतिबन्धनिवृत्ती स्यातामिति भावः ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.—** अस्यासुरस्वभावस्यात्मनाशस्य मूलहेतुमाह— त्रिविधमिति । अस्यासुरस्वभावरूपस्य नरकस्यैतत् त्रिविधं द्वारं, तच्चात्मनो नाशनं कामः क्रोधो लोभ इति । त्रयाणां स्वरूपं पूर्वमेव व्याख्यातम् । द्वारं मार्गो हेतुरित्यर्थः । तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ; तस्मात् अतिघोरनरकहेतुत्वात् कामक्रोधलोभानां एतत्त्रितयं दूरतः परित्यजेत् ॥ २१ ॥

४ वे. ता. चं.— अवश्यपरिहरणीयं सङ्क्षिप्योच्यत इत्यभिप्रायेणानन्तरग्रन्थं सङ्गमयति— **अस्येति** । यथावस्थितस्यात्मनोऽप्राप्तिरेव ह्यात्मनाशः, स चासुरस्वभाव एवेत्यभिप्रायेणाऽऽह **आसुरस्वभावस्यात्मनाशस्येति** । मूलच्छेदात् सर्वोऽप्यासुरस्वभावश्छिन्न एवेत्यभिप्रायेणाऽऽह **मूलहेतुमिति** । **आसुरस्वभावरूपस्य नरकस्येति**- एतस्मा-

मिथ्याज्ञाननिवर्तकात्सम्यग्ज्ञानाज्जीवन्मुक्तता ।

**नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥ १९ ॥**
**गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् ।**
**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥ २० ॥**

१ **शां. भा.—** पुरुषस्य प्रकृतिस्थत्वरूपेण मिथ्याज्ञानेन युक्तस्य भोग्येषु गुणेषु सुखदुःखमोहात्मकेषु 'सुखी दुःखी मूढोऽहमस्मि' इत्येवंरूपो यः सङ्गः सत्कारणं पुरुषस्य सदसद्योनिजन्मप्राप्तिलक्षणस्य संसारस्येति समासेन पूर्वाध्याये यदुक्तं, तदिह 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः' [१४।५] इत्यत आरभ्य गुणस्वरूपं गुणवृत्तं स्ववृत्तेन च गुणानां बन्धकत्वं, गुणवृत्तनिबद्धस्य च पुरुषस्य या गतिरित्येतत्सर्वं मिथ्याज्ञानमज्ञानमूलं बन्धकारणं विस्तरेणोक्त्वाऽधुना सम्यग्दर्शनान्मोक्षो वक्तव्य इत्याह भगवान्— **नान्यमिति** । नान्यं कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्यो गुणेभ्यः कर्तारमन्यं यदा द्रष्टा विद्वान् सन्नानुपश्यति, गुणा एव सर्वावस्थाः सर्वकर्मणां कर्तार इत्येवं पश्यति, गुणेभ्यश्च परं गुणव्यापारसाक्षिभूतं वेत्ति मद्भावं मम भावं वासुदेवाख्यं "वासुदेवः सर्वं" [७।१९] इत्येवं पश्यन्सन् स द्रष्टाऽधिगच्छति ॥१९॥

२ **आ. शां. व्या.—** कस्मिन्गुणे कथमित्यादिप्रश्नान् प्रत्याख्याय 'गुणेभ्यो मोक्षणं कथं' इति प्रत्याख्यानार्थं वृत्तानुवादपूर्वकं मिथ्याज्ञाननिवर्तकं सम्यग्ज्ञानं प्रस्तौति— **पुरुषस्येत्या**दिना । पुरुषस्य या गतिः सा चेति शेषः । मोक्षो गुणेभ्यो विश्लेषपूर्वको ब्रह्मभावः । सम्यग्ज्ञानोक्तिपरं श्लोकं व्याख्यातुं प्रतीकमादत्ते— **नान्यमिति** । सत्त्वादिविषयस्य गुणशब्दस्य विवक्षितमर्थमाह— **कार्येति** । विद्यानन्तर्यमनुशब्दार्थः । अक्षरार्थमुक्त्वा पूर्वार्धस्याऽऽर्थिकमर्थमाह— **गुणा एवेति** । सर्वावस्थास्तत्तत्कार्यकरणाकारपरिणता इति यावत् । सर्वकर्मणां कायिकवाचिकमानसानां विहितप्रतिषिद्धानामित्यर्थः । परं व्यतिरिक्तम् । व्यतिरेकमेव स्फोरयति— **गुणेति** । निर्गुणब्रह्मात्मानमित्यर्थः । मद्भावं ब्रह्मात्मतामसौ प्राप्नोति; ब्रह्मभावोऽस्याभिव्यज्यत इत्यर्थः ॥ १९ ॥

१ **शां. भा.—** कथं सोऽधिगच्छति ? इत्युच्यते— **गुणानिति** । गुणानेतान् यथोक्तानतीत्य जीवन्नेवातिक्रम्य मायोपाधिभूतांस्त्रीन्देही देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिबीजभूतान्, जन्ममृत्युजरादुःखैः जन्म च मृत्युश्च जरा च दुःखानि च तैर्जीवन्नेव विमुक्तः सन् विद्वानमृतमश्नुते । एवं मद्भावमधिगच्छतीत्यर्थः ॥ २० ॥

२ **आ. शां. व्या.—** अनर्थव्रातरूपमपोह्य विद्वान्ब्रह्मत्वं प्राप्नोतीत्येतत्प्रश्नद्वारा विवृणोति— **कथमित्या**दिना । यथोक्तानित्येतदेव व्याचष्टे— **मायेति** । माययैवोपाधिस्तद्भूतांस्तदात्मनः सत्त्वादीननर्थरूपानित्यर्थः । एभ्यः समुद्भवन्तीति समुद्भवाः, देहस्य समुद्भवा देहसमुद्भवास्तानिति व्युत्पत्तिं गृहीत्वा व्याचष्टे— **देहोत्पत्तीति** । यो विद्वानविद्यामयान् गुणाञ्जीवन्नेवातिक्रम्य स्थितस्तमेव विशिनष्टि— **जन्मेति** । पुरस्ताद्विस्तरेणोक्तस्य प्रसङ्गादत्र सङ्क्षिप्तस्य सम्यग्ज्ञानस्य फलमुपसंहरति— **एवमिति** ॥ २० ॥

३ **रा. भा.—** आहारविशेषैः फलाभिसन्धिरहितसुकृतविशेषैश्च परम्परया प्रवर्धितसत्त्वानां गुणात्ययद्वारेण ऊर्ध्वगमनप्रकारमाह— **नान्यमिति** । एवं सात्त्विकाहारसेवया फलाभिसन्धिरहितभगवदाराधनरूपकर्मानुष्ठानैश्च रजस्तमसी सर्वात्मनाऽभिभूय उत्कृष्टसत्त्वनिष्ठो यदाऽयं द्रष्टा गुणेभ्योऽन्यं कर्तारं नानुपश्यति; गुणा एव स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्तार इति पश्यति; गुणेभ्यश्च परं वेत्ति कर्तृभ्यो गुणेभ्यश्च परम् अन्यमात्मानमकर्तारं वेत्ति; स मद्भावमधिगच्छति, मम यो भावस्तमधिगच्छति । **एतदुक्तं भवति—**

५ आ. मा. भा.— ॥ २२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २२ ॥

७ ह. पै. भा.— एतत्त्रयत्यागे किं फलं ? इत्यत्राऽऽह— एतैरिति । एतैस्तमोद्वारैर्नरकद्वारैर्विमुक्त आचरति अनुतिष्ठत्यनुगच्छति ॥ २२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एतत्त्यागस्य फलमाह— एतैरिति । तमसो नरकस्य द्वारभूतैरेतैस्त्रिभिः कामादिभिर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयो हितमाचरति, ततश्च मोक्षं प्राप्नोति ॥ २२ ॥

९ व० त० दी०— त्यागे च विशिष्टं फलमाह— एतैर्नरकद्वारभूतैरित्यर्थः ॥ २२ ॥

१० पु. अ. त.— तत्सङ्गत्यागेन तत्त्रितयरहितः स्यादित्याह— एतैरिति । कौन्तेय सत्सङ्गगुणसम्पन्न ! तत्तत्सङ्गत्यागे एतैस्त्रिभिस्तमोद्वारैर्विमुक्तो नरः आत्मनः श्रेयो भजनादिकमाचरति, ततस्तेन परां गतिं याति प्राप्नोति ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी० —कामादित्रयत्यागे किं स्यात् ? अत आह— एतैरिति । तमोद्वारैः तमसो नरकस्य दुःखमोहात्मकस्य द्वारभूतैर्विमुक्तः सन् आत्मनः श्रेयः कल्याणं भगवदाराधनादिकं आचरति । ततः परां गतिं मोक्षं याति । तस्मात्कामादित्रयं त्यजेदिति ॥ २२ ॥

शास्त्रोक्तधर्मानादरपूर्वकं स्वच्छन्दानुगुणतः कर्मकारिणः फलम् ।

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥**

१ शां. भा.— सर्वस्यैतस्याऽऽसुरसम्पत्परिवर्जनस्य श्रेयआचरणस्य च शास्त्रं कारणं; शास्त्रप्रमाणादुभयं शक्यं कर्तुं, नान्यथा; अतः यः शास्त्रविधिं शास्त्रं वेदः, तस्य विधिं कर्तव्याकर्तव्यज्ञानकारणं विधिप्रतिषेधाख्यमुत्सृज्य त्यक्त्वा वर्तते कामकारतः कामप्रयुक्तः सन्, न स सिद्धिं पुरुषार्थयोग्यतामवाप्नोति, नाप्यस्मिँल्लोके सुखं, नापि परां प्रकृष्टां गतिं स्वर्गं मोक्षं वा ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— आसुर्याः सम्पदो वर्जने श्रेयसश्च करणे किं कारणं ? तदाह— **सर्वस्ये**ति । तस्य कारणत्वं साधयति— **शास्त्रे**ति । उक्तमुपजीव्यानन्तरश्लोकं प्रवर्तयति— **अत** इति । शिष्यतेऽनुशिष्यते बोध्यतेऽनेनापूर्वोऽर्थ इति शास्त्रं, तच्च विधिनिषेधात्मकमित्युपेत्य व्याचष्टे— **कर्तव्ये**ति । कामस्य करणं कामकारस्तस्माद्धेतोरित्युपेत्य कामाधीना शास्त्रविमुखस्य प्रवृत्तिरित्याह— **कामे**ति । कामाधीनप्रवृत्तेः सदा पुमर्थायोग्यस्य सर्वपुरुषार्थासिद्धिरित्याह— **नापी**ति ॥ २३ ॥

३ रा. भा.— शास्त्रानादरोऽस्य नरकस्य प्रधानहेतुरित्याह— य इति । शास्त्रं वेदाः, विधिरनुशासनं, वेदाख्यं मदनुशासनमुत्सृज्य यः कामकारतो वर्तते स्वच्छन्दानुगुणमार्गेण वर्तते, न स सिद्धिमवाप्नोति न कामप्यामुष्मिकीं सिद्धिमवाप्नोति; न सुखं ऐहिकमपि किञ्चिदवाप्नोति; न परां गतिम् । कुतः परां गतिं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

४ वे. ता. चं.— आसुरस्वभावेषु मूलतया प्रधानभूतास्त्रय उक्ताः; तेभ्योऽपि प्रधानतमःपरिहार्यो हेतुरनन्तरमुच्यत इत्याह **शास्त्रानादर** इति । सर्वावस्थसमस्तपुरुषहितानुशासनाच्छास्त्रशब्दो वेदेष्वेव प्रथमं प्राप्तः; तदनुबन्धादन्येष्वित्यभिप्रायेणाऽऽह **शास्त्रं वेदा** इति । विधायकवाक्यस्य शास्त्रशब्देनोपात्तत्वात् तद्व्यापारोऽत्र विधिशब्दविवक्षित इत्याह— **विधिरनुशासन**मिति । फलितमाह— **वेदाख्यं मदनुशासन**मिति । शास्त्रमेव विधिरिति सामानाधिकरण्यं वा विवक्षितम् । 'मदनुशासनं' इत्यनेन 'श्रुतिः स्मृतिर्ममैवाज्ञा' [ वि. ध. ७६।३१ ] इत्यादिस्मारणम् । एतेनान्यथा लिङ्गाद्यर्थं वर्णयन्तोऽपि प्रत्युक्ताः । लिङादयो हि प्रशासितुरभिप्रायमाक्षेपादभिधानतो वा व्यञ्जयन्ति । शास्त्रप्रतिपक्षभूतः कामकारोऽत्र न शास्त्रीयवैकल्पिकादिविषय इत्यभिप्रायेणाऽऽह **स्वच्छन्दानुगुणमार्गे**ति । 'अथ केन प्रयुक्तोऽयं' [ ३।३६ ]

६ ज. प्र. दी.— 'नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं' इति स्वतन्त्रकर्तृत्वं गुणानामेव, नान्यस्येत्युच्यत इत्यपव्याख्याननिरासार्थमाह— **परिणामीति** । कुत एतत्? इत्यत आह— **अन्यथेति**; गुणेभ्योऽन्यस्य कर्तृत्वाभावे । मोक्षधर्मे परमेश्वरस्य कर्तृत्वमुक्तं तद्विरोधश्चेति वाक्यशेषः ॥ १९ ॥ २० ॥

**७ ह. पै. भा.— नान्यमिति । द्रष्टा विद्वान् । गुणेभ्यः परं गुणव्यापारसाक्षिभूतम् । मद्भावमीश्वरभावम् ॥ १९ ॥ गुणानिति । देहसमुद्भवान्देहस्य कारणभूतान् ॥ २० ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तदेवम् 'सत्त्वं रजस्तमः' [ १४।९ ] इत्यारभ्यैतत्पर्यन्तैश्चतुर्दशभिः श्लोकैः के गुणाः कथं वा बध्नन्ति? इत्यस्योत्तरं प्रपञ्चितम् । इदानीं गुणेभ्यः कथं मोक्षणमित्यस्योत्तरमाह द्वाभ्याम्— **नान्यमिति** । यदा तु द्रष्टा शास्त्राचार्योपदेशजन्यतत्त्वदर्शनसम्पन्नो भूत्वा बुद्ध्याकारपरिणतेभ्यो गुणेभ्योऽन्यं कर्तारं नानुपश्यति, किन्तु गुणा एव बुद्ध्यादिभावापन्नाः कर्तार इति पश्यति, गुणेभ्यश्च परं व्यतिरिक्तं तत्कार्यासंस्पृष्टं निर्विकारमात्मानमेकं वेत्ति, स द्रष्टा मद्भावं ब्रह्मत्वमधिगच्छति । तादृशात्मतत्त्वज्ञानेन गुणेभ्यो मोक्षणमित्यर्थः ॥ १९ ॥

एतदेवोपपादयति— **गुणानिति** । देहसमुद्भवान्देहोत्पत्तिहेतुभूतानेतांस्त्रिगुणानतीत्य तत्त्वज्ञानेन बाधित्वा जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तो जीवन्नेव अमृतं मोक्षं प्राप्नोति ॥ २० ॥

९ व० त० दी०— एवं गुणसर्गभेदोक्तौ पुरुषस्य सर्वस्य बन्धलीलामुपपाद्येदानीं तद्विवेकतो गुणात्ययद्वारा मोक्षलीलामाह द्वाभ्याम्— नान्यमिति । यदा गुणेभ्योऽन्यं कर्त्तारं नानुपश्यति गुणा एव स्वानुगुणप्रवृत्तिषु कर्त्तार इति पश्यति गुणेभ्यश्च परमात्मानं वेत्ति तदा द्रष्टा मद्भावं ब्रह्माक्षरभावं प्राप्नोति "ब्रह्मवित् (ब्रह्म वेद) ब्रह्मैव भवति" [ मुं. उ. ३।२।९ ] इति श्रुतेः । निर्गुणं हि ब्रह्म स्वयमव्ययं तदा गुणांस्त्रीनेतानतीत्यामृतमश्नुते प्राप्नुते ब्रह्मसुखं वा भुङ्क्ते ॥ १९ ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.— एवं स्वेच्छया स्वक्रीडार्थोत्पादितगुणादिरूपप्रभुक्त्वा कृतोच्चमध्यनीचादिधर्मेषूच्चत्वादिबुद्धिरहितो मत्क्रीडाज्ञानवांस्तत्सङ्गरहितो यः स मद्भक्तिमाप्नोतीत्येतदर्थमेतन्निरूपितमित्याह— **नान्यमिति** । यदा मत्कृपाविशिष्टकाले द्रष्टा विवेकवान् गुणेभ्यः स्वक्रीडार्थप्रकटरूपेभ्यः कृत्वा कर्तारं सर्वमूलभूतमनुपश्यति, नान्यम्; च पुनः गुणेभ्यो विचित्ररूपेभ्यः परं पुरुषोत्तमं वेत्ति; स मद्भावं मद्भक्तिमधिगच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः । **अत्रायं भावः**— गुणकृतनानावैचित्र्यदर्शनेन पुरुषोत्तममाहात्म्यज्ञानेन सर्वत्र तद्वैचित्र्यं पश्यन्तं तत्कर्तारं तद्रूपेणाऽऽविर्भूतम् अनु तद्वदेव यथा भगवान्स्वात्मकमेव पश्यति तथा पश्यति, नान्यं कञ्चन पश्यति स मद्भावं प्राप्नोति ॥१९॥ ततो मद्भावयुक्तो गुणदोषाभिभूतो न भवतीत्याह— **गुणानेतानिति** । देही जीवो देहसमुद्भवान् देहानां समुद्भव उत्पत्तिर्येभ्यस्तादृशानेतान् लौकिकान् न त्वलौकिकान् त्रीन् गुणानतीत्य अतिक्रम्य, जन्म तत्कर्मभोगार्थकं, मृत्युस्तद्भोगसमाप्तिरूपो भगवद्विस्मरणरूपो वा, जरा सेवाप्रतिबन्धरूपा, दुःखं संसारात्मकम्, एतैर्विमुक्तः अमृतं मरणादिदोषरहितम् लौकिकं देहमश्नुते भुङ्क्ते प्राप्नोतीत्यर्थः । अथवा अमृतमलौकिकं देहं प्राप्य मया सह सर्वकामानश्नुते "सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह" [ तै. उ. २।१ ] इति श्रुत्युक्तरीत्या देहीतिपदादिदं व्यज्यते, अन्यथा देहवत्पदं व्यर्थं स्यादिति भावः ॥ २० ॥

११ नी० भा० दी०— कथं प्रकृतिः पुरुषं बध्नाति ? इत्यस्योत्तरमुक्तम्; कथं वा ततोऽस्य मुक्तिः ? इत्यस्योत्तरमाह— नान्यमिति । गुणेभ्यः कार्यकारणविषयाकारपरिणतेभ्योऽन्यं दृशिमात्रमात्मानं द्रष्टा जीवः कर्तारं नानुपश्यति विवेकमनु न पश्यति, किन्तु गुणा एव कर्तार इत्येव पश्यति, न त्वहं कर्तेति । तथा गुणेभ्यः परं गुणव्यापारसाक्षिभूतं मां यदा वेत्ति, तदा स वेदिता मद्भावं ब्रह्मभावं गच्छति, अन्यथा तु गुणभावं गतो भवति ॥ १९ ॥ कथं त्वद्भावं गच्छतीति तत्राह— गुणानिति । एतान्गुणान् महदादित्रयोविंशतिविकारात्मना परिणतान् देहसमुद्भवान् स्थूलदेहस्य समुद्भवो येभ्यस्तानतीत्य जीवन्नेवातिक्रम्य निर्विकल्पकसमाध्यभ्यासेन बाधित्वाऽमृतं मोक्षमश्नुते प्राप्नोति । एतेनानन्दावाप्तिर्गुणात्ययप्रयोजनमुक्तम् । यतो मुक्तो जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तः सन्निति तु अनर्थनिवृत्तिरुक्ता ॥ २० ॥

गुणातीतलक्षणज्ञानार्थोऽर्जुनप्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच— कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ! ॥**
**किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्तते ॥ २१ ॥**

विधानं शास्त्रविधानं ' कुर्यान्न कुर्यात् ' इत्येवंलक्षणं तेनोक्तं स्वकर्म यत्तत्कर्तुमिहार्हसि । इहेति कर्माधिकारभूमिप्रदर्शनार्थमिति ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये दैवासुरसम्पद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— शास्त्रादृते कर्मणो निष्फलत्वे फलितमाह— **तस्मा**दिति । कर्तव्याकर्तव्यौ धर्माधर्मौ, तत्र शास्त्रस्य प्रमाणत्वेऽपि मम किं कर्तव्यं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अत** इति । स्वकर्म क्षत्रियस्य युद्धादि । इतिशब्दोऽध्यायसमाप्त्यर्थः । तदनेनाध्यायेन प्राग्भवीयकर्मवासनानुसारेणाभिव्यज्यमानसात्त्विकादिप्रकृतित्रयविभागेन दैव्यासुरीतिसम्पद्द्वयमादानहानाभ्यामुपदिश्य कामक्रोधलोभानपहाय पुरुषार्थिना शास्त्रप्रवणेन तदुक्तकारिणा भवितव्यमिति निर्धारितम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— तस्मात्कार्याकार्यव्यवस्थितौ उपादेयानुपादेयव्यवस्थायां शास्त्रमेव तव प्रमाणं— धर्मशास्त्रेतिहासपुराणाद्युपबृंहिता वेदाः यदेव पुरुषोत्तमाख्यं परं तत्त्वं तत्प्रीणनरूपं तत्प्राप्त्युपायभूतं च कर्म अवबोधयन्ति, तच्छास्त्रविधानोक्तं तत्त्वं कर्म च ज्ञात्वा यथावदन्यूनातिरिक्तं विज्ञाय कर्तुं त्वमर्हसि तदेवोपादातुमर्हसि ॥ २४ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— अध्यायोक्तं सर्वमेतदर्थमित्यभिप्रायेणानुशिष्यते— **तस्माच्छास्त्र**मिति । अत्र कार्याकार्यशब्दयोरुत्पाद्यानुत्पाद्यादिविषयत्वस्यासङ्गतिमभिप्रेत्याऽऽह **उपादेयानुपादेयव्यवस्थाया**मिति । अनुष्ठानविपर्ययस्य तत्त्वविपर्ययस्य च आसुरस्वभावे प्रदर्शितत्वादत्र च तद्विपर्ययस्य विवक्षितत्वात् कार्याकार्यशब्दौ तत्त्वातत्त्वयोः प्रदर्शनार्थाविस्यभिप्रायेणोपादेयादिसाधारणशब्दः । उपादानमत्र यथाशास्त्रं मनसा स्वीकरणं शास्त्रमेवेत्युक्तं, 'श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः' [या. स्मृ. १।७] इत्यादिविरोधादित्यत्राऽऽह— **धर्मशास्त्रे**ति । आदिशब्देनाचारग्रहणं, ' यजन्त्यविधिपूर्वकं ' [ ९।२३ ] 'न तु मामभिजानन्ति ' [ ९।२४ ] इत्यादिव्यवच्छेदाय ज्ञात्वेत्यादिकमुच्यत इत्याह **यदेवे**ति । सर्वाणि हि शास्त्राणि साक्षाद्वा परम्परया वा परमपुरुषसमाराधनतयैव सर्वाणि विदधति; तत्र तत्त्वहितयोः ' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ' [ १५।१५ ] इत्युक्तं परतत्त्वं प्रागुक्तसमाख्यया स्मारयति **पुरुषोत्तमाख्य**मिति । **तत्प्राप्त्युपायभूतं चे**ति सर्वेषां हि फलसङ्गादित्यागेनानुष्ठितानां परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव स्वभाव इति भावः । अत्र **अवबोधयन्ती**त्यनेनाज्ञातज्ञापनरूपविधानशब्दार्थो विवृतः । अयथाशास्त्रं कर्मणां करणं च न कर्तव्यमित्यभिप्रायेण ' कर्तुमर्हसि ' इत्युक्तम् । तस्मादप्यनुष्ठानतत्त्वाध्यवसायसाधारण्यमाह **उपादातु**मिति । 'अर्हसि ' इत्येतदनुसारिमध्यमत्वमिति निर्देशः तस्य दैवीसम्पदभिजातस्य योग्यत्वातिशयद्योतनाय । **एतदुक्तं भवति**— सत्त्वोत्तरेण भवता कुहकपुरुषकौशलातिशयपरिग्राहितमोहनशास्त्राभासप्रक्रियानुधावनेन नित्यभगवदाज्ञारूपवेदाख्यशास्त्रसारभूतायथाधिकारं कर्मयोगभक्तियोगरूपभगवदनन्यभजनपरमधर्मान्न प्रच्युतेन भवितव्यम् ; अपितु स एव नित्यमुपादेयः— इति । इहेति निर्देशः कर्माधिकारभूमिप्रदर्शनार्थः, कर्मवश्यावस्थत्वज्ञापको वा ॥ २४ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु भगवद्रामानुजविरचितश्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २४ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य गीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां षोडशोऽऽध्यायः ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.— तस्मादिति । तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते तव कार्याकार्यव्यवस्थितौ कार्याकार्यव्यवस्थायाम् । शास्त्रविधानोक्तं, विधानं विधिः शास्त्रमेव विधानं तेनोक्तं कर्म क्रियाम् । इह संसारे । अर्हसि योग्योऽसि ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— फलितमर्थं दर्शयन्नध्यायार्थमुपसंहरति— तस्मादिति । यस्माच्छास्त्रं विहाय कामकारप्रवृत्तस्यैहिकामुष्मिकपुरुषार्थायोग्यत्वं, तस्मात् ते तव श्रेयोर्थिनः कार्याकार्यव्यवस्थितौ कर्तव्याकर्तव्यविषये शास्त्रमेव प्रमाणं बोधकं, नान्यत् । अतः शास्त्रविधानेन शास्त्रीयविधिना लिङादिरूपेणोक्तं कर्म विहितं निषिद्धं च ज्ञात्वा निषिद्धमासुरसम्पद्रूपं वर्जयन्विहितं दैवसम्पद्रूपं कर्तुमर्हसि, 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' [ १६।५ ] इति प्रागुक्तत्वाद्दैवसम्पदमभिवर्धयितुमर्हसीत्यर्थः । इहेति कर्माधिकारभूमिप्रदर्शनम् ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
श्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते
ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने
षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०—फलितमाह— तस्माच्छास्त्रमिति । तस्मान्मयि दत्तचित्तः कर्म युद्धाख्यं शास्त्रविधानोक्तं स्वधर्मं कर्तुमर्हसि ॥ २४ ॥

स्वकर्मवृत्तिर्दैवस्य निवृत्तिर्नासुरोदयात् । इति दैवासुरविभागोऽयं षोडश ईरितः ॥ ? ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— तस्मादिति । तस्मात् कारणात्ते तव दैव्यां सम्पदि जातस्य कार्याकार्यव्यवस्थितौ 'इदं कार्यम्, इदमकार्यम्' एतयोर्व्यवस्थितौ व्यवस्थायां शास्त्रं प्रमाणं, अतः शास्त्रं विधानोक्तं ज्ञात्वैतत्सङ्गेन त्वं कर्म कर्तुमिह प्रपञ्चे अर्हसि ॥ २४ ॥

दैवासुरीयसम्पत्तिविवेकेन तु षोडशे । सङ्गत्यागविभागेन बन्धमोक्षौ विवेचितौ ॥ १ ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— यस्माच्छास्त्रातिगः शुद्ध्यादिकं त्रयं नाप्नोति तस्मात्ते तव शुद्ध्यादिकामस्य शास्त्रमेव प्रमाणं 'किं कार्यं, किं न कार्यं' इत्यस्यां व्यवस्थायाम् । एवं ज्ञात्वा शास्त्रं 'इदं कर्तव्यं, इदं न कर्तव्यं' इति शासनं वेदाज्ञारूपम् । विधानं च तदुल्लङ्घने प्रतिसमाधानम् । अग्निहोत्राद्यकरणेऽयं दोषस्तत्परिहारार्थमिदं कृच्छ्रादिकं प्रायश्चित्तम् । ब्रह्महत्यादिकरणेऽयं दोषस्तत्परिहारार्थमिदमश्वमेधादि अन्यद्वा प्रायश्चित्तम् । शास्त्रं च विधानं च ताभ्यामुक्तं कर्म इह मनुष्यलोके कर्तुमर्हसि । लोकान्तरे कर्मस्वनधिकारं दर्शयितुमिहेत्युक्तम् । तदेवं शास्त्रानुवर्तिन एव चित्तशुद्ध्यादिकं, नान्यस्येति सिद्धम् ॥ ५४ ॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

——:०:——

# षोडशाध्यायटिप्पण्यः ।

**श्लोकः १**— अध्यायोऽयमेवमवतारितोऽभिनवगुप्तपादैः—

'एतद्बुद्ध्वा' इत्युक्तम्, बोधश्च नाम— श्रुतिमयज्ञानानन्तरमिदमित्थमित्येवम्भूतयुक्तिचिन्ताभावनामयज्ञानानन्तरमिदमित्थमित्येवम्भूतयुक्तिचिन्तामयज्ञानोदयेन विचारविमर्शपरामर्शादिरूपेण विजातीयन्यक्कारविरहिततद्भावनामयः स्वभ्यस्ताकारविज्ञानलाभे सति भवति; यद्वक्ष्यति— 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' (१८।६३) इति। तत्र श्रुतिमये ज्ञाने गुरुशास्त्रे एव प्राधान्येन प्रभवतः। युक्तिचिन्ताभावनामये तु विमर्शक्षमता असाधारणशिष्यगुणसम्पत्प्रधानभूता। अतोऽर्जुनस्यास्त्येवासावित्यभिप्रायेण वक्ष्यमाणं 'विमृश्यैतत्' इति वाक्यं सविषयं कर्तुं परिकरबन्धयोजनाभिप्रायेणाऽऽह गुरुः श्रीभगवान् **अभय**मिति। आसुरभागसन्निविष्टा तामसी किलाविद्या, सा प्रबुद्धया दिव्यांशग्राहिण्या विद्यया बध्यत इति वस्तुस्वभाव एषः। त्वं च विद्यात्मानं दिव्यमंशं सात्त्विकमभिप्रपन्नः। तस्मादान्तरीं मोहलक्षणामविद्यां विहाय बाह्यविद्यात्मशत्रुहननलक्षणं शास्त्रीयव्यापारमनुतिष्ठेत्यध्यायारम्भः। —इति॥

**दान**मिह मुख्यं विवक्षितम्, निरुपपदत्वात्। तच्च 'दातव्यमिति यद्दानं—' (१७।२०) इति वक्ष्यमाणम्। 'न्यायार्जितं धनं चान्नं श्रद्धया वैदिके द्विजे। अन्यद्वा यत्प्रदीयेत तद्दानं प्रोच्यते मया॥' (ज्ञा. यो. खं. १४।८) इति **सूतसंहितायाम्**। 'दण्डन्यासः परं दानं—' (११।१९।३७) इति **भागवते**। **दमः**–'दमो नान्यस्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च' (म. भा. १२।१६२।१२) 'दम इन्द्रियसंयमः।' (भाग. ११।१९।३६) **यज्ञः**— 'यज्ञोऽहं भगवत्तमः।' (भाग. ११।१९।३९) **तपः**— 'विधिनोक्तेन मार्गेण कृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः। शरीरशोषणं प्राहुस्तपसां तप उत्तमम्॥' (योगया. २।३) 'कोऽहं? मोक्षः कथं? केन संसारं प्रतिपन्नवान्?। इत्यालोचनमर्थज्ञास्तपः शंसन्ति पण्डिताः॥' (सू. सं. २।१४।९)। **आर्जवम्**– 'पुत्रे मित्रे कलत्रे च रिपौ स्वात्मनि सन्ततम्। ऐकरूप्यं मुने! यत्तदार्जवं प्रोच्यते मया॥' (सू. सं. २।१३।१३)

**नव्यास्त्वत्र**– ज्ञानयोगव्यवस्थितिः ज्ञानमार्गकर्ममार्गयोस्तारतम्येन व्यवस्थेति व्याख्याय "'योगसन्न्यस्तकर्माणं–' (४।४१–४२) इत्यादिश्लोकद्वयाधारेणास्माभिरेतत्पदं कर्मयोगपरतया व्याख्यातं" इत्याहुः। तन्न; किं केन सङ्गतमिति न विद्मः। न ह्यत्र तारतम्येन व्यवस्थेत्यर्थः। कयाऽपि वृत्त्या लभ्यते, न च 'योगसन्न्यस्तकर्माणं' इत्यादिश्लोकयोः प्रकृतोपष्टम्भकता दृश्यते, नाप्युक्तोऽर्थः कर्मयोगपरत्वरूपं विशेषं भजत इति नूनमुत्स्वप्नायितमेवैतत्। **—अविगीता।**

**श्लोकः २**— **अहिंसा**— 'कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा। अक्लेशजननं प्रोक्तमहिंसात्वेन योगिभिः॥' (यो. या. १।५२) इति। **सूतसंहितायाम्**— 'वेदोक्तेन प्रकारेण विना सत्यं तपोधन!। कायेन मनसा वाचा हिंसा हिंसा न चान्यथा॥ आत्मा सर्वगतोऽच्छेद्य अदाह्य इति या मतिः। सा चाहिंसा परा प्रोक्ता मुने! वेदान्तवेदिभिः॥ (ज्ञा. यो. खं. १३।४–५) इति॥ **सत्यं**— 'यत्त्वदुष्टेन्द्रियैर्दृष्टं श्रुतं वेदविदां वर!। तस्यैवोक्तिर्भवेद्विप्र! सत्यता नान्यथा भवेत्। सर्वं सत्यं परं ब्रह्म न चान्यदिति या मतिः। तत्सत्यं परमं प्रोक्तं वेदान्तज्ञानभावितैः॥' (सू. सं. ज्ञा. यो. खं. १३।६–७) इति। 'सत्यं च समदर्शनम्।' इति **भागवते** (११।१९।३७)॥ त्यागः— '**त्यागः** सन्न्यास उच्यते।' (भाग. ११।१९।३८) 'त्यागः स्नेहस्य यस्त्यागो विषयाणां तथैव च' (शां. प. १६२।१७) इति **भारते**॥ **दया**— 'आत्मवत्सर्वभूतेषु कायेन मनसा गिरा। अनुकम्पा दया सैव प्रोक्ता वेदान्तवादिभिः॥' (सू. सं. २।१३।१२)॥ **ह्रीः**— 'जुगुप्सा ह्रीरकर्मसु।' (भाग. ११।१९।४०) 'कल्याणं कुरुते बाढं धीमान्न ग्लायते क्वचित्। प्रशान्तवाङ्मना नित्यं ह्रीस्तु धर्मादवाप्यते॥' (म. भा. शां. १६२।१५)॥ इति। 'अलोलुत्वं' 'अलोलत्वं' 'अलौल्प्यं च' इति पाठान्तराणि। **—अविगीता।**

**श्लोकः ३**— **तेजः**— 'अधिक्षेपाद्यसहनं तेजः प्राणात्ययेष्वपि।' (द. रू. २।१३)। **क्षमा**— 'प्रियाप्रियेषु सर्वेषु समत्वं यच्छरीरिणाम्। क्षमा सैवेति विद्वद्भिर्गदिता वेदवादिभिः॥' (यो. या. २।६५) 'कायेन मनसा वाचा शत्रुभिः परिपीडिते। चित्तक्षोभनिवृत्तिर्या क्षमा सा मुनिपुङ्गव!॥' (सू. सं. २।१३।१४) **धृतिः**— 'धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा

नाप्नोति विक्रियाम्। तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद्भूतिमात्मनः॥' (म. भा. १२।१६३।१९) 'अर्थहानौ च बन्धूनां वियोगे चापि सम्पदि। तयोः प्राप्तौ च सर्वत्र चित्तस्य स्थापनं **धृतिः**॥' (यो. या. २।६६) 'वेदादेव विनिर्मोक्षः संसारस्य न चान्यथा। इति विज्ञाननिष्पत्तिर्धृतिः प्रोक्ता हि वैदिकैः॥ अहमात्मा न मर्त्योऽस्मीत्येवमप्रच्युता मतिः। या सा प्रोक्ता धृतिः श्रेष्ठा मुने! वेदान्तवेदिभिः॥' (सू. सं. २।१३।१५-१६)। 'जिह्वोपस्थजयो धृतिः।' (भाग. ११।१९।३६) **शौचम्**— शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं बाह्यं मनश्शुद्धिस्तथान्तरम्॥' (यो. या. २।६८) 'अहं शुद्ध इति ज्ञानं शौचं वाञ्छन्ति पण्डिताः।' (सू. सं. २।१३।१८)। दैवीमित्यभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया। 'धृतिस्तुष्टिरद्रोहो नाभिमानिता' इति पाठान्तरम्॥ **—अविगीता।**

**श्लोकः ५— अत्र वामनः—**

देह आत्मेति यो भावो, यो जडं सत्यमित्यपि। भावः स विपरीतः स्याद्विमोक्षो मोक्षणं ततः॥
अनादिरेव सम्बन्धोऽविद्याया बन्ध इष्यते। तत्रातिशयमाधत्ते दुस्तरं सम्पदासुरी॥
ज्ञानिनो भगवद्भक्तान् द्विषन्ति ह्यासुरा नराः। योनीः प्राप्यासुरीरेव ततो यान्त्यधमां गतिम्॥
नाशः स्याद्भवपाशस्य रमेशस्य प्रसादतः। स च भक्तान् द्विषद्भिर्न प्राप्तव्योऽत्र कथञ्चन॥
अज्ञानबन्धदुर्गन्धो व्यपैति ज्ञानवारिणा। आसुर्या सम्पदा सृष्टो बन्धो जातु न नश्यति॥
अतस्तं बन्धमाहात्र निबन्धं भक्तबान्धवः। नास्ति भक्तद्विषां मोक्षः कदाचिदिति सूचयन्॥
दर्पोऽभिमानः क्रोधश्चेत्यासुर्याः सम्पदो गुणाः। इत्याकर्ण्यार्जुनः स्वस्मिंस्तानुद्वीक्ष्याप्तवान् शुचम्॥
एको हनिष्यामि निमेषमात्रात्सेनामशेषां धृतराष्ट्रसूनोः। इत्यग्रजाग्रेऽवगणय्य वीरान्प्रजल्पतोऽस्य स्फुट एव दर्पः॥
जहाहि गाण्डीवमिति ब्रुवाणं हन्तुं नृपं निष्कृषतः कृपाणम्। क्रोधोऽभिमानश्च कपिध्वजस्य स्पष्टौ न किं सातिशयावमुष्य?॥
अनुसन्धाय शोचन्तमासुरत्वमतः स्वकम्। अभिजातोऽसि दैवीं त्वमित्याश्वासयति प्रभुः॥
क्रोधाद्यैरन्वितोऽपि त्वं यस्माद्भक्तोऽसि मेऽर्जुन!। तस्मादभिमुखो दैव्याः सम्पदोऽसि न संशयः॥
उक्तमेव पुरा तुभ्यं 'दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः'। मां भजन्ति महात्मानो (९।१३) 'नासुरं भावमाश्रिताः॥' (७।१५)
विधूय दोषानचिराद्विमोक्षमतस्त्वमाप्स्यस्यवदातवंशः। आरोढुमर्हत्यधिराजपीठममेध्यलिप्तोऽपि शिशुर्नृपस्य॥ —इति।

अत्र शोकं दृष्ट्वा तत्परिहाराय 'माशुचः' इति, तत्र हेतूक्तये 'सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' इति, अहो मम सम्पद्दैवी! इत्युत्सेकं परिहर्तुं 'पाण्डव!' इति चोक्तमिति **केचित्**। **—अविगीता।**

**श्लोकः ६—** अत्र 'पार्थ!' इति सम्बोधनेन पृथायाः पितृष्वसुः पुत्रत्वेन त्वं मम परमप्रेमास्पदमसि, तेन वर्जनीयानि सर्वथा त्याजयितुकामोऽस्मि। अतोऽसुरस्वभावलक्षणानि विस्तारेण ब्रवीमीति सूचयति। **—अविगीता।**

**श्लोकः ७— अत्र वामनः—**

क्वचित्परमहंसेषु शौचाचारविहीनता। दृश्यते तैरतः साम्यमासुराणां प्रसज्जते॥
तद्वारणाय भगवानासुराणां नृणामथ। 'न सत्यं तेष्वि' ति स्पष्टं विशिष्टं धर्ममख्यत॥
सत्यं ब्रह्माद्वितीयं तदासुराणां नृणां मतिः। नैवाकलयति व्यक्तं तस्मान्नास्त्येव तेषु तत्॥
निवृत्तिमार्गनिष्ठेषु त्यक्ताचारेष्वपि क्वचित्। साक्षात्कृतत्वात्सर्वत्र सद्रूपं ब्रह्म विद्यते॥
इत्याशयं विवृणोति। **—अविगीता।**

**श्लोकः ८— अत्र वामनः—**

सत्यं ब्रह्म जगत्तस्मिन्नधिष्ठाने विवर्तते। इत्यनङ्गीकृत्य जगद्वदन्ति ब्रह्मणः पृथक्॥
रज्जुः प्रतिष्ठा सर्पस्य भूषणानां च काञ्चनम्। जगतो न तथा काचित्प्रतिष्ठाऽस्येति ते विदुः॥
अस्वीकृतोपादानास्ते निमित्तमपि नेश्वरः। अस्तीति वादिनः प्राहुः पापाः स्वाभाविकं जगत्॥
हेतुः परस्परं योगः प्रकृतेः पुरुषस्य च। जगतो निगमैरुक्तः सोऽपि तैर्नाभ्युपेयते॥
कर्ता न कोऽपि चेद्देहा उत्पद्यन्ते कथं न्विति। पृष्टा वदन्ति ते तत्र कन्दर्पस्यैव हेतुताम्॥
मिथुनीभूतयोः कामात्स्त्रीपुंसोर्गर्भसम्भवः। प्रत्यक्ष एव तन्मृग्यं किमन्यत्तत्र कारणम्?॥
...रं किञ्चिन्न मानमिति जल्पना। 'किमन्य' दित्यनेनात्र चार्वाकाणामनूदिता॥
जगन्मिथ्यात्ववादिनाम्। अद्वैतिनामियं निन्देत्याहुर्मन्दात्मनां वराः॥
वदन्ति द्वैतामिथ्यात्वं श्रुतयः शतशः स्फुटम्। 'वासुदेवः सर्वमिति' (७।१९) गीताऽप्यद्वैतमम्बते॥

एकस्यान्यस्वरूपत्वं न तस्याभासतां विना। घटते, न घटः क्वापि पटो न च कटस्ततः॥
विदन् भूषणमिथ्यात्वं सर्वे भर्मेति भाषते। घटाद्यसत्यतां जानन् सर्वा मृदिति शंसति॥
आभासतां तरङ्गाणामवगच्छंश्च तत्त्वतः। सर्व एवाम्बुधिरिति वक्ति, नान्यः कथञ्चन॥
यत्तु सर्वपदं सर्वव्यापकत्वपरं जगुः। तत्तुच्छमेव नभसोऽप्यस्ति व्यापकता यतः॥
असत्यता प्रपञ्चस्य येनैवमिह सूचिता। स निन्दिष्यति किं ब्रह्मेतरन्मिथ्येति वादिनः?॥
'ममैवांशो जीवभूत' (१५।७) इत्यद्वैतं स्वयं वदन्। कथं तद्वादिनो देव आसुरान्कीर्तयिष्यति?॥
'सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते। तज्ज्ञानं सात्त्विकं' (१८।२०) शंसन्कथमेवं वदिष्यति?॥
'पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं तद्राजसमिति' (१८।२१) स्वयम्। वदन्नद्वैतिनो नन्दनन्दनो निन्दिता कथम्?॥
आस्तामेवंविद्दोद्दिष्टाश्चार्वाका एव ये जगत्। वदन्त्यनीश्वरं कामहेतुकं च कुवादिनः॥
प्रमाणं नैकमप्यस्ति द्वैतयाथार्थ्यसाधकम्। आहुस्तथाप्यप्रमाणमद्वैतं श्रुतिसम्मतम्॥
शास्त्रानुभवशून्यानां तेषां दुर्वादिनां कलौ। मतं प्रवृत्तममृतमार्गध्वंसाय केवलम्॥

इति निपुणं निरूपयति।

**नव्यास्तु**— अपरस्परसम्भूतमिति 'असत्यम्' 'अप्रतिष्ठम्' इतिवत् नञ्समास एव। 'अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः।' (सां. का. १२) इति साङ्ख्यशास्त्रे वर्णितं गुणानामन्योन्यतो जननमेवात्र विवक्षितम्। परस्परसम्भवाङ्गीकारे परम्पराधारया गच्छतां जगतो मूलभूतं किमपि तत्त्वमभ्युपेयं स्यादित्यासुरा जनाः प्रपञ्चान्तर्गताः पदार्थाः केनचित्क्रमेणान्यतः सम्भूता इति नाभ्युपगच्छन्तीत्यर्थः। अपरश्च परश्चापरस्परौ इति केचिद्विलक्षणं विगृह्णन्ति; परमपरपरयोः समासोऽपरपरावित्येव भविष्यति, नापरस्पराविति— इत्याद्याहुः। तन्न, उपनिषत्कामधेनुपयोभूतायां गीतायां कापिलसाङ्ख्यसिद्धान्तस्य क्वाप्यनाश्रयणात्, अत्रापि तद्विवक्षायां मानाभावात्, प्रत्युत 'अनीश्वरं' इत्यनेन निरीश्वरवादिनां कापिलानामप्यासुरपक्ष एव प्रक्षेपस्य स्फुटत्वाच्च। किञ्च— न कापिला गुणानामन्योन्यतः सम्भवमभ्युपगच्छन्ति। उदाहृतकारिकायां गुणानामन्योन्यव्यपेक्षया परिणामित्वमेवोच्यत इति व्यक्तं तद्व्याख्यासु। 'प्रत्यक्षादन्यत्र मानं' इति जल्पतां चासुराणां शास्त्रीयजगदुत्पत्तिक्रमालोचनमप्राप्तमेव। केवलं कामहेतुकस्त्रीपुंसंयोगेन सृष्ट्युद्भवः, नान्यत्किञ्चित्तत्र कारणमिति तन्मतम्। तदेव चात्र प्रकृतमिति सन्दर्भस्वरसाद्व्यक्तमेव। एतेन अपरस्परसम्भूतपदेनोपनिषदुक्तसृष्ट्युत्पत्तिक्रमापेक्षया साङ्ख्यानां सृष्ट्युत्पत्तिक्रम एव विशेषतो विवक्षित इत्यपि निरस्तम्। अपरश्च परश्चेति विग्रहदूषणं तु 'अपरस्पराः क्रियासातत्ये' (अष्टा. ६।१।१४४) इति व्याकरणानभिज्ञातमूलकमेवेति नाधिकं प्रपञ्च्यते।
**—अविगीता।**

**श्लोकः ९**— उग्रकर्माणः, उग्रो रुद्रः, स इव संहारकर्मणि व्यापृताः इति **कश्चित्**। **—अविगीता।**

**श्लोकः १०**— असद्ग्राहान्— सत् परं ब्रह्म, तदितरत् स्वर्गादिकमसत्, तद्गृह्णन्ति ग्राहयन्ति वा असद्ग्राहाः काम्यकर्मतत्फलप्रतिपादका मन्त्राः, तान्। **—अविगीता।**

**श्लोकः १३**— 'प्राप्स्ये' इत्यात्मनेपदप्रयोगात् सर्वमिदं स्वप्रयोजनाय, न परप्रयोजनायेति सूच्यते।
**—अविगीता।**

**श्लोकः १४**— अत्र 'ईश्वरोऽहं' इत्यनेन जीवब्रह्मैक्यवादिनामद्वैतवेदान्तिनां निन्दा गम्यत इति कश्चित्प्रललाप तत्सन्दर्भविरुद्धं 'असत्यं–' (१६।८) इत्यत्र **वामन**कृतविमर्शेनैव विलुप्तप्रायं चेति न पृथङ्निरस्यते। **—अविगीता।**

**श्लोकः १८**— आत्मपराणामात्मनिष्ठानां देहेषु सर्वदा प्रकाशमानं मां गुणेष्वपि क्षमादिषु दोषानशक्तत्वादीनारोप्य अतिशयेन द्विषन्त इत्याशयः सुपरिष्कृत्योपवर्णितो **वामनेन**। **—अविगीता।**

**श्लोकः २४**— 'अर्हसि' इत्यनेन 'ते' इत्येतदभिप्रेता योग्यता सूच्यते। **नव्यास्तु**— अत्रत्यकार्याकार्यव्यवस्थितिपदेन कर्तव्यशास्त्राख्यनीतिशास्त्रकल्पनां लक्षीकृत्य गीतोपदिष्टेति स्पष्टं भवति, इदमेव कर्मयोगशास्त्रमित्युच्यते— इत्याहुः। तन्न; गीतायाः कर्तव्यशास्त्रत्वाभावात्। न हि गीता स्वयं कर्तव्याकर्तव्ये विधत्ते, किन्तु तद्विषये शास्त्रं प्रमाणमित्यनुशास्तीति कर्तव्याकर्तव्यशास्त्रस्य पृथक्त्वमतिरोहितमेव। नीतिशास्त्रं चान्यदेव प्रसिद्धं विद्यास्थानेषु। भगवद्गीताया एव नीतिशास्त्रत्वकल्पनं तु बाह्यविद्यासंस्कारमूलमेवेति यत्किञ्चिदेवैतत्। **—अविगीता।**

---:*:---

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः षोडशाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

ईश्वर उवाच—

अतः परं प्रवक्ष्यामि षोडशाध्यायगौरवम् ।
आकर्णय कुरङ्गाक्षि ! हर्षोत्कण्ठप्रवर्षिणि ॥ १ ॥
अस्ति सौराष्ट्रकं नाम्ना पुरं गुर्जरमण्डले ।
तत्राऽऽसीत्खड्गबाहुश्च राजा चेन्द्र इवापरः ॥ २ ॥
यदीयकुसुमामोदमालासुरभितोदरे ।
वारांनिधौ हरिः स्वास्थ्यादशेत सह पद्मया ॥ ३ ॥
यदीयकीर्तिकर्पूरकणा भान्ति नभोङ्गणे ।
कीर्णा वैरिकृतश्वाससमारुतैस्तारकाछलात् ॥ ४ ॥
यस्यासिधारातीर्थेषु स्नाता वैरिगणा भृशम् ।
नाऽऽवर्तन्ते दिवोऽद्यापि स्वर्गस्त्रीवाग्विमोहिताः॥५॥
तस्यारिमर्दनो नाम मदहस्ती मदोद्धतः ।
मदाम्बुधारासलिलगुञ्जद्भ्रमरमण्डलः ॥ ६ ॥
कपोलफलकोत्तीर्णमदधाराजलानिलः ।
बभौ यो निर्झरोद्गारैरञ्जनाद्रिरिवोच्चकैः ॥ ७ ॥
यस्याङ्गेषु व्यराजन्त चामराश्चन्द्रिकोज्ज्वलाः ।
किरणा इव शीतांशोः पतिताः काननोदरे ॥ ८ ॥
सिन्दूरपांसुपटलै राजत्कुम्भस्थलो बभौ ।
यः सन्ध्यावारिदव्याप्तं वियत्खण्डमिव स्फुरन् ॥९॥
कदाचिन्मोचयित्वा तु शृङ्खलान्निगडानपि ।
भङ्क्त्वा लोहदृढं स्तम्भं प्रसह्य निशि निर्गतः ॥१०॥
आधोरणगणान्सर्वान्पार्ष्णिविस्फूर्जदङ्कुशान् ।
क्रोधादवगणय्यैव निजशालां बभञ्ज सः ॥ ११ ॥
तीक्ष्णाङ्कुशमुखैर्विष्वग्घन्यमानोऽपि वैष्णवैः ।
दण्डैस्तु त्रासयामासुः सादिनो न मनागपि ॥ १२ ॥
ततो राजा समालोक्य निशम्येदं कुतूहलम् ।
तत्र हस्तिकलाभिज्ञैः समं राजकुमारकैः ॥ १३ ॥
अदृश्यत समागत्य राज्ञा दन्तावलो बली ।
मोदयन्नुद्भटाटोपो हृताट्टालिकमालिकम् ॥ १४ ॥
ददृशुस्तं महाभीमं पौरा दूरतरं स्थिताः ।
गोपायन्तः शिशून्भीत्या निवृत्तान्यकुतूहलाः ॥ १५ ॥
रुद्धेषु तत्र मार्गेषु पलायनपरैर्जनैः ।
वासितेषु तदीयोग्रदानधाराम्बुसीकरैः ॥ १६ ॥
स्नात्वा तेनाध्वना यातः सरसः कश्चन द्विजः ।
गीतानां षोडशाध्यायश्लोकान्कतिपयाञ्जपन् ॥ १७ ॥
निषिध्यमानो बहुधा पौरैराधोरणैरपि ।
अमन्यमानः करिणो भीतो न स्खलितस्ततः ॥ १८ ॥
स्फूत्कारेण आतृणवञ्जनान्विपरिमर्दयन् ।
स्पृशन्दानाम्बुजम्बालमायुष्मान्निर्गतो द्विजः ॥ १९ ॥
ततो महानभूत्तत्र विस्मयो वागगोचरः ।
मानसे भूमिपालस्य पौराणामपि पश्यताम् ॥ २० ॥
समाहूय ततो राजा फुल्लराजीवलोचनः ।
तमपृच्छद्द्विजं वाहादवतीर्य प्रणम्य च ॥ २१ ॥

राजोवाच—

अलौकिकमिदं विप्र ! त्वयाऽद्याऽऽचरितं महत् ।
कृतान्तकल्पादेतस्मायस्मान्निर्गतवान्गजात् ॥ २२ ॥
कमर्चयसि गीर्वाणं कं मन्त्रं जपसि प्रभो ! ।
का च सिद्धिस्तवास्तीति द्विजन्मन्समुदीरय ॥ २३ ॥

द्विज उवाच—

गीतानां षोडशाध्यायश्लोकान्कतिपयानहम् ।
जपामि प्रत्यहं भूप ! तेनैताः सर्वसिद्धयः ॥ २४ ॥

श्रीशिव उवाच—

ततो विहाय द्विरदकौतूहलरसं नृपः ।
आजगाम द्विजन्मानमादाय निजमन्दिरम् ॥ २५ ॥
शुभं मुहूर्तमन्वीक्ष्य तोषयित्वा द्विजोत्तमम् ।
सुवर्णैर्लक्षसङ्ख्याकैर्गीतामन्त्रमुपाददे ॥ २६ ॥
गीतानां षोडशाध्यायश्लोकान्कतिपयानपि ।
समभ्यस्य ततो राजा गजमोक्षणकौतुकी ॥ २७ ॥
अथैकदा विनिर्गत्य बाह्यालीं सह सैनिकैः ।
तमेवामोचयद्राजा मत्तमाधोरणैर्गजम् ॥ २८ ॥
विस्मरन्भीतिवाक्यानि राज्यसौख्यममानयन् ।
तृणवज्जीवितं राजा गजस्याग्रेऽविशत्ततः ॥ २९ ॥
आदाय गण्डफलकं मदपङ्कनिरङ्कुशम् ।
आययौ मन्त्रविश्वासान्नृपः साहसिकाग्रणीः ॥ ३० ॥
राहोरिव मुखादिन्दुः कालास्यादिव धार्मिकः ।
साधुः खलस्य वदनान्नृपो निरगमद्गजात् ॥ ३१ ॥
आगत्य नगरं राजा त्वभिषिच्य कुमारकम् ।
गीतानां षोडशाध्यायादवाप परमां गतिम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीताषोडशाध्यायमाहात्म्यकथनं नाम षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

## श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतः श्रीमद्गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १७ ]

**अशास्त्रमासुरं कृत्स्नं शास्त्रीयं गुणतः पृथक् ।**
**लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य त्रिधा सप्तदशोदितम् ॥ २१ ॥**

श्रीमद्वेङ्कटनाथविरचिता गीतार्थसंग्रहरक्षा ।

अत्र भाष्यम्—'इदानीमशास्त्रविहितस्यासुरत्वेन अफलत्वं, शास्त्रविहितस्य च गुणतस्त्रैविध्यं, शास्त्रसिद्धस्य लक्षणं चोच्यते' [ रा. भा. १७।१ ] इति । शास्त्रं यस्य विधायकत्वेन नास्ति, तदशास्त्रमित्यभिप्रायेण 'अशास्त्रविहितस्य' इत्युक्तम् । 'ओं तत्सत्' [ १७।२३ ] इति शास्त्रसिद्धस्य त्रिविधं लक्षणमुक्तम् ॥ २१ ॥

श्रीमते निगमान्तमहादेशिकाय नमः ।

—:०:—

# श्रद्धात्रयविभागयोगाख्यः सप्तदशोऽध्यायः।

शास्त्रानभिज्ञानां श्रद्धया कर्म कुर्वतां किं फलमित्यर्जुनप्रश्नः।

**अर्जुन उवाच— ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।**
**तेषां निष्ठा तु का कृष्ण! सत्त्वमाहो रजस्तमः॥ १॥**

### १ शाङ्करभाष्यम्।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' [१६।२४] इति भगवद्वाक्याल्लब्धप्रश्नबीजोऽर्जुन उवाच— य इति। ये केचिद्विशेषिताः शास्त्रविधिं शास्त्रविधानं श्रुतिस्मृतिशास्त्रचोदनामुत्सृज्य परित्यज्य यजन्ते देवादीन्पूजयन्ति श्रद्धयान्विताः श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽन्विताः संयुक्ताः सन्तः श्रुतिलक्षणं स्मृतिलक्षणं वा कञ्चिच्छास्त्रविधिमपश्यन्तो वृद्धव्यवहारदर्शनादेव श्रद्धानतया ये देवादीन्पूजयन्ति त इह 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः' इत्येवं गृह्यन्ते। ये पुनः कञ्चिच्छास्त्रविधिमुपलभमाना एव तमुत्सृज्यायथाविधि देवादीन्पूजयन्ति त इह 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते' इति न परिगृह्यन्ते। कस्मात्? श्रद्धयान्वितत्वविशेषणात्। देवादिपूजाविधिपरं किञ्चिच्छास्त्रं पश्यन्त एव तदुत्सृज्याश्रद्धानतया तद्विहितायां देवादिपूजायां श्रद्धयाऽन्विताः प्रवर्तन्त इति न शक्यं कल्पयितुं यस्मात्, तस्मात्पूर्वोक्ता एव 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः' इत्यत्र गृह्यन्ते। तेषामेवम्भूतानां निष्ठा तु अवस्थानं का कृष्ण! सत्त्वमाहो रजस्तमः; किं सत्त्वं निष्ठाऽवस्थानं? आहोस्विद्रजः? अथ वा तमः? एतदुक्तं भवति— या तेषां देवादिविषया पूजा, किं सा सात्त्विक्याहोस्विद्राजस्युत तामसी? इति॥ १॥

### २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या।

आस्तिकानां नास्तिकानां च शास्त्रैकचक्षुषां गतिरुक्ता, सम्प्रत्यास्तिकानामेव शास्त्रानभिज्ञानां गतिजिज्ञासया पृच्छतीत्याह— **तस्मादिति**। यजन्त इति यागग्रहणं दानादेरुपलक्षणम्। यदि वेदोक्तं विधिमपश्यन्तस्तमुत्सृजन्ति कथं तर्हि श्रद्धाना यागादि कुर्वन्ति? न हि मानं विना श्रद्धया यागादि कर्तुं शक्यं, इत्याशङ्क्याऽऽह— **श्रुतीति**। ननु शास्त्रीयं विधिं पश्यन्तोऽपि केचित्तमुपेक्ष्य स्वोत्प्रेक्षया यागादि कुर्वन्तो दृश्यन्ते, तेषामिह 'ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य' इति ग्रहो भविष्यति; नेत्याह— **ये पुनरिति**। तेषामत्रापरिग्रहे प्रश्नपूर्वकं हेतुमाह— **कस्मादिति**। शास्त्रज्ञानां तदुपेक्षावतां ग्रहेऽपि विशेषणमविरुद्धमित्याशङ्क्य व्याघातान्मैवमित्याह— **देवादीति**। अश्रद्धानतया तदुत्सृज्येति सम्बन्धः। शास्त्रोक्तं विधिमधिगच्छतामपि तमवधीर्य स्वेच्छया देवपूजादौ प्रवृत्तानामासुरेष्वेवान्तर्भावो यस्मादनन्तराध्याये सिद्धस्तस्मादास्तिकाधिकारे तेषां प्रसङ्गो नास्तीत्युपसंहरति— **यस्मादिति**। पूर्वोक्ताः शास्त्रानभिज्ञा वृद्धव्यवहारानुसारिण इति यावत्। तैः श्रद्धया क्रियमाणं कर्म कुत्र पर्यवस्यति? इति पृच्छति— **तेषामिति**। का निष्ठेत्येतद्विवृणोति— **सत्त्वमिति**। कार्याणां कारणैर्व्यपदेशमाश्रित्य तात्पर्यमाह— **एतदिति**॥ १॥

### ३ रामानुजभाष्यम्।

देवासुरविभागोक्तिमुखेन प्राप्यतत्त्वज्ञानं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं च वेदैकमूलमित्युक्तम्; इदानीमशास्त्रविहितस्यासुरत्वेनाफलत्वं, शास्त्रविहितस्य च गुणतस्त्रैविध्यं, शास्त्रसिद्धस्य लक्षणं चोच्यते; तत्राशास्त्र-

विहितस्य निष्फलत्वमजानन् अशास्त्रविहिते श्रद्धासंयुक्ते यागादौ सत्त्वादिनिमित्तफलभेदबुभुत्सया अर्जुनः पृच्छति— य इति । शास्त्रविधिमुत्सृज्य श्रद्धयाऽन्विता ये यजन्ते, तेषां निष्ठा का ? किं सत्त्वम् ? आहोस्विद्रजः ? अथ तमः ? निष्ठा स्थितिः; स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थितिः सत्त्वादिरेव निष्ठेत्युच्यते; तेषां किं सत्त्वे स्थितिः ? किं वा रजसि ? किं वा तमसि ? इत्यर्थः ॥ १ ॥

## ४ वेङ्कटनाथविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका ।

उक्तशेषतया सप्तदशमवतारयितुमुक्तमुद्गृह्णाति— **देवासुरे**ति । प्रकृतस्य मुखभेदेन प्रपञ्चनपरतया सङ्गतिमाह— **इदानी**मिति । हेयोपादेयव्यवस्थायाः शास्त्रैकमूलत्वोक्तिसमनन्तरमित्यर्थः । ‘अशास्त्रमासुरं कृत्स्नं शास्त्रीयं गुणतः पृथक् । लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य त्रिधा सप्तदशोदितम्’ [ गी. सं. २१ ] इति सङ्ग्रहश्लोकं विवृणोति— **अशास्त्रविहितस्ये**त्यादिना । अत्र सामान्यतो विशेषतश्च शास्त्रीयार्थविभजनमध्यायानुवृत्तार्थः । ‘सप्तदशोदितम्’ इत्येतत्सङ्ग्रहश्लोकवाक्यत्रयेऽपि प्रत्येकमन्वेतव्यम् । एतत्सर्वं सप्तदशोदितमिति सर्वोपसंहारेण वाऽन्वयः । ‘ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम्’ [ १६।२४ ] इत्यस्यानन्तरं ‘ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य’ इति प्रश्नः कथं सङ्गच्छते ? इत्यत्राऽऽह **तत्रे**ति। **अशास्त्रविहितस्य निष्फलत्वमजानन्नि**ति । **अयमभिप्रायः**— प्रेक्षावतां स्वतः प्रयोजने तदुपाये वा बुभुत्सा; अतः सत्त्वादिनिष्ठाभेदबुभुत्सा तन्मूलफलविशेषपर्यन्ता; न च निष्फलत्वज्ञाने फलविशेषजिज्ञासा; ततश्च लोकसिद्धाः कृषिचिकित्सादयोऽपि प्रेक्षावत्प्रवृत्तिविषयाः सफला एव दृश्यन्ते, अन्यथा शास्त्रस्यापि निर्मूलत्वप्रसङ्गात् । अलौकिकेष्वप्याचारसिद्धाः कतिकति धर्माः; नच ते यत्किञ्चित्फलमन्तरेण स्युः, प्रेक्षावतामप्रवृत्तिप्रसङ्गात् । न च श्रद्धापूर्वकानुष्ठानेऽङ्गवैकल्यात् फलाभावः सम्भवति; नच प्रेक्षावद्भिरनन्तैर्जैनैर्बहुवित्तव्ययायासादिनाऽनुष्ठीयमानेषु दृष्टप्रयोजनरहितेषु कर्मसु अदृष्टपर्यवसानमन्तरेण गतिः; अतः शास्त्रविहितादस्य यदि किञ्चिद्वैषम्यमुच्यते, तदा सत्त्वादिगुणभेदप्रयुक्तफलतारतम्यमात्रमेव स्यात् । अतः ‘यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्’ [ १३।२३ ] इति पूर्वोक्तमपि प्रायशः प्रकृष्टसुखाभावविवक्षया ‘कामकारतः’ इति विशेषणं वा श्रद्धायुक्तव्यवच्छेदार्थमिति दुरुपदेशबाह्यागमस्वोत्प्रेक्षावृद्धव्यवहारमात्रकल्पिते ह्यत्र धर्माभिसन्धिश्रद्धादियोगान्नैष्फल्यनिवृत्तिर्युक्तेत्यर्जुनस्याशयः— इति ।

विशिष्टस्य फलत्वशङ्कास्पदत्वाय कर्तृविशेषणं क्रियाविशेषणतया व्याख्यातम् । यागोऽत्र दानाद्युपलक्षणार्थः देवपूजात्वाविशेषात्तत्सङ्ग्रहो वा । अत्र कृष्णशब्देन ‘कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः’ [ म. भा. ५।७०।५ ] इति सर्वापेक्षितः सिद्ध्यौपयिकीं निरुक्तिमभिप्रैति । तुशब्देन शास्त्रीयनिष्ठातः कामकारतश्च व्यावृत्तिर्विवक्षिता । विपरिणतस्य किंशब्दस्य ‘अहो’ इति पदस्य वा अत्रावृत्तिमभिप्रेत्याऽऽह— **किं सत्त्व**मिति । विनाशाद्यर्थव्यवच्छेदार्थं सत्त्वादिसामानाधिकरण्याय चाधिकरणव्युत्पत्तिमवतारयितुं पर्यायेण स्वरूपं व्यनक्ति **निष्ठा स्थिति**रिति । ‘तेषां निष्ठा तु का ?’ इति पृष्ट एवार्थः **सत्त्वं** इत्यादिना विशेष्यत इत्यभिप्रायेण फलितमाह **तेषा**मिति ॥ १ ॥

## ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

सर्वगुणपूर्णाय नमः ॥ ॥ ॐ श्रीः । गुणभेदान् प्रपञ्चयत्यनेनाध्यायेन शास्त्रविधिमुत्सृज्य अज्ञात्वैव । ‘वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना’ [ मनुः २।१६५ ] इति विधिरुत्सृष्टो हि तैः । “ये वै वेदं न पठन्ते न चार्थं वेदोज्झांस्तान्विद्धि सानूनबुद्धीन्” इति माधुच्छन्दसश्रुतिः । अन्यथा तु तामसा इत्येवोच्येत । न तु विभज्य । यदि सात्त्विकास्तर्हि नोत्सृष्टशास्त्राः । न हि वेदविरुद्धो धर्मः । ‘वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्’ [ मनुः २।६ ] इति हि स्मृतिः । ‘वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः’ इति च भागवते [ ६।१।४० ] ॥ १ ॥

## ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

अध्यायार्थमाह— **गुणे**ति । गुणनिमित्ताः श्रद्धादीनां भेदाः । ‘नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं’ [ १४।१९ ] इत्युक्तत्वात् प्रपञ्चयतीत्युक्तम् । सात्त्विकानां पुमर्थसाधनत्वादनुष्ठेयत्वमन्येषां तद्विरुद्धत्वाभावः । त्याज्यत्वं च ज्ञापयितुमिति शेषः । शास्त्रविधिमुत्सृज्येत्यस्य वेदविधानमप्रामाण्यबुद्ध्या परित्यज्येत्यर्थप्रतीतिं निवारयितुमाह— **शास्त्रे**ति । अज्ञानमेवात्रोत्सर्गः, न त्वप्रामाण्यबुद्ध्या त्याग इत्यर्थः । ननु प्राप्तपरित्याग उत्सर्गः, एवं च प्रतीतार्थ एव युक्तो न ज्ञात्वेति तत्राऽऽह— **वेद** इति । अर्थज्ञानपर्यन्तोऽयं विधिः । अयं च सर्वान्द्विजन्मनः प्राप्तस्तैरज्ञानिभिरुत्सृष्टश्च अतोऽज्ञात्वेति युक्तमित्यर्थः । अत्र श्रुतिसम्मतिं चाऽऽह— **य** इति । न चार्थमधिगच्छन्ति सहानूनया वेदतदर्थाधिगतियोग्यया बुद्ध्या वर्तमानान् सानूनबुद्धयोऽपि ये वेदं न पठन्त इति योज्यम् । अप्रामाण्यबुद्ध्या परित्यज्येत्येवार्थः किं न स्यात् ? इत्यत आह— **अन्यथे**ति । यद्यत्र

वेदविरोधिनां बौद्धादीनां निष्ठा पृच्छ्येत तदा ते तामसा इत्येवोत्तरमुच्येत; तदीयतामसत्त्वस्याविकल्पितत्वादिति भावः । न केवलं वक्तव्यानुक्तिरेव दोषः, किन्तु तद्विरुद्धोक्तिश्च स्यादिति भावेनाऽऽह– न त्विति । 'त्रिविधा भवति श्रद्धा' [ १७।२ ] इत्यादिना श्रद्धां विभज्योत्तरं नोच्यते इत्यर्थः । एवमुत्तरवचनेऽपि किं स्यात् ? इति चेत् वेदाप्रामाण्यवादिनामपि पाक्षिकं सात्त्विकत्वं स्यात् । तथा च वक्ष्यामः । तदपि स्यादिति चेत्, न; सात्त्विकत्ववेदविरोधित्वयोः सहानवस्थानादित्याह— यद्वीति । सहानवस्थानमपि कुतो निश्चेयं ? इति चेत्, सात्त्विका हि धर्ममाचरन्ति 'सत्त्वाद्धर्मो भवेत्पुंसाम्' [भाग.११।१३।२] इति वचनात् । तथा च वेदविरोधिनो धर्मिणश्चेत्युक्तं भवति । एवं च वेदविरोधी धर्म इत्यायाप्येत तच्चानुपपन्नमित्याह— न हीति । कुतो न ? इत्यत आह— वेद इति ॥ १ ॥

## ७ हनुमत्प्रणीतं पैशाचभाष्यम् ।

'ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि' [१६।२४] इति भगवद्वचनं श्रुत्वाऽर्जुन उवाच– य इति । शास्त्रविधानमनवेक्ष्य ये देवताः पूजयन्ति तेषां निष्ठा स्थितिः का ? सत्त्वमथवा रजः, आहो तमः ? इत्यर्जुनस्य प्रश्नः ॥ १ ॥

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

षोडशेऽध्याये तत्त्वज्ञानाधिकारी निरूपितः; सप्तदशे तु सात्त्विकी श्रद्धैव मुख्यं तदधिकारिविशेषणमिति निरूप्यते; तत्र तावत्पूर्वाध्याये 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः' [१६।२३] इति शास्त्रं त्यक्त्वा स्वेच्छया वर्तमानस्य ज्ञानाधिकारो नेत्युक्तमाकर्ण्य ये पुनः शास्त्रं विहाय केवलमाचरणपरम्परामात्रेण श्रद्धयैव देवताराधनादि कुर्वन्ति, तेषां किं ज्ञानाधिकारोऽस्ति न वा ? इति शास्त्रत्यागश्रद्धाभ्यां सन्दिहान अर्जुन उवाच— य इति ।

हे कृष्ण ! ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य आलस्यादिवशादनादृत्य वृद्धाचारेणैव केवलं श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या अन्विताः सन्तो यजन्ते देवताराधनादिकं कुर्वन्ति, तेषां निष्ठा का कीदृश्यवस्थितिः ? एतदेव विवृणोति— सत्त्वमिति, सात्त्विकीत्यर्थः । आहो इति पक्षान्तरे । रजस्तम इति; राजसी तामसीत्यर्थः । अत्र 'सत्त्वं' इत्येका कोटिः, 'रजस्तमः' इत्यपरा कोटिरिति विभागज्ञापनायाहोशब्दः । यदि सात्त्विकी तेषामवस्था तदा ज्ञानाधिकारोऽस्ति, अन्यथा तु नेत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

## ९ वल्लभाचार्यकृता तत्त्वदीपिका ।

पूर्वाध्यायान्ते 'यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः । न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्' [ १६।२३ ] इत्यनेन शास्त्रविधिमुत्सृज्य स्वच्छन्दश्रद्धातो वर्त्तमानस्य दैवासुरविभागोक्तिमुखेन प्राप्यतत्त्वज्ञानाप्तिरूपा न सिद्धिरित्युक्तं, तत्राऽऽर्जुनः पृच्छति— अर्जुन उवाच ये शास्त्रविधिमुत्सृज्येति । त्यक्त्वा वर्त्तन्ते कामकारशब्दनिर्दिष्टया श्रद्धयाऽन्विताः तेषां निष्ठा का हे कर्षक ! किं सत्त्वमाहो रजस्तम इति तेषां सत्त्वविषयिणी सा रजस्तमोविषयिणी वा निष्ठा ? इति प्रश्नतात्पर्यम् ॥ १ ॥

## १० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

शास्त्रविध्ययुता श्रद्धा निर्गुणैवोत्तमा मता । इति दर्शयितुं श्रद्धा त्रिविधाऽत्र निरूप्यते ॥ १ ॥

पूर्वाध्याये शास्त्रविधिरहितकामकारतः कर्मसु वर्त्तमानस्य न फलमित्युक्तं, तत्र कामकाराभावे शास्त्रविधिरहितस्य श्रद्धया वर्त्तमानानामग्रे सात्त्विकत्वाद्याश्रयेण किमपि ज्ञानादिकं सत्फलं भवति न वा ? इति जिज्ञासुरर्जुनः पृच्छति— ये शास्त्रेति । ये सर्वत्यागादनन्यत्वादिशास्त्रविधिं दुस्तरत्वेनोत्सृज्य परम्पराचारप्रवाहप्रवृत्तभजनादिषु श्रद्धया आदरेण युक्ताः यजन्ते देवादिपूजनं कुर्वन्ति, हे कृष्ण ! तेषां का निष्ठा क आश्रयः सत्त्वं आहो रजः तमो वा ?। अयं भावः– पूर्वं चेत् सत्त्वाश्रयस्तदा तत एव ज्ञानोदयः, पूर्वं चेद्रजस्तदा, तथा कुर्वतोऽग्रे सात्त्विकत्वं, पूर्वं चेत्तमस्तदाऽग्रे राजसत्वं; ततस्तथा कुर्वतोऽग्रे सात्त्विकत्वं, ततो ज्ञानोदयस्ततो निर्गुणत्वेन त्वत्प्राप्तिः। फलात्मकनामसम्बोधनेन फलाभावे तत्कारणं व्यर्थमेव तदाचारादिप्रामाण्यं निष्प्रयोजनकमतस्तेषामाश्रयस्वरूपं वक्तव्यमिति भावो व्यञ्जितः ॥ १ ॥

## ११ नैलकण्ठीयो भारतभावदीपः।

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' [ १६।२४ ] इति प्रश्नबीजमुपलभ्यार्जुन उवाच— य इति । ये पुरुषाः शास्त्रविधिं– शास्त्रपदेनात्र श्रुतिसदाचारकुलाचारा गृह्यन्ते, सर्वेषां तेषां धर्मे प्रमाणत्वात्– तत्र योऽधिगतो विधिर्विधेयं तदुत्सृज्य सर्वात्मना परित्यज्य यजन्ते पूजयन्ति तातकूपादीन् 'मत्पित्रा कृतोऽयं कूपो गङ्गाशतादप्यधिकोऽत्रैव स्नानपानावगाहनपरिचर्याप्रदक्षिणप्रक्रमणरूपादेतत्सेवनादहमिष्टं फलमवश्यं प्राप्स्यामि' इति तत्र दृढतरया श्रद्धया-

ऽन्विताः सन्तः, तेषां निष्ठा इयं का कीदृशी ? किं सत्त्वं सात्त्विकी वा ? पित्र्ये कूपे श्रद्धाधिक्यदर्शनात् । किं रजः राजसी वा ? तेषां निष्ठा शास्त्रातिक्रमेण कामकाररूपत्वात् । आहो इति प्रश्ने । किं तमः तामसी वा ? सा निष्ठा रङ्गे रजतधीरिवाशास्त्रीयाया अल्पे महत्त्वबुद्धेर्विपर्यासरूपाया दर्शनात् । यदपि तु (शां.) भाष्ये 'वृद्धव्यवहारदर्शनादेव श्रद्दधानतया ये देवादीन्यजन्ते' इत्युक्तं तत्राप्यविगीत एव वृद्धव्यवहारो ग्राह्यः, अविगीतेऽस्मिंस्तामसत्वादिशङ्काया अयोगात् ॥ १ ॥

श्रद्धात्रैविध्यम् ।

**श्रीभगवानुवाच— त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।**
**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥ २ ॥**

**१ शां. भा.—** सामान्यविषयोऽयं प्रश्नो नाप्रविभज्य प्रतिवचनमर्हतीति श्रीभगवानुवाच— त्रिविधेति । त्रिविधा त्रिप्रकारा भवति श्रद्धा । यस्यां निष्ठायां त्वं पृच्छसि देहिनां सा स्वभावजा, जन्मान्तरकृतो धर्मादिसंस्कारो मरणकालेऽभिव्यक्तः 'स्वभावः' उच्यते, ततो जाता स्वभावजा । सात्त्विकी सत्त्वनिर्वृत्ता देवपूजादिविषया, राजसी रजोनिर्वृत्ता यक्षरक्षःपूजादिविषया, तामसी तमोनिर्वृत्ता प्रेतपिशाचादिपूजादिविषया, एवं त्रिविधा; तामुच्यमानां श्रद्धां शृण्ववधारय ॥ २ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** विशेषनिष्ठमुत्तरं सामान्येन वक्तुं न शक्यमित्याशयेन परिहरति— **सामान्येति** । किमिति श्रद्धात्रैविध्यं प्रश्नानुपयुक्तमुच्यते ? तत्राऽऽह— **यस्यामिति** । श्रद्धापूर्विकायां क्रियायामिति यावत् । श्रद्धात्रैविध्ये हेतुमाह— **सा स्वभावजेति** । स्वभावशब्दार्थं प्रकृतोपयोगितया कथयति— **जन्मान्तरेति** । कथं त्रिविधा ? इत्यपेक्षायामाह— **सात्त्विकीत्यादिना** । कथमुक्ता श्रद्धा स्वभावजेति ? तत्राऽऽह— **तामिति** ॥ २ ॥

**३ रा. भा.—** एवं पृष्टो भगवानशास्त्रविहितश्रद्धायास्तत्पूर्वकस्य च यागादेर्निष्फलत्वं हृदि निधाय शास्त्रीयस्यैव यागादेर्गुणतस्त्रैविध्यं प्रतिपादयितुं शास्त्रीयश्रद्धायास्त्रैविध्यं तावदाह— **त्रिविधेति** । सर्वेषां देहिनां श्रद्धा त्रिविधा भवति; सा च स्वभावजा— स्वभावः स्वासाधारणो भावः प्राचीनवासनानिमित्तः तत्तद्रुचिविशेषः, यत्र रुचिस्तत्र श्रद्धा जायते; श्रद्धा हि स्वाभिमतं साधयत्येतदिति विश्वासपूर्विका साधने त्वरा; वासना रुचिश्च श्रद्धा चात्मधर्मानुगुणसंसर्गजाः; तेषामात्मधर्माणां वासनादीनां जनका देहेन्द्रियान्तःकरणविषयगता धर्माः कार्यैकनिरूपणीयाः सत्त्वादयो गुणाः सत्त्वादिगुणयुक्तदेहाद्यनुभवजा इत्यर्थः । ततश्चेयं श्रद्धा सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा, तामिमां श्रद्धां शृणु; सा श्रद्धा यत्स्वभावा, तं स्वभावं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

**४ वे. ता. चं.—** श्रद्धा कतिविधा ? इति प्रश्नाभावेऽपि तदुक्तिवैयर्थ्यशङ्कां परिहरन् श्रद्धात्रैविध्यकथनस्य प्रयोजनं चाऽऽह— **एवं पृष्ट** इत्यादिना । पूर्वोपदिष्टविरुद्धं पृष्ट इत्यर्थः । **हृदि निधायेति**— क्रमेण साक्षादुत्तरमवतारयितुमित्यर्थः । प्रश्नस्यात्यन्तानादरपरत्वज्ञापनाय वा सहसा साक्षादुत्तरानुक्तिरिति भावः । **गुणतस्त्रैविध्यमिति**— गुणभेदनिमित्तफलभेदयोगित्वमिति भावः । अत्र हि श्रद्धायोगात्सात्त्विकत्वं शास्त्रोल्लङ्घनात्तामसत्वं तदुभयसमुच्चयाद्राजसत्वमाशङ्कितं; तत्र तावच्छ्रद्धापूर्वकत्वं फलसाधनत्वायोपयुक्तम्, तच्छास्त्रीयेष्वेव; तत्रापि श्रद्धाया न त्वैकान्तिकत्वमित्यभिप्रायेण शास्त्रीयश्रद्धायास्त्रैविध्यग्रहणम् । एतेन परिसङ्ख्यान्यायेनाशास्त्रीयेषु फलभेदनिमित्तं त्रैविध्यं प्रत्युक्तम् । अत्र श्रद्धाभेदात् सत्त्वादिनिष्ठाभेदनिर्णय इत्युक्तं भवति । 'देहिनां' इत्यनेन तत्तद्देहानुरूपमधिकारिवैचित्र्यं विवक्षितमित्यभिप्रायेणाऽऽह **सर्वेषामिति** । ब्रह्मादीनामपीत्यर्थः । 'देहिनाम्' इति सत्त्वादिगुणप्रचुरदेहविशेषानुरूपमिति भावः । साधारणेषु शास्त्रेषु तत्प्ररोचकेष्वर्थवादादिषु च कथं पुरुषभेदनियतश्रद्धाभेदः ? इति शङ्कायां 'सा स्वभावजा' इति वाक्यान्तरमित्यभिप्रायेणाऽऽह **सा चेति** । कार्यासाधारणत्वाय कारणासाधारणत्वविवक्षामाह **स्वभावः स्वासाधारणो भाव** इति । कोऽसौ भावः ? कश्च तस्याप्यसाधारण्यहेतुः ? इत्यत्राऽऽह— **प्राचीनेति** । भावशब्दोऽत्र धर्मविशेषपरः । नानार्थे स्वभावशब्दे कथमत्र रुचिविवक्षा ? इत्यत्राऽऽह **यत्र रुचिरिति** । रुचिश्रद्धयोः कार्यकारणभावोऽन्वयव्यतिरेकसिद्ध इत्यर्थः । रुचिव्यतिरिक्ता तत्कार्यभूता का श्रद्धा ? इत्यत्राऽऽह **श्रद्धाहीति** । 'श्रद्धा विश्वासकाङ्क्षयोः' इति त्वरापर्यन्तविश्वासेऽपि हि श्रद्धाशब्दं नैघण्टुकाः पठन्ति । ननु "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाऽश्रद्धा धृतिरधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत्सर्वं मन एव" [ बृ. उ. १।५।३ ] इति श्रवणात् अन्तःकरणधर्म-

ष्वात्मानमलिम्पत्सु श्रद्धादिषु गुणकृतत्वाच्च गुणधर्मत्वसम्भवेऽपि कथमत्र स्वशब्देन देहिशब्देन च निर्दिष्टप्रत्यगात्मनि तदन्वयोक्तिः ? तत्राऽऽह **वासने**ति । शुद्धस्वभावस्यैवात्मनः कर्ममूल-गुणमय-प्रकृतिसंसर्गोपाधिक-धर्मभूत-ज्ञानपरिणतिविशेषा इत्यर्थः । श्रद्धाभेदेषु सात्त्विकादिसंज्ञानिवेशाय निर्गुणस्यात्मनः कथं सत्त्वादिमूलवासनादियोगः ? इति शङ्काव्युदासाय च देहिशब्दसूचितप्रक्रियया गुणसंसर्गजत्वं विवृणोति **तेषामि**ति । यथौषधादिविशिष्टदहनादिसम्बन्धात् पार्थिवादिषु पाकजगुणारम्भः, तथाऽत्रेति भावः । तत्तत्कार्यहेतुतया शास्त्रसिद्धानामनुपलब्ध्या निराकरणमयुक्तमित्यभिप्रायेणाऽऽह **कार्यैकनिरूपणीया** इति । अतीन्द्रियाणामननुभूतानां कथं वासनाहेतुत्वं ? इत्यत्राऽऽह **सत्त्वादिगुणयुक्ते**ति । मूलकारणापेक्षया श्रद्धायाः सात्त्विकादिसंज्ञाभेद इत्याह **ततश्चे**ति । सात्त्विकत्वादित्रैविध्येन श्रावितायां पुनः 'शृणु' इति किमुच्यते ? इत्यत्राऽऽह **सा श्रद्धा यत्स्वभावे**ति । स्वरूपस्य सामान्यतस्त्रैविध्यस्य च विदितत्वादविदितप्रकारविशेषाभिप्रायेण 'शृणु' इत्युक्तम् ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.— अतो विभज्याऽऽह— त्रिविधेत्यादिना ॥ २ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ननु 'तेषां निष्ठा तु का ?' [ १७।१ ] इति पृष्टे सात्त्विकत्वादिकं वक्तव्यम्, त्रिविधेत्यादिकं तु किमर्थमुच्यते ? इत्यत आह— **अत** इति । यत एवमर्जुनेन वेदविधिमजानतां निष्ठा पृष्टा, अज्ञानं च भेदकं त्रयाणामपि सम्भवात् । न चाज्ञानस्य प्रभेदाः सन्ति, अतः श्रद्धयाऽन्विता इति तद्विशेषणत्वेनोक्तां श्रद्धां सात्त्विकत्वादिना विभज्य तदाश्रयेण तेषां स्वरूपमाहेत्यर्थः ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.— तस्य प्रतिवचनं श्रीभगवानुवाच— त्रिविधेति । श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिः । स्वभावजा, जन्मान्तरानुष्ठितपुण्यपापसंस्कारो मरणकालेऽभिव्यक्तः स्वभाव उच्यते । सा च सत्त्वे भवा सात्त्विकी ॥ २ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— तत्र ये सात्त्विक्या श्रद्धयोपेतास्तेऽधिक्रियन्ते, ये तु राजस्या तामस्या च श्रद्धयाऽन्वितास्ते नाधिक्रियन्ते इति विवेकेनार्जुनस्य सन्देहमपनिनीषुः श्रद्धाभेदं **श्रीभगवानुवाच— त्रिविधे**ति । यया श्रद्धयाऽन्विताः शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते सा श्रद्धा देहिनां स्वभावजा जन्मान्तरपुण्यपापवासनारूपात् स्वभावाज्जाता । तस्य स्वभावस्य सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रैविध्यात्तज्जनिता श्रद्धाऽपि सात्त्विकी राजसी तामसी चेति त्रिविधा भवति । तां शृणु; श्रुत्वा स्वयमेवाधिकारानधिकारौ ज्ञास्यसीत्यर्थः । अत्र सा 'स्वभावजा' इत्यनेन प्राग्भवीयकर्मसंस्काररूपस्वभावजा प्राणिमात्रसाधारणी शास्त्रनिरपेक्षा या श्रद्धा, सैव स्वभावत्रैविध्यात्त्रिविधा; या तु विदुषां शास्त्रसंस्कारमात्रजा, सा कारणैकरूप्यादेकरूपा सात्त्विक्येव, न तु राजसी तामसी वा; तेषां प्राग्भवीयसंस्काराभिभावकशास्त्रीयविवेकसम्पन्नत्वादित्येतद्दर्शितम् ॥ २ ॥

**९ व० त० दी०— एवं पृष्टः पुनरपि द्विविधेषु त्रिगुणविवेकेनैव शास्त्रीयश्रद्धादिस्वरूपमाह— श्रीभगवानुवाच त्रिविधेति । देहाभिमान आसुरः, तद्वतामशास्त्रविधिमुत्सृज्यानुसृत्य वर्तमानानां उभयविधानां जीवानां सा स्वभावजेति । त्रिगुणमयं स्वभावमन्यथा कर्तुं शक्तं हि शास्त्रीयं विज्ञानं, तद्यक्तानां नास्तीति कामकारपदवाच्या निष्ठैव केवलं पूर्वतनस्वभावजा । श्रद्धा सा त्रिविधा भवति सात्त्विकी राजसी तामसी चेति मत्तस्तां शृणु ॥ २ ॥**

**१० पु. अ. त.**— अत्रोत्तरमाह श्रीकृष्णः— **त्रिविधे**ति । देहिनां देहाभिमानवतां लौकिकानां श्रद्धा त्रिविधा भवति, सात्त्विकी च पुनः राजस्येव, तथा तामसी चेत्यमुना प्रकारेण त्रिविधा । सा च स्वभावजा स्वस्यौत्पत्तिकगुणजा, न तु निर्गुणा । तथा चायं भावः— शास्त्रोक्तविद्वद्युक्तमद्भजनश्रद्धातो लौकिकादिगुणज्ञानोदयो भवति निर्गुणत्वाज्जीवस्यापि निर्गुणत्वेन सत्त्वसङ्गाभावान्मत्प्राप्तिफला श्रद्धैकरूपैव, भिन्ना गुणस्वभावजा, त्रिविधा च भिन्ना न तत्फलसाधिकेति भिन्नत्वज्ञापनाय तां त्रिविधां मयोच्यमानां शृणु, तच्छ्रवणादेव त्वत्सन्देहनिवृत्तिर्भविष्यतीति ॥ २ ॥

**११ नी० भा० दी०— एवं सामान्यतः पृष्टे सामान्यमेवोत्तरं श्रीभगवानुवाच— त्रिविधेति । स्वभावः प्राग्भवीयौ धर्माधर्मौ, ततो जाता स्वभावजा । यदि प्राग्भवे सात्त्विको देवतापूजादिधर्मोऽनेनानुष्ठितस्तर्हि तस्य शुद्धसात्त्विक्येव श्रद्धा भवति; यदि राजसो यक्षादिपूजारूपस्तर्हि राजस्येव; यदि तामसो भूतप्रेतादिपूजारूपस्तर्हि तामसी श्रद्धा भवति । एवं त्रिविधा श्रद्धा देहिनां देहाभिमानवतां भवति, तां मया व्याख्यास्यमानां शृणु ॥ २ ॥**

श्रद्धावैचित्र्यस्य कारणं तदधिकारी च ।

**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत! ।**
**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥ ३ ॥**

१ **शां. भा.**— सैवं त्रिविधा भवति— **सत्त्वेति** । सत्त्वानुरूपा विशिष्टसंस्कारोपेतान्तःकरणानुरूपा सर्वस्य प्राणिजातस्य श्रद्धा भवति भारत! । यद्येवं ततः किं स्यात्? इत्युच्यते— श्रद्धामयः श्रद्धाप्रायोऽयं पुरुषः संसारी जीवः । कथं? यो यच्छ्रद्धो या श्रद्धा यस्य जीवस्य स यच्छ्रद्धः, स एव तच्छ्रद्धानुरूप एव स जीवः ॥ ३ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— प्राचीनकर्मोद्बोधिता त्रिविधा वासना स्वभावशब्दिता त्रिविधायाः श्रद्धाया निमित्तमित्युक्तं, इदानीमुपादानं तस्या दर्शयति— **सैवमिति** । विशिष्टचित्तोपादाना श्रद्धा तत्त्रैविध्ये त्रिविधेति पूर्वार्धस्यार्थः । कथं निष्ठायाः सत्त्वादिप्रकारप्रश्नद्वारा श्रद्धायास्त्रैविध्यनिरूपणमुपयुक्तं? इति मन्वानः शङ्कते— **यद्येवमिति** । श्रद्धेयं विषयमभिध्यायंस्तया तत्रैव प्रवर्तेत इति मन्वानः परिहरति— **उच्यत** इति । श्रद्धामयत्वं प्रश्नपूर्वकं कथयति— **कथमिति** । श्रद्धा खल्वधिकृते पुरुषे प्राचुर्येण प्रकृतेति तस्य श्रद्धामयत्वसिद्धिरित्यर्थः ॥ ३ ॥

३ **रा. भा.**— सत्त्वमन्तःकरणं, सर्वस्य पुरुषस्यान्तःकरणानुरूपा श्रद्धा भवति; अन्तःकरणं यादृशगुणयुक्तं, तद्विषया श्रद्धा जायत इत्यर्थः । सत्त्वशब्दः पूर्वोक्तानां देहेन्द्रियादीनां प्रदर्शनार्थः । श्रद्धामयोऽयं पुरुषः, श्रद्धामयः श्रद्धापरिणामः; यो यच्छ्रद्धः, यः पुरुषो यादृश्या श्रद्धया युक्तः स एव सः— स तादृशश्रद्धापरिणामः पुण्यकर्मविषये श्रद्धायुक्तश्चेत् पुण्यकर्मफलसंयुक्तो भवतीति श्रद्धाप्रधानः फलसंयोग इत्युक्तं भवतीति ॥ ३ ॥

४ **वे. ता. चं.**— 'सत्त्वानुरूपा' इत्यत्र न सत्त्वगुण उच्यते; सर्वस्य पुरुषस्य श्रद्धायास्तदधीनत्वे राजसतामसश्रद्धाविभागायोगात् । सहकारित्वेन सत्त्वं सर्वत्रापेक्षितमिति चेत्, न; रजस्तमसोरपि तथात्वात् । त्रैगुण्यं हि परस्पराङ्गभावेन स्थित्वैव हि वातपित्तकफादिवत्सर्वं कार्यमारभते । अतोऽत्र सर्वश्रद्धासाधारणकारणत्वेन निर्दिष्टं सत्त्वं गुणत्रयोपष्टब्धमन्तःकरणमेवेत्याह **सत्त्वमन्तःकरणमिति** । आनुरूप्यं विवृणोति **अन्तःकरणं यादृशगुणयुक्तमिति** । यद्विषयरुचिजनकवासनोत्तम्भकसत्त्वादियुक्तमित्यर्थः । पूर्वं 'देहिनां सा स्वभावजा' [ १७।२ ] इत्युक्तम्, इह त्वन्तःकरणहेतुकत्वमुच्यते, तदेतन्न वैकल्पिकं, सिद्धे तदयोगात्; नापि पुरुषभेदेन विकल्पः, सर्वस्येत्युक्तेः; नापि समुच्चयः, नैरपेक्ष्यप्रतीतेरित्यत्राऽऽह— **सत्त्वशब्द** इति । सामग्रीमध्यपातिषु तत्रतत्रान्यतमनिर्देशो नानुपपन्न इति भावः । 'श्रद्धामयः' इत्यत्र मयटः स्वार्थिकत्वे निष्प्रयोजनत्वात्प्राचुर्यार्थत्वेऽपि प्रकृतानुपयोगाच्छ्रद्धाफलान्वयविवक्षया विकारार्थत्वमाह **श्रद्धापरिणाम** इति । एवं सामान्येन श्रद्धाजन्यफलसम्बन्धित्वमुक्तम्; तत्र 'यो यच्छ्रद्धः' इत्यादिना श्रद्धाविशेषवतः फलविशेषयोग उच्यत इत्याह— **यः पुरुष** इति । श्रद्धान्तरवैधर्म्यद्योतनाय यत्तच्छब्दयोः 'यादृश्या' इत्यादिना प्रकारपरामर्शित्वोक्तिः । 'आयुर्घृतम्' [यजुः २।३।२।२] इत्यादिवत्कार्यकारणभावातिशयविवक्षया 'स एव सः' इति निरूढोऽयमारोप इत्याह **स तादृशश्रद्धापरिणाम** इति । एतेन 'स एव सः' इत्यत्र विधेयभेदाभावात्पुनरुक्तिशङ्काऽपि परिहृता । पुरुषस्य नित्यत्वाद्धर्मभूतज्ञानविकासादेश्चेन्द्रियद्वारा व्यवस्थितत्वात्, देहादेश्चाचित्परिणामविशेषत्वात्किमपेक्ष्य श्रद्धापरिणामत्वोक्तिरित्यत्राऽऽह— **पुण्यकर्मे**ति । फलभेदबुभुत्सया ह्यत्र प्रश्नोदय इति च भावः ॥ ३ ॥

५ **आ. मा. भा.**— सत्त्वानुरूपा चित्तानुरूपा । यो यच्छ्रद्धः स एव सः, सात्त्विकश्रद्धः सात्त्विक इत्यादि ॥ ३ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— सात्त्विकत्वादिभेदेन श्रद्धा त्रिविधेत्युक्ता, पुनः 'सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति' इति वचनं कथं न व्याहतं? इत्यत आह— **सत्त्वेति** । चित्तं चैतन्यम्, जीव इति यावत् । ननु श्रद्धास्वरूपमेव निरूपितम्, न तु तदाश्रित्य जीवस्वरूपं, अतो न सङ्गतमुत्तरमित्यतो येन तदुच्यते तत्पठित्वा व्याचष्टे— **य** इति । इत्यादि ज्ञातव्यमिति शेषः । राजसश्रद्धो राजसः, तामसश्रद्धस्तामस इत्यर्थः ॥ ३ ॥

७ ह. पै. भा.— सत्त्वानुरूपा स्वभावानुरूपा । श्रद्धा प्राचुर्येण यस्मिन्पुरुषे स श्रद्धामयः । सा श्रद्धा या धर्मादावस्तीति बुद्धिः । श्रद्धा या यस्य सात्त्विकी राजसी तामसी वा स यच्छ्रद्धः । स पुरुषः स एव सैव श्रद्धा, तच्छ्रद्धानुरूपकर्मफलभाक् । नन्वेवं तया वै स एव सेति वक्तव्यं, कथं स एव सः ? इति । नायं दोषः, सर्वनाम्ना-( म्नोऽ ) भिधेयवदनूद्यत्वात् अभिधेयतया विवक्षितपुरुषवत् लिङ्गवचनाभावात् ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— प्राग्भवीयान्तःकरणगतवासनारूपनिमित्तकारणवैचित्र्येण श्रद्धावैचित्र्यमुक्त्वा तदुपादानकारणान्तःकरणवैचित्र्येणापि श्रद्धावैचित्र्यमाह– सत्त्वेति । शास्त्रीयविवेकशून्यस्य सर्वप्राणिजातस्यान्तःकरणाख्यसत्त्वानुरूपा श्रद्धा सत्त्ववैचित्र्याद्विचित्रा भवति, सत्त्वप्रधानेऽन्तःकरणे सात्त्विकी, रजःप्रधाने तस्मिन्राजसी, तमःप्रधाने तस्मिंस्तामसी । यत्तु पृष्टम् 'तेषां निष्ठा तु का ?' [ १७।१ ] इति, तत्रोत्तरं शृण्वित्याह— श्रद्धामय इति । अयं शास्त्रीयविवेकशून्यपुरुषः त्रिगुणान्तःकरणसम्पिण्डितः श्रद्धामयः प्राचुर्येणास्मिञ्छ्रद्धा प्रस्तुतेति श्रद्धामयः ' अन्नमयो यज्ञः ' इतिवत्प्राचुर्यार्थे मयट् प्रत्ययः । अतः यो यच्छ्रद्धः सात्त्विकी राजसी तामसी वा या श्रद्धा यस्य स पुरुषः स एव श्रद्धानुरूप एव सात्त्विको राजसस्तामसो वेति । श्रद्धयैवास्य निष्ठा ज्ञातव्येत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

९ ब० त० दी०— तथाहि सत्त्वानुरूपेति । अन्तःकरणधर्मत्वात्सत्त्वानुरूपा अन्तःकरणानुरूपा श्रद्धा भवति; पूर्वसंस्कारानुगतमन्तःकरणं यादृशं तादृशी श्रद्धा येषां शास्त्रज्ञानरहितमन्तःकरणं तेषां श्रद्धाऽपि तथा; येषां न तथा तेषां श्रद्धाऽपि न तथा; परन्तु एतेन शास्त्रविधित्यागात्यागतो वर्त्तते न जीवेषु दैवासुरभावः प्रतीयत इत्यवोचाम श्रद्धा कामकारवृत्तिश्चास्तिक्यमतिरेवेति । सम्प्रदायविदः तेन गुणमयत्वमुपपद्यते यो यादृशश्रद्धः स एव सः, यतोऽयं पुरुषः श्रद्धामयः ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं श्रोतारं श्रवणे सावधानतयाऽभिमुखीकृत्याऽऽह श्रद्धास्वरूपम्— सत्त्वानुरूपेति । हे भारत ! सत्त्वानुरूपा मूलसत्त्वस्य अनुरूपा सदृशा अन्यधर्मास्फूर्तिपूर्वकसर्वसामर्थ्यस्फुरणासक्त्युत्पत्तिप्रसरणादररूपा श्रद्धा सर्वस्य सात्त्विकादित्रयस्य भवति । भारतेतिसम्बोधनं तथात्वज्ञानाधिकारित्वबोधनाय । तर्हि त्रिविधत्वं कथं ? इत्यत आह— श्रद्धामय इति । अयं पुरुषो मदंशोऽपि नरात्मकः श्रद्धामयः श्रद्धाप्रचुरः, स तु यः सात्त्विकादिभेदेन यच्छ्रद्धः यस्य श्रद्धायुक्तो भवति सः स एव तद्रूप एव भवतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु श्रद्धान्वितो भूत्वा "आत्मन्येवात्मानं (पश्यति) पश्येत्" [ बृ. उ. ४।४।२३ + श. ब्रा. १३।६।२।२८ ] इति श्रद्धाया आत्मदर्शने साधनेष्वन्तरङ्गत्वमुच्यते कथं तस्या राजसत्वं तामसत्वं चोच्यते ? इत्यत आह– सत्त्वेति । प्राक्कर्मसंस्कारोपेतं यादृशं बुद्धिसत्त्वं सात्त्विकं राजसं तामसं वा तदनुरूपैव सात्त्विक्यादिरूपा देवतादिपूजासु फलावश्यम्भावनिश्चयात्मिका श्रद्धाऽपि भवति । तथाऽयं पुरुषोऽपि श्रद्धामयः श्रद्धाप्रधानः, यो यच्छ्रद्धो यो यया श्रद्धयोपेतः स एव स इति सात्त्विक्या श्रद्धया उपेतः सात्त्विक एव, राजस्या राजसः, तामस्या तामस इति । एवं सति यदि तातकूपभक्तः पूर्वपुण्यवशात्तातं देववन्मन्यते, तर्हि तं सात्त्विकं पुण्डलीकमिव देवा अनुगृह्णन्ति नित्यकर्मत्यागनिमित्तमपि दोषमस्यापनुदन्ति । यदि त्वेनं मन्त्रादिना सिद्धं पूर्ववासनावशाद्यक्षादिरूपं मन्यते, तदा तं राजसं राजसा यक्षा एवानुगृह्णन्ति । नास्य कामकारवतो नित्यकर्मत्यागजं दोषमपनेतुमर्हन्ति । नहि देवतापराधी यक्षैस्त्रातुं शक्यते । यदि त्वयं प्रेतः पिता मत्कुटुम्बं मा बाधिष्टेति सर्वं धर्मं त्यक्त्वा एनमस्य प्रियं कूपं पूजयामीति मन्यते, तदा तं पितरि प्रेतत्वबुद्धियोगाद्विपर्यस्तं तामसं प्रेता एवानुगृह्णन्ति क्षुद्रभोगैर्देवाश्च नरके पातयन्ति ॥ ३ ॥

सात्त्विक्यादिश्रद्धात्रयस्य ज्ञानम् ।

**यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।**
**प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥**

१ शां. भा.— ततश्च कार्येण लिङ्गेन देवादिपूजया सत्त्वादिनिष्ठाऽनुमेयेत्याह— यजन्त इति । यजन्ते पूजयन्ति सात्त्विकाः सत्त्वनिष्ठा देवान्, यक्षरक्षांसि राजसाः, प्रेतान्भूतगणांश्च सप्तमातृकादींश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥ ४ ॥

२ आ. शां. व्या.— तथापि कथं सत्त्वादिनिष्ठा यथोक्तस्य पुरुषस्य ज्ञातुं शक्या ? इत्याशङ्क्याऽऽह— ततश्चेति । अधिकृतस्य पुरुषस्य श्रद्धाप्रधानत्वादिति यावत् । देवा वस्वादयः, यक्षाः कुबेरादयः, रक्षांसि नैर्ऋतादयः स्वधर्मात्प्रच्युता विप्रादयो देहपातादूर्ध्वं वायुदेहमापन्नाः प्रेताः । एभ्यश्च यथायथमाराध्य देवादयः सात्त्विकराजसतामसान् प्रकामान् प्रयच्छन्तीति सामर्थ्यादवगन्तव्यम् ॥ ४ ॥

३ रा. भा.— तदेव विवृणोति— यजन्त इति । सत्त्वगुणप्रचुराः सात्त्विक्या श्रद्धया युक्ता देवान् यजन्ते; दुःखासम्भिन्नोत्कृष्टसुखहेतुभूतदेवयागविषया श्रद्धा सात्त्विकीत्युक्तं भवति; राजसा जना यक्षरक्षांसि यजन्ते; अन्ये तु तामसा जनाः प्रेतान् भूतगणान् यजन्ते; दुःखसम्भिन्नाल्पसुखजननी राजसी श्रद्धा; दुःखप्रायाऽत्यल्पसुखजननी तामसीत्यर्थः ॥ ४ ॥

४ वे. ता. चं.— प्रक्रान्तश्रद्धायाः सात्त्विकत्वादिविभागोऽनन्तरं सात्त्विकराजसतामसश्रद्धेयैः प्रदर्श्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— तदेव विवृणोतीति । तत् फलविशेषणानां श्रद्धाविशेषाणां श्रद्धाविशेषनिबन्धनत्वमित्यर्थः । पुरुषस्य सत्त्वादयो ह्युपचीयमानाः स्वानुरूपे विषये श्रद्धां जनयन्तीत्यभिप्रायेणाऽऽह सत्त्वगुणप्रचुरा इति । सर्वेषु त्रैगुण्यसंश्रितेषु केनचिद्विशेषेण निर्देशस्तत्प्राचुर्यात् । तत्र सात्त्विक्या श्रद्धयेति पुरुषस्य सात्त्विकत्वकथनेन अर्थसिद्धहेतुकथनम् । श्रद्धाया एव स्वरूपेण निर्दिष्टत्वात् 'तां शृणु' इति श्रद्धास्वभावो हि ज्ञापयितुं विवक्षित इत्यभिप्रायेणाऽऽह दुःखासम्भिन्नेति । आराध्यसायुज्यादिर्हि आराधनानां फलमित्यभिप्रायेण दुःखासम्भिन्नत्वादिकथनम् । एवमुत्तरयोरपि भाव्यम् । तामसानामितरेभ्योऽत्यन्तवैधर्म्यज्ञापनायान्यशब्दः । भूतगणा रुद्रपार्षदादयः ॥ ४ ॥

५ आ. मा. भा.— कः सात्त्विकश्रद्धः ? इत्यादि विभज्याऽऽह— यजन्त इत्यादिना ॥ ४ ॥

६ ज. प्र. दी.— तां शृण्विति प्रतिज्ञातं नोच्यते, 'यजन्ते सात्त्विकाः' इत्यप्रस्तुतं चोच्यत इत्यत आह— क इति । इत्यादि जिज्ञासायामिति शेषः । विभज्य श्रद्धास्वरूपम् । प्रतिज्ञातं श्रद्धात्रैविध्यमेवोच्यते; अतो नासङ्गतिरिति भावः । एतेन सात्त्विका इत्यादेः सात्त्विकश्रद्धा इत्यादिरर्थ उक्तो भवति ॥ ४ ॥

७ ह. पै. भा.— तदेव दर्शयति— यजन्ते इति । यजन्ते पूजयन्ति सात्त्विकाः श्रद्धोपेताः ॥ ४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— श्रद्धा ज्ञाता सती निष्ठां ज्ञापयिष्यति, केनोपायेन सा ज्ञातव्येत्यतो देवताराधनादिलिङ्गेनानुमेयेत्याह— यजन्त इति । जनाः शास्त्रीयविवेकहीना ये स्वाभाविक्या श्रद्धया देवान्सात्त्विकान्यजन्ते ते सात्त्विका ज्ञेयाः । ये यक्षान् राक्षसांश्च राजसान्यजन्ते ते राजसा ज्ञेयाः । ये तु प्रेतान्विप्रादयः स्वधर्मभ्रष्टा मरणानन्तरं वायुशरीरानुल्काम्रुखकटपूतनादिसंज्ञाः प्रेता भवन्तीति मनूक्तान्, तथा भूतगणांश्च तामसान्यजन्ते ते तामसा ज्ञेयाः ॥ ४ ॥

९ व० त० दी.— तत्र प्रथमानाह— यजन्त इति । सात्त्विका सत्त्वश्रद्धाप्रकृतयः प्रामाणिकान्सात्त्विकान् देवान्यजन्ते । एवमन्यत् । तदेवमुक्तं भागवते [१।२।२७] 'रजस्तमःप्रकृतयः समशीलान् भजन्ति वा' इत्येते शास्त्रविधिमुत्सृज्य त्रिधा यजन्तो दैवा आसुराश्चोक्ताः ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— तदेव प्रपञ्चयति— यजन्त इति । सात्त्विका जना देवान् सूर्येन्द्रादीन् यजन्ते पूजयन्ति; राजसाः पुनः यक्षान् धनदाधिष्ठितराक्षसान् यजन्ते । अन्ये सत्त्वसम्बन्धरहितास्तामसा जनाः प्रेतान् भूतगणांश्च यजन्ते तत्तत्पूजारुच्यैव ते तद्रूपा ज्ञातव्या इत्यर्थः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— कुत एतदेवं कल्प्यते ? यस्मात्सात्त्विकादयो देवादीनेव यजन्त इत्याह— यजन्त इति । यजन्ते पूजयन्ति ॥ ४ ॥

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः ।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः ।
मां चैवान्तश्शरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

**१ शां. भा.**— एवं कार्यतो निर्णीताः सत्त्वादिनिष्ठाः शास्त्रविध्युत्सर्गे; तत्र कश्चिदेव सहस्रेषु देवपूजादितत्परः सत्त्वनिष्ठो भवति, बाहुल्येन तु रजोनिष्ठास्तमोनिष्ठाश्चैव प्राणिनो भवन्ति । कथम्? **अशास्त्र**मिति । अशास्त्रविहितं न शास्त्रविहितमशास्त्रविहितं, घोरं पीडाकरं प्राणिनामात्मनश्च, तपस्तप्यन्ते निर्वर्तयन्ति ये जनास्ते च दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः दम्भश्चाहङ्कारश्च दम्भाहङ्कारौ, ताभ्यां संयुक्ताः दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः, कामरागबलान्विताः कामश्च रागश्च कामरागौ, तत्कृतं बलं कामरागबलं, तेनान्विताः कामरागबलैर्वाऽन्विताः ॥ ५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ननु सत्त्वादिनिष्ठाः शास्त्रेण ज्ञातुं शक्यन्ते कुतं कार्यलिङ्गकानुमानेनेति तत्राऽऽह— **एव**मिति । सत्त्वादिनिष्ठानां जन्तूनामवान्तरविशेषं प्रचुरत्वाप्रचुरत्वरूपं दर्शयति— **तत्रे**त्यादिना । राजसानां तामसानां च प्राचुर्यं प्रश्नद्वारा विवृणोति— **कथमि**त्यादिना । कामश्च काम्यमानविषयो रागश्च तद्विषयभोगाभिलाषस्तत्कृतं तत्प्रयुक्तं तन्निमित्तमिति यावत् ॥ ५ ॥

**१ शां. भा.**— **कर्शयन्त** इति । कर्शयन्तः कृशीकुर्वन्तः शरीरस्थं भूतग्रामं करणसमुदायमचेतसोऽविवेकिनः, मां चैव तत्कर्मबुद्धिसाक्षिभूतमन्तश्शरीरस्थं कर्शयन्तो मदनुशासनाकरणमेव मत्कर्शनं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्, आसुरो निश्चयो येषां त आसुरनिश्चयास्तान्परिहरणार्थं विद्धीत्युपदेशः ॥ ६ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— रजोनिष्ठान्प्राधान्येन प्रदर्श्य तमोनिष्ठान्प्राधान्येन दर्शयति— **कर्शयन्त** इति । कथं शरीरादिसाक्षिणमीश्वरं प्रति कृशीकरणं प्राणिनां प्रकल्प्यते? तत्राऽऽह— **मदनुशासने**ति । तेषां विपर्यासनिश्चयवतां परिज्ञानं कुत्रोपयुज्यते? तत्राऽऽह— **परिहरणार्थ**मिति ॥ ६ ॥

**३ रा. भा.**— एवं शास्त्रीयेष्वेव यागादिषु श्रद्धायुक्तेषु गुणतः फलविशेषः, अशास्त्रीयेषु दानतपोयागप्रभृतिषु मदनुशासनविपरीतत्वेन न कश्चिदपि सुखलवः, अपित्वनर्थ एवेति हृदि निहितं व्यञ्जयन्नाह— **अशास्त्रे**ति । अशास्त्रविहितमतिघोरमपि तपो ये जनाः तप्यन्ते— प्रदर्शनार्थमिदम्— अशास्त्रविहितं बह्वायासं यागादिकं ये कुर्वते ते दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः शरीरस्थं पृथिव्यादिभूतसमूहं कर्शयन्तो मदंशभूतं जीवं चान्तश्शरीरस्थं कर्शयन्तो ये तप्यन्ते यागादिकं च कुर्वते, तानासुरनिश्चयान्विद्धि; असुराणां निश्चय आसुरो निश्चयः; असुरा हि मदाज्ञाविपरीतकारिणः; मदाज्ञाविपरीतकारित्वात्तेषां सुखलवसम्बन्धो न विद्यते; अपित्वनर्थव्राते पतन्तीति पूर्वमेवोक्तं 'पतन्ति नरकेऽशुचौ' [ १६।१६ ] इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमर्थात्प्रश्नस्य निषेधः कृतः; अथ कण्ठोक्त्येत्यभिप्रायेणाऽऽह— **एव**मिति । 'न स सिद्धिम्' [ १६।२३ ] इत्यादिप्रागुक्तस्मारणाय **न कश्चिदपि सुखलव** इत्युक्तम् । **अपित्वनर्थ एवे**त्यनेन पूर्वोक्तनरकपतनस्मारणम् । प्रश्नवाक्यगतश्रद्धान्वितत्वानुभाषणविवक्षया तत्कार्यातिप्रयासज्ञापनपरो घोरशब्द इत्यभिप्रायेणाऽऽह **अतिघोरमपी**ति । ननु 'यजन्ते श्रद्धयाऽन्विताः' [ ९।२३ ] इति यागविषये प्रश्ने तप्यन्त इति तपसोत्तरं कथं सङ्गच्छते? इत्यत्राऽऽह **प्रदर्शनार्थमिद**मिति । सङ्ग्राहकाकारं दर्शयन् फलितमाह **अशास्त्रविहित**मिति । वेदबाह्यागमोक्तं वैदिकमप्यनधिकारिभिर्देशकालद्रव्यक्रियादिनियमानादरेणायथानुष्ठितं चाशास्त्रविहितम् । दारुणपर्यायघोरशब्दाभिप्रेतमाह **बह्वायास**मिति । **यागादिक**मित्यनेन प्रश्नेऽपि यागग्रहणं प्रदर्शनार्थमिति ज्ञापितम् । अत एव हि प्रश्नोत्तरयोरेकविषयत्वम् ।

शास्त्रैरचोदितानां चोदकान्तरमुच्यते— **दम्भाहङ्कारसंयुक्ता** इत्यादिना । बलमत्र कामरागयुक्तत्वादसात्त्विकम् । 'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्' [ ७।११ ] इति हि प्रागुक्तम् । न केवलं परत्र नरकम्; अपित्विहापि कायकर्शनमित्यभिप्रायेण शरीरस्थभूतसमूहकर्शनोक्तिः । 'अन्तर्याम्यमृतः' [ बृ. उ. ३।७।३—२३ ] "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति" [ मुं. उ. ३।१।१ ] 'न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि' [ ब्र. सू. ३।२।११ ] इत्यादिभिः परमात्मनः स्वरूपतो धर्मतो वा कर्शनासम्भवात् । सम्भवे च शास्त्रविहितोपवासादिभिरपि प्रसङ्गाच्छरीरकर्शनेन च शरीरिणां क्षेत्रज्ञानां ज्ञानसुखादिसङ्कोचरूपस्य कर्शनस्य श्रुतिस्मृतिलोकसिद्धत्वात् 'अन्तश्शरीरस्थम्' इत्यनेन शरीरावच्छिन्नक्षेत्रज्ञत्वसूचनात् 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।३ ] 'ममैवांशः' [ १५।७ ] इति प्रागुक्तप्रक्रियया सर्वशरीरकपरमात्मविशेषणांशभूतजीवविवक्षयाऽत्र मामिति निर्देश इत्याह **मदंशभूतं जीवमिति** । मच्छरीरभूतजीवपीडनं मत्पीडनतुल्यमिति दोषातिशयसूचनार्थोऽयमुपचारः । शास्त्रोल्लङ्घनेनात्मपीडनरूपमपि पापमेषामायातमित्यभिप्रायः । यज्ञस्य स्वतो याज्यभावनत्वाच्छास्त्रीयप्रकारविरहेऽपि नात्यन्तविकलता; तपसस्तु स्वतः सर्वकर्शनतया शास्त्रीयप्रकाराभावे भावनत्वं न स्यादिति हैतुकप्रायाणां विभागं प्रतिक्षेप्तुमाह **यागादिकं चेति** । आसुरो निश्चयो येषां तेऽत्रासुरनिश्चयाः; तत्र तद्धितस्येह सम्बन्धमात्रपरतामाह **असुराणामिति** । तदभिप्रेतनिश्चयस्य विशेषं व्यञ्जयितुमाह **असुरा हीति** । आसुरनिश्चयत्वख्यापनं प्रागुक्तानर्थपर्यवसानप्रकाशनायेत्याह **मदाज्ञाविपरीतकारित्वादिति** । 'आसुरनिश्चयान्' इत्येतावता कथमयमर्थः सिद्ध्येत्? इत्यत्राऽऽह— **पूर्वमेवेति** ॥ ५ ॥ ६ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ५ ॥ भगवत्कर्शनं नामाल्पदृष्टिरेव "यो वै महान्तं परमं पुमांसं नैवं द्रष्टा कर्शकः सोऽतिपापी" इत्यनभिम्लानश्रुतिः । आसुरो निश्चयो येषां त आसुरनिश्चयाः । "देवास्तु सात्त्विकाः प्रोक्ता दैत्या राजसतामसाः" इत्याग्निवेश्यश्रुतिः ॥ ६ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ५ ॥ ननु निर्विकारस्य भगवतः कथं मां चैवान्तश्शरीरस्थं कर्शयन्तः ? इति कर्शनमुच्यत इत्यत आह— **भगवदिति** । 'प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलम्' इति वचनात् दृष्टिरपि णेरर्थ इति भावः । मां चैव जीवरूपेणान्तश्शरीरस्थमिति व्याख्यानं तु सम्यग्व्याख्यानेनैव परास्तम्; जीवरूपत्वदर्शनस्यैव कृशीकरणत्वात् । मदनुशासनाकरणमेव मत्कर्शनमिति व्याख्यानिरासार्थमेवेत्युक्तं अशाब्दत्वात् । उक्तव्याख्याने श्रुतिसम्मतिं चाह— **य** इति । नैवं महत्त्वविरुद्धम् । द्रष्टेति तृन्नन्तम् । कर्शकस्तस्योच्यत इति शेषः । कर्मधारयत्वशङ्कानिरासार्थमाह— **आसुर** इति । निश्चयः श्रद्धा । कर्मधारयपक्षे हि सामानाधिकरण्यं गौणमिति कल्प्यम्; मत्वर्थीयप्रत्ययो वा; तथा च गौरवमिति भावः । ननु प्रकरणात्तामसनिश्चयानिति वक्तव्यम्, आसुरनिश्चयानिति कथमुक्तं ? इत्यत आह— **देवास्त्विति** । सात्त्विका देवाः देवपर्यायवाच्याः प्रोक्ताः । राजसास्तामसाश्च दैत्याः दैत्यपर्यायवाच्याः प्रोक्ता इत्यर्थः ॥ ६ ॥

**७ इ. पै. भा.— अशास्त्रेति** ॥ ५ ॥ **कर्शयन्त इति** । कर्शयन्तस्तनूकुर्वन्तः । भूतग्रामं पृथिव्यादिसङ्घातम् । शरीरान्तरस्थं मां कर्शयन्त इति । आसुरो निश्चयो येषां त आसुरनिश्चयास्तामसा इत्यर्थः ॥ ६ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** राजसतामसानिन्दति तत्प्रकृतिपरिहाराय द्वाभ्याम्— **अशास्त्रेति** । ये जनाः अशास्त्रविहितं शास्त्रेण श्रुतिस्मृत्यादिनाऽविहितम्, अशास्त्रेणावैदिकपाषण्डशास्त्रेण विहितमिति वा, घोरं स्वस्य परेषां च पीडाकरं तपः तप्यन्ते कुर्वन्ति । तत्र हेतवः— **दम्भाहङ्कारेत्यादि** । दम्भो धार्मिकत्वप्रख्यापनम्, अहङ्कारः 'अहमेव श्रेष्ठः' इत्यभिमानः, ताभ्यां संयुक्ताः; तथा कामे काम्यमानविषये यो रागस्तन्निमित्तं बलमत्युग्रदुःखसहनसामर्थ्यं 'इदमवश्यं सम्पादयिष्यामि' इत्याग्रहो वा, तेनान्विताः; अत एव बलवद्दुःखदर्शनेऽप्यनिवृत्तत्वाच्छरीरस्थं भूतग्रामं कर्शयन्तः शरीराकारेण परिणतं पृथिव्यादिभूतसमुदायं वृथैवोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः; मां च अन्तश्शरीरे जीवरूपेण स्थितं भोग्यशरीरकृशीकरणेन कर्शयन्तः अचेतसः विवेकशून्याः; एवम्भूता ये तप्यन्ते, तानासुरनिश्चयान्विद्धि, मनुष्यत्वेन प्रतीयमानानप्यसुरकार्यकारित्वादसुरानेव जानीहीत्यर्थः । असुरत्वजातिरहितानां मनुष्याणां कर्मणैवासुरत्वात्तानासुरनिश्चयानित्युक्तम्, तानसुरान्विद्धीति तु साक्षान्नोक्तम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

**९ व० त० दी०—** तेष्वपि पूर्ववद्विशेषमाह— **अशास्त्रविहितमिति** द्वाभ्याम् । शास्त्रीयं पूर्वमुक्तम् । ये तु जना शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामकारतः येषां कामकार एव हेतुस्तत एव तपस्तप्यन्ते शम्बुकादिवत् तानासुरनिश्चयान् विद्धीत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५ ॥ एवं च कर्षयन्त इति । कृशं कुर्वन्तो मां च मदाज्ञोल्लङ्घनतोऽन्तश्शरीरस्थं

अन्तर्यामिस्वरूपं कर्षयन्तो विदूरयन्तस्तान्निश्चयेनासुरान्विद्धीति। परनिपात ऐच्छिकः। आसुरो निश्चयो येषां तानिति वा॥ ६॥

१० पु. अ. त.— अथ सात्विकानामपि देवादिपूजननिश्चयोऽप्यासुर एव, अनुक्तत्वादित्याह द्वयेन अशास्त्रेति। ये जनाः जननादिक्लेशेन अज्ञाः अशास्त्रविहितं अन्धपारम्पर्यगतं शास्त्रनिषिद्धं वा दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः परप्रतारणस्वोत्तमत्वख्यापनाज्ञानाभ्यां देवताप्रसादार्थं सात्विकवदाभासमानं निश्चयेन तपः देहक्लेशं अभोजनादिना ये तप्यन्ते कुर्वन्ति। ये च घोरं यक्षादिप्रसादरूपं राज्यधनाद्यपेक्षार्थं तपः कुर्वन्ति। कामरागबलान्विताः, कामो विषयाभिलाषः, रागो भोगासक्तिः, बलमाग्रहस्तैरन्विताः प्रेरिताः सन्तः॥ ५॥

किञ्च— कर्षयन्त इति। भूतग्रामं पृथिव्यादिसमूहं शरीरस्थं भगवत्क्रीडार्थमास्थितं देहे कर्षयन्तः भगवत्तोषादिरहितव्रतोपवासादिभिः कृशं कुर्वन्तः, अचेतसः ज्ञानशून्याः मां च स्वलीलार्थं प्रेरकत्वेन अन्तश्शरीरस्थं शरीरमध्ये स्थितं भजनादिरूपमदाज्ञोल्लङ्घनेन मदंशं कर्षयन्तः क्लेशयन्तः पूर्वोक्तरीत्या ये तपः कुर्वन्ति तान् आसुरनिश्चयान् आसुरो मत्प्रतिपक्षरूपो निश्चयो येषां तादृशान् विद्धि जानीहि। एतेन ये मत्सम्बन्धरहिततपस्यादिधर्मानपि कुर्वन्ति ते त्याज्या एवेति ज्ञापितम्॥ ६॥

११ नी० भा० दी०— सात्विकानां दौर्लभ्यमभिप्रेत्याऽऽह— अशास्त्रेति। शास्त्रं वेदादि, तद्विरोधिना कौलिकाद्यागमेन विहितं घोरं स्वमांसहोमेन ब्राह्मणलोहितादिना वा देवतासन्तर्पणाद्यात्मकं ये जनास्तपस्तप्यन्ते, तानासुरनिश्चयान्विद्धीति द्वयोः सम्बन्धः। दम्भो धर्मध्वजित्वं, अहङ्कारः स्वस्मिन् पूज्यताबुद्धिस्ताभ्यां संयुक्ताः, कामरागो विषयाभिलाषः। बलं साहसेनापि विषयसाधने उत्साहस्ताभ्यामन्विताः॥ ५॥

कर्शयन्तः कृशं कुर्वन्तः भूतग्रामं करणसमूहं अचेतसो मूढाः मां चान्तश्शरीरस्थं भोक्तृरूपेण शरीरान्तस्थं मां परमेश्वरं वा भोग्यस्य शरीरस्य कृशीकरणेन मदाज्ञालङ्घनेन वा कृशीकुर्वन्तः तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥ ६॥

आहारादीनां विवरणप्रतिज्ञा।

## आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
## यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु॥ ७॥

**१ शां. भा.**— आहाराणां च रस्यस्निग्धादिवर्गत्रयरूपेण भिन्नानां यथाक्रमं सात्विकराजसतामसपुरुषप्रियत्वदर्शनमिह क्रियते— रस्यस्निग्धादिष्वाहारविशेषेष्वात्मनः प्रीत्यतिरेकेण लिङ्गेन सात्विकत्वं राजसत्वं तामसत्वं च बुद्ध्वा रजस्तमोलिङ्गानामाहाराणां परिवर्जनार्थं सत्त्वलिङ्गानां चोपादानार्थम्, तथा यज्ञादीनामपि सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिविधत्वप्रतिपादनमिह 'राजसतामसान्बुद्ध्वा कथं नु नाम परित्यजेत् सात्विकानेवानुतिष्ठेत्' इत्येवमर्थमाह— **आहार** इति। आहारस्त्वपि सर्वस्य भोक्तुः प्राणिनस्त्रिविधो भवति प्रिय इष्टः, तथा यज्ञः, तथा तपः, तथा दानम्, तेषामाहारादीनां भेदमिमं वक्ष्यमाणं शृणु॥ ७॥

२ आ. शां. व्या.— उत्तरश्लोकपूर्वार्धतात्पर्यमाह— **आहाराणामिति**। रस्यादिवर्गस्य सात्विकपुरुषप्रियत्वं कट्वादिवर्गस्य राजसप्रियत्वं यातयामादिवर्गस्य तामसप्रियत्वमिति दर्शनं कुत्रोपयुज्यते? तत्राऽऽह— **रस्येति**। श्लोकोत्तरार्धतात्पर्यमाह— **तथेति**। आहारत्रैविध्यवदिति यावत्। कथमेतेषां प्रत्येकं त्रैविध्यम्? तत्राऽऽह— **तेषामिति**॥ ७॥

**३ रा. भा.**— अथ प्रकृतमेव शास्त्रीयेषु यज्ञादिषु गुणतो विशेषं प्रपञ्चयति; तत्राप्याहारमूलत्वात् सत्त्वादिवृद्धेराहारत्रैविध्यं प्रथममुच्यते; "अन्नमयं हि सोम्य मनः" [छां. उ. ६।५।४+६।६।५+६।७।६] "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" [छां. उ. ७।२६।२] इति हि श्रूयते। आहारोऽपि सर्वस्य प्राणिजातस्य सत्त्वादिगुणत्रयान्वयेन त्रिविधः प्रियो भवति; तथैव यज्ञोऽपि त्रिविधः, तथा तपो दानं च; तेषां भेदमिमं शृणु— तेषामाहारयज्ञतपोदानानां सत्त्वादिगुणभेदेनेममुच्यमानं भेदं शृणु॥ ७॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमुत्तरे प्रतिषेधरूपेऽर्थतः कण्ठोक्त्या च दत्ते पुनराहारादित्रैविध्यवर्णनमबुभुत्सितोपन्यासः स्यादित्यत्राऽऽह— **अथ प्रकृतमेवेति**। **अयमभिप्रायः**— अशास्त्रीयेषु सत्त्वादिनिष्ठामूलफलभेदे बुभुत्सिते शास्त्रीयेष्वेवायमिति प्रत्युक्तम्। तत्र श्रद्धातद्वतां श्रद्धेयानां च गुणतो विभाग उपन्यस्तः। तच्छ्रवणादेव तत्तुल्ययोगक्षेमेषु सर्वेषु बुभुत्सा बीभत्सो-

र्जायते। अतएव तद्भेदोपन्यासः— इति। **प्रपञ्चयती**त्यनेन पौनरुक्त्यशङ्काऽपि परिहृता। यज्ञतपःप्रभृतिषु शास्त्रीयेषु तिष्ठत्सु रागप्राप्तस्याहारस्य प्रथमोपदेशः केनाभिप्रायेणेत्यत्राऽऽह **तत्रे**ति। 'वृद्धिः समानैः सर्वेषां विपरीतैर्विपर्ययः' [अ. हृ. सू. १।१४] इत्यायुर्वेदोक्तन्यायसञ्चाराद्‍ाप्यायकद्रव्यगुणानुसारेणान्तःकरणादेः सत्त्वादिवृद्धिः श्रौतीत्यभिप्रायेण **अन्नमय**मिति। आहारस्य सत्त्वस्य चात्र रजस्तमोराहित्यं शुद्धिः। अपिशब्दः प्रागुक्तश्रद्धेयदेवतादिभेदवत्सात्त्विकादिविभागानुकर्षणार्थः। 'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' [१५।१४] इति प्रागुक्तचातुर्विध्याविरोधाय चतुर्विधेऽप्येतद्गुणकृतत्रैविध्यमिहोच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **सत्त्वादिगुणत्रयान्वये**नेति। 'त्रिविधः' इति सामान्यतो विभागेऽपि विशेषतो वक्ष्यमाणाकारापेक्षयेदमुच्यत इत्याह **सत्त्वादिभेदेनेम**मिति। वक्ष्यमाणस्यात्रासत्त्या वर्तमानव्यपदेश इत्याह **उच्यमान**मिति। गुणानां स्वविशिष्टानुभवजनितवासनाद्वारा स्वानुरूपविषयरुचिजननात्तत्तदाहाराणां तत्तद्गुणविशिष्टप्रियत्वम्॥ ७॥

**५ आ. मा. भा.**—॥ ७॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ७॥

**७ ह. पै. भा.**— इदानीं सात्त्विकराजसतामसानां प्राणिनामाहारं दर्शयितुमाह— **आहारस्त्वि**वति। आह्रियत इत्याहारोऽभ्यवहार्यम्, सर्वस्य सात्त्विकराजसतामसस्य प्राणिनस्त्रिविधस्त्रिप्रकारः सात्त्विको राजसस्तामसश्चेति भवति जायते प्रियोऽभिमतः। तथा तद्वत्त्रिविधस्य प्राणिनस्त्रिविधः सात्त्विको राजसस्तामसो यज्ञः प्रियो भवति। तथा तपस्तथा दानम्। तेषामाहारयज्ञतपोदानानां भेदमिमं सात्त्विकराजसतामसलक्षणं शृण्वाकर्णय॥ ७॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं राजसास्तामसाश्चासुराः, सात्त्विकास्तु देवा इति स्थिते, कथमिदं सात्त्विकत्वं लभ्यं? इत्याकाङ्क्षायाम्, "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः" [छां. उ. ७।२६।२] "अन्नमयं हि सोम्य मनः" [छां. उ. ६।५।४] इत्यादिश्रुतेः, आहारशुद्धिप्रयुक्तं सत्त्वप्रवर्धनं तावत्सात्त्विकत्वोपायः, तथा सत्त्वमयानि यज्ञदानतपांसि चेति दर्शयितुमाहारादिभेदान्वक्तुं प्रतिजानीते— आहार इति। आह्रियत इत्याहारोऽन्नादिः सोऽपि श्रद्धावत्सर्वस्य त्रिगुणात्मनः प्राणिजातस्य प्रियस्त्रिविध एव भवति, तथा यज्ञादयोऽपि; तेषां वक्ष्यमाणमिमं भेदं शृणु॥ ७॥

**९ व० त० दी०**— अथ पुनरपि प्रकृतमेव शास्त्रीयेषु वैदिकेषु यागादिषु गुणभेदतोऽपि विशेषं प्रपञ्चयति लौकिकेषु त्वाहारमूलत्वात्सत्त्वादिवृद्धेरित्याह— आहारस्त्विवति। त्रिविधः प्रियः। तथा यज्ञस्तपो दानं चेति त्रितयं श्रौतशास्त्रीयं तेषां भेदमिमं वक्ष्यमाणं शृणु॥ ७॥

**१० पु. अ. त.**— एवं धर्मभेदानुक्त्वा आहारादिभेदेनापि तद्भेदज्ञानमाह— आहारस्त्वित्यर्थः। तु पुनः आहारोऽपि सर्वस्य त्रिविधस्य लोकस्य त्रिविधः सात्त्विकादिरूपः प्रियो भवति। तथा यज्ञो यजनं, तपः देहादिक्लेशः, दानं, तेषां भेदं अग्रे मया प्रोच्यमानमिमं शृणु॥ ७॥

**११ नी० भा० दी०**— अत्र सात्त्विकानां श्रद्धाराध्याहारयज्ञतपोदानानां परिग्रहार्थं राजसतामसानां वर्जनार्थं च तेषां प्रत्येकं त्रैविध्यं विधीयते। तत्रापि श्रद्धात्रैविध्यमाराध्यत्रैविध्यं च प्रागेवोक्तम्। आहारादीनां त्रैविध्यं प्रतिज्ञापूर्वकमाह— आहारस्त्विवति। आह्रियत इत्याहारोऽन्नम्। अतःपरं प्रायेण पदार्थः स्पष्टः, तथापि कचित्कचित्किञ्चित्किञ्चिद्व्याख्यायते॥ ७॥

सात्त्विकादिभेदक्रमेण त्रिविधा आहाराः।

***आयुस्सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः।**
**रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥**

**१ शां. भा.**— आयुरिति। आयुश्च सत्त्वं च बलं चाऽऽरोग्यं च सुखं च प्रीतिश्च तासां विवर्धना आयुस्सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः, ते च रस्या रसोपेताः, स्निग्धाः स्नेहवन्तः, स्थिराश्चिरकालस्थायिनो देहे, हृद्या हृदयप्रिया आहाराः सात्त्विकप्रियाः सात्त्विकस्येष्टाः॥ ८॥

* नाभिस्थः प्राणपवनः स्पृष्ट्वा हृत्कमलान्तरम्। कण्ठाद्बहिर्विनिर्याति पातुं विष्णुपदामृतम्॥ पीत्वा चाम्बरपीयूषं पुनरायाति देहिनम्। प्रीणयन्देहमखिलं जीवयञ्जठरानलम्। शरीरप्राणयोरेवं व्यापारादायुरुच्यते॥ [शा. सं. पू. खं. ५।४८-५०]

२ आ. शां. व्या.— सात्त्विकप्रीतिविषयमाहारविशेषमुदाहरति— आयुरिति । आयुर्योगजीवनं, सत्त्वं चित्तस्थैर्यं वीर्यं वा, बलं कार्यकरणसामर्थ्यम्, आरोग्यं नीरोगता, सुखमन्तराह्लादः, प्रीतिः परेषामपि सम्पन्नानां दर्शनात्परमो हर्षः, तासां विवर्धना विवर्धयन्तीति व्युत्पत्तेः । रसोपेता रसयितव्याः सरसाः । देहे चिरकालस्थायित्वं चिरतरं शरीरोपकारहेतुत्वम् ॥ ८ ॥

३ रा. भा.— सत्त्वगुणोपेतस्य सत्त्वमया आहाराः प्रिया भवन्ति; सत्त्वमयाश्चाहारा आयुर्विवर्धनाः, पुनरपि सत्त्वस्य विवर्धनाः; सत्त्वमन्तःकरणम्, अन्तःकरणकार्यं ज्ञानमिह सत्त्वशब्देनोच्यते, 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' [१४।१७] इति सत्त्वस्य ज्ञानविवृद्धिहेतुत्ववचनात्; आहारोऽपि सत्त्वमयो ज्ञानविवृद्धिहेतुः; तथा बलारोग्ययोरपि विवर्धनाः, सुखप्रीत्योरपि विवर्धनाः परिणामकाले स्वयमेव सुखस्य विवर्धनाः; तथा प्रीतिहेतुभूतकर्मारम्भद्वारेण प्रीतिविवर्धनाः; रस्याः मधुररसोपेताः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः स्थिरपरिणामाः, हृद्याः रमणीयविशेषाः, एवंविधाः सत्त्वमया आहाराः सात्त्विकस्य पुरुषस्य प्रियाः ॥ ८ ॥

४ वे. ता. चं.— आयुर्विवर्धनत्वादय आहारगुणाः केचिदायुर्वेदादवगन्तव्याः, केचिच्छास्त्रनिरपेक्षाः प्रत्यक्षत एव सिद्धाः; पूर्वमेव सत्त्वविवृद्ध्या हि सात्त्विकाहाररुचिरित्यभिप्रायेणाऽऽह— पुनरपीति । आयुषः सर्वपुरुषार्थनिष्पादनोपयोगित्वेन प्रथमग्रहणम्; सत्त्वस्य तु विशेषतो मुमुक्षोरपेक्षितत्वात्तदनन्तरोक्तिः । "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः" [छां. उ. ७।२६।२] इति श्रुतेरुपबृंहणार्थत्वादाहारसाध्यसत्त्वविवृद्धिज्ञानपर्यन्तेत्यभिप्रायेण ज्ञाने सत्त्वशब्दमुपचारयितुं तत्कारणे तावदवतारयति— सत्त्वमन्तःकरणमिति । 'द्रव्यासुव्यवसायेषु सत्त्वमस्त्री तु जन्तुषु' [अमरः३।३।२१२] इति ज्ञानविशेषे च सत्त्वशब्दः प्रयुक्तचर इत्यभिप्रायेणाऽऽह— अन्तःकरणकार्यं ज्ञानमिति । इह— आहारशुद्धिश्रुत्युपबृंहणदशायामित्यर्थः । यथा तत्तद्द्रव्यगतानां रसादीनां शरीरधात्वादिपोषकत्वेन शास्त्राभिहिततत्तद्द्रव्याणामपि तथा व्यपदेशः; तथेहापि सत्त्वगुणस्य ज्ञानविवृद्धिहेतुत्वे तदाश्रयस्याहारद्रव्यस्यापीत्यभिप्रायेणाऽऽह— सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानमिति । बलारोग्ययोः सुखप्रीत्योश्च निरन्तरपाठः समुच्चित्य प्रवृत्त्या परस्पराविनाभावविवक्षयेत्यभिप्रायेण बलारोग्ययोः सुखप्रीत्योरिति द्वन्द्वविभजनम् । बलमिह प्राणाङ्ग्योरुपचयः; आरोग्यं धातुसाम्यादि । कर्मदोषाग्निधातुवैषम्येण हि रोगाः प्रादुष्पतन्ति । तस्य रस्यत्वहृद्यत्वाभ्यां तादात्विकसुखजनकत्वसिद्धेस्तत्पौनरुक्त्यपरिहाराय सुखवर्धकत्वं परिणामकाल इति विशेषितम् । प्रीतिवर्धकत्वाद्भेदप्रदर्शनाय स्वयमेवेत्यद्वारकत्वोक्तिः । यथोन्मादादिहेतुभूतानि द्रव्याणि भक्षितानि लोकोद्वेगादिजनककर्मद्वारा पुरुषस्याप्रीतिं वर्धयन्ति; तथा सत्त्वहेतुभूतान्यपि मङ्गलेषु लोकोपकारकेषु परलोकादिहितेषु च कर्मसु प्रचोद्य तद्द्वारेण प्रीतिं जनयन्तीत्यभिप्रायेणाऽऽह प्रीतिहेतुभूतकर्मारम्भद्वारेणेति । 'कट्वम्ल-' इत्यादिना [१७।९] रसान्तराणामसात्त्विकत्वेन वक्ष्यमाणत्वात्तत्प्रयोगप्राचुर्यानुसाराच्च अत्र रसशब्दो रसविशेषविषय इत्याह— मधुररसोपेता इति । अनेन प्रत्ययस्यात्र सम्बन्धमात्रोपलक्षकतापि दर्शिता । रस्यन्त इति वा रस्याः । तत्र मधुररसोपेता इति कारणोक्तिः । माधुर्यं हि रसान्तरेभ्यः शरीरस्थितौ विशेषेण हेतुर्भवति । यथोक्तं वाग्भटेन—' रसाः स्वाद्वम्ललवणतिक्तोषणकषायकाः । षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहाः ' [अ. हृ. सू. १।१४;१५] इति । भोजनं च स्वस्थस्य मधुररसप्रायतया नियम्यते—'षड्रसान्मधुरप्रायान्नातिद्रुतविलम्बितम्' [अ.हृ.सू. ७।३६] इति । सायनादि कालेषु च मधुर एवैको विधीयते । एवं स्नेहयुक्ताहारोऽपि रौक्ष्यविरोधी रूक्षेण वायुना शरीरस्यापि विशरारुतां वारयतीत्यप्यायुर्वेदावसितम् । अयमान आहारे स्वरूपस्थैर्यस्यासम्भवादगुणत्वाच्च शरीराख्यसङ्घातस्थैर्यहेतुभूतरसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जाशुक्राख्यधातुसप्तकरूपपरिणामस्य बलादेश्च स्वसाध्यस्य चिरकालस्थायित्वलक्षणं स्थैर्यं विवक्षितमित्याह— स्थिरपरिणामा इति । उपयोगात्पूर्वमेव जुगुप्सनीयसन्निवेशरूपविशेषादिविरहात्सन्दर्शनमात्रेणापि प्रीतिजनकत्वमिह हृद्यत्वमित्याह रमणीयविशेषा इति । येषु धर्मशास्त्रायुर्वेदयोरुभयोरपि साङ्गत्यं, तेषां सर्वेषामिदमुपलक्षणमित्यभिप्रायेणाऽऽह एवंविधा इति । एतेन प्रागुक्तयुक्ताहारत्वं च विवृतम् ॥ ८ ॥

५ आ. मा. भा.— प्रीतिरनन्तरिका । हृद्यत्वं दर्शने । स्थिराश्च न तदैव पक्वा भवन्ति । तथा ह्याज्यादयः ॥ ८ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'प्रीतिविवर्धनाः हृद्याः' इत्येतयोरर्थभेदमाह— प्रीतिरिति । अनन्तरिकेति ठन्प्रत्ययान्तम् सेवाव्यवहितकाल इत्यर्थः । 'प्रियं तत्कालसौख्यदं' इति वचनात् । दर्शनेऽनुभवे सति पश्चादपि यन्मनोहारित्वं तद्धृद्यत्वम् । 'हृद्यं पश्चान्मनोहारि' इति वचनादित्यर्थः । आहाराणां क्षणिकानामभावात्कथं स्थिराः ? इति विशेषणमित्यत आह— स्थिराश्चेति । चस्त्वर्थः । प्रसिद्धं स्थैर्यं व्यावर्तयति । तदैवाचिरकाल एव पक्वा निर्वृत्तपाकाश्चिरकालं देहे गुणप्रदा इत्यर्थः । असम्भवपरिहाराय तानुदाहरति तथा हीति ॥ ८ ॥

७ ह. पै. भा.— आयुरिति। आयुर्जीवनकालः। सत्त्वं प्रकृतिः पूर्वसंस्कारः। बलं प्राणवायोः स्थैर्यम्, सुखमानन्दः, सन्तोषः प्रीतिस्तेषां विवर्धनाः। रस्या मधुराः। स्निग्धाः स्नेहवन्तः। स्थिराः दीर्घकालपरिणामिनः। हृद्या दर्शनमात्रेण प्रीतिहेतवः। एवम्भूता आहाराः स्वयं सात्त्विकाः सात्त्विकस्य प्रिया भवन्ति॥ ८॥

८ वें. ब्र. गि.— तत्राहारभेदमाह त्रिभिः— आयुरिति। आयुश्चिरजीवनम्, सत्त्वं चित्तस्थैर्यम्, बलं स्वोचितकार्ये श्रमाभावप्रयोजकः शरीरसामर्थ्यविशेषः, आरोग्यं व्याध्यभावः, सुखं भोजनानन्तराह्लादस्तृप्तिः, प्रीतिः सन्तोषविशेषः, तेषां विवर्धनाः विशेषेण वृद्धिहेतवः; रस्या रसोपेताः, मधुररसप्रधाना इति यावत्; स्निग्धाः सहजेनागन्तुकेन वा स्नेहेन युक्ताः; स्थिराः रसाद्यंशेन शरीरे चिरकालस्थायिनः; हृद्या हृदयङ्गमाः, दुर्गन्धाशुचित्वादिदृष्टादृष्टदोषशून्या इति यावत्। एवंविधा आहारा भक्ष्यभोज्यादयः सात्त्विकानां प्रियाः। अतः सात्त्विकत्वार्थिभिरेते आदेया इत्यर्थः॥ ८॥

९ ब० त० दी०— तत्र प्रथममाहाराः— आयुरिति। सत्त्वगुणोपेतस्य सत्त्वमया आहाराः प्रिया भवन्ति। ते चायुर्विवर्द्धनाः— सत्त्वोपलक्षितं ज्ञानं तदादिवर्द्धनाश्च। रस्याः मधुररसोपेताः स्नेहयुक्ताश्च, स्थिराः स्थिरपरिणामाः, हृद्या रम्यस्वरूपाः; एवंविधा अन्नरूपा आहाराः सात्त्विकप्रियाः सत्त्वजनकाः प्रियाः सात्त्विकानां वा प्रियाः, क्षेमकरा इति तात्पर्यार्थः॥ ८॥

१० पु. अ. त.— एवं सावधानं कृत्वाऽऽह— आयुरिति। आयुर्जीवितं, सत्त्वं हृदयं शुद्धम्, बलं सामर्थ्यम्, आरोग्यं रोगाभावः, सुखं मनस्तोषः, प्रीतिः स्नेहः, एतेषां विवर्द्धनाः, विशेषेण सफलतया धर्मादर्थोपयोगित्वेन वृद्धिकराः। तत्र आयुर्वृद्धिकरः पर्वयज्ञावशेषः, सत्त्वसाधको गुर्वाद्युच्छिष्टरूपः, बलकरः पितृदेवादिशेषः, आरोग्यकरो जनन्याद्युपस्कृतः, सुखकरः सन्मार्गोपार्जितः, प्रीतिकरो मित्रादिगृहस्थः। ते च स्वरूपतोऽप्येतादृशाः रस्याः रसयुक्ताः, स्निग्धाः स्नेहयुक्ताः, स्थिराः चिरकालावस्थायित्वाद्देहपोषकाः, हृद्याः हृष्टा एव हृदयानन्दकर्त्तारः। एतादृशा आहाराः सात्त्विकानां प्रियाः, भवन्तीति शेषः। एवमाहारकर्तारः सात्त्विका ज्ञेया इत्यर्थः॥ ८॥

११ नी० भा० दी०— आयुर्जीवनं, सत्त्वमुत्साहः, बलं शक्तिः, आरोग्यं रोगराहित्यं, सुखं चित्तप्रसादः, प्रीतिः अभिरुचिः, एतेषां विवर्धनाः वृद्धिकराः ते आयुस्सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः रसोपेताः। स्निग्धाः स्नेहवन्तः। स्थिराः देहे रसांशेन चिरकालस्थायिनः। हृद्याः दृष्टमात्रा एव हृदयप्रियाः। आहाराः घृतक्षीरसितादयः सात्त्विकप्रियाः॥ ८॥

**कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।**
**आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥**

१ शां. भा.— कट्विति। कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः— इत्यत्र अतिशब्दः कट्वादिषु सर्वत्र योज्यः, अतिकटुरतितीक्ष्ण इत्येवं— कटुश्चाम्लश्च लवणश्चात्युष्णश्च तीक्ष्णश्च रूक्षश्च विदाही च कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः, त आहारा राजसस्येष्टाः, दुःखशोकामयप्रदा दुःखं च शोकं चाऽऽमयं च प्रयच्छन्तीति दुःखशोकामयप्रदाः॥ ९॥

२ आ. शां. व्या.— राजसप्रीतिविषयमाहारविशेषं दर्शयति— कट्विति। कटुस्तिक्तः, कटुकस्य तीक्ष्णशब्देनोक्तत्वात्; रूक्षो विस्नेहः, विदाही सन्तापकः। अतिशब्दस्य सर्वत्र योजनामेवाभिनयति— अतिकटुरिति। दुःखं तात्कालिकी पीडा, इष्टवियोगजं दुःखं शोकः, आमयो रोगः॥ ९॥

३ रा. भा.— कटुरसाः, अम्लरसाः, लवणोत्कटाः, अत्युष्णाः, अतितीक्ष्णाः, रूक्षाः, विदाहिनश्चेति कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः; अतिशैत्यातितैक्ष्ण्यादिना दुरुपयोगास्तीक्ष्णाः, शोषकराः रूक्षाः, तापकराः विदाहिनः, एवंविधा आहारा राजसस्येष्टाः; ते च रजोमयत्वाद्दुःखशोकामयत्वाद्दुःखशोकामयवर्धनाः रजोवर्धनाश्च॥ ९॥

४ वे. ता. चं.— कट्वम्लशब्दयोस्त्रिकटुकतिन्तिण्यादिषु विशेषतः प्रयोगादिह तावन्मात्रविवक्षाव्युदासायाऽऽह— **कटुरसा अम्लरसा** इति। सात्त्विकस्यापि व्रतादिव्यतिरिक्तकालेषु रुचिमात्रार्थलवणयोगानुमतेः स्वरूपतो लवणस्याहारत्वासम्भवात्प्रत्यक्षलवणस्य गोमांसतुल्यतया स्फुटनिषेधाच्चात्र तद्व्यतिरिक्तापेक्षया लवणशब्द इत्यभिप्रायेणाऽऽह-**लवणोत्कटा** इति। 'स्निग्धमुष्णं (सात्म्यमल्पं) च भोजनम्' [अ. हृ. सू. ७।४७] इति कोष्णस्य भोजनस्य विहितत्वात् **अत्युष्णे**ति विशेषितम्। 'कट्वादीनां विदाहिनः' इति भ्रमव्युदासायात्र समासोक्तिः। तीक्ष्णस्यापि मरीच्यादेस्तत्तद्द्रव्यरोचनार्थं मात्रयाऽनुमतेस्तत्राप्युपसर्गस्यान्वयो दर्शितः। उष्णस्य पृथगुपात्तत्वादत्र तीक्ष्णशब्दो न तत्पर्यायः; आशुकारिषु मरीच्यादिष्वायुर्वेदे तीक्ष्णत्वमुच्यते; अतोऽत्र प्रयोगक्षणप्रभृति प्रतिकूलतमानि द्रव्याणि तीक्ष्णानीत्यभिप्रायेणोदाहरति— **अतिशैत्ये**ति। स्नेहप्रतिपक्षभूतो गुणो रौक्ष्यमनुशिष्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **शोषकरा रूक्षा** इति। वातकोपनत्वमनेन सिद्धम्। अत्र विदाहिशब्दे प्रकृतिप्रत्यययोर्विवक्षितं व्यनक्ति— **तापकरा** इति। पित्तकोपना इत्यर्थः। **एवंविधा** इति पूर्ववत्। 'तृष्णाशोकसमुद्भवम्' [१४।७] इत्यादि प्रागुक्तं स्मारयति— **रजोमयत्वा**दिति। कटुप्रभृतीनां दुःखादिहेतुत्वं च प्रायशोऽन्वयव्यतिरेकयोग्यमायुर्वेदविशोधितं च। दुःखप्रदत्वं धातुवैषम्यादिद्वारा; शोकप्रदत्वं तत्परामर्शजपश्चात्तापादिना; आमयः कालक्रमेण। न केवलमत्रैव तमोवद्दुःखादिहेतुत्वम्; अपितु परम्परया परलोके देहान्तरेऽपीत्यभिप्रायेण सत्त्ववर्धकसात्त्विकाहारसमानन्यायसिद्धमर्थमाह— **रजोवर्धना**श्चेति॥ ९॥

५ आ. मा. भा.—॥ ९॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ९॥

७ ह. पै. भा.— कट्वम्लेति। कट्वम्ललवणा रसविशेषाः। अतिशब्द उष्णादिभिः प्रत्येकमभिसम्बध्यते। एते कट्वादय आहारा दुःखशोकामयप्रदा राजसस्य पुरुषस्येष्टा अभिमताः। स्वयमपि राजसाः॥ ९॥

८ वं. ब्र. गि.— अतिशब्दः कट्वादिषु सप्तसु योज्यः। तत्रातिकटुर्निम्बादिः। अत्यम्लातिलवणात्युष्णाः प्रसिद्धाः। अतितीक्ष्णो मरिचादिः। अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कोद्रवादिः। अतिविदाही सर्षपादिः। एते दुःखशोकामयप्रदाः। तात्कालिकी पीडा दुःखम्, तदनन्तरभावि दौर्मनस्यं शोकः, व्याधिरामयः, तान्प्रददतीति तथोक्ता आहारा राजसस्येष्टाः। तस्मात्सात्त्विकैरेते त्याज्या इत्यर्थः॥ ९॥

९ व० त० दी०— कट्विति। राजसस्य प्रियाः॥ ९॥

१० पु. अ. त.— राजसानाह— कट्विति। अतिशब्दः सर्वत्रानुसम्बध्यते कट्वादिषु। अतिकटुः कारवेल्लादिः, अत्यम्ल आम्रातकादिः, अतिलवणः क्षारबहुलरोचकशाकादिः, अत्युष्णः सबाष्पपक्वान्नादिः, अतितीक्ष्णो मरिचादिः, अतिरूक्षश्चणकमसूरकोद्रवादिः, अतिविदाही राजकादिः। एवमेतेऽतिकट्वादयः पञ्चयज्ञादिरहिताः स्वार्थकृता आहारा राजसस्येष्टाः प्रियाः। दुःखशोकामयप्रदाः दुःखं भक्षणसमय एव रसनाविकारादिरूपं, शोको भक्षणानन्तरमजीर्णोद्गारादिना भक्षितपश्चात्तापादिरूपः, आमयो रोगो ज्वरादिः, एतानि सर्वाणि प्रददति यच्छन्तीति तथा। एतादृगाहारकर्तारो राजसा ज्ञेया इत्यर्थः॥ ९॥

११ नी० भा० दी०— कट्विति। अतिशब्दः सर्वत्र सम्बध्यते। अतिकटु निम्बादि, अत्यम्लातिलवणात्युष्णाः प्रसिद्धाः। अतितीक्ष्णो मरिचादिः, अतिरूक्षः स्नेहशून्यः कङ्गुकोद्रवादिः, अतिविदाही राजिकादिः। दुःखं तात्कालिकी पीडा, शोकः पश्चाद्भावि दौर्मनस्यम्, आमयो धातुवैषम्यापादनेन रोगस्तत्प्रदाः॥ ९॥

**यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।**
**उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥ १०॥**

१ शां. भा.— यातयाममिति। यातयामं मन्दपक्वं, निर्वीर्यस्य गतरसेनोक्तत्वात्। गतरसं रसवियुक्तं, पूति दुर्गन्धि, पर्युषितं च पक्वं सद्रात्र्यन्तरितं च यत्, उच्छिष्टमपि च भुक्तशिष्टमपि उच्छिष्टं, अमेध्यमयज्ञार्हं, भोजनमीदृशं तामसप्रियम्॥ १०॥

**२ आ. शां. व्या.**— तामसप्रियमाहारमुदाहरति— **यातयाममिति** । ननु निर्वीर्यं यातयाममुच्यते, न पुनः सामिषकमिति, नेत्याह— **निर्वीर्यस्येति** ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— यातयामं चिरकालावस्थितं, गतरसं त्यक्तस्वाभाविकरसं, पूति दुर्गन्धोपेतं, पर्युषितं कालातिपत्त्या रसान्तरापन्नम्, उच्छिष्टं गुर्वादिभ्योऽन्येषां भुक्तशिष्टम्, अमेध्यम् अयज्ञार्हम्, अयज्ञशिष्टमित्यर्थः । एवंविधं तमोमयं भोजनं तामसप्रियं भवति; भुज्यत इत्याहार एव भोजनम्; पुनश्च तमसो वर्धनम्; अतो हितैषिभिः सत्त्वविवृद्धये सात्त्विकाहार एव सेव्यः ॥ १० ॥**

**४ वे. ता. चं.**— सात्त्विकराजसाहारयोर्गुणकार्यकथनेऽपि तामसे गुणमात्रकथनमदूरविप्रकर्षेण राजससमानकार्यत्वात् सर्वेष्वाहारेषु यामातिक्रमणमात्रेण दोषाभावात्तेषु तेषु द्रव्येषु यावता कालेन दुष्टता, तावद्विवक्षामाह— **यातयामं चिरकालावस्थितमिति** । यामः श्रेष्ठोंऽशः; यथा 'घृतात्परं मण्डमिवातिसूक्ष्मम्' इति केचित् । तेन निर्वीर्यत्वमुक्तं भवति । तदपि **चिरकालावस्थितमि**त्यनेन अर्थसिद्धम् । अम्मयेषु पृथिवीमयेषु च आहारेषु तत्तत्पाकभेदेनापि कदाचिदपि सर्वरसत्यागाभावात्तत्तद्रव्यस्वभावतयाऽनुशिष्टरसत्यागेन रसान्तरापत्तिरिह गतरसशब्देन विवक्षितेत्याह **त्यक्तस्वाभाविकरसमि**ति । एतेन गतरसशब्देन निर्वीर्यस्योक्ततया 'यातयामं मन्दपक्वम्' इति व्याख्या निरस्ता ।

यद्यपि पूतिशब्दोऽसात्त्विकतया भगवच्छास्त्रादिसिद्धे करञ्जादिद्रव्येऽपि प्रयुज्यते; तथापि अत्र द्रव्यविशेषोपादानप्रकरणाभावाद्गुणादिमुखेन सर्वाहारोपलक्षणप्रकरणाच्चात्र पूतिशब्देन हेयतया लोकशास्त्रप्रसिद्धगुणविवक्षामाह— **दुर्गन्धोपेतमि**ति । कालातिपत्तिमात्रस्य यातयामशब्देन ग्रहणात् रसत्यागस्य 'गतरसम्' इत्युक्तत्वात् येषु कालातिपत्तौ दोषः, क्षीरादिष्विवातञ्चनादिभिश्च रसान्तरापत्तिः, तत्र कालातिक्रमणमात्रेण रसान्तरापन्नत्वमिह विवक्षितमित्याह— **कालातिपत्त्या रसान्तरापन्नमि**ति । हेयविकृत्यन्तरादीनामुपलक्षणमिदम् । अत एव पक्वानामविकलानामपि जलादीनां रात्र्यन्तरितानां त्यागः । एतेन यातयामशब्दोऽत्र रसान्तरापत्तिरहितकालातिक्रममात्रदुष्टविषय इति दर्शितम् ।

उच्छिष्टविशेषस्य शास्त्रानुमतेराचार्योच्छिष्टस्य च पापविशेषप्रायश्चित्ततया पवित्रत्वेनापि ग्रहणात्तद्व्यतिरिक्तविषयोऽत्र उच्छिष्टशब्द इत्याह— **गुर्वादिभ्योऽन्येषामि**ति । **गुर्वादी**त्यादिशब्देन पितुः ज्येष्ठस्य भ्रातुः भार्याविषये भर्तुश्च ग्रहणम् । यत्तु "अदितिः पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनमपचत् । तस्या उच्छेषणमददुः । तत्प्राश्नात् । सा रेतोऽधत्त" इत्यादौ उच्छेषणप्राशनमाम्नायते; तद्ब्रह्मौदनादिविधिपरत्वादन्यपरम् । भुक्तावशिष्टपाकपात्रस्थौदनविषयत्वेऽप्यविरुद्धम् । अप्राप्तत्वाद्विधिपरत्वस्वीकारेऽपि अदितिसाध्यदेवसंव्यवहारमात्रविषयम् । न तावता अद्यतनानामनुष्ठानप्राप्तिः; प्राप्तावपि तथाविधकर्मनियतम् । नचात्र विधिस्तत्कल्पनावकाशश्चेत्यप्राप्तिरेव । यत्तु भगवता नारदेन जातिस्मरेण प्राचीनशूद्रजन्मानुष्ठानमनुस्मृत्योक्तम् 'उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः' [भाग. १।५।२५] इत्यादि; तदपि तस्मिन् जन्मनि नारदस्तेषां शिष्यः शूद्रश्चेति तादृशेष्वेव तत्प्राप्नोति; नान्यादृशेषु । तथा सति हि वाक्यान्तरमपि न विरुध्यते । न च वचनविरोधे लिङ्गदर्शनमात्रेणानुष्ठानक्लृप्तिः । प्रतिषेधति ह्याचार्यपुत्रादेरप्युच्छिष्टम्— 'उच्छिष्टाशनवर्जमाचार्यवदाचार्यपुत्रे वृत्तिः' [आ. ध. १।२।७।३०] इत्यादिना । किमुतान्येषाम् ? भागवतस्य तु आचार्यव्यतिरिक्तसमस्तोच्छिष्टभक्षणेऽपि तीव्राणि प्रायश्चित्तान्यनुशिष्यन्ते । यथा सनत्कुमारीयसंहितायामुदाहृतमित्यागमप्रामाण्ये भगवद्यामुनाचार्यैरुपात्तं— 'निर्माल्यं भक्षयित्वैवमुच्छिष्टमगुरोरपि । मासं पयोव्रतो भूत्वा जपन्नष्टाक्षरं सदा । ब्रह्मकूर्चं ततः पीत्वा' इत्यादि ।

भाष्ये चात्र गुरुशब्द आचार्यविषयः, पितृविषयो वेत्ययुक्तम्, गुरुशब्दार्थोपाध्यायाद्युच्छिष्टग्रहणशास्त्राभावात् । नच यत्किञ्चिदुपदेशमात्रेऽप्याचार्यत्वम्, 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते' [मनुः २।१४०] इत्यादिभिस्तल्लक्षणात्, अन्यत्र प्रयोगस्योपचारादपि सम्भवात् । यश्चोपनेता प्रणवादिमात्रमुपदिश्य विरतः, यश्च केवलं रहस्यशब्दनिर्दिष्टा मोक्षसाधनभूता विद्यास्तत्तच्छ्रुतिमुखेन शिक्षयति; तयोरप्याचार्यत्वादिकं वचनबलादङ्गीक्रियते । उक्तं च गुर्वादिलक्षणं भगवता याज्ञवल्क्येन— 'स गुरुर्यः क्रियाः कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति । उपनीय तु तद्वेदमाचार्यः स उदाहृतः । एकदेशमुपाध्यायः' [१।३४;३५] इति । यत्तु 'एकाक्षरप्रदातारमाचार्यं योऽवमन्यते (यो गुरुं नाभिमन्यते)' [अत्रिस्मृ. १०] इत्यादि, तदवमतिनिवारणाद्यर्थमाचार्यदृष्टिमात्रेणोच्यते; न तावता आचार्यत्वप्रयुक्तसर्वोपनिपातः । यद्यप्याचार्यशब्दो निरुक्त्याद्यनुसारादस्त्रशस्त्रादिशिक्षकेषु द्रोणकृपादिषु प्रयोगप्रौढ्या च यथाप्रयोगं सर्वत्र मुख्य इति कैश्चिदङ्गीक्रियेत, तथाप्युच्छिष्टभक्षणानुमतिनिदानमाचार्यत्वं प्रणवादित्रिकपूर्वकपरविद्योपदेष्टर्यैव; तथैव शास्त्रैर्नियमाच्छिष्टाचाराच्च ।

प्रत्यक्षश्रुत्यादिविरुद्धस्तु भ्रान्तानामभिप्रायान्तरेण शास्त्रोल्लङ्घिनामप्याचारो न शिष्टाचारः । यदपि कैश्चित्पठ्यते 'नारायणैकनिष्ठस्य या या वृत्तिस्तदर्चनम् । यो यो जल्पः स स जपस्तद्ध्यानं यन्निरीक्षणम् । तत्पादाम्ब्वतुलं तीर्थं तदुच्छिष्टं सुपावनम् । तदुक्तिमात्रं मन्त्राग्र्यं तत्पृष्टमखिलं शुचि' इति । इदमपि नारायणैकनिष्ठप्रशंसापरम्; न तु स्वयं विधायकम् । अन्यतः प्राप्तेरेव ह्यत्र प्रशंसा । तत्र प्रथमश्लोकः स्वभावप्राप्तमर्थप्राप्तं चानुवदति; यच्च शास्त्रप्राप्तम्; न तु पुनः शास्त्रान्तर-

निषिद्धपरामर्शि । प्रमाणप्राप्तविषयत्वादेव हि 'अतुलं सुपावनमग्र्यमखिलम्' इति विशेषणेषु संरम्भः । 'ब्राह्मणाः पादतो मेध्याः' इत्यादिभिर्विप्रपादोदकस्य सामान्यतः पावनत्वप्राप्तौ भागवतत्वावस्थायां अतुलं तीर्थमिति विशेष्यते । एवमनेकान्तिनोऽप्युपनेतृप्रभृतेरुच्छिष्टे पावनत्वेन प्राप्ते तस्य नारायणैकनिष्ठत्वदशायां सुपावनत्वं विधीयते । तथा महापुरुषकृतस्तुत्यादेर्मङ्गलतमत्वे सिद्धे 'तदुक्तिमात्रं मन्त्राग्र्यम्' इति भगवदनन्यप्रणीतस्य गाथागीतादेरपि मन्त्राग्र्यवत्फलादिहेतुत्वं प्रतिपाद्यते ।

एवं शुद्धानां शोधकापेक्षायां निर्णेजनादिवन्महात्मनां स्पर्शोऽपि माहात्म्यविशेषवशादिच्छाशोधकतया प्राप्तः 'तत्स्पृष्टमखिलं शुचि' इत्यनेन सर्वस्यापि द्रव्यस्य पृथक्चोदितशोधकभेदस्य भागवतस्पर्श एकः शोधको भवितुमर्हतीत्युच्यते । अन्यथा भागवतेन यदृच्छादिस्पृष्टचण्डाललशुनगृञ्जनाद्यशुद्धग्रहणेनालेपकपादवत्स्पृश्यास्पृश्यभक्ष्याभक्ष्याद्यद्वैतप्रसङ्गः । एतेन परमात्तस्य भक्ताङ्घ्रिरेणोर्भाषागाथापि निर्व्यूढा । एवं हि सा संस्कृतेन विपरिणंस्यते— 'दिव्यैरवेद्यविभवेति यदि ब्रुवन्ति माध्वीमनोज्ञतुलसीक यदीति चाहुः । ऊनक्रिया अपि परानपि कारयन्तो भुक्ताधिकं ददति चेन्ननु तत्पवित्रम्' इति । इदमपि सङ्कीर्तनप्रशंसापरमिति प्रकरणात्स्ववाक्यस्वारस्याच्च सुव्यक्तम् । भुक्तशेषशब्दश्च पाकपात्रस्थविषयत्वेऽपि न विरुद्धः; यथा 'अन्नशेषः किं क्रियताम्' इत्यत्र अवशिष्टम् । भुक्तशिष्टं तु पाकपात्रस्थमपि त्याज्यमेव । तत्परिहारार्थोऽयं प्रतिप्रसवः । अन्यथापि प्रमाणान्तराविरोधायाचार्याद्युच्छिष्टविषयमेव स्यात् । तथाहि 'ऊनो हीनः परिस्रस्तो नष्टः' इति विकलभागवतान् दुष्कर्मतारतम्याच्चतुर्धा रहस्याम्नायविदः समामनन्ति । तत्रोनत्वाद्यवस्थायामाचार्योच्छिष्टस्यापवित्रत्वं प्रसक्तम्; तत्र यद्यनन्यत्वस्थैर्यव्यञ्जनसङ्कीर्तनं स्यात्, तदा तदुच्छिष्टमपवित्रं न भवतीति अनन्यत्वभङ्गे ह्याचार्यस्यापि सर्वथा वर्जनं तत्रैवाम्नातमित्यलमतिप्रसङ्गेन ।

मेधाविरोधिन्यप्यमेध्यशब्दप्रयोगात्तस्य च दृष्टप्रत्यवायमात्रपर्यवसानात्ततोऽपि दोषातिशयसूचनाय मेधोऽत्र यज्ञः, तदर्हं मेध्यं, तद्विपरीतममेध्यमित्याह— **अयज्ञार्हमिति** । ननु यज्ञार्हस्यापि द्रव्यस्याभक्षणीयत्वं मन्वादिभिरुच्यते; यथा— 'वृथा कृसरसंयावं पायसापूपमेव च । अनुपाकृतमांसानि देवान्नानि हवींषि च' [मनुः ५।७] इति । तत्राऽऽह— **अयज्ञशिष्टमित्यर्थ** इति । एतेन सात्त्वतादिशास्त्रेषु 'नानिवेद्य हरेः किञ्चित्समश्नीयात्तु पावनम्' इत्यादिकमप्यत्रानुसंहितम् । आह्रियन्त इत्याहारास्तत्तद्द्रव्याणि प्रतीयन्ते, न च भोजनक्रियामात्रे यातयामत्वाद्युक्तिरन्वेति; नापि मुख्ये सम्भवति लक्षणा न्याय्या । अतः 'कृत्यल्युटो बहुलम्' [ अष्टा. ३।३।११३ ] इति कर्मणि ल्युडन्ततामाह— **भुज्यत** इति । **पुनश्च तमसो वर्धनमिति**— पूर्ववत् । आहारत्रैविध्योक्तेरभिप्रेतमाह— **अत** इति । पथ्यापथ्यविभागोक्तौ पथ्यग्रहणवदिति भावः । एवमेव यज्ञादित्रैविध्योक्तावप्यन्ततोऽभिप्रायो ग्राह्यः ॥ १० ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १० ॥**

**६ ज. प्र. दी.— ॥ १० ॥**

**७ ह. पै. भा.— यातयामं, गतरसं गतवीर्यं, पूति क्लिन्नं विरसं, पर्युषितं पक्वमुषसाऽतिक्रान्तं, उच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम् । अपि चेति समुच्चये । अमेध्यमयज्ञार्हम् । तामसानां प्रियं तामसप्रियम् । स्वयमपि तामसम् ॥ १० ॥**

८ वें. ब्र. गि.— यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्यौदनादेस्तद्यातयामम्, शैत्यप्राप्तमित्यर्थः । गतरसं निष्पन्नरसान्तरम् । पूति दुर्गन्धि । पर्युषितं पक्वं सद्रात्र्यन्तरितम् । उच्छिष्टमन्यभुक्तावशिष्टम् । अमेध्यमयज्ञार्हमशुचि मांसादि । तादृशं भोजनं भोज्यं तामसस्य प्रियम् । सात्त्विकैर्दूरत एव त्याज्यमित्यर्थः । 'अपि च' इत्यनेन दुःखशोकामयप्रदमिति पूर्वोक्तं [ १७।९ ] समुच्चीयते ॥ १० ॥

९ व० त० दी०— यातयाममिति । चिरकालावस्थितं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

१० पु. अ. त.— अथ तामसमाह— **यातयाममिति** । यातो व्यतीतो यामः प्रहरो यस्य तादृशं पक्वान्नकृषिरादिकं, शैत्यादिना भक्षणायोग्यमित्यर्थः । गतरसं शुष्कं, पूति दुर्गन्धं, पर्युषितं व्यतीतरात्रम्, उच्छिष्टं अन्यभुक्तावशिष्टम्, अमेध्यं कलिङ्गमूलकबिम्बादिकम् । एतादृशं भोजनं तामसानां प्रियम् । एतस्य फलकीर्तनं स्वरूपत एव दुष्टत्वात् । एवंभोजनप्रियो तामसो ज्ञेय इत्यर्थः । निर्गुणाहारकैर्मदुच्छिष्टभोक्तृभिः पूर्वोक्तत्रिविधमभोजनं तद्भोजिनश्च त्याज्या इत्यर्थश्चैतन्निरूपणेन ज्ञापितः ॥ १० ॥

११ नी० भा० दी०— यातयामं प्रहरात्प्राक्कृतं, शीलतः गतमित्यर्थः । 'यातयामं अर्धपक्वं, निर्वीर्यस्य गतरसेनैवोक्तत्वात्' इति (शां.) भाष्यम् । गतरसं रसविमुक्तम् । पूति दुर्गन्धि । पर्युषितं पक्वं सद्रात्र्यन्तरितम् । उच्छिष्टं भुक्तावशिष्टम् । अमेध्यं यज्ञानर्हम् । भोजनमन्नं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

सात्त्विकादिभेदेन यज्ञत्रैविध्यम् ।

**अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।**
**यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥ ११ ॥**

**१ शां. भा.—** अथेदानीं यज्ञस्त्रिविध उच्यते—अफलेति । अफलाकाङ्क्षिभिरफलार्थिभिर्यज्ञो विधिदृष्टः शास्त्रचोदनादृष्टो यो यज्ञ इज्यते निर्वर्त्यते 'यष्टव्यमेव' इति यज्ञस्वरूपनिर्वर्तनमेव कार्यमिति मनः समाधाय 'नानेन पुरुषार्थो मम कर्तव्यः' इत्येवं निश्चित्य, स सात्त्विको यज्ञ उच्यते ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** ज्ञानाज्ञानार्थमाहारत्रैविध्यमेवं विभज्य क्रमप्राप्तं यज्ञत्रैविध्यं कथयति— **अथेति** । तत्र सात्त्विकं यज्ञं ज्ञापयति— **अफलेति** । फलाभिसन्धिं विना यज्ञस्वरूपमेव भाव्यमिति बुद्धया शास्त्रतोऽनुष्ठीयमानो यज्ञः सात्त्विक इत्यर्थः ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.—** फलाकाङ्क्षारहितैः पुरुषैः विधिदृष्टः शास्त्रदृष्टो मन्त्रद्रव्यक्रियादिभिर्युक्तो यष्टव्यमेवेति भगवदाराधनत्वेन स्वयम्प्रयोजनतया यष्टव्यमिति मनः समाधाय यो यज्ञ इज्यते, स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

**४ वे. ता. चं.—** अफलस्य कस्यचिदाकाङ्क्षाप्रतीतिव्युदासायाऽऽह— **फलाकाङ्क्षारहितैरिति** । परमात्मप्रीत्यतिरिक्तनिरपेक्षैरित्यर्थः । 'विधिदृष्टः' इत्युक्ते प्रजापतिना दृष्टत्वं प्रतीयेत; स हि सर्वेषां यज्ञानां द्रष्टेत्यामनन्ति; न चात्र प्रजापतिदृष्टत्वोक्त्याऽनुष्ठाने कश्चिदुपकारः; अतो विधायकशास्त्रमेवात्र विधिशब्देन विवक्षितमित्याह **शास्त्रदृष्ट** इति । शास्त्रैकप्रमाणतया प्रसिद्धे शास्त्रदृष्टत्वोक्तिरनपेक्षितेत्यत्र यथाशास्त्रकरणादवैकल्यं, तद्विवक्षितमाह— **मन्त्रेति** । 'यज देवपूजायाम्' [धा. पा. १।१०२७] इति धात्वर्थानुसारेणाऽऽह— **भगवदाराधनत्वेनेति** । अवधारणाभिप्रेतमाह— **स्वयम्प्रयोजनतयेति** । **अयमभिप्रायः—** यद्यपि प्रयोजनमनुद्दिश्य न प्रवृत्तिः, तथापि प्रागुक्तसुहृत्समाराधनन्यायेन यज्ञादिप्रवृत्तेरेव प्रयोजनत्वाभिसन्धिः सम्भवति— इति । **मनः समाधायेति** प्रकारान्तराद्विनिवार्य प्रस्तुतप्रक्रियायामेकाग्रं कृत्वेत्यर्थः । यज्ञ इज्यते यज्ञः क्रियत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ११ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ११ ॥

**७ ह. पै. भा.—** अफलेति । यष्टव्यमेवेति मनः कृत्वा यज्ञः सात्त्विकः ॥ ११ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** अथ क्रमप्राप्तं यज्ञभेदमाह त्रिभिः— **अफलेति** । यज्ञो द्विविधः काम्यो नित्यश्चेति । तत्र फलसंयोगेन चोदितः काम्यः; स तु सर्वाङ्गोपसंहारेण मुख्यकल्पेनैवानुष्ठेयः । फलसंयोगं विना जीवनादिनिमित्तसंयोगेन चोदितः सर्वाङ्गोपसंहारासम्भवे प्रतिनिध्याद्युपादानेनामुख्यकल्पेनाप्यनुष्ठेयो नित्यः । तत्र सर्वाङ्गोपसंहारासम्भवेऽपि प्रतिनिधिमुपादायावश्यं यष्टव्यमेव, प्रत्यवायपरिहारायावश्यजीवनादिनिमित्तेन चोदितत्वादिति शास्त्रमर्यादा । तदनेन निश्चयेन मनः समाधायैकाग्रं कृत्वा अफलाकाङ्क्षिभिरीश्वरैकाराधनबुद्ध्या विधिदृष्टो यथाशास्त्रं निश्चितो यो यज्ञ इज्यतेऽनुष्ठीयते, स सात्त्विको यज्ञः ॥ ११ ॥

**९ ब० त० दी०—** शास्त्रीययज्ञस्य च त्रैविध्यं त्रिभिः स्पष्टम्— **अफलेति** ॥ ११ ॥

**१० पु. अ. त.—** आहारानन्तरं यज्ञस्य प्रतिज्ञातत्वात् [१७।७] त्रिविधयज्ञरूपमाह- **अफलेति** । न विद्यतेऽन्यत्फलं यस्मात्तादृशः स्वयमेव फलरूपो भगवत्प्रसादस्तदाकाङ्क्षिभिः पुरुषैः विधिना अवश्यकर्तव्यत्वेन दृष्टो बोधितो यो यज्ञो भगवदाज्ञप्तत्वात् 'यष्टव्यमेव, न तु फलानुसन्धानेन' इति मनः समाधाय निश्चलं कृत्वा इज्यते अनुष्ठीयते स यज्ञः सात्त्विक इत्यर्थः । एतादृग्यज्ञकर्ता सात्त्विको ज्ञेयः ॥ ११ ॥

**११ नी० भा० दी०—** यज्ञत्रैविध्यमाह— अफलेति । विधिदृष्टः आवश्यकतया विहितः 'यष्टव्यमेव, न तु यज्ञाददृष्टमदृष्टं वा फलं प्राप्तव्यं' इति मनः समाधाय समाहितं कृत्वा यो यज्ञ इज्यते स सात्त्विकः ॥ ११ ॥

**अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।**
**इज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥**

**१ शां. भा.— अभिसन्धायेति।** अभिसन्धाय तूद्दिश्य फलं दम्भार्थमपि चैव यदिज्यते भरतश्रेष्ठ! तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥ १२ ॥

२ आ. शां. व्या.— राजसं यज्ञं हानार्थं दर्शयति—**अभिसन्धायेति**। स्वर्गाद्युद्दिश्य धार्मिकत्वख्यापनार्थं च यद्यजनं क्रियते तं यज्ञं रजसा निर्वृत्तं त्याज्यमवगच्छेत्यर्थः ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.—** फलाभिसन्धियुक्तैर्दम्भगर्भो यशःफलश्च यो यज्ञ इज्यते, तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

४ वे. ता. चं.— दम्भहेतुकत्वमिह दम्भार्थशब्देन विवक्षितमित्याह—**दम्भगर्भ** इति। दाम्भिकत्वख्यापनाभिसन्धिरहित इत्यर्थः। केवलं दम्भगर्भस्तु तामसः। अत ऐहिकामुष्मिकफलसम्भेदमात्रमिह राजसत्वं विवक्षितत्वमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **यशःफलश्चेति**। दम्भानुसाराद्वा दृष्टैकफलत्वोक्तिः। 'भरतश्रेष्ठ!' इति त्वं तु सात्त्विकयज्ञाद्यधिकारीत्यभिप्रायः॥१२॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ १२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १२ ॥

**७ ह. पै. भा.— अभिसन्धायेति।** अभिसन्धाय तु फलं 'एतत्फलं मे स्यात्' इत्यभिसन्धाय सङ्कल्प्य दम्भार्थमपि चैव यद्धार्मिकत्वख्यापनार्थमेव यो यज्ञ इज्यते निर्वर्त्यते तं यज्ञं राजसं विद्धि ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— फलमभिसन्धायोद्दिश्य दम्भार्थं लोके धार्मिकत्वख्यापनार्थमपि च यो यज्ञ इज्यते, तं राजसं विद्धि ॥१२॥

९ व० त० दी०— ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— राजसमाह— **अभिसन्धायेति**। तु पुनः फलं स्वर्गादिकमभिसन्धाय उद्दिश्य दम्भार्थं लोके स्वख्यापनार्थं चाप्येव यत्तु इज्यतेऽनुष्ठीयते तं यज्ञं राजसं विद्धि। तत्कर्त्तारश्च राजसा ज्ञेयाः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— राजसं यज्ञमाह— अभिसन्धायेति ॥ १२ ॥

**विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।**
**श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥**

**१ शां. भा.— विधिहीनमिति।** विधिहीनं यथाचोदितविपरीतम्, असृष्टान्नं ब्राह्मणेभ्यो न सृष्टं न दत्तमन्नं यस्मिन्यज्ञे सोऽसृष्टान्नः, तमसृष्टान्नम्; मन्त्रहीनं मन्त्रतः स्वरतो वर्णतश्च वियुक्तं मन्त्रहीनम्, अदक्षिणमुक्तदक्षिणारहितं, श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते तमोनिर्वृत्तं कथयन्ति ॥ १३ ॥

२ आ. शां. व्या.— तामसं यज्ञं हानार्थमेवोदाहरति— **विधीति** ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.—** विधिहीनं ब्राह्मणोक्तविधिहीनं सदाचारयुक्तैर्विधिविद्भिर्ब्राह्मणैर्यजस्वेत्युक्तिहीनमित्यर्थः; असृष्टान्नं अचोदितद्रव्यं मन्त्रहीनमदक्षिणं श्रद्धाविरहितं च यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

४ वे. ता. चं.— असृष्टान्नत्वमन्त्रहीनत्वाद्युक्त्यैव चोदितप्रकारविहीनत्वसिद्धेरत्र 'विधिहीनम्' इत्ययथाशास्त्रत्वं न विवक्षितम्; अन्यस्य चावश्यापेक्षितस्य हानिरिह सूचयितुमुचितेत्यभिप्रायेणाऽऽह- **ब्राह्मणोक्तिहीनमिति**। शास्त्रोदित एवार्थः सद्भिरनुशिष्टोऽनुष्ठेय इतीममर्थं विवृणोति— **सदाचारेति**। लोभातिशयाद्दक्षिणाया अप्यभावे अन्नदानाभावस्य कैमुत्यसिद्धत्वात् 'अदक्षिणम्' इत्यनेनैवान्नादानादेरुपलक्षणात् असृष्टशब्दस्वारस्याद्दोषातिशयख्यापनोपयोगाच्च। असृष्टान्नशब्देन शूद्रप्रतिग्रहादिविवक्षामाह **अचोदितद्रव्यमिति**। यज्ञार्थं सृष्टमिह सृष्टशब्देन विवक्षितम्; न्यायागतमित्यर्थः। तदन्यदसृष्टं, यथा-'न यज्ञार्थं धनं शूद्राद्विप्रो भिक्षेत धर्मवित्। यजमानो हि भिक्षित्वा प्रेत्य चण्डालतां व्रजेत्' इति ॥ १३ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १३ ॥

७ ह. पै. भा.— विधिहीनमिति । विधिहीनमशास्त्रचोदितम्, असृष्टान्नमन्नदानादिरहितम्, मन्त्रहीनं मन्त्रवर्जितम्, अदक्षिणं दक्षिणारहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति ॥ १३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिरहितं, अन्नदानहीनं स्वरतो वर्णतश्च मन्त्रहीनं दक्षिणारहितं श्रद्धाहीनं च यज्ञं शिष्टास्तामसं परिचक्षते ॥ १३ ॥

९ ब० त० दी०— ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— तामसमाह— विधिहीनमिति । वेदोक्तविधिरहितम्, असृष्टान्नं पात्रान्नरहितं, मन्त्रैर्देवताह्वानादिरूपैर्हीनं शून्यम्, अदक्षिणं वैधदक्षिणारहितं, श्रद्धया आदरेण विरहितं शून्यं यज्ञं तामसं परिचक्षते कथयन्ति; महान्त इति शेषः ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— विधिहीनं शास्त्रोक्तविधिहीनम्; असृष्टं न दत्तमन्नं यस्मिन् तं असृष्टान्नम् ॥ १३ ॥

तपसः शारीरादिभेदकथनपूर्वकं गुणतस्त्रैविध्यम् ।

**देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।**
**ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥**

**१ शां. भा.— अथेदानीं तपस्त्रिविधमुच्यते— देवेति । देवाश्च द्विजाश्च गुरवश्च प्राज्ञाश्च देवद्विजगुरुप्राज्ञाः, तेषां पूजनं देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं; शौचं, आर्जवमृजुत्वं, ब्रह्मचर्यमहिंसा च शरीरनिर्वर्त्यं शारीरं, शरीरप्रधानैः सर्वैरेव कार्यकरणैः कर्त्रादिभिः साध्यं शारीरं तप उच्यते । 'पञ्चैते तस्य हेतवः' [ १८।१५ ] इति हि वक्ष्यति ॥ १४ ॥**

२ आ. शां. व्या.— सात्त्विकादिभावं निरूपयितुं सर्वस्य तपसः स्वरूपं निरूपयति— अथेति । तत्र शारीरं तपो निर्दिशति— देवेति । देवा ब्रह्मविष्णुशिवादयः, द्विजाः पूज्यपूज्यत्वाद्विजोत्तमाः, गुरवः पित्रादयः, प्राज्ञाः पण्डिता विदितवेदितव्याः, तेषां पूजनं प्रणामशुश्रूषादि । शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम्, आर्जवमृजुत्वं विहितप्रतिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वम्, ब्रह्मचर्यं मैथुनासमाचरणम्; अहिंसा प्राणिनामपीडनम् । शरीरमात्रनिर्वर्त्यत्वमस्य तपसो न सम्भवतीति मत्वा विशिनष्टि— शारीरेति । कथं कर्त्रादिसाध्यत्वे तपसः शारीरत्वं ? शारीरत्वे वा कथं कर्त्रादिसाध्यत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— पञ्चेति ॥ १४ ॥

**३ रा. भा.— अथ तपसो गुणतस्त्रैविध्यं वक्तुं तस्य शरीरवाङ्मनोभिर्निष्पाद्यतया तत्स्वरूपभेदं तावदाह— देवेति । देवद्विजगुरुप्राज्ञानां पूजनं, शौचं तीर्थस्नानादिकम्, आर्जवं यथावाङ्मनश्शारीरवृत्तं, ब्रह्मचर्यं योषित्सु भोग्यताबुद्धियुक्तेक्षणादिरहितत्वम्, अहिंसा अप्राणिपीडा, एतच्छारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥**

४ वे. ता. चं.— आहारादीनां सात्त्विकत्वादित्रैविध्ये प्रक्रान्ते तपसः करणभेदेन त्रैविध्योक्तिः किमर्था ? इत्यत्राऽऽह— अथेति । देवद्विजगुरुप्राज्ञानां सन्निधौ तत्तदुचितः शास्त्रोदित आचार इह पूजनमित्युच्यते । यथा— 'प्रशस्तमङ्गल्यदेवायतनचतुष्पथादिप्रदक्षिणमावर्तेत मनसा वा तत्समग्रम्' इत्यादि । तथा— 'प्रदक्षिणं व्रजेद्विप्रान् गामश्वत्थं हुताशनम्' इति । 'आसनेभ्यः समुत्तस्थुर्मानयन्तः पुरोहितम्' 'ऊर्ध्वं प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आगते (आयति)। अभ्यु(प्रत्यु)त्थानाभिवादाभ्यां पुनस्तान्प्रतिपद्यते' [ मनुः २।१२० ] इत्यादिना । तथा— 'न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न (वित्तेन न) च बन्धुभिः । ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्' [ मनुः २।१५४ ] इति । शुद्धिरूपस्य फलभूतस्य शौचस्य तपस्त्वेन विभजनायोगात्तद्धेतुमाह तीर्थस्नानादिकमिति । आर्जवस्य शारीरतपस्त्वेन व्यपदेशार्थं वाङ्मनःकायानामैकरूप्यं शरीरप्रधानतया व्यपदिशति यथा वाङ्मनश्शारीरवृत्तमिति । 'ब्रह्मचर्यं च योषित्सु भोग्यताबुद्धिवर्जनम्' इत्याद्यनुसारेणाऽऽह— योषित्स्विति । तादृशप्रेक्षणादिकमपि 'स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्' [ द. स्मृ. ७।३१ ] इत्यादिना मैथुनत्वेन विभज्य स्मरन्तीति प्रागेव दर्शितम् । अत्रापीक्षणादिरहितत्व ग्रहणं ब्रह्मचर्यस्य शारीरतपस्त्वज्ञापनाय ॥ १४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १४ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ १४ ॥

७ ह. पै. भा.— इदानीं त्रिविधं तपः कायिकादि दर्शयितुमाह— देवेति । देवाश्च द्विजाश्च गुरवश्च प्राज्ञाश्च देवद्विजगुरुप्राज्ञाः– देवा अग्न्यादयः, प्राज्ञास्तत्त्वविदः– तेषां पूजनम् । शौचं मृज्जलादिसाध्यम् । आर्जवमवक्रचित्तता । ब्रह्मचर्यं स्त्रीभोगवर्जितत्वम् । अहिंसाऽपीडनं प्राणिनां शरीरसाध्यं तपो विधीयते ॥ १४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— क्रमप्राप्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुं प्रथमं तस्य शारीरादिभेदेन त्रैविध्यमाह त्रिभिः— देवद्विजेति । प्राज्ञास्तत्त्वविदः, देवादीनां पूजनम् ; शौचं मृज्जलाभ्यां शरीरशोधनम् ; आर्जवं तु विहितप्रतिषिद्धयोरेकरूपप्रवृत्तिनिवृत्तिशालित्वं, न त्वकुटिलचित्तत्वम् ; तस्य मानसे तपसि भावशुद्धिपदेन वक्ष्यमाणत्वात् [१७।१६]; ब्रह्मचर्यं निषिद्धमैथुननिवृत्तिः;अहिंसा अशास्त्रीयप्राणिपीडावर्जनम्, तदेतच्छारीरं शरीरप्रधानैः कर्त्रादिभिः साध्यं, न तु केवलेन शरीरेण । 'पञ्चैते तस्य हेतवः' [ १८।१५ ] इति हि तस्य वक्ष्यते ॥ १४ ॥

९ व० त० दी०— तपसः सात्त्विकादिभेदं दर्शयितुं प्रथमं तावच्छरीरादिभेदमाह त्रिभिः देवेति। देवेत्यारभ्य मानसमुच्यते इत्यन्तं सुगमम् ॥ १४ ॥

१० पु. अ. त.— अथ यज्ञानन्तरं तपसः प्रतिज्ञातत्वात् तपसस्त्रैविध्यं वक्तुं, तस्य च शरीरवाङ्मनोभेदेन त्रिविधत्वात्त्रितयनिरूपणपूर्वकं त्रैविध्यकथनार्थं शारीरादिकत्रयमाह— देवद्विजेति त्रयेण । देवाः ब्रह्माद्याः, द्विजाः वेदैकनिष्ठाः, गुरवः सरहस्यमन्त्रोपदेष्टारः, प्राज्ञाः पण्डिताः शास्त्रपरिनिष्ठितबुद्धयः, तेषां पूजनं यथाविधि । शौचं मृदादिना, आर्जवं ऋजुता, ब्रह्मचर्यं इन्द्रियनिग्रहः, अहिंसा परद्रोहराहित्यं, चकारेणेर्ष्यादयः । एतत्सर्वं शारीरं शरीरसम्बन्धि तप उच्यते कथ्यते इत्यर्थः ॥ १४ ॥

११ नी० भा० दी०— देवाः विष्ण्वाद्याः, द्विजा ब्राह्मणाः, गुरवो मातृपित्राचार्यादयः, प्राज्ञाः ब्रह्मनिष्ठाः, तेषां पूजनम् । आर्जवमकौटिल्यम् ॥ १४ ॥

**अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।**
**स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥**

१ शां. भा.— अनुद्वेगेति । अनुद्वेगकरं प्राणिनामदुःखकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्, प्रियहिते दृष्टादृष्टार्थे । अनुद्वेगकरत्वादिभिर्धर्मैर्वाक्यं विशेष्यते । विशेषणधर्मसमुच्चयार्थश्चशब्दः । परप्रत्यायनार्थं प्रयुक्तस्य वाक्यस्य सत्यप्रियहितानुद्वेगकरत्वानामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा विहीनता स्याद्यदि न तद्वाङ्मयं तपः । तथा सत्यवाक्यस्येतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा विहीनतायां न वाङ्मयतपस्त्वम् । तथा प्रियवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा विहीनस्य न वाङ्मयतपस्त्वम् । तथा हितवाक्यस्यापीतरेषामन्यतमेन द्वाभ्यां त्रिभिर्वा वियुक्तस्य न वाङ्मयतपस्त्वम् । किं पुनस्तत्तपः ? यत्सत्यं वाक्यमनुद्वेगकरं प्रियं हितं च यत्तत्परमं तपो वाङ्मयम् । यथा– 'शान्तो भव वत्स ! स्वाध्यायं योगं चानुतिष्ठ तथा ते श्रेयो भविष्यति' इति । स्वाध्यायाभ्यसनं चैव यथाविधि वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥

२ आ. शां. व्या.— सम्प्रति वाङ्मयं तपो व्यपदिशति– **अनुद्वेगकरमिति** । सत्यं यथादृष्टार्थवचनं, प्रियं श्रुतिसुखम्, हितं परिणामपथ्यम् । प्रियहितयोर्विधान्तरेण विभागमाह— **प्रियेति** । कथमत्र विशेषणविशेष्यत्वं ? तदाह– **अनुद्वेगेति** । विशेषणानां धर्माणामनुद्वेगकरत्वादीनां विशेष्येण वाक्येन समुदितानां परस्परमपि समुच्चयद्योती चकार इत्याह— **विशेषणेति** । किमिति वाक्यमेतैर्विशेष्यते ? किमिति वा तेषां मिथः समुच्चयः ? तत्राऽऽह— **परेति** । यद्यपि वाक्यमात्रस्याविशेषितस्य वाङ्मयतपस्त्वानुपपत्तिस्तथापि सत्यवाक्यस्य विशेषणान्तराभावेऽपि वाङ्मयतपस्त्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **तथेति** । तथापि प्रियवाक्यमात्रस्य तथात्वं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह– **तथा प्रियेति** । तथापि परिणामपथ्यं तथा भविष्यति ? नेत्याह— **तथा हितेति** । कीदृक्तर्हि तपो वाङ्मयमिति प्रश्नपूर्वकं विशदयति— **किं पुनरिति** । विशिष्टे वाङ्मये तपसि दृष्टान्त-

माह— यथेति । प्राङ्मुखत्वं पवित्रपाणित्वमित्यादिविधानमनतिक्रम्य स्वाध्यायस्याऽऽवर्तनमपि वाङ्मये तपस्यन्तर्भवतीत्याह— स्वाध्यायेति । वाक्प्राचुर्येण प्रसृताऽस्मिन्निति वाङ्मयं वाक्प्रधानमित्यर्थः ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.— परेषामनुद्वेगकरं सत्यं प्रियहितं च यद्वाक्यं स्वाध्यायाभ्यसनं चेत्येतद्वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥**

**४ वे. ता. चं.— अनुद्वेगकरमित्यादि—** पुरुषमर्मोद्घट्टनापरिवादादिराहित्यादनुद्वेगकरत्वम् । भयादेरहेतुभूतमित्यर्थः । सत्यं यथादृष्टार्थविषयभूतहितवाक्यमिति प्रागेव दर्शितम् । [१०।४+१६।२,७] प्रियत्वमत्र स्वागतधर्मानुमोदनादिरूपेण अप्राप्तविषयस्तुत्यादिरूपप्रियवचनस्य निषिद्धत्वात्तत्परिहाराय हितत्ववचनं पुरुषार्थपर्यवसायीत्यभिहितम् । 'स्वाध्यायाभ्यसनम्' इति जपयज्ञोक्तिः ॥ १५ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १५ ॥**

**६ ज. प्र. दी.— ॥ १५ ॥**

**७ ह. पै. भा.— उद्वेगो दुःखं नोद्वेगकरम् । सत्यमवितथम् । प्रियं च हितं च प्रियहितम् । स्वाध्यायो वेदस्तस्य सदा पाठः स्वाध्यायाभ्यसनम् । इत्येतद्वाङ्मयं वाचा निर्वर्त्यम् ॥ १५ ॥**

**८ वे. ब्र. गि.—** उद्वेगो दुःखम्, प्राणिनामदुःखकरं सत्यमबाधितार्थं प्रियं श्रोतुस्तत्कालश्रुतिसुखं हितं परिणामे सुखकरम् । चकारो विशेषणानां समुच्चयार्थः । अनुद्वेगकरत्वादिविशेषणचतुष्टययुक्तं, न त्वेकेनापि न्यूनं यद्वाक्यम्, तथा स्वाध्यायाभ्यसनं यथाविधि वेदाभ्यासश्च वाङ्मयं वाचिकं तप उच्यते ॥ १५ ॥

**९ व० त० दी०— ॥ १५ ॥**

**१० पु. अ. त.—** वाचिकमाह— **अनुद्वेगेति** । उद्वेगं भयं नोत्पादयति कस्यापि तादृशं वाक्यं, सत्यं लोभादिराहित्येन यथार्थभाषणरूपं, यत् प्रियं परलोकसाधकं, हितं लौकिकादिसाधकम् । चकारेण लौकिकस्यानावश्यकत्वेऽपि वक्तव्यता सूचिता । स्वाध्यायस्य वेदस्य अभ्यसनमभ्यासः । चकारेण स्मृतीनामपि । एवकारेण वेदाविरोधेन स्मृत्याद्यभ्यासः । एतत्सर्वं वाङ्मयं वाचः सम्बन्धि तप उच्यते ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— प्रियं च तत् हितं च प्रियहितं; श्रवणकाले परिणामे च सुखदमित्यर्थः ॥ १५ ॥

**मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।**
**भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥**

**१ शां. भा.— मन इति । मनःप्रसादो मनसः प्रशान्तिः, स्वच्छतापादनं मनसः प्रसादः । सौम्यत्वं यत्सौमनस्यमाहुर्मुखादिप्रसादादिकार्योन्नेयाऽन्तःकरणस्य वृत्तिः मौनं वाक्संयमोऽपि मनस्संयमपूर्वको भवतीति कार्येण कारणमुच्यते मनस्संयमो मौनमिति । आत्मविनिग्रहो मनोनिरोधः सर्वतः सामान्यरूप आत्मविनिग्रहः, वाग्विषयस्यैव मनसः संयमो मौनमिति विशेषः । भावसंशुद्धिः परैर्व्यवहारकालेऽमायावित्वं भावसंशुद्धिः, इत्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥**

**२ आ. शां. व्या.—** मानसं तपः सङ्क्षिपति— **मन** इति । प्रशान्तिफलमेव व्यनक्ति— **स्वच्छतेति** । मनसः स्वाच्छ्यमनाकुलता, नैश्चिन्त्यमित्यर्थः । सौमनस्यं सर्वेभ्यो हितैषित्वमहिताचिन्तनं च । तत्कथं गम्यते ? तत्राऽऽह— **मुखादीति** । तस्य स्वरूपमाह— **अन्तःकरणस्येति** । ननु मौनं वाङ्नियमनं वाङ्मये तपस्यन्तर्भवति, तत्कथं मानसे तपसि व्यपदिश्यते ? तत्र वाचः संयमस्य कार्यत्वान्मनस्संयमस्य कारणत्वात्कार्येण कारणग्रहणान्मानसे तपसि मौनमुक्तमित्याह— **वागिति** । यद्वा मौनं मुनिभावो मननमात्मनो मनसो विनिग्रहो निरोधः । नन्वेवं मौनस्य मनोनिग्रहस्य च मनस्संयमत्वेनैकत्वात्पौनरुक्त्यं ? नेत्याह— **सर्वत** इति । भावस्य हृदयस्य संशुद्धी रागादिमलविकलतेति व्याचष्टे— **परैरिति** । मानसं मनसा प्रधानेन निर्वर्त्यमित्यर्थः ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— मनःप्रसादः मनसः क्रोधादिरहितत्वं, सौम्यत्वं मनसः परेषामभ्युदयप्रावण्यं, मौनं मनसा वाक्प्रवृत्तिनियमनम्, आत्मविनिग्रहो मनोवृत्तेर्ध्येयविषये अवस्थापनं, भावसंशुद्धिः आत्मव्यतिरिक्तविषयचिन्तारहितत्वम्, एतन्मानसं तपः ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— मनःप्रसादसौम्यत्वशब्दाभ्यां परेष्वहिताभिप्रायरूपकालुष्यनिवृत्तिः, हिताभिप्राययोगश्च विवक्षित इत्याह **मनसः क्रोधादिरहितत्व**मित्यादिना । 'वसति हृदि सनातने च तस्मिन् भवति पुमाञ्जगतोऽस्य सौम्यरूपः' [ वि. पु. ३।७।२४ ] इत्यादिनोक्तमाकारसौम्यत्वमपि मनस्सौम्यत्वफलमेव । अत एव हि तेन मनसः सौम्यत्वमुन्नीयते । इह च मानसतपोविभजनान्मनस इति बुद्ध्या निष्कृष्यानुषज्जितम् । मौनस्यापि मानसतपस्त्वाय मनोव्यापारप्राधान्यमाह **मनसा वाक्प्रवृत्तिनियमन**मिति । 'आत्मविनिग्रहः' इति अप्राप्तविषयविनिवारणं हि प्राप्तविषयैकाग्र्यार्थमित्यभिप्रायेणाऽऽह **ध्येयविषयेऽवस्थापन**मिति । 'भावसंशुद्धिः' इत्यस्य मनःप्रसादादिभिः पुनरुक्तिपरिहारायाऽऽह **आत्मव्यतिरिक्तविषयचिन्तारहितत्व**मिति । भावशब्दोऽत्राभिप्रायार्थः । तस्य संशुद्धिः समस्तेतरवर्जनम् । एतेन परदारादिषु मनसो रहस्यपि प्रवृत्तिर्दूरतो निरस्ता । अत्र तपसः शारीरत्वादिविभागः, तत्र शरीरादिप्राधान्यात्; अन्यथा 'पञ्चैते तस्य हेतवः' [ १८।१५ ] इत्यनेन विरोधात् ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— सौम्यत्वमक्रौर्यम् । 'अक्रूरः सौम्य उच्यते' इत्यभिधानम् । मौनं मननशीलत्वम् । "बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिः" [ बृ. उ. ३।५।१ ] इति हि श्रुतिः । "एतेन हीदं सर्वं ( अनन्तं ) मतं यदनेन हीदं सर्वं मतं तस्मान्मुनिस्तस्मान्मुनिरित्याचक्षते" इति भाल्लवेयश्रुतिः । कथं चान्यथा मानसं तपः स्यात् ? ॥ १६ ॥

६ ज. प्र. दी.— नन्वङ्गसौष्ठवं सौम्यत्वम्, तत्कथं मानसं तप उच्यते ? इत्यत आह– **सौम्यत्व**मिति । 'मौनं वाङ्नियमनं' इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह– **मौन**मिति । कुत एतत् ? इत्यत आह– **बाल्य**मिति । युक्तिबलोपेतत्वं बाल्यम् । आगमज्ञत्वं पाण्डित्यम् । अथ मुनिर्मननशीलो भवतीत्यर्थः । "एतेन हीदं" इत्युक्तमर्थं "यदनेन" इति हेतुत्वेनोपादत्ते । यस्मादेवं मुनिस्तस्मात्तं मुनिरित्याचक्षते । 'मन ज्ञाने' [धा. पा. ४।७०] इत्यत इकारप्रत्ययः उपधाया उकारश्च, मुनेर्भावश्च मौनम्, तच्च मननशीलत्वाख्यमागमार्थस्य युक्तिभिरनुसन्धानम् । उक्तार्थानङ्गीकारे बाधकमाह— **कथ**मिति । मौनमिति शेषः । वाङ्नियम एव न मौनं किन्त्वत्र तत्कारणमनोनियमो लक्ष्यत इति कश्चित्; तदसत्, आत्मविनिग्रह इति पुनरुक्तिदोषात् । कथञ्चित् तत्परिहारेऽपि मुख्यार्थसम्भवे लक्षणाश्रयणस्यैव दोषत्वात् ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.— मन इति । मनःप्रसादो मनस्स्वच्छता । सौम्यत्वं सौमनस्यं मुखादिप्रसादकारिण्यन्तःकरणवृत्तिः । मौनं वाक्संयमः । आत्मविनिग्रहो मनसो निरोधः । भावसंशुद्धिरवञ्चनम् । इत्येतन्मानसं तप उच्यते ॥ १६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— मनःप्रसादो मनस्स्वच्छता, सौम्यत्वं विषयचिन्ताव्याकुलत्वाभावः, मौनमेकाग्रतया तत्त्वचिन्तनम्, आत्मविनिग्रहो मनोनिरोधः, समाधिरिति यावत्; भावसंशुद्धिर्व्यवहारेषु मायाराहित्यम्, इत्येतन्मानसं तप उच्यते ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— मानसमाह— **मनःप्रसाद** इति । मनःप्रसादः मनस्स्वच्छता सत्परिचिन्तनं, सौम्यत्वमक्रूरता, मौनं मननम्, आत्मविनिग्रहः आत्मनो विषयेभ्य आकर्षणं, भावसंशुद्धिः स्नेहादिविषयेषु कापट्याभावः । इति अमुना प्रकारेणैतत्सर्वं मानसं मनस्सम्बन्धि तप उच्यते ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— मनःप्रसादः रागद्वेषादिराहित्यं, सौम्यत्वं परहितैषित्वं, मौनं वाक्संयमः, आत्मविनिग्रहो मनोनिरोधः, भावसंशुद्धिः परैर्व्यवहारकाले मायाराहित्यम् । इति एवम्प्रकारं अन्यदयादिकं एतन्मानसं तप उच्यते ॥ १६ ॥

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः ।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

१ शां. भा.— यथोक्तं कायिकं वाचिकं मानसं च तपस्तप्तं नरैः सत्त्वादिगुणभेदेन कथं त्रिविधं भवति ? इत्युच्यते– श्रद्धयेति । श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टया तप्तमनुष्ठितं तपस्तत्प्रकृतं त्रिविधं त्रिप्रकारं त्र्यधिष्ठानं नरैरनुष्ठातृभिरफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारहितैर्युक्तैः समाहितैर्यदीदृशं तपस्तत्सात्त्विकं सत्त्वनिर्वृत्तं परिचक्षते कथयन्ति शिष्टाः ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— त्रिविधस्य तपसो यथासम्भवं सात्त्विकादिभावेन त्रैविध्यमाकाङ्क्षाद्वारा निक्षिपति— यथोक्तमिति । त्र्यधिष्ठानं देहवाङ्मनोनिर्वर्त्यमित्यर्थः । समाहितैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैरिति यावत् ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— अफलाकाङ्क्षिभिः फलाकाङ्क्षारहितैः युक्तैः परमपुरुषाराधनरूपमिदमिति चिन्तायुक्तैः नरैः परया श्रद्धया यत् त्रिविधं तपः कायवाङ्मनोभिस्तप्तं, तत्सात्त्विकं परिचक्षते ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं शारीरवाचिकमानसरूपेण त्रिविधस्यापि तपसः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रैविध्यमुच्यते 'श्रद्धया' इत्यादिना । फलाकाङ्क्षानिषेधेन सह पठितो युक्तशब्दस्तदुपयुक्तभगवत्प्रीतिविलक्षणफलान्तरध्यानपर इत्यभिप्रायेणाऽऽह परमपुरुषाराधनेति । पुनरुक्तिशङ्कापरिहाराय सत्कारमानपूजाशब्दानां क्रमान्मनोवाक्कायनिष्पाद्यसम्भावनापरत्वोक्तिः ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— श्रद्धयेति । श्रद्धयाऽऽस्तिक्यबुद्ध्या परया प्रकृष्टया तप्तमार्जितं त्रिविधं तपः कायिकादि नरैः पुरुषैः फलनिरपेक्षैर्युक्तैः सात्त्विकमित्यभिधीयते ॥ १७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं शारीरादिभेदेन त्रेधोक्तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह त्रिभिः— श्रद्धयेति । तत्पूर्वोक्तं त्रिविधं तपः परया श्रद्धया आस्तिक्यबुद्ध्या फलाकाङ्क्षारहितैः युक्तैः समाहितचित्तैः सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारैः नरैः तप्तमनुष्ठितं सात्त्विकं कथयन्ति शिष्टाः ॥ १७ ॥

९ ब० त० दी०— त्रिविधस्य तस्य तपसः सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमाह— श्रद्धयेति त्रिभिः ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— एवं शारीरादित्रैविध्यं तपस उक्त्वा सात्त्विकादिभेदत्रैविध्यमाह— श्रद्धयेति । तत्तपः त्रिविधं शारीरादिकं, परया श्रद्धया अनन्यादरेण, अफलाकाङ्क्षिभिः फलापेक्षारहितैः युक्तैः शास्त्राज्ञाकारिभिः तप्तं सात्त्विकं परिचक्षते कथयन्ति ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— त्रिविधं कायिकवाचिकमानसभेदेन । युक्तैः अवहितैः ॥ १७ ॥

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ १८ ॥

१ शां. भा.— सत्कारेति । सत्कारमानपूजार्थं सत्कारः साधुकारः 'साधुरयं तपस्वी ब्राह्मणः' इत्येवमर्थं, मानो माननं प्रत्युत्थानाभिवादनादिस्तदर्थं, पूजा पादप्रक्षालनार्चनाशयितृत्वादिस्तदर्थं च तपः सत्कारमानपूजार्थं दम्भेन चैव यत्क्रियते तपस्तदिह प्रोक्तं कथितं राजसं चलं कादाचित्कफलत्वेनाध्रुवम् ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— राजसं तपो निर्दिशति— सत्कारेति । साधुकारमेव स्फोरयति— साधुरिति । दम्भेन चैव नास्तिक्येन केवलधर्मध्वजित्वेनेत्यर्थः । तदिह प्रोक्तमस्मिन्नेव लोके फलप्रदमित्यर्थः । कादाचित्कफलवत्त्वमध्रुवमनियतमनैकान्तिकफलमिति यावत् ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.**— मनसा आदरः सत्कारः, वाचा प्रशंसा मानः, शारीरो नमस्कारादिः पूजा, फलाभिसन्धिपूर्वकं सत्काराद्यर्थं च दम्भेन हेतुना यत्तपः क्रियते, तदिह राजसं प्रोक्तं, स्वर्गादिफलसाधनत्वेनास्थिरत्वात् । चलमध्रुवं, चलत्वं पातभयेन चलनहेतुत्वम् , अध्रुवत्वं क्षयिष्णुत्वम् ॥ १८ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'अफलाकाङ्क्षिभिः' [ १७।१७ ] इति सात्त्विकस्य तपसो विशेषणादिह फलाकाङ्क्षा अर्थसिद्धेत्यभिप्रायेणाऽऽह— **फलाभिसन्धिपूर्वकमिति । स्वर्गादिफलसाधनत्वेनास्थिरत्वादिति** अस्थिरस्वर्गादिफलसाधनत्वादित्यर्थः । स्वरूपतः कादाचित्कोक्तेरनुपयोगात्फलद्वाराऽत्र चलत्वमध्रुवत्वं च । तत्राध्रुवशब्देन फलानित्यत्वोक्तेश्चलशब्दः फलस्य विद्यमानदशाभाविदोषपरः । विद्यते च तत्र चलयतीति व्युत्पत्त्या चलशब्दशक्तिरित्यभिप्रायेणाऽऽह **पातभयेन चलनहेतुत्वमिति** । अत्र चलशब्देन अनित्यफलत्वम् , अध्रुवशब्देन प्रतिबन्धसम्भवादनैकान्तिकफलत्वं चोच्यत इत्ययुक्तम् , अन्यत्राऽपि प्रतिबन्धसम्भवस्याविशेषादिति भावः ॥ १८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ १८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **सत्कारेति** । सत्कारश्च मानश्च पूजा च सत्कारमानपूजाः । सत्कारः साधुरयं तपस्वीति प्रत्ययः । मानः प्रत्युत्थानाभिवादनादिः । पूजा पादप्रक्षालनार्चनादिः ॥ १८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— साधुरयं तपस्वीति स्तुतिः सत्कारः, प्रत्युत्थानाभिवादनादिर्मानः, पादप्रक्षालनधनदानादिः पूजा, एतदर्थं दम्भेनैव केवलधर्मध्वजित्वेनैव, न त्वास्तिक्यबुद्ध्या यत्तपः क्रियते अत एव चलमत्यल्पकालस्थाय्यैहिकसत्कारादिफलम् , अध्रुवं तत्रापि नियमशून्यं तत्तपो राजसं प्रोक्तम् ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— ॥ १८ ॥

**१० पु. अ. त.**— राजसमाह— **सत्कारेति** । तत् त्रिविधं तपः इह लोकेषु सत्कारः साधुत्वादिशब्दः, मानः उत्तमत्वेन सभादिपूज्योपवेशनादिरूपः पूजालाभः । एतदर्थं दम्भेनैव च परप्रतारणरूपेण यत्क्रियते तु चलं पूर्वोक्ताभावे अध्रुवं परलोकादिसाधनरहितं तत्तपः राजसं प्रोक्तं शास्त्रेषु कथितमित्यर्थः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— सत्कारः लोके साधुरयमिति वाक्पूजा । मानः अभ्युत्थानाभिवादनादिकायिकी पूजा । पूजा लाभादि । एतदर्थं दम्भेन च यत्तपः क्रियते तद्राजसं; चलं विनाशि, अध्रुवं अनिश्चितफलम् ॥ १८ ॥

**मूढग्राहेणाऽऽत्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।**
**परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥**

**१ शां. भा.**— **मूढेति** । मूढग्राहेणाविवेकनिश्चयेनाऽऽत्मनः पीडया क्रियते यत्तपः परस्योत्सादनार्थं विनाशार्थं वा तत्तामसं तप उदाहृतम् ॥ १९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तामसं तपः संगृह्णाति— **मूढेति** । मूढोऽत्यन्ताविवेकी तस्य ग्राहो नामाऽऽग्रहोऽभिनिवेशस्तेनेत्याह— **अविवेकेति** । आत्मनः स्वस्य देहादेरित्यर्थः ॥ १९ ॥

**३ रा. भा.**— मूढाः— अविवेकिनः, मूढग्राहेण मूढैः कृतेनाभिनिवेशेन आत्मनः शक्त्यादिकमपरीक्ष्य आत्मपीडया यत्तपः क्रियते, परस्योत्सादनार्थं च यत्तपः क्रियते, तत् तामसमुदाहृतम् ॥ १९ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अहितप्रवृत्तिहेतुभूतमूढत्वमहितेष्वेव हितत्वभ्रम इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **अविवेकिन** इति । मूढानामभिनिवेशेनेति समासार्थः । तत्र कर्तरि षष्ठीति सुव्यक्त्यर्थमाह **मूढैः कृतेनाभिनिवेशेनेति** । सामान्येनोक्तमनुष्ठातरि विशिष्याऽऽह **आत्मनः शक्त्यादिकमपरीक्ष्येति** । आदिशब्देन शास्त्रपर्युदस्तत्वम् , 'अशक्यानि दुरन्तानि समव्ययफलानि च । असाध्यानि च वस्तूनि नारभेत विचक्षणः' । इत्याद्युक्तविषयदोषाश्च संगृहीताः । अयथाबलारम्भादिरिहात्मपीडा, तेनाल्पपीडाकरयथाबलवतादिव्यवच्छेदः । यथोक्तं 'सन्निरीक्ष्य बलाबलम्' इति । स्मरन्ति च 'देशं कालं तथाऽऽत्मानं द्रव्यं द्रव्यं प्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं समाचरेत्' इत्यादि ॥ १९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ १९ ॥

७ ह. पै. भा.— मूढेति । मूढग्राहेणाविवेकनिश्चयेनाऽऽत्मनः स्वस्य पीडया यत्तपः क्रियते परस्यान्यस्योत्सादनार्थं विनाशार्थं वा, तत्तामसमुदाहृतमुक्तमित्यर्थः ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— मूढग्राहेण अविवेककृतदुराग्रहेण आत्मनो देहेन्द्रियसङ्घातस्य पीडया यत्तपः क्रियते तथा परस्योत्सादनार्थं नाशायाभिचाररूपं वा यत्क्रियते, तत्तपस्तामसमुक्तम् ॥ १९ ॥

९ व० त० दी०— ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— तामसमाह— मूढेति । मूढग्राहेण मूर्खताजनितदुराग्रहेण आत्मना जीवस्य पीडया यत्तपः क्रियते, वा परस्योत्सादनार्थं अन्यस्य विनाशार्थं तत्तामसमुदाहृतं, सम्यक् न युक्तमित्यर्थः ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— मूढग्राहेण अविवेककृतेन दुराग्रहेण । आत्मनः शरीरस्य । उत्सादनार्थं विनाशार्थम् ॥ १९ ॥

दानस्य गुणतस्त्रैविध्यम् ।

**दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।**
**देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥**

१ शां. भा.— इदानीं दानत्रैविध्यमुच्यते— दातव्यमिति । दातव्यमित्येवं मनः कृत्वा यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय, समर्थायापि निरपेक्षं दीयते, देशे पुण्ये कुरुक्षेत्रादौ, काले संक्रान्त्यादौ, पात्रे च षडङ्गविद्वेदपारगे इत्यादौ, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

२ आ. शां. व्या.— क्रमप्राप्तं दानस्य गुणनिमित्तभेदमाह— इदानीमिति । दातव्यमित्येवं मनः कृत्वा दानमेव मया भाव्यं, न फलमित्यभिसन्धायेत्यर्थः ॥ २० ॥

३ रा. भा.— फलाभिसन्धिरहितं दातव्यमिति देशे काले पात्रे चानुपकारिणे यद्दानं दीयते, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

४ वे. ता. चं.— राजसे दाने 'फलमुद्दिश्य' इति विशेषणादत्र स्वर्गादिफलसङ्गनिवृत्तिरुक्ता । 'अनुपकारिणे' इत्येतत् दृष्टफलाभिसन्धिरहिताभिप्रायम् । 'दातव्यम्' इत्येतत्सात्त्विकतपःप्रभृतिष्विवाभिसन्ध्यन्तरव्युदासार्थमित्याह— फलाभिसन्धिरहितमिति । यद्यप्यत्र पात्रमेवार्थतोऽनुपकारित्वेन विशेष्यते, तथापि सम्प्रदानत्वद्रव्यप्रतिष्ठाधिकरणत्वयोर्विवक्षया चतुर्थीसप्तम्योः सह प्रयोगः । पात्रे स्थितेऽनुपकारिणे तस्मा इति वाऽन्वयः । पात्रे दीयते, तच्चानुपकारिणे दीयत इति वा वाक्यभेदो ग्राह्यः । देशकालशब्दावत्र दानार्हतया चोदितपुण्यदेशकालविषयौ । पात्रं तु 'न विद्यया केवलया जन्मना (तपसा) वापि पात्रता । यस्य वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रचक्षते' [या. स्मृ. १।२००] इत्यादिभिर्विवक्षितम् ॥ २० ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २० ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २० ॥

७ ह. पै. भा.— दातव्यमिति । दातव्यमिति यद्दानं दीयते हिरण्यादि अनुपकारिणेऽनुपकाराय देशे पुण्यदेशे कालेऽयनसंक्रान्त्यादौ पात्रे षडङ्गवेदविदादौ तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

८ वें. ब्र. गि.— इदानीं क्रमप्राप्तस्य दानस्य त्रैविध्यमाह त्रिभिः— दातव्यमिति । दीयत इति दानं स्वर्णभूम्यादि । यद्दानं विहितत्वाद्दातव्यमेवेति निश्चयेन- न तु फलाभिसन्धिना- अनुपकारिणे दृष्टोपकारमकुर्वते देशे कुरुक्षेत्रादौ काले च सूर्योपरागादौ पात्रे 'न विद्यया केवलया तपसा वाऽपि पात्रता । यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रचक्षते

( प्रकीर्तितम् )' [ या. स्मृ. १।२०० ] इति शास्त्रोक्तलक्षणे। पात्र इति च चतुर्थ्यर्थे सप्तमी। अनुपकारिणे पात्रायेत्यर्थः। पात्रे रक्षकायेति वा, 'विद्यातपोभ्यामात्मनो दातुश्च पालनशक्त एव प्रतिगृह्णीयात्' इति शास्त्रात्। एवंविधं दानं सात्त्विकं स्मृतम् ॥ २० ॥

९ व० त० दी०— पूर्वप्रतिज्ञातं दानस्य त्रैविध्यमाह त्रिभिः— दातव्यमिति। सुबोधार्थः ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.— अथ पूर्वप्रतिज्ञातदानत्रैविध्यमाह— दातव्यमिति। 'धनं मूलमनर्थानां' इत्यादिवाक्यैः सञ्चितानर्थकारित्वज्ञानपूर्वकदत्तेष्टभक्त्यादिसाधकत्वज्ञानेन दातव्यमिति ज्ञात्वा अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय दीनाय 'सीदत्कुटुम्बेभ्यः' इत्याद्युक्तधर्मविशिष्टाय यद्दानं दीयते, देशे कुरुक्षेत्रादौ ग्रहणादौ चकारेण अकाले विवाहाद्युपस्थितौ याचमानाय पात्रे वेदविशारदाय चकारेण अपात्रे बुभुक्षिताय यत्तद्दानं सात्त्विकं स्मृतं प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ २० ॥

११ नी० भा० दी०— दातव्यमेवेति बुद्ध्या यद्दानं प्रदेयद्रव्यं दीयते, न तु फलमुद्दिश्य दीयते। कस्मै ? अनुपकारिणे प्रत्युपकारासमर्थाय देशे कुरुक्षेत्रादौ काले संक्रान्त्यादौ यद्दीयते तत्सात्त्विकमिति सम्बन्धः। यच्च पात्रे दानं समर्पणं तदपि सात्त्विकमिति योजना। अत्र आद्यो दानशब्दः कर्मणि व्युत्पन्नः प्रदेयद्रव्यवाची कर्मभूतः तत्संयोगात्सम्प्रदाने चतुर्थ्यपेक्षा। द्वितीयस्तु भावव्युत्पन्नस्त्यागमात्रवाची तेन तत्र पात्रभूते पुंसि न चतुर्थ्यपेक्षा। "कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्" [ अष्टा. १।४।३२ ] इति हि पारिभाषिक्याः सम्प्रदानसंज्ञाया अत्र कर्मविभक्त्यभावेनाप्रवृत्तेः तेन पात्रे इति चतुर्थ्यर्थे सप्तमीति वा, पातृशब्दस्य चतुर्थीयमिति वा, कल्पनं व्यर्थमेव, दानशब्दस्यावृत्त्या च देशकालानुपकारित्वविशिष्टे दानमित्येका कोटिः; पात्रे दानमित्यपरा। उभयसमुच्चये तु महान्गुण इति भावः ॥ २० ॥

**यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।**
**दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥**

१ शां. भा.— यत्त्विति। यत्तु दानं प्रत्युपकारार्थं 'काले त्वयं मां प्रत्युपकरिष्यति' इत्येवमर्थं फलं वाऽस्य दानस्य मे भविष्यत्यदृष्टमिति, तदुद्दिश्य पुनर्दीयते च परिक्लिष्टं खेदसंयुक्तं तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

२ आ. शां. व्या.— राजसदानविभजनं स्पष्टार्थम् ॥ २१ ॥

३ रा. भा.— प्रत्युपकारकटाक्षगर्भं फलमुद्दिश्य च परिक्लिष्टं अकल्याणद्रव्यकं यद्दानं दीयते, तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २१ ॥

४ वे. ता. चं.— प्रत्युपकारकटाक्षगर्भमिति– प्रत्युपकाराभिप्रायपूर्वकमित्यर्थः। एतेन पूर्वकृतप्रत्युपकाररूपता भाविप्रत्युपकारप्रयोजकता च सङ्गृहीता। द्रव्यरागात्परिक्लेशेन त्यजन् हि पुरुषः कल्याणमंशं स्वस्मै स्थापयित्वा अन्यत्परस्मै समर्पयतीत्यभिप्रायेणाऽऽह अकल्याणद्रव्यकमिति। अथ-द्राहृतत्वाद्वा द्रव्यस्याकल्याणत्वमिह परिक्लिष्टशब्दार्थ इति भावः ॥ २१ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २१ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २१ ॥

७ ह. पै. भा.— यत्त्विति। दीयते प्रत्युपकारार्थमुपकृतवानुपकरिष्यतीति प्रत्युपकारं फलं स्वर्गादिफलमुद्दिश्य वा। परिक्लिष्टं क्लेशयुक्तम्। तद्दानं राजसं स्मृतम् ॥ २१ ॥

८ वे. ब्र. गि.— यत्तु पुनः प्रत्युपकारार्थं कालान्तरे ममायमुपकरिष्यतीत्येवं दृष्टार्थं दीयते, यदपि वा स्वर्गादिकं फलमुद्दिश्य दीयते– न तु फलानभिसन्धिना– तच्च परिक्लिष्टं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तं यथा तथा दीयते, तद्दानं राजसमुक्तम् ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— यत्त्विति । तुशब्देन तादृग्दानस्यानुचितत्वं ज्ञाप्यते । यत्तु प्रत्युपकारार्थं महाराजकृपापात्रब्राह्मणाय अग्रे स्वोपकारकादित्वोद्देशेन दानं वा पुनः फलधर्मादिचतुष्टयमुद्दिश्य परिक्लिष्टं चित्तक्लेशयुक्तं फलोपकारासन्देहेन दीयते तत् दानं राजसमुदाहृतं, कथितमित्यर्थः ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी० — परिक्लिष्टं 'कथमेतावद्द्रव्यव्ययः कर्तव्यः' इत्याकुलतायुक्तं यथा स्यात्तथा दीयते इति क्रियाविशेषणम् ॥ २१ ॥

**अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।**
**असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥**

**१ शां. भा.— अदेशेति ।** अदेशकालेऽपुण्ये देशे म्लेच्छाशुच्यादिसङ्कीर्णे, अकाले पुण्यहेतुत्वेनाप्रख्याते संक्रान्त्यादिविशेषरहिते, अपात्रेभ्यश्च मूर्खतस्करादिभ्यो देशादिसम्पत्तौ चासत्कृतं प्रियवचनपादप्रक्षालनपूजादिरहितं, अवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च यद्दानं, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— तामसदानविभजनं स्पष्टार्थम् ॥ २२ ॥

**३ रा. भा.— अदेशकाले अपात्रेभ्यश्च यद्दानं दीयते, असत्कृतं पादप्रक्षालनादिगौरवरहितम्, अवज्ञातं सावज्ञम्, अनुपचारयुक्तं यद्दीयते, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— अदेशः कलिङ्गकीकटादिः । अकालो रात्र्यादिः । अपात्राणि पङ्क्तिदूषकमूर्खतस्करकितवबन्दिवैतालिकादयः । सत्कृतं सत्करणं तद्रहितमसत्कृतम्; तदाह **पादप्रक्षालनेति** । प्रतिग्रहीतृपुरुषावज्ञैव क्रियापर्यन्तप्रसारात्तद्विशेषणतया व्यपदिश्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह **सावज्ञमिति** । अवज्ञाया वाचिकादिविषयत्वमाह **अनुपचारयुक्तमिति** । शास्त्रप्रामाण्यानिश्चयेन सन्दिग्धपरलोकत्वात् पात्रेभ्यः स्वत्वोत्कर्षाभिमानोच्चासत्कारावज्ञे । देशादिसम्पत्तावप्यसत्कृतत्वादि परिहर्तव्यम् ॥ २२ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ २२ ॥

**७ इ. पै. भा.— अदेशेति । अदेशकाले पुण्यदेशकालावनपेक्ष्यापात्रेभ्यश्च दीयते । अपात्रं सम्प्रदानं चासत्कृतं प्रियवचनपूजारहितं सम्प्रदानसम्प्रदेययोरवज्ञायुक्तं यदेवं दानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— स्वतो दुष्टसंसर्गेण वाप्यशुचि स्थानमदेशः, अकालस्त्वशुचिसमयः, नटविटादयोऽपात्राणि । अदेशे अकाले च अपात्रेभ्यो यद्दीयते, यच्च देशकालपात्रसम्पत्तावपि असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनादिपूजात्मकसत्कारशून्यं अवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तं च दीयते, तद्दानं तामसमुक्तम् ॥ २२ ॥

९ ब० त० दी० — ॥ २२ ॥

**१० पु. अ. त.— तामसमाह— अदेश इति ।** अदेशे कीकटादौ म्लेच्छादिसन्निधाने वा, अकाले अश्रद्धावस्थायामाशौचादौ, अपात्रेभ्यः गणिकाचारणबन्दिभ्यो यद्दानं दीयते तत्तामसं फलादिरहितमुदाहृतम् । च पुनः देशादिसम्पत्तौ पात्रेभ्योऽपि यत् असत्कृतं सत्कारपूजादिरहितं अवज्ञातं स्वरूपज्ञानपूर्वकतिरस्कारं यद्दीयते तदपि तथेत्यर्थः । एवं यज्ञादीनां त्रैविध्यनिरूपणेनैतत्त्रैविध्यरहितं निर्गुणमेव तत्सर्वं यज्ञादिकं कर्तव्यमिति ज्ञापितम् । तथाहि भगवदिच्छायां सत्यां तज्ज्ञानपूर्वकं भगवद्विभूतियागो भक्त्यङ्गत्वेन कार्यो युधिष्ठिरवत् 'यक्ष्ये विभूतीर्भवतः' [ भाग: १०।७२।३ ] इत्यादिविज्ञापनपूर्वकम् । तपोऽपि भगवदर्थकसर्वसुखपरित्यागपूर्वकक्लेशादिसहनरूपं ज्ञानरूपं वा कार्यम् । दानं च भक्तिसिद्ध्यर्थं भगवद्भक्ताय वेदविदे ब्राह्मणाय दातव्यम् ॥ २२ ॥

११ नी० भा० दी० — असत्कृतं प्रियभाषणपादप्रक्षालनादिपूजासत्कारस्तद्रहितम् । अवज्ञातं पात्रपरिभवयुक्तम् । दानं प्रदेयं हिरण्यादि ॥ २२ ॥

यज्ञादिकाम्याकाम्यकर्मणां वैगुण्ये तत्साङ्गतासिध्यर्थं प्रायश्चित्तरूपोपायः ।

**ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।**
**ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ॥ २३ ॥**

**१ शां. भा.**— यज्ञदानतपःप्रभृतीनां साद्गुण्यकरणायायमुपदेश उच्यते— **ओमिति** । ओं तत्सदित्येष निर्देशो निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशस्त्रिविधो नामनिर्देशो ब्रह्मणः स्मृतश्चिन्तितो वेदान्तेषु ब्रह्मविद्भिः। ब्राह्मणास्तेन निर्देशेन त्रिविधेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता निर्मिताः पुरा पूर्वमिति निर्देशस्तुत्यर्थमुच्यते ॥ २३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— विहितानां कर्मणां प्रमादयुक्ते वैगुण्ये कथं परिहारः स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यज्ञे**ति । "ओमिति ब्रह्म" [ तै. उ. १।८ ] इत्यादिश्रुतेः ॐ मिति तावद्ब्रह्मणो नामनिर्देशः, "तत्त्वमसि" [छां. उ. ६।८।७–२३] इति श्रुतेः। 'तत्' इत्यपि ब्रह्मणो नामनिर्देशः, "सदेव सोम्येदम्" [ छां. उ. ६।२।१ ] इति श्रुतेः 'सत्' इत्यपि तस्य नामेति मत्वाऽऽह— **ओमि**ति । कथं निर्देशेन तेषां विधानं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **निर्दिश्यत** इति । यज्ञादीनां वैगुण्यप्रतीतिकाले यथोक्तनाम्नामन्यतमोच्चारणादवैगुण्यं सिध्यतीति भावः। कर्मसाद्गुण्यकारणं त्रिविधं नाम स्तौति— **ब्राह्मणा** इति। पूर्वं सर्गादौ । निर्माणं च प्रजापतिकर्तृकम् ॥ २३ ॥

**३ रा. भा.**— एवं वैदिकानां यज्ञतपोदानानां सत्त्वादिगुणभेदेन भेद उक्तः, इदानीं तस्यैव वैदिकस्य यज्ञादेः प्रणवसंयोगेन तत्सच्छब्दव्यपदेश्यतया च लक्षणमुच्यते— **ओमिति** । 'ओं तत् सत्' इति त्रिविधोऽयं निर्देशः शब्दो ब्रह्मणः स्मृतः ब्रह्मणोऽन्वयी भवति । ब्रह्म च वेदः; वेदशब्देन वैदिकं कर्मोच्यते; वैदिकं यज्ञादिकम्; यज्ञादिकं कर्म 'ओं तत्सत्' इति शब्दान्वितं भवति; ओमितिशब्दस्यान्वयो वैदिककर्माङ्गत्वेन प्रयोगादौ प्रयुज्यमानतया; तत्सदितिशब्दयोरन्वयः पूज्यत्वाय वाचकतया; तेन त्रिविधेन शब्देनान्विता ब्राह्मणा वेदान्वयिनस्त्रैवर्णिकाः वेदाश्च यज्ञाश्च पुरा विहिताः; पुरा मयैव निर्मिता इत्यर्थः ॥ २३ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तत्रैविध्यवदुपर्यपि त्रैविध्यान्तरोक्तिरिति शङ्काव्युदासाय उक्तसमस्तलक्षणपरतयोत्तरमवतारयति— **एवमि**त्यादिना । त्रैविध्यविधिरनपेक्षितः, लक्ष्येषूद्दिष्टेषु लक्षणविधिस्त्वपेक्षित इत्यभिप्रायेण 'ब्रह्मणः स्मृतः' इत्यन्वयो दर्शितः । वक्ष्यमाणप्रकारेण त्रिष्वपि निर्देशेषु कर्मत्वेनान्वयायोगात्— **ब्रह्मणोऽन्वयी भवती**ति सम्बन्धसामान्यार्थतोक्तिः । ननु 'ओं तत्सत्' इति वैदिकस्य यज्ञादेर्लक्षणमुच्यत इत्युक्तमयुक्तं, ब्रह्मशब्दस्य तद्वाचकत्वाभावान्मुख्यार्थबाधाभावाच्च । त्रयाणां च साक्षात्परब्रह्मनामत्वं श्रुतिसिद्धं "तत्ते पदं सङ्ग्रहेण ब्रवीमि ओमित्येतत्" [ कठो. १।२।१५ ] इति वा; "एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति, योऽस्यैतदेव नाम वेद ब्रह्म भवतीति" "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" [ छां. उ. ६।८।६ ] इत्यादिषु । अतः शास्त्रप्रधानप्रतिपाद्यपरब्रह्मनिर्देशप्रकारोऽयमुपासकसंव्यवहारार्थमुपदिश्यत इति युक्तम् । विगुणमपि हि कर्म ब्रह्मणोऽभिधानत्रयप्रयोगेण सगुणं सम्पादितं भवति । कर्मणि कर्मान्तरेण लौकिकवाचा निद्राप्रमादादिभिश्च व्यवाये सन्तः सर्वत्र 'ओं तत्सत्' इत्युदाहरेयुः । अतएव चाध्यायाद्यन्तेषु सर्वेष्वयमेव त्रिविधो निर्देशः पठ्यत इति शङ्कायां— कर्मणि ब्रह्मशब्दमवतारयितुं तत्प्रतिपादके प्रयोगस्तावत्सिद्ध इत्यभिप्रायेणाऽऽह **ब्रह्म च वेद** इति । वेदाभिधानस्य पूर्वापरवशात्तदर्थपरतामभिप्रेत्याऽऽह **वेदशब्देने**ति। वेदनिरूढप्रयोगेण शब्देनेत्यर्थः। 'ब्रह्मशब्देन' इति केषाञ्चित्पाठः ।

**अयमभिप्रायः**— यद्यपि 'ओं तत्सत्' इति शब्दानां साक्षात्परब्रह्मनामत्वं प्रसिद्धं, तथाप्यत्र तद्विवक्षा न युक्ता; अध्याये तत्प्रश्नाद्यभावात्, अनन्तरं च 'ब्राह्मणास्तेन' इत्यादिनाऽनन्वयप्रसङ्गाच्च; अतो वेदेनोपलक्षणेन वैदिकस्यैवायं त्रिधा निर्देशः— इति । एतदेव विवृणोति— **वैदिकमि**ति । त्रयाणामन्वयप्रकारेऽवान्तरभेदं वक्ष्यमाणमुपक्षिपति **ओमि**ति। करणाद्यर्थासम्भवादुपलक्षणतृतीयार्थमाह— **तेन त्रिविधेन शब्देनान्विता** इति। ब्राह्मणशब्दोऽत्र ब्रह्मशब्दविवक्षितवेदान्वयात् त्रैवर्णिकविषयः। 'ब्रह्मवादिनाम्' [ १७।२४ ] इति ह्यनन्तरमुच्यते । तेनैव प्रणवान्वयप्रकारोऽपि सूचित इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **वेदान्वयिनस्त्रैवर्णिका** इति । 'विहिताः' इत्य

स्य कर्त्रपेक्षायां 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्' [४।१३] इत्यादिपरामर्शेनाऽऽह **पुरा मयैव निर्मिता** इति । वेदानां विहितत्वं यथापूर्वं प्रवर्तितत्वं, "यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" [श्वे. उ.६।१८] 'अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा' [म. भा.१२। २३२।२४ कू. पु. पू.२।३०] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिस्तन्नित्यत्वसिद्धेः ॥ २३ ॥

**५ आ. मा. भा.— पुनश्च कर्मादीतिकर्तव्यताविधानार्थमर्थवादमाह— ॐतत्सदित्यादिना । परस्य ब्रह्मणो ह्येतानि नामानि । "ओतं जगद्यत्र स्वयं च पूर्णो वेदोक्तरूपोऽनुपचारतश्च । सर्वैः शुभैश्चाभियुतो न चान्यैः ॐ तत्सदित्येनमतो वदन्ति" इति हि ऋग्वेदखिलेषु । द्वितीयपादस्तच्छब्दार्थः।**

**६ ज. प्र. दी.**— ओमित्यादिकं तु प्रकृतासङ्गतं कथमुच्यते ? इत्यत आह— **पुनश्चेति** । कर्मेति यज्ञ उच्यते, आदिपदेन तपोदाने । इतिकर्तव्यता इत्थम्भावः । विधानार्थं प्रतिपादनार्थम् । अफलाकाङ्क्षिभिरित्यादिनोक्तत्वात्पुनश्चेत्युक्तम् । यज्ञतपोदानानां सात्त्विकत्वादिहेतवोऽसाधारणा धर्माः प्रागुक्ताः, साधारणांस्तु वक्तुं पुराकल्पादिरूपमर्थवादमाहेत्यर्थः। ब्रह्मशब्दस्य हिरण्यगर्भाद्यर्थतां निर्देशशब्दस्य च भावार्थतां वारयितुं व्याख्याति— **परस्येति** । निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशो नाम । कुत एतत् ? इत्यतो हीत्युक्तम् । भावार्थत्वे 'ओम् तत्सत्' इत्येतैः सामानाधिकरण्यानुपपत्तेर्नामार्थत्वमेवाङ्गीकार्यम् । ओमादिकं च परब्रह्मनामत्वेन प्रसिद्धमित्यर्थः । तामेव प्रसिद्धिं दर्शयति— **ओतमिति** । ओतं प्रविष्टम् । आश्रितं यत्र परमेश्वरे यः स्वयं च जगत्योतः प्रविष्टः पूर्णः अनुपचारतो मुख्यया वृत्त्या । अत्र "ओतं जगद्यत्र" इत्यादिना ओंशब्दस्य निमित्तद्वयेन भगवति वृत्तिर्दर्शिता । 'अवतेष्टिलोपश्च' [वार्ति. ] इति वचनात् । सर्वैरित्यनेन सच्छब्दस्य । 'साधुभावे च' [१७।२६] इति वक्ष्यमाणत्वात् । तच्छब्दस्य तु न केनापि । अतः 'ओं तत्सत्' इत्येतमित्ययुक्तमित्यत आह- **द्वितीयेति** । वेदोक्तेति द्वितीयपादस्तच्छब्दार्थव्याख्यानपरः । तदिति हि नित्यपरोक्षत्वमुच्यते । न चेश्वरस्वरूपमनुमातुं शक्यम्; अतो वेदैकवेद्यत्वात् 'तत्' इत्युच्यत इति भावः ।

**५ आ. मा. भा.— "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छां. उ. ६।२।१] इति च । "ॐमिति ब्रह्म" [तैति. १।८।१+ना. प. ८।२] इति च । तेन ब्रह्मणा आत्मपूजार्थं वेदविधिर्व्यञ्जनम् । मा तूक्ता पुरस्तात् ॥ २३ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— सदोंशब्दयोः परब्रह्मनामत्वे श्रुत्यन्तरं चाऽऽह— **सदेवेति** । तेनेति निर्देशपरामर्श इति कश्चित्, तदसदिति भावेनाऽऽह— **तेनेति** । कुत एतत् ? निर्देशस्य ब्राह्मणादिविधानायोगात् । निर्देशस्तुत्यर्थमिदमुच्यत इति चेत्, न; भूतोक्तिसम्भवेन तदयोगात् । ब्रह्मणोऽपि ब्राह्मणादिविधानानुपपत्तिः । प्रयोजनाभावादित्यत आह— **आत्मेति** । आत्मपूजया प्राणिनां सुखार्थं ब्राह्मणादयो विहिता इति सम्बन्धः । ब्राह्मणादिवद्वेदानामपि विधानं निर्माणमेवेति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **वेदेति** । व्यञ्जनमेव विधानं, न निर्माणमित्यर्थः । सकृच्छ्रुतस्य विहितशब्दस्य द्विधाऽर्थकल्पनं कुतः ? इति चेत्, वेदापौरुषेयत्वस्य प्रमितत्वात् । किं तत्प्रमाणं ? इत्यत आह— **मा त्विति** । परमेश्वरस्य वेदव्यञ्जनं नाध्यापकवत् । किन्तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति ज्ञापयितुं विधिग्रहणं कृतम् । वेदो हि विध्यात्माऽस्ति; विधिः प्रेरणं, नियोग इति चानर्थान्तरम् । न च नियोक्तारमन्तरेण नियोगः सम्भवति । न च शब्दादीनां नियोक्तृत्वं सम्भवति, लोकविरोधात् । न चोच्चारक एव नियोक्ता मामुपासीतेत्यादावव्यवस्थापातात् । तस्मात्स्वतन्त्रेण वक्त्रा भाव्यम् । न चैवं पौरुषेयत्वापत्तिः, अनादिसिद्धेनैव शब्दार्थसम्बन्धेन तस्य नियोक्तृत्वाभ्युपगमादिति ॥ २३ ॥

**७ ह. पै. भा.— ॐमिति । निर्दिश्यतेऽनेनेति निर्देशः, ब्रह्मणः परमात्मनः स्मृतो ब्रह्मविद्भिः । ओमिति तदिति सदिति त्रिविधो ब्रह्मणो निर्देशोऽभिधानं स्मृतमित्यर्थः । तेन त्रिविधेन निर्देशेन ब्राह्मणा वेदिनश्च वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः सृष्टाः पुरा पूर्वस्मिन्काले सृष्टिकाले सकलजगत्स्रष्ट्रा हिरण्यगर्भेण ॥ २३ ॥**

**८ वें. व्र. गि.**— तदेवमाहारयज्ञतपोदानानां त्रैविध्योक्त्या यानि सात्त्विकानि तान्येव सात्त्विकत्वप्रेप्सुभिरुपादेयानि, न तु राजसतामसानीत्युक्तम् । नन्विदमयुक्तम्, विचार्यमाणे सर्वेषामपि यज्ञतपोदानानां राजसतामसप्रायत्वेन सात्त्विकयज्ञादेरेवासिद्धेरित्याशङ्क्य तादृशस्यापि सात्त्विकत्वापादनप्रकारं दर्शयति परमकारुणिको भगवान्— **ॐमिति** । निर्दिश्यते अनेनेति निर्देशो नामधेयम् । 'ॐ तत्सत्' इत्येवंरूपो ब्रह्मणः परमात्मनो निर्देशस्त्रिविधः स्मृतो वेदान्तविद्भिः, "ओमिति ब्रह्म" [तै. उ.१।८।१] "तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति" "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [छां. उ.६।२।१] इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धेः । यस्मादेवं पूर्वैर्महर्षिभिरयं निर्देश. स्मृतः, तस्मादिदानीन्तनैरपि स स्मर्तव्य

इति विधिःकल्प्यते "यदाग्नेयोऽष्टाकपालो भवति" इत्यादाविव 'वचनानि त्वपूर्वत्वात्' [पू. मी.१०।४।२१] इति न्यायात्। यज्ञदानतपस्संयोगाच्चास्य तदवैगुण्यमेव फलं नष्टाश्वदग्धरथन्यायात्परस्पराकाङ्क्षया कल्प्यते, 'प्रमादात्कुर्वतां कर्म प्रच्यवेताध्वरेषु यत्। स्मरणादेव तद्विष्णोः सम्पूर्णं स्यादिति श्रुतिः' [ ] इत्यादिस्मृतेस्तथैव शिष्टाचाराच्च। अथाम्रुमेव ब्रह्मनिर्देशं स्तौति— ब्राह्मणा इति, त्रैवर्णिकोपलक्षणमेतत्। ब्राह्मणाद्याः कर्तारः, वेदाः करणानि, यज्ञाः कर्माणि, तेन ब्रह्मणो निर्देशेन पुरा विहिताः सृष्टाः प्रजापतिना। तस्माद्यज्ञादिसृष्टिहेतुत्वेन तद्वैगुण्यपरिहारसमर्थो महाप्रभावोऽयं निर्देश इत्यर्थः। अत्र 'निर्देशः' इत्येकवचनात्त्रिविध इति तिस्रो विधा अवयवा यस्येति तद्विशेषणाच्च त्र्यवयवमिदं 'ॐ तत्सत्' इत्येकं नाम प्रणववदित्ययमर्थो दर्शितः॥ २३॥

९ ब० स० दी०— एवं श्रुतिसिद्धानां यागतपोदानानां सत्त्वादिगुणभेदेन भेद उक्तः; इदानीं तस्य श्रौतस्यैव यज्ञादेर्देशकालादिसम्पत्त्यभावेऽपि तत्सम्पत्तिप्रकारमाह– ॐतत्सदिति। ब्रह्मणः वेदस्य पुरुषोत्तमस्य च त्रिविधो नाम व्यपदेशः स्मृतो ब्रह्मवादिभिः भक्तैश्च। 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' [१८।१३] इत्यादिभिरोमिति संज्ञा ब्रह्मणः। तदिति संज्ञा "यतो वाचो निवर्तन्ते" [तै. उ.२।४] 'आनन्दमात्रमिति यत्' इत्यारभ्य 'ततो न ज्ञायते तत्' इत्यन्तादिवाक्यैः। सदिति च नाम ब्रह्मणः 'सद्ब्रह्मास्ति ब्रह्म' इति च वेदवादिभिरित्येवंत्रिविधं सर्वत्र यज्ञादौ विनियुक्तं सर्वदेशकालादिसम्पत्तिसाधकमिति ज्ञापनाय पूर्ववृत्तमाह— ब्राह्मणास्तेनेति स्पष्टम्। अन्ये तु यज्ञादेः प्रणवयोगेन तत्सच्छब्दनिर्देश्यतया च लक्षणमाहुः ॐ इति। 'ॐ तत्सत्' इति त्रिविधोऽयं निर्देशो ब्रह्मणः परस्य शाब्दस्य चान्वयी स्मृतः ब्रह्मशब्देन ब्रह्मात्मकं सर्वमक्षरादिकमक्षरपदवाक्यादिकमत्रोच्यते। तत् 'ॐतत्सत्' इतिशब्दान्वितं भवति तत्र प्रयोगादावाद्यः 'प्रणवश्छन्दसामिव' इति सम्मत्या प्रणवस्यान्वयः श्रौतनामसु विधितः प्रयुज्यमानतया 'तत्सत्' इतिशब्दयोश्च तत्रान्वयः पूर्णभावप्रयोजकशक्त्या भवतीत्यर्थः। तेन 'ॐतत्सत्' इतिनिर्देशेन ब्रह्मणा वा ब्राह्मणा वेदास्त्रिकाण्डा यज्ञाश्च एकैकेन वा विहिताः विशेषेण हिता वा मया पुरा सर्गादावित्यर्थः। अत्र 'ॐ' इत्युच्चारकतया ब्राह्मणाः 'तत्' इति ब्रह्मपरतया वेदाः 'सत्' इति तदर्थीयकर्मतया यज्ञाः कृता इति विवेचनीयमिति केचिदाहुः। वयं तु उच्चारकतया ब्राह्मणाः उच्चार्यतया वेदाः कार्यतया यज्ञा विहिताः पुरा वेदाधिकृतानामित्येव ब्रूमः॥ २३॥

१० पु. अ. त.— ननु देशकालाद्यभावकृतानां यज्ञानां यदि तामसत्वं तदा निर्गुणेष्वपि समः समाधिः? इत्याशङ्क्य तेषां देशकालादिसम्पत्त्यभावेऽपि तत्सम्पत्तिर्भवतीत्याशयेनाऽऽह— ओं तत्सदिति। 'ओं तत्सत्' इत्येवरूपो ब्रह्मणः पुरुषोत्तमस्य त्रिविधो निर्देशो नामव्यपदेशः स्मृतो भक्तैः; तत्र 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' [८।१३] इत्यादिभिः 'ओम्' इति ब्रह्मणः संज्ञा नामेति। "यतो वाचो निवर्तन्ते" [तै. उ.२।४–२।९] आनन्दमात्रमिति 'यत्' इत्यारभ्य 'ततो न ज्ञायते तु तत्' इत्यन्तादिवाक्येभ्यस्तदित्यपि ब्रह्मण एव नाम। मूलसत्तावाचकत्वेन सच्छब्दोऽपि ब्रह्मवाचक एव। एतत्त्रिविधमपि ब्रह्मणो नाम। स्वरूपज्ञानपूर्वकं सर्वत्र यज्ञादिक्रियासु आदौ विनियुक्तं सर्वदेशादिसम्पत्तिसाधकमिति ज्ञापनाय पूर्वसिद्धं तथात्वमाह— ब्राह्मणा इति। येन त्रिविधनिर्देशेन ब्राह्मणा ब्रह्मज्ञा ब्रह्मप्रापका वा वेदाः ब्रह्मस्वरूपास्तज्ज्ञा वा चकारेण सशब्दार्थाः। यज्ञाः यजनात्मकाः, चकारेण साधिदैवाः। पुरा सृष्ट्यादौ विहिता विधात्रा निर्मिताः, अतः पूर्वमेतदुदाहरणात्सर्वं सम्पद्यत इति भावः। अथवा तेन ब्रह्मणोऽयं त्रिविधो निर्देशस्तेन ब्रह्मणा पूर्वमेते निर्मिताः स्वार्थं, ततस्तत्स्वरूपं ज्ञानपूर्वकनामत्रयोदाहरणसंसूचनात्मकेन निर्गुणानां सर्वं सम्पत्स्यत इति भावः॥ २३॥

११ नी० भा० दी०— अदृष्टार्थानां यज्ञदानतपःप्रभृतीनां वैकल्यशङ्कायां साद्गुण्यसिद्ध्यर्थं प्रायश्चित्तमुपदिश्यते— ओंतत्सदिति। ओमिति तदिति सदिति च त्रिविधस्त्रिप्रकारोऽयं ब्रह्मणो निर्देशो नाम्नां पाठः। यथा सहस्रनाम्नां पाठे सहस्रं नामानि एवमस्मिन्नपि नामपाठे त्रीण्येव नामानीत्यर्थः। "ओमिति ब्रह्म" [१।८] इति तैत्तिरीयके "तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति" इत्यैतरेयके। "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" [६।२।१] इति छान्दोग्ये च एतेषां शब्दानां ब्रह्मनामत्वप्रसिद्धेः। तेन नामत्रयेण ब्राह्मणादयो विहिताः। पुरा सर्गादौ। ब्राह्मणाः (?) एतन्नामत्रयोच्चारणसामर्थ्येनैव विधात्रा विप्रादयो विहिताः प्रकाशिता इत्यर्थः॥ २३॥

**तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः ।**
**प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ॥ २४ ॥**

**१ शां. भा.**— तस्मादिति । तस्मादोमित्युदाहृत्योच्चार्य यज्ञदानतपःक्रिया यज्ञादिस्वरूपाः क्रियाः प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः शास्त्रचोदिताः सततं सर्वदा ब्रह्मवादिनां ब्रह्मवदनशीलानाम् ॥ २४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— यस्माद्ब्राह्मणादीनां कारणं, यस्माच्च ब्रह्मणो निर्देशस्तस्मादित्युपसंहरति— **तस्मादिति** । 'ब्रह्मवादिनां' इत्यत्र ब्रह्म वेदः ॥ २४ ॥

**३ रा. भा.**— त्रयाणां 'ओं तत्सत्' इतिशब्दानामन्वयप्रकारो वर्ण्यते; प्रथममोमितिशब्दस्यान्वयप्रकारमाह— **तस्मादिति** । तस्मात् ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां त्रैवर्णिकानां यज्ञदानतपःक्रियाः विधानोक्ताः वेदविधानोक्ताः आदौ 'ॐ' इत्युदाहृत्य सततं सर्वदा प्रवर्तन्ते; वेदाश्च 'ॐ' इत्युदाहृत्यारभ्यन्ते । एवं वेदानां वैदिकानां च यज्ञादीनां कर्मणामोमितिशब्दान्वयो वर्णितः । ओमितिशब्दान्वितवेदधारणात्तदन्वितयज्ञादिकर्मकरणाच्च ब्राह्मणशब्दनिर्दिष्टानां त्रैवर्णिकानामप्योमितिशब्दान्वयो वर्णितः ॥ २४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'तस्मात्' इत्यादीनां चतुर्णां श्लोकानां प्रकृतप्रपञ्चनरूपतामाह— **त्रयाणामिति** । ब्राह्मणवेदयज्ञानामित्यर्थः । यज्ञशब्दोऽत्र तपोदानादीनामुपलक्षकः, यज्ञतपःक्रिया इत्यादि ह्यनन्तरमुच्यते । अनुष्ठानस्वरूपानुप्रवेशात्तत्रापि प्राथम्याच्चात्रापि प्रथममोङ्कारस्योक्तिरित्यभिप्रायेणाऽऽह **प्रथममिति** । **तस्मादिति**— सर्वस्रष्ट्रा मया तदैव तदन्वितत्वेन विहितत्वादित्यर्थः । करणव्युत्पत्त्या विधानमिह वैदिकं विधायकवाक्यमित्याह **वेदविधानोक्ता** इति । यज्ञदानादीनामोङ्कारपूर्वकत्वं तत्तद्विधायकैः सिद्धमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **आदाविति** । ओमित्युदाहरणं चात्र श्रुतवेदान्तानां सर्वान्तरपरब्रह्मानुसन्धानेन तत्समाराधनबुद्ध्याऽनुसन्धाय । स्मरति च भगवाञ्छौनकः 'हरिमेव स्मरेन्नित्यं कर्मपूर्वापरेषु च' [वि. ध. ] इति अश्रुतवेदान्तानामपि तद्वाचकशब्दाभिधानान्मङ्गलादिलाभोऽर्थसिद्धः । एवं च प्रणवस्य वैदिकसमस्तान्वयसिद्धिः । यद्यपि "वसन्ते वसन्ते ज्योतिषा यजेत" "शरदि वाजपेयेन यजेत" इत्यादिभिः कालविशेषनियताः क्रिया विधीयन्ते; तथापि सर्वासां क्रियाणां प्रणवपूर्वकत्वे तु न कालविशेषनियम इति सततशब्दतात्पर्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह **सर्वदेति** । स्वर्गसाधनत्वेनानुष्ठाने अपवर्गसाधनत्वेनानुष्ठाने च प्रणवान्वयः साधारण इति भावः । अत्र श्लोके वेदानामनुपादानेऽपि पूर्वश्लोके 'ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च' [१७।२३] इत्युक्तत्वात् 'यद्वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः । तस्य प्रकृतिलीनस्य यः परः स महेश्वरः" [तै. ना. ६।१०।२४] 'ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा । स्रवत्यनोंकृतं पूर्वम्' [मनुः२।७४] इत्याद्यनुसारेणाऽऽह— **वेदाश्चेति** । 'विधानोक्ताः' इत्यनेन ब्रह्मवाचिशब्देन च वेदानामप्यत्र श्लोके प्रणवान्वयः सूचित इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **एवमिति** । ओमित्युदाहरणकर्तृत्वव्यपदेशेन तदन्वितब्रह्मवादित्वव्यपदेशेन च ब्राह्मणानामप्योमितिशब्देनान्वयः प्रदर्शित एवेत्याह— **ओमितिशब्दान्वितवेदधारणादिति** ॥ २४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ २४ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **तस्मादिति** । तस्मादोमित्युदाहृत्य प्रवर्तन्त इत्यस्योदाहृत्य प्रवर्तयितव्याः, कर्तव्या इत्यर्थः । विधानोक्ताः शास्त्रोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनां ब्रह्मवादिभिरित्यर्थः ॥ २४ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— इदानीमकारोकारमकारव्याख्यानेन तत्समुदायोङ्कारव्याख्यानवदोंतत्सद्रूपावयवव्याख्यानेन तत्समुदायरूपं ब्रह्मनिर्देशं व्याख्यास्यन् प्रथममोङ्कारं व्याचष्टे— **तस्मादिति** । यस्मादोङ्कारो ब्रह्मनिर्देशावयवभूतस्तस्मात् विधानोक्ताः शास्त्रविहिताः ब्रह्मवादिनां वेदवादिनां यज्ञदानतपःक्रियाः सततमोमित्युदाहृत्य ओङ्कारोच्चारणानन्तरमेव प्रवर्तन्ते प्रकृष्टतया वैगुण्यराहित्येन वर्तन्ते । तथा च यस्यैकावयवोच्चारणादप्यवैगुण्यम्, किं पुनस्तस्य सर्वावयवोच्चारणादिति स्तुत्यतिशयः ॥ २४ ॥

**९ व० त० दी०**— त्रयाणामन्वयप्रकारं वदन्प्रथमं 'ओं' इत्यस्यान्वयप्रकारमाह— **तस्मादिति** । स्पष्टम् ॥ २४ ॥

१० पु. अ. त.— यत एतदुदाहरणेन सर्वं सम्पद्यते तत्तस्मात् त्रिगुणानां भक्तानां मुमुक्षूणां च लौकिके सतां चैतन्नामत्रितयं साधकमित्याह— तस्मादिति । तस्मात्कारणाद्ब्रह्मवादिनां भगवद्भक्तानां यज्ञदानतपःक्रियाः भगवदर्थिकाः 'ओम्' इत्युदाहृत्य ताः सततं निरन्तरं विधानोक्ताः भगवत्प्रीत्यर्थं प्रवर्तन्ते प्रकर्षेण वर्तन्ते भवन्तीत्यर्थः ॥ २४ ॥

११ नी० भा० दी०— यस्मादेतन्नामत्रयपूर्वकं एतेषां विधानं सर्गादौ दृष्टं तस्मात्त्रिष्वेतेषु नामसु 'ओम्' इत्येकमेव नाम उदाहृत्य ब्रह्मवादिनां वैदिकानां विधानोक्ताः वेदोक्ताः यज्ञादयः क्रियाः सततं प्रवर्तन्ते । तथा च श्रुतिः— "ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमिति शस्त्राणि शंसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति सामानि गायन्ति *" [तै. उ.१।८।१] इति यज्ञे सर्वेषामृत्विजां क्रिया ओङ्कारपूर्विका इत्येतद्दर्शयति ॥ २४ ॥

**तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः ।**
**दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥ २५ ॥**

**१ शां. भा.— तदिति** । तदित्यनभिसन्धाय 'तत्' इति ब्रह्माभिधानमुच्चार्य, अनभिसन्धाय च यज्ञादिकर्मणः फलं, यज्ञतपःक्रिया यज्ञक्रियाश्च तपःक्रियाश्च यज्ञतपःक्रिया दानक्रियाश्च विविधाः क्षेत्रहिरण्यप्रदानादिलक्षणाः क्रियन्ते निर्वर्त्यन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिर्मोक्षार्थिभिर्मुमुक्षुभिः ॥ २५ ॥

२ आ. शां. व्या.— ओंशब्दस्य विनियोगमुक्त्वा तच्छब्दस्य विनियोगमाह— तदित्यादिना ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.**— अथैतेषां तदितिशब्दान्वयप्रकारमाह— **तदिति** । फलमनभिसन्धाय वेदाध्ययनयज्ञतपोदानक्रियाः मोक्षकाङ्क्षिभिस्त्रैवर्णिकैर्याः क्रियन्ते, ताः ब्रह्मप्राप्तिसाधनतया ब्रह्मवाचिना तदितिशब्दनिर्देश्याः । 'सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्' [म. भा. १३।१४९।९१ वि. स. ना. ९३] इति तच्छब्दो हि ब्रह्मवाची प्रसिद्धः । एवं वेदाध्ययनयज्ञादीनां मोक्षसाधनभूतानां तच्छब्दनिर्देश्यतया तदितिशब्दान्वय उक्तः । त्रैवर्णिकानामपि तथाविधवेदाध्ययनाद्यनुष्ठानादेव तच्छब्दान्वय उपपन्नः ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं स्वर्गापवर्गसाधनसमस्तवैदिकसाधारणं प्रणवान्वयरूपं लक्षणमुक्तम्; अथ तत्सच्छब्दौ मोक्षसाधनानां त्रिवर्गसाधनानां च विशेषलक्षणतयोच्येते । वक्ष्यति चैतदष्टादशारम्भे [रा. भा. श्लो. १] 'वैदिकस्य च कर्मणः सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः; तत्र मोक्षाभ्युदयसाधनयोर्भेदः तत्सच्छब्दनिर्देश्यत्वेन' इति । **एतेषामिति** त्रयाणां परामर्शः । उक्तानां यज्ञादीनामुपलक्षणतया वेदेष्वपि तच्छब्दप्रवृत्तिज्ञापनाय वेदाध्ययनोपादानम् । 'मोक्षकाङ्क्षिभिः' इत्यनेन सूचितमा- **ब्रह्मप्राप्तिसाधनतयेति** । तदिति— फलमनभिसन्धायेत्यन्वयः । तच्छब्दाभिधेयब्रह्मप्राप्तिसाधनतया तच्छब्दोपचार्यतया बुद्ध्वा फलान्तरमनभिसन्धायेत्यर्थः । इति करणसामर्थ्यात् 'उदाहृत्य' इति पदं वा पूर्वश्लोकादनुषञ्जनीयमित्यभिप्रायेणाऽऽह **तदितिशब्दनिर्देश्या** इति । तच्छब्दस्य ब्रह्मनामत्वे सिद्धे हि तेन तत्प्राप्तिसाधनतयेति लक्षणा, तदेव कुतः ? इत्यत्र तदिति श्रुतेरुपबृंहणेन विशदीकृततत्त्वमभिप्रेत्याऽऽह **सव** इति । भगवन्नामसहस्रे 'यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः' [म. भा. १३।१४९।१३ वि. स. ना. १५] इति प्रक्रमात् 'नाम्नां सहस्रम्' [म.भा.१३।१४९।१२१ वि.स.ना.१०७] इति निगमनाच्च यत्तदादिशब्दानां सर्वनामतया व्यापिनामपि विशेषतः साक्षात्परब्रह्मनामत्वं सिद्धमिति भावः । श्लोकेऽनुक्तस्यापि वेदाध्ययनस्य प्रयोजकेन सङ्गृहीतत्वमाह **एवमिति** । तथापि त्रयाणामन्वयो न सिध्यति, ब्राह्मणशब्दनिर्दिष्टानां त्रैवर्णिकानां मोक्षसाधनत्वनिबन्धनतच्छब्दनिर्देश्यत्वाभावादित्यत्राऽऽह **त्रैवर्णिकानामपीति** । 'मोक्षकाङ्क्षिभिः क्रियन्ते' इत्यनेन परम्परया तदन्वयः सूचित इति भावः ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— तत्फलं मे स्यादित्यनभिसन्धाय ॥ २५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— 'तदित्यनभिसन्धाय' इति वाक्यं ब्रह्मणीव यज्ञादावपि तच्छब्दस्य प्रवृत्तिं प्रतिपादयतीति ज्ञापयितुं योजयति— **तदिति** । वेदोक्तं स्वर्गादिकम् ॥ २५ ॥

---

* "ओमिति सामानि गायन्ति । ओं ३ शोमिति शस्त्राणि शंसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति" इति क्रमस्तैत्तिरीयोपनिषदि [ १।८ ] दृश्यते ।

७ ह. पै. भा.— तदिति । क्रियन्ते कर्त्रेति क्रियाः । दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः । तदिति ॐ तत्सदित्युपलक्षणार्थम् । 'ॐ तत्सत्' इति ब्रह्मस्वरूपं प्रतिपाद्य यज्ञदानतपःक्रियाणां फलं चानभिसन्धायेश्वरार्पणबुद्ध्या यज्ञदानतपःक्रिया मुमुक्षुभिः क्रियन्ते, कर्त्रेत्यर्थः । दानक्रियाश्च विविधा गोभूहिरण्यादिविषयाः । 'दानक्रियाश्च विविधाः' इति पुनः क्रियाग्रहणं दानस्य मोक्षं प्रति प्रकृष्टोपकारकत्वप्रदर्शनार्थम् ॥ २५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— द्वितीयावयवं तच्छब्दं व्याचष्टे— तदिति । उदाहृत्येति पूर्वस्मादनुषङ्गः । मुमुक्षुभिः पुरुषैः । अत एव स्वर्गादिफलमनभिसन्धाय यज्ञाद्याः क्रियाः 'तत्' इत्युच्चारणानन्तरं क्रियन्ते ॥ २५ ॥

९ ध० त० दी०— तदिति । तत्पदवाच्यं हि ब्रह्म, तत्सवितुरिति 'सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमं' [१३।१४९।९३] इति भारतसहस्रनामोक्तेः ब्रह्मैव फलमिति लौकिकं यत्तत्फलमनभिसन्धायात्र ब्रह्मवाचिना तदितिशब्देन निर्देश्या यज्ञादिक्रियाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिरेव । अन्यैस्त्वन्यथेति निर्णयः ॥ २५ ॥

१० पु. अ. त.— भक्तानामुक्त्वा ज्ञानिनां द्वितीयनामसम्बन्धिफलमाह— तदिति । 'तत्' इति उदाहृत्य तद्ब्रह्मत्वाज्ञापरिपालनेन प्रीयादित्युदाहृत्य फलं स्वर्गादिसुखरूपम्, अनभिसन्धाय फलाभिलाषं मनस्यकृत्वा मोक्षकाङ्क्षिभिर्निर्दोषैर्यज्ञतपःक्रियाः यज्ञः अग्निहोत्रादिः, तपः कृच्छ्रादि, तदादयः क्रियाः क्रियन्ते । तच्छब्दोदाहरणात्ताश्च सम्पन्ना भूत्वा मोक्षसम्पादिका भवन्तीत्यर्थः ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— 'ओम्' इति नाम्नः काम्याकाम्यकर्मसाधारण्येन यज्ञादौ विनियोगमुक्त्वा 'तत्' इति नाम्नो निष्कामेषु मुमुक्षुकर्मसु विनियोगं दर्शयति–तदिति । मोक्षकाङ्क्षिभिः फलमनभिसन्धाय विविधाः यज्ञतपःक्रियाः दानक्रियाश्च क्रियन्ते इति योजना । ननु फलं चेन्नाभिसन्धीयते तर्हि किमभिसन्धाय क्रियन्ते इत्याकाङ्क्षायामाह— तदिति । क्रियन्ते इति । सर्वाः क्रियास्तदिति ब्रह्मेति क्रियन्ते । यथा ब्रह्मवादिभिः 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना' [४।२४] इत्युक्तदिशा सर्वाः ससाधनफलाः क्रियाः "ब्रह्मैवेदं सर्वं" [नृसिंहो. ७।३] इति बुद्ध्या क्रियन्ते, तथा मुमुक्षुभिरपीत्यर्थः । यदेव हि मुक्तानां स्वाभाविकं शीलं तदेव मुमुक्षूणां शास्त्रेण विधीयत इति प्रसिद्धेः । 'फलमनभिसन्धाय' इति सान्निध्यात् 'तदिति' इत्यत्रापि सामर्थ्यादभिसन्धायेति लभ्यते, तेन फलमनभिसन्धाय तदित्यभिसन्धाय क्रियाः प्रवर्तन्त इत्यन्वयोऽपि सुलभ एव । 'तदिति ब्रह्माभिधानमुच्चार्य' इति भाष्येऽपि (शां.) उदाहृत्य इति पूर्वश्लोकोक्तक्रियानुवृत्त्या योजनमस्मदुक्ताभिप्रायेणैव व्याख्येयं, उच्चारणस्यापि ब्रह्मानुसन्धानार्थत्वादिति दिक् ॥ २५ ॥

**सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।**
**प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते ॥ २६ ॥**

१ शां. भा.— ओंतच्छब्दयोर्विनियोग उक्तः, अथेदानीं सच्छब्दस्य विनियोगः कथ्यते— सद्भावे इति । सद्भावेऽसतः सद्भावे, यथाऽविद्यमानस्य पुत्रस्य जन्मनि तथा साधुभावे चासद्वृत्तस्यासाधोः सद्वृत्तता साधुभावस्तस्मिन्साधुभावे च 'सत्' इत्येतदभिधानं ब्रह्मणः प्रयुज्यतेऽभिधीयते । प्रशस्ते कर्मणि विवाहादौ च तथा सच्छब्दः पार्थ ! युज्यते प्रयुज्यत इत्येतत् ॥ २६ ॥

२ आ. शां. व्या.— वृत्तमनूद्यानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह— ओंतच्छब्दयोरिति ॥ २६ ॥

३ रा. भा.— अथैषां सच्छब्दान्वयप्रकारं वक्तुं लोके सच्छब्दस्य व्युत्पत्तिप्रकारमाह— सद्भाव इति । सद्भावे विद्यमानतायां साधुभावे कल्याणभावे च सर्ववस्तुषु सदित्येतत्पदं प्रयुज्यते लोकवेदयोः । तथा केनचित्पुरुषेणानुष्ठिते लौकिके प्रशस्ते कल्याणे कर्मणि 'सत्कर्मेदं' इति सच्छब्दो युज्यते, प्रयुज्यते इत्यर्थः ॥ २६ ॥

४ वे. ता. चं.— त्रयाणां त्रिभिरन्वये प्रतिपिपादयिषिते 'सद्भावे साधुभावे च' इत्यप्रस्तुतोपन्यासः किमर्थः? इत्यत्राऽऽह— **अथैषामिति**। यथा प्रयोगबलाद्विद्यमानत्वादिषु सच्छब्दप्रवृत्तिरङ्गीक्रियते, एवं प्रस्तुतेऽपीत्यभिप्रायेणानेकार्थोदाहरणं **विद्यमानतया**मिति; असद्विलक्षणत्वरूपसत्त्वविषयो वा, वर्तमानत्वविषयो वा सद्भावशब्द इति भावः। "साधुकारी साधुर्भवति" [बृ. उ. ४।४।५] इत्यादिष्विवात्रापि साधुशब्दः पुण्यादिरूपत्वपर इत्याह **कल्याणभाव** इति; तच्छब्दान्वये 'मोक्षकाङ्क्षिभिः' इति विशेषणात्। इह तु 'प्रशस्ते कर्मणि' इति प्रशस्ततामात्रनिमित्तवचनान्मोक्षेतरपुरुषार्थसाधनलक्षणतया सच्छब्दोऽत्र व्युत्पाद्यत इति भावः। अत्यन्तविजातीयेष्वप्युक्तोपाधिद्वययोगे सच्छब्दोऽनुवृत्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **सर्ववस्तुष्विति**। 'प्रयुज्यते' इत्यविशेषनिर्देशात् प्रयोगस्य सार्वत्रिकत्वेन दार्ढ्यं सूच्यत इत्याह **लोकवेदयोरिति**। 'तथा' इति प्रस्तुतासन्ने लौकिकोदाहरणार्थम्; अन्यथा पुनरुक्तिप्रसङ्गात्, इत्यभिप्रायेणाऽऽह **लौकिक** इति। 'साधुभावे' इति निर्दिष्टमेव निमित्तं प्रकृतासन्नोदाहरणान्तरे प्रशस्तशब्देनावतार्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह — **कल्याण** इति। धातुलीनार्थव्यञ्जनमात्रमुपसर्गेण क्रियते। अतोऽत्र श्लोके 'युज्यते' 'प्रयुज्यते' इतिपदद्वयमेकार्थमित्याह **प्रयुज्यत इत्यर्थ** इति॥ २६॥

**५ आ. भा. भा.— सद्भावशब्देन प्रजननं सूचितम्। ॐमित्युक्त्वाऽनभिसन्धाय फलं यज्ञदानतपआदिकृतामतिप्रीतेर्नामसाम्याद्ब्रह्मैव निष्पादितं भवतीत्याशयः॥ २६॥**

६ ज. प्र. दी.— सद्भावे सत्तायां इति प्रतीतिनिरासार्थमाह— **सद्भावेति**। प्रजननं प्रागसतः सत्तापादनम्। यद्यपि सद्भावशब्दः सत्तामात्रवाची तथाप्यत्र ब्रह्मणो जगज्जनकत्वस्य विवक्षितत्वात्सत्ताविशेषप्रजननपर इति ज्ञायत इति प्रतिपादयितुं सूचितमित्युक्तम्। नन्वनेन यज्ञादीनां केतिकर्तव्यता प्रतिपादिता भवता? इत्यत आह— **ओमिति**। उक्तोङ्कारार्थज्ञानपूर्वकं अनभिसन्धाय फलं ब्रह्माभिसन्धाय च ब्रह्मज्ञानभक्तिपूर्वकं तद्विषयत्वेन निष्ठया वेदोक्तप्रकारेण ब्राह्मणैः सहेत्यपि ग्राह्यम्। आदिपदेन जपादिग्रहणम्। षष्ठी तृतीयार्थे, नामसाम्यात्। नामसाम्येनावगतात्तत्प्रतिमात्वात्। घटादीनामपि ब्रह्मप्रतिमात्वसाम्यात्को विशेषो यज्ञादेः? इत्यत उक्त**मतिप्रीतेरिति**। ब्रह्मणः यज्ञादिषु निष्पादितं प्रतिष्ठापितम्। अत एवं क्रियमाणे यज्ञादिकं सात्त्विकमन्यद्राजसं तामसं वेत्येवमितिकर्तव्यता प्रतिपादितेति वाक्यशेषः। अत्र हि 'ओं तत्सत्' [१७।२३] इत्यनेन ब्रह्मणो यन्नामत्रयं तद्यज्ञादेरपि वाचकमिति प्रतिपादितम्। तेन यज्ञादेर्ब्रह्मप्रतिमात्वं सूचितम्। 'ब्राह्मणाः' इत्यादिनोङ्कारं ब्रह्मणि यज्ञादौ च व्युत्पाद्य तदुच्चारणाचार उक्तः। तेनार्थस्मरणपूर्वकमोङ्कारमुच्चार्य वेदोक्तप्रकारेण ब्राह्मणैः सह यज्ञादिकं कार्यमिति सूचितम्। 'तत्' इत्यनेन तच्छब्दो यज्ञादौ ब्रह्मणि च व्युत्पादितः। तेन फलमनभिसन्धाय ब्रह्माभिसन्धाय चेति लब्धम्। 'सद्भावः' इत्यनेन सच्छब्दो ब्रह्मणि व्याख्यातः। तेन ब्रह्मज्ञानपूर्वकमिति लभ्यते॥ २६॥

**७ ह. पै. भा.— किं चान्यत्— सद्भाव इति। सद्भावेऽसतः पुत्रादेरुत्पादने कर्तव्ये तथा साधुभावेऽसत एव सद्वृत्तस्य सद्वृत्ततायां कर्तव्यायां 'ॐ तत्सत्' इति ब्रह्मणो निर्देशत्रयं प्रयुज्यते, प्रयोक्तव्यमित्यर्थः। प्रशस्ते कर्मणि तथा मङ्गले कर्मणि पुरुषार्थरूपे वा भावे तत्पदत्रयं ब्रह्मध्यानसाधनत्वेन प्रयोक्तव्यमित्यर्थः॥ २६॥**

८ वें. ब्र. गि.— तृतीयावयवं सच्छब्दं द्वाभ्यां व्याचष्टे- **सद्भावमिति**। हे पार्थ! 'सत्' इत्येतन्नाम सद्भावे अविद्यमानत्वशङ्कायां विद्यमानत्वे, तथा साधुभावे असाधुत्वशङ्कायां साधुत्वे च प्रयुज्यते शिष्टैः। तस्माद्वैगुण्यपरिहारेण यज्ञादेः साधुत्वं तत्फलस्य च विद्यमानत्वं कर्तुं शक्तमेतदित्यर्थः। तथा सद्भावसाधुभावयोरिव प्रशस्ते माङ्गलिके विवाहादिकर्मणि सच्छब्दो युज्यते प्रयुज्यते। तस्माद्यज्ञादेः प्राशस्त्यसम्पादनक्षममेतन्नामेत्यर्थः॥ २६॥

**९ व० त० दी०— सदित्यस्यान्वयप्रकारं लोके शब्दव्युत्पत्तिसिद्ध्या दर्शयति— सद्भाव इति। अस्तीति सत् तस्मिन्भावे। अत्र भावो नाम वस्तु अन्यथा तत्रानवस्थितिः स्यात् तेन 'सद्भावः' इत्यत्र सत्पदेनाविर्भूतं भावो वस्त्वित्यभिधीयते। साधुभावे साधुत्वे च सदिति प्रयुज्यते। प्रशस्ते कर्मणि च सतो व्यापकस्य ब्रह्मणः सर्वत्वश्रवणादेव तथा तथा प्रयोगः सर्वत्रोपपद्यते॥ २६॥**

१० पु. अ. त.— लौकिकसत्सु सदिति नाम तत्सम्पादकं भवतीत्याह— **सद्भाव** इति। सद्भावे आस्तिक्यभावे साधुभावे उत्तमस्वभावे च 'सत्' इत्येतन्नाम प्रयुज्यते तथा प्रशस्ते कर्मणि भगवदर्थके कर्मणि हे पार्थ! 'सत्' इतिशब्दो युज्यते युक्तो भवतीति भावः॥ २६॥

११ नी० भा० दी०— ओंतच्छब्दयोर्विनियोगमुक्त्वा सच्छब्दस्य विनियोगमाह द्वाभ्यां— सद्भावे इति । सद्भावे अस्तित्वे साधुभावे समीचीनत्वे सच्छब्दः 'सदिदं कर्म' इति प्रशस्ते कर्मणि सत्सत्त्वं वेदोक्तत्वादस्त्येवेति सच्छब्दः प्रयुज्यते आस्तिकैः ॥ २६ ॥

**यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते ।**
**कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते ॥ २७ ॥**

१ शां. भा.— यज्ञ इति । यज्ञे यज्ञकर्मणि या स्थितिस्तपसि च या स्थितिर्दाने च या स्थितिः सा च 'सत्' इत्युच्यते विद्वद्भिः । कर्म चैव तदर्थीयं यज्ञदानतपोर्थीयं अथवा यस्याभिधानत्रयं प्रकृतं तदर्थीयमीश्वरार्थीयमित्येतत्, 'सत्' इत्येवाभिधीयते । तदेतद्यज्ञदानतपआदिकर्मासात्त्विकं विगुणमपि श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणोऽभिधानत्रयप्रयोगेण सगुणं सात्त्विकं सम्पादितं भवति ॥ २७ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रकारान्तरेण सच्छब्दस्य विनियोगमाह— यज्ञ इति । नामत्रयोच्चारणेन साद्गुण्यं सिध्यतीति प्रकरणार्थमुपसंहरति— तदेतदिति ॥ २७ ॥

३ रा. भा.— अतो वैदिकानां त्रैवर्णिकानां यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः कल्याणतया 'सत्' इत्युच्यते; कर्म च तदर्थीयं त्रैवर्णिकार्थीयं यज्ञदानादिकं 'सत्' इत्येवाभिधीयते । तस्माद्वेदा वैदिकानि कर्माणि ब्राह्मणशब्दनिर्दिष्टास्त्रैवर्णिकाश्च 'ओं तत्सत्' इतिशब्दान्वयरूपलक्षणेन अवेदेभ्यश्चावैदिकेभ्यश्च व्यावृत्ता वेदितव्याः ॥ २७ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं सच्छब्दस्य व्युत्पत्तिप्रकारं प्रयोगं चोदाहृत्य तदुपजीवनेनानन्तरं लिलक्षयिषिते ब्राह्मणादित्रिके तत्प्रयोगोपपत्तिरुपसंह्रियत इत्यभिप्रायेणाऽऽह अत इति । स्थितिमुखेन स्थातॄणां स्थापकानां च वेदानां सच्छब्दार्थान्वयोऽर्थादुच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह वैदिकानामिति । अध्यायान्तेषु 'ओं तत्सत्' इति पाठात्स्थितिशब्दोऽत्र अन्तपर इति व्याख्यान्तरं प्रकृतोपयुक्तप्रसिद्धतमार्थे सम्भवत्ययुक्तमिति भावः। स्थितिशब्देन बुद्धावुपस्थापिताः स्थातारस्तच्छब्देन परामृश्यन्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह त्रैवर्णिकार्थीयमिति। त्रिविधनिर्देशविषयतया 'प्रकृतेश्वरार्थीयम्' इति(शां) व्याख्यान्तरमतिव्यवहितपरामर्शात्सर्वेषां यज्ञादीनामतदर्थीयत्वाच्च अयुक्तमिति भावः। यज्ञाद्यर्थीयसाधनसम्पादनरूपकर्मणि सच्छब्दनिर्देशवचनादपि प्रक्रान्ते यज्ञादावेव तदुक्तिरिहोपपन्नेत्यभिप्रायेणाऽऽह यज्ञदानादिकमिति । 'तदर्थीयम्' इति सामान्यसङ्ग्रहावलम्बिना आदिशब्देनाध्ययनादिग्रहणाद्वेदानामपि सच्छब्दान्वयोऽत्र प्रदर्शित एव । भवत्वेवं त्रयाणां त्रिभिरन्वयः, तदुक्तिरिह किमर्था ? इत्यत्र लक्षणोक्तिप्रयोजनभूतविविक्तानुसन्धानप्रतिपादनमुखेन 'ओं तत्सत्' इत्यादिश्लोकैः फलितं वदन्नुपसंहरति तस्मादिति । यत्तु— कैश्चित् 'ओं तत्सत्' इत्यमीषां वाक्यत्वकल्पनेन वाक्यार्थवर्णनं, यत्फलाभिसन्धिरहितं कर्म, तच्छोभनमिति युक्तम् तदोंतदेवेत्यर्थ इति; एतदेवं विवक्षितमित्यत्र न कश्चिद्धेतुः; न चोपयोगः; लक्षणत्वाभिधानं त्वनुष्ठानोक्तमिति भावः ॥ २७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २७ ॥

६ ज. प्र. दी.—'यज्ञे तपसि ... ... कर्म चैव' इत्यनेन यज्ञादिषु सच्छब्दो व्याख्यातः । तेन ब्रह्मविषयत्वेन निष्ठया चेति लब्धम् ॥ २७ ॥

७ ह. पै. भा.— किं चान्यत्– यज्ञ इति । यज्ञे तपसि दाने च स्थितिर्नैरन्तर्येण प्रवृत्तिः सा यदा साध्या भवति तदा 'ॐ तत्सत्' इति पदत्रयेण ब्रह्मोच्यते, नैरन्तर्येण निर्देष्टव्यमित्यर्थः । कर्म चैव तदर्थीयं, कर्म यज्ञदानतपस्स्वाध्यायलक्षणं तदर्थीयं तदर्थम्; स्वार्थे ईयप्रत्ययः । तदर्थीयं यदा क्रियते तदाऽनेन पदत्रयेण ब्रह्माभिधीयतेऽभिधातव्यमित्यर्थः ॥ २७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— यज्ञादिषु तात्पर्येणावस्थानमपि 'सत्' इत्युच्यते । तथैव तदर्थीयं कर्म च 'सत्' इत्युच्यते । तदर्थे भवं तदर्थीयं ब्रह्मार्पणबुद्ध्या क्रियमाणं कर्मेत्यर्थः । तस्मात्सदिति नाम्नः कर्मवैगुण्यापनोदनेन प्राशस्त्यमित्यवयवप्रशंसया सम्प्रदायस्तुतिरियम् 'अष्टाकपालो भवति, गायत्र्यैवैनं ब्रह्मवर्चसेन' इत्यादेर्वैश्वानरद्वादशकपालस्तुत्यर्थत्ववदिति ज्ञेयम् ॥ २७ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च यज्ञ इति । तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते । स्थादिधातुगणे भुवो व्यापकत्वं, तदनुकृत्यश्चेति यज्ञपत्युपाध्यायाः प्रोचुः । अतएवोक्तं–'सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । तस्यापि भगवानेष किमतद्वस्तु रूप्यताम्' इति । तथा सति सत्पदं (श्रेयोवचनं) निष्ठावचनमुक्तम् । कर्म चैव तदर्थीयं सदुक्तमित्येवाभिधीयते । एतेन 'मां विधत्तेऽभिधत्ते मां' [भाग. ११।२१।४३] इति प्राक्तनकर्मसदाचारपरिपाटी दर्शिता ॥ २७ ॥

१० पु. अ. त.— अथ भगवत्परत्वं सर्वत्रैव सच्छब्दे एवोच्यते इत्याह— यज्ञे तपसीति । यज्ञे अग्निहोत्रादौ, तपसि कृच्छ्रादौ, दाने तुलापुरुषादौ या स्थितिः भगवदेकनिष्ठतया करणं तद्रूपा च सा सदिति उच्यते । च पुनः । तदर्थीयमेव कर्म यस्यैतन्नामत्रयं तस्य भगवत एव अर्थीयं सेवादिसामग्री सम्पादनरूपं सदित्येव अभिधीयते ॥ २७ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च यज्ञादौ स्थितिर्निष्ठा सदिति समीचीनेति उच्यते । तदर्थः सच्छब्दार्थो ब्रह्म तदीयं तदर्थं कृतं तदर्थीयं परमेश्वरप्राप्त्यर्थं कृतं कर्म सदित्येव समीचीनमित्येवाभिधीयते लोके । तदेवं असात्त्विकं विगुणं वा यज्ञादिकं श्रद्धापूर्वकं ब्रह्मणोऽभिधानत्रयोचारणेन सात्त्विकं सद्गुणं च सम्पादितं भवति ॥ २७ ॥

अध्यायार्थस्योपसंहारः ।

**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत् ।**
**असदित्युच्यते पार्थ ! न च तत्प्रेत्य नो इह ॥ २८ ॥**

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

**१ शां. भा.**— तत्र च सर्वत्र श्रद्धाप्रदानतया सर्वं सम्पाद्यते यस्मात्, तस्मात्— **अश्रद्धयेति** । अश्रद्धया हुतं हवनं कृतं, दत्तं च ब्राह्मणेभ्यः अश्रद्धया, तपस्तप्तमनुष्ठितमश्रद्धया, तथाऽश्रद्धयैव कृतं यत्स्तुतिनमस्कारादि, तत्सर्वं 'असत्' इत्युच्यते मत्प्राप्तिसाधनमार्गबाह्यत्वात् पार्थ ! । न च तद्बहुलायासमपि प्रेत्य फलाय, नो अपीहार्थं, साधुभिर्निन्दितत्वादिति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

२ आ. शां. व्या.— अश्रद्धान्वितस्यापि कर्मणो नामत्रयोचारणाद्वैगुण्ये श्रद्धाप्राधान्यं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **तत्र चेति** । सप्तमीभ्यां प्रकृतं यज्ञादि गृह्यते । सर्वं यज्ञादि सगुणमिति शेषः । तस्यासत्त्वं साधयति— **मत्प्राप्तीति** । ऐहिकमामुष्मिकं वा फलमश्रद्धितेनापि कर्मणा सम्पत्स्यते कुतोऽस्यासत्त्वं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **न चेति** । तस्योभयविधफलाहेतुत्वे हेतुमाह— **साधुभिरिति** । निन्दन्ति हि साधवः श्रद्धारहितं कर्मातो नैतदुभयफलौपयिकमित्यर्थः । तदनेन शास्त्रानभिज्ञानामपि श्रद्धावतां श्रद्धया सात्त्विकत्वादित्रैविध्यभाजां राजसतामसाहारादित्यागेन सात्त्विकाहारादिसेवया सत्त्वैकशरणानां प्राप्तमपि यज्ञादिवैगुण्यं ब्रह्मनामनिर्देशेन परिहरतां परिशुद्धबुद्धीनां श्रवणादिसामग्रीसञ्जाततत्त्वसाक्षात्कारवतां मोक्षोपपत्तिरिति स्थितम् ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्यव्याख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

३ रा. भा.— अश्रद्धया कृतं शास्त्रीयमपि होमादिकमसदित्युच्यते; कुतः ? न च तत्प्रेत्य नो इह, न मोक्षाय, न सांसारिकाय च फलायेति ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

४ वे. ता. चं. — 'शास्त्रविधिमुत्सृज्य' [ १६।२७ ] इत्यादिना अध्यायारम्भे प्रश्नोत्तरमुखेन श्रद्धायुक्तस्याप्यशास्त्रीयस्यासुरत्वेनासत्त्वं प्रतिपाद्य शास्त्रीयस्य ततो व्यावृत्तिर्दर्शिता; इदानीं व्यतिरेकेण प्रकृतानां सदिति निर्देशार्हत्वदृढीकरणाय शास्त्रीयस्यापि श्रद्धारहितस्यासत्त्वमुच्यते । विशिष्टव्यतिरेकस्य विशेषणाभावे विशेष्याभावे च समानत्वादित्यभिप्रायेणाऽऽह **अश्रद्धया कृतं शास्त्रीयमपीति** । कृतशब्दस्य हुतदत्तयोरन्वयः । 'तप्तम्' इत्यनेन तपसः कृतत्वसिद्धेर्हुतदत्तशब्दावत्र भावार्थौ । एवं कृतशब्दस्य विशेषणतयाऽन्वयेऽपेक्षिते सामान्यविषयपरोपकारादिविषयत्वक्लृप्तिरुक्तेति च भावः । यद्यप्यशास्त्रीयवन्निरयपतनैकहेतुत्वं नास्ति, तथापि तत्तद्वाक्योदितफलाभावादसत्त्वमुपपद्यत इत्यभिप्रायेण हेत्वाकाङ्क्षां दर्शयति **कुत** इति । 'येयं प्रेते' [ कठो. १।१।२० ] इति श्रुत्यविरोधेन प्रेत्यशब्दस्य मुक्तदशाविषयत्वोपपत्तौ 'मोक्षकाङ्क्षिभिः' [१७।२५] इत्याद्युक्तफलव्यतिरेकस्य 'न च तत्प्रेत्य' इत्यादिना विवक्षितत्वमाह **न मोक्षायेति** । परिशेषसिद्धमिहशब्दस्यार्थमाह **न सांसारिकाय फलायेति** । श्रद्धायुक्तमप्यवैदिकं, वैदिकमपि श्रद्धाहीनं दृष्टादृष्टप्रयोजनविरहादननुष्ठेयम् ; उभयविधप्रयोजनयोगाद्वैदिकमेव श्रद्धापूतमेवानुष्ठेयमित्यध्यायसार इति भावः ॥ २८ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु भगवद्रामानुजविरचितश्रीमद्गीताभाष्यटीकायां तात्पर्यचन्द्रिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

५ आ. मा. भा.— तथाच ऋग्वेदखिलेषु—"ॐ यज्ञाद्या निष्फलं कर्म तत्स्यात्सद्धै तदर्थकं कर्म वदन्ति देवाः । तच्छब्दानां सन्निधेर्ब्रह्मप्रीतेस्तद्रूपत्वाज्जनितं ब्रह्म तस्य" इति ॥ २८ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'अश्रद्धया' इत्यनेन ब्रह्मभक्तिरपीति; अत्र श्रुतिसम्मतिमाह— **तथा चेति** । ओं यज्ञाद्याः वेदाद्योतत्वात् । निष्फलं फलोद्देशरहितत्वात्तदर्थं ब्रह्मविषयम् । एवं तच्छब्दानां ब्रह्मशब्दानाम् । यज्ञादिषु सन्निधेरवगततद्रूपत्वात् तत्प्रतिमात्वात् तस्योक्तप्रकारेण यज्ञादीनामनुष्ठातुः ॥ २८ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य गीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायां सप्तदशोऽऽध्यायः ॥ १७ ॥

७ ह. पै. भा.— अश्रद्धयेति । अश्रद्धया नास्तिक्यबुद्ध्या हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्स्वाध्यायादि तदसदित्युच्यते तदाराधनमप्यसत्, न सदसत्, तदाराधनं तेन न भवतीत्युच्यते ब्रह्मवादिभिः । किं तत् ? इत्यत्राऽऽह—न च तत्प्रेत्य न खलु परलोके स्थितस्योपकारकं, नो इह; तस्माददृष्टं दानतपस्स्वाध्यायादिलक्षणं कर्म फलसङ्गं त्यक्त्वा प्रकृतपदत्रयनिर्देशेन ब्रह्मस्वरूपं ध्यात्वा महत्या श्रद्धया तदाराधनत्वेन कर्तव्यं मोक्षार्थिभिरित्यर्थः ॥ २८ ॥

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— नन्वेवमश्रद्धानतया शास्त्रविधिमुल्लङ्घ्य कामकारेण यत्किञ्चिद्यज्ञादिकर्म कुर्वतामसुराणामपि 'ॐतत्सत्' इति निर्देशेनैव साद्गुण्यसम्भवात्कृतं सात्त्विकश्रद्धयेत्याशङ्कां परिहरन्नध्यायार्थमुपसंहरति—अश्रद्धयेति । हे पार्थ ! यदश्रद्धया हुतं यद्दत्तं यत्तपस्तप्तमनुष्ठितं यच्चान्यत्कर्म कृतम् , तत्सर्वमश्रद्धया कृतं असदसाध्वित्युच्यते । अतः 'ओं तत्सत्' इति निर्देशान्न तस्य साधुभावः शक्यते कर्तुम् , शिलायामंकुरोत्पत्तेरिव सर्वथा तदयोग्यत्वात् । तस्मादश्रद्धया कृतं न प्रेत्य

परलोके फलति, त्रिगुणत्वेनापूर्वाजनकत्वात्; नापीह लोके, साधुभिर्निन्दितत्वात्। अतः सात्त्विक्या श्रद्धयैव सात्त्विकं यज्ञादिकं कार्यम्। तस्यैव दैवाद्वैगुण्यशङ्कायां ब्रह्मनामनिर्देशेन साद्गुण्यं भवतीति सात्त्विकश्रद्धा मुख्यहेतुरित्यर्थः ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्य-
सर्वतन्त्रस्वतन्त्रश्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण
श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्दगिर्याख्याने भगवद्गी-
ताव्याख्याने सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

९ व० त० दी०— किञ्च यज्ञादिकं हुतादिकं च यत्कृतं अश्रद्धया शास्त्रीयश्रद्धाराहित्येन तदसद्व्यर्थमित्यर्थः। कुतः? न च तत्प्रेत्य नो इहेति उभयलोकसुखासाधकत्वादित्यर्थः ॥ २८ ॥

इति श्रीभगवद्गीतातत्त्वदीपिकायां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

१० पु. अ. त.— अथैतदतिरिक्तं श्रद्धाविहीनमेतदपि असदित्युच्यत इत्याह— अश्रद्धयेति । अश्रद्धया श्रद्धां विना हुतं हवनादिकं, दत्तं दानादि, तप्तं तपः, च पुनः यत्किञ्चित् कृतं कर्म यागतीर्थस्नानादिकं, हे पार्थ! मद्भक्त! तत्सर्वं असदित्युच्यते, तच्च प्रेत्य परलोके न फलति मत्सम्बन्धाभावात्। इह लोके न फलं, सदनादृतत्वात्। अतो मत्सम्बन्ध्येव लौकिकालौकिकं फलतीति तदेव कर्त्तव्यमिति निरूपितम् ॥ २८ ॥

निष्फलं त्रिगुणं कर्म सश्रद्धमपि यत्कृतम् । सफलं निर्गुणं चातः कर्त्तव्यमिति रूपितम् ॥

इति श्रीभगवद्गीतामृततरङ्गिण्यां सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्वत्र श्रद्धैव साद्गुण्यहेतुरिति व्यतिरेकमुखेनाऽऽह— अश्रद्धयेति। हुतं होमः, दत्तं दानं, तपस्तप्तमनुष्ठितं, कृतमश्रद्धया विहितं भगवन्नामस्मरणमपि, यच्चान्यत्तत्तत्सर्वमसत् अभावभूतमित्युच्यते। पार्थ! अत एव तत् प्रेत्य मृत्वा परलोके नोपयुज्यते, इहास्मिन् लोके वा नो नैवोपयुज्यते। तस्मात् श्रद्धैव सात्त्विकी मातेव सुखकामैः शरणीकरणीयेति भावः ॥ २८ ॥

इति भीष्मपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे
सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

—:o:—

# सप्तदशाध्यायटिप्पण्यः ।

**श्लोकः १**— य इति । विधिलक्षणं **ब्रह्माण्डे**- 'इदमेवं विधातव्यमित्ययं विधिरुच्यते ।' ( पू. भा. ३३।५२ ) । सत्त्वमित्येका कोटिः, रजस्तम इत्यपरेति द्योतनाय मध्ये 'आहो' इत्यस्य प्रयोगः । 'श्रद्धयाऽन्विताः' इत्यनेनाश्रद्धया येऽनुतिष्ठन्ति, तद्विषये न प्रष्टव्यं मया, वक्तव्यं वा त्वयेति सूच्यते । तुशब्दो विशेषसूचकः, तेषां तु तेषामेवेति वा । भक्ताघकर्षकत्वात्तव भक्त्याऽनुतिष्ठतां फलसद्भाव उचितः, अतः पृच्छामीति कृष्णपदेन द्योत्यते । अत्राहुरभिनवगुप्तपादाः— शास्त्रविधिमनालम्ब्य ये व्यवहारमाचरन्ति, तेषां का गतिः ? इति प्रश्नः; तदत्रोत्तरं श्रद्धानुसारेण दीयते भगवता— 'त्रिविधा' इति । तत्र चायमाशयः— शास्त्रं नाम किल पक्षपातादूषितबुद्धिपूर्वकत्वविहीनं, तथा परामर्शदार्ढ्यरूपं, बोधस्वातन्त्र्यादेव दृढपरामृश्यतया फलादिस्वभावं, शुद्धविमर्शनिष्पन्दवाक्तत्वपरब्रह्मस्वभावं, स्वतन्त्रप्रसरतया आन्तराद्बोधस्वभावाद्बहिः प्रसरपर्यन्तम् । तच्च सुसूक्ष्मप्रधनादिरूपव्यवहारप्रसिद्धप्रवाहपरम्परापर्यन्तम् । यदाह- 'तद्विदां च स्मृतिशीले' ( गौ. ध. सू. १।१।२ ) इति । तच्च स्वत एव हिताहितोपदेशाय कार्याकार्यविवेचकम् । यस्य स्वभावत एव सत्त्वातिरेकसुकुमारं हृदयम्, तेनाचरितं शास्त्रितमेव । अन्यस्तु रजस्तमःकलुषीकृतः शास्त्रोक्तमप्याचरन् नाचरति, शास्त्रार्थस्य कार्त्स्न्येनाननुष्ठानात् । शास्त्रं हि सत्त्ववतामेव फलवदिति शास्त्रमेवाऽऽह— 'यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम् । विद्या तपश्च शीलं (कीर्तिः) च स तीर्थफलमश्नुते ॥' (शङ्खस्मृ. ८।१९ +शि. गी. १६।१० ) नान्यः, असंयतत्वात् । तस्माच्छास्त्रार्थः परित्यक्तकामक्रोधमोहेषु सफल इति तात्पर्यमस्याध्यायस्येति ।

**नव्यास्तु**— एवं कर्मयोगशास्त्रानुसारेण जगतो धारणपोषणकर्तारः पुरुषाः कीदृशाः ? के च तत्प्रतिद्वन्द्विनो जगद्विनाशकराः ? इति वर्णनानन्तरं मनुष्येष्वेवं भेदाः कथं भवन्ति ? इति प्रश्न उत्तिष्ठते ॥ अस्य च 'प्रकृत्या नियताः स्वया' ( ७।२० ) इति सामान्यत उत्तरमस्त्येव सप्तमे, परं तदानीं गुणत्रयस्वरूपविवेचनस्याकृतत्वात् एते प्रकृतिजन्या भेदाः सविस्तरं नोपपादिताः । अत्र चतुर्दशे गुणत्रयविवेचनं विधायाधुना तेभ्य एव गुणेभ्यः श्रद्धादीनामपि वैचित्र्यं कथमुत्पद्यते तदुक्त्वा ज्ञानविज्ञाननिरूपणमशेषतोऽस्मिन्नध्याये समापितम्— इत्याहुः । तदयुक्तम्, तदुक्तार्थस्य पूर्वाध्याये वर्णनाभावात् । मनुष्येषु भेदविषयकप्रश्नस्यापि नात्रोत्थानं सम्भवति, 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि' ( ३।३३ ) 'प्रकृत्या नियताः स्वया' ( ७।२० ) इत्यादिना प्राक् 'अभिजातस्य' ( १६।३-५ ) इत्यन्तेन समनन्तराध्याये च तन्निदानोपपादनेन शङ्कोदयासम्भवात् । ज्ञानविज्ञाननिरूपणं च प्रागेव समापितमित्यतिरोहितमेव ॥

**यत्तु**— नृणां शास्त्रे श्रद्धासत्त्वेऽप्यज्ञानात्प्रमादो भवति, यथा— विश्वव्यापकः परमेश एव सेव्यः पूजयितव्यश्चेति शास्त्रविधिमुत्सृज्य देवतानां यजनम् ( गी. ९।२३ ) तादृशानां च अवस्था स्थितिर्वा का ? इति प्रश्नः पार्थस्य । नाश्रद्धया शास्त्रं धर्मं च तिरस्कुर्वाणा आसुरा नराः प्रश्नस्यास्य विषयः, तथापि प्रसङ्गतस्तत्कर्मणां फलान्यप्यस्मिन्नध्याये वर्णितानीति । तन्न, श्रद्धान्वितत्वस्यात्र यजनकर्तृतायामेवान्वयात् । तस्य शास्त्रविध्युत्सर्गेण सम्बन्धोक्तेः 'श्रद्धया परया तप्तं तपः' (१७।१७) 'अश्रद्धया हुतं दत्तं' ( १७।२८ ) इत्यादिनिर्देशविरुद्धत्वात्, सुतरामसम्बन्धत्वाच्च । आसुरकर्मणां फलवर्णनं त्वस्मिन्नध्याये लेशतोऽपि नास्तीति प्रत्यक्षमेवेति किमनया कुकल्पनया ? ।

**—अविगीता ।**

**श्लोकः ३**— अत्र सत्त्वशब्दः स्वभावपर्यायः । अयं पुरुष आत्मा श्रद्धयाऽन्यव्यापारोपरि वर्तिन्याऽवश्यं सम्बद्धः, स च तन्मय एव बोद्धव्यः । **इत्यभिनवगुप्ताचार्याः** । 'भारत' इति सम्बोधनेन त्वं महाकुलप्रसूतत्वात्, 'भा' शब्दितब्रह्मविद्यारतत्वाच्च शुद्धसात्विकोऽसीति सूचितम् ।

**— अविगीता ।**

**श्लोकः ४**— तामसानामत्यन्तवैलक्षण्यद्योतनायान्ये इति, तत्कर्मणामत्यन्तवैलक्षण्यद्योतनाय पुनर्यजन्ते इति चोक्तम् । देवादीनां लक्षणानि **ब्रह्माण्डपुराणे**— ( म. भाग. अ. ७।१६९-१७० )

सर्वलक्षणसम्पन्नाः समासैश्चापि दैवतैः । भास्वरा बलवन्तश्च ईश्वराः कामरूपिणः ॥
अनभिभाव्या विक्रान्ताः सर्वलोकनमस्कृताः । सूक्ष्माश्चौजस्विनो मेध्या वरदा याज्ञिकाश्च ये ॥
देवानां लक्षणं ह्येतदसुराणां तथैव च । हीना देवैस्त्रिभिः पादैर्गन्धर्वाप्सरसः स्मृताः ॥
गन्धर्वेभ्यस्त्रिभिः पादैर्हीना गुह्यकराक्षसाः । ऐश्वर्यहीना रक्षोभ्यः पिशाचास्त्रिगुणं पुनः ॥
एवं धनेन रूपेण आयुषा च बलेन च । धर्मैश्वर्येण बुद्ध्या च तपःश्रुतपराक्रमैः ॥
देवासुरेभ्यो हीयन्ते त्रींस्त्रीन् पादान् परस्परम् । गन्धर्वाद्याः पिशाचान्ताश्चतस्रो देवयोनयः ॥ —इति ।

'भवपारिषदास्ते वै सर्वे भूताः प्रकीर्तिताः ।' ( ३७३ ) इत्यपि तत्रैव ।

**— अविगीता ।**

**श्लोकः ५**— 'तपस्तप्यन्ति तामसाः' इति द्वितीयचरणे **गुप्तादृतः** पाठः । 'तपस्तप्यन्तः' इति— व्यापारमात्रं धात्वर्थः, अभेदेन तदन्वयी तपःपदार्थः । क्रियाविशेषणे चेयं द्वितीया । आख्यातार्थस्तु प्रयत्नलक्षणभावनेति तपः कुर्वन्तीति पर्यवस्यति । मन्त्रतन्त्रवेषभाषादिबाह्यपरिकराटोपो दम्भः । कुलशीलविद्याश्रमादिभिरुत्कृष्टोऽहमित्यन्तःकरणाटोपोऽहङ्कारः ।
**— अविगीता ।**

**श्लोकः ६**— 'अचेतनम्' इति पाठमाश्रित्य 'अचेतनमविवेकित्वात्' इति व्याख्यातं **गुप्तपादैः** । 'अशास्त्रविहितं' इति राजसविषयम् , 'कर्शयन्तः शरीरस्थं' इति तामसविषयमिति विवेकः । **— अविगीता ।**

**श्लोकः ७**— यज्ञादिषु सात्त्विकादीनामाहारमूलकसत्त्वशुद्ध्यबुद्धिमूलकत्वरूपविशेषसूचकस्तुशब्दः । अत एवाहारस्य प्रथममुक्तिः । **— अविगीता ।**

**श्लोकः ८**— 'हृद्यं पश्चान्मनोहारि प्रियं तत्कालसौख्यदम् । सुखदं दीर्घसुखदं रस्यमभ्याससौख्यदम् ॥' इति **विद्याधिराजीये ।** **— अविगीता ।**

**श्लोकः १०**— 'यामान्तरितपाकं तु यातयाममितीर्यते । क्वचिच्च गतसारं स्यान्नियम्यं यातमस्य यत् ॥' इति **विद्याधिराजीये ।** अपि चेति सम्भावनायाम् । तथा च **वामनः**—

उत्पद्यते यथा कोऽपि रसः पर्युषितादिषु । न तथा रुचिवैचित्र्यमुच्छिष्ट उपजायते ॥
उच्छिष्टे कर्दमीभावो रुचिवैचित्र्यकृद्यदि । अनुच्छिष्टेऽपि शक्योऽसौ विधातुं तद्रसप्रियैः ॥
ऋते च रुचिवैशिष्ट्यं प्रियत्वं नोपपद्यते । जुगुप्साभाव एवातस्तामसानामिहोदितः ॥
यावद्रसान्तरं किञ्चिदुच्छिष्टे न प्रदर्श्यते । तावद्व्याख्यानचातुर्यमन्येषां नो न रोचते ॥ इति ।

आहाराणामायुराद्यभिवर्धकत्वरूपविशेषणेन दुःखादिप्रदत्वरूपविशेषणेन च रस्यत्वादौ सत्यपि नातथाभूतानां सात्त्विकत्वम् । अतिकटुत्वादौ सत्यपि च नातथाभूतानां राजसत्वम् । अतो रसायनोपयोगितयाऽतिकट्वादिपदार्थस्वीकारेऽपि न राजसत्वाद्यापत्तिः ।
**—अविगीता ।**

**श्लोकः ११**— 'पशूनां द्रव्यहविषामृक्सामयजुषां तथा । ऋत्विजां दक्षिणानां च संयोगो यज्ञ उच्यते ॥' ( पू. भा. ३२। ४७ ) इति **ब्रह्माण्डे ।** **—अविगीता ।**

**श्लोकः १३**— असृष्टान्नमचोदितद्रव्यम् । सृष्टं विहितं न्यायार्जितं, शूद्रप्रतिग्रहादिरहितमित्यर्थः । लोभातिशयाद्दक्षिणाया अप्यभावेऽन्नदानाभावस्य कैमुतिकन्यायसिद्धत्वेनादक्षिणत्वोक्त्यैवान्नदानाभावस्य लाभात्– इति **केचित्** । **—अविगीता ।**

**श्लोकः १४**— आर्जवमृजुता अगोप्यविषया धृष्टता इत्य**भिनवगुप्ताचार्याः** । प्राज्ञानां द्विजेभ्यः पृथग्ग्रहणेन बहुजन्मसमाचीर्णपुण्यपरिपाकलब्धभगवत्प्रसादेन ब्राह्मणेतरेषामपि प्राज्ञत्वं सम्भवति, विदुरधर्मव्याधप्रभृतिषु दर्शनात् । तेन ते ब्राह्मणेतरत्वेऽपि पूजनीया इति सूच्यते । गुरुभ्यः पृथग्ग्रहणेन गुरुत्वाभावेऽपि प्राज्ञत्वमहिम्नैव ते पूजनीया इति सूच्यते— इति **केचित्** । **—अविगीता ।**

**श्लोकः १५**— सत्यमित्यस्यैव स्वरूपनिरूपणं प्रियहितमित्यनेन क्रियते । प्रियं च तत्काले हितं च कालान्तरे ईदृशं वाक्यं सत्यमित्युच्यते, न तु यथावद्वृत्तकथनमात्रम्— इति **गुप्ताः** । अत्र **वामनः**—

अनुद्वेगकरं वाक्यं प्रियं सत्यं तथा हितम् । नाध्यात्मवचनादन्यत्किञ्चिल्लोकेषु विद्यते ॥
आत्मचर्चैवात्र तस्मादुच्यते वाङ्मयं तपः । अलाभे तद्विदां ग्रन्थाभ्यासात्तत्साध्यते स्वयम् ॥

—इति प्रतिपादयाम्बभूव । 'सत्यं ब्रूयात्प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम् । प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥' ( ४।१३८ ) इति, 'वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः । वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ आहैव सनखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः । यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥' ( २।१६६-६७ ) इति च **मनुवचनमत्रानुसन्धेयम् ।** **—अविगीता ।**

**श्लोकः २०**— 'अनुपकारिणे' इति विशेषणविभक्तिबलात् 'पात्रे' इत्यपि पातृशब्दाच्चतुर्थी । विद्यातपस्तेजसा दातुरात्मनश्च रक्षणसमर्थायेत्यर्थः 'अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः । अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥ यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् । तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥' ( मनुः ४।१९०,१९४ ) इत्यन्यथानर्थस्मरणात् । इति **केचित्** । तन्न 'अपात्रेभ्यश्च' ( १७।२२ ) इत्युत्तरनिर्देशविरोधान्नातीव हृद्यम् । देशकालापेक्षया पात्रस्याधिक्यं सूचयितुं परत उक्तिः । तथा च **सौरपुराणम्**— 'दानं पात्रे प्रदातव्यं नापात्रेऽप्यणुमात्रकम् ।' ( १०।१ ) इति पात्रलक्षणमाह **वसिष्ठः**—

'स्वाध्यायाढ्यं योनिमन्तं प्रशान्तं वैतानस्थं पापभीरुं बहुज्ञम्। स्त्रीषु क्षान्तं धार्मिकं गोशरण्यं व्रतैः क्लान्तं तादृशं पात्रमाहुः ॥' (ध. सू. ६।२८) इति। देशादीनां प्रत्येकं सात्त्विकतासम्पादकत्वं द्योतयितुं चकारावृत्तिः। देशानन्तरं छन्दोभङ्गभयादनुक्तोऽप्यनुकर्षेण ज्ञेयः। तथा च कुरुक्षेत्रादिदेशे कालपात्रयोः, सूर्यग्रहादिकाले देशपात्रयोः, सत्पात्रलाभे च देशकालयोर्यथोक्तयोरलाभेऽपि न दानस्य सात्त्विकत्वक्षतिः। द्वयोः सर्वेषां वा समुच्चयेन प्राप्तिस्तु प्रशस्ततरा प्रशस्ततमा चेति कैमुतिकसिद्धोऽयमर्थः। विशेषस्तु हेमाद्रिदानकाण्डदानमयूखादौ द्रष्टव्यः। —अविगीता।

**श्लोकः २३— अत्राहुरभिनवगुप्तपादाः—** एवं लौकिकानां सात्त्विकादित्रिप्रकाराशयानुसारेण क्रिया व्याख्याता। इदानीं ये गुणत्रितयसङ्कटोत्तीर्णधियस्ते क्रियां कथमाचरन्तीति तादृक् प्रकार उच्यते— 'ॐ तत् सत्' इत्येभिस्त्रिभिः शब्दैर्ब्रह्मणो निर्देशः सम्मुखीकरणम्। तत्र— ओमित्यनेन शास्त्रार्थोऽयमादेहसम्बन्धमूरीकार्य इति सूच्यते। तदिति सर्वनामपदेन सामान्यमात्राभिधायिना विशेषपरामर्शमात्रासमर्थेन फलानभिसन्धानं ब्रह्मण्युच्यते; अभिसन्धानस्य विशेषपरिग्रहमन्तरेणाभावात्, सकलविशेषानुग्राहित्वेऽपि सकलफलसन्धाने सर्वकर्तृतायामपि विशिष्टफलायोगात्। सदित्यमुष्या श्रुत्या प्रशंसाऽभिधीयते। क्रियमाणमपीदं यज्ञादिकं दुष्टमिति बुद्ध्या क्रियमाणं तामसतामेति। तस्मात् कर्तव्यमिदं मन्वाना विशिष्टफलाभिसन्धानेन च क्रियमाणं न सत् बन्धदायकमेवेति यज्ञादि कुर्वाणा अपि न बध्यन्ते। अनेनैवाभिप्रायेणादिपर्वण्युक्तम्— 'तपो न कल्कोऽध्ययनं न कल्कः स्वाभाविको वेदविधिर्न कल्कः। प्रसह्य वित्ताहरणं न कल्कस्तान्येव भावोपहतानि कल्कः ॥' (म. भा. १।१।२७५) इति। कल्को बन्धकः स्वाभाविक इति ब्राह्मणेन निष्कारणं षडङ्गं वेदोऽध्येतव्यमिति प्रसह्य शास्त्रलोकप्रसिद्धोचितया चेष्टया, भावेन सत्त्वादिगुणत्रययोगिना चित्तेनोपहतान्येव बन्धकानि, नान्यथेति तात्पर्यम्। अतो यज्ञादि यावच्छरीरभावितया कार्यमेव, तदर्थं विहितं कर्म अर्जनादि।

यदि वा— ओमित्यनेन समुपशान्तसमस्तप्रपञ्चम्, तदित्यनेनोद्भियमानविश्वतरङ्गपरामर्शमात्रात्मकेच्छास्वातन्त्र्यस्वभावम्, सदित्यनेनेच्छास्वातन्त्र्यभरविस्रम्भमाणभेदकं पूर्णत्वेऽपि तावच्चित्तस्वभावतया भवनमिति प्रतिपाद्यते। तथा चोक्तम्— 'सद्भावे साधुभावे च' (१७।२६) इति। तेन परमप्रशान्तं रूपं पुरस्कृत्य, दित्सा-यियक्षा-तितप्सात्मकेच्छातरङ्गसङ्गतं च मध्येकृत्य, दानयज्ञतपःक्रियाकारककलापपरिपूर्णं यच्चरमं वपुरिदमुल्लसितम्, एतत्खलु समं त्रितयमनर्गलस्य स्वाभाविकं रूपमिति कस्य? किं? कथं? कुतः? केन? फलं स्यादिति ॥

अत्र यद्यपि 'स्मृतः' इत्येतावन्मात्रं श्रूयते, न तु विधिविभक्तिः; तथापि तावन्मात्रस्य प्रकृतासङ्गतत्वात्, प्रमादजनिताङ्गवैगुण्यशान्तिफलकतया विशिष्टस्मरणस्याप्राप्तत्वेनापूर्वतया विधातुं योग्यत्वाच्च, यथा 'वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः' इत्यादौ विधिविभक्तेरश्रुतत्वेऽपि वषट्कर्तृसम्बन्धिप्राथम्यविशिष्टभक्षणस्यान्यतोऽप्राप्तत्वेन विधिः कल्प्यते; तथा— प्रकृतसङ्गतय उक्तवैगुण्यशान्तिकामेनोक्तनिर्देशः स्मर्तव्य इति विधिः कल्प्यत इति **मधुसूदनाशयः**। —अविगीता।

**श्लोकः २५—** तच्छब्दस्य ब्रह्माभिधायकत्वमित्थं समर्थितं **श्रुतिकल्पलतायाम्—** तच्छब्देन जगदुपादानकारणं ब्रह्मोच्यते। यथा मृदुपादानके घटादिप्रपञ्चे स घट इत्युक्ते तच्छब्देन मृदेवोपदिश्यते, घटादेरवस्तुत्वात्। ततस्तच्छब्दो मृन्मयप्रपञ्चे मृद्वाचकः। एवं प्रकृत्यादिचतुर्विंशतितत्त्वात्मके जगति यद्यत्तदित्युच्यते, तत्तद्ब्रह्मैव; जगदुपादानकारणत्वात्, कार्यस्य मिथ्यात्वात्। घटस्य मृद्वज्जगत आद्यन्तयोर्विद्यमानत्वान्मध्येऽपि तदेकमात्रत्वादित्येवमर्थगर्भितत्वात्तच्छब्दवाच्यं ब्रह्मैक्यं च द्रष्टव्यम्।

ननु स घट इत्युक्ते दृष्टिर्मृदं स्पृष्ट्वा घटाकारं पश्यति, न तथा ब्रह्म स्पृष्ट्वा स्थिरचरादि किमपि दृष्टिः पश्यति। तत आद्यन्तयोः कारणत्वेन विद्यमानत्वेऽपि सत्यत्वेन ततः प्रपञ्च उत्पद्यत इति चेत्; यथा मृदं स्पृष्ट्वा दृष्टिर्घटं पश्यति, तथैव बुद्धिर्ब्रह्म स्पृष्ट्वैव चक्षुरादीन्द्रियाणि च तद्गोचररूपादिविषयांश्च विजानातीत्यभिधत्ते श्रुतिः— 'येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शांश्च मैथुनान्। विजानाति' (कठो. २।१।३) इति। न हि चैतन्ययोगं विना बुद्धेरिन्द्रियादिविषयज्ञानं सम्भवतीत्यखिलानुभूतम्। न हि करकङ्कणस्य दर्पणापेक्षा। तच्च चैतन्यं ब्रह्मैव, 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. उ. ५।३) इति श्रुतेः। इत्यादि (अ. २४)।

—अविगीता।

**श्लोकः २७— अत्राहुर्नव्याः—** ब्रह्मणा सहैव यत्कर्मोत्पन्नम् (३।१०), यच्च न कस्याप्यश्लिष्टम्, तत्यक्तव्यमिति वक्तुं न युक्तमित्यनेन सिद्ध्यतीति। तन्न, निर्दिष्टस्थले ब्रह्मणा सहैव कर्मोत्पत्तेरनुक्तत्वात्। तत्र हि 'प्रजापतिः सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वोवाच' इत्येवोक्तम्, न ब्रह्मणा सहैव कर्मोत्पन्नमिति। कर्म न कस्याप्यश्लिष्टमिति च 'नैव कुर्वन्न कारयन्' (५।१३) 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८।६६) इत्यादि पूर्वोत्तरनिर्देशविरुद्धं, 'इतरस्याप्येवमसंश्लेषः—' (ब्र. सू. ४।१।१४) इति वेदान्तसिद्धान्तविरुद्धं चेत्युपेक्ष्यमेव। —अविगीता!

# श्रीमद्भगवद्गीतायाः सप्तदशाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

ईश्वर उवाच—

षोडशाध्यायसामर्थ्यं कथितं शृणु साम्प्रतम् ।
स्पष्टं सप्तदशाध्यायमहिमाम्भोनिधिं शिवे ! ॥ १ ॥
खड्गबाहोः सुतस्यैव भृत्यो दुश्शासनोऽभवत् ।
तं गजं धर्तुमागम्य गजात्प्राप्तो यमक्षयम् ॥ २ ॥
तद्वासनानिबद्धात्मा गजयोनिमवाप्य च ।
गीतासप्तदशाध्यायं श्रुत्वा प्राप्तः परं पदम् ॥ ३ ॥

श्रीदेव्युवाच—

दुश्शासनो गजत्वं च प्राप्य मुक्त इति श्रुतम् ।
तदेव वद कल्याणं विस्तरेण मम प्रभो ! ॥ ४ ॥

ईश्वर उवाच—

स्थितः कश्चन दुर्मेधा माण्डलिककुमारकैः ।
बहुमूल्यं पणं कृत्वा गजमारूढवांस्ततः ॥ ५ ॥
गत्वा कतिपयान्येव पदानि जनवारितः ।
नाम्ना दुश्शासनो मूढः प्रौढवाक्यमुदीरयत् ॥ ६ ॥
ततो निशम्य तद्वाक्यं क्रोधान्धः सिन्धुरोऽभवत् ।
न्यपतच्च स्खलत्पादः कम्प्यमानः कुमारकैः ॥ ७ ॥
ततो निपतितं किञ्चिदुच्छ्वसन्तं गजो रुषा ।
ऊर्ध्वमुन्मूलयाञ्चक्रे कृतान्तकनिरङ्कुशः ॥ ८ ॥
गतासोरपि रोषेण तस्यास्थीनां गणं गजः ।
विकीर्णवान्पृथक्कृत्वा मत्तो दन्तावलस्ततः ॥ ९ ॥
ततः कालेन सम्प्रेत्य गजयोनिमवाप्य सः ।
महान्तं कालमनयत्सिंहलद्वीपभूपतेः ॥ १० ॥
मैत्री गरीयसी सार्धं खड्गबाहुमहीभुजा ।
ततोऽसौ जलमार्गेण प्रापितः स तु वारणः ॥ ११ ॥
जयदेवेन खड्गबाहोः प्रीत्यानीतो महीभुजा ।
जातिं स्मरन्स्वकीयां स पश्यन्बन्धून्सहोदरान् ॥ १२ ॥
दुःखेन महता स्तोकान्दिवसानत्यवाहयत् ।
राजा कदाचित्सन्तुष्टः समस्याश्लोकपूरणैः ॥ १३ ॥
कस्मैचित्कवये प्रादात्तमुपायनहस्तिनम् ।
शतेन तेन कविना रोगोपद्रवभीरुणा ॥ १४ ॥
मालवक्षोणिपालस्य विक्रीतश्चैत्यकुञ्जरः ।
कियत्यपि गते काले पाल्यमानोऽपि यत्नतः ॥ १५ ॥
मुमूर्षुरभवत्तत्र कुञ्जरो दुर्जरज्वरः ।
न जिघ्रति पयः शीतं नाऽऽदत्ते कवलं गजः ॥ १६ ॥
स्वपित्यपि न सौख्येन मुञ्चत्यश्रूणि केवलम् ।
दिवा नक्तं स्थाणुवच्च तिष्ठति भ्रष्टचेतनः ॥ १७ ॥
इत्थं तैर्हस्तिपैर्दृष्टो दुर्व्यवस्थो गजाधिपः ।
सत्वरं कथयामासू राज्ञे गजहिताय ते ॥ १८ ॥

हस्तिपा ऊचुः—

महीपाल ! न जानीमो गजस्तेऽस्वस्थमानसः ।
न खादति न पिबति न स्वपित्यपि वै तथा ॥ १९ ॥
स्वकरेण रजो भूमेर्न स्वपृष्ठे निषिञ्चति ।
अश्रुपातं बहुविधं करोति दृश्यतामिति ॥ २० ॥

श्रीशिव उवाच—

तच्छ्रुत्वा तस्य वृत्तान्तं राजा द्रष्टुमगात्स्वयम् ।
मन्त्रिभिर्भेषजे दक्षैर्गजरोगकवेदिभिः ॥ २१ ॥
ततो हस्तिपकाख्यातं वृत्तान्तमवनीपतिः ।
आकर्ण्य स समायातो यत्राऽऽस्ते ज्वरितो गजः ॥ २२ ॥
स चाऽऽलोक्य च भूपालं जगद्विस्मयकारिणीम् ।
वाचमूचे गजः सम्यग्विसृष्टज्वरवेदनः ॥ २३ ॥

गज उवाच—

राजन्नशेषशास्त्रज्ञ ! राजनीतिपयोनिधे ! ।
निर्जितारातिसङ्घात ! मुरारिचरणप्रिय ! ॥ २४ ॥
किमौषधैरलं वैद्यैः किं दानैः किन्तु जापकैः ।
गीतासप्तदशाध्यायजापकं द्विजमानय ॥
तेनायं मामको रोगः शाम्यत्यत्र न संशयः ॥ २५ ॥

श्रीशिव उवाच—

यथाऽऽदिष्टं गजेनाऽऽदौ तथा चक्रे नराधिपः ।
ततो गजत्वमुत्सृज्य मुक्तो दुश्शासनोऽभवत् ॥ २६ ॥
तेन विप्रेणाभिमन्त्र्य जले क्षिप्ते तदुत्तमे ।
अथ दिव्यं समारूढं विमानमवनीपतिः ॥
तं दुश्शासनमद्राक्षीत्पाकशासनतेजसम् ॥ २७ ॥

राजोवाच—

किञ्जातीयः किमात्मा त्वं किंवृत्त इति मे वद ।
केन वा कर्मणा जातो गजः कथमिहाऽऽगतः ॥ २८ ॥

श्रीशिव उवाच—

पृष्टो राज्ञा विमुक्तोऽसौ विमानस्थः स्थिराक्षरम् ।
वृत्तं यथावदाचख्यौ निजं दुश्शासनः क्रमात् ॥ २९ ॥
गीतासप्तदशाध्यायं जपन्मालवभूपतिः ।
नरवर्योऽभवन्मुक्तः कालेनाल्पीयसा ततः ॥ ३० ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये श्रीमद्भगवद्गीतासप्तदशाध्याय-
माहात्म्यवर्णनं नाम सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

# श्रीमद्यामुनमुनिप्रणीतः श्रीमद्गीतार्थसंग्रहः ।

[ अध्यायः १८ ]

ईश्वरे कर्तृताबुद्धिः सत्त्वोपादेयताऽन्तिमे ।
स्वकर्मपरिणामश्च शास्त्रसारार्थ उच्यते ॥ २२ ॥

श्रीमन्निगमान्तमहादेशिकविरचिता गीतार्थसङ्ग्रहरक्षा ।

तदेतत्पूर्वाध्यायसङ्गतिप्रदर्शनपूर्वकं व्याचष्टे— 'अतीतेनाध्यायद्वयेनाभ्युदयनिश्श्रेयससाधनभूतं वैदिकमेव यज्ञतपोदानादिकं कर्म, नान्यत्; वैदिकस्य कर्मणः सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः; तत्र मोक्षाभ्युदयसाधनयोर्भेदस्तत्सच्छब्दनिर्देश्यत्वेन; मोक्षसाधनं च कर्म फलाभिसन्धिरहितं यज्ञादिकं; तदारम्भः सत्त्वोद्रेकाद्भवति; सत्त्वोद्रेक-(सत्त्ववृद्धि)श्च सात्त्विकाहारसेवयेत्युक्तम् ; अनन्तरं मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोस्त्यागसन्न्यासयोरैक्यं, त्यागस्य स्वरूपं, भगवति सर्वेश्वरे सर्वकर्मणां कर्तृत्वानुसन्धानं, सत्त्वरजस्तमसां कार्यवर्णनेन सत्त्वगुणस्योपादेयत्वं, स्ववर्णोचितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनभूतानां परमपुरुषप्राप्तिनिर्वर्तनप्रकारः; कृत्स्नस्य च गीताशास्त्रस्य सारार्थो भक्तियोग इत्येते प्रतिपाद्यन्ते ' [ रा. भा. १८।१ ] इति । अत्र त्यागसन्न्यासशब्दावेकार्थाविति भगवदुक्तेनोत्तरेण ख्यापितं भाष्ये । सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानं च 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' [ १८।१४ ] इत्यत्रैव दर्शितम्— 'अत्र कर्महेतुकलापे दैवं पञ्चमम् । परमात्माऽन्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः । उक्तं हि— ' सर्वस्य चाऽहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ' [१५।१५] इति । वक्ष्यति च— 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति । भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ' [१८।६१] इति । परमात्मायत्तं च जीवात्मनः कर्तृत्वं 'परात्तु तच्छ्रुतेः' [ब्र. सू. २।३।४१] इति प्रतिपादितम् ।

नन्वेवं परमात्मायत्ते जीवात्मनः कर्तृत्वे जीवात्मा कर्मण्यनियोज्यो भवतीति विधिनिषेधशास्त्राण्यनर्थकानि स्युः । इदमपि चोद्यं सूत्रकारेण परिहृतं— ' कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ' [ ब्र. सू. २।३।४२ ] इति । एतदुक्तं भवति— ' परमात्मना दत्तैस्तदाधारैश्च करणकलेवरादिभिस्तदाहितशक्तिभिः स्वयं च जीवात्मा तदाधारस्तदाहितशक्तिः सन् कर्मनिष्पत्तये स्वेच्छया करणाद्यधिष्ठानाकारं प्रयत्नं चारभते । तदन्तरवस्थितः परमात्मा स्वानुमतिदानेन तं प्रवर्तयतीति जीवस्यापि स्वबुद्ध्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वमस्ति; यथा गुरुतरशिलामहीरुहादिचलनादिफलप्रवृत्तिषु बहुपुरुषसाध्यासु बहूनां हेतुत्वं विधिनिषेधभाक्त्वं च'— इति । तत्र शास्त्रसारार्थः ' सर्वगुह्यतमम् ' [ १८।६४ ] इत्यादिना सादरं सम्मुखीकृत्य ' मन्मना भव मद्भक्तः ' [ १८।६५ ] ' सर्वधर्मान्परित्यज्य ' [ १८।६६ ] इति श्लोकद्वयेन शिष्टः । चरमश्लोकार्थश्च तात्पर्यचन्द्रिकायां निक्षेपरक्षायां चास्माभिः यथाभाष्यं यथासम्प्रदायं च समस्तपरपक्षप्रतिक्षेपपूर्वकमुपपादितः । तत्रायमस्मदीयसङ्ग्रहः— 'सुदुष्करेण शोचेद्यो येन येनेष्टहेतुना । स स तस्याहमेवेति चरमश्लोकसङ्ग्रहः' इति । सारार्थो भक्तियोग इति भाष्ये त्वङ्गाधिकारे प्रपत्तिं प्रत्यपि भक्तेरङ्गित्वेन प्राधान्यात् ॥ २२ ॥

# मोक्षसन्न्यासयोगाख्योऽष्टादशोऽध्यायः ।

त्यागसन्न्यासशब्दयोः स्वरूपबुभुत्सयाऽर्जुनप्रश्नः ।

**अर्जुन उवाच— सन्न्यासस्य महाबाहो ! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ।**
**त्यागस्य च हृषीकेश ! पृथक्केशिनिषूदन ॥ १ ॥**

### १ शाङ्करभाष्यम् ।

सर्वस्यैव गीताशास्त्रस्यार्थोऽस्मिन्नध्याय उपसंहृत्य सर्वश्च वेदार्थो वक्तव्य इत्येवमर्थोऽयमध्याय आरभ्यते; सर्वेषु ह्यतीतेष्वध्यायेषूक्तोऽर्थोऽस्मिन्नध्यायेऽवगम्यते; अर्जुनस्तु सन्न्यासत्यागशब्दार्थयोरेव विशेषं बुभुत्सुरुवाच— **सन्न्यासस्येति** । सन्न्यासस्य सन्न्यासशब्दार्थस्येत्येतत्— हे महाबाहो ! तत्त्वं तस्य भावस्तत्त्वं याथात्म्यमित्येतत्— इच्छामि वेदितुं ज्ञातुं; त्यागस्य च त्यागशब्दार्थस्येत्येतत्— हे हृषीकेश ! पृथगितरेतरविभागतः केशिनिषूदन ! केशिनामा हयच्छद्मा कश्चिदसुरः, तं निषूदितवान् भगवान्वासुदेवः, तेन तन्नाम्ना सम्बोध्यतेऽर्जुनेन ॥ १ ॥

### २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या ।

पूर्वैरध्यायैर्विस्तरेण यतस्ततो विक्षिप्ततयोक्तमर्थं सुखप्रतिपत्त्यर्थं सङ्क्षेपेणोपसंहृत्याभिधातुमध्यायान्तरमवतारयति— **सर्वस्यैवेति** । उपसंहृत्य वक्तव्य इति सम्बन्धः । किञ्चोपनिषत्सु यतस्ततो विस्तृतस्यार्थस्य बुद्धिसौकर्यार्थमस्मिन्नध्याये सङ्क्षिप्ताभिधानं कर्तव्यमुपनिषदां गीतानां चैकार्थत्वादित्याऽऽह— **सर्वश्चेति** । कथं सर्वोऽपि शास्त्रार्थोऽस्मिन्नध्याये सङ्क्षिप्योपसंह्रियते ? तत्राऽऽह— **सर्वेषु हीति** । ननु वेदार्थश्चेदशेषतोऽत्रोपसञ्जिहीर्षितस्तर्हि किमिति "त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" [ महाना. ८।१४ + कैव. २ + भवसं. ३।३३ ] "सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः" [ मुं. उ. ३।२।६ + महाना. ८।१६ + कैव. ३ + भवसं. ३।३३ ] इति च वेदार्थैकदेशविषयं प्रश्नप्रतिवचनं तत्राऽऽह— **अर्जुनस्त्विति** । पृथगनयोस्तत्त्वं वेदितुमिच्छामीति विशेषणादपृथगर्थस्तयोरस्तीति गम्यते । बुभुत्सितस्य प्रष्टव्यत्वादेकदेशे तद्भावादुक्तप्रश्नोपपत्तिरिति भावः ॥ १ ॥

### ३ रामानुजभाष्यम् ।

अतीतेनाध्यायद्वयेन अभ्युदयनिःश्रेयससाधनभूतं वैदिकमेव यज्ञतपोदानादिकं कर्म, नान्यत्; वैदिकस्य च कर्मणः सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः, तत्र मोक्षाभ्युदयसाधनयोर्भेदः तत्सच्छब्दनिर्देश्यानिर्देश्यत्वेन, मोक्षसाधनं च कर्म फलाभिसन्धिरहितं यज्ञादिकम्, तदारम्भश्च सत्त्वोद्रेकाद्भवति, सत्त्ववृद्धिश्च सात्त्विकाहारसेवया— इत्युक्तम् । अनन्तरं मोक्षसाधनतया निर्दिष्टयोः त्यागसन्न्यासयोरैक्यं, त्यागस्य सन्न्यासस्य च स्वरूपं, भगवति सर्वेश्वरे च सर्वकर्मणां कर्तृत्वानुसन्धानं, सत्त्वरजस्तमसां कार्यवर्णनेन सत्त्वगुणस्यावश्योपादेयत्वं, स्ववर्णोचितानां कर्मणां परमपुरुषाराधनभूतानां परमपुरुषप्राप्तिनिर्वर्तनप्रकारः, कृत्स्नस्य गीताशास्त्रस्य सारार्थो भक्तियोग इत्येते प्रतिपाद्यन्ते । तत्र तावत्त्यागसन्न्यासयोः पृथक्त्वैकत्वनिर्णयाय स्वरूपनिर्णयाय चार्जुनः पृच्छति— **सन्न्यासस्येति** ।

### ४ वेङ्कटनाथविरचिता तात्पर्यचन्द्रिका ।

कर्तव्यविशोधनप्रधाने अन्तिमेऽध्यायत्रिकेऽस्याध्यायस्य पश्चाद्गाविरत्वज्ञापनाय षोडशसप्तदशयोर्देवासुरविभागोक्त्यादिमुखेन हेयोपादेयविभजनपरतया प्रधक्कैक्यमभिप्रेत्याऽऽह— अतीतेनेनेति । वैदिकस्य कर्मणः सामान्यलक्षणं प्रणवान्वयः, तत्र मोक्षाभ्युदयसाधनयोर्भेदस्तत्सच्छब्द-निर्देश्यत्वेनेति विभज्यमानस्यायमभिप्रायः— विशेषणादिसामर्थ्यलब्धोऽयं विभागः । ब्रह्मणः पारोक्ष्यात् 'तत्' इति निर्देशः । तज्ज्ञाने तु सन्मात्रविवक्षया सच्छब्दः । क्रमादेते सात्त्विकराजसतामसा इति विभागस्तु कस्यचिदुत्प्रेक्षाकल्पितः— इति । एवमुक्तेष्वर्थेषु मोक्षसाधनभूतांशस्वरूपशोधनमुत्तराध्यायेन क्रियत इति सङ्गत्यभिप्रायेणाऽऽह— अनन्तरमिति । 'ईश्वरे कर्तृताबुद्धिः सत्त्वोपादेयताऽन्तिमे । स्वकर्मपरिणामश्च शास्त्रसारार्थ उच्यते' [गी. सं. २२] इति सङ्ग्रहश्लोके त्यागसन्न्यासैक्यतत्स्वरूपानुक्तिरीश्वरे कर्तृताबुद्धेः शेषतया तदुपन्यासादिति मन्तव्यम् । सत्त्वोपादेयत्वमत्र तात्पर्यवृत्त्याऽभिधीयत इत्यभिप्रायेणाऽऽह सत्त्वरजस्तमसां कार्यवर्णनेनेति । 'स्वधर्मज्ञान-वैराग्यसाध्यभक्त्येकगोचरः' [गी. सं. १] इति सङ्ग्रहारम्भोक्तप्रधानकर्तव्यपरोऽत्र 'शास्त्रसारार्थशब्दः' इत्यभिप्रायेणाऽऽह सारार्थो भक्तियोग इति । स्वर्गादिसाधनानां यज्ञदानादीनां स्वरूपाविशेषेऽपि ययोगान्मोक्षसाधनत्वं, तदिदानीं सविशेषं शोधयितुमर्जुनः पृच्छतीत्यभिप्रायेण प्रकृते प्रश्नं सङ्गमयति— तत्र तावदिति । सत्त्वविवृद्धितदुपायादिकथनं त्यागादिविशिष्टमोक्षसाधनकर्मार्थतया । सन्न्यासशब्दस्याश्रमविशेषादिरूढेस्त्यागमात्रेऽपि शक्तः पृथक्त्वैकत्वशङ्का । वादिविप्रतिपत्त्यादिभिः स्वरूपविशेषानिश्चयः ।

**३ रा. भा.— त्यागसन्न्यासौ हि मोक्षसाधनतया विहितौ— "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः....वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः । ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात्परिमुच्यन्ति सर्वे" [मुण्ड.३।२।६+महाना.८।१४+ कैव.४+ भवसं.३।२३+तै. ना. १०।२१;२२ ] इत्यादिषु । अस्य सन्न्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं याथात्म्यं पृथग्वेदितुमिच्छामि । अयमभिप्रायः— किमेतौ सन्न्यासत्यागशब्दौ पृथगर्थौ, उतैकार्थावेव ? यदा पृथगर्थौ, तदा अनयोः पृथक्त्वेन स्वरूपं वेदितुमिच्छामि, एकत्वेऽपि तस्य स्वरूपं वक्तव्यमिति ॥ १ ॥**

**४ वे. ता. चं.—** त्यागसन्न्यासयोर्विशेषतस्तत्त्वबुभुत्साहेतुमाह— **त्यागसन्न्यासौ हीति ।** कर्मस्वरूपे स्वर्गापवर्गादिसाधारणे त्यागादिसंज्ञकविशेषणयोगादेव ह्यपवर्गसाधनत्वम् । अतः प्राप्ताप्राप्तविवेकेन विशेषणे तत्साधनत्वव्यपदेशः । संशयविपर्ययोपमर्दी विशेष इह तत्त्वशब्देन विवक्षित इत्याह— **याथात्म्यमिति ।** पृथक्त्वं वेदितुमिच्छामीत्युक्ते निश्चितपृथक्त्वस्य तत्तत्स्वरूपजिज्ञासा प्रतीयते; न च तदुक्तं, पूर्वत्र पृथक्त्वनिश्चयहेत्वभावादुत्तरत्र चैकत्वस्यैव वक्ष्यमाणत्वात् । अतोऽयं प्रश्नोऽनुपपन्नः; प्रतिवचनासङ्गतिश्चेत्यत्राऽऽह— **अयमभिप्राय इति ।** 'तत्त्वं वेदितुमिच्छामि' इत्येतदेव विवक्षितम्; पृथक्त्वनिर्देशस्तु संशयकोट्यन्यतरोपक्षेपमात्रपरः । 'पृथक्त्वमस्ति चेत्तद्वेदितुमिच्छामि' इति वा वाक्यावृत्तिरित्यभिप्रायेणाऽऽह— **किमिति ॥ १ ॥**

### ५ आनन्दतीर्थकृतं (माध्वीयं) भाष्यम् ।

**अनन्तगुणपूर्णाय नमः । ॐ पूर्वोक्तं साधनं सर्वं सङ्क्षिप्योपसंहरत्यनेनाध्यायेन ॥ १ ॥**

### ६ जयतीर्थकृता प्रमेयदीपिका ।

अध्यायप्रतिपाद्यमाह— **पूर्वोक्तमिति** । साधनं ज्ञानसाधनम् । उक्तस्योक्तिर्व्यर्थेत्याशङ्कानिरासाय सङ्क्षिप्योपसंहरतीत्युक्तम् । अनुक्तं त्रैगुण्यं च वक्तीत्यपि ग्राह्यम् ॥ १ ॥

### ७ हनुमत्प्रणीतं पैशाचभाष्यम् ।

**सर्वेष्वध्यायेषु भगवता बहुशः सन्न्यासस्त्यागोऽपि निर्दिष्टः, अतो विवेकेन तयोः स्वरूपबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच— सन्न्यासस्येति । सन्न्यासलक्षणस्यार्थस्य तत्त्वं तद्भावं वेदितुमिच्छामि पृथक्त्यागस्वरूपव्यावृत्तम् । त्यागस्यापि स्वरूपं वेदितुमिच्छामि । केशी नाम कश्चिद्धयच्छद्माऽसुरस्तं निषूदितवान् वासुदेवस्तस्य सम्बोधनम् ॥ १ ॥**

## ८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानम् ।

सप्तदशेऽध्याये सात्त्विकी श्रद्धैव ज्ञाने मुख्यमधिकारिविशेषणमित्युक्तम् ; अष्टादशे तु श्रद्धावत्सात्त्विकस्यैव सन्न्यासस्य ज्ञानहेतुत्वमिति निरूप्यते । तत्र तावत्सात्त्विकसन्न्यासस्वरूपं निरूपयिषुस्तदुपोद्घातत्वेन प्रथममर्जुनप्रश्नमवतारयति— सन्न्यासस्येति । सन्न्यासत्यागशब्दौ किं भिन्नार्थकौ ? किंवैकार्थकौ ? उभयथाऽपि तयोस्तत्त्वं स्वरूपं पृथग्विवेकेन सात्त्विकराजसतामसभेदेन वेदितुमिच्छामि । अत्र 'वेदितुमिच्छामि' इत्यनेन विनयः प्रदर्शितो भवति । 'ब्रूहि' इत्युक्ते हि नियोज्यत्वाविष्करणादविनयोक्तिरुक्ता स्यात् । न हि तन्महापुरुषे भगवति युक्तम् ; तदेतद्दर्शयितुमेव 'महाबाहो !' इति सम्बोधनम् । तेन हि 'अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्' [११।१९] इत्यादिनोक्तमनन्तबाहुत्वादिरूपं पारम्यं द्योत्यते । ननु युद्धमोहशान्तये तव ज्ञानमुपदिष्टम्, त्वमपि शान्तमोहोऽसि, 'मोहोऽयं विगतो मम' [११।१] इति त्वदुक्तेः; अत इदानीमग्रतः सन्नद्धैरेतैः शत्रुभिः सह युद्धमेव तवोचितं, न तु सन्न्यासत्यागादि यत्किञ्चित्प्रश्नव्यापारपारतन्त्र्यम्, तथा सति ह्यसावधानं त्वां प्रसह्य शत्रवोऽभिभवेयुः; न हि तथाविधप्रसक्तौ त्वत्सारथ्यव्यापृतेन मया किञ्चित्कर्तुं शक्यमित्याशङ्क्य सम्बोधयति— केशिनिषूदनेति । केशिनाम्नो हयाकृतेर्दैत्यस्य मुखं व्यादाय भक्षयितुमागच्छतस्तस्मिन्मुखे वामबाहुं दत्त्वा तत्क्षणविवर्धितेन तेनैव बाहुना कर्कटिकाफलवद्विदार्य न्यषूदयस्त्वम् । अतस्तादृशे त्वयि मम नियन्तरि यन्तरि च सति न प्रामादिकपराभवशङ्कावकाशः । सारथ्यव्यापृतैकबाहुनाऽपि त्वया बाह्वन्तरेण शत्रून्निषूद्य मद्रक्षणस्य कर्तुं शक्यत्वादिति भावः ।

ननु सत्यमेव, तथापि सारथ्यमात्रमेव कर्तव्यतया प्रतिज्ञातवता मया न योद्धुमुचितमित्यत आह— हृषीकेशेति । ज्ञानकर्मेन्द्रियाख्यनिखिलहृषीकप्रवर्तके त्वयि मम रक्षके सति मद्विषये न कोऽपि धनुरादातुमिषुं वा सन्धातुं केवलमुदीक्षितुमपि वा शक्नोति, त्वदायत्तचेष्टत्वादिन्द्रियाणामिति सम्बोधनत्रयस्यापि स्वारस्यान्न वैयर्थ्यमिति ध्येयम् ।

स्यादेतत् । सन्न्यासत्यागविषयोऽयं प्रश्नः किं विद्वत्सन्न्याससविषयः ? किंवा विविदिषासन्न्यासविषयः ? नाद्यः 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः । आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते' [३।१७] 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी । नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्' [५।१३] इत्यादिना विद्वत्सन्न्यासस्य सर्वकर्मत्यागरूपत्वेन बहुधा व्याख्याततया तत्रैतादृशप्रश्नानवकाशात्, सर्वकर्मस्वरूपतत्फलत्यागरूपे तस्मिन् 'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः । सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः' [१८।२] इति प्रतिवचनायोगाच्च, विद्वत्सन्न्यासस्य तत्त्वज्ञानफलभूतस्य गुणातीतत्वेन प्रागबहुधोक्त्या 'त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' [१८।४] इति वक्ष्यमाणसात्त्विकराजसतामसविभागस्यापि तत्रासङ्गतेश्च । न द्वितीयः; परमेश्वरार्पणबुद्ध्यनुष्ठितकर्मसम्पादितचित्तशुद्धिसम्पन्नस्य विविदिषस्य तद्वेदनसाधनवेदान्तश्रवणौपयिकचित्तशुद्धिसिद्ध्या यस्तत्साधनकर्मकलापस्य वैतुष्ये जातेऽवहननस्येव परित्यागस्तस्यैव विविदिषासन्न्यासशब्दार्थत्वेन 'प्रत्यक्प्रवणतां बुद्धेः कर्माण्युत्पाद्य शुद्धितः । कृतार्थान्यस्तमायान्ति प्रावृडन्ते घना इव' इत्यादिशास्त्रसिद्धत्वेन तत्राप्युक्तरीत्या प्रश्नप्रतिवचनत्रिविधविभागानामसामञ्जस्यात् । तस्मादत्र वक्तव्यं किंविषयकोऽयं प्रश्न इति । अत्रोच्यते— द्विविधः सन्न्यासो मुख्यो गौणश्चेति । तत्र मुख्यो विद्वद्विविदिषासन्न्यासभेदेन द्विविधः 'तस्य कार्यं न विद्यते' [३।१७] 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति' [१८।४९] इत्यादिनोक्तवक्ष्यमाणस्वरूपः कर्मानधिकारिकर्तृको नैर्गुण्यलक्षणः । गौणस्त्वनुत्पन्नतत्त्वबोधानामजातविविदिषाणां च कर्माधिकारिणामेव सतां केवलकर्मानुष्ठानेन तत्फलत्यागात्मकः 'स सन्न्यासी च योगी च' [६।१] इत्यादिनोक्तत्रैगुण्यलक्षणः । तद्विषयकोऽयमर्जुनप्रश्नः । तादृशस्य हि त्यागस्य कर्माधिकारिकर्तृकत्वात्सन्न्यासशब्दवाच्यत्वाच्च भवति सन्न्यासाद्भेदाभेदसंशयः । भेदे हि 'स सन्न्यासी च' इत्युक्तिर्घटते; अभेदे तु तादृशत्यागस्य त्रैगुण्यरूपत्वात्तदर्थिनः सन्न्यासोऽपि त्रिगुणो जात इति ; तद्भेदो वक्तव्य इति प्रश्नार्थः ॥ १ ॥

## ९ वल्लभाचार्यकृता तत्त्वदीपिका ।

अष्टादशे स्वगीतार्थस्त्यागन्यासविनिर्णयात् । सर्वधर्मान्परित्यज्य शरणे मोक्ष उच्यते ॥ १ ॥

इह खलु 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते सुखं वशी' [५।१३] 'सन्न्यासयोगयुक्तात्मा' [९।२८] इत्यादिषु सन्न्यासशब्दोऽभिहितः 'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं' [४।२०] इत्यादिषु त्यागशब्दश्च तत्र सन्न्यासत्यागशब्दयोरेकविषय एवार्थो विशेषो वा कश्चनेत्यवशेषिततत्त्वबुभुत्सयाऽर्जुन उवाच— सन्न्यासस्येति । सन्न्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथक् विवेकतो ज्ञातुमिच्छामि, संशयासुरनिरासार्थं 'महाबाहो ! केशिनिषूदन !' इति सम्बोधयति ॥ १ ॥

१० पुरुषोत्तमजीकृताऽमृततरङ्गिणी ।

अष्टादशानां विद्यानां फलमेतद्यतो मतम् । सर्वत्यागेन कर्तव्यो ह्याश्रयः सर्वभावतः ॥ १ ॥
अतः पार्थाय सुप्रीतः प्राहाष्टादशसंज्ञके । अध्याये स्वाश्रयं श्रीमत्कृष्णो देवकिनन्दनः ॥ २ ॥

अत्र सप्तदशाध्यायैर्भगवद्वाक्यतरणिकिरणविपाटितहृदयमोहान्धकारोऽर्जुनः सन्न्यासकर्मफलत्यागयोरेव भगवत्प्राप्तिहेतुत्वनिश्चयप्रकाशितहृत्सरोरुहः स्वबुद्धिनिश्चयेन सन्न्यासोत्तमज्ञानोऽपि भगवदुक्तस्वमुख्यत्वज्ञानेन तल्लिलाधयिषुस्तयोस्तत्त्वं पृच्छति— **सन्न्यासस्येति** । हे हृषीकेश एतत्तत्त्वज्ञानार्थं मदिन्द्रियप्रेरक ! 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी । सन्न्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ' [५।१३] इत्यादिना सन्न्यासस्य स्वप्राप्तिरुक्ता, तत्र तस्य तत्त्वं यादृशेन स्वत्प्राप्तिर्भवति तादृक् तत्त्वं, हे महाबाहो ! अहं वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि, तज्ज्ञापयेत्यर्थः । महत् क्रियाशक्तिमत्, स्वोद्धारणसमर्थ ! स्वत्सम्बन्धेनैतत्तत्त्वोपदेशेन मामुद्धरेत्युक्तं भवति । च पुनः हे केशिनिषूदन दैत्यनिवारक ! दैत्यावेशेन कायक्लेशादिककृतत्यागात् पृथक् त्यागस्य त्वत्सेवार्थकृतत्यागस्य तत्त्वं मुख्यरूपं वेदितुं ज्ञातुमिच्छामि ॥ १ ॥

११ नैलकण्ठीयो भारतभावदीपः ।

अस्यामष्टादशाध्याय्यां प्रथमे उपोद्घातितानां द्वितीये सूत्रितानां शेषैर्व्युत्पादितानामर्थानां कार्त्स्न्येनोपसंहारार्थोऽयमन्तिमोऽध्याय आरभ्यते; तत्र पूर्वाध्यायान्ते 'अश्रद्धया कृतं सर्वं व्यर्थं ' [१८।२८] इत्युक्तं, तत्र फलावश्यम्भावनिश्चयः श्रद्धा, सा च फलवतां कर्मणामेवाङ्गं, न तु कर्मविरहरूपस्य सन्न्यासस्य; भावरूपफलवर्जितस्य अभावाद्भावोत्पत्तेरयोगात् । तस्माच्छ्रद्धासापेक्षकर्मापेक्षया श्रद्धानपेक्षः सन्न्यासः श्रेयान्; न चास्यैवंरूपस्य श्रद्धात्रैविध्यप्रयुक्तं सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यं सम्भवति, येन फले तारतम्यं स्यात्, तत्फलस्य दृष्टविक्षेपनिवृत्तिरूपस्य सर्वत्र तुल्यत्वात् । 'स च सन्न्यासो यदि कर्मत्याग एव तर्हि सिद्धं नः समीहितम्; यदि तु तौ भिन्नौ तर्हि तयोर्वैलक्षण्यं विचार्यमित्याशयेनार्जुन उवाच— सन्न्यासस्येति । हे महाबाहो ! हे हृषीकेश ! हे केशिनिषूदन ! इति बहुकृत्वः सम्बोधयन् जिज्ञासितेऽर्थेऽत्यादरं दर्शयति । सन्न्यासस्य तत्त्वं याथात्म्यं त्यागात्पृथग्भूतं वेदितुमिच्छामि; त्यागस्य याथात्म्यं सन्न्यासात्पृथग्भूतं वेदितुमिच्छामीति चकारेणानुवर्त्यते ॥ १ ॥

सन्न्यासत्यागशब्दार्थयोरितरविचक्षणानां मतानि ।

**श्रीभगवानुवाच— काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्न्यासं कवयो विदुः ।**
**सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः ॥ २ ॥**

**१ शां. भा.—** तत्र तत्र निर्दिष्टौ सन्न्यासत्यागशब्दौ न निर्लुण्ठितार्थौ पूर्वेष्वध्यायेषु; अतोऽर्जुनाय पृष्टवते तन्निर्णयाय भगवानुवाच— **काम्यानामिति** । काम्यानामश्वमेधादीनां कर्मणां न्यासं परित्यागं सन्न्यासं सन्न्यासशब्दार्थमनुष्ठेयत्वेन प्राप्तस्याननुष्ठानं कवयः पण्डिताः केचिद्विदुर्विजानन्ति । नित्यनैमित्तिकानामनुष्ठीयमानानां सर्वकर्मणामात्मसम्बन्धितया प्राप्तस्य फलस्य परित्यागः सर्वकर्मफलत्यागस्तं प्राहुः कथयन्ति त्यागं त्यागशब्दार्थं विचक्षणाः पण्डिताः । यदि काम्यकर्मपरित्यागः फलपरित्यागो वाऽर्थो वक्तव्यः, सर्वथाऽपि परित्यागमात्रं सन्न्यासत्यागशब्दयोरेकोऽर्थः स्यात्, न घटपटशब्दाविव जात्यन्तरभूतार्थौ ।

२ आ. शां. व्या.— ननु पूर्वेष्वध्यायेषु तत्र तत्र सन्न्यासत्यागयोरुक्तत्वात्किमिति पुनस्तौ पृच्छ्येते ? ज्ञाते तदयोगात्तत्राऽऽह— **तत्र तत्रेति** । न निर्लुण्ठितार्थौ न निष्कृष्टार्थौ, न विविक्तार्थावित्यर्थः । बुभुत्सया प्रश्नस्य प्रवृत्तत्वात्प्रष्टुरभिप्रायं प्रश्नेन प्रतिपद्य भगवानुत्तरमुक्तवानित्याह— **अत** इति । पक्षद्वयोपन्यासेन सन्न्यासत्यागशब्दयोरर्थभेदं कथयति— **काम्यानामिति** । तत्किमिदानीं सन्न्यासत्यागशब्दयोरात्यन्तिकं भिन्नार्थत्वं ? तथा प्रसिद्धिविरोधः स्यादित्याशङ्क्यावान्तरभेदेऽपि नाऽऽत्यन्तिकभेदोऽस्तीत्याह— **यदीति** ।

**१ शां. भा.—** ननु नित्यनैमित्तिकानां कर्मणां फलमेव नास्तीत्याहुः, कथमुच्यते तेषां फलत्यागः ? इति ; यथा वन्ध्यायाः पुत्रत्यागः । नैष दोषः, नित्यानामपि कर्मणां भगवता फलवत्त्वस्येष्टत्वात् । वक्ष्यति हि भगवान्— ' अनिष्टमिष्टं मिश्रं च ' [१८।१२] इति, 'न तु सन्न्यासिनां क्वचित् '

[ १८।१२] इति च। सन्न्यासिनामेव हि केवलं कर्मफलासम्बन्धं दर्शयन्नसन्न्यासिनां नित्यकर्मफलप्राप्तिं ‘ भवत्यत्यागिनां प्रेत्य ’ [ १८।१२ ] इति दर्शयति ॥ २ ॥

२ आ. शां. व्या.— पुत्राभावाद्वन्ध्यायास्तत्त्यागायोगवन्नित्यनैमित्तिककर्मणामफलानां फलत्यागानुपपत्तेरुक्तस्त्यागशब्दार्थो न सिध्यतीति शङ्कते— **नन्विति** । नित्यनैमित्तिककर्मफलस्य वन्ध्यापुत्रसादृश्याभावात्तत्त्यागसम्भवादुक्तस्त्यागशब्दार्थः सम्भवतीति समाधत्ते— **नैष दोष** इति । भगवता तेषां फलवत्त्वं ‘ इष्टं ’ इत्यत्र वाक्यशेषमनुकूलयति— **वक्ष्यतीति** । तर्हि सन्न्यासिनामसन्न्यासिनां च नित्याद्यनुष्ठायिनामविशेषेण तत्फलं स्यात् ? इति चेत्, नैव इत्याह— **नत्विति** । वक्ष्यतीत्यनुकर्षणं चकारार्थः । प्रसक्तस्य वचसोऽर्थं प्रकृतोपयोगित्वेन संगृह्य स्मारयति— **सन्न्यासिनामिति** ॥ २ ॥

**३ रा. भा.**— अथानयोरेकमेव स्वरूपं, तच्चेदृशमिति निर्णेतुं वादिविप्रतिपत्तिं दर्शयन् श्रीभगवानुवाच— **काम्यानामिति** । केचन विद्वांसः काम्यानां कर्मणां न्यासं स्वरूपत्यागं सन्न्यासं विदुः; केचिच्च विचक्षणाः नित्यानां नैमित्तिकानां काम्यानां च सर्वेषां कर्मणां फलत्याग एव मोक्षशास्त्रेषु त्यागशब्दार्थ इति प्राहुः । तत्र शास्त्रीयत्यागः काम्यकर्मस्वरूपविषयः, सर्वकर्मफलविषय इति विवादं प्रदर्शयन् एकत्र सन्न्यासशब्दमितरत्र त्यागशब्दं प्रयुक्तवान्; अतस्त्यागसन्न्यासशब्दयोरेकार्थत्वमङ्गीकृतमिति ज्ञायते; तथा ‘ निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ’ [ १८।४ ] इति त्यागशब्देनैव निर्णयवचनात् । ‘ नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ’ [ १८।७ ] ‘ अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम् । भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित् ’ [ १८।१२ ] इति परस्परपर्यायतादर्शनाच्च तयोरेकार्थत्वं प्रतीयत इति निश्चीयते ॥ २ ॥

**४ वे. ता. चं.**— पृथक्त्वैकत्वतत्स्वरूपजिज्ञासया प्रश्नश्चेत् तत्र कस्मिन्नंशे ‘ काम्यानाम् ’ इत्यादिमतभेदोपन्यासस्य सङ्गतिः ? इत्यत्राऽऽह— **अथेति** । **अयमभिप्रायः**— न्यायतो ह्यत्र निर्णयः प्रतिपाद्यते; सन्दिग्धे च न्यायावतारः; सन्देहश्चात्र वादिविप्रतिपत्तिनिबन्धन इति न्यायविषयविशोधनाय विप्रतिपत्त्युपन्यासः— इति । एतेन कथितार्थयोरपि सन्न्यासत्यागशब्दयोर्विप्रतिपत्तिप्रशमनाय अस्मिन्नध्याये पुनः प्रश्न इत्यपि सूचितम् । एकत्वस्वीकारेण प्रतिवचनात् पृथक्त्वप्रतिक्षेपोऽर्थसिद्ध इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **एकमेव स्वरूपमिति** । स्वमतस्य ‘ निश्चयं शृणु ’ [ १७।४ ] इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

‘ कवयः ’ ‘ विचक्षणाः ’ इति पदद्वयं नार्थप्राशस्त्यार्थवक्तृगौरवपरम्; अपितु विप्रतिपत्त्युपयुक्तवेदनमात्रपरमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **केचन विद्वांस** इति । अनन्तरश्लोकेन भेदस्य ‘ एके, अपरे ’ इति व्यक्तमुक्तत्वादिहापि तद्विवक्षेत्यभिप्रायेण— **केचनेत्युक्तम्** । ‘ काम्यानां कर्मणां न्यासम् ’ इति विशेषणादितरेषामपरित्यागः प्रतीयते; उत्तरत्र च ‘ सर्वकर्मफलत्यागम् ’ इति विशेषणादत्र काम्यस्वरूपत्यागश्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह— **स्वरूपत्यागमिति** । काम्यस्वरूपत्यागं वदतामयम**भिप्रायः**— न तावन्नित्यनैमित्तिकवत् अकरणे प्रत्यवायात्कर्मान्तरानर्हतापत्तिभयाद्वा काम्यमनुष्ठीयते । न च त्रिवर्गसाधनाय, तस्यापवर्गप्रत्यनीकत्वात् । न च तदेव कर्मापवर्गस्यापि स्वयं साधनम्, उपासनादिनैरर्थक्यप्रसङ्गात् । नच विनियोगपृथक्त्वेन विद्याङ्गतया तत्परिग्रहः, यज्ञादिश्रुतेर्नित्यनैमित्तिकमात्रविषयत्वेऽपि विरोधाभावात् । अत एव हि ‘ सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ’ [ ब्र. सू. ३।४।२६ ] इत्यधिकरणमाश्रमधर्मसापेक्षतापरं भाष्यते । तस्मात्स्वर्गादिसंज्ञनरकहेतवः काम्याः क्रिया मुमुक्षुभिर्नानुष्ठेयाः— इति ।

सर्वकर्मफलत्यागमिति वदतां **त्वयमाशयः**— फलविरोधाद्धि काम्यानां त्यागः शङ्क्यते; अतः फलमेव त्यज्यताम्, न च निष्फलानुष्ठानप्रसङ्गः, नित्यनैमित्तिकवदेव भगवत्प्रीतिमात्रार्थतया तदनुष्ठानोपपत्तेः । न चैवं न विधिः ‘ यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वा जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवदेवास्य तद्भवति ’ [ बृ. उ. ३।८।१० ] इत्यादिनाऽक्षरशब्दनिर्दिष्टपरमपुरुषवेदनावेदनाभ्यामेव तस्यैव कर्मणो नित्यानित्यफलसाधनत्वश्रुतेः । अतो नित्यनैमित्तिकानामिव काम्यानामपि न स्वरूपत्यागः— इति ।

विवादस्य भिन्नविषयत्वायोगादत्र त्यागसन्न्यासशब्दयोरेकार्थत्वावश्यम्भावात्पृथगर्थत्वशङ्कापरिहारोऽर्थलब्ध इत्याह— **तत्रेति** । एतेन सन्न्यासत्यागशब्दयोः पृथगर्थत्वमङ्गीकृत्य कस्यचित्काम्यस्वरूपप्रहाणविषयतया कस्यचित्तु नित्यनैमित्तिकफलोपेक्षार्थतां च वदन्तः प्रत्युक्ताः । नह्यत्र काम्येतरकर्मफलत्यागमित्युच्यते । ततश्च सङ्कोचकाभावात् त्रिविधमपि कर्म संगृह्णाति । तदिदमुक्तं— **नित्यानां नैमित्तिकानां काम्यानां च सर्वेषां कर्मणामिति** । नित्यानामपि ‘प्राजापत्यं गृहस्थानाम् ’ [वि. पु. १।६।३७] इत्यादिना फलसंयोगोऽवगतः ।

अत्र श्लोके त्यागसन्न्यासशब्दयोरर्थभेदव्युत्पादनपरतां निरसितुमैकार्थे प्रस्पष्टं हेतुद्वयमाह— तथेति । नह्यर्थद्वयविषयेऽत्र विमर्शे अन्यतरस्यैव निश्चय उपपन्न इत्यभिप्रायेणोक्तं त्यागशब्देनैवेति । परस्परपर्यायतादर्शनाच्चेति— अयमभिप्रायः— 'नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते' [१८।७] इति निषिद्ध एव हि सन्न्यासः। 'मोहात्तस्य परित्यागः' [१८।७] इति त्यागशब्देनानूद्य तामसत्वेन निन्द्यते, अन्यथा जरद्गवादिवाक्यवत्परस्परानन्वयप्रसङ्गात् । एवं 'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य' [१८।१२] इत्युक्त एवार्थः 'न तु सन्न्यासिनां क्वचित्' [१८।१२] इति व्यतिरेकेण दृढीक्रियते । न च तदन्यविधिरन्याभावस्य व्यतिरेकः । अत इमौ शब्दावत्राप्येकार्थावित्यङ्गीकृतम्— इति प्रतिवक्त्रा भगवतेति शेषः ॥ २ ॥

**५ आ. मा. भा.— फलानिच्छयाऽकरणेन वा काम्यकर्मणो न्यासः सन्न्यासः । त्यागस्तु फलत्याग एव । तथा हि प्राचीनशालश्रुतिः— "अनिच्छयाऽकर्मणा वाऽपि काम्यकर्मन्यासो न्यासः, फलत्यागस्तु त्यागः" इति ॥ २ ॥**

**६ ज. प्र. दी.—** 'काम्यानां कर्मणां' इत्येतं श्लोकं केचिद्व्याचक्षते— 'काम्यानां कर्मणामश्वमेधादीनां स्वरूपेण त्यागः सन्न्यासः, नित्यनैमित्तिकादिसर्वकर्मफलत्यागस्त्यागः' इति, तदसदिति भावेनाऽऽह— **फलेति** । वैकल्पिककाम्यानां स्वर्गादिफलानिच्छया विशेषणत्यागेन त्यागो नियतकाम्यानां स्वरूपाकरणेन त्यागः सन्न्यासः, काम्यकर्मणामेव फलत्यागस्तु त्यागः; करणाकरणे तु न विवक्षित इत्यर्थः । कुत एतत् ? इत्यत आह— **तथा हीति** । अकर्मणा अकरणेन जनकाश्वपत्यादिभिर्मुमुक्षुभिरश्वमेधादीनामनुद्दिष्टफलानामनुष्ठानान्न काम्यानां स्वरूपपरित्याग एव नित्यनैमित्तिकफलस्यान्तःकरणशुद्धेः सर्वापेक्षितत्वेन तत्त्यागो न युक्तः ॥ २ ॥

**७ ह. पै. भा.— अर्जुनेन बुभुत्सितमर्थं यथावद्वक्तुकामः श्रीभगवानुवाच— काम्यानामिति । काम्यानां कमनीयफलानां कर्मणां कर्तव्यतया प्राप्तानां शास्त्रतो रागतो वा न्यासं सन्न्यासं विदुर्विजानन्ति कवयः पण्डिताः। ननु 'काम्यानां' इति विशेषणमनर्थकं "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात्" [ ] इत्यादिश्रुतिचोदितानां व्यावृत्त्यर्थमिति चेत्, न; तेषामपि कमनीयफलत्वेन काम्यत्वात् । "अथ त्रयो लोका वै लोकानां श्रेष्ठाः श्रेष्ठतमास्तस्माद्विद्यां प्रशंसन्ति" इति श्रुतेः । तथा सर्ववर्णानां स्वधर्मे वर्तमानानां परमिति श्रुतं सुखमिति स्मृतेश्च । तथैव वक्ष्यति भगवान्—'अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्' [ १८।१२ ] इति । तस्मात्कमनीयफलत्वात्कर्तव्यतया प्राप्तानि नित्यनैमित्तिककाम्यप्रतिषिद्धानि कर्माणि काम्यान्येव, अतः कर्तव्यतया प्राप्तानां कर्मणां 'काम्यानां' इति स्वरूपानुवादः । सर्वाणि च तानि कर्माणि नित्यनैमित्तिकसंज्ञितानि तेषां फलत्यागं 'इदं मे फलं स्यात्' इति सङ्कल्पत्यागं त्यागं प्राहुर्विचक्षणाः पण्डिताः । सर्वग्रहणेन काम्यकर्मग्रहणं कस्मान्न स्यात् ? काम्यकर्मत्यागेन तत्फलत्यागस्य सिद्धत्वात्त्यागसन्न्यासयोः साङ्कर्यप्रसङ्गात् । तस्मात्तेन नित्यनैमित्तिकफलत्यागः ॥ २ ॥**

**८ वें. व्र. गि.—** अत्रोत्तरं **काम्यानामिति** । केचित्कवयः पण्डिताः काम्यानां "स्वर्गकामो यजेत" [आप.श्रौ.१०।१।२।१] 'पुत्रकामो यजेत' इत्यादिकामोपनिबन्धनत्वेन शास्त्रविहितानां कर्मणां न्यासं परित्यागं सन्न्यासं विदुर्जानन्ति । काम्यकर्मणां फलैः सह स्वरूपतोऽपि परित्यागः सन्न्यासशब्दार्थ इत्यर्थः । केचिच्च विचक्षणा विचारनिपुणाः सर्वेषां काम्यानां नित्यनैमित्तिकानां च कर्मणां यः, फलमात्रत्यागः न तु स्वरूपतोऽपि त्यागः तं त्यागशब्दार्थं प्राहुः । एवं च यद्यपि सन्न्यासत्यागशब्दयोर्भिन्नार्थकत्वमेवानेनोक्तमिति प्रतीयते, काम्यकर्मत्यागः सन्न्यासः सर्वकर्मफलत्यागस्त्याग इत्युक्त्या तयोरर्थान्तरत्वस्यैवावगमात् । तथाप्यस्मिन् श्लोके त्यागविषय एव एकत्र सन्न्यासशब्दस्य अन्यत्र त्यागशब्दस्य च प्रयोगात् 'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम !' [१८।४] इति त्यागशब्देनैव सन्न्यासक्रोडीकरणात् 'नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते । मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः' [ १८।७ ] इति परस्परपर्यायत्वप्रदर्शनाच्च तयोरैकार्थ्यमेव भगवतोऽभिमतम् । तथैव लोकप्रसिद्धेर्युक्तं चेति स्थिते, सन्न्यासस्त्यागश्चैक एवार्थ इति स्पष्टत्वात्कण्ठतस्तथाऽनुक्त्वा कीदृशस्त्यागः सन्न्यासः ? इत्यपेक्षायाम् , काम्यकर्मत्याग एव सन्न्यासाख्यस्त्याग इति केचित् । केचित्तु सर्वकर्मफलत्याग एव तथेति पक्षद्वयमत्रोक्तमिति सूक्ष्मदृष्ट्याऽवधेयम् ॥ २ ॥

**९ व० त० दी०—** तत्र त्यागसन्न्यासयोरैकार्थेऽपि विषयभेदेन विनिर्णयं मतान्तरोपन्यासेन दर्शयन्नुत्तरभाष्यं स्वयं श्रीभगवानुवाच— काम्यानां कर्मणामिति । "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" "स पाप्मानं तरति स

ब्रह्महत्यां'' "योऽश्वमेधेन यजते'' "पुत्रकामो यजेत'' इत्यादिकामोपनिबन्धेन वेदेन विहितानां सर्वेषां न्यासं स्वरूपतस्त्यागं सन्न्यासं कवयो योगिनो विदुः । ततोऽपि विचक्षणाः स्वरूपतः त्यागमसहमाना निपुणा भक्ताः सर्वकर्मफलत्यागं सर्वेषां नित्यनैमित्तिककाम्यानां तथाश्रुतानामपि कर्मणां श्रुतफलस्य त्याग एव मोक्षशास्त्रे त्यागशब्दार्थ इति प्राहुः । तत्रैतेषां मते सन्न्यासार्थः सम्यक् फलत एव, न स्वरूपत इत्यायाति ॥ २ ॥

१० पु. अ. त.— अस्योत्तरमाह श्रीभगवान्— काम्यानामिति । काम्यानां "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत । सर्वपाप्मानं तरति ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते " [ आप. श्रौ.१०।१।२।१ ] इत्यादिकर्मणां न्यासं परित्यागं कवयो निर्दुष्टशब्दरसिकाः सन्न्यासं विदुः जानन्तीत्यर्थः । अत्रायं भावः— सन्न्यासशब्देन सम्यक्प्रकारेण न्यासं स्थापनं तच्च काम्यानां कामितफलपरित्यागेन भवदर्थफलार्थस्थापनरूपं शब्दार्थज्ञानेन ते जानन्ति । एतेन तेषामपि शब्दार्थज्ञानवत्त्वमेवोक्तं, न तु तत्त्वज्ञानवत्त्वमिति भावः । किञ्च, ये विचक्षणा विशेषेण व्याख्यानसमर्थाः चातुर्यादियुक्ताः सर्वकर्मणां नित्यनैमित्तिकानामपि फलत्यागं त्यागं प्राहुः । यद्यपि नित्यकर्मसु फलं न श्रूयते "अहरहः सन्ध्यामुपासीत । यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् " [ ] इत्यादिषु, तथापि प्रत्यवायपरिहार एव फलमिति कल्पयन्ति । एतदेव विचक्षणत्वेनोक्तम् । तेऽपि तत्त्वं न जानन्तीत्यर्थः ॥ २ ॥

११ नी० भा० दी०— अत्रोत्तरं श्रीभगवानुवाच— काम्यानामिति । काम्यानां रागतः प्राप्तानां पुत्रकामेष्ट्यादीनाम् । ननु फलस्य कामनाविषयत्वात् सर्वस्य कर्मणः फलवत्त्वनियमात् सर्वं कर्म काम्यमेवेति नित्यादीनामपि मुमुक्षोस्त्यागः स्यादिति सिद्धं नः समीहितमित्याशङ्क्याऽऽह— सर्वेति । सर्वेषां नित्यनैमित्तिककाम्यानां कर्मणां फलत्यागमेव त्यागं विचक्षणाः प्राहुः, न स्वरूपतस्त्यागं प्राहुः, अतो न त्वदिष्टः सन्न्यासः सिद्ध्यतीत्यर्थः । अयमाशयः— यद्यपि सन्न्यासत्यागशब्दौ निवृत्तिमेव ब्रूतः, तथापि सा वैराग्याद्वा कायक्लेशभयाद्वा मौढ्याद्वा भवतीति तत्कारणानां सात्त्विकादिभेदेन भिन्नत्वात्तस्या अपि सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रैविध्यं त्रिविधश्रद्धाप्रधानत्वं च दुर्वारम् । न चाविरक्तो श्रद्धानश्च त्यक्तकर्माऽपि दृष्टविक्षेपहीनो दृश्यते । यथोक्तं वार्तिकाचार्यैः— 'प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः । सन्न्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः' इति । तस्मादविरक्तकृतसन्न्यासापेक्षया निष्कामकर्माचरणमेव श्रेय इत्याशयेन भगवता काम्यकर्मत्यागः सन्न्यासत्वेन नित्यादिकर्मणां फलानभिसन्धानं च त्यागत्वेन स्तूयत इति । तस्मादश्रद्धया कृतः सन्न्यासोऽप्यसन्नेवेति 'सन्न्यासाद्ब्रह्मणः स्थानं' इति स्मृतं स्वफलं दातुं न समर्थ इति युक्तमुक्तं भगवता 'अश्रद्धया कृतं सर्वं व्यर्थं' [ १७।२८ ] इति । यत्तु नित्यानामेव विविदिषायोगात्काम्यानां स्वरूपतोऽपि त्याग इति पूर्वार्द्धस्यार्थः, सर्वेषां कर्मणां फलतस्त्याग इत्युत्तरार्द्धार्थ इति व्याख्यानं पक्षद्वयप्रदर्शनपरं, तदग्रिमेण श्लोकेन पौनरुक्त्यमावहतीत्युपेक्षितम् ॥ २ ॥

## त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
## यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥ ३ ॥

१ शां. भा.— त्याज्यमिति । त्याज्यं त्यक्तव्यं दोषवत्, दोषोऽस्यास्तीति दोषवत् । किं तत् ? कर्म, बन्धहेतुत्वात्सर्वमेव । अथवा दोषो यथा रागादिस्त्यज्यते, तथा त्याज्यमित्येके प्राहुर्मनीषिणः पण्डिताः साङ्ख्यादिदृष्टिमाश्रिता अधिकृतानां कर्मिणामपीति । तत्रैव यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यमिति चापरे । कर्मिण एवाधिकृतानपेक्ष्यैते विकल्पाः, न तु ज्ञाननिष्ठान्व्युत्थायिनः सन्न्यासिनोऽपेक्ष्य । 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां निष्ठा मया पुरा प्रोक्ता' [ ३।३ ] इति कर्माधिकारादपोद्धृता ये न तान्प्रति चिन्ता ।

२ आ. शां. व्या.— काम्यानि वर्जयित्वा नित्यनैमित्तिकानि फलाभिलाषादृते कर्तव्यानीत्युक्तं पक्षं प्रतिपक्षनिरासेन द्रढयितुं विप्रतिपत्तिमाह— त्याज्यमिति । कर्मणः सर्वस्य दोषवत्त्वे हेतुमाह— बन्धेति । 'दोषवत्' इत्येतद्दृष्टान्तत्वेन व्याचष्टे— अथवेति । कर्मण्यनधिकृतानामकर्मिणामेव कर्म त्याज्यं, कर्मिणां तत्त्यागे प्रत्यवायादित्याशङ्क्याऽऽह— अधिकृतानामिति । न हि तेषामपि कर्म त्यजतां प्रत्यवायो हिंसादियुक्तस्य कर्मणोऽनुष्ठाने परं प्रत्यवायादिति भावः । साङ्ख्यादिपक्षसमाप्ताविति शब्दः । मीमांसकपक्षमाह— तत्रैवेति । कर्माधिकृतेष्वेवेति यावत्, कर्म नित्यं नैमित्तिकं च ।

‘काम्यानां कर्मणां’ [१८।२] इत्यारभ्य श्लोकाभ्यां कर्मिणोऽकर्मिणोऽधिकृताननधिकृतांश्चापेक्ष्य दर्शितविकल्पानां प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याऽऽह— **कर्मिण** इति। एवकारव्यवच्छेद्यमाह— **न त्विति**। तदेव स्फुटयति— **ज्ञानेति**।

**१ शां. भा.**— ननु ‘कर्मयोगेन योगिनां’ [३।३] इत्यधिकृताः पूर्वं विभक्तनिष्ठा अपीह सर्वशास्त्रोपसंहारप्रकरणे यथा विचार्यन्ते तथा साङ्ख्या अपि ज्ञाननिष्ठा विचार्यन्तामिति; न, तेषां मोहदुःखनिमित्तत्यागानुपपत्तेः। न कायक्लेशनिमित्तानि दुःखानि साङ्ख्या आत्मनि पश्यन्ति, इच्छादीनां क्षेत्रधर्मत्वेनैव दर्शितत्वात्। अतस्ते न कायक्लेशदुःखभयात्कर्म परित्यजन्ति; नापि ते कर्माण्यात्मनि पश्यन्ति, येन नियतं कर्म मोहात्परित्यजेयुः। गुणानां कर्म ‘नैव किञ्चित्करोमि’ [५।८] इति हि ते सन्न्यस्यन्ति।

**२ आ. शां. व्या.**— कर्माधिकृतानां ज्ञाननिष्ठातो विभक्तनिष्ठावत्त्वेन पूर्वोक्तानामपि शास्त्रार्थोपसंहारे पुनर्विचार्यत्ववज्ज्ञाननिष्ठानामपि विचार्यत्वमत्राविरुद्धमिति शङ्कते— **नन्विति**। साङ्ख्यानां परमार्थज्ञाननिष्ठानां नात्र विचार्यतेत्युत्तरमाह— **न तेषामिति**। ननु तेषामपि स्वात्मनि क्लेशदुःखादि पश्यतां तदनुरोधेन राजसकर्मत्यागसिद्धेर्विचार्यत्वं नेत्याह— **न कायेति**। तत्र (१३) क्षेत्राध्यायोक्तं हेतूकरोति— **इच्छादीनामिति**। स्वात्मनि साङ्ख्यादीनां क्लेशाद्यप्रतीतौ फलितमाह— **अत** इति। ननु तेषां क्लेशाद्यदर्शनेऽपि स्वात्मनि कर्माणि पश्यतां तत्त्यागो युक्तस्तेषां कायक्लेशादिकरत्वान्नेत्याह— **नापीति**। अज्ञानां मोहमाहात्म्यान्नियतमपि कर्म त्यक्तुं शक्यं, न तत्त्वविदां, स्वात्मनि कर्मादर्शनेन तत्त्यागे हेत्वभावादिति मत्वाऽऽह— **मोहादिति**। कथं तर्हि तेषामात्मनि कर्माण्यपश्यतां प्राप्त्यभावे तत्त्यागः सन्न्यासः? तत्राऽऽह— **गुणानामिति**।

**१ शां. भा.**— ‘सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य’ [५।१३] इत्यादिभिर्हि तत्त्वविदः सन्न्यासप्रकार उक्तः। तस्माद्येऽन्येऽधिकृताः कर्मण्यनात्मविदः, येषां च मोहात्त्यागः सम्भवति कायक्लेशभयाच्च, त एव तामसास्त्यागिनो राजसाश्चेति निन्द्यन्ते। कर्मिणामनात्मज्ञानां कर्मफलत्यागस्तुत्यर्थम्। ‘सर्वारम्भपरित्यागी’ [१२।१६] ‘मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्; अनिकेतः स्थिरमतिः’ [१२।१९] इति गुणातीतलक्षणे च परमार्थसन्न्यासिनो विशेषितत्वात्। वक्ष्यति च— ‘निष्ठा ज्ञानस्य या परा’ [१८।५०] इति। तस्माज्ज्ञाननिष्ठाः सन्न्यासिनो नेह विवक्षिताः। कर्मफलत्याग एव सात्त्विकत्वेन गुणेन तामसत्वाद्यपेक्षया सन्न्यास उच्यते; न मुख्यः सर्वकर्मसन्न्यासः।

**२ आ. शां. व्या.**— अविवेकप्राप्तानां कर्मणां त्यागस्तत्त्वविदामित्युक्तं स्मारयन्नप्राप्तप्रतिषेधं प्रत्यादिशति— **सर्वेति**। तत्त्वविदामत्राविचार्यत्वे फलितमाह— **तस्मादिति**। येऽनात्मविदस्त एवेत्युत्तरत्र सम्बन्धः। कर्मण्यधिकृतानामनात्मविदां कर्मत्यागसम्भावनां दर्शयति— **येषां चेति**। तन्निन्दा कुत्रोपयुक्ता? इत्याशङ्क्याऽऽह— **कर्मिणामिति**। किञ्च परमार्थसन्न्यासिनां प्रशस्यत्वोपलम्भान्न निन्दाविषयत्वमित्याह— **सर्वेति**। किंचात्रापि ‘सिद्धिं प्राप्तो यथा’ [१८।५०] इत्यादिना ज्ञाननिष्ठाया वक्ष्यमाणत्वात्तद्गतां नेह विचार्यतेत्याह— **वक्ष्यतीति**। कर्माधिकृतानामेवात्र विवक्षितत्वं, न ज्ञाननिष्ठानामित्युपसंहरति— **तस्मादिति**। ननु सन्न्यासशब्देन सर्वकर्मसन्न्यासस्य ग्राह्यत्वात्तथाविधसन्न्यासिनामिह विवक्षितत्वं प्रतिभाति तत्राऽऽह— **कर्मेति**।

**१ शां. भा.**— सर्वकर्मसन्न्यासासम्भवे च ‘नहि देहभृता’ [१८।११] इति हेतुवचनान्मुख्य एवेति चेत्, न; हेतुवचनस्य स्तुत्यर्थत्वात्। यथा ‘त्यागाच्छान्तिरनन्तरं’ [१२।१२] इति कर्मफलत्यागस्तुतिरेव, यथोक्तानेकपक्षानुष्ठानाशक्तिमन्तमर्जुनमज्ञं प्रति विधानात्, तथेदमपि ‘न हि देहभृता शक्यं’ [१८।११] इति कर्मफलत्यागस्तुत्यर्थं वचनम्। न ‘सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य....नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते’ [५।१२] इत्यस्य पक्षस्यापवादः केनचिद्दर्शयितुं शक्यः; तस्मात्कर्मण्यधिकृतान् प्रत्येवैष सन्न्यासत्यागविकल्पः। ये तु परमार्थदर्शिनः साङ्ख्यास्तेषां ज्ञाननिष्ठायामेव सर्वकर्मसन्न्यास-

लक्षणायामधिकारः, नान्यत्रेति न ते विकल्पार्हाः तथो-( तचो )-पपादितमस्माभिः 'वेदाविनाशिनं' [ २।२१ ] इत्यस्मिन्प्रदेशे तृतीयादौ च ॥ ३ ॥

२ आ. शां. व्या.— सन्न्यासशब्देन मुख्यस्यैव सन्न्यासस्य ग्रहणं, गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययात्; अन्यथा तदसम्भवे हेतूक्तिवैयर्थ्यादप्राप्तप्रतिषेधादिति शङ्कते— **सर्वे**ति । नेदं हेतुवचनं सर्वकर्मसन्न्यासासम्भवसाधकं कर्मफलत्यागस्तुतिपरत्वादिति परिहरति— **नेत्या**दिना । एतदेव दृष्टान्तेन स्पष्टयति— **यथे**ति । दृष्टान्तेऽपि यथाश्रुतार्थत्वं किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यथोक्ते**ति । न हि फलत्यागादेव ज्ञानं विना मुक्तिर्युक्ता, मुक्तेर्ज्ञानैकाधीनत्वसाधकश्रुतिस्मृतिविरोधात् 'अद्वेष्टा' [ १२।१३ ] इत्यादिना चानन्तरमेव ज्ञानसाधनविधानानर्थक्यात्; अतस्त्यागस्तुतिरेवात्र ग्राह्येत्यर्थः । दृष्टान्तगतमर्थं दार्ष्टान्तिके योजयति— **तथे**ति । प्रागुक्तपक्षापवादविवक्षया हेतूक्तेर्मुख्यार्थत्वमेव किं न स्यात् ? इत्याशङ्क्य तदपवादे हेत्वभावान्नैवमित्याह— **न, सर्वे**ति । न चेयमेव हेतूक्तिस्तदपवादिकाऽन्यथासिद्धेरुक्तत्वादिति भावः । मुख्यसन्न्यासापवादासम्भवे सन्न्यासत्यागविकल्पस्य कथं सावकाशता ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मा**दिति । ज्ञाननिष्ठाप्रत्युक्तविकल्पानुपपत्तौ कुत्र तेषामधिकारः ? तत्राऽऽह— **ये त्वि**ति । सन्न्यासिनां विकल्पानर्हत्वेन ज्ञाननिष्ठायामेवाधिकारः तस्य भूयस्सु प्रदेशेषु साधितत्वान्न साधनीयत्वापेक्षेत्याह— **तथे**ति ॥ ३ ॥

३ रा. भा.— एके मनीषिणः कापिला वैदिकाश्च तन्मतानुसारिणो रागादिदोषवद्बन्धकत्वात् सर्वं यज्ञादिकं कर्म मुमुक्षुणा त्याज्यमिति प्राहुः; अपरे पण्डिता यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यमिति प्राहुः ॥ ३ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं 'काम्यानाम्' [ १८।२ ] इति श्लोकेन फलविरोधतदभावद्वारा विरोधो दर्शितः । अथ 'त्याज्यं दोषवत्' इति श्लोकेन स्वरूपतो दोषयोगतदभावाभ्यां प्रत्यवायत्वादिमुखेन विवादः प्रदर्श्यते– वैधहिंसाऽपि कापिलैर्निषिद्धत्वेन दोषतयाऽङ्गीक्रियते । यथोक्तमीश्वरकृष्णेन 'दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धः क्षयातिशययुक्तः' इति । उक्तं च पञ्चशिखाचार्यैः— 'स्वल्पः सङ्करः सुपरिहरः सप्रत्यवमर्शः' इति । अतो वैधहिंसा पुरुषस्य दोषमावक्ष्यति, क्रतोश्चोपकरिष्यतीति तन्मतम् । अतः 'एके' इति शब्देन सामान्यतो निर्दिष्टावादिनः 'दोषवत्' इति हेत्वन्वयादिसामर्थ्याद्दोषाख्यदृष्टान्तोक्तिबलाद्वा विशेषतो व्यज्यन्त इत्याह **कापिला वैदिकाश्च तन्मतानुसारिण** इति । एतेन सर्वकर्मस्वरूपसन्न्यासवादिनां मतमपि वेदबाह्यत्वेन दर्शितम् । **रागादिदोषवदि**ति— रागादयो दोषा बन्धका इति सर्वसैद्धान्तिकसम्मतत्वात्तदुदाहरणम्; यद्वा कर्मैव रागादिदोषवत्; अत एव बन्धकमित्यभिप्रायः । अस्यां योजनायामादिशब्दो हिंसादिकमपि संगृह्णाति । **सर्वं यज्ञादिकं कर्मे**ति— कर्मशब्दोऽत्र सामान्यविषयोऽपि 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यम्' इति पक्षान्तरे विशेषणाच्छास्त्रचोदितविषयः; तत्र च विशेषकाभावात्काम्यविषयत्वे पौनरुक्त्याच्च सर्वविषय इति भावः । सर्वैस्त्याज्यत्वे तद्विधायकस्य शास्त्रस्याप्रामाण्यप्रसङ्गात् **मुमुक्षुणे**ति विशेषितम् । अपरशब्दोऽत्र स्वमतानुसारिविषयः । 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' [ १८।५ ] इति हि स्वमतं वक्ष्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह **पण्डिता** इति; त्याज्योपादेयविभागतत्त्वविद इत्यर्थः ॥ ३ ॥

५ आ. भा. भा.— मनीषिण इत्युक्तत्वात्पूर्वपक्षोऽपि ग्राह्य एव। फलत्यागेन त्यागो विवक्षितः । यज्ञादेस्तत्पक्षे । 'यस्तु कर्मफलत्यागी' [ १८।११ ] इति च वक्ष्यति । अत एक एवायं पक्षः ॥ ३ ॥

६ ज. प्र. दी.— 'त्याज्यं दोषवत्' इत्यनेन हेयः कापिलानां पक्ष उपन्यस्त इति केचित्, तदसदिति भावेनाऽऽह– **मनीषिण** इति । पूर्वपक्षः पूर्वोपन्यस्तः पक्षः । ननु 'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्' [१८।५] इति भगवन्मतविरुद्धोऽसौ कथं ग्राह्यः ? इत्यत आह– **फलत्यागेने**ति । फलत्यागाभिप्रायेण यज्ञादेस्त्यागो विवक्षितः, तत्पक्षे न स्वरूपतः । कुतः ? 'मनीषिणः' इति विशेषणादेव । अतो न भगवन्मतविरुद्धोऽसौ । कर्मत्यागशब्दः कथं फलत्यागेनार्थेनार्थवानित्यत आह— **यस्त्वि**ति । नन्वेवं सति पूर्वोत्तरार्धोपन्यस्तयोः पक्षयोरविरोध आपद्यत इति चेत्; सत्यं, इत्याह— **अत** इति । अतो मनीषिपक्षत्वादेकोऽविरुद्धः । अयं पूर्वोत्तरार्धोपन्यस्तः किन्त्वापातप्रतीतिमपेक्ष्य सन्देहबीजत्वेन विप्रतिपत्तिरियमुद्भाविवेति भावः ॥ ३ ॥

७ ह. पै. भा.— त्याज्यमिति । त्याज्यं त्यक्तव्यं दोषवत्कर्म तस्माद्बन्धहेतुत्वात्त्याज्यमित्येके मनीषिणः प्राहुः । अथवा दोषशब्देन रागद्वेषा उच्यन्ते; दोषवद्रागद्वेषवत्ताभ्यां तुल्यं कर्म त्याज्यं, भेदबन्धकत्वादित्येके मनीषिणः प्राहुः । नित्यं यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [ १८।४६ ] इति वचनान्मोक्षार्थिनामपि न त्याज्यमित्यर्थः ॥ ३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथानयोः पक्षयोः कतरः श्रेयान् ? इत्याकाङ्क्षायां द्वितीयपक्ष एवेति वक्तुं मतभेदं दर्शयति— त्याज्यमिति । बन्धहेतुत्वात्सर्वमपि कर्म दोषवदुष्टमिति हेतोः कर्माधिकृतैरपि कर्म त्यक्तव्यमित्येके मनीषिणः प्राहुः । अपरे तु कर्माधिकृतैश्चित्तशुद्धिद्वारा ब्रह्मविविदिषार्थं यज्ञादि कर्म न त्याज्यमिति प्राहुः ॥ ३ ॥

९ व० त० दी०— एके त्वाहुस्त्याज्यं दोषवदिति । कर्ममात्रं हिंसादिदोषवत्त्वात्त्याज्यमित्येके साङ्ख्याः मनीषिण इति युक्तिदर्शनात् स्तौति । अपरे मीमांसका यज्ञदानतपःकर्म सफलमपि श्रुतत्वान्न त्याज्यमित्याहुः । भ्रान्ता अप्येते एकांशतः समीचीनाः, यतः कस्मिंश्चिदप्यंशे वेदं न परित्यजन्ति । यद्यपि पूर्वेऽपि न परित्यजन्ति तथापि आपाततः प्रतीतिमादायैवमुपन्यस्तम्; वस्तुतस्तु 'काम्यानां' इत्युक्तेऽकाम्यानां विधानमित्यर्थादुक्तं भवतीति भावेन कवित्वं तेषूक्तम् । अग्रे च 'विचक्षणाः' इति 'दोषवत्' इत्युक्तेऽदोषवत्कार्यमिति मनीषिता तत्रोक्तेति ॥ ३ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च— त्याज्यमिति । एके मनस ईषिणो मनीषिणो विवेकिनः दोषवत् कर्म ज्ञानादिसाधनरहितं त्याज्यमिति प्राहुः प्रकर्षेण प्रामाण्यादिना आहुः । अपरे कर्मवादिनो मीमांसकाः यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमित्याहुः, विहितत्वात् । "तस्माद्यज्ञं परमं वदन्ति" [महाना.१७।१०] "तस्माद्दानं परमं वदन्ति" [महाना.१७।५] इति च "तस्मात्तपः परमं वदन्ति" [महाना.१७।५] इति च । एतेन ते कर्मण एव ईश्वरत्वं वदन्त्यतस्तेऽपि न जानन्ति ॥ ३ ॥

११ नी० भा० दी०— इदमेव पक्षद्वयमाह– त्याज्यमिति । एके मुख्या मनीषिणो मनोनिग्रहसमर्थाः परमात्मन्युत्पन्नविविदिषाणां पुरुषाणां दोषवत् रागादयो यथा त्याज्यास्तद्वत् कर्म त्याज्यमिति प्राहुः । अपरे तु विविदिषार्थिना यज्ञादिकं न त्याज्यमिति वा प्राहुरित्यनुवर्तते । तथा च द्विविधाः श्रुतय उपलभ्यन्ते— "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" [ कैवल्यो. १।२+महाना. ८।१४+अवधू. ५ सदानं. ५ ] "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः" [ ईशो. २ ] इत्याद्याः । अविद्वद्विषयमेवैतत्पक्षद्वयं विदुषां तु कर्मसु प्रवृत्तिकारणस्याज्ञानस्य नष्टत्वात्स्वतस्सिद्ध एव त्याग इति न तान्प्रति कर्मविधिर्वा तत्त्यागविधिर्वा प्रवर्तते; यथोक्तम्— "न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ" [ अमनस्को. २।१०३ ] इति ॥ ३ ॥

त्यागसन्यासशब्दयोरर्थविषये निश्चितं भगवन्मतम् ।

**निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम ! ।**
**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥**

**१ शां. भा.— निश्चयमिति।** तत्रैतेषु विकल्पभेदेषु निश्चयं शृण्ववधारय मे मम वचनात्, तत्र त्यागे त्यागसन्यासविकल्पे यथादर्शिते भरतसत्तम भरतानां साधुतम ! । त्यागो हि त्यागसन्यासशब्दवाच्यो हि योऽर्थः स एक एवेत्यभिप्रेत्याऽऽह— त्यागो हीति । पुरुषव्याघ्र ! त्रिविधस्त्रिप्रकारस्तामसादिप्रकारैः सम्प्रकीर्तितः शास्त्रेषु सम्यक्कथितः । यस्मात्तामसादिभेदेन त्यागसन्यासशब्दवाच्योऽर्थोऽधिकृतस्य कर्मिणोऽनात्मज्ञस्य त्रिविधः सम्भवति, न परमार्थदर्शिन इत्ययमर्थो दुर्ज्ञानस्तस्मादत्र तत्त्वं नान्यो वक्तुं समर्थः, तस्मान्निश्चयं परमार्थशास्त्रार्थविषयमध्यवसायमैश्वरं मे मत्तः शृणु ॥ ४ ॥

२ आ. शां. व्या.— कर्माधिकृतान्प्रत्येवोक्तविकल्पप्रवृत्तावपि कुतो निर्धारणसिद्धिः ? तत्राऽऽह– **तत्रेति** । तमेव निश्चयं दर्शयितुमादौ त्यागगतमवान्तरविभागमाह— **त्यागो हीति** । ननु त्यागसन्यासयोरुभयोरपि प्रकृतत्वाविशेषे त्यागस्यैवावान्तरविभागाभिधाने सन्यासस्योपेक्षितत्वमापद्येत ? नेत्याह— **त्यागेति** । सात्त्विको राजसस्तामसश्चेत्युक्तेऽर्थे त्रैविध्येऽपि स्वयमेव निश्चयासम्भवात्किमत्र भागवतेन निश्चयेनेत्याशङ्क्याऽऽह— **यस्मादिति** । भगवतोऽन्यस्योक्तविभागे तत्त्वानिश्चयाद्भागवतनिश्चयस्य श्रोतव्यतेति निगमयति— **तस्मादिति** ॥ ४ ॥

३ रा. भा.— तत्र एवं वादिविप्रतिपन्ने त्यागे त्यागविषयं निश्चयं मत्तः शृणु; त्यागः क्रियमाणेष्वेव वैदिकेषु कर्मसु फलविषयतया, कर्मविषयतया, कर्तृत्वविषयतया च पूर्वमेव हि मया त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः—'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा । निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगत-

ज्वरः ' [ ३।३० ] इति कर्मजन्यं स्वर्गादिकं फलं मम न स्यादिति फलत्यागः; मदीयफलसाधनतया मदीयमिदं कर्मेति कर्मणि ममतायाः परित्यागः कर्मविषयस्त्यागः; सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानेनात्मनः कर्तृतात्यागः कर्तृत्वविषयस्त्यागः ॥ ४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'तत्र ' इति शब्दः प्रकृते विप्रतिपत्तिविषयतानुवादमुखेन न्यायप्रवृत्तिविषयसन्दिग्धताद्योतक इत्यभिप्रायेणाऽऽह **एवं वादिविप्रतिपन्न** इति । ' मे निश्चयम् ' इत्यनेन मतान्तरोत्थानशङ्काव्युदासायाऽऽह **त्यागविषयं निश्चयं मत्तः शृण्विति** । मत्तः भ्रमादिदोषरहितादित्यर्थः । 'त्यागो हि ' इत्यादिकं न वक्ष्यमाणसात्त्विकत्यागादित्रैविध्यविषयं, किन्तु सात्त्विकत्यागावान्तरभेदविषयं ' सम्प्रकीर्तितः ' इत्यस्य प्रागुक्ततत्परत्वस्वारस्यात् । हिशब्देन श्रोतृसम्प्रतिपत्त्यादिप्रतीतेश्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह **त्यागः क्रियमाणेष्वेवेत्यादि** । ' मयि सर्वाणि ' इत्येक एव श्लोकस्त्रिविधत्यागपर इति अत्र निष्फलानुष्ठानस्वरूपत्यागं, साङ्ख्यमतशङ्कां च प्रतिक्षेप्तुं त्रयाणां स्वरूपं विविनक्ति **कर्मजन्यमित्यादिना** । **मदीयफलसाधनतयेत्यादि**— स्वकीयप्रीतिसाधनतया स्वार्थमेव भगवान् प्रवर्तयतीति हि मुमुक्षोरनुसन्धानमिति भावः । स्वकर्तृत्वस्य तादधीन्यतदनुमतिसापेक्षत्वादिभिः सर्वेश्वरे कर्तृत्वानुसन्धानम् । कर्तृत्वत्यागस्तु अनेककर्तृके परप्रयुक्तस्वात्मकर्तृकत्वानुसन्धानमित्युत्तरत्र विशोधयिष्यते ॥ ४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— तत्प्रकारं चाह— **निश्चयमित्यादिना** । यज्ञभेद उक्तः 'द्रव्ययज्ञाः' [४।२८] इत्यादिना । दाने त्वभयदानमन्तर्भवति । एतेषां मध्ये यत्किञ्चिद्यज्ञादिकं कर्तव्यमेवेत्यर्थः । अन्यथा ' *ब्रह्मचारी गृहस्थो वा वानप्रस्थो यतिस्तथा । यदीच्छेन्मोक्षमास्थातुमुत्तमाश्रममाश्रयेत् ' इत्यादिव्याससमृतिविरोधः । ज्ञानयज्ञविद्याभयदानब्रह्मचर्यादितपसो हि ते । अतो यद्वचोऽन्यथाप्रतीयतेऽधिकारभेदेन तद्योज्यम् । अन्यथेतरेषां गत्यभावात् ॥ ४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— न केवलं मनीषिण इति विशेषणसामर्थ्यादेवमुच्यते, किन्तु भगवताऽपि तदविरोधप्रकारस्य व्युत्पाद्यमानत्वादिति भावेनोत्तरवाक्यतात्पर्यमाह— **तदिति** । न तु परमहंसानां यज्ञदानयोरभावात् कथमुच्यते ' न त्याज्यं कार्यमेव तत् ' ? [ १८।५ ] इति तत्राऽऽह— **यज्ञेति** । ननु ज्योतिष्टोमादिकमेव यज्ञो धनदानादिकमेव दानं गृहीत्वा पारमहंस्यमेव कुतो न निराक्रियते ? इत्यत आह— **अन्यथेति** । यतिर्हंसादिः । आस्थातुं प्राप्तुम् । उत्तमाश्रमं पारमहंस्यम् । नन्वेतेषां मध्य इत्येवं व्याख्यानेऽपि कथं परमहंसानां यज्ञादिसम्भव इत्यत आह— **ज्ञानेति** । बहुव्रीहित्रयगर्भः कर्मधारयोऽयम् । विद्याभयविषयं दानं येषां ते तथोक्तास्ते परमहंसाः । ननु पारमहंस्ये हि प्रवृत्तः प्रियव्रतो हिरण्यगर्भेण निवारित इति पुराणेषूच्यते [ भाग. ५।१।११-१९ ] तत्कथं पारमहंस्यकर्तव्यता ? इत्यत आह— **अत** इति । उक्तवाक्याविरोधादेव वाक्यत्वाविशेषात् पुराणवाक्यैनैव स्मृतेर्बाधः किं न स्यात् ? इत्याह— **अन्यथेति** । एवमयोजने इतरेषां ब्रह्मचारीत्यादीनां गत्यन्तराभावादप्रामाण्यमेव प्रसज्यत इति शेषः । एवं परमहंसानामपि यज्ञादिकर्तव्यतासम्पादनेनेदमपि परास्तम् । यत्केनचिदुक्तम्— अज्ञानकर्मण्यधिकारिणोऽधिकृत्य एतत्प्रकरणं प्रवृत्तं, न परमहंसपरिव्राजकानिति ॥ ४ ॥

**७ ह. पै. भा.**— तस्माद्वैविध्यत्यागमतभेदाच्च— तत्र त्यागे मम निश्चयं शृणु ॥ ४ ॥

**८ वं. ब्र. गि.**— एवं मतभेदमुक्त्वा स्वमतं दर्शयितुमाह— **निश्चयमिति** । तत्र त्वया पृष्टे काम्यकर्मत्यागः सर्वकर्मत्यागो वा सर्वकर्मफलत्यागो वा ? इत्येवं विप्रतिपत्तिविषये कर्माधिकारिकर्तृके सन्न्यासापरपर्याये त्यागे विषये हे भरतसत्तम ! मे मम सुखान्निश्चयं शृणु; मां विना नान्यो वक्ताऽस्तीत्यर्थः । तदेवोपपादयति— **त्यागो हीति** । हि यस्मात् हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागोऽयं सात्त्विकादिभेदेन त्रिविधः शास्त्रे सम्प्रकीर्तितः । अतो दुर्विज्ञेयत्वान्मयैवोपदेष्टव्योऽयमर्थ इत्यर्थः । अत्र 'भरतसत्तम' इत्यनेन भरतवंशे बहवो राजानः सन्ति; तेषु त्वमेक एव मदुपदेशयोग्यसौभाग्यवानिति स्तुत्या श्रोता अभिमुखीक्रियते । 'पुरुषव्याघ्र' ! इत्यनेन च—पुरुषश्रेष्ठस्य तव सात्त्विकयेव त्यागसम्पत्तिः, न त्वन्येषामिव राजसी तामसी चेति न तच्छङ्कावकाश इति व्यज्यते ॥ ४ ॥

९ व० त० दी०— एवं हि श्रौतो निर्णयः, न तं निश्चिन्वन्तीति स्वयं निर्णयमाह— **निश्चयं शृण्विति** । स एव त्यागोऽन्यथाकृतश्चेद्‌गौणो भवेदित्याह । त्रिविधः तामसो राजसः सात्त्विकश्चेति प्रकीर्तितः । उक्तश्लोके वा त्रिविधः कीर्तितः । 'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्य ' [३।३०] इत्यत्र निराशीः कामशून्यः निर्मम इति

* अयं श्लोको व्याससमृतौ न दृश्यते । तच्चिन्त्यम् ।

फलकर्मणोर्ममतारहितः (भूत्वा) एवं मयि कर्माणि सन्न्यस्य समर्प्य तत्कर्तृत्वं मय्यनुसन्धाय 'तदधीनशक्तिरिदं करोमि' इति धिया कृतकर्मसु कर्तृत्वममत्वफलानां त्यागो यः स सन्न्यास इति ॥ ४ ॥

१० पु. अ. त.— एवं सर्वेषां तत्त्वाज्ञानेन मतान्युक्त्वा तन्मतेषु तत्त्वज्ञानार्थं तन्मतनिश्चितं स्वमतमाह— **निश्चयमिति** । तत्र बहुभिर्बहुधा प्रपञ्चिते त्यागे हे भरतसत्तम सत्कुलोत्पन्नत्वेन श्रवणयोग्य ! मे मत्तो निश्चयं निर्धारितं शृणु । एवमभिमुखीकृत्याऽऽह— **त्याग** इति । हे पुरुषव्याघ्र पुरुषश्रेष्ठ ! पुरुषस्य भगवद्भजनाधिकारित्वात्तेषु श्रेष्ठत्वोक्तौ व्याघ्रत्वोक्त्या तथा श्रवणानन्तरं करणेन पौरुषप्रकटनसमर्थत्वं ज्ञापयित्वाऽऽह— **त्यागो हीति** । त्यागो निश्चयेन त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः सम्यक्प्रकारेण कथितः ॥ ४ ॥

११ नी० भा० दी०— निश्चयमिति । तत्र कर्मणां त्यागात्यागविषये विप्रतिपत्तौ सत्यां प्रथमोपात्ते त्यागे विषये मे मद्वचनान्निश्चयं शृणु; हि यस्मात् हे पुरुषव्याघ्र ! त्यागस्त्रिविधः सात्त्विकराजसतामसभेदेन त्रिप्रकारः परिकीर्तितः शास्त्रे । दृढवैराग्यपूर्वकः कर्मसन्न्यासः सात्त्विकः, आयासभयात्तत्त्यागो राजसः, मौढ्यात्तत्त्यागस्तामस इति । तस्माद्गहनत्वात्त्यागो निश्चयेन विचारणीय इत्यर्थः ॥ ४ ॥

**यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।**
**यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ ५ ॥**

**१ शां. भा.**— कः पुनरसौ निश्चयः ? इत्यत आह— **यज्ञ इति** । यज्ञो दानं तप इत्येतत्त्रिविधं कर्म न त्याज्यं न त्यक्तव्यं, कार्यं करणीयमेव तत् । कस्मात् ? यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि विशुद्धिकराणि मनीषिणां फलानभिसन्धीनामित्येतत् ॥ ५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तमेव भगवतो निश्चयं विशेषतो निर्धारयितुं प्रश्नपूर्वकमनन्तरश्लोकप्रवृत्तिं दर्शयति— **कः पुनरिति** । यज्ञादीनां कर्तव्यत्वे हेतुमाह— **यज्ञ** इति । न केवलमत्याज्यं, किन्तु कर्तव्यमेवेत्याह— **कार्यमिति** । प्रतिज्ञातमेवं विभज्य हेतुं विभजते— **कस्मादिति** ॥ ५ ॥

**३ रा. भा.**— यज्ञदानतपःप्रभृति वैदिकं कर्म मुमुक्षुणा न कदाचिदपि त्याज्यम्, अपित्वाप्रयाणादहरहः कार्यमेव । कुतः ? यज्ञदानतपःप्रभृतीनि वर्णाश्रमसम्बन्धीनि कर्माणि मनीषिणां मननशीलानां पावनानि; मननमुपासनम्, मुमुक्षूणां यावज्जीवमुपासनं कुर्वतामुपासननिष्पत्तिविरोधिप्राचीनकर्मविनाशनानीत्यर्थः ॥ ५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं त्रिविधत्यागानुवादस्य स्वरूपत्यागव्यवच्छेदार्थतोच्यते 'यज्ञदान-' इत्यादिना । विविदिषाद्युत्पत्तेः प्राग्यज्ञादिकमनुष्ठेयं, पश्चात्तु परित्याज्यमित्याख्यातीति केचित्; तन्मतव्युदासायाऽऽह— **न कदाचिदपीति**। "स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषम्" [छां. उ. ८।१५।१] इति श्रुत्यभिप्रायेणाऽऽह— **अपित्वाप्रयाणादिति** । तथा च सूत्रम् 'आप्रयाणात्तत्रापि हि दृष्टम्' [ब्र. सू. ४।१।१२] इति । **अहरहरिति** चोदितकालोपलक्षणम् । ननु विद्यानिष्ठस्य किमर्थं कर्म ? न तावदारादुपकारित्वेन, समुच्चयादिपक्षानभ्युपगमात्; नापि तत्त्वज्ञानार्थं, सपरिकरात्प्रमाणादेव तत्सिद्धेः; न च तदनुस्मरणरूपोपासनार्थं, तस्यापि संस्कारपाटवादिसाध्यत्वात्; न चान्यत्किञ्चित्कर्मसाध्यं मुमुक्ष्वपेक्षितं प्रयोजनं पश्यामः; 'न च प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दस्यापि प्रवृत्तिः' इत्यभिप्रायेण **कुत** इत्याकाङ्क्षाप्रदर्शनम् । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इत्यभिप्रायेण प्रभृतिशब्दः । **वर्णाश्रमसम्बन्धीनीति**— नित्यनैमित्तिकानामपि स्वरूपत्याग इति यः पक्षः, स इह प्रतिक्षिप्यत इति भावः । यज्ञादीनां सन्निपत्योपकारद्योतनायोपकर्तव्यज्ञानस्वरूपपरोऽत्र मनीषिशब्द इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **मननशीलानामिति** । मनस ईषिणो मनीषिण इति व्युत्पत्तौ फलितोक्तिरियम् । श्रवणानन्तरभाविय़ौक्तिकमननव्यवच्छेदायाऽऽह— **मननमुपासनमिति** । 'पावनानि मनीषिणाम्' इति समभिव्याहारसिद्धमुपकारप्रकारं व्यनक्ति— **मुमुक्षूणामित्यादिना** । "प्रायणान्तमोङ्कारमभिध्यायीत" [प्रश्नो. ५।१] इति प्रक्रम्य "यः पुनरेतं(एतत्)त्रिमात्रेणोमित्यनेनैवाक्षरेण(परं पु) परमपुरुषमभिध्यायीत" [प्रश्नो. ५।५] इत्युपासनं यावज्जीवमनुष्ठेयमिति गम्यते । अतस्तदङ्गमपि यावज्जीवमनुष्ठेयम् । तच्च "स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषम्" इत्यादिभिर्वर्ण्यत इति भावः । उपासनवदुत्तराघनिवर्तकत्वाभावात्प्राचीनशब्दः ॥ ५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ५ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ५ ॥

७ ह. पै. भा.— यज्ञेति । यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं, सत्त्वशुद्ध्यर्थमीश्वराराधनार्थं च कार्य मेव तत् । यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि उपात्तदुरितक्षयार्थानि मनीषिणां ज्ञानिनाम् । यस्मान्नित्यानि यज्ञदानतपांसि उपात्तदुरितक्षयार्थं तस्मात्कार्याण्येवेत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं श्रोतारमभिमुखीकृत्य स्वमतमाह द्वाभ्याम्— यज्ञेति । कर्माधिकृतैर्यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यम्, किन्तु तत्कार्यं कर्तव्यमेवेति व्यतिरेकमुखेनान्वयमुखेन चावश्यकर्तव्यतोक्तिः । चो हेतौ । यस्माद्यज्ञादीनि मनीषिणा मकृतफलाभिसन्धीनां पावनानि ज्ञानप्रतिबन्धकमलापकर्षणेन ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपगुणाधानेन च शोधकानि ॥ ५ ॥

९ ब० त० दी०— मीमांसकमतमेकांशतोऽङ्गीकरोति– यज्ञेति । "यज्ञो वै विष्णुः" [ तै. सं. १।७।४ श. ब्रा. १।३।१ ] इति श्रुत्या भगवत्स्वरूपो यज्ञः, दानं देवतोद्देशेन द्रव्यविसर्जनात्मकं च, तथा तपः स्वधर्माचरणं तदेतद्भगवद्धर्मपदरूपं श्रौतं कर्म न त्याज्यं मुमुक्षुणाऽपि, अपित्वाप्रायणादन्वहं कार्यमेव वेदोक्तत्वादपि कर्तव्यं एकांशेऽपि वेदस्यापरित्यागनियमात् । ननु कुतोऽयं कर्त्तव्यत्वविध्युपदेशः ? इत्यत आह— पावनानीति यज्ञादीनि मनीषिणां यैर्मनीषिभिर्दोषवदित्युक्तं तेषामेव गुणाधायकमिति दोषवदित्यपास्तम् । अतएव भगवद्दीयेन युधिष्ठिरेण 'यक्ष्ये विभूतीर्भवतः' [ भाग.१०।७।३ ] इत्यादेशमादाय कृतमेव पावनार्थत्वात् । एतद् भगवदीयानां कर्म कर्त्तव्यं न कर्त्तव्यं वा ? इत्यादिवादसंवादोपन्यासपूर्वकं भाष्ये विस्तृतमिति नेह प्रपञ्च्यते ॥५

१० पु. अ. त.— त्रिविधत्वं पश्चाद्वक्ष्यति [१८।७-९] पूर्वं निश्चयमाह— यज्ञदानेति द्वयेन । यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यं यतः कार्यमवश्यं कर्त्तव्यं तत् प्रत्यवायपरिहारार्थम् । यज्ञो यजनं, दानं तपश्च मनीषिणां ज्ञानिनां तत्स्वरूपविदुषां स्वरूपज्ञाने कृतान्येतानि पावनान्येव चित्तशोधकानि, अ एतत् त्रितयात्मकं कर्म कार्यम् । एवकारेण नान्यफलाभिलषया कर्त्तव्यानीति व्यञ्जितम् ॥ ५ ॥

११ नी० भा० दी०— सूचीकटाहन्यायेन त्यागस्वरूपकथनात्प्राक् परमतमत्यागपक्षमुपन्यस्यति— यज्ञेति यज्ञादिकं कर्म न त्याज्यं किन्तु कार्यमेव विशिष्टगृहीतेनेव पुंसा अवश्यमनुष्ठेयमेव; तदकरणे प्रत्यवायश्रवणात् । चकारो हेत्वर्थः । यस्माद्यज्ञो दानं तपश्चैव मनीषिणां निष्कामानां दम्भादिरहितानां पावनानि चित्तशोधकानि । तथा च श्रुतिः–"त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति " [ छां. उ. २।२३।१ ] इ यज्ञादीनां गृहस्थधर्माणां तपसो वनस्थधर्मस्याचार्यकुलवासस्य ब्रह्मचारिधर्मस्य च पावनत्वं दर्शयति । अत्र यज्ञदानशब्देन गृहस्थधर्मा ज्ञेयाः, तप इति वानप्रस्थधर्माः, परिशेषात् कर्मेति ब्रह्मचारिधर्माश्च ज्ञेयाः ॥ ५ ॥

**एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च ।**
**कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम् ॥ ६ ॥**

१ शां. भा.— एतान्यपीति । एतान्यपि तु कर्माणि यज्ञदानतपांसि पावनान्युक्तानि सङ्गमासक्तिं तेषु त्यक्त्वा, फलानि च तेषां त्यक्त्वा परित्यज्य कर्तव्यानीत्यनुष्ठेयानीति मे मम निश्चितं मतमुत्तमम् । 'निश्चयं शृणु मे तत्र' [ १८।४ ] इति प्रतिज्ञाय पावनत्वं च हेतुमुक्त्वा 'एतान्यपि कर्माणि कर्तव्यानि' इत्येतत् 'निश्चितं मतमुत्तमं' इति प्रतिज्ञातार्थोपसंहार एव, नापूर्वार्थं वचः 'एतान्यपि' इति, प्रकृतसन्निकृष्टार्थतोपपत्तेः । सासङ्गस्य फलार्थिनो बन्धहेतव एतान्यपि कर्माणि मुमुक्षोः कर्तव्यानीत्यपिशब्दस्यार्थः, न त्वन्यानि कर्माण्यपेक्ष्य 'एतान्यपि' इत्युच्यते ।

२ आ. शां. व्या.— प्रतिज्ञातमर्थमुपसंहरति– **एतान्यपीति** । उपसंहरश्लोकाक्षराणि व्याकरोति— **एतानीत्यादिना** । अक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यमाह– **निश्चयमिति** । प्रकृतार्थोपसंहारे गमकमाह— **एतान्यपीति** । अपिशब्दस्य विवक्षितमर्थं दर्शयति— **सासङ्गस्येति** । व्यावर्त्यं कीर्तयति **न त्विति** ।

१ शां. भा.— अन्ये तु वर्णयन्ति– नित्यानां कर्मणां फलाभावात्सङ्गं त्यक्त्वा फलानि चेति नोपपद्यते । अतः 'एतान्यपि ' इति यानि काम्यानि कर्माणि नित्येभ्योऽन्यान्येतान्यपि कर्तव्यानि, किमुत यज्ञदानतपांसि नित्यानि ? इति । तदसत् , नित्यानामपि कर्मणामिह फलवत्त्वस्योपपादितत्वात् ' यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि' [ १८।५ ] इत्यादिवचनेन नित्यान्यपि कर्माणि बन्धहेतुत्वाशङ्कया जिहासोर्मुमुक्षोः कुतः काम्येषु प्रसङ्गः ? ' दूरेण ह्यवरं कर्म ' [ २।४९ ] इति च निन्दितत्वात्; ' यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र' [ ३।९ ] इति च काम्यकर्मणां बन्धहेतुत्वस्य निश्चितत्वात् । ' त्रैगुण्यविषया वेदाः ' [२।४५] ' त्रैविद्या मां सोमपाः' [ ९।२० ] ' क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ' [ ९।२१ ] इति च दूरव्यवहितत्वाच्च न काम्येषु ' एतान्यपि ' इति व्यपदेशः ॥ ६ ॥

२ आ. शां. व्या.— ' एतान्यपि ' इत्यादिवाक्यं न नित्यकर्मविषयमिति मतमुपन्यस्यति— अन्य इति । न चेदिदं नित्यकर्मविषयं, किंविषयं तर्हि ? इत्याशङ्क्य वाक्यमवतार्य व्याकरोति— एतानीत्यादिना । नित्यानामफलत्वमुपेत्य यच्चोद्यं तदयुक्तमिति दूषयति— तदसदिति । यत्तु काम्यान्यपि कर्तव्यानीति तन्निरस्यति— नित्यान्यपीति । किञ्च काम्यानां भगवता निन्दितत्वान्न तेषु मुमुक्षोरनुष्ठानमित्याह— दूरेणेति । किञ्च मुमुक्षोरपेक्षितमोक्षापेक्षया विरुद्धफलत्वात्काम्यकर्मणां न तेषु तस्यानुष्ठानमित्याह— यज्ञार्थादिति । काम्यानां बन्धहेतुत्वं निश्चितमित्यत्रैव पूर्वोत्तरवाक्यानुकूल्यं दर्शयति— त्रैगुण्येति । किञ्च पूर्वश्लोके यज्ञादिनित्यकर्मणां प्रकृतत्वादेतच्छब्देन सन्निहितवाचिना परामर्शात्काम्यकर्मणां च ' काम्यानां कर्मणाम् ' [ १८।२ ] इति व्यवहितानां सन्निहितपरामर्शकैतच्छब्दाविषयत्वान्न काम्यकर्माण्येतान्यपीति व्यपदेशमर्हन्तीत्याह— दूरेति ॥ ६ ॥

३ रा. भा.— यस्मान्मनीषिणां यज्ञदानतपःप्रभृतीनि पावनानि, तस्मादुपासनवदेतान्यपि यज्ञादिकर्माणि मदाराधनरूपाणि सङ्गं कर्मणि ममतां फलानि च त्यक्त्वा अहरहराप्रयाणादुपासननिर्वृत्तये मुमुक्षुणा कर्तव्यानीति मम निश्चितमुत्तमं मतम् ॥ ६ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं पावनत्वोक्त्या 'त्याज्यं दोषवत्' [ १८।३ ] इति पक्षः प्रतिक्षिप्तः । ' निश्चयं शृणु ' [ १८।४ ] इत्यादिनोक्त एवार्थः ' एतान्यपि ' इति श्लोकेन निर्दोषत्वाध्यवसायार्थं निगमनात्मना दृढीक्रियत इत्यपुनरुक्तिः । हेतुसाध्यभावेन पूर्वोत्तरग्रन्थौ सङ्गमयति यस्मादिति । मनीषिशब्दसूचितोपासनसमानयोगक्षेमताद्योतनाय अपिशब्द इत्याह उपासनवदेतान्यपीति । परमात्मप्रीतिद्वारा कर्मणां पावनत्वादिसिद्ध्यर्थमाह मदाराधनरूपाणीति । सङ्गशब्दस्य फलत्यागोक्त्या पुनरुक्तिं परिहरति कर्मणि ममतामिति । निश्चितमिति— नात्र पुनस्त्वया संशयितव्यमिति भावः । उत्तममिति— असर्वज्ञानामन्येषामेतद्विरुद्धं स्वरूपत्यागादिमतं सर्वमधमत्वादनादरणीयमिति भावः ॥ ६ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६ ॥

७ ह. पै. भा.— एवं तु कर्तव्यानि; कथं ?— एतानीति । एतानि कर्माणि यज्ञादीनि सङ्गं फलस्पृहां फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानीति निश्चितमसन्दिग्धमुत्तमं श्रेष्ठम् ( मे मतम् ) ॥ ६ ॥

८ वे. ब्र. गि.— यदुक्तं बन्धकत्वेन दुष्टत्वात्कर्म त्याज्यमिति, तत्राह— एतानीति । तु-शब्दः पूर्वोक्तदोषनिरासार्थः । यानि यज्ञादीनि कर्माणि एतानि कर्तृत्वाभिमानफलाभिसन्धिपूर्वकत्वेन बन्धकान्यपि सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलानि च त्यक्त्वा कर्तव्यानीति मे मम सर्वज्ञस्य सर्वलोकेश्वरस्य निश्चितमुत्तमं श्रेष्ठं मतम् । न च फलत्यागे निष्फलेषु कर्मसु पश्चादिफलत्यागेऽपि "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति " [ बृ. उ.४।४।२२ ] इत्यादिश्रुत्युक्तब्रह्मविविदिषाख्यफलार्थित्वेन तदनुष्ठानसम्भवात् । न च विनियुक्तविनियोगविरोधः, संयोगपृथक्त्वन्यायेन तदविरोधादिति भावः । अत्र ' फलानि त्यक्त्वैतानि कर्तव्यानि ' इत्यनेन ' काम्यकर्मत्यागः सन्यासः ' इति पक्षो दूषितः, नित्यवत्काम्यस्यापि फलाभिसन्धित्यागेनानुष्ठितस्य चित्तशुद्धिहेतुत्वेन तत्त्यागायोगात् । न हि नित्यकाम्ययोः स्वरूपकृतो विशेषोऽस्ति पुरुषाभिप्रायकृतो हि विशेषः । स च फलाभिसन्धित्यागे कुतस्त्यः ? तदेतदभिप्रेत्योक्तं वार्तिके—' यद्वा विविदिषार्थत्वं सर्वेषामपि कर्मणाम् । तमेतमिति वाक्येन संयोगस्य पृथक्त्वतः' इति । सङ्क्षेपशारीरकेऽपि— ' यज्ञेनेत्यादिवाक्यं शतपथविहितं कर्मवृन्दं गृहीत्वा स्वोत्पत्त्याम्नायसिद्धं पुरुषविविदिषामात्रसाध्ये युनक्ति ' इति ॥ ६ ॥

९ ब० त० दी०— एवं ब्रह्मवादिनां कर्तव्यत्वे प्राप्तेऽपि तु परन्तु सङ्गं स्वकर्तृत्वाभिनिवेशं गुणमयरोचनार्थानि फलानि चोक्तविधया त्यक्त्वा कर्तव्यानीति विचक्षणाभिमतं निश्चितं मे मतम् । उत्तमं चैतत्सर्वमतेष्वित्याह- उत्तममिति ॥ ६ ॥

१० पु. अ. त.— यथा कृतानि पावनानि भवन्ति तथाऽऽह— एतानीति । तु पुनः पावनार्थकान्यपि एतानि यज्ञादीनि कर्माणि— सङ्गं तदभिनिवेशं, च पुनः फलानि स्वर्गसुखादीनि ( त्यक्त्वा ) मदाज्ञात्वेन कर्तव्यानि इति मे निश्चितं पूर्वोक्तमतेषु उत्तमं मतम् ॥ ६ ॥

११ नी० भा० दी०— एवमत्यागपक्षमुक्त्वा औत्सुक्यात्प्रथमं स्वाभिमतं त्यागात्यागसमुच्चयपक्षं दर्शयति— एतानीति । तुशब्दः पूर्वोपन्यस्तात्पक्षाद्वैलक्षण्यं दर्शयति; अपिशब्द एवशब्दार्थः, एतान्येव कर्माणि यज्ञदानतपांसि सङ्गं त्यक्त्वा 'अहमेतेषां कर्ता, मयाऽवश्यमेतानि कर्तव्यानि' इत्यभिमानं वयोवर्णाद्यध्यासनिमित्तं त्यक्त्वा । एतैः कृतैः 'अहं स्वर्गं वा चित्तशुद्धिं वा ज्ञानं वा प्राप्स्यामि' इति फलानि च त्यक्त्वा, चकारात् 'एषामकरणे मम प्रत्यवायो भविष्यति' इत्येतमप्यभिसन्धिं त्यक्त्वा ब्रह्मनिष्ठेनेवासङ्गस्वभावेन पुरुषेण कर्तव्यानि इति एवं प्रकारं मे मम मतमुत्तमं पूर्वमतात् श्रेष्ठम् । तत्र हि कर्तृत्वाभिमानरूपेण सङ्गेन प्रत्यवायोत्पादभयाच्च कर्मानुष्ठानं विहितं, अत्र तु तदभावादसङ्गत्वाद्यंशेन कर्मणां त्यागः, स्वरूपेणात्याग इति भेदः ॥ ६ ॥

कर्मत्यागस्य त्रैविध्यम् ।

## नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते ।
## मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

**१ शां. भा.**— तस्मादज्ञस्याधिकृतस्य मुमुक्षोः— नियतस्य तु नित्यस्य सन्न्यासः परित्यागः कर्मणो नोपपद्यते, अज्ञस्य पावनत्वस्येष्टत्वात् । मोहादज्ञानात्तस्य नियतस्य परित्यागः नियतं चावश्यं कर्तव्यं त्यज्यते चेति विप्रतिषिद्धं अतो मोहनिमित्तः परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः, मोहश्च तम इति ॥ ७॥

२ आ. शां. व्या.— नित्यकर्मणामवश्यकर्तव्यत्वमुपजीव्यापेक्षितं पूरयन्ननन्तरश्लोकमवतारयति— **तस्मादि**ति । ननु कश्चिन्नियतमपि कर्म त्यजन्नुपलभ्यते तत्राऽऽह— **मोहा**दिति । अज्ञानं पावनत्वापरिज्ञानम् । अज्ञस्य नित्यकर्मत्यागो मोहादित्येतदुपपादयति— **नियतं चे**ति । नित्यत्यागस्य मोहकृतत्वे कुतस्तामसत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **मोहश्चे**ति ॥ ७॥

**३ रा. भा.**— नियतस्य— नित्यनैमित्तिकस्य महायज्ञादेः कर्मणः सन्न्यासः त्यागो नोपपद्यते 'शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' [ ३।८ ] इति शरीरयात्राया एवासिद्धेः । शरीरयात्रा हि यज्ञशिष्टाशनेन निर्वर्त्यमाना सम्यग्ज्ञानाय प्रभवति, अन्यथा 'ते त्वघं भुञ्जते पापाः' [ ३ । १३ ] इत्ययज्ञशिष्टाघरूपाशनाप्यायनं मनसो विपरीतज्ञानाय भवति। "अन्नमयं हि सोम्य मनः" [ छां. उ. ६।५।४ ] इत्यन्नेन हि मन आप्यायते; "आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः । स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" [छां. उ.७।२६।२] इति ब्रह्मसाक्षात्काररूपं ज्ञानमाहारशुद्ध्यायत्तमिति श्रूयते। तस्मान्महायज्ञादिनित्यनैमित्तिकं कर्म आप्रयाणात् ब्रह्मज्ञानायैवोपादेयमिति तस्य त्यागो नोपपद्यते, एवं ज्ञानोत्पादिनः कर्मणो बन्धकत्वमोहात्परित्यागस्तामसः परिकीर्तितः ।

४ वे. ता. चं.— अथ 'नियतस्य' इत्यादिना मतान्तराणामधमत्वं स्वमतस्योत्तमत्वं च प्रपञ्च्यते । वर्णाश्रमप्रयुक्ततया दुस्त्यजत्वं नियतशब्देनाभिप्रेतमित्याह— **नित्यनैमित्तिकस्ये**ति । तुशब्दसहितः सन्न्यासशब्दोऽत्र 'त्याज्यं दोषवत्' [ १८।३ ] इत्यत्र स्वरूपत्यागानुवादी, स एव हि 'मोहात्तस्य परित्यागः' इत्युत्तरार्धेन निन्द्यत इत्यभिप्रायेण **सन्न्यासस्त्याग** इत्युक्तः । पावनत्वेनावश्यकर्तव्यत्वे शिष्टे पुनस्त्यागो नोपपद्यत इति शासनं प्राक्प्रपञ्चितदृष्टादृष्टानुपपत्तिस्मारणपरमित्यभिप्रायेणानुपपत्तिं विवृणोति— **शरीरयात्रापी**ति। केवलाशनादिनाऽपि लौकिकदेहयात्रा सिद्ध्येदित्यत्राऽऽह— **शरीरयात्रा हीति** । 'पञ्चभूतात्मकैर्भोगैः पञ्चभूतात्मकं वपुः । आप्यायते' इति स्मरणात्कथमाहारेण मनस आप्यायनमित्यत्राऽऽह **अन्नमयं हीति**। सात्त्विकाहङ्कारकार्यस्यात्रविकारत्वासम्भवादाप्यायनोक्तिः । "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां

विप्रमोक्षः " [ छां. उ. ७।२६।२ ] इत्येतत् " भिद्यते हृदयग्रन्थिः ' [ मुं. उ. २।२।८ ] इत्यादिकया समानार्थया श्रुत्या दर्शनशब्देन विशेष्येत इत्यभिप्रायेण **ब्रह्मसाक्षात्काररूपमित्युक्तम्** । विशदतमत्वात्साक्षात्कारोक्तिरिह भाव्या । सकृदनुष्ठितस्य विद्योपकारित्वशङ्कां परिहरन्निगमयति— **तस्मादिति** । 'नोपपद्यते' इत्यस्य कारणाभावे कथं कार्यं स्यात् ? इति भावः । उक्तप्रकारेणापरित्याज्यत्वनियमवत्त्वं तस्येत्यनूद्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **एवं ज्ञानोत्पादिन** इति । ' त्याज्यं दोषवत् ' [१८।३] इत्यनूदितस्य मतस्यैतद्दूषणमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **बन्धकत्वमोहादिति** ।

**३ रा. भा.— तमोमूलस्त्यागस्तामसः, तमःकार्याज्ञानमूलत्वेन त्यागस्य तमोमूलत्वम् ; तमो ह्यज्ञानस्य मूलं ' प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ' [ १४।१७ ] इत्यत्रोक्तम् । अज्ञानं तु ज्ञानविरोधिविपरीतज्ञानम् ; तथा च वक्ष्यते— ' अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ' [१८।३२] इति, अतो नित्यनैमित्तिकादेः कर्मणस्त्यागो, विपरीतज्ञानमूल एवेत्यर्थः ॥ ७ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ' तत्र भवः ' [ अष्टा. ४।३।५३ ] इत्यण्प्रत्ययेन तामसशब्दं निर्वक्ति— **तमोमूल** इति । सम्बन्धमात्रेऽपि तद्धितार्थे फलितविशेषोऽयम् । तामसबुद्धिमूलत्वेन सद्वारकं तमोमूलत्वं विवृणोति **तमःकार्येति** । नन्वत्र समभिव्याहृतमोहमूलत्वेनैव तमोमूलत्वे दर्शयितव्ये तमःकार्याज्ञानमूलत्वोक्तिः किमर्था ? तदर्थैव; नह्युक्तस्यैव पुनश्शब्दान्तरव्यञ्जने प्रयोजनम् , अधिकबोधनं तु युक्तं, अविरुद्धं चेति । ननु 'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ' [ १४।१७ ] इति श्लोके मोहशब्देन विपरीतज्ञानस्य पृथगुक्तत्वादज्ञानशब्देन ज्ञानाभाव उच्यत इति व्याख्यातम् ; इह पुनः ' अज्ञानं तु ज्ञानविरोधि विपरीतज्ञानम् ' इति कथमुच्यते ? इत्थं— ज्ञानाभावस्यापि वृत्तिहेतुत्वं विपरीतज्ञानद्वारेति प्रदर्शनार्थं श्लोकस्थमोहशब्दस्य प्रयोजनान्तरविवक्षया वा श्लोकस्थस्याज्ञानशब्दस्य मोहविषयत्वज्ञापनार्थं वेति । तामसबुद्धेः कर्मत्यागहेतुतां वक्ष्यमाणेन व्यनक्ति— **तथा चेति** । तत्त्वविदो न परित्यजन्तीत्यभिप्रायेण तामसनिर्देशफलितं निगमयति— **अत** इति ' नित्यनैमित्तिकादेः ' इत्यादिशब्देन फलाभिसन्धिरहितकाम्यानामपि वक्ष्यमाणानां ग्रहणम् । **विपरीतज्ञाने**त्यनेनायथाज्ञानमूलाद्राजसत्यागाद्विशेषप्रदर्शनम् । ' अयथावत् ' [ १८।३१ ] इति हि राजसबुद्धिर्वक्ष्यते ॥ ७ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ७ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ७ ॥

**७ ह. पै. भा.— काम्यकर्मणस्त्यागोऽस्तु— नियतस्येति । नियतस्य नित्यस्य कर्मणस्त्यागो नोपपद्यते । सत्त्वशुद्ध्यर्थं मुमुक्षूणां कर्तृत्वम् । मोहादज्ञानात्तस्य नियतस्य कर्मणस्त्यागस्तामसः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— तदेवं ' सर्वकर्मफलत्यागः सन्न्यासः ' इति स्वमतमुक्त्वा ' काम्यकर्मत्यागः सन्न्यासः ' इति मतं निरस्तम् ; इदानीं ' त्याज्यं दोषवदित्येके ' [ १८।३ ] इत्यनेनोक्तं ' सर्वकर्मत्यागः सन्न्यासः ' इति मतं निराकुर्वन्नेव पूर्वोक्तं त्यागत्रैविध्यं दर्शयति— **नियतस्येति** । काम्यस्याकरणे प्रत्यवायाभावेन त्यागसम्भवेऽपि नियतस्य तु नित्यस्याकरणे प्रत्यवायहेतोश्चित्तशुद्धिजनकस्य च कर्मणः सन्न्यासः परित्यागः कर्माधिकारिणोऽन्तःकरणशुद्ध्यर्थिनो नोपपद्यते । न च नित्यस्य दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादेर्व्रीहिपशुहिंसामिश्रितत्वेन दुष्टत्वात्त्याज्यतैवेति साङ्ख्यप्रलापो युक्तः; " व्रीहीनवहन्ति " " अग्नीषोमीयं पशुमालभेत " इति विधिविहितत्वेन तद्धिंसाया दुष्टत्वाभावादित्यन्यत्र विस्तरः। अतो निर्दोषे दोषबुद्धिः साङ्ख्यानां मोह एवेति तादृशमोहात्तस्य नित्यस्य परित्यागस्तामसो मोहात्मकतमोमूलकः । ' अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता । सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ ! तामसी ' [ १८।३२ ] इति हि वक्ष्यते ॥ ७ ॥

**९ व० त० दी०**— कवीनां मतं दूषयति— नियतस्येति । कामोपनिबन्धेनापि वेदेन नियन्त्रितस्य नियमविहितस्य तु कर्मणः स्वरूपतस्त्यागः सन्न्यासः कार्य इत्युक्तः कविभिः स नोपपद्यते, ब्रह्मवादिनां वैदिकानां कच्चिदप्यंशे वेदोक्तस्यापरित्यागात् । यदि मोहादज्ञानात्तामसात्तस्य वैदिकस्य कर्मणस्त्यागः श्रौतेन क्रियमाणः स्यात्तदा मोहहेतुकत्वात् स त्यागस्तामसः परिकीर्तितः, तमःकार्यभूतेन मोहेन जायमानत्वात् ; ' प्रमादमोहौ तमसो भवतः ' [ १४।१७ ] इत्यादिवाक्यात् प्रत्यवायावहश्चेति पर्युपसर्गार्थः ॥ ७ ॥

**१० पु. अ. त.**— एवं निश्चितार्थमुक्त्वा पूर्वोक्तत्रैविध्यमाह— **नियतस्येति** त्रयेण । नियतस्य तु, नियतस्य भक्त्यङ्गत्वेनोक्तस्य पुनः कर्मणः सन्न्यासस्त्यागो नोपपद्यते न उप समीपे भगवतः पद्यते, प्राप्तो भवतीत्यर्थः । अतस्तादृशकर्मणस्त्याग एव मोक्षार्थक इति मोहात् भ्रमेण यस्तस्य परित्यागः स तामसः अज्ञानात्मकः परिकीर्तितः ॥ ७ ॥

११ नी० भा० दी०— प्राक्प्रतिज्ञातं त्यागत्रैविध्यमाह— नियतस्येति । तुशब्दः पूर्वोक्तपक्षद्वयवैलक्षण्यार्थः । यस्माद्धिकृतस्य मुमुक्षोर्नियतस्यावश्यानुष्ठेयस्य कर्मणः सन्न्यासः स्वरूपेण त्यागो नोपपद्यते न युज्यते; अज्ञस्य शुद्ध्यपेक्षत्वात् । एवं सति यो मोहादज्ञानात्तस्य नियतस्य कर्मणः परित्यागः स तामसः परिकीर्तितः, आवश्यकं च त्यज्यते चेति विप्रतिषेधात् ॥ ७ ॥

**दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत् ।**
**स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत् ॥ ८ ॥**

**१ शां. भा.—** किञ्च— दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयाच्छरीरदुःखभयात्त्यजेत्परित्यजेत्, स कृत्वा राजसं रजोनिर्वर्त्यं त्यागं नैव त्यागफलं ज्ञानपूर्वकस्य सर्वकर्मत्यागस्य फलं मोक्षाख्यं न लभेनैव लभेत ॥ ८ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** इतश्च नित्यकर्मत्यागो नाज्ञस्य सम्भवतीत्याह— **किञ्चेति** । ननु मोहं विनैव दुःखात्मकं कर्म कायक्लेशभयात्त्यजति; करणानि हि कार्ये जनयन्ति श्राम्यन्ति च, तथा च न तत्त्यागस्तामसो युक्तस्तत्राऽऽह— **दुःखमित्येवेति** । यत्कर्म दुःखात्मकमशक्यसाध्यमित्येवाऽऽलोच्य ततो निवर्तते देहस्येन्द्रियाणां च क्लेशात्मनो भयात्त्यजति, स तत्त्यक्त्वा रजोनिमित्तं त्यागं कृत्वाऽपि न तत्फलं मोक्षं लभते; किन्तु कृतेनैव राजसेन त्यागेन तदनुरूपं नरकं प्रतिपद्यत इत्याह— **दुःखमित्येवेत्यादिना** ॥ ८ ॥

**३ रा. भा.—** यद्यपि परम्परया मोक्षसाधनभूतं कर्म, तथापि दुःखात्मकद्रव्यार्जनसाध्यत्वात् बह्वायासरूपतया कायक्लेशकरत्वाच्च मनसोऽवसादकरमिति तद्भीत्या योगनिष्पत्तये ज्ञानाभ्यास एव यतनीय इति यो महायज्ञाद्याश्रमकर्म परित्यजेत्, स राजसं रजोमूलं त्यागं कृत्वा तदयथावस्थितशास्त्रार्थरूपमिति ज्ञानोत्पत्तिरूपं त्यागफलं न लभेत; 'अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी' [१८।३१] इति हि वक्ष्यते; न हि कर्म दृष्टद्वारेण मनःप्रसादहेतुः, अपितु भगवत्प्रसादद्वारेण ॥ ८ ॥

**४ वे. ता. चं.—** तदेवमन्तरङ्गतया स्वरूपशब्दव्यपदेश्यस्वरूपनिरूपकधर्मप्राणप्रदधर्मवैपरीत्याभावेऽपि निरूपितस्वरूपविशेषकधर्मवैपरीत्येन राजसीं बुद्धिं वक्ष्यमाणामनुस्मरन् राजसत्यागं विवृणोति— **यद्यपीत्यादिना** । 'दुःखमित्येव' इत्यवधारणात् 'कायक्लेशभयात्' इति चोक्तेरधर्मत्वमोहोऽत्र नास्तीति फलितम् । 'अर्थानामार्जने दुःखम्' [म. भा. ३।२।४४] इत्याद्यनुसारेणाऽऽह— **दुःखात्मकेति** । **मनसोऽवसादकरमिति**— अनवसादो हि विवेकादिसाधनसप्तके गणित इति भावः । अन्तरङ्गबहिरङ्गविरोधे बहिरङ्गत्यागो युक्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **ज्ञानाभ्यास एवेति** । 'यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तम ! । आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्' इत्यनुवादवाक्यान्यस्य मूलम् । 'स कृत्वा राजसं त्यागम्' इत्यनुवादविवक्षितमाह— **अयथावस्थितेति** । वक्ष्यमाणसात्त्विकत्यागफलमिह त्यागफलशब्देन विवक्षितम्, मुमुक्षुप्रकरणत्वात्कर्मत्यागे तत्साध्यस्वर्गादिफलस्य प्रसङ्गाभावाच्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह— **ज्ञानोत्पत्तिरूपमिति** । दुःखात्मकत्वादिप्रयुक्तमनोवसादशङ्कां परिहरति— **न हीति** । 'फलसम्भिभरसया हि' इत्याद्युक्तक्रमेण कर्मभिः प्रसादितो भगवान्मनसोऽनवसादमेव करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ८ ॥

**७ ह. पै. भा.—** दुःखमिति । यत्कर्म कायक्लेशभयाद्दुःखं दुःखतरमिति त्यजेत्स राजसं रजसि भवं त्यागं कृत्वा नैव ज्ञानपूर्वत्यागफलं मोक्षं लभेत् ॥ ८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** राजसं त्यागमाह— दुःखमिति । 'यः' इत्यर्थे 'यत्' इति सामान्ये नपुंसकम् । यः पुनरशुद्धान्तःकरणतया कर्माधिकृतोऽपि कायक्लेशभयाद्दुःखमित्येव कर्म त्यजति स पुरुषो रजोगुणात्मकदुःखमूलकत्वाद्राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं ज्ञाननिष्ठारूपं नैव लभते । अत्र दुःखमित्येव यत्त्यजेदित्यनेन विद्वद्विविदिषाख्यसन्न्यासद्वयात्सीयात्कर्मत्यागाद्वैलक्षण्यं प्रदर्शितम् । तत्र ह्यकर्त्रात्मबुद्ध्यैव कर्मत्यागो न दुःखबुद्ध्या; न वा पुरुषः कर्माणि त्यजति, कर्मभिरेव हि स त्यज्यते; 'न कर्माणि त्यजेद्योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ' [अमनस्को, २।१०२] इति खलु ज्ञानवासिष्ठम् ॥ ८ ॥

९ व० त० दी०— प्रसङ्गादेव राजसमप्याह— दुःखमिति । नियतस्यैव यस्य परम्परया मोक्षसाधनभूतस्यापि दुःखात्मकद्रव्यार्जनसाध्ययज्ञात्मकतया बह्वायासरूपतया च त्यागो राजसः; रजोहेतुकत्वाद्राजसं त्यागं कृत्वा तत्फलं ज्ञाननिष्ठालक्षणं न लभेत; सत्त्वसञ्जातत्वाज्ज्ञानस्येत्यर्थः ॥ ८ ॥

१० पु. अ. त.— राजसमाह— दुःखमित्येवेति । त्यागो भगवद्दासक्त्या भगवदर्थक इत्यज्ञात्वा दुःखमित्येव लौकिकराजससुखप्रतिबन्धकं ज्ञात्वा कायक्लेशभयात् आयाससाध्यभयेन यत्कर्म यस्त्यजेत्, स राजसं त्यागं कृत्वा त्यागफलं मत्प्रसादादिरूपं न लभेदेव, न प्राप्नोत्येवेत्यर्थः ॥ ८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं तामसं त्यागमुक्त्वा राजसं त्यागमाह— दुःखमिति । यो 'दुःखरूपमेवेदं कर्म' इति मत्वा कायक्लेशभयात्त्यजेत् स पुमान् तस्मादेव हेतोः राजसं रजोगुणनिर्वृत्तं त्यागं कृत्वा त्यागफलं चित्तशुद्धिद्वारा मोक्षं नैव लभेत् लभेत ॥ ८ ॥

**कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! ।**
**सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥ ९ ॥**

**१ शां. भा.**— कः पुनः सात्त्विकस्त्यागः ? इत्याह— कार्यमिति । कार्यं कर्तव्यमित्येव यत्कर्म नियतं नित्यं क्रियते निर्वर्त्यते हेऽर्जुन ! सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव । एतन्नित्यानां कर्मणां फलवत्त्वे भगवद्वचनं प्रमाणमवोचाम । अथवा यद्यपि फलं न श्रूयते नित्यस्य कर्मणः, तथापि नित्यं कर्म कृतमात्मसंस्कारं प्रत्यवायपरिहारं वा फलं करोत्यात्मन इति कल्पयत्येवाज्ञः; तत्र तामपि कल्पनां निवारयति 'फलं त्यक्त्वा' इत्यनेन, अतः साधूक्तं— 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं च' इति । स त्यागो नित्यकर्मसु सङ्गफलपरित्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तो मतोऽभिमतः ।

**२ आ. शां. व्या.**— कर्मत्यागस्तामसो राजसश्चेति द्विविधो दर्शितः, सम्प्रति सात्त्विकं त्यागं प्रश्नपूर्वकं वर्णयति— **कः पुनरिति** । 'कर्तव्यमित्येव' इत्येवकारेण नित्यस्य भाव्यान्तरं निषिध्यते । नित्यानां विध्युद्देशे फलाश्रवणात्तेषां फलं त्यक्त्वेत्ययुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **नित्यानामिति** । 'फलं त्यक्त्वा' इत्यस्य विधान्तरेण तात्पर्यमाह— **अथवेति** । न हि विधिना कृतं कर्मानर्थकं, विध्यानर्थक्यात्; तेन श्रौतफलाभावेऽपि नित्यं कर्म विधितोऽनुतिष्ठन्नात्मानमजानन्ननुपहतमनस्त्वोक्त्या तस्मिन्कर्मण्यात्मसंस्कारं फलं कल्पयति तदकरणे प्रत्यवायस्मृत्या तत्करणं कर्तुरात्मनस्तन्निवृत्तिं करोतीति वा नित्ये कर्मण्युक्तां कल्पनामनु निष्पादितफलकल्पनां च 'फलं त्यक्त्वा' इत्यनेन भगवान्निवारयतीत्यर्थः । नित्यकर्मसु फलत्यागोक्तेः सम्भवे फलितमाह— **अत** इति ।

**१ शां. भा.**— ननु कर्मपरित्यागस्त्रिविधः सन्न्यास इति च प्रकृतः, तत्र तामसो राजसश्चोक्तस्त्यागः, कथमिह सङ्गफलत्यागस्तृतीयत्वेनोच्यते ? यथा त्रयो ब्राह्मणा आगतास्तत्र षडङ्गविदौ द्वौ क्षत्रियस्तृतीय इति तद्वत् । नैष दोषः, त्यागसामान्येन स्तुत्यर्थत्वात् । अस्ति हि कर्मसन्न्यासस्य फलाभिसन्धित्यागस्य च त्यागत्वसामान्यं, तत्र राजसतामसत्वेन कर्मत्यागनिन्दया कर्मफलाभिसन्धित्यागः सात्त्विकत्वेन स्तूयते 'स त्यागः सात्त्विको मतः' इति ॥ ९ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— कर्मतत्फलत्यागस्य त्यागसन्न्यासशब्दाभ्यां प्रकृतस्य 'त्यागो हि' [१८।४] इति त्रैविध्यं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञानुरोधेन द्वे विधे व्युत्पाद्य तृतीयां विधां तद्विरोधेन व्युत्पादयतो भगवतोऽकौशलमापतितमिति शङ्कते— **नन्विति** । प्रक्रमप्रतिकूलमुपसंहारवचनमनुचितमित्यत्र दृष्टान्तमाह— **यथेति** । पूर्वोत्तरविरोधेन प्राप्तमकौशलं प्रत्यादिशति— **नैष दोष** इति । कर्मत्यागफलत्यागयोस्त्यागत्वेन सादृश्यात्कर्मत्यागनिन्दया तत्फलत्यागस्तुत्यर्थमिदं वचनमित्युपगमान्न विरोधोऽस्तीत्युक्तमेव व्यक्तीकुर्वन्नादौ त्यागसामान्यं विशदयति— **अस्तीति** । सति सामान्ये निर्देशस्य स्तुत्यर्थत्वं समर्थयते— **तत्रेति** ॥ ९ ॥

**३ रा. भा.**— नित्यनैमित्तिकमहायज्ञादिवर्णाश्रमविहितं कर्म मदाराधनरूपतया कार्यं— स्वयम्प्रयोजनमिति मत्वा सङ्गं कर्मणि ममतां फलं च त्यक्त्वा यत्क्रियते, स त्यागः सात्त्विको मतः स सत्त्व-

मूलः, यथावस्थितशास्त्रार्थज्ञानमूल इत्यर्थः । सत्त्वं हि यथावस्थितवस्तुज्ञानमुत्पादयतीत्युक्तं 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' [ १४।१७ ] इति । वक्ष्यते च–'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ ! सात्त्विकी' [ १८।३० ] इति ॥ ९ ॥

४ वे. ता. चं.— अथ 'त्यागो हि' [१८।४] इत्यादिना स्मारितमेवोद्धृत्य सत्त्वकार्ययथावस्थितज्ञानमूलतया तस्यैव शास्त्रीयत्वं द्रढयति– 'कार्यमित्येव' इति श्लोकेन । 'नियतस्य तु सन्न्यासः कर्मणो नोपपद्यते' [ १८।७ ] इति प्रक्रमादिहापि नियतशब्दः कर्मविशेषणमिति तदर्थमाह **नित्येति** । आहत्य कार्यत्वं हि प्रयोजनस्यैव । तदर्थतयैव हि साधनस्य कार्यता; तस्मादफलस्य कथं कर्तव्यत्वं ? इत्यत्राऽऽह– **मदाराधनरूपतया कार्यमिति** । तदभिप्रेतमाह **स्वयम्प्रयोजनमिति** । कर्तृत्वत्यागोऽप्यत्रानुसन्धेयः । अत एव ह्यनन्तरश्लोके 'त्यागी' इति शब्दः सङ्गफलकर्तृत्वत्यागीति व्याख्यायते ॥ ९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ९ ॥

७ ह. पै. भा.— कार्यमिति । कार्यं कर्म कर्तव्यमित्येव यद्यज्ञादि नियतं नित्यं क्रियते निर्वर्त्यते । सङ्गं फलेच्छाम् । तदा विद्यमानसङ्गफलत्यागः सात्त्विकः सत्त्वनिर्वृत्तः, नियतं नित्यं कर्म सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च त्यक्त्वा यदा क्रियत इतीश्वरवचनान्नित्यकर्मणां सफलत्वं सिद्धम् ॥ ९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— सात्त्विकं त्यागमाह— कार्यमिति । विध्युद्देशे फलाश्रवणेऽपि 'कार्यं कर्तव्यं' एवेति बुद्ध्या नियतं नित्यं यत्कर्म चित्तशुद्धिपर्यन्तं क्रियते । केन प्रकारेण ? सङ्गं कर्तृत्वाभिनिवेशं फलं च त्यक्त्वैव । इदमेव वचनं नित्यकर्मणामपि फलमस्तीत्यत्र प्रमाणमिति भगवता भाष्यकारेण व्यवस्थापितम् । स त्यागः सात्त्विकः सत्त्वमूलकः । 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम्' [ १४।१७ ] इति सत्त्वगुणजन्ययथावस्थितशास्त्रार्थज्ञानमूल इति यावत् । 'मतः' इति मदभिमत इत्यर्थः । 'कर्तव्यानीति मे पार्थ ! निश्चितं मतमुत्तमम्' [ १८।६ ] इति हि प्रागुक्तम् ॥ ९ ॥

९ व० त० दी०— विचक्षणाभिमतं त्यागं सात्त्विकतयाऽऽह— कार्यमिति । नित्यनैमित्तिकमहायज्ञादिवर्णाश्रमविहितं कर्म भगवदाज्ञया तदाराधनरूपत्वात् कर्तव्यमिति यत्क्रियते हेऽर्जुन शुद्धस्वरूप ! तदप्युक्तप्रकारेणेत्याह– सङ्गं कर्मणि ममतां फलं च त्यक्त्वेति । स सात्त्विकः सत्त्वहेतुकत्वात् । एवमपि पुष्टिपुरुषोत्तमश्रयण-( ग्रहण )-मेव सर्वं सन्न्यस्य निर्गुणस्त्यागस्तदाज्ञापरिपालनरूप इत्याचार्याभिमतः ॥ ९ ॥

१० पु. अ. त.— सात्त्विकमाह— **कार्यमित्येवेति** । नियतं भक्त्यङ्गत्वेन कार्यमित्येव मदाज्ञात्वेनावश्यकर्त्तव्यमेव, एवं ज्ञात्वा सङ्गं त्यक्त्वा तत्कर्तृत्वाभिमानं फलं तज्जं स्वर्गादिसुखं च त्यक्त्वा यत्कर्म क्रियते स त्याग एव सात्त्विकः, मदाज्ञारूपकरणेन स्वार्थफलाभावात् सात्त्विकः । अतएव मतः मत्सम्मत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां तामसराजसौ मुख्यावेव त्यागावुक्तौ, तामसराजसयोरमुख्यत्यागयोरसम्भवस्य भगवतैव 'मोहात्तस्य परित्यागः' इति 'कायक्लेशभयात्त्यजेत्' [ १८।८ ] इति च सूचनात् । न ह्येवं सम्भवति मूढश्च करोति चेति विप्रतिषेधात्, यदि करोति नैव मूढः, यदि मूढस्तर्हि नैव करोति । एवं यदि कायक्लेशाद्बिभेति नैव करोति । यदि करोति नैव कायक्लेशाद्बिभेति । तस्मात्करोति च कायक्लेशाद्बिभेति चेति विप्रतिषिद्धम् । अतस्तामसराजसयोरमुख्यत्यागयोरसम्भवात्तौ नैवोक्तौ । सात्त्विकस्त्वमुख्यत्यागः सम्भवति । यथा स्फटिके जपाकुसुमाश्रिते लौहित्यं विवेकिनां प्रतीतित एवास्ति, न वस्तुतः; एवमात्मनि ईश्वराधीने विवेकिनां कर्तृत्वं प्रतीतित एवास्ति, न वस्तुत इति वक्तुं शक्यं; एवं च कर्तृत्वाभिनिवेशशून्यः पुमान् प्रतीतितः करोत्येव, न वस्तुत इति सम्भवति । अमुख्योऽपि सात्त्विकस्त्याग इति तमेव मुख्यत्यागेऽधिकारहेतुं प्रथममाह— कार्यमिति ।

कार्यं कर्तव्यमित्येव यत्कर्म नियतं नित्यं क्रियते हे अर्जुन ! सङ्गं फलं च त्यक्त्वा— एव इत्यवधारणं प्रागुक्तस्यात्यागपक्षस्य व्यावृत्त्यर्थम्— स एवम्भूतस्त्यागः सात्त्विको मतो वेदे दृष्टः । तथा च श्रुतिः— "ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" [ ईशो. १ ] इति । ईशा ईशेन परमेश्वरेण सर्वकार्यकरणकर्त्राऽऽत्मप्रवर्त्तकेन इदं जगत्स्थावरजङ्गमं जगत्यां ब्रह्माण्डे स्थितं वास्यमाच्छादितं व्याप्तम् । येन हेतुना सर्वं तदधीनं तेन कारणेन त्यक्तेन त्यागेन कर्तृत्वभोक्तृत्वाभिमानवर्जनेन

भुञ्जीथाः विषयान् भुङ्क्ष्व । मा गृधः गर्द्धं मा कार्षीः कस्यस्विद्धनं, न कस्यापि तत्र स्वामित्वमस्तीति वृथैव तत्र गर्द्ध इत्यर्थः । एवं कर्माण्यपि यज्ञादीनि कर्तृत्वाभिमानं त्यक्त्वा कुर्वतस्तव कर्मलेपो न भविष्यति । एतद्व्यतिरेकेण तवोपायान्तरं च नास्तीत्यग्रिममन्त्रेण प्रदर्श्यते "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" [ ईशो. २ ] इति । इदमेव मुख्यं स्वमतं भगवता प्रदर्शितं 'एतान्यपि तु कर्माणि' [ १८।६ ] इति श्लोके ।

ननु नित्यानां फलमेव नास्ति किं त्यक्तव्यमिति चेत्, इत एव भगवद्वचनात्तेषामपि फलमस्तीति जानीहि निष्फलस्य वेदेनानुष्ठापनासम्भवात् । तथा चापस्तम्बः—"तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गन्ध इत्यनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते" इति आनुषङ्गिकं फलं नित्यानां दर्शयति । अकरणे प्रत्यवायस्मृत्याऽपि तेषां प्रत्यवायपरिहारः फलमिति प्रदर्श्यते । "धर्मेण पापमपनुदति" [ महाना. १७।६ ] इत्यादिना च नित्येष्वपि कर्मसु फलं दृश्यते तदेव वक्तव्यमिति न कोऽपि दोषः ॥ ९ ॥

आत्मज्ञानवतस्तद्धीनस्य च सात्त्विकत्यागसम्पन्नस्य त्यागिनो लक्षणम् ।

**न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।**
**त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥ १० ॥**
**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः ।**
**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥ ११ ॥**

१ **शां. भा.**— यस्त्वधिकृतः सङ्गं त्यक्त्वा फलाभिसन्धिं च नित्यं कर्म करोति, तस्य फलरागादिनाऽकलुषीक्रियमाणमन्तःकरणं नित्यैश्च कर्मभिः संस्क्रियमाणं विशुद्ध्यति; तद्विशुद्धं प्रसन्नमात्मालोचनक्षमं भवति; तस्यैव नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणस्याऽऽत्मज्ञानाभिमुखस्य क्रमेण यथा तन्निष्ठा स्यात्तद्वक्तव्यमित्याह— **न द्वेष्टीति** । न द्वेष्ट्यकुशलमशोभनं काम्यं कर्म शरीरारम्भद्वारेण संसारकारणं 'किमनेन ?' इत्येवम् । कुशले शोभने नित्ये कर्मणि सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तितन्निष्ठाहेतुत्वेन 'मोक्षकारणमिदं' इत्येवं नानुषज्जते, तत्रापि प्रयोजनमपश्यन्ननुषङ्गं प्रीतिं न करोतीत्येतत् । कः पुनरसौ ? त्यागी, पूर्वोक्तेन सङ्गफलपरित्यागेन तद्वांस्त्यागी, यः कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा तत्फलं च नित्यकर्मानुष्ठायी स त्यागी ।

२ **आ. शां. व्या.**— एवं पूर्वापरविरोधं पराकृत्यानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह— **यस्त्विति** । फलरागादिनेत्यादिशब्देन कर्मस्वरूपासङ्गो गृह्यते । अन्तःकरणं 'अकलुषीक्रियमाणं' इति च्छेदः । विशुद्धेऽन्तःकरणे किं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **विशुद्धमिति** । मलविकलत्वं विशुद्धत्वं संस्कारवत्त्वं प्रसन्नत्वमिति भेदः क्रमेण श्रवणाद्यावृत्तिद्वारेणेत्यर्थः । तन्निष्ठेत्यात्मज्ञाननिष्ठोक्ता । काम्यकर्मणि त्याज्यत्वेन द्वेषमभिनयति— किमिति । उभयत्र द्वेषं प्रीतिं च न करोतीति सामान्येनोक्तं कर्तारं प्रश्नपूर्वकं विशेषतो निर्दिशति— **कः पुनरिति** । त्यागीत्युक्तं त्यागिनमभिव्यनक्ति— **पूर्वोक्तेनेति** । कर्मणि सङ्गस्य तत्फलस्य च त्यागेनेति यावत् । उक्तमेव त्यागिनं विवृणोति— **यः कर्मणीति** । तत्फलं त्यक्त्वेति सम्बन्धः । काम्ये निषिद्धे च कर्मणि बन्धहेतुरिति न द्वेष्टि नित्ये नैमित्तिके च मोक्षहेतुरिति न प्रीयते ।

१ **शां. भा.**— कदा पुनरसावकुशलं कर्म न द्वेष्टि, कुशले च नानुषज्जते ? इत्युच्यते— **सत्त्वसमाविष्टो** यदा सत्त्वेनाऽऽत्मनाऽऽत्मविवेकविज्ञानहेतुना समाविष्टः संव्याप्तः, संयुक्त इत्येतत् । अत एव च मेधावी मेधयाऽऽत्मज्ञानलक्षणया प्रज्ञया संयुक्तस्तद्वान्मेधावी, मेधावित्वादेव छिन्नसंशयश्छिन्नोऽविद्याकृतः संशयो यस्य 'आत्मस्वरूपावस्थानमेव परं निःश्रेयससाधनं, नान्यत्किंचित्' इत्येवं निश्चयेन छिन्नसंशयः । योऽधिकृतः पुरुषः पूर्वोक्तेन प्रकारेण कर्मयोगानुष्ठानेन क्रमेण संस्कृतात्मा सञ्जन्मादिविक्रियारहितत्वेन

निष्क्रियमात्मानमात्मत्वेन सम्बुद्धः सः ‘सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य’ ‘नैव कुर्वन्न कारयन्नासीनः’ [५।१३] नैष्कर्म्यलक्षणां ज्ञाननिष्ठामश्नुत इत्येतत्पूर्वोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रयोजनमनेन श्लोकेनोक्तम् ॥ १० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— तत्र कालविशेषं पृच्छति— **कदे**ति। नित्यादिकर्मणां फलाभिसन्धिवर्जितेन क्षपितकल्मषस्य सत्त्वं यथार्थग्रहणसमर्थमुद्बुध्यते तेन समावेशदशायामुक्तप्रीतिद्वेषयोरभावो भवतीत्याह— **उच्यत** इति। अत एवेति समुद्बुद्धयथार्थग्रहणसमर्थसमाविष्टत्वादित्यर्थः। छिन्नसंशयत्वमेव विशदयति— **आत्मे**ति। परं निःश्रेयसं तस्य च साधनं सम्यग्ज्ञानमेवेति योजना। ‘न द्वेष्टि’ इत्यादिना श्लोकेनोक्तमर्थं सङ्क्षिप्यानुवदति— **योऽधिकृत** इति। पूर्वोक्तप्रकारेणेति कर्मणि तत्फले च सङ्गत्यागेनेत्यर्थः। कर्मात्मनो योगस्यानुष्ठानेन संस्कृतात्मा सन्क्रमेण श्रवणाद्यनुष्ठानद्वारेण कूटस्थं ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन सम्बुद्ध इति सम्बन्धः। परस्य निष्क्रियत्वे हेतुमाह— **जन्मा**दीति। उक्तज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागद्वारा मुक्तिभाक्त्वं दर्शयति— **स सर्वे**ति ॥ १० ॥

**१ शां. भा.**— यः पुनरधिकृतः सन्देहात्माभिमानित्वेन देहभृदज्ञोऽबाधितात्मकर्तृत्वविज्ञानतयाऽहं कर्तेति निश्चितबुद्धिस्तस्याशेषकर्मपरित्यागस्याशक्यत्वात्कर्मफलत्यागेन चोदितकर्मानुष्ठान एवाधिकारः, न तत्त्याग इत्येतमर्थं दर्शयितुमाह— न हि यस्माद्देहभृता-देहं बिभर्तीति देहभृत्, देहात्माभिमानवान्देहभृदुच्यते, न विवेकी; स हि ‘वेदाविनाशिनं’ [ २।२१ ] इत्यादिना कर्तृत्वाधिकारान्निवर्तितः— अतस्तेन देहभृताऽज्ञेन न शक्यं त्यक्तुं सन्न्यसितुं कर्माण्यशेषतो निःशेषेण। तस्माद्यस्त्वज्ञोऽधिकृतो नित्यानि कर्माणि कुर्वन्कर्मफलत्यागी कर्मफलाभिसन्धिमात्रसन्न्यासी सः ‘त्यागी’ इत्यभिधीयते कर्म्यपि सन्निति स्तुत्यभिप्रायेण। तस्मात्परमार्थदर्शित्वेनैवादेहभृता देहात्मभावरहितेनाशेषकर्मसन्न्यासः शक्यते कर्तुम् ॥ ११ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— आत्मज्ञानवतः सर्वकर्मत्यागसम्भावनामुक्त्वा तद्धीनस्य तदसम्भवे हेतुवचनत्वेनानन्तरश्लोकमवतारयति— **यः पुनरि**ति। न बाधितमात्मनि कर्तृत्वविज्ञानमस्येत्यज्ञस्तथा, तस्य भावस्तत्ता; तयेति यावत्; एतमर्थं दर्शयितुमज्ञस्य सर्वकर्मसन्न्यासासम्भवे हेतुमाहेति योजना। ‘यस्मात्’ इत्यस्य ‘तस्मात्’ इत्युत्तरेण सम्बन्धः। विवेकिनोऽपि देहधारितया देहभृत्त्वाविशेषे कर्माधिकारः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **न ही**ति। कर्तृत्वाधिकारस्तत्पूर्वकं कर्मानुष्ठानं तस्मादिति यावत्। ज्ञानवतो देहधारणेऽपि तदभिमानित्वाभावोऽतःशब्दार्थः। अज्ञस्य सर्वकर्मत्यागायोगमुक्तं हेतूकृत्य फलितमाह— **तस्मादि**ति। कर्मानुष्ठायिनस्त्यागित्वोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **कर्म्यपी**ति। कर्मिणोऽपि फलत्यागेन त्यागित्ववचनं फलत्यागस्तुत्यर्थमित्यर्थः। कस्य तर्हि सर्वकर्मत्यागः सम्भवति ? इत्याशङ्क्य विवेकवैराग्यादिमतो देहाभिमानहीनस्येत्युक्तं निगमयति— **तस्मादि**ति ॥ ११ ॥

**३ रा. भा.**— एवं सत्त्वसमाविष्टो मेधावी यथावस्थिततत्त्वज्ञानस्तत एव च्छिन्नसंशयः कर्मणि सङ्गफलकर्तृत्वत्यागी न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म, कुशले च कर्मणि नानुषज्जते; अकुशलं कर्मानिष्टफलं, कुशलं च कर्मेष्टरूपस्वर्गपुत्रपश्वन्नाद्यादिफलम्, सर्वस्मिन् कर्मणि ममतारहितत्वात्; त्यक्तब्रह्मव्यतिरिक्तसर्वफलत्वात्, त्यक्तकर्तृत्वत्वाच्च तयोः क्रियमाणयोः प्रीतिद्वेषौ न करोति, अनिष्टफलं पापं कर्मात्र प्रामादिकमभिप्रेतं “नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्” [ कठो. १।२।२३ ] इति दुश्चरिताविरतेर्ज्ञानोत्पत्तिविरोधित्वश्रवणात्; अतः कर्मणि कर्तृत्वसङ्गफलानां त्यागः शास्त्रीयत्यागः, न कर्मस्वरूपत्यागः ॥ १० ॥

**४ वे. ता. चं.**— सत्त्वादिमूलशास्त्रीयत्यागयुक्तस्य ‘वर्तते सात्त्विको भाव इत्युपेक्षेत तत्तदा’ ‘उदासीनवदासीनः’ [१४।२३] इत्यादिप्रसिद्धं विकाराभावरूपं लक्षणमुच्यते— ‘न द्वेष्टि’ इति श्लोकेन। तेनोक्तलक्षणत्यागस्य सत्त्वमूलत्वमप्युपपादितं भवति। तत्र हेतुकार्यक्रमौचित्येन भिन्नक्रमतया व्याख्याति **सत्त्वसमाविष्ट** इत्यादिना। ‘धीर्धारणावती मेधा’ [ अमरः १।५।२ ] इति नैघण्टुकाः। श्रुतिश्च— “मेधा मनीषेमा विशतां समीची भूतस्य भव्यस्यावरुध्यै” [ आरण्य. ५।४२ ] इति। अत आचार्योपदिष्टेष्वर्थेषु अप्रच्युतेरन्यासङ्कराच्च फलितमाह— **यथावस्थिततत्त्वज्ञान** इति। अत्र शुभाशुभपर्यायकुशलाकुशलशब्दाभ्यां प्रतिषिद्ध्यमानद्वेषसङ्गहेत्वनुवाद इत्यभिप्रायेणानिष्टफलत्वाद्युक्तिः। ‘त्यागी’ इत्युक्तस्य त्यागस्य हेतुतां विवृणोति— **सर्वस्मिन्नि**त्यादिना। यथाऽन्यदीयेऽन्यकर्तृके कर्मणि स्वसम्बन्धविरहाद्बाधकाद्यभाव-

निश्चयेन द्वेषाद्यभावः, तथाऽत्रापीत्यभिप्रायः। अननुष्ठानदशायां हि हर्षद्वेषप्रसङ्गाभावात् **क्रियमाणयोरित्युक्तम्** । ननु 'कुशले नानुषज्जते' इत्येतद्युक्तं, स्वर्गादिनिस्सङ्गतामात्रेण काम्यानुष्ठानेऽपि तत्फलानन्वयशास्त्रात्; 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म' इति तु विरुद्धं, फलसङ्गाभावे सत्येव निषिद्धानां फलान्वयात्, अन्यथा क्वचिदपि प्रत्यवायाभावप्रसङ्गात्। न हि नरकादिकं कस्यचिदिष्टं स्यात्। एवं दृष्टप्रत्यवायहेतुष्वप्यद्वेषो न युक्त इत्यत्र प्रामादिकविषयत्वेन परिहार उक्तः। नन्वधिकारिविशेषे बुद्धिपूर्वैरपि पापकर्मभिरलेपः किं न स्यात्? इत्यत्राऽऽह— **नाविरत** इति। एतच्छ्लोकार्थं प्रकृतहेतुतया घटयन्परमप्रकृतं निगमयति— **अत** इति ॥ १० ॥

**३ रा. भा.— तदाह— न हीति । नहि देहभृता ध्रियमाणशरीरेण कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं शक्यं, देहधारणार्थानामशनपानादीनां तदनुबन्धिनां च कर्मणामवर्जनीयत्वात्; तदर्थं च महायज्ञाद्यनुष्ठानमवर्जनीयम्। यस्तु तेषु महायज्ञादिकर्मसु फलत्यागी, स एव "त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" [ कै. उ.२+ महाना. ८।१४ ] इत्यादिशास्त्रेषु त्यागीत्यभिधीयते। फलत्यागीति प्रदर्शनार्थः फलकर्तृत्वकर्मसङ्गानां त्यागीति 'त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' [ १८।४ ] इति प्रक्रमात् ॥ ११ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— 'नियतस्य' [ १८।७ ] इत्यादिप्रतिपादितयुक्तिविवरणपूर्वकं फलत्यागेनोपलक्षणेन प्रागुक्तत्रिविधोऽपि सात्त्विकत्यागो 'नहि' इति श्लोकेन निगम्यत इत्याह— **तदाहेति**। अत्र 'देहभृता' इति न प्राणिमात्रनिर्देशः, अनुपयोगात्। अतः कर्मस्वरूपत्यागाशक्यताहेतुरवयवार्थो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाऽऽह **ध्रियमाणशरीरेणेति**। 'शक्यम्' इति त्यजनपरत्वान्नपुंसकत्वैकत्वे, सामान्यरूपविवक्षणाद्वा। देहभृत्त्वहेतुकमशक्यत्वं विवृणोति **देहधारणार्थानामिति**। तदनुबन्धिनोऽर्थार्जनादयो भवन्तु लौकिकानि; किं शास्त्रीयैः? इत्यत्राऽऽह **तदर्थं चेति**। श्रुतिस्वारस्यहेतुकां स्वरूपत्यागशङ्कां परिहर्तुं 'यस्तु' इत्यादिकमुच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह **यस्त्विति**। 'अभिधीयते' इत्यस्य कैरित्याकाङ्क्षाशमनाय 'त्यागेनैके' इत्यादिश्रुत्युपपादनम्। प्रक्रान्तनिगमनपरत्वेन प्रदर्शनार्थतां द्रढयति— **त्रिविध** इति। ॥ ११ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ १० ॥ अन्यस्त्यागार्थो न युक्त इत्याह— न हीति ॥ ११ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ १० ॥ ननु 'इति मे पार्थ' [१८।६] इति भगवता स्वसिद्धान्तो निष्टङ्कितः, अतो 'न हि देहभृता' इति किमुच्यते? इत्यत आह— **अन्य** इति। सर्वकर्मपरित्यागलक्षणस्त्यागार्थस्त्यागशब्दार्थः। पूर्वपक्षबीजनिरासार्थमिति शेषः ॥ ११ ॥

**७ ह. पै. भा.— न द्वेष्टीति । न द्वेष्टि न क्रुध्यति अकुशलं दुःखसाधनं कर्म हेमन्ते प्रातस्स्नानम्। कुशले सुखसाधनेऽपि तस्मिन्नेव कालेऽग्निसेवादौ नानुषज्जते। त्यागी कर्मफलानां सत्त्वसमाविष्टः सात्त्विको मेधावी विवेकी । अत एव च्छिन्नसंशयः, सत्त्वशुद्ध्यर्थं नित्यानि कर्तव्यानीति निश्चयात् ॥ १० ॥ न हीति । देहं बिभर्तीति देहभृदविद्यावान्देहात्मदर्शी, तेन देहभृता कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं न शक्यम्। यस्तु विद्यया सत्त्वशुद्ध्यर्थं कर्माणि कुर्वन्कर्मफलत्यागी स कर्मसन्न्यासीति स्तूयते ॥ ११ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— तदेवमज्ञस्य मुमुक्षोः सर्वकर्मत्यागः सर्वकर्मफलमात्रत्यागो वा सन्न्यास इति विवादपदे त्यागे 'त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' [ १८।४ ] इति त्रैविध्यं प्रतिज्ञाय सर्वकर्मत्यागपक्षं तामसराजसत्वाभ्यां निन्दित्वा सर्वकर्मफलत्याग एव सात्त्विकत्वेन ग्राह्य इति सिद्धान्तितम्; अथास्य सात्त्विकत्यागस्य फलमाह— **न द्वेष्टीति**। त्यागी उक्तसात्त्विकत्यागवान् सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वेन ज्ञानप्रतिबन्धकरजस्तमोमलापकर्षरूपेण ज्ञानोत्पत्तियोग्यताख्यगुणाधानरूपेण च चित्तगतातिशयेन समाविष्टो व्याप्तः, शुद्धचित्त इति यावत्। ततो मेधावी साधनचतुष्टयसम्पत्तिगुरूपसदनवेदान्तश्रवणादिप्रणाड्या समुपजातब्रह्मात्मतत्त्वसाक्षात्कारः; ततश्छिन्नसंशयः "छिद्यन्ते सर्वसंशयाः" [ मुं. उ.२।२।८ ] इति श्रुत्युक्ताविद्यिकसकलसंशयविपर्ययच्छेदसम्पन्नः, तदानीं च "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि" [ मुं. उ.२।२।८ ] इति क्षीणकर्मत्वादकुशलमशोभनं पापं कर्म न द्वेष्टि न प्रतिकूलं मन्यते, कुशले शोभने पुण्ये कर्मणि नानुषज्जते न प्रीतिं करोति; अकर्त्रात्मज्ञानविनिवृत्ताविद्यातत्कार्यनिखिलकर्मकलापत्वेन तस्य पुण्यपापाभ्यामसम्बन्धात् प्रारब्धोपनतयोश्च पुण्यपापयोः "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्" [ ] इत्यादिश्रुतिभिर्ज्ञानिनि सम्बन्धाभावप्रतिपादनात्। तथा च सात्त्विकत्यागिनश्चित्तशुद्धिद्वारा सर्वकर्मसन्न्यासरूपज्ञाननिष्ठा फलमित्यर्थः ॥ १० ॥

न केवलं कर्मफलत्यागस्य सर्वकर्मसन्न्यासफलकत्वादज्ञेन मुमुक्षुणा प्रथममनुष्ठेयत्वम्, किन्तु सर्वकर्मत्यागस्याशक्यत्वा-

दपीति प्रतिपादयन्नेतावता ग्रन्थेनोक्तमर्थमुपसंहरति— न हीति । देहं बिभर्तीति देहभृत् देहात्माभिमानी । स हि देहधर्मान्वर्णाश्रमानात्मन्यध्यस्य तत्तद्विहितकर्माणि कुर्वंस्तदारब्धदेहभरणं करोति । तेन देहभृता हि यस्मादशेषतः सर्वाणि कर्माणि त्यक्तुं न शक्यम् , 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' [ ३।५ ] इति प्रागुक्तेः । न चैवंफलभूतः सर्वकर्मसन्न्यासोऽपि कथं स्यात् ? इति वाच्यम् ; न हि सर्वकर्मसन्न्यासो नाम कस्यापि कर्मणोऽकरणं येनैवं स्यात् , किन्त्वकर्त्रात्मज्ञानेन सर्वकर्मणामात्मनि मिथ्यात्वबोधः; स चाज्ञस्य न घटत इति सर्वकर्मस्वरूपत्याग एव स वक्तव्यः, स चाशक्य इति भावः । शक्यमिति चाव्ययम् , 'शक्यं च स्वमांसेनापि क्षुत्प्रतिहन्तुम्' इति महाभाष्ये प्रयोगात् , 'शक्यमञ्जलिभिः पातुं वाताः केतकगन्धिनः' इत्यादिदर्शनाच्च; अतः 'कर्माणि शक्यम्' इत्युक्तिरुपपन्ना । यस्तु कर्मफलत्यागीत्युपसंहारः ॥ ११ ॥

९ ब० त० दी०— एवम्भूतस्य लक्षणमाह— न द्वेष्टीति । सत्त्वसमाविष्टस्त्यागी बुद्धिमान् अकुशलं कर्मानिष्टफलकं, कुशले चेष्टस्वर्गादिफलके कर्मणि नानुषज्जते, त्यक्तात्मसुखातिरिक्तफलत्वात् , त्यक्तकर्तृत्वाच्च । अत्राकुशलं कर्म प्रमादिनमभिप्रेत्योक्तम् "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्" [ कठो.२।२४+ ना.प.९।१९+ महो.४।६९ ] इति दुश्चरिताविरतस्य प्रमादिनो ज्ञानतोऽप्यात्मसुखानवाप्तिश्रवणात् । अतः कर्मणि कर्तृत्वसङ्गफलानां त्यागः शास्त्रीयः, न तु स्वरूपतस्त्याग इति । तदाह- नहीति । नहि ध्रियमाणदेहेन कर्माण्यशेषतस्त्यक्तुं शक्यन्त इत्यर्थे शक्यमव्ययम् । देहधारणार्थानां अशनपानादीनां तदनुबन्धानां च कर्मणामवर्जनीयत्वात् , तदर्थं च महायज्ञादिकर्माण्यवर्जनीयमेव । तत्र यः तेषु यज्ञादिकर्मसु फलत्यागी— फलेत्युपलक्षणं कर्तृत्वममतयोरपि— स एष "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" [ महाना. ८।१४+कैव.२ ] इत्यादौ त्यागीत्यभिधीयते ॥ १० ॥ ११ ॥

१० पु. अ. त.— ननु सङ्गं फलं च त्यक्त्वा यत्कर्म करोति तस्य त्यागरूपता सात्त्विकता च कथं सम्पद्यते? इत्याशङ्क्याऽऽह- न द्वेष्टीति । अकुशलं स्वरूपतः क्लेशादिसाधकं पश्चाच्च दुःखाप्तिरूपं तादृशं न द्वेष्टि, किन्तु भगवदाज्ञारूपत्वात्तत्समये पुनः करणादत एव भवेत् । कुशले कृतकर्मजातसुखोऽपि मदाज्ञाव्यतिरिक्तोत्तमत्वज्ञानेन सत्त्वसमाविष्टः सत्त्वात्मकधैर्यवान् न अनुषज्जते नाऽऽसक्तो भवतीत्यर्थः । तत्र हेतुः-मेधावी बुद्धिमान् , छिन्नसन्देहः मदिच्छयैव सुखदुःखादिज्ञानेन कर्मसु द्वेषासक्तिरहितो यः स त्यागी इति ज्ञातव्य इत्यर्थः ॥ १० ॥ ननु कर्मफलत्यागे तत्करणं किंप्रयोजनम् ? इत्यत आह— न हीति । देहभृता देहाध्यासवता अशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यम् । हीति युक्तश्चायमर्थः । देहाध्यासे फलापेक्षणात् लोकापेक्षणाच्च कथं त्यागः कर्तव्यः? इति । यतो यस्तु यश्च पुनः कर्मफलत्यागी कृतकर्मणां फलानभिलाषी स 'त्यागी' इति अभिधीयते ॥ ११ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं मुख्यं सात्त्विकत्यागमुक्त्वाऽमुख्यं तमाह— न द्वेष्टीति । सत्त्वेन सम्यगाविष्टो व्याप्तस्त्यागी मुख्यः सात्त्विकस्त्यागी सन्न्यासीत्यर्थः । अकुशलमसुखप्रदं कर्म त्रिषवणस्नानचतुर्गुणशौचभिक्षाटनादिप्रयासरूपं न द्वेष्टि । कुशले मिष्टान्नभिक्षादौ नानुषज्जते न सङ्गं काकवत्प्रीतिं करोति । यद्वा कर्मकुशले संवादिकर्मकुशले शिष्यादौ नानुषज्जते तत्राकुशलं वा तं न द्वेष्टि । एतेन रागद्वेषशून्यत्वमस्य दर्शितम् । तदपि कुतः ? इत्यपेक्षायामाह— मेधावीति । ऊहापोहकुशलतया नित्यानित्यवस्तुविवेचनादौ प्रज्ञावान्; अत एव छिन्नसंशयः 'किं कर्माण्येव मुक्तिसाधनानि उत सन्न्यास एव ?' इति विचिकित्सारहितः ।

एवं च 'त्यागी' इत्यनेन 'यज्ञो दानं तपः कर्म न त्याज्यं' [ १८।५ ] इत्युक्तादत्यागाद्व्यावृत्तिः । 'मेधावी' इत्यनेन 'मोहात्तस्य परित्यागः' [ १८।७ ] इत्युक्तात्तामसत्यागाद्व्यावृत्तिः । पूर्वार्द्धेन रागद्वेषाभावप्रतिपादनेन 'कायक्लेशभयात्त्यजेत्' [ १८।८ ] इत्युक्ताद्राजसत्यागाद्व्यावृत्तिः । 'छिन्नसंशयः' इत्यनेन 'कार्यमित्येव यत्कर्म' [ १८।९ ] इत्युक्तादमुख्यसात्त्विकत्यागाद्व्यावृत्तिः । न ह्यसौ कर्मणां तुच्छत्वं सन्न्यासस्य महाभाग्यत्वं च तत्त्वतो वेद, वेद चेत्क्षणमपि कर्मसु न तिष्ठेत् । न हि दाहोपशमार्थी निकटस्थं जाह्नवीमहाह्रदं जानन् ग्रीष्मोष्मप्रतप्तपाथसि पल्वले क्षणमपि रमेत । संशयच्छेदेऽपि हेतुः सत्त्वसमाविष्ट इति । यतः सत्त्वेनैव कर्त्रा सम्यगाविष्टोऽयं, न स्वयं सत्त्वमाश्रित इति महान्विशेषः । एवं च पूर्वश्लोकोक्तस्य सात्त्विकत्यागरूपस्य कर्मयोगस्य फलभूतोऽयं मुख्यः सन्न्यासो विविदिषूणामनुष्ठेयः "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्" [जाबालो. ४] "एतमेव प्रव्राजिनो लोकमन्विच्छन्तः प्रव्रजन्ति" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इति श्रुतिप्रसिद्धः ।

(शां.) भाष्ये तु [ १८।९ ] "ननु कर्मपरित्यागस्त्रिविधः सन्न्यास इति च प्रकृतः, तत्र तामसो राजसश्चोक्तस्त्यागः कथमिह सङ्गफलत्यागस्तृतीयत्वेनोच्यते ? यथा त्रयो ब्राह्मणा आगतास्तत्र षडङ्गविदौ द्वौ क्षत्रियस्तृतीयः इति तद्वत्। नैष दोषः त्यागसामान्येन स्तुत्यर्थत्वात्। अस्ति हि कर्मसन्न्यासस्य फलाभिसन्धित्यागस्य च त्यागत्वं सामान्यम्। तत्र राजसतामसत्वेन कर्मत्यागनिन्दया कर्मफलाभिसन्धित्यागः सात्विकत्वेन स्तूयते 'स त्यागः सात्त्विको मतः' इति ग्रन्थेन त्यागत्रैविध्यं समाधायैवं सङ्गफलत्यागपूर्वकं नित्यकर्मानुष्ठानेन विशुद्धान्तःकरणस्यात्मज्ञानाभिमुखस्य तन्निष्ठाक्रमकथनार्थोऽयं श्लोक इत्युक्तम्। तथैव श्लोकं व्याख्याय "पूर्वोक्तस्य कर्मयोगस्य प्रयोजनमनेन श्लोकेनोक्तं" इत्युपसंहृतम्। अन्ये तु फलाभिसन्धिविशिष्टस्य कर्मणस्त्यागस्त्रिविधः विशेषणाभावाद्विशेष्याभावादुभयाभावाच्च। आद्योऽत्रैव विधित्सितः, द्वितीयस्तु तामसराजसभेदेन द्विविधोऽप्यत्रैव निन्दितः; तृतीयस्तु कर्मानधिकारिणा विविदिषुणा। विदुषा च कर्तुं योग्यो द्विविधः। तत्रान्त्यः स्थितप्रज्ञलक्षणादौ प्राग्व्याख्यातः। आद्यस्तु 'नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां' [ १८।४९ ] इत्यत्र वक्ष्यते। तत्र भाष्ये तिस्रस्त्यागविधाः प्रतिज्ञाय द्वे यथावत्प्रदर्श्य तृतीयाऽपि केनचित्सामान्येन प्रतिपादिता। अत्र तु एकस्यां द्वयोरन्तर्भावं कृत्वा द्वे एव विधे उपपाद्य तृतीया प्रदेशान्तरे प्रक्षिप्तेति प्रकृते प्रतिज्ञाया अनिर्वाह इति विशेषः ॥१०॥

अमुख्यमेव सात्त्विकं त्यागमनूद्य तत्प्रयोजनमाह द्वाभ्यां— न हीति। देहभृता देहाभिमानिना हि यस्मादशेषतः कर्माणि त्यक्तुं न शक्यं अशक्यं, प्राणयात्रालोपप्रसङ्गात्; तस्मादधिकृतः सन् यः कर्मफलत्यागशीलः— तुशब्द एवार्थे— स एव त्यागीत्युच्यते। यस्त्वशेषतः कर्माणि त्यक्तुं शक्नोति परमार्थदर्शी स मुख्यस्त्यागीत्यर्थः ॥ ११ ॥

अज्ञानां केवलज्ञाननिष्ठानां च कर्मणः त्रिविधफलप्राप्तिनिर्णयः।

**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।**
**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्॥ १२ ॥**

१ **शां. भा.**— किं पुनस्तत्प्रयोजनं यत्सर्वकर्मपरित्यागात्स्यात्? इत्युच्यते— **अनिष्टमिति**। अनिष्टं नरकतिर्यगादिलक्षणं, इष्टं देवादिलक्षणं, मिश्रमिष्टानिष्टसंयुक्तं मनुष्यलक्षणं चैवं त्रिविधं त्रिप्रकारं कर्मणो धर्माधर्मलक्षणस्य फलं बाह्यानेककारकव्यापारनिष्पन्नं सदविद्याकृतमिन्द्रजालमायोपमं महामोहकरं प्रत्यगात्मोपसर्पीव फल्गुतया लयमदर्शनं गच्छतीति फलमिति फलनिर्वचनं तदेतदेवंलक्षणं फलं भवत्यत्यागिनामज्ञानां कर्मिणामपरमार्थसन्न्यासिनां प्रेत्य शरीरपातादूर्ध्वम्। न तु सन्न्यासिनां परमार्थसन्न्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां केवलज्ञाननिष्ठानां क्वचित्। न हि केवलसम्यग्दर्शननिष्ठा अविद्यादिसंसारबीजं नोन्मूलयन्ति कदाचिदित्यर्थः ॥ १२ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— उक्ताधिकारिणः सर्वकर्मसन्न्यासासम्भवेऽपि फलाभावे कुतस्तस्य कर्तव्यता? इति शङ्कते— **किं पुनरिति**। गौणस्य मुख्यस्य वा सन्न्यासस्य फलं विपृच्छिषितमिति विकल्पयति— **उच्यत** इति। सर्वकर्मत्यागो नाम तदनुष्ठानेऽपि तत्फलाभिसन्धित्यागः। स चामुख्यसन्न्यासस्तस्य फलमाह— **अनिष्टमिति**। मुख्ये तु सन्न्यासे सर्वकर्मत्यागे सम्यग्धीद्वारा सर्वसंसारोच्छित्तिरेव फलमित्याह— **न त्विति**। पादत्रयं व्याकरोति— **अनिष्टमित्यादिना**। तिर्यगादीत्यादिपदमवशिष्टनिकृष्टयोनिसङ्ग्रहार्थं, देवादीत्यादिपदमवशिष्टोत्कृष्टयोनिग्रहणायेति विभागः। फलशब्दं व्युत्पादयति— **बाह्येति**। करणद्वारकमनेकविधत्वमुक्त्वा मिथ्यात्वमाह— **अविद्येति**। तत्कृतत्वेन दृष्टिमात्रदेहत्वे दृष्टान्तमाह— **इन्द्रेति**। प्रतीतितो रमणीयत्वं सूचयति— **महामोहेति**। अविद्योत्थस्याविद्याश्रितत्वादात्माश्रितत्वं वस्तुतो नास्तीत्याह— **प्रत्यगिति**। उक्तं फलं कर्मिणामिष्यते चेदमुख्यसन्न्यासफलोक्तिपरत्वं पादत्रयस्य कथमिष्टं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अपरमार्थेति**। फलाभिसन्धिविकलानां कर्मिणां देहपातादूर्ध्वं कर्मानुरोधिफलमावश्यकमित्यर्थः। कर्मिणामेव सतामफलाभिसन्धीनाममुख्यसन्न्यासित्वात्तदीयामुख्यसन्न्यासस्य फलमुक्त्वा चतुर्थपादं व्याचष्टे— **न त्विति**। अमुख्यसन्न्यासमनन्तरप्रकृतं व्यवच्छिनत्ति— **परमार्थेति**। तेषां प्रधानं धर्ममुपदिशति— **केवलेति**। क्वचिद्देशे काले वा नास्ति यथोक्तं फलं तेषामिति सम्बन्धः। तर्हि परमार्थसन्न्यासोऽफलत्वान्नानुष्ठीयेतेत्याशङ्क्य तस्य मोक्षावसायित्वान्मैवमित्याह— **न हीति** ॥ १२ ॥

**३ रा. भा.**— ननु कर्माण्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादीनि महायज्ञादीनि च स्वर्गादिफलसम्बन्धितया शास्त्रैर्विधीयन्ते; नित्यनैमित्तिकानामपि 'प्राजापत्यं गृहस्थानाम्' [ वि. पु. १।६।३७ ] इत्यादिफलसम्बन्धितयैव हि चोदना; अतस्तत्फलसाधनस्वभावतयाऽवगतानां कर्मणामनुष्ठाने बीजावापादीनामिवानभिसंहितफलस्यापीष्टानिष्टरूपफलसम्बन्धोऽवर्जनीयः; अतो मोक्षविरोधिफलत्वेन मुमुक्षुणा न कर्मानुष्ठेयमित्यत उत्तरमाह— **अनिष्टमिति** ।

**४ वे. ता. चं.**— लौकिकफलसाधनकर्मप्रक्रिययैव हि वैदिकानामपि फलसाधनत्वव्यवस्थापनम् । लौकिकानि च कर्माणि फलेच्छाभावेऽपि स्वशक्त्यनुरूपं फलन्ति । एवं वैदिकेष्वपीत्यभिप्रायेण शङ्कते— **नन्विति** । नन्वग्निहोत्रादीनां महायज्ञादीनां च विनियोगपृथक्त्वेन आश्रमाङ्गत्वस्वर्गाद्यर्थत्वाविरोधात् स्वर्गाद्यर्थतयाऽनुष्ठानं मा भूत्, आश्रमार्थतयाऽनुष्ठाने तु को विरोधः ? इत्यत्राऽऽह— **नित्यनैमित्तिकानामपीति** । बीजावापादिदृष्टान्तेन 'अकुशलम्' [ १८।१० ] इत्युक्तस्य प्रामादिकस्यापि बन्धकत्वं सूचितम् । न हि भूमौ प्रमादनिपतितं बीजं न फलति (?) । तस्मादमृतरसार्थिनो विषतरुबीजावापतुल्योऽयं कर्मकलाप इत्यभिप्रायेण फलितं स्वरूपत्यागमाह— **अत** इति ।

**३ रा. भा.**— अनिष्टं नरकादिफलम्, इष्टं स्वर्गादि, मिश्रमनिष्टसम्भिन्नं पुत्रपश्वन्नादि; एतत्त्रिविधं कर्मणः फलं अत्यागिनां कर्तृत्वममताफलत्यागरहितानां प्रेत्य भवति, प्रेत्य कर्मानुष्ठानोत्तरकालमित्यर्थः । न तु सन्न्यासिनां क्वचित्— न तु कर्तृत्वादिपरित्यागिनां क्वचिदपि मोक्षविरोधि फलं भवति ।

**४ वे. ता. चं.**— अमुमुक्षूणामिदमनिष्टत्वादित्रैविध्यम्, मुमुक्ष्वपेक्षया स्वर्गादेरप्यनिष्टत्वादित्यभिप्रायेण नरकस्वर्गादिकथनम् । कारीर्यादिसाध्यवृष्ट्यादिफलानां जीवद्दशाभावित्वस्थितेः । 'प्रेत्य' इति प्रदर्शनार्थम्; अन्यथा तस्मिन्नेव शरीरे त्यागिनामपि त्रिविधस्यापि फलस्य आरम्भानुमतिप्रसङ्गात्; 'न तु सन्न्यासिनां क्वचित्' इति व्यतिरेकोक्त्या तस्यापि बाधाच्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह **कर्मानुष्ठानोत्तरकालमिति** । अत्राप्यनिष्टफलानन्वयः पूर्वोक्तरीत्या प्रामादिककर्मविषयो मन्तव्यः ।

**३ रा. भा.**— एतदुक्तं भवति— यद्यप्यग्निहोत्रमहायज्ञादीनि नित्यान्येव, तथापि जीवनाधिकारकामाधिकारयोरिव मोक्षाधिकारे च विनियोगपृथक्त्वेन परिह्रियते, मोक्षविनियोगश्च— "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [ बृ. उ. ४।४।२२ ] इत्यादिभिः— इति । तदेवं क्रियमाणेष्वेव कर्मसु कर्तृत्वादिपरित्यागः शास्त्रसिद्धः सन्न्यासः; स एव च त्याग इत्युक्तः ॥ १२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तस्य चोद्यस्य प्रतिज्ञामात्रेणोत्तरमिदमुच्यते; न तु कयाचिद्युक्त्येत्यत आह— **एतदुक्तमिति** । विनियोगपृथक्त्वं विनियोजकवाक्यपृथक्त्वेन ग्राह्यम् । विनियोगात् पृथक्त्वेन ज्योतिष्टोमादिषु पापक्षयादिनानाफलत्वं सिद्धम् । **परिह्रियते**— विरुद्धफलत्वचोद्यमिति शेषः । ननु "तमेवं विद्वानमृत इह भवति । नान्यः पन्थाः" [ यजुस्सं. ३१।१८+तै. आ.३।१।३+ त्रि. म.ना. ४।३+चित्त्यु. १२।७+ १३।१ +महाना. ३ ] इति नियमनाद्वेदनमेव मोक्षसाधनतया विधीयते; कर्म तु व्यवच्छिद्यते; अतः कथं मोक्षाधिकारे विनियोगोक्तिः ? तत्राऽऽह— **मोक्षविनियोगश्चेति** । 'असिना जिघांसति; अश्वेन जिगमिषति' इत्यादिष्विवार्थस्वभावादिहापीष्यमाणधात्वर्थकरणतयाऽन्वयः । अतो वेदनोत्पत्तिद्वारेण परम्परया साधनत्वान्मोक्षविनियोगः । अव्यवहितसाधनविवक्षया तु "नान्यः पन्थाः" [ श्वेता. ३।८+६।१५+ना. प. ९।१+त्रि. म. ना. ४।३ महाना. ३+ चित्त्यु. १२।७ ] इत्यादिभिर्निषेध इति भावः । एवं परिप्रश्नाभिप्रेतमन्यथापि प्रतिवक्तुमुपक्रमत इत्यभिप्रायेण सङ्गत्यर्थमुक्तमंशं निगमनच्छाययाऽनुवदति— **तदेवमिति** । **तत्**— स्वरूपत्यागादेस्तामसत्वादित्यर्थः । **एवं** वर्णाश्रमादिनियतस्य दुस्त्यजत्वप्रकारेणेत्यर्थः । अस्मिन्नेव श्लोके 'भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु सन्न्यासिनां क्वचित्' इति त्यागाभावविपर्ययस्य सन्न्यासशब्देनानुकथनात्त्यागसन्न्यासपृथक्त्वशङ्का च परिहृतेत्याह— **स एव च त्याग** इति ॥ १२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— त्यागं स्तौति— अनिष्टमिति ॥ १२ ॥

६ ज. प्र. दी.— कर्मफलाभावो नाम संसारनिवृत्तिरेव, सा कथं त्यागफलत्वेनोच्यते ? इत्यत आह— त्यागमिति। उपपादितमेतत् 'त्यागाच्छान्तिः' [१२।१२] इत्यत्र ॥ १२ ॥

७ ह. पै. भा.— अनिष्टमिति। अनिष्टं द्वेष्यं, इष्टमिष्यमाणं, मिश्रमुभयात्मकमिष्टानिष्टकर्मणः फलम्। फल्गुतया लीयत इति फलम्। तच्च त्रिविधं त्रिप्रकारं भवति जायतेऽत्यागिनामज्ञानां कर्मिणाम्। परमार्थसन्यासिनां केवलज्ञाननिष्ठानां तु कृतसर्वकर्मसन्यासान्न तु भवतीति प्रकृतेन सम्बन्धः। इति कर्मानुष्ठानेन फलाभिसन्धिरहितेन प्राप्तसत्त्वशुद्धीनां सकलकर्मसन्यासो विधीयते ॥ १२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं गौणसन्यासस्वरूपमुक्त्वेदानीं 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म' [१८।१०] इति पूर्वश्लोके गौणसन्यासफलत्वेनोक्तस्य सर्वकर्मसन्यासस्य ततो विशेषं दर्शयति— अनिष्टमिति। अनिष्टं नरकादि, इष्टं स्वर्गादि, मिश्रमनिष्टसम्भिन्नं पुत्रपश्वन्नादिमानुषसुखम्, एतत्त्रिविधं कर्मणः फलं अत्यागिनां कर्मफलत्यागेऽपि कर्मानुष्ठायिनामज्ञानां गौणसन्यासिनां प्रेत्य विविदिषापर्यन्तसत्त्वशुद्धेः प्रागेव मृतानां भवति; न तु सन्यासिनामात्मज्ञानवतां मुख्यसन्यासिनां परमहंसपरिव्राजकानां क्वचिद्देशे काले वा भवति, ज्ञानेनाज्ञानतन्मूलसकलकर्मोच्छेदात्। तथा च गौणसन्यासिनां पुनः संसारः, मुख्यसन्यासिनां तु मोक्ष एवेति विशेष इत्यर्थः। अत्र 'सन्यासिनां' इत्यनेन गौणसन्यासिनो गृहीत्वा तेषां त्रिविधकर्मफलराहित्यपरोऽयं श्लोक इति श्रीधरैर्व्याख्यातम्, तत्तु (शं.) भगवत्पादभाष्यविदो न मन्यन्ते। मन्यन्ते चेश्वरार्पणेन त्यक्तफलस्यापि चित्तशुद्ध्यर्थं कर्मानुष्ठायिनोऽन्तराले मृतस्य पुनः शरीरग्रहणमवश्याभ्युपेयम्, सामग्रीसत्त्वे कार्यावश्यम्भावात्। अत एव विविदिषासन्यासिनः श्रवणादि कुर्वतोऽन्तराले मृतस्य योगभ्रष्टशब्दवाच्यस्य 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते' [६।४१] इति ज्ञानाधिकारिशरीरप्राप्तिर्भगवता षष्ठेऽध्यायेऽभिहिता। यद्येवं मुख्यस्य विविदिषासन्यासिनोऽप्यज्ञस्य प्रेत्य शरीरधारणमावश्यकम्, तदा किमु वक्तव्यमज्ञस्य गौणसन्यासिनः ? इति। तस्माद्भाष्यवर्णितो यथोक्त एवार्थः ॥ १२ ॥

९ ध० श० दी०— ननु तर्हि शास्त्रेषु यज्ञादीनि कर्माणि "प्राजापत्यं गृहस्थानां" [वि.पु.१।६।३७] इत्यादिश्रूयमाणफलसम्बन्धितया विधीयन्त इत्यतस्तत्फलसाधनस्वभावतयाऽवगतानां कर्मणामनुष्ठाने बीजावापादीनामिवानभिसंहितफलकस्याभीष्टानिष्टरूपफलसम्बन्धोऽवर्जनीय एवेति मोक्षविरोधिफलत्वेन मुमुक्षुणा न कर्मानुष्ठेयमित्याशङ्क्याऽऽह— अनिष्टमिति। अनिष्टं नरकादिफलं, इष्टं स्वर्गादिफलं, मिश्रं पुत्रार्थपश्वन्नादि, त्रिविधं कर्मणः फलं अत्यागिनां उक्तकर्मत्यागरहितानां कर्मिणां प्रेत्य भवति कामवासनासलिलसेकेनोद्भवति; न तु कामादिपरित्यागिनां भगवदर्पितकर्मिणां कचिदपि मोक्षविरोधिफलं भवति। अत्रायमभिप्रायो दर्शितः श्रीरामानुजाचार्यैः— "जीवनाधिकारकामाधिकारयोरिव मोक्षाधिकारे च विनियोगपृथक्त्वेन परिह्रियन्ते यज्ञादिकर्माणि मोक्षविनियोगश्च "तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" [बृ.उ.४।४।२२] इत्यादिभिः इति। तदेवं क्रियमाणेषु स्वकर्मसु कर्तृत्वफलकामादिपरित्यागः शास्त्रीयः सन्यासः, स एव च त्यागः इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

१० पु. अ. त.— एवं कर्मफलत्यागिनस्त्यागित्वमुपपाद्याथ कर्मफलत्यागमाह— अनिष्टमिष्टमिति। कर्मणः फलं त्रिविधम्— अनिष्टं इष्टं मिश्रं च। तत्रानिष्टं नरकशूकरादियोनिप्राप्तियातनारूपम्, इष्टं देवभावेन स्वर्गादिसुखरूपम्, मिश्रं सन्मनुष्यजन्मराज्यादिभोगरूपम्। तत्त्रिविधं कर्मफलं अत्यागिनां कर्मफलात्यागिनां प्रेत्य परत्र लोके भवति। न तु क्वचिदपि सन्यासिनां कर्मफलत्यागिनां भवतीत्यर्थः ॥ १२ ॥

११ नी० भा० दी०— एवम्भूतस्य त्यागस्य फलमाह— अनिष्टमिति। अनिष्टं नरकतिर्यगादिरूपम्, इष्टं देवतादिरूपम्, मिश्रं मानुषभाव इति कर्मणः कर्मजातीयस्य फलं त्रिविधं प्रेत्य मरणानन्तरमत्यागिनां पूर्वोक्तमुख्यसन्यासहीनानां भवति। मुख्यसन्यासिनां तु न कचित्तद्भवति, तेषां कर्तृत्वाभिमानाभावात्। अन्ये तु गौणसन्यासिनामेवायं कर्मालेप इत्याहुः। तथा च व्याख्यातं 'कार्यमित्येव यत्कर्म' [१८।९] इत्यत्र। अन्यथा सन्यासिनां गौणसन्यासिनां च विशेषो न स्यात्, न चैवं मुख्यसन्यासिनां गौणसन्यासिनां चाविशेषापत्तिरिति वाच्यं; उभयेषामुत्तरकर्माश्लेषसाम्येऽपि पूर्वकर्मदाहादाहकृतस्य विशेषस्य सत्त्वात्। गौणसन्यासिनां जन्मान्तरादिकमपि पूर्वकर्मभिरेव भविष्यति, आपस्तम्बोक्ताम्रनिदर्शनेन योगभ्रष्टगतिवन्नान्तरीयकं वा; न तु तस्य प्रधानं फलं स्वर्गादि भवितुमर्हत्यनुद्दिष्टत्वादिति ॥ १२ ॥

आत्मनोऽकर्तृत्वादिसिद्धये तत्कारकप्रदर्शनम् ।

**पञ्चेमानि महाबाहो ! कारणानि निबोध मे ।**
**साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥**

**१ शां. भा.**— अतः परमार्थदर्शिन एवाशेषकर्मसन्न्यासित्वं सम्भवत्यविद्याध्यारोपितत्वादात्मनि क्रियाकारकफलानां, न त्वज्ञस्याधिष्ठानादीनि क्रियाकर्तृकारकाण्यात्मत्वेन पश्यतोऽशेषकर्मसन्न्यासः सम्भवति । तदेतदुत्तरैः श्लोकैर्दर्शयति— पञ्चेति । पञ्चैतानि वक्ष्यमाणानि हे महाबाहो ! कारणानि निर्वर्तकानि निबोध मे ममेति । उत्तरत्र चेतस्समाधानार्थं वस्तुवैषम्यप्रदर्शनार्थं च तानि कारणानि ज्ञातव्यतया स्तौति । साङ्ख्ये, ज्ञातव्याः पदार्थाः सङ्ख्यायन्ते यस्मिञ्छास्त्रे तत्साङ्ख्यं वेदान्तः । कृतान्त इति तस्यैव विशेषणं कृतमिति कर्मोच्यते, तस्यान्तः कृतस्य परिसमाप्तिर्यत्र स कृतान्तः, कर्मान्त इत्येतत् । ‘ यावानर्थ उदपाने ’ [ २।४६ ] ‘ सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ’ [ ४।३३ ] इत्यात्मज्ञाने सञ्जाते सर्वकर्मणां निवृत्तिं दर्शयति । अतस्तस्मिन्नात्मज्ञानार्थे साङ्ख्ये कृतान्ते वेदान्ते प्रोक्तानि कथितानि सिद्धये निष्पत्त्यर्थं सर्वकर्मणाम् ॥ १३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— नन्वपरमार्थसन्न्यासवदविशेषादज्ञानां परमार्थसन्न्यासोऽपि किं न स्यात् ? त्यागस्य सुकरत्वात्तत्राऽऽह— **अतः परमार्थे**ति । तस्य सम्यग्दर्शनादविद्यानिवृत्तौ तदारोपितक्रियाकारकादिनिवृत्तेरिति हेत्वर्थः । विद्यावतः सर्वकर्मसन्न्यासित्वसम्भावनामुक्त्वैवकारव्यावर्त्यं दर्शयति— **न त्वि**ति । अविदुषोऽशेषकर्मणां तद्धेतूनां च रागादीनां त्यागायोगे कारकेष्वधिष्ठानादिष्वात्मत्वदर्शनं हेतुमाह— **क्रिये**ति । कथमधिष्ठानादीनां क्रियाकर्तृत्वं ? कथं वाऽविदुषस्तेष्वात्मत्वधीः ? इत्याशङ्क्यानन्तरश्लोकचतुष्टयस्य तात्पर्यमाह— **तदेतदि**ति । कर्मार्थानामधिष्ठानादीनामप्रामाणिकत्वाशङ्कामादावुद्धरति— **पञ्चे**ति । **उत्तरत्रे**त्यधिष्ठानादिषु वक्ष्यमाणेष्वित्यर्थः । वस्तूनां तेषामेव वैषम्यं दिदर्शयिषितं न हि चेतस्समाधानादृते ज्ञातुं शक्यते । साङ्ख्यशब्दं व्युत्पादयति— **ज्ञातव्या** इति । आत्मा त्वम्पदार्थस्तत्पदार्थो ब्रह्म, तयोरैक्यधीस्तदुपयोगिनश्च श्रवणादयः पदार्थास्ते सङ्ख्यायन्ते व्युत्पाद्यन्ते । कृतान्तशब्दस्य वेदान्तविषयत्वं विभजते— **कृतमि**त्यादिना । वेदान्तस्य तत्त्वधीद्वारा कर्मावसानभूमित्वे वाक्योपक्रमानुकूल्यं दर्शयति— **यावानि**ति । उदपाने कूपादौ यावानर्थः स्नानादिस्तावानर्थः समुद्रे सम्पद्यतेऽतो यथा कूपादिकृतं कार्यं सर्वं समुद्रेऽन्तर्भवति, तथा सर्वेषु वेदेषु कर्मार्थेषु यावत्फलं तावज्ज्ञानवतो ब्राह्मणस्य ज्ञानेऽन्तर्भवति, ज्ञानं प्राप्तस्य कर्तव्यानवशेषादित्यर्थः । तत्रैव वाक्यान्तरमनुक्रामति— **सर्वमि**ति । उदाहृतवाक्ययोस्तात्पर्यमाह— **आत्मे**ति । आत्मज्ञाने सति सर्वकर्मनिवृत्तावपि कथं वेदान्तस्य कृतान्तत्वं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अत** इति । तानि मद्वचनतो निबोधेति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ १३ ॥

**३ रा. भा.**— इदानीं भगवति पुरुषोत्तमे अन्तर्यामिणि कर्तृत्वानुसन्धानेन आत्मन्यकर्तृत्वानुसन्धानप्रकारमाह— तत एव फलकर्मणोरपि ममतापरित्यागो भवतीति । परमपुरुषो हि स्वकीयेन जीवात्मना स्वकीयैश्च करणकलेवरप्राणैः स्वलीलाप्रयोजनाय कर्माण्यारभते; अतो जीवात्मगतं क्षुन्निवृत्त्यादिकमपि फलं तत्साधनभूतं च कर्म परमपुरुषस्यैव ।

**४ वे. ता. चं.**— ‘ अनिष्टमिष्टम् ’ [ १८।१२ ] इत्यादेरनन्तरं कारणपञ्चकोक्तेः का सङ्गतिः ? इत्यत्राऽऽह— **इदानी**मिति । साक्षात्प्रश्नविषये प्रत्युक्ते सतीत्यर्थः । **भगवति पुरुषोत्तम** इत्युभाभ्यां प्रागुक्तप्रकारेण सर्वान्तर्यामिणः तद्गतत्वतत्प्रयुक्तदोषाभावख्यापनम् । **प्रकारमाहे**त्यनेनातृतीयाध्यायादनुक्रान्तस्याकर्तृत्वानुसन्धानस्यात्रैव सहेतुकयथावस्थितस्वरूपशोधनमिति दर्शितम् । त्रिषु त्यागेषु प्रक्रान्तेषु अन्यतमस्य प्रकारशोधनमिति सङ्गतिः । त्रिविधेऽपि त्यागे सात्त्विकतया प्रक्रान्ते किमिति कर्तृत्वत्यागप्रकारमात्रोपपादनं ? इत्यत्राऽऽह— **तत एवे**ति । इतिशब्दोऽत्र हेत्वर्थः । ऋत्विगादिषु कर्तृत्वेऽपि यजमानादेः कर्मणि फले च ममता दृश्यते; तद्वदस्यापि किं न स्यात् ? अतः कर्तृत्वत्यागमात्रात्कथं कर्मणि फले च ममताबुद्धिनिवृत्तिः ? इत्यत्राऽऽह— **परमपुरुषो ही**ति । **ही**ति प्रमाणप्रसिद्धिसूचनम् । ‘ त्वं न्यञ्चद्भिरुदञ्चद्भिः कर्मसूत्रोपपादितैः । हरे ! विहरसि क्रीडाकन्दुकैरिव जन्तुभिः ’ ‘बालः क्रीडनकैरिव’ [म.भा.३।१२।५४+३।३०।३७] ‘कृष्णस्य हि कृते भूतमिदं विश्वं चराचरम्’ [म.भा.२।३८।२३] इत्यादिप्रसिद्धमाह— **स्वकीयेने**त्यादिना । करणाधिपाधिपो हि परम

पुरुषः श्रूयते; अतः करणानां जीवशेषत्वदशायामपि गजतुरगाद्यलङ्कारेषु राज्ञ इव परमपुरुषस्य शेषित्वं न निवर्तत इत्यभिप्रायेणाऽऽह **स्वकीयैश्च करणकलेवरप्राणैरि**ति। सङ्कोचकाभावादृष्टादृष्टफलप्रदानादिकमपि तस्य लीलेत्याह **स्वलीलाप्रयोजनाये**ति । ‘ लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ’ [ ब्र. सू. २।१।३३ ] इत्यादिभिरिदं मीमांसितमिति भावः । लीलादिप्रयोजनायेति पाठे तु आदिशब्देन कारुण्यादिमूलभक्तरक्षणादिग्रहणम् । ननु शास्त्रीयस्य कर्मणः परमपुरुषसमाराधनतयैव विधानात्फलपर्यन्तस्य तस्य तदीयता युक्ता; लौकिकं तु कर्म न तथा शिष्टं, नापि तथाध्यक्षं, क्षुन्निवृत्त्यादेः फलस्य जीवगामित्वेनैवोपलम्भात् , अतो लौकिकानां फलानां जीवशेषत्वे तत्साधनस्यापि कर्मणस्तदर्थता युक्ता; तस्मात् ‘ सिद्धये सर्वकर्मणाम् ’ इत्यादिभिः सर्वविषयसङ्गत्यागाद्युपपादनमशक्यमिति तत्राऽऽह- **अत इति । परमपुरुषस्यैवे**ति— षष्ठी स्वस्वामिभावाख्यसम्बन्धविशेषविश्रान्ता । यथा पञ्जरशकुन्तपोषणादिकं तत्सुखादिकं च सार्वभौमस्य शेषभूतं, तथाऽत्रापीति भावः ।

**३ रा. भा.— सङ्ख्या बुद्धिः । (सङ्ख्याविद्भिः) साङ्ख्ये कृतान्ते— यथावस्थिततत्त्वविषयया वैदिक्या बुद्ध्या अनुसंहिते निर्णये सर्वकर्मणां सिद्धये— उत्पत्तये प्रोक्तानि पञ्चैतानि कारणानि निबोध मे मम सकाशादनुसन्धत्स्व । वैदिकी हि बुद्धिः शरीरेन्द्रियप्राणजीवात्मोपकरणं परमात्मानमेव कर्तारमवधारयति । “ य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः” [श.प. १४।५।३०] “अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा” [चित्यु.११।२+ तै. आ. ३।११।३ ] इत्यादिषु ॥ १३ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ‘ साङ्ख्ये कृतान्ते ’ इति न साङ्ख्यसिद्धान्तो विवक्षितः, तत्रेश्वरानभ्युपगमात् ; करणातिरिक्तस्य कर्तृत्वानभ्युपगमेन ‘ कर्ता करणं पृथग्विधम् ’ इति कर्तृकरणविभागोक्त्यसम्भवात् , तस्य वेदविरुद्धत्वे तत्त्वोपदेशाय तदुपन्यासायोगात् , अविरुद्धत्वेऽपि वेदमूलत्वस्यैवाङ्गीकर्तव्यत्वे वेद एव विश्रमात् , अर्थौचित्याय च रूढिपरित्यागेन यौगिकार्थावलम्बनस्य सर्वसम्मतेः; अतो वेदेष्वेव यथावस्थिततत्त्वनिर्णयाय प्रवृत्तो भागः साङ्ख्यकृतान्तशब्देन विवक्षित इत्यभिप्रायेण निर्वक्ति- **सङ्ख्या बुद्धिरि**ति । प्रकरणानुरोधेन बुद्धिं विशिनष्टि **यथावस्थिते**ति । यदिह **शङ्करेणोक्तं** ‘ पदार्थाः सङ्ख्यायन्ते यस्मिन् शास्त्रे तत्साङ्ख्यं वेदान्तः, स एव कृतान्तः, कृतस्य कर्मणोऽस्मिन्नन्तः’ इति; तदसत् , वेदान्तेष्वपि कर्मान्तरस्य स्थापितत्वात् , रूढिपरित्यागे चावश्यम्भाविन्युचिततमयोगस्यैव ग्रहीतुं युक्तत्वात् । अन्तशब्दो निश्चयपरतया नैघण्टुकैः पठितः; स एव बुद्धिपूर्वसम्पादिततया कृतशब्देन विशेष्यत इत्यभिप्रायेण **अनुसंहिते निर्णय** इत्युक्तम् । यद्वा निर्णयशब्दोऽत्र निर्णीतवस्तुपरः; कृतान्तशब्दस्य सिद्धान्तपर्यायस्य तत्तदभ्युपगतार्थरूढत्वात् । अत एव हि— **अनुसंहित** इति विशेषितम् । न हि निर्णय एवानुसन्धातव्यः । अथवा प्राचां निर्णयः परैरनुसंहित इति भावः । निर्णायकशब्दपरो वाऽत्र निर्णयशब्दः । तदानीं ‘ प्रोक्तानि ’ इत्यनेन समन्वयः । सिद्धिशब्देन फलपर्यन्तत्वादिकमिहाविवक्षितम् ; ‘यत्कर्म प्रारभते, ... ... पञ्चैते तस्य हेतवः’ [१८।१५] इति कर्मस्वरूपोपसम्पत्तेरेवानन्तरोक्तेरित्यभिप्रायेणाऽऽह- **उत्पत्तय** इति । ‘ मम कारणानि ’ इत्यसम्भवान्मदीयानि कारणानीत्युक्तेरिह दैवशब्दनिर्दिष्टस्य स्वस्य स्वकीयत्वाभावेनानन्वयादुचितमन्वयमाह— **मम सकाशादनुसन्धत्स्वे**ति । वक्ष्यमाणानां पञ्चानां यथादर्शनं विविक्ते हेतुभावे मनस्समाधानविधानार्थमिदमिति भावः । षड्विंशकमनभ्युपगच्छतां पञ्चविंशकं च कर्तृत्वारोपमात्राधिकरणं प्रतिपादयतां प्रकरणमिदं विरुद्धमित्यभिप्रायेण यौगिकार्थपरत्वमुपपादयति— **वैदिकी हीति** । शरीरेन्द्रियप्राणजीवात्मोपकरणमिति बहुव्रीहिः । उपकरणं विवक्षितकार्यार्थितयोपात्तः परिकरः ॥ १३ ॥

**५ आ. मा. भा.— पुनः सन्न्यासं प्रपञ्चयितुं कर्मकारणान्याह— पञ्चेत्यादिना । साङ्ख्ये कृतान्ते ज्ञानसिद्धान्ते ॥ १३ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— पञ्चेत्यादेः प्रकृतेन सङ्गत्यप्रतीतेस्तामाह— **पुनरि**ति । न केवलं काम्यानां कर्मणां न्यासः सन्न्यासः, किन्तु कर्तृत्वाभिमानत्यागश्चेत्येवं प्रागुक्तं सन्न्यासं पुनः प्रपञ्चयितुं आत्मनोऽकर्तृत्वे क्रियानिष्पत्तिप्रसङ्गादङ्गीकार्ये कर्तृत्वे कथं तदभिमानत्यागो युक्तः ? इत्याशङ्कापरिहारार्थमात्मव्यतिरिक्तान्येव कर्मकारणान्याहेत्यर्थः । **साङ्ख्यशब्दः** कापिलतन्त्रे रूढः । कृतं कर्म तस्यान्तो निवृत्तिर्यत्रोच्यत इत्युपनिषत्सु कृतान्तशब्दं कश्चिद्व्याख्यातवान् , तदुभयं निवर्तयितुमाह— **साङ्ख्य** इति । ज्ञानार्थः सिद्धान्तो ज्ञानसिद्धान्तः । सिद्धान्त इति शास्त्रं लक्ष्यते, कापिलतन्त्रस्य निन्दितत्वात् । उपनिषत्स्वपि कर्मत्यागाप्रतिपादनात् ॥ १३ ॥

७ ह. पै. भा.— पञ्चेति। साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणां साङ्ख्ये कृतान्ते पुरुषार्थं इति साङ्ख्यो वेदः स एव साङ्ख्यम्। स्वार्थेऽण्प्रत्ययः। कृतो निश्चयो यत्र तत्कृतान्तं, तत्र कृतान्ते प्रोक्तानि निश्चयायोक्तानि कथितानि। निश्चितार्थे वेदे प्रोक्तानीत्यर्थः। सिद्धये निष्पत्तये। सर्वकर्मणां शारीरादीनाम् ॥ १३ ॥

८ वे. ब्र. गि.— स्यादेतत्; परमार्थतः कर्तृत्वस्वभावस्यात्मनः कथं सर्वकर्मसन्न्यासः? इत्याशङ्क्य न कर्तृत्वमात्मनः स्वभावः, किन्त्वधिष्ठानादितादात्म्याध्यासप्रयुक्तः। तस्य च निर्विकारात्मतत्त्वज्ञानेन मूलभूताज्ञाननाशादुच्छेदे निष्क्रियात्मतत्त्वज्ञाननिष्ठारूपः सर्वकर्मसन्न्यासः सम्पद्यत इत्यमुमर्थं पञ्चभिर्दर्शयन्प्रथममधिष्ठानादिपञ्चकमेकत्रात्मज्ञानार्थमवश्यज्ञेयमित्याह— पञ्चेमानीति।

हे महाबाहो! कृतान्ते, कृतं कर्म, तस्यान्तः परिसमाप्तिर्ज्ञानोत्पत्त्या भवति 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते' [४।३३] इत्युक्तेः। सा यत्र प्रतिपाद्यते तत्कृतान्तम्, तस्मिन्साङ्ख्ये सम्यक्ख्यायते अनया आत्मेति सङ्ख्या वेदान्तः। सङ्ख्यैव साङ्ख्यम्। स्वार्थेऽण्। वेदान्तशास्त्रे सर्वकर्मणां सिद्धये उत्पत्तये प्रोक्तानि इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि मे मुखान्निबोध जानीहि। अत्र 'मे निबोध महाबाहो!' इत्यनेन मां विना नान्यो वक्ता, त्वां विनाऽन्यश्चोपदेष्टव्यः पुरुषो नास्तीति दर्शितम्। 'साङ्ख्ये प्रोक्तानि' इत्यनेन वेदान्तार्थोपदेशोऽयं विश्वासेन ग्राह्य इत्युक्तम्। नन्वात्मतत्त्वपरैर्वेदान्तैः किमर्थमनात्मभूतान्यवस्तूनि कर्मकारणान्युक्तानि? इत्याशङ्कानिरासाय कृतान्त इति साङ्ख्यविशेषणम्। अनात्मभूतान्यप्येतान्यात्मरूपेण गृह्यमाणत्वाददर्शनमूलमिति तन्निरासायात्मविविक्ततयैतान्युक्त्वा सर्वकर्मणामेतद्धर्मत्वप्रदर्शने सति निष्क्रियात्मतत्त्वज्ञानं भवतीति तदर्थमेतदुक्तिरित्यर्थः ॥ १३ ॥

९ व० त० दी०— इदानीं भगवत्कर्तृत्वानुसन्धानपूर्वकम्। स्वकर्तृत्वानुसन्धानपरिहार उदीर्यते ॥ १ ॥ कर्तृत्वं स्वस्य मनुते सत्सु कर्तृषु पञ्चसु। स यथा निन्द्यते लोके तथा कृष्णेन शास्त्रतः ॥ २ ॥ पश्येद्गुणानां हेतुत्वं यदा दैवस्य वा हरेः। तत एवेह ममतात्यागः स्यात्फलकर्मणोः ॥ ३ ॥ तत्रान्तर्यामिपुरुषे (सः स्वकीयैः करणादिभिः) कर्तृत्वं मुख्यतः स्थितम्। (जीवात्मना स्वलीलार्थं कर्माण्यारभते ततः।) स्वातन्त्र्यात्परतन्त्रे तु गौणमेवाभ्युपेयते ॥ ४ ॥ अतो ब्रह्मगतं कर्तृत्वादि जीवे तदंशतः। सर्वं कर्मफलं (चापि पुरुषस्य परस्य तत्) चार्प्यं पुरुषेण परत्र तत्। इति तत्त्वं भगवता भाष्यमाभाष्यतेऽन्ततः ॥ ५ ॥

पञ्चेति। कृतान्ते सिद्धान्ते कृतनिर्णये वा साङ्ख्ये प्रोक्तानि सिद्धान्तीकृत्योक्तानि सर्वकर्मणां सिद्धये पञ्चैतानि कारणानि निबोध मे मम सकाशादवधेहि। साङ्ख्ये हि वेदानुरोधेन सूत्रनिबन्धो दृश्यते, तदनुरोधे शरीरेन्द्रियप्राणजीवात्मोपकरणं परमात्मानमन्तर्यामिणमुत्तमं कर्त्तारं प्रत्याययति "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति, यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं स त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" [श. प.१४।५।३०] "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा" [तै. उ.३।११+चित्यु.११।१] इत्यादौ स्वातन्त्र्येण नियमनादिकर्तृत्वं केवलस्य परमात्मनो बोध्यते इति। तदेककर्तृत्वं तदंशभूते जीवात्मनि सततं शुद्धं, अन्यत्तु प्राकृतं निषिध्यते तदेतदग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ १३ ॥

१० पु. अ. त.— ननु सङ्गफलपरित्यागेऽपि कर्मकर्तुः फलं तु सम्भावितमेव, भोजनतृप्तिवदौषधार्थभक्षितमादकद्रव्यजोन्मादवत्, अतः कथं फलं न भवेत्? इत्याशङ्क्याऽऽह— पञ्चैतानीति श्लोकपञ्चकेन। हे महाबाहो फलत्यागक्रियाकरणसमर्थ! सर्वकर्मणां सिद्धये फलासये साङ्ख्ये त्यागात्यागनिर्णायके कृतान्ते कृतस्य कर्मणोऽन्तः समाप्तिर्यत्र स कृतान्तो वेदान्तस्तस्मिन् प्रोक्तानि। एतान्यग्रे प्रोच्यमानानि पञ्च कारणानि मे मत्तो निबोध जानीहि ॥ १३ ॥

११ नी० भा० दी०— नन्वात्मनः कर्मालेपनिमित्तं यदकर्तृत्वानुसन्धानं तत्किं योषिदग्निदृष्ट्यादिवदाहार्यम्? उत वास्तवमेव सदविद्याध्यस्तकर्तृत्वेनावृतमिति शास्त्रदृष्ट्या कर्तृत्वतिरोधानेनाकर्तृत्वमेव भाव्यते? इत्याशङ्क्याग्नित्वेन दृष्टायां योषिति दग्धृत्वादर्शनेनेव कल्पितेनाकर्तृत्वेन वास्तवस्य कर्मालेपस्यासम्भवादाद्यं निरस्य द्वितीयमुपपादयिष्यन् पीठिकामारचयति— पञ्चेति। हे महाबाहो! सर्वकर्मणां सिद्धये इमानि वक्ष्यमाणानि पञ्च कारणानि निर्वर्तकानि मे मद्वचनान्निबोध बुध्यस्व। स्ववचने विश्वासोत्पादनार्थं कारणानां समूलत्वमाह— साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानीति। सम्यग्विविच्य ख्यायन्ते प्रकटीक्रियन्ते तत्त्वान्यात्मानात्मपदार्थरूपाणि यस्मिंस्त-

त्साङ्ख्यं वेदान्तशास्त्रम् । तदेव विशिनष्टि— कृतान्ते कृतस्य कर्मणोऽन्तः परिसमाप्तिर्यस्मिन् ; 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ! ज्ञाने परिसमाप्यते ' [ ४।३३ ] इत्यात्मज्ञाने सति सर्वकर्मणां समाप्तिदर्शनात्, तस्मिन्साङ्ख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि ॥ १३ ॥

**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।**
**विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥ १४ ॥**
**शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।**
**न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥ १५ ॥**

**१ शां. भा.**— कानि तानि ? इत्युच्यते— **अधिष्ठानमिति** । अधिष्ठानमिच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीनामभिव्यक्तेराश्रयोऽधिष्ठानं शरीरं, तथा कर्ता उपाधिलक्षणो भोक्ता, करणं च श्रोत्रादिकं शब्दाद्युपलब्धये पृथग्विधं नानाप्रकारं तद्द्वादशसङ्ख्यं, विविधाश्च पृथक्चेष्टा वायवीयाः प्राणापानाद्याः, दैवं चैव दैवमेव चात्रैतेषु चतुर्षु पञ्चमं पञ्चानां पूरणमादित्यादि चक्षुराद्यनुग्राहकम् ॥ १४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— कर्मार्थान्यधिष्ठानादीनि मानमूलत्वाज्ज्ञेयानीत्युक्तं, इदानीं प्रश्नपूर्वकं विशेषतस्तानि निर्दिशति— **कानीत्यादिना** । प्रतीकमादाय व्याकरोति— **अधिष्ठानमिति** । उपाधिलक्षणो बुद्ध्यादिरुपाधिस्तल्लक्षणस्तत्स्वभावो बुद्ध्याद्यनुविधायी तद्धर्मानात्मनि पश्यन्नुपहितस्तत्प्रधान इत्यर्थः । तत्र कार्यलिङ्गकमनुमानं सूचयति— **शब्दादीति** । ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च, पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, मनो बुद्धिश्चेति द्वादशसङ्ख्यात्वम् । चेष्टाया विविधत्वान्नानाप्रकारत्वं, तदेव स्पष्टयति— **वायवीया** इति । पृथक्त्वमसङ्कीर्णत्वं, न हि प्राणापानादिचेष्टानां मिथः सङ्करोऽस्ति । दैवमेवेति विशदयति— **आदित्यादीति** ॥ १४ ॥

**१ शां. भा.**— **शरीरेति** । शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म त्रिभिरेतैः प्रारभते निर्वर्तयति नरः न्याय्यं वा धर्म्यं शास्त्रीयं, विपरीतं वाऽशास्त्रीयमधर्म्यम् । यच्चापि निमिषितचेष्टादि जीवनहेतुस्तदपि पूर्वकृतधर्माधर्मयोरेव कार्यमिति न्याय्यविपरीतयोरेव ग्रहणेन गृहीतम् । पञ्चैते यथोक्तास्तस्य सर्वस्यैव कर्मणो हेतवः कारणानि । नन्वेतान्यधिष्ठानादीनि सर्वकर्मणां कारणानि, कथमुच्यते 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते' इति । नैष दोषः, विधिप्रतिषेधलक्षणं सर्वं कर्म शरीरादित्रयप्रधानं, तदङ्गतया दर्शनश्रवणादि च जीवनलक्षणं त्रिधैव राशीकृतमुच्यते शरीरादिभिरारभ्यत इति फलकालेऽपि तत्प्रधानैः साधनैर्भुज्यत इति पञ्चानामेव हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ १५ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— पञ्चानामधिष्ठानादीनामुक्तानां सर्वकर्मसिद्ध्यर्थत्वं स्फुटयति— **शरीरेति** । ननु जीवनकृतं निमेषोन्मेषादिकर्मान्तरं साधारणमस्ति तत्कथं राशिद्वयकरणमिति ? तत्राऽऽह— **यच्चेति** । अधिष्ठानादीनां कर्ममात्रहेतुत्वं प्रतिज्ञाय शरीरादित्रिविधकर्महेतुत्वोक्तिरयुक्तेति शङ्कते— **नन्विति** । पूर्वापरविरोधं परिहरति— **नैष दोष** इति । ननु जीवनकृतानि स्वाभाविकानि कर्माणि दर्शनादीनि विधिनिषेधबाह्यत्वान्न देहादिनिर्वर्त्यानीत्याशङ्क्याऽऽह— **तदङ्गतयेति** । तस्य देहादित्रयस्य प्रधानस्याङ्गं चक्षुरादि तन्निष्पाद्यत्वेन जीवनकृतं दर्शनादि प्रधानकर्मण्यन्तर्भूतमिति त्रैविध्यमविरुद्धमित्यर्थः । देहाद्यारभ्ये त्रिविधे कर्मणि सर्वकर्मान्तर्भावेऽपि कथं पञ्चानामेवाधिष्ठानादीनां तत्र हेतुत्वं ? फलोपभोगकाले कारणान्तरापेक्षासम्भवादित्याशङ्क्य जन्मकालभाविनो भोगकालभाविनश्च सर्वस्य कारणस्य तेष्वेवान्तर्भावान्नैवमित्याह— **फलेति** ॥ १५ ॥

**३ रा. भा.**— तदिदमाह— **अधिष्ठानमिति** । न्याय्ये शास्त्रसिद्धे विपरीते प्रतिषिद्धे वा सर्वस्मिन् कर्मणि शारीरे वाचिके मानसे च पञ्चैते हेतवः । अधिष्ठानं शरीरम्, अधिष्ठीयते जीवात्मनेति महाभूतसङ्घातरूपं शरीरमधिष्ठानम् । तथा कर्ता जीवात्मा;अस्य जीवात्मनो ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं च—'ज्ञोऽत एव' [ ब्र. सू. २।३।१८ ] ' कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ' [ ब्र. सू. २।३।३३ ] इति च सूत्रोपपादितम् ।

**४ वे. ता. चं.**— उक्तविवरणतया श्लोकद्वयस्यापुनरुक्तिं परमते विशेषं चाभिप्रेत्याऽऽह— **तदिदमाहेति** । तत् श्रुतिसिद्धम्, इदं विवक्षितमित्यर्थः । न्याय्यं न्यायादनपेतं 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' [ अष्टा. ४।४।९२ ] इत्यनुशासनात् । न्यायशब्दश्चात्र अर्थान्तरानौचित्याद्व्युत्पत्त्यनुरोधाच्च शास्त्रमेवानुसन्धत्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **शास्त्रसिद्ध** इति । शास्त्रसिद्धेन सह लौकिकविवक्षायां तदन्यद्वेति वक्तव्यम् । विहिते निर्दिष्टे विपरीतशब्दश्च निषिद्धे स्वरसः; कैमुत्येन च लौकिकं लभ्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **प्रतिषिद्धे वेति** । **सर्वस्मिन् कर्मणीति** फलितोक्तिः । यथा शारीरमानसवाचिकेषु कर्मसु शरीरादीनां प्राधान्येन प्रतिनियतता; न तथाऽमी पञ्च हेतवः; अपितु प्रतिकर्म पञ्चाप्यपेक्षिता इत्यभिप्रायेण शारीरत्वाद्युक्तिः । पञ्चहेतुकेषु सर्वेषु कर्मसु प्राधान्यादेव हि शारीरत्वादिविभागः । यद्यपि जगत्सृष्ट्यादिषु परमात्मैव कारणं, तथापि क्षेत्रज्ञकर्तृकेषु परमात्मना स्वेच्छयैवमुपकरणीकृतान्येतानीत्यभिप्रायेण हेत्वन्तरोक्तिः ।

'अधिष्ठानं क्षेत्रमाहुः' [ म. भा. १२।३०७।१४ ] इति करालायाऽऽह वसिष्ठः; तदनुसारेणाऽऽह— **अधिष्ठानं शरीरमिति** । श्रुतिश्च— "मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदेत- ( तदस्या )-दमृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्" [ छां. उ. ८।१२।१ ] इति शरीरेऽधिष्ठानशब्दं प्रयुङ्क्ते । 'कृत्यल्युटो बहुलम्' [ अष्टा. ३।३।११३ ] इति कर्मार्थतया शरीरेऽधिष्ठानशब्दं व्युत्पादयति— **अधिष्ठीयत** इति । अधिष्ठातुर्जीवस्यापि परमात्माधिष्ठेयत्वात्तद्व्यवच्छेदाय **जीवात्मनेति** विशेषितम् । जीवाधिष्ठेयस्यापि करणादेः पृथङ्निर्देशात्तत्सङ्कोचायाऽऽह **महाभूतसङ्घातरूपमिति** ।

विश्वकर्तुरिह दैवशब्देन पृथग्ग्रहणात् कर्तृशब्दस्य चात्र 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरि' [ पू. मी. ३।७।१८ ] इति न्यायसूचनार्थत्वाच्च **कर्ता जीवात्मेत्युक्तम्** । ननु कर्तृत्वं हि ज्ञानचिकीर्षापूर्वकप्रयत्नयोगित्वं; ज्ञानमात्रस्यात्मनो ज्ञातृत्वासम्भवात्तन्मूलं कर्तृत्वमपि न स्यादेवेत्यत आह— **अस्य जीवात्मनो ज्ञातृत्वं कर्तृत्वं चेति** । 'ज्ञोऽत एव' [ ब्र. सू. २।३।१८ ] इत्यादिसूत्रग्रहणं, श्रुत्यादेरपि तत एवाकर्षणात् ।

**३ रा. भा.— करणं च पृथग्विधं— वाक्पाणिपादादिपञ्चकं समनस्कं कर्मेन्द्रियं, पृथग्विधं कर्मनिष्पत्तौ पृथग्व्यापारम्; विविधा च पृथक्चेष्टा— चेष्टाशब्देन पञ्चात्मा वायुरभिधीयते तद्वृत्तिवाचिना— शरीरेन्द्रियधारकस्य प्राणापानादिभेदभिन्नस्य वायोः पञ्चात्मनो विविधा च चेष्टा विविधा वृत्तिः ।**

**४ वे. ता. चं.**— कर्मोत्पत्तिहेतूपन्यासात्करणशब्दोऽत्र कर्मेन्द्रियमात्रपर इत्यभिप्रायेणाऽऽह **वागिति** । यद्यपि ज्ञानेन्द्रियाणां तत्तद्विषयज्ञानोत्पादनद्वारा परम्परया कर्मणि हेतुत्वमस्ति, तथापि वस्तुमात्रेष्वालोचितेषु मनसा सङ्कल्प्यैव कर्मकरणान्मनसश्चान्यव्यापारव्यवधानाभावात्— **समनस्कमित्युक्तम्** । ज्ञानेन्द्रियस्यापि मनसः कर्मेन्द्रियप्रवृत्तिष्वपि साधारण्यात्कर्मेन्द्रियत्वोक्तिः । 'शरीरवाङ्मनोभिः' इत्यत्रैवोक्तेः मनसः सङ्कल्पादिकर्मापेक्षया वा कर्मेन्द्रियत्ववादः । साङ्ख्यैरप्येवमेवोक्तं— 'बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुश्श्रोत्रघ्राणरसनत्वगाख्यानि ( स्पर्शनकानि ) । वाक्पाणिपादपायूपस्थान्कर्मेन्द्रियाण्याहुः । उभयात्मकमत्र मनः सङ्कल्पकमिन्द्रियं च साधर्म्यात्' [सां.का. २६;२७ ] इति ।

कर्महेतुषूपादीयमानेषु 'पृथग्विधम्' इति विशेषणं तदुपयुक्तव्यापाराख्यविधापरमित्याह **कर्मनिष्पत्तौ पृथग्व्यापारमिति** । वागादिष्वेकैकस्य वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दसङ्कल्पनादिक्रियाव्यापारो हि मिथो विलक्षणः । प्रयत्नमूला शरीरादिक्रियैव हि चेष्टेत्युच्यते; अतोऽत्र कर्मणस्तदेव कारणमित्यात्माश्रयः स्यात्; तत्राऽऽह— **चेष्टाशब्देन पञ्चात्मा वायुरिति** । **अभिधीयत** इति शब्देन प्रतिपादनमात्रं विवक्षितम् । अत्र तद्धेतावन्यस्मिन् लक्षयितव्ये वागादीनां करणादिशब्दैरुपात्तत्वात्प्राणसंवादादिषु करणानां शरीरस्य च स्थितिप्रवृत्तेः प्राणायत्तत्वश्रुतेः प्राणप्रवृत्तिनिमित्तचेष्टावाचिना शब्देन प्राणलक्षणाऽत्र युक्तेत्यभिप्रायेणाऽऽह— **तद्वृत्तिवाचिनेति** । चेष्टाशब्देनेति पूर्वेणान्वयः ।

प्राणसंवादादिस्मारणेन प्राणलक्षणाया औचित्यं वृत्तिवैविध्यं च विवृणोति— **शरीरेन्द्रियेति** । पृथक्छब्दविविधशब्दयोः पौनरुक्त्यपरिहारायाऽऽह **शरीरेन्द्रियधारकस्य प्राणापानादिभेदभिन्नस्येति** । अधिष्ठानकर्तृकरणव्यापारापेक्षया शरीरेन्द्रियवर्गरूपविषयभेदेन च पृथक्त्वं प्राणादिवृत्तिभेदप्रतिनियतोच्छ्वासनिमेषोन्मेषादिव्यापारैर्वैविध्यं चेति भावः । पञ्चात्मशब्दोऽत्र पञ्चवृत्तित्वपरः; तथा च सूत्रं— 'पञ्चवृत्तिर्मनोवद्व्यपदिश्यते' [ ब्र. सू. २।४।१२ ] इति । पञ्चवृत्तित्वोक्तिश्च नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयरूपवृत्त्यन्तरपञ्चकस्यापि प्रदर्शिका ।

**३ रा. भा.— 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' अत्र कर्महेतुकलापे दैवं पञ्चमं-परमात्मान्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्यर्थः । उक्तं हि— 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' [१५।१५] इति । वक्ष्यति च— 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन! तिष्ठति । भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया' [१८।६१] इति; परमात्मायत्तं च जीवात्मनः कर्तृत्वं— 'परात्तु तच्छ्रुतेः' [ब्र.सू.२।३।४१] इत्युपपादितम्**

**४ वे. ता. चं.**— 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' इत्यत्र दैवाख्यप्रधाननिर्धारणार्थमत्रेत्यनुवाद इत्याह— **अत्र कर्महेतुकलाप** इति । परमात्मनः पञ्चमतया परिगणने श्रुत्यर्थपाठादिक्रमासम्भवाद्वाचः क्रमवर्तित्वेन यथासम्भवं परिगणनेऽपि 'पञ्चमम्' इति पूरणे निर्देशे प्रयोजनाभावात्, यथा कठवल्ल्याम्— "इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः" इत्युपक्रम्य "महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः' [ १।३।१०;११ ] इतीन्द्रियादिसमस्तप्रवृत्तौ प्रधानहेतुः परमपुरुषो वशीकरणीयकाष्ठात्वेन निर्दिष्टः, तद्वदिहापीत्यभिप्रायेणाऽऽह— **परमात्मान्तर्यामीति** । ननु 'दैवं पुराकृतं कर्म' 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' [ अमरः १।४।२८ ] इत्यादिषु प्राचीनकर्मरूपभोग्यपर्यायतया दैवशब्दं पठन्ति; तस्य च हेतुत्वमुपपन्नम्; अतः कथमत्र परमात्मेत्युच्यते ? इत्थं न हि प्रागेव विनष्टानां कर्मणां स्वरूपेण हेतुत्वं सम्भवति; अतः कर्मजन्यादृष्टरूपपरमपुरुषसङ्कल्पस्यैव हेतुत्वं वक्तव्यं; ततो वरं तस्यैव दैवशब्देन प्रतिपादनम्; अस्ति च दैवशब्दस्य दैवतपर्यायतयाऽपि लोकवेदयोः प्रसिद्धिः; यथा— 'सत्यं सत्यं पुनः सत्यमुद्धृत्य भुजमुच्यते । वेदशास्त्रात्परं नास्ति न दैवं केशवात्परम्' [ नृ. पु. १८।३३ ] इति । नह्यत्रार्थान्तरं सम्भवति । एवं श्रीमद्रामायणेऽपि— 'स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् । अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते' [ वा. रा. २ ] इति । तथा सभापर्वणि— 'श्रूयतां परमं दैवं दुर्विज्ञेयं मयाऽपि च । नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः' इति । तथा याज्ञवल्क्यप्रणीते योगशास्त्रे— 'आर्षं छन्दश्च मन्त्राणां दैवतं ब्राह्मणं तथा' इति । उक्त एवार्थः पुनः 'आर्षं छन्दश्च दैवं च' इत्यादिनाऽपि निर्दिश्यते । तत्रैव दैत्यमोहनार्थे प्रजापत्युपदेशानुवादे 'आत्मानं पूजयेन्नित्यं भूषणाच्छादनादिभिः । स्वदेह एव दैवं स्यादन्यद्दैवं न विद्यते' [ यो. या. ] इति । तथा— 'दैवाधीनं जगत्सर्वं मन्त्राधीनं च दैवतम् । तन्मन्त्रं ब्राह्मणाधीनं तस्माद्विप्रा हि दैवतम्' । [ वि. सं. २२ ] इति । अस्मिन्नपि शास्त्रे 'साधिभूताधिदैवं माम्' [ ७।३० ] इति प्रस्ताव्य 'अधिदैवं किमुच्यते' [ ८।१ ] इति पृष्टमर्थं 'पुरुषश्चाधिदैवतम्' [ ८।४ ] इति प्रतिवक्ति । छान्दोग्ये ( ? ) च आदित्याख्यदैवतवर्तिनः पुरुषस्याधिदैवतमिति नामोच्यते — "तस्योपनिषदहः" [ बृ. उ. ५।५।३ ] इत्यधिदैवतं "तस्योपनिषदहं" [ बृ. उ. ५।५।४ ] इत्यध्यात्मम् । इति । एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । अन्यैरपि चात्र दैवशब्दश्चक्षुराद्यनुग्राहकादित्यादिविषयतया व्याख्यातः । वयं त्वादित्यादीनामप्यनुग्राहकं परमात्मानमिह दैवं ब्रूम इति विशेषः । प्रयुक्तं च स्तोत्रे 'प्रख्यातदैवपरमार्थविदां मतैश्च' [ स्तो. र. १५ ] इति । लक्ष्मीकल्याणे च— 'धर्मे प्रमाणं समयस्तदीयो वेदाश्च तत्त्वं च तदिष्टदैवम्' इति । तस्माद्दैवशब्दोऽत्र देवतापर्यायः । स चात्र सर्वप्रवर्तकहेतुपरत्वाद्विशेषकाभावाच्च परदेवताविषय उचित इति **परमात्मान्तर्यामी कर्मनिष्पत्तौ प्रधानहेतुरित्युक्तम्** । यथाऽसौ सर्वेषामात्मा, न तथाऽस्य कश्चिदित्यतः परमात्मा । तथा शरीरादेः प्रवृत्तौ जीवः प्रधानहेतुः, तथा तस्याप्ययमसावित्यभिप्रायेणान्तर्यामित्वोक्तिः । तद्विवक्षामत्र पूर्वापराभ्यां स्थापयति— **उक्तं हीत्यादिना** । ननु 'स्वतन्त्रः कर्ता' [ अष्टा. १।४।५४ ] इति कर्तृलक्षणमनुशिष्टम्; इह च कर्तेति क्षेत्रज्ञ एव निर्दिष्टः; अतः कारकान्तराप्रयोक्तृत्वं कारकान्तराप्रयोज्यत्वं च तस्याङ्गीकर्तव्यम् । तस्माद्दैवमप्यत्राधिष्ठानादिवत्तदपेक्षया गुणीभूतं वक्तव्यमित्यत्राऽऽह— **परमात्मायत्तं चेति** । उत्पन्नज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नस्य हि पुरुषस्य कारकान्तरप्रयोक्तृत्वादिकम्; ज्ञानाद्युत्पत्तिरेव तु परमात्मायत्तेति श्रुतिसिद्धत्वात्, जीवस्य परायत्तकर्तृत्वं स्वातन्त्र्यं चाविरुद्धमिति शारीरके स्थापितमिति भावः ।

**३ रा. भा.**— **नन्वेवं परमात्मायत्ते जीवात्मनः कर्तृत्वे जीवात्मा कर्मण्यनियोज्यो भवतीति विधिनिषेधशास्त्राण्यनर्थकानि स्युः; इदमपि चोद्यं सूत्रकारेणैव परिहृतं 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' [ ब्र. सू. २।३।४१ ] इति; एतदुक्तं भवति— परमात्मना दत्तैस्तदाधारैश्च करणकलेवरादिभिस्तदाहितशक्तिभिः स्वयं च जीवात्मा तदाधारस्तदाहितशक्तिः सन् कर्मनिष्पत्तये स्वेच्छया करणाद्यधिष्ठानाकारं प्रयत्नं चारभते, तदन्तरवस्थितः परमात्मा स्वानुमतिदानेन तं प्रवर्तयतीति जीवस्यापि स्वबुद्ध्यैव प्रवृत्तिहेतुत्वमस्ति; यथा गुरुतरशिलामहीरुहादिचलनादिफलप्रवृत्तिषु बहुपुरुषसाध्यासु बहूनां हेतुत्वं विधिनिषेधभाक्त्वं च— इति ॥ १४ ॥ १५ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— इममभिप्रायमजानन्वायूदकादिवत्परमात्मनः प्रेरकत्वाच्चोदयति— **नन्वेवमिति** । ज्योतिष्टोमादिषु यदि परमात्मा प्रेरयति, तदा न जीवस्य किञ्चिद्विधेयं; न हि प्रबलेन ह्रियमाणस्य गमनविधिः; अथ निरुन्धे, तथापि न विधेयं; न हि दुर्बलस्य प्रबलेन निरुद्धस्य गमनविधिः; एवं यत्र परमात्मा प्रवर्तयति, तत्र निवृत्तेरशक्यत्वान्निषेधो निष्फलः; यत्र तु न प्रवर्तयेत्, तत्र तु प्रवृत्तेरेवाशक्यत्वान्न निषेधापेक्षेति भावः । इयमत्र चार्वाकेतरसमस्तसिद्धान्तावलम्बिनी चोद्यकाष्ठा— 'निग्रहानुग्रहाज्ञातपूर्वादृष्टप्रचोदितः । निग्रहानुग्रहावीदृ इतीदं घटते कथम्' इति । जीवस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वपारतन्त्र्याभावचोद्यवत् पारतन्त्र्येऽपि विधिनिषेधवैयर्थ्यप्रसङ्गचोद्यमपि पञ्चमवेदतदुपनिषदोर्द्रष्टा भगवान्बादरायणः स्वयमेव परिजहारेत्याह— **इदमपीति** । विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिहेतुभ्य एव चेतनेन कृतं प्रयत्नमपेक्ष्य परमात्मा उत्तरोत्तरेषु प्रवर्तयतीति

सूत्रार्थः। तत्र सर्वप्रवृत्तिषु परमात्माधीनासु कथं कृतप्रयत्नापेक्षत्वमुच्यते ? वैयर्थ्यचोद्यस्य चावैयर्थ्यसिद्धयर्थतया परिहारे साध्याविशेषश्च स्यादिति शङ्कायां सूत्रस्याभिप्रायिकमर्थमाह— **एतदुक्तमि**ति।

**अयमभिप्रायः**— यत्तावदीश्वरस्य यन्त्रादिवत्स्वसङ्कल्पकल्पितप्रवृत्तिशक्तीनां करणकलेवराणां समर्पणं, यच्च भूतलादिवत्सर्वप्रवृत्तिनिवृत्त्यानुगुण्येन स्वरूपतः सङ्कल्पतश्च सर्वाधारतयाऽवस्थानं, यदपि करणकलेवराद्यधिष्ठानशक्तिप्रदानं, यच्च प्रवृत्त्यालम्बनबाह्यविषयपुरस्करणं, तत्सर्वं जीवस्य कर्तृत्वानुगुणं सर्वप्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारणं चेति न तत्र चोद्यावकाशः। एतावतैव सर्वप्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारणमुदासीनत्वं भगवत उच्यते। एवं लब्धशक्तेः पुरुषस्य प्रवृत्तिकाले यत्कार्यनिष्पत्त्यर्थमीश्वरस्यानुमन्तृत्वं, तदपि न जीवस्य कर्तृतां वारयति; अपितूत्तम्भनातीति न ततोऽपि विधिनिषेधवैयर्थ्यम्। नचैकस्मिन्नेव कर्मणि परमात्माख्यकर्त्रन्तरसाहचर्यं जीवस्यानियोज्यताकारणं, प्रत्येकमशक्येषु सम्भूय बहुभिरनुष्ठीयमानेष्वपि लोके विधिनिषेधतत्फलादिदर्शनात्प्रवृत्तिशक्तस्येच्छायामन्यैरनिवार्यत्वेन स्वातन्त्र्यादिसिद्धेः। एवं 'कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः' [ ३।५ ] इत्यादिष्वपि ज्ञानेच्छापुरस्कारेण प्रवर्तनादिच्छाविशेषादेश्च स्ववासनादिविशेषमूलत्वाज्जीवस्य कर्तृत्वं सुस्थितम्। अत एव ह्यत्र हेतुपञ्चके कर्तेति समाख्यासमाधिना कर्तृत्वेनैव जीवो निरूप्यते; यत्तु करणकलेवरशक्तिज्ञानवाञ्छादिषु विषमप्रदानमहितप्रवृत्तावनिवारणमनुमननं प्रत्यवायजननं च, तदप्यनादिपूर्वकर्मवैषम्योपाधिकतया नेश्वरस्य वैषम्यनैर्घृण्यापादकम्। प्रवृत्तिवैषम्यस्यादृष्टवैषम्यमूलत्वेऽपि तदेवादृष्टं शास्त्रपुरस्कारेणास्य दृष्टादिकमारभते। तदप्येवमिति विधिनिषेधावकाशलाभः। न हि पूर्वं यज्ञादिकारणमदृष्टं कृतमिति तेनैवेदानीं यज्ञादिकं निष्पद्यते, शास्त्रजन्यबुद्धयादिसापेक्षत्वात्तस्य। एवं पापहेतुभूतमप्यदृष्टं स्वबुद्धयैव निवृत्तियोग्यतया शासनानर्हदशामापाद्य पापे प्रवर्तयति; तदपि तथेति, अन्यथादृष्टमूलत्वाद्धिताहितप्रवृत्त्योर्न शास्त्रापेक्षेति वादिनः पूर्वादृष्टेऽपि तथा प्रसङ्गात्स्ववचनविरोधः। अथादृष्टमूलत्वे शास्त्रवैयर्थ्यप्रसङ्गः; सार्थकं च शास्त्रं परैरभ्युपगम्यत इत्यदृष्टमूलत्वमेव नोपपद्येतेति मन्यसे; तदपि न, लौकिकविधिनिषेधयोरपि तथा प्रसङ्गात्। तत्रापि हि सामग्रीवैचित्र्यमूलत्वे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिवैचित्र्यस्य किं 'गामानय' इत्यादिनियोगेन अथ सोऽपि नियोगः स्वसामग्र्योपनीतः प्रवृत्तिनिवृत्तिसामग्रीमध्यमध्यास्त इति पश्यसि, एवं वैदिकनियोगोऽपीति सम्पश्येथाः। तर्हि लौकिकमपि नियोगं परित्यजाम इति चेत्— हन्त परस्परसंव्यवहारव्युत्पत्त्याद्यसम्भवाद्विलीनं लोकायतेनापीति मूकीभव। एवं सामान्यतः सर्वेषु अदृष्टवैषम्यमूलेष्वपि कर्मसु शास्त्रे सावकाशे तदेव शास्त्रमीश्वरबुद्धिविशेषं चेददृष्टमुपदिशति, तथाविधोऽयमीश्वरः प्रमाणबलादगवत इति न तत्र परिचोदनावकाशः। न चैष दोषः- यथोक्तमाचार्यैर्वादिहंसाम्बुवाहैः— 'वैषम्ये सति कर्मणामविषमः किं नाम कुर्यात्कृती ? किंवोदारतया ददीत वरदो वाञ्छन्ति चेद्दुर्गतिम्' इति।

तदयं चार्वाकेतरसमस्तसिद्धान्तनिष्ठानां साधारणपरिहारसारः— 'तत्तदिष्टादृष्टमूलशास्त्रवश्यदशान्वयात्। पुनस्तथातथा दृष्टसम्पत्तिरुपपद्यते॥ पुमर्थसाधनत्वेन प्रतीतेः स्वेच्छया पुमान्। प्रवर्तेतेति तादर्थ्यात्सावकाशाऽत्र चोदना॥' इति। अत्र करणकलेवरप्रदानादिसाधारणोपकारसापेक्षतया जीवकर्तृत्वस्य परापेक्षत्वं **सन्निमित्यन्तेनो**क्तम्। **कर्मनिष्पत्त्यै** इत्यादिना तु प्रवृत्तिविशेषे जीवस्य स्वातन्त्र्यं दर्शितम्। तत्रापि परस्य किञ्चित्कारः **तदनन्तरवस्थित** इत्यादिनोक्तः। तं— कृतप्रयत्नमित्यर्थः॥ १४॥ १५॥

५ **आ. मा. भा.— अधिष्ठानं देहादिः। कर्ता विष्णुः; स हि सर्वकर्तेत्युक्तम्; जीवस्य चाकर्तृत्वे प्रमाणमुक्तम्। करणमिन्द्रियादि च। चेष्टाः क्रियाः हस्तादिक्रियाभिर्होमादिकर्माणि जायन्ते। ध्यानादेरपि मानसी चेष्टा कारणम्। पूर्वतनी चेष्टाऽपि संस्कारकारणत्वेन भवति। दैवमदृष्टम्। तथा चायास्यश्रुतिः— "देहो ब्रह्मार्थेन्द्रियाद्याः क्रियाश्च तथाऽदृष्टं पञ्चमं कर्महेतुः" इति॥ १४॥ १५॥**

६ **ज. प्र. दी.**— अधिष्ठानादि करण एवान्तर्भूतमिति वक्ष्यति, तत्प्रबोधनायाधिष्ठानं निर्दिशति— **अधिष्ठानमि**ति। आदिपदेन भूम्यादि। कर्ता जीव इति व्याख्यानमसदिति भावेनाऽऽह— **कर्ते**ति। शरीरवाङ्मनोभिः क्रियमाणानां कर्मणां कर्ता कथं विष्णुः ? इत्यत आह— **स ही**ति। उक्तमुपपादितम्। तथापि जीवोऽत्र कर्ता किं न स्यात् ? इत्यत आह— **जीवस्य चे**ति। अपराधीनत्वाभिप्रायेणेदं निराकरणं, पराधीनं कर्तृत्वमङ्गीकृत्यान्यत्र जीवो व्याख्यात इत्यविरोधः। भावसाधनताप्रतीतिनिरासार्थमाह— **करणमि**ति। आदिपदेन स्रुवादि। भावसाधनार्थस्य साध्यत्वाच्चेष्टाग्रहणेन च गृहीतत्वाच्च। वायवीयाः प्राणापानाद्याश्चेष्टाः (शां.) इत्यसत्। द्रव्याभिधाने चेष्टात्वानुपपत्तेः। प्राणनाद्यभिधाने साध्यत्वात्कारकत्वानुपपत्तेरित्याशयवानाह— **चेष्टा** इति। क्रियाणां साधकत्वात्कथं कारकत्वं ? इत्यत आह— **हस्तादी**ति। सावान्तरव्यापारं हि करणं कारकमुच्यते। तत्राधिष्ठानादिपदैर्व्यापारिणो निर्दिश्यन्ते। क्रियाशब्देन त्ववान्तरा व्यापाराः। कारकाश्रिताभिरवान्तरक्रियाभिः प्रधानक्रियाजननं च प्रसिद्धमेवेत्यर्थः।

नन्वत्र कारकाभिधानप्रसङ्गेऽधिष्ठानाद्येवोक्तं कर्मसम्प्रदानापादानानि कुतो नोक्तानि ? अधिष्ठानादीनां सर्वक्रियानुगमात् कर्मादीनां तदभावादिति ब्रूमः। तथा च वक्ष्यति— 'शरीरवाङ्मनोभिर्यत्' [ १८।१५ ] इति। एवं तर्हि चेष्टाऽपि वक्तव्या। ध्यानादिजनने करणस्य मनसश्चेष्टाभावेनाननुगमात्

त्यत आह— ध्यानादेरपीति । आदिपदेन स्मरणं गृह्यते, ज्ञात एवार्थे ध्यानं भवति, ज्ञानं चात्मेन्द्रियसन्निकृष्टेनैव मनसा जायते, सन्निकर्षश्च मानसचेष्टाजन्यः, अतो ध्यानादेरपि मनस्सम्बन्धिनी चेष्टा कारणं भवतीति भावः । ननु नियतपूर्वक्षणे सत्कारणं न च ध्यानादिपूर्वक्षणे मनसि क्रियाऽस्ति चिरातीतत्वात् । मनोनैश्चल्यसाध्यत्वाद्ध्यानादेः । न च सन्निकर्षज्ञानद्वारा करणं तस्यापि चिरातीतत्वादित्यत आह- पूर्वतनीति । पूर्वतनी चिरातीताऽपि मानसी क्रिया सन्निकर्षद्वारा ध्यानादिहेतुसंस्कारकारणत्वेन भवति, ध्यानादेः कारणसंस्कारस्य स्थायित्वादित्यर्थः । दैवमन्तर्यामिव्यापार इति कश्चित्, तदसत्; कर्तेत्यनेनैवोक्तत्वात् । चक्षुराद्यनुग्राहकाः सूर्यादय इत्यपरः [ वें. ब्र. ] तदप्यसत्; करणादिशब्दैरेव गृहीतत्वादिति भावेनाऽऽह— दैवमदृष्टमिति । उक्तमर्थं श्रुतिसम्मत्याऽपि समर्थयते— तथा चेति । देह इत्युपलक्षणम् । हेतुः कारणम् । कर्म हेत्विति क्वचित्पाठः, तत्र छान्दसो लिङ्गव्यत्ययः ॥ १४ ॥ १५ ॥

७ ह. पै. भा.— तानि कानि ? इत्यत्रोच्यते- अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं शरीरं, तथा कर्ता योऽहमीश्वरोऽस्मीति मन्यते, करणं च श्रोत्रादीन्द्रियं पृथग्विधं पञ्चधा, विविधा नानाप्रकारा पृथक्चेष्टा प्राणादिवायूनां प्रवृत्तिः । अत्र कारणवर्गे पञ्चानां पूरणं दैवम् ॥ १४ ॥ शरीरेति । शरीरं च वाक्च मनश्च शरीरवाङ्मनांसि, तैर्यत्कर्म क्रियारूपं प्रारभते नरो न्याय्यं वा शास्त्रीयं वा [विपरीतं वाऽशास्त्रीयं वा] तस्य कर्मण एते पञ्च हेतवः ॥ १५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तान्येवाह— अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं कर्तृकरणक्रियाश्रयं शरीरम्, कर्ता अहङ्कारश्चिदचिद्ग्रन्थिः, ज्ञानकर्मेन्द्रियभेदेन पृथग्विधमनेकप्रकारं करणं चक्षुरादिकम्, विविधाः नागकूर्मकृकरदेवदत्तधनञ्जयभेदेन प्राणापानादिभेदेन चानेकप्रकाराः पृथगसङ्कीर्णाश्चेष्टाः क्रियारूपाः तत्प्रधानाः प्राणादयः, दैवं चक्षुराद्यनुग्राहकमादित्यादि, तदेवात्र कारणवर्गे पञ्चमं पञ्चत्वसङ्ख्यापूरणम् ॥ १४ ॥

एवमधिष्ठानादीनि पञ्चोक्त्वा तेषां कर्मकारणत्वमाह- शरीरेति । न्याय्यं शास्त्रीयं वा विपरीतमशास्त्रीयं वा यत्कर्म शरीरवाङ्मनोभिर्नरः प्राणी प्रारभते निर्वर्तयति, तस्य सर्वस्य कर्मणः एते अधिष्ठानादयः पञ्च हेतवः । एवं पञ्चभिरारभ्यमाणमपि कर्म शारीरं वाचिकं मानसिकमिति त्रैविध्यप्रसिद्ध्या त्रिष्वेवान्तर्भवतीत्यभिप्रायेण शरीरवाङ्मनोभिरित्युक्तम् । शरीरं च वाक्चेति विगृह्य ततः समस्तस्य शरीरवाक्पदस्य मनःपदेन द्वन्द्वः, न तु केवलवाक्पदस्येत्यचतुरादिसूत्रनिपातितं [ अष्टा. ५।४।७७ ] वाङ्मनसेत्यकारान्तत्वं न भवति ॥ १५ ॥

९ व० त० दी०— तथाहि अधिष्ठानमिति । शरीरवाङ्मनोभिरिति न्याय्यं शास्त्रीयं, विपरीतं निषिद्धं वा, अन्यत्सर्वं कर्म शारीरं वाचिकं मानसं च; तस्य पञ्चैते हेतवो भवन्ति । तान्याह- अधिष्ठानं प्रथमं शरीरं कारणं, कर्ता जीवात्मा साहंकारो ज्ञाता संज्ञात एव 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ब्र. सू. २।३।३३] इति सूत्रात्; करणं च समनस्कं चक्षुश्श्रोत्रादिज्ञानकर्मभेदात् पृथग्विधं गृहीतं; कार्यस्वरूपतो विविधाश्चेष्टाः प्राणादीनां वृत्तयोऽत्र कर्मणि हेतवः । दैवं च पञ्चमं अदृष्टमिति केचित् ( माध्वाः ) । वस्तुतस्तु पञ्चसङ्ख्यापूरणमुत्तममन्तर्यामिरूपं कर्ममात्रनिष्पत्तौ प्रधानं, हेतुरित्यर्थः । उक्तं हि प्राक् भगवता पुरुषोत्तमेन स्वान्तरे स्वरूपमाहात्म्यं ' हृदि सर्वस्य धिष्ठितं ' [ १३।१८ ] इति । श्रीमदाचार्यैरप्युक्तं— ' कृष्णात्परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ' इति । तथा च सूत्रेष्वपि तदन्तरात्मायत्तजीवात्मदेहेन्द्रियादेः कर्तृत्वं 'परात्तु तच्छ्रुतेः' इत्युपपादितं ' यथा च तक्षोभयथा ' [ ब्र. सू. २।३।४० ] इति ।

अत्र भाष्यकारः— "ननु कर्मकारिणां कर्तृत्वभोक्तृत्वभेदो दृश्यते; तथा च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोर्भेदो भविष्यतीति चेत्, न; यथा तक्षा रथं निर्माय तत्रारूढो विहरति पीठं वा; स्वतो न व्याप्रियते वास्यादिद्वारेण वा, चकारादन्ये स्वार्थकर्त्तारः । अन्यार्थमपि करोतीति चेत्प्रकृतेऽपि सर्वहितार्थं प्रयतमानत्वात् । न च कर्तृत्वमात्रं दुःखरूपं पयःपानादेः सुखरूपत्वात् । तथा च स्वार्थे परार्थे कर्तृत्वं कारयितृत्वं च सिद्धम् । अन्यच्च- 'परात्तु तच्छ्रुतेः' [ब्र.सू. २।३।४१] इति । कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं, तदंशत्वात् ऐश्वर्यादिवत्; न तु जडैकगतं" इति । अतः "नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा" [बृ. उ. ३।७।२३] इति सर्वकर्तृत्वं घटते । कुत एतत् ? श्रुतेः; तस्यैव कर्तृकार-

यितृत्वश्रवणात् "*यमुन्निनीषति तं साधु कर्म कारयति यमधो निनीषति तमसाधु कारयति" इति 'सर्वकर्ता, सर्वभोक्ता, सर्वनियन्ता' इति सर्वरूपत्वान्न भगवति दोषः । तथाच सूत्रं– 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' [ ब्र. सू. २।३।४२ ] ननु वैषम्यनैर्घृण्ययोर्न परिहारः, अनादित्वेन स्वस्यैव कारयितृत्वादिति पक्षं तु-शब्दो निवारयति प्रयत्नपर्यन्तं लौकिकृत्यं कर्म तस्याऽशक्यत्वात् स्वयमेव कारयति । यथा पुत्रं यतमानं बालं वा पदार्थगुणदोषौ वर्णयन्नपि तत्प्रयत्नाभिनिवेशं दृष्ट्वा तथैव कारयति सर्वत्र तत्कारणत्वाय तदानीं फलदातृत्वे या इच्छा तामेवानुवदति 'उन्निनीषति अधोनिनीषति' इति । अन्यथा विहितप्रतिषिद्धयोर्वैयर्थ्यापत्तिः, अप्रामाणिकत्वं च । फलदाने कर्मापेक्षः कर्मकारणे प्रयत्नापेक्षः कामे प्रवाहापेक्ष इति मर्यादारक्षार्थं वेदांश्चकार, ततो न ब्रह्मणि दोषगन्धोऽपि, न चानीश्वरत्वं मर्यादामार्गस्य तथैव निर्णयात् यत्रान्यथा स पुष्टिमध्ये" इति ॥ १४ ॥ १५ ॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रतिज्ञाय तान्येवाह— अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानं लिङ्गशरीरं, कर्ता कर्तृत्वात्मकाभिमानरूपोऽहङ्कारः, करणं चेन्द्रियाणि, पृथग्विधं अनेकप्रकारकम् । चकारेण स्वाधिदैविकसहितम् । विविधाः कार्यकारणफलादिभिरनेकप्रकारकाः । पृथग्भूताः भिन्नरूपेण जाताः प्राणादीनां चेष्टा व्यापाराः । अत्र एतन्मध्य एव सर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी दैवं पञ्चमं मुख्यं कारणमित्यर्थः । एवकारेण तदविरोधेनान्येषां कारणत्वमुक्तम् ॥ १४ ॥

पञ्चानामेव सर्वकर्महेतुत्वमाह— शरीरेति । कर्म त्रिविधं शारीरं, वाचनिकं, मानसिकम् । अतः शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म नरो मनुष्यः प्रारभते न्याय्यं वा मदाज्ञया मदिच्छारूपं, विपरीतं स्वफलभोगार्थरूपं विपरीतमन्याय्यं वा प्रारभते तस्यैते पूर्वोक्ता पञ्च हेतवः, कारणरूपा इत्यर्थः । विकल्पवाचकवाशब्दद्वयेन मदिच्छाज्ञानाभावे न्याय्यस्य वेदोक्तत्वेनावश्यप्राप्तस्याऽपि विपरीतत्वं तज्ज्ञाने विपरीतस्याऽपि न्याय्यत्वमिति ज्ञापितम् ॥ १५ ॥

११ नी० भा० दी०— तान्येव पञ्च गणयति— अधिष्ठानमिति । अधिष्ठानमिच्छाद्वेषसुखदुःखज्ञानादीनामभिव्यक्तेराश्रयो देहः, तस्यानात्मत्वं चार्वाकव्यतिरिक्तसमस्तवादिसिद्धम् । तथा कर्ता बुद्धिविशिष्टश्चिदाभासः प्रमाता नामाहम्प्रत्ययविषयोऽहङ्कारस्तथेत्यनेन तद्वदेवानात्मत्वेन ज्ञेय इत्युक्तं देहस्यैव सृष्टौ प्रलये च तस्याप्युत्पत्तिविनाशयोर्दर्शनात् । एतच्च विशेषणनाशाद्विशिष्टनाशं विशेषणोत्पत्त्या च विशिष्टोत्पत्तिमभिप्रेत्य श्रूयते— "विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति" [ बृ. उ. २।४।१२ ] इति । "यथाऽग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेतस्मादात्मनः सर्वे एत आत्मानो सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" [ बृ. उ. २।१।२० ] इति च विशिष्टस्य चानतिरेकादर्शनादनात्मत्वं सिद्धम् । करणं च शब्दाद्युपलब्धिसाधनं पृथग्विधं द्वादशविधं पञ्च कर्मेन्द्रियाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च । तथा विविधाश्च पृथक्चेष्टा वायवीयाः प्राणनादिरूपाः । दैवं पुण्यपापरूपं तत्तत्करणानुग्राहकसूर्यादिदेवतारूपम् । पञ्चमं पञ्चानां पूरणम् ॥ १४ ॥

शरीरेति । न्याय्यं धर्म्यं शास्त्रीयम् । विपरीतमन्याय्यमधर्म्यमशास्त्रीयम् । ननु शरीरादिभिस्त्रिभिरारभ्यते पञ्चैते तस्य हेतव इति च विप्रतिषिद्धमुच्यते । नैष दोषः— अत्रापि शरीरपदेनाधिष्ठानस्य नरपदेन कर्तुः वाङ्मन इति करणस्यारभत इति चेष्टानां न्याय्यमिति धर्माधर्मरूपस्य दैवस्य च सङ्ग्रहात् । सर्वेषु कर्मसु पञ्चानां समानेऽप्युपयोगे विधिप्रतिषेधलक्षणं त्रिविधमेव कर्म शास्त्रे प्रसिद्धमिति । इदं शारीरं कर्म, इदं मानसं, इदं वाचिकमिति व्यपदेशो देहादीनां प्राधान्यापेक्ष इति न कश्चिद्विरोधः ॥ १५ ॥

आत्मनि कर्तृत्वारोपं कुर्वतो दुर्मतित्वम् ।

**तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।**
**पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥ १६ ॥**

---

* "एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं मेयमन्वानुनेषत्येष एवैनमसाधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्यो जुगुप्सते" [ ३।९ ] इति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीयं श्रुतिर्दृश्यते ।

१ शां. भा.— तत्रेति । तत्रेति प्रकृतेन सम्बध्यते । एवं सति, एवं यथोक्तैः पञ्चभिर्हेतुभिर्निर्वर्त्ये सति कर्मणि । 'तत्रैवं सति' इति दुर्मतित्वस्य हेतुत्वेन सम्बध्यते । तत्र तेष्वात्मानमनन्यत्वेनाविद्यया परिकल्प्य तैः क्रियमाणस्य कर्मणः 'अहमेव कर्ता' इति कर्तारमात्मानं केवलं शुद्धं तु यः पश्यत्यविद्वान्; कस्मात्? वेदान्ताचार्योपदेशन्यायैरकृतबुद्धित्वादसंस्कृतबुद्धित्वात्; योऽपि देहादिव्यतिरिक्तात्मवाद्यन्यमात्मानमेव केवलं कर्तारं पश्यति, असावप्यकृतबुद्धिरेव; अतोऽकृतबुद्धित्वान्न स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं कर्मणो वेत्यर्थः; अतो दुर्मतिः, कुत्सिता विपरीता दुष्टाऽजस्रं जननमरणप्रतिपत्तिहेतुभूता मतिरस्येति दुर्मतिः, स पश्यन्नपि न पश्यति, यथा तैमिरिकोऽनेकं चन्द्रं, यथा वाऽभ्रेषु धावत्सु चन्द्रं धावन्तं, यथा वा वाहन उपविष्टोऽन्येषु धावत्स्वात्मानं धावन्तम् ॥ १६ ॥

२ आ. शां. व्या.— क्रियाकर्तृत्वमधिष्ठानादीनामापाद्याविदुषस्तेष्वात्मत्वदृष्टिमनुवदति— तत्रेति । तत्पदपरामर्शयोग्यं प्रकृतं सर्वं कर्म । प्रतीकमादाय पूर्वेण सहाक्षरार्थं कथयति— एवमिति । अधिष्ठानादीनामुक्तरीत्या कर्तृत्वे सत्यन्यगतं कर्तृत्वमात्मनो यतोऽध्यारोप्य पश्यति, अतो दुर्मतिरित्यात्मनि कर्तृत्वं पश्यन्नित्याह— तत्रैवमिति । कर्तारमित्यादि व्याचष्टे— तत्रेत्यादिना । तेष्वधिष्ठानादिषु तैरधिष्ठानादिभिरारोपितात्मभावैरित्यर्थः । अकर्तारमात्मानं कर्तारं पश्यतीत्यत्र प्रश्नद्वारा हेतुमाह— कस्मादिति । ननु शास्त्रसंस्कृतबुद्धिरेवातिरिक्तात्मवादी कर्तृत्वं तस्यानुमन्यते, नासौ कर्तृत्वमात्मनि पश्यन्नपि भवत्यकृतबुद्धिस्तत्राऽऽह— योऽपीति । तस्यापि शास्त्रपूर्वकमाचार्योपदेशेन तदनुसारिन्यायैश्चानाहितबुद्धित्वादकृतबुद्धित्वं सिद्धमित्यर्थः । कौटस्थ्यमात्मनस्तत्त्वं याथात्म्यं कर्मणोऽपि तत्त्वमविद्याकृताधिष्ठानादिकृतत्वेनाऽऽत्मास्पर्शित्वमात्मकर्मणोस्तत्त्वदर्शनाभावोऽतश्शब्दार्थः । दुष्टत्वं स्पष्टीकर्तुं दुर्मतित्वं विवृणोति— जननेति । 'अहं कर्ता' इत्यात्मदर्शनवतोऽपि नाविदुषस्तद्दर्शनमस्तीत्यत्र दृष्टान्तमाह— यथेति । तिमिरोपहतचक्षुरनेकं चन्द्रं पश्यन्नपि तत्त्वतो न तं पश्यति, एवमविद्वानात्मानं कर्तारं पश्यन्नपि तत्त्वतो न तं पश्यतीत्यर्थः । अधिष्ठानादिष्वविद्यया सम्बद्धात्मनः स्वात्मनि तद्गतक्रियारोपे दृष्टान्तमाह— यथा वेति । अन्येषु वाहकेषु पुरुषेषु धावनकर्तृषु वाहने स्थितः स्वात्मानं प्रधावनकर्तारमविवेकादभिमन्यते तथाऽधिष्ठानादिषु क्रियाकर्तृषु तद्गतं स्वात्मानं कर्तारं मन्यमानो दुर्मतिरित्यर्थः ॥ १६ ॥

३ रा. भा.— एवं वस्तुतः परमात्मानुमतिपूर्वके जीवात्मनः कर्तृत्वे सति तत्र कर्मणि केवलमात्मानमेव कर्तारं यः पश्यति, स दुर्मतिः विपरीतमतिः, अकृतबुद्धित्वात्— अनिष्पन्नयथावस्थितवस्तुबुद्धित्वात्; न पश्यति न यथावस्थितं कर्तारं पश्यति ॥ १६ ॥

४ वे. ता. चं.— यद्येवं पञ्चानां हेतुत्वेऽप्यात्मैव कर्ता, तर्ह्येकर्तृत्वानुसन्धानं भ्रान्तिरूपमेव स्यात्; विधिनिषेधादिसंरक्षणाय कर्तृत्वं तावद्दुस्त्यजम्; न च सहकारिनिरपेक्षकर्तृत्वं प्रतिषिध्यत इति वाच्यं; तस्य प्रसङ्गाभावेन प्रतिषेधायोगात् । न हि कश्चिद्देहेन्द्रियदण्डचक्रादिनिरपेक्षः करोमीति मन्यत इति शङ्कायां नियन्त्रन्तरनिरपेक्षस्वाभाविककर्तृत्वभ्रमस्य देहाद्यात्मभ्रमवतां चानेकाधीने कर्मण्यनन्याधीनत्वाभिमानस्य निवारणमकर्तृत्वानुसन्धानमित्युच्यते 'तत्रैवम्' इति श्लोकेन । परमात्मानुमतिपूर्वक इति सर्वनिर्वाहकप्रधानहेतुग्रहः । आत्मानमिति स्वात्मानमित्यर्थः । अत एव च कर्तृशब्दोऽत्र न पूर्ववद्धर्मिसमर्पकः; इतरथा कर्मप्रारम्भहेतुमित्यध्याहारप्रसङ्गाच्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह— केवलमात्मानमेव कर्तारमिति । तुशब्दोऽत्रावधारणार्थो व्याख्यातः । शङ्कानिवर्तकत्वेऽपि वा केवलशब्दोक्तव्यक्त्यर्थ एवकारः ।

नन्वत्र केवलशब्देन स्वाभाविककर्तृत्वानुवादमात्रं स्यादिति चेत्, न; चतुर्भिः सम्भूयकरणे प्रस्तुते तदनभिज्ञनिन्दायां तद्व्यवच्छेदार्थत्वस्वारस्यात्तस्यापेक्षिततत्वाच्च । तत्र यत्परैरुक्तम्— 'आत्मनोऽविक्रियस्वभावत्वेनाधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः विक्रियावतो ह्यन्यैः संहननं, संहत्य वा कर्तृत्वं स्यात्; नत्वविक्रियस्यात्मनः केनचित्संहननमस्तीति न सम्भूयकारित्वमुपपद्यते' इति; तदसत्, स्वरूपोत्पत्त्यादिविकाररहितस्यात्मनः 'दारुण्यग्निर्यथा तैलं तिले तद्वत्पुमानपि । प्रधानेऽत्र स्थितो व्यापी चेतनात्मात्मवेदनः' इत्यादिभिः शास्त्रैर्द्रव्यान्तरेण संहननस्य ज्ञानचिकीर्षाद्याधारतया सहकारिभिः सम्भूयकर्तृत्वस्य च स्थापनात् । अन्यथाऽत्रापि 'पञ्चैते तस्य हेतवः' [ १८।१५ ] इति कर्तुरपि हेतुत्वेन परिगणनस्य भङ्गप्रसङ्गादिति ।

'स दुर्मतिः' इत्येतदुक्तस्यैवानुवादः; अन्यथा पौनरुक्त्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह— विपरीतमतिरिति । अकृतबुद्धिरिहाध्यात्मशास्त्रैरनिष्पादितबुद्धिः; तदाह— अनिष्पन्नेति । 'यः पश्यति, न स पश्यति' इति व्याघातात् सदपि दर्शनमयथाभावेनासङ्कल्पतया निन्द्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— न यथावस्थितमिति । बाह्येषु यथावस्थितिदर्शनसम्भवात्प्रकृत-

विषये नियच्छति कर्तारमिति । स्वभावार्थशास्त्रप्राप्तव्यतिरिक्तेषु न प्रवर्तेत; अवश्यकर्तव्येषु स्वभावादिप्राप्तेष्वपि स्वस्मिन्नधिष्ठानादिषु च यथांशं कर्मबन्धनमस्य प्रवर्तेतेति हृदयम् ॥ १६ ॥

५ आ. मा. भा.— केवलं निष्क्रियम् । एनं केवलमात्मानं निष्क्रियत्वाद्वदन्ति हीति तत्रैव ॥१६॥

६ ज. प्र. दी.— न चैवं जीवस्य कर्मकारणेष्वनन्तर्भावे व्याख्यायमाने 'तत्रैवं सति' इत्युत्तरवाक्ये केवलमिति न युज्यते, एकाकिनमात्मानं कारणत्वेन मन्यमानस्य निन्दयाऽस्य सहायस्य कारणत्वप्रतीतेरित्यत आह— केवलमिति । नात्र केवलशब्द एकाकिवचनः, किन्तु निष्क्रियत्ववाची; तदुक्तिश्च निन्दोपपादनार्थेति भावः । केवलशब्दस्य निष्क्रियार्थत्वं कुतः ? इत्यत आह— एनमिति । तत्रैवायास्यश्रुतावेवोक्तम् ॥ १६ ॥

७ ह. पै. भा.— तत्र कर्मण एवं सति कर्तारं क्रियानिर्वृत्तिकारणं प्रत्यग्बोधरूपं केवलमसहायं तु यः पश्यति यो जानाति अकृतबुद्धित्वाच्छास्त्राचार्योपदेशासंस्कृतबुद्धित्वात्, न स पश्यति न स जानाति दुर्मतिः तस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वमविद्याकृतं, न वास्तवं कर्तृत्वमस्तीति । आत्मानं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपं प्रतिपद्यमानस्य साङ्ख्यज्ञाननिष्ठस्य योगिनः सकलकर्मसन्न्यास एवेत्यभिप्रायः ॥ १६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— यदर्थमधिष्ठानादीनां कर्मकारणत्वमुक्तं तदाह— तत्रैवमिति । तत्र तस्मिन्पूर्वोक्ते सर्वस्मिन्कर्मणि एवं सति यथोक्तैरधिष्ठानादिभिः पञ्चभिर्निर्वर्त्ये सति अतन्निर्वर्तकं अथ च केवलमसङ्गोदासीनस्वभावम् "साक्षी चेता केवलः" [श्वे. उ.६।११+ब्रह्मो.३] इति श्रुतेः; अतः कर्तृत्वानर्हमेवात्मानं यस्तु कर्तारं पश्यति, स न पश्यत्यज्ञानी । कुतः? अकृतबुद्धित्वात् शास्त्रन्यायाभ्यामसंस्कृतबुद्धिकत्वात् । तथा हि— शास्त्रं तावत् "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" [बृ. उ.४।३।१५;१६] "असङ्गो न हि सज्जते" [बृ. उ. ३।९।२६;४।२।४;४।४।२२;४।५।१५] इत्यात्मतत्त्वस्यासङ्गोदासीनस्वभावत्वम् "ध्यायतीव लेलायतीव" [बृ.उ.४।३।७] इति तस्य बुद्ध्युपाधिकमध्यस्तमेव च कर्तृत्वं दर्शयति । अत्राप्युक्तम् 'अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते' [३।२७] 'शरीरस्थोऽपि कौन्तेय ! न करोति न लिप्यते' [१३।३१] इति ।

न्यायोऽपि निर्धर्मकत्वनिर्विकारत्वान्यथानुपपत्तिरूपः पूर्वाचार्यैरुक्तो वज्रपञ्जरे चास्माभिः प्रपञ्चितः । अत्रापि 'अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्माऽयमव्ययः । ...... न करोति' [१३।३१] इत्यनेनोक्तः । क्षेत्राध्याये च कर्तृत्वनिर्वाहकाणां ज्ञानेच्छाकृत्यादीनां सर्वेषामपि क्षेत्रधर्मत्वप्रतिपादनादात्मनः कर्तृत्वानुपपत्तिर्दर्शिता । अतः शास्त्रन्यायवासनाशून्यस्य देहात्मवादिन एवेदमात्मकर्तृत्वदर्शनं, न तु पण्डितस्येत्यर्थः । ननु पण्डितोऽपि तार्किकादिः कर्तारमात्मानं पश्यतीत्यत आह— दुर्मतिरिति । दुष्टा विवेकप्रतिबन्धकपापेन मलिना मतिर्यस्य सः । तथा च तार्किकादयोऽप्यसच्छास्त्रार्थन्यायसंस्कृतबुद्धित्वाद्भ्रान्ता एवेति भावः ।

यत्त्वत्र 'जीवात्मनः परमेश्वराधीनं कर्तृत्वमिति स्थिते सति यः केवलमात्मानमेव कर्तारं पश्यति, स न पश्यति' इति माध्वरामानुजव्याख्यानम्, तत्रापि 'न स पश्यति दुर्मतिः' इत्येतदेव प्रतिवचनम् , उक्तरीत्या शास्त्रन्यायभगवद्वचनप्रतिषिद्धत्वेन कर्त्रात्मवादस्यासद्बुद्धिकर्तृत्वादिति ॥ १६ ॥

९ व० त० दी०— तत्रैवं सति पञ्चहेतुके कर्मणि सति वस्तुतः प्रकृतिपुरुषप्रयोजकभूतपरमात्मानुमतिपूर्वके जीवात्मनः कर्तृत्वे सति तत्र कर्मणि केवलमात्मानं स्वमेव कर्तारं पश्यति यः स परं विपरीतमतिः अकृतबुद्धित्वात् यथावस्थितं कर्तारं न पश्यति यतः ॥ १६ ॥

१० पु. अ. त.— किमतो यद्येवमत आह— तत्रेति । तत्र सर्वकर्मसु पञ्च हेतवो मत्प्रेरिता इत्येवं सति स केवलमेकं आत्मानं जीवं, तुशब्देन अकर्तारं, योऽकृतबुद्धित्वात् गुरूपदेशप्राप्तविवेकाभावात् दुर्मतिः दुर्बुद्धिः स्वमौर्ख्येन पश्यति, स पश्यति आत्मानं मां चेति भावः । एवं यः कर्म करोति तत्र तत्फलतीति भावः ॥ १६ ॥

११ नी० भा० दी०— एतत्प्रतिपादनफलं कर्तृत्वस्यारोपितत्वसिद्धिरकर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वसिद्धिश्चेति द्वाभ्यां श्लोकाभ्यां दर्शयति— तत्रेति । तत्र तस्मिन्कर्मणि एवमुक्तरीत्या पञ्चभिर्निर्वर्त्ये सति केवलं त्वकर्तारमप्यात्मानं चेतनम् "साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" [श्वे. उ. ६।११] इति श्रुतेः अधिष्ठानादिपञ्चकप्रचारदर्शिनमुदासीनमपि यः कर्तारं कर्तृत्वाश्रयं पश्यति, स दुर्मतिः पापाभिभूतमतिर्न पश्यत्यन्य एव सः । अदर्शने हेतुः— अकृतबुद्धित्वादिति । शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृता बुद्धिर्यस्य स कृतबुद्धिः, तद्विपरीतोऽकृतबुद्धिस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । यथा स्वमुखस्योदपात्रसंसर्गिकत्वं पश्यता जलचाञ्चल्यमपि तत्रारोप्यत एवमात्मबुद्धिसंसृष्टत्वं पश्यता बुद्धिधर्मः कर्तृत्वादिरप्यात्मन्यारोप्यत इति भावः ॥ १६ ॥

अकर्त्रात्मज्ञानिनः सुमतित्वं तत्फलं च ।

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।**
**हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥ १७ ॥**

१ शां. भा.— कः पुनः सुमतिः ? यः सम्यक्पश्यति इत्युच्यते— **यस्येति**। यस्य शास्त्राचार्योपदेशन्यायसंस्कृतात्मनो न भवत्यहंकृतः 'अहं कर्ता' इत्येवंलक्षणो भावो भावना प्रत्ययः 'एत एव पञ्चाधिष्ठानादयोऽविद्ययाऽऽत्मनि कल्पिताः सर्वकर्मणां कर्तारः, नाहम्; अहं तु तद्व्यापाराणां साक्षिभूतः "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" [मुं. उ. २।१।२] 'केवलोऽविक्रियः' इत्येवं पश्यतीत्येतत् । बुद्धिरन्तःकरणं यस्याऽऽत्मन उपाधिभूता न लिप्यते नानुशयिनी भवति 'इदमहमकार्षं, तेनाहं नरकं गमिष्यामि' इत्येवं यस्य बुद्धिर्न लिप्यते, स सुमतिः स पश्यति । हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् सर्वानिमान्प्राणिन इत्यर्थः; न हन्ति हननक्रियां न करोति, न निबध्यते नापि तत्कार्येणाधर्मफलेन सम्बध्यते ।

२ आ. शां. व्या.— विपरीतदृष्टेर्दुर्मतित्वं शिष्ट्वा सम्यग्दृष्टेः सुमतित्वं प्रश्नपूर्वकमाह— **कः पुनरि**त्यादिना । 'अहं कर्ता' इत्यात्मनि कर्तृत्वप्रत्ययाभावे कुत्र कर्तृत्वधीः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **एत** इति । कथं तर्हि कर्तृत्वधीरात्मनि ? इत्याशङ्क्याधिष्ठानादीनां तद्व्यापाराणां च साक्षित्वादित्याह— **अहं त्विति** । आत्मनो न स्वतोऽस्ति क्रियाशक्तिमत्त्वमित्यत्र प्रमाणमाह— **अप्राणो हीति** । नापि तस्य स्वतो ज्ञानशक्तिमत्त्वमित्याह— **अमना** इति । उपाधिद्वयसम्बन्धे शुद्धत्वं फलितमाह— **शुभ्र** इति । कारणसम्बन्धादशुद्धिमाशङ्क्योक्तम्— **अक्षरादि**ति । कार्यकारणयोरात्मास्पर्शित्वेन पार्थक्ये सद्वितीयत्वमाशङ्क्य तयोरवस्तुत्वान्मैवमित्याह— **केवल** इति । जन्मादिसर्वविक्रियारहितत्वेन कौटस्थ्यमाह— **अविक्रिय** इति । बुद्धिर्यस्येत्यादि व्याचष्टे— **बुद्धिरि**ति । नानुशायिनी नानुशयवती, न क्लेशशालिनीत्यर्थः । द्वितीयपादस्याक्षरार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह— **इदमि**ति । पापं कर्मेदमा परामृश्यते । लोकानां प्राणसम्बन्धाभावे कुतो हिंसा ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **प्राणिन** इति ।

१ शां. भा.— ननु हत्वाऽपि न हन्तीति विप्रतिषिद्धमुच्यते ? यद्यपि स्तुतिः; नैष दोषः, लौकिकपारमार्थिकदृष्ट्यपेक्षया तदुपपत्तेः । देहाद्यात्मबुद्ध्या 'हन्ताऽहं' इति लौकिकीं दृष्टिमाश्रित्य 'हत्वाऽपि' इत्याह । यथादर्शितां पारमार्थिकीं दृष्टिमाश्रित्य 'न हन्ति न निबध्यते' इति तदुभयमुपपद्यत एव ।

२ आ. शां. व्या.— विरुद्धार्थोक्त्या स्तुतिरपि न युक्तेति शङ्कते— **नन्विति**। विरोधं परिहरति— **नैष दोष** इति। लौकिकदृष्टिमवष्टभ्य हत्वाऽपीति निर्देशं विशदयति— **देहादी**ति। तात्त्विकीं दृष्टिमास्थाय न हन्तीत्यादिनिर्देशमुपपादयति— **यथे**ति। नाहं कर्ता, किन्तु कर्तृतद्व्यापारयोः साक्षी क्रियाज्ञानशक्तिमदुपाधिद्वयविनिर्मुक्तः शुद्धः सन्कार्यकारणासम्बन्धोऽद्वितीयोऽविक्रिय इत्येवं पारमार्थिकदृष्टेर्यथादर्शितत्वं द्रष्टव्यम् । 'हत्वाऽपि' इत्येतत् 'न हन्ति' इत्यादि चोभयं दृष्टिद्वयावष्टम्भादुपपन्नमित्युपसंहरति— **तदुभयमि**ति ।

१ शां. भा.— नन्वधिष्ठानादिभिः सम्भूय करोत्येवाऽऽत्मा 'कर्तारमात्मानं केवलं तु' [१८।१६] इति केवलशब्दप्रयोगात् । नैष दोषः, आत्मनोऽविक्रियस्वभावत्वेऽधिष्ठानादिभिः संहतत्वानुपपत्तेः । विक्रियावतो ह्यन्यैः संहननं सम्भवति, संहत्य वा कर्तृत्वं स्यात्, न त्वविक्रियस्याऽऽत्मनः केनचित् संहननमस्तीति न सम्भूय कर्तृत्वमुपपद्यते, अतः केवलत्वमात्मनः स्वाभाविकमिति केवलशब्दोऽनुवादमात्रम् ।

२ आ. शां. व्या.— केवलमेवाऽऽत्मानं कर्तारं पश्यन् 'दुर्मतिः' इत्यत्राऽऽत्मविशेषणसमर्पककेवलशब्दसामर्थ्यादात्मनो विशिष्टस्य कर्तृत्वमिति शङ्कते— **नन्विति** । आत्मनो वैशिष्ट्यायोगान्न विशिष्टस्यापि कर्तृत्वमिति दूषयति— **नैष दोष** इति । अविक्रियस्वाभाव्येऽपि कथमात्मनोऽसंहतत्वम् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **विक्रिये**ति । अधिष्ठानादिभिरात्मनः

संहननेऽपि न कर्तृत्वमविक्रियस्य, क्रियान्वयव्याघातादित्याह— **संहत्येति** । संहतत्वानुपपत्तिं व्यक्तीकरोति— **न त्विति** । असंहतत्वे फलितमाह— **इति नेति** । कथं तर्हि केवलत्व-मात्मनि केवलशब्दादुक्तम् ? तदाह— **अत इति** ।

**१ शां. भा.— अविक्रियत्वं चाऽऽत्मनः श्रुतिस्मृतिन्यायप्रसिद्धम् । 'अविकार्योऽयमुच्यते' [ २।२५ ] 'गुणैरेव कर्माणि क्रियन्ते' [ ३।२७ ] 'शरीरस्थोऽपि न करोति' [ १३।३१ ] इत्याद्यसकृदुपपादितं गीतास्वेव तावत् । श्रुतिषु च– "ध्यायतीव लेलायतीव" [बृ.उ.४।३।७] इत्येव-माद्यासु । न्यायतश्च निरवयवमपरतन्त्रमविक्रियमात्मतत्त्वमिति राजमार्गः । विक्रियावत्त्वाभ्युपगमेऽप्यात्मनः स्वकीयैव विक्रिया स्वस्य भवितुमर्हति, नाधिष्ठानादीनां कर्माण्यात्मकर्तृकाणि स्युः । न हि परस्य कर्म परेणाकृतमागन्तुमर्हति ।**

२ आ. शां. व्या.— कर्तृत्वमात्मनोऽभ्युपपन्नं नास्याविक्रियत्वमुपैतीत्याशङ्क्याऽऽह— **अविक्रियत्वं चेति** । तत्र स्मृतिवाक्यान्युदाहरति— **अविकार्योऽयमिति** । 'नाऽयं हन्ति न हन्यते' [ २।१९ ] इत्यादिवाक्यमादिशब्दार्थः । उक्तवाक्यानामात्माविक्रियत्वे तात्पर्यं सूचयति— **असकृदिति** । "निष्कलं निष्क्रियं शान्तं" [ श्वे. उ. ६।१९ ] इत्यादि वाक्यं श्रुतावादिशब्दार्थः, यानि वाक्यानि तैरात्मनोऽविक्रियत्वं दर्शितमिति योजना, न्यायतश्च तद्दर्शितमिति पूर्वेण सम्बन्धः । न्यायमेव दर्शयति— **निरवयवमिति** । न तावदात्मा स्वतो विक्रियते, निरवयवत्वादाकाशवत्; नापि परतोऽसङ्गस्याकार्यस्य पराधीनत्वायोगादित्यर्थः। किञ्चाऽऽत्मनः स्वनिष्ठा वा, विक्रियाऽधिष्ठानादिनिष्ठा वा ? नाऽऽद्यः, स्वनिष्ठविक्रियानुपपत्तेः, आत्मनो दर्शितत्वादित्याशयेनाऽऽह— **विक्रियावत्त्वेति** । सा चायुक्तेत्युक्तमिति शेषः। द्वितीयं दूषयति– **नेत्यादिना** । अधिष्ठानादिकृतमपि कर्म तद्योगादात्मन्यागच्छतीत्याशङ्क्य तदागमनं वास्तवमाविद्यं वेति विकल्प्याऽऽद्यं दूषयति— **न हीति** ।

**१ शां. भा.— यत्त्वविद्यया गमितं न तत्तस्य; यथा रजतत्वं न शुक्तिकायाः, यथा वा तलमलिनत्वं बालैर्गमितमविद्यया नाऽऽकाशस्य, तथाऽधिष्ठानादिविक्रियाऽपि तेषामेव, नाऽऽत्मनः । तस्माद्युक्तमुक्तं 'अहंकृतत्वबुद्धिलेपाभावाद्विद्वान्न हन्ति न निबध्यते' इति । 'नायं हन्ति न हन्यते' [ २।१९ ] इति प्रतिज्ञाय 'न जायते' [ २।२० ] इत्यादिहेतुवचनेनाविक्रियत्वमात्मन उक्त्वा 'वेदाविनाशिनं' [ २।२१ ] इति विदुषः कर्माधिकारनिवृत्तिं शास्त्रादौ सङ्क्षेपत उक्त्वा मध्ये प्रसारितां च तत्र तत्र प्रसङ्गं कृत्वेहोपसंहरति शास्त्रार्थपिण्डीकरणाय 'विद्वान्न हन्ति न निबध्यते' इति ।**

२ आ. शां. व्या.— द्वितीयं निरस्यति— **यत्त्विति** । आत्मन्यविद्याप्रापितं कर्म नाऽऽत्मीयमित्येतद्दृष्टान्ताभ्यामुपपादयति— **तथेत्यादिना** । आत्मनोऽविक्रियत्वेन कर्तृत्वाभावे फलितमाह— **तस्मादिति** । ननु प्रागेवाऽऽत्मनोऽविक्रियत्वं प्रतिपादितं, तदिह कस्मादुच्यते ? तत्राऽऽह— **नायमिति** । शास्त्रादौ प्रतिज्ञातं हेतुपूर्वकं सङ्क्षिप्योक्त्वा मध्ये तत्र तत्र प्रसङ्गं कृत्वा प्रसारितां कर्माधिकारनिवृत्तिमिहोपसंहरतीति सम्बन्धः । प्रतिज्ञातस्य हेतुनोपपादितस्यान्ते निगमनं किमर्थं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **शास्त्रार्थेति** ।

**१ शां. भा.— एवं च सति देहभृत्त्वाभिमानानुपपत्तावविद्याकृताशेषकर्मसन्न्यासोपपत्तेः 'सन्न्यासिनामनिष्टादि त्रिविधं कर्मणः फलं न भवति' [ १८।१२ ] 'इत्युपपन्नं तद्विपर्ययाच्चेतरेषां भवति' इत्येतच्चापरिहार्यमित्येष गीताशास्त्रार्थ उपसंहृतः । स एष सर्ववेदार्थसारो निपुणमतिभिः पण्डितैर्विचार्य प्रतिपत्तव्य इति तत्र तत्र प्रकरणविभागेन दर्शितोऽस्माभिः शास्त्रन्यायानुसारेण ॥ १७ ॥**

२ आ. शां. व्या.— कर्माधिकारो विदुषो नेति स्थिते तस्य देहाभिमानाभावे सत्यविद्योत्थसर्वकर्मत्यागसिद्धेरनिष्टमिष्टं मिश्रं चेति त्रिविधं कर्मफलं सन्न्यासिनां नेति प्रागुक्तं युक्तमेवेति परमप्रकृतमुपसंहरति– **एवं चेति** । ये पुनरविद्वांसो देहाभिमानिनस्तेषां त्रिविधं कर्मफलं भवत्येवेति हेतुवचनसिद्धमर्थं निगमयति— **तद्विपर्ययाच्चेति** । अधिष्ठानादिकृतं कर्म नाऽऽत्मकृतमविदुषामेव कर्माधिकारो देहाभिमानित्वेन तत्त्यागायोगात्; देहाभिमानाभावात्तु विदुषां कर्माधिकारनिवृत्तिरित्युपसंहृतमर्थं सङ्क्षिप्याऽऽह– **इत्येष इति** । उक्तश्च गीतार्थो वेदार्थत्वादुपादेय इत्याह— **स एष इति** । कथमयमर्थो वेदार्थोऽपि प्रतिपत्तुं शक्यते ? तत्राऽऽह — **निपुणेति** भाष्यकृता ( शं. ) मानयुक्तिभ्यां विभज्यानुक्तत्वान्नास्यार्थस्योपादेयत्वमित्याशङ्क्याऽऽह— **तत्रेति** ॥ १७ ॥

**३ रा. भा.**— परमपुरुषकर्तृत्वानुसन्धानेन यस्य भावः कर्तृत्वविशेषविषयो मनोवृत्तिविशेषो नाहंकृतः नाहमभिमानकृतः 'अहं करोमि' इति ज्ञानं यस्य न विद्यत इत्यर्थः; बुद्धिर्यस्य न लिप्यते अस्मिन् कर्मणि मम कर्तृत्वाभावादेतत्फलं न मया सम्बध्यते, न च मदीयं कर्मेति यस्य बुद्धिर्जायत इत्यर्थः । स इमान् लोकान् युद्धे हत्वाऽपि तान्न निहन्ति; न केवलं भीष्मादीनित्यर्थः । ततस्तेन युद्धाख्येन कर्मणा न निबध्यते, तत्फलं नानुभवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— दुर्मतिप्रसङ्गे कस्तर्हि सुमतिः ? इति बुभुत्सायामेवंविधाकर्तृत्वानुसन्धानस्य प्रयोजनमुच्यते— **यस्येति** श्लोकेन । भावोऽत्राभिप्रायः, अर्थान्तरानन्वयात् । स च प्रकरणात् समभिव्याहाराच्च विशेष्यते— **कर्तृत्वविषयो मनोवृत्तिविशेष** इति । 'अहंकृतः' इत्यत्र कर्त्रर्थत्वानन्वयात्कर्मार्थत्वेऽपि मनोवृत्तिविशेषस्याहमभिमानविषयत्वायोगात्तन्मूलत्वमात्रमिह विवक्षितमित्याह **अहमभिमानकृत** इति । अत्राहंशब्देनाहमभिमानलक्षणा वा । यद्वा 'अहंकृतः' इति 'भुक्ता ब्राह्मणाः' इतिवत्कर्तरि क्तः; अहमभिमानकृत इति फलितोक्तिः । ननु आत्मनोऽहमर्थत्वात्कथमहमभिमानवर्जनम् ? तत्राऽऽह— **अहं करोमीति** । सावधारणमिदं योज्यम्, अन्यथा साक्षात्कर्तृत्वविरोधात् । एवं कर्तृत्वत्यागे कण्ठोक्ते परिशेषात्तेनार्थसिद्धः फलसङ्गत्यागो 'बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इत्यनूद्यत इत्याह **अस्मिन्निति** । "नाविरतो दुश्चरितात्" [कठो. १।२।२३] इत्यादिप्रतिषिद्धवैधेतरहननव्युदासाय शास्त्रोपक्रमादिसिद्धमनुकृष्याऽऽह **युद्धे हत्वापीति** । न हन्ति— हननाभिमानजन्यादृष्टवत्तया तत्फलसम्बन्धयोग्यहन्त्रन्तरविलक्षण इत्यर्थः । अन्यथा 'हत्वाऽपि न हन्ति' इति व्याघातात् ।

यत्तु परैरत्रोक्तम्— 'आत्मनो हननकर्तृत्वाभावात्तत्कार्येणाधर्मफलेन न सम्बध्यत इत्युच्यते' इति; तदसत्, 'यस्य नाहंकृतो भावः' इति विशेषणवैयर्थ्यात्; अविदुषोऽन्यस्यापि तन्मते कर्तृत्वाभावात्तस्मिन्नपि च कर्मफललेपस्य मिथ्यात्वाभ्युपगमात् । 'कथं भीष्मम्' [२।४] इत्यादेः प्रश्नस्य कैमुत्येन प्रतिक्षेपार्थम् 'इमाँल्लोकान्' इति सामान्येनोच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **न केवलमिति** । अत्र 'न हन्ति' इत्यस्य 'न निबध्यते' इति व्याख्यानमिति योजना समीचीने गत्यन्तरे सम्भवति न युक्ता । अतः 'यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते' इत्यनयोर्हेतुसाध्यभावेनावस्थितयोः फलमपि हेतुसाध्यभावेन 'न हन्ति न निबध्यते' इत्यनूद्यत इत्याह— **तत** इति । 'न निबध्यते' इत्यनेन कर्मसाध्यमोक्षविरोधिफलानन्वयो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **तत्फलं नानुभवतीति** । एतेन "क्रियाकाले नाहङ्कारः क्रियोत्तरकाले मया कृतमिति प्रतिसन्धानालेपः, 'न हन्ति न निबध्यते' इत्युभाभ्यामैहिकामुष्मिकप्रत्यवायप्रतिषेधः" इति योजनान्तरं निरस्तम् ॥ १७ ॥

**५ आ. मा. भा.**— तज्ज्ञानं स्तौति— **यस्येति** । यस्त्वीषद्बध्यते स ईषदहङ्कारी च ॥ १७ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— अवश्यं चैतदेवं यावतोत्तरश्लोके स्वात्मानमकारणं जानतः स्तुतिः क्रियते, अन्यथा सहायस्य कारणत्वं जानतः स्तुतिः क्रियेतेति भावेनाऽऽह— **तदिति** । स्वात्मनो निष्क्रियत्वज्ञानम् । ननु निरहङ्कारस्यापि इन्द्रादेर्वृत्रवधादिनेषद्बन्धो दृश्यते तत्कथमेतत् ? इत्यत आह— **यस्त्विति** । इयं च कल्पना वक्तुराप्तत्वादिना युज्यते ॥ १७ ॥

**७ ह. पै. भा.**— न केवलं तस्य योगिनः सकलकर्मसन्न्यास एव— यस्य शास्त्राचार्योपदेशन्यायैः संस्कृतात्मनः 'अहं कर्ता' इत्येवम्भूतो भावः प्रत्ययो न भवति, एत एवाधिष्ठानादयोऽधिष्ठानकर्तृकरणचेष्टाः दैवानि सर्वकर्मणां कारणान्यविद्यया चैवं कल्पितानि सर्वकर्मणां कर्तारः, नाहं; अहं तु तद्व्यापाराणां साक्षिभूत इति पश्यतीति बुद्धिर्निश्चयो यस्य नानुशोचितो भवति तदहमकार्षं तेन नरकं गमिष्यामीति न लिप्यते । हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्प्राणिनो न हन्ति, न च हननैककर्मणा निबध्यते । ननु 'हत्वाऽपि न हन्ति न निबध्यते' इत्येतद्वचनं विरुद्धम्; नैष दोषः, लौकिकपारमार्थिकदृष्ट्यपेक्षया तदुपपत्तेः । तस्माद्युक्तं न हन्ति न निबध्यत इति ॥ १७ ॥

**वें. ब्र. गि.**— एवमात्मनः कर्तृत्वं निरस्याकर्त्रात्मज्ञानिनः सर्वकर्मसन्न्यासमुपपादयति— **यस्येति** । यस्य भावः प्रत्ययः अहङ्कृतः अहमिति कृतः 'अहं कर्ता' इत्येवंरूपो न भवति; यद्वा यस्य भावः स्वभावः अहमिति कृतो न भवति, अहङ्कारबाधेन शुद्धस्वरूपमात्रपरिशेषात्; अथवा अहङ्कृत इति षष्ठी, अहङ्कृतोऽहङ्कारस्य भावस्तादात्म्यं यस्य न भवति । अत एव बुद्धिरन्तःकरणं यस्य न लिप्यते । 'इदमहमकार्षमेतत्फलं भोक्ष्ये' इत्यनुसन्धानं लेपः । स च पुण्ये कर्मणि हर्षरूपः, पापे तु पश्चात्तापरूपः । तेन द्विविधेनापि लेपेन न युज्यते, "एत ँ ह वाव न तपति" [तै. उ. २।९।१]

इत्यादिश्रुतेः । स इमान् लोकान् सर्वप्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वाऽपि ऐन्द्रजालिकवत्परमार्थदृष्ट्या न हन्ति, अत एव न निबध्यते तत्कार्येणाधर्मफलेन न सम्बध्यते । अत्र 'नाहङ्कृतो भावः' इत्यस्य फलं 'न हन्ति' इति । 'बुद्धिर्न लिप्यते' इत्यस्य फलं न निबध्यत इति । तस्मादकर्त्रात्मनिष्ठस्य सर्वकर्मसन्न्यासः सुष्ठु सम्पद्यत इति भावः ॥ १७ ॥

९ ब० त० दी०— यस्येति । अधिष्ठानादौ परमात्मनि मुख्यकर्तृकत्वानुसन्धानतोऽहङ्कृतो भावः स्वस्मिन् कर्तृत्वाभिमानकृतो मानसो विकारो न भवति, बुद्धिश्च न लिप्यते फलादौ, स हत्वाऽपीमाँल्लोकान् न हन्ति न केवलं भीष्मादीनित्यर्थः । ततस्तेन कर्मणा न निबद्ध्यते तत्फलं नानुभवतीत्यर्थः । तदुक्तं— 'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि' [५।१०] इति । अत्र कर्तृत्वादिकं साक्षात्कर्तरि परदेवतायां निर्दोषपूर्णविग्रहे ब्रह्मण्यनुसन्धायेति ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

१० पु. अ. स.— अथ गुरूपदेशकृतबुद्धेर्मदाज्ञयाऽवश्यकर्तव्यत्वेन मदिच्छया जायमानत्वेन चाहङ्काररहितस्य कर्मफलाभावं कैमुतिकन्यायेन प्रदर्शयन्नाह— यस्येति । अहङ्कृतः 'अहं कर्ता' इत्येतादृशो मिथ्याभिनिवेशरूपो भावो यस्य नास्ति । किञ्च यस्य बुद्धिर्मदिच्छया ज्ञातसुखदुःखफलेषु कृतकर्मजज्ञाने न लिप्यते न सज्जते, स इमाँल्लोकानासुरान् मदिच्छया हत्वाऽपि लोकैर्हन्तृत्वेन परिदृश्यमानोऽपि न हन्ति, किन्तु मदिच्छयैव हन्ति; अतएव तेन कर्मणा न निबध्यते, बन्धनं न प्राप्नोतीत्यर्थः । यत्र विपरीतकर्मबन्धनाभावस्तत्र विहितकर्मणा मत्सेवादिप्रतिबन्धकफलाप्रतिबन्धे किं वाच्यम् ? इति भावः ॥ १७ ॥

११ नी० भा० दी०— द्वितीयं प्रयोजनमाह— यस्येति । यस्य प्रमातुर्भावः प्रत्ययमात्रस्वरूप आत्मा नाहंकृतः अहमिव कृतोऽहङ्कारतादात्म्यं प्रापितोऽहंकृतस्तथा न, यस्य बुद्धिर्न लिप्यते आत्मभावेन रञ्जिता न भवति, यस्य बुद्धेर्व्यतिरिक्तमात्मानं पश्यतो बुद्धिधर्माः कर्तृत्वादयो नात्मनि प्रतीयन्ते इति कर्त्रात्मवादितार्किकनिरासः । यस्य च आत्मधर्माश्चैतन्यादयो बुद्धौ न संसृज्यन्त इति बुद्धिमेव चेतनां वदतो बौद्धस्य निरासः । चिदचितोरन्योन्यस्मिन्नन्योन्यधर्माध्यासो बाध्यत इति दुःखादिसंसर्गनिषेधेन भोक्तृत्वाभावो दर्शितः । 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्न हन्ति, न निबध्यते' इति तु स्तुतिमात्रं, कर्तृत्वस्यैव बाधेन हन्तृत्वायोगात्; दग्धपटवत्कर्तृत्वानुवृत्तावपि हननक्रियायां प्रवर्तकस्य रागद्वेषादेरभावाच्च । एतेनात्मनस्तात्त्विककर्तृत्वं भावयता कृतं कर्मातात्त्विककर्तृत्वाभिमाननिमित्तं स्वफलं प्रस्तोतुं नार्हतीति दर्शितम् । न हि रज्जुसर्पे रज्जुबुद्धिं कृत्वा प्रहरतः सर्पक्षोभजं दंशनादिफलं भवति, सर्पे तु तथाकुर्वतस्तद्भवत्येव; तद्वदिदमपि ज्ञेयम् ॥ १७ ॥

कर्मणः प्रवर्तकानि तदाश्रयश्च ।

**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।**
**करणं कर्म कर्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥**

१ शां. भा.— अथेदानीं कर्मणां प्रवर्तकमुच्यते— ज्ञानमिति । ज्ञानं ज्ञायतेऽनेनेति सर्वविषयमविशेषेणोच्यते; तथा ज्ञेयं ज्ञातव्यं, तदपि सामान्येनैव सर्वमुच्यते; तथा परिज्ञाता उपाधिलक्षणोऽविद्याकल्पितो भोक्ता, इत्येतत्त्रयमेषामविशेषेण सर्वकर्मणां प्रवर्तिका त्रिविधा त्रिप्रकारा कर्मचोदना । ज्ञानादीनां हि त्रयाणां सन्निपाते हानोपादानादिप्रयोजनः सर्वकर्मारम्भः स्यात् । ततः पञ्चभिरधिष्ठानादिभिरारब्धं वाङ्मनःकायाश्रयभेदेन त्रिधा राशीभूतं त्रिषु करणादिषु संगृह्यत इत्येतदुच्यते । करणं क्रियतेऽनेनेति बाह्यं श्रोत्रादि, अन्तस्स्थं बुद्ध्यादि, कर्म ईप्सिततमं कर्तुः क्रियया व्याप्यमानं, कर्ता करणानां व्यापारयितोपाधिलक्षण इति त्रिविधस्त्रिप्रकारः कर्मसंग्रहः, संगृह्यतेऽस्मिन्निति संग्रहः, कर्मणः संग्रहः कर्मसंग्रहः । कर्म हि त्रिषु समवैति, तेनायं त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥ १८ ॥

२ आ. शां. व्या.— शास्त्रार्थोपसंहारानन्तर्यं 'अथ' इत्युक्तं, 'इदानीं' इति प्रवर्तकोपदेशापेक्षावस्थोक्ता; कर्मणां येषु विदुषां नाधिकारोऽविदुषां चाधिकारस्तेषामित्यर्थः । ज्ञानशब्दस्य करणव्युत्पत्त्या ज्ञानमात्रार्थत्वमाह— ज्ञानमिति । ज्ञेयशब्दस्याऽपि तद्वदेव ज्ञातव्यमात्रार्थत्वमाह— तथेति उपाधिलक्षणत्वं तत्प्रधानत्वमुपहितत्वं तस्यावस्तुत्वार्थमविद्याकल्पितविशेषणम् । एतदेव त्रयं सर्वकर्मप्रवर्तकमित्याह— इत्येतदिति । सर्वकर्मणां प्रवर्तकमित्यध्याहर्तव्यम् । चोदनां

क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमिति भाष्यानुसारेण चोदनाशब्दार्थमाह– **प्रवर्तिके**ति सर्वकर्मणामिति पूर्वेण सम्बन्धः। त्रैविध्यं ज्ञानादिना प्रागुक्तम्। कर्मणां चोदनेति विग्रहः। तेषां सर्वकर्मप्रवर्तकत्वमनुभवेन साधयति– **ज्ञानादीनामि**ति। हानोपादानादीत्यादिपदेनोपेक्षा विवक्षिता। करणमित्यादेस्तात्पर्यमाह— **तत** इति। ज्ञानादीनां प्रवर्तकत्वादित्यर्थः। उक्तेऽर्थे श्लोकभागमवतारयति– **इत्येतदि**ति। बाह्यमन्तस्थं च द्विविधं करणं करणव्युत्पत्त्या कथयति— **करणमि**ति। उक्तलक्षणं कर्मैव स्फुटयति— **कर्तुरि**ति। स्वतन्त्रो हि कर्ता, स्वातन्त्र्यं च कारकाप्रयोज्यस्य तत्प्रयोक्तृत्वमित्याह— **कर्ते**ति। कथमुक्ते त्रिविधे कर्म संगृह्यते? तत्राऽऽह— **कर्मे**ति। कर्मणो हि प्रसिद्धं कारकाश्रयत्वमिति भावः॥ १८॥

**३ रा. भा.— सर्वमिदमकर्तृत्वाद्यनुसन्धानं सत्त्वगुणवृद्ध्यैव भवतीति सत्त्वस्योपादेयताज्ञापनाय कर्मणि सत्त्वादिगुणकृतं वैषम्यं प्रपञ्चयिष्यन् कर्मचोदनाप्रकारं तावदाह– ज्ञानमिति। ज्ञानं कर्तव्यकर्मविषयज्ञानम्, ज्ञेयं च कर्तव्यं कर्म, परिज्ञाता तस्य बोद्धेति त्रिविधा कर्मचोदना बोधबोद्धव्यबोद्धृयुक्तो ज्योतिष्टोमादिकर्मविधिरित्यर्थः। तत्र बोद्धव्यरूपं कर्म त्रिविधं सङ्गृह्यते करणं कर्म कर्तेति। करणं साधनभूतं द्रव्यादिकं, कर्म यागादिकं, कर्ता अनुष्ठातेति॥ १८॥**

**४ वे. ता. चं.**— एवं सात्त्विकत्यागो विशोधितः; अथ तदर्थं 'नित्यसत्त्वस्थः' [२।४५] इत्यादिभिर्बहुधा प्राक्प्रसक्तसत्त्वोपादेयता निरवशेषं विशोध्या; तत्र मध्ये कर्मचोदनाप्रकारादिकथनं कथं सङ्गच्छते? इत्यत्राऽऽह— **सर्वमि**ति। कर्मचोदनाप्रकारोक्तिस्तदनुबन्धिषु ज्ञानादिषु गुणतस्त्रैविध्यं प्रपञ्चयितुमित्यर्थः। **कर्तव्यकर्मविषय**मित्यादि ज्ञानज्ञेयज्ञातृशब्दाः सामान्यविषया अपि कर्मचोदनात्रैविध्यार्थत्वाद्विशेषपरा इति भावः। एतेन ज्ञानशब्दस्यात्र शास्त्रपरत्वव्याख्या निरस्ता। प्रवर्तकवचनरूपचोदनास्वरूपविलक्षणानां ज्ञानादीनां कथं चोदनाभेदत्वोक्तिः? इत्यत्राऽऽह– **बोधबोद्धव्यबोद्धृयुक्त** इति। ज्ञानादीनां चोदनानुबन्धित्वमात्रेण विधाशब्दोक्तप्रकारत्वमित्यर्थः। एवं 'त्रिविधः कर्मसङ्ग्रहः' इत्यत्र हेतुद्वयसहितस्वरूपेण त्रैविध्यम्।

अनुक्तविषयत्रैविध्यान्तरोक्तिशङ्काव्युदासाय त्रिष्वन्यतमं विविच्यत इत्याह– **तत्रे**ति। सङ्ग्रहशब्दस्य कर्मणि व्युत्पत्तिमाह— **संगृह्यत** इति। कर्मैव सङ्ग्रह इति कर्मधारयः, कर्मणो वा सङ्ग्रहः। "व्रीहिभिर्यजेत" [आप. श्रौ. ६।३१।२४] 'दध्ना जुहोति' [आप. श्रौ. ६।२५।१०] इत्यादिप्रतिपादितं क्रियाकरणमिह करणशब्देनोच्यते। फलापेक्षया तु कर्मण एव करणत्वादित्यभिप्रायेणाऽऽह **साधनभूतं द्रव्यादिकमि**ति। आदिशब्देन जात्यादिग्रहणम्। नन्वत्र ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं, तदेव करणमित्युच्यते; ज्ञानादित्रयमेव हि करणकर्मकर्तृशब्दैर्विवृतमिति युक्तम्; अत एव हि 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च' इत्यनन्तरानुवादसङ्गतिरिति चेत्— मैवं, शब्दस्वारस्याभावात्, उक्तमात्रस्य च शब्दान्तरेण पुनरभिधाने प्रयोजनाभावात्; उक्तावान्तरविभजनस्य तु विवेकोपयुक्तत्वादिति भावः। कर्तृकरणसमभिव्याहारात्कर्मशब्दोऽपि कारकविशेषविषय इति शङ्कामपाकरोति **कर्म यागादिकमि**ति। क्रियास्वरूपं हि गुणतस्त्रिविधं विभजिष्यत इति भावः। नियोज्यावस्थतया 'परिज्ञाता' इति निर्दिष्ट एवानुष्ठात्रवस्थतया पुनः कर्मशेषतया तत्प्रकारत्वेन 'कर्ता' इति व्यपदिश्यत इत्याह— **कर्ता अनुष्ठाते**ति॥ १८॥

**५ आ. मा. भा.— एवं तर्हि न पुरुषमपेक्ष्य विधिः, अकर्तृत्वादित्यत आह— ज्ञानमिति। त्रिविधा कर्मचोदना एतत् त्रिविधमपेक्ष्य कर्मविधिरिति त्रिविधेत्युच्यते। कारणानि सङ्क्षिप्याऽऽह— करणमिति। कर्मसंग्रहः कर्मकारणसंग्रहः। अधिष्ठानादि कारण एवान्तर्भूतम्।**

**६ ज. प्र. दी.**— यदि न जीवस्य कारणत्वं कथं तर्हि तज्ज्ञानादेरुत्तरवाक्ये कर्मणां मूलकारणत्वमुच्यते? ज्ञानादित्रयं कर्मणां प्रवर्तकमितीत्याशङ्क्य तस्यार्थान्तरं विवक्षुस्तन्निवर्त्याभाशङ्कामाह— **एवं तर्ही**ति। यदि जीवो न कर्मणां कारणमित्यर्थः। विधिः श्रौतः स्मार्तश्च। न प्रवर्तेत ततश्च तद्वैयर्थ्यप्रसङ्ग इति शेषः। एवं तर्हीत्युक्तस्यैव विवरणम्— **अकर्तृत्वादि**ति। जीवस्य घटवदिति शेषः। ननु ज्ञानादिरूपेण कर्मचोदनायास्त्रैविध्यमयुक्तम्, अनुपयुक्तं च कथमुच्यते? नियोक्तुः प्रेरणं हि विधिः, न च तज्ज्ञानादित्रयरूपम्। न चानेनोक्तशङ्कानिवृत्तिरित्यत आह— **त्रिविधे**ति। स्पष्टप्रतीत्यर्थोऽनुवादः। इत्यत्रेति शेषः। एतत् ज्ञानादिकम्। कर्मविधिः प्रवर्तते, जीवं प्रतीति शेषः। इतिशब्दो हेतौ। त्रिविधेत्युच्यते कर्मचोदना निमित्तनैमित्तिकभावेनाभेदोपचार इत्यर्थः। कर्मकारणानामुक्तत्वात्किमिदं पुनरुच्यते? इत्यत आह— **कारणानी**ति। तर्हि कर्मसङ्ग्रह इति कथं कारणसङ्ग्रहः? इति वक्तव्यत्वादित्यत आह— **कर्मे**ति। कर्मशब्देन तत्कारणानि लक्ष्यन्त इत्यर्थः। यदि पञ्चानां कारणानामयं सङ्ग्रहस्तर्हि कस्य कुत्रान्तर्भावः? इत्यत आह— **अधिष्ठानादी**ति। आदिपदेन दैवपदोक्तमदृष्टं गृह्यते। 'कांस्यपात्र्या भुङ्क्ते' 'दैवेन कृतमन्यथा' इत्यादिवत्साधकतमत्वेन विवक्षित-

त्वात् ‘विवक्षातः कारकाणि भवन्ति’ इति वचनात् । न चादिपदेन चेष्टायाः सङ्ग्रहः, तत्र कारकान्तर्भावस्यैवौचित्यात्, कर्मेति पृथग्ग्रहणाच्च । न च कर्माद्दिष्टम् ‘कर्म चेष्टा’ इत्यन्यत्र व्याख्यातत्वात् । ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ [ अष्टा. १।४।४९ ] इति कश्चित् । तदसत्, पञ्चसु कारणेषु तस्याग्रहीतत्वात् ।

**५ आ. मा. भा.— तथा ह्यृग्वेदखिलेषु— “ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानिनं च ह्यपेक्ष्य विधिरुत्थितः । करणं चैव कर्ता च कर्मकारणसंग्रहः” इति । अकर्तृत्वेऽपि विधिद्वारेश्वरप्रसादादिच्छोत्पत्त्योक्तकारणैः कर्मद्वारा पुरुषार्थो भवतीति । ईश्वराधीनत्वेऽपि विधिद्वारा नियतस्तेनैव ।**

६ ज. प्र. दी.— श्लोकार्थे श्रुतिसम्मतिं चाऽऽह— **तथा हीति** । कर्मेत्यावर्तनीयम् । तत्रैकं व्यस्तम्, परं समस्तम् । ननु ‘ज्ञानं ज्ञेयं’ इत्यनेन कथमुक्तशङ्कानिरासः ? इत्यत आह— **अकर्तृत्वेऽपीति** । अपराधीनकर्तृत्वाभावेऽपि जीवस्य न तं प्रति विधिवैयर्थ्यम् । कुतः ? इति हेतोरित्यन्वयः । विधिशब्देन तत् ज्ञानमुपलक्ष्यते; इच्छेत्यनेन प्रयत्नोऽपि । उक्तकारणैरधिष्ठानादिभिः । अनेन ज्ञानं विधिविषयं चेच्छाप्रयत्नलक्षणमधिष्ठानादिलक्षणं पुरुषार्थलक्षणं च परिज्ञाता सर्वज्ञ ईश्वरश्च सर्वप्रेरको जीवे सन्निहितोऽस्ति । अतस्तं प्रति कर्मचोदनेत्यर्थः सूचितो भवति । **एतदुक्तं भवति**— नापराधीनकर्तृत्वं विधिविषयत्वे प्रयोजकं येन जीवं प्रति कर्मविधिवैयर्थ्यं स्यात् । तथा सतीश्वरस्याऽपि विधिविषयत्वापातात्, किन्तु यस्य स्वसम्बन्धितया विधिज्ञानं कर्म तत्फलं चोद्दिश्येच्छा तदनुगुणश्च प्रयत्नोऽधिष्ठानादिसन्निधानं कर्मसम्बन्धः फलभाक्त्वं चास्ति । तं प्रति कर्मविधयः प्रवर्तन्ते । अस्ति चेदं समस्तं परमेश्वरप्रसादायत्तं जीव इति कथं न तं प्रति कर्मविधयः स्युः ? इति । एतत्सङ्ग्रहवाक्यमुत्तरवाक्यैर्विव्रीयते । नन्वीश्वरश्चेत्प्रेरको जीवशरीरेऽभ्युपगतस्तदा तत्प्रसादादेवेच्छाप्रयत्नयोरुत्पादनात् । किन्तु विधिज्ञानमङ्गीक्रियत इत्यत आह— **ईश्वरेति** । इच्छति प्रयतते चेति शेषः । अनेन विधिद्वारेश्वरप्रसादादिच्छोत्पत्त्येतद्विवृतं भवति ।

**५ आ. मा. भा.— यदि चेच्छादिर्जायते तर्हि कारितमेवेश्वरेण । फलं च नियतम् । वस्तुतोऽकर्तृत्वेऽपि आभिमानिकं कर्तृत्वं तस्यैव । स्वातन्त्र्यं च जडमपेक्ष्यैवेति न प्रवृत्तिविधिवैयर्थ्यम् । सर्वं चैतदनुभवोक्तप्रमाणसिद्धमिति न पृथक् प्रमाणमुच्यते ॥ १८ ॥**

६ ज. प्र. दी.— उक्तकारणैः कर्म भवतीत्युक्तम्, तेनाधिष्ठानादीनां स्वव्यापारे स्वातन्त्र्यं प्राप्तं तन्निरासार्थमाह— **यदि चेति** । ईश्वरेणैव कर्म अधिष्ठानादीनि निमित्तमात्राणि कृत्वा कारितं भवति । अत्र णिचं प्रयुञ्जानस्य स्वातन्त्र्यं चेति वक्ष्यमाणाभिप्रायः । कर्मद्वारा पुरुषार्थो भवतीति पुरुषार्थसाधने कर्मणां प्राधान्यं प्राप्तमत आह— **फलं चेति** । ईश्वरेणैवेति वर्तते, यद्वा ‘यदि च’ इत्यादिना वाक्यद्वयेन विधिविषयतासिद्धये कर्मफलसम्बन्धस्य काकतालीयता निराक्रियते । इदं च नेश्वरमुक्तजडेषु विध्यविषयेष्वस्ति, किन्तु संसारिष्वेवेति भवति प्रयोजकम् । एवमेकं गीतोक्तं कारणमुक्त्वा भाष्यकारः कारणान्तरं चाऽऽह— **वस्तुत** इति । वस्तुतः परमार्थतः । अभिमानिकमहङ्कारकारितं भ्रान्तिप्रतीतम् । तस्य जीवस्य, एवेत्यवधारणेनास्य जीवं प्रति विधिप्रवृत्तौ प्रयोजकत्वं समर्थ्यते । परमेश्वरकृतासु क्रियासु स्वस्य स्वातन्त्र्यं मन्यमानस्यापराधिनो विधिबन्धलक्षणो दण्ड इति भावः । प्रकारान्तरमाह— **स्वातन्त्र्यं चेति** । तस्येति वर्तते । स्यादिदं विधिप्रवृत्ति- ( ‘प्रवृत्तिविधि’ इति पाठः कृष्णाचार्याणाम् )-वैयर्थ्यम्; । यदि जीवस्य क्रियास्वातन्त्र्यलक्षणं कर्तृत्वं सर्वथा न स्यात् । न चैवम्, ईश्वरायत्तस्य तस्याङ्गीकारात्; अपराधीनापेक्षया तदभावोक्तेः । न चैवं जडतौल्यमित्यत आह— **जडमपेक्ष्येति** । अधिकमिति शेषः । जडं हि तदा परकृतेन नोदनादिना क्रियावद्भवति । न त्वागन्तुककारणमन्तरेण स्वेच्छया जीवस्त्वनादिसिद्धया परमेश्वरप्रसादायत्तया सत्तातुल्यया क्रियाशक्त्या करोतेति युक्तस्तं प्रति कर्मविधिरिति । नन्वेतत्सर्वं कुतः प्रमाणात्प्रतिपत्तव्यं ? इत्यत आह— **सर्वं चेति** । अनुभवेनोक्तप्रमाणैश्च विधिज्ञाने सतीच्छोत्पत्तिरित्यादिकं अनुभवसिद्धम् । ‘ईश्वरप्रसादात्’ इत्यादिकं तु ‘यथानियुक्तोऽस्मि’ इत्याद्युदाहृतागमसिद्धम् । पृथक् पुनः ॥ १८ ॥

**७ ह. पै. भा.— ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं प्रकाशनं, ज्ञायत इति ज्ञेयं ज्ञानक्रियाणां कर्मभूतम्, परिज्ञाता ज्ञानक्रियाकर्ताऽविद्याकल्पितः । एतत्त्रिविधं कर्मणः क्रियायाश्चोदना प्रवर्तिका । एतत्त्रितयसन्निधौ प्रवृत्तो दृश्यतेऽत इयं कर्मचोदना ज्ञानज्ञेयपरिज्ञात्रात्मिका । क्रियतेऽनेनेति करणं श्रोत्रादि बुद्धीन्द्रियं वागादि कर्मेन्द्रियं च । कर्म कर्तुः क्रिययाऽऽप्तुमिष्टतमम् । कर्ता योऽहं करोमीति प्रतीयते । एतत्त्रितयं कर्मसङ्ग्रहः कर्म क्रियालक्षणं संगृह्यत आत्मनि व्यवस्थाप्यतेऽनेनेति संग्रहः । करणकर्मकर्तृषु सर्वं कर्म समवेतमतोऽयं त्रिविधः कर्मसंग्रह इत्युच्यते ॥ १८ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— ' न हन्ति न निबध्यते ' [ १८।१७ ] इत्येतदेवोपपादयितुं समस्तस्य क्रियाकारकफलकलापस्य त्रिगुणात्मकत्वान्निर्गुणस्यात्मनस्तत्सम्बन्धो नास्तीति प्रदर्शयिष्यंस्तद्भेदमाह— ज्ञानमिति । ज्ञानमिष्टसाधनत्वबोधः, ज्ञेयमिष्टसाधनं कर्म, परिज्ञाता तु तज्ज्ञानाश्रयः क्षेत्राध्यायोक्तोऽहङ्कारः, एतत्त्रयं कर्मणां चोदना प्रवर्तकम् , एतत्त्रयसन्निपात एव हानोपादानादिसर्वकर्मारम्भदर्शनात् । यद्यपि ' चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ' [ पू. मी. १।१।२ ] इति जैमिनिसूत्रे ' चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः ' इति शाबरभाष्ये ' चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ' इति भट्टवार्त्तिके च क्रियाप्रवर्तकं वचनमेव चोदनाशब्दार्थ इति प्रतीयते, तथापि ' चुद प्रेरणे ' [ धा. पा. १०।५९ ] इति धातुनिष्पन्नस्य चोदनाशब्दस्य चोद्यते प्रवर्त्यतेऽनयेति प्रवर्तकसामान्यशक्त्यैव विधिवाक्येऽपि प्रवृत्तिसिद्धेर्बहिराज्याधिकरणन्यायेन विशेषे शक्तिर्न कल्प्येत्यभिप्रेत्य प्रवर्तकमात्रे चोदनाशब्दप्रयोगः कृतः । तथा करणं साधकतमम् , कर्म कर्तुरीप्सिततमम् , कर्ता स्वतन्त्रः स्वेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्ता चिदचिद्ग्रन्थिरूपोऽहमर्थः, इत्येवं त्रिविधः कर्मसंग्रहः कर्म संगृह्यतेऽत्रेति कर्मसंग्रहः, करणादित्रिविधकारकं कर्माश्रय इत्यर्थः । सम्प्रदानापादानाधिकरणकारकाणामपि क्रियाश्रयाणामुपलक्षणमेतत् ॥ १८ ॥

९ ब० त० दी०— ज्ञानमिति । अत उक्तमिदं सर्वं सत्त्ववृद्ध्यैव भवति सर्वस्येति सत्त्वस्योपादेयताज्ञापनाय सर्वत्र सत्त्वादिगुणकृतं वैचित्र्यं प्रपञ्चयिष्यन् कर्मचोदनाप्रकारं तावदाह— ज्ञानमिति । ज्ञेयं साधनं कर्तव्यकर्मविषयकं, कर्त्तव्यं कर्म, परिज्ञाता एवंविधकर्मज्ञः, इति त्रिविधः कर्मविधिरुच्यते । तदुक्तं भट्टैः– 'चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ' इति । एवं वेदे त्रिगुणमयः कर्मविधिरित्यर्थः । अतएवोक्तं— ' त्रैगुण्यविषया वेदाः ', [ २।४५ ] इति । तत्र साधितः कर्मसंग्रहोऽपि त्रिविधः करणं कर्म कर्तेति; करणं साधनभूतमिन्द्रियादिकं द्रव्यादिकं च, कर्म यागादि, कर्ता तदनुष्ठाता ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च । कर्मप्रेरणमपि त्रिगुणात्मकं, तत्फलं च त्रिगुणं त्रिगुणानामेव कर्तॄणां भवति, निर्गुणस्य च फलाननुसन्धानेन मदाज्ञया करणात्तत्फलानधिकारित्वादपि बन्धो नास्तीत्याह— ज्ञानमिति । ज्ञानं फलस्वरूपावबोधपूर्वकात्माधीनत्वेनाऽवबोधः, ज्ञेयं फलसाधकं कर्म, परिज्ञाता ज्ञानज्ञेययोः स्वरूपज्ञस्तदाश्रयभूतो जीवः । एवं ज्ञानादित्रयमधिकृत्य कर्मचोदना कर्मप्रेरणा त्रिविधा । एवं करणं साधकं, कर्म तत्फलकक्रिया, कर्ता क्रियाप्रवृत्तिमान् , इति अमुना प्रकारेण कर्मसङ्ग्रहः कर्म संगृह्यतेऽस्मिन्निति कर्म सङ्ग्रहः । करणादित्रयमपि कारकं, क्रियाश्रयात्मकः सोऽपि त्रिविधः । अनेन निर्गुणानधिकारित्वं निरूपितम् ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी०— समाप्तः सात्त्विकत्यागोपपादनोपयोगी आत्मनोऽकर्तृत्वोपपादनप्रकारः । अत्राऽऽह साङ्ख्यः । यदुक्तं 'पञ्चैते तस्य हेतवः' [१८।१५] इति यच्चोक्तं 'न हन्ति' [१८।१७] इति तन्मृष्यामहे; न ह्यपरिणामी चेतनः परिस्पन्दात्मकस्य कायिकादिभेदेन त्रिविधस्य कर्मणः कर्ता भवतीति वक्तुं युज्यते । यत्तु ' न निबध्यते ' [ १८।१७ ] इति भोक्तृत्वमुक्तमपि प्रत्याख्यातं तन्न मृष्यामहे । न हि कुलालादयः स्वप्रयुक्ता एव घटादीन्निर्वर्तयन्ति, किन्तु भोक्तृपुरुषप्रयुक्ताः, अन्यथा भोक्तृणामभावे व्यर्थैव तत्प्रवृत्तिरित्यापतति । एवं प्रधानमात्राभूताः कर्त्रादयः पुरुषस्य भोगापवर्गसाधनप्रयुक्ताः सर्वाणि कर्माणि निर्वर्तयन्ति, तस्मात्पुरुषस्य भोक्तृस्वभावत्वादकर्तृत्वात्तुसन्धानपूर्वकमपि कृतं कर्म भोक्त्राऽवश्यमेव भोक्तव्यमिति सात्त्विकत्यागेऽपि कर्मालेपवचनमसङ्गतमिति ।

अत्र प्रतिविधत्ते ज्ञानं ज्ञेयमिति । ज्ञानं ज्ञायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनेनेति प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्यो घटादिप्रकाशः, स च वर्तमानोऽतीतो वा । ज्ञेयं बोधविषयो घटादिः । परिज्ञाता विषयी साभासधीरूपो यो भोक्तेत्युच्यते । एवं रूपप्रकारत्रयवती त्रिविधा कर्मणां चोदना । त्रयं समुचितं सत्कर्मणि प्रवर्तकमित्यर्थः । सत्यपि ज्ञेये ज्ञातरि वा ज्ञाने प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । ज्ञाने ज्ञातरि च सति देशकालव्यवहिते ज्ञेये प्रवृत्त्यनुपपत्तेः । सत्यपि संस्कारात्मके ज्ञाने ज्ञेये च सन्निहिते तथापि सुषुप्तौ प्रमात्रभावात् प्रवृत्त्यदर्शनादेतत्त्रयं त्रिदण्डविष्टम्भवदन्योन्यापेक्षं सत् हानोपादानोपेक्षाबुद्धिरूपं कार्यं जनयित्वा हानाद्यनुकूले व्यापारे प्रवर्तयतीति कर्तृपदाभिधेयमित्यर्थः । चोदनेति कर्तरि नन्द्यादिल्युप्रत्ययान्तत्वेन चोदनाशब्दः कर्तृवाची । लिङ्गं त्वविवक्षितं लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति वा ।

तथा करणमिन्द्रियम् । कर्म तेन यत्क्रियमाणं विषयग्रहणं, कर्ता पूर्वोक्त एव परिज्ञाता; एतत्त्रयं समुदितं सत् कर्मसंग्रहः कर्मण ईप्सिततमस्य भोग्यस्य संग्रहः संगृह्यतेऽस्मिन्निति संश्लेषस्थानं भोक्तेत्यर्थः । सत्यपि भोक्तरि

करणे च क्रियां विना भोगासम्भवात् क्रियायाश्चाश्रयं विना स्वरूपालाभादाश्रयस्य करणं विना भोक्तृत्वाङ्ग-कर्तृत्वानुपपत्तेश्च एतत्त्रयं मिलितं सत् भोक्तेत्युच्यत इत्यर्थः । तथा च श्रुतिः— “ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ” [ कठो. ३।४ ] इति । इन्द्रियं प्रसिद्धम् । मन इत्यनेन बुद्धिरेव गृह्यते । युक्तमिन्द्रिय-द्वारा मतेर्भोग्येन सह सम्बन्धक्रिया । इन्द्रियं च मनश्च युक्तं चेति विग्रहे इन्द्रियमनोयुक्तमिति द्वन्द्वैकवद्भावः । एतत्त्रयं भोक्ता आत्मेत्याहुर्मनीषिण इति श्रुत्यर्थः । एवं हि श्रुतिस्मृत्योर्व्याख्याने तयोर्मूलमूलिभावो युज्यते, नान्यथा । तथा च कर्तृवत् भोक्तुरप्यनात्मगणपतितत्वाद्भोक्तृत्वं भोगकर्तृत्वमिति निर्वचनाद्यः कर्ता स एव भोक्तेति प्रतिपादनादहमकर्ताऽभोक्तेति चानुसन्धानपूर्वकं कर्माणि कुर्वतः कर्तृत्वभोक्तृत्वकृतः कर्मलेपो नास्तीति सिद्धम् । भाष्यस्य चायमेवार्थः ।

ये तु करणं क्रियायाः साधकतमं दशविधं बाह्यं मनोबुद्धिरूपमान्तरं, कर्म कर्तुरीप्सिततमं क्रियया व्याप्य-मानमुत्पाद्यमाप्यं विकार्यं संस्कार्यं चेति चतुर्विधम् । कर्ता कारकान्तरप्रयोजकश्चिदचिद्ग्रन्थिः । एतत्त्रयं कर्म-संग्रहः कर्माश्रयः कर्तेत्यर्थः । तथा ज्ञानं विषयप्रकाशनशक्तिः, ज्ञेयं विषयः, परिज्ञाता ज्ञानाश्रयो भोक्ता, एतत्त्रयं कर्मणि प्रवर्तकमिति व्याचक्षते । तेषामप्यात्मा न कर्ता, नापि साङ्ख्यानामिव भोक्तृत्वेन प्रकृतेः प्रवर्तक इत्येवाशयः । तथापि क्रियया व्याप्यमानस्य वक्ष्यमाणसात्त्विकादिभेदानर्हस्य घटादिरूपस्य कर्मणः कर्तृकोटौ प्रवेशायोगः । तस्य क्रियाश्रयत्वमात्रविवक्षायां प्रकृते तत्कथनानुपयोगश्च स्पष्टः । तथाऽस्माकं तु घटादिव्यापक-क्रियायाः कर्मशब्दवाच्यत्वं मुख्यम् । कर्तृकोटिप्रवेशश्च क्रियाक्रियावतोर्धर्मधर्मिणोरभेदापेक्षया युज्यते । तथा ज्ञानं प्रकाशनक्रियेति मते क्रियारूपेऽस्मिन् प्रवर्तकज्ञानान्तरस्यापेक्षेति तत्र तत्रान्यस्यान्यस्यापेक्षेत्यनवस्था दुर्निवारा ॥ १८ ॥

ज्ञानादित्रयाणां त्रिगुणात्मकत्वकथनप्रतिज्ञा ।

## ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः ।
## प्रोच्यते गुणसङ्ख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥ १९ ॥

**१ शां. भा.—** अथेदानीं क्रियाकारकफलानां सर्वेषां गुणात्मकत्वात्सत्त्वरजस्तमोगुणभेदतस्त्रिविधो भेदो वक्तव्य इत्यारभ्यते— **ज्ञानमिति** । ज्ञानं कर्म च, कर्म क्रिया, न कारकं पारिभाषिकमीप्सिततमं कर्म, कर्ता च निर्वर्तकः क्रियाणां त्रिधैव । अवधारणं गुणव्यतिरिक्तजात्यन्तराभावप्रदर्शनार्थम् गुणभेदतः सत्त्वादिभेदेनेत्यर्थः । प्रोच्यते कथ्यते गुणसङ्ख्याने कापिले शास्त्रे; तदपि गुणसङ्ख्यान-शास्त्रं गुणभोक्तृविषये प्रमाणमेव परमार्थब्रह्मैकत्वविषये यद्यपि विरुध्यते, तथापि ते हि कापिला गुण-गौणव्यापारनिरूपणेऽभियुक्ता इति तच्छास्त्रमपि वक्ष्यमाणार्थस्तुत्यर्थत्वेनोपादीयत इति न विरोधः । यथावद्यथान्यायं यथाशास्त्रं शृणु तान्यपि ज्ञानादीनि तद्भेदजातानि गुणभेदकृतानि शृणु; वक्ष्यमाणेऽर्थे मनस्समाधिं कुर्वित्यर्थः ॥ १९ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** अनन्तरश्लोकदशकतात्पर्यमाह— **अथेति** । ज्ञानादिप्रस्तावानन्तर्यमथशब्दार्थः । इदानीं प्रस्तुत-ज्ञानाद्यवान्तरभेदापेक्षायामित्यर्थः । तेषां गुणभेदात्त्रैविध्ये हेतुमाह— **गुणात्मकत्वादिति** । वक्तव्यो वक्ष्यमाणश्लोक-नवकेनेति शेषः । एवं स्थिते प्रथममवान्तरभेदप्रतिज्ञा क्रियत इत्याह— **इत्यारभ्यत** इति । ‘कर्तुरीप्सिततमं कर्म’ [ अष्टा. १।४।४९ ] इति यत्परिभाष्यते तन्नात्र कर्मशब्दवाच्य-मित्याह— **नेति** । गुणातिरेकेण विधान्तरं ज्ञानादिषु नेति निर्धारयितुमवधारणमित्याह— **गुणेति** । ज्ञानादीनां प्रत्येकं गुणभेदप्रयुक्ते त्रैविध्ये प्रमाणमाह— **प्रोच्यत** इति । ननु कापिलं पातञ्जलमित्यादि शास्त्रं विरुद्धार्थत्वादप्रमाणं कथमिह प्रमाणीक्रियते ? तत्राऽऽह— **तदपीति** । विषयविशेषे विरोधेऽपि प्रकृतेऽर्थे प्रामाण्यमविरुद्धमित्यर्थः । यद्यपि कापिलादयो गुणवृत्तिविचारे गौणव्यापारस्य भोगादेर्निरूपणे च निपुणाः, तथापि कथं तदीयं शास्त्रमत्र प्रमाणीकृतं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ते हीति** । ज्ञानादिषु प्रत्येकमवान्तरभेदो वक्ष्यमाणोऽर्थस्तस्य तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धिकथनं स्तुतिस्तादर्थ्येन कापिलादिमतोपादानमिहोपयोगीत्यर्थः । तृतीयपादस्याविरुद्धार्थत्वं निगमयति— **नेति** । यथावदित्यादि व्याचष्टे— **यथान्यायमिति** ॥ १९ ॥

३ रा. भा.— कर्तव्यकर्मविषयं ज्ञानमनुष्ठीयमानं च कर्म तस्यानुष्ठाता च सत्त्वादिगुणभेदतस्त्रिधैव प्रोच्यते । गुणसङ्ख्याने गुणकार्यगणने यथावच्छृणु तान्यपि— तानि गुणतो भिन्नानि ज्ञानादीनि यथावच्छृणु ॥ १९ ॥

४ वे. ता. चं.— 'ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता' [ १८।१८ ] इत्युक्ता एव पदार्थाः 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च' इत्यनूद्यन्ते । ज्ञातृत्वकर्तृत्वयोरवस्थाभेदमात्रत्वात् ज्ञानोक्त्यैव ज्ञातुरपि सिद्धेरिहानुक्तिः; ज्ञेयशब्दस्य च कर्मविषयत्वात् । करणं तु कर्मानुप्रविष्टत्वान्न पृथग्विभजिष्यते । गुणसङ्ख्यानशब्देन साङ्ख्यराद्धान्तविवक्षायां प्रमाणाभावात्प्रकृते चानुपयोगात् गुणस्वरूपगणने च ज्ञानादेरनुप्रवेशाभावात् **गुणकार्यगणन** इत्युक्तम् । **यथावच्छृणु** यथावच्छ्रवणयोग्यमवधानं कुर्वित्यर्थः । 'यथावत्' इति विवक्षितं प्रकारमाह **गुणतो भिन्नानीति** ॥ १९ ॥

५ आ. मा. भा.— पुनः साधनप्रथनाय गुणभेदानाह— ज्ञानमित्यादिना । गुणसङ्ख्याने गुणगणनप्रकरणे ॥ १९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ज्ञानं कर्मेत्यादेः प्रकृतोपयोगाप्रतीतेस्तं दर्शयन्नाह— **पुनरिति** । मोक्षसाधनं प्रागपि गुणभेदानामुक्तत्वात्पुनरित्युक्तम् । गुणसङ्ख्यानशब्देन कापिलं शास्त्रमुच्यत इति भावेनाऽऽह—**गुणेति** । तच्च वैदिकमभिप्रेतम् ॥ १९ ॥

७ ह. पै. भा.— अथेदानीं क्रियाकारकफलानां सर्वेषां सत्त्वरजस्तमआत्मकत्वात्त्रैविध्यमुच्यते— ज्ञानमिति । ज्ञानं पूर्वोक्तं, कर्म क्रियारूपं, कर्ता ज्ञाता निर्वर्तयिता च त्रिधा त्रिप्रकाराः, गुणभेदतः प्रोच्यते कथ्यते । गुणसङ्ख्याने गुणप्रतिपादके शास्त्रे, यथावद्याथातथ्येन, तान्यपि ज्ञानादीन्यपि ॥ १९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं ज्ञानज्ञेयज्ञातृरूपेण करणकर्मकर्तृरूपेण च विभक्तानां त्रिगुणात्मकत्वं वक्तुं प्रतिजानीते— ज्ञानमिति । गुणाः सम्यक्कार्यभेदेन ख्यायन्ते प्रतिपाद्यन्तेऽस्मिन्निति गुणसङ्ख्यानं साङ्ख्यशास्त्रम् , तस्मिन् ज्ञानं कर्म क्रिया कर्ता च गुणभेदतः सत्त्वादिगुणभेदेन त्रिधैव प्रोच्यते। एवकारः प्रकारान्तरनिरासार्थः । तानि ज्ञानादीनि यथावच्छृणु । 'तान्यपि' इत्यपिशब्दात्तद्भेदभूतान्यन्यान्यपि शृणिवत्यर्थः। अत्र ज्ञानमित्यनेनैव ज्ञेयमपि गृह्यते, ज्ञेयत्वस्य ज्ञानोपाधिकत्वात् । कर्म चेति चकारेण क्रियायामेव करणकर्मकारकयोरप्यन्तर्भावः सूचितः, कारकत्वस्य क्रियोपाधिकत्वात् । कर्ता चेत्यनेन ज्ञाताऽपि। यद्यपि कर्ताऽपि क्रियोपाधिकः, तथापि कुतार्किकभ्रमकल्पितात्मत्वनिरासाय पृथक्तस्य त्रैगुण्यकथनम् , ते हि कर्त्रात्मवादिन इति ध्येयम् । अत्र चेत्थमपौनरुक्त्यं द्रष्टव्यम् । चतुर्दशेऽध्याये गुणातीतस्य जीवन्मुक्तत्वनिरूपणाय 'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्' [ १४।६ ] इत्यादिना गुणानां बन्धकत्वप्रकारो वर्णितः । सप्तदशे पुनः 'यजन्ते सात्त्विका देवान्' [ १७।४ ] इत्यादिना गुणकृतत्रिविधस्वभावनिरूपणेन आसुरं रजस्तमस्स्वभावं त्यक्त्वा सात्त्विकाहारादिसेवया दैवः सात्त्विकस्वभावः सम्पाद्य इत्युक्तम्। अत्र तु स्वभावतो गुणातीतस्यात्मनः क्रियाकारकफलसम्बन्धो नास्तीति दर्शयितुं तेषां सर्वेषां त्रिगुणात्मकत्वमुच्यत इति ॥ १९ ॥

९ ब० त० दी०— ज्ञानमिति । पूर्वोक्तं ज्ञानं कर्म चानुष्ठीयमानं कर्त्ता तदनुष्ठाता सत्त्वादिगुणभेदतस्त्रिधैवोच्यते । गुणसङ्ख्याने साङ्ख्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

१० पु. अ. त.— अथ ज्ञानादित्रयमपि त्रिगुणभेदेन प्रत्येकं त्रिविधमस्तीत्याह— ज्ञानमिति । ज्ञानं साधनं, कर्म क्रिया, कर्त्ता पुरुषः, एतत्त्रयमपि गुणभेदेन सात्त्विकादिभेदतस्त्रिधैव । गुणसङ्ख्याने गुणाः कार्यभेदेन सङ्ख्यायन्ते निरूप्यन्ते गण्यन्ते वा अस्मिन्निति साङ्ख्यशास्त्रे प्रोच्यन्ते तान्यपि तत्रोक्तानि यथावत् मदुक्तानि शृणु । साङ्ख्यप्रोक्तानि तान्यपि शृणिवत्युक्त्या सप्तदशाध्याये स्वोक्तत्रैविध्यस्य निर्गुणाधिकारसम्पादकानि कर्माणि भवन्ति, न त्वेतानीति स्वरूपवैजात्यज्ञानार्थं श्रोतव्यानीति ज्ञापितम् ॥ १९ ॥

११ नी० भा० दी०— पूर्वश्लोकोक्ते ज्ञानादिषट्के परिज्ञाता कर्ता चैक एवेति परिशिष्टाः पञ्च तेषां सर्वेषां प्राकृतत्वेन त्रिगुणात्मत्वे प्राप्ते ज्ञेयकरणयोर्जडयोर्घटकुठारकल्पयोः परिसङ्ख्यार्थं त्रयाणामेव प्रत्येकं त्रिविधत्वं विवरीतुं प्रतिजानीते— ज्ञानमिति । ज्ञानं कर्म कर्ता चेति त्रयमेव गुणभेदतस्त्रिधा, न तु ज्ञेयकरणे । गुणसङ्ख्याने कापिले शास्त्रे । यद्यपि तत्रैकस्यां प्रमदायां भर्तुः सुखं जायते तं प्रति तस्याः सत्त्वोद्भूतत्वात् ; तामविन्दतश्चैत्रस्य दुःखं जायते, तं प्रति तस्या रजउद्भूतत्वात् ; तस्यामेव सपत्न्या द्वेषस्तां प्रति तस्यास्तम-

उद्भूतत्वात्; प्रमदयैव सर्वे भावा व्याख्याता इति कापिलानां ज्ञेयकरणयोरपि त्रैविध्यं प्रसिद्धम् । तथापि प्रमदादय एकस्यैव पुंसो निमित्तभेदेन प्रीतिदुःखद्वेषविषया अपि भवन्तीति पूर्वोक्तव्यवस्थाया निर्मूलत्वात् । प्रीत्यादीनां कर्तृसमवायितया प्रतीयमानानामालम्बनभूताया: प्रमदाया: प्रीत्याद्यात्मकत्वं कल्पयितुं न शक्यत इति न भगवता तयोस्त्रिविधत्वं व्याख्यायते । अक्षरार्थः स्पष्टः ॥ १९ ॥

ज्ञानस्य गुणतो भेदकथनम् ।

**सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते ।**
**अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम् ॥ २० ॥**

**१ शां. भा.**— ज्ञानस्य तु तावत्त्रिविधत्वमुच्यते— **सर्वभूतेष्विति** । सर्वभूतेष्वव्यक्तादिस्थावरान्तेषु भूतेषु येन ज्ञानेनैकं भावं वस्तु– भावशब्दो वस्तुवाची– एकमात्मवस्त्वित्यर्थः । अव्ययं न व्येति स्वात्मना धर्मैर्वा कूटस्थं नित्यमित्यर्थः । ईक्षते येन ज्ञानेन पश्यति, तं च भावमविभक्तं प्रतिदेहं विभक्तेषु देहभेदेषु न विभक्तं तदात्मवस्तु, व्योमवन्निरन्तरमित्यर्थः । तज्ज्ञानं साक्षात्सम्यग्दर्शनं अद्वैतात्मविषयं सात्त्विकं विद्धीति । यानि द्वैतदर्शनानि तान्यसम्यग्भूतानि राजसानि तामसानि चेति न साक्षात्संसारोच्छित्तये भवन्ति ॥ २० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानादीनां प्रत्येकं त्रैविध्यं ज्ञातव्यं प्रतिज्ञाय ज्ञानत्रैविध्यार्थं श्लोकत्रयमवतारयति— **ज्ञानस्येति** । तत्र सात्त्विकं ज्ञानमुपन्यस्यति— **सर्वेति** । भूतानि कार्यकारणात्मकान्युपाधिजातानि । अद्वितीयमखण्डैकरसं प्रत्यगात्मभूतमबाधितं तत्त्वं ज्ञेयत्वेन विवक्षितमित्याह— **एकमिति** । विवक्षितमव्ययत्वं सङ्क्षिपति— **कूटस्थेति** । प्रतिदेहमविभक्तमित्युक्तं व्यनक्ति— **विभक्तेष्विति** । तज्ज्ञानमित्यादि व्याकरोति— **अद्वैतेति** । द्वैतदर्शनान्यपि कानिचिद्भवन्ति सत्त्वनिर्वृत्तानि सम्यञ्चीत्याशङ्क्याऽऽह— **यानीति** । तेषामसम्यक्त्वे हेतुमाह— **राजसानीति** ॥ २० ॥

**३ रा. भा.**— ब्राह्मणक्षत्रियब्रह्मचारिगृहस्थादिरूपेण विभक्तेषु सर्वेषु भूतेषु कर्माधिकारिषु येन ज्ञानेनैकाकारं आत्माख्यं भावं तत्राप्यविभक्तं ब्राह्मणत्वाद्यनेकाकारेष्वपि भूतेषु सितदीर्घादिविभागवत्सु ज्ञानैकाकार आत्मनि विभागरहितम् । अव्ययं व्ययस्वभावेष्वपि ब्राह्मणादिशरीरेष्वव्ययं अविकृतं फलादिसङ्गानर्हं च कर्माधिकारवेलायामीक्षते, तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥

**४ वे. ता. चं.**— सात्त्विकज्ञानादिकथनं कर्तृत्वे गुणपारतन्त्र्यज्ञापनार्थम्; सर्वभूतशब्दाभिप्रेतमनात्मविद्भिरनुसंहितं बाह्यवैचित्र्यमाह— **ब्राह्मणेत्यादिना** । ज्ञानशब्दस्यात्र प्रकृतकर्मचोदनानुबन्धिकर्मानुष्ठानदशाभाविज्ञापनपरत्वात् **कर्माधिकारिष्विति** भूतानि विशेषितानि । भावशब्दोऽत्र पदार्थपर्यायः । **एकमिति** जात्यैक्यविवक्षयोच्यते; आत्मबहुत्वस्य प्रागेव समर्थितत्वात्, अद्वैतदर्शनं सात्त्विकज्ञानमिति परोक्तस्य निर्मूलत्वात्, 'नानाभावान्' [ १८।२१ ] इति च अनन्तरं बहुत्वोक्तेः, साम्यानुसन्धानप्रपञ्चनस्यात्र प्रत्यभिज्ञानात्, कर्तेति प्रकृतप्रत्यगात्मविषयत्वौचित्येन परमात्मपरत्वायोगाच्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह **आत्माख्यमिति** । **सितदीर्घेत्यादिना**—'गवामनेकवर्णानां क्षीरस्य त्वेक(क्षीरस्याप्येक)वर्णता' [ अ. बिन्दू. १९ ] इत्यादिश्रुतिसूचनम् । अत्र सर्वभूतशब्देन ब्राह्मणत्वादिजातिग्रहणाद्गुणाद्यवान्तरविभागपरोऽविभक्तशब्द इति च भावः । केनाकारेणैकत्वम् ? इत्यत्राऽऽह **ज्ञानाकार इति** । प्रतिषिद्ध्यमानस्य व्ययस्य प्रसञ्जकमाह **व्ययस्वभावेष्वपीति** । प्रागुक्तं फलादिसङ्गरूपविकृतिराहित्यमप्यविकृतत्वपरेणाव्ययशब्देन संगृहीतमित्याह **फलादिसङ्गानर्हं चेति** । सङ्गोऽत्र सम्बन्धः; अनुभव इत्यर्थः । इच्छापरत्वेऽपि भोगोऽर्थसिद्धः । कर्मचोदनानुबन्धिज्ञानफलत्वात् **कर्माधिकारवेलायामित्युक्तम्** । 'मयेदं कर्तव्यं' इत्यनुसन्धानदशायामित्यर्थः । येन ज्ञानेनेक्षते विषयीकरोतीत्यर्थः ॥ २० ॥

**५ आ. मा. भा.**— एकं भावं विष्णुम् ॥ २० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— एकं भावमिति सामान्येनोक्तम्; कोऽसावेको भावः ? इत्याकाङ्क्षायामाह— **एकमिति** ॥ २० ॥

**७ ह. पै. भा.**— अव्यक्तादिस्थावरान्तेषु येन ज्ञानेनैकं भावम्— भावशब्दो वस्तुवाची, एकमात्मनस्तत्त्वमित्यर्थः— ईक्षते पश्यति । येन ज्ञानेन । कथम्भूतं भावं ? अविभक्तमभिन्नं ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु भूतेषु देहभेदेषु व्योमवन्निरन्तरं साधुज्ञानं विद्धि । सात्त्विकं सत्त्वनिर्वृत्तम् ॥ २० ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं ज्ञानस्य क्रियायाः कर्तुश्च पृथक् त्रैगुण्यं प्रतिज्ञाय प्रथमं ज्ञानस्य सात्त्विकादित्रैविध्यमाह त्रिभिः— **सर्वभूतेष्विति** । भावशब्द आत्मवाची। 'भावः स्वभावसत्ताभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु ' [ अमरः ३।३।२०६ ] इति निघण्टुः। येन ज्ञानेन सर्वभूतेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु सर्वत्रानुस्यूतमेकं भावमात्मानं पश्यति, तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धीति प्रथमं सम्बन्धः । एकशब्दस्य मुख्यान्यकेवलादिबह्वर्थकत्वाद्विवक्षितमर्थं दर्शयितुं विशिनष्टि— **अविभक्तं विभक्तेष्विति**; देशतः कालतो वस्तुतश्च विभागवन्ति विभक्तानि, तेषु भूतेषु अविभक्तं स्वयं देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्यमित्यर्थः । घटाधिष्ठानस्य मृद इव सर्वभूताधिष्ठानस्यात्मनस्तद्विकारैर्विकारित्वावश्यम्भावात्कथं त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वम् ? अत आह— **अव्ययमिति**; उत्पत्तिविनाशादिसर्वविकारशून्यमित्यर्थः । एतादृशाद्वितीयात्मतत्त्वज्ञानमेव सात्त्विकम् । द्वैतज्ञान तु राजसं तामसं च संसारकारणं, न सात्त्विकमित्यभिप्रायः । तथा च श्रुतिः— " उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति " [ तै. उ. २।७ ] " मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति " [बृ. उ. ४।४।१९+ कठो. ४।१० ] " अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते अन्योऽसावन्योऽहमिति न स वेद यथा पशुः " [ बृ उ. १।४।१० ] इत्यादि । अत्राप्युक्तम्— ' वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ' [ ७।१९ ] इत्यादि ॥ २० ॥

९ व० त० दी०— सर्वभूतेष्विति । येन ज्ञानेन विप्रक्षत्रब्रह्मचारिगृह्यादिरूपेण विभक्तेष्वपि कर्माधिकारिषु ब्राह्मणत्वाद्याकारेषु नैकगुणेषु नैकेष्वेकाकारमात्माख्यं भावं तथाप्यव्ययं व्ययस्वभावेष्वप्यविकृतं फलादिसङ्ज्ञानर्हं कर्माधिकारसमयेऽपि समीक्षते तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि । अतएवोक्तं श्रीमद्भागवते— [ ६। १६।९ ] ' एष नित्योऽव्ययः सूक्ष्म एष सर्वाश्रयः स्वदृक् ' इति । अत्र सर्वाश्रय एक एवात्माऽणुर्जीवोऽव्यय एतज्ज्ञानं सात्त्विकमिति ॥ २० ॥

१० पु. अ. त.— एव कथनं प्रतिज्ञाय पूर्वं ज्ञानत्रैविध्यमाह; तत्र प्रथमं सात्त्विकत्वं ज्ञानस्याऽऽह– **सर्वभूतेष्विति** । येन ज्ञानेन सर्वेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु विभक्तेषु वैचित्र्यार्थं नानारूपैः परस्परं भिन्नेषु अविभक्तमनुस्यूतं एकं भावं भगवत्क्रीडारूपम् , अतएव अव्ययं निर्विकारम् , ईक्षते आलोचनात्मकतया पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि ॥ २० ॥

११ नी० भा० दी०— एवं ज्ञानादित्रयस्य त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिज्ञाय ज्ञानत्रैविध्यं तावदाह— सर्वभूतेष्विति । यथा कटककुण्डलादिषु व्यावर्तमानेषु तत्त्वविदेकं 'काञ्चनमेवेदं' इति पश्यति । एव येन ज्ञानेन सर्वभूतेषु विभक्तेषु नानानामरूपभेदभिन्नेष्वव्ययमपरिणामिनमेकं भावं चिन्मात्ररूपमीक्षते 'सर्वं ब्रह्मैवेदं ' इति पश्यति तज्ज्ञानं सात्त्विकं विद्धि; ऐकात्म्यज्ञानमेव सात्त्विकमित्यर्थः ॥ २० ॥

**पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान्पृथग्विधान् ।**
**वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥**

**१ शां. भा.**— पृथक्त्वेनेति । पृथक्त्वेन तु भेदेन प्रतिशरीरमन्यत्वेन यज्ज्ञानं नानाभावान् भिन्नानात्मनः पृथग्विधान्पृथक्प्रकारान् , भिन्नलक्षणानित्यर्थः; वेत्ति विजानाति यज्ज्ञानं सर्वेषु भूतेषु ज्ञानस्य कर्तृत्वासम्भवाद्येन ज्ञानेन वेत्तीत्यर्थः । तज्ज्ञानं विद्धि राजसं रजोगुणनिर्वृत्तम् ॥ २१ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— प्रतिदेहमन्यत्वेन भिन्नात्मनो येन ज्ञानेन जानाति तज्ज्ञानं राजसमिति व्याचष्टे— **भेदेनेति** । पृथक्त्वं पृथग्विधत्वं च पुनरुक्तमित्याशङ्क्य हेतुहेतुमत्त्वेन विभागं विवक्षित्वाऽऽह— **भिन्नेति** । ज्ञानस्य ज्ञानकर्तृत्वमयुक्तमित्याशङ्क्याऽऽह— **येनेति** ॥ २१ ॥

**३ रा. भा.**— सर्वेषु भूतेषु ब्राह्मणादिषु ब्राह्मणाद्याकारपृथक्त्वेनात्माख्यानपि भावान्नानाभूतान् सितदीर्घादिपृथक्त्वेन च पृथग्विधान् फलादिसंयोगयोग्यान् कर्माधिकारवेलायां यत् ज्ञानं वेत्ति, तत् ज्ञानं राजसं विद्धि ॥ २१ ॥

४ वे. ता. चं.— पृथक्त्वेन च पृथग्विधान् पृथक्त्वेन विशेषितानित्यर्थः । पृथक्त्वादिशब्दानां पुनरुक्तिपरिहारायाऽऽह ब्राह्मणाद्याकारपृथक्त्वेनेति 'सर्वेषु भूतेषु' इति विशिष्टानुवादः; तत्र 'भावान्' इति विशेष्यनिष्कर्ष इत्यभिप्रायेणाऽऽह आत्माख्यानपि भावानिति । जातिभेदविशेष्यभेदगुणादिभेदपरतया पृथक्त्वनानात्वपृथग्विधशब्दानामपुनरुक्तिः । उक्तव्यतिरेकपरतया फलादिसंयोगयोग्यत्वोक्तिः । ज्ञानं वेत्तीति कर्तृत्वोपचारः ॥ २१ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २१ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २१ ॥

७ ह. पै. भा.— पृथक्त्वेन भेदेन नानाभावान्पृथग्विधांस्त्रिप्रकारान्वेत्ति जानाति । करणं कर्तृत्वेनोपचर्यते सर्वेषु भूतेषु । तज्ज्ञानं विद्धि राजसम् ॥ २१ ॥

८ वें. ब्र. गि.— राजसज्ञानमाह— पृथगिति । पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानमित्यस्यैव विवरणम्— सर्वेषु भूतेषु नानाभावानिति । यद्वा पृथक्त्वेन स्थितेषु सर्वभूतेषु देहेषु नानाभावान्प्रतिदेहं भिन्नभिन्नस्वरूपानात्मनः पृथग्विधान् सुखित्वदुःखित्वादिभिन्नप्रकारान्यज्ज्ञानं वेत्ति, येन ज्ञानेन पश्यतीत्यर्थः । 'एधांसि पचन्ति' इतिवत्करणे कर्तृत्वोपचारः । तद्राजसं विद्धि । तज्ज्ञानमिति पुनर्ज्ञानग्रहणमनात्मभेदज्ञानं गृह्णाति । तथा च आत्मनां परस्परभेदः, तेषामीश्वराद्भेदः, तेभ्य ईश्वरादन्योन्यतश्चाचेतनवर्गस्य भेद इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्युक्तं भवति ॥ २१ ॥

९ व० त० दी०— पृथक्त्वेनेति स्पष्टम् ॥ २१ ॥

१० पु. अ. त.— राजसमाह— पृथक्त्वेनेति । ज्ञानस्य सात्त्विकात्मकत्वाद्वक्ष्यमाणज्ञानस्य शब्दमात्रसाम्यज्ञापनाय तुशब्दः । पृथक्त्वेन क्रीडामयैकराहित्येन तु नानाभावान् अनेकान् जीवान् पृथग्विधान् नानाभिलाषरूपान् सुखिदुःखीत्यादिपशुपक्षिमनुजतृणस्तम्बादीन् सर्वेषु भूतेषु येन पश्यति तज्ज्ञानं राजसं विक्षिप्तमानसात्मकं विद्धि ॥ २१ ॥

११ नी० भा० दी०— भेदज्ञाने राजसत्वमाह— पृथक्त्वेनेति । यत्पृथक्त्वेन भिन्नत्वेन ज्ञानं तद्राजसमिति सम्बन्धः । पृथक्त्वेनेत्येतद्विवृणोति— सर्वेषु भूतेषु पाञ्चभौतिकत्वेनाविशिष्टेषु नानाभावान् सुरनरतिर्यक्स्थावरत्वभेदेन नानात्वानि बहुवचनमत्यन्तभेददर्शनार्थं— पृथग्विधान् एकजातीयेष्वपि नरादिषु प्रत्येकं विभिन्नप्रकारान् यज्ज्ञानं वेत्ति विषयीकरोति । येन ज्ञानेन वेत्तीति वक्तव्ये एधांसि पचन्तीतिवत् यज्ज्ञानं वेत्तीति करणे कर्तृत्वोपचारो बोध्यः । तेनात्मनां परस्परभेदस्तेषामीश्वराद्भेदस्तेभ्य ईश्वरादन्योन्यतश्च जडवर्गस्य भेदः इत्यनौपाधिकभेदपञ्चकज्ञानं कुतार्किकाणां राजसमेवेत्यभिप्रायः ॥ २१ ॥

## यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकम् ।
## अतत्त्वार्थवदल्पं च तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

१ शां. भा.— यत्त्विति । यत्तु ज्ञानं कृत्स्नवत्समस्तवत्सर्वविषयमिवैकस्मिन्कार्ये देहे बहिर्वा प्रतिमादौ सक्तं 'एतावानेवाऽऽत्मेश्वरो वा, नातः परमस्ति' इति यथा नग्नक्षपणकादीनां शरीरानुवर्ती देहपरिमाणो जीवः, ईश्वरो वा पाषाणदार्वादिमात्रः इत्येवमेकस्मिन्कार्ये सक्तमहेतुकं हेतुवर्जितं निर्युक्तिकं, अतत्त्वार्थवत्— यथाभूतोऽर्थस्तत्त्वार्थः सोऽस्य ज्ञेयभूतोऽस्तीति तत्त्वार्थवत् , न तत्त्वार्थवदतत्त्वार्थवत्, अहैतुकत्वादेव, अल्पं चाल्पविषयत्वादल्पफलत्वाद्वा, तत्तामसमुदाहृतम् । तामसानां हि प्राणिनामविवेकिनामीदृशं ज्ञानं दृश्यते ॥ २२ ॥

२ आ. शां. व्या.— सक्तत्वमेव व्यनक्ति— एतावा- । एकस्मिन्कार्ये ज्ञानस्य सक्तत्वमेव दृष्टान्तेन साधयति- । यन्निर्युक्तिकत्वं तदेव ज्ञानस्याऽऽभासत्वे कारणमित्याह— अहेतुकत्वादिति । स्वरूपतो विषयतश्चाऽऽभासत्वं फलतो वेत्याह— अल्पेति । तामसं ज्ञानमुक्तलक्षणमित्यत्रानुभवं प्रमाणयति- तामसानां हीति ॥ २२ ॥

३ रा. भा.— यत्तु ज्ञानमेकस्मिन् कार्ये एकस्मिन् कर्तव्ये कर्मणि प्रेतभूतगणाद्याराधनरूपे अत्यल्पफले कृत्स्नफलवत् सक्तं अहेतुकं वस्तुतस्त्वकृत्स्नफलवत्तया तथाविधसङ्गहेतुरहितम् , अतत्त्वार्थं

वत् पूर्ववदेवात्मनि पृथक्त्वादियुक्ततया मिथ्याभूतार्थविषयम्, अत्यल्पफलं च प्रेतभूताद्याराधनरूपविषयत्वादल्पं च, तत् ज्ञानं तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

**४ वे. ता. चं.**— कार्यशब्दोऽत्र नोत्पत्तिमात्रपरः, स्वकर्तव्यविषयत्वात्; एकशब्दश्च सञ्ज्ञानर्हत्वाय फलद्वारा परिमितपरः; तस्यापि हेतुः प्रागुक्तपरिमितशक्तीनामाराधनत्वमित्यभिप्रायेणाऽऽह **एकस्मिन् कर्तव्ये कर्मणि प्रेतभूतगणाद्याराधनरूपेऽत्यल्पफल** इति । कर्मस्वरूपकार्यमात्रस्यापि सङ्गयोग्यत्वाभावः; तत्रापि फलविवक्षायामाह **कृत्स्नफलवदिति**; कृत्स्नफलहेतुभूतकर्मणीवेत्यर्थः । कार्यभूतस्य ज्ञानस्य सङ्गस्य वा कारणमात्रनिषेधायोगात् प्रेक्षावत्सङ्गहेतुरिह प्रतिषिध्यत इत्याह **वस्तुत** इति । ' अहैतुकम् ' इति पाठेऽपि हैतुकादन्यत्वविवक्षयाऽयमेवार्थो ग्राह्यः। **पूर्ववदेवेति**, राजसवदित्यर्थः । ' एकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ' इत्यनेनैवाल्पफलत्वसिद्धेः खद्योतप्रकाशवत्स्वरूपत एवाल्पत्वं स्वारसिकमल्पशब्देन विवक्षितमित्यपुनरुक्तिरित्यभिप्रायेण **अत्यल्पफलं च प्रेतभूताद्याराधनरूपविषयत्वादल्पं** चेत्युक्तम्। ' सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानम् ' [ १४।१७ ] इति पूर्वोक्तं तु राजसतामसज्ञानयोरज्ञानत्वविवक्षया । उक्तं हि ' एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ' [ १३।११ ] इति ॥ २२ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २२ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ २२ ॥

**७ ह. पै. भा.**— यज्ज्ञानं कृत्स्नवत्सर्वेष्वेवैकस्मिन्कार्ये देहे प्रतिमादौ वा सक्तं निविष्टं नातः परमस्तीति। अहेतुकमयुक्तिनिर्मितमतत्त्वार्थवदल्पं चापरमार्थविषयमल्पं चाल्पत्वादल्पविषयत्वादल्पफलं वा तज्ज्ञानं तामसं तमःप्रभवमुदाहृतमुक्तम् । तामसानां हि प्राणिनामविवेकिनामीदृशं ज्ञानं दृश्यते ॥ २२ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— तामसज्ञानमाह— **यत्त्विति** । एकस्मिन्कार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत्सक्तं ' एतावानेवात्मा ईश्वरो वा ' इत्यभिनिवेशयुक्तम्, अहेतुकमुपपत्तिशून्यम्, अत एवातत्त्वार्थवत् परमार्थालम्बनशून्यम्, अत एव चाल्पं तुच्छमल्पविषयत्वादल्पफलत्वाच्च, ईदृशं देहाद्यात्माभिमानरूपं चार्वाकादीनां यज्ज्ञानम्, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

**९ व० त० दी०**— यत्त्विति । एकस्मिन्कार्ये कर्त्तव्ये कर्मणि प्रेतभूतगणाद्याराधनरूपेऽत्यल्पफले निष्प्रयोजनं कृत्स्नफलवत्सक्तं तत्तामसम् ॥ २२ ॥

**१० पु. अ. त.**— तामसं ज्ञानमाह— **यत्त्विति** । यत् एकस्मिन् कार्ये भक्ते लीलास्वरूपे वा कृत्स्नवत् पूर्णवत्, न तु सर्वलीलासामग्र्यादिविशिष्टाविर्भूतभगवदनुभवानन्दभगवद्रूपत्वेन सक्तम्, असक्तम्, अहैतुकं भगवदाकारत्वेन तत्स्मारकानन्दानुभवोपपत्तिरहितम्, अतत्त्वार्थवत् भगवदाविर्भाववियुक्तम्, अल्पं परिच्छिन्नं स्वरूपतः फलतश्च तज्ज्ञानं तामसं निष्फलं विपरीतफलं वा उदाहृतम् ॥ २२ ॥

**११ नी० भा० दी०**— यत्तु ज्ञानमेकस्मिन्कार्ये देहे प्रतिमादौ वा कृत्स्नवत्परिपूर्णवत् ' एतावानेवात्मा, ईश्वरो वा' इति सक्तमभिनिवेशयुक्तम्, अहैतुकं निरुपपत्तिकम्, अतत्त्वार्थवत् परमार्थावलम्बनशून्यम्, अल्पं तुच्छविषयत्वादल्पफलत्वाच्च, यदेवम्भूतं ज्ञानं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २२ ॥

कर्मणो गुणतस्त्रैविध्यम् ।

**नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।**
**अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥**

**१ शां. भा.**— अथेदानीं कर्मणस्त्रैविध्यमुच्यते— **नियतमिति** । नियतं नित्यं, सङ्गरहितमासक्तिवर्जितं, अरागद्वेषतः कृतं रागप्रयुक्तेन द्वेषप्रयुक्तेन च कृतं रागद्वेषतः कृतं, तद्विपरीतमरागद्वेषतः कृतं; अफलप्रेप्सुना फलं प्रेप्सतीति फलप्रेप्सुः फलतृष्णस्तद्विपरीतेनाफलप्रेप्सुना कर्त्रा कृतं कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

२ आ. शां. व्या.— त्रिविधं कर्म वक्तुमनन्तरश्लोकत्रयमित्याह— अथेति । तत्र सात्त्विकं कर्म निरूपयति— नियतमिति ॥ २३ ॥

३ रा. भा.— एवं कर्तव्यकर्मविषयज्ञानस्याधिकारवेलायामधिकार्यंशेन गुणतस्त्रैविध्यमुक्त्वा अनुष्ठेयस्य कर्मणो गुणतस्त्रैविध्यमाह— नियतमिति । नियतं स्ववर्णाश्रमोचितं, सङ्गरहितं कर्तृत्वादिसङ्गरहितम्, अरागद्वेषतः कृतं कीर्तिरागादकीर्तिद्वेषाच्च न कृतम्, अदम्भेन कृतमित्यर्थः; अफलप्रेप्सुना अफलाभिसन्धिना कार्यमित्येव कृतं यत्कर्म, तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

४ वे. ता. चं.— अधिकार्यंशेनेति— अविभक्तत्वविभक्तत्वादिविशेषितकर्माधिकारिस्वरूपानुसन्धानेनेत्यर्थः । विशिष्टे कर्मणि विशेषणतयाऽधिकारिणोंऽशत्वोक्तिः । यद्यपि सङ्गशब्दो विभज्य फलसङ्गकर्तृत्वत्यागप्रतिपादने विशेषविषयः, तथापि 'सङ्गरहितम्' इत्यत्र सङ्कोचकाभावादपेक्षितत्वाच्च कण्ठोक्तफलप्रेप्सातिरिक्तसामान्यविषय इत्याह कर्तृत्वादिसङ्गरहितमिति । आदिशब्देन ममता गृह्यते । 'मुक्तसङ्गोऽनहंवादी' [ १८।२६ ] इत्यादिकथितः कर्तृधर्म इह तद्द्वारा कर्मविशेषणत्वेन योजितः । ब्रह्मणि रागात्संसारद्वेषाच्च क्रियमाणस्य कर्मणः कथमरागद्वेषतः कृतत्वं ? इत्यत्राऽऽह— कीर्तिरागादकीर्तिद्वेषाच्चेति । सङ्गशब्दपुनरुक्तिश्चानेन परिहृता । अकारस्यासमस्तत्वविवक्षया वा फलितत्वोक्तिविवक्षया वा न कृतमित्युक्तम् । 'तपो दम्भेन चैव यत्' [ १७ । १८ ] इत्याद्युक्तप्रतिषेधार्थमिदमित्यभिप्रायेणाऽऽह— अदम्भेनेति । कार्यमित्येवेति सात्त्विकत्यागस्मारणम् ॥ २३ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २३ ॥

७ ह. पै. भा.— नियतं नित्यं सङ्गरहितं फलेच्छावर्जितमरागद्वेषतः कृतं, शास्त्रचोदितमित्यर्थः । अफलप्रेप्सुना कर्त्रा कृतं कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमद्वैतात्मज्ञानं सात्त्विकं, द्वैतात्मज्ञानं राजसं, देहाद्यात्मज्ञानं तु तामसमिति ज्ञानत्रैविध्यमुक्तम्; इदानीं कर्मत्रैविध्यमाह त्रिभिः— नियतमिति । नियतं नित्यतया विहितं सन्ध्याग्निहोत्रादिकर्म सात्त्विकमुच्यत इति प्रथमं सम्बन्धः । सात्त्विकत्वमेवोपपादयितुं विशिनष्टि— सङ्गरहितमिति । सङ्गः संसारसम्बन्धः तद्रहितं; संसारमोचकमिति यावत् । तत्र हेतुः— अफलप्रेप्सुना फलाभिलाषरहितेन कर्त्रा कृतम् । फलाभिसन्धिनाऽनुष्ठीयमानस्यैव कर्मणः फलभोगनानागुणशरीरारम्भकतया बन्धकत्वादित्यभिप्रायः । अफलप्रेप्सुत्वे हेतुः— अरागद्वेषत इति । राजसम्मानादिकमनेन लप्स्यत इत्यभिप्रायो रागः, शत्रूननेन जेष्यामीत्यभिप्रायो द्वेषः, तदभावोऽरागद्वेषः, तेन कृतम्; अतो नेष्टावाप्त्यनिष्टपरिहाररूपफलप्रेप्सेति ॥ २३ ॥

९ ब० त० दी०— इदानीमनुष्ठेयकर्मणो गुणतस्त्रैविध्यमाह— नियतमिति । श्रुतौ स्ववर्णाश्रमोदितं कर्तृत्वादिसङ्गरहितं रागद्वेषौ कीर्त्यकीर्त्तिविषयौ तदभावतः कृतमिति ममत्वपरित्यागपूर्वकं अफलप्रेप्सुना यत्कृतं कर्म तत्सात्त्विकम् ॥ २३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं ज्ञानस्वरूपमुक्त्वा त्रिविधकर्मरूपमाह— नियतमिति । नियतं नित्यं, सङ्गरहितम् अज्ञानासक्तिरहितम्, अरागद्वेषतः कृतं संसारानुरागेण शत्रुमारणाद्यर्थं द्वेषेण रहितम्, अफलप्रेप्सुना फलानभिलाषेण भगवत्तोषहेतुत्वेन कृतं कर्म ( यत् ) तत् सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

११ नी० भा० दी०— अथ कर्मत्रैविध्यमाह— नियतमित्यादिना । नियतं नित्यं, सङ्गरहितमभिमानवर्जितं, राग इष्टे प्रीतिर्द्वेषोऽनिष्टेऽप्रीतिस्ताभ्यां कृतमिष्टानिष्टप्राप्तिपरिहारार्थं कृतं रागद्वेषतः कृतं, तदन्यदरागद्वेषतः कृतं, निष्काममित्यर्थः। फल्गु च लीयते चेति फलं क्रियया प्राप्यमनात्मवस्तु, तदन्यदफलमनागन्तुकं परिपूर्णमविनाशि आत्मतत्त्वं तत्प्रेप्सुना कृतं "विविदिषन्ति यज्ञेन" इति श्रुत्या आत्मलाभार्थं यज्ञादेर्विनियोगात् तत्कर्म सात्त्विकमुच्यते ॥ २३ ॥

**यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः ।**
**क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥**

१ **शां. भा.**— यत्त्विति । यत्तु कामेप्सुना कर्मफलप्रेप्सुनेत्यर्थः; कर्म साहङ्कारेण वा, साहङ्कारेणेति न तत्त्वज्ञानापेक्षया । किं तर्हि ? लौकिकश्रोत्रियनिरहङ्कारापेक्षया । यो हि परमार्थनिरहङ्कारः आत्मवित्न तस्य कामेप्सुत्वबहुलायासकर्तृत्वप्राप्तिरस्ति । सात्त्विकस्यापि कर्मणोऽनात्मवित्साहङ्कारः कर्ता, किमुत राजसतामसयोः । लोकेऽनात्मविदपि श्रोत्रियो निरहङ्कार उच्यते 'निरहङ्कारोऽयं ब्राह्मणः' इति; तस्मात्तदपेक्षयैव 'साहङ्कारेण वा' इत्युक्तम् । पुनश्शब्दः पादपूरणार्थः । क्रियते बहुलायासं कर्म कर्त्रा महताऽऽयासेन निर्वर्त्यते तत्कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— राजसं कर्म निर्दिशति— **यत्त्विति**। 'फलप्रेप्सुना कर्त्रा यत्कर्म क्रियते तद्राजसं' इत्युत्तरत्र सम्बन्धः। तत्त्वज्ञानवता निरहङ्कारेण, साहङ्कारेण त्वज्ञेन क्रियते कर्मेति विवक्षां वारयति— **साहङ्कारेणेति** । तत्त्वज्ञानवता निरहङ्कारेण कृतं कर्मापेक्ष्य साहङ्कारेणाज्ञेन कृतमेतत्कर्मेति न विवक्ष्यते चेत्तर्हि किमत्र विवक्षितं ? इति पृच्छति— **किं तर्हीति** । यो हि दुरितरहितः श्रोत्रियो लोकादनपेतस्तस्य यदहङ्कारवर्जितं कर्म तदपेक्षयेदं साहङ्कारेण कृतं कर्मेत्युक्तमित्याह— **लौकिकेति** । ननु तत्त्वज्ञानवतो निरहङ्कारस्य कर्मकर्तृत्वमपेक्ष्य साहङ्कारेणेत्यादि किं नेष्यते ? तत्राऽऽह— **यो हीति** । विशेषणान्तरवशादेव तत्त्वविदो निवारितत्वान्न तदपेक्ष्यमिदं विशेषणमित्यर्थः । साहङ्कारस्यैव राजसे कर्मणि कर्तृत्वमित्येतत्कैमुतिकन्यायेन साधयति— **सात्त्विकस्येति**। नन्वात्मविदोऽन्यस्य निरहङ्कारत्वायोगात्कथं तदपेक्षया साहङ्कारेण इत्युक्तं ? तत्राऽऽह— **लोक इति** ॥ २४ ॥

३ **रा. भा.**— यत्तु पुनः कामेप्सुना फलप्रेप्सुना साहङ्कारेण वा– वाशब्दश्चार्थे– कर्तृत्वाभिमानयुक्तेन च,बहुलायासं यत्कर्म क्रियते, तद्राजसम्– 'बहुलायासमिदं कर्म मयैव क्रियते' इत्येवंरूपाभिमानयुक्तेन यत्कर्म क्रियते, तद्राजसमित्यर्थः ॥ २४ ॥

४ **वे. ता. चं.**— 'कामेप्सुना' इत्यनेन 'अफलप्रेप्सुना' [१८।२३] इत्युक्तविपरीतोक्तं व्यनक्ति— **फलप्रेप्सुनेति**। सम्बन्धसामान्यषष्ठ्याऽत्र समासः। अत्र विकल्पाद्यसम्भवात् **वाशब्दश्चार्थ** इत्युक्तम्। प्रवृत्तिप्रधानरजोमूलतयाऽनुपयुक्तप्रयासमिश्रणाद्बहुलायासत्वम्। तत्र च सर्वत्र स्वयमेव हेतुरित्यभिमानः साहङ्कारशब्देन विवक्षितः। तत एव बहुलायासपदं च सप्रयोजनमित्यभिप्रायेणाऽऽह **बहुलायासमिदं कर्म मयैवेति** ॥ २४ ॥

५ **आ. मा. भा.**— ॥ २४ ॥

६ **ज. प्र. दी.**— ॥ २४ ॥

७ **ह. पै. भा.**— यत्तु कामेप्सुना फलार्थिना साहङ्कारेण कृतात्मसम्भावनेनापरमार्थज्ञानेन बहुलायासं तद्राजसम् ॥ २४ ॥

८ **वें. ब्र. गि.**— राजसं कर्माऽऽह– **यत्त्विति** । कामेप्सुना फलकामेन साहङ्कारेण वा । वाशब्दश्चार्थे । 'मत्समः कोऽन्यः श्रोत्रियोऽस्ति ? अहमेव महायाज्ञिकः' इत्यभिमानवता च पुरुषेण बहुलायासं यावत्कामनं काम्यावृत्त्या सर्वाङ्गोपसंहारेण च क्लेशावहं यत्कर्म क्रियते, तद्राजसमुक्तम्। पुनश्शब्दो वाक्यालङ्कारे ॥ २४ ॥

९ **व० त० दी०**— यत्त्विति । कामेप्सुना फलेप्सुना कर्तृत्वाद्यहङ्कारपूर्वकेन वा 'ममेदं फलजनकं कर्म' इति बहुल आयासो यत्र तद्राजसम् ॥ २४ ॥

१० **पु. अ. त.**— राजसं कर्माऽऽह– **यत्त्विति**। यत् पुनः कर्म कामेप्सुना फलप्राप्त्यभिलाषेण वा, फलाभिलाषरहितेन साहङ्कारेण लोकेषु स्वमहत्त्वख्यापनाय पुनः बहुलायासं अतिक्लेशयुक्तं शारीरोपद्रवसहितं क्रियते तत् कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

११ **नी० भा० दी०**— यत्तु कामेप्सुना फलार्थिना साहङ्कारेण यद्यपि सात्त्विकोऽप्यनात्मवित्साहङ्कारस्तथापि 'अहमेव कर्मकुशलो महान् श्रोत्रियः' इत्यभिमानोऽहङ्कारस्तद्वता साहङ्कारेण–वाशब्दश्चार्थे–क्रियते बहुलायासमतिश्रमकरं तत्कर्म राजसमुदाहृतम् ॥ २४ ॥

## अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपे(वे)क्ष्य च पौरुषम् ।
## मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

**१ शां. भा.— अनुबन्धमिति** । अनुबन्धं पश्चाद्भावि यद्वस्तु सोऽनुबन्ध उच्यते, तं चानुबन्धं, क्षयं यस्मिन्कर्मणि क्रियमाणे शक्तिक्षयोऽर्थक्षयो वा स्यात्तं क्षयं, हिंसां प्राणिपीडामनपेक्ष्य च पौरुषं पुरुषकारं 'शक्नोमीदं कर्म समापयितुं' इत्येवमात्मसामर्थ्यम् , इत्येतान्यनुबन्धादीन्यनपेक्ष्य पौरुषान्तानि मोहादविवेकत आरभ्यते कर्म यत्तत्तामसं तमोनिर्वृत्तमुच्यते ॥ २५ ॥

२ आ. शां. व्या.— सम्प्रति तामसं कर्मोदाहरति— **अनुबन्धमि**त्यादिना ॥ २५ ॥

**३ रा. भा.**— कृते कर्मण्यनुबद्ध्यमानं दुःखमनुबन्धः, क्षयः कर्मणि क्रियमाणे अर्थविनाशः, हिंसा तत्र प्राणिपीडा, पौरुषं आत्मनः कर्मसमापनसामर्थ्यम्, एतानि अनवेक्ष्य अविमृश्य मोहात् परमपुरुषकर्तृत्वाज्ञानात् यत्कर्मारभ्यते क्रियते तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

**४ वे. ता. चं.**— क्षयशब्देन तादात्विकार्थव्ययदोषविवक्षणादुपसर्गशक्त्या चानुबन्धशब्द एतत्सम्बन्धितया पश्चाद्भाविदुःखपर इत्याह **कृते कर्मणी**ति । हिंसा स्वविषया परविषया चेत्यभिप्रायेण **तत्र प्राणिपीडे**ति सामान्योक्तिः । दैवप्रतिसम्बन्धिनः पौरुषस्य पुरुषसम्बन्धिदृष्टसामग्रीसमवधानरूपतामाह **आत्मनः कर्मसमापनसामर्थ्य**मिति । भविष्यतोऽनुबन्धादेः साक्षात्कारासम्भवाद्युक्तिभिरागमैश्च अपरामर्शोऽत्रानवेक्षणमित्याह **अविमृश्ये**ति । अनुबन्धाद्यज्ञानस्य प्रागुक्तत्वात्प्रक्रान्ताकर्तृत्वज्ञानप्रत्यनीकोऽत्र मोहशब्दार्थ इत्याह— **परमपुरुषे**ति ॥ २५ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ २५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २५ ॥

**७ ह. पै. भा.— अनुबन्धमिति** । अनुबध्यत इत्यनुबन्धः । कर्मणि क्रियमाणे येन सम्बध्यते सोऽनुबन्धस्तमनवेक्ष्य कर्मनिमित्तां हिंसां पुरुषकारं वाऽनवेक्ष्य मोहादज्ञानादारभ्यते तत्तामसम् ॥ २५॥

**८ वें. ब्र. गि.**— तामसं कर्माऽऽह— **अनुबन्धमिति** । अनुबध्यत इत्यनुबन्धस्तं पश्चाद्भावि दुःखं क्षयं द्रव्यनाशं हिंसां परपीडां पौरुषं पुरुषकारमात्मनः कर्मसमापनसामर्थ्यं चानपेक्ष्याविचार्य यत्कर्म मोहात्केवलाविवेकादेवारभ्यते यथा दुर्योधनेन युद्धम् , तत्तामसमुच्यते ॥ २५ ॥

९ व० त० दी०— **अनुबन्धो** दुःखं तदविचार्य मोहाद्यत्कर्म प्रारभ्यते तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

**१० पु. अ. त.**— तामसं कर्माऽऽह— **अनुबन्धमिति** । अनुबन्धम् , अनु कर्मकरणानन्तरं बन्धस्तज्जनितशुभाशुभफलरूपस्तं, क्षयं व्यर्थदेहात्मकमोक्षसाधनव्ययं, हिंसामात्मनः संसारपातनरूपां, पौरुषं पुरुषार्थमोक्षं चकारेण धर्ममपि अनवेक्ष्य अपर्यालोच्य मोहात् स्वसुखभोगभ्रमात् कर्म तामसं विपरीतफलात्मकमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

११ नी० भा० दी०— अनुबध्यतेऽनेनेत्यनुबन्धः फलम् , क्षयं शक्तेरर्थानां च नाशम् , हिंसां परपीडाम् , पौरुषं स्वसामर्थ्यम् , अनवेक्ष्यानालोच्य केवलं मोहादविवेकतो यदारभ्यते कर्म तत्तामसमुदाहृतम् ॥ २५ ॥

गुणतः कर्तृत्रैविध्यम् ।

## मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः ।
## सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

**१ शां. भा.— मुक्तेति** । मुक्तसङ्गो मुक्तः परित्यक्तः सङ्गो येन स मुक्तसङ्गः, अनहंवादी नाहंवदनशीलः, धृत्युत्साहसमन्वितो धृतिर्धारणमुत्साह उद्यमस्ताभ्यां समन्वितः संयुक्तो धृत्युत्साहसमन्वितः, सिद्ध्यसिद्ध्योः क्रियमाणस्य कर्मणः फलसिद्धावसिद्धौ च सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः,

केवलं शास्त्रप्रमाणप्रयुक्तः, *न फलरागादिना युक्तः, यः स निर्विकार उच्यते । एवम्भूतः कर्ता यः स सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

२ आ. शां. व्या.— इदानीं कर्तृत्रैविध्यं ब्रुवन्नादौ सात्त्विकं कर्तारं दर्शयति— मुक्तेति । सङ्गो नाम फलाभिसन्धिर्वा कर्तृत्वाभिमानो वा, नाहंवदनशीलः 'कर्ताऽहं' इति वदनशीलो न भवतीत्यर्थः; धारणं धैर्यम् । क्रियमाणस्य कर्मणो यदि फलानभिसन्धिस्तर्हि नानुष्ठानविश्रम्भः सम्भवेदित्याशङ्क्याऽऽह— केवलमिति । फलरागादिनेत्यादिशब्देन कर्मरागो गृह्यते । अयुक्त इति च्छेदः ॥ २६ ॥

३ रा. भा.— मुक्तसङ्गः- फलसङ्गरहितः, अनहंवादी कर्तृत्वाभिमानरहितः; धृत्युत्साहसमन्वितः, आरब्धे कर्मणि यावत्कर्मसमाप्त्यवर्जनीयदुःखधारणं धृतिः, उत्साहः उद्युक्तचेतस्त्वं, ताभ्यां समन्वितः; सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः युद्धादौ कर्मणि तदुपकरणभूतद्रव्यार्जनादिषु च सिद्ध्यसिद्ध्योरविकृतचित्तः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

४ वे. ता. चं.— 'अनहंवादी' इत्यनेन कर्तृत्वाभिमानरूपसङ्गस्य पृथङ्निषेधात् 'मुक्तसङ्गः' इत्यत्र सङ्गशब्दः सङ्कुचितविषय इत्याह— फलसङ्गरहित इति । तत एव कर्मणि स्वकीयतानुसन्धानरूपसङ्गोऽपि प्रतिषिद्धः । अहंवदनशीलोऽहंवादी, तदन्योऽनहंवादी, तत्र मनःपूर्वा हि वागित्यभिप्रायेणाऽऽह कर्तृत्वाभिमानरहित इति । कर्तृत्वस्य विविच्यमानत्वात्तदुपयुक्ता धृतिरिह विवक्षितेत्याह आरब्ध इति । प्रयत्नरूपस्योत्साहस्य कर्तृशब्देनैव सिद्धत्वाद्राजसादिकर्तृसाधारण्याच्च विशेषविवक्षामाह— उद्युक्तचेतस्त्वमिति । 'मुक्तसङ्गः' इत्यनेन स्वर्गादिफलसङ्गनिवृत्तिरुक्तत्वात् 'सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः' इत्यस्य दृष्टफलविषयतामाह युद्धादाविति । मुक्तसङ्गत्वफलं वा निर्विकारत्वम् ॥ २६ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २६ ॥

७ ह. पै. भा.— मुक्तेति । मुक्तसङ्गो मुक्तफलतृष्णः, अनहंवादी य आत्मानं सम्भावितं न वदति; धृतिरात्मनः सन्धारणं, उत्साहः प्रयत्नस्ताभ्यां समन्वितो धृत्युत्साहसमन्वितः; सिद्धिश्चासिद्धिश्च सिद्ध्यसिद्धी तयोर्निर्विकारो हर्षविषादरहितः कर्ता सात्त्विकः ॥ २६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— क्रमप्राप्तं कर्तृत्रैविध्यमाह त्रिभिः— मुक्तेति । मुक्तसङ्गः फलाभिसन्धिशून्यः; अनहंवादी कर्ताहमितिवदनशीलो न भवतीति, गर्वोक्तिहीन इति वा; धृतिरारब्धे कर्मणि यावत्समाप्त्यवर्जनीयदुःखधारणम्, यद्वा विघ्नाद्युपस्थितावपि प्रारब्धापरित्यागहेतुर्मनोवृत्तिविशेषो धैर्यं धृतिः, उद्युक्तचेतस्त्वमुत्साहः, ताभ्यां युक्तः; फलस्य सिद्ध्यसिद्ध्योर्हर्षविषादरूपविकारशून्यः, केवलशास्त्रप्रमाणप्रयुक्तः, न फलरागेणेत्यर्थः । अत्र हेतुर्मुक्तसङ्ग इति । एतादृशः कर्ता सात्त्विकः ॥ २६ ॥

९ व० त० दी०— कर्तुस्त्रैविध्यमाह— मुक्तसङ्ग इति । मुक्तः सङ्गः फलादिविषयको येन अनहंवादी कर्तृत्वाभिमानरहितः कर्मसिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः सात्त्विक उच्यते कर्तेति । साङ्ख्ययोगसारमुपदिशन्वक्ति भगवान् त्वमपि तथा भवेत्यभिप्रायेण ॥ २६ ॥

१० पु. अ. त.— कर्म निरूप्य कर्तारं त्रिविधमाह— मुक्तसङ्ग इति । मुक्तसङ्गः त्यक्तासक्तिः, अनहंवादी साभिमानोक्तिशून्यः, धृत्युत्साहसमन्वितः धृतिर्धैर्यं दुःखादिसहनरूपम्, उत्साहः उत्तमत्वज्ञानेनोद्यमस्ताभ्यां समन्वितो युक्तः, सिद्ध्यसिद्ध्योः कृतकर्मफलाफलयोर्निर्विकारः हर्षविषादरहितः, एतादृशः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

११ नी० भा० दी०— कर्तृत्रैविध्यमाह— मुक्तेत्यादिना । मुक्तसङ्गस्त्यक्ताभिनिवेशः, अनहंवादी पूर्वोक्ताहङ्कारोक्तिरहितः; धृतिः धैर्यम्, उत्साहः 'साधयिष्यामि' इति बुद्धिनिश्चयः, ताभ्यां समन्वितः; सिद्ध्यसिद्ध्योः कर्मण आरब्धस्येति शेषः । निर्विकारो हर्षविषादशून्यः कर्ता सात्त्विक उच्यते ॥ २६ ॥

---

* नकारो ह्ययमानन्दगिरिपाठासम्मतः, 'अयुक्त इति च्छेदः' इति तद्व्याख्यानात् ।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः ।
हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

१ शां. भा.— रागीति । रागी रागोऽस्यास्तीति रागी, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी, लुब्धः परद्रव्येषु सञ्जाततृष्णस्तीर्थादौ स्वद्रव्यापरित्यागी वा, हिंसात्मकः परपीडाकरस्वभावः, अशुचिर्बाह्यान्तश्शौचवर्जितः, हर्षशोकान्वित इष्टप्राप्तौ हर्षोऽनिष्टप्राप्ताविष्टवियोगे च शोकस्ताभ्यां हर्षशोकाभ्यामन्वितः संयुक्तः; तस्यैव च कर्मणः सम्पत्तिविपत्त्योर्हर्षशोकौ स्यातां ताभ्यां संयुक्तो यः कर्ता स राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

२ आ. शां. व्या.— राजसं कर्तारं कथयति– रागीति । कर्मविषयो रागः, कर्मफलप्रेप्सुरिति फलरागस्य पृथक्कथनात् । स्वाभिप्रायाप्रकटीकरणपूर्वकं परपीडनं परविच्छेदनं तेन स्वार्थपर इत्यर्थः ॥ २७ ॥

३ रा. भा.— रागी यशोर्थी, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलार्थी, लुब्धः कर्मापेक्षितद्रव्यव्ययस्वभावरहितः; हिंसात्मकः परान् पीडयित्वा तैः कर्म कुर्वाणः, अशुचिः कर्मापेक्षितशुद्धिरहितः, हर्षशोकान्वितः युद्धादौ कर्मणि जयादिसिद्ध्यसिद्ध्योर्हर्षशोकान्वितः कर्ता राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

४ वे. ता. चं.— 'कर्मफलप्रेप्सुः' इत्यनेनानुश्रविकस्वर्गादिफलार्थी त्वस्याभिधानात् 'रागी' इत्यानुषङ्गिकदृष्टफलसङ्गविवक्षामाह **यशोर्थीति** । अपात्रव्ययादिराहित्यस्य गुणत्वात् **कर्मापेक्षितेति** विशेषितम् । 'काममात्मानं भार्यां पुत्रं वोपरुन्ध्यान्न त्वेव दासकर्मकरम्' [आ.ध.२।४।९।११] इत्याद्युक्तविपरीतस्वभावताऽत्र हिंसात्मकशब्देन विवक्षितेत्याह **परान्पीडयित्वेति** । कर्तृत्वोपयोगाय **तैः कर्म कुर्वाण** इति फलितोक्तिः । एवं **कर्मापेक्षितशुद्धिरहित** इत्यपि न हि दर्शनस्पर्शनादियोग्यशुचित्वमात्रेण कर्मण्यतानिष्पत्तिरिति भावः ॥ २७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ २७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ २७ ॥

७ इ. पै. भा.— रागोऽस्यास्तीति रागी, लुब्धो दक्षिणात्यागवर्जितः, हर्षशोकाभ्यामन्वितो हर्षशोकान्वितः; एवम्भूतः कर्ता राजसः ॥ २७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— रागी कामपरवशः, अत एव कर्मफलप्रेप्सुः; यद्वा 'दीक्षितोऽयमग्निहोत्री' इत्यादियशोर्थी रागी, कर्मफलप्रेप्सुः स्वर्गपशुपुत्रादिकर्मफलकामी, लुब्धः कर्मापेक्षितदक्षिणाद्रव्यत्यागासहिष्णुः, हिंसात्मकः परान्पीडयित्वा तैः कर्म कुर्वाणः, अशुचिः कर्मापेक्षितशुद्धिरहितः, फलसिद्ध्यसिद्धिभ्यां हर्षशोकान्वितः, ईदृशः कर्ता राजसः ॥ २७ ॥

९ व० त० दी०— रागीति । कर्मफलप्रेप्सुस्तादृशः कोऽपि लुब्धो हिंसात्मकः कर्ता न तत्फलं राज्यस्वर्गादि लभते; किन्तु हर्षशोकौ ताभ्यामन्वित इति राजसः ॥ २७ ॥

१० पु. अ. त.— राजसमाह— रागीति । रागी स्वसम्बन्धित्वज्ञानभ्रमेण तदर्थप्रयत्नेन लौकिकासक्तः, कर्मफलप्रेप्सुः कर्मफलाभिलाषप्रवृत्तिमान्, लुब्धः बहुफलाल्पकर्मश्रुतप्रामाण्यविधृतसर्वाभिलाषप्रवृत्तः, हिंसात्मकः परपीडनस्वभावः, अशुचिः स्नानाचमनादिशौचविहीनः, हर्षशोकान्वितः फलसिद्धौ हर्षः असिद्धौ शोकस्ताभ्यामन्वितः, एतादृशः कर्ता राजसः विक्षिप्तस्वभावः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

११ नी० भा० दी०— रागी विषयलोलुपः, अत एव कर्मणः फलं प्रेप्सतीति कर्मफलप्रेप्सुः, लुब्धः परद्रव्यादौ सञ्जाततृष्णस्तीर्थादौ वा द्रव्यापरित्यागी, हिंसात्मकः परपीडाकरस्वभावः, अशुचिर्बाह्यान्तरशौचवर्जितः, इष्टानिष्टप्राप्तौ हर्षशोकान्वितश्च, यः कर्ता स राजसः परिकीर्तितः ॥ २७ ॥

**अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः ।**
**विषादी दीर्घसूत्री च कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥**

**१ शां. भा.**— अयुक्त इति । अयुक्तोऽसमाहितः प्राकृतोऽत्यन्तासंस्कृतबुद्धिर्बालसमः, स्तब्धो दण्डवन्न नमति कस्मैचित्, शठो मायावी शक्तिगूहनकारी, नैष्कृतिकः परवृत्तिच्छेदनपरः, अलसोऽप्रवृत्तिशीलः कर्तव्येष्वपि, विषादी विषादवान् सर्वदाऽवसन्नस्वभावः, दीर्घसूत्री च कर्तव्यानां दीर्घप्रसारणः सर्वदा मन्दस्वभावः यदद्य श्वो वा कर्तव्यं तन्मासेनापि न करोति, यश्चैवम्भूतः कर्ता स तामस उच्यते ॥ २८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**—दीर्घं सूत्रयितुं शीलमस्येति व्युत्पत्तिं गृहीत्वा विवक्षितमर्थमाह— **कर्तव्यानामिति** । 'एवं क्रियमाणे सत्यनिष्टमिदं कथञ्चिदापद्येत, यदा पुनरेवं क्रियते तदा त्वनिष्टमेव सम्भावनोपनीतं' इति चिन्तापरम्परया मन्थरप्रवृत्तिरित्यर्थः । तदेव स्पष्टयति— **यद्द्येति** ॥ २८ ॥

**३ रा. भा.**— अयुक्तः शास्त्रीयकर्मायोग्यः विकर्मस्थः, प्राकृतः अनधिगतविद्यः, स्तब्धः अनारम्भशीलः, शठः अभिचारादिकर्मरुचिः, नैष्कृतिकः वञ्चनपरः, अलसः आरब्धेष्वपि कर्मसु मन्दप्रवृत्तिः, विषादी अतिमात्रावसादशीलः, दीर्घसूत्री अभिचारादिकर्म कुर्वन् परेषु दीर्घकालवर्त्यनर्थपर्यालोचनशीलः, एवम्भूतो यः कर्ता, स तामसः ॥ २८ ॥

**४ वे. ता. चं.**—अवधानाभावादेः 'प्राकृतः' इत्यादिना सिद्धेरयुक्तशब्देन अनर्हत्वं विवक्षितमित्याह **शास्त्रीयेति** । अशुचिशब्दनिर्दिष्टाद्राजसस्यायोग्यत्वादधिकमयोग्यत्वमिह विवक्षितमित्याह **विकर्मस्थ** इति । एवं हि तस्यायोग्यतातिशयः; यथा 'शैवान्पाशुपतान् स्पृष्ट्वा लोकायतिकनास्तिकान् । विकर्मस्थान् द्विजाञ्छूद्रान् सचेलो जलमाविशेत्' इति शास्त्राध्ययनतदर्थोपदेशादिजनितसात्त्विककर्मानुष्ठानानुगुणविशेषराहित्यं प्राकृतशब्देन विवक्षितमित्याह **अनधिगतविद्य** इति । पूज्येष्वपि त्वरितावश्यकर्तव्ययथोचितप्रणामाद्यारम्भविपरीतं स्तिमितस्वभावत्वमिह स्तब्धशब्दार्थ इत्याह **अनारम्भशील** इति । गूढविप्रियकृत्त्वं शठत्वं; तच्च प्रकरणाच्छास्त्रोदिततामसकर्मद्वारेत्याह— **अभिचारादिकर्मरुचिरिति** । पुनरुक्तिपरिहाराय मायाप्रतारणादिलौकिककर्मद्वारा नैकृतिकत्वमाह— **वञ्चनपर** इति । 'श्वः कार्यमद्य कुर्वीत' [म.भा.१२।३२१।७३] इति न्यायाच्छास्त्रीयेषु त्वरितेन भवितव्यम्; तद्वैपरीत्यमिहालस्यं, तत्रानारम्भस्य स्तब्धशब्देनोक्तत्वात् **आरब्धेष्विति** विशेषितम् । 'विषादी' इत्यत्र धातोरेवावसादार्थत्वादुपसर्गेण तत्प्रकर्षः, प्रत्ययेन ताच्छील्यं च विवक्षितमित्याह **अतिमात्रावसादशील** इति । अवसादश्च लक्षितो वाक्यकारेण 'देशकालवैगुण्याच्छोकवस्त्वाद्यनुस्मृतेश्च तज्जं दैन्यमभास्वरत्वं मनसोऽवसादः' इति । प्रारब्धकर्मणां शीघ्रमसमापनरूपमन्दप्रवृत्तित्वादेरलसादिशब्देन निर्दिष्टत्वादवयवशक्तेः शाठ्यादिसमभिव्याहारस्य चानुगुणदीर्घसूत्रत्वं विशिनष्टि **अभिचारादिकर्म कुर्वन्परेषु दीर्घकालवर्त्यनर्थपर्यालोचनशील** इति । 'सूत्र सूत्रणे(वेष्टने)' [धा.पा.१०-३७९] इति धातुः, सूत्रणं चिन्तनं; ताच्छील्यार्थप्रत्ययः; दीर्घसूत्रणाद्दीर्घसूत्री । निरपराधशकुन्तादिग्रहणार्थदीर्घसूत्रकर्तृसमानतया दीर्घसूत्रीत्यौपचारिकग्रहणं तु मन्दमिति भावः ॥ २८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— परकृतं दोषं दीर्घकालकृतमप्यनुचितं यः सूचयति स दीर्घसूत्री । 'परेण यः कृतो दोषो दीर्घकालकृतोऽपि वा । यस्तस्य सूचको दोषाद्दीर्घसूत्री स उच्यते' इत्यभिधानात् ॥ २८ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—दीर्घसूत्रित्वं कथं तामसत्वे हेतुः ? इत्यतः सप्रमाणकं व्याचष्टे— **परेति** । दीर्घकालकृतं चिरातीतकालकृतम् । अनुचितं वचनायोग्यं, परोपद्रवहेतुत्वात् । दोषान्मात्सर्यादेः ॥ २८ ॥

**७ ह. पै. भा.**— अयुक्त इति । अयुक्तोऽसमाहितः, प्राकृतोऽसंस्कृतबुद्धिः, स्तब्धोऽप्रमाणशीलः, शठो वञ्चकः, निष्कृत्या चरतीति नैष्कृतिकः क्रूरः, अलसोऽप्रवृत्तिशीलः, विषादी, दीर्घसूत्री चिरकारी यः प्राप्तं कर्म दीर्घेण कालेन निर्वर्तयति, स तामसः ॥ २८ ॥

८ वे. ब्र. गि.— अयुक्तो विषयपारवश्येन कर्तव्येष्वनवहितः, प्राकृतः शास्त्रसंस्कारशून्यः, स्तब्धः पाषाणवदनम्रस्वभावः, शठः स्वयमन्यथा जानन्नपि परवञ्चनार्थमन्यथावादी, निकृत्या चरतीति नैकृतिकः स्वस्मिन्नुपकारिष्वभ्रममुत्पाद्य परप्रवृत्तिच्छेदनेन स्वार्थपरः, अलसः अवश्यकर्तव्येष्वप्यप्रवृत्तिशीलः, विषादी सततमसन्तुष्टस्वभावत्वेन शोकशीलः, दीर्घसूत्री निरन्तरशङ्काकलङ्कितस्वान्तत्वेनातिमन्दप्रवृत्तिर्यद्दकर्तव्यं तन्मासेनापि न करोतीत्येवंशीलश्च कर्ता तामसः॥२८॥

९ ब० त० दी०— अयुक्त इति । शास्त्रीयकर्माधिकारी सन् योऽयुक्तः विकर्मस्थः अनधिगतविद्यः स्तब्धः आरम्भशिथिलः शठः अभिचारादिकर्मरुचिः वञ्चकः कर्मस्वलसो दुःखी दीर्घं सूत्रं कर्त्तव्यता यस्य तथा तामस उच्यते ॥ २८ ॥

१० पु. अ. त.— तामसमाह अयुक्त इति । अयुक्तः पूर्वापरानुसन्धानरहितः, प्राकृतः प्रकृतिजन्यसद्भावरहितः, स्तब्धः अनम्रः, शठो धूर्तः, नैकृतिकः सर्वावमानी कृतावमानी वा, अलसः अनुद्यमी, विषादी अकार्यशोचनस्वभावः, दीर्घसूत्री क्षणसाध्यकार्यस्य माससम्पादनशील एतादृशः कर्त्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

११ नी० भा० दी०— अयुक्तोऽनवहितः, प्राकृतोऽत्यन्तमसंस्कृतबुद्धिर्बालसमः, स्तब्धो दण्डवन्न नमति कस्मैचित्, शठः शक्तिगूहनकारी, नैकृतिको वञ्चकः परावमानी वा, अलसः अप्रवृत्तिशीलः कर्तव्येष्वपि, विषादी सर्वदा अवसन्नस्वभावः, दीर्घसूत्री चिरकारी, एकाहसाध्यं कार्यं मासेनापि न करोतीत्यर्थः । य एवम्भूतः स कर्ता तामस उच्यते ॥ २८ ॥

बुद्धिधृत्योस्त्रैविध्यकथनप्रतिज्ञा ।

## बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु ।
## प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय ! ॥ २९ ॥

**१ शां. भा.— बुद्धेर्भेदमिति । बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव भेदं गुणतः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधं शृण्विति सूत्रोपन्यासः । प्रोच्यमानं कथ्यमानमशेषेण निरवशेषतो यथावत्पृथक्त्वेन विवेकतो धनञ्जय ! दिग्विजये मानुषं दैवं च प्रभूतं धनमजयत्तेनासौ धनञ्जयोऽर्जुनः ॥ २९ ॥**

२ आ. शां. व्या.— ज्ञानादीनां प्रत्येकं त्रैविध्यमुक्त्वा वृत्तिमत्या बुद्धेस्तद्वृत्तेश्च धृत्याख्यायास्त्रैविध्यं सूचयति— **बुद्धेरिति** । सूत्रविवरणं प्रतिजानीते— **प्रोच्यमानमिति** । अर्जुनस्य धनञ्जयत्वं व्युत्पादयति— **दिगिति** ॥ २९ ॥

**३ रा. भा.— एवं कर्तव्यकर्मविषयज्ञाने कर्तव्ये च कर्मणि अनुष्ठातरि च गुणतस्त्रैविध्यमुक्तम्, इदानीं सर्वतत्त्वसर्वपुरुषार्थनिश्चयरूपाया बुद्धेर्धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यमाह— बुद्धेरिति । बुद्धिः विवेकपूर्वकं निश्चयरूपं ज्ञानं, धृतिः आरब्धायाः ( मोक्षसाधनभूतायाः ) क्रियाया विघ्नोपनिपातेऽपि विधारणसामर्थ्यं, तयोः सत्त्वादिगुणतस्त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन प्रोच्यमानं यथावच्छृणु ॥ २९ ॥**

४ वे. ता. चं.— ज्ञानत्रैविध्यमुक्तम्; पुनर्बुद्धित्रैविध्यं वक्ष्यते; तत्र पर्यायतया पुनरुक्तिशङ्कां परिहर्तुमुक्तस्य विशेषविषयतामनुवदति **एवं कर्तव्यकर्मविषयज्ञान** इति । प्रकृतोपयुक्तमनन्तरं प्रस्तूयत इति सङ्गत्यभिप्रायेणाऽऽह **इदानीमिति** । ज्ञानत्रैविध्यं पूर्वोक्तं, पुनरिह त्रैविध्यकथनं किमर्थम्? इति शङ्कायामनुष्ठानदशाभाव्यनुसन्धानाद्विलक्षणस्तद्धेतुतया ततः पूर्वभाविशास्त्रादिजन्योऽध्यवसाय इह बुद्धिशब्दार्थ इत्याह **सर्वतत्त्वसर्वपुरुषार्थनिश्चयरूपाया** इति । एतेन 'ज्ञानं बुद्धेर्वृत्तिः, बुद्धिस्तु वृत्तिमती' इति परोक्तं (शं.) निरस्तम् । तदेव व्यनक्ति— **बुद्धिर्विवेकपूर्वकं निश्चयरूपं ज्ञानमिति** । **विवेकपूर्वं** पक्षान्तरप्रतिक्षेपपर्यन्तविचारपूर्वमित्यर्थः । प्रस्तुतत्रिविधानुष्ठानोपयुक्तप्रकारेण त्रिविधाया धृतेः साधारणं रूपमाह— **आरब्धाया** इति । अयमपि सङ्कल्पदार्ढ्यादिरूपो बुद्धिस्वभावविशेष एव । गुणतो विभक्ते वाच्ये, वचने चासङ्कीर्णस्वरूपेऽन्वयात्त्रिविधपृथक्त्वशब्दयोरपुनरुक्तिमाह **त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन प्रोच्यमानमिति** । एवं बुद्ध्यादिकार्यकार्त्स्न्यपरस्य 'अशेषेण' इत्यस्य श्रवणेऽन्वयादपुनरुक्तिः **यथावच्छृण्विति** दर्शिता । सावधानं संशयविपर्ययरहितं शृण्वित्यर्थः । दिग्विजये मानुषदैवधनवच्छमादिधनं च जेतव्यमिति सम्बुद्धेर्भावः ॥ २९ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ २९ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ २९ ॥

७ ह. पै. भा.— बुद्धेरिति। बुद्धेर्ज्ञानस्य धृतेर्धैर्यस्य चैव। गुणतो गुणैः। पृथक्त्वेन विवेकेनासङ्करेण ॥ २९ ॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवं 'ज्ञानं कर्म च कर्ता च त्रिधैव गुणभेदतः' [ १८।१९ ] इति व्याख्यातम्; इदानीं सर्वतत्त्वसर्वपुरुषार्थनिश्चयात्मिकाया बुद्धेस्तद्वृत्तेर्धृतेश्च त्रैविध्यं वक्तुं प्रतिजानीते— बुद्धेरिति। स्पष्टोऽर्थः॥ २९ ॥

९ व० त० दी०— अथ कर्तृत्रैविध्येनैव ज्ञातुरपि त्रैविध्यमुक्तं, तथा कर्मस्थले कर्मत्रैविध्येन च ज्ञेयस्यापि त्रैविध्यं बुद्धेः त्रैविध्येन करणस्याप्युक्तमिति निश्चयरूपाया बुद्धेर्धृतेश्च गुणतस्त्रैविध्यं प्रतिजानन्नाह— बुद्धेरिति। गुणतस्त्रिविधं भेदं शृणु। तत्रापि पृथक्त्वेनोभयोर्भेदं शृणु ॥ २९ ॥

१० पु. अ. त.— 'ज्ञानं ज्ञेयं' [ १८।१८ ] इत्यत्र ज्ञेयपरिज्ञात्रोश्चोल्लेखः कृतः, सोऽत्र कर्तृत्रैविध्ये परिज्ञातुः प्रवेशः कर्मत्रैविध्ये च ज्ञेयस्य। करणस्य निरूपणार्थं बुद्धेर्धृतेश्च त्रैविध्ये प्रतिजानीते— बुद्धेरिति। बुद्धेरिन्द्रियात्मिकाया धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं भेदं पृथक्त्वेन भिन्नत्वेन-मयेति शेषः— प्रोच्यमानं अशेषेण हे धनञ्जय सर्वत्रोत्कर्षयुक्त! शृणु ॥ २९ ॥

११ नी० भा० दी०— बुद्धिधृती त्रैविध्येन व्याख्यातुमाह— बुद्धेरिति। तत्र बुद्धिविशिष्टश्चिदाभासः कर्ता ज्ञानं च प्रागुक्तम्; अत्र तु केवला बुद्धिर्वृत्तिमती तदीयवृत्त्यन्तरोपलक्षणार्थं तद्वृत्तिविशेषो धृतिश्च त्रैविध्येन कथ्यत इत्यर्थः ॥ २९ ॥

बुद्धेर्गुणतस्त्रैविध्यम्।

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**
**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी ॥ ३० ॥**

१ शां. भा.— प्रवृत्तिं चेति। प्रवृत्तिं च प्रवृत्तिः प्रवर्तनं बन्धहेतुः कर्ममार्गः शास्त्रविहितविषयः, निवृत्तिं च निवृत्तिर्मोक्षहेतुः सन्न्यासमार्गः। बन्धमोक्षसमानवाक्यत्वात्प्रवृत्तिनिवृत्ती कर्मसन्न्यासमार्गावित्यवगम्यते। कार्याकार्ये विहितप्रतिषिद्धे लौकिके वैदिके वा शास्त्रबुद्धेः कर्तव्याकर्तव्ये करणाकरणे इत्येतत्; कस्य? देशकालाद्यपेक्षया दृष्टादृष्टार्थानां कर्मणाम्। भयाभये बिभेत्यस्मादिति भयं चोरव्याघ्रादि तद्विपरीतमभयं, भयं चाभयं च भयाभये, दृष्टादृष्टविषययोर्भयाभययोः कारणे इत्यर्थः। बन्धं सहेतुकं मोक्षं च सहेतुकं या वेत्ति विजानाति बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी। तत्र ज्ञानं बुद्धेर्वृत्तिः, बुद्धिस्तु वृत्तिमती। धृतिरपि वृत्तिविशेष एव बुद्धेः ॥ ३० ॥

२ आ. शां. व्या.— तत्राऽऽदौ सात्त्विकीं बुद्धिं निर्दिशति— प्रवृत्तिं चेति। प्रवृत्तिराचरणमात्रमनाचरणमात्रं च निवृत्तिरिति किं नेष्यते? तत्राऽऽह— बन्धेति। यस्मिन् वाक्ये बन्धमोक्षावुच्येते तस्मिन्नेव प्रवृत्तिनिवृत्त्योरुक्तत्वात्कर्ममार्गस्य बन्धहेतुत्वान्मोक्षहेतुत्वाच्च सन्न्यासमार्गस्य तावेवात्र ग्राह्यावित्यर्थः। करणाकरणयोर्निर्विषयत्वायोगाद्विषयापेक्षामवतार्य योग्यं विषयं निर्दिशति— कस्येति। अनिष्टसाधनं भयमिष्टसाधनमभयमिति विभजते— भयेति। बन्धादिमात्रज्ञानस्य बुद्ध्यन्तरेऽपि सम्भवाद्विशेषणम्। ननु बुद्धिशब्दितस्य ज्ञानस्य प्रागेव त्रैविध्यप्रतिपादनात्किमिति बुद्धेरिदानीं त्रैविध्यं प्रतिज्ञाय व्युत्पाद्यते? तत्राऽऽह— ज्ञानमिति। तर्हि ज्ञानेन गतत्वान्न पुनर्धृतिर्व्युत्पादनीयेत्याशङ्क्याऽऽह— धृतिरपीति। विशेषशब्देन ज्ञानाद्यावृत्तिरिष्टा ॥ ३० ॥

३ रा. भा.— प्रवृत्तिः अभ्युदयसाधनभूतो धर्मः, निवृत्तिः मोक्षसाधनभूतो धर्मः, तावुभौ यथावस्थितौ या बुद्धिर्वेत्ति; कार्याकार्ये सर्ववर्णानां प्रवृत्तिनिवृत्तिधर्मयोरन्यतरनिष्ठानां देशकालावस्थाविशेषेषु 'इदं कार्यम्, इदमकार्यम्' इति च या वेत्ति; भयाभये शास्त्रान्निवृत्तिर्भयस्थानं, तदनुवृत्तिः अभयस्थानं, बन्धं मोक्षं च संसारयाथात्म्यं तद्विगमयाथात्म्यं च या वेत्ति, सा सात्त्विकी बुद्धिः ॥ ३० ॥

४ वे. ता. चं.— कार्याकार्यशब्दाभ्यां पुनरुक्तिशङ्कापरिहाराय 'प्रवृत्तिलक्षणं धर्मं प्रजापतिरथाब्रवीत् । निवृत्तिलक्षणं धर्ममृषिर्नारायणोऽब्रवीत् ' [ म. भा. १२।२१७।२;३ ] इत्याद्यनुसारेण प्रवृत्तिनिवृत्तिशब्दयोः प्रधानकर्मविषयत्वमाह— **अभ्युदयसाधनभूत** इत्यादिना । राजसतामसबुद्ध्योः 'अयथावत्' इत्यादिविशेषणादिहार्थतस्तन्निवृत्तेर्विवक्षितत्वज्ञापनाय यथावस्थितत्वोक्तिः । कार्याकार्यशब्दयोरिह प्रकृतप्रधानकर्मेतिकर्तव्यताभूतदृष्टादृष्टव्यापारपरत्वमाह— **सर्ववर्णानामित्यादिना** । तत्र सूक्ष्मधीवेद्यत्वाय **देशकालावस्थाविशेषेष्विति** विशेषितम् । स्मर्यते हि— 'शरीरं बलमायुश्च वयः कालं च कर्म च । समीक्ष्य धर्मविद्बुद्ध्या प्रायश्चित्तानि निर्दिशेत् ' इति; 'देशं कालं तथाऽऽत्मानं' इत्यादि च । अत्र शक्याशक्ययोरपि कार्याकार्यशब्दाभ्यामेव ग्रहणम् । भयाभययोः स्वरूपज्ञानस्य सर्वसाधारणत्वादिह तन्निमित्तज्ञानं विवक्षितम्; तच्च प्राकरणिकविशेषविषयमाह— **शास्त्रान्निवृत्तिर्भयस्थानमिति** । बिभेत्यस्मादिति भयम्; सर्वप्रशासितुरीश्वरादेव हि तत्त्वविदां भयमभयं च; नहि तत्प्रेरणमन्तरेण केनचिद्बाधितुमबाधितुं वा शक्यम् । ततस्तदाज्ञानुवृत्त्यतिवृत्ती एव भयाभयनिमित्तमिति भावः । बन्धमोक्षसद्भावज्ञानस्यापि साधारण्याद्बन्धस्य मिथ्यात्वादिवादो मोक्षस्य पाषाणवद्भावादिमतं च याथात्म्यशब्देन व्युदस्तम् । **वेत्तीति** कर्तृत्वोपचारः; स्वाच्छन्द्येन विषयीकरोतीत्यर्थः ॥ ३० ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ३० ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३० ॥

**७ ह. पै. भा.— प्रवृत्तिमिति । प्रवृत्तिः प्रवर्तनं, मोक्षार्थं निवृत्तिः सन्न्यासः, कार्याकार्ये कार्यं कर्तव्यमकार्यं तदभावः, भयाभये भयं संसारोऽभयं तदभावरूपो मोक्षः; बन्धो बन्धनं, मोक्षो मुक्तिः; एतान्सर्वान्या बुद्धिर्वेत्ति सा सात्त्विकी ॥ ३० ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तत्र बुद्धेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः— **प्रवृत्तिमिति** । अत्र बन्धमोक्षयोरन्ते कीर्तनात्तद्विषयत्वेनैव प्रवृत्त्यादिकं व्याख्येयमिति भाष्ये ( शां. ) अभिहितम् । अतस्तथैव व्याख्यायते— **प्रवृत्तिं कर्ममार्गम् , निवृत्तिं सन्न्यासमार्गम् , कार्याकार्ये** प्रवृत्तिमार्गे कर्म कर्तव्यं निवृत्तिमार्गे तन्न कर्तव्यमित्येवंरूपे, भयाभये प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गयोर्गर्भवासदुःखतदभावरूपे, बन्धं प्रवृत्तावज्ञानकृतकर्तृत्वाभिमानम् , मोक्षं निवृत्तौ ज्ञानेनाज्ञाननाशात्तन्मूलकबन्धनिवृत्तिरूपं च या बुद्धिरन्तःकरणं वेत्ति, सा सात्त्विकी । करणस्यापि बुद्धेः कर्तृत्वमप्यस्ति " विज्ञानं यज्ञं तनुते " [ तै. उ. २।५।१ ] इत्यादिश्रुतेरिति वज्रपञ्जरे प्रपञ्चितम् । अतः 'या वेत्ति' इति कर्तृत्वोक्तिरविरुद्धा । तथा च भाष्यम् ( शां. )— 'तत्र ज्ञानं बुद्धेर्वृत्तिः, बुद्धिस्तु वृत्तिमती' इति । अनेन हि बुद्धेर्ज्ञानाधारत्वेन ज्ञातृत्वाद्वेत्तृत्वमुपपादितं भवति ॥ ३० ॥

९ ब० त० दी०— तथा हि प्रवृत्तिं चेति त्रिभिः । प्रवृत्तिरभ्युदयसाधनभूतो धर्मः, निवृत्तिर्मोक्षसाधनभूतो धर्मः, तावुभौ यथास्थितौ बुद्धिर्वेत्ति या सा सात्त्विकी । अत्र 'मनसस्तु परा बुद्धिः' [ ३।४२ ] इत्युक्त्या बुद्धेः परत्वाभिप्रायेण रथो गच्छतीतिवद्वा वेत्तृत्वमुच्यते ॥ ३० ॥

१० पु. अ. त.— एवं सावधानं कृत्वा बुद्धित्रैविध्यमाह— **प्रवृत्तिमिति** त्रयेण । प्रवृत्तिं भगवदिङ्गितधर्मे, निवृत्तिं तदभावरूपे अधर्मे । कार्याकार्ये सत्परिपन्थ्यभावे देशे भजनं कार्यम् , अतथाभूते वा भजनातिरिक्तं सर्वमेवाकार्यम् । तथा भगवत्सम्बन्धरहितसम्बन्धे भयं भगवद्विस्मरणात्मकमृत्युरूपं, तत्सम्बन्धिन्यभयं भयाभावं, बन्धं भगवत्सेवाज्ञाभावकर्मणि, मोक्षं सेवादिकर्मणि, इति या बुद्धिर्वेत्ति जानाति, हे पार्थ तथाज्ञानयोग्य! सा बुद्धिः सात्त्विकी सत्त्वसम्बन्धिनी, ज्ञातव्येति शेषः ॥ ३० ॥

११ नी० भा० दी०— प्रवृत्तिनिवृत्ती शास्त्रविहितप्रतिषिद्धविषये 'यजेत स्वर्गकामः, न सुरां पिबेत्' इत्यादिरूपे । कार्यं कृतिसाध्यं स्वर्गादि, अकार्यं नित्यसिद्धं, तेन नित्यानित्यवस्तुनी उक्ते; भयाभये कार्याकार्यनिमित्ते; बन्धं मोक्षं च या वेत्ति— यया वेत्तीति पूर्ववत्करणे कर्तृत्वोपचारः— बुद्धिः सा पार्थ! सात्त्विकी ॥ ३० ॥

## यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च ।
## अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३१ ॥

**१ शां. भा.— ययेति । यया धर्मं शास्त्रचोदितं, अधर्मं च तत्प्रतिषिद्धं, कार्यं चाकार्यमेव च पूर्वोक्ते एव कार्याकार्ये [ १८।३० ] अयथावन्न यथावत्सर्वतो निर्णयेन न प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३१ ॥**

२ आ. शां. व्या.— कार्याकार्ययोर्धर्माधर्माभ्यां पौनरुक्त्यं परिहरति– पूर्वोक्त इति। पूर्वश्लोके कार्याकार्यशब्दाभ्यां दृष्टादृष्टार्थानां कर्मणां करणाकरणे निर्दिष्टे, तयोरेवात्राऽपि प्रहात्र धर्माधर्माभ्यामपूर्वपर्यायाभ्यां गतार्थतेत्यर्थः। या सा बुद्धिर्यया बुद्ध्या बोद्धा निर्णयेन न जानातीत्यर्थः॥ ३१॥

३ रा. भा.— यया पूर्वोक्तं द्विविधं धर्मं तद्विपरीतं च तन्निष्ठानां देशकालावस्थादिषु कार्यं चाकार्यं च यथावन्न जानाति, सा राजसी बुद्धिः॥ ३१॥

४ वे. ता. चं.— धृतिसाधनं धर्म इति व्युत्पत्त्या धर्मशब्दस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिसाधारण्यादुभयप्रसङ्गाच्च— पूर्वोक्तं द्विविधमित्युक्तम्॥ ३१॥

५ आ. मा. भा.— यथार्थत्वानियमाभावे राजस्याः। अन्यथा तामस्याः, भेदाभावात्॥ ३१॥

६ ज. प्र. दी.— यया धर्ममधर्मं चेति राजस्या बुद्धेर्धर्मादिविषयायाः अयथार्थज्ञानहेतुत्वमुच्यत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— यथार्थत्वेति। अयथावत्प्रजानातीत्यस्य यथार्थज्ञानजननियमाभावे तात्पर्यमित्यर्थः। प्रतीत एवार्थः किं न स्यात्? इत्यत आह— अन्यथेति। 'राजस्याः' इति षष्ठ्यन्तमनुवर्तते। 'तामस्याः' इति पञ्चमी, भेदाभावाद्भेदाभावप्रसङ्गात्॥ ३१॥

७ ह. पै. भा.— ययेति। यया बुद्ध्या धर्मं श्रेयस्साधनं कार्यं, अधर्ममकार्यं चायथावत्। प्रजानात्यन्यथा प्रजानाति सा राजसी॥ ३१॥

८ वें. ब्र. गि.— धर्मं शास्त्रविहितम्, अधर्मं शास्त्रप्रतिषिद्धम्, तथा लौकिकविषये कर्तव्यमकर्तव्यं च अयथावत् सन्देहास्पदत्वेन यया बुद्ध्या प्रजानाति, सा राजसी बुद्धेः करणत्वस्यापि सत्त्वाद्ययेति तृतीयाऽपि युज्यते॥ ३१॥

९ व० त० दी०— यया धर्ममिति। पूर्वोक्तं द्विविधं धर्मं तद्विरुद्धं च प्रजानाति, न यथावत्; सा राजसी बुद्धिः॥ ३१॥

१० पु. अ. त.— राजसीमाह— ययेति। यया बुद्ध्या धर्मं भगवदिच्छारूपम्, अधर्मं अनिच्छात्मकं, कार्यं भगवद्भजनम्, अकार्यं तदतिरिक्तं कर्म, अयथावत् सन्दिग्धम्, अन्यथा वा प्रजानाति, हे पार्थ! सा बुद्धिः राजसी॥ ३१॥

११ नी० भा० दी०— अयथावत् सन्देहास्पदत्वेन। स्पष्टमन्यत्॥ ३१॥

**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।**
**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ! तामसी॥ ३२॥**

१ शां. भा.— अधर्ममिति। अधर्मं प्रतिषिद्धं धर्मं विहितमिति या मन्यते जानाति तमसाऽऽवृता सती सर्वार्थान्सर्वानेव ज्ञेयपदार्थान्विपरीतांश्च विपरीतानेव विजानाति, बुद्धिः सा पार्थ! तामसी॥ ३२॥

२ आ. शां. व्या.— धर्मशब्दो नपुंसकलिङ्गोऽपीत्यभिप्रेत्य धर्ममित्युक्तम्। तमसाऽऽवृताऽविवेकेन वेष्टितेत्यर्थः। कार्याकार्यादीनुक्तानुक्तांश्च सङ्ग्रहीतुं सर्वार्थानित्युक्तं तद्व्याचष्टे— सर्वानेवेति। विपरीतांश्चेति चकारमवधारणे गृहीत्वा विपरीतानेवेत्युक्तम्॥ ३२॥

३ रा. भा.— तामसी तु बुद्धिः तमसाऽऽवृता सती सर्वार्थान्विपरीतान्मन्यते; अधर्मं धर्मं, धर्मं चाधर्मं, सन्तं चार्थमसन्तम्, असन्तम् चार्थं सन्तं, परं च तत्त्वमपरम्, अपरं च तत्त्वं परम्, एवं सर्वं विपरीतं मन्यत इत्यर्थः॥ ३२॥

४ वे. ता. चं.— 'तामसी' इत्यनेनैव तमोमूलत्वसिद्धेः 'तमसाऽऽवृता' इत्यनेन तादात्विकतमोनिरुद्धप्रसरत्वं विवक्षितमित्याह— **तमसाऽऽवृता सतीति** । 'सर्वार्थान्' इत्यनेन सिद्धसाध्यरूपसमस्तानुक्तसङ्ग्रहमाह— **सन्तं चार्थमसन्तमसन्तमित्यादिना** । एतेन बाह्यानां कुदृष्टीनां च मतं तामसमिति दर्शितम् । उक्तं च मनुना— 'या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः । सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः' [ मनुः १२।९५ ] इति । अत्र राजसतामसबुद्ध्योरियान्विशेषः— असमग्रवेदनमन्यथावेदनं च राजस्यां 'यथावन्न जानाति' इति व्याख्यानात्; तामस्यां तु सर्वं विपरीतं मन्यते, 'सर्वार्थान्' इत्युक्तेरित्येके । अन्ये त्वाहुः— प्रकारान्यथात्वं प्रकार्यन्यथात्वं च विशेषः । यद्यपि उभयत्राधिष्ठानभूते धर्मिण्यतद्धर्म एवाध्यास्यते; तथापि स्वरूपनिरूपकधर्मवैपरीत्ये तामसता; यथा शुक्तिरजतभ्रमे; निरूपितस्वरूपविशेषकधर्मवैपरीत्ये तु राजसता; यथा पीतशङ्खभ्रम इति ॥ ३२ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३२ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३२ ॥

७ ह. पं. भा.— अधर्ममिति । अधर्ममश्रेयस्करं धर्ममिति धर्मस्वरूपेण । विपरीतान्विपर्यस्तान् । सा तामसी ॥ ३२ ॥

८ वं. ब्र. गि.— या बुद्धिस्तमसा अज्ञानदोषेणाऽऽवृता सती अधर्मं धर्मं धर्मं चाधर्मं सद्रूपत्वमसद्रूपच सदित्येवम्प्रकारेण सर्वार्थान्विपरीतानेव मन्यते, सा तामसी स्यात् । 'धर्ममस्त्रियाम्' [ अमरः १।४।२४ ] इति निघण्टूक्त्या धर्मशब्दस्य क्लीबवत्त्वात् 'धर्ममिति' इति प्रयोगः साधुः ॥ ३२ ॥

९ ब० त० दी०— अधर्ममिति । तमसा अज्ञानेनाऽऽवृता सर्वार्थान्विपरीतान्मन्यते सा तामसी ॥ ३२ ॥

१० पु. अ. त.— तामसीमाह— अधर्ममिति । या तमसा अज्ञानेनाऽऽवृता सती अधर्मं भगवदिच्छाननुरूपमकर्तव्यं धर्मं फलदातृ कर्तव्यमिति मन्यते, च पुनः सर्वार्थान् अकार्यकार्याभयभयादीन् विपरीतान् मन्यते, हे पार्थ ! सा बुद्धिस्तामसी मन्तव्येत्यर्थः ॥ ३२ ॥

११ नी० भा० दी०— अधर्ममिति । विपरीतग्राहिणी बुद्धिस्तामसीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

धृतेर्गुणतस्त्रैविध्यम् ।

**धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः ।**
**योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥**

१ शां. भा.— धृत्येति । धृत्या यया अव्यभिचारिण्या— इति व्यवहितेन सम्बन्धः— धारयते; किं ? मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः मनश्च प्राणाश्चेन्द्रियाणि च मनःप्राणेन्द्रियाणि, तेषां क्रियाश्चेष्टास्ता उच्छास्त्रमार्गप्रवृत्तेर्धारयते धारयति— धृत्या हि धार्यमाणा उच्छास्त्रमार्गविषया न भवन्ति— योगेन समाधिनाऽव्यभिचारिण्या नित्यसमाध्यनुगतयेत्यर्थः । एतदुक्तं भवति— अव्यभिचारिण्या धृत्या मनःप्राणेन्द्रियक्रिया धार्यमाणा योगेन धारयतीति । यैवंलक्षणा धृतिः सा पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

२ आ. शां. व्या.— इदानीं धृतित्रैविध्यं व्युत्पिपादयिषुरादौ सात्त्विकीं धृतिं व्युत्पादयति— धृत्येति । निर्दिष्टानां चेष्टानां कथं धृत्या धारणं ? तत्राऽऽह— ता इति । तदेवानुभवेन साधयति— धृत्या हीति । ध्रियतेऽनयेति धृतिर्यत्नविशेषः, तया धृत्या धार्यमाणा यथोपदिष्टाश्चेष्टाः शास्त्रमतिक्रम्य नार्थान्तरावगाहिन्यो भवन्तीत्यर्थः । धृतिमेव समाध्यविनाभूतत्वेन विशिनष्टि— योगेनेति । ननु धृतेर्नियमेन समाध्यनुगतत्वं कथमुक्तक्रियाधारणोपयोगि ? इत्याशङ्क्याऽऽह— एतदिति । उक्तक्रिया धारयमाणो योगेन ब्रह्मणि समाधानेनैकाग्र्येण अव्यभिचारिण्याऽविनाभूतया धृत्या धारयति, अन्यथा तदविनाभावाभावे नियमेन तद्धारणासिद्धेरित्यर्थः ॥ ३३ ॥

३ रा. भा.— यया धृत्या योगेनाव्यभिचारिण्या मनःप्राणेन्द्रियाणां क्रियाः पुरुषो धारयते; योगो मोक्षसाधनभूतं भगवदुपासनं; योगेन प्रयोजनभूतेनाव्यभिचारिण्या योगोद्देशेन प्रवृत्तास्तत्साधनभूता मनःप्रभृतीनां क्रियाः यया धृत्या धारयते, सा सात्त्विकीत्यर्थः ॥ ३३ ॥

४ वे. ता. चं.— राजसभूतौ त्रिवर्गोक्तेरपवर्गसाधनभूतो योग इह विवक्षितः, स चानन्योपासनमेव प्रागनुशिष्टमित्याह— **योगो मोक्षसाधनभूतं भगवदुपासनमिति** । फलान्तरसङ्गोऽत्र व्यभिचारः; योगस्य तन्निरोधकरणं स्वरूपतः फलतश्च महानन्दरूपत्वेनेत्याह— **योगेन प्रयोजनभूतेनेति** । योगाव्यभिचारोक्तिसामर्थ्याद्यथासम्भवमुपकारविवक्षया— **योगोद्देशेन प्रवृत्ताः तत्साधनभूता** इत्युक्तम् । मानसी क्रिया तावत्साक्षात्करणं; प्राणक्रियापि 'यत्र मनस्तत्र वायुर्यत्र वायुस्तत्र मनः' इत्यन्योन्यपरिष्वङ्गात्; यथोच्यते 'पुनर्वायुपथं प्राप्य मनो भ्रमति वायुवत्' इति; तथा प्राणायामप्रक्रियया च योगविरोधिक्लेशपापादिजयहेतुत्वात् । बाह्येन्द्रियक्रिया तु 'स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत् । स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते' [ वि. पु.६।६।२ ] इत्यादिभिरुत्थानकालभावियोगाङ्गनिषेवणरूपेण प्रत्याहारे निरुध्यमानरूपेण वा ॥ ३३ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३३ ॥

७ ह. पै. भा.— धृत्येति । धृत्या धैर्येण धारयति बिभर्ति । प्राणा असवः तेषां क्रिया व्यापारान् । योगेन समाधिना । अव्यभिचारिण्या नित्यया । सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— इदानीं धृतेस्त्रैविध्यमाह त्रिभिः— धृत्येति । योगेन समाधिना अव्यभिचारिण्या अविनाभूतया, समाधिसमनियततयेत्यर्थः । यया धृत्या प्रयत्नेन मनःप्राणेन्द्रियाणां क्रियाश्चेष्टा धारयते नियच्छति, यया हि नियम्यमाना मनआदि क्रियाः शास्त्रमतिक्रम्य नान्यत्र गच्छन्ति सा धृतिः सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

९ व० त० दी०— धृतेस्त्रैविध्यमाह । धृतिर्नाम देहादेर्धारणक्रिया, तत्र सात्त्विकी धृतिः सा यया योगेनाव्यभिचारिण्या योगमार्गीयाङ्गत्रिदुःखसहनशीलया मोक्षोन्मुख्या ॥ ३३ ॥

१० पु. अ. त.— अथ धृतेस्त्रैविध्यमाह— धृत्येति । यया अव्यभिचारिण्या विषयान्तराभिलाषरहितया धृत्या, योगेन सर्वतो मनस्सङ्गनिवृत्तिपूर्वकभगवदेकपरचित्तेन मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः मनसश्चाञ्चल्यरूपाः, प्राणस्य क्षुदुद्बोधरूपा इन्द्रियाणां विषयाभिलाषरूपाः, क्रियाः धारयते नियच्छति, हे पार्थ ! सा धृतिः सात्त्विकी उच्यत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

११ नी० भा० दी०— यया धृत्या अव्यभिचारिण्या समाध्यनुगतया मनःप्राणेन्द्रियाणां क्रियाश्चेष्टाः सङ्कल्पं श्वासप्रश्वासौ शब्दादिग्रहणं च योगेन चित्तवृत्तिनिरोधेन ऐकाग्र्येण वा संयतास्तास्तथैव निरोधावस्थायामैकाग्र्यावस्थायां वा धारयते चिरमवस्थापयति सा धृतिः पार्थ ! सात्त्विकी ॥ ३३ ॥

## यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन ! ।
## प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

१ शां. भा.— ययेति । यया तु धर्मकामार्थान् धर्मश्च कामश्चार्थश्च धर्मकामार्थास्तान्धर्मकामार्थान् धृत्या यया धारयते मनसि नित्यमेव कर्तव्यरूपानवधारयति, हे अर्जुन! प्रसङ्गेन यस्य यस्य धर्मादेर्धारणप्रसङ्गस्तेन तेन प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी च भवति यः पुरुषः, तस्य धृतिर्या सा पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

२ आ. शां. व्या.— राजसीं धृतिं दर्शयति— **यया त्विति** । तेषां धारणप्रकारमभिनयति— **मनसीति** । फलाकाङ्क्षीति कस्य विशेषणं ? तत्राऽऽह— **यः पुरुष** इति ॥ ३४ ॥

३ रा. भा.— फलाकाङ्क्षी पुरुषः प्रकृष्टसङ्गेन धर्मकामार्थान् यया धृत्या धारयते, सा राजसी, धर्मकामार्थशब्देन तत्साधनभूता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया लक्ष्यन्ते; 'फलाकाङ्क्षी' इत्यत्रापि फलशब्देन राजसत्वाद्धर्मकामार्था एव विवक्षिताः । अतो धर्मकामार्थापेक्षया मनःप्रभृतीनां क्रिया यया धृत्या धारयते, सा राजसीत्युक्तं भवति ॥ ३४ ॥

४ वे. ता. चं.— प्रसङ्गशब्दोऽत्र न प्रासङ्गिकत्वार्थः, तदनुपयोगात् । धृतेः स्वव्यापारविषयत्वाय प्रकृतप्रक्रियानुसाराय च धर्मादिशब्दैस्तत्तत्साधनलक्षणोक्ता । सामान्यत्वापि फलशब्दस्यात्र सात्त्विकफलादपवर्गात्सङ्कोचायाऽऽह— **फलाकाङ्क्षीत्यत्रापीति** । लाक्षणिकप्रयोगाभिप्रेतं विवृण्वन् शब्दतोऽर्थतश्च फलितमाह— **अत** इति ॥ ३४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३४ ॥

७ ह. पै. भा.— यया त्विति । यया तु धर्मकामार्थान्धारयते बिभर्ति । प्रसङ्गेन प्रसक्त्या, न तु नित्यमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— प्रसङ्गेन प्रकृष्टकर्तृत्वाभिनिवेशेन फलाकाङ्क्षी सन् यया धृत्या धर्मकामार्थान्धारयते नित्यं कर्तव्यतयाऽवधारयति, न तु मोक्षं कदाचिदपि, सा राजसी ॥ ३४ ॥

९ व० त० दी०— यया धृत्या त्रिवर्गं धारयते प्रसङ्गेन कर्तृत्वाभिनिवेशनेन फलाकाङ्क्षी सन् सा राजसी ॥ ३४ ॥

१० पु. अ. त.— राजसीमाह— ययेति । तु पुनः, हे अर्जुन नाम्नैव मुक्त्यधिकारिन् ! यया धृत्या फलाकाङ्क्षी फलाभिलाषयुक्तः सन् प्रसङ्गेन फलप्रसङ्गेन-न तु मद्भजनौपयिकत्वेन- धर्मार्थकामान् धारयते पोषयति तद्द्वयुक्तसाधनैः हे पार्थ ! सा धृतिः राजसी रजस्सम्बन्धिस्वभोगादिरूपफला, उच्यत इत्यर्थः ॥ ३४ ॥

११ नी० भा० दी०— यया धृत्या धर्मादीन् धारयतेऽनुरोध्यतया निश्चिनोति, प्रसङ्गेन धर्मादेः सम्बन्धेन फलाकाङ्क्षी च भवति पुरुषः, धृतिः सा पार्थ ! राजसी ॥ ३४ ॥

**यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च ।**
**न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता ॥ ३५ ॥**

१ शां. भा.— ययेति । यया स्वप्नं निद्रां, भयं त्रासं, शोकं, विषादमवसादं विषण्णतां, मदं विषयसेवामात्मनो बहु मन्यमानो मत्त इव मदमेव च मनसि नित्यमेव कर्तव्यरूपतया कुर्वन्न विमुञ्चति धारयत्येव दुर्मेधा कुत्सितमेधाः पुरुषो यस्तस्य धृतिर्या सा पार्थ ! तामसी मता ॥ ३५ ॥

२ आ. शां. व्या.— तामसीं धृतिं व्याचष्टे— ययेति । शोकं प्रियवियोगनिमित्तं सन्तापं विषण्णतामिन्द्रियाणां ग्लानिं विषयसेवा कुमार्गप्रवृत्तेरुपलक्षणमुक्तम् । स्वप्नादिमदान्तं सर्वमेव कर्तव्यतयाऽऽत्मनो बहु मन्यमानो मनसि नित्यमेव कुर्वन्दुर्मेधा न विमुञ्चति, किन्तु धारयत्येवेति योजना ॥ ३५ ॥

३ रा. भा.— यया धृत्या स्वप्नं, निद्रां मदं विषयानुभवजनितं मदं, स्वप्नमदावुद्दिश्य प्रवृत्ता मनःप्राणादीनां क्रियाः दुर्मेधा न विमुञ्चति धारयति । भयशोकविषादशब्दाश्च भयशोकादिदायिविषयपराः; तत्साधनभूताश्च मनःप्राणादिक्रिया यया धारयते, सा धृतिस्तामसी ॥ ३५ ॥

४ वे. ता. चं.— स्वप्नशब्दोऽत्र सुषुप्तेरप्युपलक्षक इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **निद्रामिति** । दैवागतोन्मादादिव्यवच्छेदाय दुर्नीतिमूलत्वं मदस्याऽत्र दर्शयति— **विषयानुभवजनितमिति** । अस्वाधीनानां स्वप्नादीनां कथं पुरुषेण धारणं ? इति शङ्कायामत्राऽपि हेतुलक्षणा पूर्ववदित्याह— **स्वप्नमदावुद्दिश्येति** । स्वप्नमदयोः सुखाभिमानास्पदतया भयादेः पृथक्कृत्य व्याख्यानम् । धारणमेवात्र योक्तव्यत्वसूचनाय ' न विमुञ्चति ' इत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **न विमुञ्चति धारयतीति** । न चात्र भीरोर्धृतिर्विरुद्धेति वाच्यम् , आगाम्यनवेक्षणेन दुर्मतेस्तद्धेत्वनुवर्तनपरत्वात् । भयदायिविषयो दुर्मानमूलप्रबलविरोधादिः; शोकदायी तु क्रोधादिमूलबन्धुवधादिः, विषाददायी तु वृथावित्तव्ययादिः । दुर्मेधाः— दुर्मेधस्त्वादित्यर्थः ॥ ३५ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ३५ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३५ ॥

७ ह. पै. भा.— ययेति । तामसी तमःप्रभवा ॥ ३५ ॥

८ वें. ब्र. गि.— दुर्मेधाः पुरुषो यया धृत्या स्वप्नादीन्न मुञ्चति, पुनः पुनरावर्तयति, सा तामसी । तत्र स्वप्नो निद्रा, भयं त्रासः, शोक इष्टवियोगहेतुकः सन्तापः, विषाद इन्द्रियावसादः । भयशोकविषादशब्दास्तद्धेतुविषयपराः । मदस्त्वविहितविषयसेवापारवश्यम् ॥ ३५ ॥

९ व० त० दी०— यया स्वप्नमिति । स्वप्नादीन्न विमुञ्चति तान्प्रति प्रयुक्ता मनःप्राणेन्द्रियक्रिया वा न विमुञ्चति ॥ ३५ ॥

१० पु. अ. त.— तामसीमाह— ययेति । दुर्मेधाः दुर्बुद्धिः यया आग्रहरूपया स्वप्नं निद्रां मोहरूपां, भयं भगवदिच्छाज्ञानेन शत्रुचौरादिभ्यो मृत्युतो वा, शोकं भगवत्कृतार्थस्यासमीचीनज्ञानेन चिन्तनं, विषादं सखेदं, मदं स्वाज्ञानरूपम्— एवकारेण मांसादिभक्षणं च– न विमुञ्चति विशेषेण सदोषत्वज्ञानाभावेनापि करणम्; एवं या न त्यजति हे पार्थ ! सा धृतिस्तामसी निष्फलेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

११ नी० भा० दी०— स्वप्नं निद्राम्, भयं त्रासम्, शोकं प्रसिद्धम्, विषादं विषण्णताम्, मदमशास्त्रीयविषयसेवया चित्तस्य विवशत्वम्, एतान्न विमुञ्चति, धारयत्येव यया धृत्या, सा धृतिः पार्थ ! तामसी ॥ ३५ ॥

सुखस्य गुणतस्त्रैविध्यम् ।

**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ ! ।**
**अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तं च निगच्छति ॥ ३६ ॥**
**यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।**
**तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥ ३७ ॥**

**१ शां. भा.—** गुणभेदेन क्रियाणां कारकाणां च त्रिधा भेद उक्तः, अथेदानीं फलस्य च सुखस्य त्रिधा भेद उच्यते— **सुखमिति ।** सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु समाधानं कुर्वित्येतत्— मे मम भरतर्षभ ! । अभ्यासात्परिचयादावृत्ते रमते रतिं प्रतिपद्यते यत्र यस्मिन्सुखानुभवे दुःखान्तं च दुःखावसानं दुःखोपशमं च निगच्छति निश्चयेन प्राप्नोति ॥ ३६ ॥ **यदिति ।** यत्तत्सुखमग्रे पूर्वं प्रथमसन्निपाते ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भे अत्यन्तायासपूर्वकत्वाद्विषमिव दुःखात्मकं भवति, परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाकजं सुखममृतोपमं, तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तं विद्वद्भिः; आत्मनो बुद्धिरात्मबुद्धिः, आत्मबुद्धेः प्रसादो नैर्मल्यं सलिलवत्स्वच्छता, ततो जातमात्मबुद्धिप्रसादजम् । आत्मविषया वाऽऽत्मालम्बना वा बुद्धिरात्मबुद्धिः, तत्प्रसादप्रकर्षाद्वा जातमित्येतत्, तत्तस्मात्सात्त्विकं तत् ॥ ३७ ॥

२ आ. शां. व्या.— वृत्तमनूद्यानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह– **गुणेत्यादिना ।** क्रियाकारकाणां गुणतस्त्रैविध्योक्त्यनन्तरं फलस्य सुखस्य त्रैविध्योक्त्यवसरे सतीत्याह– **इदानीमिति ।** हेयोपादेयभेदार्थं त्रैविध्यं समाधानमैकाग्र्यं मम वचनादिति शेषः । यत्रेत्युभयत्र सम्बध्यते । तत्त्रिविधं सुखमिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ३६ ॥

तत्र सात्त्विकं सुखमादेयत्वेन दर्शयति– **यत्तदिति ।** प्रथमसन्निपातं विभजते— **ज्ञानेति ।** कुतस्तस्य दुःखात्मकत्वं ? तत्राऽऽह— **अत्यन्तेति ।** दुःखात्मकत्वे दृष्टान्तमाह— **विषमिवेति ।** ज्ञानादिपरिपाकावस्था परिणामः तस्मिन्सति ततो जातमिति योजना । तत्रैव हेत्वन्तरमाह— **आत्मन इति ।** आत्मबुद्धिशब्दस्यार्थान्तरमाह— **आत्मविषयेति** अन्तःकरणनैर्मल्याद्वा सम्यग्ज्ञानप्रकर्षाद्वा जातत्वादिति तच्छब्दार्थः ॥ ३७ ॥

**३ रा. भा.—** पूर्वोक्ताः सर्वे ज्ञानकर्मकर्त्रादयो यच्छेषभूताः, तच्च सुखं गुणतस्त्रिविधमिदानीं शृणु । यस्मिन् सुखे चिरकालाभ्यासात् क्रमेण निरतिशयां रतिं प्राप्नोति, दुःखान्तं च निगच्छति निखिलस्य सांसारिकस्य दुःखस्यान्तं निगच्छति ॥ ३६ ॥ तदेव विशिनष्टि— **यदिति ।** यत्तत्सुखम् अग्रे योगोपक्रमवेलायां, बह्वायाससाध्यत्वाद्विविक्तस्वरूपस्याननुभूतत्वाच्च विषमिव दुःखमिव भवति, परिणामेऽमृतोपमं परिणामे विपाके अभ्यासबलेन विविक्तात्मस्वरूपाविर्भावे अमृतोपमं भवति, तच्चात्मबुद्धिप्रसादजम्, आत्मविषया बुद्धिः आत्मबुद्धिः, तस्याः निवृत्तसकलेतरविषयत्वं प्रसादः, निवृत्तसकलेतरविषयबुद्ध्या विविक्तस्वभावात्मानुभवजनितं सुखममृतोपमं भवति; तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥

४ वे. ता. चं.— अनन्तरग्रन्थसङ्गत्यर्थं तुशब्दद्योतितं व्यनक्ति- **पूर्वोक्ता** इति । भरतर्षभशब्दोऽत्र प्रकृष्टसात्त्विकसुखसङ्गयोग्यताज्ञापनार्थः । **इदानीमिति**— साधनभेदस्योक्तस्य साध्यभेदाकाङ्क्षावसर इत्यर्थः । आपातमधुरत्वाभावात्सात्त्विकस्याभ्याससापेक्षत्वं; लोकेऽप्याभ्यासिकी क्षुद्रा प्रीतिरस्ति तद्व्युदासाय **क्रमेण निरतिशयामित्युक्तम्** । रतिम्— अत्यन्तादरमित्यर्थः । दुःखशब्दस्याऽत्र सङ्कोचकाभावात्कृत्स्नविषयत्वोक्तिः ॥ ३६ ॥ अभ्याससापेक्षत्वदुःखान्तहेतुत्वयोः प्रयोजकरूपमनन्तरमुच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **तदेव विशिनष्टीति** । 'यत्तत्' इति तच्छब्दशिरस्केण यच्छब्देनानुवादः श्रुत्यादिप्रसिद्धतरत्वद्योतनाय । 'तत्सुखम्' इति प्रीत्यतिदे: । 'विषमिव' इत्यनेन आपातप्रातिकूल्यमात्रं विवक्षितमित्याह— **दुःखमिवेति** । अनेन मन्दमतीनां जिहासास्पदत्वं दर्शितम् । न हि सुखं नाम किञ्चिद्वस्तु विषवदमृतवच्च परिणमते; अतस्तदुपचरितमाह— **अभ्यासबलेन विविक्तात्मस्वरूपाविर्भाव** इति । बुद्धेरात्मीयत्वादिमात्रोक्तेरफलत्वात् **आत्मविषयेत्युक्तम्** । बुद्धेरयोग्यविषयसंसर्गरूपकालुष्यनिवृत्तिर्हि प्रसाद इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **निवृत्तसकलेतरविषयत्वमिति** । जरामरणादिनिवर्तकत्वाद्भोग्यतमत्वेन हातुमशक्यत्वाच्चामृतोपमत्वम् । परशेषत्वैकरसस्वस्वरूपस्य यथावदाविर्भावे परमात्मानुभवसुखस्यान्तर्नीतत्वादिह पृथगनुक्तिः ॥ ३७ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ३६ ॥ ३७ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

**७ ह. पै. भा.— सुखमिति** । सुखं शर्म । अभ्यासादावृत्त्या रमते रतिं गच्छति । दुःखान्तं दुःखावसानं च गच्छति प्राप्नोति ॥ ३६ ॥ यत्तत्सुखमग्रे प्रथमम् ; परिणाम उत्तरकालेऽमृतोपमम् ; आत्मबुद्धिप्रसादजं स्वबुद्धिप्रसादादन्तःकरणप्रसादाज्जातं तत्सात्त्विकम् ॥ ३७ ॥

८ वं. व्र. गि.— एवं क्रियाकारकाणां त्रैविध्यमुक्त्वा, तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानीते— **सुखमिति** । स्पष्टोऽर्थः ॥ तत्र सात्त्विकं सुखमाह सार्धेन— **अभ्यासादिति** । यत्र यस्मिन्सात्त्विकत्वेनाभिमते समाधिसुखे अभ्यासादतिपरिचयाद्रमते तृप्तो भवति, न तु विषयसुख इव सद्य एवेत्यर्थः । यस्मिन् रममाणश्च दुःखस्य सर्वस्यान्तमवसानं निगच्छति प्राप्नोति, न तु विषयसुख इवान्ते मोहदुःखमित्यर्थः । कीदृशं तत् ? यत् अग्रे ज्ञानवैराग्यध्यानसमाध्यारम्भे विषमिव अत्यन्तायाससाध्यत्वाद्दुःखावहमिव भवति, परिणामे ज्ञानवैराग्यादिपरिपाके त्वमृतोपमम् । तत्र हेतुः- आत्मबुद्धिप्रसादजम् , आत्मविषया बुद्धिरात्मबुद्धिः, तस्याः प्रसादो निद्रालस्यादिराहित्येन स्वच्छतयाऽवस्थानम्, ततो जातम् ; ईदृशं यत्समाधिसुखम् , तत्सात्त्विकं स्मृतं योगिभिः ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

९ व० त० दी०— सुखस्य त्रैविध्यं प्रतिजानन्नाह— सुखमिति । यत्र सुखे चिरकालाभ्यासात्क्रमेण निरतिशयां रतिं मन्यते सांसर्गिकदुःखस्य चान्तं च नितरां गच्छति ॥ ३६ ॥ तदेव विशिनष्टि– यत्तदिति । सुखं अग्रे योगोपक्रमवेलायां बह्वायाससाध्यत्वाद्विविक्तात्मस्वरूपानुभवाभावात् विषमिव दुःखस्वरूपमिव भवति, परिणामेऽमृतोपमं परिपाके स्वात्मस्वरूपाविर्भावे सुखरूपम् ॥ ३७ ॥

**१० पु. अ. त.**— एवं धृतित्रैविध्यमुक्त्वा तस्याः सुखफलात्मकत्वात् सुखत्रैविध्यकथनं प्रतिजानीते— सुखमिति । इदानीं धृतिज्ञानानन्तरं सुखं पुनस्त्रिविधं, हे भरतर्षभ सुखश्रवणयोग्य ! मे मत्तः शृणु । एवं प्रतिज्ञाय तत्त्रैविध्यमाह— अभ्यासादिति । अभ्यासात् निरन्तरानुशीलनात् यत्र यस्मिन् रमते आनन्दानुभवं प्राप्नोति, नत्वाऽऽपाततो विषयसुख इव क्षणमात्रानुभवमाप्नोति, च पुनः यदनुशीलने दुःखान्तं संसारान्तं नितरां गच्छति ॥ ३६ ॥ किञ्च । यत्तत् वक्तुमशक्यमनुभवैकवेद्यम् अग्रे प्रथमं विषमिव लौकिकसुखपरित्यागे जीवितहरणवत् कटुतया परिभाति, परिणामे फलपरिपाकदशायां अमृतोपमममतिमधुरं मोक्षतुल्यं वा; आत्मबुद्धिप्रसादजम् आत्मसम्बन्धिनी मदंशसम्बन्धिनी या बुद्धिस्तत्प्रसादो नाम रजस्तमोजविकारराहित्येन शुद्धत्वं तज्जं तत्सुखं सात्त्विकं सत्त्वसम्बन्धजं प्रोक्तम् । तज्ज्ञैरिति शेषः ॥ ३७ ॥

११ नी० भा० दी०— गुणभेदेन क्रियाणां कारकाणां च त्रैविध्यमुक्तं, तत्फलस्य सुखस्य त्रैविध्यमाह— सुखं त्विदानीमित्यादिना । अभ्यासात्पौनःपुन्येन सेवनात् यत्र सात्त्विके राजसे तामसे वा सुखे रमते रतिं प्राप्नोति ; यया रत्या दुःखस्य पुत्रशोकादेरप्यन्तमवसानं निगच्छति निश्चयेन प्राप्नोति । तत्सुखं त्रिविधं शृणु । यद्वा त्वयमप्यर्थः सात्त्विकसुखस्यैव लक्षणार्थस्तदा यत्र समाधिसुखे अभ्यासाद्रमते, न तु विषयसुख इव रागात् दुःखान्तं मोक्षं च निगच्छतीत्यर्थः ॥ ३६ ॥

यत्तत्प्रसिद्धं सर्वप्राणिप्रेमास्पदं अग्रे समारम्भकाले मनःप्राणेन्द्रियस्पन्दनिरोधेन यज्ञे संज्ञप्यमानस्य पशोरिव जायमानं विषमिवातितीव्रवेदनाकरम्; परिणामे सात्त्विक्या धृत्या निरुद्धासु मनआदिक्रियासु अमृतोपममत्याह्लादकरम्; आत्मनः स्वस्यैव बुद्धेः प्रसादो नैर्मल्यं रजस्तमोमलराहित्यं तस्मादाविर्भूतं, न तु विषयसङ्गजं निद्रालस्यादिजं वा, तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तम् ॥ ३७ ॥

**विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।**
**परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥**

**१ शां. भा.— विषयेति ।** विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्सुखं जायतेऽग्रे प्रथमक्षणेऽमृतोपममममृतसमं, परिणामे विषमिव बलवीर्यरूपप्रज्ञामेधाधनोत्साहहानिहेतुत्वादधर्मतज्जनितनरकादिहेतुत्वाच्च; परिणामे तदुपभोगविपरिणामान्ते विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— राजसं सुखं हेयत्वाय कथयति— **विषयेति ।** बलं सङ्घातसामर्थ्यं, वीर्यं पराक्रमकृतं यशः, रूपं शरीरसौन्दर्यं, प्रज्ञा श्रुतार्थग्रहणसामर्थ्यं, मेधा गृहीतार्थस्याविस्मरणेन धारणशक्तिः, धनं गोहिरण्यादि, उत्साहस्तु कार्ये प्रत्युपक्रमादिः, एतेषां नाशत्वाद्वैषयिकं सुखं विषसममित्यर्थः । तत्रैव हेत्वन्तरमाह— **अधर्मेति** ॥ ३८ ॥

**३ रा. भा.**— अग्रे अनुभववेलायां विषयेन्द्रियसंयोगात् यत्तदमृतमिव भवति, परिणामे विपाके विषयाणां सुखतानिमित्तक्षुदादौ निवृत्ते तस्य च सुखस्य निरयादिनिमित्तत्वाद्विषमिव पीतं भवति, तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

**४ वे. ता. चं.— विषयाणां** तत्तदिन्द्रियार्थानामन्नपानादीनामित्यर्थः । **सुखतानिमित्तक्षुदादौ निवृत्ते** इति राजससुखस्य दृष्टप्रातिकूल्यनिदानोक्तिः । यदुक्तं भगवता पराशरेण—'अग्नेः शीतेन तोयस्य तृषा भक्तस्य च क्षुधा । क्रियते सुखकर्तृत्वं तद्विलोमस्य चेतरैः' [ वि. पु. १।१७।६४ ] इति । 'क्षुत्तृष्णोपशमं तद्वच्छीताद्युपशमं सुखम् । मन्यते बालबुद्धित्वाद्दुःखमेव हि तत् पुनः' ॥ इति। दृष्टसुखतानिमित्तनिवृत्तौ उपेक्षणीयतामात्रव्यावृत्त्यर्थं दुःखोदर्कत्वं 'परिणामे विषमिव' इत्यनेन व्यज्यते । पारदारिकरसादीनि हि भयादिभूयिष्ठक्षणिकक्षुद्रतरसुखान्यनन्तरकालभाव्यतिघोरनिरतिशयदुःखाय भवन्तीत्यागामिकं विषत्वमाह— **निरयादिनिमित्तत्वादिति** ॥ ३८ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ३८ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ३८ ॥

**७ ह. पै. भा.— विषयेति ।** विषयेन्द्रियसंयोगाच्छ्रोत्रादीनां शब्दादिभिः संयोगाद्यत्सुखमग्रेऽमृतोपमं परिणामे कालान्तरे विषमिव तद्राजसम् ॥ ३८ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— राजसं सुखमाह— **विषयेन्द्रियेति ।** विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदतिप्रसिद्धं स्त्रीसङ्गादिसुखं अग्रे आरम्भे मनस्संयमादिक्लेशाभावादमृतोपमं, परिणामे तु इहामुत्र च दुःखहेतुत्वाद्विषमिव भवति, तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥ ३८ ॥

**९ व० त० दी०**— विषयेति । स्पष्टमेवोपलभ्यते विषयस्य रूपादेः इन्द्रियैः संयोगाद्यत्तत्सुखममृतोपममग्रे प्रथमं परिणामे विपाके विषमिव दुःखरूपम् ॥ ३८ ॥

**१० पु. अ. त.**— राजसमाह— **विषयेन्द्रियेति ।** विषयाणामिन्द्रियाणां च संयोगात् तत् प्रसिद्धं स्रग्गन्धवस्त्राभरणस्त्रीसङ्गादिरूपं भगवत्सम्बन्धरहितसुखं अग्रे प्रथमं आपाततः अमृतोपमं अतिमिष्टतमं, परिणामे फलदशायां विषमिव भगवद्विस्मृतिकारकत्वेन जीवहरणैकस्वभावं तत्सुखं राजसं स्मृतं, प्रसिद्धमित्यर्थः ॥ ३८ ॥

**११ नी० भा० दी०**— राजसं सुखमाह— विषयेति । अग्रे भोगकाले परिणामे विषमिव वियोगकाले इहामुत्र च दुःखप्रदत्वात् ॥ ३८ ॥

**यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।**
**निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥**

**१ शां. भा.—** यदग्रे चेति। यदग्रे चानुबन्धे चावसानोत्तरकाले सुखं मोहनं मोहकरमात्मनः, निद्रालस्यप्रमादोत्थं निद्रा चाऽऽलस्यं च प्रमादश्चेत्येभ्यः समुत्तिष्ठतीति निद्रालस्यप्रमादोत्थं, तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** तामसं सुखं त्यागार्थमेवोदाहरति— **यदग्रे चेति**। अनुबन्धशब्दार्थमाह— **अवसानेति**। मोहनं मोहकरम्। तदुत्पत्तिहेतुमाह— **निद्रेति** ॥ ३९ ॥

**३ रा. भा.—** यत्सुखमग्रे चानुबन्धे च अनुभववेलायां विपाके च आत्मनो मोहनं मोहहेतुर्भवति; —मोहोऽत्र यथावस्थितवस्त्वप्रकाशोऽभिप्रेतः— निद्रालस्यप्रमादोत्थं निद्रालस्यप्रमादजनितं, निद्रादयो ह्यनुभववेलायामपि मोहहेतवः; निद्राया मोहहेतुत्वं स्पष्टम्; आलस्यमिन्द्रियव्यापारमान्द्यम्; इन्द्रियव्यापारमान्द्ये च ज्ञानमान्द्यं भवत्येव; प्रमादः कृत्यानवधानरूप इति तत्रापि ज्ञानमान्द्यं भवति, ततश्च तयोरपि मोहहेतुत्वम्; तत्सुखं तामसमुदाहृतम्; अतो मुमुक्षुणा रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमेवोपादेयमित्युक्तं भवति ॥ ३९ ॥

**४ वे. ता. चं.—** अनुबध्यत इत्यनुबन्धो विपाकः, मोहनशब्दस्यात्र भावार्थानन्वयात्करणार्थत्वमाह— **मोहहेतुरिति**। निद्रादिजन्यसुखस्य विपरीतज्ञानहेतुत्वाभावात् **मोहोऽत्र यथावस्थितवस्त्वप्रकाश** इत्युक्तम्। राजससुखस्य विपाके मोहहेतुत्वं, तामससुखस्य तु तदानीमपीति लोकसिद्धमित्यभिप्रायेणोक्तं विवृणोति— **निद्रादयो हीति**। **स्पष्टमिति**— न युक्त्यागमसापेक्षमित्यर्थः। अलसस्य प्रवृत्त्यभावमात्रं दृश्यते, न ज्ञानाभाव इत्यत्राऽऽह— **आलस्यमिन्द्रियव्यापारमान्द्यमिति**। ततः किं? इत्यत्राऽऽह— **इन्द्रियेति**। करणव्यापारतारतम्यानुगुणं हि कार्यतारतम्यम्। ज्ञानस्य मान्द्यं चाल्पविषयत्वम्। तच्च विषयान्तरप्रकाशाभावगर्भमिति भावः। प्रमादस्य स्वरूपेणैवापेक्षिताज्ञानरूपतामाह **कृत्यानवधानरूप इति**। एवमालस्यप्रमादयोरज्ञानानुविद्धत्वं दर्शितं; तद्धेतुत्वं तु कथमित्यत्राऽऽह— **ततश्चेति**। ज्ञानस्याल्पत्वं हि क्रमादत्यन्ताज्ञाने विश्राम्यतीति भावः। निद्रायाः सुखहेतुत्वमायासविश्रमहेतुत्वादिभिः, विच्छेदकेषु रोषाच्च लोकसिद्धम्, इन्द्रियव्यापारमान्द्यस्याप्यङ्गसङ्क्षोभादिनिवृत्तिद्वारा अनवधानस्य तु बुद्धेरेकाग्रताकल्पनरूपप्रयासनिवृत्त्येति। सुखाभासप्रसङ्गेनाकालनिद्रादिकं नोपादेयमित्युक्तं भवति। स्मरन्ति च— 'यामद्वयं शयानस्तु ब्रह्मभूयाय कल्पते' इत्यादि। आहुश्चायुर्वेदविदः— 'अकालेऽतिप्रसङ्गाच्च न च निद्रा निषेविता। सुखायुषी पराकुर्यात्कालरात्रिरिवापरा' इति। गुणकृतविभागप्रकरणतात्पर्यमनुष्ठानपर्यवसानरूपप्रयोजनेनोपसंहरति— **अत इति** ॥ ३९ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ३९ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ३९ ॥

**७ ह. पै. भा.—** यदग्र इति। यदग्रेऽवसाने च मोहनकरं निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसं सुखम् ॥ ३९ ॥

**८ वें. ब्र. गि.—** तामसं सुखमाह— **यदग्र इति**। अग्रे आरम्भे अनुबन्धे परिणामे च यत्सुखमात्मनो मोहनं यथावस्थितवस्त्वप्रकाशरूपमोहकरम्। तत्र हेतुः— निद्रालस्यप्रमादोत्थम्, निद्रादयो हि मोहकराः। तत्र निद्राया मोहनत्वं प्रसिद्धम्, आलस्यमिन्द्रियव्यापारमान्द्यम् तस्मिन्सति ज्ञानमान्द्यान्मोह एव। प्रमादस्तु कृत्यानवधानता। तत्रापि ज्ञानमान्द्यान्मोह इति निद्रालस्यप्रमादोत्थं सुखमपि मोहनम्। तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥

**९ व० त० दी०—** यदग्रे चानुबन्धेऽनुभवान्तकाले आत्मनो मोहनं तत्तामसं, अतो मुमुक्षुणा सर्वं रजस्तमसी अभिभूय सत्त्वमेवोपादेयमिति तत्त्वम् ॥ ३९ ॥

१० पु. अ. त.— तामसमाह— यदग्रे इति । यत् अग्रे प्रथमं च पुनः अनुबन्धे पश्चात् परिणामदशायां च निद्रालस्यप्रमादोत्थं निद्रा इन्द्रियापट्ठत्वेन सुखदुःखाभावात्मकानन्ददशात्मिका, आलस्यं क्रियाकरणेन शैथिल्येन स्थितिः, सुखाभिमानः प्रमादः कर्तव्यपूजाध्ययनकर्मानवधाने तूष्णींस्थितिरूपाज्ञानस्यानन्दभ्रमः, एतेभ्य उत्थितम्, आत्मनो जीवस्य मोहनं मोहकारकं भगवद्विस्मरणकारकं सुखं तामसं निष्फलं समुदाहृतं सम्यक्प्रकारेण उदाहृतम्; ज्ञानिभिरिति शेषः ॥ ३९ ॥

११ नी० भा० दी०— अग्रे आरम्भे अनुबन्धे परिणामे मोहनं मोहकरं आत्मनो बुद्धेः, यतो निद्रादिजम् ॥ ३९॥

सर्वस्य प्राणिजातस्य त्रिगुणात्मकता ।

**न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः ।**
**सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥ ४० ॥**

**१ शां. भा.**— अथेदानीं प्रकरणोपसंहारार्थः श्लोक आरभ्यते— **न तदिति** । न तदस्ति तन्नास्ति पृथिव्यां वा मनुष्यादिषु सत्त्वं प्राणिजातं, अन्यद्वाऽप्राणिजातं, दिवि देवेषु वा पुनः सत्त्वं प्रकृतिजैः प्रकृतितो जातैरेभिस्त्रिभिर्गुणैः सत्त्वादिभिर्मुक्तं परित्यक्तं यत्स्याद्भवेत् । 'न तदस्ति' इति पूर्वेण सम्बन्धः ॥ ४० ॥

२ आ. शां. व्या.— क्रियाकारकफलात्मनः संसारस्य प्रत्येकं सात्त्विकादिभेदेन त्रैविध्यमुक्त्वा संसारान्तर्भूतमेव किञ्चिद्गुणत्रयास्पृष्टमपि कश्चिद्भविष्यतीत्याशङ्कयाऽऽह— **अथेति**। संसारस्य सर्वस्यैव गुणत्रयस्पृष्टत्वं प्रकरणम् । अन्यद्वाऽप्राणीत्यत्राप्राणिशब्देन प्रसिद्ध्या स्थावरादि गृह्यते ॥ ४० ॥

**३ रा. भा.**— पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा प्रकृतिसंसृष्टेषु ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु प्रकृतिजैरेभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं यत्सत्त्वं प्राणिजातं न तदस्ति ॥ ४० ॥

**४ वे. ता. चं.**— प्राकृतगुणातीतशुद्धसत्त्वमयभगवत्प्राप्तिलक्षणमोक्षात् प्राङ्नियतदेशकालफलभोगैरुच्चावचैः सर्वैरपि क्षेत्रज्ञैरुक्तस्य त्रिगुणस्य निश्शेषदुस्त्यजत्वमुखेन गुणकार्यप्रकरणं निगम्यते— 'न तदस्ति' इति श्लोकेन । गुणत्रयप्रकरणं तु नात्रोपसंहृतम्, अनन्तरमपि 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' [१८।४१] इत्युक्तेः । 'दिवि देवेषु' इति सत्त्वोत्तरदेशाधिकारिणामुपलक्षणम् । तत्तुल्यतया 'पृथिव्याम्' [७।९] इत्यत्रापि **मनुष्यादिष्विति** राजसतामसाधिकारिविवक्षाख्यापनम् । 'हिरण्यगर्भो भगवान्' [वि. पु. ६।७।५६] 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ताः' [वि. ध. १०४।२३] इत्याद्यनुसारेण बहुवचनाभिप्रेतमाह— **ब्रह्मादिष्विति** । गुणप्रकरणात् सत्त्वशब्दस्य गुणविशेषार्थताभ्रमव्युदासाय प्राणिशब्दः । समुदायरूपेणापि निर्धार्यमाणेषु तत्रापि गुणनिर्मुक्तं न किञ्चित्सत्त्वमित्यभिप्रायेण जातशब्दः । जातमिति वा व्यस्तम्— आसंसारं जन्मप्रभृति गुणबद्धताद्योतनार्थम् ॥ ४० ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ४० ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४० ॥

**७ ह. पै. भा.**— **न तदिति** । न तदस्ति पृथिव्यां वा दिव्यन्तरिक्षे देवेषु देवैरिन्द्रादिभिः उपलक्षिते स्वर्गे वा सत्त्वं वस्तु एभिः प्रकृतिजैर्गुणैः सत्त्वरजस्तमोभिर्विना यत्स्यात् । सर्वं सत्त्वं वस्तुजातं सत्त्वरजस्तमोगुणमयमेवेत्यर्थः ॥ ४० ॥

८ वे. ब्र. गि.— त्रैगुण्यनिरूपणमुपसंहरति— **न तदस्तीति** । एभिः प्रकृतिसम्भवैः सत्त्वादिभिस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं हीनं सत्त्वं प्राणिजातमप्राणि वा यत्स्याद्भवति, तत् पुनः पृथिव्यां मनुष्यादिषु दिवि देवेषु वा नास्ति । सर्वमपि सत्त्वरजस्तमोगुणमयमेव अनात्मवस्तुजातमित्यर्थः ॥ ४० ॥

९ श० त० दी०— किमन्यद्वाच्यं ? प्राणिषु सर्वं प्राकृतत्रिगुणमयमेवेत्याह— **न तदस्तीति** । दिवि ब्रह्मलोकपर्यन्तं दिव्येषु प्राकृतैर्गुणैर्मुक्तं सत्त्वं किमपि नास्ति, पृथिव्यां च तथा न देवेष्वधस्तादादिषु पृथिव्यामवतीर्य द्योतमानमहिमस्वपि च तथा न; किन्तु क्रियया सगुणत्वमस्त्येवेति पृथग्वा बोध्यम् । ( यतोऽप्राकृतमपि

भागवतं गुणत्रयमस्ति प्राकृतगुणकार्यनाशकं मन्तव्यं; अन्यथा प्रकृतिजैर्गुणैर्मुक्तं सत्त्वं पृथिव्यादिषु नास्तीति न वदेत्, तस्यैवाप्रसिद्धत्वात्; गुणावताराश्च भगवतोऽप्राकृता न भवेयुः; स तस्य सत्त्वसम्बन्धः कथं भवेद्भेदाभावे? अतस्त्रयो गुणा ब्रह्मविष्णुशिवेष्वेव प्रतिष्ठिताः, अत्र सच्चिदानन्दधर्मत्वात् कश्चिद्विष्णोः सत्त्वमाधारत्वेनादत्ते यदि न केवलोऽवतरतीति ) अतएव भगवतो लीला लोकवत्सगुणापि निरूपिता 'भूगोगोप्यादीनां चापि' इति सुबोधिन्यां स्थितम् । वस्तुतस्तु 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यं' [ ब्र. सू. २।१।३३ ] इति व्यासेन सूत्रितमेवं चानुकरणे तथा स्वरूपतो गुणातीतत्वमित्यवसेयम् ॥ ४० ॥

१० पु. अ. त.— एवं यज्ञादीनां सर्वेषां त्रिविधरूपमुक्त्वाऽप्यथ स्वसम्बन्धातिरिक्तस्य त्रिगुणात्मकतां सर्वस्याऽऽह— **न तदस्तीति** । एभिः प्रकृतिजैः प्रकृत्युद्भवैस्त्रिभिः सात्त्विकादिभिर्गुणैर्मुक्तं रहितं सत्त्वं प्राणिजातं यत्स्थावरादिकं मन्यद्वा पृथिव्यां मनुष्येषु, वाशब्देन नागादिलोकेषु च दिवि देवलोके वा पुनः देवेषु स्यात् तत् नास्तीत्यर्थः । सात्त्विकादिष्वपि त्रैविध्यमस्तीति 'वा पुनः' इत्यनेन केवलसात्त्विकत्वाद्देवेष्वसम्भावितत्वादस्येवेति निर्धारितम् ॥ ४० ॥

११ नी० भा० दी०— प्रकरणार्थमुपसंहरत्यनुक्तमपि संगृह्णन्— न तदस्तीति । सत्त्वं प्राणिजातं, इदमुपलक्षणं जडस्यापि सर्वस्य त्रिगुणविकारत्वात्; प्रकृतिजैर्जन्मान्तरीयधर्माधर्मसंस्कारजैर्मायाप्रभवैर्वा । शेषं स्पष्टम् ॥ ४० ॥

गीताशास्त्रार्थोपसंहारे चातुर्वर्ण्यस्य कर्मविभागोपक्रमः ।

**ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ! ।**
**कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥ ४१ ॥**

**१ शां. भा.**— सर्वः संसारः क्रियाकारकफललक्षणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकोऽविद्यापरिकल्पितः समूलोऽनर्थ उक्तः, वृक्षरूपकल्पनया च 'ऊर्ध्वमूलं' [ १५।१ ] इत्यादिना, तं च 'असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा' 'ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं' [ १५।३,४ ] इति चोक्तम् । तत्र च सर्वस्य त्रिगुणात्मकत्वात्संसारकारणनिवृत्त्यनुपपत्तौ प्राप्तायां यथा तन्निवृत्तिः स्यात्तथा वक्तव्यं, सर्वश्च गीताशास्त्रार्थ उपसंहर्तव्यः एतावानेव च सर्ववेदस्मृत्यर्थः पुरुषार्थमिच्छद्भिरनुष्ठेय इत्येवमर्थं च 'ब्राह्मणक्षत्रियविशां' इत्यादिरारभ्यते ।

२ आ. शां. व्या.— प्रकरणार्थमुपसंहृतमनुवदति— **सर्व** इति । तस्यानेकात्मकत्वेन हेयत्वं सूचयति— **क्रियेति** । निर्गुणादात्मनो वैलक्षण्याच्च तस्य हेयतेत्याह— **सत्त्वेति** । अनर्थत्वाच्च तस्य त्याज्यत्वं, अनर्थत्वं चाविद्याकल्पितत्वेनावस्तुनो वस्तुवद्भानादित्याह— **अविद्येति** । न केवलमष्टादशे संसारो दर्शितः, किन्तु पञ्चदशेऽपीत्याह— **वृक्षेति** । चकारादुक्तः संसार इत्यनुकृष्यते । संसारध्वस्तिसाधनं सम्यग्ज्ञानं च तत्रैवोक्तमित्याह— **असङ्गेति** । वृत्तमनूद्यानन्तरसन्दर्भतात्पर्यमाह— **तत्र चेति** । उक्तो निर्विवर्तयिषितः संसारः सतिसप्तम्या परामृश्यते— सर्वो हि संसारो गुणत्रयात्मकः । न च गुणानां प्रकृत्यात्मकानां संसारकारणीभूतानां निवृत्तिर्युक्ता, प्रकृतेर्नित्यत्वादित्याशङ्कायां स्वधर्मानुष्ठानात्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्या गुणानामज्ञानात्मकानां निवृत्तिर्यथा भवति तथा स्वधर्मजातं वक्तव्यमित्युत्तरग्रन्थप्रवृत्तिरित्यर्थः । तत्तद्गुणप्रयुक्तधर्मजातानुपदेशे चोपसंहारप्रकरणप्रकोपः स्यादित्याह— **सर्वश्चेति** । उपसंहृते गीताशास्त्रार्थे यद्यपि सर्वो वेदार्थः स्मृत्यर्थश्च सर्वं उपसंहृतस्तथापि मुमुक्षुभिरनुष्ठेयमस्ति वक्तव्यमवशिष्टमित्याशङ्क्याऽऽह— **एतावानिति** । अनुष्ठेयपरिमाणनिर्धारणवदुक्तशङ्कानिवर्तनं शास्त्रार्थोपसंहारश्चेत्येतदुभयं चकारार्थः ।

**१ शां. भा.— ब्राह्मणेति** । ब्राह्मणाश्च क्षत्रियाश्च विशश्च ब्राह्मणक्षत्रियविशस्तेषां ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च; शूद्राणामसमासकरणमेकजातित्वे सति वेदेऽनधिकारात्— हे परन्तप ! कर्माणि प्रविभक्तानीतरेतरविभागेन व्यवस्थापितानि । केन ? स्वभावप्रभवैर्गुणैः, स्वभाव ईश्वरस्य प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका माया, सा प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवास्तैः । शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि ब्राह्म-

णादीनाम् । अथवा ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुणः प्रभवः कारणं तथा क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः प्रभवः, वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रजः प्रभवः, शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः प्रभवः प्रशान्त्यैश्वर्येहामूढतास्वभावदर्शनाच्चतुर्णाम् ।

२ आ. शां. व्या.— सम्प्रति वर्णचतुष्टयस्यानुष्ठेयं धर्मजातमसङ्कीर्णमिति सूत्रमुपन्यस्यति— **ब्राह्मणेति** । उपनयनसंस्कारवत्त्वे सति वेदाधिकारित्वं समानमिति त्रयाणां समासकरणम् । इतरेषामसमासे हेतुमाह— **शूद्राणामिति** । एकजातित्वमुपनयनवर्जितत्वम् । कर्मणामसङ्कीर्णत्वेन व्यवस्थापकं प्रश्नपूर्वकं प्रकटयति— **केनेत्यादिना** । 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' इत्यस्यार्थान्तरमाह— **अथवेति** । उक्तव्यवस्थायां कार्यदर्शनं प्रमाणयति— **प्रशान्तीति** ।

**१ शां. भा.**— अथवा जन्मान्तरकृतसंस्कारः प्राणिनां वर्तमानजन्मनि स्वकार्याभिमुखत्वेनाभिव्यक्तः स्वभावः स प्रभवो येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवा गुणाः । गुणप्रादुर्भावस्य निष्कारणत्वानुपपत्तेः स्वभावः कारणमिति च कारणविशेषोपादानम् । एवं स्वभावप्रभवैः प्रकृतिप्रभवैः सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैः स्वकार्यानुरूपेण शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि । ननु शास्त्रप्रविभक्तानि शास्त्रेण विहितानि ब्राह्मणादीनां शमादीनि कर्माणि कथमुच्यते सत्त्वादिगुणप्रविभक्तानीति । नैष दोषः, शास्त्रेणापि ब्राह्मणादीनां सत्त्वादिगुणविशेषापेक्षयैव शमादीनि कर्माणि प्रविभक्तानि, न गुणानपेक्षयैवेति शास्त्रप्रविभक्तान्यपि कर्माणि गुणप्रविभक्तानीत्युच्यते ॥ ४१ ॥

२ आ. शां. व्या.— स्वभावशब्दस्यार्थान्तरमाह— **अथवेति** । किमिति गुणाभिव्यक्तेरुक्तवासनाधीनत्वं ? तत्राऽऽह— **गुणेति** । ननु नास्ति गुणप्रादुर्भावस्य निष्कारणत्वं प्रकृतिजैर्गुणैरिति प्रकृतेर्गुणकारणत्वाभिधानादत आह— **स्वभाव इति** । वासना कारणमिति गुणव्यक्तेर्निमित्तकारणत्वं विवक्षितं, प्रकृतिस्तूपादानमिति भावः । उक्तमुपसंहरति— **एवमिति** । स्वभावप्रभवैः सत्त्वादिगुणैर्ब्राह्मणादीनां कर्माणि प्रविभक्तानीत्युक्तमाक्षिपति— **नन्विति** । शास्त्रस्य धर्मविभागहेतोः सत्त्वादिविशेषापेक्षयैव विभागज्ञापकत्वादुभयत्र विभागहेतुत्वोक्तिरविरुद्धेति परिहरति— **नैष दोष इति** ॥ ४१ ॥

**३ रा. भा.**— "त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" [ महाना. ८।१४ कैवल्यो. २ ] इत्यादिषु मोक्षसाधनतया निर्दिष्टस्त्यागः सन्न्यासशब्दार्थादनन्यः, स च क्रियमाणेष्वेव कर्मसु कर्तृत्वत्यागमूलः; फलकर्मणोस्त्यागः कर्तृत्वत्यागश्च परमपुरुषे कर्तृत्वानुसन्धानेनेत्युक्तम् । एतत्सर्वं सत्त्वगुणवृद्धिकार्यमिति सत्त्वोपादेयताज्ञापनाय सत्त्वरजस्तमसां कार्यभेदाः प्रपञ्चिताः; इदानीमेवम्भूतस्य मोक्षसाधनतया क्रियमाणस्य कर्मणः परमपुरुषाराधनवेषतां, तथानुष्ठितस्य च कर्मणस्तत्प्राप्तिलक्षणं फलं प्रतिपादयितुं ब्राह्मणाद्यधिकारिणां स्वभावानुबन्धिसत्त्वादिगुणभेदभिन्नं वृत्त्या सह कर्तव्यकर्मस्वरूपमाह— **ब्राह्मणेति** ।

४ वे. ता. चं.— एवं सर्वेषां संसारिणां गुणत्रयवश्यत्वमुक्तम्; अथ तत्तद्गुणतारतम्यवद्देहयोगिनामधिकारिणां यथाधिकारं शास्त्रैर्विभक्तानि कर्मादीनि विविच्यन्ते । तस्य परमप्रस्तुतेन सङ्गत्यर्थमध्यायारम्भप्रक्रान्तं प्रदर्शयति— **त्यागेनेत्यादिना** । **सन्न्यासशब्दार्थादनन्य** इति— श्रुतावपि हि "त्यागेनैके" [ महाना. ८।१४ कैवल्यो. २ ] "सन्न्यासयोगात्" [मुण्डको. ३।२।६] इत्युभावेकविषयाविति भावः । **एवम्भूतस्येति**— त्रिविधत्यागयुक्तस्येत्यर्थः । **वृत्त्या सहेति** कृषिगोरक्ष्यादीनि हि वक्ष्यमाणानि [ १८।४४ ] जीविकाविशेषा इति भावः ।

**रा. भा.**— ब्राह्मणक्षत्रियविशां स्वकीयो भावः स्वभावः; ब्राह्मणादिजन्महेतुभूतं प्राचीनं कर्मेत्यर्थः । तत्प्रभवाः सत्त्वादयो गुणाः; ब्राह्मणस्य स्वभावप्रभवो रजस्तमोभिभवेनोद्भूतः सत्त्वगुणः, क्षत्रियस्य स्वभावप्रभवस्तमसस्सत्त्वाभिभवेनोद्भूतो रजोगुणः, वैश्यस्य स्वभावप्रभवः सत्त्वरजोभिभवेनाल्पोद्रिक्तस्तमोगुणः, शूद्रस्य स्वभावप्रभवस्तु रजस्सत्त्वाभिभवेनात्युद्रिक्तस्तमोगुणः । एभिः स्वभावप्रभवैर्गुणैः सह प्रविभक्तानि कर्माणि शास्त्रैः प्रतिपादितानि । ब्राह्मणादय एवङ्गुणकाः, तेषां चैतानि कर्माणि, वृत्तयश्चैता इति हि विभज्य प्रतिपादयन्ति शास्त्राणि ॥ ४१ ॥

४ वे. ता. चं.— अत्र 'ब्राह्मणक्षत्रियविशाम्' इति समासो द्विजत्वे सति वेदाधिकारात्। प्राचीनकर्मानुरूपं सत्त्वादिगुणवृद्धिः प्रागेव प्रपञ्चिता, अतस्तद्धेतुकं कर्मात्र तत्तद्गुणप्रचुरपुरुषासाधारणधर्मतया स्वभाव इति दर्शितम्। एतेन 'कर्मवश्या गुणा ह्येते सत्त्वाद्याः पृथिवीपते!' [वि. पु. १] इति वचनादौपाधिकानां गुणानां चात्र स्वाभाविकतोक्तिशङ्काऽपि निरस्ता। गुणविभागप्रकारो ब्राह्मपुराणादिषु प्रपञ्चितः। तस्यायं सङ्क्षेपः— 'तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्' इति। अस्यार्थं वदन्प्रकृतं विवृणोति— **रजस्तमोभिभवेनोद्भूतः सत्त्वगुण** इति। उत्तमशब्दस्य 'रजः क्षत्रे' इत्यादिष्वप्यन्वयमाह **क्षत्रियस्ये**त्यादिना। **अल्पोद्रिक्त** इति शूद्राद्यवच्छेदाय। अतीन्द्रियाणां गुणानामपि शास्त्राधीनविभागत्वात्कर्मप्रविभागे गुणानां कर्तृत्वाद्यसम्भवाच्च **गुणैः** **सहे**त्युक्तम्। गुणापेक्षया शास्त्रेण विभक्ततया गुणप्रविभक्तत्वोपचारादयमेवार्थं उचित इति भावः। कैर्विभक्तानीति शङ्कायां **शास्त्रै**रिति शेषपूरणम्। स्वरूपविभागस्य शास्त्राधीनत्वाभावादसङ्कीर्णबोधनं विवक्षितमित्याह— **प्रतिपादितानी**ति। विभज्य प्रतिपादनं विवृणोति— **ब्राह्मणाद्य** इति। कर्मशब्द एव सामान्यतो वृत्तिमपि संगृह्णाति, तादर्थ्याद्वा तदाक्षेप इत्यभिप्रायेणाऽऽह **वृत्तयश्चे**ति। जीवनोपाया इत्यर्थः॥ ४१॥

५ आ. मा. भा.—॥ ४१॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ४१॥

७ ह. पै. भा.— ब्राह्मणेति। ब्राह्मणश्च क्षत्रियश्च विट् च ब्राह्मणक्षत्रियविशः, तेषां शूद्राणां च कर्माणि कर्तव्यानि प्रविभक्तानि। स्वभावो वक्तव्यं (अव्यक्तं) प्रकृतिस्तद्भवैः सत्त्वरजस्तमोभिर्गुणैः॥ ४१॥

८ वें. ब्र. गि.— तदेवम् 'सन्न्यासस्य महाबाहो! तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्' [१८।१] इति गौणसन्न्यासस्वरूपं पृष्टवन्तमर्जुनं प्रति 'त्याग एव सन्न्यासः; स च त्रिविधः सात्त्विकादिभेदेन; तत्र कर्मफलत्यागः सात्त्विकः, कायक्लेशभयात्कर्मत्यागो राजसः, मोहात्कर्मत्यागस्तु तामसः, इति तत्त्रैगुण्यं तत्प्रसङ्गागतमन्यदपि क्रियाकारकफलत्रैगुण्यं निरूपितम्। इदानीं कर्मफलत्यागः सन्न्यास इत्यत्र कस्य किं कर्म कीदृशो वा फलत्यागे सति कर्मानुष्ठानप्रकारः? इत्याकाङ्क्षायाम्, ब्राह्मणादेः स्वस्ववर्णविहितमेव कर्म तस्य च प्रतिपदोक्तफलत्यागेन केवलपरमेश्वरार्पणबुद्ध्याऽनुष्ठानमिति प्रतिपादयन्प्रथमं चातुर्वर्ण्यस्य कर्मविभागं प्रतिजानीते— ब्राह्मणेति।

हे परन्तप शत्रुतापन! ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां वैश्यानां शूद्राणां च कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण परस्परं विभागेन व्यवस्थितानि। कैः? स्वभावप्रभवैर्गुणैः, स्वभावः पूर्वजन्मसंस्कारः, स एव प्रभवः कारणं येषां तैः सात्त्विकादिगुणैः। तथा हि— सत्त्वप्रधाना ब्राह्मणाः, सत्त्वोपसर्जनरजःप्रधानाः क्षत्रियाः, तमउपसर्जनरजःप्रधाना वैश्याः, रजउपसर्जनतमःप्रधानाः शूद्रा इति। यद्यपि ब्राह्मणादीनां कर्माणि शास्त्रेणैव प्रविभक्तानि, तथापि शास्त्रस्यापि पुरुषस्वभावगुणसापेक्षत्वाद्गुणैः प्रविभक्तानीत्युच्यन्ते॥ ४१॥

९ व० त० दी०— एवं च "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" [महाना. ८।१४+कैव. २] इति मोक्षसाधनतया निर्दिष्टः त्यागः सन्न्यासशब्दार्थः, न तदन्यः; स च कर्तृत्वकामफलानां न्यासरूपः स्वस्मिन् तत्कर्तृत्वत्यागश्च परपुरुषान्तर्यामिकर्तृकत्वाद्यनुसन्धानेनेति सर्वं सगुणनिरूपणे सत्त्वगुणवृद्धिकार्यमिति तथोक्तम्; इदानीमेवम्भूतकर्माधिकारिणां ब्राह्मणादीनां स्वभावानुसारिसत्त्वादिगुणभेदभिन्नवृत्त्या सह कर्त्तव्यकर्मस्वरूपं निरूपयति ब्राह्मणक्षत्रियविशामिति। स्वभावः सहजः संस्कारात्मकस्तत्प्रभवैर्गुणैर्विभिद्यंते, तत्र स्वभावप्रभवैर्गुणैः सात्त्विका ब्राह्मणाः सृष्टाः, सात्त्विकराजसाः क्षत्रियाः, तामसराजसा वैश्याः, तामसाः शूद्राः; एषामपि व्यत्यये निजपूर्वकृतिरेव हेतुरिति हे परन्तप! पुरा तथा प्रविभक्तानि कर्माणि॥ ४१॥

१० पु. अ. त.— नन्वेवं चेत्सर्वं त्रिगुणात्मकमेव तदा गुणात्मकस्य जीवस्य त्रिगुणात्मकबन्धकक्रियादिकरणात् कथं मोक्षः? इत्याशङ्क्य शास्त्रद्वारा जीवोद्धारं कर्तुं शास्त्रस्वरूपज्ञानार्थं प्रसङ्गादर्जुनाय गीतामाहात्म्यतः पूर्वोक्तमुपसंहरन् मोक्षप्रकरणमारभते— ब्राह्मणेत्यादि यावदध्यायसमाप्ति। हे परन्तप! परमुत्कृष्टं तपो यस्येत्यनेन श्रवणयोग्यतोक्ता। ब्राह्मणक्षत्रियविशां त्रैवर्णिकानां च पुनः शूद्राणां— वेदानधिकृतत्वाच्छूद्राणां भिन्नतया कथनम्— स्वभावः स्वस्य मम यो भावः सात्त्विकादिभेदेन विचित्रदर्शनेच्छा तेन प्रभव उत्पत्तिर्येषां तैरेतादृशैर्गुणैः कर्माणि प्रविभक्तानि प्रकर्षेण विभागतः सात्त्विकादेर्विहितानीत्यर्थः॥ ४१॥

११ नी० भा० दी०— एवं पञ्चदशे [३,४] 'संसाराश्वत्थमसङ्गशस्त्रेण छित्त्वा परं पदं मार्गितव्यं' इत्युक्तं, तत्रात्मनोऽसङ्गत्वोपपादनाय क्रियाकारकफललक्षणस्य कृत्स्नस्य संसारस्य त्रिगुणात्मकत्वमुक्तम् , न ह्यात्मानात्मनोर्गुणातीतगुणात्मकयोः सङ्गः सम्भवति, न ह्याकाशान्तर्वर्त्तिपृथिव्यादिगुणेन गन्धादिनाऽऽकाशः संसृज्यते तद्वदित्युक्तं, समाप्तः शास्त्रार्थः । अथेदानीं सर्वगीताशास्त्रार्थमुपसंहर्तुमसङ्गशस्त्राद्युपायं च प्रदर्शयितुं प्रकरणान्तरमारभते— ब्राह्मणेत्यादिना ।

शूद्राणामसमासकरणं वेदानधिकारात् ; प्रविभक्तान्यसङ्कीर्णानि । तत्र हेतुमाह– स्वभावप्रभवैर्गुणैः स्वभाव ईश्वरस्य प्रकृतिस्त्रिगुणात्मिका सैव प्रभवो हेतुर्येषां गुणानां ते स्वभावप्रभवास्तैः । यद्वा ब्राह्मणस्वभावस्य सत्त्वगुण एव प्रभवः, शान्तत्वात् । क्षत्रियस्वभावस्य सत्त्वोपसर्जनं रजः, ईश्वरस्वभावत्वात् । वैश्यस्वभावस्य तमउपसर्जनं रजः, कृष्यादिस्वभावत्वात् । शूद्रस्वभावस्य रजउपसर्जनं तमः, शुश्रूषास्वभावत्वात् । अथवा स्वभावः प्राग्भवीयः संस्कारस्तत्प्रभवैः, न तु जातिमात्रप्रभवैः; पक्षिणामाकाशगमनवत् । अत एव जात्यन्तरव्यावृत्तानां धर्माणां शमादिषु पाठो न दृश्यते । नहि शूद्राद्व्यावृत्तं त्रैवर्णिकानामध्ययनादिकं वा इतरद्वयाद्व्यावृत्तं ब्राह्मणानामध्यापनादिकं वेह पठ्यते किन्तु सर्वे सर्वजातीयानां साधारणधर्माः शमादयो दृश्यन्ते ।

यथा हि द्रोणादिषु ब्राह्मणेष्वपि शौर्यादिकं भरतादिषु क्षत्रियेष्वपि शमादिकं दृष्टं, एवमितरत्र । तस्माद्यस्मिन्कस्मिंश्चिद्वर्णे शमादयो दृश्यन्ते स शूद्रोऽप्येतैर्लक्षणैर्ब्राह्मण एव ज्ञातव्यः । यत्र च ब्राह्मणेऽपि शूद्रधर्मा दृश्यन्ते, स शूद्र एव । तथा चारण्यके सर्पभूतं नहुषं प्रति युधिष्ठिरवाक्यं– 'सत्यं दानं क्षमा शीलमानृशंस्यं तपो घृणा । दृश्यन्ते यत्र नागेन्द्र ! स ब्राह्मण इति स्मृतः ' [ म. भा. ३।१८०।२१ ] तथा 'यत्रैतल्लक्ष्यते सर्प ! वृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः । यत्रैतन्न भवेत्सर्प ! तं शूद्रमिति निर्दिशेत् ' [ म. भा. ३।१८०।२६ ] इति । जातिधर्मास्तु मनुना दर्शिताः [ १।८८-९१ ]—' अध्यापनं चाध्ययनं यजनं याजनं तथा । दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । विषयेष्वप्रसक्तिं च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च । वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् । एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥ ' इति । तस्मात् शमादयो यत्राब्राह्मणे ब्राह्मणे वा दृश्यन्ते स एव ब्राह्मण इत्यत्र विवक्षितम् । 'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ' [ १८।४५ ] इत्यत्र तु मनूक्तान्यध्यापनादीन्येव स्वकर्माणि ग्राह्याणि, न तु शमदमादीनि । नहि ज्ञानविज्ञानवतोऽन्या संसिद्धिर्लब्धव्याऽस्ति । तस्माच्छमदमादयो ब्रह्मिष्ठस्यैव ब्राह्मणस्य लक्षणमिति दिक् ॥ ४१ ॥

**शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।**
**ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ ४२ ॥**

**१ शां. भा.**— कानि पुनस्तानि कर्माणि ? इत्युच्यते– **शम** इति । शमो दमश्च यथाव्याख्यातार्थौ [१०।४], तपो यथोक्तं शारीरादि, शौचं व्याख्यातं [१३।७+१६।१ ], क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमृजुतैव च, ज्ञानं, विज्ञानं, आस्तिक्यमास्तिकभावः श्रद्धधानताऽऽगमार्थेषु, ब्रह्मकर्म ब्राह्मणजातेः कर्म स्वभावजम् । तदुक्तं–'स्वभावप्रभवैर्गुणैः प्रविभक्तानि' [१८।४] इति तदेवोक्तं स्वभावजमिति ॥ ४२ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रविभक्तानि कर्माण्येव प्रश्नद्वारा विविच्य दर्शयति— **कानीत्यादिना** । अन्तःकरणोपशमः शमो दमो बाह्यकरणोपरतिरित्युक्तं स्मारयति— **यथेति** । त्रिविधं तपः सप्तदशे [ १७।१४।१९ ] दर्शितमित्याह— **तप इति** । शौचमपि बाह्यान्तरभेदेन प्रागेवोक्तं [१३।७] इत्याह– **शौचमिति** । क्षमा नामाऽऽक्रुष्टस्य ताडितस्य वा मनसि विकाररहित्यं, ज्ञानं शास्त्रीयपदार्थज्ञानं, विज्ञानं शास्त्रार्थस्य स्वानुभवायत्तत्वापादनम् । त्रिधा व्याख्यातं स्वभावशब्दार्थमुपेत्याऽऽह— **यदुक्तमिति** ॥ ४२ ॥

**३ रा. भा.**— शमः बाह्येन्द्रियनियमनं, दमः अन्तःकरणनियमनं, तपः भोगनियमनरूपः शास्त्रसिद्धः कायक्लेशः, शौचं शास्त्रीयकर्मयोग्यता, क्षान्तिः परैः पीड्यमानस्याप्यविकृतचित्तता, आर्जवं परेषु

मनोनुरूपं बाह्यचेष्टाप्रकाशनं, ज्ञानं परावरतत्त्वयाथात्म्यज्ञानं, विज्ञानं परतत्त्वगतासाधारणविशेषविषयं ज्ञानम्, आस्तिक्यं वैदिकार्थस्य कृत्स्नस्य सत्यतानिश्चयः प्रकृष्टः, केनापि हेतुना चालयितुमशक्य इत्यर्थः।

४ वे. ता. चं.— 'शमो दमः' इत्यादौ पूर्वं व्याख्यातानामपि गुणानां पुनर्व्याख्यानं वर्णानुबन्धेन विधानेऽवान्तरविशेषशङ्कापाकरणार्थं 'ब्राह्मं कर्म' इत्युक्तकर्मत्वसिद्धये, नियमनादिरूपेण पुरुषव्यापारसाध्यत्वज्ञापनार्थं च। अतः शौचादावपि तदापादनं ग्राह्यम्। अस्ति मतिरस्येत्यास्तिकः; तद्भाव आस्तिक्यं; तच्चाप्रामाणिकेषु भवद्दोषाय; प्रत्यक्षादिसिद्धे तु नासावतिशयः; शास्त्रीयेष्वपि क्वाचित्कसंशयादौ कुदृष्टित्वप्रसङ्गः; अतो **वैदिकार्थस्य कृत्स्नस्येत्युक्तम्**। सहपठितविज्ञानादेर्भेदज्ञापनाय सत्यतानिश्चयस्य प्रकृष्टत्वोक्तिः। तद्विवृणोति— **केनापी**ति।

**३ रा. भा.— भगवान् पुरुषोत्तमो वासुदेवः परब्रह्मशब्दाभिधेयो निरस्तनिखिलदोषगन्धः स्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानशक्त्याद्यसङ्ख्येयकल्याणगुणगणो निखिलवेदवेदान्तवेद्यः, स एव निखिलजगदेककारणं निखिलजगदाधारभूतः, निखिलस्य स एव प्रवर्तयिता; तदाराधनभूतं च वैदिकं कृत्स्नं कर्म, तैस्तैराराधितो धर्मार्थकाममोक्षाख्यं फलं प्रयच्छतीत्यस्यार्थस्य सत्यतानिश्चय आस्तिक्यं, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' [ १५।१५ ] 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] 'मयि सर्वमिदं प्रोतम्' [ ७।७ ] 'भोक्तारं यज्ञतपसां....ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति' [ ५।२९ ] 'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय!' [७।७] 'यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्। स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः' [ १८।४६ ] 'यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम्' [ १०।३ ] इति ह्युच्यते, तदेतद्ब्राह्मणस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४२ ॥**

४ वे. ता. चं.— वैदिकस्य कृत्स्नस्येत्युक्त कुदृष्ट्याद्यभिमतवैदिकार्थसङ्ग्रहव्युदासाय प्राधान्येन सङ्कलय्य व्यनक्ति— **भगवानि**त्यादिना। अत्र विशेषणानां प्रागेव व्याख्यातत्वादिह सर्ववेदसारतयोद्धृतस्यार्थस्य तदुपबृंहणेऽस्मिञ्छास्त्रे तथात्वेनैव प्रस्पष्टतामाह— **वेदैश्चे**ति। निखिलवेदवेदान्तवेद्य इत्युक्तार्थक्रमानुसारेण विप्रकीर्णवाक्योद्धारक्रमः। श्लोकार्थं निगमयति— **तदेतदि**ति। ब्रह्मणः कर्म ब्राह्मम्; ब्रह्मशब्दोऽत्र ब्राह्मणजातिपर इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **ब्राह्मणस्ये**ति ॥ ४२ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ४२ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४२ ॥

**७ ह. पै. भा.— शम इति। तपः स्वधर्मवृत्तिः। शौचं शुचेर्भावः। क्षान्तिः क्षमा। आर्जवमृजोर्भावः। ज्ञानमात्मप्रबोधः। विज्ञानममत्वादि ( ? ) आस्तिक्यमागमादिपदार्थेष्वस्तित्वबुद्धिः। ब्रह्मकर्म ब्राह्मणस्येदं स्वभावजं प्रकृतिभवम् ॥ ४२ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकगुणकृतानि कर्माण्याह— **शम** इति। शमोऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः, दमस्तु बहिरिन्द्रियनिग्रहः, तपः शारीरादिकं पूर्वाध्यायोक्तम्, शौचं बाह्याभ्यन्तरम्, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवं परेषु मनोनुरूपं बाह्यवाक्चेष्टाप्रदर्शनम्, ज्ञानं शास्त्रीयम्, विज्ञानमनुभवः, आस्तिक्यमागमार्थेषु सत्यत्वनिश्चयः; एतच्छमादिकं स्वभावजं स्वभावगुणजन्यं ब्राह्मं ब्रह्मजातेरिदं कर्म। यद्यपि चातुर्वर्ण्यस्यापि सात्त्विकावस्थायां शमादीनि भवन्ति, तथापि बाहुल्येन ब्राह्मणे भवन्ति, अस्य सत्त्वस्वभावत्वात्। वर्णान्तरे तु सत्त्वोद्रेकवशेन कदाचिद्भवन्तीति। तदभिप्रायेण स्मृतिपुराणादिषु शमादीनां सर्ववर्णसाधारणधर्मत्वोक्तिः ॥ ४२ ॥

९ व० त० दी०— तत्र ब्राह्मणस्य स्वाभाविकवृत्ति कर्माऽऽह— शम इत्यादि। ज्ञानं श्रौतम्। विज्ञा परमात्मज्ञानम् ॥ ४२ ॥

**१० पु. अ. त.**— तत्र प्रथमं ब्राह्मणस्य स्वाभाविकानि कर्माण्याह— **शम** इति। शमः शान्तिः मत्परैकचित्तत्वं, दम इन्द्रियोपसंयमः, तपः शरीरक्लेशः, शौचं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्विविधं, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवं सरलता। एवकारेण कुटिलेष्वपि चेत्यर्थः। ज्ञानं शास्त्रीयं, विज्ञानं अनुभवः, आस्ति प्रमाणोक्तफलोत्कर्षे अस्तीति निश्चयबुद्धिः, एवमेतत ब्राह्मणस्य स्वभावजं स्वभावाज्जातं कर्म ॥ ४२ ॥

११ नी० भा० दी०— ब्राह्मणकर्माण्याह— शम इति । अन्तःकरणनिग्रहः शमः, बाह्येन्द्रियनिग्रहो दमः, तपः पूर्वोक्तं [ १७।१४-१६ ] शारीरादिभेदेन त्रिविधम् , शौचं बाह्यं मृज्जलाभ्यामाभ्यन्तरं भावशुद्धिः, क्षान्तिः क्षमा, आर्जवमकौटिल्यम् , ज्ञानं शास्त्रीयं कर्म ब्रह्मविषयम् , विज्ञानं तदनुष्ठानानुभवात्मकम् , आस्तिक्यं श्रद्धा, एतन्नवकं ब्रह्मकर्म ब्राह्मणत्वजात्यभिव्यञ्जकं कर्म स्वभावजं प्राचीनधर्मसंस्कारजम् ॥ ४२ ॥

**शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।**
**दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥**

**१ शां. भा.— शौर्यमिति** । शौर्यं शूरस्य भावः, तेजः प्रागल्भ्यम् , धृतिर्धारणं सर्वावस्थास्वनवसादो भवति यया धृत्योत्तम्भितस्य, दाक्ष्यं दक्षस्य भावः सहसा प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन प्रवृत्तिः, युद्धे चाप्यपलायनमपराङ्मुखीभावः शत्रुभ्यः, दानं देयद्रव्येषु मुक्तहस्तता, ईश्वरभावश्चेश्वरस्य भावः प्रभुशक्तिप्रकटीकरणमीशितव्यान्प्रति, क्षत्रकर्म क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म क्षत्रकर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— शूरस्य भावो विक्रमो बलवत्तरानपि प्रहर्तुं प्रवृत्तिः । प्रागल्भ्यं परैरधर्षणीयत्वम् । महत्यामपि विपदि देहेन्द्रियोत्तम्भनी चित्तवृत्तिर्धृतिरिति व्याचष्टे— **सर्वावस्थास्विति** । दक्षस्य भावमेव विभजते— **सहसेति** । स्वभावस्तु [ ५।१४+१८।४१ ] पूर्ववत् ॥ ४३ ॥

**३ रा. भा.—** शौर्यं युद्धे निर्भयप्रवेशसामर्थ्यं, तेजः परैरनभिभवनीयता, धृतिः आरब्धे कर्मणि विघ्नोपनिपातेऽपि तत्समापनसामर्थ्यं, दाक्ष्यं सर्वक्रियानिर्वृत्तिसामर्थ्यम् , युद्धे चाप्यपलायनं युद्धे चात्ममरणनिश्चयेऽप्यनिवर्तनम् , दानं आत्मीयस्य धनस्य परस्वत्वापादनपर्यन्तस्त्यागः, ईश्वरभावः स्वव्यतिरिक्तसकलजननियमनसामर्थ्यम् , एतत् क्षत्रियस्य स्वभावजं कर्म ॥ ४३ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'शूरं भीरुं कविं जडम्' इति भीरुप्रतियोगिनि शूरशब्द इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **निर्भयप्रवेशसामर्थ्यमिति** । मानसशारीरसंवलनमिदम् । प्रविष्टस्य परैः परिभवे प्रवेशोऽपि दोषः स्यात् , अतस्तत्परिहाराय तेज इहोक्तमित्याह **परैरनभिभवनीयतेति** । दाक्ष्याद्धृतेर्विशेषो **विघ्नोपनिपातेऽपीति** दर्शितः । प्रवृत्तिसामर्थ्यात्प्रवृत्तापरित्यागो ह्यन्य एव । 'युद्धे चापि' इत्यत्रापिशब्दद्योतितं तीव्रपलायननिमित्तमाह **आत्ममरणनिश्चयेऽपीति** । अत्रेश्वरभावशब्देन दुष्टनिग्रहशिष्टानुग्रहशक्तिर्विवक्षितेत्यभिप्रायेणाऽऽह— **स्वव्यतिरिक्तेति** । **सकलजनेति** स्वराष्ट्राद्यवच्छिन्नविषयम् ॥ ४३ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ४३ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ४३ ॥

**७ ह. पै. भा.— शौर्यमिति** । शौर्यं मरणनिर्भयत्वम् । तेजः प्रतापः । धृतिर्धैर्यम् । दाक्ष्यं निपुणता । अपलायनं शत्रूणामभिमुखावस्थानम् । दानं हिरण्यादेः पात्रे समर्पणम् । क्षत्रियस्येदं क्षात्रं, स्वभावजं प्रकृतिभवम् ॥ ४३ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— क्षत्रियस्य स्वभावगुणकर्माण्याह— **शौर्यमिति** । शौर्यं युद्धे निर्भयप्रवृत्तिः, तेजः परैरनभिभवनीयता, धृतिर्महत्यामपि विपद्यनवसादः, दाक्ष्यं प्रत्युत्पन्नेषु कार्येष्वव्यामोहेन तत्तत्कार्यनिर्वर्तनम् , युद्धे चापलायनमात्ममरणनिश्चयेऽप्यनिवर्तनम् , दानं देयेषु मुक्तहस्तत्वम् , ईश्वरभावो लोकनियमनशक्तिश्च, क्षात्रं क्षत्रियजातेर्विहितं कर्म सत्त्वोपसर्जनरजोरूपस्वभावगुणजम् ॥ ४३ ॥

९ ब० त० दी०— क्षत्रियस्य तदाह— शौर्यमिति । धृतिर्धैर्यमक्लैब्यमिति यावत् । युद्धे दाक्ष्यम् । ईश्वरभाव ऐश्वर्यम् ॥ ४३ ॥

**१० पु. अ. त.**— क्षत्रियस्याऽऽह— **शौर्यमिति** । शौर्यं पराक्रमः, तेजः प्रगल्भता, धृतिर्धैर्यं, दाक्ष्यं सर्वकर्मकौशलं, युद्धे चापि अपलायनं अपराङ्मुखता । अपिशब्देन सर्वत्राऽपलायनत्वं, चकारेण द्यूतादपीति । दानं दानशीलता, च पुनः ईश्वरभावः नियमनैकस्वभावत्वम् , एतत् क्षात्रं कर्म क्षत्रियस्य स्वभावजं स्वस्वभावाजातं कर्म ॥ ४३ ॥

११ नी० भा० दी०— शौर्यं पराक्रमः । तेजः प्रागल्भ्यम् । धृतिर्धैर्यम् । दाक्ष्यम् , युद्धे कौशलमुत्साहो वा । दानमौदार्यम् , ईश्वरभावः उन्मार्गवर्तिनां नियमनशक्तिः, एतत्क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥ ४३ ॥

**कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।**
**परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥**

**१ शां. भा.—** कृषीति । कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं कृषिश्च गौरक्ष्यं च वाणिज्यं च कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यम् । कृषिर्भूमेर्विलेखनं, गौरक्ष्यं गा रक्षतीति गोरक्षस्तद्भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यमित्यर्थः, वाणिज्यं वणिक्कर्म क्रयविक्रयादिलक्षणं, वैश्यकर्म वैश्यजातेः कर्म वैश्यकर्म स्वभावजम् । परिचर्यात्मकं शुश्रूषास्वभावं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

२ आ. शां. व्या.— ॥ ४४ ॥

**३ रा. भा.—** कृषिः सस्योत्पादनं कर्षणं, गोरक्ष्यं पशुपालनमित्यर्थः, वाणिज्यं धनसञ्चयहेतुभूतं क्रयविक्रयात्मकं कर्म, एतद्वैश्यस्य स्वभावजं कर्म । पूर्ववर्णत्रयपरिचर्यारूपं शूद्रस्य स्वभावजं कर्म, तदेतच्चतुर्णां वर्णानां वृत्तिभिः सह कर्तव्यानां शास्त्रविहितानां यज्ञादिकर्मणां प्रदर्शनार्थमुक्तम् । यज्ञादयो हि त्रयाणां वर्णानां साधारणाः, शमदमादयोऽपि त्रयाणां वर्णानां मुमुक्षूणां साधारणाः, ब्राह्मणस्य तु सत्त्वोद्रेकस्य स्वाभाविकत्वेन शमदमादयः सुखोपादाना इति कृत्वा तस्य शमदमादयः स्वभावजं कर्मेत्युक्तम् । क्षत्रियवैश्ययोस्तु स्वतो रजस्तमःप्रधानत्वेन शमदमादयो दुःखोपादाना इति कृत्वा न तत्कर्मेत्युक्तम् , ब्राह्मणस्य तु वृत्तिर्याजनाध्यापनप्रतिग्रहाः, क्षत्रियस्य जनपदपरिपालनम् , वैश्यस्य च कृष्यादयो यथोक्ताः, शूद्रस्य तु कर्तव्यं वृत्तिश्च पूर्ववर्णत्रयपरिचर्यैव ॥ ४४ ॥

**४ वे. ता. चं.—** रूढिं व्युत्पत्तिं चानुसृत्य फलतः स्वरूपतश्च कृषिं दर्शयति— **सस्योत्पादनं कर्षणमिति** । एवं वाणिज्यव्याख्यानेऽपि ग्राह्यम् । गौः रक्ष्या यत्र, तत्कर्म गोरक्ष्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह **पशुपालनमिति** । रक्ष्यमिति भावार्थं वा, रक्षणमित्यर्थः । गौरक्ष्यमिति वा पाठः । गा रक्षतीति गोरक्षः, तस्य कर्म गौरक्ष्यं पशुपालनं; वणिजः कर्म वाणिज्यमितिवत् । एवं विशः कर्म वैश्यं; ' गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ' [ अष्टा. ५।१।१२४ ] इति ष्यञ्प्रत्ययः ।

शास्त्रान्तरानुसारेण परिचर्यायाः प्रकृतत्रितयानुबन्धित्वमाह— **पूर्ववर्णत्रयेति** । ननु षट्कर्मा ब्राह्मणः, त्रिकर्माणौ क्षत्रियवैश्यौ, शूद्रस्यापि ' भार्यारतिः शुचिर्भृत्यभर्ता श्राद्धक्रियान्वितः ( क्रियारतः— क्रियापरः ) । नमस्कारेण मन्त्रेण पञ्चयज्ञान्न हापयेत् ' [ या. स्मृ. ११५।१२१ ] इत्यादयो धर्मा विधीयन्ते; तत्कथमिह तत्कर्मणामियत्तानिर्देशः ? इत्यत्राऽऽह— **तदेतदिति** । प्रदर्शनीयानुदाहरति **यज्ञादयो हीति** । प्रदर्शनार्थत्वे हेत्वन्तरमाह **शमदमादयोऽपीति** । शमादीनां मोक्षार्थिवर्णत्रयसाधारण्येन कथं ब्राह्मणस्यैव तदुक्तमित्यत्राऽऽह **ब्राह्मणस्य त्विति** । ' स्वभावप्रभवैः ' [ १८।४१ ] इति पूर्वोक्तानुविधानात्सहजत्वविवक्षयात्र स्वभावजशब्द इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **सत्त्वोद्रेकस्य स्वाभाविकत्वेन शमदमादयः सुखोपादाना** इति । वर्णान्तरगुणसम्भेदं निर्वहति— **क्षत्रियवैश्ययोरिति** । **न तत्कर्मेत्युक्तमिति** तत्कर्मेति नोक्तमित्यन्वयः । उक्तानां वृत्तीनां प्रदर्शनार्थत्वाय चतुर्णां वृत्त्यंशं विविच्य विविनक्ति **ब्राह्मणस्य तु वृत्तिरित्यादिना** । शूद्रधर्मो वृत्तिश्च याज्ञवल्क्येन स्मर्यते— ' शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तयाऽजीवन्वणिग्भवेत् । शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेद्द्विजातिहितमाचरन् ' [ ११५।१२० ] इति; मनुस्तत्र विशेषमाह— ' विप्रसेवैव शूद्रस्य विशिष्टं कर्म कीर्त्यते ' [ १०।१२३ ] इति; तदिदमभिप्रेत्याऽऽह— **शूद्रस्य तु कर्तव्यं वृत्तिश्च पूर्ववर्णत्रयपरिचर्यैवेति** ।

नन्विदमयुक्तं ' भार्यारतिः ' इत्यादेरुक्तत्वात् ; ' मां हि पार्थ ! व्यपाश्रित्य ' इत्यारभ्य ' स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ' [ ९।३२ ] इति च स्वयमेवाऽऽह; ' वसन्ते दीक्षयेद्विप्रम् ' इत्यारभ्य ' हेमन्ते शूद्रमेव च । स्त्रियं च वर्षाकाले तु पञ्चरात्रविधानतः ' इति भगवत्समाराधनार्थे दीक्षा च विहिता; तथा ' ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैः शूद्रैश्च कृतलक्षणैः । अर्चनीयश्च सेव्यश्च नित्ययुक्तैः स्वकर्मसु ॥ सात्वतं विधिमास्थाय गीतः सङ्कर्षणेन यः ' [ म. भा. ६६।३९;४० इति दीक्षितशूद्रादेर्भगवदर्चनादिकं स्पष्टमुक्तम् । तथा युगधर्मा प्रक्रम्योच्यते— ' कृतं नाम युगं पूर्वं यत्र धर्मः सनातनः कृतमेव न कर्तव्यं यस्मिन् काले नरोत्तम ! । ब्राह्मणाः क्षत्रि वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः । कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिर

सदा ॥ एकवेदसमायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः । पृथग्धर्मास्त्वेकवेद्या धर्ममेकमनुव्रताः ॥ चातुराश्रम्ययुक्तेन कर्मणा कालयोगिना । अकामफलसंयोगात् प्राप्नुवन्ति परां गतिम् ' ॥ [ वि. ध. १०८।१९ ] इति ।

श्रीसात्त्वते च—' अष्टाङ्गयोगयुक्तानां ह्ययागनिरतात्मनाम् । योगिनामधिकारः स्यादेकस्मिन् हृदयेशये ॥ व्यामिश्रयागयुक्तानां विप्राणां वेदवादिनाम् । समन्त्रे तु चतुर्व्यूहे ह्यधिकारो न चान्यथा ॥ त्रयाणां क्षत्रियादीनां प्रपन्नानां च तत्त्वतः । अमन्त्रमधिकारस्तु चतुर्व्यूहक्रियाक्रमे ॥ सक्रिये मन्त्रचक्रे तु वैभवीये विवेकिनाम् । ममतासन्निरस्तानां स्वकर्मनिरतात्मनाम् ॥ कर्मवाङ्मनसैः सम्यग्भक्तानां परमेश्वरे । चतुर्णामधिकारो वै वृत्ते दीक्षाक्रमे सति ' [ ७।८।९।१०।११ ] इत्यधिकारविशेषनियमः कृतः । सप्तमे च व्रतविधानपरिच्छेदे ' दानार्चने तु शूद्राणां व्रतकर्मणि सर्वदा । असिद्धावं तु विहितं सिद्धं वा ब्राह्मणेच्छया ॥ स्वकर्मणा यथोत्कर्षमभ्येति च तथार्चनात् । तस्मात्स्वेनाधिकारेण कुर्यादाराधनं सदा ॥ सर्वत्राधिकृतो विप्रो वासुदेवादिपूजने । यथा तथा न क्षत्राद्यास्तस्माच्छास्त्रार्थमाचरेत् ॥ नयेन्नक्ताशनैर्भक्त्या दिनान्येतानि मौद्गल ! । व्रताद्यन्ते तु विहितं परिपीडं हि तस्य वा ' ॥ [ ७।५३।५४।५५।५६ ] इति व्रतविशेषक्रमो दर्शितः । मौद्गलेति भगवच्छास्त्रे शूद्रनाम । परिपीडमुपवासः । तथा मन्त्रेषु चैवं नियमोऽन्यत्र कृतः । ' वौषट्स्वाहावषट्कारनिष्ठानां तु प्रतिक्रिया । नमस्कारेण विहिता ' इति । तथा नारदीये श्रीमदष्टाक्षरकल्पे—' न स्वरः प्रणवोऽङ्गानि नाप्यन्यविधयस्तथा । स्त्रीणां तु शूद्रजातीनां मन्त्रमात्रोक्तिरिष्यते ' [ ना. अ. क. १।१२० ] इति ।

एवमेकादशीव्रतादयोऽपि सर्वसाधारणाः पुराणादिषु पठ्यन्ते । तथान्येऽपि वर्ज्यावर्ज्यनियमाः कतिकति धर्मशास्त्रादिषु कथ्यन्ते । यथा– ' कपिलाक्षीरपानेन ब्राह्मणीगमनेन च । शूद्रे वेदाक्षरेणैव निष्कृतिर्न विधीयते ( वेदाक्षरविचारेण शूद्रस्य नरकं ध्रुवम् ) ' ॥ [ पा. स्मृ. १।७४ ] ' हृत्कण्ठतालुगाभिस्तु यथासङ्ख्यं द्विजातयः । शुध्येरन् स्त्री च शूद्रश्च सकृत्स्पृष्टाभिरन्ततः ' ' तेषां स एवाचमनकल्प अधिक अहरहः (?) । केशश्मश्रुलोमनखवापनम् ' इत्यादि । तस्मात् ' जपस्तपस्तीर्थयात्रा प्रव्रज्या मन्त्रसाधनम् । देवताराधनं चैव स्त्रीशूद्रपतनानि षट् ' इत्यादिकं विहितव्यतिरिक्तवर्णत्रयशुश्रूषाविरुद्धविषयमिति योज्यम् । अपि च— ' न शूद्रा भगवद्भक्ता विप्रा भागवताः स्मृताः ' [ वि. सं. २४।१० ] इत्यादिवचनाज्जयाख्यसंहितादिषु भागवतानां चतुर्णां समत्ववचनाच्च भगवत्परिचर्यावशाद्वर्णत्रयपरिचर्यानिवृत्तिरपि सम्भवेत् । अतः कथं ' शूद्रस्य तु कर्तव्यं वृत्तिश्च पूर्ववर्णत्रयपरिचर्यैव ' इति भाषितम् । अत्र ब्रूमः— यद्यपि विहितव्यतिरिक्तविषयाः सर्वनिषेधाः विशिष्टसंस्कारगुणविशेषादिमतां च शूद्राणामपि धर्मविशेषा विहिताः, तथापि ते सर्वे वर्णत्रयपरिचर्याख्यप्रधानधर्माविरोधेन तन्नियुक्तैः शूद्रैः तत्परिचर्याभावनयैवानुष्ठेयाः । अत एव ह्यत्रोच्यते 'परिचर्यात्मकं कर्म ' इति । अन्यथा परिचर्येत्येव वक्तव्यम् ; नच निष्प्रयोजनाधिकग्रहणं युक्तम् ।

आमनन्ति च **रहस्याम्नायविदः**—' ज्ञानज्ञापनसम्प्रेषणकर्मा ब्राह्मणः, ज्ञानपरित्राणकर्मा क्षत्रियः, ज्ञानबीजवर्धनकर्मा वैश्यः, ज्ञानपर्युत्थानकर्मा शूद्रः, कृतयुगस्यान्ते त्रेतायुगस्यादौ ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा भिद्यन्ते, तेषां भिन्नानां दृष्टिः न तथा भवति, पथ्या रसना न तथा भवन्ति; पुष्पफलमोषधिवनस्पतयो न तथा दधते; तां दृष्ट्वा ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राणामसूया प्रादुर्बभूव— शूद्रः प्रथमजातिर्न वः पर्युत्थास्यामीति, वैश्यो द्वितीयजातिर्न वो बीजानि वर्धयिष्यामीति, क्षत्रियस्तृतीयजातिर्न वः परित्रास्य इति । तान् ब्राह्मण इत्याह । आस्थिता यूयं न वो वक्ष्यामि' इति । अत्र पर्युत्थानं परिचर्या । एवं शूद्रः साधुः इत्यादिप्रकरणान्तराणि च द्रष्टव्यानि । एतेन ' न शूद्रा भगवद्भक्ताः ' इत्यादिस्तुतिवाक्येन वर्णत्रयपरिचर्यादिनिवृत्तिप्रसङ्गोऽपि प्रत्युक्तः, भगवदेकान्तशूद्रस्यैव पर्युत्थानविधेः । भगवद्भक्तिस्तुतिपरत्वादेव हि ' सर्ववर्णेषु ते शूद्रा ये ह्यभक्ता जनार्दने ' [ वि. सं. २४।१० ] इति व्यतिरेकनिन्दा । किं तर्ह्यत्र स्तुतिनिन्दालम्बनम् ? आन्तरः सत्त्वादिगुणोन्मेषः । यदपेक्षया ब्राह्मणादेरेव ब्रह्मण्यादिकं श्रुत्यादिषु कीर्त्यते— " मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः " [ बृ. उ. ३।५।१ ] इति । ' विष्णुं क्रान्तं ( विष्णुक्रान्तं ) वासुदेवं विजानन्विप्रो विप्रत्वं गच्छते तत्त्वदर्शी' [शा. उ.+४ म. भा. १३।१६।२ ] ' चण्डालमपि वृत्तस्थं तं देवा ब्राह्मणं विदुः ' इत्यादि ।

यत्तु शारीरसत्त्वादिगुणतारतम्यनिबन्धनं जातिरूपं ब्राह्मण्यादिकं, तस्यान्तरसत्त्वोन्मेषादावप्यनुवृत्तेराशरीरपातं जातिनियमः स्थित एव । तदनुबन्धिनश्च धर्मास्तत एवावतिष्ठन्ते । अत एव हि विदितब्रह्मविद्योऽपि विदुरः स्वस्य तद्वचनेऽनधिकारमाह— ' शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे ' [म.भा.५।४१।५] इति । शमादिगुणपौष्कल्ययोगिनि तु शूद्रादौ स्त्रीधर्मिण्यां जनन्यामिवावज्ञानादिनिवृत्तिमात्रविशेषापेक्षया जातिसामान्यवीक्षणप्रतिषेध इति । यथा स्मरन्ति—' एतैः समेतः शूद्रोऽपि वार्धके मानमर्हति ' इति । अत एव ' भक्तिरष्टविधा ह्येषा यस्मिन् म्लेच्छेऽपि वर्तते । तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यहम् ' [ गा. रु. पू. ख. २१९।७८ ] इत्यादिकमनुपल्लवपर्यन्ततयाऽपि निर्व्यूढम् । साम्योक्तिरपि सर्वोत्कर्षफलादिसाम्यविषया; अपशूद्रनयाद्यविरोधश्च । उक्तं चाचार्यैर्भागवतत्वेन शूद्रस्योत्कर्षे ब्राह्मणस्यापि तेनैवोत्कर्ष इति पुनर्वैषम्यमिति सर्वं समञ्जसम् । अतः सुष्ठूक्तं—' शूद्रस्य वृत्तिकर्तव्ययोरैक्यम् ' इति ॥ ४४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४४ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ ४४ ॥

७ ह. पै. भा.— कृषीति। गवां रक्षा रक्षणं गौरक्ष्यम्। वणिक् क्रयविक्रयी तस्य भावो वाणिज्यम्। एतद्वैश्यस्य स्वभावजम् ॥ ४४ ॥

८ वें. ब्र. गि.— वैश्यशूद्रयोः स्वभावगुणकर्माण्याह— कृषीति। कृषिः सस्योत्पत्त्यर्थं भूविलेखनम्, गा रक्षतीति गोरक्षः, तस्य भावो गौरक्ष्यं पाशुपाल्यम्, क्रयविक्रयादिकं वणिजः कर्म वाणिज्यं च वैश्यानां विहितं वैश्यं कर्म तमउपसर्जनरजोरूपस्वभावगुणजम्। द्विजातिशुश्रूषाख्यपरिचर्यारूपं कर्म शूद्रस्यापि रजउपसर्जनतमोरूपस्वभावगुणजम्। अत्र च 'शमो दमः' [ १८।४२ ] इत्याद्येतत्पर्यन्तोक्तानि शमादीनि चातुर्वर्ण्यकर्माणि श्रुतिस्मृत्युक्तचातुर्वर्ण्यकर्मान्तराणामप्युपलक्षणमिति द्रष्टव्यम् ॥ ४४ ॥

९ व० त० दी०— वैश्यशूद्रयोराह– कृषीति। कुसीदस्य वाणिज्ये निवेशनान्न पृथगुक्तिः द्विजपरिचर्यात्मकं शूद्रस्येति मर्यादा इयं परिचर्या भगवति कृता चेत्सर्वेषां उत्तमफलदा भवेत् 'यद्वृत्त्या तुष्यते हरिः' इति वाक्यात्। स्पष्टमन्यत् ॥ ४४ ॥

१० पु. अ. त.— वैश्यस्याऽऽह— कृषीति। कृषिः कर्षणं, गौरक्ष्यं पशुपालनं, वाणिज्यं क्रयविक्रयात्मकम्, एतत् वैश्यस्य स्वभावाज्जातं कर्म। शूद्रस्याऽऽह– परिचर्यात्मकमिति। त्रैवर्णिकसेवनात्मकं शूद्रस्यापि स्वभावजं स्वभावाज्जातं कर्म, यद्वा मत्परिचर्यात्मकं कर्म सर्वेषां पूर्वोक्तानां शूद्रस्यापीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

११ नी० भा० दी०— वैश्यशूद्रयोः कर्माण्याह— कृषीति। स्पष्टार्थः श्लोकः ॥ ४४ ॥

स्वस्ववर्णविहितकर्माभिरतस्यैवेश्वरार्चनेन सिद्धिप्रतिपत्तिः।

**स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।**
**स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥**

**१ शां. भा.— एतेषां जातिविहितानां कर्मणां सम्यगनुष्ठितानां स्वर्गप्राप्तिः फलं स्वभावतः, 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलधर्मायुश्श्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते' [ गौ. ध. सू. ११।२९ ] इत्यादिस्मृतिभ्यः; पुराणे च वर्णिनामाश्रमिणां च लोकफलभेदविशेषस्मरणात्।**

२ आ. शां. व्या.— शमादिपरिचर्यान्तकर्मणां विभज्योक्तानामभ्युदयं फलमादावुपन्यस्यति— **एतेषामिति**। स्वभावतो विहितत्वादेव मोक्षापेक्षामन्तरेणानुष्ठानादित्यर्थः। तत्र प्रमाणमाह— **वर्णा** इति। शेषशब्देन भुक्तकर्मणोऽतिरिक्तं कर्मानुशयशब्दितमुच्यते, प्रत्येकं देशादिभिर्विशिष्टशब्दः सम्बध्यते आदिशब्देन "तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छायागन्धावनूत्पद्येते, एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते; न धर्महानिर्भवति" [ आपस्तम्बः ] इति स्मृतिर्गृह्यते। इतश्चोक्तानां कर्मणां स्वर्गफलत्वं युक्तमित्याह— **पुराणे चेति**। **उक्तं हि**– 'यस्तु सम्यक्करोत्येवं गृहस्थः परमं विधिम्। तद्गुणैर्बन्धमुक्तोऽसौ लोकानाप्नोत्यनुत्तमान्' इति। 'यस्त्वेतां नियतश्चर्यां वानप्रस्थश्चरेन्मुनिः। स दहत्यग्निवद्दोषाञ्जयेल्लोकांश्च शाश्वतान्' इति 'मोक्षाश्रमो यश्चरते यथोक्तं शुचिः सुसङ्कल्पितबुद्धियुक्तः। अनिन्धनज्योतिरिव प्रशान्तं स ब्रह्मलोकं श्रयते द्विजातिः' इति च। "सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति" [ छां. उ. २।२३।१ ] इति श्रुतिश्चकारार्थः।

**१ शां. भा.— कारणान्तरात्त्विदं वक्ष्यमाणं फलम्— स्वे स्व इति। स्वे स्वे यथोक्तलक्षणभेदे कर्मण्यभिरतस्तत्परः संसिद्धिं स्वकर्मानुष्ठानादशुद्धिक्षये सति कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां लभते प्राप्नोति नरोऽधिकृतः पुरुषः। किं स्वकर्मानुष्ठानत एव साक्षात्संसिद्धिः? न, कथं तर्हि? स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा येन प्रकारेण विन्दति तच्छृणु ॥ ४५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— यदि पुनर्मोक्षापेक्षयोक्तानि कर्माण्यनुष्ठीयेरंस्तदा मोक्षफलत्वं तेषां सेत्स्यतीत्याह— कारणान्तरादिति। तदेव कारणान्तरं यन्मोक्षापेक्षया तेषामनुष्ठानम्। मोक्षोपायेषु शमादिषु सात्त्विकेषु ब्राह्मणधर्मेषु क्षत्रियादीनामनधिकाराद्ब्राह्मणानामेव मोक्षः, न क्षत्रियादीनामित्याशङ्क्याऽऽह— स्वे स्व इति। यथा स्वे कर्मण्यभिरतस्य बुद्धिशुद्धिद्वारा ज्ञाननिष्ठायोग्यता, तया प्राप्तज्ञानस्य मोक्षोपपत्तेर्ब्राह्मातिरिक्तस्यापि ज्ञानवतो मुक्तिरिति मत्वा पूर्वार्धं व्याचष्टे— स्वे स्व इत्यादिना। संसिद्धिशब्दस्य मोक्षार्थत्वं गृहीत्वा स्वधर्मनिष्ठत्वमात्रेण तल्लाभे तादर्थ्येन सन्न्यासादिविधानानर्थक्यमिति मन्वानः शङ्कते— किमिति। न तावन्मात्रेण साक्षान्मोक्षो ज्ञाननिष्ठायोग्यता वेति परिहरति— नेति। तर्हि कथं स्वधर्मनिष्ठस्य संसिद्धिः? इति पृच्छति— कथं तर्हीति। उत्तरार्धेनोत्तरमाह— स्वकर्मेति। तच्छृणु तं प्रकारमेकाग्रचेता भूत्वा श्रुत्वाऽवधारयेत्यर्थः॥ ४५॥

**३ रा. भा.— स्वे स्वे यथोदिते कर्मण्यभिरतो नरः संसिद्धिं परमपदप्राप्तिं लभते। स्वकर्मनिरतो यथा सिद्धिं विन्दति परमपदं प्राप्नोति, तथा शृणु॥ ४५॥**

४ वे. ता. चं.— वर्णधर्मविभागो मोक्षशास्त्रे किमर्थं? इत्यत्राऽऽह— स्वे स्वे कर्मणीति। संसिद्धिशब्दस्यात्र परमपदप्राप्तिविषयत्वं प्रकरणात्सिद्धम्। 'शाश्वतं परमव्ययम्' [१८।५६] इति हि वक्ष्यति। यद्वा सिद्धिशब्दः 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' [१८।४९] इति वक्ष्यमाणविषयः। तत्पर्यवसानज्ञापनायात्र परमप्राप्यग्रहणम्। ननु स्वकर्मनिरतस्यापि शूद्रस्य कथं परमपदप्राप्तिः? तस्य मोक्षसाधनविद्यायामनधिकारः शारीरके अपशूद्राधिकरणे शिक्षितः। सत्यं, भवान्तराधिकारद्वारा परम्परया परमपदप्राप्तेर्विवक्षितत्वान्न विरोधः। विदुरादिवज्जातिस्मरेषु जन्मान्तरप्रारब्धपरविद्याप्रतिसन्धायिषु स्वकर्मणामकरणनिमित्तप्रत्यवायपरिहारार्थत्वं साक्षात्संसिद्धियोग्यत्वं द्रष्टव्यम्। यथोक्तं भगवता शौनकेन— 'धर्मव्याधादयोऽप्यन्ये पूर्वाभ्यासाज्जुगुप्सिते। वर्णावरत्वे सम्प्राप्ताः संसिद्धिं श्रमणी यथा' [वि.ध.१०२।३०] इति। ननु परिमितफलप्रदानसमर्थेन्द्राद्याराधनरूपाणां तत्तद्वर्णाश्रमकर्मणां कथं परमपदप्राप्तिहेतुत्वं? इत्यत्रोत्तरं स्वकर्मनिरत इति। 'यथा' इत्यस्य प्रतिनिर्देशत्वात्तच्छब्दः प्रकारपरामर्शीत्याह— तथा शृण्विति॥ ४५॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ४५॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४५॥

**७ ह. पै. भा.— स्वे स्व इति। स्वकीये कर्मण्यभिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥ ४५॥**

८ वें. ब्र. गि.— एवं वर्णभेदेन कर्माण्युक्त्वा तेषु ब्राह्मणादेः स्वस्ववर्णविहितमेव कर्मोपादेयं, न तु स्वेच्छया वर्णान्तरीयमपि कर्मेत्याह— स्वे स्व इति। स्वे स्वे स्वस्ववर्णाश्रमविहित एव कर्मण्यभिरतः परिनिष्ठितो नरः संसिद्धिं ज्ञानयोग्यतां लभते। नरग्रहणेन च देवव्यवच्छेदः। देवानां कर्माधिकाराभावादुपासनामात्रेण ज्ञानयोग्यतेति हि देवताधिकरणे स्थितम्। तदेवं कर्मफलत्यागः सन्न्यास इत्यत्र कस्य किं कर्म? इति प्रश्न उत्तरितः, इदानीं फलत्यागे कीदृशः कर्मानुष्ठानप्रकारः? इति प्रश्नस्योत्तरं वक्तुं प्रतिजानीते— स्वकर्मेति। यथा येन प्रकारेण स्वकर्मपरिनिष्ठितः सिद्धिं ज्ञानयोग्यतां विन्दति तं प्रकारं शृणु॥ ४५॥

९ व० त० दी०— एवंविधस्य स्वस्वकर्मणः स्वसंसिद्धिहेतुत्वमाह— स्वे स्व इत्यर्द्धेन। अनेन परधर्मो व्यावर्त्तितः॥ ४५॥

१० पु. अ. त.— यदर्थं कर्म निरूपितं तदाह— स्वे स्व इति। स्वे स्वे स्वस्वविहिते कर्मणि अभिरतः प्रीतियुक्तो नरो मनुष्यः संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिं मत्प्रसादात्मिकां लभते प्राप्नोति। ननु प्रीतिमात्रेण कथं सिद्धिः? इत्यत आह– स्वकर्मेति सार्द्धेन। स्वकर्मनिरतः स्वविहितकर्मनिष्ठो यथा येन प्रकारेण सिद्धिं विन्दति जानाति तं प्रकारं शृणु॥ ४५॥

११ नी० भा० दी०— कर्मप्रविभागफलमाह— स्वे स्व इति। स्वे स्वे मन्वादिभिरुक्तेऽध्यापनादावसाधारणे शमदमादौ साधारणे च कर्मण्यभिरतो निष्ठावान् संसिद्धिं ज्ञानयोग्यतां लभते नरः। एतदेव विवरीतुं प्रतिजानीते— स्वेति। सिद्धिं वक्ष्यमाणां मुख्यसन्न्यासलक्षणां नैष्कर्म्यसिद्धिम्। यथा येन प्रकारेण॥ ४५॥

**यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।**
**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥ ४६॥**

१ शां. भा.— यत इति । यतो यस्मात्प्रवृत्तिरुत्पत्तिश्चेष्टा वा यस्मादन्तर्यामिण ईश्वराद्भूतानां प्राणिनां स्यात्, येनेश्वरेण सर्वमिदं जगत्ततं व्याप्तं, स्वकर्मणा पूर्वोक्तेन प्रतिवर्णं तमीश्वरमभ्यर्च्य पूजयित्वाऽऽराध्य केवलं ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिं विन्दति मानवो मनुष्यः ॥ ४६ ॥

२ आ. शां. व्या.— तमेव प्रकारं स्फुटयति— यत इति । यतश्शब्दार्थं यस्मादित्युक्तं व्यक्तीकरोति— यस्मादिति । प्राणिनामुत्पत्तिर्यस्मादीश्वरात्, तेषां चेष्टा च यस्मादन्तर्यामिणः, येन च सर्वं व्याप्तं, मृदेव घटादि कार्यस्य कारणातिरिक्तस्वरूपाभावात्, तं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य मानवः संसिद्धिं विन्दतीति सम्बन्धः । न हि ब्राह्मणादीनां यथोक्तधर्मनिष्ठया साक्षान्मोक्षो लभ्यते, तस्य ज्ञानैकलभ्यत्वात्; किन्तु तन्निष्ठानां शुद्धबुद्धीनां कर्मसु फलमपश्यतामीश्वरप्रसादासादितविवेकवैराग्यवतां सन्यासिनां ज्ञाननिष्ठायोग्यताक्षतां ज्ञानप्राप्त्या मुक्तिरित्यभिप्रेत्याऽऽह— केवलमिति ॥ ४६ ॥

३ रा. भा.— यतो भूतानामुत्पत्त्यादिका प्रवृत्तिः, येन च सर्वमिदं ततं, स्वकर्मणा तं मामिन्द्राद्यन्तरात्मतयाऽवस्थितमभ्यर्च्य मत्प्रसादान्मत्प्राप्तिरूपां सिद्धिं विन्दति मानवः, मत्त एव सर्वमुत्पद्यते, मया च सर्वमिदं ततमिति पूर्वमेवोक्तम्— 'अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा । मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय !' [ ७।६ ] 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना' [ ९।४ ] 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' [ ९।१० ] 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] इत्यादिषु ॥ ४६ ॥

४ वे. ता. चं.— सर्वकारणभूतः सर्वान्तर्यामी परमात्मा स्वसृज्यत्वशरीरभूतेन्द्रादिवाचकैः शब्दैराम्नायत इति तत्समाराधनत्वात्संसिद्धिसाधनत्वं वर्णाश्रमधर्माणामुपपन्नमित्युच्यते 'यतः प्रवृत्तिः' इति श्लोकेन । प्रवृत्तिशब्दस्यात्र चेष्टामात्रपरत्वव्युदासायाऽऽह उत्पत्त्यादिकेति । चेतनाचेतनवाचिभूतशब्दसमन्वितः प्रवृत्तिशब्दोऽत्र विशेषकाभावात्सर्वविधव्यापारसङ्ग्राहक इति भावः । सर्वविधकारणत्वोपयुक्त आकार उच्यते 'येन सर्वमिदं ततम्' इति । ततं नियन्तृत्वेनेति हृदयम् । 'तम्' इति परोक्षतया निर्दिष्टः कथं मामिति व्याख्यायते ? इति शङ्कायां 'यतः' इत्यनुवादस्य प्राप्त्यर्थं पुरोवादं स्मारयति— मत्त एवेति । कारणत्वसर्वाधिकत्वसर्वव्यापित्वसर्वनियन्तृत्वादिषु यथासम्भवं वचनानि योज्यानि ॥ ४६ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४६ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ४६ ॥

७ ह. पै. भा.— यत इति । यतो यस्मात्प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्भूतानां पृथिव्यादीनाम्, येन सर्वमिदं ततं व्याप्तम्, आत्मीयेन कर्मणा तमीश्वरमभ्यर्च्याऽऽराध्य सिद्धिं मोक्षं विन्दति लभते मानवो मनुष्यः ॥ ४६ ॥

८ वें. व्र. गि.— तमेवाह— यत इति । यतः परमेश्वरात् भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बान्तानां प्रवृत्तिश्चेष्टा भवति, येन च परमेश्वरेण सर्वमिदं चेतनाचेतनात्मकं जगत्ततं रज्ज्वेव सर्पधारादिकमधिष्ठानतया व्याप्तम्, तमीश्वरं स्वकर्मणाऽभ्यर्च्य आराध्य सिद्धिं ज्ञानयोग्यतां विन्दति मानवः । देवादयस्तूपासनामात्रेणेति भावः । अत्र 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' इत्यनेन परमेश्वराराधनस्वरूपः कर्मानुष्ठानप्रकार इत्युक्तः । 'यतः प्रवृत्तिः' इत्यनेन सर्वकर्मप्रेरकतया सर्वनियामके परमेश्वरे भृत्येनेव राज्ञि तत्सेवारूपस्य तदाज्ञात्मकस्य कर्मणः समर्पणं युक्तमिति दर्शितम् । 'येन सर्वमिदं ततम्' इत्यनेन सर्वकल्पनाधिष्ठानस्य कर्मार्पणकृतविकाराभावोक्तिः ॥ ४६ ॥

९ ब० त० दी०— तत्प्रकारमाह सार्द्धेन— स्वकर्मेति । स्पष्टम् । 'यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी' [ १५।४ ] ब्रह्मणा येनाक्षरेण भगवत्स्वरूपेणेदं ततं तमेवाभ्यर्च्य, न तु देवान्तरं, तदा सिद्धिं मुक्तिं प्राप्नोति स्वकर्मणेति द्रढयति ॥ ४६ ॥

१० पु. अ. त.— तं प्रकारमेवाऽऽह— यत इति । यतो भगवतः भूतानां प्राणिनां प्रवृत्तिरुत्पत्तिर्भवति, सर्वकर्मसु वा यतः प्रवृत्तिः प्रकर्षेण वर्तनमनुसरणं भवति, येन कारणरूपेण इदं सर्वं विश्वं ततं व्याप्तं, तं भगवन्तं स्वकर्मणा आत्मकर्मणा भक्त्या अभ्यर्च्य सम्पूज्य मानवः मनोर्जातो मनुष्यः सद्धर्मरूपः सिद्धिं विन्दति लभत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

११ नी० भा० दी०— तमेव प्रकारमाह— यत इति । प्रवृत्तिः कायवाङ्मनोनिर्वर्त्या चेष्टा यतो हेतोरन्तर्यामिणः "येन वागभ्युद्यते" [ केनो. १।४।५ ] इत्यादिश्रुतेः; येन इदं सर्वं इश्यं ततं व्याप्तमुपादानत्वात्; स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सन्तर्प्य सिद्धिं मोक्षं विन्दति लभते मानवः, मनुष्याधिकारिकत्वाच्छास्त्रस्य । परमेश्वरे नित्यकर्मणामर्पणमेव मोक्षद्वारमित्यर्थः ॥ ४६ ॥

स्वकर्मणेति पूर्वोक्तस्यैव फलपूर्वकं प्राशस्त्यम् ।

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।**
**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषम् ॥ ४७ ॥**

**१ शां. भा.**— यत एवमतः— श्रेयान्प्रशस्यतरः स्वो धर्मः स्वधर्मो विगुणोऽपि— इत्यपिशब्दो द्रष्टव्यः— परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वभावनियतं स्वभावेन नियतं, यदुक्तं— 'स्वभावजम्' [१८।४२-४४] इति तदेवोक्तं स्वभावनियतमिति; यथा विषजातस्येव कृमेर्विषं न दोषकरं, तथा स्वभावनियतं कर्म कुर्वन् नाप्नोति किल्बिषं पापम् ॥ ४७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— स्वधर्मानुष्ठानस्य बुद्धिशुद्ध्यादिद्वारा मोक्षावसायित्वात्तदनुष्ठानमावश्यकमित्याह— यत इति। ननु युद्धादिलक्षणं स्वधर्मं कुर्वन्नपि हिंसाधीनं पापं प्राप्नोति तत्कथं स्वधर्मः श्रेयान् ? इति तत्राऽऽह— स्वभावेति। स्वकीयं वर्णाश्रमं निमित्तीकृत्य विहितं स्वभावजमित्यधस्तादुक्तमित्याह— यदुक्तमिति । विग्रहात्मकमपि विहितं कर्म कुर्वन्पापं नाऽऽप्नोतीत्यत्र दृष्टान्तमाह— यथेति ॥ ४७ ॥

**३ रा. भा.**— एवं त्यक्तकर्तृत्वादिको मदाराधनरूपः स्वधर्मः स्वेनैवोपादातुं योग्यो धर्मः; प्रकृतिसंसृष्टेन हि पुरुषेणेन्द्रियव्यापाररूपः कर्मयोगात्मको धर्मः सुकरो भवति; अतः कर्मयोगाख्यः स्वधर्मो विगुणोऽपि परधर्मात् इन्द्रियजयनिपुणपुरुषधर्मात् ज्ञानयोगात् सकलेन्द्रियनियमनरूपतया सप्रमादात् कदाचित्स्वनुष्ठितात् श्रेयान् ।

**४ वे ता. चं.**— एवं वर्णाश्रमधर्माणां स्वरूपेणापरित्याज्यत्वं परप्राप्तिसाधनत्वप्रकारश्च दर्शितः । अथ तेषामेव 'दैवमेवापरे यज्ञम्' [ ४।२५ ] इत्याद्युक्तप्रधानधर्मयोगेन नियमविशेषादियोगेन कर्मयोगान्तर्भूतानां ज्ञानयोगाधिकारिणामप्यपरित्याज्यत्वं प्रागुक्तं [ ३।३५ ] प्रत्यभिज्ञाप्यते— 'श्रेयान् स्वधर्मः' इत्यादिभिः । अत्र स्वधर्मशब्दो न वर्णाश्रमनियतधर्मपरः, तथा सति परधर्मशब्देन वर्णान्तरादिधर्मोपादानप्रसङ्गात्; नच तद्युक्तं, तस्य निषिद्धत्वेनाधर्मतया स्वधर्मस्य तत्र प्रशस्यतमत्वलक्षणश्रेयस्त्ववचनायोगात् । नहि पापात्पुण्यं श्रेय इति कथ्यते; अत एव वेदबाह्यधर्माद्वैदिकस्य धर्मस्य श्रेयस्त्वमुच्यत इत्यपि न योज्यम्; क्षत्रियस्यार्जुनस्य 'श्रेयो भोक्तुं भैक्षम्' [ २।५ ] इत्युक्तब्राह्मणधर्मभूतप्रव्रज्याप्रतिषेधोऽयमिति चेत्, न; तत्प्राप्तौ निषेधायोगात्; अप्राप्तौ पापत्वादेव दत्तोत्तरत्वात् । आपत्स्वनन्तरा च वृत्तिर्दुस्त्यजा । अतोऽत्र स्वधर्मपरधर्मशब्दौ प्रागवत्कर्मयोगज्ञानयोगविषयौ व्याख्यातौ । 'एवम्' इत्यारभ्य 'स्वधर्मः' इत्यन्तमेकं वाक्यम्, अन्यथोत्तरग्रन्थानन्वयप्रसङ्गात् । स्वशब्दस्य जातिविवक्षाव्युदासायाऽऽह स्वेनैवेति । 'स्वभावनियतं कर्म' इत्यनन्तरोक्त्यनुसारेण कर्मविषयः स्वधर्मशब्दः प्रकरणान्निष्कामकर्मविषयः । तत्र **स्वेनैवोपादातुं योग्य** इत्युक्तं विवृणोति **प्रकृतीति** । विगुणशब्दस्य त्याज्यत्वशङ्कापरत्वमाह **विगुणोऽपीति** । गत्यन्तराभावादमुख्यत्वकल्पत्वेनानुमतोऽपीत्यर्थः । स्वशब्दनिर्दिष्टात्कर्मयोगार्हादन्योऽत्र परः; स च ज्ञानयोगार्ह इत्यभिप्रायेणाऽऽह **इन्द्रियजयेति** । सप्रमादस्य स्वनुष्ठितत्वं कथं स्यात्? इत्यत्राऽऽह— **कदाचिदिति** ।

**३ रा. भा.**— तदेवोपपादयति— स्वभावेति । प्रकृतिसंसृष्टस्य इन्द्रियव्यापाररूपतया स्वभावत एव नियतत्वात् कर्मणः कर्म कुर्वन् किल्बिषं संसारं न प्राप्नोति, अप्रमादत्वात्कर्मणः; ज्ञानयोगस्य सकलेन्द्रियनियमनसाध्यतया सप्रमादत्वात्तन्निष्ठस्तु प्रमादात्किल्बिषं प्रतिपद्येतापि, अतः कर्मनिष्ठैव ज्यायसीति तृतीयाध्यायोक्तं स्मारयति ॥ ४७ ॥

४ वे. ता. चं.— 'स्वभावनियतम्' इत्यत्र जातिनियतत्वशङ्काव्युदासायाऽऽह— तदेवेति । यथा विषतरुनिम्बतिन्तिण्यादिजातानां जन्तूनां स्वभावनियता आहारा इति भावः । किल्बिषशब्दोऽनिष्टतमत्वद्योतनाय संसारशब्देन तत्फलपर्यन्ततया व्याख्यातः । ज्ञानयोगनिष्ठासम्भावितनिषेधाय वा, विशेषनिषेधः शेषाभ्यनुज्ञापर इत्यभिप्रायेण वाऽऽह— ज्ञानयोगस्येति । अर्थान्तरपरत्वशङ्काव्युदासाय आदरातिशयविवक्षया, पुनरुक्तिपरिहाराय च तृतीयाध्यायोक्तं ( ३५ ) स्मारयतीत्युक्तम् ॥ ४७ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४७ ॥

६ ज. ग्र. दी.— ॥ ४७ ॥

७ ह. पै. भा.— श्रेयानिति । श्रेयान्प्रशस्यतरः । विगुणो गुणरहितः । शोभनं समग्रमनुष्ठितो यस्तस्मात्परधर्मात्स्वधर्मो विगुणोऽपि श्रेयान् । स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाऽऽप्नोति किल्बिषं पापम् । तस्य दोषाय न भवति । विषजातस्य कृमेः सहजं विषं न मरणाय भवति ॥ ४७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— इदानीं 'स्वे स्वे कर्मणि' [१८।४५] 'स्वकर्मणा' [ १८।४६ ] इति च विशेषणदर्शितमर्थमाह— श्रेयानिति । विगुणः सम्यगननुष्ठितोऽपि स्वधर्मः स्वनुष्ठितात्परधर्माच्छ्रेयान् श्रेष्ठः । तस्मात्क्षत्रियेण सता त्वया स्वधर्मो युद्धमेव कर्तव्यं, न तु भिक्षाटनादिरिति भावः । ननु स्वधर्मोऽपि युद्धं बन्धुवधदुष्टत्वान्नानुष्ठेयम् ; अत आह— स्वभावनियतमिति । 'शौर्यं तेजो धृतिः' [ १८।४३ ] इत्यादि पूर्वोक्तं स्वभावजं युद्धादि कर्म कुर्वन्बन्धुवधकिल्बिषं न प्राप्नोति । यागाङ्गपशुहिंसाया इव युद्धाङ्गबन्धुहिंसाया अपि विहितत्वान्न दोषतेति द्वितीयाध्याये [ ३१-३८ ] व्याख्यातोऽयमर्थः ॥ ४७ ॥

९ व० त० दी०— श्रेयानिति । विगुणोऽपि स्वधर्मः स्वनुष्ठितात्परधर्माच्छ्रेष्ठः, श्रेयस्कर इति वा; स्वभावो यो यो विप्रक्षत्रादेस्तेन नियतं कर्म कुर्वन्– यथा क्षत्रियस्य युद्धादि तदेव स्वाभाविकं तव कर्म युद्धादिकमुचितमिति भावः । अन्यथा तु किल्बिषं प्राप्नोति । एवं च कर्मनिष्ठैव ज्यायसीति तृतीयोक्तं व्याख्यायोपदिशति ॥४७॥

१० पु. अ. त.— स्वकर्मार्चने विशेषमाह— श्रेयानिति । स्वनुष्ठितात् सुष्ठु अनुष्ठितात् परधर्मात् कर्ममार्गीयात् विगुणोऽपि स्वधर्मः श्रेयान् , श्रेष्ठ इत्यर्थः । ननु विगुणत्वात् कथं श्रेष्ठत्वं ? इत्यत आह— स्वभावेति । स्वभावनियतं भगवद्भावनियमोक्तं कर्म कुर्वन् वैगुण्यजमन्यत्यागजं च किल्बिषं न आप्नोति ॥ ४७ ॥

११ नी० भा० दी०— स्वकर्मणेति विशेषणस्य फलमाह– श्रेयानिति । स्वधर्मो विगुणः किञ्चिदङ्गहीनोऽपि श्रेयान् प्रशस्यतरः । किमपेक्ष्य श्रेयान् ? परधर्मात्स्वनुष्ठितात् सम्यग्विहितादपि । उक्तं च 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' [ ३।३५ ] इति । स्वभावनियतं पूर्वोक्तत्रिविधस्वभावाज्जातं कर्म कुर्वन् किल्बिषं दोषं नाप्नोति । विषकृमेर्विषमिव न दोषकरम् । तस्मात्तव भैक्ष्यं हिंसाशून्यमपि न युक्तं, किन्तु हिंसायुक्तोऽपि स्वधर्म एव प्रशस्यतरः । धर्मत्वेन विहितेऽस्मिन्नग्नीषोमीयपश्वालम्भे इव कृते सति न किल्बिषप्रसङ्गोऽस्तीत्यर्थः ॥ ४७ ॥

स्वकर्म-धर्मप्राशस्त्ये सदृष्टान्तं हेत्वन्तरम् ।

**सहजं कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ।**
**सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवाऽऽवृताः ॥ ४८ ॥**

१ शां. भा.— स्वभावनियतं कर्म कुर्वाणो विषजात इव कृमिः किल्बिषं नाप्नोतीत्युक्तम् , परधर्मश्च भयावह इति, अनात्मज्ञश्च 'न हि कश्चित्क्षणमप्यकर्मकृत्तिष्ठति' [ ३।५ ] इति; अतः सहजं सह जन्मनैवोत्पन्नं सहजम् । किं तत् ? कर्म कौन्तेय ! सदोषमपि त्रिगुणात्मकत्वान्न त्यजेत् । सर्वारम्भाः, आरभ्यन्त इत्यारम्भाः, सर्वकर्माणीत्येतत्प्रकरणात् । ये केचिदारम्भाः स्वधर्माः परधर्माश्च ते सर्वे हि यस्मात्— त्रिगुणात्मकत्वमत्र हेतुः–त्रिगुणात्मकत्वाद्दोषेण धूमेन सहजेनाग्निरिव आवृताः । सहजस्य कर्मणः स्वधर्माख्यस्य परित्यागेन परधर्मानुष्ठानेऽपि दोषान्नैव मुच्यते, भयावहश्च परधर्मः । न च शक्यतेऽशेषतस्त्यक्तुमज्ञेन कर्म यतः, तस्मान्न त्यजेदित्यर्थः ।

२ आ. शां. व्या.— इतश्च विहितं कर्म दोषवदपि कर्तव्यं प्रकारान्तरासम्भवादित्युक्तानुवादपूर्वकं कथयति— स्वभावेत्यादिना । न हि कृमिर्विषजो विषनिमित्तं मरणं प्रतिपद्यते, तथाऽयमधिकृतः पुरुषो दोषवदपि विहितं कर्म कुर्वन् पापं नाऽऽप्नोतीत्युक्तमित्यर्थः । तर्हि दोषरहितमेव भिक्षाटनादि सर्वैरनुष्ठीयतामतो न पापप्राप्त्याशङ्केत्याशङ्क्याऽऽह— परेति । उक्तमित्यनुवर्तते । तर्हि पापप्राप्तिशङ्कां परिहर्तुमकर्मनिष्ठत्वमेव सर्वेषां स्यादित्याशङ्क्य ज्ञानाभावान्नैवमित्याह— अनात्मज्ञ इति । पूर्ववदत्रापि सम्बन्धः । प्रकारान्तरासम्भवकृतं फलमाह— अत इति । सह जायत इति सहजं स्वभावनियतं नित्यं कर्म तद्विहितत्वान्निर्दोषमपि हिंसात्मकतया सदोषमित्यत्र हेतुमाह— त्रिगुणेति । सत्त्वादिगुणत्रयारब्धतया हिंसादिदोषवदपि कर्म विहितमत्याज्यमित्यर्थः । कर्मणां दोषवत्त्वं प्रपञ्चयति— सर्वेति । आरम्भशब्दस्य कर्मव्युत्पत्त्या स्वपरसर्वकर्मार्थत्वे कर्मणां प्रकृतत्वं हेतुमाह— प्रकरणादिति । दोषेणेत्यादि व्याचष्टे— ये केचिदिति । ते सर्वे दोषेणाऽऽवृता इति सम्बन्धः । सर्वकर्मणां दोषावृतत्वे हिशब्दोपात्तं यस्मादित्युक्तं हेतुमेवाभिनयति— त्रिगुणात्मकत्वमिति । स्वभावनियतस्य कर्मणो दोषवत्त्वात्तत्त्यागद्वारा परधर्ममातिष्ठमानस्यापि नैव दोषाद्विमोकः सम्भवति । न च परधर्मोऽनुष्ठातुं शक्यते भयावहत्वात् , न च तर्हि कर्मणोऽशेषतोऽननुष्ठानमेवाज्ञस्याशेषकर्मत्यागायोगात् ; अतः सहजं कर्म सदोषमपि न त्याज्यमिति वाक्यार्थमाह— सहजस्येति ।

**१ शां. भा.— किमशेषतस्त्यक्तुमशक्यं कर्मेति न त्यजेत् ? किंवा सहजस्य कर्मणस्त्यागे दोषो भवतीति ? किं चातः ? यदि तावदशेषतस्त्यक्तुमशक्यमिति न त्याज्यं सहजं कर्म, एवं तर्ह्यशेषतस्त्यागे गुण एव स्यादिति सिद्धं भवति । सत्यमेवं, अशेषतस्त्याग एव नोपपद्यत इति चेत्, किं नित्यप्रचलितात्मकः पुरुषो यथा साङ्ख्यानां गुणाः ? किंवा क्रियैव कारकं, यथा बौद्धानां पञ्च स्कन्धाः क्षणप्रध्वंसिनः ? उभयथाऽपि कर्मणोऽशेषतस्त्यागो न भवति ।**

२ आ. शां. व्या.— सहजं कर्म सदोषमपि न त्यजेदित्यत्र विचारमवतारयति— किमिति । 'न हि कश्चित्'[३।५] इति न्यायादिति शेषः । दोषो विहितनित्यत्यागे प्रत्यवायः । सन्दिग्धस्य प्रयोजनस्य विचार्यत्वादुक्ते सन्देहे प्रयोजनं पृच्छति— किञ्चात इति । तत्राऽऽद्यमनूद्य फलं दर्शयति— यदीति । अशक्यार्थानुष्ठानस्य गुणत्वेन प्रसिद्धत्वात्प्रसिद्धं हि महोदधिमगस्त्यस्य चुलुकीकृत्य पिबतो गुणवत्त्वं, तदाह— एवं तर्हीति । अशेषकर्मत्यागस्य गुणवत्त्वेऽपि प्रागुक्तन्यायेन तदयोगात्तस्याशक्यानुष्ठानतेति शङ्कते— सत्यमिति । चोद्यमेव विवृण्वन्नाद्यं विभजते— किमिति । सत्त्वादिगुणवदात्मनो नित्यप्रचलितत्वेनाशेषतस्तेन न कर्म त्यक्तुं शक्यं, नापि रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारसंज्ञानां क्षणध्वंसिनां स्कन्धानामिव क्रियाकारकभेदाभावात् कारकस्यैवाऽऽत्मनः क्रियात्वमित्युक्ते कर्माशेषतस्त्यक्तुं शक्यम् , उभयत्रापि स्वभावभङ्गादित्याह— उभयथेति ।

**१ शां. भा.— अथ तृतीयोऽपि पक्षो यदा करोति तदा सक्रियं वस्तु, यदा न करोति तदा निष्क्रियं वस्तु तदेव । तत्रैवं सति शक्यं कर्माशेषतस्त्यक्तुम् । अयं त्वस्मिंस्तृतीये पक्षे विशेषः— न नित्यप्रचलितं वस्तु, नापि क्रियैव कारकम् । किं तर्हि ? व्यवस्थिते द्रव्येऽविद्यमाना क्रियोत्पद्यते विद्यमाना च विनश्यति । शुद्धं द्रव्यं शक्तिमदवतिष्ठत इत्येवमाहुः काणादास्तदेव च कारकमित्यस्मिन् पक्षे को दोषः ? इति । अयमेव तु दोषो यतस्त्वभागवतं मतमिदम् । कथं ज्ञायते ? यत आह भगवान् 'नासतो विद्यते भावः' [ २।१६ ] इत्यादि । काणादानां ह्यसतो भावः सतश्चाभाव इतीदं मतमभागवतम् । अभागवतत्वेऽपि न्यायवच्चेत्को दोषः ? इति चेत्, उच्यते— दोषवत्त्विदं सर्वप्रमाणविरोधात् । कथं ? यदि तावद्व्यणुकादि द्रव्यं प्रागुत्पत्तेरत्यन्तमेवासत् , उत्पन्नं च स्थितं कञ्चित्कालं पुनरत्यन्तमेवासत्त्वमापद्यते । तथा च सत्यसदेव सज्जायते सदेवासत्त्वमापद्यतेऽभावो भावो भवति भावश्चाभाव इति ।**

२ आ. शां. व्या.— पक्षद्वयानुरोधेनाशेषकर्मत्यागायोगे वैशेषिकश्चोदयति— अथेति । कदाचिदात्मा सक्रियो निष्क्रियश्च कदाचिदिति स्थिते फलितमाह— तत्रेति । उक्तमेव पक्षं पूर्वोक्तपक्षद्वयाद्विशेषदर्शनेन विशदयति— अयं त्विति । आगमापायित्वे क्रियायास्तद्वतो द्रव्यस्य कथं स्थायिता ? इत्याशङ्क्याऽऽह— शुद्धमिति । क्रियाशक्तिमत्त्वेऽपि क्रियावत्त्वाभावे कथं कारकत्वं क्रियां कुर्वत्कारणं कारकमित्यभ्युपगमादित्याशङ्क्याऽऽह— तदेवेति । क्रियाशक्तिमदेव कारकं, न क्रियाधिकरणं, परस्पराश्रयादित्यर्थः । वैशेषिकपक्षे दोषाभावादस्ति सर्वैः स्वीकार्यतेत्युपसंहरति— इत्यस्मिन्निति ।

भगवन्मतानुसारित्वाभावादस्य पक्षस्य त्याज्यतेति दूषयति— **अयमेवे**ति । भगवन्मताननुसारित्वमस्याप्रामाणिकमिति शङ्कते— **कथमि**ति । भगवद्वचनमुदाहरन्परपक्षस्य तदनुगुणत्वाभावमाह— **यत** इति । परेषामपि मतमेतदनुगुणमेव किं न स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह- **काणादानां ही**ति । भगवन्मतानुगुणत्वाभावेऽपि न्यायानुगुणत्वेन दोषरहितं काणादानां मतमुपादेयमेव, तर्हि काणादमतविरोधादुपेक्ष्यते भगवन्मतमिति शङ्कते— **अभागवतत्वेऽपी**ति । न्यायवत्त्वमसिद्धमिति दूषयति— **उच्यत** इति । सर्वप्रमाणानुसारिणो मतस्य न तद्विरोधितेत्याक्षिपति— **कथमि**ति । वैशेषिकमतस्य सर्वप्रमाणविरोधं प्रकटयन्नादौ तन्मतमनुवदति- **यदी**ति । असतो जन्म सतश्च नाश इति स्थिते फलितमाह— **तथा** चेति । उक्तमेव वाक्यं व्याकरोति— **अभाव** इति । सदेवासत्त्वमापद्यत इत्युक्तं व्याचष्टे— **भावश्चे**ति । इति मतमिति शेषः ।

**१ शां. भा.—** तत्राभावो जायमानः प्रागुत्पत्तेः शशविषाणकल्पः समवाय्यसमवायिनिमित्ताख्यं कारणमपेक्ष्य जायत इति । न चैवमभाव उत्पद्यते कारणं वाऽपेक्ष्यत इति शक्यं वक्तुं, असतां शशविषाणादीनामदर्शनात् । भावात्मकाश्चेद्घटादय उत्पद्यमानाः किञ्चिदभिव्यक्तिमात्रकारणमपेक्ष्योत्पद्यन्त इति शक्यं प्रतिपत्तुम् । किञ्चासतश्च सद्भावे सतश्चासद्भावे न क्वचित्प्रमाणप्रमेयव्यवहारे विश्वासः कस्यचित्स्यात् । सत्सदेव, असदसदेवेतिनिश्चयानुपपत्तेः ।

**२ आ. शां. व्या.—** तत्रैवाभ्युपगमान्तरमाह- **तत्रे**ति । प्रकृतं मतं सप्तम्यर्थः । इत्यभ्युपगम्यत इति शेषः । परकीयमभ्युपगमं दूषयति—**न चे**ति । एवमिति परपरिभाषानुसारेणेत्यर्थः । अदर्शनादुत्पत्तेरपेक्षायाश्चेति शेषः । कथं तर्हि त्वन्मतेऽपि घटादीनां कारणापेक्षाणामुत्पत्तिः ? न हि भावानां कारणापेक्षोत्पत्तिर्वा युक्तेति तत्राऽऽह— **भावे**ति । घटादीनामस्मत्पक्षे प्रागपि कारणात्मना सतामेवाव्यक्तनामरूपाणामभिव्यक्तिसामग्रीमपेक्ष्य पृथगभिव्यक्तिसम्भवान्न किञ्चिदवद्यमित्यर्थः । असत्कार्यवादे दोषान्तरमाह— **किञ्चे**ति । परमते मानमेयव्यवहारे क्वचिदपि विश्वासो न कस्यचिदित्यत्र हेतुमाह— **सत्सदेवे**ति । न हि सत्तथैवेति निश्चितं तस्यैव पुनरसत्त्वप्राप्तेरिष्टत्वात्, न चासत्तथैवेति निश्चयस्तस्यैव सत्त्वप्राप्तेरुपगमात्; अतो यन्मानेन सदसद्वा निर्णीतं तत्तथेति विश्वासाभावान्मानवैफल्यमित्यर्थः ।

**१ शां. भा.—** किञ्चोत्पद्यत इति द्व्यणुकादेर्द्रव्यस्य स्वकारणसत्तासम्बन्धमाहुः । प्रागुत्पत्तेश्चासत्, पश्चात्स्वकारणव्यापारमपेक्ष्य स्वकारणैः परमाणुभिः सत्तया च समवायलक्षणेन सम्बन्धेन सम्बध्यते । सम्बद्धं सत् कारणसमवेतं सद्भवति । तत्र वक्तव्यं कथमसतः सत्कारणं भवेत्सम्बन्धो वा केनचित्? नहि वन्ध्यापुत्रस्य सता सम्बन्धो वा कारणं वा केनचित्प्रमाणतः कल्पयितुं शक्यम् ।

**२ आ. शां. व्या.—** इतश्चासत्कार्यवादो न युक्तिमानित्याह— **किञ्चे**ति । तदेव हेत्वन्तरं स्फोरयितुं परमतमनुवदति— **उत्पद्यत इती**ति । परकीयं वचनमेव व्याचष्टे— **प्रागि**ति । सम्बद्धं सदित्यनेन कारणसम्बन्धे सति कार्यस्य सत्तासम्बन्धो भवतीत्युक्तं तदेव स्फुटयति— **कारणे**ति । परमतमेवमनुभाष्य दूषयति— **तत्रे**ति । कार्यस्यासतोऽपि कारणं सम्भवति तस्य च कार्येण सम्बन्धः सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **न ही**ति । असत्त्वादेवासतः सम्बन्धाभावे कारणस्य सतोऽपि न तेन सम्बन्धोऽनुमातुं शक्यते सदसतोः सम्बन्धासम्भवादित्यर्थः ।

**१ शां. भा.—** ननु नैवं वैशेषिकैरभावस्य सम्बन्धः कल्प्यते, द्व्यणुकादीनां हि द्रव्याणां स्वकारणेन समवायलक्षणः सम्बन्धः सतामेवोच्यत इति । न; सम्बन्धात्प्राक्सत्त्वानभ्युपगमात् । नहि वैशेषिकैः कुलालदण्डचक्रादिव्यापारात्प्राग्घटादीनामस्तित्वमिष्यते । न च मृद एव घटाद्याकारप्राप्तिमिच्छन्ति । ततश्चासत एव सम्बन्धः पारिशेष्यादिष्टो भवति ।

**२ आ. शां. व्या.—** कार्यस्यात्यन्तासत्त्वानभ्युपगमात् कारणसम्बन्धः स्यादिति शङ्कते— **नन्वि**ति । सतामेव द्व्यणुकादीनां कारणसम्बन्धं शङ्कितं दूषयति— **न; सम्बन्धा**दिति । अनभ्युपगममेव विशदयति— **न ही**ति । सदेव कारणं कार्याकारमापद्य कार्यव्यवहारं निर्वहतीत्यभ्युपगमात्रास्ति सम्बन्धानुपपत्तिरित्याशङ्क्यापराद्धान्तान्मैवमित्याह- **न चे**ति । कार्यस्य कारणसम्बन्धात्पूर्वं सत्त्वाभावे परिशेषसिद्धमर्थं दर्शयति — **ततश्चे**ति । तत्र चानुपपत्तिरुक्तेति शेषः ।

**१ शां. भा.—** नन्वसतोऽपि समवायलक्षणः सम्बन्धो न विरुद्धः, नः वन्ध्यापुत्रादीनामदर्शनात् । घटादेरेव प्रागभावस्य स्वकारणसम्बन्धो भवति, न वन्ध्यापुत्रादेः; अभावस्य तुल्यत्वेऽपीति विशेषोऽभावस्य वक्तव्यः । एकस्याभावो द्वयोरभावः सर्वस्याभावः प्रागभावः प्रध्वंसाभाव इतरेतराभावोऽत्यन्ताभाव इति लक्षणतो न केनचिद्विशेषो दर्शयितुं शक्यः । असति च विशेषे घटस्य प्रागभाव एव कुलालादिभिर्घटभावमापद्यते, सम्बध्यते च भावेन कपालाख्येन स्वकारणेन, सर्वव्यवहारयोग्यश्च भवति, न तु घटस्यैव प्रध्वंसाभावोऽभावत्वे सत्यपीति प्रध्वंसाद्यभावानां न क्वचिद्व्यवहारयोग्यत्वं, प्रागभावस्यैव द्व्यणुकादिद्रव्याख्यस्योत्पत्त्यादिव्यवहारार्हत्वमित्येतदसमञ्जसं, अभावत्वाविशेषादत्यन्तप्रध्वंसाभावयोरिव ।

**२ आ. शां. व्या.—** सम्बन्धिनोः सदसतोरेवासंयोगेऽपि समवायः सदसतोः सम्भवेदिति तस्य नित्यत्वादन्यतरसम्बन्धाभावेऽपि स्थितेरावश्यकत्वादिति शङ्कते— **नन्विति** । सदसतोर्मिथः सम्बन्धस्यादृष्टत्वान्नेति निराचष्टे— **न; वन्ध्येति** । घटादिप्रागभावस्यात्यन्ताभावत्वाभावाद्वन्ध्यापुत्रादिविलक्षणतया स्वकारणसम्बन्धः सिध्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **घटादेरिति** । उभयत्राभावस्वभावाविशेषेऽपि कस्यचित्कारणसम्बन्धो नेतरस्येति विशेषे हेत्वभावान्न प्रागभावस्य कारणसम्बन्धः सम्भवतीत्यर्थः । घटादिप्रागभावस्य सप्रतियोगिकत्वं वन्ध्यापुत्रादेर्नैवमिति विशेषमाशङ्क्य दूषयति— **एकस्येति** । प्रागभावस्येव प्रध्वंसाभावादेरपि सम्प्रतियोगिकत्वाविशेषे स्वकारणेन सम्बन्धाविशेषः स्यादित्यर्थः । प्रागभावप्रध्वंसाभावयोर्विशेषाभावे फलितमाह— **असति चेति** । कपालशब्दो घटकारणीभूतमृदवयवविषयः, सर्वो व्यवहारो घटाश्रितो जन्मनाशादिव्यवहारः । प्रध्वंसाभावस्तु घटस्यैवाभावत्वे सत्यपि न घटत्वमापद्यते, नापि कारणेन सम्बध्यते, न चोत्पत्त्यादिव्यवहारयोग्यो भवतीत्येतदयुक्तं प्रागभावेनास्य विशेषाभावादित्याह— **न त्विति** । असमञ्जसमित्यनेनेतिशब्दः सम्बध्यते । असमञ्जसान्तरमाह— **प्रध्वंसादीति** । अन्योन्याभावात्यन्ताभावावादिपदार्थौ । क्वचिदिति देशकालयोर्ग्रहणं, व्यवहारो जन्मादिरेव, प्रागभावो नोत्पत्त्यादिव्यवहारयोग्योऽभावत्वात् प्रध्वंसादिवदित्यर्थः ।

**१ शां. भा.—** ननु नैवास्माभिः प्रागभावस्य भावापत्तिरुच्यते । भावस्यैव हि तर्हि भावापत्तिः, यथा घटस्य घटापत्तिः, पटस्य वा पटापत्तिः । एतदप्यभावस्य भावापत्तिवदेव प्रमाणविरुद्धम् । साङ्ख्यस्यापि यः परिणामपक्षः सोऽप्यपूर्वधर्मोत्पत्तिविनाशाङ्गीकरणाद्वैशेषिकपक्षान्न विशिष्यते । अभिव्यक्तितिरोभावाङ्गीकरणेऽप्यभिव्यक्तितिरोभावयोर्विद्यमानत्वाविद्यमानत्वनिरूपणे पूर्ववदेव प्रमाणविरोधः । एतेन कारणस्यैव संस्थानमुत्पत्त्यादीत्येतदपि प्रत्युक्तम् ।

**२ आ. शां. व्या.—** प्रागभावस्य घटभावानभ्युपगमादनुमानं सिद्धसाधनमिति शङ्कते— **नन्विति** । अभावस्य भावापत्त्यनभ्युपगमे भावस्यैव भावापत्तिरित्यनिष्टं स्यादिति दूषयति— **भावस्यैवेति** । तस्य तदापत्तेरयोग्यत्वे दृष्टान्तमाह— **यथेति** । भावस्य भावापत्तिरनिष्टेति दार्ष्टान्तिकं स्पष्टयति— **एतदपीति** । आरम्भवादोक्तं दोषं परिणामवादेऽपि सञ्चारयति— **साङ्ख्यस्येति** । धर्मः परिणामः । असतोऽपूर्वपरिणामस्योत्पत्तेः सतश्च पूर्वपरिणामस्य नाशादसदसदेव, सच्च सदेवेति व्यवस्थाऽत्रापि दुर्घटेत्यर्थः । ननु कार्यं कारणात्मना प्रागपि सदेवाव्यक्तं कारकव्यापाराद्व्यज्यते तेन व्यक्त्यव्यक्त्योर्जन्मनाशव्यवहारान्मतान्तराद्विशेषसिद्धिस्तत्राऽऽह— **अभिव्यक्तीति** । कारकव्यापारात्प्रागनभिव्यक्तिवदभिव्यक्तेः सत्त्वमसत्त्वं वा ? सत्त्वे कारकव्यापारवैयर्थ्यात्तद्विषयप्रमाणविरोधः; द्वितीये पक्षान्तरवदत्यन्तासतस्तन्निर्वर्त्यत्वायोगे स एव दोषः; कारकव्यापारादूर्ध्वं व्यक्तिवदव्यक्तेरपि सत्त्वे स एव दोषः । असत्त्वेऽपि सतोऽसत्त्वानङ्गीकारान्मानमेयव्यवहारे न क्वापि विश्वासः; सत्सदेव, असदसदेवेत्यनिर्धारणादित्यर्थः । साङ्ख्यपक्षप्रतिक्षेपन्यायेन पक्षान्तरमपि प्रतिक्षिप्तमित्याह— **एतेनेति** । कारणस्यैव कार्यरूपापत्तिरुत्पत्तिस्तस्यैव तद्रूपत्यागेन स्वरूपापत्तिर्नाश इत्येतदपि न पूर्वरूपे स्थिते नष्टे च परस्य पररूपापत्तेरनुपपत्तेर्न च प्राप्तं रूपं स्थितेन नष्टेन वा त्युक्तुं शक्यमित्यर्थः ।

**१ शां. भा.—** पारिशेष्यात्सदेकमेव वस्तु अविद्ययोत्पत्तिविनाशादिधर्मैर्नटवदनेकधा विकल्प्यत इतीदं भागवतं मतमुक्तं 'नासतो विद्यते भावः' [ २।१६ ] इत्यस्मिञ्श्लोके । सत्प्रत्ययस्याव्यभिचारात्, व्यभिचाराच्चेतरेषामिति । कथं तर्हि आत्मनोऽविक्रियत्वेऽशेषतः कर्मणस्त्यागो नोपपद्यते ? इति । तद्धि वस्तु-

भूता गुणा यदि वाऽविद्याकल्पितास्तद्धर्मः कर्म । तदाऽऽत्मन्यविद्याध्यारोपितमेवेत्यविद्वान् 'नहि कश्चित् क्षणमप्यशेषतस्त्यक्तुं शक्नोति ' [ ३।५ ] इत्युक्तम् । विद्वांस्तु पुनर्विद्ययाऽविद्यायां निवृत्तायां शक्नोत्येवाशेषतः कर्म परित्यक्तुं, अविद्याध्यारोपितस्य शेषानुपपत्तेः । नहि तैमिरिकदृष्ट्याऽध्यारोपितस्य द्विचन्द्रादेस्तिमिरापगमे शेषोऽवतिष्ठते । एवं च सतीदं वचनमुपपन्नं ' सर्वकर्माणि मनसा ' [ ५।१३ ] इत्यादि । ' स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ' [ १८।४५ ] ' स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ' [ १८।४६ ] इति च ॥ ४८ ॥

२ आ. शां. व्या.— आरम्भवादे परिणामवादेषु चोत्पत्त्यादिव्यवहारानुपपत्तौ परिशेषायातं दर्शयति— **पारिशेष्यादि**ति । एकस्यानेकविधविकल्पानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह— **अविद्यये**ति । अस्यापि मतस्य भगवन्मतानुरोधित्वाभावादविशिष्टा त्याज्यतेत्याशङ्क्याऽऽह— **इतीदमि**ति । उक्तमेव भगवन्मतं विशदयति— **सत्प्रत्ययस्ये**ति । सदेकमेव वस्तु स्यादिति शेषः । इतरेषां विकारप्रत्ययानां रजतादिधीवदर्थव्यभिचारादविद्यया तदेव सद्वस्त्वनेकधा विकल्प्यत इत्याह— **व्यभिचाराच्चे**ति । इति मतं श्लोके दर्शितमिति सम्बन्धः । आत्मनश्चेदविक्रियत्वं भगवतेष्टं तर्हि सर्वकर्मपरित्यागोपपत्तेः सहजस्यापि कर्मणस्त्यागसिद्धिरिति शङ्कते— **कथमि**ति । किं कार्यकारणात्मनां गुणानामकल्पितानां कल्पितानां वा कर्म धर्मत्वेनेष्टं ? द्विधाऽपि निश्शेषकर्मत्यागोऽविदुषो विदुषो वा ? नाऽऽद्य इत्याह— **यदी**त्यादिना । अविद्यारोपितमेव गुणशब्दितकार्यकारणारोपद्वारा कर्मेति शेषः । द्वितीयं प्रत्याह— **विद्वांस्त्वि**ति । आरोपशेषवशाद्विदुषोऽपि नाशेषकर्मत्यागसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **अविद्ये**ति । तामेवानुपपत्तिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति— **न ही**ति । विदुषोऽशेषकर्मत्यागे पाश्चमिकमपि वचोऽनुकूलमित्याह— **एवं चे**ति । अविदुषः सर्वकर्मत्यागायोगे च प्रकृताध्यायस्थमेव वाक्यमनुगुणमित्याह— **स्वे स्व** इति । वाक्यान्तरमपि तत्रैवार्थे युक्तार्थमित्याह— **स्वकर्मणे**ति ॥ ४८ ॥

३ रा. भा.— अतः सहजत्वेन सुकरमप्रमादं च कर्म सदोषं सदुःखमपि न त्यजेत्; ज्ञानयोगयोग्योऽपि कर्मयोगमेव कुर्वीतेत्यर्थः । सर्वारम्भाः कर्मारम्भाः ज्ञानारम्भाश्च हि दोषेण दुःखेन धूमेनाग्निरिवावृताः । इयांस्तु विशेषः— कर्मयोगः सुकरोऽप्रमादश्च, ज्ञानयोगस्तद्विपरीतः— इति ॥ ४८ ॥

४ वे. ता. चं.— **सहजत्वेन** वासनानियतत्वादित्यर्थः । ततः कथं त्याज्यत्वाभावः ? इत्यत्राऽऽह **सुकरमि**ति । दोषशब्देन पापविवक्षा न युक्ता, विहिते तदयोगात्; तथा च ' न त्यजेत् ' इति न युक्तं, पापांशस्य सर्वैः परित्याज्यत्वात्; अतः कायक्लेशादिमात्रगर्भत्वमिह सदोषत्वमित्युच्यते । तावन्मात्रेऽप्यलसानां त्याज्यताबुद्धिः स्यादित्यभिप्रायेणाऽऽह **सदुःखमपी**ति । एतेन कापिलमतान्वारोहेण ' सदोषमपि ' इत्यनुवाद इति व्याख्यान्तरं निरस्तम् । मुमुक्षोः कथं शास्त्रीये श्रेयस्त्वेन चोक्ते क्षुद्रक्लेशासहत्वेन त्याज्यताबुद्धिः ? अतः प्रसङ्गाभावात् प्रतिषेधो न युक्त इत्यत्राऽऽह— **ज्ञानयोगयोग्योऽपी**ति । अपिशब्दोऽन्यस्य कैमुत्यज्ञापनार्थः । अक्लेशोपायदर्शने स्वाधिकारमप्रतिसन्धाय तत्र प्रवृत्तिः स्यादिति ततो नियम्यत इत्यर्थः । सदुःखत्वनिर्दुःखत्वलक्षणवैषम्यमन्वारुह्याप्रमादत्वादिभिर्नियम उक्तः । अथ सदुःखत्वमपि द्वयोः समानमित्युच्यते ' सर्वारम्भा हि ' इत्यर्धेन । **कर्मारम्भाः ज्ञानारम्भाश्चे**त्यनेन सर्वशब्दस्यात्र प्रकृतशास्त्रीयकात्स्न्र्यपरत्वमाह । दुःखसाम्ये सति किमन्यतरनियमेन ? कथं च न तत्तस्य हेतुः ? इत्यत्राऽऽह— **इयानि**ति । कर्मारम्भेषु कायक्लेशमात्रं, ज्ञानारम्भेषु त्वत्यासन्नत्वेऽपि कफोणिगुडायमानप्रत्यग्विषयान्वेषणेन इन्द्रियमनोनियमनप्रयासो दुःखात्मक इति भावः ॥ ४८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ४८ ॥

६ ज. प्र दी.— ॥ ४८ ॥

७ ह. पै. भा.— किञ्चान्यत्— **सहजमि**ति । आरभ्यन्त इत्यारम्भाः सर्वारम्भाः सर्वाणि कर्माणि हि यस्मात्त्रिगुणत्वाद्दोषेणाऽऽवृता धूमदोषेणाग्निरिवाऽऽवृताः । तस्मात्सदोषमपि स्वधर्मं त्यक्त्वा परधर्मानुष्ठानेऽपि तस्यानुष्ठीयमानस्य तामसदोषयुक्तत्वाद्दोषान्न मुच्यते ॥ ४८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— हेत्वन्तरेणापि स्वधर्मश्रेयस्त्वं दर्शयति— **सहजमि**ति । सहजं स्वभावजं कर्म सदोषमपि न त्यजेत् । अपिशब्दात् दोष एवोक्तरीत्या नास्ति; सत्यपि दोषे न त्यजेदित्येतद्दर्शितम् । अन्यच्च सहजं कर्म सदोषमपीत्यनेन प्रदर्श्यते— स्वभावसिद्धं हि कर्म दुष्टमपि यस्य स्वभावसिद्धं तस्य दोषाय न भवति, यथा विषजातस्य क्रिमेः सहजं विषं न मरणाय भवतीति । यद्येवं स्थितेऽपि स्वधर्मे दोषं मत्वा परधर्ममेव बहुमन्यसे, तदा परधर्मेऽपि दोषस्तुल्य-

इत्याह— सर्वारम्भा इति। हि यस्मात् सर्वारम्भाः सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थरूपाणि धूमेनाग्निरिव दोषेण केनचिदावृता व्याप्ताः । न हि त्रिगुणात्मके वस्तुन्यदुष्टं किञ्चिदस्तीति भावः ॥ ४८ ॥

९ ब० त० दी०— यदि पुनः साङ्ख्यदृष्ट्या स्वधर्मे हिंसालक्षणं दोषं मत्वा परधर्मं श्रेयांसं मन्यसे तर्हि परधर्मेऽपि सदोषत्वं तुल्यमेव भवतीत्यतः कर्मनिष्ठैव ज्यायसीति पूर्वोक्तं स्मारयति— सहजमिति। भगवता वर्णोद्भावेन सहैव सृष्टम् 'मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह' इति भागवतात् [ ११।५।२ ] सहजं कर्म सदोषमपि न त्यजेत्। ज्ञानित्वेऽपि कर्मकरणं श्रेयः लोकसङ्ग्रहस्य सिद्धत्वात्। यद्वा दोषपदं दुःखवचनम्, तथा च सर्वस्य ज्ञानस्य कर्मणो वाऽऽरम्भाः पूर्वं दुःखेनावृताः हीत्युक्तम्। यतः 'यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमं' [ १८।३७ ] इति। तत्र दृष्टान्तः- धूमेनावृतः पूर्वमग्निरिवान्ते प्रकाश एवेति तथेति ॥ ४८ ॥

१० पु. अ. त.— यतो त्रिगुणोऽपि भगवद्धर्मः श्रेष्ठः, अतो भगवत्कर्म न त्याज्यमित्याह— सहजमिति । हे कौन्तेय ! स्त्रीत्वदोषसाहित्येऽपि भक्तगुणानुगृहीत ! सहजं स्वाभाविकं भगवत्क्रीडेच्छया सह जातं कर्म सदोषमपि लौकिकमपि पुरुषं स्वस्मिन् प्रवृत्तिं न त्यजेत्। अतः सर्वथा सिद्धिप्रापकं कुर्यादेवेत्यर्थः । कुतो न त्यजेदित्यत आह— सर्वेति। हि निश्चयेन सर्वारम्भाः धूमेन अग्निरिव दोषेण मत्सम्बन्धाभावरूपेण आवृताः, अतस्तानि स्वदोषेणैव त्यागं कारयन्ति यथा धूमावृतोऽग्निरार्द्रेन्धनं नाग्नितां सम्पादयति, धूमावृतत्वान्न सुखसेव्यो भवति, निर्धूमस्तु तद्विपरीतत्वात्तथात्वं करोति, एवं मत्कर्माऽपि निर्दोषत्वान्न त्यजेदिति भावः ॥ ४८ ॥

११ नी० भा० दी०— किञ्च सहजं स्वाभाविकं क्षात्रं कर्म सदोषं हिंसामिश्रमपि न त्यजेत्। हि यस्मात् सर्वारम्भाः सर्वाणि कर्माणि दोषेण हिंसादिना आवृता एव । यस्माच्च परधर्मो भयावहस्तस्मात्स्वकर्म न त्यजेदित्यर्थः ॥ ४८ ॥

विद्वत्सन्न्यासेन ज्ञाननिष्ठारूपाया नैष्कर्म्यसिद्धेः प्राप्त्युपायः ।

**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।**
**नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥**

**१ शां. भा.**— या च कर्मजा सिद्धिरुक्ता ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणा, तस्याः फलभूता नैष्कर्म्यसिद्धिर्ज्ञाननिष्ठालक्षणा च वक्तव्येति श्लोक आरभ्यते— असक्तेति। असक्तबुद्धिः, असक्ता सङ्गरहिता बुद्धिरन्तःकरणं यस्य सोऽसक्तबुद्धिः, सर्वत्र पुत्रदारादिष्वासक्तिनिमित्तेषु जितात्मा जितो वशीकृत आत्माऽन्तःकरणं यस्य स जितात्मा, विगतस्पृहो विगता स्पृहा तृष्णा देहजीवितभोगेषु यस्मात्स विगतस्पृहः; य एवम्भूत आत्मज्ञः स नैष्कर्म्यसिद्धिं निर्गतानि कर्माणि यस्मान्निष्क्रियब्रह्मात्मसम्बोधात्स निष्कर्मा, तस्य भावो नैष्कर्म्यं, नैष्कर्म्यं च तत्सिद्धिश्च सा नैष्कर्म्यसिद्धिर्नैष्कर्म्यस्य वा सिद्धिर्निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिर्निष्पत्तिस्तां नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां प्रकृष्टां कर्मजसिद्धिविलक्षणां सद्योमुक्त्यवस्थानरूपां सन्न्यासेन सम्यग्दर्शनेन तत्पूर्वकेण वा सर्वकर्मसन्न्यासेनाधिगच्छति प्राप्नोति । तथा चोक्तं— 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्य नैव कुर्वन्न कारयन्नास्ते' [ ५।१३ ] इति ॥ ४९ ॥

२ आ. शां. व्या.— विदुषः सर्वकर्मत्यागेऽपि नाविदुषस्तथेत्युक्तम्, इदानीमुक्तमनूद्यानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह— या च कर्मजेति । चोऽवधारणार्थो भिन्नक्रमो वक्तव्येत्यत्र सम्बध्यते । साधनान्युपदिशन्नैष्कर्म्यसिद्धिं व्यपदिशति— असक्तेति। पुत्रादिविषये चेतसः सङ्गाभावेऽपि तस्यास्वाधीनत्वमाशङ्क्याऽऽह— जितात्मेति । असक्तिमुक्त्वा स्पृहाभावं वदता पुनरुक्तिरिष्टेत्याशङ्क्याऽऽह— देहेति। उक्तमनूद्य तत्फलं लम्भयति— य एवमिति । कर्मणां निर्गतौ हेतुमाह— निष्क्रियेति । सम्यग्ज्ञानार्थत्वेन नैष्कर्म्यसिद्धिशब्दं व्याख्यायार्थान्तरमाह— नैष्कर्म्यस्येति । प्रकर्षमेव प्रकटयति— कर्मजेति । सन्न्यासस्य श्रुतिस्मृत्योः सम्यग्दर्शनत्वाप्रसिद्धेरयुक्तं तादात्म्यमित्याशङ्क्य पक्षान्तरमाह— तत्पूर्वकेणेति । सन्न्यासान्नैष्कर्म्यप्राप्तिरित्यत्र वाक्योपक्रमानुकूल्यमाह— तथा चेति ॥ ४९ ॥

३ रा. भा.— सर्वत्र फलादिष्वसक्तबुद्धिः, जितात्मा जितमनाः, परमपुरुषकर्तृत्वानुसन्धानेनात्मकर्तृत्वे विगतस्पृहः, एवं त्यागादनन्यत्वेन निर्णीतेन सन्न्यासेन युक्तः कर्म कुर्वन् परमां नैष्कर्म्यसिद्धिमधिगच्छति, परमां ध्याननिष्ठां ज्ञानयोगस्यापि फलभूतामधिगच्छतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणध्यानयोगावाप्तिं सर्वेन्द्रियकर्मोपरतिरूपामधिगच्छति ॥ ४९ ॥

४ वे. ता. चं.— 'सर्वत्रासक्तबुद्धिः' इत्युक्तेऽपि पुनः 'विगतस्पृहः' इत्येतत्फलसङ्गनिवृत्तिरूपत्यागसहपठितकर्तृत्वत्यागविषयत्वौचित्यात् स्वप्नादिष्वपि स्वात्मनि कर्तृत्वानुसन्धानप्रसङ्गनिवृत्तिरूपत्यागकाष्ठाविवक्षयेत्याह **आत्मकर्तृत्वे विगतस्पृह** इति । 'सन्न्यासेनाधिगच्छति' इति न ज्ञानयोगादिपरं, 'कर्म न त्यजेत्' इति प्रकृतानन्वयात्, अध्यायारम्भोक्तसन्न्यासविषयत्वौचित्याच्चेत्यभिप्रायेणाऽऽह **एवं त्यागादनन्यत्वेन निर्णीतेने**ति । अत्र नैष्कर्म्यसिद्धिशब्दो न मोक्षविषयः 'सिद्धिं प्राप्तः' इत्यादिना पुनः कर्तव्यविधानात्, नापि ज्ञानयोगमात्रविषयः, 'परमाम्' इति विशेषणानैष्कर्म्यशब्दमात्रेण च तद्विवक्षोपपत्तेः । अतोऽत्र ज्ञाननिष्ठाफलप्रारम्भो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाऽऽह **परमां ध्याननिष्ठामिति** । 'नैष्कर्म्यसिद्धिम्' इति समासवशात्परमत्वविशेषणशक्त्या वा सिद्धिं विवृणोति— **ज्ञानयोगस्यापि फलभूतामिति** । उक्तार्थपरत्वमुत्तरग्रन्थानुगुण्येनाऽऽह— **वक्ष्यमाणध्यानयोगावाप्तिमि**त्यादिना । निर्गतकर्मा निष्कर्मा, तस्य भावो नैष्कर्म्यमिति व्युत्पत्तिं व्यनक्ति **सर्वेन्द्रियकर्मोपरतिरूपामिति** ॥ ४९ ॥

५ आ. मा. भा.— नैष्कर्म्यसिद्धिं, नैष्कर्म्यफलां योगसिद्धिम् ॥ ४९ ॥

६ ज. प्र. दी.— नैष्कर्म्यसिद्धिं मोक्षमिति केचित्, तदसत्; तदनन्तरं मां विशते इति वाक्यशेषविरोधादिति भावेनान्यथा व्याचष्टे— **नैष्कर्म्ये**ति । नैष्कर्म्यार्था सिद्धिः नैष्कर्म्यसिद्धिः । सा च योगस्येत्यर्थः ॥ ४९ ॥

७ ह. पै. भा.— अशक्तेति । इदं नष्टं चेन्नष्टोऽहमिति सक्ता निषण्णा बुद्धिर्यस्य नास्ति सोऽसक्तबुद्धिः । सर्वत्र कर्मसु तत्फलेषु पुत्रमित्रकलत्रादिषु चासक्तबुद्धिः । निर्गतानि कर्माणि यस्मात् मायामरीच्युदकगन्धर्वनगरद्विचन्द्रदिङ्मोहादिषु शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावपरमात्मस्वरूपलाभात्मा निष्कर्मा, तस्य भावो नैष्कर्म्यं, तस्य निष्क्रियात्मस्वरूपावस्थानलक्षणस्य सिद्धिं निष्पत्तिं परमां प्रकृष्टां पुत्रमित्रकलत्रादिबाह्येभ्यः । तथाच श्रुतिः— "आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसञ्ज्वरेत्" [ बृ. उ. ४।४।१२ ] इति । 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति स्मृतिः । अतस्तां सिद्धिं सन्न्यासेनाधिगच्छति ॥ ४९ ॥

८ वे. ब्र. गि.— इत्थं गौणसन्न्यासं निरूप्य 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म' [ १८।१० ] इति प्रागुक्तं तत्फलभूतं विद्वत्सन्न्यासमाह— **असक्ते**ति । एवं निरूपितेन सात्त्विकत्यागरूपेण गौणसन्न्यासेन हेतुना दुरितक्षये सति, गतस्पृहो वीतरागमलः, तत एव हेतोर्विजितात्मा विषयेभ्यः प्रत्याहरणेन वशीकृतान्तःकरणः, ततो हेतोः सर्वत्र पुत्रदारादिष्वासक्तिनिमित्तेष्वपि 'अहमेषां, ममैते' इत्यासङ्गरहितबुद्धिः सन् परमां श्रेष्ठां नैष्कर्म्यसिद्धिम्, निष्कर्म ब्रह्म, तद्विषयं ज्ञानं नैष्कर्म्यं सर्वकर्मसन्न्यासात्मकज्ञाननिष्ठा, तद्रूपां सिद्धिं अधिगच्छति, साधनपरिपाकेण प्राप्नोतीत्यर्थः । यद्वा गतस्पृहो विजितात्मा असक्तबुद्धिः सन्नुपजातब्रह्मविविदिषस्तद्वेदनसाधनवेदान्तविचारहेतुचित्तशुद्धिलाभाद्वैतुष्यसिद्धावनवहननस्येव शुद्धिसाधकसर्वकर्मकलापस्य त्यागलक्षणेन विविदिषासन्न्यासेन श्रवणादिप्रणाड्या नैष्कर्म्यसिद्धिमधिगच्छतीति योजनीयम् ॥ ४९ ॥

९ ब० त० दी०— पूर्वोक्तप्रकारमेव पुनरनुस्मारयति— **असक्तबुद्धिरिति** । सर्वकर्मणां फलादिषु सक्तिरहितं चित्तं यस्येत्यर्थे साङ्ख्यमुपादेयम् । जितात्मा विगतस्पृह इति योगसारं, भगवद्व्यतिरिक्ते स्पृहारहित इति वा भक्तिरुपादेयतयोक्ता । एवं सन्न्यासेन परमां सिद्धिं नैष्कर्म्यरूपां पूर्वसूत्रितामधिगच्छति ॥ ४९ ॥

१० पु. अ. त.— यतो मत्कर्म सदोषमपि न त्यजेत्, अन्यानि च स्वफलभोगं कारयित्वा त्यजन्ति ततः स्वयमेव तत्त्यागः कर्त्तव्यस्तेन च सिद्धिं प्राप्नुयादित्याह— **असक्तेति** । सर्वत्र सर्वकर्मादिषु असक्तबुद्धिः असक्ता न संसक्ता बुद्धिर्यस्य तादृशः, जितात्मा वशीकृतान्तःकरणः, विगतस्पृहः फलाभिलाषरहितः सन्न्यासेन परमामुत्कृष्टां नैष्कर्म्यसिद्धिं कर्मनिवृत्तिफलरूपां सिद्धिं अधिगच्छति प्राप्नोतीत्यर्थः । आसक्त्याद्यभिलाषान्ताभावकथनेनैतद्युक्तस्त्यागेनाऽपि सिद्धिं न प्राप्नोति तत्कर्मनिष्ठैव भवतीति व्यञ्जितम् ॥ ४९ ॥

११ नी० भा० टी०— स्वकर्मणामीश्वरे समर्पणं कर्तव्यमित्युक्त्वाऽनन्तरश्लोकद्वयेन स्वकर्मणामावश्यकत्वमुक्त्वा तेषां परमेश्वरेऽर्पणेन किं फलं स्यात् ? इत्यत आह— असक्तेति । सन्न्यासेन 'कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ! । सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः' [ १८।९ ] इति पूर्वोक्तेनामुख्यसात्त्विकत्यागेन असक्तबुद्धिः पुत्रदारादिषु सक्तिपदेष्वासक्तिवर्जिता बुद्धिर्यस्य सोऽसक्तबुद्धिः, विरक्त इत्यर्थः । अतएव जितात्मा शान्तचित्तः । विगतस्पृहः विशेषेण गता स्पृहा तृष्णा यस्य तादृशो भूत्वा नैष्कर्म्यसिद्धिं कार्त्स्न्येन स्वरूपतः कर्मत्यागलक्षणां पारिव्राज्यसिद्धिं परमां पूर्वोक्तां मुख्यत्यागापेक्षयाऽतिश्रेष्ठां 'न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म' [ १८।१० ] इति श्लोके व्याख्यातां अधिगच्छति प्राप्नोति ॥ ४९ ॥

ज्ञाननिष्ठायाः प्राप्त्युपायकथनम् ।

**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाऽऽप्नोति निबोध मे ।**
**समासेनैव कौन्तेय ! निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥ ५० ॥**

**१ शां. भा.**— पूर्वोक्तेन स्वकर्मानुष्ठानेनेश्वराभ्यर्चनरूपेण जनितां प्रागुक्तलक्षणां सिद्धिं प्राप्तस्योत्पन्नात्मविवेकज्ञानस्य केवलात्मज्ञाननिष्ठारूपा नैष्कर्म्यलक्षणा सिद्धिर्येन क्रमेण भवति तद्वक्तव्यमित्याह— **सिद्धिमिति** । सिद्धिं प्राप्तः स्वकर्मणेश्वरं समभ्यर्च्य तत्प्रसादजां कायेन्द्रियाणां ज्ञाननिष्ठायोग्यतालक्षणां सिद्धिं प्राप्तः । 'सिद्धिं प्राप्तः' इति तदनुवाद उत्तरार्थः । किं तदुत्तरं यदर्थोऽनुवादः ? इत्युच्यते— यथा येन प्रकारेण ज्ञाननिष्ठारूपेण ब्रह्म परमात्मानमाप्नोति तथा तं प्रकारं ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिक्रमं मे मम वचनान्निबोध त्वं निश्चयेनावधारयेत्येतत् । किं विस्तरेण? नेत्याह— समासेनैव सङ्क्षेपेणैव हे कौन्तेय ! यथा ब्रह्म प्राप्नोति तथा निबोधेति । अनेन या प्रतिज्ञाता ब्रह्मप्राप्तिस्तामिदन्तया दर्शयितुमाह— निष्ठा ज्ञानस्य या परेति । निष्ठा पर्यवसानं परिसमाप्तिरित्येतत् । कस्य ? ब्रह्मज्ञानस्य या परा परिसमाप्तिः । कीदृशी सा? यादृशमात्मज्ञानम् । कीदृक्तत् ? यादृश आत्मा । कीदृशोऽसौ ? यादृशो भगवतोक्त उपनिषद्वाक्यैश्च न्यायतश्च ।

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानप्राप्तियोग्यतावतो जातसम्यग्धियस्तत्फलप्राप्तौ मुक्तावुक्तायां वक्तव्यशेषो नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **पूर्वोक्तेनेति** । क्रमाख्यं वस्तु तदित्युच्यते । 'सिद्धिं प्राप्तः' इत्युक्तमेव कस्मादनूद्यते ? तत्राऽऽह— **तदनुवाद** इति । उत्तरमेव प्रश्नपूर्वकं स्फोरयति— **किं तदि**त्यादिना । ज्ञाननिष्ठाप्राप्तिक्रमस्य विस्तरेणोक्तौ दुर्बोधत्वमाशङ्क्य परिहरति— **किमिति** । चतुर्थपादस्य पूर्वेणासङ्गतिमाशङ्क्याऽऽह— **यथेति** । निष्ठायाः सापेक्षत्वात्प्रतिसम्बन्धि प्रतिनिर्देष्टव्यमित्याह— **कस्येति** । या ब्रह्मज्ञानस्य परा निष्ठा सा प्रकृतस्य ज्ञानस्य निष्ठेत्याह— **ब्रह्मेति** । तस्य परा निष्ठा न प्रसिद्धेति कृत्वा साधनानुष्ठानाधीनतया साध्येति मत्वा पृच्छति— **कीदृशीति** । प्रसिद्धमात्मज्ञानमनुरुध्य ब्रह्मज्ञाननिष्ठा सुज्ञानेत्याह— **यादृशमिति** । तत्रापि प्रसिद्धिरसिद्धेति शङ्कते— **कीदृगिति**। 'अर्थेनैव विशेषो हि' इति न्यायेनोत्तरमाह— **यादृश** इति । तस्मिन्नपि विप्रतिपत्तेरप्रसिद्धिमभिसन्धाय पृच्छति— **कीदृश** इति । भगवद्वाक्यान्युपनिषद्वाक्यानि चाऽऽश्रित्य परिहरति— **यादृश** इति । 'न जायते म्रियते वा' [ २।२० कठो. २।१८] इत्यादीनि वाक्यानि । कूटस्थत्वमसङ्गत्वमित्यादि न्यायः ।

**१ शां. भा.**— ननु विषयाकारं ज्ञानं न ज्ञानविषयः, नाप्याकारवानात्मेष्यते क्वचित् । ननु "आदित्यवर्णं" [यजुस्सं. ३१।१८ श्वे.उ.३।८] "भारूपः" [छां.उ.३।१४।२]"स्वयं ज्योतिः" [बृ.उ.४।३।९] इत्याकारवत्त्वमात्मनः श्रूयते, न; तमोरूपत्वप्रतिषेधार्थत्वात्तेषां वाक्यानाम् । द्रव्यगुणाद्याकारप्रतिषेधे आत्मनस्तमोरूपत्वे प्राप्ते तत्प्रतिषेधार्थानि "आदित्यवर्णं" इत्यादिवाक्यानि । "अरूपं" [ कठो. ३।१५ ] इति च विशेषता रूपप्रतिषेधात् । अविषयत्वाच्च "न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्" [ श्वे. उ. ४।२० ] "अशब्दमस्पर्शम्" [ कठो. ३।१५ ] इत्याद्यैः । तस्मा-

दात्माकारं ज्ञानमित्यनुपपन्नम् । कथं तर्ह्यात्मनो ज्ञानम् ? सर्वं हि यद्विषयं यज्ज्ञानं तत्तदाकारं भवति, निराकारश्चाऽऽत्मेत्युक्तम् । ज्ञानात्मनोश्चोभयोर्निराकारत्वे कथं तद्भावनानिष्ठा ? इति; न, अत्यन्तनिर्मलत्वातिस्वच्छत्वातिसूक्ष्मत्वोपपत्तेरात्मनः । बुद्धेश्चाऽऽत्मसमनैर्मल्याद्युपपत्तेरात्मचैतन्याकाराभासत्वोपपत्तिः । बुद्ध्याभासं मनः, तदाभासानीन्द्रियाणि, इन्द्रियाभासश्च देहः, अतो लौकिकैर्देहमात्र एवाऽऽत्मदृष्टिः क्रियते ।

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञानस्य विषयाकारत्वादात्मनश्चाविषयत्वादनाकारत्वाच्च तदाकारज्ञानायोगादात्मप्रसिद्धावपि नाऽऽत्मज्ञानप्रसिद्धिरिति शङ्कते— **नन्विति** । 'आकारवत्त्वमात्मनः श्रुतिसिद्धं' इति सिद्धान्ती शङ्कते— **नन्विति** । उक्तवाक्यानामन्यार्थत्वदर्शनेन पूर्ववादी परिहरति— **नेत्यादिना** । सङ्गृहवाक्यं प्रपञ्चयति— **द्रव्येति** । इतश्चाऽऽकारवत्त्वमात्मनो नास्तीत्याह— **अरूपमिति** । यदात्मनो विषयत्वाभावात्तद्विषयं ज्ञानं न सम्भवतीत्युक्तं तदुपपादयति— **अविषयत्वाच्चेति** । आत्मनोऽविषयत्वे श्रुतिमुदाहरति— **नेत्यादिना** । सन्दृशे सम्यग्दर्शनविषयत्वायास्यात्मनो रूपं न तिष्ठतीत्यर्थः । तदेव करणागोचरत्वेनोपपादयति — **नेति** । शब्दादिशून्यत्वाच्चाऽऽत्मा विषयो न भवतीत्याह— **अशब्दमिति** । आत्मनो विषयत्वाकारवत्त्वयोरभावे फलितमाह— **तस्मादिति** । ज्ञानस्याऽऽत्माकारत्वाभावे सत्यात्मज्ञानमिति व्यपदेशासिद्धिरित्येकदेशी शङ्कते— **कथं तर्हीति** । काऽत्रानुपपत्तिः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **सर्वं हीति** । आत्मनोऽपि तर्हि विषयत्वेन ज्ञानस्य तदाकारत्वं स्यात् ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **निराकारश्चेति** । आत्मनो विषयत्वराहित्यं चकारार्थः । आत्मवत्तज्ज्ञानस्यापि तर्हि निराकारत्वं भविष्यतीत्यत्राऽऽह— **ज्ञानेति** । तच्छब्देनाऽऽत्मज्ञानं गृह्यते । तस्य भावना पौनःपुन्येनानुसन्धानं तस्या निष्ठा समाप्तिरात्मसाक्षात्कारदार्ढ्यं न चैतत्सर्वमात्मनो ज्ञानस्य वा निराकारत्वे सिध्यतीत्यर्थः । ज्ञानात्मनोः साम्योपन्यासेन सिद्धान्ती समाधत्ते— **नेत्यादिना** । यथोक्तसाम्यानुसारादात्मचैतन्याभासव्याप्ता ज्ञानपरिणामवती बुद्धिः साभासबुद्धिव्याप्तं मनः साभासमनोव्याप्तानीन्द्रियाणि साभासेन्द्रियव्याप्तः स्थूलो देहः । तत्र लौकिकभ्रान्तिं प्रमाणयति— **अत इति** । आत्मदृष्टेर्देहमात्रे दृष्टत्वात्तत्र चैतन्याभासव्याप्तिरिन्द्रियद्वारा कल्प्यत इन्द्रियेषु च तद्दृष्टिदर्शनाच्चैतन्याभासवत्त्वं मनोद्वारा सिध्यति, मनसि चाऽऽत्मदृष्टेश्चैतन्याभासवत्त्वं बुद्धिद्वारा लभ्यते, बुद्धौ चाऽऽत्मदृष्टेरज्ञानद्वारा चैतन्याभाससिद्धिरित्यर्थः ।

**१ शां. भा.**— देहचैतन्यवादिनश्च लोकायतिकाश्चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुष इत्याहुः; तथाऽन्य इन्द्रियचैतन्यवादिनः, अन्ये मनश्चैतन्यवादिनः, अन्ये बुद्धिचैतन्यवादिनः, ततोऽप्यान्तरमव्यक्तमव्याकृताख्यमविद्यावस्थमात्मत्वेन प्रतिपन्नाः केचित् । सर्वत्र हि बुद्ध्यादिदेहान्त आत्मचैतन्याभासताऽऽत्मभ्रान्तिकारणमित्यतश्च आत्मविषयं ज्ञानं न विधातव्यम् । किं तर्हि ? नामरूपाद्यनात्माध्यारोपणनिवृत्तिरेव कार्या । नाऽऽत्मचैतन्यविज्ञानम्, अविद्याध्यारोपितसर्वपदार्थाकारैरेव विशिष्टतया गृह्यमाणत्वात् ।

**२ आ. शां. व्या.**— देहे लौकिकमात्मत्वदर्शनं न्यायाभावादुपेक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह— **देहेति** । तथापि कथमिन्द्रियाणां न्यायहीनमात्मत्वमिष्टं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तथेति** । तथापि मनसो यदात्मत्वं तन्न्यायशून्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **अन्य इति** । बुद्धेरात्मत्वमपि न्यायोपेतमिति सूचयति— **अन्ये बुद्धीति** । देहादौ बुध्यन्ते परमात्मत्वबुद्धिर्नान्यत्रेति नियमं वारयति— **ततोऽपीति** । तत्र हि साभासेऽन्तर्यामिणि कारणोपासकानामात्मत्वधीरस्तीत्यर्थः । बुद्ध्यादौ देहान्ते लौकिकपरीक्षकाणामात्मत्वभ्रान्तौ साधारणं कारणमाह— **सर्वत्रेति** । आत्मज्ञानस्य लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धत्वादेव विधिविषयत्वमपि परेष्टं परास्तमित्याह— **इत्यत इति** । ज्ञानस्य विधेयत्वाभावे किं कर्तव्यं द्रष्टव्यादिवाक्यैः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **किं तर्हीति** । आत्मज्ञानस्याविधेयत्वे प्रागुक्तमतश्शब्दितं हेतुं विवृणोति— **अविद्येति** ।

**१ शां. भा.**— अत एव हि विज्ञानवादिनो बौद्धा विज्ञानव्यतिरेकेण वस्त्वेव नास्तीति प्रतिपन्नाः, प्रमाणान्तरनिरपेक्षतां च स्वसंविदितत्वाभ्युपगमेन । तस्मादविद्याध्यारोपणनिराकरणमात्रं ब्रह्मणि कर्तव्यं, न तु ब्रह्मविज्ञाने यत्नः, अत्यन्तप्रसिद्धत्वात् अविद्याकल्पितनामरूपविशेषाकारापहृतबुद्धित्वादत्यन्तप्रसिद्धं सुविज्ञेयमासन्नतरमात्मभूतमपि, अप्रसिद्धं दुर्विज्ञेयमतिदूरमन्यदिव च प्रतिभात्यविवेकिनाम् । बाह्याकारनिवृत्तबुद्धीनां तु लब्धगुर्वात्मप्रसादानां नातःपरं सुखं सुप्रसिद्धं सुविज्ञेयं स्वासन्नतरमस्ति । तथा चोक्तं 'प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं' [ ९।२ ] इत्यादि ।

**२ आ. शां. व्या.**— देहेन्द्रियमनोबुद्ध्यव्यक्तैरुपलभ्यमानैः सहोपलभ्यते चैतन्यं, नान्यथा तेषामुपलम्भो जडत्वादित्यत्र विज्ञानवादिभ्रान्तिं प्रमाणयति— **अत एवेति** । सर्वं ज्ञेयं ज्ञानव्याप्तमेव ज्ञायते, तेन ज्ञानातिरिक्तं नास्त्येव वस्तु; सम्मतं हि स्वप्नदृष्टं वस्तु ज्ञानातिरिक्तं नास्तीति ते भ्राम्यन्तीत्यर्थः । ज्ञानस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञातृवस्त्वन्तरमेष्टव्यमित्याशङ्क्याऽऽह— **प्रमाणान्तरेति** । ज्ञानस्य स्वेनैव ज्ञेयत्वोपगमेनातिरिक्तप्रमाणनिरपेक्षतां च प्रतिपन्ना इति सम्बन्धः । ब्रह्मात्मनि ज्ञानस्य सिद्धत्वेनाविधेयत्वे फलितमाह— **तस्मादिति** । यत्नोऽत्र भावना । ब्रह्मणस्तज्ज्ञानस्य चात्यन्तप्रसिद्धत्वे कथं ब्रह्मण्यन्यथा प्रथा लौकिकानां ? इत्यत्राऽऽह— **अविद्येति** । यथाप्रतिभासं दुर्विज्ञेयत्वादिरूपमेव ब्रह्म किं न स्यात् ? तत्राऽऽह— **बाह्येति** । गुरुप्रसादः शुश्रूषया तोषितबुद्धेराचार्यस्य करुणातिरेकादेव तत्त्वं बुध्यतामिति निरवग्रहोऽनुग्रहः, आत्मप्रसादस्त्वधिगतपदशक्तिवाक्यतात्पर्यस्य श्रौतयुक्त्यनुसन्धानादात्मनो मनसो विषयव्यावृत्तस्य प्रत्यगेकाग्रतया तत्प्रावण्यमिति विवेकः । आत्मज्ञानस्याऽऽत्मद्वारा प्रसिद्धत्वे वाक्योपक्रमं प्रमाणयति— **तथा चेति** ।

**१ शां. भा.**— केचित्तु पण्डितम्मन्याः ' निराकारत्वादात्मवस्तु नोपैति बुद्धिः, अतो दुस्साध्या सम्यग्ज्ञाननिष्ठा ' इत्याहुः । सत्यम् , एवं गुरुसम्प्रदायरहितानामश्रुतवेदान्तानामत्यन्तबहिर्विषयासक्तबुद्धीनां सम्यक्प्रमाणेष्वकृतश्रमाणाम्, तद्विपरीतानां तु लौकिकग्राह्यग्राहकद्वैतवस्तुनि सद्बुद्धिर्नितरां दुस्सम्पाद्याऽऽत्मचैतन्यव्यतिरेकेण वस्त्वन्तरस्यानुपलब्धेः । यथा चैतदेवमेव, नान्यथेत्यवोचाम । उक्तं च भगवता— ' यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ' [ २।६९ ] इति; तस्माद्बाह्याकारभेदबुद्धिनिवृत्तिरेवाऽऽत्मस्वरूपालम्बने कारणम् । नह्यात्मा नाम कस्यचित्कदाचिदप्रसिद्धः प्राप्यो हेय उपादेयो वा । अप्रसिद्धे हि तस्मिन्नात्मनि अस्वार्थाः सर्वाः प्रवृत्तयः व्यर्थाः प्रसज्येरन् ।

**२ आ. शां. व्या.**— आत्मनो निराकारत्वात्तस्मिन् बुद्धेरप्रवृत्तेः सम्यग्ज्ञाननिष्ठा न सुसम्पाद्येति मतमुत्थापयति— **केचित्त्विति** । बहिर्मुखानामन्तर्मुखानां वा ब्रह्मणि सम्यग्ज्ञाननिष्ठा दुस्साध्येति विकल्प्याऽऽद्यमनूद्याङ्गीकरोति— **सत्यमिति** । पूर्वपूर्वविशेषणमुत्तरोत्तरविशेषणे हेतुत्वेन योजनीयम् । द्वितीयं दूषयति— **तद्विपरीतानामिति** । अद्वैतनिष्ठानां द्वैतविषये सम्यग्बुद्धेरतिशयेन दुस्सम्पाद्यत्वे हेतुमाह— **आत्मेति** । तद्व्यतिरेकेण वस्त्वन्तरस्यासत्त्वं कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **यथा चेति** । अद्वैतमेव वस्तु, द्वैतं त्वाविद्यं, नान्यथा तात्त्विकमित्येतदेवमेव यथा स्यात्तथोक्तवन्तो वयं तत्र तत्राध्यायेष्विति योजना । अन्तर्निष्ठानामद्वैतदर्शिनां द्वैते नास्ति सद्बुद्धिरित्यत्र भगवतोऽपि सम्मतिमाह— **उक्तं चेति** । परमतं निराकृत्य प्रकृतमुपसंहरन्नात्मनो निराकारत्वे ज्ञानस्य तदालम्बनत्वे किं कारणं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तस्मादिति** । नन्वात्मा कथञ्चित्सम्यग्ज्ञानक्रियासाध्यश्चेत्तस्य हेयोपादेयान्यतरकोटिनिवेशात्प्राप्तं स्वर्गादिवत्क्रियासाध्यत्वेनासिद्धत्वं नेत्याह— **न हीति** । आत्मत्वादेव प्रसिद्धत्वेन प्राप्तत्वादनात्मवत्तस्य हेयोपादेयत्वयोरयोगान्न क्रियासाध्यतेत्यर्थः । आत्मनश्चेदेते क्रियामसिद्धत्वं तदा सर्वप्रवृत्तीनामभ्युदयनिश्श्रेयसार्थानामात्मार्थत्वायोगादर्थिनोऽभावे स्वार्थत्वमप्रामाणिकं स्यादित्याह— **अप्रसिद्धे हीति** ।

**१ शां. भा.**— न च देहाद्यचेतनार्थत्वं शक्यं कल्पयितुम् । न च सुखार्थं सुखं, दुःखार्थं वा दुःखम् , आत्मावगत्यवसानार्थत्वाच्च सर्वव्यवहारस्य । तस्माद्यथा स्वदेहस्य परिच्छेदाय न प्रमाणान्तरापेक्षा, ततोऽप्यात्मनोऽन्तरतमत्वात्तदवगतिं प्रति न प्रमाणान्तरापेक्षा, इत्यात्मज्ञाननिष्ठा विवेकिनां सुप्रसिद्धेति सिद्धम् ।

**२ आ. शां. व्या.**— ननु प्रवृत्तीनां स्वार्थत्वं देहादीनामन्यतमस्यार्थित्वेन तादर्थ्यादित्याशङ्क्य घटादिवदचेतनस्यार्थित्वायोगान्नैवमित्याह— **न चेति** । ननु प्रवृत्तीनां फलावसायितया सुखदुःखयोरन्यतरार्थत्वान्न स्वार्थत्वं, तत्राऽऽह— **न चेति** । प्रवृत्तीनां सुखदुःखार्थत्वेऽपि तयोः स्वार्थत्वासिद्धेरर्थित्वेनाऽऽत्मा सिध्यतीत्यर्थः । किञ्च सर्वापेक्षान्यायादात्मावगत्यवसानः सर्वो व्यवहारः, न चाऽऽत्मन्यप्रसिद्धे यज्ञादिव्यवहारस्य तज्ज्ञानार्थत्वं तेनाऽऽत्मप्रसिद्धिरेष्टव्येत्याह— **आत्मेति** । नन्वात्मा प्रसिद्धोऽपि प्रमाणद्वारा प्रसिध्यति 'यत्सिध्यति तत्प्रमाणादेव' इति न्यायात्तत्राऽऽह— **तस्मादिति** । मानमेयादिसर्वव्यवहारस्याऽऽत्मावगत्यन्तत्वोपगमात्प्रागेव प्रमाणप्रवृत्तेरात्मप्रसिद्धेरेष्टव्यत्वादित्यर्थः । आत्मावगतेरेवं स्वाभाविकत्वे विवेकवतामारोपनिवृत्त्या ज्ञाननिष्ठा सुप्रसिद्धेत्युपसंहरति— **इत्यात्मेति** ।

**१ शां. भा.**— येषामपि निराकारं ज्ञानमप्रत्यक्षं तेषामपि ज्ञानवशेनैव ज्ञेयावगतिरिति ज्ञानमत्यन्तं प्रसिद्धं सुखादिवदेवेत्यभ्युपगन्तव्यम्, जिज्ञासानुपपत्तेश्च । अप्रसिद्धं चेज्ज्ञानं ज्ञेयवज्जिज्ञास्येत ।

यथा ज्ञेयं घटादिलक्षणं ज्ञानेन ज्ञाता व्याप्तुमिच्छति, तथा ज्ञानमपि ज्ञानान्तरेण व्याप्तुमिच्छेत् । न चैतदस्ति । अतोऽत्यन्तप्रसिद्धं ज्ञानं, ज्ञाताऽप्यत एव प्रसिद्ध इति । तस्माज्ज्ञाने यत्नो न कर्तव्यः, किन्त्वनात्मन्यात्मबुद्धिनिवृत्तावेव । तस्माज्ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या ॥ ५० ॥

२ आ. शां. व्या.— नन्वनाकारमेवानुमिमीमहे बुद्धिमिति वदतामनाकारमप्रत्यक्षमिच्छतां प्रागर्थावगतेरप्रसिद्धमेव ज्ञानं, नेत्याह— येषामिति । सुखादिवन्नित्यानुभवगम्यं ज्ञानं नानुमेयं विषयावगत्या तदनुमितावितरेतराश्रयादिति भावः । इतश्च ज्ञानं प्रसिद्धमन्यथा तत्र जिज्ञासाप्रसङ्गात्, न च ज्ञाने जिज्ञासा प्रसिद्धा प्रसिद्धे च तदयोगादित्याह— जिज्ञासेति । तदेव प्रपञ्चयति— अप्रसिद्धं चेति । दृष्टान्तमेव व्याचष्टे— यथेति । दार्ष्टान्तिकं विवृणोति— तथेति । इष्टापत्तिं निराचष्टे— न चेति, ज्ञानस्य ज्ञानान्तरेण ज्ञेयत्वमेतच्छब्दार्थः; अनवस्थापत्तेरित्यर्थः । ज्ञाने जिज्ञासानुपपत्तौ फलितमाह— अत इति । प्रसिद्धेऽपि ज्ञाने ज्ञातर्यात्मनि किमायातं ? तदाह— ज्ञाताऽपीति । ज्ञानस्य विना ज्ञातारमपर्यवसानादित्यर्थः । ज्ञानस्य प्रसिद्धत्वे तत्र भावनापर्यायो विधिर्नास्तीत्याह— तस्मादिति । कुत्र तर्हि प्रयत्नाख्या भावना ? इत्याशङ्क्याऽऽह— किन्त्विति । अविषये निराकारे चाऽऽत्मनि ज्ञाननिष्ठाया दुस्सम्पाद्यत्वाभावे फलितं निगमयति— तस्मादिति ॥ ५० ॥

३ रा. भा.— सिद्धिं प्राप्तः आप्रयाणादहरहरनुष्ठीयमानकर्मयोगनिष्पाद्यध्यानसिद्धिं प्राप्तः, यथा येन प्रकारेण वर्तमानो ब्रह्म प्राप्नोति, तथा समासेन मे निबोध । तदेव ब्रह्म विशिष्यते निष्ठा ज्ञानस्य या परेति । ज्ञानस्य ध्यानात्मकस्य या परा निष्ठा, परमप्राप्यमित्यर्थः ॥ ५० ॥

४ वे. ता. चं.— 'सिद्धिं प्राप्तः' इत्यस्योक्तानुवादतां सप्रकारहेतुनिर्देशेनाऽऽह आप्रयाणादिति । सिद्धिं प्राप्तस्य ब्रह्मप्राप्त्यभिधानात्तथ तिरिक्तविषयत्वज्ञापनाय ध्यानसिद्धिमित्युक्तम् । 'यथा' इत्यस्यानन्तरग्रन्थानुसारेण पुरुषव्यापारोपादेयप्रापकप्रकारपरतामाह— येन प्रकारेण वर्तमान इति । मे निबोध मत्तो निश्चयेनावधारयेत्यर्थः । परमे फले ह्युपायो नितिष्ठति; अतस्तदेवोपायपर्यवसानभूमितया निष्ठेत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— तदेव ब्रह्म विशेष्यत इति । ज्ञानशब्दस्यात्रानन्तरोच्यमानध्यानविश्रान्तिमाह— ध्यानात्मकस्येति ॥ ५० ॥

५ आ. मा. भा.— यथा येनोपायेन सिद्धिं प्राप्तो ब्रह्माप्नोति तथा निबोध । या सिद्धिर्ज्ञानस्य परा निष्ठा ॥ ५० ॥

६ ज. प्र. दी.— 'सिद्धिं प्राप्तः' इति योगसिद्धिप्राप्त्यनन्तरं ब्रह्मप्राप्त्युपायकथनं प्रतिज्ञायत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थं व्याचष्टे— यथेति । 'ब्रह्माप्नोति' इत्यनुवादमात्रम् । तथा तमुपायम् । प्रतीत एवार्थः किं न स्यात् ? इति चेत्, न; सिद्धेर्ज्ञाननिष्ठात्मकत्वेनाभिधानात् । ज्ञानस्य च ब्रह्मप्राप्तावनपेक्षत्वादिति भावेन निष्ठेत्येतद्व्याचष्टे— येति ॥ ५० ॥

७ ह. पै. भा.— यथा सिद्धिं प्राप्तो ब्रह्म नैष्कर्म्यमाप्नोति तथा निबोधावगच्छ मे ममेश्वरस्य मतं समासेनैव सङ्क्षेपेणैव । तथा निष्ठा स्थितिर्ज्ञानस्य या परा प्रकृष्टा तां निबोधेत्यर्थः ॥ ५० ॥

८ वं. ब्र. गि.— अथ तस्या नैष्कर्म्यसिद्धेः साधनक्रमं वक्तुं प्रतिजानीते— सिद्धिमिति । एवमुक्तरीत्या परमेश्वराराधनात्मककर्मानुष्ठानरूपसात्त्विकसन्न्यासप्रसूतभगवदनुग्रहजां सर्वकर्मत्यागपर्यन्तां ज्ञानोत्पत्तियोग्यतारूपां सिद्धिं प्राप्तो यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति साक्षात्करोति । नित्यप्राप्तस्य ब्रह्मणः कण्ठचामीकरादिवदप्राप्तत्वभ्रमनिवृत्तिरेव प्राप्तिरिति तादृशभ्रमनिवृत्तिहेतुर्ब्रह्मसाक्षात्कार एवात्र प्राप्नोतिना निर्दिष्टः । तथा तं प्रकारं मे मुखात्समासेन सङ्क्षेपेणैव निबोध जानीहि । 'ब्रह्म प्राप्नोति' इत्येतदेव विवृणोति— निष्ठा ज्ञानस्य या परेति । या ब्रह्मप्राप्तिर्ज्ञानस्य परा निष्ठा परिसमाप्तिः, ज्ञानानन्तरं ब्रह्मप्राप्त्यर्थमनुष्ठेयसाधनान्तराभावात् । अतस्तादृशीं ज्ञाननिष्ठारूपां ब्रह्मप्राप्तिं प्रति साधनक्रममाकर्णयेत्यर्थः ॥ ५० ॥

९ ब० त० दी०— ज्ञानस्य या परा निष्ठा तां सिद्धिं प्राप्तोऽपि जीवन्नेवेह यथाऽऽत्मनाऽक्षरब्रह्मप्राप्तो भवति तथा मत्तो निबोध ॥ ५० ॥

१० पु. अ. त.— अथ सिद्धिप्राप्तेः फलमाह— सिद्धिमिति । सिद्धिं पूर्वोक्तां प्राप्तः सन् यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति तं प्रकारं मे मत्तः समासेनैव सङ्क्षेपेणैव निबोध जानीहि । या प्राप्तिः ज्ञानस्य परा उत्कृष्टा निष्ठा, स्थितिरित्यर्थः ॥ ५० ॥

११ नी० भा० दी०— 'स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति' [ १८।४५ ] इत्येतत्प्रतिज्ञातमुपपादितम्; इदानीं नैष्कर्म्यसिद्धिं प्राप्तोऽपि परिव्राट् वशीकारसंज्ञकवैराग्यवान् यथा ब्रह्म प्राप्नोति तथा वक्तुं प्रतिजानीते— सिद्धिमिति। सिद्धिं नैष्कर्म्यसिद्धिं निबोध बुध्यस्व मे मद्वचनात्समासेन सङ्क्षेपेणैव हे कौन्तेय !— या यत्प्राप्यं ब्रह्मविधेयापेक्षं स्त्रीत्वं— ज्ञानस्य परा निष्ठा यदपेक्षयाऽन्यज्ज्ञेयमान्तरतरं नास्तीत्यर्थः ॥ ५० ॥

**बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च ।**
**शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥ ५१ ॥**
**विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः ।**
**ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥ ५२ ॥**
**अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।**
**विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥**

१ शां. भा.— सेयं ज्ञानस्य परा निष्ठोच्यते कथं कार्या? इति— बुद्ध्येति। बुद्ध्याऽध्यवसायात्मिकया विशुद्धया मायारहितया युक्तः सम्पन्नो धृत्या धैर्येणाऽऽत्मानं कार्यकरणसङ्घातं नियम्य च नियमनं कृत्वा वशीकृत्य, शब्दादीन् शब्द आदिर्येषां ते शब्दादयः, तान्विषयांस्त्यक्त्वा; सामर्थ्याच्छरीरस्थितिमात्रहेतुभूतान् केवलान्मुक्त्वा ततोऽधिकान्सुखार्थांस्त्यक्त्वेत्यर्थः। शरीरस्थित्यर्थत्वेन प्राप्तेषु च रागद्वेषौ व्युदस्य च परित्यज्य च ॥ ५१ ॥

२ आ. शां. व्या.— ब्रह्मज्ञानस्य परां निष्ठां प्रतिष्ठापितामनूद्य श्लोकान्तरमवतारयितुं पृच्छति— सेयमिति। येयं ब्रह्मज्ञानस्य परा निष्ठा समारोपिता तद्धर्मनिवृत्तिद्वारा ब्रह्मणि परिसमाप्तिर्ज्ञानसन्तानरूपोच्यते सा कार्या सुसम्पाद्येति यदुक्तं तत्कथं केनोपायेनेति प्रश्नार्थः। पृष्टमुपायभेदमुदाहरति— बुद्ध्येति। अध्यवसायो ब्रह्मात्मत्वनिश्चयः, मायारहितत्वं संशयविपर्ययशून्यत्वम्, शब्दादिसमस्तविषयत्यागे देहस्थितिरपि दुस्था स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— सामर्थ्यादिति। विषयमात्रत्यागे देहस्थित्यनुपपत्तेर्ज्ञाननिष्ठासिद्धिप्रसङ्गादित्यर्थः। देहस्थित्यर्थत्वेनानुज्ञातेष्वर्थेषु प्राप्तं रागादि ज्ञाननिष्ठाप्रतिबन्धकं व्युदस्यति— शरीरेति। परित्यज्य विविक्तसेवी स्यादिति सम्बन्धः। बुद्धेर्वैशारद्यं यत्नेन कार्यकरणनियमनम् ॥ ५१ ॥

१ शां. भा.— ततः— विविक्तसेव्यरण्यनदीपुलिनगिरिगुहादीन् विविक्तान् देशान् सेवितुं शीलमस्येति विविक्तसेवी। लघ्वाशी लघ्वशनशीलः। विविक्तसेवालघ्वशनयोर्निद्रादिदोषनिवर्तकत्वेन चित्तप्रसादहेतुत्वाद्ग्रहणम्। यतवाक्कायमानसः, वाक्च कायश्च मानसं च यतानि संयतानि यस्य ज्ञाननिष्ठस्य स ज्ञाननिष्ठो यतिर्यतवाक्कायमानसश्च स्यात्। एवमुपरतसर्वकरणः सन् ध्यानयोगपरः, ध्यानमात्मस्वरूपचिन्तनं, योग आत्मविषय एवैकाग्रीकरणं, तौ ध्यानयोगौ परत्वेन कर्तव्यौ यस्य स ध्यानयोगपरः। नित्यं— नित्यग्रहणं मन्त्रजपाद्यन्यकर्तव्याभावप्रदर्शनार्थम्— वैराग्यं विरागस्य भावो दृष्टादृष्टेषु विषयेषु वैतृष्ण्यं समुपाश्रितः सम्यगुपाश्रितः, नित्यमेवेत्यर्थः ॥ ५२ ॥

२ आ. शां. व्या.— देहस्थितिहेत्वतिरिक्तविषयत्यागो देहस्थित्यर्थेष्वपि तेषु रागद्वेषवर्जनमित्युपायभेदे सिद्धे सन्त्युपायान्तराण्यपि यत्नसाध्यानीत्याह— तत इति। चित्तैकाग्र्यप्रसादार्थं विविक्तसेवित्वं व्याकरोति— अरण्येति। निद्रादिदोषनिवृत्त्यर्थं लघ्वाशित्वं विशदयति— लघ्विति। लघु परिमितं हितं मेध्यं चाशितुं शीलमस्येति तथोच्यते। विशेषणयोस्तात्पर्यं विवृणोति— विविक्तेति। निद्रादीत्यादिशब्दादालस्यप्रमादादयो बुद्धिविक्षेपका विवक्षिताः। वक्ष्यमाणध्यानयोगयोरुपायत्वेन विशेषणान्तरं विभजते— वाक्चेति। वागादिसंयमस्याऽऽवश्यकत्वद्योतनार्थं स्यादित्युक्तम्। संयत-

वागादिकरणग्रामस्यानायासेन कर्तव्यमुपदिशति— **एवमिति** । मन्त्रजपादीत्यादिपदेन प्रदक्षिणप्रणामादयो ध्यानयोगप्रतिबन्धका गृहीताः । उक्तयोरेव ध्यानयोगयोरुपायत्वेनोक्तं विरागभावं विभजते— **दृष्टेति** । सम्यक्त्वमेव व्यनक्ति— **नित्यमिति** ॥ ५२ ॥

**१ शां. भा.— किञ्च अहङ्कारमिति ।** अहङ्करणमहङ्कारो देहेन्द्रियादिषु तं, बलं सामर्थ्यं कामरागादिसंयुक्तं, नेतरच्छरीरादिसामर्थ्यं; स्वाभाविकत्वेन तत्त्यागस्याशक्यत्वात् । दर्पं, दर्पो नाम हर्षानन्तरभावी धर्मातिक्रमहेतुः 'हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति' [ आ. ध. सू. १।१३।४ ] इति स्मरणात्तं च । काममिच्छां, क्रोधं द्वेषं, परिग्रहमिन्द्रियमनोगतदोषपरित्यागेऽपि शरीरधारणप्रसङ्गेन धर्मानुष्ठाननिमित्तेन वा बाह्यः परिग्रहः प्राप्तस्तं च विमुच्य परित्यज्य परमहंसपरिव्राजको भूत्वा देहजीवनमात्रेऽपि निर्गतममभावो निर्ममोऽत एव शान्त उपरतः यः संहृतहर्षायासो यतिर्ज्ञाननिष्ठः (सः) ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभवनाय कल्पते समर्थो भवति ॥ ५३ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** ज्ञाननिष्ठस्य यतेर्विशेषणान्तरं समुच्चिनोति— **किञ्चेति** । नित्यं ध्यानयोगपरत्वे समुच्चितं कारणान्तरं विवृणोति— **अहङ्करणमिति** । सामर्थ्यमात्रे बलशब्दादुपलभ्यमाने किमिति विशेषवचनं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **स्वाभाविकत्वेनेति** । उक्तेऽर्थे मानमाह— **हृष्ट इति** । वैराग्यशब्देन लब्धस्यापि कामत्यागस्य पुनर्वचनं प्रकृष्टत्वख्यापनार्थम् । अहङ्कारादित्यागे परिग्रहप्राप्त्यभावात्तत्त्यागोक्तिरयुक्तेत्याशङ्क्याऽऽह— **इन्द्रियेति** । परिग्रहाभावे ममत्वविषयाभावान्निर्ममत्वं कथं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **देहेति** । अहङ्कारममकारयोरभावेन प्राप्तामन्तःकरणोपरतिमनुवदति— **अत एवेति** । उक्तमनूद्य जीवन्नेवासौ ब्रह्मीभवतीति फलितमाह— **यः संहृतेति** । ज्ञाननिष्ठपदादूर्ध्वं सशब्दो द्रष्टव्यः । ब्रह्मणो भवनमनुसन्धानपरिपाकपर्यन्तं साक्षात्करणं तदर्थमिति यावत् ॥ ५३ ॥

**३ रा. भा.—** बुद्ध्या विशुद्धया यथावस्थितात्मतत्त्वविषयया युक्तः, धृत्या आत्मानं नियम्य च विषयविमुखीकरणेन योगयोग्यं मनः कृत्वा, शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा असन्निहितान् कृत्वा, तन्निमित्तौ च रागद्वेषौ व्युदस्य, विविक्तसेवी सर्वैर्ध्यानविरोधिभिर्विविक्ते देशे वर्तमानः, लघ्वाशी अत्यशनानशनरहितः, यतवाक्कायमानसः ध्यानाभिमुखीकृतकायवाङ्मनोवृत्तिः, ध्यानयोगपरो नित्यं एवम्भूतः सन् आप्रयाणादहरहर्ध्यानयोगपरः, वैराग्यं समुपाश्रितः ध्येयतत्त्वव्यतिरिक्तविषयदोषावमर्शेन तत्रतत्र विरागतां वर्धयन्, अहङ्कारं अनात्मन्यात्माभिमानं, बलं तद्वृद्धिहेतुभूतवासनाबलं, तन्निमित्तं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य, निर्ममः सर्वेष्वनात्मीयेष्वात्मीयबुद्धिरहितः, शान्तः आत्मानुभवैकसुखः, एवम्भूतो ध्यानयोगं कुर्वन् ब्रह्मभूयाय कल्पते ब्रह्मभावाय कल्पते; सर्वबन्धनिर्मुक्तो यथावस्थितमात्मानमनुभवतीत्यर्थः ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

**४ वे. ता. चं.—** बुद्धिशब्दोऽत्र प्रस्तुतब्रह्मशब्दाभिप्रेतविषयबुद्धिगोचरः, तस्याः शुद्धिश्चासमग्रविषयत्वसंशयविपर्ययरूपदोषराहित्यमित्याह **यथावस्थितात्मतत्त्वविषययेति** । 'धृत्या' इति पूर्वोक्तसप्रकारसात्त्विकधृतिपरामर्शमाह **विषयविमुखीकरणेनेति** । अत्र धृत्या मनोनियमनं कर्मोक्तम् ; अपि च पूर्वमेव त्यक्तविषयस्य कोऽसौ तदानीन्तनस्त्यागः ? इत्यत्राऽऽह **असन्निहितान् कृत्वेति** । विषयसन्निधिर्हि विजितेन्द्रियमपि क्षोभयेदिति भावः । 'रागद्वेषौ व्युदस्य' इति वैषयिकरागद्वेषयोर्व्युदासस्यापि तादात्विकविषयत्वाय 'वैराग्यं समुपाश्रितः' इत्यनेन पुनरुक्तिपरिहाराय चाऽऽह **तन्निमित्ताविति** । एतेन विषयासन्निधानफलप्रदर्शनम् । यद्वा विप्रकृष्टेष्वपि सूक्ष्मसङ्गो निरोद्धव्य इति भावः । विविक्तत्वं रहितत्वम् ; तत्प्रकृतोपयोगेन विशिनष्टि— **सर्वैर्ध्यानविरोधिभिर्विविक्ते देश इति** । 'लघ्वाशी' इत्यनेन पूर्वोक्तं 'नात्यश्नतः' [ ६।१६ ] इत्यादिकं स्मार्यत इत्यत्राऽऽह **अत्यशनानशनरहित इति** । 'धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च' इत्यादिना 'यतवाक्कायमानसः' इत्यस्य पुनरुक्तिपरिहारायाह **ध्यानाभिमुखीकृतकायवाङ्मनोवृत्तिरिति** । कायस्याभिमुखीकरणं स्थिरासनादिपरिग्रहः; वाचस्तु प्रणवादिव्यतिरिक्तवर्जनम् ; मनसस्तु शुभाश्रयालम्बनम् । उक्तानां ध्यानयोगशेषत्वमाह **एवम्भूतः सन्निति** । नित्यशब्दविवक्षितमाह **आप्रयाणादहरहरिति** 'रागद्वेषौ व्युदस्य' इति वैषयिकरागद्वेषयोर्व्युदासोक्तेः 'वैराग्यं समुपाश्रितः' इत्येतदाभिमानिकविषयम्, तत्र सम्यगुपाश्रयणं पूर्वसिद्धस्यापि

सम्यगवस्थापनमित्यभिप्रायेण **विरागतां वर्धयन्नित्युक्तम्** । एवमहङ्कारादिविमोचनेऽपि द्रष्टव्यम् ।

शरीरमनःप्राणादिबलानां योगविरोधित्वाभावात् **वासनाबलमिति** विशेषितम् । दर्पोऽत्राहङ्कारबलहेतुकोऽङ्गीकर्तव्यानङ्गीकारः । योगित्वशान्तत्वादिनिमित्तोऽपि दर्पस्त्याज्यः ' हृष्टो दृप्यति दृप्तो धर्ममतिक्रामति ' [ आ. ध. सू. १।१३।४ ] इति स्मरणात् । मनोवाक्कायव्यापारनिवृत्त्यादेरुक्तत्वाच्छान्तशब्दोऽत्र शमहेतुविशेषपर इत्यत्राऽऽह **आत्मानुभवैकसुख** इति । इन्द्रियव्यापारोपरतिः क्रोधादिनिवृत्तिश्च बाह्यसुखनिस्स्पृहत्वात्, तच्च प्रभूतात्मस्वसुखलाभादिति भावः । उक्तेषु सर्वेषु ध्यानयोगस्याङ्गित्वमाह **एवम्भूतो ध्यानयोगं कुर्वन्निति** । ध्यानमेवात्र योगः, ध्यानेन वा योगः । अनन्तरश्लोकार्थपरामर्शेन ब्रह्मशब्दस्यात्र शुद्धात्मविषयतामाह **सर्वबन्धेति** ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

**५ आ. मा. भा.**—॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ब्रह्मभूयाय कल्पते । ब्रह्मणि भावो ब्रह्मभूयम्, ब्रह्मणि स्थितिः । सर्वदा तन्मनस्कतेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

**६ ज. प्र. दी.**—॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वायेति प्रतीतिनिरासार्थं व्याचष्टे— **ब्रह्मेति** । इत्यर्थ इति शेषः । भावो न जन्मादीत्याशयेन विवृणोति— **ब्रह्मणीति** । इयमपि न मुक्तिर्ब्रह्मभूत इति पुनर्भक्त्यादिलाभश्रवणादिति भावेनाऽऽह— **सर्वदेति** ॥ ५३ ॥

**७ ह्. पै. भा.**— **बुद्ध्येति** । बुद्ध्याऽध्यवसायात्मिकया विशुद्धया सात्त्विक्या युक्तो धृत्या धैर्येण तया च विशुद्धयाऽऽत्मानं कार्यकारणसङ्घातं नियम्य स्थापयित्वा शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य चापनीय ॥ ५१ ॥ विविक्तं योगविरोधिवस्त्वनधिष्ठितं स्थानं तत्सेवितुं शीलं यस्य स विविक्तसेवी । लघु हितं मितं पथ्यमशितुं शीलं यस्य स लघ्वाशी । ध्यानयोगपरो नित्यम् , ध्यानं चित्तस्यैकाग्रता योगस्तस्याऽऽत्मनि स्थापनं, ध्यानं च योगश्च ध्यानयोगौ [तौ] परं (परौ)निष्ठा यस्य स ध्यानयोगपरः । नित्यं सर्वकालम् । वैराग्यं विगतो रागो यस्मादसौ विरागः, अस्य भावो वैराग्यं समुपाश्रितः, रागद्वेषवियुक्त इत्यर्थः ॥ ५२ ॥ देहादिष्वात्मबुद्धिरहङ्कारः । बलं सामर्थ्यं, कामरागसंयुक्तं— नेतरदेहादिसामर्थ्यं तस्य स्वाभाविकत्वेन त्यक्तुमशक्यत्वात् । ततः केवलशब्दयुक्ततापनादि बलशब्देनोच्यते । दर्पो हर्षः । कामो रागः । क्रोधो द्वेषः । परिग्रहो ममेदमित्यर्थानां वशीकरणम् । एतदहङ्कारादि विमुच्य निर्ममः शरीरस्थितिसाधनेऽपि वस्तुनि ममत्वबुद्धिरहितः, अत एव शान्त उपरतान्तःकरणो ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्युक्तम् ॥ ५३ ॥

**८ वें. ब्र. गि.**— तमेव क्रममाह त्रिभिः— **बुद्ध्येति** । अत्र ' बुद्ध्या युक्तः ' इत्यादीनां ' ब्रह्मभूयाय कल्पते ' इति तृतीयेनान्वयः । विशुद्धया संशयविपर्ययशून्यया " अहं ब्रह्मास्मि " [ बृ. उ. १।४।१० ] इति बुद्ध्या युक्तः; धृत्या पूर्वोक्तया [ श्लो. ३३ ] सात्त्विक्या आत्मानं च मनो नियम्य निश्चलीकृत्य, शब्दादीन्विषयान् ज्ञाननिष्ठार्थशरीरस्थितिमात्रप्रयोजनानुपयुक्ताननिषिद्धानपि त्यक्त्वा, शरीरस्थितिमात्रार्थेष्वपि तेषु रागद्वेषौ व्युदस्य, विविक्तसेवी जनसम्मर्दरहितारण्यगिरिगुहादिस्थितः; चित्तविक्षेपकरहित इति यावत् । लघ्वाशी मितभोजी, निद्रालस्यादिचित्तलयकारिविरहित इति यावत् । यतानि संयतानि वाक्कायमानसानि येन स तथा; यमनियमादिसाधनसम्पन्न इत्यर्थः । ध्यानयोगपरः, चित्तस्यात्माकारप्रत्ययावृत्तिर्ध्यानम् , आत्माकारप्रत्ययेन निर्वृत्तिकतापादनं योगः, तत्परः । नित्यग्रहणेन च मन्त्रजपतीर्थयात्रादिकर्तव्यान्तराभावः प्रदर्शितः । ध्यानयोगाविच्छेदार्थं वैराग्यं दृष्टादृष्टविषयवैतृष्ण्यरूपं सम्यग्दृढतयोपाश्रितः; अहङ्कारम् ' अहं ब्रह्मध्यानयोगपरो विरक्तोऽस्मि, को वाऽन्यो मत्समः ?' इत्यभिमानम् , बलं तद्वासनाबलम् , दर्पं तन्निमित्तकं मदम् , प्रारब्धवशात्प्राप्यमाणेष्वपि विषयेषु कामं क्रोधं परिग्रहं विमुच्य, निर्ममः देहजीवनमात्रेऽपि ममकारशून्यः, अत एवाहङ्कारममकाराभावात् शान्तः उपरतसर्वकर्मा परमहंसपरिव्राजकः ब्रह्मभूयाय ब्रह्मसाक्षात्काराय कल्पते समर्थो भवति । ब्रह्मभूयस्य तदज्ञाननिवर्तकब्रह्मसाक्षात्कारमात्रपर्यवसायितया साक्षात्कारस्य ताच्छब्द्यं द्रष्टव्यम् ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

**९ व०त० दी०**— तथा हि बुद्ध्येति त्रिभिः । बुद्ध्या यथोक्तकर्मफलादित्यागाद्विशुद्धया साङ्ख्यमार्गीयया युक्तः योगेनाव्यभिचारिण्या धृत्याऽऽत्मानं नियम्य च स्वान्तर्यामिध्यानैकनिष्ठः सर्वत्रानात्मत्वदृष्ट्या वैराग्यं समुपाश्रितः कर्मस्वहम्ममत्वरहितः शान्त इति पूर्वसूत्रितस्य भाष्यं फलितं तथाभूत आनन्दांशाविर्भूतो ब्रह्म-

भूयाय अक्षरब्रह्मात्मभावाय कल्पते, स्वात्मानं ' ब्रह्माहमस्मि ' इति यथावदनुभवतीत्यर्थः । इतीयं स्वज्ञानस्य परा निष्ठा भगवद्गुणसाराविर्भावात्तद्व्यपदेशः प्राज्ञवदिति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

१० पु. अ. त.— तदेवाऽऽह— बुद्ध्येति । विशुद्धया सर्वसङ्गरहितमदेकनिष्ठया बुद्ध्या युक्तो धृत्या मदिच्छाज्ञाने दुःखाद्याभासेऽपि मल्लीलाज्ञानात्मकधैर्येण आत्मानं जीवं नियम्य वशीकृत्य– चकारेणाऽचलं कृत्वा– शब्दादीन् विषयान् इन्द्रियेभ्यस्त्यक्त्वा च पुनः रागद्वेषौ मित्रशत्रुज्ञानरूपौ व्युदस्य दूरीकृत्य ब्रह्मभूयाय कल्पत इति तृतीयश्लोकेनान्वयः ॥५१॥

किञ्च । विविक्तसेवी एकान्ते मत्सेवनपरः, लघ्वाशी लब्धः प्राप्तो यो मत्प्रसादो लाभरूपस्तद्भोजनकृत् । यतवाक्कायमानसः यतानि वशीकृतानि कायवाङ्मनांसि येन सः । तथा हि— वचनेन मन्नामकथाद्यतिरिक्तं न वदति, कायश्च मत्सेवातिरिक्तकार्ये नोपयाति, मनोऽपि मदन्यत्र स्मरति । नित्यं ध्यानयोगपरः ध्यानेन यो योगो मत्संयोगस्तस्मिन् परस्तत्परः; वैराग्यं सर्ववस्तुदोषालोचनात्मकं समुपाश्रितः सम्यक् उप समीपे आश्रितः । अनेन विकारसत्त्वेऽपि तद्राहित्यं निरूपितम् ॥ ५२ ॥

किञ्च— अहङ्कारमिति । स्वज्ञानादिरूपं बलं सामर्थ्यं, दर्पं गर्वं, कामं विषयभोगरूपं, क्रोधं निष्ठुरवाक्यरूपं, परिग्रहं गृहस्त्र्यपत्यादिकं, निर्ममो ममतारहितः सन् विमुच्य त्यक्त्वा शान्तो भगवदनुभवाश्लिष्टो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मात्मकस्वरूपावस्थानाय " भ्राह्मेण..." [ ब्र. सू. ४।४।५ ] इत्यादिसूत्रोक्तरीत्या कल्पते समर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ५३ ॥

११ नी० भा० दी०— तमेव ब्रह्मप्राप्तिप्रकारमाह त्रिभिः— बुद्ध्येति । बुद्ध्या वेदान्तश्रवणमननपरिपाकोत्थया ' अहं ब्रह्मास्मि ' इति परोक्षनिश्चयरूपया विशुद्धया सर्वभूतेषु मैत्र्यादिभावनया सम्यग्विशोधितया धृत्या धैर्येण योगक्षेमादिनिमित्तवैयग्र्यराहित्येन आत्मानं देहेन्द्रियसङ्घातं नियम्य, दृढासनो भूत्वेत्यर्थः । चकारात्प्राणं च नियम्य शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा, तत इन्द्रियाणि प्रत्याहृत्येत्यर्थः । प्रत्याहृतकरणोऽप्यन्तर्मनसैव विषयान्स्मरति तत्परित्यागमाह— रागद्वेषौ व्युदस्य चेति । सङ्कल्पं त्यक्त्वेत्यर्थः । स हि विषयं परिकल्प्य तत्र रागं जनयतीति प्रसिद्धम् । यथा चाक्षपादाचार्यसूत्रे— " दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः " [ ४।२।२ ] इति । दोषो रागादिः । चकारात् ' अयमहमस्मि ' इत्येतमपि भावं व्युदस्येति ज्ञेयम् । ततो ब्रह्मभूयाय ब्रह्मभावाय तं प्राप्तुं कल्पते योग्यो भवतीति तृतीयेन सम्बन्धः ॥ ५१ ॥

केन साधनजातेनैवम्भूतो भवति ? इत्यत आह— विविक्तेति । यत्तच्छब्दाध्याहारेण योज्यम् । नित्यमिति सर्वत्र सम्बन्धनीयम् । यो नित्यं विविक्तसेवी एकान्तशीली, लघ्वाशी मिताशनशीलश्च । तथा नित्यं वैराग्यं रागाभावं समुपाश्रितश्च । तथा नित्यं ध्यानयोगः षष्ठाध्यायोक्तस्तत्परश्च यो नित्यं भवति स यतवाक्कायमानसो भवति । यतकाय आसनदार्ढ्येन, यतवाक् विषयेभ्य इन्द्रियाणां प्रत्याहरणेन, यतमानसः सर्वसङ्कल्पत्यागेन । अत्र चतुर्भिः साधनैर्यतवाक्कायमानसत्वं साध्यम् । नित्यं विविक्तसेवादिशीलः सन् यतवाक्कायमानसो भूत्वा ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्युत्तरेणान्वयः ॥ ५२ ॥

एवं यतवाक्कायमानसस्य योगिनो योगजाः सिद्धय उपतिष्ठन्ति, ताश्च श्रुतौ दर्शिताः " पृथिव्यप्तेजोनिलखे समुत्थिते पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तत्र ( तस्य ) रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् ' [ श्वे. उ. २।१२ ] इति । तथा " यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान् । तं तं लोकं जयते तांश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः " [ मुं. उ. ३।१।१० ] इति च । संविभाति सङ्कल्पयति लोकं लोचनीयमतीतानागतमर्थजातं कामान् काम्यमानान् विषयान् जयते उपलभते इति श्रुतिपदानामर्थः । तथा— " नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् " [ कठो. २।२३ ] इति । प्रज्ञानेन शास्त्राचार्योपदेशजेन ज्ञानेन दुश्चरितादिसेवनाद्विरक्तः शान्तो जितचित्तः समाहितो निरुद्धचित्तवृत्तिरप्यशान्तमानसो योगैश्वर्यासक्तचित्तः एनमात्मानं न प्राप्नुयादिति श्रुत्यर्थः । तदिदमाह— अहङ्कारमिति । यदा तु योगी यतमानसोऽस्मितामात्रप्रत्ययो भवति तदा सैवास्मितावस्थितिर्विषयाभिमुखाहङ्कार इत्युच्यते । विषयविमुखा त्वस्मितेति ततस्तमहङ्कारं निगृह्णीयात् । तदनिग्रहे योगी बलं सत्यसङ्कल्पत्वादिसामर्थ्यमात्मनः पश्यन् दर्पं करोति, न मत्तुल्योऽन्योऽस्तीति मन्यते । ततश्च 'दृप्तो धर्ममतिक्रामति' [ १।१३।४ ] इत्यापस्तम्बवचनाद्दिव्यान्कामानिच्छति । तत्र केनचिन्निमित्तेन कामप्रतिबन्धे सति क्रोधवान्भवति, ततः परोत्सादनाय भूयांसं शिष्यादिपरिग्रहं सम्पादयति, ततो नश्यतीति । तस्मात्सर्वानर्थमूलभूत-

महङ्कारमेव विमुच्य तत इतरान्सर्वान् विमुञ्चति । अहङ्कारविमोकेऽपि निर्ममत्वं तत्प्रदर्शितेषु विषयेषु ममताशून्यत्वे सत्यहङ्कारः शिथिलीभूतो विषयवैमुख्यं प्राप्य स्वकारणेऽस्मितायां विलीयते, ततः शान्तोऽस्मिताया अपि प्रलयान्निरिन्धनाग्निवदुपरतो योगी ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥ ५३ ॥

उक्तक्रमेण ब्रह्मीभूतस्य लक्षणम् ।

**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।**
**समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥**

१ शां. भा.— अनेन क्रमेण– ब्रह्मभूतः ब्रह्मप्राप्तः प्रसन्नात्मा लब्धाध्यात्मप्रसादो न शोचति किञ्चिदर्थवैकल्यमात्मनो वैगुण्यं चोद्दिश्य न शोचति न सन्तप्यते, न काङ्क्षति । ब्रह्मभूतस्यायं स्वभावोऽनूद्यते न शोचति न काङ्क्षतीति । न ह्यप्राप्तविषयाकाङ्क्षा ब्रह्मविद उपपद्यते । 'न हृष्यति' इति वा पाठः । समः सर्वेषु भूतेष्वात्मौपम्येन सर्वेषु भूतेषु सुखं दुःखं वा सममेव पश्यतीत्यर्थः । नाऽऽत्मसमदर्शनमिह तस्य वक्ष्यमाणत्वात् 'भक्त्या मामभिजानाति' [ १८।५५ ] इति । एवम्भूतो ज्ञाननिष्ठो मद्भक्तिं मयि परमेश्वरे भक्तिं भजनं परामुत्तमां ज्ञानलक्षणां चतुर्थीं लभते 'चतुर्विधा भजन्ते मां' [ ७।१६ ] इत्युक्तम् ॥ ५४ ॥

२ आ. शां. व्या.— अपेक्षितं पूरयन्नुत्तरश्लोकमवतारयति— **अनेनेति** । 'बुद्ध्या विशुद्धया' [ १८।५२ ] इत्यादिरत्र क्रमः, ब्रह्मप्राप्तो जीवन्नेव निवृत्ताशेषानर्थो निरतिशयानन्दं ब्रह्मात्मत्वेनानुभवन्नित्यर्थः । अध्यात्मं प्रत्यगात्मा तस्मिन्प्रसादः सर्वानर्थनिवृत्त्या परमानन्दाविर्भावः, स लब्धो येन जीवन्मुक्तेन स तथा । न शोचतीत्यादौ तात्पर्यमाह— **ब्रह्मभूतस्येति** । प्राप्तव्यपरिहार्याभावनिश्चयादित्यर्थः । स्वभावानुवादमुपपादयति— **न हीति** । तस्याप्राप्तविषयाभावान्नापि परिहार्यपरिहारप्रयुक्तः शोकः परिहार्यस्यैवाभावादित्यर्थः । पाठान्तरे ( न हृष्यतीत्यत्र ) तु रमणीयं प्राप्य न प्रमोदते तदभावादित्यर्थः । विवक्षितं समदर्शनं विशदयति— **आत्मेति** । ननु सर्वेषु भूतेष्वात्मनः समस्य निर्विशेषस्य दर्शनमत्राभिप्रेतं किं नेष्यते ? तत्राऽऽह— **नाऽऽत्मेति** । उक्तविशेषणवतो जीवन्मुक्तस्य ज्ञाननिष्ठा प्रागुक्तक्रमेण प्राप्ता सुप्रतिष्ठिता भवतीत्याह— **एवम्भूत** इति । श्रवणमनननिदिध्यासनवतः शमादियुक्तस्याभ्यस्तैः श्रवणादिभिर्ब्रह्मात्मन्यपरोक्षं मोक्षफलं ज्ञानं सिध्यतीत्यर्थः । आर्तादिभक्तित्रयापेक्षया ज्ञानलक्षणा भक्तिश्चतुर्थीत्युक्ता । तत्र सप्तमस्थवाक्यमनुकूलयति— **चतुर्विधा** इति ॥ ५४ ॥

३ रा. भा.— ब्रह्मभूतः आविर्भूतापरिच्छिन्नज्ञानैकाकारमच्छेषतैकस्वभावात्मस्वरूपः, 'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'[७।५] इति हि स्वशेषतोक्ता, प्रसन्नात्मा क्लेशकर्मादिभिरकल्मषस्वरूपो मद्व्यतिरिक्तं न कञ्चन भूतविशेषं प्रति शोचति; न कञ्चन काङ्क्षति; अपितु मद्व्यतिरिक्तेषु सर्वेषु भूतेषु अनादरणीयतायां समो निखिलं वस्तुजातं तृणवन्मन्यमानो मद्भक्तिं लभते परां मयि सर्वेश्वरे निखिलजगदु-(दयविभवलयलीले )-द्भवस्थितिप्रलयलीले निरस्तसमस्तहेयगन्धेऽनवधिकातिशयासङ्ख्येयकल्याणगुणगणैकताने लावण्यामृतसागरे श्रीमति पुण्डरीकनयने स्वस्वामिन्यत्यर्थप्रियानुभवरूपां परां भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥

४ वे. ता. चं.— एवं कर्मयोगादिसाध्यप्रत्यगात्मानुभवस्य परभक्त्यधिकारापादकत्वमुच्यते 'ब्रह्मभूतः' इति श्लोकेन । तदभिप्रायेण परशेषतैकस्वभावत्वस्याप्याविर्भाव उक्तः । योगसाध्यं ब्रह्माख्यमिह ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायेणापरिच्छिन्नज्ञानाविर्भावोक्तिः । शेषत्वस्य स्वरूपानुबन्धित्वं प्रागेवोक्तमित्याह **इतस्त्वन्यामिति** । 'रागादिदूषिते चित्ते नास्पदी मधुसूदनः' [वि. ध. ९।१०] इत्याद्युक्तपरभक्त्यनर्हतानिवृत्तिः 'प्रसन्नात्मा' इत्युच्यत इत्याह— **क्लेशकर्मादिभिरकल्मषस्वरूप** इति । आदिशब्देन विपाकाशययोर्ग्रहणं, तयोरपि कालुष्यरूपत्वात्; 'क्लेशकर्मविपाकाशयैः' [ पा. यो. १।२४ ] इति सन्नियोगशिष्टत्वाच्च । अविद्यास्मितादयः पञ्च क्लेशाः, कर्म पुण्यपापरूपं, जात्यायुर्भोगाः विपाकाः, आशयाः संस्काराः । 'यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते' [ ६।२२ ] इति प्रागुक्तं 'न शोचति' इति परामृष्टम् । तथा 'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः' [६।२२] इत्युक्तं 'न काङ्क्षति' इति स्मारितम् । अत्र 'न प्रहृष्यति' इति पाठान्तरमप्रसिद्धत्वादनङ्गीकृतम् । तत्रात्मानुभवसुखेन बाह्यवैतृष्ण्यं तावज्जायते, परमात्मनस्तु प्रत्यगात्मनोऽप्यधिकसुखतया श्रुतत्वात्तदनुबुभूषास्थायिनीत्यभिप्रायेण मद्व्यतिरिक्तशब्दः ।

शोककाङ्क्षानुदयहेतुः 'समः' इत्युच्यते इत्यभिप्रायेण— **अनादरणीयतायां सम** इत्युक्तम् । तुल्यानादर इत्यर्थः । परावरतत्त्वविवेकफलमन्यानादरसाम्यं व्यनक्ति— **निखिल**मिति । **वस्तुजात**मित्यनेन ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानामेव मेर्वपेक्षया माषसर्षपादीनामिवावान्तरोत्कर्षस्यानादरयोग्यत्वं सूचितम् । **तृणवदि**ति— नहि रत्नपर्वतमारुरुक्षोः पलालकूटे सङ्गः स्यादिति भावः । अत्र मच्छब्देन परभक्त्युत्पत्तिविवृद्ध्यर्थतया पूर्वत्र शास्त्रान्तरेषु च प्रपञ्चितानामुपासनदशायामनुसन्धेयानां चाकाराणामभिप्रेतत्वमाह **मयि सर्वेश्वर** इत्यादिभिः । **सर्वेश्वर**— इति ईशितव्यस्य बद्धस्य किं तथाभूतैः ईशितव्यान्तरैरिति भावः । **निखिलजगदुद्भवस्थितिप्रलयलील** इति— "कारणं तु ध्येयः" [ अ. शिखो. ३ ] इति हि श्रुतिरिति भावः । यद्वा करणकलेवरप्रदानादिभिर्महोपकारके चतुर्विधहेतुभूते तस्मिन् तिष्ठति सृष्टिसंहारकर्मतयैवावस्थितः कोऽन्यः समाश्रयणीय इति भावः । **निरस्तसमस्तहेयगन्ध** इति— नह्यस्मिन्यथावत्प्रतीते वस्त्वन्तरेऽविवावज्ञावैमुख्यादिकारणमस्तीति भावः । **अनवधिके**त्यादि एकैकगुणप्रकर्षोऽपि चित्ताकर्षकः; किमुतैवं सम्भूत इति भावः । यद्वि परं सुलभं च तदेव ह्याश्रयणीयमिति सौलभ्योपयुक्तगुणानामप्यत्र सङ्ग्रहः । **लावण्यामृतसागर** इति शुभाश्रयविग्रहगुणोपलक्षणम् ।

**श्रीमती**ति— श्रीर्हि सर्वेषामाश्रयणीया, साप्येनं नित्यमाश्रितेति हृदयम् । श्रीयते श्रयते चेति श्रीशब्दो निरुक्तः । मतुभित्ययोगे । श्रुतिश्च— "ह्रीश्च(श्रीश्च)ते लक्ष्मीश्च पत्न्यौ" [ यजुस्सं. ३१।२२ ] इत्यादिका । स्मर्यते च— 'नित्यैवैषा जगन्माता विष्णोः श्रीरनपायिनी । यथा सर्वगतो विष्णुस्तथैवेयं ...' [ वि. पु. १।८।१७ ] इति । एतेनोपास्यत्वप्राप्यत्वादिकं सर्वं सपत्नीकस्येति ज्ञापितम् । आमनन्ति च रहस्याम्नायविद इममेवार्थं— 'नित्यसन्निहितशक्तिः' इति । **पुण्डरीकनयन** इत्यवयवसौन्दर्योपलक्षणम् । "तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम (सः) एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्यः उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद" [ छां. उ. १।६।७ ] इति सर्वपापविमोक्षकामस्योपासनार्थतया पुण्डरीकाक्षत्वमप्युपदिष्टम् । 'चक्षुषा तव सौम्येन पूताऽस्मि' [ वा. रा. ३।४१।१३ ] 'यं पश्येन्मधुसूदनः' इत्यादिषु च तद्वीक्षणस्य पावनतमत्वमुच्यत इति भावः । भक्त्युत्पत्त्यादौ सर्वमिदमेकतः, स्वामित्वं चैकतः, नचासावेकोनसर्वस्वामीत्यभिप्रायेणाऽऽह— **स्वस्वामिनी**ति ॥ ५४ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ५४ ॥**

**६ ज. प्र. दी.— ॥ ५४ ॥**

**७ ह. पै. भा.— इदानीं ब्रह्मभूतस्य लक्षणमुच्यते— ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मैव भूतो ब्रह्मभूतः, प्रसन्नः स्वच्छ आत्मा यस्य स प्रसन्नात्मा, रागद्वेषाभ्यामनाकृष्यमाणहृदय इत्यर्थः । न शोचति न काङ्क्षति; समः सर्वेषु भूतेषु प्राणिषु । एकमेव परमात्मानमात्मत्वेनावस्थितं पश्यन्स एवम्भूतो मद्भक्तिमीश्वरभक्तिं भजनं तादात्म्यं परामुत्कृष्टां लभत इत्यर्थः ॥ ५४ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— अथ केन क्रमेण ब्रह्मभूयाय कल्पत इत्यत्राऽऽह— ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मभूतः 'ब्रह्माहमस्मि' इति दृढनिश्चयवान् प्रसन्नात्मा शुद्धचित्तः नष्टं न शोचति, न चाप्राप्तं काङ्क्षति । अतो निग्रहानुग्रहप्राप्त्यभावात्सर्वभूतेषु समः आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखदुःखदर्शी, एवम्भूतः पराम्रुत्तमां मद्भक्तिं मयि शुद्धब्रह्मणि ज्ञानरूपां भक्तिं चतुर्थीं लभते । 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' [७।१६] इति हि प्रागुक्तम् ॥ ५४ ॥

९ व० त० दी०— स ब्रह्मभूतः सर्वनिरपेक्षः शुक इव परां ज्ञानादपि फलरूपां मम पुरुषोत्तमस्य क्षराक्षरातीतस्य भक्तिं नवविधां प्रेमलक्षणां लभते, "आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे । कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः" [ ५।७।१० ] इत्यादिभागवतवाक्यात् । अत्र 'मद्भक्तिं' इत्यनेनाक्षरब्रह्मात्मत्वज्ञानिनो जीवन्मुक्तस्यापि पुरुषोत्तमभक्तिरेवातिशयितपुरुषार्थो भगवताऽभिमतः, न त्वक्षरब्रह्मैक्यं साङ्ख्यादिनेति गम्यते । अन्यथैवं नोक्तं स्यात् । न चेह 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इत्येव न ब्रह्मरूप इत्यतो 'विशते तदनन्तरं' [ १८।५५ ] इत्यैक्यमेवायातीति वाच्यम्, अग्रे 'ब्रह्मभूतः' इति सिद्धनिर्देशस्तदनन्तरं प्रत्युत तस्य भक्तिलाभकथनात् , तयाऽक्षरातीतपुरुषोत्तमतत्त्वाभिज्ञानतः पुरुषोत्तमस्वरूपप्रवेशोक्तेश्च; अतोऽक्षरज्ञानरूपं प्रमाणमार्गादधिकोऽयं प्रमेयमार्गः पुरुषोत्तमसम्बन्धपर्यवसायीति ।

अक्षरब्रह्ममार्गे हि अक्षरब्रह्मोपासनम्, ततः श्रवणादीच्छा, ततः श्रवणादिसिद्ध्यर्थकज्ञानतोऽक्षरात्मैक्यफलम् । भगवन्मार्गे तु भगवदीयस्वधर्माचरणद्वारा श्रीपुरुषोत्तमभजनं तत्कृपयाक्षरात्मब्रह्मभावेऽपि श्रवणकीर्तनसेवनादिभिः पुनरपि श्रीशुकोद्धवादेरिव पुरुषोत्तमभक्त्या प्रवेश एव एकं कामिकं फलमिति भेदः । अतएव 'वदन्ति तत्तत्त्वविदः' [ भाग. १।२।११ ] इत्यत्र यशोदोत्सङ्गलालितं पुरुषोत्तमतत्त्वं भगवानिति

सात्वतः, उपासते 'अक्षरं ब्रह्म' इति साङ्ख्याः, 'परमात्मा' इति योगिन इत्युक्तम् । ते च यथायथं निर्गुण-सगुणभक्तिज्ञानकर्मभाववीविषयाः । निर्गुणपरभक्तिविषयस्तु पुष्टिपुरुषोत्तम एव गुणातीतः लोकवेदाप्रथितः । इदं सर्वं 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः' [ ब्र. सू. ३।३।२९ ] इति सूत्रे विचारितं भाष्यकारेणेति ततोऽवगन्तव्यम् ॥ ५४ ॥

१० पु. अ. त.— ब्रह्मात्मावस्थितेः फलमाह— ब्रह्मभूत इति । ब्रह्मात्मावस्थितः, प्रसन्नः आनन्दयुक्त आत्मा चेतो यस्य तादृशः सन्, नष्टपदार्थेषु भगवल्लीलाज्ञानेन न शोचति, प्राप्तव्यं तदिच्छां विना न काङ्क्षति । सर्वेषु भूतेषु कार्यात्मकस्वरूपज्ञानेन समः परां प्रेमलक्षणां मद्भक्तिं लभते ॥ ५४ ॥

११ नी० भा० दी०— अस्यैवं शान्तस्य केवलस्य योगिनो व्युत्थानावस्थामाह— ब्रह्मभूत इति । यो हि सुप्तौ लये वा निपतितो योगी व्युत्थाने जडदेहस्तमोग्रस्तचित्त इव तन्द्रालुरुत्तिष्ठति । ब्रह्मभूतस्तु प्रसन्नात्मा प्रसन्नचेताः लघुशरीरः अमृतेनेव समाधिसुखेन तृप्तस्तदेकप्रवणो न शोचति नष्टम् । नाप्यप्राप्तं काङ्क्षति दारादिकम् । सर्वेषु भूतेषु चतुर्विधेषु समः 'ब्रह्मैवेदं सर्वं' इति बुद्ध्या वैषम्यवर्जितः सन् परां मद्भक्तिं द्वैतदृष्टिविवर्जितां भावनां लभते । पातञ्जलयोगी तु न व्युत्थाने परां दृष्टिं लभते, भेददर्शित्वात् । अयं च भक्तः श्रीभागवते [ ११।२।४५ ] दर्शितः— 'सर्वभूतेषु येनैकं भगवद्भावमीक्षते । भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः !' इति; सोऽयं चतुर्थो भक्तः 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ ७।१८ ] इति भगवताऽपि दर्शितः ॥ ५४ ॥

अनन्योत्तमभक्तिप्राप्तेः फलम् ।

**भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।**
**ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥ ५५ ॥**

**१ शां. भा.**— ततो ज्ञानलक्षणया— भक्त्या मामभिजानाति यावानहमुपाधिकृतविस्तरभेदो यश्चाहं विध्वस्तसर्वोपाधिभेद उत्तमपुरुष आकाशकल्पस्तं मामद्वैतं चैतन्यमात्रैकरसं अजमजरममरमभयं तत्त्वतोऽभिजानाति । ततो मामेवं तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरं मामेव— नात्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्रिये भिन्ने विवक्षिते— ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमिति । किं तर्हि ? फलान्तराभावाज्ज्ञानमात्रमेव, 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' [ १३।२ ] इत्युक्तत्वात् ।

**२ आ. शां. व्या.**— ननु समाधिसाध्येन परमभक्त्यात्मकेन ज्ञानेन किमपूर्वमवाप्यते ? तत्राऽऽह— **तत** इति । भक्त्या समाधिजन्यया मां ब्रह्माभिमुख्येन प्रत्यक्तया जानाति, व्याप्नोतीत्यर्थः । तदेव ज्ञानं भक्तिपराधीनं विवृणोति— **यावा-निति** । आकाशकल्पत्वमनवच्छिन्नत्वमसङ्गत्वं च । चैतन्यस्य विषयसापेक्षत्वं प्रतिक्षिपति— **अद्वैतमिति** । ये तु द्रव्यबोधात्मत्वमात्मनो मन्यन्ते तान्प्रत्युक्तं— **चैतन्यमात्रे**ति । आत्मनि तन्मात्रेऽपि धर्मान्तरमुपेत्य धर्मधर्मित्वं प्रत्याह— **एकरसमिति** । सर्वविक्रियाराहित्योक्त्या कौटस्थ्यमात्मनो व्यवस्थापयति— **अजमिति** । उक्तविक्रियाभावे तद्धेत्वज्ञानासम्बन्धं हेतुमाह— **अभयमिति** । तत्त्वज्ञानमनूद्य तत्फलं विदेहकैवल्यं लम्भयति— **तत** इति । तत्त्वज्ञानस्य तस्मादनन्तरप्रवेशक्रियायाश्च भिन्नत्वं प्राप्तं प्रत्याह— **नात्रे**ति । भिन्नत्वाभावे का गतिर्भेदोक्तेः ? इत्याशङ्क्यौपचारिकत्वमाह— **किं तर्ही**ति । प्रवेश इति शेषः । ब्रह्मप्राप्तिरेव फलान्तरमित्याशङ्क्य ब्रह्मात्मनोर्भेदाभावान्न ज्ञानातिरिक्ता तत्प्राप्तिरित्याह— **क्षेत्रज्ञं चे**ति ।

**१ शां. भा.**— ननु विरुद्धमिदमुक्तं 'ज्ञानस्य या परा निष्ठा तया मामभिजानाति' [१८।५०] इति, कथं विरुद्धं ? इति चेदुच्यते— यदैव यस्मिन्विषये ज्ञानमुत्पद्यते ज्ञातुस्तदैव तं विषयमभिजानाति ज्ञातेति, न ज्ञाननिष्ठां ज्ञानावृत्तिलक्षणामपेक्षत इति । ततश्च ज्ञानेन नाभिजानाति, ज्ञानावृत्त्या तु ज्ञाननिष्ठयाऽभिजानातीति ।

**२ आ. शां. व्या.**— ज्ञाननिष्ठया परया भक्त्या मामभिजानातीत्युक्तमाक्षिपति— **नन्विति** । विरुद्धत्वं स्फोरयितुं पृच्छति— **कथमि**ति । विरोधस्फुटीकरणं प्रतिजानीते— **उच्यत** इति । तत्र ज्ञानस्योत्पत्तेरेव विषयाभिव्यक्तिरित्याह— **यदे**ति ।

एवकारनिरस्यं दर्शयति— **न ज्ञानेति** । इत्यावयोः सिद्धमिति शेषः । ज्ञानस्योत्पत्तेरेव विषयाभिव्यक्तत्वेऽपि कथं प्रकृते विरोधधीः ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **ततश्चेति** । विरुद्धमिति शेषः ।

**१ शां. भा.— नैष दोषः, ज्ञानस्य स्वात्मोत्पत्तिपरिपाकहेतुयुक्तस्य प्रतिपक्षविहीनस्य यदात्मानुभवनिश्चयावसानत्वं तस्य निष्ठाशब्दाभिलापाच्छास्त्राचार्योपदेशेन ज्ञानोत्पत्तिपरिपाकहेतुं सहकारिकारणं बुद्धिविशुद्धत्वादि अमानित्वादि गुणं चापेक्ष्य जनितस्य क्षेत्रज्ञपरमात्मैकत्वज्ञानस्य कर्त्रादिकारकभेदबुद्धिनिबन्धनसर्वकर्मसन्न्याससहितस्य स्वात्मानुभवनिश्चयरूपेण यदवस्थानं सा परा ज्ञाननिष्ठेत्युच्यते ।**

२ आ. शां. व्या.— शङ्कितं विरोधं निरस्यति— **नैष दोष** इति । उक्तमेव हेतुं प्रपञ्चयति— **शास्त्रेति** । यो हि शास्त्रानुसार्याचार्योपदेशस्तेन ज्ञानोत्पत्तिः "आचार्यवान्पुरुषो वेद" [ छां. उ. ६।१४।२ ] इति श्रुतेः तस्याश्च परिपाकः संशयादिप्रतिबन्धध्वंसस्तत्र हेतुभूतमुपदेशस्यैव सहकारिकारणं यद्बुद्धिशुद्ध्यादि तदपेक्ष्य तस्मादेवोपदेशाज्जनितं यदैक्यज्ञानं तस्य कारकभेदबुद्धिनिबन्धनानि यानि सर्वाणि कर्माणि तेषां सन्न्यासेन सहितस्य फलरूपेण स्वात्मन्येव सर्वकल्पनारहिते यदवस्थानं सा ज्ञानस्य परा निष्ठेति व्यवह्रियते प्रामाणिकैरित्यर्थः ।

**१ शां. भा.— सेयं ज्ञाननिष्ठाऽऽर्तादिभक्तित्रयापेक्षया परा चतुर्थी भक्तिरित्युक्ता । तया परया भक्त्या भगवन्तं तत्त्वतोऽभिजानाति । यदनन्तरमेवेश्वरक्षेत्रज्ञभेदबुद्धिरशेषतो निवर्तते । अतो ज्ञाननिष्ठालक्षणया भक्त्या मामभिजानातीति वचनं न विरुध्यते । अत्र च सर्वं निवृत्तिविधायि शास्त्रं वेदान्तेतिहासपुराणस्मृतिलक्षणं न्यायप्रसिद्धमर्थवद्भवति, "विदित्वा .... व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" [ बृ. उ. ३।५।१ ] "तस्मान्न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः" [ महाना. १६।१४ ] "न्यास एवात्यरेचयत्" [ महाना. १५।१२ ] इति । 'सन्न्यासः कर्मणां न्यासः' 'वेदानिमं च लोकममुं च परित्यज्य' [ आ. ध. सू. २।२३।१३ ] 'त्यज धर्ममधर्मं च' [सं. उ. २।१२+म. भा. १२।३२९।४०+३३१।४४ ] इत्यादि ।**

२ आ. शां. व्या.— यदि यथोक्ता परा ज्ञाननिष्ठा कथं तर्हि सा चतुर्थी भक्तिरित्युक्ता ? इति तत्राऽऽह— **सेयमिति** । यथोक्तया भक्त्या भगवत्तत्त्वज्ञानं सिध्यतीत्याह— **तयेति** । तत्त्वज्ञानस्य फलमाह— **यदनन्तरमिति** । ज्ञाननिष्ठारूपाया भगवद्भक्तेस्तत्त्वज्ञानानतिरेकात्तत्फलस्य चाज्ञाननिवृत्तेस्तन्मात्रत्वाद्भेदोक्तेश्चौपचारिकत्वात्प्रकृतं वाक्यमविरुद्धमित्युपसंहरति— **अत** इति । औपदेशिकैक्यज्ञानस्य सर्वकर्मसन्न्याससहितस्य स्वरूपावस्थानात्मकस्य परमपुरुषार्थौपयिकत्वमित्यस्मिन्नर्थे मानमाह— **अत्र चेति** । तदेव शास्त्रमुदाहरति— **विदित्वेत्यादिना** ।

**१ शां. भा.— इह च दर्शितानि वाक्यानि न च तेषां वाक्यानामानर्थक्यं युक्तम् । न चार्थवादत्वं स्वप्रकरणस्थत्वात्प्रत्यगात्माविक्रियस्वरूपनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्य । न हि पूर्वसमुद्रं जिगमिषोः प्रातिलोम्येन प्रत्यक्समुद्रं जिगमिषुणा समानमार्गत्वं सम्भवति । प्रत्यगात्मविषयप्रत्ययसन्तानकरणाभिनिवेशश्च ज्ञाननिष्ठा । सा च प्रत्यक्समुद्रगमनवत्कर्मणा सह भावित्वेन विरुध्यते । पर्वतसर्षपयोरिवान्तरवान्विरोधः प्रमाणविदां निश्चितः । तस्मात्सर्वकर्मसन्न्यासेनैव ज्ञाननिष्ठा कार्येति सिद्धम् ॥ ५५ ॥**

२ आ. शां. व्या.— दर्शितानि वाक्यानि 'सर्वकर्माणि मनसा' [ ५।१३ ] इत्यादीनि । नन्वेषां वाक्यानामविवक्षितार्थत्वान्नास्ति स्वार्थे प्रामाण्यमित्याशङ्क्याध्ययनविध्युपात्तत्वाद्वेदवाक्यानां तदनुरोधित्वाच्चेतरेषां नैवमित्याह— **न चेति** । तथापि सोऽरोदीदित्यादिवन्न स्वार्थे मानतेत्याशङ्क्याऽऽह— **न चार्थवादत्वमिति** । इतश्च मुमुक्षोरपेक्षितमोक्षौपयिकज्ञाननिष्ठस्य सन्न्यासेऽधिकारो न कर्मनिष्ठायामित्याह— **प्रत्यगिति** । ज्ञाननिष्ठस्य कर्मनिष्ठा विरुद्धेत्यत्र दृष्टान्तमाह— **न हीति** । ज्ञाननिष्ठास्वरूपानुवादपूर्वकं कर्मनिष्ठया तस्याः सह भावित्वं विरुद्धमिति दार्ष्टान्तिकमाह— **प्रत्यगात्मेति** । कथं ज्ञानकर्मणोर्विरोधधीरित्याशङ्क्य कर्मणां ज्ञाननिवर्त्यत्वस्य श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वादित्याह— **पर्वतेति** । अन्तरवानुभयोरेकधर्मिनिष्ठत्वेन साङ्कर्याभावसम्पादकभेदवानित्यर्थः । ज्ञानकर्मणोरसमुच्चये फलितमुपसंहरति— **तस्मादिति** ॥ ५५ ॥

**३ रा. भा.— तत्फलमाह— भक्त्येति ।** स्वरूपतः स्वभावतश्च योऽहं, गुणतो विभूतितोऽपि यावांश्चाहं, तं मां एवंरूपया भक्त्या तत्त्वतोऽभिजानाति मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं तत्त्वज्ञानानन्तरं ततो भक्तितो मां विशते प्रविशति; तत्त्वतः स्वरूपस्वभावगुणविभूतिदर्शनोत्तरकालभाविन्या अनवधिकातिशयभक्त्या मां प्राप्नोतीत्यर्थः । अत्र तत इति प्राप्तिहेतुतया निर्दिष्टा भक्तिरेवाभिधीयते, 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' [ ११।५४ ] इति तस्या एव तत्त्वतः प्रवेशहेतुत्वाभिधानात् ।। ५५ ।।

**४ वे. ता. चं.— तत्फलमाहेति**—अव्यवहितं व्यवहितं चेति शेषः । पूर्वग्रन्थोक्तजगत्कारणत्वलक्षितसर्वेश्वराख्यधर्म्यभिप्रायेण 'यः' इत्यस्यार्थमाह— **स्वरूपत** इति । विधिनिषेधरूपशोधकवाक्यावसितसर्वविद्यानुसन्धेयस्वरूपनिरूपकधर्मयोगः **स्वभावत** इति निर्दिष्टः । स्वरूपनिरूपकधर्माभावे अनिरूपितस्वरूपतया निस्स्वभावमेव वस्तु स्यात् । स्वरूपशब्दः स्वरूपनिरूपकधर्मपरः, स्वभावशब्दस्तु सौलभ्यपर इति केचित् । यावच्छब्दो हि प्रकर्षनिकर्षपरामर्शयोग्याकारविषयो युक्त इत्यभिप्रायेणाऽऽह **गुणतो विभूतितोऽपीति** । **यावांश्चाह**मिति गुणशब्दोऽत्र निरूपितस्वरूपविशेषकज्ञानशक्त्यादिसमस्तधर्मविषयः । 'यावान्यश्च' इत्यनयोर्व्युत्क्रमेण व्याख्यानं बुद्ध्यारोहक्रमप्रदर्शनार्थम् । 'तत्त्वतः' इत्यस्य 'यावान्यश्च' इत्यत्रानपेक्षणात् 'अभिजानाति' इत्यत्र संशयादिव्युदासाय तदपेक्षणाच्च **तत्त्वतोऽभिजानाती**ति योजितम् ।

'मां तत्त्वतोऽभिजानाति' इत्युक्तस्यैव 'मां तत्त्वतो ज्ञात्वा' इत्यनुभाषणमुपायभूतस्यापि स्वादुतमतया सुदुर्लभत्वेनादरातिशयार्थम् । 'तत्त्वतो ज्ञात्वा' इत्यनेनैव आनन्तर्यसिद्ध्यर्थहेतुपौष्कल्यज्ञापकानुवादस्य सिद्धत्वात्, 'तदनन्तरम्' इत्यनेनैव प्रवेशस्यानन्तर्यकण्ठोक्तेः, 'भक्त्या त्वनन्यया' [ ११।५४ ] इत्यादौ प्रवेशेऽपि हेतुतया भक्तेरेव प्रागुक्तत्वाच्च **ततो भक्तितो मां विशते** इत्येवान्वयो दर्शितः । 'प्रवेष्टुम्' इति प्रागुक्तैकार्थ्यज्ञापनाय पदसिद्धये च **प्रविशतीत्युक्तम्** । यथावज्ज्ञानमपि काष्ठाप्राप्तभक्तेः । अन्योन्याश्रयणं च भक्तेः पूर्वभेदात्परिहृतम् । सैव तु तथाविधावस्था साक्षान्मोक्षसाधनमित्याह **तत्त्वत** इत्यादिना । दर्शनशब्देनानुभाषणात् 'तत्त्वतोऽभिजानाति' इत्यस्य साक्षात्कारपरत्वं व्यञ्जितम् ।

परभक्त्याऽपि तत्त्वज्ञानमेव साध्यं, तदेव तु साक्षान्मोक्षसाधनमिति कुदृष्टिमतमपाकरोति **अत्रेति** । एवकारेण दर्शनव्यवच्छेदः । यद्यप्यत्र भक्तिशब्दो व्यवहितः, तत्त्वज्ञानं त्वव्यवहितं, तथापि व्यवहितपरामर्श एव युक्तः; अन्यथा 'तत्त्वतो ज्ञात्वा' इत्यादिना पुनरुक्तिप्रसङ्गात् । अत्र दर्शनजनकभक्त्यनुवादे प्रयोजनाभावात्सैव तदुत्तरावस्था परामृश्यत इति भावः । प्रागुक्तं हेतुमाह **भक्त्या त्वनन्ययेति । अयम**भिप्रायः— उपक्रमन्यायात्पूर्वं प्रबलं, स्पष्टास्पष्टयोश्च स्पष्टानुसारेणान्यद्गमयितव्यम्— इति ॥ ५५ ॥

**५ आ. मा. भा.— ।। ५५ ।।**

**६ ज. प्र. दी.— ॥ ५५ ॥**

**७ ह. पै. भा.— इदानीं ब्रह्मस्वरूपावगतौ प्रत्यासन्नं कारणमाह— भक्त्येति ।** भक्त्या भजनेन मां सर्वेश्वरमभिजानाति अवगच्छति 'यावानहमुपाधिकृतभिन्नप्रपञ्चस्वरूपेण यश्चास्मि' इत्यवाप्तसमस्तोपाधिस्वरूपेणेति च । तत्त्वतः परमार्थतः । एवं ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं विशते प्रविशति, ब्रह्मैव सर्वं प्रतिपद्यत इत्यर्थः । सप्तमाध्याये ( श्लो. १८ ) 'उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतं' इत्युक्तत्वात् ।। ५५ ।।

**८ वें. ब्र. गि.— ततश्च— भक्त्येति** । भक्त्या ज्ञानलक्षणया मामभिजानाति साक्षात्करोति । कीदृशम् ? यावानहमुपाधिकृतविस्तारभेदः, यश्चाहमस्मि निरस्तसमस्तोपाधिभेदः सत्यज्ञानानन्दघनः, तं मां जानाति । ततस्तेन भक्तिलक्षणज्ञानेन मामेव तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं मां विशते प्रविशति; मद्रूपो भवतीत्यर्थः । "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" [ मुं. उ. ३।२।९ ] "स एव तदभवत्" [ बृ. उ. १।४।१० ] "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" [ बृ. उ. ४।४।६; तै. आ. २।२; नृ. उ. ९ ] "स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति' [ ५।२४ ] 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' [ १३।१८ ] इत्यादिप्रमाणशतमिहानुसन्धेयम् । 'ज्ञात्वा विशते' इत्यनेनैव प्रवेशस्य ज्ञानानन्तर्ये सिद्धेऽपि पुनः 'तदनन्तरम्' इत्युक्त्या कर्मफलस्य स्वर्गादेरिव ज्ञानफलस्य मुक्तेः साधनोत्तरविलम्बो नास्तीति दर्शितम् । यद्वा न विद्यतेऽन्तरं भेदोऽस्येत्यनन्तरं, तदिति ब्रह्म; अद्वितीयब्रह्मरूपं मां ज्ञात्वा विशतीत्यर्थः ।

यत्त्वत्र रामानुजेन व्याख्यातम् "मां तत्त्वतो ज्ञात्वा तदनन्तरं तत्त्वज्ञानानन्तरं ततो भक्तितो मां प्रविशति । मद्विभूतिगुणदर्शनान्तरकालभाविन्याऽनवधिकातिशयभक्त्या मां प्राप्नोतीत्यर्थः । तथा च तत इति प्राप्तिहेतुतया निर्दिष्टा भक्तिरेव, 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' [ ११।५४ ] इति तस्या एव प्रवेशहेतुश्रवणात्—" इति; तत्र वक्तव्यम्—

किमियं भक्तिर्ज्ञानरूपा किंवा ज्ञानहेतुरर्थान्तरम् ? आद्ये इष्टापत्तिः। अन्त्ये तु परमात्मप्रवेशहेतुत्वेनाभिमतताया भक्तेः 'भक्त्या मामभिजानाति' इति ज्ञानहेतुत्वेन पूर्वार्धोक्तभक्त्यभिन्नत्वे तस्यास्तत्त्वदर्शनोत्तरकालभावित्वमनुपपन्नम्। तद्भिन्नत्वे तु तत इति पूर्वोक्तभक्तिपरामर्शकसर्वनामशब्दानुपपत्तिः। किञ्च प्रेमरूपा क्रिया भक्तिर्ज्ञानस्यैव साधनं; ज्ञानमेव तु मुक्तिं प्रति साधनमिति गीताचार्यस्य भगवतो मतम्, यदाहुः स्वयमेव— 'तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्। ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' [१०।१०] 'मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते' [१३।१८] इति।

अतो भक्तेर्मुक्तिहेतुत्वमयुक्तम्। पराक्रान्तं च पूर्वाचार्यैर्मुक्तेर्ज्ञानैकसाध्यत्वव्यवस्थापने। 'भक्त्या त्वनन्यया शक्यः' [११।५४] इति तु ज्ञानद्वारकमेव मुक्तिहेतुत्वं भक्तेः प्रतिपादयति, 'ददामि बुद्धियोगम्' [१०।१०] इति प्रागुक्तवचनैकार्थ्यात् 'ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप !' [११।५४] इति वाक्यशेषे प्रवेशरूपमुक्तिहेतोः, साक्षात्कारत्वोक्तेश्चेति दिक्॥ ५५॥

९ व० त० दी०— भक्त्येति। स मदीयया भक्त्या निर्गुणया निर्गुणविषयकत्वात्परया मामेकं निर्गुणं पुरुषोत्तममभिजानाति तत्त्वतः यावान्यश्चास्मीति। यादृशैश्वर्याद्यनन्तालौकिकगुणविशिष्टो यादृशलीलापरिकरसहितः प्राकृतगुणसृष्टिरहितो ब्रह्मपरमात्मा भगवानिति भेदेन ततो नामविस्तृतोऽस्मि यथातथा मामभिजानाति, एवं ह्यभिज्ञानमुक्तं भागवतचतुश्श्लोक्यां 'यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः' [भाग. २।९।३१] इत्यादि। तदनन्तरं तत्त्वतो मां पुरुषोत्तमं ज्ञात्वेत्यनुवादः; तत्त्वतो वा पुरुषोत्तमं मां विशते; प्रवेश एव फलं 'निर्गुणा मुक्तिरस्माद्धि सगुणा साऽन्यसेवया' इति निबन्धे 'अलौकिकसामर्थ्यं सायुज्यं सेवोपयोगिदेहो वा वैकुण्ठादिषु' इति सेवाफले च निरूपितम्। अथवाऽऽविशते पुरुषोत्तमाविष्टो भवति। अतएवोक्तमाचार्यैः सुबोधिन्यां 'शुको भावनया गोकुले स्थित्वाऽऽह य एतदिति स भगवान् इति च'। तेन ब्रह्मभूतोऽपि शुकः श्रीपुरुषोत्तमभक्तितत्त्वज्ञानतः श्रीपुरुषोत्तमाविष्ट एव तल्लीलामध्यपाती भवतीत्यवसीयते। तदनन्तरं तेन नान्तरं भेदो यथा भवति तथेति वा। तथा च श्रुतिः— "ब्रह्मविदाप्नोति परं" [तैत्ति. २।१।१] "य-(त-)दक्षरे परमे व्योमन्" [महाना. १।२] "यो वेद निहितं गुहायां" [तै. उ. २।१।१] "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" [तैत्ति. २।१।१] इति। एतेनाक्षरमार्गात् भगवन्मार्गे वैलक्षण्यं यत्र भगवानेव प्रमाणं प्रमेयं चेति दर्शितम्॥ ५५॥

१० पु. अ. त.— भक्तिलाभफलमाह— भक्त्येति। ततस्तदनन्तरं भक्त्या भजनेन वा अगणितानन्दलीलारूपो यश्च केवलमानन्दस्वरूपोऽस्मि तादृशं मां तत्त्वतः कारणात्मकधर्मैः अभिजानाति सर्वथा जानाति। तदनन्तरं तत्त्वतो ज्ञात्वा मां लीलाकर्तारं विशते, आनन्दरूपो भवतीत्यर्थः। यद्वा मां ज्ञात्वा विशते लीलास्विति शेषः॥ ५५॥

११ नी० भा० दी०— अस्या अद्वैतात्मतत्त्वज्ञानलक्षणाया भक्तेः फलमाह— भक्त्येति। मां उक्तविधया भक्त्या ज्ञानी अभितः साकल्येन जानाति। साकल्यमेवाऽऽह— यावानिति। किमहमणुपरिमाणो वा देहसम्मितो वा तार्किकाणामिवाकाशवत्सकलमूर्तद्रव्यसंयोगित्वलक्षणविभुत्वाश्रयो वा सप्रपञ्चाद्वैतवादिनामिव स्वगतभेदवान्वाऽखण्डैकरसो वा ? इति परिमाणतस्तत्त्वतो मां तत्पदार्थं जानाति। तथा यश्चास्मीति— देहेन्द्रियप्राणमनसामन्यतमः कियत्कालस्थायी वा क्षणिकविज्ञानरूपो वा शून्यं वा कर्ता भोक्ता वा जडो वा जडाजडरूपो वा चिद्रूपो भोक्ता वा कर्तृत्वभोक्तृत्ववर्जित आनन्दघनो वा ? इति तत्त्वतः सर्वसंशयराहित्येन मामजरममरमभयमशोकं जानाति। तथा च श्रुतिः— "भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे" [मुं. उ. २।२।८] इति।

आत्मदर्शने सति सर्वसंशयोच्छेदं दर्शयति— एवं 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत !' [१३।२] इत्युक्तेः सर्वक्षेत्रेष्वेकं मां विभुं सच्चिदानन्दघनं तत्त्वतो ज्ञात्वा सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं याथात्म्येन ज्ञात्वा साक्षात्कृत्य ततो व्याप्तो ब्रह्मभावं गतो भवतीत्यर्थः। "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" [मुं. उ. ३।२।९] इति श्रुतेः। यद्वा तत इति कारणब्रह्मभावापत्तिः सार्वात्म्यरूपा प्रथममुक्ता "य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति" [बृ. उ. १।४।१०] "स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्" [ऐ. उ. ३।१३] इत्यादिश्रुतिभ्यो मुक्तानां सार्वात्म्यावगमात्। ततमं तततमं एकस्तकारश्छान्दस्यां प्रक्रियायां लुप्तो द्रष्टव्य इति श्रुतिभाष्यम्। अनन्तरं कारणभावापत्तेरनुपदमेव तत् ब्रह्म तच्छब्दाभिधेयम्। "तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवति" इति श्रुतेः। शुद्धं ब्रह्म विशते दर्पणापाये प्रतिबिम्बो बिम्बमिव प्रविशति। कार्योपाधीनां जीवानां कारणोपाधीश्वर-

प्राप्तिद्वारैव निष्कलब्रह्मप्राप्तिरित्यावेदितं प्रागेव। यद्वा मां ज्ञात्वा तद्विशत इत्येतावतैव ज्ञानप्रवेशयोः पौर्वापर्ये सिद्धे तदनन्तरमितिपदेन तच्छब्देन बुद्धिस्थं देहं परामृश्य तत्पातानन्तरमिति व्याख्येयम् । यतो जातेऽपि तत्त्वज्ञाने यावद्देहपातं प्रारब्धकर्मणां प्रतिबन्धाद्विदेहकैवल्यं न प्राप्यते । अन्यथा ज्ञानसमकालमेव देहपातापत्तिः स्यात् "विमुक्तश्च विमुच्यते" [कठो. ५।१] "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" [श्वेता. १।१०+ना.प.९।९] इति मुक्तस्य मुक्तिं निवृत्तायाश्च मायायाः पुनर्निवृत्तिं वदज्जीवन्मुक्तिशास्त्रं बाधितं स्यात् । यथा तार्किकाणां नष्टेऽपि समवायिकारणे पटादिकं क्षणमात्रमवतिष्ठते, एवमस्माकमप्यनादिकालाया देहाद्युपादानभूताया अविद्याया विनाशेऽपि किञ्चित्कालं देहादिप्रतिभानं युज्यते ईदृशमेव जीवन्मुक्तमपेक्ष्य भगवता उक्तं- 'उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः' [४।३४] इति । स्थितप्रज्ञलक्षणस्मृतिरपि तल्लक्षणाभिधित्सयैव प्रवृत्ता इति दिक् ॥ ५५ ॥

ज्ञानोत्तरकृतकर्मणां भगवदर्पणेनैव तन्निष्कृत्या शाश्वतपदप्राप्तिः ।

**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।**
**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥**

**१ शां. भा.—** स्वकर्मणा भगवतोऽभ्यर्चनभक्तियोगस्य सिद्धिप्राप्तिः फलं ज्ञाननिष्ठायोग्यता, यन्निमित्ता ज्ञाननिष्ठा मोक्षफलावसाना स भगवद्भक्तियोगोऽधुना स्तूयते शास्त्रार्थोपसंहारप्रकरणे शास्त्रार्थनिश्चयदार्ढ्याय— **सर्वेति** ।

**२ आ. शां. व्या.**— तर्हि ज्ञाननिष्ठयैव मोक्षसम्भवान्न कर्मानुष्ठानसिद्धिरित्याशङ्क्याऽऽह— **स्वकर्मणेति** । तामेव सिद्धिप्राप्तिं विशिनष्टि— **ज्ञानेति** । ज्ञाननिष्ठायोग्यतायै स्वकर्मानुष्ठानं भगवदर्चनरूपं कर्तव्यमित्यर्थः । ज्ञाननिष्ठायोग्यताऽपि किमर्था ? इत्याशङ्क्य ज्ञाननिष्ठासिद्ध्यर्थेत्याह— **यन्निमित्तेति** । ज्ञाननिष्ठाऽपि कुत्रोपयुक्ता ? इत्यत्राऽऽह— **मोक्षेति** । स्वकर्मणा भगवदर्चनात्मनो भक्तियोगस्य परम्परया मोक्षफलस्य कार्यत्वेन विधेयत्वे विध्यपेक्षितां स्तुतिमवतारयति— **स भगवदिति** । ज्ञाननिष्ठा कर्मनिष्ठेत्युभयं प्रतिज्ञाय तत्र तत्र विभागेन प्रतिपादितं, किमितीदानीं कर्मनिष्ठा पुनः स्तुत्या कर्तव्यतयोच्यते ? तत्राऽऽह— **शास्त्रार्थेति** । तत्र तत्रोक्तस्यैव कर्मानुष्ठानस्य प्रकरणवशादिहोपसंहारः । स च शास्त्रार्थनिश्चयस्य दृढतां द्योतयतीत्यर्थः ।

**१ शां. भा.—** सर्वकर्माणि प्रतिषिद्धान्यपि सदा कुर्वाणोऽनुतिष्ठन् मद्व्यपाश्रयः, अहं वासुदेव ईश्वरो व्यपाश्रयः यस्य स मद्व्यपाश्रयः, मय्यर्पितसर्वात्मभाव इत्यर्थः । सोऽपि मत्प्रसादान्ममेश्वरस्य प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं नित्यं वैष्णवं पदमव्ययम् ॥ ५६ ॥

**२ शां. आ. व्या.**— यद्यपि कस्यचित्कर्मानुष्ठायिनो बुद्धिशुद्धिद्वारा कैवल्यं सिध्यति तथापि पापबाहुल्यात्कर्मानुष्ठायिनोऽपि कस्यचिद्बुद्धिशुद्ध्यभावे कैवल्यासिद्धिरित्याशङ्क्याह— **सर्वकर्माणीति** । सर्वशब्दानुरोधादीश्वराराधनस्तुतिपरत्वेन श्लोकं व्याचष्टे— **प्रतिषिद्धान्यपीति** । नित्यनैमित्तिकवदित्यपेरर्थः । निषिद्धाचरणस्य प्रामादिकत्वं व्यावर्तयति— **सदेति** । अनुतिष्ठन्वैष्णवं पदमाप्नोतीति सम्बन्धः । पापकर्मकारिणो यथोक्तपदप्राप्तौ पापस्यापि मोक्षफलत्वमुपगतं स्यादित्यत्राऽऽह— **मद्व्यपाश्रय** इति । तस्यैव तात्पर्यमाह— **मयीति** । तर्हि ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमुपेक्षितं स्यादित्यत्राऽऽह— **सोऽपीति** । प्रसादोऽनुग्रहः सम्यग्ज्ञानोदयः पदं पदनीयमुपनिषत्तात्पर्यगम्यं, अव्ययमपक्षयरहितम् ॥ ५६ ॥

**३ रा. भा.—** एवं वर्णाश्रमोचितनित्यनैमित्तिककर्मणां परित्यक्तफलादिकानां परमपुरुषाराधनरूपाणामनुष्ठितानां विपाक उक्तः; इदानीं काम्यानामपि कर्मणामुक्तेनैव प्रकारेणानुष्ठितानां स एव विपाक इत्याह— **सर्वेति** । न केवलं नित्यनैमित्तिकानि कर्माणि, अपितु सर्वाणि काम्यान्यपि कर्माणि, मद्व्यपाश्रयः मयि सन्न्यस्तकर्तृत्वादिकः, कुर्वाणो मत्प्रसादाच्छाश्वतं पदमव्ययं अविकलं प्राप्नोति— पद्यत इति पदं— मां प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

४ वे. ता. चं.— पूर्वत्र ज्ञाननिष्ठोक्ता, अनन्तरं कर्मनिष्ठोच्यत इति शङ्काव्युदासाय पूर्वत्रापि कर्मनिष्ठायामेवावान्तरविशेषविपक्तिमनुवदन् सङ्गतिमाह— एवमिति । विपाकोऽत्र पूर्वश्लोकद्वयोक्तपरभक्तिपरज्ञानपरमभक्तिपर्यन्तः । विहितकर्मणां पूर्वमुक्तत्वात्सर्वकर्माण्यपीति निषिद्धानुष्ठानं भगवदनन्यतास्तुत्यर्थमुपक्षिप्यत इति स्वैराभिलाषिशङ्करादिमतमपाकरोति इदानीं काम्यानामपि कर्मणामिति । सर्वशब्दोऽत्र शास्त्रीयेष्वेवानुक्तसङ्ग्रहणार्थ इति भावः । तदेव विवृणोति न केवलमित्यादिना । पूर्वश्लोकस्थप्राप्यमेवात्रापि सविशेषणपदशब्देन निर्दिष्टमित्यभिप्रायेण निर्वक्ति पद्यत इति ॥ ५६ ॥

५ आ. मा. भा.— पुनरन्तरङ्गसाधनान्युक्त्वोपसंहरति— सर्वकर्माणीत्यादिना ॥ ५६ ॥

६ ज. प्र. दी.— उत्तरग्रन्थस्य सङ्गतिं सूचयंस्तात्पर्यमाह— पुनरिति । उपसंहरति, शास्त्रमिति शेषः ॥ ५६ ॥

७ ह. पै. भा.— सर्वेति । सर्वकर्माणि सर्वाणि कर्माणि प्रतिषिद्धान्यपि सदा कुर्वाणोऽहमात्मा व्यपाश्रयो यस्य स मद्व्यपाश्रयः, ' ईश्वरमेवाऽहं शरणं प्रपन्नः, स एव मम योगक्षेमनिर्वाहकः ' इत्यभिनिवेशवानित्यर्थः । मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमनादिमव्ययमनन्तं विष्णोः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथेदानीं फलत्यागपूर्वकभगवदेकाराधनरूपकर्मानुष्ठानलक्षणसात्त्विकत्यागात्मकसभ्यासस्तत्त्वज्ञानहेतुरित्यमुमध्यायार्थमुपसंहर्तुं प्रशंसति— सर्वकर्माणीति । न केवलं नित्यनैमित्तिकान्येव, अपितु सर्वाणि कर्माणि काम्यान्यपि सदा मद्व्यपाश्रयः अहमेव व्यपाश्रय आश्रयणीयः— न तु स्वर्गादि फलं—यस्य स तथोक्तः सन् कुर्वाणो मत्प्रसादाच्चित्तशुद्धिज्ञानरूपात् शाश्वतं नित्यं पदमवाप्नोति । तत्किं वैकुण्ठ—कैलासादि-परिच्छिन्नस्थान-विशेषरूपम् ? नेत्याह— अव्ययं त्रिविधपरिच्छेदरहितम् , अखण्डानन्दात्मकं ब्रह्मैवेत्यर्थः ॥ ५६ ॥

९ ब० त० दी०— इदानीं सर्वेषामपि कर्मणामुक्तविधयाऽनुष्ठीयमानानां तु सतामेष एव विपाक इत्याह— सर्वेति । यो भगवन्मार्गीयत्वादृशः सर्वाणि लौकिकानि वैदिकानि च स्वधर्मरूपाणि कर्माणि मदधीनः सन्कुर्वाणः भगवानेवान्तर्यामी प्रेरयति, तदिच्छया कृतं कर्म बन्धकं न भवतीति भगवन्तं मामाश्रितः स मत्प्रसादान्मत्कृपातः नित्यं पदं ब्रह्माक्षरं धामाप्नोति । इदमप्येकं परं फलं भक्तितत्त्वज्ञानतः पुरुषोत्तमसायुज्यमित्याशयेन ' अव ' इत्युपसर्गः ॥ ५६ ॥

१० पु. अ. त.— एवं स्वकर्मफलमुक्त्वा स्वसम्बन्धिकर्मफलमाह— सर्वकर्माण्यपीति । सदा निरन्तरं मद्व्यपाश्रयः अहमेवाश्रयणीयो यस्य तादृशः सन् सर्वकर्माण्यपि मदाज्ञारूपेण, न तु फलाभिलाषेण कुर्वाणो मत्प्रसादात् शाश्वतमनादि, अव्ययमविनाशि, एतादृशं पदमक्षरमवाप्नोति, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ५६ ॥

११ नी० भा० दी०— ननु " तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रास्तं ( प्रोतं ) प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते " [ छां. उ.५।२४।३ ] इति पूर्वकर्मणां ज्ञानेन प्रायश्चित्तेनैव सत्यपि नाशश्रवणे ज्ञानोत्तरकालीनानां कर्मणां नाशाभावाज्ज्ञानोत्तरमपि देहधारणे स्वाभाविकानां कर्मणां वर्जनस्यासम्भवादवश्यं ज्ञानिनोऽपि बन्धः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— सर्वकर्माणीति । मद्व्यपाश्रयोऽहमेव प्रज्ञानघनः प्रत्यगात्मा व्यपाश्रय आश्रयो यस्य स मद्व्यपाश्रयो ज्ञानी सर्वकर्माणि विहितानि निषिद्धानि वा सदाऽसकृत् कुर्वाणोऽपि मत्प्रसादात् मदनुग्रहाच्छाश्वतं नित्यं अव्ययं परमसर्वोत्कृष्टं पदं पदनीयं मोक्षमवाप्नोति । न तु ज्ञानोत्तरमपि क्रियमाणैः कर्मभिर्बध्यते "तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम् " इति । " न ह वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते*" " तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन " [ बृ. उ. ४।४।२३ ] इत्यादिशास्त्रेण तत्त्वज्ञानिनः कर्मालेपश्रवणात् ॥ ५६ ॥

एतावदुपदिष्टस्याप्यर्जुनस्यान्तिमकर्तव्योपदेशः ।

**चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्परः ।**
**बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥ ५७ ॥**

---

* श्रुतिरियं " न ह वा एवंविदि किञ्चनान्नं भवति " एवंविधोपलभ्यते छान्दोग्योपनिषदि [ ५।२।१ ] स्थाने ।

**१ शां. भा.**— यस्मादेवं तस्मात्— चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वकर्माणि दृष्टादृष्टार्थानि मयीश्वरे सन्न्यस्य 'यत्करोषि यदश्नासि' [९।२७] इत्युक्तन्यायेन, मत्परः अहं वासुदेवः परो यस्य तव स त्वं मत्परः सन् मय्यर्पितसर्वात्मभावः बुद्धियोगं मयि समाहितबुद्धित्वं बुद्धियोगस्तं बुद्धियोगमुपाश्रित्य -आश्रयोऽनन्यशरणत्वं— मच्चित्तो मय्येव चित्तं यस्य तव स त्वं मच्चित्तः सततं सर्वदा भव ॥ ५७ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— परमेश्वरप्रसादस्यैवं माहात्म्यं यतः सिद्धं तस्मात्तत्प्रसादार्थं भवता प्रयतितव्यमित्याह— **यस्मादिति** । भगवत्प्रसादासादितसम्यग्ज्ञानादेव मुक्तिः, न कर्ममात्रादिति ज्ञानं विवेकबुद्धिः । आश्रयशब्दार्थमाह— **अनन्येति** ॥ ५७ ॥

**३ रा. भा.**— यस्मादेवं तस्मात्— चेतसा आत्मनो मदीयत्वमन्नियाम्यत्वबुद्ध्या, उक्तं हि 'मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा' [ ३।३० ] इति; सर्वकर्माणि सकर्तृकाणि साराध्यानि मयि सन्न्यस्य मत्परः अहमेव फलतया प्राप्य इत्यनुसन्दधानः कर्माणि कुर्वन्निममेव बुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं मच्चित्तो भव ॥ ५७ ॥

**४ वे. ता. चं.**— उक्तं परमपुरुषार्थसाधनत्वमनन्तरोपायानुशासनहेतुरित्याह **यस्मादेवमिति** । चेतश्शब्दसाफल्याय तदभिप्रेतं चेतसो भगवति कर्मसन्न्यासकरणत्वं येन प्रकारेण, तमाह **आत्मनो मदीयत्वमन्नियाम्यत्वबुद्ध्येति** । अत्र चेतश्शब्दस्यैव तात्पर्यं प्राचीनसविशेषणनिर्देशेन स्थापयति **उक्तं हीति** । अध्यात्मचेतसा, परशेषत्वादिविशेषितयथावस्थितात्मगोचरबुद्ध्येत्यर्थः । सर्वशब्देन स्वरूपकार्त्स्न्यवदनुबन्धिकार्त्स्न्यमपि प्रागुक्तप्रकारेणाभिप्रेतमित्याह **सकर्तृकाणि साराध्यानीति** । बुद्धियोगशब्देन मुमुक्षोरसाधारणं कर्तृत्वानुसन्धानादिकं सर्वं प्रत्यभिज्ञाप्यत इत्याह **इममेव बुद्धियोगमिति** ॥ ५७ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ५७ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ५७ ॥

**७ ह. पै. भा.— चेतसेति । 'सर्वलोकाध्यक्षः सकलकर्मफलभोक्ता वासुदेवो मे शरणं' इत्यनेन सर्वकर्माणि ममेश्वरस्याऽऽराधनमिति मयि सन्न्यस्य समर्प्य, मत्परोऽहं वासुदेवः परः प्रधानं यस्यासौ मत्परः । बुद्धियोगमुपाश्रित्योक्तया (३०) बुद्ध्या योगमाश्रित्य प्राप्य मयीश्वरे चित्तं यस्य स मच्चित्तः सततं सर्वकालं भव जायस्व ॥ ५७ ॥**

**८ वं. ब्र. गि.**— यस्मादेवं तस्मात्त्वमप्येतादृशं सात्त्विकसन्न्यासं कुर्वित्युपदिशन्नध्यायार्थमुपसंहरति— **चेतसेति** । बुद्धियोगम् '**बुद्धियोगे त्विमां शृणु**' [२।३९] इति प्रागुपदिष्टया (३०) बुद्ध्या योगमुपाश्रित्य मत्परो मदेकपुरुषार्थः, फलाभिसन्धिशून्य इति यावत् । सर्वकर्माणि चेतसा विवेकेन 'यत्करोषि यदश्नासि' [ ९।२७ ] 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' [ १८।४६ ] इत्यादिनोक्तेन मयि सन्न्यस्य समर्प्य सततं मच्चित्तो भव । सर्वदाऽनुष्ठीयमानकर्मणां मय्यर्पणे हि सततं मच्चित्ततैव भवतीत्यर्थः ॥ ५७ ॥

९ व० त० दी०— **अतस्त्वमपि चेतसा योगभक्तिवासितेन मयि साक्षात्कर्त्तरि परदेवतायां सन्न्यस्यानुसन्धाय त्यागार्थकत्वेऽपि 'दण्डिपुरुषं त्यज' इतिवद्विशेषणपरित्यागविषयक एव, न तु विशेष्यपरित्यागविषयक इति कर्तृत्वादित्यागपूर्वकं मत्परः 'नाहं कर्ता, मदन्तर्यामी मुख्यकर्ता सर्वं करोति, अहं तु तदधीनः, स यथा प्रेरयति तथा करोमि' इति भावेन मदुक्तकारितया वा मत्परः, उक्तसाङ्ख्ययोगाश्रयं बुद्धियोगमुपाश्रित्य सततं मच्चित्तो भव ॥ ५७ ॥**

**१० पु. अ. त.**— यस्मान्मदाश्रितस्य कर्मकरणेऽपि तद्बाधरहितं फलं भवत्यतस्त्वमप्येवं कुर्वित्याह— **चेतसेति** । चेतसा बहिरप्रदर्शयन् निष्कपटतया सर्वकर्माणि सन्न्यस्य मयि सम्यक् प्रकारेण स्थापयित्वा समर्प्येति यावत् । मदाज्ञया कुर्वाणो मत्परः अहमेव परो मुख्यः प्राप्यो यस्यैतादृशः सन् बुद्ध्या व्यवसायात्मिकया योगमुक्तप्रकारं उपाश्रित्य सततं निरन्तरं मच्चित्तः मय्येव चित्तं यस्य तादृशो भव ॥ ५७ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं वर्णाश्रमादिधर्मपुरस्कारेण ससाधना सफला च ब्रह्मविद्या निरूपिता, अस्याः प्राप्तये पुनः साधनत्वेन भक्तिमेव विधत्ते— चेतसेति । चेतसा विवेकबुद्ध्या सर्वाणि कर्माणि नित्यनैमित्तिकानि मयि भगवति वासुदेवे सन्न्यस्य 'यत्करोषि यदश्नासि' [ ९।२७ ] इत्युक्तरीत्या समर्प्य मत्परः अहमेव परः प्राप्यो यस्य, न तु मद्भक्त्या अर्थादीन् प्रार्थयानः— बुद्धियोगं पूर्वोक्तं [ २।४८ ] सिद्ध्यसिद्ध्योः समत्वलक्षणं बन्धहेतोरपि कर्मणो मोक्षहेतुत्वसम्पादकं उपाश्रित्य आश्रित्य मच्चित्तः मदेकशरणः सततं सर्वदा भव ॥ ५७ ॥

**मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।**
**अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि ॥ ५८ ॥**

१ शां. भा.— मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुस्तराणि संसारहेतुजातानि मत्प्रसादात्तरिष्यस्यतिक्रमिष्यसि । अथ चेद्यदि त्वं मदुक्तमहङ्कारात् 'पण्डितोऽहं' इति न श्रोष्यसि न ग्रहीष्यसि ततस्त्वं विनङ्क्ष्यसि विनाशं गमिष्यसि ॥ ५८ ॥

२ आ. शां. व्या.— किमतो भवति ? तदाह— **मच्चित्त** इति । भीत्याऽपि प्रवर्तेतेति मन्वानो विपर्यये दोषमाह— **अथ चे**दिति ॥ ५८ ॥

३ रा. भा.— एवं मच्चित्तः सर्वकर्माणि कुर्वन् सर्वाणि सांसारिकाणि दुर्गाणि मत्प्रसादादेव तरिष्यसि । अथ त्वम् अहङ्कारात् अहमेव कृत्याकृत्यविषयं सर्वं जानामीति भावात्, मदुक्तं न श्रोष्यसि चेत्, विनङ्क्ष्यसि विनष्टो भविष्यसि; नहि कश्चिन्मद्व्यतिरिक्तः कृत्स्नस्य प्राणिजातस्य कृत्याकृत्ययोर्ज्ञाता प्रशासिता वाऽस्ति ॥ ५८ ॥

४ वे. ता. चं.— 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि' इत्यत्र मच्चित्तशब्देन पूर्वश्लोकोक्तस्यैवानुवादात्तत्र च बुद्धिविशेषविशिष्टकर्मविधिपरत्वादुत्तरेष्वपि ग्रन्थेषु युद्धाख्यस्वधर्मप्रोत्साहनस्यैव स्फुटत्वादिहापि तद्विवक्षामाह- **एवं मच्चित्तः सर्वकर्माणि कुर्वन्नि**ति । मच्चित्तत्वमात्रस्य विधेयत्वे अनन्तरं युद्धनिवृत्त्यध्यवसायप्रतिक्षेपो न सङ्गच्छत इति भावः । दुर्गशब्दस्य गिरिवनजलादिदुर्गेषु प्रसिद्धिप्रकर्षात्क्षत्रियस्य चार्जुनस्य युयुत्सोस्तन्निस्तारापेक्षासम्भवात्तद्विषयत्वशङ्कामप्यपाकर्तुं पूर्वापरानुरोधेन **सांसारिकाणी**ति विशेषितम् । 'मत्प्रसादात्' इत्यनेन व्युत्पत्त्यनुशासनश्रुतिस्मृत्यादिविरुद्धापूर्वादिकल्पनाव्युदासः, स्वस्य फलप्रदाने प्रतिबन्धनिवृत्त्यादिमात्रसाकाङ्क्षत्वं च सूच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह **मत्प्रसादादेवे**ति । एवं नित्यनैमित्तिककाम्यरूपाणां कर्मणां बुद्धिविशेषनियमादियोगेन कर्मयोगशब्दितानां परम्परया परिपूर्णभगवत्प्राप्तिपर्यन्तं विपाकमुपपाद्य सर्वथा कर्मयोग एव ते कर्तव्य इति निगमितम् ।

अथ तदकरणे प्रत्यवायमाह— 'अथ चेत्' इत्यर्धेन । हितवचनानादरस्य निमित्तभूतमहङ्कारविशेषमाह **अहमेव कृत्याकृत्यविषयं सर्वं जानामीति भावादि**ति । **न श्रोष्यसी**ति— श्रूयमाणेऽपि श्रुतफलनिवृत्त्यभिप्रायम् । 'विनङ्क्ष्यसि' इत्यनेनानादिकालमनुवृत्तस्यात्मनाशस्योत्तरकालेऽप्यनुवृत्तिर्विवक्षितेत्यभिप्रायेणाऽऽह **नष्टो भविष्यसी**ति । 'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति' [ २ । ६३ ] इति प्रागुक्तप्रत्यभिज्ञापनमिति भावः । अश्रवणादिनिदानमाप्तान्तरादिसम्भवमपाकुर्वन् 'विनङ्क्ष्यसि' इत्यस्य शापवचनतुल्यताव्यावृत्त्यर्थं स्वस्यैवाप्ततमत्वकथनेन स्वोपदिष्टस्यार्थस्थितिरूपतायामभिप्रायमाह **नहि कश्चि**दिति । अन्ये हि वक्तारो मया वाचिताः परिमितविषयं किञ्चिद्वदन्ति; अहं तु सर्वस्याधिकारिणः सर्वविधहिताहितवेदी; यानि च परोक्तानि शास्त्राण्यनुक्तानि च च्छन्दांसि, तान्यपि मदाज्ञारूपतयैव प्रमाणभूतानीति भावः ॥ ५८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ५८ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ५८ ॥

७ ह. पै. भा.— **मच्चित्त** इति । सर्वदुर्गाणि सर्वाणि दुःखानि मत्प्रसादान्मम प्रसादात्तरिष्यसि । अथ त्वमहङ्कारात् 'अहमेव सर्वशास्त्रवित्' इति बुद्ध्या न श्रोष्यसि नाऽऽकर्णयसि चेद्विनङ्क्ष्यसि विनाशं गमिष्यसि ॥ ५८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— ततो यद्भविष्यति तच्छृणु— मच्चित्त इति । मच्चित्तस्त्वं सर्वाण्यपि दुर्गाणि दुस्तराणि दुःखानि मत्प्रसादात्त्वव्यापारमन्तरेणैवानायासात्तरिष्यसि । अथ त्वमहङ्कारात् ' अहमेव कृत्याकृत्यविषयं सर्वं जानामि, न तु परोक्तं करिष्यामि ' इत्यभिमानान्मदुक्तं न श्रोष्यसि चेत् विनङ्क्ष्यसि सर्वपुरुषार्थाद्भ्रष्टो भविष्यसि । न हि कश्चिन्मदन्यः कृत्स्नस्य प्राणिजातस्य कृत्याकृत्ययोर्ज्ञाता प्रशासिता वाऽस्तीति भावः ॥ ५८ ॥

९ व० त० दी०— ततो यद्भावि तदवधेहि, मच्चित्तः सर्वदुर्गाणीति । सर्वकृच्छ्राणि सङ्कटरूपाणि तरिष्यसि । अथ चेदिति उपपत्तिः । मतान्तरस्थितिमाशङ्क्य न श्रोष्यसि तर्हि नष्टो भविष्यसि, प्राकृत इव ॥ ५८ ॥

१० पु. अ. त.— तादृग्भूते फलमाह— मच्चित्त इति । मच्चित्तः सन् सर्वदुर्गाणि ऐहिकपारलौकिकसङ्कटस्थानानि कर्मकरणेऽपि साधनयुक्तोऽपि मदाज्ञाकरणात् मत्प्रसादात् तरिष्यसि । विपक्षे बाधकमाह— अथेति । अथ भिन्नप्रकारेण अहङ्कारात् स्वज्ञानाभिमानेनावश्यं कर्मभोगनैयत्यादकरणार्थं चेत् त्वं न श्रोष्यसि तदा विनङ्क्ष्यसि मत्सम्बन्धाद्भ्रश्यसीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

११ नी० भा० दी०— एतस्य भक्तियोगस्य करणे गुणमकरणे दोषं चाऽऽह— मच्चित इति । दुर्गाणि आध्यात्मिकाधिभौतिकादीनि सङ्कटानि अहङ्कारात् स्वपाण्डित्याभिमानात् न श्रोष्यसि मद्वाक्यं तर्हि विनंक्ष्यसि पुरुषार्थशून्यो भविष्यसि ॥ ५८ ॥

अनिच्छतोऽपि कर्मप्रवृत्तौ प्रकृतेः प्राबल्यम् ।

**यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।**
**मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥**

**१ शां. भा.— इदं च त्वया न मन्तव्यं ' स्वतन्त्रोऽहं, किमर्थं परोक्तं करिष्यामि ?' इति— यदि चेत्त्वमहङ्कारमाश्रित्य ' न योत्स्य इति न युद्धं करिष्यामि' इति मन्यसे चिन्तयसि निश्चयं करोषि, मिथ्यैष व्यवसायो निश्चयस्ते तव, यस्मात्प्रकृतिः क्षत्रियस्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥**

२ आ. शां. व्या.— स्वातन्त्र्ये सति भीतेरवकाशो नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह— इदं चेति ॥ ५९ ॥

**३ रा. भा.— यद्यहङ्कारं आत्मनि हिताहितज्ञाने स्वातन्त्र्याभिमानमाश्रित्य मन्नियोगमनादृत्य न योत्स्य इति मन्यसे, एष ते स्वातन्त्र्यव्यवसायो मिथ्या भविष्यति; यतः प्रकृतिस्त्वां युद्धे नियोक्ष्यति मत्स्वातन्त्र्योद्विग्नं त्वामज्ञं प्रकृतिर्नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥**

४ वे. ता. चं.— एवमश्रवणफलभूतयुद्धनिवृत्तेर्विनाशहेतुत्वमुक्तम्; अथ युद्धनिवृत्तेरेवाशक्यत्वमुच्यते, किञ्च भवतु कर्मयोगो मया कर्तव्यः; युद्धव्यतिरिक्तं किमपि कर्मयोगान्तरमुपाददानस्य मे विनाशो न स्यादिति शङ्कामपाकरोति ' यद्यहङ्कारं ' इति श्लोकेन । अहङ्कारं युद्धनिवृत्त्यानुगुण्येन विशिनष्टि आत्मनि हिताहितेति । अहङ्काराश्रयणफलमाह मन्नियोगमनादृत्येति । ' न श्रोष्यसि ' इत्यस्यैवायमर्थः । ' एषः ' इत्यनेन परामृष्टमाह— स्वातन्त्र्यव्यवसाय इति । स्वातन्त्र्याभिमानगर्भस्तन्मूलो वा व्यवसायः स्वातन्त्र्यव्यवसायः । तदुभयं ' मन्यसे ' इत्यनेन ' अहङ्कारमाश्रित्य ' इत्यनेन च सूचितम् । प्रकृतिर्नियोक्ष्यतीत्युक्तम्, अचेतनत्वात्तस्याः; चेतनव्यापारत्वाच्च नियोगस्येति शङ्कामुपालम्भाभिप्रायेण परिहरति— मत्स्वातन्त्र्योद्विग्नं त्वामिति । मदुक्तकरणे सर्वज्ञस्य मे सर्वे भरः स्यात्; मन्नियोगातिक्रमे तु मय्युदासीने प्रकृतिपरतन्त्रस्त्वमहितेष्वेव प्रवर्त्स्यसीति भावः ॥ ५९ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ५९ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ५९ ॥

**७ ह. पै. भा.— यदिति । यदहङ्कारमाश्रित्य मद्वचनमवज्ञाय ' अहमेव सर्वशास्त्रवित् ' इति मत्वा ' न योत्स्य इति मन्यसे ' मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति, तवैष निश्चयो मिथ्या वितथीभूतः, यतः प्रकृतिः स्वभावस्त्वां नियोक्ष्यति ॥ ५९ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— किञ्च कृतेऽप्यहङ्कारे मदुक्तं युद्धकर्तव्यत्व-मतिवर्तितुं न शक्नोषीत्याह— यदहङ्कारमिति । यमित्यर्थे यदित्यव्ययम्। अहङ्कारपदेन वा समस्तम् । यमहङ्कारमुक्त-रूपमाश्रित्य मन्नियोगमगणयन्न योत्स्य इति मन्यसे, एष ते तव व्यवसायोऽहङ्कारो मिथ्या अर्थक्रियाकारी न भवति। यतस्त्वामहङ्कारिणं मत्स्वातन्त्र्योद्विग्नं प्रकृतिः क्षत्रजातीयरजो-गुणस्वभावो नियोक्ष्यति युद्धे प्रेरयिष्यति ॥ ५९ ॥

९ व० ल० दी०— तथाहि यदिति। न योत्स्य इति मन्यसे। एष ते व्यवसायो मिथ्या व्यर्थ एव। तदा मदाज्ञाकारी प्रकृतिर्बहिरङ्गा शक्तिर्गौणस्वभावरूपा त्वां नियोक्ष्यत्येव ॥ ५९ ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च- यदहङ्कारमिति । यत् पूर्वोक्तं गुर्वादिहननाद्यधर्मरूपं अहङ्कारं तदज्ञानमाश्रित्य मद्वाक्याश्रवणेन न योत्स्ये न युद्धं करिष्यामीति मन्यसे अध्यवस्यसे, एष ते व्यवसायो निश्चयो मिथ्या, असद्रूपो निष्फल इत्यर्थः। पराधीनत्वादित्याह— प्रकृतिः मदधीना मदाज्ञाविमुखं त्वां नियोक्ष्यति युद्धे प्रवर्त्तयिष्यतीत्यर्थः। अत्रायं भावः- मदाज्ञाविमुखस्य प्राकृतत्वेन ज्ञाते प्रकृति-नियोज्यत्वं, मदाज्ञाप्रवर्तमानस्य तदनियोज्यत्वम् ॥ ५९ ॥

११ नी० भा० दी०— स्वतन्त्रोऽहं त्वदुक्तं न करिष्यामीत्याशङ्क्याऽऽह— यदिति। यत् यदि अहङ्कारं गर्वमाश्रित्य न योत्स्ये युद्धं न करिष्ये इति मन्यसे, एष ते तव व्यवसायो निश्चयो मिथ्या; यतः प्रकृतिः क्षात्रस्वभावः त्वां नियोक्ष्यति। 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति' [३।३३] इति चोक्तम् ॥ ५९ ॥

**स्वभावजेन कौन्तेय ! निबद्धः स्वेन कर्मणा।**
**कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥ ६० ॥**

**१ शां. भा.— यस्माच्च— स्वभावजेन शौर्यादिना यथोक्तेन कौन्तेय ! निबद्धो निश्चयेन बद्धः स्वेनाऽऽत्मीयेन कर्मणा कर्तुं नेच्छसि यत्कर्म मोहादविवेकतः, करिष्यस्यवशोऽपि परवश एव तत्कर्म ॥ ६० ॥**

२ आ. शां. व्या.— इतश्च त्वया युद्धान्न वैमुख्यं कर्तुमुचितमित्याह— यस्माच्चेति । स्वभावजेन स्वेन कर्मणा निबद्धस्त्वमिति सम्बन्धः ॥ ६० ॥

**३ रा. भा.— तदुपपादयति— स्वभावजेनेति। स्वभावजं हि क्षत्रियस्य कर्म शौर्यम्, स्वभाव-जेन शौर्याख्येन स्वेन कर्मणा निबद्धस्तत एवावशः परैर्धर्षणमसहमानस्त्वमेव तद्युद्धं करिष्यसि, यदि-दानीं मोहात् अज्ञानात् कर्तुं नेच्छसि ॥ ६० ॥**

४ वे. ता. चं.— पुनरुक्तिपरिहारायाऽऽह— तदुपपाद-यतीति । प्रकृतेः प्रेरकत्वप्रकारमवान्तरव्यापारेण दर्शयती-त्यर्थः। 'प्रकृतिः' इति निर्दिष्ट एवायमर्थः स्वभावशब्देना-नूदितः । स्वभावशब्दश्च 'स्वभावप्रभवैर्गुणैः' [१८।४१] इत्यत्र व्याख्यातः। प्रकृतिशब्दस्यात्र देहाद्याकारपरिणतप्रकृति-विषयत्वेऽपि स्वभावशब्दः पूर्वोक्तार्थ एव । 'शौर्यं तेजः' इत्यादिकं स्मारयति स्वभावजं हीति। स्वेन क्षत्रिया-साधारणेनेत्यर्थः । शौर्यं निर्भयप्रवेशसामर्थ्यं; तेन तन्मूलं कर्मात्र वासनावशाद्रुचिविषयतया बन्धकत्वेनोक्तम् । मदुक्ता-नादरे प्रकारान्तरेणापि करिष्यस्येवेत्यपिशब्दार्थः । तदभि-प्रायेणाऽऽह— त्वमेवेति। परैर्धर्षणमसहमान इति विशेषणं अवशस्य कथं कर्मकर्तृत्वमिति शङ्कापरिहारार्थम् । अमर्षचि-कीर्षादिस्पर्धकगुणपारवश्यं कर्तृत्वस्योपयुक्तमेवेति भावः। 'कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्' इति वाक्यान्तर्वाक्यनिवेशो हास्यकरुण-रसावेशेन, तद्विविनक्ति यदिदानीमिति । प्राप्तावसरे धर्मयुद्धानुष्ठानं परित्यज्यातिक्रान्तावसरे परपरिभवव्रीडितो गतजलसेतुबन्धं करिष्यसीति वर्तमानभविष्यद्व्यपदेशयोस्तात्प-र्यमिति भावः। 'न श्रोष्यसि' [१८।५८] इतिवदुपदिष्टस्य चित्तानारोह इह मोहशब्देन विवक्षित इत्याह— अज्ञा-नादिति ॥ ६० ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ६० ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६० ॥

**७ ह. पै. भा.— स्वभावजेनेति । स्वभावजेन स्वभावसिद्धेन निबद्धो नियोगतो बद्धः सन् स्वेनाऽऽत्मीयेन कर्मणा क्रियया कर्तुं निर्वर्तयितुं नेच्छसि त्वं यत्स्वभावसिद्धं कर्म ॥ ६० ॥**

८ वें. ब्र. गि.— नन्वनिच्छन्तं मां कथं प्रकृतिर्नियोक्ष्यतीत्याशङ्क्यां प्रकृतिप्राबल्यवर्णनेन निराकरोति— स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय ! यदिदानीं मोहादुक्ताहङ्काररूपात्कर्तुं नेच्छसि, तद्युद्धमवशोऽनिच्छन्नपि स्वं क्षत्रियस्वभावजेन स्वकीयेन शौर्यादिकर्मणा नितरां बद्धः सन्नत एव परैर्धर्षणमसहमानः करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

९ ब० त० दी०— तदुपपादयति— स्वभावजेनेति । इदं च द्वितीयतृतीयाद्यध्यायार्थविवरणं स्वभावः प्राक्तनस्तज्जेन क्षात्रकर्मणा निबद्धः अवशः करिष्यस्येव ॥ ६० ॥

१० पु. अ. त.— किञ्च-स्वभावजेनेति । हे कौन्तेय स्नेहपात्र ! स्वभावजेन मत्क्रीडोत्पन्नेन स्वेन क्षात्रकर्मणा शौर्यादिरूपेण निबद्धो यन्त्रितो यत् मोहात् युद्धं कर्तुं नेच्छसि, तत् अवशोऽपि करिष्यसि; अतो मदाज्ञयैव कुर्वित्यर्थः ॥ ६० ॥

११ नी० भा० दी०— प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यतीत्येतदेव व्याचष्टे— स्वभावजेनेति । स्वभावजेन पूर्वोक्तेन शौर्यादिना अवशोऽपि परवश एव तत्करिष्यसि ॥ ६० ॥

सर्वान्तर्यामिण ईश्वरस्यैव शरणागत्या परमपदप्राप्तिः ।

## ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ।
## भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

**१ शां. भा.**— यस्मात्— ईश्वर ईशनशीलो नारायणः सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां हृद्देशे हृदयदेशेऽर्जुन ! शुक्लान्तरात्मस्वभाव विशुद्धान्तःकरण ! "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च" [ऋक्सं. ४।५।१०।१] इति दर्शनात् । तिष्ठति स्थितिं लभते । तेषु स कथं तिष्ठति ? इत्याह— भ्रामयन्भ्रमणं कारयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि यन्त्राण्यारूढान्यधिष्ठितानीव— इतीवशब्दोऽत्र द्रष्टव्यः— यथा दारुकृतपुरुषादीनि यन्त्रारूढानि मायया छद्मना भ्रामयंस्तिष्ठतीति सम्बन्धः ॥ ६१ ॥

२ आ. शां. व्या.— इतोऽपि त्वया युद्धं कर्तव्यमेवेत्याह— यस्मादिति । अर्जुनशब्दस्योक्तार्थत्वे श्रुतिमुदाहरति— अहश्चेति । "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्तेते रजसी वेद्याभिः" इत्यत्र किञ्चिदहस्तावत्कृष्णमस्वच्छं कलुषितमिव लक्ष्यते किञ्चित्पुनरहरर्जुनमतिस्वच्छं शुद्धस्वभावमुपलभ्यते । एवमर्जुनशब्दस्य शुक्लशब्दपर्यायतया प्रयोगदर्शनादुक्तार्थत्वमुचितमित्यर्थः । यन्त्रारूढानीवेति कथमुच्यते ? तत्राऽऽह— इवशब्द इति । तदेव प्रपञ्चयति— यथेति । दारुमयानि यन्त्राणि यथा लौकिको मायावी मायया भ्रामयन्वर्तते तथेश्वरोऽपि सर्वाणि भूतानि भ्रामयन्नेव हृदये तिष्ठतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

**३ रा. भा.**— सर्वं हि भूतजातं सर्वेश्वरेण मया पूर्वकर्मानुगुण्येन प्रकृत्यनुवर्तने नियमितं, तच्छृणु- ईश्वरः सर्वनियमनशीलो वासुदेवः सर्वभूतानां हृद्देशे सकलप्रवृत्तिनिवृत्तिमूलज्ञानोदयप्रदेशे तिष्ठति । कथं किं कुर्वंस्तिष्ठति ? यन्त्रारूढानि सर्वभूतानि मायया भ्रामयन् स्वेनैव निर्मितं देहेन्द्रियावस्थं प्रकृत्याख्यं यन्त्रमारूढानि सर्वभूतानि स्वकीयया सत्त्वादिगुणमय्या मायया गुणानुगुणं प्रवर्तयंस्तिष्ठतीत्यर्थः । पूर्वमप्येतदुक्तं 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' [ १५।१५ ] इति, 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [ १०।८ ] इति च; 'य आत्मनि तिष्ठन्' [ श. प. ब्रा. १।१।३।१ ] इत्यादिका श्रुतिश्च ॥ ६१ ॥

४ वे. ता. चं.— उक्तार्थस्थापनाय त्वय्युदासीने कथमहं प्रवर्तेय ? तथात्वे वा कथं तव सर्वहेतुत्वं ? इति चोद्यम् 'ईश्वरः' इति श्लोकेन परिह्रियत इत्याह— सर्वं हीति । उक्तं स्वभावपारतन्त्र्यमपि मत्प्रयुक्तम् ; मम च साधारणकारणत्वान्न कश्चिद्विरोध इति भावः । ईश्वरशब्दस्यात्रेन्द्रादिशब्दवत् अर्वाचीनेश्वरविषयरूढिशङ्कापरिहाराय यौगिकमर्थमन्वर्थसमाख्यया स्थापयति सर्वनियमनशीलो वासुदेव इति । 'सापेक्षनिरपेक्षयोर्निरपेक्षसम्प्रत्ययः' इति न्यायादीश्वरत्वस्य सर्वविषयत्वं सिद्धम् । तस्य च व्याप्तिमूलत्वं वासुदेवशब्देन दर्शितम् । वक्तृविषयत्वज्ञापनाय वासुदेवशब्दः । सर्वेश्वरेण 'मया' इति ह्यधस्ताद्दर्शितम् । सर्वव्याप्तस्य हृद्देशे विशेषस्थितिवचनं किमर्थं ? इत्यत आह— सकलप्रवृत्तिनिवृत्ति-

मूलस्थानादयप्रदेश इति । एतेन हृदयस्थितेः 'भ्रामयन्' इत्यत्रोपयोगो दर्शितः ।

कथमित्युपक्रमणाभिप्रायम; 'मायया' इति हि तदुत्तरम्। किं कुर्वन्निति— ईश्वरशब्देन नियन्तृत्वैकनिरूपणीयतया प्रतिपन्नोऽसौ कीदृशं नियमनं कुर्वन्नित्यर्थः। 'यन्त्र' इत्यादि 'भ्रामयन्' इत्यन्तमेकं वाक्यं प्रश्नवाक्यादाकृष्टेन तिष्ठतिनाऽन्वेतव्यम्। प्रागुक्तसर्वपरामर्शेन यन्त्रमायादिशब्दानामर्थं विवृणोति— स्वेनैव निर्मितमित्यादिना । भूतशब्देन, हृत्प्रदेशनिर्देशेन, पुरुषप्रवृत्तिविशेषानुगुण्यात्, अर्थस्वभावेन च यन्त्रशब्दोऽत्र देहेन्द्रियसङ्घातविशेषविषयः। महतः परमव्यक्तशब्देन निर्दिष्टम्, तत्रैव च "शरीरं रथमेव च" [कठो. ३।३] इति रथाख्ययन्त्रत्वेन रूपितमिति ज्ञापनाय— देहेन्द्रियावस्थं प्रकृत्याख्यमित्युक्तम्। तथा च श्रूयते— "सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते (भ्रमन्ते) तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति" [श्वे.उ.१।६+ना.प.९।१९] इति । एतेन 'यन्त्रारूढानीव'(शां.)इतीवशब्दलोपेन व्याकुर्वन्तो निरस्ताः। स्वकीयेति— आदौ 'गुणमयी मम माया' [७।१४] इति ह्युक्तम्। श्रुतिश्च "अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत्तस्मिंश्चान्यो मायया सन्निरुद्धः" [श्वेता. ४।९] "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" [श्वेता. ४।१०] इति। जीवस्य कर्तृत्वादिभङ्गपरिहाराय गुणानुगुणमित्युक्तम्। नहि जीवमीश्वरो भूतावेशन्यायेन प्रवर्तयति, अपितु सत्त्वादिगुणमयान् भावान् पुरस्कृत्य पूर्वसिद्धवासनाविशेषजनितसङ्कद्वारेणेति न विरोधः। भ्रामयन्, भ्रमयन्नित्यर्थः । तत्र प्रवृत्तिहेतुतया मोहनमन्तर्नीतं, न तु शाब्दमित्याह— प्रवर्तयन्निति । अत्र शब्देन परोक्षव्यपदेशेनापि वक्ता वासुदेवो निर्दिष्ट इतीममर्थं प्रागुक्तेन द्रढयितुमाह— पूर्वमपीति । "य आत्मनि तिष्ठन्" [श. ब्रा. १४।५।३०] इत्यादिनिर्दिष्टोऽन्तर्यामी सौबालिकयामुपनिषदि नारायण इति विशेषितः "स एष सर्वभूतान्तरात्माऽपहतपाप्मा दिव्यो देव एको नारायणः" [सुबालो. ७] इति ॥ ६१ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ६१ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६१ ॥

७ ह. पं. भा.— ईश्वर इति । ईश्वरो वासुदेवः सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां हृद्देशे हृदयपुण्डरीके— अर्जुनं शुक्लं निर्मलमन्तःकरणं यस्य सोऽपि तत्सम्बन्धादर्जुनः— हेऽर्जुन ! तिष्ठति सन्निधत्ते । यथा कश्चित्कुशलो दारुचक्रयन्त्रारूढान्भ्रामयति एवं सर्वप्राणिनः 'अहं शयानोऽहमासीनोऽहं स्थितोऽहं जातोऽहं क्षीणोऽहं' इत्येवम्प्रत्ययैः शरीराख्यं यन्त्रमारूढानि भ्रामयंस्तिष्ठतीति विप्रकृष्टेन सम्बन्धः ॥ ६१ ॥

८ वे. ब्र. गि.— न चैवं कर्मप्राधान्यबुद्ध्या समानीश्वरत्वमाशङ्कितव्यम्, अखिलस्यापि कर्मकलापस्य मन्नियम्यत्वादित्याह— ईश्वर इति । अत्र 'यन्त्रारूढानि' इत्यनन्तरमिवशब्दो द्रष्टव्य इति भाष्यम् (शां.)। तथा चायमर्थः— यथा हि सूत्रसञ्चारादियन्त्रारूढानि दारुपुरुषादीनि लोके सूत्रधारो मायया स्वधना भ्रामयति नानाकर्मणि कारयति, तथेश्वरः शरीराख्ययन्त्रारूढानि सर्वभूतानि प्राणिनो मायया नानाकर्मभिर्भ्रामयंस्तिष्ठति । ननु विषमो दृष्टान्तः, दार्वादिप्रतिमानामचेतनत्वेन सूत्रधारायत्तचेष्टत्वेऽपि प्राणिनां चेतनत्वेन स्वस्वबुद्ध्यधीनचेष्टतयेश्वरायत्तत्वाप्राप्तेः; अत आह— सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठतीति । बुद्धिरपि हि चेतनानामीश्वरायत्ता। श्रूयते हि— "य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति" इति । उक्तं चात्रापि— 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' [१५।१५] 'मत्तः सर्वं प्रवर्तते' [१०।८] इत्यादि । अतः सर्वभूतहृदयाधिष्ठातृत्वेन सर्वान्तर्यामिनः परमेश्वरादेव चेतनानां बुद्धिकर्मादिकमित्यखण्डितमीश्वरत्वमिति भावः ॥ ६१ ॥

९ ब० त० दी०— इदानीं प्राकृतभूतजातनियन्तृरूपेण मया सर्वं भूतजातं प्राकृतकर्मानुगुणलीलया प्रकृत्यनुवर्त्तने नियमितं भवतीति ब्रह्मसूत्रसिद्धान्तमाह— ईश्वर इति । ईश्वरः सर्वनियमनशीलो वासुदेवः सर्वेषां प्राकृतानां भूतानां लीलयोच्चनीचभावेन स्वात्मना सृष्टानां प्रकृत्या संसृष्टानां आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तानां हृद्देशे हृदयाकाशे तिष्ठति। तत्रान्तर्यामिस्वरूपेण स्थितोऽपि निर्लेप इत्याशयेनेश्वर इत्युक्तम्। उपाधिस्थाने स्थितस्य तदसंस्पृष्टत्वमीश्वरस्यादित्यर्थः। अतएव "आकाशवत्सर्वगतः"[शां.ड.२।१।३] "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः...साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च" [श्वेता. ६।११+ब्रह्मो.३+गोपालो. ३।१९+राधो. ४।१] इति श्रूयते। स च चेताः स्वयम्प्रकाशकः स्वप्रकाशश्च प्रदीपवत् यन्त्रारूढानि यन्त्रे इवारूढानि मायया भ्रामयन् भवति । भ्रामणं हि प्रेरणं, यन्त्रं च स्वनिर्मितं देहेन्द्रियादिरूपं, तत्रारूढांश्चेतनांस्तद्गुणानुगुण्येन प्रवर्त्तयंस्तिष्ठति । इदं च 'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः' [१५।१५] इत्यस्य भाष्यरूपम् ॥ ६१ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वीश्वराज्ञाव्यतिरेकेण प्रकृतिकर्मणोः कथं तथात्वं ? इत्यत आह— ईश्वर इति । हे अर्जुन स्वच्छजातीयनामत्वेन ज्ञानार्ह ! ईश्वरो नियामकस्तत्त्वेन सर्वभूतानां हृद्देशे हृदयमध्ये तिष्ठति; मायया सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि शरीरारूढानि भ्रामयँस्तिष्ठति; यथा दारुयन्त्रारूढानि कृत्रिमभूतानि सूत्रधारश्चालयति तथा मायया भ्रामयंस्तिष्ठतीति वाऽर्थः । अत ईश्वरप्रेरितावेव प्रकृतिः कर्म च साधकतया प्रेरयतीत्यर्थः ॥ ६१ ॥

११ नी० भा० दी०— कोऽसौ परो यद्वशेऽहमस्मि ? इत्यत आह— ईश्वर इति । ईश्वर ईशनशीलोऽन्तर्यामी पृथिव्यादीनामस्माकं च सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां हृद्देशे बुद्धिगुहायां सर्वप्राणिप्रवर्त्तकस्तिष्ठति । कीदृशः ? सर्वभूतानि भ्रामयन् ऊर्ध्वाधोमार्गेषु सञ्चारयन्— काष्ठपुत्तिका इव सूत्रधारः— यन्त्रारूढानि यन्त्रमिव यन्त्रं उत्क्रमणादिसाधनं सर्वप्राणाद्यात्मकं लिङ्गं तदारूढानि मायया स्वशक्त्या भ्रामयन्निति सम्बन्धः । हे अर्जुन ! शुक्लविशुद्धान्तःकरण ! सेश्वरोऽसीति भावः ।

अत्राहङ्कारपूर्वकं यः कर्म करोति, यश्च 'ईश्वरपरवशोऽहं करोमि' इति बुद्ध्या करोति, तयोरत्यन्तवैलक्षण्यप्रदर्शनार्थो मन्त्रो भाष्ये उदाहृतः "अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च विवर्त्तेते रजसी वेद्याभिः" [ऋक्सं.४।२।१०।१] इति भारद्वाजार्षं अहश्च कृष्णमहरर्जुनं चेति "आग्निमारुतस्य प्रतिपत्" इति ब्राह्मणेन आग्निमारुते शस्त्रे विनियुक्ता प्रथमेयमृक् । यस्मिन् दिवसे सोमः सूयते यागार्थं तदेव जन्मसाफल्यादिनं मुख्यमहश्शब्दवाच्यम् । अन्यत्तु दिनमदिनमेव, निष्फलत्वात् । तथा च स्मृतिः— 'दशभिर्जन्मभिर्वेदा आधानं शतजन्मभिः । सहस्रैर्जन्मभिः सोमं ब्राह्मण्यं पातुमर्हति' इति सोमयागस्य दौर्लभ्यं दर्शयति । यदयमहश्शब्दः कालवचनोऽपि सौम्ये कर्मणि वर्तते, यथा दर्शपौर्णमासशब्दौ । तत्रैवं सति, अहः यागः कृष्णं अविदुषा कृतमप्रकाशमिव भवति, तथाऽहरर्जुनं स्वच्छं तदेव विदुषा कृतं प्रकाशरूपमिव भवति; ते एते उभे अपि विद्वदविद्वत्कृते अहनी रजसी प्रवृत्तिरूपत्वात् । रजोगुणकार्ये अपि वेद्याभिर्विद्याभिः कर्माङ्गावबद्धोपासनारूपा वा परमेश्वरे सर्वकर्मार्पणरूपा वा 'अहङ्करोमि' इत्यभिमानरूपा वा विद्या विज्ञानानि ताभिर्विवर्तेते वैपरीत्येन वर्तेते; सोपासनं कर्म श्वेतं परमात्मतत्त्वप्रकाशकं बन्धविच्छेदहेतुः, मूढकृतं कर्म कृष्णं स्वरूपावरकं बन्धहेतुरित्यर्थः । तदेवं भगवान् पार्थ अर्जुनेति सम्बोधयन् एतस्य स्वच्छान्तःकरणत्वद्योतनेन शुक्ले धर्मेऽधिकारं दर्शयति ॥ ६१ ॥

**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत !।**
**तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥ ६२ ॥**

१ शां. भा.— तमेवेश्वरं शरणमाश्रयं संसारार्तिहरणार्थं गच्छाऽऽश्रय सर्वभावेन सर्वात्मना; हे भारत ! ततस्तत्प्रसादादीश्वरानुग्रहात्परां प्रकृष्टां शान्तिं परामुपरतिं स्थानं च मम विष्णोः परमं पदमवाप्स्यसि । शाश्वतं नित्यम् ॥ ६२ ॥

२ आ. शां. व्या.— ईश्वरः सर्वाणि भूतानि प्रेरयति चेत्प्राप्तकैवल्यस्यापि पुरुषकारस्याऽऽनर्थक्यमित्याशङ्क्याऽऽह— तमेवेति । सर्वात्मना मनोवृत्त्या वाचा कर्मणा चेत्यर्थः । ईश्वरस्यानुग्रहात्तत्त्वज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तादिति शेषः । मुक्तास्तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानम् ॥ ६२ ॥

३ रा. भा.— एतन्मायानिवृत्तिहेतुमाह— तमेवेति । यस्मादेवं तस्मात्तमेव सर्वस्य प्रशासितारमाश्रितवात्सल्येन त्वत्सारथ्येऽवस्थितं 'इत्थं कुरु' इति च शासितारं सर्वभावेन सर्वात्मना शरणं गच्छ सर्वात्मनाऽनुवर्तस्व, अन्यथाऽपि तन्मायाप्रेरितेनाज्ञेन त्वया युद्धादिकरणमवर्जनीयम्; तथा सति नष्टो भविष्यसि; अतस्तदुक्तप्रकारेण युद्धादिकं कुर्वित्यर्थः । एवं कुर्वाणस्तत्प्रसादात् परां शान्तिं सर्वकर्मबन्धोपशमं शाश्वतं च स्थानं प्राप्स्यसि । यदभिधीयते श्रुतिशतैः— "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" [ऋक्सं. १।२।६।५] "ते ह नाकं महिमानः सचन्ते । यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः" [ऋक्सं. ८।४।१९।६+यजुस्सं.३१।१६] "यत्र ऋषयः प्रथमजा ये पुराणाः" "परेण नाकं निहितं गुहायां" [महाना.८।१४] "यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्" [ऋक्सं.८।७।१७।७]

**" अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते " [ छां. उ. ३।१३।७ ] " सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् " [ कठो. ३।९ ] इत्यादिभिः ॥ ६२ ॥**

**४ वे. ता. चं.**— ' स्वतन्त्रे स्वमायया प्रेरयति, परतन्त्रस्तां कथं निस्तरेत् ' इत्यत्रोत्तरं ' तमेव शरणम् ' इति श्लोक इत्याह— **एतन्मायानिवृत्तिहेतुमाहे**ति । **यस्मादेवम्**— अन्यथाऽपि बुद्ध्या निवर्तितुमशक्यत्वादित्यर्थः, सर्वस्येश्वराधीनत्वादिति वा । ' **तमेव** ' इत्यनेन मायां कोऽन्यो निवर्तयितुं शक्नोतीति सूचितमित्याह— **सर्वस्य प्रशासितारमि**ति । अत्यन्तस्वतन्त्रः स एव हीदानीं रथिनस्तव सारथित्वेन परतन्त्रः प्रशास्तीत्यभिप्रायेण **आश्रितवात्सल्येने**त्यादिकमुक्तम् । एवमनुवर्तनीयत्वाय परत्वं सौलभ्यं च दर्शितम् । भावशब्दोऽत्र मनोवृत्तिपर इत्याह **सर्वात्मने**ति । सर्वप्रकारेणेति वाऽर्थः । तेन ' वासुदेवः सर्वम् ' [ ७।१९ ] इत्युक्तप्रक्रिययाऽन्तर्यामित्वेनोपदेष्टृत्वेन प्राप्यत्वप्रापकत्वादिभिश्चैक एवावस्थित इत्यनुसन्धानं वा विवक्षितम् । अत्र शरणशब्द उपदेशादिमुखेन गोप्तृविषयः; तेनैव द्वारेणोपायपरो वा । यथोपदिष्टकरणमेवात्र शरणागतिरित्यभिप्रायेणाऽऽह— **सर्वात्मनाऽनुवर्तस्वे**ति । 'न श्रोष्यसि' ' न योत्स्ये ' इत्युक्तनिषेधपरत्वादनुवर्तनमेवात्र शरणागतिरिति दर्शयितुं प्रकृतेन विपर्यये प्रत्यवायेन योजयति— **अन्यथापी**ति । प्रकृतोपयोगेनानुवृत्तिं विशिंषन् विवक्षितमुपसंहरति— **अतस्तदुक्तप्रकारेणे**ति । स्ववर्णाश्रमानुरूपतदाज्ञानुवर्तनमेव हि तत्प्रीणनमिति भावः ।

उक्तानुवृत्तिं प्रसादहेतुतयोत्तरार्धेन योजयति— **एवं कुर्वाणस्तत्प्रसादादि**ति । ' मत्प्रसादात् ' [ १८।५६;५८ ] इत्युक्त एवार्थः 'तत्प्रसादात्' इत्यत्र निर्दिष्टः । तत्रोक्तं सर्वदुर्गतरणमिह परा शान्तिः । शान्तेश्चात्र परत्वं निवृत्तजातीयकारणसामानाधिकरण्यविरहेणापुनरङ्कुरत्वमित्यभिप्रायेणाऽऽह **सर्वकर्मे**ति । सर्वकर्मबन्धोपशमपरशान्तिशब्देन अनिष्टनिवृत्तिरुक्ता । ' स्थानं प्राप्स्यसि ' इति इष्टप्राप्तिरुच्यते । शाश्वतशब्देन ब्रह्मादिस्थानव्यवच्छेदः । मूलप्रकृतिः सूक्ष्मावस्था, मुक्तप्राप्यस्थानमिति केचित्; सत्यलोकादिष्वेव वैष्णवस्थानमिति चापरे; तत्स्थानशब्दस्य मुख्यार्थस्वीकाराय, वादिक्षेपाय चाप्राकृतस्थानं श्रुतिभिरुपपादयति— **यदभिधीयत** इति । अधीतवेदानां सम्प्रतिपत्त्यतिशयार्थं **श्रुतिशतैरि**त्युक्तम् । एतेन कारणश्रुतीनां " एकमेवाद्वितीयम् " [छां. उ. ६ । २ । १] इत्यादीनां सक्ष्यमाणकार्यप्रपञ्चमात्रप्रलयपरत्वं बहुश्रुत्यविरोधाय दर्शितम् । ' तद्विष्णोः ' इति वाक्यं प्रत्येकं सदापश्यदनेकसूरिविशिष्टविधिपरं, कृत्स्नस्याप्राप्तत्वात् । 'विष्णोः' इति वैयधिकरण्याच्च नात्र स्वरूपपरता युक्ता । ' यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति ' इत्यत्राप्यनवच्छेदान्नित्यं सन्तीति सिद्धम् । अत्र च ' शाश्वतं स्थानम् ' इति निर्दिष्टं परमात्मन एव स्थानमिति प्रकरणान्तरे व्यक्तम् । ' रम्याणि कामचाराणि ( दिव्यानि कामचारीणि ) विमानानि सभास्तथा । आक्रीडा विविधा राजन् ! पद्मिन्यश्चामलोदकाः । एते वै निरयास्तात ! स्थानस्य परमात्मनः ' [ म. भा. १२।१९८।४;११ ] इति । आह च भगवान् पराशरः— ' एकान्तिनः सदा ब्रह्मध्यायिनो योगिनो हि ये । तेषां तत्परमं स्थानं यद्वै पश्यन्ति सूरयः ' [ वि. पु. १।६।३९ ] इति ॥ ६२ ॥

**५ आ. मा. भा.— परोक्षवचनं तु द्रोणं प्रति भीमवचनवत् ॥ ६२ ॥**

**६ ज. प्र. दी.**— ' ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन ! तिष्ठति ' [ १८।६१ ] ' तमेव शरणं गच्छ तत्प्रसादात् ' इत्यादिरूपात्परोक्षवचनात्कृष्णस्यानीश्वरत्वं प्रतीयते । तन्निराकर्तुमाह— **परोक्षे**ति । निश्चितार्थत्वाभिप्रायेणान्यथासिद्धमिति शेषः ॥ ६२ ॥

**७ ह. पै. भा.— तमेवेति । तमेव शरणं सकलदुःखनिवारणमाश्रयं गच्छ भजस्व सर्वभावेन सर्वैः सङ्कल्पैः ' अयं मम चास्ति स्वाम्ययं मम पोषकोऽयमेवाऽऽचार्यः' इत्येवमादिभिः । तत्प्रसादात्तस्य शरणागतवत्सलस्यानुग्रहात्परां प्रकृष्टां शान्तिमुपरतिमधिगम्य स्थानं वैष्णवं प्राप्स्यसि गमिष्यसि शाश्वतं नित्यम् ॥ ६२ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— यस्मादेवं तस्मात्स्वातन्त्र्याहङ्कारं परित्यज्य, सर्वभावेन सर्वात्मना, त्रिकरणेति यावत् । तमेवेश्वरं शरणं गच्छ, नान्यत्तव शरणमस्ति । तस्यैव चेश्वरस्य प्रसादाज्ज्ञानरूपात्परां शान्तिं सविलासाविद्यानिवृत्तिरूपां शाश्वतं नित्यं स्थानमद्वितीयानन्दरूपेणावस्थानं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

**९ व० त० दी०— अतस्तमेव सर्वनियन्तारं सर्वेश्वरं शरण्यं शरणं गच्छ सर्वात्मना । अन्यथा मत्प्रकृतिप्रेरितेन तु त्वया युद्धकरणमनिवार्यं भविष्यत्येवेति वरं मदुक्तकरणम् । मत्प्रसादादेव परां शान्तिं शाश्वतं स्थानं च प्राप्स्यसि । अतो भगवदाज्ञातः स्वधर्मकरणं मतं; तथा सति न बन्धः स्यात्तदीयस्येति निर्णयः ॥ ६२ ॥**

१० पु. अ. त.— मामज्ञात्वा मदाज्ञां नैव करोषि तदा हृदयस्थितेश्वरस्यैव शरणं गच्छेत्याह— तमेवेति । हे भारत ! सत्कुलोत्पन्नत्वादहङ्काररहित ! तं पूर्वोक्तं हृदयस्थितमेव ईश्वरं सर्वभावेन सङ्कल्पविकल्पान् परित्यज्य सर्वात्मना शरणं गच्छ, ततस्तत्प्रसादात् परां शान्तिं शाश्वतं नित्यं स्थानं पूर्वश्लोकोक्तमक्षरात्मकं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

११ नी० भा० दी०— तमेव ईश्वरं सर्वभावेन सर्वात्मना शरणमाश्रयं गच्छ श्रयस्व । तत्प्रसादात् तदनुग्रहात्परां शान्तिं उपरतिं— समाधिमिति यावत् । तथा च सूत्रम्— 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' [ पा. यो. २।४५ ] इति । स्थानं च परं विष्णोः पदं मोक्षं शाश्वतं नित्यं प्राप्स्यसि ॥ ६२ ॥

## इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया ।
## विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

**१ शां. भा.**— इत्येतत्ते तुभ्यं ज्ञानमाख्यातं कथितं गुह्याद्गोप्याद्गुह्यतरमतिशयेन गुह्यं— रहस्यमित्यर्थः— मया सर्वज्ञेनेश्वरेण । विमृश्य विमर्शनमालोचनं कृत्वैतद्यथोक्तं शास्त्रमशेषेण समस्तं यथोक्तं चार्थजातं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

२ आ. शां. व्या.— शास्त्रमुपसंहर्तुमिच्छन्नाह— **इति ते ज्ञानमिति** । ज्ञानं करणव्युत्पत्त्या गीताशास्त्रम् । यथेच्छसि तथा कुरु ज्ञानं कर्म वा यदिष्टं तदनुतिष्ठेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

**३ रा. भा.**— इति एवं ते मुमुक्षुभिरधिगन्तव्यं ज्ञानं सर्वस्माद्गुह्याद्गुह्यतरं कर्मयोगविषयं ज्ञानयोगविषयं भक्तियोगविषयं च सर्वमाख्यातम् ; एतदशेषेण विमृश्य स्वाधिकारानुरूपं यथेच्छसि, तथा कुरु; कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं वा यथेष्टमातिष्ठेत्यर्थः ॥ ६३ ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमर्जुनस्य युद्धे प्रोत्साहनव्याजेन सर्वाध्यात्मशास्त्रार्थजातमुपदिश्य सर्वासु निष्ठासु नित्यकर्मणो दुस्त्यजतयाऽन्तेऽपि युद्धकर्तव्यत्वमेव स्थापितम् । अथ 'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः पदवेदने' [ अनुगी. १।१२ ] इति प्रत्यभिज्ञापयिष्यमाणप्रकारेण श्रोतव्यान्तराभावज्ञापनाय प्रक्रान्तनिष्ठात्रयं पुष्कलोपदिष्टतया यथाधिकारमनुष्ठेयत्वेन निगम्यते 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' इति श्लोकेन । वाच्यवचनयोः सम्यक्त्वं पौष्कल्यं च इतिकरणेन विवक्षितमित्यभिप्रायेणाऽऽह— **इत्येवमिति** । ते 'यच्छ्रेयः स्यात्' [ २ । ७ ] इत्यादिवादिने प्रपन्नाय शिष्यायेत्यर्थः । अत्र लौकिकप्रमाणप्रसिद्धविषयेभ्य आयुर्धनुर्गान्धर्ववेदार्थनीतिशास्त्रादिजन्येभ्यो ज्ञानेभ्यः प्रकृष्टातीन्द्रियपारलौकिकस्वर्गादिपुरुषार्थतदुपायविषयं वेदाख्यशास्त्रमूलं विविधज्ञानं गुह्यशब्देन विवक्षितम् । गुह्यतरशब्देन तु वेदान्तनिष्पाद्यं तदुपबृंहणभूतैतच्छास्त्रविशोधितं मुमुक्षुभिर्यथाधिकारमनुष्ठेयव्यवहिताव्यवहितसमस्तमोक्षोपायज्ञानं प्रदर्श्यते । तत्र त्रिवर्गमात्रसक्तेभ्यो गोपनीयतया गुह्यतरत्वोक्तिरित्यभिप्रायेणाऽऽह— **मुमुक्षुभिरधिगन्तव्यं ज्ञानं सर्वस्माद्गुह्याद्गुह्यतरमिति** ।

नन्वेतच्छास्त्रोक्तेष्वेव गुह्यगुह्यतरविभागः स्यात्; तत्राप्यन्तिमाध्यायोक्तमेव गुह्यतरतयाऽत्र निगम्यत इति शङ्कामपाकरोति **कर्मयोगविषयं ज्ञानयोगविषयं भक्तियोगविषयं चेति** । 'विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु' इत्यनन्तरवाक्यपरामर्शस्वारस्याद्गीताशास्त्रोक्तं कृत्स्नमिह गुह्यतरशब्देन विवक्षितमिति गम्यते । तदवान्तरतारतम्यं तु सर्वगुह्यतममित्यनन्तरश्लोके वक्ष्यत इति भावः । 'आख्यातम्' इत्यनेन वक्तव्यान्तराभावो व्यञ्जित इत्यभिप्रायेणाऽऽह **सर्वमाख्यातमिति** । मया स्वतः सार्वज्ञादिगुणयोगादाप्ततमेन हितैषिणा चेत्यर्थः । 'अशेषेण विमृश्य' इत्यनेन विवक्षितमाह **स्वाधिकारानुरूपमिति** । सहसैव पूर्वपूर्वपरित्यागो न युक्त इति भावः । 'यथेच्छसि तथा कुरु' इत्येतन्न युद्धकरणाकरणविषयम्, निष्ठात्रयेऽपि नित्यनैमित्तिकानां वर्णाश्रमानुबन्धिकर्मणामवश्यानुष्ठेयत्वोक्तेः, 'यदहङ्कारमाश्रित्य' [ १८।५९ ] इत्यादिश्लोकाभ्यामर्जुनेन युद्धस्य दुस्त्यजतां वदतो भगवतस्तन्निवृत्तिविवक्षानुपपत्तेश्च । अतोऽत्र तत्तदधिकारानुरूपमुपदिष्टेषु शास्त्रार्थपर्वसु बुद्धिमत्तरस्त्वं कर्मज्ञानभक्तिषु कर्मण्यस्मिन्ममेदानीमधिकार इति परामृश्य तस्मिन् पर्वणि परिगृहीतस्ववर्णाश्रमधर्म एव वर्तस्वेत्युच्यत इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **कर्मयोगं ज्ञानयोगं भक्तियोगं वा यथेष्टमातिष्ठेति** । एतेन 'कर्मज्ञानयोगयोरिदं निगमनम्' 'सर्वगुह्यतमम्' इत्यादिना 'भक्तियोगनिगमनम्' इति कैश्चिदुक्तो विभागो निरस्तः ॥ ६३ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ६३ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६३ ॥

७ ह. पै. भा.— इतीति । इतीत्थं ते तव ज्ञानं ब्रह्मसम्बोधलक्षणमाख्यातं कथितम् । गुह्यतरं रहस्यतरं विमृश्य विचार्यैतदशेषेण साकल्येन यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

८ वें. ब्र. गि.— अथेदानीं कृत्स्नगीताशास्त्रार्थमुपसंहरति— इतीति । इति अनेन प्रकारेण 'अशोच्यानन्वशोचः' [२।११] इत्याद्येतदन्तेन सम्पूर्णगीताशास्त्रेण गुह्याद्गुह्यतरम्— यद्यपि 'इदं तु ते गुह्यतमम्' [९।१] इति ज्ञानं गुह्यतमत्वेन प्रागुक्तम्, तथापि कर्मभक्तियोगादीन्सर्वानप्यत्र गुह्यशब्दार्थत्वेन विवक्षित्वा तदतिशयितत्वेन 'गुह्यतरं' इत्युक्तम् । तदेतद्ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानं मया सर्वज्ञेन परमाप्तेन ते तुभ्यं भक्तिसख्यादिभिरतिप्रियाय आख्यातम् । त्वं च एतद्गीताशास्त्रं शेषेण कार्त्स्न्येन विमृश्य सम्यगालोच्य यथेच्छसि तथा कुरु; कृत्स्नगीताविमर्शे सति निवृत्तमोहस्य तव स्वकर्तव्यावधारणं तदिच्छा च भवति तथैव कुरु । एतदुक्तं भवति—मदुपदिष्टज्ञानस्याप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्कारपर्यन्तत्वाय तव तत्प्रतिबन्धकपापक्षयकारणत्वेन स्ववर्णाश्रमधर्माणामीश्वरैकाराधनतयाऽनुष्ठेयत्वमेवाद्यन्तशास्त्रपर्यालोचनया प्राप्नोति, तदेव कुरुष्वेति ॥ ६३ ॥

९ व० त० दी०— सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह— इतीति । निरतिशयकरुणावरुणालयेनाख्यातं ज्ञानं "यत्तद्भगवता गीतं ज्ञानं (गीतं भगवता ज्ञानं यत्तत्—) संग्राममूर्द्धनि' इति भागवतेऽपि [१।१५।३०] ज्ञानपदवाच्यं सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारं इदमिति ज्ञायते । अतो विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

१० पु. अ. त.— अथ सकलगीताशास्त्रार्थमुपसंहरन्नाह— इतीति । इति अमुना प्रकारेण ते तव मया सर्वकर्त्रा सर्वात्मना गुह्यात् गोप्यात् गुह्यतरं गोप्यतरं मन्त्रबीजवत् सर्वशास्त्रज्ञानसारात्मकं ज्ञानमाख्यातं आ समन्तात् ससाधनं प्रसिद्धतयोक्तमित्यर्थः । एतत् मदुपदिष्टगीताशास्त्रार्थं अशेषेण पूर्वापरानुसन्धानेन विमृश्य पर्यालोच्य यथा कर्तुमिच्छसि उत्तमत्वेन तथा कुरु । एतद्विमर्शात् तदाज्ञाकरणे एव बुद्धिर्भविष्यतीत्याशयेन 'यथेच्छसि' इत्युक्तमिति भावः ॥ ६३ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्वगीतार्थमुपसंहरति— इतीति । एवम्प्रकारं ते तुभ्यं मया सर्वज्ञेन परमकारुणिकेन ज्ञानं आख्यातम् । गुह्यान्मन्त्रतन्त्ररसायनरूपाद्गुह्यतरं अतिशयं रहस्यम् । एतद्यथोक्तं शास्त्रार्थजातं विमृश्य सम्यगालोच्य यथेच्छसि तथा कुरु ॥ ६३ ॥

उपदिष्टस्य गीताशास्त्रस्य सारभूतोपदेशः ।

**सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।**
**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ ६४ ॥**

१ शां. भा.— भूयोऽपि मयोच्यमानं शृणु— सर्वगुह्यतममिति । सर्वगुह्यतमं सर्वगुह्येभ्योऽत्यन्तरहस्यमुक्तमप्यसकृद्भूयः पुनः शृणु मे मम परमं प्रकृष्टं वचो वाक्यम् । न भयान्नाप्यर्थकारणाद्वा वक्ष्यामि । किं तर्हि? इष्टः प्रियोऽसि मे मम दृढमव्यभिचारेणेति कृत्वा ततस्तेन कारणेन वक्ष्यामि कथयिष्यामि ते तव हितं परं ज्ञानप्राप्तिसाधनम् । तद्धि सर्वहितानां हिततमम् ॥ ६४ ॥

२ आ. शां. व्या.— गीताशास्त्रस्य पौर्वापर्येण विमर्शनद्वारा तात्पर्यार्थं प्रतिपत्तुमसमर्थं प्रत्याह— भूयोऽपीति । किमर्थमिच्छन्पुनः पुनरभिदधासि ? इत्याशङ्क्याऽऽह— न भयादिति । हितमिति साधारणनिर्देशे कथं परमित्यादिविशेषणं ? इत्याशङ्क्याऽऽह— तद्धीति ॥ ६४ ॥

३ रा. भा.— सर्वेष्वेतेषु गुह्येषु भक्तियोगस्य श्रैष्ठ्याद्गुह्यतमम् इति पूर्वमेवोक्तं 'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे' [९।१] इत्यादौ; भूयोऽपि तद्विषयं परमं मे वचः शृणु; इष्टोऽसि मे दृढ इति ततस्ते हितं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— अविशेषेण त्रिविधेऽपि हि निगमिते त्रयाणामप्यन्यापेक्षया गुह्यतरत्वे चोक्ते त्रिष्वेतेषु व्यवहिताव्यवहितोपायविभागेन गुह्यतमाध्यवसायार्थं, पुनः प्राधान्यात्तत्रैव शास्त्रतात्पर्यातिशयद्योतनाय 'सर्वगुह्यतमम्' इत्यादिश्लोकद्वयेन भक्तियोगरूपशास्त्रसारार्थः प्रतिसन्धाप्यते । तदभिप्रायेण हि 'शास्त्रसारार्थ उच्यते' [ गी. सं. २२ ] इति संगृहीतम् । विवृतं चाध्यायादौ । अत्र 'सारार्थशेषतया सारतमं प्रपदनं चरमश्लोकेन प्रतिपाद्यते' इति सोऽपि 'शास्त्रसारार्थः' इत्यनेनैव क्रोडीकृतः । 'सर्वगुह्यतमम्' इत्यत्र योगविभागवता 'सप्तमी शौण्डैः' [अष्टा.२।१।४०] इत्यनेन समाससमभिप्रेत्य **सर्वेष्वेतेष्विति** सप्तमीनिर्देशः । गुह्यतमशब्दप्रत्यभिज्ञानाद्भूयश्शब्दस्वारस्यात् 'मन्मना भव' इति श्लोकस्य चाल्पान्तरस्य पूर्वोक्तस्यैव पाठात्स एव भक्तियोग इह शास्त्रान्ते शास्त्रसारत्वज्ञापनायोद्‌ध्रियते, नत्वर्थान्तरमित्यभिप्रायेणाऽऽह **गुह्यतमम्** इति **पूर्वमेवोक्तमिति** । अत्र वाच्यस्य गुह्यतमत्वमेव वचस्युपचरितमित्याह **भूयोऽपि तद्विषयमिति** । श्रवणमात्रावृत्तेः 'शृणु' इत्यनेनैव साध्यत्वाच्छ्रुतार्थविषयत्वपरोऽत्र भूयश्शब्दः । व्यवधानैरपेक्ष्येण गुह्यतमनिष्कर्षार्थतया पुनर्वचनं सार्थमिति भावः । वचसः परमत्वोक्तिः नातःपरं वक्तव्यमस्ति इति निगमनाभिप्राया । यद्वा वाच्यस्य परमत्वात्तद्वचसोऽपि तदुच्यते; 'यस्माद्धर्मात्परो धर्मो विद्यते नेह कश्चन' इति भगवद्योगश्च सर्वेभ्यो यज्ञादिभ्यः परमः,परान्तररहितश्चोच्यते; तथा 'इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् । अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'[या.स्मृ.१।१।८] इति । आत्मा ह्यत्र सर्वान्तरात्मा । उपच्छन्दनस्तुत्यादिशङ्कापरिहाराय 'इष्टोऽसि' इत्यादिकम् । इष्टः प्रीतिविषय इत्यर्थः; 'प्रियोऽसि' [ १८।६५ ] इत्यनन्तरवत् । दृढमिष्टः अत्यर्थं प्रियः । 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' [ ७।१७ ] इत्यादिभिः प्रागुक्तज्ञानिवदतिदृढमिष्टोऽसि; यथा गुह्यतमं प्रकाशनीयं, तथा प्रीतिविषयोऽसीत्यर्थः । इष्ट इति यतः, ततस्ते हितं वक्ष्यामीति वा ॥ ६४ ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ६४ ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ६४ ॥

**७ ह. पै. भा.**— **सर्वेति । सर्वगुह्यतमं सर्वरहस्यतमं भूयः पुनरपि शृणु मे परमं वचः ततस्तस्मात् । हितं कुशलम् ॥ ६४ ॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— एवं कृत्स्नगीतार्थभूतं ज्ञानमर्जुनस्य तदप्रतिबद्धापरोक्षत्वाय कर्तव्यं चोक्तम्; इदानीं ज्ञानसाधनेषु किं मुख्यं ? इत्यपेक्षायामाह द्वाभ्याम्— **सर्वगुह्येति** । अत्र " 'सर्वगुह्यतमं' इत्यनेन गुह्यात्कर्मयोगात्तत्फलतया गुह्यतराज्ज्ञानाच्च सर्वस्मादतिशयेन गुह्यं गुह्यतमम् 'मन्मना भव मद्भक्तः' [ १८।६५ ] इत्युपदेक्ष्यमाणं भजनम्" इति मधुसूदनसरस्वतीभिर्व्याख्यातम् । तदसत्, ज्ञानसाधनस्य भक्तेर्ज्ञानादतिशयासिद्धेः 'ततो वक्ष्यामि ते हितम्' इत्यत्र 'हितं ज्ञानप्राप्तिसाधनम्, तद्धि सर्वहितानां हिततमम्' इति ( शां. ) भाष्य एव व्याख्यातत्वेन तद्विरोधाच्च । न हि श्रीधराणामिव भगवत्पादभाष्यातिलङ्घनं भवतामभिमतम् । अतो भाष्याभिमतो युक्त एव भक्तियोगो गुह्यतमः । अत एव 'मन्मना भव मद्भक्तः' इति स्वस्मिन्नेव मनः स्वस्मिन्नेव च भक्तिर्भगवतोपदिश्येते । भाष्यकारैरपि 'योगिनामपि सर्वेषाम्' [ ६।४७ ] इति श्लोके वसुरुद्रादित्यादिदेवतान्तरभक्तेभ्यो भगवद्भक्तस्योत्कर्षं प्रतिपादयद्भिरयमेवात्रार्थोऽभिप्रेतः । एवं च सर्वगुह्यतमं अतएव परमं श्रेष्ठं मे वचः तत्र तत्रोक्तमपि त्वदनुग्रहार्थं पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । एतच्च न मया-ऽर्थकारणाद्वा वदामि; किन्तु दृढमत्यन्तं मे त्वमिष्टः प्रिय इति यतः, ततस्ते हितं मुख्यं ज्ञानसाधनं वक्ष्यामि ॥ ६४ ॥

**९ व० त० दी०**— एतस्याशेषतो दुर्ज्ञेयत्वात् स्वयमेवातिमात्रमनुगृह्णन् स्त्रीयाय स्वतत्त्वमुपदिशति— **सर्वगुह्यतममिति** । अत्र 'भूयः' इति पदमिदं गुह्यतममिति गुह्यतमं शास्त्रं इत्यादौ स्वस्यैव मूलपुरुषोत्तमतायामुक्तायामप्यस्य मयि नरादिबुद्ध्यापादनपूर्वकमन्य एव कश्चन पुरुषोत्तमोऽन्तर्यामिरूपो निर्गुण एतद्वचसाऽऽज्ञाय भजनीय इति सन्देहवारणायोक्तम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ६४ ॥

**१० पु. अ. त.**— विमृश्यकारित्वमीश्वरोक्तावसम्भावितमिति विचारेण शोचन्तमर्जुनं कृपया तद्द्वारा च लोकानुद्दिधीर्षुर्निश्चितार्थं स्वयमेवाह— **सर्वगुह्येति** । सर्वगुह्येऽतिगुह्यं गोप्यं गुह्यतमं मे परमं फलरूपं वचो भूयः पूर्वमुक्तमपि तत्प्रकरणेषु इदानीमेकीकृत्य पुनर्वक्ष्यमाणं शृणु । एवं सारभूतमेकीकृत्याकथने हेतुमाह— **इष्टोऽसीति** । मे मम दृढमत्यन्तम् अप्रियकरणेऽपि अन्यथाभावरहितः इष्टः प्रियोऽसि, ततः कारणात्ते हितं वक्ष्यामि कथयामि ॥ ६४ ॥

**११ नी० भा० दी०**— एवं यथेष्टकरणमभ्यनुज्ञायाप्यतिवात्सल्यात् श्लोकद्वयेनैव कृत्स्नं शास्त्रार्थमुपदेक्ष्यंस्तद्ग्रहणे ऐकाग्र्यमस्य सम्पादयितुमाह— **सर्वेति** । सर्वेभ्यो गुह्येभ्यः अतिशयितं गुह्यं सर्वगुह्यतमं भूयः पुनरसकृदुक्तमपि मे मम वचनं शृणु; परमं परमार्थविषयत्वात् । न लोभान्नापि भयात्त्वां वक्ष्यामि । किं तर्हि ? मे मम

इष्टोऽसि परमाप्तोऽसि इति हेतोः दृढं अतिशयितं ते तव हितं यतस्ततो वक्ष्यामि। तव इष्टत्वात् विद्यायाश्च हितत्वात्तद्वचनं आप्ते त्वयि अवश्यं वक्तव्यमिति भावः ॥ ६४ ॥

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ ६५ ॥**

**१ शां. भा.—** किं तत्? इत्याह—**मन्मना** इति। मन्मना भव मच्चित्तो भव, मद्भक्तो भव मद्भजनो भव, मद्याजी मद्यजनशीलो भव, मां नमस्कुरु नमस्कारमपि ममैव कुरु। तत्रैवं वर्तमानो वासुदेव एव सर्वसमर्पितसाध्यसाधनप्रयोजनो मामेवैष्यस्यागमिष्यसि। सत्यं ते तव प्रतिजाने सत्यां प्रतिज्ञां करोमि, एतस्मिन्वस्तुनीत्यर्थः। यतः प्रियोऽसि मे। एवं भगवतः सत्यप्रतिज्ञत्वं बुद्ध्वा भगवद्भक्तेरवश्यम्भावि मोक्षफलमवधार्य भगवच्छरणैकपरायणो भवेदिति वाक्यार्थः ॥ ६५ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** तदेव प्रश्नद्वारा विवृणोति—**किं तदि**त्यादिना। उत्तरार्धं व्याचष्टे—**तत्रे**ति। एवमुक्तया रीत्या वर्तमानस्त्वं तस्मिन्नेव वासुदेवे भगवत्यर्पितसर्वभावो मामेवाऽऽगमिष्यसीति सम्बन्धः। सत्यप्रतिज्ञाकरणे हेतुमाह—**यत** इति। इदानीं वाक्यार्थं श्रेयोर्थिनां प्रवृत्त्युपयोगित्वेन संगृह्णाति—**एवमि**ति ॥ ६५ ॥

**३ रा. भा.—** वेदान्तेषु—"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमे-(-व) वं विद्वानमृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" [श्वे. उ. ३। ८+त्रि. वि. म. ना. ४।३+शि. सं. १५+चित्सु. १२।७] इत्यादिषु विहितं वेदनध्यानोपासनादिशब्दवाच्यं दर्शनसमानाकारं स्मृतिसन्तानमत्यर्थप्रियमिह मन्मना भवेति विधीयते। मद्भक्तः अत्यर्थमत्प्रियः अत्यर्थमत्प्रियत्वेन निरतिशयप्रियां स्मृतिसन्ततिं कुरुष्वेत्यर्थः। मद्याजी तत्रापि मद्भक्त इत्यनुषज्यते, यजनं पूजनं, अत्यर्थप्रियमदाराधनपरो भव। आराधनं हि परिपूर्णशेषवृत्तिः। मां नमस्कुरु, नमो नमनं, मय्यतिमात्रप्रह्वीभावमत्यर्थप्रियं कुर्वित्यर्थः। एवं वर्तमानो मामेवैष्यसि, एतत्सत्यं ते प्रतिजाने तव प्रतिज्ञां करोमि; नोपच्छन्दनमात्रं, यतस्त्वं प्रियोऽसि मे 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः' [७।१७] इति पूर्वमेवोक्तम्; यस्य मय्यतिमात्रा प्रीतिर्वर्तते, ममापि तस्मिन्नतिमात्रा प्रीतिर्भवतीति तद्वियोगमसहमानोऽहं तं मां प्रापयामि; अतः सत्यमेव प्रतिज्ञातं 'मामेवैष्यसि' इति ॥ ६५ ॥

**४ वे. ता. चं.—** 'मन्मना भव' इत्यस्याव्यवहितफलसाधनतया गुह्यतमाङ्गिस्वरूपपरत्वं दर्शयितुं तत्स्वरूपं तावत्प्रमाणतः शिक्षयति **वेदान्तेष्वि**ति। 'वेदाहम्' इत्यादिपुरुषसूक्तवाक्योपादानमुपनिषदन्तराणां तदनुवर्तित्वज्ञापनार्थम्, 'नान्यः पन्थाः' इति हि तत्साध्योपायान्तरव्यवधानशङ्कानिरासार्थम्। अत्र च 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः' [१५।१८] इति वक्तुश्च वासुदेवस्य तत्प्रतिपाद्यत्वात् 'मन्मना भव' इति विहितस्य महापुरुषोपासनत्वज्ञापनार्थं च। वेदनं ह्यत्रोक्तम्, न तु भक्तिरित्यत्राऽऽह—**ध्यानोपासनादिशब्दवाच्यमि**ति। आदिशब्देन तत्तत्स्मृत्युक्तभक्तिसेवादिशब्दग्रहणम्। समानप्रकरणस्थाभ्यां ध्यानोपासनशब्दाभ्यां वेदनं हि विशेष्यते। अन्यथा गुरुलघुविकल्पाद्यनुपपत्त्या ध्यानादिविधिवैयर्थ्यप्रसङ्ग इति भावः। विद्युपास्योर्व्यतिकरेणोपक्रमोपसंहारदर्शनाच्च वेदनमुपासनं इत्येव व्यक्तमुपपादितं शारीरकभाष्यादिषु।

किञ्च "द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" [बृ.उ.२।४।५+४।५।६] इत्युक्त्वा तान्येव दर्शनादीन्यनुवदन्ती श्रुतिः विज्ञानशब्देन निदिध्यासनमनुवदति—"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेन"[बृ.उ.२।४।५] इति। एवं "तस्मिन् दृष्टे परावरे" [मुं. उ.२।२।८] इति वाक्यैर्दर्शनं न साक्षात्प्रत्यक्षरूपं, गुरुलघुविकल्पाद्यनुपपत्तेरेव। न चाधिकारिभेदेन तत्सम्भवः, व्यवस्थापकाभावात्। न च द्वारिद्वारभावकल्पना शक्या, ध्रुवानुस्मृतेर्दर्शनस्य चाविशेषेणाव्यवहितसाधनत्वश्रुतेः। अत ऐकार्थ्येऽत्यवश्यम्भाविन्यन्यतरस्यौपचरिकत्वमन्तरेण तदसम्भवात्, निष्प्रयोजनस्योपचारस्यायोगात्, स्मृतिशब्देन च प्रत्यक्षस्योपचारेऽतिशयासिद्धेः, विपर्यये तु दर्शनसमानाकारत्वलक्षणवैशद्यविधानेन सप्रयोजनत्वाच्च।

'स्वप्रधीगम्यम्' इत्याद्युपबृंहणाभिप्रेतवैशद्यविशिष्टा स्मृतिरेव "तस्मिन् दृष्टे" "निचाय्य तं" [कठो.१।३।१५] "द्रष्टव्यः" [बृ. उ. २।४।५+४।५।६] इत्यादिभिर्विधीयते

इत्यभिप्रायेणाऽऽह **दर्शनसमानाकारमिति**। **स्मृतिसन्तानमिति**— तेन स्मृतिः सन्तन्यते यत्रेति वा स्मृतेः सन्तानो यत्रेति वा व्युत्पत्त्या नपुंसकत्वमत्र ज्ञातव्यम्। ततश्चित्तैकाग्र्यशब्दार्थः। तेन तन्मूलज्ञानलक्षणया तैलधारावदविच्छिन्नत्वं सूचितम्। वेदनं वा सामान्यरूपमत्रान्यपदार्थः। तत्र 'वेदनम्' इति पाठे तदेव विशेष्यम्। वेदनध्यानोपासनादि इति पाठे तु स्मृतिसन्तानस्य विशेष्यत्वात्तस्यैव भक्तिरूपत्वायाऽऽह— **अत्यर्थप्रियमिति**। इह अव्यवहितमोक्षोपायोपदेशदशायामित्यर्थः। वेदान्तविहितस्यापि अर्जुनेनाविदितत्वात्तं प्रति 'मन्मना भव' इति विधिरेवेत्याह— **विधीयत** इति।

मद्भक्तशब्दार्थमाह— **अत्यर्थमत्प्रिय** इति। अत्यर्थमहं प्रीतिविषयभूतो यस्य सोऽत्रात्यर्थमत्प्रियः। 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहम्' [ ७।१७ ] इति ह्युक्तम्। विधेयस्य कर्तव्यस्य वैशिष्ट्याभिप्रायेण कर्तरि विशेषणमित्याह— **अत्यर्थमत्प्रियत्वेन निरतिशयप्रियामिति**। 'मद्याजी मां नमस्कुरु' इत्युभाभ्यां अङ्गिकोटिनिर्देशेनान्तरङ्गपरिकरयोग उपलक्ष्यत इति दर्शयितुमाह— **तत्रापीति**। यजिनाऽत्राविवक्षितज्योतिष्टोमादिप्रतीतिव्युदासाय धातुशक्तिं स्मारयति— **यजनं पूजनमिति**। फलितमाह— **अत्यर्थप्रियेति**। भक्त्यन्तःप्रवेशेन स्वरूपानुरूपत्वद्योतनाय, सारतमत्वसिद्ध्यै सारार्थग्राहकभगवच्छास्त्रादिचोदितां प्रक्रियां स्मारयति— **आराधनं हीति**। अन्तःकरणवृत्तिविशेषपर्यवसानायाऽऽह **नमो नमनमिति**। एतेन प्रणिपातमात्रपरत्वव्युदासः। त्रिविधा हि प्रणतिः शास्त्रेषु शिष्यते। मद्भक्तपदानुषङ्गविशेषितं तदभिप्रेतमाह— **मयीति**। आत्मात्मीयं सर्वं भगवत एवेत्यनुसन्धानादलिमात्रप्रह्वीभावः।

**एवं वर्तमान** इति— एतेनात्यर्थप्रियत्वाद्यनुवादमात्रत्वं विवक्षितं, न तद्व्यतिरेकेण स्वात्माधारत्वम्, अवधारणेनाव्यवधानं विवक्षितम्। 'सत्यम्' इति प्रतिज्ञाविशेषणं, न तु प्रतिज्ञातस्योक्तिरित्याह— **एतदिति**। 'वास्तोष्पते प्रतिजानीह्यस्मान्' [ ऋक्सं. ५।४।२१।१ ] इत्यादिष्विवोपसर्गस्य गत्यभावविषयमविवक्षितार्थत्वं निराकरोति— **प्रतिज्ञां करोमीति**। 'द्यौः पतेत्पृथिवी शीर्येद्धिमवाञ्छकलीभवेत्। शुष्येत्तोयनिधिः कृष्णे! न मे मोघं वचो भवेत्*' इत्यादिभगवद्वाक्यानुसारेणाभिप्रेतमाह **नोपच्छन्दनमात्रमिति**। अत्र प्रियवचनेन प्ररोचनरूपार्थवादत्वं त्वया न शङ्कनीयमित्यर्थः। एवं वर्तमानस्य स्वप्राप्तौ स्वप्रीतिलक्षणद्वारमुपक्षिप्योपच्छन्दनशङ्काऽपाक्रियते 'प्रियोऽसि मे' इत्यनेनेत्याह— **यतस्त्वमिति**। साध्यमपि ज्ञानित्वं सिद्धवत्कृत्वा 'प्रियोऽसि' इति तत्फलोक्तिरित्यभिप्रायेण 'प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थम्' [ ७।१७ ] इति सामान्येन प्रागुक्तप्रयोजकग्रहणम्। एतेन भूयश्शब्दस्योक्तार्थपरत्वं दर्शितम्। उक्तासम्भवशङ्कापरिहाराय लोकदृष्टमीश्वराभिप्रायं चानुसृत्योपात्तवचनार्थमाह— **यस्येति**। तत्फलितमाह— **इति तद्वियोगमिति**। हेतुवाक्यार्थं साध्येन सङ्गमयति— **अतः सत्यमिति**। **प्रतिज्ञातमिति** भावे निष्ठा॥ ६९॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ६५ ॥**

६ ज. प्र. दी.— ॥ ६९ ॥

**७ ह. पै. भा.— मन्मना इति। मन्मना मद्गतमनाः। मद्याजी मत्पूजकः। मामीश्वरं सकलगुरुं नमस्कुरु। तत्फलमाह— मामेव वासुदेवाख्यं परमेश्वरमेष्यसि। प्रतिजान उपदिशामि॥ ६५ ॥**

८ वें. ब्र. गि.— तदेवाह— **मन्मना** इति। अत्र 'मामेवैष्यसि' इति फलवाक्ये एवकारदर्शनात् 'मन्मनाः' इत्यादिसाधनवाक्येष्वप्यवधारणगर्भत्वं ज्ञायते। 'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि' [ ७।२३ ] इति हि प्रागुक्तम्। तथा 'मन्मनाः मद्भक्तः' इति प्रतिपर्यायं मच्छब्दप्रयोगोऽप्यवधारणगर्भत्वं ज्ञापयति। एवं च 'मदेकमना मदेकभक्तो मदेकयाजी मदेकनमस्कारी भव' इत्यर्थो भवति। तत्र च 'मय्येव मनोभजनयजननमस्कारान्कुरु' इत्यनुक्त्वा 'मन्मनाः मद्भक्तः' इति मनोभक्त्यादीनां पृथङ्निर्देशात्तेषां भगवत्प्राप्तिं प्रति परस्परनैरपेक्ष्येण स्वतन्त्रसाधनत्वं दर्शितम्। अत एव कंसशिशुपालादीनां द्वेषेण निरन्तरभगवच्चिन्तकानां भक्तियजनादीन्विनाऽपि भगवदेकमनस्कत्वमात्रमेव भगवत्प्राप्तिसाधनमासीत्।

एवं स्थिते श्लोकस्यायमर्थः— मन्मनाः मय्येव मनो यस्य स मन्मनाः, निरन्तरं मदेकचिन्तनपरो भव। यदि मनसो दुर्निग्रहत्वादेतत्कर्तुं न शक्नोषि, तदा मद्भक्तो भव, इतस्ततो मनो व्यापारयन्नपि मय्येवाखण्डप्रेमरूपां भक्तिं कुरु। यदि च पुत्रदारैकासक्तस्वभावतया मयि प्रेम कर्तुं न शक्नोषि, तदा मद्याजी भव, मामेव यष्टुं पूजयितुं शीलं यस्य स तथोक्तो भव; अन्तः पुत्रदारादिप्रेमभरितोऽपि सदा मत्पूजाख्यं केवलबहिष्कर्म वा कुरु। अथ पत्रपुष्पादिपूजोपकरणसम्पादनालस्यादिदमप्यशक्यं मन्यसे, तदा मां नमस्कुरु मनोवाक्कायकर्मभिः प्रह्वीभव। एवं वर्तमानो मदनुग्रहलब्धतत्त्वज्ञानो मामेव 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते' [ १५।६ ] इत्युक्तमेष्यसि। एतच्च नार्थवादः, किन्तु सत्यं यथार्थमेव, यतोऽस्मिन्नर्थे ते तव प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि। 'ते' इत्यनेनोक्तमर्थं विशदयति— प्रियोऽसि मे; प्रियस्य प्रतारणा न क्वचिदस्तीति भावः॥ ६५॥

---

* महाभारते तु ( ५।८२।४८ ) एवमयं श्लोको दृश्यते— 'चलेद्धि हिमवाञ्छैलो मेदिनी शतधा ( फलेत् ) भवेत्। द्यौः पतेच्च सनक्षत्रा न मे मोघं वचो भवेत्' इति।

९ व० त० दी०— तथाहि— मन्मना इति । हे पार्थ ! निस्सन्दिग्धतया सर्ववेदान्तवेद्ये स्वाश्रितवात्सल्य-जलधौ त्वत्सारथ्यकर्मणि स्थिते 'मय्येव मन आधत्स्व' [ १२।८ ] इति पूर्ववाक्यैकार्थतामनुसन्दधानः मन्मना एव, मद्भक्त एव, मद्याजी एवेति त्रिकाण्डार्थभूतमत्परायण एव भव । एवकारोऽप्यत्र प्रत्येकमभि-सम्बन्ध्यः, स चान्यभजनादिवारणार्थः पूर्ववदनुषज्जते । एवं सति मामेवैष्यसीत्यहं प्रतिजाने सत्यं यतस्त्वं मे प्रियोऽसि । नहि प्रीतिविषयस्याग्रे वञ्चनमुचितमिति मुख्यभक्तिमार्ग उपदिष्टः पूर्ववत् ॥ ६५ ॥

१० पु. अ. त.- एवं प्रतिज्ञाय तत्स्वरूपमाह- **मन्मना** इति । मन्मनाः मय्येव मनो यस्य तादृशो भव, मद्भक्तः मयि स्नेहयुक्तो भव, मद्याजी मत्पूजनशीलो भव, मां नमस्कुरु मयि सर्वाधिक्यज्ञानवान् भवेत्यर्थः । एवम्भूतः सन् सत्यं सत्यरूपं मामेव एष्यसि प्राप्स्यसि, नात्र सन्देहः कर्त्तव्यः; यतो मे मम प्रियोऽसि अतस्ते तुभ्यं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि ॥ ६५ ॥

११ नी० भा० दी०— तदेव गुह्यतमं हितमाह— मन्मना इति । अहं प्रत्यगात्मानन्दैकघनः परिपूर्ण-स्तदाकारं मनो यस्य स मन्मनाः भव, एतेन ब्रह्मात्माभेदोऽपि साक्षात्करणीय इत्युत्तरषट्कार्थ उक्तः । कथमेवं-विधा ज्ञाननिष्ठा लभ्यते ? अत आह— मद्भक्तो भव, एतेन भगवदुपासनात्मको मध्यमषट्कार्थ उक्तः । कथमल्प-पुण्यस्य भक्तिरुदेष्यति ? इत्यत आह— मद्याजी भगवदर्थकर्मकरणशीलो भव, एतेन कर्मप्रधान आद्यषट्कार्थो विवृतः । ननु यस्य भगवद्याजित्वं न सम्भवति दारिद्र्यात्स्वयाद्यभावाद्वा तस्य भगवद्भक्तिदौर्लभ्याद्ब्रह्माकारा चेतोवृत्तिर्दुर्लभतरेत्याशङ्क्याऽऽह— मां नमस्कुरु प्राकृतभक्त्यैव प्रतिमादौ भगवन्तं सर्वोपचारसमर्पणेन नमस्कारादिना सम्यगाराधयेत्यर्थः । तथा चाश्वलायनो नमस्कारस्यैव यज्ञत्वमुदाहरति— "यो नमसा स्वध्वर-" इति "यज्ञो वै नम इति हि ब्राह्मणं भवति" इति च । एवमुक्तस्य सोपानत्रयारूढस्य फलमाह— मामिति । मामेव तत्पदार्थं सर्वजगत्कारणं सर्वेश्वरं सर्वशक्तिमखण्डैकरसं त्वं एष्यसि प्राप्स्यसि बिम्ब इव प्रतिबिम्बं घटाकाश इव महाकाशम् । अस्मिन्नर्थे शपथं करोति- ते तव पुरः सत्यं अबाधितार्थभूतं प्रतिजाने प्रतिज्ञां करोमि मामेवैष्यसीति । प्रियोऽसि मे यतस्त्वं मे मम प्रियोऽसि, अतः प्रतारणानर्हे त्वयि सत्यमेवाहं ब्रवीमीत्यर्थः ॥ ६९ ॥

अधिकारपरत्वेनार्जुनं प्रति भगवदुपदेशः ।

## सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
## अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

१ **शां. भा.**— कर्मयोगनिष्ठायाः परमरहस्यमीश्वरशरणतामुपसंहृत्य, अथेदानीं कर्मयोगनिष्ठाफलं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तसारविहितं वक्तव्यमित्याह– **सर्वेति** । सर्वधर्मान् सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्मास्तान् । धर्मशब्देनात्राधर्मोऽपि गृह्यते, नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वात् "नाविरतो दुश्चरितात्" [ कठो. २।२४ ] 'त्यज धर्ममधर्मं च' [म. भा. १२।३२९।४०+३३१।४४+सन्यासो.२।१२] इत्यादिश्रुतिस्मृतिभ्यः। सर्वधर्मान्परित्यज्य सन्यस्य सर्वकर्माणीत्येतत् । मामेकं सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थमीश्वरमच्युतं गर्भ-जन्मजरामरणविवर्जितं 'अहमेव' इत्येवमेकं शरणं व्रज; न मत्तोऽन्यदस्तीत्यवधारयेत्यर्थः। अहं त्वा त्वामेवं-निश्चितबुद्धिं सर्वपापेभ्यः सर्वधर्माधर्मबन्धनरूपेभ्यो मोक्षयिष्यामि स्वात्मभावप्रकाशीकरणेन । उक्तं च- 'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता' [ १०।११ ] इति । अतो मा शुचः शोकं मा कार्षीरित्यर्थः ॥ ६६ ॥

२ **आ. शां. व्या.**— वृत्तमनूद्यानन्तरश्लोकतात्पर्यमाह– **कर्मयोगेति** । धर्मविशेषणादधर्मानुज्ञां वारयति— **धर्मेति** । ज्ञाननिष्ठेन मुमुक्षुणा धर्माधर्मयोस्त्याज्यत्वे श्रुतिस्मृतीरुदाहरति— **नाविरत** इति । 'मामेकं' इत्यादेस्तात्पर्यमाह– **न मत्तोऽन्यदिति** । अर्जुनस्य क्षत्रियत्वादुक्तसन्यासद्वारा ज्ञाननिष्ठायां मुख्यानधिकारेऽपि तं पुरस्कृत्याधिकारिभ्यः

तस्योपदिदिक्षितत्वादविरोधमभिप्रेत्याऽऽह— अहं त्वेति । उक्तेऽर्थे दाशमिकं वाक्यमनुकूलयति— उक्तं चेति । ईश्वरस्य त्वदीयबन्धननिरसनद्वारा त्वत्पालयितृत्वान्न ते शोकावकाशोऽस्तीत्याह— अत इति ।

[ गीताशास्त्रोपसंहारः । ]

१ शां. भा.— अस्मिन्हि गीताशास्त्रे परं निश्श्रेयससाधनं निश्चितं किं ज्ञानं ? किं कर्म ? आहोस्विदुभयं ? इति । कुतः सन्देहः ? ' यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ' [ १३।१३ ] ' ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ' [ १८।५५ ] इत्यादीनि वाक्यानि केवलाज्ज्ञानान्निश्श्रेयसप्राप्तिं दर्शयन्ति; ' कर्मण्येवाधिकारस्ते ' [ २।४७ ] ' कुरु कर्मैव ' [ ४।१५ ] इत्येवमादीनि कर्मणामवश्यकर्तव्यतां दर्शयन्ति । एवं ज्ञानकर्मणोः कर्तव्यतोपदेशात्समुच्चितयोरपि निश्श्रेयसहेतुत्वं स्यादिति भवेत्संशयः । किं पुनरत्र मीमांसाफलम् ? नन्वेतदेव- एषामन्यतमस्य परमनिश्श्रेयससाधनत्वावधारणम्, अतो विस्तीर्णतरं मीमांस्यमेतत् । आत्मज्ञानस्य तु केवलस्य निश्श्रेयसहेतुत्वं,भेदप्रत्ययनिवर्तकत्वेन कैवल्यफलावसानत्वात् ।

२ आ. शां. व्या.— पूर्वापरालोचनातो गीताशास्त्रं व्याख्यायोपसंहृत्य तत्तात्पर्यार्थं निर्धारितमपि विचारद्वारा निर्धारयितुं विचारमवतारयति— अस्मिन्निति । किंशब्दार्थमेव त्रेधा विभजते— ज्ञानमिति । निमित्ताभावे संशयस्याऽऽभासत्वान्न निरस्यतेति मत्वा पृच्छति— कुत इति । तत्तदर्थावद्योतकानेकवाक्यदर्शनं तन्निमित्तमित्याह— यज्ज्ञात्वेति । कर्मणामवश्यकर्तव्यत्वोपलम्भात्तेभ्योऽपि निश्श्रेयसप्राप्तिर्भातीत्याह— कर्मण्येवेति । तथापि समुच्चयप्रापकं नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह— एवमिति । सत्यां सामग्र्यां कार्यमवश्यम्भावीत्युपसंहरति- इति भवेदिति । सन्दिग्धं सफलं च विचार्यमिति स्थितेरसति फले सन्दिग्धमपि न विचार्यमिति बुद्ध्या पृच्छति— किं पुनरिति । प्रत्येकं ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोर्वा मुक्तिं प्रति परमसाधनतेत्यवधारणमेव विचारफलमिति परिहरति- नन्विति । सन्देहप्रयोजनयोर्विचारप्रयोजकयोर्भावाद्विचारद्वारा परममुक्तिसाधनं निर्धारणीयमिति निगमयति— अत इति । एवं विचारमवतार्य सिद्धान्तं संगृह्णाति— आत्मेति ।

१ शां. भा.— क्रियाकारकफलभेदबुद्धिरविद्ययाऽऽत्मनि नित्यप्रवृत्ता ' मम कर्म, अहं कर्ता, अमुष्मै फलायेदं कर्म करिष्यामि ' इतीयमविद्याऽनादिकालप्रवृत्ता । अस्या अविद्याया निवर्तकं ' अयमहमस्मि, केवलोऽकर्ताऽक्रियोऽफलः, न मत्तोऽन्योऽस्ति कश्चित् ' इत्येवंरूपमात्मविषयं ज्ञानमुत्पद्यमानं कर्मप्रवृत्तिहेतुभूताया भेदबुद्धेर्निवर्तकत्वात् । तुशब्दः पक्षद्वयव्यावृत्त्यर्थः, न केवलेभ्यः कर्मभ्यः, न च ज्ञानकर्मभ्यां समुच्चिताभ्यां निश्श्रेयसप्राप्तिरिति पक्षद्वयं निवर्तयति । अकार्यत्वाच्च निश्श्रेयसस्य कर्मसाधनत्वानुपपत्तिः । न हि नित्यं वस्तु कर्मणा ज्ञानेन वा क्रियते ।

२ आ. शां. व्या.— सङ्ग्रहवाक्यं विवृण्वन्नादावात्मज्ञानापोह्यामविद्यां दर्शयति— क्रियेति । आश्रयोक्त्या तदनादित्वमाह- आत्मनीति । तामेवाविद्यामनाद्यविद्योत्थामनर्थात्मिकां प्रपञ्चयति— ममेति । अनाद्यविद्याकार्यत्वात् प्रवाहरूपेणानादित्वमस्या विवक्षित्वा विशिनष्टि— अनादीति । तत्र कारणाविद्यानिवर्तकत्वमात्मज्ञानस्योपन्यस्यति- अस्या इति । ननु नेदमुत्पन्नं ज्ञानं निवर्तयत्यविरोधेनोत्पन्नत्वात् , न चानुत्पन्नमलब्धात्मकस्यार्थक्रियाकारित्वाभावात्तत्राऽऽह- उत्पद्यमानमिति । कथं तस्य कारणाविद्यानिवर्तकत्वं ? इत्याशङ्क्य कार्याविद्यानिवर्तकत्वदृष्टेरित्याह— कर्मेति । आत्मज्ञानस्येत्यादिसङ्ग्रहवाक्ये तुशब्दद्योत्यविशेषाभावात्तदानर्थक्यमाशङ्क्याऽऽह— तुशब्द इति । पक्षद्वयव्यावर्तकत्वमेवास्य स्फुटयति— नेत्यादिना । इतश्च कर्मासाध्यता मुक्तेरित्याह— अकार्यत्वाच्चेति । "एष नित्यो महिमा" [ बृ.उ. ४।४।२३ ] इति श्रुतेर्नित्यत्वेन मोक्षस्याकार्यत्वान्न तत्र हेत्वपेक्षेत्युपपादयति— न हीति ।

१ शां. भा.— केवलज्ञानमप्यनर्थकं तर्हि ? न; अविद्यानिवर्तकत्वे सति दृष्टकैवल्यफलावसानत्वात् । अविद्यातमोनिवर्तकस्य ज्ञानस्य दृष्टं कैवल्यफलावसानत्वम् । रज्ज्वादिविषये सर्पाद्यज्ञानतमोनिवर्तकप्रदीपप्रकाशफलवत् । विनिवृत्तसर्पादिविकल्परज्जुकैवल्यावसानं हि प्रकाशफलं; तथा ज्ञानम् । दृष्टार्थानां च च्छिदिक्रियाग्निमन्थनादीनां व्यापृतकर्त्रादिकारकाणां द्वैधीभावाग्निदर्शनादिफलादन्यफले कर्मान्तरे व्यापारानुपपत्तिर्यथा, तथा ज्ञाननिष्ठाक्रियायां दृष्टार्थायां व्यापृतस्य ज्ञात्रादिकारकस्याऽऽत्मकैवल्यफलादन्यफले कर्मान्तरे प्रवृत्तिरनुपपन्नेति न ज्ञाननिष्ठा कर्मसहितोपपद्यते ।

२ आ. शां. व्या.— ज्ञानेनापि मोक्षो न क्रियते चेत्तर्हि केवलमपि ज्ञानं मुक्त्यनुपयुक्तमिति कुतस्तस्य तत्र हेतुत्वधीः ? इत्याशङ्कते— केवलेति । ज्ञानानर्थक्यं दूषयति— नेति । तदेव प्रपञ्चयति— अविद्येति । यदुक्तमविद्यानिवर्तकज्ञानस्य कैवल्यफलावसायित्वं दृष्टमिति तत्र दृष्टान्तमाह— रज्ज्वादीति। उक्ते विषये तमोनिवर्तकप्रकाशस्य कस्मिन्फले पर्यवसानं ? तत्राऽऽह— विनिवृत्तेति । प्रदीपप्रकाशस्य सर्पभ्रमनिवृत्तिद्वारा रज्जुमात्रे पर्यवसानवदात्मज्ञानस्यापि तदविद्यानिवृत्त्याऽऽत्मकैवल्यावसानमिति दार्ष्टान्तिकमाह— तथेति । ज्ञात्रादीनां ज्ञाननिष्ठाहेतूनां कर्मान्तरे प्रवृत्तिसम्भवात्कर्मसहितैव सा कैवल्यावसायिनीति चेत्तत्राऽऽह— दृष्टार्थानामिति ।

१ शां. भा.— भुज्यग्निहोत्रादिक्रियावत्स्यादिति चेत्, न; कैवल्यफले ज्ञाने क्रियाफलार्थित्वानुपपत्तेः । कैवल्यफले हि ज्ञाने प्राप्ते सर्वतस्सम्प्लुतोदके फले कूपतडागादिक्रियाफलार्थित्वाभाववत् फलान्तरे तत्साधनभूतायां वा क्रियायामर्थित्वानुपपत्तिः । नहि राज्यप्राप्तिफले कर्मणि व्यापृतस्य क्षेत्रमात्रप्राप्तिफले व्यापारोपपत्तिस्तद्विषयं चार्थित्वम् । तस्मान्न कर्मणोऽस्ति निश्श्रेयससाधनत्वम्, न च ज्ञानकर्मणोः समुच्चितयोः, नापि ज्ञानस्य कैवल्यफलस्य कर्मसाहाय्यापेक्षा, अविद्यानिवर्तकत्वेन विरोधात् ।

२ आ. शां. व्या.— कर्मसाहित्यं ज्ञाननिष्ठाया दृष्टान्तेन साधयन्नाशङ्कते— भुजीति । भुजिक्रियाया लौकिक्या वैदिक्याश्चाग्निहोत्रादिक्रियायाः सहानुष्ठानवदग्निहोत्रादिक्रियाया ज्ञाननिष्ठायाश्च साहित्यमित्यर्थः । भुजिफले तृप्त्याख्ये प्राप्तेऽपि स्वर्गादौ तद्धेतौ चाग्निहोत्रादावर्थित्वदृष्टेर्युक्तं तत्र साहित्यं, न तथा मुक्तिफलज्ञाननिष्ठालाभे स्वर्गादौ तद्धेतौ वा कर्मण्यर्थित्वं, तेन ज्ञाननिष्ठाकर्मणोर्न साहित्यमिति परिहरति— नेत्यादिना । सङ्ग्रहवाक्यं विवृणोति— कैवल्येति । ज्ञाने फलवति लब्धे फलान्तरे तद्धेतौ च नार्थितेत्यत्र दृष्टान्तमाह— सर्वत इति । सर्वत्र सम्प्लुतं व्याप्तमुदकमिति समुद्रोक्तिस्तत्फलं स्नानादि, तस्मिन्प्राप्ते न तडागादिनिर्माणक्रियायां तदधीने च स्नानादौ कस्यचिदर्थित्वं, तथा प्रकृतेऽपीत्यर्थः । निरतिशयफले ज्ञाने लब्धे सातिशयफले कर्मणि नार्थित्वमित्येतद्दृष्टान्तेन स्फुटयति— न हीति । कर्मणः सातिशयफलत्वमुक्तमुपजीव्य फलितमाह— तस्मान्नेति । ज्ञानकर्मणोः साहित्यासम्भवमपि पूर्वोक्तं निगमयति— न चेति। न हि प्रकाशतमसोरिव मिथो विरुद्धयोस्तयोः साक्षादेकस्मिन्फले साहित्यमित्यर्थः । ननु ज्ञानमेव मोक्षं साधयदात्मसहायत्वेन कर्मापेक्षते, करणस्योपकरणापेक्षत्वात्तत्राऽऽह— नापीति । ज्ञानमुत्पत्तौ यज्ञाद्यपेक्षमपि नोत्पन्नं फले तदपेक्षं स्वोत्पत्तिनान्तरीयकत्वेन मुक्तेस्तन्मात्रायत्तत्वादित्यर्थः । यदुक्तमितिकर्तव्यत्वेन ज्ञानं कर्मापेक्षमिति तत्राऽऽह— अविद्येति । ज्ञानस्याज्ञाननिवर्तकत्वात्तत्र कर्मणो विरुद्धतया सहकारित्वायोगान्न फले तदपेक्षेत्यर्थः ।

१ शां. भा.— नहि तमस्तमसो निवर्तकम्, अतः केवलमेव ज्ञानं निश्श्रेयससाधनमिति, न; नित्याकरणे प्रत्यवायप्राप्तेः, कैवल्यस्य च नित्यत्वात् । यत्तावत्केवलज्ञानात्कैवल्यप्राप्तिरित्येतत्तदसत् । यतो नित्यानां कर्मणां श्रुत्युक्तानामकरणे प्रत्यवायो नरकादिप्राप्तिलक्षणः स्यात् । नन्वेवं तर्हि कर्मभ्यो मोक्षो नास्तीत्यनिर्मोक्ष एव; नैष दोषः, नित्यत्वान्मोक्षस्य । नित्यानां कर्मणामनुष्ठानात्प्रत्यवायस्याप्राप्तिः । प्रतिषिद्धस्य चाकरणादनिष्टशरीरानुपपत्तिः । काम्यानां च वर्जनादिष्टशरीरानुपपत्तिः । वर्तमानशरीरारम्भकस्य च कर्मणः फलोपभोगक्षये पतितेऽस्मिञ्छरीरे देहान्तरोत्पत्तौ च कारणाभावादात्मनो रागादीनां चाकरणात्स्वरूपावस्थानमेव कैवल्यमित्ययत्नसिद्धं कैवल्यमिति ।

२ आ. शां. व्या.— कर्मणोऽपि ज्ञानवदज्ञाननिवर्तकत्वे कुतो विरुद्धता ? इत्याशङ्कयाऽऽह — नहीति । केवलस्य समुच्चितस्य वा कर्मणो मोक्षे साक्षादनन्वये फलितमाह—अत इति । केवलं ज्ञानं मुक्तिसाधनमित्युक्तं तन्निषेधयन्नाशङ्कते— नेत्यादिना । निषेध्यमनूद्य नञर्थमाह— यत्तावदिति। नित्याकरणे प्रत्यवायप्राप्तेरिति हेतुं प्रपञ्चयति— यत इति । ज्ञानवतोऽपि नित्यानुष्ठानस्याऽऽवश्यकत्वान्न केवलज्ञानस्य कैवल्यहेतुतेत्यर्थः । 'कैवल्यस्य च नित्यत्वात्' इत्यस्य व्यावर्त्यं दर्शयति— नन्विति। यदि नित्यनैमित्तिककर्माणि श्रौतान्यकरणे प्रत्यवायकारीण्यवश्यानुष्ठेयानि, एवं तर्हि तेभ्यः समुच्चितेभ्योऽसमुच्चितेभ्यश्च मोक्षो नेत्युक्तत्वात्केवलज्ञानस्य चातद्धेतुत्वादनिबन्धना मुक्तिर्न सिध्येदित्यर्थः । कैवल्यस्य चेत्यादि व्याकुर्वन्ननिर्मोक्षप्रसङ्गं प्रत्यादिशति— नैष दोष इति । मुक्तेर्नित्यत्वेनायत्नसिद्धेर्न तदभावशङ्केत्युक्तं प्रपञ्चयति— नित्यानामिति। काम्यकर्मवशादिष्टशरीरापत्तिं शङ्कित्वोक्तं— काम्यानां चेति । आरब्धकर्मवशात्तर्हि देहान्तरं नेत्याह — वर्तमानेति। तर्हि देहान्तरं शेषकर्मणा स्यादित्याशङ्क्य कर्माशयस्यैकभविकत्वान्नेत्याह— पतितेऽस्मिन्निति । रागादिना कर्मान्तरं ततो देहान्तरं च भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— रागादीनां चेति ।

१ शां. भा.— अतिक्रान्तानेकजन्मान्तरकृतस्य स्वर्गनरकादिप्राप्तिफलस्यानारब्धकार्यस्योपभोगानुपपत्तेः क्षयाभाव इति चेत्, न; नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखोपभोगस्य तत्फलोपभोगत्वोपपत्तेः। प्रायश्चित्तवद्वा पूर्वोपात्तदुरितक्षयार्थत्वान्नित्यकर्मणाम् । आरब्धानां चोपभोगेनैव कर्मणां क्षीणत्वादपूर्वाणां च कर्मणामनारम्भेऽयत्नसिद्धं कैवल्यमिति, न; " तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति, नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय " [श्वेता. ३।८+६।१५] इति विद्याया अन्यः पन्था मोक्षाय न विद्यते इति श्रुतेश्चर्मवदाकाशवेष्टनासम्भववदविदुषो मोक्षासम्भवश्रुतेः, ' ज्ञानात्कैवल्यमाप्नोति ' इति च पुराणस्मृतेः, अनारब्धफलानां पुण्यानां कर्मणां क्षयानुपपत्तेश्च ।

२ आ. शां. व्या.— आत्मनः स्वरूपावस्थानमिति सम्बन्धः । अतीतासङ्ख्यजन्मभेदेष्वर्जितस्य कर्मणो नानाफलस्यानारब्धस्य भोगेन विनाऽक्षयात्ततो देहान्तरारम्भादेकभविकत्वस्याप्रामाणिकत्वान्न मुक्तेरयत्नसिद्धतेति चोदयति- अतिक्रान्तेति । नोक्तकर्मनिमित्तं देहान्तरं शङ्कितव्यमित्याह— नेति । नित्यनैमित्तिककर्माणि श्रौतान्यवश्यमनुष्ठेयानि, तदनुष्ठाने च महानायासस्ततो दुःखोपभोगस्तस्योक्तानारब्धकर्मफलभोगत्वोपगमान्न ततो देहान्तरमित्याह— नित्येति । नित्यादिना दुरितनिवृत्तावप्यविरोधान्न सुकृतनिवृत्तिः, ततो देहान्तरमित्याशङ्क्य सुकृतस्य नित्यादेरन्यत्वेऽनारब्धत्वे च न्यायविरुद्धस्य तस्यासिद्धत्वात्ततो देहान्तरायोगान्नित्यादेरनन्यत्वे च न तस्य फलान्तरमिति मत्वा यथा प्रायश्चित्तमुपात्तदुरितनिबर्हणार्थं, न फलान्तरापेक्षं; तथेदं सर्वमपि नित्यादिकर्मोपात्तपापनिराकरणार्थं तस्मिन्नेव पर्यवस्यन्न देहान्तरारम्भकमिति पक्षान्तरमाह— प्रायश्चित्तवदिति । तथापि प्रारब्धवशादेव देहान्तरं शङ्क्यते, नानाजन्मारम्भकाणामपि तेषां यावदधिकारन्यायेन सम्भवादित्याशङ्क्याऽऽह— आरब्धानां चेति । पूर्वार्जितकर्मणामेवं क्षीणत्वेऽपि कानिचिदपूर्वकर्माणि देहान्तरमारभेरन्नित्याशङ्क्याऽऽह— अपूर्वाणां चेति । विना ज्ञानं कर्मणैव मुक्तिरिति पक्षं श्रुत्यवष्टम्भेन निराचष्टे— नेत्यादिना । " विद्यतेऽयनाय " इति श्रुतेरिति सम्बन्धः। एवकारार्थं विवृण्वन्नेत्यादिभागं व्याकरोति— अन्य इति । " यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति " [श्वे. उ. ६।२०] इति श्रुतिमर्थतोऽनुवदति- चर्मवदिति । श्रौतार्थे स्मृतिं संवादयति- ज्ञानादिति । किञ्च त्वदीयन्यायस्यानुग्राह्यमानहीनत्वेनाऽऽभासतया पुण्यकर्मणामनारब्धफलानां क्षयाभावे देहान्तरारम्भसम्भवान्न ज्ञानं विना मुक्तिरित्याह— अनारब्धेति ।

१ शां. भा.— यथा पूर्वोपात्तानां दुरितानामनारब्धफलानां सम्भवस्तथा पुण्यानामप्यनारब्धफलानां स्यात्सम्भवः । तेषां च देहान्तरमकृत्वा क्षयानुपपत्तौ मोक्षानुपपत्तिः । धर्माधर्महेतूनां च रागद्वेषमोहानामन्यत्राऽऽत्मज्ञानादुच्छेदानुपपत्तेर्धर्माधर्मोच्छेदानुपपत्तिः । नित्यानां च कर्मणां पुण्यलोकफलश्रुतेः ' वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः ' [ गौ. ध. सू. ११।२९ ] इत्यादिस्मृतेश्च कर्मक्षयानुपपत्तिः । ये त्वाहुर्नित्यानि कर्माणि दुःखरूपत्वात्पूर्वकृतदुरितकर्मणां फलमेव, न तु तेषां स्वरूपव्यतिरेकेणान्यत्फलमस्ति, अश्रुतत्वाज्जीवनादिनिमित्ते च विधानादिति । न; अप्रवृत्तानां कर्मणां फलदानासम्भवात्, दुःखफलविशेषानुपपत्तिश्च स्यात् ।

२ आ. शां. व्या.— तथाविधानां कर्मणां नास्ति सम्भावनेत्याशङ्क्याऽऽह— यथेति । अनारब्धफलपुण्यकर्माभावेऽपि कथं मोक्षानुपपत्तिः ? इति तत्राऽऽह- तेषां चेति । इतश्च कर्मक्षयानुपपत्त्या मोक्षानुपपत्तिरित्याह— धर्मेति । " कर्मणा पितृलोकः " [ बृ. उ. १।५।१६ ] इति श्रुतिमाश्रित्य कर्माक्षये हेत्वन्तरमाह— नित्यानामिति । स्मृत्याऽपि यथोक्तमर्थं समर्थयति— वर्णा इति । प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टजात्यादिभाजो जन्म प्रतिपद्यन्त इत्येतदादिपदार्थः । यत्तु नित्यानुष्ठानायासदुःखभोगस्य तत्फलभोगत्वमिति तदिदानीमनुवदति- ये त्विति । नित्यान्यनुष्ठीयमानान्यायासपर्यन्तानीति शेषः । तथापि नित्यानां काम्यानामिव स्वरूपातिरिक्तं फलमाशङ्क्य विध्युद्देशे तदश्रवणान्नैवमित्याह— न त्विति। विध्युद्देशे फलाश्रुतौ तत्कामनाया निमित्तस्याभावान्न नित्यानि विधीयेरन्नित्याशङ्क्याऽऽह— जीवनादीति । न नित्यानां विध्यसिद्धिरिति शेषः । अनुभाषितं दूषयति— नेत्यादिना ।

१ शां. भा.— यदुक्तं पूर्वजन्मकृतदुरितानां कर्मणां फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं भुज्यत इति, तदसत् । न हि मरणकाले फलदानायानङ्कुरीभूतस्य कर्मणः फलमन्यकर्मारब्धे जन्मन्युपभुज्यते

इत्युपपत्तिः । अन्यथा स्वर्गफलोपभोगायाग्निहोत्रादिकर्मारब्धे जन्मनि नरककर्मफलोपभोगानुपपत्तिर्न स्यात्, तस्य दुरितदुःखविशेषफलत्वानुपपत्तेश्च । अनेकेषु हि दुरितेषु सम्भवत्सु भिन्नदुःखसाधनफलेषु नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमात्रफलेषु कल्प्यमानेषु द्वन्द्वरोगादिबाधनं निर्निमित्तं न हि शक्यते कल्पयितुं, नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमेव पूर्वोपात्तदुरितफलं, न शिरसा पाषाणवहनादिदुःखमिति ।

२ आ. शां. व्या.— तदेव विवृण्वन्निषेध्यमनूद्य नञर्थमाह— **यदुक्तमिति** । अप्रवृत्तानामित्यादिहेतुं प्रपञ्चयति— **न हीति** । कर्मान्तरारब्धेऽपि देहे दुरितफलं नित्यानुष्ठानायासदुःखं भुज्यतां काऽनुपपत्तिः? इत्याशङ्क्याऽऽह— **अन्यथेति** । यदुक्तं दुःखफलविशेषानुपपत्तिश्च स्यादिति तदुपपादयति— **तस्येति** । सम्भावितानि तावदनन्तानि सञ्चितानि दुरितानि तानि च नानादुःखफलानि यदि तानि नित्यानुष्ठानायासरूपं दुःखं तन्मात्रफलानि कल्पयेरंस्तदा तेष्वेवं कल्प्यमानेषु सत्सु नित्यस्यानुष्ठितस्याऽऽयासमासादयतो यो दुरितकृतो दुःखविशेषो न तत्फलं, दुरितफलानां दुःखानां बहुत्वात्; अतो नित्यं कर्म यथाविशेषितं दुरितकृतदुःखविशेषफलकमित्ययुक्तमित्यर्थः। किञ्च नित्यानुष्ठानायासदुःखमात्रफलानि चेद्दुरितानि कल्प्यन्ते तदा द्वन्द्वशब्दितरागादिबाधस्य रोगादिबाधायाश्च दुरितनिमित्तत्वानुपपत्तेः सुकृतकृतत्वस्य चासम्भवादनुपपत्तिरेवोदीरितबाधायाः स्यादित्याह— **द्वन्द्वेति** । इतश्च नित्यानुष्ठानायासदुःखमेव दुरितफलमित्ययुक्तमित्याह— **नित्येति** । दुःखमिति न शक्यते कल्पयितुमिति पूर्वेण सम्बन्धः । यदि तदेव तत्फलं न तर्हि शिरसा पाषाणवहनादिदुःखं दुरितकृतं, न च तत्कारणं सुकृतं दुःखस्यातत्कार्यत्वादतस्तदाकस्मिकं स्यादित्यर्थः ।

**१ शां. भा.**— अप्रकृतं चेदमुच्यते नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं पूर्वकृतदुरितकर्मफलमिति । कथम्? अप्रसूतफलस्य हि पूर्वकृतदुरितस्य क्षयो नोपपद्यत इति प्रकृतं तत्र प्रसूतफलस्य कर्मणः फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमाह भवान्, नाप्रसूतफलस्येति । अथ सर्वमेव पूर्वकृतं दुरितं प्रसूतफलमेवेति मन्यते भवांस्ततो नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखमेव फलमिति विशेषणमयुक्तं, नित्यकर्मविध्यानर्थक्यप्रसङ्गश्चोपभोगेनैव प्रसूतफलस्य दुरितकर्मणः क्षयोपपत्तेः । किञ्च श्रुतस्य नित्यस्य दुःखं कर्मणश्चेत्फलं नित्यकर्मानुष्ठानायासादेव तद्दृश्यते व्यायामादिवत्तदन्यस्येति कल्पनानुपपत्तिः । जीवनादिनिमित्ते च विधानान्नित्यानां कर्मणाम् प्रायश्चित्तवत्पूर्वकृतदुरितफलत्वानुपपत्तिः । यस्मिन्पापकर्मनिमित्ते यद्विहितं प्रायश्चित्तं, न तु तस्य पापस्य तत्फलम् । अथ तस्यैव पापस्य निमित्तस्य प्रायश्चित्तदुःखं फलं जीवनादिनिमित्तमपि नित्यकर्मानुष्ठानायासदुःखं जीवनादिनिमित्तस्यैव तत्फलं प्रसज्येत । नित्यप्रायश्चित्तयोर्नैमित्तिकत्वाविशेषात् ।

२ आ. शां. व्या.— नित्यानुष्ठानायासदुःखमुपात्तदुरितफलमित्येतदप्रकृतत्वान्नायुक्तं वक्तुमित्याह— **अप्रकृतं चेति** । तदेव प्रपञ्चयितुं पृच्छति— **कथमिति** । तत्राऽऽदौ प्रकृतमाह— **अप्रसूतेति** । तथापि कथमस्माकमप्रकृतवादित्वं? तत्राऽऽह— **तत्रेति** । प्रसुतफलत्वमप्रसुतफलत्वमिति प्राचीनदुरितगतविशेषानुपगमादविशेषेण सर्वस्यैव तस्य प्रसुतफलत्वान्नित्यानुष्ठानायासदुःखफलत्वसम्भवान्नाप्रकृतवादितेति शङ्कते— **अथेति** । पूर्वोपात्तदुरितस्याविशेषेणाऽऽरब्धफलत्वे विशेषणानर्थक्यमिति परिहरति— **तत इति** । दुरितमात्रस्याऽऽरब्धफलत्वेनानारब्धफलस्य तस्योक्तफलविशेषवत्त्वानुपपत्तेरित्यर्थः । पूर्वोपात्तदुरितमारब्धफलं चेद्भोगेनैव तत्क्षयसम्भवात्तन्निवृत्त्यर्थं नित्यं कर्म न विधातव्यमिति दोषान्तरमाह— **नित्येति** । इतश्च नित्यानुष्ठानायासदुःखं नोपात्तदुरितफलमित्याह— **किञ्चेति** । तदेव स्फोरयति— **श्रुतस्येति** । यथा व्यायामगमनादिकृतं दुःखं नान्यस्य दुरितस्येष्यते तत्फलत्वसम्भवात्; तथा नित्यस्यापि श्रुत्युक्तस्यानुष्ठितस्याऽऽयासपर्यन्तस्य फलान्तरानुपगमादनुष्ठानायासदुःखमेव चेत्फलं तर्हि तस्मादेव तद्दर्शनात्तस्य न दुरितफलत्वं कल्प्यं, नित्यफलत्वसम्भवादित्यर्थः । दुःखफलत्वे नित्यानामननुष्ठानमेव श्रेयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह— **जीवनादीति** । नित्यानां दुरितफलत्वानुपपत्तौ हेत्वन्तरमाह— **प्रायश्चित्तवदिति** । दृष्टान्तं प्रपञ्चयति— **यस्मिन्निति** । तथा जीवनादिनिमित्ते विहितानां नित्यानां दुरितफलत्वासिद्धिरिति शेषः । सत्यं प्रायश्चित्तं न निमित्तस्य पापस्य फलं, किन्तु तदनुष्ठानायासदुःखं तस्य पापस्य फलमिति शङ्कते— **अथेति** । प्रायश्चित्तानुष्ठानायासदुःखस्य निमित्तभूतपापफलत्वे जीवनादिनिमित्तमित्याद्यनुष्ठानायासदुःखमपि जीवनादेरेव फलं स्यात्, नोपात्तदुरितस्येति परिहरति— **जीवनादीति** । प्रायश्चित्तदुःखस्य तन्निमित्तपापफलत्ववज्जीवनादिनिमित्तकर्मकृतमपि दुःखं जीवनादिफलमित्यत्र हेतुमाह— **नित्येति** ।

**१ शां. भा.—** किञ्चान्यन्नित्यस्य काम्यस्य चाग्निहोत्रादेरनुष्ठानायासदुःखस्य तुल्यत्वान्नित्यानुष्ठानायासदुःखमेव पूर्वकृतदुरितस्य फलं, न तु काम्यानुष्ठानायासदुःखमिति विशेषो नास्तीति तदपि पूर्वकृतदुरितफलं प्रसज्येत । तथा च सति नित्यानां फलाश्रवणात्तद्विधानान्यथानुपपत्तेश्च नित्यानुष्ठानायासदुःखं पूर्वकृतदुरितफलमित्यर्थापत्तिकल्पनाऽनुपपन्ना । एवं विधानान्यथानुपपत्तेरनुष्ठानायासदुःखव्यतिरिक्तफलत्वानुमानाच्च नित्यानाम्, विरोधाच्च । विरुद्धं चेदमुच्यते नित्यकर्मण्यनुष्ठीयमानेऽन्यस्य कर्मणः फलं भुज्यत इत्यभ्युपगम्यमाने स एवोपभोगो नित्यस्य यत्कर्मणः फलमिति, नित्यस्य कर्मणः फलाभाव इति च विरुद्धमुच्यते । किञ्च काम्याग्निहोत्रादावनुष्ठीयमाने नित्यमप्यग्निहोत्रादि तन्त्रेणैवानुष्ठितं भवतीति तदायासदुःखेनैव काम्याग्निहोत्रादिफलमुपक्षीणं स्यात्, तत्तन्त्रत्वात् ।

**२ आ. शां. व्या.—** इतश्च नित्यानुष्ठानायासदुःखमेवोपात्तदुरितफलमित्यशक्यं वक्तुमित्याह— **किञ्चान्यदि**ति । काम्यानुष्ठानायासदुःखमपि दुरितफलमित्युपगमात्प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्याऽऽह– **तथा चे**ति । विहितानि तावन्नित्यानि, न च तेषु फलं श्रुतं, न च विना फलं विधिः, तेन दुरितनिबर्हणार्थानि नित्यानीत्यर्थापत्त्या कल्प्यते, न च सा युक्ता, काम्यानुष्ठानादपि दुरितनिवृत्तिसम्भवादित्यर्थः । किञ्च नित्यान्यनुष्ठानायासदुःखातिरिक्तफलानि विहितत्वात्काम्यवदित्यनुमानान्न तेषां दुरितनिवृत्त्यर्थतेत्याह— **एवमि**ति । काम्यादिकर्म दृष्टान्तयितुमेवमित्युक्तम् । स्वोक्तिव्याघाताच्च नित्यानुष्ठानाद्दुरितफलभोगोक्तिरयुक्तेत्याह— **विरोधाच्चे**ति । तदेव प्रपञ्चयति— **विरुद्धं चे**ति । इदंशब्दार्थमेव विशदयति— **नित्ये**ति । अन्यस्य कर्मणो दुरितस्येति यावत् । **स एवे**ति । यदनन्तरं यद्भवति तत्तस्य कार्यमिति नियमादित्यर्थः । इतश्च नित्यानुष्ठाने दुरितफलभोगो न सिध्यतीत्याह— **किञ्चे**ति । काम्यानुष्ठानस्य नित्यानुष्ठानस्य च यौगपद्यान्नित्यानुष्ठानायासदुःखेन दुरितफलभोगवत्काम्यफलस्यापि भुक्तत्वसम्भवादिति हेतुमाह— **तत्तन्त्रत्वादि**ति ।

**१ शां. भा.—** अथ काम्याग्निहोत्रादिफलमन्यदेव, स्वर्गादि तदनुष्ठानायासदुःखमपि भिन्नं प्रसज्येत । न च तदस्ति, दृष्टविरोधात् । न हि काम्यानुष्ठानायासदुःखात् केवलनित्यानुष्ठानायासदुःखं भिद्यते । किञ्चान्यत्– अविहितमप्रतिषिद्धं च कर्म तत्कालफलं, न तु शास्त्रचोदितं प्रतिषिद्धं वा तत्कालफलम् । भवेद्यदि तदा स्वर्गादिष्वप्यदृष्टफलशासने चोद्यमो न स्यात् । अग्निहोत्रादीनामेव कर्मस्वरूपाविशेषेऽनुष्ठानायासदुःखमात्रेणोपक्षयः नित्यानाम्; काम्यानां च स्वर्गादिमहाफलत्वमङ्गेतिकर्तव्यताद्याधिक्ये त्वसति फलकामित्वमात्रेणेति न शक्यं कल्पयितुम् ।

**२ आ. शां. व्या.—** नित्यकाम्यानुष्ठानयोर्यौगपद्येऽपि नित्यानुष्ठानायासदुःखादन्यदेव काम्यानुष्ठानफलं श्रुतत्वादिति शङ्कते— **अथे**ति । काम्यानुष्ठानफलं नित्यानुष्ठानायासदुःखाद्भिन्नं चेत्तर्हि काम्यानुष्ठानायासदुःखं नित्यानुष्ठानायासदुःखं च मिथो भिन्नं स्यादित्याह— **तदनुष्ठाने**ति । प्रसङ्गस्येष्टत्वमाशङ्क्य निराचष्टे— **न चे**ति । दृष्टविरोधमेव स्पष्टयति— **न ही**ति । आत्मज्ञानवदग्निहोत्रादीनां मोक्षे साक्षादन्वयो नेत्यत्रान्यदपि कारणमस्तीत्याह— **किञ्चान्यदि**ति । तदेव कारणं विवृणोति— **अविहितमि**ति । यत्कर्म मर्दनभोजनादि तन्न शास्त्रेण विहितं निषिद्धं वा, तदनन्तरफलं तथाऽनुभवादित्यर्थः । शास्त्रीयं कर्म तु नानन्तरफलम्, आनन्तर्यस्याचोदितत्वात्, अतो ज्ञाने दृष्टफले नादृष्टफलं कर्म सहकारि भवति, नापि स्वयमेव दृष्टफले मोक्षे कर्म प्रवृत्तिक्षयमिति विवक्षित्वाऽऽह— **न ह्वि**ति । शास्त्रीयस्याग्निहोत्रादेरपि फलानन्तर्ये स्वर्गादीनामनन्तरमनुपलब्धिर्विरुध्येत ततस्तेष्वदृष्टेऽपि तथाविधफलापेक्षया प्रवृत्तिरग्निहोत्रादिषु न स्यादित्याह— **तदे**ति । किञ्च नित्यानामग्निहोत्रादीनां नादृष्टं फलं तेषामेव काम्यानां तादृक्फलं, न च हेतुं विनाऽयं विभागो भावीत्याह– **अग्निहोत्रादीनामि**ति । **फलकामित्वमात्रेणे**ति । न स्यादिति पूर्वेण सम्बन्धः । यानि नित्यान्यग्निहोत्रादीनि यानि च काम्यानि तेषामुभयेषामेव कर्मस्वरूपविशेषाभावेऽपि नित्यानां तेषामनुष्ठानायासदुःखमात्रेण क्षयो न फलान्तरमस्ति, तेषामेव काम्यानामङ्गाद्याधिक्याभावेऽपि फलकामित्वमधिकारिण्यस्तीत्येतावन्मात्रेण स्वर्गादिमहाफलत्वमित्ययं विभागो न प्रमाणवानित्यर्थः ।

**१ शां. भा.—** तस्माच्च न नित्यानां कर्मणामदृष्टफलाभावः कदाचिदप्युपपद्यते । अतश्चाविद्यापूर्वकस्य कर्मणो विद्यैव शुभस्याशुभस्य वा क्षयकारणमशेषतः, न नित्यकर्मानुष्ठानम् । अविद्याकाम-

बीजं हि सर्वमेव कर्म । तथाचोपपादितं अविद्वद्विषयं कर्म, विद्वद्विषया च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठा । 'उभौ तौ न विजानीतः' [ २।१९ ] 'वेदाविनाशिनं नित्यम्' [ २।२१ ] 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] 'अज्ञानां कर्मसङ्गिनां' [ ३।२६ ] 'तत्त्ववित्तु... गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते' [ ३।२८ ] 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्याऽऽस्ते' [ ५।१३ ] 'नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्' [ ५।८ ] अर्थादज्ञः करोमीति । 'आरुरुक्षोः कर्म कारणमारूढस्य योगस्थस्य शम एव कारणम्' [ ६।४ ] उदारास्त्रयोऽप्यज्ञाः 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्' [ ७ । १८ ] अज्ञाः कर्मिणः 'गतागतं कामकामा लभन्ते' [ ९ । २१ ] 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां नित्ययुक्ता यथोक्तमात्मानमाकाशकल्पमकल्मषमुपासते' [ ९।२२ ] 'ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते' [ १०।१० ] अर्थान्न कर्मिणोऽज्ञा उपयान्ति ।

२ आ. शां. व्या.— उक्तविभागायोगे फलितमाह— **तस्मान्न**ेति । काम्यवन्नित्यानामपि पितृलोकाद्यदृष्टफलवत्त्वे दुरितनिवृत्त्यर्थत्वायोगात् तादर्थ्येनाऽऽत्मविद्यैवाभ्युपगन्तव्येत्याह— **अतश्च**ेति । शुभाशुभात्मकं कर्म सर्वमविद्यापूर्वकं चेदशेषतस्तर्हि तस्य क्षयकारणं विद्येत्युपपद्यते, न तु सर्वं कर्माविद्यापूर्वकमिति सिद्धमित्याशङ्क्याऽऽह— **अविद्य**ेति । तत्र हिशब्दद्योतितां युक्तिं दर्शयति— **तथ**ेति । इतश्चाविद्वद्विषयं कर्मेत्याह— **अविद्वद्**िति । अधिकारिभेदेन निष्ठाद्वयमित्यत्र वाक्योपक्रममनुकूलयन्नात्मनि कर्तृत्वं कर्मत्वं चाऽऽरोपयन्न जानात्यात्मानमिति वदता कर्माज्ञानमूलमिति दर्शितमित्याह— **उभाव**िति । आत्मानं याथातथ्येन जानन् कर्तृत्वादिरहितो भवतीति ब्रुवता कर्मसन्न्यासे ज्ञानवतोऽधिकारित्वं सूचितमित्याह— **वेद**ेति । निष्ठाद्वयमधिकारिभेदेन बोद्धव्यमित्यत्रैव वाक्यान्तरमाह— **ज्ञान**ेति । 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां' [ ३ । २६ ] इत्यत्र चाविद्यामूलत्वं कर्मणः सूचयता कर्मनिष्ठाऽविद्वद्विषयाऽनुमोदितेत्याह— **अज्ञानाम**िति । यदुक्तं विद्वद्विषया सन्न्यासपूर्विकाज्ञाननिष्ठेति तत्र 'तत्त्ववित्तु महाबाहो ! गुणकर्मविभागयोः' [ ३।२८ ] इत्यादि वाक्यमुदाहरति— **तत्त्ववित्त्व**िति । तत्रैव वाक्यान्तरं पठति— **सर्व**ेति । विदुषो ज्ञाननिष्ठेत्यत्रैव पाञ्चमिकं वाक्यान्तरमाह— **नैव**ेति । तत्रैवार्थसिद्धमर्थं कथयति— **अज्ञ** इति । मन्यत इति सम्बन्धः । अज्ञस्य चित्तशुद्ध्यर्थं कर्म शुद्धचित्तस्य कर्मसन्न्यासो ज्ञानप्राप्तौ हेतुरित्यत्र वाक्यान्तरमाह— **आरुरुक्षो**रिति । यथोक्ते विभागे साप्तमिकं वाक्यमनुगुणमित्याह— **उदारा** इति । 'एवं त्रयीधर्मं' इत्यादि नावमिकं [ २१ ] वाक्यमविद्वद्विषयं कर्मेत्यत्र प्रमाणयति— **अज्ञा** इति । विदुषः सन्न्यासपूर्विका ज्ञाननिष्ठेत्यत्रैव नावमिकं वाक्यान्तरमाह— **अनन्या** इति । मामित्येतद्व्याचष्टे— **यथोक्त**मिति । 'तेषां सततयुक्तानां' [ १० ] इत्यादि दाशमिकं वाक्यं तत्रैव प्रमाणयति— **ददाम**ीति । विद्यावतामेव भगवत्प्राप्तिनिर्देशादितरेषां तदप्राप्तिः सूचितेत्यर्थसिद्धमर्थमाह— **अर्थाद्**िति ।

१ शां. भा.— भगवत्कर्मकारिणो ये युक्ततमा अपि कर्मिणोऽज्ञास्त उत्तरोत्तरहीनफलत्यागावसानसाधनाः । अनिर्देश्याक्षरोपासकास्तु 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां' इत्याद्यध्यायपरिसमाप्त्युक्तसाधनाः [ १२।१३–२० ] क्षेत्राध्यायाद्यध्यायत्रयोक्तज्ञानसाधनाश्च । अधिष्ठानादिपञ्चहेतुकसर्वकर्मसन्न्यासिनामात्मैकत्वाकर्तृत्वज्ञानवतां परस्यां ज्ञाननिष्ठायां वर्तमानानां भगवत्तत्त्वविदामनिष्टादिकर्मफलत्रयं परमहंसपरिव्राजकानामेव लब्धभगवत्स्वरूपात्मैकत्वशरणानां न भवति; भवत्येवान्येषामज्ञानां कर्मिणामसन्न्यासिनामित्येष गीताशास्त्रोक्तस्य कर्तव्याकर्तव्यार्थस्य विभागः । अविद्यापूर्वकत्वं सर्वस्य कर्मणोऽसिद्धमिति चेत्, न; ब्रह्महत्यादिवत् । यद्यपि शास्त्रावगतं नित्यं कर्म तथाप्यविद्यावत एव भवति ।

२ आ. शां. व्या.— ननु भगवत्कर्मकारिणां युक्ततमत्वात् कर्मिणोऽपि भगवन्तं यान्तीत्याशङ्क्याऽऽह— **भगवद्**िति । ये 'मत्कर्मकृत्' [ ११।५५ ] इत्यादिन्यायेन भगवत्कर्मकारिणस्ते यद्यपि युक्ततमास्तथापि कर्मिणोऽज्ञाः सन्तो न भगवन्तं सहसा गन्तुमर्हन्तीत्यर्थः । तेषामज्ञत्वे गमकं दर्शयति— **उत्तरोत्तर**ेति । चित्तसमाधानमारभ्य फलत्यागपर्यन्तं पाठक्रमेणोत्तरोत्तरं हीनसाधनोपादानादभ्यासासमर्थस्य भगवत्कर्मकारित्वाभिधानाद्भगवत्कर्मकारिणामज्ञत्वं विज्ञातमित्यर्थः । 'ये त्वक्षरमनिर्देश्यं' [ १२।३ ] इत्यादिवाक्यावष्टम्भेन विद्वद्विषयत्वं सन्न्यासपूर्वकज्ञाननिष्ठाया निर्धारयति— **अनिर्देश्य**ेति । उक्तसाधनास्तेन ते सन्न्यासपूर्वकज्ञाननिष्ठायामधिक्रियेरन्निति शेषः । किञ्च त्रयोदशे यानि 'अमानित्वादीनि' [ ८–१२ ] चतुर्दशे च 'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च' [ २२–२६ ] इत्यादीनि यानि पञ्चदशे च यानि

असङ्गत्वादीनि [श्लो. ३;५] उक्तानि तैः सर्वैः साधनैः सहिता भवन्त्यनिर्देश्याक्षरोपासकास्ततोऽपि ते ज्ञाननिष्ठायामेवाधिक्रियेरन्नित्याह— **क्षेत्रे**ति। निष्ठाद्वयमधिकारिभेदेन प्रतिष्ठाप्य ज्ञाननिष्ठानामनिष्टमिष्टं मिश्रमिति त्रिविधं कर्मफलं न भवति, किन्तु मुक्तिरेव; कर्मनिष्ठानां तु त्रिविधं कर्मफलं, न मुक्तिरिति शास्त्रार्थविभागमभिप्रेतमुपसंहरति— **अधिष्ठानादी**ति। यदुक्तमविद्याकामबीजं सर्वं कर्मेति तत्र शास्त्रावगतस्य कर्मणः, अविद्यापूर्वकत्वानुपपत्तेरित्याक्षिपति— **अविद्ये**ति। दृष्टान्तेन समाधत्ते— **ने**ति। तत्राभिमतां प्रतिज्ञां विभजते— **यद्यपी**ति।

**१ शां. भा.—** यथा प्रतिषेधशास्त्रावगतमपि ब्रह्महत्यादिलक्षणं कर्म अनर्थकारणमविद्याकामादिदोषवतो भवति, अन्यथा प्रवृत्त्यनुपपत्तेः तथा नित्यनैमित्तिककाम्यान्यपीति। [देह-]व्यतिरिक्तात्मन्यज्ञाते प्रवृत्तिर्नित्यादिकर्मस्वनुपपन्नेति चेत्, न; चलनात्मकस्य कर्मणोऽनात्मकर्तृकस्य 'अहं करोमि' इति प्रवृत्तिदर्शनात्। देहादिसङ्घातेऽहम्प्रत्ययो गौणः, न मिथ्येति चेत्, न; तत्कार्येष्वपि गौणत्वोपपत्तेः। आत्मीये देहादिसङ्घातेऽहम्प्रत्ययो गौणः, यथाऽऽत्मीये पुत्रे 'आत्मा वै पुत्र नामासि' [तै. सं. २।११+कौ. उ. २।११] इति। लोके चापि 'मम प्राण एवायं गौः' इति तद्वत्।

**२ आ. शां. व्या.—** उक्तं दृष्टान्तं व्याचष्टे— **यथे**ति। अविद्यादिमतो ब्रह्महत्यादि कर्मेत्यत्र हेतुमाह— **अन्यथे**ति। दार्ष्टान्तिकं गृह्णाति— **तथे**ति। तान्यप्यविद्यादिमतो भवन्तीत्यविद्यादिपूर्वकत्वं तेषामेषितव्यमित्यर्थः। पारलौकिककर्मसु देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानं विना प्रवृत्त्ययोगान्न तेषामविद्यापूर्वकतेति शङ्कते— **व्यतिरिक्ते**ति। सत्यपि व्यतिरिक्तात्मज्ञाने पारमार्थिकात्मज्ञानाभावान्मिथ्याज्ञानादेव नित्यादिकर्मसु प्रवृत्तेरविद्यापूर्वकत्वं तेषामप्रतिहतमिति परिहरति— **नेत्या**दिना। कर्मणश्चलनात्मकत्वान्नाऽऽत्मकर्तृकत्वं, तस्य निष्क्रियत्वात्; देहादिसङ्घातस्य तु सक्रियत्वात्तत्कर्तृकं कर्म युक्तं, तथापि सङ्घातेऽहमभिमानद्वाराऽहं करोमीत्यात्मनो मिथ्याधीपूर्विका कर्मणि प्रवृत्तिर्दृष्टा, तेनाविद्यापूर्वकत्वं तस्य युक्तमित्यर्थः। यदुक्तं देहादिसङ्घातेऽहमभिमानस्य मिथ्याज्ञानत्वं तदाक्षिपति— **देहादी**ति। अहन्धियो गौणत्वे तत्पूर्वककर्मस्वपि गौणत्वापत्तेरात्मनोऽनर्थाभावात्तन्निवृत्त्यर्थं हेत्वन्वेषणं न स्यादिति दूषयति— **ने**ति। एतदेव प्रपञ्चयन्नादौ चोद्यं प्रपञ्चयति— **आत्मीय** इति। तत्र श्रुत्यवष्टम्भेन दृष्टान्तमाह— **यथे**ति। दर्शितश्रुतेरात्मीये पुत्रेऽहम्प्रत्ययो गौणो यथा सङ्घातेऽप्यात्मीयेऽहम्प्रत्ययस्तथा युक्त इत्यर्थः। भेदधीपूर्वकत्वं गौणधियो लोके प्रसिद्धमित्याह— **लोके** चेति। लोकवेदानुरोधेनाऽऽत्मीये सङ्घातेऽहन्धीरपि गौणी स्यादिति दार्ष्टान्तिकमाह— **तद्वदि**ति।

**१ शां. भा.—** नैवायं मिथ्याप्रत्ययः, मिथ्याप्रत्ययस्तु स्थाणुपुरुषयोरगृह्यमाणविशेषयोः। न गौणप्रत्ययस्य मुख्यकार्यार्थत्वं, अधिकरणस्तुत्यर्थत्वाल्लुप्तोपमाशब्देन। यथा 'सिंहो देवदत्तोऽग्निर्माणवकः' इति सिंह इवाग्निरिव क्रौर्यपैङ्गल्यादिसामान्यवत्त्वाद्देवदत्तमाणवकाधिकरणस्तुत्यर्थमेव, न तु सिंहकार्यमग्निकार्यं वा गौणशब्दप्रत्ययनिमित्तं किञ्चित्साध्यते; मिथ्याप्रत्ययकार्यं त्वनर्थमनुभवति। गौणप्रत्ययविषयं च जानाति 'नैष सिंहो देवदत्तः स्यात्' 'नायमग्निर्माणवकः' इति। तथा गौणेन देहादिसङ्घातेनाऽऽत्मना कृतं कर्म न मुख्येनाहम्प्रत्ययविषयेणाऽऽत्मना कृतं स्यात्। न हि गौणसिंहाग्निभ्यां कृतं कर्म मुख्यसिंहाग्निभ्यां कृतं स्यात्। न च क्रौर्येण पैङ्गल्येन वा मुख्यसिंहाग्न्योः कार्यं किञ्चित्क्रियते, स्तुत्यर्थत्वेनोपक्षीणत्वात्। स्तूयमानौ च जानीतः 'नाहं सिंहः' 'नाहमग्निः' इति। 'न हि सिंहस्य कर्म ममाग्नेश्च' इति तथा 'न सङ्घातस्य कर्म मम मुख्यस्याऽऽत्मनः' इति प्रत्ययो युक्ततरः स्यात्, 'न पुनरहं कर्ता, मम कर्म' इति।

**२ आ. शां. व्या.—** मिथ्याधियोऽपि भेदधीपूर्वकत्वसम्भवादात्मीये सङ्घातेऽहन्धियो मिथ्यात्वमेव किं न स्यात्? इत्याशङ्क्याऽऽह— **नैवायमि**ति। भेदधीपूर्वकत्वाभावे कथं मिथ्याधीरुदेति? इत्याशङ्क्याऽऽह— **मिथ्ये**ति। अधिष्ठानारोप्ययोर्विवेकाग्रहात्तदुत्पत्तिरित्यर्थः। देहादावहन्धियो गौणतेति चोद्ये विवृते तत्कार्येष्वपि इत्यादिपरिहारं विवृणोति— **नेत्या**दिना। हेतुभागं विभजते— **यथे**ति। 'सिंहो देवदत्तः' इति वाक्यं 'देवदत्तः सिंह इव' इत्युपमया देवदत्तं क्रौर्याद्यधिकरणं स्तोतुं प्रवृत्तं; 'अग्निर्माणवकः' इत्यपि वाक्यं 'माणवकोऽग्निः' इवेत्युपमया माणवकस्य पैङ्गल्याधिकरणस्य स्तुत्यर्थमेव; न तथा 'मनुष्योऽहं' इति वाक्यस्याधिकरणस्तुत्यर्थता भातीत्यर्थः। देवदत्तमाणवकयोरधिकरणत्वं कथं? इत्याशङ्क्याऽऽह— **क्रौर्ये**ति। किञ्च गौणशब्दं तत्प्रत्ययं च निमित्तं कृत्वा सिंहकार्यं न किञ्चिद्देवदत्ते साध्यते, नापि

माणवके किञ्चिदग्निकार्यं; मिथ्याधीकार्यं त्वनर्थमात्माऽनुभवति, अतो न देहादावहन्धीर्गौणीत्याह— **न त्विति** । इतोऽपि देहादौ नाहन्धीर्गौणीत्याह— **गौणेति** । यो देवदत्तो माणवको वा गौण्या धियो विषयस्तं परः 'नैष सिंहो नायमग्निः' इति जानाति, नैवमविद्वानात्मनः सङ्घातस्य च सत्यपि भेदे सङ्घातस्यानात्मत्वं प्रत्येति; अतो न सङ्घातेऽहंशब्दप्रत्ययौ गौणावित्यर्थः । सङ्घाते तयोर्गौणत्वे दोषान्तरं समुच्चिनोति— **तथेति** । तथा सत्यात्मनि कर्तृत्वादिप्रतिभासासिद्धिरिति शेषः । गौणेन कृतं न मुख्येन कृतमित्युदाहरणेन स्फुटयति— **न हीति** । यद्यपि देवदत्तमाणवकाभ्यां कृतं कार्यं मुख्याभ्यां सिंहाग्निभ्यां न क्रियते, तथापि देवदत्तगतक्रौर्येण मुख्यसिंहस्य माणवकनिष्ठपैङ्गल्येन मुख्याग्नेरिव च सङ्घातगतेनापि जडत्वेनाऽऽत्मनो मुख्यस्य किञ्चित्कार्यं कृतं भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह— **न चेति** । देहादावहन्धियो गौणत्वायोगे हेत्वन्तरमाह— **स्तूयमानाविति** । देवदत्तमाणवकयोः सिंहाग्निभ्यां भेदधीपूर्वकं तद्व्यापारवत्त्वाभावधीवदात्मनोऽपि मुख्यस्य सङ्घाताद्भेदधीद्वारा तदीयव्यापारराहित्यमात्मनि दृष्टं स्यादित्यर्थः । व्यावर्त्यं दर्शयति— **न पुनरिति** ।

**१ शां. भा.— यच्चाहुः 'आत्मीयैः स्मृतीच्छाप्रयत्नैः कर्महेतुभिरात्मा करोति' इति, न; तेषां मिथ्याप्रत्ययपूर्वकत्वात् । मिथ्याप्रत्ययनिमित्तेष्टानिष्टानुभूतक्रियाफलजनितसंस्कारपूर्वका हि स्मृतीच्छाप्रयत्नादयः । यथाऽस्मिञ्जन्मनि देहादिसङ्घाताभिमानरागद्वेषादिकृतौ धर्माधर्मौ तत्फलानुभवश्च, तथाऽतीतेऽतीततरेऽपि जन्मनीत्यनादिरविद्याकृतः संसारोऽतीतोऽनागतश्चानुमेयः । ततश्च सर्वकर्मसन्न्यासात् ज्ञाननिष्ठायामात्यन्तिकः संसारोपरम इति सिद्धम् , अविद्यात्मकत्वाच्च देहाभिमानस्य; तन्निवृत्तौ देहानुपपत्तेः संसारानुपपत्तिः । देहादिसङ्घात आत्माभिमानोऽविद्यात्मकः ।**

**२ आ. शां. व्या.—** सङ्घातेऽहन्धियो मिथ्याधीत्वेऽपि न तत्कृतमात्मनि कर्तृत्वं, किन्त्वात्मीयैर्ज्ञानेच्छाप्रयत्नैरस्य कर्तृत्वं वास्तवमिति मतमनुवदति— **यच्चेति** । ज्ञानादिकृतमपि कर्तृत्वं मिथ्याधीकृतमेव ज्ञानादीनां मिथ्याधीकार्यत्वादिति दूषयति— **न; तेषामिति** । तदेव प्रपञ्चयति— **मिथ्येति** । मिथ्याज्ञानं निमित्तं कृत्वा किञ्चिदिष्टं किञ्चिदनिष्टमित्यारोप्य तद्द्वाराऽनुभूते तस्मिन् प्रेप्साजिहासाभ्यां क्रियां निर्वर्त्य तयेष्टमनिष्टं च फलं भुक्त्वा तेन संस्कारेण तत्पूर्वकाः स्मृत्यादयः स्वात्मनि क्रियां कुर्वन्तीति युक्तं कर्तृत्वस्य मिथ्यात्वमित्यर्थः । अतीतानागतजन्मनोरिव वर्तमानेऽपि जन्मनि कर्तृत्वादिसंसारस्य वस्तुत्वमाशङ्क्याऽऽह— **यथेति** । विमतौ कालावविद्याकृतसंसारवन्तौ कालत्वात् , वर्तमानकालवदित्यर्थः । संसारस्याविद्याकृतत्वे फलितमाह— **ततश्चेति** । तस्याऽऽविद्यत्वेन विद्यापोह्यत्वे हेत्वन्तरमाह— **अविद्येति** । कुतोऽस्याविकृतत्वं धर्माधर्मकृतत्वसम्भवादित्याशङ्क्याऽऽह— **देहादीति** । आत्मनो धर्मादिकर्तृत्वस्याऽऽविद्यत्वान्नाविद्यां विना कर्मिणां देहाभिमानः सम्भवति, अतश्चाऽऽत्मनः सङ्घातेऽहमभिमानस्याऽविद्या विद्यमानतेत्यर्थः ।

**१ शां. भा.— न हि लोके 'गवादिभ्योऽन्योऽहं, मत्तश्चान्ये गवादयः' इति जानंस्तेष्वहमिति प्रत्ययं मन्यते कश्चित् । अजानंस्तु स्थाणौ पुरुषविज्ञानवदविवेकतो देहादिसङ्घाते कुर्यादहमिति प्रत्ययं, न विवेकतो जानन् । यस्तु 'आत्मा वै पुत्रनामासि' [तै.सं.२।११ कौ.उ.२।११] इति पुत्रेऽहम्प्रत्ययः, स तु जन्यजनकसम्बन्धनिमित्तो गौणः । गौणेन चाऽऽत्मना भोजनादिवत्परमार्थकार्यं न शक्यते कर्तुं, गौणसिंहाग्निभ्यां मुख्यसिंहाग्निकार्यवत् ।**

**२ आ. शां. व्या.—** आत्मनो देहाद्यभिमानस्याऽविद्यकत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां साधयन् व्यतिरेकं दर्शयति— **न हीति** । अन्वयं दर्शयन्व्यतिरेकमनुवदति— **अजानन्निति** । पुत्रे पितुरहन्धीवदात्मीये देहादावहन्धीर्गौणीत्युक्तमनुवदति— **यस्त्विति** । तत्र दृष्टान्तश्रुतेर्गौणात्मविषयत्वमुक्तमङ्गीकरोति— **स त्विति** । तर्हि देहादावपि तथैव स्वकीये स्यादहन्धीर्गौणीत्याशङ्क्याऽऽह— **गौणेनेति** । न हि स्वकीयेन पुत्रादिना गौणात्मना पितृभोजनादिकार्यं क्रियते; तथा देहादेरपि गौणात्मत्वे तेन कर्तृत्वादिकार्यमात्मनो न वास्तवं सिध्यतीत्यर्थः । गौणात्मना मुख्यात्मनो नास्ति वास्तवं कार्यमित्यत्र दृष्टान्तमाह— **गौणेति** । न हि गौणसिंहेन देवदत्तेन मुख्यसिंहकार्यं क्रियते,नापि गौणाग्निना माणवकेन मुख्याग्निकार्यं दाहपाकादि; तथा देहादिना गौणात्मना मुख्यात्मनो न वास्तवं कार्यं कर्तृत्वादि कर्तुं शक्यमित्यर्थः ।

**१ शां. भा.— अदृष्टविषयचोदनाप्रामाण्यादात्मकर्तव्यं गौणैर्देहेन्द्रियात्मभिः क्रियत इति चेत्, न; अविद्याकृतात्मकत्वात्तेषाम् । न गौणा आत्मनो देहेन्द्रियादयः । कथं तर्हि ? मिथ्याप्रत्ययेनैवा-**

सङ्घस्याऽऽत्मनः सङ्घात्यात्मत्वमापाद्यते, तद्भावे भावात्तदभावे चाभावात्। अविवेकिनां ह्यज्ञानकाले बालानां दृश्यते 'दीर्घोऽहं, गौरोऽहं' इति देहादिसङ्घातेऽहम्प्रत्ययः, न तु विवेकिनां; 'अन्योऽहं देहादिसङ्घातात्' इति ज्ञानवतां तत्काले देहादिसङ्घातेऽहम्प्रत्ययो भवति। तस्मान्मिथ्याप्रत्ययाभावेऽभावात्तत्कृत एव, न गौणः। पृथग्गृह्यमाणविशेषसामान्ययोर्हि सिंहदेवदत्तयोरग्निमाणवकयोर्वा गौणः प्रत्ययः शब्दप्रयोगो वा स्यात्, नागृह्यमाणसामान्यविशेषयोः।

२ आ. शां. व्या.— स्वर्गकामादिवाक्यप्रामाण्यादात्मनो देहाद्यतिरेकज्ञानात्तस्य च केवलस्याकर्तृत्वात्तत्कर्तव्यं कर्म गौणैरेव देहाद्यात्मभिः सम्पाद्यते, न हि सत्येव श्रौतादिरेकज्ञाने देहादावात्मत्वमात्मनो मुख्यं युक्तमिति चोदयति– अदृष्टेति। न देहादीनामात्मत्वं गौणं, तदीयात्मत्वस्याऽऽविद्यत्वेन मुख्यत्वात्; अतो न गौणात्मभिरात्मकर्तव्यं कर्म क्रियते, किन्तु मिथ्यात्मभिरिति परिहरति– न; अविद्येति। तदेव विवृण्वन्नन्वर्थं स्फुटयति— न गौणा इति। कथं तर्हि देहादिविषयात्मत्वप्रथा? इत्याशङ्क्याविद्याकृतेत्यादिहेतुं विभजते— कथं तर्हीति। देहादीनामनात्मनामेव सतामात्मत्वं मिथ्याप्रत्ययकृतमित्यत्रान्वयव्यतिरेकावुदाहरति— तद्भाव इति। उक्तेऽन्वये शास्त्रीयसंस्कारशून्यानामनुभवं प्रमाणयति— अविवेकिनामिति। व्यतिरेकेऽपि दर्शिते शास्त्राभिज्ञानामनुभवमनुकूलयति— न त्विति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यामनुभवानुसारिणां सिद्धमर्थमुपसंहरति— तस्मादिति। तत्कृत एव देहादावहम्प्रत्यय इति शेषः। किञ्च व्यवहारभूमौ भेदग्रहस्य गौणत्वव्यापकत्वात्तस्य प्रकृतेऽभावान्न देहादावहंशब्दप्रत्ययौ गौणावित्याह— पृथगिति।

१ शां. भा.— यत्तूक्तं–'श्रुतिप्रामाण्यात्' इति, तन्न; तत्प्रामाण्यस्यादृष्टविषयत्वात्। प्रत्यक्षादिप्रमाणानुपलब्धे हि विषयेऽग्निहोत्रादिसाध्यसाधनसम्बन्धे श्रुतेः प्रामाण्यं, न प्रत्यक्षादिविषये, अदृष्टदर्शनार्थत्वात्प्रामाण्यस्य। तस्मान्न दृष्टमिथ्याज्ञाननिमित्तस्याहम्प्रत्ययस्य देहादिसङ्घाते गौणत्वं कल्पयितुं शक्यम्। न हि श्रुतिशतमपि 'शीतोऽग्निरप्रकाशो वा' इति ब्रुवत्प्रामाण्यमुपैति। यदि ब्रूयात् 'शीतोऽग्निरप्रकाशो वा' इति, तथाप्यर्थान्तरं श्रुतेर्विवक्षितं कल्प्यं, प्रामाण्यान्यथानुपपत्तेः; न तु प्रमाणान्तरविरुद्धं स्ववचनविरुद्धं वा कल्प्यम्।

२ आ. शां. व्या.— अदृष्टविषयचोदनाप्रामाण्यात्कर्तुरात्मनो व्यतिरेकावधारणात्तस्य देहादावहमभिमानस्य गौणतेत्युक्तमनुवदति— यत्त्विति। श्रुतिप्रामाण्यस्याज्ञातार्थविषयत्वान्मानान्तरसिद्धे व्यतिरिक्तात्मनि चोदनाप्रामाण्याभावान्न तदवष्टम्भेन देहादावात्माभिमानस्य गौणतेत्युत्तरमाह— न, तदिति। श्रुतिप्रामाण्यस्यादृष्टविषयत्वं स्पष्टयति— प्रत्यक्षादीति। अज्ञातार्थज्ञापकं प्रमाणमिति स्थितेर्न ज्ञाते श्रुतिप्रामाण्यमित्याह— अदृष्टेति। अज्ञातसाध्यसाधनसम्बन्धबोधिनः शास्त्रस्यातिरिक्तात्मन्यौदासीन्ये फलितमाह– तस्मादिति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां दृष्टो मिथ्याज्ञाननिमित्तो देहादिसङ्घातेऽहम्प्रत्ययस्तस्येति यावत्। अन्यविषयत्वाच्चोदनाया नातिरिक्तात्मविषयतेत्युक्तं, इदानीं तद्विषयत्वाङ्गीकारेऽपि न तन्निर्वोढुं शक्यं, प्रत्यक्षविरोधादित्याह— न हीति। अपौरुषेयायाः श्रुतेरसम्भावितदोषाया मानान्तरविरोधेऽपि प्रामाण्यमप्रत्याख्येयमित्यभिप्रेत्याऽऽह— यदीति। स्वार्थं बोधयन्त्याः श्रुतेरविरोधापेक्षत्वाद्विरुद्धार्थवादित्वे तत्परिहाराय विवक्षितमर्थान्तरमविरुद्धं तस्याः स्वीकर्तव्यं विरोधे तत्प्रामाण्यानुपपत्तेरित्याह— तथाऽपीति। अविरोधमवधार्य श्रुत्यर्थकल्पना न युक्तेति व्यावर्त्यमाह— न त्विति।

१ शां. भा.— कर्मणो मिथ्याप्रत्ययवत्कर्तृकत्वात्कर्तुरभावे श्रुतेरप्रामाण्यमिति चेत्, न; ब्रह्मविद्यायामर्थवत्त्वोपपत्तेः। कर्मविधिश्रुतिवद्ब्रह्मविद्याविधिश्रुतेरप्रामाण्यप्रसङ्ग इति चेत्, न; बाधकप्रत्ययानुपपत्तेः। यथा ब्रह्मविद्याविधिश्रुत्याऽऽत्मन्यवगते देहादिसङ्घातेऽहम्प्रत्ययो बाध्यते, तथाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मावगतिर्न कदाचित्केनचित्कथञ्चिदपि बाधितुं शक्या, फलाव्यतिरेकावगतेः; यथाऽग्निरुष्णः प्रकाशश्चेति। न चैवं कर्मविधिश्रुतेरप्रामाण्यं, पूर्वपूर्वप्रवृत्तिनिरोधेनोत्तरोत्तरापूर्वप्रवृत्तिजननस्य प्रत्यगात्माभिमुख्येन प्रवृत्त्युत्पादनार्थत्वात्। मिथ्यात्वेऽप्युपायस्योपेयसत्यतया सत्यत्वमेव स्यात् यथार्थवादानां विधिशेषाणाम्। लोकेऽपि बालोन्मत्तादीनां पयआदौ पाययितव्ये चूडावर्धनादिवचनम्। प्रकारान्तरस्थानां च साक्षादेव प्रामाण्यसिद्धिः, प्रागात्मज्ञानाद्देहाभिमाननिमित्तप्रत्यक्षादिप्रामाण्यवत्।

२ आ. शां. व्या.— अविद्यावत्कर्तृकं कर्मेति त्वयोपगमादुत्पन्नायां विद्यायामविद्याभावे तदधीनकर्तुरभावादन्तरेण कर्तारमनुष्ठानासिद्धौ कर्मकाण्डाप्रामाण्यमित्यध्ययनविधिविरोधः स्यादिति शङ्कते— **कर्मण** इति । कर्मकाण्डश्रुतेर्विद्योदयात्पूर्वं व्यावहारिकप्रामाण्यस्य तात्त्विकप्रामाण्याभावेऽपि सम्भवाद्ब्रह्मकाण्डश्रुतेश्च तात्त्विकप्रामाण्यस्य ब्रह्मविद्याजनकत्वेनोपपन्नत्वान्नाध्ययनविधिविरोध इति परिहरति— **न; ब्रह्मे**ति । कर्मकाण्डश्रुतेस्तात्त्विकप्रामाण्याभावे ब्रह्मकाण्डश्रुतेरपि तदसिद्धिरविशेषादिति शङ्कते— **कर्मे**ति । उत्पन्नाया ब्रह्मविद्याया बाधकाभावेन प्रमाणत्वात्तद्धेतुश्रुतेस्तात्त्विकं प्रामाण्यमिति दूषयति— **न; बाधके**ति । ब्रह्मविद्याया बाधकानुपपत्तिं दृष्टान्तेन साधयति— **यथे**ति । देहादिसङ्घातवदित्यपेरर्थः । लौकिकावगतेरिवाऽऽत्मावगतेरपि फलाव्यतिरेकमुदाहरणेन स्फोरयति— **यथे**ति । फलमज्ञाननिवृत्तिः कर्मविधिश्रुतिवदित्युक्तं दृष्टान्तं विघटयति— **न चे**ति । अनादिकालप्रवृत्तस्वाभाविकप्रवृत्तिव्यक्तीनां प्रतिबन्धेन यागाद्यलौकिकप्रवृत्तिव्यक्तीर्जनयति कर्मकाण्डश्रुतिः तज्जननं च चित्तशुद्धिद्वारा प्रत्यगात्माभिमुख्यप्रवृत्तिमुत्पादयति, तथा च कर्मविधिश्रुतीनां पारम्पर्येण प्रत्यगात्मज्ञानार्थत्वात्तात्त्विकप्रामाण्यसिद्धिरित्यर्थः । नन्वेवमपि श्रुतेर्मिथ्यात्वाद्धूमाभासवदप्रामाण्यमिति चेत् , नेत्याह— **मिथ्यात्वेऽपी**ति । स्वरूपेणासत्यत्वेऽपि सत्योपेयद्वारा प्रामाण्यमित्यत्र दृष्टान्तमाह— **यथे**ति । मन्त्रार्थवादेतिहासपुराणानां श्रुतेऽर्थे प्रामाण्याभावेऽपि शेषिविध्यनुरोधेन प्रामाण्यवत्प्रकृतेऽपि श्रुतेः स्वरूपेणासत्याया विषयसत्यतया सत्यत्वे प्रामाण्यमविरुद्धमित्यर्थः । वाक्यस्य शेषिविध्यनुरोधेन प्रामाण्यं नालौकिकमित्याह— **लोकेऽपी**ति । कर्मकाण्डश्रुतीनामुक्तरीत्या परम्परया प्रामाण्येऽपि साक्षात्प्रामाण्यमुपेक्षितमित्याशङ्क्याऽऽह— **प्रकारान्तरे**ति । आत्मज्ञानोदयात्प्रागवस्था प्रकारान्तरं, तत्र स्थितानां कर्मश्रुतीनामज्ञातसम्बन्धबोधकत्वेन साक्षादेव प्रामाण्यमिष्टमित्यर्थः । ज्ञानात्पूर्वं कर्मश्रुतीनां व्यावहारिकप्रामाण्ये दृष्टान्तमाह— **प्रागि**ति ।

**१ शां. भा.**— यत्तु मन्यसे स्वयमव्याप्रियमाणोऽप्यात्मा सन्निधिमात्रेण करोति, तदेव च मुख्यं कर्तृत्वमात्मनः । यथा राजा युध्यमानेषु योधेषु युध्यत इति प्रसिद्धं स्वयमयुध्यमानोऽपि सन्निधानादेव जितः पराजितश्चेति । तथा सेनापतिर्वाचैव करोति क्रियाफलसम्बन्धश्च राज्ञः सेनापतेश्च दृष्टः, यथा ऋत्विक्कर्म यजमानस्य, तथा देहादीनां कर्माऽऽत्मकृतं स्यात्, तत्फलस्याऽऽत्मगामित्वात् । यथा च भ्रामकस्य लोहभ्रामयितृत्वादव्यापृतस्यैव मुख्यमेव कर्तृत्वं तथा चाऽऽत्मन इति ।

२ आ. शां. व्या.— प्रातीतिककर्तृत्वस्याऽविद्यत्वेऽपि श्रुतिप्रामाण्यमप्रत्यूहमित्युक्तं, सम्प्रति कर्तृत्वस्य प्रकारान्तरेण पारमार्थिकत्वमुत्थापयति— **यत्त्वि**ति । स्वव्यापाराभावे सन्निधिमात्रेण कुतो मुख्यं कर्तृत्वं ? इत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह— **यथे**ति । स्वयमयुद्ध्यमानत्वे कथं तत्फलवत्त्वं ? इत्याशङ्क्य प्रसिद्धिवशादित्याह— **जित** इति । कायिकव्यापाराभावेऽपि कर्तृत्वस्य मुख्यत्वे दृष्टान्तमाह— **सेनापतिरि**ति । तस्यापि फलवत्त्वं राजवदविशिष्टमित्याह— **क्रिये**ति । अन्यकर्मणाऽन्यस्य सन्निहितस्य मुख्ये कर्तृत्वे वैदिकमुदाहरणमाह— **यथा चे**ति । कथमृत्विजां कर्म यजमानस्य ? इत्याशङ्क्याऽऽह— **तत्फलस्ये**ति । स्वव्यापारादृते सन्निधेरेवान्यव्यापारहेतोर्मुख्यकर्तृत्वे दृष्टान्तान्तरमाह— **यथा चे**ति ।

**१ शां. भा.**— तदसत्, अकुर्वतः कारकत्वप्रसङ्गात् । कारकमनेकप्रकारमिति चेत्, न; राजप्रभृतीनां मुख्यस्यापि कर्तृत्वस्य दर्शनात् । राजा तावत्स्वव्यापारेणापि युध्यते, योधानां योधयितृत्वेन धनदानेन च मुख्यमेव कर्तृत्वं, तथा जयपराजयफलोपभोगे । तथा यजमानस्यापि प्रधानत्यागेन दक्षिणादानेन च मुख्यमेव कर्तृत्वम् । तस्मादव्यापृतस्य कर्तृत्वोपचारो यः स गौण इत्यवगम्यते । यदि मुख्यं कर्तृत्वं स्वव्यापारलक्षणं नोपलभ्यते राजयजमानप्रभृतीनां तदा सन्निधिमात्रेणापि कर्तृत्वं मुख्यं परिकल्प्येत यथा भ्रामकस्य लोहभ्रामणेन, न तथा राजयजमानादीनां स्वव्यापारो नोपलभ्यते । तस्मात्सन्निधिमात्रेणापि कर्तृत्वं गौणमेव । तथा च सति तत्फलसम्बन्धोऽपि गौण एव स्यात्, न गौणेन मुख्यं कार्यं निवर्त्यते ।

२ आ. शां. व्या.— क्रियां कुर्वत्कारणं कारकमित्यङ्गीकारविरोधान्नैतदिति दूषयति— **तदसदि**ति । कारकविशेषविषयत्वेनाङ्गीकारोपपत्तिरिति शङ्कते— **कारकमि**ति । स्वव्यापारमन्तरेण न किञ्चिदपि कारकमिति परिहरति— **न; राजे**ति । दर्शनमेव विशदयति— **राजे**ति । यथा राज्ञो युद्धे योधयितृत्वेन धनदानेन च मुख्यं कर्तृत्वं, तथा फलभोगेऽपि मुख्यमेव तस्य कर्तृत्वमित्याह— **तथे**ति । यदुक्तमृत्विक्कर्म यजमानस्येति तत्राऽऽह— **यजमानस्यापी**ति ।

स्वव्यापारादेव मुख्यं कर्तृत्वमिति स्थिते फलितमाह— **तस्मा-दिति**। तदेव प्रपञ्चयति— **यदीति**। तर्हि सन्निधानादेव मुख्यं कर्तृत्वं राजादीनामुपगतमिति, नेत्याह— **न तथेति**। राजादीनां स्वव्यापारवत्त्वे पूर्वोक्तं सिद्धमित्याह— **तस्मादि-ति**। राजप्रभृतीनां सन्निधेरेव कर्तृत्वस्य गौणत्वे जयादि-फलवत्त्वस्यापि सिद्धं गौणत्वमित्याह— **तथा चेति**। तत्र पूर्वोक्तं हेतुत्वेन स्मारयति— **नेति**।

**१ शां. भा.— तस्मादसदेवैतदुच्यते देहादीनां व्यापारेणाव्यापृत आत्मा कर्ता भोक्ता च स्यादिति। भ्रान्तिनिमित्तं तु सर्वमुपपद्यते। यथा स्वप्ने मायायां चैवम्। न च देहाद्यात्मप्रत्ययभ्रान्ति-सन्तानविच्छेदेषु सुषुप्तिसमाध्यादिषु कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यनर्थ उपलभ्यते। तस्माद्भ्रान्तिप्रत्ययनिमित्त एवायं संसारभ्रमः, न तु परमार्थ इति सम्यग्दर्शनादत्यन्तमेवोपरम इति सिद्धम्॥ ६६॥**

**२ आ. शां. व्या.**— अन्यव्यापारेणान्यस्य मुख्य-कर्तृत्वाभावे फलितमुपसंहरति— **तस्मादिति**। कथं तर्हि त्वयाऽऽत्मनि कर्तृत्वादि स्वीकृतं? न हि बुद्धेस्तदिष्टं 'कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्' [ब्र. सू. २।३।३३] इति न्यायात्तत्राऽऽह— **भ्रान्तीति**। कर्तृत्वाद्यात्मनि भ्रान्तमित्येतदुदाहरणेन स्फोरयति— **यथेति**। मिथ्याज्ञानकृतमात्मनि कर्तृत्वादीत्यत्र व्यतिरेकं दर्शयति— **न चेति**। उक्तव्यतिरेकफलं कथयति— **तस्मा-दिति**। संसारभ्रमस्याविद्याकृतत्वे सिद्धे परमप्रकृतमुपसंहरति— **इति सम्यगिति**॥ ६६॥

**३ रा. भा.— कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगरूपान् सर्वान् धर्मान् परमनिःश्रेयससाधनभूतान् मदा-राधनत्वेन अतिमात्रप्रीत्या यथाधिकारं कुर्वाण एवोक्तरीत्या फलकर्मकर्तृत्वादिपरित्यागेन परित्यज्य मामेकमेव कर्तारमाराध्यं प्राप्यमुपायं चानुसन्धत्स्व; एष एव सर्वधर्माणां शास्त्रीयपरित्याग इति 'निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम। त्यागो हि पुरुषव्याघ्र! त्रिविधः सम्प्रकीर्तितः' [१८।४] इत्यारभ्य 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः' [१८।९] 'नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः। यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' [१८।११] इत्यध्यायादौ सुदृढमुपपादितम्।**

**४ वे. ता. चं.**— एवं विस्तरेण सङ्ग्रहेण चोक्तानां कर्म-योगादीनां त्रयाणां साधारणं सारतमानुसन्धानविशेषमुद्धृत्य तत एव 'मामेवैष्यसि' [१८।६५] इत्युक्तेष्टप्राप्तेः प्रति-बन्धकीभूतानिष्टानां निवृत्तिरुच्यते— 'सर्वधर्मान्' इति श्लोकेन। तदाह— **कर्मयोगेत्यादिना**। सर्वशब्देन प्रकृत-त्रिकमविशेषाद्गृह्यते। कर्मयोगादीनां धृतिसाधनत्वलक्षणधर्म-शब्दवाच्यत्वमाह— **परमनिःश्रेयससाधनभूतानिति**। यथायोगं परम्परया साक्षाच्चेति शेषः। तत्साधकत्वप्रयोजक-माह— **मदाराधनत्वेनेति**। त्रिवर्गवैमुख्यहेतुमाह— **अति-मात्रप्रीत्येति**। 'यथेच्छसि तथा कुरु' [१८।६३] इति पूर्वोक्तोपजीवनेनाऽऽह— **यथाधिकारं कुर्वाण** इति। क्रमा-त्सर्वं ह्यस्यानुष्ठेयं स्यादिति च भावः। **कुर्वाण एवेत्यनेन** स्वरूपत्यागादिपक्षास्तामसत्वादिभिर्निन्दिता इति स्मारितम्। परित्यागशब्दविवक्षितमाह— **उक्तरीत्येति**। अध्यायारम्भ-विशोधितप्रकारेणेत्यर्थः। **फलकर्मकर्तृत्वादिपरित्यागेनेति** कर्मत्यागः स्वकीयताभिमानत्यागः। भक्तियोगेऽपि ऐश्वर्यादि-फलान्तरं त्याज्यमेव; मोक्षाख्यफलस्यापि हि सर्वशेषि-भगवच्छेषत्वधिया स्वशेषताधीः परिहार्या। आदिशब्देन कञ्चुकभूतेन्द्रादीनामाराध्यत्वाभिमानः संगृहीतः। कर्मणि कर्तृत्वं स्वकीयताबुद्धिरादिशब्देन संगृह्यते। **परित्यागेन परित्यज्येति** विशेषेण सामान्यावच्छेदः। अन्यत्र स्वात्मनि कर्तृत्वं, ततोऽन्यस्मिन्निन्द्रादावुपास्यत्वं, तदुभयान्यस्मिन् स्वर्गादौ प्राप्यत्वं, तेभ्यो व्यतिरिक्ते कर्मणि उपायत्वं चाभि-मत्य ह्यनधीतवेदान्ताः प्रवर्तन्ते; न तथा त्वयाऽनुसन्धेयम्; एतत्सर्वमेकस्मिन्मय्यनुसन्धत्स्वेति 'मामेकं शरणं व्रज' इत्य-स्याभिप्रायः; तदाह— **मामेकमेवेत्यादिना**। अत्र कर्तृत्वा-दिषु चतुर्षु प्रत्येकं समुदायतः एकोपाधिना शरणशब्दवाच्य-त्वासम्भवात्कर्तृत्वादिकं 'मामेकम्' इत्यनेनाभिप्रेतमनूदितम्। 'उपायम्' इति तु शरणशब्दार्थोक्तिः। **कर्तारं** कर्तुः प्रयोजक-तयाऽन्तर्यामित्वेन, अनुमन्तृतया च अवस्थितमित्यर्थः। तदनुसन्धानात्स्वकर्तृत्वाभिमानत्यागः। कर्मणां देवतान्तर-शेषत्वस्वशेषत्वधीत्यागार्थमाह— **आराध्यमिति**। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च' [९।२४] 'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य' [१८।४६] इत्यादिकं ह्युक्तम्। **प्राप्यम्** साक्षात्परम्परया चेति शेषः। ते स्वर्गादिफलत्यागः। त्रिविधत्यागार्थमनूदित-माकारत्रयमुक्तम्; अत्र शरणशब्देन विधित्सितमाह— **उपाय-मिति**। स हि सर्वेषु शास्त्रेषु प्रीतः फलं ददातीति प्रागेव निर्णीतम्। स्वसाध्यनश्वरयज्ञोपासनधात्वर्थेषु कालान्तरभाविफलसाधनत्वबुद्धिं परित्यज्य सिद्धे स्थायिनि सर्वज्ञे सत्यसङ्कल्पत्वमहोदारत्वादि-गुणशालिनि सकलशास्त्रार्थसमाराध्ये फलप्रदत्वमनुसन्धत्स्वेति स्वरूपत्यागादिपक्षे प्रकरणवैघट्यमाह— **एष एवेति**। **सुदृढ-मुपपादितमिति**— अयमभिप्रायः— एतच्छ्लोकापातप्रतीत्या कुदृष्टियुक्तिभिश्च यथा वर्णाश्रमधर्मस्वरूपत्यागादिपक्षो नोदेति, तथोपपादितम्— इति।

**३ रा. भा.— 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' एवं वर्तमानं त्वां मत्प्राप्तिविरोधिभ्योऽनादिकालसञ्चितानन्ताकृत्यकरणकृत्याकरणरूपेभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि; माशुचः शोकं मा कृथाः। अथवा सर्वपापविनिर्मुक्तात्यर्थभगवत्प्रियपुरुषनिर्वर्त्यत्वाद्भक्तियोगस्य तदारम्भविरोधिपापानामानन्त्याच्च तत्प्रायश्चित्तरूपैर्धर्मैः अपरिमितकालकृतैस्तेषां दुस्तरतया आत्मनो भक्तियोगारम्भानर्हतामालोच्य शोचतोऽर्जुनस्य शोकमपनुदन् श्रीभगवानुवाच— ' सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ' इति ।**

**४ वे. ता. चं.— अहम्** उक्तप्रकारेणाराधितः फलप्रदानौपयिकसार्वज्ञसर्वशक्तित्वपरमकारुणिकत्वादिगुणगणविशिष्ट इति भावः । अनुष्ठितोपायावस्थाविशेषविषयोऽत्र ' त्वा ' इति निर्देश इत्याह— **एवं वर्तमानमिति** । अव्यवहितोपायस्यापि सर्वधर्मशब्देनोपादानात् 'मामेवैष्यसि'[१८।६५] इत्यनन्तरोक्तत्वाच्च **मत्प्राप्तिविरोधिभ्य** इत्युक्तम् । अत्र प्रतिबन्धनिवृत्तिरेवोपायसाध्या, भगवत्प्राप्तिस्तु स्वरूपाविर्भावलक्षणा स्वत एव स्यादित्यभिप्रायः । अत्र सर्वशब्दविवक्षितमाह **अनादिकालेत्यादिना** । ननु त्रिष्वपि योगेषु निगदितेषु सर्वगुह्यतमे च शास्त्रसारार्थे पुनर्विविच्य प्रदर्शिते ततोऽप्युपरि त्रयाणां साधारणानुसन्धानस्य प्राक्प्रपञ्चितस्यैवात्र पुनः प्रतिपादने किं प्रयोजनं ? नचायमर्थान्तरपरः श्लोकः, अप्रतीतेः, सङ्ग्रहादिषु तथाऽनुक्तेश्च । शास्त्रादावप्युक्तम् । भाष्येऽपि— ' तमुवाच ' [ २।१० ] इतिश्लोके परमात्मयाथात्म्यतत्प्राप्त्युपायभूतकर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगगोचरं 'नत्वेवाहं जातु नासम् ' [२।१२] इत्यारभ्य ' अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ' इत्येतदन्तं वच उवाचेत्यर्थः— इति । अपिचात्र ' मा शुचः ' इत्येतन्न प्रथमोत्पन्नास्थानस्नेहादिमूलशोकप्रतिक्षेपार्थं, तस्य पूर्वमेव निश्शेषक्षालितत्वात्; अतो यथा 'मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि ' [१६।५ ] इत्यत्राव्यवहितप्रस्तुतोपाधिकशोकापनोदनार्थत्वं, तथाऽत्रापीति युक्तम् । न तु सूक्ष्मधियः क्षत्रियस्य धार्मिकाग्रेसरस्यार्जुनस्य सर्वज्ञप्रदर्शितेषूपायेष्वज्ञानादनर्हत्वात्प्रधानांशानिश्चयाद्वा शोकोऽयम् । फलसंशयोऽपि ' मामेवैष्यसि ' इत्यादिना निश्शेषनिर्मूलितः ।

अतः परिशेषाद्दीर्घकालनैरन्तर्यादरसेवनीयोपायदौष्कर्यात् फलविलम्बाद्वा शोकोऽयं सम्भवेदिति तथाविधशोकप्रशमनपरेणानेन श्लोकेन भवितव्यमित्युक्तार्थान्तरारुचेरन्वितं स्वारसिकत्यागशब्दार्थमर्थान्तरमाह— **अथवेति** । अत्र **सर्वपापविनिर्मुक्तेत्युपायविरोधिसर्वविषयम्** । पापनिर्मोक्षादत्यर्थभगवत्प्रियत्वम् । 'नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते' [ पां. गी ४० ] इति ह्युच्यते । ' विघ्नायुतेन गोविन्दे नृणां भक्तिर्निवार्यते ' इत्याद्यनुसन्धानेनाऽऽह -**तदारम्भविरोधिपापानामानन्त्यादिति** । ' जन्मान्तरसहस्रेषु ' [ पां. गी. ४०] इत्याद्यनुसारेण **परिमितकालकृतैरिति** पाठे विलम्बाक्षमत्वं सूचितम् । **अपरिमितकालकृतैरिति** पाठे तु अपिशब्दोऽध्याहर्तव्यः । तेनोपायस्य दुस्सम्पादत्वव्यञ्जनम् । **शोकमपनुदन्निति** शोकापनोदनायेत्यर्थः । ' मन्मना भव मद्भक्तः ' [ १८।६५ ] इति पूर्वश्लोके भक्तियोगस्य प्रकृतत्वात्तदारम्भविरोधित्वेन शोकनिमित्तपापविषयोऽत्र सर्वपापशब्दः । तत्तन्निराकरणायोक्तधर्मवर्गविषयः सर्वधर्मशब्दः यस्यैतत्सङ्ग्रहशासनं " धर्मेण पापमपनुदति " [ महाना. १७।६ ] इति । बहुवचनेन सर्वशब्देन च वैविध्यमानन्त्यं च पापेषु धर्मेषु च व्यज्यते ।

**३ रा. भा.— भक्तियोगारम्भविरोध्यनादिकालसञ्चितनानाविधानन्तपापानुगुणान् तत्तत्प्रायश्चित्तरूपान् कृच्छ्रचान्द्रायणकूष्माण्डवैश्वानरप्राजापत्यव्रातपतिपवित्रेष्टित्रिवृदग्निष्टोमादिकान् नानाविधाननन्तांस्त्वया परिमितकालवर्तिना दुरनुष्ठानान् सर्वान् धर्मान् परित्यज्य भक्तियोगारम्भसिद्धये मामेकं परमकारुणिकमनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यमाश्रितवात्सल्यजलधिं शरणं प्रपद्यस्व ।**

**४ वे. ता. चं.—** तदिदमाह— **भक्तियोगारम्भविरोधीत्यादिना** । **कृच्छ्रचान्द्रायणेत्यादिना** सम्प्रतिपन्नपापनिबर्हणोदाहरणम् । अग्निष्टोमादयोऽपि विनियोगपृथक्त्वेन अनेकफलसाधका इति प्रागेवोक्तम् । आदिशब्देन कर्मयोगावान्तरभेदतया ' दैवमेवापरे यज्ञम् ' [ ४।२५ ] इत्यादिभिः प्राक्प्रपञ्चितानामनुक्तानां च ग्रहणम् । एवं ज्ञानयोगोऽप्यादिशब्देन सङ्गृहीतः, तस्यापि भक्तियोगारम्भविरोधिपापनिबर्हणत्वेन प्रागेव प्रपञ्चनात् । **परिमितकालवर्तिनेत्येक**शरीराभिप्रायः । अतिदुष्करानुष्ठानमूलानेकजन्मसंसिद्धिसाध्यत्वनिश्चयादेव ह्यस्य शोकः । ' सर्वधर्मान्परित्यज्य ' इति स्वरूपत्याग एवास्यां योजनायाम् । न च तावता नित्यनैमित्तिकलोपप्रसङ्गः, दुरनुष्ठानप्रायश्चित्तादिविषयत्वोक्तेः । तुल्यन्यायतया तु नित्यनैमित्तिकेष्वपि यानि दुरनुष्ठानानि, तत्रैव स्यात्, शक्तमधिकृत्यैव शास्त्रप्रवृत्तेः, अशक्तस्याकरणे दोषाभावात् अनुकल्पमात्रशक्तौ च तस्यैवानुष्ठेयत्वात्, इह च मुख्याशक्तस्य सर्वप्रकारमुख्यानुकल्पतया एकस्यैव भगवत्प्रपदनस्य विधानाच्छक्ताशक्ताधिकारिभेदाच्च मुख्यानुकल्पयोः सर्वत्र फलाविशेषोपपत्तेः । अत एव गुरुलघुविकल्पानुपपत्तिप्रसङ्गाभावः; यथा ' प्रणवं वा त्रिरभ्यसेत्स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ' इति । यथा च ' मान्त्रं भौमं तथाऽऽग्नेयं वायव्यं

दिव्यमेव च। वारुणं मानसं चेति स्नानं सप्तविधं स्मृतम्' इति विष्णुचिन्तनमेवावगाहनादिष्वसमर्थस्यापि तत्फलसाधकतया विधीयते; तथेहापीति न कश्चिद्दोष इति। अत्र दुष्करतया चिरकालसाध्यतया चाल्पशक्तिना परिमितकालवर्तिना च दुरनुष्ठानानां धर्माणामर्थसिद्ध एव त्यागो भगवदेकोपायतावरणविधेरुपकारित्वेन विधिच्छायायाऽनूद्यते; यथा निदिध्यासनोपकारितया रागप्राप्ते श्रवणमनने "श्रोतव्यो मन्तव्यः" [ बृ.उ. २।४।५+४।५।६ ] इति। तदेकोपायतावरणविधानं च तदन्योपायपरित्यागविशिष्टविषयम्; तेन तत्फलसाधनत्वेन चोदितानामन्यदेवताविषयाणां भगवति च धर्मान्तराणां त्यागः सङ्गृह्यते। अर्थसिद्धे च देवतान्तरधर्मनिषेधे तत्सिद्ध्यर्थं नात्र व्यधिकरणसमासः समाश्रयणीय इत्यभिप्रायेण **सर्वान् धर्मानि**ति दर्शितम्।

ननु शक्तमधिकृत्य निषेधे शास्त्रवैयर्थ्यम्, अशक्तं प्रति तु न विध्यपेक्षेति चेत्, न; अशक्तं प्रत्येव ब्रह्मास्त्रबन्धादावितरोपायान्तरपरिग्रहस्य तद्विरोधित्वज्ञापनेनापेक्षितत्वात्। यद्वा यदर्थं शरणव्रज्याऽनुष्ठिता, तदर्थोपायान्तरशक्तेः पश्चात्कुतश्चिद्धेतुवशात्सम्भवेऽपि तदर्थं तदुपादानस्याकर्तव्यताज्ञापनेन सार्थम्। अत्र 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः' इति फलस्य भगवदेकाधीनतया तदेकप्रपदनमेकं फलतयाऽनुष्ठेयं शिष्टं, सर्वधर्मपरित्यागस्य तु वाक्यात्तच्छेषत्वं सिद्धम्, फलवत्सन्निधौ चाफलं तदङ्गम्। तत्र पूर्वसिद्धाकारपरामर्शे अधिकारकोटौ निवेशः; अन्यथा तु लिङ्गात्तदेकशरणव्रज्योपयोगिरूपे विश्रान्तिः। तदेकोपायताध्यवसायो हि तदन्योपायपरिग्रहेण विरुद्धः। अतस्त्यागस्यावहन्तेः शेष्यपेक्षिततण्डुलोपयोगिरूपे पर्यवसानवत्तदेकप्रपदनविरोधिधर्मत्यागे पर्यवसानादतत्फलार्थानामविरोधिनां नित्यादीनां त्यागोऽस्य नापेक्षित इति वर्णाश्रमाद्यनुबन्धिस्वतन्त्रविधिप्राप्तास्तद्वदेवावतिष्ठन्ते। न च तेऽपि प्रपदनस्याङ्गान्यङ्गिनो वा, तथा नियोगाभावात्, अशक्तं प्रति दुष्करकर्माङ्गकप्रपदनविधानासम्भवात्, अतदङ्गस्यापि यज्ञादेरन्यार्थमाश्रमाद्यर्थं चानुष्ठानोपपत्तेः। सर्वशब्दनिर्दिष्टप्रत्यनीकतया वा 'मामेकम्' इत्येकशब्दः। ततश्च भगवत्प्रपदनमेकमेव सर्वप्रायश्चित्तं स्यादित्युक्तं भवति। शरणागतिस्वभावात्तु तदन्योपायपरित्यागः सिद्ध्येत्। यथा लक्षयन्ति—'अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायतायाच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः' इति। शरणशब्दोऽत्रोपायपर्यायः। यथोक्तं प्रपत्तिप्रकरणे 'उपाये गृहरक्षित्रोः शब्दः शरणमित्ययम्। वर्तते साम्प्रतं त्वेष उपायार्थैकवाचकः' [ अहि.सं. ३६।३३ ] इति। पठन्ति च—'शरणं गृहरक्षित्रोरुपाये च निगद्यते' इति। उपायत्वं च कारुण्यादिगुणविशिष्टस्योपायस्थानेऽवस्थाय तत्कार्यकरणादित्यभिप्रायेण परमकारुणिकत्वादिगुणोक्तिः। 'एकम्' इति नैरपेक्ष्यपरं वा। तत्सिद्ध्यर्थमपि 'माम्' इत्यनेनाभिप्रेततया कारुण्यादिग्रहणम्। **परमकारुणिकमिति**—'वधार्हमपि काकुत्स्थः कृपया पर्यपालयत्' [ ] इत्यादिभिः कृपायाः पारम्यं, ततः शरण्यत्वं च सिद्धम्। तस्याः सङ्कोचमाह—**अनालोचितविशेषाशेषलोकशरण्यमिति**। "सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं सुहृत् (बृहत्)" [ श्वे. उ. ३।१७] इति श्रुतिः। 'सर्वलोकशरण्याय' [वा. रा. ६।१७।१६] इति रावणावरजवाक्यम्। स्ववाक्यं च 'विभीषणो वा सुग्रीव! यदि वा रावणः स्वयम्' [ वा. रा. ६।१८।३४ ] इति। विशेषशब्दोऽत्र जातिवर्णविद्यावृत्तगुणसंस्कारभूतभाव्युपकारादिपरः। उक्तगुणाविनाभूतं गुणान्तरमाह— **आश्रितवात्सल्यजलधिमिति**। 'विदितः स हि धर्म(सर्व-)ज्ञः शरणागतवत्सलः' [ वा. रा. ६।२१।१६] इति ह्युक्तम्। 'दोषो यद्यपि तस्य स्यात्' [ वा. रा. ६।१८।३ ] इत्यादिप्रक्रियया दोषानादराय वात्सल्योक्तिः। गत्यर्थानां बुद्ध्यर्थतया प्रयोगाद्व्रजतिधातुः पूर्वयोजनायामनुसन्धानमात्रपरतया व्याख्यातः। इह तु रक्षिष्यतीति महाविश्वासपूर्वकविशिष्टाध्यवसायलक्षणबुद्धिविशेषनिरूढपदेन व्याचष्टे— **प्रपद्यस्वेति**।

**३ रा. भा.— अहं त्वा सर्वपापेभ्यो यथोदितस्वरूपभक्त्यारम्भविरोधिभ्यः सर्वेभ्यः पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि; मा शुचः॥ ६६॥**

**४ वे. ता. चं.— अहं त्वेति**— सर्वज्ञः सर्वशक्तिरहम् अल्पज्ञमल्पशक्तिं च त्वामित्यर्थः। **मा शुचः**— एकेन सुकरेणाविलम्बेनाशेषपापनिवृत्तिसिद्धेरनन्तैर्दुष्करैर्विलम्ब्यकारिभिः प्रत्येकपापनिबर्हणैरिदानीं भक्तियोगारम्भार्हतासम्पादनस्याशक्यतानिमित्तशोकं मा कृथा इत्यर्थः। एवं सकलाभिमतसाधनतया भगवच्छास्त्रादिषु प्रसिद्धं भगवत्प्रपदनमिह प्रकृतभक्तियोगारम्भविरोधिपापनिबर्हणरूपोदाहरणविशेषे प्रदर्शितम्। 'सुदुष्करेण शोचेद्यो येन येनेष्टहेतुना। स स तस्याहमेवेति चरमश्लोकसङ्ग्रहः'। अतएवात्रत्यभाष्यग्रन्थस्य गद्यस्तुतेश्चाविरोध इति। यदिह **शङ्करेणोक्तं**— "'मन्मना भव' इति श्लोकेन सर्वकर्मयोगनिष्ठायाः परमं रहस्यमीश्वरशरणतामुपसंहृत्याथेदानीं कर्मयोगनिष्ठाफलं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तसारं विहितं वक्तव्यमित्याह— **सर्वधर्मानिति**" इति। अयमपि 'सर्वार्थान् विपरीतांश्च' [ १८।३२ ] इत्यस्योदाहरणविशेषः, कर्मयोगनिष्ठायाः पृथक्त्वेन भक्तियोगनिष्ठायाः प्रदर्शितत्वादत्रैव 'शरणं व्रज' इति कण्ठोक्तिदर्शनेन पूर्वत्र तदुपसंहारवाचोयुक्तेरसङ्गतत्वात्।

यच्चात्र 'मामेकं सर्वात्मानं समं सर्वभूतस्थमीश्वरमहमेवेत्येवमेकं शरणं व्रज; न मत्तोऽन्यदस्तीत्यवधारय' इत्युक्तम्; अत्र तावन्न शब्दस्यैवं शक्तिः; न च तदुपरोधेन लाक्षणिकार्थस्वीकारे हेतुं पश्यामः, प्रत्युत 'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इत्यादिस्वारस्याद्राघवविभीषणादिवच्छरण्यशरणागतयोर्गोप्तृत्वरक्षितव्यत्वलक्षणो भेदः प्रतीयते। शास्त्रान्तराणि चैतदविरोधेन पूर्वमेव स्थापितानि। यच्चात्र

'सर्वधर्मान् परित्यज्य' इत्यनेन सर्वकर्मस्वरूपसन्न्यासविधिः' इति, इदमप्यध्यायारम्भोक्तामसत्यागस्वीकरणम् । एतन्निराकरणायैव सात्त्विकस्त्यागोऽत्र भाष्ये (रा.) दर्शितः । ननु कर्माधिकृतेष्वेवायं सात्त्विकराजसतामसरूपस्त्यागविकल्पः, सर्वकर्मसन्न्यासिनां तत्त्वविदां मोहदुःखमूलत्यागासम्भवात् ; सात्त्विकत्यागोऽपि कर्मनिष्ठमधिकृत्यैवोच्यत इति तत्रैवास्माभिर्व्याख्यातमिति चेत् , तदसत् ; सामान्यतस्त्यागसन्न्यासस्वरूपविषयत्वात्प्रश्नस्योत्तरस्यापि सामान्यविषयत्वं प्रतीयते, ज्ञाननिष्ठानामपि नित्यनैमित्तिककर्मस्वरूपपरित्यागस्य प्रागेव दूषितत्वाच्च । यच्चानुगीतायामुच्यते— 'नैव धर्मी न चाधर्मी न चापि हि शुभाशुभी । यः स्यादेकासने लीनस्तूष्णीं किञ्चिदचिन्तयन्' [४।७ + म. भा. १३ प.] इति. 'ज्ञानं सन्न्यासलक्षणम्' (सन्न्यासमित्येके) [३४।१२] इत्यादि च ।

यच्च श्रीमति **भागवते** पुराणे— 'तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् । प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥ मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् । याहि सर्वात्मभावेन यास्यसि ह्यकुतोभयम्' (मयाऽस्या ह्यकुतोभयः) [११।१२।१४;१५] इति । यच्चान्यत्र 'त्यज धर्ममधर्मं च त्यज सत्यानृते अपि। उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज' [म.भा. १२।३२९।४०+सन्न्यासो.२।१२] इति । एवमीदृशानि वचनानि सात्त्विकत्यागोक्तप्रक्रिययैव नेतव्यानि । समाधिदशातत्परेषु तु वचनेषु न कश्चिद्विरोधः । 'त्यज धर्ममसङ्कल्पादधर्मं चाप्यहिंसया । उभे सत्यानृते बुद्ध्या बुद्धिं परमनिश्चयात्' [म. भा. १२।३२९।४०] इत्यादिषु च सात्त्विक एव धर्मत्यागस्तत्तद्वचनोक्त इति सुव्यक्तम् ।

'मामेकम्' इत्यत्र च निर्विशेषचिन्मात्रैक्यादिविवक्षां शृण्वन्तो बाला अपि परिहसेयुः। भाष्योक्तस्त्वेकशब्दार्थो वचनस्वारस्यपूर्वापरशास्त्रान्तरसङ्गतः । एकशब्दश्चात्यन्तपृथग्भूतेष्वपि दृश्यते । 'अपेत्याहमिमां हित्वा संश्रयिष्ये निरामयम् । क्षमं मम सहानेन नैकत्वमनया सह '[ ] इति । तथा 'क ते रामेण संसर्गः कथं जानासि लक्ष्मणम् । वानराणां नराणां च कथमासीत्समागमः' [वा. रा. ५।३५।२] इति प्रश्ने 'रामसुग्रीवयोरैक्यं देव्येवं समजायत' [वा. रा. ५।३५।५१] इत्यादिषु । या तु 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इत्यत्र विरोधिधर्ममात्रत्यागविषयत्वेन यादवप्रकाशादीनां योजना; न तत्रार्थविवादः । सर्वधर्मानवश्यकरणीयानपि परित्यज्येति स्तुतिरूपयोजना तु अपिशब्दाध्याहारादिभिरयुक्ता । अनियतधर्मपरित्यागोऽत्र विवक्षित इति **नारायणार्य**व्याख्यायामपि नानुष्ठानविरोधः ।

अपिचात्रादितः प्रभृति सम्मृशामः— प्रथमे तावदध्यायेऽर्जुनस्यास्थानस्नेहकारुण्यादिभिः शास्त्रोल्लङ्घनप्रसङ्गेप्सुनोपक्षिप्तपूर्वपक्षबुद्धिप्रशमनाय द्वितीयेनाध्यात्मशास्त्रमवतारितमित्येतावति सर्वेषामविवादः ।

द्वितीयाध्यायोक्तस्य योगादेरपि भगवानेवाराध्य इत्यत्रापि न विप्रतिपत्तिः । व्रीह्यादिविषयैः प्रोक्षणावघातादिशास्त्रार्थैरपि हि स एवाराध्यते । स तु तत्र न साक्षाद्विषय इति प्रकरणादिबलात् , साक्षाद्भगवद्योगिनश्च 'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना' [६।४७] इत्यादि प्रस्तुत्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वाच्च समर्थितम् ।

तृतीये योगाख्योपायांशभूतयोः क्रियायोगबुद्धियोगयोः विमर्श इत्येतदपि 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' [३।३] इत्यधिकारिभेदवर्णनेन निरस्तम् । न च 'दूरेण ह्यवरं कर्म' [२।४९] इति प्रतिपादनात्तुल्यकक्ष्यत्वानुपपत्तिरिति वाच्यं, तस्य तत्प्रकरणनिन्द्यकाम्यकर्मविषयत्वस्थापनात् । 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' [३।१७] इत्यादिश्लोकद्वये दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य परमात्मैकरतेः पुरुषस्य कृत्याननुष्ठाने प्रयोजनाभावोऽकृत्यकरणे प्रत्यवायाभावश्च प्रतिपाद्यत इति यदुच्यते, तदप्ययुक्तं, "नाविरतो दुश्चरितात्" [कठो. २।२३] इत्यादिविरोधोपपादनात् , तत एव 'हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान्' [१८।१७] इत्यादेरपि वक्ष्यमाणस्यात्रोदाहृतस्यान्यविषयत्वस्थापनात् । अथ चेत्समाधिदशायां कर्तव्यान्तराभावोऽस्मिन् श्लोकद्वये विवक्षित इत्यभिप्रायः, तदा तु मुक्तदशायामिव विरोधाभावादभ्यनुजानीमः । उक्तं च समाधिदशाविषयत्वं षष्ठे तैरेव । तथाहि— 'यं सन्न्यास इति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव !' [६।२] इति श्लोके 'समाधिवेलायामेव कर्मसन्न्यासः कार्यः, नान्यथेति यावत्' इत्युक्तम् । 'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्' [६।३] इत्यत्र चैवं व्यञ्जितं– 'यस्य वशिनो योगेन सकलकर्मकालो व्याप्तः, तस्य कर्मपरित्यागो युक्तः, नान्यस्य' इति । एतदेव तृतीयचतुर्थपञ्चमेष्वपि भगवता प्रतिपादितमित्यनुसन्धातव्यम् । तृतीये तावत् 'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्' इत्यत्र, चतुर्थेऽपि 'योगसन्न्यस्तकर्माणम्' [४।४१] इत्यत्र, पञ्चमे च 'सर्वकर्माणि मनसा सन्न्यस्यास्ते' [५।१३] इत्यत्र, तेनात्मरतीनां वशिनां योगारूढानामेव कर्मसन्न्यासो युक्तः; तेषामपि लोकविख्यातानां सर्वलोकादर्शभूतानां विदुषामात्मानुग्रहाभावेऽपि लोकानुग्रहार्थं कर्मयोग एव युक्त इति भगवदभिप्रायो ग्राह्य इति निगमितम् । यत्पुनर्निषिद्धानुष्ठाने प्रत्यवायाभावात्तदकरणे प्रयोजनं नास्तीति, एतत्तु तस्यामवस्थायाम् अप्रसक्तोपन्यासः ।

यत्तु 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः' [३।२०] इत्यत्र राज्ञामुपन्यासस्तद्वृत्तान्तानामेव लोके प्रसिद्धत्वादिति, अत्रायमेव भाव उचितः । यत्त्वनन्तरं पक्षान्तरमुक्तम् 'एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः' [४।२] इति लिङ्गाद्राज्ञामेवायं योगिनां कर्मापरित्यागोपदेशः, नान्येषाम्' इति, तन्मन्दम् , अन्येषामपि कर्मस्वरूपापरित्यागस्य सर्वत्र सुस्पष्टत्वात् ; अत एव हि चतुर्थे स्वयमेवोक्तम् । इह केचित् 'राजर्षयो विदुः' इत्यभिधानात्पूर्वस्मिन्नध्याये निदर्शनार्थं जनकोपन्यासात् , नवमेऽध्याये 'राजविद्या राजगुह्यम्' [९।२]

इति वक्ष्यमाणत्वाच्च राज्ञामेवास्मिन् भगवदुपदिष्टे योगेऽधिकारः, नान्येषामिति मन्यन्ते; तदयुक्तं, नवमेऽध्याये 'स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्' [ ९।३२ ] इति सर्वाधिकारस्य वक्ष्यमाणत्वात् । तस्मात्प्रदर्शनार्थं राज्ञां प्रवृत्तिविशेषाद्युपन्यासः, नान्यथेत्यभ्युपगन्तव्यमिति ।

यत्तु पञ्चमे 'सन्न्यासः कर्मयोगश्च निश्श्रेयसकरावुभौ' [५।२] इत्युक्तसन्न्यासकर्मयोगाभ्यामनन्तरं 'साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः' [ ५।४ ] इत्याद्युक्तसाङ्ख्ययोगयोरर्थान्तरत्वोपपादनं, तदपि मन्दं, 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्' [ ३।३ ] इति प्रागुक्तप्रत्यभिज्ञानात् । न च प्रसिद्धिविरोधः, अस्मिन् शास्त्रे तयोरेवमेव प्रसिद्धेः । न च 'निश्श्रेयसकरावुभौ' इत्युक्तेन पुनरुक्तिः, सङ्क्षेपविस्तररूपत्वादिना तत्परिहारात्, सर्वत्र चैवं सर्वैरभ्युपगमात् । यदपि 'पण्डिताः समदर्शिनः' [ ५।१८ ] इत्यत्र सर्वत्राहिंस्यताबुद्धिरनुग्राह्यताबुद्धिः सर्वेषां भूतानामीश्वरानुग्राह्यताबुद्धिरीश्वरविभूतित्वबुद्धिश्च समदर्शनमभिप्रेतमिति, तावति न विवादः । यत्तु तत्रानन्तरमुक्तं 'न पुनर्हिंसानुग्रहेषु फलसाम्यबुद्धिः ब्राह्मण्यादिविशेषतिरस्कारो वा । कुत एतत् ? शास्त्रान्तरानुसारात्प्रमाणान्तरानुसाराच्च' इति, अयमप्यात्मव्यतिरिक्तमिथ्यात्ववादिवादिनां मतस्योपालम्भः, न पुनः स्वतः परस्परसमानानां आत्मनामौपाधिकसत्यवैषम्यवादिमतस्य, विषमदेहानामपि स्वरूपसाम्यदर्शने शास्त्रान्तरप्रमाणान्तरविरोधाभावात्, प्रत्युत तत्संवादाच्चेति ।

षष्ठोक्तयोगस्य विषयविशेषादिकं तत्रैव सुस्पष्टमुपपादितम् । दुरपह्नवं च तैरपि योगिनां वैविध्यम् । अत एव हि 'योगिनामपि सर्वेषाम्' [ ६।४७ ] इति श्लोके व्याचख्युः 'योगिनश्चित्तालम्बनवैचित्र्याद्बहुविधाः । तेषु मय्यर्पितचित्तो मामेव श्रद्धया भजते, स मे युक्ततमो मत इति ह्याह' इति । योऽस्माभिरिह सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुपन्यस्तो योगः, स सर्वेभ्यो योगेभ्यः श्रेष्ठतमो मत इति च । 'शब्दब्रह्मातिवर्तते' [ ६।४४ ] इत्येतदपि त्रिवर्गातिलङ्घनविषयमेवाभ्युपगन्तव्यम् । अत्र वेदद्वारा तत्फलविवक्षायां लक्षितलक्षणासङ्कोचादिर्महान् क्लेशः । भाष्योक्तप्रक्रिया तु श्रृङ्गग्राहिकया विवक्षितं वक्तीति विशेषः । 'तपस्विभ्योऽधिको योगी' [ ६।४६ ] इति श्लोके यदुक्तम्— 'अत्र तपश्शब्देन वानप्रस्थधर्माणां परिग्रहः, ज्ञानशब्देन ब्रह्मचारिधर्माणां, कर्मशब्देन गृहस्थधर्माणाम्' इति, अयं विभागो निर्मूलः; सर्वेष्वाश्रमेषु स्वाश्रमाविरोधिनां तपोज्ञानकर्मणां सम्भवाद्यथाश्रुतविरोधाभावाद्वानप्रस्थादिलक्षणायाः प्रयोजनाभावाच्च ।

सप्तमोक्तचेतनाचेतनरूपप्रकृतिद्वयस्यापि ब्रह्मस्वरूपादत्यन्तभेदोऽस्माभिस्तत्रतत्र समर्थितः । अपरप्रकृतेरष्टधाविभागश्च यथाश्रुत एवोपपन्न इति स्थापितम् । यच्च 'रसोऽहमप्सु' [७।८] इत्यादिसामानाधिकरण्यनिर्वाहायोक्तं 'समस्तकल्याणगुणसमष्टिविग्रहोऽहम्, अतो मदंशाः सर्वे सर्वत्र कल्याणगुणा इत्यभिप्रायेणाऽऽह' इति; तत्र तावद्रसादिकल्याणगुणसमष्टिर्न भगवत्स्वरूपं, नचाप्राकृतस्य विग्रहस्य प्राकृतरसादिमयत्वम्; अतः परिशेषाद्रसादीनामेव विग्रहत्वमुक्तं स्यात्; तत्र समष्टिव्यष्टिभावेनांशत्वोक्तिर्निष्फला । तस्मात्तदुत्पत्तितादधीन्यादिभिरेव सामानाधिकरण्यगमनिका समीचीना । भेदाभेदनयेन कल्याणगुणतादात्म्यविवक्षायामकल्याणैरपि सर्वात्मनस्तस्य तादात्म्यात् समस्तहेयास्पदत्वादिदोषप्रसङ्गः । एवमुत्तरेष्वपि सामानाधिकरण्येषु भाव्यम् ।

अष्टमे च 'किं तद्ब्रह्म' [८।१] इत्यादिप्रश्नानामेकाधिकारिवेद्यविषयत्वं तत्रैवास्माभिर्निराकृतम् । ब्रह्मायुर्दिवसकल्पना पौरुषाहोरात्रकल्पनामूलमहाकल्पप्रक्रियोपन्यासश्च स्मृत्यन्तरानुसारेणास्माभिरप्यभ्युपगमाद्धिरण्यगर्भदिवसावसाने महाप्रलयवादिनामयमुपालम्भः । 'यद्गत्वा (यं प्राप्य) न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम' [ १५ । ६ ] इत्यस्य परमव्योमविषयतायां सिद्धान्तविरोधाभावेऽप्यत्र परिशुद्धात्मविषयत्वे युक्तयस्तत्रैवावस्थापिताः । यत्पुनः 'अग्निर्ज्योतिः' [ ८।२४ ] 'धूमो रात्रिः' [ ८।२५ ] इत्यत्राग्निधूमशब्दाभ्यामहोरात्रैकदेशभूतः कालविशेषो लक्ष्यत इति; तदसत्, तत्तच्छब्दैरत्र देवयानपितृयाणाख्यगतिद्वयप्रत्यभिज्ञानात्, 'नैते सृती' [ ८।२७ ] इति निगमनात्, 'यत्र काले' [ ८।२३ ] इत्युपक्रमस्थकालशब्दस्य कालाभिमानिदेवतातिवाहिकभूयस्त्वविवक्षया स्थापितत्वाच्च । अतः 'उदगयनपूर्वपक्षाहःपूर्वाह्णसन्निपाते ब्रह्मविद्भिर्योगिभिरपुनरावृत्तये प्रयातव्यम्' इति नियमनमशक्यम् । दक्षिणायनापरपक्षापराह्णरात्रिषु प्रयातानां योगिनां चान्द्रमसज्योतिः प्राप्य पुनरावृत्तिप्रतिपादनमुत्तरेण श्लोकेन कृतमित्यप्यसत् 'निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्शयति च' [ ब्र. सू. ४।२।१९ ] 'अतश्चायनेऽपि दक्षिणे' [ ब्र. सू. ४।२।२० ] इत्यधिकरणाभ्यां दक्षिणायनरात्रिमृतस्यापि योगिनस्तैत्तिरीयोक्तप्रक्रियया चन्द्रसायुज्यपूर्वकं परब्रह्मप्राप्त्यपुनरावृत्त्योः समर्थितत्वेनास्य श्लोकस्य साक्षात् योगिव्यतिरिक्तधूमादिमार्गोचिताधिकारिविषयत्वव्यवस्थापनात् । यच्च कथं पुनरग्निज्योतिर्धूमशब्दयोर्यथोक्तकालविशेषपरत्वमवगम्यते ? इति परिचोदनापूर्वकमुक्तं, श्रुतिषु च स्मृतिषु च समस्तासूदगयनपूर्वपक्षाहःपूर्वाह्णानां सामान्यतो दैवकर्माङ्गत्वोपदेशात्प्रयाणकालानुस्मरणस्यापि दैवत्वाविशेषात् शास्त्रान्तरेष्वनयोर्दैवकर्मत्वेन दक्षिणायनादिषु वर्जनप्रसङ्गात् इति ।

यत्पुनः 'असमाहितचित्तानामपि सुकरं सुखावगमं क्षिप्रं फलं प्रति भगवत्प्रपत्तिप्रकारं वक्तुं भगवानुवाच' इति नवमारम्भे व्याख्यातम्, तदपि पूर्वोक्तज्ञानिसाध्यानन्यभजनस्यैव प्रपञ्चनपरत्वप्रतीतेरपाकृतम् । यच्च 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' [ ९।१५ ] इति श्लोके प्रकल्पितं 'साङ्ख्ययोगाभ्यां समुच्चिताभ्यामुपासनमेकत्वेन उपासनं, विकल्पिताभ्यामुपासनं पृथक्त्वेनोपासनं, बुद्धियोगो वाऽत्र ज्ञानशब्देन विवक्षितः तत्राप्ययमर्थः 'केचित्कर्मयोगबुद्धियोगाभ्यां समुच्चिताभ्यामुपासते; केचित्केवलेन कर्मयोगेन; अपरे केवलेन बुद्धियोगेनेत्येवं बहुधोपासते' इति । अत्र साङ्ख्ययोगादिप्रसङ्गकं न किञ्चिद्दृश्यते । 'अहं क्रतुः' [ ९।१६ ] इत्याद्यनन्तरविवरणग्रन्थानुसारेण एकत्वपृथक्त्वयोरुपास्यविषयत्वं सुस्पष्टम् । 'अनन्या-

श्चिन्तयन्तो माम् ' [ ९।२२ ] इत्यादौ तु नचावश्यम्भाविने योगक्षेमायापि मद्भक्तैरेकान्तिभिर्दैवतान्तराणि धर्मान्तराणि वापेक्षणीयानीत्यादिकं सर्वमङ्गीकृतमस्माभिः ।

दशमे च ' विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च ' [ १८ ] इत्यत्र योगशब्दस्य भगवत्कर्मयोगविषयतया व्याख्यानमयुक्तम् , ' पश्य मे योगमैश्वरम् ' [ ११।८ ] ' एतां विभूतिं योगं च ' [ १०।७ ] इत्यादिप्रत्यभिज्ञाविरोधात् , अनन्तरमस्मिन्नध्याये तद्विस्तरादर्शनाच्च ।

' मत्कर्मकृत् ' [५५] इत्याद्येकादशाध्यायान्तिमश्लोकस्तदुत्तरमित्यपि दूरव्यवधानात्तत्रापि विस्तरादर्शनाच्च निरस्तम् । विभूतिविशेषाणां कृत्स्नस्य च जगतः स्वरूपैकदेशत्वेनांशतया सामानाधिकरण्यवर्णनमपि प्रागुक्तसदोषत्वादिप्रसङ्गप्रक्रियया परास्तम् । एवं श्रीविश्वरूपविग्रहस्यावयवत्वेन विश्वस्य वर्णनमपि प्राकृताप्राकृतविभागादवधूतम् ।

द्वादशोक्तस्याक्षरोपासनस्य भगवदुपासनाद्भेदः स्ववाक्यस्वारस्यपुरुषोत्तमत्वादिप्रकरणान्तरैकरस्यादिभिः साधितः । यत्पुनः— भेदव्यपदेशास्तु कथञ्चिदवस्थाभेदमाश्रित्य नेतव्याः; अवस्थाभेदश्चात्र निर्विशेषनिखिलवस्तुमात्ररूपता, आविर्भूतसमस्तकल्याणगुणसमष्टिरूपता च विवक्षिता— इति तदेतदनेकविषयव्याघातविसंस्थूलमाकुमारमपहास्यम् । अन्यत्र च दूषणप्रपञ्चनादिहोपरम्यते ।

त्रयोदशे क्षेत्रज्ञविषये वक्तव्यं सर्वं पूर्वमेवोक्तम् । ' यतश्च तत् ' [ १३।४ ] इति पाठोऽप्रसिद्धः । तथापाठेऽपि ज्ञानपरामर्शोऽस्वरसः । क्षेत्रस्य नित्यत्वेनाहेतुकत्वाद्धेतुर्न निर्दिष्ट इत्युक्तमिति चेत् , सत्यमुक्तं, दुरुक्तं तु तत् , ' महाभूतान्यहङ्कारः ' [१३।६] इत्यादिना वक्ष्यमाणस्य क्षेत्रस्याव्यक्तव्यतिरिक्तस्य समस्तस्यानित्यत्वसम्प्रतिपत्तेः, 'तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं द्विजसत्तम ! । अव्यक्तं पुरुषे ब्रह्मन्निष्कले सम्प्रलीयते' [वि.पु.] इत्यादिभिर्नित्यस्याप्यव्यक्तस्य परब्रह्मण्येकीभावपृथग्भाववचनाच्च । यच्च 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव' [१३।५] इत्यत्रोक्तं– ' क्षेत्रादितत्त्वव्यवस्थापनपराणि पञ्चशिखादिप्रणीतानि सूत्रपदानि ' इति, तदप्यनादेशिकं, पञ्चशिखादिग्रन्थे ब्रह्मसूत्रप्रसिद्ध्यभावात् । यत्तु ' मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ' [ १३।१९ ] इति निगमनाद्भगवानेव ' ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि ' [ १३।१३ ] इत्यत्र ज्ञेयत्वेनोक्त इति; तन्न, ' इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ' [१३।१९] इति निगमितानां त्रयाणामेतच्छब्देनानुवादात् , तत्र क्षेत्रज्ञज्ञानवत्कर्मवश्यक्षेत्रज्ञज्ञानस्यापि मोक्षोपयोगित्वोपपत्तेः, क्षेत्रादिज्ञानरूपस्यापि शास्त्रार्थस्य सर्वप्रशासितुर्भगवतः समाराधनरूपत्वेन ' मद्भक्त एतद्विज्ञाय ' [ १३।१९ ] इत्यनेन विरोधाभावाच्च ।

यदपि चतुर्दशे ' मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ' [ १४।३ ] इत्यत्र परावरप्रकृत्योर्जीवाव्यक्तसंज्ञयोरंशो मिलितो गर्भ इत्युक्तं, तत्र ब्रह्मशब्देनाव्यक्तस्य निर्दिष्टत्वात्तत्र तदंशाधानवचनस्य प्रयोजनाभावात् , ' क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् ' [१३।२७] इत्युक्तस्य चात्र प्रत्यभिज्ञानात् , गर्भशब्देन चेतनविवक्षैव युक्ता । 'सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते । ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ' [ १४।११ ] इति श्लोके प्रकाशज्ञानशब्दयोः बाह्यान्तरेन्द्रियवृत्तिविषयतया व्यवस्थापनमशक्यं, विपरिवर्तेऽपि विरोधभावाद्वक्ष्यमाणराजसतामसज्ञानव्यवच्छेदार्थं प्रकाशशब्दप्रयोगोपपत्तेश्च । रजःकार्यश्लोके लोभप्रवृत्तिर्लोभोद्भव इति समस्ततया व्याख्यानमयुक्तं, तथाऽनध्ययनात् , 'अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च' [ १४।१३ ] इति तमःकार्यश्लोके सत्त्वकार्यप्रकाशनिषेधवद्रजःकार्यप्रवृत्तिनिषेधस्यापि पृथगुपन्यासात्तत्प्रतियोगितया प्रवृत्तेरिह पृथङ्निर्देशोपपत्तेः, 'आरम्भः कर्मणाम् ' [१४।१२] इत्यस्य तु गोबलीवर्दन्यायेन निर्वाहात् ।

पञ्चदशेऽपि ' प्रपद्येयतः प्रवृत्तिः ' [ १५।४ ] इति पाठोऽप्रसिद्धः । यदपि ' ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ' [ १५।७ ] इत्यत्र संसारिव्यतिरिक्तः सर्वेश्वरस्यैव कश्चिदंशो जीवशब्दार्थतया प्रथमं व्याख्यायि; तत्र यद्यपि अर्थविरोधो नास्ति, तथापि विभूतिप्रकरणमध्यपाठादन्तर्यामिणस्तु ' सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः ' [ १५।१५ ] इत्यनन्तरमेव वक्ष्यमाणत्वात् , परमात्मांशविशेषे च जीवशब्दस्य प्रसिद्धिप्रकर्षाभावात् मानवादिशास्त्रान्तरप्रसिद्धेरपि 'जीवभूतां महाबाहो ! ' [७।५] इति स्वशास्त्रप्रसिद्धेर्बलवत्त्वेन स्वीकर्तुमुचितत्वात् ' विषयानुपसेवते ' [१५।९] इत्यत्र च प्रतिकूलोदासीनभोगेभ्यः सङ्कोचस्य क्लिष्टत्वादुत्क्रमणाद्युक्तेः, हृदयव्याप्तेरन्तर्यामिणः स्वारस्यादिन्द्रियाधिष्ठानेश्वरशब्दादेश्च तत्तन्नियन्तरि संसारिण्यप्युपपत्तेः, ' आत्मन्यवस्थितम् ' [ १५।११ ] इत्यत्र चात्मशब्दस्य नानार्थस्य प्रकरणोचितार्थपरिग्रहोपपत्तेः, भवदुक्ता द्वितीयैव योजना भाष्यकृदभिमता समीचीनेति मन्यामहे । ' वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः ' [१५।१५ ] इत्यादौ वेदवेदान्तशब्दयोर्वक्तव्यं प्रागेवोक्तम् । ' कूटस्थोऽक्षरः ' [ १५।१६ ] इत्यस्य जीवभूतपरप्रकृतिव्यतिरिक्ते मुक्ते वृत्तिश्च साधुतरा ।

यत्तु षोडशे प्रोक्तं— प्रकारान्तरेणार्जुनस्य शोकमपनेतुं दैवप्रकृतीनां रूपं; तेषां परमकल्याणप्रत्यासक्तेरर्जुनस्य दैवप्रकृतित्वमासुरप्रकृतीनां रूपं, तन्निमित्तता च सकलस्यानर्थजातस्योक्तम्– इति । तदयुक्तं, शास्त्रारम्भेऽर्जुनस्य स्वप्रकृत्यनिर्धारणमूलशोकप्रसङ्गाभावात् , अत्र तत्प्रसङ्गे तदपनोदनस्यापि प्रासङ्गिकस्य युक्तत्वात् ; अतः ' तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ' [ १६।२४ ] इति निगमनानुसारेण भगवद्यामुनेयोक्तप्रक्रियया शास्त्रवश्यतैवाध्यायप्रधानार्थः ।

सप्तदशे श्रद्धात्रैविध्यं शास्त्रीयेतरविषयमित्ययुक्तम् ; अनन्तरम् , ' अशास्त्रविहितम् ' [ १७।५ ] इति पृथगभिधानात् । न च तत्र श्रद्धात्रैविध्यमपि समुच्चेतुं शक्यं, तदनुक्तेस्तत्कृत्यनुपपत्तेश्च । ' ॐ तत्सदिति निर्देशः ' [ १७।२३ ] इत्यत्र मुमुक्षूणां यज्ञादिषु किञ्चिदङ्गं तेषां वीर्यातिशयार्थमुपदिश्यत इत्युक्तम् , अमुमुक्षूणामपि तदविरोधाद्विशेषकाभावाच्च । अतो 'लक्षणं शास्त्रसिद्धस्य त्रिधा' [गी.सं. २१] इत्ययमेवार्थ उचितः ।

अष्टादशे त्यागस्वरूपादिविवेके नातीव विरोधः, चरमश्लोके वक्तव्यं तु सर्वं सूक्तमस्माभिः । एवमन्येष्वपि भूतेषु भविष्यत्सु

च श्रीमद्गीताभाष्येषु भगवद्यामुनाचार्यभाष्यकारमतानुसारेण दिङ्मोहः प्रशमयितव्यः। क्षुद्रस्खलितेष्वदूरविप्रकृष्टयोजनाभेदेषु चोदासितव्यमित्यलमतिप्रसङ्गेन।

पिशाच-रन्तिदेव-गुप्त-शङ्कर-यादवप्रकाश-भास्कर-नारायणार्य-यज्ञस्वामि-प्रभृतिभिः स्वं स्वं मतमास्थितैः परश्शतैर्भाष्यकृद्भिः अस्मत्सिद्धान्तर्तीर्थकरैश्च भगवद्यामुनाचार्यभाष्यकारादिभिरविगीतपरिगृहीतोऽयमत्र सारार्थः— "भगवानेव परं तत्त्वम्, अनन्यशरणैर्यथाधिकारं तदेकाश्रयणं परमधर्मः" इति॥ ६६॥

**६ आ. मा. भा.— धर्मत्यागः फलत्यागः। कथमन्यथा युद्धविधिः?। 'यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते' [१८।११] इति चोक्तम्॥ ६६॥**

**६ ज. प्र. दी.**— सर्वधर्मान् परित्यज्येति वर्णाश्रमविहितानामपि सर्वधर्माणां परित्यागो विधीयत इत्यन्यथाप्रतीतिनिरासार्थमाह— **धर्मे**ति। प्रतीत एवार्थः किं न स्यात्? इत्यत आह— **कथमि**ति। अस्मिञ्छास्त्रे क्रियत इति शेषः। अशाब्दोऽयमर्थ इति चेत्, न; धर्मशब्दस्य स्वकार्यफलोपलक्षणत्वात्। एवमेव भगवता व्याख्यातत्वाच्चेत्याह— **यस्त्वि**ति॥ ६६॥

**७ ह. पै. भा.— सर्वेति। सर्वधर्माञ्छ्रुतिस्मृत्याचारसिद्धान्परित्यज्य मां नारायणाख्यमाश्रयं व्रज गच्छ। अहं पुनः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्वासुदेवस्त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि। मा शुचो मा शोकं कार्षीः॥ ६६॥**

**८ वें. ब्र. गि.**— अथ शास्त्रं समापयन्कृत्स्नगीतार्थसारमर्जुनस्य बुद्धिसौकर्याय सङ्गृह्योपदिशति— **सर्वधर्मा**निति। अत्रायमस्य भगवत्पादभाष्योक्तार्थः— सर्वे च ते धर्माश्च सर्वधर्माः— धर्मशब्देनाधर्मोऽपि गृह्यते, नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वात्— "नाविरतो दुश्चरितात्" [कठो. २।२३] 'त्यज धर्ममधर्मं च' [सन्न्यासो. २।११ म.भा. १२।३३१।४४] इत्यादिश्रुतिस्मृतिदर्शनाच्च। एवं च सर्वकर्माणि सन्न्यस्य मामीश्वरमहमेवेत्येकं शरणं व्रज, न मत्तोऽन्यदस्तीत्यवधारय। अहं च त्वामेवं निश्चितबुद्धिं सर्वपापेभ्यः सर्वेभ्यो धर्माधर्मरूपबन्धेभ्यो मोक्षयिष्यामि; ततः संसारान्मा शुच इति।

एवं च सर्वकर्मसन्न्यासपूर्वकमद्वितीयब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानमखिलशोकनिवर्तकमिति गीतार्थसारः सङ्गृहीतो भवति। 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम् ... नानुशोचन्ति पण्डिताः' [२।११] इत्युपक्रम्य तथैवोपसंहारादुपक्रमोपसंहारैकरूप्यमपि दर्शितं भवति। एवं स्थिते, यदत्र मधुसूदनसरस्वतिभिर्दूषितम्— "धर्मपदं कर्ममात्रोपलक्षणमित्ययुक्तम्। न ह्यत्र सर्वकर्मसन्न्यासो विधीयते, सन्न्यासशास्त्रेणैव तस्य प्राप्तत्वात्। न चेदमपि सन्न्यासशास्त्रम्, 'मामेकं शरणं व्रज' इति भगवदेकशरणताया विधित्सितत्वात्। सर्वेषामपि शास्त्राणामीश्वरशरणतैव परमं रहस्यमिति तत्रैव शास्त्रपरिसमाप्तिर्भगवता क्रियते, तामन्तरेण सन्न्यासस्यापि स्वफलापर्यवसायित्वात्। अर्जुनं च क्षत्रियं सन्न्यासानधिकारिणं प्रति ज्ञानोपदेशायोगात्। तथा च श्लोकस्यायमर्थः— सर्वानपि धर्मान्परित्यज्यानादृत्य मामेकमद्वितीयं सर्वधर्माधिष्ठातारं तत्फलदातारं च शरणं व्रज। एवं सर्वधर्मानादरेण मदेकशरणं त्वामहं सर्वधर्मकार्यकारित्वात्तत्स्थानीयः सर्वपापेभ्यो बन्धुवधादिनिमित्तकेभ्यो मोक्षयिष्यामि। अतो मा शुचः बन्धुवधादिप्रत्यवायात्कथं निस्तरः स्यात्? इति शोकं मा कार्षीरिति" इति।

अत्र ब्रूमः— केयं भगवदेकशरणता? किं भगवानेवाहमिति ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानरूपा, किंवा भगवानेव शरणमिति तदेकाश्रयणरूपा?। नाद्यः, नैष्कर्म्यस्य विवक्षितत्वादिति भाष्योक्तार्थस्यैव जातत्वेन 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इत्यस्य सर्वकर्मसन्न्यासपरत्वस्यैव प्राप्त्या तन्निषेधायोगात्। नान्त्यः, 'मन्मना भव मद्भक्तः' [१८।६५] इति पूर्वश्लोक एवैतादृश्या भगवदेकशरणतायाः प्रतिपादितत्वेन पुनरप्यत्र तत्प्रतिपादनायोगात्। उक्तं हि (शां.) भाष्ये- "'मन्मना भव' इति श्लोके भगवच्छरणैकपरायणो भवेदिति वाक्यार्थः" इति। 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' इति श्लोकेऽप्युक्तम् सर्वकर्मयोगनिष्ठायाः परमं रहस्यमुपसंहृत्य अथेदानीं कर्मयोगनिष्ठाफलं सम्यग्दर्शनं सर्ववेदान्तविहितं वक्तव्यमित्याह— सर्वधर्मान्परित्यज्येति।

एवं च 'मन्मना भव' इति श्लोके भगवदेकशरणतारूपं मुख्यं ज्ञानसाधनमुक्तम्। 'सर्वधर्मान्' इति श्लोके तु तत्फलमखिलगीताप्रतिपाद्यं ब्रह्मात्मतत्त्वज्ञानमुपदिश्यत इत्युपक्रमोपसंहारैकरूप्यानुमोदितं भाष्यकृद्व्याख्यानमेव श्लिष्टमिति स्पष्टे सति कोऽयमस्थाने व्याख्यानाग्रहः? किञ्च 'सर्वशास्त्राणामीश्वरशरणतैव परं रहस्यं' [शां. ] इति तत्रैव शास्त्रसमाप्तिर्भगवता क्रियत इति वदद्भिस्तत्परमेवेदं गीताशास्त्रमिति किमङ्गीकृतम्? अङ्गीकृतमेवेति चेत्, शान्तं पापम्; किमपराद्धं तर्हि भक्तिशास्त्रमेव गीतेति वदता रामानुजेन? किमिति श्रीधरीयं भक्तिप्रधानं? भगवद्भाष्यं तु ज्ञानप्रधानमिति भाष्याननुगुणस्थले श्रीधरीयं त्यज्यते? किमिति वा सर्वगीतार्थमुपसंहरन्नाह— 'इति ते ज्ञानमाख्यातं' [१८।६३] इति। इति भवद्व्याख्यानमेव भवद्भिर्नानुसन्धीयते येन स्वव्याघातकमेवेत्थं व्याख्यायते? उपपादितं च ज्ञानपरत्वं गीताया निपुणतरम्। अपि च शब्दार्थस्वारस्यं वा किमिह भवद्भिर्दृष्टं येन भाष्यविरुद्धमि-

त्थमुच्यते ? न हि ‘ सर्वधर्मान्परित्यज्य ’ इत्यस्य तानःनादृत्येति मुख्यार्थः, परित्यागानादरयोरपर्यायत्वात् , धर्मपरित्यागस्य तदादरत्यागरूपत्वे चाशब्दार्थज्ञानापातात्, ‘ मामेकं शरणं व्रज ’ इत्यनेनैव धर्मानादरसिद्ध्या ‘ सर्वधर्मान्परित्यज्य’ इत्यस्य वैयर्थ्याच्च ।

न च ‘ यज्ञायज्ञीये साम्नी, ऐरं कृत्वोद्गेयम् ’ इत्यत्र ‘ न गिरागिरेति ब्रूयात् ’ इतिवत्तत्कार्यतालाभाय ‘ सर्वधर्मान् परित्यज्य ’ इति निषेधानुवादः सार्थकः; एवं च गिरापदकार्यकारित्वमिरापदस्येव सर्वधर्मकार्यकारित्वं ममैवेति मदेकशरणस्य नास्ति धर्मापेक्षेत्यर्थः फलतीति वाच्यम् ; ‘ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि ’ इत्यनेनैव सर्वधर्मकार्यकारित्वस्यापि भगवति लब्धत्वेन दृष्टान्तवैषम्यात्। न च भाष्यकारव्याख्यानेऽपि ‘ शरणं व्रज ’ इति भेदगर्भतोक्त्यनुपपत्तिरिति वाच्यम् ; ‘ तस्यैवाहं ममैवासौ स एवाहमिति त्रिधा । भगवच्छरणत्वं स्यात्साधनाभ्यासपाकतः ’ इति भवद्भिरेवोच्यमानत्वेन स्वव्याघातात् , एकपदेन भेदगर्भशरणागतिव्यावृत्त्यवगमेन भाष्यार्थ एव स्वारस्याच्च । न च मुख्यान्यकेवलार्थकत्वमेकशब्दस्यात्रेति द्वैतिव्याख्यानं युक्तम् , ‘ सर्वधर्मान्परित्यज्य ’ इत्यनेनैव तल्लाभात् ।

यत्तूक्तं भगवदेकशरणतां विना सन्न्यासोऽपि न स्वफलापर्यवसायीति सैवात्र विधेया अर्जुनं क्षत्रियं सन्न्यासानधिकारणं प्रति तत्पूर्वकज्ञानोपदेशायोगश्चेति । तत्राद्यमसत् , ‘ मन्मना भव ’ इति पूर्वश्लोक एव भगवच्छरणताया विहितत्वेनात्र सर्वकर्मसन्न्यासविधानस्येव तद्विधानस्यास्य सिद्धेः । द्वितीयं त्वशुद्धम् ; सन्न्यासस्य श्रवणाङ्गत्वे ज्ञानाङ्गत्वे वा अर्जुनस्य सन्न्यासानधिकारिणस्तत्त्वज्ञानोपदेशायोग्यतया तं प्रति तदुपदेशरूपस्य गीताशास्त्रस्यैवासङ्गतिप्रसङ्गात् । यद्युच्येत ब्राह्मणस्येव क्षत्रियवैश्ययोरपि सन्न्यासेऽधिकारोऽस्ति, जाबालोपनिषदि “ यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ” [ ४+ना .प. १।७७+प. हं.प. १+या. उ. १ ] इत्यविशेषेण सन्न्यासविधानात् , ‘ ब्राह्मणः क्षत्रियो वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद्गृहात् ’ इत्यादिस्मृतेश्च, इतिहासपुराणादिषु राज्ञामपि बहुशः सन्न्यासप्रतिपादनाच्च “ ब्राह्मणो निर्वेदमायात् ” [ मुं. उ. १।२।१२ ] इति सन्न्यासविधिगतब्राह्मणग्रहणस्य । ‘ ब्राह्मणग्रहणं चात्र द्विजानामुपलक्षणम्’ इति वार्त्तिकोक्तन्यायेन त्रैवर्णिकोपलक्षणार्थत्वात् , अतोऽर्जुनस्यापि सन्न्यासाधिकारोऽस्तीति न विरोध इति; तदत्रापि तुल्यमिति यत्किञ्चिदेतत् ।

गीताशास्त्रवदावदो यदुपतिर्गीतः स नारायणः
श्रीमान्भाष्यकृदप्यमुष्य विदितः श्रीशङ्करः शङ्करः ।
अद्वैतं हृदयं तयोरिति विदन्त्याचार्यनिर्धारिता-
नर्थानन्यथयन्त्यथापि सुधियोऽप्याहो विमोहोदयः ॥ ६६ ॥

९ व० त० दी०— अथैतदप्यशक्तोऽसि मुख्यं कर्तुमिह चेत्तर्हि तुभ्यं तदनुकल्पमेवाहमुपदिशन्नेवाऽऽह(अत इदानीं तव तु मयि मुख्यकर्तरि परदेवतायां परमात्मनि धर्मकर्मभारं सन्न्यस्य मदेकशरणतया मदुक्तकारित्वमुचितं एवं च मोक्षोऽपीत्याह )–सर्वधर्मान्परित्यज्येति । अत्र सर्वधर्मपरित्यागमनूद्य शरणगमनं विधीयते; तेन सर्वपदेन शरणमार्गीयविरोधिधर्मा उच्यन्ते, तेषां परित्यागस्तदविरोधिनां विधानं सूच्यते ‘मन्मनाः’ इत्यनेन सङ्गतिसम्भवात् । यद्वा मयि धर्मिणि गृहीते धर्माः पुनर्नोपादेयाः ‘ स्वराडिव निपानखनित्रमिन्द्र— ’ इति न्यायात् । अथवा ‘ मय्येव मन आधत्स्व ’ इत्यत्रैवकारेणेतरभजनं वार्यते, तेनात्रापीतरभजनरूपान् ‘ सर्वधर्मान् परित्यज्य ’ इति मर्यादामार्गीयस्यार्जुनस्येतरभजननिरतस्य पुष्टौ निवेशनार्थमितरभजनरूपधर्मपरित्याग उच्यते भगवता । अतएव तथाभूतस्य तस्य तत्त्यागे पापसम्भावनाऽपि भवति । तत्र पुष्टिपुरुषोत्तमस्वरूपभावमाविष्कुर्वन्नाह ’ ‘ अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ’ इति; सर्वनिरोधार्थावतारत्वादित्याशयः ।

एतच्च सर्वं न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्तेति वेदान्ताचार्यपद्ये निरूपितम् । तथाहि अष्टादशाध्याये भगवदुक्तेषु न्यासादेशेषु ‘ सर्वधर्मान्परित्यज्य ’ इति धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियोक्ता सर्वधर्मपरित्यागतः, न किञ्चन परमात्मातिरिक्तं येषां किन्तु हरिरेव परमात्मा सर्वं तेषामधिकार उक्तो न्यासादेशेष्वित्यर्थः । कार्पण्यं वा साधनबलराहित्याद्दैन्यम् । दीना हि ‘ बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्तो धर्मादिसाधनबलाशारहिता गोपिका इव भगवदेकशरणा भवन्ति’ इति कार्पण्यं न्यासादेशेष्वङ्गमुक्तम् । मदितर भजनापेक्षणं वेति । अनन्या हि कक्षीवदादय इव मदितरभजनधर्मापेक्षणं व्यपोह्य मदाज्ञाकारिण इति दुस्साध्येच्छोद्यमौ वा दुःसाध्या द्रोणभीष्मादिमारणपापप्रायश्चित्तरूपा धर्मास्तेषु इच्छोद्यमौ व्यपोढुं त्याजयितुं तत्त्यागः उक्त इति । अत्र विशेषस्तु श्रीविठ्ठलेश्वरप्रभुचरणकृतितोऽवगन्तव्यः । प्रकृते ‘ मोचयिष्यामि ’ इति वक्तव्ये ‘ मोक्षयिष्यामि ’ इत्युक्त्या सकलधर्ममर्यादाभिनिविष्टचेतसेऽर्जुनाय स्वाश्रितजनपोषकेणाक्लिष्टकर्मणा भगवता निरतिशयानुग्रहरूपारणस्वीकाररूपोऽन्यतो मोक्षो दत्त इति ज्ञायते ।

अयमेव हि सन्न्यासः साङ्ख्ये योगे च भक्तितः । उक्तो भगवदर्थेन हरिं गृह्णीत कर्मणा ॥ १ ॥

एवं च गायमानं मामापन्नः शरणं भवान् । करोतु मन्निगमितं निजधर्ममहैतुकम् ॥ २ ॥

इति श्रीकृष्णवाक्येषु सत्यं तत्त्वं प्रतीयते । मर्यादापुष्टिमार्गाधिष्ठाता यत्पुरुषोत्तमः ॥ ३ ॥ ६६ ॥

१० पु. अ. त.— नन्वेतत्कथं सिद्ध्येत् ? इत्याशङ्क्याऽऽह-सर्वधर्मानिति । सर्वधर्मान् चोदनालक्षणान् परित्यज्य कर्त्तव्योत्तमत्वलक्षणज्ञानाभावेन त्यक्त्वा मामेकं मुख्यं पुरुषोत्तमं शरणं व्रज इत्यर्थः । 'धर्मान्' इति बहुवचनेन 'मामेकं' इत्येकवचनेन च तत्रायाससाध्यत्वं साक्षात्पुष्टेयत्वम्, अत्र सुखसेव्यत्वं सर्वफलदानसामर्थ्यं च ज्ञापितम् । सर्वधर्मपदेन लौकिकालौकिकधर्मत्यागयुक्तो भवेत्यसङ्कुचितवृत्त्या । विशेषेणास्यार्थस्तु श्रीमद्विठ्ठलेश्वरैरस्मत्प्रभुचरणैर्निरूपित इति नात्र प्रपञ्च्यते । एवं सर्वधर्मत्यागेन शरणागतौ पूर्वोक्तं सिद्ध्यतीत्यर्थः । ननु पूर्वजन्मसञ्चितपापप्रतिबन्धकतया कथं सर्वधर्मत्यागः शरणागतिर्वा सेत्स्यति ? इत्यत आह—अहमिति । अहं त्वां पूर्वोक्तस्वेष्टत्वात् सर्वपापेभ्यः प्रतिबन्धकरूपेभ्यो मोक्षयिष्यामि मोचयिष्यामि, प्रतिबन्धकपापादिस्मरणेन मा शुचः शोकं माकार्षीः ॥ ६६ ॥

११ नी० भा० टी०— एवं नमनयजनभजनमननक्रमेण साङ्ख्यनिष्ठा उक्ता, या पूर्वं 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति' [ १३।२५ ] इत्यनेन श्लोकेन दर्शिता; इदानीं 'अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्य उपासते । तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः' [१३।२६] इति केवलोपास्तिनिष्ठा योगाख्योक्ता, तामाह— सर्वेति । सर्वेषां वर्णानामाश्रमाणां देहेन्द्रियबुद्धीनां च धर्मानग्निहोत्रादीन् सुखदुःखादींश्च त्यक्त्वा मामेकं सर्वेश्वरं सर्वशक्तिं सोपाधिं निरुपाधिं वाऽखण्डैकरसमानन्दघनं परमात्मानं शरणं शृणाति हिनस्त्यविद्यादीन् क्लेशादीन् शरणमाश्रयः परायणं गच्छ प्राप्नुहि; मदेकशरणो भवेत्यर्थः । अत्र 'अन्नं भुक्त्वैव तृप्यति, न तु जलमात्रं पीत्वा' इतिवत् हेतुत्वं क्त्वाप्रत्ययार्थः । सर्वधर्मपरित्यागेन मां शरणं व्रजेत्यर्थः । यथोक्तं 'अनात्मदर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे' इति ।

एतस्य भगवच्छरणीकरणस्य फलमाह— अहं त्वेति । अहं प्रत्यगात्मा सूर्याद्यन्तर्यामी नारायणः सकलपाप्मविनिर्मुक्तः सम्यग्ज्ञातः सन् त्वा त्वां सर्वपापेभ्यः सञ्चितक्रियमाणेभ्यो गोत्रवधादिजेभ्यो मोक्षयिष्यामि; मा शुचः शोकं माकार्षीः । तथा हि— तत्त्वज्ञानफलं पापास्पर्शः शोकतरणं च सर्वश्रुतिस्मृतिप्रसिद्धं आदित्यान्तर्वर्तिनं नारायणं प्रकृत्य छान्दोग्ये श्रूयते— "स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद" [ छां.उ. १।६।७ ] "तरति शोकमात्मवित्" [ छां. उ. ७।१।३ ] "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" [ ई. उ. ७ ] इति । उदितः ऊर्ध्वमितो गतः पापान्युत्क्रम्य गतो निष्पाप इति श्रुतिपदार्थः । वर्णाश्रमधर्मसन्न्यासपूर्वकं षष्ठाध्यायेनोक्तेन योगेन देहादीनां धर्मांश्च त्यक्त्वा निर्विकल्पमात्मानं साक्षात्कुर्वतो न कर्मलेप इत्यर्थः ॥ ६६ ॥

गीताशास्त्रानधिकारिमुखेन तदधिकारिणः ।

**इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन ।**
**न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥ ६७ ॥**

१ शां. भा.— सर्वं गीताशास्त्रार्थमुपसंहृत्यास्मिन्नध्याये विशेषतश्चान्त इह शास्त्रार्थदार्ढ्याय सङ्क्षेपत उपसंहारं कृत्वाऽथेदानीं शास्त्रसम्प्रदायविधिमाह— इदमिति । इदं शास्त्रं ते तव हिताय मयोक्तं संसारविच्छित्तयेऽतपस्काय तपोरहिताय न वाच्यमिति व्यवहितेन सम्बध्यते । तपस्विनेऽप्यभक्ताय गुरुदेवभक्तिरहिताय कदाचन कस्याञ्चिदप्यवस्थायां न वाच्यम् । भक्तस्तपस्व्यपि सन्नशुश्रूषुर्यो भवति तस्मा अपि न वाच्यम् । न च यो मां वासुदेवं प्राकृतं मनुष्यं मत्वाऽभ्यसूयत्यात्मप्रशंसादिदोषाध्यारोपणेन ममेश्वरत्वमजानन्न सहतेऽसावप्ययोग्यस्तस्मा अपि न वाच्यम् । भगवति भक्ताय तपस्विने शुश्रूषवेऽनसूयवे च वाच्यं शास्त्रमिति सामर्थ्याद्गम्यते; तत्र मेधाविने तपस्विने वेत्यनयोर्विकल्पदर्शनात् । शुश्रूषाभक्तियुक्ताय तपस्विने तद्युक्ताय मेधाविने वा वाच्यम् । शुश्रूषाभक्तिवियुक्ताय न

तपस्विने नापि मेधाविने वाच्यम्। भगवत्यसूयायुक्ताय समस्तगुणवतेऽपि न वाच्यम्। गुरुशुश्रूषाभक्तिमते च वाच्यमित्येष शास्त्रसम्प्रदायविधिः॥ ६७॥

**२ आ. शां. व्या.**— शास्त्रतात्पर्यार्थं विचारद्वारा निर्धार्यानन्तरश्लोकमवतारयति— **सर्वमिति**। प्रकृते खल्वष्टादशाध्याये गीताशास्त्रार्थं सर्वं प्रतिपत्तिसौकर्यार्थमुपसंहृत्यान्ते च 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' [ १८।६६ ] इत्यादौ विशेषस्तस्य सङ्क्षेपेणोपसंहारं कृत्वा सम्प्रदायविधिवचनस्यावसरे सतीदानीमिति योजना। किमिति विस्तरेणोपसंहृतः शास्त्रार्थः संक्षिप्योपसंह्रियते? तत्राऽऽह— **शास्त्रार्थेति**। सङ्क्षेपविस्तराभ्यामुक्तोऽर्थः सर्वेषां दृढतया बुद्धिमारोहतीत्यर्थः। हितायेत्येतदेव व्याचष्टे— **संसारेति**। कदाचनेति सर्वैः सम्बध्यते। प्रतिषेधसामर्थ्यसिद्धमर्थं कथयति— **भगवतीति**। अर्थसिद्धेऽर्थे स्मृत्यन्तरमनुसृत्य मेधावित्वमन्तर्भावयति— **तत्रेति**। विकल्पदर्शनात्तेषूक्तेषु विशेषणेषु मेधावित्वमपि प्रविशतीत्यर्थः। विकल्पपक्षे कथमधिकारिप्रतिपत्तिरिति तत्राऽऽह— **शुश्रूषेति**। ताभ्यां युक्ताय भगवत्यसूयारहिताय तपस्विने वाच्यमिति सम्बन्धः। तद्युक्ताय शुश्रूषाभक्त्यनसूयासहितायेत्यर्थः। तपस्वित्वं मेधावित्वं वा निरपेक्षमधिकारिविशेषणमिति शङ्कां शातयति— **शुश्रूषेति**। भगवद्विषयासूयाराहित्ये तात्पर्यं सूचयति— **भगवतीति**। कस्मै तर्हि वाच्यमेतदित्याशङ्क्य पूर्वोक्तसर्वगुणसम्पन्नायेत्याह— **गुरुशुश्रूषेति**। अनुक्तेतरविशेषणोपलक्षणार्थमुभयग्रहणम्। मेधाविनस्तपस्वित्वं नातीवापेक्षते सर्वमन्यद्बाधकाभावादपेक्षितमेवेति भावः॥ ६७॥

**३ रा. भा.**— इदं ते परमं गुह्यं शास्त्रं मयाऽऽख्यातम्; अतपस्काय अतप्ततपसे त्वया न वाच्यं; त्वयि वक्तरि, मयि चाभक्ताय कदाचन न वाच्यं, तप्ततपसे चाभक्ताय न वाच्यमित्यर्थः; न चाशुश्रूषवे भक्तायाप्यशुश्रूषवे न वाच्यं; नच मां योऽभ्यसूयति— मत्स्वरूपे मदैश्वर्ये मद्गुणेषु च कथितेषु यो दोषमाविष्करोति, न तस्मै वाच्यम्; असमानविभक्तिनिर्देशस्तस्यात्यन्तपरिहरणीयताज्ञापनाय॥ ६७॥

**४ वे. ता. चं.**— एवं स्वोपदेशेन प्रतिष्ठितस्वहितज्ञानस्य अर्जुनस्य कर्तव्यविशेषोपदेशव्याजेन सम्प्रदायविधिसिद्ध्यर्थमस्मिन् शास्त्रेऽनधिकारिणस्तावद्व्यनक्ति— 'इदं ते' इति श्लोकेन। 'इदम्' इति सामान्येन निर्दिष्टं पूर्वापरग्रन्थस्थैः पदैर्विवृणोति— **इदं ते परमं गुह्यं शास्त्रं मयाऽऽख्यातमिति**। अत्र तेशब्दः 'इति ते ज्ञानमाख्यातम्' [ १८।६३ ] इति श्लोकादाकृष्टः; श्लोकस्थस्य तु तेशब्दस्य **त्वयेति** व्याक्रिया। अतपस्कशब्देन तपःप्रारम्भमात्रे कृतेऽपि श्रवणानधिकारित्वं विवक्षितमित्याह— **अतप्ततपस** इति। 'यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ' [ श्वे. उ. ६।२३+सुबालो. १६।२+यो. शि. २।२२+शाट्याय. ३७ ] इति श्रुत्यनुसारेणाऽऽह— **त्वयि वक्तरि मयि चाभक्तायेति**। अभक्तत्वे विशेषसङ्कोचकाभावात्। 'मद्भक्तेष्वभिधास्यति' [ १८।६८ ] इत्यनन्तरं भक्तावादरदर्शनाच्च।

'कदाचन' इत्यनेन तपसि सम्यगनुष्ठितेऽपीति विवक्षितमित्याह— **तप्ततपसे चाभक्तायेति**। प्रत्येकपरिहरणीयत्वाय च नञ्प्रयोगावृत्तिः। उत्तरोत्तरतीव्रत्वतात्पर्येण क्रमविशेष इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **भक्तायाप्यशुश्रूषव** इति। अत्रापि सङ्कोचहेत्वभावात् पूर्ववत्। 'प्रब्रूहि तं श्रद्दधानाय मह्यम्' [ कठो. १।१।१३ ] इति श्रुत्या च शुश्रूषाप्राधान्यमवगतम्, मामभ्यसूयति मह्यमभ्यसूयतीत्यर्थः। 'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' [ अष्टा. १।४।३७ ] इति कर्मत्वस्यापि सिद्धत्वात् द्वितीयाऽत्रानपोदिता। मां प्रत्यसूयतीत्युक्तं भवति। विषयतो लक्षणतश्च असूयां व्यनक्ति **मत्स्वरूप** इत्यादिना। 'माम्' इति सप्रकारपरामर्श इति भावः।

प्रक्रमानुरोधेन 'नचाभ्यसूयवे' इति वक्तव्ये प्रक्रमभङ्गेन विरूपवाक्यकरणं केनाभिप्रायेणेत्यत्राऽऽह— **असमानेति**। "असूयकायानृजवे" [ मुक्तिको. १।५१ ] 'असूयकाय मां मादाः' [ मनुः २।११४ ] इत्यादिभिरसूयामात्रवते प्रवचनं निषिद्धम्। भगवत्यभ्यसूयावते तु प्रवचनमत्यन्तपरिहरणीयमिति भावः। 'नच ... वाच्यम्' इत्यनेनानधिकारिषु प्रवचने प्रत्यवायः सूचितः। अत्र 'मेधाविने तपस्विने वा' इत्यनयोर्विकल्पोऽन्यत्र दृष्टः; भक्त्यादेस्तु न तथा; अतो भक्त्यादिरहिताय न मेधाविने नापि तपस्विने वाच्यम्। सर्वगुणयोगेऽपि भगवत्यभ्यसूयावते न वाच्यमित्युक्तं भवति॥ ६७॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ६७॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ६७॥

**७ ह. पै. भा.**— इदमिति। इदं शास्त्रं तव हिताय मयोक्तं संसारविच्छित्तये। न विद्यते तपः स्वधर्मवृत्तिलक्षणं तस्यासावतपस्कस्तस्मै। न विद्यते मयि भक्तिर्भजनं सेवा यस्यासावभक्तस्तस्मै। कदाचन कदाचिदपि। न चाशुश्रूषवे यो गुरोरशुश्रूषुस्तस्मै। न च मामीश्वरं सर्वप्राणिसुहृदं योऽभ्य-

सूयति द्वेष्टि । इदं शास्त्रं त्वयाऽतपस्कायाशिष्याय न वाच्यं तथेश्वरेऽभक्ताय न वाच्यम्, मां यो द्वेष्टि तस्मै न वाच्यम् ॥ ६७ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं शास्त्रं परिसमाप्य सम्प्रति शास्त्रसम्प्रदायविधिमाह—इदमिति । इदं गीताशास्त्रं ते तव— मयोपदिष्टमिति शेषः । एतच्चातपस्काय असंयतेन्द्रियाय न वाच्यम् । यद्वा इदं शास्त्रमतपस्काय ते न वाच्यम्, अतपस्कं प्रति त्वया न वाच्यमित्यर्थः । 'कृत्यानां कर्तरि वा' [ अष्टा. २।३।७१ ] इति षष्ठी । तथा अभक्ताय मद्भक्तिरहिताय च कदाचिदपि न वाच्यम् । एवमशुश्रूषवे शुश्रूषां परिचर्यामकुर्वते च न वाच्यम् । यश्च मां परमभ्यसूयति आत्मप्रशंसादिदोषारोपणेन परमेश्वरत्वमसहमानो द्वेष्टि, तस्मा अपि न वाच्यम् । अत्र चैकैकविशेषणाभावेऽप्युपदेशायोग्यत्वप्रदर्शनाय चत्वारो नकाराः । 'नाभक्ताय कदाचन' इत्यनेन च अतपस्काशुश्रूषुभ्यामप्यभक्तस्यावश्यपरिहरणीयतोक्ता । तेन भक्तेर्मुख्यमुपदेशाधिकारिविशेषणत्वं प्रदर्शितम् । अत एव 'मद्भक्तेष्वभिधास्यति' [ १८।६८ ] इत्युत्तरश्लोके भक्तिमात्रेण पात्रता द्योत्यते । अतपस्कादींश्चतुर्थ्या निर्दिश्य 'न च मां योऽभ्यसूयति' इत्यसूयाविष्टस्यासमानविभक्तिनिर्देशस्तस्यातिपापिष्ठतया दूरपरिहरणीयत्वप्रदर्शनार्थः ॥ ६७ ॥

९ व० त० दी०— एवं स्वगीतार्थमुपदिश्य तत्सम्प्रदायप्रवर्तने नियमयति— इदमिति । गीतं ज्ञानं ते त्वयाऽतपस्काय न वाच्यम् । एवमन्यत्स्पष्टम् ॥ ६७ ॥

१० पु. अ. त.— एवं सकलशास्त्रार्थगीतार्थतत्त्वमुपदिश्य लोकोद्धारार्थमेतदुपदेशनेन मार्गप्रवर्तनार्थमधिकारिणमाह— इदं ते इति । इदं सर्वशास्त्ररहस्यं ते त्वया अतपस्काय स्वाचारहीनाय न वाच्यम् । न च अभक्ताय मद्भक्तिरहिताय कदाचन वाच्यम् । 'कदाचन' इतिपदेनाभक्तसंसर्गिणे भक्तायाऽपि न वाच्यमिति ज्ञापितम् । न च पुनः अशुश्रूषवे श्रवणेच्छारहिताय, अनासक्तायेत्यर्थः । यद्वा मत्परिचर्याहीनाय च न वाच्यम् । यो मां पुरुषोत्तमं बाहिर्मुख्येण अभ्यसूयति दोषारोपपूर्वकं कौटिल्येन निन्दति तस्मै च न च वाच्यम् ॥ ६७ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं श्लोकद्वयेन 'ज्ञानयोगेन साङ्ख्यानां कर्मयोगेन योगिनां' [ ३।३ ] इति साङ्ख्ययोगौ द्वितीयाध्याये दर्शितावुपसंहृत्य विद्यासम्प्रदायविधिमाह— इदमिति । अतपस्काय तप आलोचनं तद्रहिताय, अयत्नशीलायेत्यर्थः । अभक्ताय श्रद्धाहीनाय । अशुश्रूषवे गुरुसेवामकुर्वते । मां परमात्मानं योऽभ्यसूयति मदीयगुणासहिष्णुतया मयि दोषारोपपरो भवति, तस्मै नञः प्रत्येकं सम्बद्धत्वादेतेषां विशेषणानामन्यतमाभावेऽपि कदाचन महत्यपि सङ्कटे इदं न वाच्यं नोपदेष्टव्यम् । अत्र "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मां ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।" [मुक्तिको.१।५१ संहितो. ३।४ ] "यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।" [ श्वे. उ. ६।२३ ] इति श्रवणादसूयारहितायार्जवोपेतायाभ्यासशीलाय गुरुपरमेश्वराराधनपराय च एतद्रहस्यं देयं; नान्यस्मै इत्यर्थः ॥ ६७ ॥

गीताशास्त्रोपदेष्टुः फलम् ।

**य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति ।**
**भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥**

**१ शां. भा.**— सम्प्रदायस्य कर्तुः फलमिदानीमाह— य इति । इमं यथोक्तं परमं परमनिःश्रेयसार्थं केशवार्जुनयोः संवादरूपं ग्रन्थं गुह्यं गोप्यतमं मद्भक्तेषु मयि भक्तिमत्स्वभिधास्यति वक्ष्यति, ग्रन्थतोऽर्थतश्च स्थापयिष्यतीत्यर्थः । यथा त्वयि मया । भक्तेः पुनर्ग्रहणात्तद्भक्तिमात्रेण केवलेन शास्त्रसम्प्रदाने पात्रं भवतीति गम्यते । कथमभिधास्यति ? इत्युच्यते— भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोरच्युतस्य शुश्रूषा मया क्रियत इत्येवं कृत्वेत्यर्थः । तस्येदं फलं मामेवैष्यति मुच्यत एव अत्र संशयो न कर्तव्यः ॥ ६८ ॥

२ आ. शां. व्या.— शास्त्रसम्प्रदायप्रवृत्त्यर्थमुत्तरश्लोकप्रवृत्तिं दर्शयति— सम्प्रदायस्येति । य इत्यध्यापको निर्दिश्यते । परमत्वं ग्रन्थस्य निरतिशयपुरुषार्थसाधनत्वमित्याह— परममिति । गोप्यत्वमस्य रहस्यार्थविषयत्वात्। यथोक्तसंवादस्य ग्रन्थतोऽर्थतश्च भक्तेषु स्थापने दृष्टान्तमाह— यथेति । मयि वासुदेवे भगवति । अनन्यभक्ते त्वयि यथा मया ग्रन्थोऽर्थतः स्थापितस्तथा मद्भक्तेष्वन्येष्वपि यो ग्रन्थमिमं स्थापयिष्यति तस्येदं फलमित्युत्तरत्र सम्बन्धः ।नाभक्तायेति भक्तेरधिकारिविशेषणत्वोक्तेर्मद्भक्तेष्विति पुनर्भक्तिग्रहणमनर्थकमित्याशङ्क्याऽऽह— भक्तेरिति । शुश्रूषादिसहकारिराहित्यं केवलशब्दार्थः । यद्यपि मात्रशब्देन सूचितमेतत्तथापीतरेण स्फुटीकृतमित्यविरोधः । प्रश्नपूर्वकमभिधानप्रकारमभिनयति— कथमित्यादिना । भगवति भक्तिकरणप्रकारं प्रकटयति— भगवत इति । यच्छब्दापेक्षितं पूरयति— तस्येति । मामेष्यत्येवेत्यन्वयं गृहीत्वा व्याचष्टे— मुच्यत एवेति ॥ ६८ ॥

३ रा. भा.— इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेषु योऽभिधास्यति व्याख्यास्यति, सः मयि परमां भक्तिं कृत्वा मामेवैष्यति, न तत्र संशयः ॥ ६८ ॥

४ वे. ता. चं.— अथाधिकारिविशेषेष्ववश्यवक्तव्यत्वं तेषु वचनस्यापवर्गाख्यफलपर्यवसानं चोच्यते 'य इदम्' इति श्लोकेन । 'मद्भक्तेषु' इत्यनेनैवातपस्कत्वादिदोषा दूरोत्सारिताः, स्थितमनसां तेषां तदसम्भवात् । 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' [ म. भा. १२।३२७।४८ ] इत्येतावता सर्वेषु वक्तव्यम्, तेष्वेव मद्भक्ता एव श्रवणाधिकारिण इत्युक्तं भवति । अत्र 'अभिधास्यति' इत्यर्थश्रावणपर्यन्तमित्याह— व्याख्यास्यतीति । यद्वृत्तवशात् 'सः' इत्यध्याहृतम् । योग्येषु व्याख्यानमपि कर्मयोगादिकोटौ, भक्तियोगाङ्कुरे वा निविष्टं परभक्तिं जनयतीति 'भक्तिं मयि परां कृत्वा' इत्युच्यते । 'मामेव' इत्यवधारणेन मद्गीताव्याख्यायिनो न क्षुद्रफलेषु सङ्गं जनयामीत्यभिप्रेतम् । फलितमाह-न तत्र संशय इति । 'असंशयः' इति संशय एव वा निषिध्यते ॥ ६८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ६८ ॥

६ ज. प्र. दी.—॥ ६८ ॥

७ ह. पै. भा.— य इदमिति । य इदमावयोः संवादरूपं परममुत्कृष्टं श्रेयस्साधनत्वाद्गोप्यं मद्भक्तेषु मयि परमेश्वरे भक्तिमत्स्वभिधास्यति वक्ष्यति । मयि परमेश्वरे परां भक्तिं कृत्वा विधाय । तस्येदं फलमुच्यते— मामेवैष्यत्यसंशयः ॥ ६८ ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवमुपदेशविधिमुक्त्वा तेन विधिनोपदेष्टुः फलमाह— य इदमिति । परमं गुह्यमतिरहस्यमिदं शास्त्रं सर्वत्र प्रकाशयितुमनर्हं यो मद्भक्तेष्वभिधास्यति अभितो ग्रन्थतश्चार्थतश्च स्थापयिष्यति, तेन प्रकारेण भक्तिं मयि परां कृत्वा भगवतः परमगुरोर्भजनमेवेदं मया क्रियत इति निश्चित्येत्यर्थः । स उपदेष्टा मामेवैष्यति मुच्यते, अत्र च नास्ति संशयः ॥ ६८ ॥

९ व० त० दी०— एतद्दोषरहितास्तु मद्भक्ता एव, नान्य इति तेभ्यो दाने फलमाह— य इदमिति । मद्भक्तेष्वभिधास्यति स मामेवैष्यति ॥ ६८॥

१० पु. अ. त.— एवमेतद्दोषयुक्तेभ्यो न वाच्यं, एतद्दोषरहितेभ्यश्च सर्वथा वाच्यमित्येतदुपदेशनफलमाह— य इदमिति । यः कश्चन दुर्लभः मद्भक्तिरसाविष्टः इमं पूर्वश्लोकोक्तं परमं सर्वोत्कृष्टं गुह्यं गोप्यं मद्भक्तेषु पूर्वोक्तदोषरहिततद्गुणसुसम्पन्नेषु अभिधास्यति वक्ष्यति श्रोता वक्ता चैतच्छ्रवणेन असंशयः सन्देहरहितः सन् परां सर्वोत्कृष्टां पूर्वोक्तां मयि भक्तिं कृत्वा मामेव एष्यति, प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ ६८ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं सम्प्रदायविधिमुक्त्वा सम्प्रदायकर्तुः फलमाह— य इदमिति । परमं इदं गुह्यं यो भक्तिहीनो मानपूजाद्यर्थी सन् मद्भक्तेष्वभिधास्यति सोऽपि तत एव पुण्यान्मयि परमेश्वरे चिदेकरसे परां भक्तिमद्वैतलक्षणामुपासनां कृत्वा तत्रादरं प्राप्य तामनुष्ठाय च मामेवैष्यति, मुक्तिं प्राप्स्यतीत्यर्थः । असंशयः संशयोऽत्र नास्ति । स्मर्यते हि अजामिलादीनां भक्तिगन्धहीनानामपि पुत्रसङ्केतितेन नारायणेति नाम्ना स्नेहवशादाह्वयतां तावन्मात्रतुष्टेन भगवता सद्गतिर्दत्ता; किमु वक्तव्यं यो वाचा एतावच्छास्त्ररहस्यं प्रतिपादयति तस्य भक्तिलाभादिक्रमेण कृतकृत्यत्वं भविष्यतीति ॥ ६८ ॥

**न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः ।**
**भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि ॥ ६९ ॥**

**१ शां. भा.— किञ्च— नचेति ।** न च तस्माच्छास्त्रसम्प्रदायकृतो मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये कश्चिन्मे मम प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रियकरोऽन्यः प्रियकृत्तमो नास्त्येवेत्यर्थो वर्तमानेषु । न च भविता भविष्यत्यपि काले, तस्माद्द्वितीयोऽन्यः प्रियतरः प्रियकृत्तरः । भुवि लोकेऽस्मिन् ॥ ६९ ॥

**२ आ. शां. व्या.—** ननु सर्वेषां मुक्तिसाधनानां ध्यानस्य श्रेष्ठत्वात्तन्निष्ठस्य मुमुक्षोर्नास्ति विद्यासम्प्रदाने प्रवृत्तिरिति तत्राऽऽह— **किञ्चेति ।** इतश्च विद्यासम्प्रदानं मुमुक्षुणा यथोक्तविशेषणवते कर्तव्यमित्यर्थः । वर्तमानेषु मध्ये ततोऽन्यो नास्त्येव प्रियकृत्तमो नाप्यतीतेषु तादृक्कश्चिदासीदिति शेषः । तस्माद्विद्यासम्प्रदायकर्तुः सकाशादित्यर्थः । ध्याननिष्ठस्य श्रेष्ठत्वेऽपि स्वसम्प्रदायप्रवक्तुः श्रेष्ठतमत्वादुचिता विद्यासम्प्रदाने प्रवृत्तिरिति भावः ॥ ६९ ॥

**३ रा. भा.—** सर्वेषु मनुष्येष्वितः पूर्वं तस्मादन्यो मनुष्यो मे न कश्चित्प्रियकृत्तमोऽभूत्, इत उत्तरं च न भविता, अयोग्यानां प्रथममुपादानं योग्यानामकथनादपि तत्कथनस्यानिष्टतमत्वात् ॥ ६९ ॥

**४ वे. ता. चं.—** स्वशास्त्रव्याख्यानस्य स्वप्राप्तिसाधनत्वे द्वारमुच्यते— 'न च तस्मात्' इति श्लोकेन । प्रियकृत्तमत्वप्रियतरत्वयोर्हेतुकार्यभावेन 'भविता' इत्युपात्तक्रिययैवान्वये सम्भवत्यपि कालत्रयवर्तिनिषेधेऽर्थगौरवेण तात्पर्यसिद्ध्यर्थं **मनुष्येष्वितः पूर्वमित्याद्युक्तम् ।** ननु शास्त्रस्याधिकारी अपेक्षितः, अतः स तावद्वक्तव्यः; अनधिकारी तु तत एवार्थात् व्युदस्यते; प्रधानतमादधिकारिणोऽनन्तरं वा व्यवच्छेद्यतयाऽनधिकारी वक्तव्यः; इह तु तद्वैपरीत्ये किं निबन्धनं? इत्यत्राऽऽह— **अयोग्यानामिति तत्कथनस्य—** अयोग्यान्प्रति कथनस्येत्यर्थः । **अनिष्टतमत्वात्** अनिष्टतमत्वज्ञापनार्थमित्यर्थः । योग्यानामकथनस्यानिष्टत्वं 'प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' [ मुं. उ. १।२।१३ ] इति ब्रह्मविद्याप्रवचनस्य वैधत्वात् । प्रोवाच प्रब्रूयादित्यर्थः । 'छन्दसि लुङ्लङ्लिटः' [ अष्टा. ३।४।६ ] इति विधानात् । अन्यथा "स गुरुमेवाभिगच्छेत्" [ मुं. उ. १।२।१२ ] इति प्रथमेन वाक्येनानन्वयात् ॥ ६९ ॥

**५ आ. भा. भा.—** ॥ ६९ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ६९ ॥

**७ ह. पै. भा.— न चेति ।** न च तस्माच्छास्त्रसम्प्रदायकृतो मनुष्येषु मध्ये कश्चिन्मे प्रियकृत्तमोऽतिशयेन प्रियकृदन्यो नास्तीति प्रकृतेन सम्बन्धः । न च भविता तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि भूमौ ॥ ६९ ॥

**८ वें ब्र. गि.—** किञ्च, तस्मान्मद्भक्तेषु शास्त्रोपदेष्टुः सकाशादन्यो मनुष्येषु मध्ये कश्चिदपि मे प्रियकृत्तमः अतिशयेन प्रीतिकर्ता नासीन्नास्ति, न च भविष्यति । तथा तस्मादन्यो मे मम प्रियतरश्च भुवि नासीन्नास्ति, न भविष्यति । मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्य 'भुवि मनुष्येषु' इत्युक्तम् । दिवि देवेषु च नास्त्येव तत्प्रसक्तिरित्यर्थः । एवं च कालत्रयवर्ति-निखिलभक्तजनातिशायि-प्रियाय तस्मै भक्तमात्रसाधारणं मत्प्राप्तिरूपं मोक्षं दिशन्नहं तदीयनिरतिशयत्वात्तद्गुणं फलं दातुमपश्यन्नधमर्ण एव तस्य भवामीति भगवतोऽभिप्रायः ॥ ६९ ॥

**९ व० त० दी०— किञ्च— न च तस्मादिति ।** मे प्रियकृत्कश्चित् ॥ ६९ ॥

**१० पु. अ. त.—** ननु कथमेतत्कथनश्रवणमात्रेण त्वां प्राप्नोति? इत्यत आह— **न चेति ।** तस्मादेतद्वक्तुः सकाशात् मनुष्येषु अधिकारिषु मे प्रियकृत्तमः प्रियकर्तृषु मध्ये अतिशयितो नच, नास्तीत्यर्थः । मद्भक्तानां मत्सङ्गार्थं यत्नप्रदर्शकत्वादिति भावः । च पुनः तस्मात् श्रोतुः सकाशात् श्रुत्वा मदाज्ञप्तसेवादिकरणात् अन्यो भुवि प्रियतरो भविता नेत्यर्थः ॥ ६९ ॥

**११ नी० भा० दी०—** ननु अश्रद्धया कृतं सर्वं व्यर्थमिति त्वयैवोक्तं कथमभक्तस्याप्येतच्छास्त्राभिधानतो भक्त्यादिलाभः सम्भवेत्? इत्याशङ्क्याऽऽह— न चेति । तस्मादेतच्छास्त्रप्रवर्तकादन्यो मनुष्येषु मे मम प्रियकृत्तमो

न च कश्चिद्भवति । इयमेव मम महती वाचिकी भक्तिः, तां कृत्वा सोपानारोहक्रमेण मे मम प्रियतरो भविता भविष्यति । 'अनिच्छयाऽपि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः' इति । न च भुवि एतस्मादन्यत्पारमार्थसाधनमस्तीति भावः । अक्षरार्थः स्पष्टः ॥ ६९ ॥

गीताशास्त्रपठनस्य फलम् ।

**अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः ।**
**ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥ ७० ॥**

**१ शां. भा.**— योऽपि— अध्येष्यते च पठिष्यति य इमं धर्म्यं धर्मादनपेतं संवादरूपं ग्रन्थमावयोस्तेनेदं कृतं स्यात् । ज्ञानयज्ञेन विधिजपोपांशुमानसानां यज्ञानां ज्ञानयज्ञो मानसत्वाद्विशिष्टतम इत्यतस्तेन ज्ञानयज्ञेन गीताशास्त्रस्याध्ययनं स्तूयते । फलविधिरेव वा देवतादिविषयज्ञानयज्ञफलतुल्यमस्य फलं भवतीति । तेनाध्ययनेनाहमिष्टः पूजितः स्यां भवेयमिति मे मम मतिर्निश्चयः ॥ ७० ॥

**२ आ. शां. व्या.**— सम्प्रदायप्रवक्तुः सर्वाधिकं फलं 'स वक्ता विष्णुरित्युक्तो न स विश्वाधिदैवतम्' इति न्यायेनोक्त्वा सम्प्रत्यध्येतुर्विवक्षितं फलमाह— **योऽपी**ति । यथोक्तस्य शास्त्रस्य योऽप्यध्येता तेनेदं कृतं स्यादिति सम्बन्धः । तदेवाऽऽह— **अध्येष्यत** इति । 'तेनेदं कृतं' इत्यत्रेदंशब्दार्थं विशदयति— **ज्ञाने**ति । तेनाहमिष्टः स्यामिति सम्बन्धः । चतुर्विधानां यज्ञानां मध्ये ज्ञानयज्ञस्य 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' [ ४।३३ ] इति विशिष्टत्वाभिधानात्तेनाहमिष्टः स्यामित्यध्ययनस्य स्तुतिरभिमतेत्याह— **विधी**ति । पक्षान्तरमाह— **फले**ति । फलविधिमेव प्रकटयति— **देवतादी**ति । यद्धि ज्ञानयज्ञस्य फलं कैवल्यं तेन तुल्यमस्याध्येतुः सम्पद्यते तच्च देवताद्यात्मत्वमित्यर्थः । कथमध्ययनादेव सर्वात्मत्वं फलं लभ्यते ? "तस्मात्तत्सर्वमभवत्" [ बृ. उ. १।४।१० ] इति श्रुतिस्तत्राऽऽह— **तेने**ति । तेनाध्येत्रा ज्ञानयज्ञतुल्येनाध्ययनेन भगवानिष्टस्तथा च तज्ज्ञानादुक्तं फलमविरुद्धमित्यर्थः ॥ ७० ॥

**३ रा. भा.**— य इममावयोर्धर्म्यं संवादमध्येष्यते, तेन ज्ञानयज्ञेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः, अस्मिन् यो ज्ञानयज्ञोऽभिधीयते, तेनाहमेतदध्ययनमात्रेणेष्टः स्यामित्यर्थः ॥ ७० ॥

**४ वे. ता. चं.**— एवमुपदेष्टुः फलमुक्तम् ; अथ शब्दतोऽर्थतश्च गुरुसकाशादध्येतुः फलमुच्यते— 'अध्येष्यते' इत्यादिना श्लोकद्वयेन । 'शृणुयात्' इति परैरधीयमानपाठश्रवणमात्रं वा । 'अध्येष्यते' इति— नहि सर्वज्ञस्य भगवतो भविष्यद्भारतनिबन्धावेक्षणेन स्वसंवादाध्ययनभावित्वोक्तिः; अपितु भूतावेक्षणेन । महाभारतं हि धृतराष्ट्राद्युत्पत्तेः प्रागेव भगवत्प्रसादलब्धदिव्यचक्षुषा भगवता व्यासेन निबद्धम् । अनुज्ञातं च शिष्येभ्यः; तैश्च 'नारदो श्रावयद्देवानसितो देवलः पितॄन् । गन्धर्वयक्षरक्षांसि श्रावयामास वै शुकः' [ म. भा. १।१।७;८ ] इति मानुषव्यतिरिक्तेषु लोकेषु प्रकाशितम् । मानुषे तु लोके जनमेजयपुरस्कारेण प्रकाशिष्यते । तदपेक्षयोक्तम्— 'अध्येष्यते' इति । उपनिषत्सारत्वादध्ययनोक्तिः । कथितं चाश्रमवर्णने कविभिः 'अनवरताधीतभगवद्गीतम्' इति । 'श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप !' [ ४।३३ ] इति यः प्रथमषट्के ज्ञानयज्ञोऽभिहितः, नासावत्र विवक्षितः; अपितु भक्तियोगप्रकरणे 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते' [ ९।१५ ] इति यो भगवदनुसन्धानविशेषरूपो ज्ञानयज्ञ उक्तः, स एवात्र शास्त्रसारभूतो विवक्षित इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **अस्मिन् यो ज्ञानयज्ञ** इति । विधिजपोपांशुमानसानां ज्ञानयज्ञो मानसत्वाद्विशिष्टः । **एतदध्ययनमात्रेणे**ति— **अयमभिप्रायः**— 'योऽश्वमेधेन यजते । य उ चैनमेवं वेद' [ अ. मे. २ ] 'यं यं क्रतुमधीते तेनतेनास्येष्टं भवति' [आर. २] इत्यादिषु यथा तत्तत्क्रत्वध्ययनस्य तत्तुल्यफलता, तथात्रापि ज्ञानयज्ञवद्भगवत्प्रीतिजनकत्वं तद्गीताध्ययनस्य— इति ॥ ७० ॥

**५ आ. मा. भा.**— ॥ ७० ॥

**६ ज. प्र. दी.**— ॥ ७० ॥

**७ ह. पै. भा.**— अध्येष्यत इति । अध्येष्यते पठिष्यति य इममावयोः संवादं धर्म्यं धर्मादनपेतं, तेन पाठकेन ज्ञानयज्ञेन द्रव्यजपोपांशुयज्ञेभ्यः फलैः सहस्रगुणेभ्यो विशिष्टतमेनाहमिष्टः पूजितः स्यां भवेयमिति मे मतिर्निश्चयः ॥ ७० ॥

८ वें. ब्र. गि.— एवं सम्प्रदायकर्तुरध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह— अध्येष्यत इति । धर्म्यं इक्तिहेतुपरमधर्मरूपाज्ज्ञानादनपेतं आवयोः संवादरूपमिमं ग्रन्थं योऽध्येष्यते जपरूपेण पठिष्यति, तेन पुंसा अहं ज्ञानयज्ञेन 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः' [ ४।३३ ] इति सर्वयज्ञश्रेष्ठतया प्रागुक्तेन ज्ञानरूपेण यज्ञेन इष्टः पूजितः स्यां भवेयं इति मे मतिर्मम निश्चयः । यद्यप्यसौ गीतार्थमबुध्यमान एव जपति, तथापि तच्छृण्वतो मम मामेवासौ प्रकाशयतीति बुद्धिर्भवति ! अतो जपमात्रादपि ज्ञानयज्ञफलं मोक्षं लभते सत्त्वशुद्धिज्ञानोत्पत्तिद्वारा । अर्थानुसन्धानपूर्वकं पठतस्तु साक्षादेव मोक्ष इति किं वक्तव्यं ? इति फलविधिरेवायं, नार्थवादः । 'श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप!' इति हि प्रागुक्तम् ।। ७० ।।

९ व० त० दी०— अध्येतुः फलं निर्दिशति— अध्येष्यत इति । अर्थमजानतोऽपि पुंसो नामवत्पाठमात्रात् फलदोऽयं संवाद इति भावः ।। ७० ।।

१० पु. श्र. त.— एवमुपदेष्टुः श्रोतुश्च फलमुक्त्वा पाठकर्तुः फलमाह— अध्येष्यत इति । आवयोः श्रीकृष्णार्जुनयोः धर्म्यं धर्मयुक्तं धर्मोत्पादकं वा संवादं सोत्तरप्रत्युत्तरं गीतात्मकं सम्यक्प्रकारेण वदनात्मकं यश्च अध्येष्यते ध्यानं कृत्वा जपरूपेण पठिष्यति, तेनाध्ययनेन सर्वयज्ञश्रेष्ठेन ज्ञानयज्ञेन ज्ञानात्मकमयजनेन अहं तस्य इष्टः प्रियः स्यां, भवेयमित्यर्थः । इति एवम्प्रकारिका मे मम मतिः बुद्धिरित्यर्थः । स्वमतित्वकथनेनैतत्पाठस्याऽऽवश्यकत्वं करणे च स्वप्रसादावश्यकत्वं ज्ञापितमिति भावः ।। ७० ।।

११ नी० भा० दी०— अध्यापकस्य फलमुक्त्वाऽध्येतुः फलमाह— अध्येष्यते चेति । ज्ञानयज्ञेन निर्विकल्पसमाधिना इष्टः पूजितः स हि धर्ममेघनामा पुष्कलपुण्यवृष्टिकरस्तद्धेतुरस्य शास्त्रस्याध्ययनमपीत्यर्थः । इति मे मम सर्वेश्वरस्य मतिः; तेनात्र स्तुतिमात्रमेतदिति न मन्तव्यं, किन्तु भूतार्थवाद एवायमिति भावः ।। ७० ।।

गीताशास्त्रश्रवणार्हस्य लक्षणं श्रवणस्य च फलम् ।

**श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।**
**सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।। ७१ ।।**

**१ शां. भा.**— अथ श्रोतुरिदं फलम्— श्रद्धावानिति । श्रद्धावान् श्रद्दधानोऽनसूयश्चासूयावर्जितः सन्निमं ग्रन्थं शृणुयादपि यो नरः— अपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान् !— सोऽपि पापान्मुक्तः शुभान्प्रशस्ताँल्लोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणामग्निहोत्रादिकर्मवताम् ।। ७१ ।।

२ आ. शां. व्या.— प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति— अथेति ।। ७१ ।।

**३ रा. भा.**— श्रद्धावाननसूयश्च यो नरः शृणुयादपि, तेन श्रवणमात्रेण सोऽपि भक्तिविरोधिपापेभ्यो मुक्तः पुण्यकर्मणां मद्भक्तानां लोकान् समूहान् प्राप्नुयात् ।। ७१ ।।

४ वे. ता. चं.— 'श्रद्धावाननसूयश्च' इति चकारादत्रानुक्तानामपि प्रागुक्तानां प्रणिपातपरिप्रश्नसेवानां ग्रहणम् । 'शृणुयात्' इत्यनेन आचार्यसकाशादिति गम्यते। श्रूयते हि— "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" [ मुं. उ. १।२।१२ ] इति। "आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापत्" [छां. उ. ४।९।३ ] इति । एतेन स्वयं ग्रन्थनिरीक्षणमन्यायेनान्यस्माद्ग्रहणं च व्यवच्छिद्यते । 'सोऽपि' इति विलम्बः सूच्यते । तेन भक्तिविरोधिभ्यो मुक्त इत्युक्तम् । अन्यथा विध्यन्तरवैयर्थ्यादिप्रसङ्ग इति भावः । अर्थज्ञानादिमतश्च कैमुत्यमपिशब्देन व्यञ्जितम् । प्रवचनपठनयोर्मोक्षैकान्तफलस्य पूर्वमुक्तत्वात् सहभावेनाग्र्यप्रायन्यायाच्छ्रवणेऽपि तादृशफलं भगवदभिप्रेतं स्वीकर्तुमुचितम् । नरककल्पस्वर्गादिप्राप्तेरनभिमतत्वान्मद्भक्तानां लोकान्समूहानित्युक्तम् । अत्र पाठश्रवणादिप्रीतो भगवान् स्वभक्तान् प्रापयति । भगवद्भक्तानां प्राप्तिर्हि योगोपदेशादिद्वारा मोक्षाय स्यात् ।। ७१ ।।

**५ आ. मा. भा.**— ।। ७१ ।।

६ ज. प्र. दी.— ।। ७१ ।।

७ ह. पै. भा.— श्रद्धावानिति । श्रद्धावान्कर्मणां श्रद्धा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् । अनसूयोऽसूयारहितोऽध्येतरि । शृणुयादपि किं पुनरर्थस्य प्रतिपत्तौ ? । सोऽपि श्रोता मुक्तो निर्गतोऽस्माच्छरीरात्प्रेत्येत्यर्थः । शुभान्पुण्याँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणां तेषां लोकानिति सम्बन्धः ॥ ७१ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरिदानीं फलं कथयति— श्रद्धावानिति । यो नरः कश्चिदपि अन्यस्योच्चैर्जपतः कारुणिकस्य सकाशात् श्रद्धावान् श्रद्धायुक्तः तथा 'किमर्थमयमुच्चैर्जपत्यबद्धं वा जपति?' इति दोषदृष्ट्याऽसूयया रहितोऽनसूयश्च केवलं शृणुयादिमं ग्रन्थम्, –अपिशब्दात्किमुतार्थज्ञानवान् ? –सोऽपि केवलाक्षरमात्रश्रोताऽपि मुक्तः पापैः शुभान्प्रशस्तान्पुण्यकर्मणोऽश्वमेधकृतान्प्राप्नुयात्; ज्ञानवतस्तु किं वाच्यम् ? इति भावः ॥ ७१ ॥

९ ब० त० दी०— श्रद्धावानिति । स्पष्टार्थः ॥ ७१ ॥

१० पु. अ. त.— एवंरूपज्ञानेनैकस्य पठतो योऽन्यः कश्चिच्छृणोति तस्यापि फलतीत्याह— श्रद्धावानिति । यो नरः श्रद्धावान् 'एतच्छ्रवणेनाहं कृतार्थो भविष्यामि' इत्यत्यादरयुक्तः शृणुयादप्यर्थानवबोधेनापि स शुभान् मोक्षप्रापकान् लोकान् प्राप्नुयात् । च पुनः अनसूयः किमिति दम्भार्थमुच्चैः पाषण्डी पठतीत्याद्यसूयारहितः सम्यक् गीतां पठतीत्याद्यनुमोदते मनसि सोऽपि मुक्तः संसारात् पुण्यकर्मणां लोकान् स्वर्गादीन् प्राप्नुयात् ॥ ७१ ॥

११ नी० भा० दी०— प्रवक्तुरध्येतुश्च फलमुक्त्वा श्रोतुरपि फलमाह— श्रद्धावानिति । शृणुयादपि अक्षरश्रवणं कुर्यादपि, किमु वक्तव्यमादरेणार्थग्रहणं यः कुर्यात्स उक्तं फलं प्राप्नुयादिति । स्पष्टार्थः श्लोकः । तथा चोक्तं श्रीभागवते [ १०।१।१६ ]— 'वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन्पुनाति हि । वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा' इति ॥ ७१ ॥

गुरुधर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञस्यापि परमगुरोर्गोविन्दस्य प्रश्नः ।

**कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! त्वयैकाग्रेण चेतसा ।**
**कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय ! ॥ ७२ ॥**

१ शां. भा.— शिष्यस्य शास्त्रार्थग्रहणाग्रहणविवेकबुभुत्सया पृच्छति । तदग्रहणे ज्ञाते पुनर्ग्राहयिष्याम्युपायान्तरेणापीति प्रष्टुरभिप्रायः । यत्नान्तरमास्थाय शिष्यः कृतार्थः कर्तव्य इत्याचार्यधर्मः प्रदर्शितो भवति— कच्चित्किमेतन्मयोक्तं श्रुतं श्रवणेनावधारितं पार्थ ! किं त्वयैकाग्रेण चेतसा चित्तेन ? किंवा प्रमादतः ? कच्चिदज्ञानसम्मोहोऽज्ञाननिमित्तः सम्मोहो विचित्तभावोऽविवेकता स्वाभाविकः किं प्रनष्टः ? यदर्थोऽयं शास्त्रश्रवणायासस्तव मम चोपदेष्टृत्वायासः प्रवृत्तस्ते तव धनञ्जय ! ॥ ७२ ॥

२ आ. शां. व्या.— आचार्येण शिष्याय यावदज्ञानसंशयविपर्यासस्तावदनेकधोपदेष्टव्यमिति दर्शयितुं भगवानर्जुनं पृष्टवानित्याह— **शिष्यस्येति** । प्रष्टुरभिप्रायं प्रकटयति— **तदग्रहण** इति । शिष्यश्चेदुक्तं ग्रहीतुं नेष्टे तर्हि तं प्रत्यौदासीन्यमाचार्यस्योचितं, तस्य मन्दबुद्धित्वादित्याशङ्क्याऽऽह— **यत्नान्तरमिति** । कच्चिदिति कोमलप्रश्ने । तमेव व्याचष्टे— **किमेतदिति** । द्वितीयं किंपदं पूर्वस्य व्याख्यानतया सम्बध्यते । कच्चिदिति द्वितीयं प्रश्नं विभजते— **किं प्रनष्ट** इति । मोहप्रणाशस्य प्रसङ्गं दर्शयति— **यदर्थ** इति ॥ ७२ ॥

३ रा. भा.— मया कथितमेतत्पार्थ ! त्वयाऽवहितेन चेतसा कच्चिच्छ्रुतं, तवाज्ञानसम्मोहः कच्चित् प्रणष्टः, येनाज्ञानेन मूढो न योत्स्यामीत्युक्तवान् ? ॥ ७२ ॥

४ वे. ता. चं.— अथार्जुनस्य विदिताशयोऽपि भगवानादरेणाविस्मरणायोपदेशसाफल्यं जिज्ञासमान इव पृच्छति— **कच्चिदिति** । एतदिति अर्थपर्यन्तत्वाच्छ्रुतमित्यर्थः । धीपर्यन्तं मत्कथितमेतत्किं निरर्थकमित्यभिप्रायेणैतच्छब्द इत्याह— **मया कथितमेतदिति** । अज्ञानसम्मोहः कच्चित्प्रणष्ट इति श्रुतफलानुयोगः । अज्ञानहेतुकं भ्रान्तिज्ञानमिहाज्ञानसम्मोहः । येनाज्ञानेन मूढ इत्यस्याज्ञानसम्मोह इति प्रतिनिर्देशे तेनाज्ञानेन जनितसम्मोह इत्यन्वयो भाव्यः ॥ ७२ ॥

६ आ. मा. भा.— ॥ ७२ ॥  ६ ज. प्र. दी.— ॥ ७२ ॥

७ ह. पै. भा.— कच्चिदिति । कच्चिदिति प्रश्ने । यथोक्तं श्रुतमिति सम्बन्धः । अज्ञानमनिश्चयस्तन्निमित्तः संशयः सम्मोहः स कच्चित्प्रणष्टः ? ॥ ७२ ॥

८ वें. ब्र. गि.— 'शिष्यस्य ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं गुरुणा कारुणिकेन प्रयासः कार्यः' इति गुरोर्धर्मं शिक्षयितुं सर्वज्ञोऽपि पुनरुपदेशापेक्षा नास्तीति ज्ञापनाय पृच्छति— कच्चिदिति। कच्चिदिति प्रश्ने। एतन्मयोक्तं गीताशास्त्रमेकाग्रेण व्यासङ्गरहितेन चेतसा हे पार्थ! त्वया किं श्रुतमर्थतोऽवधारितम्? कच्चित्किमज्ञानसम्मोहोऽज्ञाननिमित्तः सम्मोहो विपर्ययोऽज्ञाननाशात्प्रनष्टः प्रकर्षेण पुनरुत्पत्तिविरोधित्वेन नष्टस्ते तव हे धनञ्जय ? यदि स्यात्पुनरुपदेशं करिष्यामीत्यभिप्रायः॥७२॥

९ व० त० दी०— कच्चिदिति प्रश्नतः सावधानं करोति। कच्चिदज्ञानसम्मोहस्ते नष्टः (प्रणष्टः) इति ॥ ७२ ॥

१० पु. अ. त.— एवं संसारमुक्तिः शुभलोकप्राप्तिश्च मोहनाशो भवति, स च भगवन्मुखाच्छ्रवणेऽर्जुनस्यैव ततः पुनर्युद्धादिकरणात्तदा कथमन्यस्य भवेत्? इति बहिर्मुखशङ्कामपनुदन् भगवानर्जुनं पृच्छति— कच्चिदेतदिति। हे पार्थ श्रद्धयैतच्छ्रवणयोग्य! कच्चिदिति प्रश्नार्थः । त्वया एकाग्रेण चेतसा प्रणिहितेन मनसा एतन्मयोक्तं श्रुतं ? तेन श्रवणेन हे धनञ्जय ! ते अज्ञानसम्मोहः अज्ञानेन मत्स्वरूपेङ्गिताज्ञानेन जनितो यः सम्मोहः आसुरमारणजपापोत्पत्तिरूपः सम्यक्प्रकाशको मोहो भ्रमो नष्टः । ते तवेत्यर्थः॥ ७२ ॥

११ नी० भा० दी०— सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञोऽपि भगवाँल्लोकशिक्षार्थं शिष्यस्य ज्ञानं जातं न वेति पृच्छति; अन्यथा पुनः पुनः स्वयमेत्य उपदेशं कृतवता प्रभुणा निदाघ इव मयाऽयं शतकृत्वोऽप्युपदेशेन कृतार्थः कर्तव्य इत्याशयेनाऽऽह— कच्चिदिति । कच्चिदिति कामप्रवेदने। हे पार्थ! एतत्त्वया एकाग्रेण चेतसा श्रोतव्यं शब्दतोऽर्थतश्च बोद्धव्यमिति मम कामोऽस्ति ततस्त्वां पृच्छामि किमिदं त्वया श्रुतमिति; श्रुतवतोऽपि तव अज्ञानकृतः सम्मोहो विपर्ययः अनात्मन्यात्मधीरूपः स्वधर्मे युद्धे चाधर्मधीरूप इति स द्विविधोऽपि नष्टः कच्चित्?। मच्छ्रमसाफल्यमिच्छुस्त्वामहं पृच्छामीत्यर्थः ॥ ७२ ॥

कृतज्ञताव्यञ्जकमर्जुनस्योत्तरम्।

**अर्जुन उवाच— नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! ।**
**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ ७३ ॥**

१ शां. भा.— नष्ट इति। नष्टो मोहोऽज्ञानजः समस्तसंसारानर्थहेतुः सागर इव दुस्तरः, स्मृतिश्चाऽऽत्मतत्त्वविषया लब्धा, यस्या लाभात्सर्वहृदयग्रन्थीनां विप्रमोक्षः। त्वत्प्रसादात्तव प्रसादान्मया त्वत्प्रसादमाश्रितेनाच्युत ! । अनेन मोहनाशप्रश्नप्रतिवचनेन सर्वशास्त्रार्थज्ञानफलमेतावदेवेति निश्चितं दर्शितं भवति, यतः ज्ञानान्मोहनाश आत्मस्मृतिलाभश्चेति। तथाच श्रुतौ– "अनात्मविच्छोचामि" इत्युपन्यस्याऽऽत्मज्ञानेन सर्वग्रन्थिविप्रमोक्ष उक्तः । "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" [ मुं. उ.२।२।८ ] इति "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" [ईशा.७] इति च मन्त्रवर्णः । अथेदानीं त्वच्छासने स्थितोऽस्मि गतसन्देहो मुक्तसंशयः । करिष्ये वचनं तव। अहं त्वत्प्रसादात्कृतार्थः; न मम कर्तव्यमस्तीत्यभिप्रायः॥ ७३ ॥

२ आ. शां. व्या.—प्रेमोपदिष्टात्मज्ञानस्य अज्ञानसन्देहविपर्याससहितस्य पृष्टस्य भगवदनुग्रहप्राप्तिकथनेन भगवन्तं परितोषयिष्यन्नर्जुनो विज्ञापितवानित्याह– अर्जुन इति । अज्ञानोत्थस्याविवेकस्य नष्टत्वमेव स्पष्टयति— समस्त इति । स्वयञ्ज्योतिषि प्रतीचि ब्रह्मण्यविद्याभ्रमं विद्याऽपनयति नाविद्धिं प्रकाशयतीति मत्वाऽऽह— स्मृतिश्चेति । स्मृतिलाभे किं स्यात्? इति चेत्तदाह— यस्या इति । मोहनाशे स्मृतिप्रतिलम्भे चासाधारणं कारणमाह— त्वत्प्रसादादिति । प्रकृतेन प्रश्नप्रतिवचनेन लब्धमर्थं कथयति— अनेनेति । यदुक्तं स्मृतिप्रतिलम्भादशेषतो हृदयग्रन्थीनां विप्रमोक्षः स्या-

दिति तत्र प्रमाणमाह— **तथा चेति** । ज्ञानादज्ञानतत्कार्यनिवृत्तौ श्रुत्यन्तरमपि संवादयति— **भिद्यत** इति । भगवदनुग्रहादज्ञानकृतमोहदाहानन्तरमात्मज्ञाने प्रतिलब्धे त्वदाज्ञाप्रतीक्षोऽहमित्युत्तरार्धं व्याकरोति— **अथेति** । तव वचनं करिष्येऽहमित्यत्र तात्पर्यमाह— **अहमिति** ॥ ७३ ॥

**३ रा. भा.—** मोहः विपरीतज्ञानं, त्वत्प्रसादान्मम तद्विनष्टं; स्मृतिः यथावस्थिततत्त्वज्ञानं, त्वत्प्रसादादेव तच्च लब्धम् ; अनात्मनि प्रकृतावात्माभिमानरूपो मोहः, परमपुरुषशरीरतया तदात्मकस्य कृत्स्नस्य चिदचिद्वस्तुनः अतदात्माभिमानरूपश्च, नित्यनैमित्तिकरूपस्य कर्मणः परमपुरुषाराधनतया तत्प्राप्त्युपायभूतस्य बन्धकत्वबुद्धिरूपश्च सर्वो विनष्टः; आत्मनः प्रकृतिविलक्षणत्वतत्स्वभावरहितताज्ञातृत्वैकस्वभावतापरमपुरुषशेषतातन्नियाम्यत्वैकस्वरूपताज्ञानं, निखिलजगदुद्भव-स्थिति-प्रलयलीलाशेषदोषप्रत्यनीककल्याणैकस्वरूपस्वाभाविकानवधिकातिशयज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजःप्रभृतिसमस्तकल्याणगुणगणमहार्णवपरब्रह्मशब्दाभिधेयपरमपुरुषयाथात्म्यज्ञानं च, एवंरूपपरावरतत्त्वयाथात्म्यविज्ञानतदभ्यासपूर्वकाहरहरुपचीयमानपरमपुरुषप्रीत्येकफलनित्यनैमित्तिककर्मनिषिद्धपरिहारशमदमाद्यात्मगुणनिर्वर्त्यभक्तिरूपतापन्नपरमपुरुषोपासनैकलभ्यो वेदान्तवेद्यः परमपुरुषो वासुदेवस्त्वमिति ज्ञानं च लब्धम् । ततश्च बन्धुस्नेहकारुण्यप्रवृद्धविपरीतज्ञानमूलात् सर्वस्मादवसादाद्विमुक्तो गतसन्देहः स्वस्थः स्थितोऽस्मि । इदानीमेव युद्धादिकर्तव्यताविषयं तव वचनं करिष्ये । यथोक्तं युद्धादिकं करिष्य इत्यर्थः ॥७३॥

**४ वे. ता. चं.—** अथ कृतज्ञतांशं व्यञ्जयन्नर्जुनः श्रुतफलसिद्धया प्रतिवक्ति 'नष्टो मोहः' इति । अर्जुनेनास्यार्थस्यैतःपूर्वमनवगमाद्वाक्येन प्रथमं स्मृतेरनुदयात्तन्मूलभूतशब्दजन्योऽनुभव इह स्मृतिशब्देन लक्ष्यत इत्याह— **स्मृतिर्यथावस्थिततत्त्वज्ञानमिति**। 'स नो देवः शुभया स्मृत्या संयुनक्तु' इत्यस्य मन्त्रस्य 'स नो बुद्धया शुभया संयुनक्ति(क्तु)' [श्वे. उ. ३।४] इति शाखान्तरे पाठदर्शनात्स्मृतिबुद्धिशब्दावदूरविप्रकर्षेणैकार्थौ युक्ताविति भावः । निवर्त्यमोहस्वरूपं चोपदेशस्यामूलचूडपरामर्शेन व्यनक्ति— **अनात्मनीत्यादिना** । प्रकृतिविलक्षणत्वं स्वप्रकाशत्वादिभिः विकाराद्यभावात्तत्स्वभावरहितता । स्वस्थः प्रकृतिस्थ इत्यर्थः । उपदेशवचनस्य स्वरूपेणाननुष्ठेयत्वात्तेन तत्प्रतिपाद्यं लक्ष्यत इत्याह— **यथोक्तं युद्धादिकमिति**।

**एवं चाभिप्रायः**— आदिशब्देन भक्तियोगपर्यन्तग्रहणम् । अननुष्ठानं तु स्मृतिभ्रंशादिति हि वक्ष्यति— 'यत्तु तद्भवता (यत्तद्भगवता) प्रोक्तं पुरा केशव ! सौहृदात् । तत्सर्वं पुरुषव्याघ्र ! भ्रष्टं मे नष्टचेतसः' [अ. गी. १।६] इति । प्रतिवक्ष्यति च भगवान्— 'श्रावितस्त्वं मया गुह्यं ज्ञापितश्च सनातनम् । धर्मं स्वरूपिणं पार्थ ! सर्वलोकांश्च शाश्वतान् । अबुद्धया माग्रहीर्यत्त्वं तन्मे सुमहदप्रियम्' [अ.गी. १।९;१०] 'स हि धर्मः सुपर्याप्तो ब्रह्मणः परिवेदने' [अ. गी. १।१२] इति ॥ ७३ ॥

**५ आ. मा. भा.—** ॥ ७३ ॥

**६ ज. प्र. दी.—** ॥ ७३ ॥

**७ ह. पै. भा.—** एवं पृष्टो भगवताऽर्जुन उवाच— **नष्टो मोह इति** । नष्टो मोहो नष्टः संशयो यः पूर्वमासीत् 'गुरुपुत्रमित्रादयो हन्तव्या आहोस्विन्न हन्तव्याः' इति । स्मृतिर्लब्धा स्मृतिः सम्यग्ज्ञानं सा च प्राप्ता त्वत्प्रसादात्तव प्रसादमाश्रित्य तेन मया । अच्युत ! स्वरूपात्कथमपि न च्यवत इत्युक्तम् । स्थितोऽस्मि उत्थितोऽस्मि । करिष्ये वचनमाज्ञाम् ॥ ७३ ॥

**८ वं. ब्र. गि.—** एवं पृष्टः कृतार्थत्वेन पुनरुपदेशानपेक्षतामात्मनोऽर्जुन उवाच— **नष्ट इति** । नष्ट उच्छिन्नो मोहोऽज्ञानकृतो विपर्ययः । तन्नाशकमाह— **स्मृतिर्लब्धा** त्वत्प्रसादान्मया, यस्मात्त्वदुपदेशादात्मज्ञानं लब्धं सर्वसंशयानाक्रान्ततया प्राप्तम् , अतः सर्वप्रतिबन्धशून्येनात्मज्ञानेन मोहो नष्ट इत्यर्थः । हे अच्युत ! आत्मत्वेन निश्चितत्वात् । "वियोगायोग्यस्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" [छां. उ. ७।२६।२] इति श्रुत्यर्थमनुभवन्नाह— **स्थितोऽस्मि** गतसन्देहः निवृत्तसन्देहः स्थितोऽस्मि युद्धकर्तव्यतारूपे त्वच्छासने; यावज्जीवं च करिष्ये वचनं तव भगवतः परमगुरोराज्ञां पालयिष्यामीति प्रयाससाफल्यकथनेन भगवन्तमर्जुनः परितोषयामास । अनेन गीताशास्त्राध्यायिनो भगवत्प्रसादादवश्यं मोक्षफलपर्यन्तं ज्ञानं भवतीति शास्त्रफलमुपसंहृतम् "लब्धास्य विजज्ञौ" [छां. उ. ६।१६।३] इतिवत् ॥ ७३ ॥

९ व० त० दी०— अर्जुन उवाच— नष्टो मोह इति । विपरीतं ज्ञानं आत्मानात्माविवेकविषयकं विनष्टं मम । स्मृतिश्च यथावस्थिततत्त्वज्ञानं त्वत्प्रसादाल्लब्धा । तत्रानात्मनि प्रकृतितत्कार्ये स्वात्माभिमानरूपो मोहः परमपुरुषस्वरूपतया तदात्मकस्य सर्वस्य चिदचिद्वस्तुनः अतदात्माभिमानरूपश्च नित्यादिकर्मणो भगवदर्थतया तत्प्राप्त्युपायभूतस्य बन्धकत्वावगतिरूपश्च सर्वो नष्टः । आत्मनः प्राकृतस्वभावरहितज्ञातृत्वैकस्वरूपज्ञानं तथा परमात्मनोऽक्षरब्रह्मैक्यज्ञानं तदुत्तमस्य पुरुषोत्तमस्यालौकिकगुणगणस्य प्रभोरनुग्रहभक्त्यैव प्राप्तिः परमपुरुषार्थः । स च वासुदेवः पुरुषोत्तमस्त्वमिति ज्ञानं च स्मृतिरूपं लब्धं, त्वत्प्रसादान्मोहः साङ्ख्योपदेशेन गतः, स्मृतिर्योगोपदेशेन लब्धा । प्रसादो भक्तिरिति वा । अतो गतसन्देहस्तव वचनं युद्धादिकर्तव्यताविषयं करिष्ये ॥ ७३ ॥

१० पु. अ. त.— एवं प्रश्ने नष्टमोहः सन् अर्जुन उत्तरं प्राह— नष्टो मोह इति । अज्ञानकृतो मोहो नष्टः, त्वदुक्तिश्रवणेनेति शेषः । अधिकमपि जातं हे अच्युत सर्वत्र च्युतिरहित ! मया अहङ्काराज्ञानसहितेन त्वत्प्रसादात् स्मृतिः तत्स्वरूपात्मिका लब्धा प्राप्ता । 'प्रसादात्' इति कथनेन साधनालभ्यतोक्ता । अतो दासस्य प्रभ्वाज्ञाकरणमेव धर्मः, न त्वन्योऽपि धर्माधर्मविचारः । एवं गतसन्देहः संस्तवाग्रे दासत्वेन स्थितोऽस्मि; इदानीं तव वचनं पूर्वोक्तं युद्धादिरूपं सर्वधर्मत्यागरूपं त्वद्भक्तेष्वेतदुपदेशरूपं च करिष्ये ॥ ७३ ॥

११ नी० भा० दी०— एवं पृष्टः स्वस्य कृतकृत्यतां ज्ञापयन्नर्जुन उवाच— नष्टो मोह इति । मोहः पूर्वोक्तो द्विविधोऽपि नष्टः । स्मृतिः 'अयमहमस्मि परं ब्रह्म' इत्यात्मानुसन्धानरूपा आत्मतत्त्वविषया लब्धा । यस्या लाभेन सर्वहृदयग्रन्थीनां 'यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः' [ १८।५५ ] इत्यत्रोदाहृतानां चिज्जडैक्यभ्रमप्रभवानां विमोक्षो भवति । तथा च श्रूयते— "स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः" [ छां. उ. ७।२६।२] इति । त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ! स्मृतिर्लब्धेति सम्बन्धः । स्थितोऽस्मि त्वच्छासने इति शेषः । गतसन्देहो नष्टसन्देहः इत्यनेनानात्मन्यात्मधीरूपो मोहो नष्ट इति दर्शितम् । 'करिष्ये वचनं तव' इत्यनेन स्वधर्मे युद्धे चाधर्मधीरूपोऽपि मोहो नष्ट इति दर्शितम् ॥ ७३ ॥

कथानुसन्धानप्रदर्शनार्था सञ्जयोक्तिः ।

## सञ्जय उवाच— इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
## संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥ ७४ ॥

**१ शां. भा.**— परिसमाप्तः शास्त्रार्थः, अथेदानीं कथासम्बन्धप्रदर्शनार्थं सञ्जय उवाच— इत्यहमिति । इत्येवमहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः संवादमिमं यथोक्तमश्रौषं श्रुतवानस्मि । अद्भुतमत्यन्तविस्मयकरं, रोमहर्षणं रोमाञ्चकरम् ॥ ७४ ॥

**२ आ. शां. व्या.**— शास्त्रार्थे समाप्ते सत्यस्यामवस्थायां सञ्जयवचनं कुत्रोपयुक्तं ? इति तदाह— परिसमाप्त इति । वासुदेवस्य सर्वज्ञस्य सर्वेश्वरस्य, कृतार्थस्य पार्थस्य पृथासुतस्यार्जुनस्य महात्मनोऽक्षुद्रबुद्धेः सर्वाधिकारिगुणसम्पन्नस्य सम्यक् वादं संवादं गुरुशिष्यभावेन प्रश्नप्रतिवचनाभिधानमिममनुक्रान्तमद्भुतं विस्मयकरं रोमाणि हृष्यन्ति पुलकीभवन्त्यनेनेति रोमहर्षणमाह्लादकरं यथोक्तं श्रुतवानस्मीत्याह— इत्येवमिति ॥ ७४ ॥

**३ रा. भा.**— धृतराष्ट्राय स्वपुत्राः पाण्डवाश्च युद्धे किं करिष्यन्तीति पृच्छते— इति एवं वासुदेवस्य वसुदेवसूनोः पार्थस्य च तत्पितृष्वसुः पुत्रस्य च महात्मनो महाबुद्धेस्तत्पदद्वन्द्वमाश्रितस्येमं रोमहर्षणमद्भुतं संवादमहं यथोक्तमश्रौषं श्रुतवानहम् ॥ ७४ ॥

**४ वे. ता. चं.**— 'मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय !' [ १।१ ] इति प्रश्ने कृत्स्नं सङ्गमयतीत्याह— धृतराष्ट्रायेति । 'महात्मनः' इत्युक्तं व्यनक्ति— तत्पदद्वन्द्वमाश्रितस्येति । 'कृष्णाश्रयाः कृष्णबलाः कृष्णनाथाश्च पाण्डवाः' इति ह्यन्यत्रोक्तम् । अत्र च 'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्' [ २।७ ] इति । अद्भुतत्वातिशयाद्रोमहर्षणत्वम् । यथोक्तमश्रौषमिति— यथा ताभ्यामुक्तं, तत्र ममाश्रुतांशो नास्तीत्यर्थः । एतेन यथार्थदर्शित्वं व्यञ्जितम् । यद्वा यथा तव मयोक्तम्, एवमेव श्रुतवानस्मि, ततश्च यथादृष्टार्थवादित्वं व्यञ्जितं भवति ॥ ७४ ॥

५ आ. मा. भा.— ॥ ७४ ॥

६ ज. प्र. दी.— ॥ ७४ ॥

७ ह. पै. भा.— इत्यहमिति । इमं यथोक्तम् ॥ ७४ ॥

८ वं. प्र. गि.—समाप्तः शास्त्रार्थः; कथासम्बन्धमिदानीमनुसन्दधानः सञ्जय उवाच– अद्भुतं चेतसो विस्मयाख्यविकारकरं लोकेष्वसम्भाव्यमानत्वात् , रोमहर्षणं शरीरस्य रोमाञ्चाख्यविकारकरम् । तेनातिपरिपुष्टत्वं विस्मयस्य दर्शितम् । स्पष्टमन्यत् ॥ ७४ ॥

९ म० स० दी०— तदेवं धृतराष्ट्रं प्रति श्रीकृष्णार्जुनसंवादमुक्त्वा प्रस्तुतकथामनुसन्दधानः सञ्जय उवाच– इत्यहमिति । उभयोः संवादमिममश्रौषम् ॥ ७४ ॥

१० पु. अ. त.— एवं धृतराष्ट्रपृष्टश्रीकृष्णार्जुनसंवादं सफलमशेषतः कथयित्वा भगवति सासूयत्वात् धृतराष्ट्रस्य फलाभावकथनार्थं स्वस्य च तदग्रे कथनावश्यकत्वाय स्वस्य श्रवणानन्दभवनकारणज्ञापनाय स्तुतकथानुसन्धानेन सञ्जय उवाच— इतीति । इति अमुना प्रकारेण अहं त्वदीयत्वेन द्वेषसम्बन्धयुक्तोऽपि वासुदेवस्य मोक्षदातुः महात्मनो भगवद्भक्तस्य पार्थस्य च इमं मया पूर्वोक्तं संवादम् उत्तरप्रत्युत्तररूपं अद्भुतम् , अलौकिकं रोमहर्षणं रोमहर्षकरम् आनन्दोद्बोधकं अश्रौषं श्रुतवानस्मि ॥ ७४ ॥

११ नी० भा० दी०— समाप्तः शास्त्रार्थः, इदानीं कथाप्रबन्धमेवानुवर्तयन् सञ्जय उवाच— इतीति । अद्भुतं चेतसो विस्मयकरं रोमहर्षणं रोमाञ्चोद्भिदजनकम् । शेषं स्पष्टम् ॥ ७४ ॥

दूरस्थस्यापि सञ्जयस्य श्रवणार्हताद्योतनम् ।

## व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
## योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥ ७५ ॥

१ शां. भा.— तं चेमम्– व्यासप्रसादात्ततो दिव्यचक्षुर्लाभाच्छ्रुतवानेतं संवादं गुह्यतमं परं योगं योगार्थत्वात् संवादमिमं योगमेव वा योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयं, न परम्परातः ॥ ७५ ॥

२ आ. शां. व्या.— प्रकृष्टं संवादं कथमश्रौषीः ? इति चेत्तत्राऽऽह— तं चेति । एतत्पदं संवादपरत्वात्पुंलिङ्गत्वेन नेतव्यमित्याह— एतमिति । परमपुरुषार्थौपयिकत्वात्परत्वं परं गुह्यमतिशयेन गुह्यं रहस्यमिति वा । योगो ज्ञानं कर्म च तदर्थत्वादयं संवादो योग उक्तः । अथवा चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगस्याङ्गत्वादयं संवादो योग इत्याह— संवादमिति । योगानामीश्वरो योगेश्वरः, तदनुग्रहहेतुत्वाद्योगतत्फलयोस्ततः साक्षादव्यवधानेन श्रुतवान् , न परम्परयेत्याह— योगेश्वरादिति । स्वयं स्वेन पारमेश्वरेणातिरस्कृतज्ञानैश्वर्यरूपेण कथयतो व्याचक्षाणादित्यर्थः ॥ ७५ ॥

३ रा. भा.— व्यासप्रसादाद्व्यासानुग्रहेण दिव्यचक्षुश्श्रोत्रलाभात् एतत्परं योगाख्यं गुह्यं योगेश्वरात् ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजसां निधेर्भगवतः कृष्णात् स्वयमेव कथयतः साक्षाच्छ्रुतवानहम् ॥ ७५ ॥

४ वे. ता. चं.— मन्दस्य मोहनकालुष्यनिवृत्तिलक्षणप्रसादस्यात्राभावात् व्यासानुग्रहेणेत्युक्तम् । देवैरप्यदृश्यस्य श्रीविश्वरूपस्य दर्शनार्थं दूरस्थवाक्यश्रवणार्थं च अनुग्रहावान्तरव्यापारमाह— दिव्यचक्षुश्श्रोत्रलाभादिति । अतीन्द्रियादिग्रहणसामर्थ्यादिमात्रेणात्र दिव्यत्वम् । एतदिति नपुंसकनिष्पत्तये योगशब्दं विशेषणीकरोति— योगाख्यमिति । इत्यकर्मणि योग्यताभिप्रायम् । तथाभूतमपि हि मेति व्यासमाहात्म्यव्यञ्जनम् । 'योगेश्वरात्' इत्यत्र योगशब्दः कल्याणगुणयोगपरः 'एतां विभूतिं योगं च' [ १०।७ ] इति प्रागुक्तवदित्याह— ज्ञानेति । स्वयमेव कथयतः, न तु परैर्वाचयत इत्यर्थः । तेन वक्तृवैलक्षण्योक्तिः । यथा 'पञ्चरात्रस्य कृत्स्नस्य वक्ता नारायणः स्वयम्' [ म. भा. १२।३४८।६८ ] इति । साक्षाच्छ्रुतवानहमिति— न तु विवस्वदर्जुनादितच्छिष्यद्वारेत्यर्थः । यद्वा दूरस्थोऽपि प्रत्यक्षं श्रुतवानिति ॥ ७५ ॥

५ आ. भा. भा.— ॥ ७५ ॥ ६ ज. प्र. दी.— ॥ ७५ ॥

७ ह. पै. भा.— व्यासेति । व्यासो भगवान् कृष्णद्वैपायनः । परं प्रकृष्टं, परमात्मविषयत्वात् । योगं सम्यग्ज्ञानम् । योगेश्वराद्योगा योगिनस्तेषामीश्वरात् । साक्षात्प्रत्यक्षं कथयतः । स्वयं स्वमुखेन ॥७५॥

८ वें. ब्र. गि.— व्यवहितस्यापि भगवदर्जुनसंवादस्य श्रवणयोग्यतामात्मन आह— व्यासप्रसादादिति । व्यासदत्तदिव्यचक्षुश्श्रोत्रादिलाभरूपाद्व्यासप्रसादादिमं परं गुह्यं योगं योगाव्यभिचारिहेतुं संवादं योगेश्वरात्कृष्णात्स्वयं स्वेन पारमेश्वरेण रूपेण कथयतः साक्षादेवाहं श्रुतवानस्मि, न परम्परयेति स्वभाग्यमभिनन्दति । अत्र 'इमम्' इति पुंलिङ्गपाठो भाष्यकारैर्व्याख्यातः । 'एतत्' इति नपुंसकलिङ्गपाठस्यैव योगशब्दसामानाधिकरण्येन व्याख्यानमिदमिति तद्व्याख्यातारः ॥ ७५ ॥

९ व० त० दी०— ननु कथमेवं त्वया श्रुतोऽयं संवाद इति चेत्तत्राऽऽह— व्यासप्रसादादिति । दिव्यचक्षुःश्रोत्रादि मह्यं दत्तं, वासुदेवेनार्जुनाय इव। तदेतत्परमं गुह्यं योगं साक्षात्स्वयं कथयतो योगेश्वरात्कृष्णाद्धेतोः परं अनेन कृष्णसम्बन्धात्परत्वमुक्तं तेन साक्षाद्भगवद्वाक्यत्वमेव सिद्ध्यति 'या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिस्सृता,' इति गीतामाहात्म्यवाक्यात् 'वेदाः श्रीकृष्णवाक्यानि' इति श्रीमदाचार्योक्तेश्च । तेनैतदर्जुनस्य प्रबोधकं जातमित्यर्थः । न चेश्वरानुगीतोपदेश एवार्जुनस्य प्रबोधक इति वाच्यं, एतच्छेषभूतत्वादिति गृहाण ॥ ७५ ॥

१० पु. अ. त.— ननु द्वेषभावसम्बन्धे सति कथं श्रुतं ? इत्यत आह— व्यासप्रसादादिति । व्यासस्य भगवज्ज्ञानावतारस्य प्रसादात् चक्षुश्श्रोत्रादिकं व्यासेनालौकिकं दिव्यं दत्तं, तेन श्रुतवानस्मि। किं तदिति श्रुतं ? इत्यत आह । एतत् परिदृश्यमानं गुह्यं गोप्यं परं सर्वोत्कृष्टं योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् स्वयं कथयतः श्रुतवानस्मि ॥७५॥

११ नी० भा० दी०— कथमयं त्वया दूरस्थयोरपि वासुदेवार्जुनयोः संवादः श्रुतः ? इत्यत आह— व्यासप्रसादादिति । भगवता व्यासेन दिव्यं चक्षुश्श्रोत्रादिकं मह्यं दत्तं, येनाहं व्यवहितं विप्रकृष्टं वा सर्वं करतलामलकवद्विजानामि । अतो व्यासप्रसादादेतच्छास्त्रं परं गुह्यं गोप्यं अहं श्रुतवान् । योगं च 'पश्य मे योगमैश्वरम्' [ ११।८ ] इति प्रतिज्ञापूर्वकं प्रदर्शितं वैश्वरूप्यं तमपि दृष्टवानिति शेषः । स्वयं कथयत इत्युक्ते "अस्य महतो भूतस्य निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदः" [बृ.उ.२।४+१०।४।५।११] इति श्रुतेः स्वनिश्श्वसितं वेदं शिष्याचार्यपरम्परया कथयत इत्यायाति तदर्थं साक्षात्कथयत इति । सृष्ट्यादौ ब्रह्माणं प्रतीवेदानीमर्जुनं प्रति साक्षात्कथयतः श्रुतवानहमित्यर्थः । तेन भगवदनुग्रहपात्रतया ब्रह्मणा समत्वं स्वस्य द्योत्यते । अत्र 'एतद्योगं' इत्यभेदेनान्वये तु गुह्यपदापेक्षया एतद्योगमिति पुन्नपुंसकलिङ्गयोरपि सामानाधिकरण्यं; 'शक्यं च यत्किञ्चिदश्नताऽपि क्षुदुपहन्तुं' इत्यादाविव पूर्वप्रवृत्तलिङ्गसंस्कारप्राबल्यादुत्तरत्र भिन्नलिङ्गविशेष्यलाभेऽपि पूर्वसंस्कारो न निवर्तत इति सामानाधिकरण्यं विलिङ्गयोरपि वक्तुं शक्यमिति ज्ञेयम् ॥ ७५ ॥

भगवदर्जुनसंवादश्रवणजाह्लादकथनम् ।

**राजन् ! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम् ।**
**केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः ॥ ७६ ॥**
**तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः ।**
**विस्मयो मे महान्राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥**

१ शां. भा.— हे राजन्धृतराष्ट्र ! संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतं केशवार्जुनयोः पुण्यमिमं श्रवणादपि पापहरं श्रुत्वा हृष्यामि च मुहुर्मुहुः प्रतिक्षणम् ॥ ७६ ॥ तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेर्विश्वरूपं विस्मयो मे महान्हे राजन् ! हृष्यामि च पुनः पुनः ॥ ७७ ॥

२ आ. शां. व्या.— यथोक्तं संवादं भगवतः श्रुत्वा किमुपेक्षसे ? नेत्याह— राजन्निति । पुण्यत्वं साधयति— श्रवणादपीति ॥ ७६ ॥ यत्तु विश्वरूपाख्यं रूपं सगुणमर्जुनाय भगवान्दर्शितवान्ध्यानार्थं तदिदानीं स्तौति– तच्चेति ॥ ७७ ॥

**३ रा. भा.— केशवार्जुनयोरिमं पुण्यमद्भुतं संवादं साक्षाच्छ्रुतं स्मृत्वा मुहुर्मुहुर्हृष्यामि ॥ ७६ ॥ तच्चार्जुनाय प्रकाशितमैश्वरं हरेरत्यद्भुतं रूपं मया साक्षात्कृतं संस्मृत्य संस्मृत्य हृष्यतो मे महान् विस्मयो जायते; पुनः पुनश्च हृष्यामि ॥ ७७ ॥**

४ वे. ता. चं.— अद्भुततरत्वमाह— 'राजन्' इत्यादिना श्लोकद्वयेन। पुण्यं श्रवणमात्रेणापि ज्ञानयज्ञादिवत्पावनम्। अद्भुतं शब्दतोऽर्थतश्च आश्चर्यावहम् ॥ ७६ ॥ तच्च रूपमित्येतत्सर्वजनप्रत्यक्षवसुदेवतनयरूपाद्व्यवच्छेदार्थमित्याह— अर्जुनाय प्रकाशितमैश्वरं रूपमिति। 'संस्मृत्य' इत्यस्य समानकर्तृकत्वाय हृष्यामीति समभिव्याहारानुसारेण– हृष्यत इत्युपात्तम्। हर्षे च फलं महत्तरमित्यस्य श्लोकस्य भावः ॥ ७७ ॥

**५ आ. मा. भा.— ॥ ७६ ॥ ७७ ॥**

६ अ. प्र. दी.— ॥ ७६ ॥ ७७ ॥

**७ ह. पै. भा.— राजन्निति। संस्मृत्य पुण्यं पापहरम्। हृष्यामि च तुष्यामि च। मुहुर्मुहुर्भूयो भूयः ॥ ७६ ॥ तच्चेति। तच्च रूपं विग्रहमत्यद्भुतम्। हरेर्नारायणस्य। विस्मयः कुतूहलम् ॥ ७७ ॥**

८ वं. ब्र. गि.— पुण्यं श्रवणेनापि सर्वपापहरं केशवार्जुनयोरिमं संवादमद्भुतं न केवलं श्रुतवानस्मि, किन्तु संस्मृत्य संस्मृत्य— सम्भ्रमे द्विरुक्तिः— मुहुर्मुहुः वारंवारं हृष्यामि च हर्षं प्राप्नोमि च, प्रतिक्षणं रोमाञ्चितो भवामीति वा ॥ ७६ ॥ यद्विश्वरूपाख्यं सगुणं रूपमर्जुनाय ध्यानार्थं भगवान्दर्शयामास, तदिदानीमनुसन्दधान आह— तच्चेति। तदिति विश्वरूपम्। हे राजन्! मम महान्विस्मयः। अत एव हृष्यामि चाहम्। स्पष्टमन्यत् ॥ ७७ ॥

९ व० त० दी०— राजन्निति। केशवार्जुनयोः संवादमिममद्भुतं स्मृत्वाऽहं मुहुर्मुहुर्हृष्यामि ॥ ७६ ॥ किञ्च तच्चेति। हे राजन्! हरेः सर्वधर्माश्रयस्य विभोर्निरुपममहिम्नः पुरुषोत्तमस्य कृष्णस्य सर्वदुःखहर्तुर्दुष्टसंहर्तुश्च। तदुक्तं परमाद्भुतमनेकधर्माश्रयमक्षरं कालमायातिगमैश्वरं निरुपममहिमधाम विश्वरूपं संस्मृत्य मे विस्मयो भवति मया साक्षात्कृतत्वात्, च पुनः पुनः स्मृत्वा, स्मृत्वाऽहं हृष्यामि। अनेन दैवस्यैवं हर्षः, नान्यस्येति सूचितम् ॥ ७७ ॥

१० पु. अ. त.—किञ्च— राजन्निति। हे राजन् इमं केशवार्जुनयोः संवादं अद्भुतं लौकिकोपपत्तिरहितं पुण्यजनकं संस्मृत्य संस्मृत्य सादरं संस्मृत्य सादरं संस्मृत्य मुहुर्मुहुः वारंवारं हृष्यामि हर्षं प्राप्नोमि ॥७६॥ किञ्च तच्चेति। तत् अत्यद्भुतं अलौकिकरूपं संस्मृत्य, च पुनः हरेः सर्वदुःखहर्तुः पुरुषोत्तमसम्बन्धिरूपं संस्मृत्य मे विस्मयो महान् जातः, कथं त्वदीया जेष्यन्तीति। मूलभूतस्वरूपदर्शनेन सर्वे मोक्षं प्राप्स्यन्तीति पुनः पुनः वारं वारमादरेण हृष्यामि। यद्वा— हरेः अत्यद्भुतं पुरुषोत्तमत्वेनानुभवैकवेद्यं तत्संस्मृत्य स्मरणं कृत्वा पुनः संस्मृत्य ध्यानं कृत्वा मे महान् विस्मयः, यतः 'क्वाहं तुच्छो जीवः, क्व तद्दर्शनं' इति स्वत्सम्बन्धेन दर्शनं जातमतः सम्बोधयति— राजन्निति। किञ्च पुनः हृष्यामि आनन्दं प्राप्नोमि। भगवद्दर्शने हर्षस्तवाप्यनुभवसिद्ध इति तज्ज्ञत्वेन महत्सम्बोधयति– राजन्निति ॥ ७७ ॥

११ नी० भा० दी०— केशवार्जुनसंवादश्रवणजं विश्वरूपाख्ययोगदर्शनजं चाह्लादं क्रमेण श्लोकद्वयेनाऽऽह– राजन्निति। हे राजन् हे धृतराष्ट्र! पुण्यं पुण्यकरं पापहरं चेत्यर्थात् संस्मृत्य संस्मृत्येति सम्भ्रमे द्विरुक्तिः। शेषं स्पष्टार्थम् ॥ ७६ ॥

तच्चेति। रूपं विश्वरूपं एतद्दर्शने हि 'ब्रह्माणमीशं' [ ११।१५ ] इति देशतो विप्रकृष्टं, 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति' [ ११।२७ ] इति कालतो व्यवहितं, भीष्मादिक्षयं च करतलामलकवद्दृष्टवान्। तच्च जगतो मिथ्यात्वमन्तरेण न सम्भवतीति प्रतिपादितं वेदान्तकतके—

अतीतानागतं वस्तु वीक्ष्यते करबिल्ववत् । योगी सङ्कल्पमात्रोत्थमिति शास्त्रेषु डिण्डिमः ॥ १ ॥
मायायां सर्वदा सर्वं सर्वावस्थमिदं जगत् । अस्तीति तदुपाधिश्चित्सार्वात्म्यात्सर्वमीक्षते ॥ २ ॥
आरम्भपरिणामाभ्यां स्वेन रूपेण यन्न सत् । अतीतानागतं वस्तु योगी तद्वीक्षतां कथम् ॥ ३ ॥
सङ्कल्पमात्रभातं वस्त्वतीतादि यदीष्यते । नष्टस्त्रीदर्शनाभं तत्स्याद्योगिज्ञानमप्रमा ॥ ४ ॥
योगिसङ्कल्पमात्रेण तस्योत्पत्तिर्यदीष्यते । ईशसङ्कल्पमात्रेण सर्वोत्पत्तिस्तदेष्यताम् ॥ ५ ॥
आरम्भे परिणामे वा देशकालाद्यतिक्रमः । नैव दृष्टः क्वचित्सोऽयं स्वप्नमायादिषु स्फुटः ॥ ६ ॥
युगपद्गृह्यते कुम्भो नानादेशस्थयोगिभिः । जलसूर्य इवास्माभिस्तेनासौ कल्पितः स्फुटम् ॥ ७ ॥
योगिभिर्गृह्यमाणत्वाद्घटः सर्वत्र सर्वदा । सन्नेवास्तीति चेत्कार्यं कथमीदृग्विधं भवेत् ॥ ८ ॥
व्यावृत्तं हीष्यते कार्यं युगपद्भिन्नदेशता । चेत्कल्पनां विनाऽस्येष्टा दृष्टान्तस्तत्र नास्ति वः ॥ ९ ॥
तस्मान्नाणुभिरारब्धभित्तिवन्नापि गव्यवत् । प्रकृतेः परिणामो वा जगत्किं त्विन्द्रजालवत् ॥ १० ॥
सत्यं बद्धदृशामिन्द्रजालं विश्वं पराग्दृशाम् । अधिष्ठानादृते शुद्धदृशां नास्त्येव तद्द्वयम् । ॥ ११ ॥—इति ।
स्पष्टार्थो मूलश्लोकः ॥ ७७ ॥

धृतराष्ट्रस्य जयाशानिराकरणाय सञ्जयस्य निश्चयोक्तिः ।

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।**
**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥ ७८ ॥**

**इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि**
**श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे**
**श्रीकृष्णार्जुनसंवादे मोक्षसन्न्यासयोगो**
**नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥**

**१ शां. भा.— किं बहुना? यत्र यस्मिन्पक्षे योगेश्वरः सर्वयोगानामीश्वरस्तत्प्रभवत्वात्सर्वयोगबीजश्च कृष्णो यत्र पार्थो यस्मिन्पक्षे धनुर्धरो गाण्डीवधन्वा तत्र श्रीस्तस्मिन्पाण्डवानां पक्षे विजयस्तत्रैव भूतिः श्रियो विशेषो विस्तारो भूतिर्ध्रुवाऽव्यभिचारिणी नीतिर्नय इत्येवं मतिर्ममेति ॥ ७८ ॥**

**इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्य-**
**श्रीशङ्करभगवतः कृतौ श्रीमद्भगवद्गीताभाष्ये मोक्षसन्न्यास-**
**योगो नामाष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥**

**२ आ. शां. व्या.**— द्वयोरपि कृष्णार्जुनयोर्नरनारायणयोः संवादस्य प्रामाण्यार्थं परममुत्कर्षं दर्शयति— **किं बहुनेति** । कथं सर्वेषां योगानामीश्वरो भगवान्? इति तत्राऽऽह— **तत्प्रभवत्वादिति** । सर्वयोगो ज्ञानं कर्म च, तस्य बीजं शास्त्रीयं ज्ञानवैराग्यादि, तद्धि भगवदधीनं, तदनुग्रहविहीनस्य तदयोगात्; अतो योगतत्फलयोर्भगवदनुग्रहायत्तत्वाद्भगवतो योगेश्वरत्वमित्यर्थः । श्रीर्लक्ष्मीर्विजयः परम उत्कर्षः । राज्ञो धृतराष्ट्रस्य स्वपुत्रेषु विजयाशां शिथिलीकृत्य पाण्डवेषु जयप्राप्तिमैकान्तिकीमुपसंहरति— **इत्येवमिति** । उपायोपेयभावेन निष्ठाद्वयस्य प्रतिष्ठापितत्वात्कर्मनिष्ठा परम्परया ज्ञाननिष्ठाहेतुः; ज्ञाननिष्ठा तु साक्षादेव मोक्षहेतुरिति शास्त्रार्थमुपसंहर्तुमितीत्युक्तम् ॥ ७८ ॥

काण्डत्रयात्मकं शास्त्रं पदवाक्यार्थगोचरम् । आदिमध्यान्तषट्केषु व्याख्यया गोचरीकृतम् ॥ १ ॥
सङ्क्षेपविस्तराभ्यां यो लक्षणैरुपपादितः । सोऽर्थोऽन्तिमेन सङ्क्षिप्य लक्षणेन विवक्षितः ॥ २ ॥
गीताशास्त्रमहार्णवोत्थममृतं वैकुण्ठकण्ठोद्भवं श्रीकण्ठापरनामवन्मुनिकृतं निष्ठाद्वयद्योतितम् ।
निष्ठा यत्र मतिप्रसादजननी साक्षात्कृतं कुर्वती मोक्षे पर्यवयास्यति प्रतिदिनं सेवध्वमेतद्बुधाः ! ॥ ३ ॥
प्राचामाचार्यपादानां पदवीमनुगच्छता । गीताभाष्ये कृता टीका टीकतां पुरुषोत्तमम् ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्य-
भगवदानन्दगिरिविरचिते श्रीमद्भगवद्गीताशाङ्करभाष्य-
व्याख्यानेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

**३ रा. भा.— किमत्र बहुनोक्तेन ?— यत्र योगेश्वरः कृत्स्नस्योच्चावचरूपेणावस्थितस्य चेतनस्याचेतनस्य च वस्तुनो ये ये स्वभावयोगाः, तेषां सर्वेषां योगानामीश्वरः स्वसङ्कल्पायत्तस्वेतरसमस्तवस्तुस्वरूपस्थितिप्रवृत्तिभेदः कृष्णः वसुदेवसूनुः, यत्र च पार्थो धनुर्धरः तत्पितृष्वसुः पुत्रः तत्पदद्वन्द्वैकाश्रयः, तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्नीतिश्च ध्रुवा निश्चला; इति मतिर्ममेति ॥ ७८ ॥**

**इति श्रीभगवद्रामानुजविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥**

**४ वे. ता. चं.**—सुयोधनविजयबुभुत्सया कृतस्य प्रश्नस्य सहसा साक्षादुत्तरं वक्तुमशक्नुवन् 'अर्धोक्ताः कुरुपाञ्चालाः' इति मत्वा गूढाभिसन्धिः संवादाद्भुतत्वादिकमुक्तवान्; तावताऽप्यजानतः सर्वात्मनाऽन्धस्य साक्षादुत्तरमाहेत्याह— **किमत्र बहुनेति** । अनभिप्रायज्ञस्य ते भगवताऽर्जुनायाध्यात्मोपदेशवैश्वरूप्यप्रकाशनादिभिः पाण्डवविजयसूचकैरलम्; सूचितमेव स्पष्टं वदामीत्युच्यत इति भावः । यत्र यस्मिन् पक्ष इत्यर्थः । योगेश्वरशब्दस्य 'कथयतः स्वयम्' इत्यत्रासतमत्वाय प्रागुक्तादर्थादर्थान्तरकथनम्, अनेकार्थसम्भवात् प्रकरणानुगुण्येन तत्तद्विशेषपरिग्रहोपपत्तेश्च । ईश्वरशब्दस्य नियन्तव्यसाकाङ्क्षतया योगशब्देन नियन्तव्यविशेषसमर्पणं च युक्ततमम्; अतो विवक्षितविजयाद्यनुगुणमर्थमाह— **कृत्स्नस्ये**त्यादिना । तत्र फलितमाह— **स्वसङ्कल्पेति** । अवस्थान्तरेऽपि श्यामभूतः; अतः कृष्णशब्दोऽत्रावतारदशायामपि योगेश्वरत्वेनाजहत्स्वस्वभावत्वसूचनार्थ इत्यभिप्रायेणाऽऽह— **वसुदेवसूनुरिति** । पार्थसम्बन्धविशेषोऽप्यनेन सूचितः । अत एव हि पार्थशब्द एवं व्याख्यायते— **तत्पितृष्वसुः पुत्र** इति । 'विसृज्य सशरं चापम्' [ १।४७ ] इति प्रागुक्तावस्थाव्यतिरेकपरोऽत्र धनुर्धरशब्दः भगवदनुशिष्टयथोक्तकरणार्थतया गाण्डीवाख्यधनुर्ग्रहणद्योतनार्थः । तत्र विशिष्टोपकरणविशेषवीर्यादिविशेषोऽप्यन्तर्नीतः । 'पार्थस्य च महात्मनः' [ १८।७४ ] इति प्रागुक्तमहामतित्वं पार्थशब्देन सूचितमित्याह— **तत्पदद्वन्द्वैकाश्रय** इति । नह्यसौ त्वत्पुत्रवत्कृष्णमभ्यर्थ्य निस्सारान्परिकरत्वेन परिजग्राहेति भावः । 'तत्र' इति सामान्यनिर्देशः प्रत्यक्षपारुष्यपरिहारार्थः । श्रीः राज्यादिभोग्यसमृद्धिरूपा । विजयः शत्रुनिरासः । 'तत्र ध्रुवः' इति विपरिणामः । भूतिः ऐश्वर्यम्, '**विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्**' [ अमरः १।१।३८ ] इति पर्यायपाठात् । तेनास्य पुरुषस्य प्रभुत्वादिशक्तियोगो विवक्षितः । उत्पन्नायाः समृद्धेरुत्तरोत्तराभिवृद्धिरूपमवनं भूतिः, नीतिः अर्थशास्त्रजन्यकर्तव्यनिश्चयः, तच्चोदिता धर्माविरुद्धा वा वृत्तिः; पटुप्रज्ञैरवहितैरपि युष्माभिश्चतुर्भिरप्युपायैरकम्पनीयो नयो ध्रुवशब्दाभिप्रेत इत्याह— **निश्चलेति** । 'मतिर्मम' इत्यस्यान्वयार्थमितिशब्दोऽध्याहृतः । ममैव मतिः 'विद्या (श्रृणु) राजन्न ते विद्या मम विद्या न हीयते । विद्याहीनस्तमोध्वस्तो नाभिजानासि केशवम्' । [ म. भा. ५।६९।२ ] 'मायां न सेवे भद्रं ते न वृथा धर्ममाचरे । शुद्धभावं गतो भक्त्या शास्त्राद्वेद्मि जनार्दनम्' [ म. भा. ५।६९।५ ] इति । अतस्ते ध्रुवा नैवं मतिः, मम त्वेवं समीचीना मतिः सञ्जातेति भावः ॥ ७८ ॥

कृष्णस्तत्त्वं परं तत्परमपि च हितं तत्पदैकाश्रयत्वं शास्त्रार्थोऽयं च षट्कैस्त्रिभिरिह कथितस्तत्र पूर्वत्र षट्के ।
भक्त्यर्थस्वात्मदृष्टेः करयुगलदशा मध्यमे भक्त्युपायः स्वोक्तानुष्ठानवृत्तिं द्रढयितुमखिलं प्रोक्तमन्तेऽप्यशोधि ॥ १ ॥

अध्यायैः शिष्यमोहस्तदुपशमविधिः कर्मयोगोऽस्य भेदास्तत्सौकर्यादियोगस्तदुचितमहिमा भूतिकामादिभेदः ।
भक्तिस्तन्मूलभूमा भजनसुलभता भक्तिशैघ्र्यादि जीवत्रैगुण्यं शासिताज्ञा तदधिगमपरः सारवर्गश्च गीताः ॥ २ ॥

... ... ... ... इत्यादिः सर्वयोगो भगवति परमैकान्त्यसम्प्रीतियुक्तम् ।
येषामन्योन्ययोगो भवति च कलया नित्यनैमित्तिकानां त्रिष्वप्येतेषु योगं परममिलफलं वक्तुमन्यत्प्रसक्तम् ॥ ३ ॥

शुद्धादेशवशंवदीकृतयतिक्षोणीशवाणीशता प्रज्ञातल्पपरिष्कृतश्रुतिशिरःप्रासादमासेदुषी ।
नित्यानन्दविभूतिसन्निधिसदासामोददामोदरद्वित्रालिङ्गनदोर्ललित्वललितोन्मेषा मनीषाऽस्तु मे ॥ ४ ॥

तत्त्वं यत्प्रणवे धनञ्जयरथेऽप्यग्रे दरीदृश्यते तच्चित्तो भुवि वेङ्कटेश्वरकविर्भक्तोऽनुकम्प्यः सताम् ।
तत्तादृग्गुरुदृष्टिपातमहिमग्रस्तेन यच्चेतसा गीताविष्णुपदी यतीश्वरवचस्तीर्थैरवागाह्यत ॥ ५ ॥

इति श्रीकवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य
कृतिषु श्रीभगवद्रामानुजविरचितश्रीमद्गीताभाष्यटीकायां
तात्पर्यचन्द्रिकायां अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

५ आ. मा. भा.— ॐ पूर्णादोषमहाविष्णोर्गीतामाश्रित्य लेशतः ।
निरूपणं कृतं तेन प्रीयतां मे सदा विभुः ॥ ७८ ॥

सङ्कराख्यस्य दुर्योनेर्निस्सृतेन रजस्वला । गीतानारी समीरेण शोधिता हंसरूपिणा ॥ १ ॥
मायिनः शलभायन्ते भास्करस्तस्करायते । यस्य तस्मिन्प्राणनाथे यतीन्द्रे भक्तिरस्तु मे ॥ २ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचिते श्रीमद्गीताभाष्ये
अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥
श्रीकृष्णार्पणमस्तु । श्रीलक्ष्मीनृसिंहार्पणमस्तु ।

६ ज. प्र. दी.— इदानीं समापितभाष्यो भगवानाचार्यो भाष्यनिर्माणस्य फलं भगवत्प्रीतिमेवाशास्ते– पूर्णेति । एतद्गीतामित्यनेन निरूपणमित्यनेन च सम्बध्यते । तेनेति श्रवणाद्यदिति लभ्यते ।

करतलकलितामलकमिव प्रभुणा येनेदमवगतं विश्वम् । स जयति जनकसुतायाः कान्तः श्रीरघुनन्दनो देवः ॥ १ ॥
नमामि व्यासदासस्य पूर्णबुद्धेः पदाम्बुजे । नतामरशिरोरत्नराजिनीराजिते सदा ॥ २ ॥
अक्षोभ्यतीर्थगुरुणा शुकवच्छिक्षितस्य मे । वचोभिरमृतप्रायैः प्रीयन्तां सततं बुधाः ॥ ३ ॥

इति श्रीमदानन्दतीर्थभगवत्पादाचार्यविरचितस्य श्रीमद्गीताभाष्यस्य टीकायां जयतीर्थमुनिविरचितायां प्रमेयदीपिकायामष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

७ ह. पै. भा.— किं बहुना ? यत्र यस्मिन्पक्षे योगेश्वरः कृष्णः स्थितः, यत्र पार्थो धनुर्धर उद्यतगाण्डीवः, तत्र तस्मिन्पक्षे श्रीर्देवता विजयार्था, विजयः शत्रूणां धर्षणम्, भूतिरैश्वर्यम्, नीतिर्नयः, प्रज्ञा जयसाधिका, इतीत्थं मतिर्निश्चयः । इतिकरणं गीताशास्त्रपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ ७८ ॥*

इति श्रीमद्धनुमद्विरचिते पैशाचभाष्यनामके श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्यानेऽष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

---

* एतदग्रे— 'भाष्यं भगवद्गीतायाः पिशाचेन विनिर्मितम् । आत्मनः प्रकृतिं प्राप्तुं विश्वनाथेन लेखितम् ।' इत्यधिकः श्लोको भाष्यावसानसूचकः क्वचित् दृश्यते ।

८ वें. ब्र. गि.— एवं च सति स्वपुत्रे विजयादिसम्भावनां परित्यजेत्याह— यत्रेति । यत्र यस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे योगेश्वरः सर्वयोगसिद्धीनामीश्वरः सर्वज्ञः सर्वशक्तिर्भगवान् कृष्णो भक्तदुःखकर्षणस्तिष्ठति नारायणः, यत्र पार्थो धनुर्धरः यत्र गाण्डीवधन्वा तिष्ठत्यर्जुनो नरः, तत्र नरनारायणाधिष्ठिते तस्मिन्युधिष्ठिरपक्षे श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयः शत्रुपराजयनिमित्त उत्कर्षः, भूतिरुत्तरोत्तरं राज्यलक्ष्म्या विवृद्धिः, ध्रुवा अवश्यम्भाविनीति सर्वत्रान्वयः । नीतिर्नयः । एवं मम मतिर्निश्चयः । तस्माद्वृथा पुत्रविजयाशां त्यक्त्वा भगवदनुगृहीतैर्लक्ष्मीविजयादिभाग्भिः पाण्डवैः सह सन्धिरेव विधीयतामित्यभिप्रायः ॥ ७८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकसार्वभौमश्रीमदद्वैतविद्याप्रतिष्ठापनाभिनवशङ्कराचार्यसर्वतन्त्रस्वतन्त्र-
श्रीमद्रामब्रह्मानन्दतीर्थभगवत्पूज्यपादानां शिष्येण श्रीवेङ्कटनाथेन कृते ब्रह्मानन्द-
गिर्याख्याने भगवद्गीताव्याख्याने अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

९ व० त० दी०— अतो राजंस्त्वमेवं सर्वमालोच्य निस्संशयो भव, किंबहुना ? यत्रेति । यत्र योगेश्वरः कृष्णः, यत्र पार्थो धनुर्धरः, तत्र श्रीः राज्यलक्ष्मीः, विजयो ध्रुवा निश्चिता नीतिः, अन्यत्रैवं न, भगवतः श्रीपतित्वात् अर्जुनस्य विजयत्वात्, तत्संयोगे एव सर्वं ध्रुवं नीतिश्चेति मे मतिः । अन्येषामेवं भातु मा भातु वा, ममत्वेवं प्रतिभातीत्यर्थः ॥ ७८ ॥

यावत्तदुक्तमार्गेण श्रीकृष्णः शरणं मम । नरो न भावयेद्भक्त्या तावन्मोहो न नश्यति ॥ १ ॥
साङ्ख्यबुद्ध्या नात्मभिन्ने स्वात्मन्यवगते क्रिया । भगवत्यर्पिता कार्या तथा योगधियाऽपि च ॥ २ ॥
सापि भक्त्या गमयति श्रीकृष्णस्याक्षरं पदम् । तत्रापि पुष्टिभक्त्या हि हरितत्त्वावबोधनम् ॥ ३ ॥
तत्प्रवेशः फलं काम्यं भगवांस्तु परं फलम् । सन्न्यस्य सर्वधर्मान्वा शरणं भावयेत्प्रभुम् ॥ ४ ॥
तदाज्ञा धर्मतः सिद्धिरिति गीतार्थसङ्ग्रहः । विवेकधैर्यहेतुभ्यामाश्रयोऽयं निरूपितः ॥ ५ ॥
तथासति स्थिता राज्ये भगवद्धर्मतेति च ॥ ६ ॥
कर्मान्तर्गतमेव यत्र विमलं ज्ञानं विशुद्धं परं साक्षाच्छ्रीपुरुषोत्तमैकविषयं भक्तिश्च निर्हेतुका ।
मर्यादा भुवि पुष्टिरुद्भवमिता गत्या प्रपन्नात्मनः सर्वत्यागत एव सेयममला गीता समुद्भासते ॥ ६ ॥
या वेदार्थपरार्ध्यरत्नविलसन्मञ्जूषिका दूषिका निस्सत्त्वस्य च यन्त्रिणा भगवता पार्थार्थमुद्घाटिता ।
स्वस्नेहाद्रिमतान्तरालतिमिरे श्रीवल्लभाग्रेमया प्रादुर्भावितदीपिकात इह सा सन्दर्श्यतां भो बुधाः ! ॥ ७ ॥
श्रीवल्लभविभुचरणाम्बुजयुगविलसद्रजस्सनाथेन । कृतया तुष्यतु रमया सह हरिरनया सतत्त्वदीपिकया ॥ ८ ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
श्रीमद्वल्लभाचार्यवंश्यश्रीवल्लभप्रादुर्भाविताया-
मष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

१० पु. अ. त.— एवं गीताश्रवणेन भगवद्दर्शनानन्दितचित्तेन स्वमतिनिश्चितार्थमनुवदति तथास्वज्ञानेन शरणागमनार्थम्— यत्रेति । यत्र येषां पक्षे योगानां सर्वसाधनानामीश्वरो नियामकः तत्र श्रीः लक्ष्मीः, यत्र यस्मिन्नर्थे पार्थः पृथायाः क्षत्रियायाः ' यदर्थं क्षत्रियासुत ' इति वाक्यवक्त्र्याः पुत्रो महाशूरो भगवदीयश्च धनुर्धरः ससामग्रीकः तत्र विजयः शत्रूणां पराजयपूर्वकमुत्कर्षः, यत्रैव लक्ष्मीस्तत्रैव भूतिस्तदंशरूपा राज्यलक्ष्मीः ध्रुवा निश्चला, यत्र विजयस्तत्र नीतिर्नय इत्यर्थः । इत्येवंरूपा मे मतिः मद्बुद्धिनिश्चयः । अत्रायं भावः— यत्र श्रीकृष्णार्जुनौ पक्षे भवतः तत्र श्र्यादिकं भवति, तत्र साक्षात्तावेव यत्र तत्र किं वाच्यमिति भावः । अतस्तवापि संरम्भादित्यागेन शरणगमनमेव सर्वार्थसाधकमिति भावः । स्वमतित्ववाचकस्येति प्रतिजानीमः ॥ ७८ ॥

श्रीकृष्णानन्यभक्तस्य गीताश्रवणतः परा । दृढा भक्तिर्भवेद्गीतासारस्त्वेवं हि बुद्ध्यताम् ॥ १ ॥
शास्त्रार्थरूपमज्ञात्वा कृतं न फलदं भवेत् । हरिभजनसिद्ध्यर्थं गीताशास्त्रमथाब्रवीत् ॥ २ ॥

अर्जुनाय प्रसङ्गेन सर्वोद्धारप्रयत्नवान् । तस्माज्ज्ञात्वा हि गीतार्थं कृष्णः सेव्यो हि सर्वदा ॥ ३ ॥
अतस्तदर्थं गीतार्थो निगूढो विनिरूपितः । श्रीमदाचार्यपादाब्जभक्त्या लब्धो ह्यनन्यया ॥ ४ ॥
श्रीमदाचार्यपादेषु गीतार्थकुसुमाञ्जलिः । न्यस्तस्तेन प्रसीदन्तु ते सदा मयि किङ्करे ॥ ५ ॥
पुष्टिमार्गीयभक्तानां विहारार्थं सुनिर्मला । कृता श्रीकृष्णभावाब्धिगीतामृततरङ्गिणी ॥ ६ ॥
अनन्यैकैव भक्तिर्हि कार्या श्रीकृष्णतुष्टये । विद्याष्टादशकेनापि सर्वथैवोच्यते यतः ॥ ७ ॥
इत्येवाष्टादशाध्यायैर्गीताशास्त्रं हरिः स्वयम् । प्रकटीकृतवाँल्लोके दयालुर्देवकीसुतः ॥ ८ ॥
अत्र युक्तमयुक्तं वा जीवबुद्ध्या व्यलेखि यत् । तत् क्षमन्तु सदाऽऽचार्याः स्वाङ्गीकृतिबलान्मयि ॥९॥
कृष्णो जलधरश्यामो बभौ राजीवलोचनः । श्यामाऽपि यस्य वामांसे विद्युल्लेखेव राजते ॥ १० ॥

इति श्रीमद्भगवद्गीतामृततरङ्गिण्यामष्टादशो-
ऽध्यायः सम्पूर्णः ॥ १८ ॥

११ नी० भा० दी० — यस्मादनन्तैश्वर्यो भगवांस्तदनुगृहीतोऽर्जुनश्च युधिष्ठिरपक्षेऽस्ति अतस्त्वया जयाशा न कार्येत्याह— यत्रेति । यत्र पक्षे । ध्रुवेति सर्वत्र सम्बध्यते । श्रीर्दिव्यसभादिशोभा, विजयः प्रसिद्धः, भूतिरैश्वर्यं सर्वनियन्तृत्वम् , नीतिर्नयश्च, एतत्सर्वं तत्र तस्मिन्पक्षे ध्रुवमिति मम मतिः, अतः पाण्डवैः सह सन्धिरेव कर्तव्य इति भावः ॥ ७८ ॥

इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञमर्यादाधुरन्धरचतुर्धरवंशावतंसश्रीगोविन्दसूरिसूनोः
श्रीनीलकण्ठसूरिवर्यस्य कृतौ भारतभावदीपे भीष्मपर्वणि
गीतार्थप्रकाशे अष्टादशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

---

इति श्रीशाङ्करभाष्याद्येकादशटीकोपेता
श्रीमद्भगवद्गीता समाप्ता ।
शुभं भवतु ।

# यामुनमुनिप्रणीतो गीतार्थसंग्रहोपसंहारः ।

यामुनमुनिविरचितो गीतार्थसंग्रहः ।

**कर्मयोगस्तपस्तीर्थदानयज्ञादिसेवनम् ।**
**ज्ञानयोगो जितस्वान्तैः परिशुद्धात्मनि स्थितिः ॥ २३ ॥**

गीतार्थसंग्रहरक्षा ।

अथ दशभिः श्लोकैः सुखग्रहणाय कर्मयोगज्ञानयोगभक्तियोगादीनां स्वरूपादिकं विविनक्ति— कर्मयोग इति । तत्र कर्मयोगस्य लक्षणं पूर्वमेव दर्शितमिति कृत्वा तत्तदधिकारिणां ज्ञानशक्तियोग्यतानुगुण्येन यथाधिकारं परिग्रहार्थं च चतुर्थोक्तानवान्तरभेदाननुक्तानपि सर्वानादिशब्देन संगृह्णन्नुदाहरति । आफलोदयं सादरं निरन्तरपरिग्रहोऽत्र सेवनम् । अथ तत्साध्यस्य ज्ञानयोगस्याधिकारिप्रदर्शनपूर्वकं लक्षणमाह— निरन्तरचिन्तनरूपेणेति शेषः । तेन तत्फलतदुपायज्ञानाभ्यां व्यवच्छेदः ॥ २३ ॥

या. गी. सं.— **भक्तियोगः परैकान्तप्रीत्या ध्यानादिषु स्थितिः ।**
**त्रयाणामपि योगानां त्रिभिरन्योन्यसङ्गमः ॥ २४ ॥**

गी. सं. र.— अथान्तरङ्गैः सह भक्तियोगं लक्षयति— भक्तियोग इति । परस्मिन् ब्रह्मण्येकान्तेन प्रीतिः परैकान्तप्रीतिः; तेन 'महनीयविषये प्रीतिर्भक्तिः' इति लक्षणं सूचितम् 'स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते' [ लिं. पु. ] इत्याद्यनुसारेण । लक्ष्यस्वरूपं ध्यानशब्देनोक्तम् । आदिशब्देनार्चनप्रणामाद्यन्तरङ्गवर्गसङ्ग्रहः । उक्तं च वेदार्थसङ्ग्रहे 'अशेषजगद्धितानुशासनश्रुतिनिकरशिरसि समधिगतोऽयमर्थः— जीवपरयाथात्म्यज्ञानपूर्वक-वर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताक-परमपुरुषचरणयुगलध्यानार्चनप्रणामादिरत्यर्थप्रियस्तत्प्राप्तिफलः' इति । ननु कर्मयोगेऽप्यात्मज्ञानमाराध्यप्रीतिश्चानुवर्तते, ज्ञानयोगेऽप्यन्तःकरणशुद्ध्यर्थं नियतं कर्म त्याज्यं तदाराध्येश्वरभक्तिश्च । एवं भक्तियोगेऽपि तदितरानुवृत्तिः सिद्धा । अतो विभागानुपपत्तिरित्यत्राऽऽह— प्रधानभूते कस्मिंश्चित्क्षीरशर्करादिन्यायेन गुणतया इतरानुप्रवेशो न विभागभञ्जक इति भावः ॥ २४ ॥

या. गी. सं.— **नित्यनैमित्तिकानां च पराराधनरूपिणाम् ।**
**आत्मदृष्टेस्त्रयोऽप्येते योगद्वारेण साधकाः ॥ २५ ॥**

गी. सं. र.— नन्वेवं परैकान्तप्रीतिस्त्रिष्वपि समाना, ऐकान्त्यं चानन्यदेवताकत्वपर्यन्तम्; यथोक्तं मोक्षधर्मे— 'ब्रह्माणं शितिकण्ठं च याश्चान्या देवताः स्मृताः । प्रतिबुद्धा न सेवन्ते यस्मात्परिमितं फलम्' [ म. भा. १२।३४१।३६ ] इति । आश्वमेधिके च 'अनन्यदेवताभक्ता ये मद्भक्तजनप्रियाः । मामेव शरणं प्राप्तास्ते मद्भक्ताः प्रकीर्तिताः' [ म. भा. १४।१०१।९१ ] इति । तपश्चाग्नीन्द्रादिनानादेवता-

---

'प्रबुद्धचर्याः सेवन्तो मामेवैष्यन्ति यत्फलम्' इति पाठान्तरम् ।

सङ्कीर्णानां वर्णाश्रमधर्माणामैकान्त्यविरोधात् त्रिष्वपि योगेषु तत्परित्यागः प्राप्त इत्यत्राऽऽह— अत्र त्रिभिः सङ्गम इत्यर्थतो बुद्ध्या विभज्यान्वेतव्यम्। अयमभिप्रायः— 'नियतस्य' [१८।७] 'यतः प्रवृत्तिः' [१८।४६] 'आचारप्रभवः' [म. भा. १३।१५९।१३७] 'वर्णाश्रमाचारवता' [वि. पु. ३।८।९] इत्यादिभिर्वर्णाश्रमधर्मेतिकर्तव्यताकत्वसिद्धेः, अग्नीन्द्रादिशब्दानामपि प्रतर्दनविद्यान्यायेन तच्छरीरकपरमात्मपर्यन्तत्वानुसाधनात्, 'साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः' [ब्र. सू. १।२।२८] इति न्यायेन यज्ञाग्रहराध्यायोक्तप्रक्रियया*च साक्षात्प्रतिपादकत्वेन वा तत्तत्कर्मणामपि परमपुरुषाराधनत्वसम्भवात्, तदनुष्ठातुरनन्याराधकत्वसिद्धेरैकान्त्यं प्रतिष्ठितम्— इति। एतेन कर्मयोगेऽपि नित्यनैमित्तिकानामितिकर्तव्यतात्वं सूचितम्। तथा 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदः' [४।३०] इति श्लोके (रा.)भाष्यं 'द्रव्ययज्ञप्रभृतिप्राणायामपर्यन्तेषु कर्मयोगभेदेषु स्वसमीहितेषु प्रवृत्ता एते सर्वे 'सह यज्ञैः प्रजाः सृष्ट्वा' [३।१०] इत्यभिहितमहायज्ञपूर्वकनित्यनैमित्तिककर्मरूपयज्ञविदस्तन्निष्ठाः तत एव क्षपितकल्मषा यज्ञशिष्टामृतेन शरीरधारणं कुर्वन्तः एते कर्मयोगे व्यापृताः सनातनं ब्रह्म यान्ति' इति। 'एवं बहुविधा यज्ञाः' [४।३२] इत्यत्र [रा. भा.] चोक्तम्— 'एवं हि बहुप्रकाराः कर्मयोगा ब्रह्मणो मुखे विततः, आत्मयाथात्म्यावाप्तिसाधनतया स्थिताः, तानुक्तलक्षणानुक्तभेदान्कर्मयोगान्सर्वान् कर्मजान् विद्धि— अहरहरनुष्ठीयमाननित्यनैमित्तिककर्मजान् विद्धि' इति। 'भोक्तारं यज्ञतपसाम्' [५।२९] इति श्लोकमवतारयंश्चैवमाह–(रा. भा.) 'उक्तस्य नित्यनैमित्तिककर्मेतिकर्तव्यताकस्य कर्मयोगस्य योगशिरस्कस्य सुशकत्वमाह' इति।

अथ त्रयाणां योगानां परमभक्तिजनने प्रत्यगात्मदर्शनरूपमवान्तरव्यापारं सहेतुकमाह— आत्मेति। योगोऽत्र समाधिरूपमन्तःकरणैकाग्र्यं, तत्साध्यसाक्षात्कारो दृष्टिः। ननु यद्यपि कर्मयोगस्य ज्ञानयोगव्यवधानमन्तरेणापि आत्मावलोकनसाधनत्वं पूर्वमेवोक्तं, तथापि भक्तियोगस्य तत्साधकत्वमयुक्तं, तस्यात्मावलोकनपूर्वकत्वादिति; मैवं, भक्तिनिष्ठाया एव पर्वभेदेन सर्वोपपत्तेः ज्ञानदर्शनप्राप्तीनामविशेषेण भक्तिसाध्यत्वमुच्यते; तच्च पर्वभेदमन्तरेण नोपपद्यते। अतएव ह्यात्मावलोकनानन्तरं— 'मद्भक्तिं लभते पराम्' [१८।५४] इति परशब्देन विशेष्यते। अत आत्मावलोकनरहितस्याप्यद्यतनभक्तानामिव स्तुतिनमस्कारकीर्तनादिनिष्ठया सेवारूपत्वादभिव्यक्तया भक्तिशब्दाभिलप्यया आत्मावलोकनमुपपद्यते। दर्शितश्च परावरभक्तिविभागो वेदार्थसंग्रहे— 'सोऽयं परब्रह्मभूतः पुरुषोत्तमः निरतिशयपुण्यसञ्चयक्षीणाशेषजन्मोपचितपापराशेः परमपुरुषचरणारविन्दशरणागतिजनिततदाभिमुख्यस्य सदाचार्योपदेशोपबृंहितशास्त्राधिगततत्त्वयाथात्म्यावबोधपूर्वकाहरहरुपचीयमानशमदमशौचक्षमार्जवभयाभयस्थानविवेकदयाहिंसाद्यात्मगुणोपेतवर्णाश्रमोचितपरमपुरुषाराधनरूपनित्यनैमित्तिककर्मोपसम्भूतनिषिद्धपरिहारनिष्ठस्य परमपुरुषचरणयुगलन्यस्तात्मात्मीयस्य तद्भक्तिकारितानवरतस्तुतिस्मृतिनमस्कृतियतनकीर्तनगुणश्रवणवचनध्यानार्चनप्रणामादिभिः प्रीतः परमकारुणिकः पुरुषोत्तमप्रसादविध्वस्तस्वान्तध्वान्तस्य अनन्यप्रयोजनानवरतनिरतिशयप्रियविशदतमप्रत्यक्षतापन्नानुध्यानरूपभक्त्यैकलभ्यः' इति। तदुक्तं परमगुरुभिर्भगवद्यामुनाचार्यपादैः 'उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः' इति॥ २५॥

**या. गी. सं.— निरस्तनिखिलाज्ञानो दृष्ट्वाऽऽत्मानं परानुगम्।**
**प्रतिलभ्य परां भक्तिं तयैवाप्नोति तत्पदम्॥ २६॥**

---

* अत्र म. भा. प. १२। अध्यायः ३४० द्रष्टव्यः।

गी. सं. र.— एवं यथाधिकारं परिगृहीतैस्त्रिभिरात्मावलोकनसिद्धिद्वारा परमभक्त्युत्पादनप्रकारं परमभक्तेरेव प्रकृष्टायाः परमप्राप्तिसाधनत्वं च दर्शयति– निरस्तेति । उपायविरोधिसर्वाज्ञाननिवृत्तिरिह 'निरस्तनिखिलाज्ञानः' इत्यनेन विवक्षिता । परानुगं परानुचरं, परशेषतैकरसमित्यर्थः । यथोच्यते– 'नायं देवो न मर्त्यो वा न तिर्यक् स्थावरोऽपि वा । ज्ञानानन्दमयस्त्वात्मा शेषो हि परमात्मनः' इति । आह च सर्वज्ञो मन्त्रराजपदस्तोत्रे— 'दासभूताः स्वतः सर्वे ह्यात्मानः परमात्मनः । अतोऽहमपि ते दास इति मत्वा नमाम्यहम्' इति । प्रतिलभ्य परमात्मसकाशात्प्राप्येत्यर्थः । तयैव परमभक्तिरूपविपाकापन्नयेति शेषः । अत एवकारेण नैरपेक्ष्यमव्यवहितत्वं च व्यज्यते । तत्पदं तच्चरणं, पद्यत इति व्युत्पत्त्या पदं मुक्तप्राप्यतया सिद्धं परमपुरुषस्याप्राकृतं स्थानं स्वरूपं वा । तदेतच्छ्लोकद्वयेन गीयते– 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति । समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः । ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' [ १८।५४;५५ ] इति ॥ २६ ॥

**या. गी. सं.— भक्तियोगस्तदर्थी चेत्समग्रैश्वर्यसाधकः ।**
**आत्मार्थी चेत्त्रयोऽप्येते तत्कैवल्यस्य साधकाः ॥ २७ ॥**

गी. सं. र.— एवं भक्तेर्मोक्षसाधनत्वमुक्तं, सैव मध्यमषट्कोक्तप्रकारेणाचिद्द्रव्यपरिणामविशेषानुभवरूपस्यैश्वर्यस्यापि साधिकेत्याह– भक्तीति । एकस्य कथं परस्परविरुद्धयोर्बन्धमोक्षयोः साधनत्वं ? इत्यत्रोक्तं– तदर्थी चेदिति । एकस्यैव तत्तत्फलरागवशाद्विचित्रफलसाधनत्वं 'सर्वेभ्यः कामेभ्यो ज्योतिष्टोमः' इत्यादिष्वपि प्रसिद्धम् । ब्रह्मादिप्रदेयैश्वर्येभ्यः समधिकत्वमिह समग्रत्वम् । दृष्टं च लोके सम्राट्सामन्तसेवयोः सिद्धितारतम्यम् । न च हिरण्यगर्भादयो हिरण्यगर्भादिपदं प्रदातुं प्रभवन्ति । स्वयमेव ह्युक्तं ब्रह्मणा– 'प्राजापत्यं त्वया कर्म सर्वं मयि निवेशितम्' इति । अन्यत्र चोक्तं 'युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः । पुनस्त्रैलोक्यधातृत्वं प्राप्तवानिति शुश्रुम' इत्यादि ।

रौद्रस्यापि पदस्य भगवत्प्रदत्तत्वमाम्नायते 'अस्य देवस्य मीढुषो वया विष्णोरेषस्य अवभृथे हविर्भिः । विदे हि रुद्रो रुद्रियं महित्वं यासिष्टं वर्तिरश्विनाराविवत्' [ऋक्सं. ५।४।७।५] इति । अस्य स्वेतरसमस्तव्यावृत्तातिशयतया श्रुत्यादिप्रसिद्धस्य, देवस्य अनितरसाधारणात्यद्भुताप्रतिहतक्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिप्रभृतिनित्यनिरवद्यनिरतिशयानन्तमङ्गलगुणमहोदधेः, मीढुषः मिह सेचने, सेक्तुर्दातुः, उदारस्येत्यर्थः, वयः अवयवतया शाखाभूतः शरीरतयाङ्गभूत इत्यर्थः; 'वयाः शाखाः' इति यास्कः । विष्णोः सर्वव्यापनशीलतया सर्वान्तर्यामिभूतस्य नारायणस्य । 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्' [ श्वे. उ. ३।९ ] इति श्रूयते । एषस्य एषणीयस्य प्रार्थनीयस्य अभिमतफलार्थं याचनीयस्येत्यर्थः । अवभृथे हविर्भिः सर्वमेधाख्ये यागे विष्णवे समर्पितैः स्वात्मपर्यन्तैर्हविर्भिः, विदे हि— विदे लेभे, हीति हेतौ प्रसिद्धौ वा, रुद्रियं रुद्रस्य सम्बन्धि, स्वसम्बन्धीत्यर्थः । यद्वा— ब्रह्मरुद्रेन्द्रादीनां प्रवाहानादित्वाद्रुद्रजातिसम्बन्धितया प्रथितं, महित्वं महिमानमित्यर्थः । एतदुपबृंहणाभिप्रायेण चोक्तं महाभारते 'महादेवः सर्वमेधे महात्मा हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव' इति । 'एतौ द्वौ विबुधश्रेष्ठौ प्रसादक्रोधजौ स्मृतौ । तदादर्शितपन्थानौ सृष्टिसंहारकारिणौ' इत्यादिभिश्च सर्वत्रायमर्थः प्रसिद्ध इत्यलं विस्तरेण ।

एवमचित्तत्त्वानुभवरूपैश्वर्यसाधकत्वं भक्तेरुक्तम् , अथ चेतनरूपात्मतत्त्वानुभवरूपार्वाचीनकैवल्यस्य साधनत्वं तस्याः प्रदर्शयन् ज्ञानयोगकर्मयोगयोरप्यर्थस्वभावात् परमपुरुषप्रीतिद्वारेण तत्साधनत्वं युक्तमित्यभिप्रायेणाऽऽह– आत्मेति । अचिदनुभवादीश्वरानुभवाच्च विविक्तरूपोऽनुभव इह तत्कैवल्यशब्देन विवक्षितः । अत्र च वक्तव्यं सर्वं तात्पर्यचन्द्रिकायां प्रपञ्चितमस्माभिः ॥ २७ ॥

**या. गी. सं.— ऐकान्त्यं भगवत्येषां समानमधिकारिणाम् ।**
**यावत्प्राप्ति परार्थी चेत्तदेवात्यन्तमश्नुते ॥ २८ ॥**

**गी. सं. र.**— एवमतिशयितैश्वर्यकैवल्यभगवत्प्राप्त्यर्थिनामधिकर्तव्यतया भक्तेः सारभूतं साधारणं रूपं निष्कर्षयति— ऐकान्त्यमिति । ऐकान्त्यमत्रानन्यदेवताकत्वम् । 'चतुर्विधा मम जना भक्ता एव हि ते स्मृताः । तेषामेकान्तिनः श्रेष्ठास्ते चैवानन्यदेवताः ' इत्यनुगीतावचनं ( ? ) ज्ञानिनामैकान्त्यस्य नित्यत्वाभिप्रायेण । अत्र तु यावत्स्वाभिमतफललाभमैकान्त्यं समानमित्युच्यते । एतेन कर्मयोगज्ञानयोगावस्थयोरप्यैकान्त्यं सिद्धम् , सर्वत्र भगवत्प्रपत्तिपूर्वकत्वावश्यम्भावात् ।

एवमचिदनुभवात् स्वानुभवाच्च विलक्षणमीश्वरानुभवमभ्यर्थयमानस्य अधिकार्यन्तरव्यावृत्तात्यन्तिकत्वलक्षणभक्तिवैशिष्ट्यादव्यवधानेनात्यन्तिकतत्प्राप्तिमाह— यावदिति । फलान्तरसङ्गरूपान्तरायानुपहतश्रेदव्यवधानेन भगवन्तं प्राप्य पुनः संसारं न प्राप्नोतीत्यर्थः । पदाभिप्रायेण तदिति नपुंसकत्वम् ॥ २८ ॥

**या. गी. सं.— ज्ञानी तु परमैकान्ती तदायत्तात्मजीवनः ।**
**तत्संश्लेषवियोगैकसुखदुःखस्तदेकधीः ॥ २९ ॥**

**गी. सं. र.**— अथ 'ये तु शिष्टास्त्रयो भक्ताः फलकामा हि ते मताः । सर्वे च्यवनधर्माणः प्रतिबुद्धस्तु मोक्षभाक् ' इत्यनुगीतस्य 'यावत्प्राप्ति परार्थी चेत् ' इत्युक्तस्याधिकारिणोऽनन्यसाधारणं विशेषमनुष्ठानफलप्राप्त्योश्च प्रकारं तत्रैव च तात्पर्येणास्य शास्त्रस्यापवर्गशास्त्रत्वं चतुर्भिर्विवृणोति— ज्ञानी त्विति । एतेन 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ' [ ७।१८ ] 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः ' [ १०।९ ] इत्यादिकं स्मारितम् । परमश्चासावेकान्ती चेति परमैकान्ती, एकान्तिषु परम इत्यर्थः । परम एकान्तोऽनन्यत्वमस्यास्तीति वा । न केवलमनन्यदेवताकत्वम् , अपित्वनन्यप्रयोजनत्वमस्यास्तीत्यर्थः । संश्लेषोऽत्र मनोवाक्कायसाध्यतदभिमतशास्त्रचोदितसपर्यामुखेन । वियोगोऽपि तद्विच्छेदः; यदाहुर्महर्षयः- 'यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्त्यते । सा हानिस्तन्महच्छिद्रं सा भ्रान्तिः सा च विक्रिया ॥ एकस्मिन्नप्यतिक्रान्ते मुहूर्ते ध्यानवर्जिते । दस्युभिर्मुषितेनेव युक्तमाक्रन्दितुं भृशम् ' इति । तस्मिन्नेव धीश्चिन्ता यस्य तदेकधीः ॥२९॥

**या. गी. सं.— भगवद्ध्यानयोगोक्तिवन्दनस्तुतिकीर्तनैः ।**
**लब्धात्मा तद्गतप्राणमनोबुद्धीन्द्रियक्रियः ॥ ३० ॥**

**गी. सं. र.**— ध्यानमिहानुचिन्तनं, योगस्तन्मूलमवलोकनं, विशिष्टक्षेत्रादिवर्तिनः परस्याभिगमनं वा, यदाहुः— 'पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ' 'योगस्तु द्विविधः प्रोक्तो बाह्यमाभ्यन्तरं तथा । बाह्यं बहिः क्रियापेक्षमान्तरं ध्यानमुच्यते ' इति । उक्तिः शुश्रूषुभ्योऽधिकारिभ्यः प्रतिपादनम् । वन्दनं त्रिभिः करणैः प्रणाम इत्यर्थः । स्तुतिः गुणकथनं, कीर्तनं तत्तद्गुणविभवचेष्टितादिगर्भाणां तदसाधारणनामधेयानां सङ्कीर्तनं, तैर्लब्धात्मा, अन्यथा अवस्तुभूतमात्मानं मन्यमान इति भावः । प्रशिथिलकरणकलेवरादिको भवेदिति वा । प्राणादीनां क्रियायास्तद्गतत्वं तदनुभवाभावे शैथिल्यादिति भाव्यम् । अथवा 'यत्करोषि यदश्नासि ' [९।२७] इति न्यायेन स्वभावार्थशास्त्रप्राप्तानां कर्मणां भगवति समर्पणम् । मनः सङ्कल्पविकल्पवृत्तिकमन्तःकरणं, तस्याध्यवसायात्मिका वृत्तिर्बुद्धिः; यद्वा तदेवात्राध्यवसायवृत्तिविशिष्टं बुद्धिरित्युच्यते । यथोक्तं शारीरकभाष्ये- 'अध्यवसायाभिमानचिन्तावृत्तिभेदान्मन एव बुद्ध्यहङ्कारचित्तशब्दैर्व्यपदिश्यते ' [ ब्र. सू. भा.] इति । इन्द्रियशब्दोऽत्र गोबलीवर्दन्यायाद्बाह्येन्द्रियविषयः ॥ ३० ॥

**या. गी. सं.— निजकर्मादि भक्त्यन्तं कुर्यात्प्रीत्यैव कारितः ।**
**उपायतां परित्यज्य न्यस्येद्देवे तु तामभीः ॥ ३१ ॥**

गी. सं. र.—एवंविधस्याधिकारिणः 'सततं कीर्तयन्तो माम्' [९।१४] इत्युक्तप्रक्रियया वर्णाश्रमधर्माणामपि लोपः स्यादित्यत्राऽऽह— निजकर्मेति । नित्यदास्यैकस्वभावस्य मुक्तस्येवास्यापि तत्परिचरणं तदाज्ञानुवर्तन-प्रीत्यैव यथाशास्त्रं यथाधिकारं यथावसरं च सर्वं घटते, अन्यथा 'सन्ध्याहीनोऽशुचिर्नित्यमनर्हः सर्वकर्मसु' इत्यादिभिर्भगवदर्चनादावप्यनधिकारप्रसङ्गात् । तस्माद्योग्यतासिद्ध्यर्थं लब्धांशस्य शैथिल्यपरिहारार्थं उत्तरोत्तरोपचयार्थं सुदृढसिद्धोपायस्यापि स्वानुष्ठानेन परप्रवर्तनरूपभगवदाज्ञानुपालनार्थमवश्यकर्तव्यानामपि कर्मणां विधिपरामर्शमन्तरेण प्रियतमसुहृत्पुत्राद्युपलालनवत्प्रीतिरेव ज्ञानिनः प्रयोजिकेति भावः । तथा च शिष्यते— 'यथा युवानं राजानं यथा च मदहस्तिनम् । यथा च पुत्रं दयितं तथैवोपचरेद्धरिम्' इति । 'यथा प्रियातिथिं प्राप्तं भगवन्तं तथाऽर्चयेत्' इति संहितान्तरम् ।

एवकाराभिप्रेतमन्यदपि विवृणोति— उपायतामिति । मुक्तव्यापारन्यायेन स्वयं स्वादुत्वात् क्षणिकस्य कालान्तरभाविफलसाधनत्वानुपपत्तिदर्शनाच्च नास्य स्वव्यापारे मोक्षोपायताबुद्धिरपि स्यादिति भावः । अन्ततस्तैस्तैराराधितो भगवानेव हि सर्वत्रोपायः, न पुनः क्षणिकं तत्क्रियास्वरूपं तत्साध्यं किञ्चित्तत्प्रीत्य-तिरिक्तमप्रामाणिकमपूर्वादिकं वा ।

अतस्तस्मिन्नेव 'मामेकं शरणं व्रज' [१८।६६] इति वक्तर्युपायताबुद्धिः कार्येत्याह— न्यस्ये-दिति । अनाश्रितानां बन्धनमाश्रितानां मोचनं च भगवतः स्वमाहात्म्यानुगुणलीलयैवेत्यभिप्रायेणाऽऽह— देव इति । 'तं ह वै देवम्' इति शरण्यविषयश्रुतिसूचनार्थमत्र देवशब्दः । 'अपारकारुण्यसौशील्यवात्सल्यौदा-र्यादिगुणनिधौ' 'मित्रभावेन सम्प्राप्तम्' 'सकृदेव प्रपन्नाय' 'अपि चेत्सुदुराचारः' [९।३०] 'क्षिप्रं भवति धर्मात्मा' [९।३१] 'मन्मना भव मद्भक्तः' [१८।६५] 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' [१८।६६] इति वक्तरि तस्मिन्नेवाशरण्यशरण्ये स्वयमुपायतयाऽवस्थिते स्वापराधतत्स्वातन्त्र्यतत्सङ्कल्पकिङ्करहिरण्यगर्भ-रुद्रेन्द्रादिक्षुद्रेश्वरादिनिमित्तभयं न कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाऽऽह— अभीरिति ॥ ३१ ॥

**या. गी. सं.— एकान्तात्यन्तदास्यैकरतिस्तत्पदमाप्नुयात् ।**
**तत्प्रधानमिदं शास्त्रमिति गीतार्थसंग्रहः ॥ ३२ ॥**

गी. सं. र.— एवं स्थितस्य यथामनोरथमन्तरायानुपहतस्य फलसिद्धिमाह— एकान्तेति । उक्तं च परमै-कान्तिनां परिचरणप्रकारमनुक्रम्य तस्य निर्विघ्नत्वं श्रीपौष्करे— 'प्रवृत्तिकालादारभ्य आत्मलाभावसानिकम् । यत्रावकाशो विघ्नानां विद्यते न कदाचन' इति । एतदेवाभिप्रेत्योक्तं श्रीसात्त्वते— 'सङ्कल्पादेव भगवांस्तत्त्वतो भावितात्मनाम् । व्रतान्तमखिलं कालं सेचयत्यमृतेन तु ॥ ज्ञात्वैव बन्धं मर्त्येन भवितव्यं सदैव हि । प्रार्थये सर्वकामानां संसारभयभीरुणा' इति । अतः 'श्रूयते खलु गोविन्दे भक्तिमुद्वहतां नृणाम् । संसारन्यूनता-भीतास्त्रिदशाः परिपन्थिनः ॥ सत्यं शतेन विघ्नानां सहस्रेण तथा तपः । विघ्नायुतेन गोविन्दे नृणां भक्ति-र्निवार्यते' इत्यादिकं परमभक्त्यवस्थातः प्राचीनावस्थाविषयं नेतव्यम् । अत्र भूमविद्यायामिव ऐश्वर्याद्यर्वा-चीनपुरुषार्थप्रतिपादनं परमपुरुषप्राप्तिरूपप्रधानतमपुरुषार्थपारम्यसमर्थनार्थतया । उक्तं च श्रीसात्त्वते— 'प्रत्य-यार्थं च मोक्षस्य सिद्धयः सम्प्रकीर्तिताः' इति ॥

अतो मोक्षसाधनत्वमेवास्य शास्त्रस्येत्यभिप्रायेणाऽऽह— तदिति । अत्र यथार्हं न्यासोपासनरूपप्रापक-निष्ठाप्राप्ततया निर्दिष्टः परमैकान्ती वा, तत्प्राप्यं वा तच्छब्देन परामृश्यते ।

अथात्र सौगतार्हतादिसगन्धानां शङ्करादिग्रन्थानां भगवदभिप्रायविरुद्धताख्यापनाय उक्तसङ्ग्रहप्रकारेण शिष्याणां यथावस्थितसमस्तगीतार्थप्रपञ्चावगाहनाय च निगमयति— इतीति । इत्थमेव सत्त्वनिष्ठसम्प्रदायपरम्परागतः समीचीनो गीतार्थः, न पुनः कुदृष्टिभिरुन्नीतः, स चैष स्वयोगमहिमचुलकितपरमपुरुषविभूतियुगलभगवन्नाथमुनिनियोगानुवर्तिश्रीमद्राममिश्रसकाशाद्बहुशास्त्रविद्भिरस्माभिर्बहुशः श्रुतस्य भगवद्गीतार्थप्रपञ्चस्य सङ्ग्रह इति मुमुक्षुभिः सङ्ग्राह्यतम इति भावः ॥ ३२ ॥

सारं फाल्गुनसारथीयवचसां श्रीयामुनेयोद्धृतं विस्पष्टैरिति वेङ्कटेश्वरकविर्व्याचष्ट भाष्याक्षरैः ।
यद्वादेषु कुदृष्टिबाह्यकुहनाकोलाहलास्कन्दिभिर्जङ्घालैर्जयघोषणाघणघणैर्विद्राणनिद्रा दिशः ॥ १ ॥

इति कवितार्किकसिंहस्य सर्वतन्त्रस्वतन्त्रस्य श्रीमद्वेङ्कटनाथस्य वेदान्ताचार्यस्य कृतिषु
श्रीगीतार्थसङ्ग्रहरक्षा सम्पूर्णा ।

कवितार्किकसिंहाय कल्याणगुणशालिने । श्रीमते वेङ्कटेशाय वेदान्तगुरवे नमः ॥ २ ॥
विगाहे यामुनं तीर्थं साधुवृन्दावने स्थितम् । निरस्तजिह्मगस्पर्शे यत्र कृष्णः कृतादरः ॥ ३ ॥

श्रीमते रामानुजाय नमः ।

# श्रीमद्भगवद्गीताया अष्टादशाध्यायस्य माहात्म्यम् ।

श्रीपार्वत्युवाच—
उक्तं सप्तदशाध्यायगौरवं भवता शिव ! ।
स त्वमष्टादशाध्यायमहिमानमुदीरय ॥१॥
ईश्वर उवाच—
आकर्णय चिदानन्दनिष्यन्दिनिगमोत्तमम् ।
पुण्यमष्टादशाध्यायमाहात्म्यं गिरिनन्दिनि ! ॥ २ ॥
समस्तशास्त्रसर्वस्वं श्रोत्रपात्ररसायनम् ।
संसारयातनाजालविदारणपरायणम् ॥ ३ ॥
परं रहस्यं सिद्धानामविद्योन्मूलनक्षमम् ।
चैतन्यं कैटभारातेरग्रगण्यं परं पदम् ॥ ४ ॥
विवेकवल्लरीमूलं कामक्रोधमदापहम् ।
पुरन्दरादिगीर्वाणचित्तविश्राममन्दिरम् ॥ ५ ॥
सनकादिमहायोगिमनोरञ्जनकारणम् ।
पाठमात्रपराभूतकालकिङ्करगर्जितम् ॥ ६ ॥
अष्टोत्तरशतव्याधिमूलोन्मूलनकारकम् ।
नातः परतरं किञ्चिद्रहस्यं हंसगामिनि ! ॥ ७ ॥
तापितापत्रयहरं महापातकनाशनम् ।
यथा दिवौकसां शक्रो गुरुः शक्राद्यथा वरः ॥ ८ ॥
यथा रसानां पीयूषमुत्तमं विश्वविश्रुतम् ।
यथा गिरीणां कैलासो यथा चन्द्रो दिवौकसाम् ॥९ ॥
तीर्थानां पुष्करं तीर्थं यथा पुष्पेषु पङ्कजम् ।
पतिव्रतासु नारीषु यथा लोकेष्वरुन्धती ॥ १० ॥
यथा मखेष्वश्वमेधो यथोद्यानेषु नन्दनम् ।
यथा रुद्रेषु सर्वेषु वीरभद्रो ममानुगः ॥ ११ ॥
यथा कालेष्वहं नित्यो यथा पशुषु कामधुक् ।
यथा व्यासो मुनीन्द्रेषु व्यासेषु ब्रह्मवित्तमः ॥ १२ ॥
यथा दानेषु भूदानं यथा सिन्धुषु गौतमी ।
यथा लोके हरिक्षेत्रं प्रशस्तं धर्मकर्मसु ॥ १३ ॥
यथा लक्ष्मीपतेर्जन्मस्थानं मधुवनं स्मृतम् ।
सर्वतीर्थेषु यत्पुण्यं सर्वतीर्थनमस्कृतम् ॥ १४ ॥
तथा ह्यष्टादशाध्यायमाहात्म्यं भुवनोत्तरम् ।
अत्राऽऽख्यानमिदं पुण्यं भक्त्याऽऽकर्णय पार्वति ! १५
यदाकर्णनमात्रेण जन्तुः पापैः प्रमुच्यते ।
अस्ति मेरुगिरेः शृङ्गे पुरी रम्याऽमरावती ॥ १६ ॥
पुरा मम विनोदाय निर्मिता विश्वकर्मणा ।
निरन्तरं गुणयुता कोटिगीर्वाणसेविता ॥ १७ ॥
तेजःपुञ्जवती साक्षाद्ब्रह्मविद्येव विश्रुता ।
चिन्तामणिशिलाबद्धाः प्रासादा यत्र कामदाः ॥१८ ॥
जयन्ति मेरुशिखरे चतुर्मुखपुरावधि ।
यत्र कल्पद्रुमच्छायासुखासीना पुलोमजा ॥ १९ ॥
शृणोति श्यामला गीर्भिर्गीतं गन्धर्वयोषिताम् ।
यत्राऽऽस्ते स बलारातिर्दम्भोलिदलितायुषाम् ॥२०॥
दैत्यानां रक्तकल्लोलैस्तत्र भूः शोणतां गता ।
पुरातनसुधास्वादं स्मारं स्मारं दिवौकसः ॥ २१ ॥
ध्यन्ति यत्र क्षुत्क्षामाः कलां प्रत्यहमैन्दवीम् ।
तस्यां कैवल्यकल्पायामासीत्पूर्वं शतक्रतुः ॥ २२ ॥
शचीसमन्वितः श्रीमान्गीर्वाणगणसेवितः ।
स कदाचित्सुखासीनो विष्णुदूतैरधिष्ठितम् ॥ २३ ॥
सहस्रनेत्रमायान्तमपश्यत्पुरुषं परम् ।
ततस्तदीयैस्तेजोभिरभिभूतः पुरन्दरः ॥ २४ ॥

मणिसिंहासनात्तूर्णं पतितः स्थानमण्डपे ।
सिंहासनात्प्रयातस्य ततस्तस्य हरेर्भटाः ॥ २५ ॥
गीर्वाणगणसाम्राज्यपट्टबन्धं वितेनिरे ।
अथ तस्याभिषिक्तस्य महेन्द्रस्य पुलोमजा ॥ २६ ॥
वामाङ्कमारुरोहाऽऽशु दिव्यदुन्दुभिनिस्स्वनैः ।
अथ त्रिदिवसङ्गीतगीर्वाणप्रमदान्विताः ॥ २७ ॥
सुरा नीराजयामासुर्दिव्यै रत्नैः सुरस्त्रियः ।
ततो वै ऋषयो वेदैराशीर्वादांस्तदा ददुः ॥ २८ ॥
रम्भाद्या ननृतुस्तस्य पुरस्तादप्सरोगणाः ।
गन्धर्वा ललितालापाजगुर्मङ्गलकौतुकम् ॥ २९ ॥
एवं नूतनमिन्द्रं तं जुष्टं बहुभिरुत्सवैः ।
विना क्रतुशतं दृष्ट्वा शक्रो विस्मयमाययौ ॥ ३० ॥
न प्रपा विहिता मार्गे तडागा न विनिर्मिताः ।
नाऽऽरोपिता महावृक्षाः पान्थविश्रान्तिकारकाः॥३१
न कदाचिदहो दृष्टो देवस्त्रिपुरभैरवः ।
निधिवासस्थिता देवी पूजिता न मदालसा ॥ ३२॥
मेघङ्करस्थितः शार्ङ्गधरो नैव निरीक्षितः ।
न कृतं विरजे स्नानं नैव काशीपुरं गतः ॥ ३३ ॥
न देववाटिकावासी दृष्टो नरहरिः स्वयम् ।
एरण्डविष्णुर्हेरम्बो न जातु परिशीलितः ॥ ३४ ॥
रेणुका नेक्षिता जातु मातापुरनिवासिनी ।
नागदन्तपुरे ख्यातो नागनाथो न वीक्षितः ॥ ३५ ॥
रेवापुरस्थितो देवो घुसृणेशो न वीक्षितः ।
न भक्त्या पूजिता देवी दानापुरनिवासिनी ॥ ३६ ॥
न भक्त्या त्रिपुरे दृष्टस्त्रिलिङ्गस्त्र्यम्बकः स्वयम् ।
न शार्दूलतडागस्थो वीक्षितः सोमनाथकः ॥ ३७ ॥
आर्णग्रामस्थितो दृष्टो न महानमृतेश्वरः ।
न तुङ्गभद्रातीरस्थो दृष्टो हरिहरः स्वयम् ॥ ३८ ॥
कावेरीकर्णिकातीरे श्रीरङ्गो नैव वीक्षितः ।
दीनास्त्वनाथाः क्रोशन्तः कारागाराच्च मोचिताः ॥३९
अन्नदानेन दुर्भिक्षे प्राणिनो नैव पूजिताः ।
रात्रौ रात्रौ कृता क्वापि निर्जले नोदकप्रपा ॥ ४० ॥
न गौतम्यां कृतं स्नानं न दृष्टो हरिणेश्वरः ।
दत्तं न भूखण्डमपि कवयो नैव पूजिताः ॥ ४१ ॥
न तीर्थेषु कृतं सत्रं न ग्रामेषु कृता मखाः ।
न पुष्करिण्यो विहिता मार्गमध्ये बहूदकाः ॥ ४२ ॥
न प्रासादाः कृताः क्वापि ब्रह्मविष्णुपिनाकिनाम् ।
न जातुचिद्भयाक्रान्ता रक्षिताः शरणागताः ॥ ४३ ॥
कथमेतेन पापेन दैवदत्तमिहार्जितम् ।
इति चिन्ताकुलो भूत्वा हरिं प्रष्टुं पुरन्दरः ॥ ४४ ॥
ययौ सरभसं खिन्नः क्षीराकूपारगह्वरम् ।
तत्र प्रविश्य गोविन्दं कृतनिद्रं स वासवः ॥
अकस्मान्निजसाम्राज्यभ्रंशदुःखमुवाच ह ॥ ४५ ॥

इन्द्र उवाच—

रमाकान्त ! भवत्प्रीत्यै कृतं क्रतुशतं पुरा ।
तेन पुण्येन सम्प्राप्तं मया पौरन्दरं पदम् ॥ ४६ ॥
इदानीं नूतनः कोऽपि जातो दिवि पुरन्दरः ।
न तेन धर्मो विहितो न तेन क्रतवः कृताः ॥
मम सिंहासनं दिव्यं कथमाक्रान्तमच्युत ! ॥ ४७ ॥

श्रीमहादेव उवाच—

इत्येवं वदतस्तस्य श्रुत्वा वाचं रमापतिः ।
किञ्चिदुन्मीलिताक्षोऽसावुवाच मधुरं वचः ॥ ४८ ॥

श्रीभगवानुवाच—

किं दानैरल्पफलदैः किं तपोभिः किमध्वरैः ।
वर्तमानः क्षितितले स मां प्रीणितवान्पुरा ॥ ४९ ॥

इन्द्र उवाच—

भगवन् ! कर्मणा केन स त्वां प्रीणितवान्द्विजः ।
यत्प्रीत्या च भवान्प्रादात्तस्मै पौरन्दरं पदम् ॥ ५० ॥

श्रीभगवानुवाच—

जपत्यष्टादशाध्याये गीतानां श्लोकपञ्चकम् ।
तेन पुण्येन सम्प्राप्तं तव साम्राज्यमुत्तमम् ॥
सर्वपुण्यशिरोरत्नभूतेन त्वं स्थिरो भव ॥ ५१ ॥

श्रीशिव उवाच—

इति विष्णोर्वचः श्रुत्वा ज्ञात्वोपायं पुरन्दरः ।
विप्रवेषधरो भूत्वा गतो गोदावरीतटम् ॥ ५२ ॥
तत्रापश्यत्पुरं पुण्यं कालिकाग्राममुत्तमम् ।
यत्र कालेश्वरो देवो वर्तते कालमर्दनः ॥ ५३
तत्र गोदावरीतीरे स्थितं परमधार्मिकम् ।
अपश्यत्करुणावन्तं ब्राह्मणं वेदपारगम् ॥ ५४ ॥
नित्यमष्टादशाध्यायं जपन्तं दान्तचेतसम् ।
ततस्तच्चरणद्वन्द्वे लुठित्वा परया मुदा ॥ ५५ ॥
स तमष्टादशाध्यायमपठत्तेन शिक्षितम् ।
अथ पुण्येन तेनासौ विष्णोः सायुज्यमाययौ ॥ ५६ ॥
हित्वा पुरन्दरादीनां देवानां पदमल्पकम् ।
ज्ञात्वाऽतीव मुदा युक्तो वैकुण्ठमगमत्परम् ॥ ५७ ॥
अत एव परं तत्त्वं मुनीनामिदमुत्तमम् ।
दिव्यमष्टादशाध्यायमाहात्म्यं कथितं मया ॥ ५८ ॥
यस्य श्रवणमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
इत्येवं गीतामाहात्म्यं कथितं पापनाशनम् ॥ ५९ ॥
पुण्यं पवित्रमायुष्यं स्वर्ग्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
यः शृणोति महाभागे ! श्रद्धया संयुतः पुमान् ॥
सर्वयज्ञफलं प्राप्य विष्णोः सायुज्यमाप्नुयात् ॥ ६० ॥

इति श्रीमहापुराणे पाद्मे उत्तरखण्डे गीतामाहात्म्ये सतीश्वरसंवादे श्रीमद्भगवद्गीताष्टादशाध्याय-
माहात्म्यवर्णनं नामाष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ।

समाप्तमिदं गीतामाहात्म्यम् ।

# श्रीमद्भगवद्गीतायास्तृतीयषट्कश्लोकानामकारादिक्रमः ।


| श्लोकप्रतीकानि । | अ. | श्लो. | पृ. |
| --- | --- | --- | --- |
| **अ** | | | |
| अदेशकाले यद्दानं | १७ | २२ | २६७ |
| अधर्मं धर्ममिति या | १८ | ३२ | ३४३ |
| अधश्चोर्ध्वं च प्रसृताः | १५ | २ | १५७ |
| अधिष्ठानं तथा कर्ता | १८ | १४ | ३१३ |
| अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं | १३ | १२ | ४५ |
| अध्येष्यते च य इमं | १८ | ७० | ४२४ |
| अनादित्वान्निर्गुणत्वात् | १३ | ३२ | ९३ |
| अनिष्टमिष्टं मिश्रं च | १८ | १२ | ३०७ |
| अनुद्वेगकरं वाक्यं | १७ | १५ | २६० |
| अनुबन्धं क्षयं हिंसां | १८ | २५ | ३३६ |
| अनेकचित्तविभ्रान्ताः | १६ | १६ | २२३ |
| अन्ये त्वेवमजानन्तः | १३ | २६ | ८१ |
| अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च | १४ | १३ | १२५ |
| अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञः | १७ | ११ | २५७ |
| अभयं सत्त्वसंशुद्धिः | १६ | १ | २०१ |
| अभिसन्धाय तु फलं | १७ | १२ | २५८ |
| अमानित्वमदम्भित्वं | १३ | ८ | ३८ |
| अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः | १८ | २८ | ३३९ |
| अविभक्तं च भूतेषु | १३ | १७ | ५९ |
| अशास्त्रविहितं घोरं | १७ | ५ | २४८ |
| अश्रद्धया हुतं दत्तं | १७ | २८ | २७६ |
| असक्तबुद्धिः सर्वत्र | १८ | ४९ | ३६९ |
| असक्तिरनभिष्वङ्गः | १३ | १० | ४२ |
| असत्यमप्रतिष्ठं ते | १६ | ८ | २१३ |
| असौ मया हतः शत्रुः | १६ | १४ | २२१ |
| अहङ्कारं बलं दर्पं | १६ | १८ | २२५ |
| ,, ,, | १८ | ५३ | ३७५ |
| अहं वैश्वानरो भूत्वा | १५ | १४ | १७७ |
| अहिंसा सत्यमक्रोधः | १६ | २ | २०१ |
| **आ** | | | |
| आढ्योऽभिजनवानस्मि | १६ | १५ | २२१ |
| आत्मसम्भाविताःस्तब्धाः | १६ | १७ | २२४ |
| आयुस्सत्त्वबलारोग्य– | १७ | ८ | २५१ |
| आशापाशशतैर्बद्धाः | १६ | १२ | २१९ |
| आसुरीं योनिमापन्नाः | १६ | २० | २२८ |
| आहारस्त्वपि सत्त्वस्य | १७ | ७ | २५० |
| **इ** | | | |
| इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं | १३ | ७ | ३४ |
| इति गुह्यतमं शास्त्रं | १५ | २० | १९२ |
| इति ते ज्ञानमाख्यातं | १८ | ३३ | ३९६ |
| इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं | १३ | १९ | ६३ |
| इत्यहं वासुदेवस्य | १८ | ७४ | ४२९ |
| इदमद्य मया लब्धं | १६ | १३ | २२० |
| इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं | १३ | ९ | ४१ |
| इदं ज्ञानमुपाश्रित्य | १४ | २ | १०८ |
| इदं ते नातपस्काय | १८ | ६७ | ४१९ |
| इदं शरीरं कौन्तेय ! | १३ | २ | ४ |
| **ई** | | | |
| ईश्वरः सर्वभूतानां | १८ | ६१ | ३९१ |
| **उ** | | | |
| उत्क्रामन्तं स्थितं वापि | १५ | १० | १७४ |
| उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः | १५ | १७ | १८४ |
| उदासीनवदासीनः | १४ | २३ | १३९ |
| उपद्रष्टाऽनुमन्ता च | १३ | २३ | ७३ |
| **ऊ** | | | |
| ऊर्ध्वमूलमधश्शाखं | १५ | १ | १५२ |
| ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः | १४ | १८ | १२९ |
| **ऋ** | | | |
| ऋषिभिर्बहुधा गीतं | १३ | ५ | ३० |
| **ए** | | | |
| एतान्यपि तु कर्माणि | १८ | ६ | २९६ |
| एतां दृष्टिमवष्टभ्य | १६ | ९ | ९ |
| एतैर्विमुक्तः कौन्तेय ! | १६ | २२ | २३० |
| **ओ** | | | |
| ओं तत्सदिति निर्देशः | १७ | २३ | २६८ |
| **क** | | | |
| कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ ! | १८ | ७२ | ४२६ |
| कट्वम्ललवणात्युष्ण- | १७ | ९ | २५३ |
| कर्मणः सुकृतस्याहुः | १४ | १६ | १२७ |
| कर्षयन्तः शरीरस्थं | १७ | ६ | २४८ |
| काममाश्रित्य दुष्पूरं | १६ | १० | २१७ |
| काम्यानां कर्मणां न्यासं | १८ | २ | २८७ |
| कार्यकारणकर्तृत्वे | १३ | २१ | ६९ |
| कार्यमित्येव यत्कर्म | १८ | ९ | ३०१ |
| कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं | १८ | ४४ | ३५८ |
| कैर्लिङ्गैस्त्रीन्गुणानेतान् | १४ | २१ | १३२ |
| क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवम् | १३ | ३५ | ९८ |
| क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि | १३ | ३ | ९ |
| **ग** | | | |
| गामाविश्य च भूतानि | १५ | १३ | १७७ |
| गुणानेतानतीत्य त्रीन् | १४ | २० | १३० |
| **च** | | | |
| चिन्तामपरिमेयां च | १६ | ११ | २१८ |
| चेतसा सर्वकर्माणि | १८ | ५७ | ३८६ |
| **ज** | | | |
| ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः | १३ | १८ | ६१ |
| ज्ञानं कर्म च कर्ता च | १८ | १९ | ३२८ |
| ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता | १८ | १८ | ३२४ |
| ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि | १३ | १३ | ४६ |
| **त** | | | |
| तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य | १८ | ७७ | ४३१ |
| ततःपदं तत्परिमार्गितव्यं | १५ | ४ | १६० |
| तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् | १४ | ६ | ११६ |
| तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च | १३ | ४ | २८ |
| तत्रैवं सति कर्तारं | १८ | १६ | ३१८ |
| तदित्यनभिसन्धाय | १७ | २५ | २७२ |
| तमस्त्वज्ञानजं विद्धि | १४ | ८ | ११९ |
| तमेव शरणं गच्छ | १८ | ६२ | ३९३ |
| तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते | १६ | २४ | २३२ |
| तस्मादोमित्युदाहृत्य | १७ | २४ | २७१ |
| तानहं द्विषतः क्रूरान् | १६ | १९ | २२७ |
| तेजः क्षमा धृतिः शौचं | १६ | ३ | २०१ |
| त्याज्यं दोषवदित्येके | १८ | ३ | २९० |
| त्रिविधं नरकस्येदं | १६ | २१ | २२९ |
| त्रिविधा भवति श्रद्धा | १७ | २ | २४३ |

| श्लोकप्रतीकानि। | अ. | श्लो. | पृ. |
|---|---|---|---|
| **द** | | | |
| दम्भो दर्पोऽतिमानश्च | १६ | ४ | २०७ |
| दातव्यमिति यद्दानं | १७ | २० | २६५ |
| दुःखमित्येव यत्कर्म | १८ | ८ | ३०० |
| देवद्विजगुरुप्राज्ञ– | १७ | १४ | २५९ |
| दैवी सम्पद्विमोक्षाय | १६ | ५ | २०९ |
| द्वाविमौ पुरुषौ लोके | १५ | १६ | १८४ |
| द्वौ भूतसर्गौ लोके | १६ | ६ | २१० |
| **ध** | | | |
| धृत्या यया धारयते | १८ | ३३ | ३४४ |
| ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति | १३ | २५ | ८१ |
| **न** | | | |
| न च तस्मान्मनुष्येषु | १८ | ६९ | ४२३ |
| न तदस्ति पृथिव्यां वा | १८ | ४० | ३५१ |
| न तद्भासयते सूर्यः | १५ | ६ | १६६ |
| न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म | १८ | १० | ३०३ |
| न रूपमस्येह तथोपल- | १५ | ३ | १६० |
| नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा | १८ | ७३ | ४२७ |
| नहि देहभृता शक्यं | १८ | ११ | ३०३ |
| नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं | १४ | १९ | १३० |
| नियतस्य तु सन्न्यासः | १८ | ७ | २९८ |
| नियतं सङ्गरहितं | १८ | २३ | ३३३ |
| निर्मानमोहा जितसङ्ग- | १५ | ५ | १६४ |
| निश्चयं शृणु मे तत्र | १८ | ४ | २९३ |
| **प** | | | |
| पञ्चैतानि महाबाहो ! | १८ | १३ | ३१० |
| परं भूयः प्रवक्ष्यामि | १४ | १ | १०६ |
| पुरुषः प्रकृतिस्थो हि | १३ | २२ | ७१ |
| पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं | १८ | २१ | ३३१ |
| प्रकाशं च प्रवृत्तिं च | १४ | २२ | १३४ |
| प्रकृतिं पुरुषं चैव | १३ | १ | ३ |
| ,, ,, | १३ | २० | ६९ |
| प्रकृत्यैव च कर्माणि | १३ | ३० | ९० |
| प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च | १८ | ३० | ३४१ |
| प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च | १६ | ७ | २१२ |
| **ब** | | | |
| बहिरन्तश्च भूतानां | १३ | १६ | ५७ |
| बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव | १८ | २९ | ३४० |
| बुद्ध्या विशुद्धया युक्तः | १८ | ५१ | ३७५ |
| ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहम् | १४ | २७ | १४१ |
| ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा | १८ | ५४ | ३७९ |
| ब्राह्मणक्षत्रियविशां | १८ | ४१ | ३५२ |
| **भ** | | | |
| भक्त्या मामभिजानाति | १८ | ५५ | ३८१ |
| **म** | | | |
| मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि | १८ | ५८ | ३८८ |
| मनःप्रसादः सौम्यत्वं | १७ | १६ | २६१ |
| मन्मना भव मद्भक्तः | १८ | ६५ | ३९८ |
| मम योनिर्महद्ब्रह्म | १४ | ३ | ११० |
| ममैवांशो जीवलोके | १५ | ७ | १६८ |
| मयि चानन्ययोगेन | १३ | ११ | ४३ |
| महाभूतान्यहङ्कारः | १३ | ६ | ३३ |
| मां च योऽव्यभिचारेण | १४ | २६ | १३९ |
| मानावमानयोस्तुल्यः | १४ | २५ | १३७ |
| मुक्तसङ्गोऽनहंवादी | १८ | २६ | ३३६ |
| मूढग्राहेणात्मनो यत् | १७ | १९ | २६४ |
| **य** | | | |
| य इमं परमं गुह्यं | १८ | ६८ | ४२१ |
| य एवं वेत्ति पुरुषं | १३ | २४ | ७९ |
| यजन्ते सात्त्विका देवान् | १७ | ४ | २४६ |
| यज्ञे तपसि दाने च | १७ | २७ | २७७ |
| यज्ञो दानं तपः कर्म | १८ | ५ | २९५ |
| यतन्तो योगिनश्चैनं | १५ | ११ | १७६ |
| यतः प्रवृत्तिर्भूतानां | १८ | ४६ | ३६१ |
| यत्तदग्रे विषमिव | १८ | ३७ | ३४७ |
| यत्तु कामेप्सुना कर्म | १८ | २४ | ३३५ |
| यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् | १८ | २२ | ३३२ |
| यत्तु प्रत्युपकारार्थं | १७ | २१ | २६६ |
| यत्र योगेश्वरः कृष्णः | १८ | ७८ | ४३४ |
| यथा प्रकाशयत्येकः | १३ | ३४ | ९७ |
| यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यात् | १३ | ३३ | ९६ |
| यदग्रे चानुबन्धे च | १८ | ३९ | ३५० |
| यदादित्यगतं तेजः | १५ | १२ | १७७ |
| यदा भूतपृथग्भावं | १३ | ३१ | ९२ |
| यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु | १४ | १४ | १२९ |
| यदहङ्कारमाश्रित्य | १८ | ५९ | ३८९ |
| यया तु धर्मकामार्थान् | १८ | ३४ | ३४५ |
| यया धर्ममधर्मं च | १८ | ३१ | ३४२ |
| यया स्वप्नं भयं शोकं | १८ | ३५ | ३४६ |
| यस्मात्क्षरमतीतोऽहं | १५ | १८ | १८९ |
| यस्य नाहङ्कृतो भावः | १८ | १७ | ३२१ |
| यातयामं गतरसं | १७ | १० | २५४ |
| यावत्सञ्जायते किञ्चित् | १३ | २७ | ८४ |
| ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य | १७ | १ | २४० |
| यो मामेवमसम्मूढः | १५ | १९ | १९० |
| यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य | १६ | २३ | २३१ |
| **र** | | | |
| रजसि प्रलयं गत्वा | १४ | १५ | १२५ |
| रजस्तमश्चाभिभूय | १४ | १० | १२२ |
| रजो रागात्मकं विद्धि | १४ | ७ | ११८ |
| रागी कर्मफलप्रेप्सुः | १८ | २७ | १३८ |
| राजन्संस्मृत्य संस्मृत्य | १८ | ७६ | ४३१ |
| **ल** | | | |
| लोभः प्रवृत्तिरारम्भः | १४ | १२ | १२४ |
| **व** | | | |
| विधिहीनमसृष्टान्नं | १७ | १३ | २५८ |
| विविक्तसेवी लघ्वाशी | १८ | ५२ | ३७५ |
| विषयेन्द्रियसंयोगात् | १८ | ३८ | ३४९ |
| व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् | १८ | ७५ | ४३० |
| **श** | | | |
| शमो दमस्तपः शौचं | १८ | ४२ | ३५५ |
| शरीरवाङ्मनोभिर्यत् | १८ | १५ | ३१३ |
| शरीरं यदवाप्नोति | १५ | ८ | १७२ |
| शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं | १८ | ४३ | ३५७ |
| श्रद्धया परया तप्तं | १७ | १७ | २६३ |
| श्रद्धावाननसूयश्च | १८ | ७१ | ४२५ |
| श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः | १८ | ४७ | ३६३ |
| श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च | १५ | ९ | १७२ |
| **स** | | | |
| सत्कारमानपूजार्थं | १७ | १८ | २६३ |
| सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञानं | १४ | १७ | १२८ |
| सत्त्वं रजस्तम इति | १४ | ५ | ११४ |
| सत्त्वं सुखे सञ्जयति | १४ | ९ | १२१ |
| सत्त्वानुरूपा सर्वस्य | १७ | ३ | २४५ |
| सद्भावे साधुभावे च | १७ | २६ | २७३ |
| समदुःखसुखः स्वस्थः | १४ | २४ | १३७ |
| समं पश्यन्हि सर्वत्र | १३ | २९ | ८८ |
| समं सर्वेषु भूतेषु | १३ | २८ | ८६ |
| सर्वकर्माण्यपि सदा | १८ | ५६ | ३८५ |
| सर्वगुह्यतमं भूयः | १८ | ६४ | ३९६ |
| सर्वतःपाणिपादं तत् | १३ | १४ | ५१ |
| सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् | १४ | ११ | १२३ |
| सर्वधर्मान्परित्यज्य | १८ | ६६ | ४०० |
| सर्वभूतेषु येनैकं | १८ | २० | ३३० |
| सर्वयोनिषु कौन्तेय ! | १४ | ४ | ११३ |
| सर्वस्य चाऽहं हृदि | १५ | १५ | १८१ |
| सर्वेन्द्रियगुणाभासं | १३ | १५ | ५४ |
| सहजं कर्म कौन्तेय ! | १८ | ४८ | ३६४ |
| सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म | १८ | ५० | ३७१ |
| सुखं त्विदानीं त्रिविधं | १८ | ३६ | ३४७ |
| सन्न्यासस्य महाबाहो ! | १८ | १ | २८४ |
| स्वभावजेन कौन्तेय ! | १८ | ६० | ३९० |
| स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः | १८ | ४५ | ३६० |

# श्रीमद्भगवद्गीता

## शाङ्करभाष्याद्येकादशटीकासमलंकृता।

[ प्रथमो गुच्छः ]

भो भोः वेदान्तशास्त्रानुचिन्तनतुन्दिलस्वान्ता भवदवदावदाहजासहतृण्णाशनज्ञानामृतपिपासवो गुणमात्रैकग्राहिणः सुधियः! समुपजोषमाघोषयामस्तत्रभवतां अतीव मोदावहमिममुदन्तम्—यन्मुद्र्यतेऽस्माभिः श्रीमद्भगवद्गीताव्याख्यानां प्रथमो गुच्छः। अत्रायोजितानां व्याख्यानामयं क्रमः—

१ शाङ्करभाष्यम्, २ आनन्दगिरिकृता शाङ्करभाष्यव्याख्या,
३ रामानुजभाष्यम्, ४ वेङ्कटनाथरचिता रामानुजभाष्यतात्पर्यचन्द्रिका,
५ आनन्दतीर्थीय-(माध्व)-भाष्यम्, ६ तदनुयायिनी जयतीर्थरचिता प्रमेयदीपिका,
७ हनुमत्कृतं पैशाचभाष्यम्,
८ वेङ्कटनाथकृतं ब्रह्मानन्दगिर्याख्यानं व्याख्यानम्,
९ वल्लभीया तत्त्वदीपिका,
१० तदनुसारिण्यमृततरङ्गिणी,
११ नैलकण्ठीयो भारतभावदीपः—इति।

तथा प्रत्यध्यायमादौ 'रक्षा-'टीकोपेतो 'गी ता र्थ स ङ्ग्र हः,' अन्ते चाद्ययावत्कापि गीतयाऽनायोजितमष्टादशाध्यायपरिमितं प द्म पु रा णी यं नानाख्यानोपशोभितं गी ता मा हा त्म्य मध्यायशोऽत्र यथोचितं निवेशितमिति सत्यं 'प्र ह र्ष ण' मेवेदं विदुषाम्।

अत्र संगृहीता ब्रह्मानन्दगिर्याख्या व्याख्या च भगवत्पादीयं भाष्यमनुसरन्ती, टीकान्तरोदितानप्यर्थान् समालोचयन्ती पौराणिक-हरिहरादि-कीर्तन-प्रवचनकारोपकर्त्र्यपीयं गुणगरिम्णा सर्वव्याख्योपरि वरीवर्तीति दर्शनसमकालमेव ज्ञास्यन्ति तज्ज्ञाः।

इदं चापरमपि विदां विशेषतः प्रमदपदं- यदिह संगृह्यते धूपकरोपाह्व वि द्या ल ङ्का र श्री म द नन्तशास्त्रिप्रणीता 'अ वि गी ता' नाम्नी कापि टि प्प णी-या समुद्भावयत्यभिनवानर्थविशेषान्, गद्यपद्यैरनुवदति गीर्वाणवाण्या ज्ञानदेव-वामनपण्डिताभ्यां महाराष्ट्रवाग्गुम्फितयोर्भावार्थदीपिकायथार्थदीपिकयोर्हृदयहारिणोंऽशान्, निराकरोति च कुव्याख्यानानि सप्रमाणमिति हेम्नः परमामोदः।

एवमगणितगुणगणसमुद्भासितोऽयं महीयान् ग्रन्थो विचक्षणैः सूक्ष्मेक्षिकया संशोध्य परसवर्णपदच्छेद-वाक्यच्छेद—काकादिव्यञ्जकचिह्ननिवेशनादिभिः सम्यक् परिष्कृत्य विविधजातीयैर्ललितललितैरक्षरैः स्निग्धावदातसुपुष्टपृष्ठेषु पत्रेषु मुद्र्यते। तत्तट्टीकासूद्धृतानां श्रुतिस्मृतिपुराणादिवचसां मूलस्थलान्यपि महता प्रयत्नेनान्विष्यान्विष्य तत्रतत्र स्थले निर्दिश्यन्ते। किमधिकेन? सर्वथा नाद्यावध्यधिवसुधं मुद्रितपूर्व ईदृशो गीताव्याख्यासमुच्चय इति भूतार्थ एवायमाख्यायतेऽस्माभिः।

गीताख्यां वाङ्मयीमैश्वरीं तनुमारिराधयिषुभिरस्माभिरेवं महान्तं प्रयासमास्थाय, द्रविणचयव्ययं चाविगणय्य प्रकाशितस्यास्यातिसुचिक्कणपत्रमुद्रितस्य सुपट्टनिबद्धस्यामूल्यस्य ग्रन्थरत्नस्य मूल्यमपि नितान्तमल्पमेव निर्धारितम्।

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रथमषट्कम् .... .... ... | मूल्यम् | रू. ८ | ट. ख. ०-१०-० |
| मध्यमषट्कम् .... .... ... | ,, | रू. ५ | .... .... ०- ७-० |
| तृतीयषट्कम् .... .... .... | ,, | रू. ७ | ... ... ०- ९-० |

तथाप्येकत्रैव निबद्धस्य षट्कत्रयस्य मूल्यम् रू. १८

—o—

श्रीमद्भगवद्गीता- अष्टटीकोपेता। द्वितीयो गुच्छः। मूल्यम् रू. १०

उपलब्धिस्थानम्-गुजराती प्रिंटिंग प्रेस. सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट-मुंबई

### निम्बार्कीयतत्त्वप्रकाशिकाद्यष्टटीकोपेता

# श्रीमद्भगवद्गीता

## [ द्वितीयो गुच्छः ]

अयि समीक्ष्यकारिणो विचक्षणाः ! यदा खलु ‘ गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस ’ संस्थापकैर्गुजरातीवृत्तपत्रोत्पादकैश्च देसाईकुलविभूषणैः सूर्यरामतनूजैरिच्छारामाख्यैः श्रेष्ठिवर्यैः स्वीयप्राचीनतरहस्तलिखितग्रंथसंग्रहाद्विचित्य विचित्य सप्तटीकात्मकः श्रीमद्भगवद्गीतायाः प्रथमो गुच्छो मुद्रितस्तदैव तदन्तर्गतव्याख्योपव्याख्याप्रणेतॄणां चतुर्णां सांप्रदायिनामद्वैतद्वैतविशिष्टाद्वैतशुद्धाद्वैतमतानि, एकमतानुसारिणां विचक्षणानामपि तत्तद्व्याख्योपव्याख्याकृतं विचक्षणत्वरूपं चार्थान्तरवैचित्र्यमालोच्य कथं तेषां तत्परस्परविरुद्धराद्धान्तप्रतिपादनं, कथं तैरेक एव श्लोकः श्लोकार्धं तद्गतवाक्यानि वा स्वस्वसिद्धान्तसमर्थकतया स्वाविरोधितयोपवर्ण्यन्ते, कथं च ते परस्परं स्वाद्वैताद्यनुयाय्युपमर्दे प्रवर्तन्ते ? तद्दर्शनकुतुकजुषां तत्त्वजिज्ञासूनां चेप्सितं सम्पादयितुकामैस्तैरेव निम्बार्कपथानुयायितत्त्वप्रकाशिकायुतश्चाष्टटीकात्मकोऽयं द्वितीयगुच्छोऽपि मुद्रयित्वा प्रकाशितः ।

एवं प्रथमगुच्छान्तरालस्थितानां सम्प्रति टीकाचतुष्टयसंवर्धितशाङ्करभाष्याद्येकादशव्याख्योपव्याख्यानां चावलोकनकृतां विदुषां टीकान्तरालोचनावशिष्टं किञ्चिदपि नावशिष्येतेत्यलमतिपल्लवितेन ।

पूर्वमत्र भारतेऽस्मिन्खण्डे देशे देशान्तरेषु दिक्षु विदिक्षु चाविगीतयशोभिर्लोकमान्यैः बालगङ्गाधरतिलकैः स्वोक्ते गीतारहस्ये यैः स्ववदननलिनवचनसुमनोभिः स्वलंकृतोऽयमच्छो गुच्छस्तान्येव तेषां सुमनसां सुमनोहराणि सुमनानीमानिः—

वल्लभसम्प्रदायी तत्त्वदीपिका, गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस मधली... ...; पण ... बाकीच्या आणि निंबार्कसम्प्रदायाची व दुसऱ्या कांहीं टीका मिळून एकंदर पंधरा [ सध्या एकोणीस ] संस्कृत टीका गुजराती प्रिंन्टिंग प्रेसनें नुकत्याच [ शके १८२४ ] छापून प्रसिद्ध केल्या असल्यामुळें या एकाच ग्रंथानें आतां सर्व निर्वाह होतो. ( गीतारहस्य– पुणें, अधिक वैशाख शके १८३७; **बाळ गंगाधर टिळक.** )

निरनिराळ्या सांप्रदायिक आचार्यांचीं गीतेवरील भाष्यें व त्या सम्प्रदायांतील इतर प्रमुख टीका मिळून पंधरा [ सध्या एकोणीस ] टीका मुंबईस गुजराती प्रिंन्टिंग प्रेसचे मालक यांनीं नुकत्याच [ इ. स. १९१२ ] प्रसिद्ध केल्या आहेत. निरनिराळ्या टीकाकारांचे अभिप्राय एकदम कळण्यास हा ग्रन्थ फार सोईचा आहे.

[ गीतारहस्य टिपणी ] **बाळ गंगाधर टिळक.**

## टीकाकाराणां टीकानां च नामानि ।

| | |
|---|---|
| १ निम्बार्कमतानुयायिश्रीकेशवकाश्मीरिभट्टाचार्यपादप्रणीता ... **तत्त्वप्रकाशिका** | ५ श्रीसदानन्दविरचितः ... **प्रभाप्रकाशः** |
| २ श्रीमधुसूदनसरस्वतीकृता ... **गूढार्थदीपिका** | ६ श्रीधनपतिसूरिविरचिता– **भाष्योत्कर्षदीपिका** |
| ३ श्रीशङ्करानन्दप्रणीता ... **तात्पर्यबोधिनी** | ७ दैवज्ञपंडितश्रीसूर्यविरचिता ... ... **परमार्थप्रपा** |
| ४ श्रीधरस्वामिकृता ... ... **सुबोधिनी** | ८ पूर्णप्रज्ञमतानुसारिश्रीराघवेन्द्रकृतः .. **अर्थसंग्रहः** |

इत्येताभिर्व्याख्याभिरष्टाभिः सहितायाः श्रीमद्भगवद्गीताया द्वितीयो गुच्छः । अत्र श्लोकाः स्थूलतमाक्षरैष्टीकाश्च स्थूलाक्षरैर्मुद्रिताः वृद्धा माक्लेशिषतेति । **मूल्यम् १०–०–०**

श्रीमद्भगवद्गीता– मूलमात्रं **मू० ०–३–०**

**प्राप्तिस्थानम्ः– गुजराती प्रिन्टिंग प्रेस, सासुन बिल्डिंग, एल्फिन्स्टन सर्कल, कोट–मुंबई.**